॥ श्री

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

बालकाण्ड—१

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press,

Allahabad.

अनुवादक की सूचना

छोटी छोटी पुस्तकों में भी जब भूमिका देना, प्रचलित प्रथा के अनुसार अनिवार्य समझा जाता है ; तब इतने बड़े ग्रन्थ के आरम्भ में भी भूमिका का होना परमावश्यक है। किन्तु भूमिका या तो स्वयं ग्रन्थकार की लिखी होनी चाहिये अथवा ग्रन्थकार से घनिष्ट परिचय रखने वाले उसके किसी आत्मीय, सम्बन्धी अथवा मित्र की लिखी हुई। ये दोनों प्रथाएँ आज ही प्रचलित हुई हैं, यह कहना उचित न होगा। इस देश में ये दोनों ही प्रथाएँ प्राचीनकाल से प्रचलित जान पड़ती हैं। इस इतिहास-ग्रन्थ-रत्न श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में भी भूमिका है और यह भूमिका स्वयं आदिकवि की लिखी हुई नहीं, प्रत्युत उनके किसी शिष्य प्रशिष्य की लिखी हुई है। बालकाण्ड के प्रथम सर्ग को छोड़, दूसरे से ले कर चौथे सर्ग तक—तीन सर्ग आदिकाव्य के भूमिकात्मक हैं। इसको रामायण के टीकाकारों में श्रेष्ठ, आचार्यप्रवर गोविन्दराज जी ने भी स्वीकार किया है।

"सर्गत्रयमिदं केनचिद्वाल्मीकिशिष्येण रामायण निर्वृत्त्यनन्तरं निर्माय वैभव प्रकटनाय संगमितं। यथा याज्ञवल्क्यस्मृत्यादौ तथैव तत्र विज्ञानेश्वरेण व्याकृतं।"

उक्त तीन सर्गों में यत्र तत्र इस अनुमान की पुष्टि करने वाले प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। यथा चतुर्थ सर्ग का प्रथम श्लोक है:—

"प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान्॥"

इस श्लोक में महर्षि वाल्मीकि जी के लिये "भगवान्" और "आत्मवान्" जो दो विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, वे आदि काव्यरचयिता जैसे मार्मिक एवं सर्वज्ञ ग्रन्थरचयिता, शिष्टतावश स्वयं अपने लिये कभी व्यवहार में नहीं ला सकते। फिर इस श्लोक के अर्थ पर ध्यान देने से भी स्पष्ट विदित होता है कि, इस श्लोक का कहने वाला ग्रन्थ रचयिता नहीं, प्रत्युत कोई अन्य ही पुरुष है। अतः ग्रन्थ की भूमिका पढ़ने के लिये उत्सुक जनों को, बालकाण्ड के दूसरे तीसरे और चौथे सर्ग को पढ़ अपना सन्तोष कर लेना चाहिये। क्योंकि ग्रन्थ की भूमिका में जो आवश्यक बातें होनी चाहिये, वे सब इसमें पायी जाती हैं। यथा, ग्रन्थ की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन, ग्रन्थ में निरूपित विषयों का संक्षिप्त वर्णन, ग्रन्थ-निर्माण का कारण, ग्रन्थनिर्माण का स्थान, ग्रन्थनिर्माण का समय, ग्रन्थ का प्रकाशनकाल और ग्रन्थ पर लोगों की सम्मति। ये सभी बातें उक्त तीन सर्गों में पायी जाती हैं। अतएव इसमें नयी भूमिका जोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

तब हाँ, इस ग्रन्थ के पढ़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से, धार्मिक दृष्टि से, राजनीतिक दृष्टि से पढ़ने वाले किन सिद्धान्तों पर उपनीत हो सकते हैं, यह बात दिखलाने की आवश्यकता है। प्राचीन टीकाकारों ने इस प्रयोजनीय विषय की उपेक्षा नहीं की। उन महानुभावों ने भी यथास्थान अपने स्वतंत्र विचार लिपिबद्ध किये हैं। उन्हींके पथ का अनुसरण कर, इस ग्रन्थ के अनुवादक ने भी यथास्थान अपने स्वतंत्र विचारों को व्यक्त करने में अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं की। किन्तु स्थान स्थान पर जो विचार प्रकट किये गये हैं, वे सूत्ररूप से होने के कारण उनको विशद रूप से व्यक्त करने की आवश्यकता का अनुभव कर, अनुवादक का विचार, ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में, अपने विचारों को

विषयानुक्रम से विस्तार पूर्वक लिपिबद्ध करने का है। अतएव ग्रन्थ के पाठकों को परिशिष्ट भाग छपने तक धैर्य धारण करने अनुवादक की ओर से साग्रह अनुरोध है।

अनुवादक को अनुवाद के विषय में विशेष कुछ भी व नहीं है। जो कुछ भला बुरा अनुवाद वह कर सकता है, वह प्रकाशक महोदय की सहायता से सर्वसाधारण के सन्मुख किया जाता है। हिन्दू जाति की इस शोच्य अधःपतित अवस्था में, इस ग्रन्थरत्न के सुलभ मूल्य पर प्रचार करने से हिन्दुओं की प्राचीन सभ्यता, प्राचीन संस्कृति और प्राचीन पद्धतियों का जीर्णोद्धार हो, इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में अनुवाद कर, प्रकाशित करने का अनुवादक और प्रकाशक, दोनों ही का, यह उद्देश्य है।

दारागंज–प्रयाग
कार्तिक शुक्ला १४शी सं० १९८२

अनुवादक

विषयानुक्रमणिका

भेज कर विश्वामित्र का अन्य ऋषियों को बुलवाना। वशिष्ठपुत्रों का तथा महोदय नामक ऋषि का बुलाने पर न आना। अतः विश्वामित्र का उनको शाप देना।

इति

ग्रन्थ में व्यवहृत सङ्केताक्षरों की व्याख्या

(गो०) गोविन्दराजीय भूषणटीका ।

(रा०) नागेश भट्ट की रामाभिरामी टीका ।

(शि०) शिवसहायराम की शिरोमणिटीका ।

(वि०) विषमपदविवृतिटीका ।

(   ) जो वाक्य ऐसे कोष्ठक के भीतर हैं वे अनुवादक के अपने हैं और कथा की असङ्गति दूर करने के लिये जोड़ दिये गये हैं ।

[नोट] ऐसे कोष्ठक के भीतर महीन अक्षरों में जो " नोट " अर्थात् टिप्पणियाँ दी गयी हैं, वे अनुवादक के स्वतंत्र विचार हैं ।

(शि० गो०) अनुवाद के जिस श्लोक के अन्त में (शि०) या (गो०) अक्षर दिये गये हैं, वहाँ समझना चाहिये कि वह श्लोक शिरोमणि टीकाकार के मतानुसार अथवा गोविन्दराजीय भूषणटीका के अनुसार अनूदित किया गया है ।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ १॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥ २॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥ ३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥ ४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥ ६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ।

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम्।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—※—

श्रीरामचन्द्रायनमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

आचार्यं शठकोपदेशिकमथ प्राचार्यपारंपरीम्,
श्रीमल्लक्ष्मणयोगिवर्ययमुनाचार्यश्च नाथादिकान्।
वाल्मीकिं सह नारदेन मुनिना वाग्देवतावल्लभं,
सीतालक्ष्मणवायुसूनुसहितं श्रीरामचन्द्रं भजे ॥ १ ॥

पितामहस्यापि पितामहाय,
प्राचेतसादेशफलप्रदाय।
श्रीभाष्यकारोत्तमदेशिकाय,
श्रीशैलपूर्णाय नमोनमस्तात् ॥ २ ॥

लक्ष्मीनाथ समारंभाम्,
नाथयामुनि मध्यमां।
अस्मदाचार्य पर्यन्ताम्,
वंदे गुरुपरम्पराम् ॥ ३ ॥

श्रीवत्सवंशकुलवारिधिशीतभानुं,
श्रीश्रीनिवासगुरुवर्यसुतंसुतांसम्।
गोविन्ददेशिकपदाम्बुजभृङ्गराजम्,
रामानुजार्य गुरुवर्यमहं भजामि ॥ ४ ॥

आसाद्य नगरी दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
[illegible] मंगलम ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:❀:—

बालकाण्डः

ॐ

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्[1] ।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

तपस्या और स्वाध्याय (वेदपाठ) में निरत और बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीनारद मुनि जी से वाल्मीकि जी ने पूँछा ॥ १ ॥

को न्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥ २ ॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान्कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥ ३ ॥
आत्मवान्को[2] जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥ ४ ॥

इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ* (किये हुए उपकार को न भूलने वाले) सत्यवादी, दृढ़व्रत, अनेक

---

१ यावद्विवक्षितार्थप्रतिपादनक्षमशब्दप्रयोगविदः तेषां वरम् श्रेष्ठं (गो०/

२ आत्मवान् —धर्मवान् .गो०)

* कई उपकारों की अपेक्षा न कर, एक ही उपकार को बहुत मानने वाले ।

प्रकार के चरित्र करने वाले, प्राणीमात्र के हितैषी, विद्वान्, समर्थ* अति दर्शनीय, धैर्यवान्, क्रोध को जीतने वाले, तेजस्वी, ईर्ष्या-शून्य, और युद्ध में क्रुद्ध होने पर देवताओं को भी भयभीत करने वाले, कौन हैं॥ २॥ ३॥ ४॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्॥ ५॥

हे महर्षे! यह जानने का मुझे बड़ा चाव है (उत्कट इच्छा है) और आप ऐसे पुरुष को जानने में समर्थ हैं। अर्थात् ऐसे पुरुष को बतला भी सकते हैं॥ ५॥

श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्॥ ६॥

यह सुन, तीनों लोकों का (भूत, भविष्य, और वर्तमान) वृत्तान्त जानने वाले देवर्षि नारद प्रसन्न हुए और कहने लगे॥ ६॥

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः॥ ७॥

हे मुनि! आपने जिन गुणों का बखान किया है, वे सब दुर्लभ हैं, किन्तु हम अपनी समझ से ऐसे गुणों से युक्त पुरुष को बतलाते हैं, सुनिये॥ ७॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा[1] महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्[2]वशी[3]॥ ८॥

---

१ नियतात्मा—नियतस्वभावः (गो०) वशीकृतान्तःकरणः (रा०)

२ धृतिमान्—निरतिशयानन्दः (गो०) ३ वशी—सर्वंजगतवशेऽस्यास्तीति वशी, सर्वस्वामीत्यर्थः (गो०)

* लौकिक व्यवहार=प्रजारञ्जनादिक, इसमें कुशल। (रा०)

महाराज इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न श्रीरामचन्द्र जी को जन जानते हैं। वे नियतस्वभाव (मन को वश में रखने वाले बड़े बली, अति तेजस्वी, आनन्दरूप, सब के स्वामी ॥ ८ ॥

[1]बुद्धिमान्नीतिमान्[2]वाग्मी श्रीमाञ्शत्रुनिबर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहुः[3] कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥ ९ ॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः ।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥ १० ॥

सर्वज्ञ, मर्यादावान्, मधुरभाषी, श्रीमान्, शत्रुनाशक, विशाल कंधे वाले, और मोटी भुजाओं वाले, शङ्ख के समान गरदन पर तीन रेखा वाले, बड़ी ठुड्डी (ठोढ़ी) वाले, चौड़ी छाती वाले और विशाल धनुषधारी हैं। उनकी गरदन की हड्डियाँ (हसुली हड्डियाँ) माँस से छिपी हुई हैं, उनकी दोनों बाँहें घुटनों तक लटकती हैं। उनका सिर और मस्तक सुन्दर है और वे बड़े पराक्रमी हैं ॥९॥१०॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो [4]लक्ष्मीवाञ्शुभलक्षणः ॥ ११ ॥

उनके समस्त अङ्ग न बहुत छोटे हैं और न बहुत बड़े हैं, (जो अंग जितना लंबा या छोटा होना चाहिये वह उतना ही लंबा या छोटा है।) उनके शरीर का चिकना सुन्दर रंग है, वे प्रतापी या तेजस्वी हैं। उनकी छाती मांसल है, (अर्थात् हड्डियाँ नहीं दिखलायी पड़तीं) उनके दोनों नेत्र बड़े हैं, उनके सब अङ्ग प्रत्यङ्ग सुन्दर हैं और वे सब शुभ लक्षणों से युक्त हैं ॥ ११ ॥

---

१ बुद्धिमान्—सर्वज्ञः (गो०) २ नीतिमान्—मर्यादावान् (गो०) ३ महाबाहुः—वृत्तपीनबाहुः (गो०) ४ लक्ष्मीवान्—अवयवशोभायुक्तः (गो०)

धर्मज्ञः[1] सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्[2] ॥ १२ ॥

वे शरणागत की रक्षा करना, इस अपने धर्म को जानने वाले हैं । प्रतिज्ञा के दृढ़ (वादे के पक्के) अपनी प्रजा (रियाया) के हितैषी, अपने आश्रितों की रक्षा करने में कीर्ति प्राप्त, सर्वज्ञ, पवित्र, भक्ताधीन, आश्रितों की रक्षा के लिये चिन्तावान् अथवा निज तत्व का चिन्तमन करने वाले हैं ॥ १२ ॥

प्रजापतिसमः श्रीमान्धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥ १३ ॥

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य[3] च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥ १४ ॥

वे ब्रह्मा के समान प्रजा का रक्षण करने वाले, अति शोभावान्, सब के पोषक, शत्रु का नाश करने वाले अर्थात् वेदद्रोही और धर्मद्रोही उनके शत्रु हैं उनका नाश करने वाले, धर्मप्रवर्तक, स्वधर्म* और ज्ञानी जन के रक्षक हैं । वेद वेदाङ्ग के तत्वों को जानने वाले तथा धनुर्विद्या में अति प्रवीण हैं । ॥ १३ ॥ १४ ॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः[4] ॥ १५ ॥

---

१ धर्मज्ञः = शरणागतरक्षणरूपं जानातीति धर्मज्ञः (गो०) २ समाधिमान्—समाधिः आश्रितरक्षणचिन्तातद्वान् (गो०) ३ स्वजनः—स्वभूतोजनः स्वजनः, ज्ञानी (गो०) ४ विचक्षणः—लौकिकालौकिक क्रियाकुशलः (गो०)

* अपने धर्म, अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान, दण्ड और युद्ध की विशेष रूप से रक्षा करने वाले हैं ।

वे सब शास्त्रों के तत्वों को भली भाँति जानने वाले,* अच्छी स्मरण शक्ति वाले, महा प्रतिभाशाली, सर्वप्रिय, परमसाधु, कभी दैन्य प्रदर्शित न करने वाले, अर्थात् बड़े गम्भीर, और लौकिक अलौकिक क्रियाओं में कुशल हैं ॥ १५ ॥

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥

जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्र तक पहुँचती हैं, उसी प्रकार सज्जन जन उन तक सदा पहुँचते हैं अर्थात् क्या अस्त्राभ्यास के समय, क्या भोजन काल में, उन तक अच्छे लोगों को पहुँच सदा रहती है। अच्छे लोगों के लिये उनके पास जाने की मनाई कभी नहीं है। वे परम श्रेष्ठ हैं, वे सबको अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र—पशु पक्षी—जो कोई उनका हो, उसको समान दृष्टि से देखने वाले हैं और सदा प्रियदर्शन हैं ॥ १६ ॥

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥ १७ ॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १८ ॥

वे सब गुणों से युक्त कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं। वे गम्भीरता में समुद्र के समान, धैर्य में हिमालय की तरह, पराक्रम में विष्णु की तरह, प्रियदर्शनत्व में चन्द्रमा की तरह, क्रोध में कालाग्नि के समान, और क्षमा करने में पृथिवी के समान हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥

---

* धर्मशास्त्रं पुराणं चमीमांसाऽऽन्वीक्षिकी तथा ।
चत्वार्येतान्युपाङ्गानिशास्त्रज्ञाः संप्रचक्षते ॥

धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।
तमेवंगुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ १९ ॥

वे दान देने में कुबेर के समान अर्थात् जब देते हैं तब अच्छी तरह देते हैं, सत्यभाषण में मानों दूसरे धर्म हैं। ऐसे गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्री रामचन्द्र जी हैं ॥ १९ ॥

ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ।
प्रकृतीनां[1] हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया ॥ २० ॥
यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत्प्रीत्या महीपतिः ।
तस्याभिषेकसंभारान्दृष्ट्वा भार्याऽथ कैकयी ॥ २१ ॥

(ऐसे) श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्यारे तथा प्रजा के हित को चाहने वाले ज्येष्ठ (पुत्र) श्रीरामचन्द्र जी को, प्रजा की हितकामना के उद्देश्य से, महाराज दशरथ ने प्रीति पूर्वक युवराज पद देना चाहा। श्रीरामाभिषेक की तैयारियाँ देख, महाराज दशरथ की प्रिय महिषी कैकेयी ने ॥ २० ॥ २१ ॥

पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत ।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम् ॥ २२ ॥

पहिले पाये हुए दो वरदान (महाराज दशरथ से) माँगे। एक वर से श्रीरामचन्द्र जी के लिये देश निकाला और दूसरे से (अपने पुत्र) भरत का राज्याभिषेक ॥ २२ ॥

स सत्यवचनाद्राजा धर्मपाशेन संयतः ।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम् ॥ २३ ॥

---

1 प्रकृतीनां...युक्तं—अनेन सर्वानुकूल्यमुक्तं । (गो०)

धर्मपाश से बद्ध, (अर्थात् अपनी बात के धनी होने के कारण) सत्यवादी महाराज दशरथ ने, प्राणों से भी बढ़ कर अपने प्यारे पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को वनगमन की आज्ञा दी ॥ २३ ॥

स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन् ।
पितुर्वचननिर्देशात्कैकेय्याः प्रियकारणात् ॥ २४ ॥

वीरवर श्रीरामचन्द्र जी, पिता की आज्ञा का पालन करने और कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये, पितृआज्ञानुसार वन को गये ॥ २४ ॥

तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ।
स्नेहाद्विनयसंपन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ २५ ॥

माता सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले* स्नेह और विनय से सम्पन्न श्रीलक्ष्मण जी (भ्रातृ-स्नेह-वश)† श्रीरामचन्द्र जी के पीछे हो लिये ॥ २५ ॥

भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन् ।
रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता ॥ २६ ॥
जनकस्य कुले जाता [1]देवमायेव निर्मिता ।
सर्वलक्षणसंपन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ।
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा ॥ २७ ॥

---

१ देवमायेवनिर्मिता—अमृतमथनानन्तरमसुरमोहनार्थंनिर्मिताविष्णुमायेवस्थिता (गो०)

* विनय से सम्पन्न । † सुभ्रातृभाव का प्रदर्शन करते हुए ।

दोनों भाइयों को जाते देख, श्रीराम जी की प्राणों के समान सदा हितैषिणी, राजा जनक की बेटी, साक्षात् लक्ष्मी का अवतार और स्त्रियों के सर्वोत्तम गुणों से युक्त, श्रीसीता जी भी श्रीरामचन्द्र जी के साथ वैसे ही गयीं, जैसे चन्द्रमा के साथ रोहिणी ॥ २६ ॥ २७ ॥

पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च ।
शृङ्गिबेरपूरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत ॥ २८ ॥

इन तीनों के पीछे दूर तक महाराज दशरथ और पुरवासी भी गये। शृङ्गबेरपुर में पहुँच कर गङ्गा जी के किनारे श्रीरामचन्द्र जी ने (रथ सहित अपने) सारथी (सुमंत) को भी लौटा दिया ॥ २८ ॥

गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम् ।
गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया ॥ २९ ॥
ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ।
चित्रकूटमनुप्राप्य भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ३० ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी निषादों (मल्लाहों) के मुखिया अपने प्यारे गुह से मिले। श्रीरामचन्द्र जी, श्रीलक्ष्मण जी, श्रीसीता जी और गुह बहुत जलवाली अर्थात् बड़ी बड़ी नदियों को पार कर, अनेक वनों में घूमें फिरे और भरद्वाज मुनि के बतलाये हुए चित्रकूट में पहुँचे ॥ २९ ॥ ३० ॥

रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः ।
देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन्सुखम् ॥ ३१ ॥

उस रम्य स्थान में तीनों (श्रीराम, श्रीलक्ष्मण और सीता) रम गये अर्थात् बस गये। देवता और गन्धर्वों की तरह वहाँ वे तीनों सुख पूर्वक रहने लगे॥ ३१॥

चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा।
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन्सुतम्॥ ३२॥

श्रीरामचन्द्र जी के चित्रकूट में पहुँच जाने बाद (उधर) अयोध्या में पुत्र-वियोग से विकल महाराज दशरथ हा राम! हा राम कह कर विलाप करते हुए स्वर्ग सिधारे॥ ३२॥

मृते तु तस्मिन्भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः।
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद्राज्यं महाबलः॥ ३३॥

महाराज के (इस प्रकार) स्वर्गवासी होने पर वशिष्ठादि प्रमुख द्विजवर्यों ने श्रीभरत जी के राजतिलक करना चाहा, किन्तु भरत जी ने यह स्वीकार न किया॥ ३३॥

स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः[1]।
गत्वा तु सुमहात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्॥ ३४॥

और वे पूज्य श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न कर मनाने वन को गये। सत्यपराक्रमी महात्मा श्री रामचन्द्र जी के पास पहुँच कर॥ ३४॥

अयाचद्[2]भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः।
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत्॥ ३५॥

---

१ रामपादप्रसादकः पूज्यं रामं प्रसादयितुमित्यर्थः (गो०) २ अयाचत्—प्रार्थयामास (गो०)

उन्होंने अत्यन्त विनय भाव से प्रार्थना की हे राम ! आप धर्मज्ञ हैं (अर्थात् यह धर्म शास्त्र की आज्ञा है कि वड़े भाई के सामने छोटा भाई राज्य नहीं पा सकता) अतः आपही राजा होने योग्य हैं ॥ ३५ ॥

रामोऽपि परमोदारः सुमुखः[1] सुमहायशाः[2] ।
न चैच्छत्पितुरादेशाद्राज्यं रामो महावलः ॥ ३६ ॥

किन्तु श्रीराम जी के अति उदार अत्यन्त प्रसन्नवदन और अति यशस्वी होने पर भी, उन महावली श्रीराम जी ने पिता के आदेशानुकूल राज्य करना स्वीकार नहीं किया ॥ ३६ ॥

पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा पुनः पुनः ।
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः ॥ ३७ ॥

राज्य का कार्य चलाने के लिये अपनी (प्रतिनिधि रूपी) खड़ाऊ भरत को दीं और अनेक वार उनको समझा कर लौटाया ॥ ३७ ॥

स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन् ।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं रामागमनकाङ्क्षया ॥ ३८ ॥

भरत जो श्रीराम जी द्वारा अपने मनोरथ को इस प्रकार प्राप्त कर, उनके चरणों को स्पर्श कर तथा श्रीरामचन्द्र जी के लौटने की प्रतीक्षा करते हुए, नन्दिग्राम में रह कर, राज्य करने लगे ॥ ३८ ॥

गते तु भरते श्रीमान्सत्यसंधो जितेन्द्रियः[3] ।
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च ॥ ३९ ॥

---

१ सुमुखः—अर्थिजनलाभेनप्रसन्नमुखः (गो०) २ सुमहायशाः "नह्यर्थिनः कार्यवशादुपेताः काकुत्स्थवंशे विमुखाःप्रयान्ति" विष्णुपुराणे (गो०) ३ जितेन्द्रियः—मातृभरतादि प्रार्थना व्याजेसत्यपि राज्यभोगलौलित्यरहितः (गो०)

भरत जी के लौट आने पर, सत्य प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय श्रीमान् रामचन्द्र जी ने * यह विचार कर कि, चित्रकूट में (हमारा वास जान कर) अयोध्यावासियों का आना जाना शुरू हो गया है, (और उन लोगों के आने से चित्रकूट वासी तपस्वियों के जप तप में विक्षेप पड़ता है) ॥ ३९ ॥

तत्रागमनमेकाग्रो[1] दण्डकान्प्रविवेश ह ।
प्रविश्य तु महारण्यं रामो राजीवलोचनः ॥ ४० ॥

पितृआज्ञा के पालन में दत्तचित्त श्रीरामचन्द्र (चित्रकूट छोड़) दण्डकारण्य वन में चले गये और दण्डकवन में पहुँच राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ ४० ॥

विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह ।
सुतीक्ष्णं चाप्यगस्त्यं च अगस्त्यभ्रातरं तथा ॥ ४१ ॥

विराध नामक एक राक्षस को जान से मारा और तत्पश्चात् वे शरभङ्ग ऋषि से मिले। तत्पश्चात् वे सुतीक्ष्ण, अगस्त्य और अगस्त्य के भाई से मिले ॥ ४१ ॥

अगस्त्यवचनाच्चैव जग्राहैन्द्रं शरासनम् ।
खड्गं च परमप्रीतस्तूणी चाक्षयसायकौ ॥ ४२ ॥

---

१ एकाग्रः पितृवचन पालने दत्तावधानः (गो०)

* किसी टीकाकार ने ऐसा लिखा है—श्री रामचन्द्र जी ने यह सोच कर कि, चित्रकूट में हमारी स्थिति को जान कर निकट होने के कारण अयोध्यावासी और ख़ास कर महाराज दशरथ के साथ में रहने वाले वृद्ध मन्त्रिगण आने लगेंगे, फिर चित्रकूटवासियों का यह कहना कि, आप लोग यहाँ से जायँ, अच्छा न होगा; इसलिये उन्होंने चित्रकूट छोड़, दण्डकवन में प्रवेश किया।

अगस्त्य जी के कहने पर उनसे उन्होंने इन्द्र का धनुष ग्रहण किया (अर्थात् लिया) साथ ही परम प्रसन्न हो कर, एक अति पैनी तलवार और तरकस जिसमें बाण कभी चुकते ही न थे, (श्री रामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी से) लिये ॥ ४२ ॥

वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः[1] सह।
ऋषयोऽभ्यागमन्सर्वे वधायासुररक्षसाम् ॥ ४३ ॥

उस वन में, उन वानप्रस्थ ऋषियों के साथ रहते समय, राक्षस और असुरों का नाश करवाने की कामना रखने वाले, ऋषि रामचन्द्र के पास गये ॥ ४३ ॥

स तेषां प्रतिशुश्राव राक्षसानां[2] वधं वने।
प्रतिज्ञातश्च रामेण वधः संयति[3] रक्षसाम् ॥ ४४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, ने दण्डकारण्यवासी राक्षसों के वध कराने के लिये जैसी कि, ऋषियों ने प्रार्थना की थी, तदनुसार युद्ध में उनको मारने के लिये प्रतिज्ञा की ॥ ४४ ॥

ऋषीणामग्निकल्पानां दण्डकारण्यवासिनाम्।
तेन तत्रैव वसता जनस्थाननिवासिनी ॥ ४५ ॥

इस प्रतिज्ञा को सुन अग्नि के समान तेजस्वी दण्डकवासी ऋषियों ने जाना कि अब राक्षस अवश्य मारे जायँगे। इसके पश्चात् उसी जनस्थान में रहने वाली ॥ ४५ ॥

विरूपिता शूर्पणखा राक्षसी कामरूपिणी।
ततः शूर्पणखावाक्याद्दुद्युक्तान्सर्वराक्षसान् ॥ ४६ ॥

---

१ वनचरैः—वानप्रस्थैः (रा०) २ राक्षसानांवने—दण्डकारण्ये। ३ संयति—युद्धे (गो०)

खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ।
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान्[1] ॥ ४७ ॥

कामरूपिणी (अपनी इच्छानुसार अपना रूप बदलने वाली) राक्षसी सूपनखा को, उन्होंने विरूप किया । तत्पश्चात् सूपनखा के वाक्यों से उत्तेजित हो लड़ने के लिये आये हुए खरदूषण त्रिशिरादि तथा उनके सब अनुचरों को श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में मार डाला ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

वने तस्मिन्निवसता जनस्थाननिवासिनाम् ।
रक्षसां निहतान्यासन्सहस्राणि चतुर्दश ॥ ४८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस वन में बसते हुए, चौदह हज़ार जनस्थानवासी राक्षसों को मार डाला ॥ ४८ ॥

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्छितः ।
सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम् ॥ ४९ ॥

अपनी जाति वालों के वध का संवाद सुन, रावण बहुत क्रुद्ध हुआ और मारीच नाम राक्षस से सहायता माँगी ॥ ४९ ॥

वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः ।
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते ॥ ५० ॥

मारीच ने रावण को बहुत मना किया और कहा कि हे रावण ! अपने से अधिक बलवान के साथ शत्रुता करनी अच्छी बात नहीं है ॥ ५० ॥

---

1 पदानुगान—अनुचरांश्च (गो०)

अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः ।
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा ॥ ५१ ॥

किन्तु कालवशवर्ती रावण ने मारीच की बातों का अनादर किया और उसी समय मारीच को साथ ले वह उस आश्रम में गया जहाँ श्रीरामचन्द्र जी रहते थे ॥ ५१ ॥

तेन मायाविना[1] दूरमपवाह्य नृपात्मजौ ।
जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम् ॥ ५२ ॥

मारीच दोनों राजकुमारों को आश्रम से दूर हटा ले गया। उसी समय रावण जटायु नामक गिद्ध को मार श्रीरामचन्द्र जी की भार्या श्रीजानकी जी को हर ले गया ॥ ५२ ॥

गृध्रं च निहतं[2] दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम् ।
राघवः शोकसंतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः ॥ ५३ ॥

जटायु को मृत्युप्राय दशा में देख और उससे सीता जी का हरा जाना सुन, श्रीरामचन्द्र बहुत शोकसन्तप्त हुए और विकल हो उन्होंने विलाप किया। ॥ ५३ ॥

ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम् ।
मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं संददर्श ह ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् उस शोक से व्याकुल श्रीरामजी ने, जटायु की दाहक्रिया कर, वन में सीता जी को ढूँढ़ते समय, एक राक्षस को देखा ॥ ५४ ॥

कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम् ।
तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः ॥ ५५ ॥

---

१ मायाविना—मारीचेन (रा०) २ निहतं—मुमूर्षुं (गो०)

उस राक्षस का नाम कवन्ध था और वह बड़ा विकराल भयङ्कर रूप का था। श्रीरामचन्द्र जी ने उसे मार कर दग्ध जिससे वह स्वर्ग गया ॥ ५५ ॥

स चाऽस्य कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम्।
श्रमणीं[1] धर्मनिपुणामभि[2]गच्छेति राघवम् ॥ ५६ ॥

स्वर्ग जाते समय कवन्ध ने तपस्विनी धर्मचारिणी शबरी के पास जाने के लिये श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ५६ ॥

सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः।
शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः ॥ ५७ ॥

शत्रु के नाश करने वाले महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी शबरी के पास गये। शबरी ने दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी का भली भाँति पूजन किया ॥ ५७ ॥

पम्पातीरे हनुमता संगतो वानरेण ह[3]।
हनुमद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः ॥ ५८ ॥

पंपासर के समीप उनकी भेंट हनुमान नामक बंदर से हुई और हनुमान जी के कहने पर श्रीरामचन्द्र जी का सुग्रीव से समागम हुआ ॥ ५८ ॥

सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसद्रामो महाबलः।
आदितस्तद्यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः ॥ ५९ ॥

पराक्रमी श्रीरामजी ने आदि से लेकर और विशेष कर सीता जी के हरे जाने का सब हाल सुग्रीव से कहा ॥ ५९ ॥

---

१ श्रमणीं—तपस्विनीं (गो०) २ धर्मनिपुणाम्—धर्मसूक्ष्मज्ञां (गो०)
३ ह—इति हर्षे (शि०)

सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ।
चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम् ॥ ६० ॥

वानर सुग्रीव ने भी श्रीरामचन्द्र का सारा वृत्तान्त सुन और अग्नि को साक्षी कर मैत्री की ॥ ६० ॥

ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति ।
रामायावेदितं सर्वं प्रणयाद्दुःखितेन च ॥ ६१ ॥

तदनन्तर वानरराज ने श्रीरामचन्द्र जी पर विश्वास कर और दुःखी हो उनसे वाली की शत्रुता का सम्पूर्ण हाल कहा ॥ ६१ ॥

प्रतिज्ञातं च रामेण तदा वालिवधं प्रति ।
वालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः ॥ ६२ ॥

उसे सुन श्रीरामचन्द्र जी ने वाली के वध की प्रतिज्ञा की। तब सुग्रीव ने वाली के बल पराक्रम का वर्णन किया ॥ ६२ ॥

सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ।
राघवप्रत्ययार्थं[1] तु दुन्दुभेः काय[2]मुत्तमम्[3] ॥ ६३ ॥

सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी के अत्यन्त बली होने में शङ्का थी, अतः श्रीरामचन्द्र जी की जानकारी के लिये दुन्दुभी राक्षस के बड़े लंबे शरीर की हड्डियों का ॥ ६३ ॥

दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसंनिभम् ।
उत्स्मयित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः ॥ ६४ ॥

---

१ राघवप्रत्ययार्थं—रामविषयज्ञानार्थं (गो०) २ कायं—कायाकारास्थि (गो०) ३ उत्तमं— उन्नतं (गो०)

ढेर, जो एक बड़े पहाड़ के समान था, सुग्रीव ने लंबी भुजाओं वाले श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाया। उसको देख महा बलवान् श्रीरामचन्द्र मुसक्याये ॥ ६४ ॥

पादांगुष्ठेन चिक्षेप[1] संपूर्णं दशयोजनम् ।
बिभेद च पुनः सालान्सप्तैकेन महेषुणा ॥ ६५ ॥

और पैर के अंगूठे की ठोकर से उस हड्डियों के ढेर को वहाँ से दस योजन दूर फेंक दिया। फिर एक ही बाण सात ताल वृक्षों को छेदता हुआ, ॥ ६५ ॥

गिरिं रसातलं चैव जनयन्प्रत्ययं तदा ।
ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः ॥ ६६ ॥

पहाड़ फोड़, रसातल को चला गया। तब तो सुग्रीव का सन्देह दूर हो गया। तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो और विश्वास कर ॥ ६६ ॥

किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां[2] तदा ।
ततोऽगर्जद्धरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ॥ ६७ ॥

श्रीरामजी को साथ ले गुफा की तरह पर्वतों के बीच बसी हुई किष्किन्धा पुरी को गये। वहाँ पहुँच पीले नेत्र वाले सुग्रीव ने ज़ोर से गर्जना की ॥ ६७ ॥

तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः ।
अनुमान्य[3] तदा तारां सुग्रीवेण समागतः ॥ ६८ ॥

---

१ उच्चिक्षेप—उदस्यचिक्षेप (गो०) २ गुहां—गुहावत्पर्वतमध्यवर्तिनींपुरीं (गो०) ३ अनुमान्य—परिसान्त्व्य ; सन्तोष्य (गो०)

उस महागर्जन को सुन महाबली वाली बाहिर निकला। (तारा के मना करने पर) वालि ने तारा को समझाया और वह सुग्रीव से आ भिड़ा॥ ६८॥

निजघान च तत्रैनं[1] शरेणैकेन राघवः।
ततः सुग्रीववचनाद्धत्वा वालिनमाहवे[2]॥ ६९॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इसी बीच में एक ही बाण से युद्ध करते हुए वाली को मार डाला। तदनन्तर सुग्रीव के कहने से सुग्रीव से युद्ध करते समय वाली को मार कर, ॥ ६९॥

सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत्।
स च सर्वान्समानीय वानरान्वानरर्षभः॥ ७०॥

श्रीरामचन्द्र जी ने किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को दे दिया। तब बन्दरों के राजा सुग्रीव ने वानरों को एकत्र कर॥ ७०॥

दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम्।
ततो गृध्रस्य वचनात्संपातेर्हनुमान्बली॥ ७१॥

उनको सीता जी को खोजने के लिये चारों ओर भेजा। तब सम्पाति नामक गृद्ध के बतलाने पर महाबली हनुमान, ॥ ७१॥

शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम्।
तत्र लङ्कां समासाद्य पुरीं रावणपालिताम्॥ ७२॥

सौ योजन चौड़े खारी समुद्र को लाँघ, रावणपालित लङ्का पुरी में पहुँचे॥ ७२॥

---

१ एनं—परेणयुद्धकृतमपिवालिनं (गो०)

२ आहवे—सुग्रीवस्ययुद्धे (गो०)

ददर्श सीतां ध्यायन्तीमशोकवनिकां गताम् ।
निवेदयित्वाऽभिज्ञानं प्रवृत्तिं च निवेद्य च ॥ ७३ ॥

अशोकवन में श्री रामचन्द्र जी के ध्यान में मग्न सीता जी को देखा । फिर श्रीरामचन्द्र जी की दी हुई अंगूठी सीता जी को दे दी और श्रीरामचन्द्र जी का सब हाल कह ॥ ७३ ॥

समाश्वास्य च वैदेहीं मर्दयामास तोरणम्[1] ।
पञ्च सेनाग्रगान्हत्वा सप्त मन्त्रिसुतानपि ॥ ७४ ॥

सीता जी को धीरज बँधाया । फिर अशोकवाटिका के बाहिर वाले फाटक को तोड़ डाला तथा (रावण के) पाँच सेनापतियों को, सात मंत्रि-पुत्रों को ॥ ७४ ॥

शूरमक्षं च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागमत् ।
अस्त्रेणोन्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैतामहाद्वरात् ॥ ७५ ॥

और शूरवीर (रावणपुत्र) अक्षयकुमार को पीस कर, (अर्थात् मार कर) आत्मसमर्पण किया । हनुमान जी ने ब्रह्माजी के वरदान के प्रभाव से अपने को ब्रह्मास्त्र से मुक्त जान कर भी ॥ ७५ ॥

मर्षयन्राक्षसान्वीरो यन्त्रिणस्तान्यदृच्छया ।
ततो दग्ध्वा पुरीं लङ्कामृते सीतां च मैथिलीम् ॥ ७६ ॥

राक्षसों की इच्छानुसार अपने को बँधवाया और उनके सब अनादर सहे, फिर श्रीसीता जी के स्थान को छोड़ समस्त लङ्का भस्म कर ॥ ७६ ॥

---

१ तोरणं—अशोकवनिकाबहिर्द्वारं (गो०)

रामाय प्रियमाख्यातुं पुनरायान्महाकपिः ।
सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम् ॥ ७७ ॥

हनुमान जी, श्रीराम जी को यह सुखदायी संवाद सुनाने को लौट आये। श्रीरामचन्द्र जी की परिक्रमा कर अपरमित धैर्य और बलवान हनुमान जी ने ॥ ७७ ॥

न्यवेदयदमेयात्मा[1] दृष्टा सीतेति तत्त्वतः[2] ।
ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः ॥ ७८ ॥

सीता जी के देखने का ज्यों का त्यों समस्त वृत्तान्त उनसे कहा। तब सुग्रीव आदि को साथ ले (श्रीरामचन्द्र जी) समुद्र के तट पर पहुँचे ॥ ७८ ॥

समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिभैः ।
दर्शयामास चात्मानं समुद्रः सरितांपतिः ॥ ७९ ॥

और सूर्य के समान चमचमाते (अर्थात् पैने) बाण से समुद्र को क्षुब्ध कर डाला। तब नदीपति समुद्र सामने आया ॥ ७९ ॥

समुद्रवचनाच्चैव नलं सेतुमकारयत् ।
तेन गत्वा पुरीं लङ्कां हत्वा रावणमाहवे ॥ ८० ॥

और उसके कथनानुसार नल ने समुद्र का पुल बांधा। उस पुल पर हो कर श्रीरामचन्द्र लङ्का पहुँचे और रावण का युद्ध में वध कर ॥ ८० ॥

रामः सीतामनुप्राप्य परां व्रीडामुपागमत् ।
तामुवाच ततो रामः परुषं जनसंसदि[3] ॥ ८१ ॥

---

१ अमेयात्मा—अपरमितधैर्यबलादिवान् (गो०) २ तत्त्वतः—यथावत (गो०) ३ जनसंसदि—देवादिसभायां (गो०)

सीता जी को प्राप्त कर वे बहुत सङ्कोच में पड़ गये। रा
जी ने सब के सामने सीता जी से कठोर वचन कहे॥ ८१॥

अमृष्यमाणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती।
ततोऽग्निवचनात्सीतां ज्ञात्वा विगतकल्मषाम् ॥ ८२ ॥

कठोर वचनों को न सह कर सीता जी ने जलती आग में प्रवेश
किया। तब अग्निदेव की साक्षी से सीता को निष्पाप मान॥ ८२॥

बभौ रामः संप्रहृष्टः पूजितः सर्वदेवतैः।
कर्मणा तेन महता त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ८३ ॥

सब देवताओं से पूजित श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए। हा
श्रीरामचन्द्र जी के इस कार्य से (रावणवध से) तीनों लोकों
चर अचर, ॥ ८३ ॥

सदेवर्षिगणं तुष्टं राघवस्य महात्मनः।
अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ॥ ८४ ॥

देव और ऋषि सन्तुष्ट हुए। तदनन्तर राक्षसराज विभीषण
लङ्का के राजसिंहासन पर बिठा॥ ८४॥

कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरःप्रमुमोद ह।
देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान् ॥ ८५ ॥

श्रीरामचन्द्र कृतार्थ हुए, सन्ताप से छूटे और हर्षित हुए।
ताओं से वर पा और मृत वानरों को फिर जीवित कर, ॥ ८५ ॥

अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः।
भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः ॥ ८६ ॥

सुग्रीव विभीषणादि सहित पुष्पक विमान में बैठ कर अयोध्या को रवाना हुए। भरद्वाज ऋषि के आश्रम में पहुँच सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ ८६ ॥

भरतस्यान्तिकं रामो हनूमन्तं व्यसर्जयत् ।
पुनराख्यायिकां[1] जल्पन्सुग्रीवसहितस्तदा ॥ ८७ ॥

हनुमान जी को भरत जी के पास भेजा फिर सुग्रीव से अपना पूर्व वृत्तान्त कहते हुए ॥ ८७ ॥

पुष्पकं तत्समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा ।
नन्दिग्रामे जटां हित्वा[2] भ्रातृभिः सहितोऽनघः[3] ॥८८॥

(श्रीरामचन्द्र) पुष्पक पर सवार हो नन्दिग्राम में पहुँचे। अच्छी तरह पिता की आज्ञा पालन करने वाले श्रीरामचन्द्र जी भाइयों सहित जटा विसर्जन कर अर्थात् बड़े बड़े बालों को कटवा ॥ ८८ ॥

रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ।
प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ॥ ८९ ॥

सीता को प्राप्त कर अयोध्या की राजगद्दी पर विराजे। श्रीरामचन्द्र जी के राज-सिंहासनासीन होने पर सब प्रजाजन आनन्दित सन्तुष्ट और पुष्ट तथा सुधार्मिक हो गये हैं ॥ ८९ ॥

निरामयो[4] ह्यरोगश्च[5] दुर्भिक्षभयवर्जितः ।
न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् ॥ ९० ॥

---

१ आख्यायिकां—पूर्ववृत्तकथां (गो०) २ हित्वा—शोधयित्वा (गो०)
३ अनघः—सम्यगनुष्ठितपितृवचनः ४ निरामयः—शरीररोगरहितः (गो०)
५ अरोगः—मानसव्याधिरहितः (गो०)

उनको न तो शारीरिक कोई व्यथा ही रही और न मानसिक चिन्ता रही और न दुर्भिक्ष का ही भय रह गया है। किसी पुरुष को पुत्रशोक नहीं होता ॥ ९० ॥

नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ।
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः ॥ ९१ ॥

और न कोई स्त्री कभी विधवा होती है और सब स्त्रियाँ पतिव्रता ही हैं न कभी किसी के घर में आग लगती है और न कोई जल में डूब कर ही मरता है ॥ ९१ ॥

न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा ।
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा ॥ ९२ ॥

इसी प्रकार न तो कभी आंधी तूफान से हानि होती है और न ज्वर आदि महामारी का भय उत्पन्न होता है। न कोई भूखों मरता है और न किसी के घर चोरी होती है ॥ ९२ ॥

नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ।
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ॥ ९३ ॥

राजधानी और राष्ट्र धन धान्य से भरे पूरे रहते हैं।* सब लोग उसी प्रकार आनन्द सहित दिन विताते हैं जैसे सत्ययुग में लोग विताया करते हैं ॥ ९३ ॥

अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ।
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति ॥ ९४ ॥

---

* यह रामायण उस समय बनी थी जिस समय श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक हो चुका था और वे राज्य कर रहे थे। इस लिये यहाँ पर वर्त्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है।

श्रीरामचन्द्र जी ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये हैं और ढेरों सुवर्ण का दान दिया है। नारद जी वाल्मीकि जी से कहते हैं, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी करोड़ों गौएँ दे कर वैकुण्ठ को जायँगे॥ ६४॥

असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्रह्मणेभ्यो महायशाः।
राजवंशाञ्शतगुणान्स्थापयिष्यति राघवः॥ ९५॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ब्राह्मणों को अपरमित धन दे कर, राजवंश की प्रथम से सौ गुनी अधिक उन्नति करेंगे॥ ६५॥

चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन्स्वेस्वे धर्मे नियोक्ष्यति।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥ ९६॥

और चारों वर्णों के लोगों को अपने अपने वर्णानुसार कर्त्तव्य पालन में लगावेंगे। ११,००० वर्ष,॥ ९६॥

रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति।
इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च संमितम्[1]॥
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ९७॥

फलस्तुति

राज्य कर, श्रीरामचन्द्र जी वैकुण्ठ जायँगे। इस पुनीत, पाप छुड़ाने वाले, पुण्यप्रद, रामचरित्र को जो पढ़ता है, वह सब पापों से छूट जाता है। क्योंकि यह सब वेदों के तुल्य है॥ ९७॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन्रामायणं नरः।
सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते[2]॥ ९८॥

---

१ वेदैश्चसंमितम्—सर्ववेदसदृशमित्यर्थः (गो०) २ महीयते—पूज्यते (गो०)

आयु बढ़ाने वाली बालरामायण की कथा को जो श्रद्धा भक्ति पूर्वक पढ़ता है, वह अन्त में पुत्र पौत्र और नौकर चाकरों सहित स्वर्ग में पूजा जाता है ॥ ९८ ॥

पठन्द्विजो वागृषभत्वमीया[1]-
त्स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥ ९९ ॥

इति प्रथमः सर्गः

इस बालरामायण को ब्राह्मण पढ़े तो वह वेद शास्त्रों में पारङ्गत हो, क्षत्रिय पढ़े तो पृथ्वीपति हो, वैश्य पढ़े तो उसका अच्छा व्यापार चले और शूद्र पढ़े तो उसका महत्व अर्थात् अपनी जाति में श्रेष्ठत्व बढ़े या उन्नति हो ॥ ९९ ॥

बालकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

[इन ९९ श्लोकों के प्रथमसर्ग ही का नाम "मूलरामायण या बाल-रामायण है । इसका स्वाध्याय प्रायः आस्तिक हिन्दू नित्य किया करते हैं । इसको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी पढ़ें, यह बात ९९ वें श्लोक से सिद्ध होती है ।]

—※—

द्वितीयः सर्गः

नारदस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः[2] ।
पूजयामास धर्मात्मा सहशिष्यो महामुनिः ॥ १ ॥

१ ईयात्—प्राप्नुयात् (गो०) २ वाक्यविशारदः—वाक्येविशारदो विद्वान् (गो०)

देवर्षि नारद के मुख से यह वृत्तान्त सुन चुकने पर, महर्षि वाल्मीकि ने अपने शिष्य भरद्वाज सहित नारद जी का पूजन किया ॥ १ ॥

यथावत्पूजितस्तेन [1]देवर्षिर्नारदस्तदा ।
आपृच्छ्यैवाभ्यनुज्ञातः स जगाम विहायसम्[2] ॥ २ ॥

देवर्षि नारद जी वाल्मीकि जी से यथाविधि पूजे जाकर और उनसे जाने की अनुमति प्राप्त कर, वहाँ से आकाश की ओर चले गये ॥ २ ॥

स मुहूर्तं गते तस्मिन्देवलोकं मुनिस्तदा ।
जगाम तमसातीरं जाह्नव्यास्त्वविदूरतः ॥ ३ ॥

वाल्मीकि जी, नारद जी के देवलोक चले जाने के दो घड़ी बाद, उस तमसा नदी के तट पर पहुँचे, जो श्रीगङ्गा जी से थोड़ी ही दूर पर थी ॥ ३ ॥

स तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा ।
शिष्यमाह स्थितं पार्श्वे दृष्ट्वा तीर्थमकर्दमम् ॥ ४ ॥

नदी के तट पर पहुँच और नदी का स्वच्छ जल (अर्थात् कीचड़ रहित) देख महर्षि वाल्मीकि जी पास खड़े हुए अपने शिष्य भरद्वाज से बोले ॥ ४ ॥

अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय[3] ।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु[4] सन्मनुष्यमनो यथा ॥ ५ ॥

---

१ "नारदायासुरर्षयः" । २ विहायसम्—आकाशं जगाम (गो०)
३ निशामय—पश्य (गो०) ४ प्रसन्नाम्बु—स्वच्छजलम् (गो०)

हे भरद्वाज ! देखो तो इस नदी का जल वैसा ही स्वच्छ और रम्य है जैसा सज्जन जन का मन ॥ ५ ॥

न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम ।
इदमेवावगाहिष्ये[1] तमसातीर्थमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे वत्स ! कलसे को तो ज़मीन पर रख दो और हमारा वल्कल वस्त्र हमें दो । हम इस उत्तम तीर्थ तमसा नदी में, स्नान करेंगे ॥ ६ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजो वाल्मीकेन महात्मना ।
प्रायच्छत[2] मुनेस्तस्य वल्कलं नियतो[3]गुरोः ॥ ७ ॥

महर्षि वाल्मीकि के इस कथन को सुन, उनके शिष्य भरद्वाज ने उनको वल्कल वस्त्र दिया ॥ ७ ॥

स शिष्यहस्तादादाय वल्कलं नियतेन्द्रियः ।
विचचार ह पश्यंस्तत्सर्वतो विपुलं वनम् ॥ ८ ॥

शिष्य के हाथ से वल्कल ले महर्षि विशाल वन की शोभा निरखते हुए टहलने लगे ॥ ८ ॥

तस्या[4]भ्याशे[5] तु मिथुनं चरन्तम[6]नपायिनम्[7] ।
ददर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिःस्वनम् ॥ ९ ॥

---

१ अवगाहिष्ये—अत्रैवस्नास्यामि (गो०) २ प्रायच्छत—प्रादात् (गो०)
३ गुरोर्नियतः—परतंत्रःभरद्वाजः (गो०) ४ तस्य—तीर्थस्य (गो०)
५ अभ्याशे—समीपे (गो०) ६ चरन्तम्—विहरन्तम् (रा०) ७ अनपायिनम्—वियोगशून्यम् (गो०)

नदी के समीप ही उस वन में महर्षि वाल्मीकि जी ने मीठी बोली बोलने वाले वियोगशून्य एवं विहार करते (जोड़ा खाते) हुए क्रौञ्च पक्षी के एक जोड़े को देखा ॥ ९ ॥

तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः[1] ।
जघान वैरनिलयो[2] निषादस्तस्य पश्यतः ॥ १० ॥

इतने में पक्षियों के शत्रु एक बहेलिये ने उस जोड़े में से नर क्रौञ्च पक्षी को वाल्मीकि जी के सामने ही मार डाला ॥ १० ॥

तं शोणितपरीताङ्गं वेष्टमानं महीतले ।
भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम् ॥ ११ ॥

तब उस क्रौञ्च पक्षी की मादा अपने नर को रक्त से लद फद और पृथिवी पर छटपटाते हुए देख, करुणस्वर से विलाप करने लगी ॥ ११ ॥

वियुक्ता पतिना तेन द्विजेन[3] सहचारिणा ।
ताम्रशीर्षेण मत्तेन पत्रिणा[4] सहितेन वै ॥ १२ ॥

वह क्रौञ्ची अब उस लाल चोटी वाले काममत्त और सम्भोग करने के लिये पर फैलाये हुए नर से रहित हो गयी अथवा उससे उसका वियोग हो गया ॥ १२ ॥

तथा तु तं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम् ।
ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत ॥ १३ ॥

---

१ पापनिश्चयः—रतिसमयेविघ्ननकरणात्क्रूरनिश्चयः (गो०) २ वैरनिलयः—अकारणगेहाश्रयः (रा०) ३ द्विजेन—पक्षिणा (गो०) ४ पत्रिणा—सम्भोगार्थं विस्तारितपत्रिणा (शि०)

बहेलिया द्वारा पक्षी को गिरा हुआ देख, धर्मात्मा ऋषि के मन में बड़ी दया आयी ॥ १३ ॥

ततः करुणवेदित्वादधर्मोऽयमिति द्विजः ।
निशाम्य रुदतीं क्रौंचीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

इस पाप पूरित हिंसा कर्म और विलाप करती हुई क्रौंची को देख, महात्मा वाल्मीकि ने यह कहा ॥ १४ ॥

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ १५ ॥

हे बहेलिये! तूने जो इस कामोन्मत्त नर पक्षी को मारा है, इस लिये अनेक वर्षों तक तू इस वन में मत आना; अथवा तुझे सुख शान्त न मिले ॥ १५ ॥

तस्यैवं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः ।
शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥ १६ ॥

यह कह चुकने पर और मन में इसका अर्थ विचारने पर, वाल्मीकि जी को बड़ी चिन्ता हुई कि, इस पक्षी के कष्ट से कष्टित हो, मैंने यह क्या कह डाला! ॥ १६ ॥

चिन्तयन्स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्[1]मतिम् ।
शिष्यं चैवाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥ १७ ॥

बड़े बुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ वाल्मीकि जी सोचने लगे, तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ ने निज शिष्य भरद्वाज से यह कहा ॥ १७ ॥

---

१ मतिमान्—शास्त्रज्ञानवान् (गो)

पादबद्धोऽक्षरशमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥ १८ ॥

देखो, यह श्लोक हमने मुख से शोकार्त्त हो निकाला है, इसमें चार पाद हैं, प्रत्येक पाद में समान अक्षर हैं और वीणा पर भी यह गाया जा सकता है। अतः यह यशोरूप हो अर्थात् यह प्रसिद्ध हो कर मेरा यश बढ़ावे, अपयश नहीं ॥ १८ ॥

शिष्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम् ।
प्रतिजग्राह संहृष्टस्तस्य तुष्टोऽभवद्गुरुः ॥ १९ ॥

वाल्मीकि जी के इस वचन को सुन, उनके शिष्य भरद्वाज ने अति प्रसन्न हो यह श्लोक कण्ठाग्र कर लिया। इस पर गुरु जी शिष्य पर प्रसन्न हुए ॥ १९ ॥

सोऽभिषेकं ततः कृत्वा तीर्थे तस्मिन्यथाविधि ।
तमेव चिन्तयन्नर्थमुपावर्तत वै मुनिः ॥ २० ॥

यथाविधि उस तीर्थ में स्नान कर और उसी बात को मन ही मन सोचते विचारते ऋषिप्रवर वाल्मीकि अपने आश्रम में लौट आये ॥ २० ॥

भरद्वाजस्ततः शिष्यो विनीतः श्रुतवान्[1] मुनिः ।
कलशं पूर्णमादाय पृष्ठतोऽनुजगाम ह ॥ २१ ॥

उनके पीछे पीछे अति नम्र और शास्त्रज्ञ भरद्वाज जी भी जल का भरा कलसा लिये हुए, चले आये ॥ २१ ॥

---

१ श्रुतवान्—शास्त्रवान्, अवधृतवान्वा (गो०)

स प्रविश्याश्रमपदं शिष्येण सह धर्मवित्[1] ।
उपविष्टः कथाश्चान्या[2]श्चकार ध्यानमास्थितः ॥२२॥

आश्रम में पहुँच और देवपूजनादि धर्मक्रियाएँ कर तथा शिष्य के सहित बैठ ऋषिप्रवर विविध पौराणिक कथाएँ मनोयोग पूर्वक कहने लगे ॥ २२ ॥

आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्ता स्वयं प्रभुः ।
चतुर्मुखो महातेजा द्रष्टुं तं मुनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥

इसी बीच में महातेजस्वी, चारमुखवाले, लोककर्त्ता ब्रह्मा जी वाल्मीकि जी से भेंट करने को उनके आश्रम में स्वयं पहुँचे ॥ २३ ॥

वाल्मीकिरथ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय वाग्यतः[3] ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा तस्थौ परमविस्मितः ॥ २४ ॥
पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः ।
प्रणम्य विधिवच्चैनं पृष्ट्वाऽनामयमव्ययम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मा जी को आते देख, वाल्मीकि जी झट उठ* खड़े हुए और नम्र हो उनको प्रणाम किया और अत्यन्त आदर पूर्वक आसन,

---

१ धर्मवित्—कृतदेवपूजादिधर्मः (गो०) २ अन्याकथाः—पुराणपारायणनि (गो०) ३ वाग्यतः—अतिसम्भ्रमवशाद्यतवाक् मौनव्रतेन प्रयतोऽस्ति नम्रः (रा०)

* बड़े लोगों को सामने देख लोग क्यों उठ खड़े होते हैं, इसका कारण एक श्लोक में यह बतलाया गया है ।

ऊर्ध्वं प्राणाह्युत्क्रमन्ते यूनः स्थविरआगते ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनःस्तान्प्रतिपद्यते । (गो०)

अर्घ्य, और पाद्यादि से उनकी यथाविधि पूजा कर कुशल पूँछी ॥ २४ ॥ २५ ॥

अथोपविश्य भगवानासने परमार्चिते ।
वाल्मीकये च ऋषये संदिदेशासनं ततः ॥ २६ ॥

पूजा ग्रहण कर, ब्रह्मा जी आसन पर विराजे और वाल्मीकि जी से भी बैठने को कहा ॥ २६ ॥

ब्रह्मणा समनुज्ञातः सोऽप्युपाविशदासने ।
उपविष्टे तदा तस्मिन्साक्षाल्लोकपितामहे ॥ २७ ॥

ब्रह्मा जी की आज्ञा पाकर, महर्षि भी बैठ गये। जब साक्षात् लोकपितामह ब्रह्मा जी आसन पर विराज चुके, ॥ २७ ॥

तद्गतेनैव मनसा वाल्मीकिर्ध्यानमास्थितः ।
पापात्मना कृतं कष्टं वैरग्रहणबुद्धिना ॥ २८ ॥

यस्तादृशं चारुरवं क्रौञ्चं हन्यादकारणात् ।
शोचन्नेव मुहुः क्रौञ्चीमुप श्लोकमिमं पुनः ॥ २९ ॥

तब महर्षि का ध्यान उसी बात की ओर गया कि, पापी बहेलिये ने वैरबुद्धि से आनन्द से बोलते हुए पक्षी का वध व्यर्थ ही कर डाला और क्रौंची की याद कर, वे बार बार वही श्लोक-अर्थात् "मानिषाद" पढ़ सोचने लगे ॥ २८ ॥ २९ ॥

जगावन्तर्गतमना भूत्वा शोकपरायणः ।
तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहस्य मुनिपुङ्गवम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार वाल्मीकि को चिन्तातुर और शोकान्वित देख, ब्रह्मा जी ने हँस कर कहा, ॥ ३० ॥

श्लोक एव त्वया बद्धो नात्र कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव[1] ते ब्रह्मन्प्रवृत्तेयं सरस्वती ॥ ३१ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ! यह तो तुमने श्लोक ही बना डाला है, इस पर कुछ विचार न कीजिये। मेरी ही प्रेरणा से या इच्छा से वह श्लोक तुम्हारे मुख से निकला है ॥ ३१ ॥

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम।
धर्मात्मनो गुणवतो लोके रामस्य धीमतः ॥ ३२ ॥

वृत्तं कथय वीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्।
रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥ ३३ ॥

लोकों में धर्मात्मा, गुणवान् और बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी के छिपे हुए अथवा प्रकट सम्पूर्ण चरित्रों का वर्णन, तुम वैसे ही करो जैसे कि, तुम नारद जी के मुख से सुन चुके हो ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

रामस्य सह सौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः।
वैदेह्याश्चैव यद्वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः ॥ ३४ ॥

तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्र, श्रीलक्ष्मण और श्रीजानकी जी के तथा राक्षसों के प्रकट अथवा गुप्त जो कुछ वृत्तान्त हैं—वे तुमको प्रत्यक्ष देख पड़ेंगे और इस काव्य में कहीं भी तुम्हारी कही हुई कोई बात मिथ्या न होगी ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

---

१ मच्छन्दादेव—मदभिप्रायादेव (गो०)

कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम् ।
यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ॥ ३६ ॥
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।
यावद्रामायणकथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति ॥ ३७ ॥
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं मल्लोकेषु निवत्स्यसि ।
इत्युक्त्वा भगवान्ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३८ ॥

अतएव तुम श्रीरामचन्द्र की मनोहर और पवित्र कथा श्लोकबद्ध (पद्यों में) बनाओ। जब तक इस धराधाम पर पहाड़ और नदियाँ रहेंगी, तब तक इस लोक में श्रीरामचन्द्र जी की कथा का प्रचार रहेगा और जब तक तुम्हारी रची हुई इस रामायण-कथा का प्रचार रहेगा, तब तक तुम भी मेरे बनाये हुए लोकों में से जब तक शरीर रहेगा तब तक पृथिवी पर और तदनन्तर ऊपर के लोक में स्थिर रहोगे। यह कह कर ब्रह्मा जी वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

ततः सशिष्यो भगवान्मुनिर्विस्मयमाययौ ।
तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः[1] श्लोकमिमं पुनः ॥ ३९ ॥

यह देख महर्षि को तथा उनके शिष्यों को बड़ा आश्चर्य हुआ। महर्षि के शिष्य प्रसन्न हो बार बार वह श्लोक पढ़ने लगे ॥ ३६ ॥

मुहुर्मुहुः प्रीयमाणा प्राहुश्च भृशविस्मिताः ।
समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो[2] महर्षिणा ॥ ४० ॥

वे प्रसन्न हो और बड़े विस्मित हो, आपस में कहने लगे कि, महर्षि ने समान अक्षरों और चार पद वाले जिस श्लोक में महाशोक

1 पुनर्जगुः—पुनःकथितवन्तः। 2 गीतः—उक्तः (गो०)

प्रकट किया है उसको बार बार पढ़ने से वह तो श्लोक ही बन गया है ॥ ४० ॥

सोऽनुव्याहरणाद्भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ।
तस्य बुद्धिरियं जाता वाल्मीकेर्भावितात्मनः[1] ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम् ॥४१॥

तदनन्तर अपने मन में परमात्मा का चिन्तन करते हुए वाल्मीकि जी की समझ में यह बात आयी कि, इसी ढंग के श्लोकों में, मैं सारा रामायणकाव्य बनाऊँ ॥ ४१ ॥

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमै-
स्ततः स रामस्य चकार कीर्त्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो
यशस्करं काव्यमुदारधीर्मुनिः ॥ ४२ ॥

यह विचार, यशस्वी वाल्मीकि जी परम उदार और अति मनोहर श्रीरामचन्द्र जी का चरित्र, समान अक्षर वाले तथा यश को बढ़ाने वाले श्लोकों में वर्णन करने लगे ॥ ४२ ॥

तदुपगतसमाससंधियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ४३ ॥

इति द्वितीयः सर्गः

---

1 भावितात्मनः—चिन्तितपरमात्मनः (गो०)

सन्धियों समासों तथा अन्य व्याकरण के अंगों से सम्पन्न, मधुर और प्रसन्न करने वाले वाक्यों से युक्त, श्रीरामचरित्र एवं रावणवध रूपी काव्य को महर्षि वाल्मीकि जी ने लोकोपकारार्थ रचा ॥ ४३ ॥

बालकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ—

—*—

तृतीयः सर्गः

—:: * ::—

श्रुत्वा वस्तु[1] समग्रं तद्धर्मात्मा धर्मसंहितम्[2] ।
व्यक्तमन्वेषते भूयो यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥ १ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का देने वाला, बुद्धिमान श्रीरामजी का चरित्र, नारद जी के मुख से सुन और उससे भी अधिक चरित्र जानने की कामना से, ॥ १ ॥

उपस्पृश्योदकं सम्यङ्मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः ।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणा[3]न्वीक्षते गतिम्[4] ॥ २ ॥

जल से हाथ पैर धो, आचमन कर, हाथ जोड़, कुशासन पर पूर्व की ओर मुख कर बैठे हुए महर्षि, योगबल से श्रीरामचन्द्रादि के चरित्रों को देखने लगे ॥ २ ॥

रामलक्ष्मणसीताभी राज्ञा दशरथेन च ।
सभार्येण सराष्ट्रेण यत्प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥ ३ ॥

---

१ वस्तु—कथाशरीरं (गो०) २ धर्मसंहितम्—धर्मसहितम् (गो०)
३ धर्मेण—ब्रह्मप्रसादरूपश्रेयस्साधनेन (गो०), योगजबलेन (रा०) ४ गतिम्—रामादिवृत्तं (गो०)

हसितं भाषितं चैव गतिर्या यच्च चेष्टितम् ।
तत्सर्वं धर्मवीर्येण[1] यथावत्संप्रपश्यति ॥ ४ ॥
स्त्रीतृतीयेन च तथा यत्प्राप्तं चरता वने ।
सत्यसंधेन रामेण तत्सर्वं चान्ववेक्षितम् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण, सीता और कौशिल्यादि सहित महाराज दशरथ का और सम्पूर्ण राज्यमण्डल का जो कुछ हँसना, बोलना, आदि वृत्तान्त और चरित्र थे और सत्यव्रत श्रीरामचन्द्र जी ने वन में जो कुछ चरित किये थे सो महर्षि वाल्मीकि को ब्रह्मा जी के वरदान के प्रभाव से ज्यों के त्यों सब देख पड़ने लगे ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः ।
पुरा यत्तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा ॥ ६ ॥

योगाभ्यास द्वारा महर्षि वाल्मीकि ने उन सब चरित्रों को जो पहले हो चुके थे, हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह देखा ॥ ६ ॥

तत्सर्वं तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महाद्युतिः ।
अभिरामस्य रामस्य चरितं कर्तुमुद्यतः ॥ ७ ॥

सब वृत्तान्तों को ब्रह्मा जी के वरदान के प्रभाव से यथार्थतः (ज्यों का त्यों) जान लेने के पश्चात् महाद्युतिमान् महर्षि वाल्मीकि लोकाभिराम श्रीराम जी के चरित्रों को श्लोकबद्ध करने के लिये तत्पर हुए ॥ ७ ॥

कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम् ।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम् ॥ ८ ॥

---

१ धर्मवीर्येण—ब्रह्मवरप्रसादशक्त्या (गो०)

स यथा कथितं पूर्वं नारदेन महर्षिणा ।
रघुनाथस्य चरितं चकार भगवानृषिः ॥ ९ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने वाला समुद्र की तरह रत्नों से भरा पूरा और सुनने से मन को हरने वाला; श्रीरामचन्द्र जी का चरित्र जैसा कि नारद जी से सुन चुके थे, वैसा ही महर्षि वाल्मीकि जी ने बनाया ॥ ८ ॥ ९ ॥

जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम् ।
लोकस्य प्रियतां क्षान्तिं सौम्यतां सत्यशीलताम् ॥१०॥
नानाचित्रकथाश्चान्या विश्वामित्रसहासने ।
जानक्याश्च विवाहं च धनुषश्च विभेदनम् ॥११॥

श्रीरामचन्द्र का जन्म, उनका पराक्रम, सब का उन पर प्रसन्न रहना, उनके किये लोक-प्रिय कार्य, उनकी क्षमा, सौम्यता, सत्यशीलतादि-गुण-सम्पन्नता, विश्वामित्र की सहायता करना, विश्वामित्र का श्रीरामचन्द्र जी से नाना प्रकार की कथाएँ कहना वा उनका सुनना, धनुष का तोड़ना, जानकी जी के साथ उनका विवाह होना, ॥ १० ॥ ११ ॥

रामरामविवादं च गुणान्दाशरथेस्तथा ।
तथा रामाभिषेकं च कैकेय्या दुष्टभावताम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी व परशुराम जी का वादविवाद, श्रीरामचन्द्र जी के गुण तथा उनके राज्याभिषेक की तैयारियाँ, कैकेयी का उसमें बाधा डालना, ॥ १२ ॥

विघातं चाभिषेकस्य रामस्य च विवासनम् ।
राज्ञः शोकविलापं च परलोकस्य चाश्रयम् ॥ १३ ॥

अभिषेक के कार्य्य में विघ्न का पड़ना, श्रीरामचन्द्र जी का वनगमन, महाराज दशरथ का विलाप तथा उनका परलोक-गमन, ॥ १३ ॥

प्रकृतीनां विषादं च प्रकृतीनां विसर्जनम् ।
निषादाधिपसंवादं सूतोपावर्तनं तथा ॥ १४ ॥

अयोध्यावासियों का शोकविह्वल होना, फिर उनका मार्ग से अयोध्या को लौट आना, निषादराज का संवाद, सुमन्त की बिदाई, ॥ १४ ॥

गङ्गायाश्चापि संतारं भरद्वाजस्य दर्शनम् ।
भरद्वाजाभ्यनुज्ञानाच्चित्रकूटस्य दर्शनम् ॥ १५ ॥

श्री रामचन्द्रादि का श्री गङ्गा जी के पार उतरना, भरद्वाज जी का दर्शन, उनकी अनुमति से चित्रकूट गमन, ॥ १५ ॥

वास्तुकर्म[1] निवेशं च भरतागमनं तथा ।
प्रसादनं च रामस्य पितुश्च सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥

वहाँ (चित्रकूट में) शास्त्रोक्त विधि से पर्णकुटी बना कर उसमें वास करना । भरत जी का श्रीराम जी के मनाने के लिये आगमन, श्रीराम जी का पिता को जलदान, ॥ १६ ॥

पादुकाग्र्याभिषेकं च नन्दिग्रामनिवासनम् ।
दण्डकारण्यगमनं विराधस्य वधं तथा ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की पादुकाओं का भरत जी द्वारा अभिषेक । उनका अर्थात् पादुकाओं का राजसिंहासन पर अभिषेक कर नन्दि-

---

1 वास्तुकर्म—शास्त्रोक्तप्रकारेणयथोचितमन्दिरनिर्माणं (गो०)

ग्राम में रह अयोध्या का शासन करना, श्रीरामचन्द्र जी का दण्ड-कारण्य-गमन, विराध-वध, ॥ १७ ॥

दर्शनं शरभङ्गस्य सुतीक्ष्णेनापि संगतिम् ।
अनसूयानमस्यां च अङ्गरागस्य चार्पणम् ॥ १८ ॥

शरभङ्ग का दर्शन, सुतीक्ष्ण से भेंट, अनुसूया जी से मिलना और उनके द्वारा सीता जी को अंगराग का दिया जाना, ॥ १८ ॥

अगस्त्यदर्शनं चैव जटायोरभिसंगमम् ।
पञ्चवट्याश्च गमनं शूर्पणख्याश्च दर्शनम् ॥ १९ ॥

अगस्त्य जी का दर्शन, जटायु से भेंट, पंचवटी में जाना, शूर्पनखा का दिखलाई पड़ना, ॥ १९ ॥

शूर्पणख्याश्च संवादं विरूपकरणं तथा ।
वधं खरत्रिशरसोरुत्थानं[1] रावणस्य च ॥ २० ॥

शूर्पनखा से बातचीत और उसको विरूप करना, खर त्रिशिरादि का मारा जाना (वध) रावण का निकलना, ॥ २० ॥

मारीचस्य वधं चैव वैदेह्या हरणं तथा ।
राघवस्य विलापं च गृध्रराजनिवर्हणम् ॥ २१ ॥

मारीचवध, सीताहरण, श्रीरामचन्द्र जी का (सीता के वियोग में) विलाप करना, जटायु की रावण द्वारा हिंसा, ॥ २१ ॥

कबन्धदर्शनं चैव पम्पायाश्चापि दर्शनम् ।
शबर्या दर्शनं चैव हनूमद्दर्शनं तथा ॥ २२ ॥

---

१ उत्थानं—निर्गमनम् (गो०)

कबंध का मिलना व पंपासर देखना, शवरी का मिलना और हनुमान से भेंट होना, ॥ २२ ॥

ऋश्यमूकस्य गमनं सुग्रीवेण समागमम् ।
प्रत्ययोत्पादनं सख्यं वालिसुग्रीवविग्रहम् ॥ २३ ॥

ऋष्यमूक पर्वत पर गमन, सुग्रीव से समागम, सुग्रीव को वालि-वध का विश्वास दिलाना, उनके साथ मैत्री का होना, वालि-सुग्रीव की लड़ाई, ॥ २३ ॥

वालिप्रमथनं चैव सुग्रीवप्रतिपादनम् ।
ताराविलापं समयं वर्षरात्रनिवासनम् ॥ २४ ॥

वालि का वध, सुग्रीव का राज्याभिषेक, तारा का विलाप, वर्षाऋतु में पर्वत पर श्रीरामचन्द्र जी का निवास, ॥ २४ ॥

कोपं राघवसिंहस्य बलानामुपसंग्रहम् ।
दिशः प्रस्थापनं चैव पृथिव्याश्च निवेदनम् ॥ २५ ॥

सुग्रीव पर श्रीरामचन्द्र जी का कोप, वानरी सेना को जमा करना । वानरों को सीता जी का पता लगाने के लिये भूमण्डल का वृत्तान्त समझा कर भेजा जाना, ॥ २५ ॥

अंगुलीयकदानं च ऋक्षस्य बिलदर्शनम् ।
प्रायोपवेशनं चापि संपातेश्चैव दर्शनम् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का हनुमान जी को अंगूठी देना, वानरों का (स्वयंप्रभा के) बिल में प्रवेश, उपवासादि कर समुद्रतट पर मृत्यु की आकांक्षा करना, सम्पाति का दर्शन, ॥ २६ ॥

पर्वतारोहणं चैव सागरस्य च लङ्घनम् ।
समुद्रवचनाच्चैव मैनाकस्यापि दर्शनम् ॥ २७ ॥

पर्वत पर हनुमान जी का चढ़ना, और सागर का नांघना, समुद्र के कथनानुसार मैनाक पर्वत का समुद्रजल के ऊपर निकलना, ॥ २७ ॥

सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कामलयदर्शनम् ।
रात्रौ लङ्काप्रवेशं च एकस्यापि विचिन्तनम् ॥ २८ ॥

छायाग्रहण करने वाली सिंहिका राक्षसी का वध, लङ्का को देखना, रात्रि में हनुमान जी का लङ्का में प्रवेश करना, अकेले सोचना, ॥ २८ ॥

दर्शनं रावणस्यापि पुष्पकस्य च दर्शनम् ।
आपानभूमिगमनमवरोधस्य[1] दर्शनम् ॥ २९ ॥

रावण का देखना, पुष्पक विमान को देखना, उस घर में जहाँ रावण शराब पीता था वहाँ हनुमान जी का जाना और अन्तःपुर अर्थात् रावण की स्त्रियों के रहने की जगह का अवलोकन, ॥ २९ ॥

अशोकवनिकायानं सीतायाश्चापिदर्शनम् ।
राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्नदर्शनम् ॥ ३० ॥

अशोकवाटिका में जाकर सीता जी का दर्शन करना, राक्षसियों का सीता जी को डराना, त्रिजटा राक्षसी का स्वप्न देखना, ॥ ३० ॥

अभिज्ञानप्रदानं च सीतायाश्चाभिभाषणम् ।
मणिप्रदानं सीताया वृक्षभङ्गं तथैव च ॥ ३१ ॥

---

१ अवरोधस्य —अन्तःपुरस्य (गो०)

हनुमान जी का सीता जी को पहिचान की अंगूठी देना, सीता जी के साथ हनुमान जी की बातचीत, सीता जी का हनुमान जी को चूड़ामणि देना, हनुमान जी द्वारा अशोकवाटिका के वृक्षों का नष्ट किया जाना, ॥ ३१ ॥

राक्षसीविद्रवं चैव किङ्कराणां निबर्हणम् ।
ग्रहणं वायुसूनोश्च लङ्कादाहाभिगर्जनम् ॥ ३२ ॥

राक्षसियों का भागना, और रावण के नौकरों का मारा जाना, हनुमान जी का पकड़ा जाना तथा हनुमान जी के द्वारा गरज गरज कर लङ्का का दग्ध किया जाना, ॥ ३२ ॥

प्रतिप्लवनमेवाथ मधूनां हरणं तथा ।
राघवाश्वासनं चैव मणिनिर्यातनं[1] तथा ॥ ३३ ॥

समुद्र को पुनः नांघना, मधुवन के मधु फल को खाना, श्रीरामचन्द्र जी को धीरज बंधाना, तथा उनको चूड़ामणि का दिया जाना, ॥ ३३ ॥

संगमं च समुद्रेण नलसेतोश्च बन्धनम् ।
प्रतारं च समुद्रस्य रात्रौ लङ्कावरोधनम् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का समुद्र तट पर पहुँचना, और नल नील का समुद्र पर पुल बांधना, समुद्र के पार होना, रात्रि में लङ्का को घेरना, ॥ ३४ ॥

विभीषणेन संसर्गं वधोपायनिवेदनम् ।
कुम्भकर्णस्य निधनं मेघनादनिबर्हणम् ॥ ३५ ॥

---

१ मणिनिर्यातनम्—रामायचूड़ामणिप्रदानं (गो०)

रावण के भाई विभीषण का श्रीरामचन्द्र जी से समागम होना, और रावण के वध का उपाय बतलाना, कुम्भकर्ण का मारा जाना और मेघनाद का वध, ॥ ३५ ॥

रावणस्य विनाशं च सीताप्राप्तिमरेः[1] पुरे ।
विभीषणाभिषेकं च पुष्पकस्य निवेदनम् ॥ ३६ ॥

रावण का नाश तथा शत्रुपुरी लङ्का में सीता जी का मिलना, विभीषण का लङ्का की राजगद्दी पर अभिषेक, पुष्पक विमान का विभीषण द्वारा श्रीरामचन्द्र जी को भेंट में दिया जाना, ॥ ३६ ॥

अयोध्यायाश्च गमनं भरतेन समागमम् ।
रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का अयोध्यागमन, वहाँ भरत से समागम, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक तथा वानरी सेना की विदाई, ॥३७॥

स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्यांश्च विसर्जनम् ।
अनागतं च यत्किंचिद्रामस्य वसुधातले ।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ ३८ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

श्रीराम जी का, राज्य सिंहासनासीन होने पर प्रजाजन को खुशी करना, वैदेही का त्याग, इनके अतिरिक्त श्रीरामचन्द्र जी ने इस भूमण्डल पर और जो जो चरित्र आगे किये, उन सब का वर्णन भी इस काव्य में भगवान् वाल्मीकि जी ने किया ॥ ३८ ॥

बालकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

---

१ अरेः पुरे इति शौर्यातिशयोक्तिः उत्तरत्रचान्वयः (गो०)

चतुर्थः सर्गः

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान् ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या के राज-सिंहासन पर आसीन हो चुके थे, तब महर्षि वाल्मीकि जी ने विचित्र पदों से युक्त इस सम्पूर्ण काव्य की रचना की ॥ १ ॥

[नोट—इस श्लोक से स्पष्ट है कि, यह इतिहास श्रीरामचन्द्र जी का समकालीन इतिहास है।]

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
तथा सर्गशतान्पञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम् ॥ २ ॥

चौबीस हज़ार श्लोक पाँच सौ सर्ग, छः काण्ड और साथ ही उत्तरकाण्ड की भी रचना महर्षि ने की ॥ २ ॥

कृत्वापि तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम् ।
चिन्तयामास को न्वेतत्प्रयुञ्जीयादिति प्रभुः[1] ॥ ३ ॥

इस प्रकार जब वे छः काण्ड और उत्तरकाण्ड बना चुके तब वे विचारने लगे कि यह काव्य पढ़ावें किसे ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेषौ कुशीलवौ ॥ ४ ॥

वे यह सोच ही रहे थे कि, इतने में कुश और लव ने आकर वाल्मीकि जी के चरण छूए ॥ ४ ॥

---

१ प्रयुञ्जीयात्—वाग्विधेयं कुर्यात् इतिचिन्तयामास (गो०)

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसंपन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ॥ ५ ॥

उन यशस्वी धर्मात्मा दोनों राजपुत्रों (श्रीरामचन्द्र जी के पुत्रों) को महर्षि ने देखा जिनका कण्ठस्वर बड़ा मधुर था और जो उन्हीं के आश्रम में उन दिनों वास करते थे ॥ ५ ॥

स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥ ६ ॥

बुद्धिमान और वेदों में निष्ठा रखने वाले जान कर, वेद के अर्थ को श्लोकों में प्रकट कर, महर्षि ने उन दोनों को वह काव्य पढ़ाया ॥ ६ ॥

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्यवधमित्येव चकार चरितव्रतः ॥ ७ ॥

महर्षि ने सीताराम के सम्पूर्ण चरित रावणवध के वृत्तान्त सहित इस काव्य का नाम "पौलस्त्यवध" काव्य रखा ॥ ७ ॥

[नोट—रावण का जन्म पुलस्त्य ऋषि के वंश में हुआ था, अतः रावण को पौलस्त्य भी कहते हैं। पौलस्त्यवध अर्थात् रावण का वध, जिसमें वर्णन किया गया वह पौलस्त्यवध काव्य कहलाया।]

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्बद्धं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ ८ ॥

यह चरित्र पढ़ने तथा गाने में मधुर, तीनों प्रमाणों से युक्त अर्थात् द्रुत, मध्य, विलंबित सहित), सातों स्वरों से बंधा हुआ, और वीणादि बजा कर गाने योग्य है ॥ ८ ॥

हास्यशृङ्गारकारुण्यरौद्रवीरभयानकैः ।
बीभत्सादिभुतसंयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥ ९ ॥

शृङ्गार, करुणा, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर, वीभत्स, अद्भुत शान्त ; इन नव रसों से युक्त काव्य को कुश और लव ने गाया ॥ ९ ॥

तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ मूर्छनास्थानकोविदौ ।
भ्रातरौ स्वरसंपन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ ॥ १० ॥

वे दोनों राजकुमार गान विद्या में निपुण, ताल और स्वर को भली भाँति जानने वाले, स्वरसम्पन्न और गन्धर्वों की तरह सुन्दर थे ॥ १० ॥

रूपलक्षणसंपन्नौ मधुरस्वरभाषिणौ ।
बिम्बादिवोद्धृतौ बिम्बौ रामदेहात्तथापरौ ॥ ११ ॥

सुस्वरूप और सुलक्षणों से सम्पन्न, मीठे कण्ठ वाले दोनों राजकुमार ऐसे जान पड़ते थे, मानों श्रीरामचन्द्र की देह के प्रतिबिम्ब अलग रखे हों ॥ ११ ॥

तौ राजपुत्रौ कार्त्स्न्येन धर्माख्यानमनुत्तमम् ।
वाचो विधेयं[1] तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ ॥१२॥

प्रशंसनीय उन दोनों राजकुमारों ने अत्युत्तम धर्म को बतलाने वाले रामायणकाव्य को बार बार पढ़ कर कण्ठाग्र कर डाला ॥ १२ ॥

ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे ।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥ १३ ॥

वे ऋषि, ब्राह्मण और साधुओं के सामने रामचरित्र को जैसा कि उन्हें बतलाया गया था, बड़ी सावधानी से गाया करते थे ॥१३॥

---

१ वाचोविधेयं—आवृत्तिबाहुल्येनवाग्वशवर्ति कृत्वा (गो०)

महात्मानौ महाभागौ सर्वलक्षणलक्षितौ ।
तौ कदाचित्समेतानामृषीणां भावितात्मनाम्[1] ॥१४॥

आसीनानां समीपस्थाविदं काव्यमगायताम् ।
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणाः ॥ १५ ॥

एक बार अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के अश्वमेधयज्ञ में, महात्मा महाभाग तथा सर्वलक्षणयुक्त दोनों भाइयों ने प्रौढ़-विचार-सम्पन्न महात्मा ऋषियों की सभा में बैठ कर यह काव्य गाया, जिसको सुन कर मुनियों के शरीर रोमाञ्चित हो गये और उनके नेत्रों से आँसू टपकने लगे ॥ १४ ॥ १५ ॥

साधु साध्विति चाप्यूचुः परं विस्मयमागताः ।
ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः ॥ १६ ॥

व आश्चर्य चकित हो "साधु साधु" कह कर उन दोनों राजकुमारों की प्रशंसा करते हुए वे धर्मवत्सल ऋषि, अत्यानन्दित हुए ॥ १६ ॥

प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायन्तौ तौ कुशीलवौ ।
अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ॥ १७ ॥

उन गाते हुए प्रशंसा करने योग्य राजकुमारों की प्रशंसा कर, वे बोले कि, गान बड़ा मधुर है और श्लोकों का माधुर्य तो बहुत अधिक चढ़ बढ़ कर है ॥ १७ ॥

चिरनिर्वृत्तमप्येतत्प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।
प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथा भावमगायताम् ॥ १८ ॥

---

१ भावितात्मनाम्—निश्चितधियं (गो०)

क्योंकि बहुत दिनों की बीती घटना प्रत्यक्ष की तरह दिखलाई सी पड़ती है। इस प्रकार ऋषियों द्वारा प्रशंसित दोनों राजकुमार उनके मन के भावानुकूल ॥ १८ ॥

सहितौ मधुरं रक्तं[1] संपन्नं स्वरसंपदा ।
एवं प्रशस्यमानौ तौ तपःश्लाघ्यैर्महात्मभिः ॥ १९ ॥

अति मधुर वाणी से अर्थात् राग से उस काव्य को गाने लगे। उसे सुन ऋषियों ने उन गाने वालों की बड़ी बड़ाई की ॥ १९ ॥

संरक्ततरमत्यर्थमधुरं तावगायताम् ।
प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां सस्मितः कलशं ददौ ॥२०॥

प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद्ददौ ताभ्यां महातपाः ।
अन्यः कृष्णाजिनं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः ॥२१॥

कश्चित्कमण्डलुं प्रादाद्यज्ञसूत्रमथापरः ।
औदुम्बरीं बृसीमन्यो जपमालामथापरः ॥ २२ ॥

आयुष्यमपरे चोचुर्मुदा तत्र महर्षयः ।
आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना संप्रकीर्तितम् ॥ २३ ॥

राग सहित मधुर कण्ठ से गाने वाले उन राजकुमारों के मधुर गान पर प्रसन्न हो, सुनने वालों में से किसी ने हँस कर उनको कलसा, किसी ने वल्कल, किसी ने मृगचर्म, किसी ने यज्ञोपवीत, किसी ने कमण्डलु, किसी ने मौंजी मेखला, किसी ने आसन विशेष, किसी ने कौपीन, किसी ने कुल्हाड़ी, किसी ने काषाय वस्त्र, किसी ने चीर, किसी ने जटा बाँधने का डोरा, किसी ने कोई

---

१ रक्तं—रागयुक्तं (गो०)

यज्ञपात्र, और किसी ने माला दी। किसी ने प्रसन्न हो कर स्वस्ति और आयुष्मान कह कर आशीर्वाद ही दिया। इस आश्चर्यप्रद काव्य के प्रणेता की प्रशंसा कर वे कहने लगे, ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

परं कवीनामाधारं समाप्तं च यथाक्रमम्।
अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतेषु कोविदौ ॥ २४ ॥

यह काव्य पीछे के कवियों का आधार स्वरूप है और यथाक्रम समाप्त किया गया है। यह ग्रन्थ जैसा अद्भुत है वैसा ही गीत-विशारद इन दोनों राजकुमारों ने इसे गाया भी है ॥ २४ ॥

आयुष्यं पुष्टिजनकं सर्वश्रुतिमनोहरम्।
प्रशस्यमानौ सर्वत्र कदाचित्तत्र गायनौ ॥ २५ ॥

यह काव्य श्रोताओं की आयु बढ़ाने वाला तथा उनकी पुष्टि करने वाला और सुनने से सब के मन को हरने वाला है। इस प्रकार मुनियों से प्रशंसित दोनों राजकुमारों को, ॥ २५ ॥

रथ्यासु राजमार्गेषु ददर्श भरताग्रजः।
स्ववेश्म चानीय ततो भ्रातरौ च कुशीलवौ ॥ २६ ॥

राजमार्ग पर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने देखा और वे उन दोनों भाई कुश और लव को अपने भवन में लिवा ले गये ॥ २६ ॥

पूजयामास पूजार्हौ रामः शत्रुनिवर्हणः।
आसीनः काञ्चने दिव्ये स च सिंहासने प्रभुः ॥२७॥

शत्रु का नाश करने वाले श्रीराम जी ने घर पर उन सत्कार करने योग्य दोनों कुमारों का भली भाँति आदर सत्कार किया और आप सुवर्ण के दिव्य सिंहासन पर बैठे ॥ २७ ॥

उपोपविष्टः सचिवैर्भ्रातृभिश्च परंतपः ।
दृष्ट्वा तु रूपसंपन्नौ तावुभौ नियतस्तदा ॥ २८ ॥

मंत्रियों व भाइयों सहित बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी उन रूपवान और सुशिक्षित दोनों भाइयों को देख कर ॥ २८ ॥

उवाच लक्ष्मणं रामः शत्रुघ्नं भरतं तथा ।
श्रूयतामिदमाख्यानमनयोर्देववर्चसोः[1] ॥ २९ ॥

लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरत से कहने लगे कि, इन देव समान तेजस्वी, गायकों के गान किये हुए इतिहास को सुनो ॥ २९ ॥

विचित्रार्थपदं सम्यग्गायनौ समचोदयत् ।
तौ चापि मधुरं व्यक्तं स्वञ्चितायतनिःस्वनम् ।
तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम् ॥ ३० ॥

इसमें नाना प्रकार के विचित्र अर्थ सहित पद हैं, यह कह उन्होंने उन बालकों को अच्छे प्रकार गाने की आज्ञा दी। तब उन दोनों ने उस भली भाँति सीखे हुए काव्य को वीणा के साथ स्वर मिला कर ऊँचे स्वर में स्पष्ट गाया ॥ ३० ॥

ह्लादयत्सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च ।
श्रोत्राश्रयसुखं गेयं तद्बभौ जनसंसदि ॥ ३१ ॥

उस सभा में बैठे हुए लोगों के मन और हृदय उस गान को सुन कर अत्यन्त आल्हादित हो गये ॥ ३१ ॥

इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ
कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ ।

---

[1] देववर्चसोः—देवतुल्यतेजसोः (गो०)

ममापि तद्भूतिकरं प्रचक्षते
महानुभावं चरितं निबोधत ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी कहने लगे कि, राजलक्षणों से युक्त इन बड़े तपस्वी कुश और लव ने प्रभावोत्पादक जो चरित गाये हैं वे मुझे बहुत अच्छे जान पड़ते हैं ॥ ३२ ॥

ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदिता-
वगायतां मार्गविधानसंपदा ।
स चापि रामः परिषद्गतः शनै-
र्बुभूषया सक्तमना बभूव ह ॥ ३३ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्रोत्साहित हो, दोनों भाई, गायन विद्या की रीति को सरसा कर, बड़ी अच्छी तरह गाने लगे। सभा में बैठे श्रीरामचन्द्र उनका गान सुन धीरे धीरे उनके गान पर मोहित हो गये ॥ ३३ ॥

चौथा सर्ग पूरा हुआ

—※—

पञ्चमः सर्गः

—※—

सर्वा पूर्व[1]मियं येषामासीत्कृत्स्ना वसुंधरा ।
प्रजापतिमुपादाय[2] नृपाणां जयशालिनाम् ॥ १ ॥

१ अपूर्वं—दुर्लभं (गो०) २ उपादाय—आरभ्य (गो०)

राजा वैवस्वत मनु आदि जयशाली राजाओं के समय से यह सप्तद्वीपात्मिका अखिल पृथ्वी, अपूर्व ही चली आती है, अथवा महात्मा मनु जी से लेकर जयशाली राजाओं के समय से इस सप्तद्वीपात्मिका समस्त पृथिवीमण्डल पर एकछत्र शासन रहा है ॥ १ ॥

येषां स सगरो नाम सागरो येन खानितः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तं पर्यवारयन्[1] ॥ २ ॥

जिस वंश में वे सगर नाम के राजा हुए, जिनके साथ साठ हज़ार पुत्र चला करते थे और जिन्होंने समुद्र खोदा था (समुद्र का सागर नाम सगर राजा ही से हुआ है) ॥ २ ॥

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम् ।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम् ॥ ३ ॥

उन महात्मा इक्ष्वाकुवंश वाले राजाओं के वंश में यह महाकथा उत्पन्न हुई है, जो रामायण के नाम से जगत में प्रसिद्ध है (अर्थात् इसमें उन्हीं सगर राजा के वंश वालों का इतिहास दिया गया है) ॥ ३ ॥

तदिदं वर्तयिष्यामि[2] सर्वं निखिलमादितः ।
धर्मकामार्थसहितं श्रोतव्य[3]मनसूयया[4] ॥ ४ ॥

१ पर्यवारयन्—परितोऽगच्छन् (गो०) २ वर्तयिष्यामि—प्रवर्तयिष्यामि (गो०) ३ श्रोतव्यं—नतुत्त्वयंलिखितपाठेननिरीक्षितव्यं (गो०) ४ अनसूयया—असूयाभिन्नया श्रद्धयेत्यर्थः (गो०)

उसी रामायण की कथा को हम आद्यन्त (आदि से अन्त तक) कहेंगे। अतः इसे ईर्ष्या अर्थात् डाह को छोड़ अर्थात् श्रद्धा सहित सुनना चाहिये* ॥ ४ ॥

कोसलो नाम मुदितः[1] स्फीतो[2] जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ५ ॥

सरयू नदी के तट पर सन्तुष्ट जनों से पूर्ण धनधान्य से भरा पूरा, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त, कोसल नामक एक बड़ा देश था ॥ ५ ॥

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥ ६ ॥

इसी देश में मनुष्यों के आदिराजा प्रसिद्ध महाराज मनु की नगरी बसाई हुई, तीनों लोकों में विख्यात अयोध्या नामक एक थी ॥ ६ ॥

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥ ७ ॥

यह महापुरी बारह योजन (४८ कोस यानी ९६ मील) चौड़ी थी। नगरी में बड़ी सुन्दर लंबी और चौड़ी सड़कें थीं ॥ ७ ॥

---

१ मुदितः—सन्तुष्टजनः (गो०) २ स्फीतः—समृद्धः (गो०)

* इस श्लोक का भाव यह है कि, यह ग्रन्थ ब्रह्मा जी का बनाया हुआ होने के कारण, मुझे केवल इसके प्रचार करने का अधिकार है। अतः विचारशीलों को इसे मेरा बनाया हुआ समझ इस ग्रन्थ से डाह न करना चाहिये, किन्तु श्रद्धा भक्ति के साथ इसे सुनना चाहिये।

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता ।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥ ८ ॥

वह पुरी चारों ओर फैली हुई बड़ी बड़ी सड़कों से सुशोभित थी। सड़कों पर नित्य जल छिड़का जाता था और फूल बिछाये जाते थे ॥ ८ ॥

तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः ।
पुरीमावासयामास दिवं देवपतिर्यथा ॥ ९ ॥

इन्द्र की अमरावती की तरह महाराज दशरथ ने उस पुरी को सजाया था। इस पुरी में राज्य को खूब बढ़ाने वाले महाराज दशरथ उसी प्रकार रहते थे जिस प्रकार स्वर्ग में इन्द्र वास करते हैं ॥ ९ ॥

कवाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम् ।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुपेतां सर्वशिल्पिभिः ॥ १० ॥

इस पुरी में बड़े बड़े तोरण द्वार (पौलें) सुन्दर बाज़ार और नगरी की रक्षा के लिये चतुर शिल्पियों द्वारा बनाए हुए सब प्रकार के यंत्र और शस्त्र रखे हुए थे ॥ १० ॥

सूतमागधसंबाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम् ।
उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसंकुलाम् ॥ ११ ॥

उस में सूत, मागध वंदीजन भी रहते थे, वहाँ के निवासी अतुल धन सम्पन्न थे, उसमें बड़ी बड़ी ऊँची अटारियों वाले मकान, जो ध्वजा पताकाओं से शोभित थे, बने हुए थे, और परकोटे की दीवालों पर सैकड़ो तोपें चढ़ी हुई थीं ॥ ११ ॥

वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् ।
उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम् ॥ १२ ॥

स्त्रियों की नाट्य समितियों की भी उसमें कमी नहीं थी और सर्वत्र जगह जगह पार्क यानी उद्यान थे और आम के बाग़ नगरी की शोभा बढ़ा रहे थे। नगर के चारों ओर सालुओं के लंबे लंबे वृक्ष लगे हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों अयोध्या रूपिणी स्त्री करधनी पहने हो ॥ १२ ॥

दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम् ।
वाजिवारणसंपूर्णां गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा ॥ १३ ॥

यह नगरी दुर्गम किले और खाई से युक्त थी तथा उसे किसी प्रकार भी शत्रु जन अपने हाथ नहीं लगा सकते थे। हाथी घोड़े बैल ऊँट खच्चर जगह जगह देख पड़ते थे ॥ १३ ॥

सामन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम् ।
नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥ १४ ॥

करद राजाओं और पहलवानों का यहाँ सदा जमाव रहता था। उस पुरी में अनेक देशों के लोग व्यापारादि धंधों के लिये बसते थे ॥ १४ ॥

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरुपशोभिताम् ।
कूटागारैश्च[1] संपूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥ १५ ॥

रत्न खचित महलों और पर्वतों से वह पुरी शोभायमान हो रही थी। वहाँ पर स्त्रियों के क्रीड़ागृह भी बने हुए थे, जिनकी सुन्दरता देख यही जान पड़ता था मानों यह दूसरी अमरावती पुरी है ॥ १५ ॥

---

१ कूटागारैः—स्त्रीणांक्रीडागृहैः (गो०)

चित्रा[1]मष्टा[2]पदाकारां वरनारीगणैर्युताम् ।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम् ॥ १६ ॥

राजभवनों का सुनहला रंग था । नगरी में सुन्दर स्वरूपवती स्त्रियां रहती थीं । रत्नों के ढेर वहां लगे रहते थे और आकाशस्पर्शी सतखने मकान (विमान गृह) जहां देखो वहां दिखलाई पड़ते थे ॥ १६ ॥

गृहगाढामविच्छिद्रां समभूमौ निवेशिताम् ।
शालितण्डुलसंपूर्णामिक्षुदण्डरसोदकाम् ॥ १७ ॥

उसमें चौरस भूमि पर बड़े मज़बूत और सघन मकान अर्थात बड़ी सघन बस्ती थी । नगरी में साठी के चांवलों के ढेर लगे हुए थे और कुओं में गन्ने के रस जैसा मीठा जल भरा हुआ था ॥ १७ ॥

दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा ।
नादितां भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम् ॥ १८ ॥

नगाड़े, मृदङ्ग, वीणा, पनस आदि बाजों की ध्वनि से नगरी सदा प्रतिध्वनित हुआ करती थी । पृथ्वीतल पर तो इसकी टक्कर की दूसरी नगरी थी नहीं ॥ १८ ॥

विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि ।
सुनिवेशित[3]वेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम् ॥ १९ ॥

---

१ चित्रां—नानाराजगृहवर्ती (गो०) । २ अष्टापदाकारां—अष्टापदं सुवर्णं तज्ज्लेन कृतः आकारः अलङ्कारो यस्याहृत्येके (रा०) ३ सुनिवेशिताः—सुष्ठु-निर्मिताः (गो०)

उस पुरी में, तप द्वारा स्वर्ग में गये हुए सिद्ध पुरुषों के विमानों जैसे सुन्दर घर बने हुए थे, जिनमें उत्तम कोटि के मनुष्य रहा करते थे ॥ १६ ॥

ये च बाणैर्न विध्यन्ति विविक्तमपरावरम् ।
शब्दवेध्यं च विततं[1] लघुहस्ता विशारदाः ॥ २० ॥

उसमें ऐसे भी वीर थे जो असहाय और युद्ध छोड़ कर भागने वाले शत्रु का कभी वध नहीं करते थे, जो शब्दवेधी बाण चलाते थे, जो बाण चलाने में बड़े फुर्तीले थे तथा जो अस्त्र-शस्त्र-विद्या में पूर्ण निपुण थे ॥ २० ॥

सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नर्दतां वने ।
हन्तारो निशितैर्बाणैर्बलाद्बाहुबलैरपि ॥ २१ ॥

सिंह, व्याघ्र, वराह आदि वन्य पशु जो वनों में दहाड़ते हुए घूमा करते थे, उनको अस्त्र शस्त्रों से तथा उनके साथ मल्लयुद्ध करके उनको मारने वाले भी वीर इस नगरी में अनेक थे। अर्थात् हस्तलाघवता में तथा शारीरिक बल में यहाँ के वीरगण बहुत चढ़े बढ़े थे ॥ २१ ॥

तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः ।
पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा ॥ २२ ॥

ऐसे हज़ारों महारथी वहाँ रहते थे । महाराज दशरथ ने इस प्रकार से अयोध्यापुरी बसायी थी ॥ २२ ॥

तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां
द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः ।

---

1 विततं—पलायितं च (गो०)

सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभि-
र्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः[1] ॥ २३ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

अयोध्यापुरी में सहस्रों साग्निक (नित्य अग्निहोत्र करने वाले द्विज) सब प्रकार के गुणी, षडङ्ग वेद का पारायण करने वाले विद्वान् ब्राह्मण, सत्यवादी महात्मा और जप तप में निरत हज़ारों ऋषि महात्मा ही मुख्यतया वास करते थे ॥ २३ ॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षष्ठः सर्गः

—:o:—

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित्सर्वसंग्रहः ।
दीर्घदर्शी[2] महातेजाः पौरजानपदप्रियः ॥ १ ॥
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मरतो वशी ।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २ ॥
बलवान्निहतामित्रो मित्रवान्विजितेन्द्रियः ।
धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः ॥ ३ ॥
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता ।
तथा दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ॥ ४ ॥

---

१ केवलैः—मुख्यैः (वि०) २ दीर्घदर्शी—चिरकालभाविपदार्थद्रष्टुशीलमस्यास्तीति तथा (गो०)

उस अयोध्यापुरी में वेदवेदार्थ जानने वाले, सब वस्तुओं का संग्रह करने वाले (सत्य संग्रहः—धर्म का विचार रखते हुए सब का संग्रह करने वाले) सत्यप्रतिज्ञ, दूरदर्शी, महातेजस्वी, प्रजाप्रिय, इक्ष्वाकुवंश में महारथी, अनेक यज्ञ करने वाले, धर्म में रत सब को अपने वश में रखने वाले, महर्षियों के समान, राजर्षि, तीनों लोकों में प्रसिद्ध, बलवान, शत्रुरहित, सब के मित्र, इन्द्रियों को वश में रखने वाले, धनादि तथा अन्य वस्तुओं के सञ्चय करने में इन्द्र और कुबेर के समान, महाराज दशरथ ने, अयोध्यापुरी में राज्य करते हुए उसी प्रकार प्रजापालन किया जिस प्रकार महाराज मनु किया करते थे ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

तेन सत्याभिसंधेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता ।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती ॥ ५ ॥

सत्यसन्ध, तथा त्रिवर्ग प्राप्ति (धर्म, अर्थ और काम) के लिये अनुष्ठानादि करने वाले महाराज दशरथ अयोध्यापुरी का पालन उसी प्रकार करते थे, जैसे इन्द्र अपनी अमरावती पुरी का करते हैं ॥ ५ ॥

तस्मिन्पुरवरे हृष्टा[1] धर्मात्मानो बहुश्रुताः ।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः ॥ ६ ॥

उस श्रेष्ठ अयोध्यापुरी में सुख से बसने वाले, धर्मात्मा बहुश्रुत अर्थात् बहुत सा ज़माना देखे भाले हुए, अपने अपने धन से सन्तुष्ट, निर्लोभी, तथा सत्यवादी पुरुष रहते थे ॥ ६ ॥

नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत्तस्मिन्पुरोत्तमे ।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान् ॥ ७ ॥

१ हृष्टाः—वाससौख्येनप्रीताः (गो०)

उस उत्तम पुरी में ग़रीब यानी धनहीन तो कोई था ही नहीं, बल्कि कम धन वाला भी कोई न था, वहाँ जितने कुटुम्ब वाले लोग बसते थे, उन सब के पास धन धान्य, गाय, बैल, और घोड़े थे ॥ ७ ॥

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः ॥८॥

अयोध्यापुरी में लम्पट, कायर, नृशंस, मूर्ख, नास्तिक आदमी तो ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते थे ॥ ८ ॥

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः ।
उदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः ॥ ९ ॥

अयोध्यावासी क्या स्त्री और क्या पुरुष, सब के सब धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे। वे अपने शुद्ध और निष्कलङ्क आचरणों में निष्पाप महर्षियों से टक्कर लेते थे अर्थात् इन बातों में वहाँ के रहने वाले सब लोग ऋषियों के समान थे ॥ ९ ॥

नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नाल्प[1]भोगवान् ।
नामृष्टो[2] नानुलिप्ताङ्गो नासुगन्धश्च विद्यते ॥ १० ॥

वहाँ ऐसा एक भी जन नहीं था जो कानों में कुण्डल, सिर पर मुकुट तथा गले में पुष्प माला धारण न करता हो, और जो तेल, फुलेल, चन्दन न लगाता हो या जो हर प्रकार से सुखी न हो। ऐसा तो कोई भी न था जिसके (स्वच्छता न रहने के कारण) शरीर से बदबू निकलती हो ॥ १० ॥

---

१ अल्पभोगवान्—अल्पसुखवान् (गो०) २ मृष्टः—अभ्यङ्गस्नान-शुद्धः (गो०)

नामृष्ट[१]भोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक् ।
नाहस्ताभरणो वाऽपि दृश्यते नाप्यनात्मवान् ॥ ११ ॥

वहाँ ऐसा एक भी जन न था जो *अशुद्ध अन्न खाता हो (द॰ अच्छे पदार्थ न खाता हो) या जो भूखे को अन्न न देता हो या जिसके गले और हाथों में सोने के गहने न हों या जिसने अपने मन को न जीत रखा हो ॥ ११ ॥

नानाहिताग्निर्नायज्वा[२] न क्षुद्रो वा न तस्करः ।
कश्चिदासीदयोध्यायां न च निर्वृत्तसंकरः[३] ॥ १२ ॥

अयोध्या में न तो कोई पुरुष ऐसा ही था जिसे अग्निहोत्र वलिवैश्वदेव करना चाहिये और न करता हो या जो क्षुद्रचेता यानी नीच स्वभाव का हो, या चोर हो, या वर्णसङ्कर हो ॥ १२ ॥

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥ १३ ॥

वहाँ पर तो अपने वर्णाश्रम धर्मों का नित्य अनुष्ठान करने वाले, जितेन्द्रिय, दान और अध्ययनशील तथा दान (प्रतिग्रह) लेने में हिचकने वाले ब्राह्मण वसते थे ॥ १३ ॥

न नास्तिको नानृतको न कश्चिदबहुश्रुतः ।
नासूयको न चाऽशक्तो नाविद्वान्विद्यते क्वचित् ॥ १४ ॥

---

१ नामृष्टभोजी—अशुद्धान्नभोजी (शि०) २ नायज्वा—सोमयागरहितश्च (शि०) ३ निर्वृत्तसङ्कराः—निर्वृत्तः अनुष्ठितः, सङ्करः परक्षेत्रेबीजावापादिर्येन सः (गो०)

* वलिवैश्वदेवादि कर्म किये विना अन्न शुद्ध नहीं होता ।

अयोध्या में न तो कोई नास्तिक ही था, न कोई असत्यवादी था, न कोई अल्प अनुभवी था, न कोई परनिन्दाप्रिय था, न कोई अशक्त था और न कोई अशिक्षित मूर्ख ही था ॥ १४ ॥

नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो[1] नासहस्रदः[2] ।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन ॥१५॥

वहाँ न कोई ऐसा ही द्विज था जो नित्य षडङ्गवेद का स्वाध्याय न करता हो, या जो एकादशी आदि व्रतों को न रखता हो, या जो पढ़ाने में कोताई करता हो, या दीन हो या पागल हो, या व्यथित हो, अथवा दुखिया हो ॥ १५ ॥

कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान्नाप्यरूपवान् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ॥१६॥

अयोध्या में वसने वाले क्या पुरुष और क्या स्त्रियाँ कोई भी निर्धन और कुरूप न थीं । उस पुरी में ऐसा भी कोई पुरुष नहीं देख पड़ता था, जो राजभक्त न हो कर राजद्रोही हो ॥ १६ ॥

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः ।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥ १७ ॥

वहाँ तो चारों वर्ण वाले लोग वसते थे, जो देवता और अतिथियों का पूजन किया करते थे, जो कृतज्ञ, वदान्य, (वचन को पूरा करने वाले, दाननिपुण) शूरवीर और विक्रमशाली थे ॥ १७ ॥

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः ।
सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ॥ १८ ॥

---

१ एकादश्यादिव्रतःरहितः (वि०) । २ नासहस्रदः—अबहुप्रदः (गो०)

सब अयोध्यावासी दीर्घआयु वाले, धर्म और सत्य का आश्रय लेने वाले, पुत्र, पौत्र और स्त्रियों से भरे पूरे थे ॥ १८ ॥

क्षत्रं ब्रह्ममुखं[1] चासीद्वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः ।
शूद्राः स्वधर्मं निरतास्त्रीन्वर्णानुपचारिणः ॥ १९ ॥

वहाँ के क्षत्रियगण ब्राह्मणों के आज्ञाकारी, वैश्यगण क्षत्रियों के अनुवर्ती (अर्थात् कहने में चलने वाले) और शूद्रगण अपने वर्ण धर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति के लोगों की सेवा करने वाले थे ॥ १९ ॥

सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता ।
यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता ॥ २० ॥

महाराज दशरथ उसी प्रकार अयोध्यापुरी का पालन किया करते थे, जिस प्रकार उनके पूर्वज बुद्धिमान नरेन्द्र महाराज मनु कर चुके थे ॥ २० ॥

योधानामग्निकल्पानां पेशलानां[2] अमर्षिणम् ।
संपूर्णा कृतविद्यानां गुहा केसरिणामिव ॥ २१ ॥

अग्नि के समान तेजस्वी, सरलचित्त, शत्रु बल को न सहने वाले, अस्त्र शस्त्र परिचालन में निपुण योद्धाओं से अयोध्यापुरी उसी प्रकार भरी हुई थी, जिस प्रकार पर्वत-कन्दराएं सिंहों से भरी हुई होती हैं ॥ २१ ॥

काम्भोजविषये जातैर्बाह्लीकैश्च हयोत्तमैः ।
वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः ॥ २२ ॥

---

१ ब्रह्ममुखं—ब्राह्मणप्रधानंआसीत् (गो०) २ पेशलानाम्—अकुटिलानाम् ।

इन्द्र के घोड़ों के समान कम्बोज, वाल्हीक, वनायुज और सिन्धु नदी के समीपवर्ती देशों में उत्पन्न हुए घोड़ों की जाति के उत्तमोत्तम घोड़ों से अयोध्यापुरी सुशोभित थी ॥ २२ ॥

विन्ध्यपर्वतजैर्मत्तैः पूर्णा हैमवतैरपि ।
मदान्वितैरतिबलैर्मातङ्गैः पर्वतोपमैः ॥ २३ ॥
ऐरावतकुलीनैश्च महापद्मकुलैस्तथा ।
अञ्जानादपि निष्पन्नैर्वामनादपि च द्विपैः ॥ २४ ॥
भद्रैर्मन्द्रैर्मृगैश्चैव भद्रमन्द्रमृगैस्तथा ।
भद्रमन्द्रैर्भद्रमृगैर्मृगमन्द्रैश्च सा पुरी ॥ २५ ॥
नित्यमत्तैः सदा पूर्णा नागैरचलसंनिभैः ।
सा योजने च द्वे भूयः सत्यनामा प्रकाशते ॥ २६ ॥

विन्ध्याचल और हिमालय पर्वतों में उत्पन्न मदमस्त, अति बलशाली तथा पहाड़ों की नाईं ऊँचे और महापद्म कुल वाले; भद्र, मन्द्र और मृग जाति वाले और इन तीनों जातियों के मिश्रित लक्षणयुक्त; भद्रमन्द्र, भद्रमृग और मृगमन्द्र—इन दो दो जातियों के मिश्रित लक्षण युक्त, पर्वताकार हाथियों से भरी, दो योजन वाली, अपने नाम को सार्थक करने वाली अयोध्यापुरी थी। (अयोध्या का अर्थ है—जिससे कोई युद्ध न कर सके अर्थात् अजेया) ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

यस्यां दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ।
तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान् ।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥

इस प्रकार की अयोध्या नगरी में महाराज दशरथ रह कर राज्य करते थे। उस पुरी में महाराज दशरथ राज्य करते हुए उसी प्रकार शोभायमान होते थे, जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा ॥ २७ ॥

तां सत्यनामां दृढतोरणार्गलां
गृहैर्विचित्रैरुपशोभितां शिवाम्।
पुरीमयोध्यां नृसहस्रसंकुलां
शशास वै शक्रसमो महीपतिः ॥ २८ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

अपने नाम को चरितार्थ करने वाली अयोध्यापुरी में, जो दृढ़ तोरण अर्गलादि से युक्त थी, जिसमें चित्र विचित्र घर बने हुए थे और जिसमें हज़ारों धनी मनुष्य वास करते थे, महाराज दशरथ इन्द्र की तरह राज्य करते थे ॥ २८ ॥

वालकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तमः सर्गः

—:o:—

तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाकोस्तु महात्मनः।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः ॥ १ ॥

उन इक्ष्वाकुवंशोद्भव महाराज दशरथ के मंत्रिगण, सर्वगुण सम्पन्न, सत्परामर्श देने में निपुण, अपने स्वामी (अर्थात् महाराज दशरथ) के मन की गति को समझने वाले, अर्थात् इशारों

पर काम करने वाले और महाराज की सदा भलाई चाहने वाले थे ॥ १ ॥

अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः ।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥ २ ॥

महाराज दशरथ के मंत्रिमण्डल में आठ मंत्री थे। वे सब बड़े यशस्वी, ईमानदार और नित्य राज्यकार्य में निरत रहने वाले थे ॥२॥

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थो ह्यर्थसाधकः ।
अशोको मन्त्रपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽभवत् ॥ ३ ॥

आठ मंत्रियों के नाम ये थे—(१) धृष्टि, (२) जयन्त (३) विजय (४) सिद्धार्थ (५) अर्थसाधक (६) अशोक (७) मंत्रपाल और (८) सुमंत्र ॥ ३ ॥

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥ ४ ॥

इनके अतिरिक्त ऋषिवर्य वशिष्ठ, और वामदेव * महाराज को यज्ञ भी कराते थे और मंत्रिपद का भी काम करते थे ॥ ४ ॥

विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला नियतेन्द्रियाः ।
परस्परानुरक्ताश्च नीतिमन्तो बहुश्रुताः ॥ ५ ॥

श्रीमन्तश्च महात्मानः शास्त्रज्ञा दृढविक्रमाः ।
कीर्तिमन्तः प्रणिहिता यथावचनकारिणः ॥ ६ ॥

---

* किसी किसी रामायण की पुस्तक में सुयज्ञ, जावालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, और कात्ययन महर्षियों को भी कुलपरम्परा से महाराज दशरथ के मंत्रिमण्डल में सम्मिलित लिखा है ।

तेजःक्षमायशःप्राप्ताः स्मितपूर्वाभिभाषिणः ।
क्रोधात्कामार्थहेतोर्वा न ब्रूयुरनृतं वचः ॥ ७ ॥

तेषामविदितं किंचित्स्वेषु नास्ति परेषु वा ।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम् ॥ ८ ॥

कुशला व्यवहारेषु सौहृदेषु परीक्षिताः ।
प्राप्तकालं तु ते दण्डं धारयेयुः सुतेष्वपि ॥ ९ ॥

ये सव मंत्री विद्या-विनय-सम्पन्न, सलज्ज, कार्य-कुशल, जितेन्द्रिय, आपस में सद्भाव रखने वाले, नीतिविशारद, बड़े अनुभवी, धन सम्पत्ति से भरे पूरे, महात्मा, शास्त्र के मर्म को जानने वाले, वड़े पराक्रमी, प्रसिद्ध, (जागरुक) सावधान, राजा के कथनानुसार कार्य करने वाले अथवा अपने वात के धनी (जो कहै वही करै भी) तेजस्वी, क्षमावान्, यशस्वी और सदा प्रसन्न मुख हो वचन कहने वाले, क्रोध अथवा लोभवश हो कभी झूठ न वोलने वाले थे। अपनी प्रजा तथा दूसरे राज्यों की प्रजा का कोई भी हाल इन मंत्रियों से छिपा न था, क्योंकि वे चरों द्वारा सव वृत्तान्त जानते रहते थे। वे व्यवहारकुशल, सौहार्द्र में जाँचे हुए और अन्याय कार्य करने पर अपने पुत्र को भी न्यायोचित दण्ड देने वाले थे ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ६ ॥

कोशसंग्रहणे युक्ता वलस्य च परिग्रहे ।
अहितं वापि पुरुषं न विहिंस्युरदूषकम् ॥ १० ॥

वे सव मंत्री अर्थ और सैन्य विभागों के कामों में चतुर, निरपराध शत्रु को भी न सताने वाले थे ॥ १० ॥

वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुव्रताः ।
शुचीनां रक्षितारश्च नित्यं विषयवासिनाम् ॥ ११ ॥

वे वीर और उत्साह को नियमित रखने वाले, राजनीति में निपुण और राज्य में बसने वाले पवित्रात्माओं की रक्षा करने वाले थे ॥ ११ ॥

ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समवर्धयन् ।
सुतीक्ष्णदण्डा संप्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम् ॥ १२ ॥

वे ब्राह्मणों और क्षत्रियों को बिना सताये ही राजकोष की वृद्धि करने वाले थे, और अपराधी का बलाबल विचार कर कठोर दण्ड की व्यवस्था करने वाले थे ॥ १२ ॥

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां संप्रजानताम् ।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित् ॥१३॥

कश्चिन्न दुष्टस्तत्रासीत्परदाररतो नरः ।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद्राष्ट्रं पुरवरं च तत् ॥ १४ ॥

मंत्रियों में परस्पर ऐक्य और आतङ्क ऐसा था कि, राजधानी और राज्य भर में न तो कोई झूठा और न कोई लम्पट और दुराचारी ही मनुष्य रहने पाता था। राज्य भर में अमनचैन विराजता था ॥ १३ ॥ १४ ॥

सुवाससः सुवेषाश्च ते च सर्वे सुशीलिनः ।
हितार्थं च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा ॥ १५ ॥

वे लोग अच्छे वस्त्र पहनते थे और अच्छा वेशभूषा रखते थे तथा बड़े सुशील थे। वे सदा राजा का हित चाहने वाले और नीति से चलने वाले थे ॥ १५ ॥

गुरौ गुणगृहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमे ।
विदेशेष्वपि विख्याताः सर्वतो बुद्धिनिश्चयात् ॥१६॥

वे अच्छे गुणों के ग्राहक, और प्रसिद्ध पराक्रमी थे। वे अपने बुद्धिबल से विदेशस्थ पुरुषों के भी गुण दोष ताड़ लेने के लिये विख्यात थे ॥ १६ ॥

संधिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या संपदान्विताः ।
मन्त्रसंवरणे युक्ताः श्लक्ष्णाः सूक्ष्मासु बुद्धिषु ॥१७॥

वे संधि और विग्रह की नीति के मर्मज्ञ, वास्तविक संपत्ति वाले राजकाज सम्बन्धी सलाह को छिपा कर रखने वाले, प्रतिभावान् और सूक्ष्म विचार करने के लिये सदा तत्पर रहते थे ॥ १७ ॥

नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः ।
ईदृशैस्तैरमात्यैश्च राजा दशरथोऽनघः ॥ १८ ॥

उपपन्नो गुणोपेतैरन्वशासद्वसुंधराम् ।
अवेक्षमाणश्चारेण प्रजा धर्मेण रञ्जयन् ॥ १९ ॥

वे नीति शास्त्र के विशेषज्ञ और सदैव प्रियवचन बोलने वाले थे, इस प्रकार के गुणयुक्त मन्त्रिमण्डल से युक्त, महाराज दशरथ भेदिया पुलिस द्वारा राज्य के समाचार जान कर, प्रजा का मनोरंजन करते हुए, पृथ्वी पर राज्य करते थे ॥ १८ ॥ १९ ॥

प्रजानां पालनं कुर्वन्नधर्मं परिवर्जयन् ।
विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु वदान्यः सत्यसंगरः ॥ २० ॥

वे अधर्म त्याग कर प्रजा का पालन करते थे। वे सत्य बोल और वदान्यता के लिये तीनों लोकों में विख्यात थे ॥ २० ॥

स तत्र पुरुषव्याघ्रः शशास पृथिवीमिमाम् ।
नाध्यगच्छद्विशिष्टं वा तुल्यं वा शत्रुमात्मनः ॥२१॥

वे पुरुषसिंह महाराज दशरथ इस पृथ्वी का शासन करते हुए, अपने से अधिक व अपने समान, शत्रु को कभी न देखते थे ॥ २१ ॥

मित्रवान्नतसामन्तः प्रतापहतकण्टकः ।
स शशास जगद्राजा दिवं देवपतिर्यथा ॥ २२ ॥

अपने अधीनस्थ छोटे राजाओं से सम्मानित और मित्रों से युक्त महाराज दशरथ, अपने प्रताप से इन्द्र की तरह राज्य करते थे ॥ २२ ॥

तैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रहिते नियुक्तै-
र्वृतोऽनुरक्तैः कुशलैः समर्थैः ।
स पार्थिवो दीप्तिमवाप युक्त-
स्तेजोमयैर्गोभिरिवोदितोऽर्कः ॥ २३ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

हितकारी, तेजस्वी, समर्थ, अनुरागी, मंत्रियों सहित, महाराज दशरथ अयोध्या को रक्षा करते हुए, सूर्य की तरह तपते थे ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टमः सर्गः

—:※:—

तस्य त्वेवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद्वंशकरः सुतः ॥ १ ॥

ऐसे प्रतापी, धर्मज्ञ महाराज दशरथ के तपस्या करने पर भी वंशवृद्धि करने वाला कोई पुत्र न था ॥ १ ॥

चिन्तयानस्य तस्येयं बुद्धिरासीन्महात्मनः ।
सुतार्थी वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम् ॥ २ ॥

तब बुद्धिमान महाराज दशरथ ने मन में सोचा कि, मैं पुत्र-प्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ क्यों न करूँ ॥ २ ॥

स निश्चितां मतिं कृत्वा यष्टव्यमिति बुद्धिमान् ।
मन्त्रिभिः सह धर्मात्मा सर्वैरेव कृतात्मभिः ॥ ३ ॥

इस प्रकार यज्ञ करने का भली भाँति निश्चय करके, परमज्ञानी महाराज ने अपने बुद्धिमान् मंत्रियों को बुलाया ॥ ३ ॥

ततोऽब्रवीदिदं राजा सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तमम् ।
शीघ्रमानय मे सर्वान्गुरूंस्तान्सपुरोहितान् ॥ ४ ॥

सब मंत्रियों में श्रेष्ठ सुमंत्र से महाराज दशरथ ने कहा कि, तुम हमारे सब गुरुओं और पुरोहितों को शीघ्र बुला लाओ ॥ ४ ॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ।
समानयत्स तान्सर्वान्गुरूंस्तान्वेदपारगान् ॥ ५ ॥

शीघ्रगामी सुमंत्र अति शीघ्र उन सब वेदपारग गुरुओं को बुला लाये ॥ ५ ॥

सुयज्ञं वामदेवं च जावालिमथ काश्यपम् ।
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः ॥ ६ ॥

सुयज्ञ, वामदेव, जावालि, काश्यप, और पुरोहित वशिष्ठ के अतिरिक्त अन्य उत्तम ब्राह्मणों को भी सुमंत्र बुला ले गये ॥ ६ ॥

तान्पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ।
इदं धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

उन सब का धर्मात्मा महाराज दशरथ ने सम्मान किया और धर्म और अर्थ युक्त उनसे यह मधुर वचन कहे ॥ ७ ॥

मम लालप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् ।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥ ८ ॥

पुत्र के लिये बहुत विलाप करने पर भी मुझे पुत्रसुख प्राप्त नहीं हुआ। इस लिये पुत्रप्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ करने की मेरी इच्छा है ॥ ८ ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
कथं प्राप्स्याम्यहं कामं बुद्धिरत्र विचार्यताम् ॥ ९ ॥

किन्तु मैं शास्त्र की विधि के अनुसार यज्ञ करना चाहता हूँ। आप लोग सोच विचार कर बतलावें कि हमारी इष्टसिद्धि किस प्रकार हो सकती है ॥ ९ ॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखेरितम् ॥ १० ॥

महाराज के यह वचन सुन कर, सब उपस्थित ब्राह्मणों ने महाराज के विचार की प्रशंसा की, और वशिष्ठादि बोले कि, आपने बहुत अच्छा कार्य करना विचारा है ॥ १० ॥

ऊचुश्च परमप्रीताः सर्वे दशरथं वचः ।
संभाराः संभ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥ ११ ॥

वे सब अत्यन्त प्रसन्न हो महाराज से बोले कि, यज्ञ की सामग्री एकत्र करके घोड़ा छोड़िये ॥ ११ ॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।
सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव ॥ १२ ॥

सरयू नदी के उत्तर तट पर यज्ञमण्डप बनवाइये। हे राजन्! ऐसा करने से आपका पुत्र-प्राप्ति का मनोरथ अवश्य पूरा होगा ॥ १२ ॥

यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ।
ततः प्रीतोऽभवद्राजा श्रुत्वैतद्द्विजभाषितम् ॥ १३ ॥

पुत्र-प्राप्ति के लिये आपने यह उपाय बहुत ही अच्छा विचारा है। उन ब्राह्मणों की ये बातें सुन महाराज दशरथ प्रसन्न हुए ॥१३॥

अमात्यांश्चाब्रवीद्राजा हर्षपर्याकुलेक्षणः ।
संभाराः संभ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह ॥ १४ ॥

और प्रसन्न हो मंत्रियों को आज्ञा दी कि मेरे गुरु की आज्ञा के अनुसार यज्ञ की तैयारियाँ की जायँ ॥ १४ ॥

समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम् ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥ १५ ॥

उपाध्याय के साथ समर्थ रक्षकों सहित घोड़ा छोड़ा जाय, और सरजू के तटपर यज्ञ के लिये स्थान ठीक किया जाय ॥ १५ ॥

शान्तयश्चाभिवर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि ।
शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ॥ १६ ॥

विघ्ननिवारक क्रियाकलाप यथाक्रम और यथाविधि किये जाँय। क्योंकि सब राजाओं के लिये अश्वमेध यज्ञ करना सहज काम नहीं है ॥ १६ ॥

नापराधो भवेत्कष्टो यद्यस्मिन्क्रतुसत्तमे ।
छिद्रं हि मृगयन्तेऽत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ॥ १७ ॥

एक बात का ध्यान रखा जाय कि, इस यज्ञ की विधि पूरी करने में न तो कोई अपचार हो और न किसी को कष्ट होने पावे। यदि कहीं ऐसा हुआ तो छिद्रान्वेषी विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञ में बड़ा विघ्न खड़ा कर देंगे ॥ १७ ॥

विहतस्य च यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ।
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ॥ १८ ॥

विधिहीन यज्ञ करने से यज्ञकर्त्ता का नाश होता है। अतएव विधिपूर्वक यज्ञ पूरा होना चाहिये ॥ १८ ॥

यथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ।
तथेति चाब्रुवन्सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन् ॥ १९ ॥

आप लोग ऐसा प्रयत्न करें जिससे यह यज्ञ यथाविधि हो। यह कार्य आप ही लोगों पर निर्भर है। महाराज के इन वचनों को सुन सब मंत्री लोगों ने कहा—"जो आज्ञा," ॥ १९ ॥

पार्थिवेन्द्रस्य तद्वाक्यं यथाज्ञप्तं निशम्य ते ।
तथा द्विजास्ते धर्मज्ञा वर्धयन्तो नृपोत्तमम् ॥ २० ॥

अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ।
विसर्जयित्वा तान्विप्रान्सचिवानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं यथावत्क्रतुराप्यताम् ।
इत्युक्त्वा नृपशार्दूलः सचिवान्समुपस्थितान् ॥ २२ ॥

विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः ।
ततः स गत्वा ताः पत्नीर्नरेन्द्रो हृदयप्रियाः ॥ २३ ॥

ब्राह्मणगण भी महाराज को आशीर्वाद दे और महाराज से विदा मांग अपने अपने घरों को लौट गये। ब्राह्मणों को विदा कर महाराज अपने मंत्रियों से कहने लगे—ऋत्विजों ने जैसी विधि बतलाई है यह यज्ञ उसी विधि के अनुसार निर्विघ्न पूरा हो—इसका भार आप ही लोगों पर है। यह कह कर महाराज ने उपस्थित मंत्रियों को भी विदा किया और आप भी वहां से उठ कर रनिवास में चले गये और अपनी प्राणप्यारी रानियों से बोले ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

उवाच दीक्षां विशत यक्ष्येऽहं सुतकारणात् ।
तासां तेनातिकान्तेन वचनेन सुवर्चसाम् ।
मुखपद्मान्यशोभन्त पद्मानीव हिमात्यये ॥ २४ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

हम पुत्र-प्राप्ति के लिये यज्ञ करेंगे, तुम भी यज्ञदीक्षा के नियमों का पालन करो। महाराज के मुख से यह प्यारे वचन सुन रानी बहुत प्रसन्न हुईं। इस सुखदायी संवाद को सुन रानियों के मुख-कमल ऐसे सुशोभित हो गये, जैसे वसन्तकाल में खिले कमल के फूल शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

नवमः सर्गः

—:*:—

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत् ।
ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः ॥ १ ॥

यज्ञ की चर्चा सुन, सुमंत्र ने एकान्त में महाराज से कहा कि, मैंने ऋत्विजों से एक पुरानी बात सुनी है ॥ १ ॥

सनत्कुमारो भगवान्पूर्वं कथितवान्कथाम् ।
ऋषीणां संनिधौ राजंस्तव पुत्रागमं प्रति ॥ २ ॥

आपके सन्तान के बारे में भगवान् सनत्कुमार ने ऋषियों से यह कथा कही थी ॥ २ ॥

कश्यपस्य तु पुत्रोऽस्ति विभण्डक इति श्रुतः ।
ऋश्यशृङ्ग इति ख्यातस्तस्य पुत्रो भविष्यति ॥ ३ ॥

कश्यपपुत्र विभाण्डक के ऋष्यशृङ्ग नामक पुत्र होंगे ॥ ३ ॥

स वने नित्यसंवृद्धो मुनिर्वनचरः सदा ।
नान्यं जानाति विप्रेन्द्रो नित्यं पित्रनुवर्तनात् ॥४॥

वे वन ही में रहेंगे और सदा वन में पिता के पास रहने के कारण अन्य किसी पुरुष वा स्त्री को नहीं जान पावेंगे ॥ ४ ॥

द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः ।
लोकेषु प्रथितं राजन्विप्रैश्च कथितं सदा ॥ ५ ॥

ऋष्यशृङ्ग दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्य, जो ब्राह्मणों के लिये बतलाये गये हैं, और लोक में प्रसिद्ध हैं, धारण करेंगे ॥ ५ ॥

[नोट—मेखला अजिन धारण करके गुरुकुल में नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में रहना मुख्य ब्रह्मचर्य है और सन्तान कामना से ऋतु में ही पत्नी का समागम करना गौण ब्रह्मचर्य है। पर है यह ब्रह्मचर्य ही। इस पर योगी याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि, षोडशर्तुनिशः स्त्रीणांतस्मिन् युग्मासुसंविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्चवर्जयेत् ॥]

तस्यैवं वर्तमानस्य कालः समभिवर्तते ।
अग्निं शुश्रूषमाणस्य पितरं च यशस्विनम् ॥ ६ ॥

अग्नि और अपने यशस्वी पिता की सेवा करते हुए जब ऋष्यशृङ्ग को बहुत समय बीत जायगा ॥ ६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान् ।
अङ्गेषु प्रथितो राजा भविष्यति महाबलः ॥ ७ ॥

तब अङ्गदेश में महाबली और प्रतापी रोमपाद नाम का एक प्रसिद्ध राजा होगा ॥ ७ ॥

तस्य व्यतिक्रमाद्राज्ञो भविष्यति सुदारुणा ।
अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वभूतभयावहा ॥ ८ ॥

कुछ दिनों बाद रोमपाद के अत्याचार से वर्षा बंद होने के कारण महा विकराल सब प्राणियों को भयदायी दुर्भिक्ष पड़ेगा ॥८॥

अनावृष्ट्यां तु वृत्तायां राजा दुःखसमन्वितः ।
ब्राह्मणाञ्श्रुतवृद्धांश्च समानीय प्रवक्ष्यति ॥ ९ ॥

तब वह राजा उस अनावृष्टि से दुःखी हो, सुविज्ञ एवं शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर पूछेगा ॥ ९ ॥

भवन्तः श्रुतधर्माणो लोकचारित्रवेदिनः ।
समादिशन्तु नियमं प्रायश्चित्तं यथा भवेत् ॥ १० ॥

आप लोग लोकाचार और वैदिकधर्मों के जानने वाले हैं। अतः आप हमारे उन कर्मों का जिनके कारण वर्षा नहीं हो रही, प्रायश्चित्त बतलाइये ॥ १० ॥

वक्ष्यन्ति ते महीपालं ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
विभण्डकसुतं राजन्सर्वोपायैरिहानय ॥ ११ ॥

राजा के इस प्रश्न को सुन, वेदपारग ब्राह्मण उत्तर देंगे कि, राजन्! जैसे बने वैसे विभण्डक मुनि के पुत्र ऋष्यशृङ्ग को यहाँ ले आइये ॥ ११ ॥

आनीय च महीपाल ऋश्यशृङ्गं सुसत्कृतम् ।
प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहितः ॥ १२ ॥

और उनको यहाँ लाकर उनका सत्कार कीजिये और यथाविधि उनके साथ अपनी कन्या शान्ता का विवाह कर दीजिये ॥ १२ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा राजा चिन्तां प्रपत्स्यते ।
केनोपायेन वै शक्य इहानेतुं स वीर्यवान् ॥ १३ ॥

उनके इस कथन को सुन राजा को यह चिन्ता होगी कि, वे जितेन्द्रिय मुनि ऋष्यशृङ्ग किस उपाय से यहाँ लाये जा सकते हैं ॥ १३ ॥

ततो राजा विनिश्चित्य सह मन्त्रिभिरात्मवान् ।
पुरोहितममात्यांश्च ततः प्रेष्यति सत्कृतान् ॥ १४ ॥

बहुत सोच विचार के बाद राजा अपने पुरोहित और मंत्रियों को मुनि के पास जाने को कहेंगे ॥ १४ ॥

ते तु राज्ञो वचः श्रुत्वा व्यथिता विनताननाः ।
न गच्छेयुर्ऋषेर्भीता अनुनेष्यन्ति तं नृपम् ॥ १५ ॥

किन्तु, वे विनीत लोग मुनि के शाप के डर से भयभीत हो राजा से निवेदन करेंगे कि, हम लोगों को स्वयं वहाँ जाने से ऋषि के शाप का डर लगता है ॥ १५ ॥

वक्ष्यन्ति चिन्तयित्वा ते तस्योपायांश्च तत्क्षमान् ।
आनेष्यामो वयं विप्रं न च दोषो भविष्यति ॥१६॥

परन्तु हाँ, हम अन्य किसी ऐसे उपाय से उन मुनि को यहाँ ले आवेगें कि, जिससे हमको दोष न लगेगा ॥ १६ ॥

एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिर्ऋषेः सुतः ।
आनीतोऽवर्षयद्देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ॥ १७ ॥

राजा वेश्याओं द्वारा ऋषिपुत्र को बुलावेंगे और उनके आने पर वृष्टि होगी और राजा अपनी कन्या शान्ता ऋषिशृङ्ग को व्याह देंगे ॥ १७ ॥

ऋश्यशृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति ।
सनत्कुमारकथितमेतावद्व्याहृतं मया ॥ १८ ॥

वे ही ऋष्यशृङ्ग आपको पुत्र देंगे—यह वात मुझसे सनत्कुमार जी ने पहले ही कह रखी है और वही मैंने आपसे कही है ॥ १८ ॥

अथ हृष्टो दशरथः सुमन्त्रं प्रत्यभाषत ।
यथर्श्यशृङ्गस्त्वानीतो विस्तरेण त्वयोच्यताम् ॥ १९ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

यह सुन महाराज दशरथ प्रसन्न हुए और सुमंत्र से बोले कि जिस प्रकार रोमपाद ने ऋष्यशृङ्ग को बुलाया वह हाल हमसे ब्योरे वार कहो ॥ १९ ॥

बालकाण्ड का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

दशमः सर्गः

—:o:—

सुमन्त्रश्चोदितो राज्ञा प्रोवाचेदं वचस्तदा ।
यथर्श्यशृङ्गस्त्वानीतः शृणु मे मन्त्रिभिः सह ॥ १ ॥

महाराज दशरथ के इस प्रकार पूँछने पर सुमंत्र ने विस्तार पूर्वक वृत्तान्त कहना आरम्भ किया । सुमंत्र बोले, हे महाराज ! जिस उपाय से रोमपाद के मंत्रिवर्ग ऋष्यशृङ्ग को लाये, सो मैं कहता हूँ । उसे आप मंत्रियों सहित सुनिये ॥ १ ॥

रोमपादमुवाचेदं सहामात्यः पुरोहितः ।
उपायो निरपायोऽयमस्माभिरभिमन्त्रितः ॥ २ ॥

मंत्री और पुरोहित रोमपाद से बोले कि हमने निर्विघ्न कृतकार्य होने का एक उपाय सोचा है ॥ २ ॥

ऋश्यशृङ्गो वनचरस्तपःस्वाध्यायने रतः ।
अनभिज्ञः स नारीणां विषयाणां सुखस्य च ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्ग वन के रहने वाले और सदा तप और स्वाध्याय में निरत रहते हैं। उनको स्त्रीसुख और अन्य विषयों का सुख बिल्कुल नहीं मालूम है ॥ ३ ॥

इन्द्रियार्थैरभिमतैर्नरचित्तप्रमाथिभिः ।
पुरमानाययिष्यामः क्षिप्रं चाध्यवसीयताम् ॥ ४ ॥

अतः मनुष्यों को मुग्ध करने वाली इन्द्रियों के विषयों द्वारा उनको शीघ्र नगर में ले आवेंगे। बस अब इसका शीघ्र निश्चय करना चाहिये ॥ ४ ॥

गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
प्रलोभ्य विविधोपायैरानेष्यन्तीह सत्कृताः ॥ ५ ॥

रूपवती और अलङ्कार युक्त वेश्याएँ सत्कार पूर्वक भेजी जायँ वे मुनि को तरह तरह के प्रलोभन दिखा लिवा लावेंगी ॥ ५ ॥

श्रुत्वा तथेति राजा च प्रत्युवाच पुरोहितम् ।
पुरोहितो मन्त्रिणश्च तथा चक्रुश्च ते तदा ॥ ६ ॥

यह सुन राजा ने पुरोहित को और पुरोहित ने मंत्रियों को तदनुसार करने को कहा ॥ ६ ॥

वारमुख्यास्तु तच्छ्रुत्वा वनं प्रविविशुर्महत् ।
आश्रमस्याविदूरेऽस्मिन्यत्नं कुर्वन्ति दर्शने ॥ ७ ॥

इस प्रकार की बातें सुन वेश्याएँ घोर वन में जहाँ ऋष्यशृङ्ग का आश्रम था गयीं और आश्रम के निकट पहुँच कर सदा आश्रम में रहने वाले और धीर ऋषिपुत्र के दर्शन करने का प्रयत्न करने लगीं ॥ ७ ॥

ऋषिपुत्रस्य धीरस्य नित्यमाश्रमवासिनः ।
पितुः स नित्यसन्तुष्टो नातिचक्राम चाश्रमात् ॥ ८ ॥

क्योंकि ऋष्यशृङ्ग पिता के लालन पालन से सन्तुष्ट होकर कभी भी आश्रम के बाहिर नहीं निकलते थे ॥ ८ ॥

न तेन जन्मप्रभृति दृष्टपूर्वं तपस्विना ।
स्त्री वा पुमान्वा यच्चान्यत्सत्त्वं नगरराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥

तपस्वी ऋष्यशृङ्ग ने आज तक स्त्री, पुरुष, नगर व राज्य के अन्य जीवों को कभी नहीं देखा था ॥ ९ ॥

ततः कदाचित्तं देशमाजगाम यदृच्छया ।
विभाण्डकसुतस्तत्र ताश्चापश्यद्वराङ्गनाः ॥ १० ॥

दैवयोग से एक दिन अपने आप जिस जगह वे वेश्याएँ उस वन में टिकी हुई थीं, ऋष्यशृङ्ग पहुँचे और उन वेश्याओं को उन्होंने देखा ॥ १० ॥

ताश्चित्रवेषाः प्रमदा गायन्त्यो मधुरस्वरैः ।
ऋषिपुत्रमुपागम्य सर्वा वचनमब्रुवन् ॥ ११ ॥

चित्र विचित्र वेश बनाये मधुर स्वर से गाती हुई वे सब वेश्याएँ ऋषिपुत्र के पास जाकर बोलीं ॥ ११ ॥

कस्त्वं किं वर्तसे ब्रह्मञ्ज्ञातुमिच्छामहे वयम् ।
एकस्त्वं विजने घोरे वने चरसि शंस नः ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मदेव ! तुम किस जाति के हो, किसके लड़के हो, तुम्हारा क्या नाम है और तुम यहाँ क्या करते हो ? तथा हम जानना

चाहती हैं कि, तुम किस लिये इस निर्जन वन में अकेले घूमते फिरते हो? ॥ १२ ॥

अदृष्टरूपास्तास्तेन काम्यरूपा वने स्त्रियः ।
हार्दात्तस्य मतिर्जाता ह्याख्यातुं पितरं स्वकम् ॥ १३ ॥

ऋष्यश्रृङ्ग ने तो इसके पूर्व कभी (कमनीय कान्ति वाली) स्त्रियाँ (वन में) देखी ही न थीं—उनकी बुद्धि मोहित हो गयी और वे हृदय से अपने पिता का नाम बतलाने को तैयार हो गये ॥ १३ ॥

पिता विभण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत औरसः ।
ऋश्यश्रृङ्ग इति ख्यातं नाम कर्म च मे भुवि ॥१४॥

मेरे पिता विभण्डक हैं और मैं उनका औरस पुत्र हूँ। मेरा नाम ऋष्यश्रृङ्ग है। मैं जो यहाँ करता हूँ वह सब को विदित है ॥ १४ ॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं समीपे शुभदर्शनाः ।
करिष्ये वोऽत्र पूजां वै सर्वेषां विधिपूर्वकम् ॥ १५ ॥

हे शुभानना! यहाँ से समीप ही मेरा आश्रम है। वहाँ चलिये, मैं विधि पूर्वक आपका सत्कार करूँगा ॥ १५ ॥

ऋषिपुत्रवचः श्रुत्वा सर्वासां मतिरास वै ।
तदाश्रमपदं द्रष्टुं जग्मुः सर्वाश्च तेन ताः ॥ १६ ॥

मुनि के यह वचन सुन और उनके आश्रम को देखने की इच्छा से वे वेश्याएँ मुनि से साथ उनके आश्रम में गयीं ॥ १६ ॥

आगतानां ततः पूजामृषिपुत्रश्चकार ह ।
इदमर्घ्यमिदं पाद्यमिदं मूलमिदं फलम् ॥ १७ ॥

उनके आश्रम में पहुँचने पर ऋषिकुमार ने उनका सत्कार किया और अर्घ्य, पाद्य, फल, मूल उनको दिये ॥ १७ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां सर्वा एव समुत्सुकाः ।
ऋषेर्भीतास्तु शीघ्रं ता गमनाय मतिं दधुः ॥ १८ ॥

अस्माकमपि मुख्यानि फलानीमानि वै द्विज ।
गृहाण प्रति भं ते भक्षयस्व च मा चिरम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर, वे वेश्याएँ ऋष्यशृङ्ग के पिता के डर से वहाँ से शीघ्र लौटने की इच्छा से तरह तरह की सुस्वादु मिठाई, जो वे अपने साथ ले गयी थीं, ऋषिपुत्र को देकर बोलीं लीजिये, ये हमारे फल हैं, इन्हें आप स्वीकार कीजिये और इनको शीघ्र चखिये ॥ १८ ॥ १९ ॥

ततस्तास्तं समालिङ्ग्य सर्वा हर्षसमन्विताः ।
मोदकान्प्रददुस्तस्मै भक्ष्यांश्च विविधाञ्शुभान् ॥२०॥

तदनन्तर उन सब ने प्रसन्न हो मुनिकुमार को गले लगा, अति स्वादिष्ट तरह तरह के लड्डू तथा खाने की अन्य विविध वस्तुएँ उनको दीं ॥ २० ॥

तानि चास्वाद्य तेजस्वी फलानीति स्म मन्यते ।
अनास्वादितपूर्वाणि वने नित्यनिवासिनाम् ॥ २१ ॥

उन्हें चखने पर भी ऋषिपुत्र फल ही समझते रहे। क्योंकि हमेशा वन में रहने के कारण उन्होंने इसके पहले कभी मिठाई तो

खाई न थी, फिर वे क्या समझें कि, मिठाई और फल में भी कुछ अन्तर होता है ॥ २१ ॥

आपृच्छ्य च तदा विप्रं व्रतचर्यां निवेद्य च ।
गच्छन्ति स्मापदेशात्ताः भीतास्तस्य पितुः स्त्रियः ॥२२॥

वे वेश्याएँ विभण्डकऋषि के आश्रम में लौट कर आ जाने के भय से झूट मूठ व्रत का बहाना बना आश्रम से चली आयीं ॥ २२ ॥

गतासु तासु सर्वासु काश्यपस्यात्मजो द्विजः ।
अस्वस्थहृदयश्चासीद्दुःखात्संपरिवर्तते ॥ २३ ॥

उन वेश्याओं के लौट आने पर ऋष्यशृङ्ग दुःख के मारे उदास हुए ॥ २३ ॥

ततोऽपरेद्युस्तं देशमाजगाम स वीर्यवान् ।
मनोज्ञा यत्र ता दृष्टा वारमुख्याः स्वलंकृताः ॥२४॥

अगले दिन वे स्वयं फिर वहीं पहुँचे जहाँ पहले दिन उनकी भेंट उन मन को मोहने वाली बनी ठनी वेश्याओं से हुई थी ॥ २४ ॥

दृष्ट्वैव च तदा विप्रमायान्तं हृष्टमानसाः ।
उपसृत्य ततः सर्वास्तास्तमूचुरिदं वचः ॥ २५ ॥

ऋषि-कुमार को आते देख वेश्याएँ प्रसन्न हुईं, और उनके पास जाकर यह कहने लगीं ॥ २५ ॥

एह्याश्रमपदं सौम्य ह्यस्माकमिति चाब्रुवन् ।
तत्राप्येष विधिः श्रीमान्विशेषेण भविष्यति ॥२६॥

वे बोलीं—महाराज! आइये, हमारा आश्रम भी देखिये। यहाँ की अपेक्षा वहाँ आपका सत्कार अधिक होगा॥ २६॥

श्रुत्वा तु वचनं तासां मुनिस्तद्धृदयंगमम्।
गमनाय मतिं चक्रे तं च निन्युस्तदा स्त्रियः॥ २७॥

यह सुन ऋषि-कुमार के मन में उनके साथ जाने की इच्छा उत्पन्न हुई और वेश्याएँ उनको अपने साथ ले आयीं॥ २७॥

तत्र चानीयमाने तु विप्रे तस्मिन्महात्मनि।
ववर्ष सहसा देवो जगत्प्रह्लादयंस्तदा॥ २८॥

मुनि के नगर में पहुँचते ही इन्द्रदेव ने रोमपाद के राज्य में जल वर्षाया जिससे सब प्राणी प्रसन्न हो गये॥ २८॥

वर्षेणैवागतं विप्रं विषयं स्वं नराधिपः।
प्रत्युद्गम्य मुनिं प्रीतः शिरसा च महीं गतः॥२९॥
अर्घ्यं च प्रददौ तस्मै नियतः सुसमाहितः।
वव्रे प्रसादं विप्रेन्द्रान्मा विप्रं[1] मन्युराविशेत्॥ ३०॥

वर्षा होते ही रोमपाद ने मुनि का आया जान, और मुनि के पास जा बड़ी नम्रता से उनको प्रणाम किया और यथाविधि अर्घ्य पाद्यादि प्रदान कर उनका पूजन किया और उनसे यह वर माँगा कि, उनके पिता विभण्डक रोमपाद पर कोप न करें॥ २९॥ ३०॥

अन्तःपुरं प्रविश्यास्मै कन्यां दत्त्वा यथाविधि।
शान्तां शान्तेन मनसा राजा हर्षमवाप सः॥ ३१॥

१—विभण्डक ऋषिम् (वि०)

फिर रोमपाद, ऋषि-कुमार को रनिवास में लिवा ले गया और शान्ता का उनके साथ यथाविधि विवाह कर वह बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ३१ ॥

एवं स न्यवसत्तत्र सर्वकामैः सुपूजितः ।
ऋश्यशृङ्गो महातेजाः शान्तया सह भार्यया ॥३२॥

इति दशमः सर्गः ॥

ऋष्यशृङ्ग भी शान्ता के साथ सब प्रकार से सुखी हो रोमप की राजधानी में रहने लगे ॥ ३२ ॥

बालकाण्ड का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

एकादशः सर्गः

भूय एव हि राजेन्द्र शृणु मे वचनं हितम् ।
यथा स देवप्रवरः कथायामेवमब्रवीत् ॥ १ ॥

इतना कह सुमंत्र ने महाराज दशरथ से कहा कि, हे राजन् ! इसके उपरान्त देवप्रवर सनत्कुमार ने जो और कहा सो भी ! लीजिये ॥ १ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो भविष्यति सुधार्मिकः ।
राजा दशरथो नाम श्रीमान्सत्यप्रतिश्रवः ॥ २ ॥

इक्ष्वाकु महाराज के वंश में बड़े धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ श्रीमान् महाराज दशरथ होंगे ॥ २ ॥

अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति ।
पुत्रस्तु सोऽङ्गराजस्य रोमपाद इति श्रुतः ॥ ३ ॥

उनकी मैत्री अङ्गदेशाधिपति रोमपाद से होगी ॥ ३ ॥

तं स राजा दशरथो गमिष्यति महायशाः ।
अनपत्योऽस्मि धर्मात्मञ्शान्ताभर्ता मम क्रतुम् ॥४॥

आहरेत त्वयाज्ञप्तः संतानार्थं कुलस्य च ।
श्रुत्वा राज्ञोऽथ तद्वाक्यं मनसापि विमृश्य च ॥ ५ ॥

अङ्गराज के पुत्र रोमपाद के पास महायशस्वी महाराज दशरथ जायेंगे और कहेंगे कि, मेरे सन्तान होने के लिये यज्ञ कराने को आप शान्ता के पति ऋष्यशृङ्ग को मेरे यहाँ भेजिये । यह सुन रोमपाद मन में सोच विचार कर, ॥ ४ ॥ ५ ॥

प्रदास्यते पुत्रवन्तं शान्ताभर्तारमात्मवान् ।
प्रतिगृह्य च तं विप्रं स राजा विगतज्वरः ॥ ६ ॥

शान्ता के पति ऋष्यशृङ्ग को पुत्र सहित भेज देंगे । ऋष्यशृङ्ग को पाने से महाराज दशरथ की चिन्ता दूर होगी ॥ ६ ॥

आहरिष्यति तं यज्ञं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
तं च राजा दशरथो यष्टुकामः कृताञ्जलिः ॥ ७ ॥

ऋश्यशृङ्गं द्विजश्रेष्ठं वरयिष्यति धर्मवित् ।
यज्ञार्थं प्रसवार्थं च स्वर्गार्थं च नरेश्वरः ॥ ८ ॥

मन में अत्यन्त प्रसन्न हो महाराज दशरथ उन ऋषिप्रवर को साथ लावेंगे और यज्ञ करने की अभिलाषा रखने वाले महाराज

दशरथ हाथ जोड़ कर धर्मात्मा ऋष्यशृङ्ग को यज्ञ कराने के लिये वरण करेंगे अर्थात् पुत्र के लिये और स्वर्ग प्राप्ति के लिये उनको यज्ञ में ऋत्विज बनावेंगे ॥ ७ ॥ ८ ॥

लभते च स तं कामं द्विजमुख्याद्विशां पतिः ।
पुत्राश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽमितविक्रमाः ॥ ९ ॥

इस यज्ञ के प्रभाव से अर्थात् फल स्वरूप महाराज दशरथ के अमित पराक्रमी चार पुत्र उत्पन्न होंगे ॥ ६ ॥

वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वलोकेषु विश्रुताः ।
एवं स देवप्रवरः पूर्वं कथितवान्कथाम् ॥ १० ॥

सनत्कुमारो भगवान्पुरा देवयुगे प्रभुः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल तमानय सुसत्कृतम् ॥ ११ ॥

स्वयमेव महाराज गत्वा सबलवाहनः ।
अनुमान्य वसिष्ठं च सूतवाक्यं निशम्य च ॥ १२ ॥

वे पुत्र वंश बढ़ाने वाले और सारे संसार में विख्यात होंगे । इस प्रकार सनत्कुमार जी ने यह कथा बहुत पूर्व अर्थात् इस चतुर्युगी के प्रथम सत्युग में कही थी । अतः हे नरशार्दूल आप स्वयं फौज और सवारियों सहित जाकर उन ऋष्यशृङ्ग को आदर पूर्वक लिवा लाइये । महाराज दशरथ ने सूत अर्थात् सुमंत्र की कही यह कथा अपने गुरु वशिष्ठ जी को बुला कर सुनायी ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञातो राजा संपूर्णमानसः ।
सान्तःपुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः ॥ १३ ॥

जब वशिष्ठ जी ने भी अपनी अनुमति दे दी तब महाराज दशरथ बड़ी लालसा के साथ, अपनी रानियों और मंत्रियों को अपने साथ ले वहाँ गये, जहाँ ऋष्यशृङ्ग रहते थे ॥ १३ ॥

वनानि सरितश्चैव व्यतिक्रम्य शनैः शनैः ।
अभिचक्राम तं देशं यत्र वै मुनिपुङ्गवः ॥ १४ ॥

अनेक वनों और नदियों का पार कर महाराज धीरे धीरे उस देश में जा पहुँचे जहाँ वे मुनिप्रवर निवास करते थे ॥ १४ ॥

आसाद्य तं द्विजश्रेष्ठं रोमपादसमीपगम् ।
ऋषिपुत्रं ददर्शादौ दीप्यमानमिवानलम् ॥ १५ ॥

वहाँ जाकर महाराज दशरथ ने अग्नि के समान तेजस्वी ऋष्यशृङ्ग को रोमपाद के समीप बैठा देखा ॥ १५ ॥

ततो राजा यथान्यायं पूजां चक्रे विशेषतः ।
सखित्वात्तस्य वै राज्ञः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १६ ॥

रोमपाद ने मित्रधर्म से प्रेरित हो अत्यन्त प्रसन्नता के साथ न्यायानुकूल महाराज दशरथ का विशेष आदर सत्कार किया ॥१६॥

रोमपादेन चाख्यातमृषिपुत्राय धीमते ।
सख्यं संबन्धकं चैव तदा तं प्रत्यपूजयत् ॥ १७ ॥

उन बुद्धिमान् ऋष्यशृङ्ग दशरथ के साथ अपनी मैत्री होने का वृत्तान्त कहा, जिसे सुन ऋष्यशृङ्ग भी प्रसन्न हुए और दशरथ की प्रशंसा की ॥ १७ ॥

एवं सुसंस्कृतस्तेन सहोषित्वा नरर्षभः ।
सप्ताष्ट दिवसान्राजा राजानमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

इस प्रकार सत्कार के साथ दशरथ वहां सात आठ दिन रह कर रोमपाद से बोले ॥ १८ ॥

शान्ता तव सुता राजन्सह भर्त्रा विशांपते ।
मदीयं नगरं यातु कार्यं हि महदुद्यतम् ॥ १९ ॥

हे राजन्! यदि आपकी पुत्री शान्ता अपने पति के साथ मेरी राजधानी में चलें तो बड़ी कृपा हो, क्योंकि एक बड़ा कार्य आ उपस्थित हुआ है ॥ १६ ॥

तथेति राजा संश्रुत्य गमनं तस्य धीमतः ।
उवाच वचनं विप्रं गच्छ त्वं सह भार्यया ॥ २० ॥

यह सुन रोमपाद ने "ऐसा ही होगा" महाराज दशरथ से कह, ऋष्यश्रृङ्ग से कहा कि, आप अपनी पत्नी सहित महाराज दशरथ के साथ जाइये ॥ २० ॥

ऋषिपुत्रः प्रतिश्रुत्य तथेत्याह नृपं तदा ।
स नृपेणाभ्यनुज्ञातः प्रययौ सह भार्यया ॥ २१ ॥

ऋष्यश्रृङ्ग जाने को राज़ी हो गये और राजा रोमपाद की आज्ञा के अनुसार भार्या सहित महाराज दशरथ के साथ हो लिये ॥ २१ ॥

तावन्योन्याञ्जलिं कृत्वा स्नेहात्संश्लिष्य चोरसा ।
ननन्दतुर्दशरथो रोमपादश्च वीर्यवान् ॥ २२ ॥

तब वे दोनों राजा परस्पर हाथ जोड़ और एक दूसरे को गले लगा अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २२ ॥

ततः सुहृदमापृच्छ्य प्रस्थितो रघुनन्दनः ।
पौरेभ्यः प्रेषयामास दूतान्वै शीघ्रगामिनः ॥ २३ ॥

तब महाराज दशरथ अपने मित्र रोमपाद से विदा हो प्रस्थानित हुए और पहले ही शीघ्रगामी दूत अयोध्या भेजे ॥ २३ ॥

क्रियतां नगरं सर्वं क्षिप्रमेव स्वलंकृतम् ।
धूपितं सिक्तसंमृष्टं पताकाभिरलंकृतम् ॥ २४ ॥

और उनको आज्ञा दी कि, तुम वहाँ पहुँच कर राजधानी की सफाई और अच्छी सजावट करवाओ। सड़क छिड़काना, सुगन्धित द्रव्य (गुग्गुलादि) जलवाना और ध्वजा पताकाओं से नगरी सजवाना ॥ २४ ॥

ततः प्रहृष्टाः पौरास्ते श्रुत्वा राजानमागतम् ।
तथा प्रचक्रुस्तत्सर्वं राज्ञा यत्प्रेषितं तदा ॥ २५ ॥

महाराज दशरथ के लौटने का संवाद पा, अयोध्यावासी बहुत प्रसन्न हुए और जैसा महाराज ने दूतों द्वारा कहलाया था, तदनुसार नगरी को साफ कर उन लोगों ने सजाया ॥ २५ ॥

ततः स्वलंकृतं राजा नगरं प्रविवेश ह ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः पुरस्कृत्य द्विजर्षभम् ॥ २६ ॥

उस सजी सजाई साफ स्वच्छ नगरी में मुनिवर को आगे कर गाजे बाजे के साथ महाराज ने प्रवेश किया ॥ २६ ॥

ततः प्रमुदिताः सर्वे दृष्ट्वा तं नागरा द्विजम् ।
प्रवेश्यमानं सत्कृत्य नरेन्द्रेणेन्द्रकर्मणा ॥ २७ ॥

ऋष्यशृङ्ग का धूमधाम से नगर में इन्द्र समान पराक्रमी महाराज दशरथ द्वारा आगत स्वागत हुआ देख, समस्त पुरवासी बहुत प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

अन्तःपुरं प्रवेश्यैनं पूजां कृत्वा च शास्त्रतः ।
कृतकृत्यं तदात्मानं मेने तस्योपवाहनात् ॥ २८ ॥

अन्तःपुर में उनके (ऋष्यशृङ्ग के) जाने पर वहाँ भी शास्त्र विधि के अनुसार उनका पूजन किया गया और महाराज ने मुनि-प्रवर के आगमन से अपने को कृतकृत्य माना ॥ २८ ॥

अन्तःपुराणि सर्वाणि शान्तां दृष्ट्वा तथागताम् ।
सह भर्त्रा विशालाक्षीं प्रीत्यानन्दमुपागमन् ॥ २९ ॥

ऋषिप्रवर के साथ उनकी पत्नी बड़े बड़े नेत्र वाली शान्ता को आयी देख, अन्तःपुरवासिनी सब रानियों ने बड़ा आनन्द मनाया ॥ २९ ॥

पूज्यमाना च ताभिः सा राज्ञा चैव विशेषतः ।
उवास तत्र सुखिता कञ्चित्कालं सहर्त्विजा ॥ ३० ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

रानियों और विशेष कर महाराज दशरथ द्वारा पूजे जाकर शान्ता, अपने पति ऋष्यशृङ्ग सहित रनवास में कुछ दिनों तक सुख से रहे ॥ ३० ॥

वालकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

द्वादशः सर्गः

—:*:—

ततः काले बहुतिथे कस्मिंश्चित्सुमनोहरे ।
वसन्ते समनुप्राप्ते राज्ञो यष्टुं मनोऽभवत् ॥ १ ॥

इस प्रकार कुछ समय बीतने पर जब मनोहर वसन्त ऋतु आयी, तब महाराज की इच्छा यज्ञ करने की हुई ॥ १ ॥

ततः प्रसाद्य शिरसा तं विप्रं देववर्णिनम् ।
यज्ञाय वरयामास संतानार्थं कुलस्य च ॥ २ ॥

महाराज दशरथ ने शृङ्गीऋषि के पास जा उनको प्रणाम किया और वंशवृद्धि के लिये होने वाले पुत्रेष्टि यज्ञ में, देवतुल्य ऋषि को यज्ञ के लिये वरण किया ॥ २ ॥

तथेति च राजानमुवाच च सुसत्कृतः ।
संभाराः संभ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥ ३ ॥

तब ऋष्यशृङ्ग ने दशरथ से कहा कि, हम आपको यज्ञ करावेंगे, आप यज्ञ की सामग्री इकट्ठी करवाइये और घोड़ा छुड़वाइये ॥ ३ ॥

ततो राजाब्रवीद्वाक्यं सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तमम् ।
सुमन्त्रावाहय क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥

यह सुन महाराज दशरथ ने मंत्रिप्रवर सुमन्त से कहा कि, वेद-पाठ करने वाले ऋत्विजों को तुरन्त बुलवाइये ॥ ४ ॥

सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् ।
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः ॥ ५ ॥

सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, पुरोहित वशिष्ठ तथा अन्य ब्राह्मणश्रेष्ठों को शीघ्र बुलवाइये ॥ ५ ॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ।
समानयत्स तान्विप्रान्समस्तान्वेदपारगान् ॥ ६ ॥

फुर्तीले सुमंत्र तुरन्त गये और वेदपारग उन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणों को बुला लाये ॥ ६ ॥

तान्पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ।
धर्मार्थसहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब धर्मात्मा महाराज दशरथ ने उन सब की पूजा कर उनसे धर्म और अर्थ से युक्त मीठे वचन कहे ॥ ७ ॥

मम लालप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् ।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥ ८ ॥

पुत्र के लिये बहुत दुःखी होने पर भी मुझे सन्तान का सुख नहीं है। तदर्थ मैं चाहता हूँ कि, पुत्रप्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ करूँ ॥ ८ ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
ऋषिपुत्रप्रभावेण कामान्प्राप्स्यामि चाप्यहम् ॥ ९ ॥

यह यज्ञ, मैं शास्त्र की विधि से करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि, ऋष्यशृङ्ग की कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण होगा ॥ ९ ॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखाच्च्युतम् ॥ १० ॥

यह सुन कर वशिष्ठ प्रमुख ब्राह्मणों ने महाराज के मुखारविन्द से निकली हुई वाणी की बड़ी प्रशंसा की ॥ १० ॥

ऋष्यशृङ्गपुरोगाश्च प्रत्यूचुर्नृपतिं तदा ।
संभाराः संभ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥ ११ ॥

ऋष्यशृङ्ग आदि ब्राह्मण दशरथ से कहने लगे कि, आप अब यज्ञ करने के लिये सब सामान एकत्र करवाइये और यज्ञ का घोड़ा छोड़िये ॥ ११ ॥

सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रांश्चतुरोऽमितविक्रमान् ।
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ॥ १२ ॥

जब आपकी बुद्धि पुत्र प्राप्ति के लिये ऐसी धर्ममयी हो रही है, तब निश्चय ही आपके अमित पराक्रमी चार पुत्र उत्पन्न होंगे ॥ १२ ॥

ततः प्रीतोऽभवद्राजा श्रुत्वा तु द्विजभाषितम् ।
अमात्यांश्चाब्रवीद्राजा हर्षेणेदं शुभाक्षरम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मणों की कही इन बातों को सुन, महाराज दशरथ बहुत प्रसन्न हुए और मंत्रियों को यह शुभ आज्ञा सहर्ष प्रदान की ॥ १३ ॥

संभाराः संभ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह ।
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम् ॥१४॥

जैसी कि, इन गुरुवर्य ने आज्ञा दी है, तदनुसार आप लोग यज्ञ की सब तैयारियाँ करें और चार ऋत्विजों और चार सौ रक्षकों की देखरेख में घोड़ा छोड़ा जाय ॥ १४ ॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।
शान्तयश्चापि वर्तन्तां यथाकल्पं यथाविधि ॥१५॥

सरयू के उत्तर तट पर यज्ञशाला बनवाई जाय और विघ्न प्रशमनार्थ शास्त्रानुमोदित यथाक्रम शान्तिकर्म करवाये जायँ ॥ १५ ॥

शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ।
नापराधो भवेत्कष्टो यद्यस्मिन्क्रतुसत्तमे ॥ १६ ॥

यह यज्ञ कर तो सभी राजा सकते हैं, किन्तु इस उत्कृष्ट यज्ञ कार्य में किसी प्रकार का अपचार या किसी को कष्ट न होना चाहिये ॥ १६ ॥

छिद्रं हि मृगयन्तेऽत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ।
विहतस्य हि यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ॥ १७ ॥

क्योंकि विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञकार्यों में छिद्रान्वेषण किया करते हैं और यज्ञ की विधि में अपचार होने से यज्ञ करने वाला तुरन्त नाश को प्राप्त होता है अर्थात् मर जाता है ॥ १७ ॥

तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ।
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ॥ १८ ॥

अतः अपनी शक्ति भर ऐसा उपाय कीजिए जिससे यह यज्ञ विधि पूर्वक सुसम्पन्न हो ॥ १८ ॥

तथेति च ततः सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन् ।
पार्थिवेन्द्रस्य तद्वाक्यं यथाज्ञप्तमकुर्वत ॥ १९ ॥

महाराज के ये वचन सुन, मंत्रि लोग बहुत प्रसन्न हुए और उनके आज्ञानुसार कार्य करने में प्रवृत्त हुए ॥ १९ ॥

ततो द्विजास्ते धर्मज्ञमस्तुवन्पार्थिवर्षभम् ।
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वे ब्राह्मण, धर्मात्मा नृपतिश्रेष्ठ दशरथ की प्रशंसा कर और विदा हो वहाँ से अपने अपने घरों को चले गये ॥ २० ॥

गतेष्वथ द्विजाग्र्येषु मन्त्रिणस्तान्नराधिपः ।
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः ॥ २१ ॥

इति द्वादशः सर्गः ॥

ब्राह्मणों के चले जाने पर, महाद्युतिमान् महाराज ने मंत्रियों को विदा किया और आप भी अन्तःपुर में चले गये ॥ २१ ॥

बालकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयोदशः सर्गः

पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः संवत्सरोऽभवत् ।
प्रसवार्थं गतो यष्टुं हयमेधेन वीर्यवान् ॥ १ ॥

एक वर्ष बाद पुनः वसन्तऋतु आने पर, पुत्रप्राप्ति के लिये प्रतापी महाराज ने यज्ञ करने की इच्छा की ॥ १ ॥

अभिवाद्य वसिष्ठं च न्यायतः प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम् ॥ २ ॥

वशिष्ठ जी को प्रणाम कर और उनका यथाविधि पूजन कर पुत्रप्राप्ति के लिये नम्रता पूर्वक उनसे महाराज दशरथ बोले ॥ २ ॥

यज्ञो मे प्रीयतां ब्रह्मन्यथोक्तं मुनिपुङ्गव ।
यथा न विघ्नः क्रियते यज्ञाङ्गेषु विधीयताम् ॥ ३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ! प्रसन्नतापूर्वक और विधिपूर्वक यज्ञ आरम्भ कीजिये, जिससे यज्ञ के किसी भी कर्म में विघ्न न हो ॥ ३ ॥

भवान्स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुश्च परमो महान् ।
वोढव्यो भवता चैव भारो यज्ञस्य चोद्यतः ॥ ४ ॥

क्योंकि आपका मेरे ऊपर अविच्छिन्न स्नेह है और आप मेरे केवल हितैषी ही नहीं प्रत्युत मेरे सब से बड़े गुरु भी हैं। इस उपस्थित यज्ञ का जो बड़ा भारी बोझ है, उसे आप सम्हालिये; अर्थात् इस महान् यज्ञ का सारा भार आपके ही ऊपर है ॥ ४ ॥

तथेति च स राजानमब्रवीद्द्विजसत्तमः ।
करिष्ये सर्वमेवैतद्भवता यत्समर्थितम् ॥ ५ ॥

यह सुन मुनिपुङ्गव वशिष्ठ जी ने दशरथ जी से कहा—आप जो निवेदन किया तदनुसार ही हम सब कार्य करेंगे ॥ ५ ॥

ततोऽब्रवीद्द्विजान्वृद्धान्यज्ञकर्मसु निष्ठितान् ।
स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान्परमधार्मिकान् ॥ ६ ॥
कर्मान्तिकाञ्शिल्पकरान्वर्धकीन्खनकानपि ।
गणकाञ्शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान् ॥ ७ ॥
तथा शुचीञ्शास्त्रविदः पुरुषान्सुबहुश्रुतान् ।
यज्ञकर्म समीहन्तां भवन्तो राजशासनात् ॥ ८ ॥

तदुपरान्त वशिष्ठ जी ने वृद्ध और यज्ञकार्य में कुशल ब्राह्मणों को, परम धार्मिक और वृद्ध स्थापत्य विद्या (भवन-निर्माण-कला)

में कुशल कारीगरों को, शिल्पियों को, अथवा लेखकों को, नटों और नाचने वालियों को, बहुत जानने वाले और सच्चे (ईमानदार) शास्त्रवेत्ता ब्राह्मणों को बुला कर कहा कि, आप लोगों के लिये महाराज की आज्ञा है कि, यज्ञकार्य में मनोयोग पूर्वक आप लग जांय ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

इष्टका बहुसाहस्राः शीघ्रमानीयतामिति ।
औपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञां बहुगुणान्विताः ॥९॥

बहुत सी ईंटें शीघ्र एकत्र कर, आने वाले मेहमान राजाओं के ठहरने के लिये तथा अन्य सम्भ्रान्त लोगों के ठहरने के लिये सब तरह के सुपास के (आराम के) अलग अलग घर बना कर तैयार करो ॥ ६ ॥

ब्राह्मणावसथाश्चैव कर्तव्याः शतशः शुभाः ।
भक्ष्यान्नपानैर्बहुभि : समुपेताः सुनिष्ठिताः ॥ १० ॥

इसी प्रकार सैकड़ों सुन्दर मकान अच्छी अच्छी जगहों पर ब्राह्मणों के ठहरने के लिये बनाओ जिनमें भोजनादि की सब आवश्यक सामग्री रहें ॥ १० ॥

तथा पौरजनस्यापि कर्तव्या बहुविस्तराः ।
आवासा बहुभक्ष्या वै सर्वकामैरुपस्थिताः ॥ ११ ॥

नगर निवासियों के ठहरने के लिये भी बड़े बड़े लंबे चौड़े मकान बनाये जायँ, जिनमें भोजन और सब प्रकार की सामग्री लाकर यथास्थान सजा दी जाय ॥ ११ ॥

तथा जानपदस्यापि जनस्य बहुशोभनम् ।
दातव्यमन्नं विधिवत्सत्कृत्य न तु लीलया ॥ १२ ॥

देहातियों के लिये भी सब सुविधाओं के मकान बनें। एक बात का ध्यान रखना कि, जिसको अन्नादि भोजन सामग्री दी जाय, उसे सत्कार पूर्वक दी जाय, देते समय किसी का भी अनादर न किया जाय ॥ १२ ॥

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः ।
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि ॥ १३ ॥

ऐसा प्रबन्ध हो कि, किसी वर्ण का भी मनुष्य, जो यज्ञ में आवे, उसके वर्ण के अनुरूप उसका यथोचित सत्कार किया जाय। लोभ अथवा क्रोध के वशवर्ती हो, ख़बरदार! किसी का भी अनादर न किया जाय ॥ १३ ॥

यज्ञकर्मसु ये व्यग्राः पुरुषाः शिल्पिनस्तथा ।
तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम् ॥ १४ ॥

यज्ञशाला के काम में जो कारीगर काम करें उनकी भी विशेष रूप से यथाक्रम ख़ातिरदारी की जाय ॥ १४ ॥

ते च स्युः संभृताः सर्वे वसुभिर्भोजनेन च ।
यथा सर्वं सुविहितं न किंचित्परिहीयते ॥ १५ ॥
तथा भवन्तः कुर्वन्तु प्रीतिस्निग्धेन चेतसा ।
ततः सर्वे समागम्य वसिष्ठमिदमब्रुवन् ॥ १६ ॥

सेवाकार्य में निरत नौकरों को उनकी मज़दूरी और भोजन दिया जाय, जिससे वे मन लगा कर अपना अपना काम करें और अपना काम न छोड़ बैठें। आप सब लोग मन लगा कर प्रीति पूर्वक उनके साथ वर्तें जिससे सब काम ठीक ठीक हों। यह सुन वे सब वशिष्ठ जी के समीप जा उनसे बोले ॥ १५ ॥ १६ ॥

यथोक्तं तत्सुविहितं न किंचित्परिहीयते ।
ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

आपने जैसी आज्ञा दी है, तदनुसार ही हम सब करेंगे, किसी काम में त्रुटि न रहने पावेगी । तब वशिष्ठ जी ने सुमंत्र को बुलवाया और उनसे बोले ॥ १७ ॥

निमन्त्रयस्व नृपतीन्पृथिव्यां ये च धार्मिकाः ।
ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहस्रशः ॥ १८ ॥

समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान् ।
मिथिलाधिपतिं शूरं जनकं सत्यविक्रमम् ॥ १९ ॥

निष्ठितं सर्वशास्त्रेषु तथा वेदेषु निष्ठितम् ।
तमानय महाभागं स्वयमेव सुसत्कृतम् ॥ २० ॥

इस पृथिवीमण्डल पर जो धार्मिक राजा हैं, उनके पास निमंत्रण भेज दो । सब देशों के बहुत से ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी सादर बुलवाओ । सत्यपराक्रमी, शूरशिरोमणि, वेद और सब शास्त्रों में निष्णात, महाभाग मिथलाधिपति को स्वयं जाकर आदर सहित लिवा लाओ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

पूर्वसंबन्धिनं ज्ञात्वा ततः पूर्वं ब्रवीमि ते ।
तथा काशीपतिं स्निग्धं सततं प्रियवादिनम् ॥ २१ ॥

सद्वृत्तं देवसंकाशं स्वयमेवानयस्व ह ।
तथा केकयराजानं वृद्धं परमधार्मिकम् ॥ २२ ॥

श्वशुरं राजसिंहस्य सपुत्रं त्वमिहानय ।
अङ्गेश्वरं महाभागं रोमपादं सुसत्कृतम् ॥ २३ ॥
वयस्यं राजसिंहस्य समानय यशस्विनम् ।
प्राचीनान्सिन्धुसौवीरान्सौराष्ट्रेयांश्च पार्थिवान् ॥२४॥
दाक्षिणात्यान्नरेन्द्रांश्च समस्तानानयस्व ह ।
सन्ति स्निग्धाश्च ये चान्ये राजानः पृथिवीतले ॥२५॥
तानानय ततः क्षिप्रं सानुगान्सहबान्धवान् ।
वसिष्ठवाक्यं तच्छ्रुत्वा सुमन्त्रस्त्वरितस्तदा ॥ २६ ॥

उनको इस घराने का पुराना व्योहारी जान उन्हें सब से पहले बुलाने के लिये हम तुमसे कहते हैं। सदैव प्रिय बोलने वाले, सदाचारी, देवतुल्य काशीनरेश को भी सत्कारपूर्वक लिवा लाओ। इसी प्रकार वृद्ध और परम धार्मिक केकयराज, जो महाराज के ससुर हैं, पुत्र सहित यहाँ लिवा लाओ। अङ्गदेशाधिपति यशस्वी महाभाग रोमपाद को, जो महाराज के मित्र हैं, सत्कार पूर्वक लिवा लाओ। इनके अतिरिक्त पूर्व देश के, सिन्धु देश के, सौवीर के, दक्षिण देश के राजाओं तथा पृथ्वीमण्डल के अन्य अच्छे राजाओं को, भाई बंधु नौकर चाकर सहित दूत भेज कर शीघ्र बुलवालो। तब वशिष्ठ जी के इस कथन को सुन सुमंत्र ने तुरन्त ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

व्यादिशत्पुरुषांस्तत्र राज्ञामानयने शुभान् ।
स्वयमेव हि धर्मात्मा प्रययौ मुनिशासनात् ॥ २७ ॥

देश देश के राजाओं को बुलाने के लिये दूत भेजे और स्वयं भी वशिष्ठ जी की आज्ञा के अनुसार राजाओं को लाने के लिये रवाना हुए ॥२७॥

सुमन्त्रस्त्वरितो भूत्वा समानेतुं महीक्षितः ।
ते च कर्मान्तिकाः सर्वे वसिष्ठाय च धीमते ॥ २८ ॥

सुमंत्र वशिष्ठ जी के बतलाये विशिष्ट राजाओं को बुलाने के लिये शीघ्रता से रवाना हो गये। यज्ञ कार्य में लगे हुए मनुष्य बुद्धिमान् महर्षि वशिष्ठ जी से ॥ २८ ॥

सर्वं निवेदयन्ति स्म यज्ञे यदुपकल्पितम् ।
ततः प्रीतो द्विजश्रेष्ठस्तान्सर्वानिदमब्रवीत् ॥ २९ ॥

जो कुछ यज्ञ सम्बन्धी काम करते वह सब कह दिया करते थे। तब प्रसन्न हो वशिष्ठ जी उन सब से कहते ॥ २९ ॥

अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलयापि वा ।
अवज्ञया कृतं हन्याद्दातारं नात्र संशयः ॥ ३० ॥

देखना, किसी को हँसी दिल्लगी में भी कोई वस्तु अनादर करके मत देना; क्योंकि अनादर करके देने वाले दाता का निश्चय ही नाश होता है ॥ ३० ॥

ततः कैश्चिदहोरात्रैरुपयाता महीक्षितः ।
बहूनि रत्नान्यादाय राज्ञो दशरथस्य हि ॥ ३१ ॥

इसके कुछ ही दिनों बाद अनेक प्रकार के रत्नों की भेंटें ले ले कर राजा लोग महाराज दशरथ की यज्ञशाला में आ पहुँचे ॥ ३१ ॥

ततो वसिष्ठः सुप्रीतो राजानमिदमब्रवीत् ।
उपयाता नरव्याघ्र राजानस्तव शासनात् ॥ ३२ ॥

तब वशिष्ठ जी राजाओं को आये हुए देख, प्रसन्न हो, महाराज दशरथ से बोले—आपके आदेशानुसार सब राजा लोग आ गये ॥ ३२ ॥

मया च सत्कृताः सर्वे यथार्हं राजसत्तमाः ।
यज्ञियं च कृतं राजन्पुरुषैः सुसमाहितैः ॥ ३३ ॥

हे महाराज ! मैंने भी उनका यथोचित सत्कार कर दिया और यज्ञ की भी सब तैयारी हो चुकी ॥ ३३ ॥

निर्यातु च भवान्यष्टुं यज्ञायतनमन्तिकात् ।
सर्वकामैरुपहृतैरुपेतं वै समन्ततः ॥ ३४ ॥

द्रष्टुमर्हसि राजेन्द्र मनसेव विनिर्मितम् ।
तथा वसिष्ठवचनादृश्यशृङ्गस्य चोभयोः ॥ ३५ ॥

अब आप भी यज्ञ करने के लिये यज्ञशाला में पधारिये और यज्ञ की सब सामग्री को देखिये कि, सेवकों ने कैसी उत्तमता और सावधानता से सब सामान सजा कर रखा है। तब वशिष्ठ जी और ऋष्यशृङ्ग दोनों के कहने से ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

शुभे दिवसनक्षत्रे निर्यातो जगतीपतिः ।
ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः ॥ ३६ ॥

ऋष्यशृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा ।
यज्ञवाटगताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि ।
श्रीमांश्च सहपत्नीभी राजा दीक्षामुपाविशत् ॥३७ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

शुभ दिन और नक्षत्र में महाराज दशरथ यज्ञशाला में गये। तब वशिष्ठ प्रमुख सब ब्राह्मणों ने ऋष्यशृङ्ग को अपना नेता बना

यज्ञशाला में यज्ञकार्य यथाविधि आरम्भ किया और महाराज ने रानियों सहित यज्ञदीक्षा ली ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

बालकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुर्दशः सर्गः

—:o:—

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन्प्राप्ते तुरङ्गमे ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत ॥ १ ॥

एक वर्ष बाद जब यज्ञ का घोड़ा चारों ओर घूमकर आ गया, तब महाराज दशरथ का अश्वमेधयज्ञ सरयू के उत्तरतट पर होने लगा ॥ १ ॥

ऋश्यशृङ्गं पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्द्विजर्षभाः ।
अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ॥ २ ॥

ऋष्यशृङ्ग प्रमुख ब्राह्मणश्रेष्ठों ने महाराज दशरथ से अश्वमेधयज्ञ करवाया ॥ २ ॥

कर्म कुर्वन्ति विधिवद्याजका वेदपारगाः ।
यथाविधि यथान्यायं परिक्रामन्ति शास्त्रतः ॥ ३ ॥

वेद जानने वाले तथा यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण, (ऋत्विज) कल्पसूत्रों में कथित यज्ञ की विधि के अनुसार सब कार्य करवाते थे ॥ ३ ॥

प्रवर्ग्यं शास्त्रतः कृत्वा तथैवोपसदं द्विजाः ।
चक्रुश्च विधिवत्सर्वमधिकं कर्म शास्त्रतः ॥ ४ ॥

अभिपूज्य ततो हृष्टाः सर्वे चक्रुर्यथाविधि ।
प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

प्रवर्ग्य और उपसद् (यज्ञीयकर्म विशेष) दोनों कर्म शास्त्रानुसार विधिवत् करके, बड़ी प्रसन्नता के साथ तत् तत् कर्मों में पूज्य देवताओं की पूजा ब्राह्मणों ने की और दूसरे दिन श्रेष्ठ मुनियों ने प्रातः सवन (यज्ञीय विधि विशेष) कर के, ॥ ४ ॥ ५ ॥

ऐन्द्रश्च विधिवद्दत्तो राजा चाभिष्टुतोऽनघः ।
माध्यंदिनं च सवनं प्रावर्तत यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

विधि पूर्वक इन्द्र का भाग दे और पाप दूर करने वाली सोमलता का रस निकाल, मध्यान्हसवन किया गया ॥ ६ ॥

तृतीयसवनं चैव राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ।
चक्रुस्ते शास्त्रतो दृष्ट्वा तथा ब्राह्मणपुङ्गवाः ॥ ७ ॥

फिर महाराज और ब्राह्मणों ने शास्त्रानुसार यथाविधि तीसरा सायंसवन किया ॥ ७ ॥

न चाहुतमभूत्तत्र स्खलितं वापि किंचन ।
दृश्यते ब्रह्मवत्सर्वं क्षेमयुक्तं हि चक्रिरे ॥ ८ ॥

इस यज्ञ में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने पायी। पूर्ण ज्ञानी यज्ञ करवाने वालों की उपस्थिति के कारण, कोई आहुति भूल से अथवा निष्प्रयोजन नहीं दी गयी, जो कुछ कर्म किया गया वह कल्याणकारक ही किया गया ॥ ८ ॥

न तेष्वहःसु श्रान्तो वा क्षुधितो वाऽपि दृश्यते ।
नाविद्वान्ब्राह्मणस्तत्र नाशतानुचरस्तथा ॥ ९ ॥

यज्ञकाल में कोई भी ब्राह्मण भूखा प्यासा नहीं रहा। न तो वहाँ कोई ऐसा ही ब्राह्मण देख पड़ता जो मूर्ख हो और न वहाँ कोई ऐसा ही ब्राह्मण था जिसके पास सैकड़ों शिष्य न थे ॥ ६ ॥

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते ।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणा भुञ्जते तथा ॥ १० ॥

यही नहीं कि वहाँ केवल ब्राह्मणों ही को भोजन दिया जाता था, प्रत्युत शूद्र नौकर चाकरों को भी भोजन मिलता था । इनके अतिरिक्त तपस्वी, संन्यासी भी भोजन पाते थे ॥ १० ॥

वृद्धाश्च व्याधिताश्चैव स्त्रियो बालास्तथैव च ।
अनिशं भुञ्जमानानां न तृप्तिरुपलभ्यते ॥ ११ ॥

बूढ़े, रोगी, स्त्रियाँ और बालक बारंबार भोजन करते थे तो भी भोजन कराने वाले अघाते न थे ॥ ११ ॥

दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च ।
इति संचोदितास्तत्र तथा चक्रुरनेकशः ॥ १२ ॥

महाराज की आज्ञा से भण्डारी लोग अन्न और वस्त्रादि का दान बड़ी उदारता से जी खोल कर करते थे ॥ १२ ॥

अन्नकूटाश्च बहवो दृश्यन्ते पर्वतोपमाः ।
दिवसे दिवसे तत्र सिद्धस्य विधिवत्तदा ॥ १३ ॥

कच्चे पक्के अन्न के ढेर पहाड़ों जैसे ऊँचे लगे रहते थे जो जैसा माँगता उसे नित्य वैसा ही भोजन दिया जाता था ॥ १३ ॥

नानादेशादनुप्राप्ताः पुरुषाः स्त्रीगणास्तथा ।
अन्नपानैः सुविहितास्तस्मिन्यज्ञे महात्मनः ॥ १४ ॥

अनेक देशों से आये हुए स्त्री पुरुषों के झुण्ड के झुण्ड नित्य भोजन से तृप्त होते थे ॥ १४ ॥

अन्नं हि विधिवत्स्वादु प्रशंसन्ति द्विजर्षभाः ।
अहो तृप्ताः स्म भद्रं त इति शुश्राव राघवः ॥१५॥

स्वादिष्ट भोजनों से तृप्त हुए ब्राह्मणों के आशीर्वाद सूचक शब्द महाराज को चारों ओर से सुन पड़ते थे ॥ १५ ॥

स्वलंकृताश्च पुरुषा ब्राह्मणान्पर्यवेषयन् ।
उपासते च तानन्ये सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ १६ ॥

वस्त्रों और गहनों से सजे हुए अन्य राजाओं के नौकर चाकर ब्राह्मणों की सब प्रकार सेवा करते और उन लोगों की परिचर्या के लिये मणिजटित कुण्डलधारी अन्य लोग थे ॥ १६ ॥

कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान्बहूनपि ।
प्राहुः स्म वाग्मिनो धीराः परस्पर जिगीषया ॥ १७ ॥

एक सवन समाप्त होने पर और दूसरा सवन आरम्भ होने के बीच जो समय बचता उसमें एक दूसरे को पाण्डित्य में हरा देने की इच्छा से विद्वान् ब्राह्मण परस्पर शास्त्रार्थ करते थे ॥ १७ ॥

दिवसेदिवसे तत्र संस्तरे कुशला द्विजाः ।
सर्वकर्माणि चक्रुस्ते यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ १८ ॥

उस यज्ञ में कुशल ब्राह्मण शास्त्रानुकूल नित्य प्रति यज्ञकर्म करते कराते थे ॥ १८ ॥

नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः ।
सदस्यास्तस्य वै राज्ञो नावादकुशला द्विजाः ॥ १९ ॥

इस यज्ञ में ऐसा ब्राह्मण न था जो वेद और वेदाङ्गवित् न हो, और महाराज का कोई ऐसा सदस्य न था, जो व्रतधारी न हो, अथवा बहुश्रुत न हो अथवा बोलचाल में कुशल न हो ॥ १९ ॥

प्राप्ते यूपोच्छ्रये तस्मिन्षड् बैल्वाः खादिरास्तथा ।
तावन्तो बिल्वसहिताः पर्णिनश्च तथाऽपरे ॥ २० ॥

श्लेष्मातकमयस्त्वेको देवदारुमयस्तथा ।
द्वावेव विहितौ तत्र बाहुव्यस्तपरिग्रहौ ॥ २१ ॥

उस यज्ञ में लकड़ी के अँकवार भर मोटे इक्कीस खंभे गाड़े गये थे। इनमें से ६ बेल के, ६ खैर के, ६ ढाक के, १ लिसोड़े का और २ देवदारु के थे ॥ २० ॥ २१ ॥

कारिताः सर्व एवैते शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः ।
शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालङ्कृताऽभवन् ॥२२॥

यज्ञकर्म में चतुर शास्त्रियों ने यज्ञशाला की शोभा बढ़ाने के लिये इन खंभों को सोने के पत्रों से मढ़वा दिया था ॥ २२ ॥

एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः ।
वासोभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलंकृताः ॥ २३ ॥

इक्कीसों खंभे इक्कीस इक्कीस अरत्नि* ऊँचे थे और सब कपड़ों से सजाये गये थे ॥ २३ ॥

विन्यस्ता विधिवत्सर्वे शिल्पिभिः सुकृता दृढाः ।
अष्टाश्रयः सर्व एव श्लक्ष्णरूपसमन्विताः ॥ २४ ॥

---

* अरत्नि—मुट्ठी ; यानी हाथ की बंधी हुई मुट्ठी ।

यथाविधि शिल्पियों ने बना, इनको बड़ी मज़बूती से पृथिवी में गाड़ा था, जिससे हिले नहीं, और ये खंभे बड़े चिकने और अठपहलू बनाये गये थे ॥ २४ ॥

आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च भूषिताः ।
सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि ॥ २५ ॥

इन खंभों पर वस्त्र लपेटे गये थे और ये पुष्प और चन्दन से सजाये गये थे । उस समय इनकी शोभा आकाश-मण्डल में सप्तर्षियों की तरह देख पड़ती थी ॥ २५ ॥

इष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणतः ।
चितोऽग्निर्ब्राह्मणैस्तत्र कुशलैः शुल्वकर्मणि ॥ २६ ॥

स चित्यो राजसिंहस्य संचितः कुशलैर्द्विजैः ।
गरुडो रुक्मपक्षो वै त्रिगुणोऽष्टादशात्मकः ॥ २७ ॥

जितनी बड़ी और जितनी अपेक्षित थीं उतनी ईंटें तैयार होने पर शिल्पनिपुण ब्राह्मणों ने उन ईंटों से अग्निकुण्ड बनाया । राजसिंह महाराज दशरथ के यज्ञ में चतुर ब्राह्मणों ने सुवर्ण की ईंटों से पंख बना अठारह प्रस्तार का एक गरुड़ बनाया ॥ २६ ॥ २७ ॥

नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम् ।
उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ २८ ॥

जैसी शास्त्रों में विधि बतलायी गयी है, तदनुसार जिस देवता के लिये जो पशु चाहिये वह बांधा गया । यथाविधि सर्प और पक्षी भी यज्ञशाला में लाये गये ॥ २८ ॥

शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये।
ऋत्विग्भिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा ॥ २९ ॥

ऋत्विजों ने घोड़े और जलचर जन्तु कच्छप आदि शास्त्ररीति से यथास्थान बाँधे ॥ २९ ॥

पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तथा।
अश्वरत्नोत्तमं तस्य राज्ञो दशरथस्य च ॥ ३० ॥

उन खंभों में तीन सौ पशु और प्रत्येक दिशा में घूम कर आया हुआ महाराज का अति उत्तम घोड़ा बाँधा गया ॥ ३० ॥

कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः।
कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा ॥ ३१ ॥

कौशल्या जी ने उस घोड़े की अच्छी तरह पूजा की और प्रसन्न हो, तीन तलवारों से उस घोड़े के टुकड़े किये ॥ ३१ ॥

पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा।
अवसद्रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया ॥ ३२ ॥

फिर धर्मसिद्धि की कामना से कौशल्या जी उस (मृत) अश्व की रक्षा करने को एक रात, शवस्पर्श की घृणा रहित मन से उसके पास रहीं ॥ ३२ ॥

होताऽध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन्।
महिष्या परिवृत्त्या च वावातां च तथा पराम् ॥ ३३ ॥

फिर होता, अध्वर्यु और उद्गाताओं ने कौशल्या जी को, परिवृति* को तथा वावाता† को अश्व के साथ नियोजित किया ॥ ३३ ॥

पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।
ऋत्विक्परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥ ३४ ॥

जितेन्द्रिय ऋत्विजों ने उस घोड़े की चर्वी ले यथाविधि अग्नि पर चढ़ा उसे पकाया ॥ ३४ ॥

धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन्पापमात्मनः ॥ ३५ ॥

महाराज दशरथ होमकाल में चर्वी के पकाने पर निकली हुई गन्धि को शास्त्र की विधि के अनुसार सूंघ सूंघ कर, अपने पापों को नष्ट करने लगे ॥ ३५ ॥

हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत्समन्त्राः षोडशर्त्विजः ॥३६॥

सोलह ऋत्विज उस घोड़े के अंग काट काट कर विधिवत् अग्नि में हवन करने लगे ॥ ३६ ॥

प्लक्षशाखासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः ।
अश्वमेधस्य चैकस्य वैतसो भाग इष्यते ॥ ३७ ॥

---

* राजा की शूद्रा स्त्री ; परिवृति वैश्य । † राजा की वैश्या स्त्री वावाता कहलाती है ।

अन्य यज्ञों में पाकर की लकड़ी से हवि की आहुति दी जाती है, किन्तु अकेले अश्वमेध ही में यह काम बेत से लिया जाता है ॥ ३७ ॥

त्र्यहोऽश्वमेधः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः ।
चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम् ॥ ३८ ॥

उक्थ्यं द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम् ।
कारितास्तत्र बहवो विहिताः शास्त्रदर्शनात् ॥ ३९ ॥

कल्पसूत्र और ब्राह्मण भाग ने, अश्वमेध यज्ञ में तीन दिन सवन्-क्रिया करने के बतलाये हैं। उनमें प्रथम दिन अग्निष्टोम दिन है, दूसरा उक्थ्य, तीसरा अतिरात्रि—सो ये भी शास्त्र-विधि के अनुसार तथा अन्य बहुत से विधान किये गये ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

ज्योतिष्टोमायुषी चैवमतिरात्रौ च निर्मितौ ।
अभिजिद्विश्वजिच्चैवमप्तोर्यामो महाक्रतुः ॥ ४० ॥

ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्रि, अभिजित्, विश्वजित्, आप्तोर्याम महायज्ञ किये गये ॥ ४० ॥

प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिशं स्वकुलवर्धनः ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं तु ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ॥ ४१ ॥

उद्गात्रे च तथोदीचीं दक्षिणैषा विनिर्मिता ।
अश्वमेधे महायज्ञे स्वयंभूविहिते पुरा ॥ ४२ ॥

क्रतुं समाप्य तु तदा न्यायतः पुरुषर्षभः ।
ऋत्विग्भ्यो हि ददौ राजा धरां तां कुलवर्धनः ॥४३॥

स्वकुल-वृद्धि-कारक महाराज दशरथ ने इस महायज्ञ को यथा-विधि समाप्ति पर पूर्व दिशा का राज्य होता को, पश्चिम का अध्वर्यु को, दक्षिण दिशा का ब्रह्मा को और उत्तर दिशा का उद्गाता को यज्ञ की दक्षिणा में दिया। स्वायंभुवमनु ने जिस प्रकार अपने महायज्ञ में, पूर्वकाल में, दक्षिणा दी थी, उसी प्रकार दशरथजी ने दी। तब यज्ञ को शास्त्रानुसार विधिवत् समाप्त कर, पुरुषश्रेष्ठ महाराज ने ऋत्विजों को पृथिवीदान कर दी ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

ऋत्विजस्त्वब्रुवन्सर्वे राजानं गतकल्मषम् ।
भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हति ॥ ४४ ॥

न भूम्या कार्यमस्माकं न हि शक्ताः स्म पालने ।
रताः स्वाध्यायकरणे वयं नित्यं हि भूमिप ॥ ४५ ॥

निष्क्रयं किंचिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति ।
मणिरत्नं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम् ॥ ४६ ॥

तत्प्रयच्छ नरश्रेष्ठ धरण्या न प्रयोजनम् ।
एवमुक्तो नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ४७ ॥

जब दशरथ ने अपने राज्य की सारी भूमि यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को दे दी, तब सब ब्राह्मण निष्पाप महाराज दशरथ से बोले कि, हे नरनाथ! इस भूमि की रक्षा तो आप ही कर सकते हैं। न तो हमें भूमि की आवश्यकता है और न हम इसका पालन ही करने में समर्थ हैं। क्योंकि हम लोग वेदपाठ में लगे रहते हैं अर्थात् हमें ज़मींदारी या राज्य के झंझटों में पड़ने की फ़ुरसत कहाँ है। अतएव आप तो हमें इस भूमिदान के बदले मणि, रत्न, सुवर्ण,

गौएँ—जो आप देना चाहें, दे दें। हम भूमि ले कर क्या करेंगे? वेदपारग ब्राह्मणों के ये वचन सुन ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

गवां शतसहस्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः ।
दशकोटीः सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम् ॥ ४८ ॥

महाराज ने एक लाख गौएँ, दस करोड़ सोने की मोहरें, चालीस करोड़ चाँदी के रुपये सब ऋत्विजों को दिये ॥ ४८ ॥

ऋत्विजस्तु ततः सर्वे ददुः सहिता वसु ।
ऋश्यशृङ्गाय मुनये वसिष्ठाय च धीमते ॥ ४९ ॥

उन सब ने दक्षिणा में मिली हुई ये सब चीज़ें बाँटने के लिये वशिष्ठ जी व ऋष्यशृङ्ग जी के सामने रख दीं ॥ ४९ ॥

ततस्ते न्यायतः कृत्वा प्रविभागं द्विजोत्तमाः ।
सुप्रीतमनसः सर्वे प्रत्यूचुर्मुदिता भृशम् ॥ ५० ॥

उन्होंने न्यायानुसार हिस्सा कर, सब को वह धन बाँट दिया। वे अपना अपना हिस्सा बाँट पा कर और प्रसन्न हो बोले, हम बहुत प्रसन्न हैं ॥ ५० ॥

ततः प्रसर्पकेभ्यस्तु हिरण्यं सुसमाहितः ।
जाम्बूनदं कोटिशतं ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ॥ ५१ ॥

फिर महाराज ने उन लोगों को जो यज्ञ देखने आये थे मोहरें बाँटीं और जाम्बूनद के सोने की कई करोड़ मोहरें अन्य ब्राह्मणों को दीं ॥ ५१ ॥

दरिद्राय द्विजायाथ हस्ताभरणमुत्तमम् ।
कस्मैचिद्याचमानाय ददौ राघवनन्दनः ॥ ५२ ॥

तदनन्तर महाराज दशरथ ने एक दरिद्र भिक्षुक को, उसके माँगने पर, अपने हाथ का गहना उतार कर दे दिया ॥ ५२ ॥

ततः प्रीतेषु नृपतिर्द्विजेषु द्विजवत्सलः ।
प्रणाममकरोत्तेषां हर्षपर्याकुलेक्षणः ॥ ५३ ॥

ब्राह्मणों को प्रसन्न देख, महाराज ने अतीव प्रसन्न चित्त से उनको प्रणाम किया ॥ ५३ ॥

तस्याशिषोऽथ विविधा ब्राह्मणैः समुदीरिताः ।
उदारस्य नृवीरस्य धरण्यां प्रणतस्य च ॥ ५४ ॥

इस पर उदार, वीरवर और पृथिवी पर पसर कर प्रणाम करते हुए महाराज को, ब्राह्मणों ने विविध आशीर्वाद दिये ॥ ५४ ॥

ततः प्रीतमना राजा प्राप्य यज्ञमनुत्तमम् ।
पापापहं स्वर्नयनं दुष्करं पार्थिवर्षभैः ॥ ५५ ॥

उदारचित्त महाराज दशरथ, पाप नाश करने वाले, स्वर्गप्रद एवं अन्य राजाओं के लिये दुष्कर, इस यज्ञ को कर ॥ ५५ ॥

ततोऽब्रवीदृश्यशृङ्गं राजा दशरथस्तदा ।
कुलस्य वर्धनं त्वं तु कर्तुमर्हसि सुव्रत ॥ ५६ ॥

ऋष्यशृङ्ग से बोले—"हे सुव्रत ! अब आप मेरे कुल की वृद्धि के लिये उपाय कीजिये ॥ ५६ ॥

तथेति च स राजानमुवाच द्विजसत्तमः ।
भविष्यन्ति सुता राजंश्चत्वारस्ते कुलोद्वहाः ॥ ५७ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

यह सुन और तथास्तु कह कर ऋष्यशृङ्ग बोले—'हे राजन्! आपके कुल को बढ़ाने वाले चार पुत्र होंगे ॥ ५७ ॥

बालकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

पञ्चदशः सर्गः

—:※:—

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किंचिदिदमुत्तरम्।
लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत् ॥ १ ॥

मेधावी, वेदज्ञ ऋष्यशृङ्ग जी कुछ काल तक ध्यान कर के, महाराज दशरथ से बोले कि, ॥ १ ॥

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः ॥ २ ॥

हे राजन्! मैं तेरे लिये अथर्वणवेद में कही हुई पुत्रेष्टि यज्ञ की विधि के अनुसार सिद्धि देने वाला पुत्रेष्टि यज्ञ करूँगा जिससे तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा ॥ २ ॥

ततः प्रक्रम्य तामिष्टिं पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
जुहाव चाग्नौ तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ३ ॥

यह कह पुत्र-प्राप्ति के लिये, उन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ प्रारम्भ किया, और विधिवत् मंत्र पढ़ कर, वे आहुति देने लगे ॥ ३ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
भागप्रतिग्रहार्थं वै समवेता यथाविधि ॥ ४ ॥

तब तो देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि, अपना अपना यज्ञ-भाग लेने को आ कर जमा हुए ॥ ४ ॥

ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन्सदसि देवताः ।
अब्रुवँल्लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं महत् ॥ ५ ॥

इस यज्ञ में यथाक्रम एकत्र हो देवताओं ने सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा जी से विनय की ॥ ५ ॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः ।
सर्वान्नो बाधते वीर्याच्छासितुं तं न शक्नुमः ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! आपकी कृपा से रावण नामक राक्षस, हम सब को बहुत सताता है, और हम उसका कुछ भी नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

त्वया तस्मै वरो दत्तः प्रीतेन भगवन्पुरा ।
मानयन्तश्च तं नित्यं सर्वं तस्य क्षमामहे ॥ ७ ॥

क्योंकि आपने प्रसन्न हो उसे पहले वरदान दे दिया है, इस लिये हम सब सहते हैं और कुछ नहीं बोलते ॥ ७ ॥

उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान्द्वेष्टि दुर्मतिः ।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति ॥ ८ ॥

वह तीनों लोकों को सता रहा है, और लोकपालों से शत्रुता बाँध कर, स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी नीचा दिखाना चाहता है ॥ ८ ॥

ऋषीन्यक्षान्सगन्धर्वानसुरान्ब्राह्मणांस्तथा ।
अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः ॥ ९ ॥

क्या ऋषि, क्या यक्ष, क्या गन्धर्व, क्या देवता, क्या ब्राह्मण, आपके वरदान के प्रभाव से, यह दुर्धर्ष किसी को कुछ भी तो नहीं समझता ॥ ९ ॥

नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः ।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते ॥१०॥

उसे न तो सूर्य की गर्मी पहुँचा सकते और न वायु देव ही उसके समीप वेग से चल सकते हैं । उसे देखते ही समुद्र भी अपना लहराना बंद कर, शान्त हो जाता है ॥ १० ॥

सुमहन्नो भयं तस्माद्राक्षसाद्घोरदर्शनात् ।
वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

उस भयानक राक्षस को देखने ही से हमें बड़ा डर लगता है । अतः हे भगवन् ! उसके वध के लिये कोई उपाय कीजिये ॥ ११ ॥

एवमुक्तः सुरैः सर्वैश्चिन्तयित्वा ततोऽब्रवीत् ।
हन्तायं विहितस्तस्य वधोपायो दुरात्मनः ॥ १२ ॥

उन सब देवताओं के ये वचन सुन, ब्रह्मा जी कुछ सोच कर बोले—मैंने उस दुरात्मा के मारने का उपाय सोच लिया है ॥ १२ ॥

तेन गन्धर्वयक्षाणां देवदानवरक्षसाम् ।
अवध्योऽस्मीति वागुक्ता तथेत्युक्तं च तन्मया ॥१३॥

रावण के वर माँगने पर हमने उसे गन्धर्व, यक्ष, देवता, दानव और राक्षसों द्वारा अवध्य होने का वरदान तो अवश्य दे दिया है ॥ १३ ॥

नाकीर्तयदवज्ञानात्तद्रक्षो मानुषांस्तदा ।
तस्मात्स मानुषाद्वध्यो मृत्युर्नान्योऽस्य विद्यते ॥१४॥

किन्तु उसने मनुष्यों को कुछ भी न समझ वरदान में मनुष्यों का नाम नहीं लिया था। अतः वह सिवाय मनुष्य के और किसी के द्वारा नहीं मारा जा सकता ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रियं वाक्यं ब्रह्मणा समुदाहृतम् ।
देवा महर्षयः सर्वे प्रहृष्टास्तेऽभवंस्तदा ॥ १५ ॥

ब्रह्मा जी का यह प्रिय वचन सुन, सब देवता महर्षि आदि बहुत प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः ।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः ॥ १६ ॥

इतने ही में शङ्ख चक्र गदा धारण किये और पीताम्बर धारण किये महा तेजस्वी जगत्पति विष्णु भगवान् वहाँ पर आये ॥ १६ ॥

ब्रह्मणा च समागम्य तत्र तस्थौ समाहितः ।
तमब्रुवन्सुराः सर्वे समभिष्टूय संनताः ॥ १७ ॥

जब विष्णु भगवान् ब्रह्मा जी से मिल कर उनके पास बैठे तब देवताओं ने बड़ी नम्रता के साथ उनकी स्तुति की और बोले ॥ १७ ॥

त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया ।
राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ १८ ॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः ।
तस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ॥ १९ ॥

विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम् ॥ २० ॥
अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम् ।
स हि देवान्सगन्धर्वान्सिद्धांश्च मुनिसत्तमान् ॥ २१ ॥

राक्षसो रावणो मूर्खो वीर्योत्सेकेन बाधते ।
ऋषयस्तु ततस्तेन गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ २२ ॥

हम लोग आपसे सब की भलाई के लिये यह प्रार्थना करते हैं कि आप धर्मात्मा, ज्ञानी और ऋषिवत् तेजस्वी अयोध्याधिपति महाराज दशरथ की ह्री श्री और कीर्ति के समान तीन रानियों में अपने चार अंशों से पुत्रभाव स्वीकार करें। आप मनुष्य शरीर धारण कर, महा अभिमानी लोककण्टक उस रावण को, जो हम (देवताओं) से भी अवध्य है, युद्ध में परास्त करें। क्योंकि वह मूर्ख राक्षस रावण देवता, गन्धर्व, सिद्ध और मुनियों को अपने बल से बहुत सताता है ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

क्रीडन्तो नन्दनवने क्रूरेण किल हिंसिताः ।
वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह ॥ २३ ॥

देखिये, उस दुष्ट ने (इन्द्र के) नन्दनवन नामक उद्यान में क्रीड़ा करते हुए अनेक गन्धर्वों तथा अप्सराओं को मार डाला। उसीको मरवाने के लिये, हम यहाँ मुनियों सहित आये हैं ॥ २३ ॥

सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः ।
त्वं गतिः परमा देव सर्वेषां नः परन्तप ॥ २४ ॥

हम सिद्ध, गन्धर्व और यक्षों सहित आपके शरण में आये हैं। हे देव! हमारी दौड़ तो आप ही तक है ॥ २४ ॥

वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु।
एवमुक्तस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुङ्गवः ॥ २५ ॥

अतः आप देवताओं के शत्रु रावण का वध करने के लिये मनुष्यलोक में अवतीर्ण हूजिये। इस प्रकार देवताओं ने भगवान् विष्णु की स्तुति की ॥ २५ ॥

पितामहपुरोगांस्तान्सर्वलोकनमस्कृतः।
अब्रवीत्त्रिदशान्सर्वान्समेतान्धर्मसंहितान् ॥ २६ ॥

सर्वलोकों से नमस्कार किये जाने वाले अर्थात् सर्वपूज्य भगवान् विष्णु ने, शरण आये हुए एकत्रित ब्रह्मादि देवताओं से यह कहा ॥ २६ ॥

भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम्।
सपुत्रपौत्रं सामात्यं समित्रज्ञातिबान्धवम् ॥ २७ ॥
हत्वा क्रूरं दुरात्मानं देवर्षीणां भयावहम्।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन्पृथिवीमिमाम् ॥ २८ ॥

हे देवताओ! तुम्हारा मङ्गल हो; तुम अब मत डरो। तुम्हारे हित के लिये मैं रावण से लडूँगा। मैं पुत्र, पौत्र, मंत्रि, मित्र, जाति वालों तथा बन्धु बान्धव सहित, उस क्रूर, दुष्ट और देवताओं तथा ऋषियों के लिये भयप्रद रावण को मार और ग्यारह हज़ार वर्ष तक मर्त्यलोक में रह कर, इस पृथिवी का पालन करूँगा ॥ २७ ॥ २८ ॥

एवं दत्त्वा वरं देवो देवानां विष्णुरात्मवान्।
मानुषे चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः ॥ २९ ॥

इस प्रकार भगवान् विष्णु देवताओं को वरदान दे अपने जन्म लेने योग्य मनुष्यलोक में स्थान सोचने लगे ॥ २९ ॥

ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम्।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥ ३० ॥

कमलनयन भगवान् विष्णु ने अपने चार रूपों से महाराज दशरथ को अपना पिता बनाना, अर्थात् उनके घर में जन्म लेना पसंद किया ॥ ३० ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वाः सरुद्राः साप्सरोगणाः।
स्तुतिभिर्दिव्यरूपाभिस्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ ३१ ॥

तब देवर्षि, गन्धर्व, रुद्र, अप्सरागण—इन सब ने मधुसूदन भगवान् की स्तुति कर, उनको सन्तुष्ट किया ॥ ३१ ॥

तमुद्धतं रावणमुग्रतेजसं
प्रवृद्धदर्पं त्रिदशेश्वरद्विषम्।
विरावणं साधु तपस्विकण्टकं
तपस्विनामुद्धर तं भयावहम् ॥ ३२ ॥

तमेव हत्वा सबलं सबान्धवं
विरावणं रावणमुग्रपौरुषम्।
स्वर्लोकमागच्छ गतज्वरश्चिरं
सुरेन्द्रगुप्तं गतदोषकल्मषम् ॥ ३३ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

और कहा, हे प्रभो! इस उद्दण्ड, बड़े तेजस्वी, अत्यन्त अहङ्कारी, देवताओं के शत्रु, लोकों को रुलाने वाले, साधु तपस्वियों को सताने वाले और भयदाता रावण को, नाश कीजिये। उस लोकों को रुलाने वाले और उग्र पुरुषार्थी रावण को बंधु, बान्धव तथा सेना सहित मार कर और संसार के दुःख को दूर कर, इन्द्रपालित तथा पाप एवं दोषशून्य स्वर्ग में पधारिये ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

वालकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

षोडशः सर्गः

—:*:—

ततो नारायणो देवो नियुक्तः सुरसत्तमैः।
जानन्नपि सुरानेवं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

देवताओं की स्तुति सुन, सब जानने वाले साक्षात् परब्रह्म नारायण, देवताओं के सम्मानार्थ यह मधुर वचन बोले ॥ १ ॥

उपायः को वधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः।
यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकण्टकम् ॥ २ ॥

हे देवताओ! यह तो बतलाओ कि, उस राक्षसों के राजा और मुनियों के कण्टक को हम किस उपाय से मारें। ॥ २ ॥

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्विष्णुमव्ययम्।
मानुषीं तनुमास्थाय रावणं जहि संयुगे ॥ ३ ॥

यह सुन देवताओं ने अव्यय विष्णु से कहा—मनुष्य रूप में अवतीर्ण हो, रावण को युद्ध में मारिये ॥ ३ ॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिन्दम।
येन तुष्टोऽभवद्ब्रह्मा लोककृल्लोकपूजितः ॥ ४ ॥

हे अरिन्दम! उसने बहुत दिनों तक कठोर तप कर लोककर्त्ता और लोकपूजित ब्रह्मा को प्रसन्न किया ॥ ४ ॥

संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात् ॥ ५ ॥

तब उन्होंने प्रसन्न हो उस राक्षस को यह वर दिया कि, मनुष्य के सिवाय हमारी सृष्टि के किसी भी जीव के मारे तुम न मरोगे ॥ ५ ॥

अवज्ञाताः पुरा तेन वरदानेन मानवाः।
एवं पितामहात्तस्माद्वरं प्राप्य स दर्पितः ॥ ६ ॥

वह मनुष्य को तुच्छ समझता था। अतः उसने मनुष्यों से अभय होना न माँगा। ब्रह्मा जी के वर से वह गर्वित हो गया ॥ ६ ॥

उत्सादयति लोकांस्त्रीन्स्त्रियश्चाप्यपकर्षति।
तस्मात्तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परन्तप ॥ ७ ॥

इस समय वह तीनों लोकों को उजाड़ता है और स्त्रियों को पकड़ कर ले जाता है, अतएव वह मनुष्य के हाथ ही से मर सकता है ॥ ७ ॥

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान्।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥ ८ ॥

देवताओं की इन बातों को सुन भगवान् विष्णु ने महाराज दशरथ को अपना पिता बनाना पसंद किया ॥ ८ ॥

स चाप्यपुत्रो नृपतिस्तस्मिन्काले महाद्युतिः ।
अयजत्पुत्रियामिष्टिं पुत्रेप्सुररिसूदनः ॥ ९ ॥

उसी समय पुत्रहीन, महाद्युतिमान्, शत्रुहन्ता महाराज दशरथ ने पुत्रप्राप्ति के लिये पुत्रेष्टियज्ञ करना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

स कृत्वा निश्चयं विष्णुरामन्त्र्य च पितामहम् ।
अन्तर्धानं गतो देवैः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ १० ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ के घर में जन्म लेने का निश्चय कर और ब्रह्मा जी से बातचीत कर भगवान् विष्णु वहाँ से अन्तर्धान हो गये ॥ १० ॥

ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम् ।
प्रादुर्भूतं महद्भूतं महावीर्यं महाबलम् ॥ ११ ॥

कृष्णं रक्ताम्बरधरं रक्ताक्षं दुन्दुभिस्वनम् ।
स्निग्धहर्यक्षतनुजश्मश्रुप्रवरमूर्धजम् ॥ १२ ॥

शुभलक्षणसंपन्नं दिव्याभरणभूषितम् ।
शैलशृङ्गसमुत्सेधं दृप्तशार्दूलविक्रमम् ॥ १३ ॥

दिवाकरसमाकारं दीप्तानलशिखोपमम् ।
तप्तजाम्बूनदमयीं राजतान्तपरिच्छदाम् ॥ १४ ॥

दिव्यपायससंपूर्णां पात्रीं पत्नीमिव प्रियाम् ।
प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव ॥ १५ ॥

इधर महाराज दशरथ के अग्निकुण्ड के अग्नि से महाबली, अतुल प्रभा वाला, काले रंग का, लाल वस्त्र धारण किये हुए,

महाराज दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में अग्नि से यज्ञ देव का
प्रकट हो कर महाराज को पायस देना

लाल रंग के मुँह वाला, नगाड़े जैसा शब्द करता हुआ; सिंह के रोम जैसे रोम और मूँछों वाला, शुभ लक्षणों से युक्त, सुन्दर आभूषणों को धारण किये हुए, पर्वत के शिखर के समान लंबा, सिंह जैसी चाल वाला, सूर्य के समान तेजस्वी, और प्रज्वलित अग्नि शिखा की तरह रूप वाला, दोनों हाथों में सोने के थाल में, जो चाँदी के ढकने से ढका हुआ था, पत्नी की तरह प्रिय और दिव्य खीर लिये हुए, मुसक्याता हुआ एक पुरुष निकला ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

समवेक्ष्याब्रवीद्वाक्यमिदं दशरथं नृपम् ।
प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप ॥ १६ ॥

वह महाराज दशरथ को ओर देख कर यह बोला—"महाराज! मैं प्रजापति के पास से यहां आया हूँ ॥ १६ ॥

ततः परं तदा राजा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।
भगवन्स्वागतं तेऽस्तु किमहं करवाणि ते ॥ १७ ॥

यह सुन महाराज दशरथ ने हाथ जोड़ कर कहा—भगवन्! आपका मैं स्वागत करता हूँ कहिये, मेरे लिये क्या आज्ञा है ॥१७॥

अथो पुनरिदं वाक्यं प्रजापत्यो नरोऽब्रवीत् ।
राजन्नर्चयता देवानद्य प्राप्तमिदं त्वया ॥ १८ ॥

इस पर प्रजापति के भेजे उस मनुष्य ने फिर कहा—देवताओं का पूजन करने से आज तुमको यह पदार्थ मिला है ॥ १८ ॥

इदं तु नरशार्दूल पायसं देवनिर्मितम् ।
प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्धनम् ॥ १९ ॥

हे नरशार्दूल ! यह देवताओं की बनाई हुई खीर है, जो सन्तान की देने वाली तथा धन और ऐश्वर्य की बढ़ाने वाली है इसे आप लीजिये ॥ १६ ॥

भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै ।
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान्यदर्थं यजसे नृप ॥ २० ॥

और इसको अपने अनुरूप रानियों को खिलाइये। इसके प्रभाव से आपकी रानियों के पुत्र उत्पन्न होंगे, जिसके लिये आपने यह यज्ञ किया है ॥ २० ॥

तथेति नृपतिः प्रीतः शिरसा प्रतिगृह्य ताम् ।
पात्रीं देवान्नसंपूर्णां देवदत्तां हिरण्मयीम् ॥ २१ ॥

इस बात को सुन महाराज ने प्रसन्न हो, उस देवताओं की बनाई हुई और भेजी हुई खीर से भरे सुवर्णपात्र को ले अपने माथे चढ़ाया ॥ २१ ॥

अभिवाद्य च तद्भूतमद्भुतं प्रियदर्शनम् ।
मुदा परमया युक्तश्चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर उस अद्भुत एवं प्रियदर्शन पुरुष को महाराज ने प्रणाम किया और परम प्रसन्न हो उसकी परिक्रमा की ॥ २२ ॥

ततो दशरथः प्राप्य पायसं देवनिर्मितम् ।
बभूव परमप्रीतः प्राप्य वित्तमिवाधनः ॥ २३ ॥

उस देवनिर्मित खीर को पा कर महाराज दशरथ उसी तरह परम प्रसन्न हुए, जिस तरह कोई निर्धन मनुष्य धन पा कर परम प्रसन्न होता है ॥ २३ ॥

ततस्तदद्भुतप्रख्यं भूतं परमभास्वरम् ।
संवर्तयित्वा तत्कर्म तत्रैवान्तरधीयत ॥ २४ ॥

वह महातेजस्वी अद्भुत पुरुष महाराज दशरथ को पायसपात्र दे कर वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २४ ॥

हर्षरश्मिभिरुद्द्योतं तस्यान्तःपुरमाबभौ ।
शारदस्याभिरामस्य चन्द्रस्येव नभोंशुभिः ॥ २५ ॥

महाराज की रानियां भी यह सुख-संवाद सुन, शरद्कालीन चन्द्रमा की किरणों से आकाश की भाँति (प्रसन्नता से) खिल उठीं; अर्थात् शोभायमान हुईं ॥ २५ ॥

सोन्तःपुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत् ।
पायसं प्रतिगृह्णीष्व पुत्रीयं त्विदमात्मनः ॥ २६ ॥

महाराज दशरथ रनवास में गये और महारानी कौशल्या जी से यह बोले—"लो यह खीर है, इससे तुमको पुत्र की प्राप्ति होगी ॥ २६ ॥

कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तदा ।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः ॥ २७ ॥

तदनन्तर महाराज दशरथ ने उस खीर में से आधी तो कौशल्या जी को और बची हुई आधी में से आधी सुमित्रा को दी ॥ २७ ॥

कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुत्रार्थकारणात् ।
प्रददौ चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम् ॥ २८ ॥
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महीपतिः ।
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक् ॥ २९ ॥

कुल खीर का आठवाँ हिस्सा कैकेयी को दिया और उस अमृतोपम खीर का बचा हुआ आठवाँ भाग, कुछ सोचकर फिर, सुमित्रा को दे दिया। इस प्रकार महाराज ने अपनी रानियों को अलग अलग हिस्से कर खीर बाँटी ॥ २८ ॥ २९ ॥

तास्त्वेतत्पायसं प्राप्य नरेन्द्रस्योत्तमाः स्त्रियः।
सम्मानं मेनिरे सर्वाः प्रहर्षोदितचेतसः ॥ ३० ॥

उस खीर को खा कर, महाराज की कौशल्यादि सुन्दरी रानियाँ बहुत प्रसन्न हुईं और अपने को अत्यन्त भाग्यवती माना ॥ ३० ॥

ततस्तु ताः प्राश्य तदुत्तमस्त्रियो
महीपतेरुत्तमपायसं पृथक्।
हुताशनादित्यसमानतेजस-
श्चिरेण गर्भान्प्रतिपेदिरे तदा ॥ ३१ ॥

तदनन्तर उन उत्तम रानियों ने, महाराज की पृथक् पृथक् दी हुई खीर खा कर अग्नि और सूर्य के समान तेज वाले गर्भ शीघ्र धारण किये ॥ ३१ ॥

ततस्तु राजा प्रसमीक्ष्य ताः स्त्रियः
प्ररूढगर्भाः प्रतिलब्धमानसः।
बभूव हृष्टस्त्रिदिवे यथा हरिः
सुरेन्द्रसिद्धर्षिगणाभिपूजितः ॥ ३२ ॥

इति षोडशः सर्गः॥

महाराज दशरथ भी अपनी रानियों को गर्भवती और अपना मनोरथ पूर्ण होता देख, उसी प्रकार प्रसन्न हुए, जिस प्रकार भगवान्

विष्णु देवताओं और सिद्धों से पूजित हो, स्वर्ग में प्रसन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

बालकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

सप्तदशः सर्गः

—:o:—

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयंभूर्भगवानिदम् ॥ १ ॥

महात्मा महाराज दशरथ के घर में भगवान् विष्णु को पुत्र रूप से अवतीर्ण होते देख, ब्रह्मा जी ने सब देवताओं से कहा ॥ १ ॥

सत्यसंधस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः ।
विष्णोः सहायान्बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ॥२॥
मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमाञ्जवे ।
नयज्ञान्बुद्धिसंपन्नान्विष्णुतुल्यपराक्रमान् ॥ ३ ॥
असंहार्यानुपायज्ञान्सिंहसंहननान्वितान् ।
सर्वास्त्रगुणसंपन्नानमृतप्राशनानिव ॥ ४ ॥
अप्सरःसु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च ।
किंनरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च ॥ ५ ॥
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च ।
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान् ॥ ६ ॥

सत्यसंध, वीर, और सब का हित चाहने वाले भगवान् विष्णु की सहायता के लिये तुम लोग भी बलवान, कामरूपी (जैसा चाहें

वैसा रूप बनाने वाले) माया को जानने वाले, वेग में पवन तुल्य, नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, पराक्रम में विष्णु के ही समान, जिनको कोई मार न सके, उद्यमी, दिव्य शरीर वाले, अस्त्र विद्या में निपुण और देवताओं के सदृश वानरों को ; अप्सराओं, गन्धर्व की स्त्रियों और यक्षों एवं नागों की कन्याओं, ऋक्षियों, विद्याधरियों, किन्नरियों और वानरियों से उत्पन्न करो ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुङ्गवः ।
जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत ॥ ७ ॥

मैंने भी पहले भालुओं में श्रेष्ठ जाम्बवान् नामक रीछ को पैदा किया था, वह जमुहाई लेते समय मेरे मुख से सहसा निकल पड़ा था ॥ ७ ॥

ते तथोक्ता भगवता तत्प्रतिश्रुत्य शासनम् ।
जनयामासुरेवं ते पुत्रान्वानररूपिणः ॥ ८ ॥
ऋषयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः ।
चारणाश्च सुतान्वीरान्ससृजुर्वनचारिणः ॥ ९ ॥

ब्रह्मा जी के इस आज्ञानुसार, ऋषियों, सिद्धों, चारणों, विद्याधरों और नागों ने वानर रूपी पुत्रों को उत्पन्न किया ॥ ८ ॥ ९ ॥

वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमूर्जितम् ।
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः ॥ १० ॥
बृहस्पतिस्त्वजनयत्तारं नाम महाहरिम् ।
सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तमनुत्तमम् ॥ ११ ॥

धनदस्य सुतः श्रीमान्वानरो गन्धमादनः ।
विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाहरिम् ॥ १२ ॥

पावकस्य सुतः श्रीमान्नीलोऽग्निसदृशप्रभः ।
तेजसा यशसा वीर्यादत्यरिच्यत वानरान् ॥ १३ ॥

रूपद्रविणसंपन्नावश्विनौ रूपसंमतौ ।
मैन्दं च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वयम् ॥ १४ ॥

वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम् ।
शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलम् ॥ १५ ॥

मारुतस्यात्मजः श्रीमान्हनुमान्नाम वानरः ।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे ॥ १६ ॥

इन्द्र ने महेन्द्राचल की तरह वालि, सूर्य ने सुग्रीव, वृहस्पति ने तार, जो सब वानरों में मुख्य और अति चतुर था, कुवेर ने गन्धमादन, विश्वकर्मा ने नल, अग्नि ने नील जो अग्नि के समान ही तेजस्वी था तथा यश और पराक्रम में जो अपने पिता से भी बढ़ कर था; अश्विनी-कुमारों ने मैन्द और द्विविद, वरुण ने सुषेण, मेघ ने शरभ और पवन ने हनुमान नामक वानर उत्पन्न किया। इनकी देह वज्र के समान दृढ़ थी और यह वेग में गरुड़ के समान थे ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान्बलवानपि ।
ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधे रताः ॥ १७ ॥

हनुमान जी बुद्धि और पराक्रम में अन्य सब वानरों से बढ़ बढ़ कर थे। इनके अतिरिक्त हज़ारों और भी बंदर, रावण के वध के लिये उत्पन्न किये गये॥ १७॥

अप्रमेयवला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः।
ते गजाचलसंकाशा वपुष्मन्तो महावलाः॥ १८॥

जितने वानर उत्पन्न हुए वे सब के सब अत्यन्त बलवान, स्वेच्छाचारी, गज और भूधराकार शरीर वाले हुए॥ १८॥

ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे।
यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रमः॥ १९॥
अजायत समस्तेन तस्य तस्य सुतः पृथक्।
गोलाङ्गूलीषु चोत्पन्नाः केचित्संमतविक्रमाः॥२०॥

रीछ, बंदर, लंगूर सब ऐसे ही थे। जिस देवता का जैसा रूप, वेष व पराक्रम था, उनके अलग अलग वैसे वैसे ही पुत्र भी हुए—वल्कि इन योनियों में विशेष पराक्रमी हुए॥ १९॥ २०॥

ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किंनरीषु च।
देवा महर्षिगन्धर्वास्ताक्ष्यां यक्षा यशस्विनः॥ २१॥
नागाः किंपुरुषाश्चैव सिद्धविद्याधरोरगाः।
वहवो जनयामासुर्हृष्टास्तत्र सहस्रशः॥ २२॥

इनमें से कोई तो लंगूरिनों से कोई रीछिनियों से, और कोई किन्नरियों से उत्पन्न हुआ। यशस्वी देवता, ऋषि, गन्धर्व, उरग, यक्ष, नाग, किन्नर विद्याधर आदि ने हज़ारों हृष्ट पुष्ट पुत्र उत्पन्न किये॥ २१॥ २२॥

वानरान्सुमहाकायान्सर्वान्वै वनचारिणः ।
सिंहशार्दूलसदृशा दर्पेण च बलेन च ॥ २३ ॥

ये सब वानर बड़े भारी डील डौल के थे और दर्प तथा बल में सिंह और शार्दूल के समान थे ॥ २३ ॥

शिलाप्रहरणाः सर्वे सर्वे पादपयोधिनः ।
नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥ २४ ॥

सब के सब शिलाओं, पर्वतों, नखों और दांतों से प्रहार करने वाले तथा सब अस्त्रों के चलाने में पण्डित थे ॥ २४ ॥

विचालयेयुः शैलेन्द्रान्भेदयेयुः स्थिरान्द्रुमान् ।
क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितां पतिम् ॥ २५ ॥

ये लोग बड़े बड़े पर्वतों को हिला देने वाले, बड़े बड़े जमे हुए पेड़ों को उखाड़ देने वाले, और अपने वेग से समुद्र को भी विचलित करने वाले थे ॥ २५ ॥

दारयेयुः क्षितिं पद्भ्यामाप्लवेयुर्महार्णवम् ।
नभस्थलं विशेयुश्च गृह्णीयुरपि तोयदान् ॥ २६ ॥

ये अपने पैर के प्रहार से पृथिवी को फोड़ने वाले, समुद्र के पार जाने वाले, आकाश में उड़ने वाले, और बादलों को भी पकड़ने वाले थे ॥ २६ ॥

गृह्णीयुरपि मातङ्गान्मत्तान्प्रव्रजतो वने ।
नर्दमानाश्च नादेन पातयेयुर्विहङ्गमान् ॥ २७ ॥

ये वानर, जंगलों में घूमने वाले, मदमस्त हाथियों को पकड़ने वाले, और किलकारी मार कर, आकाश में उड़ते हुए पक्षियों को गिराने की सामर्थ रखने वाले थे ॥ २७ ॥

ईदृशानां प्रसूतानि हरीणां कामरूपिणाम् ।
शतं शतसहस्राणि यूथपानां महात्मनाम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार कामरूपी वानरों की उत्पत्ति हुई। वे ऐसे महाबली लाखों वानरों के यूथों के यूथपति हुए ॥ २८ ॥

ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः ।
बभूवुर्यूथपश्रेष्ठा वीरांश्चाजनयन्हरीन् ॥ २९ ॥

इन प्रधान यूथपों से अनेकों वीर यूथपश्रेष्ठ वानर उत्पन्न हुए ॥ २६ ॥

अन्ये ऋक्षवतः प्रस्थानुपतस्थुः सहस्रशः ।
अन्ये नानाविधाञ्शैलान्भेजिरे काननानि च ॥३०॥

इनमें से हज़ारों ऋक्षवान् पर्वत के शिखरों पर और शेष वानर जगह जगह पर्वतों और वनों में बसने लगे ॥ ३० ॥

सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
भ्रातरावुपतस्थुस्ते सर्वे एव हरीश्वराः ॥ ३१ ॥

सूर्यपुत्र सुग्रीव और इन्द्रपुत्र वालि, इन दोनों भाइयों के पास ये सब वानर रहने लगे ॥ ३१ ॥

नलं नीलं हनूमन्तमन्यांश्च हरियूथपान् ।
ते तार्क्ष्यबलसंपन्नाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ३२ ॥

और बहुतों ने नल, नील, हनुमान तथा अन्य यूथपतियों का सहारा लिया। वे सब गरुड़ के समान बलवान् और युद्ध में कुशल थे ॥ ३२ ॥

विचरन्तोऽर्दयन्दर्पात्सिंहव्याघ्रमहोरगान् ।
तांश्च सर्वान्महाबाहुर्वाली विपुलविक्रमः ॥ ३३ ॥

जुगोप भुजवीर्येण ऋक्षगोपुच्छवानरान् ।
तैरियं पृथिवी शूरैः सपर्वतवनार्णवा ।
कीर्णा विविधसंस्थानैर्नानाव्यञ्जनलक्षणैः ॥ ३४ ॥

वे सब वानर घूमते हुए सिंह व्याघ्र और साँपों को भी मर्दन करने लगे। महाबली और महाबाहु वाली अपने विपुल विक्रम और अपनी भुजाओं के बल से बंदर रीछ और लंगूरों का पालन करने लगा। उन शूरवीर कपियों से, जिनके विविध प्रकार के रूप रंग थे, पर्वत, वन, समुद्र और पृथिवी के अनेक स्थान परिपूर्ण हो गये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

तैर्मेघवृन्दाचलकूटकल्पै-
र्महाबलैर्वानरयूथपालैः ।
बभूव भूर्भीमशरीररूपैः
समावृता रामसहायहेतोः ॥ ३५ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

मेघों और पर्वतों के समान भीम शरीर वाले महाबली जो यूथप बंदर श्रीरामचन्द्र जी की सहायता के लिये उत्पन्न हुए थे, उनसे सारी पृथिवी भर गयी ॥ ३५ ॥

बालकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टादशः सर्गः

निर्वृत्ते तु क्रतौ तस्मिन्हयमेधे महात्मनः ।
प्रतिगृह्य सुरा भागान्प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ का अश्वमेध यज्ञ समाप्त होने पर देवता अपना अपना भाग लेकर अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ १ ॥

समाप्तदीक्षानियमः पत्नीगणसमन्वितः ।
प्रविवेश पुरीं राजा सभृत्यबलवाहनः ॥ २ ॥

महाराज भी यज्ञदीक्षा के नियमों को समाप्त कर रानियों, सेवकों, सेना और वाहनों सहित राजधानी में चले गये ॥ २ ॥

यथार्हं पूजितास्तेन राज्ञा वै पृथिवीश्वराः ।
मुदिताः प्रययुर्देशान्प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

बाहिर से न्योते में आये हुए राजा भी यथोचित रीत्या सत्कारित हो और वशिष्ठ जी को प्रणाम कर, सहर्ष अपने अपने देशों को लौट गये ॥ ३ ॥

श्रीमतां गच्छतां तेषां स्वपुराणि पुरात्ततः ।
बलानि राज्ञां शुभ्राणि प्रहृष्टानि चकाशिरे ॥ ४ ॥

वहाँ से अपने नगरों को राजाओं के जाने पर उन राजाओं की सेनाएँ नाना प्रकार के भूषण वस्त्रादि पा कर और प्रसन्न हो, अयोध्या से अपने अपने पुरों को विदा हुईं ॥ ४ ॥

गतेषु पृथिवीशेषु राजा दशरथस्तदा ।
प्रविवेश पुरीं श्रीमान्पुरस्कृत्य द्विजोत्तमान् ॥ ५ ॥

सब राजाओं के विदा हो जाने के बाद महाराज दशरथ ने श्रेष्ठ ब्राह्मणों को आगे कर पुरी में प्रवेश किया ॥ ५ ॥

शान्तया प्रययौ सार्धमृश्यशृङ्गः सुपूजितः ।
अन्वीयमानो राज्ञाऽथ सानुयात्रेण धीमता ॥ ६ ॥

ऋष्यशृङ्ग भी अपनी पत्नी शान्ता सहित महाराज से विदा हो अपने स्थान को चल दिये। महाराज उनको पहुँचाने के लिये कुछ दूर तक उनके साथ गये ॥ ६ ॥

एवं विसृज्य तान्सर्वान्राजा सम्पूर्णमानसः ।
उवास सुखितस्तत्र पुत्रोत्पत्तिं विचिन्तयन् ॥ ७ ॥

इस प्रकार उन सब को विदा कर महाराज दशरथ सफल मनोरथ हो, सन्तानोत्पत्ति की प्रतीक्षा करते हुए रहने लगे ॥ ७ ॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः ।
ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ ॥ ८ ॥

यज्ञ होने के दिन से जब छः ऋतुएँ बीत चुकीं और बारहवाँ महीना लगा, तब चैत्र मास की नवमी तिथि को ॥ ८ ॥

नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु ।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ॥ ९ ॥

पुनर्वसु नक्षत्र में सूर्य, मङ्गल, शनि, वृहस्पति और शुक्र के उच्चस्थानों में प्राप्त होने पर अर्थात् क्रमशः मेष, मकर, तुला, कर्क और मीन राशियों में आने पर, और जब चन्द्रमा वृहस्पति के साथ हो गये, तब कर्क लग्न के उदय होते ही ॥ ९ ॥

प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
कौसल्याऽजनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम् ॥ १० ॥

सर्ववन्द्य, जगत् के स्वामी दिव्य लक्षणों से युक्त श्रीरामचन्द्र जी का जन्म कौशल्या जी के गर्भ से हुआ ॥ १० ॥

विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकवर्धनम् ।
कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ॥ ११ ॥

यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ।
भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः ॥ १२ ॥

इक्ष्वाकु वंश को बढ़ाने वाले विष्णु भगवान् का आधा भाग कौशल्या के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। इस अमित तेजस्वी पुत्र के उत्पन्न होने पर कौशल्या जी की वैसी ही शोभा हुई, जैसी कि, देवताओं के वरदान से इन्द्र द्वारा अदिति की हुई थी। सत्य पराक्रमी भरत कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥ १२ ॥

साक्षाद्विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः ।
अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ ॥ १३ ॥

भरत जी विष्णु भगवान् का चतुर्थांश थे और सब गुणों से युक्त थे। सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण और शत्रुघ्न उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

सर्वास्त्रकुशलौ वीरौ विष्णोरर्धसमन्वितौ ।
पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः ॥ १४ ॥

ये दोनों विष्णु के अष्टमांश थे और सब प्रकार के अस्त्र शस्त्र चलाने की विद्या में कुशल शूरवीर थे। पुष्य नक्षत्र और मीन लग्न में, सदा प्रसन्न रहने वाले भरत जी का जन्म हुआ ॥ १४ ॥

सार्पे जातौ च सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ।
राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक् ॥ १५ ॥

श्लेषा नक्षत्र और कर्क लग्न में, सूर्योदय के समय लक्ष्मण शत्रुघ्न का जन्म हुआ। महाराज के चारों पुत्र पृथक् पृथक् गुणों वाले पैदा हुए ॥ १५ ॥

गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्या प्रोष्ठपदोपमाः ।
जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ १६ ॥
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ।
उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलः ॥ १७ ॥

चारों पुत्र गुणवान् और पूर्वा व उत्तरा भाद्रपद नक्षत्रों के तुल्य कान्ति युक्त थे। इनके जन्म के समय गन्धर्वों ने मधुर गान किया, अप्सरायें नाचीं, देवताओं ने वाजे वजाये और आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई। इस प्रकार अयोध्या में बड़ी धूमधाम से उत्सव हुआ और लोगों की बड़ी भीड़ हुई ॥ १६ ॥ १७ ॥

रथ्याश्च जनसंबाधा नटनर्तकसङ्कुलाः ।
गायनैश्च विराविण्यो वादकैश्च तथाऽपरैः ॥ १८ ॥

अयोध्या में घर घर आनन्द की बधाई वजने लगी। गली कूचों में जिधर देखो उधर लोगों की भीड़ लगी हुई थी और वेश्या, नट नटी आदि गा वजा रहीं थीं ॥ १८ ॥

प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्रशः ॥ १९ ॥

इस उत्सव में महाराज दशरथ ने सूत, मागध और वन्दीगण को पारितोषिक यानी "सिरोपा" और ब्राह्मणों को धन और बहुत सी गौवें दीं ॥ १६ ॥

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाऽकरोत् ।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकयीसुतम् ॥ २० ॥

वारहवें दिन चारों शिशुओं का नाम-करण संस्कार किय गया। सब से बड़े अर्थात् कौशल्यानन्द-वर्द्धन का नाम श्रीरामचन्द्र और कैकेयी के पुत्र का नाम भरत रखा गया ॥ २० ॥

सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा ।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कृतवांस्तदा ॥ २१ ॥

सुमित्रा जी के पुत्रों का नाम लक्ष्मण और शत्रुघ्न रखा गया। यह नाम-करण-संस्कार बड़े हर्ष के साथ वशिष्ठ जी ने किया ॥२१॥

ब्राह्मणान्भोजयामास पौरजानपदानपि ।
अददद्ब्राह्मणानां च रत्नौघममितं वहु ॥ २२ ॥

इस दिन पुरवासियों को और वाहिर से आये हुए ब्राह्मणों को महाराज ने भोजन कराये और ब्राह्मणों को वहुत से रत्न वाँटे ॥ २२ ॥

तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत् ।
तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः ॥ २३ ॥

इन सब वालकों के जातकर्म, अन्नप्राशनादि संस्कार महाराज ने यथासमय करवाये। इन चारों में कुल की पताका के समान श्रीरामचन्द्र अपने पिता दशरथ को अत्यन्त प्यारे थे ॥ २३ ॥

बभूव भूयो भूतानां स्वयंभूरिव संमतः ।
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः ॥ २४ ॥

यही नहीं, वल्कि वे ब्रह्मा जी की तरह सब लोगों के प्रेमास्पद थे। चारों राजकुमार वेद के जानने वाले, शूर और सब लोगों के हितैषी थे ॥ २४ ॥

सर्वे ज्ञानोपसंपन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ।
तेषामपि महातेजा रामः सत्यपराक्रमः ॥ २५ ॥

यद्यपि सब राजकुमार परम ज्ञानी और सर्वगुण सम्पन्न थे; तथापि उनमें महातेजस्वी और सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ॥२५॥

इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः ।
गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु संमतः ॥ २६ ॥

निर्मल चन्द्रमा की तरह सब के प्यारे थे। उनको हाथी के कंधे पर और घोड़े की पीठ पर तथा रथ पर बैठना बहुत पसंद था। अर्थात् हाथी, घोड़ा और रथ स्वयं हाँकने का शौक था ॥ २६ ॥

धनुर्वेदे च निरतः पितृशुश्रूषणे रतः ।
बाल्यात्प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ॥२७॥

रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः ।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः ॥ २८ ॥

वे धनुर्विद्या में निपुण थे और सदा पिता की सेवा में लगे रहते थे। लक्ष्मी के बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी लड़कपन ही से अपने लोकहितैषी अथवा लोकाभिराम ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा में सदा रहते थे और श्रीरामचन्द्र जी को अपने शरीर से बढ़ कर चाहते थे ॥ २७ ॥ २८ ॥

लक्ष्मणो लक्ष्मिसंपन्नो बहिःप्राण इवापरः ।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥ २९ ॥

मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना ।
यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघवः ॥ ३० ॥

लक्ष्मी से सम्पन्न लक्ष्मण जी को श्रीरामचन्द्र जी अपना दूसरा प्राण ही मानते थे और इतना चाहते थे कि, बिना उनके न तो सोते और न कोई मिठाई ही खाते थे। जब श्रीरामचन्द्र जी घोड़े पर सवार हो कर शिकार खेलने जाते ॥ २९ ॥ ३० ॥

तदैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन्।
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः ॥ ३१ ॥

प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत्तथा प्रियः।
स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः ॥ ३२ ॥

तब लक्ष्मण जी धनुष हाथ में ले उनके पीछे पीछे हो लिया करते थे। भरत जी को भी शत्रुघ्न उसी प्रकार प्राणों के समान प्रिय थे, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्मण। इन चारों महाभाग्यशाली पुत्रों से महाराज दशरथ ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

बभूव परमप्रीतो वेदैरिव पितामहः।
ते यदा ज्ञानसंपन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ॥ ३३ ॥

वैसे ही प्रसन्न रहते थे जैसे चारों वेदों से ब्रह्मा जी। उन चारों ज्ञानी, सब गुणों से युक्त ॥ ३३ ॥

ह्रीमन्तः कीर्त्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः।
तेषामेवंप्रभावानां सर्वेषां दीप्ततेजसाम् ॥ ३४ ॥

लज्जालु, कीर्तिमन्त, सर्वज्ञ, दूरदर्शी पुत्रों का प्रभाव व तेज देख, ॥ ३४ ॥

पिता दशरथो हृष्टो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा।
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः ॥ ३५ ॥

उनके पिता महाराज दशरथ वैसे ही प्रसन्न होते थे जैसे ब्रह्मा जी लोकपालों से अथवा दिक्पालों से । वे चारों पुरुषसिंह राजकुमार वेदाध्ययन में निरत रहते थे ॥ ३५ ॥

पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः ।
अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति ॥ ३६ ॥

चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
तस्य चिन्तयमानस्य मन्त्रिमध्ये महात्मनः ॥ ३७ ॥

अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह ॥ ३८ ॥

वे पिता की सेवा किया करते थे और धनुर्विद्या में निष्ठा रखते थे । उनके विवाह के लिये महाराज दशरथ उपाध्यायों और कुटुम्बियों तथा मंत्रियों से सलाह कर रहे थे कि, इसी बीच में महामुनि महातेजस्वी विश्वामित्र पधारे । वे महाराज से मिलने की अभिलाषा से ड्योढ़ीदार से बोले ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

शीघ्रमाख्यात मां प्राप्तं कौशिकं गाधिनः सुतम् ।
तच्छ्रुत्वा वचनं त्रासाद्राज्ञो वेश्म प्रदुद्रुवुः ॥ ३९ ॥

तुरन्त जाकर महाराज को सूचना दो कि, गाधि के पुत्र आये हैं । यह सुन और भयभीत हो द्वारपाल राजगृह की ओर दौड़े ॥ ३६ ॥

संभ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः ।
ते गत्वा राजभवनं विश्वामित्रमृषिं तदा ॥ ४० ॥

प्राप्तमावेदयामासुर्नृपायैक्ष्वाकवे तदा ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः ॥ ४१ ॥

विश्वामित्र जी के कहने पर उन्होंने बड़े आदर के साथ राजभवन में जाकर विश्वामित्र जी के आने का संवाद, महाराज दशरथ से निवेदन किया। उनका आगमन सुन, महाराज प्रसन्न हो और वशिष्ठ जी को साथ ले ॥ ४० ॥ ४१ ॥

प्रत्युज्जगाम तं हृष्टो ब्रह्माणमिव वासवः ।
स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम् ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र जी से मिलने उसी प्रकार गये, जिस प्रकार ब्रह्मा जी से मिलने इन्द्र जाते हैं। तेज से देदीप्यमान, महातपस्वी, अति कड़े नियमों का पालन करने वाले और प्रसन्नमुख विश्वामित्र जी को खड़ा देख ॥ ४२ ॥

प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यं समुपाहरत् ।
स राज्ञः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ४३ ॥

महाराज ने प्रसन्न हो शास्त्र-विधि के अनुसार उनको अर्घ्य प्रदान किया। महाराज से अर्घ्य ले ॥ ४३ ॥

कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ।
पुरे कोशे जनपदे बान्धवेषु सुहृत्सु च ॥ ४४ ॥

विश्वामित्र जी ने महाराज से पुर, कोश, राज्य, कुटुम्ब और इष्टमित्रों की कुशल पूँछी ॥ ४४ ॥

कुशलं कौशिको राज्ञः पर्यपृच्छत्सुधार्मिकः ।
अपि ते सन्नताः सर्वे सामन्ता रिपवो जिताः ॥४५॥

विश्वामित्र ने कुशल पूँछते हुए अत्यन्त धार्मिक महाराज से पूँछा—आपके समस्त सामन्त आपके अधीन रहते हैं? आपने अपने शत्रुओं को तो जीत कर अपने वश में कर रखा है? ॥ ४५ ॥

दैवं च मानुषं चापि कर्म ते साध्वनुष्ठितम् ।
वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुङ्गवः ॥ ४६ ॥

यज्ञादि देवकर्म, तथा अतिथियों का सत्कार आदि कर्म, भली भाँति होते हैं? फिर विश्वामित्र जी ने मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी से कुशल पूँछी ॥ ४६ ॥

ऋषींश्चान्यान्यथान्यायं महाभागानुवाच ह ।
ते सर्वे हृष्टमनसस्तस्य राज्ञो निवेशनम् ॥ ४७ ॥

इसके बाद विश्वामित्र जी ने यथाक्रम अन्य ऋषियों (जाबालादि) से कुशल मङ्गल पूँछा। तब वे सब प्रसन्नमन महाराज के सभा-भवन में गये ॥ ४७ ॥

विविशुः पूजितास्तत्र निषेदुश्च यथार्हतः ।
अथ हृष्टमना राजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ ४८ ॥

वहाँ वे लोग यथोचित पूजे जा कर यथोचित आसनों पर बैठ गये। तब महाराज दशरथ प्रसन्न, हो महामुनि विश्वामित्र जी से बोले ॥ ४८ ॥

उवाच परमोदारो हृष्टस्तमभिपूजयन् ।
यथाऽमृतस्य संप्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ॥ ४९ ॥
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य च ।
प्रनष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदये ॥ ५० ॥
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ।
कं च ते परमं कामं करोमि किमु हर्षितः ॥ ५१ ॥

परमदाता महाराज आदर पूर्वक बोले—हे महर्षे! आपके आगमन से मुझे वैसा ही सुख प्राप्त हुआ है जैसा कि, अमृत के

मिलने से, सूखती हुई खेती को वर्षा होने से, अपुत्रक को पुत्र के जन्म से और टोटा उठाने वाले को लाभ होने से सुख प्राप्त होता है। हे महामुने ! मैं आपका सहर्ष स्वागत करता हूँ ; कहिये मेरे लिये क्या आज्ञा है ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन्दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धार्मिक ।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ॥ ५२ ॥

आपकी कृपादृष्टि मेरे ऊपर पड़ने से मैं सुपात्र और धार्मिक बन गया । आज मेरा जन्म सफल हुआ और मेरा जीवन सुजीवन हुआ ॥ ५२ ॥

पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ।
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया ॥ ५३ ॥

आप प्रथम जब राजर्षि थे, तभी आप बड़े तेजस्वी थे, फिर अब तो आप ब्रह्मर्षि पदवी को प्राप्त होने से सब प्रकार से मेरे लिये अत्यन्त पूज्य हैं ॥ ५३ ॥

तदद्भुतमिदं ब्रह्मन्पवित्रं परमं मम ।
शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात्प्रभो ॥ ५४ ॥

आपका आगमन अति पवित्र और अद्भुत होने से आपके शुभदर्शन कर मेरा शरीर भी पवित्र हो गया अथवा यह स्थान पवित्र हो गया ॥ ५४ ॥

ब्रूहि यत्प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति ।
इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थपरिवृद्धये ॥ ५५ ॥

आप जिस काम के लिये पधारे हों वह बतलाइये । मैं चाहता हूँ कि आपकी सेवा कर मैं अनुगृहीत होऊँ ॥ ५५ ॥

कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि कौशिक ।
कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान्मम ॥ ५६ ॥

हे कौशिक ! आप किसी बात के लिये सङ्कोच न करें; मैं आपके सब कार्य करूँगा । क्योंकि आप तो मेरे देवता हैं ॥ ५६

मम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो द्विज ।
तवागमनजः कृत्स्नो धर्मश्चानुत्तमो मम ॥ ५७ ॥

हे ब्रह्मर्षि ! आपके पधारने से मेरा मानों भाग्य जागा और बड़ा पुण्य हुआ ॥ ५७ ॥

इति हृदयसुखं निशम्य वाक्यं
श्रुतिसुखमात्मवता विनीतमुक्तम् ।
प्रथितगुणयशा गुणैर्विशिष्टः
परमऋषिः परमं जगाम हर्षम् ॥ ५८ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

महाराज दशरथ के इन हृदय को सुख देने वाले, शास्त्रानुमोदित और विनम्र वचन सुन कर, बड़े यशस्वी और सर्वगुणसम्पन्न महर्षि विश्वामित्र जी परम प्रसन्न हुए ॥ ५८ ॥

बालकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

एकोनविंशः सर्गः

—:*:—

तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।
हृष्टरोमा महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

राजसिंह महाराज दशरथ के अद्भुत और विस्तृत वचन सुन महातेजस्वी विश्वामित्र हर्षित हो कहने लगे ॥ १ ॥

सदृशं राजशार्दूल तवैतद्भुवि नान्यथा ।
महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठव्यपदेशिनः ॥ २ ॥

हे राजशार्दूल ! ऐसे वचन आप जैसे इक्ष्वाकुवंशी और वशिष्ठ जी के यजमान को छोड़ और कौन कहेगा ॥ २ ॥

यत्तु मे हृद्गतं वाक्यं तस्य कार्यस्य निश्चयम् ।
कुरुष्व राजशार्दूल भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ३ ॥

हे राजशार्दूल! अब मैं अपने मन की बात कहता हूँ। उसके अनुसार कार्य कर के आप अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कीजिये ॥ ३ ॥

अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ ।
तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ ॥ ४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मैं जब फल प्राप्ति के लिये यज्ञदीक्षा ग्रहण करता हूँ तब दो कामरूपी राक्षस आकर विघ्न किया करते हैं ॥ ४ ॥

व्रते मे बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ ।
तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम् ॥ ५ ॥

जब बहुत दिन तक किया हुआ यज्ञ पूरा होने को होता है, तब ये राक्षस आकर यज्ञवेदी पर मांस और रुधिर बरसाते हैं ॥ ५ ॥

अवधूते तथाभूते तस्मिन्नियमनिश्चये ।
कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद्देशादपाक्रमे ॥ ६ ॥

इससे मेरा यज्ञ भ्रष्ट हो जाता है और मैं निरुत्साहित हो कर वहाँ से हट जाता हूँ ॥ ६ ॥

न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ।
तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते ॥ ७ ॥

हे राजन्! इस यज्ञ में क्रोध करना वर्जित होने के कारण मैं उनको शाप भी नहीं दे सकता ॥ ७ ॥

स्वपुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम् ।
काकपक्षधरं शूरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि ॥ ८ ॥

अतएव हे राजशार्दूल! सत्यपराक्रमी और सीस पर जुल्फें रखाये हुए और शूर अपने ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र को मुझे दीजिये ॥ ८ ॥

शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा ।
राक्षसा ये विकर्तारस्तेषामपि विनाशने ॥ ९ ॥

वे मेरी तपस्या के तेज से रक्षित हो मेरे यज्ञ की रक्षा करेंगे और विघ्नकारी राक्षसों को भी नष्ट करेंगे ॥ ९ ॥

श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ।
त्रयाणामपि लोकानां येन ख्यातिं गमिष्यति ॥ १० ॥

मैं इनके कल्याण के लिये ऐसी ऐसी अनेक विधियाँ और क्रियाएँ इन्हें बतलाऊँगा; जिससे इनकी ख्याति तीनों लोकों में होगी ॥ १० ॥

न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्थातुं कथंचन ।
न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहते पुमान् ॥ ११ ॥

श्रीराम जी के सामने वे कभी टिक न सकेंगे और अन्य मनुष्य को वे कुछ भी न गिनेंगे । अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ और कोई भी मनुष्य उन्हें नहीं मार सकता ॥ ११ ॥

वीर्योत्सिक्तौ हि तौ पापौ कालपाशवशं गतौ ।
रामस्य राजशार्दूल न पर्याप्तौ महात्मनः ॥ १२ ॥

क्योंकि वे दोनों गर्वीले पापी बड़े बलवान् हैं; किन्तु अब उनके मरने का समय आ गया है । हे राजशार्दूल ! वे श्रीरामचन्द्र की बराबरी नहीं कर सकते ॥ १२ ॥

न च पुत्रकृतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव ।
अहं ते प्रतिजानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ ॥१३॥

हे राजन् ! इस समय आप पुत्रस्नेह के वशवर्त्ती न हों । मैं आपसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि, आप उन राक्षसों को मरा हुआ ही समझिये ॥ १३ ॥

अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः ॥ १४ ॥

मैं, महातेजस्वी वशिष्ठ तथा ये तपस्वी महात्मा, सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र को जानते हैं ॥ १४ ॥

यदि ते धर्मलाभं च यशश्च परमं भुवि ।
स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि ॥ १५ ॥

यदि आप इस संसार में अपने लिये सब से बढ़ कर पुण्य और यश को स्थायी बनाना चाहते हों, तो हे राजेन्द्र ! श्रीराम जी को मेरे साथ भेज दीजिये ॥ १५ ॥

यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मन्त्रिणः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ततो रामं विसर्जय ॥ १६ ॥

आप वशिष्ठ आदि अपने मंत्रियों के साथ परामर्श कर लें और यदि ये लोग आपको अनुकूल परामर्श दें, तो आप श्रीराम को मेरे साथ भेज दीजिये ॥ १६ ॥

अभिप्रेतमसंसक्तमात्मजं दातुमर्हसि ।
दशरात्रं हि यज्ञस्य रामं राजीवलोचनम् ॥ १७ ॥

मेरा यज्ञ पूरा कराने के लिये दस दिन को राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी को मुझे तुरन्त दे दीजिये ॥ १७ ॥

नात्येति कालो यज्ञस्य यथाऽयं मम राघव ।
तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथाः ॥१८॥

ऐसा कीजिये जिससे मेरे यज्ञ का समय न निकलने पावे । आपका कल्याण हो । आप मन में दुखी न हों ॥ १८ ॥

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ।
विरराम महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १९ ॥

धर्मात्मा महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र जी धर्मार्थयुक्त इन वचनों को कह कर चुप हो गये ॥ १६ ॥

स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवचः शुभम् ।
शोकमभ्यागमत्तीव्रं व्यषीदत भयान्वितः ॥ २० ॥

विश्वामित्र की इन शुभ बातों को सुन कर, महाराज दशरथ बहुत डरे और अत्यन्त दुखी हो उदास हो गये ॥ २० ॥

इति हृदयमनोविदारणं
मुनिवचनं तदतीव शुश्रुवान् ।
नरपतिरगमद्भयं महद्-
व्यथितमनाः प्रचचाल चासनात् ॥ २१ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

महाराज दशरथ हृदय और मन को विदीर्ण करने वाले वचन सुन और अत्यन्त भयभीत और विकल हो कर सिंहासन से मूर्च्छित हो गिर पड़े ॥ २१ ॥

बालकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

विंशः सर्गः

—:o:—

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम् ।
मुहूर्तमिव निःसंज्ञः संज्ञावानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्र जी का कथन सुन महाराज दशरथ एक मुहूर्त तक अचेत रहे। तदनन्तर सचेत हो कर यह बोले ॥ १ ॥

ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः ।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ॥ २ ॥

मेरे राजीवलोचन श्रीराम अभी केवल पन्द्रह वर्ष ही की उम्र के हैं। मैं उन्हें किसी भी तरह राक्षसों के साथ लड़ने योग्य नहीं समझता ॥ २ ॥

इयमक्षौहिणी पूर्णा यस्याहं पतिरीश्वरः ।
अनया संवृतो गत्वा योद्धाऽहं तैर्निशाचरैः ॥ ३ ॥

मेरे पास जो बड़ी भारी सेना है, उसको साथ ले कर मैं उन राक्षसों से लड़ूँगा ॥ ३ ॥

इमे शूराश्च विक्रान्ता भृत्या मेऽस्त्रविशारदाः ।
योग्या रक्षोगणैर्योद्धुं न रामं नेतुमर्हसि ॥ ४ ॥

ये मेरे शूर, पराक्रमी और युद्धविद्या में दक्ष, वेतनभोगी योद्धा राक्षसों से युद्ध करने योग्य हैं। आप राम को न ले जाइये ॥ ४ ॥

अहमेव धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्धनि ।
यावत्प्राणान्धरिष्यामि तावद्योत्स्ये निशाचरैः ॥५॥

मैं स्वयं धनुष बाण लिये हुए रणक्षेत्र में खड़ा हुआ, जब तक शरीर में प्राण रहेंगे, राक्षसों से लड़ता रहूँगा ॥ ५ ॥

निर्विघ्ना व्रतचर्या सा भविष्यति सुरक्षिता ।
अहं तत्र गमिष्यामि न रामं नेतुमर्हसि ॥ ६ ॥

आपकी व्रतचर्या निर्विघ्न समाप्त होगी। मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा। आप श्रीराम जी को न ले जाइये ॥ ६ ॥

वालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम् ।
न चास्त्रबलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः ॥ ७ ॥

क्योंकि श्रीराम अभी निरे बालक हैं, वे न तो अनुभवी हैं, न शत्रु के बलाबल को समझ सकते हैं और न युद्धविद्या में कुशल ही हैं ॥ ७ ॥

न चासौ रक्षसां योग्यः कूटयुद्धा हि ते ध्रुवम् ।
विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे ॥ ८ ॥

आप जानते हैं राक्षस युद्ध करते समय छल कपट करने में कैसे कुशल होते हैं। श्रीरामचन्द्र उनका सामना करने योग्य नहीं। मैं श्रीराम का उनके साथ युद्ध करना कभी सहन नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

जीवितुं मुनिशार्दूल न रामं नेतुमर्हसि ।
यदि वा राघवं ब्रह्मन्नेतुमिच्छसि सुव्रत ॥ ९ ॥

चतुरङ्गसमायुक्तं मया च सह तं नय ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ॥ १० ॥

दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ।
चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम ॥ ११ ॥

श्रीराम के वियोग में मैं क्षण भर भी नहीं जीवित रह सकता। अतः हे मुनिवर! आप उनको न ले जाइये और यदि उनको

जो ही जाना हो तो मुझे और मेरी चतुरङ्गिनी सेना को भी उनके साथ ही लेते चलिये। हे विश्वामित्र! देखिये, साठ हज़ार वर्ष के वय में, बड़े क्लेश से ये उत्पन्न हुए हैं। अतः इनको न ले जाइये। चारों राजकुमारों में मेरा परम स्नेह श्रीरामचन्द्र ही के ऊपर है॥ ९॥ १०॥ ११॥

ज्येष्ठं धर्मप्रधानं च न रामं नेतुमर्हसि।
किंवीर्या राक्षसास्ते च कस्य पुत्राश्च के च ते॥१२॥

वह धर्मप्रधान और ज्येष्ठ हैं। अतः राजकुमार श्रीरामचन्द्र को आप न ले जाइये। अच्छा, यह तो बतलाइये उन राक्षसों में बल कितना है और वे किनके बेटे हैं॥ १२॥

कथंप्रमाणाः के चैतान्रक्षन्ति मुनिपुङ्गव।
कथं च प्रतिकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षसाम्॥ १३॥

वे कितने बड़े हैं और उनके सहायक कौन कौन हैं और उन्हें श्रीराम किस तरह मार सकेंगे॥ १३॥

मामकैर्वा बलैर्ब्रह्मन्मया वा कूटयोधिनाम्।
सर्वं मे शंस भगवन्कथं तेषां मया रणे॥ १४॥
स्थातव्यं दुष्टभावानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत॥ १५॥

हे भगवन्! यह सब भी बतलाइये कि, हमारी सेना और मैं उन मायावियों और उन दुष्ट भाव वाले बड़े पराक्रमी राक्षसों के साथ युद्ध में क्यों कर ठहर सकूँगा। महाराज के वचन सुन विश्वामित्र जी बोले॥ १४॥ १५॥

पुलस्त्यवंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः ।
स ब्रह्मणा दत्तवरस्त्रैलोक्यं बाधते भृशम् ॥ १६ ॥

हे राजन्! महर्षि पुलस्त्य के वंश में उत्पन्न रावण नाम का राक्षस, जिसे ब्रह्मा जी ने वरदान दे रखा है, तीनों लोकों को बहुत सताता है ॥ १६ ॥

महाबलो महावीर्यो राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ।
श्रूयते हि महावीर्यो रावणो राक्षसाधिपः ॥ १७ ॥

वह स्वयं बड़ा बलवान्, तथा बड़ा पराक्रमी है और उसके अनेक राक्षस अनुयायी हैं। सुनते हैं कि, वह महावीर रावण राक्षसों का राजा है ॥ १७ ॥

साक्षाद्वैश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः ।
यदा स्वयं न यज्ञस्य विघ्नकर्ता महाबलः ॥ १८ ॥

वह साक्षात् कुवेर का भाई और विश्रवा मुनि का पुत्र है। वह महाबली और यज्ञों में स्वयं तो विघ्न नहीं करता, किन्तु ॥१८॥

तेन संचोदितौ द्वौ तु राक्षसौ सुमहाबलौ ।
मारीचश्च सुबाहुश्च यज्ञविघ्नं करिष्यतः ॥ १९ ॥

उसकी प्रेरणा से बड़े बलवान् दो राक्षस जिनके नाम मारीच और सुबाहु हैं, ऐसे यज्ञों में विघ्न डालते हैं ॥ १९ ॥

इत्युक्तो मुनिना तेन राजोवाचमुनिं तदा ।
न हि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः ॥२०॥

विश्वामित्र के इन वचनों को सुन महाराज दशरथ उनसे कहने लगे-कि, मैं तो उस दुरात्मा का सामना नहीं कर सकता॥ २० ॥

स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुरुष्व मम पुत्रके ।
मम चैवाल्पभाग्यस्य दैवतं हि भवान्गुरुः ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञ! आप मेरे बच्चे पर और मुझ पर कृपा करें, क्योंकि आप तो मुझ अल्पभाग्य वाले के केवल देवता की तरह पूज्य ही नहीं, किन्तु गुरु भी हैं॥ २१ ॥

देवदानवगन्धर्वा यक्षाः पतगपन्नगाः ।
न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि ॥ २२ ॥

जब देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, पक्षी, और साँप भी रावण को युद्ध में नहीं जीत सकते, तब फिर बेचारे मनुष्य किस गिनती में हैं॥ २२ ॥

स हि वीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि राक्षसः ।
तेन चाहं न शक्नोमि संयोद्धुं तस्य वा बलैः ॥२३॥

रावण युद्ध में बलवानों के बल को क्षय कर देता है, अतएव मैं उसके अथवा उसकी फौज के साथ युद्ध कर पार नहीं पा सकता॥ २३ ॥

सबलो वा मुनिश्रेष्ठ सहितो वा ममात्मजैः ।
कथमप्यमरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम् ॥ २४ ॥

बालं मे तनयं ब्रह्मन्नैव दास्यामि पुत्रकम् ।
अथ कालोपमौ युद्धे सुतौ सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २५ ॥

यज्ञविघ्नकरौ तौ ते नैव दास्यामि पुत्रकम् ।
मारीचश्च सुवाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ।
तयोरन्यतरेणाहं योद्धा स्यां ससुहृद्गणः ॥ २६ ॥

फिर मैं उन लोगों के साथ लड़ने के लिये, अपने पुत्र को, जो देवताओं के समान रूप वाला है, युद्धविद्या में अदक्ष है, कैसे भेज सकता हूँ ? हे ब्रह्मन् ! मैं अपने नन्हे से पुत्र को न दूँगा । सुन्द उपसुन्द के पुत्र मारीच और सुवाहु जो युद्ध में काल के समान हैं, बड़े बलवान हैं और युद्ध करने में पूर्ण दक्ष हैं, और यज्ञ में विघ्न करने वाले हैं, उनके साथ लड़ने के लिये मैं अपने पुत्र को न भेजूँगा । उनको छोड़ आप और जिसे कहें उसके साथ अपने मित्र तथा बांधवों सहित मैं लड़ने को तैयार हूँ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

इति नरपतिजल्पनाद्द्विजेन्द्रं
कुशिकसुतं सुमहान्विवेश मन्युः ।
सुहुत इव मखेऽग्निराज्यसिक्तः
समभवदुज्ज्वलितो महर्षिवह्निः ॥ २७ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

महाराज दशरथ के इन असङ्गत वचनों को सुन, विश्वामित्र जी अत्यन्त कुपित हुए । जिस प्रकार भली भांति घी की आहुति पड़ने से आग धधकती है, वसी प्रकार उनका क्रोधाग्नि (दशरथ के वचन रूपी घृत की आहुति से) धधकने लगा ॥ २७ ॥

वालकाण्ड का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

एकविंशः सर्गः

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलाक्षरम् ।
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ के पुत्रस्नेह से सने वचनों को सुन, मुनिप्रवर विश्वामित्र जी क्रुद्ध हुए और कहने लगे ॥ १ ॥

पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि ।
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः ॥ २ ॥

हे राजन्! आप महाराज रघु के वंश में उत्पन्न हो कर बात कह कर मुकरते हैं। यह तो आपकी वंशपरम्परा से उलटी बात है और ठीक भी नहीं है ॥ २ ॥

यदीदं ते क्षमं राजन्गमिष्यामि यथागतम् ।
मिथ्याप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखी भव सबान्धवः ॥ ३ ॥

अच्छा, यदि आपकी यही इच्छा है तो लो मैं यह चला। आप अपनी प्रतिज्ञा मेट कर भाई बंदों सहित प्रसन्न रहिये ॥ ३ ॥

तस्य रोषपरीतस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
चचाल वसुधा कृत्स्ना विवेश च भयं सुरान् ॥४॥

इस प्रकार बुद्धिमान् विश्वामित्र के कुपित होने पर समस्त पृथिवी हिल उठी और देवता लोग डर गये ॥ ४ ॥

त्रस्तरूपं तु विज्ञाय जगत्सर्वं महानृषिः ।
नृपतिं सुव्रतो धीरो वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥

तब सारे संसार को त्रस्त देख, श्रेष्ठव्रतपरायण एवं धैर्यवान् महर्षि वशिष्ठ जी, महाराज दशरथ से बोले ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद्धर्म इवापरः ।
धृतिमान्सुव्रतः श्रीमान्न धर्मं हातुमर्हसि ॥ ६ ॥

आप महाराज इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न मानों साक्षात् धर्म की दूसरी मूर्ति हैं। आप श्रीमान्, धृतिवान् और सुव्रतधारी हो कर, धर्म का त्याग न करें ॥ ६ ॥

त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघव ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥

तीनों लोकों में आप धर्मात्मा कह कर प्रसिद्ध हैं। अतएव आप अपने धर्म की रक्षा कीजिये, अधर्म न कीजिये ॥ ७ ॥

संश्रुत्यैवं करिष्यामीत्यकुर्वाणस्य राघव ।
इष्टापूर्तवधो भूयात्तस्माद्रामं विसर्जय ॥ ८ ॥

हे राजन्! जो कोई प्रतिज्ञा करके उसे पूरी नहीं करता है, उसे इष्ट *पूर्त के नाश करने का पाप लगता है। अतः आप श्रीरामचन्द्र जी को भेज दीजिये ॥ ८ ॥

कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः ।
गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा ॥ ९ ॥

---

* इष्टं—इष्टं अश्वमेधान्तोयागः । पूर्तं—वाप्यादि निर्माणं । अर्थात् अश्वमेधादि यज्ञ इष्ट कहलाते हैं और कुआ, बावड़ी, तालाब आदि बनवाना "पूर्त" कहलाता है ।

श्रीरामचन्द्र चाहें अस्त्रविद्या में कुशल हों या न हों, राक्षस उनका कुछ भी नहीं कर सकते। फिर जब विश्वामित्र उनके रक्षक हैं तब श्रीरामचन्द्र का कोई क्या कर सकता है। अरे अमृत की रक्षा जब अग्निचक्र से होती है* तब क्या अमृत को कोई पा सकता है॥ ९॥

एष विग्रहवान्धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसश्च परायणम्॥ १०॥

यह विश्वामित्र शरीर धारण किये हुए धर्म हैं, यह बड़े बलवान हैं, इनसे बढ़ कर बुद्धिमान और तपःपरायण इस संसार में तो दूसरा कोई है नहीं॥ १०॥

एषोऽस्त्रान्विविधान्वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
नैनमन्यः पुमान्वेत्ति न च वेत्स्यन्ति केचन॥ ११॥

अनेक अस्त्रों के चलाने की विधियों को जानने वाले तीनों लोकों में तथा चर अचर में यह अकेले ही हैं। इनके स्वरूप का ज्ञान हर किसी को नहीं है और न हो ही सकता है॥ ११॥

न देवा नर्षयः केचिन्नासुरा न च राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः॥ १२॥

इनकी महिमा को, देवता, ऋषि, असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और महोरग—कोई भी नहीं जानता॥ १२॥

सर्वास्त्राणि कृशाश्वस्य पुत्राः परमधार्मिकाः।
कौशिकाय पुरा दत्ता यदा राज्यं प्रशासति॥१३॥

---

* महाभारत में लिखा है कि अमृत की रक्षा के लिये उसके चारों ओर चक्राकार अग्नि जला करता है।

कृशाश्व प्रजापति के परम धार्मिक पुत्रों ने विश्वामित्र को, जब वे पहले राज्य करते थे, सब अस्त्र दिये थे ॥ १३ ॥

तेऽपि पुत्रा कृशाश्वस्य प्रजापतिसुतासुताः ।
नैकरूपा महावीर्या दीप्तिमन्तो जयावहाः ॥ १४ ॥

वे कृशाश्व के पुत्र प्रजापति को कन्याओं के पुत्र हैं, वे एक रूप के नहीं हैं, वे बड़े बलवान, दीप्तिमान् और सब को जीतने में समर्थ हैं ॥ १४ ॥

जया च सुप्रभा चैव दक्षकन्ये सुमध्यमे ।
ते सुवातेऽस्त्रशस्त्राणि शतं परमभास्वरम् ॥ १५ ॥

दक्षप्रजापति की दो कन्याओं जया और सुप्रभा ने सैकड़ों अति चमचमाते हुए अस्त्र शस्त्र उत्पन्न किये ॥ १५ ॥

पञ्चाशतं सुताँल्लेभे जया नाम परान्पुरा ।
वधायासुरसैन्यानाममेयान्कामरूपिणः ॥ १६ ॥

जया ने ५०० शस्त्र रूपी पुत्र उत्पन्न किये अर्थात् ५०० प्रकार के अस्त्रों का आविष्कार किया जो कि, अमित तेज वाले थे और मायावी असुरसेना का संहार करने में समर्थ हुए ॥ १६ ॥

सुप्रभाऽजनयच्चापि पुत्रान्पञ्चाशतं पुनः ।
संहारान्नाम दुर्धर्षान्दुराक्रामान्बलीयसः ॥ १७ ॥

फिर सुप्रभा के भी ५०० शस्त्रास्त्र रूपी पुत्र उत्पन्न हुए अर्थात् शत्रु का संहार करने के लिये सुप्रभा ने भी ५०० प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का आविष्कार किया। उनका नाम संहार पड़ा, इनका प्रहार कोई भी शत्रु सह नहीं सकता। ये कभी निष्फल नहीं जाते, क्योंकि ये बड़े बलवान हैं ॥ १७ ॥

तानि चास्त्राणि वेत्त्येष यथावत्कुशिकात्मजः ।
अपूर्वाणां च जनने शक्तो भूयश्च धर्मवित् ॥ १८ ॥

इन सब अस्त्र शस्त्रों को यथावत् विश्वामित्र जानते हैं। यही नहीं, बल्कि इनके अतिरिक्त और नये नये अस्त्र शस्त्र बनाने की सामर्थ भी इन धर्मात्मा में है ॥ १८ ॥

तेनास्य मुनिमुख्यस्य सर्वज्ञस्य महात्मनः ।
न किंचिदप्यविदितं भूतं भव्यं च राघव ॥ १९ ॥

हे राघव! इन मुनिप्रवर सर्वज्ञ महात्मा विश्वामित्र को कोई भी बात, जो हो चुकी है या होने वाली है, अविदित नहीं है। अर्थात् इनको त्रिकाल ज्ञान प्राप्त है ॥ १९ ॥

एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो महातपाः ।
न रामगमने राजन्संशयं गन्तुमर्हसि ॥ २० ॥

इन महातेजस्वी, महातपस्वी और पराक्रमी विश्वामित्र जी के साथ श्रीरामचन्द्र को भेजने में जरा भी न डरिये या किसी प्रकार का सन्देह न कीजिये ॥ २० ॥

तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः ।
तव पुत्रहितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते ॥ २१ ॥

इन विश्वामित्र जी में इतनी सामर्थ है कि, ये उन राक्षसों को स्वयं मार सकते हैं। यह तो आपके पुत्र की भलाई के लिये ही उन्हें आपसे माँगने आये हैं ॥ २१ ॥

इति मुनिवचनात्प्रसन्नचित्तो
रघुवृषभश्च मुमोद भास्वराङ्गः ।

गमनमभिरुरोच राघवस्य
प्रथितयशाः कुशिकात्मजाय बुद्ध्या ॥ २२ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

गुरु वशिष्ठ के इस प्रकार समझाने पर महाराज दशरथ, श्री-रामचन्द्र जी को विश्वविख्यात विश्वामित्र के साथ भेजने को राज़ी हो गये ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

द्वाविंशः सर्गः

—:※:—

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः सुतम् ।
प्रहृष्टवदनो राममाजुहाव सलक्ष्मणम् ॥ १ ॥

इस प्रकार वशिष्ठ जी के समझाने पर महाराज ने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को बुलवाया ॥ १ ॥

कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च ।
पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमन्त्रितम् ॥ २ ॥

और उनको भेजते समय कौशल्या, महाराज दशरथ तथा कुलपुरोहित वशिष्ठ जी ने स्वस्तिवाचन और मङ्गलाचार किया ॥ २ ॥

स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथः प्रियम् ।
ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ ३ ॥

महाराज दशरथ ने प्रसन्न हो कर और पुत्रों के माथे सूंघ कर, उन्हें विश्वामित्र जी को सौंपा ॥ ३ ॥

ततो वायुः सुखस्पर्शो विरजस्को ववौ तदा ।
विश्वामित्रगतं दृष्ट्वा रामं राजीवलोचनम् ॥ ४ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिःस्वनः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि ॥ ५ ॥

विश्वामित्र जी के साथ कमललोचन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी के जाने के समय शीतल, मन्द और सुगन्धियुक्त पवन चलने लगा, आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई और देवताओं ने नगाड़े बजाये। अयोध्या में भी जगह जगह राजकुमारों के जाने के समय शङ्खध्वनि की गयी और नगाड़े बजाये गये ॥ ४ ॥ ५ ॥

विश्वामित्रो ययावग्रे ततो रामो महायशाः ।
काकपक्षधरो धन्वी तं च सौमित्रिरन्वगात् ॥ ६ ॥

सब से आगे विश्वामित्र थे, उनके पीछे महायशस्वी श्रीरामचन्द्र और उनके पीछे हाथ में धनुष लिये और सिर पर ज़ुल्फें रखाये सुमित्रानन्द श्रीलक्ष्मण जी चले जाते थे ॥ ६ ॥

कलापिनौ धनुष्पाणी शोभयानौ दिशो दश ।
विश्वामित्रं महात्मानं त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ।
अनुजग्मतुरक्षुद्रौ पितामहमिवाश्विनौ ॥ ७ ॥

बड़े रूपवान और बलवान् दोनों भाई, पीठों पर तरकस और हाथों में धनुष लिये तथा दशों दिशाओं को सुशोभित करते हुए

मुनि के पीछे ऐसे चले जाते थे, मानों तीन सिर के सर्प चले जाते हों अथवा मानो ब्रह्मा जी के पीछे अश्विनीकुमार चले जाते हों ॥ ७ ॥

तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी स्वलंकृतौ ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती ॥ ८ ॥

कुमारौ चारुवपुषौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
अनुयातौ श्रिया जुष्टौ शोभयेतामनिन्दितौ ॥ ९ ॥

स्थाणुं देवमिवाचिन्त्यं कुमाराविव पावकी ।
अध्यर्धयोजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे ॥ १० ॥

उस समय धनुष धारण किये हुए, अच्छे अच्छे गहने पहिने हुए, गोह के चमड़े के बने हुए दस्ताने हाथों में पहने हुए, तलवार लिये हुए, महाद्युतिमान् दोनों सुन्दर भाई श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण से मुनि उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार शिव जी स्कन्ध और विशाख से शोभित होते हैं। जब अयोध्या से छः कोश दूर सरयू के दक्षिणतट पर पहुँचे ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ।
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥ ११ ॥

तब वहाँ विश्वामित्र जी, श्रीरामचन्द्र से मधुर वाणी में बोले कि, हे वत्स ! जल से शरीर शुद्ध कर डालो, अथवा आचमन करो अब विलंब मत करो ॥ ११ ॥

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा ।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः ॥ १२ ॥

शरीर शुद्ध हो जाने पर हम तुम्हें बला और अतिबला विद्याएँ पढ़ावेंगे। इनके प्रभाव से न तो तुम्हें थकावट व्यापेगी न कभी शरीर ज्वराक्रान्त होगा, न तुम्हारे रूप की हानि होगी (यानी सूरत न बिगड़ेगी ॥ १२ ॥

न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः ।
न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ॥१३॥

सोते हुए भी अशुद्ध दशा में राक्षस लोग तुम्हारा कुछ भी न कर सकेंगे। संसार भर में कोई भी तुम्हारे बाहुबल की समानता न कर पावेगा ॥ १३ ॥

त्रिषु लोकेषु वै राम न भवेत्सदृशस्तव ।
न सौभाग्ये न दाक्षिण्ये न ज्ञाने बुद्धिनिश्चये ॥१४॥

सौभाग्य, दाक्षिण्य, ज्ञान और चतुराई में तुम्हें तीनों लोकों में कोई भी न पावेगा ॥ १४ ॥

नोत्तरे प्रतिवक्तव्ये समो लोके तवानघ ।
एतद्विद्याद्वये लब्धे भविता नास्ति ते समः ॥ १५ ॥

हे राम! इन विद्याओं के सीख लेने पर तुम्हारे बराबर उत्तर देने में भी तुम्हारी समानता कोई न कर सकेगा ॥ १५ ॥

बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ ।
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ॥ १६ ॥

पुरुषोत्तम राम! सब विद्याओं की माताएँ इन बला अतिबला नाम्नी विद्याओं के प्रभाव से तुमको भूख और प्यास भी कभी न सतावेगी ॥ १६ ॥

बलामतिबलां चैव पठतस्तत्र राघव ।
विद्याद्वयमधीयाने यशश्चाप्यतुलं त्वयि ॥ १७ ॥

हे राघव ! इन दोनों विद्याओं—बला और अतिबला के पढ़ लेने से तुम्हारा अतुल यश सर्वत्र फैल जायगा ॥ १७ ॥

पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजःसमन्विते ।
प्रदातुं तव काकुत्स्थ सदृशस्त्वं हि धार्मिक ॥ १८ ॥

ये दोनों तेजस्विनी विद्याएँ पितामह ब्रह्मा की पुत्री हैं। हे काकुत्स्थ ! हम तुम्हें ये विद्याएँ पढ़ावेंगे, क्योंकि तुम्हीं इनके लिये योग्य पात्र भी हो ॥ १८ ॥

कामं बहुगुणाः सर्वे त्वय्येते नात्र संशयः ।
तपसा संभृते चैते बहुरूपे भविष्यतः ॥ १९ ॥

यद्यपि जो बातें इन विद्याओं के पढ़ने से उत्पन्न होती हैं उनमें से अनेक निस्सन्देह अब भी तुममें मौजूद हैं, तो भी तुम्हारे द्वारा, तपस्या द्वारा प्राप्त इन विद्याओं के ग्रहण किये जाने पर, इनकी उन्नति होगी अर्थात् आपके उपदेश से इनका प्रचार होगा ॥ १९ ॥

ततो रामो जलं स्पृष्ट्वा प्रहृष्टवदनः शुचिः ।
प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेर्भावितात्मनः ॥ २० ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी जल से आचमन कर पवित्र हुए और प्रसन्न चित्त हो कर विश्वामित्र से उन विद्याओं को सीखा ॥ २० ॥

विद्यासमुदितो रामः शुशुभे भूरिविक्रमः ।
सहस्ररश्मिर्भगवाञ्शरदीव दिवाकरः ॥ २१ ॥

उन विद्याओं के सीखने पर बड़े पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी की
सी ही शोभा हुई जैसी शरत्काल के सूर्य की होती है ॥ २१ ॥

गुरुकार्याणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे ।
ऊषुस्तां रजनीं तीरे सरय्वाः सुसुखं त्रयः ॥ २२ ॥

इसके अनन्तर दोनों भाइयों ने गुरु के समान विश्वामित्र की चरणसेवा आदि कर सरयू के तीर पर वह रात मुनि के साथ आनन्द पूर्वक विताई ॥ २२ ॥

दशरथनृपसूनुसत्तमाभ्यां
तृणशयनेऽनुचिते सहोषिताभ्याम् ।
कुशिकसुतवचोनुलालिताभ्यां
सुखमिव सा विबभौ विभावरी च ॥ २३ ॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

राजकुमार होने के कारण चटाई पर भूमि में सोना उनके लिये अनुचित होने पर भी, दशरथनन्दन दोनों बलवान् राजकुमार ने विश्वामित्र जी के मधुर वचन सुनते हुए, सुखपूर्वक तृणों की शय्या पर वह रात विताई ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का बाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

त्रयोविंशः सर्गः

—:*:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां विश्वामित्रो महामुनिः ।
अभ्यभाषत काकुत्स्थौ शयानौ पर्णसंस्तरे ॥ १ ॥

सूखे पत्तों के बिछौनों पर लेटे हुए राजकुमारों से सवेरे चार घड़ी तड़के विश्वामित्र जी बोले ॥ १ ॥

कौसल्यासुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम् ॥ २ ॥

हे कौशल्यानन्दन ! (कौशल्या को सुपुत्रवती बनाने वाले) हे राम ! सवेरा होने को है। अब उठ बैठो और प्रातःकृत्य कर डालो ॥ २ ॥

तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नृपात्मजौ ।
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जेपतुः परमं जपम् ॥ ३ ॥

राजकुमार उन परमोदार ऋषि के ये वचन सुन उठ बैठे। फिर स्नान कर सूर्य को अर्घ्य दिया अथवा देव और ऋषि तर्पण किया। तदुपरान्त वे परम मंत्र गायत्री का जप करने लगे ॥ ३ ॥

कृताह्निकौ महावीर्यौ विश्वामित्रं तपोधनम् ।
अभिवाद्याभिसंहृष्टौ गमनायोपतस्थतुः ॥ ४ ॥

इन दोनों महाबली राजकुमार ने आन्हिक कृत्य पूरा कर बड़ी प्रसन्नता के साथ तपस्वी विश्वामित्र को प्रणाम किया और आगे चलने को तैयार हुए ॥ ४ ॥

तौ प्रयातौ महावीर्यौ दिव्यां त्रिपथगां नदीम् ।
ददृशाते ततस्तत्र सरय्वाः संगमे शुभे ॥ ५ ॥

उनको साथ लिये हुए विश्वामित्र उस स्थल पर पहुँचे, जहाँ श्रीगङ्गा जी और श्रीसरयू जी का शुभ सङ्गम है और जिसे वहाँ उन्होंने देखा ॥ ५ ॥

तत्राश्रमपदं पुण्यमृषीणामुग्रतेजसाम् ।
बहुवर्षसहस्राणि तप्यतां परमं तपः ॥ ६ ॥

वहाँ पर उन्होंने उन अनेक उग्रतपा ऋषियों के परमपवित्र आश्रम देखे, जो वहाँ सहस्रों वर्षों से कठोर तप कर रहे थे ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतौ राघवौ पुण्यमाश्रमम् ।
ऊचतुस्तं महात्मानं विश्वामित्रमिदं वचः ॥ ७ ॥

उस परम पवित्र आश्रम को देख श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण परम प्रसन्न हुए और महात्मा विश्वामित्र से यह बोले ॥ ७ ॥

कस्यायमाश्रमः पुण्यः को न्वस्मिन्वसते पुमान् ।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छावः परं कौतूहलं हि नौ ॥ ८ ॥

हे भगवन्! यह परम पवित्र आश्रम किसका है और यहाँ अब कौन पुरुष रहता है। हम दोनों को इसका वृत्तान्त सुनने का बड़ा कौतूहल है ॥ ८ ॥

तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा प्रहस्य मुनिपुङ्गवः ।
अब्रवीच्छ्रूयतां राम यस्यायं पूर्व आश्रमः ॥ ९ ॥

राजकुमारों की यह बात सुन विश्वामित्र हँस पड़े और कहने लगे हे राम! सुनिये, मैं बतलाता हूँ कि, यह पहिले किसका आश्रम था ॥ ९ ॥

कन्दर्पो मूर्तिमानासीत्काम इत्युच्यते बुधैः ।
तपस्यन्तमिह स्थाणुं नियमेन समाहितम् ॥ १० ॥

कन्दर्प, जिसको पण्डित लोग कामदेव कहते हैं, पहिले शरीरधारी था। इस स्थान पर निरन्तर ध्यानावस्थित हो शिव जी तप करते थे ॥ १० ॥

कृतोद्वाहं तु देवेशं गच्छन्तं समरुद्गणम् ।
धर्षयामास दुर्मेधा हुंकृतश्च महात्मना ॥ ११ ॥

जब विवाह कर महादेव जी देवताओं सहित चले आते थे, तब कामदेव ने उनके मन में विकार उत्पन्न करना चाहा—उस समय शिव जी ने हुङ्कारी की ॥ ११ ॥

दग्धस्य तस्य रौद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन ।
व्यशीर्यन्त शरीरात्स्वात्सर्वगात्राणि दुर्मतेः ॥ १२ ॥

फिर क्रुद्ध हो शिव जी ने अपना तीसरा नेत्र खोल कर उसको देखा। देखते ही उस दुष्ट के शरीर के सब अंग प्रत्यङ्ग अलग अलग हो कर बिखर गये ॥ १२ ॥

तस्य गात्रं हतं तत्र निर्दग्धस्य महात्मना ।
अशरीरः कृतः कामः क्रोधाद्देवेश्वरेण ह ॥ १३ ॥

जब से उसका समस्त शरीर महादेव के कोप से भस्म हुआ है, तब से वह बिना शरीर का हो गया है ॥ १३ ॥

अनङ्ग इति विख्यातस्तदाप्रभृति राघव ।
स चाङ्गविषयः श्रीमान्यत्राङ्गं स मुमोच ह ॥ १४ ॥

हे राम ! तभी से उसका नाम अनङ्ग (बिना अंगों वाला) पड़ा है। कामदेव के भागने पर उसके अंग जहाँ पर गिरे थे, वह देश अङ्ग देश के नाम से प्रख्यात हो गया है ॥ १४ ॥

तस्यायमाश्रमः पुण्यस्तस्येमे मुनयः पुरा ।
शिष्या धर्मपरा नित्यं तेषां पापं न विद्यते ॥ १५ ॥

यह आश्रम महादेव जी का है और इस आश्रमवासी समस्त मुनि, परम्परा से शिव जी के भक्त हैं। ये बड़े धर्मात्मा हैं और निष्पाप हैं ॥ १५ ॥

इहाद्य रजनीं राम वसेम शुभदर्शन ।
पुण्ययोः सरितोर्मध्ये श्वस्तरिष्यामहे वयम् ॥ १६ ॥

हे शुभदर्शन श्रीराम! आज की रात हम यहीं ठहरेंगे और कल इन पुण्यतोया नदियों को पार कर हम लोग आगे चलेंगे ॥ १६ ॥

अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यमाश्रमम् ।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम ॥ १७ ॥

हे राम! प्रथम स्नान कर, पवित्र हो कर तथा जप, होम कर के, हम सब इस पवित्र आश्रम में प्रवेश करेंगे ॥ १७ ॥

तेषां संवदतां तत्र तपोदीर्घेण चक्षुषा ।
विज्ञाय परमप्रीता मुनयो हर्षमागमन् ॥ १८ ॥

वे लोग तो यहाँ यह बातचीत कर रहे थे और उधर तपः प्रभाव से उस आश्रमवासी दूरदर्शी तपस्वी मुनि, इन लोगों का आगमन जान बहुत प्रसन्न हुए ॥ १८ ॥

अर्घ्यं पाद्यं तथाऽऽतिथ्यं निवेद्य कुशिकात्मजे ।
रामलक्ष्मणयोः पश्चादकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ॥ १९ ॥

उन ऋषियों ने विश्वामित्र जी को अर्घ्य पाद्य अर्पण किया और पीछे से उनका तथा श्रीरामचन्द्र और श्रीलक्ष्मण का अतिथि सत्कार किया ॥ १९ ॥

सत्कारं समनुप्राप्य कथाभिरभिरञ्जयन् ।
यथार्हमजपन्संध्यामृषयस्ते समाहिताः ॥ २० ॥

इस प्रकार उन आश्रमवासी मुनियों से सत्कार प्राप्त कर और नाना कथा वार्ता सुन कर उन सब ने सन्ध्योपासन तथा गायत्री जप आदि आवश्यक कर्म किये। तदुपरान्त आश्रमवासी सब ऋषिगण विश्वामित्र जी के पास एकत्र हुए ॥ २० ॥

तत्र वासिभिरानीता मुनिभिः सुव्रतैः सह ।
न्यवसन्सुसुखं तत्र कामाश्रमपदे तदा ॥ २१ ॥
कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुङ्गवः ॥ २२ ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

और अच्छे व्रत धारण करने वाले मुनि इन्हें अपने आश्रम में लिवा ले गये। उस कामाश्रम में श्रीराम लक्ष्मण सहित विश्वामित्र ने सुखपूर्वक वास किया और राजकुमारों को तरह तरह की मनोरञ्जक कथा कहानियाँ सुना उनका मनोरञ्जन किया ॥ २१ ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

चतुर्विंशः सर्गः

—:o:—

ततः प्रभाते विमले कृताऽऽह्निकमरिंदमौ ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य नद्यास्तीरमुपागतौ ॥ १ ॥

प्रातःकाल होते ही प्रातःकृत्य कर दोनों राजकुमार विश्वामित्र जी को आगे कर नदी के तट पर पहुँचे ॥ १ ॥

ते च सर्वे महात्मानो मुनयः संशितव्रताः ।
उपस्थाप्य शुभां नावं विश्वामित्रमथाब्रुवन् ॥ २ ॥

उस आश्रम में रहने वाले व्रतधारी ऋषिगण भी उनके साथ (विश्वामित्र तथा राजकुमारों के साथ) नदी तट तक गये और एक सुन्दर नाव का प्रबन्ध कर, विश्वामित्र जी से बोले ॥ २ ॥

आरोहतु भवान्नावं राजपुत्रपुरस्कृतः ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥ ३ ॥

अब आप विलम्ब न कर राजपुत्रों को लेकर नाव पर सवार हों। जिससे रास्ते में (सूर्यातापादि से) किसी प्रकार का कष्ट न हो ॥ ३ ॥

विश्वामित्रस्तथेत्युक्त्वा तानृषीनभिपूज्य च ।
ततार सहितस्ताभ्यां सरितं सागरंगमाम् ॥ ४ ॥

यह सुन, विश्वामित्र जी ने उन ऋषियों की पूजा की और सागरगामिनी उस नदी के उस पार पहुँचे ॥ ४ ॥

ततः शुश्राव तं शब्दमतिसंरम्भवर्धनम् ।
मध्यमागम्य तोयस्य सह रामः कनीयसा ॥ ५ ॥

जब नाव बीच धार में पहुँची तब वहाँ जल की तरङ्गों के परस्पर टकराने का शब्द श्रीरामचन्द्र और उनके छोटे भाई लक्ष्मण जी ने सुना ॥ ५ ॥

अथ रामः सरिन्मध्ये पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ।
वारिणो भिद्यमानस्य किमयं तुमलो ध्वनिः ॥ ६ ॥

तब, नाव पर सवार श्रीरामचन्द्र जी ने विश्वामित्र जी से पूँछा कि—"महाराज ! यह जो तुमुल शब्द हो रहा है, सो क्या जल के टकराने का है, (अथवा इस शब्द का कुछ और कारण है ?) ॥ ६ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम् ।
कथयामास धर्मात्मा तस्य शब्दस्य निश्चयम् ॥ ७ ॥

कौतूहलपूर्ण श्रीरामचन्द्र जी का यह प्रश्न सुन, विश्वामित्र जी ने उस शब्द होने का कारण इस प्रकार वर्णन किया ॥ ७ ॥

कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं सरः ।
ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः ॥ ८ ॥

हे राम ! कैलास पर्वत पर ब्रह्मा जी ने अपने मन से एक सरोवर बनायी । हे नरशार्दूल ! मन से बनाने के कारण उसका नाम "मानसरोवर" पड़ा ॥ ८ ॥

तस्मात्सुस्राव सरसः साऽयोध्यामुपगूहते ।
सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता ॥ ९ ॥

ब्रह्मा के उसी मानसरोवर से निकली हुई पवित्र सरयू नदी जो अयोध्या होती हुई बहती है ॥ ९ ॥

तस्यायमतुलः शब्दो जाह्नवीमभिवर्तते ।
वारिसंक्षोभजो राम प्रणामं नियतः कुरु ॥ १० ॥

यहाँ गङ्गा जी से मिलती है। इन दोनों सरिताओं के जलों के परस्पर टकराने से यह शब्द होता है। तुम इनको मनोयोग पूर्वक प्रणाम करो॥ १०॥

ताभ्यां तु तावुभौ कृत्वा प्रणाममतिधार्मिकौ।
तीरं दक्षिणमासाद्य जग्मतुर्लघुविक्रमौ॥ ११॥

दोनों राजकुमारों ने उन नदियों को प्रणाम किया। इतने में उनकी नाव भी दक्षिण तट पर सहज में जा लगी। वहाँ से तीनों नाव से उतर कर आगे चले॥ ११॥

स वनं घोरसंकाशं दृष्ट्वा नृपवरात्मजः।
अविप्रहतमैक्ष्वाकः पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्॥ १२॥

दोनों राजकुमारों ने चलते हुए एक बड़ा भयानक निर्जन वन देखा। उस निर्जन वन को देख श्रीरामचन्द्र जी ने विश्वामित्र जी से पूछा॥ १२॥

अहो वनमिदं दुर्गं झिल्लिकागणनादितम्।
भैरवैः श्वापदैः कीर्णं शकुन्तैर्दारुणारुतैः॥ १३॥

ओहो! ऋषिवर, यह वन तो बड़ा ही भयानक देख पड़ता है। इसमें झींगुर झंकार कर रहे हैं और बड़े बड़े भयङ्कर जीवों के नाद से यह परिपूर्ण है और बाज पक्षी भी बड़ी दारुण बोली बोल रहे हैं॥ १३॥

नानाप्रकारैः शकुनैर्वाश्यद्भिर्भैरवैःस्वनैः।
सिंहव्याघ्रवराहैश्च वारणैश्चोपशोभितम्॥ १४॥

बाज पक्षी अनेक प्रकार की भयावह बोलियाँ बोल रहे हैं। इस वन में देखिये सिंह, व्याघ्र, वराह और हाथी भी बहुत देख पड़ते हैं॥ १४॥

धवाश्वकर्णककुभैर्बिल्वतिन्दुकपाटलैः ।
सङ्कीर्णं बदरीभिश्च किं न्वेतद्दारुणं वनम् ॥ १५ ॥

धवा, असंगध, अर्जुन, बेल, तेंदुआ, पाडरी और वेरियों के वृत्तों से यह वन कैसा सघन और भयङ्कर हो गया है ॥ १५ ॥

तमुवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
श्रूयतां वत्स काकुत्स्थ यस्यैतद्दारुणं वनम् ॥ १६ ॥

यह सुन महातेजस्वी विश्वामित्र ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे वेटा श्रीरामचन्द्र ! सुनो, मैं वतलाता हूँ कि, यह विकट वन किसका है ॥ १६ ॥

एतौ जनपदौ स्फीतौ पूर्वमास्तां नरोत्तम ।
मलदाश्च करूशाश्च देवनिर्माणनिर्मितौ ॥ १७ ॥

पहले यहां पर देवलोक के समान और धनधान्य से भरे पुरे मलद और करूष नाम के दो देश वसे हुए थे ॥ १७ ॥

पुरा वृत्रवधे राम मलेन समभिप्लुतम् ।
क्षुधा चैव सहस्राक्षं ब्रह्महत्या समाविशत् ॥ १८ ॥

हे राम ! वृत्रासुर को मार कर जब इन्द्र अपवित्र अवस्था में भूखे प्यासे थे, तब उनके शरीर में ब्रह्महत्या ने प्रवेश किया ॥ १८ ॥

तमिन्द्रं स्नापयन्देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
कलशैः स्नापयामासुर्मलं चास्य प्रमोचयन् ॥ १९ ॥

तब इन्द्र को देवताओं और तपस्वी ऋषियों ने प्रथम गङ्गाजल से, फिर घड़ों में भरे मंत्रपूत जल से उनकी अपवित्रता दूर करने के लिये स्नान करवाये ॥ १९ ॥

इह भूम्यां मलं दत्त्वा दत्त्वा कारूशमेव च ।
शरीरजं महेन्द्रस्य ततो हर्षं प्रपेदिरे ॥ २० ॥

इससे इन्द्र की क्षुधा और उनका मल यानी अपवित्रता और ब्रह्महत्या यहीं छूटी, तब इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २० ॥

निर्मलो निष्करूशश्च शुचिरिन्द्रो यदाऽभवत् ।
ददौ देशस्य सुप्रीतो वरं प्रभुरनुत्तमम् ॥ २१ ॥

जब इन्द्र निर्मल, निष्पाप और पवित्र हो गये तब उन्होंने प्रसन्न हो इस देश को यह उत्तम वरदान दिया ॥ २१ ॥

इमौ जनपदौ स्फीतौ ख्यातिं लोके गमिष्यतः ।
मलदाश्च करूशाश्च ममाङ्गमलधारिणौ ॥ २२ ॥

मेरे शरीर के मल को धारण करने वाले मलद और करूष नामों से विख्यात और धनधान्य से भरे पूरे दो देश तीनों लोकों में प्रसिद्ध होंगे ॥ २२ ॥

साधु साध्विति तं देवाः पाकशासनमब्रुवन् ।
देशस्य पूजां तां दृष्ट्वा कृतां शक्रेण धीमता ॥ २३ ॥

इन्द्र का यह वरदान सुन और उन देशों की इन्द्र द्वारा प्रतिष्ठा देख सब देवता "साधु" "साधु"—बहुत अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ—कह कर इन्द्र की प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

एतौ जनपदौ स्फीतौ दीर्घकालमरिंदम ।
मलदाश्च करूशाश्च मुदितौ धनधान्यतः ॥ २४ ॥

हे अरिंदम ! ये दोनों मलद और करूष देश, बहुत दिनों तक धन धान्य से भरे पूरे बने रहे ॥ २४ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी वै कामरूपिणी ।
बलं नागसहस्रस्य धारयन्ती तदा ह्यभूत् ॥ २५ ॥

कुछ दिनों बाद यहाँ एक स्वेच्छाचारिणी यक्षिणी पैदा हुई। उसके शरीर में हज़ार हाथियों का बल है ॥ २५ ॥

ताटका नाम भद्रं ते भार्या सुन्दस्य धीमतः ।
मारीचो राक्षसः पुत्रो यस्याः शक्रपराक्रमः ॥ २६ ॥

उसका नाम ताटका है और वह सुन्द की स्त्री है। उसके मारीच नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इन्द्र के समान पराक्रमी है ॥ २६ ॥

वृत्तबाहुर्महावीर्यो विपुलास्यतनुर्महान् ।
राक्षसो भैरवाकारो नित्यं त्रासयते प्रजाः ॥ २७ ॥

वह बड़ी बड़ी बाहें, बड़ा सिर और बड़े मुँह वाला तथा अति भयानक शरीर वाला राक्षस यानी मारीच, नित्य ही प्रजा को सताया करता है ॥ २७ ॥

इमौ जनपदौ नित्यं विनाशयति राघव ।
मलदांश्च करूशांश्च ताटका दुष्टचारिणी ॥ २८ ॥

हे राघव ! वह दुष्टा ताटका या ताड़का इन दोनों भरे पूरे मलद और करूष देशों को नित्य ही उजाड़ा करती है ॥ २८ ॥

सेयं पन्थानमावृत्य वसत्यध्यर्धयोजने ।
अतएव च गन्तव्यं ताटकाया वनं यतः ॥ २९ ॥

वह यक्षिणी इस मार्ग को रोके हुए यहाँ से आधे योजन अर्थात् दो कोस पर रहती है। अतः अब ताड़का के वन में चलना चाहिये और ॥ २९ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य जहीमां दुष्टचारिणीम् ।
मन्नियोगादिमं देशं कुरु निष्कण्टकं पुनः ॥ ३० ॥

मेरे कहने से तुम अपने बाहुबल से उस दुष्टा यक्षिणी का वध कर, इस स्थान को पुनः निष्कण्टक बना दो ॥ ३० ॥

न हि कश्चिदिमं देशं शक्नोत्यागन्तुमीदृशम् ।
यक्षिण्या घोरया राम उत्सादितमसह्यया ॥ ३१ ॥

हे राम ! इस दुष्टा के डर के मारे, आने की आवश्यकता होते हुए भी, कोई यहाँ नहीं आता। ऐसा कीजिये जिससे यह भयङ्कर यक्षिणी इस पवित्र देश को अब न उजाड़ पावे ॥ ३१ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथैतद्दारुणं वनम् ।
यक्ष्या चोत्सादितं सर्वमद्यापि न निवर्तते ॥ ३२ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

जिस प्रकार यह स्थान निर्जन वन बना है तथा जिस प्रकार अब इस स्थान की रक्षा की जा सकती है सो मैंने तुम्हें बतला दिया, वह दुष्टा यक्षिणी अब भी अपनी दुष्टता से बाज़ नहीं आती ॥ ३२ ॥

बालकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

पञ्चविंशः सर्गः

—:०:—

अथ तस्याप्रमेयस्य मुनेर्वचनमुत्तमम् ।
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलः प्रत्युवाच शुभां गिरम् ॥ १ ॥

अमित प्रभावशाली ऋषिश्रेष्ठ विश्वामित्र जी के ये उत्तम वचन सुन, पुरुषशार्दूल श्रीरामचन्द्र यह शुभ वचन बोले ॥ १ ॥

अल्पवीर्या यदा यक्षाः श्रूयन्ते मुनिपुङ्गव ।
कथं नागसहस्रस्य धारयत्यबला बलम् ॥ २ ॥

हे मुनिपुङ्गव ! सुनते हैं यक्ष जाति तो अल्प बल वाली होती है। तब इस अबला (अर्थात् यक्षस्त्री) के शरीर में हज़ार हाथियों का बल क्यों कर आ गया ॥ २ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
विश्वामित्रोऽब्रवीद्वाक्यं शृणु येन बलोत्तरा ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रश्न को सुन महात्मा विश्वामित्र बोले— हे राघव ! सुनिये, मैं कहता हूँ, जिस प्रकार यह यक्षिणी इतनी बलवती हुई है ॥ ३ ॥

वरदानकृतं वीर्यं धारयत्यबला बलम् ।
पूर्वमासीन्महायक्षः सुकेतुर्नाम वीर्यवान् ॥ ४ ॥

यह अबला वरदान के प्रभव से इतनी बलवती हो गयी है । सुकेतु नाम का एक बड़ा बलवान यक्ष था ॥ ४ ॥

अनपत्यः शुभाचारः स च तेपे महत्तपः ।
पितामहस्तु सुप्रीतस्तस्य यक्षपतेस्तदा ॥ ५ ॥

हे राम ! सदाचारी होने पर भी उसके कोई सन्तान न था । अतएव उसने बड़ा तप किया । तब प्रसन्न हो उस यक्षपति को ब्रह्मा जी ने ॥ ५ ॥

कन्यारत्नं ददौ राम ताटकां नाम नामतः ।
बलं नागसहस्रस्य ददौ चास्याः पितामहः ॥ ६ ॥

ताटका नाम की एक उत्तम कन्या प्रदान की । ब्रह्मा जी ने उसके शरीर में हज़ार हाथियों का बल भी दिया ॥ ६ ॥

न त्वेव पुत्रं यक्षाय ददौ ब्रह्मा महायशाः ।
तां तु जातां विवर्धन्तीं रूपयौवनशालिनीम् ॥ ७ ॥

किन्तु, महायशस्वी ब्रह्मा जी ने उस यक्ष को ऐसा बली पुत्र नहीं दिया । जब वह लड़की बढ़ती बढ़ती रूप और यौवनशालिनी की हुई ॥ ७ ॥

जम्भपुत्राय सुन्दाय ददौ भार्यां यशस्विनीम् ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी पुत्रं व्यजायत ॥ ८ ॥

तब उसके पिता ने उसका विवाह जम्भ के पुत्र सुन्द के साथ कर दिया । थोड़े दिनों बाद इस यक्षिणी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥

मारीचं नाम दुर्धर्षं यः शापाद्राक्षसोऽभवत् ।
सुन्दे तु निहते राम सागस्त्यं मुनिपुङ्गवम् ॥ ९ ॥

उस का नाम मारीच है और वह बड़ा बलवान है। वह यक्ष होने पर भी शापवश राक्षस हुआ है। हे राम! जब अगस्त्य जी ने सुन्द को शाप दे कर मार डाला ॥ ९ ॥

ताटका सह पुत्रेण प्रधर्षयितुमिच्छति।
भक्षार्थं जातसंरम्भा गर्जन्ती साऽभ्यधावत ॥ १० ॥

तब ताटका अपने पुत्र सहित अगस्त्य जी को खाने के लिये गरजती हुई दौड़ी ॥ १० ॥

आपतन्तीं तु तां दृष्ट्वा अगस्त्यो भगवानृषिः।
राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः ॥ ११ ॥

उस यक्षिणी को अपनी ओर आती हुई देख, भगवान् अगस्त्य ऋषि ने उसके पुत्र मारीच को यह शाप दिया कि, "तू राक्षस हो जा" ॥ ११ ॥

अगस्त्यः परमक्रुद्धस्ताटकामपि शप्तवान्।
पुरुषादी महायक्षी विरूपा विकृतानना ॥ १२ ॥

फिर अगस्त्य जी ने अत्यन्त कुपित हो ताटका को भी शाप दिया कि, तू मनुष्यभक्षिणी हो जा और तेरी शकल बुरी और भयानक हो जाय ॥ १२ ॥

इदं रूपं विहायाथ दारुणं रूपमस्तु ते।
सैषा शापकृतामर्षा ताटका क्रोधमूर्छिता ॥ १३ ॥

तेरा यह रूप न रहे। तू विकराल रूप वाली हो जा। यह शाप सुन ताटका अत्यन्त कुपित हुई ॥ १३ ॥

देशमुत्सादयत्येनमगस्त्यचरितं शुभम् ।
एनां राघव दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारुणाम् ॥ १४ ॥
गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम् ।
नह्येनां शापसंस्पृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान् ॥ १५ ॥

सो वह शाप को प्राप्त ताटका इस पवित्र देश को उजाड़ देती है । क्योंकि अगस्त्य जी इसी देश में तपस्या करते थे । अतएव हे राम ! आप इस दुष्टा, परम दारुण और दुष्ट पराक्रम वाली ताटका को मार कर गो ब्राह्मण का हित साधन कीजिये । क्योंकि और कोई मनुष्य इस शापयुक्ता को नहीं मार सकता ॥ १४ ॥ १५ ॥

निहन्तुं त्रिषु लोकेषु त्वामृते रघुनन्दन ।
न हि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम ॥ १६ ॥

हे नरोत्तम ! तीनों लोकों में तुमको छोड़ ऐसा और कोई नहीं है, जो इसे मार सके । ऐसी स्त्री का वध करने में तुम्हारे मन में घृणा उत्पन्न न होनी चाहिये ॥ १६ ॥

चातुर्वर्ण्यहितार्थाय कर्तव्यं राजसूनुना ।
नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात् ॥ १७ ॥

चारों वर्णों का हितसाधन करना राजकुमार अर्थात् क्षत्रिय का कर्त्तव्य है । प्रजा की रक्षा के लिये चाहे अच्छे काम करने पड़ें चाहे बुरे ॥ १७ ॥

पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा ।
राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः ॥ १८ ॥

प्रजारक्षण के कार्यों के करने में भले ही दोष या पाप ही क्यों न लगे, किन्तु राज्य की रक्षा का भार उठाये हुए क्षत्रियों के लिये सब प्रकार प्रजा की रक्षा करना ही, उनका सनातन धर्म है ॥ १८ ॥

अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्या न विद्यते ।
श्रूयते हि पुरा शक्रो विरोचनसुतां नृप ॥ १९ ॥
पृथिवीं हन्तुमिच्छन्तीं मन्थरामभ्यसूदयत् ।
विष्णुना च पुरा राम भृगुपत्नी दृढव्रता ।
अनिन्द्रं लोकमिच्छन्ती काव्यमाता निषूदिता ॥२०॥

हे राम ! इस अधर्मिणी ताड़का को मारिये, इसमें तो तिल भर भी धर्म नहीं है। सुना जाता है कि, पहले विरोचन राजा की लड़की मन्थरा को, जो पृथिवी का नाश करना चाहती थी, इन्द्र ने जान से मार डाला था। इसी प्रकार हे राम ! भगवान् विष्णु ने भी भृगु की पतिव्रता पत्नी और शुक्र की माता को, जो इन्द्र का नाश करना चाहती थी, मार डाला था ॥ १६ ॥ २० ॥

एतैरन्यैश्च बहुभी राजपुत्र महात्मभिः ।
अधर्मनिरता नार्यो हताः पुरुषसत्तमैः ॥ २१ ॥
तस्मादेनां घृणां त्यक्त्वा
जहि मच्छासनान्नृप ॥ २२ ॥

इति पञ्चविंश सर्गः ॥

इसी प्रकार अनेक पुरुषोत्तम राजपुत्रों ने समय समय पर अनेक अधर्माचरण वाली स्त्रियों का वध किया है। अतएव

तुमको भी मेरी आज्ञा से इस दुष्टा यक्षिणी को मारने में किसी प्रकार का विचार न करना चाहिये ॥ २१ ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का पचीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

षड्विंशः सर्गः

मुनेर्वचनमक्लीवं श्रुत्वा नरवरात्मजः ।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच दृढव्रतः ॥ १ ॥

दृढ़व्रत दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने ऋषिप्रवर विश्वामित्र जी के अक्लीव अर्थात् उत्साहवर्द्धक वचन सुन हाथ जोड़ कर यह उत्तर दिया ॥ १ ॥

पितुर्वचननिर्देशात्पितुर्वचनगौरवात् ।
वचनं कौशिकस्येति कर्तव्यमविशङ्कया ॥ २ ॥

अपने पिता की आज्ञा से और उनकी बात रखने के लिये, आपके कथनानुसार निःशङ्क हो कर कार्य करना, मेरा कर्त्तव्य है ॥ २ ॥

अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना ।
पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः ॥ ३ ॥

क्योंकि महाराज ने गुरु वशिष्ठ जी के सामने अयोध्या से प्रस्थान करते समय मुझे यह आज्ञा दी है । अतः मैं उस आज्ञा की अवज्ञा नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद्ब्रह्मवादिनः ।
करिष्यामि न सन्देहस्ताटकावधमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अतः पिता की आज्ञानुसार आपके कहने से ताटका का वध निस्सन्देह ही करूँगा ॥ ४ ॥

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्यास्य सुखाय च ।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः ॥ ५ ॥

मैं आपके कथनानुसार ताटका को मार कर गो ब्राह्मण का हित साधन करने तथा इस देश के वासियों को सुखी करने को तैयार हूँ ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा धनुर्मध्ये बद्ध्वा मुष्टिमरिन्दमः ।
ज्याघोषमकरोत्तीव्रं दिशः शब्देन नादयन् ॥ ६ ॥

यह कह और धनुष हाथ में ले, श्रीरामचन्द्र जी ने दशों दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाला, प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) को टंकार कर, घोर शब्द किया ॥ ६ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तास्ताटकावनवासिनः ।
ताटका च सुसंक्रुद्धा तेन शब्देन मोहिता ॥ ७ ॥

उस शब्द को सुन ताटका के वन में रहने वाले जीवधारी बहुत डरे । ताटका उस शब्द को सुन बहुत कुपित हुई और उस समय अपना कर्त्तव्य निश्चित न कर सकी ॥ ७ ॥

तं शब्दमभिनिध्याय राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
श्रुत्वा चाभ्यद्रवद्वेगाद्यतः शब्दो विनिःसृतः ॥ ८ ॥

वह अत्यन्त कुपित राक्षसी उसी ओर जिस ओर शब्द हुआ था बड़े वेग से झपटी ॥ ८ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः क्रुद्धां विकृतां विकृताननाम् ।
प्रमाणेनातिवृद्धां च लक्ष्मणं सोऽभ्यभाषत ॥ ९ ॥

उस बड़ी लंबी चौड़ी, घोर विकराल रूप वाली, जलमुही, कुपित राक्षसी को देख श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ९ ॥

पश्य लक्ष्मण यक्षिण्या भैरवं दारुणं वपुः ।
भिद्येरन्दर्शनादस्या भीरूणां हृदयानि च ॥ १० ॥

देखो लक्ष्मण ! इस यक्षिणी का शरीर कैसा भयङ्कर और विकट है । इसे देखते ही डरपोंकों के हृदय तो काँप उठते होंगे ॥ १० ॥

एनां पश्य दुराधर्षां मायाबलसमन्विताम् ।
विनिवृत्तां करोम्यद्य हृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ ११ ॥

देखो, इस विकट मायाविनी और दुर्जेया के कान और नाक काट कर, मैं अभी भगाये देता हूँ ॥ ११ ॥

न ह्येनामुत्सहे हन्तुं स्त्रीस्वभावेन रक्षिताम् ।
वीर्यं चास्या गतिं चापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥१२॥

क्योंकि स्त्री की जान लेना ठीक नहीं, स्त्री की तो रक्षा करनी चाहिये । किन्तु मैं इसके हाथ पैर तोड़ कर इसे अब आगे दुष्ट कर्म करने योग्य न रहने दूँगा ॥ १२ ॥

एवं ब्रुवाणे रामे तु ताटका क्रोधमूर्छिता ।
उद्यम्य बाहू गर्जन्ती राममेवाभ्यधावत ॥ १३ ॥

श्रीराम जी ऐसा कह ही रहे थे कि, अत्यन्त कुपित ताटका हाथ उठाये और गरजती हुई श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटी ॥ १३ ॥

विश्वामित्रस्तु ब्रह्मर्षिहुङ्कारेणाभिभर्त्स्य ताम् ।
स्वस्ति राघवयोरस्तु जयं चैवाभ्यभाषत ॥ १४ ॥

यह देख ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने "हुँ" कह कर, उसे डपटा और श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण को आशीर्वाद दे कर कहा कि, तुम्हारी जय हो ॥ १४ ॥

उद्धून्वाना रजो घोरं ताटका राघवावुभौ ।
रजोमोहेन महता मुहूर्तं सा व्यमोहयत् ॥ १५ ॥

इतने पर भी ताटका ने इतनी धूल उड़ायी कि, कुछ देर तक राम और लक्ष्मण को कुछ भी न देख पड़ा ॥ १५ ॥

ततो मायां समास्थाय शिलावर्षेण राघवौ ।
अवाकिरत्सुमहता ततश्चुक्रोध राघवः ॥ १६ ॥

ताटका ने ऐसी माया रची कि, वह छिपे छिपे श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी पर पत्थरों की वर्षा करती रही। यह देख श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ १६ ॥

शिलावर्षं महत्तस्याः शरवर्षेण राघवः ।
प्रतिहत्योपधावन्त्याः करौ चिच्छेद पत्रिभिः ॥ १७ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी ने उस महती शिलावृष्टि को बाणों से बंद कर दिया और बाणों ही से उसके दोनों हाथों को भी काट डाला ॥ १७ ॥

ततश्छिन्नभुजां श्रान्तामभ्याशे परिगर्जतीम् ।
सौमित्रिरकरोत्क्रोधाद्धृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ १८ ॥

भुजाओं के कट जाने से श्रान्त, किन्तु तिस पर भी उसे गरजते हुए अपने समीप आते देख और क्रुद्ध हो, लक्ष्मण जी ने उसके नाक कान काट डाले ॥ १८ ॥

कामरूपधरा सद्यः कृत्वा रूपाण्यनेकशः ।
अन्तर्धानं गता यक्षी मोहयन्ती च मायया ॥ १९ ॥

वह कामरूपिणी तुरन्त अनेक प्रकार के रूप धारण करने लगी और राजकुमारों को धोखा देने के लिये कभी कभी छिप भी जाने लगी ॥ १९ ॥

अश्मवर्षं विमुञ्चन्ती भैरवं विचचार ह ।
ततस्तावश्मवर्षेण कीर्यमाणौ समन्ततः ॥ २० ॥

और छिपे छिपे वह विकट यक्षिणी घूम घूम कर पत्थर बरसाने लगी । चारों ओर से राजकुमारों पर पत्थर बरसते ॥ २० ॥

दृष्ट्वा गाधिसुतः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ।
अलं ते घृणया राम पापैषा दुष्टचारिणी ॥ २१ ॥

देख, श्रीमान् विश्वामित्र जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राम ! बस, बहुत हुआ । अब इस पापिनी दुष्टा पर अधिक दया दिखलाने की आवश्यकता नहीं है ॥ २१ ॥

यज्ञविघ्नकरी यक्षी पुरा वर्धेत मायया ।
वध्यतां तावदेवैषा पुरा सन्ध्या प्रवर्तते ॥ २२ ॥

यदि इसको छोड़ दोगे, तो यह यज्ञ में विघ्न डालने वाली माया द्वारा फिर प्रबल पड़ जायगी। सन्ध्या होने के पहिले ही तुम इसे झटपट मार डालो ॥ २२ ॥

रक्षांसि सन्ध्याकालेषु दुर्धर्षाणि भवन्ति हि।
इत्युक्तस्तु तदा यक्षीमश्मवृष्ट्याभिवर्षतीम् ॥ २३ ॥
दर्शयञ्शब्दवेधित्वं तां रुरोध स सायकैः।
सा रुद्धा शरजालेन मायाबलसमन्विता ॥ २४ ॥
अभिदुद्राव काकुत्स्थं लक्ष्मणं च विनेदुषी।
तमापतन्तीं वेगेन विक्रान्तामशनीमिव ॥ २५ ॥

क्योंकि सन्ध्या वेला में राक्षसों का बल बढ़ जाता है। यह कह विश्वामित्र ने पत्थर बरसाने वाली यक्षी को श्रीरामचन्द्र को दिखा दिया। श्रीरामचन्द्र जी ने शब्दवेधी बाणों से उसे चारों ओर से घेर लिया। वह मायाविनी और बलवती यक्षिणी शरजाल में घिरी हुई दोनों राजकुमारों पर गर्जती हुई झपटी। उसे बिजली की तरह बड़े वेग से अपनी ओर आती हुई देख ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

शरेणोरसि विव्याध सा पपात ममार च।
तां हतां भीमसंकाशां दृष्ट्वा सुरपतिस्तदा ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उसकी छाती में एक बाण ऐसा मारा कि, वह पृथिवी पर गिर पड़ी और मर गयी। उस विकराल रूप वाली यक्षिणी को मरी हुई देख, इन्द्र ॥ २६ ॥

साधु साध्विति काकुत्स्थं सुराश्च समपूजयन्।
उवाच परमप्रीतः सहस्राक्षः पुरन्दरः ॥ २७ ॥

आदि देवता श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति करने लगे और इन्द्र परम प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

सुराश्च सर्वे संहृष्टा विश्वामित्रमथाब्रुवन् ।
मुने कौशिक भद्रं ते सेन्द्राः सर्वे मरुद्गणाः ॥ २८ ॥

सब देवतागण प्रसन्न हो विश्वामित्र जी से बोले—"हे कौशिक मुनि ! आपका कल्याण हो, इन्द्र सहित हम सब देवता ॥ २८ ॥

तोषिताः कर्मणा तेन स्नेहं दर्शय राघवे ।
प्रजापतेः कृशाश्वस्य पुत्रान्सत्यपराक्रमान् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस कार्य से परम सन्तुष्ट हुए हैं । अब तुम श्रीरामचन्द्र जी पर विशेष स्नेह प्रदर्शित कर, कृशाश्व प्रजापति के सत्यपराक्रमी अस्त्र शस्त्र रूपी जो पुत्र हैं, ॥ २९ ॥

तपोबलभृतान्ब्रह्मन्राघवाय निवेदय ।
पात्रभूतश्च ते ब्रह्मंस्तवानुगमने धृतः ॥ ३० ॥

वे सब तपस्वी एवं बलवान श्रीरामचन्द्र जी को दे दो । क्योंकि ये इनके योग्यपात्र हैं और आपकी इच्छानुसार काम करने वाले हैं अथवा आपकी सेवा शुश्रूषा मन लगा कर करने वाले हैं ॥ ३० ॥

कर्तव्यं च महत्कर्म सुराणां राजसूनुना ।
एवमुक्त्वा सुराः सर्वे जग्मुर्हृष्टा यथागतम् ॥ ३१ ॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य ततः सन्ध्या प्रवर्तते ।
ततो मुनिवरः प्रीतस्ताटकावधतोषितः ।
मूर्ध्नि राममुपाघ्राय इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

और ये राजकुमार देवताओं के बड़े बड़े काम करेंगे। यह कह और विश्वामित्र जी का पूजन कर, सब देवता जहाँ से आये थे, वहाँ प्रसन्नता पूर्वक लौट कर चले गये। इतने में सन्ध्या हो गयी। तब मुनिवर विश्वामित्र ताटका के वध से प्रसन्न हो और श्रीरामचन्द्र जी का माथा सूँघ कर यह बोले ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

इहाद्य रजनीं राम वसेम शुभदर्शन।
श्वःप्रभाते गमिष्यामस्तदाश्रमपदं मम ॥ ३३ ॥

हे शुभदर्शन राम ! आज की रात यहीं विश्राम कर, प्रातःकाल होते ही हम अपने आश्रम को चलेंगे ॥ ३३ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथात्मजः।
उवास रजनीं तत्र ताटकाया वने सुखम् ॥ ३४ ॥

विश्वामित्र जी के इन वचनों को सुन श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए। रात भर सुखपूर्वक ताटका के वन ही में विश्राम किया ॥ ३४ ॥

मुक्तशापं वनं तच्च तस्मिन्नेव तदाहनि।
रमणीयं विबभ्राज तथा चैत्ररथं वनम् ॥ ३५ ॥

ताटका जिस दिन मारी गयी उसी दिन से ताटका के वन का शाप छूट गया और वह चैत्ररथ वन की तरह अत्यन्त रमणीक हो गया ॥ ३५ ॥

निहत्य तां यक्षसुतां स रामः
प्रशस्यमानः सुरसिद्धसंघैः।
उवास तस्मिन्मुनिना सहैव
प्रभातवेलां प्रतिबोध्यमानः ॥ ३६ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने ताड़का को मार कर और सुरों तथा सिद्धों से बड़ी प्रशंसा प्राप्त की अर्थात् बड़ाई पाई और विश्वामित्र के साथ वहाँ रात भर विश्राम कर, सबेरा होने पर जागे ॥ ३६ ॥

बालकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

सप्तविंशः सर्गः

—:०:—

अथ तां रजनीमुष्य विश्वामित्रो महायशाः ।
प्रहस्य राघवं वाक्यमुवाच मधुराक्षरम् ॥ १ ॥

उस रात में वहाँ निवास कर महायशस्वी विश्वामित्र ने मुसकुरा कर मधुरवाणी से श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १ ॥

परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ॥ २ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार! मैं तुमसे बहुत सन्तुष्ट हूँ और तुमको प्रसन्नता पूर्वक सब अस्त्र देता हूँ ॥ २ ॥

देवासुरगणान्वापि सगन्धर्वोरगानपि ।
यैरमित्रान्प्रसह्याजौ वशीकृत्य जयिष्यसि ॥ ३ ॥

इन अस्त्रों से तुम सुर, असुर, गन्धर्व और नाग आदि अपने शत्रुओं को अपने वश में कर जीत लोगे ॥ ३ ॥

तानि दिव्यानि भद्रं ते ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ।
दण्डचक्रं महद्दिव्यं तव दास्यामि राघव ॥ ४ ॥

हे राम! तुम्हें मैं इन सब अस्त्रों को देता हूँ। लो यह महा दिव्य दण्डचक्र है ॥ ४ ॥

धर्मचक्रं ततो वीर कालचक्रं तथैव च ।
विष्णुचक्रं तथाऽत्युग्रमैन्द्रमस्त्रं तथैव च ॥ ५ ॥

हे वीर! यह लो धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, बड़ा पैना ऐन्द्रास्त्र ॥ ५ ॥

वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठ शैवं शूलवरं तथा ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ऐषीकमपि राघव ॥ ६ ॥

हे नरश्रेष्ठ! यह लो वज्रास्त्र, महादेवास्त्र। हे राघव! यह है ब्रह्मशिर और ऐषीक ॥ ६ ॥

ददामि ते महाबाहो ब्राह्ममस्त्रमनुत्तमम् ।
गदे द्वे चैव काकुत्स्थ मोदकी शिखरी उभे ॥ ७ ॥

हे राम! मैं तुमको सब अस्त्रों से बढ़ कर यह ब्रह्मास्त्र देता हूँ और यह लो मोदकी और शिखरी नाम की दो गदाएँ ॥ ७ ॥

प्रदीप्ते नरशार्दूल प्रयच्छामि नृपात्मज ।
धर्मपाशमहं राम कालपाशं तथैव च ॥ ८ ॥

हे राजकुमार राम! मैं तुमको अत्यन्त उग्र धर्मपाश और कालपाश नामक अस्त्र देता हूँ ॥ ८ ॥

पाशं वारुणमस्त्रं च ददाम्यहमनुत्तमम् ।
अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कार्द्रे रघुनन्दन ॥ ९ ॥

यह लो वरुणपाश, शुष्क और अशनी नामक दो वज्र ॥ ९ ॥

दददामि चास्त्रं पैनाकमस्त्रं नारायणं तथा ।
आग्नेयमस्त्रं दयितं शिखरं नाम नामतः ॥ १० ॥

यह जो पैनाकास्त्र, नारायणास्त्र और आग्नेयास्त्र जिसका नाम शिखर है ॥ १० ॥

वायव्यं प्रथनं नाम ददामि च तवानघ ।
अस्त्रं हयशिरो नाम क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ११ ॥

शक्तिद्वयं च काकुत्स्थ ददामि तव राघव ।
कङ्कालं मुसलं घोरं कपालमथ कङ्कणम् ॥ १२ ॥

हे राम ! यह जो प्रथन नामक वायव्यास्त्र, हयशिरास्त्र और क्रौञ्चास्त्र। मैं दो शक्तियाँ भी तुम्हें देता हूँ। मैं तुम्हें अब भयङ्कर कङ्काल नामक मुसल, कापाल और कङ्कण देता हूँ ॥ ११ ॥ १२ ॥

धारयन्त्यसुरा यानि ददाम्येतानि सर्वशः ।
वैद्याधरं महास्त्रं च नन्दनं नाम नामतः ॥ १३ ॥

मैं तुम्हें ये सब अस्त्र देता हूँ जो राक्षसों के वध के लिये उपयोगी हैं। यह विद्याधरास्त्र है और यह नन्दन नामक ॥ १३ ॥

असिरत्नं महाबाहो ददामि नृपवरात्मज ।
गान्धर्वमस्त्रं दयितं मानवं नाम नामतः ॥ १४ ॥

उत्तम तलवार, हे राजकुमार ! मैं तुम्हें देता हूँ। यह जो गन्धर्वास्त्र, और प्यारा मानवास्त्र ॥ १४ ॥

प्रस्वापनप्रशमने दद्मि सौरं च राघव ।
दर्पणं शोषणं चैव संतापनविलापने ॥ १५ ॥

ये हैं प्रस्वापन और प्रशमन, सौर, दर्पण, शोषण, सन्तापन और विलापन ॥ १५ ॥

मदनं चैव दुर्धर्षं कन्दर्पदयितं तथा ।
पैशाचमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः ॥ १६ ॥

(ये हैं) कन्दर्प देवता का प्यारा दुर्धर्ष मदनास्त्र और यह है पैशाचास्त्र, और प्यारा मोहनास्त्र ॥ १६ ॥

प्रतीच्छ नरशार्दूल राजपुत्र महायशः ।
तामसं नरशार्दूल सौमनं च महाबल ॥ १७ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! यह लो तामस और महाबली सौमन ॥ १७ ॥

संवर्तं चैव दुर्धर्षं मौसलं च नृपात्मज ।
सत्यमस्त्रं महाबाहो तथा मायाधरं परम् ॥ १८ ॥

हे राजकुमार ! हे महाबाहो ! ये हैं संवर्त्त, दुर्धर्ष, मौशल, सत्यास्त्र, और परमास्त्र मायाधर ॥ १८ ॥

घोरं तेजःप्रभं नाम परतेजोपकर्षणम् ।
सौम्यास्त्रं शिशिरं नाम त्वाष्ट्रमस्त्रं सुदामनम् ॥१९॥

ये हैं तेजप्रभ नामक अस्त्र, जिससे शत्रु का तेज खींचा जाता है। (और ये हैं) शिशिर नामक सोमास्त्र, त्वाष्ट्रास्त्र ॥ १९ ॥

दारुणं च भगस्यापि शीतेषुमथ मानवम् ।
एतान्राम महाबाहो कामरूपान्महाबलान् ॥ २० ।

(ये हैं) दारुण भगास्त्र, शीतेषु और मानव (नाम के अस्त्र) हे महाबाहो राम ! तुम इन महाबली, कामरूपी ॥ २० ॥

गृहाण परमोदारान्क्षिप्रमेव नृपात्मज ।
स्थितस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिर्मुनिवरस्तदा ॥ २१ ॥

तथा परमोदार अस्त्रों को हे राजकुमार ! शीघ्र ग्रहण करो। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र ने पूर्व की ओर मुख कर, पवित्र हो ॥ २१ ॥

ददौ रामाय सुप्रीतो मन्त्रग्राममनुत्तमम् ।
सर्वसंग्रहणं येषां दैवतैरपि दुर्लभम् ॥ २२ ॥

और प्रसन्न हो, उन सम्पूर्ण अस्त्रों के मंत्र (अर्थात् चलाने और रोकने की विधि) बतलाये, जिन सब अस्त्रों का प्राप्त होना देवताओं के लिये भी दुर्लभ है ॥ २२ ॥

तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत् ।
जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ॥ २३ ॥
उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम् ।
ऊचुश्च मुदिताः सर्वे रामं प्राञ्जलयस्तदा ॥ २४ ॥

वे सब अस्त्र विश्वामित्र जी ने श्रीरामचन्द्र जी को दे दिये। (ज्योंहीं धीमान् विश्वामित्र जी उन मंत्रास्त्रों का उच्चारण करने लगे त्योंहीं) वे मंत्र अपना साक्षात् रूप धारण कर श्रीरामचन्द्र जी के सामने हाथ जोड़ कर आ खड़े हुए और कहने लगे ॥ २३ ॥ २४ ॥

इमे स्म परमोदाराः किङ्करास्तव राघव ।
प्रतिगृह्य च काकुत्स्थः समालभ्य च पाणिना ।
मानसा मे भविष्यध्वमिति तानभ्यचोदयत् ॥२५॥

हे परमोदार राघव! हम सब आपके दास हैं। जो काम आप हमसे लेना चाहेंगे वही हम करेंगे। तब श्रीरामचन्द्र जी ने उनको अपने हाथ से छुआ और बोले—मैं जब तुम्हारा स्मरण करूँ तुम आकर मेरा काम कर जाना ॥ २५ ॥

ततः प्रीतमना रामो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
अभिवाद्य महातेजा गमनायोपचक्रमे ॥ २६ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनिप्रवर एवं महातेजस्वी विश्वामित्र जी को प्रणाम किया और कहा कि, पधारिये (अर्थात् आगे चलिये) ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

अष्टाविंशः सर्गः

—:※:—

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनः शुचिः ।
गच्छन्नेव च काकुत्स्थो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥१॥

उन सब अस्त्रों को पवित्रता पूर्वक ग्रहण कर (अर्थात् उन अस्त्रों को ले और उनके चलाने की विधि जान कर) मार्ग में चलते चलते श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हो विश्वामित्र जी से बोले ॥ १ ॥

गृहीतास्त्रोऽस्मि भगवन्दुराधर्षः सुरासुरैः ।
अस्त्राणां त्वहमिच्छामि संहारं मुनिपुङ्गव ॥ २ ॥

हे भगवन्! आपके अनुग्रह से मुझे ये अस्त्र जो सुर और असुरों के लिये भी दुष्प्राप्य हैं, मिल गये, (और उनके चलाने की विधि भी मालूम हो गयी, किन्तु अब) मुझे आप इनके संहार (अर्थात् अस्त्र चला कर उसे वापस लेने की विधि) भी बतला दीजिये ॥ २ ॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रो महामतिः ।
संहारं व्याजहाराथ धृतिमान्सुव्रतः शुचिः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह कहने पर महाबुद्धिमान्, धैर्यवान्, सुव्रत और पवित्र विश्वामित्र जी ने उन सब अस्त्रों का संहार भी बतला दिया ॥ ३ ॥

सत्यवन्तं सत्यकीर्त्तिं धृष्टं रभसमेव च ।
प्रतिहारतरं नाम पराङ्मुखमवाङ्मुखम् ॥ ४ ॥

फिर और भी अस्त्र बतलाये जो प्रथम बतलाने से रह गये) उनके नाम ये हैं—सत्यवन्त, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस प्रतिहारतर, पराङ्मुख, अवाङ्मुख ॥ ४ ॥

लक्ष्यालक्ष्याविमौ चैव दृढनाभसुनाभकौ ।
दशाक्षशतवक्त्रौ च दशशीर्षशतोदरौ ॥ ५ ॥

लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढनाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर ॥ ५ ॥

पद्मनाभमहानाभौ दुन्दुनाभसुनाभकौ ।
ज्योतिषं कृशनं चैव नैराश्यविमलावुभौ ॥ ६ ॥

पद्मनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, सुनाभ, ज्योतिष, कृशन, नैराश्य, विमल ॥ ६ ॥

योगन्धरहरिद्रौ च दैत्यप्रमथनं तथा।
शुचिर्बाहुर्महाबाहुर्निष्कुलिर्विरुचिस्तथा ॥ ७ ॥

यौगन्धर, हरिद्र, दैत्यप्रमथन, शुचिर्बाहु, महाबाहु, निष्कुल और विरुचि ॥ ७ ॥

सार्चिर्माली धृतिर्माली वृत्तिमान्रुचिरस्तथा।
पित्र्यं सौमनसं चैव विधूतमकरावुभौ ॥ ८ ॥

सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर ॥ ८ ॥

करवीरकरं चैव धनधान्यौ च राघव।
कामरूपं कामरुचिं मोहमावरणं तथा ॥ ९ ॥

करवीरकर, धन, धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह और आवरण ॥ ९ ॥

जृम्भकं सर्वनाभं च सन्तानवरणौ तथा।
कृशाश्वतनयान्राम भास्वरान्कामरूपिणः ॥ १०

जृम्भक, सर्वनाभ, सन्तान, और वरुण। (विश्वामित्र जी कहने लगे) हे राम! ये सब कृशाश्व के पुत्र बड़े तेजस्वी और कामरूपी हैं ॥ १० ॥

प्रतीच्छ मम भद्रं ते पात्रभूतोऽसि राघव।
बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ११ ॥

इनको तुम ग्रहण करो। तुम्हारा कल्याण हो। क्योंकि हे राघव! तुम इनके ग्रहण करने के योग्य हो। यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्न हो कहा "बहुत अच्छा" ॥ ११ ॥

दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुखप्रदाः ।
केचिदङ्गारसदृशाः केचिद्धूमोपमास्तथा ॥ १२ ॥

तब दिव्यरूप, देदीप्यमान, मूर्त्तिमान, और सुखप्रद (वे अस्त्र श्रीरामचन्द्र जी के सामने उपस्थित हुए) उनमें कोई तो दहकते हुए अंगार (शोले) के समान, कोई धुए के रंग वाले, ॥ १२ ॥

चन्द्रार्कसदृशाः केचित्प्रह्वाञ्जलिपुटास्तथा ।
रामं प्राञ्जलयो भूत्वाब्रुवन्मधुरभाषिणः ॥ १३ ॥

कोई चन्द्र और सूर्य के समान थे और कोई हाथ जोड़े हुए थे। वे श्रीरामचन्द्र जी से बड़ी नम्रता के साथ बोले ॥ १३ ॥

इमे स्म नरशार्दूल शाधि किं करवाम ते ।
मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथ ॥१४॥

हे नरशार्दूल ! हम उपस्थित हैं, क्या आज्ञा है ? (इस पर श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा) तुम मेरे मन में वास करो और काम पड़ने पर मेरी सहायता करना ॥ १४ ॥

गम्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः ।
अथ ते राममामन्त्र्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥१५॥

अब तुम जहाँ चाहो वहाँ जा सकते हो। श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन तथा उनकी आज्ञा ले एवं प्रदक्षिणा कर, ॥ १५ ॥

एवमस्त्विति काकुत्स्थमुक्त्वा जग्मुर्यथागतम् ।
स च तान्राघवो ज्ञात्वा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥१६॥

और "बहुत अच्छा" कह कर जहाँ से आये थे वहाँ चले गये। इस प्रकार इन अस्त्रों को पा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने ऋषिप्रवर विश्वामित्र जी से ॥ १६ ॥

गच्छन्नेवाथ मधुरं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ।
किन्न्वेतन्मेघसंकाशं पर्वतस्याविदूरतः ॥ १७ ॥

चलते चलते पूँछा—महाराज! पहाड़ के समीप जो काले मेघ जैसा देख पड़ता है वह क्या है ॥ १७ ॥

वृक्षषण्डमितो भाति परं कौतूहलं हि मे ।
दर्शनीयं मृगाकीर्णं मनोहरमतीव च ॥ १८ ॥

वह तो वृक्षों का समूह जैसा जान पड़ता है; उसे देखने से मुझे बड़ा कुतूहल हो रहा है। वह अनेक वनपशुओं से युक्त, देखने योग्य एवं अत्यन्त मनोहर सा जान पड़ता है ॥ १८ ॥

नानाप्रकारैः शकुनैर्वल्गुनादैरलङ्कृतम् ।
निःसृताः स्म मुनिश्रेष्ठ कान्ताराद्रोमहर्षणात् ॥ १९ ॥

वहाँ तो मीठी बोली बोलने वाले पक्षी बोल रहे हैं। जान पड़ता है, अब हम लोग भयङ्कर रोमाञ्चकारी वन के पार हो गये ॥ १९ ॥

अनया त्ववगच्छामि देशस्य सुखवत्तया ।
सर्वं मे शंस भगवन्कस्याश्रमपदं त्विदम् ॥ २० ॥

वहाँ चल कर सुखी होने की मेरी इच्छा है। भगवन्! कृपया बतलाइये कि, यह किसका आश्रम है? ॥ २० ॥

संप्राप्ता यत्र ते पापा ब्रह्मघ्ना दुष्टचारिणः ।
तव यज्ञस्य विघ्नाय दुरात्मानो महामुने ॥ २१ ॥

हे महामुने! क्या हम लोग आपके उस आश्रम में पहुँच गये, जहाँ दुराचारी ब्रह्महत्यारे राक्षस आकर यज्ञ में विघ्न किया करते हैं? ॥ २१ ॥

भगवंस्तस्य को देशः सा यत्र तव याज्ञिकी।
रक्षितव्या क्रिया ब्रह्मन्मया वध्याश्च राक्षसाः।
एतत्सर्वं मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ २२ ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

हे भगवन्! बतलाइये, आपका वह स्थान, जहाँ आप यज्ञ करते हैं, कहाँ है? हे ब्रह्मन्! मैं राक्षसों को मार कर आपके यज्ञ की रक्षा करूँगा। हे मुनिप्रवर! हे प्रभो! ये सब बातें मैं जानना चाहता हूँ ॥२२॥

बालकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—:o:—

अथ तस्याप्रमेयस्य तद्वनं परिपृच्छतः।
विश्वामित्रो महातेजा व्याख्यातुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

अचिन्त्य वैभव वाले श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार उस वन के विषय में पूँछने पर, महातेजस्वी विश्वामित्र जी कहने लगे ॥ १ ॥

इह राम महाबाहो विष्णुर्देववरः प्रभुः।
वर्षाणि सुबहून्येव तथा युगशतानि च ॥ २ ॥

हे राम! यह वह स्थान है, जहाँ देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् विष्णु ने बहुत बहुत वर्षों और सैकड़ों युगों तक ॥ २ ॥

तपश्चरणयोगार्थमुवास सुमहातपाः ।
एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

तपस्या करने के लिये वास किया था। यह आश्रम पहले महात्मा वामन जी का था ॥ ३ ॥

सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः ।
एतस्मिन्नेव काले तु राजा वैरोचनिर्बलिः ॥ ४ ॥

यहाँ पर उन महातपा का तप सिद्ध हुआ था, इसीसे यह सिद्धाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। उसी समय राजा विरोचन के पुत्र बलि ने ॥ ४ ॥

निर्जित्य दैवतगणान्सेन्द्रांश्च समरुद्गणान् ।
कारयामास तद्राज्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ ५ ॥

इन्द्र और मरुद्गण सहित सब देवताओं को जीत कर, जगद्विख्यात तीनों लोकों का राज्य किया था ॥ ५ ॥

बलेस्तु यजमानस्य देवाः साग्निपुरोगमाः ।
समागम्य स्वयं चैव विष्णुमूचुरिहाश्रमे ॥ ६ ॥

बलि ने जब यज्ञ करना आरम्भ किया, तब सब देवता अग्नि को आगे कर विष्णु के पास इसी आश्रम में आकर बोले ॥ ६ ॥

बलिर्वैरोचनिर्विष्णो यजते यज्ञमुत्तमम् ।
असमाप्ते क्रतौ तस्मिन्स्वकार्यमभिपद्यताम् ॥ ७ ॥

विरोचनपुत्र राजा बलि एक उत्तम यज्ञ कर रहा है। उस यज्ञ की समाप्ति होने के पूर्व देवताओं के हितार्थ जो कुछ करना हो कीजिये ॥ ७ ॥

ये चैनमभिवर्तन्ते याचितार इतस्ततः ।
यच्च यत्र यथावच्च सर्वं तेभ्यः प्रयच्छति ॥ ८ ॥

उसके यज्ञ में अनेक देशों से आये हुए याचक जो कुछ मांगते हैं, वह उन्हें वही देता है ॥ ८ ॥

स त्वं सुरहितार्थाय मायायोगमुपाश्रितः ।
वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ ९ ॥

अतः आप देवताओं के हित के लिये अपनी माया के योग से अथवा बल से वामनावतार धारण कर, हम लोगों का कल्याण कीजिये ॥ ९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम कश्यपोऽग्निसमप्रभः ।
अदित्या सहितो राम दीप्यमान इवौजसा ॥ १० ॥

हे राम ! इसी बीच में अग्नि के समान प्रभा वाले कश्यप जी अपनी स्त्री अदिति सहित तपःप्रभाव से देदीप्यमान थे ॥ १० ॥

देवीसहायो भगवान्दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।
व्रतं समाप्य वरदं तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ ११ ॥

देवी के सहित कश्यप जी, सहस्र वर्षों की तपस्या का व्रत समाप्त कर, वरदानी भगवान् मधुसूदन की स्तुति करने लगे ॥ ११ ॥

तपोमयं तपोराशिं तपोमूर्तिं तपात्मकम् ।
तपसा त्वां सुतप्तेन पश्यामि पुरुषोत्तमम् ॥ १२ ॥

हे पुरुषोत्तम ! आप तपद्वारा आराध्य हैं, तप का फल देने वाले हैं, ज्ञान स्वरूप हैं और तपस्स्वभाव हैं। इसलिये मैं अपने तपः प्रभाव से आपको देखता हूँ ॥ १२ ॥

शरीरे तव पश्यामि जगत्सर्वमिदं प्रभो ।
त्वमनादिरनिर्देश्यस्त्वामहं शरणं गतः ॥ १३ ॥

हे प्रभो ! मैं आपके शरीर में यह चेतन अचेतनात्मक सारा जगत् देख रहा हूँ । आप अनादि हैं अर्थात् उत्पत्ति रहित हैं, अनिर्देश्य हैं, (अर्थात् आपकी महिमा का वर्णन कोई कर नहीं सकता अथवा आप अकथनीय हैं) मैं आपके शरण में आया हुआ हूँ ॥ १३ ॥

तमुवाच हरिः प्रीतः कश्यपं धूतकल्मषम् ।
वरं वरय भद्रं ते वरार्होऽसि मतो मम ॥ १४ ॥

(इस स्तुति से प्रसन्न हो कर) यह सुन भगवान् विष्णु पाप रहित कश्यप जी से बोले—कश्यप ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम वर माँगों, मैं तुम्हें वरदान देने योग्य समझता हूँ ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य मारीचः कश्यपोऽब्रवीत् ।
अदित्या देवतानां च मम चैवानुयाचतः ॥ १५ ॥

यह सुन मरीच के पुत्र कश्यप जी ने कहा—मेरी, मेरी स्त्री अदिति की तथा देवताओं की प्रार्थना है कि, ॥ १५ ॥

वरं वरद सुप्रीतो दातुमर्हसि सुव्रत ।
पुत्रत्वं गच्छ भगवन्नदित्या मम चानघ ॥ १६ ॥

हे वरद ! आप प्रसन्न हो कर मुझे यह वर दें कि, आप मेरी निष्पापा स्त्री अदिति के गर्भ से पुत्र रूप में जन्म लें ॥ १६ ॥

भ्राता भव यवीयांस्त्वं शक्रस्यासुरसूदन ।
शोकार्तानां तु देवानां साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

हे अरिसूदन! इन्द्र के छोटे भाई बन कर आप शोकार्त्त देवताओं की सहायता कीजिये ॥ १७ ॥

अयं सिद्धाश्रमो नाम प्रसादात्ते भविष्यति ।
सिद्धे कर्मणि देवेश उत्तिष्ठ भगवन्नितः ॥ १८ ॥

यह आश्रम आपकी कृपा से सिद्धाश्रम के नाम से प्रसिद्ध होगा। हे देवेश! जब काम सिद्ध हो जाय तब आप यहाँ से उठिये ॥ १८ ॥

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां समजायत ।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनिमुपागमत् ॥ १८ ॥

यह सुन महातेजस्वी भगवान् विष्णु अदिति के गर्भ से वामनावतार धारण कर राजा बलि के पास गये ॥ १६ ॥

त्रीन्क्रमानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मानदः ।
आक्रम्य लोकाँल्लोकात्मा सर्वलोकहिते रतः ॥२०॥

और उनसे तीन पग भूमि की याचना की और तीन पग भूमि पा कर, सब लोगों के हितार्थ, तीन पग से तीनों लोक नाप डाले ॥ २० ॥

महेन्द्राय पुनः प्रादान्नियम्य बलिमोजसा ।
त्रैलोक्यं स महातेजाश्चक्रे शक्रवशं पुनः ॥ २१ ॥

फिर इन्द्र को तीनों लोकों का राज्य दे, बलि को अपने बल प्रभाव से बाँध लिया (और पाताल को भेजा) इस प्रकार उन महा तेजस्वी ने तीनों लोकों को पुनः इन्द्र के अधीन कर दिया ॥ २१ ॥

तेनैष पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः ।
मयापि भक्त्या तस्यैष वामनस्योपभुज्यते ॥ २२ ॥

श्रमनाशक यह आश्रम उन्हींका है। मैं भी उन्हीं वामन भगवान् की भक्ति कर इस आश्रम का उपभोग करता हूँ ॥ २२ ॥

एतमाश्रममायान्ति राक्षसा विघ्नकारिणः।
अत्रैव पुरुषव्याघ्र हन्तव्या दुष्टचारिणः।
अद्य गच्छामहे राम सिद्धाश्रममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

इसी आश्रम में आ कर राक्षस उपद्रव मचाया करते हैं। हे पुरुषसिंह! यहीं रह कर उन दुराचारियों का वध करना होगा। हे राम! आज उसी उत्तम सिद्धाश्रम को हम लोग चलते हैं ॥ २३ ॥

तदाश्रमपदं तात तवाप्येतद्यथा मम।
प्रविशन्नाश्रमपदं व्यरोचत महामुनिः ॥ २४ ॥

हे वत्स! वह आश्रम जैसा मेरा है वैसा ही तुम्हारा भी है, यह कह श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण को साथ लिये हुए, विश्वामित्र ने अपने सिद्धाश्रम में प्रवेश किया ॥ २४ ॥

शशीव गतनीहारः पुनर्वसुसमन्वितः।
तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे सिद्धाश्रमनिवासिनः ॥ २५ ॥

उस समय ऐसी शोभा जान पड़ी मानों पुनर्वसु के साथ शरद्कालीन चन्द्रमा शोभा दे रहा हो। विश्वामित्र जी को देख सब सिद्धाश्रम वासियों ने ॥ २५ ॥

उत्पत्योत्पत्य सहसा विश्वामित्रमपूजयन्।
यथार्हं चक्रिरे पूजां विश्वामित्राय धीमते ॥ २६ ॥

उठ उठ कर और परम प्रसन्न हो विश्वामित्र जी का पूजन किया। जिस प्रकार धीमान् विश्वामित्र का पूजन किया गया, ॥२६॥

तथैव राजपुत्राभ्यामकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ।
मुहूर्तमिव विश्रान्तौ राजपुत्रावरिन्दमौ ॥ २७ ॥

उसी प्रकार राजकुमारों का भी अतिथि सत्कार किया गया। कुछ देर विश्राम कर शत्रुहन्ता दोनों राजकुमारों ने ॥ २७ ॥

प्राञ्जली मुनिशार्दूलमूचतू रघुनन्दनौ ।
अद्यैव दीक्षां प्रविश भद्रं ते मुनिपुङ्गव ॥ २८ ॥

हाथ जोड़ कर विश्वामित्र जी से कहा, हे मुनिप्रवर! आप आज ही से अपना यज्ञ आरम्भ कीजिये आपका मङ्गल होगा ॥ २८ ॥

सिद्धाश्रमोऽयं सिद्धः स्यात्सत्यमस्तु वचस्तव ।
एवमुक्तो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २९ ॥

यह सिद्धाश्रम है। अतः आपका कार्य सिद्ध हो और आपका वचन सत्य हो। यह सुन महातेजस्वी ऋषिप्रवर विश्वामित्र जी ने ॥ २९ ॥

प्रविवेश ततो दीक्षां नियतो नियतेन्द्रियः ।
कुमारावपि तां रात्रिमुषित्वा सुसमाहितौ ॥ ३० ॥

नियम पूर्वक, जितेन्द्रिय हो कर यज्ञ करना आरम्भ किया। और दोनों राजकुमार भी उस रात में सावधानता पूर्वक वहीं रहे ॥ ३० ॥

प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपास्य च ।
स्पृष्टोदकौ शुची जप्यं समाप्य नियमेन च ।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम् ॥ ३१ ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

और प्रातःकाल होते ही दोनों राजकुमारों ने उठ कर सन्ध्या की। तदनन्तर नियमानुसार आचमन पूर्वक पवित्र हो, जप किया। फिर अग्निहोत्र करके आसन पर विराजमान विश्वामित्र जी को उन्होंने प्रणाम किया ॥ ३१ ॥

बालकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

त्रिंशः सर्गः

—:※:—

अथ तौ देशकालज्ञौ राजपुत्रावरिन्दमौ।
देशे काले च वाक्यज्ञावब्रूतां कौशिकं वचः ॥ १ ॥

देश और काल के जानने वाले और शत्रु के मारने वाले दोनों राजकुमार देश काल का विचार कर विश्वामित्र जी से बोले ॥ १ ॥

भगवञ्श्रोतुमिच्छावो यस्मिन्काले निशाचरौ।
संरक्षणीयौ तौ ब्रह्मन्नातिवर्तेत तत्क्षणम् ॥ २ ॥

हे भगवन्! हम जानना चाहते हैं कि, वे दोनों राक्षस यज्ञ विध्वंस करने किस समय आते हैं, जिससे वे हमारो अनजान में आक्रमण न कर पावें ॥ २ ॥

एवं ब्रुवाणौ काकुत्स्थौ त्वरमाणौ युयुत्सया।
सर्वे ते मुनयः प्रीताः प्रशशंसुर्नृपात्मजौ ॥ ३ ॥

जब सिद्धाश्रमवासी मुनियों ने राजकुमारों की यह बात सुनी और उनको राक्षसों से तुरन्त लड़ने के लिये तत्पर देखा, तब वे उन राजकुमारों की प्रशंसा कर कहने लगे ॥ ३ ॥

अद्य प्रभृति षड्रात्रं रक्षतं राघवौ युवाम् ।
दीक्षां गतो ह्येष मुनिर्मौनित्वं च गमिष्यति ॥ ४ ॥

हे राजकुमारों ! आज से आप लोग ६ दिन तक यज्ञ की रक्षा करें। विश्वामित्र जी यज्ञदीक्षा ले चुके हैं, अतः अब वे छः दिन तक न बोलेंगे अर्थात् मौन रहेंगे ॥ ४ ॥

तौ च तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
अनिद्रौ षडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम् ॥ ५ ॥

मुनियों के वचन सुन वे दोनों यशस्वी राजकुमार, छः दिन रात बिना शयन किये बिना, निरन्तर उस तपोवन की रक्षा करते रहे ॥ ५ ॥

उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ ।
ररक्षतुर्मुनिवरं विश्वामित्रमरिन्दमौ ॥ ६ ॥

दोनों वीर राजकुमार धनुष बाण धारण किये विश्वामित्र और उनके यज्ञ की रक्षा दृढ़ता पूर्वक अर्थात् अत्यन्त सावधानता के साथ करते रहे ॥ ६ ॥

अथ काले गते तस्मिन्षष्ठेऽहनि समागते ।
सौमित्रिमब्रवीद्रामो यत्तो भव समाहितः ॥ ७ ॥

पांच दिन तो निर्विघ्न बीत गये। छठवें दिन श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—सावधान रहो अर्थात्, ख़बरदार हो ॥ ७ ॥

रामस्यैवं ब्रुवाणस्य त्वरितस्य युयुत्सया।
प्रजज्वाल ततो वेदिः सोपाध्यायपुरोहिता ॥ ८ ॥

सदर्भचमसस्रुक्का ससमित्कुसुमोच्चया।
विश्वामित्रेण सहिता वेदिर्जज्वाल सर्त्विजा ॥ ९ ॥

जब युद्ध करने की इच्छा से श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब अकस्मात् यज्ञवेदी भक से जल उठी और उपाध्याय, पुरोहित ऋत्विक तथा विश्वामित्र जी के देखते देखते कुश, चमस, स्रुवा, पुष्प आदि यज्ञीय पदार्थों के सहित वेदी भभक उठी ॥ ८ ॥ ९ ॥

मन्त्रवच्च यथान्यायं यज्ञोऽसौ संप्रवर्तते।
आकाशे च महाञ्शब्दः प्रादुरासीद्भयानकः ॥ १० ॥

यद्यपि विश्वामित्र जी का यज्ञ विधि विधान ही से हो रहा था (और कोई विघ्न नहीं होना चाहिये था); तथापि इतने में आकाश में बड़ा भयानक शब्द हुआ ॥ १० ॥

आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि निर्गतः।
तथा मायां विकुर्वाणौ राक्षसावभ्यधावताम् ॥ ११ ॥

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में मेघ आकाश को ढक लेते हैं, उसी प्रकार राक्षसगण राक्षसी माया करते हुए (आकाश में) दौड़ने लगे ॥ ११ ॥

मारीचश्च सुबाहुश्च तयोरनुचराश्च ये।
आगम्य भीमसंकाशा रुधिरौघमवासृजन् ॥ १२ ॥

यज्ञरक्षा

मारीच, सुबाहु और उनके साथी अन्य भयङ्कर राक्षसों ने आ कर वेदी पर रुधिर की वर्षा की ॥ १२ ॥

सा तेन रुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम् ।
दृष्ट्वा वेदिं तथाभूतां सानुजः क्रोधसंयुतः ॥ १३ ॥
सहसाऽभिद्रुतो रामस्तानपश्यत्ततो दिवि ।
तावापतन्तौ सहसा दृष्ट्वा राजीवलोचनः ॥ १४ ॥

वेदी को रुधिर में डूबी हुई देख और क्रुद्ध हो लक्ष्मण सहित जब सहसा श्रीरामचन्द्र जी दौड़े तब उन्हें आकाश में मारीचादि राक्षस देख पड़े। उनको अपनी ओर दौड़ कर आते हुए देख राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ १३ ॥ १४ ॥

लक्ष्मणं त्वथ संप्रेक्ष्य रामो वचनमब्रवीत् ।
पश्य लक्ष्मण दुर्वृत्तान्राक्षसान्पिशिताशनान् ॥१५॥

लक्ष्मण को देख उनसे कहा—भाई! ज़रा इन मांसाहारी तथा दुराचारी राक्षसों को तो देखो ॥ १५ ॥

मानवास्त्रसमाधूताननिलेन यथा घनान् ।
मानवं परमोदारमस्त्रं परमभास्वरम् ॥ १६ ॥
चिक्षेप परमक्रुद्धो मारीचोरसि राघवः ।
स तेन परमास्त्रेण मानवेन समाहतः ॥ १७ ॥

मैं इनको मानवास्त्र से वैसे ही उड़ाये देता हूँ जैसे पवन बादल को उड़ा देता है। (यह कह कर) परमोदार श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, चमचमाता मानवास्त्र मारीच की छाती में मारा। मारीच उस परमास्त्र मानवास्त्र के लगने से घायल हो ॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥

संपूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागरसंप्लवे ।
विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीडितम् ॥ १८ ॥

मारीच वहाँ से १०० योजन की दूरी पर समुद्र में जा गिरा। उस मूर्च्छित, चक्कर खाते हुए और मानवास्त्र से पीड़ित ॥ १८ ॥

निरस्तं दृश्य मारीचं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
पश्य लक्ष्मणशीतेषुं मानवं मनुसंहितम् ॥ १९ ॥

मारीच को देख श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—लक्ष्मण! शीतेषु नामक मनुनिर्मित अस्त्र का प्रभाव तो देखो ॥ १९ ॥

मोहयित्वा नयत्येनं न च प्राणैर्वियुज्यते ।
इमानपि वधिष्यामि निर्घृणान्दुष्टचारिणः ॥ २० ॥
राक्षसान्पापकर्मस्थान्यज्ञघ्नान्पिशिताशनान् ।
संगृह्यास्त्रं ततो रामो दिव्यमाग्नेयमद्भुतम् ॥ २१ ॥

इसने मारीच को मूर्च्छित कर दूर तो कर दिया, किन्तु उसका वध नहीं किया। अब मैं इन दुष्ट, निर्दयी, पापी, यज्ञ में विघ्न डालने वाले, रुधिर के पीने वाले राक्षसों को भी मारता हूँ। यह कह कर श्रीरामचन्द्र जी ने आग्नेयास्त्र निकाला ॥ २० ॥ २१ ॥

सुबाहूरसि चिक्षेप स विद्धः प्रापतद्भुवि ।
शेषान्वायव्यमादाय निजघान महायशाः ॥ २२ ॥

और सुबाहु की छाती में मारा। सुबाहु उसके लगते ही पृथिवी पर धड़ाम से गिर पड़ा और मर गया। तब अन्य बचे हुए

राक्षसों को श्रीरामचन्द्र जी ने वायव्यास्त्र चला कर नष्ट किया ॥ २२ ॥

राघवः परमोदारो मुनीनां मुदमावहन् ।
स हत्वा रक्षसान्सर्वान्यज्ञघ्नान्रघुनन्दनः ॥ २३ ॥

इस प्रकार परमोदार श्रीरामचन्द्र जी ने मुनियों को प्रसन्न किया। उन यज्ञ-विघ्नकारी समस्त राक्षसों को मारने के पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी को ॥ २३ ॥

ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ।
अथ यज्ञे समाप्ते तु विश्वामित्रो महामुनिः ।
निरीतिका दिशो दृष्ट्वा काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

उन मुनियों ने इन्द्र की तरह पूजा की। यज्ञ के निर्विघ्न समाप्त होने पर महर्षि विश्वामित्र जी, दसों दिशाओं को उपद्रव रहित देख, श्रीरामचन्द्र जी से यह बोले ॥ २४ ॥

कृतार्थोऽस्मि महाबाहो कृतं गुरुवचस्त्वया ।
सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं राम महायशः ॥ २५ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

हे महाबाहो! मैं आज कृतार्थ हुआ। तुमने गुरु की आज्ञा का खूब पालन किया। हे महायशस्वी राम! तुमने इस स्थान का नाम सिद्धाश्रम सत्य कर दिया ॥ २५ ॥

बालकाण्ड का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

एकत्रिंशः सर्गः

—:०:—

अथ तां रजनीं तत्र कृतार्थौ रामलक्ष्मणौ।
ऊषतुर्मुदितौ वीरौ प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १ ॥

वीरवर और मुदित श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने, विश्वामित्र का काम पूरा कर और प्रसन्न हो, रात भर उसी आश्रम में शयन किया ॥ १ ॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियौ।
विश्वामित्रमृषींश्चान्यान्सहितावभिजग्मतुः ॥ २ ॥

सवेरा होने पर शौचादि कर्मों से निश्चिन्त हो, दोनों भाई विश्वामित्रादि ऋषियों को प्रणाम करने गये ॥ २ ॥

अभिवाद्य मुनिश्रेष्ठं ज्वलन्तमिव पावकम्।
ऊचतुर्मधुरोदारं वाक्यं मधुरभाषिणौ ॥ ३ ॥

अग्नि के समान तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र को प्रणाम कर वे दोनों मधुरभाषी मधुर एवं उदार वाणी से उनसे बोले ॥ ३ ॥

इमौ स्म मुनिशार्दूल किङ्करौ समुपागतौ।
आज्ञापय यथेष्टं वै शासनं करवाव किम् ॥ ४ ॥

हे मुनिशार्दूल! हम दोनों आपके दास उपस्थित हैं। यथेष्ट आज्ञा दीजिये कि, हम लोग आपकी क्या सेवा करें ॥ ४ ॥

एवमुक्तास्ततस्ताभ्यां सर्व एव महर्षयः।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य रामं वचनमब्रुवन् ॥ ५ ॥

उन दोनों राजकुमारों को इस प्रकार बोलते सुन, विश्वामित्र जी को अगुआ बना, सब महर्षियों ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ५ ॥

मैथिलस्य नरश्रेष्ठ जनकस्य भविष्यति ।
यज्ञः परमधर्मिष्ठस्तस्य यास्यामहे वयम् ॥ ६ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! परम धर्मिष्ठ मिथिलाधीश महाराज जनक के यहाँ यज्ञ होने वाला है । हम लोग सब वहाँ जाँयगे ॥ ६ ॥

त्वं चैव नरशार्दूल सहास्माभिर्गमिष्यसि ।
अद्भुतं च धनूरत्नं तत्रैकं द्रष्टुमर्हसि ॥ ७ ॥

हे नरशार्दूल ! तुम भी हमारे साथ चलना । वहाँ तुम एक अद्भुत एवं श्रेष्ठ धनुष भी देख सकोगे ॥ ७ ॥

तद्धि पूर्वं नरश्रेष्ठ दत्तं सदसि दैवतैः ।
अप्रमेयबलं घोरं मखे परमभास्वरम् ॥ ८ ॥

पूर्वकाल में देवताओं ने वह धनुष जनक को दिया था । वह धनुष बड़ा भारी और बहुत ही चमकदार है ॥ ८ ॥

नास्य देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
कर्तुमारोपणं शक्ता न कथंचन मानुषाः ॥ ९ ॥

मनुष्यों की तो बिसात ही क्या है, उस धनुष पर रोदा चढ़ाने के लिये पर्याप्त बल न तो गन्धर्वों में है, न असुरों में और न राक्षसों में ॥ ९ ॥

धनुषस्तस्य वीर्यं तु जिज्ञासन्तो महीक्षितः ।
न शेकुरारोपयितुं राजपुत्रा महाबलाः ॥ १० ॥

उस धनुष का बल आज़माने के लिये अनेक बड़े बड़े बलवान राजा आये ; किन्तु कोई भी उस पर रोदा न चढ़ा सका ॥ १० ॥

तद्धनुर्नरशार्दूल मैथिलस्य महात्मनः ।
तत्र द्रक्ष्यसि काकुत्स्थ यज्ञं चाद्भुतदर्शनम् ॥ ११ ॥

हे नरशार्दूल ! वहाँ चल कर महात्मा मिथिलाधीश के उस धनुष को और उनके अद्भुत यज्ञ को देखना ॥ ११ ॥

तद्धि यज्ञफलं तेन मैथिलेनोत्तमं धनुः ।
याचितं नरशार्दूल सुनाभं सर्वदैवतैः ॥ १२ ॥

हे रामचन्द्र ! एक समय महाराज जनक ने यज्ञ किया और उस यज्ञ का फल स्वरूप सुनाभ नामक उत्तम धनुष उन्होंने सब देवताओं से माँग लिया ॥ १२ ॥

आयागभूतं नृपतेस्तस्य वेश्मनि राघव ।
अर्चितं विविधैर्गन्धैर्धूपैश्चागरुगन्धिभिः ॥ १३ ॥

वह धनुष मिथिलाधीश के घर में पूजा के स्थान पर रखा रहता है और धूप दीपादि से नित्य उसका पूजन किया जाता है ॥१३॥

एवमुक्त्वा मुनिवरः प्रस्थानमकरोत्तदा ।
सर्षिसङ्घः सकाकुत्स्थ आमन्त्र्य वनदेवताः ॥ १४ ॥

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सिद्धः सिद्धाश्रमादहम् ।
उत्तरे जाह्नवीतीरे हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ १५ ॥

यह कह कर मुनिप्रवर विश्वामित्र ने वहाँ से प्रस्थान किया। उनके साथ दोनों राजकुमार तथा ऋषिगण भी गये। चलते समय

विश्वामित्र जी ने वनदेवताओं को बुला कर उनसे कहा—तुम्हारा कल्याण हो मेरी यज्ञक्रिया सुसम्पन्न हुई। अब मैं सिद्धाश्रम से श्रीगङ्गा जी के उत्तर तट पर और हिमालय पर्वत की तराई में होकर (जनकपुर) जाऊँगा ॥ १४ ॥ १५ ॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा सिद्धाश्रममनुत्तमम्।
उत्तरां दिशमुद्दिश्य प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १६ ॥

तदनन्तर उस उत्तम सिद्धाश्रम की परिक्रमा कर वे उत्तर की ओर रवाना हुए ॥ १६ ॥

तं प्रयान्तं मुनिवरमन्वयादनुसारिणम्।
शकटीशतमात्रं च प्रयाते ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७ ॥

विश्वामित्र जी के चलते ही ब्रह्मवादी ऋषि भी चले और उनके सैकड़ों छकड़े भी चले ॥ १७ ॥

मृगपक्षिगणाश्चैव सिद्धाश्रमनिवासिनः।
अनुजग्मुर्महात्मानं विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ १८ ॥

उस सिद्धाश्रम के रहने वाले हिरन और पक्षी भी महर्षि महात्मा विश्वामित्र के पीछे हो लिये ॥ १८ ॥

निवर्तयामास ततः पक्षिसङ्घान्मृगानपि।
ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ॥ १९ ॥

परन्तु विश्वामित्र जी ने उन सब पशु पक्षियों को लौटा दिया। जब वे लोग बहुत दूर निकल गये और सूर्य अस्ताचलगामी होने लगे ॥ १९ ॥

वासं चक्रुर्मुनिगणाः शोणकूले समागताः ।
तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशनाः ॥ २० ॥

तब सब लोगों ने शोण नदी के तट पर डेरा डाले। सूर्य के अस्त होने पर उन लोगों ने स्नान कर सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र किया ॥ २० ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य निषेदुरमितौजसः ।
रामो हि सहसौमित्रिर्मुनींस्तानभिपूज्य च ॥ २१ ॥

तदनन्तर सब मुनि, विश्वामित्र को आगे कर बैठे। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने सब मुनियों का पूजन किया और ॥ २१ ॥

अग्रतो निषसादाथ विश्वामित्रस्य धीमतः ।
अथ रामो महातेजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् विश्वामित्र जी के सामने जा बैठे। महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र ने महर्षि विश्वामित्र से ॥ २२ ॥

पप्रच्छ नरशार्दूलः कौतूहलसमन्वितः ।
भगवन्कोन्वयं देशः समृद्धवनशोभितः ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ २३ ॥

कौतूहल पूर्वक पूँछा कि हे भगवन्! यह हरे भरे वन वाला देश कौनसा है? मैं यह जानना चाहता हूँ। कृपया मुझे इसका ठीक ठीक वृत्तान्त बतलाइये ॥ २३ ॥

चोदितो रामवाक्येन कथयामास सुव्रतः ।
तस्य देशस्य निखिलमृषिमध्ये महातपाः ॥ २४ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार पूँछने पर महातपस्वी और सुव्रत विश्वामित्र जी ने प्रसन्न हो, उन सब ऋषियों के बीच बैठ कर, उस देश का सारा हाल बतलाया ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

द्वात्रिंशः सर्गः

ब्रह्मयोनिर्महानासीत्कुशो नाम महातपाः ।
अक्लिष्टव्रतधर्मज्ञः सज्जनप्रतिपूजकः ॥ १ ॥

हे राम ! ब्रह्मा जी के पुत्र, बड़े तपस्वी, अखण्डित व्रतधारी, धर्मज्ञ और सज्जनों का सत्कार करने वाले कुश नाम के एक राजा थे ॥ १ ॥

स महात्मा कुलीनायां युक्तायां सुगुणोल्बणान् ।
वैदर्भ्यां जनयामास चतुरः सदृशान्सुतान् ॥ २ ॥

उन्होंने उत्तम कुल में उत्पन्न अपने अनुरूप वैदर्भी नामक रानी के गर्भ से अपने समान, चार पुत्र उत्पन्न किये ॥ २ ॥

कुशाम्बं कुशनाभं च आधूर्तरजसं वसुम् ।
दीप्तियुक्तान्महोत्साहान्क्षत्रधर्मचिकीर्षया ॥ ३ ॥

उनके नाम कुशाम्ब, कुशनाभ, आधूर्तरजस, और वसु थे। ये चारों राजकुमार बड़े तेजस्वी और उत्साही हुए। तदनन्तर क्षात्र-धर्म को बढ़ाने की इच्छा से ॥ ३ ॥

तानुवाच कुशः पुत्रान्धर्मिष्ठान्सत्यवादिनः ।
क्रियतां पालनं पुत्रा धर्मं प्राप्स्यथ पुष्कलम् ॥ ४ ॥

धर्मिष्ठ और सत्यवादी पुत्रों से राजा कुश ने कहा, हे पुत्रो, प्रजा का पालन करो इससे बड़ा पुण्य होगा ॥ ४ ॥

कुशस्य वचनं श्रुत्वा चत्वारो लोकसंमताः ।
निवेशं चक्रिरे सर्वे पुराणां नृवरास्तदा ॥ ५ ॥

पिता का यह वचन सुन चारों श्रेष्ठ राजकुमारों ने अपने अपने नाम के चार नगर वसाये ॥ ५ ॥

कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत्पुरीम् ।
कुशनाभस्तु धर्मात्मा पुरं चक्रे महोदयम् ॥ ६ ॥

महातेजस्वी कुशाम्ब ने कौशाम्बी नाम की पुरी वसाई । धर्मात्मा कुशनाभ ने "महोदय" नामक नगर वसाया ॥ ६ ॥

आधूर्तरजसो राम धर्मारण्यं महीपतिः ।
चक्रे पुरवरं राजा वसुश्चक्रे गिरिव्रजम् ॥ ७ ॥

हे राम ! राजा आधूर्तरजस ने धर्मारण्य, और राजा वसु ने गिरिव्रज नामक नगर वसाया ॥ ७ ॥

एषा वसुमती राम वसोस्तस्य महात्मनः ।
एते शैलवराः पञ्च प्रकाशन्ते समन्ततः ॥ ८ ॥

हे राम ! गिरिव्रज का दूसरा नाम वसुमती हुआ । इसके चारो ओर प्रकाशमान पाँच बड़े बड़े पर्वत हैं ॥ ८ ॥

सुमागधी नदी पुण्या मगधान्विश्रुता ययौ ।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते ॥ ९ ॥

मगध देश में बहने वाली यह मागधी नदी, जिसे शोण (सोन) भी कहते हैं, पाँचों पर्वतों के बीच (पर्वतों की) माला की तरह शोभायमान है ॥ ९ ॥

सैषा हि मागधी राम वसोस्तस्य महात्मनः ।
पूर्वाभिचरिता राम सुक्षेत्रा सस्यमालिनी ॥ १० ॥

हे राम ! वसु की यही मागधी नदी पूर्व दिशा की ओर बहती है और इसके दोनों तटों पर अनाज के अच्छे अच्छे खेत हैं ॥ १० ॥

कुशनाभस्तु राजर्षिः कन्याशतमनुत्तमम् ।
जनयामास धर्मात्मा घृताच्यां रघुनन्दन ॥ ११ ॥

हे रघुनन्दन ! घृताची नाम की अप्सरा से धर्मात्मा राजर्षि कुशनाभ के सौ सुन्दरी कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥ ११ ॥

तास्तु यौवनशालिन्यो रूपवत्यः स्वलङ्कृताः ।
उद्यानभूमिमागम्य प्रावृषीव शतह्रदाः ॥ १२ ॥

वे जवानी में पहुँचने पर बड़ी रूपवती हुईं और (एक दिन) सजधज कर फुलवाड़ी में जा वैसे ही शोभायुक्त हुईं, जैसे वर्षाकाल में बिजली शोभायमान होती है ॥ १२ ॥

गायन्त्यो नृत्यमानाश्च वादयन्त्यश्च सर्वशः ।
आमोदं परमं जग्मुर्वराभरणभूषिताः ॥ १३ ॥

वे गहने कपड़ों से सुसज्जित उस वाटिका में चारों ओर गाती, नाचती और बाजे बजाती हुईं, बड़ा आनन्द मनाने लगीं ॥ १३ ॥

अथ ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
उद्यानभूमिमागम्य तारा इव घनान्तरे ॥ ॥ १४ ॥

उनके सब अंग सुन्दर थे, वे पृथिवीतल पर सौन्दर्य की मूर्त्तियाँ थीं। वे उस बाग़ में वैसे ही सुशोभित हो रही थीं जैसे आकाश में तारागण सुशोभित होते हैं ॥ १४ ॥

ताः सर्वगुणसंपन्ना रूपयौवनसंयुताः ।
दृष्ट्वा सर्वात्मको वायुरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उन सब गुणवतियों और रूपवतियों को देख, सब जगह रहने वाले वायुदेव ने उन सब से कहा ॥ १५ ॥

अहं वः कामये सर्वा भार्या मम भविष्यथ ।
मानुषस्त्यज्यतां भावो दीर्घमायुरवाप्स्यथ ॥ १६ ॥

मैं तुमको चाहता हूँ, तुम सब मेरी पत्नी बनो। तुम मनुष्यों का अनुराग त्यागो; जिससे तुम दीर्घजीविनी हो सको ॥ १६ ॥

चलं हि यौवनं नित्यं मानुषेषु विशेषतः ।
अक्षयं यौवनं प्राप्ता अमर्यश्च भविष्यथ ॥ १७ ॥

क्योंकि यौवन तो कभी किसी का रहता नहीं—फिर विशेष कर मनुष्य जाति का यौवन तो शीघ्र ही चलायमान अर्थात् नष्ट होता है। अतः (यदि तुम मेरी पत्नी बनोगी तो) तुम्हारा यौवन अक्षय्य (कभी क्षय न होने वाला) हो जायगा और तुम अमर भी हो जाओगी ॥ १७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वायोरक्लिष्टकर्मणः ।
अपहास्य ततो वाक्यं कन्याशतमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

अप्रतिहत कर्म करने वाले वायुदेव की इन बातों को सुन, सौ राजकन्याएँ वायुदेव का उपहास करती हुई बोलीं ॥ १८ ॥

अन्तश्चरसि भूतानां सर्वेषां त्वं सुरोत्तम ।
प्रभावज्ञाश्च ते सर्वाः किमस्मानवमन्यसे ॥ १९ ॥

हे देव ! तुम तो सब के अन्तःकरण की बात जानते ही हो और हम भी आपके प्रभाव को अच्छी तरह जानती हैं। ऐसी दशा में (ऐसा अनुचित प्रस्ताव कर) आप हमारा अपमान क्यों करते हैं ॥ १९ ॥

कुशनाभसुताः सर्वाः समर्थास्त्वां सुरोत्तम ।
स्थानाच्च्यावयितुं देवं रक्षामस्तु तपो वयम् ॥२०॥

हे देवताओं में उत्तम वायुदेव ! हम सब महाराज कुशनाभ की कन्याएँ हैं। हम अपने तपोबल से तुम्हें तुम्हारे लोक से नीचे गिरा सकती हैं : पर ऐसा इसलिये नहीं करतीं कि, ऐसा करने से हमारा तपोबल घट जायगा और तप घटाना हमको अभीष्ट नहीं है ॥ २० ॥

मा भूत्स कालो दुर्मेधः पितरं सत्यवादिनम् ।
नावमन्यस्व धर्मेण स्वयंवरमुपास्महे ॥ २१ ॥

हे दुर्बुद्धे ! वह समय (ईश्वर करे) न आवे कि, हम अपने सत्यवादी पिता की अवहेला कर, हम स्वयंवरा होवें। अर्थात् हम स्वयं अपने लिये वर* पसन्द करें ॥ २१ ॥

---

* इससे जान पड़ता है कि स्वयंवर की प्रथा उस ज़माने में अच्छी नहीं समझी जाती थी।

पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं हि नः ।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति ॥२२॥

क्योंकि पिता हमारे, हमारे लिये देवता स्वरूप हैं, और वे हमारे मालिक हैं—वे हमें जिसे दे देंगे वही हमारा पति होगा ॥२२॥

तासां तद्वचनं श्रुत्वा वायुः परमकोपनः ।
प्रविश्य सर्वगात्राणि बभञ्ज भगवान्प्रभुः ॥ २३ ॥

उन सब कन्याओं की इन (अपमानजनक) बातों को सुन पवनदेव अत्यन्त कुपित हुए और उन राजकन्याओं के शरीर में घुस कर उनको कुबड़ी बना दिया अथवा उनके शरीर के अंगों को टेढ़ामेढ़ा कर उनका सौन्दर्य नष्ट कर डाला ॥ २३ ॥

ताः कन्या वायुना भग्ना विविशुर्नृपतेर्गृहम् ।
प्रापतन्भुवि संभ्रान्ताः सलज्जाः साश्रुलोचनाः ॥२४॥

जब वायु ने इनके अङ्ग कुरूप कर डाले तब वे लज्जित हुईं और व्याकुल चित्त हो रोती हुईं अपने पिता के घर गयीं ॥ २४ ॥

स च ता दयिता दीनाः कन्याः परमशोभनाः ।
दृष्ट्वा भग्नास्तदा राजा संभ्रान्त इदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

राजा, अपनी प्यारी एवं परम सुन्दरी कन्याओं को दुःखी और कुरूपा बनी हुई देख, विकल हुए और यह बोले ॥ २५ ॥

किमिदं कथ्यतां पुत्र्यः को धर्ममवमन्यते ।
कुब्जाः केन कृताः सर्वा वेष्टन्त्यो नाभिभाषथ ।
एवं राजा विनिश्वस्य समाधिं संदधे ततः ॥ २६ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

बतलाओ तो यह क्या हुआ? किसने धर्म का अनादर कर तुमको कुबड़ी कर दिया? तुम जान बूझ कर भी क्यों नहीं बतलातीं? इस घटना से राजा बड़े व्यथित और चिन्तित हुए॥ २६॥

बालकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—:*:—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कुशनाभस्य धीमतः।
शिरोभिश्चरणौ स्पृष्ट्वा कन्याशतमभाषत॥ १॥

बुद्धिमान राजा कुशनाभ के पूँछने पर सौओ राजकुमारियों ने पिता के चरणों में सीस नवाया और कहा॥ १॥

वायुः सर्वात्मको राजन्प्रधर्षयितुमिच्छति।
अशुभं मार्गमास्थाय न धर्मं प्रत्यवेक्षते॥ २॥

यद्यपि पवनदेव सब के आत्माओं में विराजते हैं, (अतः उन्हें हरेक काम सोच विचार कर करना चाहिये) तथापि वे अधर्म में प्रवृत्त हो हमारा धर्म बिगाड़ना चाहते थे॥ २॥

पितृमत्यः स्म भद्रं ते स्वच्छन्दे न वयं स्थिताः।
पितरं नो वृणीष्व त्वं यदि नो दास्यते तव॥ ३॥

हमने उनसे कहा कि, हमको मनमाना काम करने की स्वतंत्रता नहीं है; अर्थात् हम स्वेच्छाचारिणी नहीं हैं। हमारे पिता विद्यमान

हैं, यदि उनसे हमें आप माँग लें, तो हम आपकी हो सकती हैं ॥ ३ ॥

तेन पापानुबन्धेन वचनं नप्रतीच्छता ।
एवं ब्रुवन्त्यः सर्वाः स्म वायुना निहता भृशम् ॥४॥

हमारी इस बात को न मान कर, उस पापी ने हमारी सब की यह दशा कर दी ॥ ४ ॥

तासां तद्वचनं श्रुत्वा राजा परमधार्मिकः ।
प्रत्युवाच महातेजाः कन्याशतमनुत्तमम् ॥ ५ ॥

राजकुमारियों की इन बातों को सुन परम-धार्मिक राजा कुशनाभ उन शत सुन्दरी राजकुमारियों से बोले ॥ ५ ॥

क्षान्तं क्षमावतां पुत्र्यः कर्तव्यं सुमहत्कृतम् ।
ऐकमत्यमुपागम्य कुलं चावेक्षितं मम ॥ ६ ॥

तुमने पवनदेव के प्रति क्षमा प्रदर्शित कर, बहुत ही अच्छा काम किया है, हे राजकुमारियों! क्षमाशीलों को ऐसा ही करना चाहिये। तुमने (पवनदेव को क्षमा करके) हमारे कुल की भी रक्षा की है ॥ ६ ॥

अलङ्कारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा ।
दुष्करं तच्च यत्क्षान्तं त्रिदशेषु विशेषतः ॥ ७ ॥

स्त्रियों अथवा पुरुषों के लिये तो क्षमा ही आभूषण है। तुमने पवनदेव को क्षमा कर अति दुष्कर काम किया है। रूप और ऐश्वर्य सम्पन्न लोगों के लिये तो अपराध-सहिष्णुता विशेष करके दुष्कर है ॥ ७ ॥

यादृशी वः क्षमा पुत्र्यः सर्वासामविशेषतः ।
क्षमा दानं क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञश्च पुत्रिकाः ॥ ८ ॥

जैसी तुमने क्षमा दिखलाई विशेष कर वैसी क्षमा सब में नहीं होती । हे कन्याओ ! क्षमा ही दान है, क्षमा ही सत्य है और क्षमा ही यज्ञ है । अर्थात् जो पुण्य दान देने, सत्य बोलने और यज्ञ करने से होता है, वही क्षमा से प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

क्षमा यशः क्षमा धर्मः क्षमया विष्ठितं जगत् ।
विसृज्य कन्या काकुत्स्थ राजा त्रिदशविक्रमः ॥९॥

इसी प्रकार क्षमा ही यश है, क्षमा ही धर्म है और क्षमा ही संसार का आधार है । हे राम ! इस प्रकार राजकुमारियों को समझा कर और उनको विदा कर, देव समान पराक्रमी राजा कुशनाभ ने ॥ ९ ॥

मन्त्रज्ञो मन्त्रयामास प्रदानं सह मन्त्रिभिः ।
देशे काले प्रदानस्य सदृशे प्रतिपादनम् ॥ १० ॥

अपने सब मंत्रियों को बुला कर उनसे यह सलाह की कि, उन राजकन्याओं का विवाह अच्छे देशकाल व वर में किया जाय ॥ १० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चूली नाम महामुनिः ।
ऊर्ध्वरेताः शुभाचारो ब्राह्मं तप उपागमत् ॥ ११ ॥

उसी समय चूली नाम के एक बड़े तेजस्वी, ऊर्ध्वरेता, एवं सदाचारी महर्षि ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिये तप आरम्भ किया ॥ ११ ॥

तप्यन्तं तमृषिं तत्र गन्धर्वी पर्युपासते ।
सोमदा नाम भद्रं ते ऊर्मिलातनया तदा ॥ १२ ॥

उस समय वहां तपस्या करते हुए उन मुनि की सेवा, ऊर्मिला नाम की गन्धर्वी की कन्या जिसका नाम सोमदा था, करने लगी ॥ १२ ॥

सा च तं प्रणता भूत्वा शुश्रूषणपरायणा ।
उवास काले धर्मिष्ठा तस्यास्तुष्टोऽभवद्गुरुः ॥ १३ ॥

जब सोमदा ने बहुत दिनों तक उन महर्षि की बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ सेवा शुश्रूषा की तब वे महर्षि उस पर प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥

स च तां कालयोगेन प्रोवाच रघुनन्दन ।
परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते किं करोमि तव प्रियम् ॥१४॥

हे राम ! समय पा कर महर्षि ने उससे कहा—मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ, जो काम तू कहै सो मैं तेरे लिये करूँ ॥ १४ ॥

परितुष्टं मुनिं ज्ञात्वा गन्धर्वी मधुरस्वरा ।
उवाच परमप्रीता वाक्यज्ञा वाक्यकोविदम् १५ ॥

मुनि को अपने ऊपर प्रसन्न जान बातचीत करने में परम प्रवीण गन्धर्वी मधुर स्वर में बड़ी प्रसन्नता के साथ वाक्यकोविद चूली ऋषि से बोली ॥ १५ ॥

लक्ष्म्या समुदितो ब्राह्म्या ब्रह्मभूतो महातपाः ।
ब्राह्मेण तपसा युक्तं पुत्रमिच्छामि धार्मिकम् ॥ १६ ॥

हे महाराज ! ब्रह्मतेज से युक्त, ब्रह्म में निष्ठा रखने वाला, और धार्मिकश्रेष्ठ एक पुत्र मैं चाहती हूँ ॥ १६ ॥

अपतिश्चास्मि भद्रं ते भार्या चास्मि न कस्यचित् ।
ब्राह्मेणोपगतायाश्च दातुमर्हसि मे सुतम् ॥ १७ ॥

पर न तो मेरा कोई पति है और न मैं किसी की स्त्री होना चाहती हूँ। क्योंकि मैं ब्रह्मचारिणी हूँ; इससे मुझे अपने तपोबल से ऐसा मानस पुत्र दीजिये जो धार्मिक हो ॥ १७ ॥

[नोट—जैसे सनक, सनन्दन आदि ब्रह्मा के मानसपुत्र थे, वैसा ही एक मानसपुत्र]

तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददौ पुत्रं तथाविधम् ।
ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चूलिनः सुतम् ॥ १८ ॥

यह सुन ब्रह्मर्षि चूली ने प्रसन्न हो ब्रह्मदत्त नामक एक मानस-पुत्र उसको दिया ॥ १८ ॥

स राजा सौमदेयस्तु पुरीमध्यवसत्तदा ।
काम्पिल्यां परया लक्ष्म्या देवराजो यथा दिवम् ॥१९॥

वह ब्रह्मदत्त कम्पिला का राजा हुआ। और वहाँ की राज-लक्ष्मी से ऐसा विभूषित हुआ, जैसे इन्द्र सुरपुर में विभूषित होते हैं ॥ १९ ॥

स बुद्धिं कृतवान्राजा कुशनाभः सुधार्मिकः ।
ब्रह्मदत्ताय काकुत्स्थ दातुं कन्याशतं तदा ॥ २० ॥

कुशनाभ ने इन्हीं ब्रह्मदत्त को अपनी सौ राजकुमारियों को देने का विचार किया ॥ २० ॥

तमाहूय महातेजा ब्रह्मदत्तं महीपतिः ।
ददौ कन्याशतं राजा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥

राजा कुशनाभ ने राजा ब्रह्मदत्त को बुला कर, उन्हें प्रसन्नता पूर्वक अपनी सौ राजकुमारियाँ दे दीं ॥ २१ ॥

यथाक्रमं ततः पाणीञ्जग्राह रघुनन्दन ।
ब्रह्मदत्तो महीपालस्तासां देवपतिर्यथा ॥ २२ ॥

हे राम ! वैभव में इन्द्र के समान राजा ब्रह्मदत्त ने यथाक्रम उन १०० राजकुमारियों का पाणिग्रहण किया। (विवाह के समय जो वर होता है वह उस कन्या का, जिसके साथ उसका विवाह होता है, हाथ पकड़ता है) ॥ २२ ॥

स्पृष्टमात्रे ततः पाणौ विकुब्जा विगतज्वराः ।
युक्ताः परमया लक्ष्म्या बभुः कन्याः शतं तदा ॥२३॥

ब्रह्मदत्त के द्वारा पाणिस्पर्श होते ही; उन सब का कुबड़ापन जाता रहा और वे परम सुन्दरी हो गयीं ॥ २३ ॥

स दृष्ट्वा वायुना मुक्ताः कुशनाभो महीपतिः ।
बभूव परमप्रीतो हर्षं लेभे पुनः पुनः ॥ २४ ॥

राजा कुशनाभ राजकुमारियों के शरीर से वायु का विकार दूर हुआ देख, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

कृतोद्वाहं तु राजानं ब्रह्मदत्तं महीपतिः ।
सदारं प्रेषयामास सोपाध्यायगणं तदा ॥ २५ ॥

इस प्रकार ब्रह्मदत्त के साथ उनका विवाह कर कुशनाभ ने, राजकुमारियों को विदा कर, उनके साथ अपने उपाध्यायों को भी भेजा ॥ २५ ॥

सोमदाऽपि सुसंहृष्टा पुत्रस्य सदृशीं क्रियाम् ।
यथान्यायं च गन्धर्वी स्नुषास्ताः प्रत्यनन्दत ।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च ताः कन्याः कुशनाभं प्रशस्य च ॥२६॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

सोमदा जिस प्रकार अपने पुत्र की पदमर्यादा के अनुरूप सम्बन्ध हुआ देख प्रसन्न हुई, उसी प्रकार सुन्दर बहुओं को देख कर भी वह आनन्दित हुई और उनका सत्कार किया, और उन राजकुमारियों को देख और वर्त कर उसने राजा कुशनाभ की सराहना की ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—:०:—

कृतोद्वाहे गते तस्मिन्ब्रह्मदत्ते च राघव ।
अपुत्रः पुत्रलाभाय पौत्रीमिष्टिमकल्पयत् ॥ १ ॥

हे राम ! ब्रह्मदत्त के ब्याह कर के चले जाने के पश्चात् राजा कुशनाभ पुत्रवान् न होने के कारण पुत्रप्राप्ति के लिये पुत्रेष्टियज्ञ करने लगे ॥ १ ॥

इष्ट्यां तु वर्तमानायां कुशनाभं महीपतिम् ।
उवाच परमोदारः कुशो ब्रह्मसुतस्तदा ॥ २ ॥

जब यज्ञ होने लगा, तब ब्रह्मा जी के पुत्र और परमोदार राजा कुशनाभ के पिता, राजा कुश अपने पुत्र से बोले ॥ २ ॥

पुत्र ते सदृशः पुत्रो भविष्यति सुधार्मिकः ।
गाधिं प्राप्स्यसि तेन त्वं कीर्त्तिं लोके च शाश्वतीम् ॥३॥

हे वत्स ! तेरे, तेरे ही समान धर्मात्मा पुत्र होगा । उसका नाम गाधि होगा और उसके होने से संसार में तेरी कीर्ति अमर होगी ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा कुशो राम कुशनाभं महीपतिम् ।
जगामाकाशमाविश्य ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ४ ॥

हे राम ! कुश अपने पुत्र राजा कुशनाभ से यह कह कर, आकाश मार्ग से सनातन ब्रह्मलोक को चले गये ॥ ४ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य कुशनाभस्य धीमतः ।
जज्ञे परमधर्मिष्ठो गाधिरित्येव नामतः ॥ ५ ॥

कुछ समय बीतने पर बुद्धिमान् कुशनाभ के परम धर्मिष्ठ गाधि नामक एक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ५ ॥

स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः ।
कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन ॥ ६ ॥

हे राम ! वे ही परम धर्मिष्ठ मेरे पिता हैं । कुशवंशोद्भव होने के कारण मैं कौशिक कहलाता हूँ ॥ ६ ॥

पूर्वजा भगिनी चापि मम राघव सुव्रता ।
नाम्ना सत्यवती नाम ऋचीके प्रतिपादिता ॥ ७ ॥

हे राघव ! मेरी बड़ी बहिन का नाम सत्यवती था, जो पतिव्रता थी । उसका विवाह ऋचीक के साथ हुआ था ॥ ७ ॥

सशरीरा गता स्वर्गं भर्तारमनुवर्तिनी ।
कौशिकी परमोदारा सा प्रवृत्ता महानदी ॥ ८ ॥

पति के मरने के बाद, वह सत्यवती पति के साथ सशरीर स्वर्ग को गयी। फिर वही परम उदार कौशिकी नदी हो बहने लगी ॥ ८ ॥

दिव्या पुण्योदका रम्या हिमवन्तमुपाश्रिता ।
लोकस्य हितकामार्थं प्रवृत्ता भगिनी मम ॥ ९ ॥

इसका श्लाघ्य और अति पवित्र जल है और यह बड़ी रमणीक है। यह हिमालय से निकल कर बहती है। लोगों के हित के लिये मेरी बहिन ने नदी का रूप धारण किया है ॥ ९ ॥

ततोऽहं हिमवत्पार्श्वे वसामि निरतः सुखम् ।
भगिन्यां स्नेहसंयुक्तः कौशिक्यां रघुनन्दन ॥ १० ॥

हे राम! अपनी बहिन के स्नेहवश मैं हिमालय के समीप कौशिकी के तट पर ही रहता था ॥ १० ॥

सा तु सत्यवती पुण्या सत्ये धर्मे प्रतिष्ठिता ।
पतिव्रता महाभागा कौशिकी सरितांवरा ॥ ११ ॥

सत्यधर्म में स्थित, बड़ी पतिव्रता वही सत्यवती, नदियों में श्रेष्ठ, महाभागा कौशिकी नदी है ॥ ११ ॥

अहं हि नियमाद्राम हित्वा तां समुपागतः ।
सिद्धाश्रममनुप्राप्य सिद्धोऽस्मि तव तेजसा ॥ १२ ॥

हे राम ! यह यज्ञ पूरा करने के लिये मैं उसको छोड़ सिद्धाश्रम में चला आया था। वहाँ तुम्हारे प्रताप से मेरा काम सिद्ध हुआ ॥ १२ ॥

एषा राम ममोत्पत्तिः स्वस्य वंशस्य कीर्तिता ।
देशस्य च महाबाहो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १३ ॥

हे राम ! हे महाबाहो ! मैंने तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में इस देश का तथा अपनी उत्पत्ति और अपने वंश का वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १३ ॥

गतोऽर्धरात्रः काकुत्स्थ कथाः कथयतो मम ।
निद्रामभ्येहि भद्रं ते मा भूद्विघ्नोऽध्वनीह नः ॥१४॥

हे राम ! यह वृत्तान्त सुनाते सुनाते आधी रात बीत चुकी। तुम्हारा मङ्गल हो, अब जा कर शयन करो, जिससे कल चलने में विघ्न न हो ॥ १४ ॥

निष्पन्दास्तरवः सर्वे निलीना मृगपक्षिणः ।
नैशेन तमसा व्याप्ता दिशश्च रघुनन्दन ॥ १५ ॥

हे रघुनन्दन ! अब किसी वृक्ष का पत्ता तक नहीं हिलता, पशु पक्षी तक चुपचाप हैं। निशा का घोर अन्धकार सब दिशाओं में छाया हुआ है ॥ १५ ॥

शनैर्वियुज्यते सन्ध्या नभो नेत्रैरिवावृतम् ।
नक्षत्रतारागहनं ज्योतिर्भिरवभासते ॥ १६ ॥

धीरे धीरे सन्ध्या का समय बीत गया। आकाश तारों से देदीप्यमान हो, शोभित हो रहा है। ऐसा जान पड़ता है, मानों आकाश सहस्रों नेत्रों से देख रहा हो ॥ १६ ॥

उत्तिष्ठति च शीतांशुः शशी लोकतमोनुदः ।
ह्लादयन्प्राणिनां लोके मनांसि प्रभया विभो ॥ १७ ॥

समस्त संसार के अन्धकार को नष्ट करने वाला और शीतल किरणों वाला चन्द्रमा, प्राणियों के मन को हर्षित करता हुआ ऊपर को उठता चला आता है ॥ १७ ॥

नैशानि सर्वभूतानि प्रचरन्ति ततस्ततः ।
यक्षराक्षससंघाश्च रौद्राश्च पिशिताशनाः ॥ १८ ॥

रात में घूमने वाले और मांसभक्षी भयङ्कर यक्षों और राक्षसों के दल, इधर उधर घूम फिर रहे हैं ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विरराम महामुनिः ।
साधु साध्विति तं सर्वे मुनयो ह्यभ्यपूजयन् ॥ १९ ॥

इतना कह कर महातेजस्वी विश्वामित्र जी चुप हो गये । तब मुनियों ने वाह वाह कह कर विश्वामित्र की प्रशंसा की ॥ १९ ॥

कुशिकानामयं वंशो महान्धर्मपरः सदा ।
ब्रह्मोपमा महात्मानः कुशवंश्या नरोत्तमाः ॥ २० ॥

(और कहा) यह कुश का वंश सदा से धर्म में तत्पर रहा है और इस वंश के सब राजा ब्रह्मर्षि तुल्य होते चले आते हैं ॥ २० ॥

विशेषेण भवानेव विश्वामित्रो महायशाः ।
कौशिकी च सरिच्छ्रेष्ठा कुलोद्द्योतकरी तव ॥२१॥

हे विश्वामित्र जी ! विशेष कर आप तो इस वंश में महायशस्वी हैं तथा नदियों में श्रेष्ठ कौशिकी नदी ने तो इस वंश को उजागर कर दिया है ॥ २१ ॥

इति तैर्मुनिशार्दूलैः प्रशस्तः कुशिकात्मजः ।
निद्रामुपागमच्छ्रीमानस्तं गत इवांशुमान् ॥ २२ ॥

उन मुनिश्रेष्ठों ने इस प्रकार से विश्वामित्र की प्रशंसा की। तदनन्तर श्रीमान् विश्वामित्र जी सो गये, मानों सूर्य अस्ताचलगामी हो गये हों ॥ २२ ॥

रामोऽपि सहसौमित्रिः किञ्चिदागतविस्मयः ।
प्रशस्य मुनिशार्दूलं निद्रां समुपसेवते ॥ २३ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी लक्ष्मण जी सहित कुछ कुछ विस्मित हो और विश्वामित्र की प्रशंसा करते हुए सो गये ॥ २३ ॥

वालकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:※:—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—:o:—

उपास्य रात्रिशेषं तु शोणकूले महर्षिभिः ।
निशायां सुप्रभातायां विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

विश्वामित्र जी ने उन सब ऋषियों सहित शेष रात्रि शोण नदी के तट पर बिताई । जब प्रातःकाल हुआ, तब विश्वामित्र जी रामचन्द्र जी से बोले ॥ १ ॥

सुप्रभाता निशा राम पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गमनायाभिरोचय ॥ २ ॥

हे राम ! उठिये, प्रातःकाल हो चुका। तुम्हारा मङ्गल हो, अब सन्ध्योपासन कर चलने की तैयारी कीजिये ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम्।
गमनं रोचयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, मुनिवर के यह वचन सुन प्रातःक्रिया से निवृत्त हुए और चलने को तैयार हो बोले ॥ ३ ॥

अयं शोणः शुभजलोऽगाधः पुलिनमण्डितः।
कतरेण पथा ब्रह्मन्संतरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन ! इस शोण नद में जल तो कम है, बालू विशेष है। सो बतलाइये किस रास्ते से हम लोग उस पार चलें ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम्।
एष पन्था मयोद्दिष्टो येन यान्ति महर्षयः ॥ ५ ॥

यह सुन विश्वामित्र जी बोले जिस रास्ते से सब महर्षि जाते हैं वही रास्ता मैं बतलाता हूँ। वह यह है ॥ ५ ॥

एवमुक्ता महर्षयो विश्वामित्रेण धीमता।
पश्यन्तस्ते प्रयाता वै वनानि विविधानि च ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् महर्षि विश्वामित्र जी के यह कहने पर वे रास्ते में विविध वनों को देखते हुए चलने लगे ॥ ६ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं गतेऽर्धदिवसे तदा।
जाह्नवीं सरितां श्रेष्ठां ददृशुर्मुनिसेविताम् ॥ ७ ॥

वे जब बहुत दूर निकल गये तब दो पहर को उनको मुनियों द्वारा सेवित श्रीगङ्गा जी देख पड़ीं ॥ ७ ॥

तां दृष्ट्वा पुण्यसलिलां हंससारससेविताम् ।
बभूवुर्मुनयः सर्वे मुदिताः सहराघवाः ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण सहित सब मुनि, हंस सारसों से सुशोभित पुण्यसलिला जाह्नवी के दर्शन कर बहुत हर्षित हुए ॥ ८ ॥

तस्यास्तीरे ततश्चक्रुस्त आवासपरिग्रहम् ।
ततः स्नात्वा यथान्यायं सन्तर्प्य पितृदेवताः ॥ ९ ॥

वे सब श्रीगङ्गा जी के तट पर ठहर गये और यथाविधि स्नान कर, पितृदेवतर्पणादि कर्म सम्पन्न किये ॥ ९ ॥

हुत्वा चैवाग्निहोत्राणि प्राश्य चामृतमं हविः ।
विविशुर्जाह्नवीतीरे शुचौ मुदितमानसाः ॥ १० ॥

फिर अग्निहोत्र कर और बचे हुए पवित्र हविष्यान्न को खाने के पश्चात्, वे लोग प्रसन्नचित्त हो और आसनों पर गङ्गा जी के पवित्र तट पर बैठे ॥ १० ॥

विश्वामित्रं महात्मानं परिवार्य समन्ततः ।
संप्रहृष्टमना रामो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

सब मुनियों के बीच में विश्वामित्र जी (और उनके सामने दोनों राजकुमार) बैठे। उस समय प्रसन्नचित्त श्रीराम जी ने विश्वामित्र जी से कहा ॥ ११ ॥

भगवञ्श्रोतुमिच्छामि गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ।
त्रैलोक्यं कथमाक्रम्य गता नदनदीपतिम् ॥ १२ ॥

हे भगवन् ! मैं त्रिपथगा गङ्गा जी का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। वे किस प्रकार तीनों लोकों को नांघ कर समुद्र से जा मिलीं ॥ १२ ॥

चोदितो रामवाक्येन विश्वामित्रो महामुनिः ।
वृद्धिं जन्म च गङ्गाया वक्तुमेवोपचक्रमे ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के पूँछने पर महर्षि विश्वामित्र जी ने श्रीगङ्गा जी की वृद्धि व जन्म की कथा कहना आरम्भ की ॥१३॥

शैलेन्द्रो हिमवान्नाम धातूनामाकरो महान् ।
तस्य कन्याद्वयं जातं रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १४ ॥

धातुओं की खान हिमालय नामक पर्वत के दो कन्याएँ हुईं, जो पृथिवी पर सौन्दर्य में बेजोड़ थीं अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी थीं ॥ १४ ॥

या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा ।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया ॥१५॥

इन कन्याओं की माता का नाम मेना है जो मेरु पर्वत की सुन्दरी लड़की और हिमाचल की पत्नी है ॥ १५ ॥

तस्यां गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता ।
उमा नाम द्वितीयाभूत्कन्या तस्यैव राघव ॥ १६ ॥

हिमाचल की बड़ी बेटी का नाम गङ्गा और छोटी का उमा पड़ा ॥ १६ ॥

अथ ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवतार्थचिकीर्षया ।
शैलेन्द्रं वरयामासुर्गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ॥ १७ ॥

हिमाचल की बड़ी बेटी त्रिपथगा नदी गङ्गा को सब देवता मिल कर निज कार्यसिद्धि के लिये माँग कर ले गये ॥ १७ ॥

ददौ धर्मेण हिमवांस्तनयां लोकपावनीम् ।
स्वच्छन्दपथगां गङ्गां त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥ १८ ॥

हिमाचल ने भी तीनों लोकों को पवित्र करने वाली, स्वेच्छाचारिणी गङ्गा को तीनों लोकों की भलाई के लिये, माँगने वाले को देना चाहिये, अपना यह धर्म समझ, देवताओं को दे दिया ॥ १८ ॥

प्रतिगृह्य ततो देवास्त्रिलोकहितकारिणः ।
गङ्गामादाय तेऽगच्छन्कृतार्थेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

तीनों लोकों का हित चाहने वाले, देवतागण गङ्गा को ले कर और कृतार्थ हो चले गये ॥ १६ ॥

या चान्या शैलदुहिता कन्याऽऽसीद्रघुनन्दन ।
उग्रं सा व्रतमास्थाय तपस्तेपे तपोधना ॥ २० ॥

हे रघुनन्दन ! हिमाचल की जो दूसरी बेटी उमा थी, उसका तप ही धन था अतः उसने अति उग्र तप किया ॥ २० ॥

उग्रेण तपसा युक्तां ददौ शैलवरः सुताम् ।
रुद्रायाप्रतिरूपाय उमां लोकनमस्कृताम् ॥ २१ ॥

कठोर तप करने वाली तथा लोकवन्दिता अपनी बेटी उमा, शैलेश्वर हिमाचल ने, महादेव को, उसके (उमा) लिये उपयुक्तवर समझ, उन्हें ब्याह दी ॥ २१ ॥

एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते ।
गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा उमा देवी च राघव ॥ २२ ॥

हे राम ! ये दोनों लोकनमस्कृता गङ्गा नदी और उमादेवी प्रसिद्ध हिमाचल की बेटियाँ हैं ॥ २२ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा त्रिपथगा नदी ।
खं गता प्रथमं तात गङ्गा गतिमतांवर ॥ २३ ॥

हे तात ! हे चलने वालों में श्रेष्ठ ! मैंने तुमसे त्रिपथगा श्रीगङ्गा जी के प्रथम स्वर्ग जाने का वृत्तान्त कहा ॥ २३ ॥

सैषा सुरनदी रम्या शैलेन्द्रस्य सुता तदा ।
सुरलोकं समारूढा विपापा जलवाहिनी ॥ २४ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

हिमाचल की बेटी, रमणीक और पाप नाश करने वाले जल से बहने वाली और सुरलोक को जाने वाली यही सुरनदी गङ्गा नदी है ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

षट्त्रिंशः सर्गः

—:o:—

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्नुभौ राघवलक्ष्मणौ ।
अभिनन्द्य कथां वीरावूचतुर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

मुनि विश्वामित्र जी के इस प्रकार कहने पर दोनों राजकुमार विश्वामित्र जी (की जानकारी और स्मरणशक्ति और कथा कहने की रीति) की बड़ाई करते हुए बोले ॥ १ ॥

धर्मयुक्तमिदं ब्रह्मन्कथितं परमं त्वया ।
दुहितुः शैलराजस्य ज्येष्ठाया वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे ब्रह्मर्षे ! आपने पुण्य देने वाली उत्तम कही अब हिमालय की जेठी बेटी गङ्गा जी की कथा मुझसे कहिये ॥ २ ॥

विस्तरं विस्तरज्ञोऽसि दिव्यमानुपसम्भवम् ।
त्रीन्पथो हेतुना केन प्लावयेल्लोकपावनी ॥ ३ ॥

आप सब जानते हैं, सो अब आप विस्तार पूर्वक यह कहिये कि, लोकपावनी गङ्गा स्वर्ग से मनुष्यलोक में क्यों आयीं और तीनों लोकों में क्यों कर बहीं ॥ ३ ॥

कथं गङ्गा त्रिपथगा विश्रुता सरिदुत्तमा ।
त्रिषु लोकेषु धर्मज्ञ कर्मभिः कैः समन्विता ॥ ४ ॥

हे धर्मज्ञ ! नदियों में उत्तम गङ्गा का नाम तीनों लोकों में त्रिपथगा किन किन कर्मों के कारण हुआ ॥ ४ ॥

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रस्तपोधनः ।
निखिलेन कथां सर्वामृषिमध्ये न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र के पूँछने पर तपोधन विश्वामित्र जी ने सारा वृत्तान्त ऋषियों के बीच बैठ कर (इस प्रकार) कहा ॥ ५ ॥

पुरा राम कृतोद्वाहो नीलकण्ठो महातपाः ।
दृष्ट्वा च स्पृहया देवीं मैथुनायोपचक्रमे ॥ ६ ॥

हे राम ! पूर्वकाल में महातपस्वी महादेव जी का विवाह पार्वती जी के साथ हुआ और वे उनको देख, कामवशवर्ती हो, उनके साथ विहार करने लगे ॥ ६ ॥

शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम् ।
तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः ॥ ७ ॥

देवताओं के मान से सौ वर्ष तक धीमान् नीलकण्ठ महादेव जी के देवी के साथ विहार करने पर भी ॥ ७ ॥

न चापि तनयो राम तस्यामासीत्परन्तप ।
ततो देवाः समुद्विग्नाः पितामहपुरोगमाः ॥ ८ ॥

हे राम ! कोई सन्तान न हुआ । तब सब देवता व्याकुल हो ब्रह्मा जी सहित विचारने लगे ॥ ८ ॥

यदिहोत्पद्यते भूतं कस्तत्प्रतिसहिष्यते ।
अभिगम्य सुराः सर्वे प्रणिपत्येदमब्रुवन् ॥ ९ ॥

कि इन दोनों के संभोग से जो जीव उत्पन्न होगा उसका भार कौन सम्हाल सकेगा । तब सब देवता महादेव जी के शरण में जा कर और उनको प्रणाम कर बोले ॥ ६ ॥

देवदेव महादेव लोकस्यास्य हिते रत ।
सुराणां प्रणिपातेन प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

हे देवदेव महादेव ! देवताओं के प्रणाम से प्रसन्न हूजिये और इस लोक की रक्षा कीजिये ॥ १० ॥

न लोका धारयिष्यन्ति तव तेजः सुरोत्तम ।
ब्राह्मेण तपसा युक्तो देव्या सह तपश्चर ॥ ११ ॥

हे सुरोत्तम ! आपका तेज कोई भी लोक धारण नहीं कर सकेगा । अतः आप देवी सहित वैदिक विधि से तप कीजिये ॥ ११ ॥

त्रैलोक्यहितकामार्थं तेजस्तेजसि धारय ।
रक्ष सर्वानिमाँल्लोकान्नालोकं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

तीनों लोकों के हित के लिये अपना तेज अपने शरीर ही में रखिये, जिससे तीनों लोकों की रक्षा हो, उनका नाश न कीजिये ॥ १२ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकमहेश्वरः ।
बाढमित्यब्रवीत्सर्वान्पुनश्चेदमुवाच ह ॥ १३ ॥

सर्वलोकों के परम नियन्ता महादेव जी, देवताओं के वचन सुन बोले, बहुत अच्छा । तदनन्तर कहने लगे ॥ १३ ॥

धारयिष्याम्यहं तेजस्तेजस्येव सहोमया ।
त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु ॥ १४ ॥

हे देवतागण ! मैं उमा के साथ अपना तेज शरीर ही में धारण किये रहूँगा । देवतागण एवं पृथिव्यादि समस्त लोक सुख से रहें ॥ १४ ॥

यदिदं क्षुभितं स्थानान्मम तेजो ह्यनुत्तमम् ।
धारयिष्यति कस्तन्मे ब्रुवन्तु सुरसत्तमाः ॥ १५ ॥

परन्तु हे देवताओ! यह तो बतलाओ कि, जो मेरा तेज (वीर्य) स्थानच्युत हो गया है, उसे कौन धारण करेगा? ॥ १५ ॥

एवमुक्तास्ततो देवाः प्रत्यूचुर्वृषभध्वजम् ।
यत्तेजः क्षुभितं ह्येतत्तद्धरा धारयिष्यति ॥ १६ ॥

इस पर देवताओं ने महादेव जी को यह उत्तर दिया कि, आपका जो तेज स्थानच्युत हुआ अर्थात् गिरा, तो उसे पृथिवी धारण करेगी ॥ १६ ॥

एवमुक्तः सुरपतिः प्रमुमोच महीतले ।
तेजसा पृथिवी येन व्याप्ता सगिरिकानना ॥ १७ ॥

यह सुन महादेव जी ने अपना तेज पृथिवी पर छोड़ा, जिससे वन पर्वत सहित पृथिवी पूर्ण हो गयी ॥ १७ ॥

ततो देवाः पुनरिदमूचुश्चाथ हुताशनम् ।
प्रविश त्वं महातेजो रौद्रं वायुसमन्वितः ॥ १८ ॥

(जब देवताओं को यह मालूम हुआ कि, उस तेज को धारण करने में पृथिवी असमर्थ है तब) वे अग्नि से बोले कि, तुम वायु के साथ इस रुद्र के तेज में प्रवेश करो ॥ १८ ॥

तदग्निना पुनर्व्याप्तं सञ्जातः श्वेतपर्वतः ।
दिव्यं शरवणं चैव पावकादित्यसन्निभम् ॥ १९ ॥

तब अग्नि के उसमें प्रवेश करने से वह तेज एक स्थान पर (समिट कर) श्वेत पर्वताकार हो गया। फिर अग्नि और सूर्य की तरह चमकीला अति दिव्य सरपत का वन हो गया ॥ १९ ॥

यत्र जातो महातेजाः कार्त्तिकेयोऽग्निसंभवः।
अथेमां च शिवं चैव देवाः सर्षिगणास्तदा ॥ २० ॥

उसीसे स्वामिकार्तिक अग्नि के समान तेजस्वी उत्पन्न हुए। तदनन्तर सब देवताओं और ऋषियों ने उमा और शिव की पूजा की ॥ २० ॥

पूजयामासुरत्यर्थं सुप्रीतमनसस्ततः।
अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

हे राम! जब प्रसन्न मन से देवताओं ने पूजन किया, तब उमा (क्रुद्ध होकर) देवताओं से यह बोलीं ॥ २१ ॥

अप्रियस्य कृतस्याद्य फलं प्राप्स्यथ मे सुराः।
इत्युक्त्वा सलिलं गृह्य पार्वती भास्करप्रभा ॥ २२ ॥

अरे देवताओ, तुमने जो मेरे लिये अप्रिय कार्य किया है उसका फल तुम पावोगे। सूर्य के समान दीप्तिमान् उमा ने यह कह कर हाथ में जल लिया और ॥ २२ ॥

समन्युरशपत्सर्वान्क्रोधसंरक्तलोचना।
यस्मान्निवारिता चैव सङ्गतिः पुत्रकाम्यया ॥२३॥

क्रोध के मारे लाल नेत्र कर उन सब देवताओं को यह शाप दिया कि, तुमने मेरे पुत्र उत्पन्न होने में बाधा डाली है ॥ २३ ॥

अपत्यं स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ ।
अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजाः सन्तु पत्नयः ॥ २४ ॥

सो कोई भी देवता अपनी स्त्री से पुत्र उत्पन्न न कर सके; आज से तुम्हारी स्त्रियाँ सन्तानरहित होंगी ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा सुरान्सर्वाञ्शशाप पृथिवीमपि ।
अवने नैकरूपा त्वं बहुभार्या भविष्यसि ॥ २५ ॥

देवताओं को इस प्रकार शाप दे कर, उमा (शान्त न हुई) ने पृथिवी को भी शाप दिया कि, हे पृथिवी ! तू एक सी नहीं रहेगी और तेरे अनेक पति होंगे । अर्थात् समस्त भूमण्डल का एक राजा न होगा—अनेक राजा होंगे ॥ २५ ॥

न च पुत्रकृतां प्रीतिं मत्क्रोधकलुषीकृता ।
प्राप्स्यसि त्वं सुदुर्मेधे मम पुत्रमनिच्छती ॥ २६ ॥

हे सुदुर्मेधे ! मेरे क्रोध से तुझे पुत्रसुख न होगा, क्योंकि तूने मेरे पुत्र को नहीं चाहा ॥ २६ ॥

तान्सर्वान्व्रीडितान्दृष्ट्वा सुरान्सुरपतिस्तदा ।
गमनायोपचक्राम दिशं वरुणपालिताम् ॥ २७ ॥

महादेव जी ने इन्द्र तथा सब देवताओं को लज्जित देख, वरुण-दिशा (उत्तर) की ओर जाने की इच्छा की ॥ २७ ॥

स गत्वा तप आतिष्ठत्पार्श्वे तस्योत्तरे गिरेः ।
हिमवत्प्रभवे शृङ्गे सह देव्या महेश्वरः ॥ २८ ॥

वहाँ जा कर हिमलाय के उत्तर भाग में हिमवत्प्रभव नामक पर्वतशृङ्ग पर उमा सहित वे तप करने लगे ॥ २८ ॥

एष ते विस्तरो राम शैलपुत्र्या निवेदितः ।
गङ्गायाः प्रभवं चैव शृणु मे सहलक्ष्मणः ॥ २९ ॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

हे राम ! हिमालय की एक बेटी की यह कथा मैंने विस्तार पूर्वक कही । अब हिमालय की दूसरी बेटी गङ्गा की (विस्तृत) कथा लक्ष्मण सहित तुम सुनो ॥ २९ ॥

वालकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—*—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—:*:—

तप्यमाने तपो देवे देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सेनापतिमभीप्सन्तः पितामहमुपागमन् ॥ १ ॥

जब महादेव तप करने लगे, तब इन्द्रादि देवता अग्नि को आगे कर, सेनापति (अपनी देवसेना के लिये एक सेनापति) प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मा जी के पास गये ॥ १ ॥

ततोऽब्रुवन्सुराः सर्वे भगवन्तं पितामहम् ।
प्रणिपत्य शुभं वाक्यं सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ॥ २ ॥

और प्रणाम कर, इन्द्र और अग्नि को आगे कर ब्रह्मा जी से सब देवता प्रणाम पूर्वक बोले ॥ २ ॥

योनः सेनापतिर्देव दत्तो भगवता पुरा ।
तपः परममास्थाय तप्यते स्म सहोमया ॥ ३ ॥

हे भगवन्! आदि काल में जिन (रुद्र) को आपने हमारा सेनापति बनाया था, वे तो उमा के साथ हिमालय पर जा कर तप कर रहे हैं ॥ ३ ॥

[नोट—किसी किसी पोथी में "योन" की जगह "येन" भी पाठ मिलता है। जहाँ पर "येन" पाठ है वहाँ उक्त श्लोक का अर्थ यह होगा कि, जिन महादेव जी ने हम लोगों से पहले कहा था कि, हम तुम्हें एक सेनापति देंगे, वे महादेव उमा सहित हिमालय पर तप कर रहे हैं।]

यदत्रानन्तरं कार्यं लोकानां हितकाम्यया ।
संविधत्स्व विधानज्ञ त्वं हि नः परमा गतिः ॥ ४ ॥

अतएव इसके बाद लोकों के हितार्थ जो करना उचित जान पड़े वह कीजिये, क्योंकि हमारी दौड़ तो आप ही तक है ॥ ४ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सान्त्वयन्मधुरैर्वाक्यैस्त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

देवताओं के इन वचनों को सुन ब्रह्मा जी मधुर वचनों से देवताओं को सान्त्वना प्रदान कर, अर्थात् ढाढ़स बँधा कर, यह बोले ॥ ५ ॥

शैलपुत्र्या यदुक्तं तन्न प्रजाः सन्तु पत्निषु ।
तस्या वचनमक्लिष्टं सत्यमेव न संशयः ॥ ६ ॥

हे देवगण! उमा देवी ने तुम लोगों को जो शाप दिया है कि, तुम्हारी स्त्रियों के सन्तान न होगा, वह तो अन्यथा होगा नहीं ॥ ६ ॥

इयमाकाशगा गङ्गा यस्यां पुत्रं हुताशनः ।
जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिन्दमम् ॥ ७ ॥

हां, अग्निदेव इस आकाशगङ्गा से जिस पुत्र को उत्पन्न करेंगे वह देवताओं के शत्रुओं का नाश करने वाला होगा ॥ ७ ॥

ज्येष्ठा शैलेन्द्रदुहिता मानयिष्यति तं सुतम् ।
उमायास्तद्बहुमतं भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥

हिमाचल की ज्येष्ठा पुत्री गङ्गा, अपनी छोटी बहिन का पुत्र होने के कारण, उसे निज पुत्रवत् समझेगी और उमा तो उसे निश्चय ही बहुत ही मानेगी अर्थात् उसे बहुत प्यार करेगी ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृतार्था रघुनन्दन ।
प्रणिपत्य सुराः सर्वे पितामहमपूजयन् ॥ ९ ॥

हे राम ! ब्रह्मा के ये वचन सुन, देवताओं ने अपने को कृतार्थ समझा और प्रणामादि कर ब्रह्मा जी का पूजन किया ॥ ९ ॥

ते गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् ।
अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ १० ॥

तदनन्तर सब देवता अनेक धातुओं से परिपूर्ण कैलास पर्वत पर गये और पुत्रोत्पत्ति के लिये अग्नि को प्रेरणा करने लगे ॥ १० ॥

देवकार्यमिदं देव संविधत्स्व हुताशन ।
शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥ ११ ॥

(देवतागण, अग्नि से कहने लगे) यह देवताओं का कार्य है। —से करो। हे महातेजस्वी अग्निदेव! आप अपना (वीर्य) गङ्गा में छोड़ो ॥ ११ ॥

देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः ।
गर्भं धारय वै देवि देवतानामिदं प्रियम् ॥ १२ ॥

अग्निदेव ने देवताओं से (यह कार्य करने को) प्रतिज्ञा की, और गङ्गा जी से कहा—हे देवि! तुम हमसे गर्भ धारण करो। क्योंकि यह कार्य देवताओं को अभिलषित अर्थात् उनको पसन्द है ॥ १२ ॥

अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् ।
दृष्ट्वा तन्महिमानं स समन्तादवकीर्यत ॥ १३ ॥

अग्निदेव का यह वचन सुन गङ्गा देवी ने दिव्य स्त्री का रूप धारण किया। अग्नि ने गङ्गा जी का सौन्दर्य देख, अपने सब अंगों से वीर्य छोड़ा ॥ १३ ॥

समन्ततस्तदा देवीमभ्यषिञ्चत पावकः ।
सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ॥ १४ ॥

हे राम! गङ्गा को प्रत्येक नाड़ी अग्नि के तेज (वीर्य) से परिपूर्ण हो गयी—कोई अंग खाली न रहा ॥ १४ ॥

तमुवाच ततो गङ्गा सर्वदेवपुरोगमम् ।
अशक्ता धारणे देव तव तेजः समुद्धतम् ॥ १५ ॥

तब गङ्गा ने अग्नि से कहा कि, हे देव! मैं तुम्हारे बढ़ते हुए तेज को धारण नहीं कर सकती ॥ १५ ॥

दह्यमानाऽग्निना तेन संप्रव्यथितचेतना ।
अथाब्रवीदिदं गङ्गां सर्वदेवहुताशनः ॥ १६ ॥

क्योंकि तुम्हारे तेज से मैं जली जाती हूँ । और मैं बहुत दुःखी हूँ । यह सुन अग्नि ने कहा ॥ १६ ॥

इह हैमवते पादे गर्भोऽयं सन्निवेश्यताम् ।
श्रुत्वा त्वग्निवचो गङ्गा तं गर्भमतिभास्वरम् ॥ १७ ॥

इस हिमालय के पास इस गर्भ को रख दो । यह सुन गङ्गा जी ने वह परम तेजस्वी गर्भ ॥ १७ ॥

उत्ससर्ज महातेजाः स्रोतोभ्यो हि तदाऽनघ ।
यदस्या निर्गतं तस्मात्तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥ १८ ॥

अपने अंगों से निकाल दिया । जब वह गर्भ भूमि पर गिरा, तब वह अत्यन्त चमकदार जाम्बूनद सुवर्ण हो गया ॥ १८ ॥

काञ्चनं धरणीं प्राप्तं हिरण्यममलं शुभम् ।
ताम्रं कार्ष्णायसं चैव तैक्ष्ण्यदेवाभ्यजायत ॥ १९ ॥

वही विशुद्ध और सुन्दर सब सोना है, जो पृथिवी पर है । उसके पास वहाँ जितने पदार्थ थे वे चाँदी हो गये । जहाँ जहाँ उसकी तीक्ष्णता पहुँची वहाँ ताँबा और लोहा हो गया ॥ १९ ॥

मलं तस्याभवत्तत्र त्रपु सीसकमेव च ।
तदेतद्धरणीं प्राप्य नानाधातुरवर्धत ॥ २० ॥

और उसके मैल का जस्ता और सीसा हो गया । इस प्रकार वह तेज भूमि पर अनेक धातुओं के रूप में फैल गया ॥ २० ॥

निक्षिप्तमात्रे गर्भे तु तेजोभिरभिरञ्जितम् ।
सर्वं पर्वतसंनद्धं सौवर्णमभवद्वनम् ॥ २१ ॥

गर्भ के छोड़ते ही सम्पूर्ण पर्वत और वहाँ का वन तेज से परिपूर्ण हो सुवर्ण रूप हो गया ॥ २१ ॥

जातरूपमिति ख्यातं तदाप्रभृति राघव ।
सुवर्णं पुरुषव्याघ्र हुताशनसमप्रभम् ॥ २२ ॥

हे राम ! रूप से उत्पन्न होने के कारण तब से यह सोना जातरूप कहलाता है और हे पुरुषव्याघ्र ! सुवर्ण की, अग्नि जैसी कान्ति हो गयी है ॥ २२ ॥

तृणवृक्षलतागुल्मं सर्वं भवति काञ्चनम् ।
तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सहमरुद्गणाः ॥ २३ ॥

वहाँ जो तृण, गुल्म, लताएँ थीं, वे भी सुवर्ण हो गयीं। तदनन्तर उस तेज से कुमार का जन्म हुआ । तब इन्द्रादि देवताओं ने ॥ २३ ॥

क्षीरसंभावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयन् ।
ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा समयमुत्तमम् ॥ २४ ॥

उस बालक को दूध पिलाने के लिये कृत्तिकाओं को नियुक्त किया । निज पुत्र कहलाने का करार कर, सब ने दूध पिलाया ॥ २४ ॥

ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासामिति निश्चिताः ।
ततस्तु देवताः सर्वाः कार्त्तिकेय इति ब्रुवन् ॥ २५ ॥

तब सब देवताओं ने कहा कि, यह बालक तुम्हारा पुत्र भी कहलावेगा और उसका कार्त्तिकेय नाम रख कर कहा ॥ २५ ॥

पुत्रस्त्रैलोक्यविख्यातो भविष्यति न संशयः ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा स्कन्नं गर्भपरिस्रवे ॥ २६ ॥

यह बालक निस्सन्देह तीनों लोकों में प्रसिद्ध होगा। यह सुन कृत्तिकाओं ने गिरे हुए गर्भ से उत्पन्न उस कुमार को ॥ २६ ॥

स्नापयन्परया लक्ष्म्या दीप्यमानं यथाऽनलम् ।
स्कन्द इत्यब्रुवन्देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्रवात् ॥ २७ ॥

अच्छी तरह से स्नान कराये जिससे उस बालक का शरीर अग्नि के समान दमकने लगा। यह बालक गर्भश्राव से उत्पन्न था, अतः देवताओं ने उसका स्कन्द भी नाम रखा ॥ २७ ॥

कार्त्तिकेयं महाभागं काकुत्स्थ ज्वलनोपमम् ।
प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानामनुत्तमम् ॥ २८ ॥

हे रामचन्द्र ! अग्नि के सदृश महाभाग कार्तिकेय के लिये कृत्तिकाओं के दूध उत्पन्न हो गया ॥ २८ ॥

षण्णां षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः ।
गृहीत्वा क्षीरमेकाह्ना सुकुमारवपुस्तदा ॥ २९ ॥

वह बालक छः मुखों से छःओं कृत्तिकाओं के स्तनों का दूध पान करने लगा और एक ही दिन दूध पी कर, उस सुकुमार शरीर वाले बालक ने ॥ २९ ॥

अजयंस्तेन वीर्येण दैत्यसैन्यगणान्विभुः ।
सुरसेनागणपतिं ततस्तममलद्युतिम् ॥ ३० ॥

अपने पराक्रम से दैत्यों की सेना को जीता । तब उस विमल द्युति वाले कुमार को, देवताओं की सेना के सेनापति पद पर ॥ ३० ॥

अभ्यषिञ्चन्सुरगणाः समेत्याग्निपुरोगमाः ।
एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ।
कुमारसंभवश्चैव धन्यः पुण्यस्तथैव च ॥ ३१ ॥

अग्नि आदि देवताओं ने अभिषिक्त किया । हे राम ! यह गङ्गा जी का तथा कार्त्तिकेय के जन्म का वृतान्त विस्तार पूर्वक मैंने कहा । यह कथा बहुत अच्छी और पुण्यदायिनी है ॥ ३१ ॥

भक्तश्च यः कार्त्तिकेये काकुत्स्थ भुवि मानवः ।
आयुष्मान्पुत्रपौत्रैश्च स्कन्दसालोक्यतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

हे राम ! इस पृथिवीतल पर जो लोग इसे भक्तिपूर्वक पढ़ते हैं, वे आयुष्मान् और पुत्र पौत्र वाले हो कर, अन्त में स्कन्दलोक में जाकर वास करते हैं ॥ ३२ ॥

बालकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

अष्टत्रिंशः सर्गः

—:*:—

तां कथां कौशिको रामे निवेद्य मधुराक्षराम् ।
पुनरेवापरं वाक्यं काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

मधुरवाणी से उपरोक्त कथा श्रीरामचन्द्र जी को सुना कर, फिर विश्वामित्र जी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ १ ॥

अयोध्याधिपतिः शूरः पूर्वमासीन्नराधिपः ।
सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकामः स चाप्रजाः ॥ २ ॥

हे वीर! पहले अयोध्यापुरी में एक सगर नाम के राजा थे। उनके पुत्र नहीं था, अतः उन्हें पुत्रप्राप्ति की इच्छा थी ॥ २ ॥

वैदर्भदुहिता राम केशिनी नाम नामतः ।
ज्येष्ठा सगरपत्नी सा धर्मिष्ठा सत्यवादिनी ॥ ३ ॥

सगर की पटरानी का नाम केशिनी था। वह विदर्भ देश के राजा की बेटी और बड़ी धर्मिष्ठा और सत्यवादिनी थी ॥ ३ ॥

अरिष्टनेमिदुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
द्वितीया सगरस्यासीत्पत्नी सुमतिसंज्ञिता ॥ ४ ॥

इनकी दूसरी रानी का नाम सुमति था और वह अरिष्टनेमि की बेटी थी और अत्यन्त रूपवती अर्थात् सुन्दरी थी ॥ ४ ॥

ताभ्यां सह तदा राजा पत्नीभ्यां तप्तवांस्तपः ।
हिमवन्तं समासाद्य भृगुप्रस्रवणे गिरौ ॥ ५ ॥

इन दोनों रानियों सहित महाराज सगर हिमालय के भृगुप्रस्रवण नामक प्रदेश में जा कर तप करने लगे ॥ ५ ॥

[नोट—भृगुप्रस्रवण उस प्रदेश का नाम इसलिये पड़ा था कि, वहाँ भृगु जी महाराज स्वयं तप करते थे ।]

अथ वर्षशते पूर्णे तपसाऽऽराधितो मुनिः ।
सगराय वरं प्रादाद्भृगुः सत्यवतांवरः ॥ ६ ॥

तपस्या करते हुए महाराज सगर को जब सौ वर्ष पूरे हो गये तब सत्यवादी महर्षि भृगु ने सगर की तपस्या से प्रसन्न हो उन्हें यह वर दिया ॥ ६ ॥

अपत्यलाभः सुमहान्भविष्यति तवानघ ।
कीर्त्तिं चाप्रतिमां लोके प्राप्स्यसे पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे अनघ ! तुम्हें बहुत से पुत्रों की प्राप्ति होगी और अतुल कीर्त्ति भी मिलेगी ॥ ७ ॥

एका जनयिता तात पुत्रं वंशकरं तव ।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि अपरा जनयिष्यति ॥ ८ ॥

(इन दो रानियों में से) एक के तो वंश बढ़ाने वाला केवल एक ही पुत्र होगा और दूसरी के साठ हज़ार पुत्र पैदा होंगे ॥ ८ ॥

भाषमाणं महात्मानं राजपुत्र्यौ प्रसाद्य तम् ।
ऊचतुः परमप्रीते कृताञ्जलिपुटे तदा ॥ ९ ॥

जब मुनि ने ऐसा कहा तब दोनों रानियों ने हाथ जोड़ कर कहा ॥ ९ ॥

एकः कस्याः सुतो ब्रह्मन्का बहून्जनयिष्यति ।
श्रोतुमिच्छावहे ब्रह्मन्सत्यमस्तु वचस्तव ॥ १० ॥

हे ब्रह्मन ! आपका वरदान सत्य हो, किन्तु यह तो बतलाइये कि, एक किसके और साठ हज़ार पुत्र किसके होंगे ॥ १० ॥

तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा भृगुः परमधार्मिकः ।
उवाच परमां वाणीं स्वच्छन्दोऽत्र विधीयताम् ॥११॥

उन रानियों के इस प्रश्न के उत्तर में भृगु जी महाराज ने कहा—यह तुम दोनों की इच्छा पर निर्भर है। अर्थात् जो जैसा चाहेगी उसके वैसा होगा ॥ ११ ॥

एको वंशकरो वाऽस्तु बहवो वा महाबलाः ।
कीर्त्तिमन्तो महोत्साहाः का वा कं वरमिच्छति ॥१२॥

तुम दोनों अलग अलग बतलाओ कि, तुममें से कौन वंश की वृद्धि करने वाला एक पुत्र और कौन बड़े बलवान कीर्त्तिशाली और अमित उत्साही साठ हज़ार पुत्रप्राप्ति का वर चाहती है ॥ १२ ॥

मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा केशिनी रघुनन्दन ।
पुत्रं वंशकरं राम जग्राह नृपसन्निधौ ॥ १३ ॥

हे रघुनन्दन ! भृगु जी के इस प्रश्न को सुन केशिनी ने वंशकर एक पुत्रप्राप्ति का वर प्राप्त किया ॥ १३ ॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि सुपर्णभगिनी तदा ।
महोत्साहान्कीर्तिमतो जग्राह सुमतिः सुतान् ॥ १४ ॥

और गरुड़ की बहिन सुमति को बलवान कीर्तिमान साठ हज़ार पुत्र होने का वरदान मिला ॥ १४ ॥

प्रदक्षिणमृषिं कृत्वा शिरसाऽभिप्रणम्य च ।
जगाम स्वपुरं राजा सभार्यो रघुनन्दन ॥ १५ ॥

हे राम ! महर्षि भृगु की परिक्रमा कर और उनको प्रणाम कर रानियों सहित महाराज सगर अपनी राजधानी को लौट गये ॥ १५ ॥

अथ काले गते तस्मिञ्ज्येष्ठा पुत्रं व्यजायत ।
असमञ्ज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम् ॥ १६ ॥

कुछ समय बीतने पर सगर की पटरानी केशिनी के गर्भ से असमञ्जस नाम का एक राजकुमार उत्पन्न हुआ ॥ १६ ॥

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत ।
षष्टिः पुत्राः सहस्राणि तुम्बभेदाद्विनिस्सृताः ॥१७॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! रानी सुमति के गर्भ से एक तूँबा निकला। उस तूँबे को फोड़ने पर उसमें से साठ हज़ार बालक निकले ॥१७॥

घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान्समवर्धयन् ।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥ १८ ॥

उन सब को दाइयों ने घी से भरे हुए घड़ों में रख, पाला पोसा और इस प्रकार बहुत समय बीतने पर वे सब जवान हुए ॥ १८ ॥

अथ दीर्घेण कालेन रूपयौवनशालिनः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्याभवंस्तदा ॥ १९ ॥

बहुत दिनों में सगर के ये साठ हज़ार पुत्र जवान हुए ॥ १९ ॥

स च ज्येष्ठो नरश्रेष्ठः सगरस्यात्मसंभवः ।
बालान्गृहीत्वा तु जले सरय्वा रघुनन्दन ॥ २० ॥

हे राम ! सगर का ज्येष्ठ राजकुमार असमञ्जस अयोध्यावासियों के बालकों को पकड़ कर सरयूनदी में फेंक दिया करता ॥ २० ॥

प्रक्षिप्य प्रहसन्नित्यं मज्जतस्तान्निरीक्ष्य वै ।
एवं पापसमाचारः सज्जनप्रतिबाधकः ॥ २१ ॥

और जब वे डूबने लगते तब वह उन्हें डूबते हुए देख प्रसन्न होता था। वह बड़ा दुराचारी हो गया और वह सज्जनों को सताने लगा अर्थात् उसके आचरण सज्जनों के आचरणों से बहुत दूर थे ॥ २१ ॥

पौराणामहिते युक्तः पुत्रो निर्वासितः पुरात् ।
तस्य पुत्रोंऽशुमान्नाम असमञ्जस्य वीर्यवान् ॥ २२ ॥

इस प्रकार महाराज सगर ने पुरवासियों को सताने वाले असमञ्जस को देशनिकाले का दण्ड दिया। असमञ्जस के अंशुमान नामक एक पराक्रमी पुत्र था ॥ २२ ॥

संमतः सर्वलोकस्य सर्वस्यापि प्रियंवदः ।
ततः कालेन महता मतिः समभिजायत ।
सगरस्य नरश्रेष्ठ यजेयमिति निश्चिता ॥ २३ ॥

जो सब की सम्मति से चलता था, सब से प्रिय वचन बोलता था। बहुत दिनों बाद महाराज सगर की इच्छा हुई कि, यज्ञ करें ॥ २३ ॥

स कृत्वा निश्चयं राम सोपाध्यायगणस्तदा ।
यज्ञकर्मणि वेदज्ञो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ २४ ॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

हे राम ! ऐसा निश्चय कर, वे ऋत्विजों को बुला कर, यज्ञ करने लगे ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा कथान्ते रघुनन्दनः ।
उवाच परमप्रीतो मुनिं दीप्तमिवानलम् ॥ १ ॥

उक्त कथा समाप्त होने पर श्रीरामचन्द्र जी परम प्रीति के साथ अग्निवत् देदीप्यमान् विश्वामित्र मुनि से बोले ॥ १ ॥

श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते विस्तरेण कथामिमाम् ।
पूर्वको मे कथं ब्रह्मन्यज्ञं वै समुपाहरत् ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपका मङ्गल हो ; मैं विस्तार पूर्वक यह सुनना चाहता हूँ कि, मेरे पूर्वज महाराज सगर ने किस प्रकार यज्ञ किया ॥ २ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितः ।
विश्वामित्रस्तु काकुत्स्थमुवाच प्रहसन्निव ॥ ३ ॥

यह सुन विश्वामित्र जी हर्षित हो श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥ ३ ॥

श्रूयतां विस्तरो राम सगरस्य महात्मनः ।
शङ्करश्वशुरो नाम हिमवानचलोत्तमः ॥ ४ ॥

हे राम ! महाराज सगर का चरित्र विस्तार पूर्वक सुनिये। शङ्कर के ससुर पर्वतोत्तम हिमाचल ॥ ४ ॥

विन्ध्यपर्वतमासाद्य निरीक्षेते परस्परम् ।
तयोर्मध्ये प्रवृत्तोऽभूद्यज्ञः स पुरुषोत्तम ॥ ५ ॥

और विन्ध्याचल एक दूसरे को देखते हैं, (अर्थात् हिमालय और विन्ध्याचल पर्वत के बीच मैदान है,) हे पुरुषोत्तम ! इन्हीं दोनों पर्वतों के बीच की भूमि पर महाराज सगर का यज्ञ हुआ था ॥ ५ ॥

स हि देशो नरव्याघ्र प्रशस्तो यज्ञकर्मणि ।
तस्याश्वचर्यां काकुत्स्थ दृढधन्वा महारथः ॥ ६ ॥

हे नरव्याघ्र ! हिमालय और विन्ध्य पर्वत के बीच की भूमि यज्ञकर्म के लिये उत्तम है। हे काकुत्स्थ ! उस यज्ञ में छोड़े हुए घोड़े की रक्षा के लिये दृढ़ धनुषधारी, महारथी ॥ ६ ॥

अंशुमानकरोत्तात सगरस्य मते स्थितः ।
तस्य पर्वणि संयुक्तं यजमानस्य वासवः ॥ ७ ॥

अंशुमान महाराज सगर के आदेश से नियुक्त हुए। अनन्तर उस यजमान के पर्व दिन इन्द्र ॥ ७ ॥

राक्षसीं तनुमास्थाय यज्ञीयाश्वमपाहरत् ।
ह्रीयमाणे तु काकुत्स्थ तस्मिन्नश्वे महात्मनः ॥ ८ ॥

राक्षस का रूप धर कर यज्ञीय अश्व हर ले गये। जब यज्ञीय अश्व ले कर इन्द्र चले, तब हे राम! ॥ ८ ॥

उपाध्यायगणाः सर्वे यजमानमथाब्रुवन् ।
अयं पर्वणि वेगेन यज्ञीयाश्वोऽपनीयते ॥ ९ ॥

सब ऋत्विग्गण ने राजा से कहा कि, यज्ञ का घोड़ा कोई बड़ी तेज़ी से चुरा कर लिये जाता है ॥ ९ ॥

हर्तारं जहि काकुत्स्थ हयश्चैवोपनीयताम् ।
उपाध्यायवचः श्रुत्वा तस्मिन्सदसि पार्थिवः ॥ १० ॥

अतः हे काकुत्स्थ! घोड़ा चुरा कर भागने वाले को मार कर घोड़ा लाइये। उस यज्ञ में ऋत्विजों के ये वचन सुन कर, राजा ॥१०॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि वाक्यमेतदुवाच ह ।
गतिं पुत्रा न पश्यामि रक्षसां पुरुषर्षभाः ॥ ११ ॥

अपने साठ हज़ार पुत्रों से यह बोले कि, हे पुत्रो! यज्ञीय अश्व के हरने वाले दुष्ट राक्षस नहीं दिखलाई पड़ते कि, वे किस मार्ग से घोड़ा चुरा कर ले गये ॥ ११ ॥

मन्त्रपूतैर्महाभागैरास्थितो हि महाक्रतुः ।
तद्गच्छत विचिन्वध्वं पुत्रका भद्रमस्तु वः ॥ १२ ॥

यज्ञ बड़े बड़े मंत्रवेत्ता महात्माओं द्वारा कराया जाता है, जिससे किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो। अब तुम लोगों को चाहिये कि, तुरन्त जा कर घोड़े का पता लगाओ, तुम्हारा मङ्गल हो ॥ १२ ॥

समुद्रमालिनीं सर्वां पृथिवीमनुगच्छत ।
एकैकं योजनं पुत्रा विस्तारमभिगच्छत ॥ १३ ॥

समुद्र से घिरी हुई जितनी पृथिवी है सब ढूँढ़ना। एक एक योजन ढूँढ़ कर आगे बढ़ना ॥ १३ ॥

यावत्तुरगसंदर्शस्तावत्खनत मेदिनीम् ।
तं चैव हयहर्तारं मार्गमाणा ममाज्ञया ॥ १४ ॥

मेरी आज्ञा से अश्वहर्त्ता को ढूँढ़ते हुए तब तक पृथिवी खोदते जाना जब तक घोड़ा न दिखाई दे ॥ १४ ॥

दीक्षितः पौत्रसहितः सोपाध्यायगणो ह्यहम् ।
इह स्थास्यामि भद्रं वो यावत्तुरगदर्शनम् ॥ १५ ॥

मैं तो यज्ञीय दीक्षा लिये हुए हूँ। सो जब तक मैं घोड़े को देख न लूँ, तब तक अंशुमान और उपाध्यायों सहित यहीं रहूँगा। जाओ, तुम्हारा मङ्गल हो ॥ १५ ॥

इत्युक्ता हृष्टमनसो राजपुत्रा महाबलाः ।
जग्मुर्महीतलं राम पितुर्वचनयन्त्रिताः ॥ १६ ॥

हे राम ! वे महाबली राजकुमार प्रसन्न हो और पिता की आज्ञा पा कर, (घोड़े और घोड़े के चुराने वाले को) पृथ्वी भर में ढूँढ़ने लगे ॥ १६ ॥

योजनायामविस्तारमेकैको धरणीतलम् ।
बिभिदुः पुरुषव्याघ्र वज्रस्पर्शसमैर्नखैः ॥ १७ ॥

हे नरशार्दूल ! सारी पृथिवी खोज चुकने के पीछे अपने वज्र के समान नखों से प्रत्येक राजकुमार एक एक योजन पृथिवी खोदने लगे ॥ १७ ॥

शूलैरशनिकल्पैश्च हलैश्चापि सुदारुणैः ।
भिद्यमाना वसुमती ननाद रघुनन्दन ॥ १८ ॥

हे रघुनन्दन ! उस समय बड़े बड़े त्रिशूलों और मज़बूत हलों ...थिवी खोदते समय पृथिवी पर हाहाकार मच गया ॥ १८ ॥

नागानां वध्यमानानामसुराणां च राघव ।
राक्षसानां च दुर्धर्षः सत्त्वानां निनदोऽभवत् ॥१९॥

पृथिवी खोदने में अनेक नाग, दैत्य, और बड़े बड़े दुर्धर्ष राक्षस मारे गये और अनेक घायल हुए ॥ १९ ॥

योजनानां सहस्राणि षष्टिं तु रघुनन्दन ।
विभिदुर्धरणीं वीरा रसातलमनुत्तमम् ॥ २० ॥

हे रघुनन्दन ! उन वीर राजकुमारों ने साठ हज़ार योजन भूमि ...द डाली और खोदते खोदते वे पाताल तक पहुँच गये ॥ २० ॥

एवं पर्वतसंबाधं जम्बूद्वीपं नृपात्मजाः ।
खनन्तो नृपशार्दूल सर्वतः परिचक्रमुः ॥ २१ ॥

हे नृपशार्दूल ! इस प्रकार वे राजकुमार पर्वतों सहित इस जम्बूद्वीप को खोदते और चारों ओर ढूँढ़ते फिरते थे ॥ २१ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासुराः सहपन्नगाः ।
संभ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २२ ॥

...ब तो सब देवता, गन्धर्व, असुर और पन्नग विकल हो ब्रह्मा जी के पास गये ॥ २२ ॥

ते प्रसाद्य महात्मानं विषण्णवदनास्तदा ।
ऊचुः परमसंत्रस्ताः पितामहमिदं वचः ॥ २३ ॥

ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर वे उदास मन अत्यन्त भयभीत हो, ब्रह्मा जी से यह बोले ॥ २३ ॥

भगवन्पृथिवी सर्वा खन्यते सगरात्मजैः ।
बहवश्च महात्मानो हन्यन्ते जलवासिनः ॥ २४ ॥

हे भगवन् ! महाराज सगर के पुत्र सारी पृथिवी खोदे डालते हैं और उन लोगों ने अनेक सिद्धों, तथा जलवासियों को मार डाला है ॥ २४ ॥

अयं यज्ञहरोऽस्माकमनेनाश्वोऽपनीयते ।
इति ते सर्वभूतानि हिंसन्ति सगरात्मजाः ॥ २५ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

सगर के पुत्रों के सामने जो पड़ जाता है, उसे वे यह कह कर मार डालते हैं कि, हमारे यज्ञीय अश्व का चोर यही है, यही हमारा घोड़ा चुरा ले गया है ॥ २५ ॥

बालकाण्ड का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

चत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

देवतानां वचः श्रुत्वा भगवान्वै पितामहः ।
प्रत्युवाच सुसंत्रस्तान्कृतान्तबलमोहितान् ॥ १ ॥

देवताओं के इन वचनों को सुन, ब्रह्मा जी सगर के पुत्रों से, जिनके सिर पर काल खेल रहा था तथा भयग्रस्त देवताओं से ... ॥ १ ॥

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः ।
कापिलं रूपमास्थाय धारयत्यनिशं धराम् ॥ २ ॥

हे देवगण ! यह समस्त भूमि जिन धीमान् भगवान् वासुदेव की है, वे ही कपिल के रूप में निरन्तर इस पृथिवी को धारण करते हैं ॥ २ ॥

तस्य कोपाग्निना दग्धा भविष्यन्ति नृपात्मजाः ।
पृथिव्याश्चापि निर्भेदो दृष्ट एव सनातनः ॥ ३ ॥

वे समस्त राजकुमार उन्हीं कपिल के क्रोधानल से दग्ध हो जाँयगे । यह पृथिवी तो सनातन है । निश्चय ही इसका नाश नहीं ... सकता ॥ ३ ॥

सगरस्य च पुत्राणां विनाशोऽदीर्घजीविनाम् ।
पितामहवचः श्रुत्वा त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ॥ ४ ॥

शीघ्र नाशवान् सगर के पुत्रों का नाश ही होगा ; अतः तुम चिन्ता मत करो । ब्रह्मा जी के ये वचन सुन तेतीसों* ॥ ४ ॥

देवाः परमसंहृष्टाः पुनर्जग्मुर्यथागतम् ।
सगरस्य च पुत्राणां प्रादुरासीन्महात्मनाम् ॥ ५ ॥
पृथिव्यां भिद्यमानायां निर्घातसमनिःस्वनः ।
ततो भित्त्वा महीं कृत्स्नां कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ॥ ६ ॥

*आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और दो अश्विनीकुमार ।

देवता परम प्रसन्न हो जहां से आये थे वहीं लौट कर चले गये। इधर पृथ्वी खोदने वाले सगर के पुत्रों का पृथिवी खोदने का कोलाहल वज्रपात के समान हुआ। वे सारी पृथिवी को खोद कर उसकी परिक्रमा कर ॥ ५ ॥ ६ ॥

सहिताः सागराः सर्वे पितरं वाक्यमब्रुवन् ।
परिक्रान्ता मही सर्वा सत्त्ववन्तश्च सूदिताः ॥ ७ ॥

देवदानवरक्षांसि पिशाचोरगकिन्नराः ।
न च पश्यामहेऽश्वं तमश्वहर्तारमेव च ॥ ८ ॥

अपने पिता से जा कर बोले कि, हमने ससागरा समस्त पृथिवी ढूँढ़ डाली और देव, राक्षस, पिशाच, उरग और पन्नग जो हमें मिले उन्हें हमने मार डाला; किन्तु हमें न तो यज्ञीय अश्व का और न उसके चुराने वाले का पता चला ॥ ७ ॥ ८ ॥

किं करिष्याम भद्रं ते बुद्धिरत्र विचार्यताम् ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा पुत्राणां राजसत्तमः ॥ ९ ॥

आपका मङ्गल हो, आपही सोच कर बतलाइये कि, अब हम क्या करें। राजकुमारों की यह बात सुन नृपश्रेष्ठ ॥ ९ ॥

समन्युरब्रवीद्वाक्यं सगरो रघुनन्दन ।
भूयः खनत भद्रं वो निर्भिद्य वसुधातलम् ॥ १० ॥

सगर, हे राम! कुपित हो, उनसे बोले—जाओ और पुनः पृथिवी खोदो ॥ १० ॥

अश्वहर्तारमासाद्य कृतार्थाश्च निवर्तथ ।
पितुर्वचनमास्थाय सगरस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

और घोड़ा चुराने वाले को पकड़ और सफल हो कर ही लौटो। महाराज सगर की इस आज्ञा के अनुसार ॥ ११ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि रसातलमभिद्रवन् ।
खन्यमाने ततस्तस्मिन्ददृशुः पर्वतोपमम् ॥ १२ ॥
दिशागजं विरूपाक्षं धारयन्तं महीतलम् ।
सपर्वतवनां कृत्स्नां पृथिवीं रघुनन्दन ॥ १३ ॥

वे साठ हज़ार राजकुमार रसातल की ओर दौड़े और खोदते खोदते उन्होंने उस पर्वताकार विरूपाक्ष दिग्गज को देखा, जो पृथिवी-मण्डल को धारण किये हुए है। हे रघुनन्दन! पर्वत सहित उस दिशा की समस्त पृथिवी को ॥ १२ ॥ १३ ॥

शिरसा धारयामास विरूपाक्षो महागजः ।
यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रामार्थं महागजः ॥ १४ ॥

महागज विरूपाक्ष अपने सिर पर धारण किये रहता है। जब कभी वह महागज थक जाने पर दम लेने के लिये ॥ १४ ॥

खेदाच्चालयते शीर्षं भूमिकम्पस्तदा भवेत् ।
तं ते प्रदक्षिणं कृत्वा दिशापालं महागजम् ॥ १५ ॥

अपना सिर हिलाता है तभी पृथिवी डोलती और भूडोल होता है। राजकुमार दिग्पाल गजेन्द्र की परिक्रमा कर ॥ १५ ॥

मानयन्तो हि ते राम जग्मुर्भित्त्वा रसातलम् ।
ततः पूर्वां दिशं भित्त्वा दक्षिणां बिभिदुः पुनः ॥१६॥

तथा पूजन कर के हे राम! वे रसातल खोदते हुए आगे बढ़े और पूर्व दिशा को खोद कर, वे दक्षिण दिशा को पुनः खोदने लगे ॥ १६ ॥

दक्षिणस्यामपि दिशि ददृशुस्ते महागजम् ।
महापद्मं महात्मानं सुमहत्पर्वतोपमम् ॥ १७ ॥

दक्षिण दिशा में भी उन्होंने बड़े विशाल पर्वतोपम डील-डौल के दिग्गज महापद्म को देखा ॥ १७ ॥

शिरसा धारयन्तं ते विस्मयं जग्मुरुत्तमम् ।
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा सगरस्य महात्मनः ॥ १८ ॥

उसे अपने सिर पर उस दिशा की पृथिवी रखे हुए देख, वे लोग अत्यन्त विस्मित हुए। महाराज सगर के पुत्रों ने उसकी भी परिक्रमा की ॥ १८ ॥

षष्टि पुत्रसहस्राणि पश्चिमां विभिदुर्दिशम् ।
पश्चिमायामपि दिशि महान्तमचलोपमम् ॥ १९ ॥

और साठों हज़ार (उस दिशा को छोड़) पश्चिम दिशा की भूमि खोदने लगे। पश्चिम दिशा में भी एक बड़े पहाड़ के समान ॥ १९ ॥

दिशागजं सौमनसं ददृशुस्ते महाबलाः ।
तं ते प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ट्वा चापि निरामयम् ॥ २० ॥

सोमनस नामक दिग्गज को उन महाबली राजकुमारों ने देखा। उन लोगों ने उसकी भी प्रदक्षिणा की और उससे भी कुशल प्रश्न पूँछा ॥ २० ॥

खनन्तः समुपक्रान्ता दिशं हैमवतीं ततः ।
उत्तरस्यां रघुश्रेष्ठ ददृशुर्हिमपाण्डुरम् ॥ २१ ॥

हे रघुनन्दन ! तदनन्तर उन लोगों ने उत्तर दिशा की भूमि खोदने पर बर्फ के समान सफ़ेद रंग का ॥ २१ ॥

भद्रं भद्रेण वपुषा धारयन्तं महीमिमाम् ।
समालभ्य ततः सर्वे कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥

भद्र नामक बड़े डीलडौल का दिग्गज देखा, जो उस दिशा की भूमि धारण किये हुए था । उसकी भी प्रदक्षिणा कर ॥ २२ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि बिभिदुर्वसुधातलम् ।
ततः प्रागुत्तरां गत्वा सागराः प्रथितां दिशम् ॥ २३ ॥

साठों हज़ार राजकुमार पृथिवी खोदते हुए आगे बढ़े और प्रसिद्ध दिशा ईशान में जा ॥ २३ ॥

रोषादभ्यखनन्सर्वे पृथिवीं सगरात्मजाः ।
ते तु सर्वे महात्मानो भीमवेगा महाबलाः ॥ २४ ॥

बड़े क्रोध से पृथिवी खोदने लगे । उन सब भीमवेग वाले महात्मा और महाबली सगर पुत्रों ने ॥ २४ ॥

ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम् ।
हयं च तस्य देवस्य चरन्तमविदूरतः ॥ २५ ॥

सनातन वासुदेव कपिलदेव को देखा और उनके समीप ही चरते हुए अपने यज्ञीय अश्व को भी देखा ॥ २५ ॥

प्रहर्षमतुलं प्राप्ताः सर्वे ते रघुनन्दन ।
ते तं हयहरं ज्ञात्वा क्रोधपर्याकुलेक्षणाः ॥ २६ ॥

हे राम! वे सब घोड़े को देख अत्यन्त प्रमुदित हुए और कपिल देव को उस घोड़े का चुराने वाला समझ और अत्यन्त क्रुद्ध हो ॥ २६ ॥

खनित्रलाङ्गलधरा नानावृक्षशिलाधराः ।
अभ्यधावन्त संक्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रुवन् ॥ २७ ॥

उन्हें मारने के लिये हल, कुदाल, वृक्ष और पत्थर लेकर उनकी ओर दौड़े और क्रुद्ध हो कहने लगे, ठहर ठहर (अर्थात् ठहरो हम तुम्हें घोड़ा चुराने का फल चखाते हैं) ॥ २७ ॥

अस्माकं त्वं हि तुरगं यज्ञीयं हृतवानसि ।
दुर्मेधस्त्वं हि संप्राप्तान्विद्धि नः सगरात्मजान् ॥२८॥

तूने ही हमारे यज्ञ का घोड़ा चुराया है। तू बड़ा दुर्बुद्धि है। देख हम सब महाराज सगर के पुत्र आ पहुँचे ॥ २८ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां कपिलो रघुनन्दन ।
रोषेण महताविष्टो हुंकारमकरोत्तदा ॥ २९ ॥

हे रघुनन्दन! सगर के पुत्रों की ये बातें सुन, कपिल देव अत्यन्त क्रुद्ध हुए और "हुँकार" शब्द किया ॥ २९ ॥

ततस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना ।
भस्मराशीकृताः सर्वे काकुत्स्थ सगरात्मजाः ॥ ३० ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राम ! अप्रमेय बलशाली महात्मा कपिल ने सगर के सब पुत्रों को भस्म कर, भस्म का ढेर लगा दिया ॥ ३० ॥

बालकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:※:—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

पुत्रांश्चिरगताञ्ज्ञात्वा सगरो रघुनन्दन ।
नप्तारमब्रवीद्राजा दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ १ ॥

हे रामचन्द्र ! जब महाराज सगर ने देखा कि, उन राजकुमारों को गये बहुत दिन हो चुके (और वे न लौटे) तब अपने तेजस्वी दीप्तमान पौत्र अंशुमान से कहा ॥ १ ॥

शूरश्च कृतविद्यश्च पूर्वैस्तुल्योऽसि तेजसा ।
पितॄणां गतिमन्विच्छ येन चाश्वोऽपहारितः ॥ २ ॥

हे वत्स ! तुम शूरवीर हो, विद्वान् हो और अपने पूर्वजों के समान तेजस्वी भी हो । जाकर अपने पितृव्यों (चाचाओं) का और घोड़ा चुराने वाले का पता लगाओ ॥ २ ॥

अन्तर्भौमानि सत्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च ।
तेषां त्वं प्रतिघातार्थं सासिं गृह्णीष्व कार्मुकम् ॥ ३ ॥

इस पृथिवी के भीतर बिलों में बड़े बड़े पराक्रमी जीवधारी हैं। अतः उनको हटाने के लिये खड्ग व धनुष बाण लिये रहो ॥ ३ ॥

अभिवाद्याभिवाद्यांस्त्वं हत्वा विघ्नकरानपि ।
सिद्धार्थः सन्निवर्तस्व मम यज्ञस्य पारगः ॥ ४ ॥

जो वन्दना करने योग्य पुरुष मिलें, उनको प्रणाम करना और जो विघ्नकारक हों उनका वध करना । (इस प्रकार कार्यसिद्ध कर लौटना, जिससे (अधूरा) यज्ञ पूरा हो ॥ ४ ॥

एवमुक्तोंऽशुमान्सम्यक्सगरेण महात्मना ।
धनुरादाय खड्गं च जगाम लघुविक्रमः ॥ ५ ॥

अपने वावा के इस प्रकार समझाने पर और धनुष वाण एवं तलवार ले, अंशुमान तुरन्त चल दिया ॥ ५ ॥

स खातं पितृभिर्मार्गमन्तर्भौमं महात्मभिः ।
प्रापद्यत नरश्रेष्ठस्तेन राज्ञाभिचोदितः ॥ ६ ॥

महाराज की आज्ञा के अनुसार वह उस मार्ग पर जा पहुँचा जिसे उसके पितृव्यों ने खोद कर वनाया था और उस मार्ग से पाताल में पहुँच गया ॥ ६ ॥

दैत्यदानवरक्षोभिः पिशाचपतगोरगैः ।
पूज्यमानं महातेजा दिशागजमपश्यत ॥ ७ ॥

देव, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच और नाग—मार्ग में जो जो मिलता वही इसका आदर सत्कार करता । जाते जाते महातेजस्वी अंशुमान ने एक दिग्गज को देखा ॥ ७ ॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा दृष्ट्वा चैव निरामयम् ।
पितृन्स परिपप्रच्छ वाजिहर्तारमेव च ॥ ८ ॥

उस दिग्गज की परिक्रमा कर तथा उससे शिष्टाचार की बातें कर, अर्थात् कुशल प्रश्नादि कर, अंशुमान ने उस दिग्गज से अपने चाचाओं का और घोड़े के हरने वाले का पता पूँछा ॥ ८ ॥

दिशागजस्तु तच्छ्रुत्वा प्रत्याहांशुमतो वचः ।
आसमञ्ज कृतार्थस्त्वं सहाश्वः शीघ्रमेष्यसि ॥ ९ ॥

दिग्गज ने उत्तर में कहा कि, हे असमञ्जस के पुत्र अंशुमान तुम अपना कार्य सिद्ध कर घोड़ा ले कर शीघ्र लौटोगे ॥ ९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सर्वानेव दिशागजान् ।
यथाक्रमं यथान्यायं प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १० ॥

उस दिग्गज के यह वचन सुन, अंशुमान आगे बढ़ा और यथाक्रम शेष दिग्गजों से भी वही पूँछा ॥ १० ॥

तैश्च सर्वैर्दिशापालैर्वाक्यज्ञैर्वाक्यकोविदैः ।
पूजितः सहयश्चैव गन्तासीत्यभिचोदितः ॥ ११ ॥

उन सब दिग्गजों ने बात करने में चतुर अंशुमान द्वारा पूजित होकर, वही बात कही अर्थात् आगे बढ़े चले जाओ ॥ ११ ॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा जगाम लघुविक्रमः ।
भस्मराशीकृता यत्र पितरस्तस्य सागराः ॥ १२ ॥

उनके इस प्रकार के वचन सुन, अंशुमान शीघ्र वहाँ पहुँच गया, जहाँ सगर के पुत्रों और उसके चाचाओं के भस्म किये हुए शरीर की राख का ढेर पड़ा था ॥ १२ ॥

स दुःखवशमापन्नस्त्वसमञ्जसुतस्तदा ।
चुक्रोश परमार्तस्तु वधात्तेषां सुदुःखितः ॥ १३ ॥

अंशुमान उसे देख बहुत दुःखी हुआ और उनकी मृत्यु पर शोकान्वित हो रोने लगा ॥ १३ ॥

यज्ञीयं च हयं तत्र चरन्तमविदूरतः ।
ददर्श पुरुषव्याघ्रो दुःखशोकसमन्वितः ॥ १४ ॥

दुःख शोकातुर अंशुमान ने समीप ही यज्ञीय अश्व को भी चरते हुए देखा ॥ १४ ॥

स तेषां राजपुत्राणां कर्तुकामो जलक्रियाम् ।
सलिलार्थी महातेजा न चापश्यज्जलाशयम् ॥ १५ ॥

अंशुमान ने मरे हुए राजकुमारों का तर्पण करना चाहा, किन्तु तलाश करने पर भी उसे वहां कोई जलाशय न मिला ॥१५॥

विसार्य निपुणां दृष्टिं ततोऽपश्यत्खगाधिपम् ।
पितॄणां मातुलं राम सुपर्णमनिलोपमम् ॥ १६ ॥

दृष्टि फैलाकर देखने पर उसे अपने चाचाओं के मामा वायु के समान वेग वाले गरुड़ जी देख पड़े ॥ १६ ॥

स चैनमब्रवीद्वाक्यं वैनतेयो महाबलः ।
मा शुचः पुरुषव्याघ्र वधोऽयं लोकसम्मतः ॥ १७ ॥

गरुड़ जी ने अंशुमान से कहा, हे पुरुषसिंह ! तुम दुखी मत हो। क्योंकि इन सब का वध लोकसम्मत ही हुआ है ॥ १७ ॥

कपिलेनाप्रमेयेन दग्धा हीमे महाबलाः ।
सलिलं नार्हसि प्राज्ञ दातुमेषां हि लौकिकम् ॥ १८ ॥

ये सब अचिन्त्य प्रभाव वाले महात्मा कपिल द्वारा भस्म किये गये हैं। हे प्राज्ञ ! इनको लौकिक (साधारण) जलदान मत करो। अर्थात् कूप तड़ाग के साधारण जल से इनका तर्पण मत करो ॥ १८ ॥

गङ्गा हिमवतो ज्येष्ठा दुहिता पुरुषर्षभ।
तस्यां कुरु महाबाहो पितॄणां तु जलक्रियाम् ॥ १९ ॥

हे पुरुषर्षभ ! हिमालय की ज्येष्ठा पुत्री गङ्गा नदी के जल से तुम अपने पितरों का तर्पण करो ॥ १६ ॥

भस्मराशीकृतानेतान्प्लावयेल्लोकपावनी।
तया क्लिन्नमिदं भस्म गङ्गया लोककान्तया ॥ २० ॥

जब लोकपावनी गङ्गा जी के जल से इनकी भस्म तर होगी (अर्थात् केवल तर्पण से ही काम न चलेगा) ॥ २० ॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि स्वर्गलोकं नयिष्यति।
गच्छ चाश्वं महाभाग संगृह्य पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥

तब साठ हज़ार राजकुमार स्वर्गवासी होंगे। हे महाभाग ! हे पुरुषोत्तम ! तुम घोड़ा ले कर लौट जाओ ॥ २१ ॥

यज्ञं पैतामहं वीर संवर्तयितुमर्हसि।
सुपर्णवचनं श्रुत्वा सोंऽशुमानतिवीर्यवान् ॥ २२ ॥

और अपने बाबा का यज्ञ पूरा करवाओ। अति पराक्रमी एवं यशस्वी अंशुमान गरुड़ जी की ये बातें सुन ॥ २२ ॥

त्वरितं हयमादाय पुनरायान्महायशाः।
ततो राजानमासाद्य दीक्षितं रघुनन्दन ॥ २३ ॥

तुरन्त घोड़ा ले कर लौट आया। यज्ञदीक्षा से दीक्षित और महाराज सगर के पास जा कर ॥ २३ ॥

न्यवेदयद्यथावृत्तं सुपर्णवचनं तथा।
तच्छ्रुत्वा घोरसंकाशं वाक्यमंशुमतो नृपः ॥ २४ ॥

उनको गरुड़ जी की कहीं सब बातें सुनायीं। अंशुमान की उन दारुण बातों को सुन, महाराज सगर बहुत दुखी हुए ॥ २४ ॥

यज्ञं निर्वर्तयामास यथाकल्पं यथाविधि।
स्वपुरं चागमच्छ्रीमानिष्टयज्ञो महीपतिः।
गङ्गायाश्चागमे राजा निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ २५ ॥

तदनन्तर उन्होंने यथाविधि यज्ञ पूरा किया और अपनी राजधानी को लौट गये और बहुत सोचने पर भी महाराज सगर को गङ्गा जी के लाने का कोई उपाय न सूझ पड़ा ॥ २५ ॥

अगत्वा निश्चयं राजा कालेन महता महान्।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा दिवं गतः ॥ २६ ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

बहुत काल तक सोचने पर भी उस सम्बन्ध में महाराज सगर कुछ भी निश्चय न कर सके, अन्त में तेतीस हज़ार वर्षों तक राज्य कर वे स्वर्गवासी हुए ॥ २६ ॥

वालकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—:*:—

कालधर्मं गते राम सगरे प्रकृतीजनाः ।
राजानं रोचयामासुरंशुमन्तं सुधार्मिकम् ॥ १ ॥

महाराज सगर के स्वर्गवासी होने पर, मंत्रियों ने बड़े धर्मात्मा महाराज अंशुमान को राजसिंहासन पर बैठाया ॥ १ ॥

स राजा सुमहानासीदंशुमान्रघुनन्दन ।
तस्य पुत्रो महानासीद्दिलीप इति विश्रुतः ॥ २ ॥

हे रघुनन्दन ! महाराज अंशुमान बड़े प्रतापी राजा हुए । उनके पुत्र जगतप्रसिद्ध महाराज दिलीप हुए ॥ २ ॥

तस्मिन्राज्यं समावेश्य दिलीपे रघुनन्दन ।
हिमवच्छिखरे पुण्ये तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ ३ ॥

महाराज अंशुमान ने अपने पुत्र दिलीप को राजसिंहासन पर बिठा कर, स्वयं हिमालय के शिखर पर जा कठोर तप किया ॥ ३ ॥

द्वात्रिंशच्च सहस्राणि वर्षाणि सुमहायशाः ।
तपोवनं गतो राम स्वर्गं लेभे महायशाः ॥ ४ ॥

अन्त में बत्तीस हज़ार वर्ष तप करने के बाद वे महायश्वी महाराज अंशुमान भी स्वर्गवासी हुए (किन्तु गङ्गा नहीं आयीं) ॥ ४ ॥

दिलीपस्तु महातेजाः श्रुत्वा पैतामहं वधम् ।
दुःखोपहतया बुद्ध्या निश्चयं नाधिगच्छति ॥ ५ ॥

महाराज दिलीप अपने पितामहों के वध का वृत्तान्त जान कर मर्माहत हुए, किन्तु (श्रीगङ्गा जी के लाने का) कोई उपा[य] वे भी निश्चय न कर सके ॥ ५ ॥

कथं गङ्गावतरणं कथं तेषां जलक्रिया ।
तारयेयं कथं चैनानिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ६ ॥

वे नित्य ही सोचा करते कि, श्रीगङ्गा जी किस प्रकार आवें, पितामहों की (उनके जल से) जलक्रिया कैसे की जाय और हम उनको किस प्रकार तारें ॥ ६ ॥

तस्य चिन्तयतो नित्यं धर्मेण विदितात्मनः ।
पुत्रो भगीरथो नाम जज्ञे परमधार्मिकः ॥ ७ ॥

धर्मात्मा सुप्रसिद्ध महाराज दिलीप नित्य ऐसा सोचा करते कि, इतने में उनके परमधार्मिक भगीरथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ७ ॥

दिलीपस्तु महातेजा यज्ञैर्बहुभिरिष्टवान् ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥ ८ ॥

महाराज दिलीप ने बहुत यज्ञ किये और तीस हज़ार वर्ष राज्य भी किया ॥ ८ ॥

अगत्वा निश्चयं राजा तेषामुद्धरणं प्रति ।
व्याधिना नरशार्दूल कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ९ ॥

महाराज (भी) पितरों के उद्धार के लिये चिन्तित थे कि, इतने में नरशार्दूल दिलीप बीमार हुए और मृत्यु को प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

इन्द्रलोकं गतो राजा स्वार्जितेनैव कर्मणा ।
राज्ये भगीरथं पुत्रमभिषिच्य नरर्षभः ॥ १० ॥

अपने पुण्यकर्मों के फल से दिलीप स्वर्ग गये और अपने सामने ही नरश्रेष्ठ महाराज अपने पुत्र भगीरथ को राजसिंहासन पर बिठा गये ॥ १० ॥

भगीरथस्तु राजर्षिर्धार्मिको रघुनन्दन ।
अनपत्यो महातेजाः प्रजाकामः स चाप्रजाः ॥ ११ ॥

हे रघुनन्दन ! महाराज भगीरथ परमधार्मिक राजर्षि थे, और निस्सन्तान होने से वे सन्तान होने की इच्छा करते थे ॥ ११ ॥

मन्त्रिष्वाधाय तद्राज्यं गङ्गावतरणे रतः ।
स तपो दीर्घमातिष्ठद्गोकर्णे रघुनन्दन ॥ १२ ॥

हे रघुनन्दन ! जब उनके पुत्र न हुआ, तब राज्यभार अपने मंत्रियों को सौंप, वे स्वयं गोकर्ण नामक तीर्थ पर जा, गङ्गावतरण के लिये बहुत दिनों तक तपस्या करते रहे ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वबाहुः पञ्चतपा मासाहारो जितेन्द्रियः ।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरे तपसि तिष्ठतः ॥ १३ ॥

वे ऊपर को हाथ उठाये रखते, पञ्चाग्नि तापते, महीनों बाद किसी एक दिन भोजन करते और इन्द्रियों को वश में रखते । इस प्रकार एक हज़ार वर्ष तक वे कठोर तप करते रहे ॥ १३ ॥

अतीतानि महाबाहो तस्य राज्ञो महात्मनः ।
सुप्रीतो भगवान्ब्रह्मा प्रजानां पतिरीश्वरः ॥ १४ ॥

हे महाबाहो ! एक हज़ार वर्ष बीतने पर लोकों के स्वामी और प्रभु ब्रह्मा जी भगीरथ पर सुप्रसन्न हुए ॥ १४ ॥

ततः सुरगणैः सार्धमुपागम्य पितामहः ।
भगीरथं महात्मानं तप्यमानमथाब्रवीत् ॥ १५ ॥

और देवताओं को साथ ले वे तपस्या में लगे हुए, महात्मा भगीरथ के पास जा कर बोले ॥ १५ ॥

भगीरथ महाभाग प्रीतस्तेऽहं जनेश्वर ।
तपसा च सुतप्तेन वरं वरय सुव्रत ॥ १६ ॥

हे महाराज भगीरथ ! तुमने बड़ी कठिन तपस्या की, अतः हम तुम पर प्रसन्न हैं, हे सुव्रत ! वर माँगो ॥ १६ ॥

तमुवाच महातेजाः सर्वलोकपितामहम् ।
भगीरथो महाभागः कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥ १७ ॥

यह सुन, महातेजस्वी भगीरथ ने हाथ जोड़ कर ब्रह्मा जी से कहा ॥ १७ ॥

यदि मे भगवन्प्रीतो यद्यस्ति तपसः फलम् ।
सगरस्यात्मजाः सर्वे मत्तः सलिलमाप्नुयुः ॥ १८ ॥

हे भगवन् ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मेरे तप का फल देना चाहते हैं, तो यह वर दीजिये कि सगर के पुत्रों को मेरे द्वारा गङ्गाजल प्राप्त हो ॥ १८ ॥

गङ्गायाः सलिलक्लिन्ने भस्मन्येषां महात्मनाम् ।
स्वर्गं गच्छेयुरत्यन्तं सर्वे मे प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

क्योंकि हमारे महात्मा परदादे तभी स्वर्गवासी होंगे, जब उनकी राख गङ्गा जल से भींगेगी अर्थात् उनकी राख गङ्गा जी में पड़ेगी ॥ १६ ॥

देया च सन्ततिर्देव नावसीदेत्कुलं च नः ।
इक्ष्वाकूणां कुले देव एष मेऽस्तु वरः परः ॥ २० ॥

हे देव! दूसरा वर मैं यह मांगता हूँ कि, मेरा इक्ष्वाकुवंश नष्ट न हो। इसलिये मुझे सन्तान भी दीजिये। यह मैं दूसरा वर चाहता हूँ। ॥ २० ॥

उक्तवाक्यं तु राजानं सर्वलोकपितामहः ।
प्रत्युवाच शुभां वाणीं मधुरां मधुराक्षराम् ॥ २१ ॥

महाराज भगीरथ के ये वाक्य सुन, सर्वलोकपितामह ब्रह्मा यह मधुर एवं शुभ वाणी बोले ॥ २१ ॥

मनोरथो महानेष भगीरथ महारथ ।
एवं भवतु भद्रं ते इक्ष्वाकुकुलवर्धन ॥ २२ ॥

हे महारथी भगीरथ! तेरा मनोरथ है तो बड़ा, किन्तु वह पूर्ण होगा अर्थात् तुझे पुत्र की प्राप्ति होगी। हे इक्ष्वाकुकुलवर्धन! तुम्हारा मङ्गल हो ॥ २२ ॥

इयं हैमवती गङ्गा ज्येष्ठा हिमवतः सुता ।
गङ्गायाः पतनं राजन्पृथिवी न सहिष्यति ।
तां वै धारयितुं वीर नान्यं पश्यामि शूलिनः ॥ २३ ॥

हिमालय की ज्येष्ठा पुत्री यह गङ्गा जी जब (बड़े वेग से) पृथिवी पर गिरेंगी, तब इनका वेग पृथिवी न सम्हाल सकेगी।

उनके वेग को सम्हाल सकने की सामर्थ्य शिव जी को छोड़ और किसी में नहीं है ॥ २३ ॥

तमेवमुक्त्वा राजानं गङ्गां चाभाष्य लोककृत् ।
जगाम त्रिदिवं देवः सह देवैर्मरुद्गणैः ॥ २४ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार ब्रह्मा जी महाराज भगीरथ और गङ्गा जी से कह कर, देवताओं सहित स्वर्गलोक को गये ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का व्यालीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—:※:—

देवदेवे गते तस्मिन्सोऽङ्गुष्ठाग्रनिपीडिताम् ।
कृत्वा वसुमतीं राम संवत्सरमुपासत ॥ १ ॥

ब्रह्मा जी के चले जाने के बाद महाराज भगीरथ ने पैर के अंगूठे के सहारे खड़े हो कर एक वर्ष तक शिव जी की उपासना की ॥ १ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षो निराश्रयः ।
अचलः स्थाणुवत्स्थित्वा रात्रिंदिवमरिन्दम ॥ २ ॥

हे अरिन्दम ! भगीरथ जी ऊपर को बाहु किये निरालम्ब, वायु पी कर बिना आश्रय, खंभे की तरह अचल हो, रात दिन खड़े रहे ॥ २ ॥

अथ संवत्सरे पूर्णे सर्वलोकनमस्कृतः ।
उमापतिः पशुपती राजानमिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

जब एक वर्ष पूरा हुआ तब सर्व-लोक-नमस्कृत उमापति महादेव जी ने भगीरथ से यह कहा ॥ ३ ॥

प्रीतस्तेऽहं नरश्रेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम् ।
शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम् ॥ ४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! हम तेरे ऊपर प्रसन्न हैं और जो तू चाहेगा सो हम तेरे लिये करेंगे । हम श्रीगङ्गा जी को अपने सिर पर धारण करेंगे ॥ ४ ॥

ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता ।
तदा सरिन्महद्रूपं कृत्वा वेगं च दुःसहम् ॥ ५ ॥

तब सब लोकों के नमस्कार करने योग्य गङ्गा जी, महद्रूप धारण कर और दुःसह वेग के साथ ॥ ५ ॥

आकाशादपतद्राम शिवे शिवशिरस्युत ।
अचिन्तयच्च सा देवी गङ्गा परमदुर्धरा ॥ ६ ॥

आकाश से शिव जी के मस्तक पर गिरीं । (और गिरते समय) परम दुर्धरा गङ्गा देवी ने सोचा कि, ॥ ६ ॥

विशाम्यहं हि पातालं स्रोतसा गृह्य शङ्करम् ।
तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान्हरः ॥ ७ ॥

मैं अपनी धार के साथ महादेव जी को बहा कर पाताल ले जाऊँगी । गङ्गा देवी के इस अभिमान भरे विचार को जान कर, भगवान् श्रीमहादेव जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ ७ ॥

तिरोभावयितुं बुद्धिं चक्रे त्रिणयनस्तदा ।
सा तस्मिन्पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूर्धनि ॥ ८ ॥

हिमवत्प्रतिमे राम जटामण्डलगह्वरे ।
सा कथंचिन्महीं गन्तुं नाशक्नोद्यत्नमास्थिता ॥ ९ ॥

और उनको अपने जटाजूट ही में छिपा रखना चाहा । हिमाचल के समान और जटामण्डल रूपी गुफा वाले शिव जी के पवित्र मस्तक पर श्रीगङ्गा जी गिरीं और अनेक उपाय करने पर भी जटाजूट से निकल पृथिवी पर न जा सकीं ॥ ८ ॥ ९ ॥

नैव निर्गमनं लेभे जटामण्डलमोहिता ।
तत्रैवाबंभ्रमद्देवी संवत्सरगणान्बहून ॥ १० ॥

वे शिव जी के जटाजूटों में कितने ही वर्षों तक घूमा कीं और वाहिर न निकल सकीं ॥ १० ॥

तामपश्यन्पुनस्तत्र तपः परममास्थितः ।
अनेन तोषितश्चाभूदत्यर्थं रघुनन्दन ॥ ११ ॥

हे रघुनन्दन ! गङ्गा जी को न देख, महाराज भगीरथ ने फिर कठोर तप किया और तप द्वारा भगवान् शिव को प्रसन्न किया ॥ ११ ॥

विससर्ज ततो गङ्गां हरो विन्दुसरः प्रति ।
तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे ॥ १२ ॥

और श्रीगङ्गा जी को हिमालय पर्वत पर स्थित विन्दुसर में छोड़ा । छोड़ते ही गङ्गा जी की सात धाराएँ हो गयीं ॥ १२ ॥

ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथाऽपरा ।
तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः ॥१३॥

ह्लादिनी· पावनी और नलनी गङ्गा जी की ये तीन कल्याण-कारिणी धाराएँ उस सर से पूर्व की ओर वहीं ॥ १३ ॥

सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी ।
तिस्रस्त्वेता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु शुभोदकाः ॥१४॥

श्रीगङ्गा जी के शुभ जल की सुचक्षु, सीता और सिन्धु नाम की तीन धाराएँ पश्चिम की ओर वहीं ॥ १४ ॥

सप्तमी चान्वगात्तासां भगीरथमथो नृपम् ।
भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥१५॥

सातवीं धार महाराज भगीरथ के रथ के पीछे पीछे चली। राजर्षि भगीरथ एक सुन्दर रथ में बैठे हुए ॥ १५ ॥

प्रायादग्रे महातेजा गङ्गा तं चाप्यनुव्रजत् ।
गगनाच्छङ्करशिरस्ततो धरणिमागता ॥ १६ ॥

आगे आगे चले जाते थे और उनके पीछे पीछे श्रीगङ्गा जी चली जाती थीं। आकाश से श्रीमहादेव जी के मस्तक पर और उनके मस्तक से श्रीगङ्गा जी धरणीतल पर आयीं ॥ १६ ॥

व्यसर्पत जलं तत्र तीव्रशब्दपुरस्कृतम् ।
मत्स्यकच्छपसंघैश्च शिंशुमारगणैस्तथा ॥ १७ ॥

पतद्भिः पतितैश्चान्यैर्व्यरोचत वसुन्धरा ।
ततो देवर्षिगन्धर्वा यक्षाः सिद्धगणास्तथा ॥ १८ ॥

उनके पृथिवी पर गिरते ही बड़ा शब्द हुआ और मछलियाँ, कछुए, सूँस आदि जलजन्तुओं के झुँड के झुँड गङ्गा जी की ... के साथ गिरते पड़ते चले जाते थे। जिधर श्रीगङ्गा जी जाती ... उधर की भूमि सुशोभित हो जाती थी। देव, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष और सिद्धगण ॥ १७ ॥ १८ ॥

व्यलोकयन्त ते तत्र गगनाद्गां गतां तदा।
विमानैर्नगराकारैर्हयैर्गजवरैस्तदा ॥ १९ ॥

आकाश से पृथिवी पर आई हुई श्रीगङ्गा जी को देखने के लिये उत्तम नगराकार विमानों, हाथियों और घोड़ों पर सवार हो कर आये हुए थे ॥ १९ ॥

पारिप्लवगतैश्चापि देवतास्तत्र विष्ठिताः।
तदद्भुततमं लोके गङ्गापतनमुत्तमम् ॥ २० ॥

श्रीगङ्गा जी के पृथिवीतल पर अत्यन्त अद्भुत अवतरण को देखने के लिये देवता लोग परिप्लव नामक विमानों पर बैठे हुए थे ॥ २० ॥

दिदृक्षवो देवगणाः समीयुरमितौजसः।
संपतद्भिः सुरगणैस्तेषां चाभरणौजसा ॥ २१ ॥

देखने के लिये आये हुए प्रधान देवता जिस समय आकाश से उतरते थे, उस समय उनके आभूषणों की प्रभा से ॥ २१ ॥

शतादित्यमिवाभाति गगनं गततोयदम्।
शिंशुमारोरगगणैर्मीनैरपि च चञ्चलैः ॥ २२ ॥

निर्मल मेघशून्य आकाश ऐसा सुशोभित जान पड़ता था मानों आकाश में सैकड़ों सूर्य निकल रहे हों। बीच बीच में सूसों और चञ्चल मछलियों के झुँड जो ॥ २२ ॥

विद्युद्भिरिव विक्षिप्तमाकाशमभवत्तदा ।
पाण्डुरैः सलिलोत्पीडैः कीर्यमाणैः सहस्रधा ॥ २३ ॥

(जो जल के वेग से ऊपर को) उछाले जाते थे, वे ऐसे जान पड़ते थे, मानों आकाश में बिजली चमकती हो और जल में उठे हुए सफेद सफेद फेन जो इधर उधर जगह जगह छितरा गये थे ॥ २३ ॥

शारदाभ्रैरिवाकीर्णं गगनं हंससंप्लवैः ।
क्वचिद्द्रुततरं याति कुटिलं क्वचिदायतम् ॥ २४ ॥

ऐसी शोभा दे रहे थे मानों हंसों के झुँडों से युक्त और इधर उधर बिखरे हुए शरत्कालीन मेघ आकाश को सुशोभित कर रहे हों ॥ २४ ॥

विनतं क्वचिदुद्भूतं क्वचिद्याति शनैः शनैः ।
सलिलेनैव सलिलं क्वचिदभ्याहतं पुनः ॥ २५ ॥

मुहुरूर्ध्वपथं गत्वा पपात वसुधातलम् ।
व्यरोचत तदा तोयं निर्मलं गतकल्मषम् ॥ २६ ॥

श्रीगङ्गा जी की धार का जल कहीं ऊँचा, कहीं टेढ़ा, कहीं फैला हुआ और कहीं ठोकर खाकर उछलता हुआ धीरे धीरे बहता था और कहीं कहीं तो जल, जल ही से टकरा कर बार बार ऊपर को उछलता और फिर ज़मीन पर गिर पड़ता था। इस प्रकार वह निर्मल और पापहारी जल सुशोभित हो रहा था ॥ २५ ॥ २६ ॥

तत्र देवर्षिगन्धर्वा वसुधातलवासिनः ।
भवाङ्गपतितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः ॥ २७ ॥

वहाँ पर देव ऋषि, गन्धर्व और वसुधातलवासी लोगों ने उस शिव जी की जटा से गिरे हुए पवित्र जल को छुआ ॥ २७ ॥

शापात्प्रपतिता ये च गगनाद्वसुधातलम् ।
कृत्वा तत्राभिषेकं ते बभूवुर्गतकल्मषाः ॥ २८ ॥

जो लोग शापवश ऊपर के लोकों से भूलोक में आये हुए थे, वे इस जल में स्नान कर पापों से छूट गये ॥ २८ ॥

धूतपापाः पुनस्तेन तोयेनाथ सुभास्वता ।
पुनराकाशमाविश्य स्वाँल्लोकान्प्रतिपेदिरे ॥ २९ ॥

और पापों से छूट और तेज युक्त हो आकाशमार्ग से पुनः अपने अपने लोकों को चले गये ॥ २९ ॥

मुमुदे मुदितो लोकस्तेन तोयेन भास्वता ।
कृताभिषेको गङ्गायां बभूव विगतक्लमः ॥ ३० ॥

जहाँ गङ्गा जी जातीं वहाँ वहाँ के मनुष्य श्रीगङ्गा जी में स्नान कर के निष्पाप हो जाते थे ॥ ३० ॥

भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ।
प्रायादग्रे महातेजास्तं गङ्गा पृष्ठतोऽन्वगात् ॥ ३१ ॥

राजर्षि भगीरथ भी एक दिव्य रथ में बैठे हुए आगे आगे चले जाते थे और श्रीगङ्गा जी उनके पीछे पीछे वही चली जाती थीं ॥ ३१ ॥

देवाः सर्षिगणाः सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ३२ ॥

सर्वाश्चाप्सरसो राम भगीरथरथानुगाम् ।
गङ्गामन्वगमन्प्रीताः सर्वे जलचराश्च ये ॥ ३३ ॥

हे राम! सब देवता, ऋषिगण, दैत्य, दानव, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, बड़े बड़े सर्प तथा अप्सराएँ महाराज भगीरथ के पीछे पीछे जा रही थीं और समस्त जलचर जीव प्रसन्न हो श्रीगङ्गा जी के पीछे चले जाते थे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

यतो भगीरथो राजा ततो गङ्गा यशस्विनी ।
जगाम सरितां श्रेष्ठा सर्वपापविनाशिनी ॥ ३४ ॥

जिधर महाराज भगीरथ जाते थे उधर ही यशस्विनी, सब पाप नाश करने वाली तथा नदियों में श्रेष्ठ श्रीगङ्गा जी भी जा रही थीं ॥ ३४ ॥

ततो हि यजमानस्य जह्नोरद्भुतकर्मणः ।
गङ्गा संप्लावयामास यज्ञवाटं महात्मनः ॥ ३५ ॥

चलते चलते श्रीगङ्गा जी वहाँ पहुँचीं, जहाँ अद्भुत कर्म करने वाले जन्हु नामक महर्षि यज्ञ कर रहे थे। वहाँ श्रीगङ्गा जी ने सब सामान सहित उनकी यज्ञशाला बहा दी ॥ ३५ ॥

तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धो जन्हुश्च राघव ।
अपिबच्च जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम् ॥ ३६ ॥

हे राम ! तब तो श्रीगङ्गा जी का ऐसा गर्व देख, जन्हुऋषि कुपित हुए और ऐसा चमत्कार दिखलाया कि, वे गङ्गा के सम... जल को पी गये ॥ ३६ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च सुविस्मिताः ।
पूजयन्ति महात्मानं जह्नुं पुरुषसत्तमम् ॥ ३७ ॥

महात्मा जन्हु का यह प्रभाव देख देवता, गन्धर्व, ऋषि गण आदि बड़े विस्मित हुए और पुरुषों में श्रेष्ठ महात्मा जन्हु की स्तुति करने लगे ॥ ३७ ॥

गङ्गां चापि नयन्ति स्म दुहितृत्वे महात्मनः ।
ततस्तुष्टो महातेजाः श्रोत्राभ्यामसृजत्पुनः ॥ ३८ ॥

और बोले, आज से श्रीगङ्गा आपकी बेटी कहलायेगी । (आप उसे छोड़ दीजिये) इस पर प्रसन्न हो महातेजस्वी जन्हु ने दोनों कानों की राह से जल को निकाल दिया ॥ ३८ ॥

तस्माज्जह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च ।
जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा ॥ ३९ ॥

तब से ही जन्हुसुता श्रीगङ्गा जाह्नवी कहलाती हैं । उसी प्रकार श्रीगङ्गा फिर भगीरथ के रथ के पीछे होलीं ॥ ३६ ॥

सागरं चापि संप्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा ।
रसातलमुपागच्छत्सिद्ध्यर्थं तस्य कर्मणः ॥ ४० ॥

और चलते चलते नदियों में श्रेष्ठ श्रीगङ्गा समुद्र में जा पहुँचीं और फिर वे भगीरथ की कार्यसिद्धि के लिये रसातल गयीं ॥ ४० ॥

भगीरथोऽपि राजर्षिगङ्गामादाय यत्नतः ।
पितामहान्भस्मकृतानपश्यद्दीनचेतनः ॥ ४१ ॥

राजर्षि भगीरथ बड़े यत्न के साथ श्रीगङ्गा जी को साथ ले गये और दुःखी मन से अपने पुरखों के भस्म हुए शरीर की राख का ढेर देखा ॥ ४१ ॥

अथ तद्भस्मनां राशिं गङ्गासलिलमुत्तमम् ।
प्लावयद्धूतपाप्मानः स्वर्गं प्राप्ता रघूत्तम ॥ ४२ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रघुनन्दन ! श्रीगङ्गा जी का पवित्र जल ज्योंही भगीरथ के पुरखों की भस्म के ढेर पर पड़ा, त्योंही वे सब निष्पाप हो स्वर्ग में पहुँच गये ॥ ४२ ॥

बालकाण्ड का तेतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

[नोट—तेतालीसवें सर्ग में सगर के पुत्रों को सद्गति का वृत्तान्त संक्षेप में कहा था, इस सर्ग में उसका विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है।]

स गत्वा सागरं राजा गङ्गयाऽनुगतस्तदा ।
प्रविवेश तलं भूमेर्यत्र ते भस्मसात्कृताः ॥ १ ॥

महाराज श्रीगङ्गा जी के साथ समुद्रतट पर पहुँचे और वहाँ से वे पाताल में वहाँ गये, जहाँ पर (महाराज सगर के पुत्र) भस्म किये गये थे ॥ १ ॥

भस्मन्यथाप्लुते राम गङ्गायाः सलिलेन वै ।
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

हे राम! उस भस्म पर गङ्गाजल के पड़ने से सब लोकों स्वामी ब्रह्मा जी ने भगीरथ से यह कहा ॥ २ ॥

तारिता नरशार्दूल दिवं याताश्च देववत् ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

हे नरशार्दूल! महात्मा सगर के साठ हज़ार पुत्रों को आपने तार दिया। वे देववत् स्वर्ग को गये ॥ ३ ॥

सागरस्य जलं लोके यावत्स्थास्यति पार्थिव ।
सगरस्यात्मजास्तावत्स्वर्गे स्थास्यन्ति देववत् ॥ ४ ॥

हे राजन्! जब तक सागर में एक बूँद भी जल रहेगा, तब तक महाराज सगर के पुत्र देवताओं की तरह स्वर्ग में वास करेंगे ॥ ४ ॥

इयं हि दुहिता ज्येष्ठा तव गङ्गा भविष्यति ।
त्वत्कृतेन च नाम्नाथ लोके स्थास्यति विश्रुता ॥५॥

यह श्रीगङ्गा तुम्हारी ज्येष्ठा कन्या होगी और तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध हो कर भूलोक में रहेगी ॥ ५ ॥

गङ्गा त्रिपथगा नाम दिव्याभागीरथीति च ।
पितामहानां सर्वेषां त्वमेव मनुजाधिप ॥ ६ ॥
कुरुष्व सलिलं राजन्प्रतिज्ञामपवर्जय ।
पूर्वकेण हि ते राजंस्तेनातियशसा तदा ॥ ७ ॥

धर्मिणां प्रवरेणापि नैष प्राप्तो मनोरथः ।
तथैवांशुमता तात लोकेऽप्रतिमतेजसा ॥ ८ ॥

गङ्गां प्रार्थयता नेतुं प्रतिज्ञा नापवर्जिता ।
राजर्षिणा गुणवता महर्षिसमतेजसा ॥ ९ ॥

इसके तीन नाम होंगे, श्रीगङ्गा, त्रिपथगा और भागीरथी । तीन पथ पर चलने वाली होने के कारण यह त्रिपथगा कहलाती है । हे राजन् ! अब तुम अपने सब पितरों का तर्पण करो और अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो । अत्यन्त यशस्वी महाराज सगर ने यह मनोरथ पूरा न कर पाया और अमित तेज वाले अंशुमान ने भी श्रीगङ्गा के लाने की प्रार्थना की, पर उनकी प्रतिज्ञा भी पूरी नहीं हो सकी । राजर्षियों में गुणवान् और महर्षियों के समान ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

मत्तुल्यतपसा चैव क्षत्रधर्मे स्थितेन च ।
दिलीपेन महाभाग तव पित्रातितेजसा ॥ १० ॥

तपस्या में हमारे तुल्य और क्षत्रीधर्म प्रतिपालक अति तेजस्वी तुम्हारे पिता महाभाग दिलीप ने ॥ १० ॥

पुनर्न शङ्किता नेतुं गङ्गां प्रार्थयताऽनघ ।
सा त्वया समतिक्रान्ता प्रतिज्ञा पुरुषर्षभ ॥ ११ ॥

श्रीगङ्गा की प्रार्थना की, पर वे भी ला न सके ; किन्तु हे पुरुषोत्तम ! तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की ॥ ११ ॥

प्राप्तोऽसि परमं लोके यशः परमसंमतम् ।
यच्च गङ्गावतरणं त्वया कृतमरिन्दम ॥ १२ ॥

हे शत्रुहन्ता ! तुम्हें बड़ा यश मिला, क्योंकि तुम श्रीगङ्गा
लाये ॥ १२ ॥

अनेन च भवान्प्राप्तो धर्मस्यायतनं महत् ।
प्लावयस्व त्वमात्मानं नरोत्तम सदोचिते ॥ १३ ॥

इस कार्य से आप धर्म के परमस्थान में पहुँच गये । हे नरोत्तम ! अब तुम भी सदा स्नान करने योग्य इन श्रीगङ्गा जी में स्नान करो ॥ १३ ॥

सलिले पुरुषव्याघ्र शुचिः पुण्यफलो भव ।
पितामहानां सर्वेषां कुरुष्व सलिलक्रियाम् ॥ १४ ॥

और हे पुरुषसिंह ! पवित्र हो कर पुण्यफल प्राप्त करो । तथा अपने समस्त पुरखों का तर्पण करो ॥ १४ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि स्वं लोकं गम्यतां नृप ।
इत्येवमुक्त्वा देवेशः सर्वलोकपितामहः ॥ १५ ॥
यथाऽऽगतं तथागच्छद्देवलोकं महायशाः ।
भगीरथोऽपि राजर्षिः कृत्वा सलिलमुत्तमम् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो । अब हम अपने लोक को जाते हैं, तुम भी अपनी राजधानी को जाओ । यह कह कर देवेश महायशस्वी ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये । राजर्षि भगीरथ ने भी श्रीगङ्गा जल से ॥ १५ ॥ १६ ॥

यथाक्रमं यथान्यायं सागराणां महायशाः ।
कृतोदकः शुची राजा स्वपुरं प्रविवेश ह ॥ १७ ॥

यथाविधि महायशस्वी सगरपुत्रों का तर्पण कर और पवित्र हो, अपनी राजधानी में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

समृद्धार्थो नरश्रेष्ठ स्वराज्यं प्रशशास ह ।
प्रमुमोद च लोकस्तं नृपमासाद्य राघव ॥ १८ ॥

और सब प्रकार के सुखों का उपभोग करते हुए राजा भगीरथ राज्य करने लगे। हे राघव! भगीरथ के पुनः राज्यशासन की बागडोर अपने हाथ में लेने से प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥ १८ ॥

नष्टशोकः समृद्धार्थो बभूव विगतज्वरः ।
एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ॥ १९ ॥

सब लोगों का दुःख दूर हो गया, सब की चिन्ता मिट गयी और सब धन धान्य से भरे पूरे हो गये। हे राम! यह मैंने तुमसे श्रीगङ्गावतरण की कथा विस्तार पूर्वक कही ॥ १९ ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते सन्ध्याकालोऽतिवर्तते ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुत्र्यं स्वर्ग्यमतीव च ॥ २० ॥

तुम्हारा मङ्गल हो। अब सन्ध्योपासन का समय हो चुका है, सन्ध्योपासन कीजिये। धन, धान्य, यश, आयु, पुत्र और स्वर्ग का देने वाला यह चरित्र ॥ २० ॥

यः श्रावयति विप्रेषु क्षत्रियेष्वितरेषु च ।
प्रीयन्ते पितरस्तस्य प्रीयन्ते दैवतानि च ॥ २१ ॥

जो कोई ब्राह्मण क्षत्रिय आदि को सुनाता, है उस पर पितर और देवता प्रसन्न होते हैं ॥ २१ ॥

इदमाख्यानमव्यग्रो गङ्गावतरणं शुभम् ।
यः शृणोति च काकुत्स्थ सर्वान्कामानवाप्नुयात् ।
सर्वे पापाः प्रणश्यन्ति आयुः कीर्त्तिश्च वर्धते ॥ २२ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रामचन्द्र ! इस श्रीगङ्गावतरण की शुभ कथा को जो कोई स्थिर चित्त हो सुनता है, उसकी सब मनोकामनाएँ पूरी होती हैं, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और उसकी आयु और कीर्त्ति की वृद्धि होती है ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विस्मयं परमं गत्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्र जी की बातें सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे विश्वामित्र जी से कहने लगे ॥ १ ॥

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन्कथितं परमं त्वया ।
गङ्गावतरणं पुण्यं सागरस्यापि पूरणम् ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपने श्रीगङ्गा जी का अवतरण और श्रीगङ्गाजल से समुद्र के पूर्ण होने का आख्यान तो बड़ा अद्भुत सुनाया ॥ २ ॥

तस्य सा शर्वरी सर्वा सह सौमित्रिणा तदा ।
जगाम चिन्तयानस्य विश्वामित्रकथां शुभाम् ॥ ३ ॥

इस कथा को सुनते सुनते वह रात बात की बात में बीत गयी अर्थात् मालूम ही न पड़ी कि, कब बीती, श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण सहित वह सारी रात उक्त उपाख्यान के चिन्तमन करने ही में व्यतीत की ॥ ३ ॥

ततः प्रभाते विमले विश्वामित्रं महामुनिम् ।
उवाच राघवो वाक्यं कृताह्निकमरिन्दमः ॥ ४ ॥

जब विमल प्रातःकाल हो गया, तब श्रीरामचन्द्र जी आह्निक कर्म कर चुकने पर, विश्वामित्र जी से बोले ॥ ४ ॥

गता भगवती रात्रिः श्रोतव्यं परमं श्रुतम् ।
क्षणभूतेव नौ रात्रिः संवृत्तेयं महातपः ॥ ५ ॥

हे महर्षि ! रात तो शुभ कथा के सुनने में व्यतीत हुई । हम लोगों को रात्रि क्षण के समान जान पड़ी ॥ ५ ॥

इमां चिन्तयतः सर्वां निखिलेन कथां तव ।
तराम सरितां श्रेष्ठां पुण्यां त्रिपथगां नदीम् ॥ ६ ॥

अब आइये आप की कथित समस्त कथा का चिन्तमन करते हुए नदियों में श्रेष्ठ और पुण्य देने वाली त्रिपथगा श्रीगङ्गा जी को पार करें ॥ ६ ॥

नौरेषा हि सुखास्तीर्णा ऋषीणां पुण्यकर्मणाम् ।
भगवन्तमिह प्राप्तं ज्ञात्वा त्वरितमागता ॥ ७ ॥

आपको आया हुआ जान सुख से पार करने वाली ऋषियों की यह सजी सजाई (अर्थात् जिसमें अच्छा बिछौना आदि बिछा हुआ था) नाव भी बहुत जल्द आ गयी है ॥ ७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
सन्तारं कारयामास सर्षिसङ्घः सराघवः ॥ ८ ॥

महात्मा श्रीराम के ये वचन सुन, विश्वामित्र जी ने मल्लाहों को बुलाया और ऋषिगण एवं राजकुमारों के साथ वे सब श्रीगङ्गा के पार हुए ॥ ८ ॥

उत्तरं तीरमासाद्य संपूज्यर्षिगणं तदा ।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम् ॥ ९ ॥

श्रीगङ्गा जी के दूसरे तट पर पहुँच कर, ऋषियों का सत्कार कर वे सब श्रीगङ्गा के तट पर बैठ कर सुस्ताने लगे और उन लोगों ने वहाँ से विशाला नाम्नी एक नगरी को देखा ॥ ९ ॥

ततो मुनिवरस्तूर्णं जगाम सहराघवः ।
विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा ॥१०॥

तदनन्तर विश्वामित्र जी वहाँ से तुरन्त दोनों राजकुमारों सहित, इन्द्रपुरी के समान अति सुन्दर विशाला नगरी में गये ॥ १० ॥

अथ रामो महाप्राज्ञो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
पप्रच्छ प्राञ्जलिर्भूत्वा विशालामुत्तमां पुरीम् ॥११॥

तब उस समय महाप्राज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर विश्वामित्र जी से विशाला पुरी का इतिहास पूँछा ॥ ११ ॥

कतरो राजवंशोऽयं विशालायां महामुने।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते परं कौतूहलं हि मे ॥ १२ ॥

हे महर्षे ! आपका मङ्गल हो। अब बतलाइये कि इस पुरी में किस वंश का राजा राज्य करता है। यह जानने के लिये मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है ॥ १२ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामस्य मुनिपुङ्गवः।
आख्यातुं तत्समारेभे विशालस्य पुरातनम् ॥ १३ ॥

मुनियों में श्रेष्ठ विश्वामित्र जी, श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन, विशाला पुरी का पुरातन इतिहास कहने लगे ॥ १३ ॥

श्रूयतां राम शक्रस्य कथां कथयतः शुभाम्।
अस्मिन्देशे तु यद्वृत्तं तदपि शृणु राघव ॥ १४ ॥

हे राम ! इस देश के सम्बन्ध में इन्द्र से मैंने जो वृत्तान्त सुना है उसे मैं कहता हूँ, तुम सुनो ॥ १४ ॥

पूर्वं कृतयुगे राम दितेः पुत्रा महाबलाः।
अदितेश्च महाभाग वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥ १५ ॥

पहले सतयुग में दिति के महाबली पुत्र (दैत्य) और अदिति के भाग्यवान् और अत्यन्त धर्मात्मा पुत्र (देवता) हुए ॥ १५ ॥

ततस्तेषां नरव्याघ्र बुद्धिरासीन्महात्मनाम्।
अमरा अजराश्चैव कथं स्याम निरामयाः ॥ १६ ॥

उन महात्मा बुद्धिमानों की यह इच्छा हुई कि, कोई ऐसा उपाय हो, जिससे हम लोग अजर, अमर और निरामय हो जावें, अर्थात्

रोग, मृत्यु और बुढ़ापे के कष्टों से हम सदा के लिये छुट्टी पा जावें ॥ १६ ॥

तेषां चिन्तयतां राम बुद्धिरासीन्महात्मनाम् ।
क्षीरोदमथनं कृत्वा रसं प्राप्स्याम तत्र वै ॥ १७ ॥

सोचते सोचते उन लोगों ने यह उपाय (ढूँढ़कर) निकाला कि, हम लोग क्षीरसमुद्र को मथें जिससे हमको अमृत मिले ॥ १७ ॥

ततो निश्चित्य मथनं योक्त्रं कृत्वा च वासुकिम् ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा ममन्थुरमितौजसः ॥ १८ ॥

ऐसा निश्चय कर वासुकि नाग को मन्थन की डोरी और मन्दराचल को मन्थनदण्ड (रई) बना, वे महापराक्रमी देवता समुद्र को मथने लगे ॥ १८ ॥

अथ वर्ष सहस्रेण योक्त्रसर्पशिरांसि च ।
वमन्त्यति विषं तत्र ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥ १९ ॥

हज़ार वर्ष तक मथने पर वासुकि विष उगलने लगे और (मन्दराचल की) शिलाओं को दांतों से काटने लगे ॥ १९ ॥

उत्पपाताग्निसंकाशं हालाहलमहाविषम् ।
तेन दग्धं जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ २० ॥

उससे अग्नि के समान हलाहल नाम का महाविष उत्पन्न हुआ और देव असुर तथा मनुष्यों सहित सारे संसार को जलाने लगा ॥ २० ॥

अथ देवा महादेवं शङ्करं शरणार्थिनः ।
जग्मुः पशुपतिं रुद्रं त्राहित्राहीति तुष्टुवुः ॥ २१ ॥

तब सब देवता महादेव अर्थात् श्रीशङ्कर जी के शरण में गये और "त्राहि त्राहि" (अर्थात् बचाइये बचाइये) कह कर उनकी स्तुति करने लगे ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्ततो देवैर्देवदेवेश्वरः प्रभुः ।
प्रादुरासीत्ततोऽत्रैव शङ्खचक्रधरो हरिः ॥ २२ ॥

देवताओं के इस आर्त्तनाद को सुन देवदेव महादेव जी तथा शङ्खचक्रधारी श्रीहरि वहाँ प्रकट हुए ॥ २२ ॥

उवाचैनं स्मितं कृत्वा रुद्रं शूलभृतं हरिः ।
दैवतैर्मथ्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम् ॥ २३ ॥

त्रिशूल धारण किये हुए श्रीमहादेव जी से भगवान् विष्णु ने हँस कर कहा कि, देवताओं के (समुद्र) मथने पर जो वस्तु सर्व प्रथम निकली है ॥ २३ ॥

तत्त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रजोसि यत् ।
अग्रपूजामिमां मत्वा गृहाणेदं विषं प्रभो ॥ २४ ॥

उसे हे सुरश्रेष्ठ ! आप ग्रहण कीजिये ; क्योंकि आप देवताओं के अगुआ हैं, अतः आप इसे अपनी अग्रपूजा जान कर, इस विष को ग्रहण कीजिये ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा च सुरश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत ।
देवतानां भयं दृष्ट्वा श्रुत्वा वाक्यं तु शार्ङ्गिणः ॥२५॥

यह कह कर सुरश्रेष्ठ भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये । तब देवताओं का कष्ट देख और भगवान् विष्णु के वचन सुन ॥ २५ ॥

हालाहलविषं घोरं स जग्राहामृतोपमम् ।
देवान्विसृज्य देवेशो जगाम भगवान्हरः ॥ २६ ॥

भगवान् शिव उस महाविष को अमृत की तरह पी . . . तदनन्तर देवताओं को छोड़ महादेव जी कैलास को लौट गये ॥ २६ ॥

ततो देवा सुराः सर्वे ममन्थू रघुनन्दन ।
प्रविवेशाथ पातालं मन्थानः पर्वतोनघ ॥ २७ ॥

हे रघुनन्दन ! देवता और दैत्य पुनः समुद्र मथने लगे । किन्तु मन्थनदण्ड मन्दराचल धीरे धीरे पाताल की ओर अर्थात् (नीचे की ओर जाने (खसकने) लगा ॥ २७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ।
त्वंगतिः सर्वभूतानाम् विशेषेण दिवौकसाम् ॥ २८ ॥

तब देवता और गन्धर्व मिल कर भगवान् विष्णु की स्तुति कर कहने लगे, वे बोले—हे भगवन् ! आप सब प्राणियों के स्वामी हैं और विशेष कर देवताओं के तो आप सर्वस्व ही है ॥ २८ ॥

पालयास्मान्महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि ।
इति श्रुत्वा हृषीकेशः कामठं रूपमास्थितः ॥ २९ ॥

अतः हे महाबाहो ! आप हम सब की रक्षा कीजिये और नीचे जाते हुए मन्दराचल को उठाइये । यह सुन कर भगवान् विष्णु ने कच्छप का रूप धारण किया ॥ २९ ॥

पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधौ हरिः ।
पर्वताग्रं तु लोकात्मा हस्तेनाक्रम्य केशव ॥ ३० ॥

भगवान् ने जल में जा मन्दराचल को अपनी पीठ पर धारण किये और उसके आगे के सिरे को अपने हाथ से थाम, ॥ ३० ॥

देवानां मध्यतः स्थित्वा ममन्थ पुरुषोत्तम ।
अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयः पुन ॥ ३१ ॥

देवताओं के बीच खड़े हो कर भगवान् पुरुषोत्तम समुद्र मथने लगे । एक हज़ार वर्ष इस प्रकार समुद्र का मंथन करने के बाद आयुर्वेद के आचार्य ॥ ३१ ॥

उदतिष्ठत्स धर्मात्मा सदण्डं सकमण्डलुः ।
पूर्वं धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः ॥ ३२ ॥

धर्मात्मा धन्वन्तर जी हाथों में दण्ड कमण्डलु लिये हुए निकले । हे राम ! तदनन्तर सुन्दर अप्सराएं निकलीं ॥ ३२ ॥

अप्सु निर्मथनादेव रसस्तस्माद्वरस्त्रियः ।
उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् ॥ ३३ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! उनका नाम अप्सरा इसलिये पड़ा कि, अप अर्थात् जल और सर अर्थात् निकलीं । अर्थात् जो जल से निकली हों । हे राम ! जल से निकलने के कारण वे सुन्दर स्त्रियां अप्सरा कहलायीं ॥ ३३ ॥

षष्टिः कोट्योऽभवंस्तासामप्सराणां सुवर्चसाम् ।
असंख्येयास्तु काकुत्स्थ यास्तासां परिचारिकाः ॥३४॥

हे राम ! ये सुन्दरी अप्सराओं की संख्या साठ हज़ार थी और इनकी दासियों की संख्या तो इतनी अधिक थी कि, उसकी गणना नहीं हो सकती अर्थात् वे असंख्य थीं ॥ ३४ ॥

न ताः स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देवदानवाः ।
अप्रतिग्रहणात्ताश्च सर्वाः साधारणाः स्मृताः ॥३५॥

उनको, न तो देवताओं ने और न दैत्यों ने ही लेना पसंद किया। अतः जब उन्हें किसी ने लेना स्वीकार न किया तब वे साधारण स्त्रियाँ (अर्थात् सर्वसाधारण की सम्पत्ति (Public-women) कहलायीं ॥ ३५ ॥

वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन ।
उत्पपात महाभागा मार्गमाणा परिग्रहम् ॥ ३६ ॥

हे रघुनन्दन ! तदनन्तर वरुणदेव की कन्या वारुणी उत्पन्न हुई और अपने ग्रहण करने वाले अर्थात् ग्राहक को खोजने लगी ॥ ३६ ॥

दितेः पुत्रा न तां राम जगृहुर्वरुणात्मजाम् ।
अदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३७ ॥

हे राम ! दिति के पुत्रों ने तो वरुण की बेटी को ग्रहण न किया, किन्तु अदिति के पुत्रों ने उस *अनिन्दित वारुणी यानी सुरा को ग्रहण किया ॥ ३७ ॥

असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः ।
हृष्टाः प्रमुदिताश्चासन्वारुणीग्रहणात्सुराः ॥ ३८ ॥

---

* रामाभिरामी टीकाकार ने "अनिन्दिताम्" के ऊपर यह टिप्पणी चढ़ाई है:— "अदितिसुताङ्गीकारेहेतुरनिंदितामिति, निषेधशास्त्रंतुमानुषविषयं, शास्त्रे देवतानाममधिकारात्" ॥

सुरा अर्थात् मदिरा को न ग्रहण करने वाले असुर और ग्रहण करने वाले सुर कहलाये। सुर अर्थात् देवता, सुरा को ग्रहण कर आनन्दित हुए॥ ३८॥

उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो मणिरत्नं च कौस्तुभम्।
उदतिष्ठन्नरश्रेष्ठ तथैवामृतमुत्तमम्॥ ॥ ३९॥

हे राम! फिर उच्चैश्रवा (ऊंचे कानों वाला अथवा ऊँचा सुनने वाला या बहरा) नाम का घोड़ा, फिर कौस्तुभमणि और तदनन्तर उत्तम अमृत निकला॥ ३९॥

अथ तस्य कृते राम महानासीत्कुलक्षयः।
अदितेस्तु ततः पुत्रा दितेः पुत्रानयूधयन्॥ ४०॥

हे राम! जिसके (अमृत के) कारण दोनों कुल वालों की (सुर असुरों की) बड़ी बरबादी हुई। क्योंकि अदिति के पुत्र, दिति के पुत्रों के साथ (अमृत के लिये) लड़ पड़े॥ ४०॥

एकतोऽभ्यागमन्सर्वे ह्यसुरा राक्षसैः सह।
युद्धमासीन्महाघोरं वीर त्रैलोक्यमोहनम्॥ ४१॥

सब असुर राक्षसों से मिल गये। हे राम! तीनों लोकों को मोहने वाला सुरों असुरों का घोर युद्ध हुआ॥ ४१॥

यदा क्षयं गतं सर्वं तदा विष्णुर्महाबलः।
अमृतं सोऽहरत्तूर्णं मायामास्थाय मोहिनीम्॥ ४२॥

जब दोनों पक्ष के बहुत से योद्धा मारे गये, तब भगवान् विष्णु ने मोहिनी माया को फैला कर उनसे अमृत छीन लिया॥ ४२॥

ये गताऽभिमुखं विष्णुमक्षयं पुरुषोत्तमम् ।
संपिष्टास्ते तदा युद्धे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४३ ॥

अविनाशी भगवान् विष्णु का जिसने सामना किया उन सब को भगवान् विष्णु ने मार डाला ॥ ४३ ॥

अदितेरात्मजा वीरा दितेः पुत्रान्निजघ्निरे ।
तस्मिन्युद्धे महाघोरे दैतेयादित्ययोर्भृशम् ॥ ४४ ॥

इस देवता और दैत्यों के घोर संग्राम में अदित के पुत्रों ने अर्थात् देवताओं ने दिति के पुत्रों को अर्थात् असुरों को छिन्न भिन्न कर दिया । अर्थात् इस युद्ध में दैत्य वहुत से मारे गये ॥ ४४ ॥

निहत्य दितिपुत्रांश्च राज्यं प्राप्य पुरन्दरः ।
शशास मुदितो लोकान्सर्षिसङ्घान्सचारणान् ॥ ४५ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

दिति के पुत्रों अर्थात् असुरों को मार कर इन्द्र ने राज्य पाया और वे ऋषियों और चारणों सहित प्रसन्न हो शासन करने लगे ॥ ४५ ॥

बालकाण्ड का पैतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

हतेषु तेषु पुत्रेषु दितिः परमदुःखिता ।
मारीचं कश्यपं राम भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

हे राम ! दिति अपने पुत्रों के मारे जाने पर अत्यन्त दुःखी हो मरीच के पुत्र और अपने पति कश्यप से बोली ॥ १ ॥

हतपुत्राऽस्मि भगवंस्तव पुत्रैर्महाबलैः ।
शक्रहन्तारमिच्छामि पुत्रं दीर्घतपोर्जितम् ॥ २ ॥

हे भगवन् ! तुम्हारे बलवान् पुत्रों ने मेरे पुत्रों को मार डाला है । अतः मैं इन्द्र का मारने वाला पुत्र चाहती हूँ, भले ही वह बड़ी तपस्या करने पर ही क्यों न प्राप्त हो ॥ २ ॥

साऽहं तपश्चरिष्यामि गर्भं मे दातुमर्हसि ।
बलवन्तं महेष्वासं स्थितिज्ञं समदर्शिनम् ॥ ३ ॥

मैं तपस्या करूँगी आप मुझे ऐसा गर्भ दीजिये जिसमें बलवान्, महाविजयी, दृढ़ बुद्धि वाला, समदर्शी ॥ ३ ॥

ईश्वरं शक्रहन्तारं त्वमनुज्ञातुमर्हसि ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा मारीचः काश्यपस्तदा ॥ ४ ॥

तीनों लोकों का स्वामी और इन्द्र को मारने वाला पुत्र जन्मे । तब दिति के यह वचन सुन, मरीचसुत कश्यप जी, ॥ ४ ॥

प्रत्युवाच महातेजा दितिं परमदुःखिताम् ।
एवं भवतु भद्रं ते शुचिर्भव तपोधने ॥ ५ ॥

जो बड़े तेजस्वी थे, अत्यन्त दुखी दिति से बोले । तेरा कल्याण हो और जैसा तू चाहती है, वैसा ही हो । हे तपोधने ! तू पवित्र हो ॥ ५ ॥

जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शक्रहन्तारमाहवे ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यसि ॥ ६ ॥

तू ऐसा ही पुत्र जनेगी जो युद्ध में इन्द्र का मारने वाला होगा। किन्तु यह तभी होगा जब तू पूरे एक हज़ार वर्ष पवित्रता से रहैगी ॥ ६ ॥

पुत्रं त्रैलोक्यभर्तारं मत्तस्त्वं[1] जनयिष्यसि ।
एवमुक्त्वा महातेजाः पाणिना स ममार्ज[2] ताम् ॥७॥

मेरे अनुग्रह से तीनों लोकों का स्वामी पुत्र तेरे उत्पन्न होगा। इस प्रकार कह और दिति को आश्वासन दे ॥ ७ ॥

समालभ्य ततः स्वस्तीत्युक्त्वा स तपसे ययौ ।
गते तस्मिन्नरश्रेष्ठ दितिः परमहर्षिता ॥ ८ ॥

और उसका पेट हाथ से सुहरा कर तथा उसे आशीर्वाद दे कश्यप जी तपस्या करने चले गये। हे पुरुषोत्तम ! उनके जाने के बाद दिति बहुत प्रसन्न हुईं ॥ ८ ॥

कुशप्लवनमासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम् ।
तपस्तस्यां हि कुर्वन्त्यां परिचर्यां चकार ह ॥ ९ ॥
सहस्राक्षो नरश्रेष्ठ परया गुणसम्पदा ।
अग्निं कुशान्काष्ठमपः फलं मूलं तथैव च ॥ १० ॥
न्यवेदयत्सहस्राक्षो यच्चान्यदपि काङ्क्षितम् ।
गात्रसंवहनैश्चैव श्रमापनयनैस्तथा ॥ ११ ॥

---

१ मत्तः मदनुग्रहादित्यर्थः (गो०) २ ममार्जेत्याश्वासनप्रकारः (गो०)

और कुशप्लव नामक वन में जा घोर तप करने लगी। हे राम! उसको तप करते देख, इन्द्र बड़ी भक्ति के साथ उसकी सेवा करने लगे। अग्नि, कुश, लकड़ी, फल, मूल आदि जिन जिन वस्तुओं की दिति को आवश्यकता पड़ती, इन्द्र उन्हें बड़ी विनय के साथ ला देते थे और जब तप करने के कारण दिति का शरीर श्रान्त हो जाता, तब उसका शरीर भी दबाया करते ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

शक्रः सर्वेषु कालेषु दितिं परिचचार ह ।
अथ वर्षसहस्रे तु दशोने रघुनन्दन ॥ १२ ॥

इन्द्र सदा ही दिति की परिचर्या में लगे रहते थे। हे राम! इस प्रकार करते करते जब एक हज़ार वर्ष पूरे होने में केवल दस वर्ष बाकी रह गये ॥ १२ ॥

दितिः परमसंप्रीता सहस्राक्षमथाब्रवीत् ।
याचितेन सुरश्रेष्ठ तव पित्रा महात्मना ॥ १३ ॥

वरो वर्षसहस्रान्ते मम दत्तः सुतं प्रति ।
तपश्चरन्त्या वर्षाणि दश वीर्यवतां वर ॥ १४ ॥

अवशिष्टानि भद्रं ते भ्रातरं द्रक्ष्यसे ततः ।
तमहं त्वत्कृते पुत्रं समाधास्ये जयोत्सुकम् ॥ १५ ॥

तब दिति ने इन्द्र से परम हर्षित हो कर कहा—हे इन्द्र! तुम्हारे पिता ने मुझे माँगने पर एक हज़ार वर्ष बीतने पर पुत्र होने का वर दिया है। सो तप करते करते अब केवल दस वर्ष और शेष रह गये हैं। सो इसके बाद तुम (अपने) भाई को देखोगे। यद्यपि मैं उसे तुम्हें जीतने के लिये उत्पन्न करना चाहती हूँ ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥ १५ ॥

त्रैलोक्यविजयं पुत्र सह भोक्ष्यसि विज्वरः ।
एवमुक्त्वा दितिः शक्रं प्राप्ते मध्यं दिवाकरे ॥१६॥

तथापि उसके साथ तुम तीनों लोकों को विजय कर राज्य सुख भोगोगे। तुम किसी बात की चिन्ता मत करो। दिति ने इस प्रकार इन्द्र से कहा और इतने में दो पहर हो गया ॥ १६ ॥

निद्रयाऽपहृता देवी पादौ कृत्वाऽथ शीर्षतः ।
दृष्ट्वा तामशुचिं शक्रः पादतः कृतमूर्धजाम् ॥ १७ ॥

शिरःस्थाने कृतौ पादौ जहास च मुमोद च ।
तस्याः शरीरविवरं विवेश च पुरन्दरः ॥ १८ ॥

दिति को नींद आ गयी और वह पैताने की ओर सिर कर उल्टी सो गयी। उसको सिराहने की ओर पैर और पैताने की ओर सिर किये सोती हुई अपवित्र दशा में देख, इन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और हँसे। फिर वे उसके शरीर में घुस गये ॥ १७ ॥ १८ ॥

गर्भं च सप्तधा राम बिभेद परमात्मवान् ।
भिद्यमानस्ततो गर्भो वज्रेण शतपर्वणा ॥ १९ ॥

हे राम! धैर्यवान् इन्द्र ने अपने असंख्य धारों वाले वज्र से गर्भस्थ बालक के शरीर के सात टुकड़े कर डाले ॥ १९ ॥

रुरोद सुस्वरं राम ततो दितिरबुध्यत ।
मा रुदो मा रुदश्चेति गर्भं शक्रोऽभ्यभाषत ॥ २० ॥

इस पर गर्भस्थ बालक जब रोने लगा तब दिति की नींद उचकी। इन्द्र ने गर्भस्थ बालक से कहा, मत रो, मत रो ॥ २० ॥

विभेद च महातेजा रुदन्तमपि वासवः ।
न हन्तव्यो न हन्तव्य इत्येवं दितिरब्रवीत् ॥ २१ ॥

न्द्र रोते हुए बालक को भी पुनः काटने लगे। तब दिति इन्द्र से कहने लगी—अरे मत मारे! मत मारे!! ॥ २१ ॥

निष्पपात ततः शक्रो मातुर्वचनगौरवात् ।
प्राञ्जलिर्वज्रसहितो दितिं शक्रोऽभ्यभाषत ॥ २२ ॥

इन्द्र माता का कहना मान उदर के बाहिर निकल आये और वज्र सहित हाथ जोड़ कर, वे दिति से कहने लगे ॥ २२ ॥

अशुचिर्देवि सुप्तासि पादयोः कृतमूर्धजा ।
तदन्तरमहं लब्ध्वा शक्रहन्तारमाहवे ।
अभिदं सप्तधा देवि तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे देवी! तू पैरों की ओर सिर कर सोई हुई थी। इससे तू अशुचि हो गयी। इस अवसर को पा मैंने अपने मारने वाले के सात टुकड़े कर डाले। इसके लिये तू मुझे क्षमा कर दे ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—:※:—

सप्तधा तु कृते गर्भे दितिः परमदुःखिता ।
सहस्राक्षं दुराधर्षं वाक्यं सानुनयाऽब्रवीत् ॥ १ ॥

जब गर्भ के सात टुकड़े हो गये तब दिति बड़ी विकल हुई और दुराधर्ष इन्द्र से बड़ी विनय के साथ बोली ॥ १ ॥

ममापराधाद्गर्भोऽयं सप्तधा विफलीकृतः ।
नापराधोऽस्ति देवेश तवात्र बलसूदन ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! हे बलसूदन ! मेरी भूल से मेरे गर्भ के सात टुकड़े हुए । इसमें तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं है ॥ २ ॥

प्रियं तु कर्तुमिच्छामि मम गर्भविपर्यये ।
मरुतां सप्त सप्तानां स्थानपाला भवन्त्विमे ॥ ३ ॥

यह गर्भ तो बिगड़ ही चुका, किन्तु इस पर भी मैं तुम्हारा और अपना हित चाहती हूँ । अतः ये सात—उनचास पवनों के स्थानपाल हों ॥ ३ ॥

वातस्कन्धा इमे सप्त चरन्तु दिवि पुत्रक ।
मारुता इति विख्याता दिव्यरूपा ममात्मजाः ॥ ४ ॥

दिव्य रूप वाले मेरे ये सातों पुत्र वातस्कन्ध मारुत के नाम से विख्यात हो कर, आकाश में विचरण करें ॥ ४ ॥

ब्रह्मलोकं चरत्वेक इन्द्रलोकं तथाऽपरः ।
दिवि वायुरिति ख्यातस्तृतीयोपि महायशाः ॥ ५ ॥

इनमें से एक ब्रह्मलोक में, दूसरा इन्द्रलोक में और महायशस्वी तीसरा वायु के नाम से आकाश में विचरे ॥ ५ ॥

चत्वारस्तु सुरश्रेष्ठ दिशो वै तव शासनात् ।
संचरिष्यन्ति भ ते देवभूता ममात्मजाः ॥ ६ ॥

हे इन्द्र! शेष मेरे चारों पुत्र तुम्हारी आज्ञा के अनुसार देवता बन कर दिशाओं में घूमा करें ॥ ६ ॥

त्वत्कृतेनैव नाम्ना च मारुता इति विश्रुताः ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः ॥ ७ ॥

और ये सब के सब तुम्हारे रखे हुए मारुत नाम से प्रसिद्ध हों। दिति के ये वचन सुन सहस्राक्ष इन्द्र ॥ ७ ॥

उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं दितिं बलनिषूदनः ।
सर्वमेतद्यथोक्तं ते भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥

दिति से हाथ जोड़ कर बोले, तुमने जैसा कहा निश्चय वैसा ही होगा—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥ ८ ॥

विचरिष्यन्ति भद्रं ते देवभूतास्तवात्मजाः ।
एवं तौ निश्चयं कृत्वा मातापुत्रौ तपोवने ॥ ९ ॥

तुम्हारे पुत्र देव रूप हो कर विचरेंगे उस तपोवन में इस प्रकार समझौता कर माता और पुत्र—दोनों ॥ ९ ॥

जग्मतुस्त्रिदिवं राम कृतार्थाविति नः श्रुतम् ।
एष देशः स काकुत्स्थ महेन्द्राध्युषितः पुरा ॥ १० ॥
दितिं यत्र तपःसिद्धामेवं परिचचार सः ।
इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ११ ॥

हे राम! कृतार्थ हो स्वर्ग गये। मैंने यही सुना है। हे रामचन्द्र! यह वही देश है, जहाँ इन्द्र ने तपःसिद्धा माता दिति को

सेवा की थी। हे पुरुषसिंह! इक्ष्वाकु के परम धार्मिक पुत्र ॥ १० ॥ ११ ॥

अलम्बुसायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता ॥ १२ ॥

विशाल ने, जो अलम्बुसा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, यहाँ पर यह विशाला नगरी बसाई ॥ १२ ॥

विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः ॥ १३ ॥

हे राम! विशाल का महाबलवान् हेमचन्द्र नामक पुत्र हुआ। फिर हेमचन्द्र के सुचन्द्र नामक पुत्र हुआ ॥ १३ ॥

सुचन्द्रतनयो राम धूम्राश्व इति विश्रुतः।
धूम्राश्वतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत ॥ १४ ॥

हे राम! सुचन्द्र के धूम्राश्व हुआ और धूम्राश्व के सृञ्जय नाम का पुत्र हुआ ॥ १४ ॥

सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान्सहदेवः प्रतापवान्।
कुशाश्वः सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः ॥ १५ ॥

फिर सृञ्जय के बड़ा प्रतापी श्रीमान् सहदेव नाम का पुत्र हुआ। सहदेव का पुत्र कुशाश्व हुआ जो बड़ा धर्मात्मा था ॥ १५ ॥

कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान्।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः ॥ १६ ॥

कृशाश्व के महातेजस्वी और प्रतापी सोमदत्त हुआ। फिर सोमदत्त के काकुत्स्थ नाम का पुत्र हुआ॥ १६॥

तस्य पुत्रो महातेजाः संप्रत्येष पुरीमिमाम्।
आवसत्परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः॥ १७॥

उसीके महातेजस्वी, परम प्रसिद्ध और दुर्जेय पुत्र राजा सुमति आजकल इस विशाला पुरी में राज्य करते हैं॥ १७॥

इक्ष्वाकोस्तु प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः।
दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः॥ १८॥

महाराज इक्ष्वाकु की कृपा से विशाला पुरी के समस्त राजा दीर्घायु, महात्मा, पराक्रमी तथा बड़े धर्मिष्ठ होते रहे हैं॥ १८॥

इहाद्य रजनीं राम सुखं वत्स्यामहे वयम्।
श्वः प्रभाते नरश्रेष्ठ जनकं द्रष्टुमर्हसि॥ १९॥

हे राम! आज की रात हम यहीं पर सुख पूर्वक ठहरेंगे। कल प्रातःकाल पुरुषों में श्रेष्ठ महाराज जनक जी से भेंट करेंगे॥ १९॥

सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम्।
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठः प्रत्युद्गच्छन्महायशाः॥ २०॥

इस बीच में राजाओं में श्रेष्ठ महातेजस्वी और महायशस्वी राजा सुमति ने विश्वामित्र जी के आने का समाचार सुना और वे उनकी अगवानी को गये॥ २०॥

पूजां च परमां कृत्वा सोपाध्यायः सबान्धवः।
प्राञ्जलिः कुशलं पृष्ट्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत्॥ २१॥

उपाध्याय तथा वन्धु वान्धवों के साथ उनका भली भांति पूजन कर तथा हाथ जोड़ कर कुशलादि पूंछी। तदनन्तर वे विश्वामि जी से बोले ॥ २१ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे विषयं मुनिः ।
संप्राप्तो दर्शनं चैव नास्ति धन्यतरो मया ॥ २२ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे मुनि! आज मैं धन्य हूँ जो आपने मेरे राज्य में पधार कर मुझे दर्शन दिये। मुझसे बढ़ कर धन्य आज और कोई नहीं है ॥ २२ ॥

वालकाण्ड का सैंतालीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

पृष्ट्वा तु कुशलं तत्र परस्परसमागमे।
कथान्ते सुमतिर्वाक्यं व्याजहार महामुनिम् ॥ १ ॥

भेंट के अवसर पर परस्पर कुशलप्रश्न के अनन्तर राजा सुमति ने महर्षि विश्वामित्र जी से कहा ॥ १ ॥

इमौ कुमारौ भद्रं[1] ते देवतुल्यपराक्रमौ ।
गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ॥ २ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणीधनुर्धरौ ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥ ३ ॥

१ इदिंदापामाभूदित्याह—भद्रंतइति (गो०)

यदृच्छयैव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने॥ ४॥

हे मुने! (भगवान् करें) इन्हें नज़र न लगे, यह तो बतलाइये कि, ये दोनों कुमार, जो देवताओं के समान पराक्रम वाले हैं, जो गजसिंह शार्दूल और वृषभ के समान चाल चलने वाले हैं, जो कमल जैसे नेत्र वाले हैं, जो खड्ग तरकस और धनुष धारण किये हुए हैं, जो अश्विनी कुमारों जैसे सुस्वरूप हैं, जो जवानी की सीमा पर पहुँचे हुए हैं, जो देवताओं की तरह निज इच्छानुसार पृथिवीतल पर आये हुए हैं, पांव प्यादे अर्थात् पैदल कैसे और किस लिये यहां आये हैं और किस के पुत्र हैं॥ २॥ ३॥ ४॥

[नोट—ऊपर राजा सुमति ने राजकुमारों को गज, सिंह, शार्दूल तथा वृषभ जैसी चाल चलने वाला बतलाया है अथवा राजकुमारों की चाल की इन चार प्रसिद्ध पराक्रमी जीवों से उपमा दी है। इसका अभिप्राय यहाँ उतना आवश्यक जान पड़ता है। श्रीगोविन्दराज जी लिखते हैं (१) "गाम्भीर्यगमने गजतुल्यौ"—गाम्भीर्यगमन में गज के समान गति वाले। (२) पराभिभवनार्हगमने सिंहतुल्यौ"—दूसरे का पराभव करने को जाते समय सिंह के समान गमन करने वाले (३) "भयङ्करगमने शार्दूल तुल्यौ" भयङ्कर चाल चलने में शार्दूल के समान। (४) "सगर्वगमने वृषभ सदृशावित्यर्थ" गर्व सहित चलने में साँड़ के समान।]

भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम्।
परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः॥ ५॥

इन दोनों ने इस देश को वैसे ही सुशोभित किया है जैसे सूर्य और चन्द्रमा आकाश को सुशोभित करते हैं। डीलडौल, बातचीत और चेष्टा से ये दोनों समान अर्थात् भाई जान पड़ते हैं॥ ५॥

किमर्थं च नरश्रेष्ठौ संप्राप्तौ दुर्गमे पथि ।
वरायुधधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ६ ॥

ये दोनों नरश्रेष्ठ वीर, श्रेष्ठ आयुधों को धारण किये हुए, इस दुर्गम मार्ग में किस लिये आये हैं? मैं इनका पूरा पूरा हाल सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा यथावृत्तं न्यवेदयत् ।
सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं तथा ॥ ७ ॥

सुमति के प्रश्न को सुन, विश्वामित्र ने उनके (राजकुमारों के) सिद्धाश्रम में रहने और राक्षसों के मारने का जो वृत्तान्त था सो सब कहा ॥ ७ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राजा परमहर्षितः ।
अतिथी परमौ प्राप्तौ पुत्रौ दशरथस्य तौ ॥ ८ ॥

राजा सुमति विश्वामित्र जी के वचन सुन अत्यन्त हर्षित हुए और उन दोनों दशरथनन्दनों को परमपवित्र अतिथि मान ॥ ८ ॥

पूजयामास विधिवत्सत्कारार्हौ महाबलौ ।
ततः परमसत्कारं सुमतेः प्राप्य राघवौ ॥ ९ ॥

उनका विधिवत् पूजन किया और सत्कार करने योग्य दोनों महाबलवानों का अच्छी तरह सत्कार किया । श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, राजा सुमति से सत्कार प्राप्त कर ॥ ९ ॥

उष्य तत्र निशामेकां जग्मतुर्मिथिलां ततः ।
तान्दृष्ट्वा मुनयः सर्वे जनकस्य पुरीं शुभाम् ॥ १० ॥

एक रात वहां ठहरे। दूसरे दिन मिथिलापुरी को प्रस्थानित हुए, और महाराज जनक की सुन्दरपुरी को देख सब ... ॥ १० ॥

साधु साध्विति शंसन्तो मिथिलां समपूजयन्।
मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृश्य राघवः ॥ ११ ॥
पुराणं निर्जनं रम्यं पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्।
श्रीमदाश्रमसंकाशं किं न्विदं मुनिवर्जितम् ॥ १२ ॥

"वाह वाह" कह उसकी प्रशंसा करने लगे। श्रीरामचन्द्र जी ने मिथिलापुरी के एक उपवन में एक पुराना, निर्जन किन्तु रमणीक आश्रम देख कर विश्वामित्र जी से पूँछा कि, हे मुने! यह आश्रम तो परम शोभायमान है, परन्तु इसमें कोई ऋषि रहता हुआ नहीं देख पड़ता, सो यह बात क्या है? ॥ ११ ॥ १२ ॥

श्रोतुमिच्छामि भगवन्कस्यायं पूर्व आश्रमः।
तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥१३॥

हे भगवन्! मैं सुनना चाहता हूँ कि, पहले यह किसका आश्रम था? श्रीरामचन्द्र जी का कथन सुन, वाक्यविशारद (बातचीत करने में परम निपुण) ॥ १३ ॥

प्रत्युवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।
हन्त ते कथयिष्यामि शृणु तत्त्वेन राघव ॥ १४ ॥

महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र जी ने कहा—हे राघव! मैं तुमसे यथार्थ वृत्तान्त कहूँगा उसे तुम सुनो कि, ॥ १४ ॥

यस्यैतदाश्रमपदं शप्तं कोपान्महात्मना ।
गौतमस्य नरश्रेष्ठ पूर्वमासीन्महात्मनः ॥ १५ ॥

जिसका यह आश्रम है और जैसे एक महात्मा ने क्रोध से इसे शाप दिया था। हे राम! पूर्वकाल में यह आश्रम गौतम का था ॥ १५ ॥

आश्रमो दिव्यसंकाशः सुरैरपि सुपूजितः ।
स चेह तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा ॥ १६ ॥

वर्षपूगाननेकांश्च राजपुत्र महायशः ।
कदाचिद्दिवसे राम ततो दूरं गते मुनौ ॥ १७ ॥

यह देवताओं जैसा आश्रम था और देवता इसकी वन्दना करते थे। इस आश्रम में अहल्या के साथ उन मुनि ने बहुत वर्षों तक तप किया। हे महायशस्वी श्रीराम! किसी दिन गौतमऋषि कहीं दूर चले गये ॥ १६ ॥ १७ ॥

तस्यान्तरं विदित्वा तु सहस्राक्षः शचीपतिः ।
मुनिवेषधरोऽहल्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

आश्रम में मुनि को अनुपस्थित देख कर सहस्राक्ष शचीपति इन्द्र ने गौतम का रूप धारण कर अहल्या से कहा ॥ १८ ॥

ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते ।
संगमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥ १९ ॥

कि कामी पुरुष ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं करते। हे सुन्दरी! अतः आज हम तेरे साथ मैथुन करना चाहते हैं ॥ १९ ॥

मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन ।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात् ॥ २० ॥

हे रघुनन्दन ! मुनिवेष धारण किये हुए इन्द्र को पहिचान कर भी दुष्टा अहल्या ने प्रसन्नता पूर्वक इन्द्र के साथ भोग किया ॥ २० ॥

अथाब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना ।
कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २१ ॥

तदनन्तर वह (अहल्या) इन्द्र से बोली, हे इन्द्र ! मेरा मनोरथ पूरा हो गया, अतः हे देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र ! यहाँ से अब तुम शीघ्र चले जाओ ॥ २१ ॥

आत्मानं मां च देवेश सर्वदा रक्ष मानद ।
इन्द्रस्तु प्रहसन्वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

हे मानद ! (अर्थात् इज्ज़त बढ़ाने वाले) अपनी और मेरी सदा रक्षा (गैातम से) करते रहिये । इसके उत्तर में इन्द्र ने भी हँस कर यह कहा ॥ २२ ॥

सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम् ।
एवं संगम्य तु तया निश्चक्रामोटजात्ततः ॥ २३ ॥

हे सुश्रोणि (सुन्दर कटि वाली) मैं तेरे साथ भोग करने से तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ । मैं अब आनन्द पूर्वक अपने स्थान को जाऊँगा । यह कह इन्द्र अहल्या की कुटी के बाहिर निकले ॥ २३ ॥

स संभ्रामात्त्वरन्राम शङ्कितो गैातमं प्रति ।
गैातमं स ददर्शाथ प्रविशन्तं महामुनिम् ॥ २४ ॥

हे राम! गौतम के भय से इन्द्र उस समय विकल और सशङ्कित थे कि, उन्होंने कुटी में गौतम को प्रवेश करते देखा ॥ २४ ॥

देवदानवदुर्धर्षं तपोबलसमन्वितम् ।
तीर्थोदकपरिक्लिन्नं दीप्यमानमिवानलम् ॥ २५ ॥

वे ऋषि, देवों और दानवों से न जीते जाने वाले, तपोबल से युक्त, तीर्थ के जल से भींगे हुए, अग्नि के तुल्य प्रकाशमान् ॥ २५ ॥

गृहीतसमिधं तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम् ।
दृष्ट्वा सुरपतिस्त्रस्तो विवर्णवदनोऽभवत् ॥ २६ ॥

तथा हवन के लिये लकड़ियाँ और कुश हाथों में लिये हुए थे। उनको देखते ही इन्द्र बहुत डरे और उनका चेहरा फीका पड़ गया ॥ २६ ॥

अथ दृष्ट्वा सहस्राक्षं मुनिवेषधरं मुनिः ।
दुर्वृत्तं वृत्तसंपन्नो रोषाद्वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

गौतम जी ने, इन्द्र को अपना रूप धारण किये हुए देख और (उनके चेहरे से) यह जान कर कि, वे असत्कर्म कर के जा रहे हैं, क्रोध में भर यह शाप दिया ॥ २७ ॥

मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते ।
अकर्तव्यमिदं तस्माद्विफलस्त्वं[1] भविष्यसि ॥ २८ ॥

अरे दुष्ट! मेरा रूप बना कर तूने इस अनकरने योग्य काम को किया है अतः तू अण्डकोश रहित अर्थात् नपुंसक हो जा ॥ २८ ॥

* विफलः—विगतवृषणः (गो०) अण्डकोष रहित ।

गौतमेनैवमुक्तस्य सरोषेण महात्मना ।
पेततुर्वृषणौ भूमौ सहस्राक्षस्य तत्क्षणात् ॥ २९ ॥

महात्मा गौतम के कुपित हो कर यह शाप देते ही उसी तण इन्द्र के दोनों वृषण (अण्डकोश) ज़मीन पर गिर पड़े ॥ २६ ॥

तथा शप्त्वा स वै शक्रमहल्यामपि शप्तवान् ।
इह वर्षसहस्राणि बहूनि त्वं निवत्स्यसि ॥ ३० ॥

इस प्रकार इन्द्र को शाप दे, गौतम जी ने अहल्या को भी शाप दिया कि, तू इसी स्थान पर हज़ारों वर्ष तक वास करेगी ॥ ३० ॥

वायुभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी ।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन्निवत्स्यसि ॥ ३१ ॥

और तेरा भोजन केवल पवन होगा और कुछ भी न खा सकेगी, (मेरे शाप से) अपनी करनी का फल भोगती हुई भस्म में लोटा करेगी । तू इसी स्थान पर अदृश्य हो कर रहेगी अर्थात् तुझे कोई भी प्राणी नहीं देख सकेगा ॥ ३१ ॥

यदा चैतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः ।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ॥ ३२ ॥

जब इस घोर वन* में महाराज दशरथ के पुत्र अजेय श्रीरामचन्द्र पधारेंगे तब तू पवित्र होगी अर्थात् मेरे इस शाप से मुक्त

* अभी तक तो वह स्थान सुरम्य मुनिआश्रम था, किन्तु तब से वह मुनि के शाप से निर्जन वन हो गया ।

होगी अथवा जो तूने यह गर्हित काम किया है, उसके पाप से छूटेगी ॥ ३२ ॥

तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता ।
मत्सकाशे मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ॥ ३३ ॥

हे दुष्टे! लोभ और मोह से रहित उनका सत्कार अर्थात् आतिथ्य करने पर, तू अपने पहले शरीर को धारण कर अति प्रसन्न हो मेरे समीप आवेगी ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम् ।
इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते ।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः ॥ ३४ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार महातेजस्वी गौतमऋषि व्यभिचारिणी अहल्या को शाप दे और इस आश्रम को त्याग कर सिद्धों तथा चारणों से सेवित हिमालय के शिखर पर जा तप करने लगे ॥ ३४ ॥

बालकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[नोट—महर्षि वाल्मीकि जी के इस वर्णन से पाठकों को अवगत होगा कि, आदिकाव्य के अनुसार गौतम के शाप से अहल्या का शिला होना और इन्द्र के शरीर में सहस्रभग होना, जैसा कि, लोक में प्रसिद्ध है, समर्थित नहीं होता। अहल्या के शिला बनने की कथा पद्मपुराण में आयी है। वहाँ इस घटना के समर्थन में यह एक श्लोक अवश्य पाया जाता है।

शापदग्धापुराभर्त्रा राम शक्रापराधतः ।
अहल्याख्याशिलाजज्ञे शतलिङ्गः कृतस्स्वराट् ॥
लिङ्गशब्देन भगाकारं चिन्हं । स्वराडिन्द्रः]

—:※:—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

अफलस्तु ततः शक्रो देवानग्निपुरोधसः ।
अब्रवीत्त्रस्तवदनः सर्षिसङ्घान्सचारणान् ॥ १ ॥

गौतमऋषि के शाप से नपुंसकत्व को प्राप्त हुए एवं उदास मन इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं, सिद्धों, गन्धर्वों और चारणों से बोले ॥ १ ॥

कुर्वता तपसो विघ्नं गौतमस्य महात्मनः ।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्यमिदं कृतम् ॥ २ ॥

महात्मा गौतम की तपस्या में विघ्न डालने के लिये मैंने उन्हें क्रुद्ध कर, देवताओं का यह काम बनाया ॥ २ ॥

[नोट—इन्द्र के इस कथन को मिथ्या न समझना चाहिये । क्योंकि सचमुच बात यही थी । गौतम ने सर्वदेवताओं का स्थान लेने के लिये तप किया था । क्रोधादि दुर्वृत्तियों के प्रादुर्भाव होने से तपस्वी की तपस्या नष्ट हो जाती है । अतः इन्द्र ने महर्षि गौतम की तपस्या नष्टभ्रष्ट करने के लिये ही उनको क्रुद्ध करने के अभिप्राय से अहल्या के साथ भोग किया था । नहीं तो स्वर्ग में अहल्या से कहीं अधिक सुन्दरी स्त्रियों का अभाव नहीं था । मृत्युलोकवासियों के सदनुष्ठानों में देवता अपने स्वार्थ के लिये सदा से विघ्न करते चले आये हैं ।]

अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात्सा च निराकृता ।
शापमोक्षेण महता तपोऽस्यापहृतं मया ॥ ३ ॥

ऋषि ने क्रुद्ध हो मुझे तो नपुंसक कर दिया और अहल्या को शाप दे कर त्याग दिया। इस प्रकार उनसे शाप दिला कर उनकी बड़ी तपस्या का फल हर लिया ॥ ३ ॥

तस्मात्सुरवराः सर्वे सर्षिसङ्घाः सचारणाः ।
सुरसाह्यकरं सर्वे सफलं कर्तुमर्हथ ॥ ४ ॥

अतएव हे देवताओ! देवर्षियो! चारणो! तुम सब मेरे अच्छे होने में (पुंसत्व प्राप्ति के लिये) सहायता दो ॥ ४ ॥

शतक्रतोर्वचः श्रुत्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ।
पितृदेवानुपेत्याहुः सर्वे सह मरुद्गणैः ॥ ५ ॥

इन्द्र के इन वाक्यों को सुन अग्नि को आगे कर पवनादि—देवतागण, कव्यवाहनादि पितरों के पास जा कर बोले ॥ ५ ॥

अयं मेषः सवृषणः शक्रो ह्यवृषणः कृतः ।
मेषस्य वृषणौ गृह्य शक्रायाशु प्रयच्छत ॥ ६ ॥

इन्द्र वृषण रहित हो गये हैं और तुम्हारे इस मेढ़े के अण्डकोश हैं, अतएव इसके अण्डकोष उखाड़ कर इन्द्र को तुरन्त दे दीजिये ॥ ६ ॥

अफलस्तु कृतो मेषः परां तुष्टिं प्रदास्यति ।
भवतां हर्षणार्थे च ये च दास्यन्ति मानवाः ॥ ७ ॥

मेढ़े के अण्डकोश रहित होने से तुम्हें सन्तुष्ट करने में कुछ उठा न रखा जायगा। आज से जो मनुष्य, वृषण रहित मेढ़े का यज्ञ में बलिदान कर, आपको प्रसन्न करें, उनको ॥ ७ ॥

अक्षयं हि फलं तेषां यूयं दास्यथ पुष्कलम् ।
अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः ॥ ८ ॥

तुम लोग अक्षय्य एवं अनन्त फल देना। अग्निदेव के यह वचन सुन, पितरों ने ॥ ८ ॥

उत्पाट्य मेषवृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन् ।
तदाप्रभृति काकुत्स्थ पितृदेवाः समागताः ॥ ९ ॥

मेढ़े के वृषण निकाल कर इन्द्र के लगा दिये। तब से हे रामचन्द्र! पितृगण ॥ ९ ॥

अफलान्भुञ्जते मेषान्फलैस्तेषामयोजयन् ।
इन्द्रस्तु मेषवृषणस्तदाप्रभृति राघव ॥ १० ॥

यज्ञ में अण्डकोष रहित मेढ़े लेने लगे। क्योंकि, हे राघव! मेढ़े के अण्डकोष निकाल कर इन्द्र के लगा दिये गये हैं ॥ १० ॥

[नोट—एक के शरीर के अवयव निकाल कर दूसरे के शरीर में लगा देने की शल्यक्रिया (Surgery) का विधान, इस आख्यान से सिद्ध होता है कि, प्राचीन है। आजकल के लोगों का नया आविष्कार नहीं है।]

गौतमस्य प्रभावेन तपसश्च महात्मनः ।
तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः ॥ ११ ॥

यह महात्मा गौतम के तप का प्रताप या फल है। इसलिये हे महातेजस्वी! अब तुम पुण्यात्मा गौतम के आश्रम पर चलो ॥ ११ ॥

तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम् ।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

और महाभागा अहल्या को तारिये जिससे वह देवरूपिणी हो जाय। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने, विश्वामित्र जी के ये वचन सुन ॥ १२ ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य तमाश्रममथाविशत् ।
ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम् ॥ १३ ॥

और उनको आगे कर, गौतमऋषि के आश्रम में प्रवेश किया। वहाँ जाकर देखा कि अहल्या तप के तेज से प्रकाशित हो रही थी ॥ १३ ॥

लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ।
प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव ॥ १४ ॥

उसे सुर, असुर और मनुष्य कोई भी नहीं देख सकते थे। मानों ब्रह्मा जी ने अति यत्न से स्वयं अपने हाथों से उस दिव्य स्त्री को मायाविनी की तरह बनाया हो ॥ १४ ॥

स तुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव ।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव ॥ १५ ॥

कोहरे (कुहासे) से छिपी हुई पूर्णमासी के चन्द्रमा की स्वच्छ चाँदनी की तरह, अथवा जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के प्रकाश की तरह दीप्तमान् वह देख पड़ती थी ॥ १५ ॥

धूमेनापि परीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव ।
सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह ॥ १६ ॥

अथवा धुएँ में जलती हुई आग की लपट की तरह वह अहल्या गौतमऋषि के शाप से किसी को नहीं दिखलाई पड़ती थी ॥ १६ ॥

त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम् ।
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता ॥ १७ ॥

अहल्या को लोग इसलिये नहीं देख सकते थे कि, गौतम मुनि ने शाप देते समय यह कह दिया था कि, जब तक श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन तुझे न होंगे, तब तक तेरे समीप जाकर भी त्रिलोकी का कोई भी जीव तुझे नहीं देख सकेगा ॥ १७ ॥

राघवौ तु ततस्तस्याः पादौ जगृहतुस्तदा ।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा च तौ ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने अहल्या के पैर छुए। अहल्या ने भी गौतमऋषि की कही बात को याद कर, उन दोनों के चरण पकड़े अर्थात् उनके पैरों पर गिरी ॥ १८ ॥

पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं चकार सुसमाहिता ।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन[1] कर्मणा[2] ॥ १९ ॥

अहल्या ने अर्घ्य पाद्यादि से भली भाँति उनका आतिथ्य किया। दोनों राजकुमारों ने भी शास्त्रों में वर्णित विधिविधान के साथ किये गये उसके आतिथ्य को ग्रहण किया ॥ १६ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
गन्धर्वाप्सरसां चापि महानासीत्समागमः ॥ २० ॥

उस समय आकाश से फूलों की वर्षा हुई, देवताओं ने नगाड़े बजाये। गन्धर्व और अप्सराएँ गाने और नाचने लगीं ॥ २० ॥

साधु साध्विति देवास्तामहल्यां समपूजयन् ।
तपोबलविशुद्धाङ्गीं गौतमस्य वशानुगाम्[3] ॥ २१ ॥

---

१ विधिदृष्टेन—शास्त्रदृष्टेन । २ कर्मणा—प्रकारेण (गो०) । ३ गौतमस्यवशानुगामित्यनेन गौतमस्तदा रामागमनं विदित्वा समागत इत्यवगम्यते । (गो०)

देवतागण अहल्या की प्रशंसा करने लगे। गौतम जी (अपने तपःप्रभाव से) श्रीरामचन्द्र जी का आना जान अपने आश्रम में पहुँचे और वहाँ पूर्व के समान शरीर धारण किये हुए अहल्या को पा कर प्रसन्न हुए ॥ २१ ॥

गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी ।
रामं संपूज्य विधिवत्तपस्तेपे[1] महातपाः ॥ २२ ॥

अहल्या सहित महातेजस्वी गौतम ऋषि ने प्रसन्न हो श्रीराम का भली भाँति पूजन किया और फिर वे उसी आश्रम में तप करने लगे ॥ २२ ॥

रामोऽपि परमां पूजां गौतमस्य महामुनेः ।
सकाशाद्विधिवत्प्राप्य जगाम मिथिलां ततः ॥ २३ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी भी महर्षि गौतम से विधिवत् पूजा ग्रहण कर, मिथिला पुरी में गये ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

पञ्चाशः सर्गः

—:*:—

ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः सौमित्रिणा सह ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥ १ ॥

---

१ तेपे तत्रैवाश्रम इतिशेषः । (गो०)

तब विश्वामित्र जी को आगे कर श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित ईशानकोण की ओर से चल कर, महाराज की यज्ञशाला में पहुँचे ॥ १ ॥

रामस्तु मुनिशार्दूलमुवाच सहलक्ष्मणः ।
साध्वी यज्ञसमृद्धिर्हि जनकस्य महात्मनः ॥ २ ॥

दोनों राजकुमारों ने पुरी और यज्ञशाला की सजावट देख कर विश्वामित्र जी से कहा—महात्मा जनक के यज्ञ की तैयारी तो बड़ी अच्छी है ॥ २ ॥

बहूनीह सहस्राणि नानादेशनिवासिनाम् ।
ब्राह्मणानां महाभाग वेदाध्ययनशालिनाम् ॥ ३ ॥

हे महाभाग ! देखिये, वेदाध्ययनशाली नाना देशों के रहने वाले हज़ारों ब्राह्मण यहाँ देख पड़ते हैं ॥ ३ ॥

ऋषिवाटाश्च दृश्यन्ते शकटीशतसङ्कुलाः ।
देशो विधीयतां ब्रह्मन्यत्र वत्स्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

ऋषियों के आवासस्थानों में सैकड़ों (उनका समान ढोने वाले) छकड़े देख पड़ते हैं। हे ब्रह्मन् ! कोई स्थान ठीक कीजिये, जहाँ हम सब लोग (आराम के साथ) रहें ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।
निवेशमकरोद्देशे विविक्ते सलिलायुते ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन महर्षि विश्वामित्र जी एक निराले स्थान में, जहाँ जल का भी सुपास था, जा उतरे ॥ ५ ॥

विश्वामित्रमनुप्राप्तं श्रुत्वा स नृपतिस्तदा ।
शतानन्दं पुरस्कृत्य पुरोहितमनिन्दितम् ॥ ६ ॥
प्रत्युज्जगाम सहसा विनयेन समन्वितः ।
ऋत्विजोऽपि महात्मानस्त्वर्घ्यमादाय सत्वरम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्र जी के आने का संवाद पा कर अपने प्रसिद्ध पुरोहित शतानन्द को आगे कर महाराज जनक अपने ऋत्विजों सहित, विश्वामित्र जी के लिये अर्घ्यादि का सामान साथ लिये हुए, बड़ी नम्रता के साथ तुरन्त वहाँ पहुँचे ॥ ६ ॥ ७ ॥

विश्वामित्राय धर्मेण ददुर्मन्त्र[1]पुरस्कृतम् ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

महाराज जनक ने धर्मशास्त्रानुसार मधुपर्क आदि विश्वामित्र जी के आगे रखा । महाराज जनक की पूजा अङ्गीकार कर विश्वामित्र जी ने, ॥ ८ ॥

पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम् ।
स तांश्चापि मुनीन्पृष्ट्वा सोपाध्यायपुरोधसः ॥ ९ ॥

महाराज जनक से उनके राज्य का कुशल तथा यज्ञ की निर्विघ्नता पूँछी । फिर शतानन्द आदि जो ऋषि महाराज जनक के साथ आये थे, उनसे भी कुशलप्रश्न किया ॥ ९ ॥

यथान्यायं ततः सर्वैः समागच्छत्प्रहृष्टवत् ।
अथ राजा मुनिश्रेष्ठं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १० ॥

और प्रसन्न हो सब से मिले भेंटे । तब राजा जनक हाथ जोड़ कर विश्वामित्र जी से बोले ॥ १० ॥

---

१ मन्त्रपुरस्कृतमित्यनेनमधुपर्ककरणमुच्यते । (गो०)

आसनं भगवानास्तां सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः ।
जनकस्य वचः श्रुत्वा निषसाद महामुनिः ॥ ११ ॥

महाराज ! आप और अन्य ऋषिगण आसनों पर विराजें । यह सुन विश्वामित्र जी अन्य ऋषियों सहित आसनों पर बैठे ॥ ११ ॥

पुरोधा ऋत्विजश्चैव राजा च सह मन्त्रिभिः ।
आसनेषु यथान्यायमुपविष्टान्समन्ततः ॥ १२ ॥

तदनन्तर राजा जनक भी अपने पुरोहित, ऋत्विजों और मंत्रियों के साथ उचित स्थानों पर आसनों पर बैठे । राजा जनक बीच में थे और अन्य सब उनके चारों ओर बैठे हुए थे ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा स नृपतिस्तत्र विश्वामित्रमथाब्रवीत् ।
अद्य यज्ञसमृद्धिर्मे सफला दैवतैः कृता ॥ १३ ॥

सब लोगों को यथास्थान बैठा देख, महाराज जनक, विश्वामित्र जी से बोले—आज देवताओं के अनुग्रह से मेरे यज्ञ में जो कमी थी वह पूरी हुई ॥ १३ ॥

अद्य यज्ञफलं प्राप्तं भगवद्दर्शनान्मया ।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गव ॥ १४ ॥

यज्ञोपसदनं ब्रह्मन्प्राप्तोऽसि मुनिभिः सह ।
द्वादशाहं तु ब्रह्मर्षे शेषमाहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! आज आपके दर्शन प्राप्तकर मुझे यज्ञ का फल मिल गया । आपके मुनियों सहित यज्ञशाला में पधारने से मैं आज धन्य और अनुगृहीत हुआ । हे ब्रह्मर्षे ! ऋत्विज लोग कहते हैं कि, अब केवल बारह दिन और यज्ञ पूर्ण होने को रह गये हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

ततो भागार्थिनो देवान्द्रष्टुमर्हसि कौशिक ।
इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलं प्रहृष्टवदनस्तदा ॥ १६ ॥

तदनन्तर यज्ञ भाग लेने के लिये देवता आवेंगे। हे कौशिक! आप उनको देखेंगे। विश्वामित्र जी से यह कह कर राजा जनक प्रसन्न हुए ॥ १६ ॥

पुनस्तं परिपप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः ।
इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥ १७ ॥

और हाथ जोड़ कर वे फिर बोले आपके आशीर्वाद से इन कुमारों का कल्याण हो, (अर्थात् दीठ इन्हें न लगे)। यह तो बतलाइये कि, ये दोनों कुमार जो देवताओं के समान पराक्रमी हैं ॥ १७ ॥

गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ।
पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणीधनुर्धरौ ॥ १८ ॥

गज, सिंह, शार्दूल तथा वृषभ के समान चाल चलने वाले, वीर, कमल जैसे नेत्र वाले, खड्ग तरकस और धनुषधारी ॥ १८ ॥

अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ।
यदृच्छयैव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ ॥ १९ ॥

सौन्दर्य में अश्विनीकुमारों जैसे, युवावस्था को प्राप्त, अर्थात् जवान, स्वेच्छा पूर्वक देवताओं की तरह स्वर्ग से पृथिवी पर उतरे हुए ॥ १९ ॥

कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ वरायुधधरावुभौ ॥ २० ॥

क्यों और किस लिये पैदल यहाँ आये हैं और किसके पुत्र हैं? इनके विशाल एवं कमल सदृश नेत्र हैं, श्रेष्ठ आयुध धारण किये हुए हैं ॥ २० ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती ।
काकपक्षधरौ वीरौ कुमाराविव पावकी ॥ २१ ॥

गोह के दस्ताने हाथों में पहने हुए हैं, तलवारें भी लिये हुए हैं, बड़ी द्युति वाले हैं, काकपक्ष* रखे हुए हैं, कार्तिकेय के समान वीर हैं ॥ २१ ॥

रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणौ ।
प्रकाश्य कुलमस्माकं मामुद्धर्तुमिहागतौ ॥ २२ ॥

रूप और उदारता आदि गुणों से मनुष्य के मन को हरने वाले हैं। हमारे कुल को उजागर कर के हमारा उद्धार करने यहाँ आये हैं ॥ २२ ॥

भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम् ।
परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः ॥ २३ ॥

इस देश को ऐसा भूषित कर रहे हैं जैसा चन्द्र व सूर्य आकाश को भूषित करते हैं। डीलडौल चालढाल और चेष्टा से दोनों भाई जान पड़ते हैं ॥ २३ ॥

कस्य पुत्रौ मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा जनकस्य महात्मनः ॥ २४ ॥

---

* कनपुटी के ऊपर बढ़े बढ़े बालों को काकपक्ष कहते हैं ।

हे मुनिवर ! बतलाइये ये दोनों किसके पुत्र हैं। मैं इनका यथार्थ वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ । राजा जनक के ये वचन सुन ॥ २४ ॥

न्यवेदयन्महात्मानौ पुत्रौ दशरथस्य तौ ।
सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं तथा ॥ २५ ॥

विश्वामित्र जी कहने लगे कि ये दोनों महाराज दशरथ के राजकुमार हैं। फिर विश्वामित्र जी ने दोनों राजकुमारों का सिद्धाश्रम में रहने, वहाँ राक्षसों का वध करने ॥ २५ ॥

तच्चागमनमव्यग्रं विशालायाश्च दर्शनम् ।
अहल्यादर्शनं चैव गौतमेन समागमम् ।
महाधनुषि जिज्ञासां कर्तुमागमनं तथा ॥ २६ ॥

रास्ते में विशाला नगरी को देखने, अहल्या के उद्धार और गौतम से भेंट होने का सारा वृत्तान्त कहा और यह भी कहा कि, यहाँ ये आपके बड़े धनुष को देखने के लिये आये हैं ॥ २६ ॥

एतत्सर्वं महातेजा जनकाय महात्मने ।
निवेद्य विरराभाथ विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २७ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

उन सब घटनाओं का वृत्तान्त महात्मा राजा जनक को सुना कर, महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र जी चुप हो गये ॥ २७ ॥

वालकाण्ड का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

एकपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रस्य धीमतः ।
हृष्टरोमा महातेजाः शतानन्दो महातपाः ॥ १ ॥

बुद्धिमान विश्वामित्र जी के वचन सुन कर महातेजस्वी एवं महातपस्वी शतानन्द जी के रोंगटे खड़े हो गये ॥ १ ॥

गौतमस्य सुतो ज्येष्ठस्तपसा द्योतितप्रभः ।
रामसंदर्शनादेव परं विस्मयमागतः ॥ २ ॥

शतानन्द जी महर्षि गौतम के ज्येष्ठपुत्र थे और तपःप्रभाव से प्रकाशमान हो रहे थे। वे श्रीरामचन्द्र जी का दर्शन कर बड़े विस्मित हुए ॥ २ ॥

स तौ निषण्णौ संप्रेक्ष्य सुखासीनौ नृपात्मजौ ।
शतानन्दो मुनिश्रेष्ठं विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

दोनों राजकुमारों को सुख पूर्वक बैठे हुए देख कर, शतानन्द जी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र जी से बोले ॥ ३ ॥

अपि ते मुनिशार्दूल मम माता यशस्विनी ।
दर्शिता राजपुत्राय तपोदीर्घमुपागता ॥ ४ ॥

हे मुनिशार्दूल ! हमारी यशस्विनी माता बहुत दिनों से तपस्या करती थीं, क्या आपने उसे श्रीरामचन्द्र जी को दिखाया था ? ॥४॥

अपि रामे महातेजा मम माता यशस्विनी ।
वन्यैरुपाहरत्पूजां पूजार्हे सर्वदेहिनाम् ॥ ५ ॥

क्या मेरी माता ने सब प्राणियों के पूज्य श्रीरामचन्द्र जी का फलमूलादि वन्य पदार्थों से सत्कार किया था? ॥ ५ ॥

अपि रामाय कथितं यथावृत्तं पुरातनम् ।
मम मातुर्महातेजो दैवेन दुरनुष्ठितम् ॥ ६ ॥

इन्द्र ने मेरी माता के प्रति जो दुराचार किया था, यह प्राचीन वृत्तान्त क्या आपने श्रीरामचन्द्र जी से कहा? ॥ ६ ॥

अपि कौशिक भद्रं ते गुरुणा[1] मम सङ्गता ।
माता मम मुनिश्रेष्ठ रामसंदर्शनादितः ॥ ७ ॥

हे कौशिक! यह तो कहिये कि, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन के प्रभाव से क्या मेरी माता मेरे पिता को मिल गयी या नहीं? ॥७॥

अपि मे गुरुणा रामः पूजितः कुशिकात्मज ।
इहागतो महातेजाः पूजां प्राप्तो महात्मनः ॥ ८ ॥

हे विश्वामित्र जी! क्या मेरे पिता ने श्रीरामचन्द्र जी का सत्कार किया? क्या श्रीरामचन्द्र जी उनके (मेरे पिता के) द्वारा सत्कारित हो कर यहाँ आये हैं? ॥ ८ ॥

अपि शान्तेन मनसा गुरुर्मे कुशिकात्मज ।
इहागतेन रामेण प्रयतेनाभिवादितः ॥ ९ ॥

हे विश्वामित्र जी! (यह भी बतलाइये कि) आश्रम में जब मेरे शान्तचित्त पिता आये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने उनको प्रणाम किया था या नहीं? (अथवा मेरी माता के दोषों पर ध्यान दे उन्होंने उनका तिरस्कार तो नहीं किया?) ॥ ९ ॥

---

१ गुरुणा—पित्रा। (गो०)

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रो महामुनिः ।
प्रत्युवाच शतानन्दं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १० ॥

शतानन्द के इन प्रश्नों को सुन, महर्षि विश्वामित्र जी, जो बातचीत करने का ढङ्ग जानते थे बातचीत करने में बड़े निपुण शतानन्द जी से बोले ॥ १० ॥

नातिक्रान्तं मुनिश्रेष्ठ यत्कर्तव्यं कृतं मया ।
सङ्गता मुनिना पत्नी भार्गवेणेव[1] रेणुका ॥ ११ ॥

हे मुनिप्रवर ! जो कुछ मेरे कहने सुनने करने धरने का था सो मैंने कहा सुना और किया धरा। मैंने अपना कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं रखा। जैसे जमदग्नि ने रेणुका को शाप दिया और पीछे अनुग्रह कर उसे अङ्गीकार किया वैसे ही आपके पिता ने भी आपकी माता के ऊपर कृपा की और उसे ग्रहण कर लिया ॥ ११ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
शतानन्दो महातेजा रामं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

बुद्धिमान विश्वामित्र जी के इस उत्तर को सुन, महातेजस्वी शतानन्द जी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ १२ ॥

स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य महर्षिमपराजितम् ॥ १३ ॥

हे पुरुषोत्तम ! आपका आना शुभप्रद हो। यह बड़े भाग्य की बात है, जो आप विश्वामित्र जी के साथ मेरे पिता के आश्रम में पधारे और मेरी माता का उद्धार किया। इन महर्षि विश्वामित्र जी

---

[1] भार्गवेण—जमदग्निना। (गो०)

की कहाँ तक प्रशंसा की जाय। इनका सैकड़ों ऋषि सम्मान करते हैं ॥ १३ ॥

अचिन्त्यकर्मा तपसा ब्रह्मर्षिरतुलप्रभः ।
विश्वामित्रो महातेजा वेत्स्येनं परमां गतिम्[1] ॥१४॥

इनके सब कर्म अचिन्त्य हैं (अर्थात् मन और बुद्धि के अगोचर हैं, साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आ सकते।) देखिये, आप तपोबल से राजर्षि से ब्रह्मर्षि हो गये। फिर ब्रह्मर्षियों में भी साधारण ब्रह्मर्षि नहीं। प्रत्युत अमित प्रभावशाली हैं। इन महातेजस्वी विश्वामित्र जी को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। यह आपके परम हितैषी हैं (अथवा जगत् के परम हितैषी हैं।) ॥ १४ ॥

नास्ति धन्यतरो राम त्वत्तोऽन्यो भुवि कश्चन ।
गोप्ता कुशिकपुत्रस्ते येन तप्तं महत्तपः ॥ १५ ॥

हे राम! आपसे अधिक बढ़ कर धन्य इस भूतल पर और कोई नहीं है, जिनके रक्षक महातपस्वी विश्वामित्र जी हैं ॥ १५ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि कौशिकस्य महात्मनः ।
यथा बलं यथा वृत्तं तन्मे निगदतः शृणु ॥ १६ ॥

हे राम! सुनिये, मैं महात्मा विश्वामित्र जी के बल का और इनका वृत्तान्त कहता हूँ ॥ १६ ॥

राजाऽभूदेष धर्मात्मा दीर्घकालमरिन्दमः ।
धर्मज्ञः कृतविद्यश्च प्रजानां च हिते रतः ॥ १७ ॥

---

१ परमांगतिम्—तवपरमहितप्रदं। (गो०)

हे अरिन्दम ! पहले बहुत दिनों तक यह एक बड़े धर्मात्मा, शत्रुनाशक, गौ विप्रार्थ बद्ध-मुर और प्रजापालन में तत्पर राजा हो चुके हैं ॥ १७ ॥

प्रजापतिसुतस्त्वासीत्कुशो नाम महीपतिः ।
कुशस्य पुत्रो बलवान्कुशनाभः सुधार्मिकः ॥ १८ ॥

प्रजापति के पुत्र कुश नाम के एक राजा हो गये हैं। उनके पुत्र कुशनाभ बड़े बलवान् और धर्मात्मा राजा हुए ॥ १८ ॥

कुशनाभसुतस्त्वासीद्गाधिरित्येव विश्रुतः ।
गाधेः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १९ ॥

कुशनाभ के प्रसिद्ध गाधि नामक पुत्र हुए। उन्हीं राजा गाधि के यह महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र जो पुत्र हैं ॥ १९ ॥

विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम् ।
बहुवर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥ २० ॥

महातेजस्वी विश्वामित्र जी ने राजा हो कर हज़ारों वर्षों लों पृथिवी का पालन और राज्य किया ॥ २० ॥

कदाचित्तु महातेजा योजयित्वा वरूथिनीम् ।
अक्षौहिणीपरिवृतः परिचक्राम मेदिनीम् ॥ २१ ॥

एक बार राजा विश्वामित्र सेना इकट्ठी कर और एक अक्षौहिणी सेना साथ ले घूमने के लिये निकले ॥ २१ ॥

नगराणि च राष्ट्राणि सरितश्च तथा गिरीन् ।
आश्रमान्क्रमशो राम विचरन्नाजगाम ह ॥ २२ ॥

हे राम ! अनेक नगरों, राज्यों, नदियों, पर्वतों और ऋष्याश्रमों को भकाते हुए ॥ २२ ॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं नानावृक्षलताकुलम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २३ ॥

वशिष्ठ जी के आश्रम में गये। वशिष्ठ जी का आश्रम तरह तरह के पक्षियों और लताओं से भरा पूरा और भाँति भाँति के जीवों से शोभायमान हो रहा था। उसमें सिद्धचारण रहते थे ॥ २३ ॥

देवदानवगन्धर्वैः किन्नरैरुपशोभितम् ।
प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसङ्घनिषेवितम् ॥ २४ ॥

देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर भी उसकी शोभा बढ़ाते थे। वह शान्तस्वभाव हिरनों से भरा पूरा था और ब्राह्मणगण भी वहाँ वास करते थे ॥ २४ ॥

ब्रह्मर्षिगणसङ्कीर्णं देवर्षिगणसेवितम् ।
तपश्चरणसंसिद्धैरग्निकल्पैर्महात्मभिः ॥ २५ ॥

उसमें ब्रह्मर्षि और देवर्षि भी वास करते थे। तपश्चर्या से वे अग्नि के समान देदीप्यमान थे ॥ २५ ॥

सततं सङ्कुलं श्रीमद्ब्रह्मकल्पै[1]र्महात्मभिः ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा ॥ २६ ॥

वह आश्रम सदैव ब्रह्मा के समान वेदों की शाखाओं के विभाग करने वाले महात्माओं से सदा भरा रहता था। इनमें कोई

(१) ब्रह्मकल्पैः वेदशाखा विभागाकर्त्तार इति (गो०) ॥

कोई तो केवल जल पी कर, कोई कोई केवल वायु भक्षण कर कोई कोई सूखी पत्तियाँ खा कर, ॥ २६ ॥

फलमूलाशनैर्दान्तैर्जितरोषैर्जितेन्द्रियैः ।
ऋषिभिर्वालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः ॥ २७ ॥

और कोई कोई फल मूल खा कर रहते थे। यहाँ अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले ऋषि तथा वालखिल्य (ब्रह्मचारी) सहस्रों थे। वहाँ कोई भी ऋषि ऐसा न था जो नियत समय पर सन्ध्योपासन, जप, तर्पण, होम न करता हो ॥ २७ ॥

अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम् ।
वसिष्ठस्याश्रमपदं ब्रह्मलोकमिवापरम् ।
ददर्श जयतां[1] श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः ॥ २८ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

इनके अतिरिक्त उस आश्रम के चारों ओर अनेक वानप्रस्थ भी रहते थे। (कहाँ तक वर्णन करें) वशिष्ठ महाराज का आश्रम क्या था—मानों दूसरा ब्रह्मलोक ही था। वीरश्रेष्ठ महाबली राजा विश्वामित्र ने ऐसे वशिष्ठ जी के आश्रम को देखा ॥ २८ ॥

बालकाण्ड का इक्कावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

१ जयतां—शूराणां (रा०)।

द्विपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

स दृष्ट्वा परमप्रीतो विश्वामित्रो महाबलः ।
प्रणम्य विधिना वीरो वसिष्ठं जपतांवरम् ॥ १ ॥

ऐसे आश्रम को देख, महाबलवान् राजा विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए और जप करने वालों में श्रेष्ठ वशिष्ठ जी को विनय सहित प्रणाम किया ॥ १ ॥

स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ।
आसनं चास्य भगवान्वसिष्ठो व्यादिदेश ह ॥ २ ॥

वशिष्ठ जी ने विश्वामित्र जी का स्वागत कर अथवा यह कह कर "आप बहुत अच्छे आये," बैठने के लिये आसन दिया ॥ २ ॥

उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमते ।
यथान्यायं मुनिवरः फलमूलान्युपाहरत् ॥ ३ ॥

जब बुद्धिमान विश्वामित्र जी आसन पर बैठ गये, तब वशिष्ठ जी ने फल मूल जो वहां उस समय मौजूद थे, विश्वामित्र को भोजन के लिये दिये ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां वसिष्ठाद्राजसत्तमः ।
तपोग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत ॥ ४ ॥

इस प्रकार वशिष्ठ जी का सत्कार ग्रहण कर, नृपश्रेष्ठ विश्वामित्र जी ने वशिष्ठ जी से तप, अग्निहोत्र और शिष्य सम्बन्धी कुशल प्रश्न किया ॥ ४ ॥

विश्वामित्रो महातेजा वनस्पतिगणे[1] तथा ।
सर्वत्र कुशलं चाह वसिष्ठो राजसत्तमम् ॥ ५ ॥

वशिष्ठ जी ने इनके उत्तर में सर्वत्र और सब का—यहाँ तक कि, पेड़ों तक का कुशल नृपश्रेष्ठ विश्वामित्र जी से कहा ॥ ५ ॥

सुखोपविष्टं राजानं विश्वामित्रं महातपाः ।
पप्रच्छ जपतां[2] श्रेष्ठो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः ॥ ६ ॥

सुख से बैठे हुए राजा विश्वामित्र जी से महामुनि, तपस्वियों में श्रेष्ठ और ब्रह्मा जी के पुत्र वशिष्ठ जी ने पूँछा ॥ ६ ॥

कच्चित्ते कुशलं राजन्कच्चिद्धर्मेण रञ्जयन् ।
प्रजाः पालयसे वीर राजवृत्तेन धार्मिक ॥ ७ ॥

हे राजन्! आपके यहाँ तो कुशल है? आप धर्म पूर्वक प्रजा को प्रसन्न रखते हैं? और राजवृत्ति से प्रजा का पालन तो करते हैं? ॥ ७ ॥

[नोट—शास्त्रकारों ने राजवृत्ति चार प्रकार की कही है। यथा—

न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं पालनं तथा।
सत्पात्रेप्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधं ॥

अर्थात् (१) न्यायपूर्वक धन को उपार्जित करना (२) न्यायपूर्वक उसको बढ़ना (३) न्यायपूर्वक उसकी रक्षा करना और (४) जो सत्पात्र या अच्छे लोग हों उनको दान देना।]

---

१ वनस्पति शब्देन वृक्षमात्र, नतु विनापुष्पं फलवन्तएव ॥ (रा०)
२ जपतां—तपस्विनां (रा०)।

कच्चित्ते संभृता भृत्याः कच्चित्तिष्ठन्ति शासने ।
कच्चित्ते विजिताः सर्वे रिपवो रिपुसूदन ॥ ८ ॥

राज्य के कर्मचारी को वेतन तो नियत समय पर दे दिया करते हो ? आपकी प्रजा आपके कहने में चलती है ? हे राजन् ! आपने अपने सब शत्रुओं को जीत तो लिया है ? ॥ ८ ॥

कच्चिद्बलेषु कोशेषु मित्रेषु च परन्तप ।
कुशलं ते नरव्याघ्र पुत्रपौत्रे तवानघ ॥ ९ ॥

हे नरव्याघ्र ! हे अनघ ! आपकी सेना, धनागार, मित्र, पुत्र, पौत्रादि सब कुशल पूर्वक तो हैं ? ॥ ९ ॥

सर्वत्र कुशलं राजा वसिष्ठं प्रत्युदाहरत् ।
विश्वामित्रो महातेजा वसिष्ठं विनयान्वितः ॥ १० ॥

राजा विश्वामित्र जी इन प्रश्नों के उत्तर में वशिष्ठ जी से विनय पूर्वक बोले कि, सब कुशलपूर्वक हैं ॥ १० ॥

कृत्वोभौ सुचिरं कालं धर्मिष्ठौ ताः कथाः शुभाः ।
मुदा परमया युक्तौ प्रीयेतां तौ परस्परम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर वे दोनों बहुत देर तक प्रेमपूर्वक तरह तरह की बातें और कथाएँ कह सुन कर, एक दूसरे को प्रसन्न करते रहे ॥ ११ ॥

ततो वसिष्ठो भगवान्कथान्ते रघुनन्दन ।
विश्वामित्रमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ॥ १२ ॥

हे रघुनन्दन ! जब विश्वामित्र जी बातचीत कर चुके, तब वशिष्ठ जी ने मुसक्या कर विश्वामित्र जी से कहा ॥ १२ ॥

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि बलस्यास्य महाबल ।
तव चैवाप्रमेयस्य यथार्हं संप्रतीच्छ मे ॥ १३ ॥

हे राजन् ! यद्यपि आपके साथ बहुत बड़ी भीड़ है, तथापि मेरी इच्छा है कि, यदि आप स्वीकार करें तो सेना सहित आप सब की मैं मेहमानदारी (आतिथ्य) करूँ ॥ १३ ॥

सत्क्रियां तु भवानेतां प्रतीच्छतु मयोद्यताम् ।
राजा त्वमतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः प्रयत्नतः ॥ १४ ॥

क्योंकि हे राजन् ! आप राजा होने के कारण अतिथिश्रेष्ठ हैं। आपका आतिथ्य प्रयत्नपूर्वक करना ही उचित है। अतः मुझसे जो कुछ आतिथ्य बन पड़े उसे आप प्रसन्नतापूर्वक अङ्गीकार करें ॥ १४ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महामतिः ।
कृतमित्यब्रवीद्राजा पूजावाक्येन मे त्वया ॥ १५ ॥

वशिष्ठ जी के इस प्रकार कहने पर राजा विश्वामित्र कहने लगे—हे भगवन् ! आपके इन आदरपूर्वक कहे हुए वचनों ही से मेरा तो आतिथ्य हो चुका ॥ १५ ॥

फलमूलेन भगवन्विद्यते यत्तवाश्रमे ।
पाद्येनाचमनीयेन भगवद्दर्शनेन च ॥ १६ ॥

इसके अतिरिक्त, फलमूल, विमल जल जो आपके आश्रम में उपस्थित थे, उनसे तथा विशेष कर आपके दर्शन से मेरा आतिथ्य हो चुका ॥ १६ ॥

सर्वथा च महाप्राज्ञ पूजार्हेण सुपूजितः ।
गमिष्यामि नमस्तेस्तु मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ १७ ॥

हे महाप्राज्ञ ! उचित तो यह था कि मैं आपको पूजा करता, प्रत्युत आपने मेरा सत्कार किया। मैं अब आपको प्रणाम करता हूँ और अपने डेरे को जाता हूँ। मेरे ऊपर सदा कृपादृष्टि बनाये रखियेगा ॥ १७ ॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं वसिष्ठः पुनरेव हि ।
न्यमन्त्रयत धर्मात्मा पुनः पुनरुदारधीः ॥ १८ ॥

राजा विश्वामित्र के इस प्रकार (निषेध पूर्वक) कहने पर भी उदारमना वशिष्ठ जी ने न्योता स्वीकार करने के लिये राजा से बार बार आग्रह किया ॥ १८ ॥

बाढमित्येव गाधेयो वसिष्ठं प्रत्युवाच ह ।
यथा प्रियं भगवतस्तथास्तु मुनिसत्तम ॥ १९ ॥

तब विश्वामित्र ने कहा—"बहुत अच्छा" आप जिससे प्रसन्न रहें वही ठीक है। अथवा आप मुझ पर प्रसन्न बने रहें, मुझे वही करना चाहिये ॥ १९ ॥

एवमुक्तो महातेजा वसिष्ठो जपतांवरः ।
आजुहाव ततः प्रीतः कल्माषीं धूतकल्मषः ॥ २० ॥

जब विश्वामित्र ने ऐसा कहा अर्थात् वशिष्ठ जी का न्योता मान लिया; तब मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी ने अपनी प्यारी चितकबरी कामधेनु को बुलाया ॥ २० ॥

एह्येहि शबले क्षिप्रं श्रृणु चापि वचो मम ।
सबलस्यास्य राजर्षेः कर्तुं व्यवसितोऽस्म्यहम् ॥ २१ ॥

और उससे कहा—हे शबले! यहाँ आओ और जो मैं कहता हूँ उसे सुनो। मैं सेना सहित राजर्षि विश्वामित्र की पहुनाई करना चाहता हूँ॥ २१॥

भोजनेन महार्हेण सत्कारं संविधत्स्व मे।
यस्य यस्य यथाकामं षड्रसेष्वभिपूजितम्।
तत्सर्वं कामधुग्दिव्यमभिवर्ष कृते मम॥ २२॥

अतः मेरे कहने से तू अच्छे अच्छे भोजनों से इनका अच्छी तरह सत्कार कर। षट्रसों के पदार्थों में से, जो जिस रस का पदार्थ चाहें, उसे वही पहुँचना चाहिये। क्योंकि तुम कामधेनु ठहरी तुम क्या नहीं दे सकती॥ २२॥

रसेनान्नेन पानेन लेह्यचोष्येण संयुतम्।
अन्नानां निचयं सर्वं सृजस्व शबले त्वर॥ २३॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः॥

हे शबले! तू छः प्रकार के खाद्य पदार्थों के जैसे भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, पेय, और खाद्य व्यञ्जनों के ढेर तुरन्त लगा दे॥ २३॥

बालकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

एवमुक्ता वसिष्ठेन शबला शत्रुसूदन।
विदधे कामधुक्कामान्यस्य यस्य यथेप्सितम्॥ १॥

वशिष्ठ जी के इस प्रकार कहने पर, शबला ने जिसको जो वस्तु अपेक्षित थी, उसे वही वही पहुँचा दी ॥ १ ॥

इक्षून्मधूंस्तथा लाजान्मैरेयांश्च वरासवान् ।
पानानि च महार्हाणि भक्ष्यांश्चोच्चावचां[1]स्तथा ॥ २ ॥

खाने के लिये ऊख के रस यानी शक्कर की बनी अनेक प्रकार की मिठाइयाँ, शहद, धान के लावा ; पीने के लिये मदिरा, तथा तरह तरह के उत्तम आसव, प्रस्तुत किये ॥ २ ॥

उष्णाढ्यस्यौदनस्यात्र राशयः पर्वतोपमाः ।
मृष्टान्नानि च सूपाश्च दधिकुल्यास्तथैव च ॥ ३ ॥
नानास्वादुरसानां च षड्रसानां तथैव च ।
भोजनानि सुपूर्णानि गौडानि च सहस्रशः ॥ ४ ॥

गर्मागर्म भात के पर्वताकार ढेर लगा दिये। खीर, कढ़ी, दही, बरा, आदि तरह तरह के स्वादिष्ट षट्रसात्मक हज़ारों पदार्थ और गुड़ की मिठाइयाँ प्रस्तुत कर दीं ॥ ३ ॥ ४ ॥

सर्वमासीत्सुसन्तुष्टं हृष्ट[2]पुष्ट[3]जनायुतम् ।
विश्वामित्रबलं राम वसिष्ठेनाभितर्पितम् ॥ ५ ॥

इन सब पदार्थों को खा पीकर और आदर सत्कार से विश्वामित्र के साथ के सब लोग अच्छी तरह तृप्त हुए और अत्यानन्दित हुए। हे राम! वशिष्ठ जी ने विश्वामित्र जी के साथी संगियों को भली भाँति तृप्त कर दिया ॥ ५ ॥

---

१ उच्चावच्चान्—नानाप्रकारान् (गो०)। २ हृष्टः आदरेण (गो०) ३ पुष्टः भोजनादिना (गो०)।

विश्वामित्रोऽपि राजर्षिर्हृष्टः पुष्टस्तदाभवत् ।
सान्तःपुरवरो राजा सब्राह्मणपुरोहितः ॥ ६ ॥

राजर्षि विश्वामित्र जी भी अपने पुरोहित, मंत्री, दीवान सब के साथ अपूर्व पदार्थ भोजन कर तथा महर्षि के आदर सत्कार से बहुत प्रसन्न हुए ॥ ६ ॥

सामात्यो मन्त्रिसहितः सभृत्यः पूजितस्तदा ।
युक्तः परमहर्षेण वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

जब नौकर चाकर मंत्री, दीवान, सेना आदि के साथ विश्वामित्र जी भलीभांति सत्कारित हो चुके, तब परम प्रसन्नता के साथ वशिष्ठ जी से बोले ॥ ७ ॥

पूजितोऽहं त्वया ब्रह्मन्पूजार्हेण सुसत्कृतः ।
श्रूयतामभिधास्यामि वाक्यं वाक्यविशारद ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपने पूज्य होकर भी मेरा अच्छा सत्कार किया । हे वाक्यविशारद ! अब मैं कुछ कहता हूँ उसे आप सुनें ॥ ८ ॥

गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम ।
रत्नं हि भगवन्नेतद्रत्नहारी च पार्थिवः ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! आप अपनी शबला गौ के बदले मुझसे एक लाख गौएँ ले लें और इसे हमें दे दें । कारण यह है कि, शबला एक रत्न है और रत्न रखने का राजा ही अधिकारी है ॥ ९ ॥

तस्मान्मे शबलां देहि ममैषा धर्मतो द्विज ।
एवमुक्तस्तु भगवान्वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ १० ॥

विश्वामित्रेण धर्मात्मा प्रत्युवाच महीपतिम् ।
नाहं शतसहस्रेण नापि कोटिशतैर्गवाम् ॥ ११ ॥

हे द्विज ! अतः इस गौ को आप मुझे दे दें। धर्म की दृष्टि से यह मेरी ही है। जब मुनिश्रेष्ठ भगवान् वशिष्ठ जी से विश्वामित्र जी ने इस प्रकार कहा, तब धर्मात्मा वशिष्ठ जी राजा से बोले। हे राजन्! एक लाख गौओं की तो बात ही क्या, एक करोड़ गौएँ भी यदि आप शबला के बदले दें ॥ १० ॥ ११ ॥

राजन्दास्यामि शबलां राशिभी रजतस्य वा ।
न परित्यागमर्हेयं मत्सकाशादरिन्दम ॥ १२ ॥

अथवा इसके बदले आप चाँदी का ढेर देना चाहें, तो भी मैं शबला आपको नहीं दे सकता। हे राजन् ! यह मेरे यहाँ से जाने योग्य नहीं है ॥ १२ ॥

शाश्वती शबला मह्यं कीर्तिरात्मवतो यथा ।
अस्यां हव्यं च कव्यं च प्राणयात्रा तथैव च ॥ १३ ॥

क्योंकि जिस प्रकार मनस्वी पुरुष का अपनी कीर्ति से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार शबला का मुझसे सम्बन्ध है। इसीके द्वारा मेरे देव और पितृ सम्बन्धी कार्यों का तथा मेरा निर्वाह होता है ॥ १३ ॥

आयत्तमग्निहोत्रं च बलिर्होमस्तथैव च ।
स्वाहाकारवषट्कारौ विद्याश्च विविधास्तथा ॥ १४ ॥

मेरे अग्निहोत्र बलिवैश्वदेव, स्वाहा, स्वधा, वषट्कार और विविध प्रकार की विद्याएँ इसीके सहारे हैं ॥ १४ ॥

आयत्तमत्र राजर्षे सर्वमेतन्न संशयः ।
सर्वस्वमेतत्सत्येन मम तुष्टिकरी सदा ॥ १५ ॥

हे राजर्षे ! कहाँ तक कहूँ आप निश्चय जानिये मेरा तो सब काम यही चलाती है। यह मेरे लिये सर्वस्व है। इसीसे मैं सदा सन्तुष्ट चित्त रहता हूँ। (अर्थात् मुझे किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती. ॥ १५ ॥

कारणैर्बहुभी राजन्न दास्ये शबलां तव ।
वसिष्ठेनैवमुक्तस्तु विश्वामित्रोऽब्रवीत्ततः ॥ १६ ॥
संरब्धतरमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः ।
हैरण्यकक्ष्याग्रैवेयान्सुवर्णाङ्कुशभूषितान् ॥ १७ ॥

इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण इसे न देने के हैं। अतः हे राजन् ! शबला को तो मैं आपको न दूँगा। वशिष्ठ जी का यह उत्तर सुन विश्वामित्र जी अत्यन्त आवेश में भर आग्रह पूर्वक कहने लगे। हे मुनिवर ! सोने के घंटों, सोने के आभूषणों और सोने के अङ्कुशों से भूषित ॥ १६ ॥ १७ ॥

ददामि कुञ्जराणां ते सहस्राणि चतुर्दश ।
हैरण्यानां रथानां ते श्वेताश्वानां चतुर्युजाम् ॥ १८ ॥
ददामि ते शतान्यष्टौ किङ्किणीकविभूषितान् ।
हयानां देशजातानां कुलजानां महौजसाम् ॥ १९ ॥

चौदह हज़ार हाथी मैं देता हूँ (इतना ही नहीं) चार चार सफेद घोड़ों वाले बड़े सुन्दर सोने के एक सौ आठ रथ देता हूँ।

साथ ही अच्छी नस्ल के दिसावरी और सुवर्ण के आभूषणों से सुसज्जित ॥ १८ ॥ १९ ॥

सहस्रमेकं दश च ददामि तव सुव्रत ।
नानावर्णविभक्तानां वयःस्थानां तथैव च ॥ २० ॥

ग्यारह हज़ार घोड़े तुमको देता हूँ। इनके अतिरिक्त तरह तरह के रङ्गों वाली, जवान ॥ २० ॥

ददाम्येकां गवां कोटिं शवला दीयतां मम ।
यावदिच्छसि रत्नं वा हिरण्यं वा द्विजोत्तम ॥ २१ ॥

करोड़ों गौएँ देता हूँ। आप मुझे शवला दे दें। हे द्विजोत्तम ! आप जितने रत्न और जितना सोना चाहें ॥ २१ ॥

तावद्दास्यामि तत्सर्वं शवला दीयतां मम ।
एवमुक्तस्तु भगवान्विश्वामित्रेण धीमता ॥ २२ ॥

मैं सब देने को तैयार हूँ। आप मुझे शवला दे ही दो। इस प्रकार विश्वामित्र जी के कहने पर भी बुद्धिमान ॥ २२ ॥

न दास्यामीति शवलां प्राह राजन्कथंचन ।
एतदेव हि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम् ॥ २३ ॥

वशिष्ठ जी ने कहा कि, हे राजन्! शवला को तो मैं किसी तरह भी नहीं दे सकता, क्योंकि मेरे लिये तो शवला मेरा रत्न और शवला ही मेरा धन है ॥ २३ ॥

एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि जीवितम् ।
दर्शश्च पूर्णमासश्च यज्ञाश्चैवाप्तदक्षिणाः ।
एतदेव हि मे राजन्विविधाश्च क्रियास्तथा ॥ २४ ॥

हे राम ! जब राजा विश्वामित्र गौ को ज़बरदस्ती ले जाने लगे, तब दुःखी हो वह रोने लगी और मारे शोक के विकल हो अपने मन में सोचने लगी ॥ २ ॥

परित्यक्ता वसिष्ठेन किमहं सुमहात्मना ।
याऽहं राजभटैर्दीना ह्रियेय भृशदुःखिता ॥ ३ ॥

महात्मा वशिष्ठ जी ने मुझे क्यों त्यागा ? मैंने तो उनका कोई अपराध भी नहीं किया। फिर क्यों राजा के भट (नौकर) मुझ दुःखिनी को ज़बरदस्ती पकड़ कर लिये जाते हैं ॥ ३ ॥

किं मयाऽपकृतं तस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
यन्मामनागसं भक्तामिष्टां त्यजति धार्मिकः ॥ ४ ॥

महासिद्ध महात्मा महर्षि वशिष्ठ का मैंने कौन अपराध किया जो मुझ निर्दोषिनी, अनुरागिनी और प्यारी को धार्मिक मुनिप्रवर त्यागे देते हैं ॥ ४ ॥

इति सा चिन्तयित्वा तु विनिःश्वस्य पुनः पुनः ।
निर्धूय तांस्तदा भृत्याञ्शतशः शत्रुसूदन ॥ ५ ॥

शवला गौ ऐसा सोच और वारंवार ऊँची साँसे लें तथा उन सैकड़ों वीर राजकर्मचारियों के हाथ से अपने को छुड़ा ॥ ५ ॥

जगामा निलवेगेन पादमूलं महात्मनः ।
शवला सा रुदन्ती च क्रोशन्ती चेदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

कर वायुवेग से भागी और वशिष्ठ जी के चरणों में जा गिरी। शवला बड़े ज़ोर से चिल्लाती और रोती हुई कहने लगी ॥ ६ ॥

वसिष्ठस्याग्रतः स्थित्वा रुदन्ती मेघनिःस्वना ।
भगवन्किं परित्यक्ता त्वयाऽहं ब्रह्मणः सुत ॥ ७ ॥

वशिष्ठ जी के सामने खड़ी हो, रोती हुई, मेघ के समान उच्च स्वर से बोली—हे भगवन्! हे ब्रह्मा के पुत्र! क्या आपने मुझे त्याग दिया? ॥ ७ ॥

यस्माद्राजभटा मां हि नयन्ते त्वत्सकाशतः ।
एवमुक्तस्तु ब्रह्मर्षिरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

जो आपके यहाँ से मुझे राजा के सिपाही लिये जा रहे हैं? यह सुन कर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी ने कहा ॥ ८ ॥

शोकसन्तप्तहृदयां स्वसारमिव दुःखिताम् ।
न त्वां त्यजामि शबले नापि मेऽपकृतं त्वया ॥ ९ ॥

वे परम दुःखित हो शबला से उसी प्रकार बोले जैसे कोई अपनी बहिन को दुखी देख उससे कहता है। हे शबले! न तो तूने कोई मेरा अपकार किया और न मैं अपनी इच्छा से तेरा परित्याग ही कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

एष त्वां नयते राजा बलान्मत्तो महाबलः ।
न हि तुल्यं बलं मह्यं राजा त्वद्य विशेषतः ॥ १० ॥

बली राजा क्षत्रियश्च पृथिव्याः पतिरेव च ।
इयमक्षौहिणी पूर्णा सवाजिरथसंकुला ॥ ११ ॥

हस्तिध्वजसमाकीर्णा तेनासौ बलवत्तरः ।
एवमुक्ता वसिष्ठेन प्रत्युवाच विनीतवत् ॥ १२ ॥

वचनं वचनज्ञा सा ब्रह्मर्षिममितप्रभम् ।
न बलं क्षत्रियस्याहुर्ब्राह्मणो बलवत्तरः ॥ १३ ॥

यह राजा बल से मत्त हो वरजोरी मुझसे छीन कर तुझे लिये जाता है। मेरे पास राजा के बराबर सैन्यबल नहीं है। फिर एक तो वह राजा, दूसरे क्षत्रिय, तीसरे पृथिवी का मालिक है। घोड़ों रथों और हाथियों से परिपूर्ण इसके साथ एक बड़ी भारी सेना है। अतः वह मुझसे बल में अधिक है। वशिष्ठ जी के यह कहने पर, वार्तालाप में चतुर, उत्तर में, वह शबला अमित प्रभाव वाले ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी से बोली कि, हे ब्रह्मर्षे! ब्राह्मणों के बल के सामने क्षत्रियों का बल तुच्छ है ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

ब्रह्मन्ब्रह्मबलं दिव्यं क्षत्रात्तु बलवत्तरम् ।
अप्रमेयबलं तुभ्यं न त्वया बलवत्तरः ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मन्! क्योंकि ब्राह्मणों का बल दिव्य (अर्थात् तपस्या का बल) होता है, अतः क्षात्रबल (शारीरिक बल से) वह बहुत अधिक है। आपमें अतुलित बल है। वह अर्थात् क्षत्रिय राजा बल में आपका सामना नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

विश्वामित्रो महावीर्यस्तेजस्तव दुरासदम् ।
नियुङ्क्ष्व मां महाभाग त्वद्ब्रह्मबलसंभृताम् ॥ १५ ॥

विश्वामित्र अवश्य ही बड़ा बलवान है, किन्तु आपका (तपस्या का) तेज उसके लिये दुःसह है। हे महाभाग! मुझे आप आज्ञा दीजिये तो मैं आपके ब्रह्मबल के प्रताप से ॥ १५ ॥

तस्य दर्पबलं यत्तन्नाशयामि दुरात्मनः ।
इत्युक्तस्तु तया राम वसिष्ठस्तु महायशाः ॥ १६ ॥

इस दुष्ट के बल का गर्व नष्ट कर दूँ। हे राम! शवला के यह वचन सुन महायशो वशिष्ठ जी ॥ १६ ॥

सृजस्वेति तदोवाच बलं परबलारुजम् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुरभिः साऽसृजत्तदा ॥ १७ ॥

उससे बोले, अच्छा, तुम अपने बल से ऐसी सेना उत्पन्न करो जो शत्रु के (सैनिक) बल को मींज डाले। यह सुन शवला ने वैसी ही सेना उत्पन्न कर दी ॥ १७ ॥

तस्या हुम्भारवोत्सृष्टाः पह्लवाः शतशो नृप ।
नाशयन्ति बलं सर्वं विश्वामित्रस्य पश्यतः ॥ १८ ॥

शवला के "हुँभा" शब्द करने से, सैकड़ों (एक प्रकार के) म्लेच्छ उत्पन्न हो गये और विश्वामित्र की आँखों के सामने उनकी समस्त सेना का नाश करने लगे ॥ १८ ॥

बलं भग्नं ततो दृष्ट्वा रथेनाक्रम्य कौशिकः ।
स राजा परमक्रुद्धो रोषविस्फारितेक्षणः ॥ १९ ॥

तब अपनी सेना को नष्ट हुआ देख, राजा विश्वामित्र परम क्रुद्ध हुए और लाल लाल नेत्र कर रथ में बैठ आक्रमण किया, ॥ १६ ॥

पह्लवान्नाशयामास शस्त्रैरुच्चावचैरपि ।
विश्वामित्रार्दितान्दृष्ट्वा पह्लवाञ्शतशस्तदा ॥ २० ॥

और नाना प्रकार के छोटे बड़े आयुधों से पह्लवों (म्लेच्छ विशेष) को मार डाला। तब सैकड़ों पह्लवों का विश्वामित्र के हाथ से मारा जाना देख ॥ २० ॥

भूय एवासृजत्कोपाच्छकान्यवनमिश्रितान् ।
तैरासीत्संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ॥ २१ ॥

शवला ने क्रोध में भर यवनों सहित शकों (म्लेच्छों की एक जाति के लोगों) को उत्पन्न किया । इन यवनों और शकों से पृथिवी पूर्ण हो गयी ॥ २१ ॥

प्रभावद्भिर्महावीर्यैर्हेमकिञ्जल्कसन्निभैः ।
दीर्घासिपट्टिशधरैर्हेमवर्णाम्बरावृतैः ।
निर्दग्धं तद्बलं सर्वं प्रदीप्तैरिव पावकैः ॥ २२ ॥

ये सब शक यवनादि बड़े तेजस्वी महापराक्रमी थे । सब के शरीर का रंग सुवर्ण की तरह चमकीला था । सब के सब पीली पोशाकें पहने हुए थे । बड़ी बड़ी तलवारें, व पटा, धारण किये हुए थे । इन सब ने प्रदीप्त अग्नि की तरह विश्वामित्र के सैनिकों को दग्ध (अर्थात् नष्ट) कर डाला ॥ २२ ॥

ततोऽस्त्राणि महातेजा विश्वामित्रो मुमोच ह ।
तैस्तैर्यवनकाम्भोजाः पप्लवाश्चाकुलीकृताः ॥ २३ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

तब महातेजस्वी विश्वामित्र जी ने अस्त्र छोड़े, जिनसे वे सब यवन, काम्भोज और पप्लव विकल हो गये ॥ २३ ॥

वालकाण्ड का चौअनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

ततस्तानाकुलान्दृष्ट्वा विश्वामित्रास्त्रमोहितान् ।
वसिष्ठश्चोदयामास कामधुक्सृज योगतः ॥ १ ॥

जब विश्वामित्र के अस्त्र शस्त्रों से उन यवनों को वशिष्ठ जी ने विकल देखा, तब उन्होंने शबला से कहा कि, अब की मेरे कहने से योग की महिमा से और म्लेच्छ उत्पन्न कर ॥ १ ॥

तस्या हुम्भारवाज्जाताः काम्भोजा रविसन्निभाः ।
ऊधसः¹त्वथ सञ्जाताः पह्लवाः शस्त्रपाणयः ॥ २ ॥

तब शबला के हुङ्कार से सूर्य के समान तेजस्वी काम्भोज नामक म्लेच्छ और स्तनों से हाथों में शस्त्र लिये पह्लव उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

योनिदेशाच्च यवनाः शकृद्देशाच्छकास्तथा ।
रोमकूपेषु च म्लेच्छा हारीताः सकिरातकाः ॥ ३ ॥

योनि से यवन, गुदा से शक और रोओं से म्लेच्छ, हारीत और किरात उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

तैस्तैर्निषूदितं सर्वं विश्वामित्रस्य तत्क्षणात् ।
सपदातिगजं साश्वं सरथं रघुनन्दन ॥ ४ ॥

हे राम ! इन लोगों ने विश्वामित्र की हाथी घोड़े रथों और पैदल सैनिकों सहित सारी सेना तुरन्त नष्ट कर दी ॥ ४ ॥

---

१ ऊधसः—स्तनात् (गो०) ।

दृष्ट्वा निषूदितं सैन्यं वसिष्ठेन महात्मना ।
विश्वामित्रसुतानां तु शतं नानाविधायुधम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार अपनी सेना का वशिष्ठ जी द्वारा नाश देख, विश्वामित्र जी के सौ पुत्र अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र ले ॥ ५ ॥

अभ्यधावत्सुसंक्रुद्धं वसिष्ठं जपतांवरम् ।
हुङ्कारेणैव तान्सर्वान्ददाह भगवानृषिः ॥ ६ ॥

और क्रुद्ध हो, तपस्वियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ जी के ऊपर दौड़े; किन्तु भगवान् वशिष्ठ जी ने "हुङ्कार" कर उन सब को भस्म कर डाला ॥ ६ ॥

ते साश्वरथपादाता वसिष्ठेन महात्मना ।
भस्मीकृता मुहूर्तेन विश्वामित्रसुतास्तदा ॥ ७ ॥

राजकुमारों के साथ जो घोड़े, रथ और पैदल सिपाही थे उनको भी राजकुमारों के साथ ही महात्मा वशिष्ठ जी ने क्षण भर में भस्म कर डाला ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा विनाशितान्पुत्रान्बलं च सुमहायशाः ।
सव्रीडश्चिन्तयाविष्टो विश्वामित्रोऽभवत्तदा ॥ ८ ॥

बड़े यशस्वी राजा विश्वामित्र अपने सौ पुत्रों को सैन्य सहित नष्ट हुआ देख, अत्यन्त लज्जित हो चिन्तामग्न हो गये ॥ ८ ॥

समुद्र इव निर्वेगो भग्नदंष्ट्र इवोरगः ।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥ ९ ॥

वे वेगरहित समुद्र, विषदन्त रहित सर्प, और राहु ग्रसित सूर्य की तरह निष्प्रभ (तेजहीन) हो गये ॥ ६ ॥

हतपुत्रबलो दीनो लूनपक्ष इव द्विजः ।
हतदर्पो हतोत्साहो निर्वेदं समपद्यत ॥ १० ॥

वे अपने पुत्रों और सेना के मारे जाने से पक्षरहित पक्षी की तरह दीन हो गये । वे दर्पहत और हतोत्साह हो, अत्यन्त दुःखित हुए ॥ १० ॥

स पुत्रमेकं राज्याय पालयेति नियुज्य च ।
पृथिवीं क्षत्रधर्मेण वनमेवान्वपद्यत ॥ ११ ॥

(बचे हुए) एक पुत्र को राज्य सौंप और क्षात्रधर्म से राज्य करने का उसे उपदेश दे, वे स्वयं वन को चल दिये ॥ ११ ॥

स गत्वा हिमवत्पार्श्वं किन्नरोरगसेवितम् ।
महादेवप्रसादार्थं तपस्तेपे महातपाः ॥ १२ ॥

वे हिमालय पर उस जगह गये जहाँ किन्नर उरग रहते थे और भगवान् शिव को प्रसन्न करने के लिये तपस्या करने लगे ॥ १२ ॥

केनचित्त्वथ कालेन देवेशो वृषभध्वजः ।
दर्शयामास वरदो विश्वामित्रं महाबलम् ॥ १३ ॥

कुछ काल के बाद वरदानी भगवान् वृषभध्वज महादेव जी महाबली विश्वामित्र जी के आगे प्रकट हुए ॥ १३ ॥

किमर्थं तप्यसे राजन्ब्रूहि यत्ते विवक्षितम् ।
वरदोऽस्मि वरो यस्ते काङ्क्षितः सोऽभिधीयताम् ॥१४॥

वे बोले—हे राजन्! तुम किस लिये तप कर रहे हो? बतलाओ तुम क्या चाहते हो? जो तुम माँगो वही वर देने को मैं प्रस्तुत हूँ॥ १४॥

एवमुक्तस्तु देवेन विश्वामित्रो महातपाः।
प्रणिपत्य महादेवमिदं वचनमब्रवीत्॥ १५॥

महादेव जी के ये वचन सुन महातपस्वी विश्वामित्र उनको प्रणाम कर यह बोले॥ १५॥

यदि तुष्टो महादेव धनुर्वेदो ममानघ।
साङ्गोपाङ्गोपनिषदः सरहस्यः प्रदीयताम्॥ १६॥

हे महादेव! हे अनघ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो अङ्ग, उपाङ्ग, उपनिषद् तथा रहस्य सहित धनुर्वेद मुझे बतला दीजिये॥ १६॥

यानि देवेषु चास्त्राणि दानवेषु महर्षिषु।
गन्धर्वयक्षरक्षःसु प्रतिभान्तु ममानघ॥ १७॥

जिन प्रसिद्ध अस्त्रों का प्रचार दानवों, महर्षियों, गन्धर्वों, यक्षों और राक्षसों में हैं, वे सब॥ १७॥

तव प्रसादाद्भवतु देवदेव ममेप्सितम्।
एवमस्त्विति देवेशो वाक्यमुक्त्वा गतस्तदा॥ १८॥

हे देवों के देव! आपके अनुग्रह से मुझे प्राप्त हों। यह वर माँगने पर महादेव जी "एवमस्तु" अर्थात् ऐसा ही हो, कह कर चले गये॥ १८॥

प्राप्य चास्त्राणि देवेशाद्विश्वामित्रो महाबलः।
दर्पेण महता युक्तो दर्पपूर्णोऽभवत्तदा॥ १९॥

महादेव जी से अस्त्रों को पा कर महाबली विश्वामित्र महान् दर्प से युक्त हो अभिमान में बढ़े ॥ १६ ॥

विवर्धमानो वीर्येण समुद्र इव पर्वणि ।
हतमेव तदा मेने वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ २० ॥

वे बल में ऐसे बढ़े, जैसे पर्वकाल में (अर्थात् पूर्णिमा के दिन) चन्द्रमा को देख समुद्र बढ़ता है। उन्होंने अपने मन में निश्चित कर लिया कि, वशिष्ठ अब मरे ही धरे हैं ॥ २० ॥

ततो गत्वाऽऽश्रमपदं मुमोचास्त्राणि पार्थिवः ।
यैस्तत्तपोवनं सर्वं निर्दग्धं चास्त्रतेजसा ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा विश्वामित्र, वशिष्ठ जी के आश्रम पर पहुँचे और अस्त्रों की वर्षा करने लगे। उन अस्त्रों की आग से वह तपोवन जल उठा ॥ २१ ॥

उदीर्यमाणमस्त्रं तद्विश्वामित्रस्य धीमतः ।
दृष्ट्वा विप्रद्रुता भीता मुनयः शतशो दिशः ॥ २२ ॥

विश्वामित्र जी के अस्त्रों का प्रयोग देख सैकड़ों मुनि भयभीत हो चारों ओर भाग गये ॥ २२ ॥

वसिष्ठस्य च ये शिष्यास्तथैव मृगपक्षिणः ।
विद्रवन्ति भयाद्भीता नानादिग्भ्यः सहस्रशः ॥ २३ ॥

वशिष्ठ जी के जो शिष्य थे तथा जो हज़ारों पशु पक्षी वहाँ रहते थे, वे भी सब भयभीत हो चारों ओर भाग गये ॥ २३ ॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं शून्यमासीन्महात्मनः ।
मुहूर्तमिव निःशब्दमासीदिरिणसन्निभम् ॥ २४ ॥

महात्मा वशिष्ठ जी के आश्रम में एक भी जीवधारी न रहा। घड़ी भर में ही वहां सन्नाटा छा गया अथवा वह आश्रम ऊसर भूमि की तरह उजाड़ हो गया ॥ २४ ॥

वदतो वै वसिष्ठस्य मा भैरिति मुहुर्मुहुः।
नाशयाम्यद्य गाधेयं नीहारमिव भास्करः ॥ २५ ॥

वशिष्ठ जी उन सब से बार बार चिल्ला चिल्ला कर यह कहते जाते थे कि, डरो मत! डरो मत! मैं विश्वामित्र का अभी उसी प्रकार नाश किये डालता हूँ जैसे सूर्य कोहरे का नाश करते हैं ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा वसिष्ठो जपतांवरः।
विश्वामित्रं तदा वाक्यं सरोषमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उन सब से यह कह कर तपस्विप्रवर वशिष्ठ जी ने रोष में भर विश्वामित्र जी से यह कहा ॥ २६ ॥

आश्रमं चिरसंवृद्धं यद्विनाशितवानसि।
दुराचारोसि यन्मूढ तस्मात्त्वं न भविष्यसि ॥ २७ ॥

तूने मेरे बहुत पुराने और भरे पूरे इस आश्रम को नष्ट कर दिया है। अतएव हे दुराचारी और मूढ़! अब तू न बचने पावेगा ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धो दण्डमुद्यम्य सत्वरः।
विधूममिव कालाग्निं यमदण्डमिवापरम् ॥ २८ ॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

यह कह कर वशिष्ठ जी ने क्रोध पूर्वक बड़े वेग से अपना दण्ड उठाया जो धूमरहित कालाग्नि के समान अथवा दूसरा यमदण्ड जैसा था ॥ २८ ॥

बालकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:※:—

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महाबलः ।
आग्नेयमस्त्रमुत्क्षिप्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १ ॥

वशिष्ठ जी के ऐसे कठोर वचन सुन कर, महाबली विश्वामित्र ने आग्नेयास्त्र उठाया और कहा खड़ा रह ! खड़ा रह ! ॥ १ ॥

ब्रह्मदण्डं समुत्क्षिप्य कालदण्डमिवापरम् ।
वसिष्ठो भगवान्क्रोधादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

वशिष्ठ जी ने भी दूसरे कालदण्ड के समान ब्रह्मदण्ड को उठा कर क्रोधपूर्वक विश्वामित्र से यह कहा ॥ २ ॥

क्षत्रबन्धो[1] स्थितोऽस्म्येष यद्बलं तद्विदर्शय ।
नाशयाम्यद्य ते दर्पं शस्त्रस्य तव गाधिज ॥ ३ ॥

अरे क्षत्रियों में नीच ! ले मैं खड़ा हूँ । तूने महादेव से जो अस्त्र शस्त्र प्राप्त किये हैं, उन सब को मेरे ऊपर चला । अरे गाधि के छोकड़े ! तुझे जो इन अस्त्रों की शेखी है, उसे भी मैं अभी दूर किये देता हूँ ॥ ३ ॥

---

१ क्षत्रबन्धो—क्षत्रियाधम । (गो०)

क्व च ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत् ।
पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन ॥ ४ ॥

अरे कहाँ क्षत्रियों का पशुबल ! और कहाँ ब्राह्मणों का बड़ा तपबल ! ओ क्षत्रियाधम ! मेरा दिव्य ब्रह्मबल देख ॥ ४ ॥

तस्यास्त्रं गाधिपुत्रस्य घोरमाग्नेयमुद्यतम् ।
ब्रह्मदण्डेन तच्छान्तमग्नेर्वेग इवाम्भसा ॥ ५ ॥

वशिष्ठ जी ने अपने ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र का चलाया हुआ वह भयङ्कर आग्नेयास्त्र उसी प्रकार शान्त कर दिया, जैसे जल आग को शान्त कर देता है ॥ ५ ॥

वारुणं चैव रौद्रं च ऐन्द्रं पाशुपतं तथा ।
ऐषीकं चापि चिक्षेप कुपितो गाधिनन्दनः ॥ ६ ॥

तदनन्तर विश्वामित्र ने क्रुद्ध हो वरुण, रौद्र, ऐन्द्र, पाशुपत, तथा ऐषीक अस्त्र चलाये ॥ ६ ॥

मानवं मोहनं चैव गान्धर्वं स्वापनं तथा ।
जृम्भणं मादनं चैव सन्तापनविलापने ॥ ७ ॥

फिर मानव, मोहन, गान्धर्व, स्वापन, जृम्भण, मादन, सन्तापन; विलापन, ॥ ७ ॥

शोषणं दारणं चैव वज्रमस्त्रं सुदुर्जयम् ।
ब्रह्मपाशं कालपाशं वारुणं पाशमेव च ॥ ८ ॥

शोषण, दारण, सुदुर्जय वज्रास्त्र, ब्रह्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, ॥ ८ ॥

पैनाकास्त्रं च दयितं शुष्कार्द्रे अशनी उभे ।
दण्डास्त्रमथ पैशाचं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ९ ॥

पिनाकास्त्र, प्यारा शुष्कार्द्र, दोनों अशनी, दण्डास्त्र, पैशाचास्त्र, क्रौञ्चास्त्र, ॥ ९ ॥

धर्मचक्रं कालचक्रं विष्णुचक्रं तथैव च ।
वायव्यं मथनं चैव अस्त्रं हयशिरस्तथा ॥ १० ॥

धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, वायव्यास्त्र, मथनास्त्र तथा हयशिरास्त्र भी चलाये ॥ १० ॥

शक्तिद्वयं च चिक्षेप कङ्कालं मुसलं तथा ।
वैद्याधरं महास्त्रं च कालास्त्रमथ दारुणम् ॥ ११ ॥

तथा दोनों शक्तियों भी चलायीं । तदनन्तर कङ्काल, मुसल, वैद्याधर नामक महास्त्र, कठोर कालास्त्र ॥ ११ ॥

त्रिशूलमस्त्रं घोरं च कापालमथ कङ्कणम् ।
एतान्यस्त्राणि चिक्षेप सर्वाणि रघुनन्दन ॥ १२ ॥

घोर त्रिशूल, कापाल और कङ्कणास्त्र ! हे राम ! ये सब अस्त्र विश्वामित्र जी ने वशिष्ठ जी के ऊपर चलाये ॥ १२ ॥

वसिष्ठे जपतांश्रेष्ठे तदद्भुतमिवाभवत् ।
तानि सर्वाणि दण्डेन ग्रसते ब्रह्मणः सुतः ॥ १३ ॥

किन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात हुई कि, ब्रह्मा जी के पुत्र और तपस्वियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ जी ने इन सब ही अस्त्रों को अपने ब्रह्मदण्ड से ग्रस लिया (अर्थात् पकड़ लिया) ॥ १३ ॥

तेषु शान्तेषु ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान्गाधिनन्दनः ।
तदस्त्रमुद्यतं दृष्ट्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ॥ १४ ॥

इन सब अस्त्रों के विफल होने पर विश्वामित्र ने ब्रह्मास्त्र चलाने के लिये उठाया, यह देख अग्न्यादि देव ॥ १४ ॥

देवर्षयश्च संभ्रान्ता गन्धर्वाः समहोरगाः ।
त्रैलोक्यमासीत्संत्रस्तं ब्रह्मास्त्रे समुदीरिते ॥ १५ ॥

देवर्षि, गन्धर्व और महोरग घबड़ा गये । ब्रह्मास्त्र के उठाते ही तीनों लोक बहुत भयभीत हुए ॥ १५ ॥

तदप्यस्त्रं महाघोरं ब्राह्मं ब्राह्मेण तेजसा ।
वसिष्ठो ग्रसते सर्वं ब्रह्मदण्डेन राघव ॥ १६ ॥

किन्तु, हे राम ! उस ब्रह्मास्त्र को भी अपने ब्रह्मविद्याभ्यास जनित तेज से अर्थात् ब्रह्मदण्ड से पकड़ कर, वशिष्ठ ने शान्त कर दिया ॥ १६ ॥

ब्रह्मास्त्रं ग्रसमानस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
त्रैलोक्यमोहनं रौद्रं रूपमासीत्सुदारुणम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मास्त्र को ग्रास करते समय वशिष्ठ जी का तीनों लोकों को मोहित करने वाला और अत्यन्त डरावना रूप हो गया ॥ १७ ॥

रोमकूपेषु सर्वेषु वसिष्ठस्य महात्मनः ।
मरीच्य इव निष्पेतुरग्नेर्धूमाकुलार्चिषः ॥ १८ ॥

उन महात्मा वशिष्ठ जी के प्रत्येक रोमकूप से धूमरहित अग्नि ज्वाला की तरह चिनगारियाँ निकलने लगीं ॥ १८ ॥

प्राज्वलद्ब्रह्मदण्डश्च वसिष्ठस्य करोद्यतः ।
विधूम इव कालाग्निर्यमदण्ड इवापरः ॥ १९ ॥

वशिष्ठ जी के हाथ का ब्रह्मदण्ड जो धूमरहित कालाग्नि के तुल्य अथवा दूसरे यमदण्ड के समान था—जल उठा ॥ १९ ॥

ततोऽस्तुवन्मुनिगणा वसिष्ठं जपतांवरम् ।
अमेयं ते बलं ब्रह्मंस्तेजो धारय तेजसा ॥ २० ॥

यह देख तपस्वियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ जी की अन्य मुनिगण स्तुति करने लगे और बोले—हे ब्रह्मन् ! आपका बल अमोघ है। आप ब्रह्मास्त्र के इस तेज को अपने तप की महिमा से शान्त कीजिये ॥ २० ॥

निगृहीतस्त्वया ब्रह्मन्विश्वामित्रो महातपाः ।
प्रसीद जपतांश्रेष्ठ लोकाः सन्तु गतव्यथाः ॥ २१ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपने इस महातपा विश्वामित्र का गर्व खर्व कर दिया। हे तपस्विप्रवर ! अब आप प्रसन्न हों, जिससे सब लोगों को शान्ति प्राप्त हो ॥ २१ ॥

एवमुक्तो महातेजाः शमं चक्रे महातपाः ।
विश्वामित्रोऽपि निकृतो विनिःश्वस्येदमब्रवीत् ॥२२॥

मुनियों के ऐसा कहने पर महातपा वशिष्ठ जी शान्त हो गये। तिरस्कृत विश्वामित्र भी ठंडी सांस ले कर यह बोले ॥ २२ ॥

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ॥ २३ ॥

क्षत्रिय के बल को धिक्कार है। ब्रह्मतेज ही का बल यथार्थ बल है। देखो कि, अकेले ब्रह्मदण्ड ने मेरे सब अस्त्र निकम्मे कर डाले ॥ २३ ॥

तदेतत्समवेक्ष्याहं प्रसन्नेन्द्रियमानसः[1] ।
तपो महत्समास्थास्ये यद्वै ब्रह्मत्वकारणम् ॥ २४ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

अतः मैं अब क्षत्रिय-स्वभाव-सुलभ रोष को परित्याग कर, ब्राह्मण होने के लिये तप करूँगा, जो ब्राह्मणत्व प्राप्त होने का कारण अर्थात् उपाय है ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

ततः सन्तप्तहृदयः स्मरन्निग्रहमात्मनः ।
विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य कृतवैरो महात्मना ॥ १ ॥

अपने तिरस्कार को वारंवार स्मरण कर विश्वामित्र का हृदय सन्तप्त हुआ और वशिष्ठ जी के साथ वैर करने का जो फल प्राप्त हुआ उसके लिये वे ऊँची स्वाँसे खींच लेते हुए अर्थात् क्रोध से दग्ध होते हुए ॥ १ ॥

---

१ प्रसन्नेन्द्रियमानसः—परित्यक्त क्षत्ररोष (गो०) । परित्यक्तक्षत्रस्वभाव (रा०) ।

स दक्षिणां दिशं गत्वा महिष्या सह राघव ।
तताप परमं घोरं विश्वामित्रो महत्तपः ॥ २ ॥

हे रामचन्द्र ! विश्वामित्र अपनी रानी सहित दक्षिण दिशा में चले गये और वहाँ उन्होंने बड़ी कठिन तपस्या की ॥ २ ॥

अथास्य जज्ञिरे पुत्राः सत्यधर्मपरायणाः ।
हविःष्यन्दो मधुष्यन्दो दृढनेत्रो महारथः ॥ ३ ॥

विश्वामित्र जी के कुछ दिनों बाद सत्यवादी, महारथी और धर्मात्मा हविष्यन्द, मधुष्यन्द, दृढ़नेत्र नाम के पुत्र हुए ॥ ३ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम् ॥ ४ ॥

जब तप करते करते एक हज़ार वर्ष पूरे हो गये, तब लोकपितामह ब्रह्मा जी प्रकट हुए और तपस्वी विश्वामित्र जी से बोले ॥ ४ ॥

जिता राजर्षिलोकास्ते तपसा कुशिकात्मज ।
अनेन तपसा त्वां तु राजर्षिरिति विद्महे ॥ ५ ॥

हे कुशिक के पुत्र ! हे राजर्षे ! तुमने तप के बल से राजर्षियों के लोक जीत लिये। अतः तुम (अपनी इस तपस्या के प्रभाव से) राजर्षि हुए ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा जगाम सह दैवतैः ।
त्रिविष्टपं ब्रह्मलोकं लोकानां परमेश्वरः ॥ ६ ॥

यह कह कर लोकेश्वर ब्रह्मा जी देवताओं सहित अपने ब्रह्मलोक को और देवगण स्वर्ग को चले गये ॥ ६ ॥

विश्वामित्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टः समन्यु[1]रिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन विश्वामित्र जी ने मारे लज्जा के मुख नीचा कर लिया और परम दुःखित हो, दीनता पूर्वक बोले ॥ ७ ॥

तपश्च सुमहत्तप्तं राजर्षिरिति मां विदुः ।
देवाः सर्षिगणाः सर्वे नास्ति मन्ये तपःफलम् ॥ ८ ॥

हा ! इतना घोर तप करने पर भी समस्त देवता और ऋषि मुझे राजर्षि ही मानते हैं, (ब्रह्मर्षि नहीं) अतः मैं इसको तप का फल ही नहीं मानता ॥ ८ ॥

इति निश्चित्य मनसा भूय एव महातपाः ।
तपश्चचार काकुत्स्थ परमं परमात्मवान् ॥ ९ ॥

हे राघव ! अपने मन में यह निश्चय कर, परम यत्नवान् महातपस्वी विश्वामित्र फिर कठोर तप करने लगे ॥ ९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
त्रिशङ्कुरिति विख्यात इक्ष्वाकुकुलवर्धनः ॥ १० ॥

इसी बीच में सत्यवादी और जितेन्द्रिय इक्ष्वाकुवंशी त्रिशङ्कु नामक, राजा के ॥ १० ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना यजेयमिति राघव ।
गच्छेयं स्वशरीरेण देवानां परमां गतिम् ॥ ११ ॥

---

१ समन्युः—सदैन्यः । (गो०)

मन में, हे राघव ! यह बात उठी कि; हम ऐसा कोई यज्ञ करें, जिससे हम अपने इस (पार्थिव) शरीर से स्वर्ग जांय ॥ ११ ॥

स वसिष्ठं समाहूय कथयामास चिन्तितम् ।
अशक्यमिति चाप्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ॥ १२ ॥

और अपने मन के इस विचार को, वशिष्ठ जी को बुला कर उनके सामने प्रकट किया । महात्मा वशिष्ठ जी ने त्रिशङ्कु का विचार सुन कर कहा कि, ऐसा होना असम्भव है ॥ १२ ॥

प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन स ययौ दक्षिणां दिशम् ।
ततस्तत्कर्मसिद्ध्यर्थं पुत्रांस्तस्य गतो नृपः ॥ १३ ॥

जब वशिष्ठ जी ने त्रिशङ्कु को यह सूखा जवाब दे दिया, तब वह दक्षिण दिशा में अपने मनोरथ को सिद्धि के लिये वशिष्ठ जी के पुत्रों के पास गया ॥ १३ ॥

वासिष्ठा दीर्घतपसस्तपो यत्र हि तेपिरे ।
त्रिशङ्कुः सुमहातेजाः शतं[1] परमभास्वरम् ॥ १४ ॥
वसिष्ठपुत्रान्ददर्श तप्यमानान्यशस्विनः ।
सोऽभिगम्य महात्मानः सर्वानेव गुरोः सुतान् ॥१५॥

जाते जाते राजा त्रिशङ्कु वहाँ पहुँचा जहाँ वशिष्ठ जी के पुत्र बड़ा तप कर रहे थे । वहाँ जा महातेजस्वी त्रिशङ्कु ने वशिष्ठ जी के बड़े यशस्वी पुत्रों को देखा कि, वे सब के सब तपस्या में लीन हैं । उन सब महात्मा गुरुपुत्रों के पास जा ॥ १४ ॥ १५ ॥

---

१ शतं वासिष्ठानिति—बह्वर्थे शतमितिनिपातनात्समानाधिकरण्यं । (गो०)

अभिवाद्यानुपूर्व्येण ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ।
अब्रवीत्सुमहाभागान्सर्वानेव कृताञ्जलिः ॥ १६ ॥

त्रिशङ्कु ने यथाक्रम सब को प्रणाम किया, किन्तु वे लज्जा के मारे मुख नीचे ही किये रहे और हाथ जोड़ कर उन सब महात्मा गुरुपुत्रों से बोले ॥ १६ ॥

शरणं वः प्रपद्येऽहं शरण्याञ्शरणागतः ।
प्रत्याख्यातोऽस्मि भद्रं वो वसिष्ठेन महात्मना ॥१७॥

आप शरणागत की रक्षा करने वाले हैं। अतः मैं आपकी शरण में आया हूँ। मैंने आपके पिता जी से यज्ञ कराने को कहा था किन्तु उन्होंने मुझे जवाब दे दिया (अर्थात् यज्ञ कराने से इंकार कर दिया) ॥ १७ ॥

यष्टुकामो महायज्ञं तदनुज्ञातुमर्हथ ।
गुरुपुत्रान् सर्वान्नमस्कृत्य प्रसादये ॥ १८ ॥

अब आप लोगों से प्रार्थना है कि, उस महायज्ञ करने की आज्ञा दो। मैं अपने सब गुरुपुत्रों को प्रसन्न करने के लिये उनको नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥

शिरसा प्रणतो याचे ब्राह्मणांस्तपसि स्थितान् ।
ते मां भवन्तः सिद्ध्यर्थं याजयन्तु समाहिताः ॥ १९ ॥

मैं बारम्बार प्रणाम कर, आप तपस्वी ब्राह्मणों से यह मांगता हूँ कि, आप लोग मुझे सावधानता पूर्वक यज्ञ करावें, जिससे मेरा मनोरथ सिद्ध हो ॥ १९ ॥

सशरीरो यथाहं हि देवलोकमवाप्नुयाम् ।
प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन गतिमन्यां तपोधनाः ॥ २० ॥

और जिससे मैं इसी शरीर से स्वर्ग जाऊँ। हे तपोधनो! गुरु वशिष्ठ जी ने तो मुझे जवाब दे दिया, अतः मैं गुरुपुत्रों को छोड़ इस काम के लिये अन्य किसी को योग्य नहीं समझता ॥२०॥

गुरुपुत्रानृते सर्वान्नाहं पश्यामि कांचन ।
इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः ॥ २१ ॥

यदि आप सब लोगों ने भी सूखा ही टरकाया तो मुझे और कोई नहीं देख पड़ता। इक्ष्वाकुवंशीय सब राजाओं के तो काम उनके पुरोहित द्वारा ही होते रहे हैं अथवा राजा इक्ष्वाकु के वंश की यह रीति है कि, सदा पुरोहित से प्रीति करें अतः मेरा आपके शरण में आना कोई अनोखी बात नहीं है ॥ २१ ॥

पुरोधसस्तु विद्वांसस्तारयन्ति सदा नृपान् ।
तस्मादनन्तरं सर्वे भवन्तो दैवतं मम[1] ॥ २२ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

श्रेष्ठ विद्वान् वशिष्ठ जी ही इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के सदा से रक्षक रहे हैं। उनके अनन्तर आप सब लोग ही मेरे रक्षक हैं ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

१ तस्याः रक्षकत्वेन भवन्त एव रक्षकाः इति भावः। (गो०)

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

ततस्त्रिशङ्कोर्वचनं श्रुत्वा क्रोधसमन्वितम्।
ऋषिपुत्रशतं राम राजानमिदमब्रवीत्॥ १॥

हे राम! राजा त्रिशङ्कु का वचन सुन वशिष्ठ जी के सौ पुत्र क्रोध कर उससे यह बोले॥ १॥

प्रत्याख्यातो हि दुर्बुद्धे गुरुणा सत्यवादिना।
तं कथं समतिक्रम्य शाखान्तरमुपेयिवान्॥ २॥

हे दुर्बुद्धे! तेरे सत्यवादी गुरु ने तुझे जिस बात के लिये निषेध कर दिया, उनकी उस आज्ञा की अवहेला कर, तू दूसरों के पास क्यों आया है॥ २॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमो गुरुः।
न चातिक्रमितुं शक्यं वचनं सत्यवादिनः॥ ३॥

(तेरे ही कथनानुसार) इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के लिये पुरोहित वशिष्ठ जी ही परमगति हैं। उन सत्यवादी की बात को टालना हमारे लिये असम्भव है॥ ३॥

अशक्यमिति चोवाच वसिष्ठो भगवानृषिः।
तं वयं वै समाहर्तुं क्रतुं शक्ताः कथं तव॥ ४॥

भला जिस यज्ञ के विषय में भगवान् ऋषि वशिष्ठ जी कह चुके हैं कि, यह नहीं हो सकता, (ज़रा सोच तो) उस तेरे यज्ञ को हम कैसे करा सकते हैं॥ ४॥

[नोट—वशिष्ठ जी के पुत्रों के क्रुद्ध होने का कारण यही था। उन लोगों ने समझा कि, त्रिशङ्कु हमारे और हमारे पिता के बीच वैर करवाना चाहता है। यही बात वे यहाँ कह रहे हैं।]

बालिशस्त्वं नरश्रेष्ठ गम्यतां स्वपुरं पुनः।
याजने भगवाञ्शक्तस्त्रैलोक्यस्यापि पार्थिव ॥ ५ ॥

हे राजन्! हम जान गये तुम अनाड़ी हो। तुम अब अपनी राजधानी को लौट जाओ। हे राजन्! भगवान् वशिष्ठ जी तो तीनों लोकों को भी यज्ञ करा सकते हैं, फिर तुम तो उनके शिष्य ही हो। (यदि उन्होंने तुमको किसी कारण विशेष वश यज्ञ कराना नहीं चाहा तो इसका यह अर्थ मत समझो कि, वे वैसा यज्ञ करा नहीं सकते; किन्तु उनका वैसा न करवाना तुम्हारे ही हित के लिये है) ॥ ५ ॥

अवमानं च तत्कर्तुं तस्य शक्ष्यामहे कथम्।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ ६ ॥

हम उनका अपमान कैसे कर सकते हैं। उनके ऐसे क्रोधयुक्त वचन सुन, ॥ ६ ॥

स राजा पुनरेवैतानिदं वचनमब्रवीत्।
प्रत्याख्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥ ७ ॥

राजा ने उनसे फिर यह कहा—अच्छा महाराज! गुरु जी ने जिस प्रकार जवाब दे दिया, उसी प्रकार आप लोगों ने भी मुझे सूखा टरकाया है ॥ ७ ॥

अन्यां गतिं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु तपोधनाः।
ऋषिपुत्रास्तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं घोराभिसंहितम् ॥८॥

हे तपस्वियो ! आप लोग आनन्द कीजिये मैं अब जाता हूँ और अन्य किसी के शरण में जाऊँगा। ऋषि पुत्रों ने जब राजा के मुख से निकले हुए ऐसे घोर अपमान कारक वचन सुने ॥ ८ ॥

शेपुः परमसंक्रुद्धाश्चण्डालत्वं गमिष्यसि ।
एवमुक्त्वा महात्मानो विविशुस्ते स्वमाश्रमम् ॥ ९ ॥

तब वे परम क्रुद्ध हुए और राजा को शाप दिया कि, "तू चण्डाल हो जायगा"। यह शाप दे वे सब उठ कर अपनी अपनी कुटियों के भीतर चले गये ॥ ९ ॥

अथ रात्र्यां व्यतीतायां राजा चण्डालतां गतः ।
नीलवस्त्रधरो नीलः परुषो ध्वस्तमूर्धजः ॥ १० ॥

रात बीतने पर राजा चण्डालता को प्राप्त हो गया। (पीताम्बर की जगह) उसने नीले रङ्ग का तहमत पहना, उसका शरीर भी काला पड़ गया। शरीर पर रुखाई आ गयी। सिर के बाल छोटे हो गये ॥ १० ॥

चित्यमाल्यानुलेपश्च आयसाभरणोऽभवत् ।
तं दृष्ट्वा मन्त्रिणः सर्वे त्यज्य चण्डालरूपिणम् ॥११॥
प्राद्रवन्सहिता राम पौरा येऽस्यानुगामिनः ।
एको हि राजा काकुत्स्थ जगाम परमात्मवान् ॥ १२ ॥

चिता की भस्म शरीर में पुत गई। और उसके जितने (सोने के) गहने थे वे सब लोहे के हो गये। हे राम ! इस प्रकार राजा को चण्डालत्व को प्राप्त हुआ देख, सब पुरवासी, जो उसके अनुगामी थे,

नगर से भाग गये। हे राम! तब राजा भी वहाँ से अकेला चल दिया ॥ ११ ॥ १२ ॥

दह्यमानो दिवारात्रं विश्वामित्रं तपोधनम् ।
विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा राजानं विफलीकृतम् ॥ १३ ॥

और रात दिन चिन्ताकुल वह राजा तपस्वी विश्वामित्र जी के पास गया। विश्वामित्र जी को, उस राजा को राज्य-भ्रष्ट ॥ १३ ॥

चण्डालरूपिणं राम मुनिः कारुण्यमागतः ।
कारुण्यात्स महातेजा वाक्यं परमधार्मिकः ॥ १४ ॥

और चण्डालत्व को प्राप्त हुआ देख, उस पर दया आयी। दयावश, महातेजस्वी और परम धार्मिक विश्वामित्र जी ने ॥ १४ ॥

इदं जगाद भद्रं ते राजानं घोररूपिणम् ।
किमागमनकार्यं ते राजपुत्र महाबल ॥ १५ ॥

उस घोर रूपधारी राजा से यह कहा—हे महाबली राजपुत्र! तुम्हारा मङ्गल हो। मेरे पास तुम किस काम के लिये आये हो? ॥ १५ ॥

अयोध्याधिपते वीर शापाच्चण्डालतां गतः ।
अथ तद्वाक्यमाकर्ण्य राजा चण्डालतां गतः ॥ १६ ॥

मैं यह जानता हूँ कि, तुम अयोध्या के राजा हो और इस समय तुम चण्डाल के रूप में हो। चण्डालता को प्राप्त राजा त्रिशङ्कु इन वाक्यों को सुन ॥ १६ ॥

अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ।
प्रत्याख्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥ १७ ॥
अनवाप्यैव तं कामं मया प्राप्तो विपर्ययः ।
सशरीरो दिवं यायामिति मे सौम्य दर्शनम् ॥ १८ ॥

वचन बोलने में चतुर राजा हाथ जोड़ कर, परम चतुर विश्वामित्र से बोला। महाराज! मेरे गुरु और उनके पुत्रों ने मुझे हताश किया है। मैं चाहता था कि, मैं सशरीर स्वर्ग जाऊँ सो तो उन्होंने न किया, उलटा मुझे चण्डाल बनाकर इस लोक में भी मुँह दिखाने योग्य नहीं रखा ॥ १७ ॥ १८ ॥

मया चेष्टं क्रतुशतं तच्चानावाप्यते फलम् ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ॥ १९ ॥

महाराज मैंने जो सौ यज्ञ किये उसका फल भी मुझे न मिला। मैं न तो कभी झूठ बोला न कभी बोलूँगा* ॥ १९ ॥

कृच्छ्रेष्वपि गतः सौम्य क्षत्रधर्मेण ते शपे ।
यज्ञैर्बहुविधैरिष्टं प्रजा धर्मेण पालिताः ॥ २० ॥

भले ही मुझ पर कोई कष्ट ही क्यों न पड़े। मैं क्षात्रधर्म की शपथ खा कर कहता हूँ मैंने अनेक यज्ञ किये, धर्मपूर्वक प्रजा का पालन किया, ॥ २० ॥

गुरवश्च महात्मानः शीलवृत्तेन तोषिताः ।
धर्मे प्रयतमानस्य यज्ञं चाहर्तुमिच्छतः ॥ २१ ॥

* यह बात राजा त्रिशङ्कु ने इसलिये कही है कि, झूठ बोलने से यज्ञफल नष्ट हो जाता है।

आपने शील और आचरण से पूज्य जनों और महात्माओं को सन्तुष्ट किया। अब भी मैं धर्म ही के लिये एक यज्ञ और करना चाहता था ॥ २१ ॥

परितोषं न गच्छन्ति गुरवो मुनिपुङ्गव ।
दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ २२ ॥

हे मुनिपुङ्गव ! परन्तु गुरु लोग राज़ी न हुए। सो हे मुने ! मैं तो भाग्य ही को प्रबल मानता हूँ, पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है ॥ २२ ॥

दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गतिः ।
तस्य मे परमार्तस्य प्रसादमभिकाङ्क्षतः ।
कर्तुमर्हसि भद्रं ते दैवोपहतकर्मणः ॥ २३ ॥

जो कुछ होना है वह भाग्य ही से होता है, भाग्य ही सब कुछ है। सो मुझ परमदीन हतभाग्य पर आप कृपा कीजिये, आपका मङ्गल हो ॥ २३ ॥

नान्यां गतिं गमिष्यामि नान्यः शरणमस्ति मे ।
दैवं पुरुषकारेण निवर्तयितुमर्हसि ॥ २४ ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

मैं न तो किसी दूसरे के पास जाऊँगा और न मुझे कोई दूसरा इसके योग्य देख ही पड़ता है। अतः आप अपने पुरुषार्थ से मेरे दुर्भाग्य को दूर कीजिये ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—:*:—

उक्तवाक्यं तु राजानं कृपया कुशिकात्मजः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साक्षाच्चण्डालरूपिणम् ॥ १ ॥

साक्षात् चण्डालता को प्राप्त राजा ने जब ऐसा कहा तब उस पर कृपाकर विश्वामित्र जी ने उससे मधुर वाणी से कहा ॥१॥

ऐक्ष्वाक स्वागतं वत्स जानामि त्वां सुधार्मिकम् ।
शरणं ते भविष्यामि मा भैषीर्नृपपुङ्गव ॥ २ ॥

हे राजन्! मैं तेरा स्वागत करता हूँ। मैं जानता हूँ कि, तू धर्मात्मा है। मैं तुझे अपने शरण में लूँगा; अथवा मैं तेरी रक्षा करूँगा। तू मत डर ॥ २ ॥

अहमामन्त्रये सर्वान्महर्षीन्पुण्यकर्मणः ।
यज्ञसाह्यकरान्राजंस्ततो यक्ष्यसि निर्वृतः ॥ ३ ॥

हे राजन्! मैं सब पुण्यकर्मनिरत महर्षियों के पास न्योता भेजता हूँ। वे सब आकर यज्ञ में सहायता करेंगे और तू सानन्द यज्ञ करेगा ॥ ३ ॥

गुरुशापकृतं रूपं यदिदं त्वयि वर्तते ।
अनेन सह रूपेण सशरीरो गमिष्यसि ॥ ४ ॥

गुरु शाप से तेरा यह जो रूप विगड़ गया है सो तू इसी रूप से और इसी शरीर से स्वर्ग को जायगा ॥ ४ ॥

हस्तप्राप्तमहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप ।
यस्त्वं कौशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः ॥ ५ ॥

हे राजन्! जब तू शरणागतवत्सल विश्वामित्र के शरण में आ चुका तब स्वर्ग को तो मैं तेरे हाथ में आया हुआ ही समझता हूँ ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुत्रान्परमधार्मिकान्।
व्यादिदेश महाप्राज्ञान्यज्ञसंभारकारणात् ॥ ६ ॥

राजा से यह कह कर विश्वामित्र जी ने परम धार्मिक अपने पुत्रों को यज्ञ की तैयारी करने की आज्ञा दी ॥ ६ ॥

सर्वाञ्शिष्यान्समाहूय वाक्यमेतदुवाच ह।
सर्वानृषिगणान्वत्सा आनयध्वं ममाज्ञया ॥ ७ ॥

फिर अपने सब शिष्यों को बुला कर उनसे कहा कि, हे वत्सो! तुम लोग जाकर मेरी आज्ञा से सब ऋषियों को और वशिष्ठ के पुत्रों को लिवा लाओ ॥ ७ ॥

सशिष्यसुहृदश्चैव सर्त्विजः सुबहुश्रुतान्।
यदन्यो वचनं ब्रूयान्मद्वाक्यबलचोदितः ॥ ८ ॥

वे सब अपने अपने शिष्यों, सुहृदों, ऋत्विजों और विद्वानों सहित आवें। और जो कोई मेरी आज्ञा के विरुद्ध कुछ कहे ॥ ८ ॥

तत्सर्वमखिलेनोक्तं ममाख्येयमनादृतम्।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दिशो जग्मुस्तदाज्ञया ॥ ९ ॥

उसकी वह पूरी (मेरे अपमान की) बात आकर मुझसे कहो। विश्वामित्र जी के वचन सुन और उनकी आज्ञा से वे सब चारों ओर चल दिये ॥ ९ ॥

१ पाठान्तरे—सर्वानृषीन्सवासिष्ठानानयध्वंममाज्ञया।

आजग्मुरथ देशेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मवादिनः ।
ते च शिष्याः समागम्य मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ १० ॥

विश्वामित्र जी का न्योता पाकर अनेक देशों से ब्रह्मवादी ऋषि आने लगे। शिष्य भी (जो न्योता देने गये थे) परम तेजस्वी विश्वामित्र ही के पास लौट कर आ गये ॥ १० ॥

ऊचुश्च वचनं सर्वे सर्वेषां ब्रह्मवादिनाम् ।
श्रुत्वा ते वचनं सर्वे समायान्ति द्विजातयः ॥ ११ ॥

और बोले—आपका न्योता पा कर सब ब्रह्मवादी ऋषि और ब्राह्मण आ रहे हैं ॥ ११ ॥

सर्वदेशेषु चागच्छन्वर्जयित्वा महोदयम् ।
वासिष्ठं तच्छतं सर्वं क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ १२ ॥

सब देश के ऋषि तो आ भी चुके हैं, पर महोदय नामक ऋषि नहीं आये। इनके अतिरिक्त वशिष्ठ जी के सब पुत्रों ने महाक्रुद्ध हो जो कुवाच्य ॥ १२ ॥

यदाह वचनं सर्वं शृणु त्वं मुनिपुङ्गव ।
क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः ॥ १३ ॥

कहे, वे सब, हे मुनिपुङ्गव! सुनिये। वे बोले कि, जिस यज्ञ में, विशेष कर चण्डाल के यज्ञ में, क्षत्रिय तो याजक—यज्ञ कराने वाला हो ॥ १३ ॥

कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः ।
ब्राह्मणा वा महात्मानो भुक्त्वा चण्डालभोजनम् ॥१४॥

कथं स्वर्गं गमिष्यन्ति विश्वामित्रेण पालिताः ।
एतद्वचननैष्ठुर्यमूचुः संरक्तलोचनाः ॥ १५ ॥

उस यज्ञ में देवर्षि किस प्रकार हविग्रहण करेंगे और ब्राह्मण वा महात्मा लोग जो विश्वामित्र के वश में हो चण्डाल का अन्न भोजन करेंगे कैसे स्वर्ग जांयगे ? ये कठोर वचन, क्रोध में भर ॥ १४ ॥ १५ ॥

वासिष्ठा मुनिशार्दूल सर्वे ते समहोदयाः ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सर्वेषां मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥

हे मुनिशार्दूल ! वशिष्ठ के उन सब पुत्रों ने तथा महोदय ऋषि ने कहे हैं । उन शिष्यों के मुख से ये सब वचन सुन कर विश्वामित्र जी ॥ १६ ॥

क्रोधसंरक्तनयनः सरोषमिदमब्रवीत् ।
ये दूषयन्त्यदुष्टं मां तप उग्रं समास्थितम् ॥ १७ ॥

मारे क्रोध के लाल नेत्र कर, रोष सहित यह बोले । देखो मैं महा उग्र तपस्या कर रहा हूँ सब प्रकार से दोष रहित हूँ । तिस पर भी जो वशिष्ठ के दुष्ट पुत्र मुझे दूषण देते हैं वे सब के सब ॥ १७ ॥

भस्मीभूता दुरात्मानो भविष्यन्ति न संशयः ।
अद्य ते कालपाशेन नीता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥

दुरात्मा, निश्चय ही भस्म हो जांयगे और कालपाश में बंधे हुए आज ही यमपुरी में पहुँचा दिये जांयगे ॥ १८ ॥

सप्त जातिशतान्येव मृतपाः सन्तु सर्वशः ।
श्वमांसनियताहारा मुष्टिका नाम निर्घृणाः ॥ १९ ॥

और सात सौ जन्म तक "मृतपा" (शव भक्षी) मुर्दा खाने वाले होंगे। उन्हें नियमित रूप से कुत्ते का मांस खाना पड़ेगा और "मुष्टिक" उनका नाम होगा॥ १९॥

विकृताश्च विरूपाश्च लोकाननुचरन्त्विमान्।
महोदयश्च दुर्बुद्धिर्मामदूष्यं ह्यदूषयत्॥ २०॥

निर्दयी, घृणित, और कुरूप हो कर इधर उधर घूमेंगे। महोदय नामक दुर्बुद्धि ने मुझ निर्दोष को जो दोष लगाया है॥ २०॥

दूषितः सर्वलोकेषु निषादत्वं गमिष्यति।
प्राणातिपातनिरतो निरनुक्रोशतां गतः।
दीर्घकालं मम क्रोधाद्दुर्गतिं वर्तयिष्यति॥ २१॥

सो वह सब लोगों से दूषित हो निषाद योनि पावेगा और हिंसक तथा निर्दयी हो कर दीर्घकाल तक मेरे क्रोध से बड़ी दुर्गति भोगेगा॥ २१॥

एतावदुक्त्वा वचनं विश्वामित्रो महातपाः।
विरराम महातेजा ऋषिमध्ये महामुनिः॥ २२॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः॥

महातपस्वी विश्वामित्र जी ऋषियों के बीच बैठे हुए इस प्रकार उनको शाप दे, चुप हो गये॥ २२॥

वालकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

षष्टितमः सर्गः

—:०:—

तपोबलहतान्कृत्वा वसिष्ठान्समहोदयान् ।
ऋषिमध्ये महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

महोदय सहित वशिष्ठ जी के पुत्रों को अपनी तपस्या के बल से मरा हुआ जान, महातेजस्वी विश्वामित्र ऋषियों के बीच में बैठे हुए बोले ॥ १ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः ।
धर्मिष्ठश्च वदान्यश्च मां चैव शरणं गतः ॥ २ ॥

इक्ष्वाकुवंशी यह प्रसिद्ध राजा त्रिशङ्कु, जो धर्मिष्ठ और उदार है, मेरे शरण में आया है ॥ २ ॥

तेनानेन शरीरेण देवलोकजिगीषया ।
यथायं स्वशरीरेण स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ ३ ॥

अपने इसी शरीर से देवलोक (स्वर्ग) को जाना चाहता है । इसलिये जिस प्रकार यह अपने इसी शरीर से स्वर्गलोक में जाय ॥ ३ ॥

तथा प्रवर्त्यतां यज्ञो भवद्भिश्च मया सह ।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार आप लोग मेरे साथ मिल कर, इसे यज्ञ करवाइये । विश्वामित्र जी के ये वचन सुन सब महर्षि लोग, ॥ ४ ॥

ऊचुः समेत्य सहिता धर्मज्ञा धर्मसंहितम् ।
अयं कुशिकदायादो मुनिः परमकोपनः ॥ ५ ॥

जो धर्म का मर्म जानने वाले थे, आपस में कहने लगे—यह कुशिकवंशीय विश्वामित्र जी बड़े क्रोधी हैं ॥ ५ ॥

यदाह वचनं सम्यगेतत्कार्यं न संशयः ।
अग्निकल्पो हि भगवाञ्शापं दास्यति रोषितः ॥ ६ ॥

जो यह कह रहे हैं, यदि उसके अनुसार हम लोगों ने कार्य न किया, तो यह साक्षात् अग्नि के तुल्य विश्वामित्र क्रुद्ध हो हमें शाप दे देंगे ॥ ६ ॥

तस्मात्प्रवर्त्यतां यज्ञः सशरीरो यथा दिवम् ।
गच्छेदिक्ष्वाकुदायादो विश्वामित्रस्य तेजसा ॥ ७ ॥

अतः ऐसा यज्ञ करो जिससे यह त्रिशङ्कु विश्वामित्र के तपः प्रभाव से सशरीर स्वर्ग को चला जाय ॥ ७ ॥

तथा प्रवर्त्यतां यज्ञः सर्वे समधितिष्ठत ।
एवमुक्त्वा महर्षयश्चक्रुस्तास्ताः क्रियास्तदा ॥ ८ ॥

सो अब सब को मिल कर यज्ञारम्भ करना चाहिये । यह कह, वे सब ऋषि लोग वेदविधान से यज्ञक्रियाएँ करने लगे ॥ ८ ॥

याजकश्च महातेजा विश्वामित्रोऽभवत्क्रतौ ।
ऋत्विजश्चानुपूर्व्येण मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः ॥ ९ ॥

उस यज्ञ में याजक विश्वामित्र जी हुए और अन्य बड़े दक्ष विज्ञानी लोग जो भली भाँति वेद के मंत्रों के जानने वाले थे, यथाक्रम ऋत्विज आदि हुए ॥ ९ ॥

चक्रुः सर्वाणि कर्माणि यथाकल्पं यथाविधि ।
ततः कालेन महता विश्वामित्रो महातपाः ॥ १० ॥

उन सब ने यज्ञ के समस्त कर्म विधिपूर्वक यथाक्रम किये। इस रीति से बहुत दिनों तक यज्ञ क्रिया होती रही । तदनन्तर महातपस्वी विश्वामित्र जी ने ॥ १० ॥

चकाराबाहनं तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ।
नाभ्यागमंस्तदाहूता भागार्थं सर्वदेवताः ॥ ११ ॥

यज्ञभाग ग्रहण करने के लिये सब देवताओं को बुलाया। किन्तु बुलाने पर भी कोई भी देवता यज्ञभाग लेने को न आया ॥ ११ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टो विश्वामित्रो महामुनिः ।
स्रुवमुद्यम्य सक्रोधस्त्रिशङ्कुमिदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तब तो महर्षि विश्वामित्र जी कुपित हुए और स्रुवा उठा, त्रिशङ्कु से यह बोले ॥ १२ ॥

पश्य मे तपसो वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वर ।
एष त्वां सशरीरेण नयामि स्वर्गमोजसा ॥ १३ ॥

हे राजन्! मेरी तपस्या का प्रभाव देखिये, मैं तुमको इसी शरीर से अपने तपोबल द्वारा स्वर्ग पहुँचाता हूँ ॥ १३ ॥

दुष्प्रापं स्वशरीरेण दिवं गच्छ नराधिप ।
स्वार्जितं किञ्चिदप्यस्ति मया हि तपसः फलम् ॥१४॥

हे राजन्! यद्यपि इस (पार्थिव) शरीर से स्वर्ग में जाना असम्भव है, तथापि मेरा जो कुछ थोड़ा बहुत तपस्या का फल है, ॥ १४ ॥

राजन्स्वतेजसा तस्य सशरीरो दिवं व्रज ।
उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्सशरीरो नरेश्वरः ॥ १५ ॥

हे राजन्! उसके द्वारा तू सशरीर स्वर्ग को जा। जब विश्वामित्र ने यह कहा तब त्रिशङ्कु सशरीर ॥ १५ ॥

दिवं जगाम काकुत्स्थ मुनीनां पश्यतां तदा ।
देवलोकगतं दृष्ट्वा त्रिशङ्कुं पाकशासनः ॥ १६ ॥

मुनियों की आंखों के सामने स्वर्ग को गये और वहाँ पहुँच गये। हे राम! सशरीर राजा त्रिशङ्कु को स्वर्ग में आया हुआ देख, उससे इन्द्र ने ॥ १६ ॥

सह सर्वैः सुरगणैरिदं वचनमब्रवीत् ।
त्रिशङ्को गच्छ भूयस्त्वं नासि स्वर्गकृतालयः ॥ १७ ॥

अन्य सब देवताओं सहित कहा, हे त्रिशङ्कु! तू पृथिवी पर ही जा कर रह, तू स्वर्ग में रहने योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

गुरुशापहतो मूढ पत भूमिमवाक्शिराः ।
एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशङ्कुरपतत्पुनः ॥ १८ ॥

क्योंकि तू गुरु के शाप से शापित है, अतः हे मूर्ख! तू नीचे को सिर कर ज़मीन पर गिर। इन्द्र के यह कहते ही त्रिशङ्कु नीचे की ओर गिरने लगा ॥ १८ ॥

विक्रोशमानस्त्राहीति विश्वामित्रं तपोधनम् ।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य क्रोशमानस्य कौशिकः ॥ १९ ॥

और विश्वामित्र जी को पुकार कर कहने लगा। मुझे बचाइये! बचाइये!! इस प्रकार चिल्लाते हुए राजा के ऐसे वचन सुन विश्वामित्र जी ॥ १९ ॥

रोषमाहारयत्तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।
ऋषिमध्ये स तेजस्वी प्रजापतिरिवापरः ॥ २० ॥

महाकुपित हो बोले — 'तिष्ठ तिष्ठ" (वहीं) ठहर ! (वहीं) ठहर ! उस समय ऋषियों के बीच, विश्वामित्र जी दूसरे प्रजापति जैसे मालूम पड़ने लगे ॥ २० ॥

सृजन्दक्षिणमार्गस्थान्सप्तर्षीनपरान्पुनः ।
नक्षत्रमालामपरामसृजत्क्रोधमूर्छितः ॥ २१ ॥

विश्वामित्र जी ने कुपित हो दक्षिण दिशा में पहले तो नवीन सप्तर्षियों की रचना की, तदनन्तर अश्विनी आदि सत्ताइस नये नक्षत्र बना डाले ॥ २१ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय मुनिमध्ये महातपाः ।
सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥ २२ ॥

क्रोध से विकल और ऋषियों के बीच में बैठे हुए विश्वामित्र जी जब दक्षिण दिशा में नवीन नक्षत्र बना चुके तब विचारने लगे कि, ॥ २२ ॥

अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको वा स्यादनिन्द्रकः ।
दैवतान्यपि स क्रोधात्स्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ २३ ॥

(मैंने जो यह नये स्वर्ग की कल्पना की है, उसके लिये) एक नया इन्द्र भी बनाऊँ अथवा (इस नये स्वर्ग को) बिना इन्द्र ही का रहने दूँ । (और इस नवीन स्वर्ग का मालिक त्रिशङ्कु ही हो ।) फिर वे क्रोध में भर नवीन देवताओं की भी रचना करने लगे ॥ २३ ॥

ततः परमसंभ्रान्ताः सर्षिसंघाः सुरासुराः ।
सकिन्नरमहायक्षाः सहसिद्धाः सचारणाः ॥ २४ ॥

तब तो ऋषि, देवता, असुर, किन्नर, यक्ष, सिद्ध और चारण बहुत घबड़ाये ॥ २४ ॥

विश्वामित्रं महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ।
अयं राजा महाभाग गुरुशापपरिक्षतः ॥ २५ ॥

और विश्वामित्र जी के पास जा कर विनय पूर्वक कहने लगे, हे महाभाग ! यह राजा गुरुशाप से शापित होने के कारण ॥ २५ ॥

सशरीरो दिवं यातुं नार्हत्येव तपोधन ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपुङ्गवः ॥ २६ ॥

हे तपोधन ! सशरीर स्वर्ग में जाने के योग्य नहीं है। उन देवताओं का यह वचन सुन महर्षि ॥ २६ ॥

अब्रवीत्सुमहद्वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ।
सशरीरस्य भद्रं वस्त्रिशङ्कोरस्य भूपतेः ॥ २७ ॥

विश्वामित्र उन सब देवताओं से बोले कि, हे महात्माओ ! आपका कल्याण हो, इस राजा त्रिशङ्कु को सशरीर स्वर्ग में ॥ २७ ॥

आरोहणं प्रतिज्ञाय नानृतं कर्तुमुत्सहे ।
स्वर्गोऽस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरत्र शाश्वतः ॥ २८ ॥

पहुँचाने की मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसे मैं अन्यथा नहीं कर सकता। इस राजा त्रिशङ्कु को निरन्तर स्वर्ग में रखने के लिये ॥२८॥

नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ।
यावल्लोका धरिष्यन्ति तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ॥२९॥

मेरे बनाये ध्रुव सहित वे सब नक्षत्र, तब तक बने रहें, जब तक अन्य सब लोक बने रहें। अर्थात् जब तक अन्य स्वर्गादि लोक रहें, तब तक मेरा बनाया हुआ नया स्वर्ग भी रहे, ॥ २९ ॥

मत्कृतानि सुराः सर्वे तदनुज्ञातुमर्हथ ।
एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्मुनिपुङ्गवम् ॥ ३० ॥

और मेरे बनाये सब देवता भी रहें। हे देवताओ! तुम सब ऐसी अनुमति दो। यह सुन उन सब देवताओं ने विश्वामित्र जी से कहा, ॥ ३० ॥

एवं भवतु भद्रं ते तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ।
गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः ॥ ३१ ॥

अच्छी बात है, आपका मङ्गल हो। आपके बनाये ये (नक्षत्र, ध्रुव, तथा देवता) सदैव बने रहेंगे; किन्तु प्राचीन वैश्वानरमार्ग के बाहर रहेंगे ॥ ३१ ॥

नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ।
अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसन्निभः ॥ ३२ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ! उन चमकते हुए नक्षत्रों में अधोमुख राजा त्रिशंकु भी अमर के तुल्य (देवताओं की तरह) बना रहेगा ॥ ३२ ॥

अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम् ।
कृतार्थं कीर्त्तिमन्तं च स्वर्गलोकगतं यथा ॥ ३३ ॥

और जिस प्रकार कीर्तिवान् एवं सिद्धमनोरथ जीव के पीछे नक्षत्र चलते हैं, उसी प्रकार त्रिशङ्कु के पीछे पीछे आपके बनाये हुए सब नक्षत्र भी चला करेंगे ॥ ३३ ॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
ऋषिमिश्च महातेजा बाढमित्याह देवताः ॥ ३४ ॥

देवताओं ने धर्मात्मा विश्वामित्र जी से इस प्रकार कहा और उनकी स्तुति की। विश्वामित्र जी ने भी उनकी (देवताओं) की बात मान ली ॥ ३४ ॥

ततो देवा महात्मानो मुनयश्च तपोधनाः ।
जग्मुर्यथागतं सर्वे यज्ञस्यान्ते नरोत्तम ॥ ३५ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

हे राम! उस यज्ञ में जो देवता और तपस्वी ऋषि आये थे वे यज्ञ की समाप्ति हो चुकने पर अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ ३५ ॥

बालकाण्ड का साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

एकषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रो महात्माथ प्रस्थितान्प्रेक्ष्य तानृषीन् ।
अब्रवीन्नरशार्दूलः सर्वास्तान्वनवासिनः ॥ १ ॥

हे राम! नरशार्दूल महात्मा विश्वामित्र जी ने उन ऋषियों को जाते हुए देख कर, उन सब तपोवन के रहने वालों से यह कहा ॥ १ ॥

महान्विघ्नः प्रवृत्तोऽयं दक्षिणामास्थितो दिशम् ।
दिशमन्यां प्रपत्स्यामस्तत्र तप्स्यामहे तपः ॥ २ ॥

इस दक्षिण दिशा में रहने से मेरी तपस्या में यह एक बड़ा विघ्न पड़ा । अतः अन्य किसी दिशा में जा कर मैं अब तप करूँगा ॥ २ ॥

पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः ।
सुखं तपश्चरिष्यामो वरं तद्धि तपोवनम् ॥ ३ ॥

विशाल पश्चिम दिशा में, जहाँ पुष्कर तीर्थ है और जिसके समीप बहुत अच्छा तपोवन है, मैं जा कर सुख से तप करूँगा ॥३॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुष्करेषु महामुनिः ।
तप उग्रं दुराधर्षं तेपे मूलफलाशनः ॥ ४ ॥

यह कह विश्वामित्र जी पुष्कर को चले गये और वहाँ पहुँच कर और फल मूल खा कर वे उग्र तप करने लगे ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु अयोध्याधिपतिर्नृपः ।
अम्बरीष इति ख्यातो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ ५ ॥

इसी बीच में अयोध्या के अम्बरीष नामक राजा ने अश्वमेध यज्ञ करना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

तस्य वै यजमानस्य पशुमिन्द्रो जहार ह ।
प्रणष्टे तु पशौ विप्रो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

उस राजा के यज्ञपशु को इन्द्र चुरा कर ले गये । पशु के इस प्रकार नष्ट होने पर पुरोहित ने राजा से कहा ॥ ६ ॥

पशुरद्य हृतो राजन्प्रणष्टस्तव दुर्नयात् ।
अरक्षितारं राजानं घ्नन्ति दोषा नरेश्वर ॥ ७ ॥

हे राजन्! आज यज्ञपशु चोरी गया है सो तुम्हारी अनवधानता ही से गया है। यह अच्छा नहीं हुआ। क्योंकि अरक्षित पशु के हरे जाने का दोष रक्षक ही के माथे रहता है॥ ७॥

प्रायश्चित्तं महद्ध्येतन्नरं वा पुरुषर्षभ।
आनयस्व पशुं शीघ्रं यावत्कर्म प्रवर्तते॥ ८॥

हे राजन्! अतएव यज्ञकर्म समाप्त होते होते या तो कोई दूसरा पशु लाइये अथवा गोधन दे कर कोई नर ही शीघ्र लाइये, जिससे, इस विघ्न का प्रायश्चित हो॥ ८॥

उपाध्यायवचः श्रुत्वा स राजा पुरुषर्षभ।
अन्वियेष महाबुद्धिः पशुं गोभिः सहस्रशः॥ ९॥

पुरोहित के वचन सुन वह नरोत्तम बड़ा बुद्धिमान् राजा सहस्रों गौएं दे कर यज्ञ पशु को ढूँढ़ने लगे॥ ९॥

देशाञ्जनपदांस्तांस्तान्नगराणि वनानि च।
आश्रमाणि च पुण्यानि मार्गमाणो महीपतिः॥ १०॥

उन्होंने यज्ञपशु की तलाश में अनेक देश, नगर, जनपद, वन, आश्रम और तीर्थ मझा डाले॥ १०॥

स पुत्रसहितं तात सभार्यं रघुनन्दन।
भृगुतुङ्गे समासीनमृचीकं सन्ददर्श ह॥ ११॥

पशु को तलाश करते करते अम्बरीष ने भृगुतुङ्ग नामक किसी पर्वत के शृङ्ग पर भार्या और पुत्रों सहित बैठे हुए ऋचीक को देखा॥ ११॥

तमुवाच महातेजाः प्रणम्याभिप्रसाद्य च ।
ब्रह्मर्षिं तपसा दीप्तं राजर्षिरमितप्रभः ॥ १२ ॥

महाप्रतापी राजा ने मुनि को प्रणाम कर उन्हें अनेक प्रकार से प्रसन्न किया और तपस्या में निरत ब्रह्मर्षि से ॥ १२ ॥

पृष्ट्वा सर्वत्र कुशलमृचीकं तमिदं वचः ।
गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि ॥ १३ ॥

पशोरर्थे महाभाग कृतकृत्योऽस्मि भार्गव ।
सर्वे परिसृता देशा याज्ञीयं न लभे पशुम् ॥ १४ ॥

कुशलप्रश्न पूँछा । तदनन्तर अम्बरीष ने ऋचीक से कहा कि, यदि आप एक लाख गौएँ ले कर अपने पुत्र को यज्ञपशु बनाने के लिये, हमारे हाथ बेच डालते तो मैं आपका बड़ा अनुगृहीत होता । सारे के सारे देश मझा डाले, न तो मेरा (पहला) यज्ञपशु ही का पता चला और न (दाम देने पर ही) कोई यज्ञपशु मिला ॥ १३ ॥ १४ ॥

दातुमर्हसि मूल्येन सुतमेकमितो मम ।
एवमुक्तो महातेजा ऋचीकस्त्वब्रवीद्वचः ॥ १५ ॥

अतः आप मूल्य ले कर मुझे अपना एक पुत्र दे दीजिये । यह सुन महातेजस्वी ऋचीक बोले ॥ १५ ॥

नाहं ज्येष्ठं नरश्रेष्ठ विक्रीणीयां कथञ्चन ।
ऋचीकस्य वचः श्रुत्वा तेषां माता महात्मनाम् ॥१६॥

हे राजन्! मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को तो कभी न बेचूँगा। ऋचीक की यह बात सुन, उनके महात्मा पुत्रों की माता ॥ १६ ॥

उवाच नरशार्दूलमम्बरीषमिदं वचः।
अविक्रेयं सुतं ज्येष्ठं भगवानाह भार्गवः ॥ १७ ॥

राजा अम्बरीष से यह बोली। मेरे पति महाभाग भार्गव ने कहा है कि, ज्येष्ठपुत्र तो बेचा जा नहीं सकता (क्योंकि वह देव पितृ कर्म करने का अधिकारी है) ॥ १७ ॥

ममापि दयितं विद्धि कनिष्ठं शुनकं नृप।
तस्मात्कनीयसं पुत्रं न दास्ये तव पार्थिव ॥ १८ ॥

हे राजन्! सब से छोटे पुत्र शुनक पर आप मेरी भी बड़ी प्रीति जाने, अतः उसे मैं आपको न दूँगी ॥ १८ ॥

प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः।
मातृणां च कनीयांसस्तस्माद्रक्षे कनीयसम् ॥ १९ ॥

हे नरश्रेष्ठ! बड़ा पुत्र पिता को और सब से छोटा माता को प्रायः बहुत प्यारा होता है। अतः मैं छोटे को न दूँगी ॥ १९ ॥

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्मुनिपत्न्यां तथैव च।
शुनःशेपः स्वयं राम मध्यमो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

हे राम! मुनि और मुनिपत्नी की इस बातचीत को सुन, उनका मझला पुत्र शुनःशेप स्वयं राजा से बोला ॥ २० ॥

पिता ज्येष्ठमविक्रेयं माता चाह कनीयसम्।
विक्रीतं मध्यमं मन्ये राजन्पुत्रं नयस्व माम् ॥ २१ ॥

पिता जी बड़े को बेचा नहीं चाहते और माता छोटे को देना नहीं चाहती। इससे मझले को बेचा हुआ समझ आप मुझे ले चलिये॥ २१॥

गवां शतसहस्रेण शुनःशेपं नरेश्वरः।
गृहीत्वा परमप्रीतो जगाम रघुनन्दन॥ २२॥

हे राम! यह सुन, राजा ने ऋचीक को एक लाख गौएँ दीं और शुनःशेप को ले कर वहां से चला॥ २२॥

अम्बरीषस्तु राजर्षी रथमारोप्य सत्वरः।
शुनःशेपं महातेजा जगामाशु महायशाः॥ २३॥

इति एकषष्टितमः सर्गः॥

महातेजस्वी और महायशस्वी राजर्षि अम्बरीष शुनःशेप को रथ पर चढ़ा, वहां से शीघ्र रवाना हो गया॥ २३॥

बालकाण्ड का एकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

द्विषष्टितमः सर्गः

—:०:—

शुनःशेपं नरश्रेष्ठ गृहीत्वा तु महायशाः।
व्यश्राम्यत्पुष्करे राजा मध्याह्ने रघुनन्दन॥ १॥

हे राम! महायशा राजा अम्बरीष शुनःशेप को लिये हुए पुष्कर पहुँचे और दो पहर भर वहां विश्राम किया॥ १॥

तस्य विश्रममाणस्य शुनःशेपो महायशाः ।
पुष्करं श्रेष्ठ[1]मागम्य विश्वामित्रं ददर्श ह ॥ २ ॥

जब राजा विश्राम कर रहे थे, तब अवसर पा शुनःशेप ने श्रेष्ठ पुष्कर जी में जा विश्वामित्र जी के दर्शन किये ॥ २ ॥

तप्यन्तमृषिभिः सार्धं मातुलं परमातुरः ।
विषण्णवदनो दीनस्तृष्णया च श्रमेण च ॥ ३ ॥

ऋषियों के समूह में बैठ कर तप करते हुए अपने मामा (विश्वामित्र) को देख, उदास, प्यासा, थका हुआ और परमातुर ॥ ३ ॥

पपाताङ्के मुनौ राम वाक्यं चेदमुवाच ह ।
न मेऽस्ति माता न पिता ज्ञातयो बान्धवाः कुतः ॥४॥

शुनःशेप उनकी गोद में गिर पड़ा और बोला—जब मेरे माता और पिता ही नहीं हैं, तब जाति बिरादरी और भाई बन्धु तो ही कहाँ सकते हैं ॥ ४ ॥

त्रातुमर्हसि मां सौम्य धर्मेण मुनिपुङ्गवः ।
त्राता त्वं हि मुनिश्रेष्ठ सर्वेषां त्वं हि भावनः ॥ ५ ॥

हे सौम्य! हे मुनिराज! मैं शरणागत धर्म की दुहाई देता हूँ, मुझे बचाइये। मेरी ही क्यों? शरण आने पर आप समस्त संसार की रक्षा कर सकते हैं ॥ ५ ॥

राजा च कृतकार्यः स्यादहं दीर्घायुरव्ययः ।
स्वर्गलोकमुपाश्नीयां तपस्तप्त्वा ह्यनुत्तमम् ॥ ६ ॥

१ पाठान्तरे पुष्करं ज्येष्ठं । (रा०) पुष्करक्षेत्र । (गो०)

अतः ऐसा कीजिये जिससे राजा का तो यज्ञ निर्विघ्न पूरा हो जाय और मैं बहुत दिनों तक जीवित रह और उत्तम तपस्या कर अन्त में स्वर्ग जाऊं ॥ ६ ॥

त्वं मे नाथो ह्यनाथस्य भव भव्येन चेतसा ।
पितेव पुत्रं धर्मज्ञ त्रातुमर्हसि किल्बिषात् ॥ ७ ॥

आप मुझ अनाथ के नाथ हो कर जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार आप मेरी भी इस सङ्कट से रक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महातपाः ।
सान्त्वयित्वा बहुविधं पुत्रानिदमुवाच ह ॥ ८ ॥

शुनःशेप के ऐसे दीन वचन सुन, विश्वामित्र जी ने उसे बहुत कुछ सान्त्वना दी और अपने पुत्रों से बोले ॥ ८ ॥

यत्कृते पितरः पुत्राञ्जनयन्ति शुभार्थिनः ।
परलोकहितार्थाय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥

हे पुत्रो ! जिस परलोक के प्रयोजन के लिये पिता सत् पुत्रों को उत्पन्न करते हैं, उसका समय आ पहुँचा है ॥ ९ ॥

अयं मुनिसुतो बालो मत्तः शरणमिच्छति ।
अस्य जीवितमात्रेण प्रियं कुरुत पुत्रकाः ॥ १० ॥

हे पुत्रो ! यह ऋचीक मुनि का पुत्र है। अभी बच्चा है और हमारे शरण में आया है। इसके प्राणों की रक्षा कर हमारा प्रियकार्य करो ॥ १० ॥

सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे धर्मपरायणाः ।
पशुभूता नरेन्द्रस्य तृप्तिमग्नेः प्रयच्छत ॥ ११ ॥

तुम सब पुण्यात्मा और धर्मात्मा हो। अतः तुम लोग स्वयं राजा के यज्ञपशु बन कर अग्निदेव को तृप्त करो ॥ ११ ॥

नाथवांश्च शुनःशेपो यज्ञश्चाविघ्नतो भवेत् ।
देवतास्तर्पिताश्च स्युर्मम चापि कृतं वचः ॥ १२ ॥

ऐसा करने से शुनःशेप के प्राण बच जायँगे, राजा का यज्ञ भी निर्विघ्न पूरा हो जायगा, देवता सन्तुष्ट होंगे और मेरी बात भी रह जायगी ॥ १२ ॥

मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा मधुष्यन्दादयः सुताः ।
साभिमानं नरश्रेष्ठ सलीलमिदमब्रुवन् ॥ १३ ॥

विश्वामित्र जी के ये वचन सुन, उनके मधुच्छन्दादि पुत्र अभिमान सहित (अपने पिता का) उपहास करते हुए यह बोले ॥ १३ ॥

कथमात्मसुतान्हित्वा त्रायसेऽन्यसुतं विभो ।
अकार्यमिव पश्यामः श्वमांसमिव भोजने ॥ १४ ॥

हे महाराज ! आप अपने पुत्रों को छोड़, अन्य के पुत्र की रक्षा क्यों करते हैं ? यह तो वैसा ही कर्म है, जैसा कि सुन्दर भोज्य पदार्थों को छोड़ कुत्ते का मांस खाना। अथवा आपका कार्य उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार कुत्ते का मांस खाना अनुचित है ॥ १४ ॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा पुत्राणां मुनिपुङ्गवः ।
क्रोधसंरक्तनयनो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १५ ॥

अपने पुत्रों की ये बातें सुन, क्रोध से लाल लाल आँखें कर, विश्वामित्र जी उनसे कहने लगे ॥ १५ ॥

निःसाध्वसमिदं प्रोक्तं धर्मादपि विगर्हितम् ।
अतिक्रम्य तु मद्वाक्यं दारुणं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

तुम्हारा यह कहना उद्दण्डता पूर्ण, धर्म की दृष्टि से भी भ्रष्ट, और पितृभक्तिरहित होने के कारण दारुण (कठोर), अतएव रोमाञ्चकारी और मेरी अवज्ञा करने वाला है ॥ १६ ॥

श्वमांसभोजिनः सर्वे वासिष्ठा इव जातिषु ।
पूर्णं वर्षसहस्रं तु पृथिव्यामनुवत्स्यथ ॥ १७ ॥

अतः तुम लोग भी वशिष्ठ जी के पुत्रों की तरह चण्डाल हो कर और कुत्तों का मांस खाते हुए पूरे एक हज़ार वर्ष तक पृथिवी पर घूमोगे ॥ १७ ॥

कृत्वा शापसमायुक्तान्पुत्रान्मुनिवरस्तदा ।
शुनःशेपमुवाचार्तं कृत्वा रक्षां निरामयाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार मुनिवर अपने पुत्रों को शाप दे, सब प्रकार से शुनःशेप की रक्षा कर, उससे बोले ॥ १८ ॥

पवित्रपाशैरासक्तो रक्तमाल्यानुलेपनः ।
वैष्णवं यूपमासाद्य वाग्भिरग्निमुदाहर ॥ १९ ॥
इमे च गाथे द्वे दिव्ये गायेथा मुनिपुत्रक ।
अम्बरीषस्य यज्ञेऽस्मिंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥२०॥

हे मुनिपुत्र ! जब तुम अम्बरीष के यज्ञ में पवित्र फांसी से, वैष्णवस्तंभ में, लाल माला और लाल चन्दन से सजा कर बांधे

जाओ, तब तुम इन दो मन्त्रों से स्तुति करना। इससे तुम्हारा काम हो जायगा अर्थात् तुम बच जाओगे ॥ १६ ॥ २० ॥

शुनःशेपो गृहीत्वा ते द्वे गाथे सुसमाहितः ।
त्वरया राजसिंहं तमम्बरीषमुवाच ह ॥ २१ ॥

शुनःशेप ने बड़ी सावधानी से उन दोनों मंत्रों को याद कर लिया और फिर तुरन्त अम्बरीष से जा कर कहा ; ॥ २१ ॥

राजसिंह महासत्व शीघ्रं गच्छावहे सदः ।
निर्वर्तयस्व राजेन्द्र दीक्षां च समुपाविश ॥ २२ ॥

हे महाबलवान् राजसिंह ! चलिये अब शीघ्र चलें और पहुँच कर आप यज्ञदीक्षा ले अपना यज्ञ पूरा कीजिये ॥ २२ ॥

तद्वाक्यमृषिपुत्रस्य श्रुत्वा हर्षसमुत्सुकः ।
जगाम नृपतिः शीघ्रं यज्ञवाटमतन्द्रितः ॥ २३ ॥

ऋषिपुत्र का वचन सुन राजा परमहर्षित हो तुरन्त अपने यज्ञशाला को गये ॥ २३ ॥

सदस्यानुमते राजा पवित्रकृतलक्षणम् ।
पशुं रक्ताम्बरं कृत्वा यूपे तं समबन्धयत् ॥ २४ ॥

फिर यज्ञ कराने वालों की सम्मति से राजा ने उस शुनःशेप को पशु बना और लाल कपड़े पहना खम्भे में बांध दिया ॥ २४ ॥

स बद्धो वाग्भिरग्र्याभिरभितुष्टाव वै सुरौ ।
इन्द्रमिन्द्रानुजं चैव यथावन्मुनिपुत्रकः ॥ २५ ॥

तब बँधे हुए शुनःशेप ने विश्वामित्र जी के बतलाये हुए मन्त्रों से इन्द्र और उपेन्द्र की यथावत् स्तुति की ॥ २५ ॥

ततः प्रीतः सहस्राक्षो रहस्यस्तुतितर्पितः ।
दीर्घमायुस्तदा प्रादाच्छुनःशेपाय वासवः ॥ २६ ॥

शुनःशेप की एकान्त स्तुति सुन इन्द्र उस पर प्रसन्न हो गये और इन्द्र ने उसे दीर्घजीवी होने का वरदान दिया ॥ २६ ॥

स च राजा नरश्रेष्ठ यज्ञस्यान्तमवाप्तवान् ।
फलं बहुगुणं राम सहस्राक्षप्रसादजम् ॥ २७ ॥

हे राम! नरश्रेष्ठ राजा ने भी यज्ञ समाप्त कर इन्द्र की कृपा से अनेक प्रकार के वरदान पाये ॥ २७ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा भूयस्तेपे महातपाः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ दशवर्षशतानि च ॥ २८ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

हे राजन्! धर्मात्मा विश्वामित्र ने भी पुनः पुष्करक्षेत्र में दस हज़ार वर्ष तक अच्छी तरह तप किया ॥ २८ ॥

बालकाण्ड का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—:*:—

पूर्णे वर्षसहस्रे तु व्रतस्नातं[1] महामुनिम् ।
अभ्यागच्छन्सुराः सर्वे तपःफलचिकीर्षवः[2] ॥ १ ॥

विश्वामित्र जी को तप करते हुए जब पूरे एक हज़ार वर्ष हो गये, अथवा जब उनका पुरश्चरण पूरा हुआ, तब सब देवता उनको उनके तप का फल स्वरूप वर देने की इच्छा से आये ॥ १ ॥

अब्रवीत्सुमहातेजा ब्रह्मा सुरुचिरं वचः ।
ऋषिस्त्वमसि भद्रं ते स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥ २ ॥

उनमें परमतेजस्वी ब्रह्मा जी परम रुचिकर वचन यह बोले कि, हे विश्वामित्र ! तुम्हारा मङ्गल हो ; तुम अपने उपार्जित शुभ कर्मों द्वारा ऋषि हुए । (अर्थात् अभी तुमको ब्रह्मर्षिपद अथवा ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं हुआ) ॥ २ ॥

[नोट—जो लोग केवल कर्म द्वारा वर्णव्यवस्था की व्यवस्था मानते और अपने तर्क की पुष्टि में विश्वामित्र का उदाहरण देते हैं, उन्हें उचित है कि, वे इस बात पर भी ज़रा ध्यान दें कि, विश्वामित्र जी को अपने जन्मजात क्षत्रियत्व को छुड़ा कर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने में कितने दिनों तक और कैसा कठोर तप करना पड़ा था ।]

तमेवमुक्त्वा देवेशस्त्रिदिवं पुनरभ्यगात् ।
विश्वामित्रो महातेजा भूयस्तेपे महत्तपः ॥ ३ ॥

---

१ व्रतस्नातं—व्रतान्तेस्नातं समाप्तपुरश्चरणमितियावत् । (गो०) २ तपःफलचिकीर्षवः—तपःफलंदातुमिच्छवः । (गो०)

यह कह ब्रह्मादि देवता अपने अपने लोकों को लौट गये और विश्वामित्र जी पुनः तप करने लगे ॥ ३ ॥

ततः कालेन महता मेनका परमाप्सराः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ स्नातुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

जब तप करते करते उन्हें बहुत दिन हो गये, तब एक दिन मेनका नाम की एक अप्सरा पुष्कर में स्नान करने की इच्छा से वहाँ आयी ॥ ४ ॥

तां ददर्श महातेजा मेनकां कुशिकात्मजः ।
रूपेणाप्रतिमां तत्र विद्युतं जलदे यथा ॥ ५ ॥

मेघ में चमकती हुई बिजली की तरह मेनका के सौन्दर्य को देख, महातपस्वी विश्वामित्र ॥ ५ ॥

कन्दर्पदर्पवशगो मुनिस्तामिदमब्रवीत् ।
अप्सरः स्वागतं तेऽस्तु वस चेह ममाश्रमे ॥ ६ ॥

मुनि कामासक्त हो, उससे यह बोले—हे अप्सरा! मैं तेरा स्वागत करता हूँ। तू मेरे इस आश्रम में रह ॥ ६ ॥

अनुगृह्णीष्व भद्रं ते मदनेन सुमोहितम् ।
इत्युक्ता सा वरारोहा तत्र वासमथाकरोत् ॥ ७ ॥

तेरा मङ्गल हो, तू मेरे ऊपर अनुग्रह कर। क्योंकि मैं तुझे देख कामासक्त हो गया हूँ। यह सुन वह सुन्दरी मेनका ऋषि जी के आश्रम में रहने लगी ॥ ७ ॥

तपसो हि महाविघ्नो विश्वामित्रमुपागतः ।
तस्यां वसन्त्यां वर्षाणि पञ्च पञ्च च राघव ॥ ८ ॥

मेनका के वहां आश्रम में रहने के कारण, विश्वामित्र जी की तपस्या में बड़ा भारी विघ्न पड़ा। हे राघव! मेनका अप्सरा दस वर्ष तक ॥ ८ ॥

विश्वामित्राश्रमे तस्मिन्सुखेन व्यतिचक्रमुः ।
अथ काले गते तस्मिन्विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ९ ॥

विश्वामित्र के उस आश्रम में सुखपूर्वक रही। (अर्थात् मुनिराज विश्वामित्र ने उसके साथ भोग विलास कर बात की बात में दस वर्ष निकाल दिये।) तदनन्तर दस वर्ष बीतने पर महर्षि विश्वामित्र जी ॥ ९ ॥

सव्रीड इव संवृत्तश्चिन्ताशोकपरायणः ।
बुद्धिर्मुनेः समुत्पन्ना सामर्षा रघुनन्दन ॥ १० ॥

(अपनी इस भूल पर) लज्जित हुए और चिन्ता में पड़ कर बहुत दुःखी हुए। हे रघुनन्दन! जब विश्वामित्र जी ने इसका कारण विचारा तब उनकी समझ में क्रोधपूर्वक यह आया कि, ॥ १० ॥

सर्वं सुराणां कर्मैतत्तपोपहरणं महत् ।
अहोरात्रापदेशेन गताः संवत्सरा दश ॥ ११ ॥

मेरे इस चिरकालीन तप को हरण करने के लिये यह सब देवताओं की कारस्तानी है। उन्होंने यह विघ्न डाला है। अरे! दस वर्ष बीत गये; किन्तु मुझे ज्ञान पड़ता है मानों अभी केवल एक रात्रि ही बीती है ॥ ११ ॥

काममोहाभिभूतस्य विघ्नोऽयं प्रत्युपस्थितः ।
विनिःश्वसन्मुनिवरः पश्चात्तापेन दुःखितः ॥ १२ ॥

हा ! कामासक्त होने के कारण मेरे तप में बड़ा भारी विघ्न पड़ा ! महर्षि जी यह कह और बार बार ऊँची साँसे लें पछता कर दुःखी हुए ॥ १२ ॥

भीतामप्सरसं दृष्ट्वा वेपन्तीं प्राञ्जलिं स्थिताम् ।
मेनकां मधुरैर्वाक्यैर्विसृज्य कुशिकात्मजः ॥ १३ ॥

शाप के डर से थरथराती और हाथ जोड़े खड़ी हुई मेनका को देख, विश्वामित्र जी ने, मीठे वचन कह कर उसे विदा किया ॥१३॥

उत्तरं पर्वतं राम विश्वामित्रो जगाम ह ।
स कृत्वा नैष्ठिकीं[1] बुद्धिं जेतुकामो महायशाः ॥१४॥

हे राम ! तदनन्तर विश्वामित्र जी (पुष्करक्षेत्र को छोड़) उत्तर दिशा में पर्वत पर अर्थात् हिमालय पर चले गये और व्रत समाप्त होने तक काम को जीतने की इच्छा से, महायशा विश्वामित्र ॥१४॥

कौशिकीतीरमासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम् ।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरं तप उपासतः ॥ १५ ॥

कौशिकी नदी के तट पर जा फिर उग्र तपस्या करने लगे । जब उनको वहाँ उग्र तप करते करते एक हज़ार वर्ष बीत गये ॥१५॥

उत्तरे पर्वते राम देवतानामभूद्भयम् ।
अमन्त्रयन्समागम्य सर्वे सर्षिगणाः सुराः ॥ १६ ॥

तब हे राम ! हिमालय पर्वत पर तप करने से देवता लोग बहुत डरे और सब देवर्षि और देवता सम्मति कर ब्रह्मा जी के पास जा कर बोले ॥ १६ ॥

---

1 नैष्ठिकीं—व्रतसमापनपर्यन्ताम् । (गो०)

महर्षिशब्द लभतां साध्वयं कुशिकात्मजः ।
देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ॥ १७ ॥

अब विश्वामित्र को "महर्षि" का पद प्रदान कीजिये । देवताओं का यह वचन सुन ब्रह्मा जी ॥ १७ ॥

अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम् ।
महर्षे स्वागतं वत्स तपसोग्रेण तोषितः ॥ १८ ॥

तपस्वी विश्वामित्र जी के पास जा उनसे यह मीठे वचन बोले । हे विश्वामित्र जी ! तुम बहुत अच्छे. हो (भले हो) तुम्हारी उग्र तपस्या से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥ १८ ॥

महत्त्वमृषिमुख्यत्वं ददामि तव सुव्रत ।
ब्रह्मणः स वचः श्रुत्वा विश्वामित्रस्तपोधनः ॥१९॥

और तुमको ऋषियों में मुख्य होने का आशीर्वाद देता हूँ । ब्रह्मा जी के ऐसे वचन सुन तपोधन विश्वामित्र जी ॥ १९ ॥

प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ।
ब्रह्मर्षिशब्दमतुलं स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥ २० ॥

हाथ जोड़ और प्रणाम कर ब्रह्मा जी से बोले । मैंने तो तपस्या अतुलित ब्रह्मर्षिपद प्राप्त करने के लिये की थी ॥ २० ॥

यदि मे भगवानाह ततोऽहं विजितेन्द्रियः ।
तमुवाच ततो ब्रह्मा न तावत्त्वं जितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

यदि आप मुझे महर्षि ही कहते हैं तो मैं समझता हूँ कि मैं जितेन्द्रिय नहीं हूँ । (तभी तो आप मेरा अभीष्ट ब्रह्मर्षिपद प्रदान

नहीं करने और महर्षि मुझे कहने दें) इस पर ब्रह्मा जी ने कहा— हाँ, अभी तक तुम (सत्पुत्र) जितेन्द्रिय नहीं हो पाये ॥ २१ ॥

यतस्व मुनिशार्दूल इत्युक्त्वा त्रिदिवं गतः ।
विप्रस्थितेषु देवेषु विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २२ ॥

हे मुनिशार्दूल ! अभी और तप करो । यह कह ब्रह्मा जी स्वर्ग को चले गये । सब देवताओं के यथास्थान चले जाने पर महर्षि विश्वामित्र जी ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन् ।
घर्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः ॥ २३ ॥

बिना सहारे ऊपर को बाह उठाये और केवल वायु से पेट भर कर, तप करने लगे । गर्मी में वे पञ्चाग्नि तपते, वर्षाऋतु में बाहर जगह से निकल खुले मैदान में बैठते ॥ २३ ॥

शिशिरे सलिलस्थायी रात्र्यहानि तपोधनः ।
एवं वर्षसहस्रं हि तपो घोरमुपागमत् ॥ २४ ॥

जाड़ों में दिन रात वे जल के भीतर खड़े रहते थे । इस प्रकार उन्होंने एक हज़ार वर्ष तक उग्र तप किया ॥ २४ ॥

तस्मिन्सन्तप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ ।
संभ्रमः सुमहानासीत्सुराणां वासवस्य च ॥ २५ ॥

महर्षि विश्वामित्र के इस प्रकार तप करने से इन्द्र सहित समस्त देवताओं में बड़ी खलबली मची । वे लोग बहुत घबड़ाये ॥ २५ ॥

रम्भामप्सरसं शक्रः सह सर्वैर्मरुद्गणैः ।
उवाचात्महितं वाक्यमहितं कौशिकस्य च ॥ २६ ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

तदनन्तर देवराज इन्द्र सब देवताओं सहित रंभा अप्सरा से अपने हित और विश्वामित्र के अनहित की यह बात बोले ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का त्रिसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—:※:—

सुरकार्यमिदं रम्भे कर्तव्यं सुमहत्त्वया ।
लोभनं कौशिकस्येह काममोहसमन्वितम् ॥ १ ॥

हे रम्भे ! देवताओं का यह बड़ा भारी काम है कि, विश्वामित्र को कामासक्त करना (जिससे वे तपस्या से विमुख हों) ॥ १ ॥

तथोक्ता साऽप्सरा राम सहस्राक्षेण धीमता ।
व्रीडिता प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच सुरेश्वरम् ॥ २ ॥

हे राम ! जब इन्द्र ने रम्भा से यह कहा, तब वह बहुत लज्जित हुई और हाथ जोड़ कर इन्द्र से बोली ॥ २ ॥

अयं सुरपते घोरो विश्वामित्रो महामुनिः ।
क्रोधमुत्सृजते घोरं मयि देव न संशयः ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! यह विश्वामित्र बड़े क्रोधी हैं । जैसे ही मैं उनके पास गयी कि, वे अत्यन्त क्रुद्ध हो, निश्चय ही मुझे शाप देंगे ॥ ३ ॥

ततो हि मे भयं देव प्रसादं[1] कर्तुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तया राम रम्भया भीतया तया ॥ ४ ॥

इसी लिये मैं उनके समीप जाती हुई बहुत डरती हूँ। आप कृपया मुझे वहाँ न भेजिये। हे राम! उस डरी हुई रम्भा के यह कहने पर ॥ ४ ॥

तामुवाच सहस्राक्षो वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
मा भैषि रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम् ॥ ५ ॥

इन्द्र ने (भय से) थर थर कांपती हुई और हाथ जोड़े खड़ी हुई रम्भा से कहा—डरे मत ; तेरा मङ्गल हो, मेरी आज्ञा मान ॥५॥

कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिरद्रुमे ।
अहं कन्दर्पसहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः ॥ ६ ॥

मैं स्वयं वसन्तऋतु में, मनोहर कुहुक करने वाला कोकिल पक्षी बन कर, कामदेव सहित किसी सुन्दर वृक्ष के ऊपर, तेरे आस पास ही रहूँगा ॥ ६ ॥

त्वं हि रूपं बहुगुणं कृत्वा परमभास्वरम् ।
तमृषिं कौशिकं रम्भे भेदयस्व[2] तपोधनम् ॥ ७ ॥

हे रम्भे! तू अपना बड़ा सुन्दर और चटकीला भड़कीला शृङ्गार कर, उन तपस्वी विश्वामित्र मुनि का मन (तप से) चलायमान करना ॥ ७ ॥

---

१ प्रसादं—नियोगनिवृत्तिरूपं। (गो०) २ भेदयस्व—चलचित्तं-कारय। (गो०)

सा श्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा रूपमनुत्तमम् ।
लोभयामास ललिता[1] विश्वामित्रं शुचिस्मिता ॥ ८ ॥

इन्द्र के इस प्रकार समझाने पर वह सुन्दरी अपना शृङ्गार कर और मन्द मन्द मुसक्याती हुई विश्वामित्र के मन को लुभाने लगी ॥ ८ ॥

कोकिलस्य स शुश्राव वल्गु[2] व्याहरतः स्वनम् ।
संप्रहृष्टेन मनसा तत एनामुदैक्षत ॥ ९ ॥

उस समय विश्वामित्र जी कोकिल का मधुर कुहकना सुन और प्रसन्न हो, रम्भा की ओर देखने लगे ॥ ९ ॥

अथ तस्य च शब्देन गीतेनाप्रतिमेन च ।
दर्शनेन च रम्भाया मुनिः सन्देहमागतः ॥ १० ॥

(परन्तु) उस कोकिल की कुहूक तथा रम्भा का मनोहारी गाना सुन, और उसको देख, विश्वामित्र जी के मन में सन्देह उत्पन्न हो गया ॥ १० ॥

सहस्राक्षस्य तत्कर्म विज्ञाय मुनिपुङ्गवः ।
रम्भां क्रोधसमाविष्टः शशाप कुशिकात्मजः ॥ ११ ॥

और यह जान कर कि, यह सब नटखटी इन्द्र की है, विश्वामित्र जी बहुत क्रुद्ध हुए और रम्भा को यह शाप दिया ॥ ११ ॥

यन्मां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम् ।
दश वर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे ॥ १२ ॥

---

१ ललिता—सुन्दरी । (गो०) २ वल्गु—मनोहरं । (गो०)

हे रम्भे ! काम क्रोध को अपने वश में करने की इच्छा रखने वाले मुझे जो तू लुभाती है, सो हे दुर्भगे ! (अभागिनी) तू दस हज़ार वर्ष तक शिला हो कर रहेगी ॥ १२ ॥

ब्राह्मणः सुमहातेजास्तपोवलसमन्वितः ।
उद्धरिष्यति रम्भे त्वां मत्क्रोधकलुषीकृताम् ॥ १३ ॥

हे रम्भे ! फिर कोई बड़ा तेजस्वी एवं तपस्वी ब्राह्मण तुझ पापरूपिणी को, मेरे कोप से अर्थात् शाप से उबारेगा ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
अशक्नुवन्धारयितुं क्रोधं सन्तापमागतः ॥ १४ ॥

महर्षि विश्वामित्र यह शाप देने के अनन्तर, क्रोध को रोक न सकने के लिये, बहुत पछताये। (इसलिये कि क्रोधातुर हो कर शाप देने से उनका तपोबल, जो उन्होंने उग्र तप कर सम्पादन किया था, नष्ट हो गया। इन्द्र यही चाहते भी थे।) ॥ १४ ॥

तस्य शापेन महता रम्भा शैली तदाऽभवत् ।
वचः श्रुत्वा च कन्दर्पो महर्षेः स च[1] निर्गतः ॥१५॥

विश्वामित्र जी के उस महाशाप से रम्भा शिला हो गयी और महर्षि विश्वामित्र को क्रोधयुक्त वचन सुन कामदेव और इन्द्र वहाँ से रफूचक्कर हुए ॥ १५ ॥

कोपेन सुमहातेजास्तपोपहरणे कृते ।
इन्द्रियैरजितै राम न लेभे शान्तिमात्मनः[2] ॥ १६ ॥

---

१ सच—इन्द्रश्च । (गो०) २ आत्मनः—मनसः । (गो०)

हे राम! क्रोध करने से महातेजस्वी विश्वामित्र का तप नष्ट हो गया। वे अपनी इन्द्रियों को अपने वश में न रख सके, इसलिये उनके मन को शान्ति न मिली ॥ १६ ॥

बभूवास्य मनश्चिन्ता[1] तपोपहरणे कृते।
नैव क्रोधं गमिष्यामि न च वक्ष्यामि किञ्चन ॥१७॥

बल्कि उन्होंने तप के नष्ट होने पर प्रतिज्ञा की कि, आगे मैं कभी न तो किसी पर क्रोध करूँगा और न किसी से कुछ बात-चीत ही करूँगा ॥ १७ ॥

अथवा नोच्छ्वसिष्यामि संवत्सरशतान्यपि।
अहं विशोषयिष्यामि ह्यात्मानं विजितेन्द्रियः ॥ १८ ॥

इतना ही नहीं, बल्कि मैं सैकड़ों वर्षों तक साँस भी न लूँगा। इस प्रकार इन्द्रियों को जीतने के लिये मैं अपने शरीर को सुखा डालूँगा और इन्द्रियों को अपने वश में करूँगा ॥ १८ ॥

तावद्यावद्धि मे प्राप्तं ब्राह्मण्यं तपसार्जितम्।
अनुच्छ्वसन्नभुञ्जानस्तिष्ठेयं शाश्वतीः समाः ॥१९॥

जब तक तपोबल से मुझे ब्राह्मणत्व प्राप्त न होगा, तब तक, कितना ही समय क्यों न लगे, मैं न तो साँस ही लूँगा और न भोजन करूँगा और सदा खड़ा ही रहूँगा ॥ १९ ॥

---

१ मनश्चिन्ता—सङ्कल्पः। (गो०)

न हि मे तप्यमानस्य क्षयं यास्यन्ति मूर्तयः[1] ।
एवं वर्षसहस्रस्य दीक्षां[2] स मुनिपुङ्गवः ।
चकाराप्रतिमां[3] लोके प्रतिज्ञां रघुनन्दन ॥ २० ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

मुझे इस बात का तो भय ही नहीं है कि, भोजन न करने या साँस न लेने अथवा सदैव खड़े रहने से मेरे शरीर के अवयव क्षीण हो जायँगे। हे रघुनन्दन! महर्षिप्रवर विश्वामित्र ने एक हज़ार वर्ष उक्त विधि से (साँस न ले कर, भोजन न कर के, मौनी हो कर, खड़े रह कर) तप करने का अतुल सङ्कल्प किया ॥ २० ॥

बालकाण्ड का चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:o:—

अथ हैमवतीं[4] राम दिशं त्यक्त्वा महामुनिः ।
पूर्वां दिशमनुप्राप्य तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ १ ॥

तदनन्तर महर्षि विश्वामित्र उत्तर दिशा को त्याग कर और पूर्व दिशा में जा कर फिर उग्र तप करने लगे ॥ १ ॥

---

१ मूर्तयः—शरीरावयवाः । (गो०) २ दीक्षां—अनुच्छ्वासाभोजनसङ्कल्पम् । (गो०) ३ अप्रतिमां—निस्तुलां । (गो०) ४ हैमवतीं—उत्तराम् । (रा०)

मौनं वर्षसहस्रस्य कृत्वा व्रतमनुत्तमम् ।
चकाराप्रतिमं राम तपः परमदुष्करम् ॥ २ ॥

हे राम ! उन्होंने, एक हज़ार वर्ष तक मौन व्रत धारण परम दुष्कर अतुलित तप किया ॥ २ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु काष्ठभूतं महामुनिम् ।
विघ्नैर्बहुभिराधूतं क्रोधो नान्तरमाविशत् ॥ ३ ॥

यहाँ तक कि, जब एक हज़ार वर्ष पूरे हुए, तब विश्वामित्र जी का शरीर काठ की तरह हो गया। इस बीच में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित हुए; किन्तु मुनिराज के अन्तःकरण में क्रोध उत्पन्न न हुआ ॥ ३ ॥

स कृत्वा निश्चयं राम तप आतिष्ठदव्ययम् ।
तस्य वर्षसहस्रस्य व्रते पूर्णे महाव्रतः ॥ ४ ॥

हे राम ! जब विश्वामित्र जी को निश्चय हो गया कि, उन्होंने क्रोध को जीत लिया और उनका एक हज़ार वर्ष तप करने का सङ्कल्प पूरा हो गया ॥ ४ ॥

भोक्तुमारब्धवानन्नं तस्मिन्काले रघूत्तम ।
इन्द्रो द्विजातिर्भूत्वा तं सिद्धमन्नमयाचत ॥ ५ ॥

हे राघव ! तब वे अन्न भोजन करने को बैठे। उसी समय इन्द्र ब्राह्मण का रूप धर कर आये और विश्वामित्र की थाली में परोसे हुए भोज्य पदार्थों के लिये उनसे याचना की ॥ ५ ॥

तस्मै दत्त्वा तदा सिद्धं सर्वं विप्राय निश्चितः ।
निःशेषितेऽन्ने भगवानभुक्त्वैव महातपाः ॥ ६ ॥

भोजन के लिये जो अन्न तैयार हुआ था वह सब का सब उठा कर, उन्होंने इन्द्र को सचमुच ब्राह्मण जान दे दिया। स्वयं बिना खाये ही रह गये ॥ ६ ॥

न किञ्चिदवदद्विप्रं मौनव्रतमुपास्थितः ।
अथ वर्षसहस्रं वै नोच्छ्वसन्मुनिपुङ्गवः ॥ ७ ॥

किन्तु ब्राह्मण से कुछ भी न कहा, क्योंकि, वे मौनव्रत धारण किये हुए थे। तदनन्तर फिर उन्होंने एक हज़ार वर्ष तक साँस रोक कर तप करना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

तस्यानुच्छ्वसमानस्य मूर्ध्नि धूमो व्यजायत ।
त्रैलोक्यं येन सम्भ्रान्तमादीपित[1]मिवाभवत् ॥ ८ ॥

साँस रोक कर रखने से (अर्थात् कुम्भक करने से) उनके सिर से धुआँ निकलने लगा। इससे तीनों लोकवासी घबड़ा उठे और तीनों लोक तप्त हो गये ॥ ८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः पन्नगोरगराक्षसाः ।
[2]मोहितास्तेजसा तस्य तपसा मन्दरश्मयः ॥ ९ ॥

तब तो देवता, गन्धर्व, सर्प, नाग और राक्षस सब ही उनके तप रूपी अग्नि से मूर्च्छित हो गये और उनके तेज मन्द पड़ गये ॥ ९ ॥

कश्मलोपहताः[3] सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ।
बहुभिः कारणैर्देव विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १० ॥

---

१ आदीपितम्—तापितं। (गो०) २ मोहिता—मूर्च्छिता। (गो०)
३ कश्मलोपहताः—दुःखोपहता। (गो०)

उन सब ने दुःखी हो ब्रह्मा जी से कहा—हे देव! हमने महर्षि विश्वामित्र को अनेक प्रकार से ॥ १० ॥

लोभितः क्रोधितश्चैव तपसा चाभिवर्धते ।
न ह्यस्य वृजिनं[1] किञ्चिद्दृश्यते सूक्ष्ममप्यथ ॥ ११ ॥

लुभाया और क्रुद्ध करना चाहा; किन्तु ये अपने तप से न डिगे, प्रत्युत इनका तप बढ़ता ही गया। अब इनमें राग द्वेष नाम मात्र को भी नहीं रह गया ॥ ११ ॥

न दीयते यदि त्वस्य मनसा यदभीप्सितम् ।
विनाशयति त्रैलोक्यं तपसा सचराचरम् ॥ १२ ॥

यदि अब भी उनको उनका अभीष्ट वर (अर्थात् ब्रह्मर्षि की पदवी) न दिया गया, तो वे अपने तप से सचराचर तीनों लोकों को नष्ट कर डालेंगे ॥ १२ ॥

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा न च किञ्चित्प्रकाशते ।
सागराः क्षुभिताः सर्वे विशीर्यन्ते च पर्वताः ॥ १३ ॥

देखिये सब दिशाएँ विकल हैं और प्रकाशरहित हैं। (अर्थात् इनकी तपस्या के तेज से सब का तेज छिप गया है) समुद्र क्षुब्ध हो गये हैं और सब पर्वत फटे जाते हैं ॥ १३ ॥

भास्करो निष्प्रभश्चैव महर्षेस्तस्य तेजसा ।
प्रकम्पते च पृथिवी वायुर्वाति भृशाकुलः ॥ १४ ॥

महर्षि की तपस्या के तेज से सूर्य प्रभाहीन पड़ गया है, पृथिवी कांप रही है और वायु की गति भी गड़बड़ा गयी है ॥ १४ ॥

---

१ वृजिनं—पापं, रागद्वेषादिलक्षणं। (गो०)

ब्रह्मन्न[1] प्रतिजानीमो नास्तिको[2] जायते जनः ।
संमूढमिव[3] त्रैलोक्यं संप्रक्षुभितमानसम् ॥ १५ ॥

हे ब्रह्मन्! इनका प्रतिकार हम लोगों को अब नहीं सूझ पड़ता। इस हलचल के कारण लोग नास्तिकों की तरह कर्मानुष्ठान शून्य हुए जाते हैं। क्योंकि इस समय किसी का मन ठिकाने नहीं है और सब विकल हैं ॥ १५ ॥

बुद्धिं न कुरुते यावन्नाशे देव महामुनिः ।
तावत्प्रसाद्यो भगवानग्निरूपो महाद्युतिः ॥ १६ ॥

अतः हे देव! विश्वामित्र जी के मन में इस जगत को नाश करने की इच्छा उत्पन्न होने के पूर्व ही, आप इनको सन्तुष्ट कर दीजिये। क्योंकि इस समय वे अग्नि रूप होने के कारण महाद्युतिमान् हो रहे हैं ॥ १६ ॥

कालाग्निना यथा पूर्वं त्रैलोक्यं दह्यते भृशम् ।
देवराज्यं चिकीर्षेत दीयतामस्य यन्मतम् ॥ १७ ॥

जैसे प्रलय के समय कालाग्नि तीनों लोकों को जला कर नष्ट कर डालते हैं, वैसे ही ये भी जला कर भस्म कर डालेंगे। यदि यह इन्द्रासन चाहें तो वह भी इनको दे कर इनका अभीष्ट पूरा कीजिये। अथवा यदि आप इनको ब्रह्मर्षिपद, जो इनका अभीष्ट है, नहीं देंगे; तो यह इन्द्रपुरी के राज्य की इच्छा करने लगेंगे ॥ १७ ॥

---

१ नप्रतिजानीमः—प्रतिक्रियामितिशेषः। (गो०) २ नास्तिकोजायत इ:,—उक्तसंक्षोभवशात्लाहितकइवकर्मानुष्ठानशून्योजायत इत्यर्थः। (गो०) ३ संमूढमिवेति—व्याकुलचित्तं। (रा०)

ततः सुरगणाः सर्वे पितामहपुरोगमाः ।
विश्वामित्रं महात्मानं वाक्यं मधुरमब्रुवन् ॥ १८ ॥

(उन लोगों से इस प्रकार अनुरोध किये जाने पर) ब्रह्मा जी सब देवताओं को साथ ले, महात्मा विश्वामित्र जी से जा कर, ये मधुर वचन बोले ॥ १८ ॥

ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः ।
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मर्षे ! हम तुम्हारा स्वागत* करते हैं (अर्थात् तुम्हें बधाई देते हैं ।) हम तुम्हारी तपस्या से भली भाँति सन्तुष्ट हुए हैं । हे विश्वामित्र ! तुमने अपने उग्र तप के प्रभाव से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया ॥ १६ ॥

दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन्ददामि समरुद्गणः ।
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥२०॥

अब हम सब देवताओं सहित तुमको आशीर्वाद देते हैं कि, तुम दीर्घजीवी हो ; तुम्हारा मङ्गल हो । हे सौम्य ! अब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ जाओ ॥ २० ॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वेषां च दिवौकसाम् ।
कृत्वा प्रणामं मुदितो व्याजहार महामुनिः ॥ २१ ॥

---

* श्रीयुत वामन शिवराम आपटे ने स्वागतं का अर्थ बतलाते हुए, इस शब्द के प्रयोग के विषय में लिखा है—" Used chiefly in greeting a person, who is put in the dative case' "

ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन विश्वामित्र जी ने सब देवताओं को प्रणाम किया और वे प्रसन्न हो बोले ॥ २१ ॥

ब्राह्मण्यं यदि मे प्राप्तं दीर्घमायुस्तथैव च ।
ओंकारश्च वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम् ॥ २२ ॥

यदि आप लोगों ने मुझे ब्राह्मणत्व दिया है और मुझे दीर्घायु किया है, तो ओंकार, वषट्कार तथा वेद भी मुझे अङ्गीकार करें ॥ २२ ॥

[नोट—ओंकार का यहाँ अर्थ है ब्रह्मज्ञानसाधन और वषट्कार से अभिप्राय है यज्ञसाधन । वेद से अभिप्राय है साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या से । अङ्गीकार करें (वरयन्तु) अर्थात् जैसे वशिष्ठादि महर्षियों को वेदपढ़ाने का तथा यज्ञकराने का अधिकार है—विश्वामित्र जी ब्रह्मा जी से कहते हैं कि, वैसे ही मुझे भी वेदपढ़ाने और यज्ञकराने का अधिकार आप दें ।]

क्षत्रवेद[1]विदां श्रेष्ठो ब्रह्मवेदविदामपि ।
ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः ॥ २३ ॥

और क्षत्रियों की वेदविद्या जानने वालों में श्रेष्ठ तथा ब्राह्मणों की वेदविद्या जानने में भी श्रेष्ठ (अर्थात् चारों वेदों के ज्ञाता) ब्रह्मा जी के पुत्र वशिष्ठ जी भी मुझे "ब्रह्मर्षि" कहें ॥ २३ ॥

यद्ययं परमः कामः कृतो यान्तु सुरर्षभाः ।
ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतांवरः ॥ २४ ॥

---

1 क्षत्रवेदाः—क्षत्रियाणाम्शान्तिपुष्टयादिप्रयोजनाआथर्वणवेदाः तद् विदां श्रेष्ठः । (गो०)

यदि मेरा यह बड़ा अभीष्ट पूरा हो जाय तो आप लोग (अर्थात् सब देवता) चले जा सकते हैं। यह सुन देवता लोग ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी के पास गये और उन्हें मना कर राज़ी किया ॥ २४ ॥

सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरेवमस्त्विति चाब्रवीत् ।
ब्रह्मर्षिस्त्वं न सन्देहः सर्वं सम्पत्स्यते तव ॥ २५ ॥

वशिष्ठ जी आये और विश्वामित्र जी से मेल कर लिया (अर्थात् वैर छोड़ दिया) और कहा तुम ब्रह्मर्षि हो गये। तुम्हारे ब्रह्मर्षि होने में अब कुछ भी सन्देह नहीं है। अब तो सब ने तुम्हारा ब्रह्मर्षि होना मान लिया ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा देवताश्चापि सर्वा जग्मुर्यथागतम् ।
विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम् ॥२६॥

यह कह कर देवता भी अपने अपने स्थानों को चले गये। विश्वामित्र ने भी उत्तम ब्राह्मणत्व प्राप्त कर के ॥ २६ ॥

पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतांवरम् ।
कृतकामो महीं सर्वां चचार तपसि स्थितः ॥ २७ ॥

विश्वामित्र जी ने महर्षिप्रवर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी का पूजन किया और स्वयं कृतकार्य हो और तप करते हुए ये अब सारी पृथिवी पर भ्रमण करने लगे हैं ॥ २७ ॥

एवं त्वनेन ब्राह्मण्यं प्राप्तं राम महात्मना ।
एष राम मुनिश्रेष्ठ एष विग्रहवांस्तपः ॥ २८ ॥

(शतानन्द जी बोले) हे राम ! इस तरह इन महात्मा विश्वामित्र जी ने ब्राह्मणत्व पाया है। हे राम ! यह मुनियों में श्रेष्ठ हैं और तप की तो साक्षात् मूर्त्ति ही हैं ॥ २८ ॥

एष धर्मपरो नित्यं वीर्यस्यैष परायणम् ।
एवमुक्त्वा महातेजा विरराम द्विजोत्तमः ॥ २९ ॥

यह सदा धर्मकार्यों के करने में तत्पर रहते हैं, यह अब भी तपोवीर्य परायण हैं। यह कह कर ब्राह्मणश्रेष्ठ महातेजस्वी शतानन्द जी चुप हो गये ॥ २९ ॥

शतानन्दवचः श्रुत्वा रामलक्ष्मणसन्निधौ ।
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच कुशिकात्मजम् ॥३०॥

शतानन्द जी की बात पूरी होने पर, श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण के सामने, राजा जनक ने हाथ जोड़ कर कौशिक जी से कहा, ॥ ३० ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गव ।
यज्ञं काकुत्स्थसहितः प्राप्तवानसि कौशिक ॥ ३१ ॥

हे कौशिक ! मैं अपने को धन्य मानता हूँ और आपका बड़ा अनुगृहीत हूँ। क्योंकि आप श्रीराम लक्ष्मण सहित मेरे यज्ञ में पधारे हैं ॥ ३१ ॥

पावितोऽहं त्वया ब्रह्मन्दर्शनेन महामुने ।
विश्वामित्र महाभाग ब्रह्मर्षीणां वरोत्तम ॥ ३२ ॥

हे ब्रह्मन् ! अपने दर्शन दे कर आपने मुझे पवित्र किया है। हे महाभाग, हे ब्रह्मर्षियों में श्रेष्ठ विश्वामित्र जी ! ॥ ३२ ॥

[1]गुणा बहुविधाः प्राप्तास्तव सन्दर्शनान्मया ।
विस्तरेण च ते ब्रह्मन्कीर्त्यमानं महत्तपः ॥ ३३ ॥

आपके दर्शन से मेरा मान बढ़ा है, मैंने विस्तारपूर्वक आपके तप की कीर्त्ति का वृत्तान्त सुना है ॥ ३३ ॥

श्रुतं मया महातेजो रामेण च महात्मना ।
सदस्यैः प्राप्य च सदः श्रुतास्ते बहवो गुणाः ॥३४॥

मैंने, श्रीरामचन्द्र जी ने तथा मेरे सभासदों ने आपके असंख्य गुण सुने ॥ ३४ ॥

अप्रमेयं तपस्तुभ्यमप्रमेयं च ते बलम् ।
अप्रमेया[2]गुणाश्चैव नित्यं ते कुशिकात्मज ॥ ३५ ॥

हे कौशिक ! आपका तप और बल अचिन्त्य है । आपके गुण अपार हैं ॥ ३५ ॥

तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे विभो ।
कर्मकालो मुनिश्रेष्ठ लम्बते रविमण्डलम् ॥ ३६ ॥

हे विभो ! आपकी विस्मयोत्पादिनी कथाओं को सुनते सुनते मेरा जी नहीं भरा । अब सूर्य अस्त होने वाला है, सन्ध्योपासनादि कर्म करने का समय समीप है (अतः अब मैं विदा होता हूँ) ॥ ३६ ॥

श्वः प्रभाते महातेजो द्रष्टुमर्हसि मां पुनः ।
स्वागतं तपतांश्रेष्ठ मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३७ ॥

---

१ गुणाः—कर्मश्रेष्ठय ज्ञातिश्रेष्ठय लक्षणाः । (रा०) २ अप्रमेयाः—इयत्तयाज्ञातुमशक्याः । (गो०)

हे तप करने वालों में श्रेष्ठ ! आप इस समय भले पधारे। कल प्रातःकाल फिर मुझे आपके दर्शन होंगे। अब जाने की आज्ञा दीजिये ॥ ३७ ॥

एवमुक्तो मुनिवरः प्रशस्य पुरुषर्षभम्।
विससर्जाशु जनकं प्रीतं प्रीतमनास्तदा ॥ ३८

जब जनक जी ने ऐसा कहा, तब विश्वामित्र जी ने उनकी प्रशंसा करते हुए, प्रसन्न मन से बड़े प्रेम के साथ उनको तुरन्त विदा कर दिया ॥ ३८ ॥

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं वैदेहो मिथिलाधिपः।
प्रदक्षिणं चकाराथ सोपाध्यायः सबान्धवः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर राजा जनक ने अपने उपाध्याय और बन्धु बान्धवों सहित उठ कर विश्वामित्र जी की प्रदक्षिणा की और वे वहाँ से चल दिये ॥ ३९ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा सरामः सहलक्ष्मणः।
स्ववाट[1]मभिचक्राम पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ४० ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

धर्मात्मा विश्वामित्र भी श्रीराम लक्ष्मण सहित मुनियों से सम्मानित हो, अपने निवासस्थान में आये ॥ ४० ॥

बालकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

१ स्ववाटं—स्वनिवेशं। (गो०)

षट्षष्टितमः सर्गः

—:०:—

ततः प्रभाते विमले कृतकर्मा नराधिपः ।
विश्वामित्रं महात्मानमाजुहाव सराघवम् ॥ १ ॥

प्रातःकाल होते ही राजा जनक ने आन्हिक कर्मानुष्ठान से निश्चिन्त हो, दोनों राजकुमारों सहित विश्वामित्र जी को बुला भेजा ॥ १ ॥

तमर्चयित्वा धर्मात्मा शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
राघवौ च महात्मानौ तदा वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥

शास्त्रविधि के अनुसार अर्घ्यपाद्यादि से विश्वामित्र व राम लक्ष्मण की पूजा कर, धर्मात्मा राजा जनक बोले, ॥ २ ॥

भगवन्स्वागतं तेऽस्तु किं करोमि तवानघ ।
भवानाज्ञापयतु मामाज्ञाप्यो भवता ह्यहम् ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! आपका मैं स्वागत करता हूँ, कुछ सेवा करने के लिये आज्ञा दीजिये । क्योंकि मैं आपकी आज्ञा का पात्र हूँ ॥ ३ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जनकेन महात्मना ।
प्रत्युवाच मुनिर्वीरं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

जब महात्मा जनक जी ने ऐसा कहा तब बातचीत करने में अत्यन्त चतुर विश्वामित्र जी राजा से बोले ॥ ४ ॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ क्षत्रियौ लोकविश्रुतौ ।
द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति ॥ ५ ॥

ये दोनों कुमार महाराज दशरथ के पुत्र, क्षत्रियों में श्रेष्ठ, और लोक में विख्यात श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण, वह धनुष देखना चाहते हैं, जो आपके यहाँ रखा है ॥ ५ ॥

एतद्दर्शय भद्रं ते कृतकामौ नृपात्मजौ ।
दर्शनादस्य धनुषो यथेष्टं प्रतियास्यतः ॥ ६ ॥

आपका मङ्गल हो ; अतः आप उसे इन्हें दिखलवा दीजिये । उसे देखने ही से इनका प्रयोजन हो जायगा और ये चले जाँयगे ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्तु जनकः प्रत्युवाच महामुनिम् ।
श्रूयतामस्य धनुषो यदर्थमिह तिष्ठति ॥ ७ ॥

यह सुन राजा जनक, विश्वामित्र जी से बोले कि, जिस प्रयोजन के लिये यह धनुष यहाँ रखा है, उसे सुनिये ॥ ७ ॥

देवरात इति ख्यातो निमेः षष्ठो महीपतिः ।
न्यासोऽयं तस्य भगवन्हस्ते दत्तो महात्मना ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! राजा निमि की छठवीं पीढ़ी में देवरात नाम के एक राजा हो गये हैं । उनको यह धनुष धरोहर के रूप में मिला था ॥ ८ ॥

दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान् ।
रुद्रस्तु त्रिदशान्रोषात्सलीलमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

पूर्वकाल में जब महादेव जी ने दक्ष प्रजापति का यज्ञ विध्वंस कर डाला (क्योंकि उसमें महादेव जी को यज्ञभाग नहीं मिला था) तब लीलाक्रम से शिव जी ने क्रोध में भर यही धनुष ... देवताओं से कहा था ॥ ९ ॥

यस्माद्भागार्थिनो भागान्नाकल्पयत मे सुराः ।
वराङ्गाणि[1] महार्हाणि धनुषा शातयामि[2] वः ॥ १० ॥

हे देवो! यतः (चूँकि) तुम लोगों ने मुझ भागार्थी को यज्ञ-भाग नहीं दिया, अतः मैं इस धनुष से तुम सब के सिरों को काट डालता हूँ ॥ १० ॥

ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिपुङ्गव ।
प्रसादयन्ति देवेशं तेषां प्रीतोऽभवद्भवः ॥ ११ ॥

हे मुनिप्रवर! शिव जी का यह वचन सुन देवता लोग बहुत उदास हो गये और किसी न किसी तरह शिव जी को मना कर प्रसन्न किया ॥ ११ ॥

प्रीतियुक्तः स सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम् ।
तदेतद्देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः ॥ १२ ॥

न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वके विभो ।
अथ मे कृषतः क्षेत्रं[3] लाङ्गलादुत्थिता ततः ॥ १३ ॥

तब प्रसन्न हो कर महादेव जी ने यह धनुष देवताओं को दे दिया और देवताओं ने उस धनुषरत्न को धरोहर की तरह देवरात को

---

१ वराङ्गाणि—शिरांसि । (गो०) २ शातयामि—छिनद्मि । (गो०)
३ क्षेत्रं—यागभूमिं । (गो०)

दे दिया। सो यह वही धनुष है। एक समय यज्ञ करने के लिये मैं हल से खेत जोत रहा था। उस समय हलकी नोंक से ॥ १२ ॥ १३ ॥

क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता ।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा ॥ १४ ॥

एक कन्या भूमि से निकली अपने जन्म* के कारण सीता के नाम से प्रसिद्ध है और मेरी लड़की कहलाती है। पृथिवी से निकली हुई वह कन्या दिनों दिन मेरे यहाँ बड़ी होने लगी ॥ १४ ॥

वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा ।
भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम् ॥ १५ ॥

उस अयोनिजा कन्या के विवाह के लिये मैंने पराक्रम ही शुल्क रखा है। पृथिवी से निकली हुई मेरी यह कन्या जब धीरे धीरे बड़ी होने लगी ॥ १५ ॥

वरयामासुरागम्य राजानो मुनिपुङ्गव ।
तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवीक्षिताम् ॥ १६ ॥

वीर्यशुल्केति भगवन्न ददामि सुतामहम् ।
ततः सर्वे नृपतयः समेत्य मुनिपुङ्गव ॥ १७ ॥

तब, हे मुनिश्रेष्ठ! मेरी उस कन्या के साथ अपना विवाह करने के लिये अनेक देशों के राजा आये। सीता के साथ विवाह करने की इच्छा रखने वाले उन सब राजाओं से कहा गया कि, यह कन्या "वीर्यशुल्का" है। अतः मैं वर के पराक्रम की परीक्षा

---

* हल की नोंक का नाम सीता है, यह कन्या हल की नोंक से भूमि खोदते समय पृथिवी से निकली थी; अतः इसका नाम सीता पड़ा।

किये विना अपनी कन्या किसी को नहीं दूँगा। तव तो हे मुनिश्रेष्ठ! सब राजा लोग इकट्ठे हो ॥ १६ ॥ १७ ॥

मिथिलामभ्युपागम्य वीर्यजिज्ञासवस्तदा।
तेषां जिज्ञासमानानां वीर्यं धनुरुपाहृतम् ॥ १८ ॥

अपने पराक्रम की परीक्षा देने को मिथिलापुरी में आये। उनके वल की परीक्षा के लिये मैंने यह धनुष उनके सामने (रोदा चढ़ाने के लिये) रखा ॥ १८ ॥

न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽ[1]पि वा।
तेषां वीर्यवतां वीर्यमल्पं ज्ञात्वा महामुने ॥ १९ ॥

उनमें से कोई भी राजा उस धनुष को उठा कर उस पर रोदा न चढ़ा सका, तब उन राजाओं को अल्पवीर्य समझ ॥ १९ ॥

प्रत्याख्याता नृपतयस्तन्निबोध तपोधन।
ततः परमकोपेण राजानो मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥
अरुन्धन्मिथिलां सर्वे वीर्यसन्देहमागताः।
आत्मान[2]मवधूतं[3] ते विज्ञाय नृपपुङ्गवाः ॥ २१ ॥

मैंने उनमें से किसी को अपनी कन्या नहीं दी। हे मुनिराज! यह बात आप भी जान लें। (जब मैंने अपनी कन्या का विवाह उनमें से किसी के साथ नहीं किया) तब उन लोगों ने क्रुद्ध हो मिथिलापुरी घेर ली। क्योंकि धनुष द्वारा वल की परीक्षा देने में उन्होंने अपना तिरस्कार समझा ॥ २० ॥ २१ ॥

---

१ तोलने—भारपरीक्षार्थंहस्तेनचालने। (गो०) २ आत्मानं—स्वात्मानं। (गो०) ३ अवधूतं—शौर्यशुल्ककरणेन तिरस्कृतंविज्ञाय। (गो०)

रोपेण महताऽऽविष्टाः पीडयन्मिथिलां पुरीम् ।
ततः संवत्सरे पूर्णे क्षयं यातानि सर्वशः ॥ २२ ॥
साधनानि मुनिश्रेष्ठ ततोऽहं भृशदुःखितः ।
ततो देवगणान्सर्वांस्तपसाहं प्रसादयम् ॥ २३ ॥

उन लोगों ने अत्यन्त क्रुद्ध हो मिथिलावासियों को बड़े बड़े कष्ट दिये । एक वर्ष तक लड़ाई होने से मेरा धन भी बहुत नष्ट हुआ । इसका मुझे बड़ा दुःख हुआ । तब मैंने तप द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया ॥ २२ ॥ २३ ॥

ददुश्च परमप्रीताश्चतुरङ्गबलं सुराः ।
ततो भग्ना नृपतयो हन्यमाना दिशो ययुः ॥ २४ ॥

देवताओं ने अत्यन्त प्रसन्न हो कर मुझे चतुरङ्गिणी सेना दी । तब, वे हतोत्साह राजा पराजित हो भाग गये ॥ २४ ॥

अवीर्या वीर्यसन्दिग्धाः सामात्याः पापकारिणः ।
तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परमभास्वरम् ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि दर्शयिष्यामि सुव्रत ॥ २५ ॥

भीरु और वीरता की झूठी डींगे मारने वाले वे राजा अपने मंत्रियों सहित भाग गये । हे मुनिश्रेष्ठ ! यह वही दिव्य धनुष है । हे सुव्रत ! मैं इसे श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण को भी दिखलाऊँगा ॥ २५ ॥

यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने ।
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथेरहम् ॥ २६ ॥

इति षट्पष्टितमः सर्गः ॥

और यदि श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर रोदा चढ़ा दिया, तो मैं अपनी अयोनिजा सीता उनको ब्याह दूँगा ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का छियासठवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:o:—

जनकस्य वचः श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।
धनुर्दर्शय रामाय इति होवाच पार्थिवम् ॥ १ ॥

राजा जनक की बातें सुन महर्षि विश्वामित्र ने राजा जनक से कहा—हे राजन् ! वह धनुष श्रीरामचन्द्र को दिखलाइये ॥ १ ॥

ततः स राजा जनकः सचिवान्व्यादिदेश ह ।
धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यविभूषितम् ॥ २ ॥

तब राजा जनक ने अपने मंत्रियों को आज्ञा दी कि, जो दिव्य धनुष चन्दन और पुष्पमालाओं से भूषित है, उसे ले आओ ॥ २ ॥

जनकेन समादिष्टाः सचिवाः प्राविशन्पुरीम् ।
तद्धनुः पुरतः कृत्वा निर्जग्मुः पार्थिवाज्ञया ॥ ३ ॥

राजा जनक की आज्ञा पा कर मंत्री लोग मिथिलापुरी में गये (यज्ञशाला नगरी के बाहर बनी थी) और उस धनुष को आगे कर चले ॥ ३ ॥

नृणां शतानि पञ्चाशद्व्यायतानां महात्मनाम् ।
मञ्जूषामष्टचक्रां तां समूहुस्ते कथञ्चन ॥ ४ ॥

पाँच हज़ार मज़बूत मनुष्य, धनुष की आठ पहिये की पेटी को, कठिनता से खींच और ढकेल कर वहाँ ला सके ॥ ४ ॥

तामादाय तु मञ्जूषामायसीं यत्र तद्धनुः ।
सुरोपमं ते जनकमूचुर्नृपतिमन्त्रिणः ॥ ५ ॥

जिस पेटी में धनुष रखा था वह लोहे की थी—उसे ला कर, मंत्रियों ने सुरोपम महाराज जनक को इस बात की सूचना दी ॥ ५ ॥

इदं धनुर्वरं राजन्पूजितं सर्वराजभिः ।
मिथिलाधिप राजेन्द्र दर्शयैनं यदीच्छसि ॥ ६ ॥

मंत्री बोले—हे राजन्! यह वही धनुष है, जिसकी पूजा सब राजा कर चुके हैं। हे मिथिला के अधीश्वर! हे राजेन्द्र! अब आप जिसको चाहिये इसे दिखलाइये ॥ ६ ॥

तेषां नृपो वचः श्रुत्वा कृताञ्जलिरभाषत ।
विश्वामित्रं महात्मानं तौ चोभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७ ॥

मंत्रियों की बात सुन, राजा ने हाथ जोड़ कर, महात्मा विश्वामित्र और राम लक्ष्मण से कहा ॥ ७ ॥

इदं धनुर्वरं ब्रह्मञ्जनकैरभिपूजितम् ।
राजभिश्च महावीर्यैरशक्तैः पूरितुं पुरा ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन्! यह श्रेष्ठ धनुष वही है, जिसका पूजन सब निमिवंशीय राजा करते चले आते हैं और यह वही धनुष है जिस पर बड़े बड़े पराक्रमी राजा लोग रोदा नहीं चढ़ा सके ॥ ८ ॥

नैतत्सुरगणाः सर्वे नासुरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ९ ॥

क्व गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
आरोपणे समायोगे वेपने तोलनेऽपि वा ॥ १० ॥

समस्त देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और नाग भी जब इस धनुष को उठा और झुका कर इस पर रोदा नहीं चढ़ा सके, तब बपुरे मनुष्य की तो बात ही क्या है जो इस धनुष पर रोदा चढ़ा सके। ॥ ९ ॥ १० ॥

तदेतद्धनुषां श्रेष्ठमानीतं मुनिपुङ्गव ।
दर्शयैतन्महाभाग अनयो राजपुत्रयोः ॥ ११ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ! वह श्रेष्ठ धनुष आ गया है। हे महाभाग! उसे इन राजकुमारों को दिखलाइये ॥ ११ ॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा श्रुत्वा जनकभाषितम् ।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ १२ ॥

धर्मात्मा विश्वामित्र जी ने जब राजा जनक के ये वचन सुने, तब उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे वत्स! इस धनुष को देखो ॥ १२ ॥

ब्रह्मर्षेर्वचनाद्रामो यत्र तिष्ठति तद्धनुः ।
मञ्जूषां तामपावृत्य दृष्ट्वा धनुरथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महर्षि के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी वहां गये जहां धनुष था और उस पेटी को, जिसमें वह धनुष था, खोल कर, धनुष देखा और बोले ॥ १३ ॥

धनुर्भङ्ग

इदं धनुर्वरं ब्रह्मन्संस्पृशामीह पाणिना ।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेपि वा ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मन्! अब इस धनुष को मैं हाथ लगाता हूँ और इसे उठा कर इस पर रोदा चढ़ाने का प्रयत्न करता हूँ ॥ १४ ॥

बाढमित्येव तं राजा मुनिश्च समभाषत ।
लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुनेः ॥ १५ ॥

राजा जनक और विश्वामित्र ने उनकी बात अङ्गीकार करते हुए कहा "बहुत अच्छा"। मुनि के वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने बिना प्रयास धनुष को बीच से पकड़ उसे उठा लिया ॥ १५ ॥

पश्यतां नृसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः ।
आरोपयत्स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः ॥ १६ ॥

और हज़ारों मनुष्यों के सामने धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने बिना प्रयास उस पर रोदा चढ़ा दिया ॥ १६ ॥

आरोपयित्वा धर्मात्मा पूरयामास वीर्यवान् ।
तद्बभञ्ज धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महायशाः ॥ १७ ॥

महायशस्वी पुरुषोत्तम एवं बलवान् श्रीराम ने रोदा चढ़ाने के बाद ज्यों ही रोदे को खींचा, त्यों ही वह धनुष बीच से टूट गया। अर्थात् उस धनुष के दो टुकड़े हो गये ॥ १७ ॥

तस्य शब्दो महानासीन्निर्घातसमनिःस्वनः ।
भूमिकम्पश्च सुमहान्पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ १८ ॥

उसके टूटने का शब्द वज्रपात के समान हुआ। बड़े ज़ोर से भूमि हिल गयी और बड़े बड़े पहाड़ फट गये ॥ १८ ॥

निपेतुश्च नराः सर्वे तेन शब्देन मोहिताः ।
वर्जयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ ॥ १९ ॥

धनुष के टूटने के विकराल शब्द के होने पर, विश्वामित्र, राजा जनक और दोनों राजकुमारों को छोड़, सब लोग मूर्च्छित हो गिर पड़े ॥ १९ ॥

प्रत्याश्वस्ते जने तस्मिन्राजा विगतसाध्वसः[1] ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो मुनिपुङ्गवम् ॥ २० ॥

सब लोगों की मूर्च्छा भङ्ग हुई वे सचेत हुए तथा राजा जनक के सब सन्देह दूर हो गये, तब राजा जनक हाथ जोड़, चतुर विश्वामित्र से कहने लगे ॥ २० ॥

भगवन्दृष्टवीर्यो मे रामो दशरथात्मजः ।
अत्यद्भुतमचिन्त्यं च न तर्कितमिदं मया ॥ २१ ॥

हे भगवन्! महाराज दशरथ जी के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी का यह अत्यन्त विस्मयोत्पादक अचिन्त्य और अतर्कित (जिसमें सन्देह करने की गुञ्जायश न हो) पराक्रम मैंने देखा ॥ २१ ॥

जनकानां कुले कीर्त्तिमाहरिष्यति मे सुता ।
सीता भर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम् ॥ २२ ॥

---

१ विगतसाध्वस इत्यनेन रामजामातृकताप्रापकं धनुरारोपणमपि न वेदिति पूर्वंभीतोऽभूदितिगम्यते । (गो०)

मेरी बेटी सीता, महाराज दशरथ जी के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को अपना पति बना कर मेरे वंश की कीर्त्ति फैलायेगी ॥ २२ ॥

मम सत्या प्रतिज्ञा च वीर्यशुल्केति कौशिक ।
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता ॥ २३ ॥

हे कौशिक ! मैंने सीता के विवाह के लिये "वीर्यशुल्क" की जो प्रतिज्ञा की थी वह आज पूरी हो गयी । अब मैं अपनी प्राणों से भी बढ़ कर प्यारी सीता श्रीराम को दूँगा ॥ २३ ॥

भवतोऽनुमते ब्रह्मञ्शीघ्रं गच्छन्तु मन्त्रिणः ।
मम कौशिक भद्रं ते अयोध्यां त्वरिता रथैः ॥२४॥

हे ब्रह्मन् ! हे कौशिक ! यदि आपकी सम्मति हो तो मेरे मंत्री रथ पर सवार हो शीघ्र अयोध्या को जांय ॥ २४ ॥

राजानं [1]प्रश्रितैर्वाक्यैरानयन्तु पुरं मम ।
प्रदानं वीर्यशुल्कायाः कथयन्तु च सर्वशः ॥ २५ ॥

और महाराज दशरथ को नम्रतापूर्वक यहाँ का सारा हाल सुना कर, यहाँ लिवा लावें ॥ २५ ॥

मुनिगुप्तौ च काकुत्स्थौ कथयन्तु नृपाय वै ।
प्रीयमाणं तु राजानमानयन्तु सुशीघ्रगाः ॥ २६ ॥

और महाराज को, आपसे रक्षित, दोनों राजकुमारों का कुशल समाचार भी सुनावें और इस प्रकार महाराज को प्रसन्न कर, उन्हें अति शीघ्र यहाँ बुला लावें ॥ २६ ॥

---

१ प्रश्रितैः—विनियान्वितैः । (गो०)

कौशिकश्च तथेत्याह राजा चाभाष्य मन्त्रिणः ।
अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतशासनान्[1] ॥ २७ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

इस पर जब विश्वामित्र ने कह दिया कि, बहुत अच्छी बात है, तब राजा ने मंत्रियों को समझा कर और महाराज दशरथ के नाम का कुशलपत्र उन्हें दे, अयोध्या को रवाना किया ॥ २७ ॥

बालकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—:०:—

जनकेन समादिष्टा दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।
त्रिरात्रमुषिता मार्गे तेऽयोध्यां प्राविशन्पुरीम् ॥ १ ॥

राजा जनक की आज्ञा पा वे दूत शीघ्रगामी रथों पर सवार हो और रास्ते में तीन रात्रि व्यतीत कर, अयोध्या में पहुँचे । उस समय उनके रथ के घोड़े थक गये थे ॥ १ ॥

राज्ञो भवनमासाद्य द्वारस्थानिदमब्रुवन् ।
शीघ्रं निवेद्यतां राज्ञे दूतान्नो जनकस्य च ॥ २ ॥

और राजभवन की ड्योढ़ी पर जा कर द्वारपालों से यह बोले कि, जा कर तुरन्त महाराज से निवेदन करो कि, हम राजा जनक के दूत (आपके दर्शन करना चाहते) हैं ॥ २ ॥

---

१ कृतशासनान्—दत्तकल्याणसंदेश पत्रिकानित्यर्थः । (गो०)

इत्युक्त्वा द्वारपालस्ते राघवाय न्यवेदयन् ।
ते राजवचनाद्दूता राजवेश्म प्रवेशिताः ॥ ३ ॥

दूतों के ऐसा कहने पर उन द्वारपालों ने जा कर महाराज दशरथ से निवेदन किया। तब महाराज दशरथ की परवानगी से राजा जनक के दूत राजभवन के भीतर गये ॥ ३ ॥

ददृशुर्देवसङ्काशं वृद्धं दशरथं नृपम् ।
बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे दूता विगतसाध्वसाः[1] ॥ ४ ॥

राजानं प्रणता वाक्यमब्रुवन्मधुराक्षरम् ।
मैथिलो जनको राजा साग्निहोत्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥

कुशलं चाव्ययं चैव सोपाध्यायपुरोहितम् ।
मुहुर्मुहुर्मधुरया स्नेहसंयुक्तया गिरा ॥ ६ ॥

जनकस्त्वां महाराजाऽऽपृच्छते सपुरःसरम् ।
पृष्ट्वा कुशलमव्यग्रं वैदेहो मिथिलाधिपः ॥ ७ ॥

वहाँ जा कर उन लोगों ने देवोपम वृद्ध महाराज दशरथ के दर्शन किये और उनके सौजन्य को देख निर्भय हो, तथा हाथ जोड़ कर बड़ी नम्रता से यह मधुर वचन बोले। महाराज! मिथिलापुरी के स्वामी, महायज्ञशाली राजा जनक ने बारंबार मधुर और स्नेहयुक्त वाणी तथा शान्त मन से आपकी, और आपके पुरवासियों की कुशल क्षेम पूँछी है ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

---

१ विगतसाध्वसाः—दशरथ सौजन्येन विज्ञापनेनिर्भयाः । (गो०)

कौशिकानुमतो वाक्यं भवन्तमिदमब्रवीत् ।
पूर्वं प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का ममात्मजा ॥ ८ ॥

और विश्वामित्र जी की अनुमति से आपको यह सन्देसा भेजा है कि, श्रीमान् को तो यह मालूम ही है कि, मेरी पुत्री वीर्यशुल्का है ॥ ८ ॥

राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः ।
सेयं मम सुता राजन्विश्वामित्रपुरःसरैः ॥ ९ ॥

उसके लिये अनेक राजा लोग हतोत्साह हो विमुख हुए। उस मेरी कन्या को विश्वामित्र के साथ ॥ ९ ॥

यदृच्छया[1]ऽऽगतैर्वीरैर्निर्जिता तव पुत्रकैः ।
तच्च राजन्धनुर्दिव्यं मध्ये भग्नं महात्मना ॥ १० ॥

रामेण हि महाराज महत्यां जनसंसदि ।
अस्मै देया मया सीता वीर्यशुल्का महात्मने ॥ ११ ॥

मेरे सौभाग्य से आ कर श्रीमान् के कुँवर ने जीत लिया है। क्योंकि महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने एक बड़ी सभा के बीच, उस दिव्य धनुष को बीचो बीच से तोड़ा है। अतः मैं अपनी वीर्यशुल्का सीता का विवाह श्रीराम जी के साथ करना चाहता हूँ ॥ १० ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञां तर्तुमिच्छामि तदनुज्ञातुमर्हसि ।
सोपाध्यायो महाराज पुरोहितपुरःसरः ॥ १२ ॥

---

1 यदृच्छया—मद्भागधेयात् । (गो०)

जिससे मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकूँ। आप इस सम्बन्ध के विषय में मुझे आज्ञा दें। हे महाराज! आप उपाध्याय और पुरोहितों के सहित ॥ १२ ॥

शीघ्रमागच्छ भद्रं ते द्रष्टुमर्हसि राघवौ।
प्रीतिं च मम राजेन्द्र निर्वर्तयितुमर्हसि ॥ १३ ॥

शीघ्र यहाँ पधार कर अपने राजकुमारों को देखिये और हे राजेन्द्र! मेरी प्रीति को निबाहिये ॥ १३ ॥

पुत्रयोरुभयोरेव प्रीतिं त्वमपि लप्स्यसे।
एवं विदेहाधिपतिर्मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ १४ ॥

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दमते स्थितः।
इत्युक्त्वा विरता दूता राजगौरवशङ्किताः ॥ १५ ॥

और यहाँ पधार कर दोनों राजकुमारों के विवाह की शोभा देख प्रसन्न हूजिये। हे महाराज! यह शुभ सन्देसा, महाराज जनक ने, महर्षि विश्वामित्र और अपने पुरोहित शतानन्द जी की अनुमति से आपकी सेवा में निवेदन करने को कहा है। इतना कह और दशरथ के रोब में आ दूत चुप हो गये ॥ १४ ॥ १५ ॥

दूतवाक्यं तु तच्छ्रुत्वा राजा परमहर्षितः।
वसिष्ठं वामदेवं च मन्त्रिणोन्यांश्च सोऽब्रवीत् ॥१६॥

उन दूतों की वातों को सुन महाराज दशरथ अत्यन्त प्रसन्न हुए और वशिष्ठ, वामदेव तथा अन्य मंत्रियों से कहने लगे ॥ १६ ॥

गुप्तः कुशिकपुत्रेण कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विदेहेषु वसत्यसौ ॥ १७ ॥

विश्वामित्र से रक्षित, कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण सहित, आजकल मिथिलापुरी में हैं ॥ १७ ॥

दृष्टवीर्यस्तु काकुत्स्थो जनकेन महात्मना ।
संप्रदानं सुतायास्तु राघवे कर्तुमिच्छति ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का पराक्रम राजा जनक भली भाँति देख चुके हैं और अब वे अपनी कन्या का विवाह श्रीरामचन्द्र जी के साथ करना चाहते हैं ॥ १८ ॥

यदि वो रोचते वृत्तं जनकस्य महात्मनः ।
पुरीं गच्छामहे शीघ्रं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥१९॥

यदि इसे आप लोग पसन्द करें, तो हम लोगों को मिथिलापुरी के लिये शीघ्र प्रस्थान करना चाहिये, जिससे वहाँ पहुँचने में विलम्ब न हो ॥ १९ ॥

[नोट—इस श्लोक में "यदि वो रोचते वृत्तं" के देखने से यह अवगत होता है कि, रामायणकाल में एकाधिपत्य राज्यशासन प्रणाली प्रचलित होने पर भी, तत्कालीन राजा लोग अपने घरेलू कामों में भी अपने पार्श्ववर्त्तियों की सम्मति लिये बिना कोई कार्य नहीं करते थे ।]

मन्त्रिणो बाढमित्याहुः सह सर्वैर्महर्षिभिः ।
सुप्रीतश्चाब्रवीद्राजा श्वो यात्रेति स मन्त्रिणः ॥२० ॥

महाराज का वचन सुन सब उपस्थित ऋषियों और मंत्रियों ने कहा—"यह तो बहुत ही अच्छी बात है।" तब महाराज ने

प्रसन्न हो कर मंत्रियों से कहा—"तो कल ही यहाँ से चल देना चाहिये" ॥२०॥

मन्त्रिणस्तु नरेन्द्रेण रात्रिं परमसत्कृताः ।
ऊषुः प्रमुदिताः सर्वे गुणैः सर्वैः समन्विताः ॥२१॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

राजा जनक के मंत्रियों की, जो दूत बन कर अयोध्या गये थे, बड़ी अच्छी तरह खातिरदारी की गयी और उन लोगों ने बड़े सुख से रात व्यतीत की ॥ २१ ॥

बालकाण्ड का अरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:*:—

ततो रात्र्यां व्यतीतायां सोपाध्यायः सबान्धवः ।
राजा दशरथो हृष्टः सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

रात बीतने पर महाराज दशरथ, उपाध्याय और बन्धु-बान्धवों सहित, प्रसन्न हो अपने प्रमुख मंत्री सुमन्त्र से यह बोले ॥ १ ॥

अद्य सर्वे धनाध्यक्षा धनमादाय पुष्कलम् ।
व्रजन्त्वग्रे सुविहिता नानारत्नसमन्विताः ॥ २ ॥

आज सब से पहले हमारे सब ख़ज़ानची लोग बहुतसा धन और तरह तरह के रत्न अपने साथ ले कर उचित प्रबन्ध के साथ आगे चलें ॥ २ ॥

चतुरङ्गं बलं सर्वं शीघ्रं निर्यातु सर्वशः ।
ममाज्ञासमकालं च यानयुग्य[1]मनुत्तमम् ॥ ३ ॥

मेरी समस्त चतुरङ्गिणी सेना शीघ्र ही तैयार की जाय। उसके साथ ही रथ और पालकियाँ भी तैयार की जांय। देखो मेरी आज्ञा में अन्तर न पड़ने पावे ॥ ३ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः ।
मार्कण्डेयः सुदीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा ॥ ४ ॥

वशिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, दीर्घायु मार्कण्डेय, और कात्यायन ॥ ४ ॥

एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे स्यन्दनं योजयस्व मे ।
यथा कालात्ययो न स्याद्दूता हि त्वरयन्ति माम् ॥५॥

ये सब ब्राह्मण आगे चलें। मेरा रथ भी तैयार कराओ, जिससे देर न होने पावे। देखो, राजा जनक के दूत जल्दी कर रहे हैं ॥ ५ ॥

वचनात्तु नरेन्द्रस्य सा सेना चतुरङ्गिणी ।
राजानमृषिभिः सार्धं व्रजन्तं पृष्ठतोऽन्वगात् ॥ ६ ॥

जब महाराज दशरथ, उक्त ऋषियों के साथ रवाना हुए, तब उनकी आज्ञा से चतुरङ्गिणी सेना उनके पीछे पीछे चली ॥ ६ ॥

गत्वा चतुरहं मार्गं विदेहानभ्युपेयिवान् ।
राजा तु जनकः श्रीमाञ्श्रुत्वा पूजामकल्पयत् ॥७॥

---

1 यानयुग्य—यानं शिबिकान्दोलिकादि; युग्यं रथादि। (गो०)

रास्ते में चार दिन बिता कर, महाराज दशरथ जनकपुर में जा पहुँचे। उधर इनका आगमन सुन राजा जनक ने इनके सत्कार के लिये सब सामान सजाये और आगे जा कर बड़ा आदर सत्कार किया ॥ ७ ॥

ततो राजानमासाद्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।
जनको मुदितो राजा हर्षं च परमं ययौ ॥ ८ ॥

राजा जनक, वृद्ध महाराज दशरथ जी से मिल कर परमानन्दित हुए ॥ ८ ॥

उवाच च नरश्रेष्ठो नरश्रेष्ठं मुदान्वितः ।
स्वागतं ते महाराज दिष्ट्या प्राप्तोसि राघव ॥ ९ ॥

और नरश्रेष्ठ जनक नरश्रेष्ठ दशरथ जी से अत्यन्त हर्षित हो बोले—हे महाराज! मैं आपका स्वागत करता हूँ। यह मेरा सौभाग्य है, जो आप पधारे हैं ॥ ९ ॥

पुत्रयोरुभयोः प्रीतिं लप्स्यसे वीर्यनिर्जिताम् ।
दिष्ट्या प्राप्तो महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥१०॥

अपने दोनों पराक्रमी राजकुमारों को देख कर, आप परम प्रसन्न होंगे। यह भी बड़े ही सौभाग्य की बात है, जो महातेजस्वी भगवान् वशिष्ठ ऋषि ॥ १० ॥

सह सर्वैर्द्विजश्रेष्ठैर्देवैरिव शतक्रतुः ।
दिष्ट्या मे निर्जिता विघ्ना दिष्ट्या मे पूजितं कुलम् ॥११॥

सब ऋषियों के साथ, देवताओं सहित इन्द्र की तरह, यहाँ पधारे हैं। सौभाग्य की बात है कि, कन्यादान के समय के समस्त विघ्न अब नष्ट हो गये, और मेरा यह प्रतिष्ठित कुल भी ॥ ११ ॥

राघवैः सह सम्बन्धा द्वीर्यश्रेष्ठैर्महात्मभिः ।
श्वः प्रभाते नरेन्द्र त्वं निर्वर्तयितुमर्हसि ॥ १२ ॥

यज्ञस्यान्ते नरश्रेष्ठ विवाहमृषिसम्मतम् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा ऋषिमध्ये नराधिपः ॥ १३ ॥

वीरों में श्रेष्ठ और महात्मा रघुवंशियों के साथ सम्बन्ध होने से प्रतिष्ठित हो गया । हे नरेन्द्र ! आप कल प्रातःकाल यज्ञान्तस्नान (अवभृथ) हो चुकने पर, ऋषियों की सम्मति से विवाहाचार की रीति करावें । इसी प्रकार राजा जनक के वचन सुन कर, ऋषियों के वीच वैठे हुए महाराज दशरथ, ॥ १२ ॥ १३ ॥

वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः प्रत्युवाच महीपतिम् ।
प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मया पुरा ॥ १४ ॥

जो वोलने वालों में चतुर थे, राजा जनक से वोले—हमने तो यह पहले ही से सुनरखा है कि, दान, दान देने वाले के अधीन है ॥ १४ ॥

यथा वक्ष्यसि धर्मज्ञ तत्करिष्यामहे वयम् ।
धर्मिष्ठं च यशस्यं च वचनं सत्यवादिनः ॥ १५ ॥

हे धर्मज्ञ ! अतः आप जैसा कहैंगे, हम लोग वैसा ही करेंगे । सत्यवादी महाराज दशरथ के ऐसे धर्मयुक्त और यश वढ़ाने वाले वचन ॥ १५ ॥

श्रुत्वा विदेहाधिपतिः परं विस्मयमागतः ।
ततः सर्वे मुनिगणाः परस्परसमागमे ॥ १६ ॥

सुन, राजा जनक को वड़ा विस्मय हुआ । (विस्मित होने की वात यह थी कि, राजा जनक की प्रतिज्ञा के अनुसार सीता जी जव

श्रीरामचन्द्र की न्यायानुसार हो ही चुकीं, तब महाराज दशरथ जी यह विनम्र वचन कि, "दान, दान देने वाले के अधीन है" क्यों कहते हैं। अर्थात् राजा जनक सीता का दान नहीं करते। सीता जी तो "वीर्यशुल्का" हैं) तदनन्तर ऋषियों ने भी आपस में मिल भेंट कर॥ १६॥

हर्षेण महता युक्तास्तां निशामवसन्सुखम्।
राजा च राघवौ पुत्रौ निशाम्य परिहर्षितः।
उवास परमप्रीतो जनकेनाभिपूजितः॥ १७॥

बड़ी प्रसन्नता के साथ वहाँ रह कर रात वितायी। महाराज दशरथ भी अपने पुत्रों (श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण) को देख, परम प्रसन्न हुए और राजा जनक की ख़ातिरदारी से सुखपूर्वक वहाँ वास किया॥ १७॥

जनकोऽपि महातेजाः क्रियां धर्मेण तत्त्ववित्।
यज्ञस्य च सुताभ्यां च कृत्वा रात्रिमुवास ह॥ १८॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः॥

उदार राजा जनक ने भी यज्ञ और विवाह की करने योग्य रीति भाँति को कर के, विश्राम किया॥ १८

बालकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

सप्ततितमः सर्गः

ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा[1] महर्षिभिः ।

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम् ॥ १ ॥

प्रातःकाल होने पर राजा जनक ऋषियों की सहायता से यज्ञादि क्रिया समाप्त कर, अपने पुरोहित शतानन्द जी से बोले ॥ १ ॥

भ्राता मम महातेजा यवीयानतिधार्मिकः ।

कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम् ॥ २ ॥

देखो, महातेजस्वी, महाबलवान् और अत्यन्त धर्मिष्ठ कुशध्वज नाम के मेरे छोटे भाई साङ्काश्य नामक पवित्र पुरी में रहते हैं ॥ २ ॥

वार्याफ[2]लकपर्यन्तां पिबन्निक्षुमतीं नदीम् ।

सांकाश्यां पुण्यसंकाशां विमानमिव पुष्पकम् ॥३॥

साँकाश्या नाम पवित्र पुरी के चारों ओर उसकी रक्षा के लिये खाईं (परिखा) है और तरह तरह के यंत्र (कलें) हैं। इक्षु नदी पास ही बहती है और वह पुष्पक विमान के आकार की बनी हुई है ॥ ३ ॥

तमहं द्रष्टुमिच्छामि यज्ञगोप्ता[3] स मे मतः ।

प्रीतिं सोऽपि महातेजा इमां भोक्ता मया सह ॥ ४ ॥

मेरे यज्ञ में सामग्री आदि भेज कर सहायता करने वाले मैं अपने उस प्यारे भाई को देखना चाहता हूँ । वह

---

१ कृतकर्मा—समाप्तयज्ञादिक्रियः । (गो०) २ अफलका-यंत्र यंत्रफलकाद्युपलक्षितः । (रा०) ३ यज्ञगोप्ता—सांकाश्येस्थित्वा यज्ञसामग्री प्रेषणादिनेतिभावः । (गो०)

भी इस विवाहोत्सव में सम्मिलित हो हम लोगों के साथ आनन्दित हों ॥ ४ ॥

एवमुक्ते तु वचने शतानन्दस्य सन्निधौ ।
आगताः केचिदव्यग्रा[1] जनकस्तान्समादिशत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार राजा जनक शतानन्द से कह ही रहे थे कि, इसी बीच में सामने कुछ सामर्थ्यवान् (जो काम सौंपा जाय, उसको अपने बुद्धिबल से करने की सामर्थ्य रखने वाले) दूत आ गये। राजा जनक ने उनको जाने की आज्ञा दी ॥ ५ ॥

शासनात्तु नरेन्द्रस्य प्रययुः शीघ्रवाजिभिः ।
समानेतुं नरव्याघ्रं विष्णुमिन्द्राज्ञया यथा ॥ ६ ॥

वे दूत राजा जनक की आज्ञा से शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो कर ऐसे चले, जैसे इन्द्र की आज्ञा पा कर, देवता लोग वामन जी को लेने गये थे ॥ ६ ॥

सांकाश्यां ते समागत्य ददृशुश्च कुशध्वजम् ।
न्यवेदयन्यथावृत्तं जनकस्य च चिन्तितम् ॥ ७ ॥

सांकाश्या पुरी में पहुँच कर वे राजा कुशध्वज से मिले और जनक महाराज ने जो सन्देसा भेजा था, वह ज्यों का त्यों निवेदन किया ॥ ७ ॥

तद्वृत्तं नृपतिः श्रुत्वा दूतश्रेष्ठैर्महाबलैः ।
आज्ञयाऽथ नरेन्द्रस्य आजगाम कुशध्वजः ॥ ८ ॥

---

१ अव्यग्राः—समर्थाः । (रा०)

उन महाबली श्रेष्ठ दूतों के द्वारा राजा जनक का सन्देसा सुन, राजा जनक के आज्ञानुसार राजा कुशध्वज जनकपुरी में आ गये ॥ ८ ॥

स ददर्श महात्मानं जनकं धर्मवत्सलम् ।
सोऽभिवाद्य शतानन्दं राजानं चातिधार्मिकम् ॥ ९ ॥

जनकपुरी में आ कर राजा कुशध्वज, धर्मवत्सल एवं महात्मा जनक जी से मिले और शतानन्द जी तथा अत्यन्त धर्मिष्ठ जनक जी को प्रणाम किया ॥ ९ ॥

राजार्हं परमं दिव्यमासनं सोऽध्यरोहत ।
उपविष्टावुभौ तौ तु भ्रातरावमितौजसौ ॥ १० ॥

तदनन्तर वे राजाओं के बैठने योग्य आसन पर बैठे । जब वे अति तेजस्वी दोनों भाई आसन पर बैठ गये ॥ १० ॥

प्रेषयामासतुर्वीरौ मन्त्रिश्रेष्ठं सुदामनम् ।
गच्छ मन्त्रिपते शीघ्रमैक्ष्वाकममितप्रभम् ॥ ११ ॥

तब उन दोनों वीरों ने मंत्रिप्रवर सुदामा नामक अपने मंत्री को (दशरथ महाराज) के पास भेजा और कहा कि, हे मंत्रिपते ! तुम शीघ्र अमित तेजवाले महाराज दशरथ के पास जाओ ॥ ११ ॥

आत्मजैः सह दुर्धर्षमानयस्व समन्त्रिणम् ।
औपकार्यं[1] स गत्वा तु रघूणां कुलवर्धनम् ॥ १२ ॥

---

१ औपकार्यं—दशरथशिविरनिवेशं । (गो०)

और उन दुधर्ष महाराज को मय राजकुमारों और मंत्रियों के यहाँ बुला लाओ। यह सुन वह मंत्री वहाँ गया जहाँ महाराज दशरथ जी डेरे तंबुओं में ठहरे हुए थे ॥ १२ ॥

ददर्श शिरसा चैनमभिवाद्येदमब्रवीत् ।
अयोध्याधिपते वीर वैदेहो मिथिलाधिपः ॥ १३ ॥

और उनके सामने जा तथा प्रणाम कर बोला—हे वीर अयोध्यानाथ! मिथिलाधिप विदेह ॥ १३ ॥

स त्वां द्रष्टुं व्यवसितः सोपाध्यायपुरोहितम् ।
मन्त्रिश्रेष्ठवचः श्रुत्वा राजा सर्षिगणस्तदा ॥ १४ ॥

राजकुमारों, उपाध्याय और पुरोहित सहित आपके दर्शन करना चाहते हैं। उस श्रेष्ठ मंत्री के यह वचन सुन, महाराज दशरथ, ऋषियों ॥ १४ ॥

सबन्धुरगमत्तत्र जनको यत्र वर्तते ।
स राजा मन्त्रिसहितः सोपाध्यायः सबान्धवः ॥१५॥

और बन्धु बान्धवों सहित वहाँ गये, जहाँ राजा जनक अपने पुरोहित, बान्धवों और मंत्रियों सहित थे ॥ १५ ॥

वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठो वैदेहमिदमब्रवीत् ।
विदितं ते महाराज इक्ष्वाककुलदैवतम् ॥ १६ ॥

बोलने में चतुर महाराज दशरथ, राजा जनक से बोले। हे जनक जी महाराज! आप तो जानते ही हैं कि, भगवान् वशिष्ठ जी इक्ष्वाकुकुल के देवता हैं ॥ १६ ॥

वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः ।
विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः सह सर्वैर्महर्षिभिः ॥ १७ ॥

और ऐसे सब कामों में मेरी ओर से बोलने वाले भगवान् वशिष्ठ ऋषि जी ही हैं। अतः विश्वामित्र जी की तथा अन्य महर्षियों की सलाह से ॥ १७ ॥

एष वक्ष्यति धर्मात्मा वसिष्ठस्ते यथाक्रमम् ।
तूष्णींभूते दशरथे वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १८ ॥

धर्मात्मा वशिष्ठ जी ही हमारी गोत्रावली यथाक्रम आपको सुनावेंगे। यह कह जब महाराज दशरथ चुप हुए, तब भगवान् वशिष्ठ ऋषि, ॥ १८ ॥

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो वैदेहं सपुरोहितम् ।
अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ॥१९॥

जो बातचीत करने का ढंग भली भाँति जानते थे, राजा जनक तथा उनके पुरोहित (शतानन्द जी) को सम्बोधन कर कहने लगे। हे राजन्! अव्यक्त (प्रत्यक्षाद्यगोचरं वस्तु प्रभवः कारणं यस्य सोऽव्यक्त प्रभवः) ब्रह्म से, ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, जो सनातन, नित्य और अव्यय हैं ॥ १९ ॥

[नोट—इस श्लोक में "शाश्वत" "नित्य" और "अव्यय" तीन विशेषणब्रह्मा के लिये आये हैं, उनके अर्थ इस प्रकार हैं ; "शाश्वत" का अर्थ है बहुकाल स्थायी ! "नित्य" का अर्थ है द्विपरार्ध काल तक नाश रहित और "अव्यय" का अर्थ है प्रवाह रूप से प्रतिकल्प में रहने वाले ।]

तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः काश्यपः सुतः ।
विवस्वान्काश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्मृतः ॥ २० ॥

उनसे मरीचि, मरीचि से कश्यप, कश्यप से सूर्य, सूर्य से वैवस्वत मनु हुए ॥ २० ॥

मनुः प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ २१ ॥

यह मनु प्रथम प्रजापति कहलाये। मनु से इक्ष्वाकु हुए जो अयोध्या के प्रथम राजा थे ॥ २१ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान्कुक्षिरित्येव विश्रुतः ।
कुक्षेरथात्मजः श्रीमान्विकुक्षिरुदपद्यत ॥ २२ ॥

इक्ष्वाकु के पुत्र कुक्षि और कुक्षि के विकुक्षि नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २२ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।
बाणस्य तु महातेजा अनरण्यो महायशाः ॥ २३ ॥

विकुक्षि के महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए। बाण के महातेजस्वी और महायशस्वी अनरण्य हुए ॥ २३ ॥

अनरण्यात्पृथुर्जज्ञे त्रिशङ्कुस्तु पृथोः सुतः ।
त्रिशङ्कोरभवत्पुत्रो धुन्धुमारो महायशाः ॥ २४ ॥

अनरण्य के पृथु और पृथु के त्रिशङ्कु हुए। त्रिशङ्कु के धुन्धमार नामक महायशस्वी पुत्र हुए ॥ २४ ॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो महाबलः ।
युवनाश्वसुतस्त्वासीन्मान्धाता पृथिवीपतिः ॥ २५ ॥

धुन्धमार के महाबली युवनाश्व हुए । युवनाश्व के पृथ्वीपति मान्धाता हुए ॥ २५ ॥

मान्धातुस्तु सुतः श्रीमन्सुसन्धिरुदपद्यत ।
सुसन्धेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ २६ ॥

मान्धाता के सुसन्धि नामक पुत्र उत्पन्न हुए। सुसन्धि के दो पुत्र हुए, जिनके नाम थे ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित् ॥ २६ ॥

यशस्वी ध्रुवसन्धेस्तु भरतो नाम नामतः ।
भरतात्तु महातेजा असितो नाम जातवान् ॥ २७ ॥

यशस्वी ध्रुवसन्धि के भरत और भरत के महातेजस्वी असित हुए ॥ २७ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशिविन्दवः ॥ २८ ॥

असित के हैहय, तालजङ्घ और शशिविन्द तीन पुत्र हुए। ये तीनों वीर राजा हुए, किन्तु इन तीनों ने अपने पिता असित के साथ वैर बांधा ॥ २८ ॥

तांस्तु स प्रतियुध्यन्वै युद्धे राज्यात्प्रवासितः ।
हिमवन्तमुपागम्य भार्याभ्यां सहितस्तदा ॥ २९ ॥

और असित को लड़ाई में हरा कर राज्य से निकाल दिया। तब राजा असित अपनी दो रानियों को साथ ले कर, हिमालय पर चले गये ॥ २९ ॥

असितोऽल्पबलो राजा कालधर्ममुपेयिवान् ।
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतम् ॥ ३०

अल्पबली राजा असित वहाँ (हिमालय पर) जा कर मर गये। उस समय उनकी दोनों रानियाँ गर्भवती थीं ॥ ३० ॥

एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै सगरं ददौ ।
ततः शैलवरं रम्यं बभूवाभिरतो मुनिः ॥ ३१ ॥

एक ने अपनी सौत का गर्भ नष्ट करने के लिये उसको विष दे दिया । उस समय उस हिमालय पर्वत पर एक मुनि रहते थे ॥ ३१ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ ३२ ॥

जो भृगुवंशी थे और उनका नाम च्यवन था । वे हिमालय पर्वत पर तप करते थे । असित की रानियों में से एक, भृगुवंशी एवं देव वर्चस, (देवताओं के समान तेज सम्पन्न) च्यवन के पास गयी ॥ ३२ ॥

ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षन्ती सुतमुत्तमम् ।
तमृषिं साऽभ्युपागम्य कालिन्दी चाभ्यवादयत् ॥३३॥

उत्तम पुत्र होने की इच्छा से उस कमलनयनी ने मुनि की वन्दना की और वह उनके सामने बैठ गयी । उस रानी का नाम कालिन्दी था ॥ ३३ ॥

स तामभ्यवदद्विप्रः पुत्रेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
तव कुक्षौ महाभागे सुपुत्रः सुमहायशाः ॥ ३४ ॥
महावीर्यो महातेजा अचिरात्संजनिष्यति ।
गरेण सहितः श्रीमान्मा शुचः कमलेक्षणे ॥ ३५ ॥

पुत्र प्राप्तिकी इच्छा रखने वाली उस रानी से च्यवन जी ने कहा कि, हे महाभागे ! तेरी कुक्षि में उत्तम, महायशस्वी, महाबली

और महातेजस्वी एक बालक है जो विष सहित शीघ्रउत्पन्न होगा। हे कमलनयनी! तू कुछ भी चिन्ता मत कर ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

च्यवनं तु नमस्कृत्य राजपुत्री पतिव्रता।
पतिशोकातुरा तस्मात्पुत्रं देवी व्यजायत ॥ ३६ ॥

तदनन्तर पतिव्रता एवं पति के शोक से आतुर उस राजपुत्री ने च्यवन को प्रणाम किया। (च्यवन जी के आशीर्वाद से) उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३६ ॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया।
सह तेन गरेणैव जातः स सगरोऽभवत् ॥ ३७ ॥

उसकी सौत ने उसका गर्भ नष्ट करने को उसे जो विष खिलाया था, उस विष के साथ लड़का उत्पन्न होने के कारण, उस बालक का नाम सगर पड़ा ॥ ३७ ॥

सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जात्तथांशुमान्।
दिलीपोंशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ ३८ ॥

सगर के असमञ्जस, असमञ्जस के अंशुमान, अंशुमान के दिलीप और दिलीप के भगीरथ हुए ॥ ३८ ॥

भगीरथात्ककुत्स्थोऽभूत्ककुत्स्थस्य रघुः सुतः।
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ॥ ३९ ॥

भगीरथ के ककुत्स्थ और ककुत्स्थ के रघु हुए। रघु के तेजस्वी पुत्र प्रवृद्ध हुआ जो नरमांस भोजी अर्थात् राक्षस था ॥ ३९ ॥

कल्माषपादो ह्यभवत्तस्माज्जातश्च शङ्खणः।
सुदर्शनः शङ्खणस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात् ॥ ४० ॥

पीछे यही कल्मापपाद भी कहलाया। कल्मापपाद के शङ्खण, शङ्खण के सुदर्शन, और सुदर्शन के अग्निवर्ण हुए ॥ ४० ॥

शीघ्रगस्त्वग्निवर्णस्य शीघ्रगस्य मरुः सुतः ।
मरोः प्रशुश्रुकस्त्वासीदम्बरीषः प्रशुश्रुकात् ॥ ४१ ॥

अग्निवर्ण के शीघ्रग, शीघ्रग के मरु, मरु के प्रशुश्रुक और प्रशुश्रुक के अम्बरीष हुए ॥ ४१ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः ।
नहुषस्य ययातिश्च नाभागस्तु ययातिजः ॥ ४२ ॥

अम्बरीष के सत्यपराक्रमी नहुष हुए, नहुष के ययाति और ययाति के नाभाग हुए ॥ ४२ ॥

नाभागस्य बभूवाजो अजाद्दशरथोऽभवत् ।
अस्माद्दशरथाज्जातौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥

नाभाग के पुत्र अज और अज के पुत्र महाराज दशरथ और दशरथ के पुत्र ये दोनों भाई श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण हैं ॥ ४३ ॥

आदिवंशविशुद्धानां राज्ञां परमधर्मिणाम् ।
इक्ष्वाकुकुलजातानां वीराणां सत्यवादिनाम् ॥ ४४ ॥

आदि से ले कर इक्ष्वाकुवंश वाले राजाओं का विशुद्ध वंश, जो धार्मिष्ठ, वीर और सत्यवादी है मैंने आपको सुनाया ॥ ४४ ॥

रामलक्ष्मणयोरर्थे त्वत्सुते वरये नृप ।
सदृशाभ्यां नरश्रेष्ठ सदृशे दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

महाराज दशरथ आपकी कन्याओं को अपने पुत्रों के लिये माँगते हैं। यह सब प्रकार से योग्य हैं। अतः आप उनको अपनी श्रेष्ठ कन्याएँ दे दीजिये ॥ ४५ ॥

बालकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

एवं ब्रुवाणं जनकः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते कुलं नः परिकीर्तितं ॥ १ ॥

वशिष्ठ जी के यह कहने पर, राजा जनक ने वशिष्ठ जी के हाथ जोड़े और उनसे वे कहने लगे—हे महर्षे! आपका मङ्गल हो; अब मेरे कुल की भी परम्परा सुनिये ॥ १ ॥

प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषतः ।
वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामुने ॥ २ ॥

क्योंकि कन्यादान के समय कुलीन को अपने कुल की आद्यन्त अथवा समस्त परम्परा अवश्य बतलानी चाहिये। हे महर्षे! अतः आप सुनिये ॥ २ ॥

राजाऽभूत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः स्वेन कर्मणा ।
निमिः परमधर्मात्मा सर्वसत्त्ववतांवरः ॥ ३ ॥

अपने सुकर्मों द्वारा तीनों लोकों में प्रसिद्ध धर्मात्मा, सत्यवादी और सब राजाओं में श्रेष्ठ निमि नाम के एक राजा हुए ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रो मिथिर्नाम प्रथमो मिथिपुत्रकः ।
प्रथमाज्जनको राजा जनकादप्युदावसुः ॥ ४ ॥

निमि के मिथि हुए, मिथि के जनक हुए। (इन्हीं जनक के नाम से इस वंश के सब राजा जनक कहलाते हैं) इन आदि जनक के उदावसु हुए ॥ ४ ॥

उदावसोस्तु धर्मात्मा जातो वै नन्दिवर्धनः ।
नन्दिवर्धनपुत्रस्तु सुकेतुर्नाम नामतः ॥ ५ ॥

उदावसु के धर्मात्मा पुत्र नन्दिवर्धन हुए और नन्दिवर्धन के पुत्र सुकेतु हुए ॥ ५ ॥

सुकेतोरपि धर्मात्मा देवरातो महाबलः ।
देवरातस्य राजर्षेर्बृहद्रथ इति स्मृतः ॥ ६ ॥

सुकेतु के महाबली धर्मात्मा देवरात हुए और देवरात के राजर्षि बृहद्रथ हुए ॥ ६ ॥

बृहद्रथस्य शूरोऽभून्महावीरः प्रतापवान् ।
महावीरस्य धृतिमान्सुधृतिः सत्यविक्रमः ॥ ७ ॥

बृहद्रथ के बड़े शूरवीर और प्रतापी महावीर, महावीर के धृतिमान, और धृतिमान के सत्यपराक्रमी सुधृति हुए ॥ ७ ॥

सुधृतेरपि धर्मात्मा धृष्टकेतुः सुधार्मिकः ।
धृष्टकेतोस्तु राजर्षेर्हर्यश्व इति विश्रुतः ॥ ८ ॥

सुधृति के धर्मात्मा धृष्टकेतु और धृष्टकेतु के राजर्षि हर्यश्व हुए ॥ ८ ॥

हर्यश्वस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रतिन्धकः ।
प्रतिन्धकस्य धर्मात्मा राजा कीर्त्तिरथः सुतः ॥ ९ ॥

हर्यश्व के मरु, मरु के प्रतिन्धक और प्रतिन्धक के धर्मात्मा राजा कीर्तिरथ हुए ॥ ९ ॥

पुत्रः कीर्त्तिरथस्यापि देवमीढ इति स्मृतः ।
देवमीढस्य विबुधो विबुधस्य महीध्रकः ॥ १० ॥

कीर्तिरथ के देवमीढ़, देवमीढ़ के विबुध और विबुध के महीध्रक हुए ॥ १० ॥

महीध्रकसुतो राजा कीर्त्तिरातो महाबलः ।
कीर्त्तिरातस्य राजर्षेर्महारोमा व्यजायत ॥ ११ ॥

महीध्रक के महाबली कीर्तिरात हुए और कीर्तिरात के राजर्षि महारोमा हुए ॥ ११ ॥

महारोम्णस्तु धर्मात्मा स्वर्णरोमा व्यजायत ।
स्वर्णरोम्णस्तु राजर्षेर्ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥ १२ ॥

महारोमा के धर्मात्मा स्वर्णरोमा हुए और स्वर्णरोमा के राजर्षि ह्रस्वरोमा हुए ॥ १२ ॥

तस्य पुत्रद्वयं जज्ञे धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः ॥ १३ ॥

धर्मज्ञ ह्रस्वरोमा के दो पुत्र हुए। उन दो में बड़ा मैं हूँ और दूसरा मेरा वीर छोटा भाई कुशध्वज है ॥ १३ ॥

मां तु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य नराधिपः ।
कुशध्वजं समावेश्य भारं मयि वनं गतः ॥ १४ ॥

हमारे पिता मुझ ज्येष्ठ को राज्य सौंप तथा कुशध्वज को, मेरे पास रख, वन को चले गये ॥ १४ ॥

वृद्धे पितरि स्वर्याते धर्मेण धुरमावहम् ।
भ्रातरं देवसङ्काशं स्नेहात्पश्यन्कुशध्वजम् ॥ १५ ॥

जब वृद्ध पिता जी स्वर्गवासी हुए, तब मैं धर्मपूर्वक राज्य करने लगा और देवता के समान अपने छोटे भाई को स्नेहपूर्वक पालने लगा ॥ १५ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य सांकाश्यादगमत्पुरात् ।
सुधन्वा वीर्यवान्राजा मिथिलामवरोधकः ॥ १६ ॥

कुछ काल बाद सांकाश्या पुरी के विक्रमी राजा सुधन्वा ने मिथिला को आ घेरा ॥ १६ ॥

स च मे प्रेषयामास शैवं धनुरनुत्तमम् ।
सीता कन्या च पद्माक्षी मह्यं वै दीयतामिति ॥१७॥

उसने मेरे पास यह सन्देसा भेजा कि, शिवधनुष और कमलनयनी सीता मुझे दे दो ॥ १७ ॥

तस्याऽप्रदानाद्ब्रह्मर्षे युद्धमासीन्मया सह ।
स हतोऽभिमुखो राजा सुधन्वा तु मया रणे ॥१८॥

हे ब्रह्मर्षे ! उसकी इस बात को मैंने स्वीकार न किया ; तब मेरे साथ उसका घोर युद्ध हुआ । मैंने इस युद्ध में सुधन्वा को मार डाला ॥ १८ ॥

निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपम् ।
सांकाश्ये भ्रातरं वीरमभ्यषिञ्चं कुशध्वजम् ॥ १९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! राजा सुधन्वा को मार कर, मैंने सांकाश्या पुरी के राजसिंहासन पर अपने वीर भाई कुशध्वज को बिठा दिया ॥ १९ ॥

कनीयानेष मे भ्राता अहं ज्येष्ठो महामुने ।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥

हे महर्षे ! यह मेरा छोटा भाई है और मैं इसका बड़ा भाई हूँ। हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं बड़ी प्रीति के साथ दो बहुएं आपको देता हूँ ॥ २० ॥

सीता रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय च ।
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ २१ ॥

उनमें सीता तो श्रीरामचन्द्र के लिये और ऊर्मिला लक्ष्मण जी के लिये देता हूँ। वीर्यशुल्का सीता जो देवकन्या के समान है ॥ २१ ॥

द्वितीयामूर्मिलां चैव त्रिर्ददामि न संशयः ।
रामलक्ष्मणयो राजन्गोदानं कारयस्व ह ॥ २२ ॥

और दूसरी ऊर्मिला मैं यथाक्रम श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को त्रिवाचा भर कर देता हूँ। अब इस बात में कुछ भी संशय नहीं है। अब आप दोनों राजकुमारों से गोदान करवाइये ॥ २२ ॥

पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु ।
मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीये दिवसे विभो ॥ २३ ॥

हे राजन्! आपका मङ्गल हो। तदनन्तर आप नान्दीमुख श्राद्ध करवा कर, विवाह सम्बन्धी विधि करवाइये। हे महाबाहो! आज मघा नक्षत्र है। आज के तीसरे दिन ॥ २३ ॥

फल्गुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन्वैवाहिकं कुरु।
रामलक्ष्मणयो राजन्दानं कार्यं सुखोदयम् ॥ २४ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र आवेगा। उसी नक्षत्र में हे महाराज! विवाह होना चाहिये। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सुखोदय के लिये (गो, तिल, भूमि आदि का) दान कीजिये ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

तमुक्तवन्तं वैदेहं विश्वामित्रो महामुनिः।
उवाच वचनं वीरं वसिष्ठसहितो नृपम् ॥ १ ॥

जब जनक जी ने इस प्रकार कहा, तब वशिष्ठ जी के अभिप्रायानुसार महामुनि विश्वामित्र जी ने राजा जनक से कहा ॥ १ ॥

[1]अचिन्त्यान्यप्रमे[2]यानि कुलानि नरपुङ्गव।
इक्ष्वाकूणां विदेहानां नैषां तुल्योऽस्ति कश्चन ॥ २ ॥

१ अचिन्त्यानि—आश्चर्यभूतानि। (गो०) २ अप्रमेयानि—अपरिच्छेद्य महिमानि। (गो०)

हे राजन्! इक्ष्वाकु और विदेह—दोनों ही वंशों की वंश-परम्पराएं विस्मयोत्पादनी हैं और इनकी महिमा असीम है। इनकी बराबरी करने वाला दूसरा कोई कुल ही नहीं है ॥ २ ॥

सदृशो धर्मसम्बन्धः सदृशो रूपसंपदा ।
रामलक्ष्मणयो राजन्सीता चोर्मिलया सह ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र और सीता का तथा लक्ष्मण एवं उर्मिला का धर्म सम्बन्ध अर्थात् वैवाहिक सम्बन्ध बराबर का है। क्योंकि वर वधू दोनों ही क्या रूप और क्या सम्पत्ति—सब बातों में समान हैं ॥ ३ ॥

वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ श्रूयतां वचनं मम ।
भ्राता यवीयान्धर्मज्ञ एष राजा कुशध्वजः ॥ ४ ॥

हे राजन्! यह होने पर भी मुझे इस पर कुछ वक्तव्य है, उसे सुनिये। आपके यह छोटे और धर्मज्ञ भाई जो कुशध्वज हैं, ॥ ४ ॥

अस्य धर्मात्मनो राजन्रूपेणाप्रतिमं भुवि ।
सुताद्वयं नरश्रेष्ठ पत्न्यर्थं वरयामहे ॥ ५ ॥

इन धर्मात्मा की दो कन्याओं को, जो इस संसार में अपने सौन्दर्य में सर्वश्रेष्ठ हैं, बहू बनाने के लिये मैं मांगता हूँ ॥ ५ ॥

भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः ।
वरयेम सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनोः ॥ ६ ॥

अर्थात् हे राजन्! एक कन्या बुद्धिमान् राजकुमार भरत के लिये और एक शत्रुघ्न के लिये हम मांगते हैं ॥ ६ ॥

पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः ।
लोकपालोपमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ॥ ७ ॥

महाराज दशरथ के चारों राजकुमार रूपवान्, यौवनशाली, लोकपालों के समान, अथच देवतुल्य पराक्रमी हैं ॥ ७ ॥

उभयोरपि राजेन्द्र सम्बन्धो ह्यनुबध्यताम् ।
इक्ष्वाकोः कुलमव्यग्रं[1] भवतः पुण्यकर्मणः ॥ ८ ॥

सो हे राजेन्द्र ! इन दोनों राजकुमारों का भी सम्बन्ध कीजिये । इक्ष्वाकुकुल निर्दोष है और आप भी पुण्यात्मा हैं ॥ ८ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा वसिष्ठस्य मते तदा ।
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच मुनिपुङ्गवौ ॥ ९ ॥

विश्वामित्र जी के ये वचन सुन और वशिष्ठ जी की सम्मति जान अथवा वशिष्ठ जी के सम्मत विश्वामित्र जी के वचन सुन, महाराज जनक हाथ जोड़ कर दोनों महर्षियों से बोले ॥ ९ ॥

कुलं धन्यमिदं मन्ये येषां नो मुनिपुङ्गवौ ।
सदृशं कुलसम्बन्धं यदाज्ञापयथः स्वयम् ॥ १० ॥

मेरा कुल धन्य है, जो आप दोनों महर्षियों ने स्वयं इस कुल-सम्बन्ध को समान बतलाया है ॥ १० ॥

एवं भवतु भद्रं वः कुशध्वजसुते इमे ।
पत्न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरतावुभौ ॥ ११ ॥

---

१ अव्यग्रं—निर्दोषं । (गो०)

आप जो आज्ञा देंगे वही होगा। आपका मङ्गल हो, कुशध्वज की कन्याओं का विवाह भरत और शत्रुघ्न के साथ कर दिया जायगा॥ ११॥

एकाह्ना राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने।
पाणीन्गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा महाबलाः॥ १२॥

हे मुनि! एक ही दिन महाराज दशरथ के चारों महाबली राजकुमार, इन चारों का पाणिग्रहण करें। अर्थात् चारों का विवाह एक ही दिन हो॥ १२॥

उत्तरे दिवसे ब्रह्मन्फल्गुनीभ्यां मनीषिणः।
वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः॥ १३॥

हे ब्रह्मन्! कल उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र है। पण्डितों का मत है कि, इस नक्षत्र में विवाह होना उत्तम है। क्योंकि इस नक्षत्र का प्रजापति भग देवता है॥ १३॥

एवमुक्त्वा वचः सौम्यं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
उभौ मुनिवरौ राजा जनको वाक्यमब्रवीत्॥ १४॥

यह कह राजा जनक खड़े हो गये और हाथ जोड़ कर दोनों मुनिवरों से बोले॥ १४॥

परो धर्मः[1] कृतो मह्यं शिष्योऽस्मि भवतोःसदा।
इमान्यासनमुख्यानि आसातां मुनिपुङ्गवौ॥ १५॥

आप दोनों के अनुग्रहसे मुझे यह कन्यादान रूप धर्म प्राप्त हुआ। (अर्थात् कन्याप्रदान करने का उपदेश।) मैं सदा आप दोनों का

१ परोधर्मः—कन्याप्रदानरूपः। (गो०)

दास हूँ। आप दोनों इन मुख्य आसनों पर विराजिये (दो मुख्य आसन—राजा जनक का और महाराज दशरथ का) ॥ १५ ॥

यथा दशरथस्येयं तथायोध्या पुरी मम ।
प्रभुत्वे नास्ति सन्देहो यथार्हं कर्तुमर्हथ ॥ १६ ॥

प्रभुत्व में जैसे जनकपुरी महाराज दशरथ की है, वैसे ही अयोध्यापुरी मेरी है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अतएव आपको जो उचित जान पड़े सो कीजिये ॥ १६ ॥

तथा ब्रुवति वैदेहे जनके रघुनन्दनः ।
राजा दशरथो हृष्टः प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १७ ॥

जब जनक ने ये वचन महाराज दशरथ से कहे, तब उन्होंने प्रसन्न हो कर, जनक से कहा, ॥ १७ ॥

युवामसंख्येयगुणौ भ्रातरौ मिथिलेश्वरौ ।
ऋषयो राजसङ्घाश्च भवद्भ्यामभिपूजिताः ॥ १८ ॥

हे मिथिलेश्वर ! आप दोनों भाइयों में असंख्य गुण हैं। आपने ऋषियों और राजाओं का अच्छा सत्कार किया है ॥ १८ ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गमिष्यामि स्वमालयम् ।
श्राद्धकर्माणि सर्वाणि विधास्यामीति चाब्रवीत् ॥१९॥

फिर महाराज दशरथ ने कहा कि, मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ कि, आपका कल्याण हो। अब मैं स्वस्थान पर जा कर विधिपूर्वक नान्दीमुख आदि सब श्राद्धकर्म करता हूँ ॥ १९ ॥

तमापृष्ट्वा नरपतिं राजा दशरथस्तदा ।
मुनीन्द्रौ तौ पुरस्कृत्य जगामाशु महायशाः ॥ २० ॥

इस प्रकार राजा जनक से विदा हो महाराज दशरथ दोनों मुनियों को आगे कर, तुरन्त चल दिये ॥ २० ॥

स गत्वा निलयं राजा श्राद्धं कृत्वा विधानतः ।
प्रभाते काल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्तमम् ॥ २१ ॥

अपने स्थान पर जा कर महाराज दशरथ ने विधि से श्राद्ध किया और अगले दिन प्रातःकल होते ही गोदानादि किये ॥२१॥

गवां शतसहस्राणि ब्राह्मणेभ्यो नराधिपः ।
एकैकशो ददौ राजा पुत्रानुद्दिश्य धर्मतः ॥ २२ ॥

महाराज दशरथ ने अपने राजकुमारों की मङ्गलकामना के लिये एक एक लाख गौएँ, एक एक ब्राह्मण को दीं ॥ २२ ॥

सुवर्णशृङ्गाः संपन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः ।
गवां शतसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभः ॥ २३ ॥

उन गौओं के सींग सोने के पत्रों से मढ़े हुए थे, वे दुधार थीं, उनके साथ उनके बछड़े थे। प्रत्येक गैा के साथ काँसे का दूध दुहने का पात्र (दुधेड़ी) था। इस प्रकार की चार लाख गौएँ महाराज ने दीं ॥ २३ ॥

वित्तमन्यच्च सुवहु द्विजेभ्यो रघुनन्दनः ।
ददौ गोदानमुद्दिश्य पुत्राणां पुत्रवत्सलः ॥ २४ ॥

पुत्रवत्सल राजा ने पुत्रों के कल्याण के लिये वहुत सा धन गोदान के उद्देश्य से ब्राह्मणों को दिया ॥ २४ ॥

स सुतैः कृतगोदानैर्वृतस्तु नृपतिस्तदा ।
लोकपालैरिवाभाति वृतः सौम्यः प्रजापतिः ॥ २५ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

पुत्रों सहित गोदान कर महाराज दशरथ ऐसे शोभित हुए जैसे लोकपालों सहित ब्रह्मा जी शोभित होते हैं ॥ २५ ॥

बालकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

यस्मिंस्तु दिवसे राजा चक्रे गोदानमुत्तमम् ।
तस्मिंस्तु दिवसे शूरो युधाजित्समुपेयिवान् ॥ १ ॥

जिस दिन महाराज जनक ने उत्तम गोदान किये, उसी दिन युधाजित जी भी (जनकपुर) पहुँचे ॥ १ ॥

पुत्रः केकयराजस्य साक्षाद्भरतमातुलः ।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा च कुशलं राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

केकय देश के राजा के पुत्र, भरत जी के साक्षात् मामा ने, महाराज दशरथ जी से मिल कर, कुशलक्षेम पूँछी और यह बोले ॥ २ ॥

केकयाधिपती राजा स्नेहात्कुशलमब्रवीत् ।
येषां कुशलकामोऽसि तेषां संप्रत्यनामयम् ॥ ३ ॥

हे महाराज! केकय देशाधिपति ने बड़ी प्रीति के साथ अपना कुशल कहा है और कहा कि आप जिन लोगों की कुशल चाहते हैं वे सब प्रकार से कुशल हैं॥ ३॥

स्वस्रीयं[1] मम राजेन्द्र द्रष्टुकामो महीपतिः।
तदर्थमुपयातोऽहमयोध्यां रघुनन्दन॥ ४॥

हे राजेन्द्र! हमारे पिता को भरत जी के देखने की इच्छा है। मैं इसीलिये प्रथम अयोध्या गया॥ ४॥

श्रुत्वा त्वहमयोध्यायां विवाहार्थं तवात्मजान्।
मिथिलामुपयातांस्तु त्वया सह महीपते॥ ५॥

जब मैंने वहाँ सुना कि, आप राजकुमारों का विवाह करने के लिये उनको ले कर मिथिलापुरी पधारे हैं, तब मैं॥ ५॥

त्वरयाऽभ्युपयातोऽहं द्रष्टुकामः स्वसुःसुतम्।
अथ राजा दशरथः प्रियातिथिमुपस्थितम्॥ ६॥

तुरन्त अपने भाँजे को देखने के लिये यहाँ चला आया हूँ। महाराज दशरथ ने अपने नातेदार (साला) को आया हुआ॥६॥

दृष्ट्वा परमसत्कारैः पूजनार्हमपूजयत्।
ततस्तामुषितो रात्रिं सह पुत्रैर्महात्मभिः॥ ७॥

देख, उस सत्कार करने योग्य नातेदार का अच्छी तरह सत्कार किया और अपने राजकुमारों सहित रात्रि को सुखपूर्वक निवास किया॥ ७॥

---

1 स्वस्रीयं—भरतं। (रा०)

प्रभाते पुनरुत्थाय कृत्वा कर्माणि कर्मवित् ।
ऋषींस्तदा पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥ ८ ॥

(अगले दिन) प्रातःकाल होते ही महाराज दशरथ नित्यकर्म कर, ऋषियों सहित यज्ञशाला में गये ॥ ८ ॥

युक्ते मुहूर्ते विजये सर्वाभरणभूषितैः ।
भ्रातृभिः सहितो रामः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ ९ ॥

वसिष्ठं पुरतः कृत्वा महर्षीनपरानपि ।
वसिष्ठो भगवानेत्य वैदेहमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

विजयमुहूर्त में वशिष्ठादि सब ऋषियों सहित सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित भाइयों के साथ श्रीरामचन्द्र जी को विवाह के मङ्गलाचार की रीति करा कर, वशिष्ठ जी राजा जनक से बोले ॥ ९ ॥ १० ॥

राजा दशरथो राजन्कृतकौतुकमङ्गलैः ।
पुत्रैर्नरवरश्रेष्ठ दातारमभिकाङ्क्षते ॥ ११ ॥

हे राजन् ! महाराज दशरथ अपने राजकुमारों से (आरम्भिक) वे मङ्गल कृत्य करवा चुके। हे नरवरश्रेष्ठ ! अब वे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ११ ॥

दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां सर्वार्थाः प्रभवन्ति हि ।
स्वधर्मं[1] प्रतिपद्यस्व कृत्वा वैवाह्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

---

१ स्वधर्मं—प्रतिज्ञारूपं । (गो०)

क्योंकि दान दाता और दान लेने वाला, जब दोनों तत्पर हों तभी काम होता है। अतः आप भी वैवाहिक मङ्गलकर्म कर के अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये ॥ १२ ॥

इत्युक्तः परमोदारो[1] वसिष्ठेन महात्मना ।
प्रत्युवाच महातेजा वाक्यं परमधर्मवित् ॥ १३ ॥

जब महात्मा वशिष्ठ जी ने परमदाता राजा जनक से यह कहा तब परम धर्मात्मा राजा जनक बोले ॥ १३ ॥

कः स्थितः प्रतिहारो मे कस्याज्ञा संप्रतीक्ष्यते ।
स्वगृहे को विचारोऽस्ति यथा राज्यमिदं तव ॥१४॥

महाराज दशरथ को क्या किसी मेरे दरबान ने रोका है? (जो यज्ञशाला के द्वार पर वे खड़े हुए हैं) महाराज किसको परवानगी की प्रतीक्षा कर रहे हैं? अपने घर के अन्दर आने में भी क्या कोई रुकावट होती है? यह भी तो उन्हींका घर (या राज्य) है। चले क्यों नहीं आते। (मेरे आने की प्रतीक्षा क्यों करते हैं) ॥ १४ ॥

[नोट—इसका भाव यह है कि, महाराज दशरथ के लिये कोई रोक टोक नहीं वे आनन्द से पधारें।]

कृतकौतुकसर्वस्वा वेदिमूलमुपागताः ।
मम कन्या मुनिश्रेष्ठ दीप्ता वह्नेर्यथार्चिषः ॥ १५ ॥

हमारी तो सब कन्याएँ मङ्गलाचार किये हुए वेदी के समीप बैठी हैं, वे सब अग्निशिखा की तरह देदीप्यमान हैं ॥ १५ ॥

---

१ परमोदारः—परमदाता। (रा०)

सज्जोऽहं त्वत्प्रतीक्षोऽस्मि वेद्यामस्यां प्रतिष्ठितः ।
अविघ्नं क्रियतां राजन्किमर्थमवलम्ब्यते ॥ १६ ॥

मैं स्वयं यहाँ वेदी के पास बैठा हुआ आप लोगों ही की बाट जोह रहा हूँ। सो अब विलम्ब किस बात का है? महाराज से कहिये कि, सब कार्य्य अब शीघ्र निर्विघ्न होने चाहिये ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं जनकेनोक्तं श्रुत्वा दशरथस्तदा ।
प्रवेशयामास सुतान्सर्वानृषिगणानपि ॥ १७ ॥

वशिष्ठ जी द्वारा राजा जनक का यह सन्देसा पा, महाराज दशरथ ने राजकुमारों और ऋषियों सहित विवाह मण्डप में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

ततो राजा विदेहानां वसिष्ठमिदमब्रवीत् ।
कारयस्व ऋषे सर्वामृषिभिः सह धार्मिकैः ॥ १८ ॥

रामस्य लोकरामस्य क्रियां वैवाहिकीं प्रभो ।
तथेत्युक्त्वा तु जनकं वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १९ ॥

तदनन्तर राजा जनक ने वशिष्ठ जी से कहा कि, हे ऋषे! आप अन्य ऋषियों सहित लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र जी के विवाह की विधि करवाइये यह सुन और जनक जी से, "बहुत अच्छा कराते हैं" कह कर, भगवान् वशिष्ठ जी ने ॥ १८ ॥ १९ ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य शतानन्दं च धार्मिकम् ।
प्रपामध्ये[1] तु विधिवद्वेदिं कृत्वा महातपाः ॥ २० ॥

---

१ प्रपामध्ये—यज्ञशालामध्ये इतिकतकः । अभिनवनारिकेलादिरचित-मण्डप इत्यर्थः । (गो०)

विश्वामित्र और धर्मात्मा शतानन्द को आगे कर, विवाह मण्डप के बीच में अग्निस्थापन करने के लिये विधिवत् वेदी बनायी ॥२०॥

अलंचकार तां वेदिं गन्धपुष्पैः समन्ततः ।
सुवर्णपालिकाभि[1]श्च च्छिद्रकुम्भैश्च साङ्कुरैः ॥ २१ ॥

फिर उस वेदी को चारों ओर गन्धपुष्पादि से सजाया और सुवर्ण शलाकाओं, करवा एवं दूर्वाङ्कुरादि से शोभित किया ॥२१॥

अङ्कुराढ्यैः शरावैश्च धूपपात्रैः सधूपकैः ।
शङ्खपात्रैः स्रुवैः स्रुग्भिः पात्रैरर्घ्याभिपूरितैः ॥ २२ ॥

दूर्वाङ्कुर, सरवा, और धूप से भर कर बहुत से पात्र रखे। भर कर पात्र भी स्थापित किये। स्रुवादि वा अर्घ्यपात्र भी शङ्खाकार रखे ॥ २२ ॥

लाजपूर्णैश्च पात्रीभिरक्षतैरपि संस्कृतैः ।
दर्भैः समैः समास्तीर्य विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २३ ॥

बहुत से पात्रों में धान की खीलें (लावा) और जल से धुलाकर अक्षत भरवा कर रखाये और मंत्र पढ़ पढ़ कर विधिपूर्वक बराबर बराबर के (अर्थात् एक नाप के) कुश बिछवाये ॥ २३ ॥

अग्निमाधाय वेद्यां तु विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ २४ ॥

तदनन्तर विधिवत् और मंत्र पढ़ कर, वेदी पर अग्नि स्थापन किया और महातेजस्वी भगवान् वशिष्ठ ऋषि उस अग्नि में आहुति देने लगे ॥ २४ ॥

---

१ सुवर्णपालिकाभिः—साङ्कुराभिरितिलिङ्गविपरिणामेनानुकृष्यते । (गो०)

ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम् ।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा ॥ २५ ॥

फिर सीता जी को सब गहने पहना कर, वेदी के निकट श्रीरामचन्द्र जी के सामने बैठाया ॥ २५ ॥

अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥ २६ ॥

राजा जनक ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राम ! यह मेरी कन्या सीता, आज से आपकी सहधर्मचारिणी हुई ॥ २६ ॥

[1]प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
पतिव्रता महाभागा च्छायेवानुगता सदा ॥ २७ ॥

इसे आप लीजिये और अपने हाथ से इसका हाथ पकड़िये । यह महाभागा पतिव्रता सदा छाया की तरह आपकी अनुगामिनी बनी रहेगी । तुम्हारा दोनों का मङ्गल हो ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा प्राक्षिपद्राजा मन्त्रपूतं जलं तदा ।
साधु साध्विति देवानामृषीणां वदतां तदा ॥ २८ ॥

यह कह कर राजा जनक ने मंत्रों द्वारा पवित्र किया हुआ जल दोनों पर छिड़का । उस समय सब देवता और ऋषिगण "साधु साधु" कहने लगे ॥ २८ ॥

देवदुन्दुभिनिर्घोषः पुष्पवर्षो महानभूत् ।
एवं दत्त्वा तदा सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम् ॥ २९ ॥

---

१ प्रतीच्छ—गृहाण । (गो०)

देवताओं ने नगाड़े बजाये और बड़ी भारी पुष्पों की वर्षा की। इस प्रकार सीता का श्रीरामचन्द्र जी के साथ विवाह कर के ॥ २६ ॥

अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः ।
लक्ष्मणागच्छ भद्रं ते ऊर्मिलां च ममात्मजाम् ॥३०॥

प्रतीच्छ पाणिं गृह्णीष्व मा भूत्कालस्य पर्ययः ।
तमेवमुक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥

राजा जनक अत्यन्त प्रसन्न हो बोले, हे लक्ष्मण! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम भी शीघ्र आ कर मेरी पुत्री ऊर्मिला को ग्रहण करो और अपने हाथ से इसका हाथ पकड़ो। विलम्ब मत करो। फिर राजा जनक ने भरत से कहा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पाणिं गृह्णीष्व माण्डव्याः पाणिना रघुनन्दन ।
शत्रुघ्नं चापि धर्मात्मा-अब्रवीज्जनकेश्वरः ॥ ३२ ॥

हे भरत! तुम माण्डवी का पाणिग्रहण करो। तदनन्तर राजा जनक ने शत्रुघ्न से भी कहा, ॥ ३२ ॥

श्रुतकीर्त्या महाबाहो पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
सर्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः ॥ ३३ ॥

हे शत्रुघ्न! तुम श्रुतकीर्ति का हाथ अपने हाथ से पकड़ो। तुम सब के सब जैसे सौम्य स्वभाव व सुचरित्र हो, ॥ ३३ ॥

पत्नीभिः सन्तु काकुत्स्था मा भूत्कालस्य पर्ययः ।
जनकस्य वचः श्रुत्वा पाणीन्पाणिभिरस्पृशन् ॥ ३४ ॥

वैसी ही तुम्हें तुम्हारी पत्नियाँ भी मिली हैं। इन्हें अङ्गीकार करो, जिससे काल न वीत जाय। अर्थात् विवाह की लग्न न निकल जाय ॥ ३४ ॥

[नोट—इसको मि० ग्रिफिथ ने, इस प्रकार व्यक्त किया है।

"Now, Raghu's sons, may all of you,
Be gentle to your wives and true;
Keep well the vows you make to-day,
Not let occasion slip away."

अर्थात् हे राजकुमारो! तुम सब अपनी इन पत्नियों के साथ सदा अच्छा और सत्य व्यवहार करना और आज तुम लोग जिस प्रतिज्ञा को करते हो, इसका आजन्म निर्वाह करना, अब विलम्ब मत करो।]

चत्वारस्ते चतसृणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा वेदिं राजानमेव च ॥ ३५ ॥

ऋषींश्चैव महात्मानः सभार्या रघुसत्तमाः।
यथोक्तेन तदा चक्रुर्विवाहं विधिपूर्वकम् ॥ ३६ ॥

राजा जनक के इस प्रकार कहने पर चारों राजकुमारों ने चारों राजकुमारियों के हाथ पकड़े और वशिष्ठ जी की आज्ञा से पत्नियों सहित, अग्निवेदी, राजा जनक तथा ऋषियों की परिक्रमा कर के विधिपूर्वक सब वैवाहिक कर्म किये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

काकुत्स्थैश्च गृहीतेषु ललितेषु च पाणिषु।
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात्सुभास्वरा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार चारों ककुत्स्थनन्दनों द्वारा उन राजकुमारियों के सुन्दर हाथों के पकड़े जाने पर, अर्थात् पाणिग्रहण हो चुकने पर, आकाश से दिव्य पुष्पों की बड़ी भारी वर्षा हुई ॥ ३७ ॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतवादित्रनिःस्वनैः ।
ननृतुश्चाप्सरःसङ्घा गन्धर्वाश्च जगुः कलम् ।
विवाहे रघुमुख्याणां तदद्भुतमदृश्यत ॥ ३८ ॥

देवताओं ने नगाड़े बजाये, अप्सराएँ नाचीं और गन्धर्वों ने गीत गाये । दशरथनन्दनों के विवाह में ये विस्मयोत्पादक कौतुक देख पड़े ॥ ३८ ॥

ईदृशे वर्तमाने तु तूर्योद्धुष्टनिनादिते ।
त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या रघूत्तमाः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार बाजे बजते हुए तीन तीन बार अग्नि की प्रदक्षिणा कर, राजकुमारों ने अपनी पत्नियों को ग्रहण किया ॥ ३९ ॥

अथोपकार्यां जग्मुस्ते सदारा रघुनन्दनाः ।
राजाप्यनुययौ पश्यन्सर्षिसङ्घः सबान्धवः ॥ ४० ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

तदनन्तर सब राजकुमार अपनी पत्नियों सहित जनवासे को सिधारे । महाराज जनक भी ऋषियों और बन्धु बान्धवों सहित विवाह का कौतुक देखते हुए जनवासे को गये ॥ ४० ॥

बालकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[नोट—इस विवाह कार्य में लक्ष्मण के बाद भरत जी का विवाह हुआ देख, कुछ लोगों को यह शङ्का हो सकती है कि, ज्येष्ठ भरत को छोड़ छोटे लक्ष्मण का विवाह प्रथम क्यों हुआ ? इस शङ्का की निवृत्ति टीकाकारों ने

यह कह कर की है कि, लक्ष्मण और भरत सगे भाई न थे। अतः ज्येष्ठ और लघु की शङ्का यहाँ नहीं हो सकती।]

—※—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायां विश्वामित्रो महामुनिः।
आपृष्ट्वा तौ च राजानौ जगामोत्तरपर्वतम्॥ १॥

*विवाह हो चुकने पर अगले दिन सवेरा होते ही महर्षि विश्वा*मित्र दोनों राजाओं (महाराज दशरथ और राजा जनक) से विदा माँग, हिमालय पर (तप करने) चले गये॥ १॥

आशीर्भिः पूरयित्वा च कुमारांश्च सराघवान्।
विश्वामित्रे गते राजा वैदेहं मिथिलाधिपम्॥ २॥

विश्वामित्र ने जाते समय राजकुमारों को तथा महाराज दशरथ को आशीर्वाद दिये। महर्षि विश्वामित्र के विदा होने पर महाराज दशरथ ने मिथिलेश्वर राजा जनक से॥ २॥

आपृष्ट्वाथ जगामाशु राजा दशरथः पुरीम्।
गच्छन्तं तं तु राजानमन्वगच्छन्नराधिपः॥ ३॥

विदा माँग अति शीघ्र अयोध्या को प्रस्थान किया। राजा जनक कुछ दूर तक महाराज दशरथ के पीछे पीछे उन्हें विदा करने गये॥ ३॥

अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं[1] वहु ।
गवां शतसहस्राणि वहूनि मिथिलेश्वरः ॥ ४ ॥

और दहेज़ के लवाज़में में (दैनदायजे में) मिथिलेश्वर ने अयोध्याधिपति को एक लाख गौएँ दीं ॥ ४ ॥

कम्वलानां च मुख्यानां क्षौमकोट्यम्वराणि च ।
हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलङ्कृतम् ॥ ५ ॥

वहुत से वहुमूल्य दुशाले, और एक करोड़ रेशमी वस्त्र दिये। अनेक सुन्दर और सजे सजाये हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, ॥ ५ ॥

ददौ कन्यापिता तासां दासीदासमनुत्तमम् ।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च ॥ ६ ॥

दासियां और दास दिये । वहुत सी वढ़िया मोहरें और अशर्फियां, मोती, मूँगे (अथवा वढ़िया सोने के मोती जड़े गहने) दिये ॥ ६ ॥

ददौ परमसंहृष्टः कन्याधनमनुत्तमम् ।
दत्त्वा वहुधनं राजा समनुज्ञाप्य पार्थिवम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार परम प्रसन्न हो और भी वहुतसा वहुमूल्य दायजा दे कर, राजा जनक, महाराज दशरथ से आज्ञा मांग ॥ ७ ॥

प्रविवेश स्वनिलयं मिथिलां मिथिलेश्वरः ।
राजाप्ययोध्याधिपतिः सह पुत्रैर्महात्मभिः ॥ ८ ॥

मिथिलेश्वर अपने मिथिलापुरी वाले राजभवन में गये। महाराज दशरथ भी, राजकुमारों को साथ लिये हुए ॥ ८ ॥

---

1 कन्याधनं—यौतकाख्यम् । (रा०)

ऋषीन्सर्वान्पुरस्कृत्य जगाम सबलानुगः ।
गच्छन्तं तं नरव्याघ्रं सर्षिसङ्घं सराघवम् ॥ ९ ॥

तथा ऋषियों को आगे कर, सेना सहित चल दिये। ऋषियों और श्रीरामचन्द्र जी के साथ जाते हुए महाराज दशरथ ॥ ६ ॥

घोराः स्म पक्षिणो वाचो व्याहरन्ति ततस्ततः ।
भौमाश्चैव मृगाः सर्वे गच्छन्ति स्म प्रदक्षिणम् ॥ १० ॥

के मार्ग में चारों ओर भयङ्कर पक्षी बोलने लगे। हिरन दौड़ कर रास्ता काटने लगे ॥ १० ॥

तान्दृष्ट्वा राजशार्दूलो वसिष्ठं पर्यपृच्छत ।
असौम्याः पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः ॥११॥

इन अपशकुनों को देख महाराज दशरथ ने वशिष्ठ जी से पूँछा कि, यह एक ओर दुष्ट पक्षी बुरी तरह बोल रहे हैं और दूसरी ओर हिरन दहिनी ओर से रास्ता काट रहे हैं ॥ ११ ॥

किमिदं हृदयोत्कम्पि मनो मम विषीदति ।
राज्ञो दशरथस्यैतच्छ्रुत्वा वाक्यं महानृषिः ॥ १२ ॥

यह हृदय दहलाने वाला क्या उत्पात है। इन अपशकुनों को देख मेरा मन उदास हो गया है। महाराज के इन प्रश्नों को सुन महर्षि वशिष्ठ जी ने ॥ १२ ॥

उवाच मधुरां वाणीं श्रूयतामस्य यत्फलम् ।
उपस्थितं भयं घोरं दिव्यं पक्षिमुखाच्च्युतम् ॥ १३ ॥

मधुरवाणी से उत्तर दिया कि, इनका फल सुनिये! पक्षी बोली बोल कर बतला रहे हैं कि, कोई बड़ा भारी भय उपस्थित होने वाला है ॥ १३ ॥

मृगाः प्रशमयन्त्येते सन्तापस्त्यज्यतामयम् ।
तेषां संवदतां तत्र वायुः प्रादुर्बभूव ह ॥ १४ ॥

परन्तु मृगों के रास्ता काटने से अर्थात् बाईं ओर से दहिनी ओर जाने से उस भय का नाश प्रतीत होता है । अतः आप सन्तप्त न हों। वह बात हो ही रही थी कि, बड़े ज़ोर की आंधी चली ॥ १४ ॥

कम्पयन्मेदिनीं सर्वां पातयंश्च महाद्रुमान् ।
तमसा संवृतः सूर्यः सर्वा न प्रबभुर्दिशः ॥ १५ ॥

जिससे पृथिवी कांपने लगी, बड़े बड़े वृत्त गिरने लगे। धूल के कारण सूर्य छिप गये और अन्धकार छा गया, दिशाओं का ज्ञान न रहा ॥ १५ ॥

भस्मना चावृतं सर्वं संमूढमिव तद्बलम् ।
वसिष्ठश्चर्षयश्चान्ये राजा च ससुतस्तदा ॥ १६ ॥

इतनी धूल उड़ी कि, सैनिकों के छक्के छूट गये। वशिष्ठ जी तथा अन्य ऋषियों को, महाराज दशरथ तथा उनके राजकुमारों को ॥ १६ ॥

ससंज्ञा इव तत्रासन्सर्वमन्यद्विचेतनम् ।
तस्मिंस्तमसि घोरे तु भस्मच्छन्नेव सा चमूः ॥१७॥

तो उस समय चेत रहा और सब अचेत हो गये। क्योंकि उस घोर अन्धकार में, सब सेना भस्माच्छादित हो गयी थी। अर्थात् मानों धूल में ढक गयी थी ॥ १७ ॥

ददर्श भीमसंकाशं जटामण्डलधारिणम् ।
भार्गवं जामदग्न्यं तं राजराजविमर्दिनम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर महाराज दशरथ ने भयङ्कर रूप धारण किये, जटाजूटधारी, भृगुवंशी जमदग्नि जी के पुत्र और राजाओं का मान मर्दन करने वाले परशुराम को देखा ॥ १८ ॥

कैलासमिव दुर्धर्षं कालाग्निमिव दुःसहम् ।
ज्वलन्तमिव तेजोभिर्दुर्निरीक्ष्यं पृथग्जनैः[1] ॥ १९ ॥

परशुराम जी कैलास की तरह दुर्धर्ष, कालाग्नि के समान दुस्सह, क्रोध से जलते हुए अग्नि के समान, और पामर लोगों द्वारा दुर्निरीक्ष्य थे ॥ १६ ॥

स्कन्धे चासाद्य परशुं धनुर्विद्युद्गणोपमम् ।
प्रगृह्य शरमुख्यं च त्रिपुरघ्नं यथा शिवम् ॥ २० ॥

वे अपने कंधे पर फरसा रखे हुए थे और बिजली की तरह चमचमाता धनुष और बाण लिये हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों त्रिपुरासुर को मारने के लिये शिव जी आये हों ॥ २० ॥

तं दृष्ट्वा भीमसङ्काशं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे जपहोमपरायणाः ॥ २१ ॥

---

१ पृथग्जनैः—पामरैः । (गो०)

दहकती हुई आग के समान उन भयानक रूपधारी परशुराम जी को देख, जपहोमपरायण वशिष्ठ प्रमुख ॥ २१ ॥

संगता मुनयः सर्वे संजजल्पुरथो मिथः ।
कच्चित्पितृवधामर्षी क्षत्रं नोत्सादयिष्यति ॥ २२ ॥

ऋषिगण आपस में कहने लगे कि, पिता के मारे जाने के कारण क्रोध में भर, परशुराम जी क्षत्रियों का नाश करने को तो कहीं नहीं आये ॥ २२ ॥

पूर्वं क्षत्रवधं कृत्वा गतामन्युर्गतज्वरः ।
क्षत्रस्योत्सादनं भूयो न खल्वस्य चिकीर्षितम् ॥२३॥

क्षत्रियों का नाश कर पहले तो इनका क्रोध शान्त हो चुका है। अब क्या पुनः क्षत्रियों का नाश करने पर तुले हैं ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वाऽर्घ्यमादाय भार्गवं भीमदर्शनम् ।
ऋषयो रामरामेति वचो मधुरमब्रुवन् ॥ २४ ॥

इस प्रकार परस्पर बातचीत कर ऋषिगण अर्घ्य पाद्य ले उनके आगे गये और राम! राम! ऐसा मधुर वचन कहने लगे ॥ २४ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिदत्तां प्रतापवान् ।
रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्योऽभ्यभाषत ॥ २५ ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

प्रतापी परशुराम ने ऋषियों का वह आतिथ्य ग्रहण किया और दशरथनन्दन श्रीराम जी से परशुराम जी इस प्रकार बातचीत करने लगे ॥ २५ ॥

बालकाण्ड का चौहत्तरवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

राम दाशरथे राम वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम् ।
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम् ॥ १ ॥

हे वीर राम ! तुम्हारा पराक्रम अद्भुत सुनाई पड़ता है। जनकपुर में तुमने जो धनुष तोड़ा है उसका सारा वृत्तान्त भी मैंने सुना है ॥ १ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्त्वया ।
तच्छ्रुत्वाऽहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम् ॥ २ ॥

उस धनुष का तोड़ना विस्मयोत्पादक और ध्यान में न आने योग्य बात है। उसीका वृत्तान्त सुन हम यहाँ आये हैं और एक दूसरा उत्तम धनुष लेते आये हैं ॥ २ ॥

तदिदं घोरसङ्काशं जामदग्न्यं महद्धनुः ।
पूरयस्व शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च ॥ ३ ॥

यह भयङ्कर बड़ा धनुष जमदग्नि जी का है (अथवा इस धनुष का नाम जामदग्न्य है) इस पर रोदा चढ़ा कर और बाण चढ़ा कर, आप अपना बल मुझे दिखलाइये ॥ ३ ॥

तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
द्वन्द्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्यश्लाघ्यमहं तव ॥ ४ ॥

इस धनुष के चढ़ाने से तुम्हारे बल को हम जान लेंगे और उसकी प्रशंसा कर हम तुम्हारे साथ द्वन्द्व युद्ध करेंगे ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजा दशरथस्तदा ।
विषण्णवदनो दीनः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥

परशुराम जी की ये बातें सुन, महाराज दशरथ उदास हो गये और दीनतापूर्वक (अर्थात् परशुराम की खुशामद कर के) और हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥ ५ ॥

क्षत्ररोषात्प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महायशाः ।
बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि ॥ ६ ॥

हे परशुराम जी ! आपका क्षत्रियों पर जो कोप था वह शान्त हो चुका, क्योंकि आप तो बड़े यशस्वी ब्राह्मण हैं । (अथवा आप ब्राह्मण हैं अतः क्षत्रियों जैसी गुस्सा को शान्त कीजिये, क्योंकि ब्राह्मणों को कोप करना शोभा नहीं देता) आप मेरे इन बालक पुत्रों को अभयदान दीजिये ॥ ६ ॥

भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम् ।
सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं निक्षिप्तवानसि ॥ ७ ॥

वेदपाठ में निरत रहने वाले भार्गववंश में उत्पन्न आप तो इन्द्र के सामने प्रतिज्ञा कर सब हथियार त्याग चुके हैं ॥ ७ ॥

स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुन्धराम् ।
दत्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः ॥ ८ ॥

और सारी पृथिवी का राज्य कश्यप को दे, आप तो महेन्द्राचल के वन में तप करने चले गये थे ॥ ८ ॥

मम सर्वविनाशाय संप्राप्तस्त्वं महामुने ।
न चैकस्मिन्हते रामे सर्वे जीवामहे वयम् ॥ ९ ॥

(पर हम देखते हैं कि,) आप हमारा सर्वस्व नष्ट करने के लिये (पुनः) आये हैं। (आप यह जान रखें कि,) यदि कहीं हमारे अकेले राम ही मारे गये तो हममें से कोई भी जीता न बचेगा ॥ ९ ॥

ब्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अनादृत्यैव तद्वाक्यं राममेवाभ्यभाषत ॥ १० ॥

महाराज दशरथ की इन बातों की अवहेला कर अर्थात् कुछ भी उत्तर न दे, प्रतापी परशुराम श्रीरामचन्द्र जी से बोले—॥ १० ॥

इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिविश्रुते ।
दृढे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा ॥ ११ ॥

हे राम! ये दोनों धनुष अत्युत्तम हैं और सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। ये बड़े दृढ़ हैं और ये विश्वकर्मा द्वारा बड़ी सावधानी से बनाये गये हैं ॥ ११ ॥

अतिसृष्टं सुरैरेकं त्र्यम्बकाय युयुत्सवे ।
त्रिपुरघ्नं नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया ॥ १२ ॥

इनमें से एक तो देवताओं ने महादेव जी को युद्ध करने के लिये दिया था, जिससे उन्होंने त्रिपुरासुर को मारा था और उसीको तुमने तोड़ डाला है ॥ १२ ॥

इदं द्वितीयं दुर्धर्षं विष्णोर्दत्तं सुरोत्तमैः ।
तदिदं वैष्णवं राम धनुः परपुरञ्जयम् ॥ १३ ॥

यह दूसरा भी, जो हमारे पास है, बड़ा मज़बूत है। इसे देवताओं ने विष्णु भगवान् को दिया था। हे राम ! यह विष्णु का धनुष, भी शत्रुओं के पुर को जीतने वाला है ॥ १३ ॥

समानसारं काकुत्स्थ रौद्रेण धनुषा त्विदम् ।
तदा तु देवताः सर्वाः पृच्छन्ति स्म पितामहम् ॥१४॥

और महादेव जी वाले धनुष के जोड़ का है। एक बार सब देवताओं ने ब्रह्मा जी से पूँछा था कि, ॥ १४ ॥

शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया ।
अभिप्रायं तु विज्ञाय देवतानां पितामहः ॥ १५ ॥

महादेव जी और विष्णु भगवान् के धनुषों में कौन सा बढ़ कर है। ब्रह्मा जी ने देवताओं का अभिप्राय जान कर ॥ १५ ॥

विरोधं जनयामास तयोः सत्यवतांवरः ।
विरोधे च महद्युद्धमभवद्रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

सत्यवानों में श्रेष्ठ (ब्रह्मा जी ने) उन दोनों में बड़ा विरोध उत्पन्न कर दिया। इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि, उन दोनों में रोमाञ्चकारी घोर युद्ध हुआ ॥ १६ ॥

शितिकण्ठस्य विष्णोश्च परस्परजयैषिणोः ।
तदा तु जृम्भितं शैवं धनुर्भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥

महादेव और विष्णु एक दूसरे को जीतने की इच्छा करने लगे। महादेव जी का बड़ा मज़बूत धनुष ढीला पड़ गया ॥ १७ ॥

हुङ्कारेण महादेवस्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः ।
देवैस्तदा समागम्य सर्षिसङ्घैः सचारणैः ॥ १८ ॥

तीन नेत्र वाले महादेव जी विष्णु जी के हुँकार करने ही से स्तम्भित हो गये। (अर्थात् विष्णु ने शिव को हरा दिया) तब ऋषियों और चारणों सहित सब देवताओं ने वहाँ पहुँच कर ॥ १८ ॥

याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस्तौ सुरोत्तमौ ।
जृम्भितं तद्धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णुपराक्रमैः ॥ १९ ॥

दोनों की प्रार्थना की और युद्ध बन्द करवाया । विष्णु के पराक्रम से शिव के धनुष को ढीला देख, ॥ १९ ॥

अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तदा ।
धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः ॥ २० ॥

ऋषियों सहित देवताओं ने विष्णु को (अथवा विष्णु के धनुष) अधिक पराक्रमी (अथवा दृढ़) समझा । महादेव जी ने इस पर क्रुद्ध हो, अपना धनुष विदेह देश के महायशस्वी ॥ २० ॥

देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम् ।
इदं च वैष्णवं राम धनुः परपुरञ्जयम् ॥ २१ ॥

राजर्षि देवरात के हाथ में बाण सहित दे दिया । हे राम ! मेरे हाथ में यह जो धनुष है, यह विष्णु का है और यह भी शत्रुओं के पुर का नाश करने वाला है ॥ २१ ॥

ऋचीके भार्गवे प्रादाद्विष्णुः सन्न्यासमुत्तमम् ।
ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः[1] ॥ २२ ॥

---

१ अप्रतिकर्मणः—स्वहंतर्यविशापादिप्रतिक्रियारहितस्य । (रा०)

पितुर्मम ददौ दिव्यं जमदग्नेर्महात्मनः ।
न्यस्तशस्त्रे पितरि मे तपोबल समन्विते ॥ २३ ॥

पूर्वकाल में विष्णु भगवान् ने यह धनुष भृगुवंशी ऋचीक को दिया। ऋचीक ने अपने सहनशील पुत्र व हमारे पिता महात्मा जमदग्नि को दिया। जब हमारे पिता, शस्त्रधारण करना त्याग, तप करने लगे ॥ २२ ॥ २३ ॥

अर्जुनो विदधे मृत्युं प्राकृतां बुद्धिमास्थितः ।
वधमप्रतिरूपं तु पितुः श्रुत्वा सुदारुणम् ॥ २४ ॥

तब राजा सहस्रबाहु ने मेरे पिता को गँवारपन कर मार डाला। पिता के इस अयोग्य और अत्यन्त निष्ठुरता पूर्वक मारे जाने का हाल सुन, ॥ २४ ॥

क्षत्रमुत्सादयन्रोषाज्जातं जातमनेकशः ।
पृथिवीं चाखिलां प्राप्य कश्यपाय महात्मने ॥ २५ ॥

क्रोध में भर जैसे जैसे क्षत्रिय उत्पन्न होते गये वैसे ही वैसे हमने कितनी ही बार उनको मारा। सारी पृथिवी का राज्य अपने हस्तगत कर, हमने महात्मा कश्यप को ॥ २५ ॥

यज्ञस्यान्ते तदा राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे ।
दत्त्वा महेन्द्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः ॥ २६ ॥
स्थितोऽस्मि तस्मिंस्तप्यन्वै सुसुखं सुरसेविते ।
अद्य तूत्तमवीर्येण त्वया राम महाबल ॥ २७ ॥

यज्ञ के अन्त में उस पुण्यकर्म की दक्षिणा स्वरूप दे दिया और हम तब से सुरसेवित महेन्द्राचल पर तप करते हुए, बड़े सुख से रहते हैं। आज हे महाबली राम! तुम्हारे उत्तम पराक्रम ॥ २६ ॥ २७ ॥

श्रुत्वातु धनुषो भेदं ततोऽहं द्रुतमागतः ।
तदिदं वैष्णवं राम पितृपैतामहं महत् ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृह्णीष्व धनुरुत्तमम् ॥ २८ ॥

द्वारा धनुष का टूटना सुन, हम तुरन्त यहाँ चले आये हैं। अब विष्णु प्रदत्त हमारे पुरखों के इस उत्तम धनुष को *क्षत्रियधर्म में स्थित हो, लीजिये । ॥ २८ ॥

योजयस्व धनुःश्रेष्ठे शरं परपुरञ्जयम् ।
यदि शक्नोसि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः ॥२९॥

इति पञ्चसप्ततमः सर्गः ॥

हे शत्रुओं के पुर को जीतने वाले ! इसे सज्जित कर (रोदे से) इस पर बाण चढ़ाइये । हे काकुत्स्थ ! यदि तुम इस पर बाण चढ़ा सके तो मैं तुमसे द्वन्द्वयुद्ध करूँगा ॥ २९ ॥

बालकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षट्सप्ततितमः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा तज्जामदग्न्यस्य वाक्यं दाशरथिस्तदा ।
गौरवाद्यन्त्रितकथः पितू राममथाब्रवीत् ॥ १ ॥

---

* क्षत्रियधर्म में स्थित हो ; अर्थात् यद्यपि मैंने क्षात्रधर्म अर्थात् युद्ध का परित्याग कर दिया है, तथापि इस समय मैं युद्ध से पराङ्मुख नहीं होऊँगा । कहीं यह मत कह देना कि, ब्राह्मण को शान्त रहना ही शोभा देता है ।

परशुराम जी के वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता महाराज दशरथ के गौरव से अर्थात् अपने पिता का अदब कर के, मन्दस्वर (धीरे) से बोले ॥ १ ॥

श्रुतवानस्मि यत्कर्म कृतवानसि भार्गव ।
अनुरुध्यामहे ब्रह्मन्पितुरानृण्यमास्थितः ॥ २ ॥

हे परशुराम जी ! आपने जो जो काम किये हैं, वे सब मैं सुन चुका हूँ। आपने जिस प्रकार अपने पिता के मारने वाले से बदला लिया—वह भी मुझे विदित है ॥ २ ॥

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव ।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ ३ ॥

किन्तु आप जो यह समझते हैं कि, हम वीर्यहीन हैं, हममें क्षात्रधर्म का अभाव है, अतः आप जो हमारे तेज का निरादर करते हैं सो आप अब हमारा पराक्रम देखिये ॥ ३ ॥

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य शरासनम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः ॥ ४ ॥

यह कह कर और क्रोध में भर श्रीरामचन्द्र जी ने परशुराम के हाथ से धनुष और बाण झट ले लिया ॥ ४ ॥

आरोप्य स धनू रामः शरं सज्यं चकार ह ।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम् ॥ ५ ॥

और धनुष पर रोदा चढ़ा कर उस पर बाण चढ़ा, जमदग्नि के पुत्र परशुराम से श्रीरामचन्द्र जी क्रुद्ध हो यह बोले ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोऽसीति मे पूज्यो विश्वामित्रकृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥ ६ ॥

हे परशुराम जी ! एक तो ब्राह्मण होने के कारण आप मेरे पूज्य हैं, दूसरे आप विश्वामित्र जी के नातेदार (विश्वामित्र जी की बहिन के पौत्र) हैं । अतः इस बाण को आपके ऊपर छोड़ कर, आपके प्राण लेना तो मैं नहीं चाहता ॥ ६ ॥

इमां[1] वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमार्जितान् ।
लोकानप्रतिमान्वा ते हनिष्यामि यदिच्छसि ॥ ७ ॥

किन्तु इस बाण से या तो आपकी गति को, (यानी पैरों को) या आकाश गमनादि की आपकी शक्ति को, अथवा तपस्या द्वारा प्राप्त आपके लोकों को मैं नष्ट अवश्य कर दूँगा । आप जो पसंद करें वही किया जाय ॥ ७ ॥

न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरञ्जयः ।
मोघः पतति वीर्येण[2] बलदर्पविनाशनः ॥ ८ ॥

क्योंकि यह वैष्णव बाण है । यह अपनी शक्ति से शत्रु के बल और अभिमान को नष्ट करने वाला है । यह बिना कुछ किये, तरकस में नहीं जाता—यह अमोघ (अर्थात् निष्फल न जाने वाला) है ॥ ८ ॥

वरायुधधरं रामं द्रष्टुं सर्षिगणाः सुराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः ॥ ९ ॥

१ इमां—प्रत्यक्ष सिद्धांगतिं । (रा०) २ वीर्येण—स्वशक्त्या । (गो०)

गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणकिन्नराः ।
यक्षराक्षसनागाश्च तद्द्रष्टुं महदद्भुतम् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी को उस दिव्य धनुष पर वाण धारण किये हुए देख, गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, चारण, किन्नर, यक्ष, राक्षस और नाग सब ब्रह्मा जी के पीछे पीछे इस अद्भुत व्यापार को देखने के लिये वहाँ जमा हो गये ॥ ९ ॥ १० ॥

जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्धरे ।
निर्वीर्यो[1] जामदग्न्योऽथ रामो राममुदैक्षत[2] ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र के उस दिव्य धनुष को हाथ में लेने से तीनों लोक स्तम्भित हो गये। परशुराम जी के शरीर से वैष्णव तेज निकल गया इससे वे विस्मित हुए ॥ ११ ॥

तेजोभिहतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः ।
रामं कमलपत्राक्षं मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के तेज से जब परशुराम जी जड़ के समान वीर्यहीन हो गये, तब वे कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी से धीरे धीरे कहने लगे ॥ १२ ॥

कश्यपाय मया दत्ता यदा पूर्वं वसुन्धरा ।
विषये[3] मे न वस्तव्यमिति मां कश्यपोऽब्रवीत् ॥१३॥

जब यज्ञान्त में हमने सारी पृथिवी कश्यप मुनि को दी, तब उन्होंने हम से कहा था कि, आज से तुम हमारी भूमि या राज्य में न वसना ॥ १३ ॥

---

१ निर्वीयः—निर्गतवैष्णवतेजः । (गो०) । २ उदैक्षत विस्मित इति शेषः । (गो०) ३ विषये—देशे । (रा०)

सोऽहं गुरुवचः कुर्वन्पृथिव्यां न वसे निशाम् ।
तदा प्रतिज्ञा काकुत्स्थ कृता भूः कश्यपस्य हि ॥१४॥

अतः हे काकुत्स्थ! कश्यप जी के कथनानुसार या उनकी आज्ञा को मान, मैं रात में पृथिवी पर नहीं रहता। क्योंकि तब से हमने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यह पृथिवी* कश्यप ही की कर दी है ॥ १४ ॥

तदिमां त्वं गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव ।
मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ १५ ॥

हे राघव! अतः आप हमारी सर्वत्र की गति (लोकों में आने जाने की शक्ति को) नष्ट न कीजिये। जिससे हमारी वेगवती चाल बनी रहे और हम शीघ्र पर्वतों में उत्तम महेन्द्राचल पर पहुँच जाया करें। (यदि कहीं यह चली गयी तो प्रतिज्ञाभङ्ग करने का पातक और सिर पर चढ़ेगा। प्रतिज्ञा यह कि, काश्यपी पर न रहेंगे) ॥ १५ ॥

लोकास्त्वप्रतिमा राम निर्जितास्तपसा मया ।
जहि ताञ्शरमुख्येन मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥ १६ ॥

हे राम! किन्तु हमने तप द्वारा जो लोक जीत रखे हैं (अर्थात् जिनकी प्राप्ति का अधिकार सम्पादन कर रखा है) उनको इस विशेष बाण से हनन कीजिये। अब इसमें विलम्ब न कीजिये ॥ १६ ॥

अक्षयं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरोत्तमम् ।
धनुषोऽस्य परामर्शात्[1] स्वस्ति तेऽस्तु परन्तप ॥ १७ ॥

---

1 परामर्शात्—ग्रहणात् । (गो०)

* पृथिवी का दूसरा नाम काश्यपी तभी से पड़ा है ।

हे परन्तप! आपके द्वारा इस धनुष के ग्रहण किये जाने से, हमने अच्छी तरह जान लिया कि, आप अक्षय (अविनाशी) हैं मधु दैत्य के मारने वाले हैं, और सब देवताओं में उत्तम अर्थात् विष्णु हैं। आपकी जै हो ॥ १७ ॥

एते सुरगणाः सर्वे निरीक्षन्ते समागताः ।
त्वामप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्व[1]माहवे ॥ १८ ॥

ये सब देवतागण आपके दर्शन करने आये हुए हैं। आप सब कामों के करने में चतुर और समर में अपने प्रतिद्वन्द्वी को नाश करने वाले हैं ॥ १८ ॥

न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति ।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ॥ १९ ॥

हे राघव! आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। अतः यदि आपसे हार गये तो इसको हमें लज्जा नहीं है ॥ १९ ॥

शरमप्रतिमं राम मोक्तुमर्हसि सुव्रत ।
शरमोक्षे गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २० ॥

हे राम! अब आप इस अद्वितीय बाण को छोड़िये। बाण के छूटते ही मैं पर्वतो-त्तम महेन्द्राचल को चला जाऊँगा ॥ २० ॥

तथा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान् ।
रामो दाशरथिः श्रीमांश्चिक्षेप शरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

जब प्रतापी परशुराम ने श्रीरामचन्द्र से इस प्रकार कहा, तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने उस उत्तम बाण को छोड़ दिया ॥ २१ ॥

---

1 अप्रतिद्वन्द्व—प्रतिभट रहितं (रा०)

स हतान्दृश्य रामेण स्वाँल्लोकांस्तपसाऽर्जितान् ।
जामदग्न्यो जगामाशु महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २२ ॥

बाण से तप द्वारा इकट्ठे किये हुए लोकों* को नष्ट हुआ देख, परशुराम जी तुरन्त महेन्द्राचल को चले गये ॥ २२ ॥

ततो वितिमिराः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा ।
सुराः सर्षिगणा रामं प्रशशंसुरुदायुधम् ॥ २३ ॥

सब दिशाएँ और विदिशाएँ पूर्ववत् प्रकाशमान हो गयीं अर्थात् अन्धकार जो छाया हुआ था, वह दूर हो गया। ऋषि और देवता धनुष-बाण-धारी श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रशस्य च ।
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा जगामात्मगतिं[1] प्रभुः ॥ २४ ॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

जमदग्नि के पुत्र परशुराम, दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा कर के तथा उनकी परिक्रमा कर, अपने स्थान को चले गये ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का छियत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

1 आत्मगतिं—स्वस्थानं । (गो०)

* लोकों से अभिप्राय यहाँ पर तप के उस फल से है, जो तप द्वारा परशुराम जी ने सम्पादन किया था। अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी ने परशुराम की तपस्या का वह फल जिससे उन्होंने अनेक लोकों की प्राप्ति का अधिकार प्राप्त किया था, नष्ट कर दिया।

सप्तसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

गते रामे प्रशान्तात्मा[1] रामो दाशरथिर्धनुः ।
वरुणायाप्रमेयाय ददौ हस्ते[2] ससायकम् ॥ १ ॥

विगत क्रोध परशुराम जी के चले जाने के बाद, दशरथनन्दन श्रीराम जी ने अपने हाथ का बाण सहित वह धनुष वरुण जी को धरोहर की तरह सौंप दिया ॥ १ ॥

अभिवाद्य ततो रामो वसिष्ठप्रमुखानृषीन् ।
पितरं विह्वलं दृष्ट्वा प्रोवाच रघुनन्दनः ॥ २ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने वशिष्ठ आदि ऋषियों को प्रणाम किया और महाराज दशरथ को घबड़ाया हुआ देख उनसे बोले ॥ २ ॥

जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी ।
अयोध्याभिमुखी सेना त्वया नाथेन पालिता ॥ ३ ॥

परशुराम जी चले गये, अब आप अपनी चतुरङ्गिणी सेना को अयोध्यापुरी की ओर चलने की आज्ञा दीजिये ॥ ३ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम् ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय राघवम् ॥४॥

श्रीराम जी का यह वचन सुन महाराज दशरथ ने अपने पुत्र श्रीरामचन्द्र को छाती से लगा लिया और उनका माथा सूँघा ॥ ४ ॥

---

१ प्रशान्तात्मा—गतक्रोधआत्माचित्तंयस्य । (रा०) २ हस्ते—स्वहस्ते । (रा०)

गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः ।
पुनर्जातं तदा मेने पुत्रमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

परशुराम जी का जाना सुन महाराज दशरथ परम प्रसन्न हुए और अपना तथा अपने पुत्र का पुनर्जन्म हुआ माना ॥ ५ ॥

चोदयामास तां सेनां जगामाशु ततः पुरीम् ।
पताकाध्वजिनीं रम्यां जयोद्धुष्टनिनादिताम् ॥ ६ ॥

और सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी । महाराज दशरथ बड़ी जल्दी ध्वजा पताकाओं से सुशोभित और जयघोष से निनादित अयोध्यापुरी को गये ॥ ६ ॥

सिक्तराजपथां रम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
राजप्रवेशसुमुखैः[1] पौरैर्मङ्गलवादिभिः[2] ॥ ७ ॥

अयोध्यापुरी की सड़कें जल से छिड़की हुई थीं; और उन पर पुष्प बिखरे हुए थे । वे बड़ी रम्य जान पड़ती थीं । महाराज के आगमन से प्रसन्नमुख पुरवासी अनेक प्रकार के आशीर्वादात्मक वचन बोल रहे थे ॥ ७ ॥

सम्पूर्णां प्राविशद्राजा जनौघैः समलङ्कृताम् ।
पौरैः प्रत्युद्गतो दूरं द्विजैश्च पुरवासिभिः ॥ ८ ॥

ऐसी सजी हुई और बन्धु बान्धवों से भरी पुरी अयोध्यापुरी में महाराज दशरथ ने प्रवेश किया और नगर से आगे बढ़ पुरवासी ब्राह्मणों ने उनकी अगवानी की ॥ ८ ॥

---

१ सुमुखैः—विकसन मुखैः । (गो०) २ मङ्गलं—आशीर्वचनंवक्तंशीलमेषामस्तीतिमङ्गलवादिभिः । (गो०)

पुत्रैरनुगतः श्रीमाञ्श्रीमद्भिश्च[1] महायशाः ।
प्रविवेश गृहं राजा हिमवत्सदृशं प्रियम् ॥ ९ ॥

महायशा महाराज दशरथ अपने राजकुमारों और बहुओं सहित अपने बर्फ़ की तरह सफ़ेद रंग के प्रिय राजभवन में गये ॥ ९ ॥

ननन्द सजनो[2] राजा गृहे कामैः[3] सपूजितः ।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च सुमध्यमा ॥१०॥
वधूप्रतिग्रहे युक्ता याश्चान्या राजयोषितः ।
ततः सीतां महाभागामूर्मिलां च यशस्विनीम् ॥११॥
कुशध्वजसुते चोभे जगृहुर्नृपपत्नयः ।
मङ्गलालेपनैश्चैव शोभिताः क्षौमवाससः ॥ १२ ॥

प्रसन्नचित्त हो राजभवन में पहुँचने पर महलवासी नाते रिश्तेदारों ने महाराज का फूलमाला चन्दनादि से भली भाँति सत्कार किया। उधर कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा अन्य रानियाँ बहुओं का पनोछा करने में लगीं। रानियाँ महाभागा सीता, यशस्विनी ऊर्मिला, और कुशध्वज की दोनों बेटियों को महलों में लिवा ले गयीं और वहाँ उनके मङ्गल लेप अर्थात् ऐपन और कुङ्कुमादि लगाये। फिर उनको अच्छे अच्छे रेशमी वस्त्रधारण करवा ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन् ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥ १३ ॥

---

१ श्रीमद्भिः—दारपरिग्रहादधिकलक्ष्मीवद्भिः पुत्रैः । (रा०) २ जनः—सम्बन्धिजनः । (गो०) ३ कामैः—स्रकचन्दनादिभिः । (रा०)

और तुरन्त देवमन्दिरों में ले जा कर उनसे देवताओं की पूजा करवायी। तदनन्तर सब वहुओं ने सासों तथा अन्य बड़ी बूढ़ी स्त्रियों को प्रणाम किया ॥ १३ ॥

[नोट—१३ वें श्लोक मे "देवतायन" शब्द को देख यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, रामायणकाल में देवताओं के मन्दिर बनाये जाते थे और उस समय भी भारतवर्ष में मूर्तिपूजा प्रचलित थी।]

रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिः सहिता रहः ।
कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससुहृज्जनाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर वे सब अपने अपने पतियों के साथ राजभवन में जा हर्षित हो निवास करने लगीं। उधर श्रीरामचन्द्रादि सब राजकुमार विवाहित हो, तथा सब अस्त्रशस्त्र चलाने और रोकने की विद्या में निपुण एवं धनवान हो, अपने इष्ट मित्रों सहित ॥ १४ ॥

शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तयन्ति नरर्षभाः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् ॥१५॥

पिता की सेवा करते हुए रहने लगे। कुछ दिनों बाद महाराज दशरथ अपने पुत्र कैकेयीनन्दन भरत जी से बोले। कैकयराज के पुत्र अर्थात् तुम्हारे मामा यहाँ (बहुत दिनों से) ठहरे हुए हैं ॥ १५ ॥

भरतं केकयीपुत्रमब्रवीद्रघुनन्दनः ।
अयं केकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक ॥ १६ ॥

त्वां नेतुमागतो वीर युधाजिन्मातुलस्तव ।
श्रुत्वा दशरथस्यैतद्भरतः कैकयीसुतः ॥ १७ ॥

गमनायाभिचक्राम शत्रुघ्नसहितस्तदा ।
आपृच्छ्य पितरं शूरो रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥१८॥
मातृश्चापि नरश्रेष्ठः शत्रुघ्नसहितो ययौ ।
गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ १९ ॥

सो यह तुम्हारे मामा युधाजित तुम्हें ले जाने के लिये आये हुए हैं। कैकेयीनन्दन भरत जी महाराज दशरथ के यह वचन सुन शत्रुघ्न जी के साथ ननिहाल जाने को तैयार हो गये। तदनन्तर अपने वीरवर पिता और अति कारुणिक भाई श्रीरामचन्द्र तथा कौशल्यादि माताओं से पूँछ वे शत्रुघ्न को साथ ले चल दिये। भरत जी के जाने पर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ॥ १६ ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ १९ ॥

पितरं देवसङ्काशं पूजयामासतुस्तदा ।
पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ॥ २० ॥
चकार रामो धर्मात्मा प्रियाणि च हितानि च ।
मातृभ्यो मातृकार्याणि रामः परमयन्त्रितः ॥ २१ ॥

अपने देव समान पिता की सेवा करने और अपने पिता से पूँछ पूँछ कर पुरवासियों के प्रिय व हितकर सब कार्य करते थे। इतना ही नहीं वे माताओं के भी सब काम बड़ी अच्छी तरह किया करते थे ॥ २० ॥ २१ ॥

गुरूणां गुरुकार्याणि काले काले चकार ह ।
एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तदा[1] ॥ २२ ॥

---

१ नैगमाः—वणिजः । (गो०)

वे गुरुओं की भी सेवा समय समय पर करते थे। श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वर्त्ताव से महाराज दशरथ, ब्राह्मण, और वनिये आदि सभी सन्तुष्ट थे ॥ २२ ॥

रामस्य शीलवृत्तेन सर्वे विषयवासिनः[1] ।
तेषामतियशा लोके रामः सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के शील स्वभाव से सब ही पुरवासी सन्तुष्ट थे। राजकुमारों में सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी का नाम बहुत अधिक व्याप्त था। अर्थात् वे प्रसिद्ध हो गये थे ॥ २३ ॥

स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ।
रामस्तु सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून्[2] ॥ २४ ॥

स्वयम्भू—ब्रह्मा की तरह वे सब प्राणियों से बढ़ कर गुणवान् समझे जाते थे। श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत वर्षों तक सीता जी के साथ विहार किया ॥ २४ ॥

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ।
मनस्वी तद्गतमना नित्यं हृदि समर्पितः ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को, ब्रह्मविवाह से प्राप्त जानकी जी अति प्यारी थीं और वे उन पर आसक्त थे तथा उनको बहुत चाहते थे ॥२५॥

गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभ्यवर्धत ।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते ॥ २६ ॥

प्रीति रूप, गुण और शील के प्रभाव से सदा बढ़ा करती है और ये सब बातें सीता जी में श्रीरामचन्द्र जी से दूनी थीं ॥ २६ ॥

---

१ विषयवासिनः प्रीता इति शेषः ॥ २ बहूनृतून्—द्वादशवर्षाणीत्यर्थ इति बहवः । (रा०)

अन्तर्जातमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ।
तस्य भूयो विशेषेण
मैथिली जनकात्मजा ।
देवताभिः समा रूपे
सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मन की बातें बिना कहे ही जानकी जी, जिनकी शोभा देवताओं के समान थी और जो साक्षात् लक्ष्मी देवी के तुल्य थीं, विशेष रूप से जान लिया करती थीं ॥ २७ ॥

तया स राजर्षिसुतोऽभिरामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया ।
अतीव रामः शुशुभेऽतिकामया[1] ।
विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः[2] ॥ २८ ॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्त्रिकायां संहितायां
बालकाण्डः समाप्तः ॥

राजर्षि जनक की दुहिता जानकी जी के साथ श्रीरामचन्द्र जी उसी प्रकार अति शोभा को प्राप्त हुए, जिस प्रकार अमरेश्वर (देवताओं के स्वामी) भगवान् आदिविष्णु श्रीलक्ष्मी जी के साथ सुशोभित होते हैं ॥ २८ ॥

बालकाण्ड का सतहत्तरवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ अतिकामया—प्रीतया । (गो०) २ अमरेश्वरोविष्णुः—आदिविष्णुः । (गो०)

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—*—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—*—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

अयोध्याकाण्ड-२

पूर्वार्द्ध

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०,

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य २)

अयोध्यकाण्ड-पूर्वार्द्ध

की

विषय-सूची

अयोध्याकाण्ड के पूर्वार्द्ध की विषय-सूची
समाप्त हुई।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ १॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥ २॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥ ३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥ ४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥ ६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ६ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्दैवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—※—

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:o:—

अयोध्याकाण्डः

गच्छता मातुलकुलं भरतेन महात्मना* ।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो[1] नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ १ ॥

महात्मा भरत जी ननिहाल जाते समय जितेन्द्रिय शत्रुघ्न को बड़े प्रेम से अपने साथ ले गये ॥ १ ॥

स तत्र न्यवसद्भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः ।
मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः ॥ २ ॥

भरत जी अपनी ननिहाल में शत्रुघ्न सहित बड़ी ख़ातिरदारी के साथ रहते थे। उनके मामा अश्वपति, दोनों भाइयों पर पुत्र के समान स्नेह रखते और सब प्रकार से उनका मन रखते थे ॥ २ ॥

तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः ।
भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ ३ ॥

---

* पाठान्तरे—"तदाऽनघः" ।

१ नित्यशत्रुघ्न—नित्यशत्रवोज्ञानेन्द्रियाणि, तान् हन्तीति शत्रुघ्नः । इन्द्रियनिग्रहवान् । (गो०)

सब प्रकार से सन्तुष्ट रखे जाने पर भी दोनों वीर भाइयों को (प्रायः) अपने वृद्ध पिता महाराज दशरथ की याद आया ही करती थी ॥ ३ ॥

राजाऽपि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ[1] सुतौ ।
उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ ॥ ४ ॥

महातेजस्वी महाराज दशरथ भी महेन्द्र और वरुण के समान, परदेशगत राजकुमारों को (अक्सर) स्मरण किया करते थे ॥ ४ ॥

सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः ।
स्वशरीराद्विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः ॥ ५ ॥

यद्यपि अपने शरीर से निकली हुई चार बाँहों की तरह चारों श्रेष्ठ राजकुमार महाराज दशरथ को प्यारे थे ॥ ५ ॥

तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः ।
स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ॥ ६ ॥

तो भी उन चारों में महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी पर महाराज दशरथ का अत्यन्त अनुराग था, क्योंकि वे ब्रह्मा के समान, सब प्राणियों से बढ़ कर अतिशय गुणवान् थे ॥ ६ ॥

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः ।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ॥ ७ ॥

---

१ प्रोषितौ—देशान्तरगतौ । (गो०)

(श्रीरामचन्द्र जी के अतिशय गुणवान् होने का कारण यह था कि,) श्रीरामचन्द्र जी स्वयं सनातनपुरुष विष्णु भगवान् थे जो देवताओं के अनुरोध से, नैसर्गिक गर्व से सारे जगत का विनाश करने वाले रावण का नाश करने को अवतीर्ण हुए थे ॥ ७ ॥

कौशल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ ८ ॥

ऐसे अपार तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी को प्राप्त कर कौशल्या जी वैसे ही सुशोभित हुई थीं, जैसे अदिति इन्द्र को पा कर शोभा को प्राप्त हुई थीं ॥ ८ ॥

स हि वीर्योपपन्नश्च रूपवाननसूयकः ।
भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त रूपवान्, महावीर्यवान्, निन्दारहित और उपमारहित इस पृथिवीतल पर एक राजपुत्र थे। अर्थात् उनकी जोड़ का दूसरा कोई न था। वे पिता के समान गुणशाली थे ॥ ९ ॥

स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

वे सदा प्रशान्त चित्त रहते, सदा सब से कोमल वचन बोलते, यदि उनसे कोई कठोर वचन बोलता तो भी वे उत्तर में कोई कड़वी बात न कहते थे ॥ १० ॥

कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया[1] ॥ ११ ॥

---

[1] आत्मवत्तया—वशीकृतमनस्कतयेत्यर्थः । (गो०)

थोड़े भी उपकार को वे बहुत मानते थे, वे अपकार करने वाले के सैकड़ों अपकारों को भी मन में नहीं रखते अर्थात् भूल जाते थे। अर्थात् वे अपने मन पर इतना अधिकार रखते थे ॥ ११ ॥

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥ १२ ॥

जब उनको अस्त्र शस्त्र के अभ्यास से अवकाश मिलता, तब वे उस अवकाश काल में सदाचारी, ज्ञानी और वयोवृद्ध सज्जन जनों के पास बैठ कर बातचीत करते थे। (अर्थात् उनको अच्छे लोगों का संग ही अच्छा लगता था; कुसंग पसन्द न था) ॥ १२ ॥

बुद्धिमान्मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन गर्वितः ॥ १३ ॥

वे स्वयं बड़े बुद्धिमान्, कोमल वचन बोलने वाले, पहिले बोलने वाले, और प्रिय बोलने वाले थे। वे स्वयं वीर हो कर भी वीरता के गर्व में मस्त न थे ॥ १३ ॥

न चानृतकथो विद्वान्वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरञ्जते ॥ १४ ॥

वे कभी मिथ्या भाषण नहीं करते थे और विद्वानों एवं वृद्ध-जनों का सम्मान करने वाले थे। अपनी प्रजा के लोगों को जैसा वे चाहते थे, प्रजा भी उनको वैसा ही चाहती थी। अर्थात् श्रीराम-जी का अपनी प्रजा में जैसा अनुराग था, वैसा ही प्रजा का भी उनमें अनुराग था ॥ १४ ॥

सानुक्रोशो[1] जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं[2] प्रग्रहवाञ्शुचिः ॥ १५ ॥

वे दयालु, क्रोध को जीतने वाले और ब्राह्मणों का सन्मान करने वाले थे। वे दीनों पर विशेष कृपा किया करते थे। वे सामान्य और विशेष धर्म को जानने वाले थे, वे सदा नियमानुसार चलने वाले और सदा पवित्र रहने वाले थे ॥ १५ ॥

कुलोचितमतिः क्षात्रं धर्मं स्वं बहु मन्यते ।
मन्यते परया कीर्त्या महत्स्वर्गफलं ततः ॥ १६ ॥

वे अपने इक्ष्वाकुकुलानुरूप दया, दाक्षिण्य, तथा शरणागत-वत्सलता आदि कर्त्तव्यकर्मों के पालन में निपुण थे, दुष्टों का निग्रह कर और प्रजापालन कर अपने क्षात्रधर्म को बहुत मानते थे। अपने वर्ण और अपने आश्रम के धर्म के पालन को कीर्तिप्राप्ति ही का साधन नहीं, किन्तु स्वर्गप्राप्ति का भी साधन मानते थे ॥ १६ ॥

नाश्रेयसि[3] रतो विद्वान्न विरुद्धकथारुचिः ।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ १७ ॥

न तो थोथे कामों के करने में उनकी रुचि थी और न उनको फूहर बातें तथा धर्मविरुद्ध बातें कहना सुनना ही पसंद था। वादविवाद करते समय, अपने पक्ष के समर्थन में, उनको वृहस्पति की तरह युक्तियाँ सूझा करती थीं। अर्थात् वे अपने पक्ष को भली भाँति युक्तियों से पुष्ट कर सकते थे ॥ १७ ॥

---

१ सानुक्रोशः—सदयः। (गो०) २ प्रग्रहवान्—नियमवान्। (गो०)
३ नाश्रेयसि—निष्फलेकर्मणि। (गो०)

अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान्देशकालवित् ।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः[1] ॥ १८ ॥

निरोग, तरुण, सुवक्ता, रूपवान्, देशकाल के जानने वाले और आदमी को एक बार देखते ही उसके मन का भाव ताड़ जाने वाले, वे निःसन्देह एक महात्मा पुरुष थे ॥ १८ ॥

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥ १९ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी श्रेष्ठ गुणों से युक्त थे और उनके इन गुणों के लिये ही उनको प्रजा के लोग बाहिर रहने वाले अपने प्राण के समान, प्यार करते थे ॥ १९ ॥

सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।
इष्वस्त्रे[2] च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ २० ॥

वे साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ और यथाविधि व्रत कर के स्नातक हुए थे (अर्थात् गुरुगृह से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ और व्रताचरण कर उन्होंने समावर्तन किया था अर्थात् लौटे थे) इसीलिये वे तत्त्वतः अर्थात् ठीक ठीक साङ्ग वेद के ज्ञाता थे। बाणविद्या में वे अपने पिता से बढ़ चढ़ कर थे ॥ २० ॥

कल्याणाभिजनः[3] साधुरदीनः सत्यवागृजुः ।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥ २१ ॥

---

१ विनिर्मितः—निर्मितः । (गो०) २ इष्वस्त्रे—अस्त्रविद्यायां ग्रन्थः । (गो०) ३ कल्याणाभिजनः—कल्याणः शोभनः अभिजनो येन स तथा । अदीनः—[illegible] । निर्दोष इत्यर्थः । (गो०)

वे कल्याण के जन्मस्थान, साधु, अदीन, सत्यवादी और सीधे थे। वे धर्म और अर्थ के जानने वाले एवं वृद्ध द्विजों द्वारा सुशिक्षित हुए थे ॥ २१ ॥

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान् ।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥ २२ ॥

वे धर्म, अर्थ, काम के तत्त्व को जानने वाले, विलक्षण स्मृति और प्रतिभा वाले, लोकाचार और सामयिक धर्म में निपुण थे। अर्थात् लौकिक आचार विचार का विधान करने में वे बड़े चतुर थे ॥ २२ ॥

निभृतः[1] संवृताकारो[2] गुप्तमन्त्रः सहायवान् ।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥ २३ ॥

उनका स्वभाव अति नम्र था। वे अपने मन की बात और गूढ़ विचारों को अपने मन में छिपा कर रखने की सामर्थ्य रखते थे। वे सहायवान् थे अर्थात् गूढ़ विचारों में उन्हें जासूसों से पूर्ण सहायता मिलती थी, अथवा उनके सहायक भी अनेक थे। उनका क्रोध और हर्ष निष्फल नहीं जाता था। वे त्याग और संग्रह के समय के जानने वाले थे। (अर्थात् वे जान लेते थे कि, कब हमें कोई चीज़ देनी चाहिये और कब लेनी चाहिये।) ॥ २३ ॥

दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो[3] नासद्ग्राही न दुर्वचाः ।
निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥ २४ ॥

---

१ निभृतः—विनीतः। (गो०) २ संवृताकारः—हृदिस्थितकर्तव्यार्थव्यञ्जकेङ्गिताकारगोपनचतुरः। (गो०) ३ स्थिरप्रज्ञो—विस्मृतिहीनः। (रा०)

प्रासादस्थो रथगतं ददर्शायान्तमात्मजम् ।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥

दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥

रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

इतने में कोठे पर बैठे हुए महाराज ने गन्धर्वराज के समान सुन्दर, प्रसिद्ध पराक्रमी, आजानुबाहु, महाबली, मत्त गजराज के समान चालवाले, चन्द्रमुख, अतीव प्रियदर्शन, रूप और उदारता गुण से देखने वाले के मन को हरण करने वाले, तथा जिस प्रकार घाम से तप्त प्राणी मेघ के दर्शन कर प्रसन्न होते हैं; उसी प्रकार अपने दर्शन से प्रजा को प्रसन्न करने वाले; अपने पुत्र श्रीराम जी को देखा ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः ।
अवतार्य सुमन्त्रस्तं राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥

पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं नरपुङ्गवः ॥ ३१ ॥

आरुरोह नृपं द्रष्टुं सह सूतेन राघवः ।
स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥

महाराज दशरथ आये हुए श्रीरामचन्द्र जी को देखते देखते नहीं अघाते थे। श्रीरामचन्द्र जी को उस उत्तम रथ से उतार

उनका सुखी होना अर्थ एवं धर्म के संग्रह के अधीन था। और अर्थ धर्म के संग्रह में वे कभी अलसाते न थे ॥ २७ ॥

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित् ।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम् ॥ ॥२८॥

वे खेलों की सामग्री और बाजे तथा चित्रकारी आदि शिल्प कलाओं की सामग्री के विशेषज्ञ थे और (सञ्चित) धन का विभाग* करना जानते थे। वे हाथी घोड़ों पर चढ़ने में स्वयं निपुण थे और उन पर चढ़ना सिखाने में भी वे दक्ष थे ॥ २८ ॥

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्मतः ।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥ २९ ॥

वे बड़े बड़े धनुर्विद्याविशारदों में श्रेष्ठ थे। लोग उनको महारथी समझ (उनकी धनुर्विद्या की जानकारी के कारण) सन्मान करते थे। वे अपने ऊपर शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा नहीं करते थे, किन्तु स्वयं जा कर शत्रु पर आक्रमण करते थे, और आक्रमण के समय केवल सैनिकों से ही युद्ध नहीं कराते थे, प्रत्युत शत्रु पर

---

* "धर्माययशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनायच ।
पञ्चधा विभजन्वित्त मिहामुत्रच शोभते ॥"

अर्थात् सञ्चित द्रव्य का व्यय करते समय उसे पांच मदों में बांटे— (१) धर्म के कामों में (२) नामवरी के कामों में (३) धन बढ़ाने के काम में (४) अपनी शारीरिक आवश्यकताओं में और अपने परिवार के पालन पोषण के काम में। जो इस प्रकार सञ्चित अथवा उपार्जित द्रव्य का खर्च करता है, वह इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

पहला वार स्वयं ही करते थे। वे शत्रु के सैन्यव्यूहों को छिन्न भिन्न करने और सैन्यव्यूह की रचना में भी निपुण थे ॥ २६ ॥

अप्रधृष्यश्च संग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः ।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी ॥ ३० ॥

जब क्रुद्ध हो वे रणभूमि में लड़े होते, तब सुर असुर कोई भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता था। वे असूया रहित, क्रोध को जीतने वाले, गर्वशून्य, और दूसरों की सम्पत्ति से द्वेष न करने वाले थे ॥ ३० ॥

न चावमन्ता भूतानां न च कालवशानुगः ।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥ ३१ ॥

न तो वे कभी किसी को अवज्ञा के पात्र बनते थे, और न उनके ऊपर समय विशेष का प्रभाव ही पड़ सकता था। राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी प्रजा जनों के बीच लोकोत्तर गुणों से युक्त थे ॥ ३१ ॥

संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्येणापि शचीपतेः ॥ ३२ ॥

और तीनों लोक उनको मानते थे। उनमें, पृथिवी जैसी क्षमा, बृहस्पति जैसी बुद्धि और इन्द्र जैसा पराक्रम था ॥ ३२ ॥

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैः पितुः ।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार प्रदीप्त सूर्य अपनी किरणमाला से प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार प्रजा की प्रीति और पिता के दुलारे श्रीरामचन्द्र अपने गुणों से मण्डित हो, शोभा को प्राप्त होते थे ॥ ३३ ॥

तमेवं व्रतसम्पन्नमप्रधृष्यपराक्रमम् ।
लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी में ऐसे दिव्यगुण, व्रतपालन, एवं अकुण्ठित पराक्रम देख और उनको लोकपालों के समान समझ, पृथिवी ने उनको अपना स्वामी बनाने की मनोकामना की ॥ ३४ ॥

एतैस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम् ।
दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परन्तपः ॥ ३५ ॥

अपने पुत्र में ऐसे बहुत से अनुपम गुणों को देख, महाराज दशरथ ने अपने मन में विचारा ॥ ३५ ॥

अथ राज्ञो बभूवैवं वृद्धस्य चिरजीविनः ।
प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ॥३६॥

कि राज्य करते करते मैं बूढ़ा हो गया, अब मैं अपने जीते जी क्यों कर श्रीरामचन्द्र जी को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर प्रसन्न होऊँ ॥ ३६ ॥

एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि सम्परिवर्तते ।
कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम् ॥ ३७ ॥

महाराज दशरथ के मन में यह कामना सदा बनी रहने लगी कि, मैं अपने प्यारे पुत्र श्रीराम जी को राजगद्दी पर बैठा हुआ कब देख सकूँगा ॥ ३७ ॥

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पनः ।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी जल बर्साने वाले मेघ की तरह सब प्राणियों पर दया करने वाले हैं और प्रजा के लोगों को वे मुझसे भी अधिक प्यारे हैं ॥ ३८ ॥

यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ ।
महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः ॥ ३९ ॥

वे बल एवं पराक्रम में यम और इन्द्र के समान, बुद्धिमानों में बृहस्पति के समान, धैर्यधारण में अचल पर्वत के समान, और गुणों में मुझसे भी बढ़ कर हैं ॥ ३९ ॥

महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम् ।
अनेन वयसा दृष्ट्वा कथं स्वर्गमवाप्नुयाम् ॥ ४० ॥

ऐसे अपने पुत्र को इस सम्पूर्ण पृथिवी के राज्यासन पर बैठा देख, मैं इस उम्र में स्वर्ग कैसे सिधारूँ ॥ ४० ॥

इत्येतैर्विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः ।
शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

तं समीक्ष्य महाराजो युक्तं समुदितैर्गुणैः ।
निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत ॥ ४२ ॥

अन्य राजाओं के लिये दुर्लभ्य, असंख्य श्रेष्ठ एवं इस लोक के लिये लोकोत्तर गुणों से सहित, श्रीरामचन्द्र जी को देख, महाराज दशरथ ने मंत्रियों से परामर्श कर, उनको युवराज पद पर अभिषिक्त करना निश्चित किया ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम् ।
संचचक्षे च मेधावी शरीरे चात्मनो जराम् ॥ ४३ ॥

किन्तु, इसी समय उन्होंने देखा कि, स्वर्ग, आकाश और पृथिवी पर घोर उत्पातों का भय उपस्थित है। साथ ही सूक्ष्मदर्शी राजा ने अपने शरीर के बुढ़ापे को भी देखा ॥ ४३ ॥

पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः ।
लोके रामस्य बुबुधे संप्रियत्वं महात्मनः ॥ ४४ ॥

उन्होंने इस कार्य से पूर्णचन्द्रमुख श्रीरामचन्द्र का आनुकूल्य और अपनी चिन्ता या शोक की निवृत्ति तथा प्रजा का कल्याण समझा ॥ ४४ ॥

आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च ।
प्राप्तकालेन धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान्नृपः ॥ ४५ ॥

अपनी और प्रजा की भलाई तथा प्रसन्नता के लिये धर्मात्मा महाराज दशरथ ने बड़ी प्रीति के साथ, उपयुक्त समय देख, श्रीराम जी को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के लिये त्वरा की ॥ ४५ ॥

नानानगरवास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि ।
समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान्पृथिवीपतीन् ॥ ४६ ॥

उन्होंने अनेक नगरों और राष्ट्रों के रहने वाले प्रधान राजाओं को बुलवाया ॥ ४६ ॥

तान्वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान् ।
ददर्शालंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः ४७ ॥

महाराज दशरथ ने उन सब को आदर पूर्वक भवनों में ठहराया और नाना प्रकार के अलंकार प्रदान कर उनका सत्कार

किया तदनन्तर स्वयं अलंकृत हो, उनसे भेंट की। उनके बीच में बैठे हुए महाराज उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार प्रजापति, प्रजा के बीच में बैठे हुए शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ४७ ॥

न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः ।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम् ॥ ४८ ॥

शीघ्रता में केकयराज और मिथिलाधिपति को यह समाचार नहीं दिया गया, इस कारण कि उनको यह शुभ संवाद पीछे से मिल ही जायगा ॥ ४८ ॥

[नोट—शीघ्रता तो महाराज दशरथ को थी ही, किन्तु युवराजपद पर अपने ज्येष्ठ राजकुमार को अभिषिक्त करने का मामला उनका ख़ास था, नाते रिश्तेदारों से ऐसे घरू मामलों में पूँछने की या सलाह मशवरा करने की आवश्यकता भी नहीं हुआ करती। इस अवसर पर वे ही बुलाये गये थे, जिनसे राजसम्बन्धी मामलों से सम्बन्ध था।]

अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन्परबलार्दने ।
ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः ॥ ४९ ॥

जब शत्रुदर्पदलनकर्त्ता महाराज दशरथ (राजसभा में आ कर) राजसिंहासन पर बैठ गये, तब अन्य राजागण तथा प्रजाप्रतिनिधिगण दरबार में आ आ कर उपस्थित होने लगे ॥ ४९ ॥

अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च ।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ॥ ५० ॥

वे राजा लोग महाराज के दिये हुए भिन्न भिन्न प्रकार के आसनों पर (अर्थात् जो जिस आसन के योग्य था वह उसी प्रकार

के आसन पर) बिठाया गया। वे सब महाराज के सिंहासन की ओर मुख कर के बड़ी नम्रता से अथवा राजदरबार के नियमों के अनुसार बैठे ॥ ५० ॥

स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः
पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः ।
उपोपविष्टैर्नृपतिर्वृतो बभौ
सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः ॥ ५१ ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

विनयी नृपतियों तथा जनपदवासी प्रधान प्रधान लोगों से सम्मानित हो, सभा में बैठने पर, महाराज दशरथ वैसे ही सुशोभित मालूम पड़ते थे, जैसे इन्द्र, देवताओं के बीच शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

अयोध्याकाण्ड का पहिला सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

द्वितीयः सर्गः

[नोट—इस दूसरे सर्ग में रामराज्याभिषेक का सर्वसम्मतत्व प्रदर्शित किया गया है ।]

ततः परिषदं[1] सर्वामामन्त्र्य[2] वसुधाधिपः ।
हितमुद्धर्षणं[3] चैवमुवाच प्रथितं[4] वचः ॥ १ ॥

---

१ परिषदं—पौरजानपदसमूहं । (गो०) २ आमन्त्र्य—अभिमुखी कृत्य । (गो०) ३ उद्धर्षणं—उत्कृष्टहर्षजनकं । (रा०) ४ प्रथितं—सर्वजनश्राव्यं यथाभवति तथोवाच । (रा०)

तदनन्तर भूपति महाराज दशरथ ने सब पुरवासियों को अपने सामने बिठा, ऐसे उच्च स्वर से, जिससे सब को सुनाई पड़े, अत्यन्त हर्षोत्पादक वचन कहे ॥ १ ॥

दुन्दुभिस्वनकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना ।
स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥ २ ॥

बोलने के समय महाराज का बोल परम उच्च स्वर के साथ ऐसा जान पड़ता था, मानों नगाड़ा बज रहा हो, अथवा मेघ गरज रहा हो ॥ २ ॥

राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च ।
उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥ ३ ॥

राजाओं के बोलने योग्य अति सुन्दर एवं उपमारहित रस से भरी वाणी से महाराज दशरथ, राजाओं से बोले ॥ ३ ॥

विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम् ।
पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत्परिपालितम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार हमारे पूर्वज नरेन्द्रों ने पुत्रवत् इस विशाल राज्य का पालन किया है, यह तो आप लोगों को विदित है ही ॥ ४ ॥

श्रेयसा योक्तुकामोऽस्मि सुखार्हमखिलं जगत् ।
मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता ॥ ५ ॥

प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ।
इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम् ॥ ६ ॥

सो मैं इस समय भी इक्ष्वाकु प्रभृति नरनाथों द्वारा पालित इस राज्य में समस्त जगत को सुख सम्पत्ति बढ़ाने के लिये, एक

योजना करना चाहता हूँ। मैंने भी अपने पूर्वजों के पथ का अनुसरण कर और सदा सावधान रह कर, यथाशक्ति प्रजा की रक्षा की। सब प्रजाजनों के हित की कामना से यह मेरा शरीर ॥५॥६॥

पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया।
प्राप्य वर्षसहस्राणि वहून्यायूंषि जीवतः ॥ ७ ॥

इस श्वेत राजछत्र के नीचे रह कर जराजीर्ण हो गया है। इस समय मेरी अवस्था साठ हज़ार वर्ष की हो चुकी है; अतः मैं वहुत आयु भोग चुका हूँ ॥ ७ ॥

जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये।
राजप्रभावजुष्टां हि दुर्वहामजितेन्द्रियैः ॥ ८ ॥

परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन्।
सोऽहं विश्रममिच्छामि रामं कृत्वा प्रजाहिते ॥ ९ ॥

सन्निकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान्।
अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैर्ज्येष्ठो ममात्मजः ॥ १० ॥

मैं अव चाहता हूँ कि, इस वृद्ध शरीर को विश्राम दूँ। जिस भार को अजितेन्द्रिय पुरुष नहीं उठा सकते, उस लोक के भारी धर्मभार को ढोते ढोते मैं थक गया हूँ। इस लिये अव मैं प्रजा के हित के लिये उपस्थित ब्राह्मणों की सम्मति से अपने जैसे सव गुणों से युक्त ज्येष्ठ पुत्र को प्रजापालन का भार सौंपा चाहता हूँ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

पुरन्दरसमो वीर्ये रामः परपुरञ्जयः।
तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतांवरम् ॥ ११ ॥

मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र पराक्रम में इन्द्र के समान शत्रुओं का नाश करने वाले हैं। पुष्य नक्षत्र युक्त चन्द्रमा की तरह धर्मात्मा ॥ ११ ॥

यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रीतः पुरुषपुङ्गवम्।
अनुरूपः स वै नाथो लक्ष्मीवाल्लँक्ष्मणाग्रजः ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र को मैं युवराजपद पर कल प्रातःकाल ही स्थापित करना चाहता हूँ। क्योंकि वे पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। लक्ष्मण के बड़े भाई और कान्तिमान् श्रीरामचन्द्र तुम्हारे योग्य रक्षक हैं ॥ १२ ॥

त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम्।
अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्ये तामिमां महीम् ॥ १३ ॥

मेरा तो विश्वास है कि, यह देश ही क्या, त्रैलोक्य मण्डल भी इनको पा कर सनाथ होगा; अतः इनको शीघ्र राज्यभार सौंप कर मैं भूमण्डल का कल्याण करना चाहता हूँ और ॥ १३ ॥

गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन्निवेश्य वै।
यदीदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार रामचन्द्र को राज्यशासन के कार्य में नियुक्त कर, मैं स्वयं चिन्ता रूपी क्लेश से निवृत्त होना चाहता हूँ। यदि मैंने यह विचार अच्छा और योग्य किया हो ॥ १४ ॥

भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् ॥ १५ ॥

यदि मेरा कहना ठीक हो तो आप लोग इसमें सम्मति दें। अथवा जो करना उचित हो सो बतलाइये। यद्यपि मुझे श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना अति प्रिय है, तथापि यदि इससे बढ़ कर और कोई हित की बात हो तो उसे सोच विचार कर आप लोग बतलावें ॥ १५ ॥

अन्या मध्यस्थचिन्ता हि [1]विमर्दाभ्यधिकोदया।
इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम् ॥ १६ ॥

क्योंकि मध्यस्थों द्वारा पूर्वापर का विवेचन होने के पश्चात् जो बात स्थिर होती है—वही उत्तम होती है। महाराज दशरथ के ये वचन सुन, सब राजा लोगों ने वैसे ही प्रसन्नता प्रकट की ॥ १६ ॥

वृष्टिमन्तं महामेघं नदन्त इव बर्हिणः।
स्निग्धोऽनुनादी संजज्ञे तत्र हर्षसमीरितः ॥ १७ ॥

जनौघोद्घुष्टसन्नादो विमानं कम्पयन्निव।
तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः ॥ १८ ॥

जैसे बरसते हुए बादल को देख मोर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। उस समय सामन्त राजाओं ने तथा अन्य उपस्थित जनों ने प्रसन्न हो, "वाह वाह" "ठीक, बहुत ठीक" कह कर, इतनी ज़ोर से आनन्द प्रकट किया कि, जान पड़ा मानों राज-सभा-भवन काँप रहा हो। धर्मात्मा महाराज दशरथ का आशय सब लोग समझ गये ॥ १७ ॥ १८ ॥

---

१ विमर्देन—पूर्वापरपक्षसंघर्षणेनहेतुना। (गो०)

ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ।
समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतागतबुद्धयः ॥ १९ ॥

तदनन्तर वशिष्ठादि ब्राह्मण, सामन्त राजा लोग और नगर के प्रधान प्रधान लोगों ने बाहिर से आये हुए विशिष्ट जनों से मिल कर, आपस में परामर्श किया और जब सब एकमत हो गये तब, ॥ १९ ॥

ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ।
अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव ॥ २० ॥

विचार कर वृद्ध महाराज दशरथ से बोले—हे राजन्! आप हज़ारों वर्ष राज्य करते करते बहुत बूढ़े हो गये हैं ॥ २० ॥

स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ।
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ॥ २१ ॥

अतएव हे राजन्! अब आप श्रीरामचन्द्र जी को युवराजपद पर अभिषिक्त कर दीजिये। क्योंकि हम लोगों की इच्छा है कि, महाबाहु एवं महाबली श्रीरामचन्द्र जी ॥ २१ ॥

गजेन महताऽऽयान्तं रामं छत्रावृताननम् ।
इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम् ॥ २२ ॥

एक बड़े हाथी पर बैठ कर और सिर के ऊपर राजछत्र लगाये हुए चलें और हम यह (शुभ दृश्य) देखें। महाराज दशरथ उन सब के ये वचन सुन कर और उनके मन का अभीष्ट जानने के लिये ॥ २२ ॥

अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ।
श्रुत्वैव वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ ॥ २३ ॥

अजान मनुष्य की तरह उनसे पूँछने लगे। आप लोग जो मेरे कहते ही श्रीराम जी को अपना रक्षक बनाने को तैयार हो गये ॥ २३ ॥

राजानः संशयोऽयं मे किमिदं ब्रूत तत्त्वतः ।
कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति ॥ २४ ॥

सो इससे मेरे मन में एक संशय उत्पन्न हो गया है। अतः आप अपने अभिप्राय को स्पष्ट कहिये। जब मैं धर्म से पृथिवी का पालन कर ही रहा हूँ, तब फिर क्यों ॥ २४ ॥

भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं ममात्मजम् ।
ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदैः सह ॥ २५ ॥

आप लोग मेरे पुत्र को युवराज बनाना चाहते हैं? (क्या मैं राज्यशासन ठीक ठीक नहीं कर रहा या मुझसे कोई भूल हुई है?) अयोध्यावासी तथा अन्य बाहिर के सामन्त, बुद्धिमान् महाराज दशरथ से बोले ॥ २५ ॥

बहवो नृप कल्याणा गुणाः पुत्रस्य सन्ति ते ।
गुणान्गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः ॥ २६ ॥
प्रियानानन्दनान्कृत्स्नान्प्रवक्ष्यामोऽद्य तान्शृणु ।
दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः ॥ २७ ॥

हे राजन्! (यह बात नहीं है, अर्थात् आप शासन भी ठीक ही ठीक कर रहे हैं और आपसे कोई भूल भी नहीं हुई; किन्तु हमारे

इस प्रकार के निश्चय पर पहुँचने का कारण यह है कि,) आपके राजकुमार में बहुत से बड़े अच्छे अच्छे गुण हैं (अर्थात् आपमें राज्य का शासन भलीभाँति करने ही का एक गुण है) बुद्धिमान् और देवरूप श्रीरामचन्द्र के प्रिय और आनन्ददायक गुणों को हम कहते हैं, सुनिये। दिव्य गुणों से सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी इन्द्र के समान हो रहे हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

इक्ष्वाकुभ्योपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशांपते।
रामः सत्पुरुषो लोके सत्यधर्मपरायणः ॥ २८ ॥

हे राजन्! अतएव वे सब इक्ष्वाकुवंशी राजाओं से अधिक हैं (अर्थात् आप ही नहीं किन्तु आपके पूर्ववर्ती समस्त राजाओं से भी अधिक बढ़ चढ़ कर हैं)। वे इस लोक में एक ही सत्पुरुष और सत्यधर्म-परायण हैं ॥ २८ ॥

साक्षाद्रामाद्विनिर्वृत्तो[1] धर्मश्चापि श्रिया सह।
प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ॥ २९ ॥

बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयकः ॥ ३० ॥

इन्हीं श्रीरामचन्द्र जी से शोभायमान धन और धर्म प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। प्रजाओं को सुख देने में या सुखी करने में श्रीरामचन्द्र जी चन्द्रमा के समान हैं (अर्थात् जैसे चन्द्रमा, अपनी अमृतस्रावी किरणों से सब अन्न फल फूलादि परिपक्व कर प्रजा को पुष्ट करता है; वैसे ही यह रामचन्द्र प्रजा को आनन्दित और पुष्ट करते हैं)। श्रीराम जी क्षमा करने में पृथिवी के समान, बुद्धि में बृहस्पति के

१ विनिर्वृत्तः—प्रतिष्ठापिता। (रा०)

तुल्य, पराक्रम में साक्षात् इन्द्र के समान हैं। श्रीराम जी धर्मज्ञ हैं, सत्यवादी हैं, शीलवान हैं, ईर्ष्या रहित हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ।
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी क्षमावान् हैं, कुपित और दुःखियों को सान्त्वना प्रदान करने वाले हैं, प्रिय बोलने वाले हैं, कोई थोड़ा भी उपकार करे तो उसे बहुत बड़ा कर के मानने वाले हैं, जितेन्द्रिय हैं, कोमल स्वभाव वाले हैं, जो बात एक बार कह देते हैं, उसे महान् सङ्कट पड़ने पर भी नहीं बदलते, सदा कल्याण रूप हैं, और किसी की भ निन्दा नहीं करते ॥ ३१ ॥

प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ।
बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी प्राणिमात्र से प्रिय और सत्य बोलने वाले हैं, तथा बहुदर्शी और वृद्ध ब्राह्मणों के उपासक हैं ॥ ३२ ॥

तेनास्येहातुला कीर्त्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ।
देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः ॥ ३३ ॥

इसीसे श्रीरामचन्द्र जी की अतुलकीर्ति, यश और तेज बढ़ता जाता है। क्या देवता, क्या असुर, और क्या मनुष्य, सब से वे सब शस्त्रों के चलाने रोकने और चलाये हुए अस्त्रों को लौटा लेने में चढ़ बढ़ कर निपुण हैं ॥ ३३ ॥

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।
गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ ३४ ॥

श्रीराम जी जितनी विद्याएँ हैं, उन सब के नियमों के पारङ्गत हैं, (अर्थात् सब विद्याओं का नियमपूर्वक भली भाँति अध्ययन किये हुए हैं) साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण वेद के जानने वाले हैं, गानविद्या में वे अद्वितीय हैं ॥ ३४ ॥

कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ।
द्विजैरभिविनीतश्च[1] श्रेष्ठैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥ ३५ ॥

सकल कल्याणों के आश्रय स्थल हैं, अथवा उत्तमकुलोत्पन्न हैं, साधु प्रकृति के हैं, सदा प्रसन्न चित्त रहने वाले हैं, बड़े बुद्धिमान् हैं, ब्राह्मणों द्वारा सुशिक्षित हैं, श्रेष्ठ हैं और धर्मार्थ के प्रतिपादन में कुशल हैं ॥ ३५ ॥

यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ।
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते ॥ ३६ ॥

फिर वे जब कभी श्रीलक्ष्मण जी के साथ ग्राम या नगर को जीतने के लिये रण में जाते हैं, तब वे शत्रु को जीते बिना नहीं लौटते ॥ ३६ ॥

संग्रामात्पुनरागम्य कुञ्जरेण रथेन वा ।
पौरान्स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ॥ ३७ ॥

पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ।
निखिलेनानुपूर्व्याच्च पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ ३८ ॥

और संग्राम से रथ या हाथी पर बैठ कर, जब वे लौटते हैं, तब पुरवासियों से स्वजनों की भाँति उनके पुत्रों का, अग्नि (अग्नि

---

1 अभिविनीतः—सर्वतः सुशिक्षितः । (गो०)

होत्रादि) का, स्त्रियों का तथा दास और शिष्यों का क्रम से उसी प्रकार कुशल पूँछते हैं; जैसे पिता अपने औरस पुत्रों से कुशल पूँछता हो ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चित्कर्मसु दंशिताः[1] ।
इति नः पुरुषव्याघ्रा सदा रामोऽभिभाषते ॥ ३९ ॥

हे महाराज ! हम लोगों से श्रीरामचन्द्र जी सदा पूँछा करते हैं कि, तुम्हारे शिष्य यथाविधि तुम्हारी सेवा शुश्रुषा करते हैं कि, नहीं ? अपने काम में सदा तत्पर रहते हैं कि, नहीं ? ॥ ३९ ॥

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ॥ ४० ॥

जब कभी कोई मनुष्य दुखी होता है, तब उसके दुख से आप दुखी होते हैं और जब किसी के कोई उत्सव होता है, तब वे आप पिता की तरह सन्तुष्ट होते हैं ॥ ४० ॥

सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मना श्रितः ॥ ४१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बड़े सत्यवादी, महाधनुर्द्धर, वृद्धसेवी, जितेन्द्रिय, (मिलते ही) स्वयं प्रथम हँस कर बोलने वाले और सब प्रकार से धर्मसेवी हैं ॥ ४१ ॥

सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विग्रहकथारुचिः ।
उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ ४२ ॥

---

१ दंशितः—सन्नद्धाः । (गो०)

वे अच्छे कामों को सदा करने वाले हैं, लड़ाई झगड़े की बातें कहने सुनने में उनको रुचि ही नहीं है। वे वार्तालाप करते समय उत्तरोत्तर युक्तियों से काम लेने में वृहस्पति के समान हैं ॥ ४२ ॥

सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद्विष्णुरिव स्वयम् ।
रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः ॥ ४३ ॥

सुन्दर भौंह, बड़े बड़े रक्त नेत्र वाले श्रीराम जी साक्षात् विष्णु के तुल्य हैं। श्रीरामचन्द्र जी शौर्य, वीर्य व पराक्रम में लोगों को अत्यन्त प्रिय हैं ॥ ४३ ॥

प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ।
शक्तस्त्रैलोक्यमप्येको भोक्तुं किंनु महीमिमाम् ॥४४॥

वे प्रजा के पालन करने में सदा तत्पर रहते हैं और राजसी भोगों में संलग्न न होने वाले हैं अथवा उनकी इन्द्रियाँ चञ्चल नहीं हैं। श्रीरामचन्द्र जी तीनों लोकों का राज्य करने की सामर्थ्य रखते हैं, उनके लिये इस पृथिवी का राज्य क्या चीज़ है? ॥ ४४ ॥

नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ।
हन्त्येव नियमाद्वध्यानवध्ये नच कुप्यति ॥ ४५ ॥

इनका क्रोध और इनकी प्रसन्नता कभी निरर्थक नहीं होती। ये मारने योग्य को मारे बिना नहीं रहते और न मारने योग्य पर कभी क्रुद्ध भी नहीं होते ॥ ४५ ॥

युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ।
दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैर्नृणाम् ॥ ४६ ॥

जिस पर ये प्रसन्न होते हैं, उसको सब ही कुछ देते हैं। ये यम नियमादि पालन में कष्टसहिष्णु हैं। सब प्रजाजनों के प्रीतिपात्र हैं, और स्वजनों में प्रीति उत्पन्न कराने वाले हैं ॥ ४६ ॥

गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ।
तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ४७ ॥

इन गुणों से श्रीरामचन्द्र जी किरणों द्वारा सूर्य की तरह शोभा देने वाले हैं। इन सब गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी को, ॥ ४७ ॥

लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ।
वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघव ॥४८॥

लोकपालों की तरह पृथिवी अपना पति बनाना चाहती है। हे महाराज! आप बड़े भाग्यवान् हैं, ऐसे कल्याणमूर्ति श्रीराम जी आपके पुत्र हैं ॥ ४८ ॥

दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव काश्यपः ।
बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः[1] ॥ ४९ ॥

बड़े सौभाग्य ही से मरीच के पुत्र कश्यप की तरह गुणवान् ये आपके पुत्र हैं। (सो वे राज्यारूढ़ हों, यह तो बड़े सौभाग्य की बात है।) जगप्रसिद्ध श्रीराम जी के बल, आरोग्य और दीर्घ जीवन के लिये ॥ ४९ ॥

देवासुरमनुष्येषु गन्धर्वेषूरगेषु च ।
आशंसन्ते[2] जनाः सर्वे राष्ट्रे पुरवरे तथा ॥ ५० ॥

---

१ विदितात्मनः—प्रसिद्धशीलस्य । (गो०) २ आशंसन्ते—प्रार्थयते । (गो०)

देवता, असुर, ऋषि, गन्धर्व, नाग, तथा अयोध्या नगरी के निवासी तथा कोशलराज्य भर के समस्त लोग प्रार्थना करते हैं ॥ ५० ॥

आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ।
स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः ॥५१॥

सर्वान्देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे यशस्विनः ।
तेषामायाचितं देव त्वत्प्रसादात्समृध्यताम् ॥ ५२ ॥

बाहिरी और राजधानी के रहने वाले स्त्री पुरुष, बूढ़े जवान सब लोग सुबह शाम एकाग्र मन से सब देवताओं से यशस्वी श्रीरामचन्द्र जी की मङ्गलकामना के लिये प्रार्थना किया करते हैं। उन सब की प्रार्थना आप पूरी करें ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥ ५३ ॥

हम लोग, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को, जो नील कमल के सदृश श्याम हैं, और शत्रुनाशक हैं, युवराज के आसन पर बैठा देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥

तं देवदेवोपममात्मजं ते
सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं
मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥ ५४ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे वरद! अब हम लोगों की यह प्रार्थना है कि, आप विष्णु के समान, सब लोकों के हितकारी, उदार अपने पुत्र श्रीराम जी को प्रसन्न मन से यौवराज्य पद पर शीघ्र अभिषिक्त कर दीजिये ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

तृतीयः सर्गः

—:*:—

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः।
प्रतिगृह्याब्रवीद्राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार हाथ जोड़ कर वे लोग जो प्रार्थना कर रहे थे, उसको आदर पूर्वक सुन कर महाराज दशरथ उनसे प्रिय व हित-कर वचन बोले ॥ १ ॥

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥

आहा! मैं बहुत प्रसन्न हूँ, मेरे बड़े भाग्य हैं, जो आप लोग मेरे प्यारे ज्येष्ठ पुत्र को युवराज बनाना चाहते हैं ॥ २ ॥

इति प्रत्यर्च्य तान्राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत्।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार उन लोगों का मधुर वचनों से सम्मान कर, महाराज दशरथ उनके ही सामने, वशिष्ठ, वामदेवादि ब्राह्मणों से बोले ॥ ३ ॥

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः ।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥

इस श्रेष्ठ और पवित्र चैत्रमास में, जिसमें चारों ओर वन पुष्पों से सुशोभित हो रहे हैं, श्रीरामचन्द्र जी के, यौवराज्य पद पर अभिषेक करने की आप लोग सब तैयारियाँ कीजिये ॥ ४ ॥

राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत् ।
शनैस्तस्मिन्प्रशान्ते च जनघोषो नराधिपः ॥ ५ ॥

जब यह कह कर महाराज चुप हो गये, तब लोगों ने बड़ा आनन्दघोष किया । महाराज दशरथ, धीरे धीरे उस जनघोष के शान्त हो जाने पर ॥ ५ ॥

वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत् ।
अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम् ॥ ६ ॥

तदद्य भगवान्सर्वमाज्ञापयितुमर्हति ।
तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो द्विजसत्तमः ॥ ७ ॥

मुनिप्रवर वशिष्ठ जी से बोले, हे भगवन्! श्रीराम जी के अभिषेक के लिये जो जो कृत्य करने हों और जो सामान चाहिये, उसके लिये आज्ञा कीजिये । विप्रप्रवर वशिष्ठ जी ने यह सुन कर ॥ ६ ॥ ७ ॥

आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान्युक्तान्कृताञ्जलीन् ।
सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन्सर्वौषधीरपि ॥ ८ ॥

उन मंत्रियों को जो महाराज के सामने हाथ जोड़े हुए थे, आज्ञा दी कि, तुम लोग सुवर्णादि रत्नावलि (देवोपहार की वस्तुएँ) और सब ओषधियाँ ॥ ८ ॥

शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक्च मधुसर्पिषी ।
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥

चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम् ।
चामरव्यजने श्वेते ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥

शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम् ।
हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च ॥ ११ ॥

उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारं महीपतेः ।
यच्चान्यत्किञ्चिदेष्टव्यं तत्सर्वमुपकल्प्यताम् ॥ १२ ॥

सफेद पुष्प की मालाएं, लाजा (धान की खीलें), अलग अलग पात्रों में शहद व घी, कोरे वस्त्र, रथ, सब आयुध, चतुरङ्गिणी सेना, शुभ लक्षण वाले हाथी, दो चँवर, सफेद ध्वजा और सफेद छत्र, सुवर्ण के सौ कलश, जो अग्नि के समान चमकदार हों, सुवर्ण से मढ़े हुए सींग वाले बैल, अखण्डित व्याघ्र चर्म, तथा अन्य जो कुछ चाहिये सो सब एकत्र कर, कल सवेरे महाराज की अग्निशाला में ला कर रखो ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च ।
चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः ॥ १३ ॥

रनिवास के और नगर के सब द्वारों का चन्दन, माला और अच्छी सुगन्धित धूप से पूजन किया जाय ॥ १३ ॥

प्रशस्तमन्नं गुणवद्दधिक्षीरोपसेचनम् ।
द्विजानां शतसाहस्रे यत्प्रकाममलं भवेत ॥ १४ ॥

सब प्रकार के सुन्दर, मीठे और आरोग्यकारी अन्न, दही, दूध, के बने हुए पदार्थ तैयार किये जायँ, जिससे एक लक्ष ब्राह्मण भोजन कर तृप्त हो सकें ॥ १४ ॥

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम् ।
घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥१५ ॥

यह भोजन कल सवेरे ही ब्राह्मणों को सत्कार पूर्वक दिया जाय। उनको घी, दही तथा लावा (खीले) और दक्षिणा भी इतनी दी जाय कि, उन्हें फिर अन्यत्र कहीं माँगने की आवश्यकता न रहे ॥ १५ ॥

सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम् ।
ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च ॥१६॥

सूर्य उदय होते ही कल स्वस्तिवाचन होगा। अतएव ब्राह्मणों के पास (आज ही) निमंत्रण भेज दिया जाय और उनको बैठाने के लिये आसनों का प्रबन्ध कर दिया जाय ॥ १६ ॥

आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम् ।
सर्वे च तालावचरा[1] गणिकाश्च स्वलंकृताः ॥ १७ ॥

कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनिः ।
देवायतनचैत्येषु सान्नभक्षाः सदक्षिणाः ॥ १८ ॥

---

१ तालावचरा—नर्तकादयः । (गो०)

उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक्पृथक् ।
दीर्घासिबद्धा योधाश्च सन्नद्धा मृष्टवाससः ॥ १९ ॥

जगह जगह चंदनवारें बाँध दी जायँ, और सड़कों पर छिड़काव करवा दिया जाय। नटखटाइयों सहित नाचने गानी वेश्याएँ सजधज कर राजभवन की दूसरी ड्योढ़ी पर उपस्थित रहें। यज्ञशालाओं में जितने देवमन्दिर तथा चौराहे हैं, उन सब में, खाने पीने योग्य पदार्थ, दक्षिणा और अन्य पूजन की सामग्री तथा फूल आदि, अलग अलग भेज दी जायँ। निडर खड्गधारी शूर योद्धा, सुन्दर पोशाकें पहिन कर, ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

महाराजाङ्गणं सर्वे प्रविशन्तु महोद्यमम्[1] ।
एवं व्यादिश्य विप्रौ तौ क्रियास्तत्र सुनिष्ठितौ ॥२०॥

महाराज के आँगन में जहाँ कि महोत्सव होगा, उपस्थित हों। इस प्रकार वशिष्ठ और वामदेव मंत्रियों को आज्ञा दे तथा सब कामों का ठीकठाक कर, ॥ २० ॥

चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद्य च ।
कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम् ॥ २१ ॥

और जो वस्तुएँ और अपेक्षित थीं उनको मँगवाने की आज्ञा दे और जो काम करवाना था उसको आरम्भ करवा, महाराज के पास जा कर इन सब बातों की सूचना दी ॥ २१ ॥

यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजर्षभौ ।
ततः सुमन्त्रं द्युतिमान्राजा वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

---

1 महोद्यम—महोत्सवविशिष्ट मङ्गलम् । (रा०)

जब उन दोनों द्विजश्रेष्ठों ने महाराज से हर्षित हो कहा कि, "ठीक है," तब महातेजस्वी महाराज ने सुमंत्र से कहा ॥ २२ ॥

रामः कृतात्मा[1] भवता शीघ्रमानीयतामिति ।
स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥ २३ ॥
रामं तत्रानयाञ्चक्रे रथेन रथिनांवरम् ।
अथ तत्र समासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥ २४ ॥

कि तुम जा कर सुशिक्षित श्रीरामचन्द्र को शीघ्र यहाँ ले आओ। महाराज की आज्ञा पा और "जो आज्ञा" कह, सुमंत्र तुरन्त रथ में सवार करा योद्धाओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी को महाराज के पास ले आये ॥ २३ ॥ २४ ॥

प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः ।
म्लेच्छाचार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः ॥२५॥

उस समय महाराज के पास पूर्व, उत्तर, पश्चिम, और दक्षिण के राजा लोग, म्लेच्छ, आर्य और वन तथा पर्वतों के रहने वाले राजागण ॥ २५ ॥

उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा इव वासवम् ।
तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासवः ॥ २६ ॥

राजसभा में इस प्रकार बैठे थे कि, जिस प्रकार देवतागण इन्द्र की सभा में बैठते हैं। उस समय राजर्षि दशरथ उन राजाओं के बीच वैसी ही शोभा को प्राप्त हो रहे थे, जैसी शोभा देवताओं के बीच इन्द्र की होती है ॥ २६ ॥

---

१ कृतात्मा—सुशिक्षितबुद्धिः । (गो०)

प्रासादस्थो रथगतं ददर्शायान्तमात्मजम् ।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥

दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥

रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

इतने में कोठे पर बैठे हुए महाराज ने गन्धर्वराज के समान सुन्दर, प्रसिद्ध पराक्रमी, आजानुबाहु, महाबली, मत्त गजराज के समान चालवाले, चन्द्रमुख, अतीव प्रियदर्शन, रूप और उदारता गुण से देखने वाले के मन को हरण करने वाले, तथा जिस प्रकार घाम से तप्त प्राणी मेघ के दर्शन कर प्रसन्न होते हैं; उसी प्रकार अपने दर्शन से प्रजा को प्रसन्न करने वाले; अपने पुत्र श्रीराम जी को देखा ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः ।
अवतार्य सुमन्त्रस्तं राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥

पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं नरपुङ्गवः ॥ ३१ ॥

आरुरोह नृपं द्रष्टुं सह सूतेन राघवः ।
स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥

महाराज दशरथ आये हुए श्रीरामचन्द्र जी को देखते देखते नहीं अघाते थे। श्रीरामचन्द्र जी को उस उत्तम रथ से उतार

कर महाराज दशरथ के पास जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी के पीछे सुमंत्र हाथ जोड़ कर चले। पितृभक्त श्रीरामचन्द्र जी कैलास पर्वत जैसे ऊँचे राजभवन पर सुमंत्र सहित महाराज से मिलने के लिये चढ़े और उन्होंने महाराज के समीप जा, हाथ जोड़, ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

नाम स्वं श्रावयन्रामो ववन्दे चरणौ पितुः ।
तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥ ३३ ॥

और अपना नाम ले कर पिता के चरणों को प्रणाम किया। महाराज दशरथ ने जब देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े बग़ल में खड़े हुए हैं ॥ ३३ ॥

गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम् ।
तस्मै चाभ्युदितं सम्यङ्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ३४ ॥

तब महाराज ने उनका हाथ पकड़ और गले से लगा अपने सामने ऊँचे, सुवर्णमय और रत्नजटित ॥ ३४ ॥

दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम् ।
तदासनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥ ३५ ॥

स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः ।
तेन विभ्राजता तत्र सा सभाऽभिव्यरोचत ॥ ३६ ॥

एक उत्तम आसन पर बैठने की आज्ञा दी। उस आसन पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रभा से वैसे ही सुशोभित हुए जैसे सुमेरु पर्वत पर उदयकाल में उज्ज्वल श्रीसूर्य भगवान् सुशोभित होते हैं। वहाँ बैठे हुए श्रीरामचन्द्र से उस सभा को वैसी ही शोभा हुई ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना ।
तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् ॥ ३७ ॥

जैसी चन्द्रमा के उदय होने पर ग्रह नक्षत्र से पूर्ण शारदीय आकाश की होती है। महाराज दशरथ अपने प्यारे पुत्र की ऐसी शोभा देख, वैसे ही परम सन्तुष्ट हुए ॥ ३७ ॥

अलङ्कृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् ।
स तं सस्मितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतांवरः ॥ ३८ ॥

जैसे कोई अच्छे वसन भूषण पहन कर अपना रूप दर्पण में देख कर प्रसन्न होता है। सब पुत्रवानों में श्रेष्ठ महाराज दशरथ मुसक्या कर वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३८ ॥

उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः ।
ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ॥ ३९ ॥

जैसे कश्यप, इन्द्र से प्रसन्न हो कर बोलते हैं। हे वत्स! तुम, मेरी बड़ी रानी के अनुरूप ही पुत्र हुए हो ॥ ३९ ॥

उत्पन्नस्त्वं गुणश्रेष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।
त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ॥ ४० ॥

तुममें सब उत्तम गुण विद्यमान हैं और तुम मुझे अत्यन्त प्यारे हो। तुमने अपने गुणों से सब प्रजाजनों को प्रसन्न कर रखा है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ।
कामतस्त्वं प्रकृत्यैव विनीतो गुणवानसि ॥ ४१ ॥

इस लिये तुम पुष्य नक्षत्र में यौवराज्य पद पर विराजमान हो। यद्यपि तुम स्वभाव ही से सर्वगुणसम्पन्न और विनम्र हो; ॥ ४१ ॥

गुणवत्यपि तु स्नेहात्पुत्र वक्ष्यामि ते हितम्।
भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४२ ॥

तथापि स्नेह से प्रेरित हो, मैं तुम्हारे हित की बात कहता हूँ। तुमको उचित है कि, विनय को धारण कर सदा जितेन्द्रिय बने रहो ॥ ४२ ॥

कामक्रोधसमुत्थानि त्यजेथा व्यसनानि च।
परोक्षया[1] वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा ॥ ४३ ॥

काम क्रोध से उत्पन्न हुए जो दुर्व्यसन लोगों में उत्पन्न हो जाया करते हैं, उनसे सदा बचो। अपने राज्य की तथा दूसरे राजाओं के राज्य की घटनाओं को अपने जासूसों द्वारा रत्ती रत्ती ऐसे जानते रहो मानों वे घटनाएँ तुम्हारी आँखों के सामने हुई हों ॥ ४३ ॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रकृतीश्चानुरञ्जय।
कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा सन्निचयान्बहून् ॥ ४४ ॥

ऐसा बर्ताव करो जिससे सब मंत्रिवर्ग और प्रजाजन प्रसन्न रहें। अन्न के भण्डार तथा अस्त्र शस्त्रों के भण्डार को, अन्न तथा अस्त्र शस्त्रों के संग्रह से सदा बढ़ाते रहो ॥ ४४ ॥

---

१ परोक्षया—चारमुखतः परोक्षानुभवसिद्धयावृत्त्यास्वपराष्ट्रवृतान्त विचारेण। (रा०)

इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् ।
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः ॥ ४५ ॥

देखा, जो राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न रख कर राज्य करता है, उससे उसके मित्र वैसे ही प्रसन्न रहते हैं, जैसे अमृतपान से देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ४५ ॥

तस्मात्पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर ।
तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥ ४६ ॥

अतएव हे वत्स ! तुम सावधान हो कर, मैंने जैसा कहा है, तदनुसार आचरण करो। महाराज दशरथ के यह वचन सुन, श्रीराम जी के हितैषी मित्रों ने ॥ ४६ ॥

त्वरिताः शीघ्रमभ्येत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ।
सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च ।
व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ॥ ४७ ॥

तुरन्त जा कर यह शुभ संवाद कौशल्या जी को सुनाया। सुनते ही प्रसन्न हो कर प्रमदाओं में श्रेष्ठा कौशल्या जी ने उन सुखद संवाद सुनाने वालों को अशरफियाँ तरह तरह के रत्न (जटित आभूषण) और गौएँ देने की आज्ञा दी ॥ ४७ ॥

अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः ।
ययौ स्वं द्युतिमद्वेश्म जनौघैः परिपूजितः ॥ ४८ ॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी, महाराज दशरथ को प्रणाम कर और रथ पर सवार हो अपने भड़कीले से घर की ओर गये। रास्ते में लोगों की भीड़ ने उनका अभिनन्दन किया ॥ ४८ ॥

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्त-
च्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा
देवान्समानर्चुरतिप्रहृष्टाः ॥ ४९ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

पुरवासी भी महाराज की आज्ञा सुन और इसे अपनी इष्ट प्राप्ति समझ (मनचीता पाया) और महाराज को प्रणाम कर, अपने अपने घरों को गये और परम प्रसन्न हो देवताओं का पूजन इसलिये किया कि, रामाभिषेक में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े ॥ ४९ ॥

अयोध्याकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

चतुर्थः सर्गः

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः ।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम्[1] ॥ १ ॥

पुरवासियों के चले जाने पर, महाराज दशरथ ने फिर मंत्रियों के साथ परामर्श कर रामाभिषेक के काल के विषय में इस प्रकार निश्चय कर (मंत्रियों से कहा) ॥ १ ॥

श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः ।
रामो राजीवताम्राक्षो यौवराज्य इति प्रभुः ॥ २ ॥

---

1 निश्चयम्—रामाभिषेककालविषयम् । (रा०)

(अगले दिन) कल ही पुष्य नक्षत्र है, अतः कमललोचन हमारे पुत्र श्रीरामचन्द्र का युवराजपद पर अभिषेक कल अवश्य हो जाना चाहिये ॥ २ ॥

अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा ।
सूतमाज्ञापयामास रामं पुनरिहानय ॥ ३ ॥

(यह कह मंत्रियों को विदा किया। केवल सुमंत्र के साथ) महाराज दशरथ अन्तःपुर में गये और सुमंत्र को आज्ञा दी कि, श्रीराम को फिर हमारे पास ले आओ ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य स तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ ।
रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः ॥ ४ ॥

सुमंत्र महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य कर, श्रीराम जी को पुनः बुला लाने के लिये शीघ्र श्रीराम जी के भवन को गये ॥ ४ ॥

द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः ।
श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत् ॥ ५ ॥

जब द्वारपालों ने, श्रीरामचन्द्र जी से उनके बुलाने के लिये सुमंत्र के पुनः आने का संवाद कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी सुमंत्र के पुनः बुलाने के लिये आने का संवाद सुन, मन में शङ्कित हुए ॥ ५ ॥

प्रवेश्य चैनं त्वरितं रामो वचनमब्रवीत् ।
यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः ॥ ६ ॥

किन्तु तुरन्त ही सुमंत्र को सामने लाने की द्वारपालों को आज्ञा दी और सुमंत्र के सामने आने पर उनसे पूँछा कि आपका आगमन जिस कारण हुआ है सो सब कहिये ॥ ६ ॥

तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
श्रुत्वा प्रमाणमत्र त्वं गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥

सुमंत्र ने उत्तर दिया—महाराज आपको देखना चाहते हैं। आगे आप जैसा उचित समझें करें ॥ ७ ॥

इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽथ त्वरयान्वितः ।
प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम् ॥ ८ ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी शीघ्रतापूर्वक महाराज दशरथ के महल में उनसे फिर मिलने को गये ॥ ८ ॥

तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः ।
प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का आगमन सुन, महाराज दशरथ, उनसे कुछ (गुप्त रूप से) बातचीत करने के लिये, उन्हें अपने निजगृह (ख़ास कमरे) में ले गये ॥ ९ ॥

प्रविशन्नेव च श्रीमान्राघवो भवनं पितुः ।
ददर्श पितरं दूरात्प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पिता के भवन में प्रवेश करते समय दूर ही से महाराज को देख हाथ जोड़ प्रणाम किया ॥ १० ॥

प्रणमन्तं समुत्थाप्य तं परिष्वज्य भूमिपः ।
प्रदिश्य चास्मै रुचिरमासनं पुनरब्रवीत् ॥ ११ ॥

(फिर जब वे पिता के समीप पहुँचे, तब इन्होंने पृथिवी पर गिर कर, प्रणाम किया) प्रणाम करते हुए, श्रीरामचन्द्र जी

को उठा अपने हृदय से लगा और बैठने को आसन दे, महाराज उनसे बोले ॥ ११ ॥

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा मयेप्सिताः ।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैस्तथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥ १२ ॥

हे राम ! हम अब बूढ़े हो गये हैं । हमने बहुत दिनों राज्य कर के मनमाने सुख भोगे तथा अन्न दान पूर्वक विपुल दक्षिणा दे कर, सैकड़ों यज्ञ भी किये ॥ १२ ॥

जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि ।
दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पृथिवी तल पर उपमारहित तुम जैसे सुपुत्र को पा कर मेरा दान देना और वेदाध्ययन करना सार्थक हुआ । अथवा मेरे तुम जैसे अनुपम पुत्र उत्पन्न हुए । हे नरश्रेष्ठ ! मैंने मनमाने दान दिये, यज्ञ किये और वेदाध्ययन भी किया ॥ १३ ॥

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीरसुखान्यपि ।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

हे वीर ! जहां तक सुखभोग हो सकता है मैंने भोगा अथवा अब भोगने के लिये कोई सुख शेष नहीं रहा । मैं देव, ऋषि, पितृ, ब्राह्मण तथा आत्म-ऋणों से मुक्त हो चुका । (यज्ञ, अध्ययन, पुत्रोत्पादन, दान तथा उत्तम उत्तम पदार्थों का भोग ; उक्त ऋणों से छूटने के क्रमागत उपाय हैं ।) ॥ १४ ॥

न किञ्चिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात् ।
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

अब केवल तुम्हारे अभिषेक को छोड़ मुझे अन्य कोई भी काम करना शेष नहीं रहा। अतएव अब मैं जो तुमसे कहता हूँ, उसे तुम करो ॥ १५ ॥

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम् ।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥

अब प्रजा जनों की यह इच्छा है कि, तुम उनके राजा बनो। हे वत्स! इसी लिये मैं तुम्हारा युवराज पद पर अभिषेक करता हूँ ॥ १६ ॥

अपि चाद्याशुभान्राम स्वप्ने पश्यामि दारुणान् ।
सनिर्घाता महोल्काश्च पतिता हि महास्वनाः ॥१७॥

(किन्तु इस मेरी चाहना के पूरे होने में मुझे विघ्न पड़ता हुआ देख पड़ता है, क्योंकि) कुछ दिनों से रात में मुझे बड़े भयङ्कर और अशुभ स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं। आकाश से बड़े भीषण शब्द के साथ वज्रपात के साथ उल्कापात होते हैं ॥ १७ ॥

अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणैर्ग्रहैः ।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ १८ ॥

हे राम! मेरे जन्म नक्षत्र को बुरे ग्रहों ने घेर रखा है। ज्योतिषियों का कहना है कि, सूर्य, मङ्गल, राहु का जन्म नक्षत्र को घेरना अच्छा नहीं ॥ १८ ॥

[नोट—आधुनिक कतिपय आलोचकों का मत है कि, भारतवर्ष में प्राचीन काल में फलितज्योतिष का प्रचार नहीं था। फलितज्योतिष भारतवासियों ने मुसल्मानों से सीखा। किन्तु इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि, रामायणकाल में भारतवर्ष में फलितज्योतिष माना जाता था और तत्कालीन राजागण

ज्योतिषियों के बतलाये फलों पर आस्थावान् थे और ज्योतिषियों के बतलाये फल भी मिला करते थे ।]

प्रायेण हि निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे ।
राजा हि मृत्युमवाप्नोति घोरां वाऽऽपदमृच्छति ॥ १९ ॥

प्रायः, ऐसा बुरा योग होने पर या तो राजा की मृत्यु होती है, अथवा उस पर कोई भारी विपत्ति पड़ती है ॥ १६ ॥

तद्यावदेव मे चेतो न विमुञ्चति राघव ।
तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥ २० ॥

सो हे राघव ! मैं चेत में रहते हुए ही (अर्थात् जब तक मेरे होश हवास दुरुस्त है) तुम्हारा अभिषेक कर देना चाहता हूँ। क्योंकि मनुष्य की मति का कुछ भरोसा नहीं ॥ २० ॥

अद्य चन्द्रोऽभ्युपगतः पुष्यात्पूर्वं पुनर्वसू ।
श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥ २१ ॥

तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम् ।
श्वस्त्वाऽहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परन्तप ॥ २२ ॥

ज्योतिषियों ने बतलाया है कि, आज पुर्नवसु नक्षत्र है, कल पुष्य नक्षत्र आवेगा और पुष्य नक्षत्र अभिषेक के लिये अच्छा है। मैं तुम्हारे अभिषेक के लिये व्यग्र हो रहा हूँ। अतः मेरी इच्छा है कि, कल ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय ॥ २१ ॥ २२ ॥

तस्मात्त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना ।
सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥ २३ ॥

अतः आज ही से तुम सस्त्रीक नियमानुसार व्रत उपवास करके पत्थर की चौकी पर कुश बिछा कर शयन करना ॥ २३ ॥

सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः ।
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥ २४ ॥

आज सावधानता पूर्वक चारों ओर से तुम्हारी रक्षा करना, तुम्हारे मित्रों का कर्त्तव्य है। क्योंकि ऐसे कार्यों में अनेक प्रकार के विघ्न होने की सम्भावना बनी रहती है ॥ २४ ॥

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥ २५ ॥

भरत इस समय अपने मामा के घर है, सुतरां उसके लौटने के पूर्व ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय, मेरी यही इच्छा है ॥ २५ ॥

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः ।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥ २६ ॥

क्योंकि यद्यपि तुम्हारे भाई भरत सज्जन हैं, बड़े भाई के कथनानुसार चलने वाले हैं, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं ॥ २६ ॥

किन्तु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतिः ।
सतां तु धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥ २७ ॥

तथापि मेरी समझ में मनुष्यों का मन चञ्चल हुआ करता है और धार्मिक एवं साधु पुरुषों का मन भी (सदा तो नहीं, किन्तु कभी कभी कारण विशेष उपस्थित होने पर) चलायमान हो जाता है ॥ २७ ॥

इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
व्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद्गृहम् ॥ २८ ॥

महाराज दशरथ ने कहा—अतएव कल तुम्हारा अभिषेक होगा अब। अपने भवन को जाओ। पिता की ऐसी आज्ञा पा और पिता को प्रणाम कर श्रीरामचन्द्र जी अपने भवन को गये ॥ २८ ॥

प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञोद्दिष्टेऽभिषेचने ।
तत्क्षणेन च निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥ २९ ॥

अपने घर पर पहुँच कर श्रीरामचन्द्र जी ने चाहा कि, जानकी जी से वे सब नियम जो महाराज ने बतलाये हैं और कर्त्तव्य हैं, बतला दें, किन्तु वहाँ सीता जी को न पा कर वे तुरन्त वहाँ से अपनी माता के भवन में चले गये ॥ २९ ॥

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् ।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥ ३० ॥

वहाँ जा कर देखा कि, माता कौशल्या जी रेशमी वस्त्र पहिने हुए, देवमन्दिर में बैठी हुई और मौनव्रत धारण किये हुए श्रीराम जी के अभ्युदय के लिये (अथवा राजलक्ष्मी की प्राप्ति के लिये) प्रार्थना कर रही हैं ॥ ३० ॥

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा ।
सीता च नायिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम जी के अभिषेक का वृत्तान्त सुन सुमित्रा जी व लक्ष्मण जी पहले ही से वहाँ पहुँच चुके थे। कौशल्या जी ने यह संवाद

सुन सीता जी को भी बुलवा लिया था और वे भी उस समय उनके पास बैठी थीं ॥ ३१ ॥

तस्मिन्काले हि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा ।
सुमित्रयाऽन्वास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३२ ॥

श्रुत्वा पुष्येण पुत्रस्य यौवराज्याभिषेचनम् ।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥ ३३ ॥

जिस समय श्रीराम जी वहाँ पहुँचे, उस समय कौशल्या जी, पुत्र का पुष्य नक्षत्र में अभिषेक किये जाने का संवाद सुन, आँख मूँद कर पुराणपुरुष नारायण का ध्यान कर रही थीं और सुमित्रा जी, लक्ष्मण जी और जानकी जी उनके पास बैठी हुई थीं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

तथा सन्नियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च ।
उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं तदा ॥ ३४ ॥

उसी समय श्रीरामचन्द्र जी वहाँ पहुँचे और माता को प्रणाम कर और हर्षित कर कहने लगे ॥ ३४ ॥

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि ।
भविता श्वोऽभिषेकोऽयं यथा मे शासनं पितुः ॥३५॥

हे मा! पिता जी ने मुझे प्रजापालन कार्य करने की आज्ञा दी है। सो मुझे कल ही पिता की आज्ञा से राज्यभार ग्रहण करना होगा ॥ ३५ ॥

सीतयाऽप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह ।
एवमृत्विगुपाध्यायैः सह मामुक्तवान्पिता ॥ ३६ ॥

आप की वहू सीता को भी चाहिये कि आज रात में मेरे साथ उपवास करें, क्योंकि वशिष्ठादि ऋषियों की सम्मति से पिता जी ने यही कहा है ॥ ३६ ॥

यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभाविन्यभिषेचने ।
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय ॥ ३७ ॥

सो प्रातःकाल के अभिषेक सम्बन्धी मङ्गल स्नानादि जो कर्म करने हों, जनकनन्दिनी के साथ वे सब मुझसे करवाइये ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम् ।
हर्षवाष्पकलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥ ३८ ॥

यह सुन कर, चिरकाल से रामराज्याभिषेक की प्रतीक्षा करने वाली कौशल्या, नेत्र में आनन्द के आँसुओं को भर श्रीरामचन्द्र जी से यह बोली ॥ ३८ ॥

वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः ।
ज्ञातीन्मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥३९॥

हे वत्स राम ! तुम चिरञ्जीवी हो । तुम्हारे वैरी नष्ट हों और तुम राजलक्ष्मी पा कर मेरे और सुमित्रा के इष्ट बन्धुओं को हर्षित करो ॥ ३९ ॥

कल्याणे वत नक्षत्रे मयि जातोसि पुत्रक ।
येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥ ४० ॥

हे वत्स ! तुम अच्छे नक्षत्र में उत्पन्न हुए हो जो तुमने अपने गुणों से अपने पिता महाराज दशरथ को प्रसन्न कर लिया ॥४०॥

अमोघं[1] व्रत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे ।
येयमिक्ष्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥ ४१ ॥

मैंने इतने दिनों तक पुराणपुरुष कमलनयन नारायण के जो व्रतोपवास किये, वे सब आज सफल हुए, जो यह इक्ष्वाकुवंश की राज्यश्री तुमको अब प्राप्त होने वाली है ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तो मात्रेदं रामो भ्रातरमब्रवीत् ।
प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥ ४२ ॥

माता को ये बातें सुन, श्रीरामचन्द्र जी अपने भाई लक्ष्मण जी से, जो हाथ जोड़े विनीत भाव से खड़े थे, मुसक्या कर बोले ॥ ४२ ॥

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम् ।
द्वितीयं मेन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥ ४३ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का पालन करो, क्योंकि तुम मेरे एक दूसरे आत्मा हो । इसीसे यह राज्यलक्ष्मी तुम्हारे पास आयी है ॥ ४३ ॥

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान्राज्यफलानि च ।
जीवितं च हि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥ ४४ ॥

हे सौमित्रे ! तुम यथेष्ट रूप से राज्य फल भोगो । मैं तुम्हारे ही लिये अपना जीवन और राज्य चाहता हूँ ॥ ४४ ॥

---

1 अमोघं—सफलं । (गो०)

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च ।
अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च जगाम स्वं निवेशनम् ॥४५॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी से यह कह और दोनों माताओं (अर्थात् कौशल्या और सुमित्रा) को प्रणाम कर और उनसे विदा हो, जानकी सहित अपने गृह में आये ॥ ४५ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

पञ्चमः सर्गः

—:o:—

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर महाराज दशरथ राम से यह कह कि, कल तुम युवराज पद पर अभिषिक्त किये जाओगे, पुरोहित वशिष्ठ जी को बुला, उनसे बोले ॥ १ ॥

गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन ।
श्रीयशोराज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रतम् ॥ २ ॥

हे तपोधन ! आप श्रीरामचन्द्र के पास जा कर उनके मङ्गल, यश और राज्य की प्राप्ति के लिये, उनसे पत्नी सहित, उपवास करने को कहिये ॥ २ ॥

तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदांवरः ।
स्वयं वसिष्ठो भगवान्ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

वेद जानने वालों में श्रेष्ठ भगवान् वशिष्ठ जी "बहुत अच्छा" कह कर स्वयं ही रामचन्द्र जी के घर गये ॥ ३ ॥

उपवासयितुं रामं मन्त्रवन्मन्त्रकोविदः ।
ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुदृढव्रतः ॥ ४ ॥

वशिष्ठ जी महाराज ब्राह्मणों के चढ़ने योग्य (दो घोड़ों के) रथ में बैठ व्रतधारी एवं मन्त्र के जानने वालों में प्रवीण श्रीरामचन्द्र को व्रत कराने के लिये गये ॥ ४ ॥

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् ।
तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥

श्वेत बादल के समान सफ़ेद रङ्ग के, श्रीरामचन्द्र जी के भवन में वशिष्ठ जी पहुँचे और तीन ड्योढ़ियों तक रथ ही में बैठे हुए चले गये ॥ ५ ॥

तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससम्भ्रमः ।
मानयिष्यन्स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥

वशिष्ठ जी का आगमन सुन, श्रीरामचन्द्र जी, बड़े हर्ष के साथ अति शीघ्रता से स्वागत करने योग्य मुनिराज का स्वागत एवं अभ्यर्थना करने को, अपने घर से निकले ॥ ६ ॥

अभ्येत्य त्वरमाणश्च रथाभ्याशं मनीषिणः ।
ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात्स्वयम् ॥ ७ ॥

और उचित रीति से उनका आदर करने के लिये, शीघ्रता पूर्वक वशिष्ठ जी के पास पहुँच और उनका हाथ पकड़, उनको रथ से स्वयं नीचे उतारा ॥ ७ ॥

स चैनं प्रश्रितं[1] दृष्ट्वा [2]संभाष्याभिप्रसाद्य च ।
प्रियार्हं हर्षयन्राममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥

तब महर्षि वशिष्ठ जी श्रीरामचन्द्र जी का भाव देख और उनसे कुशल प्रश्न पूँछ, तथा प्रसन्न हो, उनको आनन्दित कर कहने लगे ॥ ८ ॥

प्रसन्नस्ते पिता राम यौवराज्यमवाप्स्यसि ।
उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥

हे राम ! तुम्हारे पिता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं, कल तुम युवराज पद पाओगे । आज सीता सहित उपवास करो ॥ ९ ॥

प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः ।
पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा ॥ १० ॥

जिस प्रकार प्रसन्न हो कर राजा नहुष ने राजा ययाति को राज्य दिया था, उसी प्रकार महाराज दशरथ कल सबेरे युवराज पद पर तुमको अभिषिक्त करेंगे ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतम् ।
मन्त्रवित्कारयामास वैदेह्या सहितं मुनिः ॥ ११ ॥

यह कह कर वेदमन्त्रवित् मुनिराज ने नियतव्रत श्रीरामचन्द्र और सीता जी से उस रात्रि को उपवास करवाया ॥ ११ ॥

---

१ प्रश्रितं—विनीतं । (गो०) २ संभाष्य—कुशलप्रश्नंकृत्वा । (गो०)

ततो यथावद्रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः ।
अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥ १२ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने राजगुरु वशिष्ट जी का भली भाँति पूजन किया। राजगुरु उसे ग्रहण कर और विदा हो, श्रीरामचन्द्र के घर से चले गये ॥ १२ ॥

सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सुखासीनः प्रियंवदैः ।
सभाजितो[1] विवेशाथताननुज्ञाप्य सर्वशः ॥ १३ ॥

इधर श्रीरामचन्द्र जी भी अपने सच्चे इष्टमित्रों के साथ आनन्द से बैठे हुए बातचीत करते रहे और फिर उनसे सम्मानित हो, तथा उन्हीं सब लोगों के कहने से घर के भीतर गये ॥ १३ ॥

प्रहृष्टनरनारीकं रामवेश्म तदा बभौ ।
यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥ १४ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के घर में प्रसन्नचित्त नरनारियों की भीड़ लग गयी और उनके वहाँ एकत्रित होने से रामभवन की वैसी ही शोभा हुई, जैसी शोभा विकसित कमलों से भरे हुए सरोवर की मतवाले पक्षियों से होती है ॥ १४ ॥

स राजभवनप्रख्या[2]त्तस्माद्रामनिवेशनात् ।
निःसृत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥ १५ ॥

वशिष्ठ जी ने राजभवन सदृश श्रीरामभवन से निकल कर देखा कि, सब सड़कें मनुष्यों से ठसाठस भरी हुई हैं ॥ १५ ॥

---

१ सभाजितः—पूजितः । (रा०) २ प्रख्यं—सदृशं । (रा०)

वृन्दवृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः ।
बभूवुरभिसंबाधाः कुतूहलजनैर्वृताः ॥ १६ ॥

अयोध्या की चारों ओर की सड़कें श्रीरामचन्द्र के अभिषेकोत्सव को देखने के लिये उत्कण्ठित लोगों की भीड़ से भरी हुई थीं। आने जाने का रास्ता तक नहीं रह गया था ॥ १६ ॥

जनवृन्दोर्मिसङ्घर्षहर्षस्वनवतस्तदा ।
बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निस्वनः ॥ १७ ॥

मनुष्यों के दल के दल मारे हर्ष के कोलाहल करते हुए सड़कों पर चले जाते थे, उस समय उनका वह आनन्द परिपूर्ण कोलाहल ऐसा जान पड़ता था मानों समुद्र गरज रहा हो ॥ १७ ॥

सिक्तसंमृष्ट[1]रथ्या च तदहर्वनमालिनी ।
आसीदयोध्या नगरी समुच्छ्रितगृहध्वजा ॥ १८ ॥

उस दिन अयोध्यापुरी की सब सड़कें स्वच्छ और छिड़की हुई थीं। उनकी दोनों ओर बड़ी लंबी लंबी पुष्पमालाएँ वन्दनवार की तरह लटक रही थीं और प्रत्येक घर ध्वजापताकाओं से सुशोभित था ॥ १८ ॥

तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालावलो जनः ।
रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षदुदयं रवेः ॥ १९ ॥

नगरी के स्त्री पुरुष आबालवृद्ध श्रीराम जी का अभिषेक देखने की आकांक्षा से यही चाह रहे थे कि, सूर्य कब उदय हो अर्थात् सवेरा जल्द हो ॥ १९ ॥

---

१ संमृष्टाः—शोधिता। (रा०)

प्रजालङ्कारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम् ।
उत्सुकोऽभूज्जनो द्रष्टुं तमयोध्यामहोत्सवम् ॥ २० ॥

प्रजा जनों के अलङ्कार रूप और आनन्द को बढ़ाने वाले उस महोत्सव को देखने के लिये सब लोग उत्सुक हो रहे थे ॥ २० ॥

एवं तं जनसंबाधं राजमार्गं पुरोहितः ।
व्यूहन्निव जनौघं तं शनै राजकुलं ययौ ॥ २१ ॥

सड़कों पर लोगों की भीड़ को बचाते हुए धीरे धीरे, राजपुरोहित वशिष्ठ जी राजमहल में पहुँचे ॥ २१ ॥

सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य सः ।
समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः ॥ २२ ॥

वशिष्ठ जी श्वेत मेघ के शिखर के समान महल की अटारी पर चढ़ कर, महाराज दशरथ से वैसे ही मिले, जैसे बृहस्पति जी इन्द्र से मिलते हैं ॥ २२ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः ।
पप्रच्छ स च तस्मै तत्कृतमित्यभ्यवेदयत् ॥ २३ ॥

वशिष्ठ जी को आते देख महाराज अपना आसन छोड़ खड़े हो गये और जिस लिये उनको रामचन्द्र जी के पास भेजा था सो पूँछा। उत्तर में मुनि ने जो वहाँ हुआ था सो सब कह सुनाया ॥२३॥

तेन चैव तदा तुल्यं[1] सहासीनाः सभासदः ।
आसनेभ्यः समुत्तस्थु पूजयन्तः पुरोहितम् ॥ २४ ॥

---

[1] तुल्यं—तुल्यकालम् । (रा०)

महाराज के सिंहासन से उठते ही, वहाँ पर जो दरबारी थे; वे भी उसी समय अपने अपने आसनों को छोड़ उठ खड़े हुए और वशिष्ठ जी का सम्मान किया ॥ २४ ॥

गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम् ।
विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥ २५ ॥

गुरु से पूँछ और दरबारियों को विदा कर, महाराज दशरथ अन्तःपुर में उसी प्रकार चले गये जिस प्रकार सिंह अपनी गुफा में चला जाता है ॥ २५ ॥

तदग्र्यरूपं प्रमदाजनाकुलं
महेन्द्रवेश्मप्रतिमं निवेशनम् ।
विदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः
शशीव तारागणसङ्कुलं नभः ॥ २६ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

इन्द्रभवन सदृश गृह में, जो भूषणों से अलंकृत युवतियों से भरा हुआ था, महाराज दशरथ ने प्रवेश किया और वे वहाँ ऐसे शोभित हुए जैसे तारानाथ (चन्द्रमा) तारों सहित आकाश मण्डल में सुशोभित होता है ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

षष्ठः सर्गः

—:०:—

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः[1] ।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या *नारायणमुपागमत् ॥ १ ॥

उधर वशिष्ठ जी के चले जाने बाद, श्रीरामचन्द्र जी और विशालाक्षी सीता दोनों स्नान कर (अर्थात् शरीर की शुद्धि कर) शुद्ध मन से श्रीरङ्गनाथ की उपासना में लग गये ॥ १ ॥

प्रगृह्य शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत्तदा ।
महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितेऽनले ॥ २ ॥

हविषपात्र को नमस्कार कर विधि पूर्वक, श्रीरामचन्द्र जी ने श्रीरङ्गनाथ के प्रीत्यर्थ, (अथवा नरायण मंत्र से) जलते हुए अग्नि में घी की आहुतियां दीं ॥ २ ॥

शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्या[2]त्मनः प्रियम्[3] ।
ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे ॥ ३ ॥

तदनन्तर हवन करने से बचे हुए हविष्यान्न को भक्षण कर, और अपने मङ्गल के लिये प्रार्थना कर और श्री रङ्गनाथ भगवान का ध्यान करते हुए, कुशासन पर, ॥ ३ ॥

वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः ।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ॥ ४ ॥

---

१ नियतमानसः—मनःशुद्धि । (गो०) २ आशास्य प्रार्थ्य । (रा०)
३ आत्मनःप्रियं—राज्याभिषेकाविघ्नरूपं । (रा०)
* नारायणइति श्रीरङ्गनायकउच्यते । (गो०)

मौन धारण कर, शुद्ध मन से, जानकी जी सहित, राजकुमार श्रीरङ्गनाथ जी के मन्दिर में (जो उनके भवन में बना हुआ था) सो गये ॥ ४ ॥

एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः ।
अलङ्कारविधिं कृत्स्नं कारयामास वेश्मनः ॥ ५ ॥

फिर जब एक पहर रात शेष रही, तब वे उठे और नौकर चाकरों को, सारे भवन को साफ कर, सजाने की आज्ञा दी ॥ ५ ॥

तत्र शृण्वन्सुखा वाचः सूत[1]मागध[2]बन्दिनाम्[3] ।
पूर्वां सन्ध्या[4]मुपासीनो जजाप यतमानसः ॥ ६

सूत, मागध और वंदीजनों की सुखदायक वाणियों को सुनते हुए प्रातःसन्ध्योपासन कर एकाग्रचित्त से गायत्री का जप करने लगे ॥ ६ ॥

तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम् ।
विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास च द्विजान् ॥ ७ ॥

सन्ध्योपासन और जप कर के उन्होंने, सूर्यान्तर्वर्ती नारायण की स्तुति कर उनको प्रणाम किया । तदनन्तर नये रेशमी वस्त्र पहन और ब्राह्मणों को बुलवा कर, उनसे स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचन करवाया ॥ ७ ॥

तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तदा ।
अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः ॥ ८ ॥

---

१ सूताः—पौराणिकाः । (रा०) २ मागध—वंशावलीकीर्तकाः । (रा०)
३ बन्दिनः—स्तुतिपाठकाः । (रा०) ४ सन्ध्या—सन्ध्याधिदेवतां सूर्यं । (गो०)

ब्राह्मणों के पुण्याहवाचन का गम्भीर एवं मधुर शब्द, नगाड़ों के शब्द से मिल अयोध्या में प्रतिध्वनित होने लगा ॥ ८ ॥

कृतोपवासं तु तदा वैदेह्या सह राघवम् ।
अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः ॥ ९ ॥

अयोध्यावासी जन, सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को (अभिषेकार्थ) उपवासादि नियमों का पालन करते हुए सुन, परमानन्दित हुए ॥ ९ ॥

ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ।
प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम् ॥ १० ॥

जब प्रातःकाल हो गया, तब सब पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक सुन, नगर सजाने के लिये कदली स्तम्भादि गाड़ने लगे ॥ १० ॥

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च ।
चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च ॥ ११ ॥

अयोध्या में जितने बड़े हिमालय के शिखरों के समान ऊँचे ऊँचे देवमन्दिर थे व जितने चौराहों पर, चौक (हाट बाट) में, सड़कों पर और गलियों में ऊँचे ऊँचे मकान थे ॥ ११ ॥

नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च ।
कुटुम्बिनां समृधेषु श्रीमत्सु भवनेषु च ॥ १२ ॥

तथा अनेक प्रकार की सौदागरी की वस्तुओं से भरी व्यवसाइयों की जितनी दूकानें थीं, जितने कुटुम्बीजनों के समृद्ध और भरे पूरे घर थे ॥ १२ ॥

सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च ।
ध्वजाः समुच्छ्रिताश्चित्राः पताकाश्चाभवंस्तदा ॥१३॥

तथा जितने सभाभवन थे, तथा जितने ऊँचे ऊँचे वृक्ष थे, न सब पर रंग बिरंगी ध्वजा पताकाएँ फहराने लगीं ॥ १३ ॥

नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम् ।
मनःकर्णसुखा वाचः शुश्रुवुश्च ततस्ततः ॥ १४ ॥

अयोध्या में जगह जगह नट नर्तकों का मन को प्रसन्न करने वाला और कर्ण-मधुर गाना बजाना होने लगा और लोग सुनने लगे ॥ १४ ॥

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः ।
रामाभिषेके संप्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥ १५ ॥

उस दिन हाट बाट, घर द्वार, भीतर बाहर, जहाँ सुनो वहीं लोग श्रीरामाभिषेक ही की आपस में चर्चा करते सुन पड़ते थे ॥ १५ ॥

बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः ।
रामाभिषेकसंयुक्ताश्चक्रुरेव मिथः कथाः ॥ १६ ॥

घरों के द्वारों पर खेलती हुई बालकों की टोलियों में भी आपस में श्रीरामाभिषेक ही की चर्चा हो रही थी ॥ १६ ॥

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः ।
राजमार्गः कृतः श्रीमान्पौरै रामाभिषेचने ॥ १७ ॥

उस दिन रामाभिषेक के उपलक्ष में (राज्य की ओर ही से नहीं, बल्कि प्रजा की ओर से भी) लोगों ने पुष्प, धूप और तरह

तरह की सुगन्ध से वासित कर राजमार्ग को अच्छी तरह सजाया था ॥ १७ ॥

प्रकाशीकरणार्थं च निशागमनशङ्कया ।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥ १८ ॥

यह विचार कर कि, कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी के जलूस के उधर से निकलते समय कहीं रात न हो जाय—लोगों ने रोशनी करने के लिये सड़कों पर अलग अलग सर्वत्र दीपवृक्ष अर्थात् पनशाखाएँ गाड़ रखी थीं या झाड़ फनूस टाँग रखे थे ॥ १८ ॥

अलङ्कारं पुरस्यैवं कृत्वा तत्पुरवासिनः ।
आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार नगर को सजा कर नगरवासी श्रीरामचन्द्र जी के युवराजपद पर अभिषेक किये जाने की प्रतीक्षा करने लगे ॥ १९ ॥

समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च ।
कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥ २० ॥

झुण्ड के झुण्ड लोग एकत्र हो चबूतरों पर और बैठकों में बैठ, आपस में महाराज दशरथ की चर्चा चला उनकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ २० ॥

अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
ज्ञात्वा यो वृद्धमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥२१॥

वे कहते थे कि, अहो! देखो, इक्ष्वाकु-कुलनन्दन महाराज दशरथ बड़े महात्मा हैं, जो अपने को वृद्ध हुआ जान, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक (स्वयं) कर रहे हैं ॥ २१ ॥

सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः ।
चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥ २२ ॥

हम सब लोगों पर (महाराज ने) यह बड़ा अनुग्रह किया जो श्रीरामचन्द्र हम लोगों के राजा हो रहे हैं। भगवान् बहुत दिनों तक अपनी प्रजा का सब हाल जानने वाले और प्रजारक्षक श्रीरामचन्द्र को हम लोगों का राजा बनाये रखें ॥ २२ ॥

अनुद्धतमना विद्वान्धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः ।
यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः ॥२३॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी सरल स्वभाव, परमविज्ञ, धर्मात्मा, और भाइयों पर कृपा रखने वाले हैं। वे अपने भाइयों पर सरल स्वभाव से जैसा स्नेह रखते हैं, वैसा ही स्नेह उनका हम लोगों के ऊपर भी है ॥ २३ ॥

चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः ।
यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ २४ ॥

पापरहित और धर्मात्मा महाराज दशरथ की बड़ी उम्र हो। उन्हींके अनुग्रह से आज हम श्रीरामचन्द्र को राज्याभिषिक्त देख सकेंगे ॥ २४ ॥

एवंविधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुस्तदा ।
दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥२५॥

रामराज्याभिषेक का संवाद सुन जो लोग बाहिर से आ कर अयोध्या में एकत्र हुए थे, उन लोगों ने पुरवासियों की कही हुई ये बातें सुनीं ॥ २५ ॥

ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम् ।
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥ २६ ॥

वे लोग चारों ओर के देशों से श्रीराम जी की अयोध्यापुरी में श्रीरामाभिषेकोत्सव देखने को आये थे । उन वाहिरी लोगों के आगमन से अयोध्यापुरी में बड़ी भारी भीड़ हो गयी थी ॥ २६ ॥

जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निस्वनः ।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निस्वनः ॥ २७ ॥

पूर्णमासी के दिन जिस प्रकार समुद्र गरजता है, उसी प्रकार का कोलाहल, आज अयोध्यापुरी में, बाहिर से आये हुए और चलते फिरते हुए लोग सुन रहे थे ॥ २७ ॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं
दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपागतैः ।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ
समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥ २८ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

उस दिन अमरावती के समान अयोध्यापुरी को देखने के लिये जो लोग बाहिर से आये हुए थे, उन लोगों से उस पुरी की शोभा वैसी ही हो गयी जैसी शोभा समुद्र की जलजन्तु (मत्स्य, कच्छ, नक्र) से होती है ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का छठवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

स र्गः

ज्ञातिदासी[1] यतोजाता[2] कैकेय्यास्तु सहोषिता ।
प्रासादं चन्द्रसङ्काशमारुरोह यदृच्छया ॥ १ ॥

रानी कैकेयी की जाति की एक दासी थी जो उसके साथ उसके मायके से आयी थी और सदा उसके साथ रहती थी। (और जिसका नाम मन्थरा था, उस रात को, जिस दिन दरबार में श्रीरामचन्द्र जी के युवराज पद पर प्रतिष्ठित करने की घोषणा महाराज दशरथ ने की थी) वह अकस्मात् चन्द्रमा के समान सफेद अटारी की छत पर चढ़ी ॥ १ ॥

सिक्तराजपथां रम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
अयोध्यां मन्थरा तस्मात्प्रासादादन्ववैक्षत ॥ २ ॥

उस अटारी पर चढ़ मन्थरा ने देखा कि, अयोध्या की सड़कों पर छिड़काव किया गया है और जगह जगह कमलपुष्पों की मालाएँ लटक रही हैं ॥ २ ॥

पताकाभिर्वराहाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम् ।
वृतां छन्नपथैश्चापि शिरःस्नातजनैर्वृताम् ॥ ३ ॥

---

१ ज्ञातिदासी—कैकेय्याः ज्ञातीनां बन्धूनां दासी ॥ (वि०) २ यतोजाता—यत्रकुत्रचित् जाता । (वि०)

ऊँचे मकानों पर बहुमूल्य ध्वजा पताकाएँ फहरा रही हैं। सड़कों के गड्ढे आदि पाट कर, वे चौरस कर, दी गयी हैं, लोगों के आने जाने में भीड़भाड़ न हो, अतः बड़े चौड़े चौड़े रास्ते बनाये गये हैं, जो सिर से स्नान किये हुए (अर्थात् तेल उपटन लगा कर स्नान किये हुए) दर्शकों से भरे हुए हैं ॥ ३ ॥

माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम् ।
शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनिस्वनाम् ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को भेंट में देने के लिये माला लड्डू (आदि शुभ वस्तुएँ) लिये श्रेष्ठ ब्राह्मण घूम रहे हैं। देवमन्दिरों के द्वार (कलई आदि से) सफेद पोते गये हैं; जहाँ देखो वहाँ बाजे बज रहे हैं ॥ ४ ॥

संप्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषाभिनादिताम् ।
[1]प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां संप्रणर्दितगोवृषाम् ॥ ५ ॥

सब लोग उत्सव में मस्त हैं, चारों ओर वेदध्वनि हो रही है। मनुष्यों का तो कहना ही क्या, हाथी, घोड़े, गौ, बैल तक आनन्द में भर हर्षध्वनि कर रहे हैं ॥ ५ ॥

प्रहृष्टमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम् ।
अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता ॥ ६ ॥

अयोध्यावासी आनन्दमग्न हो घूम रहे हैं। बड़ी बड़ी लंबी पताकाएँ फहरा रही हैं और मालाएँ बँधी हुई हैं। इस प्रकार

---

१ प्रहर्षोत्फुल्लनयन्तमिलाद्विविशेषणाद्विचंरामोपमाता। (भू०)

की सजी हुई अयोध्यापुरी को देख मन्थरा को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६ ॥

प्रहर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम् ।
अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥ ७ ॥

अति हर्षित और सफेद रेशमी वस्त्र पहिने हुए श्रीरामचन्द्र की धात्री (उपमाता) से, जो पास ही खड़ी थी, मन्थरा पूँछने लगी ॥ ७ ॥

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती ।
राममाता धनं किं तु जनेभ्यः संप्रयच्छति ॥ ८ ॥

आज हर्ष में भरी मालदार सती राममाता कौशल्या लोगों को धन क्यों बाँट रही है ? ॥ ८ ॥

अतिमात्रप्रहर्षोऽयं किं जनस्य च शंस मे ।
कारयिष्यति किं वापि संप्रहृष्टो महीपतिः ॥ ९ ॥

अयोध्यावासियों के अत्यानन्दित होने का कारण क्या है ? महाराज भी अत्यन्त प्रसन्न हैं—सो वे क्या काम करवाने वाले हैं ? ॥ ९ ॥

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परया मुदा ।
आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवश्रियम् ॥ १० ॥

मन्थरा के इस प्रकार पूँछने पर वह धात्री जो मारे आनन्द के फूल कर कुप्पा हो गयी थी, श्रीरामचन्द्र की महती राज्यश्री लाभ का समाचार कुबड़ी मन्थरा से कहने लगी ॥ १० ॥

श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन राघवम् ।
राजा दशरथो राममभिषेचयितानऽघम् ॥ ११ ॥

उसने कहा कल प्रातःकाल होते ही पुष्य नक्षत्र में जितक्रोध एवं पुण्यात्मा श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ युवराजपद पर स्थापित करेंगे ॥ ११ ॥

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता ।
कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत ॥ १२ ॥

धात्री के ये वचन सुन कुबड़ी डाह में भर कैलास पर्वत के शिखर के समान ऊँचे महल से उतरी ॥ १२ ॥

सा दह्यमाना कोपेन मन्थरा पापदर्शिनी ।
शयानामेत्य कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

वह पापिन क्रोध में जली भुनी (शयनागार में जा कर) सोती हुई कैकेयी (को जगा कर उस) से बोली ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते ।
उपप्लुत[1]मघौघेन[2] किमात्मानं न बुध्यसे ॥ १४ ॥

हे मूढ़े! उठ, पड़ी पड़ी क्या सोती है? तेरे लिये तो बड़ा भारी भय आ उपस्थित हुआ है। क्या तू अपने दुःख को भी नहीं समझती ॥ १४ ॥

अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे ।
चलं[3] हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे ॥१५॥

---

१ उपप्लुतं—उपहतं। (गो०) २ अघौघेन—सर्वं दुःखं। (गो०)
३ चलं—क्षीणमित्यर्थः। (गो०)

हे सुन्दरी ! तू अपने जिस सौभाग्य के बल पर भूली हुई है, वह तेरा भाग्य ग्रीष्म ऋतु में नदी के सोते की तरह अब क्षीण हो चला है ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः ।
कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत्परम् ॥ १६ ॥

पापिन कुब्जा के क्रोध से भरे ऐसे रूखे वचन सुन कैकेयी को बड़ा दुःख हुआ ॥ १६ ॥

कैकेयी त्वब्रवीत्कुब्जां कच्चित्क्षेमं न मन्थरे ।
विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥१७॥

कैकेयी ने उससे कहा—हे मन्थरे ! बतला कुशल तो है ? तूने क्यों अपना चेहरा इतना उदास कर रखा है और तू क्यों इतनी दुखी हो रही है ? ॥ १७ ॥

मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम् ।
उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ १८ ॥

कैकेयी के ऐसे सहानुभूतिपूर्ण वचन सुन, बात कहने में निपुण मन्थरा ने बिगड़ कर कहा ॥ १८ ॥

सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्या हितैषिणी ।
विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥ १९ ॥

उसने अपना चेहरा बड़ा ही उदास बना कर और अपने को कैकेयी की परमहितैषिणी जनाते हुए तथा श्रीरामचन्द्र जी के विषय में भेदबुद्धि उत्पन्न कर, झगड़ा कराने को कहा ॥ १९ ॥

अक्षय्यं सुमहद्देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम् ।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २० ॥

हे देवी! अब तुम्हारे सत्यानाश का समय आ पहुँचा है। देखो, महाराज दशरथ रामचन्द्र को युवराज बनाया चाहते हैं ॥ २० ॥

साऽस्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता ।
दह्यमानाऽनलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ॥ २१ ॥

सो मैं अथाह भय में डूबी और दुःख एवं शोक से पूर्ण, मानों आग से जलाई हुई, तेरे हित के लिये यहां आयी हूँ ॥ २१ ॥

तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद्भवेत् ।
त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदत्र न संशयः ॥ २२ ॥

हे कैकेयी! तेरे दुःख से तो मैं दुःखी होती हूँ और तेरे सुख से मैं सुखी होती हूँ। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २२ ॥

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः ।
उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे ॥ २३ ॥

देख, तू बड़े राजकुल की बेटी है, और महाराज दशरथ की पटरानी हो कर भी राजनीति की कुटिल चालें क्यों नहीं समझती ॥ २३ ॥

धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः ।
शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसन्धिता ॥ २४ ॥

तेरा पति दिखाने को तो बड़ा सत्यवादी बना हुआ है, किन्तु भीतर से महा धूर्त है। वह बोलता मधुर है, किन्तु मन उसका

बड़ा कठोर है। तू मन की साफ है—इसीसे तेरे ऊपर यह विपत्ति आयी है ॥ २४ ॥

उपस्थितं प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम् ।
अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥ २५ ॥

महाराज जब तेरे पास आते हैं, तब झूँठी बातें बना और समझा बुझा कर तुझे अपने वश में कर लेते हैं। परन्तु देख, महाराज, कौशल्या ही के पुत्र को सर्वस्व दे कर, उसे ही सब की स्वामिनी बनाना चाहते हैं ॥ २५ ॥

अपवाह्य स दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु ।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥ २६ ॥

देखो उस दुष्टात्मा ने भरत को तो तुम्हारे माता पिता के घर भेज दिया और वह (अब) निष्कण्टक राजसिंहासन पर कल प्रातःकाल श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना चाहता है ॥ २६ ॥

शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया ।
आशीविष इवाङ्केन बाले परिहृतस्त्वया ॥ २७ ॥

तूने पति के धोखे से अपने शत्रु को वैसे ही अपनी गोद में बिठा रखा है, जैसे कोई स्त्री (पुत्र के धोखे से) सर्प को गोद में रख ले ॥ २७ ॥

यथा हि कुर्यात्सर्पो वा शत्रुर्वा प्रत्युपेक्षितः ।
राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥ २८ ॥

जिस प्रकार सर्प वा शत्रु की उपेक्षा करने वाले पालन कर्त्ता के साथ सर्प शत्रुव्यवहार करता है, उसी प्रकार का व्यवहार आज दशरथ ने तेरे और तेरे पुत्र के साथ किया है ॥ २८ ॥

पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यसुखोचिते ।
रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हता ह्यसि ॥२९॥

इस पापी झूठमूठ समझाने बुझाने वाले राजा ने, रामचन्द्र को राजसिंहासन पर बिठा कर, पुत्रबान्धवादि सहित तुझे, जो नित्य सुख भोगने योग्य है, मानों मार डाला है ॥ २९ ॥

सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव ।
त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मय[1]दर्शने ॥ ३० ॥

हे अजीब बुद्धि वाली! ऐसी विपत्ति पूर्ण घटना को सुन कर भी उपेक्षा सी करने वाली ऐ कैकेयी! देख अब भी समय है। अतएव जो कुछ तुझे अपनी भलाई के लिये करना हो सो तुरन्त कर डाल और अपने पुत्र को, अपने को और मुझे बचा ॥ ३० ॥

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात्सा शुभानना ।
उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ३१ ॥

मन्थरा के वचन सुन, सुन्दरी कैकेयी शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह हर्ष में भर, शय्या से उठ बैठी ॥ ३१ ॥

अतीव सा तु संहृष्टा कैकेयी विस्मयान्विता ।
एकमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥ ३२ ॥

और अत्यन्त हर्षित और आश्चर्ययुक्त हो, कैकेयी ने अपना एक बहुमूल्य उत्तम गहना, कुब्जा को दिया ॥ ३२ ॥

दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा ।
कैकेयी मन्थरां दृष्ट्वा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ ३३ ॥

---

१ विस्मयदर्शने—आश्चर्यावहज्ञानयुक्ते । (गो०)

अयोध्याकाण्ड

रानी कैकेयी और मंथरा

युवतियों में श्रेष्ठ कैकेयी, अपना आभूषण मन्थरा को दे कर और उसकी ओर देख कर उससे बोली ॥ ३३ ॥

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यासि परमं प्रियम् ।
एतन्मे प्रियमाख्यातं भूयः किं वा करोमि ते ॥ ३४ ॥

हे मन्थरे ! यह तो तूने बड़े ही हर्ष का समाचार सुनाया। इस सुखसंवाद को सुनाने के बदले, बतला और मैं तेरा क्या उपकार करूँ ? अर्थात् और क्या दूँ ॥ ३४ ॥

रामे वा भरते वाऽहं विशेषं नोपलक्षये ।
तस्मात्तुष्टाऽस्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥३५॥

मैं राम और भरत में कोई विशेष भेद नहीं देखती—अतः महाराज यदि श्रीरामचन्द्र को राज्य देते हैं, तो मुझे उनके इस कार्य से सन्तोष है ॥ ३५ ॥

न मे परं किञ्चिदितस्त्वया पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचो वरम् ।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं ।
परं वरं ते प्रददामि तं वृणु ॥ ३६ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

हे प्रिये ! इस (रामराज्याभिषेक सूचक) वचन—रूपी अमृत से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु मुझे प्रिय नहीं है। अतएव (इस पारितोषिक के अतिरिक्त) और जो कुछ तू माँगे सो कह, अभी तुझे मैं देती हूँ ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

अष्टमः सर्गः

—:*:—

मन्थरा त्वभ्यसूयैनामुत्सृज्याभरणं च तत् ।
उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥

कैकेयी का यह वचन सुन और अनादर के साथ उस आभूषण को फेंक कर मन्थरा बड़े क्रोध और दुःख के साथ कहने लगी ॥ १ ॥

हर्षं किमिदमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे ।
शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे ॥ २ ॥

हे मूर्खे ! तू शोक की जगह हर्षित क्यों होती है ? क्या तुझे यह नहीं सूझ पड़ता कि, तू शोकसागर में डूबी जा रही है ॥ २ ॥

मनसा प्रहसामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती ।
यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्येदं व्यसनं महत् ॥ ३ ॥

मुझे तो मन ही मन तेरी बुद्धि पर हँसी आती है कि, अत्यन्त दुःखी होने का कारण उपस्थित होने पर भी तू शोक न कर, प्रसन्न हो रही है ॥ ३ ॥

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत् ।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥ ४ ॥

मुझे तेरी दुर्बुद्धि पर तरस आता है, क्या कोई भी समझदार स्त्री अपनी सौत के पुत्र की, अपने लिये मृत्यु के समान उन्नति देख, प्रसन्न हो सकती है ? ॥ ४ ॥

भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद्भयम् ।
तद्विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥ ५ ॥

जिस प्रकार राज्य पर रामचन्द्र का स्वत्व है, उसी प्रकार भरत का भी है। इसीलिये राम को भरत का डर है और यह ठीक भी है, क्योंकि जो जिससे डरता है, उसको उसका डर रहता ही है। मुझे यही सोच कर बड़ा खेद है। (क्योंकि जब राम राजा होंगे, तब वे अपने भय के कारण भरत को अवश्य ही दूर कर देंगे अर्थात् मरवा डालेंगे) ॥ ५ ॥

लक्ष्मणो हि महेष्वासो रामं सर्वात्मना गतः ।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥

(राम को भरत ही का इतना भारी खटका क्यों है? लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी तो राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं? इसके समाधान में मन्थरा कहती है) लक्ष्मण जी सब प्रकार से श्रीरामचन्द्र के अनुवर्ती अर्थात् आज्ञाकारी हैं अर्थात् लक्ष्मण चूं नहीं कर सकते)। शत्रुघ्न जी उसी प्रकार भरत के सर्वथा अनुवर्ती हैं जिस प्रकार लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के। (अतः जब भरत जी को श्रीराम मारेंगे तब शत्रुघ्न भी उनका साथ देने पर अवश्य मारे जांयगे। अतः श्रीरामचन्द्र जी के प्रतिस्पर्धी केवल भरत हैं) ॥ ६ ॥

भत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि ।
राज्यक्रमो विप्रकृष्टस्तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥

फिर उत्पत्ति के क्रमानुसार भरत ही को राज्य मिलना चाहिये। यदि राज्यक्रम का त्याग किया जाय तो, इस क्रम से भी राज्य भरत ही को मिलना उचित है ॥ ७ ॥

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः[1] ।
भयात्प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी राजनीति-विशारद हैं । परम चतुर तथा समयानुसार तुरन्त कार्य करने वाले हैं । अतः भरत को रामचन्द्र जी से भय समझ—मैं भयभीत हो कांप रही हूँ । (अर्थात् राम चतुर हैं और भरत बुद्धू हैं, अतः भरत को राम सहज में पराजित कर सकते हैं ।) ॥८॥

सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते ।
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥

इस समय तो कौशल्या का भाग्य जागा है, जिसके पुत्र रामचन्द्र का युवराजपद पर प्रातःकाल पुष्य नक्षत्र में ब्राह्मण लोग अभिषेक करवावेंगे ॥ ६ ॥

प्राप्तां सुमहतीं प्रीतिं प्रतीतां तां हतद्विषम् ।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीव त्वं कृताञ्जलिः ॥१०॥

तुझे उस कौशल्या के सामने, जो सब पृथिवी की स्वामिनी होगी, और जिसके सब शत्रु मारे जांयगे, हाथ जोड़ कर दासी की तरह खड़ा रहना पड़ेगा ॥ १० ॥

एवं चेत्त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि ।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यभावं गमिष्यति ॥ ११ ॥

---

१ प्राप्तकारिणः—अविलंबेनकालोचितकर्तव्यार्यकारिणः । (गो०)

इस तरह केवल तू ही नहीं प्रत्युत तेरी अधीन रहने वाली मुझे भी कौशल्या की दासी और भरत को राम का टहलुआ वन जाना पड़ेगा ॥ ११ ॥

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः ।
अप्रहृष्ट भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये[1] ॥ १२ ॥

इससे राम जी की स्त्री तथा उसकी सखियाँ परमानन्दित होंगी और भरत को राज्य न मिलने से अथवा उनका प्रभाव नष्ट होने पर तेरी पुत्रवधू को भी बड़ा दुःख होगा ॥ १२ ॥

तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः ।
रामस्यैव गुणान्देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥ १३ ॥

मन्थरा को इस प्रकार बड़ी प्रसन्नता के साथ ऐसे वचन कहते (अर्थात् राम की निन्दा करते) हुए देख, देवी कैकेयी श्रीरामचन्द्र के गुणों का बखान कर कहने लगी ॥ १३ ॥

धर्मज्ञो गुरुभिर्दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्शुचिः ।
रामो राज्ञः सुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र अत्यन्त धर्मज्ञ, गुरुओं से सुन्दर शिक्षा पाये हुए, बड़े कृतज्ञ, सत्यवादी, परम पवित्रता से रहने वाले और महाराज के ज्येष्ठ पुत्र हैं। अतएव सब प्रकार से वे ही यौवराज्य पाने के योग्य हैं ॥ १४ ॥

भ्रातॄन्भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत्पालयिष्यति ।
सन्तप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥ १५ ॥

---

१ भरतक्षये—भरतप्रभावनाशे । (रा०)

रामचन्द्र दीर्घायु हों, वे अपने भाइयों और नौकर चाकरों का वैसे ही पालन करेंगे जैसे पिता अपने पुत्रों का पालन करता है। अतएव हे मन्थरे! तू रामचन्द्र के अभिषेक का समाचार सुन, क्यों जली भुनी जा रही है? ॥ १५ ॥

भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात्परम् ।
पितृपैतामहं राज्यं प्राप्नुयात्पुरुषर्षभः ॥ १६ ॥

भरत भी श्रीरामचन्द्र जी के राजसिंहासन पर बैठने के सौ वर्ष बाद अवश्य अपने पितृपितामहादिकों का राज्य पावेंगे ॥ १६ ॥

सा त्वमभ्युदये प्राप्ते वर्तमाने च मन्थरे ।
भविष्यति च कल्याणे किमर्थं परितप्यसे ॥ १७ ॥

हे मन्थरे! तू इस उत्सव के समय जिससे सब का कल्याण होगा, क्यों जली जाती है? ॥ १७ ॥

यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः ।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च सोऽनुशुश्रूषते हि माम् ॥१८॥

मुझको जैसे भरत प्यारे हैं, वैसे ही राम भी हैं। वे तो कौशल्या से बढ़ कर मेरी ही सेवा शुश्रूषा करते हैं ॥ १८ ॥

राज्यं च यदि रामस्य भरतस्यापि तत्तथा ।
मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातृंस्तु राघवः ॥ १९ ॥

यदि राम ही राज्य पावेंगे तो भी वह राज्य भरत ही का है, क्योंकि रामचन्द्र अपने समान ही अपने भाइयों को भी मानते हैं ॥ १९ ॥

कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता ।
दीर्घमुष्णं विनिश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥

कैकेयी की ये बातें सुन मन्थरा बहुत दुःखी हुई और लंबी साँस ले कैकेयी से यह बोली ॥ २० ॥

अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे ।
शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥ २१ ॥

अनर्थ को अर्थ समझने वाली अरी मूर्खा ! शोक के महासागर में डूबती हुई भी तू अपने को नहीं समझती ॥ २१ ॥

भविता राघवो राजा राघवस्यानु यः सुतः ।
राजवंशात्तु कैकेयी भरतः परिहास्यते ॥ २२ ॥

जब रामचन्द्र राजा होंगे तब उनके पीछे उनका पुत्र राजा होगा (या भरत ?) भरत तो राज्य से वञ्चित ही रहेंगे । अथवा भरत राजवंश से भ्रष्ट हो जांयगे ॥ २२ ॥

न हि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि ।
स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥ २३ ॥

राजा के सब पुत्र कहीं राजसिंहासन पर नहीं बैठते, और यदि कहीं बैठाये जाते होते तो बड़ा अनर्थ होता ॥ २३ ॥

तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः ।
स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥ २४ ॥

हे कैकेयी ! इसी लिये राजा लोग बड़े पुत्र को राज्यशासन का भार सौंपते हैं । (हाँ उस दशा में जब बड़ा बेटा गुणवान

नहीं होता और) छोटा बेटा गुणवान् होता है तो वह भी राजा होता है। किन्तु राज्य दिया एक ही को जाता है ॥ २४ ॥

असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति।
अनाथवत्सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥ २५ ॥

(सो राम के राजा होने पर) तेरा पुत्र भरत सब प्रकार से सब सुखों से वञ्चित हो, अनाथ दुःखियों की तरह राजवंश से अलग कर दिया जायगा ॥ २५ ॥

साऽहं त्वदर्थे संप्राप्ता त्वं तु मां नाववुध्यसे।
सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमिच्छसि ॥ २६ ॥

अतः मैं तो तुझे तेरी भलाई वतलाने के लिये आयी हूँ, किन्तु तू कुछ समझती वूझती ही नहीं। यदि तू समझती वूझती होती तो क्या सौत की वढ़ती सुन, मुझे गहना पुरस्कार में देती? ॥ २६ ॥

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम्।
देशान्तरं वा नययिता लोकान्तरमथापि वा ॥ २७ ॥

मैं यह निश्चय पूर्वक कहती हूँ कि, राम अकण्टक राज्य पा कर, भरत को या तो देश निकाला देंगे अथवा उनको जान ही से मार डालेंगे ॥ २७ ॥

वाल एव हि मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया।
सन्निकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्वपि ॥ २८ ॥

पास रहने से पेड़ादि स्थावर पदार्थों पर भी लोगों को ममता हो जाती है—सो तूने तो भरत को लड़कपन ही से ननिहाल भेज

दिया है (अर्थात् स्नेह पास रहने से होता सो भरत तेरे पास रहे नहीं—अतः तुझे भरत की ममता है ही नहीं) ॥ २८ ॥

भरतस्याप्यनुवशः शत्रुघ्नोऽपि समागतः ।
लक्ष्मणश्च यथा रामं तथासौ भरतं गतः ॥ २९ ॥

साथ साथ रहने के कारण ही शत्रुघ्न भी भरत के साथ चले गये। क्योंकि जैसे लक्ष्मण राम के अनुयायी हैं वैसे ही शत्रुघ्न भरत के अनुयायी हैं ॥ २६ ॥

श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीविभिः ।
सन्निकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद्भयात् ॥ ३० ॥

सुना है कि, कोई वृक्ष था जिसे वनजारे काटना चाहते थे। समीपवर्ती होने के कारण उसे इषीका नाम के काँटेदार पेड़ों ने बचाया था (किन्तु तुमने अपना पुत्र न बचाया) ॥ ३० ॥

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः ।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३१ ॥

लक्ष्मण, राम की रक्षा करेंगे और रामचन्द्र लक्ष्मण की। इन दोनों का भ्रातृत्व अर्थात् प्रीति, अश्विनीकुमारों की तरह प्रसिद्ध है ॥ ३१ ॥

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किञ्चितकरिष्यति ।
रामस्तु भरते पापं कुर्यादिति न संशयः ॥ ३२ ॥

अतएव रामचन्द्र लक्ष्मण का कभी कुछ भी अनिष्ट न करेंगे। किन्तु भरत का अनिष्ट करने में वे कभी न चूकेंगे—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। (अर्थात् रामचन्द्र भरत को मारे विना न रहेंगे।) ॥ ३२ ॥

तस्माद्राजगृहादेवि वनं गच्छतु ते सुतः।
एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव ॥ ३३ ॥

इसलिये मेरी समझ में तो इसीमें तुम्हारी भलाई है कि, भरत जी ननिहाल से भाग कर, वन में चले जांय। (क्योंकि मारे जाने की अपेक्षा तो वन में रहना ही अच्छा है। यदि जीते रहे तो कभी दिन बहुरेंगे ही। मन्थरा का यह व्यङ्ग वचन है) ॥ ३३ ॥

एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति।
यदि चेद्भरतो धर्मात्पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥ ३४ ॥

और यदि कहीं भरत धर्म से अपने पिता का राज्य पावें, तो इससे तुम्हारे भाई बंदों का भी कल्याण होगा ॥ ३४ ॥

स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः।
समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥ ३५ ॥

भरत केवल तुम्हारे सुख के लिये ही बालक हैं, किन्तु राम के वे स्वाभाविक शत्रु हैं। अतः जब राम की बढ़ती होगी, तब भरत उनके वश में पड़ कैसे जीवेंगे ॥ ३५ ॥

अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम्।
प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥ ३६ ॥

हे कैकेयी! इसलिये तू सिंह से झपटे हुए हाथियों के यूथपति (मुखिया) की तरह रामचन्द्र से भयभीत भरत की रक्षा कर ॥ ३६ ॥

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यातयेत् ॥ ३७ ॥

तू अपने सौभाग्य के अभिमान में भर पहले जो जो दुर्व्यवहार कौशल्या के साथ कर चुकी है, उन सब का बदला राममाता कौशल्या (राम के राजा होने पर) क्या तुझसे न लेंगी ॥ ३७ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति
प्रभूतरत्नाकरशैलपत्तनाम् ।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं
सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥ ३८ ॥

हे भामिनी ! समुद्र, पर्वत और नगरों सहित पृथिवी का राज्य जब श्रीरामचन्द्र जी पावेंगे, तब (याद रख) तू अपने पुत्र भरत के सहित अनादर की यातना पावेगी अर्थात् तुझे और तेरे पुत्र भरत को पद पद पर अनादर की यातना भुगतनी पड़ेगी ॥ ३८ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति
ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति ।
अतो हि सञ्चिन्तय राज्यमात्मजे
परस्य चैवाद्य विवासकारणम् ॥ ३९ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

यह भी याद रख कि, राम के राज्य पाने पर भरत निश्चय ही मारे जायँगे। इसलिये जैसे बने वैसे ऐसा कोई उपाय कर, जिससे राम वन में निकाले जायं और भरत राज्य पावें ॥ ३९ ॥

अयोध्याकाण्ड का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

नवमः सर्गः

—:०:—

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना ।
दीर्घमुष्णं विनिश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

जब मन्थरा ने कैकेयी को इस प्रकार पट्टी पढ़ायी, तब मारे क्रोध के कैकेयी का मुख लाल हो गया। वह दीर्घ स्वांस ले मन्थरा से बोली ॥ १ ॥

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम् ।
यौवराज्ये च भरतं क्षिप्रमेवाभिषेचये ॥ २ ॥

मैं आज ही राम को तुरन्त वन में भेजती हूँ और झटपट भरत का युवराजपद पर अभिषेक करवाती हूँ ॥ २ ॥

इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन मन्थरे ।
भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ३ ॥

हे मन्थरे! अब इस समय कोई ऐसा उपाय सोच जिससे भरत को ही राज्य मिले और राम को किसी प्रकार न मिले ॥ ३ ॥

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

जब कैकेयी ने यह कहा, तब पापिन मन्थरा, रामचन्द्र जी का सर्वनाश करने को कैकेयी से बोली ॥ ४ ॥

हन्तेदानीं प्रवक्ष्यामि कैकेयि श्रूयतां च मे ।
यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम् ॥ ५ ॥

हे कैकेयी! सुन मैं तुझे अभी यह उपाय बतलाये देती हूँ जिससे केवल तेरे पुत्र भरत ही को राज्य मिले ॥ ५ ॥

किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे ।
यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

हे कैकेयी! तूने जो बात मुझसे कई बार कही है, उसे क्या तू भूल गयी या मुझसे कहलाने के लिये ही तू उसे छिपा रही है ॥ ६ ॥

मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि ।
श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चापि विमृश्यताम् ॥७॥

ऐ यथेच्छ विलासिनि! यदि यह बात मेरे मुँह से सुनने की तेरी इच्छा है, तो सुन, मैं कहती हूँ और सुन कर वही तू कर ॥ ७ ॥

श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी ।
किञ्चिदुत्थाय शयनात्स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

मन्थरा के ये वचन सुन कैकेयी अपनी सेज से कुछ उठ कर बोली ॥ ८ ॥

कथय त्वं ममोपायं केनोपायेन मन्थरे ।
भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९ ॥

हे मन्थरे! जिस उपाय से भरत तो राज्य पावें, और राम को किसी प्रकार प्राप्त न हो—वह उपाय मुझे बतला ॥ ९ ॥

एवमुक्ता तया देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।
रामार्थमुपहिंसन्ती कुब्जा वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

जब कैकेयी ने यह कहा, तब पापिनी मन्थरा, राम का सर्वनाश करती हुई कहने लगी ॥ १० ॥

पुरा दैवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः ।
अगच्छत्त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ॥ ११ ॥

एक समय जब तुम्हारे पति देवासुर संग्राम में सब राजर्षियों सहित इन्द्र की सहायता करने गये थे, तब तुझे भी अपने साथ ले गये थे ॥ ११ ॥

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान्प्रति ।
वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥ १२ ॥

हे कैकेयी ! दक्षिण में दण्डक वन के पास वैजयन्त नामक एक पुर था, वहाँ के राजा तिमिध्वज थे ॥ १२ ॥

स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः ।
ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैरनिर्जितः ॥ १३ ॥

वे सैकड़ों माया जानते थे और शम्बर के नाम से विख्यात थे और उन्हें देवता नहीं जीत सके थे । उन्होंने इन्द्र के साथ युद्ध छेड़ा ॥ १३ ॥

तस्मिन्महति संग्रामे पुरुषान्क्षतविक्षतान् ।
रात्रौ प्रसुप्तान्घ्नन्ति स्म तरसाऽऽसाद्य राक्षसाः ॥ १४ ॥

उस महा संग्राम में जो लोग, क्षत विक्षत अर्थात् घायल होते थे, उनको रात को सोते समय बिस्तरों पर से खींच कर बरजोरी राक्षस ले जाते थे और मार डालते थे ॥ १४ ॥

तत्राकरोन्महद्युद्धं राजा दशरथस्तदा ।
असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः[1] ॥ १५ ॥

वहाँ पर महाराज दशरथ ने उन असुरों के साथ घोर युद्ध किया। राक्षसों ने भी महाराज को बहुत घायल कर डाला। अर्थात् सारा शरीर छेद डाला ॥ १५ ॥

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः ।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥ १६ ॥

जब राजा मूर्च्छित हो गये, तब तू रणक्षेत्र से उनको बाहिर ले आयी और जब वहाँ भी उन पर प्रहार होने लगे तब बड़े यत्न से तूने अपने पति की रक्षा की ॥ १६ ॥

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने ।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरौ ॥ १७ ॥

हे शुभदर्शने! उस समय तेरे पति ने (महाराज दशरथ ने) तुझ पर प्रसन्न हो, तुझको दो वर दिये और कहा जो इच्छा हो ॥ १७ ॥

गृह्णीयामिति तत्तेन तथेत्युक्तं महात्मना ।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथिता पुरा ॥ १८ ॥

सो माँग। तब तूने कहा था कि, अच्छा जब आवश्यकता होगी माँग लूँगी। मैं तो ये सब बातें जानती न थी, तू ही ने वहाँ से लौट कर मुझे बतलायी थीं ॥ १८ ॥

---

१ शकलीकृतः—सर्वाङ्गेषुविक्षतः (रा०)

कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया ।
रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥ १९ ॥

तेरी प्रीति के अनुरोध से ये बातें मैंने अपने मन में रख छोड़ी थीं। अब तू आग्रह पूर्वक रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारियों को रुकवादे ॥ १६ ॥

तौ वरौ याच भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ।
प्रव्राजनं च रामस्य त्वं वर्षाणि चतुर्दश ॥ २० ॥

और उन वरों में से, एक से तू भरत का राज्याभिषेक और दूसरे से श्रीरामचन्द्र जी का १४ वर्ष के लिये वनवास माँग ले ॥२०॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
प्रजाभावगतस्नेहः[1] स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥ २१ ॥

इन चौदह वर्षों में जब तक रामचन्द्र वनवास में रहेंगे, तब तक सब प्रजा जनों का तुम्हारे पुत्र के प्रति अनुराग बढ़ जाने से, तुम्हारे पुत्र का राज्य अटल हो जायगा ॥ २१ ॥

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते ।
शेष्वानन्तर्हितायां[2] त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥ २२ ॥

हे अश्वपति की बेटी ! (इन वरों को पाने के लिये) तू अभी मैले कपड़े पहिन कर, बिना बिछौने बिछाये और कोपभवन में जा कर, क्रुद्ध हो ज़मीन पर लेट जा ॥ २२ ॥

१ प्रजाभावगतस्नेहः—प्रजानां भावंअभिप्रायं गतःप्राप्तः स्नेहोयस्य स-तथोक्तः । (गो०) २ अनन्तर्हितायाम्—आस्तरणरहितायाम् । (शि०)

मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः ।
रुदती चापि तं दृष्ट्वा जगत्यां[1] शोकलालसा[2] ॥ २३ ॥

जब महाराज दशरथ आवें तब तू न तो उनकी ओर देखना और न कुछ बातचीत करना—केवल शोकातुर हो रोती हुई, ज़मीन पर लोटा करना ॥ २३ ॥

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः ।
त्वत्कृते स महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥ २४ ॥

इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि, अपने पति को तू बहुत ही प्यारी है—यहाँ तक कि, वे तेरे लिये आग में भी कूद सकते हैं ॥ २४ ॥

न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् ।
तव प्रियार्थं राजा हि प्राणानपि परित्यजेत् ॥ २५ ॥

महाराज दशरथ न तो तुझे क्रुद्ध कर सकते हैं और न क्रुद्ध देख ही सकते हैं । इतना ही नहीं, बल्कि वे तेरे लिये अपने प्राण तक दे सकते हैं ॥ २५ ॥

न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः ।
मन्दस्वभावे[3] बुद्ध्यस्व सौभाग्यबल[4]मात्मनः ॥ २६ ॥

महाराज दशरथ तेरा कहना कभी नहीं टाल सकते । हे आलसिन ! ज़रा अपने सौन्दर्य के बल की परीक्षा तो कर देख ॥ २६ ॥

---

१ जगत्यां—भूमौ । (शि०) २ शोकलालसा—शोकव्याप्ते । (शि०) ३ मन्दस्वभावे—अलसस्वभावे । (गो०) ४ सौभाग्यबलं—सौन्दर्यबलं । (गो०)

मणिमुक्तासुवर्णं च रत्नानि[1] विविधानि च ।
दद्याद्दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ २७ ॥

परन्तु (स्मरण रखना) जब महाराज कितनी ही मणियाँ, मोती, सोना, और तरह तरह की बहुमूल्य वस्तुएँ देना चाहें तब तू कहीं लोभ में मत फँस जाना ॥ २७ ॥

यौ तौ दैवासुरे युद्धे वरौ दशरथोऽददात् ।
तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो मा त्वामतिक्रमेत् ॥२८॥

किन्तु जो दो वरदान महाराज ने तुझे देवासुर संग्राम में देने कहे हैं, तू उन्हींका उन्हें स्मरण कराना और अपना काम निकालने के लिये भली भाँति यत्न करना, भूलना मत ॥ २८ ॥

यदा तु ते वरं दद्यात्स्वयमुत्थाप्य राघवः ।
व्यवस्थाप्य[2] महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥ २९ ॥

जब महाराज दशरथ, स्वयं तुझे भूमि से उठा कर वरदान देने को उद्यत हों तब उनको सौगन्द खिला कर (अर्थात् सत्य-पाश से जकड़ कर) ये वर माँगना कि, ॥ २९ ॥

रामं प्रव्राजयारण्ये नव वर्षाणि पञ्च च ।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्याः पार्थिवर्षभः ॥ ३० ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! रामचन्द्र को १४ वर्ष के लिये वन में भेजो और भरत को पृथिवी का राजा करो । अर्थात् भरत को राज्य दो ॥ ३० ॥

---

१ रत्नानि—श्रेष्ठवस्तूनि । (गो०) २ व्यवस्थाप्य—शपथैः सत्ये स्थापयित्वा । (रा०)

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
रूढश्च[1] कृतमूलश्च[2] शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥ ३१ ॥

रामचन्द्र के चौदह वर्ष तक वन में रहने से भरत का राज्य दृढ़ हो जायगा (अर्थात् प्रजा जनों के मन पर वे अपना प्रभाव जमा लेंगे) और सदा भरत जी ही राजा बने रहेंगे अर्थात् भरत के राज्य की जड़ जम जायगी ॥ ३१ ॥

रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् ।
एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव भामिनी ॥ ३२ ॥

हे भामिनी ! तू दशरथ से राम का वनवास माँग—इसीसे तेरे पुत्र के सब काम बन जाँयगे ॥ ३२ ॥

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति ।
भरतश्च *हतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

(इतने दीर्घकाल तक) वनवासी होने पर राम की प्रीति लोगों के मन से निकल जायगी और फिर प्रजा उनको न चाहेगी और भरत जी का कोई शत्रु भी न रह जावेगा और वे शत्रु रहित राजा होंगे । (अर्थात् अवाधित राज्य मिलेगा) ॥ ३३ ॥

येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति ।
तेन कालेन पुत्रस्ते रूढमूलो भविष्यति ॥ ३४ ॥

---

१ रूढः—प्रसिद्धः । (गो०) २ कृतमूलः—स्ववशीकृतमूलबलइत्यर्थः । (गो०)

* पाठान्तरे "गतामित्रस्तव"

जब तक रामचन्द्र वन से लौटेंगे, तब तक भरत के राज्य की नींव अटल हो जायगी ॥ ३४ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः सार्धमात्मवान् ।
प्राप्तकालं तु ते मन्ये राजानं वीतसाध्वसा[1] ॥ ३५ ॥

अच्छी प्रकार प्रजा का पालन कर उन्हें प्रसन्न कर लेने पर, इष्टमित्रों सहित (राजसिंहासन पर) भरत जी की जड़ जम जायगी । अतः जब महाराज तुझे वर देने लगें, तब तू महाराज से निर्भय हो ॥ ३५ ॥

रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ।
अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥ ३६ ॥

और आग्रहपूर्वक रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारियाँ रुकवा देना । (अन्त में) मन्थरा की इन अनर्थ भरी बातों को, कल्याण-युक्त वचनों के रूप में कैकेयी ने ग्रहण किया । अर्थात् मन्थरा की बुरी सलाह को कैकेयी ने भली समझ तदनुसार काम करना स्वीकार किया ॥ ३६ ॥

हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ।
सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरी[2]वोत्पथं गता ॥३७॥

कैकेयी, मन्थरा की बातें सुन कर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुई और छोटे बच्चे वाली घोड़ी की तरह पराधीन हो कुपथ को अवलंबन कर कहने लगी अथवा हर्षयुक्त हो अति विश्वास के साथ कैकेयी मन्थरा से बोली । उस समय कैकेयी मन्थरा की बातों में आ ऐसी

---

१ वीतसाध्वसा—विगतभया । (गो०) २ किशोरी—वडवा । (गो०); नित्यकिशोरत्वविशिष्टा । (शि०)

हो गयी थी जैसे घोड़ी आतुर हो अपने बच्चे के पास जाने के लिये कुपथ में जाने से कोड़े से पीटी जाने पर भी, नहीं रुकती ॥ ३७ ॥

[उक्त श्लोक में " किशोरी " शब्द प्रयुक्त हुआ है। " रामाभिरामी ", " भूषण " और " विषमपदव्याख्या " नामक टीकाओं में " किशोरी " का अर्थ घोड़ी कर कैकेयी की उपमा वत्सवत्सला उत्पथगामिनी घोड़ी से दी गयी है, किन्तु पं० शिवसहायराम कृत " शिरोमणि " टीका में किशोरी का अर्थ नित्य किशोरविशिष्ट करके इसे कैकेयी का विशेषण माना है। यदि शिरोमणि टीकाकार का यह अर्थ मान लिया जाय, तो किशोरी का अर्थ होता है, बालस्वभाव वाली कैकेयी। (किशोरावस्था का काल १० से १५ वर्ष तक माना जाता है।) अतः उक्त श्लोक में किशोरी का अर्थ बालिका मान कर समूचे श्लोक का अर्थ यह होगा —

मन्थरा की बातों में बाल-स्वभाव-सुलभ अथवा अबोध बालिका की तरह कैकेयी आ कर, कुमार्गगामिनी हो गयी। वह प्रसन्न हो और उसकी बातों पर विश्वास कर मन्थरा से यह बोली ॥ ३७ ॥

इस अर्थ में एक दोष आता है। वह यह कि नायिकाभेद में स्त्रियों की चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं। मुग्धा, युवा, प्रौढ़ा और वृद्धा। इसी प्रकार पुरुषों की भी पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं। यथा बाल, पौगण्ड, किशोर, युवा और वृद्ध। जहाँ पर " किशोरी " शब्द का प्रयोग होता है वहाँ किशोर की स्त्री किशोरी का गौण अर्थ में प्रयोग होता है।]

कैकेयी विस्मयं प्राप्ता परं परमदर्शना।
कुब्जे त्वां नाभिजानामि श्रेष्ठां श्रेष्ठाभिधायिनीम्[1] ॥३८॥

---

१ श्रेष्ठाभिधायिनी—हितैषिणी। (रा०)

अति रूपवती कैकेयी को बड़ा आश्चर्य हुआ (आश्चर्य इस बात का कि, महाराज ने इतना बड़ा काम उसको जनाये विना कैसे करना निश्चित कर लिया) और बोली—अथवा हे मन्थरे! मैं नहीं जानती थी कि, तू सर्वश्रेष्ठ बोलने वाली है या सब से बढ़ कर मेरा हित समझने वाली है ॥ ३८ ॥

पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये ।
त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥ ३९ ॥

इस पृथिवी तल पर जितनी कुबड़ी स्त्रियाँ हैं उन सब में तू निश्चय ही सब से बढ़ कर बुद्धिमती है। तू सदा मेरा हित करने वाली है ॥ ३९ ॥

नाहं समवबुध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम् ।
सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जा वक्राः परमदारुणाः ॥४०॥

हे कुब्जे! मैं अभी तक महाराज की चाल न समझ सकी थी। इस संसार में जितनी कुबड़ी हैं, वे सब अंग टेढ़े होने के कारण दुष्ट स्वभाव और पापिन होती हैं ॥ ४० ॥

त्वं पद्ममिव वातेन सन्नता प्रियदर्शना ।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत्स्कन्धं समुन्नतम् ॥४१॥

किन्तु तुझमें इन बातों का लेश भी नहीं है। क्योंकि जैसे सहज सुन्दर कमलपत्र, पवन के झोंके से झुक कर टेढ़ा हो जाता है, परन्तु उसकी कोई निन्दा नहीं करता, वैसे ही तेरे अंग टेढ़े होने पर भी तू सुखरूपा होने के कारण निन्दा करने के योग्य नहीं है। तेरा वक्षःस्थल कंधे तक मांस से भरा हुआ और ऊँचा है ॥ ४१ ॥

अधस्ताच्चोदरं शातं[1] सुनाभमिव लज्जितम् ।
परिपूर्णं तु जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥ ४२ ॥

और नीचे की ओर बहुत ही पतला है। मानों छाती की ऊँचाई देख लज्जित हो भीतर धस गया है। तेरी दोनों जंघाएँ भरी हुई और दोनों स्तन बड़े मोटे और कठोर हैं ॥ ४२ ॥

विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे ।
जघनं तव निर्मृष्टं[2] रशनादामशोभितम् ॥ ४३ ॥

हे मन्थरे! तेरा मुख विमल चन्द्रमा जैसा है। इन्हीं सब कारणों से तू (कुबड़ी होने पर भी) बड़ी सुन्दर मालूम पड़ती है। तेरी जंघाएँ साफ अर्थात् बालों रहित हैं और करधनी से भूषित हैं ॥ ४३ ॥

जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ चाप्यायतावुभौ ।
त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥ ४४ ॥

जांघे भारी होने से मानों एक दूसरी से मिली ही जाती हैं। दोनों चरण लंबे से लंबे हैं। हे मन्थरे! जब तू चौड़ी पिंडुलियों तक रेशमी साड़ी पहिन कर, ॥ ४४ ॥

अग्रतो मम गच्छन्ती राजहंसीव राजसे ।
आसन्याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥ ४५ ॥

मेरे आगे चलती है तब तू राजहँसी की तरह शोभायमान देख पड़ती है। शंबरासुर के पास जो हज़ार मायाएँ थीं ॥ ४५ ॥

---

१ शातं—कृशं। (गो०) २ निर्मृष्टं—अत्यन्त शुद्धं, लोमादिरहितं।

सर्वास्त्वयि निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः ।
तवेदं स्थगु यद्दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥ ४६ ॥

केवल वे ही नहीं, बल्कि और भी हज़ारों माया तुझमें हैं, (अर्थात् तू उन सब को जानती है) पहिये के नाह की तरह तेरे इस उठे हुए कूवड़ में ॥ ४६ ॥

मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते ।
अत्र ते प्रतिमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम् ॥४७॥

बुद्धि और राजनीतिक चालें और चालाकियाँ भरी हुई हैं। सो मैं ऐसा सोने का हार तुझे पहनाऊँगी जो इस कूवड़ पर झूला करेगा ॥ ४७ ॥

अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते ।
जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन[1] सुन्दरि ॥ ४८ ॥

हे सुन्दरी ! भरत को राज्य मिलने पर तथा रामचन्द्र के वनवासी होने पर मैं तेरे इस मांसपिण्ड (कूवड़) को उत्तम तपे हुए सुवर्ण के पत्रों से तुरन्त ढक दूँगी ॥ ४८ ॥

लब्धार्था च प्रतीता[2] च लेपयिष्यामि ते स्थगु ।
मुखे च तिलकं चित्रं[3] जातरूपमयं शुभम् ॥ ४९ ॥

कार्य की सफलता में विश्वास हो जाने पर तेरे इस कूवड़ पर चन्दन लगाऊँगी और माथे पर पक्के सोने का रत्नजटित तिलक भी पहिनाऊँगी ॥ ४९ ॥

---

१ सुनिष्टप्तेन—सुद्रुतेन। (गो०) २ प्रतीता—सन्तुष्ट। (गो०) ३ चित्रं—नाना रत्नखचिततयानाना वर्णं। (गो०)

कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च ।
परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥ ५० ॥

हे मन्थरे ! तेरे लिये मैं सब गहने सोने के बनवाऊँगी। सब गहने व सुन्दर वस्त्र पहिन कर देवता के समान तू जहाँ चाहे वहाँ जा सकेगी ॥ ५० ॥

चन्द्रमाह्वयमानेन[1] मुखेनाप्रतिमेन च ।
गमिष्यसि गतिं मुख्यां[2] गर्वयन्ती द्विषज्जनम्[3] ॥५१॥

चन्द्रमा से स्पर्धा करने वाले, उपमारहित अपने मुख के द्वारा तू मेरी सौतों को तिनके के समान समझ, उनके सामने अकड़ कर चलेगी ॥ ५१ ॥

तत्रापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः ।
पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥ ५२ ॥

समस्त आभूषणों से सजी हुई अनेक कुबड़ी स्त्रियाँ, तेरे चरणों की सेवा वैसे ही करेंगी जैसे तू मेरी सेवा करती है ॥ ५२ ॥

प्रशस्यमाना सा कुब्जा कैकेयीमिदमब्रवीत् ।
शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥ ५३ ॥

मन्थरा, इस प्रकार प्रशंसा किये जाने पर वेदी की अग्निशिखा के समान श्वेत शय्या पर लेटी हुई कैकेयी से बोली ॥ ५३ ॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते ।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणि राजानमनुदर्शय[4] ॥ ५४ ॥

---

1 आह्वयमानेन—स्पर्धमानेन । (गो०) 2 मुख्यां—तृणीकृतसर्वजनां । (गो०) 3 द्विषज्जनम्—मत्सपत्नीजनं । (गो०) 4 अनुदर्शये—प्रतीक्षस्वेत्यर्थः (गो०)

हे कल्याणि! जब जल बह गया तब बाँध बाँधने से क्या लाभ हो सकता है? अतएव उठ कर अपने कार्यसाधन में लग और कोधागार में जा महाराज के आने की प्रतीक्षा कर ॥ ५४ ॥

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह ।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥ ५५ ॥

इस प्रकार कुब्जा द्वारा उत्साहित किये जाने पर, बड़े बड़े नेत्रों-वाली कैकेयी, जिसे अपने सौभाग्य का बड़ा गर्व था, मन्थरा सहित कोपभवन में पहुँची ॥ ५५ ॥

अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना ।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥ ५६ ॥

वहाँ पहुँचते ही कैकेयी ने कई लाख के मोती के हार को और अन्य मूल्यवान गहनों को उतार कर ज़मीन पर फेंक दिया ॥ ५६ ॥

ततो हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता ।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

उस समय सोने के रंग के समान रंगवाली कैकेयी, कुबड़ी की बातों में आ, ज़मीन पर लेट कर मन्थरा से कहने लगी ॥ ५७ ॥

इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि ।
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यति क्षितिम् ॥५८॥

हे कुब्जे! या तो तुझे महाराज को मेरे यहाँ मरने ही की ख़बर सुनानी पड़ेगी या रामचन्द्र को वन जाना पड़ेगा और भरत को राज्य मिलेगा ॥ ५८ ॥

न सुवर्णेन मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः ।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ५९ ॥

मुझे अब न तो गहनों से और न रत्नों से और न स्वादिष्ट भोजनों ही से कुछ मतलब है। अगर राम का राज्याभिषेक हुआ तो बस, मेरे प्राण का यहीं अन्त भी है ॥ ५६ ॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो
वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः[1] ।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं
हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥ ६० ॥

कैकेयी के इन वचनों को सुन फिर भी मन्थरा बड़े क्रूर वचनों से जो रामचन्द्र के लिये अहितकर थे, कैकेयी को उपदेश करने लगी ॥ ६० ॥

प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो
यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे ।
अतो हि कल्याणि यतस्व तत्तथा
यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्ष्यते ॥ ६१ ॥

हे कल्याणि ! तू अपने मन में यह निश्चय समझ ले कि, यदि रामचन्द्र कहीं राजा हो गये तो तू अपने पुत्र सहित दुःख पावेगी। अतएव ऐसा प्रयत्न करना जिससे भरत ही को राज्य मिले ॥ ६१ ॥

तथातिविद्धा महषी तु कुब्जया
समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः ।

---

१ महापराक्रमैः—अतिक्रूरैः । (रा०)

निधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता
शशंस कुब्जां रुषिता पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार रानी कैकेयी मन्थरा के वचन रूपी वाणों से वारंवार विद्ध हो, अपने दोनों हाथों को अपने हृदय पर रख, आश्चर्यान्वित हो और क्रोध में भर बोली ॥ ६२ ॥

यमस्य वा मां विषयं गतामितो
निशाम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि ।
वनं गते वा सुचिराय राघवे
समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥ ६३ ॥

हे कुब्जे! या तो तू मुझे यम के घर पहुँची हुई देखने का संवाद ही महाराज को जा कर सुनावेगी अथवा दीर्घकाल के लिये रामचन्द्र ही वनवासी होंगे और भरत को राज्य मिलेगा ॥ ६३ ॥

अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो
न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम् ।
न किञ्चिदिच्छामि न चेह जीवितं
न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥ ६४ ॥

यदि रामचन्द्र वन न गये तो मैं न तो शैया पर लेटूँगी, न फूलमाला पहिनूँगी, न चन्दन लगाऊँगी, न आँखों में अंजन आँजूँगी, न अन्न और जल ही ग्रहण करूँगी। मुझे (अब सिवाय भरत के राज्याभिषेक के) और कोई इच्छा नहीं है। (यदि यह पूरी न हुई तो) मैं अब जीना भी नहीं चाहती ॥ ६४ ॥

अथैतदुक्त्वा वचनं सुदारुणं
निधाय सर्वाभरणानि भामिनी ।
असंवृतामास्तरणेन मेदिनी-
मथाधिशिश्ये पतितेव किन्नरी ॥ ६५ ॥

इस प्रकार की कठोर प्रतिज्ञा कर और सब गहनों को उतार, कैकेयी विस्तर रहित पृथिवी पर किन्नरी की तरह लेट गयीं ॥ ६५ ॥

उदीर्णसंरम्भतमोवृतानना
तथाऽवमुक्तोत्तममाल्यभूषणा ।
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा
तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥ ६६ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

रानी का मुखमण्डल क्रोधान्धकार से युक्त और शरीर फूल-मालाओं और आभूषणों से शून्य उसी प्रकार का जान पड़ने लगा, जिस प्रकार का ताराओं से रहित और अन्धकारमय आकाश जान पड़ता है ॥ ६६ ॥

अयोध्याकाण्ड का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

दशमः सर्गः

—:o:—

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम् ।
तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किन्नरी ॥ १ ॥

अनन्तर पापिनी मन्थरा के भली भाँति समझाने बुझाने से रानी कैकेयी, विष में बुझे तीर से घायल किन्नरी की तरह ज़मीन पर लेट गयी ॥ १ ॥

निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी ।
मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥ २ ॥

अत्यन्त चतुर रानी कैकेयी मन ही मन अपना कर्त्तव्य भली भाँति निश्चित कर, उसे धीरे धीरे मन्थरा को बतलाने लगी ॥ २ ॥

सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता ।
नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥

उस समय खिन्नमना कैकेयी मन्थरा की बातों में आ नागिन की तरह लंबी गरम साँसे लेती जाती थी ॥ ३ ॥

मुहूर्तं चिन्तयामास मार्गमात्मसुखावहम् ।
सा सुहृच्चार्थकामा च तन्निशम्य सुनिश्चयम् ॥ ४ ॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा ।
अथ साऽमर्षिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥ ५ ॥

मन्थरा अपनी सखी कैकेयी को अपने वचनानुसार ही कार्य करने में तत्पर जान तथा कार्य की सिद्धि समझ अति प्रसन्न हुई। डाह के मारे कैकेयी भी सब बातों को भली भाँति सोच और निश्चय कर ॥ ४ ॥ ५ ॥

---

१ मार्गम्—मंथरोक्तं । (वि०) २—निशम्य—श्रुत्वा (गो०)

संविवेशावला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटीं मुखे[1] ।
ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥६॥

महा क्रोध में भर, भौंहें टेढ़ी कर, भूमि पर लेट रही । रत्न जटित हार तथा अन्य बढ़िया बढ़िया आभूषण, ॥ ६ ॥

अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे ।
तया तान्यपविद्धानि मूल्यान्याभरणानि च ॥ ७ ॥

अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः ।
क्रोधागारे निपतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥ ८ ॥

कैकेयी ने उतार कर ज़मीन पर फेंक दिये । ज़मीन पर बिखरे पड़े हुए वे बहुमूल्य आभूषण वैसे ही सुशोभित जान पड़ते थे, जैसे आकाश में तारागण सुशोभित होते हैं । मैले वस्त्र पहिने हुए कोप-भवन में पड़ी हुई कैकेयी ॥ ७ ॥ ८ ॥

एकवेणीं दृढं बद्ध्वा गतसत्त्वेव किन्नरी ।
आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥ ९ ॥

एक वेणी धारण किये हुए, स्वर्गलोक से गिरी हुई किन्नरी के समान जान पड़ती थी । जब महाराज राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ करने की आज्ञा मंत्रियों को दे, ॥ ९ ॥

उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् ।
अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान्[2] ॥१०॥

---

१ मुखे भ्रुकुटीं निवेशः—क्रोधातिशयेन । (रा०) २ जज्ञिवान्—रामाभिषेकः प्रसिद्धः निश्चित इति । इतःपूर्वं कैकेय्यानश्रुतिगोचरइति ज्ञातवान् । (रा०)

और समस्त सभासदों को विदा कर रनिवास में पहुँचे और सोचा कि, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होना आज सर्व साधारण में तो प्रसिद्ध हो गया, परन्तु रानियों को इसकी सूचना नहीं हुई ॥ १० ॥

प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी[1] ।
स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥ ११ ॥

अतएव यह शुभ संवाद अपनी प्यारी रानियों से भी कहूँ। यह विचार महायशस्वी महाराज दशरथ रनवास में गये। वे सब से प्रथम कैकेयी के सर्वोत्तम भवन में पधारे ॥ ११ ॥

पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।
शुक बर्हिणसंघुष्टं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥ १२ ॥

चन्द्रमा जैसे राहुयुक्त उजले आकाश में प्रवेश करता है, वैसे ही महाराज दशरथ कैकेयी के भवन में पधारे। उस समय कैकेयी के घर में सुग्गे, मोर, क्रौंच, और हंस बोल रहे थे ॥ १२ ॥

वादित्ररवसङ्घुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् ।
लतागृहैश्चित्रगृहै[2]श्चम्पकाशोकशोभितैः ॥ १३ ॥

कहीं पर बाजे बज रहे थे, जगह जगह कुबड़ी, नाटी, टेढ़ी मेढ़ी दासियाँ देख पड़ती थीं, कहीं पर लतामण्डप बने हुए थे, कहीं पर ऐसे कमरे थे जिनमें सुन्दर तसवीरें लटक रही थीं (या दीवालों पर चित्र चित्रित थे।) और जगह जगह चंपा और अशोक के वृक्ष (घर की) शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १३ ॥

---

१ वशी—स्वतन्त्रः। (गो०) २ चित्रगृहैः—चित्रयुक्त गृहैः। (रा०)

दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिश्चोपशोभितम् ॥ १४ ॥

भवन के भीतर की वेदियाँ हाथीदाँत, चाँदी और सोने की बनी हुई थीं, जगह जगह नित्य फूलने और फलने वाले वृक्ष और बावड़ी, घर की शोभा बढ़ा रही थीं ॥ १४ ॥

दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥

बैठने के लिये हाथीदाँत के काम के चाँदी सोने के पीढ़ा (कुर्सियाँ) रखे हुए थे । विविध प्रकार के अन्न, पान, भक्ष्य, भोज्य पदार्थ रखे थे ॥ १५ ॥

उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।
तत्प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥ १६ ॥

उस घर में अनेक बहुमूल्य गहने रखे थे । (कहाँ तक वर्णन किया जाय) उस घर की शोभा स्वर्ग जैसी हो रही थी । महाराज अपने उस भरेपूरे अन्तःपुर में पहुँचे ॥ १६ ॥

न ददर्श प्रियां राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।
स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थं मनुजाधिपः ॥ १७ ॥

किन्तु वहाँ उत्तम शय्या पर कैकेयी को न पाया । महाराज वहाँ कामदेव के अत्यन्त सताये हुए और रति की इच्छा से गये थे ॥ १७ ॥

अपश्यन्दयितां भार्यां पप्रच्छ[1] विषसाद[2] च ।
न हि तस्य पुरा देवी तां वेला[3]मत्यवर्तत ॥ १८ ॥

उन्होंने कैकेयी का नाम ले पुकारा, किन्तु जब कुछ भी उत्तर न मिला तब वे उदास हो गये। क्योंकि इसके पूर्व महाराज के रति के समय कैकेयी कहीं नहीं जाती थी ॥ १८ ॥

न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।
ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥ १९ ॥

और न (आज के पूर्व) महाराज ही कभी शून्य घर में आये थे। महाराज घर में जा सब से कैकेयी के बारे में पूँछने लगे ॥ १९ ॥

यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् ।
प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता रचिताञ्जलिः ॥ २० ॥

महाराज ने स्वार्थ में तत्पर (भरत का राज्याभिषेक चाहने वाली) और नादान कैकेयी के बारे में पहले की तरह एक पहरेदारिन से पूँछा। तब उसने हाथ जोड़ और डरते डरते कहा ॥ २० ॥

देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता ।
प्रतिहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥ २१ ॥

हे देव! देवी जी तो अत्यन्त कुपित हो कोपागार में चली गयी हैं। उस पहरेदारिन के वचन सुन महाराज का मन बहुत बिगड़ गया ॥ २१ ॥

---

१ पप्रच्छ, २ विषसाद—त्वर्थपप्रच्छ क्वगतासीत्येवं । प्रत्युत्तराभावात् विषसाद च । (गो०) ३ तांवेलां—रतिवेलां । (गो०)

विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः ।
तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥ २२ ॥

और वे वहीं बैठ गये। उस समय महाराज की सब इन्द्रियाँ विकल और चञ्चल हो उठीं। (फिर उन्होंने कोपभवन में जा कर देखा कि) रानी अनुचित रीति से लेटी हुई है। (अर्थात् ज़मीन पर बिना कुछ बिछाये मैली धोती पहने तथा गहने उतार कर पड़ी है) ॥ २२ ॥

प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।
स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥२३॥

यह देख महाराज अति दुःख सन्तप्त हुए। क्योंकि वृद्ध महाराज को वह तरुणावस्था को प्राप्त रानी कैकेयी प्राणों से भी अधिक प्यारी थी ॥ २३ ॥

अपापः पापसङ्कल्पां ददर्श धरणीतले ।
लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥ २४ ॥

निष्पाप महाराज ने दुष्ट मनोरथ वाली कैकेयी को कटी हुई लता की तरह अथवा स्वर्ग से ढकेली हुई देवी की तरह ज़मीन पर पड़ी देखा ॥ २४ ॥

किन्नरीमिव निर्धूतां[1] च्युता[2]मप्सरसं यथा ।
*मालामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥ २५ ॥

---

१ निर्धूतां—पुण्यक्षये स्वर्लोकापतताम् । (रा०) २ च्युतां—स्वर्गात्परिभ्रष्टाम् । (रा०)

* पाठान्तरे "मायामिव"।

कैकेयी पृथिवी पर पड़ी हुई ऐसी जान पड़ती थी मानों वह पुण्यक्षीण होने पर स्वर्ग से गिरी हुई किन्नरी है अथवा स्वर्ग परि-भ्रष्टा अप्सरा है, अथवा टूट कर गिरी हुई माला है। अथवा फंदे में फँसी हिरनी है ॥ २५ ॥

करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने।
महागज इवारण्ये स्नेहात्परिममर्श ताम् ॥ २६ ॥

अथवा शिकारी के विषबाण से घायल की हुई हथिनी है, ऐसी हथिनी रूपिणी कैकेयी को महागज रूपी महाराज दशरथ ने बड़े प्यार से देखा ॥ २६ ॥

परिमृश्य च पाणिभ्यामभिसन्त्रस्तचेतनः।
कामी कमलपत्राक्षी[1]मुवाच वनितामिदम् ॥ २७ ॥

वे मन में डरते डरते अपने हाथों से उसका शरीर सुहराने लगे। फिर कामातुर महाराज दशरथ ने उस कमलपत्राक्षी महिला से यह कहा ॥ २७ ॥

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम्।
देवि केनाभियुक्तासि[2] केन वासि विमानिता[3] ॥२८॥

हमें यह भी नहीं मालूम हुआ कि, हमारे ऊपर तुम क्यों क्रुद्ध हो रही हो? क्या किसी ने तुम्हारी कुछ निन्दा की है या किसी ने तुम्हारा अपमान किया है? ज़रा बतलाओ तो ॥ २८ ॥

---

१ कमलपत्राक्षी—इति कामित्वद्योतनं। (गो०) २ अभियुक्ता—कृतपराभवा। (रा०) ३ विमानोनिन्दा। (रा०)

यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु[1] ।
भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि[2] ॥ २९ ॥

हे कल्याणि ! तुम्हारा इस प्रकार धूल में लोटना हमें बहुत दुःखदायी हो रहा है। (हमारे जीते हुए) तुम जैसी हमारी हित चाहने वाली का इस प्रकार ज़मीन पर लोटने का कारण क्या है ? ॥ २९ ॥

भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनी ।
सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥ ३० ॥

हे प्राणप्यारी ! तुम प्रेत लगे हुए मनुष्य की तरह क्यों ज़मीन पर लोट रही हो। यदि कोई व्याधि अथवा रोग से पीड़ित हो तो बतलाओ। हमारे यहाँ सब रोगों की चिकित्सा करने वाले और हमारे द्वारा दान मानादि से सन्तुष्ट वैद्य हैं ॥ ३० ॥

सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनी ।
कस्य वा ते प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥३१॥

जो तुम्हे (बात की बात में) नीरोग और सुखी कर देंगे। हे भामिनी ! ज़रा यह तो बतलाओ कि बीमारी क्या है ? (यदि कोई बीमारी नहीं है) तो क्या तुम किसी दूसरे को (पुरस्कार दिला) प्रसन्न करना चाहती हो ? अथवा किसी पर अप्रसन्न हो उसको दण्ड दिलाना चाहती हो या उसे बरबाद करवाना चाहती हो ॥ ३१ ॥

कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम् ।
मा रोदीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥३२॥

---

१ पांसुषु—धूलिषु । (रा०) २ कल्याणचेतसि—अनपकारिणि । (रा०)

अथवा किसका उपकार और किसका अपकार किया जाय ? तुम रोओ मत, वृथा अपने शरीर को साँसत कर, चेहरा फीका मत करो ॥ ३२ ॥

अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम् ।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान्कोऽप्यकिञ्चनः ॥३३॥

हम तुम्हें राज़ी करने के लिये अवध्य को भी अभी जान से मरवा सकते हैं अथवा जिसे वध करने की आज्ञा दी जा चुकी है, उसे हम अभी छोड़ भी सकते हैं। यदि किसी धनहीन को धनवान अथवा धनवान को निर्धन करवाना चाहती हो (तो भी बतलाओ) हम तुरन्त ऐसा भी कर सकते हैं ॥ ३३ ॥

अहं चैव मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः ।
न ते किञ्चिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥ ३४ ॥

क्योंकि क्या हम स्वयं और क्या हमारे आश्रित जन सभी तो तुम्हारे वशवर्ती हैं अर्थात् आज्ञाकारी हैं। तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करने की हममें सामर्थ्य नहीं है ॥ ३४ ॥

आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ।
बल[1]मात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

यदि हमें अपने प्राण गँवा कर भी कोई काम तेरी प्रसन्नता के लिये करना पड़े तो हम उसे करने को भी तैयार हैं। ज़रा बतला तो तेरी इच्छा क्या है ? हमारा तुझमें कितना प्रेम है यह तो तुझे मालूम ही है, अतएव जो चाहती हो सो कह, किसी बात की शङ्का मत कर ॥ ३५ ॥

---

1 बलं—प्रेमं। (रा०)

करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ।
यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा ॥ ३६ ॥

हम अपने पुण्यकर्मों की शपथ खा कर कहते हैं कि, हम जो तू कहेगी वही करेंगे। देख, इस पृथिवीमण्डल पर जहाँ तक सूर्य घूमता है वहाँ तक की सारी पृथिवी हमारे अधिकार में है ॥ ३६ ॥

प्राचीनाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः ।
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥३७॥
तत्र जातं बहुद्रव्यं धनधान्यमजाविकम् ।
ततो वृणीष्व कैकेयि यद्यत्त्वं मनसेच्छसि ॥ ३८ ॥

द्राविड़, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिणापथ, बङ्गाल, अङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी, और कोशल ये सब देश, जहाँ तरह तरह की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और जो धनधान्य एवं भेड़ों बकरियों से भरे पूरे हैं—हमारे अधीन हैं। इनमें से यदि किसी देश का राज्य चाहती हो तो बतला ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने ।
तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम् ।
तत्ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव भास्करः ॥ ३९ ॥

हे भीरु ! तू क्यों ज़मीन पर पड़ी कष्ट सहती है। हे सुन्दरी ! उठ, उठ। हे कैकेयी ! ठीक ठीक बतला, तुझे किस बात का डर है। हम उस डर को अभी उसी प्रकार दूर कर देंगे, जिस प्रकार सूर्य देव, कुहरे को दूर कर देते हैं ॥ ३९॥

तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम् ।
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥ ४० ॥

इति दशमः सर्गः ॥

इस प्रकार महाराज द्वारा मनायी जाने पर, कैकेयी कुछ कुछ शान्त हुई, किन्तु महाराज को पीड़ित करने के लिये उनसे अति दुःखदायी, अप्रिय वचन कहने लगी ॥ ४० ॥

अयोध्याकाण्ड का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

एकादशः सर्गः

—:o:—

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम् ।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः ॥ १ ॥

कामशर से पीड़ित और कामवेग के वशीभूत महीपाल दशरथ से कैकेयी ये निठुर वचन बोली ॥ १ ॥

नास्मि विप्रकृता[1] देव केनचिन्नावमानिता ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तमिच्छामि त्वया कृतम् ॥२॥

मुझे न तो कोई बीमारी है और न किसी ने मेरा अपमान ही किया है। किन्तु मेरी एक इच्छा है, जिसे आप पूरी कर सकते हैं अथवा मेरा एक काम है जिसे मैं आपसे करवाना चाहती हूँ ॥ २ ॥

---

१ विप्रकृता—रोगग्रस्ता । (गो०)

प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि ।
अथ तद्व्याहरिष्यामि यदभिप्रार्थितं मया ॥ ३ ॥

यदि आप मेरा वह काम करने को राज़ी हों, तो उसे करने की प्रतिज्ञा कीजिये। तब मैं अपनी वह बात बतलाऊँगी ॥ ३ ॥

तामुवाच महातेजाः कैकेयीमीषदुत्स्मितः ।
कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु शुविस्थिताम् ॥ ४ ॥

कैकेयी का यह वचन सुन, काम से व्याकुल महाराज दशरथ, ज़मीन पर पड़ी हुई कैकेयी का सिर हाथों से उठा अपनी गोद में रख, मुसक्या कर बोले ॥ ४ ॥

अवलिप्ते[1] न जानासि त्वत्तः प्रियतमा मम ।
मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते ॥ ५ ॥

हे सौभाग्यगर्विते! क्या तुझे यह नहीं मालूम कि, पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र को छोड़, हमारा तुझसे अधिक प्यारा और कोई मनुष्य नहीं है ॥ ५ ॥

तेना जय्येनमुख्येन राघवेण महात्मना ।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ॥ ६ ॥

सो तुझसे भी अधिक प्रिय, शत्रुओं से अजेय और सब से मुख्य श्रीरामचन्द्र जी की शपथ खा कर हम कहते हैं कि, जो तू चाहती हो सो कह ॥ ६ ॥

यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवेयमहं ध्रुवम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ७ ॥

---

१ अवलिप्ते—सौभाग्यगर्विते । (गो०)

हे कैकेयी! जिन श्रीरामचन्द्र को देखे विना एक घड़ी भी जीना हमारे लिये असम्भव है, उन्हींकी शपथ खा कर हम कहते हैं कि, तेरा काम हम करेंगे ॥ ७ ॥

आत्मना वाऽऽत्मजैश्चान्यैर्वृणे[1] यं मनुजर्षभम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ८ ॥

हम अपने से और अन्य तीनों पुत्रों से जिन श्रीरामचन्द्र को अधिक मानते या चाहते हैं अथवा अपना शरीर व अन्य तीनों पुत्रों को दे डाल कर भी जिन श्रीरामचन्द्र को रखना चाहते हैं, तुम्हारा वचन पूरा करने को उन्हींकी हम शपथ खाते हैं ॥ ८ ॥

भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्यो[2]द्धरस्व मे ।
एतत्समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत्साधु[3] मन्यसे ॥ ९ ॥

हे भद्रे! हमारे हृदय में तेरे लिये कैसा प्रेम है और तेरा काम करने के लिये हम शपथ खा चुके हैं, इन बातों पर ध्यान रख कर, जो काम हमसे करवाना चाहती है, उसे भली भाँति समझ बूझ कर बतला ॥ ९ ॥

बलमात्मनि पश्यन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ॥ १० ॥

हमारी तेरे ऊपर जैसी प्रीति है उसको विचार कर किसी बात की शङ्का मत कर। हम अपने पुण्यों की शपथ खा कर कहते हैं हैं कि, तू जो कहेगी सो हम करेंगे ॥ १० ॥

---

१ वृणे—भशमम्जाने। (रा०) २ अनुमृश्य—विचार्य। (रा०) ३ साधु—इष्टं। (गो०)

सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम् ।
निर्माध्यस्थ्यात्महर्षाच्च बभाषे दुर्वचं वचः ॥ ११ ॥

मन्थरा के उपदेश को अपने मन में रखे हुए और अपना मनोरथ सिद्ध होता जान, भरत का पक्षपात करती हुई और प्रसन्न हो, कैकेयी ये दुर्वचन बोली ॥ ११ ॥

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः ।
व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम् ॥ १२ ॥

महाराज की बातों से अत्यन्त प्रसन्न हो और अपना मतलब पूरा करने को आये हुए महाभयङ्कर यमराज की तरह कैकेयी बोली ॥ १२ ॥

यथा क्रमेण शपसि वरं मम ददासि च ।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद्देवाः साग्निपुरोगमाः ॥ १३ ॥

हे महाराज! आप मुझे वर देने की शपथ खा चुके हैं, इस बात के साक्षी अग्नि प्रमुख ३३ देवता रहें। (अर्थात् इस कथन से कैकेयी पति को अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहने के लिये दृढ़ करती है।) ॥ १३ ॥

चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः ।
जगच्च पृथिवी चैव सगन्धर्वा सराक्षसा ॥ १४ ॥

निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः ।
यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥१५॥

हे महाराज! चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन और दिशाएँ, जगत्, सब लोकों के निवासी, पृथिवी, गन्धर्व, राक्षस, भूत,

गृहदेवता, और और भी जो प्राणी हैं वे सब आपके कथन के साक्षी रहें ॥ १४ ॥ १५ ॥

सत्यसन्धो महातेजा धर्मज्ञः सुसमाहितः ।
वरं मम ददात्येष तन्मे शृण्वन्तु देवताः ॥ १६ ॥

सत्यसन्ध, महातेजस्वी, धर्मज्ञ, सदैव सावधान रहने वाले महाराज हमको वर देते हैं यह बात सब देवता सुनें ॥ १६ ॥

इति देवी महेष्वासं परिगृह्य[1]भिशस्य[2] च ।
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥ १७ ॥

राजमहिषी कैकेयी ने महाधनुर्धारी, वर देने को उद्यत और कामातुर महाराज को वचनबद्ध कर और उनकी प्रशंसा कर कहा ॥ १७ ॥

स्मर राजन्पुरा वृत्तं तस्मिन्दैवासुरे रणे ।
तत्र चाच्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥ १८ ॥

हे राजन्! आप पहले उस पुरानी बात को स्मरण कीजिये, जब देवासुर संग्राम में आप गये थे और शत्रु की मार से जब आप मृतप्राय हो गये थे ॥ १८ ॥

तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः ।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्राददा वरौ ॥ १९ ॥

---

१ परिगृह्य—परिवर्तनान्निवर्त्य ॥ २ अभिशस्य—सत्यसन्ध इत्यादिना स्वकार्यस्थैर्याय स्तुत्वा च । (रा०)

उस समय मैंने जाग कर और बड़े यत्न से आपकी रक्षा की थी। तब जागने पर अथवा होश में आने पर, आपने मुझे दो वर दिये थे ॥ १९ ॥

तौ तु दत्तौ वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम् ।
तवैव पृथिवीपाल सकाशे सत्यसङ्गर ॥ २० ॥

हे सत्यवादी राजन्! उन दोनों वरों को मैंने आपके पास धरोहर की तरह रखवा दिया था। मैं वे ही दोनों वर आपसे इस समय माँगती हूँ ॥ २० ॥

तत्प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद्दास्यसि मे वरम् ।
अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥२१॥

और यदि धर्मानुसार प्रतिज्ञा कर के तुम वे दोनों वर मुझे इस समय न दोगे तो अपने इस अपमान के कारण आप ही के सामने मैं मर जाऊँगी ॥ २१ ॥

वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशे कृतः ।
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥ २२ ॥

महाराज दशरथ को कैकेयी ने केवल वाणी से अपने वश में उसी तरह कर लिया, जिस तरह (बहेलिया) हिरन को मारने के लिये जाल में बाँध लेता है ॥ २२ ॥

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ।
वरौ यौ मे त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥ २३ ॥

तदनन्तर वर देने वाले और काम मोहित महाराज से कैकेयी बोली कि, हे देव! आपने मुझे जो दो वर उस समय दिये थे ॥ २३ ॥

तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः।
योऽभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥ २४ ॥

उन दोनों को मैं अभी माँगती हूँ। आप सुनिये। रामचन्द्र के अभिषेक के लिये जो सामान सँजोया गया है ॥ २४ ॥

अनेनैवाभिषेकेन भरतो मेऽभिषिच्यताम्।
यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥२५॥

तदा दैवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः।
नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥

उससे मेरे पुत्र भरत का अभिषेक किया जाय—(यह तो एक वर हुआ) हे देव! आपने देवासुर संग्राम में प्रसन्न हो जो दूसरा वर देने को कहा था उसके लेने का समय अब आ गया है। वह यह है कि, चौदह वर्ष तक वन में रह कर ॥ २५ ॥ २६ ॥

चीराजिनजटाधारी रामो भवतु तापसः।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥ २७ ॥

रामचन्द्र जटा वल्कल धारण कर तापस भेष में रहें। मेरे पुत्र भरत आज ही निष्कण्टक राज्य भोगें ॥ २७ ॥

एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वनम् ॥ २८ ॥

बस, यही मेरी परम कामना है। आपके दिये हुए ही वर मैं माँगती हूँ। मैं राम का वनगमन आज ही देखना चाहती हूँ ॥२८॥

स राजराजो भव सत्यसङ्गरः
कुलं च शीलं च हि रक्ष जन्म च।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं
तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥ २९ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

हे राजन्! अब आप सत्यप्रतिज्ञ बन कर अपने कुल, शील और जन्म की रक्षा करें। क्योंकि ऋषिगण, मनुष्यों के हितार्थ, सत्य ही को स्वर्ग प्राप्ति के लिये परमोत्तम साधन बतलाते हैं ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

द्वादशः सर्गः

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः।
चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥

कैकेयी की इन कठोर बातों को सुन, महाराज दशरथ बहुत चिन्तित और सन्तप्त हुए ॥ १ ॥

किंनु मे यदि वा स्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम।
अनुभूतोपसर्गो वा मनसोवाप्युपद्रवः[1] ॥ २ ॥

---

1 मनसोवाप्युपद्रवः—आधिव्याधिजनितविक्षेपोवा। (वि०)

और सोचने लगे—क्या हम यह दिन में ही स्वप्न देख रहे हैं, या हमारे चित्त को मोह प्राप्त हो गया है या भूत प्रेत की बाधा है, अथवा किसी दुष्ट ग्रह की पीड़ा है, अथवा आधिव्याधि जनित यह कोई उपद्रव है? ॥ २ ॥

इति सञ्चिन्त्य तद्राजा नाभ्यगच्छत्तदा सुखम् ।
प्रतिलभ्य चिरात् संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः ॥ ३ ॥

बहुत सोचने विचारने पर भी महाराज का मन सुखी न हुआ। कुछ काल पीछे जब वे प्रकृतिस्थ हुए तब कैकेयी की बातों को स्मरण कर परम तप्त, ॥ ३ ॥

व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः ।
असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥

व्यथित और विकल उसी प्रकार हुए जिस प्रकार हिरन शेरनी को देख कर व्यथित, विकल और सन्तप्त होता है। उस समय महाराज दशरथ बिना आसन के भूमि पर बैठे बैठे दीर्घ श्वांस ले रहे थे ॥ ४ ॥

मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः ।
अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥

मानों मन्त्रमण्डल के भीतर घिरा हुआ मन्त्रमुग्ध महाविषधर सर्प फुफकारता हो। क्रोध में भर महाराज ने कहा "मुझे धिक्कार है" ॥ ५ ॥

मोहमापेदिवान्भूयः शोकोपहतचेतनः ।
चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥

यह कह शोक से विह्वल महाराज फिर मूर्च्छित हो गये। देर तक मूर्छित रह कर जब वे सचेत हुए तब अत्यन्त दुखी हुए ॥ ६ ॥

कैकेयीमब्रवीत्क्रुद्धः प्रदहन्निव चक्षुषा।
नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥

और क्रोध में भर कैकेयी को इस तरह देखा मानों उसे भस्म ही कर देंगे। तदनन्तर उससे बोले, अरी नृशंसा! पापस्वभावे! और कुल का सत्यानाश करने वाली! ॥ ७ ॥

किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयाऽपि वा।
सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र ने या हमने तेरा क्या बिगाड़ा है? श्रीरामचन्द्र तो अपनी गर्भधारिणी माता के समान सदा तेरे साथ बर्ताव करते हैं ॥ ८ ॥

तस्यैव त्वमनर्थाय किन्निमित्तमिहोद्यता।
त्वं मयात्मविनाशार्थं भवनं स्वं प्रवेशिता ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र का इस प्रकार का अनर्थ करने को तू क्यों तैयार हुई है। हाय! हमने अपना नाश (अपने हाथों ही से) करने के लिये तुझे अपने घर में बुलाया ॥ ९ ॥

अविज्ञानान्नृपसुता व्याली तीक्ष्णविषा यथा।
जीवलोको यथा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥ १० ॥

हमने तो तुझे राजकुमारी समझा था, हम यह नहीं जानते थे कि, तू उग्र विषधारिणी साँपिन है। जब सारे लोग श्रीरामचन्द्र जी के गुणों की प्रशंसा कर रहे हैं, ॥ १० ॥

अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम् ।
कौसल्यां वा सुमित्रां वा त्यजेयमपि वा श्रियम् ॥११॥

तब हम कौनसा अपराध लगा कर ऐसे प्यारे पुत्र का त्याग करें। हम कौशल्या, सुमित्रा, और राज्य को भी त्याग सकते हैं ॥ ११ ॥

जीवितं वात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम् ।
परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥ १२ ॥

यही नहीं बल्कि हम अपने प्राण तक त्याग सकते हैं; किन्तु अपने प्राणाधार पितृवत्सल श्रीरामचन्द्र को नहीं त्याग सकते। अपने ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी को देखने से हमारा मन परम प्रसन्न होता है ॥ १२ ॥

अपश्यतस्तु मे रामं नष्टा भवति चेतना ।
तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥१३॥

और श्रीरामचन्द्र को न देखने से हमारी सुधबुध नष्ट हो जाती है। विना सूर्य के लोक भले ही बने रहें, विना जल बरसे अन्न भले ही उत्पन्न हो ॥ १३ ॥

न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।
तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥ १४ ॥

किन्तु विना श्रीरामचन्द्र के क्षण भर भी हमारे प्राण शरीर में नहीं रह सकते। अतः हे पापिन ! बस कर, और इस हठ को छोड़ दे ॥ १४ ॥

अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे ।
किमिदं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥ १५ ॥

हम अपना सिर तेरे चरणों में रखते हैं, हम पर प्रसन्न हो। हे पापिन! ऐसा कठोर ठान तूने किस लिये ठाना है? ॥ १५ ॥

अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।
अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥ १६ ॥

स मे ज्येष्ठः सुता श्रीमान्धर्मज्येष्ठ इतीव मे ।
तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥ १७ ॥

यदि तू यह जानना चाहती हो कि, हम भरत को प्यार करते हैं कि, नहीं तो तू परीक्षा ले; किन्तु तू स्वयं श्रीरामचन्द्र के बारे में पहले जो यह कह चुकी है कि, हमारे ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम धर्म से ज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हैं सो यह बात क्या तूने मेरी खुशामद करने को कही थी अथवा श्रीरामचन्द्र से अपनी टहल करवाने को कही थी? ॥ १६ ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा शोकसन्तप्ता सन्तापयसि मां भृशम् ।
आविष्टाऽसि गृहं शून्यं सा त्वं परवशं गता ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक को सुन तू शोकतप्त स्वयं हुई और मुझे भी शोकसन्तप्त कर रही है, सो जान पड़ता है सूने घर में रहने से तेरे सिर पर कोई प्रेत सवार हो गया है, इसीसे तू अपने आपे में नहीं है ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम् ।
अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥ १९ ॥

हे देवि! महाराज इक्ष्वाकु के कुल में यह बड़ा अनर्थ हो रहा है कि, जो आज तक सदा नीतिशालिनी रही थी उसीकी बुद्धि पर आज पत्थर पड़ रहे हैं। अर्थात् जब अच्छे लोगों की बुद्धि बिगड़ती है तब कुल में अनिष्ट होता है ॥ १९ ॥

" प्रायः समापन्न विपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति "

अथवा

जाको प्रभु दारुन दुःख देहीं।
ता कर मति पहिले हर लेहीं ॥

न हि किञ्चिदयुक्तं[1] वा विप्रियं[2] वा पुरा मम।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधाम्यहम् ॥२०॥

यदि तुझे भूत प्रेत की बाधा न होती अथवा किसी ग्रह की बुरी दशा की पीड़ा न होती तो ऐसी लोकविरुद्ध और हमारे प्रतिकूल बात जैसी कि तूने पहले कभी नहीं कही थी, इस समय न कहती। इससे हमें विश्वास नहीं होता कि, तुझे भूतबाधा नहीं है ॥ २० ॥

ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना।
बहुशो हि सुबाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥ २१ ॥

हे बाले! तू तो हम से बहुधा यही कहा करती थी कि, तुझे भरत के समान ही श्रीरामचन्द्र प्रिय हैं अर्थात् तू भरत और श्रीराम में कुछ भी भेद नहीं समझती ॥ २१ ॥

---

१ अयुक्तं—लोकविरुद्धम्। (गो०) २ विप्रियं—प्रतिकूलं अयुक्तं। (शि०)

तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः ।
कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २२ ॥

हे देवि ! उसी महात्मा और यशस्वी श्रीरामचन्द्र का चौदह वर्ष तक वन में रहने (का वर माँगना) तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥२२॥

अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे कृतात्मनः ।
कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥ २३ ॥

धर्मात्मा एवं अत्यन्त सुकुमार श्रीरामचन्द्र का अत्यन्त कठोर (अर्थात् १४ वर्ष के लिये) वनवास तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥ २३ ॥

रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने ।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥ २४ ॥

हे शुभलोचने ! लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र का जो तेरी सेवा किया करते हैं, घर से निकालना तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥२४॥

रामेऽपि भरताद्भूयस्तव शुश्रूषते सदा ।
विशेषं त्वयि तस्मात्तु भरतस्य न लक्षये ॥ २५ ॥

फिर, भरत की अपेक्षा श्रीरामचन्द्र सदा तेरी सेवा अधिक किया करते हैं । श्रीरामचन्द्र से अधिक भरत की तुझमें भक्ति है, हमें तो ऐसा नहीं जान पड़ता ॥ २५ ॥

शुश्रूषां गौरवं[1] चैव प्रमाणं[2] वचनक्रियाम्[3] ।
कस्ते भूयस्तरां[4] कुर्यादन्यत्र मनुजर्षभात् ॥ २६ ॥

---

१ गौरवं—प्रतिपत्तिः । (गो०) बहुमानं । (वि०) २ प्रमाणं—पूजा (गो०) ३ वचनक्रियाम्—उक्तकरणं । (वि०) ४ भूयस्तरं—अत्यन्तम् । (वि०)

ज़रा विचार तो श्रीरामचन्द्र को छोड़ और कौन तेरी इतनी अधिक सेवा, सम्मान और आज्ञापालन करेगा? ॥ २६ ॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते[1] ॥ २७ ॥

अन्तःपुर में बहुत सी स्त्रियाँ और अनेक नौकर चाकर हैं, किन्तु उनमें से एक के भी मुख से श्रीरामचन्द्र की बुराई या निन्दा कभी नहीं सुनी ॥ २७ ॥

सान्त्वयन्सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियै[2]र्विषयवासिनः[3] ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र शुद्ध मन से प्राणिमात्र को सान्त्वना प्रदान करते हैं और अपनी प्रजा के लोगों को अपने वश में रखते हैं या सब का मन अपनी मुट्ठी में किये रहते हैं ॥ २८ ॥

सत्येन[4] लोका[5]ञ्जयति दीनान्दानेन राघवः ।
गुरूञ्शुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र प्राणीमात्र के हित में निरत रहने से स्वर्गादि लोकों को और अपनी उदारता से दीनदुखियों को और दान से ब्राह्मणों को अपने वशीभूत किये हुए हैं। इसी प्रकार उन्होंने गुरुजनों की सेवा से और धनुर्धारी शत्रुओं को युद्धभूमि में धनुष द्वारा अपने वश में कर रखा है ॥ २९ ॥

---

१ नोपपद्यते—नविद्यते। (वि०) २ प्रियै—अभीष्ट प्रदानैः। (गो०) ३ विषयवासिनः—स्वदेशस्थानजनान्। (वि०) ४ सत्येन—भूतहितेन। (गो०) ५ लोकान्—स्वर्गादि वैकुण्ठ पर्यन्तान्। (गो०)

सत्यं[1] दानं[2] तपः[3]त्यागो[4] मित्रता[5] शौचं[6]मार्जवम्[7] ।
विद्या[8] च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥ ३० ॥

सत्य, (सत्यभाषण) दान, (परलोक प्रयोजन सम्बन्धी) तप, (शास्त्रविहित भोजन करना—जिह्वा के स्वाद के लिये खाते समय भक्ष्याभक्ष्य का विचार रखना) मैत्री, (सब लोगों की हितकामना) शौच, (बाहिर भीतर की पवित्रता) आर्जव, (दूसरे के मन के अनुसार चलने वाले) विद्या, (तत्वज्ञान) गुरुशुश्रूषा, आदि सद्गुण श्रीरामचन्द्र में निश्चय ही विद्यमान हैं ॥ ३० ॥

तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम् ।
पाप[9]माशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥ ३१ ॥

हे देवी ! जो श्रीरामचन्द्र सब के मन को देख कर काम करने वाले हैं, जो महर्षियों और देवताओं के समान तेजस्वी हैं, उन श्रीरामचन्द्र को तू वनवास का क्लेश देना चाहती है ! ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः ।
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥ ३२ ॥

जो श्रीरामचन्द्र कभी किसी से अप्रियवचन नहीं बोलते, हम तेरे कहने से क्यों कर उन प्राणों से बढ़ कर प्यारे श्रीराम से यह

---

१ सत्यं—सत्यवचनं । (वि०) २ दानं—परलोकप्रयोजनं । (गो०) ३ तपःशास्त्रविहित भोजनानिवृत्त्यादिरूपः । (गो०) ४ त्यागः—ऐहिकप्रयोजनः प्रीत्यर्थं । (गो०) ५ मित्रता—सर्वसुहृत्त्व । (गो०) ६ शौचं—बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः । (वि०) ७ आर्जव—परचित्तानुवर्तित्वं । (गो०) ८ विद्या—तत्व-ज्ञानं । (गो०) ९ पापं—वनवासदुःखं (वि०) ।

अप्रियवचन कह सकते हैं। कहना तो जहाँ तहाँ रहा हम तो अपने मन में भी ऐसी बात की कल्पना नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

क्षमा यस्मिन्दमस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता ।
अविहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥ ३३ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र में क्षमा, दम, त्याग, सत्यभाषण, धार्मिकता, कृतज्ञता, प्राणिमात्र में अहिंसा का भाव ; जैसे (अलौकिक) सद्गुण विद्यमान हैं, उन श्रीराम के विना हमारी क्या दशा होगी—(ज़रा इस बात को तो अपने मन से पूँछ देख) ॥ ३३ ॥

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः[1] ।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥

हे कैकेयी ! हम बूढ़े हैं। हमारा अन्त समय अब निकट आ चुका है। हमारी इस समय शोच्य अवस्था है, और हम तेरे सामने गिड़गिड़ा रहे हैं। हमारे ऊपर दया (रहम) कर। (अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के वनवास का हठ छोड़ दे।) ॥ ३४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यत्किञ्चिदधिगम्यते ।
तत्सर्वं तव दास्यामि मा च त्वां मन्युराविशेत् ॥३५॥

इस समुद्र से घिरी हुई पृथिवी के भीतर जो कुछ है—हम वह सब तुझे देने को तैयार हैं, हमें तू मृत्यु के मुख में मत ढकेल ॥३५॥

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते ।
शरणं[2] भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥ ३६ ॥

---

१ तपस्विनः—शोचनीयावस्थस्य । (गो०) २ शरणं—रक्षितृ । (गो०)

हे कैकेयी ! हम तेरे हाथ जोड़ते हैं, पैरों पड़ते हैं, तू रामचन्द्र की रक्षक बन और हमें प्रतिज्ञाभङ्ग के पाप से बचा ॥ ३६ ॥

इति दुःखाभिसन्तप्तं विलपन्तमचेतनम् ।
घूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिप्लुतम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार शोक से सन्तप्त महाराज दशरथ जी विलाप करते करते अचेत (मूर्च्छित) हो गये । उनका सारा शरीर घूमने लगा और वे शोक से विकल हो गये ॥ ३७ ॥

पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः ।
प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥ ३८ ॥

उन्होंने इस शोकसागर के शीघ्र पार होने के लिये बार बार प्रार्थना की ; किन्तु दुष्टा कैकेयी (ने उन पर दया न की, बल्कि वह) और भी अधिक कठोरता पूर्ण वचन बोली ॥ ३८ ॥

यदि दत्वा वरौ राजन्पुनः प्रत्यनुतप्यसे ।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! यदि तुम वर दे कर, उनके लिये अब पछताते हो, तो हे वीर ! तुम्हें संसार में कौन धार्मिक कहेगा ॥ ३६ ॥

यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह ।
कथयिष्यन्ति धर्मज्ञास्तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥ ४० ॥

जब अनेक राजर्षि तुम्हारे पास आ, इस वरदान के सम्बन्ध में तुमसे पूँछेंगे ; तब हे धर्मज्ञ ! उनके प्रश्न का तुम क्या उत्तर दोगे ? ॥ ४० ॥

यस्याः प्रयत्ने जीवामि या च मामभ्यपालयत् ।
तस्याः कृतं मया मिथ्या कैकेय्यां इति वक्ष्यसि ॥४१॥

उनके प्रश्न के उत्तर में तब तुमको यही न कहना पड़ेगा कि, जिसकी कृपा से मेरी जान बची अथवा इस समय भी जीता जागता मौजूद हूँ और जिसने कठिन समय में मेरी बड़ी सेवा की उसी कैकेयी को वर देने का वचन दे कर भी, मैंने वर नहीं दिया ॥ ४१ ॥

किल्बिषत्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप ।
यो दत्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥ ४२ ॥

मैं जान गयी, तुम इक्ष्वाकुकुल के यशस्वी राजाओं के यश को कलङ्कित करोगे, क्योंकि वर देने को प्रतिज्ञा कर के, अब तुम अपनी उस प्रतिज्ञा को पलट रहे हो ॥ ४२ ॥

शैव्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४३ ॥

देखो, तुम्हारे ही वंश में राजा शैव्य हो गये हैं, जिन्होंने (अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये) बाज पक्षी को अपने शरीर का मांस तक दे, कबूतर की प्राण रक्षा की थी। दूसरे राजा अलर्क हो गये हैं, जिन्होंने अपने नेत्र निकाल कर, एक अंधे ब्राह्मण को दे दिये थे, जिससे उनको सद्गति प्राप्त हुई थी ॥ ४३ ॥

सागरः समयं[1] कृत्वा न वेलामतिवर्तते ।
समयं माऽनृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ४४ ॥

---

१ समयं—प्रतिज्ञां। (गो०)

(मनुष्य तो मनुष्य) समुद्र भी वचनबद्ध होने के कारण अपने तट के आगे नहीं बढ़ता। अतएव तुम भी पहली बातों को स्मरण कर, अपनी प्रतिज्ञा को झूठी मत करो ॥ ४४ ॥

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिपिच्य च।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४५ ॥

हे दुष्टात्मा राजन्! इस समय तेरी बुद्धि बिगड़ गयी है। इसीसे तू सत्य का अनादर कर के, राम को राज्य इसलिये दे रहा है कि, जिससे तू नित्य उनकी माता कौशल्या के साथ विहार करे ॥ ४५ ॥

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वाऽनृतम्।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४६ ॥

अब चाहे धर्म हो चाहे अधर्म, चाहे सत्य हो चाहे मिथ्या, तुमने मुझसे जो प्रतिज्ञा की है, वह तुम्हें पूरी करनी ही होगी। उसमें अब हेरफेर कुछ भी नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिपिच्यते ॥ ४७ ॥

और यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करोगे और रामचन्द्र ही को राज्य दे दोगे, तो बहुत सा हलाहल विष पी कर, मैं तुम्हारे सामने ही अपनी जान दे दूँगी ॥ ४७ ॥

एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम्।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥ ४८ ॥

यदि मैंने किसी दिन भी (राजमाता होने के कारण) कौशल्या को लोगों का प्रणाम ग्रहण करते देखा, तो फिर मैं अपने शरीर को न रखूँगी अर्थात् तुरन्त मर जाऊँगी ॥ ४८ ॥

भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप ।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥ ४९ ॥

हे नरेन्द्र ! मैं अपनी और भरत की शपथ खा कर तुमसे कहती हूँ कि मैं राम को वन में भेजे बिना और किसी भी बात से सन्तुष्ट नहीं हो सकती ॥ ४९ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह ।
विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥ ५० ॥

यह कह कैकेयी चुप हो गयी और विलाप करते हुए महाराज दशरथ से और कुछ भी न बोली अर्थात् उसने दशरथ की अन्य युक्तियों पर जो श्रीरामचन्द्र जी को वन में न भेजने के लिये उन्होंने दर्शित की थीं, कुछ भी ध्यान न दिया ॥ ५० ॥

श्रुत्वा च राजा कैकेय्या वाक्यं परमदारुणम् ।
रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ ५१ ॥

कैकेयी की इन कठोर बातों को सुन, महाराज दशरथ को निश्चय हो गया कि, कैकेयी सचमुच श्रीरामचन्द्र जी का वनवास और भरत का राज्याभिषेक चाहती है ॥ ५१ ॥

नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः ।
प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥ ५२ ॥

वे कैकेयी से बोले तो कुछ नहीं; किन्तु विकल हो एक घड़ी तक अपनी प्रिया किन्तु अप्रियवादिनी कैकेयी के मुख को इकटक निहारते रहे ॥ ५२ ॥

तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् ।
दुःखशोकमयीं घोरां राजा न सुखितोऽभवत् ॥ ५३ ॥

कैकेयी के मुख से वज्र के समान हृदय को दहलाने वाली और दुःख शोक उत्पन्न करने वाली भयङ्कर वाणी को सुन, महाराज दशरथ सुखी न हुए ॥ ५३ ॥

स देव्या व्यवसायं[1] च घोरं च शपथं कृतम् ।
ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य च्छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥५४॥

कैकेयी का श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने का भयङ्कर निश्चय और उसकी शपथ को स्मरण कर, महाराज दशरथ ने "हा राम! हा राम!!" कह कर, ऊँची साँस ली और जड़ से कटे हुए पेड़ की तरह वे ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ५४ ॥

नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथाऽऽतुरः ।
हृततेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥ ५५ ॥

उस समय महाराज पागल की तरह नष्टचित्त, सन्निपातादि रोगों से ग्रस्त रोगी की तरह, विपरीत बुद्धि और मंत्रमुग्ध सर्प की तरह, हततेज हो गये ॥ ५५ ॥

दीनया तु गिरा राजा इति होवाच कैकयीम् ।
अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदर्शिता ॥ ५६ ॥

---

१ व्यवसायं—रामविवासनविषयंनिश्चयं । (वि०)

महाराज ने गिड़गिड़ा कर कैकेयी से कहा—तुझे किसने इस अनर्थ भरी बात को अर्थ के रूप में समझाया है। अर्थात् जिस काम के करने से सरासर नुकसान है, उसमें लाभ का होना तुझे किसने समझाया है? ॥ ५६ ॥

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे ।
शीलव्यसनमेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥ ५७ ॥

प्रेतग्रस्त मनुष्य की तरह हमसे बातचीत करते तुझे लज्जा नहीं जान पड़ती? हम पहले यह नहीं जानते थे कि, तू ऐसी दुःशीला है और तेरी ऐसी करतूतें हैं ॥ ५७ ॥

बालायास्तत्त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत् ।
कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधं वरम् ॥ ५८ ॥

बाल्यावस्था में तो तेरा स्वभाव इस समय के स्वभाव से सर्वथा विपरीत था। तुझे ऐसा भय कैसे उत्पन्न हुआ, जो तू ऐसा वर माँगती है कि, ॥ ५८ ॥

राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने ।
विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन वा ॥ ५९ ॥

भरत राजसिंहासन पर और श्रीरामचन्द्र वन में जाँय। बस, अब हठ छोड़ दे और ऐसी झूठी बातें मुँह से मत निकाल ॥ ५९ ॥

यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च ।
नृशंसे पापसङ्कल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥ ६० ॥

अरी नृशंसे, अरी पापिन! अरी ओछे स्वभाव वाली! अरी कुकर्मिन्! यदि प्रजा की, अपने पुत्र भरत की और हमारी भलाई चाहती हो तो, हठ मत कर ॥ ६० ॥

किन्तु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि ।
न कथंचिदृते रामाद्भरतो राज्यमावसेत् ॥ ६१ ॥

हमने या श्रीराम ने तेरा कौन सा ऐसा अपराध किया है जो तू ऐसा कहती है। हम समझते हैं कि, श्रीरामचन्द्र के सामने भरत कभी राजगद्दी पर बैठना पसंद ही न करेंगे ॥ ६१ ॥

रामादपि हितं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम् ।
कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥ ६२ ॥

क्योंकि हम तो भरत को श्रीरामचन्द्र से भी अधिक धर्मात्मा समझते हैं। हम जब श्रीराम से वन जाने को कहेंगे, तब उनका मुख उदास हो जायगा, उसे हम कैसे देख सकेंगे ॥ ६२ ॥

मुखवर्णं विवर्णं तं यथैवेन्दुमुपप्लुतम् ।
तां हि मे सुकृतां[1] बुद्धिं सुहृद्भिः सह निश्चिताम् ॥६३॥

राहु से ग्रस्त चन्द्रमा की तरह श्रीरामचन्द्र का उतरा हुआ चेहरा हम कैसे देख सकेंगे। हम अपने मंत्रियों और हितैषी मित्रों के साथ परामर्श कर जो निश्चय कर चुके हैं ॥ ६३ ॥

कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम् ।
किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः ॥६४॥

उसका बदल जाना, शत्रु से मारी हुई सेना की तरह, हम कैसे देख सकेंगे। फिर देश देशान्तरों से आये हुए राजा लोग सर्व-सम्मति से निश्चित हुए मन्तव्य के विरुद्ध काम होते देख, हमसे क्या कहेंगे? ॥ ६४ ॥

---

१ सुकृतां—मन्त्रिभिः। (गो०)

बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत् ।
यदा तु बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥ ६५ ॥

यही न कहेंगे कि, इक्ष्वाकुवंशधर दशरथ निपट बालबुद्धि का है, आश्चर्य है इतने दिनों तक इसने राज्य किस प्रकार किया। फिर जब अनेक बूढ़े गुणवान् और शास्त्रमर्मज्ञ ॥ ६५ ॥

परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामि किमहं तदा ।
कैकेय्या क्लिश्यमानेन[1] रामः प्रव्राजितो मया ॥ ६६ ॥

हमसे पूँछेंगे कि, "श्रीरामचन्द्र कहाँ गये ?" तब हम उनको क्या उत्तर देंगे ? क्या हमारा उनके प्रश्न के उत्तर में यह कहना अच्छा होगा कि, कैकेयी के सताने पर हमने श्रीरामचन्द्र को घर से निकाल दिया ॥ ६६ ॥

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति ।
किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ॥ ६७ ॥

यदि हम यह सच्ची बात प्रकट कर देंगे तो हमारा वह निश्चय, जो हमने वशिष्ठ वामदेवादि गुरुजनों के समक्ष श्रीरामचन्द्र को युवराजपद पर अभिषिक्त करने के लिये किया है, झूठा हो जायगा। श्रीरामचन्द्र को वनवास देने पर उसकी माता कौशल्या हमसे क्या कहेगी ? ॥ ६७ ॥

किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।
यदा यदा च कौसल्या दासीवच्च सखीव च ॥ ६८ ॥

---

१ क्लिश्यमानेन—पीड्यमानेन । (वि०)

और हम ही ऐसा अनिष्ट कार्य कर कौशल्या को क्या उत्तर दे सकेंगे ? हे कैकेयी ! देख, जब समय समय पर कौशल्या, जो सेवा करने में दासी के समान, रहस्य करने में सखी के समान, ॥ ६८ ॥

भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ।
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥ ६९ ॥

धर्मकृत्यों में स्त्री के समान, हितैषिता में सगी वहिन के समान, आग्रहपूर्वक सुस्वादु भोजन कराने में माता के समान है, जो सदा हमसे मधुर वचन बोलती है और हमारा भला चाहती है और जिसका पुत्र भी हमको सब से अधिक प्रिय है ॥ ६९ ॥

न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ।
इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं[1] त्वयि ॥ ७० ॥

हमारे पास आयी, तब तब हमने, तेरे विचार से (कि, कहीं तू अप्रसन्न न हो जाय) सत्कार करने योग्य उस कौशल्या का यथोचित आदर न किया । तेरे प्रति हमने जो यह सद्व्यवहार किया था, उसका आज हमें उसी प्रकार पश्चात्ताप हो रहा है ; ॥ ७० ॥

अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम् ।
विप्रकारं[2] च रामस्य संप्रयाणं वनस्य च ॥ ७१ ॥

---

१ सुकृतं—सुष्ठूपचरितं । (गो०) २ विप्रकारं—विपरीत प्रकारं, अभिषेकतिरस्कारं । (गो०)

जिस प्रकार स्वाद् किन्तु कुपथ्य भोजन कर रोगी को पश्चात्ताप होता है। श्रीरामचन्द्र का इस प्रकार का तिरस्कार और उनका वनगमन ॥ ७१ ॥

सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति ।
कृपणं[1] वत[2] वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम् ॥ ७२ ॥

देख कर डरी हुई सुमित्रा को (भी अपने पुत्रों के विषय में) हमारा विश्वास कैसे होगा? बड़े ही दुःख की बात है कि, वैदेही को ये दो अप्रिय संवाद सुनने पड़ेंगे ॥ ७२ ॥

मां च पञ्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम् ।
वैदेही वत[4] मे प्राणाञ्शोचन्ती क्षपयिष्यति ॥ ७३ ॥

बड़े ही खेद की बात है कि, जानकी हमारी मृत्यु का और श्रीरामचन्द्र के वनवासी होने का संवाद सुन, इन बातों की चिन्ता में अपने प्राण वैसे ही गँवा देगी ॥ ७३ ॥

हीना हिमवतः पार्श्वे किन्नरेणेव किन्नरी ।
न हि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने ॥ ७४ ॥

जैसे हिमालय के पास किन्नररहित किन्नरी अपने प्राण गँवा देती है। हम श्रीरामचन्द्र को वन जाते ॥ ७४ ॥

चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम् ।
सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ७५ ॥

और जानकी जी को रोती देख बहुत दिनों तक नहीं जी सकते। तब तू विधवा हो कर, अपने पुत्र सहित राज्यसुख भोगना ॥ ७५ ॥

---

१ कृपणं—कष्टं। (वि०) २ वतेतिखेदे। (वि०)

न हि प्रव्राजिते रामे देवि जीवितुमुत्सहे ।
सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम् ॥ ७६ ॥

रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ।
अनृतैर्वत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे ॥ ७७ ॥

हे देवि ! (खूब समझ ले) श्रीराम जी के वन जाने पर हमें जीने का उत्साह नहीं है। लोग जिस प्रकार शराव के मोहिनी रूप पर मोहित हो उसे पी तो लेते हैं, किन्तु पीछे उसका विष सदृश परिणाम होने पर वे उसे बुरी समझने लगते हैं, उसी प्रकार हम तेरे रूप पर मोहित हो कर, तुझे सती समझ तेरे साथ रहे, किन्तु अब हम समझ गये कि, तू व्यवहार करने में किसी असती से कम नहीं है। तूने हमें झूँठी वातें कह उसी प्रकार खूब भरमाया ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

गीतशब्देन संरुद्ध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ।
अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायिकं ध्रुवम् ॥ ७८ ॥

धिक्करिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ।
अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव ॥ ७९ ॥

जिस प्रकार बहेलिया गीत गा कर, हिरन को अपने जाल में फँसाता है। हा ! श्रेष्ठ पुरुष अब हमको अनार्य और पुत्र का बेंचने वाला बतला, हमारी उसी प्रकार गली गली निन्दा करेंगे, जिस प्रकार लोग मद्यप ब्राह्मण की किया करते हैं। हा ! बड़े ही कष्ट की वात है कि, हमें तेरे ये कठोर वचन सुनने पड़ते हैं ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुराकृतमिवाशुभम् ।
चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ॥ ८० ॥

इस समय हमें वैसे ही इस प्रकार का दुःख भोगना पड़ रहा है जैसे लोग पूर्वजन्म के पापों का फल भोगते हैं। हे पापिन! हम जैसे पापी ने बहुत दिनों तक उसी प्रकार तेरी रक्षा की ॥ ८० ॥

अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा ।
रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये ॥ ८१ ॥

जैसे कोई अनजान में अपने गले की फांसी की रक्षा करता है। तेरे साथ विहार करते हुए, उसी प्रकार हम यह न पहचान पाये कि, तू हमारी साक्षात् मौत है; ॥ ८१ ॥

बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ।
मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार एकान्त में कोई बालक काले सांप के साथ खेलता हुआ, उसे अपनी मौत नहीं पहचानता। हमसे बढ़ कर दुष्ट कौन होगा जो अपने जीते जी, अपने महात्मा पुत्र को पितृहीन कर डाले ॥ ८२ ॥

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति ।
बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम् ॥ ८३ ॥

अवश्य ही सारी दुनियां यह कह कर, हमारी निन्दा करेगी कि, राजा दशरथ बड़ा कामी और मूर्ख है। ॥ ८३ ॥

स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ।
व्रतैश्च[1] ब्रह्मचर्यैश्च[2] गुरुभि[3]श्चोपकर्शितः ॥ ८४ ॥

जो स्त्री के कहने से अपने प्यारे पुत्र को वन भेज रहा है। श्री-रामचन्द्र ब्रह्मचर्यावस्था में मधु मांसादि खाने का निषेध होने के कारण ब्रह्मचर्योपयोगी व्रतादि धारण करने के कारण तथा गुरुओं से विद्याध्ययन करते समय परिश्रम करने के कारण वैसे ही लटे दुबले थे ॥ ८४ ॥

भोगकाले[4] महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ।
नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् ॥ ८५ ॥

स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ।
यदि मे राघवः कुर्याद्वनं गच्छेति भाषितः ॥ ८६ ॥

प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति ।
शुद्धभावो[5] हि भावं[6] मे न तु ज्ञास्यति राघवः ॥८७॥

अब गृहस्थाश्रम में, जब उनके शरीर के हृष्ट पुष्ट होने का समय आया, तब भी उन्हें फिर बड़े बड़े शारीरिक कष्टों का सामना करना पड़ेगा। हम अच्छी तरह जानते हैं कि, जब हम उनसे वन जाने को कहेंगे, तब वे सिवाय "बहुत अच्छा" कहने के और कुछ न कहेंगे, किन्तु यदि कहीं वन जाने की आज्ञा सुन वे वन न जांय तो बहुत अच्छा हो। पर हमारा प्यारा बच्चा ऐसा

---

१ व्रतैः—काण्डव्रतैः। (गो०) २ ब्रह्मचार्यैः—मधुमांसवर्जनादि ब्रह्मचारिधर्मैः। (गो०) ३ गुरुभिः—गुरुकृतशिक्षादिभिः। (गो०) ४ भोगकाले गार्हस्थ्यवस्थायाम्। (गो०) ५ शुद्धभावः—शुद्धहृदयः। (गो०) ६ भावं—हृदयं। (गो०)

कभी न करेगा। हमारे अभिप्राय को न जान कर और हमारी कही बात को हमारे शुद्ध हृदय से निकली समझ, वह तुरन्त तदनुसार करेगा ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ।
राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् ॥ ८८ ॥

और वन जाने के लिये कहते ही वह "बहुत अच्छा" ही कहेगा। श्रीरामचन्द्र के वन जाने पर सब लोग मुझे धिक्कारेंगे ॥ ८८ ॥

मृत्युरक्षमणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम् ।
मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ॥ ८९ ॥

और किसी को न छोड़ने वाले मृत्युदेव हमें यमपुरी में ले जाँयगे। फिर जब हम मर जाँयगे और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र वन में चले जाँयगे ॥ ८९ ॥

इष्टे मम जने शेषे[1] किं पापं[2] प्रतिपत्स्यसे[3] ।
कौसल्यां मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति ॥९०॥

तब कौशल्यादि बचे हुए हमारे इष्ट लोगों के साथ न जाने तू क्या क्या अन्याय करेगी। जब हमको और श्रीराम अथवा श्रीराम लक्ष्मण को कौशल्यादेवी न देखेगी ॥ ९० ॥

दुःखान्यसहती देवी मामेवानुमरिष्यति ।
कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह ॥९१॥

---

१ शेषे—कौसल्यादौ। (गो०) २ किंपापं—कमन्यायं। (गो०) ३ प्रतिपत्स्यसे—चिन्तयिष्यसि। (गो०)

प्रक्षिप्य नरके[1] सा त्वं कैकेयि सुखिता भव।
मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं[2] सत्कृतं गुणैः ॥ ९२ ॥
इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि।
प्रियं चेद्भरतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत् ॥ ९३ ॥

तब इस वियोगजनित शोक को न सह कर, वह हमारे साथ ही प्राण छोड़ देगी। हे कैकेयी! हमें, कौशल्या को, सुमित्रा को और तीनों पुत्रों को दुःख में ढकेल तू सुखी हो। इस इक्ष्वाकु-कुल का, जिसे हम और श्रीरामचन्द्र छोड़ जायगे और जो बहुतकाल से बराबर क्षोभहीन चला आ रहा है, तू विना क्षुब्ध किये पालन कर सकेगी (यह व्यङ्ग्योक्ति है)। यदि श्रीरामचन्द्र का वन को जाना भरत को भी प्रिय लगे ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

मा स्म मे भरतः कार्षीत्प्रेतकृत्यं गतायुषः।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा भव कैकयि ॥ ९४ ॥

तो जब हम मरें तब भरत हमारे शरीर की प्रेतक्रिया (दाह-कर्मादि) न करे। हे दुष्टे! हे वैरिन कैकेयी! तू सफल मनोरथ हो ॥ ९४ ॥

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे।
सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ९५ ॥

जब हम मर जांय और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र वन को चले जांय तब तू रांड़ हो कर अपने बेटे को ले कर राज्य करना ॥ ९५ ॥

---

१ नरके—दुःखे। (वि०) २ शाश्वतं—बहुकालकम्। (शि०)

त्वं राजपुत्रीवादेन[1] न्यवसो मम वेश्मनि ।
अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ॥ ९६ ॥

सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ।
कथं रथैर्विभुर्यात्वा[2] गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः ॥ ९७ ॥

तू केवल कथनमात्र की राजपुत्री हो कर हमारे घर में रहती है । (यदि तू सच्ची राजपुत्री होती तो) तेरे कारण तो संसार में हमारी अतुल अपकीर्ति और सब लोगों के सामने पापियों की तरह हमारी अवज्ञा होने का यह समय कभी न आता । हा ! जो श्रीरामचन्द्र रथ, घोड़े, हाथी आदि वाहनों पर चढ़ के सदा घूमते थे ; किस प्रकार वे ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ।
यस्य त्वाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ॥ ९८ ॥

हमारे पुत्र श्रीराम विकट वन में पैदल विचरेंगे । जिन श्रीरामचन्द्र को भोजन कराने के लिये कुण्डल पहिने हुए रसोइया आपस में यह कह कर कि, ॥ ९८ ॥

अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रशस्तं पानभोजनम् ।
स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च ॥९९॥

"हम पहले, हम पहले स्वादिष्ट भोजन और जलपान बनाते हैं", रसोई तैयार करते थे, वे ही श्रीरामचन्द्र जंगल के कसैले, तीते और कडुए ॥ ९९ ॥

---

1 वादेन—व्यपदेशेन । (गो०) 2 विभुः—समर्थोरामः । (शि०)

भक्षयन्वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ।
महार्हवस्त्रसंवीतो भूत्वा चिरसुखोषितः ॥ १०० ॥

फलमूल का आहार कर कैसे समय बितावेंगे। जो श्रीरामचन्द्र चिरकाल से अच्छे मूल्यवान वस्त्र धारण करते रहे हैं और मुलायम बिछौनों पर सोते रहे हैं ॥ १०० ॥

काषायपरिधानस्तु कथं भूमौ निवत्स्यति ।
कस्यैतद्दारुणं वाक्यमेवंविधमचिन्तितम् ।
रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम् ॥ १०१ ॥

वे श्रीरामचन्द्र काषाय वस्त्र पहिन क्यों कर ज़मीन पर सो सकेंगे। नहीं जान पड़ता कि, किस दुष्ट ने श्रीराम के वन जाने और भरत के राज्याभिषेक का दारुण उपदेश तुझको दिया है ॥ १०१ ॥

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपराः सदा ।
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम् ॥१०२॥

धिक्कार है स्त्रियों को जो धूर्त और सदा अपने मतलब में निपुण होती हैं अथवा जो स्वार्थतत्पर होती हैं। हमारा यह कथन सब स्त्रियों के लिये नहीं, किन्तु केवल भरत की माता जैसी स्त्रियों ही के लिये है ॥ १०२ ॥

[नोट—कई टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ करते हुए लिखा है कि, दशरथ ने पहिले दुःख एवं क्षोभ के कारण सब स्त्रियों की निन्दा की, किन्तु पीछे जब उनको कौशल्या आदि का स्मरण आया तब उन्होंने अपने प्रथमकथन का भरत की माता का विशेष रूप से उल्लेख कर, संशोधन कर दिया। किन्तु ; शिरोमणि टीकाकार का कथन है कि, " भरतस्य मातरमेव

न ब्रवीमि (किन्तु) सर्वा ब्रवीमि इत्यर्थः " अर्थात् स्त्रियों के सम्बन्ध में हमने जो कहा है वह केवल भरत की माता ही के लिये नहीं, किन्तु समस्त स्त्रियों ही के लिये है। हमारी समझ में महाराज दशरथ का उक्त कथन उन सभी स्त्रियों के लिये है जो भरत की माता कैकेयी की तरह दूसरों की बातों में आ कर, हठवश विवेक को विदा कर देती हैं और अपने मतलब के सामने दूसरों की हानि की रत्ती भर भी परवाह नहीं करतीं।]

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे
ममानुतापाय निविष्टभावे।
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं
हितानुकारिण्यथ वापि रामे ॥ १०३ ॥

अनर्थ करने वाली और अपने ही अर्थ के साधन में, सदा तत्पर रहने के कारण नीच स्वभाव की हे कैकेयी! क्या हमें दुःख देने के लिये ही तू हमारे घर आयी है। यह तो बतला हममें अथवा दुनियां के हित चाहने वाले श्रीरामचन्द्र में तैने क्या बुराई देखी? ॥ १०३ ॥

परित्यजेयुः पितरो हि पुत्रा-
न्भार्याः पतींश्चापि कृतानुरागाः।
कृत्स्नं हि सर्वं कुपितं जगत्स्याद्
दृष्ट्वैव रामं व्यसने निमग्नम् ॥ १०४ ॥

हे कैकेयी! श्रीरामचन्द्र के वन के कष्टों को देख, सारा संसार क्रुद्ध हो जायगा और उनके साथ वन में रहने के लिये पिता अपने पुत्रों को और पतिव्रता स्त्रियां अपने प्यारे पतियों को छोड़

जायँगी अर्थात् श्रीरामचन्द्र के वन जाने पर संसार में बड़ी उथल पुथल मच जायगी अथवा बड़ा अनर्थ होगा ॥ १०४ ॥

अहं पुनर्देवकुमाररूप-
मलंकृतं तं सुतमाव्रजन्तम् ।
नन्दामि पश्यन्नपि दर्शनेन
भवामि दृष्ट्वा च पुनर्युवेव ॥ १०५ ॥

देवकुमार की तरह रूपवान और अलङ्कारों से युक्त श्रीरामचन्द्र जी का अपने निकट आना सुन कर भी हमें वैसी ही प्रसन्नता प्राप्त होती है जैसी उन्हें अपनें नेत्रों से देखने पर। और जब हम उन्हें अपने नेत्रों से देखते हैं तब हमारा मन और शरीर नवीन उत्साह से उत्साहित हो जाते हैं अर्थात् हमारे शरीर में जवानी का जोश आ जाता है ॥ १०५ ॥

विनापि सूर्येण भवेत्प्रवृत्ति-
रवर्षता वज्रधरेण वाऽपि ।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य
जीवेन्न[1] कश्चित्त्विति चेतना[2] मे ॥ १०६ ॥

सूर्य के उदय न होने से भले ही संसार के यावत् कार्य होते रहैं, इन्द्र द्वारा जल न बरसने पर भले ही दुनिया का निर्वाह हो जाय; किन्तु श्रीरामचन्द्र को अयोध्या से वन जाते देख, हम निश्चय पूर्वक कहते हैं कि, कोई भी सुखी न होगा ॥ १०६ ॥

विनाशकामामहितामभित्रा-
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम् ।

---

१ जीवेत्—स्वस्थतयातिष्ठेत् । (शि०) २ चेतना—निश्चयः । (शि०)

चिरं वताङ्केन धृतासि सर्पी
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात् ॥ १०७ ॥

हा! हमारे विनाश की इच्छा रखने वाली, अनिष्टकारिणी एवं शत्रुरूपिणी तुझे हमने अपने मृत्यु की, तरह, घर में वसाया और वहुत दिनों तक, महाविष वाली तुझ साँपिन को, मोहवश अपनी गोद में रखने के कारण ही (आज) हम मारे जाते हैं ॥ १०७ ॥

मया च रामेण च लक्ष्मणेन
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य वान्धवान्
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी[1] ॥ १०८ ॥

अव तू, श्रीराम लक्ष्मण और हमें तिलाञ्जलि दे कर, अपने पुत्र भरत के साथ राज्य करना और हमारे वन्धुवान्धवों, नगरों व देशों को उजाड़ अथवा नष्ट कर हमारे वैरियों को प्रसन्न कर अथवा हमारे वैरियों से प्रीति कर ॥ १०८ ॥

नृशंसवृत्ते[2] व्यसनप्रहारिणि[3]
प्रसह्य[4] वाक्यं यदिहाद्य[5] भाषसे।
न नाम ते केन मुखात्पतन्त्यधो
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा ॥ १०९ ॥

१ अभिहर्षिणी—मम अमित्रेषु स्नेहयुक्ता भवेत्यर्थः। (वि०) २ नृशंसवृत्ते—क्रूरव्यापारे। (गो०) ३ व्यसनप्रहारिणि—विपदिप्रहरणशीले। (गो०) ४ प्रसह्य—पतिस्वातन्त्र्यंतिरस्कृत्य। (गो०) ५ अद्य—अस्मिन्काले। (गो०)

अरी क्रूरकर्मा! अरी गात्र ढाने वाली! पति के सामने न कहने योग्य बातें कहते समय मुख से गिर कर तेरे दाँतों के हज़ारों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ॥ १०६ ॥

न किञ्चिदाहाहितमप्रियं वचो
न वेत्ति रामः परुपाणि भापितुम्।
कथं नु रामे ह्यभिरामवादिनि
ब्रवीपि दोपान्गुण नित्यसम्मते ॥ ११० ॥

हमारे श्रीराम ने कभी तुझसे कोई अप्रिय बात नहीं कही—और वे कहते ही कैसे, क्योंकि वे तो किसी से अप्रियवचन कहना जानते ही नहीं। तब सदा प्रियभाषी, सकल-गुण-सम्पन्न श्रीरामचन्द्र में तू दोषारोपण क्यों करती है? ॥ ११० ॥

प्रताम्य[1] वा प्रज्वल[2] वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटिता[3] महीं व्रज।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसनि ॥ १११ ॥

अरी केकय-राज-कुल-कलङ्किनी कैकेयी! चाहे तू उदास हो, चाहे तू कुपित हो, चाहे तू विष खा कर मर जा, अथवा चाहे तू पत्थर से सिर फोड़ डाल, या तू ज़मीन में समा जा, किन्तु तेरी इस दारुण बात को, जिसके करने से सरासर हमारा अहित है, हम कभी न मानेंगे ॥ १११ ॥

---

१ प्रताम्य—ग्लानिभज। (गो०) २ प्रज्वल—कुपिताभव। (गो०)
३ स्फुटिता—प्रस्तरादिप्रहारे स्फुटितशिराः। (शि०)

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां[1]
प्रदुष्टभावां[2] स्वकुलोपघातिनीम् ।
न जीवितुं त्वां[3] विषहेऽमनोरमां
दिधक्षमाणां हृदयं सवन्धनम्[4] ॥ ११२ ॥

क्योंकि तू, छुरे के समान हृदय विदीर्ण करने वाले असत्य, किन्तु मीठे वचन बोलने वाली है, तेरा हृदय दुष्टता से भरा है, तू अपने ही कुल का नाश करने वाली है, तूने हमारे हृदय को प्राणों सहित खूब जलाया है, अतएव तू देखने में स्वरूपवती होने पर भी, अपने इन अवगुणों के कारण भयङ्कर है। हम भी नहीं चाहते कि, ऐसी दुष्टा जीती रहे (अर्थात् तू जो बार बार मरने की हमें धमकी देती है सो तुझ जैसी दुष्टा और अनर्थकारिणी का मरना ही हम अच्छा समझते हैं॥ ११२ ॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनाऽऽत्मजेनात्मवतः कुतो रतिः ।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि
स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे ॥ ११३ ॥

श्रीरामचन्द्र विना हम जीवित नहीं रह सकते। फिर सुख और प्रीति की चर्चा ही करनी व्यर्थ है। हे देवि! देख अब भी मान

---

१ असत्प्रियंवदां—मिथ्याप्रियवादिनीम्। (गो०) २ प्रदुष्टभावां—प्रकर्षेण दुष्टहृदयाम्। (गो०) ३ नविषहे—नोत्सहे। (रा०) ४ सवन्धनम्—सप्राणं। (वि०)

जा और हमारा अनिष्ट मत कर। हम तेरे पैरों पड़ते हैं, अब दया कर ॥ ११३ ॥

स भूमिपालो विलपन्ननाथव-
त्स्त्रिया[1] गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया[2] ।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-
वुभावसंस्पृश्य यथाऽऽतुरस्तथा ॥ ११४ ॥

इति द्वादशः सर्गः ॥

(उस प्रकार धमकाने और खुशामद करने पर भी जब कैकेयी न मानी, तब) महाराज दशरथ अनाथों के समान गिड़गिड़ाते हुए और अपने हृदय को कैकेयी के अधीन कर के उसके चरणों पर वैसे ही गिर कर मूर्च्छित हो गये, जैसे मरणोन्मुख रोगी मूर्च्छा आ जाने पर, गिर पड़ता है ॥ ११४ ॥

अयोध्याकाण्ड का बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

त्रयोदशः सर्गः

—:o:—

अतदर्हं[1] महाराजं शयानमतथोचितम् ।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात्परिच्युतम् ॥ १ ॥

---

१ स्त्रिया हृदये गृहीतः—तदधीनहृदय इत्यर्थः। (गो०) २ अतिमात्रया—अमर्यादया। (गो०) भूमिपालोपितां—निग्रहीतुसमर्थइत्यर्थः। (गो०)
१ अतदर्हं—तादृशदुःखानर्हं। (गो०)

इस प्रकार अनुचित रीति से ज़मीन पर पड़े हुए महाराज दशरथ ऐसे जान पड़ते थे, मानों पुण्यनाश होने पर राजा ययाति स्वर्ग से गिर कर पड़े हों ॥ १ ॥

अनर्थरूपा[1]ऽसिद्धार्था[2] ह्यभीता भयदर्शिनी ।
पुनराकारयामास[3] तमेव वरमङ्गना ॥ २ ॥

पापरूपा कैकेयी का प्रयोजन सिद्ध न हुआ तब वह स्वयं निडर हो और महाराज को भय दिखाती हुई, वही वर फिर माँगने के लिये बोली ॥ २ ॥

त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः ।
मम चेमं वरं कस्माद्विधारयितुमिच्छसि ॥ ३ ॥

हे महाराज ! तुम तो अपने को सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ बतला कर अपना बखान करते थे, किन्तु वर देने का वादा कर, अब देने में आनाकानी क्यों करते हो ? ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा ।
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव ॥ ४ ॥

कैकेयी के ऐसा कहने पर महाराज दशरथ मुहूर्त भर विकल हो, तदनन्तर क्रुद्ध हो बोले ॥ ४ ॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव ॥ ५ ॥

---

१ अनर्थरूपा—पापरूपा । (गो०) २ असिद्धार्था—अनिष्पन्नप्रयोजना । (गो०) ३ आकारयामास—सम्बोधयामास । (गो०)

हे पापिन! हमारे मर जाने के बाद और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के वन जाने पर, सुखी हो कर तू अपनी सब मनोकामनाएँ पूरी कर ॥ ५ ॥

स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम् ।
प्रत्यादेशादभिहितं[1] धारयिष्ये[2] कथं बत ॥ ६ ॥

स्वर्ग में भी जब देवता श्रीराम की कुशल पूँछेंगे और (हमारे यह कहने पर कि, हमने श्रीरामचन्द्र जैसे गुणवान् पुत्र को वनवास दिया, जब वे) धिक्कारेंगे, तब हम अपना यह अपमान वहाँ कैसे सह सकेंगे ॥ ६ ॥

कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो मया ।
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥

और धिक्कार से बचने के लिये यदि हम यह कहेंगे कि, "कैकेयी को प्रसन्न रखने के लिये हमने श्रीरामचन्द्र को वनवास दिया;" तो हमारी इस बात पर कोई भी देवता विश्वास न करेगा और हम झूठे समझे जांयगे ॥ ७ ॥

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान् ।
रामो लब्धो महाबाहुः स कथं त्यज्यते मया ॥ ८ ॥

बहुत दिनों तक निःपुत्र रह कर, बड़े कष्टों से तो हमें पुत्र मिले—सो महाबाहु श्रीरामचन्द्र को भला हम कैसे त्यागें? ॥ ८ ॥

---

१ प्रत्यादेशादभिहितं—धिक्कारपूर्वमभिहितं । (गो०) २ धारयिष्ये—सहिष्ये । (गो०)

शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः ।
कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते ॥ ९ ॥

शूर, विद्वान्, शान्त स्वभाव, और सहिष्णु कमलनयन श्रीराम को हम किस तरह देशनिकाला दें ॥ ९ ॥

कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम् ।
अभिराममहं रामं प्रेषयिष्यामि दण्डकान् ॥ १० ॥

नीलकमल की तरह श्याम शरीर वाले, लंबी भुजाओं वाले तथा सुन्दर श्रीरामचन्द्र को क्या हम दण्डकवन में भेज सकते हैं? ॥ १० ॥

सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च ।
दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः ॥ ११ ॥

जो श्रीरामचन्द्र सुखों के योग्य और दुःखों के अयोग्य हैं, उन बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र को हम दुःखी कैसे देख सकते हैं ॥ ११ ॥

यदि दुःखमकृत्वाद्य मम संक्रमणं[1] भवेत् ।
अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम् ॥ १२ ॥

दुःख सहने के सर्वथा अयोग्य श्रीराम के दुःख को हम बिना देखे ही मर जाते तो हमें स्वर्ग में तो सुख मिलता ॥ १२ ॥

नृशंसे पापसङ्कल्पे रामं सत्यपराक्रमम् ।
किं विप्रियेण[2] कैकेयि प्रियं योजयसे मम ॥ १३ ॥

---

१ संक्रमणं—देहान्तरं । (गो०) २ विप्रियेण—दण्डकारण्यगमनेन । (वि०)

हे निर्दयिन्! हे पापिन कैकेयी! तू हमारे प्यारे और सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र को किस लिये हमसे वन भिजवाती है ॥ १३ ॥

अकीर्त्तिरतुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ।
तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः ॥ १४ ॥

ऐसा करने से दुनिया में हमारी बड़ी निन्दा और बदनामी होगी। इस प्रकार महाराज दशरथ को घबड़ाते और विलाप करते करते ॥ १४ ॥

अस्तमभ्यागमत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ।
साऽत्रियामा तथाऽऽर्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता ॥ १५ ॥

सन्ध्या हो गयी और रात चढ़ने लगी। रात चाँदनी होने पर भी दुःखित महाराज को ॥ १५ ॥

राज्ञो विलपतस्तस्य न व्यभासत शर्वरी ।
तथैवोष्णं विनिश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥ १६ ॥

अत्यन्त विलाप करने के कारण, वह रात आनन्ददायिनी न हुई। वृद्ध महाराज दशरथ वारंवार गरम साँसे ले ॥ १६ ॥

विललापार्तवद्दुःखं गगनासक्तलोचनः ।
न प्रभातं तवेच्छामि निशे नक्षत्रभूषणे ॥ १७ ॥

दुखिया की तरह दुःखी हो विलाप करने लगे। उनकी आँखें आकाश की ओर जा लगीं अर्थात् वे आकाश को निहारने लगे और कहने लगे—हे नक्षत्रों से भूषित, निशे! हम तेरा प्रभात-काल नहीं चाहते ॥ १७ ॥

क्रियतां मे दया भद्रे रचितोऽयं मयाञ्जलिः ।
अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घृणाम्[1] ॥ १८ ॥

हे भद्रे ! हम तुझसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हैं कि, हमारे ऊपर दया कर, अथवा शीघ्र ही समाप्त हो जा । हम इस निर्दयिन ॥ १८ ॥

नृशंसां केकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं महत् ।
एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥१९॥

और क्रूर कैकेयी का मुख देखना नहीं चाहते, क्योंकि इसने हमें बड़ा दुःख दिया है । यह कह महाराज पुनः हाथ जोड़ कर कैकेयी को ॥ १९ ॥

प्रसादयामास पुनः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ।
साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य[2] गतायुषः ॥ २० ॥

मनाने के लिये उससे बोले । हम धर्मात्मा, दीन, तेरे शरण आये हुए और थोड़े दिनों जीने वाले हैं ॥ २० ॥

प्रसादः क्रियतां देवि भद्रे राज्ञो विशेषतः ।
शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम् ॥२१॥

हे भद्रे ! विशेषतः यह जान कर कि, हम राजा हैं, और एकान्त में नहीं, हम भरी सभा में श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक की घोषणा कर चुके हैं (यदि अब श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक न हुआ, तो लोग हमारी बड़ी निन्दा करेंगे ।) तू हमारे ऊपर कृपा कर ॥ २१ ॥

---

१ निर्घृणाम्—निर्दयाम् । (गो०) २ त्वद्गतस्य—त्वदेकशरणस्येत्यर्थः । (गो०)

कुरु साधु प्रसादं मे बाले सहृदया[1] ह्यसि ।
प्रसीद देवि रामो मे त्वद्दत्तं राज्यमव्ययम् ।
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्नुहि ॥ २२ ॥

हे बाले ! तू रसज्ञा है, अतः अपनी ओर से श्रीरामचन्द्र को अक्षय्य राज्य दे कर तू हमें प्रसन्न कर। हे कैकेयी ! ऐसा करने से तेरी बड़ी नामवरी होगी ॥ २२ ॥

मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च ।
प्रियमेतद्गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे ॥ २३ ॥

ऐसा करने से हमोको नहीं, किन्तु श्रीरामचन्द्र, भरत, और बड़े बड़े लोगों को—यहां तक कि, समस्त संसार को बड़ी प्रसन्नता होगी। हे चारुमुखी ! रामराज्याभिषेक होने दे ॥ २३ ॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा
ताम्रेक्षणस्याश्रुकलस्य राज्ञः ।
श्रुत्वा विचित्रं[2] करुणं विलापं
भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम् ॥ २४ ॥

शुद्ध हृदय महाराज दशरथ दीन हो विलाप करते हुए रोने लगे। रोते रोते उनकी दोनों आंखें लाल हो गयीं, किन्तु खुशामद और धमकी से भरे हुए उनके करुण विलाप पर उस दुष्टा कैकेयी ने कुछ भी ध्यान न दिया ॥ २४ ॥

---

१ सहृदया—रसज्ञा । (शि०) २ विचित्रं—प्रसादनभर्त्सन सहितत्वात । (गो०)

ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः
प्रियामदुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम् ।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥ २५ ॥

महाराज, कैकेयी को अप्रसन्न देख और उसकी ऊटपटांग बातें सुन, और श्रीरामचन्द्र का वनगमन निश्चय जान, दुःखी हो कर अचेत हो गये और ज़मीन पर गिर पड़े ॥ २५ ॥

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा
जगाम घोरं श्वसतो मनस्विनः ।
विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा
निवारयामास स राजसत्तमः ॥ २६ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

इस प्रकार के कष्ट में और क्षण क्षण में दीर्घ निःश्वास त्यागते हुए, मनस्वी महाराज दशरथ ने वह रात काटी। प्रातःकाल होते ही (नित्य नियमानुसार) महाराज को जगाने के लिये बाजे बजे, किन्तु महाराज ने उनका बजाना रुकवा दिया ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

चतुर्दशः सर्गः

—:o:—

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि ।
विवेष्टमानमुद्वीक्ष्य सैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

पुत्रशोक से विह्वल, किंकर्त्तव्य विमूढ़, और ज़मीन पर छटपटाते हुए, महाराज दशरथ को देख पापिन कैकेयी बोली ॥ १ ॥

पापं कृत्वैव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम् ।
शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि ॥ २ ॥

हे राजन् ! पहले यह प्रतिज्ञा कर कि, हम अभी तुझे दो वर देते हैं और फिर उन्हें न देने का पाप कर, तुम पीड़ित हो जो पृथिवी पर लोट रहे हो सो इसका क्या अभिप्राय है ? ॥ २ ॥

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः ।
सत्यमाश्रित्य हि मया त्वं च धर्मप्रचोदितः ॥ ३ ॥

धर्म का मर्म जानने वाले लोग सत्य ही को परम धर्म बतलाते हैं। सो मैं उसी सत्य को अवलंबन कर तुमको धर्मपालन की प्रेरणा करती हूँ। अर्थात् वर देने के लिये तुमसे कहती हूँ ॥ ३ ॥

संश्रुत्य शैब्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः ।
प्रदाय पक्षिणे राजञ्जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४ ॥

देखो, पहले राजा शैब्य ने प्रतिज्ञा कर अपना शरीर तक श्येन पक्षी को दे डाला था और इससे उनको उत्तम गति प्राप्त हुई थी ॥ ४ ॥

तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे ।
याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ ॥ ५ ॥

इसी प्रकार तेजस्वी अलर्क ने, किसी अंधे वेदपाठी ब्राह्मण के माँगने पर, प्रसन्नता पूर्वक उसे अपने दोनों नेत्र निकाल कर दे दिये थे ॥ ५ ॥

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः ।
सत्यानुरोधात्समये वेलां स्वां नातिवर्तते ॥ ६ ॥

सब नदियों का स्वामी समुद्र भी सत्य का पालन करने के लिये पूर्णमासी को भी, अपनी मर्यादा से अधिक नहीं बढ़ता ॥ ६ ॥

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनैवाप्यते परम् ॥ ७ ॥

सत्य ही (एकमात्र) मुख्यतः ब्रह्म है. सत्य ही धर्म की पराकाष्ठा है, अक्षय्य वेद भी सत्य ही का मुख्यतया प्रतिपादन करते हैं। सत्य से चित्त शुद्ध हो कर, ब्रह्म तक की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः ।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम ॥ ८ ॥

हे राजन्! यदि आपकी धर्म में बुद्धि है, तो सत्य का पालन करते हुए, मुझे मेरे माँगे हुए दोनों वर दीजिये। क्योंकि आप वरदानी हैं ॥ ८ ॥

धर्मस्ये[1] ह्यभिकामार्थं[2] मम चैवाभिचोदनात् ।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम् ॥ ९ ॥

आप अपना परलोक बनाने के लिये और मेरी प्रेरणा से रामचन्द्र को वन में भेज दो। यह बात मैं एक बार नहीं, तीन बार कहती हूँ। (तीन बार कहने का अभिप्राय यह है कि, मैं अपनी बात को बदलूँगी नहीं) ॥ ९ ॥

समयं[3] च ममार्येमं यदि त्वं न करिष्यसि ।
अग्रतस्ते परित्यक्ता[4] परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १० ॥

यदि आप राम को वन न भेजेंगे, तो इस अनादर को सहन न कर, मैं आपके ही सामने अपने प्राण छोड़ दूँगी—(अर्थात् आपके माथे स्त्रीवध का पाप चढ़ाऊँगी) ॥ १० ॥

एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया ।
नाशकत्पाश[5]मुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा ॥ ११ ॥

निर्भीक हो कैकेयी के इस प्रकार कहने पर महाराज दशरथ सत्य के पाश में बँध गये और वे उसी प्रकार उस पाश से न छूट सके जिस प्रकार वामन जी के सत्यपाश से राजा बलि नहीं छूट सके थे ॥ ११ ॥

उद्भ्रान्तहृदयाश्चापि विवर्णवदनोऽभवत् ।
स धुर्यो वै परिस्पन्द[6]न्युगचक्रान्तरं यथा ॥ १२ ॥

---

१ धर्मस्य—परलोक सिद्धिप्रयोगकस्य । (वि०) २ अभिकामार्थं—प्रीत्यर्थं । (गो०) ३ समयं—रामविवासनं । (गो०) ४ परित्यक्ता—उपेक्षिता । (गो०) ५ पाशं—सत्यपाशं । (गो०) ६ परिस्पन्दन्—गच्छन् । (गो०)

उस समय महाराज दशरथ पागल से हो गये, उनका चेहरा फीका पड़ गया। जिस प्रकार दो पहियों के बीच घूमती हुई धुरी चञ्चलता प्रकट करती है, उसी प्रकार उनका भी चित्त चञ्चल हो गया। अथवा जिस प्रकार दो पहिये की गाड़ी में जुता हुआ बैल (या घोड़ा), निकलने के लिये प्रयत्न करने पर भी विफल मनोरथ होने के कारण विकल होता है और उदास हो जाता है, उसी प्रकार महाराज दशरथ उदास और निष्फल हुए ॥ १२ ॥

[नोट—शिरोमणि टीकाकार ने यही अर्थ किया है—स राजा उद्भ्रान्त हृदयः सञ्चलितचित्तः अभवत् तत्र दृष्टान्तः युगचक्रान्तरं युगचक्रयोर्मध्यं प्राप्येति शेषः परिस्पन्दन् निःसरणार्थम् चेष्टां कुर्वन् धुर्यः अनड्वानिव ।]

विह्वलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव[1] स भूपतिः ।
कृच्छ्राद्धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

चिन्ता और शोक के कारण महाराज दशरथ इतने विह्वल हो गये थे कि, उन्हें नेत्रों से कुछ भी देख नहीं पड़ता था अर्थात् उस समय वे अन्धे की तरह हो गये थे। बड़ी कठिनाई से धैर्य धारण कर और मन को वश में कर, वे फिर कैकेयी से यह बोले (अथवा कातर दृष्टि से देखते हुए महाराज ने बहुत कष्ट से अधीर हो कर कैकेयी से कहा) ॥ १३ ॥

यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः ।
तं त्यजामि स्वजं[2] चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥ १४ ॥

हे पापिन ! विवाह के समय अग्नि के सामने वैदिक मंत्रोच्चारण पूर्वक हमने जो तेरा हाथ पकड़ा था, उस हाथ को हम अपने

१ अपश्यन्निव—अन्धइवस्थितः भूमिपः। (गो०) २ स्वजं—स्वस्माज्जातमपि। (गो०)

औरस जात ; किन्तु तेरे गर्भ से उत्पन्न होने के कारण, अपने पुत्र भरत सहित तुझे आज छोड़ते हैं। (अर्थात् आज से न तो तू हमारी स्त्री रही और न तेरी कोख से जन्मे भरत हमारे पुत्र ही रहे) ॥ १४ ॥

[नोट—यह एक प्रकार की "तलाक" Divorcement है। किन्तु वास्तव में हिन्दू समाज में जो प्रतिज्ञा अग्नि आदि देवताओं के समक्ष की जाती है वह अमिट है। सांसारिक व्यवहार की दृष्टि से भले ही पति अपनी पत्नी को छोड़ दे, किन्तु पारलौकिक सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता। महाराज दशरथ द्वारा कैकेयी की तलाक की बात यहाँ लिखी ही है। आगे उत्तरकाण्ड में श्रीरामचन्द्र जी द्वारा सीता जी के परित्याग की कथा भी मिलेगी।]

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति ।
अभिषेकं गुरुजनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥ १५ ॥

हे देवि! अब रात बीतने पर है और सूर्य भगवान् उदय होने वाले हैं। अतः गुरुजन लोग आ कर अवश्य ही श्रीरामराज्याभिषेक जल्दी करने के लिये मुझे प्रेरित करेंगे ॥ १५ ॥

रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकल्पितैः ।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक के लिये जो सामग्री इकट्ठी की गयी है, उससे अभिषेक तो न होगा, किन्तु उससे श्रीरामचन्द्र मेरी अन्त्येष्टि क्रिया करेंगे ॥ १६ ॥

त्वया सपुत्रया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया ।
व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥ १७ ॥

खबरदार! तू या तेरा पुत्र भरत हमारे प्रेतकर्म में हाथ न लगावें। क्योंकि जब तू श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक में बाधा डाल

रही है, तब हमारा और तेरा या तुझसे सम्बन्ध युक्त लोगों का हमसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह सकता ॥ १७ ॥

[नोट—इसी लिये महात्मा तुलसीदास जी ने कहा है—

जिनके प्रिय न राम वैदेही

तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही ।

महात्मा जी की इसी उक्ति को महाराज दशरथ ने यहाँ चरितार्थ किया है ।]

न च शक्रोम्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथा सुखम् ।
हतहर्षं निरानन्दं पुनर्जनमवाङ्मुखम् ॥ १८ ॥

श्रीरामाभिषेक से प्रसन्नमुख और उसके अभाव से क्लेशित हुए लोगों का उदासमुख हमसे नहीं देखा जायगा ॥ १८ ॥

तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः ।
प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रशालिनी ॥ १९ ॥

महात्मा महाराज दशरथ के इस प्रकार बोलते बोलते चन्द्रमा और तरैयों से सुशोभित रात बीत गयी और सवेरा हो गया ॥ १९ ॥

ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः ।
उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्छिता ॥ २० ॥

बात कहने में अत्यन्त चतुरा और पापिष्ठा कैकेयी बड़ी क्रुद्ध हो महाराज से पुनः कठोर वचन कहने लगी ॥ २० ॥

किमिदं भाषसे राजन्वाक्यमङ्गरुजोपमम्[1] ।
आनाययितुमक्लिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥ २१ ॥

---

१ अङ्गरुजोपमम्—सर्वाङ्गव्यापि महाव्याधिसदृशं । (गो०)

हे राजन्! सर्वाङ्ग में व्याप्त महाव्याधि वाले पुरुष की तरह आप यह क्या बकझक कर रहे हैं। अब आप रामचन्द्र को यहाँ बुलवाइये ॥ २१ ॥

स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम्।
निःसपत्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

मेरे बेटे भरत को राजसिंहासन पर बिठा और रामचन्द्र को वन भेज तथा मुझे सौतहीन कर दो, तभी आप कृतकृत्य अर्थात् अपनी बात के पूरे कहला सकोगे ॥ २२ ॥

स नुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः।
राजा प्रचोदितोऽभीक्ष्णं कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उस समय कैकेयी द्वारा बार बार प्रेरित किये जाने पर, महाराज दशरथ की वैसी ही दशा हुई जैसी कि किसी उत्तम जाति के घोड़े की चाबुक से मारे जाने पर होती है। वे बोले ॥ २३ ॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना।
ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥२४॥

इस समय सत्यपाश में जकड़ जाने से हमारी बुद्धि काम नहीं करती। अब हम अपने ज्येष्ठ और प्यारे पुत्र श्रीरामचन्द्र को देखना चाहते हैं ॥ २४ ॥

ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे।
पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समाहिते ॥ २५ ॥

इतने में सवेरा भी हो गया, रात बीत गयी, सूर्य भगवान् उदय हुए। पुण्य समय पर शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्त्तकाल भी आ उपस्थित हुए ॥ २५ ॥

वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तदा ।
उपसंगृह्य सम्भारान्प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २६ ॥

सर्वगुणसम्पन्न भगवान् वशिष्ठ अपने शिष्यों से घिरे हुए और अभिषेक की सामग्री लिये हुए उत्तम पुरी में आये ॥ २६ ॥

[नोट—"प्रविवेश पुरोत्तमम्" इससे जान पड़ता है कि, वशिष्ठादि ऋषिगण जो महाराज दशरथ के मंत्रिमण्डल में थे, बस्ती में नहीं रहते थे। उनके आवासस्थान नगर के किसी बाहिरी भाग में किसी एकान्त स्थल में बने हुए थे।]

[जिस समय वशिष्ठ जी नगरी में आये उस समय की पुरी की सजावट उन्होंने किस प्रकार को देखी इसका वर्णन आगे दिया गया है]

सिक्तसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम् ।
विचित्रकुसुमाकीर्णां नानास्रग्भिर्विराजिताम् ॥ २७ ॥

वशिष्ठ जी ने देखा कि, राजधानी की सब सड़कें स्वच्छ थीं, उन पर छिड़काव किया गया था। जिधर देखो उधर ध्वजाएँ एवं पताकाएँ फहरा रही थीं। तरह तरह के विचित्र फूल सड़कों पर फैले हुए थे और जगह जगह पुष्पमालाएँ लटकी हुई थीं ॥ २७ ॥

संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ।
महोत्सवसमाकीर्णां राघवार्थे समुत्सुकाम् ॥ २८ ॥

सब लोग प्रसन्नचित्त देख पड़ते थे। बाज़ारों की दूकानों में तरह तरह के माल भरे हुए थे। श्रीरामराज्याभिषेक के उपलक्ष में लोग तरह तरह के उत्सव मना रहे थे और श्रीरामाभिषेक देखने को उत्सुक हो रहे थे ॥ २८ ॥

चन्दनागरुधूपैश्च सर्वतः प्रतिधूपिताम् ।
तां पुरीं समतिक्रम्य पुरन्दरपुरोपमाम् ॥ २९ ॥

चारों ओर चन्दन और अगर मिली धूप जलाने से सुगन्ध उड़ रही थी। इस प्रकार की अमरावती के तुल्य अयोध्यापुरी में हो कर ॥ २९ ॥

ददर्शान्तःपुरं श्रेष्ठं नानाद्विजगणायुतम् ।
पौरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम् ॥ ३० ॥

वशिष्ठ जी श्रेष्ठ राजमन्दिर में पहुँचे। उन्होंने वहाँ देखा कि, राजमन्दिर के द्वार पर, अनेक द्विज, पुरवासी और ब्राह्मण अपनी उपस्थिति से वहाँ की शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ३० ॥

यज्ञविद्भिः सुसम्पूर्णं सदस्यैः परमद्विजैः ।
तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम् ॥ ३१ ॥

वहाँ पर यज्ञक्रिया में कुशल ब्राह्मण भी मौजूद हैं, राजदरबारी भी जमा हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति के बड़े बड़े प्रतिष्ठित लोगों की भीड़ लगी है। भीड़ को हटाते किसी तरह वशिष्ठ जी अन्तःपुर के दरवाज़े पर पहुँचे ॥ ३१ ॥

वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिर्विवेश च ।
स त्वपश्यद्विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम् ॥ ३२ ॥
द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम् ।
तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम् ॥ ३३ ॥
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम् ।
इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः ॥ ३४ ॥

महर्षि वशिष्ठ जी ने प्रसन्नता पूर्वक अन्तःपुर में प्रवेश किया। भीतर जाते समय अन्तःपुर के दरवाज़े पर उनकी भेंट शोभनमूर्ति सारथी सुमंत्र से हुई, जो भीतर से बाहिर आ रहे थे। महातेजस्वी वशिष्ठ जी ने बुद्धिमान सूतपुत्र सुमंत्र से कहा—कि हमारे यहाँ आने की सूचना तुरन्त महाराज को दो। साथ ही यह भी कह देना कि, वशिष्ठ जी अपने साथ सोने के घड़ों में गङ्गा जल और सागरजल ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम् ।
सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च ॥ ३५ ॥

और अभिषेक के समय राजकुमार के बैठने के लिये गूलर की लकड़ी की चौकी भी लाये हैं। सब प्रकार के बीज, सब सुगन्ध-युक्त वस्तुएँ और भाँति भाँति के रत्न ॥ ३५ ॥

क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ।
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः ॥ ३६ ॥

शहद, दही, घी, खीलें, कुश, फूल, दूध, सुन्दरी आठ कन्याएँ, मस्त सफेद हाथी ॥ ३६ ॥

चतुरश्वो रथः श्रीमान्निस्त्रिंशो धनुरुत्तमम् ।
वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसन्निभम् ॥ ३७ ॥

चार घोड़ों का रथ, उत्तम खड्ग, सुन्दर धनुष, कहारों सहित पालकी, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल छत्र ॥ ३७ ॥

श्वेते च वालव्यजने भृङ्गारश्च हिरण्मयः ।
हेमदामपिनद्धश्च ककुद्मान्पाण्डुरो वृषः ॥ ३८ ॥

दो सफेद चँवर, सोने की झारी, सोने के पत्रों से मढ़े हुए सींगों वाला सफेद बैल ॥ ३८ ॥

केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिश्रेष्ठो महाबलः ।
सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिद्धश्च हुताशनः ॥ ३९ ॥

चार दाढ़ का शेर, बड़ा बलवान घोड़ा, सिंहासन, बाघम्बर, समिधा, अग्नि ॥ ३९ ॥

सर्ववादित्रसङ्घाश्च वेश्याश्चालङ्कृताः स्त्रियः ।
आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः ॥४०॥

सब प्रकार के बाजे, शृङ्गार किये हुए रंडियाँ, आचार्य, ब्राह्मण, गौ, हिरन, पक्षी मौजूद हैं ॥ ४० ॥

पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च[1] गणैः[2] सह ।
एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः ॥ ४१ ॥

और मुखिया पुरवासी, अपने समुदायों को साथ लिये हुए महाजन लोग तथा इनके अतिरिक्त और भी अनेक सज्जन, प्रीति-युक्त हो, और प्रिय वचन बोलते हुए ॥ ४१ ॥

अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ।
त्वरयस्व महाराजं यथा समुदितेऽहनि ॥ ४२ ॥

अपने अपने राजाओं के साथ श्रीरामचन्द्र का अभिषेक देखने को आये हुए हैं, महाराज से जा कर कहो कि जल्दी करें ॥ ४२ ॥

---

१ नैगमाः—वणिजः । (वि०) २ गणैः—स्वगणैः । (वि०)

पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात् ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महात्मनः ॥ ४३ ॥

जिससे पुष्य नक्षत्र में श्रीरामचन्द्र जी को राज्य मिल जाय। वशिष्ठ जी के ये वचन सुन महात्मा सुमंत्र ॥ ४३ ॥

स्तुवन्नृपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम् ।
तं तु पूर्वोदितं[1] वृद्धं द्वारस्था राजसम्मतम् ॥ ४४ ॥

महाराज की जैजैकार पुकारते हुए राजभवन के भीतर जाने लगे। महाराज ने बूढ़े सुमंत्र की ड्योढ़ी माफ कर दी थी (अर्थात् महल के द्वारपालों को आज्ञा दे दी थी कि, सुमंत्र को रोकें नहीं) ॥ ४४ ॥

[नोट—इस श्लोक में सुमंत्र के लिये "वृद्ध" शब्द आया है। अतः इससे जान पड़ता है कि, सुमंत्र की ड्योढ़ी इसी लिये माफ़ कर दी गयी थी कि वे बूढ़े थे। अन्य लोग विना इत्तिला रनवास में नहीं जा सकते थे।]

न शेकुरभिसन्रोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ।
स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान् ॥ ४५ ॥

अतः महाराज की प्रसन्नता के लिये (अर्थात् महाराज के आज्ञानुसार) द्वारपालों ने सुमंत्र को भीतर जाने दिया और उन्हें रोका नहीं। सुमंत्र महाराज के निकट पहुँच गये। किन्तु वे उस समय की महाराज की अवस्था से अपरिचित थे ॥ ४५ ॥

वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे ।
ततः सूतो यथाकालं[2] पार्थिवस्य निवेशने ॥ ४६ ॥

---

1 पूर्वोदितं—अयंसर्वदा अनिवार्य इति राज्ञापूर्वमुक्तं। (गो०)
2 यथाकालं—प्रातःकालहि। (गो०)

अतः (शिष्टाचार के नियमानुसार) सुमंत्र परम प्रसन्न हो महाराज की वैसी ही स्तुति करने लगे जैसी कि, प्रातःकाल राजाओं की स्तुति करने का उस समय रिवाज़ था ॥ ४६ ॥

सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव जगतीपतिम् ।
यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये ॥ ४७ ॥

सुमंत्र ने हाथ जोड़ कर महाराज की स्तुति की। वे बोले—हे महाराज! जिस प्रकार सूर्योदय होने पर तेजस्वी सागर हर्षित होते हैं ॥ ४७ ॥

प्रीतः प्रीतेन मनसा तथानन्दय नः स्वतः ।
इन्द्रमस्यां तु वेलायामभितुष्टाव मातलिः ॥ ४८ ॥

उसी प्रकार आप प्रसन्न हो कर, प्रसन्न मन से हम लोगों को हर्षित कीजिये। इसी समय (अर्थात् सवेरे, सारथी ने इन्द्र की स्तुति की थी ॥ ४८ ॥

सोऽजयद्दानवान्सर्वांस्तथा त्वां बोधयाम्यहम् ।
वेदाः सहाङ्गविद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं विभुम् ॥ ४९ ॥
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य यथा त्वां बोधयाम्यहम् ।
आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरां शुभाम् ॥५०॥

तब इन्द्र ने सब असुरों को परास्त किया था। उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ। जिस प्रकार साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याएँ ब्रह्मा जी को जगाती हैं, उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ। जिस प्रकार सूर्यदेव चन्द्रमा सहित, सब प्राणियों को धारण करने वाली और शुभ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

बोधयन्त्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम् ।
उत्तिष्ठाशु महाराज कृतकौतुकमङ्गलः[1] ॥ ५१ ॥

पृथिवी को जगाते हैं, उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ। हे महाराज! उठिये और शुभ वेष बना सब को दर्शन दे आनन्दित कीजिये ॥ ५१ ॥

विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः ।
सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥ ५२ ॥

और वसन आभूषणों द्वारा शरीर अलङ्कृत कर, सुमेरु पर्वत पर सूर्य की तरह, शोभा को प्राप्त हूजिये। हे काकुत्स्थ! चन्द्र, सूर्य, शिव, कुवेर ॥ ५२ ॥

वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।
गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ ५३ ॥

वरुण, अग्नि, और इन्द्र सब आपको विजय करें। देखिये भगवती निशा बीत गयी और मङ्गलकारी दिन उपस्थित हो गया ॥ ५३ ॥

प्रतिबुध्यस्व राजर्षे कुरुकार्यमनन्तरम् ।
उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम् ॥ ५४ ॥

हे राजर्षे! उठिये और आगे के कार्यों को कीजिये। क्योंकि अभिषेक का सामान तैयार है ॥ ५४ ॥

पौरजानपदैश्चापि नैगमैश्च कृताञ्जलिः ।
अयं वसिष्ठो भगवान्ब्राह्मणैः सह तिष्ठति ॥ ५५ ॥

---

१ कृतकौतुकमङ्गलः—सर्वानन्दोत्पादनाय कृतदेहालङ्कार इत्यर्थः। (गो०)

नगरनिवासी, तथा जनपदनिवासी एवं महाजन लोग हाथ जोड़े खड़े हैं। भगवान वशिष्ठ जी भी ब्राह्मणों सहित आ गये हैं ॥ ५५ ॥

क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन्राघवस्याभिषेचनम् ।
यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायकाः ॥ ५६ ॥

हे राजन्! श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक का कार्य आरम्भ करने की आज्ञा शीघ्र दीजिये। क्योंकि जिस प्रकार चरवाहे के बिना पशु, सेनापति के बिना फौज ॥ ५६ ॥

यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ।
एवं हि भवता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते ॥ ५७ ॥

चन्द्रमा के विना रात्रि, और सांड़ के विना गौ, किसी काम की नहीं—वैसे ही राजा विना राज्य भी किसी काम का नहीं ॥ ५७ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ।
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः ॥ ५८ ॥

सुमंत्र के ऐसे शान्तियुक्त वचन सुन, महाराज फिर शोक में डूब गये ॥ ५८ ॥

ततः स राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति ।
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः ॥ ५९ ॥

फिर कुछ सँभल और श्रीरामचन्द्र के शोक में ग्रसित हो, मारे क्रोध के लाल आँखें कर, धर्मात्मा श्रीमान् दशरथ ने सुमंत्र की ओर देखा और उनसे कहा ॥ ५९ ॥

वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ।
सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम् ॥ ६० ॥

हे सुमंत्र ! तुम्हारे ये स्तुतिवाक्य हमें पुनः अत्यन्त कष्टदायक हुए हैं। सुमंत्र महाराज की यह करुण वाणी सुन और उनकी दीन दशा देख ॥ ६० ॥

प्रगृहीताञ्जलिः मह्नस्तस्माद्देशादपाक्रमत् ।
यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः ॥६१॥

हाथ जोड़, जहां पहले खड़े थे वहां से कुछ पीछे हट कर खड़े हुए। जब महाराज दीनता के कारण कुछ और न बोल सके ॥६१॥

तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ।
सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः ॥ ६२ ॥

तब अपना काम बनाने में निपुण कैकेयी सुमंत्र से बोली। हे सुमंत्र ! रामचन्द्र के अभिषेक के आनन्द में मग्न होने के कारण महाराज को रात भर नींद नहीं आयी ॥ ६२ ॥

प्रजागरपरिश्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ।
तद्गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ६३ ॥

रात भर जागने के कारण थक कर वे अब सो रहे हैं। अतः हे सूत ! तुम फौरन जा कर यशस्वी राजकुमार ॥ ६३ ॥

राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ।
स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥ ६४ ॥

रामचन्द्र को यहाँ बुला लाओ। इसमें सोचने विचारने की आवश्यकता नहीं है। यह सुन सुमंत्र ने समझा कि श्रीरामचन्द्र जी के आने से महाराज का मन ठीक ठिकाने होगा, अतः वे प्रसन्न हुए ॥ ६४ ॥

निर्जगाम च सम्प्रीत्या त्वरितो राजशासनात् ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥ ६५ ॥

और श्रीरामचन्द्र के बुलाने में महाराज की आज्ञा समझ प्रसन्न होते हुए तुरन्त वहाँ से चल दिये। किन्तु रास्ते में वे सोचने लगे कि, कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र को क्यों तुरन्त बुलाने को कहा है ॥ ६५ ॥

व्यक्तं रामोऽभिषेकार्थमिहायास्यति धर्मवित् ।
इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता वृतः ।
निर्जगाम महाबाहू राघवस्य दिदृक्षया ॥ ६६ ॥

सागरह्रदसङ्काशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ।
निष्क्रम्य जनसम्बाधं ददर्श द्वारमग्रतः ॥ ६७ ॥

फिर तुरन्त ही उन्होंने विचारा कि, शीघ्र राज्याभिषेक कार्य आरम्भ करवाने को धर्मात्मा महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्र को बुलवाया है। यह विचार मन में उत्पन्न होते ही, सुमंत्र बहुत प्रसन्न हुए और श्रीरामचन्द्र जी के पास जाने को उस मनोहर अन्तःपुर में से जो सागर के बीच स्थित तड़ाग की तरह था, निकले और दरवाज़े के आगे लोगों की बड़ी भीड़ देखी ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

ततः पुरस्तात्सहसा विनिर्गतो
महीभृतो द्वारगतान्विलोकयन् ।

दद‌र्श पौरान्विविधान्महाधना-
नुपस्थितान्द्वारमुपेत्य विष्ठितान् ॥ ६८ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

सुमंत्र ने द्वार पर शीघ्रता से जा कर देखा कि, राजभवन के दरवाज़े पर राजा लोग और बड़े बड़े अमीर व रईस आ कर बैठते जा रहे हैं ॥ ६८ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

पञ्चदशः सर्गः

ते तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
उपतस्थुरुपस्थानं[1] सह राजपुरोहिताः ॥ १ ॥

उस रात के बीतने पर, और सबेरा होने पर, वेदज्ञ ब्राह्मणगण राजपुरोहितों के साथ राजद्वार पर आ कर उपस्थित हुए ॥ १ ॥

अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च ।
राघवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणास्तु सङ्गताः ॥ २ ॥

राजमंत्रिगण, सेनापति और बड़े बड़े महाजन श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक देखने को राजद्वार पर प्रसन्न चित्त हो जमा हुए ॥ २ ॥

---

१ उपस्थानं—राजद्वारं । (शि०)

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि ।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ ३ ॥

सूर्य के उदय होने पर, जब पुष्य नक्षत्र और कर्कट लग्न का समय, जिसमें श्रीरामचन्द्र जी का जन्म हुआ था, उपस्थित हुआ, ॥ ३ ॥

अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम्[1] ।
काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं[2] स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥

तब उत्तम उत्तम ब्राह्मणों ने श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक के लिये जल से भरे हुए सोने के कलसे और श्रीरामचन्द्र जी के बैठने के लिये सजा हुआ भद्रपीठ यथास्थान सजा कर रखे ॥ ४ ॥

रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा ।
गङ्गायमुनयोः पुण्यात्सङ्गमादाहृतं जलम् ॥ ५ ॥

चमचमाता रथ, जिसमें व्याघ्राम्बर बिछा हुआ था आया, तथा गङ्गा यमुना के पवित्र सङ्गम का जल ला कर रखा गया ॥ ५ ॥

याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च ।
प्राग्वाहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाः समाहिताः ॥ ६ ॥

इनके अतिरिक्त जितनी पुण्यसलिला नदियाँ, कुण्ड, कूप, और तालाब, पश्चिम की ओर बहने वाली (नर्मदा और तापती), ऊपर से नीचे की ओर बहने वाली और टेढ़ी मेढ़ी हो कर बहने वाली नदियाँ हैं ॥ ६ ॥

---

१ उपकल्पितं—समीपेप्रापितम् । (शि०) २ भद्रपीठं—मङ्गलचिन्ह चिन्हितपीठविशेषं । (शि०)

ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः ।
सलाजाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥ ७ ॥

पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा ।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ८ ॥

इन सब के जल और सब समुद्रों के जल वहाँ ला कर सोने चाँदी के चमचमाते हुए कलसों में रखे गये। पवित्र तीर्थ जलों से भरे उन कलसों के मुखों पर गूलर वट आदि क्षीर वृक्षों की टहनियाँ तथा कमल पुष्प और कमल पत्र पड़े हुए थे। मधु, दही, घी, लाजा, कुश, अच्छे अच्छे फूल और दूध ला कर रखे गये थे ॥ ७ ॥ ८ ॥

वेश्याश्चैव शुभाचाराः[1] सर्वाभरणभूषिताः ।
चन्द्रांशुविकचप्रख्यं काञ्चनं रत्नभूषितम् ॥ ९ ॥

सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम् ।
चन्द्रमण्डलसङ्काशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥

सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्कृतम् ।
पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुरोऽश्वश्च सुस्थितः ॥११॥

वहाँ, मङ्गल वेष बनाये और बढ़िया बढ़िया कपड़े और गहने पहिने हुए वेश्याएँ भी उपस्थित थीं। चन्द्रकिरणों के समान स्वच्छ सोने की बनी और रत्नजटित डंडियों वाले उत्तम चमर भी श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक की सामग्री के साथ रखे हुए थे। चन्द्रमण्डल की तरह गोल और चमचमाता तथा सफ़ेद छत्र भी

१ शुभाचाराः—मङ्गलवेषयुक्ताः। (गो०)

राज्याभिषेक के लिये विद्यमान था। सफेद बैल, और सफेद सजा हुआ घोड़ा भी वहाँ खड़ा हुआ था ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

प्रस्रुतश्च[1] गजः श्रीमानौपवाह्यः[2] प्रतीक्षते।
अष्टौ च कन्या रुचिराः सर्वाभरणभूषिताः ॥ १२ ॥

मद चुचियाता हुआ राजाओं के चढ़ने योग्य हाथी भी मौजूद था। सुन्दरी और वसन भूषण से अलंकृत आठ कन्याएँ भी उपस्थित थीं ॥ १२ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि वन्दिनश्च तथाऽपरे।
इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रियेताभिषेचनम् ॥ १३ ॥
तथा जातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम्।
ते राजवचनात्तत्र समवेता महीपतिम् ॥ १४ ॥

वीणा आदि चारों प्रकार के माङ्गलिक बाजे, वंदीजन तथा सूत मागधादि सभी एकत्र हुए। कहाँ तक गिनाया जाय, सारांश यह है कि, इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के राज्याभिषेक में जो सामग्री अपेक्षित होती, वह सब श्रीरामराज्याभिषेक के लिये महाराज दशरथ की आज्ञानुसार लोग ले ले कर वहाँ उपस्थित हुए थे ॥ १३ ॥ १४ ॥

अपश्यन्तोऽब्रुवन्को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत्।
न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥ १५ ॥

राजद्वार पर उपस्थित लोगों ने जब समय हो चुकने पर भी महाराज दशरथ को न देखा, तब उपस्थित जन आपस में कहने

---

१ प्रस्रुतः—प्रकर्षेणस्रवन्मदः। (गो०) २ औपवाह्यः—राजवाह्यः। (गो०)

लगे कि, हमारे आने की सूचना महाराज को कौन पहुँचावेगा। देखो सूर्य भगवान उदय हो चुके, किन्तु महाराज का दर्शन अभी तक नहीं हुआ ॥ १५ ॥

यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः ।
इति तेषु ब्रुवाणेषु सार्वभौमान्महीपतीन् ॥ १६ ॥

बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र के अभिषेक के लिये सब तैयारियाँ हो चुकी हैं। इस प्रकार लोग आपस में कह रहे थे कि, आमंत्रित बड़े राजाओं से ॥ १६ ॥

अब्रवीत्तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ।
रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितोऽस्म्यहम् ॥१७॥

राजसम्मानित सुमंत्र ने यह कहा कि, महाराज की आज्ञानुसार मैं श्रीरामचन्द्र जी को लाने के लिये तुरन्त जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

पूज्या राज्ञो भवन्तस्तु रामस्य च विशेषतः ।
अहं पृच्छामि वचनात्सुखमायुष्मतामिह ॥ १८ ॥

राज्ञः सम्प्रतिबुध्यस्य यच्चागमनकारणम् ।
इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित्[1] ॥ १९ ॥

आप लोग महाराज और विशेष कर श्रीरामचन्द्र के सम्मान भाजन हैं। अतः मैं लौट कर आपकी ओर से इस बात को (कि महाराज के न पधारने का क्या कारण है) महाराज से, जो अभी सो कर उठे हैं, पूँछता हूँ। यह कह कर अति वृद्ध सुमंत्र अन्तःपुर के द्वार पर जा कर, ॥ १८ ॥ १९ ॥

---

१ पुराणवित्—चिरकालकथाभिज्ञः अतिवृद्ध इति । (वि०)

सदाऽसक्तं[1] च तद्वेश्म सुमन्त्रः प्रविवेश ह ।
तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य च विशांपतेः ॥ २० ॥

वेरोकटोक राजभवन के भीतर चला गया । (तत्कालीन प्रथानुसार) वंशपरम्परा की बड़ाई करते हुए सुमंत्र ने, उस कमरे में प्रवेश किया, जिसमें महाराज पड़े थे ॥ २० ॥

शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत ।
सोऽत्यासाद्य तु तद्वेश्म तिरस्करणि[2]मन्तरा ॥ २१ ॥
आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितुष्टाव राघवम् ।
सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥ २२ ॥

सुमंत्र महाराज के सोने के कमरे में पहुँच और चिक की आड़ में खड़े हो कर, महाराज को आशीर्वाद दे, उनको प्रसन्न करने लगे और कहने लगे, हे काकुत्स्थ ! चन्द्र, सूर्य, शिव, कुवेर, ॥ २१ ॥ २२ ॥

वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।
गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ २३ ॥

वरुण, अग्नि, इन्द्र आपको विजय दें । भगवती निशा वीत चुकी और सुप्रभात हो चुका है ॥ २३ ॥

बुध्यस्व नृपशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागता नृप ॥ २४ ॥

---

१ सदासक्तं—सर्वदाअनिवारितं । (गो०) २ तिरस्करणि—यवनिका चिक इति नाम्ना लोके प्रसिद्धामित्यर्थः । (शि०)

हे राजसिंह ! उठिये और जो कार्य करने हैं उन्हें कीजिये। ब्राह्मण, सेनापति, महाजन, और सामन्त राजा लोग आये हुए हैं ॥ २४ ॥

दर्शनं तेऽभिकाङ्क्षन्ते प्रतिबुध्यस्व राघव ।
स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २५ ॥

और वे आपके दर्शनों की अभिलाषा करते हैं। हे राघव ! उठिए, तब इस प्रकार स्तुति करते हुए मंत्रिप्रवर सुमंत्र से ॥ २५ ॥

प्रतिबुध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत् ।
राममानय सूतेति यदस्यभिहितोऽनया ॥ २६ ॥

महाराज ने जाग कर यह कहा, जैसा कि तुमसे इस कैकेयी ने कहा है, तुम जा कर पहिले श्रीरामचन्द्र को लिवा लाओ ॥ २६ ॥

किमिदं कारणं येन ममाज्ञा प्रतिहन्यते ।
न चैव सम्प्रसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥ २७ ॥

क्या वजह है जो तुम हमारी आज्ञा की अवहेला करते हो ? हम सोते नहीं हैं (जो तुम हमें बार बार जगाने की स्तुति पढ़ते हो)। तुम शीघ्र जा कर श्रीरामचन्द्र को यहाँ ले आओ ॥ २७ ॥

इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात्पुनः ।
स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रणिपत्य तम् ॥ २८ ॥

महाराज दशरथ के यह कहने पर सुमंत्र महाराज के वचनों को सुन और उनको प्रणाम कर ॥ २८ ॥

निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत् ।
प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम् ॥ २९ ॥

राजभवन से चल दिये और मन में जाना कि आज श्रीरामचन्द्र का अभिषेक होगा। सुमंत्र रंग बिरंगी ध्वजापताकाओं से शोभित राजमार्ग पर उपस्थित हो॥ २९॥

हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन्।
स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथाः॥ ३०॥

इधर उधर देखते भालते और हर्षित होते हुए तेज़ी के साथ जाने लगे। रास्ते में प्रत्येक दर्शक के मुख से वे श्रीरामचन्द्र सम्बन्धी चर्चा ही सुनते हुए जाते थे॥ ३०॥

अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत्।
ततो ददर्श रुचिरं कैलासशिखरप्रभम्॥ ३१॥

यह चर्चा और कुछ नहीं केवल श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक की आनन्ददायिनी बातचीत थी। थोड़ी ही देर में सुमंत्र ने मनोहर कैलास पर्वत के शिखर के समान उज्ज्वल॥ ३१॥

रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम्।
महाकवाटसंयुक्तं वितर्दिशतशोभितम्॥ ३२॥

और इन्द्रभवन के समान सुन्दर रामभवन देखा। उस राजभवन में बड़े बड़े किवाड़ लगे थे और सैकड़ों वेदियाँ शोभायमान थीं॥ ३२॥

काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमशोभितम्।
शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहोपमम्॥ ३३॥

भवन के कँगूरों पर सैकड़ों सोने की मूर्तियाँ रखी हुई थीं जिनमें मणियाँ, और मूँगे जड़े हुए थे। रामभवन की शोभा,

शारदीय मेघ के समान निर्मल और सुमेरु पर्वत की कन्दरा के समान चमकीली थी ॥ ३३ ॥

मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलङ्कृतम् ।
मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागरुधूपितम् ॥ ३४ ॥
गन्धान्मनोज्ञान्विसृजद्दार्दुरं[1] शिखरं यथा ।
सारसैश्च मयूरैश्च निनदद्भिर्विराजितम् ॥ ३५ ॥

राजभवन के द्वार को मणियों की सुन्दर मालाएँ (जो वंदनवारों की जगह लटक रही थीं) सुशोभित कर रही थीं। मोतियों और मणियों से सजा हुआ चन्दन और अगर से सुवासित और मनोहर गंधों से मलयागिरि समीपवर्ती चन्दनगिरि के शिखर की तरह सुवासित, वह श्रीरामचन्द्र का भवन था। उसमें अनेक सारस और मोर बोल रहे थे ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

सुकृतेहामृगाकीर्णं सुकीर्णं भित्तिभिस्तथा ।
मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत्तिग्मतेजसा[2] ॥ ३६ ॥

राजभवन के दरवाज़े पर, कमरों की दीवालों पर और खंभों पर सुनहली तसवीरें बनी थीं। ये तसवीरें जंगली जानवरों की यथा भेड़िया, बघर्रा शेर आदि की थीं। इनकी अत्यन्त सुन्दर कारीगरी देखने को, देखने वाले का मन और आँखें अपने आप आकर्षित हो जाती थीं ॥ ३६ ॥

---

१ दर्दुरः—मलयसन्निकृष्टश्चन्दनगिरिः। (वि०) २ सुकृतैः—स्वर्णादिना। (वि०) ३ तिग्मतेजसाभाददत्—अतिशयितशोभया आकर्षत। (वि०)

चन्द्रभास्करसङ्काशं कुवेरभवनोपमम् ।
महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का भवन चन्द्रमा और सूर्य की तरह चमकता था, कुवेर भवन की तरह भरा पूरा था और इन्द्रभवन की तरह बनावट में अद्वितीय था। उसमें अनेक जाति के पक्षी किलोलें कर रहे थे ॥ ३७ ॥

मेरुशृङ्गसमं सूतो रामवेश्मददर्श ह ।
उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥ ३८ ॥

उस सुमेरुशिखर के समान ऊँचे श्रीरामभवन को सुमंत्र ने देखा। उस समय वहाँ अनेक लोग हाथ जोड़े हुए उपस्थित थे ॥ ३८ ॥

उपादाय समाक्रान्तैस्तथा जानपदैर्जनैः ।
रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलङ्कृतम् ॥ ३९ ॥

वहाँ अनेक राष्ट्रों के लोग भी थे जो श्रीरामचन्द्र जी को भेंट देने के लिये भेंट की वस्तुएँ लिये उपस्थित थे और श्रीरामाभिषेक देखने को उत्सुक थे तथा अच्छे अच्छे वस्त्र और बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत थे ॥ ३९ ॥

महामेघसमप्रख्यमुदग्रं सुविभूषितम् ।
नानारत्नसमाकीर्णं कुब्जकैरातका[1]वृत्तम्* ॥ ४० ॥

वह रामभवन महामेघ के समान विशाल था और तरह तरह की मणियों से सजा हुआ था। वहाँ पर अनेक छोटे डील डौल के किरात जाति के नौकर भी थे ॥ ४० ॥

---

१ कुब्जकैरात—किरातानां स्वल्प शरीरकाणां समूहः कैरातकं । (गो०)

* पाठान्तरे—" कुब्जकैरपिचावृतं "

स वाजियुक्तेन रथेन सारथि-
नराकुलं राजकुलं[1] विलोकयन् ।
वरूथिना रामगृहाभिपातिना
पुरस्य सर्वस्य मनांसि हर्षयन् ॥ ४१ ॥

घोड़ों के रथ में सवार सुमंत्र जी, लोगों की भीड़ से भरे हुए राजमार्ग को शोभित करते और सम्पूर्ण पुरवासियों के हृदय को हर्षित करते हुए श्रीरामभवन के द्वार पर पहुँचे ॥ ४१ ॥

ततः समासाद्य महाधनं मह-
त्प्रहृष्टरोमा स बभूव सारथिः ।
मृगैर्मयूरैश्च समाकुलोल्वणं
गृहं वरार्हस्य शचीपतेरिव ॥ ४२ ॥

विपुल धनराशि से भरे हुए रामभवन में, जो अनेक मृग और मयूरों से भरा हुआ था और उत्तमता में इन्द्रभवन के तुल्य था, पहुँच कर और वहाँ की शोभा देख कर, सुमंत्र बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४२ ॥

स तत्र कैलासनिभाः स्वलङ्कृताः
प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः ।
प्रियान्नरान्राममते स्थितान्बहू-
नपोह्य शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥ ४३ ॥

सुमंत्र जी कैलास की तरह सजे हुए श्रीरामभवन की स्वर्ग समान ड्योढ़ियों को नांघते और उन अनेक पुरुषों को जो श्रीराम-

---

[1] राजकुलं—राजमार्गं । (वि०)

चन्द्र के प्यारे और कृपापात्र थे, हटाते बचाते अन्तःपुर में जा पहुँचे ॥ ४३ ॥

स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता
रामाभिषेकार्थयुता जनानाम् ।
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टः ॥ ४४ ॥

वहाँ भी सुमंत्र ने लोगों को प्रसन्न हो आपस में श्रीरामचन्द्र के अभिषेक की बातचीत करते हुए ही देखा । इससे सुमंत्र अत्यन्त प्रसन्न हुए । क्योंकि उन लोगों की बातचीत श्रीरामचन्द्र के मङ्गल के लिये ही थी ॥ ४४ ॥

महेन्द्रसद्मप्रतिमं तु वेश्म
रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम् ।
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं
विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥ ४५ ॥

सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी के रहने के इन्द्रभवन के समान भवन को देखा, जो रमणीक था और मृग पक्षियों से सेवित था और जो प्रभा से प्रकाशमान और उच्च मेरुशिखर के समान था ॥ ४५ ॥

उपस्थितैरञ्जलिकारकैश्च
सोपायनैर्जानपदैर्जनैश्च ।
कोट्या परार्धैश्च विमुक्तयानैः
समाकुलं द्वारपथं ददर्श ॥ ४६ ॥

सुमंत्र ने देखा कि, वहाँ भी अनेक देशों से आये हुए असंख्य लोग हाथ जोड़े (यानी नम्रभाव से) और भेंटें लिये हुए, अपनी सवारियों से उतर कर नीचे खड़े हुए हैं ॥ ४६ ॥

ततो महामेघमहीधराभं
प्रभिन्नमत्यङ्कुशमप्रसह्यम् ।
रामोपवाह्यं रुचिरं ददर्श
शत्रुंजयं नागमुदग्रकायम् ॥ ४७ ॥

तदनन्तर सुमंत्र ने देखा कि, बादल की तरह श्याम रंग का और पर्वत के समान ऊँचा शत्रुंजय नाम का सुन्दर हाथी, जो अङ्कुश की मार कभी सहता ही न था और जिसके मस्तक से मद चू रहा था, श्रीरामचन्द्र जी की सवारी के लिये खड़ा है ॥ ४७ ॥

स्वलंकृतान्साश्वरथान्सकुञ्जरा-
नमात्यमुख्यान्शतशश्च वल्लभान् ।
व्यपोह्य सूतः सहितान्समन्ततः
समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ॥ ४८ ॥

फिर आगे बढ़ कर सुमंत्र ने देखा कि, अनेक महावत सारथी और साईस अपने अपने हाथियों, रथों और घोड़ों को सजाये हुए तैयार खड़े हैं। फिर देखा कि, श्रीरामचन्द्र के प्रधान मंत्री तथा सैकड़ों कृपापात्र वहाँ चारों ओर उपस्थित हैं। उन सब को हटा, सुमंत्र समृद्धशाली अन्तःपुर में गये ॥ ४८ ॥

तदद्रिकूटाचलमेघसन्निभं
महाविमानोत्तमवेश्मसङ्घवत् ।

आवार्यमाणः प्रविवेश सारथिः
प्रभूतरत्नं मकरो यथाऽर्णवम् ॥ ४९ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

पर्वत की चोटी के समान ऊँचे, महामेघ की तरह विशाल, और अनेक खण्डों वाले श्रीरामभवन में सुमंत्र बेरोकटोक उसी प्रकार चले गये, जिस प्रकार रत्नों से भरे पूरे समुद्र में मगर निशङ्क घुस जाता है ॥ ४६ ॥

अयोध्याकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

षोडशः सर्गः

—:※:—

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥ १ ॥

सुमंत्र अन्तःपुर की उस ड्योढ़ी को, जिस पर लोगों की बड़ी भीड़ थी, नाँघ कर, भीतर की ड्योढ़ी पर, जहाँ कोई भी बाहिरी आदमी न था, पहुँचे ॥ १ ॥

प्रासकार्मुकबिभ्रद्भिर्युवभिर्मृष्टकुण्डलैः ।
अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वनुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥ २ ॥

सुमंत्र ने देखा कि, उस ड्योढ़ी पर फरसा और धनुष को लिये, सुन्दर कुण्डल पहिने हुए युवा, जो पहिरा देने में बड़े दक्ष थे और अपने काम में सदा सावधान रहते थे तथा बड़े स्वामिभक्त थे, पहरा दे रहे हैं ॥ २ ॥

तत्र काषायिणो वृद्धान्वेत्रपाणीन्स्वलंकृतान् ।
ददर्श विष्ठितान्द्वारिस्त्र्यध्यक्षान्सुसमाहितान् ॥ ३ ॥

सुमंत्र ने इनके आगे लाल कपड़े पहिने, और सुन्दर वेषभूषा बनाये तथा हाथों में बेंत लिये, वृद्ध पुरुष देखे, जो ज़नानी ड्योढ़ी पर बड़ी सावधानी से पहरा दे रहे थे ॥ ३ ॥

[नोट—"वृद्धान्" और "अप्यक्षान्" शब्द इस श्लोक में देखने से, यह स्पष्ट है कि, रामायणकाल में रनवासों की ख़ास ड्योढ़ी पर, वृद्ध लोगों ही का पहरा रहता था।]

ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः ।
सहसोत्पतिताः सर्वे स्वासनेभ्यः ससम्भ्रमाः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र के हितैषीगण सुमंत्र को आते देख, झटपट बड़े आदर के साथ उठ खड़े हुए ॥ ४ ॥

तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः[1] ।
क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥ ५ ॥

तब सुमंत्र ने उन विनम्र और सेवानिपुण लोगों से कहा कि, तुम तुरन्त जा कर, श्रीरामचन्द्र जी से कह दो कि, सुमंत्र ड्योढ़ी पर खड़ा है ॥ ५ ॥

ते राममुपसङ्गम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः ।
सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥ ६ ॥

यह सुन, उन लोगों ने, जो श्रीरामचन्द्र का भला चाहते थे, तुरन्त सीता जी सहित श्रीरामचन्द्र जी को सुमंत्र के आने की सूचना दी ॥ ६ ॥

प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः ।
तत्रैवानाययामास राघवप्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

---

१ प्रदक्षिणः—सेवानिपुणइत्यर्थः । (गो०)

सुमंत्र के आने का समाचार सुन और उन्हें अपने पिता का अन्तरङ्गजन जान कर, श्रीरामचन्द्र जी ने प्रीतिपूर्वक उन्हें भीतर ही बुलवा लिया ॥ ७ ॥

तं वैश्रवणसङ्काशमुपविष्टं स्वलंकृतम् ।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे ॥ ८ ॥

सुमंत्र ने भीतर जा कर देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी सोने के पलंग पर बिछे हुए उत्तम मुलायम बिछौनों पर, कुबेर जैसे आभूषण धारण किये हुए, बैठे हैं ॥ ८ ॥

वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना ।
अनुलिप्तं परार्ध्येन चन्दनेन परन्तपम् ॥ ९ ॥

उनके शरीर में वराह के रुधिर के समान लाल, पवित्र और सुगन्ध वाला चन्दन लगा हुआ है ॥ ९ ॥

स्थितया पार्श्वतश्चापि बालव्यजनहस्तया ।
उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा ॥ १० ॥

और उनकी एक ओर बग़ल में चमर लिये जानकी जी बैठी हैं। उस समय देखने पर ऐसा जान पड़ता था, मानों चित्रा के सहित चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है ॥ १० ॥

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं[1] स्वतेजसा ।
ववन्दे वरदं वन्दी[2] विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी अपने तेज से मध्यान्ह के सूर्य की तरह प्रकाशमान थे। विनय के ज्ञाता सुमंत्र ने वरदाता श्रीरामचन्द्र जी को देख, विनयपूर्वक प्रणाम किया ॥ ११ ॥

---

१ उपपन्नं—युक्तं। (शि०) २ वन्दी—सुमंत्रः। (शि०)

प्राञ्जलिस्तु सुखं पृष्ट्वा विहारशयने स्थितम् ।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥ १२ ॥

और हाथ जोड़ कर कुशल प्रश्न पूँछा। तदनन्तर महाराज से सम्मानित सुमंत्र ने, सेज पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ १२ ॥

कौसल्यासुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
महिष्या सह कैकेय्या गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥१३॥

हे कौशल्या जी के शोभन पुत्र! आपको कैकेयी सहित महाराज देखना चाहते हैं, अतः आप तुरन्त वहाँ चलें ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः ।
ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह ॥ १४ ॥

सुमंत्र जी से यह बात सुन कर, पुरुषसिंह महाद्युतिमान श्री-रामचन्द्र, अत्यन्त हर्षित हुए और सुमंत्र से यह कह कर कि, बहुत अच्छा, अभी चलता हूँ, सीता जी से बोले ॥ १४ ॥

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे ।
मन्त्रयेते ध्रुवं किञ्चिदभिषेचनसंहितम् ॥ १५ ॥

हे देवि! मेरी माता कैकेयी और पिता जो एकत्र बैठे मेरे अभिषेक के विषय में अवश्य कुछ परामर्श करते हैं ॥ १५ ॥

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा ।
सञ्चोदयति राजानं मदर्थं मदिरेक्षणे ॥ १६ ॥

हे मदिरेक्षणे! मैं अनुमान करता हूँ कि, मेरी हितैषिणी चतुरा माता कैकेयी, महाराज का अभिप्राय जान कर, प्रियकामना से मेरे लिये महाराज को कुछ प्रेरणा कर रही है ॥ १६ ॥

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामाऽनुवर्तिनी ।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥ १७ ॥
दिष्ट्या खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह ।
सुमन्त्रं प्राहिणोद्दूतमर्थकामकरं मम ॥ १८ ॥

क्योंकि वह केकय देश के राजा की बेटी और महाराज के इच्छानुसार चलने वाली, मेरी माता कैकेयी, मेरी भलाई चाहती है। यह बड़े ही आनन्द की बात है कि, महाराज ने जो इस समय अपनी प्यारी रानी के यहाँ विराजमान है, मेरी भलाई चाहने वाले सुमंत्र को मुझे बुलाने भेजा है ॥ १७ ॥ १८ ॥

यादृशी परिषत्तत्र तादृशो दूत आगतः ।
ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

जैसी वहाँ इस समय मेरा हित चाहने वाली सभा है, वैसा ही मेरा हित चाहने वाला दूत भी आया है। निश्चय ही महाराज आज मुझे युवराजपद पर अभिषिक्त करेंगे ॥ १९ ॥

अहं शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।
सह त्वं परिवारेण[1]सुखमास्स्व रमस्व[2] च ॥ २० ॥

अब मैं तुरन्त यहाँ से जा कर महाराज के दर्शन करूँगा। तुम अपनी परिचारिकाओं के साथ आनन्द से वार्तालाप करो ॥ २० ॥

पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा ।
आद्वारमनुवव्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी[3] ॥ २१ ॥

---

१ परिवारेण—परिचारिकासंघेन। (गो०) २ रमस्व—वृत्तकीर्तनेन-रता भव। (गो०) ३ अभिदध्युषी—अभिध्यायन्ती। (गो०)

इस प्रकार पति का सम्मानसूचक वचन सुन कमलाक्षी सीता जो मङ्गलपाठ करती हुई श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे द्वार तक गयी ॥ २१ ॥

[सीता जी की इच्छा नहीं थी कि, श्रीरामचन्द्र जी युवराजपद पर अभिषिक्त हों। उनकी इच्छा थी कि श्रीरामचन्द्र जी राजसूययज्ञ कर के सार्वभौमपद प्राप्त करें—अतः वे सङ्केत करती हैं]

राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं[1] राजसूयाभिषेचनम् ।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥ २२ ॥

(और बोलीं) इस राज्य में बहुत से ब्राह्मण रहते हैं। महाराज! वे तुम्हारा राजसूयाभिषेचन वैसे ही करें, जैसे ब्रह्मा ने इन्द्र का किया था ॥ २२ ॥

[नोट—राजसूययज्ञ में सब राजाओं को जीत कर यज्ञ किया जाता है। अतः वीर्यशुल्का सीता भी चाहती हैं कि, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने विवाह में पराक्रम की परम सीमा प्रदर्शित की, उसी प्रकार राज्याभिषेक के समय सब राजाओं और राक्षसों को जीत कर, निज पराक्रम से वे राज्यप्राप्त करें। शिरोमणि टीकाकार का यह मत है।]

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम् ।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥ २३ ॥

मैं आपको राजसूय यज्ञ करने के लिये व्रत-धारण-पूर्वक दीक्षा लिये हुए, मृगचर्म पहिने हुए, पवित्र अवस्था में और मृग के सींग हाथ में लिये हुए देख कर, आपकी सेवा करना चाहती हूँ ॥ २३ ॥

---

१ जुष्टं—सेवितं। (गो०)

पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः ।
वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥ २४ ॥

पूर्व दिशा में इन्द्र, दक्षिण दिशा में यम, पश्चिम दिशा में वरुण और उत्तर दिशा में कुवेर तुम्हारी रक्षा करें ॥ २४ ॥

अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः ।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी से विदा हो और अपने अभिषेक के लिये मङ्गलाचार पूर्वक, सुमंत्र के साथ अपने भवन से रवाना हुए ॥ २५ ॥

पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः ।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत्प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥ २६ ॥

जिस प्रकार पर्वत की कन्दरा में शयन करने वाला सिंह निर्भय हो अपनी गुफा से निकलता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी भी अपने भवन से निकले। बाहिर आ कर देखा कि, द्वार पर हाथ जोड़े लक्ष्मण जी खड़े हैं ॥ २६ ॥

अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत्सुहृज्जनैः ।
स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥

बीच की ड्योढ़ी पर पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी अपने सुहृदों से मिले और सब लोगों को, जो अभिषेक दर्शनाभिलाषी हो वहाँ उपस्थित हुए थे, देखा और उनका यथोचित सन्मान किया ॥ २७ ॥

ततः पावकसङ्काशमारुरोह रथोत्तमम् ।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजतं राजनन्दनः ॥ २८ ॥

तदनन्तर दशरथनन्दन पुरुषव्याघ्र श्रीरामचन्द्र जी उस दिव्य रथ पर सवार हुए, जो अग्नि के समान चमकता था और जो व्याघ्रचर्म से मढ़ा हुआ था ॥ २८ ॥

मेघनादमसम्बाधं मणिहेमविभूषितम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया हेमवर्चसम् ॥ २९ ॥

वह रथ जब चलता था, तब उसके चलने का शब्द मेघ की गरजन के समान होता था। उसमें सुनहला और मणियों की पच्चीकारी का काम किया गया था। उसको देखने से देखने वाले की आँखें वैसे ही चौंधिया जाती थीं, जैसे सूर्य को देखने से चौंधियाती हैं ॥ २६ ॥

करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः ।
हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥ ३० ॥

उसमें हाथी के बच्चों जैसे बड़े डीलडौल के घोड़े जुते हुए थे। वह रथ, इन्द्र के रथ की तरह शीघ्र चलने वाला था ॥ ३० ॥

प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया ।
स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥ ३१ ॥

श्रीराम जी रथ में बैठ शोभा से दीप्तिमान हुए। उनका रथ बड़े वेग से चला जा रहा था और उसके चलते समय आकाश में मेघ के गरजने जैसा शब्द हो रहा था ॥ ३१ ॥

निकेतान्निर्ययौ श्रीमान्महाभ्रादिव चन्द्रमाः ।
छत्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥ ३२ ॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी उस रथ पर सवार हो भवन के बाहिर आये, उस समय ऐसा बोध हुआ, मानों महाप्रकाशमान

चन्द्रमा मेघ से निकला हो। श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण छत्र चँवर ले ॥ ३२ ॥

जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः ।
ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥ ३३ ॥

बड़े भ्राता की रक्षा के लिये उनके पीछे उसी रथ पर बैठे। उस रथ के चलने के समय जनता ने जयनाद कर बड़ा तुमुल शब्द किया ॥ ३३ ॥

तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः ।
ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसन्निभाः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चलने पर उनके पीछे चारों ओर से जनसमूह चला। श्रीरामचन्द्र के रथ के पीछे बढ़िया घोड़ों और पर्वत के समान बड़े ऊँचे हाथियों पर बैठ, लोग हो लिये ॥ ३४ ॥

[नोट—लोगों को यह मालूम न था कि, किसी कारण विशेष से श्रीरामचन्द्र जी को महाराज ने बुलाया है। लोगों ने तो यह समझा कि, श्रीरामचन्द्र अभिषेकक्रिया के लिये जा रहे हैं। अतः एक जलूस अपने आप ही बन गया।]

अनुजग्मुस्तदा रामं शतशोऽथ सहस्रशः ।
अग्रतश्चास्य सन्नद्धाश्चन्दनागरुरूषिताः[1] ॥ ३५ ॥
खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो[2] जनाः ।
ततो वादित्रशब्दास्तु स्तुतिशब्दाश्च वन्दिनाम् ॥३६॥

---

१ रूषिताः—लिप्ताः । (वि०) २ आशंसवः—रामश्रेयआशंसमानाः । (वि०)

श्रीरामचन्द्र जी के पीछे जाने वाले घोड़ों और हाथियों पर बैठ कर जाने वालों की तथा पैदल चलने वाले लोगों की संख्या लाखों पर थी। श्रीरामचन्द्र जी के रथ के आगे वीर सैनिक थे, जिनके माथे पर चन्दन और अगर लगा हुआ था और उनके हाथों में तलवारें और धनुष थे। वे श्रीरामचन्द्र जी की भलाई की आशा रखने वाले थे। उनके पीछे बाजे वाले और बाजे वालों के पीछे वंदी जन श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति करते हुए चले जाते थे ॥३५॥ ३६॥

सिंहनादाश्च शूराणां तथा शुश्रुविरे पथि ।
हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥

वीरों का सिंहनाद मार्ग में सुन पड़ता था। अटारी और झरोखों में बैठी हुई अच्छे भूषणों से भूषित. ॥ ३७ ॥

कार्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिन्दमः ।
रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामप्रियचिकीर्षया ॥ ३८ ॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे ।
नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ ३९ ॥

स्त्रियाँ चारों ओर से श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर फूलों की वर्षा कर रही थीं और उस पुष्पवर्षा के बीच शत्रुनिकन्दन श्रीरामचन्द्र जी चले जाते थे। वे सब सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्रियाँ जो अटारियों पर बैठी थीं, श्रीरामचन्द्र जी की मङ्गलकामना से प्रणाम करती थीं, मङ्गलगीन गा रही थीं और कहती थीं, कि हे मातृनन्दन! आज तुम्हारी माता निश्चय ही बड़ी प्रसन्न होंगी ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमवस्थितम् ।
सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनीं वराम् ॥४०॥

अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ।
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत्तपः ॥ ४१ ॥

क्योंकि वे आज तुमको पिता के दिये हुए राजसिंहासन पर बैठे हुए देख सफल मनोरथ होंगी। उस समय उन सुभगा स्त्रियों ने सीता जी को, जो श्रीरामचन्द्र की प्राणप्यारी थी, सब सौभाग्यवती स्त्रियों से श्रेष्ठ माना और इसका कारण यह समझा कि, पूर्वजन्म में सीता ने अवश्य ही बड़ी तपस्या की है ॥ ४० ॥ ४१ ॥

रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।
इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः ॥ ४२ ॥

शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ।
आत्मसम्पूजनैः शृण्वन्ययौ रामो महापथम् ॥ ४३ ॥

रोहिणी ने जिस प्रकार चन्द्रमा को अपना पति पाया, वैसे ही सीता जी ने श्रीरामचन्द्र को अपना पति पाया है। इस तरह भवनों की छतों पर बैठी हुई स्त्रियों के ऐसे प्रिय और प्रशंसात्मक वचन, सड़क पर से ही, पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी सुनते हुए, बड़े लंबे चौड़े मार्ग पर जा पहुँचे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

स राघवस्तत्र कथाप्रपञ्चा-[1]
  ञ्शुश्राव लोकस्य समागतस्य ।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः
  प्रहृष्टरूपस्य पुरो जनस्य ॥ ४४ ॥

---

१ कथाप्रपञ्चान्—लौकिककथा विस्तारान्। (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी आये हुए लोगों के मुख से अनेक प्रकार की बातें तथा पुरवासियों के मुख से निज अधिकार प्राप्ति के विषय में तरह तरह की बातें सुनते चले जाते थे, ॥ ४४ ॥

एष श्रियं गच्छति राघवोद्य
राजप्रसादाद्विपुलाङ्गमिष्यन् ।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा
येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥ ४५ ॥

(वे लोग कह रहे थे) यह श्रीरामचन्द्र आज राजा की कृपा से विपुल लक्ष्मी पावेंगे और हम लोग, जिनके यह शासनकर्त्ता होंगे सफल मनोरथ या पूर्णकाम हो जांयगे ॥ ४५ ॥

लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं
प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।
न ह्यप्रियं किञ्चन जातु कश्चि-
त्पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४६ ॥

चिरकाल के लिये निस्सन्देह यह श्रीरामचन्द्र समस्त राज्य पावेंगे। इनका राज्य पाना हमारे लिये बड़ा लाभदायक होगा, क्योंकि इनके राजा होने पर किसी प्रकार का अनिष्ट देखना न पड़ेगा ॥ ४६ ॥

स घोषवद्भिश्च हयैर्मतङ्गजैः
पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।
महीयमानः प्रवरैश्च वादकै-
रभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४७ ॥

घोड़े हाथी हिनहिना और चिंघाड़ रहे थे। सूत, मागध और वंदीजनों द्वारा अपने वंश का बखान तथा अपनी स्तुति सुनते हुए श्रीरामचन्द्र जी, वैसे ही चले जाते थे, जैसे कुवेर जी जाते हैं॥ ४७॥

करेणुमातङ्गरथाश्वसङ्कुलं
महाजनौघप्रतिपूर्णचत्वरम्।
प्रभूतरत्नं वहुपण्यसञ्चयं
ददर्श रामो रुचिरं महापथम्॥ ४८॥

इति षोडशः सर्गः॥

जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, रास्ता विना दाँतों के हाथियों और दाँत वाले हाथियों, रथों और घोड़ों से भरा है। चौराहों पर भद्र मनुष्यों की अपार भीड़ है। बाजारों की दुकानें रत्नों तथा अन्य सौदागरी माल से भरी हुई हैं। रास्ते अच्छी तरह सजे हुए हैं॥ ४८॥

अयोध्याकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

सप्तदशः सर्गः

—:०:—

स रामो रथमास्थाय संप्रहृष्टसुहृज्जनः।
पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हागरुधूपितम्॥ १॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जाते जाते देखा कि, उनके सुहृद प्रसन्न हो रहे हैं, स्थान स्थान पर ध्वजा पताकाएँ फहरा रही हैं, जगह जगह सुगन्धित गूगुल आदि चीज़ें जलायी जा रही हैं, जिनकी सुगन्धि चारों ओर फैल रही है॥ १॥

अपश्यन्नगरं श्रीमान्नानाजनसमाकुलम् ।
स गृहैरभ्रसङ्काशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥ २ ॥

अनेक जनों से पूर्ण और श्वेत मेघ के समान गृहों से सुशोभित नगर को श्रीरामचन्द्र जी ने देखा ॥ २ ॥

राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागरुधूपितम् ।
चन्दनानां च मुख्यानमगरूणां च सञ्चयैः ॥ ३ ॥

अगर की धूप से सुवासित राजमार्ग पर हो कर, श्रीरामचन्द्र जी जा रहे थे। सड़कों के किनारे चन्दन और अगर की लकड़ी के ढेर लगे हुए थे ॥ ३ ॥

उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च ।
अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥

अच्छे अच्छे इत्र, रेशमी व ऊनी वस्त्र, विना विंधे मोती, और स्फटिक मणियों के ढेरों से ॥ ४ ॥

शोभमानमसम्बाधैस्तं[1] राजपथमुत्तमम् ।
संवृतं[2] विविधैः पण्यैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥

वे उत्तम राजमार्ग अबाधित (सब वस्तुएँ खुली हुई रखी थीं, चोरों का डर न था) सुशोभित हो रहे थे। दूकानें अनेक प्रकार के सौदागरी के सामानों से तथा खाने पीने की चीज़ों से भरी हुई थीं ॥ ५ ॥

---

१ असम्बाधः—चौरादिबाधा रहितम् । (शि०) २ संवृतं—व्याप्तं । (वि०)

ददर्श तं राजपथं दिवि देवपथं यथा ।
दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगरुचन्दनैः ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, वह राजमार्ग उसी प्रकार सुशोभित है जिस प्रकार स्वर्ग में देवपथ सुशोभित होता है। शकुन के लिये जगह जगह दही, अक्षत, खीर, लावा, धूम, अगर, चन्दन रखे हुए थे ॥ ६ ॥

नानामाल्योपगन्धैश्च सदाऽभ्यर्चितचत्वरम् ।
आशीर्वादान्बहूञ्शृण्वन्सुहृद्भिः समुदीरितान् ॥ ७ ॥

अनेक प्रकार के पुष्पों और अनेक सुगन्ध द्रव्यों से चौराहे सुशोभित थे। श्रीरामचन्द्र जी सुहृदों के दिये हुए आशीर्वादों को सुनते जाते थे ॥ ७ ॥

यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान्ययौ ।
पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥

और यथोचित उन सब लोगों का आदर करते जाते थे। अनेक बूढ़े लोग कहते थे कि, जिस प्रकार तुम्हारे बाबा (पितामह) और दादा (प्रपितामह) ने राज्य किया ॥ ८ ॥

अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय ।
यथा स्म लालिताः पित्रा यथा पूर्वैः पितामहैः ॥ ९ ॥

आज उसी प्रकार तुम भी राजसिंहासन पर बैठ कर, राज्य करो। तुम्हारे पूर्वजों के राज्य में हम जिस प्रकार सुखी थे ॥ ९ ॥

ततः सुखतरं रामे वत्स्यामः सति राजनि ।
अलमद्य हि भुक्तेन[१] परमार्थैरलं च नः ॥ १० ॥

इससे भी अधिक हम सब तुम्हारे सुशासन में सुखी हों। हम लोगों को अब इस लोक और परलोक के सुखों से भी कुछ प्रयोजन नहीं ॥ १० ॥

यथा पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ।
ततो हि नः प्रियतरं नान्यत्किञ्चिद्भविष्यति ॥ ११ ॥

क्योंकि राज्याभिषिक्त हो कर, श्रीरामचन्द्र के इस मार्ग से निकलने पर और उनको देखने पर, जो आनन्द हमको प्राप्त होगा, उससे बढ़ कर प्रिय और सुखदायक हमारे लिये और कुछ भी नहीं है ॥ ११ ॥

यथाऽभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ।
एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः कथाः शुभाः ॥ १२ ॥
आत्मसम्पूजनीः शृण्वन्ययौ रामो महापथम् ।
न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात् ॥ १३ ॥

अमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक से बढ़ कर हमारे लिये और कोई वस्तु प्रिय नहीं है। इस प्रकार अपने सुहृदों तथा अन्य जनों के मुख से अपनी प्रशंसा सुन, उदासीन भाव से श्रीरामचन्द्र जी चले जाते थे। श्रीरामचन्द्र जी की ओर से न तो किसी का मन ही हटता था और न उनकी ओर से किसी की आँख ही हटती थी ॥ १२ ॥ १३ ॥

१ भुक्तेन—ऐहिक विषय भोगज सुखेन। (रा०)

नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ।
यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ॥ १४ ॥

हालाँ कि श्रीरामचन्द्र दूर निकल आते थे। जो श्रीरामचन्द्र को न देख पाता था या जिसे श्रीरामचन्द्र जी नहीं देख पाते थे ॥ १४ ॥

निन्दितः स वसेल्लोके स्वात्माऽप्येनं विगर्हते ।
सर्वेषां हि स धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम् ॥ १५ ॥

उसकी लोग भी निन्दा करते थे और वह स्वयं भी अपने को धिक्कारता था। क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी की दया चारों वर्णों पर समान रूप से थी ॥ १५ ॥

चतुर्णां हि वयस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ।
चतुष्पथान्देवपथांश्[1]चैत्यान्यायतनानि[2] च ॥ १६ ॥

इसीसे चारों वर्ण के लोग अपनी उम्र के अनुसार उनमें अनुराग रखते थे अथवा उनके अनुयायी थे। राजकुमार श्रीरामचन्द्र चौराहों, देवालयों, चैत्यवृक्षों, सभामण्डपों ॥ १६ ॥

प्रदक्षिणं परिहरन्जगाम नृपतेः सुतः ।
स राजकुल[3]मासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः ॥ १७ ॥

के पास से इस प्रकार जाते जिससे उनकी प्रदक्षिणा हो जाती थी। (चलते चलते) श्रीरामचन्द्र जी राजभवन में पहुँचे। वह राजभवन मेघ समूह के समान जान पड़ता था ॥ १७ ॥

---

१ देवपथान्—देवतायान। (गो०) २ आयतनानि—सभादीनि। (गो०)
३ राजकुलं—राजगृहम्। (गो०)

प्रासादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ।
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः ॥ १८ ॥

और उस राजभवन के विविध शिखर, कैलास पर्वत के शिखर जैसे जान पड़ते थे। भवन की अनेक सफेद अटारियाँ गगनमण्डल को उसी प्रकार छाये हुए थीं, जैसे अनेक सफेद रंग के विमान आकाश को छा लेते हैं ॥ १८ ॥

वर्धमानगृहै[1]श्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ।
तत्पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रभवनोपमम् ॥ १९ ॥

इस राजभवन के क्रीड़ागृह (खेल घर) रत्नों की जड़ाऊ कारीगरी से सुशोभित थे (अर्थात् उनकी दीवालों पर रत्नों की पच्चीकारी का काम था)। यह राजभवन पृथिवी भर के राजभवनों से श्रेष्ठ और इन्द्रभवन के समान था ॥ १९ ॥

राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ।
स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः ॥२०॥

राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता के ऐसी शोभा से युक्त राजभवन में पहुँचे। वे तीन ड्योढ़ियों पर, जहाँ तीरन्दाज़ सिपाहियों के पहरे लगे हुए थे, रथ पर बैठे हुए ही चले गये ॥ २० ॥

पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ।
स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः ।
सन्निवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तं पुनरभ्यगात् ॥ २१ ॥

तदनन्तर चौथी और पाँचवीं दो ड्योढ़ियाँ उन्होंने पैदल पार कीं। इस प्रकार राजभवन की सब ड्योढ़ियाँ नाँघ और साथ के

---

1 वर्धमानगृहै—क्रीडागृहैः। (रा०)

लोगों को अन्तिम ड्योढ़ी पर छोड़ कर, दशरथनन्दन ने महाराज के अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥ २१ ॥

ततः प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे ।
प्रतीक्षते तस्य पुनर्विनिर्गमं
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥ २२ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

तदनन्तर, श्रीरामचन्द्र जी के अपने पिता के पास चले जाने पर, सब लोग परमानन्दित हो, उनके लौटने की उसी प्रकार चाहना करने लगे, जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रमा के उदय की समुद्र चाहना करता है ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

अष्टादशः सर्गः

—:o:—

स ददर्शासने[1] रामो निषण्णं पितरं शुभे ।
कैकेयीसहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

अन्तःपुर में जा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, महाराज दशरथ दीनभाव से कैकेयी सहित पलङ्ग पर बैठे हैं और उनके मुख का रंग फीका पड़ गया है ॥ १ ॥

---

१ आसने—पर्यङ्के । (गो०)

स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत् ।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥

उन्होंने जाते ही पहले बड़े विनीतभाव से पिता के चरणों में माथा नवाया और फिर माता कैकेयी को बड़ी सावधानी से प्रणाम किया ॥ २ ॥

रामेत्युक्त्वा च वचनं वाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र को देख महाराज दशरथ केवल "राम" ही कह सके। क्योंकि फिर दुःखी महाराज के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी और उनका कण्ठ गद्गद् हो गया। फिर वे न तो कुछ देख ही सके और न कुछ बोल ही सके ॥ ३ ॥

तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम् ।
रामोऽपि भयमापन्नः पदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार सर्प को पैर से छूने पर मन में भय का सञ्चार हो जाता है, उसी प्रकार पिता की भयावह दशा देख, श्रीरामचन्द्र जी के मन में भय का सञ्चार हुआ ॥ ४ ॥

इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसन्तापकर्शितम् ।
निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥

उस समय महाराज की सारी इन्द्रियां विकल थीं, वे शोक सन्ताप से क्लेशित हो रहे थे और मानसिक विकलता और विथा के कारण वारंवार दीर्घ निश्वास छोड़ रहे थे ॥ ५ ॥

---

१ अचिन्त्यकल्पं—असम्भावितम् । (गो०)

ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम् ।
उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥ ६ ॥

प्रकृति से ही क्षोभ को न पाने वाले, किन्तु समय के फेर से लहरों से क्षुब्ध सागर की, राहु से ग्रस्त सूर्य की, मिथ्या भाषण से ऋषि की जो दशा होती है, वही दशा उस समय महाराज दशरथ की थी ॥ ६ ॥

अचिन्त्यकल्पं[1] हि पितुस्तं शोकमुपधारयन् ।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥

अपने पिता की ऐसी असम्भावित दशा देख और उनके शोक का कारण न जान कर, श्रीरामचन्द्र जी के मन में वैसी ही खलबली मची जैसी कि, पूर्णमासी के दिन समुद्र में मचती है ॥ ७ ॥

चिन्तयामास च तदा रामः पितृहिते रतः ।
किं स्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥

पिता को सदा भलाई चाहने वाले श्रीरामचन्द्र, मन ही मन सोचने लगे कि, क्या कारण है जो, आज पिता मुझे देख कर दुःखी हो रहे हैं ॥ ८ ॥

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति ।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

और दिन तो पिता जी क्रुद्ध होने पर भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाया करते थे, किन्तु आज मुझे देख कर, उन्हें क्यों कष्ट हो रहा है ॥ ९ ॥

---

१ अचिन्त्यकल्पं—असम्भावितम् । (गो०)

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः ।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

वे क्यों दीनों की तरह शोक से आर्त, उदास और हीनद्युति हो रहे हैं। (इस प्रकार सोचते हुए जब स्वयं इसका कारण निश्चित न कर सके तब) कैकेयी को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥१०॥

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता ।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वं चैवैनं प्रसादय ॥ ११ ॥

यदि मुझसे अनजाने कोई अपराध हो गया हो, जिससे कुपित हो पिता जी मुझसे नहीं बोलते तो, मेरी ओर से आपही इनको प्रसन्न कर दीजिये ॥ ११ ॥

अप्रसन्नमनाः किंतु सदा मां प्रति वत्सलः ।
विवर्णवदनो दीनो न हि मामभिभाषते ॥ १२ ॥

अप्रसन्न मन होने पर भी पिता जी की मुझ पर सदा कृपा रहती थी। किन्तु आज मैं देखता हूँ कि उनके चेहरे का रंग उतर गया है और वे दीनभाव से बैठे हैं और मुझसे बोलते भी नहीं ॥ १२ ॥

शारीरो मानसो वाऽपि कच्चिदेनं न बाधते ।
सन्तापो वाऽभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥१३॥

क्या पिता जी को कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट तो नहीं दुःखी कर रहा है? क्योंकि मनुष्य का सदा सुखी रहना दुर्लभ है ॥ १३ ॥

कच्चिन्न किञ्चिद्भरते कुमारे प्रियदर्शने ।
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम् ॥ १४ ॥

अथवा प्रियदर्शन कुमार भरत में वा महापराक्रमी शत्रुघ्न में व हमारी माताओं में अथवा मुझमें तो महाराज ने कोई बुराई नहीं देखी ॥ १४ ॥

अतोपयन्महाराजमकुर्वन्वा पितुर्वचः ।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥ १५ ॥

महाराज का कहना न मान कर, उनको असन्तुष्ट एवं कुपित कर, मैं एक मुहूर्त भी जीना नहीं चाहता ॥ १५ ॥

यतोमूलं नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मनः ।
कथं तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ १६ ॥

क्योंकि जिन पिता माता से मनुष्य की उत्पत्ति होती है, उन प्रत्यक्ष देवताओं की आज्ञा क्यों न मानी जाय ॥ १६ ॥

कच्चित्ते परुषं किञ्चिदभिमानात्पिता मम ।
उक्तो भवत्या कोपेन यत्रास्य लुलितं[1] मनः ॥ १७ ॥

कहीं तुमने तो अभिमान से कोई कठोर वचन महाराज से नहीं कह दिया, जिसको सुन, क्रुद्ध होने के कारण महाराज का मन बिगड़ गया हो? ॥ १७ ॥

एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः ।
किन्निमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे ॥ १८ ॥

हे देवि! मैं जो तुझसे पूँछता हूँ, उसको मुझे तू ठीक ठीक समझा कर कह। महाराज के मन में इस अपूर्व विकार के उत्पन्न होने का कारण क्या है? ॥ १८ ॥

---

१ लुलितं—कलुषितं । (गो०)

एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना ।
उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः ॥ १९ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने कैकेयी से इस प्रकार कहा, तब वह बेहया, और अपने मतलब में चौकस कैकेयी, धृष्टतापूर्वक बोली ॥ १९ ॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किञ्चन ।
किञ्चिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नाभिभाषते ॥ २० ॥

हे राम ! न तो राजा तुम पर अप्रसन्न हैं और न उनके शरीर में कोई पीड़ा है, किन्तु इनके मन में तुम्हारे विषय में एक बात है, जिसे यह तुम्हारे डर से कहते नहीं ॥ २० ॥

प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्योपवर्तते ।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम ॥ २१ ॥

तुम इनके बड़े प्यारे हो, अतः तुमसे अप्रिय वचन कहने को इनकी वाणी नहीं खुलती, पर तुमको उसके अनुसार, जिसकी इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा कर रखी है, कार्य करना उचित है ॥ २१ ॥

एष मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च ।
स पश्चात्तप्यते राजा यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥२२॥

पहिले इन्होंने आदर पूर्वक, मुझे वर दिया था और उसके लिये अब यह गँवारों की तरह सन्ताप कर रहे हैं ॥ २२ ॥

अतिसृज्य[1] ददामीति वरं मम विशांपतिः ।
स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥ २३ ॥

---

१ अतिसृज्य—प्रतिज्ञाय । (गो०)

मैं वर दूँगा ऐसी प्रतिज्ञा कर पीछे उसका बचाव सोचना वैसा ही है जैसा कि, पानी बह जाने पर उसको रोकने के लिये बाँध बाँधना ॥ २३ ॥

धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि ।
तत्सत्यं न त्यजेद्राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥ २४ ॥

हे राम! कहीं ऐसा न हो कि, क्रुद्ध हो तुम्हारे लिये महाराज सत्य को त्याग बैठें। क्योंकि महात्माओं का कथन है कि, सत्य ही धर्म की जड़ है ॥ २४ ॥

यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥ २५ ॥

अगर तुम यह बात स्वीकार करते हो कि, महाराज उचित अथवा अनुचित जो कुछ कहें, उसे तुम करोगे, तो मैं तुम्हें सब हाल बतला दूँ ॥ २५ ॥

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते ।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥ २६ ॥

अथवा यदि महाराज तुमसे स्वयं न कहें, तो मैं इनकी ओर से जो कुछ कहूँ, उसे तुम मानो, तो मैं कहने को तैयार हूँ। क्योंकि ये तो तुमसे न कहेंगे ॥ २६ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम् ।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसन्निधौ ॥ २७ ॥

जब इस प्रकार कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त व्यथित हो, महाराज के पास बैठी हुई कैकेयी से बोले ॥ २७ ॥

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ २८ ॥

हा ! धिक्कार है ! हे देवि ! तुमको ऐसी बात कहनी उचित नहीं । मैं महाराज के कहने से, और कामों को तो कोई बात ही नहीं, अग्नि में गिरने को तैयार हूँ ॥ २८ ॥

भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चार्णवे ।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ २९ ॥

परम गुरु हितकारी महाराज पिता जी के कहने से मुझे हलाहल विष पीना और समुद्र में कूद पड़ना भी स्वीकार है ॥ २६ ॥

तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् ।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ ३० ॥

अतएव हे देवि ! जो कुछ महाराज की इच्छा हो सो तू मुझ से कह । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं उनकी आज्ञा का पालन करूँगा । माता ! यह सदा याद रख कि, राम दो प्रकार की बातें कहना नहीं जानता । अथवा राम, जो कहता है वही करता है ॥ ३० ॥

तमार्जवसमायुक्तमनार्या[1] सत्यवादिनम् ।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥ ३१ ॥

जब सत्यवादी श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसे विनययुक्त वचन कहे, तब सर्वश्रेष्ठा कैकेयी ये अत्यन्त कठोर वचन बोली ॥ ३१ ॥

पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव ।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥ ३२ ॥

---

१ अनार्या—सर्वश्रेष्ठा । (शि०)

हे रामचन्द्र ! पूर्वकाल में जब देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ था, तब उसमें महाराज बाण के लगने से घायल हुए थे। उस समय मैंने इनको रक्षा की थी। तब इन्होंने मुझे दो वर दिये थे ॥ ३२ ॥

अत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम् ।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥ ३३ ॥

उन दो में से, आज मैंने एक से तो, भरत का राज्याभिषेक और दूसरे से आज ही तुम्हारा दण्डकारण्य वन में जाना माँगा है ॥ ३३ ॥

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि ।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु ॥ ३४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! यदि तुम अपने पिता को और अपने आपको सत्यप्रतिज्ञ बनाये रखना चाहते हो तो, मैं जो कहूँ उसे सुनो ॥३४॥

सन्निदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम् ।
त्वयाऽरण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ३५ ॥

तुम्हारे पिता ने जो कुछ कहा है, उसको मान कर, तुम चौदह वर्ष के लिये वन को चले जाओ ॥ ३५ ॥

भरतस्त्वभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम् ।
त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥ ३६ ॥

और महाराज ने तुम्हारे अभिषेक के लिये जो यह समस्त सामग्री एकत्र की है, उससे भरत का राज्याभिषेक हो ॥ ३६ ॥

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ।
अभिषेकमिमं त्यक्त्वा जटाजिनधरो वस ॥ ३७ ॥

तुम इस अभिषेक को त्याग कर और जटा और मृगचर्म धारण कर, चौदह वर्ष दण्डकारण्य में वास करो ॥ ३७ ॥

भरतः कोसलपुरे प्रशास्तु वसुधामिमाम् ।
नानारत्नसमाकीर्णां सवाजिरथकुञ्जराम् ॥ ३८ ॥

और भरत जी कोसलपुर में रह कर, इस पृथिवी का, जो नाना रत्नों से और हाथी घोड़ों से परिपूर्ण है, शासन करें ॥ ३८ ॥

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः ।
शोकसंक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥ ३९ ॥

यही कारण है कि, महाराज करुणा से परिपूर्ण हैं और शोक से उनका मुख शुष्क हो रहा है और वे तुम्हारी ओर देख भी नहीं सकते ॥ ३९ ॥

एतत्कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन ।
सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥ ४० ॥

हे रघुनन्दन ! तुम महाराज का यह कहना मानो और इनकी बात को सत्य कर अर्थात् पूरी कर इनका उद्धार करो ॥ ४० ॥

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां
न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो
राजा तु पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥ ४१ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

जब कैकेयी ने ऐसे कठोर वचन कहे, तब भी उन्हें सुन कर श्रीरामचन्द्र को कुछ भी शोक न हुआ ; किन्तु महाराज (जो

पहिले ही महादुःखी थे) पुत्र के भावी कष्टों का विचार कर पुनः सन्तप्त हुए ॥ ४१ ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:※:—

एकोनविंशः सर्गः

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम् ।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र, मरण के समान पीड़ादायक कैकेयी के वचन सुन कर, ज़रा भी दुःखी न हुए और उससे बोले ॥ १ ॥

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः[1] ।
जटाजिनधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥

"बहुत अच्छा" महाराज की प्रतिज्ञा पूरी करने को मैं जटा और वल्कल वस्त्र धारण कर, अभी यहाँ से वन को जाऊँगा ॥ २ ॥

इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः ।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापुरमरिन्दमः ॥ ३ ॥

किन्तु मैं यह अवश्य जानना चाहता हूँ कि, शत्रुहन्ता दुर्धर्ष महाराज, पूर्ववत् मुझसे क्यों नहीं बोलते ; इसका कारण क्या है ॥ ३ ॥

---

१ इतः—अस्मान्नगरात् । (वि०)

मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः ।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥ ४ ॥

हे देवि ! तू रूठ मत । मैं तेरे सामने कहता हूँ कि, मैं जटा वल्कल धारण कर वन को चला जाऊँगा । तू प्रसन्न हो ॥ ४ ॥

हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।
नियुज्यमानो विस्रब्धः[1] किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥५॥

मेरा हित चाहने वाले गुरु, पिता और कृतज्ञ महाराज मुझे जो आज्ञा दें, उनकी प्रसन्नता के लिये, ऐसा कौन काम है, जिसे मैं निःशङ्क हो न करूँ ? ॥ ५ ॥

अलीकं[2] मानसं त्वेकं हृदयं दहतीव मे ।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥

मेरे मन में एक अप्रिय बात जो बुरी तरह खटक रही है, वह यह है कि, महाराज ने मुझसे भरत के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में स्वयं कुछ क्यों नहीं कहा ॥ ६ ॥

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान्धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरतायाप्रचोदितः[3] ॥ ७ ॥

महाराज की बात रहने दे, मैं तो तेरे ही कहने से प्रसन्नता पूर्वक भाई भरत को अकेला राज्य ही नहीं, बल्कि सीता, अपने प्राण, इष्ट, धन—सब कुछ दे सकता हूँ ॥ ७ ॥

---

१ विस्रब्धः—निर्विशङ्कः । (रा०) २ अलीकं—अप्रियं । (गो०)
३ अप्रचोदितः—त्वयापीतिशेषः । (माहेश्वरतीर्थो)

किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः ।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥

फिर महाराज पिता जी की तो बात ही क्या है। उनके सत्य की रक्षा के लिये और तेरा काम बनाने के लिये तो मैं कोई भी काम करने से मुँह नहीं मोड़ सकता ॥ ८ ॥

तदाश्वासय हीमं त्वं किन्त्विदं यन्महीपतिः ।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥ ९ ॥

सो तू ये सब बातें महाराज को समझा दे। मैं देखता हूँ कि, पिता जी नीची गर्दन कर बैठे हुए आँसू गिरा रहे हैं; सो क्या बात है ॥ ९ ॥

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥ १० ॥

महाराज की आज्ञा से आज ही दूत शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो, भरत जी को ननिहाल से लिवा लावें ॥ १० ॥

दण्डकारण्यमेषोऽहमितोगच्छामि सत्वरः ।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥ ११ ॥

और मैं तुरन्त इसी समय, पिता के वचन के सम्बन्ध में युक्तायुक्त विचार किये विना ही, चौदह वर्ष के लिये दण्डकारण्य में वास करने जाता हूँ ॥ ११ ॥

सा हृष्टा तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी ।
प्रस्थानं श्रद्दधाना हि त्वरयामास राघवम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन और प्रसन्न हो रानी कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र जी का वन जाना निश्चय जाना, और वन जाने के लिये वह जल्दी मचाने लगी ॥ १२ ॥

एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादुपावर्तयितुं नराः ॥ १३ ॥

और बोली कि, बहुत अच्छा, अभी दूत शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो जाते हैं और भरत को मामा के घर से लिवाये लाते हैं ॥ १३ ॥

तव त्वहं क्षमं[1] मन्ये नोत्सुकस्य[2] विलम्बनम् ।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

हे राम! तुम वन जाने को उत्सुक हो तो, वन जाने में विलम्ब करना अच्छा नहीं। अतः तुम शीघ्र वन की यात्रा करो ॥ १४ ॥

व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते ।
नैतत्किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १५ ॥

और महाराज स्वयं तुमसे वन जाने के लिये जो नहीं कह रहे हैं, सो इसका और कोई कारण नहीं. इसका कारण केवल लज्जा है। सो यह कुछ भी बात नहीं—इसका तुम ज़रा भी विचार मत करो ॥ १५ ॥

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादभित्वरन् ।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥१६॥

१ क्षमं—युक्तम्। (रा०) २ उत्सुकस्य—वनगमनोत्सुकस्य। (रा०)

हे रामचन्द्र ! जब तक तुम इस नगर से वन जाने के लिये प्रस्थान न करोगे, तब तक महाराज न स्नान करेंगे और न भोजन ही करेंगे ॥ १६ ॥

धिक्कष्टमिति निश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः ।
मूर्छितो न्यपतत्तस्मिन्पर्यङ्के हेमभूषिते ॥ १७ ॥

कैकेयी के इन वचनों को सुन महाराज हा धिक् कह और अत्यन्त शोकपीड़ित हो तथा दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए, मूर्छित हो, सोने के पलंग पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याऽभिमंचोदितः ।
कशयेवाहतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज को उठाया और कैकेयी के कथन से प्रेरित हो चाबुक से पीटे हुए घोड़े की तरह वन जाने को जल्दी करने लगे ॥ १८ ॥

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम् ।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥१९॥

यद्यपि उस दुष्टा का वह वचन अत्यन्त कठोर था ; तथापि श्रीरामचन्द्र जी को उसके उस वचन से कुछ भी कष्ट न हुआ । वे कैकेयी से बोले ॥ १६ ॥

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्ममास्थितम् ॥२०॥

हे देवि ! मैं धन के लोभ से राज्य पाने की कामना नहीं करता । मैं तो राज्य की कामना केवल कर्त्तव्यपालन के लिये करता था । मुझे तो तू केवल धर्माश्रित ऋषियों के तुल्य जान ।

अर्थात् जिस प्रकार ऋषि अपने जीवन का लक्ष्य केवल धर्मपालन समझते हैं, उसी प्रकार मेरा भी लक्ष्य इस संसार में केवल धर्म का पालन करना है ॥ २० ॥

यदत्रभवतः किञ्चिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया ।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥

यदि मैं अपने प्राण दे कर भी पिता जी का कोई हितसाधन कर सकूँ, तो समझ ले वह कार्य हुआ ही रखा है। अर्थात् पिता जी के प्रसन्न करने के लिये मैं प्राण भी दे सकता हूँ—वन जाना तो मेरे लिये कोई बड़ी बात ही नहीं है ॥ २१ ॥

न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ २२ ॥

क्योंकि, पिता की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करने से बढ़ कर, संसार में दूसरा कोई धर्माचरण है ही नहीं ॥ २२ ॥

अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम् ।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥

महाराज यदि मुझसे न भी कहेंगे, तो भी मैं तेरे ही कहने से चौदह वर्ष जनशून्य वन में वास करूँगा ॥ २३ ॥

न नूनं मयि कैकेयि किञ्चिदाशंससे गुणम् ।
यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा[1] सती ॥ २४ ॥

हे सती! मेरी अधीश्वरी हो कर भी निश्चय तू मेरे स्वभाव को न जान पायी। यदि जानती होती तो ऐसी तुच्छ बात पिता जी से न कहती ॥ २४ ॥

---

1 ईश्वरतरा—अत्यन्त नियन्त्री। (गो०)

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् ।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद्वनम् ॥ २५ ॥

अच्छा, जो हुआ सो हुआ, मेरे दण्डकारण्य वन जाने में अब इतना ही विलंब है कि, मैं जा कर माता कौशल्या से पूँछ आऊँ और सीता को समझा आऊँ ॥ २५ ॥

भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा ।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥

परन्तु तू ऐसा करना जिससे भरत अच्छी तरह राज्य करें और पिता की सेवा शुश्रूषा करें । क्योंकि पुत्र के लिये यही सनातन धर्म है ॥ २६ ॥

स रामस्य वचः श्रुत्वा भृशं दुःखहतः पिता ।
शोकादशक्नुवन्बाष्पं प्ररुरोद महास्वनम् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हुए । उनसे बोला तो कुछ गया नहीं; किन्तु शोक से अधीर हो, ढाड़ मार कर रोने लगे ॥ २७ ॥

वन्दित्वा चरणौ रामो विसंज्ञस्य पितुस्तदा ।
कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात[1] महाद्युतिः ॥ २८ ॥

तब महाद्युतिमान श्रीरामचन्द्र जी ने मूर्छित पिता के व दुष्टा कैकेयी के चरणों में प्रणाम किया और वहाँ से चल दिये ॥ २८ ॥

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् ।
निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥ २९ ॥

---

१ निष्पपात—निर्जगाम । (गो०)

(चलने के पूर्व) श्रीरामचन्द्र जी ने उन दोनों की परिक्रमा भी की और तदनन्तर अन्तःपुर से बाहिर निकल, अपने इष्टमित्रों को देखा ॥ २९ ॥

तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनु जगाम ह ।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र के पीछे पीछे नेत्रों में आँसू भरे और अत्यन्त क्रुद्ध सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी भी चले ॥ ३० ॥

[नोट—टीकाकारों का मत है कि, लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के साथ अन्तःपुर में गये थे और शयनागार के बाहिर खड़े रह कर, उन्होंने वे सब बातें सुनीं थीं, जो वहाँ कैकेयी और श्रीरामचन्द्र के बीच हुई थीं। मूल में इसका उल्लेख कहीं भी नहीं है तो भी उक्त श्लोक से यह बात सिद्ध है ।]

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् ।
शनैर्जगाम सापेक्षो[1] दृष्टिं[2] तत्राविचालयन् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अभिषेक की सामग्री की प्रदक्षिणा की और प्रार्थना की कि, इससे भरत जी का अभिषेक हो तथा उसकी ओर से अपनी निरपेक्षता प्रकट करने को पुनः उसकी ओर न देख, वे वहाँ से धीरे धीरे रवाना हुए ॥ ३१ ॥

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति ।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षपा ॥ ३२ ॥

राज्याभिषेक न होने से श्रीरामचन्द्र की मुखद्युति में तिल भर भी अन्तर न पड़ा । वह जैसे पूर्व थे वैसे ही कान्तिमान बने

१ सापेक्षः—भरतस्यानेनाभिषेकोऽस्त्विति प्रार्थनासहितः । (गो०)
२ दृष्टिं तत्राविचालयन्—स्वयंतत्रनिरपेक्ष इत्यर्थः । (गो०)

रहे। क्योंकि उनमें तो स्वाभाविक कान्ति थी। जैसे कृष्णपत्त के चन्द्रमा की कान्ति, नित्य क्षीण होने पर भी, नहीं घटती ॥ ३२ ॥

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव[1] लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ ३३ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी अखिल पृथिवी का राज्य छोड़ कर, वन जा रहे थे, तथापि महायोगीश्वर की तरह, उनके मन में किसी प्रकार का विकार किसी को न देख पड़ा ॥ ३३ ॥

प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलङ्कृते ।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस शुभ छत्र और बढ़िया चँवर को वहीं छोड़ दिया। फिर रथ को तथा अपने इष्टमित्रों, पुरवासियों एवं बाहिर के लोगों को भी वहीं से विदा कर ॥ ३४ ॥

धारयन्मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च ।
प्रविवेशात्मवान्वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥ ३५ ॥

और उनके दुःख को अपने मन में रख और अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर, वह अप्रिय संवाद सुनाने के लिये, अपनी माता के घर में गये ॥ ३५ ॥

सर्वो ह्यभिजनः श्रीमाञ्[2]श्रीमतःसत्यवादिनः ।
नालक्षयत रामस्य किञ्चिदाकारमानने ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के समीपस्थ लोगों ने भी, सत्यवादी श्रीरामचन्द्र के उस शारीरिक शृङ्गार में जो उन्होंने अभिषेकार्थ किया

---

१ सर्वलोकातिगस्य—तुल्यमानावमानस्य परम योगीश्वरस्येत्यर्थः । (गो०) २ श्रीमान्—रामाभिषेकार्थं कृतालङ्कारः । (गो०)

था, कुछ भी अन्तर न पाया और न उनके मन ही में किसी प्रकार की उदासी देख पड़ी ॥ ३६ ॥

उचितं[1] च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान् ।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार शरद्कालीन चन्द्रमा अपनी प्रभा को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार महाबाहु श्रीरामचन्द्र ने अपने स्वाभाविक हर्ष को न छोड़ा ॥ ३७ ॥

वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम् ।
मातुः समीपं धर्मात्मा* प्रविवेश महायशाः ॥ ३८ ॥

जो लोग इधर उधर खड़े थे, उन सब का मधुरवाणी से सत्कार कर, महायशस्वी धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी माता कौशल्या के पास पहुँचे ॥ ३८ ॥

तं गुणैः[2] समतां[3] प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः ।
सौमित्रिरनुवव्राज धारयन्दुःखमात्मजम् ॥ ३९ ॥

महापराक्रमी लक्ष्मण जी भी, जो श्रीरामचन्द्र के सुख दुःख में उनके समान ही सुखी दुःखी होने वाले थे, भाई के दुःख को अपने मन में रखे हुए, उनके पीछे पीछे गये ॥ ३९ ॥

प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदाऽन्वितं
समीक्ष्य तां चार्थविपत्ति[4]मागताम् ।

---

१ उचितं—सहजं । (गो०) २ गुणैः—सुखदुःखादिभिः । (गो०) ३ समतां प्राप्तः—समान सुख दुःख । (गो०) ४ अर्थविपत्तिं—अर्थनाशं । (गो०) * पाठान्तरे "धीरात्मा ।"

न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां
सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया[1] ॥ ४० ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

अपनी माता के अर्थ और अपने सुहृद्जनों के प्राण के नाश की आशङ्का उपस्थित होने पर भी, श्रीरामचन्द्र के मन में ज़रा भी विकार उत्पन्न न हुआ। वे अत्यन्त प्रसन्न होते हुए, अपनी माता के घर पहुँचे ॥ ४० ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

विंशः सर्गः

—:※:—

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दो महाञ्जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥ १ ॥

पुरुषव्याघ्र श्रीरामचन्द्र जी को विदा माँगने के लिये हाथ जोड़े हुए, महाराज के अन्तःपुर से बाहिर आते देख, रनवास की स्त्रियों में हाहाकार मच गया ॥ १ ॥

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च।
गतिर्यः शरणं चापि स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ २ ॥

वे रो रो कर कहने लगीं, जो श्रीरामचन्द्र पिता की प्रेरणा हुए विना ही दास दासियों समेत सब अन्तःपुरवासियों की सब

1 आत्मविपत्तिशङ्कया—प्राणनाशशङ्कया। (गो०)

अभिलाषाएँ पूरी कर दिया करते हैं और जो हम लोगों के एक मात्र अवलंब हैं—वे ही श्रीरामचन्द्र आज वन जा रहे हैं ॥ २ ॥

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा ।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥

जो श्रीरामचन्द्र, जन्म ही से अपनी जननी कौशल्या की तरह हम सब को मानते चले आते हैं ॥ ३ ॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।
क्रुद्धान्प्रसादयन्सर्वान्स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ ४ ॥

और जो कठोर वचन कहने पर भी कभी कुपित नहीं होते और न स्वयं किसी को कुपित करते हैं, प्रत्युत कुपित को भी प्रसन्न कर लिया करते हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र आज वन जा रहे हैं ॥ ४ ॥

अबुद्धिर्वत नो राजा जीवलोकं चरत्यम्[1] ।
यो गतिं सर्वलोकानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥

जो सब प्राणियों के एक मात्र सहारे हैं, उन्हीं श्रीरामचन्द्र को वनवास दे, महाराज एक अनाड़ी की तरह प्रजा का नाश करने पर उतारू हैं ॥ ५ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
पतिमाचुक्रुशुश्चैव सस्वरं चापि चुक्रुशुः ॥ ६ ॥

इस प्रकार वे सब अन्तःपुरवासिनी महाराज दशरथ की रानियाँ वत्सरहित गौ की तरह, पति की निन्दा करती हुई उच्च-स्वर से रोने लगीं ॥ ६ ॥

---

१ चरति—भक्षयति, नाशयतीति । (गो०)

स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः श्रुत्वा व्यालीयता[1]सने ॥ ७ ॥

उस समय महाराज दशरथ, जो पहले ही पुत्रशोक से सन्तप्त हो रहे थे, रानियों के आर्तनाद को सुन लज्जा और दुःख के मारे पलंग पर गिर पड़े ॥ ७ ॥

रामस्तु भृशमायस्तो निश्वसन्निव कुञ्जरः ।
जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥ ८ ॥

उधर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्र जी स्वजनों को इस प्रकार दुःख देख और स्वयं दुःखी हो, हाथी की तरह फुँसकार मारते, लक्ष्मण सहित माता के भवन में पहुँचे ॥ ८ ॥

सोऽपश्यत्पुरुषं[2] तत्र वृद्धं परमपूजितम् ।
उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान्बहून् ॥ ९ ॥

उन्होंने पहिली ड्योढ़ी पर बैठे हुए आदरणीय वृद्ध द्वारपालाध्यक्ष को तथा उसके नीचे काम करने वाले अनेक और लोगों को भी वहाँ देखा ॥ ९ ॥

दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे सहसोत्थिताः ।
जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥ १० ॥

वे सब के सब श्रीरामचन्द्र जी को देख उठ खड़े हुए और जयजयकार कर उनको आशीर्वाद दिया ॥ १० ॥

---

१ व्यालीयत—लज्जा-दुःखभरेणशय्यायां विलीनोभूत् । (गो०)
२ पुरुष—द्वारपालाध्यक्षम् । (गो०)

प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः ।
ब्राह्मणान्वेदसम्पन्नान्वृद्धान्राज्ञाभिसत्कृतान् ॥ ११ ॥

पहली ड्योढ़ी पार कर श्रीरामचन्द्र जी दूसरी ड्योढ़ी पर पहुँचे और वहां पर उन्होंने उन वृद्ध ब्राह्मणों को देखा, जो वेदविद्या जानने वाले होने के कारण राजसम्मानित थे ॥ ११ ॥

प्रणम्य रामस्तान्वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः ।
स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च द्वाररक्षणतत्पराः ॥ १२ ॥

उन वृद्ध ब्राह्मणों को प्रणाम कर श्रीरामचन्द्र जी तीसरी ड्योढ़ी पर पहुँचे । तीसरी ड्योढ़ी पर देखा कि स्त्रियां, बूढ़े लोग और बालक पहरा दे रहे हैं ॥ १२ ॥

वर्धयित्वा[1] प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः ।
न्यवेदयन्त त्वरिता राममातुः प्रियं तदा ॥ १३ ॥

वहां की स्त्रियों ने आशीर्वाद दिया और प्रसन्न हो तुरन्त भीतर जा कौशल्या जी को श्रीरामचन्द्र जी के आने का आनन्ददायी संवाद सुनाया ॥ १३ ॥

कौसल्याऽपि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता ।
प्रभाते त्वकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥ १४ ॥

उस समय महारानी कौशल्या जी, रात्रि भर नियम पूर्वक रह, पुत्र की हितकामना से विष्णु भगवान् का पूजन कर रही थीं ॥ १४ ॥

---

१ वर्धयित्वा—जयाशिषेतिशेषः । (गो०)

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति[1] स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला॥ १५॥

और वे रेशमी साड़ी पहिन, मङ्गलाचार पूर्वक हर्षित हो मंत्रों से हवन करवा रही थीं॥ १५॥

प्रविश्य च तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम्।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्॥ १६॥

उसी समय श्रीरामचन्द्र जी माता के पास पहुँच गये और उन्होंने देखा कि, वे हवन करवा रही हैं॥ १६॥

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत्समुद्यतम्।
दध्यक्षतं घृतं चैव मोदकान्हविषस्तथा॥ १७॥

श्रीरामचन्द्र जी ने यह भी देखा कि, देवताओं की पूजा के लिये दही, चावल, घी, लड्डू, खीर तैयार हैं॥ १७॥

लाजान्माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं[2] तथा।
समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः॥ १८॥

और वहाँ लावा, सफेद पुष्पों की माला, तिल, चावल, (तिल और जौ की) खिचड़ी, खीर, समिधा और जल से भरे कलश रखे हैं॥ १८॥

तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम्।
तर्पयन्तीं[3] ददर्शाद्भिर्देवतां देववर्णिनीम्॥ १९॥

---

१ जुहोति—हावयति। अतएव "हावयन्ती" मितिवक्ष्यति। (गो०)
२ कृसरं—तिलोदनं। (गो०) ३ तर्पयन्तीं—प्रीणयन्तीं। (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी ने सफेद वस्त्र पहिने हुए और बहुत दिनों से व्रत करने के कारण कृश शरीर, देवताओं को प्रसन्न करती हुई तथा गौराङ्गी कौशल्या को देखा ॥ १९ ॥

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम् ।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥ २० ॥

वे बहुत देर बाद, पुत्र को अपने घर में आते देखते ही, छोटे बच्चे वाली घोड़ी की तरह प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी की ओर चली आयीं ॥ २० ॥

स मातरमभिक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः ॥ २१ ॥
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामुपाघ्रातश्च मूर्धनि ।
तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जब उनको प्रणाम किया तब उन्होंने उनके दोनों हाथ पकड़, उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और सिर सूँघा। तदनन्तर वे अपने दुराधर्ष पुत्र श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ २१ ॥ २२ ॥

कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ।
वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम् ॥ २३ ॥

कौशल्या ने पुत्रवत्सलता से प्रेरित हो, यह प्यारा और हितकर वचन कहा। हे बेटा! तुम धर्मात्मा, वृद्ध, महात्मा राजर्षियों के समान ॥ २३ ॥

प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चोपहितं कुले ।
सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव ॥ २४ ॥

कुलोचित आयु, कीर्ति को प्राप्त हो और कुलोचित धर्म (कर्त्तव्य) पालन में सदा निरत रहो। हे राघव! तुम अब सत्य-प्रतिज्ञ महाराज के (जा कर) दर्शन करो॥ २४॥

अद्यैव हि त्वां धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति।
दत्तमासनमालभ्य[1] भोजनेन निमन्त्रितः॥ २५॥

क्योंकि वे तुम्हारा आज यौवराज्यपद पर अभिषेक करेंगे। बैठ कर भोजन करने के लिये जब कौशल्या जी ने आसन दिया, तब उसे छू कर॥ २५॥

मातरं राघवः किञ्चिद्व्रीडात्प्राञ्जलिरब्रवीत्।
स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तदा नतः॥ २६॥

श्रीरामचन्द्र जी मन में सकुचाते हुए हाथ जोड़ कर बोले। श्रीरामचन्द्र जी स्वभाव ही से विनम्र थे, तिस पर इस समय तो वे और भी अधिक नम्र हो माता के गौरव की रक्षा करते हुए बोले॥ २६॥

प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे।
देवि नूनं न जानीषे महद्भयमुपस्थितम्॥ २७॥

हे देवि! मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ सो आपके पास जाने की आज्ञा माँगने आया। हे माता! निश्चय ही उपस्थित महाभय तुझे मालूम नहीं है॥ २७॥

इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च।
गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे॥ २८॥

---

1 आलभ्य—स्पृष्ट्वा। (गो०)

यह तेरे लिये, वैदेही के लिये और लक्ष्मण के लिये दुःख-दायक समय आ पहुँचा है। मैं अब दण्डकारण्य जा रहा हूँ— अतः अब इस आसन पर बैठ कर क्या करूँगा ॥ २८ ॥

विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ।
चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ॥ २९ ॥

अब तो मेरे लिये कुशासन पर बैठने का समय आ गया है। मुझे चौदह वर्ष तक घोर वन में वास करना पड़ेगा ॥ २९ ॥

मधुमूलफलैर्जीवन्हित्वा मुनिवदामिषम् ।
भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति ॥ ३० ॥

अब तो मुनिजन कथित (वर्जित) मांसादिक भोजन छोड़, मधु कन्दमूल फल आदि मेरे भोजन के पदार्थ हैं। महाराज ने भरत जी को यौवराज्य दिया है अथवा अब मुझे राजोचित राजस भोजन का परित्याग कर मुनिजनोचित कन्दमूल फल का भक्षण कर वन में रहना होगा। यौवराज्यपद महाराज अब भरत को प्रदान करेंगे ॥ ३० ॥

मां पुनर्दण्डकारण्ये विवासयति तापसम् ।
स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ॥३१॥

और मुझे तपस्वी के भेष में वन में रहने की आज्ञा दी है। अतः अब मैं चौदह वर्ष तक विजन वन में जा कर रहूँगा ॥ ३१ ॥

आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ।
सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः[1] परशुना वने ॥ ३२ ॥

---

[1] यष्टि—शाखा। (रा०)

और वहाँ जंगली कन्दमूल फल का सेवन कर अर्थात् खा कर, वास करूँगा। श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, कुल्हाड़ी से काटी हुई साल वृक्ष की डाली की तरह ॥ ३२ ॥

पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ।
तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव ॥ ३३ ॥

देवी कौशल्या अचानक भूमि पर गिर पड़ी—मानों स्वर्ग से कोई देवता गिरा हो। केले के पेड़ की तरह ज़मीन पर पड़ी, और दुःख सहने के लिये अनुपयुक्त ॥ ३३ ॥

रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ।
उपावृत्त्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम् ॥ ३४ ॥

पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ।
सा राघवमुपासीनं[1] मसुखार्ता सुखोचिता ॥ ३५ ॥

मूर्छित माता कौशल्या को श्रीरामचन्द्र जी ने झट उठा कर बैठाया। थकावट मिटाने के लिये जिस प्रकार घोड़ी ज़मीन पर लोटती है और उसके सारे शरीर में धूल लग जाती है, उसी प्रकार कौशल्या जी के शरीर में भी धूल लग गयी थी। श्रीरामचन्द्र जी ने उस धूल को अपने हाथ से पोंछा। जो कौशल्या सुख पाने के योग्य थीं, वे श्रीरामचन्द्र जी के पास बैठी हुई, दुःखित हो ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे ।
यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव ॥ ३६ ॥

---

1 उपासीनं—समीपस्थितं। (ति०)

लक्ष्मण जी के सामने श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं—हे वत्स राम! यदि तुम मेरे गर्भ से उत्पन्न न हुए होते, तो सन्ततिहीन होने की ग्लानि ही मन में रहती, किन्तु यह दुःख तो मुझे न होता ॥ ३६ ॥

न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ।
एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः ॥३७॥

यदि मैं वन्ध्या रहती, तो उस दशा में मुझे इतने दुःख न होते। क्योंकि वन्ध्या रहने पर मन में केवल एक वन्ध्या होने ही का दुःख होता ॥ ३७ ॥

अप्रजाऽस्मीति सन्तापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते ।
न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे ॥ ३८ ॥

उसे (वन्ध्या को) और दूसरा कोई दुःख नहीं होता। हे बेटा! पति के होने से सौभाग्यवती स्त्रियों को जो सुख हुआ करता है, मेरे भाग्य में वह भी नहीं रहा ॥ ३८ ॥

अपि पुत्रे तु पश्येयमिति रामास्थितं मया ।
सा बहून्य[1]मनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ॥ ३९ ॥

किन्तु मुझे यह आशा थी कि, पुत्र होने पर मुझे सुख मिलेगा, सो भी पूरी न हुई, अब तो मुझे हृदयविदीर्ण करने वाले कठोर वचन, ॥ ३९ ॥

अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां[2] वरा सती ।
अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति ॥ ४० ॥

---

१ अमनोज्ञानि—परुषाणि । (गो०) २ अवराणां—कनिष्ठानां । (गो०)

अपनी छोटी सौतों के सुनने पड़ेंगे और पटरानी होने पर भी, मुझे अनादर सहना पड़ेगा। स्त्रियों के लिये इससे बढ़ कर दुःख और कौनसा होगा? ॥ ४० ॥

मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः[1] ।
त्वयि सन्निहितेऽप्येवमहमासं निराकृता ॥ ४१ ॥

जैसा कि मेरे सामने इस समय यह अपार शोक और विलाप उपस्थित हुआ है। देखो न! तुम्हारे रहते तो मेरा अपमान होता ही था ॥ ४१ ॥

किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव मे ।
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमन्त्रिता* ॥ ४२ ॥

और जब तुम वन चले जाओगे, तब बेटा! अवश्य ही मेरा मरणा होगा। पति की प्यारी होने से, मैंने कितनी ही लाञ्छनाएँ सही हैं ॥ ४२ ॥

परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा ।
यो हि मां सेवते कश्चिदथवाप्यनुवर्तते ॥ ४३ ॥

कैकेयी की सेवा शुश्रूषा में उद्यत रहने पर भी, कैकेयी की दासी के बराबर भी तो मेरी पूँछ नहीं है। यही क्यों, मैं तो उसकी दासी से भी गयी बीती समझी जाती हूँ। इस समय जो लोग मेरे पक्ष में हैं, या मेरी सेवा करते हैं ॥ ४३ ॥

कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ।
नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि[2] तत् ॥४४॥

---

1 अनन्तक—दुष्पारः। (गो०) 2 खरवादि—परुषवचनशीलं। (गो०)

* पाठान्तरे—"असम्मता"।

वे जब देखेंगे कि, कैकेयी के पुत्र भरत युवराज हैं, तब वे मुझ से बोलेंगे तक नहीं। क्योंकि सदा क्रोधयुक्त और कठोर वचन बोलने वाली ॥ ४४ ॥

कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता[1] ।
दश सप्त च वर्षाणि तव जातस्य[2] राघव ॥ ४५ ॥

कैकेयी का मुख मैं विपत की मारी देख सकूँगी। हे राम! यज्ञोपवीत हो चुकने के समय से आज १७ वर्ष बीते ॥ ४५ ॥

आसितानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम् ।
तदक्षयंमहद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरम् ॥ ४६ ॥

मैं इतने दिनों से यही आशा लगाये थी कि, जब तुम राजगद्दी पर बैठोगे, तब मेरे दुःखों का अन्त होगा, किन्तु वह न हो कर अब मुझे अपार दुःखों का सामना करना पड़ेगा। अब मैं इस अक्षय्य दुःखों को बहुत दिनों तक न सह सकूँगी ॥ ४६ ॥

विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव ।
अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम् ॥ ४७ ॥

कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविकाम् ।
उपवासैश्च योगैश्च[3] बहुभिश्च परिश्रमैः[4] ।
दुःखं संवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया ॥ ४८ ॥

---

१ दुर्गता—दुर्दशामापन्ना । (रा०) २ जातस्य—उपनयनंकृतंतदनन्तरसप्तदशवर्षाणिजातानि । (वि०) ३ योगैः—देवताध्यानैः । (गो०) ४ परिश्रमैः—व्रतैः (गो०) ।

इस लिये कि भाई को राज्य नहीं मिला और हर्षित इस लिये कि धर्म का मर्म भाई ने समझा दिया) ॥ १ ॥

तदा तु बद्ध्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः ।
निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥

परन्तु कुछ ही देर बाद भौंहें टेढ़ी कर मारे क्रोध के बिल में बैठे हुए क्रुद्ध सर्प की तरह वे नरश्रेष्ठ (लक्ष्मण) दीर्घ निःश्वास त्यागने लगे ॥ २ ॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्षं तद्भ्रुकुटीसहितं तदा ।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥

उस समय भौंहें टेढ़ी करने से उनका मुख, क्रुद्ध सिंह की तरह भयानक हो गया ॥ ३ ॥

अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्तिहस्तमिवात्मनः ।
तिर्यगूर्ध्वं[1] शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥

हाथी जिस प्रकार अपनी सूँड़ इधर उधर घुमाता है, उसी प्रकार लक्ष्मण जी अपने हाथ कँपा और मारे क्रोध के अपना सिर धुन कर ॥ ४ ॥

अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् ।
अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥

और तिरछी नज़र से भाई को देख कर बोले—हे भाई! बुरे समय में तुमको यह बड़ा भ्रम हो गया है ॥ ५ ॥

धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया ।
कथं ह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

---

१ तिर्यगित्यादि—क्रोधातिशयेन विविधं शिरो धूननं कृत्वा । (रा०)

अवश्य ही मेरा हृदय लोहे जैसा कठोर है, जो ऐसा दुःख पड़ने पर भी नहीं फटता और न पृथिवी ही फटती है, जिससे मैं उसमें समा जाऊँ। इससे ज्ञात पड़ता है कि, विना मरने का समय आये, कोई मरना भी चाहे, तो मर नहीं सकता ॥ ५१ ॥

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि ।
तपश्च तप्तं यदपत्यकारणा-
त्सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे ॥ ५२ ॥

मेरे अनुष्ठित व्रत, दान, संयम और तपस्या—जो मैंने सन्तान के मङ्गल के लिये की थी—उसी प्रकार निष्फल हो गयी, जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोये हुए बीज व्यर्थ जाते हैं ॥ ५२ ॥

यदि ह्यकाले मरणं स्वयेच्छया
लभेत कश्चिद्गुरुदुःखकर्शितः ।
गताऽहमद्यैव परेतसंसदं[1]
विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ॥ ५३ ॥

महादुःख पड़ने पर यदि मुँहमाँगी मौत मिल जाती, तो मैं तुम्हारे वियोग में विना बछड़े की गौ की तरह—अपने प्राण दे कर, यमराज के घर पहुँच गयी होती ॥ ५३ ॥

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः
सुदुर्बला वत्समिवानुकाङ्क्षया ॥ ५४ ॥

---

1 परेतसंसदं—यमसभाम्। (रा०)

हे चन्द्रमुख बेटा ! अब तो मेरा जीना ही वृथा है। जिस प्रकार दुर्बल गौ अपने बछड़े के साथ जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ वन चलूँगी ॥ ५४ ॥

भृशमसुखममर्षिता[1] तदा
बहु विललाप समीक्ष्य राघवम् ।
व्यसनमुपनिशाम्य[2] सा मह-
त्सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किन्नरी ॥ ५५ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

महान् दुःख सहने में असमर्थ, रामजननी कौशल्या, श्रीराम को सत्य के बंधन में बँधा हुआ देख और अपने को अभागिनी जान, वैसे ही विलाप करने लगी, जैसे अपने पुत्र को बँधा देख, किन्नरी विलाप करती है ॥ ५५ ॥

अयोध्याकाण्ड का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

एकविंशः सर्गः

—:o:—

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम् ।
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई कौशल्या जी से, लक्ष्मण जी दुःखी हो, समयोचित वचन बोले ॥ १ ॥

---

१ अमर्षिता—सोढुं अशक्ता। (गो०) २ उपनिशाम्य—आलोच्य। (गो०)

न रोचते ममाप्येतदार्ये यद्राघवो वनम् ।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत्स्त्रिया वाक्यवशं गतः ॥२॥

हे माता! मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती कि, स्त्री के वशवर्ती महाराज के कहने से, राजलक्ष्मी को छोड़, श्रीरामचन्द्र जी वन में चले जांय ॥ २ ॥

विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः ।
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः ॥ ३ ॥

अति वृद्ध होने के कारण उनकी बुद्धि बिगड़ गयी है, और इस बुढ़ापे में भी वे विषयवासना में ऐसे फँसे हैं, जिसका कुछ ठीकठौर नहीं। वे काम के वशीभूत हो जो न कहें सो थोड़ा है ॥ ३ ॥

नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम् ।
येन निर्वास्यते राष्ट्राद्वनवासाय राघवः ॥ ४ ॥

मुझे तो श्रीरामचन्द्र का कोई अपराध या दोष ऐसा नहीं देख पड़ता, जिसके कारण वे राज्य से वहिष्कृत किये जाने योग्य समझे जायँ ॥ ४ ॥

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः ।
स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुदाहरेत् ॥ ५ ॥

ऐसा कोई मित्र या शत्रु भी मुझे नहीं देख पड़ता, जो पीछे भी श्रीरामचन्द्र जी को दोषयुक्त बतला सके ॥ ५ ॥

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम् ।
अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत्पुत्रमकारणात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार के देवतुल्य, सीधे, संयमी और शत्रुओं पर भी कृपा करने वाले, पुत्र को पा कर, अकारण कौन धर्मात्मा पिता त्यागेगा ॥ ६ ॥

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः ।
पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्त[1]मनुस्मरन् ॥ ७ ॥

ऐसी लड़कबुद्धि रखने वाले राजा का कहना, राजनीति जानने वाला कोई भी पुत्र कभी न मानेगा ॥ ७ ॥

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः ।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् ॥ ८ ॥

[तदनन्तर लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी को सम्बोधन कर यह कहा ।]

हे भाई ! लोगों में इस अफवाह फैलने के पूर्व ही आप इस राज्य को अपने अधीन कर लें । मैं इस काम में आपको सहायता दूँगा ॥ ८ ॥

मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव ।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः ॥ ९ ॥

हे राघव ! जब कि मैं काल की तरह हाथ में धनुष लिये आपकी रक्षा करता हुआ आपके निकट खड़ा हूँ, तब किस की मजाल है, जो आँख उठा कर भी आपकी ओर देख सके ॥ ९ ॥

निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये ॥१०॥

---

1 राजवृत्तं—राजनीतिम् । (गो०)

फिर एक दो की तो बिसात ही क्या, यदि सारे के सारे अयोध्यावासी मिल कर भी इस कार्य में विघ्न डालें, तो मैं अपने तीक्ष्ण बाणों से इस अयोध्या को मनुष्यशून्य कर दूँगा ॥ १० ॥

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वाऽस्य हितमिच्छति ।
सर्वानेतान्वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥ ११ ॥

भरत के पक्षपाती या उनके हितैषी जो होंगे, उनमें से एक को भी न छोड़ूँगा—सभी को मार डालूँगा। क्योंकि जो लोग सीधे होते हैं, लोग उन्हींको दबाते हैं ॥ ११ ॥

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या स दुष्टो यदि नः पिता ।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि ॥ १२ ॥

यदि कैकेयी के उभाड़ने से हमारे दुष्ट पिता हमारे शत्रु बन जाँय, तो अवध्य होने पर भी, उनको निःशङ्क हो, मार डालना चाहिये ॥ १२ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥ १३ ॥

यदि गुरु भी करने अनकरने सभी काम कर उठे और अहङ्कार वश बुरे रास्ते पर चलने लगे, तो उसको भी दण्ड देना अनुचित नहीं है ॥ १३ ॥

बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषर्षभ ।
दातुमिच्छति कैकेय्यै राज्यं स्थितमिदं तव ॥ १४ ॥

राजा किस बलबूते पर या किस हेतु से, ज्येष्ठा रानी के पुत्र के विद्यमान रहते, न्याय से तुम्हें प्राप्त यह राज्य, कैकेयी के पुत्र को दे सकते हैं ? ॥ १४ ॥

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम् ।
काऽस्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिनाशन् ॥ १५ ॥

हे शत्रुओं के मारने वाले ! आपसे या हमसे वैर कर, किस की मजाल है, जो भरत को राज्य दे सके ॥ १५ ॥

[लक्ष्मण जी पुनः कौशल्या जी से कहने लगे ।]

अनुरक्तोस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन[1] ते शपे[2] ॥ १६ ॥

हे देवि ! मैं सत्य की, धनुष की, अपने दान की तथा देवार्चनादि (करके जो पुण्य सञ्चय किया है उस) की शपथ खा कर कहता हूँ कि, मैं श्रीरामचन्द्र के सब प्रकार से अधीन हूँ। अर्थात् मेरी उनसे सच्ची प्रीति है ॥ १६ ॥

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥ १७ ॥

हे देवि ! श्रीरामचन्द्र यदि जलती हुई आग में अथवा वन में, जहाँ कहीं भी प्रवेश करेंगे, वहाँ मुझे तू पहले ही से विद्यमान देखेगी ॥ १७ ॥

हरामि वीर्याद्दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः ।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥ १८ ॥

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से अँधकार को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार आप और भाई श्रीरामचन्द्र देखते रहें, मैं आपके सारे दुखों को अपने पराक्रम से अभी नष्ट किये डालता हूँ ॥ १८ ॥

---

१ दत्तेन—दानेन । २ इष्टेन—देवार्चनादिना । (गो०)

हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् ।
कृपणं चास्थिरं बालं वृद्धभावेन गर्हितम् ॥ १९ ॥

कैकेयी के वशीभूत, वृद्ध, कृपण, चञ्चलचित्त, लड़कबुद्धि और बुढ़ाई के कारण जिनकी बुद्धि बिगड़ गयी है, उन पिता को भी मैं मार डालूँगा ॥ १९ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
उवाच रामं कौसल्या रुदन्ती शोकलालसा ॥ २० ॥

महात्मा लक्ष्मण जी की इन बातों को सुन, शोक से विकल और रोती हुई कौशल्या जी श्रीरामचन्द्र जी से बोली ॥ २० ॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया ।
यदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥ २१ ॥

हे वत्स ! तुम अपने भाई की सलाह सुन चुके । अब इसके बाद तुम्हें जो अच्छा जान पड़े सो करो ॥ २१ ॥

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम् ।
विहाय शोकसन्तप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥ २२ ॥

तुम सौत की अधर्ममूलक बात मान, मुझ शोकसन्तप्ता अपनी माता को छोड़ यहाँ से मत जाना ॥ २२ ॥

धर्मज्ञ यदि धर्मिष्ठो धर्मं चरितुमिच्छसि ।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

हे धर्मज्ञ ! यदि तुम धर्मिष्ठ हो और तुम्हें धर्माचरण ही करना है, तो यहाँ रह कर, मेरी शुश्रूषा कर के धर्माचरण करो । माता की सेवा से बढ़ कर उत्तम और कौन धर्म है ॥ २३ ॥

शुश्रूषुर्जननीं पुत्रः स्वगृहे नियतो वसन् ।
परेण तपसा युक्तः कश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥

हे वत्स ! देखो, कश्यप ऋषि को अपने घर में नियम और तपस्या युक्त रहने से और माता की सेवा करने से स्वर्गप्राप्त हुआ था ॥ २४ ॥

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् ।
त्वां नाहमनुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥ २५ ॥

जिस पूज्य भाव से महाराज तुम्हारे पूज्य हैं, उसी भाव से मैं भी तुम्हारी पूज्या हूँ । मैं तुम्हें वन जाने की अनुमति नहीं देती और कहती हूँ कि, वन मत जाओ ॥ २५ ॥

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन वा ।
त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥ २६ ॥

तुम्हारे वियोग में न तो मुझे कुछ सुख है और न मुझे जीने ही की अभिलाषा है । अतः तुम्हारे साथ तिनके खा कर रहने में भी मेरे लिये भलाई है ॥ २६ ॥

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् ।
अहं प्रायमिहासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥२७॥

यदि तुम मुझ शोक सन्तप्ता को छोड़ कर, वन चले गये, तो मैं भोजन न करूँगी और बिना भोजन किये मेरा जीना असम्भव है । अर्थात् मैं मर जाऊँगी ॥ २७ ॥

ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् ।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात्समुद्रः सरितां पतिः ॥ २८ ॥

मेरे आत्महत्या करने पर, हे पुत्र ! जिस प्रकार समुद्र को (अपनी माता का कहना न मानने से) ब्रह्महत्या का पाप लगा था और उसे नरक जाना पड़ा था उसी प्रकार मेरा कहना न मानने से तुमको भी नरक में जाना पड़ेगा। इस बात को सब लोग जानते हैं ॥ २८ ॥

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः ।
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार दीन दुखियारी माता को विलाप करते देख, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र उससे ये धर्मयुक्त वचन बोले ॥ २९ ॥

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ ३० ॥

हे देवि ! मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि, मैं पिता की आज्ञा उल्लङ्घन करूँ। अतः मैं तुझे प्रणाम कर, तुझे प्रसन्न कर और तेरी अनुमति ले, वन जाया चाहता हूँ ॥ ३० ॥

ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता व्रतचारिणा ।
गौर्हता जानता धर्मं कण्डुनापि विपश्चिता ॥ ३१ ॥

देख, कण्डु मुनि ने जो व्रतचारी थे और बड़े पण्डित थे, अधर्म कार्य जान कर भी गौ मार डाली थी, किन्तु पिता की आज्ञा रहने के कारण उनको गोहत्या नहीं लगी ॥ ३१ ॥

अस्माकं च कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः ।
खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान्वधः ॥ ३२ ॥

हमारे ही कुल में पहले ज़माने में सगर की आज्ञा से उनके साठ हज़ार पुत्रों ने, भूमि को खोदते हुए, अपनी जान गँवा दी थी ॥ ३२ ॥

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् ।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारिणा ॥ ३३ ॥

और जमदग्न्य के पुत्र परशुराम ने वन में पिता की आज्ञा से अपनी माता रेणुका का सिर फरसे से काट डाला था ॥ ३३ ॥

एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम् ।
पितुर्वचनमक्लीवं[1] करिष्यामि पितुर्हितम् ॥ ३४ ॥

हे देवि ! इन लोगों ने तथा अन्य लोगों ने भी, जो देवतुल्य थे, दृढ़ता पूर्वक अपने पिता का कहा माना । अतएव जिस काम के करने से पिता की भलाई होती देख पड़ेगी, उस काम को मैं अकातर करूँगा ॥ ३४ ॥

न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् ।
एतैरपि कृतं देवि ये मया तव कीर्तिताः ॥ ३५ ॥

हे माता ! केवल मैं ही पिता की आज्ञा मानता हूँ—सो बात नहीं है, किन्तु जिन महात्माओं के नाम मैंने लिये, वे सब लोग अपने पिता के आज्ञाकारी थे ॥ ३५ ॥

नाहं धर्ममपूर्वं[2] ते प्रतिकूलं[3] प्रवर्तये ।
पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥ ३६ ॥

---

१ अक्लीवं—अकातरम् । २ अपूर्वं—नवीनं । (शि०) ३ प्रतिकूलं—स्वकुलानुरूपम् । (शि०)

मैं न तो किसी नवीन और न अपनी वंशपरम्परा के प्रतिकूल मार्ग पर ही चल रहा हूँ, प्रत्युत मैं तो उसी मार्ग का अनुसरण कर रहा हूँ, जिस पर पूर्वज चल चुके हैं। अर्थात् जिस बात को सब लोग आज तक मानते रहे हैं, वही मैं भी मान रहा हूँ, कोई अनोखी बात नहीं मान रहा ॥ ३६ ॥

तदेतत्तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा ।
पितुर्हि वचनं कुर्वन्न कश्चिन्नाम हीयते ॥ ३७ ॥

अतएव मैं जो कर रहा हूँ, वह ऐसा काम नहीं है, जो संसार में कहीं हुआ ही न हो। अर्थात् सारे भूतल पर लोग पिता की आज्ञा मानते हैं, ऐसा कहीं नहीं होता कि, पिता की आज्ञा न मानी जाय। फिर जो पिता की आज्ञा के अनुसार काम करता है, वह कभी भी धर्मच्युत नहीं होता ॥ ३७ ॥

तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत् ।
वाक्यं वाक्यविदांश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ३८ ॥
तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् ।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥ ३९ ॥

वक्ताओं में श्रेष्ठ और धनुषधारियों में लब्धकीर्ति श्रीरामचन्द्र जी, माता से इस प्रकार कह, फिर लक्ष्मण जी से बोले। हे लक्ष्मण! मैं जानता हूँ कि, मुझमें तुम्हारा बहुत अनुराग है। मुझे तुम्हारा बल, और पराक्रम मालूम है। मैं जानता हूँ कि, तुम्हारा तेज दूसरे नहीं सह सकते ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

मम मातुर्महद्दुःखमतुलं शुभलक्षण ।
अभिप्राय[1]मविज्ञाय सत्यस्य[2] च शमस्य च ॥ ४० ॥

---

१ अभिप्रायं—रहस्यं। (गो०) २ सत्यस्य—धर्मस्य। (गो०)

हे शुभलक्षणों वाले लक्ष्मण ! मेरी माता तो धर्म और शम (आत्मसंयम) का रहस्य न जानने के कारण महाशोक से कातर हो रही है (किन्तु तुम तो सब जानते हो—अतः तुम क्यों धर्मविरुद्ध बात अपने मुँह से निकाल माता की हां में हां मिलाते हो) ॥ ४० ॥

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमेतच्च पितुर्वचनमुत्तमम्[1] ॥ ४१ ॥

(क्या तुम नहीं जानते कि,) संसार में यावत् पुरुषार्थों में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है । क्योंकि धर्म का पर्यवसायी सत्य है । मेरे पिता जी की आज्ञा धर्मानुमोदित होने के कारण, माता की आज्ञा से उत्कृष्ट है । (अतः पितृआज्ञा मेरे लिये पालनीय है—माता की नहीं) ॥ ४१ ॥

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा ।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य[2] तिष्ठता ॥ ४२ ॥

हे वीर ! पिता, माता अथवा ब्राह्मण से किसी काम के करने की प्रतिज्ञा कर के, पीछे उसे न करना, धर्मरूपी फल की इच्छा रखने वालों का कर्त्तव्य नहीं है । अर्थात् जो धर्मात्मा हैं—उन्हें प्रतिज्ञा कर के, फिर उसे न बदलना चाहिये । और जो ऐसा करते हैं, वे अधर्म करते हैं ॥ ४२ ॥

सोऽहं न शक्ष्यामि पितुर्नियोग[3]मतिवर्तितुम् ।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याऽहं प्रचोदितः ॥ ४३ ॥

---

१ उत्तमम्—मातृवचनपेक्षया उत्कृष्टं । (गो०) २ धर्ममाश्रित्यतिष्ठता—धर्मरूपफलमिच्छता । (गो०) ३ नियोगं—आज्ञां । (गो०)

सो मैं पिता की आज्ञा को उल्लङ्घन नहीं कर सकता। हे वीर! पिता जी के कहने ही से कैकेयी ने मुझे प्रेरित किया है॥ ४३॥

तदेनां विसृजानार्यां[1] क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥ ४४॥

अतएव हे लक्ष्मण! तुम इस क्षात्र-धर्म का अनुगमन करने वाली इसी लिये दुष्ट (पिता को मार कर राज्य ले लेने की) और मार काट करने का बुद्धि को (सम्मति को) त्याग दो। उग्रता त्याग कर, धर्म का आश्रय ग्रहण करो और मेरी बुद्धि के अनुसार चलो। अर्थात् संसार में सर्वत्र केवल नीति (Diplomacy) ही से काम न लेना चाहिये, किन्तु लोक परलोक का विचार कर, धर्म का भी आश्रय लेना चाहिये)॥ ४४॥

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद्भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः।
उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः॥४५॥

लक्ष्मण के बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी स्नेहपूर्वक लक्ष्मण को इस प्रकार समझा कर, तदनन्तर फिर हाथ जोड़ और सिर झुका कर, कौशल्या जी से बोले॥ ४५॥

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम्।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे॥ ४६॥

हे देवि! अब मुझे यहां से वन जाने की आज्ञा दीजिये। तुझे मेरे प्राणों की शपथ है। अब तो तू वनवास में मेरे कुशल के लिये स्वस्त्यवाचनादि आवश्यक कर्म कर॥ ४६॥

---

1 अनार्यां—दुष्टां। (गो०)

तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात्पुनरेष्याम्यहं पुरीम् ।
ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥ ४७ ॥

मैं प्रतिज्ञा पूरी कर फिर यहीं लौट आऊँगा जैसे राजर्षि ययाति स्वर्ग से भूमि पर गिर, फिर स्वर्ग को लौट गये थे ॥ ५७ ॥

शोकः[1] सन्धार्यतां[2] मातर्हृदये साधु मा शुचः ।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥ ४८ ॥

हे माता ! शोकातुर पिता जी को तू समझा बुझा कर, शान्त कर (यदि तू कहै कि मैं तो स्वयं शोकातुर हूँ—मैं भला क्या समझा सकती हूँ, तो कहते हैं ।) तू भी किसी बात का अपने मन में सोच (चिन्ता) मत कर । क्योंकि मैं पिता जी की आज्ञा के अनुसार चौदह वर्ष वनवास कर, पुनः घर लौट आऊँगा ॥ ४८ ॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया ।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४९ ॥

तुमको, मुझको, वैदेही को, लक्ष्मण को और सुमित्रा को, पिता की आज्ञानुसार ही चलना चाहिये । क्योंकि सनातन से यही शिष्टाचार चला आता है ॥ ४६ ॥

अम्ब संहृत्य सम्भारान्दुःखं हृदि निगृह्य च ।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥ ५० ॥

हे माता ! अपने मन का दुःख दूर करो और यह अभिषेक के लिये जो सामान जोड़ा है इस सब को हटा दो और मेरे वन

---

१ शोकः—शोकविशिष्टः पितेतिशेषः । (शि०) २ सन्धार्यताम्—बोध्यतामित्यर्थः । (शि०)

वास का औचित्य समझ, मेरे मत का समर्थन करो (अर्थात् जिस प्रकार धर्मतः वन जाना मैं उचित समझता हूँ—वैसे ही तू भी समझ) ॥ ५० ॥

एवद्वचस्तस्य निशम्य माता
सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च ।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी
समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥ ५१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के धर्म एवं धीरतायुक्त और कादरतारहित वचन सुन, कौशल्या जी, जो (कुछ समय के लिये) मृतकवत् हो गयी थीं, सचेत हो कुछ काल तक तो श्रीरामचन्द्र जी की ओर इकटक देखती रहीं, तदनन्तर बोलीं ॥ ५१ ॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं
गुरुः स्व[1]धर्मेण सुहृत्तया च ।
न त्वाऽनुजानामि न मां विहाय
सुदुःखितामर्हसि गन्तुमेवम् ॥ ॥ ५२ ॥

यदि तुम अपने धर्म* पर दृष्टि रख और उपकारों† का विचार कर देखो, तो तुम्हारे लिये जैसे तुम्हारे पिता पूज्य हैं, वैसी ही मैं भी हूँ। मैं कहती हूँ कि, मुझ अभागिनी को छोड़ तुम वन मत जाओ ॥ ५२ ॥

---

१ स्वस्य आत्मनः पुत्रस्येत्यर्थः । (शि०)

* अपने धर्म पर—अर्थात् पुत्रधर्म पर अथवा पिता माता के प्रति पुत्र के कर्त्तव्यों पर। † उपकारों—अर्थात् पिता माता के किये हुए उपकारों के प्रति।

किं जीवितेनेह विना त्वया मे
लोकेन वा किं स्वधया[1]ऽमृतेन[2] ।
श्रेयो मुहूर्तं तव सन्निधानं
ममेह कृत्स्नादपि जीवलोकात्[3] ॥ ५३ ॥

हे वत्स! तुम्हारे विना न तो मुझे अपने जीवन से, न इस लोक से न पितृलोक से और न स्वर्गलोक और न बड़ी कठिनता से प्राप्त जीवों के लिये परमानन्दप्रद महर्लोकादि ही से कुछ प्रयोजन है। मेरे लिये तो मुहूर्त्त भर भी तुम्हारा मेरे पास रहना ही कल्याणदायी है ॥ ५३ ॥

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो[4]
महागजोऽध्वान[5]मनुप्रविष्टः ।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेनं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥ ५४ ॥

माता का करुणायुक्त विलाप सुन, श्रीरामचन्द्र उसी प्रकार क्रोध और कुछ सन्ताप से क्षुब्ध हुए, जिस प्रकार रात्रि में हाथ में मशाल लिये हुए लोगों से मार्ग रोके जाने पर, कोई महागज अँधकार में पड़कर, क्रुद्ध और सन्तप्त हो क्षुब्ध होता है ॥ ५४ ॥

स मातरं चैव विसंज्ञकल्पा-
मार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम् ।

---

१ स्वधया—पितृलोकप्राप्तसिद्ध्या । (गो०) २ अमृतेन—स्वर्गलोकप्राप्तिसिद्धेन । (गो०) ३ जीवलोकात्—आनन्दहेतुभूतमहर्लोकाद्युपरितन लोकान्तवर्तिजीववर्गात् । (गो०) ४ अपोह्यमानः—निवार्यमाणोपि । (गो०) ५ अध्वानं—मार्गं । (गो०)

धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं
यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥ ५५ ॥

तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने, अपनी मूर्छितप्राय माता को और दुःखी एवं सन्तप्त लक्ष्मण को प्रबोध करने के लिये, ये धर्म-युक्त वचन, जो श्रीरामचन्द्र जी के ही मुख से निकलने योग्य थे, कहे ॥ ५५ ॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।
मम त्वभिप्रायमसन्निरीक्ष्य
मात्रा सहाभ्यर्दसि मां सुदुःखम् ॥ ५६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे लक्ष्मण! मुझमें तुम्हारी जैसी भक्ति है और तुम जैसे पराक्रमी हो सो मैं भली भाँति जानता हूँ। परन्तु इस समय तुम्हें मेरा अभिप्राय समझे बिना ही मुझे उत्पीड़ित करने में, माता के सहायक बने हुए हो। अर्थात तुम व्यर्थ मुझे माता के साथ कष्ट दे रहे हो ॥ ५६ ॥

धर्मार्थकामाः किल तात लोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याऽभिमता सपुत्रा ॥ ५७ ॥

हे भाई! इस संसार में धर्मफलोदय अर्थात् सुखप्राप्ति के लिये, धर्म अर्थ और काम तीन कारण हैं। निस्सन्देह इन तीनों का सम्पादन सकल धर्माचरणों से वैसे ही हो सकता, है जैसे

अकेली भार्या पति की अनुगामिनी बन कर धर्म को, प्रिया हो कर काम को और पुत्रवती हो कर, अर्थ को सम्पादन करती है ॥ ५७ ॥

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥ ५८ ॥

अतएव जिस काम के करने से ये तीनों प्राप्त न हो सकें, उसको तो छोड़ देना चाहिये और जिससे धर्म का लाभ हो, उस काम को आरम्भ करना चाहिये। क्योंकि इस संसार में जो मनुष्य केवल अर्थतत्पर होता है, उसका मित्र कोई भी नहीं होता, प्रत्युत उसके सब वैरो हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के लिये काम में तत्परता भी (किसी भी धर्मरहित कार्य में तत्परता)—सर्वथा निन्द्य है ॥ ५८ ॥

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात्प्रहर्षाद्यदि वापि कामात् ।
यद्व्यादिशेत्कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥ ५९ ॥

देखो, प्रथम तो महाराज हमारे गुरु हैं, दूसरे वे हमारे पिता हैं और तीसरे वृद्ध हैं। वे क्रुद्ध हों, प्रसन्न हों अथवा काम के वशवर्ती हो मुझे जो कुछ आज्ञा दें, उसका पालन करना मेरा धर्म है—अथवा धर्म की दृष्टि से मुझे उचित है। ऐसा कौन क्रूर स्वभाव पुत्र होगा, जो अपने पिता का कहना न माने ॥ ५९ ॥

स वै न शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-
मिमामकर्तुं सकलां यथावत् ।

स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे
देव्याश्च भर्ता स गतिः स धर्मः ॥ ६० ॥

मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि, पिता की समस्त आज्ञा को यथोचितरीत्या पूरी न कर, उसे टाल दूँ। क्योंकि वे मेरे पिता हैं, उनको मेरे ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त है और वे देवी कौशल्या के भी पति हैं। वे ही इनके लिये धर्म और वे ही इनकी गति हैं। अर्थात् जिस प्रकार पुत्र पर पिता का पूर्ण अधिकार है वैसे ही अपनी पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार है। दोनों का यह धर्म है कि, पुत्र पिता का और पत्नी अपने पति का कहना मानें ॥ ६० ॥

तस्मिन्पुनर्जीवति धर्मराजे
विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने।
देवी मया सार्धमितोपगच्छे-
त्कथं स्विदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥

फिर माता कौशल्या, ऐसे धर्मराज महाराज के जीवित रहते और राजकाज करते हुए महाराज को छोड़, विधवा स्त्री की तरह मेरे साथ कैसे चल सकती हैं ॥ ६१ ॥

सा माऽनुमन्यस्व वनं व्रजन्तं
कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि।
यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं
यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥ ६२ ॥

हे देवि! मुझे वन जाने की अनुमति दे और मेरे लिये स्वस्त्य-वाचनादि कर, जिससे मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर, वैसे ही लौट

कर यहाँ आ जाऊँ, जैसे सत्य के बल महाराज ययाति पुनः स्वर्ग को लौट गये थे ॥ ६२ ॥

यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-
न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकाले न तु देवि जीविते
वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥ ६३ ॥

मैं केवल राज्यप्राप्ति के लिये पिता की आज्ञा पालन रूपी महायश की ओर से पीठ नहीं फेर सकता अथवा अपना मुँह नहीं मोड़ सकता। हे माता! थोड़े दिनों के जीवन के लिये मैं अधर्म द्वारा, इस पृथिवी का राज्य लेना नहीं चाहता ॥ ६३ ॥

प्रसादयन्नरवृषभः स्वमातरं
पराक्रमा[1]ज्जिगमिषुरेव दण्डकान् ।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं[2]
चकार तां हृदि[3] जननीं प्रदक्षिणम् ॥ ६४ ॥

इति एकविंशः सर्ग ॥

इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने अपनी जननी को मनाया और कैकेयी की प्रेरणा से दण्डकवन में जाना चाहा। तथा लक्ष्मण जी को अपना मत समझा कर, माता की प्रदक्षिणा करने का अपने मन में सङ्कल्प किया ॥ ६४ ॥

अयोध्याकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:*:—

१ पराक्रमात्—कैकेयी प्रेरणात् । (गो०) २ दर्शनं—स्वमतं । (गो०)
३ हृदिप्रदक्षिणंचकार—प्रदक्षिणं कर्तुं सङ्कल्पितवान् । (गो०)

द्वाविंशः सर्गः

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम् ।
श्वसन्तमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, अपने वनगमन से लक्ष्मण जी को अति दुखी और उस दुःख को सहने में असमर्थ तथा कैकेयी पर क्रुद्ध हो, हाथी की तरह फुँसकारते और आँखें फाड़े देख, ॥ १ ॥

आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम् ।
उवाचेदं स धैर्येण धारयन्सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥

और उन्हें अपना प्यारा भाई और हितैषी मित्र समझ, बड़े धैर्य से अपनी चिन्ता को मन ही में रोक कर, लक्ष्मण से यह बोले ॥ २ ॥

निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम् ।
अवमानं निरस्येमं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम् ॥ ३ ॥

हे भाई ! अब तुम क्रोध और शोक को त्याग कर, धैर्य धारण करो और इस अनादर का ज़रा भी विचार न कर अथवा इस अनादर को भूल कर, प्रसन्न हो जाओ । अर्थात् कैकेयी पर क्रुद्ध मत हो, राज्य न मिलने के लिये शोक मत करो और राज्य की अप्राप्ति के अपमान को भी भूल जाओ । प्रत्युत इस बात पर प्रसन्न हो कि, मैं पिता की आज्ञा का पालन करता हूँ ॥ ३ ॥

उपक्लृप्तं हि यत्किञ्चिदभिषेकार्थमद्य मे ।
सर्वं विसर्जय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरत्ययम् ॥ ४ ॥

मेरे अभिषेक के लिये आज जो ये तैयारियां की गयी हैं, उनकी ओर ध्यान न दे कर और तुरन्त उन सब को हटा कर, जो काम करना है, उसे करो अर्थात् मेरे वनगमन की तैयारी करो ॥ ४ ॥

सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम सम्भारसम्भ्रमः ।
अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रमः ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरे अभिषेक के लिये सामग्री एकत्र करने को तुमने जिस प्रकार प्रयत्न किया था, उसी प्रकार का प्रयत्न अब अभिषेक न होने के लिये करो अथवा उसी प्रकार वन जाने की सामग्री एकत्र करने के लिये तुम प्रयत्न करो ॥ ५ ॥

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते ।
माता मे सा यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु ॥ ६ ॥

मेरी माता कैकेयी का मन मेरे अभिषेक के लिये सन्तप्त हो रहा है। अतः तुम ऐसा करो जिससे उसके मन की शङ्का दूर हो जाय (अर्थात् कैकेयी के मन में जो यह शङ्का उत्पन्न हो गयी है कि, कहीं लक्ष्मण बरजोरी श्रीरामचन्द्र को राज्य न दिला दे—सो इस शङ्का को कैकेयी के मन से दूर करने के लिये प्रयत्नवान हो।) ॥ ६ ॥

तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
मनसि प्रतिसञ्जातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! कैकेयी के मन में यह शङ्का उत्पन्न होने के कारण जो दुःख है, उसे मैं एक मुहूर्त भी न तो सह ही सकता हूँ और न देख ही सकता हूँ ॥ ७ ॥

न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन ।
मातॄणां वा पितुर्वाऽहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥ ८ ॥

क्योंकि जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने आज तक कभी भी जान-बूझ कर या अनजाने पिता माता का कोई साधारण सा भी अपराध नहीं किया ॥ ८ ॥

सत्यः सत्याभिसन्धश्च नित्यं सत्यपराक्रमः[1] ।
परलोकभयाद्भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥ ९ ॥

सदा सत्यप्रतिज्ञ और परलोक बिगड़ जाने के भय से ग्रस्त, तथा अमोघ पराक्रमी हमारे पिता महाराज दशरथ निर्भय हों। (हे लक्ष्मण ! हम तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये) ॥ ९ ॥

तस्यापि हि भवेदस्मिन्कर्मण्यप्रतिसंहृते ।
सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम् ॥ १० ॥

यदि मैं अपने अभिषेक की कामना त्याग न दूँगा, तो महाराज के मन में, अपने वरदान के पूरे होने न होने की चिन्ता से, जो सन्ताप हो रहा है, वह सन्ताप मुझे भी सन्तप्त करेगा ॥ १० ॥

अभिषेकविधानं तु तस्मात्संहृत्य लक्ष्मण ।
अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुनः ॥ ११ ॥

अतएव हे लक्ष्मण ! इस राज्याभिषेक के विधान को परित्याग कर, मैं शीघ्र ही यहाँ से वन जाना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मज ।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयिता ततः ॥ १२ ॥

क्योंकि आज मेरे वन जाने ही से कैकेयी कृतकार्य हो और अपने पुत्र भरत को बुला, सुचित्त हो, उनको राज्य दे सकेगी ॥ १२ ॥

---

१ सत्यपराक्रमः—अमोघपराक्रमः । (गो०)

मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि ।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम् ॥ १३ ॥

जब मैं चीर और मृगचर्म धारण कर और सिर पर जटा बांध, वन को चला जाऊँगा, तब ही कैकेयी के मन में प्रसन्नता होगी। अर्थात् जब तक मैं यहाँ हूँ, तब तक कैकेयी प्रसन्न नहीं हो सकती ॥ १३ ॥

बुद्धिः[1] प्रणीता[2] येनेयं मनश्च सुसमाहितम्[3] ।
तं तु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि माचिरम् ॥१४॥

जिसने मुझे वनवास की यह शिक्षा दी और वन जाने के लिये मेरा मन पोढ़ा किया, उसे मैं क्लेश देना नहीं चाहता। अतः मैं वन जाऊँगा। अब जिससे विलंब न हो सो करो ॥ १४ ॥

कृतान्तस्त्वेव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने ।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने ॥ १५ ॥

कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि[4] कथं स्यान्मम पीडने ।
यदि भावो न दैवोऽयं कृतान्त[5]विहितो भवेत् ॥१६॥

हे लक्ष्मण ! राज्य का मिलना न मिलना दैवाधीन है, इसमें किसी का कुछ वस नहीं। क्योंकि यदि दैव मेरे प्रतिकूल न होता, तो मुझे पीड़ा देने के लिये कैकेयी की बुद्धि कभी ऐसी न होती अर्थात् वह मुझे वन भेजने का दुराग्रह न करती ॥ १५ ॥ १६ ॥

---

१ इयंबुद्धिः—वनवासबुद्धिः। (गो०) २ प्रणीता—शिक्षिता। (गो०) ३ मनश्च सुसमाहितं—स्थिरीकृतं। (गो०) ४ प्रतिपत्तिः—बुद्धिः। (गो०) ५ कृतान्तः—दैवः। (गो०)

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम् ।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा ॥१७॥

हे सौम्य ! यह तो तुम जानते ही हो कि, मैंने माताओं में कभी भेददृष्टि नहीं रखी और न कैकेयी ही ने आज तक मुझमें और भरत में कुछ भी अन्तर माना ॥ १७ ॥

सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः ।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद्दैवात्समर्थये ॥ १८ ॥

किन्तु आज उसी कैकेयी ने मेरा अभिषेक रोकने और मुझे वन भेजने के लिये कैसे कैसे उग्र और बुरे वचन कहे । सो इसका कारण दैव को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं है ॥ १८ ॥

कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा ।
ब्रूयात्सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीडां भर्तृसन्निधौ ॥ १९ ॥

यदि यह बात न होती तो ऐसे सुन्दर स्वभाव वाली और गुणवती कैकेयी राजपुत्री हो कर, नीच गँवारों की तरह, पति के सामने मुझे मर्माहत करने को क्यों ऐसी बातें कहती ॥ १९ ॥

यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते ।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥२०॥

जो समझ के बाहिर हो, उसका नाम दैव अथवा भाग्य है। भाग्य की रेख को ब्रह्मा जी भी नहीं मिटा सकते । उसी दुर्निवार्य दैव ने मुझमें और कैकेयी में इतना भेदभाव उत्पन्न कर दिया ॥ २० ॥

*कश्चिद्दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान् ।
यस्य न ग्रहणं किञ्चित्कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—" कश्च "

हे लक्ष्मण ! कर्मफल भोगने के सिवाय, जिसके जानने का अन्य कोई साधन ही नहीं है, उस दैव अथवा भाग्य से लड़ने का कौन पुरुष साहस कर सकता है ॥ २१ ॥

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ[1] ।
यच्च किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २२ ॥

देखो सुख दुःख, भय क्रोध, लाभ हानि, और जीवन मरण तथा अन्य बातें जो इन्हीं के समान हैं वे सब दैव ही के कृत्य हैं। अर्थात् ये सब बातें भाग्याधीन हैं ॥ २२ ॥

["हानि लाभ जीवन मरण
जस अपजस विधि हाथ।" गो० तुलसीदास]

ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रपीडिताः ।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान्भ्रंश्यन्ते काममन्युभिः ॥ २३ ॥

बड़े बड़े कठोर तप करने वाले तपस्वी लोग भी भाग्य के द्वारा सताये जाने पर, अपने उग्र नियमों का परित्याग कर, काम और क्रोध से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

असङ्कल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते ।
निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २४ ॥

जिसे करने के लिये कभी विचार भी न किया हो और वह अचानक हो जाय और जिस काम का विचार कर करो और वह न हो, बस इसी को दैव का कर्म समझना चाहिये ॥ २४ ॥

एतया तत्त्वया[2] बुद्ध्या संस्तभ्यात्मान[3]मात्मना[4] ।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते ॥ २५ ॥

---

१ भवाभवौ—उत्पत्ति विनाशौ। (गो०) २ तत्त्वया—अबाधितया। (गो०) ३ आत्मनं—अन्तःकरणं। (गो०) ४ आत्मना—स्वयमेव। (गो०)

ऐसी अवाधित बुद्धि से अपने अन्तःकरण को निश्चल कर के, स्वयमेव अभिषेक के कार्य के स्थगित होने का, मुझे ज़रा भी पश्चात्ताप नहीं है ॥ २५ ॥

तस्मादपरितापः सन्स्त्वमप्यनुविधाय माम् ।
प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकीं क्रियाम्[1] ॥ २६ ॥

अतएव तुम भी, मेरे कहने से, सन्ताप को त्याग कर, मेरा अनुसरण करो और इस अभिषेक की सजावट को बंद करवा दो ॥ २६ ॥

एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसंभृतैः ।
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण! ये घड़े जो मेरे अभिषेक के लिये भरे हुए धरे हैं, उनसे अब मेरा तापस-व्रत-स्नान होगा ॥ २७ ॥

अथवा किं ममैतेन राजद्रव्यमतेन तु ।
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति ॥ २८ ॥

अथवा अब मुझे इन अभिषेकार्थ लाये हुए तीर्थ के जलों से भरे घड़ों से क्या काम? मैं तो अब अपने हाथ से कुएँ का जल भर कर, व्रताधिकार पूरा कर लूँगा ॥ २८ ॥

मा च लक्ष्मण सन्तापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये ।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥ २९ ॥

हे लक्ष्मण! मुझको राज्याधिकार न मिलने के लिये तुम सन्ताप मत करो। क्योंकि विवेचन करने से राज्य और अरण्य-

---

१ अभिषेचनिकींक्रियां—अलङ्करणादि। (गो०)

वास में कुछ भी अन्तर नहीं, प्रत्युत मेरे लिये तो अरण्यवास ही महाफलप्रद है। (क्योंकि राज्य करने में बड़े भारी झंझटें होती हैं और वनवास में ऋषि महात्माओं के दर्शन से बड़ा पुण्य होता है) ॥ २६ ॥

न लक्ष्मणास्मिन्खलु कर्मविघ्ने
माता यवीयस्यतिशङ्कनीया।
दैवाभिपन्ना हि वदत्यनिष्टं
जनासि दैवं च तथाप्रभावम् ॥ ३० ॥

॥ इति द्वाविंशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! राज्य मिलने में विघ्न पड़ने का कारण मेरी छोटी माता कैकेयी है, ऐसी शङ्का अपने मन में तुम कभी मत करना। क्योंकि दैव के वशवर्ती हो कर ही लोग अनिष्ट बातें कह डाला करते हैं। दैव का प्रभाव तो तुमको मालूम ही है ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

त्रयोविंशः सर्गः

—:o:—

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽधःशिरा मुहुः।
श्रुत्वा मध्यं जगामेव मनसा दुःखहर्षयोः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के समझाने पर नीचे सिर झुकाये हुए लक्ष्मण जी मन ही मन दुःखी और हर्षित हुए (दुःखी तो

इस लिये कि भाई को राज्य नहीं मिला और हर्षित इस लिये कि धर्म का मर्म भाई ने समझा दिया) ॥ १ ॥

तदा तु बद्ध्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः ।
निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥

परन्तु कुछ ही देर बाद भौंहें टेढ़ी कर मारे क्रोध के बिल में बैठे हुए क्रुद्ध सर्प की तरह वे नरश्रेष्ठ (लक्ष्मण) दीर्घ निश्वास त्यागने लगे ॥ २ ॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्षं तद्भ्रुकुटीसहितं तदा ।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥

उस समय भौंहें टेढ़ी करने से उनका मुख, क्रुद्ध सिंह की तरह भयानक हो गया ॥ ३ ॥

अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्तिहस्तमिवात्मनः ।
तिर्यगूर्ध्वं[1] शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥

हाथी जिस प्रकार अपनी सूँड़ इधर उधर घुमाता है, उसी प्रकार लक्ष्मण जी अपने हाथ कँपा और मारे क्रोध के अपना सिर धुन कर ॥ ४ ॥

अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् ।
अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥

और तिरछी नज़र से भाई को देख कर बोले—हे भाई! बुरे समय में तुमको यह बड़ा भ्रम हो गया है ॥ ५ ॥

धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया ।
कथं ह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

---

१ तिर्यगूर्ध्वं—ऊर्ध्वातिर्यक् विविधं शिरः धूननं कृत्वा । (गो०)

आपका यह समझना कि, पिता की आज्ञा का पालन न करने से धर्म की हानि होगी और लोग बुरा कहेंगे अथवा आप यदि पिता की आज्ञा का पालन न करेंगे तो अन्य लोग भी ऐसा न करेंगे और सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जायगी—से आपका ऐसी शङ्का करना बड़े भ्रम की बात है। आप जैसे निर्भ्रान्त पुरुष को तो ऐसा कहना भी न चाहिये॥ ६॥

यथा दैवमशौण्डीरं शौण्डीर क्षत्रियर्षभ।
किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि॥ ७॥

आप क्षत्रियश्रेष्ठ और दैव का सामना करने में समर्थ हो कर भी, एक असमर्थ पुरुष की तरह, अशक्त और दीन हो, दैव की प्रशंसा कर रहे हैं॥ ७॥

पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते।
सन्ति धर्मोपधाः श्लक्ष्णा धर्मात्मन्किं न बुध्यसे॥८॥

क्या आपको उन पापियों के बारे में शङ्का नहीं होती। हे धर्मात्मा! क्या आपको यह नहीं मालूम कि, इस संसार में धर्म-छलिया भी अनेक लोग हैं॥ ८॥

तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात्परिजिहीर्षतोः।
यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव॥ ९॥

देखिये स्वार्थ में पड़ कर, महाराज और कैकेयी शठता पूर्वक आपको वनवास देते हैं। यदि ऐसा न होता तो, हे राघव! वे आपके अभिषेक में ऐसा विघ्न उठा कर खड़ा न कर देते। (रा०)॥ ६॥

तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद्वरः प्रकृतश्च सः ।
लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् ॥ १० ॥

यदि वर देने की बात ठीक होती तो अभिषेक की तैयारी आरम्भ होने के पूर्व ही वरदान देने की सूचना क्यों नहीं दी गयी ! यदि कहा जाय कि, महाराज ने यह काम भूल से किया है, तो भी इस भूल से बड़ी भारी हानि है। क्योंकि इससे लोगों में विद्वेष फैलेगा। फिर यह सरासर अनुचित भी है कि, बड़े के रहते छोटा राज्य पावे ॥ १० ॥

नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ।
येनेयमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते ॥ ११ ॥

अतः मैं तो यह नहीं सह सकता। हे वीर ! इसके लिये आप मुझे क्षमा करें। हे महामते ! जिस धर्म के द्वारा आपकी बुद्धि इस प्रकार की हो गयी है ॥ ११ ॥

स हि धर्मो मम द्वेष्यः प्रसङ्गाद्यस्य मुह्यसि ।
कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः ॥ १२ ॥

वह भी मुझे मान्य नहीं—क्योंकि उसीसे तो आपको मोह प्राप्त हुआ है। आप किस प्रकार सामर्थ्यवान हो कर भी, कैकेयी के वशवर्ती ॥ १२ ॥

करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ।
यद्ययं किल्बिषा[1]द्भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते ॥ १३ ॥

पिता की उस आज्ञा का, जो अधर्मयुक्त और निन्दित है, पालन करेंगे। वरदान का बहाना बतला आपके अभिषेक में बाधा डालने को, आप कपट नहीं समझते ॥ १३ ॥

---

१ किल्बिषात्—मृषावरकल्पनात्। (गो०)

जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ।

मनसाऽपि कथं कामं कुर्यास्त्वं कामवृत्तयोः ॥ १४ ॥

इसका मुझे दुःख है । मैं तो ऐसी धर्म की आसक्ति को निन्द्य समझता हूँ । क्योंकि आपको छोड़ ऐसा दूसरा कौन होगा, जो उन दोनों का, जो कामी हैं, ॥ १४ ॥

तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्र्वोः पित्रभिधानयोः ।

यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् ॥ १५ ॥

तुम्हारा सदा अहित चाहने वाले हैं और माता पिता हो कर भी शत्रुता कर रहे हैं, कहना मन से भी मानेगा । यद्यपि आपका मत है कि, उन दोनों ने जो कुछ अहित किया है, उसका कारण दैव है ॥ १५ ॥

तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ।

विक्लवो वीर्यहीनो यः सदैवमनुवर्तते ॥ १६ ॥

तथापि मुझे तो आपका यह मत अच्छा नहीं लगता । क्योंकि दैव का क्या भरोसा । कातर और वीर्यहीन पुरुष ही लोग दैव को मानते हैं ॥ १६ ॥

वीराः सम्भाविता[1]त्मानो न दैवं पर्युपासते ।

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रवाधितुम्[2] ॥ १७ ॥

किन्तु वीर और धीर दैव को नहीं मानते । जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से दैव को अपने अधीन कर सकता है ॥ १७ ॥

न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ।

द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ॥ १८ ॥

---

१ सम्भाविता—सम्यक् प्रापितः दृढयावत् । (गो०) २ प्रवाधितुम्—अतिक्रम्यवर्तितुं । (गो०)

उसका दैव न तो कुछ बिगाड़ सकता है और न वह कभी दुःखी होता है। आज लोग दैव और पुरुष के (भाग्य और पुरुषार्थ के) बल और पौरुष को देखें कि, इन दोनों में कौन प्रबल है॥ १८॥

दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता[1] व्यक्तिर्[2]भविष्यति।
अद्य मत्पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः॥ १९॥

दैव (भाग्य) बलवान है अथवा पुरुष (पुरुषार्थ) इसका विवेचन आज ही स्पष्ट प्रकट हो जायगा। आज मेरे पौरुष द्वारा मारे गये दैव को, वे लोग देखेंगे॥ १९॥

यद्दैवादाहतं[3] तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम्।
अत्यङ्कुशमिवोद्दामं[4] गजं मदबलोद्धतम्[5]॥ २०॥

जिन्होंने दैवद्वारा तुम्हारे राज्याभिषेक में विघ्न पड़ता हुआ देखा है। मैं आज उस दैव रूपी हाथी को, जो अङ्कुश को कुछ भी नहीं समझता, जिसने पैर की बेड़ियाँ तोड़ डाली हैं, और जो मद और बल से गर्वीला हो कर, ॥ २०॥

प्रधावित[6]महं दैवं पौरुषेण निवर्तये।
लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम्॥ २१॥

बेरोकटोक इधर उधर दौड़ रहा है, अपने पौरुष से निवृत्त करता हूँ। जब आपके राज्याभिषेक को समस्त लोकपाल॥ २१॥

---

१ व्यक्ता—स्फुटा। (गो०) २ व्यक्तिः—प्रबलदुर्बलविवेकः। (गो०) ३ आहतं—विघ्नतं। (गो०) ४ उद्दामं—छिन्ननिगलं। (गो०) ५ मदबलोद्धतम—मदबलाभ्यामुगर्वितम्। ६ प्रधावितं—दुर्निवरं। स्वच्छन्द गमनम्। (गो०)

न च कृत्स्ना[1]स्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ।
यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन्समर्थितः ॥ २२ ॥

और तीनों लोकों के समस्त निवासी अन्यथा नहीं कर सकते, तब अकेले पिता की क्या सामर्थ्य है, जो राज्याभिषेक न होने दें। जिन लोगों ने आपके वन जाने का समर्थन किया है, हे राजन्! ॥ २२ ॥

अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ।
अहं तदाशां छेत्स्यामि पितुस्तस्याश्च या तव ॥२३॥

अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ।
मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद्दैवबलं तथा ॥ २४ ॥

वे ही लोग चौदह वर्ष तक वन में रहेंगे। मैं उस पिता और माता की आशा पर, जो आपको राज्य न दे कर, भरत को देना चाहती है, पानी फेर दूँगा। मेरे बल के, जो लोग विरुद्ध हैं, उनको दैवबल ॥ २३ ॥ २४ ॥

प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ।
ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् ॥ २५ ॥

उतना दुःखदायी न होगा, जितना कि, मेरा उग्र पौरुष दुःख देने वाला होगा। हज़ार वर्ष राज्य कर चुकने के अनन्तर, ॥ २५ ॥

आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ।
पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासो विधीयते ॥ २६ ॥

आप वन जाना और तब आपके पुत्र राज्य करेंगे। वन ही में रहना है, तो हमारे पूर्वज राजा लोग जिस प्रकार वृद्धा-

1 कृत्स्नाः—अन्यूनाः। (गो०)

वस्था में वनवास करते थे, उस प्रकार आप भी वनवास कीजिये ॥ २६ ॥

प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परिपालने ।
स चेद्राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया ॥ २७ ॥
नैवमिच्छसि धर्मात्मन्राज्यं राम त्वमात्मनि ।
प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक् ॥२८॥

पूर्ववर्ती राजा लोग (वृद्धावस्था में) प्रजा को पुत्र के समान पालन करने का भार अपने पुत्रों को सौंप, आप वन में जा, तप किया करते थे। हे आर्य ! यदि आप यह समझते हों कि, महाराज की आज्ञा के विरुद्ध राज्य लेने से राज्य में गड़बड़ी मच जाने की शङ्का है, और इसीलिये आप राज्य लेना नहीं चाहते, तो मैं प्रतिज्ञा कर के कहता हूँ कि, मुझे वीरगति प्राप्त न हो ॥ २७ ॥ २८ ॥

राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ।
मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो[1] भव ॥ २९ ॥

मैं तुम्हारे राज्य की रक्षा उसी प्रकार करूँगा, जिस प्रकार समुद्रतट की भूमि, समुद्र से पृथिवी की रक्षा करती है। अब आप मङ्गलाचार पूर्वक अपना राज्याभिषेक करवाने की ओर मन लगाइये ॥ २९ ॥

अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ।
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे ॥ ३० ॥

मैं अकेला ही उन सब राजाओं को, जो इस कार्य में बाधा डालने को अग्रसर होंगे, अपने पराक्रम से हटाने को पर्याप्त (काफी)

---

१ व्यापृतोभव—आसक्तचित्तोभव । (गो०)

हूँ। मेरी ये दोनों वाहें शरीर की शोभा वढ़ाने के लिये नहीं हैं और न मेरा यह धनुष शरीर का शृङ्गार करने के लिये कोई आभूषण ही है॥ ३०॥

नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः[1]।
अमित्रदमनार्थं मे सर्वमेतच्चतुष्टयम्॥ ३१॥

न खड्ग केवल कमर में लटकाने के लिये है और न बाण केवल तरकस में पड़े रहने के लिये हैं। मेरी ये चारों चीज़ें तो शत्रु का दमन करने के लिये ही हैं॥ ३१॥

न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम।
असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा॥ ३२॥

जो हमारा शत्रु वन कर रहना चाहता है, उसका अस्तित्व मुझे सह्य नहीं। (राजाओं की तो वात ही क्या) मैं अपनी तेज़ धार वाली और विजली की तरह चमचमाती तलवार से॥ ३२॥

प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये।
खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे॥ ३३॥
हस्त्यश्वनरहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही।
खड्गधाराहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाद्रयः॥ ३४॥

यदि इन्द्र भी शत्रु वन कर मेरे सामने आवें, तो उनके भी टुकड़े टुकड़े कर डालूँगा। इस तलवार के वार से काटे हुए हाथी घोड़े और मनुष्यों के हाथों पैरों और सिरों से भूमि पर ढेर लगा दूँगा, जिससे आने जाने का रास्ता तक न रहेगा। अर्थात् रणभूमि को मुर्दों से भर कर वड़ा भयङ्कर वना दूँगा। मेरी तलवार से कटे प्रदीप्त पर्वत की तरह॥ ३३॥ ३४॥

---

१ स्तम्भहेतवः—तूण्यां स्थापन हेतव। (गो०)

पतिष्यन्ति द्विपा भूमौ मेघा इव सविद्युतः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने ॥ ३५ ॥

शत्रु लोग उस प्रकार ज़मीन पर गिरेंगे, जिस प्रकार बिजली सहित मेघ गिरते हैं। जब मैं गोह की खाल के बने दस्ताने पहिन हाथ में धनुष लूँगा ॥ ३५ ॥

कथं पुरुषमानी स्यात्पुरुषाणां मयि स्थिते ।
बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नेकेन* च बहूञ्जनान् ॥ ३६ ॥

तब मैं देखूँगा कि, वह कौनसा शूराभिमानी वीर है, जो मेरा सामना करता है। मैं बहुत से बाण चला कर, एक शत्रु को और एक ही बाण से अनेक शत्रुओं को ॥ ३६ ॥

विनियोक्ष्याम्यहं बाणान्नृवाजिगजमर्मसु ।
अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य[1] प्रभावः[2] प्रभविष्यति ॥ ३७ ॥
राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ।
अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च ।
वसूनां[3] च विमोक्षस्य[4] सुहृदां पालनस्य च ॥ ३८ ॥

विनाश कर, सैनिकों, घोड़ों और हाथियों के मर्मस्थानों को बाणों से छेद डालूँगा। आज महाराज की प्रभुता मिटाने और आपकी प्रभुता जमाने में मेरे अस्त्रों के महात्म्य का प्रताप भी प्रकट हो जायगा। हे राम! आज मेरी ये दोनों बाहें जो चन्दनलेप, आभूषण धारण और द्रव्य दान देने तथा शत्रुओं से हितैषियों की रक्षा करने योग्य हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

---

१ अस्त्रप्रभावस्य—अस्त्रमहात्म्यस्य। (गो०) २ प्रभावः—प्रतापः। (गो०) ३ वसूनां—धनानां। (गो०) ४ विमोक्षस्य—त्यागस्य। (गो०)

* पाठान्तरे—"श्चैकेन"।

अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः ।
अभिषेचनविघ्नस्य कर्तॄणां ते निवारणे ॥ ३९ ॥

ये आपके अभिषेक में विघ्न डालने वालों के निवारण में अपने अनुरूप काम करेंगे ॥ ३६ ॥

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशे भवे-
त्तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः ॥ ४० ॥

हे रामचन्द्र! मैं आपका दास हूँ। मुझे आप अपने शत्रु को बतलाइये और आज्ञा दीजिये, जिससे मैं अभी उसे उसके प्राण, यश और हितैषियों से अलग कर दूँ और इस पृथिवी का राज्य आपके हस्तगत हो जाय ॥ ४० ॥

विमृज्य बाष्पं परिसान्त्व्य चासकृ-
त्स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः ।
उवाच पित्र्ये वचने व्यवस्थितं
निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथे ॥ ४१ ॥

॥ इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

रघुकुल के बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण की इन बातों को सुन और उनके आँसू पोंछ बारंबार उनको समझाने लगे और कहने लगे—हे सौम्य! मुझे तो तुम, पिता की आज्ञा मानने में अटल सत्पथगामी समझो। अथवा मैं पिता की आज्ञा मानूँगा,

क्योंकि पिता की आज्ञा मानना मानों सत्पथ पर चलना है अर्थात् सत्पुरुषों के लिये यही करणीय भी है ॥ ४१ ॥

अयोध्याकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुर्विंशः सर्गः

—:※:—

तं समीक्ष्य त्ववहितं पितुर्निर्देशपालने ।
कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर जब कौशल्या जी ने देखा कि, धर्मिष्ठ श्रीरामचन्द्र पिता की आज्ञा मानने के लिये तत्पर हैं ; तब वे आँखों में आँसू भर और गद्गद कण्ठ से बोलीं ॥ १ ॥

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ।
मयि जातो दशरथात्कथमुञ्छेन वर्तयेत् ॥ २ ॥

हे राम ! जिसने कभी दुःख नहीं सहा और जो धर्म में सदा तत्पर रहने वाला एवं सब से प्रिय वचन बोलने वाला है और जो महाराज दशरथ के औरस से मेरे गर्भ में उत्पन्न हुआ है, वह वन में किस प्रकार ऋषिवृत्ति से निर्वाह कर सकेगा ॥ २ ॥

यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते ।
कथं स भोक्ष्यते नाथो वने मूलफलान्ययम् ॥ ३ ॥

जिसके नौकर चाकर मिठाई खाया करते हैं, वह मेरा, राम किस प्रकार वन में कन्दमूल फल खायगा ॥ ३ ॥

क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद्भयम् ।
गुणवान्दयितो राज्ञा राघवो यद्विवास्यते ॥ ४ ॥

महाराज दशरथ अपने गुणवान् प्यारे पुत्र को देशनिकाला दे रहे हैं, यह बात सुन कर, इस पर कौन विश्वास करेगा और इस पर किसको भय न होगा। (जो कोई यह बात सुनेगा वही अपने पिता की ओर से भयभीत हो जायगा कि, जब महाराज जैसे श्रेष्ठ जन ने अपने निरपराध गुणी प्यारे पुत्र को निकाल दिया, तब हमारे पिता तो हमें क्यों घर में रहने देंगे) ॥ ४ ॥

नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन्[1] ।
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥ ५ ॥

जब सब लोगों के प्यारे तुम (श्रीरामचन्द्र) वन को जाओगे, तब सुख दुःख के नियमन-कर्त्ता दैव ही को निस्सन्देह सब से बड़ा मानना पड़ेगा ॥ ५ ॥

अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः ।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥ ६ ॥
चिन्तावाष्पमहाधूमस्तवादर्शनचित्तजः ।
कर्शयित्वा भृशं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः ॥ ७ ॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान् ।
प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानुर्[2]हिमात्यये ॥ ८ ॥

हे वत्स ! मेरे मन की यह शोकरूपी आँच; जो तुम्हारे अदर्शन रूपी हवा से जलेगी और विलाप एवं दुःख रूपी ईंधन तथा आँसू

१ सर्वं—सुखदुःखादिकं । (रा०) २ चित्रभानुः—वन्योग्निरिव । (गो०)

रूपी घी के पड़ने से प्रज्वलित होगी और जिससे चिन्ता रूपी धूआँ निकलेगा—वह मुझे सुखा कर उसी प्रकार भस्म कर डालेगी, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु के बीतने पर, दावानल (वन की आग) वन के घासफूस और लतागुल्मों को भस्म कर डालता है ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तं नानुगच्छति ।
अहं त्वानुऽगमिष्यामि पुत्र यत्र गमिष्यसि ॥ ९ ॥

हे वत्स ! जैसे गाय अपने बछड़े के पीछे दौड़ कर जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे जहाँ कहीं तुम जाओगे—वहीं चलूँगी ॥ ९ ॥

तथा निगदितं मात्रा तद्वाक्यं पुरुषर्षभः ।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १० ॥

जब कौशल्या ने श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त दुःखिनी अपनी माता से यह कहा ॥ १० ॥

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते ।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥ ११ ॥

हे माता ! महाराज को कैकेयी ने धोखा दे कर, अत्यन्त क्लेशित कर दिया है, मैं भी इस समय महाराज से बिछुड़ कर, वन जा रहा हूँ, तिस पर यदि तुम भी मेरे साथ चल दीं तो, महाराज कभी जीवित न बचेंगे ॥ ११ ॥

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः ।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥ १२ ॥

स्त्री के लिये सब से बढ़ कर निष्ठुर काम केवल पतिपरित्याग ही है। सो ऐसे निन्द्य कार्य की कल्पना भी तुम्हें अपने मन में न करनी चाहिये ॥ १२ ॥

यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः ।
शुश्रूषा क्रियतां तावत्स हि धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥

जब तक मेरे पिता महाराज दशरथ जीवित हैं, तब तक तुम उनकी सेवा करो, तुम्हारे लिये यही सनातन धर्म है ॥ १३ ॥

एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना[1] ।
तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम् ॥ १४ ॥

बड़े से बड़े कठिन कार्य को सहज में करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार समझाने पर, धर्मबुद्धि वाली महारानी कौशल्या मान गयीं और प्रसन्न हो कर बोलीं, (बेटा !) तुम ठीक कहते हो ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतांवरः ।
भूयस्तामब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १५ ॥

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी, माता की स्वीकारोक्ति सुन, अपनी अत्यन्त दुःखिनी माता से फिर बोले ॥ १५ ॥

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः ।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १६ ॥

हे देवि ! मुझे और तुम्हें पिता की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये । क्योंकि महाराज एक तो तुम्हारे पति हैं, दूसरे मेरे गुरु हैं, तीसरे पिता हैं और चौथे सब के पालन पोषण करने वाले स्वामी और प्रभु हैं ॥ १६ ॥

---

1 शुभदर्शना—धर्मबुद्धिरित्यर्थः । (गो०)

इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च ।
वर्षाणि परमप्रीतः स्थास्यामि वचने तव ॥ १७ ॥

मैं चौदह वर्षों को हँसी खुशी में विता, तुरन्त लौट कर आता हूँ । तब तू जो कहेगी वही मैं करूँगा ॥ १७ ॥

एवमुक्त्वा प्रियं पुत्रं बाष्पपूर्णानना तदा ।
दुःखान्यसहमाना सा कौसल्या राममब्रवीत्* ॥१८॥

प्रिय पुत्र की इन बातों को सुन, झलझल बहने वाले आँसुओं से भरे नेत्रों वाली और सर्वप्रकार के दुःखों को सहने में असमर्थ, महारानी कौशल्या जी, श्रीरामचन्द्र से बोलीं ॥ १८ ॥

आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम् ।
नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीं यथा† ।
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया[1] ॥ १९ ॥

हे काकुत्स्थ ! मैं यहाँ सौतों के बीच रहने में असमर्थ हूँ, अतः यदि तुमने पिता की आज्ञा से वन जाने ही का निश्चय कर लिया है तो, मुझे भी वनैली हिरनी की तरह अपने साथ ही लेते चलो ॥१९॥

[नोट—वनैली हिरनी के साथ उपमा देने का भाव यह है कि, जिस प्रकार वन की हिरनी वन में प्रसन्न रहती है—वैसे ही मैं भी वहाँ प्रसन्न रहूँगी और तुम्हें किसी बात के लिये कष्ट न दूँगी । (गो०)]

तां तथा रुदतीं रामो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई माता से, श्रीरामचन्द्र जी रो कर, कहने लगे ॥ २० ॥

---

१ पितुरपेक्षया—पितुरिच्छया । (गो०) * पाठान्तरे—" उवाच परमार्ता तु कौसल्यां पुत्रवत्सला ।" † पाठान्तरे—"मृगीमेव" ।

जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः॥ २१॥

जब तक स्त्री जिये, तब तक उसे उचित है, कि वह अपने पति ही को अपना देवता और मालिक माने। अतः इस समय तुम्हारे और मेरे मालिक महाराज ही हैं॥ २१॥

न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः॥ २२॥

लोकनाथ और बुद्धिमान महाराज के रहते हम लोग अनाथ नहीं हो सकते (कौशल्या ने जो कहा कि मैं सौत के साथ नहीं रह सकूँगी इस बात के उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं) भरत भी धर्मात्मा हैं और सब से प्रिय बोलने वाले अर्थात् सज्जन हैं॥ २२॥

भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा।
यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः॥ २३॥

वे सब प्रकार तुम्हारा मन रखेंगे और तुम जो कहोगी वही वे करेंगे। मेरे वन जाने पर, मेरे वियोग में, जिससे महाराज को॥ २३॥

श्रमं नावाप्नुयात्किञ्चिदप्रमत्ता तथा कुरु।
दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत्॥ २४॥

ज़रा भी कष्ट न हो सो काम बड़ी सावधानी से करती रहना। इस दारुण शोक से वे मरने न पावें॥ २४॥

राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता।
व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा॥ २५॥

महाराज की अब वृद्धावस्था है, अतः बड़ी सावधानी से उनके हित में तत्पर रहना। क्योंकि जो परमोत्तम स्त्री व्रतोपवास तो किया करती है ॥ २५ ॥

भर्तारं नानुवर्तेत सा तु पापगतिर्भवेत् ।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥ २६ ॥

किन्तु अपने पति की सेवा नहीं करती, वह पापियों की गति को प्राप्त होती है अर्थात् नरक में डाली जाती है और जो स्त्री (व्रतोपवास न कर) अपने पति (ही) की सेवा शुश्रूषा में लगी रहती है, उसे स्वर्ग मिलता है ॥ २६ ॥

अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।
शुश्रूषा मेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥ २७ ॥

भले ही वह स्त्री किसी देवी देवता की पूजा न करे, किन्तु यदि वह पति की सेवा ही करती हुई, सदा पति की भलाई करने में तत्पर रहे तो, उसे निश्चय ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

एष धर्मः पुरादृष्टो[1] लोके वेदे श्रुतः[2] स्मृतः ।
अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥ २८ ॥

स्त्रियों के लिये पतिसेवा ही प्राचीन-लोकाचार-सिद्ध, वेद और और स्मृत्यानुकूल धर्म है। हे देवि! शान्तिक पौष्टिक कर्म कर के पुष्पादि से देवताओं का पूजन और ॥ २८ ॥

पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सुव्रताः ।
एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी ॥ २९ ॥

---

१ पुरादृष्टः—पुरातनालोकाचारसिद्धः । (गो०) २ वेदेश्रुतः—वेदावगत । (गो०)

सुव्रती ब्राह्मणों का सत्कार, मेरे मङ्गल के लिये करती रहना और यह अनुष्ठान करती हुई, मेरे लौटने की प्रतीक्षा करना ॥ २९ ॥

नियता[1] नियताहारा[2] भर्तुशुश्रूषणे रता।
प्राप्स्यसे परमं कामं मयि प्रत्यागते सति ॥ ३० ॥

यदि धर्मभृतांश्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम्।
एवमुक्ता तु रामेण वाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ ३१ ॥

स्नानादि कर और मधु मांसादि छोड़ कर, शुद्धाहार कर, तू महाराज की सेवा करना। मेरे लौटने तक यदि धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महाराज जीवित रहे, तो तेरा बड़ा मनोरथ पूर्ण होगा। जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार (*महाराज की सेवा करने को अयोध्या ही में रहने के लिये*) समझाया, तब आँखों में आँसू भर ॥ ३० ॥ ३१ ॥

कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत्।
गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ॥ ३२ ॥

पुत्र वियोग के शोक से आर्त, कौशल्या जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा। हे वत्स! जब तुम वन जाने की अपने मन में ठान ही चुके; तब मुझमें शक्ति नहीं कि तुम्हें ॥ ३२ ॥

विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः।
गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥ ३३ ॥

रोक सकूँ। हे वीर! सचमुच काल दुर्लंघ्य हैं। अर्थात् भावी को कोई नहीं रोक सकता। अतः हे पुत्र! तुम एकाग्र मन से

---

१ नियता—स्नानादिनियम युक्ता। (गो०) २ नियताहारा—मधुमांसादिवर्जनेन शुद्धाहारा। (गो०)

अर्थात् सावधानतापूर्वक वन जाओ । तुम्हारा सदा कल्याण हो ॥ ३३ ॥

पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा[1] ।
प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ॥ ३४ ॥

पितुरानृण्यतां प्राप्ते त्वयि लप्स्ये परं सुखम् ।
कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि ॥ ३५ ॥

तुम्हारे लौट आने पर ही मेरा क्लेश दूर होगा । हे महाभाग ! जब तुम लौट आओगे, जब तुम्हारा यह व्रत पूरा हो जायगा और जब तुम पिता के इस ऋण से उऋण हो जाओगे (पिता की आज्ञा पालन कर चुकोगे) ; तब मुझे बड़ा आनन्द होगा । इस संसार में भाग्य की गति कभी समझ नहीं पड़ती ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

यस्त्वां सञ्चोदयति मे वच आच्छिद्य राघव ।
गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः ।
नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना शुद्धेन चेतसा* ॥ ३६ ॥

क्योंकि यह भाग्य ही की गति है, जो मेरे कथन के प्रतिकूल तुमको प्रेरणा कर रही है । हे राघव ! तुम अब जाओ और कुशल पूर्वक लौट कर आ जाओ और शुद्ध चित्त से मुझे हर्षित करो ॥ ३६ ॥

अपीदानीं स कालः स्याद्वनात्प्रत्यागतं पुनः ।
यत्त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम् ॥ ३७ ॥

---

१ गतक्लमा—गतक्लेशा । (गो०) * पाठान्तरे—"वाक्येन चारुणा" ॥

हे वत्स ! मैं तो चाहती हूँ कि, वह समय शीघ्र आवे, जब मैं तुम्हें वन से लौटे हुए और जटा वल्कल धारण किये हुए देखूँ ॥ ३७ ॥

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं
समीक्ष्य देवी परमेण[1] चेतसा ।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो
बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी ॥३८॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

उस समय महारानी कौशल्या जी श्रीरामचन्द्र जी को परम आदर पूर्वक वन जाने के लिये निश्चय किये हुए जान, स्वस्तिवाचन करने की इच्छा से, उनसे शुभवचन बोलीं ॥ ३८ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

पञ्चविंशः सर्गः

—:o:—

साऽपनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि ।
चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी ॥ १ ॥

शोक को त्याग कौशल्या जी ने जल से आचमन किया और पवित्र हो, वे श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिये मङ्गलाचार करने लगीं ॥ १ ॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम ।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे ॥ २ ॥

1 परमेणचेतसा—आदरेणेति । (गो०)

हे रघुवंशियों में उत्तम ! मैं अब तुमको नहीं रोक सकती । अब तुम जाओ और शीघ्र ही वहाँ से लौट कर, सज्जनों के अनुसरण किये हुए मार्ग का अनुसरण करो ॥ २ ॥

यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च ।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥ ३ ॥

हे राघवशार्दूल ! जिस धर्म को तुम धैर्य और नियमित रूप से पाल रहे हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करे ॥ ३ ॥

येभ्यः प्रणमसे पुत्र चैत्येष्वायतनेषु च ।
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः ॥ ४ ॥

जिन देवताओं को तुम चौराहों और देवमन्दिरों में प्रणाम करते हो, वे महर्षियों सहित वन में तुम्हारी रक्षा करें ॥ ४ ॥

यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता ।
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं[1] सदा ॥ ५ ॥

बुद्धिमान विश्वामित्र जी ने तुम्हें जितने अस्त्र दिये हैं, वे सब श्रेष्ठ गुणयुक्त अस्त्र तुम्हारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा ।
सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! पिता की सेवा (के फल) से और माता की सेवा (के फल) से तथा सत्य की रक्षा (के फल) से रक्षित, तुम बहुत दिनों जीओ ॥ ६ ॥

---

१ समुदितं—श्रेष्ठं (गो०)

समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च ।
स्थण्डिलानि[1] विचित्राणि शैला वृक्षाः क्षुपा[2] ह्रदाः ॥७॥

हे नरोत्तम ! समिध, कुश, कुश की बनी पवित्री, वेदियाँ, देवमन्दिर, चित्रविचित्र देवपूजास्थल, पर्वत, छोटे बड़े वृक्ष, जलाशय ॥७॥

पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम ।
स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षयः ॥ ८ ॥

पक्षी, सर्प और सिंह तुम्हारी रक्षा करें । साध्यगण, विश्वदेव, उञ्चास पवन, सब महर्षि तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ८ ॥

स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा ।
लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा ॥ ९ ॥

धाता, विधाता, पूषा, अर्यमा, इन्द्रादि लोकपाल, तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ९ ॥

ऋतवश्चैव पक्षाश्च मासाः संवत्सराः क्षपाः ।
दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा ॥ १० ॥

छः ऋतुएँ, दोनों पक्ष, बारहों मास, सब संवत्सर, रात दिन, तथा मुहूर्त्त, तुम्हारी रक्षा करें ॥ १० ॥

स्मृति[3]र्धृ तिश्च[4] धर्मश्च[5] पातु त्वां पुत्र सर्वतः ।
स्कन्दश्च[6] भगवान्देवः[7] सोमश्च[8] सबृहस्पतिः ॥११॥

---

१ स्थाण्डिलानि—देवपूजास्थलानि । (गो०) २ क्षुपाः—ह्रस्वशाखास्तरवः । (रा०) ३ स्मृतिः—ध्यानं । (गो०) ४ धृतिः—ऐकाग्र्यं । (गो०) ५ धर्मः—श्रुतिस्मृत्युदितः । (गो०) ६ स्कन्दः—सनत्कुमारः । कुमारो वा । (गो०) ७ भगवान्देवः—देवो महादेवः । (शि०) ८ सोमः—उमासहितः । (शि०)

हे वत्स ! ध्यान, एकाग्रता (अर्थात् निष्पन्न योग) और श्रुति-स्मृति-उक्त धर्म, सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करें। भगवान् सनत्कुमार, उमा सहित श्रीमहादेव जी, (अथवा महादेव और चन्द्रमा) वृहस्पति ॥ ११ ॥

सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः ।
ये चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः ॥१२॥

सप्तर्षि, और नारद जी सदैव तुम्हारी रक्षा करें। जो और सिद्ध लोग और सब दिशाओं के स्वामी हैं ॥ १२ ॥

स्तुता मया वने तस्मिन्पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः ।
शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च ॥ १३ ॥

हे पुत्र ! उन सब की मैं स्तुति करती हूँ कि, वे सब नित्य तुम्हारी रक्षा करें। सब पर्वत, सब समुद्र, राजा वरुण ॥ १३ ॥

द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी नद्यः सर्वास्तथैव च ।
नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सहदेवताः ॥ १४ ॥

आकाश, अन्तरिक्ष, पृथिवी, सब नदी, सब नक्षत्र, देवताओं सहित सब ग्रह ॥ १४ ॥

अहोरात्रे तथा सन्ध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम् ।
ऋतवश्चैव षट् पुण्या मासाः संवत्सरास्तथा ॥१५॥

दिन रात और दोनों सन्ध्याएँ, वन में तुम्हारी रक्षा करें। छहों ऋतुएँ, बारहों मास, सब संवत्सर, ॥ १५ ॥

[नोट—१० वें श्लोक में भी छः ऋतुएँ आदि वर्णित हो चुकी हैं। इसी प्रकार आगे भी कौशल्या जी के कथन में पुनरुक्ति पायी जाती है। इन पुनरुक्तियों का कारण केवल यह है कि, भावी पुत्रवियोग के कारण कौशल्या जी का मन स्थिर नहीं है।]

कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म[1] दिशन्तु ते ।
महावने विचरतो मुनिवेषस्य धीमतः ॥ १६ ॥

कला, काष्ठा, तुमको सुख दें । बुद्धिमान् एवं मुनिवेष धारण कर, वन में विचरते हुए ॥ १६ ॥

तवादित्याश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा ।
राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ॥ १७ ॥

तुम्हारे लिये आदित्यादि देवता और दैत्य, सदा सुखदायी हों । राक्षस, पिशाच, तथा भयङ्कर एवं क्रूर कर्म करने वाले जितने जीव हैं ॥ १७ ॥

क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत्पुत्रक ते भयम् ।
प्लवगा[2] वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ॥ १८ ॥

और जितने मांस भक्षी जीव हैं, इन सब से तुम्हें वन में भय न हो । वानर, बीछी, डांस, मच्छर ॥ १८ ॥

सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन्गहने तव ।
महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः ॥१९॥

पहाड़ी सर्प, कीड़े, ये भी तुम्हें वन में दुःखदायी न हों । मतवाले हाथी, सिंह, बाघ, रीछ आदि भयङ्कर दांतों वाले जानवर ॥ १९ ॥

महिषा शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक ।
नृमांसभोजिनो रौद्रा ये चान्ये सत्त्वजातयः[3] ॥२०॥

---

१ शर्म—सुखं । (गो०) २ प्लवगाः—वानराः (गो०) ३ सत्त्वजातयः—क्रूरजन्तवः । (गो०)

जंगली भैंसे, जिनके सींग बड़े भयङ्कर हैं, हे पुत्र ! तुमसे द्रोह न करें। अन्यायी क्रूर जन्तु, जो मनुष्यमांस भक्षी और भयङ्कर हैं ॥ २० ॥

मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्विह ।
आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ॥२१॥

उन सब की मैं यहाँ अराधना करती हूँ कि, वन में वे तुम्हारी हानि न करें। तुम्हारे मार्ग मङ्गल रूप हों और तुम्हारा पराक्रम सिद्ध हो ॥ २१ ॥

[नोट—शिरोमणिटीकाकार ने "आगम" का अर्थ किया है, आगमनानुकूल व्यापार—अर्थात् वेदविहित जितने कर्म हैं वे सब मङ्गलविशिष्ट हों अर्थात् निर्विघ्न पूरे होते रहें।]

सर्वसम्पत्तये[1] राम स्वस्तिमान्गच्छ पुत्रक ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ॥२२॥

हे पुत्र ! वन के फल मूलादि, तुम्हें मिलते रहें और तुम निर्विघ्न वन में विचरते रहो। आकाश और पृथिवी के पदार्थों से वार वार तुम्हारी रक्षा हो ॥ २२ ॥

सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः[2] ।
शक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा ॥ २३ ॥

सब देवताओं से तथा उन सब से जो तुम्हारे शत्रु हों; इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, कुबेर, यम ॥ २३ ॥

---

१ सर्वसम्पत्तये—वन्य फल मूलादि सम्पत्तये। (गो०) २ परिपन्थिनः—शत्रवः (गो०)।

पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ।
अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखाच्च्युताः[1] ॥२४॥

ये सब तुमसे पूजित हो कर, दण्डकवन में तुम्हारी रक्षा करें। अग्नि, वायु, धूम और तुम्हें ऋषियों के बतलाये मंत्र ॥ २४ ॥

उपस्पर्शनकाले[2] तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ।
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतभर्ता[3] तथर्षयः ॥ २५ ॥

हे रघुनन्दन ! अछूतों के छूते समय अथवा अस्पृश्य पदार्थों को छूने के समय, तुम्हारी रक्षा करें। सब लोकों के स्वामी ब्रह्मा, प्राणिमात्र का पालन करने वाले विष्णु, ऋषि ॥ २५ ॥

ये च शेषाः सुरास्ते त्वां रक्षन्तु वनवासिनम् ।
इति माल्यैः सुरगणान्गन्धैश्चापि यशस्विनी ॥ २६ ॥

तथा अन्य देवता जो मुझसे छूट गये हों, वे सब वन में तुम्हारी रक्षा करें। इस प्रकार यशस्विनी माता कौशल्या ने फूल चन्दन से देवताओं की पूजा ॥ २६ ॥

स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायतलोचना ।
ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ॥ २७ ॥

और उनकी यथायोग्य स्तुति की। तदनन्तर अग्नि प्रज्वलित करवा विधि विधान जानने वाले महात्मा ब्राह्मण द्वारा ॥ २७ ॥

---

१ मुखाच्च्युता—निर्गताः,त्वयागृहीता। (वि०) २ उपस्पर्शनकाले—अस्पृश्यस्पर्शनसमये। (शि०) ३ भूतभर्ता—नारायण। (गो०)

° पाठान्तरे " अनुकूलाभिः "।

हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ।
घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधः श्वेतसर्षपान् ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिये विधिपूर्वक हवन करवाया। घी, सफेद फूल, समिधा और सफेद सरसों ॥ २८ ॥

उपसम्पादयामास कौसल्या परमाङ्गना ।
उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्ति[1]मनामयम्[2] ॥२९॥

आदि हवन का सामान कौशल्या जी ने एकत्र कर, वेदी के पास रख दिया। तब हवन करने वाले ब्राह्मण ने, सर्वोपद्रव शान्ति के लिये तथा श्रीरामचन्द्र जी की आरोग्यता के उद्देश्य से, हवन किया ॥ २९ ॥

हुतहव्यावशेषेण बाह्यं[3] बलिमकल्पयत् ।
मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्य द्विजांस्ततः ॥ ३० ॥

तदनन्तर हवन से बचे हुए साकल्य से होमस्थान के बाहिर स्थल पर लोकपालों को बलि दी और शहद, दही, अक्षत, घी द्वारा ब्राह्मणों से ॥ ३० ॥

वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाः ।
ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ॥ ३१ ॥

वन में, श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिये, स्वस्तिवाचन कर्म करवाया। तदनन्तर इस कर्म कराने वालों में मुख्य जो ब्राह्मण था, उसको श्रीरामचन्द्र जी की यशस्विनी माता कौशल्या जी ने ॥ ३१ ॥

---

१ शान्तिं—सर्वोपद्रव शान्तिं। (गो०) २ अनामयम्—आरोग्यं। (गो०) ३ बाह्यं—होमस्थानाद्बहिर्भवं। (गो०)

दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ।
यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ॥ ३२ ॥

मुँहमांगी दक्षिणा दी और श्रीरामचन्द्र जी से कहा। हे राम! जैसा मङ्गल सब देवताओं से नमस्कृत इन्द्र का ॥ ३२ ॥

वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताऽकल्पयत्पुरा ॥ ३३ ॥

वृत्रासुर के नाश के समय हुआ था, वैसा ही मङ्गल तुम्हारा हो। जैसा मङ्गल पूर्वकाल में विनता की प्रार्थना से गरुड़ जी का, ॥ ३३ ॥

अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ॥ ३४ ॥

जब वे अमृत लेने गये थे, हुआ था, वैसा ही मङ्गल तुम्हारा हो। समुद्र से अमृत निकालने के समय वज्रधारी इन्द्र, जब दैत्यों को मारने के लिये प्रवृत्त हुए ॥ ३४ ॥

अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ॥ ३५ ॥

तब उनकी माता अदिति ने उनका जैसा मङ्गल किया था, वैसा ही तुम्हारा भी हो। अतुल तेजधारी त्रिविक्रम भगवान का, जो तीन पाद से तीनों लोक नाप रहे थे ॥ ३५ ॥

यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ॥ ३६ ॥

जैसा मङ्गल हुआ था, हे राम! वैसा ही मङ्गल तुम्हारा हो। ऋतुएँ, समुद्र, द्वीप, वेद, लोक और दिशाएँ तुम्हारा, ॥ ३६ ॥

मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलाः।
इति पुत्रस्य शेषांश्च[1] कृत्वा शिरसि भामिनी ॥३७॥

हे महाबाहो! शुभ मङ्गल करें। इस प्रकार मङ्गलपाठ पढ़, पुत्र के मस्तक पर कौशल्या जी ने अक्षत चढ़ाये ॥ ३७ ॥

गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना।
ओषधीं चापि सिद्धार्थां[2] विशल्यकरणीं शुभाम् ॥३८॥

और फिर विशालाक्षी कौशल्या ने श्रीराम जी के मस्तक पर चन्दन लगाया और प्रत्यक्ष फल देने वाली शुभ विशल्यकरिणी* नाम की रूखरी भी रखी ॥ ३८ ॥

चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च।
उवाचातिप्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी ॥ ३९ ॥

तदनन्तर कौशल्या ने श्रीरामचन्द्र की रक्षा के लिये मंत्र जपे। यद्यपि श्रीराममाता उस समय अत्यन्त दुःखी थीं, तथापि (यात्रा के समय दुःखी होने का शास्त्रीय निषेध होने के कारण) हर्षित हो, बोलीं ॥ ३९ ॥

वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया।
आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी ॥४०॥

---

१ शेषान्—अक्षतानि। (गो०) २ सिद्धार्थां—दृष्टफलां। (गो०)

* "विशल्यकरिणी" का गुण यह है कि, इसके लगाते ही शरीर में घुसा हुआ वाण या काटा, अपने आप बाहिर निकल आता है।

किन्तु बोलते ही मारे प्रेम के उनकी वाणी गद्‌गद हो गयी। उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी को हृदय से लगा कर, उनका सिर सूँघा ॥ ४० ॥

अवदत्पुत्र सिद्धार्थो गच्छ राम यथासुखम् ।
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ४१ ॥

और बोलीं, हे बेटा! अब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ चले जाओ और तुम रोग रहित शरीर से, पिता की आज्ञा पालन कर, फिर अयोध्या को लौट आओ ॥ ४१ ॥

पश्यामि त्वां सुखं वत्स सुस्थितं[1] राजवर्त्मनि ।
प्रनष्टदुःखसङ्कल्पा[2] हर्षविद्योतितानना ॥ ४२ ॥

हे वत्स! जब तुम (वन से लौट कर) राजा होगे और मैं जब तुमको मन भर कर, देखूँगी, मुझे तभी आनन्द प्राप्त होगा। उस समय मेरे मन की सब चिन्ताएँ नष्ट हो जायँगी। मुझे प्रसन्नता होगी और मेरे मन की उमँग पूरी होगी ॥ ४२ ॥

द्रक्ष्यामि त्वां वनात्प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ।
भद्रासनगतं भद्रं वनवासादिहागतम् ॥ ४३ ॥

वन से लौट कर आये हुए और पूर्णमासी के पूर्ण चन्द्रमा की तरह उदित और भद्रासन पर बैठे हुए तुम्हारे मङ्गल रूप को देख, मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ॥ ४३ ॥

---

१ सुस्थितंराजवर्त्मनि—प्राप्तराज्यमितियावत् । (रा०) २ प्रनष्टदुःखसङ्कल्पा—सङ्कल्पःमानसंकर्म—वनेरामस्यकिंभविष्यतीति चिन्तात्मक इत्यर्थः । (गो०)

द्रक्ष्यामि *त्वामहं पुत्र तीर्णवन्तं पितुर्वचः।
मङ्गलैरुपसम्पन्नो[1] वनवासादिहागतम्॥†
वध्वा[2] मम च नित्यं त्वं कामान्संवर्ध याहि भो॥४४॥

हे पुत्र! जब मैं देखूँगी कि, तुम पिता की आज्ञा पालन कर चुके हो और वन से लौट कर राजोचित वस्त्र तथा आभूषण धारण किये हुए हो, मुझे तो तभी प्रसन्नता होगी। हे राघव! अब तुम गमन करो और सीता जी के तथा मेरे मनोरथों को सदा पूर्ण करो॥ ४४॥

मयाऽर्चिता देवगणाः शिवादयो
महर्षयो भूतमहासुरोरगाः।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते
हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव॥ ४५॥

हे राघव! मैंने जिन शिवादि देवताओं की, महर्षियों की, भूतगण की और दिव्य सर्पों की आज तक पूजा की है, वे सब तथा सब दिग्पाल, चिरकाल पर्यन्त, वनयात्रा में तुम्हारा मङ्गल करते हैं॥ ४५॥

इतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना
समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
पुनः पुनश्चापि निपीड्य सस्वजे॥ ४६॥

---

१ मङ्गलैरुपसम्पन्नो—राजोचितवस्त्राभरणैः। (रा०) २ वध्वाः—सीतायाः;। (रा०)

* पाठान्तरे—"च पुनस्त्वां तु।" † पाठान्तरे—"इहागतः।"

इस प्रकार आशीर्वाद दे, कौशल्या जी ने स्वस्तिवाचन कर्म यथाविधि पूरा किया और आँखों में आँसू भर, श्रीरामचन्द्र की प्रदक्षिणा की और उनको बार बार हृदय से लगा, वे उनके मुख की ओर एकटक निहारती रहीं ॥ ४६ ॥

तथा तु देव्या स कृतप्रदक्षिणो
निपीड्य[1] मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः
स राघवः प्रज्वलितः स्वया[2] श्रिया ॥४७॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

जब देवी कौशल्या बारंबार श्रीरामचन्द्र जी की प्रदक्षिणा कर चुकीं, तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी बारंबार उनके चरण छुए। फिर महायशस्वी श्रीरामचन्द्र स्वतःसिद्ध शोभा से दीप्तिमान् सीता के घर चले गये ॥ ४७ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

षड्विंशः सर्गः

—:o:—

अभिवाद्य च कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे[3] वर्त्मनि स्थितः ॥ १ ॥

---

१ निपीड्य—नमस्कृत्य। (रा०) २ स्वया—स्वतः सिद्धया। (गो०)
३ धर्मिष्ठे—अतिशयित धर्मे। (गो०)

स्वस्तिवाचन हो जाने पर, क्षत्रिय धर्म में स्थित धर्मात्मा, श्रीरामचन्द्र जी माता के चरणों को प्रणाम कर, वन जाने को तैयार हुए ॥ १ ॥

विराजयन्राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् ।
हृदयान्याममन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी लोगों (की भीड़) से भरे हुए राजमार्ग को सुशोभित करते एवं अपने गुणों के प्रभाव से सब लोगों के मनों को मथन करते हुए, चले जाने लगे ॥ २ ॥

वैदेही चापि तत्सर्वं न शुश्राव तपस्विनी ।
तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥

अभी तक यह सारा वृत्तान्त तपस्विनी सीता जी ने नहीं सुना था । उनके मन में उस समय श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक ही की बात थी ॥ ३ ॥

देवकार्यं स्वयं कृत्वा कृतज्ञा[1] हृष्टचेतना ।
अभिज्ञा राजधर्माणां[2] राजपुत्रं प्रतीक्षते ॥ ४ ॥

अतः उस समय स्वयं देवपूजादि कर्म समाप्त कर, राज-चिन्हों को जानने वाली सीता जी, अभिषिक्त हुए श्रीरामचन्द्र जी की अभ्यर्थना करने के लिये प्रसन्न हो, प्रतीक्षा कर रही थीं ॥ ४ ॥

---

१ कृतज्ञा—अभिषिक्तभर्तृविषयेपटमहिषिभिः गन्धपुष्पादिनाकृतपादार्चनादिसमाचारज्ञेत्यर्थः । (गो०) २ राजधर्माणामभिज्ञा—अभिषिक्तराजा साधारण लक्षणानि श्वेतच्छत्रचामर पुरस्कृत भद्रासनादीनिज्ञातवती । (गो०)

प्रविशन्नेव* रामस्तु स्वं वेश्म सुविभूषितम् ।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

इतने ही में श्रीरामचन्द्र जी लज्जा से मुख नीचे किये हुए, भली भाँति सजे हुए और प्रसन्न मनुष्यों से भरे हुए अपने घर में गये ॥ ५ ॥

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् ।
अपश्यच्छोकसन्तप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

सीता जी, शोक और चिन्ता से विकल श्रीरामचन्द्र जी को देख, काँपती हुई आसन से उठ खड़ी हुईं ॥ ६ ॥

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥
विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम् ।
आह दुःखाभिसन्तप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता को देख, अपने मानसिक शोक के वेग को न रोक सके। पति का उतरा चेहरा, उनको प्रस्वेद (पसीना) युक्त और अत्यन्त शोकान्वित देख, स्वयं दुःखसन्तप्त हो कर, सीता जी ने श्रीरामचन्द्र जी से पूछा—हे प्रभो! यह क्या हुआ? ॥ ७ ॥ ८ ॥

अद्य बार्हस्पतः श्रीमानुक्तः पुष्यो नु राघव ।
प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥ ९ ॥

आज तो चन्द्रमा के सहित पुष्य नक्षत्र का योग है और लग्न में बृहस्पति जी बैठे हुए हैं। विद्वान ब्राह्मणों के मतानुसार आज

* पाठान्तरे—"प्रविवेशाथ"।

का दिन राज्याभिषेक के लिये अच्छा है। सो तुम ऐसे उदास क्यों हो रहे हो? ॥ ६ ॥

न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च।
आवृतं वदनं वल्गु *च्छत्रेणापि विराजते ॥ १० ॥

सौ तीलियों का बना हुआ जलफेन के समान सफेद छत्र तुम्हारे ऊपर तना हुआ मैं नहीं देखती ॥ १० ॥

व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम्।
चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥ ११ ॥

और क्या कारण है जो चन्द्रमा और हंस के समान सफेद चँवर तुम्हारे ऊपर नहीं ढुर रहे हैं ॥ ११ ॥

वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ।
स्तुवन्तो नात्र दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः ॥ १२ ॥

हे नरश्रेष्ठ! आज वाग्मी वन्दीजन प्रसन्न हो, तुम्हारी स्तुति नहीं करते और न सूत और मागध ही मङ्गलपाठ पढ़ते हैं ॥ १२ ॥

न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः।
मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य दधति स्म विधानतः ॥ १३ ॥

राज्याभिषिक्त तुम्हारे सिर पर वेदज्ञ ब्राह्मणों ने शहद और दही यथाविधि क्यों नहीं छिड़का ॥ १३ ॥

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"छत्रेणपि"।

फिर मंत्री, पुरवासी, राज्यनिवासी तथा दरबारी लोग अनेक प्रकार के बढ़िया कपड़े और गहने पहन कर क्यों आपके पीछे चलना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषतैः* ।
मुख्यः पुष्यरथो[1] युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः ॥१५॥

आज बड़े वेग वाले और सोने के आभूषणों से सजे हुए चार उत्तम घोड़ों से युक्त उत्सवरथ तुम्हारे आगे क्यों नहीं चलता ॥ १५ ॥

न हस्ती चाग्रतः श्रीमांस्तव लक्षणपूजितः ।
प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः ॥ १६ ॥

सुलक्षणों से युक्त काले मेघ के समान रंग वाला और पर्वत के समान ऊँचा हाथी तुम्हारे प्रयाण (जलूस) में क्यों नहीं देख पड़ता ॥ १६ ॥

न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन ।
भद्रासनं पुरस्कृत्य यातं वीरपुरस्कृतम् ॥ १७ ॥

हे वीर ! आज सोने का बना हुआ और अति सुन्दर तुम्हारा भद्रासन, जिसे नौकर आगे ले कर चलता था, क्यों दिखलाई नहीं पड़ता ॥ १७ ॥

अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव ।
अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते ॥ १८ ॥

---

१ पुष्यरथः—उत्सवायकल्पितरथ इत्यर्थः । (गो०)

* पाठान्तरे—"भूषणैः" । † पाठान्तरे—"यथा" ।

जब कि अभिषेक की सभी तैयारियां हो चुकी हैं तब फिर आपके चेहरे का रंग ऐसा अपूर्व क्यों हो रहा है। चेहरे पर प्रसन्नता की रेख तक न देख पड़ने का कारण क्या है? ॥ १८ ॥

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम् ॥ १९ ॥

सीता जी के ऐसे दुःख भरे वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे सीते! पूज्य पिता जी ने मुझे वन जाने की आज्ञा दी है ॥ १९ ॥

कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि।
शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाभ्यागतं मम ॥ २० ॥

हे बड़े कुल में उत्पन्न, धर्म जानने वाली और धर्म करने वाली जानकी! सुनो, जिस प्रकार मुझे यह वनवास की आज्ञा मिली है, उसे बतलाता हूँ ॥ २० ॥

राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन च।
कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तो महावरौ ॥ २१ ॥

सत्यप्रतिज्ञ मेरे पिता महाराज दशरथ ने, मेरी माता कैकेयी को पूर्व काल में (आज से बहुत दिनों पहले) दो वर दिये थे ॥२१॥

तयाऽद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते।
प्रचोदितः ससमयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥ २२ ॥

सो कैकेयी ने, महाराज को, मेरा राज्याभिषेक करने में उद्यत देख, उस समय के वरों की बात उठा कर, सत्यद्वारा महाराज को अपने वश में कर लिया ॥ २२ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः॥ २३॥

(उन दो वरों के अनुसार अब) मुझको चौदह वर्ष तक दण्डकवन में रहना पड़ेगा और भरत का युवराजपद पर अभिषेक होगा॥ २३॥

सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम्।
भरतस्य समीपे तु नाहं कथ्यः कदाचन॥ २४॥

तुझे देखने के लिये मैं यहाँ आया हूँ। क्योंकि मैं तो अब वन जा रहा हूँ। देखना भरत के सामने मेरी प्रशंसा मत करना॥२४॥

ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम॥ २५॥

क्योंकि समृद्धिवान् पुरुषों को दूसरों की प्रशंसा सह्य नहीं होती। अतः तू भरत के सामने मेरी बड़ाई मत करना॥ २५॥

नापि त्वं तेन भर्तव्या विशेषेण कदाचन।
अनुकूलतया शक्यं समीपे त्वस्य वर्तितुम्॥ २६॥

नहीं तो भरत विशेषरूप से तेरा भरण पोषण न करेंगे। यदि तू भरत जी की इच्छा के अनुकूल चलो, तो ही तेरा यहाँ निर्वाह हो सकेगा॥ २६॥

तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम्।
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः॥ २७॥

भरत को महाराज ने सनातन यौवराज्य दिया है। अतः तुझको उचित है कि, इस तरह रहना जिससे वे तुझ पर प्रसन्न बने रहें। क्योंकि राजा को प्रसन्न रखना ही चाहिये॥ २७॥

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन् ।
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरा भव मनस्विनी ॥ २८ ॥

अब मैं पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये अभी वन जाता हूँ। सो हे मनस्विनी ! तू स्थिरचित्त हो कर रह ॥ २८ ॥

याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम् ।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥ २९ ॥

हे अनघे ! जब मैं मुनिवेषधारी हो वन को चला जाऊँ, तब तू व्रतोपवास करना अर्थात् जब हम वन में मुनिवेष धारण कर रहेंगे; तब तुझे भी यहां शृङ्गारादि से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ २९ ॥

[नोट—यह उपदेश धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। याज्ञवल्क्य महर्षि ने लिखा है कि, "हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषित भर्तृका ।"]

काल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम नरेश्वरः ॥ ३० ॥

प्रातःकाल उठ देवताओं का यथाविधि पूजन करना। फिर मेरे पिता महाराज दशरथ जी को प्रणाम करना ॥ ३० ॥

माता च मम कौसल्या वृद्धा सन्तापकर्शिता ।
[1]धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥ ३१ ॥

मेरी माता कौशल्या एक तो बुढ्ढा हैं, दूसरे मेरे वन जाने के सन्ताप से पीड़ित हैं; अतः उनका सम्मान करना तुम अपना धर्म समझना ॥ ३१ ॥

---

1 धर्ममेवाग्रतः कृत्वा—धर्मएव तत्फलं मुख्यं बुद्धौ कृत्वा तत्सम्मानः कार्य इतिभावः। (रा०)

वन्दितव्यांश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।
स्नेह[1]प्रणय[2]सम्भोगैः[3] समा हि मम मातरः ॥ ३२ ॥

शेष जो मेरी माताएँ हैं, उनको भी नित्य प्रणाम करना। क्योंकि मुझमें उनकी प्रीति और उनका सौहार्द्र वैसा ही है, जैसा माता कौशल्या का और उन्होंने भी मेरा पालन पोषण वैसे ही किया है जैसे कि, माता कौशल्या ने। अतः वे माता कौशल्या से मेरी दृष्टि में, किसी प्रकार कम पूज्य नहीं हैं ॥ ३२ ॥

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥ ३३ ॥

भाई भरत और शत्रुघ्न को, जो मुझे अपने प्राणों से भी बढ़ कर प्रिय हैं, अपने भाई और पुत्र की तरह देखना। अर्थात् भरत को जो बड़े हैं भाई की तरह और शत्रुघ्न को जो तुमसे छोटे हैं पुत्रवत् मानना ॥ ३३ ॥

विप्रियं न च कर्तव्यं भरतस्य कदाचन ।
स हि राजा प्रभुश्चैव देशस्य च कुलस्य च ॥ ३४ ॥

भरत के साथ कभी विगाड़ मत करना—क्योंकि वे देश के राजा और कुल के मालिक हैं ॥ ३४ ॥

आराधिता हि शीलेन[4] प्रयत्नैश्चोपसेविताः ।
राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥ ३५ ॥

---

१ स्नेहः—प्रीतिः। २ प्रणयः—सौहृदं। (गो०) ३ सम्भोगः—सेवा अन्नपानादि विशेष प्रदानम्। ४ शीलेन—अकुटिलवृत्या। (गो०)

देखो, शील से अर्थात् अकुटिल भाव से सेवा करने तथा प्रयत्न पूर्वक सेवन करने से राजा लोग प्रसन्न होते हैं और इसके प्रतिकूल करने से वे क्रुद्ध होते हैं ॥ ३५ ॥

औरसानपि पुत्रान्हि त्यजन्त्यहितकारिणः ।
समर्थान्संप्रगृह्णन्ति परानपि नराधिपाः ॥ ३६ ॥

राजा लोग अहित करने वाले अपने औरस पुत्रों को भी त्याग देते हैं, और हित करने वाले लोगों को, भले ही वे दूसरे ही लोग क्यों न हों—(अर्थात् अपने सम्बन्धी न भी हों तो भी) ग्रहण करते हैं ॥ ३६ ॥

सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रत[1]परायणा ॥ ३७ ॥

हे कल्याणि ! तू राजा भरत की आज्ञा में रह कर तथा उनकी हितैषिणी बन कर एवं अमोघव्रत धारण कर यहीं रह ॥ ३७ ॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि ।
यथा व्यलीकं[2] कुरुषे न कस्यचि-
त्तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम ॥ ३८ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

हे भामिनि ! मैं तो वन जाता हूँ । तुझको यहीं रहना चाहिये । मेरी तुझको यही शिक्षा है कि, ऐसा बर्ताव करना, जिससे तुझसे कोई बुरा न माने ॥ ३८ ॥

अयोध्याकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

१ सत्यव्रतं—अमोघव्रतं । (गो०) २ व्यलीकं—अप्रियं । (गो०)

सप्तविंशः सर्गः

—:o:—

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी ।
प्रणयादेव[1] संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

प्रिय बोलने वाली और प्रीति की पात्र वैदेही से जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा (अयोध्या ही में रहने को कहा); तब जानकी जी प्रीतियुक्त (किन्तु ऊपर से) क्रोध प्रदर्शित कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ १ ॥

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् ।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरात्मज ॥ २ ॥

हे राम! आप यह कैसी हल्की बात कहते हैं। इसे सुन कर तो, हे राजकुमार! मुझे हँसी आती है ॥ २ ॥

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥ ३ ॥

हे आर्यपुत्र! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब अपने पुण्यों को भोगते हुए, अपने अपने भाग्य के भरोसे रहते हैं ॥ ३ ॥

भर्तुर्भाग्यं तु भार्यैका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥ ४ ॥

---

१ प्रणयादेव—सौहृदादेव नतुवैरात् । (गो॰)

किन्तु स्त्री (अर्द्धाङ्गिनी होने के कारण) अपने पति के भाग्य का फल भोगती है। इस लिये मुझे भी महाराज की आज्ञा वन जाने की हो चुकी ॥ ४ ॥

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥ ५ ॥

स्त्री के मरने पर, परलोक में उसके पति को छोड़, पिता, पुत्र, भाईबन्धु, माता, सखी सहेलियों में से कोई भी उसके काम नहीं आता। स्त्री के लिये क्या इस लोक में और क्या परलोक में पति ही सब कुछ है ॥ ५ ॥

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव ।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान् ॥ ६ ॥

यदि तुम आज ही वन को जा रहे हो तो, मैं तुम्हारे आगे-आगे कुश और काँटों को हटा, रास्ता साफ करती पैदल ही चलूँगी ॥ ६ ॥

ईर्ष्यारोषौ बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम् ।
नय मां वीर विस्रब्धः[1] पापं मयि न विद्यते ॥ ७ ॥

हे वीर! ईर्ष्या और रोष को त्याग कर, निशङ्क हो मुझे अपने साथ ले चलो। क्योंकि मुझमें कोई ऐसा पाप नहीं है, जो मेरे यहीं छोड़ने के लिये पर्याप्त कारण कहा जा सके ॥ ७ ॥

प्रासादाग्रैर्विमानैर्वा वैहायसगतेन[2] वा ।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया[3] विशिष्यते ॥ ८ ॥

---

१ विस्रब्धः—निःशङ्कः। (गो०) २ वैहायसगतेन—अणिमाद्यष्टैश्वर्य सिद्धि सम्पन्नोचितविहायस्सम्बन्धि गमनाद्वा। (गो०) ३ पादच्छाया—पादसेवा। (गो०)

चक्रवर्ती राजाओं के महलों में वास करने से, अथवा स्वर्ग के विमानों में रहने से अथवा आठों प्रकार के अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति से जो सुख होता है, उससे कहीं अधिक सुख स्त्री को पति की सेवा करने में प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अनुशिष्टाऽस्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्[1] ।
नास्मि सम्प्रतिवक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥ ९ ॥

स्त्री को अपने पति के प्रति किस प्रकार से व्यवहार करना चाहिये—यह बात मुझे मेरे माता पिता ने अनेक प्रकार से समझा दी है। अतः इस विषय में मुझे अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं है ॥ ९ ॥

अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलवृकसेवितम् ॥ १० ॥

मैं निश्चय ही आपके साथ उस निर्जन वन में चलूँगी जो नाना भाँति के वनैले जीवों से पूर्ण, और शार्दूल एवं वृकादि (भेड़ियों) से सेवित है ॥ १० ॥

सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः ।
अचिन्तयन्ती त्रील्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥ ११ ॥

हे स्वामिन्! मैं वन में बड़े सुख से वैसे ही रहूँगी, जैसे मैं अपने पिता के घर में सुख से रहती थी। वहाँ मुझे केवल पतिसेवा ही की चिन्ता रहेगी। मैं तीनों लोकों के सुख की कभी कल्पना भी अपने मन में उदय न होने दूँगी ॥ ११ ॥

---

१ विविधाश्रयम्—विविधप्रकारं। (गो०)

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी[1] ।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १२ ॥

हे वीर ! मैं नित्य नियमपूर्वक, काम-भोग-विवर्जिता हो, आपके साथ उन मधुर गन्धयुक्त वनों में विचरूँगी ॥ १२ ॥

त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम सम्परिपालनम् ।
अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद ॥ १३ ॥

हे प्राणनाथ ! जब आप वन में असंख्य मनुष्यों का भरण पोषण करने का भार उठा सकते हैं, तब क्या आप मुझ अकेली की रक्षा न कर सकेंगे ? ॥ १३ ॥

सह त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः ।
नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता ॥ १४ ॥

हे महाभाग ! मैं भी आज अवश्य आपके साथ वन चलूँगी । आप मेरे इस उत्साह को भङ्ग नहीं कर सकते । अथवा अब आप निषेध न कीजिये ॥ १४ ॥

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः ।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती सह त्वया ॥ १५ ॥

मैं वन में उत्पन्न फल मूलों ही से नित्य अपना निर्वाह कर, आपके साथ वन में रहूँगी और आपको कष्ट न दूँगी ॥ १५ ॥

इच्छामि सरितः शैलान्पल्वलानि वनानि च ।
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता ॥ १६ ॥

---

१ ब्रह्मचारिणी—कामभोगविवर्जिता । (गो०)

मैं आप जैसे बुद्धिमान प्राणनाथ से रक्षिता हो कर झीलों, पहाड़, तालाव और वन निशङ्क हो देखना चाहती हूँ ॥ १६ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ।
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण सङ्गता ॥ १७ ॥

मैं चाहती हूँ कि, आप जैसे वोर के साथ, हंस और कारण्डव पक्षियों से सेवित और सुन्दर फूली हुई कमलिनियों से युक्त तड़ागों को सुखपूर्वक अर्थात् भली भांति देखूँ ॥ १७ ॥

अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यं यतव्रता ।
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी ॥ १८ ॥

हे विशालाक्ष ! उनमें मैं नित्य आपके साथ स्नान करूँगी और परम आनन्द के साथ जलक्रीड़ा भी करूँगी ॥ १८ ॥

एवं वर्षसहस्राणां शतं वाऽहं त्वया सह ।
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि न हि मे मतः ॥१९॥

इस प्रकार आपके साथ चाहे हज़ार वर्ष भी क्यों न व्यतीत हो जांय, मुझे न जान पड़ेंगे । आपके साथ रहने के सुख के सामने स्वर्गसुख भी मुझे पसन्द नहीं ॥ १९ ॥

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया मम नरव्याघ्र नाहं तमपि रोचये ॥ २० ॥

हे राघव ! यदि आपके बिना मुझे स्वर्ग में रहना पड़े, तो मुझे वह भी पसन्द नहीं है ॥ २० ॥

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैर्युतम् ।

वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य संयता ॥ २१ ॥

मैं तो आपके साथ उस दुर्गम वन में चलूँगी, जो हिरनों से युक्त और बंदरों तथा हाथियों से सेवित है। आपकी चरणसेवा करती हुई, मैं वहाँ उसी प्रकार सुखपूर्वक रहूँगी, जिस प्रकार मैं अपने पिता के घर सुख से रहती थी ॥ २१ ॥

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां
न ते मयाऽतो गुरुता भविष्यति ॥ २२ ॥

मैं तो आपको छोड़ अन्य किसी को नहीं जानती। मेरा मन आप ही में अनुरक्त है। अतः यदि आपसे बिछोह हुआ, तो मैं अपने प्राण त्यागने को तैयार हूँ। हे नाथ! मेरी प्रार्थना स्वीकार कर, मुझे अपने साथ लेते चलिये। मेरा कुछ भी भार आपको उठाना न पड़ेगा ॥ २२ ॥

तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलो[1]
न च स्म सीतां नृवरो निनीषति[2] ।
उवाच चैनां बहु सन्निवर्तने
वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥ २३ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

---

१ धर्मवत्सलः—कान्ताक्लेशासहिष्णुः । (गो०) २ निनीषति—नेतु मिच्छति । (गो०)

सीता जी के इस प्रकार अनुनय विनय पूर्वक प्रार्थना करने पर भी, सीता जी को कष्टित देखने में असमर्थ श्रीरामचन्द्र जी, जानकी जी को अपने साथ वन में ले जाने को राज़ी न हुए। प्रत्युत वनवास के अनेक कष्टों का वर्णन कर, जिससे जानकी जी वन जाने का विचार छोड़ दे, बोले ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

अष्टाविंशः सर्गः

—:०:—

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञो धर्मवत्सलः।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥

धर्मज्ञ और धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी वन के कष्टों का स्मरण कर, सीता जी के बहुत कहने पर भी, उनको अपने साथ वन ले जाने को राज़ी न हुए ॥ १ ॥

सान्त्वयित्वा पुनस्तां तु *बाष्पपर्याकुलेक्षणाम्।
निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

रोती हुई जानकी जी को उन्होंने फिर समझाया और धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वन न जाने के लिये सीता जी से यह कहा ॥२॥

सीते महाकुलीनाऽसि धर्मे च निरता सदा।
इहाचर स्वधर्मं त्वं मा यथा मनसः सुखम् ॥ ३ ॥

* पाठान्तरे—"बाष्पदूषितलोचनाम्।"

हे सीते! तू बड़ी कुलीन घर की लड़की है और सदा धर्म-पालन में निरत रहती है। अतः यहीं रह कर धर्माचरण कर, जिससे मेरा मन सुखी हो ॥ ३ ॥

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाऽबले।
वने दोषा हि बहवो वदतस्तान्निबोध मे ॥ ४ ॥

हे अबले सीते! मैं जो कहता हूँ तू वही कर। वनवास में बड़े बड़े कष्ट होते हैं। मैं बतलाता हूँ तू उन्हें सुन ॥ ४ ॥

सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

हे सीते! तू अपने वन जाने के विचार को त्याग दे। क्योंकि वनवास में बड़े कष्ट हैं। वन को कान्तार इसी लिये कहते हैं कि, वह जाने के योग्य नहीं है ॥ ५ ॥

हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥ ६ ॥

मैं तेरी भलाई के लिये कहता हूँ। वन में कभी कुछ भी सुख नहीं है। प्रत्युत वहाँ सदा कष्ट ही कष्ट हैं ॥ ६ ॥

गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिकन्दरवासिनाम्।
सिंहानां निनदा दुःखाः[1] श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥ ७ ॥

क्योंकि पर्वतों से निकली हुई नदियों को पार करना महाकष्ट-दायी है, फिर पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले सिंहों की दहाड़ सुनने से बड़ा कष्ट होता है। अतः वन में कष्ट ही कष्ट हैं ॥ ७ ॥

---

१ दुःखाः—दुःखकराः। (गो०)

क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये महामृगाः ।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम् ॥ ८ ॥

हे सीते ! निर्जन वन में निःशङ्क हो क्रीड़ा करने वाले अनेक वनजन्तु, मनुष्य को देखते ही मार डालने के लिये आक्रमण करते हैं, अतः वनवास कष्टदायी है ॥ ८ ॥

सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यश्च दुस्तराः ।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥ ९ ॥

फिर नदियों में मगर घड़ियाल रहते हैं और उनमें दलदल रहने से उनको पार करना भी बड़ा कठिन है। इन दलदलों में यदि फँस जाय, तो हाथी का भी निकलना असम्भव है। फिर वन में बड़े बड़े मत्त गज भी घूमा करते हैं। अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ ९ ॥

लताकण्टकसङ्कीर्णाः कृकवाकूपनादिताः ।
निरपाश्च सुदुर्गाश्च मार्गा दुःखमतो वनम् ॥ १० ॥

प्रायः वनों के मार्ग पैर में लिपट जाने वाली बेलों और पैर में चुभ जाने वाले काटों से ढके रहते हैं और वहाँ वनकुक्कुट (वनमुर्ग़) बोला करते हैं। रास्तों में दूर तक पीने को जल भी नहीं मिलता। वन के रास्ते बड़े भयङ्कर होते हैं। अतः वन में बड़े क्लेश होते हैं ॥ १० ॥

सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयं भग्नासु भूतले ।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥ ११ ॥

दिन भर के थके माँदे वनवासी को रात के समय, सोने के लिये कोमल गद्दे तकिये नहीं, किन्तु अपने आप सूख कर गिरी हुई

पत्तियाँ बिछा कर, उन पर सोना पड़ता है। उसे वहाँ पलंग नहीं मिलता, प्रत्युत ज़मीन ही पर लेटना पड़ता है। अतएव वनवास बड़ा कष्टप्रद है ॥ ११ ॥

अहोरात्रं[1] च सन्तोषः कर्तव्यो नियतात्मना[2] ।
फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम् ॥ १२ ॥

हे सीते! भोजन की अन्य वस्तुओं पर मन न चला, सायं प्रातः वृक्षों से गिरे हुए फल खा कर ही सन्तोष करना पड़ता है। अतः वन में कष्ट ही कष्ट हैं ॥ १२ ॥

उपवासश्च कर्तव्यो यथाप्राणेन[3] मैथिलि ।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारिणा ॥ १३ ॥

हे मैथिलि! वन में यथाशक्ति उपवास भी करना पड़ता है और वृक्ष की छाल, वस्त्रों की जगह पहननी पड़ती है ॥ १३ ॥

देवतानां पितॄणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम् ।
प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम् ॥ १४ ॥

वहाँ देवताओं और पितरों तथा समय पर आये हुए अतिथियों का विधिपूर्वक नित्य पूजन करना पड़ता है ॥ १४ ॥

कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः ।
चरता नियमेनैव तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥ १५ ॥

नियम पूर्वक रहने वालों को नित्य (किसी ऋतु विशेष में नहीं) समय समय पर तीन बार स्नान करने पड़ते हैं। अतः वन में बड़ा क्लेश है ॥ १५ ॥

---

१ अहोरात्रं—सायंप्रातश्च। (गो०) २ नियतात्मना—नियतमनस्केन। इतरानभिलाषिणेत्यर्थः। (गो०) ३ यथाप्राणेन—यथाशक्त्या। (गो०)

उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः ।
आर्षेण विधिना वेद्यां बाले दुःखमतो वनम् ॥ १६ ॥

हे बाले! वन में अपने हाथ से फूल तोड़ कर, ऋषियों की बतलाई हुई विधि से, वेदी की पूजा करनी पड़ती है, इस लिये वन में क्लेश ही क्लेश हैं ॥ १६ ॥

यथालब्धेन सन्तोषः कर्तव्यस्तेन मैथिलि ।
यताहारैर्वनचरैर्नित्यं दुःखमतो वनम् ॥ १७ ॥

वनवासी को जो कुछ और जितना भोजन के लिये मिले उसे उतने ही नित्य नियत आहार से उसको सन्तोष करना पड़ता है। अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ १७ ॥

अतीव वातास्तिमिरं बुभुक्षा चात्र नित्यशः ।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम् ॥ १८ ॥

वनों में बड़ी आँधी चला करती हैं, अँधेरा भी छा जाता है, नित्य ही भूख भी बहुत अधिक लगती है और वहाँ और भी अनेक भय के कारण उपस्थित रहते हैं। अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ १८ ॥

सरीसृपाश्च[1] बहवो बहुरूपाश्च[2] भामिनि ।
चरन्ति पृथिवीं दर्पात्ततो दुःखतरं वनम् ॥ १९ ॥

हे भामिनि! वन में बड़े मोटे मोटे पहाड़ी साँप या अजगर बड़े दर्प के साथ घूमा करते हैं। अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ १९ ॥

---

१ सरीसृपाः—गिरिसर्पाः । (गो०) २ बहुरूपाः—पृथुशरीराः । (गो०)

नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः ।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानं ततो दुःखतरं वनम् ॥ २० ॥

वहाँ नदियों में रहने वाले साँप जो नदी ही की तरह टेढ़ी मेढ़ी चाल से चला करते हैं, मार्ग रोक कर, सामने खड़े हो जाते हैं। अतएव वनवास बड़ा दुःखदायी है ॥ २० ॥

पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह ।
बाधन्ते नित्यमबले तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥ २१ ॥

हे अबले ! वहाँ पतंगे, बिच्छू, कीड़े, बनैली मक्खियाँ, मच्छड़ आदि नित्य ही सताया करते हैं। अतएव वनवास बड़ा क्लेशकारक है ॥ २१ ॥

द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशकाशाश्च[1] भामिनि ।
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखतरं वनम् ॥ २२ ॥

हे भामिनि ! काँटे और कुशकाश की तरह पत्तों और बनैले वृक्षों से सारा वन भरा हुआ है। अतः वनवास बड़ा कष्टकारक है ॥ २२ ॥

कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च ।
अरण्यवासे वसतो दुखमेव ततो वनम् ॥ २३ ॥

फिर वन में रहने से शारीरिक अनेक क्लेश होते हैं और नाना प्रकार के भय उत्पन्न हुआ करते हैं। अतएव वनवास बड़ा दुःखदायी है ॥ २३ ॥

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः ।
न भेतव्यं च भेतव्ये नित्यं दुःखमतो वनम् ॥२४॥

---

1. कुशकाशयोःशाखाः—कुशकाशपर्णान्येव । (गो०)

हे सीते ! वन में, क्रोध और लोभ को त्याग कर तप में मन लगाना पड़ता है। डरने योग्य वस्तुओं से भी डरना नहीं होता— अतः वनवास दुःखप्रद है ॥ २४ ॥

तदलं ते वनं गत्वा क्षमं न हि वनं तव ।
विमृशन्निह पश्यामि बहुदोषतरं वनम् ॥ २५ ॥

अतः तू वन जाने की इच्छा मत कर, क्योंकि तेरे बसने योग्य वन नहीं है। मैं जब विचार करता हूँ, तब मुझे वनवास में कष्ट ही कष्ट दिखलायी पड़ते हैं ॥ २५ ॥

वनं तु नेतुं न कृता मतिस्तदा
बभूव रामेण यदा महात्मना ।
न तस्य सीता वचनं चकार त-
स्ततोऽब्रवीद्राममिदं सुदुःखिता ॥ २६ ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार जब सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी ने वन में ले जाना न चाहा, तब सीता जी उनकी इस बात को न मान कर और अत्यन्त दुःखी हो, यह बोलीं ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—:०:—

एतत्तु वचनं श्रुत्व सीता रामस्य दुःखिता।
प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार के वचन सुन सीता जी दुःखी हुई और रो कर, धीरे धीरे कहने लगीं ॥ १ ॥

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति।
गुणानित्येव तान्वीक्षे* तव स्नेहपुरस्कृतान् ॥ २ ॥

हे राम! वनवास के जो दोष तुमने बतलाये, वे सब तुम्हारे स्नेह के सामने मुझे गुण दिखलायी पड़ते हैं ॥ २ ॥

मृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा[1]।
पक्षिणः सृमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः ॥ ३ ॥

मृग, सिंह, गज, शार्दूल, शरभ (आठ पैर का एक वनजन्तु विशेष) पक्षी और नील गायें तथा अन्य वन में रहने वाले जीव जन्तु ॥ ३ ॥

अदृष्टपूर्वरूपत्वात्सर्वे ते तव राघव।
रूपं दृष्ट्वाऽपसर्पेयुर्भये सर्वे हि बिभ्यति ॥ ४ ॥

स्वयं ही, हे राघव! आपके इस अपूर्व रूप को देख और भयभीत हो, भाग जांयगे। क्योंकि आपसे तो सब ही डरते हैं ॥ ४ ॥

---

१ शरभाः—अष्टपादमृगाः। (गो०) सृमराः गवयाः। (गो०)

* पाठान्तरे "तान्विद्धि"; "तान्मन्ये"।

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया ।
त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥ ५ ॥

मुझको बड़े लोगों का यह आदेश है कि, मुझे सदा आपके साथ अवश्य चलना चाहिये। नहीं तो मुझे आपके वियोग में प्राण-त्याग देना पड़ेगा ॥ ५ ॥

न च मां त्वत्समीपस्थामपि शक्नोति राघव ।
सुराणामीश्वरः शक्रः प्रधर्षयितुमोजसा ॥ ६ ॥

जब कि मैं आपके साथ रहूँगी, तब देवताओं के स्वामी इन्द्र भी अपने पराक्रम से मेरा कुछ नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम् ।
काममेवंविधं राम त्वया मम विदर्शितम् ॥ ७ ॥

हे राम ! तुम्हींने तो मुझे यह बात बतलायी है कि, पतिव्रता स्त्री, पति विना नहीं जी सकती ॥ ७ ॥

अथ वापि महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम् ।
पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने ॥ ८ ॥

हे महाप्राज्ञ ! पिता के घर रहते समय ज्योतिषी ब्राह्मणों से मैंने यह बात सुनी थी कि, मुझे वन में निश्चय ही रहना पड़ेगा ॥ ८ ॥

लक्षणिभ्यो[1] द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं पुरा ।
वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल ॥ ९ ॥

---

१ लक्षणिभ्यः—सामुद्रिकलक्षणज्ञेभ्यः ।

हे महाबलवान् ! सामुद्रिक जानने वाले ब्राह्मणों को कहते, मैं पहले ही यह सुन चुकी हूँ। अतः वन जाने का मेरा उत्साह तभी से है ॥ ९ ॥

आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल ।
सा त्वया सह तत्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा ॥ १० ॥

सो वनवास की आज्ञा मुझे अवश्य लेनी ही चाहिये । अतः हे प्रिय ! मैं तुम्हारे साथ चलूँगी । इसके विपरीत नहीं हो सकता ॥ १० ॥

कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि सह त्वया ।
कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवाग्भवतु द्विजः ॥ ११ ॥

आपके साथ वन जाने ही से मैं गुरुजनों की आज्ञापालन करने वाली हो सकूँगी । ब्राह्मणों की भविष्यद्वाणी के सत्य होने का यह समय भी उपस्थित हो गया है ॥ ११ ॥

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल ।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः[1] ॥ १२ ॥

हे वीर ! यह मुझे मालूम है कि, वनवास में बड़े बड़े कष्ट होते हैं ; किन्तु ये दुःख होते उन्हींको है जो अजितेन्द्रिय हैं । (न कि आप सरीखे पुरुषों के साथ) ॥ १२ ॥

कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया ।
भिक्षिण्याः[2] *साधुवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः ॥ १३ ॥

---

१ अकृतात्मिः—अशिक्षितमनस्कैः । (गो०) २ भिक्षिण्याः—तापस्याः । (गो०) * पाठान्तरे—" शमवृत्तायाः " ।

जब मैं पिता के घर थी, तब मैंने एक साधुवृत्ति तपस्विनी के मुख से, माता के सामने, अपने इस वनवास की बात सुनी थी ॥ १३ ॥

प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं वै बहुविधं प्रभो ।
गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया ॥ १४ ॥

हे प्रभो! कई बार वनक्रीड़ा के लिये मैं आपसे प्रार्थना भी कर चुकी हूँ, सो अब वह अवसर आया है, अतः मेरी प्रार्थना मान, मुझे अपने साथ वन ले चलिये ॥ १४ ॥

कृतक्षणाऽहं[1] भद्रं ते गमनं प्रति राघव ।
वनवासस्य शूरस्य[2] चर्या हि मम रोचते ॥ १५ ॥

हे राघव! आपका मङ्गल हो। सो (अब) आपके साथ वन जाने का अवसर प्राप्त हुआ है और वनवास में आपकी सेवा भी करना मुझे बहुत रुचता है ॥ १५ ॥

शुद्धात्मन्[3]प्रेमभावाद्धि[4] भविष्यामि विकल्मषा ।
भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि[5] मम दैवतम् ॥ १६ ॥

हे ईर्ष्यादि रहित स्वामिन्! अपने प्रीतियुक्त स्वभाव से आपके पीछे गमन करती हुई, मैं पाप रहित हो जाऊँगी। क्योंकि यह प्रसिद्ध बात है कि, मेरे लिये आप ही मेरे देवता हैं ॥ १६ ॥

प्रेत्यभावेऽपि कल्याणः[6] सङ्गमो मे सह त्वया ।
श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां तपस्विनाम्* ॥ १७ ॥

---

१ कृतक्षणा—प्राप्तावसरा। (रा०) २ शूरस्य—तव। ३ शुद्धात्मन्—ईर्ष्यादिरहित (गो०) ४ प्रेमभावात्—प्रेमवत्स्वभावात्। (गो०) ५ हिः—प्रसिद्धौ। (गो०) ६ कल्याणः—शोभनः। (गो०) * पाठान्तरे—"यशस्विनाम्"।

(इस लोक का तो कहना ही क्या है) परलोक में भी मैं आपके साथ रह कर, शोभा को प्राप्त होऊँगी। यह बात मैंने यशस्वी पवित्र ब्राह्मणों के मुख से सुनी है ॥ १७ ॥

इह लोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महामते ।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण[1] प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥ १८ ॥

इस लोक में विवाहों की विधि के अनुसार पिता जिस स्त्री को जिस पुरुष को दे देता है, परलोक में भी वही स्त्री उस पुरुष की होती है ॥ १८ ॥

एवमस्मात्स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम् ।
नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना ॥ १९ ॥

अतः अपनी सदाचारिणी पतिव्रता स्त्री मुझको अपने साथ ले चलना आपको क्यों नहीं रुचता? इसका कारण क्या है? ॥ १९ ॥

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः ।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम् ॥ २० ॥

हे काकुत्स्थ! आपमें पूर्ण भक्ति रखने वाली, दीन, सुख दुःख में समान रहने वाली और आपके सुख में सुखी तथा आपके दुःख से दुःखी मुझको आप अपने साथ ले चलिये ॥ २० ॥

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि ।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात् ॥ २१ ॥

---

१ स्वधर्मेण—स्वस्ववर्णोक्तब्राह्मादिविवाहविधिना । (गो०)

यदि आप मुझ दुःखिनी को अपने साथ वन न ले चलोगे, तो मैं विष खा कर या अग्नि में जल कर अथवा पानी में डूब कर, प्राण दे दूँगी ॥ २१ ॥

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति ।
नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजनं वनम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन जाने के लिये सीता जी बहुत प्रार्थना करती थीं, परन्तु श्रीरामचन्द्र उनको अपने साथ विजन वन में ले जाने को राज़ी नहीं होते थे ॥ २२ ॥

एवमुक्ता तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता ।
स्नापयन्ती गामुष्णैरश्रुभिर्नयनच्युतैः ॥ २३ ॥

तब सीता जी श्रीरामचन्द्र जी को असम्मत देख, अत्यन्त चिन्तित हुई और उनके नेत्रों से निकली हुई गरम गरम अश्रुधारा पृथिवी को तर करने लगी—अर्थात् उनके आँसुओं से वहाँ की ज़मीन तर हो गयी ॥ २३ ॥

चिन्तयन्तीं तथा तां तु निवर्तयितुमात्मवान् ।
क्रोधाविष्टां च ताम्रोष्ठीं काकुत्स्थो बहसान्त्वयत् ॥२४॥

इति एकोनत्रिंसः सर्गः ॥

सीता जी को चिन्तित और मारे क्रोध के लाल लाल ओंठ किये देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी को बहुत समझाया, जिससे वे उनके साथ वन न जाँय ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

१ गां—भुवं । (गो०) *पाठान्तरे—"कुपाद्युष्णैः" ।

त्रिंशः सर्गः

सान्त्व्यमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।
वनवासनिमित्ताय भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

साथ वन न चलने के लिये सीता को श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत तरह से समझाया, किन्तु सीता जी ने उनके साथ वन जाने के लिये फिर अपने पति से यह कहा ॥ १ ॥

सा तमुत्तमसंविग्ना[1] सीता विपुलवक्षसम्[2] ।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप[3] राघवम् ॥ २ ॥

वीरवर श्रीरामचन्द्र जी से डर के मारे कांपती हुई जानकी जी ने, प्रेम और अभिमान के साथ, उपहास पूर्ण वचन कहे ॥ २ ॥

किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥ ३ ॥

हे राम ! यदि मेरे पिता मिथलेश यह जानते कि, आप आकार मात्र के पुरुष हैं और व्यवहार में स्त्री हैं, तो वे कभी मेरा विवाह आपके साथ कर आपको कभी अपना दामाद न बनाते । (अर्थात् आप पुरुष हो कर वन में मेरी रक्षा न कर सकोगे—यह कहना आप जैसे वीरवर पुरुष को शोभा नहीं देता) ॥ ३ ॥

अनृतं वत लोकोऽयमज्ञानाद्यद्धि वक्ष्यति ।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे ॥ ४ ॥

---

१ उत्तमसंविग्ना—अत्यन्तं कम्पमाना । (गो०) २ विपुलवक्षसम्—शूरमिति यावत् । (गो०) ३ परिचिक्षेप—सोपहासवचनमुक्तवती । (रा०)

खेद की बात है। लोग अज्ञान वश कहने लगे कि, राम सूर्य के समान तेजस्वी देख पड़ते हैं, किन्तु इनमें वास्तव में तेज है नहीं ॥ ४ ॥

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते ।
यत्परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम् ॥ ५ ॥

हे राम ! आप किस लिये इतने उदास हो रहे हैं अथवा आप किस बात के लिये इतने डर रहे हैं कि, जो मुझ जैसी अपनी अनन्य भक्ता को यहाँ छोड़ कर, वन जाना चाहते हैं ॥ ५ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीर सत्यवन्तमनुव्रताम् ।
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम् ॥ ६ ॥

वीरवर राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान में सावित्री के तुल्य मुझे भी अपने वश में जानो। अर्थात् द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान के पीछे पीछे सावित्री जैसे वन को गयी थी, वैसे ही मैं भी आपके पीछे पीछे चलूँगी ॥ ६ ॥

न त्वहं मनसाऽप्यन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ ।
त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥ ७ ॥

हे अनघ ! मैंने आपको छोड़, परपुरुष को देखने की कभी मन में भी कल्पना नहीं की । जैसी की कुलकलङ्किनी स्त्रियाँ परपुरुषरत होती हैं, वैसी मैं नहीं हूँ । अतः मैं आपके साथ चलूँगी ॥ ७ ॥

स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् ।
शैलूष[1] इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥ ८ ॥

---

१ शैलूष—जायाजीव । (गो०)

हे राम ! बहुत दिनों से आपके पास रहने वाली, कौमारावस्था ही में आपके साथ विवाहित, मुझ सती—पतिव्रता को, नट की तरह आप अपने से भिन्नपुरुष (अर्थात् भरत) के पास छोड़ना क्यों चाहते हैं ? ॥ ८ ॥

यस्य पथ्यं च रामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे ।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदाऽनघ ॥ ९ ॥

हे अनघ ! आप जिसका हित चाहते हैं और जिसके कारण आपके राज्याभिषेक में बाधा पड़ी (अर्थात् कैकेयी और भरत) उसके वश में और उसके आज्ञाकारी आप ही बनें । मैं उसके वश में होना अथवा उसकी आज्ञानुवर्तिनी बन कर रहना नहीं चाहती ॥ ९ ॥

स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थातुमर्हसि ।
तपो वा यदि वाऽरण्यं स्वर्गो वा स्यात्त्वया सह ॥१०॥

अतः आप मुझे अपने साथ ही वन में ले चलिये । चाहे आप तप करें, चाहे आप वनवास करें और चाहें स्वर्गवास करें—मुझे तो आपके साथ ही रहना उचित है ॥ १० ॥

न च मे भविता तत्र कश्चित्पथि परिश्रमः ।
पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव[1] ॥ ११ ॥

मुझे मार्ग चलने में कुछ भी परिश्रम न होगा । प्रत्युत आपके पीछे पीछे चलने में मुझे ऐसा सुख जान पड़ेगा जैसा कि बागों में घूमने फिरने से अथवा आपके साथ शयन करने से प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

---

१ विहारशयनेष्विव—विहारः परिक्रमः, उद्यानसंचार इति । "विहारस्तु परिक्रमः" इत्यमरः । (गो०)

कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः ।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥ १२ ॥

हे राम! कुशकाश, सरपत, मूँज तथा अन्य और भी जो कटीले वृक्ष हैं, वे आपके साथ रास्ता चलने पर मुझे रुई और मृगचर्म की तरह कोमल जान पड़ेंगे ॥ १२ ॥

महावातसमुद्धूतं यन्मामपकरिष्यति ।
रजो रमण तन्मन्ये परार्ध्यमिव चन्दनम् ॥ १३ ॥

हे राम! आँधी से उड़ कर जो धूल मेरे शरीर पर आ कर पड़ेगी, उसे मैं आपके साथ रह कर, उत्तम चन्दन के समान समझूँगी ॥ १३ ॥

शाद्वलेषु यथा शिश्ये वनान्ते वनगोचर ।
कुथास्तरणतल्पेषु किं स्यात्सुखतरं ततः ॥ १४ ॥

मैं जब आपके साथ हरी हरी घास के बिछौने पर सोऊँगी, तब मुझे पलंग पर बिछे हुए, मुलायम गलीचे पर सोने जैसा सुख प्राप्त होगा ॥ १४ ॥

पत्रं मूलं फलं यत्त्वमल्पं वा यदि वा बहु ।
दास्यसि स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥ १५ ॥

जो कुछ थोड़े अथवा बहुत शाक या फल आप स्वयं ला दिया करेंगे, वे ही मुझे अमृत जैसे स्वादिष्ट जान पड़ेंगे ॥ १५ ॥

न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः ।
[1]आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च ॥१६॥

---

[1] आर्तवानि—तत्तदृतुसमुत्पन्नानि । (गो०)

वन में ऋतुफलों का और ऋतुपुष्पों का उपभोग करती हुई मैं न तो मा को, न बाप को, और न घर ही की याद करूँगी ॥१६॥

न च तत्र गतः किञ्चिद्द्रष्टुमर्हसि विप्रियम् ।
मत्कृते न च ते शोको न भविष्यति दुर्भरा ॥ १७ ॥

मेरे कारण वन में आपको न तो कुछ भी क्लेश होगा और न आपको शोच ही बाधा देगा और न मुझे खिलाने पिलाने की चिन्ता ही आपको करनी पड़ेगी ॥ १७ ॥

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना ।
इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥ १८ ॥

बहुत कहां तक कहूँ । आपके साथ रहने में मुझे सर्वत्र स्वर्ग के समान सुख है और आपके विना सब जगह नरक के समान दुःख है । बस आप यही विचार कर और प्रसन्नता पूर्वक मुझे अपने साथ वन में ले चलिये ॥ १८ ॥

अथ मामेवमव्यग्रां[1] वनं नैव नयिष्यसि ।
विषमद्यैव पास्यामि मा विशं द्विषतां वशम् ॥ १९ ॥

यदि आप मुझे, जिसे वन सम्बन्धी किसी भी बात का भय नहीं है, अपने साथ ले चलने को राज़ी न हुए, तो मैं आप ही के सामने विष पी कर प्राण त्याग दूँगी—किन्तु वैरियों की हो कर, मैं न रहूँगी ॥ १९ ॥

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम् ।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम् ॥ २० ॥

---

१ अव्यग्रां—वनगमनविषयभीतिरहिताम् । (गो०)

हे नाथ ! आपके जाने के बाद भी तो दुःख से मुझे मरना ही है। आप द्वारा परित्यक्ता, मुझ जैसी के लिये मरना ही अच्छा है॥ २०॥

इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता॥ २१॥

मैं आपके वियोग के शोक को मुहूर्त्त भर भी नहीं सह सकती, तब चौदह वर्ष के वियोगजन्य दुःख को, मैं क्यों कर सह सकूँगी॥ २१॥

इति सा शोकसन्तप्ता विलप्य करुणं बहु।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम्॥२२॥

सीता जी शोक से सन्तप्त हो, बारंबार करुणापूर्ण विलाप कर और श्रीरामचन्द्र जी को आलिङ्गन कर, उच्च स्वर से रुदन करने लगीं॥ २२॥

सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव[1] गजाङ्गना।
चिरसन्नियतं बाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः॥ २३॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के वचनों से, विष में बुझे बाण से हथिनी की तरह विद्ध जानकी जी के बहुत काल से रुके हुए आँसू वैसे ही प्रकट हुए, जैसे अरणी से आग प्रकट होती है॥ २३॥

तस्याः स्फटिकसङ्काशं वारि सन्तापसम्भवम्।
नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम्॥ २४॥

---

१ दिग्धैः—विषलिप्तैर्बाणैः। (गो०)

जानकी जी के नेत्रों से स्फटिक पत्थर जैसे सफेद आँसुओं की बूँदें वैसे ही गिरीं जैसे कमलों से पानी की बूँदें टपकती हैं ॥ २४ ॥

तच्चैवामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम् ।
पर्यशुष्यत बाष्पेण जलोद्धृतमिवाम्बुजम् ॥ २५ ॥

उस समय प्रबल शोक की आग से पूर्णिमा के चन्द्र के समान चमचमाता हुआ सीता जी का मुखमण्डल, जल से निकाले हुए कमल की तरह, मुरझा गया ॥ २५ ॥

तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम् ।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा ॥ २६ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने मूर्च्छितप्राय और शोकविकल जानकी जी को, अपनी दोनों भुजाओं से आलिङ्गन कर, उनको विश्वास दिलाते हुए कहा, ॥ २६ ॥

न देवि तव दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये ।
न हि मेऽस्ति भयं किञ्चित्स्वयंभोरिव सर्वतः ॥ २७ ॥

हे देवि! तुझे कष्ट दे कर मुझे स्वर्ग की भी चाहना नहीं है। (तू जो यह कहती है कि, डर के मारे मैं तुझे वन नहीं ले जाना चाहता—सो ठीक नहीं, क्योंकि) मुझे कुछ भी भय नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मा जी किसी से नहीं डरते; वैसे ही मैं भी सब से निर्भय हूँ ॥ २७ ॥

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने ।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे ॥ २८ ॥

(तेरा यह कहना भी ठीक नहीं कि, तुम हज़ारों का पालन और रक्षा कर सकते हो, तब क्या वन में मुझ अकेली की रक्षा और पालन न कर सकोगे—क्योंकि) मैं सब भांति तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ, किन्तु मुझे तुम्हारे मन का अभिप्राय मालूम नहीं था, इसी लिये मुझे तुम्हारा वन में रहना पसन्द नहीं था ॥ २८ ॥

यत्सृष्टाऽसि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि ।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता[1] यथा ॥२९॥

यदि तुम मेरे साथ वनवास के ही लिये बनायी गयी हो—अथवा तुम्हारे भाग्य में यदि मेरे साथ वनवास ही लिखा है, तो मैं तुम्हें छोड़ कर, वैसे ही नहीं जा सकता, जैसे शीलवान् अपनी कीर्ति नहीं छोड़ सकता ॥ २९ ॥

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा ।
तं चाहमनुवर्तेऽद्य यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ३० ॥

हे गजनासोरु! पहले के सज्जन लोग जैसा धर्माचरण कर चुके हैं, उसीका अनुसरण मैं भी करूँगा और तू भी कर। जैसे सुवर्चला देवी सूर्य भगवान का अनुसरण करती हैं, वैसे ही तू भी मेरा अनुसरण कर ॥ ३० ॥

न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि ।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥ ३१ ॥

हे जनकनन्दिनी! मैं अपनी इच्छा से वन नहीं जा रहा। किन्तु सत्य के पाश में बँधे हुए पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये मैं वन जा रहा हूँ ॥ ३१ ॥

---

1 आत्मवता—शीलवता। (गो०)

एष धर्मस्तु सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता ।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३२ ॥

हे सुश्रोणि ! पिता और माता का कहना मानना ही पुत्र के लिये धर्म है। पिता माता की आज्ञा को उल्लङ्घन कर, मैं जीना भी नहीं चाहता ॥ ३२ ॥

स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ।
अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ॥ ३३ ॥

जो दैव अर्थात् प्रत्यक्ष प्रगट नहीं है, उसके ऊपर भरोसा कोई कैसे कर सकता है ; किन्तु माता, पिता और गुरु तो प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं, अतः इनकी आज्ञा का उल्लङ्घन न करना चाहिये ॥ ३३ ॥

यत्त्रयं तत्त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥ ३४ ॥

जिनकी (अर्थात् माता, पिता और गुरुजनों की) आराधना करने से अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों की प्राप्ति होती है और जिनकी आराधना करने से तीनों लोकों की आराधना हो जाती है, उनकी आराधना से बढ़ कर, पवित्र कार्य इस पृथिवी तल पर दूसरा कोई नहीं है, इसी लिये मैं इनकी आराधना करता हूँ ॥ ३४ ॥

न सत्यं दानमानौ वा न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणाः ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्हिता[1] ॥ ३५ ॥

---

१ हिता—हितकारी । (गो०) * पाठान्तरे—"अतश्च तं ।"

हे सीते ! सत्य, दान, मान और दक्षिणा सहित यज्ञ, परलोक-प्राप्ति के लिये उतने हितकर नहीं, जितनी कि पिता आदि गुरु जनों की सेवा है। अर्थात् पितादि गुरुजनों की सेवा करने से परलोक में जो फल प्राप्त होता है, वह फल सत्य बोलने, दान मानादि करने से अथवा दक्षिणा सहित यज्ञ करने से प्राप्त नहीं होता ॥३५॥

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्राः सुखानि च।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥ ३६ ॥

जो लोग पिता मातादि गुरुजनों की सेवा किया करते हैं, उनके लिये, केवल स्वर्गादि लोक, धन धान्य, विद्या, सन्तानादि के सुख ही नहीं, किन्तु उनको कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ ३६ ॥

देवगन्धर्वगोलोकान्ब्रह्मलोकांस्तथा नराः।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥ ३७ ॥

जो महात्मा लोग माता पिता की सेवा किया करते हैं, उनको देवलोक, गन्धर्वलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकों की भी प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

स मां* पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥ ३८ ॥

अतः सत्यमार्ग में स्थित मेरे पिता मुझे जो आज्ञा दें, मुझे तदनुसार ही करना चाहिये। यही सनातन धर्म है ॥ ३८ ॥

मम सन्ना[1] मतिः सीते त्वां नेतुं दण्डकावनम्।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता ॥३९॥

---

१ सन्ना—तद्भावापरिज्ञानात्क्षीणा। (गो०) * पाठान्तरे "मा।"

हे सीते प्रथम तो, तुम्हारे मन का अभिप्राय न जानने के कारण मेरी इच्छा तुम्हें अपने साथ वन में ले चलने की न थी, किन्तु अब मैंने तुम्हारी दृढ़ता देख—तुम्हें अपने साथ दण्डकवन में ले चलने का भली भाँति निश्चय कर लिया है ॥ ३६ ॥

सा हि सृष्टाऽनवद्याङ्गी वनाय मदिरे क्षणे
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ॥ ४० ॥

क्योंकि जब तू वन जाने ही के लिये बनायी गयी, है तब हे मदिरेक्षणे! (लाल लाल नेत्रों वाली!) तू मेरे साथ वन को चल और मेरे धर्मानुष्ठान में तू भी योग दे ॥ ४० ॥

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च ।
व्यवसायमतिक्रान्ता सीते त्वमतिशोभनम् ॥ ४१ ॥

हे सीते! तूने जो मेरे साथ वन में चलना विचारा है, सो यह बहुत ही अच्छी बात है और तेरा मेरे साथ चलना मेरे और मेरे कुल के सर्वथा अनुरूप कार्य है ॥ ४१ ॥

आरभस्व गुरुश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः ।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥ ४२ ॥

हे गुरुश्रोणि! अब वनवास की तैयारी कर। इस समय तेरे बिना मुझे स्वर्ग भी नहीं रुचता ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम् ।
देहि चाशंसमानेभ्यः सन्त्वरस्व च मा चिरम् ॥४३॥

अतः ब्राह्मणों को सब रत्न दान कर और भिक्षुकों को भोजन दे कर, चलने की जल्दी तैयारी कर। देर न होने पावे ॥ ४३ ॥

भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च ।
रमणीयाश्च ये केचित्क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः ॥ ४४ ॥

अपने बहुमूल्य भूषण, और अनेक प्रकार के श्रेष्ठ वस्त्र तथा अन्य जो कुछ तेरे और मेरे विनोद का सामान है, वह सब ॥ ४४ ॥

शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च ।
देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥ ४५ ॥

और मेरे और अपने ओढ़ने बिछौने, सवारी आदि ब्राह्मणों को दे कर, जो बचें—उन्हें नौकरों चाकरों को दे दो ॥ ४५ ॥

अनुकूलं तु सा भर्तुर्ज्ञात्वा गमनमात्मनः ।
क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेवोपचक्रमे ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को अपने अनुकूल देख और उनके साथ अपना वनगमन निश्चय जान, सीता जी प्रसन्न हुईं और (पति की आज्ञा के अनुसार) सब वस्तुएँ देने लगीं ॥ ४६ ॥

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा[1]
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम् ।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना
प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी ॥ ४७ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ प्रतिपूर्णमानसा—निश्चिन्तेत्यर्थः । (गो०)

यशस्विनी सीता, पति को अपने अनुकूल बोलते देख, प्रसन्न और निश्चिन्त हो गयी। मनस्विनी जानकी जी धर्मात्मा ब्राह्मणों को धन, रत्नादि अपनी सब वस्तुएँ दान करने लगीं ॥४७॥

अयोध्याकाण्ड का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

एकत्रिंशः सर्गः

—:*:—

एवं श्रुत्वा तु संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः।
बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी और सीता जी की इस प्रकार आपस में बातचीत आरम्भ होने के पूर्व ही लक्ष्मण वहाँ पहुँच गये थे। इस बातचीत को सुन, मारे दुःख के लक्ष्मण जी की आँखों से अश्रु की धाराएँ बहने लगीं। वे इस समय शोक के वेग को रोकने में असमर्थ थे ॥ १ ॥

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम् ॥ २ ॥

लक्ष्मण जी ने भाई के चरणों में प्रणाम कर, महायशस्विनी जानकी जी और महाव्रतधारी श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २ ॥

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वाऽनुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥ ३ ॥

यदि मृग और गजों से भरे हुए वन में जाने का आप निश्चय कर चुके हैं, तो मैं आपके आगे धनुष बाण ले कर चलूँगा ॥ ३ ॥

मया समेतोऽरण्यानि बहूनि विचरिष्यसि ।
पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥ ४ ॥

मेरे साथ आप उन रमणीय वनों में, जिनमें पक्षी और हिरनों के झुण्ड चारों ओर नाना प्रकार के शब्द करेंगे, घूमना ॥ ४ ॥

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।
ऐश्वर्यं वाऽपि लोकानां कामये न त्वया विना ॥५॥

हे श्रीरामचन्द्र ! आपको छोड़, न तो मुझे देवलोक की, न अमरत्व की, और न अन्य लोकों के ऐश्वर्य की चाहना है ॥ ५ ॥

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः ।
रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर और उनको वन में जाने को उद्यत देख, बहुत प्रकार से समझाया, और वन में चलने को वर्जा। तब लक्ष्मण जी फिर बोले ॥ ६ ॥

अनुज्ञातश्च भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम् ।
किमिदानीं पुनरिदं क्रियते मे निवारणम् ॥ ७ ॥

भाई ! पहिले आपने मुझे जो आज्ञा दी थी, उसका निषेध अब आप क्यों करते हैं। अर्थात् आप पहले मुझसे कह चुके हैं कि, वन में चलना, अब आप अपने साथ मुझे ले चलने के लिये मना क्यों करते हैं ? ॥ ७ ॥

यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥ ८ ॥

जिस कारण से आप मुझे वन जाने से रोकते हैं, हे अनघ! वह मैं जानना चाहता हूँ। क्योंकि इस निषेध को सुन, मुझे बड़ा सन्देह हो गया है ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः।
स्थितं प्राग्गामिनं वीरं याचमानं कृताञ्जलिम् ॥९॥

हाथ जोड़ कर, वन जाने के लिये याचना करते हुए और पहिले यात्रा करने के लिये सामने तैयार खड़े हुए लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ ६ ॥

स्निग्धो[1] धर्मरतो वीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो[2] भ्राता चापिसखा च मे ॥१०॥

हे लक्ष्मण! तुम मेरे स्नेही, धर्म में रत, शूर, सदैव सन्मार्ग पर चलने वाले, प्राण के समान प्रिय, मेरे दास, छोटे भाई और मित्र भी हो ॥ १० ॥

मयाऽद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।
को भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥११॥

(अतः तुम्हारे मेरे साथ चलने से मुझे सब प्रकार का सुपास होगा; किन्तु) यदि आज तुम मेरे साथ वन चल दिये, तो यशस्विनी माता कौशल्या और सुमित्रा का पालन कौन करेगा? ॥ ११ ॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥ १२ ॥

---

१ स्निग्धः—मद्विषयकस्नेहवान्। (शि०) २ इतरेषामवश्यः ममतु विधेयो किङ्करः। (स०)

देखो जो महातेजस्वी महाराज, सब के मनोरथों को उसी प्रकार पूर्ण करते थे, जिस प्रकार मेघ पृथिवी के सब मनोरथों को पूर्ण करते हैं, वे तो कामवश हो रहे हैं ॥ १२ ॥

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता ।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥१३॥

अश्वपति की बेटी कैकेयी जब राजमाता होगी, तब वह अपनी दुःखिनी सौतों के प्रति अच्छा बर्ताव न करेगी ॥ १३ ॥

न स्मरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥ १४ ॥

वह न तो कौशल्या का और न सुमित्रा ही का ध्यान रखेगी। भरत जी (भी) राज्य पा कर, कैकेयी ही के आज्ञानुसार काम करेंगे ॥ १४ ॥

तमार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा ।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थमिमं चर ॥ १५ ॥

अतः हे लक्ष्मण ! तुम यहीं रह कर, स्वयं अथवा राजा के अनुग्रह को प्राप्त कर, अथवा जैसे हो वैसे, कौशल्यादि का भरण पोषण करो। यह मेरा कथन तुमको पूरा करना उचित है ॥ १५ ॥

एवं मम च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता ।
धर्मज्ञ गुरुपूजायां[1] धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥ १६ ॥

हे धर्मज्ञ ! इस प्रकार कार्य करने से, मेरे में तुम्हारी परम भक्ति प्रदर्शित होगी और साथ ही माताओं की सेवा से तुमको बड़ा भारी पुण्य भी होगा ॥ १६ ॥

---

1 गुरुपूजां—मातृशुश्रूषणं । (गो०)

एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन ।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत्सुखम् ॥ १७ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरा कहना मान कर, तुम ऐसा ही करो । क्योंकि हम दोनों के यहाँ न रहने पर हमारी माताओं को सुख न होगा ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥१८॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने जब कहा, तब लक्ष्मण जी ने वाक्य-विशारद श्रीरामचन्द्र जी को मधुर वचनों से उत्तर दिया ॥ १८ ॥

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति ।
कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नात्र संशयः ॥१९॥

हे वीर ! आपके प्रताप से भरत जी कौशल्या और सुमित्रा का प्रतिपालन करेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १९ ॥

[यदि दुष्टो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम् ।
प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥ २० ॥

हे वीर ! और यदि दुष्ट भरत इस उत्तम राज्य को पा कर, दुष्टता से और विशेष कर गर्व से, माताओं की रक्षा न करेंगे, ॥ २० ॥

तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः ।
तत्पक्ष्यानपि तान्सर्वांस्त्रैलोक्यमपि किं नु सा ॥२१॥]

तो मैं उस नीच और नृशंस को मार डालूँगा—इसमें भी सन्देह नहीं है । उसकी हिमायत में भले ही तीनों लोक ही क्यों

न खड़े हों—मैं उसके सब हिमायतियों अथवा पक्षपातियों का संहार करूँगा ॥ २१ ॥

कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रामपि मद्विधान् ।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम्* ॥ २२ ॥

हे आर्य ! माता कौशल्या तो मुझ जैसे हज़ारों का स्वयं भरण पोषण कर सकती हैं, क्योंकि जिनके नेग पाने वाले सहस्रों गाँवों के मालिक हैं ॥ २२ ॥

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च ।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय यशस्विनी ॥ २३ ॥

वे यशस्विनी माता कौशल्या अवश्य ही अपना और मेरी माता का अथवा मुझ जैसे (हज़ारों) का पालन भली भाँति कर सकती हैं ॥ २३ ॥

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते ।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते ॥ २४ ॥

अतएव आप मुझे अपना अनुचर बनाइये । मेरे वन चलने में कुछ भी अधर्म न होगा । प्रत्युत मैं तो कृतार्थ हो जाऊँगा और आपका भी अर्थ साधन होगा ॥ २४ ॥

धनुरादाय सशरं खनित्रपिटकाधरः ।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानमनुदर्शयन् ॥ २५ ॥

(अर्थसाधन क्या होगा ? यही) मैं तीरों सहित धनुष, खंता (ज़मीन से कंदमूल खोदने का औज़ार) और बाँस की बनी फल फूल रखने की कंडी लिये हुए, आपके आगे आगे मार्ग बतलाता हुआ चलूँगा ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे "जीवनम् ।"

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि यानि चान्यानि स्वाहाराणि[1] तपस्विनाम् ॥२६॥

और कन्दमूल तथा फल तथा तपस्वियों के भोजन करने योग्य वन में उत्पन्न होने वाले शाक पातादि तथा अन्य वस्तुएँ भी नित्य ला दिया करूँगा ॥ २६ ॥

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः[2] स्वपतश्च ते ॥ २७ ॥

आप वैदेही सहित पर्वतों के शिखरों पर विहार कीजियेगा। मैं सोते जागते अर्थात् हर समय आपके सब काम कर दिया करूँगा ॥ २७ ॥

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम्।
व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम् ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, अति प्रसन्न हो, उनसे बोले—हे लक्ष्मण ! तुम माता सुमित्रा और अपने सब सुहृज्जनों से मेरे साथ वन चलने की आज्ञा ले आओ ॥ २८ ॥

ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्।
जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने ॥ २९ ॥

और वरुण देव ने स्वयं राजर्षि जनक के, उनके महायज्ञ में जो रौद्र रूप दो धनुष ॥ २९ ॥

*अभेद्यकवचे दिव्ये तूणी चाक्षयसायकौ।
आदित्यविमलौ चोभौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ ॥ ३० ॥

---

१ स्वाहाराणि—सुखेनाहर्तुं भोक्तुं योग्यानि। (गो०) २ जाग्रतः स्वपतश्चेत्यनेन स्वस्य निद्रा वशीकरण सामर्थ्यं सूचितम्। (शि०)

* पाठान्तरे "लमेघ।"

सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि ।
स त्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण ॥ ३१ ॥

अमोघ कवच और दिव्य दो अक्षय तरकस (ऐसे तरकस जिनसे बाण कभी चुकते ही न थे) और सूर्य की तरह चमचमाती और सुनहले काम की दोनों तलवारें दी थीं, और (जो हमें महाराज जनक से विवाह के दहेज़ में मिली हैं) जो वशिष्ठ जी के घर में बड़ी चौकसी के साथ रखे हैं, लक्ष्मण! इस समय तुम उन सब आयुधों को ले कर, जल्दी यहाँ चले आओ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः ।
इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

अपना वन जाना निश्चित हुआ जान, लक्ष्मण जी ने सुहृज्जनों से विदा माँगी और वशिष्ठ जी के घर से, उन उत्तम आयुधों को ले आये ॥ ३२ ॥

तद्दिव्यं रघुशार्दूल सत्कृतं माल्यभूषितम् ।
रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम् ॥ ३३ ॥

जो बड़े यत्न से रखे हुए थे और जो पुष्पों से भूषित थे। उन सब आयुधों को वहाँ से लक्ष्मण जी ने ला कर, श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाया ॥ ३३ ॥

तमुवाचात्मवान्रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम् ।
काले त्वमागतः सौम्य काङ्क्षिते मम लक्ष्मण ॥३४॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने (आये हुए) लक्ष्मण जी से प्रसन्न हो कर, कहा—हे सौम्य! तुम भले समय पर आ गये ॥ ३४ ॥

अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम् ।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परन्तप ॥ ३५ ॥

हे भाई ! मेरे पास जो कुछ धन है—उसे मैं ब्राह्मणों और तपस्वियों को देना चाहता हूँ । सो तुम इस कार्य में मुझे सहायता दो ॥ ३५ ॥

[1]वसन्तीह[2] दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः ।
तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥ ३६ ॥

इस नगर में जो ब्राह्मणोत्तम गुरु में दृढ़ भक्ति रखने वाले बसते हैं, उन सब को और अपने नौकरों चाकरों को धन देना उचित है ॥ ३६ ॥

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्यं
त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम् ।
अभिप्रयास्यामि वनं समस्ता-
नभ्यर्च्य शिष्टानपरान्द्विजातीन् ॥ ३७ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

वशिष्ठ जी के पुत्र सुयज्ञ को जो ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं, तुम जा कर, शीघ्र बुला लाओ । मैं इनका तथा अन्य शिष्ट ब्राह्मणों का सत्कार कर, वन जाऊँगा ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

---

१ वसन्ति—गुरुषुभक्त्या ये दृढं वसन्ति । (गो॰) २ इह नगरे । (गो॰)

द्वात्रिंशः सर्गः

—:o:—

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः शुभतरं प्रियम् ।
गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पाने पर, लक्ष्मण जी सुयज्ञ के घर गये ॥ १ ॥

तं विप्रमग्न्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः ॥ २ ॥

और यज्ञशाला में बैठे हुए सुयज्ञ को प्रणाम कर बोले—हे मित्र! श्रीरामचन्द्र जी राज छोड़ कर, वन जा रहे हैं, सो आप घर चलिये और देखिये कि, वे कैसा दुष्कर कर्म कर रहे हैं ॥ २ ॥

ततः सन्ध्यामुपास्याशु गत्वा सौमित्रिणा सह ।
जुष्टं तत्प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, सुयज्ञ ने सन्ध्योपासन शीघ्र समाप्त किया और वे लक्ष्मण जी के साथ सुशोभित रमणीक राम-भवन में पहुँचे ॥ ३ ॥

तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह ।
सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥ ४ ॥

वेदविद् और अग्नि के समान तेजस्वी सुयज्ञ को आते देख, सीता समेत श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े उठ खड़े हुए ॥ ४ ॥

जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः ।
सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि ॥ ५ ॥

और घच्छे घच्छे सोने के गहने, सुन्दर कुण्डल, सुवर्ण सूत्र में गुथी मणियों की माला, केयूर (वा,जूबंद) कंकण ॥ ५ ॥

अन्यैश्च रत्नैर्बहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत् ।
सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदितः ॥ ६ ॥

तथा अन्य भूषणों तथा बहुत से रत्नों से श्रीरामचन्द्र जी ने उनका पूजन किया। तदनन्तर सीता जी की प्रेरणा से श्रीरामचन्द्र सुयज्ञ से बोले ॥ ६ ॥

हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय ।
रशनां[1]चाधुना सीता दातुमिच्छति ते सखे ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! यह हार और यह सोने की गुंज लो। हे सखे ! सीता जी ये तुम्हारी स्त्री के लिये देना चाहती हैं ॥ ७ ॥

अङ्गदानि विचित्राणि केयूराणि शुभानि च ।
प्रयच्छति सखे तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥ ८ ॥

इनके अतिरिक्त ये बढ़िया बाजूबंद की जोड़ी तथा ये दिव्य केयूर, मेखला मेरे साथ वन को जाने वाली सीता, तुम्हारी स्त्री को देती हैं ॥ ८ ॥

पर्यङ्कमग्र्यास्तरणं नानारत्नविभूषितम् ।
तमपीच्छति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥ ९ ॥

इस पलंग को भी जो कोमल स्वच्छ बिछौनों से युक्त है और जिसमें तरह तरह के रत्न जड़े हुए हैं, वैदेही आप ही को देना चाहती हैं ॥ ९ ॥

1 रशनांचते—भार्यायै सीतादातुमिच्छति तत्सर्वंहारय दापयेत्यर्थः । (गो०)

नागः शत्रुञ्जयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम ।
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव ॥ १० ॥

यह शत्रुञ्जय नाम का हाथी, जो मुझे अपने मामा से मिला है, सो हे द्विजोत्तम! मैं तुम्हें हज़ार निष्क दक्षिणा सहित देता हूँ ॥ १० ॥

इत्युक्तः स हि रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत् ।
रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाशिषः*शिवाः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कह कर दिये हुए पदार्थों को ले, सुयज्ञ ने श्रीराम लक्ष्मण और सीता को शुभाशीर्वाद दिया ॥ ११ ॥

अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः प्रियंवदः ।
सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर, जिस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा जी इन्द्र से बोलते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने अव्यग्र और प्रियवचन बोलने वाले, प्रिय लक्ष्मण जी से कहा ॥ १२ ॥

अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ ।
आर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सस्यमिवाम्बुभिः ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण! अगस्त्य और विश्वामित्र के पुत्रों को भी बुला लो और इन दोनों उत्तम ब्राह्मणों को भी उसी प्रकार से रत्नों से सत्कारित करो, जिस प्रकार अनाज का खेत जल से सींचा जाता है ॥ १३ ॥

तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रैश्च मानद ।
सुवर्णै रजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"शुभाः ।"

दोनों को एक एक हज़ार गौएँ और बहुमूल्य सोने चाँदी के मणिजटित आभूषण तथा बहुत सा धन दे कर तृप्त करो ॥ १४ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च भक्तः पर्युपतिष्ठति ।
आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥ १५ ॥

तैतरीय शाखा के आचार्य इस ब्राह्मण को, जो कौशल्या और सुमित्रा को नित्य बड़ी भक्ति के साथ आशीर्वाद दिया करता है और सब वेद वेदान्त का जानने वाला है और सब प्रकार से योग्य है ॥ १५ ॥

तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।
कौशेयानि च वस्त्राणि यावत्तुष्यति स द्विजः ॥ १६ ॥

सवारी, दासियाँ और रेशमी वस्त्र दो, जिससे यह ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जाय ॥ १६ ॥

सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः ।
तोषयैनं महार्हैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥ १७ ॥

यह श्रेष्ठ चित्ररथ नाम का पुरुष, जो मेरा मंत्री है और बहुत दिनों से मेरे यहाँ रहता है, इसको बहुमूल्य रत्न, वस्त्र और धन दे कर सन्तुष्ट करो ॥ १७ ॥

पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।
ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः[1] ॥ १८ ॥

ये जो मेरे कठ और कलाप शाखाध्यायी बहुत से ब्रह्मचारी हैं, इनको दस हज़ार गौएँ और अन्य बहुत से पशु दो ॥ १८ ॥

---

1 दण्डमाणवाः—सदापलाशदण्ड धारिणो ब्रह्मचारिण इत्यर्थः । (गो०)

नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत्कुर्वन्ति किञ्चन ।
अलसाः स्वादुकामाश्च महतां[1] चापि सम्मताः ॥ १९ ॥

क्योंकि वे सदा वेद पढ़ा करते हैं और कोई दूसरा काम नहीं करते। ये भिक्षावृत्ति करने में आलसी तो हैं, किन्तु स्वादिष्ट पदार्थ खाने को उनकी बड़ी इच्छा रहती है, किन्तु हैं वे बड़े सदाचारी ॥ १९ ॥

तेषामशीतियानानि[2] रत्नपूर्णानि दापय ।
शालिवाहसहस्रं[3] च द्वे शते भद्रकां[4]स्तथा ॥ २० ॥

अतः इनको रत्नों से भरे अस्सी ऊँट, शालि नामक अन्न से भरे एक हज़ार तथा खेती के काम योग्य दो सौ बैल दो ॥ २० ॥

व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु ।
मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः ॥ २१ ॥

दही, घी, दूध खाने के लिये इनको अनेक गौएँ भी दे दो। देखो मेखला धारण किये हुए ब्रह्मचारियों की जो भीड़ माता कौशल्या के पास उपस्थित है, ॥ २१ ॥

तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ।
अम्बा यथा च सा नन्देत्कौसल्या मम दक्षिणाम् ॥२२॥

---

१ महतां चापि सम्मताः—अतीव साध्वाचारा इत्यर्थः । (गो०)
२ यानानि—उष्ट्राः । (गो०) ३ शालिवाहसहस्रं—शालिधान्यवाहकबलीवर्दसहस्रं । (गो०) ४ भद्रकान—कर्षणयोग्याननडुहइत्यर्थः । (गो०)

उनमें से प्रत्येक को सहस्र गौ और सहस्र निष्क दे दो। अथवा जितनी दक्षिणा देने से माता कौशल्या आनन्दित हों, उतनी उतनी दक्षिणा ॥ २२ ॥

तथा द्विजातींस्तान्सर्वाल्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ।
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद्धनं लक्ष्मणः स्वयम् ॥ २३ ॥

उनको दे कर, हे लक्ष्मण! उन सब ब्राह्मणों का सत्कार करो। श्रीरामचन्द्र के इन वचनों को सुन, पुरुषश्रेष्ठ श्रीलक्ष्मण जी ने स्वयं ॥ २३ ॥

यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद्धनदो यथा ।
अथाब्रवीद्बाष्पकलांस्तिष्ठतश्चोपजीवनः ॥ २४ ॥

वह समस्त धन कुबेर की तरह उन ब्राह्मणों को दे दिया जैसा कि, श्रीरामचन्द्र जी ने देने को कहा था। तदनन्तर उन उपजीवियों (नौकरों तथा नेगियों) में से, जो खड़े खड़े रो रहे थे, ॥ २४ ॥

सम्प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ।
लक्ष्मणस्य च यद्वेश्म गृहं च यदिदं मम ॥ २५ ॥
अशून्यं[1] कार्यमेकैकं[2] यावदागमनं मम ।
इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् ॥ २६ ॥

प्रत्येक को जीविका के लिये बहुत सा द्रव्य दे कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा—जब तक मैं वन से लौट कर न आऊँ,

---

१ अशून्यं—यथापूर्वंभवद्भिरुपविश्य रक्षणीयमित्यर्थः । (गो०)
२ एकैकं—पृथक् पृथक् । (गो०)

तब तक लक्ष्मण का और मेरा घर खाली न रहने पावे और आप लोग एक एक कर (अर्थात् बारी बारी से) जैसी कि मेरे सामने रखवाली करते हैं वैसी ही मेरे पीछे भी किया करना। सब नौकरों चाकरों को दुःखी देख, श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ २५ ॥ २६ ॥

उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतामिति ।
ततोऽस्य धनमाजह्रुः सर्वमेवोपजीविनः ॥ २७ ॥

खजाञ्ची से कहा धन ले आओ। यह आज्ञा पाते ही नौकरों ने ला कर धन का ढेर लगा दिया ॥ २७ ॥

स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत ।
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद्धनं सहलक्ष्मणः ॥ २८ ॥

उस समय उस धन के ढेर की शोभा देखे ही बन आती थी। तदनन्तर लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने वह धन, ॥ २८ ॥

द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्यदापयत् ।
तत्रासीत्पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः ॥२९॥

ब्राह्मणों, बूढ़ों और दीन दुखियों को बँटवा दिया। वहाँ पर गर्ग गोत्री एक ब्राह्मण था, जिसका नाम त्रिजट था और (चिन्ता के मारे) उसका शरीर पीला पड़ गया था ॥ २९ ॥

उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली ।
तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान् ॥ ३० ॥
अब्रवीद्ब्राह्मणं वाक्यं दारिद्र्येणाभिपीडिता ।
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम ॥ ३१ ॥

वह उञ्छवृत्ति से निर्वाह करता था, वह नित्य फावड़ा, कुदाल तथा हल ले वन जाता और फलमूल जो कुछ वहाँ मिलते उनसे अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करता था। उस बूढ़े की युवती स्त्री, जो दारिद्र्य से पीड़ित थी, छोटे छोटे लड़कों को ला कर, ब्राह्मण से बोली—अब इन फावड़ा कुल्हाड़ी को तो पटक दो और मैं जो कुछ कहूँ, उसे करो ॥ ३० ॥ ३१ ॥

रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किञ्चिदवाप्स्यसि ।
भार्याया वचनं श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम् ॥३२॥

यदि तुम अभी धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी के पास जाओगे तो तुम्हें कुछ न कुछ अवश्य मिल जायगा। स्त्री का वचन सुन, ब्राह्मण पुराने फटे चीथड़े से किसी प्रकार अपना शरीर ढांक ॥ ३२ ॥

स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम् ।
भृग्वङ्गिरसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि ॥ ३३ ॥
आ पञ्चमायाः कक्ष्याया नैनं कश्चिदवारयत् ।
स राजपुत्रमासाद्य त्रिजटो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के घर की ओर चल दिया। उस त्रिजट का तेज भृगु और अंगिरा के समान था। (अर्थात् यद्यपि वह ब्राह्मण चिथड़ा लपेटे हुए था, तथापि वह ऋषियों के समान सदाचारी होने के कारण बड़ा तेजस्वी था—अतः) वह बिना रोक टोक रामभवन की पांचवीं ड्योढ़ी लाँघ, भीतर पहुँचा, जहाँ लोगों की भीड़ लगी थी। वहाँ जा त्रिजट ने राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महायशः ।
उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति ॥ ३५ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार! मैं निर्धन हूँ, तिस पर मेरे बहुत से लड़के वाले भी हैं। मैं वन में जा, उञ्छवृत्ति से जो कुछ पाता हूँ, उसीसे निर्वाह करता हूँ। मेरी ओर भी दयादृष्टि होनी चाहिये ॥ ३५ ॥

तमुवाच तदा रामः परिहाससमन्वितम् ।
गवां सहस्रमप्येकं न तु विश्राणितं[1] मया ॥ ३६ ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने उससे परिहास पूर्वक कहा—हमारे पास हज़ारों गौएँ हैं, जिनको अब तक मैंने नहीं दिया है ॥ ३६ ॥

परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसि ।
स शाटीं त्वरितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम् ॥३७॥

सो तुम अपनी लाठी फेंको, जितनी दूर तुम्हारी लाठी जा कर गिरेगी, उतने बीच में जितनी गौएँ खड़ी हो सकेंगी, उतनी गौएँ मैं तुम्हें दूँगा। श्रीरामचन्द्र जी की यह बात सुन, त्रिजट ने वह चिथड़ा कस कर, तुरन्त कमर में लपेटा ॥ ३७ ॥

आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगितः ।
स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः ॥३८॥

और लाठी घुमा तथा अपना सारा बल लगा उसे फेंका। वह लाठी सरयू नदी के उस पार ॥ ३८ ॥

---

1 न विश्राणितं—न दत्तं। (गो०)

गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षण[1]सन्निधौ ।
तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात्सरयूतटात् ।
आनयामास ता गोपैस्त्रिजटायाश्रमं प्रति ॥ ३९ ॥

जहां हज़ारों गायें और बैलों का झुण्ड था, जा गिरी। उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने उस ब्राह्मण को वहां से सरयू पार तक जितनी गौएँ आ सकती थीं, उन सब को त्रिजट के आश्रम पर भिजवा दिया ॥ ३९ ॥

उवाच च ततो रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन् ।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम ॥ ४० ॥

और उस गर्ग गोत्री ब्राह्मण को सान्त्वना देते हुए श्रीरामचन्द्र जी उससे बोले—हे ब्राह्मण ! क्रोध मत करना। क्योंकि मैंने जो कहा था, वह हँसी में कहा था ॥ ४० ॥

इदं हि [2]तेजस्तव यद्दुरत्ययं[3]
तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया ।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो
वृणीष्व किं चेदपरं व्यवस्यति ॥ ४१ ॥

तुम्हारे अतिशय बल की परीक्षा करने के लिये ही मैंने यह बात तुमसे कही थी। इतनी गौएँ तो आपके स्थान पर पहुँच गयीं—अब इन गौएँ के अतिरिक्त और जो कुछ आप चाहते हों सो कहिये ॥ ४१ ॥

---

१ उक्षणां—वृषभानाम् । (गो०) २ तेजः—बलं । (गो०) ३ दुरत्ययं—निरतिशयं । (गो०)

ब्रवीमि सत्येन न तेऽस्ति यन्त्रणा
धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात् ।
भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन
तन्मयाऽऽर्जितं प्रीतियशस्करं भवेत् ॥ ४२ ॥

मैं सत्य कहता हूँ कि, आपके लिये किसी वस्तु के देने में किसी प्रकार की रोक टोक नहीं है । क्योंकि मेरा समस्त धन ब्राह्मणों ही के लिये तो है । यदि मैं अपनी पैदा की हुई धन सम्पत्ति आप सरीखे ब्राह्मणों को दे दूँ, तो मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हो और मुझे यश भी मिले ॥ ४२ ॥

ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-
र्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः ।
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणी-[1]
स्तदाऽऽशिषः प्रत्यवदन्महात्मनः ॥ ४३ ॥

तब द्विजश्रेष्ठ त्रिजट, अपनी स्त्री सहित प्रमुदित मन से और भी असंख्य गौ ले तथा बल, यश, प्रीति और सुख की वृद्धि के लिये श्रीरामचन्द्र जी को अनेक आशीर्वाद देता हुआ चला गया ॥ ४३ ॥

स चापि रामः परिपूर्णमानसो
महद्धनं धर्मबलैरुपार्जितम् ।
नियोजयामास सुहृज्जने चिरा-
द्यथार्हसम्मानवचःप्रचोदितः ॥ ४४ ॥

---

१ बृंहिणी—वर्धनी । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी शुद्ध और गाढ़ी कमाई के धन को बड़े आदर के साथ अपने सुहृदों को बाँटा ॥ ४४ ॥

द्विजः सुहृद्भृत्यजनोऽथवा तदा
दरिद्रभिक्षाचरणश्च योऽभवत् ।
न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो
यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥ ४५ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

उस समय ऐसा कोई ब्राह्मण सुहृद्, नौकर, निर्धन और भिक्षुक न था, जिसका यथायोग्य दान मान से सत्कार श्रीरामचन्द्र ने न किया हो ॥ ४५ ॥

अयोध्याकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—:o:—

दत्त्वा तु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु ।
जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥ १ ॥

सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी ने ब्राह्मणों को बहुत धन दिया । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता जी मिलने के लिये, महाराज दशरथ के पास गये ॥ १ ॥

ततो गृहीते *प्रेषाभ्यामशोभेतां तदायुधे ।
मालादामभिराबद्धे सीतया समलङ्कृते ॥ २ ॥

* पाठान्तरे "दुष्प्रेक्षे त्वशोभेतां ।"

सीता जी द्वारा फूल चन्दनादि से सजाये हुए आयुध, जिन्हें नौकर लोग लिये हुए थे (और जो श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे जा रहे थे) शोभित हो रहे थे ॥ २ ॥

ततः प्रासादहर्म्याणि[1] विमानशिखराणि[2] च ।
अधिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो[3] व्यलोकयत् ॥ ३ ॥

उस समय पुरवासी लोग देवताओं के मन्दिरों, रईसों के भवनों और सतखने मकानों की अटारियों पर चढ़ और निरुत्सुक हो उन तीनों को देखते थे ॥ ३ ॥

न हि रथ्याः स्म शक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः ।
आरुह्य तस्मात्प्रासादान्दीनाः पश्यन्ति राघवम् ॥ ४ ॥

क्योंकि उस समय रास्तों पर लोगों की ऐसी अपार भीड़ थी कि, लोग निकल बैठ नहीं सकते थे । अतः लोग ऊँचे मकानों की छतों पर बैठ और दुःखी हो, श्रीरामचन्द्र को देखते थे ॥ ४ ॥

पदातिं वर्जितच्छत्रं रामं दृष्ट्वा तदा जनाः ।
ऊचुर्बहुविधा वाचः शोकोपहतचेतसः ॥ ५ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी को पैदल और छत्ररहित जाते देख, लोग अत्यन्त दुःखी होते और अनेक प्रकार की बातें कहते थे ॥ ५ ॥

---

१ प्रसादहर्म्याणि—प्रासादोदेवतानाम्भूभुजांचावासः हर्म्याणि—धनिनां मन्दिराणि । (गो०) २ विमानशिखराणि—विमानं सप्तभूमि सहितंसद्म । (गो०) ३ उदासीनः—निरुत्सुकः । (गो०)

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत् ।
तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

कोई कहता—देखो, जिसके पीछे, यात्रा करते समय, चतुरङ्गिणी सेना चलती थी, उसके पीछे केवल सीता सहित लक्ष्मण चलते हैं ॥ ६ ॥

ऐश्वर्यस्य रसज्ञः[1] सन्कामिनां[2] चैव कामदः[3] ।
नेच्छत्येवानृतं कर्तुं पितरं धर्मगौरवात्[4] ॥ ७ ॥

कोई कहता—जो श्रीरामचन्द्र जी सब ऐश्वर्यों के सुखों का अनुभव करने वाले और अर्थार्थियों को यथेच्छित धन देने वाले हैं, वे ही आज अपने कर्त्तव्यपालन के अनुरोध से पिता के वचन को मिथ्या करना नहीं चाहते ॥ ७ ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥ ८ ॥

कोई कहता जिन सीता जी को पहिले आकाशचारी प्राणी भी नहीं देख सकते थे, उन्हीं सीता जी को आज राह चलते लोग देख रहे हैं ॥ ८ ॥

[नोट—इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि, रामायणकाल में स्त्रियों के लिये परदे में रहने की प्रथा प्रचलित थी ।]

---

१ रसज्ञः—संग्रहसुखज्ञः । (रा०) २ कामिनां—अर्थकाङ्क्षिणाम् । (गो०) ३ कामदः—अभीष्टधनप्रदः । (गो०) ४ धर्मगौरवात्—पितृशुश्रूषण वचनकरण विधेयत्वादि रूपधर्म विषयक बहुमानात् । (गो०)

अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम् ।
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यन्त्याशु विवर्णताम् ॥ ९ ॥

कोई कहता—चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं के लगाने योग्य जानकी जी को, वन में वर्षा, शीत, गरमी विवर्ण (शरीर का रंग और का और) कर देंगी ॥ ९ ॥

अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते ।
न हि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमिच्छति ॥ १० ॥

कोई कहता—निश्चय ही महाराज दशरथ के सिर भूत सवार है, नहीं तो ऐसे प्यारे पुत्र को वे वनवास कभी न देते ॥ १० ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद्विप्रवासनम् ।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥११॥

कोई कहता—लोग अपने गुणहीन पुत्र को भी घर से नहीं निकालते, फिर श्रीरामचन्द्र जी ने तो अपने सदाचरण से यह लोक जीत लिया है। अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी संसार में सदाचारी कहला कर प्रसिद्ध हैं ॥ ११ ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं[1] शीलं[2] दमः[3] शमः[4] ।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥ १२ ॥

कोई कहता—(केवल सदाचार ही के लिये नहीं—प्रत्युत) अहिंसा, दया, यथाविधि शास्त्राध्ययन, सत्स्वभाव, इन्द्रियों का

---

१ श्रुतं—अनुष्ठानपर्यवसायिशास्त्राध्ययनम् । (रा०) २ शीलं—सत्स्वभावः (रा०) ३ दमः—बाह्येन्द्रिय निग्रहः । (रा०) ४ शमः—चित्तनिग्रहः । (रा०)

निग्रह, मन का निग्रह इन छः गुणों से श्रीरामचन्द्र जी शोभित हैं अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी में ये छः गुण हैं ॥ १२ ॥

तस्मात्तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।
औदकानीव सत्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥१३॥

ऐसे (गुणी पुत्र) श्रीरामचन्द्र जी के वन जाने से लोगों को वैसा ही महाकष्ट हो रहा है, जैसा कि, ग्रीष्मकाल में जल के अभाव से जलजन्तुओं को होता है ॥ १३ ॥

पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः ।
मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥ १४ ॥

कोई कहता—जगत्पति श्रीरामचन्द्र के कष्ट से सारा संसार कष्ट पा रहा है। जैसे जड़ काटने से फला फूला पेड़ सूख जाता है ॥ १४ ॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥ १५ ॥

अत्यन्त कान्ति वाले और धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी (वृक्ष के) जड़ स्थानीय हैं और अन्य लोग (उस वृक्ष के) पुष्प, फल, पत्र, शाखा आदि स्थानीय हैं ॥ १५ ॥

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्नीकाः सबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥ १६ ॥

अतएव हम लोग भी लक्ष्मण की तरह, अपनी स्त्रियों को साथ ले, अपने भाई बन्दों सहित, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे शीघ्र जायँगे ॥ १६ ॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
एकदुःखसुखा[1] राममनुगच्छाम धार्मिकम् ॥ १७ ॥

कोई कहता—हम लोग बाग बगीचा, खेती बारी और घर द्वार छोड़, बराबर सुख दुःख सहते, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे जाँयगे ॥ १७ ॥

[नोट—घर द्वार छोड़ कर जब लोग चल देंगे तब घरों की क्या दशा होगी, वही प्रजाजन आगे कहते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं, कि जब हम सब अयोध्या छोड़ चले जाँयगे, तब श्मशान तुल्य पुरी में कैकेयी शासन करे ।]

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि[2] सर्वशः ॥ १८ ॥
रजसाऽभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः[3] ।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥ १९ ॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।
प्रनष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥ २० ॥
दुष्कालेनेव[4] भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।
अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि कैकेयी प्रतिपद्यताम् ॥ २१ ॥

जिन घरों को हम त्याग देंगे, उनमें धन नहीं रह जायगा, उनके आँगन टूट फूट जाँयगे, उनमें अन्न और धन रहने न पावेगा, उनकी रमणीयता नष्ट हो जायगी, धूल गरदा भर जायगी, गृह

---

१ एकदुःखसुखाः—समान सुखदुःखाः । (गो०) २ साराणि—शय्यासनादीनि । (गो०) ३ दैवतैः—गृहदैवतैः । ४ दुष्काले—राजिक दैविक क्षोभकालः । (रा०)

देवता घरों से चल देंगे, मूँसे दौड़ लगाया करेंगे, घर भर में बिल ही बिल देख पड़ेंगे, उनमें जल की बूँद भी न देख पड़ेगी, लिपाई पुताई न होने से मकान धुमैले और स्वच्छता रहित हो जाँयगे, उनमें बलिवैश्वदेव, होम, जप होना बंद हो जायगा, उनमें टूटे फूटे बरतन इधर उधर पड़े देख पड़ेंगे, मानों राजा और दैव के कोप से वे दुर्दशाग्रस्त हो रहे हों—ऐसे घरों से युक्त अयोध्या का राज्यसुख, कैकेयी भोगे ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥ २२ ॥

(कोई कहता हमारी तो ईश्वर से यह प्रार्थना है कि,) जिस वन में श्रीरामचन्द्र जी जाँय वहाँ तो नगर बस जाय, और हमारी छोड़ी हुई यह अयोध्यापुरी वन हो जाय । (अर्थात् वन बसे अयोध्या उजड़े) ॥ २२ ॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्यस्मद्भयाद्भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥२३॥

हमारे भय से भीत हो सर्पादि अपने बिलों को, मृग और पक्षी पर्वत शृङ्गों को तथा हाथी एवं सिंह वनों को त्याग, इस अयोध्यापुरी में आ कर बसें ॥ २३ ॥

अस्मत्त्यक्तं प्रपद्यन्तां सेव्यमानं त्यजन्तु च ।
तृणमांसफलादानां देशं व्यालमृगद्विजम् ॥ २४ ॥
प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सहबान्धवैः ।
राघवेण वने सर्वे सहवत्स्याम निर्वृताः ॥ २५ ॥

हमारी छोड़ी हुई इस प्रकार की पुरी में, जिसमें केवल घास फूस, मांस और फल मिल सकेंगे और जो साँपों, मृगों और पक्षियों से भरी हुई होगी—कैकेयी अपने पुत्र और भाई बन्दों के सहित राजसुख भोगे और हम सब श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन में सुखपूर्वक वास करें ॥ २४ ॥ २५ ॥

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः ।
शुश्राव रामः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥२६॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार की विविध बातें अनेक लोगों के मुख से सुनते जाते थे, तथापि उनकी इन बातों को सुनने से उनके मन में ज़रा सा भी विकार उत्पन्न नहीं होता था ॥ २६ ॥

स तु वेश्म पितुर्दूरात्कैलासशिखरप्रभम् ।
अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी धीरे धीरे मतवाले हाथी की तरह विक्रम प्रदर्शित करने वाली चाल से, कैलाशशृङ्ग के समान एवं शोभित पिता जी के भवन की ओर जाने लगे ॥ २७ ॥

विनीतवीरपुरुषं स प्रविश्य नृपालयम् ।
ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः ॥ २८ ॥

राजमहल के द्वार पर वीर लोग विनीत भाव से खड़े थे। श्रीरामचन्द्र जी उनके पास से आगे बढ़े और थोड़ी ही दूर पर उदास मन खड़े हुए सुमंत्र को देखा ॥ २८ ॥

प्रतीक्षमाणोऽपि जनं तदाऽऽर्त-
मनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ ।

जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः
पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः ॥ २९ ॥

वहां के लोग जो श्रीरामचन्द्र जी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, सब के सब शोकाकुल होने के कारण खिन्न थे, उनको देख और मुसक्या, श्रीरामचन्द्र जी पिता को देखने और उनकी आज्ञा का विधिवत् पालन करने को चले जाते थे ॥ २९ ॥

तत्पूर्व[1]मैक्ष्वाकसुतो महात्मा
रामो गमिष्यन्वनमार्तरूपम् ।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम् ॥ ३० ॥

निश्चित राम-वियोग-जनित दुःख से महाराज दशरथ के समीप जाने के पूर्व ऐक्ष्वाकुसुत, महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े पुराने सुमंत्र को द्वार पर अपने आगमन की सूचना महाराज को देने के लिये, खड़ा हुआ देखा ॥ ३० ॥

पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो
वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः ।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-
न्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे ॥ ३१ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ तत्पूर्वं—तस्मात्पितुरपिपूर्वं पौर्वकालिकं सुमंत्रं । (शि०)

धर्मवत्सल पिता की आज्ञा को पूरी करने के लिये, वन जाने का निश्चय किये हुए श्रीरामचन्द्र, सुमंत्र को खड़ा देख, उनसे बोले कि, महाराज को हमारे आने की सूचना दे दो ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का तेतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो* महान्।
उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति ॥ १ ॥

कमलपत्र के समान नेत्र वाले, श्याम अंग, उपमा रहित श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा कि, हमारे आने की सूचना महाराज को दो ॥ १ ॥

स रामप्रेषितः क्षिप्रं सन्तापकलुषेन्द्रियः।
प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र के भेजे हुए सुमंत्र ने तुरन्त भीतर जा कर, वहाँ देखा कि, महाराज दशरथ शोक से विकल उसाँसे ले रहे हैं ॥ २ ॥

[1]उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम्।
तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम् ॥ ३ ॥

उस समय सुमंत्र ने महाराज को राहुग्रस्त सूर्य की तरह अथवा भस्माच्छादित अग्नि की तरह, अथवा जलरहित तड़ाग की तरह, देखा ॥ ३ ॥

---

१ उपरक्तं—राहुग्रस्तं। (गो०) * पाठान्तरे "निरुदरो।"

आलोक्य तु महाप्राज्ञः परमाकुलचेतसम् ।
राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरासदत् ॥ ४ ॥

महापण्डित सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता से विकल और अत्यन्त घबड़ाये हुए महाराज दशरथ जी को देख, हाथ जोड़ कर कहा ॥ ४ ॥

तं वर्धयित्वा[1] राजानं सूतः पूर्वं जयाशिषा ।
भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णमब्रवीत् ॥ ५ ॥

सुमंत्र ने प्रथम तो राजोचित अभिवादन किया, तदुपरान्त महाराज की जय हो कह कर, आशीर्वाद दिया । फिर डरते डरते वे धीमे स्वर से यह मधुर वचन बोले ॥ ५ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं[2] चैवोपजीविनाम् ॥ ६ ॥

हे महाराज ! ये पुरुषसिंह आपके पुत्र द्वार पर खड़े हैं । ब्राह्मणों और अपने नौकर चाकरों को धन और सामान दे ॥ ६ ॥

स त्वा पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वान्सुहृद आपृच्छ्य त्वामिदानीं दिदृक्षते ॥ ७ ॥

और सब सुहृज्जनों से विदा हो, सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्र आपके दर्शन करने के लिये आये हुए हैं ॥ ७ ॥

गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते ।
वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥ ८ ॥

---

१ वर्धयित्वा—सम्पूज्य । (रा०) २ सर्वं—गृहोपकरणादिकं । (गो०)

जिस प्रकार सूर्य भगवान् अपनी किरणों से सुशोभित होते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी भी विविध प्रकार के राजोचित गुणों से शोभित हैं। वे अब शीघ्र ही दण्डकवन को जायगे। सो हे पृथ्वीनाथ! आप उनको दर्शन दीजिये॥ ८॥

स सत्यवादी धर्मात्मा गाम्भीर्यात्सागरोपमः।
आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम्॥ ९॥

सुमंत्र के ये वचन सुन, सत्यवादी, धर्मात्मा, गम्भीरता में समुद्र के समान और आकाश की तरह निर्मल, महाराज दशरथ ने कहा॥ ९॥

सुमन्त्रानय मे दारान्ये केचिदिह मामकाः।
दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि राघवम्*॥ १०॥

हे सुमंत्र! इस घर में मेरी जितनी स्त्रियां हैं, उन सब को बुला लो। मैं उन सब के सहित श्रीरामचन्द्र को देखना चाहता हूँ॥१०॥

सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत्।
आर्या ह्वयति वो राजाऽगम्यतां तत्र मा चिरम्॥११॥

यह सुन सुमंत्र भीतर गये और स्त्रियों से बोले कि, महाराज आपको बुलाते हैं—शीघ्र आइये॥ ११॥

एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया।
प्रचक्रमुस्तद्भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम्॥ १२॥

जब सुमंत्र ने उन सब स्त्रियों को इस प्रकार महाराज की आज्ञा सुनायी, तब अपने पति की आज्ञा से वे महाराज के पास आने को तैयार हुईं॥ १२॥

---

* पाठान्तरे—"धार्मिकम्।"

अर्धसप्तशतास्तास्तु प्रमदास्ताम्रलोचनाः ।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥ १३ ॥

साढ़े तीन सौ स्त्रियाँ जिनके नेत्र श्रीरामचन्द्र जी के वियोगजन्य दुःख के कारण रोते रोते लाल हो गये थे, कौशल्या को घेर कर धीरे धीरे महाराज के पास गयीं ॥ १३ ॥

आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः ।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥ १४ ॥

जब महाराज ने देखा कि, सब स्त्रियाँ आ गयीं, तब उन्होंने सुमंत्र को आज्ञा दी कि, हे सुमंत्र ! मेरे पुत्र को ले आओ ॥ १४ ॥

स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तदा ।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥ १५ ॥

तब सुमंत्र जी श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को साथ ले, शीघ्र महाराज के निकट चले ॥ १५ ॥

स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा दूरात्कृताञ्जलिम् ।
उत्पपातासनात्तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥ १६ ॥

उस समय, महाराज दूर ही से हाथ जोड़े हुए श्रीरामचन्द्र को आते देख, तुरन्त पलंग छोड़, स्त्रियों सहित उठ खड़े हुए ॥ १६ ॥

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशांपतिः ।
तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्छितः ॥ १७ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी को देख उनकी ओर बड़े वेग से दौड़े; किन्तु श्रीरामचन्द्र के पास तक न पहुँच, बीच ही में दुःखी होने के कारण मूर्छित हो, ज़मीन पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

तं रामोऽभ्यपतत्क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः ।
विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तदा ॥ १८ ॥

यह देख श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने बड़ी तेज़ी से दौड़ कर, दुःख और शोक से चेष्टाशून्य से हुए महाराज को उठा लिया ॥ १८ ॥

स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि ।
हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमूर्छितः ॥ १९ ॥

उस समय वह राजभवन सहस्रों स्त्रियों के विलाप से भर गया और उनके आभूषणों की झनकार का शब्द उस रोने पीटने के कोलाहल में डूब गया ॥ १९ ॥

तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने दोनों भुजाओं को पकड़ कर, सीता सहित रोते रोते महाराज को ले जा कर, पलंग पर बैठाया ॥ २० ॥

अथ रामो मुहूर्तेन लब्धसंज्ञं महीपतिम् ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा शोकार्णवपरिप्लुतम् ॥ २१ ॥

जब एक मुहूर्त बाद महाराज सचेत हुए, तब श्रीरामचन्द्र जी, शोकसमुद्र में डूबे हुए महाराज दशरथ से हाथ जोड़ कर बोले ॥ २१ ॥

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः ।
प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन[1] माम् ॥२२॥

---

१ कुशलेन चक्षुषेतिशेषः । (रा०)

हे महाराज! मैं आपसे विदा होने आया हूँ। आप हम सबके स्वामी हैं। अब मैं दण्डकवन को प्रस्थान करता हूँ। अब आप मेरी ओर एक बार कृपादृष्टि से देख तो लें ॥ २२ ॥

लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेति मां वनम् ।
कारणैर्बहुभिः [1]तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः ॥ २३ ॥

लक्ष्मण और सीता को भी मेरे साथ जाने की आज्ञा दीजिये, क्योंकि मैंने अनेक कारण बतला, इन दोनों ही को मना किया, परन्तु ये दोनों यहाँ रहने को राज़ी ही नहीं होते ॥ २३ ॥

अनुजानीहि सर्वान्नः शोकमुत्सृज्य मानद ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ २४ ॥

सो हे महाराज! शोक का परित्याग कर, हम सब को वैसे ही आज्ञा दीजिये जैसे प्रजापति अपनी प्रजा को आज्ञा देते हैं ॥ २४ ॥

प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः ।
उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥ २५ ॥

तब महाराज दशरथ, व्यग्रता रहित अपने पुत्र को वन जाने की आज्ञा की प्रतीक्षा करते जान, उनकी ओर कृपापूर्ण दृष्टि से देख, बोले ॥ २५ ॥

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः[2] ।
अयोध्यायास्त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ॥२६॥

हे रामचन्द्र! मुझे कैकेयी ने वरदान द्वारा धोखा दिया है। सो तुम मुझे बाँध कर (गिरफ़ार कर) बलपूर्वक अयोध्या के राजा बनो ॥ २६ ॥

---

१ तथ्यैः—परमार्थैः । (गो०) २ मोहितः—वञ्चितः । (गो०)

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतांवरः ।
प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥२७॥

महाराज का यह वचन सुन धर्मधुरन्धर और बातचीत करने में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़ कर, पिता से बोले ॥ २७ ॥

भवान्वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे कार्यं त्वयाऽनृतम् ॥२८॥

हे महाराज! (परमात्मा करें) आप आगे और भी हज़ारों वर्ष की आयु पा कर, पृथिवी का पालन करते रहें। मैं आपको मिथ्यावादी बनाना नहीं चाहता। मैं अवश्य वन में वास करूँगा ॥ २८ ॥

नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते ।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥ २९ ॥

हे महाराज! वनवास में १४ वर्ष बिता और अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर, पुनः आपके चरण पकड़ूँगा। अथवा प्रणाम करूँगा ॥ २९ ॥

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयतः ।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो[1] राजा तमब्रवीत् ॥३०॥

सत्यरूपी पाश में बंधे, और इशारे से कैकेयी द्वारा प्रेरित हो, महाराज आर्त हो और रोदन करते हुए श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३० ॥

---

१ मिथः—रहसि। (गो०)

श्रेयसे[1] वृद्धये[2] तात पुनरागमनाय च ।
गच्छस्वारिष्टं[3]मव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥ ३१ ॥

हे वत्स ! पारलौकिक सुख और इस लोक के यश आदि फल की प्राप्ति, तथा फिर यहाँ लौट आने के लिये तुम अव्यग्र मन से वन जाओ । मार्ग में तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हें किसी भी वनैले जीव जन्तु का भय न हो ॥ ३१ ॥

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव ।
विनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥ ३२ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! तुम सत्य के पालन में तत्पर और धर्मकार्य करने में दत्तचित्त हो, अतः तुमको इनसे हटा कर, दूसरे मार्ग पर चलाने की बुद्धि (केवल मुझीमें नहीं प्रत्युत) किसी में नहीं है ॥ ३२ ॥

अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा ।
एकाहदर्शनेनापि साधु[4] तावच्चराम्यहम्[5] ॥ ३३ ॥

परन्तु आज की रात तो किसी तरह रह जाओ । भला एक दिन तो और तुम्हारे साथ रहने का सुख मैं भोग लूँ ॥ ३३ ॥

मातरं मां च सम्पश्यन्वसेमामद्य शर्वरीम् ।
तर्पितः[6] सर्वकामैः[7]त्वं श्वः काले[8] साधयिष्यसि[9] ॥३४॥

---

१ श्रेयसे—पारलौकिकफलाय । (गो०) २ वृद्धये—ऐहिकफलाय । (गो०)३ अरिष्टं—शुभं । (गो०) ४ साधुः—सुखं । (गो०) ५ चरामि—वसामि । (गो०) ६ तर्पितः—ममातृप्तिप्राप्तः । (शि०) ७ सर्वकामैः—इच्छाविषयभूतैः । (शि०) ८ काले—प्रातःकालं । ९ साधयिष्यसि—गमिष्यसि । (गो०)

मेरी श्रोर अपनी माता की श्रोर देखो श्रौर श्राज की रात यहीं रह जाश्रो। रात में मैं अपनी साध पूरी कर लूँगा, तब तुम सवेरा होते ही कल वन चले जाना ॥ ३४ ॥

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव त्वया ।
मत्प्रियार्थं[1] प्रियांस्त्यक्त्वा यद्यासि विजनं वनम् ॥३५॥

हे वत्स! तुम ऐसा दुष्कर काम कर रहे हो जैसा श्रौर कोई नहीं करेगा कि, हमारा परलोक बनाने के लिये तुम अपने सब प्यारे जनों को छोड़ विजन वन को जाते हो ॥ ३५ ॥

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव ।
छन्नया[2] चलित[3]स्त्वस्मि स्त्रिया छन्नाग्निकल्पया ॥३६॥

हे वत्स! मैं सत्य की शपथ खा कर कहता हूँ कि, मुझे तुम्हारा वन जाना कभी अभिमत नहीं है। पर क्या करूँ—इस कैकेयी की, जो भस्म से छिपी हुई आग को तरह (भयङ्कर) है, छल भरी चाल में मैं आ गया ॥ ३६ ॥

वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि ।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याऽभिप्रचोदितः ॥ ३७ ॥

मैं कुलकलङ्किनी कैकेयी के जिस छलजाल में पड़ गया हूँ, उसे तुम इसके कहने में आ, पार करना चाहते हो। अर्थात् मैं तो इसकी बातों में फसा ही हूँ, तुम क्यों फसते हो, या मैं तो इसके धोखे में आ चुका, तुम इसके धोखे में क्यों आते हो ॥ ३७ ॥

---

१ मत्प्रियार्थं—ममपरलोकप्रियार्थं। (गो०) २ छन्नया—गूढाभिप्रायया। (गो०) ३ चलित.—स्वाधीनत्वाच्चलनं प्राप्तः। (गो०)

न चैतदाश्चर्यतमं यस्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम ।
अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥ ३८ ॥

हे वत्स ! इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि तुम मेरे ज्येष्ठपुत्र हो, अतः तुम अपने पिता को सत्यवादी ठहराया चाहते हो ॥ ३८ ॥

अथ रामस्तथा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अति दुःखी पिता के वचन सुन, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी दीन हो बोले ॥ ३९ ॥

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान्को मे श्वस्तान्प्रदास्यति ।
अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥ ४० ॥

हे पिता ! (यदि मैं आपके कथनानुसार रह जाऊँ तो) आज मुझे राजोचित सब पदार्थ व सुख यहाँ मिल जायँगे ; किन्तु कल मुझे ये पदार्थ कौन देगा, अतः मैं अब सब के बदले आपसे तुरन्त वन जाने की आज्ञा माँगता हूँ ॥ ४० ॥

[नोट—"तिलक" टीकाकार ने इस श्लोक के प्रथम पाद का अर्थ यह किया है, आज वन जाने से प्रतिज्ञापालन रूपी जो पुण्य फल मुझे प्राप्त होगा वह फल कल जाने से कभी प्राप्त नहीं हो सकता । "अद्य प्रयाणेसति यान्गुणान् प्रतिज्ञापालनज धर्मरूपान् प्राप्स्यामि श्वोगमने कस्तदान्दास्यति प्रत्युताधर्मएव" ।]

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला ।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥

अब आप मेरी छोड़ी हुई धन धान्य और मनुष्यों से भरी पुरी, विविध राज्यों से घिरी पृथिवी भरत को दे दीजिये ॥४१॥

वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति ।
यस्तुष्टेन वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥ ४२ ॥

क्योंकि मैंने वन जाने के विषय में जो निश्चय किया है वह टल नहीं सकता। हे वरद! आपने सन्तुष्ट हो ऐसा वर कैकेयी को दिया ॥ ४२ ॥

दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव ।
अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥ ४३ ॥

अतः हे पृथिवीनाथ! आप मुझे आज्ञा दीजिये और आप सम्पूर्णतः सत्यप्रतिज्ञ हूजिये। आपने जैसी आज्ञा दी है, तदनुसार मैं उसका पालन करूँगा ॥ ४३ ॥

चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह ।
मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

मैं तपस्वियों के साथ चौदह वर्ष तक वन में रहूँगा। आप भरत को राज्य देने में कुछ भी विचार मत पलटिये ॥ ४४ ॥

न हि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि[1] वा प्रियम् ।
यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥ ४५ ॥

क्योंकि आप की आज्ञा का प्रतिपालन करने के समान मुझे न तो राज्य की चाहना ही है और न मुझे अपने मन में किसी सुख की ही चाहना है ॥ ४५ ॥

---

1 आत्मनि—मनसि। (गो॰)

अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः ।
न हि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४६ ॥

आप रुदन न कीजिये और दुःखी न हूजिये । भला नदियों का स्वामी दुर्धर्ष समुद्र भी कभी क्षुब्ध होता है ॥ ४६ ॥

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मैथिलीम् ।
नैव सर्वानिमान्कामान्न स्वर्गं नैव जीवितम् ॥ ४७ ॥

हे महाराज ! अधिक तो मैं क्या कहूँ ! मैं राज्य, सुख, जानकी, भोग, स्वर्ग—यहाँ तक कि, मैं अपना जीवन भी नहीं चाहता ॥४७॥

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।
प्रत्यक्षं[1] तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥ ४८ ॥

किन्तु हे पुरुषोत्तम ! मैं मिथ्याभाषण से छुड़ा, आपको सत्यवादी करना चाहता हूँ । आप देवता रूप हैं, आपके सामने मैं अपने सुकृत और सत्य की शपथ खा कर ये बातें कह रहा हूँ । मेरे इस कथन में ज़रा सा भी झूठ या बनावट नहीं है ॥ ४८ ॥

न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो ।
न शोकं धारयस्वैनं न हि मेऽस्ति विपर्ययः ॥४९॥

हे तात ! हे प्रभो ! (रात भर की क्या चलाई) मैं अब एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहर सकता । (मेरी आपसे प्रार्थना है कि,) आप मेरे लिये अधीर न हों । क्योंकि वनयात्रा सम्बन्धी मेरे सङ्कल्प में तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ सकता ॥ ४९ ॥

---

1 प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षदैवभूतस्य तवसन्निधौ । (गो०)

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव ।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥ ५० ॥

जब कैकेयी ने मुझसे कहा कि, रामचन्द्र तुम वन जाओ तब मैंने कहा कि अच्छा मैं वन जाता हूँ। अतएव अपने इस कथन के सत्य का भी पालन करना मुझे आवश्यक है ॥ ५० ॥

मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम् ।
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुननादिते ॥ ५१ ॥

हे देव! आप ज़रा भी न घबड़ायँ। मैं ऐसे वन में रहूँगा जहाँ शान्त चित्त हिरन विचरते हैं और अनेक प्रकार के पक्षियों की बोलियाँ सुनायी पड़ती हैं ॥ ५१ ॥

पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम् ।
तस्माद्दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥ ५२ ॥

हे तात! पिता देवताओं के भी देवता होते हैं। अतः आपको परम देवता समझ मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ॥ ५२ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नरसत्तम ।
पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं सन्तापोऽयं विमुच्यताम् ॥५३॥

हे नरसत्तम! जब चौदह वर्ष पूरे हो जाँयगे, तब मैं फिर यहाँ आ ही जाऊँगा। अतः आप मेरे लिये अब दुःखी न हों ॥ ५३ ॥

येन सन्स्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पगलो जनः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥ ५४ ॥

इस समय आपको उचित है कि, इन लोगों को जो रुदन कर रहे हैं समझा बुझा कर शान्त करें। सो हे पुरुषसिंह ! आप (इस समय) स्वयं दुःखी क्यों हो रहे हैं? (अर्थात् आपका कर्त्तव्य है कि, आप इन लोगों को समझावें न कि स्वयं रुदन करें) ॥ ५४ ॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला
मया निसृष्टा भरताय दीयताम् ।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालय-
न्वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥ ५५ ॥

मैं अयोध्यापुरी और पृथिवी के राज्य को छोड़ कर जाता हूँ। आप इसे भरत को दे दीजिये। मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ, बहुकाल तक वनवास करने के लिये जाऊँगा ॥ ५५ ॥

मया निसृष्टां भरतो महीमिमां
सशैलखण्डां सपुरां सकाननाम् ।
शिवां[1] सुसीमा[2]मनुशास्तु केवलं
त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥ ५६ ॥

पर्वतों और वनों से शोभायमान, नगर और ग्रामों से भरी पूरी और राजकल्याणकारिणी इस पृथिवी का भरत जी वंशमर्यादा के अनुसार केवल शासन करें, यह इसलिये कि जिससे आपने जैसा कहा है वैसा ही हो। अर्थात् आपका दिया हुआ वरदान सत्य हो। (इससे यह ध्वनि निकलती है कि,

---

१ शिवाम्—राजकल्याणकारणीम् । (शि०) २ सीमाम्—मनुवंश मर्यादा सुसंस्थिते·भरतः। (शि०)

श्रीरामचन्द्र जो राज्य पर अपना स्वत्व नहीं छोड़ रहे, किन्तु पिता की आज्ञा पालन करने को अस्थायी रूप से भरत को शासन भार मात्र दे रहे हैं। इसीके अनुसार भरत जी ने भी नन्दिग्राम में रह कर, प्रतिनिधि रूप से १४ वर्ष तक राज्य किया था) ॥ ५६ ॥

न मे तथा पार्थिव दीयते मनो
महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये ।
यथा निदेशे तव शिष्टसम्मते
व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥ ५७ ॥

हे राजन्! मुझे अच्छी अच्छी भोग व सुखकर वस्तुओं की रुचि नहीं है। न मुझे किसी प्रीतिकर वस्तु की चाहना है। मुझे तो केवल सज्जनों की सराही हुई आपकी आज्ञा का पालन करना (सब से बढ़ कर) रुचिकर है। अतः मेरे लिये आपको जो दुःख हो रहा है, उसे त्यागिये ॥ ५७ ॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं
न सर्वकामान्न सुखं न मैथिलीम् ।
न जीवितं त्वामनृतेन योजय-
न्वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥ ५८ ॥

हे राजन्! आपको मिथ्यावादी सिद्ध कर न तो अक्षय्य राज्य न अतुलनीय सुख सम्पत्ति, न पृथिवी, न जानकी जी और न अपना जीवन ही मुझे अपेक्षित है। किन्तु मैं तो यह चाहता हूँ कि, आपका सत्यव्रत पूरा हो। अर्थात् आप संसार के आगे सत्यवादी कहलाते रहें ॥ ५८ ॥

फलानि मूलानि च भक्षयन्वनं
गिरींश्च पश्यन्सरितः सरांसि च ।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः[1] ॥५९॥

मैं फल मूलों को खा और पर्वतों, नदियों एवं सरोवरों को देखता हुआ भांति भांति के वृक्षों से परिपूर्ण वन में जा, सुखी होऊंगा। आप प्रसन्न हूजिये ॥ ५९ ॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्नः
शोकेन[2] दुःखेन[3] च ताम्यमानः ।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
मोहं गतो नैव चिचेष्ट[4] किञ्चित् ॥ ६० ॥

यह सुन महाराज दशरथ, क्लेशित एवं शोक तथा दुःख से सन्तप्त हो, श्रीरामचन्द्र जी को हृदय से लगा, मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़े। उस समय उनको कुछ भी होश न रहा। वे मोह को प्राप्त हुए ॥ ६० ॥

देव्यस्ततः संरुरुदुः समेता-
स्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम् ।
रुदन्सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्छां
हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥ ६१ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ निर्वृतिः—सुखं। (गो॰) २ शोकः—स्वान्ताहोत्पादकः शोकः। (गो॰) ३ दुःखं—अन्तर्व्यथोत्पादकं। (गो॰) ४ नचिचेष्ट—नचेष्टतेस्म। (गो॰)

कैकेयी को छोड़ वहाँ और जितनी रानियाँ थीं वे सब की सब विलाप कर रोने लगीं। बूढ़े सुमंत्र भी मूर्छित हो गये। राजभवन में सर्वत्र हाहाकार होने लगा ॥ ६१ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—:०:—

ततो निर्धूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत्।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान्कटकटाप्य च ॥ १ ॥

तदनन्तर (कुछ काल बाद सुमंत्र की मूर्छा भङ्ग हुई) वे क्रोध से अधीर हो, बारंबार लंबी लंबी साँस लेने लगे, दाँत किटकिटाने लगे और हाथ मलने लगे और सिर पीटने लगे ॥ १ ॥

लोचने कोपसंरक्ते वर्णं[1] पूर्वोचितं[2] जहत्।
कोपाभिभूतः सहसा सन्तापमशुभं[3] गतः ॥ २ ॥

मारे क्रोध के उनकी दोनों आँखें लाल हो गयीं, शरीर का रंग बदल गया। सहसा क्रोध के वश हो, वे बहुत दुःखी हुए ॥ २ ॥

मनः[4] समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य सः।
कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्छरैः शितैः ॥ ३ ॥

---

१ वर्णं—देहकान्तिं। (गो०) २ पूर्वोचितं—पूर्वाभ्यस्तं। (गो०) ३ अशुभं—तीव्रं। (गो०) ४ मनः समीक्षमाणः—कैकेयीविषयस्नेहरहितं ज्ञानवित्यर्थः। (गो०)

यह देख कर कि, महाराज दशरथ के मन में कैकेयी का अब कुछ भी आदर नहीं रहा—सुमंत्र बाण के समान तीक्ष्ण वचनों से कैकेयी के हृदय को छेद कर मानों कंपाने लगे ॥ ३ ॥

[1]वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव[2] चाशुगैः ।
कैकेय्याः सर्वमर्माणि[3] सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

जिस प्रकार तेज़ बाण शरीर में पैठ शरीर के मर्मस्थलों को चीर कर खोल देता है, उसी प्रकार सुमंत्र ने वचन रूपी बाणों से कैकेयी के वे दोष प्रकट किये, जो बड़े मर्मस्पर्शी थे अर्थात् कैकेयी के मन में चुभते थे ॥ ४ ॥

यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम् ।
भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ ५ ॥

न ह्यकार्यतमं किञ्चित्तव देवीह विद्यते ।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः ॥ ६ ॥

सुमंत्र ने कहा, हे देवि! तूने अपने पति महाराज दशरथ ही को, जो चराचर जगत के पालन पोषण करने वाले हैं, त्याग दिया, तब तेरे लिये (संसार में) और कौन सा अनकरना काम करने को बाकी रहा। इससे मैं तुझे न केवल पति की हत्या करने वाली, प्रत्युत कुल का नाश करने वाली भी मानता हूँ ॥ ५ ॥ ६ ॥

यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यं सन्तापयसि कर्मभिः ॥ ७ ॥

---

१ वाक्यवज्रैः—वाक्शरैः । (शि०) २ निर्भिन्दन—प्रकाशयन । (गो०) ३ मर्माणि—मर्मतुल्यान्दोषान् । (गो०)

जो महाराज दशरथ, इन्द्र के समान अजेय और पर्वत की तरह कभी क्षोभ को प्राप्त न होने वाले हैं उनको तू अपनी करतूतों से सन्तप्त कर रही है ॥ ७ ॥

माऽवमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् ।
भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते ॥ ८ ॥

कैकेयी ! तू ऐसे वर देने वाले अपने स्वामी महाराज दशरथ का अपमान मत कर । क्योंकि करोड़ पुत्रों के स्नेह से भी बढ़ कर, स्त्री के लिये अपने पति की इच्छानुसार चलना है ॥ ८ ॥

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये ।
इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तल्लोपयितुमिच्छसि ॥ ९ ॥

देख, राजा के मरने पर राज्य का मालिक (अवस्थानुसार) ज्येष्ठ पुत्र होता है । इस प्राचीन (इक्ष्वाकुकुल की) प्रथा को इक्ष्वाकुकुल के स्वामी महाराज दशरथ के जीवित रहते ही तू (भरत को राज्य दिला कर) मेंट देना चाहती है ॥ ९ ॥

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥ १० ॥

अच्छी बात है—तेरा पुत्र भरत राज्य करे, हम लोग तो वहीं जायँगे, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी जायँगे ॥ १० ॥

न हि ते विषये[1] कश्चिद्ब्राह्मणो[2] वस्तुमर्हति ।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म चिकीर्षसि ॥ ११ ॥

---

१ विषये—देशे । (गो०) २ ब्राह्मणइति सत्पुरुषमात्रोपलक्षणं ।

तेरे पुत्र के कामं ही राज्य में कोई भी भला आदमी न रह जायगा। क्योंकि तू ऐसी अमर्यादा का करने पर उतारू है ॥ ११ ॥

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।
आचरन्त्या न विवृता[1] सद्यो भवति मेदिनी ॥ १२ ॥

मुझे बड़ा आश्चर्य है कि, तेरे इस दुराचरण को देख, फौरन ज़मीन क्यों नहीं फट जाती ॥ १२ ॥

[2]महाब्रह्मर्षिसृष्टाः* हि ज्वलन्तो[3] भीमदर्शनाः ।
धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम् ॥१३॥

जब तू श्रीरामचन्द्र जी को वनवास देने को उद्यत हुई है, तब वशिष्ठादि महर्षियों का तीव्र और भयङ्कर धिक्कार रूप वाक्दण्ड तुझे नष्ट क्यों नहीं कर डालता ॥ १३ ॥

आम्रं छित्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु यः ।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत् ॥ १४ ॥

कौन ऐसा (मूर्ख) मनुष्य होगा, जो मधुर फल देने वाले आम के पेड़ को कुल्हाड़ी से काट, उस कडुवे नीम के पेड़ को सींचेगा, जो दूध से सींचने पर भी, कभी मीठे फल नहीं दे सकता ॥ १४ ॥

अभिजातं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च ।
न हि निम्बात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ॥१५॥

---

१ विवृता—नविदीर्णा। (गो०) २ महाब्रह्मर्षिभिः—वसिष्ठादिभिः। (गो०) ३ ज्वलन्तः—तीव्राः। * पाठान्तरे—"जुष्टा वा।"

लोग जो कहा करते हैं कि, नीम के वृक्ष से शहद नहीं चूता, सो इसे मैं भी मानता हूँ। यही कारण है कि, तेरी माता जैसी थी वैसी ही तू भी है॥ १५॥

तव मातुरसद्ग्राहं विद्मः पूर्वं यथा श्रुतम्।
पितुस्ते वरदः कश्चिद्ददौ[1] वरमनुत्तमम्॥ १६॥

तेरी माता का पापकर्म मुझे मालूम है, मैं पहले उसे ज्यों का त्यों सुन चुका हूँ। किसी वरदान देने वाले योगी गन्धर्व ने तेरे पिता को एक यह उत्तम वर दिया था॥ १६॥

सर्वभूतरुतं[2] तस्मात्सञ्जज्ञे वसुधाधिपः।
तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः॥ १७॥

कि, तुम सब जीवों की बोली समझ लिया करोगे। इस वर के प्रभाव से तेरे पिता पक्षियों की भी बोली समझने लगे॥ १७॥

ततो जृम्भस्य[3] शयने विरुताद्भूरिवर्चसः।
पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत्॥ १८॥

तेरे पिता एक बार लेटते अत्यन्त चमकदार (अर्थात्) चमय सुनहले रंग की किसी चेंटी की बात चीत सुन और उसका आशय समझ बहुत हँसे॥ १८॥

तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्यु पाशमभीप्सती।
हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत्॥ १९॥

---

१ कश्चित्—योगीगन्धर्व इतिश्रुतम्। (गो०) २ रुतं—शब्दं। (गो०)
३ जृम्भस्य—पिपीलिका विशेषस्य। (गो०)

इस पर तेरी माता बहुत क्रुद्ध हुई और अपनी जान दे देने की धमकी देती हुई बोली—हे राजन्! मैं आपके हँसने का कारण जानना चाहती हूँ ॥ १६ ॥

नृपश्चोवाच तां देवीं देवि शंसामि ते यदि ।
ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति, न संशयः ॥ २० ॥

इस पर राजा ने कहा, हे देवि! यदि मैं अपने हँसने का कारण कहूँ, तो मैं तुरन्त मर जाऊँगा। इसमें सन्देह नहीं ॥ २० ॥

माता ते पितरं देवि ततः केकयमब्रवीत् ।
शंस मे जीव वा मा वा न मामपहसिष्यसि ॥ २१ ॥

यह सुन तेरी माता अपने पति राजा केकय से बोली—तुम चाहे जीओ चाहे मरो, किन्तु अपने हँसने का कारण मुझे बतलाओ। क्योंकि (यदि तुम मर भी गये तो) आगे फिर तो मेरा उपहास न करोगे ॥ २१ ॥

प्रियया च तथोक्तः सन्केकयः पृथिवीपतिः ।
तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्वतः ॥ २२ ॥

प्यारी रानी के इस प्रकार कहने पर राजा केकय ने वह सारा हाल जा कर, वर देने वाले योगी से कहा ॥ २२ ॥

ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत ।
म्रियतां ध्वंसतां[1] वेयं मा कृथास्त्वं महीपते ॥ २३ ॥

तब उस वर देने वाले साधू ने राजा से कहा—हे राजन्! तेरी रानी भले ही मर जाय, या अपने बाप के घर चली जाय, पर तू ऐसा कभी मत करना ॥ २३ ॥

---

१ ध्वंसतांवा—(क) स्वपित्रादिसमीपं गच्छतु । (रा०); (ख) स्वाधिकारात्प्रच्युतास्यात् । (गो०)

स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः ।
मातरं ते [1]निरस्याशु विजहार कुवेरवत् ॥ २४ ॥

यह सुन, राजा केकय ने प्रसन्न मन से तेरी माता का परित्याग कर दिया और स्वयं कुवेर की तरह विहार करने लगा ॥ २४ ॥

तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि ।
असद्ग्राहमिमं मोहात्कुरुषे पापदर्शिनि ॥ २५ ॥

हे पापिष्ठा ! इसी प्रकार तू भी दुर्जनों के मार्ग का अनुसरण कर, महाराज को धोखा दे कर, उनसे बुरा काम करवाती है ॥ २५ ॥

सत्यश्चाद्य प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मा ।
पितॄन्समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ॥ २६ ॥

लोग ठीक ही कहते हैं कि, लड़के अपने पिता के स्वभाव के और लड़कियाँ अपनी माता के स्वभाव की हुआ करती हैं। अर्थात् लड़कों का स्वभाव अपने बाप जैसा और लड़कियों का अपनी माता जैसा हुआ करता है ॥ २६ ॥

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः ।
भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥ २७ ॥

देख तू अपनी माता जैसी मत बन और महाराज का कहना कर। अपने पति के कथनानुसार चल कर तू हम लोगों की रक्षा कर ॥ २७ ॥

मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् ।
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादधाः ॥ २८ ॥

---

१ निरस्य—परित्यज्य । (गो०)

तू, पापों से प्रोत्साहित हो कर, इन्द्र के समान और मनुष्यों के राजा, अपने पति से यह अधर्म का काम (बड़े के सामने छोटे को राज्य) मत करवा ॥ २८ ॥

न हि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः ।
श्रीमान्दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥ २९ ॥

ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्याभिरक्षिता ।
रक्षिता जीवलोकस्य ब्रूहि रामोऽभिषिच्यताम् ॥३०॥

महाराज दशरथ तुझसे जो प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसे मिथ्या न करेंगे । हे देवि ! राजीवलोचन महाराज दशरथ से तू कह कि, ज्येष्ठ, उदार, कर्मठ, अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाले, और प्राणीमात्र की रक्षा करने वाले श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक करवाना चाहिये ॥ २९ ॥ ३० ॥

परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति ।
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥ ३१ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता महाराज दशरथ को छोड़, कहीं वन चले ही गये, तो संसार में तेरी बड़ी निन्दा होगी ॥ ३१ ॥

स राज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा ।
न हि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसेत् ॥ ३२ ॥

अतएव अब तू अपने मन का सब क्षोभ दूर कर, राज्य श्रीरामचन्द्र को करने दे । क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी को छोड़, अन्य किसी के अयोध्या में रह कर राज्य करने से तेरी भलाई नहीं होगी । (अर्थात् भरत के राजा होने पर भी तेरा कल्याण न होगा) ॥ ३२ ॥

रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् ।
प्रवेक्ष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

जब युवराजपद श्रीरामचन्द्र को मिल जायगा, तब महाराज दशरथ पूर्वजों की प्रथानुसार, स्वयं वन चले जायँगे ॥ ३३ ॥

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि ।
सुमन्त्रः क्षोभयामास भूय एव कृताञ्जलिः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार सुमंत्र जी ने सब लोगों के सामने हाथ जोड़ कर, कड़े वचनों से बार बार कैकेयी को क्षुब्ध किया ॥ ३४ ॥

नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ।
न चास्या मुखवर्णस्य विक्रिया लक्ष्यते तदा ॥ ३५ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

किन्तु न तो वह क्षुब्ध हुई और न उसको कुछ पश्चात्ताप ही हुआ । और तो और, उसके मुख की रंगत भी तो न बदली ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षड्त्रिंशः सर्गः

—:※:—

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया ।
सबाष्पमतिनिश्वस्य जगादेदं पुनः पुनः ॥ १ ॥

तदनन्तर महाराज दशरथ, अपनी प्रतिज्ञा से दुःखी हो, आँसू बहाते हुए और बार बार उसाँसे ले, सुमन्त्र से बोले ॥ १ ॥

सूत रत्नसुसम्पूर्णा चतुर्विधबला चमूः ।
राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥ २ ॥

हे सुमन्त्र ! तुम श्रीरामचन्द्र जी के साथ भेजने के बहुत सा धन रत्न दे, चतुरंगिनी सेना के शीघ्र तैयार करो ॥ २ ॥

रूपाजीवाश्च[1] वादिन्यो[2] वणिजश्च महाधनाः ।
शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीं सुप्रसारिताः[3] ॥ ३ ॥

बातचीत कर दूसरे के मन को अपनी ओर खींचने वाली वेश्याएँ, व्यापारी, महाजन, बिकने वाले पदार्थों की दूकानें लगा श्रीरामचन्द्र जी की सेना के शिविर को सुशोभित करें ॥ ३ ॥

ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः ।
तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय ॥ ४ ॥

जो श्रीरामचन्द्र जी के नौकर चाकर हैं, और जिनके पराक्रम से वे प्रसन्न हैं, उन सब को बहुत सा धन दे कर, इनके साथ भेजो ॥ ४ ॥

आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च ।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यगोचराः ॥ ५ ॥

---

१ रूपाजीवाः—वेश्याः । (गो०) २ वादिन्योः—परचित्ताकर्षणचतुर वचनाः । ३ सुप्रसारिताः—शिविरदेशे पण्यपदार्थप्रसारणंकुर्वन्तः । (गो०)

उत्तम अस्त्र शस्त्र, मुख्य मुख्य नागरिक जन, छकड़े और वनवासी बहेलिया जो वन का मार्ग जानते हैं, इनके साथ जाँय ॥ ५ ॥

निघ्नन्मृगान्कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु ।
नदीश्च विविधाः पश्यन्न राज्यस्य स्मरिष्यति ॥ ६ ॥

वे वहाँ जा कर मृगों और हाथियों का शिकार खेलेंगे और वन का शहद पी कर और अनेक नदियों को देख कर, राज्य का स्मरण न करेंगे ॥ ६ ॥

धान्यकोशश्च यः कश्चिद्धनकोशश्च मामकः ।
तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने ॥ ७ ॥

मेरे (ख़ास) जो अन्न के भण्डार हैं—वे भी निर्जन वन में वास करने वाले श्रीरामचन्द्र के साथ जाँय ॥ ७ ॥

यजन्पुण्येषु देशेषु विसृजंश्चाप्तदक्षिणाः ।
ऋषिभिश्च समागम्य प्रवत्स्यति सुखं वने ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ऋषियों से समागम होने पर, तीर्थस्थानों में यज्ञ करेंगे और दक्षिणा देंगे और परम सुख से रहेंगे ॥ ८ ॥

भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति ।
सर्वकामैः पुनः श्रीमान्रामः संसाध्यतामिति[1] ॥ ९ ॥

यहाँ भरत अयोध्या का पालन करेंगे। सब सामान के साथ श्रीरामचन्द्र जी प्रस्थान करें ॥ ९ ॥

1 संसाध्यताम्—प्रस्थाप्यता। (शि०)

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम् ।
मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि न्यरुध्यत ॥ १० ॥

जब महाराज ने यह कहा, तब कैकेयी डरी—उसका मुख सूख गया और बोल भी बंद हो गया ॥ १० ॥

सा विषण्णा च संत्रस्ता मुखेन परिशुष्यता ।
राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वह व्याकुल हुई और डरी तथा उसका मुख सूख गया। वह महाराज के सामने हो यह बोली ॥ ११ ॥

राज्यं गतजनं साधो पीतमण्डां सुरामिव ।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥ १२ ॥

हे साधो! सारहीन शराब की तरह धनहीन और जनशून्य राज्य भरत न लेंगे ॥ १२ ॥

कैकेय्यां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम् ।
राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥ १३ ॥

जब लज्जा को छोड़ कैकेयी ने यह अति कठोर बात कही, तब तो महाराज दशरथ के दोनों नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये और वे कहने लगे ॥ १३ ॥

वहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य धुरि माहिते ।
अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः ॥ १४ ॥

हे दुष्टे! क्यों मुझे ब्यों मारे डालती है। जब तूने श्रीरामचन्द्र के वन जाने के लिये वर माँगा था तभी यह भी क्यों नहीं माँगा कि, श्रीरामचन्द्र ख़ाली हाथ वन जाँय ॥ १४ ॥

तस्यैतत्क्रोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना।
कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

महाराज के इस क्रोधयुक्त वचन को सुन, कैकेयी दुगुनी क्रुद्ध हो महाराज से बोली ॥ १५ ॥

तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत्।
असमञ्ज इति ख्यातं तथाऽयं गन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

तुम्हारे ही वंश में राजा सगर ने अपने ज्येष्ठपुत्र असमञ्जस को निकाल दिया था। उसी प्रकार यह भी जाँय ॥ १६ ॥

एवमुक्तोधिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत्।
व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तं नावबुध्यत ॥ १७ ॥

कैकेयी की इस बात को सुन महाराज दशरथ ने कहा "हा! धिक्कार है"!! अन्य लोग जो वहाँ बैठे थे वे सब लज्जित हुए, परन्तु उस (कैकेयी) को तो भी कुछ बोध न हुआ (अर्थात् महाराज ने सब के सामने कैकेयी को धिक्कारा तो भी उसको शर्म न आयी) ॥ १७ ॥

तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः।
[1]शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

1 शुचिः—अकुटकः। (गो०)

तब सिद्धार्थ नामक प्रधान मंत्री ने, जो कुटिल न था और जिसे महाराज दशरथ बहुत चाहते थे, कैकेयी से कहा ॥ १८ ॥

असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान् ।
सरय्वाः प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥ १९ ॥

हे देवि ! (असमञ्जस का और श्रीरामचन्द्र का क्या सादृश्य है ?) असमञ्जस तो बड़ा ही दुष्टबुद्धि का था, वह तो सड़क पर खेलते हुए बालकों को पकड़ सरयू में फेंक दिया करता था ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन् ।
असमञ्जं [1]वृणीष्वैकमस्मान्वा राष्ट्रवर्धन ॥ २० ॥

उसके ऐसे दुष्कर्मों को देख, नगरनिवासियों ने क्रुद्ध हो महाराज सगर से कहा हे राष्ट्रवर्धन महाराज ! आप केवल असमञ्जस ही को पुरी में रखना चाहते हैं अथवा हम लोगों को भी ॥ २० ॥

तानुवाच ततो राजा किंनिमित्तमिदं भयम् ।
ताश्चापि राज्ञा सम्पृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन् ॥ २१ ॥

तब सगर ने प्रजाजनों से पूँछा कि, तुम्हारे इस भय का कारण क्या है ? इसके उत्तर में प्रजाजनों ने कहा ॥ २१ ॥

क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान्बालानुद्भ्रान्तचेतन[2] ।
सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते ॥ २२ ॥

राजकुमार असमञ्जस का दिमाग़ बिगड़ गया है, वह हमारे खेलते हुए बालकों को पकड़ कर सरयू में डुबो कर, मूर्खतावश बड़ा प्रसन्न होता है ॥ २२ ॥

---

१ वृणीष्व—अस्मनगरेस्थापय । (गो०) २ उद्भ्रान्तचेतनः—भ्रान्तबुद्धिः । (गो०)

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः ।
तं तत्याजाहितं पुत्रं तेषां*प्रियचिकीर्षया ॥ २३ ॥

तब प्रजाजनों की यह बात सुन और उनको प्रसन्न करने के लिये महाराज सगर ने अपने उस अहितकारी पुत्र को त्याग दिया था ॥ २३ ॥

तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम् ।
यावज्जीवं विवास्योऽयमिति स्वानन्वशात्पिता ॥२४॥

(किस प्रकार असमञ्जस को देशनिकाला दिया गया सो प्रधानमंत्री बतलाते हैं) महाराज की आज्ञा से वह तुरन्त मय अपनी स्त्री और कपड़े आदि आवश्यक सामान के रथ में सवार कराया गया और नगर में यह राजाज्ञा घोषित की गयी कि, यह सदा के लिये निकाला जाता है ॥ २४ ॥.

स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोलयत् ।
दिशः सर्वास्त्वनुचरन्स यथा पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥

तब वह कुदाली और कंडी ले पर्वतों पर और वनों में चारों ओर मारा मारा फिरने लगा । उसने जैसा पापकर्म किया था तदनुरूप उसे उसका फल भी मिला ॥ २५ ॥

†इत्येवमत्यजद्राजा सगरो वै सुधार्मिकः ।
रामः किमकरोत्पापं येनैवमुपरुध्यते ॥ २६ ॥

धार्मिक महाराज सगर ने अपने दुष्ट चरित्र ज्येष्ठपुत्र को देश निकाला दिया था । किन्तु हे रानी ! भला बतलाओ तो कि श्रीराम

---

* पाठान्तरे—" तासां । " † पाठान्तरे—" इत्येन । "

ने कौनसा दुष्ट कर्म किया है, जो तुम इन्हें देशनिकाला दे रही हो ॥ २६ ॥

न हि कञ्चन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम् ।
दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम्[1] ॥ २७ ॥

हमको तो श्रीराम में कोई भी दोष देख नहीं पड़ता ; प्रत्युत हम तो इनमें दोष का मिलना उसी प्रकार असम्भव समझते हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा में मलिनता का मिलना ॥ २७ ॥

अथवा देवि दोषं त्वं कञ्चित्पश्यसि राघवे ।
तमद्य ब्रूहि तत्त्वेन ततो रामो विवास्यताम् ॥ २८ ॥

अथवा हे देवि ! तूने यदि कोई दोष श्रीरामचन्द्र में पाया हो, तो उसे साफ साफ खोल कर कह, तब श्रीरामचन्द्र को देश निकाला दिया जाय ॥ २८ ॥

अदुष्टस्य हि सन्त्यागः सत्पथे निरतस्य च ।
निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मनिरोधनात् ॥ २९ ॥

हे कैकेयी ! देख, सज्जन एवं सुमार्ग पर चलने वाले पुरुष को अकारण त्यागने से अधर्म होता है और ऐसा अधर्म इन्द्र के समान तेज को भी नष्ट कर देता है ॥ २९ ॥

तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया ।
लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने ॥ ३० ॥

हे सुमुखी ! अतएव तू श्रीरामचन्द्र जी की श्री—शोभा नष्ट मत कर और अपने को लोकनिन्दा से बचा अर्थात् ऐसा काम कर जिससे लोग तेरी निन्दा न करें ॥ ३० ॥

---

1 कल्मषं—मालिन्यं । (रा०)

श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वनः ।
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सिद्धार्थ के ऐसे वचन सुन, महाराज दशरथ ने बड़े धीमे स्वर से और शोक से विकल हो, कैकेयी से कहा ॥ ३१ ॥

एतद्वचो नेच्छसि पापवृत्ते
हितं न जानासि ममात्मनो वा ।
आस्थाय मार्गं कृपणं[1] कुचेष्टा
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥ ३२ ॥

हे पापिन ! मैं जान गया कि, सिद्धार्थ का कहना भी तुझे अच्छा न लगा । अपनी और हमारी भलाई किस में है, यह भी तू नहीं जानती, तू कुत्सित मार्ग पर चलने की कुचेष्टा कर रही है, तेरा यत्न साधु मार्ग छोड़ कर चलने ही का है । (अर्थात् अपने और हमारे हित चाहने वाले सिद्धार्थ के कथन पर जो तू ध्यान नहीं देती सो यह तेरी कुचेष्टा है, यह भले आदमियों का काम नहीं है) ॥ ३२ ॥

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य धनं सुखं च ।
सहैव राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम् ॥३३॥

इति षड्त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ कृपणं—कुत्सितं । (गो०)

अतएव धन सम्पत्ति सहित इस राज्य और राज्यसुखों को छोड़, हम तो श्रीरामचन्द्र के साथ जाते हैं। तू अपने पुत्र भरत के साथ सदा के लिये सुखपूर्वक राज्य कर ॥ ३३ ॥

अयोध्याकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—:०:—

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा।
अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत् ॥ १ ॥

प्रधानमंत्री सिद्धार्थ के तथा महाराज दशरथ के वचन सुन, सुशील श्रीरामचन्द्र जी ने नम्रता पूर्वक महाराज दशरथ से कहा ॥ १ ॥

त्यक्तभोगस्य मे राजन्वने वन्येन जीवतः।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥ २ ॥

हे महाराज! जब मैं सब भोगों को छोड़ चुका और वन में उत्पन्न पदार्थों से अपना निर्वाह करना स्वीकार कर चुका, तब मेरे साथ धन सम्पत्ति, सेना आदि इन सारे समानों के जाने की क्या आवश्यकता है ॥ २ ॥

यो हि दत्त्वा*गजश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥ ३ ॥

* पाठान्तरे—"द्विपश्रेष्ठं।"

कैकेयी द्वारा राजकुमारों को वल्कल वस्त्रदान

जो मनुष्य हाथी तो दे डाले, किन्तु अंबारी कसने की रस्सी देते मोह करे, अर्थात् देना न चाहे, तो उस उत्तम हाथी देने वाले को उस रस्सी की ममता से लाभ क्या ? ॥ ३ ॥

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते ।
सर्वाण्येवानुजानामि[1] चीराण्येवानयन्तु मे ॥ ४ ॥

हे सज्जनश्रेष्ठ ! ठीक यही बात मेरे सम्बन्ध में भी है। हे नरनाथ ! मैं सेना साथ ले जा कर क्या करूँगा ? आप जो कुछ मुझे देना चाहते हैं, उस सब को मैं भरत जी को देता हूँ। मेरे लिये तो वल्कलादि मँगवा दीजिये ॥ ४ ॥

खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छतः ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥ ५ ॥

चौदह वर्ष तक मुझे वन में रहना है, अतः कन्दमूल फल खोदने और काटने के लिये एक खन्ता और एक झंडी मँगवा दीजिये, जिससे मैं अब वन को शीघ्र जाऊँ ॥ ५ ॥

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम् ।
उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा ॥ ६ ॥

(ये वचन सुनते ही) कैकेयी स्वयं उठ कर गयी और चीर वल्कल ले आयी। तदनन्तर सब लोगों के सामने लज्जा छोड़ श्रीरामचन्द्र से बोली—लो इन्हें पहिन लो ॥ ६ ॥

स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते ।
सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह ॥ ७ ॥

---

[1] अनुजानामि—ददामि। (गो०)

तब श्रीरामचन्द्र जी ने वे वल्कल वस्त्र कैकेयी से ले लिये और उनको धारण कर महीन बहुमूल्य वस्त्रों को उतार डाला ॥ ७ ॥

लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे ।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥ ८ ॥

लक्ष्मण ने भी वहीं पर अच्छे अच्छे वस्त्र, जो वे पहिने थे, उतार डाले और पिता के सामने ही मुनियों के पहनने योग्य वल्कल वस्त्र पहिन लिये ॥ ८ ॥

अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी ।
समीक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव ॥ ९ ॥

सीता जी, जो रेशमी साड़ी पहिने हुए थीं अपने पहिनने के लिये उन वल्कल वस्त्र को देख, उनसे वैसे ही डरीं, जैसे हिरनी बहेलिया के जाल को देख डरती है ॥ ९ ॥

सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः ।
कैकेयीकुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ॥ १० ॥

शुभलक्षणा जानकी जी ने लज्जित हो और दुःखी मन से कैकेयी के दिये वल्कलों को ले लिया ॥ १० ॥

अश्रुसम्पूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा[1] धर्मदर्शिनी[2] ।
गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

पतिव्रतधर्म को जानने वाली पतिव्रता जानकी जी ने नेत्रों में आँसू भर, गन्धर्वराज के तुल्य अपने पति से, यह कहा ॥ ११ ॥

---

१ धर्मज्ञा—पातिव्रत्यधर्मज्ञा । (गो०) २ धर्मदर्शिनी—स्वानुष्ठानेन पातिव्रत्यधर्मप्रदर्शिनी । (गो०)

कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः ।
इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥

वनवासी मुनि किस प्रकार यह वल्कल वस्त्र पहिना करते हैं। यह कह वह मुनिवस्त्र पहिनने में अकुशल जानकी बार बार घबड़ाने लगी ॥ १२ ॥

कृत्वा कण्ठे च सा चीरमेकमादाय पाणिना ।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा ॥ १३ ॥

तब इस कार्य में अनिपुण सीता जी उस वल्कल वस्त्र का एक छोर गले में लपेट और दूसरा छोर हाथ में ले लज्जित हो, वहाँ खड़ी रही ॥ १३ ॥

तस्यास्तत्क्षिप्रमागम्य रामो धर्मभृतांवरः ।
चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम् ॥१४॥

इतने में धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने तुरन्त उनके समीप आ कर, रेशमी साड़ी के ऊपर उस चीर को स्वयं बाँध दिया ॥१४॥

रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बध्नन्तं चीरमुत्तमम् ।
अन्तःपुरगता नार्यो मुमुचुर्वारि नेत्रजम् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र को सीता जी के चीर बाँधते देख, अन्तःपुर की सब स्त्रियाँ रोने लगीं ॥ १५ ॥

ऊचुश्च परमायस्ता रामं ज्वलिततेजसम् ।
वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी ॥ १६ ॥

और अत्यन्त कातर हो कर परम तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं—हे वत्स ! तुम्हारे पिता ने इस मनस्विनी जानकी जी को वन जाने की आज्ञा नहीं दी ॥ १६ ॥

पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम् ।
तावद्दर्शनमस्यां नः सफलं भवतु प्रभो ॥ १७ ॥

पिता की आज्ञा मान तुम तो वन जाओगे ही, परन्तु जानकी जी को अपने साथ मत ले जाओ, जिससे हम सब इसीका मुख देख देख कर, अपना जीवन सफल कर सकें ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक ।
नेयमर्हति कल्याणी वस्तुं तापसवद्वने ॥ १८ ॥

हे वत्स ! तुम लक्ष्मण जी को अपनी सहायता के लिये अपने साथ ले जाओ, किन्तु कल्याणी जानकी तो तपस्वियों की तरह वन में रहने योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी ।
धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि ॥१९॥

हे राम ! यदि तुम इस समय धर्म के अनुरोध से यहाँ रहना नहीं चाहते, तो हमारी यह प्रार्थना मानों कि. सीता को यहीं छोड़ दो ॥ १९ ॥

तासामेवंविधा वाचः शृण्वन्दशरथात्मजः ।
बबन्धैव तदा चीरं सीतया तुल्यशीलया[1] ॥ २० ॥

दशरथनन्दन ने उन रानियों के ये वचन सुन कर भी, जानकी जी को रहने में सम्मति न देख, उनके चीर बाँध ही तो दिये ॥२०॥

चीरे गृहीते तु तया समीक्ष्य नृपतेर्गुरुः ।
निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

१ तुल्यशीलया—अनङ्गीकृतानगरस्थित्यासीतयाप्रेरितःसन् । (रा०)

सीता जी को चीर धारण किये हुए देख, महाराज के गुरु वशिष्ठ जी ने सीता जी को चीर वस्त्र धारण करने के लिये मना कर, कैकेयी से कहा ॥ २१ ॥

अतिप्रवृत्ते[1] दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि ।
वञ्चयित्वा च राजानं न प्रमाणे[2]ऽवतिष्ठसे ॥ २२ ॥

रे कुलकलङ्किनी ! अरी दुष्टबुद्धिवाली कैकेयी ! महाराज को धोखा दे कर, अपनी कामना या वरदान की सीमा के बाहिर तू काम करवा चुकी अर्थात् तू अति कर चुकी । ख़ैर जो किया सो किया, अब तो मर्यादा के भीतर रह ॥ २२ ॥

न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते ।
अनुष्ठास्यति[3] रामस्य सीता [4]प्रकृतमासनम्[5] ॥ २३ ॥

अरे कैकेयी ! तुझमें शील तो रहा ही नहीं । सीता वन को न जायगी । वह श्रीरामचन्द्र जी के लिये तैयार हुए राजसिंहासन पर बैठेगी अर्थात् जब तक श्रीरामचन्द्र वन से लौट कर न आयेंगे तब तक सीता ही राज्य करेगी ॥ २३ ॥

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्[6] ।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ २४ ॥

क्योंकि सब गृहस्थों की स्त्रियाँ अपने अपने पतियों की अर्द्धाङ्गिनी होती हैं । अतः वे पति के समान ही पति के स्वत्वों

१ अतिप्रवृत्ते—अतिक्रम्यप्रवर्तमाने । (गो०) २ प्रमाणे—मर्यादायां । (गो०) ३ अनुष्ठास्यति—अधिष्ठास्यति । (गो०) ४ प्रकृतं—प्रस्तुतं । (गो०) ५ आसनम्—सिंहासनं । (गो०) ६ दारसंग्रहवर्तिनाम्—गृहस्थानां । (गो०)

की अधिकारिणी हैं। सीता जी भी श्रीरामचन्द्र की अर्द्धाङ्गिनी अथवा उनका रूप हैं। अतः ये भी पृथिवी का पालन अर्थात् राज्य करेंगी ॥ २४ ॥

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण सङ्गता ।
वयमप्यनुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥ २५ ॥

यदि सीता जी श्रीरामचन्द्र के साथ वन को गयीं, तो केवल हम ही नहीं, किन्तु सारी अयोध्यापुरी के लोग श्रीरामचन्द्र के साथ वन को चले जांयगे ॥ २५ ॥

[1]अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः ।
सहोपजीव्यं[2] राष्ट्रं[3] च पुरं[4] च सपरिच्छदम्[5] ॥२६॥

जहां सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी जांयगे, वहां ही ये सब ड्योढ़ीदार, राज्य भर में बसने वाले लोग तथा अयोध्यावासी धन धान्य और नौकरों चाकरों सहित चले जांयगे ॥ २६ ॥

भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः ।
वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥ २७ ॥

भरत जी और शत्रुघ्न जी भी चीर पहिन कर तपस्वियों के वेश में अपने बड़े भाई के साथ वनवासी होंगे ॥ २७ ॥

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह ।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥ २८ ॥

---

१ अन्तपालाः—राष्ट्रान्तपरिपालकाः । (गो०) २ उपजीव्यं—जीवनसाधनं धनं । (शि०) । ३ राष्ट्रं—राष्ट्रस्थोजनः । (शि०) ४ पुरं—अयोध्या । (शि०) ५ सपरिच्छदम्—दासदासीशकटादिपरिकरयुक्तम् । (गो०)

तब इस राज्य की भूमि मनुष्यों से शून्य हो जायगी—केवल वृक्ष ही वृक्ष रह जायँगे। तब तू अकेली प्रजा की अहितकारिणी बन कर, पेड़ों पर राज्य करना ॥ २८ ॥

न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥ २९ ॥

(तू अच्छी तरह समझ रख कि,) जहाँ श्रीरामचन्द्र का राज्य नहीं, वह स्थान राज्य कहला ही नहीं सकता और जहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी रहेंगे—वह भले ही वन हो, तो भी वह राज्य कहा जायगा ॥ २६ ॥

न ह्यदत्तां[1] महीं पित्रा भरतः शास्तुमर्हति।
त्वयि वा पुत्रवद्वस्तुं यदि जातो महीपतेः ॥ ३० ॥

महाराज अप्रसन्नतापूर्वक भरत को राज्य दे रहे हैं, सो भरत यदि महाराज के पुत्र होंगे, तो वे इस राज्य को कभी न लेंगे और न तेरे साथ पुत्रवत् बर्ताव करेंगे ॥ ३० ॥

यद्यपि त्वं क्षितितलाद्गगनं चोत्पतिष्यति।
पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति ॥ ३१ ॥

भले ही तू पृथिवी छोड़ आकाश में चली जा, (अर्थात् मर जा) तो भी अपने कुल के चरित्र का जानने वाले भरत जी कभी अन्यथाचरण न करेंगे अर्थात् बड़े भाई श्रीरामचन्द्र के रहते राज्य न करेंगे ॥ ३१ ॥

तत्त्वया पुत्रगर्धिन्या[2] पुत्रस्य कृतमप्रियम्।
लोके हि न स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥ ३२ ॥

---

1 अदत्तां—प्रीतपूर्वकमदत्तां। (गो०) 2 पुत्रगर्धिन्या—पुत्रविषयस्नेहयुक्तया। (गो०)

तू भरत की भलाई सोच, उनको जो राज्य दिला रही है, सो तू उनकी भलाई नहीं कर रही है; प्रत्युत उनके लिये बुराई कर रही है, क्योंकि ऐसा कोई जन नहीं जो श्रीरामचन्द्र जी के पीछे न जाय ॥ ३२ ॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान् ।
गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान्[1] ॥ ३३ ॥

मनुष्यों की वात रहने दे, तू देखेगी कि, पशु, सर्प, मृग, पक्षी श्रीरामचन्द्र जी के साथ जाते हैं। (जंगमों की वात भी जाने दे स्थावर) वृक्ष भी श्रीरामचन्द्र जी को वन जाते देख, उनके स्नेह में आसक्त हो, उनकी ओर झुक जांयगें—अर्थात् उनके साथ जाना चाहेंगे ॥ ३३ ॥

अथोत्तमान्याभरणानि देवि
देहि स्नुषायै व्यपनीय[2] चीरम् ।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति
न्यवारयत्तद्वसनं वसिष्ठः ॥ ३४ ॥

अतएव हे देवि! चीर को हटा कर अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषण अपनी वहू (सीता) को पहिना, क्योंकि यह सीता चीर पहनने योग्य नहीं है। इस प्रकार कह कर वशिष्ठ जी ने सीता जी को चीरधारण कराने के लिये मना किया ॥ ३४ ॥

एकस्य रामस्य वने निवासः
त्वया वृतः केकयराजपुत्रि ।

---

१ तदुन्मुखान्—रामविषयस्नेहासक्तत्वं । (गो०) २ व्यपनीय—निरस्य । (गो०)

विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या
वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥ ३५ ॥

हे राजा केकय की बेटी! तूने तो अकेले श्रीरामचन्द्र के वनवास के लिये वर मांगा था। अतः जानकी जी वसन भूषण धारण कर (अर्थात् सौभाग्यवती स्त्रियों के अनुरूप शृङ्गार कर) श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन में वसें। (अर्थात् उनके ऐसा करने से तेरी हानि ही क्या है) ? ॥ ३५ ॥

यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च
सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री ।
वस्त्रैश्च सर्वैः सहितैर्विधानैः[1]
नेयं वृता ते वरसम्प्रदाने ॥ ३६ ॥

जब तू ने सीता को वन में भेजने का वरदान ही नहीं मांगा, तब वह अच्छी सवारी में बैठ और मुख्य मुख्य अपनी दासियों को साथ ले और अच्छे गहने कपड़े पहिन और शृङ्गार की अन्य सामग्री साथ ले वन में जांय ॥ ३६ ॥

तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे ।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा
प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥ ३७ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

---

१ विधानैः—शृङ्गाराद्युपकरणैः । (गो०)

अमित प्रभावशाली, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ एवं राजगुरु वशिष्ठ जी के इतना कहने पर भी, सीता ने उस चीर के न उतारा। उतारतीं क्यों, वे तो अपने प्यारे पति की तरह वन में रहना चाहती थीं ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

अष्टात्रिंशः सर्गः

—:०:—

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत्।
प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक्त्वां दशरथं त्विति ॥ १ ॥

सनाथा सीता के अनाथा की तरह चीर पहिनते देख, जो वहाँ उपस्थित थे, चिल्लाये और महाराज दशरथ जी को धिक्कारने लगे ॥ १ ॥

तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः।
चिच्छेद जीविते श्रद्धां[1] धर्मे यशसि चात्मनः ॥ २ ॥

इस महाकोलाहल को सुन, महाराज दुःखी हुए और अपने जीवन में, धर्म में, और यश में जो पहिले आदर था, उसे उन्होंने त्याग दिया ॥ २ ॥

स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत्।
कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति ॥ ३ ॥

---

१ श्रद्धां—आदरं। (गो०)

उन्होंने उससे ले कर कैकेयी से यह कहा—हे कैकेयी! कुशचीर धारण कर सीता न जायगी ॥ ३ ॥

सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता ।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥ ४ ॥

हमारे गुरु वशिष्ठ जी ने ठीक ही कहा है कि, सीता वन जाने योग्य नहीं है। क्योंकि वह सुकुमारी बाला सदा सुख भोगने योग्य है ॥ ४ ॥

इयं हि कस्यापकरोति किञ्चि-
त्तपस्विनी राजवरस्य कन्या ।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये
स्थिता विसंज्ञा[1] श्रमणीव[2] काचित् ॥ ५ ॥

क्या नृपश्रेष्ठ महाराज जनक की कन्या ने किसी का कुछ बिगाड़ा है, जो यह लोगों की भीड़ में, चीर धारण कर, मुग्धा तपस्विनी की तरह खड़ी है ॥ ५ ॥

चीराण्यपास्याज्जनकस्य कन्या
नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा ।
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री
वनं समग्रा[3] सह सर्वरत्नैः[4] ॥ ६ ॥

मैंने यह वर नहीं दिया है कि, महाराज जनक की पुत्री भी चीर धारण करे। अतः यह राजपुत्री अपेक्षित वसन भूषण तथा समस्त उत्तम सामग्री सहित जाय ॥ ६ ॥

---

१ विसंज्ञा—मुग्धा। (गो०) २ श्रमणीव—तपस्विनीव। (गो०) ३ समग्रा—वस्त्रालङ्कार सम्पूर्णा। ४ सर्वरत्नैः—सर्वश्रेष्ठ वस्तुभिः। (गो०)

अजीवनार्हेण मया नृशंसा
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत् ।
त्वया हि [1]बाल्यात्प्रतिपन्नमेतत्[2]-
तन्मां दहेद्वेणुमिवात्मपुष्पम् ॥ ७ ॥

मरने का समय निकट होने से मेरी बुद्धि बिगड़ गयी। इसीसे मैंने शपथपूर्वक तुझे वर देने की प्रतिज्ञा कर के जो मूर्खता का काम किया है, वह मुझे वैसे ही जला रहा है, जैसे बाँस का फूल बाँस को जलाता है ॥ ७ ॥

[बाँस का फूल जब फूलता है तब वह बाँस को सुखा देता है ।]

रामेण यदि ते पापे किञ्चित्कृतमशोभनम् ।
अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽथ मे ॥ ८ ॥

माना कि, श्रीरामचन्द्र ने तेरा कुछ बिगाड़ा था, पर अरे पापिन ! मुझे बता तो सही जानकी जी ने तेरा क्या बिगाड़ा था ॥ ८ ॥

मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला तपस्विनी ।
अपकारं कमिह ते करोति जनकात्मजा ॥ ९ ॥

हिरनी के समान सुन्दर नेत्र वाली तथा तपस्विनी की तरह कोमल और शील स्वभाव वाली जानकी ने तेरा क्या बिगाड़ा है ॥ ९ ॥

ननु पर्याप्तमेतत्ते पापे रामविवासनम् ।
किमेभिः कृपणैर्भूयः पातकैरपि ते कृतैः ॥ १० ॥

---

१ बाल्यात्—बालिशत्वात् । (गो०) २ एतत्—प्रतिज्ञातं । (गो०)

अरी पापिन! तुझे नरक में डालने के लिये श्रीरामचन्द्र को अकारण वनवास दिलाना ही पर्याप्त है, फिर न जाने अधिक दुष्ट कर्मों के करने से तेरी क्या गति होगी ॥ १० ॥

प्रतिज्ञातं[1] मया तावत्त्वयोक्तं देवि शृण्वता ।
रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः ॥ ११ ॥

अभिषेक के लिये जब श्रीरामचन्द्र यहाँ आये थे, तब तूने इनसे यही न कहा था कि, तुम अपना अभिषेक न करा कर और चीर जटा धारण कर वन जाओ। तेरी यह बात सुन, हमने उसे (चुपचाप—"मौनं सम्मतिलक्षणम्" न्याय से) स्वीकार कर लिया। (उस समय तूने केवल श्रीरामचन्द्र ही का नाम लिया था, सीता का नहीं) ॥ ११ ॥

तत्त्वेतत्समतिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि ।
मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम् ॥ १२ ॥

सो तू उस बात को छोड़, नरक में जाया चाहती है। तभी तो तू सीता को मुनियों जैसे चीर पहिना वन में भेजती है ॥ १२ ॥

इतीव राजा विलपन्महात्मा
शोकस्य नान्तं स ददर्श किञ्चित् ।
भृशातुरत्वाच्च पपात भूमौ
तेनैव पुत्रव्यसने निमग्नः ॥ १३ ॥

महात्मा महाराज दशरथ विलाप कर तथा अपने शोक का पार न देख और अत्यन्त आतुर हो, पृथिवी पर गिर पड़े और पुत्र के वियोगजन्य दुःख (को स्मरण कर) में डूब गये ॥ १३ ॥

---

१ प्रतिज्ञातं—अङ्गीकृतम्। (शि०)

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
अवाक्शिरसमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

इस प्रकार कहते हुए और नीचा सिर किये हुए पिता महाराज दशरथ से, वन जाने के लिये तैयार श्रीरामचन्द्र यह वचन बोले ॥ १४ ॥

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी ।
वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते ॥ १५ ॥

हे देव! यह मेरी माता कौशल्या जो पतिव्रता है, यशस्विनी है, बूढ़ी है, उत्तम स्वभाव वाली है और जो कभी आपकी निन्दा नहीं करती ॥ १५ ॥

मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम् ।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः[1] सम्मन्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

हे वरद! मेरे बिना यह शोकसागर में डूब जायगी। इसने कभी पहिले दुःख नहीं देखा, अतः आप इसका अत्यन्त सम्मान कीजियेगा ॥ १६ ॥

पुत्रशोकं यथा नच्छेंत्त्वया पूज्येन पूजिता ।
मां हि सञ्चिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत्तपस्विनी ॥१७॥

आप पूज्य हैं, आप इसका ऐसा सम्मान या सत्कार करें, जिससे इसे पुत्र-वियोग-जन्य शोक न होने पावे और मेरे वियोग को सह सके तथा आपके भरोसे जीती रहे ॥ १७ ॥

---

१ भूयः—अतिशयेन । (गो०)

इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं
तथा विधातुं जननीं ममार्हसि ।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता
न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत् ॥ १८ ॥

इति अष्टात्रिंशः सर्गः ॥

हे इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली महाराज ! आप, पुत्रवत्सला मेरी माता को इस तरह रखना, जिससे मेरे वन में रहने के समय, वह क्षीणबला हो मर न जाय और यमलोक न चली जाय ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम् ।
समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन और उनको मुनि का वेष धारण किये हुए देख, महाराज अपनी रानियों सहित मूर्च्छित हो गये ॥ १ ॥

नैनं दुःखेन सन्तप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम् ।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः ॥ २ ॥

दुःख से सन्तप्त हो, उदास मन महाराज न तो श्रीरामचन्द्र जी की ओर देख सकते थे और न उनकी ओर देख कर, उनसे बोल ही सकते थे ॥ २ ॥

स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः ।
विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन् ॥ ३ ॥

महाराज दशरथ दुःखित हो, एक मुहूर्त तक अचेत पड़े रहे। तदनन्तर महाबाहु दशरथ चैतन्य हो, श्रीराम का स्मरण कर, अनेक प्रकार के विलाप करने लगे ॥ ३ ॥

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः ।
प्राणिनो हिंसिता वापि तस्मादिदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥

हम मानते हैं कि, हमने निस्सन्देह पूर्वजन्म में बहुत सी गौओं के बछड़े उनसे अलग कर दिये हैं अथवा बहुत से प्राणियों का वध किया है ; इसीसे यह दुःख हमारे ऊपर पड़ा है ॥ ४ ॥

न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम् ।
कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥ ५ ॥

विना समय आये शरीर से प्राण नहीं निकलते । क्योंकि कैकेयी हमें इतना क्लेश दे रही है, तिस पर भी हमें मौत नहीं आती ॥ ५ ॥

योऽहं पावकसङ्काशं पश्यामि पुरतः स्थितम् ।
विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥

हा ! अग्नि के समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्र को हम अपने आगे खड़ा और राजसी वस्त्र त्याग कर, मुनिवस्त्र पहिने देख रहे हैं ॥ ६ ॥

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं क्लिश्यते जनः ।
स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं[1] स्त्रियाम् ॥७॥

---

१ निकृतिः—शाठ्यं । (गो०)

निश्चय ही अकेली कैकेयी की करतूत ही से इतने लोग कष्ट पा रहे हैं। वह यह शठता का प्रयत्न केवल स्वार्थसाधन के लिये कर रही है ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं वाष्पेण पिहितेक्षणः* ।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक ह ॥ ८ ॥

ऐसा कह कर, महाराज ने नेत्रों में आंसू भर एक बार "राम" कहा ; किन्तु इसके आगे वे कुछ भी न बोल सके ॥ ८ ॥

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात्स महीपतिः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

एक मुहूर्त बाद जब महाराज को चेत हुआ, तब उन्होंने आंखों में आंसू भर, सुमंत्र से यह कहा ॥ ९ ॥

औपवाह्यं[1] रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः ।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात्परम् ॥ १० ॥

तुम, उत्तम घोड़े जोत कर, सवारी करने योग्य रथ ले आओ और इस महाभाग श्रीरामचन्द्र को उस पर सवार कर इस नगर से बाहिर पहुँचाओ ॥ १० ॥

एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते ।
पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वीरो निर्वास्यते वनम् ॥ ११ ॥

अब हम समझे कि, गुणी पुरुषों के गुणवान होने का यही फल है कि, ऐसे साधु और वीर पुत्र, पिता माता द्वारा वन में निकाले जाते हैं, (अर्थात् अब से गुणी होना भी ठीक नहीं) ॥ ११ ॥

* पाठान्तरे—"पिहितेन्द्रियः।"

1 औपवाह्यं—उपवहनमात्रयोग्यं। (गो०)

राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः[1] ।
योजयित्वाऽऽययौ तत्र रथमश्वैरलङ्कृतम् ॥ १२ ॥

महाराज की आज्ञा पा कर, सुमंत्र तुरन्त घोड़े जोत कर, अच्छी तरह सजा हुआ एक रथ ले आये ॥ १२ ॥

तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम् ।
आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥ १३ ॥

और उस सुवर्णभूषित और बढ़िया घोड़ों से युक्त रथ को राजकुमार (श्रीरामचन्द्र) के सामने खड़ा कर तथा हाथ जोड़ कर सुमंत्र ने उनसे कहा, "रथ तैयार है" ॥ १३ ॥

राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं[2] वित्तसञ्चये[3] ।
उवाच देशकालज्ञं निश्चितं[4] सर्वतः शुचिम्[5] ॥ १४ ॥

तदनन्तर महाराज ने तुरन्त अपने उस खजानची को बुलाया, जो जानता था कि, कौन वस्तु कहाँ धरी है और जो सब प्रकार से मन का और हाथ का सच्चा (ईमानदार) था। उससे महाराज ने देश और काल के अनुरूप यह वचन कहा ॥ १४ ॥

वासांसि च महार्हाणि भूषणानि वराणि च ।
वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥ १५ ॥

अच्छे अच्छे कपड़े और बहुमूल्य आभूषण जो चौदह वर्ष को जानकी के लिये पर्याप्त हों—शीघ्र जा कर ले आओ ॥ १५ ॥

---

१ शीघ्रविक्रमः—शीघ्रपदविक्षेपः । (गो०) २ व्यापृतं—अध्यक्षत्वेन व्यापृतं, धनाध्यक्षं । (गो०) ३ वित्तसञ्चये—कोशगृहे । (गो०) ४ निश्चितं—यावद्वस्थितः तत्तद्वस्तुविषयनिश्चितज्ञानवन्तं । (गो०) ५ शुचिम्—बाह्यान्तरशुद्धियुक्तं । (गो०)

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः ।
प्रायच्छत्सर्वमाहृत्य सीतायै सममेव तत् ॥ १६ ॥

महाराज की ऐसी आज्ञा पा कर कोषाध्यक्ष कोशागार में गया और जिन जिन वस्तुओं को लाने के लिये महाराज ने कहा था, उन सब को ला कर सीता जी को दे दिया ॥ १६ ॥

सा सुजाता[1] सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम् ।
भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥ १७ ॥

अयोनिसम्भूत सीता जी ने वन जाने के समय उन विचित्र भूषणों और वस्त्रों से अपने शरीर को शोभित किया ॥ १७ ॥

व्यराजयत वैदेही वेश्म तत्सुविभूषिता ।
उद्यतोंऽशुमतः[2] काले खं प्रभेव विवस्वतः ॥ १८ ॥

जानकी जी ने उस समय वस्त्राभूषण धारण कर, उस घर को सुशोभित ऐसा किया जैसे प्रातःकाल अर्थात् उदयकाल में सूर्य की प्रशस्त किरणें आकाश को भूषित करती हैं ॥ १८ ॥

तां भुजाभ्यां परिष्वज्य श्वश्रूर्[3]वचनमब्रवीत् ।
अनाचरन्तीं[4] कृपणं[5] मूर्ध्न्युपाघ्राय मैथिलीम् ॥१९॥

कौशल्या जी ने अच्छे आचरण करने वाली जानकी जी को हृदय से लगाया और मस्तक को सूँघ, यह कहा ॥ १९ ॥

---

१ सुजाता—सुजन्मा अयोनिजेतियावत् । (गो०) २ अंशुमता—प्रशस्तकिरणस्य । (गो०) ३ श्वश्रूः—कौसल्या । (गो०) ४ अनाचरन्तीं अकुर्वन्तीं । (गो०) ५ कृपणं—क्षुद्रं । (गो०)

असत्यः[1] सर्वलोकेऽस्मिन्सततं सत्कृताः प्रियैः ।
भर्तारं नानुमन्यन्ते[2] विनिपातगतं[3] स्त्रियः ॥ २० ॥

सब लोकों में जो कुलटा स्त्रियाँ होती हैं, उनका उनकी चाही हुई प्रिय वस्तुओं से भले ही सदैव सत्कार ही क्यों न किया जाय, किन्तु पति पर विपत्ति पड़ने पर ऐसी स्त्रियाँ अपने पति को नहीं मानती अर्थात् जैसा आदर वे समृद्ध काल में अपने पतियों का करती हैं—वैसा आदर सत्कार वे अपने पतियों का विपत्ति के समय नहीं करतीं ॥ २० ॥

एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् ।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥ २१ ॥

वास्तव में कुलटा स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि पहले सुख को भोग कर भी, ज्योंही जरा भी विपत्ति पड़ी कि त्योंही वे पति पर केवल दूषण ही नहीं लगाने लगतीं वल्कि पति को छोड़ भी बैठती हैं ॥ २१ ॥

असत्यशीला विकृता[4] दुर्ग्राह्यहृदयाः सदा ।
युवत्यः पापसङ्कल्पाः क्षणमात्राद्विरागिणः[5] ॥ २२ ॥

संसार में अधिक स्त्रियाँ ऐसी होती हैं, जो सदा झूठ बोला करती हैं, जिनको देखते ही देखने वाले के मन में विकार उत्पन्न होता है, उनके मन की बात बड़ी कठिनाई से जानी जाती है, वे

१ असत्यः—कुलटाः । (गो०) २ नानुमन्यन्ते—नगणयन्ति । (गो०) ३ विनिपातगतं—स्वस्थानात्प्रच्युतिं प्राप्तं । (गो०) ४ विकृताः—दर्शनमात्रेण विकारोत्पादिकाः । (शि०) ५ क्षणमात्राद्विरागिणाः—क्षणमात्रेण त्यक्तानुरागः । (वि०)

सदा हृदयशून्य होती हैं। वे अपने को सदा जवान ही समझती रहती हैं, उनके मन में नाना प्रकार के पापपूरित संकल्प उठा करते हैं और वे क्षणमात्र में चिरपोषित प्रीति को तिनके की तरह तोड़ डालती है, अथवा बात बात में बिगड़ा करती हैं ॥ २२ ॥

न कुलं न कृतं विद्यां न दत्तं नापि संग्रहम्[1] ।
स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥ २३ ॥

न तो प्रशस्त कुल, न उपकार, न गुरूपदिष्ट धर्मविद्या, न वस्त्र आभूषणादि का दान, न वैवाहिक बन्धन ही (अथवा उनको बाँध कर रखना ही) इन कुलटा स्त्रियों के मन को वश में कर सकता है। क्योंकि ये सब बड़ी चञ्चल स्वभाव की होती हैं ॥ २३ ॥

[कुलटा स्त्रियों के लक्षण समझा कर, आगे कौशल्या जी सती स्त्रियों के लक्षण बतलाती हैं।]

साध्वीनां हि स्थितानां[2] तु शीले[3] सत्ये श्रुते[4] शमे[5] ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते[6] ॥ २४ ॥

जो सती और पतिव्रता स्त्रियाँ होती हैं, वे कुलोचित आचरण वाली, सत्य में आस्था रखने वाली, गुरुजनों के उपदेश में श्रद्धा रखने वाली और शान्तचित्त वाली होती हैं। ऐसी स्त्रियों के लिये उनका केवल पति ही परम पवित्र और सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ २४ ॥

---

१ संग्रहं—अग्निसाक्षिकपाणिग्रहणं । (गो०)—इष्टे विदोषे स्वीकारः यद्वा संग्रहो बंधनादि । (रा०) २ स्थितानां—पतिव्रतानाम् स्त्रीणाम् । (रा०) ३ शीले—कुलोचितचरित्रे । (गो०) ४ श्रुते—गुरुजनकृतोपदेशे । (गो०) ५ शमे—शान्तौच (गो०) ६ विशिष्यते—उत्कृष्टोभवति । (गो०)

स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो मम ।
तव दैवतमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥ २५ ॥

अतः तू मेरे पुत्र का जो वनवास करने के लिये उद्यत है, अपमान मत करना। क्योंकि चाहे वह धनी है, चाहे निर्धन ; तेरे लिये तो वह देवता के समान ही पूज्य एवं मान्य है ॥ २५ ॥

विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम् ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिताम् ॥ २६ ॥

तब सीता जी सास के धर्म और अर्थ युक्त इन वचनों का अभिप्राय समझ, सास के सामने जा और हाथ जोड़ कर, यह बोलीं ॥ २६ ॥

करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुसास्ति माम् ।
अभिज्ञाऽस्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं[1] श्रुतं[2] च मे ॥ २७ ॥

हे आर्ये! आपने मुझे जैसी आज्ञा दी है, मैं तदनुसार ही करूँगी। स्त्री को अपने पति की, जिस प्रकार सेवा करनी चाहिये वह मैं जानती हूँ। क्योंकि मैं माता पिता के मुख से यह सब सुन चुकी हूँ ॥ २७ ॥

न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति ।
धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥ २८ ॥

हे आर्ये! आप मुझे असती स्त्रियों के समान न समझें। मैं धर्म से कभी भी विचलित नहीं हो सकती ; जैसे चन्द्रमा की प्रभा चन्द्रमा से कभी भी विचलित नहीं होती ॥ २८ ॥

---

१ वर्तितव्यं—शुश्रूषतव्यं । (गो०) २ श्रुतं—मातापितृभ्यां इति शेषः । (गो०)

नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो वर्तते रथः ।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥ २९ ॥

जिस प्रकार विना तार की वीणा नहीं बजती, विना पहिये का रथ नहीं चलता, उसी प्रकार स्त्री सौ पुत्रवाली हो क्यों न हो, उसे विना पति के सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ ३० ॥

क्या पिता, क्या माता और क्या पुत्र—ये सब तो थोड़े थोड़े सुख के देने वाले हैं। परन्तु पति, जो अमित सुख का देने वाला है, उसका ऐसी कौन (अभागी) स्त्री होगी, जो आदर न करेगी। (अर्थात् पति से इहलोक और परलोक में भी स्त्री को अपरिमिति सुख मिलता है)॥ ३० ॥

साऽहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा ।
आर्ये किमवमन्येऽहं स्त्रीणां भर्ता हि दैवतम् ॥ ३१ ॥

मैं पतिव्रत धर्म की सब बातें धर्म जानने वाले श्रेष्ठ लोगों से सुन कर जान चुकी हूँ। सो मैं, यह जान कर भी कि, स्त्री के लिये उसका पति ही देवता है; मैं पति का अनादर क्यों करूँगी (अर्थात् कभी न करूँगी) ॥ ३१ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम्[1] ।
शुद्धसत्त्वा[2] मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम्[3] ॥ ३२ ॥

---

१ हृदयङ्गमम्—मनोहरं । (शि०) २ शुद्धसत्त्वा—शुद्धचित्ता । (शि०)
३ दुःखहर्षजम्—पुत्रादेर्वनगमनेन दुःखं, सीतायावाक्यश्रवणेन च हर्षः । (रा०)

भोलीभाली माता कौशल्या, जो श्रीरामचन्द्र के वनगमन से दुखी हो, आँसू गिरा रही थी, सीता जी के ये मनोहरवचन सुन, सहसा प्रसन्न हो गयी ॥ ३२ ॥

तां प्राञ्जलिरभिक्रम्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम् ।
रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

सब माताओं में अधिक पूज्य कौशल्या की परिक्रमा कर, परम धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने हाथ जोड़ कर, कहा ॥ ३३ ॥

अम्ब मा दुःखिता भूस्त्वं पश्य त्वं पितरं मम ।
क्षयो हि वनवासस्य[1] क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ ३४ ॥

हे अम्मा ! (मेरे वन जाने के बाद) तुम दुःखी हो, मेरे पिता की ओर मत देखना ; क्योंकि वनवास की अवधि शीघ्र ही पूरी हो जायगी ॥ ३४ ॥

सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च ।
सा समग्रमिह[2] प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥ ३५ ॥

ये चौदह वर्ष तुझे ऐसे कट जायँगे जैसे सोने में एक रात कट जाती है। अथवा तुझे ये १४ वर्ष एक रात के समान जान पड़ेंगे। पिता की आज्ञा पालन कर, सुहृदों सहित तू मुझे यहाँ आया हुआ देखेगी ॥ ३५ ॥

एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः ।
त्रयः शतशतार्धाश्च ददर्शावेक्ष्य[3] मातरः ॥ ३६ ॥

---

१ वनवासस्य—वनवासकालस्य । (गो०) २ समग्रं—सम्पूर्ण मनोरथं अथवा निर्वर्तितपितृवचनं । (गो०) ३ ददर्शावेक्ष्य—वक्तव्यं आलोच्य । (गो०)

अब तो गजेन्द्र के समान गमन करने वाले वीर, महाबाहु और धनुर्धर श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मण के साथ वन में पहुँच गये होंगे ॥ ६ ॥

वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यानुमते त्वया ।
त्यक्तानां वनवासाय का न्ववस्था भविष्यति ॥ ७ ॥

देखो, जिन्होंने कभी दुःख देखा सुना ही नहीं, उनको तुमने कैकेयी की बातों में आ, वन में भेज दिया । ज़रा विचारो तो उनकी अब क्या दशा होगी ॥ ७ ॥

ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः ।
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥ ८ ॥

उनके पास कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है । यह तरुण अवस्था उनकी राजसुख भोगने की थी ; किन्तु ऐसे समय वे वन में भेज दिये गये हैं । मेरी समझ में नहीं आता कि, वे बेचारे कन्दमूल फलादि खा कर वन में कैसे निर्वाह कर सकेंगे ॥ ८ ॥

अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः ।
सभार्यं यत्सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम् ॥ ९ ॥

क्या मेरे भाग्य में कभी ऐसी भी कोई शुभ घड़ी देखना लिखा है, जब मैं लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यहाँ आया हुआ देखूँ और मेरे इस शोक का अन्त हो ॥ ९ ॥

सुप्त्वैवोपस्थितौ वीरौ कदाऽयोध्यां गमिष्यतः ।
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी ॥ १० ॥

मुरजपणवमेघघोषव-
दशरथवेश्म बभूव यत्पुरा ।
विलपितपरिदेवनाकुलं
व्यसनगतं तदभूत्सुदुःखितम् ॥ ४१ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

हा! महाराज के जिस भवन में पहले मृदङ्ग ढोल के मेघ-गर्जनवत् शब्द हुआ करते थे, वही भवन आज रानियों के करुण-पूर्ण आर्तनाद और परिताप के अत्यन्त दुःख से भर गया ॥ ४१ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

चत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।
उपसंगृह्य[1] राजानं चक्रुर्दीनाः प्रदक्षिणम् ॥ १ ॥

अनन्तर दीन दुःखी श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी और लक्ष्मण सहित महाराज दशरथ के चरणों को स्पर्श कर, प्रणाम किया और प्रदक्षिणा की ॥ १ ॥

तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सीतया सह ।
राघवः शोकसम्मूढो जननीमभ्यवादयत् ॥ २ ॥

पिता जी से विदा माँग, सीता सहित धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने शोक से विकल कौशल्या जी को प्रणाम किया ॥ २ ॥

१ उपसंगृह्य—पादग्रहणपूर्वकंप्रणम्य । (गो०)

अन्वक्षं[1] लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत् ।
अथ मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रणाम कर चुकने पर लक्ष्मण जी ने कौशल्या को प्रणाम किया । तदनन्तर अपनी जननी सुमित्रा के चरण छुए ॥ ३ ॥

तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत् ।
हितकामा महाबाहुं मूर्ध्न्युपाघ्राय लक्ष्मणम् ॥ ४ ॥

रुदन करती हुई और लक्ष्मण का हित चाहने वाली माता सुमित्रा ने, महाबाहु लक्ष्मण का सिर सूँघ कर उनसे कहा ॥ ४ ॥

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने ।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कौशल्या ने श्रीरामचन्द्र को लोकरक्षणार्थ उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मैंने श्रीरामचन्द्र में अनुराग रखने वाले और उनके साथ वन जाने के लिये तुम्हें जना है । अतः श्रीराम के वन जाने पर तुम वहाँ उनकी सेवा शुश्रूषा में असावधानी मत करना । (अथवा ऐसा न करना कि, श्रीरामचन्द्र जी तो वन जाँय और तुम बीच ही में रह जाओ—भूषण) ॥ ५ ॥

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत् ॥ ६ ॥

हे अनघ ! चाहे यह दुःखी हों या सुखी हों, (तुम जान रखो कि, यही) तुम्हारी एक मात्र गति हैं अर्थात् तुम्हारे ये ही सर्वस्व

---

१ अन्वक्षं—अनुपद (गो०)

हैं। लोक में सज्जनों का धर्म ही यह है कि, बड़ों के कहने में चलना ॥ ६ ॥

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम् ।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु च ॥ ७ ॥

विशेष कर के इस वंश की तो पुरानी रीति यह है कि, दान देना, यज्ञ करना और संग्राम में शरीर त्याग करना ॥ ७ ॥

लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वा सा संसिद्धं[1] प्रियराघवम् ।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनःपुनरुवाच तम् ॥ ८ ॥

सुमित्रा ने लक्ष्मण जी से इस प्रकार कहा और उनको वन जाने के लिये तत्पर देख और उनको श्रीरामचन्द्र जी का प्यारा जान, सुमित्रा जी उनसे बारंबार कहने लगीं ; बेटा ! देर मत करो, जल्दी श्रीरामचन्द्र के साथ वन को जाओ ॥ ८ ॥

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥ ९ ॥

हे वत्स ! (माता, पिता, घर द्वार और देश छूटने का सोच मत करना और वहां अपना मन प्रसन्न रखने के लिये) श्रीरामचन्द्र को महाराज दशरथ के समान, जानकी को मेरे समान और वन को अयोध्या के समान जानना ॥ ९ ॥

ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
विनीतो विनयज्ञश्च मातलिर्वासवं यथा ॥ १० ॥

---

१ संसिद्धं—गमनोद्युक्तं । (गो०)

तदनन्तर सुमंत्र हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी से उसी प्रकार बोले, जैसे मातलि इन्द्र से बोलता है ॥ १० ॥

रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसि ॥११॥

हे महायशस्वी राजपुत्र ! आप रथ पर सवार हों । आप जहाँ कहेंगे, वहीं मैं आपको तुरन्त पहुँचा दूँगा ॥ ११ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया ।
तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्याऽसि चोदितः ॥ १२ ॥

आपको १४ वर्ष वन में वास करना है, सो कैकेयी की प्रेरणा के अनुसार आज ही से उसका आरम्भ कीजिये ॥ १२ ॥

तं रथं सूर्यसङ्काशं सीता हृष्टेन चेतसा ।
आरुरोह वरारोहा कृत्वा[1]लङ्कारमात्मनः ॥ १३ ॥

तब सुन्दर मुख वाली जनकनन्दिनी प्रफुल्ल मन से ससुर के दिये हुए अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों सहित, सब से प्रथम सूर्य के समान (चमकीले) रथ पर चढ़ीं ॥ १३ ॥

अथो ज्वलनसङ्काशं[2] चामीकरविभूषितम् ।
तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १४ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण भी उस सुवर्णभूषित और आयुधों से सज्जित रथ पर सवार हुए ॥ १४ ॥

---

१ अलंकारंकृत्वा—श्वशुरदत्तवस्त्राभरणादिभिः इतिशेषः । (गो०)

२ ज्वलनसङ्काशं—आयुधपूर्णत्वादितिभावः । (गो०)

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च ।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ ॥ १५ ॥

सीता जी के ससुर महाराज दशरथ ने वनवास के दिनों को गिन, पति के साथ वन जाती हुई सीता को, जिस प्रकार गहने कपड़े दिये थे ॥ १५ ॥

तथैवायुधजालानि भ्रातृभ्यां कवचानि च ।
रथोपस्थे प्रतिन्यस्य सचर्म कठिनं च तत् ॥ १६ ॥

वैसे ही महाराज ने दोनों भाइयों के लिये बहुत से अस्त्र शस्त्र, कवच, उत्तम मज़बूत ढालें भी रथ पर रखवा दी थीं ॥ १६ ॥

सीतातृतीयानारूढान्दृष्ट्वा[1] धृष्टमचोदयत् ।
सुमन्त्रः [2]सम्मतानश्वान्वायुवेगसमाञ्जवे ॥ १७ ॥

सुमंत्र ने तीनों को रथ पर बैठे हुए देख, उन वायु तुल्य तेज़ चाल से चलने वाले अपने पसंद किये हुए घोड़ों को, सावधानी के साथ आगे बढ़ाया ॥ १७ ॥

प्रतियाते महारण्यं चिररात्राय[3] राघवे ।
बभूव नगरे मूर्छा बलमूर्छा[4] जनस्य च ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के बहुत दिनों के लिये दण्डकवन को प्रस्थान करते ही, केवल नगरवासी या, बाल वृद्ध स्त्री पुरुष ही नहीं, किन्तु राजसैन्य के हाथी घोड़े तक अपने आपे में न रहे ॥ १८ ॥

---

१ धृष्टं—सधैर्यं । (गो० २ सम्मतान्—श्रेष्ठान् । (गो०) ३ चिररात्राय—चिरकालं । (गो०) ४ बलमूर्छा—अश्वगजादिमोहः । (गो०)

तत्समाकुल[1]सम्भ्रान्तं मत्तसङ्कुपितद्विपम् ।
हयशिञ्जितनिर्घोषं पुरमासीन्महास्वनम् ॥ १९ ॥

वहाँ जितने लोग थे, वे सब क्षुब्ध और क्रुद्ध हो, मतवालों की तरह हो गये। हाथी बिगड़ गये, घोड़े हिनहिनाने लगे। सारी अयोध्यापुरी में हलचल मच गयी ॥ १६ ॥

ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता ।
राममेवाभिदुद्राव घर्मार्ता सलिलं यथा ॥ २० ॥

अयोध्या के क्या बालक और क्या बूढ़े और क्या युवक—सभी अत्यन्त विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे वैसे ही दौड़ने लगे, जैसे घाम से सताया हुआ जीव पानी की ओर दौड़ता है ॥ २० ॥

पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः[2] ।
बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भृशनिस्वनाः ॥ २१ ॥

कोई तो रथ की अगल बगल, और कोई रथ के पीछे, श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिये ऊपर को मुख उठाये चले जाते थे। सब के सब उस समय रो रहे थे और चिल्ला चिल्ला कर सुमंत्र से कह रहे थे ॥ २१ ॥

संयच्छ वाजिनां रश्मीन्सूत याहि शनैः शनैः ।
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति ॥ २२ ॥

---

१ समाकुलं—अन्तःकरणक्षोभयुक्तं । (गो०) २ उदन्मुखा—रामम् पश्यन्त । (शि०)

हे सूत! घोड़ों की रास कड़ी करो, रथ धीरे धीरे चलाओ। श्रीरामचन्द्र जी का मुख हमें ज़रा देख लेने दो। क्योंकि हमारे लिये अब इनके मुख का दर्शन दुर्लभ हो जायगा॥ २२॥

आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम्।
यद्देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते॥ २३॥

अब हमको निश्चय हो गया कि, श्रीरामचन्द्र जी की माता का हृदय लोहे का है। क्योंकि देव समान इन श्रीरामचन्द्र को वन जाते देख, वह फट क्यों नहीं गया॥ २३॥

कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।
न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा॥ २४॥

धन्य है वैदेही, जो अपने पति के पीछे शरीर की छाया की तरह उसी प्रकार जा रही है और पातिव्रतधर्म में दृढ़ है, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा मेरु पर्वत को नहीं छोड़ती॥ २४॥

अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्।
भ्रातरं देवसङ्काशं यस्त्वं परिचरिष्यसि॥ २५॥

अहो लक्ष्मण! तुम भी कृतार्थ हुए, जो तुम सदैव प्रियवादी और देवतुल्य भाई की वन में सेवा करोगे॥ २५॥

महत्येषा हि ते सिद्धिरेष चाभ्युदयो महान्।
एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि॥ २६॥

यही तुम्हारे लिये बड़ी सिद्धि है और यही तुम्हारे लिये महान् अभ्युदय है और यही तुम्हारे लिये स्वर्ग जाने का मार्ग है, जो तुम अपने भाई के अनुगामी हुए हो॥ २६॥

एवं वदन्तस्ते सोढुं न शेकुर्बाष्पमागतम् ।
नरास्तमनुगच्छन्तः प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम् ॥ २७ ॥

प्यारे इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी के पीछे जाते हुए और इस प्रकार कहते हुए लोग आँसुओं को न रोक सके अर्थात् रोने लगे ॥ २७ ॥

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः ।
निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन्गृहात् ॥ २८ ॥

उधर राजभवन में दीनदुखी महाराज दशरथ शोक से विकल रानियों सहित यह कहते हुए "मैं अपने प्यारे बेटे को देखूँगा" भवन से पैदल ही निकल पड़े ॥ २८ ॥

शुश्रुवे चाग्रतः स्त्रीणां रुदन्तीनां महास्वनः ।
यथा नादः करेणूनां बद्धे महति कुञ्जरे ॥ २९ ॥

हाथी को ज़ंजीरों में बँधा देख, जिस प्रकार हथिनी चिंघाड़ मारती है, उसी तरह अति ज़ोर से स्त्रियों के रोने का शब्द महाराज दशरथ ने सुना ॥ २९ ॥

पिता हि राजा काकुत्स्थः श्रीमान्सन्न[1]स्तदाऽभवत् ।
परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के पिता महाराज दशरथ हतश्री और हततेज वैसे ही हो गये, जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा राहु से ग्रसे जाने पर हततेज और हतश्री हो जाता है ॥ ३० ॥

१ सन्नः—अवसन्नतेजा । (गो०)

स च श्रीमानचिन्त्यात्मा[1] रामो दशरथात्मजः ।
सूतं सञ्चोदयामास त्वरितं वाह्यतामिति ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी जिनको साधारण लोग नहीं पहिचान सकते थे, सूत से बोले कि, रथ जल्दी जल्दी हाँको ॥ ३१ ॥

रामो याहीति सूतं तं तिष्ठेति स जनस्तदा ।
उभयं नाशकत्सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः ॥ ३२ ॥

इधर श्रीरामचन्द्र जी तो रथ शीघ्र हाँकने को कहते और उधर प्रजाजन कहते कि, रथ धीरे धीरे चलाओ । ऐसी दशा में सुमंत्र न तो रथ को तेज़ ही चला सके और न खड़ा ही कर सकते थे—बेचारे बड़े सङ्कट में थे ॥ ३२ ॥

निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः ।
पतितैरभ्युपहितं प्रशशाम महीरजः ॥ ३३ ॥

जिस समय महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी वन जाने लगे, उस समय उनके रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल पुरवासियों की अश्रुधारा से दब गयी ॥ ३३ ॥

रुदिताश्रुपरिद्यूनं हाहाकृतमचेतनम्[2] ।
प्रयाणे राघवस्यासीत्पुरं परमपीडितम् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रयाण के समय अयोध्यापुरी के रहने वाले हाहाकार कर रोते रोते किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये—लोगों को बड़ा ही दुःख हुआ ॥ ३४ ॥

---

१ अचिन्त्यात्मा—प्राकृतजनैरचिन्त्यस्वरूपः । (वि०) २ अचेतनम्—मूढं । (गो०)

सुस्राव नयनैः स्त्रीणामास्रमायाससम्भवम् ।
मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥ ३५ ॥

उस समय स्त्रियों के नेत्रों से ऐसी अश्रुधारा बह रही थी, जैसे मछलियों के खलबला देने से कमल के पत्तों पर गिरा हुआ जल बहता है ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु नृपतिः श्रीमानेकचित्तगतं[1] पुरम् ।
निपपातैव दुःखेन हतमूल इव द्रुमः ॥ ३६ ॥

महाराज सारे नगरवासियों को दुखी देख, जड़ से कटे हुए पेड़ की तरह ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः ।
नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुःखितम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे जो लोग थे, वे महाराज की यह महादुःखपूर्ण दशा देख, हाहाकार करने लगे ॥ ३७ ॥

हा रामेति जनाः केचिद्रामपातेति चापरे ।
अन्तःपुरं समृद्धं च क्रोशन्तः पर्यदेवयन्[2] ॥ ३८ ॥

महाराज को तथा उनके रनवास की समस्त रानियों और नौकर चाकरों को दुःखी देख, कोई कहता "हा राम !" और कोई कहता "हा कौशल्ये !"—सारांश यह कि, उस समय सब लोग रुदन कर रहे थे ॥ ३८ ॥

---

१ एकचित्तगतं—दुःखेनैकचित्ततांगतम् । (रा०) २ पर्यदेवयन्—अरुदन् । (गो०)

अन्वीक्षमाणो[1] रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम् ।
राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि ॥ ३९ ॥

इस प्रकार लोगों का रोना और चिल्लाना सुन, जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने पीछे की ओर देखा कि, उनके पिता महाराज दशरथ और उनकी माता कौशल्या पैदल ही उनके पीछे चली आ रही हैं और वे विषाद से ग्रसित हैं और भ्रान्तचित्त हैं ॥ ३९ ॥

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा ।
धर्मपाशेन संक्षिप्तः[2] प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥ ४० ॥

बंधा हुआ घोड़ी का बच्चा जिस प्रकार अपनी माता को देख नहीं पाता, उसी प्रकार सत्य के पाश में बँधे होने के कारण श्रीरामचन्द्र जी ने (माता पिता की यह दशा देख कर भी) उधर से दृष्टि फेर ली ॥ ४० ॥

पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुखोचितौ ।
दृष्ट्वा सञ्चोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥ ४१ ॥

सदा सवारी में चलने वाले, जिन्होंने कभी सुख को छोड़ दुःख जाना ही नहीं, उनको पैदल चले आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से रथ शीघ्र हाँकने को कहा ॥ ४१ ॥

न हि तत्पुरुषव्याघ्रो दुःखदं दर्शनं पितुः ।
मातुश्च सहितुं शक्तस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ ४२ ॥

---

१ अन्वीक्षमाणः—आक्रोशानुसारेणपश्चात्सामान्यतईक्षमाणः । (गो०)
२ संक्षिप्तः—बद्ध इति यावत् । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी अपने माता पिता की यह अवस्था न देख सके, उस समय उनकी वैसी ही दशा थी जैसी कि, किसी मतवाले हाथी की अंकुश लगने से होती है ॥ ४२ ॥

प्रत्यागारमिवायान्ती वत्सला वत्सकारणात् ।
बद्धवत्सा यथा धेनू राममाताऽभ्यधावत ॥ ४३ ॥

गोष्ठ में बँधे हुए बच्चे की सुध कर दिन भर वन में रही हुई गौ, जैसे शाम को गोठ की ओर दौड़ती है, वैसे ही कौशल्या जी भी दौड़ीं ॥ ४३ ॥

तथा रुदन्तीं कौसल्यां रथं तमनुधावतीम् ।
क्रोशन्तीं राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥४४॥

रुदन करती हुई कौशल्या रथ के पीछे दौड़ी चली जाती थीं और हा राम, हा सीता, हा लक्ष्मण कह कर चिल्ला रही थीं ॥ ४४ ॥

रामलक्ष्मणसीतार्थं स्रवन्तीं वारि नेत्रजम् ।
असकृत्प्रैक्षत स तां नृत्यन्तीमिव[1] मातरम् ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने एक बार फिर कर देखा कि, उनकी माता राम, लक्ष्मण सीता के लिये रुदन करती एवं गिरती पड़ती चक्कर खाती चली आ रही हैं ॥ ४५ ॥

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः ।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा [2]चक्रयोरिव चान्तरा ॥ ४६ ॥

---

१ नृत्यन्तीमिव—तद्रुदितस्तः परिभ्रमन्तीमिव । (गो०) २ चक्रयोरिवचान्तरा—चक्रयोर्युयुत्ससेनयोरन्तरास्थितः उदासीनः पुरुष इव सुमंत्रस्यात्मा-मनःदोलायितो बभूव । (रा० तथा वि०)

इधर तो महाराज दशरथ सुमंत्र से कहते थे ठहरो ठहरो और उधर श्रीरामचन्द्र जी कहते थे शीघ्र चलो शीघ्र चलो। उस समय सुमंत्र उसी प्रकार घबड़ा उठे, जिस प्रकार युद्धार्थ खड़ी हुई सेनाओं के बीच खड़ा उदासीन मनुष्य घबड़ा उठता है। (अर्थात सुमंत्र पशोपेश में पड़े हुए थे कि, महाराज की आज्ञा का पालन करें कि, श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा का पालन करें) ॥ ४६ ॥

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि ।
चिरं[1] दुःखस्य [2]पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने सूत से कहा कि, तुम जब लौट कर महाराज के पास आओ, तब यदि महाराज तुमसे पूँछें कि, मेरी आज्ञा की अवहेला कर रथ क्यों नहीं ठहराया; तब कह देना कि, (रथ की गड़गड़ाहट और लोगों के रुदन के चीत्कार में) मैंने आपकी बात सुनी नहीं। क्योंकि इस समय जो दुःख हो रहा है, वह यहाँ ठहर कर देर करने से और भी अधिक हो जायगा। अर्थात् यहाँ ठहरने से सिवाय दुःख और कष्ट बढ़ जाने के और कुछ भी लाभ नहीं है ॥ ४७ ॥

रामस्य स वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम् ।
व्रजतोऽपि[3] हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः ॥ ४८ ॥

तब सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी का कहना माना और जो लोग रथ के पीछे आ रहे थे, उनसे जाने के लिये कहा, और तब चलते हुए घोड़ों को तेज़ दौड़ाया ॥ ४८ ॥

न्यवर्तत जनो राज्ञो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
मनसाप्यश्रुवेगैश्च न न्यवर्तत मानुषम् ॥ ४९ ॥

---

१ चिरं...इति—दुःखस्य इदानीमनुभूयमान-दुःखस्याचिरं विलम्बः । (गो०) २ पापिष्टं—अति दुःसहं । (गो०) ३ व्रजतोऽपि—गच्छतोपि पुनः । (रा०)

जिस समय रथ तेज़ी से चला, उस समय महाराज के कुटुम्ब के लोग श्रीरामचन्द्र जी की मन से परिक्रमा कर, शरीर से लौट आये, परन्तु मन से नहीं लौटे, किन्तु अन्य पुरवासी जन तो मन से भी न लौटे और इसी लिये उनका अश्रुवेग भी न थमा ॥ ४६ ॥

यमिच्छेत्पुनरायान्तं नैनं दूरमनुव्रजेत् ।
इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः ॥ ५० ॥

मंत्रिवर्ग ने महाराज से कहा कि, जिसका शीघ्र पुनरागमन चाहे, उसको पहुँचाने के लिये दूर तक न जाना चाहिये ॥ ५० ॥

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नं
प्रस्विन्नगात्रः प्रविषण्णरूपः ।
निशम्य राजा कृपणः सभार्यो
व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥ ५१ ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

शास्त्र का ऐसा वचन सुन, महाराज दशरथ जी, (रथ के पीछे दौड़ने के कारण) जो पसीने से सराबोर और शोक से दीन हो रहे थे, रानियों सहित श्रीरामचन्द्र जी की ओर टकटकी लगाये, वहीं खड़े हो गये । अर्थात् रथ के पीछे फिर न गये । (धर्मशास्त्र की आज्ञा अथवा मंत्रियों के युक्तियुक्त वचन के आगे पुत्रस्नेह दब गया) ॥ ५१ ॥

अयोध्याकाण्ड का चालिसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे विनिर्याते कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दोऽथ संजज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे महान् ॥ १ ॥

हाथ जोड़े विदा होते हुए पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी के चले जाने पर, अन्तःपुर की स्त्रियों ने बड़ा हाहाकार मचाया ॥ १ ॥

अनाथस्य जनस्यास्य दुर्बलस्य तपस्विनः।
यो गतिः शरणं चासीत्स नाथः क्व नु गच्छति ॥२॥

वे विलाप कर के कहने लगीं—जो अनाथों, दुर्बलों और शोचनीय मनुष्यों के एकमात्र अवलंब और रक्षक हैं, वे श्रीरामचन्द्र कहाँ जाते हैं ॥ २ ॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन्।
क्रुद्धान्प्रसादयन्सर्वान्समदुःख क्वचिद्गतः ॥ ३ ॥

जो कठोर वचन कहने पर भी कभी क्रोध नहीं करते हैं और न किसी को कुपित करते हैं, प्रत्युत कुपित हुए जन को प्रसन्न करने वाले हैं तथा जो सब के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझने वाले हैं, वे श्रीरामचन्द्र कहाँ जाते हैं ॥ ३ ॥

कौसल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते।
तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा क्व नु गच्छति ॥ ४ ॥

जो महातेजस्वी अपनी जननी कौशल्या की तरह ही हम सब को माता मानते हैं, वे महात्मा अब कहाँ जा रहे हैं ॥ ४ ॥

कैकेय्या क्लिश्यमानेन राज्ञा सञ्चोदितो वनम् ।
परित्राता जनस्यास्य जगतः क्वनु गच्छति ॥ ५ ॥

कैकेयी से सताये जा कर और महाराज द्वारा वनवास के लिये प्रेरित हो, इस जगत के समस्त जनों के रक्षक श्रीरामचन्द्र कहाँ चले जाते हैं ॥ ५ ॥

अहो निश्चेतनो[1] राजा जीवलोकस्य सम्प्रियम् ।
धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति ॥ ६ ॥

हा ! महाराज की बुद्धि पर तो पत्थर पड़े हैं, जो धर्मात्मा सत्यवादी और जीवों के पूर्ण रीति से प्रीतिपात्र श्रीराम को वनवास दे रहे हैं ॥ ६ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
रुरुदुश्चैव दुःखार्ताः सस्वरं च विचुक्रुशुः ॥ ७ ॥

इस प्रकार वे सब रानियाँ बछड़ा रहित गौ की तरह शोकार्त्त हो, रोने लगीं और उच्चस्वर से विलाप करने लगीं ॥ ७ ॥

स तमन्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः श्रुत्वा चासीत्सुदुःखितः ॥ ८ ॥

महाराज पुत्रवियोगजन्य शोक से तो पहिले ही दुःखी हो रहे थे, तिस पर रनवास के इस घोर आर्त्तनाद को सुन, वे अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ८ ॥

नाग्निहोत्राण्यहूयन्त नापचन्गृहमेधिनः ।
अकुर्वन्न प्रजाः कार्यं सूर्यश्चान्तरधीयत ॥ ९ ॥

---

१ निश्चेतनः—बुद्धिहीनः । (गो०)

उस दिन न तो किसी ब्रह्मचारी ने अग्निहोत्र किया और न किसी गृहस्थ के घर चूल्हा ही जला अथवा न किसी ने रसोई बनाई। उस सारे दिन किसी ने कुछ काम न किया और दिन डूब गया। अर्थात् वह समस्त दिन लोगों का दुःख ही दुःख में बीता ॥ ९ ॥

व्यसृजन्कवलान्नागा गावो वत्सान्नपाययन्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ १० ॥

(केवल मनुष्यों ही की यह दशा हुई हो सो बात नहीं) हाथियों ने अपनी अपनी झूलें गिरा दीं, गौओं ने बछड़े बछियों को दूध न पिलाया। माताएँ अपने ज्येष्ठ पुत्रों को देख हर्षित नहीं होती थीं ॥ १० ॥

त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिर्बुधावपि।
दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः ॥११॥

त्रिशङ्कु, मङ्गल, बृहस्पति, बुध, शनि और शुक्र आदि क्रूर ग्रह वक्री हो, चन्द्रमा के निकट जा थर थर काँपने लगे ॥ ११ ॥

नक्षत्राणि गतार्चींषि ग्रहाश्च गततेजसः।
विशाखा[1]स्तु सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिरे ॥ १२ ॥

नक्षत्र प्रभाहीन और ग्रह तेजहीन हो गये। विशाखा नक्षत्र धुमैला पड़ गया था और आकाश में धुँधला सा चमक था ॥ १२ ॥

---

१ विशाखाः—इक्ष्वाकुदेशनक्षत्रं। (गो०)

[1]कालिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थितः ।
रामे वनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचाल[2] तत् ॥ १३ ॥

तेज़ वायु के चलने से आकाश में मेघों के समूह उसी प्रकार एक के ऊपर एक उठते थे, जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठा करतीं हैं। श्रीराम के वन जाने पर नगर में भूकम्प हुआ ॥ १३ ॥

दिशः पर्याकुलाः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः ।
न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किञ्चन ॥ १४ ॥

दशों दिशाओं में अन्धकार छा गया, जिससे आकाश में ग्रहों और नक्षत्रों का प्रकाश नहीं देख पड़ता था ॥ १४ ॥

अकस्मान्नागरः सर्वो जनो दैन्यमुपागमत् ।
आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः ॥ १५ ॥

अकस्मात् सारे नगरनिवासी उदास हो गये। उस दिन किसी ने भी न तो भोजन किये और न कोई किसी खेल कूद या मनोरञ्जन के कार्य में सम्मिलित हुआ ॥ १५ ॥

शोकपर्यायसन्तप्तः सततं दीर्घमुच्छ्वसन् ।
अयोध्यायां जनः सर्वः शुशोच जगतीपतिम् ॥ १६ ॥

सब अयोध्यावासी शोकसन्तप्त हो बराबर आहें भर रहे थे और महाराज दशरथ पर कुढ़ रहे थे ॥ १६ ॥

---

१ कालिका—मेघपंक्तिः अनिलवेगेन आकाशे उत्थितः उदधिरिव दृश्यते। (रा०) २ नगरं प्रचचालेत्यनेन भूकम्पः। (रा०)

बाष्पपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः ।
न हृष्टो लक्ष्यते कश्चित्सर्वः शोकपरायणः ॥ १७ ॥

राह चलते मनुष्यों के भी नेत्र आँसुओं से भरे हुए थे, कहीं प्रसन्नता का नाम तक न था, क्योंकि सब के सब पुरवासी शोक सन्तप्त हो रहे थे ॥ १७ ॥

न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः ।
न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत् ॥ १८ ॥

न तो शीतल हवा चलती थी न चन्द्रमा सुहावना जान पड़ता था और न सूर्य ही तपते थे। सारा जगत ही रामवियोग में विकल हो रहा था ॥ १८ ॥

अनर्थिनः सुताः स्त्रीणां भर्तारो भ्रातरस्तथा ।
सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन् ॥ १९ ॥

न तो पुत्र को अपने माता पिता से, न पतियों को अपनी सहधर्मिणियों से और न भाई को अपने भाई से कुछ प्रयोजन रहा—सब ने सब को छोड़ सा दिया था। क्योंकि उस दिन सब लोग केवल श्रीरामचन्द्र की चिन्ता में डूबे हुए थे ॥ १९ ॥

ये तु रामस्य सुहृदः सर्वे ते मूढचेतसः ।
शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं न जहुस्तदा ॥ २० ॥

जो श्रीरामचन्द्र के हितैषी मित्र थे उनको अपनी कुछ भी सुध बुध ही न थी। वे शोकभार से इतने दबे हुए थे कि, उनकी निद्रा तक जाती रही ॥ २० ॥

ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना
पुरंदरेणेव मही सपर्वता ।
चचाल घोरं भयशोकपीडिता
सनागयोधाश्वगणा ननाद च ॥ २१ ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

इन्द्र से रहित पर्वतों सहित पृथिवी की जो दशा होती है, वही दशा महात्मा श्रीरामचन्द्र जी रहित अयोध्या की हुई और वह घोर शोक से सन्तप्त हो कम्पित हो गई। वह पुरी हाथी, घोड़ों और वीरों के हाहाकार व आर्त्तनाद से पूर्ण हो गयी। (इन्द्र से रहित का तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्र का कोप होने पर अनावृष्टि के कारण सारी पृथिवी और पहाड़ उत्तप्त हो उठते हैं और मनुष्य, पशु पक्षी सभी विकल हो उठते हैं, उसी प्रकार श्रीराम के अयोध्या छोड़ कर चले जाने पर अयोध्या की दशा हो गयी) ॥ २१ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—:*:—

यावत्तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत ।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत्सञ्जहारात्मचक्षुषी ॥ १ ॥

जब तक श्रीरामचन्द्र के रथ के पहियों से उड़ती हुई धूल दिखलाई देती रही, तब तक महाराज ने उस ओर से अपनी निगाह न फेरी अर्थात् उधर ही देखते रहे ॥ १ ॥

यावद्राजा प्रियं पुत्रं पश्यत्यत्यन्तधार्मिकम् ।
तावद्व्यवर्धतेवास्य[1] धरण्यां पुत्रदर्शने ॥ २ ॥

जब तक महाराज दशरथ को अपने अत्यन्त प्रिय और धार्मिक पुत्र श्रीरामचन्द्र जी दिखलाई पड़े, तब तक वे ज़मीन से बार बार उठ उठ कर उनको देखते रहे ॥ २ ॥

न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः ।
तदाऽऽर्तश्च विषण्णश्च पपात धरणीतले ॥ ३ ॥

किन्तु जब रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल भी अदृश्य हो गयी तब महाराज दशरथ आर्त्त और विषादपूर्ण हो, भूमि पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

तस्य दक्षिणमन्वागात्कौसल्या बाहुमङ्गना ।
वामं चास्यान्वगात्पार्श्वं कैकेयी भरतप्रिया ॥ ४ ॥

उस समय महाराज के दहिने हाथ को कौशल्या और बायें हाथ को भरतप्रिया कैकेयी पकड़ कर, उनको ले चलीं ॥ ४ ॥

तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन[2] च ।
उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः ॥ ५ ॥

नीतिवान् धर्मात्मा और सदाचारी महाराज दशरथ कैकेयी को अपने पास देख कर विकल हो बोले ॥ ५ ॥

कैकेयि मा ममाङ्गानि स्प्राक्षीस्त्वं दुष्टचारिणी ।
न हि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी[3] ॥६॥

---

१ व्यवर्धतइव वत्थायोत्थायोल्लोकते । (शि०) २ विनयेन—सदाचारेण । ३ नचबान्धवी—पत्नीत्व सम्बन्धोपिना । (गो०).

रे दुष्टा कैकेयी! हमारे शरीर को मत छू। हम तेरा मुँह देखना नहीं चाहते। तू न तो अब हमारी भार्या है और न हमारे साथ तेरा अब पत्नी का कोई नाता ही रहा है ॥ ६ ॥

ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम।
केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अकेली तू ही नहीं, बल्कि तेरे नौकर चाकर भी हमारे नहीं हैं और हम भी उनके नहीं हैं। हम तो, स्वार्थतत्पर हो, पातिव्रतधर्म का त्याग करने वाली तुझको त्यागते हैं ॥ ७ ॥

अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं[1] च यत्।
अनुजानामि[2] तत्सर्वमस्मिँल्लोके परत्र च ॥ ८ ॥

हमने अग्नि की परिक्रमा कर, जो तेरा हाथ पकड़ा था, उसका इहलौकिक और परलौकिक कर्मफल भी हम त्यागते हैं ॥ ८ ॥

[१ इसलोक का फल— क्रीड़ादि व्यवहार अब से तेरे साथ न करेंगे २ पारलौकिक कर्मफल—परलोकसिद्धि के लिये जो यज्ञानुष्ठानादिकर्म किये जाते हैं।]

भरतश्चेत्प्रतीतः[3] स्याद्राज्यं प्राप्येदमव्ययम्।
यन्मे स दद्यात्प्रीत्यर्थं मां मा तद्दत्तमागमत् ॥ ९ ॥

इस अक्षय्य राज्य को पा कर, यदि भरत प्रसन्न हो, तो उसका दिया तर्पण श्राद्धादि का जल और पिण्ड हमें न मिले ॥ ९ ॥

अथ रेणुसमुध्वस्तं तमुत्थाप्य नराधिपम्।
न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्शिता ॥ १० ॥

---

१ पर्यणयं—प्रदक्षिणमनयं। (गो०) २ अनुजानामि—परित्यजामि। (गो०,) ३ प्रतीतः—प्रमुदितइति। (गो०)

कौशल्या जी स्वयं शोक से पीड़ित थीं। वे धूलधूसरित महाराज को उठा कर, घर को फिरीं ॥ १० ॥

हत्वेव ब्राह्मणं कामात्स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना ।
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं सञ्चिन्त्य तापसम् ॥ ११ ॥

जानबूझ कर ब्रह्महत्या करने से व जलते हुए अंगारे को हाथ से छूने से, जैसा सन्ताप होता है, वैसा ही सन्ताप, महाराज को मुनिभेषधारी पुत्र का स्मरण कर के हो रहा था ॥ ११ ॥

निवृत्त्यैव निवृत्त्यैव सीदतो रथवर्त्मसु ।
राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा ॥ १२ ॥

महाराज दशरथ का, जो बार बार मुड़ मुड़ कर, रथ के मार्ग को देखते जाते थे, रूप राहुग्रस्त सूर्य की तरह अच्छा नहीं लगता था ॥ १२ ॥

विललाप च दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन् ।
नगरान्तमनुप्राप्तं बुद्ध्वा पुत्रमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महाराज ने अनुमान कर जब जाना कि, हमारे प्यारे राम अब नगर की सीमा के बाहिर निकल गये होंगे, तब वे अत्यन्त दुःखी हो और पुत्र का स्मरण कर विलाप करने लगे ॥ १३ ॥

वाहनानां[1] च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम् ।
पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते ॥ १४ ॥

---

१ वाहनानां—अश्वानांमध्येमुख्यानां । (शि०)

हमारे घोड़ों में से जो घोड़े, हमारे पुत्र, श्रीरामचन्द्र जी के रथ में जुत कर गये हैं, उनके खुरों के निशान तो रास्ते में देख पड़ते हैं, किन्तु वह महात्मा नहीं दिखलाई पड़ता ॥ १४ ॥

यः सुखेषूपधानेषु शेते चन्दनरूषितः ।
वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः ॥ १५ ॥

जो हमारे श्रेष्ठ पुत्र चन्दन से चर्चित हो, कोमल तकियों एवं गद्दों पर सुख से सोते थे और जिनके ऊपर सुन्दरी स्त्रियां चँवर डुलाया करतीं और पंखा झला करती थीं ; ॥ १५ ॥

स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः ।
काष्ठं वा यदि वाऽश्मानमुपधाय शयिष्यते ॥ १६ ॥

वे हमारे पुत्र, हाय ! आज किसी वृक्ष के नीचे लकड़ी या पत्थर का तकिया लगा कर सोवेंगे ॥ १६ ॥

उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुण्ठितः* ।
विनिश्वसन्प्रस्रवणात्[1] करेणूनाम्[2] इवर्षभः ॥ १७ ॥

और प्रातःकाल वे भूमि से उदास मन और धूलधूसरित, उसाँसे लेते हुए, उसी प्रकार उठेंगे, जिस प्रकार झरने के पास से बैल उठता है ॥ १७ ॥

द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः ।
राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत् ॥ १८ ॥

---

१ प्रस्रवणात्—निर्झरात् । तत्समीपइत्यर्थः । (गो०) २ करेणूनामृषभः । (शि०) * पाठान्तरे—"कुण्ठितः ।"

वन में रहने वाले लोग महाबाहु एवं लोकनाथ श्रीरामचन्द्र को अनाथ की तरह उठ कर जाते हुए देखेंगे ॥ १८ ॥

सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदोचिता ।
कण्टकाक्रमणाक्रान्ता वनमद्य गमिष्यति ॥ १९ ॥

वह जनकदुलारी जो सदा निश्चय ही सुख भोगने योग्य है, वन में चलते समय अब उसके पैरों में कांटे चुभेंगे ॥ १९ ॥

अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति ।
श्वापदानर्दितं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम् ॥ २० ॥

व्याघ्रादि वन पशुओं की गम्भीर और रोमाञ्चकारी गर्जन सुन कर, वनवास के भयों से अनभिज्ञ सीता, अवश्य ही बहुत डरेगी ॥ २० ॥

सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस ।
न हि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥

हे कैकेयी ! तेरी मनसा पूरी हुई । तू अब विधवा हो कर राज्य कर, क्योंकि हम तो उस पुरुषसिंह के विना जीवित नहीं रह सकते ॥ २१ ॥

इत्येवं विलपन्राजा जनौघेनाभिसंवृतः ।
अपस्नात[1] इवारिष्टं प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार महाराज विलाप करते करते लोगों के साथ वैसे ही नगर में आये जैसे कोई मुरदनी में स्नान कर और दुःखित हो आता है ॥ २२ ॥

१ अपस्नातः—मृतस्नातः । "अपस्नातो मृतस्नातः" । (अमरः) (गो०)

शून्यचत्वरवेश्मान्तां संवृतापणदेवताम् ।
क्लान्तदुर्बलदुःखार्तां नात्याकीर्णमहापथाम् ॥ २३ ॥

नगरी में देखा तो चबूतरे और घर सूने पड़े थे, बाज़ार तथा देवालय बंद थे। बड़ी बड़ी सड़कों पर थके, दुर्बल और पीड़ित मनुष्य ही देख पड़ते थे ॥ २३ ॥

तामवेक्ष्य पुरीं सर्वां राममेवानुचिन्तयन् ।
विलपन्प्राविशद्राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम् ॥ २४ ॥

पुरी की दुर्दशा का इस प्रकार का दृश्य देखते हुए और श्रीराम का स्मरण कर के, विलाप करते हुए महाराज अपने भवन के भीतर उसी प्रकार गये, जिस प्रकार सूर्य मेघमण्डल में जाता है ॥ २४ ॥

महाह्रदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हृतोरगम् ।
रामेण रहितं वेश्म वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २५ ॥

जैसे गरुड़ जी द्वारा अपहृत सर्पों के अभाव में किसी बड़े तालाब के जल में खलबली नहीं होती—जल स्थिर हो जाता है, वैसे ही श्रीराम लक्ष्मण और सीता के वनवासी होने पर, राजभवन में स्तब्धता छाई हुई थी ॥ २५ ॥

अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन्मनुजाधिपः ।
उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम्[1] ॥ २६ ॥

महाराज दशरथ ने भरे हुए कण्ठ से और अति क्षीण स्वर में, दीन भाव से, मृदु और अल्पार्थवाची ये वचन कहे ॥ २६ ॥

---

1 अस्वरम्—कण्ठस्वररहितं । (गो०)

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम् ।
न ह्यन्यत्र ममाश्वासो हृदयस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

जिस घर में राममाता कौशल्या रहती हैं, हमें उस घर में शीघ्र पहुँचा दो। क्योंकि अन्यत्र कहीं भी हमारा हृदय शान्त नहीं होगा ॥ २७ ॥

इति ब्रुवन्तं राजानमनयन्द्वारदर्शिनः ।
कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेशयत विनीतवत्[1] ॥ २८ ॥

महाराज के यह कहने पर द्वारपालों ने उनको ले जा कर कौशल्या के घर में सेज पर लिटा दिया ॥ २८ ॥

ततस्तस्य प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम् ।
अधिरुह्यापि शयनं बभूव लुलितं[2] मनः ॥ २९ ॥

कौशल्या जी के घर में पहुँचने और सेज पर लेटने पर भी, महाराज का मन चञ्चल ही बना रहा—(जैसा उन्होंने विचारा था सो बात न हुई अर्थात् हृदय शान्त न हुआ ।) ॥ २९ ॥

पुत्रद्वयविहीनं च स्नुषयाऽपि विवर्जितम् ।
अपश्यद्भवनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम् ॥ ३० ॥

श्रीराम-लक्ष्मण-विहीन और सीता जी रहित वह भवन, महाराज दशरथ को चन्द्रमाहीन आकाश की तरह बोध होने लगा ॥ ३० ॥

---

१ विनीतवत्—पर्यङ्केन्यवेशयत । (रा०) २ लुलितं—कलुषं । (रा०)—चञ्चलं । (शि०)

तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य वीर्यवान्।
उच्चैः स्वरेण चुक्रोश हा राघव जहासि माम्॥ ३१॥

उस समय अपने भवन को शोभारहित देख, पराक्रमी महाराज दशरथ दोनों हाथ ऊपर को उठा, उच्चस्वर से चिल्ला कर बोले—हे बेटा राम! तुम हमको छोड़े जाते हो॥ ३१॥

सुखिता बत तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः।
परिष्वजन्तो ये रामं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम्॥ ३२॥

वे श्रेष्ठजन सुखी होंगे, जो उस समय तक जीवित रह कर, वन से लौट कर आये हुए श्रीराम को देखेंगे और उन्हें हृदय से लगावेंगे॥ ३२॥

अथ रात्र्यां प्रपन्नायां[1] कालरात्र्यामिवात्मनः।
अर्धरात्रे दशरथः कौशल्यामिदमब्रवीत्॥ ३३॥

महाराज दशरथ के लिये कालरात्रि के समान रात्रि होने पर आधी रात के समय वे कौशल्या से कहने लगे॥ ३३॥

रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते।
न त्वा पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश॥३४॥

हे कौशल्ये! हमें तू नहीं दिखलाई पड़ती। क्योंकि हमारी दृष्टि श्रीराम के पीछे चली गयी है, वह अभी तक नहीं लौटी है। अतएव तू हमारा शरीर अपने हाथ से छू॥ ३४॥

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं
समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम्।

---

१ प्रपन्नायां—प्राप्तायां। (गो०)

उपोपविश्याधिकमार्तरूपा
विनिश्वसन्ती विललाप कृच्छ्रम् ॥ ३५ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

महाराज के इस प्रकार कहने पर, महारानी कौशल्या महाराज को श्रीराम के स्मरण में निमग्न देख, उनकी सेज के समीप बैठ गयीं और अत्यन्त दुःखी हो, ऊँची साँसे ले, वे महाविलाप करने लगीं ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

ततः समीक्ष्य शयने सन्नं शोकेन पार्थिवम् ।
कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच महीपतिम् ॥ १ ॥

तदनन्तर पुत्र के वियोगजन्य शोक से विकल महारानी कौशल्या, सेज पर पड़े हुए और शोक से विह्वल महाराज दशरथ जी को देख, उनसे कहने लगीं ॥ १ ॥

राघवे नरशार्दूले विषमुप्त्वा हिजिह्मगा[1]* ।
विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव[2] हि पन्नगी ॥ २ ॥

हे राजन्! कुटिल चरित्रा कैकेयी श्रीरामचन्द्र जी के प्रति विष उगल, केंचुली छोड़ी हुए साँपिन की तरह विचरेगी ॥ २ ॥

---

१ अजिह्मगा—कुटिलचरित्रा। (रा०) २ निर्मुक्ता—त्यक्तकञ्चुकी। (रा०) * पाठान्तरे—"विजिह्मताम्।"

विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता ।
त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेश्मनि ॥ ३ ॥

और श्रीरामचन्द्र को वन भेज और अपना मन चीता पा कर, दत्तचित्त हो, वह दुष्ट साँपिन की तरह घर में मुझे त्रास देगी ॥ ३ ॥

अथ स्म नगरे रामश्चरन्भैक्षं गृहे वसेत् ।
कामकारो[1] वरं दातुमपि दासं ममात्मजम् ॥ ४ ॥

यदि वह ऐसा वर माँगती कि, श्रीरामचन्द्र नगर में रह कर भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह करें और घर में बने रहें अथवा कैकेयी उन्हें अपना दास ही बना लेती, तो भी इस वनवास से अच्छा था ॥ ४ ॥

पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद्यथेष्टतः ।
प्रदिष्टो रक्षसां भागः पर्वणीवाहिताग्निना ॥ ५ ॥

अग्निहोत्र करने वाले, जिस प्रकार पर्वकाल में, राक्षसों का भाग निकाल कर, फेंक देते हैं, वैसे ही कैकेयी ने अपनी इच्छानुसार श्रीरामचन्द्र को यहाँ से निकलवाया ॥ ५ ॥

[नोट—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि, राक्षसों को जो यज्ञभाग दिया जाता है, उसे राक्षस खा डालते हैं. श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने से वहाँ राक्षस उनको खा डालेंगे अब फिर उनका मुख देखना नसीब न होगा। (गो॰)]

गजराजगतिर्वीरो महाबाहुर्धनुर्धरः ।
वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ६ ॥

---

1 कामकारइष्टमेव । (रा॰)

अब तो गजेन्द्र के समान गमन करने वाले वीर, महाबाहु और धनुर्धर श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मण के साथ वन में पहुँच गये होंगे ॥ ६ ॥

वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यानुमते त्वया ।
त्यक्तानां वनवासाय का न्ववस्था भविष्यति ॥ ७ ॥

देखो, जिन्होंने कभी दुःख देखा सुना ही नहीं, उनको तुमने कैकेयी की बातों में आ, वन में भेज दिया। ज़रा विचारो तो उनकी अब क्या दशा होगी ॥ ७ ॥

ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः ।
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥ ८ ॥

उनके पास कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है। यह तरुण अवस्था उनकी राजसुख भोगने की थी; किन्तु ऐसे समय में वन में भेज दिये गये हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि, वे वेचारे कन्दमूल फलादि खा कर वन में कैसे निर्वाह कर सकेंगे ॥ ८ ॥

अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः ।
सभार्यं यत्सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम् ॥ ९ ॥

क्या मेरे भाग्य में कभी ऐसी भी कोई शुभ घड़ी देखना लिखा है, जब मैं लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यहाँ आया हुआ देखूँ और मेरे इस शोक का अन्त हो ॥ ९ ॥

सुप्त्वैवोपस्थितौ वीरौ कदाऽयोध्यां गमिष्यतः ।
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी ॥ १० ॥

अहो वह शुभ घड़ी कब आवेगी जब यह प्रसिद्ध अयोध्यापुरी, श्रीरामचन्द्र का पुरी के समीप आना सुन और हर्षित जनों से युक्त हो, बड़ी बड़ी ध्वजा पताकाओं और मालाओं से सजायी जायगी ॥ १० ॥

कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात्पुनरागतौ ।
नन्दिष्यति पुरी हृष्टा समुद्र इव पर्वणि ॥ ११ ॥

अहो वह शुभ घड़ी कब देखने को मिलेगी, जब उन दोनों नरश्रेष्ठों का प्रत्यागमन सुन, यह नगरी उसी प्रकार हर्षित होगी, जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र हर्षित होता है ॥ ११ ॥

कदाऽयोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति ।
पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव ॥ १२ ॥

जिस प्रकार वृषभ गोधूलि के समय गौ को आगे कर बस्ती में आता है, उसी प्रकार महाबाहु एवं वीर श्रीरामचन्द्र जी सीता को रथ में आगे बैठा, कब अयोध्यापुरी में प्रवेश करेंगे ॥ १२ ॥

कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे ममात्मजौ ।
लाजैरवकिरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिन्दमौ ॥ १३ ॥

किस दिन शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीरामलक्ष्मण को नगर में प्रवेश करते देख, सड़कों पर खड़े सहस्रों जन, उन पर खीलों (लावा) की वर्षा करेंगे ॥ १३ ॥

प्रविशन्तौ कदाऽयोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ ।
उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ[1] सशृङ्गाविव पर्वतौ ॥ १४ ॥

---

1 उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ—आयुधशब्देन नात्र धनुरुच्यते । निस्त्रिंशः खड्गः । "खड्गेतु निस्त्रिंशः" इत्यमरः । (गो०)

वह शुभ दिन कब आवेगा, जब मैं देखूँगी कि, मेरे दो पुत्ररत्न कानों में कुण्डल पहिने हुए और शृङ्गयुक्त पर्वतों के तुल्य खड्गादि शस्त्रों को लिये हुए अयोध्या में प्रवेश कर रहे हैं ॥ १४ ॥

कदा सुमनसः कन्या द्विजातीनां फलानि च ।
प्रदिशन्त्यः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥

किस दिन जानकी सहित दोनों राजकुमार कन्याओं और ब्राह्मणों के दिये हुए फूल फलों को ग्रहण कर और प्रसन्न होते हुए, पुरी की प्रदक्षिणा करेंगे ? ॥ १५ ॥

[नोट—यह उस समय का उत्तरभारतवासियों में प्रचलित मङ्गलाचार का एक विधान है ।]

कदा परिणतो बुद्ध्या[1] वयसा[2] चामरप्रभः ।
अभ्युपैष्यति धर्मज्ञस्त्रिवर्ष इव लालयन् ॥ १६ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ज्ञानवृद्ध और तरुण (२५ वर्ष के) होने पर भी, तीन वर्ष के बालक की तरह खेलते हुए मेरे पास कब आवेंगे ॥ १६ ॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया[3] ।
पातुकामेषु[4] वत्सेषु मातॄणां शातिताः[5] स्तनाः ॥१७॥

---

१ बुद्ध्यापरिणतः—ज्ञानवृद्धः । (गो०) २ वयसा—चामरप्रभः पञ्चविंशतिवर्षइत्यर्थः । अमराहिसदापञ्चविंशति वर्षाः । (गो०) ३ कदर्यया—क्षुद्रया । (गो०) ४ पातुकामेषु—स्तन्यपानकामेषु । (गो०) ५ शातिताः—कृत्ताः । (रा०)

मुझे निश्चय बोध होता है कि, मैंने किसी पूर्वजन्म में नीचता वश, बच्चों के दूध पीने के समय, उनकी माताओं के स्तन काट डाले थे ॥ १७ ॥

साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता ।
कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात् ॥ १८ ॥

हे पुरुषसिंह ! इसीसे तो कैकेयी ने मुझे पुत्रवत्सला को उसी प्रकार बिना पुत्र का बना दिया, जिस प्रकार सिंह, छोटे बच्चे वाली गौ के बच्चे को बरजोरी ले जा कर, गौ को बेबच्चेवाली कर देता है ॥ १८ ॥

न हि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहे ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र मेरा एकमात्र पुत्र है । परन्तु वह एकमात्र पुत्र सर्वशास्त्रविशारद है और जितने अच्छे गुण हैं, वे सब उसमें हैं । अतः ऐसे पुत्र के बिना मैं जीती नहीं रह सकती ॥ १६ ॥

न हि मे जीविते किञ्चित्सामर्थ्यमिह कल्प्यते[1] ।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं महाबाहुं महाबलम् ॥ २० ॥

महाबाहु और महाबली अपने प्यारे पुत्र को देखे बिना, मुझ में जीवित रहने की सामर्थ्य नहीं है ॥ २० ॥

अयं हि मां दीपयते[2] समुत्थितः
तनूजशोकप्रभवो हुताशनः ।

---

१ कल्प्यतेदैवेनेतिशेषः । (गो०) २ दीपयते—सन्तापयिति । (गो०)

महीमिमां रश्मिभिरुद्धतप्रभो[1]
यथा निदाघे भगवान्दिवाकरः ॥ २१ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

पुत्र-वियोग-जन्य-शोक-रूपी आग, मुझे उसी प्रकार सन्तप्त कर रही है, जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में भगवान् सूर्य की प्रखर किरणें इस पृथिवी को तप्त करती हैं ॥ २१ ॥

अयोध्याकाण्ड का तैतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् ।
इदं धर्मे[2]*स्थिता धर्म्यं[3] सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

सब रानियों में श्रेष्ठ कौशल्या जी को इस प्रकार विलाप करते देख, धर्मशीला सुमित्रा जी धर्मयुक्त वचन बोली ॥ १ ॥

तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः पुत्रः स पुरुषोत्तमः ।
किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥

आपका पुत्र तो गुणवान और पुरुषश्रेष्ठ है । अतः उसके लिये तुम दीन हो कर, क्यों इतना विलाप और रुदन करती हो ॥ २ ॥

---

१ उद्धतप्रभः—उत्कटकिरणः । (गो०) २ धर्मेस्थिता—सुमित्रा । (शि०)
३ धर्म्यं—धर्मादनपेतम् । (शि०) * पाठान्तरे—" धर्म्ये " ।

यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।
साधु[1] कुर्वन्महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥

हे आर्ये ! आपके पुत्र श्रीराम राज्य छोड़ कर, जो वन को गये हैं, सो केवल अपने महात्मा पिता के साधु सङ्कल्प को पूरा करने तथा उन्हें सत्यवादी सिद्ध करने के लिये गये हैं ॥ ३ ॥

शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत्प्रेत्यफलोदये[2] ।
रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर, शिष्ट पुरुषोचित आचरण इसलिये किया है, जिससे महाराज का परलोक बने । अतएव धर्ममार्ग पर स्थित एवं श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के वनगमन के लिये आप दुःखी न हो ॥ ४ ॥

वर्तते[3] चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन्सदाऽनघः ।
दयावान्सर्वभूतेषु [4]लाभस्तस्य[5] महात्मनः ॥ ५ ॥

सब प्राणियों पर दया रखने वाले लक्ष्मण के लिये भी आप दुःखी न हों—क्योंकि वह तो पिता के समान अपने बड़े भाई की सेवा शुश्रूषा करने के लिये श्रीरामचन्द्र के साथ गया है । इससे तो उस महात्मा (लक्ष्मण) का सब प्रकार लाभ ही है ॥ ५ ॥

अरण्यवासे यद्दुःखं जानती वै सुखोचिता ।
अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥

---

१ साधु—सिद्धसङ्कल्पंकुर्वन्गतः । (रा०) २ प्रेत्यफलोदये—दशरथस्य परलोकहिते । (गो०) ३ उत्तमांवृत्तिं—पितृतुल्य शुश्रूषाव्यापारं वर्तयते । (रा०) ४ लाभः—सुखमेव । (रा०) ५ तस्य—लक्ष्मणस्य । (गो०)

(अकेला लक्ष्मण ही श्रीरामचन्द्र के साथ वन गया हो, सो बात भी नहीं है, प्रत्युत) सुकुमारी जानकी भी वन के कष्टों को जान जान कर भी आपके धर्मात्मा पुत्र की अनुगामिनी बनी है ॥ ६ ॥

कीर्त्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः[1] ।
धर्मसत्यव्रतधनः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥

सब प्राणियों का पालन करने वाले आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र, जिनकी यशपताका तीनों लोकों में फहरा रही है, (इसलिये कि उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन करने के सामने राज्य को तृणवत् त्याग दिया) और धर्म का पालन और सत्यव्रत धारण ही जिनका धन है, उनका वनगमन सब प्रकार से कल्याणकारक ही है, (अतः आप उनके लिये दुःखी न हो) ॥ ७ ॥

[वनगमन के बाद वन के कष्टों के सम्बन्ध में सुमित्रा जी कौशल्या को इस प्रकार सान्त्वना प्रदान करती हैं ।]

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं[2] माहात्म्यमुत्तमम्[3] ।
न गात्रमंशुभिः सूर्यः सन्तापयितुमर्हति ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की पवित्रता और उनकी श्रेष्ठता देख, भगवान् सूर्य अपनी किरणों से उनके शरीर को उतप्त नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥

---

१ प्रभुः—सर्वभूतपालकोदयया । (रा०) २ शौचं—त्रिविधकरण शुचित्वं । (गो०) ३ माहात्म्यं सर्वोत्तमत्वं । (गो०)

वसन्तादि ऋतुओं में, ऋतु के अनुसार मङ्गलरूप पवन का पवन, ठंडा और गर्म हो कर श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करेगा। अर्थात् गर्मियों में ठंडी हवा और जाड़ों में गर्म हवा हो जायगी ॥९॥

शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन्।
रश्मिभिः संस्पृशञ्शीतैश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥ १० ॥

पाप रहित श्रीरामचन्द्र जब रात में सोवेंगे, तब चन्द्रदेव पिता की तरह अपनी शीतल किरणों से उन्हें आल्हादित करेंगे ॥ १० ॥

ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा[1] महौजसे।
दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा [2]तिमिध्वजसुतं रणे ॥ ११ ॥

फिर जिन श्रीरामचन्द्र जी को ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने शंबर के पुत्र सुबाहु का रण में मारा जाना देख, अनेक दिव्यास्त्र दिये हैं* ॥११॥

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः।
असंत्रस्तोऽप्यरण्यस्थो वेश्मनीव निवत्स्यति ॥ १२ ॥

वे आपके शूर एवं पुरुषसिंह पुत्र अपने बाहुबल के सहारे भय रहित हो, वन में उसी प्रकार रहेंगे जिस प्रकार कोई अपने घर में, निर्भय हो रहता हो ॥ १२ ॥

---

१ ब्रह्मा—ब्राह्मणो विश्वामित्रः ब्रह्मेव सृष्टिकर्त्ता वा। (रा०) २ तिमिध्वजः शंबरः तत्सुतः सुबाहुः। (रा०)

* भूषणटीकाकार लिखते हैं कि, जान पड़ता है किसी समय श्रीरामचन्द्र ने दण्डकवन में जा और वैजयन्तपुर को घेर महाराज दशरथ के शत्रु शंबर के पुत्र को मारा था। इस पर प्रसन्न हो ब्रह्मा जी ने श्रीरामचन्द्र जी को कुछ दिव्यास्त्र दिये थे। यदि यह बात ठीक है, तो श्लोक १२ के अर्थ में ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की जगह " ब्रह्मा " होगा।

यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः ।
कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥ १३ ॥

जिनके बाण के लक्ष्य होने पर शत्रुओं का नाश हो जाता है, उनके शासन में यह पृथिवी क्यों न रहेगी ॥ १३ ॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता[1] ।
निवृत्तारण्यवासः स क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥ १४ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र में श्री, शौर्य और प्रशस्त बल है, वे वनवास की अवधि को समाप्त कर, शीघ्र अपने राज्य को पावेंगे ॥ १४ ॥

सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्तिः कीर्त्याः क्षमाक्षमा ॥१५॥

दैवतं दैवतानां च भूतानां भूतसत्तमः[2] ।
तस्य के ह्यगुणा[3] देवि राष्ट्रे वाप्यथ वा पुरे ॥१६॥

हे देवि! जो सकल जगत को प्रकाशित करने वाले सूर्य को प्रकाशित करता है, जो अग्नि में दहनशक्ति उत्पन्न करता है, जो सब नियंत्र करने वालों का भी नियन्ता है, जो कान्ति की भी कान्ति है, जो कीर्ति की भी कीर्ति है, जो क्षमा की भी क्षमा है, जो देवताओं का भी देव है और जो प्राणियों में सर्वोत्तम प्राणी है—वह चाहे वन में रहे अथवा नगर में, उसके लिये कहीं किसी प्रकार की प्रतिबन्धकता नहीं है ॥ १५ ॥ १६ ॥

---

१ कल्याणसत्त्वता—प्रशस्तबलयुक्तता । (गो०) २ भूतानांभूतसत्तमः—उत्तम भूतमित्यर्थः । (गो०) ३ अगुणः—प्रतिबन्धकीभूत । (गो०)

पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः ।
क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यति ॥ १७ ॥

ऐसे पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र, पृथिवी, सीता और विजयलक्ष्मी इन तीनों सहित शीघ्र राज्य पावेंगे ॥ १७ ॥

दुःखजं विसृजन्त्यास्रं निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम् ।
अयोध्यायां जनाः सर्वे शोकवेगसमाहताः ॥ १८ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र को अयोध्या से जाते हुए देख, अयोध्यावासी सब जनों ने शोक से विह्वल हो, दुःखजनित आँसू बहाये, (वे श्रीरामचन्द्र शीघ्र ही अयोध्या के राजसिंहासन पर अभिषिक्त होंगे ॥ १८ ॥

कुशचीरधरं देवं गच्छन्तमपराजितम् ।
सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ १९ ॥

जो किसी से न जीते जाने योग्य हो कर भी, कुशचीर धारण कर वन को गये और जिनके पीछे पीछे साक्षात् लक्ष्मी रूपिणी सीता गयीं—उनके लिये संसार में कौनसी वस्तु दुर्लभ है ॥ १९ ॥

धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत्स्वयम् ।
लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ २० ॥

और जिसके आगे आगे धनुषबाण और खड्ग लिए हुए स्वयं लक्ष्मण चलते हैं, उनके लिये क्या दुर्लभ है ॥ २० ॥

निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम् ।
जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

हे देवि! आप शोक और मोह को त्याग दें। मैं सत्य सत्य कहती हूँ कि, वनवास से लौटे हुए श्रीरामचन्द्र को आप फिर देखेंगी ॥ २१ ॥

शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते।
पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

हे अनन्दिते! हे कल्याणी! आप अपने चरणों में माथा टेक कर प्रणाम करते हुए पुत्र को उदय हुए चन्द्रमा की तरह फिर देखेंगी ॥ २२ ॥

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम्।
समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां क्षिप्रमानन्दजं पयः ॥ २३ ॥

आप फिर अयोध्या में आये हुए अभिषिक्त, और राज्यलक्ष्मी को प्राप्त अपने पुत्र को देख, शीघ्र ही आनन्दाश्रु बहावेंगी ॥ २३ ॥

मा शोको[1] देवि दुःखं[2] वा न रामे दृश्यतेऽशिवम्।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं* ससीतं सहलक्ष्मणम् ॥ २४ ॥

हे देवि! आप न तो विलाप करें और न अपने मन ही को व्यथित करें। क्योंकि श्रीरामचन्द्र के विषय में कुछ भी तो अमङ्गल नहीं दीख पड़ता। आप अपने पुत्र को सीता और लक्ष्मण सहित शीघ्र देखेंगी ॥ २४ ॥

त्वयाशेषो जनश्चैव समाश्वास्यो यदाऽनघे।
किमिदानीमिमं देवि करोषि हृदि विक्लवम् ॥ २५ ॥

---

१ शोकः—प्रलापादिः। (गो०) २ दुःखं—मनोव्यथा। (गो०)
* पाठान्तरे—"तं"।

हे अनघे ! हे देवि ! आपको तो यह उचित है कि, अन्य लोगों को धीरज बँधावे, सो आप इस समय (स्वयं) क्यों (अपने ही) हृदय को पीड़ा दे रही हैं ॥ २५ ॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः ।
न हि रामात्परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥ २६ ॥

हे देवि ! आप शोक करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इस लोक में श्रीरामचन्द्र जी से बढ़ कर सुमार्ग पर चलने वाला अर्थात् धर्म पालन करने वाला अन्य कोई भी नहीं है ॥ २६ ॥

अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम् ।
मुदाऽश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघलेखेव वार्षिकी ॥ २७ ॥

जब श्रीरामचन्द्र वन से लौट सुहृदों सहित आपको प्रणाम करेंगे, तब उनको देख आप उसी प्रकार आनन्दाश्रु गिरावेंगी, जिस प्रकार मेघमाला जल बरसाती है ॥ २७ ॥

पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः ।
पाणिभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति ॥ २८ ॥

अधिक तो मैं आपको क्या अब समझाऊँ ; इतना फिर भी कहती हूँ कि, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र शीघ्र अयोध्यापुरी में लौट कर, कोमल और मांसल हाथों से आपके चरण दबावेंगे ॥ २८ ॥

अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम् ।
मुदाऽस्रैः *मोक्ष्यसि[1] पुनर्मेघराजिरिवाचलम् ॥ २९ ॥

---

१ मोक्ष्यसे —उक्तवचने वर्तमान सामीप्येऽट् । (रा०) * पाठान्तरे— "प्रोक्षसि ।"

उस समय आप अपने पुत्र को मित्रों सहित प्रणाम करते देख, उसे अपने आनन्दाश्रुओं से भिंगोवेंगी, जैसे मेघ अपने जल से पर्वतों को भिंगोते हैं ॥ २६ ॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यैः
वाक्योपचारे कुशलाऽनवद्या ।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा
देवी सुमित्रा विरराम रामा[1] ॥ ३० ॥

इस प्रकार रमणीया सुमित्रा, जो निन्दा रहित और बातचीत करने में निपुण थीं, तरह तरह के वचनों से महारानी कौशल्या जी को समझा कर चुप हो गयीं ॥ ३० ॥

निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं
रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः ।
सद्यः शरीरे विननाश शोकः
शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः ॥ ३१ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

महाराज की पटरानी और श्रीराम की जननी कौशल्या, लक्ष्मण जी की माता सुमित्रा की इन बातों को सुन कर, शान्त हुईं और उनके शरीर का शोक उसी प्रकार नष्टप्राय हो गया, जिस प्रकार शरद्कालीन अल्प जल वाले मेघों का जल नष्टप्राय हो जाता है ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ रामा—रमणीया । (रा०)

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:*:—

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥ १ ॥

वनवास के लिये जाते हुए महात्मा एवं सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी के पीछे लगे हुए पुरवासी उनमें अनुरक्त हो गये ॥ १ ॥

निवर्तितेऽपि च बलात्सुहृद्वर्गे च राजनि ।
नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम् ॥ २ ॥

यद्यपि महाराज दशरथ और उनके सुहृद्वर्ग, (जिसको शीघ्र बुलाना हो उसके पीछे दूर तक न जाय—मंत्रियों के मुख से यह सुन कर) लौट आये थे, तथापि जो पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे पीछे जा रहे थे, वे नहीं लौटे ॥ २ ॥

अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः ।
बभूव गुण सम्पन्नः पूर्णचन्द्रः इव प्रियः ॥ ३ ॥

क्योंकि महायशस्वी अयोध्यावासी समस्त जनों को गुणवान श्रीरामचन्द्र पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान प्यारे थे ॥ ३ ॥

स याच्यमानः काकुत्स्थः स्वाभिः प्रकृतिभिस्तदा ।
कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥ ४ ॥

वे सब लोग श्रीरामचन्द्र जी से अयोध्या लौट चलने की बार बार प्रार्थना कर रहे थे, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता को सत्यवादी सिद्ध करने के लिये वन ही की ओर चले जाते थे ॥ ४ ॥

अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव ।
उवाच रामः स्नेहेन ताः प्रभाः स्वाः प्रजा इव ॥ ५ ॥

वे लोग श्रीराम की ओर उसी प्रकार (बड़ी उत्कण्ठा से) देखते थे, जैसे प्यासा जल को देखता है। (अपने में ऐसा अनुराग देख) श्रीरामचन्द्र जी बड़े प्यार से उन लोगों से वैसे ही बोले जैसे पिता अपने पुत्रों से बोलता है ॥ ५ ॥

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा निवेश्यताम् ॥ ६ ॥

हे अयोध्यावासियों! तुम लोगों की जैसी प्रीति मुझमें है और जैसा आदर तुम लोग मेरा करते हो, मेरी प्रसन्नता के लिये, इससे भी अधिक प्रीति और आदर तुम लोग भरत के प्रति प्रदर्शित करना ॥ ६ ॥

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।
करिष्यति यथावद्वः प्रियाणि च हितानि च ॥ ७ ॥

कैकेयीनन्दन भरत जी चरित्रवान् हैं, वे अवश्य ही तुम्हारे लिये यथोचित हितकर और प्रिय कार्य करेंगे ॥ ७ ॥

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः ।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥ ८ ॥

भरत जी अवस्था में छोटे होने पर भी बड़े ज्ञानवान हैं। वे बड़े कोमल चित्त के हैं, साथ ही बड़े पराक्रमी भी हैं। इनके अतिरिक्त उनमें वात्सल्यादि और भी अनेक सद्गुण हैं। वे सब प्रकार से योग्य हैं। उनके राजा होने पर तुम्हें किसी बात का खटका नहीं रहेगा ॥ ८ ॥

स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः[1] ।
अपि चैव मया शिष्टैः[2] कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥९॥

उनको राजोचित गुणों से युक्त देख कर, महाराज ने उनको युवराज पद देना निश्चित किया है। अतः हम सब को राजा के आज्ञानुसार चलना चाहिये ॥ ९ ॥

न च तप्येद्यथा चासौ वनवासं गते मयि ।
महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥ १० ॥

मेरे वन जाने पर मेरी प्रसन्नता के लिये तुम लोगों को वह काम करना चाहिये, जिससे महाराज को कष्ट न हो अथवा यदि तुम मेरे प्रिय बनना चाहो, तो ऐसा करना जिससे मेरी अनुपस्थिति में महाराज को कष्ट न हो ॥ १० ॥

[सो सब भाँति मोर हितकारी ।
जाते रहैं भुआल सुखारी ॥

तुलसीदास जी की यह चौपाई इसी श्लोक का भाव लेकर लिखी गयी है।]

यथा यथा दाशरथिर्धर्म एव स्थितोऽभवत् ।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥ ११ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र ज्यों ज्यों पितृ-वचन-पालन-रूपी धर्म में दृढ़ता प्रदर्शित करते थे, त्यों त्यों पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी ही को अपना राजा होने की इच्छा करते थे ॥ ११ ॥

बाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह ।
चकर्षेव गुणैर्बध्वा जनं पुरनिवासिनम् ॥ १२ ॥

---

१ समीक्षितः—निश्चितः । (शि०) २ शिष्टैः—अवशिष्टैः लक्ष्मण शत्रुघ्नादिभिः । (गो०)

उस समय लक्ष्मण जी सहित श्रीरामचन्द्र जी ने रुदन करते हुए दुःखी पुरवासियों को मानों डोरी में बाँध, अपनी ओर खींच लिया अथवा अपने अधीन कर लिया ॥ १२ ॥

ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा[1] ।
वयःप्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

उन लोगों में तीन प्रकार के वृद्ध ब्राह्मण थे, अर्थात् उनमें से कोई तो वयोवृद्ध, कोई ज्ञानवृद्ध, और कोई तपोवृद्ध था। इनमें से जो वयोवृद्ध थे और वृद्धावस्था के कारण जिनका सिर काँप रहा था, वे दूर से यह वचन बोले ॥ १३ ॥

वहन्तो जवना रामं भो भो [2]जात्यास्तुरङ्गमाः ।
निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि ॥ १४ ॥

हे वेगवान एवं अच्छी जाति के घोड़ो! लौटो लौटो, अब आगे मत बढ़ो और श्रीरामचन्द्र का हित करो (अर्थात् हम बूढ़ों की आज्ञा का उल्लङ्घन करने से श्रीरामचन्द्र जी का अहित होगा।) ॥ १४ ॥

कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः ।
यूयं तस्मान्निवर्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः ॥ १५ ॥

जीवधारी मात्र के कान होते हैं (अर्थात् उनमें सुनने की शक्ति होती है) किन्तु घोड़े सब से अधिक सुनते हैं, अतः तुम हमारी यह प्रार्थना सुनो और लौट आओ ॥ १५ ॥

धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः ।
उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद्वनम् ॥ १६ ॥

---

१ ओजसा—तपोबलेन । (गो०) २ जात्या—उत्तमजातीयाः । (रा०)

हम लोग जानते हैं कि, तुम्हारे स्वामी का मन सरल एवं कोमल है, वे वीर हैं और शुभ एवं दृढ़ व्रतधारी हैं। इसलिये इनको अयोध्या पहुँचाना चाहिये, न कि अयोध्या से वन को ले जाना चाहिये ॥ १६ ॥

एवमार्तप्रलापांस्तान्वृद्धान्प्रलपतो द्विजान् ।
अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥ १७ ॥

जब उन बूढ़े ब्राह्मणों के, जो बड़े कातर हो रहे थे, ऐसे वचन सुने और उन्हें पीड़ित देखा, तब श्रीरामचन्द्र जी रथ खड़ा करवा कर, उससे झट उतर पड़े ॥ १७ ॥

पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः ।
सन्निकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः ॥ १८ ॥

और सीता लक्ष्मण सहित पैदल वन की ओर चलने लगे और जब तक वे सब लोग समीप न पहुँच गये, तब तक ये तीनों धीरे धीरे चलते रहे ॥ १८ ॥

द्विजातींस्तु पदातींस्तान्रामश्चारित्रवत्सलः ।
न शशाक [1]घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥ १९ ॥

क्योंकि सदाचार युक्त एवं दयालु श्रीरामचन्द्र को उन पैदल चले आते हुए ब्राह्मणों को रथ से दूर रखना इष्ट न था ॥ १९ ॥

गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं संभ्रान्तचेतसः ।
ऊचुः परमसन्तप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥ २० ॥

---

१ घृणाचक्षुः—दयासूचक दृष्टिमान् । (रा०) दयार्द्रचक्षुरित्यर्थः । (गो०)

जब ब्राह्मणों ने देखा कि, प्रार्थना करने पर भी श्रीरामचन्द्र नहीं लौटे और वन को चले ही जाते हैं, तब तो वे अत्यन्त विकल और शोकसन्तप्त हो श्रीरामचन्द्र से यह बोले ॥ २० ॥

ब्राह्मण्यं[1] कृत्स्नमेतत्त्वां [2]ब्रह्मण्यमनुगच्छति ।
द्विजस्कन्धाधिरूढा[3]स्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्यमी ॥ २१ ॥

हे राम ! तुम ब्राह्मणों के हितकारी हो। इसीसे तुम्हारे पीछे यह अखिल ब्राह्मण समूह ही केवल नहीं आ रहा, प्रत्युत उनके कंधों पर चढ़े हुए अग्निदेव भी तुम्हारे पीछे आ रहे हैं। (अर्थात् ब्राह्मण लोग तुम्हारे साथ चलने का निश्चय कर, घर से अग्निहोत्र का सामान अरणि आदि ले कर चले हैं। "अग्निदेव" से अभिप्राय उन अरणि लकड़ियों से है जिनको आपस में घिसने से यज्ञाग्नि उत्पन्न होता है) ॥ २१ ॥

वाजपेयसमुत्थानि[4] छत्राण्येतानि पश्य नः ।
पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥ २२ ॥

देखिये, वाजपेय यज्ञ करने से जो छत्र प्राप्त हुए हैं, (अर्थात् वाजपेय यज्ञ करने से जिन छत्रों को लगाने का हमको अधिकार प्राप्त हुआ है।) और जो शरत्कालीन मेघ के समान हैं, वे सब भी आपके पीछे चले आ रहे हैं ॥ २२ ॥

अनवाप्तातपत्रस्य रश्मिसन्तापितस्य ते ।
एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयिकैः ॥२३॥

---

१ ब्राह्मण्यं—ब्राह्मण समूहः। (गो०) २ ब्रह्मण्यं—ब्रह्महितं। (रा०) ३ द्विजस्कन्धाधिरूढाः—पात्रारणिद्वारेणाधिरूढाः। (रा०) ४ वाजपेयसमुत्थानि—वाजपेयानुष्ठाने संभृतानि। (गो०)

वाजपेय यज्ञ से प्राप्त हुए इन छत्रों से हम लोग तुम्हारे ऊपर छाया करेंगे, जिससे छत्र रहित तुमको घाम से कष्ट न हो ॥ २३ ॥

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी ।
त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥ २४ ॥

हे वत्स ! हमारा मन अभी तक केवल वेद के स्वाध्याय ही की ओर लगा रहता था, किन्तु अब उस ओर न लग, आपकी वनयात्रा की ओर लगा हुआ है। (श्रीरामचन्द्र जी से यह कह ब्राह्मण लोग उन पर बड़ा दबाव डालते हैं, अर्थात् तुम्हारे पीछे हमने स्वाध्याय त्याग दिया है)। यदि तुम कहो कि तुम लोग घर का क्या प्रबन्ध कर आये हो और तुम्हारी स्त्रियाँ कैसे रहेंगी, तो ब्राह्मण इस शङ्का की निवृत्ति करते हुए कहते हैं) ॥ २४ ॥

हृदयेष्वेव तिष्ठन्ति वेदा ये नः परे धनम् ।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ २५ ॥

हमारा परम धन जो वेद है, वह तो हमारे हृदय में है (अर्थात् हमारे पीछे चोरी होने का हमें भय नहीं है) और हमारी स्त्रियाँ अपने अपने पातिव्रत्य से अपनी रक्षा करती हुई, घरों में रहेंगी (अर्थात् घर की रक्षा स्त्रियाँ करती रहेंगी) ॥ २५ ॥

न पुनर्निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः ।
त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद्धर्ममपेक्षितुम् ॥ २६ ॥

हमें अब और किसी बात का निश्चय नहीं करना; क्योंकि हम तो तुम्हारे साथ चलना निश्चित कर चुके हैं। (अर्थात् हम तो घर का सब प्रबन्ध कर, यह दृढ़ निश्चय कर के चले हैं कि, हम तुम्हारे साथ रहेंगे) किन्तु जब तुम हमारी आज्ञा का उल्लङ्घन कर

धर्म की उपेक्षा करोगे, तब धर्ममार्ग पर चलना क्या कहलावेगा? (अर्थात् तुम्हारी देखादेखी और लोग भी ब्राह्मणों का कहना न मानेंगे और ब्राह्मणों का कथन न मानने से अधर्म होगा) ॥ २६ ॥

याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः[1] ।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः[2] ॥ २७ ॥

हे राम! अब हम अधिक क्या कहें, हम हंस के समान सफेद बालों वाले (अर्थात् अत्यन्त बूढ़े हो कर भी) तुमको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं कि, तुम वन को न जाओ। (ब्राह्मण हो कर क्षत्रिय राजकुमार को साष्टाङ्ग प्रणाम करना, केवल विशेष रूप से दबाव डालना मात्र है। किन्तु भूषणटीकाकार का मत है कि, ब्राह्मण दिव्य दृष्टि वाले थे, अतः श्रीरामचन्द्र जी को राजकुमार समझ कर नहीं, किन्तु उनको साक्षात् परमेश्वरावतार समझ कर उन लोगों ने प्रणाम किया था। रामाभिरामी टीकाकार का मत है कि— "राज्ञो विष्णुवंशत्वेन नतौ न दोष इत्याहुः।") ॥ २७ ॥

बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः ।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥ २८ ॥

इन ब्राह्मणों में ऐसे भी कई एक हैं जो आरम्भ किये हुए यज्ञों को अधूरा छोड़ कर तुम्हारे साथ चले आये हैं, अतः हे वत्स! उन यज्ञों की समाप्ति तुम्हारे लौटने पर निर्भर करती है (अर्थात् यदि न लौटे तो इन यज्ञों में विघ्न डालने का दोष तुम्हारे माथे पड़ेगा) ॥ २८ ॥

---

१ हंसशुक्लशिरोरुहैः—पलितकेशैः। (गो०) २ महीपतनपांसुलैः—कृतसाष्टाङ्गप्रणामैः। (गो०)

[1]भक्तिमन्ति हि भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च ।
याचमानेषु राम त्वं भक्तिं[1] भक्तेषु दर्शय ॥ २९ ॥

केवल हम लोग ही यह नहीं कहते कि, तुम लौट चलो, किन्तु पशु पक्षी वृक्ष आदि भी प्रार्थना कर रहे हैं, सो तुम इन भक्तों के प्रति तो स्नेह प्रदर्शित करो। अथवा अपने भक्तों के इस स्नेह को सफल करो ॥ २९ ॥

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धृतवेगिनः ।
उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥ ३० ॥

ये बड़े ऊँचे ऊँचे पेड़ भी तुम्हारे साथ जाना चाहते हैं, किन्तु इनकी जड़ें भूमि में गहरी गड़ी होने से साथ चलने में असमर्थ हो कर, वायु के वेग से हिलती हुई अपनी शाखाओं से, तुमको वन जाने का निषेध कर, ये चिल्ला रहे हैं ॥ ३० ॥

निश्चेष्टाहारसञ्चारा वृक्षैकस्थानविष्ठिताः ।
पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥ ३१ ॥

देखो, पक्षियों ने भी उड़ना और चुगना बंद कर दिया है। ये वृक्ष रूपी गृहों में बैठे हुए, तुमको प्राणिमात्र पर दया करने वाला जान, वन न जाने के लिये प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने ।
ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र को लौटाने के लिये चिल्लाते हुए उन ब्राह्मणों को चलते चलते तमसा नदी देख पड़ी, जो मानों मार्ग

---

१ भक्तिं—स्नेहं । (गो०)

रोक कर, श्रीरामचन्द्र जी से आगे जाने का निषेध कर रही थी ॥ ३२ ॥

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद्विमुच्य
श्रान्तान्हयान्सम्परिवर्त्य शीघ्रम् ।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्गा-
नचारयद्वै तमसाविदूरे ॥ ३३ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

तब सुमंत्र ने थके हुए घोड़ों को रथ से खोल दिया और उनकी थकावट मिटाने को उनको ज़मीन पर लुटाया। फिर वे उनको पानी पिला और स्नान करा के तमसा के तट के समीप चराने लगे ॥ ३३ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः ।
सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी रमणीय तमसा नदी के तट पर पहुँच, सीता की ओर देख लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥ १ ॥

इयमद्य निशा पूर्वा[1] सौमित्रे प्रस्थिता* वनम् ।
वनवासस्य भद्रं ते स नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

१ पूर्वा—प्रथमा । (गो०) * पाठान्तरे—"प्रहिता" ।

हे लक्ष्मण ! हम लोगों की वनयात्रा की आज यह पहली रात है। घबड़ाने की कोई बात नहीं ॥ २ ॥

पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः ।
यथानिलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ ३ ॥

ये वन चारों ओर से शून्य और रोते हुए से देख पड़ते हैं, क्योंकि यहाँ के पशु और पक्षी बसेरा ले चुके हैं ॥ ३ ॥

अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम ।
सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥

आज मेरे पिता की राजधानी अयोध्या नगरी के नरनारी हम लोगों के चले आने से निस्सन्देह बहुत दुःखी होते होंगे ॥ ४ ॥

अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः ।
त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥ ५ ॥

क्योंकि हम लोगों में अनेक गुणों को देख, प्रजाजन, पुरुषसिंह महाराज को, तुम्हें, मुझे और भरत शत्रुघ्न को बहुत चाहते हैं ॥ ५ ॥

पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम् ।
अपि वाऽन्धौ भवेतां तु रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥ ६ ॥

मुझको, (अपने) पिता और (अपनी) यशस्विनी माता की बड़ी चिन्ता है कि, कहीं वे हम लोगों के लिये रोते रोते अंधे न हो जांय ॥ ६ ॥

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे ।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥ ७ ॥

मैं यह जानता हूँ कि, भरत धर्मात्मा हैं, वे अवश्य ही धर्म, अर्थ और काम युक्त वचनों से पिता माता को धीरज बँधावेंगे, (तो भी मेरा मन विकल होता है) ॥ ७ ॥

भरतस्यानृशंसत्वं विचिन्त्याहं पुनः पुनः ।
नानुशोचामि पितरं मातरं चापि लक्ष्मण ॥ ८ ॥

हे महाबाहु लक्ष्मण ! भरत के दयालु स्वभाव को जब मैं भली भांति विचारता हूँ, तब मैं पिता और माता की ओर से निश्चिन्त हो जाता हूँ ॥ ८ ॥

त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम् ।
अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थे सहायता ॥ ९ ॥

हे पुरुषसिंह ! मेरे साथ आ कर तुमने बड़ा काम किया। क्योंकि यदि तुम साथ न होते तो सीता की रखवाली के लिये मुझे कोई दूसरा सहायक ढूंढ़ना ही पड़ता ॥ ९ ॥

अद्भिरेव तु सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम् ।
एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! यद्यपि वन में अनेक प्रकार के कन्दमूल फल मौजूद हैं, तथापि मेरी इच्छा है कि, आज की रात जल पी कर ही बिता दी जाय ॥ १० ॥

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः ।
अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह ॥ ११ ॥

इस प्रकार के वचन लक्ष्मण से कह कर, श्रीरामचन्द्र जी सुमंत्र से भी बोले—हे सौम्य ! घोड़ों को सावधानी से रखना ॥ ११ ॥

सोऽश्वान्सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते ।
प्रभूतयवसान्कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥ १२ ॥

जब सूर्य अस्ताचलगामी हुए, तब सुमंत्र ने घोड़ों को बांधा और उनके सामने बहुत सी घास डाल कर, उनके ऊपर दृष्टि रखी ॥ १२ ॥

उपास्य[1] तु शिवां सन्ध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपस्थिताम् ।
रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह ॥ १३ ॥

तदनन्तर सायंकालीन उपासना का समय उपस्थित होने पर, सूत सुमंत्र ने वर्णोचित उपासना (अर्थात् भगवन्नामोच्चारण पूर्वक नमस्कार किया) की और रात्रि हुई देख, सुमंत्र ने लक्ष्मण जी की सहायता से, श्रीरामचन्द्र जी के लिये सोने का प्रबंध किया ॥ १३ ॥

तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैः कृताम् ।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह ॥ १४ ॥

तमसा के तट पर वृक्षों के (कोमल) पत्तों से बनी हुई शैय्या देख, श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण और सीता सहित उस पर लेट कर आराम किया ॥ १४ ॥

सभार्यं सम्प्रसुप्तं तं भ्रातरं वीक्ष्य लक्ष्मणः ।
कथयामास सूताय रामस्य विविधान्गुणान् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र और सीता को निद्रित देख, लक्ष्मण जी (उठ बैठे और) सूत से श्रीरामचन्द्र जी के विविध गुणों का बखान करने लगे ॥ १५ ॥

---

१ उपासनं—नमस्कारः । सूतजातेरपिनमस्कारमात्रं सम्भवति । (गो०)

जाग्रतो ह्येव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः ।
सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान् ॥ १६ ॥

लक्ष्मण जी ने सुमंत्र से श्रीरामचन्द्र जी के गुणों का बखान करने ही में सारी रात बिता दी और सूर्य उदय हुए ॥ १६ ॥

गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः ।
अवसत्तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥ १७ ॥

तमसा नदी के तट से कुछ ही हट कर गौओं की हेड़ थी—वहीं साथ आये हुए लोगों सहित श्रीरामचन्द्र जी उस रात में रहे ॥ १७ ॥

उत्थाय तु महातेजाः प्रकृतीस्तां निशाम्य च ।
अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी प्रातःकाल उठे और उन प्रजाजनों को सोते हुए देख, शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण से कहने लगे ॥ १८ ॥

अस्मद्व्यपेक्षान्सौमित्रे निरपेक्षान्गृहेष्वपि ।
वृक्षमूलेषु संसुप्तान्पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम् ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! ये लोग अपने घर द्वारों को छोड़, हम लोगों को पछिया रहे हैं। देखो तो, वृक्षों के नीचे पड़े कैसे सो रहे हैं। (अर्थात् हमारे पीछे सब सुखों को तिलाञ्जलि दे, दुःख सह रहे हैं और अब तक उनको विश्वास है कि, हमें वे लौटा ले जांयगे) ॥१९॥

यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने ।
अपि प्राणानसिष्यन्ति[1] न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम् ॥२०॥

---

१ असिष्यन्ति—त्यक्ष्यन्ति । (गो०)

इससे जान पड़ता है कि, ये लोग जो हम लोगों को लौटाने के लिये बड़ी चेष्टा कर रहे हैं, अपने प्राण गँवा देंगे, किन्तु अपना निश्चय (हमें वनवास से लौटने का निश्चय) न त्यागेंगे ॥ २० ॥

यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु[1] ।
रथमारुह्य गच्छाम पन्थानमकुतोभयम् ॥ २१ ॥

अतः जब तक ये सब सो रहे हैं, तब तक हम सब रथ पर सवार हो, तुरन्त यहाँ से रवाना हो जांय । फिर कुछ भी भय नहीं है । (क्योंकि तमसा के आगे कुछ दूर तक रास्ता भी नहीं है, सो ये लोग आवेंगे कैसे) ॥ २१ ॥

अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः ।
स्वपेयुरनुरक्ता मां वृक्षमूलानि संश्रिताः ॥ २२ ॥

हमारे चुपचाप चल देने से महाराज इक्ष्वाकु की राजधानी में बसने वाले इन लोगों को, फिर हमारे साथ वृक्षों की जड़ों में न सोना पड़ेगा ॥ २२ ॥

[नोट—नगरनिवासी और विशेष कर राजधानी जैसे बड़े नगरों के रहने वाले सुकुमार और आरामतलब होते हैं—अतः श्रीरामचन्द्र जी ने वन लोगों को यहाँ पर राजधानी के बसने वाले बतला कर, उनका वृक्षों के नीचे पड़ना ठीक नहीं समझा, ऐसा जान पड़ता है ।]

पौरा ह्यात्मकृताद्दुःखाद्विप्रमोक्ष्या नृपात्मजैः ।
न तु* खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः ॥२३॥

राजकुमारों का यह कर्त्तव्य है कि, पुरवासियों के कष्टों को दूर करें, न कि उनको भी (कष्ट में) अपना साथी बनावें ॥ २३ ॥

---

१ लघु—क्षिप्रं । (गो०) * पाठान्तरे—" न ते " ।

अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ।
रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति ॥ २४ ॥

ऐसे वचन सुन लक्ष्मण जी ने साक्षात् धर्म की मूर्ति श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, हे प्राज्ञ! आपने जो कहा वह मुझे भी पसंद आया । अतः झटपट रथ पर सवार हो जाइये ॥ २४ ॥

अथ रामोऽब्रवीच्छ्रीमान्सुमन्त्रं युज्यतां रथः ।
गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २५ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा कि, हे प्रभो! झटपट रथ तैयार कीजिये—मैं वन की ओर चलूँगा, सो यहाँ से अब शीघ्र चल दीजिये ॥ २५ ॥

सूतस्ततः सन्त्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः ।
योजयित्वाऽथ रामाय प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत् ॥ २६ ॥

तब सुमंत्र ने बड़ी जल्दी रथ में घोड़े जोते और हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र से निवेदन किया ॥ २६ ॥

अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनांवर ।
त्वमारोहस्व भद्रं*ते ससीतः सहलक्ष्मणः ॥ २७ ॥

हे रथियों में श्रेष्ठ! आपके लिये आपका यह रथ तैयार है, अब आप सीता और लक्ष्मण सहित इस पर बैठ जाइये; आपका मङ्गल हो ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—"त्वमारोह सुभद्रं ।"

तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः[1] ।
शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम् ॥ २८ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी अपने धनुष कवच आदि सामान के साथ रथ पर सवार हुए और उस तेज़ धार वाली एवं भँवरवाली नदी के पार हुए ॥ २८ ॥

स सन्तीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्शिवमकण्टकम् ।
प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् ॥ २९ ॥

तमसा नदी के उस पार कुछ दूर तक तो ऊबड़ खाबड़ कण्टकाकीर्ण मार्ग मिला । फिर आगे जा कर बहुत अच्छा मार्ग मिला, जिस पर न तो चलने में कष्ट होता था और न वहाँ किसी अन्य प्रकार का भय था । (जङ्गली जानवरों का) ॥ २९ ॥

मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः ।
उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमास्थाय सारथे ॥ ३० ॥

पुरजनों को भ्रम में डालने के लिये अथवा बहकाने के लिये, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा—हे पार्थ ! पहिले उत्तर की ओर रथ हाँको ॥ ३० ॥

मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः ।
यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः ॥ ३१ ॥

फिर एक मुहूर्त बाद शीघ्र रथ हाँक कर, फिर रथ लौटा लो । सावधानता पूर्वक इस प्रकार रथ हाँको, जिससे पुरवासियों को यह न मालूम हो पावे कि, हम किस ओर गये ॥ ३१ ॥

---

१ परिच्छदो—धनुः कवचादि । (रा०)

रामस्य वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे स सारथिः ।
प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत् ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, सुमंत्र ने तदनुसार ही रथ हांका और रथ को पुनः लौटा कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने खड़ा कर दिया ॥ ३२ ॥

तौ सम्प्रयुक्तं[1] तु रथं समास्थितौ
तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ ।
प्रचोदयामास ततस्तुरङ्गमान्
स सारथिर्येन पथा तपोवनम् ॥ ३३ ॥

जब सुमंत्र जी ने लौटा कर रथ उनके सामने खड़ा किया, तब रघुकुल के बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता सहित उस पर बैठे और सूत से बोले कि, अब घोड़ों को तपोवन की ओर हांको ॥ ३३ ॥

ततः समास्थाय रथं महारथः
ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ ।
उदङ्मुखं तं तु रथं चकार स
प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्त[2]दर्शनात् ॥ ३४ ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

यात्रा मङ्गलपूर्वक हो, इसलिये सुमंत्र ने रथ को उत्तर की ओर मुख कर के खड़ा किया । उस रथ पर महारथी श्रीरामचन्द्र जी सवार हो, सुमंत्र सहित वन को रवाना हुए ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का छियालिसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

१ संप्रयुक्तं—सम्यगानीतं । (गो०) २ निमित्त—शकुन । (रा०)

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना।
शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हतचेतसः॥ १॥

रात बीतने पर जब सवेरा हुआ, तब वे पुरवासी जागे और वहाँ श्रीरामचन्द्र जी को न देख, मारे शोक के चेष्टारहित हो गये और उनको कुछ भी सुधबुध न रही॥ १॥

शोकजाश्रुपरिद्यूना वीक्षमाणाः समन्ततः*।
[1]आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः॥२॥

शोकाश्रुओं से तर, इधर उधर खोज करने पर भी जब वे श्रीरामचन्द्र जी के जाने के मार्ग का कुछ भी निशान न पा सके, तब तो वे सब बहुत दुःखित हुए॥ २॥

ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता।
कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनस्विनः॥ ३॥

श्रीरामचन्द्र जी के विना व्याकुल, आर्त्त और दीन हो, वे करुणायुक्त वचन कहने लगे॥ ३॥

धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहृतचेतसः।
नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम्॥ ४॥

धिक्कार है हमारी नींद को, जिसने हमें ऐसा अचेत कर दिया कि, हम विशालवक्षःस्थल और महाभुज श्रीरामचन्द्र को अब नहीं देख सकोगे॥ ४॥

---

१ आलोकं—साधनं। (रा०) *पाठान्तरे—"वीक्षमाणास्ततः"।

कथं नाम महाबाहुः स तथावितथक्रियः[1] ।
भक्तं जनं परित्यज्य प्रवासं राघवो गतः ॥ ५ ॥

देखो, श्रीरामचन्द्र जी कैसे निष्फल करने वाले (अर्थात् भक्तों की कामनाओं को निष्फल करने वाले) काम करते हैं, जो हम जैसे अपने अनुरागियों को यहाँ छोड़ कर वन को चल दिये ॥ ५ ॥

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान् ।
कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः ॥ ६ ॥

जो हम लोगों को अपने निज सन्तानवत् पालते थे, वे रघुकुलश्रेष्ठ क्यों हमें छोड़ वन को चले गये ॥ ६ ॥

इहैव निधनं यामो [2]महाप्रस्थानमेव वा ।
रामेण रहितानां हि किमर्थं जीवितं हि नः ॥ ७ ॥

या तो अब हम लोग यहीं प्राण दे देंगे अथवा हिमालय पर जा बर्फ में गल कर मर जांयगे । क्योंकि विना श्रीराम के हमारे जीने से क्या प्रयोजन है ॥ ७ ॥

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च ।
तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथ पावकम् ॥ ८ ॥

यहाँ सूखी और बड़ी बड़ी बहुत सी लकड़ियाँ पड़ी हैं, इनको एकत्र कर और चिता बना जलती आग में गिर, हम सब भस्म हो जांय ॥ ८ ॥

---

१ अवितथक्रियः—अमोघानुवृत्तिः । (गो०) २ महाप्रस्थानं—मरणदीक्षापूर्वक मुत्तराभिमुखगमनं । (गो०)

किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः।
नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम् ॥ ९ ॥

हम लौट कर लोगों से क्या कहेंगे? क्या हमारा उनसे यह कहना उचित होगा कि, हम लोग महाबाहु, ईर्ष्यारहित और प्रियवादी श्रीरामचन्द्र को वन में छोड़ आये। ऐसा तो हमसे न कहा जायगा ॥ ९ ॥

सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान्राघवं विना।
भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोधिका ॥ १० ॥

वह दीन अयोध्यापुरी, श्रीरामचन्द्र बिना हमको लौटा हुआ देख, स्त्री बालक, और बूढ़े लोगों के सहित उदास हो जायगी ॥ १० ॥

निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं जितात्मना।
*रहितास्तेन च पुनः कथं पश्याम तां पुरीम् ॥ ११ ॥

हम लोग तो उस वीर एवं जितेन्द्रिय के साथ सदैव चलने के लिये घर से निकले थे। अब हम उनको छोड़ किस प्रकार फिर पुरी को देखें (अर्थात् पुरी में अपना मुँह क्योंकर दिखलाएँ) ॥ ११ ॥

इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः।
विलपन्ति स्म दुःखार्ता विवत्सा इव धेनवः ॥ १२ ॥

इस प्रकार वे सब लोग अपनी भुजाओं को ऊँचा कर, शोकाकुल हो, विविध प्रकार से विलाप करने लगे। वे लोग उस समय उसी प्रकार दुःखी थे, जिस प्रकार बच्चा पास न होने पर, गौ दुःखी होती है ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—"विहीनास्तेन"।

ततो मार्गानुसारेण गत्वा किञ्चित्क्षणं पुनः ।
मार्गनाशाद्विषादेन महता समभिप्लुताः ॥ १३ ॥

वे लोग रथ के पहियों की लकीर के सहारे कुछ दूर तक गये भी, किन्तु आगे रथ के जाने का कुछ भी चिन्ह न पा, वे और भी अधिक दुःखी हुए। (जान पड़ता है पहले तो रास्ता रेतीला था जिस पर रथ के पहियों के चिन्ह हो गये थे, किन्तु आगे को रास्ते पर घास आदि उगी होगी जिससे वहाँ पहियों का निशान नहीं बन सका होगा) ॥ १३ ॥

रथस्य मार्गनाशेन न्यवर्तन्त मनस्विनः ।
किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति ॥ १४ ॥

जब रथ के आगे जाने का रास्ता न मिला, तब वे सब दृढ़ चित्त वाले लोग लौट आये और आपस में कहने लगे कि, यह क्या हुआ—अब हम क्या करें, हमारा भाग्य ही खोटा है ॥ १४ ॥

ततो यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः ।
अयोध्यामगमन्सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वे सब के सब अत्यन्त उदास हो, जिस मार्ग से आये थे, उसीसे फिर अयोध्या को लौट गये। श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं न लौट कर, अयोध्यापुरीवासी सज्जनों को व्यथित किया ॥ १५ ॥

आलोक्य नगरीं तां च [1]क्षयव्याकुलमानसाः ।
अवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः ॥ १६ ॥

---

[1] क्षये—हर्षक्षयस्तेनव्याकुलमानसाः। (रा०)

वहाँ जा कर वे लोग पुरी को देख, हर्षरहित विकल मन और शोक पीड़ित हो नेत्रों से आँसू बहाने लगे ॥ १६ ॥

एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते ।
आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा ॥ १७ ॥

वे आपस में कहने लगे कि, देखो श्रीरामचन्द्र जी के न होने से इस नगरी की शोभा भी नहीं रही। यह तो अब उस नदी के द्रह के समान दीख पड़ती है, जिसके सर्प गरुड़ ने हरण कर लिये हों ॥ १७ ॥

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम् ।
अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥ १८ ॥

चन्द्रहीन आकाश, अथवा जलहीन समुद्र की तरह वे लोग आनन्दशून्य नगरी को देख अचेत से हो गये ॥ १८ ॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि
दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः ।
नैव प्रजज्ञुः स्वजनं जनं वा
निरीक्षमाणाः प्रविनष्टहर्षाः ॥ १९ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

वे लोग अपने उत्तमोत्तम घरों में, अत्यन्त दुःखित हो कर गये। उन दुःखपीड़ितों को इस समय इतनी भी सुध न रह गयी थी कि, वे देख कर, अपने और पराये को पहचान सकें ॥ १९ ॥

अयोध्याकाण्ड का सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च ।
बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया ॥ १ ॥

अब वे पुरवासी जन, विषादयुक्त, अत्यन्त दुःखी होने के कारण आँसुओं से नेत्र भरे हुए थे और शोकाकुल थे तथा मरना चाहते थे ॥ १ ॥

अनुगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम् ।
उद्गतानीव सत्त्वानि[1] बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥

जब वे श्रीरामचन्द्र को वन भेज कर आये, तब वे बड़े खिन्न, और मृतप्रायः हो गये थे ॥ २ ॥

स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः ।
अश्रूणि मुमुचुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः ॥ ३ ॥

वे अपने अपने घरों में आ कर, पुत्रों और स्त्रियों सहित रोने लगे और रोते रोते उनके मुख आँसुओं से भींग गये ॥ ३ ॥

न चाहृष्यन्न चामोदन्वणिजो न प्रसारयन् ।
न चाशोभन्त पुण्यानि[2] नापचन्गृहमेधिनः ॥ ४ ॥

उस समय पुरवासियों में न तो कोई प्रसन्न और न कोई अमोदित होता था । बनियों ने अपनी दूकानें बंद कर रखी थीं । अर्थात्

---

१ सत्त्वानि—प्राणाः । २ पुण्यानि—पुण्यफलभूतपुत्रकलत्रादीनि । (गो०)

बाज़ार बंद था। घरों में किसी ने न तो अपने लड़के लड़कियों को सजाया और न स्त्रियों ने अपना शृङ्गार किया। यहाँ तक कि, गृहस्थों के घर चूल्हा ही न जला अर्थात् रसोई न हुई—सब लोग भूखे प्यासे रहे ॥ ४ ॥

नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन्विपुलं वा धनागमम् ।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ ५ ॥

न तो कोई अपने नष्ट हुए धन को पा कर और न कोई विपुल धन पा कर ही हर्षित होता था। ज्येष्ठपुत्र को पा कर माता प्रसन्न न होती थी ॥ ५ ॥

गृहे गृहे रुदन्त्यश्च भर्तारं गृहमागतम् ।
व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्रैरिव द्विपान् ॥ ६ ॥

घर घर रोना पीटना हो रहा था और (वन से ख़ाली लौट कर) घर में आये हुए पतियों के हृदय को, उनकी स्त्रियाँ शोकार्त्त हो, वचन रूपी बाणों से उसी प्रकार वेधती थीं, जिस प्रकार महावत हाथी को अङ्कुश से गोदता है ॥ ६ ॥

किन्नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा ।
पुत्रैर्वा किं सुखैर्वाऽपि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥

सब पुरवासी यही कह रहे थे कि, जब वे लोग श्रीरामचन्द्र जी ही को नहीं देख पाते, तब उन्हें घर, स्त्री, धन दौलत, पुत्र अथवा सुख का प्रयोजन ही क्या है ॥ ७ ॥

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया ।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन्वने ॥ ८ ॥

इस लोक में एकमात्र लक्ष्मण ही सज्जन हैं, जो सीता के साथ श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करने वन में चले गये ॥ ८ ॥

आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च ।
येषु स्नास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥९॥

उन नदियों और कमलयुक्त सरोवरों ने बड़ा पुण्य किया है, जिनके पवित्र जल में श्रीरामचन्द्र जी घुस कर स्नान करेंगे ॥ ९ ॥

शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः ।
आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥ १० ॥

रमणीय वन, सुन्दर तट वाली नदियाँ और सुन्दर शिखर वाले पर्वत काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी की शोभा बढ़ावेंगे ॥ १० ॥

काननं वाऽपि शैलं वा यं रामोऽभिगमिष्यति ।
प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम् ॥ ११ ॥

वन अथवा पहाड़—जहाँ कहाँ श्रीरामचन्द्र जी जाँयगे, उनको अपना प्रिय पाहुना समझ, वे सब आदर सत्कार करने में कसर न करेंगे ॥ ११ ॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः ।
राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा[1] भ्रमरशालिनः ॥ १२ ॥

वे पेड़ भी, जिनकी फुनगियाँ फूलों से शोभित हैं और अनेक मंजरी धारण किये हुए हैं और जिन पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं, अपना सुन्दर स्वरूप श्रीरामचन्द्र को दिखलावेंगे ॥ १२ ॥

---

१ नगाः—वृक्षाः । (गो०)

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद्[1]गिरयो राममागतम् ॥ १३ ॥

वहाँ के पर्वत श्रीरामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिये, फूलने फलने की ऋतु न होने पर भी, उत्तम उत्तम फूलों फलों से श्रीरामचन्द्र जी का सम्मान करेंगे ॥ १३ ॥

प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।
विदर्शयन्तो विविधान्भूयश्चित्रांश्च निर्भरान् ॥ १४ ॥

पर्वत निर्मल जल चुआयेंगे और अनेक विचित्र झरनों को श्रीरामचन्द्र जी के लिये प्रकट करेंगे ॥ १४ ॥

पादपाः पर्वताग्रेषु-रमयिष्यन्ति राघवम् ।
यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥ १५ ॥

पहाड़ों पर के पेड़ श्रीरामचन्द्र जी का मनोरञ्जन करेंगे । जहाँ श्रीरामचन्द्र जी होंगे वहाँ न तो उनको किसी का भय ही होगा और न उनकी कभी हार ही होगी ॥ १५ ॥

स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।
पुरा भवति नो दूरादनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

वे महाबाहु और शूर दशरथनन्दन अभी बहुत दूर नहीं गये होंगे, अतः चलो हम सब श्रीरामचन्द्र जी के पास चलें ॥ १६ ॥

पादच्छाया[2] सुखा भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः ।
स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम्[3] ॥१७॥

---

१ अनुक्रोशात्—आदरात् । (गो०) २ पादच्छायेति पादसेवा लक्ष्यते । (गो०) ३ परायणम्—परमयनं, सर्वप्रकारेणआधारभूत इत्यर्थः । (गो०)

क्योंकि वैसे महात्मा और स्वामी की शरणसेवा भी हमको सुख देगी। वे ही इस अखिल संसार के स्वामी गति और आधार हैं ॥ १७ ॥

वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं तु राघवम् ।
इति पौरस्त्रियो भर्तॄन्दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥ १८ ॥

हम सब सीता की और तुम सब श्रीरामचन्द्र जी की सेवा टहल करना। इस प्रकार पुरजनों की स्त्रियां दुःख से विकल हो, अपने पतियों से कह कर, फिर कहने लगीं ॥ १८ ॥

युष्माकं राघवोऽरण्ये [1]योगक्षेमं विधास्यति ।
सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥

देखो वन में श्रीरामचन्द्र सब प्रकार तुम्हारा भरणपोषण करेंगे और सीता जी हम स्त्रियों का भरणपोषण करेंगी ॥ १९ ॥

[योगक्षेम—जो वस्तु प्राप्त नहीं उसको दिलाना योग और प्राप्तवस्तु का रक्षण क्षेम कहलाता है ।]

को न्वनेनाप्रतीतेन[2] सोत्कण्ठितजनेन च ।
सम्प्रीयेतामनोज्ञेन वासेन हृतचेतसा ॥ २० ॥

ऐसी बुरी जगह जहां चित्त उद्विग्न हो और मन न लगे, वहां रहने से क्या प्रयोजन ॥ २० ॥

कैकेय्या यदि चेद्राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत् ।
न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥ २१ ॥

---

१ योगक्षेमं—अप्राप्त प्राप्तियोगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमं । (रा०) २ अप्रतीतेन—अप्रसन्नेन । (गो०)

यदि यह राज्य धर्मविरुद्ध (ज्येष्ठ को छोड़ छोटे को राज्य मिलना धर्मविरुद्ध है।) और अनाथ की तरह कैकेयी के अधीन हुआ, तो धन और पौत्रादि की बात कौन चलावे, जीवित रहने ही से हमको क्या प्रयोजन है॥ २१॥

यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात्।
कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी॥ २२॥

हा! यह कुलकलङ्किनी कैकेयी जिसने राज्यप्राप्ति के लोभ में पड़, अपने पति महाराज दशरथ और पुत्र श्रीरामचन्द्र तक को त्याग दिया, वह भला दूसरों को क्यों न त्याग देगी॥ २२॥

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका निवसेमहि।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे॥ २३॥

हम अपने पुत्रों की शपथ खा कर कहती हैं कि, प्राण रहते हम कैकेयी के राज्य में उसकी दासी बन कर न रहेंगी॥ २३॥

या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा।
कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यां दुष्टचारिणीम्॥२४॥

क्योंकि जिस निर्लज्जा ने महाराज दशरथ के पुत्र को घर से निकलवा दिया उस अधर्मिन और दुष्टा के राज्य में बस कौन सुखपूर्वक जीता रह सकता॥ २४॥

उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्बमनायकम्।
कैकेय्या हि कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति॥ २५॥

यह समूचा राज्य, उपद्रवों से युक्त, निराधार और अनाथ हो, केवल कैकेयी की करतूत से नष्ट हो जायगा॥ २५॥

न हि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः ।
मृते दशरथे व्यक्तं विलापः[1] तदनन्तरम् ॥ २६ ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के वन जाने के कारण महाराज का बचना असम्भव है और जब महाराज न रहेंगे तब यह राज्य भी नष्ट हो जायगा ॥ २६ ॥

ते विषं पिबतालोड्य क्षीणपुण्याः सुदुर्गताः ।
राघवं वाऽनुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत ॥ २७ ॥

अब हम लोगों का सुकृत सिरा चुका है । इसीसे हमारी यह दुर्गति हुई है । सो लाओ अब विष घोल कर पी लें, अथवा श्रीरामचन्द्र जी के पास चले चलें अथवा किसी ऐसे स्थान में चले चलें जहां से हमारा नाम भी कोई न सुन पावे ॥ २७ ॥

मिथ्या[2] प्रव्राजितो रामः ससीतः सहलक्ष्मणः ।
भरते सन्निसृष्टाः[3] स्मः सौनिके[4] पशवो यथा ॥२८॥

सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र को कपट से वन भेज कर, हमें भरत को उसी प्रकार सौंप दिया है जिस प्रकार कसाई को पशु सौंप दिया जाता है ॥ २८ ॥

पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजत्रुररिन्दमः ।
आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥ २९ ॥

पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः ।
सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत्प्रियदर्शनः ॥ ३० ॥

---

१ विलापो—विनाशः । (गो०) २ मिथ्या—कपटेन । (गो०) ३ सन्निसृष्टाः—निक्षिप्ताः । (गो०) ४ सौनिके—पशुमारके । (गो०)

नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः ।
शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन्स महारथः ॥ ३१ ॥

वह श्रीरामचन्द्र तो पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुख वाले, श्यामवर्ण, मांसल हँसुली वाले, शत्रुओं को नाश करने वाले, अजानुबाहु, कमल के समान नेत्र वाले लक्ष्मण के बड़े भाई, पहले बोलने वाले, मधुरभाषी, सत्यवादी, महाबली, सीधे और सब लोगों को चन्द्रमा की तरह प्रिय, पुरुषसिंह, मत्तगज जैसी चाल चलने वाले और महारथी हैं, वे जहाँ विचरेंगे वहाँ के वन को भी निश्चय ही शोभायुक्त कर देंगे ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरस्त्रियः ।
चुक्रुशुर्दुःखसन्तप्ता मृत्योरिव भयागमे ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में इस प्रकार अयोध्या की बसने वाली स्त्रियाँ घरों में विलाप कर रोती चिल्लाती थीं, जैसे किसी के मरते समय उसके इष्टमित्र और आत्मीयजन विलाप कर रोते चिल्लाते हैं ॥ ३२ ॥

इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेश्मसु राघवम् ।
जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ ३३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में इस प्रकार उन स्त्रियों के अपने घरों में रोते ही रोते दिन डूब गया और रात हो गयी ॥ ३३ ॥

नष्टज्वलन[1]सम्पाता प्रशान्ताध्याय[2]सत्कथा[3] ।
तिमिरेणाभिलिप्तेव सा तदा नगरी बभौ ॥ ३४ ॥

---

१ ज्वलनस्य—आहवनीयाग्नेः अस्यामस्यां सा प्रशान्ता । (शि०)
२ अध्यायो—वेदः । (गो०) ३ सत्कथा—पुराणादिः । (गो०)

उस दिन अग्निहोत्र की आग की गर्मी नष्ट हो गयी, स्वाध्याय-निरत ब्राह्मणों ने वेद का स्वाध्याय नहीं किया, न कहीं पुराणों की कथा वार्ता हुई। सब नगरो में अँधेरा सा छा गया। (अर्थात् लोगों के घरों में दीपक भी नहीं जलाये गये।) ॥ ३४ ॥

उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया।
अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम् ॥ ३५ ॥

बनियों की मण्डियाँ बंद रहीं। सब ही लोग निराश और अनाथ हो गये। जिस प्रकार तारागण से हीन आकाश शोभाहीन हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या भी शोभा हीन हो गयी ॥ ३५ ॥

तथा स्त्रियो रामनिमित्तमातुरा
यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते।
विलप्य दीना रुरुदुर्विचेतसः
सुतैर्हि तासामधिको हि सोऽभवत् ॥ ३६ ॥

अयोध्या की सब स्त्रियाँ श्रीरामचन्द्र के लिये ऐसी आतुर हो रही थीं, मानों उनके पुत्र या भाई ही वन को भेज दिये गये हों। वे विलाप कर रोती रोती अचेत सी हो गयीं। उनकी इस चेष्टा से ऐसा बोध होता था मानों वे श्रीरामचन्द्र जी को अपने पुत्रों से भी अधिक मानती थीं ॥ ३६ ॥

प्रशान्तगीतोत्सवनृत्तवादना
व्यपास्तहर्षा पिहितापणोदया।
तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा
महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥ ३७ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

गाना, बजाना, नाचनाकूदना आदि उत्सवसूचक सब काम बंद थे। बाज़ारों में जहां देखो वहीं उदास हो दूकानदार अपनी दूकानें बंद किये चुपचाप बैठे हुए थे। इस प्रकार अयोध्यापुरी जल रहित समुद्र की तरह उजाड़ सी हो गयी॥ ३७॥

अयोध्याकाण्ड का अड़तालिसवां सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—:※:—

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्।
जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन्॥ १॥

(पिछले सर्ग में, अयोध्यावासियों के पुरी में लौटने पर उनकी तथा उनके कारण अयोध्यापुरी की जो दशा दिखलाई पड़ती थी उसका वर्णन किया गया। अगले सर्ग में आदि कवि पुनः श्रीरामचन्द्र के वनगमन का वृत्तान्त आरम्भ करते हैं।) उस रात के बीतते बीतते श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता की आज्ञा का स्मरण करते हुए, बहुत दूर निकल गये॥ १॥

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद्रजनी शिवा।
उपास्य स शिवां सन्ध्यां विषयान्तं[1] व्यगाहत॥२॥

चलते ही चलते सवेरा हो गया और रात बीत गयी। तब उन्होंने प्रातः सन्ध्योपासन किया। तदनन्तर फिर चलने लगे और चल कर उत्तर कोशल की दक्षिण सीमा पर पहुँच गये॥ २॥

---

1 विषयान्तं—उत्तरकोसलदक्षिणावधिं। (गो०)

ग्रामान्विकृष्टसीमान्तान्पुष्पितानि वनानि च ।
पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शनैरिव[1] हयोत्तमैः ॥ ३ ॥

गावों के सिवानों पर खेती के लिये जुते हुए खेतों और अनेक प्रकार के पुष्पित वृक्षों से युक्त वनों के देखने में श्रीरामचन्द्रादि ऐसे मग्न थे कि, उन उत्तम घोड़ों की तेज़ चाल भी उनको धीमी चाल जैसी जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

शृण्वन्वाचो मनुष्याणां ग्राम[2]संवास[3]वासिनाम् ।
राजानं धिग्दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ॥ ४ ॥

जाते जाते श्रीरामचन्द्र जी उन छोटे बड़े ग्रामों के निवासियों की बातचीत सुनते जाते थे। वे कहते थे कि, कामवशवर्ती महाराज दशरथ को धिक्कार है ॥ ४ ॥

हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी ।
तीक्ष्णा[4] सम्भिन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते ॥ ५ ॥

हाय! पापिनी कैकेयी का स्वभाव कैसा कड़ुआ है और उसका व्यवहार कैसा क्रूर है कि, उसने मर्यादा को तोड़, ऐसा बुरा काम कर ही डाला ॥ ५ ॥

या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम् ।
वनवासे महाप्राज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

उसने ऐसे धार्मिक राजपुत्र को वनवास दिया है, जो महाविद्वान्, दयालु और जितेन्द्रिय है ॥ ६ ॥

---

१ शनैरिवययौ—उत्तमाश्वानांगतिचातुर्यात् पुष्पितवनरामणीयकदर्शनपारवश्याच्चातिशीघ्रं अपि गमनं शनैरिवजानन् । (गो०) २ ग्रामाः—महाग्रामाः । (गो०) ३ संवासा—अल्पग्रामाः । (गो०) ४ तीक्ष्णा—क्रूरा । (गो०)

कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी ।
सदा सुखेष्वभिरता दुःखान्यनुभविष्यति ॥ ७ ॥

जनकनन्दिनी महाभागा सीता, जो घर में सदा सुख ही सुख में रही है, किस प्रकार वन के कष्ट सह सकेगी ॥ ७ ॥

अहो दशरथो राजा निःस्नेहः स्वसुतं प्रियम् ।
प्रजानामनघं[1] रामं परित्यक्तुमिहेच्छति ॥ ८ ॥

हा ! महाराज दशरथ को अपने प्यारे पुत्र में ज़रा भी मोह ममता नहीं है । नहीं तो वे प्रजा के पापों को दूर करने वाले अथवा निर्दोष पुत्र को क्यों त्यागते ॥ ८ ॥

एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।
शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान्कोसलेश्वरः ॥ ९ ॥

इस प्रकार उन बड़े छोटे ग्रामों के रहने वालों के अनेक प्रकार की बातचीत सुनते हुए कोशलेश्वर श्रीरामचन्द्र कोशलदेश की सीमा को उल्लङ्घन कर आगे चले ॥ ९ ॥

ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम् ।
उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्या[2]ध्युषितां दिशम् ॥१०॥

तदनन्तर वे वेदश्रुति नामक निर्मल जल से भरी हुई नदी के पार हो, दक्षिण दिशा की ओर चले ॥ १० ॥

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शिवजलां नदीम् ।
गोमतीं [3]गोयुतानूपामतरत्सागरंगमाम् ॥ ११ ॥

---

१ प्रजानामनघं—अघनिवर्तकम् । (शि०) २ अगस्त्याध्युषितांदिशं—दक्षिणांदिशं । (गो०) ३ गोयुतानूपां—गोयुक्तकच्छप्रदेशां । (गो०)

फिर बहुत दूर तक मार्ग चल, शीतल जल वाली और सागरगामिनी गोमती नदी के तट पर पहुँचे। उसके कछार में बहुत सी गौएँ चर रही थीं॥ ११॥

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम्॥ १२॥

शीघ्र चलने वाले घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी, गोमती को पार कर, स्यन्दिका नाम नदी के, जिसके किनारों पर मयूर और हंस बोल रहे थे, पार उतरे॥ १२॥

स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा।
स्फीतां राष्ट्रावृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत्॥ १३॥

वह भूमि, जिसे राजा मनु ने पहिले इक्ष्वाकु को दिया था और जो बहुत विस्तृत थी तथा जिस पर अनेक राष्ट्र बसे हुए थे, श्रीरामचन्द्र जी ने सीता को दिखलायी॥ १३॥

सूत इत्येव चाभाष्य सारथिं तमभीक्ष्णशः[1]।
मत्तहंसस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषर्षभः॥ १४॥

तदनन्तर सुमंत्र को सम्बोधन कर पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी मत्तहंस जैसी वाणी से बोले॥ १४॥

कदाऽहं पुनरागम्य सरय्वा पुष्पिते वने।
मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च सङ्गतः॥ १५॥

हे सारथे! वह दिन कब आवेगा जब मैं वन से लौट कर माता पिता से मिल कर सरयू के पुष्पित वनों में शिकार के लिये घूमा फिरा करूँगा॥ १५॥

---

१ अभीक्ष्णशः आभाष्य सम्बोधय। (शि०)

राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन्रत्यर्थं मृगया वने ।
काले[1] वृतां[2] तां मनुजैः[3]धन्विनामभिकाङ्क्षिताम् ॥१६॥

इस संसार में यह पुरानी चाल चली आती है कि राजर्षि, लोग आवश्यकता पड़ने पर वनों में शिकार खेला करते हैं। सदाचारी लोगों को भी श्राद्ध आदि करने के लिये धनुषबाण की आवश्यकता होती है ॥ १६ ॥

नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने ।
रतिर्ह्येषाऽतुला लोके राजर्षिगणसम्मता ॥ १७ ॥

यद्यपि बहुत शिकार खेलना मुझे पसंद नहीं, तथापि राजा लोग इसे अच्छा बतलाते हैं और लोगों की भी प्रवृत्ति इस ओर अधिक है। अतः मैं इसे बुरा भी नहीं समझता और सरयू के तट पर शिकार खेलना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा ।
तं[4] तमर्थमभिप्रेत्य[5] ययौ वाक्यमुदीरयन् ॥ १८ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी प्रयोजन के अनुसार सुमंत्र जी को मधुरवाणी से समझा कर, उनसे वार्तालाप करते हुए चले जाते थे ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

---

१ काले—श्राद्धादिकाले । (गो०) २ वृतां—स्वीकृता । (गो०) ३ मनुजैः—सदाचारपरैः । (गो०) ४ तं तमर्थं—राजगुणादिरूपं । (गो०) ५ अभिप्रेत्य—हृदये कृत्वा । (गो०)

पञ्चाशः सर्गः

—:०:—

विशालान्कोसलान्रम्यान्यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
अयोध्याभिमुखो धीमान्प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विशाल कोशल राज्य के देशों की सीमा से निकल, अयोध्या की ओर मुख कर और हाथ जोड़ कर यह बोले ॥ १ ॥

आपृच्छे त्वां पुरि श्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते ।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च ॥ २ ॥

हे काकुत्स्थवंशीय नृपतियों से पालित पुरियों में श्रेष्ठ अयोध्ये ! तुझसे तथा तुझमें रहने वाले उन देवताओं से जो तेरा पालन करते हैं, मैं विदा होने के लिये अनुज्ञा मांगता हूँ ॥ २ ॥

निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः ।
पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह सङ्गतः ॥ ३ ॥

वनवास से लौट कर और महाराज से उऋण हो, मैं फिर तेरे दर्शन करूँगा और माता पिता से मिलूँगा ॥ ३ ॥

ततो रुधिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम् ।
अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने दक्षिण भुजा उठा नेत्रों में आँसू भर और दीन हो, उन जनपदवासियों से (जो रथ को घेरे चले जाते थे) कहा ॥ ४ ॥

अनुक्रोशो[1] दया[2] चैव यथार्हं[3] मयि वः कृतः ।
चिरं दुःखस्य पापीयो[4] गम्यतामर्थसिद्धये[5] ॥ ५ ॥

आपने मेरा वैसा ही आदर सत्कार किया है और अनुकम्पा प्रदर्शित की है, जैसी मालिक के प्रति करनी उचित थी। बहुत देर तक मेरे साथ आपका रहना शोभा नहीं देता, अतः अब आप लोग अपने अपने घरों को लौट जाइये और जा कर घर के कामों को कीजिये ॥ ५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठन्त कचित्कचित् ॥ ६ ॥

तब वे श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर और उनकी परिक्रमा कर, अपने अपने घरों को चल तो दिये, किन्तु रास्ते में बीच बीच में जाते जाते रुक जाते और रुदन कर घोर विलाप करने लगते थे ॥ ६ ॥

तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः ।
अचक्षुर्विषयं प्रायाद्यथार्कः क्षणदामुखे ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उनको विलाप करते देख तथा अपने दर्शन से अतृप्त जान, रथ तेज़ी से हँकवाया और उनके नेत्रों की ओट वैसे ही हो गये, जैसे सूर्य सन्ध्या को नेत्रों की ओट हो जाते हैं ॥७॥

ततो धान्यधनोपेतान्दानशीलजनाञ्शुभान्* ।
अकुतश्चिद्भयान्रम्यांश्चैत्य[6]यूपसमावृतान् ॥ ८ ॥

---

१ अनुक्रोशः आदरः । (गो०) २ दया—अनुकम्पा । (गो०) ३ यथार्हं—स्वामित्वानुगुणं । (गो०) ४ पापीयः—अशोभनं । (गो०) ५ अर्थसिद्धये—गृहकृत्यादि करणाय । (गो०) ६ चैत्यानि—देवतायतनानि ॥ * पाठान्तरे—"शिवान्" ।

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने जाते हुए देखा कि, रास्ते में जो गाँव या नगर हैं, वे धनधान्य से भरे पूरे हैं। वहाँ के लोग बड़े दानी और धार्मिक हैं और निर्भीक हैं। यह बात उन नगरों के रम्य देव-मन्दिरों तथा जहाँ तहाँ खड़े यज्ञस्तम्भ के देखने से विदित होती थी ॥ ८ ॥

उद्यानाम्रवणोपेतान्सम्पन्नसलिलाशयान् ।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान्गोकुलाकुलसेवितान् ॥ ९ ॥

वहाँ के बाग़ आमों के वृक्षों से परिपूर्ण थे, तालाबों में जल भरा हुआ था, सब लोग प्रसन्नवदन और हृष्टपुष्ट थे और जगह जगह गौओं की हेड़ें खड़ी थीं ॥ ९ ॥

लक्षणीयान्नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान् ।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत ॥ १० ॥

राज्य की ओर से उन जनपदों की रक्षा का अच्छा प्रबन्ध था। उनमें वेद की ध्वनि सदा हुआ करती थी। पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी रथ पर चढ़े और ये सब देखते भालते कोशल देश की सीमा के पार हुए ॥ १० ॥

मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम् ।
राज्यं भोग्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतांवरः ॥ ११ ॥

धृतिमतांवर श्रीरामचन्द्र बीच बीच में छोटे छोटे राज्यों को, जो हर्षित और सम्पन्न लोगों से भरे और रमणीय उपवनों से युक्त थे, देखते चले जाते थे। (ये सब छोटे राज्य महाराज दशरथ के करद राज्य थे) ॥ ११ ॥

तत्र[1] त्रिपथगां दिव्यां शिवतोयामशैवलाम् ।
ददर्श राघवो गङ्गां पुण्यामृषिनिषेविताम् ॥ १२ ॥

---

१ तत्र—कोसलाद्दक्षिणदेशे। (गो०)।

चलते चलते श्रीरामचन्द्र ने कोशलराज्य की दक्षिण सीमा पर स्थित, पवित्र तथा शीतल तोया और ऋषियों से सेवित त्रिपथगा गङ्गा को देखा ॥ १२ ॥

आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलंकृताम् ।
[1]कालेऽप्सरोभिर्हृष्टाभिः सेवितांभोह्रदां शिवाम् ॥१३॥

गङ्गा के तट से कुछ ही हट कर, ऋषियों के रमणीक आश्रम देखे, जिनके कुण्डों के निर्मल जल में स्वर्गीय अप्सरायें जलक्रीड़ा करने को उचित समय पर आया करती हैं ॥ १३ ॥

देवदानवगन्धर्वैः किन्नरैरुपशोभिताम् ।
*नागगन्धर्वपत्नीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥ १४ ॥

जो गङ्गा देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नागपत्नी और गन्धर्व-पत्नी द्वारा सदा सेवित हैं ॥ १४ ॥

देवाक्रीडशताकीर्णां देवोद्यानशतायुताम् ।
देवार्थमाकाशगमां विख्यातां देवपद्मिनीम् ॥ १५ ॥

उन गङ्गा के तट पर देवताओं की जलक्रीड़ा के लिये सैकड़ों स्थान और वाटिकाएँ बनी हुई हैं। गङ्गा ने आकाशमार्ग से गमन किया है और वहाँ वह देवपद्मिनी अर्थात् सुवर्ण-कमलवाली के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ १५ ॥

[गङ्गा का स्त्री का रूपक बाँधा है] ।

जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् ।
क्वचिद्वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ॥ १६ ॥

---

[1] काले—क्रीडा 'काले' उचित काले वा । (गो०) * पाठान्तरे—"नाना" ।

गङ्गा का जल जहाँ टकराता है, वहाँ ऐसा शब्द होता है मानों गङ्गा अट्टहास कर रही है, कहीं पर धार बड़े वेग से बह रही है और कहीं वह निर्मल फेन से भूषित हो मानों हँस रही है। ऊँची नीची चट्टानों पर जल के गिरने से ऐसा ज्ञान पड़ता है, मानों किसी युवती की वेणी (चोटी) हो और कहीं कहीं पर भँवरों के पड़ने से गङ्गा सुशोभित हो रही है ॥ १६ ॥

कचित्स्तिमितगम्भीरां कचिद्वेगजलाकुलाम् ।
कचिद्गम्भीरनिर्घोषां कचिद्भैरवनिस्वनाम् ॥ १७ ॥

कहीं स्थिर, कहीं बहुत गहरा जल है और कहीं जल के गंभीर नाद से और कहीं भयङ्कर शब्द से श्रीगङ्गा जी घोषित हो रही है ॥ १७ ॥

देवसङ्घाप्लुतजलां निर्मलोत्पलशोभिताम् ।
कचिदाभोगपुलिनां कचिन्निर्मलवालुकाम् ॥ १८ ॥

कहीं देवता लोग स्नान करते हैं, और कहीं पर वह श्वेत कमलों से सुशोभित है। कहीं कहीं तट पर ऊँचे करारे हैं और कहीं निर्मल बालुका बिछी है ॥ १८ ॥

हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपकूजिताम् ।
सदा मत्तैश्च विहगैरभिसन्नादितान्तराम् ॥ १९ ॥

कहीं हंस और सारस बोल रहे हैं और कहीं तट पर चकवा चकई कुहुक रहे हैं। गङ्गा का तट मत्त पक्षियों के शब्द से सदा कूजित ही रहता है ॥ १९ ॥

कचित्तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरुपशोभिताम् ।
कचित्फुल्लोत्पलच्छन्नां कचित्पद्मवनाकुलाम् ॥ २० ॥

कहीं तटों पर वृक्षों की पंक्तियाँ माला की तरह शोभायमान हैं, कहीं खिली हुई कुई जल को ढके हुए हैं और कहीं कमल के फूलों के वन भरे पड़े हैं ॥ २० ॥

क्वचित्कुमुदषण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् ।
नानापुष्परजोध्वस्तां[1] समदामिव[2] च क्वचित् ॥२१॥

कहीं कुई की कलियाँ शोभायमान हैं, और कहीं अनेक प्रकार के पुष्पों के पराग से जल का रंग बदला हुआ है अर्थात् लाल हो गया है। वह लाल रंग का ठहरा हुआ जल ऐसा जान पड़ता है, मानों कोई स्त्री लाल रंग की साड़ी पहने हुए खड़ी है ॥ २१ ॥

व्यपेतमलसङ्घातां मणिनिर्मलदर्शनाम् ।
दिशागजैर्वनगजैर्मत्तैश्च वरवारणैः[3] ॥ २२ ॥

गङ्गा जी का जल वैदूर्यमणि की तरह चमक रहा है। दिग्गज मत्त वनैले हाथी तथा राजाओं के हाथी स्नान कर रहे हैं ॥ २२ ॥

देवोपवाह्यैश्च मुहुः सन्नादितवनान्तराम् ।
प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥ २३ ॥

देवताओं के वाहन मत्तगजों से सेवित और जल की धार के हर हर शब्द से वनों को गुंजाती गङ्गा ऐसी सुशोभित हो रही है मानों कोई स्त्री बड़े यत्न से उत्तम आभूषणों से अपना शृङ्गार किये हुए हो ॥ २३ ॥

---

१ नानापुष्परजोध्वस्तां—वर्णान्तरंप्राप्तां । (गो०) २ समदामिव—प्रमदामिवस्थिताम् । (रा०) एवं रक्तवर्णत्वात् समदामिवस्थिताम् । (गो०) ३ वरवारणैः—राजगजैः ।

फलैः पुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजैस्तथा[1] ।
शिशुमारैश्च नक्रैश्च भुजङ्गैश्च निषेविताम् ॥ २४ ॥

(गङ्गा) फल, पुष्प, पत्र, पुष्पगुच्छ और नाना पक्षियों रूपी आभूषणों से भूषित स्त्री की तरह सुशोभित है। सूंस, (अथवा जलमानुस-जलकपि) घड़ियाल और भुजङ्गों से सेवित है (अर्थात् ये सब उसके जल के भीतर रहते हैं) ॥ २४ ॥

विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशनीम् ।
तां शङ्करजटाजूटाद्भ्रष्टां सागरतेजसा[2] ॥ २५ ॥

गङ्गा भगवान् विष्णु के चरण से निकली हैं, दिव्य हैं, स्वयं पाप रहित हैं और दूसरों के पाप का नाश करने वाली हैं। शिव जी के जटाजूट से निकल कर, भगीरथ की तपस्या से पृथिवी पर आयी हैं ॥ २५ ॥

समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम् ।
आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥ २६ ॥

समुद्र की पटरानी और सारस एवं क्रौंच पक्षियों से कूजित गङ्गा के निकट, शृङ्गवेरपुर को जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी पहुँचे ॥ २६ ॥

तामूर्मिकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः ।
सुमन्त्रमब्रवीत्सूतमिहैवाद्य वसामहे ॥ २७ ॥

तरंगों पर तरंगें जिनमें उठ रही हैं, ऐसी श्रीगङ्गा जी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा, हे सूत ! आज मैं यहीं निवास करूँगा ॥ २७ ॥

---

१ द्विजैः—पक्षिभिः । (गो०) २ सागरतेजसा—भगीरथतपसा । (रा०)

अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान् ।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे ॥ २८ ॥

हे सारथे ! यहाँ से निकट ही पत्तों और फूलों से सुशोभित जो इंगुदी का वृक्ष है, उसीके नीचे टिकने की मेरी इच्छा है ॥२८॥

द्रक्ष्यामः सरितां श्रेष्ठां सम्मान्यसलिलां शिवाम् ।
देवदानवगन्धर्वमृगमानुषपक्षिणाम् ॥ २९ ॥

इसी श्रेष्ठ नदी गङ्गा को, जो मनोहर जलयुक्त है और देव, दानव, गन्धर्व, मृग, नाग और पक्षियों से सेवित है, (हम लोग) देखें और उसका (यहाँ ठहर कर) सम्मान करें ॥ २६ ॥

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च बाढमित्येव राघवम् ।
उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण और सुमंत्र ने कहा "बहुत अच्छा" और वे इंगुदी वृक्ष के पास रथ ले गये ॥ ३० ॥

रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
रथादवातरत्तस्मात्सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ३१ ॥

इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र उस रमणीक वृक्ष के पास पहुँच, सीता और लक्ष्मण सहित रथ से उतर पड़े ॥ ३१ ॥

सुमन्त्रोऽप्यवतीर्यास्मान्मोचयित्वा हयोत्तमान् ।
वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥

सुमंत्र भी रथ से उतर पड़े और उन उत्तम घोड़ों को खोल दिया और स्वयं हाथ जोड़े हुए उस वृक्ष के नीचे श्रीरामचन्द्र जी के पास जा उपस्थित हुआ ॥ ३२ ॥

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः[1] सखा ।
निषादजात्यो [2]बलवान्स्थपति[3]श्चेति विश्रुतः ॥ ३३ ॥

उस देश का गुह नाम का राजा था, वह श्रीरामचन्द्र का प्राणों के समान मित्र था और जाति का केवट था, तथा उसके पास चतुरङ्गिणी सेना थी और वह निषादों का राजा कहलाता था ॥ ३३ ॥

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम् ।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः ॥ ३४ ॥

उसने जब सुना कि श्रीरामचन्द्र जी उसके देश में आये हैं, तब वह अपने बूढ़े मंत्रियों और जाति बिरादरी के बड़े बड़े लोगों को साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी से मिलने चला ॥ ३४ ॥

[नोट—गुह, जाति का केवट हो कर भी श्रीरामचन्द्र जी का मित्र था, इस पर कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं--क्योंकि मैत्री " समानशील व्यसनेषु सख्यम्" होना चाहिये—सो कहाँ क्षत्रियकुलोद्भव राजकुमार श्रीरामचन्द्र और कहाँ केवटों का राजा गुह ! गुह केवटों का चौधरी न था, बल्कि राजा था—यह बात उसके साथ बूढ़े मंत्रियों के आने से प्रकट होती है। एक राजा का दूसरे राजा के साथ समानव्यसन होने से मैत्री होना आश्चर्य की बात नहीं। गुह " स्थपति " कहलाता था। वैजयन्ती कोष के अनुसार " स्थापत्येधिपतौताक्ष्णं" गुह बढ़ई भी था अतः;

" हीनप्रेष्यं हीनसख्यं हीनगेह निषेवणं " का दोष महाकुलप्रसूत श्रीरामचन्द्र के ऊपर इसलिये नहीं आता कि, " स्थपति " होने से गुह यज्ञ में आ सकता था, " निषादस्थपतिंयाजयेत " इति श्रुत्या "। फिर जब श्रीरामचन्द्र भक्तवत्सल भगवान के अवतार थे तब,

---

१ आत्मसमः—प्राणसमः। (गो०) २ बलवान्—चतुरंग बलवान्। (गो०) ३ स्थपतिः—निषादाधिपतिः। (गो०)

" न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा येह्यभक्ता जनार्दने ॥ "

अर्थात् भगवद्भक्त भले ही शूद्र जाति में उत्पन्न हुआ हो, किन्तु वह शूद्र नहीं, भगवद्भक्त होने के कारण उसको विप्र संज्ञा हो जाती है। प्रत्युत सब वर्णों में शूद्र तो वह है जो भगवान् का भक्त नहीं है।]

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम् ।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद्गुहेन सः ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्र गुह को दूर से आते देख लक्ष्मण सहित कुछ दूर आगे जा, गुह से मिले ॥ ३५ ॥

तमार्तः[1] सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत् ।
यथाऽयोध्या तथेयं ते राम किं करवाणि ते ॥ ३६ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र जी को मुनि भेष धारण किये देख, गुह बड़ा दुःखी हुआ और श्रीरामचन्द्र जी से मिल, यह बोला—हे श्रीरामचन्द्र ! अयोध्या की तरह यह राज्य भी आप ही का है, सो आज्ञा दीजिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ॥ ३६ ॥

[गुह का श्रीराम को तपसी भेष में देख कर दुःखी होना यह सूचित करता है कि गुह का और श्रीरामचन्द्र का शिकार आदि में पहले भी कई बार समागम हो चुका था। इसीसे वह राजकुमार का परम सखा भी हो गया था। (गो०)]

ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम् ।
ततो [2]गुणवदन्नाद्यम्[3]उपादाय पृथग्विधम्[4] ॥ ३७ ॥

---

१ आर्त्तः—धृत वल्कल दर्शनेन सन्तप्तः (गो०)। २ गुणवत्—स्वादु शीघ्र परिपाकादि गुण विशिष्टम्। (शि०) ३ आद्य शब्देन पेयादिकमुच्यते। (गो०)
४ पृथग्विधम्—मांसादिभेदेन बहुविधं। (गो०)

हे महाबाहो! आप जैसे प्रिय अतिथि का आना साधारण बात नहीं है। यह कह अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ ॥३७॥

अर्घ्यं चोपानयत्क्षिप्रं वाक्यं चेदमुवाच ह।
स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥ ३८ ॥

और अर्घ्य की सामग्री तुरन्त ला कर, गुह बोला, हे महाबाहो! मैं आपका स्वागत करता हूँ, यह सारा राज्य आप ही का है ॥३८॥

वयं प्रेष्या भवान्भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चेदमुपस्थितम् ॥ ३९ ॥

हम सब आपके टहलुए हैं, आप हम लोगों के प्रभु हैं। अब आप इस राज्य को ले कर शासन कीजिये। ये भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य (अर्थात् खाने पीने के लिये) पदार्थ उपस्थित हैं ॥ ३९ ॥

शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं[1] च ते।
गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह ॥ ४० ॥

सोने के लिये अच्छे अच्छे पलंग और आपके घोड़ों के लिये दाना घास भी ला कर रखा है। गुह के इस प्रकार कह चुकने पर श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ ४० ॥

अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वथा वयम्।
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसन्दर्शनेन च ॥ ४१ ॥

आपने मेरे निकट पैदल आ कर जो इतना स्नेह जनाया, सो मेरा सब प्रकार से आदर सत्कार हो चुका। मैं आप पर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ४१ ॥

---

१ खादनं—घासः। (गो०)

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि वसन्ति च ।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि [1]तीर्थान्यायतनानि[2] च ॥९०॥

जो देवता आपके तट पर रहते हैं तथा प्रयागादि जो जो तीर्थ और काशी आदिक प्रसिद्ध देवस्थान हैं—उन सब की मैं पूजा करूँगी ॥ ९० ॥

पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च सङ्गतः ।
अयोध्यां वनवासात्तु प्रविशत्वनघोऽनघे ॥ ९१ ॥

हे अनघे ! अतः आप ऐसा आशीर्वाद दें कि; जिससे हमारे और लक्ष्मण के सहित निर्दोष महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी वनवास से निवृत्त हो, अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥ ९१ ॥

तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता ।
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥ ९२ ॥

इस प्रकार अनिन्दिता जानकी जी श्रीगङ्गा जी की प्रार्थना कर रही थीं कि, इतने में नाव गङ्गा जी के दक्षिणतट पर शीघ्रता से जा लगी ॥ ९२ ॥

तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः ।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परन्तपः ॥ ९३ ॥

तब परन्तप एवं पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने दक्षिण तट पर पहुँच कर और नाव को छोड़ और लक्ष्मण और जानकी सहित वहाँ से प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥

---

१ तीर्थानि—प्रयागादीनि । (रा०) २ आयतनानि—काश्यादीनि । (रा०)

एतावताऽत्रभवता भविष्यामि सुपूजितः ।
एते हि दयिता राज्ञा पितुर्दशरथस्य मे ॥ ४६ ॥

बस इसीसे मानों आपने मेरा अच्छी तरह से सत्कार कर दिया। क्योंकि ये घोड़े मेरे पिता महाराज दशरथ को अत्यन्त प्रिय हैं ॥ ४६ ॥

एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ।
अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात् ॥४७॥

अतः इनको जब अच्छी तरह से दाना घास जल मिल गया तब मानों मेरा ही भली भाँति आदर सत्कार हो चुका ॥ ४७ ॥

गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ।
ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥ ४८ ॥

यह सुन गुह ने अपने नौकरों को तुरन्त आज्ञा दी कि, घोड़ों को दाना घास दो और इनको पानी पिलाओ। तदनन्तर वल्कल का दुपट्टा ओढ़े हुए श्रीरामचन्द्र जी ने, सायं सन्ध्योपासन किया और स्वयं लक्ष्मण का लाया हुआ जल मात्र पिया ॥ ४८ ॥

तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः ।
सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥ ४९ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी और सीता इंगुदी वृक्ष के नीचे भूमि पर लेट गये, तब लक्ष्मण जी ने जल ला कर उन दोनों के पैर धोये। और वहीं पेड़ के समीप वे बैठे रहे ॥ ४९ ॥

[नोट—सोने के पूर्व पैर धोना आयुर्वेद की दृष्टि से आवश्यक है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि, पैर धो कर और पोंछ कर सोने से स्वप्न या स्वप्नदोष नहीं होता।]

गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन्।
अन्वजाग्रत्ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥ ५० ॥

गुह, सुमंत्र और सावधानतापूर्वक धनुषबाण धारण करने वाले लक्ष्मण, आपस में बातचीत करते हुए रात भर जागते रहे ॥ ५० ॥

तथा शयानस्य ततोऽस्य धीमतो
यशस्विनो दाशरथेर्महात्मनः।
अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा
तदा व्यतीयाय चिरेण शर्वरी ॥ ५१ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

धीमान एवं यशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी, जो सदा सुख भोगने योग्य थे, किन्तु दुर्भाग्यवश इस समय दुःख पा रहे थे, सो गये और सोते सोते उन्हें यह भी न मालूम पड़ा कि, रात कब बीत गयी ॥ ५१ ॥

[नोट—इस श्लोक का भावार्थ यह है कि, जो श्रीरामचन्द्र जी चक्रवर्ती के पुत्र थे और जिन्होंने कष्ट का नाम भी कभी नहीं सुना था—वे इस वनयात्रा के कष्टों से परिश्रान्त तथा कुछ भी न खाने से क्लान्त होने के कारण ऐसे सोये कि, उन्हें यह न जान पड़ा कि, रात कब बीत गयी।]

अयोध्याकाण्ड का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

एकपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम् ।
गुहः सन्तापसन्तप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मण जी से—जो भाई की रखवाली करते हुए, बड़ी सावधानी से जाग रहे थे, गुह सन्तप्त हो बोला ॥ १ ॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता ।
प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम् ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम्हारे सोने के लिये यह बिछौना तैयार है इस पर हे राजकुमार ! तुम सुखपूर्वक विश्राम करो ॥ २ ॥

उचितोऽयं जनः सर्वं क्लेशानां त्वं सुखोचितः ।
गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं निशाम् ॥३॥

हम लोग जो वन में रहा करते हैं, कष्ट सहने के आदी हैं, और तुम सदा सुख भोगते रहे हो, अतः तुमको सुख मिलना उचित है। श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली के लिये, हम लोग रात भर जागते रहेंगे। अतः तुम लेट रहो और सोओ ॥ ३ ॥

न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन ।
ब्रवीम्येतदहं सत्यं सत्येनैव च ते शपे ॥ ४ ॥

(कदाचित् लक्ष्मण का यह सन्देह हो कि, गुह रात भर न जागेगा और लक्ष्मण को सुलाने को यह बात कहता है इस पर गुह

कहता है) इस संसार में श्रीरामचन्द्र से बढ़ कर मेरा प्यारा दूसरा कोई नहीं है। यह बात मैं सत्य की शपथ खा कर तुमसे सत्य ही सत्य कहता हूँ ॥ ४ ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन्सुमहद्यशः ।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थावाप्तिं च केवलाम् ॥ ५ ॥

क्योंकि इन्हीं (श्रीरामचन्द्र जी) की प्रसन्नता से मैं बड़ा यश, धर्म, बहुत सा धन, और काम चाहता हूँ, (अर्थात् इनके प्रसन्न होने से मुझे अर्थ धर्म काम मोक्ष सभी कुछ मिल सकता है, अतः मैं रात भर जाग कर और रखवाली कर इनको प्रसन्न रखूँगा) ॥ ५ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया ।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वतो ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥

अतः मैं हाथ में धनुष ले कर अपने परिवार के लोगों के साथ सीता सहित सोये हुए अपने प्रिय मित्र श्रीरामचन्द्र जी की हर तरह से रखवाली करूँगा ॥ ६ ॥

न हि मेऽविदितं किञ्चिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा ।
चतुरङ्गं ह्यपि बलं सुमहत्प्रसहेमहि ॥ ७ ॥

इस वन में मेरा विना जाना हुआ कुछ भी नहीं है (अर्थात् मुझे इस वन का रत्ती रत्ती हाल मालूम है।) क्योंकि मैं तो इस वन में सदा विचरा ही करता हूँ। यदि चतुरङ्गिणी सेना भी मेरे ऊपर आक्रमण करे, तो मैं (इस वन का जानकार होने के कारण) उसका भी सामना करने को समर्थ हूँ ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तं तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ ।
नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ८ ॥

यह सुन, लक्ष्मण जी ने गुह से कहा, हे पुण्यात्मन्! तुम्हारी रखवाली का तो हमें पूरा भरोसा है। मुझे डर किसी बात का नहीं है, किन्तु अपने कर्त्तव्यपालन का मुझे पूरा ध्यान है॥ ८॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा॥९॥

जब चक्रवर्ती महाराज दशरथ के कुमार, राजा जनक की बेटी सीता जी के सहित, भूमि पर पड़े सो रहे हैं, तब मेरा यह कर्त्तव्य नहीं कि, मैं पड़ कर सुख से सोऊँ अथवा अपने जीते रहने या अपने आराम के लिये प्रयत्न करूँ॥ ९॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य सुखसंविष्टं तृणेषु सह सीतया॥ १०॥

युद्ध में जिन श्रीरामचन्द्र जी का सब देवता और असुर मिल भी सामना नहीं कर सकते, देखो, आज वे ही सीता सहित फूस के ऊपर सो रहे हैं॥ १०॥

यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः[1]।
एको[2] दशरथस्येष्टः पुत्रः सदृशलक्षणः॥ ११॥

अनेक जप तप और यज्ञानुष्ठान के बाद महाराज के उन जैसे लक्षणों वाले यही तो एक प्रिय पुत्र हुए हैं॥ ११॥

अस्मिन्प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति॥ १२॥

---

१ परिश्रमैः—यज्ञादिभिः। (गो०) २ एकः—मुख्यः। (गो०)

सो इनके अयोध्या से चले आने पर महाराज बहुत दिनों तक न ठहर (जीवित रह) सकेंगे। अतः यह पृथिवी बहुत शीघ्र विधवा हो जायगी॥ १२॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः।
निर्घोपोपरतं चातो मन्ये राजनिवेशनम्॥ १३॥

मैं समझता हूँ, जो स्त्रियाँ हमारे आने पर रोती पीटती थीं, वे अब शान्त हो गयी होंगी और राजभवन में भी सन्नाटा छा गया होगा॥ १३॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम।
नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम्॥ १४॥

कौशल्या, महाराज दशरथ और मेरी जननी सुमित्रा ये सब इस रात में जीते जागते बच जायगे मुझे इसमें सन्देह है॥ १४॥

जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया।
तद्दुःखं यत्तु कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति॥ १५॥

शत्रुघ्न का मुख देखती हुई मेरी माता तो जीती भी रहे, किन्तु यह बड़ा दुःख है कि, वीरजननी कौशल्या जी विना श्रीराम के अवश्य शरीर त्याग देंगी॥ १५॥

अनुरक्तजनाकीर्णा सुखालोकप्रियावहा।
राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरी विनशिष्यति॥ १६॥

श्रीरामचन्द्र जी में अनुराग रखने वाले प्रजाजनों से भरी हुई सुख समृद्धि वाली, लोकप्रिय अयोध्यापुरी, हाय! महाराज के मरने के शोक से नष्ट हो जायगी॥ १६॥

कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठं प्रियमपश्यतः ।
शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः ॥ १७ ॥

क्योंकि अपने महात्मा प्यारे ज्येष्ठ पुत्र को देखे बिना महाराज दशरथ जी के प्राण शरीर में कैसे ठहर सकेंगे ॥ १७ ॥

विनष्टे नृपतौ पश्चात्कौसल्या विनशिष्यति ।
अनन्तरं च माताऽपि मम नाशमुपैष्यति ॥ १८ ॥

महाराज के मरते ही महारानी कौशल्या भी मर जांयगी और कौशल्या के बाद मेरी माता भी नाश को प्राप्त होगी ॥ १८ ॥

[1]अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १९ ॥

हाय ! सब बना बनाया खेल ही बिगड़ जायगा जब कि, महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक का मनोरथ अपने मन में लिये हुए ही इस संसार से चल देंगे ॥ १९ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन्काले ऽप्युपस्थिते ।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ २० ॥

अब तो भाग्यवान वही है, जो महाराज के पास उनके अंत समय में उपस्थित रह कर, उनके सब और्द्धदेहिक कृत्य करेगा ॥ २० ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिताम् ॥ २१ ॥

---

१ अतिक्रान्तमतिक्रान्त—सर्वं प्रयोजनमतीत्यगतं इत्यर्थः ॥

वे लोग धन्य होंगे जो रमणीय चबूतरों, और बैठकों से युक्त उस नगरी में विचरेंगे, जिसमें सड़कें अच्छे प्रकार से नगरी का विभाग कर बनाई गयी हैं, जिसमें बड़े ऊँचे ऊँचे भवन अटारियों से युक्त हैं तथा जो सुन्दरी वेश्याओं से सुशोभित है ॥ २१ ॥

रथाश्वगजसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम् ।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २२ ॥

जिसमें बहुत से रथ, घोड़े और हाथी मौजूद हैं और जिसमें सदा तुरही बजा करती हैं और जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ हैं, और जो हृष्टपुष्ट जनों से भरी हुई है ॥ २२ ॥

आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम् ।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २३ ॥

जो वाटिकाओं और उद्यानों से सम्पन्न है; जहाँ नित्य सामाजिक उत्सव, (विवाह, यज्ञोपवीत कनछेदन, मूँड़न अथवा सार्वजनिक देवोत्सव आदि) हुआ ही करते हैं, अथवा जहाँ सदा जातीय सभाएँ हुआ करती हैं। ऐसी पिता की राजधानी में, वन से लौट कर कब हम प्रसन्न होते हुए घूमेंगे ॥२३॥

अपि जीवेद्दशरथो वनवासात्पुनर्वयम् ।
प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्येम सुव्रतम् ॥ २४ ॥

महाराज दशरथ जीवित रहें। जिससे हम लोग वनवास से लौट कर, उन महात्मा सुव्रत के दर्शन फिर पावें ॥ २४ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।
निवृत्ते* वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे—"निवृत्त"।

और सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र के साथ कुशलपूर्वक वन से लौट कर, फिर अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥ २५ ॥

परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २६ ॥

महात्मा राजकुमार लक्ष्मण ने दुःखपूरित हृदय से इस प्रकार विलाप करते करते और खड़े खड़े सारी रात बिता दी ॥ २६ ॥

तथा हि सत्यं[1] ब्रुवति प्रजाहिते
[2]नरेन्द्रपुत्रे [3]गुरुसौहृदाद्गुहः ।
मुमोच बाष्पं व्यसनाभिपीडितो
ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ॥ २७ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

महाराजकुमार लक्ष्मण ने जो बातें माता पितादि गुरुजनों के स्नेह के वश, प्रजा के सम्बन्ध में गुह से कहीं, वे सब वास्तव में ठीक ही थीं । उनको सुन गुह बहुत दुःखी हुआ और उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे । वह उसी प्रकार व्यथातुर हुआ, जिस प्रकार ज्वर आने से हाथी व्यथातुर होता है ॥ २७ ॥

[नोट—हाथी को वैसे तो ज्वर कभी आता नहीं और जब आता है, तब उसे बड़ा भारी क्लेश होता है । यहाँ तक कि उसके इस क्लेश की समाप्ति बहुधा मृत्यु ही से होती है ।]

अयोध्याकाण्ड का एक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

1 सत्यं—वास्तवं । (गो०) 2 नरेन्द्रपुत्रे—लक्ष्मणे । (गो०) 3 गुरुसौहृदात्—गुरुषुपित्रादिषुस्नेहात् ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ १ ॥

रात बीतने पर जब सवेरा हुआ तब बड़े वक्षःस्थल वाले महायस्वी श्रीरामचन्द्र जी शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मण जी से बोले ॥१॥

भास्करोदयकालोऽयं गता भगवती निशा ।
असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति ॥ २ ॥

देखो, भगवती रात बीत गई, अब सूर्य भगवान् उदय होना ही चाहते हैं । देखो न, यह अत्यन्त काली कोयल कूकने लगी ॥ २ ॥

बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने ।
तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरङ्गमाम् ॥ ३ ॥

उधर वन में मयूरों का नाद भी सुन पड़ता है, अतः चलो, अब इस तेज़ बहने वाली सागरगामिनी भागीरथी गङ्गा जी के पार उतर चलें ॥ ३ ॥

विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।
गुहमामन्त्र्य सूतं च सोऽतिष्ठद्भ्रातुरग्रतः ॥ ४ ॥

श्रीराम जी के सामने खड़े हुए सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन कर, गुह और सुमंत्र जी को बुलाया ॥ ४ ॥

स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।
स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

गुह ने श्रीरामचन्द्र जी के अभिप्राय को जान, तदनुसार उसी समय मंत्रियों को बुला कर, यह आज्ञा दी कि, ॥ ५ ॥

अस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् ।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चढ़ने योग्य अच्छे डांड़ों वाली, मय माझियों के घाट पर शीघ्र एक ऐसी नाव लगवाओ, जो मज़बूत हो और जिसमें बैठ आराम से श्रीरामचन्द्र जी पार जा सकें ॥ ६ ॥

तं निशम्य* समादेशं गुहामात्यगणो महान् ।
उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत् ॥ ७ ॥

गुह की आज्ञा पा कर, उसके मंत्री ने एक सुन्दर नाव मँगवा ली और गुह से जा कर निवेदन किया कि नाव उपस्थित है ॥ ७ ॥

ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत् ।
उपस्थितेयं नौर्देव भूयः किं करवाणि ते ॥ ८ ॥

तब हाथ जोड कर गुह ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा कि, हे देव ! नाव तैयार है । आज्ञा दीजिये आपकी और क्या सेवा करूँ ॥ ८ ॥

तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगां नदीम् ।
नौरियं पुरुषव्याघ्र तां त्वमारोह सुव्रत ॥ ९ ॥

हे सुव्रत ! हे पुरुषसिंह ! सागरगामिनी गङ्गा के पार जाने के लिये नाव आ गयी है, अब आप शीघ्र इस पर सवार हूजिये ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"गुहादेशं"।

लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, आराम से बैठे हुए धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, सीता सहित पास ही वट वृक्ष के नीचे लक्ष्मण जी की रची पर्णशय्या को देख, उस पर जा लेटे ॥ ३३ ॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं[1] वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात् ।
समाः समस्ता विदधे परन्तपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार लक्ष्मण जी के उत्तम अर्थ से भरे वचनों को बहुत देर तक आदरपूर्वक सुन और वानप्रस्थ आश्रमोचित समस्त नियमों का लक्ष्मण सहित यथासमय पालन करना निश्चित कर, श्रीरामचन्द्र जी चौदह वर्ष बिताने की इच्छा करते हुए ॥ ३४ ॥

ततस्तु तस्मिन्विजने वने तदा
महाबलौ राघववंशवर्धनौ ।
न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतुः
यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर उन महाबली रघुवंशवर्द्धन दोनों भाइयों ने, उस निर्जन वन में भय और उद्वेग वर्जित हो, वैसे वास किया, मानों पर्वतशिखर पर रहने वाले दो सिंह निर्भय हो, वास करते हों ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

[1] पुष्कलं—पूर्णार्थं । (गो०)

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम ।
रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम् ॥ १४ ॥

तुम अब यहाँ से लौट आओ—क्योंकि हमें इतनी ही आवश्यकता थी—अब हम रथ पर सवार न हो, पैदल ही वन को जांयगे ॥ १४ ॥

आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः ।
सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब सुमंत्र, जिन्हें श्रीरामचन्द्र जी ने लौटने की आज्ञा दी, अपने को श्रीरामचन्द्र से बिछुड़ा जान, अतः दुःखी हो, उनसे बोले ॥ १५ ॥

नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित् ।
तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद्वने ॥ १६ ॥

एक मामूली मनुष्य की तरह, लक्ष्मण और सीता सहित आपके वनवास के सम्बन्ध में, किसी की भी सम्मति नहीं है ॥१६॥

न मन्ये ब्रह्मचर्येऽस्ति स्वधीते वा फलोदयः[1] ।
[2]मार्दवार्जवयो[3]र्वापि त्वां चेद्व्यसनमागतम् ॥ १७ ॥

जब आप जैसे दयालु और सरल सीधे मनुष्य को भी ऐसे दुःख का सामना करना पड़ता है; तब मैं तो यही मानूँगा कि, न तो ब्रह्मचर्य धारण करने से, न वेदाध्ययन से, न दयालुता से और न सरलता से कुछ भी फल होता है। क्योंकि आपने तो ब्रह्मचर्य भी धारण किया, वेदाध्ययन भी किया और आप दयालु तथा सरल भी हैं ॥ १७ ॥

---

१ फलोदयः—फलसिद्धिर्नास्तीतिमन्ये । २ मार्दवे—दयालुत्व इति यावत् । ३ आर्जवे अकौटिल्ये । (गो०)

सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन् ।
त्वं गतिं[1] प्राप्स्यसे वीर त्रींल्लोकांस्तु जयन्निव ॥ १८ ॥

हे राघव ! लक्ष्मण और सीता सहित वन में वास करने से आपकी वैसी ही कीर्ति होगी, जैसी कि, तीनों लोकों को जीतने से किसी की हो सकती है (अर्थात् इस लोक में आपकी बड़ी ख्याति होगी) ॥ १८ ॥

वयं खलु हता राम ये त्वयाप्युपवञ्चिताः[2] ।
कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः ॥१९॥

हे राम ! आपसे अलग होते ही हमें अब उस पापिन कैकेयी के अधीन हो रहना पड़ेगा। अतः हम लोगों का तो अब निस्सन्देह मरण ही है ॥ १९ ॥

इति ब्रुवन्नात्मसमं[3] सुमन्त्रः सारथिस्तदा ।
दृष्ट्वा दूरगतं[4] रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम् ॥ २० ॥

यह कहते हुए अति बुद्धिमान सुमंत्र, श्रीरामचन्द्र जी का दूर देश जाना निश्चित जान, दुःखी हो बहुत देर तक रुदन करते रहे ॥ २० ॥

ततस्तु विगते बाष्पे सूतं स्पृष्टोदकंशुचिम्[5] ।
रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥ २१ ॥

---

१ गतिः—कीर्तिः। (गो०) २ उपवञ्चिताः—त्यक्ताः । (रा०) ३ आत्मसमं—अतिबुद्धिमन्मंत्रियोग्यं । (रा०) ४ दूरगतं—दूरदेशावस्थानवंतं निश्चित्य। (रा०) ५ स्पृष्टोदकंशुचिम्—रोदनस्याशुचिता हेतुत्वात्-स्पृष्टोदकं आचान्तं अतएव शुचिं। (गो०)

कुछ देर तक रोते रहने के अनन्तर सुमंत्र आचमन कर पवित्र हुए (रोने से अपवित्रता होती है, उसकी निवृत्ति के लिये आचमन किया) । तब श्रीरामचन्द्र जी ने मधुरवाणी से वार वार सुमंत्र से कहा ॥ २१ ॥

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये ।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु ॥ २२ ॥

(मंत्रियों में) तुम्हारे समान इक्ष्वाकुवंश का हितैषी मित्र, दूसरा मुझे कोई नहीं देख पड़ता । सो अब तुम ऐसा करना जिससे महाराज मेरे लिये दुःखी न हों ॥ २२ ॥

शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः ।
कामभारावसन्नश्च[1] तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

क्योंकि महाराज एक तो वृद्ध हैं, दूसरे काम के वेग से सताये हुए हैं । इसीलिये यह बात मैं तुमसे कहता हूँ ॥ २३ ॥

यद्यदाज्ञापयेत्किञ्चित्स महात्मा महीपतिः ।
कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया[2] ॥२४॥

वे महात्मा महाराज, कैकेयी की प्रसन्नता के लिये जो जो और जिस जिस तरह से करने को कहें, उसको आदर सहित करना ॥ २४ ॥

एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नरेश्वराः ।
यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥ २५ ॥

---

१ कामभारावसन्नः—कामवेगेन पीडितः । (रा०) २ विकाङ्क्षा—अनादरः तदभावेन आदरेणेत्यर्थः । (गो०)

राजा लोग इसी लिये शासन करते हैं कि, सब काम उनकी इच्छानुकूल ही हों ॥ २५ ॥

यद्यथा स महाराजो नालीक[1]मधिगच्छति ।
न च ताम्यति[2] दुःखेन सुमन्त्र कुरु तत्तथा ॥ २६ ॥

हे सुमंत्र! महाराज किसी बात से अप्रसन्न न हों और उनके मन में दुःख से ग्लानि उत्पन्न न हो, तुम वैसा ही काम करना ॥ २६ ॥

अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम् ।
ब्रुयास्त्वमभिवाद्यैव मम[3] हेतोरिदं वचः ॥ २७ ॥

जिन महाराज ने कभी दुःख नहीं सहा, उनसे मेरी ओर से प्रणाम कर, यह बात कहना कि, ॥ २७ ॥

नैवाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च मैथिली ।
अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति च ॥ २८ ॥

राम, लक्ष्मण तथा सीता ने कहा है कि, हमको न तो अयोध्या छूटने का और न वनवास ही का कुछ दुःख है ॥ २८ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसि क्षिप्रमागतान् ॥२९॥

चौदह वर्ष बीतने पर आप लक्ष्मण और सीता सहित मुझे शीघ्र ही फिर अयोध्या में आया हुआ देखेंगे ॥ २९ ॥

---

१ अलीकं—अप्रियं । (गो०) २ ताम्यति—ग्लायति । (रा०)
३ ममहेतोः—मदर्थं, ममप्रतिनिधित्वेनेत्यर्थः । (गो०)

एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे।
अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः ॥३०॥

इस प्रकार तुम महाराज से, मेरी माता कौशल्या से तथा अन्य रानियों से और कैकेयी से भी वार वार कह देना ॥ ३० ॥

आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम्।
सीताया मम चार्यस्य[1]वचनाल्लक्ष्मणस्य च ॥ ३१ ॥

माता कौशल्या से प्रणाम पूर्वक मेरी, सीता की और लक्ष्मण की कुशलक्षेम कहना ॥ ३१ ॥

ब्रूयाश्च हि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय।
आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते[2] पदे[3] ॥ ३२ ॥

महाराज से कहना कि, भरत जी को शीघ्र बुलवा कर और उनके आते ही उनको अपनी इच्छानुसार युवराजपद पर नियुक्त कर दें ॥ ३२ ॥

भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च।
अस्मत्सन्तापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति ॥ ३३ ॥

भरत जी को गोद में विठा कर और उनको युवराज पद देने से, हमारे वियोग से उत्पन्न सन्ताप का दुःख आपको न होगा ॥ ३३ ॥

भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे।
तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥ ३४ ॥

---

१ आर्यस्य—ज्येष्ठस्य। (रा०) २ नृपमते—राजेच्छाविषयीभूते। (शि०) ३ पदे—स्थानेस्थाप्य। (शि०)

भरत से कहना कि, तुम जिस प्रकार महाराज को मानो उसी प्रकार सब माताओं के साथ बरतना और सब को एक दृष्टि से देखना ॥ ३४ ॥

यथा च तव कैकेयी सुमित्रा च विशेषतः ।
तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार तुम्हारी माता कैकेयी है, उसी प्रकार सुमित्रा और विशेष कर मेरी माता कौशल्या को मानना ॥ ३५ ॥

तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता[1] ।
लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम्[2] ॥ ३६ ॥

यदि तुम महाराज को प्रसन्न करने के लिये युवराजपद लेना स्वीकार कर लोगे, तो उभयलोक में तुम्हारे लिये सुख की सदा वृद्धि होगी ॥ ३६ ॥

निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः शोककर्शितः ।
तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात्काकुत्स्थमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार जब सुमंत्र को समझा बुझा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने विदा करना चाहा, तब सुमंत्र उनकी बातें सुन, स्नेहवश श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३७ ॥

यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहादविक्लवः[3] ।
भक्तिमानिति तत्तावद्वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

---

१ अवेक्षता—स्वीकुर्वता । (शि०) २ एधितुं—वर्द्धयितुम् । (शि०)
३ विक्लवः—भृष्टः नन् । (गो०)

हे श्रीरामचन्द्र! इस समय मैं स्नेहवश जो ढिठाई कर के कहता हूँ, उसे आप बनावट न समझिये, किन्तु भक्ति के आवेश में मेरे मुख से निकली हुई समझ, (यदि उनमें कोई अनुचित बात भी हो तो) उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये ॥ ३८ ॥

कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम् ।
तव तावद्वियोगेन पुत्रशोकाकुलामिव ॥ ३९ ॥

हे श्रीराम! जो अयोध्यापुरी आपके विछोह से, निज पुत्रविछोह की तरह शोकाकुल है, उसमें मैं आपके बिना कैसे जाऊँ ॥ ३९ ॥

स राममपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनः ।
विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी ॥ ४० ॥

जो लोग आपको इस रथ में बैठ कर आते हुए देख चुके हैं, वे ही जब इस रथ को आपके बिना ख़ाली देखेंगे, तब उनकी क्या दशा होगी। वह पुरी ही फट जायगी ॥ ४० ॥

दैन्यं हि नगरी गच्छेद्दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम् ।
सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥ ४१ ॥

इस रथ को ख़ाली देख, अयोध्यावासियों की वैसे ही दीन दशा हो जायगी जैसी कि, युद्ध में रथी के मारे जाने पर, रथीहीन रथ पर केवल सारथी को देख सेना की हो जाती है ॥ ४१ ॥

दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयन्तोऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥४२॥

यद्यपि अयोध्या से आप इतनी दूर चले आये हैं, तथापि वहाँ वालों को, आप उनके मन के सामने ही खड़े से देख पड़ते हैं।

आपके लिये चिन्ता करते हुए उन लोगों ने निश्चय ही आज अन्न जल तक ग्रहण नहीं किया होगा ॥ ४२ ॥

दृष्टं तद्धि त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने ।
प्रजानां सङ्कुलं वृत्तं त्वच्छोकक्लान्तचेतसाम् ॥ ४३ ॥

आप तो वन को प्रस्थान करते समय स्वयं प्रजा की दुर्दशा देख चुके हैं कि, लोग किस तरह आपके लिये शोक से खिन्नचित्त हो गये थे ॥

आर्तनादो हि यः पौरैर्मुक्तस्त्वद्विप्रवासने ।
सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥ ४४ ॥

और किस प्रकार आर्त्तनाद करते हुए लोग उच्चस्वर से रो रहे थे । वे ही लोग जब रथ सूना देखेंगे, तब सौ गुना अधिक रोदन करेंगे और दुःखी होंगे ॥ ४४ ॥

अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया ।
नीतोऽसौ मातुलकुलं सन्तापं मा कृथा इति ॥४५॥

फिर मैं अयोध्या जा कर देवी कौशल्या से क्या यह कहूँ कि, मैं तुम्हारे पुत्र को मामा के घर पहुँचा आया, अब आप दुःखी मत हों ॥ ४५ ॥

असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम् ।
कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥ ४६ ॥

मैं ऐसी झूठी बात भी तो नहीं कह सकता । और यदि सत्य बोलूँ तो ऐसी अप्रिय बात मुझसे कैसे कही जायगी ॥ ४६ ॥

मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः ।
कथं रथं त्वया हीनं प्रवक्ष्यन्ति हयोत्तमाः ॥ ४७ ॥

मेरे अधीन में रह कर, जिन उत्तम घोड़ों ने आपको तथा लक्ष्मण और सीता को अपनी पीठ पर यहाँ पहुँचाया है—वे आपके बिना इस रथ को किस प्रकार ले चलेंगे ॥ ४७ ॥

तन्न शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ।
वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

हे अनघे! मुझसे तो आपके बिना अयोध्या में जाया न जायगा। अतः मुझे भी आप वन में अपने साथ लेते चलिये अथवा मुझे अपने साथ चलने की आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥

यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि।
सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र[1] इह त्वया ॥ ४९ ॥

यदि आप इतना गिड़गिड़ाने पर भी मेरा त्याग ही करेंगे, तो त्याग करते ही मैं यहीं (आपके सामने ही) रथ सहित अग्नि में प्रवेश कर भस्म हो जाऊँगा ॥ ४६ ॥

भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते।
रथेन[2] प्रतिबाधिष्ये तानि सत्त्वानि राघव ॥ ५० ॥

हे राघव! वन में आपके तप में विघ्न डालने वालों को रथ ही से रोक दिया करूँगा। (अर्थात् रथी बन कर उनका सामना किया करूँगा) ॥ ५० ॥

त्वत्कृते न मयाऽवाप्तं रथचर्याकृतं सुखम्।
आशंसे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥ ५१ ॥

---

१ त्यक्तमात्रः—तत्क्षण एवत्यक्तः। (गो०) २ रथेन—रथीभूत्वा निवर्तयिष्यामि। (गो०)

आप ही के कहने से मैंने इस रथ को हाँकने का सुख पाया है। अब मेरी प्रार्थना यह है कि, आप ही के द्वारा आपके साथ वनवास का भी सुख मुझे प्राप्त हो जाय ॥ ५१ ॥

प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः[1] ।
प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥ ५२ ॥

अतः आप प्रसन्न हूजिये और मुझे भी अपना पासवान बना कर, अपने साथ वन ले चलिये। आप प्रसन्न हो कर, मुझे अपना पासवान बनने की आज्ञा दीजिये ॥ ५२ ॥

इमे चापि हया वीर यदि ते वनवासिनः ।
परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम् ॥५३॥

हे वीर! यदि ये घोड़े वनवास के समय आपकी सेवा में रहेंगे, तो इनको भी परमगति प्राप्त हो जायगी ॥ ५३ ॥

तव शुश्रूषणं मूर्ध्ना करिष्यामि वने वसन् ।
अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥ ५४ ॥

यदि मैं वन में रह कर सिर के बल भी आपकी सेवा कर सकूँ, तो अयोध्या की तो बात ही क्या, स्वर्ग तक को सर्वथा छोड़ दूँगा ॥ ५४ ॥

न हि शक्या प्रवेष्टुं सा मयाऽयोध्या त्वया विना ।
राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा ॥ ५५ ॥

---

[1] प्रत्यनन्तरः—समीपवर्ती । (गो०)

मुझमें आपके बिना, अयोध्या में प्रवेश करने की उसी प्रकार सामर्थ्य नहीं है, जिस प्रकार पापी इन्द्र की, राजधानी अमरावती में प्रवेश करने की सामर्थ्य नहीं होती ॥ ५५ ॥

वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः ।
यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः ॥ ५६ ॥

मेरा मनोरथ तो यह है कि, वनवास की अवधि पूरी होने पर, मैं ही पुनः इसी रथ में बिठा कर, आपको अयोध्या ले चलूँ ॥५६ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने ।
क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यान्यतोऽन्यथा ॥ ५७ ॥

आपके साथ वन में रहने से ये चौदह वर्ष एक क्षण की तरह बीत जायँगे, नहीं तो ये चौदह वर्ष सैकड़ों वर्षों के समान जान पड़ेंगे ॥ ५७ ॥

भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं[1] भर्तृपुत्रगते पथि[2] ।
भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्यां[3] त्वं न मां हातुमर्हसि ॥५८॥

हे भृत्यवत्सल ! मैं अपने मालिक के पुत्र के साथ वन जाने का निश्चय किये हुए हूँ । अतः अपने इस भक्तभृत्य को, जो अपनी मर्यादा में स्थित है, आप कैसे छोड़ कर जा सकते हैं ॥ ५८ ॥

एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः ।
रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

---

१ तिष्ठन्तं—निश्चितत्वदनुगमनंमां । (गो०) २ पथि—वनगमने । (गो०) । ३ स्थित्यां—मर्यादायां स्थितं । (गो०)

इस प्रकार बार बार प्रार्थना करते हुए सुमंत्र को देख, भृत्य-वत्सल श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से यह कहा ॥ ५९ ॥

जानामि परमां भक्तिं मयि ते भर्तृवत्सल ।
शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः ॥ ६० ॥

हे भर्तृवत्सल (स्वामिभक्त) ! मैं जानता हूँ कि, मुझमें तुम्हारा बड़ा अनुराग है, किन्तु मैं जिस कारणवश तुम्हें अयोध्या भेजता हूँ, उसे सुन लो ॥ ६० ॥

नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी ।
कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥ ६१ ॥

जब तुम अयोध्या में जाओगे, तब तुम्हें देख कर, मेरी छोटी माता कैकेयी को यह विश्वास हो जायगा कि, राम वन में गया ॥६१॥

परितुष्टा हि सा देवी वनवासं गते मयि ।
राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम् ॥ ६२ ॥

मेरे वनवास से वह सन्तुष्ट हो जायगी और महाराज के धार्मिक और सत्यवादी होने में को वह फिर शङ्का भी न करेगी ॥ ६२ ॥

एष मे प्रथमः[1] कल्पो यदम्बा मे यवीयसी ।
[2]भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्नुयात् ॥ ६३ ॥

मेरा यह मुख्य कर्त्तव्य या प्रयोजन है कि, मेरी छोटी माता कैकेयी अपने पुत्र भरत द्वारा पालित समृद्धशाली राज्य पावे ॥६३॥

मम प्रियार्थं राज्ञश्च सरथस्त्वं पुरीं व्रज ।
सन्दिष्टश्चासि यानर्थांस्तांस्तान्ब्रूयास्तथा तथा ॥६४॥

---

1 प्रथमः कल्पः—कर्त्तव्येषु मुख्यः । (गो०) 2 भरतारक्षितं—भरतेन आसमन्तात रक्षितं पुत्रराज्यं । (गो०)

अतः मेरी प्रसन्नता के लिये तुम अयोध्या को लौट जाओ और मैंने जो जो सन्देश, जिस जिसके लिये तुमसे कहे हैं, वे उस उस के पास ज्यों के त्यों पहुँचा दो ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ।
गुहं वचनमक्लीबो[1] रामो हेतुमदब्रवीत् ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने कह कर, बार बार सुमंत्र को समझाया और फिर गुह से उत्साहवर्द्धक एवं युक्तियुक्त ये वचन कहे ॥ ६५ ॥

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने ।
अवश्यं ह्याश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः ॥६६॥

हे गुह ! इस समय मेरे लिये ऐसे वन में जहाँ अपने लोग रहते हों, रहना ठीक नहीं । अतएव हम कहीं पर्णकुटी बना कर, तपस्वियों की भाँति वास करेंगे। (यह गुह की उस बात का उत्तर है, जो उसने अपने राज्य का शासन करने को और वहीं रहने के लिये श्रीराम जी से कही थी ॥ ६६ ॥

सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम् ।
हितकामः पितुर्भूयः[2] सीताया लक्ष्मणस्य च ॥६७॥

जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय ।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥ ६८ ॥

---

१ अक्लीबं—क्लीवता निवर्तकं । (शि०) २ भूयोहितकामः—अतिशयेन परलोकसाधन पुण्यकामः सन् । (गो०)

इस लिये मैं पिता के तथा सीता और लक्ष्मण के अतिशय परलोकसाधन रूप पुण्य के निमित्त यथानियम तपस्वियों की भूषण-रूपी जटा बना कर, वन जाऊँगा। इसलिये तुम बरगद का दूध ले आओ। यह सुन गुह ने तुरन्त ही बरगद का दूध ला दिया ॥६७॥६८॥

लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः ।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥ ६९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस बरगद के दूध से अपनी और लक्ष्मण की जटा बनाई। महाबाहु और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जटा रख, तपस्वी बन गये ॥ ६९ ॥

तौ तदा चीरवसनौ जटामण्डलधारिणौ ।
अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७० ॥

उस समय वे दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण चीरवसन और जटा बांधे ऋषियों की तरह शोभित हुए ॥ ७० ॥

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः ।
व्रतमादिष्टवान्[1] रामः सहायं गुहमब्रवीत् ॥ ७१ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वानप्रस्थ हो और ब्रह्मचर्य ग्रहण कर अपने सहायक रूप गुह से बोले ॥ ७१ ॥

अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा ।
भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥ ७२ ॥

हे गुह ! तुम सेना, कोश, दुर्ग और राष्ट्र की रक्षा करने में सदा सावधान रहना, क्योंकि मेरी समझ से राज्य की रक्षा करना बड़ी कठिन बात है ॥ ७२ ॥

---

1 आदिष्टवान्—अङ्गीकृतवान् । (गो०)

ततस्तं समनुज्ञाय गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ७३ ॥

यह कह कर, इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने गुह को विदा किया और स्वयं चञ्चल चित्त हो शीघ्रता के साथ सीता और लक्ष्मण सहित चल दिये ॥ ७३ ॥

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ७४ ॥

तदनन्तर तट पर नाव को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने तेज़ धार से बहने वाली गङ्गा के पार जाने की इच्छा से, लक्ष्मण जी से कहा ॥ ७४ ॥

आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः ।
सीतां चारोपयान्वक्षं[1] परिगृह्य मनस्विनीम् ॥ ७५ ॥

हे पुरुषसिंह ! यह जो नाव खड़ी है, इसे पकड़ कर धीरे से मनस्विनी सीता जी को इस पर चढ़ा दो और तुम भी सवार हो लो ॥ ७५ ॥

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन् ।
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥ ७६ ॥

भाई की ऐसी आज्ञा सुन, तदनुसार ही लक्ष्मण जी ने सीता जी को पहले नाव पर सवार कराया और पीछे स्वयं भी नाव पर सवार हुए ॥ ७६ ॥

---

१ अन्वक्षं—अनुपदंत्वंचारोहेतिसम्बन्धः । (गो०)

अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः ।
ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीन[1]चोदयत् ॥ ७७ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भी स्वयं नाव पर चढ़े । तब गुह ने अपने भाईबंदों को नाव को खे कर, पार ले जाने की आज्ञा दी ॥ ७७ ॥

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः ।
ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः ॥ ७८ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भी, नाव पर बैठ, अपने हित के लिये (अर्थात् जिससे कुशलपूर्वक पार हो जांय) ब्राह्मण और क्षत्रियों के जपने योग्य नावारोहण सम्बन्धी वेदमंत्र जपने लगे ॥ ७८ ॥

आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया ।
प्राणमत्प्रीतिसंहृष्टो लक्ष्मणश्चामितप्रभः ॥ ७९ ॥

तदनन्तर शास्त्रविधि के अनुसार सीता सहित उन्होंने आचमन कर, श्रीगङ्गा जी को प्रणाम किया । फिर अमितप्रभ लक्ष्मण ने भी परम प्रसन्न हो कर श्रीगङ्गा जी को प्रणाम किया ॥ ७९ ॥

अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम् ।
आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥८०॥

श्रीरामचन्द्र जी सुमंत्र एवं ससैन्य गुह को विदा कर, नाव में बैठे और माझियों से नाव खेने को कहा ॥ ८० ॥

---

१ ज्ञातीन्—बन्धून् । (गो०)

ततस्तैश्चोदिता सा नौः कर्णधारसमाहिता[1] ।
शुभस्फ्यवेगाभिहता[2] शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥ ८१ ॥

तब माझियों ने उस नाव को चलाया, पतवार और डाँड़ों के ज़ोर से नाव शीघ्रता से जल पर चलने लगी ॥ ८१ ॥

मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता ।
वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

जब नाव बीच धार में पहुँची, तब अनन्दिता सीता जी ने हाथ जोड़ कर, श्रीगङ्गा जी की अधिष्ठात्री देवी से यह कहा ॥ ८२ ॥

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः ।
निदेशं पारयित्वेमं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥ ८३ ॥

हे गङ्गे ! बुद्धिमान् राजाधिराज दशरथ जी के यह पुत्र श्रीरामचन्द्र जी, आपसे रक्षित हो, अपने पिता की आज्ञा पालन करें ॥ ८३ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने ।
भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥ ८४ ॥

यदि ये पूरे चौदह वर्ष वनवास के पूरे कर, अपने भाई लक्ष्मण और मेरे साथ लौट आवेंगे ॥ ८४ ॥

ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता ।
यक्ष्ये[3] प्रमुदिता गङ्गे सर्वकाम समृद्धिनी ॥ ८५ ॥

---

१ समाहिता—सज्जीकृता । (वि०) २ वेगाभिहता—प्रेरिता । (वि०)
३ यक्ष्ये—पूजयिष्यामि । (गो०)

तो हे देवी ! हे सुभगे ! मैं सकुशल लौट कर, आपकी पूजा करूँगी । हे गङ्गे ! आप सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं ॥८५॥

त्वं हि त्रिपथगा देवि ब्रह्मलोकं समीक्षसे ।
भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन्सम्प्रदृश्यसे ॥८६॥

हे त्रिपथगे ! आप तो ब्रह्मलोक तक में व्याप्त हैं । आप सागरराज की भार्या के रूप में इस लोक में भी देख पड़ती हैं ॥ ८६ ॥

सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने ।
प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन[1] पुनरागते ॥ ८७ ॥
गवां शतसहस्रं च वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्[2] ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया[3] ॥ ८८ ॥

अतः हे शोभने ! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ और स्तुति करती हूँ । जब श्रीरामचन्द्र सकुशल वन से लौट आवेंगे और इन्हें राज्य मिल जायगा, तब तुम्हारी प्रसन्नता के लिये एक लक्ष गौ, सुन्दर वस्त्र और अन्न, मैं ब्राह्मणों को दान करूँगी ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च ।
यक्ष्ये त्वां प्रयता देवि पुरीं पुनरुपागता ॥ ८९ ॥

अयोध्यापुरी में लौट कर मैं एक सहस्र घड़े सुरा के और मांस युक्त भात से तुम्हारे निमित्त बलिदान दे कर, तुम्हारी पूजा करूँगी ॥ ८९ ॥

---

१ शिवेन—क्षेमेण । (गो०) २ पेशलं—रम्यं । (गो०) ३ तवप्रियचिकीर्षया—ब्राह्मणमुखेनहिदेवतानांग्रहणमितिभावः । (गो०)

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि वसन्ति च ।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि [1]तीर्थान्यायतनानि[2] च ॥९०॥

जो देवता आपके तट पर रहते हैं तथा प्रयागादि जो जो तीर्थ और काशी आदिक प्रसिद्ध देवस्थान हैं—उन सब की मैं पूजा करूँगी ॥ ९० ॥

पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च सङ्गतः ।
अयोध्यां वनवासात्तु प्रविशत्वनघेऽनघे ॥ ९१ ॥

हे अनघे ! अतः आप ऐसा आशीर्वाद दें कि; जिससे हमारे और लक्ष्मण के सहित निर्दोष महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी वनवास से निवृत्त हो, अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥ ९१ ॥

तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता ।
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥ ९२ ॥

इस प्रकार अनन्दिता जानकी जी श्रीगङ्गा जी की प्रार्थना कर रही थीं कि, इतने में नाव गङ्गा जी के दक्षिणतट पर शीघ्रता से आ लगी ॥ ९२ ॥

तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः ।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परन्तपः ॥ ९३ ॥

तब परन्तप एवं पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने दक्षिण तट पर पहुँच कर और नाव को छोड़ और लक्ष्मण और जानकी सहित वहाँ से प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥

---

१ तीर्थानि—प्रयागादीनि । (रा०) २ आयतनानि—काश्यादीनि । (रा०)

वनगमन

अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम् ।
भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥ ९४ ॥

और लक्ष्मण जी से कहा कि देखो, चाहे निर्जन स्थान हो चाहे सजन स्थान हो, तुम सीता जी की रखवाली में चौकसी रखना ॥ ९४ ॥

अवश्यं रक्षणं कार्यमदृष्टे[1] विजने वने ।
अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥ ९५ ॥

हमको इस अनदेखे विजन वन में अवश्य रक्षा करनी उचित है । अतः हे लक्ष्मण ! तुम तो आगे चलो और तुम्हारे पीछे सीता जी चलें ॥ ९५ ॥

पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि त्वां च सीतां च पालयन् ।
अन्योन्यस्येह नो[2] रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ॥ ९६ ॥

तुम्हारे दोनों के पीछे, तुम्हारी रक्षा करता हुआ मैं चलूँगा । हे पुरुषश्रेष्ठ ! अब हमको परस्पर एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिये ॥ ९६ ॥

न हि तावदतिक्रान्ता[3] सुकरा[4] काचन क्रिया ।
अद्य दुःखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥ ९७ ॥

जिन जानकी जी को आज तक कोई ऐसा काम नहीं करना पड़ा, जिसके करने में उन्हें बड़ा परिश्रम उठाना पड़ा हो, उन्हीं जानकी जी को आज वनवास के दुःख जान पड़ेंगे ॥ ९७ ॥

---

१ अदृष्टे—अदृष्ट पूर्वे । (गो॰) २ नः—आवयोः । (गो॰) ३ न अतिक्रान्ता—न कृतेत्यर्थः । (शि॰) ४ असुकरा—अतिप्रयत्नसाध्या । (शि॰)

प्रनष्टजनसम्बाधं क्षेत्रारामविवर्जितम् ।
विषमं[1] च प्रपातं[2] च वनं ह्यद्य प्रवेक्ष्यति ॥ ९८ ॥

क्योंकि इस वन में—जहाँ न तो कोई मनुष्य देख पड़ता है, और न खेत अथवा वाटिका देख पड़ती है, तथा जहाँ की ज़मीन भी ऊबड़ खाबड़ है और जहाँ बड़े बड़े खार देख पड़ते हैं, आज उसी वन में जानकी प्रवेश करेंगी ॥ ९८ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः ।
अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥ ९९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण जी आगे, उनके पीछे जानकी जी और जानकी जी के पीछे श्रीरामचन्द्र जी चले ॥ ९९ ॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु
रामं सुमन्त्रः प्रततं[3] निरीक्ष्य ।
अध्वप्रकर्षाद्विनिवृत्तदृष्टि-
र्मुमोच बाष्पं व्यथितस्तपस्वी[4] ॥ १०० ॥

उधर सुमंत्र श्रीरामचन्द्र को शीघ्र गङ्गा के उस पार जाते देख, उस ओर टकटकी बाँध, देखते रहे और उस ओर से अपनी दृष्टि न हटायी तथा सन्तापयुक्त हो रुदन करने लगे ॥ १०० ॥

स लोकपालप्रतिमप्रभाववां-
स्तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम् ।

---

१ विषमं—निम्नोन्नतप्रदेशयुक्तं । (गो०) २ प्रपातः—गर्तः । (गो०) ३ प्रततंनिरीक्ष्य—अविच्छिन्नंनिरीक्ष्य । (गो०) ४ तपस्वी—सन्तापयुक्तः । (शि०)

ततः समृद्धाञ्शुभसस्यमालिनः
क्रमेण वत्सान्[1] मुदितानुपागमत् ॥ १०१ ॥

लोकपालों के समान प्रभावशाली महात्मा एवं वरद् श्रीरामचन्द्र जी, महानदी—श्रीगङ्गा को पार कर, समृद्ध एवं अन्न से परिपूर्ण तथा प्रमुदित वत्सदेश (गङ्गा यमुना के बीच प्रयाग प्रदेश का नाम वत्सदेश है) में जा पहुँचे ॥ १०१ ॥

तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्
वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम् ।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ
वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम्[2] ॥ १०२ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

वहाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों भाइयों ने ऋष्य, पृषत, वराह और रुरु जाति के चार बड़े बड़े बनैले जानवरों की शिकार खेली। तदनन्तर उन लोगों ने भूख लगने पर ऋष्योचित भोजन कन्दमूल फलादि ला कर खाये और जब सन्ध्या हुई तब एक वृक्ष के नीचे जा टिके ॥ १०२ ॥

अयोध्याकाण्ड का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

१ वत्सान्—वत्सदेशान् । गङ्गा यमुनयोर्मध्ये प्रयाग प्रदेशो वत्सदेशः । (गो०) २ ऋश्यदेवोवराहादींश्चतुरोमहामृगान् हत्वा—खेलनार्थं संताड्य । बुभुक्षितौ तौ रामलक्ष्मणौ मेध्यं व्रतिभिःभोक्तव्यं फलादिक मित्यर्थः । (शि०)

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

स तं वृक्षं समासाद्य सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
रामो रमयतांश्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥

लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र उस वृक्ष के नीचे जा और सायं सन्ध्योपासन कर, लक्ष्मण जी से बोले ॥ १ ॥

अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद्बहिः ।
या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

बस्ती के बाहिर आ कर और सुमंत्र का साथ छोड़ कर, आज यह प्रथम रात है, जो हमें बितानी है; उसके लिये तुम घबड़ाना मत अथवा उसके लिये तुम चिन्तित मत होना ॥ २ ॥

जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्यप्रभृति रात्रिषु ।
योगक्षेमं हि सीताया वर्तते लक्ष्मणावयोः[1] ॥ ३ ॥

आज से ले कर प्रत्येक रात्रि में हमें नींद त्याग कर, रात भर जागना पड़ेगा; क्योंकि सीता जी का योगक्षेम हम दोनों ही के ऊपर निर्भर है अथवा हम दोनों ही के अधीन है ॥ ३ ॥

रात्रिं कथञ्चिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे ।
उपावर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥ ४ ॥

---

१ आवयोः वर्तते—अस्मदधीनमित्यर्थः । (गो०)

हे लक्ष्मण ! यह प्रथम रात है, सो आओ किसी तरह इसे तो व्यतीत करें और खर पत्तों को स्वयं बटोर कर और उनका बिछौना बना, उस पर लेट रहें ॥ ४ ॥

स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः ।
इमाः सौमित्रिये रामो व्याजहार कथाः शुभः ॥५॥

जो श्रीरामचन्द्र जी बड़े मूल्यवान बिस्तरों पर लेटा करते थे, वे ही श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर पड़े हुए लक्ष्मण जी से वार्तालाप करने लगे ॥ ५ ॥

ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण ।
कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! निश्चय ही आज महाराज दशरथ जी, बड़े दुःख से सोये होंगे ; किन्तु कैकेयी अपना अभीष्ट पा कर और कृतार्थ हो सन्तुष्ट हुई होगी ॥ ६ ॥

सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात्[1] ।
अपि न च्यावयेत्प्राणान्दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥ ७ ॥

किन्तु कहीं ऐसा न हो कि कैकेयी भरत के आने पर, राज्य के लोभ से, महाराज दशरथ को मार डाले ॥ ७ ॥

अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विनाकृतः ।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेयीवशमागतः ॥ ८ ॥

क्योंकि इस समय महाराज अनाथ हैं, बूढ़े हैं तथा कामी होने के कारण कैकेयी के वशवर्ती हैं । फिर मैं भी वहाँ नहीं हूँ । ऐसी दशा में वे बेचारे अपनी रक्षा कैसे कर सकेंगे ॥ ८ ॥

---

१ राज्यकारणात्—राज्यस्थैर्यकारणात् । (शि०)

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम्[1] ।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥ ९ ॥

इस दुःख को और महाराज की अत्यन्त निस्पृहता को देख, मैं तो समझता हूँ कि, अर्थ और धर्म दोनों से काम ही अधिक प्रबल है ॥ ९ ॥

को ह्यविद्वानपि पुमानप्रमदायाः कृते त्यजेत् ।
[2]छन्दानुवर्तिनं पुत्रं ततो मामिव लक्ष्मण ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! कोई मूर्ख भी ऐसा न करेगा कि, स्त्री के कहने से मुझ जैसे आज्ञाकारी अपने पुत्र को त्याग दे ॥ १० ॥

सुखी वत सभार्यश्च भरतः केकयीसुतः ।
मुदितान्कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥ ११ ॥

एकमात्र कैकेयी के पुत्र भरत अपनी पत्नी के सहित सुखी होंगे। क्योंकि ये अति प्रमुदित हो, अयोध्यामण्डल के राज्य का महाराजाओं की भाँति अकेले उपभोग करेंगे ॥ ११ ॥

स हि सर्वस्य राज्यस्य मुखमेकं[3] भविष्यति ।
ताते च वयसाऽतीते मयि चारण्यमास्थिते ॥ १२ ॥

अब भरत अखिल राज्य के मुख्य शासक हो जांयगे। क्योंकि महाराज की आयु तो समाप्ति पर है ही और मैं यहाँ वन में चला ही आया हूँ ॥ १२ ॥

---

१ अतिविभ्रम्—अतिनिस्पृहत्वं । २ छन्दानुवर्तिनं—स्वेच्छानुवर्तिनं । (गो०) ३ मुखमेकं—अद्वितीयं, प्रधानभूतं । (गो०)

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते ।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥ १३ ॥

जो मनुष्य अर्थ और धर्म को छोड़ केवल काम का अनुगामी बन जाता है, उस पर तुरन्त उसी प्रकार विपत्ति पड़ती है जैसे महाराज दशरथ पर ॥ १३ ॥

मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्रजनाय च ।
कैकेयी सौम्य सम्प्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥१४॥

हे सौम्य ! मैं तो समझता हूँ कि, महाराज के मारने, मुझे वन पठाने और भरत को राज्य दिलाने के लिये ही कैकेयी का, हमारे घर में आगमन हुआ ॥ १४ ॥

अपीदानीं न कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता ।
कौसल्यां च सुमित्रां च सम्प्रबाधेत मत्कृते[1] ॥ १५ ॥

मुझे डर है कि, कैकेयी सौभाग्यमद से मोहित हो, मेरा सम्बन्ध होने के कारण कहीं कौशल्या और सुमित्रा के न सताती हो ॥ १५ ॥

मा स्म मत्कारणाद्देवी सुमित्रा दुःखमावसेत् ।
अयोध्यामित एव त्वं काल्ये प्रविश लक्ष्मण ॥१६॥

मेरे कारण कौशल्या और सुमित्रा कष्ट भोगने न पावें, अतः तुम कल ही अयोध्या जा पहुँचो ॥ १६ ॥

---

१ मत्कृते, मत्संबन्धादित्यर्थः । (गो०)

अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान् ।
अनाथाया हि नाथस्त्वं[1] कौसल्याया भविष्यसि ॥१७॥

सीता जी को ले कर मैं अकेला ही दण्डकवन को चला जाऊँगा। तुम अयोध्या में पहुँच कर, उस अनाथा कौशल्या के रक्षक बनो अर्थात् रक्षा करो ॥ १७ ॥

क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेष्यमन्याय्यमाचरेत् ।
परिदद्याद्धि* धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम् ॥ १८ ॥

क्योंकि उस कैकेयी का बड़ा ही ओछा स्वभाव है। वह हम लोगों के वैरभाव से अन्याय कर, तुम्हारी और मेरी माताओं को विष दे देगी ॥ १८ ॥

नूनं जात्यन्तरे कस्मिंस्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः ।
जनन्या मम सौमित्रे तस्मादेतदुपस्थितम् ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण! पूर्व जन्म में मेरी माता ने अवश्य स्त्रियों को पुत्रहीन किया था, इस जन्म में उसीका यह फल उसके सामने आया है ॥ १९ ॥

मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च ।
विप्रयुज्यत† कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम् ॥२०॥

मुझे धिक्कार है! जिस माता ने बड़े बड़े दुःख सह कर मेरा इतने दिनों तक लालन पालन कर मुझे इतना बड़ा किया, उसी

१ नाथः—रक्षकः। (गो०) * पाठान्तरे—"परिदद्या हि धर्मज्ञे भरते मम मातरम्" ॥ † पाठान्तरे—"विप्रायुज्यत" ॥

माता को, जब उसको मुझसे सुख मिलने का समय आया, तब मैंने उसको त्याग दिया ॥ २० ॥

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ।
सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम् ॥२१॥

हे लक्ष्मण ! कोई भी सौभाग्यवती स्त्री मुझ जैसे पुत्र को, जो माता को अनन्त कष्ट दे रहा हूँ, कभी उत्पन्न न करे ॥ २१ ॥

मन्ये प्रीति विशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण शारिका ।
यस्यास्तच्छ्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं समझता हूँ कि, "मुझसे अधिक मेरी माता की प्रीतिपात्रा वह मैना है, जिसकी यह बात कि, हे सुग्गे ! शत्रु के पैर काट खाओ, मेरी माता सुनती है ॥ २२ ॥

शोचन्त्या अल्पभाग्याया न किञ्चिदुपकुर्वता ।
पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिन्दम ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! वह अल्पभाग्या मेरी माता शोकसागर में निमग्न होगी—हाय ! मैं उसका कुछ भी उपकार नहीं कर सकता । मुझ जैसे पुत्र से तो वह विना पुत्र ही के अच्छी थी अथवा मुझ जैसे पुत्र को उत्पन्न कर उसे क्या सुख मिला ॥ २३ ॥

अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया ।
शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकसागरे ॥ २४ ॥

निश्चय ही मेरी माता कौशल्या अल्पभाग्या है । इस समय वह मेरे विछोह के कारण अत्यन्त दुःखी होने के कारण, शोकसागर में निमग्न लेटी होगी ॥ २४ ॥

एको ह्ययोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम्[1] ॥ २५ ॥

हे लक्ष्मण! क्रुद्ध होने पर मैं अकेला ही अयोध्या क्या—सारी पृथिवी को बाणों से अपने वश में कर सकता हूँ; किन्तु यह धर्मसङ्कट का समय है, ऐसे समय पराक्रम प्रदर्शन उचित नहीं ॥ २५ ॥

अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ ।
तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिषेचये ॥ २६ ॥

क्योंकि हे लक्ष्मण! ऐसा करने से मुझे पाप और परलोक का भय है। इसीसे मैं (पराक्रम प्रदर्शनपूर्वक) अपना अभिषेक नहीं करवाता अर्थात् बलपूर्वक राज्य नहीं लेता ॥ २६ ॥

एतदन्यच्च करुणं विलप्य विजने वने ।
अश्रुपूर्णमुखो रामो निशि तूष्णीमुपाविशत् ॥ २७ ॥

उस निर्जन वन में, उस रात्रि को इस प्रकार के अनेक विलाप कर, आँखों में आँसू भर (गद्गद् कण्ठ होने के कारण) चुप हो बैठ रहे ॥ २७ ॥

विलप्योपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम् ।
समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः ॥ २८ ॥

जब विलाप कर श्रीरामचन्द्र जी चुप हो गये, तब उन्हें ज्वालारहित अग्नि और वेगरहित समुद्र के समान शान्त देख, लक्ष्मण जी समझाने लगे ॥ २८ ॥

---

१ ननुवीर्यमकारणम्—धर्महानिकारकत्वं वीर्यं बाधकत्वेनानवलम्बनीयं इत्यर्थः। (गो०)

अनयत्र पुरी राजन्नयोध्याऽऽयुधिनांवर।
निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्ते गतचन्द्रेव शर्वरी ॥२९॥

हे योद्धाओं में श्रेष्ठ राजन्! यह बात तो निश्चित है कि, आपके चले आने पर अयोध्यापुरी तो उसी प्रकार निष्प्रभ हो गयी होगी, जिस प्रकार चन्द्रमा के अस्त होने पर रात्रि हो जाती है ॥२९॥

नैतदौपयिकं राम यदिदं परितप्यसे।
विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

परन्तु हे राम! आपका इस प्रकार सन्तप्त होना तो उचित नहीं। क्योंकि आपके सन्तप्त होने से मुझको और सीता को भी विषाद होता है ॥ ३० ॥

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥ ३१ ॥

हे राघव! मैं और सीता आपके बिना एक मुहूर्त भी जीवित नहीं रह सकते, जैसे जल के बिना मछली नहीं जी सकती ॥ ३१ ॥

न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं वाऽपि त्वया विना ॥ ३२ ॥

हे शत्रु को ताप देने वाले! मैं आपके बिना न तो अपने पिता को, न अपने सहोदर शत्रुघ्न को और न अपनी जननी माता सुमित्रा ही को देखना चाहता हूँ। यही नहीं, किन्तु मुझे तो आपके बिना स्वर्ग को भी देखने की इच्छा नहीं है ॥ ३२ ॥

ततस्तत्र सुखासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम्।
न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सलौ ॥ ३३ ॥

लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, आराम से बैठे हुए धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, सीता सहित पास ही वट वृक्ष के नीचे लक्ष्मण जी की रची पर्णशय्या को देख, उस पर जा लेटे ॥ ३३ ॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं[1] वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात् ।
समाः समस्ता विदधे परन्तपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार लक्ष्मण जी के उत्तम अर्थ से भरे वचनों को बहुत देर तक आदरपूर्वक सुन और वानप्रस्थ आश्रमोचित समस्त नियमों का लक्ष्मण सहित यथासमय पालन करना निश्चित कर, श्रीरामचन्द्र जी चौदह वर्ष बिताने की इच्छा करते हुए ॥ ३४ ॥

ततस्तु तस्मिन्विजने वने तदा
महाबलौ राघववंशवर्धनौ ।
न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतुः
यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर उन महाबली रघुवंशवर्द्धन दोनों भाइयों ने, उस निर्जन वन में भय और उद्वेग वर्जित हो, वैसे वास किया, मानों पर्वतशिखर पर रहने वाले दो सिंह निर्भय हो, वास करते हों ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

[1] पुष्कलं—पूर्णार्थं । (गो०)

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

अयोध्याकाण्ड—३

उत्तरार्द्ध

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०,

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य २)

अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्द्ध

की

विषय-सूची

अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्द्ध की विषय-सूची समाप्त हुई।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं निर्मलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रै-
र्व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:*:—

अयोध्याकाण्डे

(उत्तरार्द्ध)

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—:*:—

ते तु तस्मिन्महावृक्ष उषित्वा रजनीं शिवाम् ।
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद्देशात्प्रतस्थिरे ॥ १ ॥

इस प्रकार वे तीनों उस बड़े वटवृक्ष के नीचे रात बिता कर, प्रातःकाल विमल सूर्योदय होने पर वहाँ से रवाना हुए ॥ १ ॥

यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाऽभिप्रवर्तते ।
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम् ॥ २ ॥

जहाँ पर श्रीगङ्गा और श्रीयमुना का सङ्गम होता था, वहाँ अर्थात् उस देश की ओर, उस महावन में हो कर वे चले जाते थे ॥ २ ॥

ते [1]भूमिभागान्विविधान्देशांश्चापि मनोरमान् ।
अदृष्टपूर्वान्पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥ ३ ॥

वे यशस्वी दोनों भाई रास्ते में अनेक वन प्रदेशों और अनेक पहिले न देखे हुए और रमणीक देशों को देखते हुए चले जाते थे ॥३॥

---

१ भूमिभागान्—वनप्रदेशान् । (गो०

यथा क्षेमेण[1] गच्छन्स पश्यंश्च विविधान्द्रुमान् ।
निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४ ॥

इस प्रकार सुखपूर्वक रास्ते में उठते बैठते तथा अनेक प्रकार के फूले हुए वृक्षों की शोभा निरखते हुए, जब दिन थोड़ा रह गया तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ ४ ॥

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुद्गतम्* ।
अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये सन्निहितो मुनिः ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो प्रयाग तीर्थ की ओर जो धुआ उठ रहा है, वह मानों भगवान् अग्नि देव की पताका फहरा रही है। इससे जान पड़ता है कि, भरद्वाज जी का आश्रम भी यहीं कहीं पास ही है ॥ ५ ॥

नूनं प्राप्ताः स्म सम्भेदं[2] गङ्गायमुनयोर्वयम् ।
तथा हि श्रूयते शब्दो वारिणो वारिघट्टजः† ॥ ६ ॥

हम लोग गङ्गा यमुना के सङ्गम के समीप निश्चय ही आ पहुँचे हैं, क्योंकि दोनों नदियों के जलों की टक्कर से उत्पन्न शब्द साफ़ सुनाई दे रहा है ॥ ६ ॥

दारूणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः ।
भरद्वाजाश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥ ७ ॥

यहाँ के वन में से लकड़ी इत्यादि काट कर बेचने वालों ने लकड़ियाँ काटी हैं। देखो भरद्वाज जी के आश्रम में ये नाना प्रकार के वृक्ष कड़े हुए देख पड़ते हैं ॥ ७ ॥

---

१ क्षेमेण—उपविश्योत्थायच शनैः शनैः स्वेच्छानुरोधेन सम्पश्यन् सम्पश्यन् । (रा०) २ संभेदं—संगमं । (गो०) * पाठान्तरे—"धूममुत्तमम्" । † पाठान्तरे—"वारिघट्टतः" ।

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे ।
गङ्गायमुनयोः सन्धौ[1] प्रापतुर्निलयं मुनेः ॥ ८ ॥

इस प्रकार आपस में बातचीत करते हुए दोनों धनुर्धारी भाई; सूर्य के छिपते छिपते सङ्गम पर स्थित भरद्वाज जी के आश्रम में पहुँचे ॥ ८ ॥

रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन्मृगपक्षिणः ।
गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥ ९ ॥

आश्रम में दो धनुर्द्धरों को आते देख, आश्रमवासी पशुपक्षी भयभीत हुए। इतने ही में श्रीरामचन्द्र जी एक मुहूर्त्त चल कर, भरद्वाज जी की (कुटी के) पास पहुँच गये ॥ ९ ॥

ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ।
सीतयाऽनुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः ॥ १० ॥

तदनन्तर सीता सहित दोनों वीर भरद्वाज जी के दर्शन करने की अभिलाषा से, कुटी से कुछ दूर रुक गये। (रुकने का कारण भूषण टीकाकार ने यह बतलाया है कि सन्ध्या का समय था। अतः उस समय ऋषिप्रवर अग्निहोत्र कर रहे थे। कहीं उनके कार्य में विघ्न न पड़े, अतः कुछ देर वे ठहर गये, किन्तु जब अनुमति मिल गयी तब) ॥ १० ॥

स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम् ।
[2]संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम् ॥ ११ ॥

---

१ सन्धौ—सङ्गमेवर्तमानं । २ संशितव्रतं—तीक्ष्णव्रतं । (गो०)

फिर श्रीरामचन्द्र (आदि) आश्रम में गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने शिष्यों से घिरे, उग्र व्रतधारी एवं तपद्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान का ज्ञान प्राप्त किये हुए, भरद्वाज जी को देखा ॥ ११ ॥

हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागं कृताञ्जलिः ।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत् ॥१२॥

महाभाग ऋषि को अग्निहोत्र करते हुए देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण और सीता सहित हाथ जोड़ कर, प्रणाम किया ॥ १२ ॥

न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः ।
पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन्रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

और यह कह कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपना परिचय दिया—हे भगवन्! हम दोनों श्रीराम और श्रीलक्ष्मण महाराज दशरथ के पुत्र हैं ॥ १३ ॥

भार्या ममेयं वैदेही कल्याणी जनकात्मजा ।
मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता ॥ १४ ॥

और यह कल्याणी जानकी मेरी स्त्री और राजा जनक की पुत्री है और यह अनिन्दिता जानकी मेरे साथ विजन तपोवन में जाने के लिये आयी है ॥ १४ ॥

पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः ।
अयमन्वगमद्भ्राता वनमेव दृढव्रतः ॥ १५ ॥

पिता ने मुझे वनवास दिया है और सुमित्रा देवी के पुत्र तथा मेरे प्रिय छोटे भाई लक्ष्मण दृढ़व्रत धारण किये हुए, मेरे पीछे हो लिये हैं ॥ १५ ॥

पित्रा नियुक्ता भगवन्प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम् ।
धर्ममेव चरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! हम लोग पिता के आदेशानुसार तपोवन में प्रवेश करेंगे और वहाँ फलमूल खा कर धर्माचरण करेंगे ॥ १६ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।
उपानयत[1] धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः ॥ १७ ॥

धर्मात्मा भरद्वाज ने धीमान् राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन कर, उनको मधुपर्क, अर्घ्य और चरण धोने को जल रखा ॥ १७ ॥

[श्रीरामचन्द्र जी को राजकुमार का विशेषण आदिकवि ने इसलिये दिया है कि, भरद्वाज ने उनको मधुपर्क दिया था मधुपर्क देने का विधान स्मृत्यानुसार राजा को भी है । यथा—

गो मधुपर्कार्हो वेदाध्याय्याचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा वा धर्मयुक्तः इति ।]

नानाविधानन्नरसान्[2]वन्यमूलफलाश्रयान् ।
तेभ्यो ददौ तप्ततया वासं चैवान्वकल्पयत्* ॥ १८ ॥

नाना प्रकार के वन के कन्दमूल, फल अन्न तथा रसीले पदार्थ उनके भोजन के लिये दिये और टिकने के लिये स्थान बतलाया । (रसीले पदार्थ से अभिप्राय शरबत से जान पड़ता है) ॥ १८ ॥

मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः ।
राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनाह तं मुनिः ॥ १९ ॥

---

१ उपानयत—रामसमीपं प्रापयत । (शि०) २ अन्नरसान्—रस प्रधानान्पदार्थविशेषानित्यर्थः । (गो०) * पाठान्तरे—"चैवाभ्यकल्पयत् ।"

मृग, पक्षी और मुनियों के बीच में बैठे हुए महर्षि भरद्वाज ने श्रीरामचन्द्र जी का स्वागत किया और उनसे कुशल पूँछी ॥ १९ ॥

प्रतिगृह्य च तामर्चामुपविष्टं स राघवम् ।
भरद्वाजोऽब्रवीद्वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा ॥ २० ॥

तदनन्तर, इस प्रकार महर्षि की पूजा ग्रहण कर के, आसीन श्रीरामचन्द्र जी से, भरद्वाज जी ने ये धर्मयुक्त वचन कहे ॥ २० ॥

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्यामि त्वामिहागतम् ।
श्रुतं तव मया चेदं विवासनमकारणम् ॥ २१ ॥

हे काकुत्स्थ ! बहुत दिनों बाद आज मैं तुम्हें पुनः इस आश्रम में आया हुआ देखता हूँ। मैंने सुना है कि, तुमको अकारण वनवास हुआ है ॥ २१ ॥

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे ।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान्सुखम् ॥ २२ ॥

अतः इन दोनों महानदियों के सङ्गम पर, इस एकान्त, पवित्र एवं रम्य स्थान पर आप सुखपूर्वक वास करें ॥ २२ ॥

एवमुक्तः स वचनं भरद्वाजेन राघवः ।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः ॥ २३ ॥

भरद्वाज के इन वचनों को सुन, सर्वहितैषी श्रीरामचन्द्र जी ने ये शुभ वचन कहे ॥ २३ ॥

भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः ।
[1]सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम् ॥ २४ ॥

---

[1] सुदर्शं—सुखेनद्रष्टुंशक्यं । (गो०)

आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः ।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥ २५ ॥

हे भगवन्! यह वासस्थान पुरवासियों को अत्यन्त निकट पड़ेगा। अतः मुझे और सीता जी को देखने के लिये लोग यहाँ आसानी से चले आया करेंगे। अतः मुझे यहाँ का रहना उचित नहीं जान पड़ता ॥ २४ ॥ २५ ॥

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम् ।
रमेत यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥ २६ ॥

हे भगवन्! अतः मेरे रहने के लिये कोई ऐसा एकान्त और उत्तम स्थान आश्रम के लिये बतला दीजिये, जहाँ जानकी जी का मन लगे और (वह) सुखपूर्वक रह सके ॥ २६ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः ।
राघवस्य ततो वाक्यमर्थग्राहकं[1]मब्रवीत् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन शुभ वचनों को सुन, महर्षि भरद्वाज उनसे यह अर्थबोधक वचन बोले ॥ २७ ॥

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि ।
महर्षिसेवितः पुण्यः सर्वतः सुखदर्शनः ॥ २८ ॥

हे वत्स! यहाँ से दस कोस पर तुम्हारे रहने योग्य एक पहाड़ है, जो महर्षियों से सेवित होने के कारण पवित्र है और उसके चारों ओर नयनाभिराम दृश्य है ॥ २८ ॥

---

1 अर्थग्राहकं—अर्थबोधकं। (गो०)

[illegible] [illegible]
स्थितप्रज्ञ [illegible] ॥ ५९ ॥

[illegible] स्थितप्रज्ञ [illegible] है ॥ ५९ ॥

[illegible] स्थितप्रज्ञस्य [illegible]
[illegible] मनः ॥ ६० ॥

[illegible] स्थितप्रज्ञ के [illegible] हैं, [illegible] स्थितप्रज्ञ [illegible] हैं ॥ ६० ॥

[illegible]
[illegible] ॥ ६१ ॥

[illegible] ॥ ६१ ॥

[illegible]
[illegible] ॥ ६२ ॥

---

१ [illegible] — [illegible] । २ [illegible] — [illegible]
३ [illegible] — [illegible]

वह स्थान बिलकुल एकान्त है। मेरी समझ में तो आप वहाँ आराम से रहेंगे। अथवा हे राम! वनवास की अवधि पूरी होने तक आप मेरे साथ मेरे आश्रम ही में रहिये ॥ ३२ ॥

स रामं [1]सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम् ।
सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह धर्मवित् ॥ ३३ ॥

महर्षि भरद्वाज जी ने सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का, अतिथि योग्य सत्कार कर, उनको अपने वश में कर लिया ॥ ३३ ॥

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः ।
प्रपन्ना[2] रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी का प्रयागक्षेत्र में महर्षि भरद्वाज जी के साथ समागम होने पर अनेक प्रकार की कथा वार्त्ता होते होते पुण्यमयी रात्रि हो गयी ॥ ३४ ॥

[3]सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः ।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत्सुखम् ॥ ३५ ॥

सुख से रहने योग्य श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और तीसरी सीता अर्थात् तीनों मार्ग चलने की थकावट से कातर हो, रमणीक भरद्वाज के आश्रम में उस रात सुखपूर्वक वास करते हुए ॥ ३५ ॥

प्रभातायां रजन्यां तु भरद्वाजमुपागमत् ।
उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ ३६ ॥

---

१ सर्वकामैः प्रतिजग्राह—अतिथियोग्यसत्कारैर्वशीकृतवान् । प्रतिजग्राह—उपचार । (गो०) २ प्रपन्ना—प्राप्ता । (गो०) ३ सीतातृतीयायस्यसः । (शि०)

जब रात व्यतीत हुई और सवेरा हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जी तपस्या के तेज से जाज्वल्यमान महर्षि भरद्वाज के पास गये और यह बोले ॥ ३६ ॥

शर्वरीं भवगन्नद्य सत्यशील तवाश्रमे ।
उषिताः स्मेह वसतिमनुजानातु[1] नो भवान् ॥ ३७ ॥

हे सत्यशील भगवन् ! आज हमने आपके इस आश्रम में वस कर, रात (बड़े आराम से) बिताथी । अब आप कृपा कर, हमें उस स्थान पर, जिसे आपने बतलाया है, जाने को आज्ञा दीजिये ॥ ३७ ॥

राज्यां तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम् ।
मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ॥ ३८ ॥

उस रात के बीत जाने पर भरद्वाज जी ने यह कहा—अब आप मधु, मूल, फलयुक्त चित्रकूट पर्वत पर जाइये ॥ ३८ ॥

वासमौपयिकं मन्ये तव राम महाबल ।
नानानगगणोपेतः किन्नरोरगसेवितः ॥ ३९ ॥

हे महाबली राम ! मेरी समझ में चित्रकूट ही आपके रहने योग्य ठीक स्थान है । क्योंकि वहाँ अनेक प्रकार के वृक्ष हैं, वहाँ किन्नर और नाग बसते हैं ॥ ३९ ॥

मयूरनादाभिरुतो गजराजनिषेवितः ।
गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥ ४० ॥

वहाँ मोर बोला करते हैं और बड़े बड़े हाथी घूमा करते हैं, अतः आप उस प्रसिद्ध चित्रकूट पर्वत पर जाइये ॥ ४० ॥

---

१ अनुजानातु—आज्ञापयतु । (गो०)

पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः ।
तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चाभितः ॥ ४१ ॥

वह स्थान अति पवित्र, रमणीय और नाना प्रकार के फूल फलों से परिपूर्ण है। वहाँ कुञ्जरों और मृगों के झुण्ड चरा करते हैं। उन्हें आप वहाँ देखेंगे ॥ ४१ ॥

विचरन्ति वनान्तेऽस्मिंस्तानि द्रक्ष्यसि राघव ।
सरित्प्रस्रवणप्रस्थान्दरीकन्दरनिर्दरान् ।
चरतः सीतया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तव ॥ ४२ ॥

वहाँ की नदियों, झरनों, पर्वतशिखरों और कन्दराओं को देखते हुए, विचरण करने पर, तुम्हारा और सीता का मन बहुत प्रसन्न होगा ॥ ४२ ॥

प्रहृष्टकोयष्टि[1]ककोकिलस्वनै-
र्विनादितं तं वसुधाधरं शिवम् ।
मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जरैः
सुरम्यमासाद्य समावसाश्रमम् ॥ ४३ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

उस पवित्र पर्वत पर टिटहरी और कोयलें प्रसन्न हो बोला करती हैं। उस पर अनेक मृग और बहुत से मत्त गज घूमा करते हैं। इस प्रकार के उस बड़े रमणीक पर्वत पर आप जा कर वास कीजिये ॥ ४३ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

1 कोयष्टिकाः—टिट्टिभकाः । (गो०)

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिन्दमौ ।
महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥

शत्रुओं के दमन करने वाले श्रीराम और लक्ष्मण प्रयाग में उस रात रह कर, प्रातःकाल होते ही मुनि को प्रणाम कर, चित्रकूट पर्वत की ओर प्रस्थानित हुए ॥ १ ॥

तेषां चैव स्वस्त्ययनं महर्षिः स चकार ह ।
प्रस्थितांश्चैव तान्प्रेक्ष्य पिता पुत्रानिवान्वगात् ॥२॥

उनको वहाँ से यात्रा करते देख, महर्षि भरद्वाज ने उसी प्रकार उनका स्वस्त्यवाचन किया जैसे पिता अपने निज पुत्र का करता है ॥ २ ॥

ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः ।
भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी महर्षि भरद्वाज सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥ ३ ॥

गङ्गायमुनयोः सन्धिमासाद्य मनुजर्षभौ ।
कालिन्दीमनुगच्छेतां[1] नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम्[2] ॥ ४ ॥

---

१ अनुगच्छेतां—अनुसृत्यगच्छेतां । (गो०) २ पश्चान्मुखाश्रिताम्—पश्चिमाभिमुखीभूत्वागच्छेतां । (गो०)

हे मनुजश्रेष्ठ ! इस गङ्गा यमुना के सङ्गम से, पश्चिम की ओर यमुना के किनारे किनारे आप जाइये ॥ ४ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतसमापगाम् ।
तस्यास्तीर्थं[1] प्रचरितं[2] पुराणं प्रेक्ष्य राघवौ ॥ ५ ॥

आप लोग शीघ्र बहने वाली गङ्गा में मिलने वाली यमुना के किनारे किनारे चल कर, एक घाट देखेंगे, जो बहुत पुराना होने से टूटा फूटा है ॥ ५ ॥

तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं[3] नदीम् ।
ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम् ॥ ६ ॥

वहाँ पर घरनई बना कर तुम यमुना पार करना। तदनन्तर उस पार जाने पर एक बड़ा बरगद का वृत्त मिलेगा, जिसके हरे हरे पत्ते हैं ॥ ६ ॥

विवृद्धं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ।
तस्मै सीताऽञ्जलिं कृत्वा [4]प्रयुञ्जीताशिषः[5] शिवाः ॥७॥

वह वट वृत्त अनेक वृत्तों के बीच में है, उसके पत्तों का रंग श्यामता लिये हुए हरा है और सिद्धों द्वारा वह सेवित है। वहाँ पहुँच कर, जानकी जी हाथ जोड़ कर, अपने शुभ मनोरथों के सफल होने के लिये प्रार्थना करें ॥ ७ ॥

समासाद्य तु तं वृक्षं वसेद्वाऽतिक्रमेत वा ।
क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं द्रक्ष्यथ काननम् ॥ ८ ॥

---

१ तीर्थं—अवतरणप्रदेशं । (गो०) २ प्रचरितं—गमनागमनाभ्यामति क्षुण्णमित्यर्थः । (गो०) ३ अंशुमतीं—अंशुमतः सूर्यस्यापत्यभूतां । (गो०) ४ प्रयुञ्जीता—प्रार्थयेत् । (गो०) ५ आशिषः—मनोरथान् । (गो०)

या तो उस पेड़ के नीचे कुछ देर तक ठहर कर विश्राम कर लेना अथवा आगे को चले जाना। वहाँ से एक कोस आगे जाने पर नीलवन देख पड़ेगा ॥ ८ ॥

पलाशवदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः।
स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतः सुबहुशो मया ॥ ९ ॥

उस वन में साल, जामुन और वेरी के अनेक वृत्त हैं। वही मार्ग चित्रकूट को जाता है और उस मार्ग से मैं कितनी ही वार चित्रकूट गया हूँ ॥ ९ ॥

रम्यो मार्दवयुक्तश्च वनदावैर्विवर्जितः।
इति पन्थानमावेद्य महर्षिः संन्यवर्तत ॥ १० ॥

यह मार्ग रमणीक, कोमल (अर्थात् काँटों कंकड़ों से रहित अथवा रेतीला होने से कोमल) है। उस वन में दावानल का भी भय नहीं है। इस प्रकार (कुछ दूर साथ जा कर) रास्ता वतला महर्षि भरद्वाज लौट आये ॥ १० ॥

अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः।
उपावृत्ते मुनौ तस्मिन्रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ११ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी ने भी प्रणाम कर उनको विदा किया। जव भरद्वाज लौट गये, तव श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ११ ॥

कृतपुण्याः स्म सौमित्रे मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते।
इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! वास्तव में हम लोग बड़े पुण्यवान हैं, तभी तो महर्षि भरद्वाज हमारे ऊपर इतनी कृपा करते हैं, दोनों मनस्वी पुरुषसिंह राजकुमार इस प्रकार बातचीत करते ॥ १२ ॥

सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् ।
अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतोवहां नदीम् ॥१३॥

और सीता को आगे कर यमुना की ओर चले और शीघ्र बहने वाली यमुना के पास पहुँचे ॥ १३ ॥

चिन्तामापेदिरे सर्वे नदीजलतितीर्षवः ।
तौ काष्ठसङ्घाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम् ॥ १४ ॥

वे सब उसको पार करने के लिये चिन्ता करने लगे। उन दोनों राजकुमारों ने बहुत सी लकड़ियाँ एकत्र कर एक बड़ा बेड़ा बनाया ॥ १४ ॥

शुष्कैर्वंशैः समास्तीर्णमुशीरैश्च समावृतम् ।
ततो वेतसशाखाश्च जम्बूशाखाश्च वीर्यवान् ॥ १५ ॥
चकार लक्ष्मणश्छित्त्वा सीतायाः सुखमासनम् ।
तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां[1] रामो दाशरथिः प्रियाम् ॥१६॥

(वह बेड़ा किस प्रकार बनाया गया—यह बतलाते हैं।) उन वीर्यवान् राजकुमारों ने प्रथम तो सूखे बाँसों को पास पास बाँध कर बेड़ा बनाया। फिर बाँसों की सन्धियाँ भरने को संधों में खस भरा। तदनन्तर लक्ष्मण जी ने उस पर बेत तथा जामुन की डालियाँ काट कर और बिछा कर सीता जी के आराम से बैठने के

---

१ अचिन्त्यां—अचिन्त्यसौन्दर्यां । (गो०)

लिये आसन बना दिया। तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मी की तरह अचिन्त्य सौन्दर्यवती प्यारी सीता को ॥ १५ ॥ १६ ॥

ईषत्संलज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम् ।
पार्श्वे च तत्र वैदेह्या वसने भूषणानि च ॥ १७ ॥

जो (पति के हाथ का सहारा पाने से) कुछ कुछ लज्जायुक्त थीं, हाथ पकड़ कर उस बेड़े पर बैठाया। उनके पास ही उनके गहने कपड़े रख दिये ॥ १७ ॥

प्लवे कठिनकाजं[1] च रामश्चक्रे सहायुधैः ।
आरोप्य प्रथमं सीतां सङ्घाटं परिगृह्य तौ ॥ १८ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने काठ के बेंट की कुदाली और मृगचर्म से मढ़ा हुआ पिटारा तथा अपने आयुध रखे। प्रथम सीता को उस पर बिठा दोनों भाइयों ने बेड़ा पकड़ कर चलाया ॥ १८ ॥

[नोट—इससे स्पष्ट है कि, उस बेड़े पर केवल सीता जी बैठी थीं और साथ का सारा सामान रखा था। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस बेड़े को दोनों ओर से पकड़ कर जल पर तैरते हुए उस पार हुए थे। आगे के श्लोक में "प्रतेरतुर्युक्तौ" से यह बात समर्थित होती है।]

ततः प्रतेरतुर्युक्तौ वीरौ दशरथात्मजौ ।
कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत ॥ १९ ॥

तदनन्तर दोनों वीर दशरथनन्दनों ने उस बेड़े में युक्त अर्थात् लग कर यमुना पार की। जब बेड़ा बीचोबीच धार में पहुँचा, तब सीता जी ने यमुना जी को प्रणाम किया ॥ १९ ॥

---

1 कठिनकाजं—कठिनकं कन्दमूलखननसाधनं आयसाग्रंदारु । आजं—अजचर्मपिनद्धं पिटकं। (गो०)

स्वस्ति देवि तरामि त्वां [1]पारयेन्मे पतिर्व्रतम्[2] ।
यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च ॥ २० ॥

हे देवि! हम लोग आपके पार जा रहे हैं। यदि मेरे पति का व्रत अर्थात् (वनवास का सङ्कल्प) निर्विघ्न पूरा हो गया, तो आपकी प्रसन्नता के लिये मैं एक हज़ार गौएँ दान कर तथा सौ घड़े सुरा के नैवेद्य से आपका पूजन करूँगी ॥ २० ॥

स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ।
कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः ॥ २१ ॥

सीता जी यमुना से हाथ जोड़ कर यह वर माँगती हुई कि, श्रीरामचन्द्रजी सकुशल इक्ष्वाकुपालित अयोध्या में लौट आवें ॥२१॥

तीरमेवाभि सम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी ।
ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम् ॥ २२ ॥

शीघ्रगामिनी और तरङ्गवती सूर्यपुत्री यमुना को पार कर, उसके दक्षिण तट पर सीता जी पहुँचीं ॥ २२ ॥

तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः सन्तेरुर्यमुनां नदीम् ।
ते तीर्णाः प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात्[3] ॥ २३ ॥

वे यमुना के पार हो, उस बेड़े को त्याग कर, यमुना के तीरवर्ती अनेक वृक्षों से युक्त वन में हो कर चले ॥ २३ ॥

श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् ।
न्यग्रोधं तमुपागम्य वैदेही वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

---

१ पारयेत्—समापयेत् । (गो०) २ मेपतिः व्रतं—वनवाससङ्कल्पं । (गो०) ३ यमुनावनात्—यमुनातीरवनात् । (गो०)

वे श्यामवर्ण और हरितपत्तों से युक्त, शीतल छाया वाले बरगद वृक्ष के नीचे पहुँचे। वटवृक्ष के पास पहुँच, जानकी जी कहने लगीं ॥ २४ ॥

नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम् ।
कौसल्यां चैव पश्येयं सुमित्रां च यशस्विनीम् ॥२५॥

हे महावृक्ष! मैं आपको प्रणाम करती हूँ। आप मेरे पति का व्रत पूरा कीजिये, जिससे मैं अपनी यशस्विनी कौशल्या और सुमित्रा के फिर दर्शन कर सकूँ ॥ २५ ॥

इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छत्[1] वनस्पतिम् ।
अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम् ॥२६॥

दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरताग्रज[2] ॥ २७ ॥

यह प्रार्थना कर और हाथ जोड़े हुए सीता जी ने वट वृक्ष की परिक्रमा की। तब अनिन्दिता, प्राणप्यारी एवं अनुकूलवर्तिनी जानकी को इस प्रकार वर माँगते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा, हे भरत के छोटे भाई! तुम सीता को अपने साथ ले आगे चलो ॥ २६ ॥ २७ ॥

पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सायुधो द्विपदांवर ।
यद्यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ॥ २८ ॥

हे नरोत्तम! मैं शस्त्र लिये पीछे पीछे आता हूँ। सीता जी जिस फल और जिस फूल को माँगे ॥ २८ ॥

---

१ पर्यगच्छत्—प्रदक्षिणं चकार। (गो०) २ भरताग्रजेतिबहुव्रीहिः। (गो०)

तत्तत्प्रदद्या वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः ।
गच्छतोऽस्तु तयोर्मध्ये* बभौ च जनकात्मजा ॥ २९ ॥

वह फूल और फल जानकी को दे दिया करना, जिससे इसका मन बहला रहे। जानकी जी उन दोनों के बीच में वैसे चलने लगीं ॥२९॥

मातङ्गयोर्मध्यगता शुभा नागवधूरिव ।
एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ॥ ३० ॥
अदृष्टपूर्वां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साऽबला ।
रमणीयान्बहुविधान्पादपान्कुसुमोत्कटान् ॥ ३१ ॥
सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः ।
विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम् ।
रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥ ३२ ॥

जैसे हाथियों के बीच हथिनी चले। सीता प्रत्येक वृक्ष गुल्म और पुष्पित लता के बारे में जिन्हें सीता जी ने कभी नहीं देखा था, श्रीरामचन्द्र जी से पूँछती जाती थी। वहां पर तरह तरह के रमणीय वृक्ष और फूल लगे थे, जिनमें से जिसे सीता जी पसंद करतीं, लक्ष्मण जी उसे ला दिया करते थे। उस नदी को, जिसका वालुकामय तट और निर्मल जल था तथा जिसके तट पर हंस सारस मधुर शब्द कर रहे थे, देख कर, सीता जी प्रसन्न होती जाती थीं ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बहून्मेध्यान्[1] मृगान्हत्वा चेरतु[2] र्यमुनावने ॥ ३३ ॥

---

१ मेध्यान्—शुचीन् भक्ष्यानितियावत् । (गो०) २ चेरतुः भक्षितवन्तौ । चरगतिभक्षणयोः । (गो०) * पाठान्तरे—" बभूव । "

दोनों भाइयों ने एक कोस चल कर तथा यमुना तीरवर्ती वन में अनेक पवित्र मृगों को मार कर, खाया ॥ ३३ ॥

विहृत्य ते बर्हिणपूगना[1]दिते
शुभे वने वानरवारणायुते ।
[2]समं [3]नदीवप्रमुपेत्य सम्मतं[4]
निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः ॥ ३४ ॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार दोनों वीर भाइयों ने सीता सहित उस मनोहर वन में, जहाँ मोरों के झुंड के झुंड बोल रहे थे, तथा हाथी और बंदर घूम रहे थे; विहार कर, नदीतट पर एक सुन्दर समथर स्थान पर, जिसे सीता जी ने भी पसंद किया, निर्भय हो, वास किया ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:०:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्त[5]मनन्तरम्[6] ।
प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १ ॥

---

१ पूगः—समूहः । (गो०) २ समं—अनिम्नोन्नतं । (गो०) ३ नदीवप्रं—नदीतीरं । (गो०) ४ सम्मतं—निवासं सीताभिमतंवासस्थानं । (गो०) ५ अवसुप्तं—ईषत् सुप्तं । (गो०) ६ अनन्तरम्—स्वप्रबोधानन्तरं । (गो०)

जब रात बीत गयी तब श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं जाग कर, ऊँघते हुए लक्ष्मण को धीरे धीरे चैतन्य किया ॥ १ ॥

सौमित्रे शृणु वन्यानां[1] वल्गु[2] व्याहरतां स्वनम् ।
सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परन्तप ॥ २ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी ने कहा) हे लक्ष्मण ! देखो तो ये वन के तोते, कोयल मैंना आदि पक्षी कैसे मधुर स्वर से चहक रहे हैं। हे परन्तप ! मार्ग चलने के लिये यही समय (अच्छा) है। अतः अब हमको यहाँ से चल देना चाहिये ॥ २ ॥

स सुप्तः समये भ्रात्रा लक्ष्मणः प्रतिबोधितः ।
जहौ निद्रां च तन्द्रीं च प्रसक्तं च पथि श्रमम् ॥ ३ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने जागने के समय लक्ष्मण जी को जगाया, तब वे, निद्रा जनित आलस्य को त्याग और रास्ता चलने की थकावट को दूर कर उठ खड़े हुए ॥ ३ ॥

तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा[3] नद्याः[4] शिवं जलम् ।
पन्थानं[5]मृषिणाऽऽदिष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः ॥ ४ ॥

तदनन्तर सब जनों ने उठ कर पवित्र यमुना जल में स्नानादि क्रिया पूरी की। फिर उन सब ने महर्षि भरद्वाज के बतलाये हुए पलाशवन में हो कर, चित्रकूट का रास्ता पकड़ा ॥ ४ ॥

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह ।
सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

---

१ वन्यानां—शुकपिकशारिकादीनां । (गो०) २ वल्गु—सुन्दरं । (गो०) ३ स्पृष्ट्वा—स्पृष्ट्वेत्युपलक्षणंप्रातःकालिकस्नानादिकृत्यानां । (गो०) ४ नद्याः—कालिन्द्याः । (गो०) ५ पन्थानम्—पलाशवनरूपं । (गो०)

लक्ष्मण जी के साथ जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कमल के समान नेत्र वाली सीता जी से यह वचन बोले ॥ ५ ॥

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान्नगान् ।
स्वैः पुष्पैः किंशुकान्पश्य मालिनः[1] शिशिरात्यये ॥६॥

हे वैदेही ! वसन्त के आगमन से देखो पलास कैसा फूला है । पलास के लाल फूलों को देख ऐसा जान पड़ता है, मानों पलाश के वृक्षों में आग लग गयी है । फूलों से सब वृक्षों की ऐसी शोभा हो रही है, मानों सब वृक्ष पुष्पों की मालाएँ धारण किये हुए हों ॥ ६ ॥

पश्य भल्लातकान्फुल्लान्नरैरनुपसेवितान् ।
फलपत्रैरवनतान्नूनं शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ७ ॥

देखो, भिलावे के वृक्ष कैसे फूले हैं । अगम्य होने के कारण मनुष्य की उनमें गुज़र नहीं । मैं तो फल और पत्ते खा कर ही अपना गुज़ारा कर सकता हूँ अथवा जीवित रह सकता हूँ ॥ ७ ॥

पश्य द्रोणप्रमाणानि[2] लम्बमानानि लक्ष्मण ।
मधूनि[3] मधुकारीभिः सम्भृतानि[4] नगे[5] नगे ॥ ८ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो हरेक वृक्ष में शहद की मक्खियों के लगाये शहद से भरे छत्ते लटक रहे हैं । इनमें ३२ सेर से कम शहद न था ॥ ८ ॥

---

१ मालिनः—मालावत् इवस्थितान् (गो०) । २ द्रोणं—आढकद्वयं । (गो०) ३ मधूनिकुर्वन्तीति मधुकर्यः कर्मण्यण ङीप् । (गो०) ४ संभृतानि—निर्मितानि । (गो०) ५ नगे नगे—वृक्षे वृक्षे । (गो०)

एष क्रोशति नत्यूहस्तं[1] शिखी प्रतिकूजति ।
रमणीये वनोद्देशे[2] पुष्पसंस्तरसङ्कटे[3] ॥ ९ ॥

देखो यह जलकौवा कैसा बोल रहा है । इसका बोलना सुन मोर भी शोर करता है । इस रमणीय वन प्रदेश की भूमि फूलों से ढक गयी है ॥ ९ ॥

मातङ्गयूथानुसृतं[4] पक्षिसङ्घानुनादितम् ।
चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं[5] गिरिम् ॥ १० ॥

देखो यह चित्रकूट पर्वत का उच्चशिखर देख पड़ता है, जहाँ पर हाथियों के झुंड घूम रहे हैं और पक्षियों के झुंड बोल रहे हैं ॥ १० ॥

समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते ।
पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥ ११ ॥

हम लोग इस चित्रकूट के वन में (कहीं) समतल भूमि, सुन्दर वृक्षों का झुरमुट तथा साफ सुथरा रमणीक स्थल देख, रमेंगे ॥ ११ ॥

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया ।
रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार सीता को साथ लिये हुए दोनों भाई बातचीत करते पैदल चल कर, मनोरम और रम्य चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे ॥ १२ ॥

---

१ नत्यूहः—दात्यूहः । (गो०) २ वनोद्देशे—वनप्रदेशे । (गो०) ३ पुष्पसंस्तर सङ्कटे—पुष्पमयास्तरणेननिविडे । (गो०) ४ मातङ्गयूथानुसृतं—गजकुलैः व्याप्तं । (गो०) ५ प्रवृद्धशिखरं—उन्नतशिखरं । (गो०)

तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम् ।
वहुमूलफलं रम्यं सम्पन्नं सरसोदकम्[1] ॥ १३ ॥

उस पर्वत पर अनेक प्रकार के पत्नी रहते थे, वहुत से फल व मूल थे तथा अनेक स्वादिष्ट जल के कुण्ड थे ॥ १३ ॥

मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः ।
वहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः[2] प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

तव श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा—हे सौम्य! यह पर्वत कैसा मनोहर है। यह अनेक प्रकार के वृक्ष, लता और वहुत से फलों तथा मूलों से परिपूर्ण होने के कारण कैसा रमणीक देख पड़ता है। यहाँ बड़ी सरलता से हम लोगों का निर्वाह हो जायगा ॥ १४ ॥

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये[3] ।
अयं वासो भवेत्तावदत्र सौम्य रमेमहि ॥ १५ ॥

इस पर्वत पर महात्मा और मुनि लोग भी निवास करते हैं। अतएव यही हमारे रहने योग्य है और हम यहीं रहेंगे ॥ १५ ॥

इति[4] सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।
अभिगम्याश्रमं[5] सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन् ॥ १६ ॥

इस प्रकार निश्चय कर, श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता (तीनों जन) वाल्मीकि जी के आश्रम में गये और हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया ॥ १६ ॥

---

१ सरसोदकं—स्वादूदकम् । (गो०) २ स्वाजीवः—शोभनः जीविका यस्मिन् । (गो०) ३ शिलोच्चये—पर्वते । (गो०) ४ इति—इतिनिश्चित्य । (गो०) ५ आश्रमं—वाल्मीकियं । (गो०)

तान्महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित् ।
आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तु निवेद्य च ॥१७॥

तब धर्मात्मा महर्षि वाल्मीकि ने इनको देख और प्रसन्न हो, इनका पूजन किया और बैठने को आसन दे और यह कह कर कि, पधारिये स्वागत किया ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः ।
सन्निवेद्य [1]यथान्यायमात्मानमृषये[2] प्रभुः ॥ १८ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी महर्षि को अपना, लक्ष्मण का तथा सीता का परिचय दे और वनवासादि का कारण बतला—लक्ष्मण से बोले ॥ १८ ॥

लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च ।
कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! अच्छी और मज़बूत लकड़ियाँ एकत्र कर कुटी बनाओ । क्योंकि हे सौम्य ! यहीं बसने की मेरी इच्छा है ॥ १९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान्द्रुमान् ।
आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिन्दमः ॥ २० ॥

यह सुन, लक्ष्मण जी अनेक प्रकार के वृक्षों की छोटी छोटी डालें काट कर लाये और उनसे पर्णकुटी बना दी ॥ २० ॥

---

१ यथान्यायं—यथाक्रमं । (गो०) २ आत्मानं ऋषये सन्निवेद्य—अमुकस्य पुत्रोऽहं अयं मद्भ्राता इत्यादि । (गो०)

तां निष्ठितां[1] बद्धकटां[2] दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम् ।
शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं[3] वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

उस अचल और किवाड़ेदार और देखने में भी सुन्दर कुटी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सेवाकार्य में निरत लक्ष्मण जी से कहा ॥ २१ ॥

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां[4] यक्ष्यामहे वयम् ।
कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरवासिभिः* ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! हिरन का मांस ले आओ, जिससे हम दोनों पर्णशालाधिष्ठात्री देवता की पूजा करें । क्योंकि यदि बहुत दिनों (किसी नवीन बने हुए घर में) रहना चाहे, तो उसे वास्तुशान्ति (गृहप्रवेश कर्म) करनी चाहिये ॥ २२ ॥

[ब्रह्माण्डपुराण में वास्तुशान्ति की फलस्तुति के सम्बन्ध में यह एक श्लोक दिया है :—

"नचव्याधिभयं तस्य न च बन्धुजनक्षयः
जीवेद्वर्षशतं स्वर्गंकल्पमेवंवसेन्नरः ॥"

अर्थात् जो नवीन गृह में वास्तुशान्ति कर के रहता है उसको न तो किसी प्रकार की व्याधि का भय होता और न उसके बन्धुबान्धवों का वंशलोप होता है । उस घर का मालिक बहुत दिनों तक इस लोक में जीवित रह कर मरने पर एक कल्प भर स्वर्ग में रहता है ।]

मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण ।
कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्म[5]मनुस्मर[6] ॥ २३ ॥

---

१ निष्ठितां—निश्चलां । (गो०) २ बद्धकटां—बद्धबाह्यावरणां वा । (गो०) ३ एकाग्रंलक्ष्मणं । (रा०) ४ शालां—शालधिष्ठात्रीः तत्तद्दिग्वासिनीःदेवताः । (गो०) ५ धर्मं—तदनुकूलधर्मशास्त्रं । (गो०) ६ अनुस्मर—अन्वेहि । (गो०)
* पाठान्तरे—"चिरजीविभिः" ।

हे लक्ष्मण ! तुम शीघ्र एक काला हिरन मार कर ले आओ। क्योंकि भली भांति विचार कर, इस विषय की धर्मशास्त्र द्वारा निर्णीत विधि को यथारीति करना उचित है ॥ २३ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा ।
चकार स यथोक्तं च तं रामः पुनरब्रवीत् ॥ २४ ॥

महाबलवान लक्ष्मण जी भाई की आज्ञा के अनुसार लक्ष्मण काला मृग मार कर ले आये। फिर श्रीरामचन्द्र जी के कथनानुसार कार्य कर चुकने पर श्रीरामचन्द्रजी ने पुनः उनसे कहा ॥ २४ ॥

ऐणेयं [1]श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम् ।
त्वर सौम्य मुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च[2] दिवसोऽप्ययम् ॥२५॥

अच्छा अब इस मांस को राँधो, जिससे हम हवन करें। हे सौम्य ! शीघ्रता करो। क्योंकि यह मुहूर्त भी स्थिर है और दिन भी अच्छा है ॥ २५ ॥

स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान् ।
अथ चिक्षेप[3] सौमित्रिः समिद्धे[4] जातवेदसि[5] ॥ २६ ॥

तब प्रतापी लक्ष्मण ने मारे हुए यज्ञीय काले मृग को अच्छी तरह जलती हुई आग में डाल कर भूना ॥ २६ ॥

तं तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम् ।
लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥ २७ ॥

और जब वह भुन गया और उसका रुधिर जल गया, तब लक्ष्मण जी ने पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २७ ॥

---

१ श्रपयस्व—पच। (गो०) २ ध्रुवः—स्थिरइत्यर्थः। (गो०) ३ चिक्षेप—पपाच। (गो०) ४ समिद्धे—सम्यग्दीप्ते। (गो०) ५ जातवेदसि—अग्नौ। (गो०)

अयं कृष्णः समाप्ताङ्गः शृतः कृष्णमृगो यथा ।
देवतां देवसङ्काश यजस्व कुशलो[1] ह्यसि ॥ २८ ॥

हे देवतुल्य! मैंने इस सम्पूर्ण अंगोंयुक्त कृष्ण मृग को रांध कर तैयार कर, लिया। आप यज्ञकर्म करने में समर्थ हैं, अतः वास्तुदेवता की प्रसन्नता के लिये यज्ञ कीजिये ॥ २८ ॥

रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्जप्यकोविदः ।
संग्रहेणा[2]करोत्सर्वान्मन्त्रान्सत्रावसानिकान्[3] ॥ २९ ॥

तब अमित तेजधारी, गुणवान एवं जप करने में चतुर श्रीरामचन्द्र जी ने नियमपूर्वक स्नान किये और संक्षेप से वास्तुयज्ञ समाप्त करने के लिये, समाप्ति के सब मंत्रों को पढ़ा ॥ २९ ॥

इष्ट्वा देवगणान्[4]सर्वान्विवेश* सदनं शुचि ।
बभूव च मनोह्लादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥

सब वास्तु देवताओं का पूजन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस पवित्र घर में प्रवेश किया। उस समय अपरमित तेजसम्पन्न श्रीराम जी बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

वैश्वदेवबलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च ।
[5]वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि[6] प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥

---

१ कुशलोसि—समर्थोसि । (गो०) २ संग्रहेण—संक्षेपेण । ३ सत्रावसानिकान् सत्रं वास्तुयागःयैर्मंत्रैरवसीयतेपरिसमाप्यतेतेसत्रावसानाः सत्रावसाना एव सत्रावसानिकाः । (गो०) ४ देवगणान्—वास्तुदेवताः । (गो०) ५ वास्तुसंशमनीयानि—गृहारिष्टशामकानि । (गो०) ६ मङ्गलानि—मंगलकराणि-पुण्याहवाचन शान्तिजपादीनि । (गो०) * पाठान्तरे—"सर्वान्विवेशावसथं-शुचिः ।"

अनन्तर उन्होंने वैश्वदेव के लिये रुद्र और विष्णु के निमित्त बलिदान किया। फिर उन्होंने गृह के अरिष्टादि दूर करने के लिये, पुण्याहवाचन, शान्ति, जप आदि किये ॥ ३१ ॥

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि ।
पापसंशमनं रामश्चकार बलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

फिर यथोचित जप कर तथा यथाविधि फिर नदी में स्नान कर, पाप की शान्ति के लिये उत्तम बलिदान किया ॥ ३२ ॥

वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्याय[1]तनानि[2] च ।
आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥ ३३ ॥

फिर आठों दिशाओं में बलिहरणार्थ, वेदियाँ और गन्धर्वों के वासस्थानों को तथा विष्णु आदि देवताओं के वासस्थानों का आश्रम के अनुरूप स्थापन किया ॥ ३३ ॥

वन्यैर्माल्यैः फलैर्मूलैः पक्वैर्मांसैर्यथाविधि ।
अद्भिर्जपैश्च वेदोक्तैर्दर्भैश्च ससमित्कुशैः ॥ ३४ ॥

तौ तर्पयित्वा भूतानि राघवौ सह सीतया ।
तदा विविशतुः शालां सुशुभां शुभलक्षणौ ॥ ३५ ॥

फिर यथाविधि फूल मालाओं, फलों, मूलों और रंधे हुए मांस से, तथा कुश की पवित्रियाँ धारण कर, कुश मिले हुए जल से, वैदिक मंत्रों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी ने भूतों को तृप्त कर, सीता सहित उस मनोहर और शुभलक्षण वाली (अर्थात् हवा

---

१ चैत्यानि—गन्धर्वादिवासस्थानानि। (गो०) २ आयतनानि—विष्ण्वद्यावास स्थलानि। (गो०)

रोशनी जाने आने के लिये पर्याप्त साधनों से युक्त) शाला में प्रवेश करने की इच्छा की ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां
यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम् ।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः
सभां यथा देवगणाः सुधर्माम् ॥ ३६ ॥

देवतागण जिस प्रकार सुधर्मा नाम की सभा में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार (श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण और सीता) तीनों जनों ने एक साथ, उस वृक्षों के पत्तों से छायी हुई, उचित स्थान में प्रतिष्ठित, मनोहर एवं वायु रहित पर्णशाला में रहने के लिये, उसमें प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनेकनानामृगपक्षिसङ्कुले
विचित्रपत्रस्तवकैर्द्रुमैर्युते ।
वनोत्तमे व्याल[1]मृगानुनादिते
तदा विजह्रुः सुसुखं जितेन्द्रियाः ॥ ३७ ॥

अनेक पशु पक्षियों से पूर्ण, तरह तरह के पत्र पुष्पों से शोभित, वृक्षों से युक्त उस उत्तम वन में, जिसमें हाथी और अन्य जङ्गली जानवर बोला करते थे, जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्र जी सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ ३७ ॥

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं
नदीं च तां[1] माल्यवतीं सुतीर्थाम्[2] ।

---

१ व्यालाः—सर्पाः गजा वा । (गो०) १ तां—प्रसिद्धां । (गो०)
२ सुतीर्थाम्—शोभनजलावतरणप्रदेशां । (गो०)

ननन्द रामो* मृगपक्षिजुष्टां
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥ ३८ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार सुन्दर और रमणीय तथा मृग पक्षियों से युक्त चित्रकूट पर्वत पर, स्वच्छ मीठे जल वाली प्रसिद्ध माल्यवती नदी को पा कर, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और अयोध्या त्यागने का दुःख त्याग दिया अर्थात् भूल गये ॥ ३८ ॥

[नोट—इस सर्ग तक महर्षि ने श्रीरामचन्द्र जी की अयोध्या से चित्रकूट तक की यात्रा का वर्णन किया। अब आगे फिर अयोध्या का वर्णन आरम्भ होता है। स्मरण रखना चाहिये कि, श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या से चित्रकूट पाँच दिन में आये थे। रास्ते में तीन दिन तो केवल जल पी कर ही रह गये थे, चौथे दिन माँस खाया था और पाँचवे दिन चित्रकूट में नियमित रूप से भोजन किये थे।]

अयोध्याकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

कथयित्वा सुदुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह।
रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः ॥ १ ॥

गुह अत्यन्त दुःखी हो, सुमंत्र के साथ बहुत देर तक बातचीत करता रहा और जब श्रीरामचन्द्र जी गङ्गा के दक्षिणतट पर पहुँच गये, तब गुह अपने घर को चला गया ॥ १ ॥

---

*पाठान्तरे—"हृष्टो।"

भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सहासनम् ।
आगिरेर्गमनं तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम् ॥ २ ॥

सुमंत्र, शृङ्गवेरपुर के चरों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का प्रयाग में भरद्वाज जी के आश्रम में जाना, उनके यहाँ ठहरना, तथा वहाँ से चित्रकूट पर्वत पर जाने आदि का पता लेते रहे ॥ २ ॥

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान् ।
अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥

तदनन्तर गुह से विदा हो, सुमंत्र रथ में उत्तम घोड़े जोत अत्यन्त उदास हो अयोध्या की ओर चल दिये ॥ ३ ॥

स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च ।
पश्यन्नतिययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥

सुमंत्र जी सुगन्धित पुष्पों से पूर्ण वनों, नदियों, सरोवरों, ग्रामों और नगरों को देखते हुए बड़ी तेज़ी से चले जाते थे ॥ ४ ॥

ततः सायाह्नसमये तृतीयेऽहनि सारथिः ।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह ॥ ५ ॥

शृङ्गवेरपुर से रवाना होने के तीसरे दिन सायङ्काल को सुमंत्र अयोध्या में पहुँचे और पुरी को उदास देखा ॥ ५ ॥

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥

जनशून्य जैसी नगरी अयोध्या में सन्नाटा छाया हुआ देख, सुमंत्र बहुत उदास हुए और शोकाकुल हो सोचने लगे ॥ ६ ॥

कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा ।
रामसन्तापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी ॥ ७ ॥

कि कहीं यह नगरी हाथियों, घोड़ों, नगरनिवासियों और महाराज सहित; श्रीरामचन्द्र के वियोगजन्य सन्ताप एवं दुःख से उत्पन्न, शोकरूपी आग से भस्म तो नहीं हो गयी ॥ ७ ॥

इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः ।
नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

इस प्रकार सोचते हुए सुमंत्र शीघ्रगामी घोड़ों के रथ पर सवार, नगरद्वार पर पहुँच, तुरन्त नगर में प्रवेश करते हुए ॥ ८ ॥

सुमन्त्रमभियान्तं तं शतशोऽथ सहस्रशः ।
क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन्नराः ॥ ९ ॥

सुमंत्र को नगर में आया हुआ देख, सैकड़ों हज़ारों पुरवासी जनों ने दौड़ कर, उन्हें घेर लिया और यह पूँछने लगे कि, श्रीरामचन्द्र जी कहाँ हैं? ॥ ९ ॥

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ्य राघवम् ।
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥ १० ॥

उन सब को सुमंत्र ने यही उत्तर दिया कि, गङ्गा जी के तट पर पहुँच, धार्मिक श्रीरामचन्द्र जी ने जब मुझे लौटने की आज्ञा दी, तब मैं लौट कर आया हूँ ॥ १० ॥

ते तीर्णा इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा जनाः ।
अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति च चुक्रुशुः ॥ ११ ॥

तब वे पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी को गङ्गा के पार उतरा जान, नेत्रों में आँसू भर, मुख से हाय! धिक्कार है कह, और दीर्घ श्वास ले "हा राम" कह कर चिल्लाने लगे ॥ ११ ॥

शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दंवृन्दं च तिष्ठताम् ।
हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥ १२ ॥

उस समय उस जनसमुदाय से यही सुन पड़ता था कि, हा! हम लोग मारे गये जो हम राम को नहीं देख पाते ॥ १२ ॥

दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च ।
न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु[1] धार्मिकं राममन्तरा[2] ॥ १३ ॥

हाय! दान, यज्ञ, विवाह, और बड़े बड़े समाजों में लोगों के बीच, माला के सुमेरु की तरह बैठे हुए श्रीराम को हम अब कभी न देख सकेंगे ॥ १३ ॥

किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम् ।
इति रामेण नगरं पितृवत्परिपालितम् ॥ १४ ॥

हा! वे श्रीरामचन्द्र जी तो प्रजाजन के लिये क्या ठीक है, क्या अच्छा है और क्या सुखदायी है, इन सब बातों का विचार कर, पिता की तरह नगरवासियों का पालन करते थे ॥ १४ ॥

वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम् ।
रामशोकाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनम् ॥ १५ ॥

सुमंत्र जाते जाते, सड़क के दोनों तरफ़ झरोखों में बैठी हुई श्रीराम के वियोग से सन्तप्त पुरनारियों के विलाप सुनते थे ॥ १५ ॥

---

१ पुनःजातु—कदाचिदपि । (रा०) २ अन्तरा—मध्येनायकमणिवद्वर्तमानं । (गो०)

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः ।
यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम् ॥ १६ ॥

राजमार्ग में इस प्रकार का विलाप सुन, सुमंत्र ने अपना मुख ढक लिया और बड़ी शीघ्रता से वे महाराज के देवोपम गृह की ओर गये ॥ १६ ॥

सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च ।
कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः ॥ १७ ॥

सुमंत्र ने रथ से उतर बड़ी शीघ्रता से लोगों की भीड़ से परिपूर्ण सात फाटकों को पार कर राजभवन में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम् ।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥ १८ ॥

छज्जों, सतखने मकानों की अटारियों और भवनों में बैठी तथा श्रीराम के वियोग से कर्षित स्त्रियां (अकेले) सुमंत्र को आया देख, हाहाकार करने लगीं ॥ १८ ॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः ।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥ १९ ॥

वे बड़े बड़े विमल नेत्रों से आँसू ढलकाती हुई परस्पर देखती थीं और अत्यन्त दुःखी हो ऐसे विलाप भरे वचन कहती थीं, जो अस्पष्ट थे ॥ १९ ॥

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः ।
रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम् ॥ २० ॥

राजभवन के भीतर भी इधर उधर महाराज दशरथ की रानियों का जो श्रीरामचन्द्र के शोक से सन्तप्त थीं, धीमा आलाप सुन पड़ता था ॥ २० ॥

सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः ।
सूतः किं नाम कौसल्यां शोचन्तीं प्रतिवक्ष्यति ॥२१॥

वे कहती थीं कि, यह सुमंत्र श्रीरामचन्द्र को ले कर गया था, किन्तु उनको छोड़ कर अकेला लौट कर आया है। अब देखें रोती हुई कौशल्या को किस प्रकार यह धीरज बंधाता है ॥ २१ ॥

यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम् ।
आच्छिद्य[1] पुत्रे निर्याते कौसल्या यत्र जीवति ॥२२॥

हम तो यही कहेंगी कि, जीव को दुःख भोगने के लिये जीना जैसा पसन्द है वैसा सुख के लिये नहीं। देखो इसीसे तो अपने पुत्र (श्रीरामचन्द्र) के राज्य छोड़ कर वन चले जाने पर भी, कौशल्या अब तक जी रही है ॥ २२ ॥

सत्यरूपं तु तद्वाक्यं राज्ञः स्त्रीणां निशामयन् ।
*प्रदीप्तमिव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार उन रानियों के ये सत्यवचन सुनते हुए सुमंत्र, शोक से दग्ध हो, अचानक महाराज के घर में जा पहुँचा ॥ २३ ॥

स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम् ।
पुत्रशोकपरिद्यून[2]मपश्यत्पाण्डुरे गृहे ॥ २४ ॥

---

१ आच्छिद्य—राज्यं त्यक्त्वे । (शि०) २ परिद्यूनं—क्षीणं । (गो०)
* पाठान्तरे—" प्रदीप्तइव । "

आठवीं ड्योढ़ी लांघ उसने महाराज के सफेद रंग के कमरे में जा कर देखा कि, महाराज दीन, आतुर और पुत्रशोक से क्षीण हो रहे हैं॥ २४॥

अभिगम्य तमासीनं नरेन्द्रमभिवाद्य च।
सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत्॥ २५॥

सुमंत्र ने जा कर बैठे हुए महाराज को प्रणाम किया और जो बातें श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज से कहने के लिये उससे कही थीं—वे बातें ज्यों की त्यों उसने महाराज से कहीं॥ २५॥

स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विभ्रान्तचेतनः।
मूर्छितो न्यपतद्भूमौ रामशोकाभिपीडितः॥ २६॥

उन बातों को चुपचाप सुन, महाराज की बुद्धि ठीक ठिकाने न रही। वे श्रीराम के वियोगजनित शोक से अत्यन्त विकल होने के कारण, अचेत हो पृथिवी पर गिर पड़े॥ २६॥

ततोऽन्तःपुरमाविद्धं[1] मूर्छिते पृथिवीपतौ।
उद्धृत्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ॥ २७॥

उस समय महाराज को मूर्छित हो, पृथिवी पर पड़ा देख, रनवास की सब रानियां बड़ी दुःखी हुईं और बाहें उठा उठा कर रोने लगीं॥ २७॥

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम्।
उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत्॥ २८॥

---

१ आविद्धं—शोकेनाभिहितं। (गो०)

तब सुमित्रा और कौशल्या ने ज़मीन पर पड़े हुए महाराज को उठाया और कहने लगीं ॥ २८ ॥

इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः ।
वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे ॥ २९ ॥

हे महाभाग ! महाकठिन कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र के, ये दूत वन कर वन से आये हुए हैं । इनसे आप क्यों बातचीत नहीं करते ॥ २९ ॥

अद्येममनयं[1] कृत्वा व्यपत्रपसि राघव ।
उत्तिष्ठ सुकृतं[2] तेऽस्तु शोके न स्यात्सहायता ॥३०॥

हे राघव ! श्रीरामचन्द्र जी को देशनिकाला दे कर, अब आप क्यों लज्जित हो रहे हैं । उठिये उठिये ! अब इस शोक के लिये कोई चारा नहीं—अतः अब आप शोक मत कीजिये । अर्थात् अब इस शोक को निवृत्त करने के लिये कोई उपाय शेष नहीं रहा । ऐसी दशा में आपके लिये अब शोक करना शोभा नहीं देता ॥३०॥

देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम् ।
नेह तिष्ठति कैकेयी विस्रब्धं[3] प्रतिभाष्यताम् ॥ ३१ ॥

हे देव ! जिसके भय से आप सुमंत्र से बातचीत नहीं करते वह कैकेयी यहाँ नहीं है । आप निर्भय हो बातचीत कीजिये ॥ ३१ ॥

सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा ।
धरण्यां निपपाताशु बाष्पविप्लुतभाषिणी ॥ ३२ ॥

---

१ इममनयं—पुत्रविवासनं । (गो०) २ सुकृतं—शोभनं । (गो०)
३ विस्रब्धं—निःशङ्कम् । (गो०)

महाराज से ये वचन कहते कहते कौशल्या शोक से कातर हो गयीं, उनका कण्ठ गद्गद् हो गया। वे भूमि पर गिर पड़ीं ॥ ३२ ॥

एवं विलपतीं दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि ।
पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः सुस्वरं रुरुदुः स्त्रियः ॥३३॥

इस प्रकार विलाप करती हुई और भूमि पर मूर्छितावस्था को प्राप्त कौशल्या को तथा महाराज को देख, वहाँ जो अन्य रानियाँ तथा अन्तःपुर की स्त्रियाँ थीं—वे उच्चस्वर से रुदन करने लगीं ॥ ३३ ॥

ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं
समीक्ष्य[1] वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः ।
स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः
पुरं तदासीऽऽपुनरेव[2] सङ्कुलम् ॥ ३४ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

रनवास में रोने का शब्द सुन, अयोध्यापुरी में उस समय जितने बूढ़े और जवान पुरुष थे तथा वहाँ जितनी स्त्रियाँ थीं, वे सब की सब चारों ओर रोने लगीं और समूची अयोध्यापुरी में फिर एक बार वैसा ही हाहाकार हुआ, जैसा श्रीरामचन्द्र के वन जाते समय हुआ था ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

१ समीक्ष्य—श्रुत्वा । (गो०) २ पुनरेवसङ्कुलम् । रामगमनकालइवव्याकुलमासीत् । (गो०)

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

प्रत्याश्वस्तो[1] यदा राजा मोहात्प्रत्यागतः[2] पुनः ।
अथाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥

कुछ देर बाद जब महाराज उपचारद्वारा सचेत हुए, तब श्रीरामचन्द्र का वृत्तान्त सुनने के लिये सूत को पुकारा और उनको ओर अपना मुख फेरा ॥ १ ॥

अथ सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः ।
राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥

सुमंत्र, महाराज के सामने हाथ जोड़े खड़े थे। उस समय महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र के वियोग से चिन्तित और शोक से विकल थे ॥ २ ॥

वृद्धं परमसन्तप्तं [3]नवग्रहमिव द्विपम् ।
विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तम्[4]अस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥३॥

बूढ़े महाराज दशरथ, हाल के पकड़े हुए हाथी की तरह परम सन्तप्त थे और उसी तरह उसाँसे ले रहे थे, जिस प्रकार एक व्याधिग्रस्त हाथी उसाँसे लेता है ॥ ३ ॥

राजा तु रजसा सूतं* ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम् ।
अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥

---

१ प्रत्याश्वस्तः—उपचारैरुद्बोधितः । (रा०) २ प्रत्यागतः—सूतस्याभिमुखागतः । (गो०) ३ नवग्रहं—सद्योगृहीतं । (गो०) ४ अस्वस्थ—व्याधिग्रस्तं । (गो०) * पाठान्तरे—" धूतं "

सुमंत्र के सारे शरीर में धूल लगी थी, आँखों से आँसू बह रहे थे, देखने से वे अत्यन्त विकल जान पड़ते थे। ऐसी दशा को प्राप्त सुमंत्र से, महाराज दशरथ अत्यन्त कातर मनुष्य की तरह बोले ॥ ४ ॥

क्वनु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः ।
सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमशिष्यति राघवः ॥ ५ ॥

हे सुमंत्र ! वह धर्मात्मा कहाँ—वृक्ष के नीचे वास करता होगा और जो हर प्रकार से सुखपूर्वक रहने योग्य है—वह राम वन में क्या खायगा ? ॥ ५ ॥

दुःखस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः ।
भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाथवत् ॥ ६ ॥

हे सुमंत्र ! हमारा राम दुःख भोगने योग्य नहीं—वह तो सेज पर सोने योग्य है। भला एक राजकुमार एक अनाथ की तरह कैसे भूमि पर सो सकता है ? ॥ ६ ॥

यं यान्तमनुयान्ति स्म पदातिरथकुञ्जराः ।
स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥

जिस राजकुमार की सवारी के पीछे अनेक पैदल सिपाही, रथ और घोड़े चला करते थे, वह राम जनशून्य वन में कैसे रह सकेगा ॥ ७ ॥

व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम् ।
कथं कुमारौ वैदेह्या सार्धं वनमुपस्थितौ ॥ ८ ॥

जिस वन में अनेक अजगर और दुष्ट वनजन्तु विचरा करते हैं और जिसमें काले साँप रहा करते हैं, उस वन में सीता सहित दोनों राजकुमार कैसे रहते होंगे ॥ ८ ॥

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया ।
राजपुत्रौ कथं पादैरवरुह्य रथाद्गतौ ॥ ९ ॥

हे सुमंत्र ! उस सुकुमारी और दुःखियारी सीता को साथ ले—वे दोनों राजकुमार किस तरह रथ से उतर कर पैदल चले होंगे ॥९॥

सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ ।
वनान्तं प्रविशन्तौ तावश्विनाविव मन्दरम् ॥ १० ॥

हे सुमंत्र ! तू बड़ा भाग्यवान् है, जिसने मेरे दोनों राजकुमारों को वन में उसी प्रकार जाते देखा, जिस प्रकार अश्विनीकुमार मन्दराचल पर जाते हैं ॥ १० ॥

किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः ।
सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥ ११ ॥

हे सुमंत्र ! वन में पहुँच, राम ने क्या कहा, लक्ष्मण ने क्या कहा और सीता ने क्या कहा ? ॥ ११ ॥

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय ।
जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥ १२ ॥

हे सूत ! तुम राम के उपवेशन, शयन तथा भोजन का वृत्तान्त कहो, जिसके सुनने से मैं कुछ देर और उसी प्रकार जीवित रह सकूँ, जिस प्रकार साधु के वचनों को सुन, राजा ययाति जीवित रहे थे ॥ १२ ॥

[नोट—लिखा है, राजा ययाति जब स्वर्ग में पहुंचे और अपने सुकृतों का वर्णन करने लगे; तब इन्द्र ने उनसे कहा कि, जिह्वा पर अग्निदेव का वास है। तुमने अपने सुकृतों का अपने आप वर्णन कर अपने सुकृतों को दग्ध कर डाला, अतः अब तुम स्वर्ग में नहीं रह सकते। मृत्युलोक को चले जाओ। तब ययाति ने यह प्रार्थना की कि, यदि आप मुझे मृत्युलोक में भेजते हैं, तो वहाँ ऐसी जगह भेजिये जहाँ साधुओं का साथ मिले। ययाति की यह प्रार्थना स्वीकृत हुई और इसका फल यह हुआ कि, ययाति को स्वर्ग से गिरने का जो दुःख हुआ था, वह साधुसमागम से दूर हो गया था।]

इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया[1]।
उवाच वाचा राजानं स बाष्प[2]परिरब्धया ॥ १३ ॥

जब महाराज ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब सुमंत्र गद्गद कण्ठ हो, लड़खड़ाती वाणी से कहने लगे ॥ १३ ॥

अब्रवीन्मां महाराज धर्ममेवानुपालयन्।
अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥१४॥
सूत मद्वचना[3]त्तस्य तातस्य विदितात्मनः[4]।
शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ[5] पादौ*पुनः पुनः॥१५॥

हे महाराज! धर्म के पालन करने वाले श्रीरामचन्द्र ने हाथ जोड़ और मस्तक झुका कर यह कहा कि, मेरी ओर से संसार में धर्मात्मा कह कर प्रसिद्ध एवं वन्दनीय महाराज पिता के चरणों को बार बार प्रणाम कर ॥ १४ ॥ १५ ॥

---

१ सज्जमानया—स्खलन्त्या। (गो०) २ बाष्पपरिरब्धया—कण्ठगतबाष्प रुद्धयेत्यर्थः। (गो०) ३ मद्वचनात्—ममप्रतिनिधित्वेन। (रा०) ४ विदितात्मनः लोकेधार्मिकत्वेनप्रसिद्धस्य। (रा०) ५ वन्द्यौ—वन्दनीयौ। (रा०)

* पाठान्तरे—"महात्मनः।"

सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात्त्वया।
आरोग्यमविशेषेण यथार्हं चाभिवादनम्॥ १६॥

अन्तःपुरवासी समस्त स्त्रियों और पुरुषों को भी मेरी ओर से मेरा कुशलसमाचार कहना और यथायोग्य प्रणामादि कहना॥ १६॥

माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम्।
अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः॥ १७॥

मेरी माता कौशल्या से भी मेरा कुशलसमाचार कह कर, मेरी ओर से प्रणाम कहना और यह भी कह देना कि, अपने कर्त्तव्य के पालन में प्रमाद न करें अर्थात् तत्पर रहें॥ १७॥

धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा[1] भव।
देवि देवस्य पादौ च देववत्परिपालय[2]॥ १८॥

और यथासमय नित्य धर्मानुष्ठानादि करती रहें और यज्ञशाला की चौकसी रखें। फिर यह कहा है कि, हे देवी! महाराज को देवतावत् मान उनकी चरणसेवा करो॥ १८॥

अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु।
अनु राजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय[3]॥ १९॥

और कुलाभिमान एवं बड़प्पन का विचार त्याग कर, मेरी अन्य माताओं के साथ व्यवहार करना। महाराज की विशेष

१ अग्न्यागारपरा—यागशालारक्षिकाभव। (शि०) २ परिपालय—निषेवस्व। (शि०) ३ कारय—राजानं कैकेयींचतुल्यअनुवर्तस्व।

कृपापात्र माता कैकेयी है। : उसके प्रति भी वैसा ही व्यवहार करना जैसा महाराज के साथ ॥

कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत् ।
अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥ २० ॥

और कुमार भरत से राजा जैसा वर्ताव करना—यद्यपि भरत वय में नहीं, तथापि धन से ज्येष्ठ होने के कारण, राजधर्मानुसार उनके प्रति राजा जैसा व्यवहार करना ॥ २० ॥

भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च ।
सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥ २१ ॥

(हे महाराज ! श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी के लिये यह कहा है कि) भरत जी से मेरा कुशलवृत्त कहना और यह बात कहना कि, वे सब माताओं के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार करें ॥ २१ ॥

वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥ २२ ॥

इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरत से यह भी कहना कि, युवराज हो कर महाराज पिता की आज्ञा में चलें ॥ २२ ॥

अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यवरोरुधः[1] ।
कुमारराज्ये जीव त्वं तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् ॥ २३ ॥

महाराज अब बहुत बूढ़े हैं, अतएव उनको राज्यभ्रष्ट न करना अर्थात् राज्यासन की अभिलाष मत करना और युवराज पद पा कर ही सन्तोष कर, महाराज जो कहें सो करना ॥ २३ ॥

---

१ व्यवरोरुधः—व्यवरोरुधः राज्यात् भ्रंशयेत्यर्थः । (रा०)

अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन् ।
मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त दुखिया कर मुझसे यह भी कहा है कि, भरत जी से यह बात कह देना कि, मेरी पुत्रवत्सला माता को अपनी माता की तरह समझें ॥ २४ ॥

इत्येवं मां महाराज ब्रुवन्नेव महायशाः ।
रामो राजीवताम्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ २५ ॥

महाबाहु, महायशस्वी, पद्मपलाशलोचन श्रीरामचन्द्र ने मुझसे ये सन्देशे कहे और बहुत रोये ॥ २५ ॥

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन्वाक्यमब्रवीत् ।
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥

तब लक्ष्मण जी ने अत्यन्त कुपित हो और ऊँची सांस ले यह कहा। इन राजकुमार ने कौनसा ऐसा अपराध किया था जिससे इन्हें देशनिकाला दिया गया है ॥ २६ ॥

राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु त्वाश्रित्य शासनम् ।
कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥

महाराज ने कैकेयी की तुच्छ बात मान और प्रतिज्ञा कर, कार्य अकार्य का कुछ भी विचार न किया । (इसका फल यह हुआ कि) दुःख हम लोगों को भोगना पड़ता है ॥ २७ ॥

यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम् ।
वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी, कैकेयी के (अनुचित) लालच वश अथवा वरदान पूरा करने के लिये वन भेजे गये हैं, तो यह कार्य सर्वथा बुरा है ॥ २८ ॥

इदं तावद्यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम् ।
रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥ २९ ॥

यदि ईश्वर के करने से उन्होंने ऐसा किया है, तो भी श्रीरामचन्द्र के निर्वासन में ईश्वर की कृति का कोई हेतु या कारण नहीं देख पड़ता है ॥ २९ ॥

असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात् ।
जनयिष्यति संक्रोशं[1] राघवस्य विवासनम् ॥ ३० ॥

महाराज ने इसका परिणाम न सोचा, केवल बुद्धि की कोताई ही से यह काम किया, अतः श्रीरामचन्द्र जी का यह वनवास महाराज को दुःख देगा ॥ ३० ॥

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये ।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥

मुझे तो महाराज में पितृकर्त्तव्य का पालन कुछ भी नहीं देख पड़ता। अतः अब तो मेरे भाई, स्वामी, बन्धु और पिता (जो कुछ हैं—सो) श्रीरामचन्द्र हैं ॥ ३१ ॥

सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम् ।
सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं त्वाऽनेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

---

१ संक्रोशं—दुःखं । राज्ञोनुतापइतिभावः । (गो०)

सब लोगों के प्रिय और सब लोगों की भलाई करने में निरत श्रीरामचन्द्र जी को जब तुमने वनवास दिया—तब (तुम्हारे इस कर्म से तुम्हारे ऊपर) प्रजाजन कैसे प्रसन्न होंगे ॥ ३२ ॥

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम् ।
सर्वलोकं विरुद्धयेमं कथं राजा भविष्यसि ॥३३॥

ऐसे धार्मिक और प्रजाप्रिय श्रीरामचन्द्र को वन में निकालने के कारण सब प्रजाजनों के विरोधी बन, आप किस प्रकार राजा कहला सकेंगे ॥ ३३ ॥

जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती मनस्विनी[1] ।
भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मिता स्थिता ॥ ३४ ॥

हे महाराज ! जानकी जो बड़े गम्भीर मन की है—भूत लगे हुए जन के चित्त की तरह आश्चर्यचकित हो, टकटकी बाँधे खड़ी की खड़ी ही रह गयी ॥ ३४ ॥

अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी ।
तेन दुःखेन रुदती नैव मां किञ्चिदब्रवीत् ॥ ३५ ॥

क्योंकि उस यशस्विनी राजदुलारी पर इसके पूर्व कभी दुःख नहीं पड़ा था । अतः इस दुःख में, मुँह से कुछ भी न कह, केवल वह विलख रही थी ॥ ३५ ॥

उद्वीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता ।
मुमोच सहसा बाष्पं मां प्रयान्तमुदीक्ष्य सा ॥३६॥

---

१ मनस्विनी—गम्भीरमनस्का । (गो०)

और पति के अश्रुपूर्ण मुख को देख, उसका मुख सूख गया था और वह मेरी ओर देख सहसा आँसू गिराने लगी थी ॥ ३६ ॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः
स्थितोऽभवल्लक्ष्मणबाहुपालितः ।
तथैव सीता रुदती तपस्विनी
निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी, जिनकी बाँह पकड़ लक्ष्मण खड़े थे, अश्रुमुख हो और हाथ जोड़े खड़े खड़े, मेरी ओर देख रहे थे। तपस्विनी सीता भी उसी तरह रोती हुई राजरथ की ओर मुझको देख रही थी ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाण्ड का अठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—:०:—

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि ।
उष्णमश्रु प्रमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम् ॥ १ ॥

(सुमंत्र, महाराज दशरथ से कहने लगे) श्रीरामचन्द्र जी के वन को चले जाने पर जब मैं लौटने लगा, तब मेरे थके घोड़े रास्ते में अड़ गये और गरम गरम आँसू गिराने लगे ॥ १ ॥

उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम् ।
प्रस्थितो रथमास्थाय तद्दुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥

मैंने दोनों राजकुमारों को प्रणाम कर रथ में बैठ वहाँ से प्रस्थान किया और उस दुःख को भी किसी प्रकार सह लिया ॥ २ ॥

गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून् ।
आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥ ३ ॥

कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी मुझे बुला कर, (अपने साथ ले चलें) इस आशा में मैं गुह के साथ वहाँ कई दिनों तक ठहरा रहा ॥ ३ ॥

विषये ते महाराज रामव्यसनकर्शिताः ।
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥ ४ ॥

मैंने लौटते समय देखा कि, आपके राज्य के वृक्ष तक दुःखी हैं। क्योंकि उनके फूल अङ्कुर और कली कुम्हला गयी हैं ॥ ४ ॥

उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च ।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥ ५ ॥

नदियों, तलैयों और तालावों का जल सूख रहा है। (और नदियों तलैयों और तालावों में जल कम हो जाने के कारण) वनों और उपवनों के वृक्षों के पत्ते मुरझाये हुए हैं ॥ ५ ॥

न च सर्पन्ति[1] सत्त्वानि[2] व्याला[3] न प्रचरन्ति च
रामशोकाभिभूतं तन्निष्कूजमभवद्वनम् ॥ ६ ॥

---

१ नसर्पन्ति—नगच्छन्ति । (गो०) २ सत्त्वानि—जन्तवः । (गो०)
३ व्यालाः—हिंस्रपशवः सर्वदासञ्चारस्वभावा गजावा । (गो०)

जीव जन्तुओं ने चलना बंद कर दिया है और हिंस्रपशु अथवा सदैव घूमने वाले हाथी भी अब वनों में घूमते हुए नहीं देख पड़ते। राम के वियोगजनित शोक से वनों में सन्नाटा छाया हुआ है ॥ ६ ॥

लीनपुष्करपत्राश्च[1] नरेन्द्र कलुषोदकाः ।
सन्तप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीन[2]विहङ्गमाः ॥ ७ ॥

हे महाराज ! तालावों का जल गंदला हो गया है और कमलों के पत्ते राम-वियोग-जन्य अतिशय ग्लानि उत्पन्न होनें के कारण जल के भीतर डूब गये हैं। कमल के तालावों में कमल सूख रहे हैं। मछलियों और (जल) पक्षियों ने पानी में घूमना फिरना छोड़ दिया है ॥ ७ ॥

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि[3] स्थलजानि च ।
नाद्य भान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम् ॥८॥

जल में उत्पन्न होने वाले पुष्प और पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले पुष्पों में न तो पहले जैसी गन्ध ही रह गयी और न फलों में पहले जैसा स्वाद ही रह गया ॥ ८ ॥

अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीनविहगानि च ।
न चाभिरामानारामान्पश्यामि मनुजर्षभ ॥ ९ ॥

यहां के उपवनों में भी पक्षियों के चुपचाप घोंसलों में बैठे रहने से सन्नाटा छाया हुआ है। यहां की वाटिकाएँ भी मुझे शोभाहीन देख पड़ती हैं ॥ ९ ॥

प्रविशन्तमयोध्यां मां न कश्चिदभिनन्दति ।
नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

---

१ लीनपुष्करपत्राः—ग्लान्यतिशयेनजलान्तर्लीनपत्राः । (गो॰)
२ लीनाः—सञ्चाररहिताः । (गो॰) ३ माल्यानि—पुष्पाणि । (गो॰)

मैं जब अयोध्या में आया, तब मैंने किसी को भी प्रसन्न न पाया प्रत्युत लोग (मेरे रथ में) श्रीरामचन्द्र को न देख, बार बार लंबी सांसे लेने लगे ॥ १० ॥

देव राजरथं दृष्ट्वा विना राममिहागतम् ।
दुःखादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गगतो जनः ॥ ११ ॥

हे देव ! राजरथ में बैठ कर श्रीरामचन्द्र जी को आते न देख, रास्ते में जितने लोग थे, वे सब दुःखी हो रोने लगे ॥ ११ ॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम् ।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को न देखने के कारण विकल और छज्जों, सतखने मकानों की छतों और भवनों के झरोखों में बैठी हुई स्त्रियों ने सूने रथ को आते देख, बड़ा हाहाकार किया ॥ १२ ॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः ।
अन्योन्यमभिवीक्षन्ते व्यक्त[1]मार्ततराः स्त्रियः ॥ १३ ॥

वे (स्त्रियां) बड़े बड़े विमल नेत्रों में आंसू भर और बहुत कातर एक दूसरे को अच्छी तरह नहीं देखती थीं ॥ १३ ॥

[नोट—नेत्रों को विमल कहने का भाव यह है कि, नेत्रों में अंजन या काजल जो स्त्रियों के शृङ्गार का एक अङ्ग है, वह नहीं लगा था ।]

नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च ।
अहमार्ततया किञ्चिद्विशेषमुपलक्षये ॥ १४ ॥

---

१ अव्यक्तं—सम्यक् न । (रा०)

मुझे तो आज क्या मित्र, क्या शत्रु और क्या उदासीन—किसी भी जन में, सिवाय कातरता के और कोई भी विशेषता नहीं देख पड़ती ॥ १४ ॥

अप्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरङ्गमा ।
आर्तस्वरपरिम्लाना विनिःश्वसितनिःस्वना ॥ १५ ॥

जितने मनुष्य हैं वे सब दुःखी हैं, जितने हाथी घोड़े हैं वे भी उदास हैं। सब ही आर्तनाद करते हुए लंबी लंबी उसांसे ले रहे हैं ॥ १५ ॥

निरानन्दा महाराज रामप्रव्राजनातुरा ।
कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिभाति मा ॥ १६ ॥

हे महाराज! श्रीरामचन्द्र जी के चले जाने से सब लोग दुःखी हैं। अयोध्यापुरी तो मुझे पुत्र से बिछुड़ी हुई कौशल्या की तरह (दीन) दिखलाई पड़ रही है ॥ १६ ॥

सूतस्य वचनं श्रुत्वा राजा परमदीनया ।
बाष्पोपहतया वाचा तं सूतमिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥

सुमंत्र के वचन सुन महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हो गद्गद कण्ठ से सुमंत्र से यह बोले ॥ १७ ॥

कैकेय्या हि नियुक्तेन [1]पापाभिजनभावया ।
न मया मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम्[2] ॥ १८ ॥

---

१ पापाभिजनभावया—क्रूरकर्मविषयकसंमतिदानजनितपापविशिष्टाये अभिजनाः अभितः समीपं विद्यमानाः जनाः मन्थरादयः तैस्सहभावो यंस्थितिर्यस्याः । (शि०) २ नसमर्थितं—नविचारितं । (गो०)

हे सुमंत्र! दुष्ट बुद्धिवाली मन्थरादि का सहवास करने वाली कैकेयी को जब मैं वर देने लगा, तब (शोक है कि) न तो परामर्श देने में निपुण वृद्ध जनों के साथ मैंने विचार किया ॥ १८ ॥

न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा च नैगमैः।
मयाऽयमर्थः सम्मोहात्स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥ १९ ॥

और न अपने सुहृदों और न अपने मंत्रियों और न (राजधानी के) महाजन साहूकारों से सलाह ली। मैंने यह अनर्थ केवल कैकेयी के लिये मोहवश सहसा कर डाला ॥ १९ ॥

भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत्।
कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छया[1] ॥ २० ॥

हे सुमंत्र! निश्चय ही यह दारुण कष्ट होनी के वश, इक्ष्वाकु कुल का सर्वनाश करने को अपने आप अथवा दैवइच्छा से उपस्थित हुआ है ॥ २० ॥

सूत यद्यस्ति ते किञ्चिन्मया तु सुकृतं[2] कृतम्।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः सन्त्वरयन्ति माम् ॥२१॥

हे सुमंत्र! यदि मैंने तेरा कुछ भी उपकार किया हो, तो तू मुझे शीघ्र राम के पास पहुँचा। (क्योंकि) मेरे प्राण (शरीर से निकलने के लिये) जल्दी कर रहे हैं ॥ २१ ॥

यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम्।
न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ २२ ॥

---

१ यदृच्छया—दैवेच्छया। (रा०) २ सुकृतं—उपकारः (गो०)।

अथवा यदि अब भी श्रीराम मेरी आज्ञा मान वन से लौट सकें, तो तू ही जा कर उनको लौटा ला। क्योंकि मैं राम बिना एक मुहूर्त्त भी नहीं जी सकता ॥ २२ ॥

अथवाऽपि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति ।
मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥ २३ ॥

अथवा यदि महाबाहु राम बहुत दूर निकल गये हों, तो मुझे रथ में बिठा शीघ्र ले चल कर, मुझे राम को दिखला दे ॥ २३ ॥

वृत्तदंष्ट्रो[1] महेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः ।
यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयं सीतया सह ॥ २४ ॥

कुन्दपुष्पसम दांतों वाले, महाधनुर्धर और लक्ष्मण के बड़े भाई राम कहाँ हैं? यदि मैं जीता रहा तो सीता सहित इस साधु को अवश्य देखूँगा ॥ २४ ॥

लोहिताक्षं महाबाहुमामुक्तमणिकुण्डलम् ।
रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ २५ ॥

यदि मैं लाल नेत्र वाले, महाबाहु, रत्नकुण्डलधारी राम को न देखूँगा तो मैं यमालय को चला जाऊँगा अर्थात् मर जाऊँगा ॥ २५ ॥

अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम् ।
इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥ २६ ॥

---

१ वृत्तदंष्ट्रो—कुन्दकुड्मलाकारदंष्ट्रः । (गो०)

हा! इससे अधिक दुःख की बात क्या होगी, जो मैं इक्ष्वाकु-कुल-नन्दन राम को इस (मरण) अवस्था में भी नहीं देख सकता ॥ २६ ॥

हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनी।
न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत् ॥ २७ ॥

हा राम! हा लक्ष्मण! हा तपस्विनी वैदेही! मैं अनाथ की तरह कष्ट के साथ मर रहा हूँ, यह तू नहीं जानती ॥ २७ ॥

स तेन राजा दुःखेन भृशमर्पित[1]चेतनः।
अवगाढः[2] सुदुष्पारं शोकसागरमब्रवीत् ॥ २८ ॥

यह कहते कहते महाराज दशरथ का मन बहुत दुःखी हो गया। वे अपार शोकसागर में डूब कर कहने लगे ॥ २८ ॥

[शोकसागर का रूपक बाँधा है।]

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः।
श्वसितोर्मिमहावर्तो बाष्पफेनजलाविलः ॥ २९ ॥
बाहुविक्षेपमीनौघो विक्रन्दितमहास्वनः।
प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः ॥ ३० ॥
ममाश्रुवेगप्रभवः कुब्जावाक्यमहाग्रहः।
वरवेलो नृशंसाया रामप्रव्राजनायतः ॥ ३१ ॥

राम का विरहजन्य शोक उस सागर की गहराई या चौड़ाई है, जिसके किनारे हैं सीता जी का विछोह। श्वास का निकलना उसके भँवर हैं, नेत्रजल से मानों वह गँदला हो रहा है। हाथों को पट

---

१ अर्पित चेतनः—व्याप्तचित्तः। (गो०) २ अवगाढः—प्रविष्टः। (गो०)

कना मानों मछलियाँ हैं और आर्त्तनाद उस महासागर का मानों गर्जन तर्जन है। बिखरे हुए बाल मानों सिवार हैं और कैकेयी मानों वड़वानल (वह आग जो समुद्र के नीचे रहती है।) नेत्रों का जल गम्भीरता उत्पन्न करने वाला है, मन्थरा के वाक्य मानों बड़े बड़े घड़ियाल हैं, कैकेयी के वर, जिससे श्रीरामचन्द्र जी वन गये मानों लंबे लंबे तट हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

यस्मिन्वत निमग्नोऽहं कौसल्ये राघवं विना ।

दुस्तरो जीवता देवि ममाऽयं शोकसागरः ॥ ३२ ॥

हे कौशल्या! मैं बिना राम के इस प्रकार के अथाह शोक-सागर में डूब रहा हूँ, सो जीते जी तो मैं इसे पार न कर सकूँगा ॥ ३२ ॥

अशोभनं[1] योऽहमिहाद्य राघवं

दिदृक्षमाणो न लभे सलक्ष्मणम् ।

इतीव राजा विलपन्महायशाः

पपात तूर्णं शयने स मूर्छितः ॥ ३३ ॥

मैं आज लक्ष्मण सहित राम को देखना चाहता हूँ, किन्तु नहीं देख सकता, यह मेरे किसी महापातक का फल है। इस प्रकार महायशस्वी महाराज अनेक प्रकार से विलाप करते हुए तत्काल ही अचेत हो पलंग पर गिर पड़े ॥ ३३ ॥

इति विलपति पार्थिवे प्रनष्टे[2]

करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः ।

१ अशोभनं—ममसहत्पापं । (रा०) २ प्रनष्टे—मूर्छिते सीता । (रा०)

वचनमनुनिशम्य तस्य देवी
भयमगमत्पुनरेव राममाता ॥ ३४ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

महाराज जब श्रीरामचन्द्र के लिये अत्यन्त करुणपूर्ण विलाप करते करते मूर्छित हो गये तब राममाता महारानी कौशल्या देवी को उनके ऐसे वचन सुन, दूना भय हुआ। (अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के लिये महाराज को करुणपूर्ण विलाप कर के मूर्छित हुआ देख, कौशल्या बहुत डरी कि, कहीं महाराज प्राण न त्याग दें) ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनसठवां सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

षष्टितमः सर्गः

—:o:—

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः ।
धरण्यां गतसत्त्वेव[1] कौसल्या सूतमब्रवीत् ॥ १ ॥

कौशल्या, जो भूताविष्ट की तरह भूमि पर निर्जीव सी पड़ी कांप रही थी, सुमंत्र से बोलीं ॥ १ ॥

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः ।
तान्विना क्षणमप्यत्र जीवितुं नोत्सहे ह्यहम् ॥ २ ॥

हे सूत ! जहां राम, लक्ष्मण जानकी हों, वहीं मुझे ले चलो, क्योंकि बिना उनके आज मैं एक क्षण भी नहीं जी सकती ॥ २ ॥

---

१ गतसत्त्वेव—गतप्राणेव । (गो०)

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान्नय मामपि ।
अथ तान्नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥

अतः अति शीघ्र रथ फिर लौटाओ और मुझे भी दण्डकवन में पहुँचा दो, जो मैं उनके पास न गयी तो मैं यमपुरी को चल दूँगी ॥ ३ ॥

बाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया[1] ।
इदमाश्वासयन्देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

यह सुन सुमंत्र आँसू बहा, विकल हो, और हाथ जोड़ कर, महारानी को धीरज बँधाते हुए बोले ॥ ४ ॥

त्यज शोकं च मोहं च सम्भ्रमं[2] दुःखजं तथा ।
व्यवधूय च सन्तापं वने वत्स्यति राघवः ॥ ५ ॥

हे देवी ! तुम शोक, मोह और दुःख के कारण उत्पन्न विकलता को त्याग दो । क्योंकि श्रीरामचन्द्र सुख से वन में वास करेंगे ॥५॥

लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन्वने ।
आराधयति धर्मज्ञः परलोकं[3] जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

लक्ष्मण भी श्रीरामचन्द्र की चरणसेवा कर, धर्मपूर्वक एवं जितेन्द्रिय हो, अपना परलोक सुधार रहे हैं ॥ ६ ॥

विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव ।
विस्रम्भं[4] लभतेऽभीता रामे विन्यस्तमानसा ॥ ७ ॥

---

१ सज्जमानया—विक्लवया। (गो०) २ सम्भ्रमं—व्याकुलत्वं। (गो०) ३ परलोकमाराधयति—परलोकं साधयति। (गो०) ४ विस्रम्भं—प्रणयं। (गो०)

विजन वन में भी सीता राम में अपना मन लगा, घर ही के समान, प्रीतिपूर्वक एवं निर्भय रहती हैं ॥ ७ ॥

नास्या दैन्यं कृतं किञ्चित्सुसूक्ष्ममपि लक्ष्यते ।
उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मा ॥ ८ ॥

सीता जी में मुझे ज़रा सी भी दीनता नहीं देख पड़ी । अतः मुझे तो वह प्रवास में रहने के योग्य ही मालूम पड़ती है ॥ ८ ॥

नगरोपवनं गत्वा यथा स्म रमते पुरा ।
तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सीता नगर के बाग़ बगीचों में जा कर पहले यहाँ विहार किया करती थीं उसी प्रकार वह वहाँ निर्जन वन में भी विहार करती है ॥ ९ ॥

बालेव रमते सीताऽबालचन्द्रनिभानना ।
रामा रामे ह्यधीनात्मा विजनेऽपि वने सती ॥१०॥

पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह मुखवाली सीता निर्जन वन में भी प्रसन्नचित्त हो कर राम में मन लगा और अधीन हो क्रीड़ा किया करती है ॥ १० ॥

तद्गतं हृदयं ह्यस्यास्तदधीनं च जीवितम् ।
अयोध्यापि भवेत्तस्या रामहीना तथा वनम् ॥११॥

क्योंकि केवल उसका मन ही सम्पूर्णतया श्रीराम के अधीन नहीं है, प्रत्युत उसका जीवन भी उन्हींके ऊपर निर्भर है । अतः

बिना श्रीराम के उसके लिये यह अयोध्या भी वन के समान है ॥ ११ ॥

पथि पृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च ।
गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान्विविधानपि ॥ १२ ॥

मार्ग में जो गाँव, नगर, नदी और अनेक प्रकार के वृक्ष सीता देखती, उनके विषय में वह ॥ १२ ॥

रामं वा लक्ष्मणं वापि पृष्ट्वा जानाति जानकी ।
अयोध्याक्रोशमात्रे तु विहारमिव संश्रिता ॥ १३ ॥

राम से और लक्ष्मण से पूँछ, उनका वृत्तान्त अथवा परिचय जान लेती थी। वह वन तो उसके लिये मानों अयोध्या से एक कोस के अन्तर पर उपस्थित विहारस्थल जैसा हो रहा है ॥ १३ ॥

इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैवोपजल्पितम् ।
कैकेयीसंश्रितं वाक्यं नेदानीं प्रतिभाति मा ॥ १४ ॥

सीता जी के विषय में तो मुझे इन्हीं बातों की याद है, उसने कैकेयी के बारे में जो कहा था—वह मुझे इस समय याद नहीं है ॥ १४ ॥

ध्वंसयित्वा तु तद्वाक्यं प्रमादात्पर्युपस्थितम् ।
ह्लादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत् ॥ १५ ॥

सुमंत्र ने भूल से कैकेयी की चर्चा छेड़ दी थी—सो उस चर्चा को वहीं छोड़, फिर सुमंत्र कौशल्या को प्रसन्न करने वाले वचन कहने लगे ॥ १५ ॥

अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन[1] च ।
न विगच्छति[2] वैदेह्याश्चन्द्रांशुसदृशी प्रभा ॥ १६ ॥

हे महारानी ! जानकी के मुख की चन्द्रमा जैसी प्रभा, मार्ग की थकावट से, हवा के झोंके से, व्याघ्रादि भयङ्कर वन के जीव जन्तुओं के डर से, अथवा तेज़ धूप से फीकी नहीं होती है ॥ १६ ॥

सदृशं शतपत्रस्य[3] पूर्णचन्द्रोपमप्रभम् ।
वदनं तद्वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते ॥ १७ ॥

अलक्तरसरक्ताभावलक्तरसवर्जितौ ।
अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥ १८ ॥

और न कमल एवं पूर्णचन्द्र के तुल्य सीता जी का मुख मलिन होता है। यद्यपि उसके चरणों में महावर नहीं लगायी गयी तथापि अब तक उसके दोनों चरण कमल की तरह लाल लाल देख पड़ते हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥

नूपुरोद्घुष्टहेलेव खेलं[4] गच्छति भामिनी ।
इदानीमपि वैदेही तद्रागान्न्यस्तभूषणा ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रति अनुरागवती होने के कारण सीता ने अब तक आभूषण नहीं उतारे हैं, वह पैरों की पायजेबों की झनकार से हंस आदि के गमन को लजाती हुई बड़े आनन्द से चलती है ॥ १९ ॥

---

१ सम्भ्रमेण—व्याघ्रादिदर्शनजन्यव्याकुलत्वेन । (गो०) २ नविगच्छति—नविकरोति । (गो०) ३ शतपत्रस्य—पद्मस्य । (गो०) ४ खेलं—सलीलं । (गो०)

गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता ।
नाहारयति संत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता ॥ २० ॥

वन में हाथी, सिंह और व्याघ्र को देख—वह डरती नहीं, क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के भुजबल पर विश्वास होने से वह निर्भय रहती है ॥ २० ॥

न शोच्यास्ते न चात्मानः[1] शोच्यो नापि जनाधिपः ।
इदं[2] हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

अतः हे देवी ! तुम उन तीनों के लिये, अपने लिये और महाराज के लिये ज़रा भी चिन्ता न करो । पिता की आज्ञा मान कर वन जाने का श्रीराम जी का चरित्र आचन्द्रार्क इस संसार में प्रसिद्ध हो, प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा ॥ २१ ॥

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा
महर्षियाते[3] पथि सुव्यवस्थिताः ।
वने रता वन्यफलाशनाः पितुः
शुभां प्रतिज्ञां परिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

वे (श्रीरामचन्द्र) शोक को दूर कर, प्रसन्न मन से महर्षियों के चले हुए मार्ग का भली भांति अनुसरण कर, अर्थात् तपस्वियों के नियमों को पालन करते हुए वन में रह और कन्दमूल फल खा पिता की परम पवित्र आज्ञा का पालन कर रहे हैं ॥ २२ ॥

---

१ आत्मनः—त्वयं । (गो०) २ इदंचरितं—पितृवचनपरिपालनरूपं-चरितं । (गो०) ३ महर्षियाते—महर्षिभिः प्राप्ते । (गो०)

तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना
निवार्यमाणा सुतशोककर्शिता ।
न चैव देवी विरराम कूजितात्
प्रियेति पुत्रेति च राघवेतिच ॥ २३ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

यद्यपि सूत ने कौशल्या को अनेक युक्तियों से बहुत कुछ समझाया, तथापि कौशल्या पुत्रवियोगजन्य शोक से पीड़ित हो, रोने चिल्लाने से न रुकीं और "अरे मेरे लाड़ले," "अरे मेरे बेटे," "अरे राम!" बराबर कह कह कर रोती ही रहीं ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

एकषष्टितमः सर्गः

—:o:—

वनं गते धर्मपरे रामे रमयतांवरे ।
कौसल्या रुदती* सार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

गुणाभिराम, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी के वन चले जाने पर, कौशल्या विकल हो रुदन करती हुई अपने पति से यह बोलीं ॥ १ ॥

यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महद्यशः ।
सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥

* पाठान्तरे—"स्वार्त्ता ।"

हे महाराज ! यद्यपि तीनों लोकों में आपकी यह कीर्ति फैली हुई है कि, महाराज बड़े दयालु, उदार, और प्रियवादी हैं ॥ २ ॥

कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया ।
दुःखितौ सुखसंवृद्धौ वने दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥

तथापि हे पुरुषोत्तम ! (यह तो बतलाइये कि) सीता सहित आपके वे दोनों पुत्र, जो सुख में पाले पोसे गये हैं, दुःखी हो, किस तरह वन में दुःख सह सकेंगे ॥ ३ ॥

सा नूनं तरुणी[1] श्यामा[2] सुकुमारी सुखोचिता ।
कथमुष्णं च शीतं च मैथिली प्रसहिष्यते ॥ ४ ॥

निश्चय ही युवावस्था को प्राप्त युवती एवं सुकुमारी सीता, जो सुख से रहने योग्य है, किस प्रकार गर्मी सर्दी सह सकेगी ॥ ४॥

भुक्त्वाऽशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं[3] शुभम् ।
वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥

जो बड़े बड़े नेत्र वाली, (रसोइयों के बनाये हुए) सुन्दर व्यञ्जन खाती थी, वह सीता क्योंकर वन के चावलों को खा सकेगी ॥ ५ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभमनिन्दिता ।
कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम् ॥ ६ ॥

---

१ तरुणी—आरब्धयौवना । (गो०) २ श्यामा—यौवनमध्यस्था । (गो०) (श्यामातरुणी—यौवनमध्यस्था तरुणी । गो०) ३ सूपदंशान्वितं—शोभनव्यञ्जन सहितं । (गो०)

जो अनिन्दिता सीता गाने और बजाने की (मधुर) ध्वनि ही सुना करती थी, इस समय वह क्यों कर मांसाहारी सिंहों का भयङ्कर शब्द सुनेगी ॥ ६ ॥

[1]महेन्द्रध्वजसङ्काशः क नु शेते महाभुजः ।
भुजं परिघसङ्काशमुपधाय *सहानुजः ॥ ७ ॥

जो इन्द्रधनुष के समान बड़ी भुजाओं वाले और महाबली हैं, वे अपनी विशाल भुजा तकिये की जगह सिर के नीचे रख कहाँ शयन करते होंगे ॥ ७ ॥

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम् ।
कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥

कमल के समान और सुन्दर केशों से युक्त, कमल जैसी सुगन्ध और कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी के मुखारविन्द को, मैं कब देखूँगी ॥ ८ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं मे न संशयः ।
अपश्यन्त्या न तं यद्वै फलतीदं सहस्रधा ॥ ९ ॥

निश्चय ही मेरा हृदय वज्र का है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। क्योंकि राम को न देखने से इसके सहस्र टुकड़े नहीं हो जाते ॥ ९ ॥

यत्त्वयाऽकरुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः ।
निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥ १० ॥

---

1 महेन्द्रध्वजोनाम इन्द्रधनुः । (गो०) * पाठान्तरे—"महाबलः ।"

महाराज! आपने मेरे प्रियजनों को राज्य से निकाल कर बड़ा निर्दयतापूर्ण कर्म किया है। जो सुख से रहने योग्य हैं, हाय वे दीन हो वन में मारे मारे फिरते हैं॥ १०॥

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति।
जह्याद्राज्यं च कोशं च भरतो नोपभुज्यते॥ ११॥

यदि चौदह वर्ष बाद श्रीरामचन्द्र लौट भी आवें (तो भी मुझे भरोसा नहीं कि) भरत उनको राज्य और कोश दे देंगे॥११॥

भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित्स्वानेव बान्धवान्।
ततः पश्चात्समीक्षन्ते कृतकार्या द्विजर्षभान्॥ १२॥

कोई कोई श्राद्ध करने वाले विद्वान् ब्राह्मण को निमंत्रण दे, पहले गुणहीन भाई बंदों को श्राद्ध में भोजन करवाते हैं। पीछे से उन निमंत्रित ब्राह्मणों को बुलाते हैं॥ १२॥

तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः।
न पश्चात्तेऽनुमन्यन्ते सुधामपि सुरोपमाः॥ १३॥

तब उन ब्राह्मणों में जो गुणवान् एवं विद्वान् होते हैं, वे श्राद्ध के अमृत तुल्य भोज्य पदार्थों को, मदिरा के समान (त्याज्य) क्या नहीं समझते?॥ १३॥

ब्राह्मणेष्वपि तृप्तेषु पश्चाद्भोक्तुं द्विजर्षभाः।
नाभ्युपैतुमलं प्राज्ञाः शृङ्गच्छेदमिवर्षभाः॥ १४॥

(यही नहीं वल्कि) अन्य ब्राह्मणों के भोजन से बचे हुए अन्न को, विद्वान् ब्राह्मण अङ्गीकार करने में वैसा ही अपना अनादर समझते हैं, जैसा बैल का अनादर उसके सींगों के काटने से होता है॥ १४॥

एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं [1]विशांपते ।
भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमंस्यते ॥ १५ ॥

हे प्रजानाथ ! इसी तरह छोटे भाई के भोगे हुए राज्य का ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भाई क्यों न अनादर करेगा, अर्थात् अवश्य अनादर करेगा ॥ १५ ॥

न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति ।
एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं[2] न मंस्यते ॥ १६ ॥

जिस प्रकार व्याघ्र दूसरे की मारी हुई शिकार का खाना पसंद नहीं करता, वैसे ही पुरुषसिंह श्रीराम भी दूसरे की चक्खी हुई वस्तु कदापि अङ्गीकार न करेंगे ॥ १६ ॥

हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः ।
नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ १७ ॥

जिस प्रकार एक यज्ञ में व्यवहृत हवि, घी, पुरोडाश, कुश और खैर के खंभे दूसरे यज्ञ के काम के नहीं रहते ॥ १७ ॥

तथा ह्यात्त[3]मिदं राज्यं हृतसारां सुरामिव ।
नाभिमन्तु[4]मलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम् ॥ १८ ॥

उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी इस उपयुक्त राज्य को सार निकली हुई सुरा और सोमरहित यज्ञ की तरह कभी लेने की इच्छा न करेंगे ॥ १८ ॥

---

१ विशांपते—हे प्रजानाथ । (गो०) २ परलीढं—परेणास्वादितं । (गो०) ३ आत्तं—उपभुक्तपूर्वं । (गो०) ४ अभिमन्तुं—अभिलषितुं । (गो०)

नैवंविधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति ।
वलवानिव शार्दूलो वालधेरभिमर्शनम् ॥ १९ ॥

जिस प्रकार बलवान् सिंह अपनी पूँछ का मरुड़वाना नहीं सह सकता, उसी प्रकार श्रीराम भी इस तरह के असत्कार को न सह सकेंगे ॥ १६ ॥

नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युर्महामृधे[1] ।
अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत् ॥ २० ॥

क्या सब लोग यहाँ संग्राम में श्रीरामचन्द्र जी से नहीं डरते (अर्थात् सब डरते हैं । अतः वे बड़े बलवान् हैं, वे चाहते तो यह राज्य अपने बाहुबल से ले सकते थे, किन्तु) वे (केवल स्वयं ही) *धर्मात्मा* (नहीं) हैं, प्रत्युत अधर्मियों को भी धर्म पर चलने की शिक्षा देते हैं । वे ही क्यों कर अधर्म करें (अर्थात् बलपूर्वक राज्य लें) ॥ २० ॥

नन्वसौ काञ्चनैर्बाणैर्महावीर्यो महाभुजः ।
युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहेत् ॥ २१ ॥

बड़ी भुजाओं वाले और महापराक्रमी श्रीरामचन्द्र जो अपने सुनहले रंग के बाणों से प्रलयकाल के समय जैसा, (केवल) सब प्राणियों ही को (नहीं) समुद्र (तक) को भस्म कर सकते हैं ॥२१॥

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः ।
स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥ २२ ॥

---

१ महामृधे—महायुद्धे । (गो०)

वे सिंह के समान बलशाली, पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम उसी प्रकार अपने पिता द्वारा मारे पड़े, जिस प्रकार मछली के बच्चे (अपने पिता) मत्स्य द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं (मत्स्य अपने सन्तान को खा डालते हैं) ॥ २२ ॥

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रदृष्टः सनातनः ।
यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते ॥ २३ ॥

यदि आप द्विजों द्वारा आचरित, शास्त्रोक्त सनातन धर्म मानते होते, तो ऐसे धर्मनिरत पुत्र को देश निकाला कभी न देते ॥ २३ ॥

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नेह विद्यते ॥ २४ ॥

हे महाराज ! स्त्री के लिये पहला सहारा पति का, दूसरा पुत्र का, तीसरा भाईबंदों का है । स्त्री के लिये चौथा सहारा तो कोई है ही नहीं ॥ २४ ॥

तत्र त्वं चैव मे नास्ति रामश्च वनमाश्रितः ।
न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा निहता त्वया ॥२५॥

इनमें से आप तो मेरे हैं ही नहीं (और दूसरे सहारे) राम को आपने वन भेज ही दिया है । आपको छोड़ मैं वन भी नहीं जा सकती । आपने तो मुझे बारहबाट कर दिया (अर्थात् मुझे कहीं का नहीं रखा सब तरह से बरबाद कर दिया) ॥ २५ ॥

हतं त्वया राज्यमिदं सराष्ट्रं
हतस्तथाऽऽत्मा सह मन्त्रिभिश्च ।
हता सपुत्राऽस्मि हताश्च पौराः ।
सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ ॥ २६ ॥

हे महाराज! (आपने श्रीराम को वन में भेज कर) अनेक छोटे राज्यों सहित इस विशाल राज्य को, मंत्रियों सहित अपने आपको, पुत्र सहित मुझको और समस्त अयोध्यावासियों को बरबाद कर डाला। (आपके इस कार्य से प्रसन्न केवल दो ही हैं) आपकी भार्या कैकेयी और उसका पुत्र भरत ॥ २६ ॥

इमां गिरं दारुणशब्दसंश्रितां
निशम्य राजाऽपि मुमोह दुःखितः।
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः
स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तदा स्मरन्[1] ॥ २७ ॥

इति इकषष्टितमः सर्गः ॥

कौशल्या के इस प्रकार के कठोर वचन सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हो मूर्च्छित हो गये और शोकसागर में निमग्न हो महाराज इस दुःख का आदिकारण विचारने लगे ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

द्विषष्टितमः सर्गः

—:०:—

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया।
श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥

---

१ स्वदुष्कृतं स्मरन्—एतादृशदुःखस्यनिदानभूतं किंकर्म पूर्वं कृतं इति स्मरन्। (गो०)

महाराज दशरथ शोक के कारण क्रुद्ध राममाता कौशल्या के ऐसे कठोर वचन सुन, दुःखी हो सोचने लगे कि, अब क्या करें ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा स च नृपो मुमोह व्याकुलेन्द्रियः ।
अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परन्तपः ॥ २ ॥

यही सोचते सोचते महाराज विकल हो मूर्च्छित हो गये और बहुत देर बाद वे सचेत हुए ॥ २ ॥

स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसन् ।
कौसल्यां पार्श्वतो दृष्ट्वा पुनश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

वे सचेत होने पर बड़ी गहरी साँसें लेने लगे। कौशल्या को पास बैठी देख, वे फिर सोच में पड़ गये ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात्कर्म दुष्कृतम् ।
यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥

सोचते सोचते उनको अपना दुष्कर्म याद पड़ा। (वह था) पहले किसी समय अनजाने एक तपस्वी का शब्दवेधी बाण से वध ॥ ४ ॥

विमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः ।
द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामन्वतप्यत ॥ ५ ॥

महाराज एक तो श्रीरामचन्द्र के वियोग से दुःखी थे ही, अब उस दुष्कर्म का स्मरण भी उन्हें दुःखी करने लगा। इन दोनों के शोक से महाराज सन्तप्त हो विकल हो गये ॥ ५ ॥

दह्यमानः स शोकाभ्यां कौसल्यामाह भूपतिः ।
वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ॥ ६ ॥

दोनों शोकों से दग्ध और दुःखित महाराज दशरथ ने काँप कर और नीचा सिर कर कौशल्या को प्रसन्न करने के उद्देश्य से हाथ जोड़ कर कहा ॥ ६ ॥

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाऽञ्जलिः ।
वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ॥ ७ ॥

हे कौशल्ये ! मैं तेरी विनती करता हूँ और हाथ जोड़ता हूँ। तू तो अपने शत्रुओं पर भी सदा दया दिखाती और उनके प्रति अकोर व्यवहार करती है ॥ ७ ॥

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा ।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ॥ ८ ॥

हे देवी ! (यह भी तू जानती ही है कि,) धर्म की दृष्टि से, धर्माचरण करने वाली स्त्री के लिये उसका पति ही चाहे गुणी हो अथवा निर्गुणी, प्रत्यक्ष देवता है ॥ ८ ॥

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा[1] ।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥ ९ ॥

सो तू नित्य धर्माचरण में तत्पर और संसार का ऊँच नीच समझने वाली हो कर भी, तुझे ऐसे अप्रिय वचन कहना उचित

---

1 दृष्टलोकपरावरा—दृष्टौलोकेजनेपरावरौ,—उत्कर्षापिकर्षौ यया सा तथोक्ता । (गो०)

नहीं। (मैं यह जानता हूँ कि. तू दुःखी होने के कारण ऐसा कह रही है, तो भी) मुझ जैसे अत्यन्त दुःखी से तुझे ऐसा कहना उचित नहीं॥ ६॥

तद्वाक्यं करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम्।
कौसल्या व्यसृजद्बाष्पं प्रणालीव नवोदकम्[1] ॥१०॥

महाराज के ऐसे करुणापूर्ण वचन सुन, कौशल्या के नेत्रों से आँसुओं की धार इस भाँति बही, जिस भाँति नालियों में वर्षा का जल बहता है॥ १०॥

सा मूर्ध्नि बद्ध्वा रुदती राज्ञः पद्ममिवाञ्जलिम्।
सम्भ्रमादब्रवीत्त्रस्ता त्वरमाणाक्षरं वचः॥ ११॥

कौशल्या ने महाराज के दोनों जुड़े हुए कमल सदृश हाथों को अपने सिर पर रख लिया और रोती हुई घबड़ाती सी वह बोली॥ ११॥

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ[2] निपतिताऽस्मि ते।
याचितास्मि हता देव हन्तव्याहं न हि त्वया॥ १२॥

हे देव! आप दुःखी न हों; प्रसन्न हों। मैं अपना सिर आपके चरणों में रख आपको प्रणाम करती हूँ। आपका मेरी विनती करना, मेरे लिये मरने के समान कष्टदायी है। अतः आप मुझसे क्षमा न माँग कर, मुझे मेरे अनुचित कर्म के लिये दण्ड दें॥ १२॥

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयोर्लोकयोर्वीर पत्या या सम्प्रसाद्यते॥ १३॥

---

१ नवोदकं—वर्षजलं। (गो०) २ भूमौनिपतितास्मि—प्रणतास्मी-त्यर्थः। (गो०)

वह स्त्री कुलीन नहीं कहला सकती, जिसको दोनों लोकों की एक मात्र गति (अर्थात् पति) विनती कर प्रसन्न करे ॥ १३ ॥

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् ।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥ १४ ॥

हे धर्मज्ञ ! मैं स्त्री कर्त्तव्य को जानती हूँ और आपको सत्यवादी मानती हूँ । उस समय मेरे मुख मे जो थोड़ा बहुत अनुचित निकल गया, वह पुत्रशोक से विकल होने के कारण निकल गया ॥ १४ ॥

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्[1] ।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥ १५ ॥

क्योंकि शोक (मनुष्य का केवल) धैर्य और शास्त्रज्ञान ही नष्ट नहीं करता, प्रत्युत सर्वनाश कर देता है । अतः शोक से बढ़ कर (मनुष्य का) शत्रु दूसरा कोई नहीं है ॥ १५ ॥

शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः ।
सोढुमापतितः[2] शोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते ॥ १६ ॥

अतएव अन्य वैरी के हाथ का प्रहार तो सह भी लिया जा सकता है, किन्तु हठात्प्राप्त बहुत थोड़ा सा भी शोक नहीं सहा जा सकता ॥ १६ ॥

वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽद्य गण्यते ।
यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम ॥ १७ ॥

---

१ श्रुतम्—शास्त्रश्रवणजनितनिश्चितधर्मं । (शि०) २ आपतितः—हठात्प्राप्तः । (गो०)

राम को वनवास गये आज पाँचवीं रात है किन्तु, मेरे लिये ता ये पाँच रातें पाँच वर्ष के समान हो गयीं। क्योंकि राम-वियोग-जनित शोक के कारण हर्ष तो एकदम मुझसे विदा हो गया है॥ १७॥

तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते।
नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत्॥ १८॥

श्रीराम की चिन्ता करने से मेरे हृदय में उसी प्रकार शोक बढ़ता है, जिस प्रकार नदी के जल के वेग से समुद्र का जल बढ़ता है॥ १८॥

एवं हि कथयन्त्यास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः।
मन्दरश्मिरभूत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत॥ १९॥

कौशल्या जी के इस प्रकार विनम्रतापूर्ण वचन कहते कहते, सूर्य अस्त हो गये और रात हो गयी॥ १९॥

*अथ प्रह्लादितो वाक्यैर्देव्या कौसल्यया नृपः।
शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान्॥ २०॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः॥

महाराज दशरथ, कौशल्या की यह बातचीत सुन, हर्षित हुए और शोक से उत्पीड़ित होने के कारण उनको नींद आ गयी॥२०॥

अयोध्याकाण्ड का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

* पाठान्तरे—"तथा प्रसादितो।"

त्रिषष्टितमः सर्गः

—:०:—

प्रतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः ।
अथ राजा दशरथश्चिन्तामभ्यवपद्यत ॥ १ ॥

एक मुहूर्त सोने के पीछे महाराज की आँखें खुलीं। आँखें खुलते ही शोक ने उनको आ घेरा और वे चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद्वासवोपमम् ।
आविवेशोपसर्गः[1] तं तमः[2] सूर्यमिवासुरम्[3] ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण के वनवास के उपद्रव से बढ़े हुए शोक ने इन्द्र के समान महाराज दशरथ को उसी प्रकार आच्छादित कर लिया, जिस प्रकार राहु सूर्य को आच्छादित कर लेता है ॥ २ ॥

सभार्ये निर्गते रामे कौसल्यां कोसलेश्वरः ।
विवक्षुरसितापाङ्गां[4] स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ॥ ३ ॥

सस्त्रीक श्रीराम जी के वनवासी होने पर महाराज ने अपने उस दुष्कृत कर्म की सुधि कर, उसे महारानी कौशल्या से कहने की इच्छा की ॥ ३ ॥

स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम् ।
अर्धरात्रे दशरथः संस्मरन्दुष्कृतं कृतम् ॥ ४ ॥

---

१ उपसर्गः—महोपद्रवःपुत्रशोकरूपः । (गो०) २ तमः—राहुः । ३ आसुरं—असुर संबन्धि । (गो०) ४ विवक्षुः वक्तुमिच्छुः । (शि०

श्रीराम के वनवास के दिन से छठवीं रात को आधी रात के समय महाराज ने अपने उस पापकृत्य को स्मरण किया ॥ ४ ॥

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ।
कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

पुत्र के वियोग के शोक से विकल महाराज ने अपने पापकर्म को स्मरण कर, पुत्रवियोग से विकल महारानी कौशल्या से कहा ॥ ५ ॥

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः ॥ ६ ॥

हे कल्याणि! मनुष्य भला या बुरा—जैसा कर्म करता है, उस कर्म का फल, कर्त्ता को अवश्य मिलता है ॥ ६ ॥

गुरुलाघवमर्थाना[1]मारम्भे कर्मणां फलम् ।
दोषं वा यो न जानाति स बाल[2] इति होच्यते ॥७॥

अतएव कर्म करने के पूर्व जो मनुष्य कर्म के फल का गुरुत्व लघुत्व (भलाई बुराई) अथवा उसके दोष (त्रुटि) को नहीं जानता, वह अज्ञानी कहलाता है ॥ ७ ॥

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति ।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे ॥ ८ ॥

जो आदमी पलाश के लाल लाल फूलों को देख, फल पाने की अभिलाषा से, आम के पेड़ को काट कर, पलाश वृक्ष को

१ अर्थानाम्—फलानाम् । (गो०) २ बालः—अज्ञः । (गो०)

सींचता है, फल लगने का समय आने पर वह अवश्य ही पछताता है ॥ ८ ॥

अविज्ञाय फलं यो हि कर्मत्वेवानुधावति ।
स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥ ९ ॥

अतः जो मनुष्य कर्म का परिणाम विचारे बिना ही कर्म करने लगता है, उसे भी फल प्राप्ति के समय, पलाश वृक्ष सींचने वाले (अज्ञानी) मनुष्य की तरह पछताना पड़ता है ॥ ९ ॥

सोऽहमाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम् ।
रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः ॥१०॥

हे देवी ! मैंने भी आम के वृक्ष को काट कर पलाश के वृक्ष को सींचा है। सो फल लगने के समय, श्रीराम को त्याग कर मुझ दुर्मति को भी पछताना पड़ता है ॥ १० ॥

लब्धशब्देन[1] कौशल्ये कुमारेण धनुष्मता ।
कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम् ॥ ११ ॥

हे कौशल्ये ! मैंने अपनी कुमारावस्था में अपने को शब्दवेधी कहला कर, प्रसिद्ध होने की अभिलाषा से धनुष धारण कर, यह पाप किया ॥ ११ ॥

तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयं कृतम् ।
सम्मोहादिह *बालेन यथा स्याद्भक्षितं विषम् ॥१२॥

---

१ लब्धशब्देन—प्राप्तशब्दातिना मया शब्दाल्लब्धगजतुल्य मुनिपुत्र शब्देन । (गो०) * पाठान्तरे—" बालेन तदा । "

सो हे देवी! मैं इस दुःख का कारण स्वयं ही हूँ। जिस प्रकार बालक अज्ञानवश विष खा ले, वैसे ही मैंने भी अज्ञान में पाप कर अपना सर्वनाश अपने आप किया है ॥ १२ ॥

यथाऽन्यः पुरुषः कश्चित्पलाशैर्मोहितो भवेत् ।
एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम् ॥ १३ ॥

जैसे कोई आदमी पलाशपुष्प को देख, उससे उत्तम फल पाने की आशा से उसकी सेवा करे, पर उससे उसे उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती—वैसे ही मैंने भी शब्दवेधी शिकार को उत्तम समझ बिना जाने बूझे ऐसा किया, उसका मुझे यह फल प्राप्त हुआ है ॥ १३ ॥

देव्यनूढा[1] त्वमभवो युवराजो [2]भवाम्यहम् ।
ततः [3]प्रावृडनुप्राप्ता मदकामविवर्धनी ॥ १४ ॥

हे देवी! यह हाल उस समय का है जिस समय तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराज था। उन्हीं दिनों काम के वेग को उत्तेजित करने वाली वर्षा ऋतु आयी ॥ १४ ॥

[4]उपास्य हि रसान्[5]भौमांस्तप्त्वा च [6]जगदंशुभिः ।
[7]परेताचरितां भीमां[8] रविराविशते[9] दिशम् ॥१५॥

---

१ अनूढ़ा—अकृत विवाहा। (गो०) २ भवामि—अभवं। (गो०) ३ प्रावृट्—वर्षाकालः। (गो०) ४ उपास्य—गृहीत्वा। (गो०) ५ रसान्—जलानि। (गो०) ६ जगत्—भूमिं। (गो०) ७ परेताचरितां—प्रेताचरितां। (गो०) ८ भीमांदिशम्—दक्षिणामित्यर्थः। (गो०) ९ आविशते—आविशतेस्म। (गो०)

सूर्यदेव पृथिवी के जल को सोख, और अपनी किरणों से भूमि को तप्त कर, प्रेतगण सेवित भयङ्कर दक्षिण दिशा को चले गये (अर्थात् दक्षिणायन हो गये) ॥ १५ ॥

उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धा[1] ददृशिरे घनाः ।
ततो जहृषिरे सर्वे भेकसारङ्गबर्हिणः ॥ १६ ॥

गरमी एक दम दूर हो गयी। शीतल बादल दिखलाई देने लगे। उनको देख, मेढ़क, चातक और मयूर हर्षित हो गये ॥ १६ ॥

क्लिन्नपक्षोत्तराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्रिणः ।
वृष्टिवातावधूताग्रान्पादपानभिपेदिरे ॥ १७ ॥

बरसाती हवा से हिलते हुए पेड़ों पर, उन पक्षियों ने, जिनके पर जल से भींग जाने के कारण, स्नान किये हुए जैसे जान पड़ते थे, बड़े कष्ट से बसेरा लिया ॥ १७ ॥

पतितेनाम्भसाछन्नः पतमानेन चासकृत् ।
आबभौ [2]मत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥ १८ ॥

बरसे हुए और बरसते हुए जल से आच्छादित मत्त हाथी उस समय उसी प्रकार जान पड़ते थे, जिस प्रकार स्थिर महासागर में पर्वत खड़ा हो ॥ १८ ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।
सुस्रुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजङ्गवत् ॥ १९ ॥

---

१ स्निग्धाः—शीतलाः । (गो०) २ मत्तसारङ्गः—मत्तगजः । (गो०)

पर्वतों की धातुओं से मिश्रित होने के कारण विमल जल के सोते भी पीले लाल अथवा राख मिलने से काले रंग के जल से युक्त हों, सांप की तरह टेढ़ी मेंढ़ी चाल से वह निकले ॥ १९ ॥

तस्मिन्नतिसुखे काले *धनुष्मान्कवची रथी ।
[1]व्यायामकृतसङ्कल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥ २० ॥

उस सुखदायी समय में शिकार खेलने के लिये धनुष बाण ले और रथ में बैठ सरयू नदी के तट पर पहुँचा ॥ २० ॥

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाऽभ्यागतं नदीम् ।
अन्यं वा श्वापदं[2] कश्चिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः ॥२१॥

मैं वहां गया, जहां रात के समय वनभैंसा, हाथी, तथा व्याघ्रादि अन्य दुष्ट जन्तु जल पीने आया करते थे। (मैं इस उद्देश्य से वहां गया कि, कोई जानवर आवे और उसे मैं मारूँ) क्योंकि उस समय तक मेरी प्रवृत्ति शिकार खेलने की ओर विशेष थी (अथवा मुझे शिकार से निवृत्ति नहीं हुई थी) ॥ २१ ॥

अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः ।
अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥ २२ ॥

इसी बीच में अँधेरे में जल भरते हुए घड़े का शब्द सुन, मैंने समझा कि कोई हाथी चिंघार रहा है। मुझे कुछ दिखलाई न पड़ा, मैंने केवल वह शब्द ही सुना ॥ २२ ॥

---

१ व्यायामकृतसङ्कल्पः—मृगयाविहारेकृतसङ्कल्पः। (गो०) २ श्वापदं—व्याघ्रादिदुष्टमृगं। (गो०) * पाठान्तरे—" धनुष्मानिषुमान्रथी। "

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम् ।
शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्य त्वपातयम् ॥ २३ ॥

(मैंने तरकस से सर्प के विष से बुझा अर्थात् पैना और चमचमाता बाण निकाल, उस हाथी को बेधने की इच्छा से, शब्द को लक्ष्य कर छोड़ा ॥ २३ ॥

अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम् ।
तत्र वागुषसि व्यक्ता प्रादुरासीद्वनौकसः[1] ॥ २४ ॥

मैंने ज्योंही वह विष का बुझा पैना बाण छोड़ा, त्योंही किसी वनवासी का शब्द मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ा ॥ २४ ॥

हाहेति पततस्तोये बाणाभिहतमर्मणः ।
तस्मिन्निपतिते बाणे वागभूत्तत्र मानुषी ॥ २५ ॥

वह (तपस्वी जिसके बाण लगा था) हाय हाय कह जल में गिर पड़ा—क्योंकि उस बाण से उस तपस्वी के मर्मस्थल बिध गये थे । वह बाण की व्यथा से जब पानी में गिर पड़ा, तब मनुष्य जैसी बोली (इस प्रकार) सुन पड़ी ॥ २५ ॥

कथमस्मद्विधे[2] शस्त्रं निपतेत्तु तपस्विनि ।
प्रविविक्तां[3] नदीं [4]रात्रावुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥

(वह बोला) मेरे जैसे अजातशत्रु तपस्वी के क्यों इस प्रकार बाण लगा । मैं तो रात्रि के समय, निराले में जल भरने आया था ॥ २६ ॥

---

१ वनौकसः—तपस्विनः । (गो०) २ अस्मद्विधे—अजातशत्रौ । (गो०) ३ प्रविविक्तां—प्रकर्षेण निर्जनां । (गो०) ४ रात्रौ—अपररात्रौ । (गो०)

इपुणाऽभिहतः केन कस्य वा किं कृतं मया।
ऋषेर्हि न्यस्तदण्डस्य[1] वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥

किसने मुझे बाण से मारा, मैंने किसी का क्या बिगाड़ा था? उस ऋषि को जो वाणी और शरीर से किसी जीव को नहीं सताता और वन में रह कर जो वन में उत्पन्न कन्दमूल फल खा कर जीवन बिताता है ॥ २७ ॥

कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते।
जटाभारधरस्यैव वल्कलाजिनवाससः ॥ २८ ॥

ऐसे मुझ जैसे (ऋषि) का बाण मार कर वध क्यों किया जाता है। अरे मैं जटाभार धारण कर, वल्कल और मृगचर्म पहिनता ओढ़ता हूँ ॥ २८ ॥

को वधेन ममार्थी स्यात्किं वास्यापकृतं मया।
एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥

इस दशा में रहने पर भी मुझे मारने से किसी का क्या अर्थ साधन हो सकता है, अथवा मैंने किसी का कुछ बिगाड़ा था (जो उसने मुझे बाण से मारा) ऐसा निष्फल कर्म तो केवल अनर्थ ही का मूल है ॥ २९ ॥

न कश्चित्साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम्।
नाहं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥

जैसे गुरु की शय्या पर बैठने वाला साधु नहीं समझा जाता (वैसे ही उसको भी कोई भला न कहेगा जिसने अकारण मेरा

१ न्यस्तदण्डस्य—उपरतवाङ्मनःकायसम्बन्धिपरहिंसस्य। (गो०)

वध करना चाहा है।) मुझे अपने प्राण जाने की उतनी चिन्ता अथवा शोक नहीं है ॥ ३० ॥

मातरं पितरं चोभावनुशोचामि मद्वधे ।
तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१ ॥

जितनी चिन्ता मुझे अपने मरने पर माता पिता की है। उन दोनों वृद्धों का अब तक तो मैंने पालन पोषण किया ॥ ३१ ॥

मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति ।
वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥ ३२ ॥

किन्तु मेरे मर जाने पर उनकी क्या दशा होगी, मेरी माता और मेरे पिता तो बूढ़े हैं और मैं इस प्रकार बाण से मारा गया ॥ ३२ ॥

केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मना[1] ।
तां गिरं करुणां श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः[2] ॥ ३३ ॥

किसी दुर्बुद्धि मूर्ख ने (एक ही बाण से) हम सब को मार डाला। (हे कौशल्या!) इस प्रकार की करुणा भरी वाणी सुन, मुझ जैसे पुण्योपार्जन की इच्छा रखने वाले अथवा धर्मभीरु ॥३३॥

कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद्भुवि ।
तस्याहं करुणं श्रुत्वा निशि लालपतो बहु ॥ ३४ ॥

सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विचेतनः ।
तं देशमहमागम्य दीनसत्वः सुदुर्मनाः ॥ ३५ ॥

---

१ अकृतात्मन—अनिश्चितबुद्धिना । (गो०) २ धर्मानुकांक्षिणः—धर्मप्रतीक्षाशीलस्य । (शि०)

ऐसा व्यथित हुआ कि मेरे हाथ से धनुष बाण भूमि पर गिर पड़े। उस रात में, मैं उस तपस्वी का विलाप सुन उद्विग्न हो और अत्यन्त शोकाकुल हो अचेत हो गया। तदनन्तर मैं दुःखी और उदास हो उस जगह गया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वास्तापसं हतम् ।
अवकीर्णजटाभारं प्रविद्ध[1]कलशोदकम् ॥ ३६ ॥

सरयू के तट पर जा कर देखा कि, एक तपस्वी बाण से घायल पड़ा है। उसके सिर की जटा बिखरी हुई है और कलसा का जल फैला हुआ है अथवा पानी का कलसा अलग पड़ा है ॥ ३६ ॥

पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयानं *शरपीडितम् ।
स मामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतसम् ॥ ३७ ॥
इत्युवाच †वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा ।
किं तवापकृतं राजन्वने निवसता मया ॥ ३८ ॥

सारे शरीर में खून और धूल लगी हुई है, वह बाण की व्यथा से ज़मीन पर पड़ा तड़फड़ा रहा है। उसने मुझे भयभीत और विकल जान अपने दोनों नेत्रों से मेरी ओर ऐसे देखा मानों अपने नेत्राग्नि से मुझे भस्म कर डालेगा। तदनन्तर वह ये कठोर वचन बोला। हे राजन्! मैंने वन में बसते हुए तुम्हारा क्या बिगाड़ा था? ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

जिहीर्षुरम्भो गुर्वर्थं[1] यदहं ताडितस्त्वया ।
एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि ॥ ३९ ॥

---

१ प्रविद्ध—ध्वस्तं। (शि०) १ गुर्वर्थं—मातापितृनिमित्तं। (गो०)
* पाठान्तरे—"शल्यपीडितम्" "शल्यवेधितं वा" † पाठान्तरे—"ततः।"

जो माता पिता के (पीने के) लिये जल भरने आये हुए मुझको तुमने मारा। एक ही बाण से तुमने मेरा मर्मस्थल घायल कर दिया ॥ ३९ ॥

द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे ।
तौ कथं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥ ४० ॥

और मेरे माता पिता को भी, जो दुर्बल तथा अन्धे हैं एवं मेरे आने की प्रतीक्षा करते हुए प्यासे बैठे होंगे, मार डाला ॥ ४० ॥

चिरमाशाकृतां तृष्णां *कथं सन्धारयिष्यतः ।
न नूनं तपसो वाऽस्ति फलयोगः श्रुतस्य[1] वा ॥ ४१ ॥

वे मेरे आने की बाट देखते हुए प्यास के कष्ट को कैसे सह सकेंगे ! हा ! इससे तो तप का व इतिहास पुराणादि के श्रवण का कुछ भी सम्बन्ध न ठहरा ॥ ४१ ॥

पिता यन्मां न जानाति शयानं पतितं भुवि ।
जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तिरपरिक्रमः ॥ ४२ ॥

जो पिता जी यह नहीं जानते कि मैं इस दशा में यहाँ ज़मीन पर पड़ा हूँ और यदि जान भी जाँय तो कर ही क्या सकते हैं, क्योंकि उनमें (अँधे होने से) चलने की शक्ति नहीं है अर्थात् वे पङ्गु हैं ॥ ४२ ॥

भिद्यमानमिवाशक्तस्त्रातुमन्यो नगो नगम् ।
पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव ॥ ४३ ॥

---

१ श्रुतस्य—मच्छ्रवणविषयीभूतेतिहासपुराणादेर्वा फलयोगः । (शि०)
* पाठान्तरे—" कथा । "

जैसे कटते हुए वृक्ष की रक्षा दूसरा वृक्ष नहीं कर सकता (क्योंकि उसमें चलने की शक्ति नहीं) उसी प्रकार मेरे माता पिता भी अँधे और पङ्गु होने के कारण मेरी रक्षा करने में असमर्थ हैं—अतः हे राजन्! मेरे पिता के पास जा कर तुरन्त यह समाचार उनसे कहो॥ ४३॥

न त्वामनुदहेत्क्रुद्धो वनं वह्निरिवैधितः।
इयमेकपदी[1] राजन्यतो मे पितुराश्रमः॥ ४४॥

नहीं तो वे क्रोध में भर तुम्हें वैसे ही (शाप द्वारा) भस्म कर डालेंगे, जिस प्रकार आग वन को भस्म कर डालती है। हे राजन्! यह पगडंडी, जो देख पड़ती है, वही मेरे पिता के आश्रम तक चली गयी है॥ ४४॥

तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वां स कुपितः शपेत्।
विशल्यं कुरु मां राजन्मर्म मे निशितः शरः॥ ४५॥

सो तुम वहाँ जा कर उनको प्रसन्न करो नहीं तो कुपित हो वे तुमको शाप दे देंगे। हे राजन्! तुम इस बाण को जो मेरे मर्मस्थल में घुसा हुआ है, निकाल दो॥ ४५॥

रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमम्बुरयो[2] यथा।
सशल्यः क्लिश्यते प्राणैर्विशल्यो विनशिष्यति॥ ४६॥
इति मामविशच्चिन्ता तस्य शल्यापकर्षणे।
दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य[3] च॥ ४७॥

---

१ एकपदी—एकपदन्यासमात्रयुक्ता। सरणिरित्यर्थः। (गो०) २ अम्बुरयः—नदीवेगः। (गो०) ३ शोकातुरस्य—ब्रह्महत्याभविष्यतीतिभियाशोकेन पीडितस्य। (गो०)

क्योंकि यह बाण मेरे कोमल मर्मस्थल को उसी प्रकार काट रहा है, जिस प्रकार ऊँचे और बालुकामय करारे को नदी की धार का वेग काटता है। हे देवी! उस समय इस बात की चिन्ता उत्पन्न हुई कि, जब तक यह बाण गड़ा है तब तक उसे पीड़ा तो है, किन्तु जीता भी तभी तक है। क्योंकि बाण निकालते ही यह मर जायगा। अतः बाण निकालने में मेरे मन में खटका पैदा हो गया। उसने मुझे दीन दुःखी और शोकातुर देखा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

लक्षयामास हृदये चिन्तां मुनिसुतस्तदा ।
ताम्यमानः स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्तवत् ॥ ४८ ॥

तब उस मुनिपुत्र ने मेरे मन की चिन्ता को लख लिया और मुझे सन्तप्त देख, अत्यन्त दुःखी हो बड़े कष्ट से कहा ॥ ४८ ॥

सीदमानो विवृत्ताङ्गो[1] वेष्टमानो गतः क्षयम् ।
संस्तभ्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम् ॥ ४९ ॥

यद्यपि मैं इस समय बहुत कष्ट में हूँ, मुझे साफ साफ कुछ दिखलाई भी नहीं पड़ रहा, पीड़ा से छटपटा रहा हूँ, और मरा ही चाहता हूँ, तथापि धीरज धर के शोक के वेग को रोक मैं स्थिर चित्त होता हूँ ॥ ४९ ॥

ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् ।
न द्विजातिरहं राजन्मा भूत्ते मनसो व्यथा ॥ ५० ॥

हे राजन्! आप ब्रह्महत्या के पाप के भय को अपने मन से निकाल अपने मन की व्यथा दूर कीजिये। क्योंकि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ ॥ ५० ॥

---

१ विवृत्ताङ्गः—परावृत्तनेत्रः। (गो०)

शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप ।
*इत्येवं वदतः कृच्छ्राद्बाणाभिहतमर्मणः ।
विघूर्णतो विचेष्टस्य वेपमानस्य भूतले ॥ ५१ ॥

हे भूपाल! मैं शूद्रा माता के गर्भ से एक वैश्य द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ। यह कहते कहते बाण से घायल मर्मस्थल की पीड़ा से उसकी दोनों आँखें उलट गयीं, उसकी चेष्टा बिगड़ गयी और वह ज़मीन पर तड़फड़ाने लगा ॥ ५१ ॥

तस्य त्वानम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम् ।
स मामुद्वीक्ष्य सन्त्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥ ५२ ॥

उसकी यह दशा देख, मैंने बाण खींच लिया। बाण खींचते ही उस मुनिपुत्र ने अत्यन्त भयभीत हो मेरी ओर देखा और प्राण छोड़ दिये ॥ ५२ ॥

जलार्द्रगात्रं तु विलप्य कृच्छ्रात्
मर्मव्रणं सन्ततमुच्छ्वसन्तम् ।
ततः सरय्वां तमहं शयानं
समीक्ष्य भद्रेऽस्मि भृशं विषण्णः ॥ ५३ ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

हे कौशल्ये! उस तपोधन को, (जो कुछ ही क्षणों पूर्व) मर्मस्थल में बाण का घाव लगने से अत्यन्त कठिन हो विलाप कर रहा था और जिसका शरीर (छटपटाने से) जल से तर हो गया था—उस समय सरयू के तट पर, प्राणरहित पड़ा देख, मुझे बड़ा ही विषाद हुआ ॥ ५३ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

* पाठान्तरे—" इतीव। "

चतुःषष्टितमः सर्गः

—:*:—

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः ।

[1]विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यां पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

मुनिपुत्र के अनुचित वध को वर्णन कर और बीच बीच में अपने पुत्र का स्मरण कर के विलाप करते हुए, धर्मात्मा महाराज दशरथ, कौशल्या से फिर बोले ॥ १ ॥

तदज्ञानान्महत्पापं कृत्वाहं सङ्कुलेन्द्रियः ।

एकस्त्वचिन्तयं बुद्धया कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥

हे कौशल्या! उस समय, अनजाने उस महापाप को कर, विकल हो, मैं अकेला सोचने लगा कि, अब मेरा कल्याण किस तरह हो ॥ २ ॥

ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा ।

आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥

अन्त में यह निश्चय कर कि, अब मेरा कल्याण इसीमें है कि, मैं मुनि-कुमार के कथनानुसार उनके पिता को जा कर प्रसन्न करूँ। अतः मैं उस मुनिपुत्र के कलसे में जल भर उसे लेकर, उसके बतलाये रास्ते से मुनि के आश्रम में गया ॥ ३ ॥

तत्राहं दुर्बलावन्धौ वृद्धावपरिणायकौ ।

अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ ॥ ४ ॥

---

१ विलपन्नेव—मध्येस्वपुत्रं विलपन्नेव । (गो॰)

वहां जा कर देखा कि, पंख रहित पक्षियों की तरह उसके माता पिता जो वृद्ध, दुर्बल और दीन थे, बैठे हुए थे ॥ ४ ॥

तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिक्रमौ ।

तामाशां मत्कृते हीनावुदासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥

वे जल की प्रतीक्षा में बैठे पुत्र ही की चर्चा कर रहे थे । उनकी आशा पर मैंने पानी फेर दिया था । वे अनाथ की तरह निश्चेष्ट बैठे हुए थे ॥ ५ ॥

शोकोपहतचित्तश्च भयसन्त्रस्तचेतनः ।

तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥

उस समय मैं शोक से विकल और भय से ग्रस्त तो था ही, उस आश्रम में पहुँचने पर, (उन दोनों की दशा देख कर) मुझे और भी अधिक दुःख हुआ ॥ ६ ॥

पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत ।

किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥

मेरे पावों की आहट पा, उस मुनि ने कहा—हे वत्स ! क्यों देर कर रहे हो, शीघ्र जल लाओ ॥ ७ ॥

किन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया ।

उत्कण्ठिता ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥

तुम इतनी देर तक क्यों जल में खेलते रहे । आश्रम में तुरन्त जाओ, तुम्हारी माता बड़ी उत्कण्ठित हो रही है ॥ ८ ॥

यद्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया ।

न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना ॥ ९ ॥

बेटा! यदि मुझसे या तेरी माता से कोई अप्रिय कार्य बन पड़ा हो तो हे तपस्वी! उस पर तू ध्यान मत देना ॥ ६ ॥

*गतिस्त्वमगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम् ।
समासक्तास्त्वयि प्राणाः किं त्वं नो नाभिभाषसे ॥१०॥

तुम्हीं हम दोनों असमर्थों के एकमात्र अवलंब हो और हम अंधों की तुम्हीं आँखें हो और तुम्हारे ही अधीन हमारे दोनों के प्राण हैं। तुम जवाब क्यों नहीं देते ॥ १० ॥

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया[1] ।
[2]हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतोऽभीत[3] इवाब्रवम् ॥ ११ ॥

मैंने उस मुनि को देख, अत्यन्त डरे हुए मनुष्य की तरह, लड़खड़ाती ज़बान से अतः अस्पष्ट अक्षरों में, उससे कहा ॥ ११ ॥

मनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तभ्य[4] वाग्बलम् ।
आचचक्षे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं भयम् ॥ १२ ॥

बोलने के समय मैंने मन से और क्रियात्मक प्रयत्नों से जिह्वा को अपने वश में किया और धीरे से उसके पुत्र का कष्टमय वृत्तान्त उससे कहा ॥ १२ ॥

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः ।
सज्जना[5]वमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥ १३ ॥

---

१ सज्जमानया—स्खलन्त्या । (गो०) २ हीनव्यञ्जनया—अस्पष्टाक्षरया । (गो०) ३ भीतोभीतः—अत्यन्तभीतः । (गो०) ४ अभिसंस्तभ्य—स्खलितां वाचांबलाद्दढीकृत्येति । (गो०) ५ सज्जनावमतं—सत्पुरुषगर्हितं । (गो०) * पाठान्तरे—"त्वंगतिस्त्वगतीनां"

हे महात्मन्! मैं दशरथ नाम का क्षत्रिय हूँ। आपका पुत्र नहीं हूँ। मुझसे एक निन्द्य कर्म बन पड़ा है, जिसका मुझे बड़ा ही दुःख है॥ १३॥

भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः।
जिघांसुः श्वापदं कश्चिन्निपाने चागतं गजम्॥ १४॥

हे भगवन्! मैं हाथ में धनुष ले सरयू नदी के तट पर इसलिये आया कि, यदि कोई हाथी या शेर बाघ आदि वनजन्तु पानी पीने आवे तो उसका शिकार खेलूँ॥ १४॥

तत्र श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः।
द्विपोऽयमिति मत्वायं बाणेनाभिहतो मया॥ १५॥

इसी बीच में मैंने घड़े में जल भरने का शब्द सुना और यह समझा कि, हाथी बोल रहा है, अतः मैंने बाण मारा॥ १५॥

गत्वा नद्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि।
विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम्॥ १६॥

किन्तु जब मैं सरयू के तट पर पहुँचा तब मैंने देखा कि, छाती में बाण लगने के कारण एक तपस्वी मृतप्राय अवस्था में भूमि पर पड़ा है॥ १६॥

भगवञ्शब्दमालक्ष्य मया गजजिघांसुना।
विसृष्टोऽम्भसि *नाराचस्तेन तेऽभिहतः सुतः॥ १७॥

हे भगवन्! हाथी की शिकार के धोखे में, शब्दवेधी बाण चला कर मैंने जल भरने के लिये गये हुए आपके पुत्र को मार डाला है॥ १७॥

---

* पाठान्तरे—"नाराचस्ततस्ते निहतः सुतः"।

ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः ।
स मया सहसा बाण उद्धृतो* मर्मणस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर मैंने उसीके कहने से, अत्यन्त कष्टदायी बाण सहसा उसको छाती से खींचा ॥ १८ ॥

स चोद्धृतेन बाणेन तत्रैव स्वर्गमास्थितः ।
भवन्तौ पितरौ शोचन्नन्धाविति विलप्य च ॥ १९ ॥

बाण के खींचते ही वह वहीं स्वर्गवासी हो गया । (मरने के पूर्व) उसने आप दोनों अँधे माता पिता के लिये विलाप और आप ही के लिये शोक किया ॥ १९ ॥

अज्ञानाद्भवतः पुत्रः सहसाऽभिहतो मया ।
शेषमेवं गते यत्स्यात्तत्प्रसीदतु[1] मे मुनिः ॥ २० ॥

अनजान में अचानक आपके पुत्र को मैंने मारा है । जो होना था वह तो हो गया । आप मुनि हैं ; अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें (अर्थात् शापानुग्रह जो कुछ उचित समझें सो मेरे प्रति करें) ॥ २० ॥

स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मयोक्तमघशंसिना ।
नाशकत्तीव्रमायासमकर्तुं भगवान्मुनिः† ॥ २१ ॥

मेरे किये हुए पापकर्म का दारुण वृत्तान्त मेरे ही मुख से सुन कर, वे महात्मा मुनि (जो सब प्रकार का शाप दे सकते थे, किन्तु) मुझे तीव्र शाप न दे सके ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—" मर्मतस्तदा । " † पाठान्तरे—" भगवानृषि " ।

1 प्रसीदतु—शापोवाऽनुग्रहोवाऽस्मः कर्त्तव्यस्तंकरोत्वित्यर्थः । (गो०)

स वाष्पपूर्णनयनो* निःश्वसञ्शोककर्शितः ।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

किन्तु नेत्रों में आंसू भर और शोक से व्याकुल हो ठंडी ठंडी सांसे लेते हुए उन महातेजस्वी मुनि ने हाथ जोड़े खड़े हुए मुझसे कहा ॥ २२ ॥

यद्येतदशुभं कर्म न त्वं मे कथयेः स्वयम् ।
फलेन्[1]मूर्धा स्म ते राजन्सद्यः शतसहस्रधा ॥ २३ ॥

हे राजन्! अगर तू अपने इस कर्म को स्वयं ही मुझसे न कहता, तो मेरे शाप से तेरे सिर के अभी हज़ारों टुकड़े हो जाते ॥ २३ ॥

क्षत्रियेण वधो राजन्वानप्रस्थे विशेषतः ।
ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम् ॥ २४ ॥

हे राजन्! जो क्षत्रिय जान बूझ कर किसी वानप्रस्थ का वध करे तो वह भले ही इन्द्र ही क्यों न हो, उसे अवश्य स्थानच्युत होना पड़ता है ॥ २४ ॥

सप्तधा तु फलेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति ।
ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ २५ ॥

जो कोई मेरे पुत्र जैसे तपस्वी एवं ब्रह्मवादी मुनि पर जान बूझ कर शस्त्र का प्रयोग करता है, तो उसके सिर के सात टुकड़े हो जाते हैं ॥ २५ ॥

अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं तेनैव जीवसि ।
अपि ह्यद्य कुलं न स्यादिक्ष्वाकूणां कुतो भवान् ॥२६॥

---

* पाठान्तरे—"बाष्पपूर्णवदनो"। १ फलेत्—विशीर्येत् । (गो०)

तूने अनजाने यह निन्द्य कर्म किया है, इसीसे तू अब तक जीवित (भी) है। नहीं तो अभी (समस्त) रघुकुल ही का नाश हो जाता, तेरी तो हस्ती ही क्या है ॥ २६ ॥

नय नौ नृप तं देशमिति मां चाभ्यभाषत ।
अद्य तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम्[1] ॥ २७ ॥

हे कौशल्ये! मुनि ने मुझसे कहा, हे राजन्! अब तू मुझे उस स्थान पर ले चल, जहाँ वह पड़ा है। क्योंकि अपने पुत्र की अन्तिम दशा देखने की मेरी इच्छा है ॥ २७ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम् ।
शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवशं गतम् ॥ २८ ॥

हा! वह काल के वश और अचेत हो भूमि पर पड़ा होगा। उसका सारा शरीर रक्त से सना होगा, मृगचर्म जो वह ओढ़े था वह अलग पड़ा होगा ॥ २८ ॥

अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ ।
अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया ॥ २९ ॥

हे कौशल्ये! मैं अकेला उन अत्यन्त दुःखित मुनि और उनकी स्त्री को उस जगह ले गया। (अंधे होने के कारण वे देख तो न सके, किन्तु) हाथ से उन्होंने मृतपुत्र का शरीर टटोला ॥ २९ ॥

तौ पुत्रमात्मानः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ ।
निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चास्येदमब्रवीत् ॥ ३० ॥

---

१ पश्चिमदर्शनम्—अन्तदर्शनम्। (रा०)

वे दोनों जन पुत्र के पास जा और हाथ से उसका शरीर टटोल, दोनों के दोनों पुत्र के मृतशरीर से लिपट गये। उसका पिता कहने लगा ॥ ३० ॥

नाभिवादयसे माऽद्य न च मामभिभाषसे ।
किन्नु शेषेऽद्य भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ॥३१॥

हे वत्स! तूने आज न तो मुझे प्रणाम किया और न मुझसे कुछ बातचीत की। तू ज़मीन पर क्यों पड़ा है? क्या तू मुझसे रूठ गया है? ॥ ३१ ॥

न त्वहं ते प्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिक ।
किन्नु नालिङ्गसे पुत्र सुकुमार वचो वद ॥ ३२ ॥

यदि तू मुझसे रूठा है तो हे वत्स! तू अपनी धार्मिक माता की ओर तो देख। तू क्यों मुझसे आ कर नहीं लिपटता और क्यों कोमल वचन नहीं बोलता ॥ ३२ ॥

कस्य वाऽपररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम्[1] ।
अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वाऽन्य[2]द्विशेषतः ॥ ३३ ॥

अब मैं पिछली रात में धर्मशास्त्र और पुराणादि पढ़ते समय किसका मनोहर एवं मधुर स्वर सुनूँगा ॥ ३३ ॥

को मां सन्ध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः ।
श्लाघयिष्य[3]त्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम् ॥ ३४ ॥

---

१ हृदयङ्गमम्—मधुरस्वरं। (गो०) २ अन्यद्वापुराणं—वैश्याच्छूद्रायांजातत्वेन शूद्रत्वाद्वेदप्रसङ्गोनोक्तः। (रा०) ३ श्लाघयिष्यति—उपचरिष्यति। (गो०)

हे बेटा! अब शोक और भय से कातर हुए प्रातःकाल स्नान कर, सन्ध्योपासन एवं होम कर मेरे निकट आ कौन सेवा करेगा ॥ ३४ ॥

[नोट—मुनिपुत्र तो वर्णसङ्कर था अतः उसे सन्ध्योपासन एवं होम का शास्त्रोक्त अधिकार प्राप्त नहीं था ; तब सन्ध्योपासन और होम करने की बात यहाँ क्यों लिखी गयी ; इस शङ्का का समाधान शास्त्रानुसार इस प्रकार किया गया है ।

"नमस्कारेणमंत्रेणपञ्चयज्ञान्समापयेत्"

इस वचनानुसार पञ्चयज्ञों के (इस प्रकार) करने का अधिकार चतुर्थ वर्ण को भी प्राप्त है ।]

[1]कन्द[2]मूलफलं हृत्वा को मां प्रियमिवातिथिम् ।
भोजयिष्यत्यकर्मण्यम[3]प्रग्रहमनायकम्[4] ॥ ३५ ॥

मुझ जैसे असमर्थ, असंग्रही (वन्य चाँवल आदि जिसके पास एकत्र नहीं) और अनाथ को अब कौन वन से कन्दमूल फल ला कर प्यारे अतिथि की तरह भोजन करावेगा ॥ ३५ ॥

इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम् ।
कथं वत्स भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥ ३६ ॥

हे वत्स! इस अंधी, तपस्विनी एवं दुःखिनी एवं पुत्रवत्सला तेरी बूढ़ी माता का भरण पोषण अब मैं कैसे करूँगा ॥ ३६ ॥

---

१ कन्दं—जलोद्भवानांपद्मादीनां । (गो०) २ मूलं—स्थलोद्भवानाम् । (गो०) ३ अप्रग्रहम्—नीवारादि संग्रहरहितम् । (गो०) ४ अनायकम्—अनाथम् । (गो०)

तिष्ठ मामागमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति ।
श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥३७॥

हे पुत्र! ठहर जा और आज यमालय को मत जा। कल मेरे और अपनी माता के साथ चलना ॥ ३७ ॥

उभावपि च शोकार्तावनाथौ कृपणौ वने ।
क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया सह यमक्षयम् ॥ ३८ ॥

तुझे छोड़ कर, शोकपीड़ित, अनाथ और असहाय हम दोनों इस वन में नहीं रह सकेंगे, अतः तेरे साथ ही हम भी शीघ्र यमालय को चलेंगे ॥ ३८ ॥

ततो वैवस्वतं दृष्ट्वा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम् ।
क्षमतां धर्मराजो मे [1]बिभृयात्पितरावयम् ॥ ३९ ॥

और चल कर यमराज से मिल उनसे कहेंगे कि, पुत्र-वियोग-कारी पूर्वजन्म में किये हुए हमारे अपराध को आप क्षमा करें, और यह बालक हमारा (दोनों का) पालन करे ॥ ३९ ॥

दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः ।
ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ४० ॥

ऐसी अक्षय्य और अभय-प्रदायिनी दक्षिणा हम जैसों को दीजिये। क्योंकि आप धर्मात्मा एवं महायशस्वी लोकपाल हैं ॥ ४० ॥

---

१ बिभृयात्—पालयतु । (रा०)

अपापोऽसि यदा पुत्र निहतः पापकर्मणा ।
तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकाः शस्त्रयोधिनाम् ॥४१॥

हे पुत्र ! तू निर्दोष होने पर भी इस पापी द्वारा मारा गया है। अतः तू अपने सत्य बल से, उस लोक में जा, जहाँ योद्धा लोग जाते हैं ॥ ४१ ॥

यान्ति शूरा गतिं यां च संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
हतास्त्वभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! युद्ध में पीठ न दिखाने वाले वीर लोग, शत्रु द्वारा मारे जाने पर, जिस गति को प्राप्त होते हैं, तू भी उसी परम गति को प्राप्त हो ॥ ४२ ॥

यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः ।
नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४३ ॥

हे बेटा ! महाराज सगर, शैब्य, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धमार जिस गति को प्राप्त हुए हैं, उसी गति को तू भी प्राप्त हो ॥ ४३ ॥

या गतिः सर्वसाधूनां स्वाध्यायात्तपसा च या ।
भूमिदस्याहिताग्नेरेकपत्नीव्रतस्य च ॥ ४४ ॥

जो गति स्वाध्याय और तप में निरत सब महात्मा पुरुषों को प्राप्त होती है वही गति तुझे भी प्राप्त हो । जो गति भूमिदान करने वाले अग्निहोत्री और एक-पत्नी-व्रत-धारी को प्राप्त होती है, वही तुझे भी प्राप्त हो ॥ ४४ ॥

गोसहस्रप्रदातॄणां या या गुरुभृतामपि[1] ।
देहन्यासकृतां[2] या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४५ ॥

हे वत्स ! जो गति सहस्र गौ दान करने वाले को, गुरुशुश्रूषा करने वाले को तथा महाप्रस्थान का सङ्कल्प कर (प्रयाग में या अग्नि में) शरीर त्याग करने वाले को प्राप्त होती है, वह तुझे भी प्राप्त हो ॥ ४५ ॥

न हि त्वस्मत्कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम् ।
स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः[3] ॥४६॥

क्योंकि हमारे तपस्विकुल में उत्पन्न हो कोई भी नीच गति को प्राप्त नहीं हुआ । नीच गति को तो वह प्राप्त होगा जिसने मेरे पुत्र तुझको मारा है ॥ ४६ ॥

एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत् ।
ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४७ ॥

इस प्रकार वह तपस्वी बार बार करुणापूर्ण विलाप कर, स्त्री सहित अपने मृतपुत्र को जलाञ्जलि देने में प्रवृत्त हुआ ॥ ४७ ॥

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः ।
स्वर्गमध्यारुहत्क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४८ ॥

तब तो वह धर्मात्मा मुनिकुमार अपने पुण्यकर्मों के बल, दिव्य रूप धारण कर, इन्द्र के साथ तुरन्त स्वर्ग को चला गया ॥ ४८ ॥

---

१ गुरुभृतां—गुरुशुश्रूषाकारिणां । (गो०) २ देहन्यासकृतां—महाप्रस्थानादिनापरलोकार्थंतनुत्यजः । (रा०) परलोकप्राप्तिसङ्कल्पपूर्वकं गङ्गा यमुना संगमादौजलेऽग्नौ वातनुं त्यजतामित्यर्थः । (गो०) ३ ममबान्धवः—ममपुत्रः । (गो०)

[नोट—स्वर्ग को, इन्द्र के साथ जाने से, जान पड़ता है कि स्वयं इन्द्र उसे स्वर्ग में ले जाने को आये थे ।]

आबभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः ।
आश्वास्य च मुहूर्तं तु पितरौ वाक्यमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

मुनिकुमार स्वर्ग जाते समय, इन्द्र के सहित, उन दोनों वृद्धों को एक मुहूर्त तक समझा बुझा, पिता से बोला ॥ ४९ ॥

स्थानमस्मि महत्प्राप्तो भवतोः परिचारणात् ।
भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यतः ॥ ५० ॥

मैंने जो आपकी सेवा की थी उसी पुण्य के बल मुझे यह उत्तम स्थान मिला । आप दोनों भी अति शीघ्र मेरे पास आवेंगे ॥ ५० ॥

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता ।
आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥ ५१ ॥

यह कह, वह जितेन्द्रिय मुनिपुत्र अति दिव्य विमान में बैठ, तुरन्त स्वर्ग को चला गया ॥ ५१ ॥

स कृत्वाथोदकं* तूर्णं तापसः सह भार्यया ।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५२ ॥

महाराज दशरथ कहने लगे, हे देवी ! उस महातेजस्वी तपस्वी ने भार्या सहित झटपट पुत्र को जलाञ्जलि दे, मुझसे, जो वहाँ हाथ जोड़े हुए खड़ा था, कहा ॥ ५२ ॥

अद्यैव जहि मां राजन्मरणे नास्ति मे व्यथा ।
यच्छरेणैकपुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम् ॥ ५३ ॥

* पाठान्तरे—"कृत्वातूदकं"।

हे राजन्! तुम अब मुझे भी मार डालो। मुझे मरने में कुछ भी कष्ट न होगा। क्योंकि मेरे यही इकलौता पुत्र था सो इसे तुमने एक ही बाण से मार मुझे बिना पुत्र का कर दिया॥ ५३॥

त्वया तु यदविज्ञानान्निहतो मे सुतः शुचिः।
तेन त्वामभिशप्स्यामि सुदुःखमतिदारुणम्॥ ५४॥

हे राजन्! तुमने यद्यपि अनजान में मेरे धर्मात्मा पुत्र का वध किया है, तथापि मैं इसके लिये तुम्हें यह अति दुस्सह दारुण शाप देता हूँ॥ ५४॥

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्।
एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं *गमिष्यसि॥ ५५॥

हे राजन्! मुझको इस समय जैसा यह पुत्रशोक हुआ है, ऐसे ही पुत्रशोक से तुम्हारी भी मृत्यु होगी॥ ५५॥

अज्ञानात्तु हतो यस्मात्क्षत्रियेण त्वया मुनिः।
तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप॥ ५६॥

तुम क्षत्रिय हो और अनजान में तुमने मुनि की हत्या कर डाली है। इसीसे हे नरेन्द्र! तुमको ब्रह्महत्या नहीं लगी॥ ५६॥

त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति।
जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणा॥ ५७॥

किन्तु जिस प्रकार दाता को दान का फल अवश्य मिलता है, उसी प्रकार तुमको भी घोर दुःख प्राप्त होगा और उसी दुःख से तुम्हें प्राण भी त्यागने पड़ेंगे॥ ५७॥

---

* पाठान्तरे—"करिष्यसि"।

एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु ।
चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात् ॥ ५८ ॥

(दशरथ जी कौशल्या से कहने लगे) हे देवि ! इस प्रकार मुझे शाप दे और बहुत सा विलाप कर, चिता बना और उस पर बैठ (भस्म हो) वे दोनों स्वर्ग को चले गये ॥ ५८ ॥

तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम् ।
तदा बाल्यात्कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा ॥ ५९ ॥

हे देवि ! इस चिन्ता में पड़ कर, आज मुझे अपना वह पापकर्म स्मरण हो आया, जो मैंने मूर्खतावश, शब्दवेधी बाण चला कर किया था ॥ ५९ ॥

तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः ।
अपथ्यैः* सह सम्भुक्ते व्याधिरन्नरसो यथा ॥ ६० ॥

हे देवि ! जिस प्रकार खाये हुए अपथ्य अन्न के रस से रोग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार उस पापकर्म का फल स्वरूप यह कर्मविपाक आ कर उपस्थित हुआ है ॥ ६० ॥

तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद्वचः ।
इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यामाह च भूमिपः ॥ ६१ ॥

हे भद्रे ! उस उदार तपस्वी के दिये हुए शाप के पूरे होने का समय आ गया है । यह कह, रुदन कर और (मरण) भय से त्रस्त हो, महाराज दशरथ कौशल्या से कहने लगे ॥ ६१ ॥

यदहं पुत्रशोकेन सन्त्यक्ष्याम्यद्य जीवितम् ।
चक्षुर्भ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये साधु मां स्पृश ॥६२॥

---

* पाठान्तरे—"सम्भुक्तो ।"

हे कौशल्ये ! पुत्रशोक के कारण मेरे प्राण अब निकलना चाहते हैं, इसीसे तू अब मुझे नहीं देख पड़ती। अतः तू मेरे शरीर को छू ॥ ६२ ॥

यमक्षयमनुप्राप्तं *द्रक्ष्यन्ति न हि मानवाः ।
यदि मां संस्पृशेद्रामः सकृदद्य लभेत वा ॥ ६३ ॥
[धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः ।
न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम् ॥ ६४ ॥

क्योंकि यमधाम को जाने वाले लोगों को आँखों से नहीं देख पड़ता। यदि श्रीरामचन्द्र इस घड़ी एक बार भी मुझे छू लें अथवा यौवराजपद तथा धन सम्पत्ति ग्रहण करना स्वीकार कर लें, तो बोध होता है कि, कदाचित् मैं जीता बच जाऊँ। हे कल्याणी ! मैंने श्रीरामचन्द्र के साथ जैसा व्यवहार किया है, वैसा करना मेरे लिये उचित नहीं था ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि ।
दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद्भुवि विचक्षणः ॥ ६५ ॥

प्रत्युत श्रीरामचन्द्र का मेरे प्रति यह व्यवहार सर्वथा उचित है। इस संसार में कौन ऐसा विचारवान मनुष्य होगा, जो अपने दुष्ट भी पुत्र को त्याग दे ॥ ६५ ॥

कश्च प्रवाज्यमानो वा नासूयेत्पितरं सुतः ।
चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ॥६६॥]

और कौन ऐसा पुत्र होगा, जो घर से निकाले जाने पर भी पिता की निन्दा न करे। हे देवि ! आँखों से तू अब मुझे नहीं देख पड़ती और मेरी स्मरणशक्ति भी नष्ट होती जाती है ॥ ६६ ॥

---

* पाठान्तरे—"प्राप्ता"।

दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम् ।
अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये ॥ ६७ ॥

हे कौशल्ये ! यमराज के दूत, चलने के लिये जल्दी कर रहे हैं। अतः अब इससे बढ़ कर अन्य दुःख कौन सा हो सकता है कि, मैं मरते समय भी ॥ ६७ ॥

न हि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम् ।
तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः[1] ॥ ६८ ॥

उस सत्यपराक्रमी और धर्मात्मा राम को नहीं देख रहा हूँ। उस पुत्र को, जिसने कभी मेरा किसी बात में सामना नहीं किया, न देखने से उत्पन्न शोक ॥ ६८ ॥

उच्छोषयति मे प्राणान्वारि स्तोकमिवातपः ।
न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥ ६९ ॥

मेरे प्राणों को उसी प्रकार सोख रहा है, जिस प्रकार उष्णता जल को थोड़ा थोड़ा कर सुखाती है। वे मनुष्य नहीं, किन्तु देवता हैं, जो सुन्दर कुण्डल पहिने हुए ॥ ६९ ॥

मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।
पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रु सुदंष्ट्रं चारुनासिकम् ॥ ७० ॥

कमल नेत्र वाले, सुन्दर भ्रुकुटि वाले सुन्दर दाँतों वाले और सुन्दर नासिका युक्त श्रीराम के मुख को पन्द्रहवें वर्ष पुनः देखेंगे ॥ ७० ॥

---

१ अप्रतिकर्मणः—प्रतिक्रियारहितस्य । (गो०)

धन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपनिभं मुखम् ।
सदृशं शारदस्येन्दोः फुल्लस्य कमलस्य च ॥ ७१ ॥

सुगन्धि मम नाथस्य धन्या द्रक्ष्यन्ति तन्मुखम् ।
निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७२ ॥

वे लोग धन्य हैं, जो श्रीराम के चन्द्रमा तुल्य मुख को देखेंगे। शरद् पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान, प्रफुल्लित कमल की सुगन्ध से युक्त, श्रीराम का मुख जो लोग उनके वनवास से लौट कर अयोध्या में आने पर देखेंगे, वे धन्य हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा ।
कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं[1] सीदतीव[2] मे ॥ ७३ ॥

अथवा अपने मार्ग को प्राप्त हुए शुक्र की तरह वनवास से अयोध्या में आये हुए श्रीराम को जो लोग देखेंगे, वे यथार्थ में सुखी होंगे। हे कौशल्ये ! मन की घबड़ाहट से मेरा हृदय फटा जाता है ॥ ७३ ॥

येन वेद न संयुक्ताञ्शब्दस्पर्शरसानहम् ।
चित्तनाशाद्विपद्यन्ते[3]सर्वाण्येवेन्द्रियाणि मे ॥ ७४ ॥

अतएव इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले शब्द, स्पर्श, रसादि गुण भी मुझे नहीं जान पड़ते। क्योंकि चित्त के नाश होने पर ये सब इन्द्रियाँ भी वैसे ही नष्ट हो जाती हैं ; ॥ ७४ ॥

---

१ हृदयं—मनसोधिष्ठानं। (गो०) २ सीदतीव—विसीर्यतीव। (गो०) ३ विपद्यन्ते—परिणतानिभवन्ति। (शि०) * पाठान्तरे—" वेदये न च "।

क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संसक्ता[1] रश्मयो यथा ।
अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतसम्* ॥ ७५ ॥

जैसे तेल के जल जाने पर दीपक का प्रकाश नष्ट हो जाता है। यह मेरे हृदय में उत्पन्न शोक मुझ अचेत और अनाथ को, ॥ ७५ ॥

संसादयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ।
हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन[2] ॥ ७६ ॥

उसी प्रकार गिरा रहा है, जिस प्रकार नदी की धार का वेग नदी के करारे को गिराता है। हा राघव! हा महाबाहो! हा मेरे दुःख को दूर करने वाले! ॥ ७६ ॥

हा पितृप्रिय मे नाथ हाऽद्य क्वासि गतः सुत ।
हा कौसल्ये विनश्यामि† हा सुमित्रे तपस्विनि ।
हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥ ७७ ॥

हा पिता के लाडले, हे मेरे नाथ! हे मेरे बेटा, तुम कहाँ गये? हा कौशल्या, हा तपस्विनी सुमित्रा! अब मैं मरता हूँ। हा क्रूर मेरी वैरिन, और कुलनाशिनी कैकेयी! ॥ ७७ ॥

इति रामस्य मातुश्च सुमित्रायाश्चसन्निधौ ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ ने राममाता और सुमित्रा की सन्निधि में, विलाप करते हुए अपने प्राण त्याग दिये ॥ ७८ ॥

---

१ संसक्ताः—दीपाविनाभूताः । (गो०) २ आयासनाशन—दुःखनाशन । (गो०) * पाठान्तरे—"अचेतनम्" । † पाठान्तरे—"नशिष्यामि" ।

तथा* तु दीनं कथयन्नराधिपः
प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।
गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडितः
तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७९ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

उदार एवं दर्शनीय महाराज ने दीन वचन कहते हुए, प्रिय पुत्र के वनवास से व्याकुल हो, आधी रात बीतने पर अत्यन्त दुःखी हो प्राण त्यागे ॥ ७६ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:o:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरेवापरेऽहनि ।
वन्दिनः पर्युपातिष्ठन्पार्थिवस्य निवेशनम् ॥ १ ॥

रात बीतने पर अगले दिन प्रातःकाल के समय, महाराज के राजद्वार पर वन्दीजन आये ॥ १ ॥

सूताः परमसंस्कारा[1] मागधाश्चोत्तमश्रुताः[2] ।
गायकाः स्तुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

---

१ परमसंस्काराः—व्याकरणाद्युत्तमसंस्कारयुक्ताः । (गो०) २ उत्तमश्रुताः—वंशपरम्पराश्रवणमेषां ते मागधाः । (रा०) * पाठान्तरे—“यदा तु” ।

व्याकरणादि शास्त्रों में चतुर सूत, और वंशपरम्परा का कीर्तन करने में निपुण मागध ; तान, लय एवं, स्वर के ज्ञाता गवैया राजभवन के द्वार पर उपस्थित हो, पृथक् पृथक् अपनी रीति के अनुसार महाराज के गुण कीर्तन करने लगे ॥ २ ॥

राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम् ।
प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्दोऽ* व्यवर्धत ॥ ३ ॥

उच्चस्वर से महाराज की स्तुति करने वाले और आशीर्वाद देने वाले उन लोगों के नाद से सम्पूर्ण राजभवन भर गया ॥ ३ ॥

ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः ।
[1]अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादानवादयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर ताली बजा कर ताल देने में निपुण (पाणिवादक) लोग ताली बजा बजा कर महाराज के अद्भुत कर्मों का वर्णन करने लगे ॥ ४ ॥

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धा विसस्वनुः ।
शाखास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥

इससे वे पक्षी जो राजभवन के वृक्षों की शाखाओं पर रहते थे और जो पालतू होने के कारण पिंजड़ों में रहते थे, जागे और बोलने लगे ॥ ५ ॥

व्याहृताः[2] पुण्यशब्दाश्च[3] वीणानां चापि निःस्वनाः ।
आशीर्गेयं च गाथानां[4] पूरयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥

---

१ अपदानानि—वृत्तान्यद्भुतकर्माणि । (गो०) २ व्याहृताः—ब्राह्मणैरुक्ताः । (गो०) ३ पुण्यशब्दाः—पुरुषक्षेत्रतीर्थकीर्तनादिरूपाः । (गो०) ४ गाथानां—दशरथ विषय प्रबन्ध पुण्य विशेषाणां । (गो०) * पाठान्तरे—"व्यवर्तत" ।

ब्राह्मणों के आशीर्वादात्मक वाक्यों से, पालतू पक्षियों की उन बोलियों से, जो भगवन्नाम अथवा पवित्र तीर्थों के नाम ले कर बोल रहे थे, वीणा की ध्वनि से, आशीर्वाद से तथा महाराज दशरथ सम्बन्धी प्रबन्ध विशेषों के बखान से राजभवन पूरित हो गया ॥६॥

ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः[1] ।
स्त्रीवर्षधर[2]भूयिष्ठा उपतस्थुर्यथापुरम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर सदाचार सम्पन्न कालोचित सेवा करने में निपुण और नपुंसक (खोजा लोग) प्रतिदिन की प्रथानुसार आ कर उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

हरिचन्दनसंपृक्तमुदकं काञ्चनैर्घटैः ।
आनिन्युः स्नानशिक्षाज्ञा यथाकालं यथाविधि ॥८॥

महाराज को स्नान करवाने वाले लोग जो स्नान कराने की विधि के विशेषज्ञ थे, सुवर्ण के कलसों में हरिचन्दन मिला हुआ जल भर कर यथासमय और यथाविधान लाये ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान् ।
उपानिन्युस्तथाऽप्यन्याः कुमारी[3]बहुलाः स्त्रियः ॥ ९ ॥

अनेक कुमारीप्राय सुन्दर स्त्रियों ने तेल उबटनादि, दन्तधावन तथा कुल्ली करने के लिये जलादि तथा शीशा, कंघा, तौलिया आदि सामग्री ला कर उपस्थित की ॥ ६ ॥

---

१ पर्युपस्थानकोविदाः—कालोचितपरिचर्याविचक्षणाः । (गो०) २ स्त्रीवर्षधरभूयिष्ठाः—अन्तःपुराध्यक्षस्त्रीभिः वर्षधरैःपण्डैश्चसमृद्धाः । (गो०) ३ कुमारीबहुला—कुमारीप्रायाः । (गो०)

सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवदर्चितम् ।
सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत्तद्बभूवाभिहारिकम् ॥ १० ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण लक्षण युक्त, विधि पूर्वक सजी हुई, अतः सर्वगुण और शोभायुक्त, महाराज के लिये प्रातःकृत्य की सब सामग्री ला कर एकत्र की गयी ॥ १० ॥

तत्तु सूर्योदयं यावत्सर्वं परिसमुत्सुकम् ।
तस्थावनुपसम्प्राप्तं किंस्विदित्युपशङ्कितम् ॥ ११ ॥

सूर्योदय पर्यन्त सब लोग महाराज के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित रहे और आपस में कहते थे कि, कारण क्या है जो महाराज आज अब तक सो कर नहीं उठे ॥ ११ ॥

अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं[1] प्रत्यनन्तराः ।
ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥ १२ ॥

कौशल्या जी के अतिरिक्त और जो सब स्त्रियाँ वहाँ महाराज की सेज के समीप थीं, मिल कर महाराज को जगाने लगीं ॥ १२ ॥

तथाप्युचित[2]वृत्तास्ता विनयेन[3] नयेन[4] च ।
न ह्यस्य शयनं स्पृष्ट्वा किञ्चिदप्युपलेभिरे ॥ १३ ॥

उन स्त्रियों ने बड़े प्यार से और युक्ति से महाराज के शरीर को स्पर्श कर, जब देखा, तब उनमें जीवित पुरुष जैसी कुछ भी

---

१ शयनंप्रत्यनन्तरा—शयनसन्निकृष्टाइत्यर्थः । (गो०) २ उचितवृत्ताः—स्पर्शनादिव्यापारोचिताः । (गो०) ३ विनयेन—प्रश्रयेण । (गो०) ४ नयेन—युक्त्या । (गो०)

चेष्टा न पायी (अर्थात् साँस का आना जाना आदि न जान पड़ा) ॥ १३ ॥

ताः स्त्रियः [1]स्वप्नशीलज्ञाश्चेष्टासञ्चलनादिषु ।
तां वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥ १४ ॥

तब वे सब स्त्रियाँ, जो महाराज के सोने के समय की हालत चेष्टा और नाड़ीसञ्चार को भली भाँति जानती थीं, महाराज की यह दशा देख, थरथरा उठीं और महाराज के जीवित रहने में उनको सन्देह उत्पन्न हो गया ॥ १४ ॥

प्रतिस्रोतस्तृणाग्राणां सदृशं सञ्चकम्पिरे* ।
अथ संवेपमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम् ॥ १५ ॥

महाराज के जीवित रहने में सन्देह उत्पन्न हो जाने के कारण, वे सब स्त्रियाँ उसी प्रकार थरथर काँपने लगीं जिस प्रकार नदी के स्रोत में उत्पन्न बेत या नरकुल काँपा करता है ॥ १५ ॥

यत्तदाशङ्कितं पापं[2] तस्य जज्ञे विनिश्चयः ।
कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते[3] ॥ १६ ॥

उन लोगों को महाराज के जीवित रहने में जो सन्देह था, वह अब निश्चय में परिणत हो गया—(अर्थात् उनको निश्चय हो गया कि, महाराज ने शरीर त्याग दिया)। तब कौशल्या और सुमित्रा जो पुत्रों के वियोगजन्य शोक से ग्रस्त हो ॥ १६ ॥

---

१ स्वप्नशीलज्ञा—स्वापस्वभावज्ञाः । (गो०) २ मत्पापं—मरणरूपमाशङ्कितं । (गो०) ३ पराजिते—आक्रान्ते । (गो०) * पाठान्तरे—"संचकाशिरे"।

प्रसुप्ते न प्रबुध्येते यथाकालसमन्विते[1] ।
निष्प्रभा च विवर्णा च सन्ना शोकेन सन्नता ॥ १७ ॥

मृतक की तरह सो रही थीं न जागीं । मारे शोक के कौशल्या निस्तेज और पीली पड़ गयी थीं, उनका शरीर एकदम कृश हो गया था ॥ १७ ॥

न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ।
कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार बादल के अंधेरे में छिपे नक्षत्र शोभित नहीं होते वैसे ही महाराज के समीप कौशल्या व सुमित्रा शोकरूपी बादल से ढकी होने के कारण शोभा रहित हो रही थीं ॥ १८ ॥

न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलुलितानना ।
ते च दृष्ट्वा तथा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम् ॥ १९ ॥

राजभवन की अन्य स्त्रियां भी शोक से अश्रुपात करती हुई शोभित नहीं होती थीं । उन स्त्रियों ने देखा कि, कौशल्या और सुमित्रा सो रही हैं और महाराज ॥ १९ ॥

सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरमदृश्यत ।
ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः ॥ २० ॥

के निद्रावस्था ही में प्राण निकले हुए देख वे अन्तःपुरवासिनी स्त्रियां अति दीन हो उच्च स्वर से रोने लगीं ॥ २० ॥

---

१ यथाकालसमन्विते—मृतेइवप्रसुप्ते नप्रबुध्येते । (गो०)

करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपाः ।
तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने ॥ २१ ॥

जिस प्रकार वन में अपने समूह से बिछुड़ने पर हथनियाँ चिल्लाती हैं, उसी प्रकार इन सब का बड़े ज़ोर से रोने का चीत्कार सुन, एकाएकी जाग कर ॥ २१ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम् ।
हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले ॥ २२ ॥

कौशल्या और सुमित्रा महाराज को देख वा उनके शरीर पर हाथ रख (और शरीर को ठंडा पा महाराज को मरा हुआ जान,) "हा नाथ!" कह कर चिल्लाती हुई, पृथिवी पर पछाड़ खा कर, गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

सा कोसलेन्द्रदुहिता वेष्टमाना महीतले ।
न बभ्राज रजोध्वस्ता तारेव गगनाच्च्युता ॥ २३ ॥

कौशल्या जो ज़मीन पर लोट रही थीं, अतः उनके सारे शरीर में धूल लग गयी थी। उस समय धूलधूसरित वे आकाश से गिरे हुए तारा की तरह जान पड़ती थीं ॥ २३ ॥

नृपे शान्तगुणे[1] जाते कौसल्यां पतितां भुवि ।
अपश्यंस्ताः स्त्रियः सर्वा हतां नागवधूमिव ॥ २४ ॥

महाराज के मरने पर, कौशल्या को ज़मीन पर लोटते हुए उन सब स्त्रियों ने देखा, मानों कोई नागवधू पड़ी हो ॥ २४ ॥

---

१ शान्तगुणे—शान्तदेहोष्णस्पन्दनादिगुणे। (गो०)

ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखाः स्त्रियः ।
रुदन्त्यः शोकसन्तप्ता निपेतुर्धरणीतले* ॥ २५ ॥

तब महाराज की कैकेयी आदि सब स्त्रियां रुदन करती हुईं, शोक से सन्तप्त होने के कारण, मूर्च्छित हो, ज़मीन पर गिर पड़ीं ॥ २५ ॥

ताभिः स बलवान्नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः[1] ।
येन स्थिरीकृतं भूयस्तद्गृहं समनादयत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर (पूर्व) आयी हुईं स्त्रियों के रोने का तुमुल शब्द पीछे आयी हुई कैकेयी आदि स्त्रियों के रोने के शब्द से मिल, और भी अधिक हो गया और उस आर्तनाद से सम्पूर्ण राजभवन पूरित हो गया ॥ २६ ॥

तत्समुत्त्रस्तसम्भ्रान्तं पर्युत्सुकजनाकुलम् ।
सर्वतस्तुमुलाक्रन्दं परितापार्तबान्धवम् ॥ २७ ॥

सद्यो निपतितानन्दं दीनविक्लवदर्शनम् ।
बभूव नरदेवस्य सद्म दिष्टान्तमीयुषः ॥ २८ ॥

उस समय महाराज दशरथ का राजभवन त्रस्त, विकल और व्यग्र जनों से भरा, महा चीत्कार से युक्त और परिताप से सन्तप्त बन्धुजनों से भरा हुआ आनन्द रहित और दीनता से परिपूर्ण हो गया था। वह राजभवन भाग्यहीन सा देख पड़ता था ॥ २७ ॥ २८ ॥

अतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभं
यशस्विनं सम्परिवार्य पत्नयः ।

---

१ अनुद्रुतः—अनुसृतोभूत् । (गो०) * पाठान्तरे—" निपेतुर्गतचेतनाः " ।

भृशं रुदन्त्यः करुणं सुदुःखिताः
प्रगृह्य बाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥ २९ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

राजाओं में श्रेष्ठ और यशस्वी महाराज दशरथ को मरा देख, उनकी सब रानियाँ महा दुःखी हो अत्यन्त करुणपूर्ण स्वर से रो रो कर और महाराज दशरथ की बाहें पकड़ अनाथ की तरह विलाप करने लगीं ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

षट्षष्टितमः सर्गः

—:o:—

तमग्निमिव संशान्तमम्बुहीनमिवार्णवम् ।
हतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य पार्थिवम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ को बुझी हुई आग, अथवा जलहीन समुद्र अथवा हतप्रभ सूर्य की तरह स्वर्गवासी हुआ देख ॥ १ ॥

कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककर्शिता ।
उपगृह्य[1] शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

कौशल्या ने महाराज का सिर अपनी गोद में रख और विविध प्रकार के शोकों से उत्पीड़ित होने के कारण रोते रोते कैकेयी से कहा ॥ २ ॥

---

1 राज्ञा शिरउपगृह्य—राज्ञःशिरअङ्के कृत्वा। (गो०)

सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा[1] नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥

अरी दुष्टा कमाइन! अब अपनी साध पूरी कर और निष्कण्टक राज्य सुख भोग। महाराज को विदा कर अब तू अपने पुत्र के राज्यसुख में एकाग्रचित्त हो ॥ ३ ॥

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम ।
विपथे सार्थहीनेव[2] नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

श्रीराम तो मुझे छोड़ चला ही गया था, महाराज भी अब नहीं रहे। दुर्गम पथ में सहायक साथी छूटे हुए पथिक की तरह मुझे अब जीने की साध नहीं है ॥ ४ ॥

भर्तारं तं परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः ।
इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥

हाय! कौन ऐसी स्त्री होगी, जो अपने परम देवता स्वामी को छोड़ कर, जीवित रहना पसन्द करेगी। एक कैकेयी अवश्य जीवेगी, क्योंकि उसने अपना धर्म त्याग दिया (अर्थात् पतिव्रत धर्म) ॥ ५ ॥

न लुब्धो बुध्यते दोषान्[3] किंपाकमिव भक्षयन् ।
कुब्जानिमित्तं कैकेय्या राघवाणां कुलं हतम् ॥ ६ ॥

हा! जो लालची होता है वह लालच के दुष्परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता, जैसे भूखा मनुष्य विषमिश्रित पदार्थ के क्षुधा

---

१ एकाग्रा—पुत्रराज्यैकाग्रचित्ता । (रा०) २ सार्थहीना—सहायभूतपथिकसङ्गरहितेत्यर्थः । (गो०) ३ किम्पाकं—कुत्सितपाकं । (गो०)

वश खाते समय तज्जनित दुष्परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता, हा! कुब्जा के कहने से कैकेयी ने महाराज रघु के कुल का नाश कर डाला ॥ ६ ॥

[1]अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवासितम् ।
सभार्यं जनकः श्रुत्वा परितप्स्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥

जब राजा जनक सुनेंगे कि, कैकेयी के द्वारा अनुचित रीति से प्रेरणा किये जाने पर महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्र को स्त्री सहित वन भेज दिया, तब उनको कैसा सन्ताप होगा ॥ ७ ॥

स मामनाथां विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः ।
रामः कमलपत्राक्षो [2]जीवनाशमितो[3] गतः ॥ ८ ॥

इस समय कमलनयन धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र यह न जानते होंगे कि, यहाँ महाराज के मरने से मैं अनाथ और विधवा हो गयी ॥ ८ ॥

विदेहराजस्य सुता तथा सीता तपस्विनी[4] ।
दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिष्यते* ॥ ९ ॥

राजा जनक की पुत्री बापुरी सीता जो दुःख सहने योग नहीं है, वन में अनेक प्रकार के दुःख पा कर घबड़ाती होगी ॥ ९ ॥

नदतां भीमघोषाणां निशासु मृगपक्षिणाम् ।
निशम्य नूनं संत्रस्ता राघवं संश्रयिष्यति ॥ १० ॥

---

१ अनियोगे—वरप्रदान समये वरस्य विशेषनिर्देशा भावे सति । (गो०)
२ जीवनाशंगतः—राज्ञाजीवनाशंगतः प्राप्तः । (गो०) ३ इतः अत्रदेशे । (गो०) ४ तपस्विनी—शोचनीया । (गो०) * पाठान्तरे—"विजिष्यति" ।

सीता जब कि, रात में सिंह व्याघ्रादि जन्तुओं का डरावना दहाड़ना और पक्षियों की बोलियां सुनती होगी, तब मारे डर के श्रीराम के गले में लिपट जाती होगी ॥ १० ॥

वृद्धश्चैवाल्पऽपुत्रश्च[1] वैदेहीमनुचिन्तयन् ।
सोऽपि[2] शोकसमाविष्टो ननु त्यक्ष्यति जीवितम् ॥११॥

वे राजा जनक भी, जो बूढ़े हैं और जिनके केवल कन्या सन्तति है, सीता जी के कष्टों का, स्मरण कर और शोक से विकल हो शरीर छोड़ देंगे ॥ ११ ॥

साऽहमद्यैव [3]दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।
इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १२ ॥

अतः पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई मैं आज ही प्राण त्यागने के लिये, महाराज के शव से चिपट, अग्नि में प्रवेश करूँगी अर्थात् सती हो जाऊँगी ॥ १२ ॥

तां ततः सम्परिष्वज्य विलपन्तीं तपस्विनीम् ।
*व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः[4] ॥१३॥

अन्तःपुर के तथा राज्य के रीति व्योहार (अर्थात् ज़ाब्ता) जानने वाले अर्थात् मंत्रियों ने महाराज के शव से अत्यन्त दुःखिनी बापुरी कौशल्या को हटा कर अलग किया ॥ १३ ॥

---

१ अल्पपुत्रः—दुहितृमात्रपुत्रः । (गो०) २ सोऽपि—जनकोऽपि । (गो०) ३ दिष्टान्तं—मरणं । (गो०) ४ व्यावहारिकाः—व्यवहारेवाह्याभ्यन्तर सकलराजकृत्येनियुक्ताः अमात्याइत्यर्थः । (गो०) * पाठान्तरे—"व्यवनीय"।

तैलद्रोण्यामथामात्याः संवेश्य जगतीपतिम् ।
राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम् ॥ १४ ॥

और उन मंत्रियों ने महाराज के शव को तेल भरे कड़ाह में रख दिया जिससे शव बिगड़े नहीं। तदनन्तर वे राजाज्ञानुसार सब कृत्य करने लगे ॥ १४ ॥

न तु *संस्करणं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः ।
सर्वज्ञाः[1] कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् ॥ १५ ॥

समयोचित कर्त्तव्यों को जानने वाले मंत्रियों ने बिना किसी राजकुमार के आये महाराज के शव के अग्निसंस्कारादि क्रियाकर्म करना उचित न समझा। अतः महाराज के शव (को तेल से भरी कढ़ाई में) रखवा दिया ॥ १५ ॥

तैलद्रोण्यां तु सचिवैः शायितं तं नराधिपम् ।
हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥१६॥

जब मंत्रि लोग महाराज के शव को तेल से भरी कढ़ाई में लिटाने लगे, तब वे स्त्रियाँ महाराज का मरना निश्चय जान, "हा महाराज! मर गये।"— कह कर विलाप करने लगीं ॥ १६ ॥

बाहूनुद्यम्य कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मुखैः ।
रुदन्त्यः शोकसन्तप्ताः कृपणं पर्यदेवयन् ॥ १७ ॥

वे दुःखिनी स्त्रियाँ अपनी भुजाओं को उठा उठा कर और आँखों से अश्रुधारा बहा तथा शोक से सन्तप्त हो, विलाप करने लगीं ॥ १७ ॥

---

१ सर्वज्ञाः—सर्वधर्मज्ञाः। (गो०) * पाठान्तरे—"सङ्कलनं"।

हा महाराज रामेण सततं प्रियवादिना ।
विहीनः* सत्यसन्धेन किमर्थं विजहासि नः ॥ १८ ॥

हा महाराज ! हमें सदैव प्रिय बोलने वाले श्रीराम से रहित कर, आप हमें छोड़ कर क्यों चले जाते हैं ॥ १८ ॥

कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण वियोजिताः ।
कथं पतिघ्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥ १९ ॥

अब हम श्रीरामचन्द्र जी से बिछुड़ कर इस दुष्टा तथा पति को मारने वाली कैकेयी के साथ, विधवा हो कर कैसे रह सकेंगी ॥ १९ ॥

स हि नाथः सदाऽस्माकं तव च प्रभुरात्मवान् ।
वनं रामो गतः श्रीमान्विहाय नृपतिश्रियम् ॥ २० ॥

क्योंकि श्रीराम जो जो हमारे और आपके जीवनाधार थे, राज्यलक्ष्मी को छोड़, वन को चले गये ॥ २० ॥

त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः ।
कथं वयं निवत्स्यामः कैकेय्या च विदूषिताः[1] ॥२१॥

अब हम सब तुम्हारे बिना और श्रीराम के न रहने पर, दुःख में फँस, कैकेयी के तिरस्कारों को सहन करती हुई, किस प्रकार रह सकेंगी ॥ २१ ॥

यया तु राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।
सीतया सह सन्त्यक्ता सा कमन्यं न हास्यति ॥२२॥

---

१ विदूषिताः—राज्यगर्वातिरस्कृताः । (गो०) * पाठान्तरे—विहीनाः ।

जिसने महाराज को, श्रीरामचन्द्र एवं महाबली लक्ष्मण तथा सीता को त्याग करने में सङ्कोच न किया वह भला किसको नहीं छोड़ सकती ॥ २२ ॥

ता बाष्पेण च संवीताः शोकेन विपुलेन च ।
व्यवेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥ २३ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ की सर्वश्रेष्ठ रानियाँ नेत्रों से आँसू बहाती और महाशोकग्रस्त होने के कारण आनन्द रहित हो गयीं ॥ २३ ॥

निशा चन्द्रविहीनेव स्त्रीव भर्तृविवर्जिता ।
पुरी नाराजतायोध्या विना राज्ञा महात्मना ॥२४॥

उस समय अयोध्यापुरी चन्द्र बिन यामिनी और कन्त बिन कामिनी की तरह महाराज दशरथ के बिना, शोभित नहीं होती थी ॥ २४ ॥

बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।
शून्यचत्वरवेश्मान्ता[1] न बभ्राज यथापुरम्[2] ॥ २५ ॥

क्योंकि जिधर देखो उधर लोग रोते हुए देख पड़ते थे, और स्त्रियाँ हाहाकार मचा रही थीं। घर और चौराहों में झाड़ू तक नहीं पड़ी थी। सारांश यह कि अयोध्या की जैसी शोभा पहले थी वैसी अब नहीं देख पड़ती थी ॥ २५ ॥

गते तु शोकात्[3] त्रिदिवं नराधिपे
महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।

---

१ शून्यचत्वरेति—समार्जनानुलेपनबल्यादि शून्यचत्वरादियुक्तेति यावत्। (गो०) २ यथापुरं—यथापूर्वं । (गो०) ३ शोकात्—पुत्रशोकात् । (गो०)

निवृत्तचारः[1] सहसा गतो रविः
प्रवृत्तचारा[2] रजनी ह्युपस्थिता ॥ २६ ॥

पुत्रशोक में महाराज दशरथ के स्वर्ग सिधारने पर, उनकी सब रानियाँ ज़मीन पर पड़ी रो रही थीं। इतने में दिन डूब गया और अंधकार को लिये हुए रात हो आयी ॥ २६ ॥

ऋते तु पुत्राद्दहनं महीपतेः
न रोचयन्ते सुहृदः समागताः ।
इतीव तस्मिञ्शयने न्यवेशयन्
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥

राजवंश के जो हितैषी भाईबंद वहाँ एकत्र हुए थे, उन लोगों ने विचार कर यह निश्चय किया कि, बिना किसी राजपुत्र के आये महाराज के शव की दाहक्रिया किया जाना ठीक नहीं। अतः शव को तेल के कढ़ा में रखा रहने दिया जाय ॥ २७ ॥

गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना
व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी ।
पुरी बभासे रहिता महात्मना
न चास्रकण्ठाऽऽकुलमार्गचत्वरा ॥ २८ ॥

उस समय महाराज के स्वर्ग सिधारने पर अयोध्यापुरी की सड़कें और चौराहों पर रोते हुए और बाष्परुद्धकण्ठ वाले लोगों

---

१ निवृत्तचारः—निवृत्तकिरणप्रचारः। (गो०) २ प्रवृत्तचारा—प्रवृत्ततमः प्रचारा। (गो०)

की भीड़ हो जाने से, अयोध्यापुरी सूर्यहीन आकाश अथवा नक्षत्र हीन रात्रि की तरह प्रभाहीन हो गयी ॥ २८ ॥

नराश्च नार्यश्च समेत्य सङ्घशो
विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।
तदा नगर्यां नरदेवसंक्षये
बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे ॥ २९ ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

महाराज के स्वर्गवासी होने पर, अयोध्यापुरीवासी क्या पुरुष, क्या स्त्री सब इकट्ठे हो एक स्वर से भरत की माता कैकेयी को धिक्कारने लगे । उस समय सभी दुःखी थे ; सुखी कोई न था ॥२९॥

अयोध्याकाण्ड का छाछठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:०:—

आक्रन्दितनिरानन्दा साश्रुकण्ठजनाकुला ।
अयोध्यायामवतता[1] सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

रोते रोते किसी के भी मन में आनन्द नहीं रह गया था, सब लोग आँसू गिराते बराबर रो रहे थे । वह दुःख की रात लोगों के लिये पहाड़ जैसी बड़ी हो गयी थी । किसी न किसी तरह वह व्यतीत हुई ॥ १ ॥

---

१ अवतता—दीर्घा । (गो०)

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः।
समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः॥ २॥

जब रात बीती और सूर्य उदय हुए, तब राजकाज में साहाय्य देने वाले अधिकारी ब्राह्मण इकट्ठे हो सभा में आये॥ २॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च काश्यपः।
कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः॥ ३॥

उनमें सब से अधिक प्रसिद्ध अथवा मुख्य थे मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, गौतम और जाबालि॥ ३॥

एते द्विजाः सहामात्यैः [1]पृथग्वाचमुदीरयन्[2]।
वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम्॥ ४॥

ये ब्राह्मण मंत्रियों सहित आ कर सर्वश्रेष्ठ राजपुरोहित वशिष्ठ जी के सामने बैठ, अलग अलग अपना अपना आशय प्रकट करने लगे॥ ४॥

अतीता शर्वरी दुःखं या नो वर्षशतोपमा।
अस्मिन्पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे॥ ५॥

बीती हुई रात जो हमें सौ वर्ष के समान जान पड़ती थी, किसी प्रकार बीती। क्योंकि इसी रात में पुत्रशोक से विकल महाराज पञ्चत्व को प्राप्त हुए (मरे)॥ ५॥

स्वर्गतश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः।
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह॥ ६॥

---

१ पृथक्—भिन्नं। (शि०) २ उदीरयन्—अकथयन्। (शि०)

महाराज स्वर्गवासी हुए हैं और श्रीरामचन्द्र जी वन में हैं। तेजस्वी लक्ष्मण भी श्रीराम के साथ वन में हैं॥ ६॥

उभौ भरतशत्रुघ्नौ कैकयेषु परन्तपौ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने॥ ७॥

परन्तप दोनों भरत और शत्रुघ्न केकय देश की राजधानी में अपने नाना के घर में विराजमान हैं॥ ७॥

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव राजा कश्चिद्विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं न विनाशमवाप्नुयात्॥ ८॥

अतः इक्ष्वाकुवंशीय किसी पुरुष को आज ही राजा बनाना चाहिये। नहीं तो कहीं राजा के बिना हमारा राष्ट्र नष्ट न हो जाय॥ ८॥

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं [1]दिव्येन वारिणा॥ ९॥

क्योंकि जहां राजा नहीं होता वहां बिजली की चमक सहित अत्यन्त गरजने वाले मेघ दिव्य जल पृथिवी पर नहीं बरसाते—अर्थात् ओले बरसाते हैं॥ ९॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे॥ १०॥

अराजक देश में किसान लोग खेतों में बीज नहीं छिटकाते, और अराजक देश में पुत्र पिता के और स्त्री अपने पति के वश में नहीं रहती अर्थात् सब स्वतंत्र हो जाते हैं॥ १०॥

---

१ दिव्येनेत्यनेन शिलावर्षस्तुभविष्यतीतिभावः। (गो०)

अराजके धनं नास्ति नास्ति [1]भार्याऽप्यराजके ।
इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यमराजके ॥ ११ ॥

अराजक देश में धन नहीं रहने पाता (क्योंकि चोर डाँकू बरजोरी ले लेते हैं।) स्त्रियां व्यभिचारिणी हो जाती हैं और घर में नहीं रहतीं। जब घर की स्त्री तक का ठिकाना नहीं, तब सत्य भला कैसे रह सकता है। (अर्थात् अराजक देश में सत्य व्यवहार भी नहीं रह जाता) ॥ ११ ॥

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।
उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि[2] च ॥१२॥

अराजक देश में प्रसन्न हो कर प्रजाजन (अस्वस्थ्य मन रहने के कारण) न तो सभा समाज करते, न रमणीक बाग़ बगीचा लगवाते—(क्योंकि राजा के दण्ड का भय न रहने से लोग पेड़ काट डालते हैं) और न पुण्य बढ़ाने वाले देवालय (अथवा धर्मशालाएँ) आदि बनवाते हैं ॥ १२ ॥

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।
[3]सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥१३॥

अराजक देश में न तो द्विजाति यज्ञ करते और न कठोर व्रत धारण करने वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण महायज्ञ ही कराते हैं (विघ्न के भय से) ॥ १३ ॥

---

१ नास्तिभार्या—व्यभिचार निरतत्वात् गृहे न तिष्ठतीत्यर्थः। (शि०)
२ पुण्यगृहाणि—देवतायतनादीनि । (गो०) ३ सत्राणि—महायज्ञान् । (गो०)

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः ।
ब्राह्मणा वसुसम्पन्ना विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः[1] ॥ १४ ॥

अराजक राज्य में धनसम्पन्न ब्राह्मण भी बड़े यज्ञों में ऋत्विजों को भूरि दक्षिणा नहीं देते ॥ १४ ॥

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः ।
उत्सवाश्च[2] समाजाश्च[3] वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥ १५ ॥

अराजक राज्य में नट और वेड़िया लोग भी (आजीविका के अभाव से) प्रसन्न नहीं रहते। और न वहाँ देश की वृद्धि करने वाले देवोत्सव होते हैं और न तीर्थों पर यात्रियों के मेले आदि ही लगते हैं ॥ १५ ॥

नाराजके जनपदे सिद्धार्था[4] व्यवहारिणः[5] ।
कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥ १६ ॥

अराजक राज्य में व्यवहार करने वालों में (रुपये का लेन देन करने वालों में) अथवा (माल बेचने खरीदने वालों में) विवाद उपस्थित होने पर, किसी का भी प्रयोजनसिद्ध नहीं होता अर्थात् मुकद्दमा लड़ने वालों का न्याय (राजा के अभाव से) नहीं होता। (राजा के न रहने से पुरस्कार के अभाव में) कथा वाचने वाले अच्छी कथा बाँच कर कथा सुनने वालों को सन्तुष्ट नहीं करते ॥ १६ ॥

---

१ आप्तदक्षिणाः—भूरिदक्षिणाः। (गो०) २ उत्सवाः—देवतोत्सवाः। (गो०) ३ समाजाः—तीर्थयात्राः। (गो०) ४ सिद्धार्थाः—लब्धप्रयोजनाः। (गो०) ५ व्यवहारिणः—कमप्यर्थमुद्दिश्यान्योन्यं विवदमानाः। (गो०)

नाराजके जनपदे उद्यानानि समागताः ।
सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥ १७ ॥

अराजक राज्य में सोने के गहने धारण कर कुमारियाँ सायङ्काल के समय वाटिका और उपवन में खेलने नहीं जातीं (क्योंकि राजा के अभाव से चोर दुष्टों का भय रहता है) ॥ १७ ॥

नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रगामिभिः ।
नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥१८॥

अराजक राज्य में कामी पुरुष तेज़ चलने वाली सवारियों में बैठ, स्त्रियों सहित वनविहार करने नहीं जाते ॥ १८ ॥

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥ १९ ॥

अराजक राज्य में धनी सुरक्षित नहीं रह सकते और न किसान और ग्वाले गड़रिये ही अपने घरों के किवाड़ खोल ठंडी हवा में सुख से सो सकते हैं ॥ १९ ॥

नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिनः[1] ।
अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः[2] ॥ २० ॥

अराजक राज्य में हाथी, जो साठ बरस की उम्र के होने पर, बड़े बड़े दाँतों वाले हो जाते हैं, घंटों को घनघनाते राजमार्गों पर नहीं चल सकते (क्योंकि गुण्डे उनके दाँतों ही को काट लें) ॥ २० ॥

---

१ विषाणिनः—प्रशस्तदन्ताः । (गो०) २ षष्टिहायनाः—षष्टिवर्षाः । (गो०)

नाराजके जनपदे शरान्सतन्तम[1]स्यताम् ।
श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने[2] ॥ २१ ॥

अराजक देश में बाणविद्या का अभ्यास करने वाले धनुर्द्धरों के हस्ततल का शब्द नहीं सुन पड़ता ॥ २१ ॥

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः ।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥ २२ ॥

अराजक जनपद में दूर देशों में सौदागर लोग बेचने के लिये बहुत सा माल ले कर निर्भय हो अथवा सकुशल यात्रा नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी[3] ।
भावय[4]न्नात्मनात्मानं[5] यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ २३ ॥

अराजक देश में, अकेले घूमने वाले, जितेन्द्रिय और अपने आत्मा से परमात्मा का चिन्तवन करने वाले (अर्थात् परब्रह्म का ध्यान करने वाले) मुनि, सन्ध्याकाल होने पर किसी के द्वार पर नहीं टिकते (क्योंकि कोई उन्हें भोजन नहीं देता ।) अथवा अराजक देश में जितेन्द्रिय मुनि लोग, परमेश्वर का एकान्त में भजन करते हुए दिन भर घूम फिर सायङ्काल होने पर, किसी के द्वार पर नहीं टिकते ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते ।
न चाप्यराजके सेना शत्रून्[6]विषहते युधि ॥ २४ ॥

---

१ अस्यतां—क्षिपतां । (गो०) २ उपासने—अभ्यासे । (गो०) ३ वशी—जितेन्द्रियः । (गो०) ४ भावयन्—चिन्तयन् । (गो०) ५ आत्मन —परमात्मनं । (गो०) ६ विषहते—जयति । (गो०)

अराजक राज्य में न तो अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा हो सकती और न बिना नायक की सेना रण में शत्रु को जीत सकती है ॥ २४ ॥

नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः ।
नराः संयान्ति सहसा रथैश्च परिमण्डिताः[1] ॥ २५ ॥

अराजक देश में उत्तम घोड़ों और रथों पर बैठ कोई भी स्वयं सजधज कर बेखटके एकाएकी बाहिर नहीं निकल सकता ॥ २५ ॥

नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः ।
संवदन्तोऽवतिष्ठन्ते वनेषु नगरेषु च ॥ २६ ॥

अराजक राज्य में शास्त्रज्ञानी लोग वन में या नगर में बैठ निर्भीक हो परस्पर शास्त्र सम्बन्धी विचार करते हुए, नहीं रह सकते ॥ २६ ॥

नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः ।
देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते[2] नियतैर्जनैः[3] ॥ २७ ॥

संयमी लोग, अराजक देश में, देवताओं की पूजा के लिये माला, लड्डू, दक्षिणादि कोई भी पूजा की सामग्री प्रस्तुत नहीं कर सकते ॥ २७ ॥

नाराजके जनपदे चन्दनागरुरूषिताः[4] ।
राजपुत्रा विराजन्ते वसन्त इव शाखिनः ॥ २८ ॥

---

१ परिमण्डिताः—भूषिताः । (गो०) २ कल्प्यन्ते—सम्पाद्यन्ते । (गो०) ३ नियतैर्जनैः—यतचित्तैर्जनैः । (शि०) ४ रूषिताः—लिप्ताः । (गो०)

अराजक राज्य में राजकुमार चन्दन और अगर से चर्चित हो कर (अर्थात् शरीर में लगा कर) वसन्त ऋतु के पेड़ों की तरह शोभायमान् नहीं हो सकते ॥ २८ ॥

यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाऽप्यतृणं वनम् ।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २९ ॥

जैसे बिना जल की नदी, अथवा बिना घास फूस का वन, अथवा बिना चरवाहे की गौएँ होती हैं, वैसा ही बिना राजा का राष्ट्र है ॥ २९ ॥

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं[1] धूमो ज्ञानं[2] विभावसोः ।
तेषां यो नो ध्वजो[3] राजा स देवत्वमितो[4] गतः ॥३०॥

जिस प्रकार रथ का ज्ञापक चिन्ह उसकी ध्वजा होती है, जिस प्रकार अग्नि का ज्ञापक चिन्ह धुआँ होता है, उसी प्रकार हम लोगों के प्रकाशक चिन्ह स्वरूप जो महाराज थे, वे यहाँ से मर कर देवयोनि को प्राप्त हो गये हैं। (अतः यह देश इस समय अराजक है) ॥ ३० ॥

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।
मत्स्या इव नरा नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥

अराजक देश में कोई किसी का नहीं होता, मछलियों की तरह लोग आपस में एक दूसरे को मार कर खा जाते हैं ॥ ३१ ॥

---

१ प्रज्ञानं—ज्ञापकं । (गो०) २ ज्ञानं—लिङ्गं । (गो०) ३ ध्वजः—प्रकाशकः । (गो०) ४ इतः—अस्माल्लोकाद्देव देवत्वंगत इत्यर्थः । (गो०)

ये हि सम्भिन्नमर्यादा[1] नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः[2] ।
तेऽपि भावाय[3] कल्पन्ते[4] राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥

जो लोग वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को त्याग नास्तिक हो जाते हैं, किन्तु राजदण्ड के डर से दबे रहते हैं, वे भी अराजक देश में राजदण्ड के भय से निर्भय हो, लोगों पर अपना प्रभाव डालते हैं अथवा अपना प्रभुत्व प्रकट करते हैं ॥ ३२ ॥

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार दृष्टि, या आँखें शरीर की भलाई करने और बुराई दूर करने में सदा ही तत्पर रहती हैं—उसी प्रकार राजा भी अपने राज्य में सत्य व धर्म का प्रचार कर राष्ट्र की भलाई करने में और दुष्टात्माओं का शासन कर बुराई दूर करने में सदा तत्पर रहता है ॥ ३३ ॥

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां[5] कुलम्[6] ।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥३४॥

राजा ही सत्य और धर्म का प्रजा में प्रवर्त्तक है, राजा ही कुलीनोचित कुलाचार का प्रवर्त्तक है, राजा ही प्रजा का मा बाप है और राजा ही प्रजाजनों का हितसाधन करने वाला अर्थात् हितैषी है ॥ ३४ ॥

---

१ सम्भिन्नमर्यादाः—उल्लङ्घितस्वस्वजातिवर्णाश्रममर्यादाः । (गो०) २ छिन्नसंशयाः—राजदण्डशङ्कारहिताः । (गो०) ३ भावाय—सद्भावाय, प्रभावायवा । (गो०) ४ कल्पन्ते—समस्तदैहिकपीडासमर्थाभवन्तीत्यर्थः । (गो०) ५ कुलवतां—क्षेत्रबीजशुद्धवतां । (गो०) ६ कुलं—कुलाचारप्रवर्तकः । (गो०)

यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः ।
विशेष्यन्ते[1] नरेन्द्रेण[2] वृत्तेन महता ततः ॥ ३५ ॥

अपने कर्त्तव्य का भली भाँति पालन करने वाला एक राजा—यम, कुवेर, इन्द्र और वरुण से भी बड़ा है ॥ ३५ ॥

अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किञ्चन ।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी ॥ ३६ ॥

शिष्ट और अशिष्टों का विभाग कर के प्रजा का पालन करने के लिये, यदि राजा न हो तो सारे राज्य में अन्धेर मच जाँय—कोई किसी को न पूँछे ॥ ३६ ॥

जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम् ।
नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः ॥ ३७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! (वशिष्ठ जी) जब महाराज जीवित थे तब भी हम लोगों ने आपकी आज्ञा उसी प्रकार कभी उल्लङ्घन नहीं की जिस प्रकार समुद्र अपनी सीमा उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ३७ ॥

स[3] नः[4] समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं[5]
नृपं विना राज्यमरण्यभूतम् ।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं*
त्वमेव राजानमहाभिषिञ्च ॥ ३८ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

---

१ विशेष्यन्ते—अधः क्रियन्ते । (गो०) २ नरेन्द्रेण—महतावृत्तेन सर्वप्रकाररक्षणरूपचरित्रेण । (गो०) ३ सः—त्वं । (गो०) ४ नः—अस्माकं । (गो०) ५ वृत्तं—अराजकत्वप्रयुक्तसर्वकृत्यं । (गो०) *पाठान्तरे—" वदान्यं । "

हे द्विजश्रेष्ठ ! हमारे वर्णित अराजक राज्य के दोषों पर विचार कर इस राष्ट्र का—जो राजा के न रहने से जंगल जैसा हो रहा है, किसी को चाहे वह इक्ष्वाकुकुल हो अथवा अन्य कोई हो—राजा बना दीजिये ॥ ३८ ॥

अयोध्याकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—:*:—

तेषां हि वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
[1]मित्रामात्यगणान्सर्वान्ब्राह्मणां[2]स्तानिदं वचः ॥ १ ॥

उन लोगों के मुख से ऐसी बातें सुन वशिष्ठ जी, हितैषी सुमंत्रादि मंत्रियों और मार्कण्डेयादि ब्राह्मणों से यह बोले ॥ १ ॥

यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परंसुखी ।
भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ २ ॥

महाराज, भरत को राज्य दे गये हैं। वे भरत अपने भाई शत्रुघ्न के साथ मामा के घर परम सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं ॥ २ ॥

तच्छीघ्रं जवना[3] दूता गच्छन्तु त्वरितैर्हयैः ।
आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम् ॥ ३ ॥

---

१ मित्रामात्यगणान्—मित्रभूतामात्यगणान्सुमन्त्रादीन् । (गो०) २ ब्राह्मणान्—मार्कण्डेयादीन् । (गो०) ३ जवनाः—वेगवन्तः । (गो०)

अतः शीघ्र चलने वाले घोड़ों पर शीघ्रगामी दूत उन दोनों राजकुमारों को लिवा लाने के लिये जाँय। इसके अतिरिक्त और इस विषय में विचार ही क्या हो सकता है। (अर्थात् महाराज भरत को राज्य दे गये हैं—अतः सिवाय उनके दूसरे को राज्य देने के सम्बन्ध में विचार नहीं हो सकता) ॥ ३ ॥

गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन् ।
तेषां तु वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तब सब ने ही वशिष्ठ जी से कहा कि, दूत अभी जाने चाहिये। उनका यह वचन सुन वशिष्ठ जी बोले ॥ ४ ॥

एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन ।
श्रूयतामितिकर्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः ॥ ५ ॥

हे सिद्धार्थ! हे विजय! हे जयन्त! हे अशोकनन्दन! तुम सब यहाँ आओ और तुम लोगों को, जो इस समय करना चाहिये, वह मैं कहता हूँ—तुम सब सुनो! ॥ ५ ॥

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैर्हयैः ।
त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद्भरतो मम ॥ ६ ॥

तुम सब शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो कर, शीघ्र राजगृह नामक पुर को जाओ और शोक रहित हो, भरत से मेरा यह अनुशासन कहो ॥ ६ ॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ७ ॥

कि पुरोहित वशिष्ठ जी ने तथा सब मंत्रियों ने तुमसे कुशल क्षेम कहा है और ये कहा है कि, बड़ा ज़रूरी काम है अतः तुम शीघ्र यहाँ आओ ॥ ७ ॥

मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम् ।
भवन्तः शंसिपुर्गत्वा[1] राघवाणामिमं क्षयम् ॥ ८ ॥

किन्तु सावधान ! रघुवंशियों के तेजक्षय (नामोसी की बात) का यह वृत्तान्त कि, श्रीरामचन्द्र वन गये और महाराज स्वर्ग वासी हुए, वहाँ मत कहना ॥ ८ ॥

कौशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च ।
क्षिप्रमादाय राज्ञश्च[2] भरतस्य च गच्छत ॥ ९ ॥

केकयराज और भरत के लिये इन रेशमी वस्त्रों और (बहुमूल्य-वान) सुन्दर आभूषणों को ले कर तुरन्त चले जाओ ॥ ९ ॥

दत्तपथ्यशना दूता जग्मुः स्वंस्वं निवेशनम् ।
केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य सम्मतान्[3] ॥ १० ॥

वशिष्ठ जी के वचन सुन और मार्ग के लिये भोजन ले कर दूत लोग अपने अपने घर गये और फिर तेज और बहुत दूर की यात्रा करने में अभ्यस्त घोड़ों पर चढ़, तुरन्त केकयराज की राज-धानी की ओर जाने के लिये तैयार हुए ॥ १० ॥

ततः प्रास्थानिकं[4] कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम्[5] ।
वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूताः सन्त्वरिता ययुः ॥ ११ ॥

---

१ मांशंसिपुः—माकथयन्तु । (रा०) २ राज्ञः—केकयराजस्य । (गो०) ३ संमतान्—जवनत्वेनाध्वश्रम सहत्वेन च संमतान् । ४ प्रास्थानिकं—प्रस्थान प्रयोजकं । (गो०) ५ कार्यशेषमनन्तरम्—पाथेयादिकंचकृत्वा । (गो०)

वे दूत यात्रा की आवश्यक सामग्री तथा पाथेय (रास्ते में खाने के लिये भोजन) ले, और वशिष्ठ जी से विदा हो बड़ी तेज़ी से रवाना हुए ॥ ११ ॥

न्यन्तेनापरताल[1]स्य प्रलम्ब[2]स्योत्तरंप्रति[3] ।
निषेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम् ॥ १२ ॥

अपरताल नामक पहाड़ के दक्षिण और प्रलंब नामक पहाड़ के उत्तर अर्थात् इन्हीं पहाड़ों की मध्यवर्तिनी मालिनी नदी के किनारे किनारे वे पश्चिम की ओर चलते गये ॥ १२ ॥

ते हस्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः ।
पाञ्चालदेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम् ॥ १३ ॥

उन्होंने हस्तिनापुर के समीप पहुँच गङ्गा पार की। फिर पश्चिमाभिमुख चल पञ्जाब तथा कुरुजांगल के बीच में पहुँचे॥ १३ ॥

सरांसि च सुपूर्णानि नदीश्च विमलोदकाः ।
निरीक्षमाणास्ते जग्मुर्दूताः कार्यवशाद्द्रुतम् ॥ १४ ॥

रास्ते में उन लोगों ने बहुत से जल से लबालब भरे तालाब तथा निर्मल जल वाली नदियाँ देखीं। किन्तु काम की त्वरा होने के कारण (वे लोग उन रम्य सरोवरों अथवा नदियों के तट पर ठहरे नहीं) वे शीघ्र शीघ्र चले जाते थे ॥ १४ ॥

ते प्रसन्नोदकां दिव्यां नानाविहगसेविताम् ।
उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जनाकुलाम् ॥ १५ ॥

---

१ अपरतालस्य—अपरतालो नामगिरिःतस्य । (गो०) २ न्यन्तेन—नितरामन्तेन—चरमप्रदेशेनेत्यर्थः । (गो०) ३ प्रलंबस्य—प्रलम्बाख्यगिरेः । (गो०) ४ उत्तरंप्रति—उत्तरभागमुद्दिश्य । (गो०)

तदनन्तर वे लोग तरह तरह के जलचर पक्षियों से सेवित, और निर्मल जल से पूर्ण शरदण्डा नाम्नी नदी के तट पर पहुँचे ॥ १५ ॥

निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं[1] सत्योपयाचनम् ।
अभिगम्या[2]भिवाद्यं तं कुलिङ्गां प्राविशन्पुरीम् ॥१६॥

शरदण्डा नदी के तीर पर सत्योपयाचन नाम का एक पूज्य वृक्ष था। दूतों ने उस वंदनीय वृक्ष की परिक्रमा कर कुलिङ्गा नामक नगरी में प्रवेश किया ॥ १६ ॥

[इस वृक्ष में यह गुण था कि इससे जो प्रार्थना की जाती, उसे यह पूरी करता था, इसीसे उसका नाम " सत्योपयाचन" पड़ गया था।]

अभिकालं ततः प्राप्य ते बोधिभवनाच्च्युताः[4] ।
पितृपैतामहीं[5] पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन्हें अभिकाल नामक ग्राम मिला। फिर वे बोधिभवन नामक पर्वत से निकली हुई इक्षुमती नामकी उस नदी के पार हुए जिसके तट के गाँवों पर कभी महाराज दशरथ के पूर्वजों का राज्य था ॥ १७ ॥

अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान्वेदपारगान् ।
ययुर्मध्येन बाह्लीकान्सुदामानं च पर्वतम् ॥ १८ ॥

---

१ दिव्यं—देवाधिष्ठानवत् । (गो०) २ अभिगम्य—प्रदक्षिणीकृत्य । (गो०) ३ अभिवाद्यं—सर्वनमस्कार्यं । (गो०) ४ बोधिभवनात्च्युता—तदाख्यात् पर्वतात् । (गो०) ५ पितृपैतामहीं—दशरथवंश्यानुभूतां । तत्तीर प्रदेशग्रामा इक्ष्वाकूणामितिभावः । (गो०).

दूतों ने इक्षु नदी के तट पर अंजुलि भर जल पी कर रहने वाले, वेदवित् ब्राह्मणों को देखा। वाल्हीक नामक देश में हो कर जाते समय उनको सुदामा नामक पर्वत मिला ॥ १८ ॥

विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम् ।
नदीर्वापीस्तटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥ १९ ॥

उस पर्वत पर विष्णु भगवान् के पदचिन्ह के दर्शन कर, उन्हें, विपाशा, शाल्मली आदि अनेक नदियां, बावड़ी, तालाब और सरोवरें मिलीं ॥ १९ ॥

पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहव्याघ्रमृगद्विपान् ।
ययुः पथाऽतिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥

वे लोग विविध प्रकार के सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि वन्य जन्तुओं को देखते हुए स्वामी की आज्ञा का पालन करने को बराबर उस लंबे मार्ग पर चले जाते थे ॥ २० ॥

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन[1] पथा ततः ।
गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्र[2]मासेदुरञ्जसा[3] ॥ २१ ॥

बहुत दूर चलने के कारण वे सब दूत (और उनके घोड़े) श्रान्त (थक) हो गये थे। तिस पर भी वे शीघ्र गिरिव्रज नामक केकयराज के श्रेष्ठ पुर में बहुत शीघ्र जा पहुँचे ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं
भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम्[4] ।

---

१ विकृष्टेन—अतिदूरेण । (गो०) २ शीघ्रमन्दसान्निध्येन । (गो०)
३ अञ्जसामानलक्षणोच्यते । ४ परिग्रहार्थं—प्रतिष्ठार्थं । (गो०)

अहेडमाना[1]स्त्वरया स्म दूता
रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

अपने स्वामी अर्थात् महाराज दशरथ का प्रियकार्य (भरत को ले जा कर महाराज के शव का दाहादि कर्म) करवाने को, कुल की रक्षा के लिये और महाराज दशरथ के वंश की प्रतिष्ठा के लिये, बड़े आदर के साथ, जल्दी के कारण रात ही में उन दूतों ने उस पुर में प्रवेश किया ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का अरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम् ।
भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥

जिस रात को वे दूत उस नगर में पहुँचे, उसी रात में भरत ने भी एक अशुभ स्वप्न देखा ॥ १ ॥

व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम् ।
पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥

राजाधिराज के पुत्र ने वह बुरा स्वप्न, रात्रि के अन्तिम पहर में देखा था (रात्रि के अन्तिम पहर का देखा हुआ शुभाशुभ स्वप्न

---

1 अहेडमानाः—अनादरमकुर्वाणाःसादराइतियावत्। (गो०)

का फल तुरन्त होता है—अतः) भरत जी बहुत घबड़ाए हुए थे ॥ २ ॥

तप्यमानं समाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः ।
आयासं[1] हि विनेष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥३॥

उनको घबड़ाया हुआ अथवा उदास देख, उनके समवयस्क (हमजोली) अथवा उनके साथ उठने बैठने वाले तथा प्रियवचन बोलने वाले मित्र, उनका खेद मिटाने के लिये, सभा में नाना प्रकार की कथाएँ कहने लगे ॥ ३ ॥

वादयन्ति तथा शान्ति [2]लासयन्त्यपि चापरे ।
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥

उनमें से कोई कोई भरत जी का खेद मिटाने के लिये वीणा बजाने लगे कोई कोई ठुनुक ठुमुक नाचने या थिरकने लगे । कोई कोई नाट्य करने लगे, और कोई हास्य कथा कहने लगे ॥ ४ ॥

स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः ।
गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

उन प्रियवचन बोलने वाले मित्रों द्वारा अनेक प्रकार से भरत जी को (खेद दूर करने के लिये और) हँसाने के लिये अनेक प्रयत्न किये जाने पर भी, भरत जी का मानसिकखेद दूर न हो सका ॥ ५ ॥

तमब्रवीत्प्रियसखो[3] भरतं सखिभिर्वृतम् ।
सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे ॥ ६ ॥

---

१ आयासं—मनःखेदं । (गो०) २ लासयन्ति—लास्यंकुर्वन्ति-लास्यं—सुकुमारनृत्तं । (गो०) ३ प्रियसखः—अन्तरङ्गसुहृत् (गो०) ।

मित्रों के बीच बैठे भरत जी से उनके एक अत्यन्त अन्तरङ्ग मित्र ने कहा, हे मित्र! हम लोगों के इतना प्रयत्न करने पर भी तुम हर्षित क्यों नहीं होते ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच तम्।
शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार इस मित्र के कहने पर भरत जी बोले—हे मित्र! मेरे मन के उदास होने का कारण सुनो ॥ ७ ॥

स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम्।
पतन्तमद्रिशिखरात्कलुषे गोमयेह्रदे* ॥ ८ ॥

मैंने स्वप्न में मैले कपड़े पहने और सिर के बाल खोले हुए अपने पिता को पर्वत की चोटी से बुरे गोबर के गड्ढे में गिरते हुए देखा है ॥ ८ ॥

प्लवमानश्च[1] मे दृष्टः स तस्मिन्गोमयेह्रदे।
पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्नपि मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

और देखा है कि, वह उस गोबर के कुण्ड में मेंढक की तरह तैरते तैरते वारंवार हँस कर अञ्जलि भर भर कर तेल पी रहे हैं ॥९॥

ततस्तिलौदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः।
तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवावगाहत ॥ १० ॥

यह भी देखा है कि, महाराज तिल मिश्रित भात खा कर वारंवार मस्तक नीचे झुका कर, सर्वाङ्ग में तेल लगाये हुए हैं और तेल ही में डूब रहे हैं ॥ १० ॥

---

1 प्लवमानः—मण्डूकवत्। (गो०) * पाठान्तरे—"गोमयह्रदे"।

स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि ।
उपरुद्धां च जगतीं तमसेव समावृताम् ॥ ११ ॥

मैंने दूसरा स्वप्न यह देखा है कि, समुद्र सूख गया है, चन्द्रमा टूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा है, सारी पृथिवी पर अँधेरा छाया हुआ है ॥ ११ ॥

औपवाह्यस्य नागस्य विषाणं शकलीकृतम् ।
सहसा चापि संशान्तं ज्वलितं जातवेदसम् ॥ १२ ॥

महाराज की सवारी के हाथी के दाँतों के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं, और प्रज्वलित आग सहसा बुझ गयी है ॥ १२ ॥

अवतीर्णां[1] च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान्द्रुमान् ।
अहं पश्यामि विध्वस्तान्सधूमांश्चापि पर्वतान् ॥१३॥

पृथिवी नीचे धस गयी है और अनेक प्रकार के वृक्ष सूख गये हैं। मैंने देखा है कि, पर्वतों के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं और उनमें से धुआँ निकल रहा है ॥ १३ ॥

पीठे कार्ष्णायसे चैनं निषण्णं कृष्णवाससम् ।
प्रहसन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः ॥ १४ ॥

महाराज काले लोहे के पीढ़े पर काले वस्त्र पहिने हुए बैठे हैं और काली तथा पीले रंग की स्त्रियाँ उनका उपहास कर रही हैं ॥ १४ ॥

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः ।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १५ ॥

---

१ अवतीर्णां—अधःपतितां । (गो०)

धर्मात्मा महाराज लाल चन्दन शरीर में लगाये और लाल ही फूलों की माला पहिने हुए गधों से खींचे जाने वाले रथ में बैठ शीघ्रता पूर्वक दक्षिण दिशा की ओर चले जा रहे हैं॥ १५॥

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी।
प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना॥ १६॥

एक विकट वदना राक्षसी जो लालवस्त्र पहिने हुए है, अट्टहास करती हुई महाराज को पकड़ कर ज़बरदस्ती खींच रही है॥ १६॥

एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम्।
अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति॥१७॥

मैंने रात में ऐसे भयानक स्वप्न देखे हैं, इससे यह निश्चय बोध होता है कि, मैं या राम या महाराज अथवा लक्ष्मण की मृत्यु होगी॥ १७॥

नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि।
अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते॥ १८॥

क्योंकि जो मनुष्य स्वप्न में गधे जुते हुए रथ पर सवार हो यात्रा करता है, उसका थोड़े ही दिनों में चिता में धुआं निकलता हुआ देख पड़ता है॥ १८॥

एतन्निमित्तं दीनोऽहं तन्न वः प्रतिपूजये।
शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः।
न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये॥ १९॥

बस मेरे उदास होने का यही कारण है और इसीलिये आप लोगों की बातें मुझे नहीं भातीं। मेरा गला सूखा जा रहा है और

मेरा मन ठिकाने नहीं है यद्यपि इस समय भय का कोई कारण देख नहीं पड़ता, तथापि मन से खटका दूर नहीं होता ॥ १९ ॥

अमृष्टश्च[1] स्वरयोगो[2] मे च्छाया चोपहता मम ।
जुगुप्सन्निव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥२०॥

इसीसे मेरा कण्ठस्वर भी बिगड़ गया है अर्थात् आवाज़ भारी पड़ गयी है, और मेरे शरीर की कान्ति भी जाती रही है। मैं जानता हूँ कि, यह अवश्यम्भावी विपत्ति है इससे डरना बुरी बात है, तो भी मेरे मन में जो खटका उत्पन्न हो गया है उसको दूर करने का कोई उपाय मुझे नहीं सूझ पड़ता ॥ २० ॥

इमां हि दुःस्वप्नगतिं *निशम्य ता-
मनेकरूपामवितर्कितां पुरा ।
भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम्[3] ॥ २१ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

पहले कभी इस प्रकार के खोटे स्वप्न की तर्कना भी नहीं हुई थी, किन्तु अब जब से यह स्वप्न देखा है तब से मन में यह चिन्ता उत्पन्न हो गयी है कि, जाने महाराज के दर्शन फिर हों कि नहीं; इसीसे मेरा मन अत्यन्त भयभीत हो गया है ॥ २१ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

१ च्छाया—कान्तिः । (गो०) २ स्वरयोगः—युक्तस्वरः । (शि०)
३ अचिन्त्यदर्शनम्—अप्रमाण्यदर्शनम् । (गो०) * पाठान्तरे—"निशाम्य" ।

सप्ततितमः सर्गः

—:०:—

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।
प्रविश्यासह्यपरिखं* रम्यं राजगृहं पुरम् ॥ १ ॥

भरत जी इस प्रकार अपने इष्ट मित्रों के साथ बातचीत कर ही रहे थे, कि थके थकाये अयोध्या के दूत रम्य राजगृहपुर में, जिसके चारों ओर इतनी बड़ी और गहरी खाई थी कि, उसे कोई लांघ नहीं सकता था, पहुँचे ॥ १ ॥

समागम्य च राज्ञा[1] च राजपुत्रेण[2] चार्चिताः ।
राज्ञः पादौ गृहीत्वा तु तमूचुर्भरतं वचः ॥ २ ॥

दूतों ने प्रथम केकयराज से, तदनन्तर राजकुमार युधाजित से भेंट की । राजपुत्र युधाजित ने उन दूतों का आदर सत्कार किया । अनन्तर दूतों ने केकयराज को प्रणाम कर, भरत जी से कहा ॥२॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ३ ॥

राजपुरोहित वशिष्ठ जी ने और सब मंत्रियों ने आपसे कुशल-क्षेम कहा है और कहा कि, आप शीघ्र अयोध्या आइये । क्योंकि वहाँ एक विशेष आवश्यक कार्य उपस्थित हुआ है ॥ ३ ॥

इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च ।
प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय ॥ ४ ॥

---

१ राज्ञा—केकयराजेन । (गो०) २ राजपुत्रेण—युधाजिता । (गो०)

* पाठान्तरे—" परिघं " ।

हे विशालाक्ष! ये महामूल्यवान वस्त्र और भूषण उन लोगों ने भेजे हैं। इनको ले कर आप अपने मामा को दे दीजिये ॥ ४ ॥

अत्र विंशतिकोट्यस्तु[1] नृपतेर्मातुलस्य ते।
दश कोट्यस्तु सम्पूर्णा[2]स्तथैव च नृपात्मज ॥ ५ ॥

इनमें से लगभग बीस करोड़ के मूल्य के वस्त्राभूषण तो आपके नाना के लिये हैं और लगभग दस करोड़ के मूल्य के आपके मामा के लिये हैं ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं स्वनुरक्तः[3] सुहृज्जने[4]।
दूतानुवाच भरतः कामैः[5] सम्प्रतिपूज्य तान् ॥ ६ ॥

भरत जी ने उन सब को ले और बड़े अनुराग के साथ वे सब वस्त्राभूषण अपने नाना मामा को दे दिये। तदनन्तर दूतों को भोजनादि की सामग्री द्वारा उनका सत्कार कर भरत जी उनसे बोले ॥ ६ ॥

कच्चित्सुकुशली राजा पिता दशरथो मम।
कच्चिच्चारोगता रामे लक्ष्मणे वा महात्मनि ॥ ७ ॥

हे दूतों! यह तो कहो, मेरे पिता महाराज दशरथ तो प्रसन्न हैं? महात्मा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण तो आरोग्य हैं? ॥ ७ ॥

---

१ विंशतिकोट्यः विंशतिकोटि मूल्यानि। (गो०) २ सम्पूर्णाः—अन्यूनाः। (गो०) ३ सुहृज्जने—मातुलादौ। (गो०) ४ स्वनुरक्तः प्रदाप्येतिशेषः। (गो०) ५ कामैः अभीष्टान्नपानादिभिः। (गो०)

आर्या[1] च धर्मनिरता[2] धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी[3] ।
अरोगा चापि[4] कौसल्या माता रामस्य धीमतः ॥८॥

धर्मानुष्ठानों के करने में तत्पर, धर्म के तत्व को जानने वाली और धर्मात्मा जनों को देखने वाली पूज्य एवं ज्येष्ठा धीमान श्रीरामचन्द्र की माता कौशल्या तो निरोग है? ॥ ८ ॥

कच्चित्सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या ।
शत्रुघ्नस्य च वीरस्य सऽरोगा चापि मध्यमा ॥ ९ ॥

धर्म का मर्म समझने वाली वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता और महाराज की मझली रानी सुमित्रा जी निरोग तो हैं? ॥ ९ ॥

आत्मकामा[5] सदा चण्डी[6] क्रोधना प्राज्ञमानिनी ।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह ॥ १० ॥

सदा स्वार्थ में तत्पर, उग्र और क्रोध स्वभाव वाली तथा अपने को सब से बढ़ कर बुद्धिमती समझने वाली मेरी माता कैकेयी तो कुशल से है? चलती बेर उन्होंने क्या कोई संदेसा भी कहा है? ॥ १० ॥

एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना[7] ।
ऊचुः सम्प्रश्रयं वाक्यमिदं[8] तं भरतं तदा ॥ ११ ॥

---

१ आर्या—ज्येष्ठा मातृत्वेनपूजिता । (गो०) २ धर्मनिरता—धर्मानुष्ठानपरा । (गो०) ३ धर्मदर्शिनी—धर्ममेवजनेषु पश्यतीतिः धर्मदर्शिनी । (गो०) ४ अपिः—प्रश्ने । (गो०) ५ आत्मकामा—स्वप्रयोजनपरा । (गो०) ६ चण्डी—उग्रा । (गो०) ७ महात्मना—महाबुद्धिना । (गो०) ८ सप्रश्रयं—सविनयं । (गो०)

बड़े बुद्धिमान् भरत जी का वचन सुन, दूतों ने विनय पूर्वक भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि ।
श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः ॥१२॥

हे पुरुषसिंह ! आप जिनका कुशल चाहते हैं, वे कुशलपूर्वक हैं। इस समय लक्ष्मी आपको वरण करने के लिये उद्यत है, अतएव यात्रा के लिये आप अपना रथ जुतवाइये। (एक टीकाकार ने इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या इस प्रकार की है ; क्योंकि आपके मुखादि शारीरिक अंगों में इस समय ऐसी शोभा देख पड़ती है कि, जिससे किसी भी अमङ्गल की शङ्का नहीं हो सकती अतः अब आप अपना रथ जुतवावें) ॥ १२ ॥

भरतश्चापि तान्दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत ।
आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः सन्त्वरयन्ति माम् ॥१३॥

दूतों का वचन सुन भरत बोले—अच्छा, मैं महाराज से चलने की आज्ञा मांगता हूँ और जा कर कहता हूँ कि, दूत लोग चलने के लिये बड़ी शीघ्रता कर रहे हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा तु तान्दूतान्भरतः पार्थिवात्मजः ।
दूतैः सञ्चोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह ॥ १४ ॥

राजकुमार भरत दूतों से यह कह कर, दूतों के कथनानुसार नाना से जा कर बोले, ॥ १४ ॥

राजन्पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः ।
पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि ॥ १५ ॥

हे राजन् ! अब मैं अपने पिता के पास जाऊँगा—क्योंकि, दूत लोग मुझे ले जाने के लिये जल्दी मचा रहे हैं। फिर जब आप मुझे याद करेंगे मैं आ जाऊँगा ॥ १५ ॥

भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा ।
तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम् ॥ १६ ॥

भरत का वचन सुन केकयराज, भरत का मस्तक सूँघ यह शुभ वचन बोले ॥ १६ ॥

गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया ।
मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परन्तप ॥ १७ ॥

हे भरत ! कैकेयी तुम जैसे पुत्र को पा कर सुपुत्रवती हुई है। हे शत्रुसूदन ! मैं तुम्हें जाने की अनुमति देता हूँ। तुम वहाँ पहुँच कर अपनी माता और पिता से मेरा कुशल क्षेम कह देना ॥ १७ ॥

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः ।
तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १८ ॥

पुरोहित वशिष्ठ जी तथा अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों से तथा महा धनुर्द्धर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयों से कुशल क्षेम कह देना ॥ १८ ॥

तस्मै हस्त्युत्तमांश्चित्रान्कम्बलानजिनानि च ।
अभिसत्कृत्य[1] कैकेयो भरताय धनं ददौ ॥ १९ ॥

यह कह, केकयराज ने भरत जी को (विदाई में) उत्तम उत्तम हाथी, कीमती शाल दुशाले और मृगचर्म उनकी बड़ाई कर कर के दिये ॥ १९ ॥

---

१ अभिसत्कृत्य—श्लाघापूर्वं । (गो०)

रुक्मनिष्क[1]सहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च ।
सत्कृत्य कैकयीपुत्रं केकयो धनमादिशत्[2] ॥ २० ॥

यह कह कर केकयराज ने सत्कारपूर्वक भरत जी को (विदाई में) उत्तम उत्तम हाथी, बढ़िया शाल दुशाले तथा धन (नक़दी) दिया ॥ २० ॥

तथाऽमात्यानभिप्रेतान्[3]विश्वास्यांश्च गुणान्वितान् ।
ददावश्वपतिः क्षिप्रं भरतायानुयायिनः ॥ २१ ॥

दो हज़ार गले में पहने जाने वाले कंठे, गुंजें, कठुले आदि आभूषण तथा सोलह सौ घोड़े दिये और बड़े सत्कार के साथ धन दे कर, वह सब सामान अयोध्या पहुँचा देने के लिये नौकरों को आज्ञा दी। केकयराज ने भरत के साथ शीघ्रता पूर्वक जाने के लिये कई एक अपने विश्वासी और गुणवान अर्थात् बुद्धिमान मंत्री आदि कर दिये। (ये तो नाना ने विदाई की अब आगे मामा की विदाई का वर्णन है) ॥ २१ ॥

[4]ऐरावतानैन्द्रशिरान्[5]नागान्वै प्रियदर्शनान् ।
खराञ्शीघ्रान्सुसंयुक्तान्[6]मातुलोऽस्मै धनं ददौ ॥२२॥

भरत जी के युधाजित मामा ने, भरत जी को इरावत नामक तथा इन्द्रशिख नामक पर्वत पर उत्पन्न और देखने में बड़े सुन्दर हाथी तथा अपने जाने हुए शीघ्रगामी अनेक खच्चर भी दिये ॥२२॥

---

१ निष्काः—वक्षोभूषणानि । (गो०) २ आदिशत्—आदायभिगच्छति भृत्यानाज्ञापयामास । (गो०) ३ अभिप्रेतान्—सहायभूतान् । (गो०) ४ ऐरावतान्—इरावत पर्वतभवान् । (गो०) ५ ऐन्द्रशिरान्—इन्द्रशिराख्य पर्वतभवान् । (गो०) ६ सुसंयुक्तान्—परिचितान् । (गो०)

अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान्व्याघ्रवीर्यबलान्वितान् ।
दंष्ट्रायुधान्महाकायाञ्शुनश्चोपायनं ददौ ॥ २३ ॥

युधाजित् मामा ने भरत को, इनके अतिरिक्त रनवास में पले हुए तथा बलवीर्य में व्याघ्र के तुल्य और बड़े बड़े दांतों वाले तथा बड़े डील डौल के कुत्ते भी दिये ॥ २३ ॥

स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत ।
भरतः कैकयीपुत्रो *गमनं त्वरयंस्तदा ॥ २४ ॥

परन्तु केकयराज की दी हुई इन वस्तुओं की ओर भरत जी ने ध्यान नहीं दिया । अनन्तर कैकेयीनन्दन भरत जाने के लिये शीघ्रता करने लगे ॥ २४ ॥

बभूव ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा ।
त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात् ॥२५॥

एक तो भरत खोटा स्वप्न देखने से चिन्तित थे ही, तिस पर चलने के लिये दूतों के जल्दी मचाने से वे और भी चिन्तित हो गये ॥ २५ ॥

स स्ववेश्म व्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंवृतम् ।
प्रपेदे सुमहच्छ्रीमान्राजमार्गमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

मनुष्य हाथी और घोड़ों को लिए हुए भरत जी अपने घर से निकले और उत्तम एवं बड़े लंबे राजमार्ग में आ कर उपस्थित हुए ॥ २६ ॥

अभ्यतीत्य ततोऽपश्यदन्तःपुरमुदारधीः ।
ततस्तद्भरतः श्रीमानाविवेशानिवारितः ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—" गमनत्वरयातदा " ।

और उस मार्ग से हो कर उदार बुद्धि वाले भरत जी रनवास में गये। रनवास में जाते समय किसी ने उन्हें रोका नहीं ॥ २७ ॥

स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम् ।
रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥

भरत जी ने वहां पहुँच कर, नाना तथा मामा युधाजित् से विदा माँगी। तदनन्तर शत्रुघ्न सहित रथ में सवार हो वहां से वे चल दिये ॥ २८ ॥

रथान्मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परःशतम् ।
उष्ट्रगोश्वखरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥

तब अनेक नौकर अनेक रथों में घोड़े, ऊँट, बैल और खच्चर जोत, भरत के रथ को चारो ओर से घेर कर, उनके साथ रवाना हुए ॥ २९ ॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्मा[1]
सहार्यकस्या[2]त्मसमैरमात्यैः[3] ।
आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रु-
र्गृहाद्ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

महाधैर्यवान् भरत नाना के आत्मसदृश विश्वासी मंत्रियों और सैनिकों से सुरक्षित हो एवं शत्रुघ्न को साथ ले राजभवन से उसी

१ महात्मा—महाधैर्यो भरतः। (गो०) २ आर्यकस्य—मातामहस्य। (गो०) ३ आत्मसमैः—स्वप्रभावसदृशैः। (गो०) ४ अपेतशत्रु—निष्कण्टकः सन्। (गो०)

प्रकार निर्भय हो चले, जिस प्रकार इन्द्रलोक से सिद्ध चलते हैं ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

[नोट—भरत जी राजगृह से अयोध्या जिस मार्ग से गये, वह राज मार्ग था। दूत जिस मार्ग से राजगृह गये थे, वह मार्ग समीप का था, किन्तु उसमें अनेक नदियाँ और पहाड़ पड़ते थे। भरत जी के साथ रथ हाथी घोड़े तथा अनेक मनुष्य थे अतः वह पहाड़ी मार्ग उनके लिये उपयुक्त न था अतः वे आम रास्ते से अयोध्या गये।]

—:※:—

एकसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्यवान्* ।
ततः सुदामां द्युतिमान्सन्तीर्यावेक्ष्य तां नदीम् ॥१॥

पराक्रमी एवं तेजस्वी भरत राजगृह से रवाना हो कर, पूर्व की ओर चले। कुछ दूर पर उनको सुदामा नाम की नदी देख पड़ी। वे उस नदी के पार हुए ॥ १ ॥

ह्रादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम्[1] ।
शतद्रूमतरच्छ्रीमान्नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥

अनन्तर बड़े फाँट वाली ह्लादनी नदी मिली, तिस पीछे पश्चिम वाहिनी शतद्रू (सतलज) मिली। इन दोनों नदियों के भी इक्ष्वाकुनन्दन भरत पार हुए ॥ २ ॥

---

१ प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम्—पश्चिमप्रवाहां नदीम्। (रा०) * पाठान्तरे—"राघवः"।

एलाधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्पटान्[1] ।
शिलामा[2]कुर्वतीं तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकर्तनम् ॥ ३ ॥

फिर वे एलाधान गाँव के पास बहने वाली नदी को पार कर पर्पट नामक ग्राम में पहुँचे। फिर उस नदी को, जिसमें जो वस्तु डाल दी वह पत्थर हो जाय, पार कर और आग्नेय दिशा की ओर चल कर, वे शल्यकर्तन नामक नगर में पहुँचे ॥ ३ ॥

सत्यसन्धः शुचिः श्रीमान्प्रेक्षमाणः शिलावहाम् ।
अत्ययात्स महाशैलान्वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥

उसके आगे सत्यसन्ध एवं धर्मात्मा भरत जी ने शिलावहा नदी देखी। फिर बड़े बड़े पहाड़ों को बचाते हुए वे चैत्ररथ नामक वन की ओर चले ॥ ४ ॥

सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च ।
उत्तरं वीर मत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद्वनम् ॥ ५ ॥

अनन्तर सरस्वती और गङ्गा के सङ्गम पर होते हुए, वीर-मत्स्य नामक देशों के उत्तर भागों को देखते हुए वे भारुण्ड वन में पहुँचे ॥ ५ ॥

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्लादिनीं पर्वतावृताम् ।
यमुनां प्राप्य सन्तीर्णो बलमाश्वासयत्तदा ॥ ६ ॥

अनन्तर वेगवती, हर्ष देने वाली और पर्वतों से घिरी हुई कुलिङ्गा को तथा यमुना को पार कर, उन्होंने सेना को विश्राम दिया ॥ ६ ॥

---

१ पूर्वपर्पटाअपरपर्पटा इचेति ग्रामद्वयमस्ति। (गो०) २ शिलामाकुर्वतीं—शिलामासमन्तात्कुर्वतीं। (गो०)

शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥७॥

थके हुए घोड़ों के शरीरों को ठंडा किया अर्थात् उनके शरीर की थकावट दूर की। लोगों ने भी स्नान किये और जलपान किया और रास्ते में पीने के लिये जल साथ ले, वे आगे बढ़े ॥ ७ ॥

[जल साथ इसलिये लिया था कि, आगे वन पड़ता था, वहाँ जल मिलने की सुविधा नहीं थी ।]

राजपुत्रो महारण्यमनभीक्ष्णोपसेवितम् ।
भद्रो भद्रेण[1] यानेन मारुतः[2] खमिवात्ययात् ॥ ८ ॥

इसके अनन्तर भरत जी उस निर्जन महारण्य में पहुँचे और भद्र जाति के हाथी (इस जाति का हाथी वनों में खूब चलता है) पर सवार हो, बड़ी तेज़ी के साथ उस वन के पार हुए ॥ ८ ॥

भागीरथीं दुष्प्रतरामंशुधाने महानदीम् ।
उपायाद्राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥

अंशुधान नगर के नीचे गङ्गा जी का पार करना असम्भव था। अतः वे बड़ी शीघ्रता से प्राग्वट नामक प्रसिद्ध घाट पर पहुँचे ॥९॥

स गङ्गां प्राग्वटे तीर्त्वा समायात्कुटिकोष्ठिकाम् ।
सबलस्तां स तीर्त्वाथ समायाद्धर्मवर्धनम् ॥ १० ॥

---

१ भद्रेण—भद्रगजरूपेणयानेन । (गो०) २ मारुतःखमिवात्ययात्—अतिवेगेनातिक्रान्तवान् । (गो०)

वे प्राग्वट घाट से गङ्गा को पार कर, कुटिकोष्ठिका नदी पर पहुँचे और सेना सहित उसे भी पार कर, धर्मवर्द्धन नामक ग्राम में पहुँचे ॥ १० ॥

तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थमुपागमत् ।
वरूथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥ ११ ॥

फिर तोरण नामक ग्राम के दक्षिण की ओर जम्बूप्रस्थ ग्राम में पहुँचे । फिर दशरथनन्दन भरत जी रमणीक वरूथ नामक ग्राम में पहुँचे ॥ ११ ॥

तत्र रम्ये वने वासं कृत्वाऽसौ प्राङ्मुखो ययौ ।
उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियका[1] यत्र पादपाः ॥ १२ ॥

फिर वरूथ ग्राम के वन में ठहर वहाँ से पूर्व की ओर रवाना हुए और उज्जिहाना नाम की पुरी के उपवन में, जहाँ पर बन्धूक अथवा कदम्ब के पेड़ लगे थे, पहुँचे ॥ १२ ॥

सालांस्तु प्रियकान्प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः ।
अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥ १३ ॥

उस साल और बन्धूक के उपवन में पहुँच, रथ में शीघ्रगामी घोड़े जोत और सेना को धीरे धीरे पीछे आने की आज्ञा दे, भरत जी वहाँ से शीघ्रतापूर्वक रवाना हुए ॥ १३ ॥

[नोट—उज्जिहानापुरी के आगे कोसलराज्य की सीमा आरम्भ होती थी —अतः अपने राज्य में किसी प्रकार का खटका न समझ, सेना का साथ छोड़, भरत जी, रथ में बैठ, शीघ्रतापूर्वक अयोध्या की ओर प्रस्थानित हुए ।]

---

१ प्रियका—बन्धूकाः कदम्बावासन्ति (गो०) ।

वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां[1] नदीम् ।
अन्या नदीश्च विविधाः पार्वतीयैस्[2]तुरङ्गमैः ॥ १४ ॥

(रास्ते में भरत जी ने) सर्वतीर्थ नामक ग्राम में ठहर और उत्तानिका नदी को पार किया। फिर अन्य अनेक नदियों को उन पहाड़ी घोड़ों की सहायता से पार किया ॥ १४ ॥

हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामत्यवर्तत ।
ततार च नरव्याघ्रो लौहित्ये सिकतावतीम्* ॥१५॥

तदनन्तर हस्तिपृष्ठक नगर के समीप कुटिका नदी पार की। पुरुषश्रेष्ठ भरत ने लोहित्य नगर के पास सिकतावती नदी को पार किया ॥ १५ ॥

एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमती नदीम् ।
कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा ॥ १६ ॥

भरत जी एकसाल नगर में स्थाणुमती नदी को और विनत नामक नगर में गोमती नदी को पार कर, कलिङ्ग नगर के सालवन में पहुँचे ॥ १६ ॥

भरतः क्षिप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तवाहनः ।
वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये ॥ १७ ॥

भरत जी बड़ी तेज़ी से यात्रा कर रहे थे। अतः उनके रथ के घोड़े थक गये थे। सो वे रात भर सालवन में विश्रामार्थ ठहर गये। जब रात बीती और सबेरा हुआ ॥ १७ ॥

---

१ उत्तानिकां—उन्नतजलत्वेनतदाख्यां। (गो०) २ पार्वतीयैः—पर्वतदेशोत्पन्नैः। * पाठान्तरे—" स कपीवतीम् "।

अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां सन्ददर्श ह ।
तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि ॥ १८ ॥

तब वहाँ से रवाना हो भरत ने महाराज मनु की बसाई अयोध्यापुरी देखी। राजगृह से अयोध्या तक आने में, रास्ते में भरत को सात रातें (दिन) लगीं ॥ १८ ॥

अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं वाक्यमब्रवीत् ।
एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी ॥ १९ ॥

दूर ही से अयोध्या को देख, भरत जी सारथी से कहने लगे कि, यह पुरी तो मुझे जगतप्रसिद्ध और स्वच्छ एवं हरे भरे उद्यानों से पूर्ण अयोध्या जैसी तो नहीं जान पड़ती ॥ १९ ॥

अयोध्या दृश्यते दूरात्सारथे पाण्डुमृत्तिका ।
यज्वभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २० ॥

[1]भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिपरिपालिता ।
अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् ॥२१॥

हे सारथे ! दूर से देखने पर तो अयोध्या पीली मिट्टी का एक ढेर सा जान पड़ती है। देखो, अत्यन्त समृद्धशालिनी और राजर्षियों द्वारा पालित अयोध्यापुरी में तो पहले यज्ञकर्त्ता, गुणी एवं वेदपाठी ब्राह्मणों का बड़ा तुमुल शब्द सुनाई पड़ता था ॥ २० ॥ २१ ॥

समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम् ।
उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥ २२ ॥

---

1 भूयिष्ठं—भृशं । (गो०)

और चारो ओर स्त्री पुरुषों का जो बड़ा कोलाहल हुआ करता था, वह तो मुझे आज सुनाई ही नहीं पड़ता। यहाँ के उपवनों में सायङ्काल के समय खेलों से निवृत्त हो, बहुत से पुरुष ॥ २२ ॥

समन्ताद्विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते ममान्यदा[1]।
तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः ॥ २३ ॥

इधर उधर दौड़ते हुए पहले देख पड़ते थे, किन्तु आज तो वे उपवन मुझे कामी लोगों द्वारा परित्यक्त होने के कारण रोते हुए से जान पड़ रहे हैं ॥ २३ ॥

अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति मे।
न ह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः ॥ २४ ॥

निर्यान्तो वाऽभियान्तो वा नरमुख्या यथापुरम्।
उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च ॥ २५ ॥

हे सारथे! यह अयोध्या नहीं, किन्तु यह तो मुझे उजड़ी हुई अयोध्या का वन जैसा जान पड़ता है। क्योंकि न तो यहाँ कोई सवारी और न कोई हाथी अथवा घोड़ों पर चढ़े प्रतिष्ठित पुरवासी आते जाते देख पड़ते हैं। वाटिकाओं में पहले खूब चहल पहल बनी रहती थी ॥ २४ ॥ २५ ॥

जनानां रति[2]संयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च।
तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः ॥ २६ ॥

---

१ अन्यदा—पूर्वं। (गो०) २ रतिसंयोगेषु—रत्यर्थसंयोगेषु। (गो०)

और वाटिकाएँ विहार करने के लिये एकत्र हुए जनों से भरी रहती थीं और जो अनेक प्रकार के फूले हुए वृत्तों तथा लता गृहादि से शोभायमान होती थीं—उन वाटिकाओं में मुझे आज उदासी सी छाई हुई देख पड़ती है ॥ २६ ॥

स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ।
नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम् ॥ २७ ॥

संरक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहरतां बहु ।
चन्दनागरुसंपृक्तो धूप[१]सम्मूर्छितोऽतुलः ॥ २८ ॥

प्रवाति पवनः [२]श्रीमान्किन्नु नाद्य यथापुरम् ।
भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसङ्घट्टितः पुनः ॥ २९ ॥

सड़कों के अगल बगल लगे हुए वृत्त पत्तों से रहित हो मानों चिल्ला चिल्ला कर रोते हुए से जान पड़ते हैं। मदमाते मृगों और पक्षियों के अनुराग में भर कर, कलरव करने का शब्द भी तो आज नहीं सुनाई पड़ती। हे सूत! इस पुरी में सदा चन्दन और अगर की धूप से धूपित अत्यन्त सुगन्धित पवन चला करता था, किन्तु आज वैसा पवन भी तो नहीं चल रहा। पहले भेरी मृदङ्ग और वीणा आदि वाजों के बजाये जाने का शब्द वार वार हुआ करता था, ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

किमद्य शब्दो विरतः सदाऽदीनगतिः पुरा ।
अनिष्टानि च पापानि[४] पश्यामि विविधानि च ॥३०॥

---

१ धूपसंमूर्छितः—धूपव्याप्तः । (गो०) २ श्रीमान्—रमणीयः । (गो०) ४ पापानि—क्रूराणि । (गो०)

किन्तु आज क्या कारण है, जो वह पहले जैसा प्रसन्न करने वाला शब्द बंद है? मुझे तरह तरह के अनिष्ट और क्रूर शकुन दिखलाई पड़ते हैं ॥ ३० ॥

[1]निमित्तान्यमनोज्ञानि[2] तेन सीदति मे मनः ।
सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु ॥ ३१ ॥

देखने ही से दुःख देने वाले इन अपशकुनों से मेरा मन दुःखी हो रहा है। इससे मुझे जान पड़ता है कि, मेरे बन्धु बान्धवों का कुशल पूर्वक होना सर्वथा दुर्लभ है ॥ ३१ ॥

तथा ह्यसति संमोहे[3] हृदयं सीदतीव मे ।
विषण्णः[4] श्रान्तहृदय[5]स्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः[6] ॥ ३२ ॥

हे सूत! घबड़ाने का कारण न होने पर भी, मेरा हृदय धड़क रहा है, मन उदास है और भय के कारण सब बाह्य इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो रही हैं ॥ ३२ ॥

भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ।
द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः ॥ ३३ ॥

भरत जी इक्ष्वाकुपालित अयोध्यापुरी में, पुरी के वैजयन्त नामक पश्चिमद्वार से घुसे। उस समय उनके रथ के घोड़े बहुत थक गये थे ॥ ३३ ॥

---

१ निमित्तानि—अशुभसूचकानि । (गो०) २ अमनोज्ञानि—दर्शनमात्रेण दुःखकराणि । (गो०) ३ संमोहे—संमोहकारणे । (गो०) ४ विषण्णः—दुःखितः । (गो०) ५ श्रान्तहृदयः—कलुषितमनस्कः । (गो०) ६ लुलितेन्द्रियः—क्षुभितबाह्येन्द्रियः । (गो०)

द्वाःस्थैरुत्थाय विजयं पृष्टस्तैः सहितो ययौ ।
स त्वनेकाग्रहृदयो[1] द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य[2] तं जनम् ॥३४॥

भरत जी को देख द्वारपाल उठ खड़े हुए और (रीत्यानुसार) विजय प्रश्न कर उनके साथ हो लिये। उस समय भरत जी का मन व्यग्र हो रहा था। अतः उन्होंने उन द्वारपालों को सत्कारपूर्वक लौटा दिया ॥ ३४ ॥

सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत्तत्र राघवः ।
किमहं त्वरयानीतः कारणेन विनाऽनघ[3] ॥ ३५ ॥

केकयराज का सारथी जो बहुत थक गया था उससे भरत जी ने कहा—हे अनघ! किस लिये बिना कारण बतलाये शीघ्रता से मैं यहां बुलाया गया हूँ ॥ ३५ ॥

अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं[4] च पततीव[5] मे ।
श्रुता नो यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने ॥ ३६ ॥

मेरे मन में अनेक प्रकार की अशुभ शङ्काएँ उत्पन्न हो रही हैं और मन पर दीनता छाती जाती है। राजाओं के मरने पर जो अमाङ्गलिक लक्षण देख पड़ते हैं और जिन्हें मैंने पहले सुन रखे हैं ॥ ३६ ॥

आकारांस्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे ।
संमार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये ॥ ३७ ॥

---

१ अनेकाग्रहृदयः—व्याकुलमनाः। (गो०) २ प्रत्यर्च्य—सत्कारपूर्वकं निवर्त्य। (शि०) ३ अनघेति—चिन्तासमर्थतोक्तिः। (गो०) ४ शीलं—नित्यदैन्यरहितस्वभावः। (शि०) ५ पतति—अस्तं गच्छतीव। (शि०)

हे सारथे! आज वे ही सब कुलक्षण मुझे यहाँ देख पड़ रहे हैं। देखो, गृहस्थों के घर बिना झाड़े बुहारे होने के कारण गंदे जान पड़ते हैं ॥ ३७ ॥

असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः।
बलिकर्मविहीनानि धूपसम्मोदनेन च ॥ ३८ ॥

द्वारों के किवाड़ खुले पड़े हैं, सब घरों की शोभा नष्ट सी हो गयी है। वे सब बलिकर्म-विहीन, धूपगन्ध रहित हैं, ॥ ३८ ॥

अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च।
अलक्ष्मीकानि[1] पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम् ॥३९॥

तथा भूखे और हतश्री जनों से भरे हैं। गृहस्थों के मकान मुझे विचित्र ध्वजाओं और वंदनवारों से रहित देख पड़ रहे हैं ॥ ३९ ॥

अपेतमाल्यशोभान्यप्यसंमृष्टाजिराणि च।
देवागाराणि शून्यानि[2] न चाभान्ति यथापुरम् ॥४०॥

किसी भी गृहस्थ के द्वार पर पुष्पमालाएँ लटकती नहीं देख पड़तीं—सब घरों के आँगन बिना झाड़े बुहारे पड़े हैं। देवालयों में पुजारी आदि कोई भी नहीं है, उनकी जैसी पहले शोभा थी, वैसी अब नहीं है ॥ ४० ॥

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च[3] यज्ञगोष्ठ्य[4]स्तथाविधाः।
माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वा तथा ॥४१॥

---

१ अलक्ष्मीकानि—विचित्रध्वजतोरणाद्यभावात्। (रा०) २ शून्यानि—पूजापरिचारिकादिरहितानि। (गो०) ३ प्रविद्धाः—लुप्ताः। (गो०) ४ यज्ञगोष्ठ्यः—यज्ञसभा। (गो०)

न तो कोई अब देवताओं का पूजन कर रहा है और न यज्ञशालाओं में यज्ञविधान ही हो रहा है। आज फूलमालाओं की तथा अन्य वस्तुओं की दूकानें शोभाहीन हो रही हैं ॥ ४१ ॥

दृश्यन्ते वणिजोऽप्यत्र न यथापूर्वमत्र वै।
ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः[1] ॥ ४२ ॥

यहाँ पर पहले की तरह बनिये भी प्रफुल्ल मन नहीं देख पड़ते। चिन्ता के मारे इनका मन घबड़ाया हुआ है। इनका व्यापार बंद सा हो गया है ॥ ४२ ॥

देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिगणास्तथा।
मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम्।
सस्त्रीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥ ४३ ॥

देवताओं के मन्दिरों में तथा देवालय विशेषों में पक्षिगण उदास बैठे हैं। मैले कपड़े पहिने, आँखों में आँसू भरे उदास, चिन्तायुक्त, दुबले पतले और उत्कण्ठित स्त्री पुरुष ही मुझे नगर भर में देख पड़ते हैं ॥ ४३ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः।
तान्यरिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य राजगृहं ययौ ॥ ४४ ॥

उदास मन भरत जी, इस प्रकार के वचन उस सूत से कहते और अयोध्या में उन अरिष्टों को देखते हुए, राजभवन की ओर गये ॥ ४४ ॥

---

१ यन्त्रिताः—सङ्कुचिताङ्गाः। (शि०)

तां शून्य[1]शृङ्गाटक[2]वेश्मरथ्यां
रजोरुण[3]द्वारकपाटयन्त्राम् ।
दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरप्रकाशां
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥ ४५ ॥

उस इन्द्रपुरी के समान, अयोध्यापुरी के चौराहे के घरों और गलियों को जनशून्य, और मकानों के किवाड़ों और किवाड़ों के कील कांटों को धूलधूसरित (अर्थात् गर्दा पड़ी हुई) देख, भरत जी अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ४५ ॥

बहूनि पश्यन्मनसोऽप्रियाणि
यान्यन्यदा[4] नास्य* पुरे बभूवुः ।
अवाक्शिरा दीनमना नहृष्टः
पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म ॥ ४६ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

भरत जी ने ऐसी ऐसी अनेक अप्रिय घटनाओं को, जो इसके पूर्व उन्होंने कभी नहीं देखी थीं, देख कर—नीचा सिर किये हुए, उदास मन होने के कारण हर्ष रहित हो, अपने महात्मा पिता के घर में प्रवेश किया ॥ ४६ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

१ शून्याः—जनरहिताः । (गो०) २ शृङ्गाटक वेश्मरथ्याः—चतुष्पथ गृहवीथयोयस्यां । (गो०) ३ रजोरुणद्वारकपाटयंत्राम्—रजोभिः मलिनानि-द्वारस्थकपाटानां दारुबन्धादीनियस्यां । (गो०) ४ अन्यदा—पूर्वकाले । (गो०)

* पाठान्तरे—" नात्र " ।

द्विसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये ।
जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये ॥ १ ॥

भरत जी पिता के घर में पिता को न देख, माता के दर्शन की लालसा से अपनी माता के घर में गये ॥ १ ॥

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम् ।
उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥

बहुत दिनों बाद विदेश से लौट कर घर आये हुए, अपने प्रिय पुत्र भरत को देख, कैकेयी हर्ष में मग्न हो, सोने को चौकी से उठ खड़ी हुई ॥ २ ॥

स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम् ।
भरतः प्रतिजग्राह जनन्याश्चरणौ शुभौ ॥ ३ ॥

धर्मात्मा भरत जी ने अपने माता के घर में जा कर देखा कि, घर की शोभा नष्ट हो गयी है। अनन्तर भरत जी ने अपनी माता के शुभ दोनों चरण छुए ॥ ३ ॥

सा मूर्ध्नि समुपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम् ।
अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

उस समय कैकेयी भरत जी का मस्तक सूँघ, उनको हृदय से लगा और गोदी में बैठा कर, उनसे पूँछने लगी ॥ ४ ॥

अथ ते कतिचिद्रात्र्यश्च्युतस्या[1]र्यक[2]वेश्मनः ।
अपि[3] नाध्वश्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥

हे वत्स ! आज तुमको नाना के घर से चले कितने दिन हो गये ? तुम रथ पर सवार जल्दी जल्दी आये हो, सो रास्ते की थकावट तो तुम्हें कष्ट नहीं दे रही ॥ ५ ॥

आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव ।
प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

हे वत्स ! तुम्हारे नाना और मामा युधाजित तो बहुत अच्छी तरह से हैं ? बेटा ! जब से तुम विदेश गये, तब से रहे तो अच्छी तरह न ? यह सब मुझसे कहो ॥ ६ ॥

एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः ।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥

कैकेयी के इस प्रकार पूँछने पर प्रिय राजकुमार कमलनयन भरत ने अपनी माता से वहाँ का सारा वृत्तान्त कहा ॥ ७ ॥

अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः ।
अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे ॥ ८ ॥

हे अम्मा ! नाना का घर छोड़े हुए मुझे आज सात रातें बीत चुकीं । मेरे नाना और मामा कुशल से हैं ॥ ८ ॥

---

१ च्युतस्य—निर्गतस्य । (गो०) २ आर्यकः—मातामहः । (गो०)
३ अपिः—प्रश्ने । (गो०)

यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परन्तपः ।
परिश्रान्तं पथ्यभवत्ततोऽहं पूर्वमागतः ॥ ९ ॥

शत्रुओं का दमन करने वाले राजा केकय ने मुझे विदाई में जो रत्न धन दिये हैं उन सबको मैं रास्ते ही में छोड़ कर आगे चला आया हूँ। क्योंकि सवारियों के जानवर बहुत थक गये थे ॥ ९ ॥

राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः ।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति ॥ १० ॥

महाराज का संदेसा ले कर जो दूत गये थे, उनके जल्दी करने पर ही मैं इतनी जल्दी आया हूँ। हे अम्मा! अब मैं जो कुछ पूछूँ उसका तू उत्तर दे ॥ १० ॥

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः ।
न चायमिक्ष्वाकुजनः[1] प्रहृष्टः प्रतिभाति मे ॥ ११ ॥

तुम्हारा यह सुवर्ण का पलंग महाराज विना सूना क्यों है? महाराज के कोई भी जन मुझको प्रसन्न नहीं जान पड़ते ॥ ११ ॥

राजा भवति भूयिष्ठ[2]मिहाम्बाया निवेशने ।
तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥ १२ ॥

महाराज अधिक तर तेरे ही घर में रहा करते थे—सो वे आज नहीं देख पड़ते। मैं उन्हींके दर्शन करने को यहाँ आया हूँ ॥ १२ ॥

पितुर्ग्रहीष्ये चरणौ तं ममाख्याहि पृच्छतः ।
आहोस्विदम्ब ज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने ॥ १३ ॥

---

१ इक्ष्वाकुजनः—दशरथजनः । (गो०) २ भूयिष्ठ—प्राचुर्येण । (गो०)

इस समय पिता जी कहाँ हैं? मुझे यह बतलाओ, क्योंकि मैं उनके चरणयुगल में प्रणाम करूँगा। वे क्या मेरी माताओं में सब से बड़ी माता कौशल्या जी के घर में हैं? ॥ १३ ॥

तं प्रत्युवाच कैकेयी [1]प्रियवद्घोरमप्रियम्।
अजानन्तं[2] प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥ १४ ॥

इन प्रश्नों के उत्तर में, सारा वृत्तान्त जानने वाली कैकेयी राज्य के लोभ में फँस, महाराज का वृत्तान्त न जानने वाले भरत से, प्रिय संवाद की तरह, घोर अप्रिय वचन बोली ॥ १४ ॥

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतांगतिः ॥१५॥

हे बेटा! सब प्राणियों की जो गति होती है, उसी गति को तुम्हारे महात्मा, तेजस्वी और सज्जनों के आश्रयस्थल पिता महाराज दशरथ प्राप्त हुए हैं ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं [3]धर्माभिजनवाञ्शुचिः।
पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलार्दितः ॥ १६ ॥

कैकेयी को यह बात सुनते ही, धर्मात्माओं के वंश में उत्पन्न—निष्कपट भरत, पितृशोक से विकल हो, सहसा पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन्।
निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

---

१ प्रियवत्—प्रियमिव। (गो०) २ अजानन्तं—राजवृत्तान्तमजानन्तं। (गो०) ३ धर्माभिजनवान्—धर्मयुक्तवंशवान्। (रा०)

और गिरते समय, महाबाहु एवं महाबली भरत जी दोनों हाथ पृथिवी पर पटक "हाय मैं मारा गया" कह कर, करुणापूर्ण वचन बोले ॥ १७ ॥

ततः शोकेन संविग्नः* पितुर्मरणदुःखितः[1] ।
विललाप महातेजा भ्रान्ता[2]कुलितचेतनः ॥ १८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी भरत, पिता के मरने का संवाद सुनने के कारण, शोक और दुःख से विकल हो, घबड़ा गये और विलाप करने लगे ॥ १८ ॥

एतत्सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा ।
शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥ १९ ॥

बादलों के विदा होने पर अर्थात् शरत्काल में चन्द्रमा से आकाश की जैसी शोभा होती है, पहले वैसी ही शोभा मेरे पिता की इस सेज की थी ॥ १९ ॥

यदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता ।
व्योमेव शशिना हीनं विशुष्क इव सागरः ॥२०॥

आज उन बुद्धिमान पिता जी के बिना चन्द्रहीन आकाश और जलहीन सागर की तरह यह सेज बुरी मालूम पड़ती है ॥ २० ॥

वाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वार्तः परमपीडितः ।
प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद्वस्त्रेण जयतांवरः[3] ॥ २१ ॥

---

१ मरणदुःखितः—मरणश्रवणेनसञ्जातदुःखः । (गो०) २ भ्रान्ता—अनवस्थिता । (गो०) ३ जयतांवरः भरतः । (शि०) * पाठान्तरे—"संवीतः"।

इस प्रकार भरत अपना मुख वस्त्र से ढक आँसू बहाते, अत्यन्त व्यथित हो गद्गद् कण्ठ से विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

तमार्तं देवसङ्काशं समीक्ष्य पतितं भुवि ।
निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना वने ॥ २२ ॥

जिस प्रकार वन में कुल्हाड़ी से कटा हुआ शालवृक्ष का गुद्दा गिर पड़ता है, उसी प्रकार देवता के समान भरत जो पिता की मृत्यु से दुःखित हो भूमि पर गिर पड़े ॥ २२ ॥

माता मातङ्गसङ्काशं चन्द्रार्कसदृशं भुवः ।
उत्थापयित्वा शोकार्तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

यह देख, कैकेयी चन्द्र, सूर्य और हाथी के समान तेजस्वी शोकाकुल अपने पुत्र को, पृथिवी से उठा कर उससे बोली ॥ २३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजपुत्र महायशः ।
त्वद्विधा न हि शोचन्ति सन्तः सदसि सम्मताः[1] ॥२४॥

हे महायशस्वी राजकुमार! उठो! उठो!! तुम ज़मीन पर क्यों पड़े हो? तुम जैसे सज्जन और सभ्य लोग कभी शोक नहीं करते ॥ २४ ॥

दानयज्ञाधिकारा हि शील[2]श्रुति[3]वचोनुगा ।
बुद्धिस्ते[4] बुद्धिसम्पन्न प्रभेवार्कस्य[5] मन्दिरे ॥ २५ ॥

---

१ सदसिसम्मताः—सभ्या इत्यर्थः। (गो०) २ शीलं—सद्वृत्तं। (गो०) ३ श्रुतिवचोवेदवाक्यं। (गो०) ४ बुद्धिः—अध्यवसाय। (गो०) ५ अर्कस्यप्रभामन्दिरइव— सूर्यप्रभायथास्वस्थानेनिश्चलाभवति तथातेबुद्धिर्निश्चलाभातीत्यर्थः। (गो०)

हे बुद्धिमान्! जिस प्रकार सूर्य की प्रभा अपने स्थान पर निश्चल होती है—उसी प्रकार तुम्हारा अध्यवसाय, जो दान, यज्ञ, सदाचरण और वेदवाक्यों का अनुसरण करने वाला है—निश्चल है ॥ २५ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ विपरिवृत्य च ।
जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥ २६ ॥

इस प्रकार माता के समझाने पर भी भरत बहुत देर तक भूमि पर लोटते और रोते रहे। तदनन्तर अत्यन्त शोकाकुल हो माता से बोले ॥ २६ ॥

अभिषेक्ष्यति रामं नु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते ।
इत्यहं कृतसङ्कल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्[1] ॥ २७ ॥

हे अम्मा! मैंने तो यह समझा था कि, महाराज श्रीराम को राज्य देंगे और स्वयं कोई यज्ञानुष्ठान करेंगे। इसीलिये मैं प्रसन्न हो वहाँ से चला था ॥ २७ ॥

तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम ।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

किन्तु इस समय उसके विपरीत बात देख, मेरा मन फटा जाता है। क्योंकि अब मैं अपने सदाहितैषी पिता को नहीं देख पाता ॥ २८ ॥

---

१ यात्रामयासिषम्—यात्रामकार्षं। (गो०)

अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मय्यनागते ।
धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥२९॥

हे अम्मा! महाराज को क्या बीमारी हुई थी कि, मेरे आने के पूर्व ही उन्होंने शरीर छोड़ दिया। धन्य है श्रीराम आदि भाई, जिन्होंने पिता की और्द्धदैहिक क्रिया की होगी ॥ २९ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्त्तिमान् ।
उपजिघ्रेद्धि मां मूर्ध्नि तातः सन्नम्य सत्वरम् ॥३०॥

निश्चय ही कीर्तिशाली महाराज को यह नहीं मालूम कि, मैं यहाँ आ गया हूँ—नहीं तो वे अवश्य अपना मस्तक झुका मेरे सिर को तुरन्त सूँघते ॥ ३० ॥

क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः ।
येन मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥ ३१ ॥

हा! महाराज का वह हाथ, जो अंग से स्पर्श करते ही सुख दिया करता था और मेरे धूलधूसरित शरीर की धूल बार बार झाड़ता था, कहाँ गया? ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः ।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३२ ॥

अब जो मेरे भ्राता, पिता और बन्धु भी हैं, और जिन बुद्धिमान् का मैं दास हूँ, उन श्रीरामचन्द्र का पता मुझे शीघ्र बतला कि, वे कहाँ हैं? ॥ ३२ ॥

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य[1] जानतः ।
तस्य पादौ गृहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥

क्योंकि धर्मज्ञ और विवेकी जन का जेठा भाई पिता के तुल्य होता है। अतः मैं उनके पैर पकड़ूँगा क्योंकि अब तो मुझे उन्हीं का सहारा है ॥ ३३ ॥

धर्मविद्धर्मनित्यश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ।
आर्यः किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

हे माता! धर्मज्ञ और धर्म में निरत रहने वाले, सत्यप्रतिज्ञ, तथा दृढ़व्रत महाराज मेरे विषय में क्या आज्ञा कर गये हैं अथवा मेरे लिये क्या कह गये हैं ॥ ३४ ॥

पश्चिमं[2] साधु सन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।
इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

सो मैं अपने विषय में महाराज का अन्तिम काल का संदेसा सुनना चाहता हूँ भरत जी के ऐसा पूँछने पर कैकेयी ने जो ठीक बात थी वही कही ॥ ३५ ॥

रामेति राजा विलपन्हा सीते लक्ष्मणेति च ।
स महात्मा परं लोकं गतो गतिमतां वरः ॥ ३६ ॥

(कैकेयी बोली मरते समय महाराज ने तुम्हारा तो नाम भी नहीं लिया) उत्तम गति को प्राप्त होने वालों में श्रेष्ठ महाराज,

---

१ धर्ममार्यस्यजानतः—धर्मजानत आर्यस्य श्रेष्ठस्य विवेकिनः पुरुषस्य । (रा०) २ पश्चिमं संदेशं—अन्त्यकालिकम् । (रा०)

हा राम ! हा सीता ! हा लक्ष्मण ! ऐसा विलाप करते हुए, परलोक सिधारे हैं ॥ ३६ ॥

इमां तु पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव ।
कालधर्मपरिक्षिप्तः[1] पाशैरिव महागजः ॥ ३७ ॥

बड़ा हाथी जिस प्रकार बंधन में बाँधा जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे पिता ने काल और धर्म के वश हो कर, अन्तिम समय यह कहा था ॥ ३७ ॥

सिद्धार्थास्ते नरा राममागतं सीतया सह ।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥

कि, वे नर ही सफल मनोरथ होंगे, जो सीता सहित श्रीराम और लक्ष्मण को वन से लौटा हुआ देखेंगे ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा विषसादैव द्वितीयाप्रियशंसनात् ।
विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥ ३९ ॥

जब कैकेयी ने यह दूसरी अप्रिय बात कही, तब भरत जी और भी अधिक उदास हुए और फिर माता से पूँछने लगे ॥ ३९ ॥

क चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समं गतः ॥ ४० ॥

हे अम्मा ! वे धर्मात्मा और कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीराम, इस समय सीता और लक्ष्मण के सहित कहाँ हैं ? ॥ ४० ॥

---

१ कालधर्मपरिक्षिप्तः—कालधर्मेभ्यः शरीरविकारादिभ्यः परित्यक्तः । (शि०)

तथा पृष्टा यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।
माताऽस्य [1]युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशङ्कया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार भरत जी के पूँछने पर उनकी माता कैकेयी ने ज्यों की त्यों समस्त घटना सुनानी आरम्भ की। उसने समझा कि, इस दारुण अप्रिय घटना का वृत्तान्त सुन, भरत अवश्य प्रसन्न होंगे ॥ ४१ ॥

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम् ।
दण्डकान्सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥

हे वत्स! वे राजकुमार चीर को धारण कर, सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डक नामक महावन को चले गये हैं ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया ।
स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात्प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

कैकेयी के मुख से श्रीराम का वन जाना सुन—भरत जी के मन में भाई के चरित्र के विषय में सन्देह उत्पन्न हुआ और वे बहुत भयभीत हुए। क्योंकि वे अपने वंश की प्रतिष्ठा जानते थे। उन्होंने माता से फिर पूँछा ॥ ४३ ॥

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् ।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥

हे माता! क्या श्रीरामचन्द्र ने किसी ब्राह्मण का धन छीना था? अथवा बिना अपराध किसी धनाढ्य या दरिद्री की हत्या की थी? ॥ ४४ ॥

---

1 युगपत्—राजमरणकथनसमकालमेव। (गो०)

कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।
कस्मात्स दण्डकारण्ये [1]भ्रूणहेव विवासितः ॥ ४५ ॥

अथवा किसी परस्त्री की ओर बुरी दृष्टि से देखा था? किस अपराध के कारण वह श्रुताध्ययनसम्पन्न श्रीराम वन में निकाले गये? ॥ ४५ ॥

अथास्य चपला माता तत्स्वकर्म यथातथम् ।
तेनैव स्त्रीस्वभावेन[2] व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तब भरत की चपल मति माता ने अपनी ज्यों की त्यों करनी, स्त्री-स्वभाव-सुलभ चपलता-वश कहनी आरम्भ की ॥ ४६ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना ।
उवाच वचनं हृष्टा मूढा पण्डितमानिनी ॥ ४७ ॥

जब भरत ने कैकेयी से इस प्रकार कहा, तब वह मूर्खा और अपने को पण्डिता समझने वाली, प्रसन्न हो कर यह बोली ॥४७॥

न ब्राह्मणधनं किञ्चिद्धृतं रामेण धीमता ।
कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥४८॥

बेटा! बुद्धिमान राम ने न तो किसी ब्राह्मण का धन छीना और न विना अपराध किसी धनी अथवा निर्धन का वध ही किया ॥ ४८ ॥

---

१ भ्रूणः—श्रुताध्ययन सम्पन्नः। (गो०) २ स्त्रीस्वभावेन—चापलेन। (गो०) धर्माधर्महिताहितोचितानुचितविवेकशून्यतारूपेण। (रा०)

न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ।
मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्यैवाभिषेचनम् ॥ ४९ ॥

श्रीरामचन्द्र परस्त्री को तो आंख उठा कर भी कभी नहीं देखते । किन्तु हे पुत्र ! मैंने जब श्रीराम के अभिषेक की बात सुनी, ॥ ४९ ॥

याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ।
स स्ववृत्तिं[1] समास्थाय पिता ते तत्तथाऽकरोत् ॥५०॥

तब मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारे लिये राज्य और श्रीरामचन्द्र के लिये वनवास माँगा । अतः अपनी सत्यप्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये तुम्हारे पिता ने वैसा ही किया ॥ ५० ॥

रामश्च सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ।
तमपश्यन्प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः ॥ ५१ ॥

उन्होंने श्रीरामचन्द्र को सीता और लक्ष्मण सहित वन में भेज दिया और महायशस्वी महाराज दशरथ उन प्रियपुत्र श्रीराम को न देखने के कारण ॥ ५१ ॥

पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ।
त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् ।
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥ ५२ ॥

पुत्रशोक से पीड़ित हो, पञ्चत्व को प्राप्त हुए (मर गये) । हे धर्मज्ञ ! अब तुम राजकाज संभालो, क्योंकि तुम्हारे ही लिये इस प्रकार ये सब काम मैंने किये हैं ॥ ५२ ॥

---

1 स्ववृत्तिं—स्वप्रतिज्ञारूपांवृत्तिं । (गो०)

मा शोकं मा च सन्तापं धैर्यमाश्रय पुत्रक ।
त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनायकम्* ॥ ५३ ॥

हे वत्स ! तुम दुःखी मत हो और न सन्ताप ही करो। तुम धीरज रखो। क्योंकि यह अयोध्यापुरी और बिना राजा का यह राज्य अब तुम्हारे ही अधीन है ॥ ५३ ॥

तत्पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञै-
र्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः ।
सङ्कल्य[1] राजानमदीनसत्त्व-
मात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व ॥ ५४ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

अतः तुम इस घड़ी विधि जानने वाले वशिष्ठादि ब्राह्मणों के साथ शीघ्र यथाविधि महापराक्रमी अपने पिता को प्रेतक्रिया समाप्त कर, राज्यासन ग्रहण करो और अपने मन को हिरास मत करो ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा तु पितरं वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ ।
भरतो दुःखसन्तप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

१ सङ्कल्य—संस्कृत्य । (गो०) * पाठान्तरे—"अनामयं ।"

पिता का मरण, और दोनों भाइयों के वन में निकाले जाने का वृत्तान्त सुन, भरत दुःख से सन्तप्त हो, कैकेयी से यह वचन बोले ॥ १ ॥

किन्नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः ।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च ॥ २ ॥

पिता और पिता के समान भाई से रहित होने के कारण मेरा, तो सर्वनाश हो गया । ऐसी शोच्य दशा में मैं राज्य ले कर करूँगा ही क्या ॥ २ ॥

दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवादधाः ।
राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥

तूने महाराज दशरथ को मार और श्रीराम को तपस्वी बना, मुझे दुःख के ऊपर दुःख दिया, मानों घाव पर निमक छिड़का ॥३॥

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ।
अङ्गारमुपगृह्य* त्वां पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥

तू कालरात्रि के समान इस कुल का सत्यानाश करने को यहाँ आई है । मेरे पिता ने जलते हुए अंगारे की समान अनजाने तुझे घर में रखा ॥ ४ ॥

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि ।
सुखं परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन्कुलपांसिनि ॥ ५ ॥

अरी पापिष्ठे ! तूने महाराज को मार डाला । अरी कुल-नाशिनी ! तूने मोहवश हो सहसा ही इस घराने का सारा सुख नष्ट कर डाला ॥ ५ ॥

---

* पाठान्तरे—"गूहन्त्म" ।

त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसन्धो महायशाः ।
तीव्रदुःखाभिसन्तप्तो वृत्तो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥

सत्यप्रतिज्ञ एवं महायशस्वी मेरे पिता महाराज दशरथ ने तुझे पा कर, बड़ा दुःख और सन्ताप भोगा ॥ ६ ॥

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः ।
कस्मात्प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥

तूने क्यों उन धर्मवत्सल मेरे पिता महाराज दशरथ को मार डाला और क्यों श्रीरामचन्द्र को वनवास दिलवाया और वे क्यों वन में चले गये ? ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते ।
दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८ ॥

तुझ जैसी मेरी जननी के साथ रह कर, कौशल्या और सुमित्रा का पुत्रशोक से पीड़ित हो कर, जीवित रहना बहुत कठिन है ॥ ८ ॥

ननु त्वार्योऽपि धर्मात्मा त्वयि वृत्तिं[1] मनुत्तमाम् ।
वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥

मेरे ज्येष्ठ और धर्मात्मा भाई श्रीरामचन्द्र, जो गुरुजनों की सेवा करना जानते हैं, तेरी भी तो वैसी ही सेवा करते थे, जैसी कि वे अपनी जननी कौशल्या की किया करते थे ॥ ९ ॥

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी[2] ।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥ १० ॥

---

१ वृत्तिं—शुश्रूषां । (गो०) २ दीर्घदर्शिनी—दूरकालभाव्यनर्थदर्शिनी । (गो०)

मेरी बड़ी माता कौशल्या जो भावी विपत्ति को जानती थी, धर्मपूर्वक तेरे साथ सगी बहिन जैसा व्यवहार करती थी ॥ १० ॥

तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम् ।
प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसि ॥ ११ ॥

उसीके महात्मा पुत्र को चीर और वल्कल पहिना कर, तूने वन में भिजवा दिया। अरी पापिन ! तिस पर भी तुझे दुःख क्यों नहीं होता ? ॥ ११ ॥

अपापदर्शनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् ।
प्रव्राज्य चीरवसनं किन्नु पश्यसि कारणम्[1] ॥ १२ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र ने कभी दुःख नहीं देखा, ऐसे शूर और यशस्वी श्रीरामचन्द्र को चीर पहना कर और वन में भिजवा कर, तूने क्या फल पाया ? ॥ १२ ॥

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं प्रति ।
तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम् ॥१३॥

मेरी श्रीरामचन्द्र में कैसी भक्ति है—यह बात तूने न जानी। इसीसे तूने लालच में फँस, राज्य के लिये यह महाअनर्थ कर डाला ॥ १३ ॥

अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन्रामलक्ष्मणौ ।
केन शक्तिप्रभावेन राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥ १४ ॥

मैं उन पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण को देखे बिना, किस शक्ति के प्रभाव से इस राज्य की रक्षा कर सकूँगा ॥ १४ ॥

---

1 कारणम्—फलं । (गो०)

तं हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महाबलः ।
अपाश्रितोऽभूद्धर्मात्मा मेरुर्मेरुवनं यथा ॥ १५ ॥

मेरी तो गिनती ही किसमें है, महाराज दशरथ जो उन्हीं बलवान और महापराक्रमी श्रीरामचन्द्र का उसी प्रकार सदा भरोसा रखते थे जिस प्रकार मेरु पर्वत निकटस्थ वन पर भरोसा रखता है ॥ १५ ॥

सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्धृतम् ।
[1]दम्यो धुरमिवासाद्य वहेयं केन चौजसा ॥ १६ ॥

अतएव मैं क्यों कर और किसके भरोसे इस बड़े भारी राज्य-भार को उठा सकूँगा। जिस भार को बड़ा बलवान बैल खींच सकता है, उसे छोटी उम्र का बछड़ा क्यों कर खींच सकता है? ॥ १६ ॥

अथवा मेऽभवेच्छक्तिः [2]योगैर्बुद्धि बलेन[3] वा ।
सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्धिनीम्[4] ॥१७॥

यदि मैं सामदानादि उपायों से अथवा बुद्धिबल से इस राज्य-भार को उठा भी सकूँ, तो भी पुत्र के राज्य की अभिलाषा करने वाली तेरी यह कुत्सित साध मैं कभी पूरी न होने दूँगा ॥ १७ ॥

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम् ।
यदि रामस्य *नापेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत्सदा ॥१८॥

---

१ दम्यः—तरुणवत्सइव । (गो०) २ योगैः—सामादानाद्युपायैः । (गो०) ३ बुद्धिबलेन—ग्रहणधारणाद्यष्टाङ्ग युक्तबुद्धिबलेनवा । (गो०) ४ पुत्रगर्धिनीम्—पुत्र प्रयोजनाभिलाषवती । (गो०)

* पाठान्तरे—" नावेक्षा " ।

यदि श्रीराम को तुझमें माता के समान श्रद्धा न होती, तो मैं तुझ पापिन को अवश्य त्याग देता ॥ १८ ॥

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी ।
साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥ १९ ॥

अरे पापदर्शिनी ! हमारे पूर्वजों की प्रथा को कलङ्कित करने वाली यह बुद्धि तुझमें कैसे उत्पन्न हुई ॥ १९ ॥

अस्मिन्कुले हि पूर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।
[1]अपरे भ्रातरस्तस्मिन्प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥ २० ॥

क्योंकि इस राजवंश में पीढ़ियों से यह चाल चली आती है कि, सब भाइयों में जो बड़ा होता है वही राजगद्दी पर बैठता है और (छोटे) सब भाई उसके अधीन रहते हैं ॥ २० ॥

न हि मन्ये नृशंसे त्वं [2]राजधर्ममवेक्षसे ।
गतिं[3] वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥२१॥

अरे नृशंसे ! तेरी दृष्टि राजधर्म की ओर नहीं है और न तू राजधर्म से सनातन विविध प्रकारों ही को जानती है ॥ २१ ॥

सततं राजवृत्ते[4] हि ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।
राज्ञामेतत्समं तत्स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥ २२ ॥

राजधर्मानुसार जो ज्येष्ठ होता है, उसीका राज्याभिषेक होता है। यही प्रथा सब राजाओं में है। तिसमें भी इक्ष्वाकुकुल में तो इसका विशेष आग्रह है ॥ २२ ॥

---

१ अपरे—कनिष्ठाभ्रातरः । (गो०) २ राजधर्मं—राज्ञांविहितं धर्मं । (गो०) ३ गतिं—प्रकारंवा । ४ राजवृत्ते—राजधर्मे । (रा०)

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्र[1]शोभिनाम् ।
अद्य चारित्रशौण्डिर्यं[2] त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥२३॥

आज तूने, धर्म प्रतिपालक एवं अच्छे चरित्र से सुशोभित इक्ष्वाकुवंश का सदाचार सम्बन्धी गर्व धूल में मिला दिया ॥२३॥

तवापि सुमहाभागा[2] जनेन्द्राः[3] कुलपूर्वगाः[4] ।
बुद्धेर्मोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गर्हितः ॥ २४ ॥

तेरा भी तो एक सुचरित्र कुलीन राजवंश में जन्म हुआ है। फिर क्यों कर तेरी बुद्धि में ऐसा गर्हित मोह उत्पन्न हुआ—अर्थात् कैसे तेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो गयी ॥ २४ ॥

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये ।
त्वया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥

हे पापिन ! याद रख, चाहे जो कुछ हो मैं तेरी साध कभी पूरी न करूँगा। क्योंकि तूने मेरे प्राण लेने वाले प्रपञ्च का सूत्रपात किया है ॥ २५ ॥

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघम् ।
निवर्तयिष्यामि वनाद्भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥

मैं तो तुझे खिजाने के लिये स्वजनों के प्यारे एवं निर्दोष बड़े भाई श्रीरामचन्द्र को अब वन से लौटा लाता हूँ ॥ २६ ॥

---

१ कुलचरित्र—कुलक्रमागतचरित्रं । (गो०) २ चारित्रशौडीर्यं—चरित्रगर्वितत्वं । (गो०) ३ जनेन्द्राः—राजानः । (गो०) ४ कुलपूर्वगाः—कुलज्येष्ठाः । (गो०)

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः ।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥

मैं श्रीराम जी को केवल वन से लौटा ही न लाऊँगा, प्रत्युत उनका दास बन कर और मन लगा कर उनकी सेवा भी करूँगा ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा
प्रियेतरैः[1]वाक्यगणैस्तुदंस्ताम् ।
शोकातुरश्चापि ननाद भूयः
सिंहो यथा पर्वतगह्वरस्थः ॥ २८ ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार भरत जो अनेक कठोर वचनों से कैकेयी को मर्माहत करते हुए और स्वयं शोक से कातर हो, मन्दराचल की कन्दरा में बैठे हुए सिंह की तरह पुनः गरज कर बोले ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

चतुःसप्ततितमः सर्गः

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा ।
रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद्वचः ॥ १ ॥

---

1 प्रियेतरैर्दुःखकरैः । (रा०)

इस प्रकार भरत जी माता को धिक्कार कर और अत्यन्त कुपित हो, फिर अपनी माता कैकेयी से कहने लगे ॥ १ ॥

राज्याद्भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि ।
परित्यक्ता च धर्मेण [1]मामृतं रुदती भव ॥ २ ॥

हे निष्ठुर हृदये ! हे दुष्टे ! तू राज्यभ्रष्ट हो, (अर्थात् तू भी वन में चली जा) क्योंकि तू अधर्मिन है। अब मैं मरता हूँ, तू मेरे लिये रो, अथवा तू पतिव्रताधर्म को जब त्याग ही चुकी; तब तुझे उचित है कि, तू मृतपति के लिये मत रो ॥ २ ॥

किन्नु तेऽदूषयद्राजा रामो वा भृशधार्मिकः ।
ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्य[2]मागतौ ॥ ३ ॥

भला बता तो कि, महाराज ने और परमधार्मिक श्रीरामचन्द्र ने तेरा क्या बिगाड़ा था जो तूने एक ही समय में महाराज को तो मार डाला और श्रीरामचन्द्र को वन में निकाल दिया ॥ ३ ॥

भ्रूणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनात् ।
कैकेयि नरकं गच्छ मा च भर्तुः सलोकताम् ॥ ४ ॥

हे कैकेयी ! इस प्रकार वंश का नाश करने से तुझे गर्भस्थ बालक को मार डालने जैसा पाप लगा है (गर्भ गिराने जैसा) अतः तू नरक में गिर। क्योंकि तू मेरे पिता के लोक में जाने की अधिकारिणी नहीं है ॥ ४ ॥

---

१ मामृतं रुदती भव—प्राणहानिकरकार्यकरणान्मांमृतंमत्वारोदनं कुर्विन्त्यर्थः। यद्वामृतं भर्तारं उद्दिश्य रुदती च मा भव पतिआर्याभावस्यगतत्वादिति भावः। (गो०) २ तुल्यं—युगपत्। (गो०)

यत्त्वया हीदृशं[1] पापं कृतं घोरेण कर्मणा ।
सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥

क्योंकि तूने घोर कर्म कर ऐसा पाप कर्म किया है। तूने सर्व-लोक-प्रिय श्रीरामचन्द्र का त्याग कर, मेरे लिये केवल राज्य सम्पादन ही नहीं किया, प्रत्युत भय भी उत्पन्न कर दिया है ॥ ५ ॥

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

तेरी ही करतूत से मेरे पिता को जान गयी और भाई श्रीराम वनवासी हुए और इस संसार में मुझे बदनाम किया ॥ ६ ॥

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके ।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

तू बड़े ही कठोर हृदय की है; तुझे राज्य का लालच है, तू मेरी माता नहीं, बल्कि माता के रूप में मेरी शत्रु है। अरी दुष्ट! अरी पतिघातिनि! तू मुझसे बोलने योग्य नहीं है अर्थात् मुझसे मत बोल ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः ।
दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषणीम् ॥ ८ ॥

अरे कुल में बट्टा लगाने वाली! तेरी ही करतूत से, कौशल्या, सुमित्रा तथा मेरी अन्य माताएँ, बड़े दुःख में पड़ी हुई हैं ॥ ८ ॥

---

1 ईदृशं—रामविवासनेभर्तृमरण रूपं। (गो०)

न त्वमश्वपतेः[1] कन्या धर्मराजस्य[2] धीमतः ।
राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥ ९ ॥

तू बुद्धिमान् एवं धर्मात्मा महाराज अश्वपति की कन्या कहलाने योग्य नहीं है । तू तो मेरे पिता के कुल का नाश करने के लिये अश्वपति के घर में राक्षसी पैदा हुई है ॥ ९ ॥

यत्त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः ।
वनं प्रस्थापितो दुःखात्पिता च त्रिदिवं गतः ॥१०॥

तूने उन धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र को, जो सदा सत्य में तत्पर रहते हैं, वन में भिजवा दिया और उनके वियोगजनित शोक से पीड़ित कर, पिता को परलोक भेजा ॥ १० ॥

यत्प्रधानासि तत्पापं मयि पित्रा विनाकृते ।
भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥ ११ ॥

यह पापकर्म तो तू ने किया और इसका फल भुगतना मुझको पड़ा कि, मैं पिताहीन हो गया, दोनों भाइयों से बिछुड़ गया और सब लोगों का बुरा बन गया ॥ ११ ॥

कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां[3] पापनिश्चये ।
कृत्वा कं प्राप्स्यसे त्वद्य लोकं[4] निरयगामिनि ॥१२॥

---

१ नत्वमश्वपतेःकन्या—तत्कुलोचितकन्या नभवति । (गो०) २ धर्मराजस्य—धर्मप्रधानराजस्य । (गो०) ३ वियुक्तां—पतिपुत्रवियुक्तां । (रा०) ४ कंलोकं—कं नरकलोकम् । (रा०)

अरी पापिन! अरी नरक में जाने वाली, यह तो बतला कि धर्मचारिणी कौशल्या का पति और पुत्र से विछोह करवा तू अब किस नरक में गिरेगी ॥ १२ ॥

किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं[1] बन्धुसंश्रयम्* ।
ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यायात्मसम्भवम् ॥ १३ ॥

अरे दुष्टा! क्या तुझे यह नहीं मालूम था कि, श्रीराम बन्धु बान्धवों के सदा आधारभूत हैं तथा ज्येष्ठ भ्राता होने के कारण मेरे लिये पिता के समान हैं और महारानी कौशल्या के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं ॥ १३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चापि[2] जायते ।
तस्मात्प्रियतमो मातुः प्रियत्वान्न तु बान्धवः ॥१४॥

यों तो देखा जाय तो बन्धुबान्धव सभी प्रिय होते हैं, किन्तु सब से अधिक पुत्र ही माता को प्रिय होता है—क्योंकि वह माता के अङ्ग प्रत्यङ्ग से और हृदय कमल से भी जन्म ग्रहण करता है अर्थात् ऐसी परम वस्तु का वियोग एक माता के लिये कितना दुःखदायी होता है—उसे तो तूने ज़रा विचारा होता ॥ १४ ॥

[उक्त श्लोक में "अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे । आत्मावैपुत्र नामासि ।" श्रुति का अर्थ गर्भित है ।]

अन्यदा[3] किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसम्मता[4] ।
वहमानौ[5] ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ[6] ॥ १५ ॥

---

१ नियतं—नितरां । (शि०) २ हृदयात्—हृदयपुण्डरीकात् । (गो०) ३ अन्यदा—पूर्वकाले । (गो०) ४ सुरसंमता—देवपूजिता । ५ वहमानौ हलमितिशेषः । (गो०) ६ विगतचेतसौ मूर्छितावित्यर्थः । (गो०)
* पाठान्तरे—"बुद्धिसंश्रया"।

तावर्धदिवसे श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले ।
रुरोद पुत्रशोकेन बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ १६ ॥

(पुत्र शोक एक माता के लिये कितना दुःखदायी होता है इसका दृष्टान्त भरत जी देते हैं।) यह दृष्टान्त धर्मज्ञों का कहा हुआ है। पूर्वकाल में एक दिवस, देवताओं की पूज्या कामधेनु ने देखा कि, उसके दो पुत्र हल खींचते दोपहर के समय, थक जाने के कारण मूर्छित हो गये हैं। पुत्रों के दुःख से दुःखी कामधेनु आँखों से आँसू गिराती हुई, रोने लगी ॥ १५ ॥ १६ ॥

अधस्ताद्व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः ।
बिन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥१७॥

उसी समय किसी काम के लिये देवराज इन्द्र भूलोक में यात्रा कर रहे थे। उस समय उनके शरीर पर सुगन्धित और सूक्ष्म कामधेनु के आँसुओं की बूंदें पड़ीं ॥ १७ ॥

इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् ।
सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं[1] तां सुरेश्वरः ॥ १८ ॥

इन्द्र के शरीर पर कामधेनु के जो आँसू गिरे थे, उनमें से सुगन्धि निकलती देख, इन्द्र ने जान लिया कि, कामधेनु सब से उत्तम है ॥ १८ ॥

निरीक्षमाणः शक्रस्तां ददर्श सुरभिं स्थिताम् ।
आकाशे विष्ठितां दीनां रुदन्तीं भृशदुःखिताम् ॥१९॥

---

१ भूयसीं श्रेष्ठाम्। (गो०)

तब चौंक कर इन्द्र ने ऊपर की ओर देखा तो आकाश में खड़ी और अत्यन्त दुःखित हो रोती हुई विचारी कामधेनु को पाया ॥ १९ ॥

तां दृष्ट्वा शोकसन्तप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम् ।
इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽब्रवीद्वचः ॥ २० ॥

उस यशस्विनी कामधेनु को शोकसन्तप्त देख वज्रधारी सुरराज इन्द्र बहुत घबड़ाये और हाथ जोड़ कर कामधेनु से कहने लगे ॥ २० ॥

भयं कच्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद्विद्यते महत् ।
कुतोनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥ २१ ॥

हे सब लोकों की हितैषिणी ! तू क्यों रो रही है ? क्या हम लोगों के ऊपर कोई महा विपत्ति पड़ने वाली है, जिससे तू इतनी दुःखी हो रही है । अपने दुःख का कारण तो बतला ॥ २१ ॥

एवमुक्ता तु सुरभिः सुरराजेन धीमता ।
प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ २२ ॥

बुद्धिमान इन्द्रराज ने जब ऐसा कहा, तब बात कहने में चतुर कामधेनु ने धीरज धर कर यह उत्तर दिया ॥ २२ ॥

शान्तं पापं न वः किञ्चित्कुतश्चिदमराधिप ।
अहं तु मग्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विषमे स्थितौ ॥२३॥

हे देवराज ! नहीं नहीं, तुम लोगों के भय की कोई बात नहीं है । मुझे तो अपने इन दो पुत्रों को दुःखी देख, दुःख हो रहा है ॥ २३ ॥

एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।
अर्द्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण सुराधिप ॥ २४ ॥

देखो ये दोनों बैल कैसे दुबले हो रहे हैं, तिस पर भी सूर्य के ताप से सन्तप्त हो, ये बेचारे दीन हो रहे हैं । हे सुरराज ! किसान ने इन दोनों को मारा पीटा भी है ॥ २४ ॥

मम कायात्प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।
यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २५ ॥

ये दोनों मेरे शरीर से उत्पन्न हुए हैं । अतः उनको दुःखी और हल में जुतने के भार से पीड़ित देख, मुझे बड़ा सन्ताप हो रहा है —क्योंकि माता के लिये अपने पुत्र से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु प्रिय नहीं है ॥ २५ ॥

यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् ।
तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्रो न सुतान्मन्यते परम् ॥ २६ ॥

जिसके सहस्रों पुत्रों से यह समस्त जगत भरा पड़ा है, उसे अपने दो पुत्रों के लिये रोते हुए देख, इन्द्र ने जाना कि, माँ को पुत्र से बढ़ कर और कोई वस्तु प्यारी नहीं है ॥ २६ ॥

सदाऽप्रतिमवृत्ताया लोकधारणकाम्यया ।
श्रीमत्या[1] गुणनित्यायाः स्वभावपरिवेषया ॥ २७ ॥

यस्याः पुत्रसहस्राणि साऽपि शोचति कामधुक् ।
किं पुनर्या विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति ॥२८॥

---

१ श्रीमत्या—समृद्धिमत्याः । (गो०)

कामधेनु लोकों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से सब के साथ एक सा बर्ताव करती है और सबके मनोरथ पूर्ण करने की सामर्थ्य भी रखती है, उसके अनन्त पुत्र रहते हुए भी, जब वह कामधेनु मातृ-स्वभाव-सुलभ पुत्र-स्नेह-वश दो पुत्रों के दुःख से दुःखित हो गयी, तब हे कैकेयी! बतला तो, कौशल्या अपने एकमात्र पुत्र के बिना क्यों कर जीवित रह सकेगी॥ २७॥ २८॥

एकपुत्रा च साध्वी च विवित्सेयं त्वया कृता।
तस्मात्त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे॥२९॥

इस समय तूने एक पुत्र वाली एवं साध्वी कौशल्या से उसके पुत्र का विछोह करा दिया है, अतः तू इस लोक और परलोक में सदा ही दुःख भोगेगी॥ २९॥

अहं ह्यपचितिं[1] भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम्।
वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः॥ ३०॥

मैं तो अब पिता का और्ध्वदैहिक कृत्य कर और भाई की सेवा कर, निस्सन्देह सम्पूर्ण रूप से उनका सम्मान करूँगा और उनके यश को बढ़ाऊँगा॥ ३०॥

आनाययित्वा तनयं कौसल्याया महाबलम्।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम्॥ ३१॥

मैं उन महाबली कौशल्यानन्दन को वन से लौटा कर, स्वयं मुनिसेवित वन में जा कर रहूँगा॥ ३१॥

न ह्यहं पापसङ्कल्पे पापे पापं त्वया कृतम्।
शक्तो धारयितुं पौरैरश्रुकण्ठैर्निरीक्षितः॥ ३२॥

1 अपचितिं—पूजां। (गो०)

क्योंकि हे दुष्ट विचारोंवाली पापिष्ठा! जब पुरवासी मेरी ओर आँसू भरे नेत्रों से देखेंगे, तब मैं तेरे इस पापपूरित कृत्य को कैसे सहन कर सकूँगा ॥ ३२ ॥

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा दण्डकान्विश ।
रज्जुं बधान वा कण्ठे न हि तेऽन्यत्परायणम् ॥३३॥

अब तो तुझे यही उचित है कि, या तो तू अग्नि में गिर कर भस्म हो जा, या दण्डकवन में चली जा या गले में फाँसी लगा क्योंकि बिना मरे तेरे लिये और कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

अहमप्यवनिं[1] प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥ ३४ ॥

मेरे मन की कसक तभी मिटेगी और मैं अपने को तभी कृतकृत्य मानूँगा, जब सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्र लौट आवेंगे ॥ ३४ ॥

इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशचोदितः ।
पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३५ ॥

भरत जी इस प्रकार विलाप करते करते तोमर और अंकुश के मारने से उत्तेजित हाथी की तरह, क्रोध में भर, पृथिवी पर गिर, सर्प की तरह फुँफकारने लगे ॥ ३५ ॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा
विधूतसर्वाभरणः परन्तपः ।

---

१ अवनिं—अयोध्याभूमिं । (शि०)

बभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः
शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये ॥ ३६ ॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

उस समय भरत के (मारे क्रोध के) नेत्र लाल हो गये। शरीर पर जो वस्त्र वे पहिने हुए थे, वे ढीले हो गये। सब गहने खिसक पड़े। जिस प्रकार उत्सव के अन्त में इन्द्र की ध्वजा पृथिवी पर गिरती है, वैसे ही राजकुमार भरत पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

दीर्घकालात्समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा च वीर्यवान्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम् ॥ १ ॥

तदनन्तर पराक्रमी भरत जी ने बहुत देर बाद सचेत हो, नेत्रों में आँसू भर तथा माता को दीन देख ॥ १ ॥

सोमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत्।
राज्यं न कामये जातु[1] मन्त्रये नापि मातरम् ॥ २ ॥

और मंत्रियों के बीच बैठ, माता की निन्दा की, (इसलिये कि, मंत्रियों को बतावें कि, उनको माता ने जो कुछ किया उसमें उनकी सम्मति नहीं थी) वे बोले, मेरी तो कभी यह अभिलाषा नहीं है

१ जातु—कदाचिदपि। (गो०)

कि, मैं राज्य करूँ और न इस विषय में कभी माता से मैंने परामर्श ही किया (अथवा दिया) ॥ २ ॥

अभिषेकं न जानामि योऽभूद्राज्ञा समीक्षितः ।
विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽवसम् ॥ ३ ॥

न मुझे इसकी कुछ भी खबर थी कि, महाराज ने श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना विचार था। क्योंकि मैं तो शत्रुघ्न सहित यहाँ से बहुत दूर पर था ॥ ३ ॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः ।
विवासनं वा सौमित्रेः सीतायाश्च यथाऽभवत् ॥ ४ ॥

अतः मुझे महात्मा श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता जी के वनवास का भी हाल न मिला कि, वह किस प्रकार से हुआ ॥ ४ ॥

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः ।
कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रामिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार रोते चिल्लाते हुए भरत जी का कण्ठस्वर पहिचान कर, कौशल्या जी सुमित्रा जी से यह बोलीं ॥ ५ ॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः ।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम्[1] ॥ ६ ॥

जान पड़ता है—निष्ठुर कर्म करने वाली कैकेयी का पुत्र भरत आ गया है। मैं उसे देखना चाहती हूँ, क्योंकि वह बड़ा समझदार है ॥ ६ ॥

---

१ दीर्घदर्शिनम्—अतिज्ञानवन्तं । (शि०)

एवमुक्त्वा सुमित्रां सा विवर्णा मलिना कृशा।
प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना॥ ७॥

श्रीराम के विछोह के शोक से अति दुर्बल गात, कान्तिहीन मुख वाली कौशल्या थरथर कांपती हुई और अचेत सी भरत जी की ओर चलीं॥ ७॥

स तु रामानुजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा।
प्रतस्थे भरतो यत्र कौसल्याया निवेशनम्॥ ८॥

उधर श्रीराम के छोटे भाई भरत जी भी शत्रुघ्न को साथ ले कौशल्या के भवन की ओर चले॥ ८॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ।
पर्यष्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम्॥ ९॥

कौशल्या को दुःखी और बहकी बहकी देख, दोनों भाई—भरत और शत्रुघ्न अत्यन्त दुःखित हो कौशल्या से लिपट कर रोने लगे॥ ९॥

रुदन्तौ रुदतीं दुःखात्समेत्यार्या[1] मनस्विनीम्।
भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता॥ १०॥

ज्येष्ठामाता कौशल्या उस समय अत्यन्त दुःखित हो, शोक के मारे रोते हुए भरत जी को लिपटा कर, कहने लगी॥ १०॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
सम्प्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा॥ ११॥

---

[1] आर्या—ज्येष्ठां मातरं। (गो०)

तुमने राज्य पाने की कामना की थी सो क्रूर कर्म करने वाली तुम्हारी माता ने निष्ठुर कर्म कर के, तुम्हें निष्कण्टक राज्य दिला दिया ॥ ११ ॥

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम् ।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी ॥ १२ ॥

और मेरे पुत्र को चीर पहिना कर और वन में भेज कर, इस क्रूरदर्शिनी ने क्या लाभ उठाया। (क्योंकि विना ऐसा किये भी तो वह तुझे राज्य दिला सकती थी) ॥ १२ ॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति ।
[1]हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥ १३ ॥

कैकेयी को उचित है कि, जहाँ मेरे सुवर्ण जैसे शरीर के रंग-वाले महायशस्वी श्रीराम हैं, वहाँ मुझे भी तुरन्त भेज दे ॥ १३ ॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम् ।
अग्निहोत्रं[2] पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः ॥ १४ ॥

अथवा मैं स्वयं ही सुमित्रा को अपने साथ ले और अग्निहोत्र की आग को आगे कर, वहाँ चली जाऊँगी, जहाँ मेरे श्रीराम हैं ॥ १४ ॥

[महाराज दशरथ अग्निहोत्र करते थे । महारानी कौशल्या उनकी प्रधान ज्येष्ठा रानी थी । अतः पति के साथ अग्निहोत्र करने का अधिकार उन्हींको था । इसीसे कौशल्या ने यह कहा कि, अग्निहोत्र की आग को ब्राह्मण के ऊपर रखवा उसके पीछे मैं चली जाऊँगी ।]

---

१ हिरण्यनाभः—हिरण्यवत्स्पृहणीयनाभियुक्तः । नाभिग्रहणं शरीरस्योपलक्षणं । (गो०) २ अग्निहोत्रं—राजाग्निहोत्रं । (गो०) अग्निहोत्रंस्थज्येष्ठाभार्याधीनत्वात् दशरथेन भरतसंस्कार प्रतिषेधाच्चेतिभावः । (गो०)

कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि ।
यत्रासौ पुरुषव्याघ्रः पुत्रो मे तप्यते तपः ॥ १५ ॥

अथवा तू ही मुझे वहाँ कर आ, जहाँ पुरुषसिंह मेरा पुत्र तप करता या दुःख भोगता है ॥ १५ ॥

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम् ।
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं[1] तया ॥ १६ ॥

तुझे तो कैकेयी ने ये धनधान्य से परिपूर्ण तथा हाथी, घोड़ों और रथों से भरा पुरा राज्य दिलवा ही दिया है ॥ १६ ॥

इत्यादि बहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः सम्भर्त्सितोऽनघः ।
विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तुद्येव सूचिना ॥ १७ ॥

जब कौशल्या ने इस प्रकार के कठोर वचनों के ताने मारे, तब भरत जी को वैसा ही क्लेश हुआ, जैसा कि, घाव में सुई चुभाने से होता है ॥ १७ ॥

पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः ।
विलप्य बहुधाऽसंज्ञो लब्धसंज्ञस्ततः स्थितः ॥ १८ ॥

कौशल्या जी की बातें सुन भरत जी का मन उद्विग्न हो गया। अतः उनको कर्त्तव्य विषयक ज्ञान न रहा । जब उन्हें चेत हुआ तब बहुत विलाप कर, वे कौशल्या जी के चरणों में गिर पड़े ॥ १८ ॥

एवं विलपमानां तां भरतः प्राञ्जलिस्तदा ।
कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम् ॥ १९ ॥

---

1 निर्यातितं—दापितं । (गो०)

इस प्रकार विलाप करती हुई तथा महाशोकग्रस्त कौशल्या से वे हाथ जोड़ कर बोले ॥ १९ ॥

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकिल्बिषम् ।
विपुलां च मम प्रीतिं स्थिरां जानासि राघवे ॥ २० ॥

हे माता! तुम जानती हो कि, श्रीरामचन्द्र में मेरी कितनी अधिक दृढ़ प्रीति है। मैं इस मामले में नितान्त अनभिज्ञ और निर्दोष हूँ। ऐसा होने पर भी तुम मेरी निन्दा क्यों करती हो ॥ २० ॥

कृता शास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत्तस्य कदाचन ।
सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २१ ॥

सत्यसन्ध और सज्जनों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जिसकी सम्मति से वन भेजे गये हों, वह पढ़े हुए शास्त्रों को भूल जाय। इसका भाव यह है, कि यदि श्रीराम के वन भेजने में मेरी अनुमति रही हो, तो मेरा श्रुति स्मृति सम्बन्धी ज्ञान नष्ट हो जाय ॥ २१ ॥

प्रेष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु ।
हन्तु पादेन गां सुप्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २२ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, वह पापात्मा नीच जाति का सेवक हो; सूर्य की ओर मुख कर मल मूत्र त्याग करने का और सोती हुई गौ के लात मारने का पाप उसे लगे ॥ २२

[नोट—इससे सिद्ध होता है कि सूर्य की ओर मुख कर मल मूत्र विसर्जन न करे और गाय के लात न मारे, जो ऐसा करते हैं वे पाप के भागी होते हैं।]

कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् ।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२३॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप लगे, जो बड़ा काम करा लेने पर भी नौकर का वेतन न देने के कारण मालिक को होता है ॥ २३ ॥

परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत् ।
ततस्तं द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २४ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो पुत्र की तरह प्रजापालन करने वाले राजा से विद्रोह करने पर होता है ॥ २४ ॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य[1] नृपस्यारक्षतः प्रजाः ।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२५॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हैं, उसे वह पाप हो, जो उस राजा को होता है, जो प्रजा से छठवाँ अंश कर का ले कर भी, प्रजा की रक्षा नहीं करता ॥ २५ ॥

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम् ।
तां विप्रलपतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २६ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों उसे वह पाप हो, जो पाप ऋत्विजों को दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा कर, पीछे दक्षिणा न देने वाले को होता है ॥ २६ ॥

---

1 उद्धृत्य—आदाय । (गो०)

हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले।
मा स्म कार्षीत्सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२७॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो हाथी घोड़ों और रथों सहित एवं शस्त्रास्त्रयुक्त युद्धक्षेत्र में सद्वीरों का धर्म न पालने से योद्धाओं को होता है ॥ २७ ॥

उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं[1] यत्नेन[2] धीमता[3]।
स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २८ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन में भेजे गये हों, वह दुष्टात्मा, अच्छे बुद्धिमान् गुरु से परलोकसाधक एवं रहस्य-युक्त उपदिष्ट वेदान्तादि शास्त्रों को भूल जावे ॥ २८ ॥

मा च तं व्यूढबाहुंसं चन्द्रार्कसमतेजसम्।
द्राक्षीद्राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २९ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन में भेजे गये हों, वह उन विशालबाहु और ऊँचे कंधों वाले तथा चन्द्र सूर्य के समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक न देख पावे। (अर्थात् तब तक वह जीवित न रहै, मर जाय) ॥ २९ ॥

पायसं कृसरं छागं वृथा[4] सोऽश्नातु निर्घृणः।
गुरूंश्चाप्यवजानातु[5] यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३० ॥

---

१ शास्त्रं—वेदान्तादिविशिष्टार्थं। (गो०) २ यत्नेनोपदिष्टं—सुसूक्ष्मार्थं, परलोकसाधकरहस्यार्थयुक्तं। (गो०) ३ धीमता—गुरुणा। (गो०) ४ वृथाऽश्नातु—देवतापित्रतिथिनिवेदनमन्तरेणभुक्तामित्यर्थः। (गो०) ५ अवजानातु—प्रत्युत्थानाभिवादिनादिकंनकरोत्वित्यर्थः। (गो०)

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो देवता, पितृ, अतिथि को निवेदन किये विना खीर, तिल, चाँवल, अथवा माँस खाने वाले को और गुरु को देख खड़े न होने वाले तथा गुरु को प्रणाम न करने वाले को होता है ॥ ३० ॥

[नोट—अर्थात् विना देवता पितृ अतिथि को निवेदन किये कोई वस्तु खानी नहीं चाहिये । श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—"भुञ्जतेतेत्वघंपापं ये पचन्त्यात्मकारणात्" अर्थात् जो अपने लिये रसोई बनाते हैं, वे अन्न नहीं ; किन्तु पाप भक्षण करते हैं ।]

गाश्च स्पृशतु पादेन गुरून्परिवदेत्स्वयम् ।
मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यन्तं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो पाप गौ को पैर से छूने, गुरु की निन्दा करने और मित्र से अत्यन्त द्रोह करने से होता है ॥ ३१ ॥

विश्वासात्कथितं किञ्चित्परिवादं मिथः क्वचित् ।
विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उस पुरुष को होता है, जिसका विश्वास कर उससे किसी का कोई दोष कहा जाय (और साथ ही उससे उस दोष को प्रकट करने का निषेध भी कर दिया जाय और वह दुष्टात्मा फिर पर भी उस दोष को प्रकट कर दे ।) अर्थात् जो पाप विश्वासघाती को होता है, वह उसे हो, जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ३२ ॥

अकर्ता ह्यकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा[1] निरपत्रपः ।
लोके भवतु विद्वेष्यो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उपकार न करने वाले, सज्जनों से त्यक्त, निर्लज्ज और सब से वैर करने वाले को होता है ॥ ३३ ॥

पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।
स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो सामने बैठे हुए नौकर चाकर, स्त्री, पुत्रों को न दे कर, स्वयं अकेले ही मिठाई खाने वाले को होता है । अथवा जो पाप स्वयं अच्छे पदार्थ खा कर, अपने आश्रित जनों को कदन्न खिलाने से होता है ॥ ३४ ॥

अप्राप्य सदृशान्[2]दारानपत्यः प्रमीयताम् ।
अनवाप्य क्रियां धर्म्यां[3] यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३५॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह जन समान कुल की पत्नी न पावे, वह सन्ततिहीन हो, और अग्निहोत्रादि धर्म कर्म किये विना ही मर जाय ॥ ३५ ॥

माऽऽत्मनः सन्ततिं द्राक्षीत्स्वेषु दारेषु दुःखितः ।
आयुः समग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥

---

१ त्यक्तात्मा—सद्भिः परिहृतः । (गो०) २ सदृशान्—समान कुलान् । (गो०) ३ धर्म्यां क्रियां—अग्निहोत्रादिकं च । (गो०)

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न सन्तति को बिना देखे, दुःखी हो, पूर्णायु न पावे ॥ ३६ ॥

राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते ।
भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३७ ॥

जो पाप राजा, स्त्री, बालक और बूढ़े का वध करने से होता है, अथवा जो पाप निरपराध (स्वामि-भक्त नौकर को त्यागने से होता है; वह पाप उस पुरुष को हो, जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों ॥ ३७ ॥

लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च ।
सदैव बिभृयाद्भृत्यान्[1] यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३८ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो मांस शहद अथवा मद्य, लाख, लोहा और विष की बिक्री की आमदनी से अपने आश्रित जनों—घरवालों तथा नौकर चाकरों का सदा पालन करने वाले को होता है ॥३८॥

[नोट—मांस, मदिरा, लाख, लोहा और विष का व्यापार करना निषिद्ध है । स्मृतियों में भी लिखा है—

" लाक्षा लवण मांसानि वर्जनीयानि विक्रये "

अर्थात् लाख, नोन मांस का बेचना वर्जित है ।]

संग्रामे समुपोढे[2] तु *शत्रुपक्षभयङ्करे ।
पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३९ ॥

---

१ भृत्यान्—भर्त्तव्यान् पुत्रादीन् । (शि०) २ समुपोढे—निकटे । (गो०) प्राप्ते । (रा०) * पाठान्तरे—" शतपक्ष । "

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह पुरुष युद्ध में शत्रु का भयङ्कर सैन्यदल देख भागता हुआ मारा जाय। अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी को वन भेजने की सलाह देने वाले को वह पाप लगे, जो युद्धक्षेत्र से शत्रु से डर कर भागने वाले को होता है अथवा भागे हुए शत्रु को मारने वाले को होता है ॥ ३९ ॥

[युद्ध से डर कर भागना भी पाप है, और भागते हुए, निःशस्त्र और अधीन हुए शत्रु का मारना भी पाप है।]

कपालपाणिः पृथिवीमटतां चीरसंवृतः।
भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४० ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह चिथड़े लपेटे, पागल की तरह मुर्दे की खोपड़ी हाथ में लिये द्वार द्वार भीख मांगता हुआ, पृथिवी पर घूमे ॥ ४० ॥

[नोट—इस श्लोक में अघोरियों और कापालिकों को निन्द्य ठहराया है।]

*मद्ये प्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः।
कामक्रोधाभिभूतस्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र वनवासी हुए हों, वह पुरुष सदा मद्य पीने में, स्त्रीमैथुन में और जुआ खेलने में अत्यन्त आसक्त हो और काम व क्रोध के कारण उसका सदा निरादर होता रहे अथवा वह काम व क्रोध से सदा सताया जाय ॥ ४१ ॥

मा स्म धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम्।
अपात्रवर्षी[1] भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४२ ॥

---

१ अपात्रवर्षी—अपात्रे बहुदायी। (गो०) * पाठान्तरे—" पाने "।

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों—वह स्वधर्म में मन न लगा कर सदा अधर्म कार्य ही किया करे और कुपात्र को बहुत सा दान दे। अथवा जिस मनुष्य की सलाह से श्रीराम वनवासी हुए हों, उसे वही पाप हो, जो स्वधर्म-त्यागी और अधर्म अनुरागी एवं कुपात्र को बहुत दान देने वाले को होता है ॥ ४२ ॥

संचितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः ।
[1]दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४३ ॥

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों उसकी गाढ़ी कमायी का विपुल धन चोर चुरा ले जांय ॥ ४३ ॥

[2]उभे सन्ध्ये शयानस्य यत्पापं परिकल्प्यते ।
तच्च पापं भवेत्तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों, उसे वह पाप लगे जो सांझ सवेरे सोने वाले को लगता है ॥ ४४ ॥

[प्रातःसन्ध्या=रात बीतने और दिन उगने के समय ; सायं सन्ध्या=दिन डूबने और रात्रि होने के समय. सोना निषिद्ध है—क्योंकि सन्ध्याओं में सोने से आयुक्षीण और पुण्यक्षय होते हैं। कहीं कहीं यह भी लिखा है—"ब्राह्मेमुहूर्ते या निद्रा स पुण्यक्षयकारिणी।"]

यदग्निदायके पापं यत्पापं गुरुतल्पगे ।
मित्रद्रोहे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ४५ ॥

---

१ दस्युभिः—तस्करैः। (गो०) २ उभे—उभयोः सन्ध्योः। (गो०)

अथवा जो पाप घर में आग लगाने वाले को, गुरु की स्त्री के साथ संभोग करने वाले को और मित्र से द्रोह करने वाले को होता है, वह पाप उस मनुष्य को लगे, जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ४५ ॥

देवतानां पितॄणां च मातापित्रोस्तथैव च ।
मा स्म कार्षीत्स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४६॥

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र जी के वनवासी होने की सम्मति दी हो वह देवता, पितृ और माता पिता की पूजा, श्राद्ध और सेवा शुश्रूषा से वञ्चित हो। अथवा जो पाप—देवपूजन, पितृश्राद्ध और माता पिता की सेवा न करने वाले को लगता है, वह पाप श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने की सलाह देने वाले को हो ॥४६॥

सतां लोकात्सतां[1] *कीर्त्याः सज्जुष्टात्कर्मणस्तथा ।
भ्रश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४७ ॥

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने की सलाह दी हो, वह पुरुष इसी घड़ी सज्जनों के लोक से, सज्जनों की कीर्ति से और सत्कर्मों से भ्रष्ट हो जाय। अर्थात् ऐसे पुरुष को न तो कोई ऐसा लोक प्राप्त हो, जैसा कि, सत्पुरुषों को मिलता है, न उसे वह कीर्ति उप-लब्ध हो, जो साधु पुरुषों को मिलती है (अथवा उस पुरुष की साधु लोग प्रशंसा न करें) और न उसका मन उन कर्मों में लगे, जो साधुओं के लिये अनुष्ठेय हैं ॥ ४७ ॥

अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम् ।
दीर्घबाहुर्महावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥

---

१ सतांकीर्त्याः—सद्भिः क्रियमाणश्लाघनात्। (गो०)

* पाठान्तरे—"कीर्त्यात्संजुष्टात्कर्मणस्तथा"।

अथवा जिसकी सलाह से दीर्घबाहु और चौड़ी छाती वाले श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों—वह माता की सेवा से विमुख हो, अधर्म कामों में लगे। अर्थात् उसे मातृ सेवा से विमुख होने तथा अधर्म कार्यों में रत होने का पाप हो ॥ ४८ ॥

बहुपुत्रो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः ।
स भूयात्सततं क्लेशी यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, वह बहु सन्तति वाला हो कर दरिद्र हो, ज्वर रोग से पीड़ित हो और सदा क्लेश पावे ॥ ४९ ॥

[नोट—बहुत सन्तान होना भी दरिद्रता का सूचक है। स्मृतिकारों के मतानुसार ज्येष्ठ पुत्र को छोड़ शेष सब सन्तान कामज हैं।]

आशामाशंसमानानां[1] दीनानामूर्ध्वचक्षुषाम्[2] ।
अर्थिनां वितथां कुर्याद्यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों, उसे वही पाप लगे, जो कुछ प्राप्ति की आशा से आये हुए दीन याचक को कोरा जवाब दे कर और उसे हताश करने वाले अभिमानी धनी को लगता है ॥ ५० ॥

[3]मायया रमतां[4] नित्यं परुषः पिशुनोऽशुचिः ।
राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५१॥

---

१ आशामाशंसमानानां—स्तुवतां। (गो०) २ ऊर्ध्वचक्षुषां—स्वदाता-सनस्थदातृमुखनिरीक्षकाणां। (गो०) ३ मायया—वञ्चनया। (गो०) ४ रमतां—सन्तोषवतु। (गो०)

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, वह पुरुष कपट-प्रिय, चुगलखोर—(इधर की उधर लगाने वाला) बेईमान और अधर्मी हो। वह सदा राजभय से ग्रस्त रहे ॥ ५१ ॥

ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकाला[1]नुरोधिनीम्।
अतिवर्तेत[2] दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, वह दुरात्मा ऋतुस्नाता (रजस्वला स्त्री के शुद्ध होने पर) तथा पतिव्रता स्त्री को, जो ऋतुस्नानान्तर रतिदान की अभिलाषा से निकट आयी हो, अङ्गीकार न करे। अथवा उसे वह पाप लगे जो ऋतुस्नाता पतिव्रता स्त्री को रतिदान न देने वाले को होता है ॥ ५२ ॥

[नोट—ऋतुमती पत्नी को विमुख करना पाप है।]

धर्मदारान्परित्यज्य परदारान्निषेवताम्।
त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, उसे वही पाप हो, जो उस मूढ़ को होता है, जो धर्मानुराग को त्याग देता है और अपनी धर्मपत्नी को छोड़, पराई स्त्री से मैथुन करता है। अर्थात् जो पाप धर्मविचारशून्य व्यभिचारी पुरुष को होता है ॥ ५३ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्य[3] दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यत्।
तदेव प्रतिपद्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५४ ॥

---

१ ऋतुकालानुरोधिनीं—ऋतुस्नानदिवसेस्वसंनिहितां। (गो०) २ अतिवर्तेत—स्वीकारनकुर्यात्। (गो०) ३ विप्रलुप्तप्रजातस्य—नष्टापत्यस्य, सन्ततिहीनस्येत्यर्थः। (गो०)

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों उसे वह पाप लगे जो उस ब्राह्मण को लगता है, जिसके पुत्र मारे भूखों के मर जाय और वह उनका पालन न कर सके ॥ ५४ ॥

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके।
यत्तदेकः[1] स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, उसे वही पाप हो, जो पाप पानी में विष आदि घोल कर बिगाड़ देने से अथवा किसी को विष दे कर मार डालने से होता है। इन दोनों दुष्कर्मों का पापरूप फल उसे प्राप्त हो ॥ ५५ ॥

[2]ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः।
बालवत्सां च गां दोग्धु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, उसकी सब इन्द्रियाँ कलुषित हो जायँ। उसे वही पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो किसी ब्राह्मण के होने वाले सत्कार को, उस ब्राह्मण की निन्दा कर, रुकवा दे, तथा छोटे बछड़े वाली गौ का दूध दुहे ॥ ५६ ॥

[नोट—ब्राह्मण के लाभ में आँजी मारना और जब तक बछड़ा छोटा हो, तब तक गौ का दूध दुहना, पाप है।]

तृषार्तं सति पानीये विप्रलम्भेन[3] योजयेत्।
लभेत तस्य यत्पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५७ ॥

---

१ यत्तदेकः—द्वयं एको लभतां। (रा०) २ ब्राह्मणयोद्यतांपूजांविहन्तु—ब्राह्मणायउद्यतांकेनचितप्रतिनां पूजां सत्कृतिं विहन्तुब्राह्मणनिन्दादिनावारयंतुः। (शि०) ३ विप्रलम्भेन—वञ्चनया। (गो०)

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सम्मति दी हो, उसे वही पाप हो, जो जल के रहते भी, प्यासे आदमी को बहाना कर, टाल देने वाले को होता है ॥ ५७ ॥

[1]भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः[2] ।
तस्य पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५८ ॥

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सलाह दी हो, उसे वही पाप हो जो पाप उस मनुष्य को होता है जो एक दूसरे को जीतने के उद्देश्य से शास्त्रीय विचार में प्रवृत्त दो विद्वानों का मध्यस्थ बन, पक्षपात से प्रेरित हो, अपने प्रियजन का पक्षपात करता है। अर्थात् जो पाप पक्षपात करने वाले मध्यस्थ को होता है। रामाभिरामी टीकाकार ने इस श्लोक पर यह टीका की है कि जहाँ पर वैष्णव और शैवों में विष्णुपरत्व और शिवपरत्व के ऊपर विवाद होता हो, उसे शान्त न कर, उसे बढ़ाने वाले को जो पाप होता है, वह पाप उसको लगे, जिसने श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ५८ ॥

विहीनां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ।
एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तो निपपात ह ॥ ५९ ॥

राजपुत्र भरत इस प्रकार पति पुत्र विहीन कौशल्या को समझाते और अपनी सफाई देते हुए, आर्त्त हो, पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

तथा तु शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम् ।
भरतं शोकसन्तप्तं कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ ६० ॥

---

१ भक्त्या—जयोपायमाश्रित्य । (गो०) २ पश्यतः—ब्रुवतस्तस्यपापेन युज्येतेतिसम्बन्धः । (गो०)

तब भरत से जो इस प्रकार की कठिन शपथें खा कर, शोक से सन्तप्त हो, ज्ञानशून्य हो गये थे—कौशल्या जी बोलीं ॥ ६० ॥

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते ।
शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥ ६१ ॥

हे वत्स ! तुम जो तरह तरह की शपथें खा रहे हो, सो इससे तो मुझ दुखियारी का दुःख और भी अधिक बढ़ता है ॥ ६१ ॥

दिष्ट्या[1] न चलितो [3]धर्मादात्मा[2] ते सहलक्ष्मणः ।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सतां लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

यह सौभाग्य की बात है कि, तुम्हारा मन अपने बड़े भाई की ओर से चलायमान नहीं हुआ और तुम लक्ष्मण की तरह सत्यप्रतिज्ञ हो। अतः तुम उस लोक को प्राप्त होगे, जिसे सज्जन प्राप्त करते हैं ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

यह कह महारानी कौशल्या, महाबाहु भ्रातृवत्सल भरत को गोदी में ले और हृदय से लगा, अत्यन्त दुःखित हो, रोने लगीं ॥ ६३ ॥

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।
मोहाच्च शोकसंरोधाद्बभूव लुलितं मनः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार रोते हुए और दुःख से पीड़ित भरत का मन शोक उमड़ने से उत्पन्न मोह के वशवर्ती हो, उद्विग्न हो गया ॥ ६४ ॥

---

१ दिष्ट्या—भाग्येन। (गो०) २ आत्मा—अन्तःकरणं। (गो०) ३ धर्मात्—ज्येष्ठानुवर्तनधर्मात्। (गो०)

लालप्यमानस्य विचेतनस्य
प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च धर्म
सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥ ६५ ॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥

महारानी कौशल्या द्वारा लाड किये गये, बारंबार विलाप करते हुए, चेतनाशून्य, पृथिवी पर पड़े छटपटाते हुए, बारंबार निश्वास लेते और शोक करते हुए भरत ने वह रात बिताई ॥ ६५ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षड्सप्ततितमः सर्गः

—:०:—

तमेवं शोकसन्तप्तं भरतं कैकयीसुतम् ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥

कैकेयीसुत भरत जी को इस प्रकार शोकाकुल देख, बोलने वालों में श्रेष्ठ ऋषि वशिष्ठ जी उनसे उत्तम वचन बोले ॥ १ ॥

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥ २ ॥

हे परम यशस्वी राजपुत्र ! तुम्हारा मङ्गल हो । बस, बहुत हुआ, अब शोक मत करो । अब समय हो चुका ; अतः अब विधि विधान से महाराज की अन्त्येष्टि क्रिया करो ॥ २ ॥

वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धारणां गतः ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि कारयामास धर्मवित् ॥ ३ ॥

पृथिवी पर पड़े हुए धर्मात्मा भरत जी ने वशिष्ठ जी के वचन सुन, महाराज के प्रेतकर्मों का आरम्भ किया ॥ ३ ॥

उद्धृतं तैलसंरोधात्स तु भूमौ निवेशितम् ।
आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूपतिम् ॥ ४ ॥

(लोगों ने) महाराज के शव को तेल के कढ़ाह से निकाल कर, ज़मीन पर लिटाया। यद्यपि कई दिनों तक तेल में पड़े रहने से महाराज का शव पीला पड़ गया था, तथापि यही जान पड़ता था कि, मानों महाराज सो रहे हैं। अर्थात् उनके मुख की चेष्टा बिगड़ी न थी ॥ ४ ॥

संवेश्य शयने चाग्र्ये नानारत्नपरिष्कृते ।
ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥

अनन्तर शव को विविध रत्नजटित बिस्तरे पर लिटा कर, अत्यन्त दुःखी हो भरत जी महाराज के लिये विलाप करने लगे ॥ ५ ॥

किं ते व्यवसितं राजन्प्रोषिते मय्यनागते ।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥

हे राजन् ! न मालूम आपने क्या सोचा, जो मेरे आये बिना ही आपने धर्मज्ञ श्रीराम और महाबली लक्ष्मण को वन में भेज दिया ॥ ६ ॥

क्व यास्यसि महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम् ।
हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ७ ॥

हे महाराज! अमानुषिक कर्मकर्त्ता पुरुषसिंह श्रीराम विहीन मुझ दुखिया को छोड़ आप कहाँ जाते हैं॥ ७॥

योगक्षेमं तु ते राजन्कोऽस्मिन्कल्पयिता पुरे।
त्वयि प्रयाते [1]स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते॥ ८॥

हे महाराज! आपकी इस पुरी की राज्यव्यवस्था, स्थिरचित्त से अब कौन सँभालेगा। क्योंकि आप तो स्वर्गवासी और श्रीराम वनवासी हैं॥ ८॥

विधवा पृथिवी राजस्त्वया हीना न राजते।
हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम्*॥ ९॥

हे महाराज! आपके बिना यह विधवा पृथिवी शोभा नहीं पाती। यह अयोध्यापुरी तो मुझे चन्द्रहीन रात्रि जैसी शोभाहीन जान पड़ती है॥ ९॥

एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम्।
अब्रवीद्वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनिः॥ १०॥

भरत जी को इस प्रकार दीन मन से विलाप करते देख, महर्षि वशिष्ठ फिर उनसे बोले॥ १०॥

प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशांपतेः।
तान्यव्यग्रं महाबाहो क्रियन्तामविचारितम्॥ ११॥

हे महाबाहो! हे पृथिवीनाथ! अब तुम व्यग्रता त्याग कर महाराज की अन्त्येष्टिक्रिया के जो कर्म करने चाहिये, सो करो। अब सोच विचार करने का समय नहीं है॥ ११॥

---

१ स्वः—स्वर्गं। (गो०) * पाठान्तरे—"मा" "मे"।

तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत् ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यांस्त्वरयामास सर्वशः ॥ १२ ॥

तब भरत जी ने वशिष्ठ जी की बात मान ऋत्विज, पुरोहित और आचार्यों से महाराज के प्रेतकर्म करवाने के लिये शीघ्रता की ॥ १२ ॥

ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य चाग्न्यगाराद्बहिष्कृताः ।
ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव तेहूयन्ते* यथाविधि ॥ १३ ॥

महाराज के अग्न्यागार में जो अग्नि में स्थापित थी, उन सब को बाहिर निकाल कर, ऋत्विज और याचक यथाविधि होम करने लगे ॥ १३ ॥

शिविकायामथारोप्य राजानं गतचेतसम् ।
बाष्पकण्ठा विमनसस्तमूहुः परिचारकाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर परिचारकगण महाराज के शव को पालकी में रख, अत्यन्त उदास और रोते हुए पालकी उठा कर चले ॥ १४ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च ।
प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतेरग्रतो ययुः ॥ १५ ॥

लोग महाराज की पालकी के आगे आगे मोहरें रुपये अथवा सोने चाँदी के फूल और तरह तरह के वस्त्र सड़कों पर बरसाते हुए चले जाते थे अर्थात् लुटाते हुए चले जाते थे ॥ १५ ॥

[1]चन्दनागरुनिर्यासान्सरलं[2] पद्मकं तथा ।
देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथा परे ॥ १६ ॥

---

१ चन्दनागरुनिर्यासान्—निर्यासोगुग्गुलः । (गो०) २ सरलं—धूपसरलं । (गो०) * पाठान्तरे—"तेऽहूयन्त" " आह्रियन्त " ।

कुछ लोग चन्दन, अगर, गुग्गुल की धूप (पालकी के इधर उधर) जलाते जाते थे। (जब पालकी सरयूतट पर पहुँची तब) देवदारु, पद्मक, चन्दन, अगर आदि सुगन्धित काष्ठ एकत्र कर चिता बनायी गयी ॥ १६ ॥

गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाऽथ भूमिपम् ।
ततः संवेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः ॥ १७ ॥

चिता में और भी अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ डाले गये। तदनन्तर ऋत्विजों ने चिता के (पास पालकी लेजा कर तथा उसमें से महाराज के शव को निकाल,) ऊपर शव को लिटा दिया ॥ १७ ॥

तथा हुताशनं दत्त्वा [1]जेपुस्तस्य[2] तमृत्विजः ।
जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥ १८ ॥

तदनन्तर ऋत्विज लोग महाराज की परमगति के लिये प्रेताग्नि में आहुति दे कर, पैतृमेधिक मंत्र विशेषों का जप करने लगे और सामगायी ब्राह्मणों ने सामवेद का गान किया ॥ १८ ॥

शिबिकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः ।
नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तदा ॥ १९ ॥

महाराज की शोकसन्तप्त सब रानियाँ भी यथायोग्य पालकी रथ आदि सवारियों में बैठ, वृद्ध रक्षकों के साथ नगर के बाहिर, जहाँ महाराज की चिता बनाई गयी थी, पहुँचीं ॥ १९ ॥

---

१ जेपुः—पैतृमेधिकमंत्रविशेषानितिशेषः। (गो०) २. तस्य परमगत्यर्थमितिशेषः। (गो०)

प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम् ।
स्त्रियश्च शोकसन्तप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥ २० ॥

फिर ऋत्विजों ने और कौशल्यादि रानियों ने अत्यन्त शोक-सन्तप्त हो, जलते हुए महाराज के शव की प्रदक्षिणा की ॥ २० ॥

क्रौञ्चीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे ।
आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥ २१ ॥

उस समय करुण स्वर से रोती हुई और शोक से व्याकुल होने के कारण चिल्लाती हुई, उन सहस्रों स्त्रियों का चिल्लाना सुनने से ऐसा जान पड़ता था, मानों क्रौंच पक्षी की मादाएँ चिल्ला रही हों ॥ २१ ॥

ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः ।
यानेभ्यः सरयूतीरमवतेरुर्वराङ्गनाः ॥ २२ ॥

तदनन्तर सब रानियाँ रोती और विलाप करती हुई, अपनी अपनी सवारियों से उतर, सरयू नदी के तट पर पहुँची ॥ २२ ॥

कृत्वोदकं ते भरतेन सार्धं
नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च ।
पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा
भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥ २३ ॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

उन स्त्रियों ने भरत, मंत्री, और पुरोहितों के साथ महाराज को जलाञ्जलि दी । तदनन्तर सब लोग आँसू बहाते हुए नगर में आये

और दस दिन तक भूमि पर लेट कर बड़े दुःख से समय बिताया ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

सप्तसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः।
द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥

दस दिन बीत जाने पर ११वें दिन भरत जी शुद्ध हुए और बारहवें दिन सपिण्डी आदि कर्म किये ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ रत्नं धनमन्नं च पुष्कलम्।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ २ ॥

और ब्राह्मणों को बहुत सा रत्न, धन और अन्न तथा बहुमूल्य वस्त्र एवं अन्य विविध उत्तम वस्तुएँ दीं ॥ २ ॥

वास्तिकं[1] बहुशुक्लं[2] च गाश्चापि शतशस्तदा।
दासीदासं च यानं च वेश्मानि सुमहान्ति च ॥३॥
ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदैहिकम्।
ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ त्रयोदशे ॥ ४ ॥

---

१ वास्तिकं—छागानांसमूहोवास्तिकं। (गो०) २ बहुशुक्लं—छागविशेषणं। (गो०)

भरत जी ने बहुत से सफेद बकरे, सैकड़ों गौएँ, अनेक दास दासी, सवारियाँ और बड़े बड़े मकान महाराज के मृत-कर्म में ब्राह्मणों को दान दिये। तदनन्तर तेरहवें दिन प्रातः-काल ॥ ३ ॥ ४ ॥

विललाप महाबाहुर्भरतः शोककर्शितः ।
शब्दापिहितकण्ठस्तु शोधनार्थमुपागतः ॥ ५ ॥

चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः ।
तात यस्मिन्निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे ॥ ६ ॥

महाबाहु भरत जी शोक से मूर्छित हो, विलाप करने लगे और चिता से अस्थि बीनने के लिये चिता के समीप जा गद्गद वाणी से अत्यन्त दुखी हो और पिता को पुकार कर कहने लगे—हे तात ! जिन भाई श्रीरामचन्द्र के भरोसे आपने मुझे छोड़ा था ॥ ५ ॥ ६ ॥

तस्मिन्वनं प्रव्रजिते शून्ये[1] त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ।
यस्या गतिरनाथायाः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् ॥ ७ ॥

उनको वन में भेज, आपने भी मुझे अनाथ की तरह त्याग दिया। जिन अनाथिनी का पुत्र वन में निकाल दिया गया ॥ ७ ॥

तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप ।
दृष्ट्वा भस्मारुणं तच्च दग्धास्थिस्थानमण्डलम् ॥ ८ ॥

---

१ शून्ये—स्वजनरहिते । (शि०)

उन माता कौशल्या को छोड़ कर, हे तात! तुम कहाँ चले गये? भरत जी पिता के शरीर को जलो हुई श्वेत रंग की राख चिता स्थान पर देख ॥ ८ ॥

पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टनन्विपसाद सः ।
स तु दृष्ट्वा रुदन्दीनः पपात धरणीतले ॥ ९ ॥

और पिता के शरीर को नष्ट हुआ देख, निरन्तर रो कर तथा दीन हो कर, विलाप करते हुए, भूमि पर गिर पड़े ॥ ९ ॥

उत्थाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वज[1] इव च्युतः ।
अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिव्रतम् ॥ १० ॥

फिर लोगों द्वारा उठाये जाने पर भरत जी उसी प्रकार गिर पड़े जिस प्रकार डोरो से बंधी इन्द्र की ध्वजा, डोरी टूट जाने से गिर पड़ती है। शुचिव्रत भरत को गिरा देख, मंत्रियों ने दौड़ कर उनको उठाया ॥ १० ॥

[2]अन्तकाले निपतितं ययातिमृषयो यथा ।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम् ॥ ११ ॥

मंत्रियों ने भरत को उसी प्रकार उठाया जिस प्रकार ऋषियों ने राजा ययाति को पुण्यक्षीण होने पर स्वर्ग से गिरते समय उठाया था। शत्रुघ्न जी भी भरत जी को शोक में डूबा हुआ देख ॥ ११ ॥

विसंज्ञो न्यपतद्भूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ।
उन्मत्त इव निश्चेता विललाप सुदुःखितः ॥ १२ ॥

---

१ शक्रस्य यंत्रध्वजः—रज्जुयुक्तो ध्वजइवपपात । (गो०) २ अन्तकाले—पुण्यक्षयकाले । (गो०)

महाराज का स्मरण करते हुए अचेत हो, भूमि पर गिर पड़े और अत्यन्त दुःखी होने के कारण बेसुध और उन्मत्त की तरह विलाप करने लगे ॥ १२ ॥

स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदा तदा ।
मन्थराप्रभवस्तीव्रः कैकेयीग्राहसङ्कुलः ॥ १३ ॥

वह पिता के गुणों को एक एक कर स्मरण करते जाते थे। उस समय शत्रुघ्न जी कहने लगे कि, मन्थरा की करतूत से उत्पन्न, और कैकेयी रूपी मगर से युक्त ॥ १३ ॥

वरदानमयोऽक्षोभ्योऽमज्जयच्छोकसागरः ।
सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया ॥ १४ ॥

वरदान रूपी स्थिर महासागर में हम सब डूब गये। हे पिता जी! जिस सुकुमार बालक का लाड प्यार आपने सदा किया, ॥ १४ ॥

क्व तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान् ।
ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वाभरणेषु च ॥ १५ ॥

इस विलाप करते हुए भरत को छोड़, आप कहाँ चल दिये? भोजन के योग्य पदार्थ वस्त्र और आभूषण ॥ १५ ॥

[1]प्रवारयसि नः सर्वास्तन्नः कोऽन्यः करिष्यति ।
अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते ॥ १६ ॥

या विहीना त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना ।
पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते ॥ १७ ॥

---

१ प्रवारयसि—प्रकर्षेण स्वयं प्राहयसि । (गो०)

आप आग्रह पूर्वक हम लोगों को स्वयं दिया करते थे—सो ये सब वस्तुएँ हमें अब कौन देगा ? इस दारुण काल में, आप जैसे महात्मा और धर्मज्ञ महाराज से रहित होने पर यह पृथिवी फट क्यों नहीं जाती। पिता जी तो स्वर्ग चले गये और श्रीरामचन्द्र वनवासी हो गये ॥ १६ ॥ १७ ॥

किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम् ॥१८॥

अब मैं किस प्रकार प्राण धारण करूँ। मैं तो अब अग्नि में कूद पड़ूँगा। अब मैं भाई और पिता से हीन इस इक्ष्वाकुपालित सूनी ॥ १८ ॥

अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम् ।
तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चान्ववेक्ष्य तत् ॥ १९ ॥

अयोध्या में न जा कर, तपोवन में जाऊँगा। इस प्रकार उन दोनों भाइयों का विलाप सुन, और उनका कष्ट देख, ॥ १९ ॥

भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः ।
ततो विषण्णौ *शोचन्तौ शत्रुघ्नभरतावुभौ ॥ २० ॥

सब नौकर चाकर बहुत दुःखी हुए। दोनों भाई विषादयुक्त एवं दुःखी हो ॥ २० ॥

धरण्यां संव्यचेष्टेतां[1] भग्नशृङ्गाविवर्षभौ ।
ततः[2]प्रकृतिमान्वैद्य[3] पितुरेषां पुरोहितः ॥ २१ ॥

---

१ व्यचेष्टेतां—व्यलुण्ठेतां। (गो०) २ प्रकृतिमान्—प्रशस्तस्वभावः। (गो०) ३ वैद्यः—वेदान्तविद्याधिगतपरावरतत्वयाथात्म्यविज्ञानः सर्वज्ञ-इतियावत्। (गो०) * पाठान्तरे—"विभ्रान्तौ," "भ्रान्तौ च"।

सींग कटे हुए बैल की तरह, पृथिवी पर गिर कर, छटपटाने लगे। उस समय प्रशान्त स्वभाव सर्वज्ञ और उनके पिता के पुरोहित ॥ २१ ॥

वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ।
त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य[1] ते विभो ॥ २२ ॥

वशिष्ठ जी, भरत जी को उठा कर कहने लगे। हे विभो! आपके पिता का अग्निसंस्कार हुए आज तेरह दिन हो चुके॥ २२ ॥

सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे ।
त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः ॥ २३ ॥

अतः अब भस्म सहित अस्थि सञ्चयन करने में क्यों देर करते हो। प्रत्येक प्राणी में तीन द्वन्द्व (जोड़े) रहा करते हैं—अर्थात् (१) भूख प्यास (२) शोक मोह, और (३) जरा (बुढ़ापा) मरण ॥ २३ ॥

तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि ।
सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च ॥ २४ ॥

इन छः को दूर करना सम्भव नहीं। अतएव तुमको इस प्रकार दुःखी होना उचित नहीं। (वशिष्ठ जी ने भरत को इस प्रकार समझाया और) तत्वज्ञ सुमन्त्र ने भी शत्रुघ्न को उठा कर और प्रसन्न कर सब प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश के तत्व को समझाया ॥ २४ ॥

---

१ वृत्तस्य—संस्कृतस्य। (गो०),

श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ ।
उत्थितौ च नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ ।
वर्षातपपरिक्लिन्नौ पृथगिन्द्रध्वजाविव ॥ २५ ॥

अब वे दोनों पुरुषसिंह एवं यशस्वी भाई उठ कर खड़े हुए, तब वे ऐसे जान पड़े, मानों वर्षा और घाम के कारण मलिन भाव धारण किये हुए, दो इन्द्र की ध्वजाएँ अलग अलग खड़ी हों ॥ २५ ॥

अश्रूणि परिमृद्गन्तौ[1] रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ ।
अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥२६॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

मंत्रिगण इन दोनों भाइयों से, जिनकी आँखें लाल हो गयी थीं और जो आँखों के आँसुओं को पोंछ रहे थे तथा जो दीन वचन बोल रहे थे, आगे का कृत्य करने के लिये, शीघ्रता करने लगे ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

अष्टसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।
भरतं शोकसन्तप्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

1 परिमृद्गन्तौ—मार्जयन्तौ । (गो०)

भरत जी से, जो शोकसन्तप्त हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास जाने का विचार कर रहे थे, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न बोले ॥ १ ॥

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः ।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् ॥२॥

भाई! जो श्रीरामचन्द्र दुःख और सङ्कट में प्राणि मात्र के एक मात्र अवलंब हैं और सामर्थ्ययुक्त हैं—वे ही जब स्त्री सहित वन में निकाल दिये गये, तब हम अपने दुःखों की बात ही क्या कहें ॥ २ ॥

बलवान्वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥

(यदि मान लिया जाय कि, श्रीरामचन्द्र ने सङ्कोचवश उस समय कुछ न कहा तो) बलवान् और वीर्य सम्पन्न लक्ष्मण ने पिता को रोक कर, श्रीरामचन्द्र को क्यों न बचाया ? ॥ ३ ॥

पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ ।
उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥

क्योंकि महाराज जब स्त्री के वशवर्ती हो, अथवा स्त्री के आग्रह से अन्याय करने को उद्यत हुए थे, तब ही लक्ष्मण को उचित था कि, नीति अनीति का भली भाँति विचार कर, पहिले ही महाराज को इस कर्म करने से रोक देते ॥ ४ ॥

इति सम्भाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे ।
प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता ॥ ५ ॥

लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न जी इस प्रकार भरत जी से बात चीत कर ही रहे थे कि, इतने ही में कुबड़ी मन्थरा सब गहने पहिने हुए पूर्वद्वार पर देख पड़ी ॥ ५ ॥

लिप्ता चन्दनसारेण[1] राजवस्त्राणि[2] विभ्रती ।
विविधं विविधैस्तैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥

उस समय मन्थरा गाढ़े चन्दन से अपना शरीर पोते हुए थी, कैकेयी के दिये रानियों के पहनने योग्य वस्त्रों से सजी हुई थी और अनेक प्रकार के रानियों के पहिनने योग्य आभूषण धारण किये हुए थी ॥ ६ ॥

मेखलादाममिश्चित्रैरन्यैश्च शुभभूषणैः ।
बभासे बहुभिर्बद्धा रज्जुबद्धेव वानरी ॥ ७ ॥

उसकी कमर के ऊपर जड़ाऊ करधनी थी तथा अन्य अंगों पर भी बड़े बढ़िया और सुन्दर अनेक जड़ाऊ आभूषण थे। (यद्यपि उसने अपने शरीर का शृङ्गार करने में कोई कोर कसर नहीं रखी थी ; तथापि) वह अनेक आभूषणों को धारण किये हुए डोरी से बँधी हुई बंदरिया जैसी जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्था *भृशं पापस्य कारिणीम् ।
गृहीत्वाऽकरुणां कुब्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत् ॥ ८ ॥

उस समय उस महापापिन को देख, द्वारपालों ने उसे निर्दयता पूर्वक पकड़, शत्रुघ्नजी को सौंप दिया ॥ ८ ॥

---

1 चन्दनसारेण—चन्दनपङ्केन। (गो०) 2 राजवस्त्राणि—राजार्हवस्त्राणि कैकेयीदत्तानि। (गो०) * पाठान्तरे—" सुभृशं पापकारिणीम्।"

यस्याः कृते वने रामो न्यस्तदेहश्च वः पिता ।
सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरु[1] यथामति ॥ ९ ॥

और शत्रुघ्न से बोले कि, जिसके कहने से श्रीरामचन्द्र वनवासी हुए और आपके पिता को शरीर त्यागना पड़ा, यह वही पापिन और कसाइन है। सो जैसा तुम उचित समझो वैसा इसे दण्ड दो ॥ ९ ॥

शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः ।
अन्तःपुरचरान्सर्वानित्युवाच धृतव्रतः[2] ॥ १० ॥

शत्रुघ्न जी यह बात सुन अत्यन्त ही दुःखित हो तथा कर्त्तव्य-कर्म निश्चय कर, सब अन्तःपुरचारियों से यह बोले ॥ १० ॥

तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथा पितुः ।
यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम् ॥ ११ ॥

जिसने मेरे सब भाइयों और पिता के लिये महान् दुःख उत्पन्न किया, यह वही घात करने वाली है—अतः यह अपने किये का फल भोगे ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तेनाशु सखीजनसमावृता ।
गृहीता बलवत्कुब्जा सा तद्गृहमनादयत् ॥ १२ ॥

यह कह कर, शत्रुघ्न ने सखियों से घिरी हुई मन्थरा को तुरन्त ऐसे ज़ोर से पकड़ा कि, उसके चीत्कार से सारा भवन भर गया ॥ १२ ॥

---

१ कुरुशिक्षणमितिशेषः । (गो०) २ धृतव्रतः—कर्तव्यत्वेनअवधृत व्रतः । (रा०)

ततः सुभृशसन्तप्तास्तस्याः सर्वः सखीजनः ।
क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं विपलायत सर्वशः ॥ १३ ॥

मन्थरा की यह दशा देख उसके साथ की सखियाँ बहुत सन्तप्त हुईं और शत्रुघ्न को क्रुद्ध हुआ जान, वे सब इधर उधर भाग गयीं ॥ १३ ॥

आमन्त्रयत कृत्स्नश्च तस्याः सर्वः सखीजनः ।
यथायं समुपक्रान्तो निःशेषान्नः करिष्यति ॥ १४ ॥

और दूर जा कर सब आपस में कहने लगीं कि, इस समय शत्रुघ्न ने जैसा कार्य आरम्भ किया है, उससे तो यह जान पड़ता है कि, शत्रुघ्न हम सब को मार ही डालेंगे ॥ १४ ॥

सानुक्रोशां वदान्यां च धर्मज्ञां च यशस्विनीम् ।
कौसल्यां शरणं याम सा हि नोऽस्तु ध्रुवा गतिः ॥१५॥

अतएव इस समय हमें उन दयालु, परमोदार, धर्मज्ञ एवं यशस्विनी कौशल्या जी का आश्रय ग्रहण करना उचित है। क्योंकि वे ही हमको आश्रय देंगी ॥ १५ ॥

स च रोषेण ताम्राक्षः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ।
विचकर्ष तदा कुब्जां क्रोशन्तीं धरणीतले ॥ १६ ॥

उधर मारे क्रोध के लाल लाल आँखें किये हुए, शत्रुओं के दमन करने वाले शत्रुघ्न ने, चीत्कार करती हुई मन्थरा को, भूमि पर पटक कर कढ़ोरा ॥ १६ ॥

तस्या ह्याकृष्यमाणाया मन्थरायास्ततस्ततः ।
चित्रं बहुविधं भाण्डं[1] पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत ॥ १७ ॥

---

1 भाण्डं—भूषणं। (गो०)

घसीटा घसाटी में मन्थरा के सब गहने तितर बितर हो गये और टूट फूट कर चारों ओर बिखर गये ॥ १७ ॥

तेन भाण्डेन *संस्तीर्णं श्रीमद्राजनिवेशनम् ।
अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥ १८ ॥

उस समय वह परम सुन्दर राजभवन उन टूटे फूटे बिखरे हुए गहनों से उसी प्रकार शोभित हुआ, जिस प्रकार शरदृऋतु का आकाशमण्डल तारागण से सुशोभित होता है ॥ १८ ॥

स बली बलवत्क्रोधात्[1]गृहीत्वा पुरुषर्षभः ।
कैकेयीमभिनिर्भर्त्स्य बभाषे परुषं वचः ॥ १९ ॥

पुरुषश्रेष्ठ, बलवान शत्रुघ्न जी मन्थरा को अत्यन्त क्रुद्ध हो, पकड़े हुए थे । यह देख कैकेयी ने मन्थरा को छुड़ाना चाहा । इस पर शत्रुघ्न जी ने कैकेयी को भी अत्यन्त कड़वी बातें सुनायीं ॥ १९ ॥

तैर्वाक्यैः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता ।
शत्रुघ्नभयसंत्रस्ता पुत्रं शरणमागता ॥ २० ॥

शत्रुघ्न के उन कड़ुवे वचनों से कैकेयी अत्यन्त दुःखित हो और शत्रुघ्न से भयभीत हो, अपने पुत्र भरत के शरण गयी ॥ २० ॥

तां प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ।
अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ॥ २१ ॥

तब शत्रुघ्न को कुपित देख, भरत ने उनसे यह कहा, भाई ! प्राणिमात्र के लिये स्त्रियां अवध्य हैं, अतएव अब इसे क्षमा करना चाहिये अर्थात् छोड़ देना चाहिये ॥ २१ ॥

---

१ बलवत्क्रोधत्—अतीवक्रोधात् । (गो०) * पाठान्तरे—"सङ्कीर्णं"।

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥ २२ ॥

(यदि स्त्रियाँ अवध्य न होतीं और) यदि धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी मुझे मातृघाती समझ, मुझ पर क्रुद्ध न होते, तो मैं तो इस पापिन दुष्टा कैकेयी को (कभी का) मार डालता ॥ २२ ॥

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।
त्वां च मां च हि धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥२३॥

यदि इस कुब्जा का मारना कहीं श्रीरामचन्द्र जी जान पाये, तो वे धर्मात्मा निश्चय ही तुमसे और मुझसे बात तक न करेंगे ॥ २३ ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।
न्यवर्तत ततो रोषात्तां मुमोच च मन्थराम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार भरत के कहने पर, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न का क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने मन्थरा को छोड़ दिया ॥ २४ ॥

सा पादमूले कैकेय्या मन्थरा निपपात ह ।
निःश्वसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप च ॥ २५ ॥

तब मन्थरा जा कर कैकेयी के पैरों पर गिर पड़ी और अत्यन्त दुखी हो श्वाँसे छोड़ती हुई, करुणस्वर से विलाप करने लगी ॥ २५ ॥

शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां
समीक्ष्य कुब्जां भरतस्य माता ।

शनैः समाश्वासयदार्तरूपां
क्रौञ्चीं विलग्नामिव वीक्षमाणाम् ॥ २६ ॥

इति अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥

शत्रुघ्न जी के कढ़ोरने से अचेत और पीड़ित मन्थरा को जाल-पाश में बंधी क्रौंची पक्षिणी की तरह देख, भरतमाता कैकेयी ने धीरे धीरे उसे समझाया ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का अठत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

एकोनाशीतितमः सर्गः

—:०:—

ततः प्रभातसमये दिवसे च चतुर्दशे ।
समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥

चौदहवें दिन प्रातःकाल होने पर राज-कर्मचारी लोग इकट्ठे हुए और भरत जी से कहने लगे ॥ १ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः ।
रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥

हमारे पूज्यों के भी पूज्य महाराज दशरथ, अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र जी और महाबलवान लक्ष्मण जी को वन भेज स्वयं स्वर्ग पधारे ॥ २ ॥

त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः ।
सङ्गत्या नापराध्नोति राज्यमेतदनायकम् ॥ ३ ॥

अतएव हे महायशस्वी राजकुमार! अब आप हमारे राजा हों। क्योंकि यह राज्य बिना राजा का है और जब पिता आपको यह राज दे गये हैं, तब आपका इसे ग्रहण करना न तो असङ्गत है और न आपको ऐसा करने से कोई दोष ही लग सकता है ॥ ३ ॥

अभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव ।
प्रतीक्षते त्वां स्वजनः[1] श्रेणयश्च[2] नृपात्मज ॥ ४ ॥

हे रघुवंशसम्भूत राजकुमार! यह कथन केवल हम राजकर्मचारियों ही का नहीं है—बल्कि आपके मंत्रीगण और पुरवासी लोग अभिषेक की सामग्री लिये आपकी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ४ ॥

राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम् ।
अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान्नरर्षभ ॥ ५ ॥

हे नरश्रेष्ठ! आप अपने इस पिता पितामह के राज्य को अवश्य ग्रहण करें और अपना अभिषेक करवा, हम सब का पालन करें ॥ ५ ॥

[एवमुक्तः शुभं वाक्यं द्युतिमान्सत्यवाक्छुचिः ।]
आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार उन सब का यह शुभ वचन सुन तेजस्वी, सत्यवादी एवं पवित्र भरत ने अभिषेक की सामग्री से भरे हुए सब पात्रों की प्रदक्षिणा की ॥ ६ ॥

भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ।
ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः ॥ ७ ॥

---

१ स्वजनः—अमात्यादिः । (गो०) २ श्रेणयः—पौराः । (रा०)

तदनन्तर व्रतधारी भरत जी उन सब लोगों से बोले—देखो हमारे कुल में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही राजसिंहासन पर बैठता आया है ॥ ७ ॥

नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः ।
रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः ॥ ८ ॥

अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ।
युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला ॥ ९ ॥

अतः यह बात जान कर भी, आप लोग मुझसे ऐसी बात न कहिये। श्रीरामचन्द्र जी मेरे बड़े भाई हैं, वे ही राजा होंगे। मैं (उनके बदले) वन में जा कर चौदह वर्ष वनवास करूँगा। अतः चतुरङ्गिणी सेना तैयार करो ॥ ८ ॥ ९ ॥

आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ।
आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम् ॥ १० ॥

मैं वन में जा [illegible] भाई श्रीरामचन्द्र को यहाँ लिवा लाऊँगा। यह जो अभिषेक कं [illegible] है ॥ १० ॥

पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ।
तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम् ॥ ११ ॥

उसको साथ ले कर, मैं श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक करने को वन में जाऊँगा और वहीं उनका अभिषेक कर, ॥ ११ ॥

आनेष्यामि तु वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात् ।
न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम् ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र जी को यहाँ उसी प्रकार ले आऊँगा, जिस प्रकार यज्ञशाला में अग्नि लाया जाता है। मैं अपनी इस नाममात्र की माता की साध पूरी नहीं होने दूँगा ॥ १२ ॥

वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति ।
क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च ॥१३॥

प्रत्युत मैं स्वयं दुर्गम वन में जा कर रहूँगा और श्रीरामचन्द्र राजा होंगे। इस लिये मैं आज्ञा देता हूँ कि, सड़क की मरम्मत करने वाले कारीगर लोग (आगे जा कर) ऊँचे नीचे रास्ते को ठीक करें ॥ १३ ॥

रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः[1] ।
एवं संभाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम् ।
प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद्वाक्यमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

उनके पीछे रक्षक और दुर्गम मार्गों के शोधक भी जायँ। इस प्रकार राजकुमार भरत ने श्रीरामचन्द्र के अभिषेक के लिये कहा, तब सब लोग भरत जी से यह मनोहर एवं अति उत्तम वचन कहने लगे ॥ १४ ॥

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम् ।
यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि ॥ १५ ॥

आप इस पृथिवी का राज्य ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी को देना चाहते हैं—आपका यह वचन मनोहर और उत्तमोत्तम है। अतः आपके समीप सदा पद्मासना लक्ष्मी देवी निवास करें ॥ १५ ॥

---

१ विचारकाः—शोधकाः। (शि०)

अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मज-
प्रभाषितं संश्रवणे निशम्य च ।
प्रहर्षजास्तं प्रति बाष्पबिन्दवो
निपेतुरार्याननेत्रसम्भवाः ॥ १६ ॥

उस समय वहाँ जितने साधुजन उपस्थित थे, वे सब भरत जी के कहे हुए उत्तम वचन सुन, नेत्रों से आनन्द के आंसू टपकाने लगे ॥ १६ ॥

ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः
सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः ।
पन्थानं नरवर भक्तिमाञ्जनश्च
व्यादिष्टास्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥ १७ ॥

इति एकोनाशीतितमः सर्गः ॥

यह बात सुन, मंत्रिगण नौकरों चाकरों सहित प्रसन्न हो और शोक रहित हो कहने लगे, हे नरश्रेष्ठ ! आपके वचन के अनुसार शिल्पियों को आज्ञा दे दी गयी है ॥ १७ ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

अशीतितमः सर्गः

—:o:—

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः[1] ।
[2]स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तथा[3] ॥ १ ॥

कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा[4] यन्त्रकोविदाः ।
तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः ॥ २ ॥

कूपकाराः सुधाकारा[5] वंशकर्मकृतस्तथा ।
[6]समर्था ये च द्रष्टारः[7] पुरतस्ते प्रतस्थिरे ॥ ३ ॥

तदनन्तर भरत जी के आज्ञानुसार भूमि के भेदों के जानने वाले, देखते ही यह जान लेने वाले कि अमुक भूमि में जल कितनी दूर पर है अथवा है कि नहीं, अपने काम में सदा सावधान रहने वाले एवं परिश्रमी बेलदार तथा जल को बाँध कर रोकने वाले अथवा पुल बनाने वाले मज़दूर, राजथवई, निरीक्षक, कलपुर्ज़ों के जानने वाले, बढ़ई, मार्गों के ज्ञाता और वृक्ष काटने वाले, कुआ खोदने वाले, दीवालों पर अस्तर करने वाले, बंसफोड़ा, अन्य कामों के करने में समर्थ और वे लोग जो उन मार्गों को पहिले से देखे हुए थे ; ये सब लोग आगे ही चल दिये ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

---

१ विशारदाः—समर्थाः । (गो०) २ स्वकर्माभिरताः स्वकर्मसावधानाः । (गो०) ३ यन्त्रकाः—जलप्रवाहादियन्त्रण समर्थाः । (रा०) ४ पुरुषाः—अध्यक्षराजपुरुषाः । (गो०) ५ सुधाकाराः—प्रसादस्थलक्षित्यादिलेपनकराः । (गो०) ६ समर्थाः—कार्यान्तरेषुसमर्थाः । (गो०) ७ द्रष्टारः—पूर्वानुभूतमार्गाः—मार्गप्रदर्शकाः । (गो०)

स तु हर्षात्तमुद्देशं जनौघो विपुलः प्रयान् ।
अशोभत महावेगः समुद्र इव पर्वणि ॥ ४ ॥

इन लोगों के झुंड जो प्रसन्न होते हुए चले जाते थे, ऐसे शोभायमान जान पड़ते थे, जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र शोभायमान देख पड़ता है। अर्थात् जैसे समुद्र उमड़ता है, वैसे ही मनुष्यों की भीड़ उमड़ी हुई जा रही थी ॥ ४ ॥

ते स्ववारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कोविदाः ।
करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात्संप्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

मार्ग बनाने में चतुर लोग अपने दल में मिल कर, फावड़े कुल्हाड़ी इत्यादि बहुत सा उपयोगी सामान साथ ले, आगे आगे चले ॥ ५ ॥

लता वल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणूनश्मन एव च ।
जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान्द्रुमान् ॥ ६ ॥

वे लोग रास्ता साफ करने के अभिप्राय से लता, वल्ली, झाड़, खूँटी, पत्थर और अनेक प्रकार के वृक्षों को, जो रास्ते में पड़ते थे, काटकूट कर, रास्ता बनाते जाते थे ॥ ६ ॥

अवृक्षेषु च देशेषु केचिद्वृक्षानरोपयन् ।
केचित्कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन्क्वचित्क्वचित् ॥ ७ ॥

जहाँ कहीं वृक्ष नहीं लगे थे, वहाँ वृक्ष लगाते जाते थे और जहाँ कहीं वृक्षों की घनी डालियाँ रास्ता रोके हुए थीं, वहाँ उनको कुल्हाड़ी फरसे आदि से काट कूट कर एकसा करते जाते थे ॥ ७ ॥

अपरे [1]वीरणस्तम्बान्[2]वलिनोवलवत्तराः ।
विधमन्ति[3] स्म दुर्गाणि[4] स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥

कुछ वलवान लोगों ने अत्यन्त मज़बूत ठूंठों को, जो उखाड़े नहीं उखड़ सकते थे, जला कर साफ कर दिया और जितने ऊँचे नीचे रास्ते और दुर्गम स्थान थे, उन सब को ठोंक पीट कर तथा मिट्टी से पाट कर ठीक कर दिया ॥ ८ ॥

अपरेऽपूरयन्कूपान्पांसुभिः श्वभ्रमायतम् ।
निम्नभागांस्ततः केचित्समांश्चक्रुः समन्ततः ॥ ९ ॥

कुछ लोग बीच रास्ते में जो कुएँ और गड्ढे आते, उनको मिट्टी से पाटते और नीची भूमि को मिट्टी से भर बरावर करते चले जाते थे ॥ ९ ॥

बबन्धु[5]र्बन्धनीयांश्च [6]क्षोदनीयांश्च चुक्षुदुः* ।
विभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान्देशान्नरास्तदा ॥ १० ॥

वे लोग, रास्ते की छोटी नदियों या नालों पर पुल बनाते जाते थे, जहाँ कहीं गोखरू या कंकड़ी आदि पाते उनको बटोर कर फैंक देते थे, जहाँ कहीं जल के आने में रुकावट देखते वहाँ के बांध को तोड़ कर जल निकाल देते थे ॥ १० ॥

अचिरेणैव कालेन परिवाहान्बहूदकान् ।
चक्रुर्बहुविधाकारान्सागरप्रतिमान्बहून् ॥ ११ ॥

---

१ वीरणस्तम्बान—वीरणतृणकाण्डान् । (गो०) २ बलिनः—रूढमूलान् । (गो०) ३ विधिमन्तिस्म—अहन् । (गो०) ४ दुर्गाणि—गन्तुमशक्यानि । (गो०) छेत्तुमशक्यान् । (रा०) ५ बन्धनीयान्—जलप्रदेशान् । (गो०) ६ क्षोदनीयान्—शर्करा भूयिष्ठ प्रदेशान् । (गो०) * पाठान्तरे—" क्षोद्यान्सञ्चुक्षुदुस्तदा" ।

बहुत जल्द हो उन लोगों ने थोड़े पानी के सोतों का जल रोकने के लिये बांध बांध दिये और कई एक जगहों के तालावों को खोद कर सागर की तरह अगाध जलयुक्त कर दिया ॥ ११ ॥

निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान् ।
[1]उदपानान्बहुविधान्वेदिकापरिमण्डितान् ॥ १२ ॥

और जहां जल का अभाव था, वहां अनेक नये कुएँ तालाव खोदे और उनके समीप लोगों के विश्राम करने के लिये चबूतरे बना दिये ॥ १२ ॥

स सुधाकुट्टिमतलः प्रपुष्पितमहीरुहः ।
मत्तोद्घुष्टद्विजगणः पताकाभिरलंकृतः ॥ १३ ॥

उन शिल्पियों ने सेना के जाने के रास्ते को चूने की गच्चों से ठीक कर, सड़क के इधर उधर ऐसे वृक्ष लगा दिये, जिन पर पक्षी बोला करते थे और जगह जगह सड़कों की दोनों ओर पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥ १३ ॥

चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः ।
बह्वशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः ॥ १४ ॥

चन्दन के जल के छिड़काव और अनेक प्रकार की फूली हुई लताओं से वह सेना का रास्ता देवमार्ग की तरह सजा दिया गया था ॥ १४ ॥

आज्ञाप्याथ यथाज्ञप्ति[2] युक्तास्तेऽधिकृता[3] नराः ।
रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च ॥ १५ ॥

---

१ उदपानान्—कूपान् । (गो०) २ यथाज्ञप्ति—यथामति । ३ अधिकृताः—मार्गशिबिरादिकरणेनियुक्ताः । (गो०)

जो लोग पड़ावों पर शिविर आदि बनाने के लिये नियुक्त किये गये थे, उन लोगों ने, यथामति रमणीय और अत्यन्त स्वादिष्ट फल वाले वृक्षों से युक्त जगहों पर ॥ १५ ॥

योनिवेशस्त्वभिमतो*भरतस्य महात्मनः ।
भूयस्तं शोभयामासुर्भूषाभिर्भूषणोपमम् ॥ १६ ॥

सेना के उतरने के लिये वैसे ही स्थान बना दिये, जैसे कि महात्मा भरत जी चाहते थे। फिर उन स्थानों को अनेक प्रकार की सामग्री से सजा भी दिया ॥ १६ ॥

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः[1] ।
निवेशान्[2]स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

वास्तुशास्त्र (मकान बनाने के शास्त्र के) ज्ञाताओं ने शुभ नक्षत्र युक्त मुहूर्त्त में महात्मा भरत के लिये शिविर बनाये ॥ १७ ॥

बहुपांसुचया[3]श्चापि परिखापरिवारिताः ।
तत्रेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोली[4]वरशोभिताः ॥ १८ ॥

शिविर, इन्द्रनील पर्वत की तरह ऊँचे रेतोले धुस्सों से तथा जलयुक्त खाइयों से घिरवा दिये गये थे और जगह जगह गलियाँ बनाई गयी थीं ॥ १८ ॥

प्रासादमालाविततः सौध[5]प्रकारसंवृताः ।
पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः ॥ १९ ॥

---

१ तद्विदः—वास्तुशास्त्रज्ञाः । (गो०) २ निवेशान्—शिबिराणि । (गो०) ३ बहुपांसुचयाः—पांसुशब्देनासूक्ष्मसिकता उच्यन्ते । (गो०) ४ प्रतोली—वीथिः । (गो०) ५ सौधा—राजगृहाणि यद्वासुधाधवलिताः । (गो०)

* पाठान्तरे—" अभिप्रेतो । "

सफेद रंग के बड़े ऊँचे ऊँचे देवगृहों के सदृश मकानों की पाँति बनाई गयी थी। जितने रास्ते थे, वे सब पताकाओं से सुशोभित किये गये थे ॥ १९ ॥

विसर्पद्भिरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः ।
[1]समुच्छ्रितैर्निवेशास्ते बभुः शक्रपुरोपमाः ॥ २० ॥

वहाँ पर सात सात खण्डों के गृहों के ऊपर जो अटारियाँ थीं, वे कबूतरों के बैठने की छतरी की तरह ऊँची थीं। ऊँचे ऊँचे भवनों को देखने से ऐसा जान पड़ता था, मानों आकाश में देवताओं के आवासस्थान बने हों। उस समय उन पड़ावों की शोभा इन्द्र की अमरावती पुरी की शोभा जैसी हो रही थी ॥ २० ॥

जाह्नवीं तु समासाद्य[2] विविधद्रुमकाननाम् ।
शीतलामलपानीयां महामीनसमाकुलाम् ॥ २१ ॥

भरत जी के लिये, (अयोध्या से लेकर) निर्मल एवं शीतल जल वाली उस गङ्गा तक, जिसमें बड़ी बड़ी मछलियाँ रहती हैं, जो मार्ग बनाया गया था, उसके अगल बगल तरह तरह के वृक्षों से युक्त अनेक कानन थे। अर्थात् यह मार्ग जङ्गलों में हो कर गया था ॥ २१ ॥

सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा
नभः क्षपायाममलं विराजते ।
नरेन्द्रमार्गः स तथा व्यराजत
क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः ॥ २२ ॥

इति अशीतितमः सर्गः ॥

---

१ समुच्छ्रितैः—उन्नतैः । (गो०) २ समासाद्य—अवधीकृत्य । (गो०)

चतुर शिल्पियों द्वारा बनाये गये इस रमणीक राजमार्ग की ऐसी शोभा हो रही थी, जैसी रात में निर्मल आकाश की चन्द्रमा सहित तारागण से होती है ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

एकाशीतितमः सर्गः

—:o:—

ततो नन्दीमुखीं[1] रात्रिं भरतं सूतमागधाः।
तुष्टुवुर्वाग्विशेषज्ञाः स्तवैर्मङ्गलसंहितैः ॥ १ ॥

[अब फिर अयोध्या का वृत्तान्त आदिकवि वर्णन करते हैं।]

जब वह आनन्दमयी (इसलिये कि श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने का उद्योग आरम्भ हुआ था) रात थोड़ी बाक़ी रही, तब मागधों ने माङ्गलिक स्तुतियों से भरत की स्तुति करनी आरम्भ की ॥ १ ॥

[2]सुवर्णकोणाभिहतः [3]प्राणदद्यामदुन्दुभिः।
दध्मुः शङ्खांश्च शतशो नादांश्चोच्चावचस्वरान् ॥ २ ॥

पहर भर रात रहने पर जो नगाड़े बजाये जाते थे, वे सोने की चोवों (डंडों) से बजाये जाने लगे। शङ्खध्वनि होने लगी और नाना स्वर युक्त सैकड़ों बाजे बजने लगे ॥ २ ॥

स तूर्यघोषः सुमहान्दिवमापूरयन्निव।
भरतं शोकसन्तप्तं भूयः शोकैरवर्धयत्* ॥ ३ ॥

---

१ नान्दीमुखीं—रामानयनाभ्युदयप्रारम्भयुक्तां। (गो०) २ सुवर्णकोणः—सुवर्णदण्डः। (रा०) ३ प्राणदत्—नदतिस्म। (गो०) * पाठान्तरे—"शोकैरन्ध्रयत्"।

उन बाजों के बजने का शब्द, आकाश में व्याप्त हो, शोक से सन्तप्त भरत जी के शोक को और भी अधिक बढ़ाने लगा ॥ ३ ॥

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं सन्निवर्त्य च ।
नाहं राजेति चाप्युक्त्वा शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

भरत जी उस शब्द को सुन जागे और यह कह कर कि, मैं राजा नहीं हूँ, उन बाजों का बजना बंद करवाया और शत्रुघ्न से यह बोले ॥ ४ ॥

पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत् ।
विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः ॥ ५ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो, कैकेयी के कहने से इन सूत मागधों ने कैसा अनुचित काम किया है, अथवा हे शत्रुघ्न ! देखो, कैकेयी ने इसलोक का बड़ा अपकार किया है कि, जो महाराज दशरथ मुझे दुःख में डाल, आप स्वयं स्वर्गवासी हो गये ॥ ५ ॥

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः ।
परिभ्रमति राजश्रीर्नौरिवाकर्णिका जले ॥ ६ ॥

उन महात्मा धर्मराज की यह धर्ममूलक राजलक्ष्मी इस समय नाविकहीन नाव की तरह समुद्र में इधर उधर मारी मारी फिर रही है ॥ ६ ॥

यो हि नः सुमहान्नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वनम् ।
अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राघवः स्वयम् ॥ ७ ॥

---

१ कैकेय्या हेतुभूतया आयनानलोकस्य सूतमागधादिः । (गो०)
२ अपकृतं—अनुचितं कर्म । (गो०)

पिता की वह दशा हुई, तिस पर, मेरे जो बड़े रक्षक श्रीरामचन्द्र जी थे, उनको भी इसने (कैकेयी ने) धर्म का त्याग स्वयं वन में भिजवा दिया ॥ ७ ॥

इत्येवं भरतं प्रेक्ष्य विलपन्तं विचेतनम् ।
कृपणं रुरुदुः सर्वाः सस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥

इस प्रकार भरत को चेतना रहित प्रलाप करते देख, सब स्त्रियाँ करुणा स्वर से रोने लगीं ॥ ८ ॥

तथा तस्मिन्विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित् ।
सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार से विलाप हो रहा था कि, इतने में राजधर्म के ज्ञाता महायशस्वी वशिष्ठ मुनि इक्ष्वाकुनाथ की सभा में आये ॥ ९ ॥

शातकुम्भमयीं[1] रम्यां मणिरत्नसमाकुलाम् ।
सुधर्मामिव धर्मात्मा सगणः[2] प्रत्यपद्यत ॥ १० ॥

उस सभाभवन में सुनहला सुन्दर नक्काशी का काम किया था और जगह जगह पद्मरागादि मणियाँ जड़ी हुई थीं । जिस प्रकार सुधर्मा नाम के सभाभवन में इन्द्र अपने अनुयायियों सहित प्रवेश करते हैं, वैसे ही इक्ष्वाकुनाथ की सभा के भवन में वशिष्ठ जी ने अपने अनुयायी शिष्यों सहित प्रवेश किया ॥ १० ॥

स काञ्चनमयं पीठं *परार्ध्यास्तरणावृतम् ।
अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ॥ ११ ॥

---

१ शातकुम्भमयीं—स्वर्णमयीं । (गो०) २ सगणः—सशिष्यगणः । (गो०) * पाठान्तरे—"सुखास्तरणसंवृतम्" ।

और वहाँ सोने के एक सिंहासन पर, जिस पर स्वस्तिकाकार अर्थात् गोल आसन पड़ा था, जा बैठे, और दूतों को आज्ञा दी ॥ ११ ॥

ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्यानमात्यान्गणवल्लभान्[1] ।
क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥

कि तुम लोग जा कर, बहुत शीघ्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों और मंत्रियों सेनापतियों को लिवा लाओ । क्योंकि एक बड़ा ज़रूरी काम है ॥ १२ ॥

स राजभृत्यं[2] शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम् ।
युधाजितं[3] सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥१३॥

यशस्वी भरत और शत्रुघ्न को उनके निज के नौकरों सहित, युधाजित सुमंत्र आदि मंत्रियों को, तथा और जो कोई वहाँ हितू हों, उनको भी शीघ्र बुला लाओ ॥ १३ ॥

ततो हलहलाशब्दः सुमहान्समपद्यत ।
रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

कुछ ही देर में दूतों के बुलाये लोग रथों, घोड़ों, और हाथियों पर सवार हो कर आने लगे । उनकी सवारियों के आने का एक प्रकार का महाशब्द उत्पन्न हुआ ॥ १४ ॥

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः ।
प्रत्यनन्दन्प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥

---

१ गणवल्लभान्—गणाध्यक्षान् । (गो०) २ सराजभृत्यं—राजान्तरङ्गभृत्य सहितं । (गो०) ३ युधाजितं—युधाजिदितिविजयाख्यमंत्रिणो नामान्तरं सुमंत्रशब्दसाहचर्यात् । (गो०)

देवता जिस प्रकार इन्द्र को देख प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार भरत को आते देख मंत्री आदि ऐसे प्रसन्न हुए, मानों वे महाराज दशरथ के सभाप्रवेश पर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हों ॥ १५ ॥

ह्रद[1] इव तिमिनागसंवृतः
स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः[2] ।
दशरथसुतशोभिता सभा
सदशरथेव बभौ यथा पुरा ॥ १६ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः ॥

उस समय भरत की उपस्थिति से वह राजसभा उसी प्रकार शोभित हुई, जिस प्रकार समुद्र का स्थिर जल बड़े बड़े मच्छ, नाके, मणियों, शङ्खों, और बालू से सुशोभित होता है। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था, मानों महाराज दशरथ स्वयं सभा में आ कर बैठे हों ॥ १६ ॥

अयोध्याकाण्ड का इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

द्व्यशीतितमः सर्गः

—:※:—

तामार्यगणसम्पूर्णां भरतः प्रग्रहां[3] सभाम् ।
ददर्श बुद्धिसम्पन्नः पूर्णचन्द्रो निशामिव ॥ १ ॥

---

१ ह्रदश्च—समुद्रसमीपस्थः। (गो०) २ शर्कराशब्देनात्रस्थूलवालुका उच्यते। (गो०) ३ प्रग्रहा—नियमवर्ती। (गो०) ४ घनापाये—शरदि। (रा०)

वशिष्ठादि श्रेष्ठ पुरुषों से भरी, भरत द्वारा निमंत्रित सभा को, बुद्धि सम्पन्न भरत जी ने देखा कि, वह पूर्णमासी की रात की तरह शोभायमान है ॥ १ ॥

आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा ।
वस्त्राङ्गरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥

यथायोग्य आसनों पर बैठे हुए तथा अंगराग लगाये और चमकीली भड़कीली पोशाकें पहिने हुए श्रेष्ठ जनों से, वह श्रेष्ठ सभा चमक रही थी । अर्थात् सुशोभित थी ॥ २ ॥

सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तदा ।
अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥

शरद् ऋतु में जिस प्रकार पूर्णमासी के चन्द्रमा से रात्रि सुशोभित होती है, उसी प्रकार विद्वज्जनों के सम्मिलित होने से वह सभा परम शोभायुक्त दिखलाई पड़ती थी ॥ ३ ॥

राज्ञस्तु प्रकृतीः सर्वाः समग्राः प्रेक्ष्य धर्मवित् ।
इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय धर्मज्ञ पुरोहित वशिष्ठ जी ने, महाराज के सब मंत्रिआदि प्रधानों को देख, भरत जी से ये मधुर वचन कहे ॥ ४ ॥

तात राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन् ।
धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥

हे वत्स ! इस धन धान्ययुक्त और समृद्धशालिनी पृथिवी का राज्य तुम्हें दे कर, महाराज दशरथ धर्माचरणपूर्वक स्वर्ग सिधार गये ॥ ५ ॥

रामस्तथा सत्यधृतिः सतां[1] [2]धर्ममनुस्मरन् ।
नाजहात्पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः ॥ ६ ॥

सत्यव्रतधारी श्रीरामचन्द्र ने पितृआज्ञाकारी सज्जनों के पितृ-वचन-पालन रूपी धर्म का पालन कर, महाराज की आज्ञा का त्याग वैसे ही नहीं किया, जैसे चन्द्रमा चांदनी का त्याग नहीं करता ॥ ६ ॥

[नोट—पुत्र की पुत्रता नीचे के श्लोक में बतलायी गयी—

" जीवतोर्वाक्यकरणात् प्रत्यब्दं भूरिभोजनात् ।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥ "

अर्थात् पुत्रोत्पादन करने की आवश्यकता यही है कि, (१) जब तक पिता जीवित रहे तब तक पुत्र अपने पिता की आज्ञा माने (२) पिता के मरने पर प्रतिवर्ष पिता की मरणतिथि को पिण्डदान कर अनेक ब्राह्मणों को भोजन करावे और (३) गया में जा कर पिण्ड दे कर पिता का उद्धार करे । पुत्र के ये ही तीन मुख्य कर्त्तव्य हैं ।]

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम् ।
तद्भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥ ७ ॥

अतएव पिता और भ्राता के दिये हुए इस निष्कण्टक राज्य को तुम भोगो और तुरन्त अपना अभिषेक करवा, अपने मंत्रियों को प्रसन्न करो ॥ ७ ॥

उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केवलाः[3] ।
कोट्यापरान्ताः[4] सामुद्रा रत्नान्यभिहरन्तु ते ॥ ८ ॥

---

१ सतां—पितृनिदेशवर्तिनाम् । (गो०) २ धर्मं—पितृवचनपरिपालन रूपं । (गो०) ३ केवलाः—सिंहासनादिरहिता इत्यपरान्तादि विशेषणं । ४ अपरान्ताः—अपरान्तदेशवासिन्योयवनाः । (गो०)

उत्तर पश्चिम और दक्षिण देशवासी राजा तथा अन्य वैतिलक के ज़मीदार तथा पश्चिमान्त सीमावासी यवनादि, तथा द्वीपों के राजा लोग तुमको करोड़ों रत्न भेंट करेंगे ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः ।
जगाम मनसा रामं[1] धर्मज्ञो[2] धर्मकाङ्क्षया[3] ॥ ९ ॥

भरत जी गुरु वशिष्ठ के ये वचन सुन, बहुत दुःखी हुए। वंश-परम्परागत ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता है—इस कुलधर्म को जानने वाले, भरत जी ने बड़े भाई का अनुगमन करने की आकांक्षा से, श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण किया ॥ ९ ॥

स बाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा ।
विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम् ॥ १० ॥

उस समय कलहंस की तरह स्वर वाले युवा भरत का गला भर आया, वे विलाप करने लगे और उन्होंने कुलपुरोहित वशिष्ठ जी के इस कथन को सर्वथा अनुचित बतलाया ॥ १० ॥

[4]चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य[5] धीमतः[6] ।
धर्मे [7]प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो[8] हरेत् ॥ ११ ॥

---

१ रामं मनसा जगाम—संस्मारेत्यर्थः । (गो०) २ धर्मज्ञः—कुलक्रमागत ज्येष्ठाभिषेचनरूपधर्मज्ञः । (गो०) ३ धर्मकाङ्क्षया—ज्येष्ठानुवर्तन रूप धर्मलिप्सया । (गो०) ४ चरितब्रह्मचर्यस्य—अनुष्ठितगुरुकुलवासस्य । (गो०) ५ विद्यास्नातस्य—निखिलवेदाध्ययनानन्तरमाविस्नानकर्मयुक्तस्य । (गो०) ६ धीमतः—तदर्थज्ञस्य । (गो०) ७ धर्मे प्रयतमानस्य—तदर्थानुष्ठानवतः । (गो०) ८ मद्विधः—शास्त्रवश्योमादृशः । (गो०)

भरत जी कहने लगे—हे ब्रह्मन्! जो श्रीरामचन्द्र जी गुरुकुल में रह कर, निखिल साङ्गोपाङ्ग वेदों को पढ़े हुए हैं और उनका अर्थ भी भली भाँति जानते हैं और तदनुसार अनुष्ठान भी करते रहते हैं, उन श्रीरामचन्द्र जी का राज्य भला मुझ जैसा शास्त्र के मत का जानने वाला, क्योंकर हरण कर सकता है॥ ११॥

[नोट—शिरोमणि टीकाकार ने धर्मप्रयतमानस्य का अर्थ किया है—
" पितृप्रतिज्ञा पालने प्रयतमानस्य "]

कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि॥ १२॥

महाराज दशरथ से उत्पन्न कोई क्योंकर धर्मानुमोदित दूसरे के राज्याधिकार को अपहृत कर सकता है। केवल यह सारा राज्य ही नहीं, बल्कि मैं स्वयं भी श्रीरामचन्द्र का हूँ। हे पुरोहित जी! आप जो कुछ कहें, सो धर्मानुमोदित ही कहें॥ १२॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः।
लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा॥ १३॥

दिलीप और नहुष को तरह जैसे महाराज दशरथ, इस राज्य के अधिकारी थे, वैसे ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ही इस राज्य को पाने के अधिकारी हैं॥ १३॥

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि।
इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः॥ १४॥

यदि मैं आपके कथनानुसार इस राज्य को ग्रहण कर, असाधु सेवित और स्वर्गविरोधी महापाप करूँ, तो सब लोग मुझे इक्ष्वाकुकुल का नाश करने वाला बतलावेंगे॥ १४॥

यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये ।
इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥

मेरी माता जो पापकर्म कर बैठी है—वह भी मुझे पसन्द नहीं है। मैं (इसके लिये) वन में बैठे हुए श्रीरामचन्द्र को हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ—अर्थात् माता के अनुचित कर्म के लिये क्षमा माँगता हूँ ॥ १५ ॥

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदांवरः ।
त्रयाणामपि लोकानां राज्यमर्हति राघवः ॥ १६ ॥

और उनका अनुगामी होता हूँ। नरों में श्रेष्ठ वे ही राजा हैं। वे तीनों लोकों का राज्यशासन करने योग्य हैं, उनके लिये इस पृथिवी का राज्यशासन करना कौन बड़ी बात है ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः ।
हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः ॥ १७ ॥

भरत जी के ऐसे धर्मानुमोदित वचन सुन सब के सब सभासद जिनका मन श्रीरामचन्द्र जी में लगा था, आनन्द के आँसू गिराने लगे ॥ १७ ॥

यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात् ।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा ॥ १८ ॥

भरत जी फिर कहने लगे—यदि मैं श्रीरामचन्द्र जी को वन से न लौटा सका, तो मैं उसी वन में श्रीरामचन्द्र जी के पास लक्ष्मण जी की तरह रहूँगा ॥ १८ ॥

सर्वोपायं च वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं वनात्* ।
समक्षमार्यमिश्राणां[1] साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥ १९ ॥

मैं श्रीरामचन्द्र जी को वन से लौटाने के लिये, (आप सब) सभासदों और अच्छे गुण वाले साधु जनों की उपस्थित ही में, सब प्रकार के उपाय करूँगा। (अर्थात् आप लोग मेरे साथ चलें और देखें कि, मैं श्रीरामचन्द्र जो को लौटाने के लिये उपाय करने में कोई कोरकसर नहीं करता) ॥ १९ ॥

[2]विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकतक्षकाः ।
प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्राऽपि मम रोचते ॥ २० ॥

मैंने पहिले ही बेगारी तथा पारिश्रमिक ले कर काम करने वाले चतुर मार्गशोधकों और बढ़इयों को, रास्ता ठीक करने के लिये भेज दिया है ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।
समीपस्थमुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २१ ॥

यह कह भ्रातृवत्सल एवं धर्मात्मा भरत ने सलाह देने में चतुर और पास बैठे हुए सुमंत्र से कहा ॥ २१ ॥

तूर्णमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात् ।
यात्रामाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय ॥ २२ ॥

तुम उठ कर शीघ्र जाओ और सेना को यह जना कर कि, मेरी आज्ञानुसार उनका यहाँ से प्रस्थान करना होगा, तुरन्त अपने साथ लिवा लाओ ॥ २२ ॥

---

१ आर्यमिश्राणां—सद्स्यानां । (गो०) २ विष्टिकर्मान्तिकाइति—विष्टयो भृतिमन्तरेण जनपदेभ्यः समानीताः कर्मकराः । (गो०) * पाठान्तरे—"बलात्" ।

एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना ।
*प्रहृष्टः सोऽदिशत्सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥

महात्मा भरत जी के ये वचन सुन, सुमंत्र ने प्रसन्न हो भरत जी के आज्ञानुसार सब काम किया ॥ २३ ॥

ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च ।
श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने ॥ २४ ॥

भरत जी की इस आज्ञा को कि, श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिये चलना होगा, सुन कर प्रजाजन, तथा सेनापति लोग बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तॄन्सर्वान्गृहे गृहे ।
यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥ २५ ॥

घर घर, योद्धाओं की स्त्रियाँ, हर्षित हो कर, अपने अपने पतियों से, श्रीरामचन्द्र को लौटा लाने के लिये वन में जाने की, जल्दी मचाने लगीं ॥ २५ ॥

ते हयैर्गोरथैः शीघ्रैः स्यन्दनैश्च महाजवैः ।
सह योधैर्बलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥ २६ ॥

सब सेनाध्यक्षों ने घोड़ों बैलों से खींचे जाने वाले और तेज चलने वाले रथों पर सवार हो समस्त सेना को शीघ्र चलने की आज्ञा दी ॥ २६ ॥

सज्जं तु तद्बलं दृष्ट्वा भरतो गुरुसन्निधौ ।
रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—"हृष्टस्तदादिशत्सर्वं"।

सेना को यात्रा के लिये तैयार देख, गुरुवशिष्ठ को सन्निधि में और अपनी बग़ल में बैठे हुए सुमंत्र से कहा कि, मेरा रथ तुरन्त लाओ ॥ २७ ॥

भरतस्य तु तस्याज्ञां प्रतिगृह्य च हर्षितः ।
रथं गृहीत्वा प्रययौ युक्तं परमवाजिभिः ॥ २८ ॥

सुमंत्र जी "जो आज्ञा" कह और इनके आदेशानुसार प्रसन्न होते हुए गये और बड़े अच्छे घोड़े जोत कर, एक रथ भरत जी के सामने ला खड़ा किया ॥ २८ ॥

स राघवः सत्यधृतिः[1] प्रतापवान्
ब्रुवन्सुयुक्तं[2] दृढसत्यविक्रमः ।
गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं
प्रसादयिष्यन्भरतोऽब्रवीत्तदा ॥ २९ ॥

वे धैर्यवान्, प्रतापी, दृढ़प्रतिज्ञ और सत्यपराक्रमी भरत जी, महावन में गये हुए यशस्वी श्रीरामचन्द्र को प्रसन्न कर लौटा लाने का विचार कर, सुमंत्र जी से बोले ॥ २९ ॥

तूर्णं समुत्थाय सुमन्त्र गच्छ
बलस्य योगाय बलप्रधानान् ।
आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं
प्रसाद्य रामं जगतो हिताय ॥ ३० ॥

---

१ सत्यधृतिः—अप्रच्युतधैर्यः । (गो०) २ सुयुक्तंब्रुवन्—गुरुंप्रसादयिष्यन् । (गो०)

हे सुमंत्र ! तुम तुरन्त सेनानायकादि, सुहृदों तथा अन्य मुख्य मुख्य प्रजाजनों को तैयार होने की आज्ञा दो। मैं जगत् के कल्याण के लिये श्रीरामचन्द्र को वन से लौटाने के लिये वन जाना चाहता हूँ ३० ॥

स सूतपुत्रो भरतेन सम्य-
गाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः ।
शशास सर्वान्प्रकृतिप्रधाना-
न्बलस्य मुख्यांश्च सुहृज्जनं च ॥ ३१ ॥

भरत जी के वचन सुन, पूर्णकाम सूत सुमंत्र ने प्रजा के मुखियों, सेनाध्यक्षों, तथा सुहृद जनों से, भरत जी की आज्ञा समझा कर, कह दी ॥ ३१ ॥

ततः समुत्थाय कुले[1] कुले ते
राजन्यवैश्या वृषलाश्च[2] विप्राः ।
अयूयुजन्नुष्ट्ररथान्खरांश्च
नागान्हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

इति द्व्यशीतितमः सर्गः ॥

अनन्तर घर घर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने अपने ऊँट, रथ, खच्चर और अच्छे जाति के हाथी और घोड़ों को तैयार करने लगे ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का ब्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ कुले कुले—गृहे गृहे । (गो०) २ वृषलाः—शूद्राः । (गो०)

त्र्यशीतितमः सर्गः

—:०:—

ततः समुत्थितः काल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम् ।
प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाङ्क्षया ॥ १ ॥

तदनन्तर सवेरा होते ही भरत जी उठे और सुन्दर रथ पर सवार हो कर, श्रीरामचन्द्र के दर्शन की कामना किये हुए शीघ्रता से रवाना हुए ॥ १ ॥

अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोधसः ।
अधिरुह्य हयैर्युक्तान्रथान्सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥

भरत जी के रथ के आगे आगे सब मंत्रि और पुरोहित घोड़ों के रथों में, जो सूर्य नारायण के रथ के समान चमकीले थे, बैठ कर चले ॥ २ ॥

नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि ।
अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३ ॥

और अच्छी तरह सजे हुए ९ हज़ार हाथी इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरत जी के रथ के पीछे चले ॥ ३ ॥

षष्टी रथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ४ ॥

और साठ हज़ार रथों में बैठ कर विविध अस्त्रधारी, धनुर्द्धर यशस्वी राजकुमार भरत जी के पीछे चले ॥ ४ ॥

शतं सहस्राण्यश्वानां समारूढानि राघवम् ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं सत्यसन्धं जितेन्द्रियम् ॥ ५ ॥

और घोड़ों पर चढ़े हुए, एक लाख घुड़सवार जितेन्द्रिय एवं सत्यप्रतिज्ञ भरत जी के साथ चले ॥ ५ ॥

कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी ।
रामानयनसंहृष्टा ययुर्यानेन भास्वता ॥ ६ ॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौशल्या जी, श्रीरामचन्द्र जी को लौटा लाने के लिये प्रसन्न हो, परम दीप्तमान् रथों पर चढ़ कर चलीं ॥ ६ ॥

प्रयाताश्चार्यसङ्घाता[1] रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम् ।
तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः ॥ ७ ॥

द्विजातियों के झुण्ड के झुण्ड श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिये (अयोध्या से) रवाना हुए। वे लोग आपस में श्रीरामचन्द्र जी ही का विचित्र वृत्तान्त कहते सुनते और प्रसन्न होते हुए चले जाते थे ॥ ७ ॥

मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम् ।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥

वे कहते थे कि, हम लोग उन मेघश्याम, महाबाहु, दृढ़व्रत, स्थिरव्यवसायी और जगत का शोक नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र को कब देखेंगे ॥ ८ ॥

---

१ आर्यसंघाताः—त्रैवर्णिकसंघाः । (गो०)

दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः।
तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः॥ ९॥

जैसे सूर्य उदय होते ही त्रिभुवन के अन्धकार को नाश कर देते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी महाराज अपने दर्शन मात्र से हम लोगों के शोक को दूर करेंगे॥ ९॥

इत्येवं कथयन्तस्ते संप्रहृष्टाः कथाः शुभाः।
परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिका जनाः॥ १०॥

उस समय नगर के रहने वाले, सब लोग आपस में इस प्रकार शुभ कथा कहते और मारे हर्ष के एक दूसरे के गले से भेंटते हुए, चले जाते थे॥ १०॥

ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता[1] ये च नैगमाः।
रामं प्रतिययुर्हृष्टाः सर्वाः [2]प्रकृतयस्तथा॥ ११॥

अयोध्यावासी जिन प्रसिद्ध बनियों को भरत जी ने चलने की आज्ञा दी थी और जिनको आज्ञा नहीं दी थी, वे भी, बनिये तथा अन्य सब प्रजाजन प्रसन्न मन से श्रीरामदर्शनार्थ चले जाते थे॥११॥

मणिकाराश्च ये केचित्कुम्भकाराश्च शोभनाः[3]।
[4]सूत्रकर्मकृतश्चैव ये च शस्त्रोपजीविनः॥ १२॥

प्रजाजनों में से कोई चतुर जड़िया थे, कोई चतुर कुम्हार थे, कोई कपड़ा बिनने वाले कोरी थे और कोई हथियार बनाने वाले कारीगर थे॥ १२॥

---

१ संमताः—प्रसिद्धाः। (रा०) २ प्रकृतयः—श्रेणयः। (रा०) ३ शोभनाः—स्वकार्यदक्षाः। (गो०) ४ सूत्रकर्मकृतः—तन्तुवायादयः। (गो०)

मायूरकाः क्राकचिका रोचका[1] वेधकास्तथा ।
दन्तकाराः सुधाकारास्तथा गन्धोपजीविनः ॥ १३ ॥

कोई मोरपङ्खी बनाने वाले, कोई आरी से लकड़ी चीरने वाले और कोई कलईगर थे, अथवा कोई काच की शीशी बनाने वाले, कोई मणियों और मोतियों को वेधने वाले, कोई हाथी दाँत का काम बनाने वाले, कोई अस्तरकारी करने वाले, और कोई गँधी थे ॥ १३ ॥

सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलधावकाः ।
[2]स्नापकोच्छादका[3] वैद्या धूपकाः शौण्डिकास्तथा ॥१४॥

कोई प्रसिद्ध सुनार थे, कोई कंबल बनाने वाले या धोने वाले थे, कोई शरीर में तेल उबटन कर गर्म जल से स्नान कराने वाले थे, कोई पगचप्पी (पैर दबाने वाले) थे, कोई वैद्य थे, कोई घर में धूप दे कर घर का वायु शुद्ध करने वाले थे और कोई कलार (शराब वेचने वाले) थे ॥ १४ ॥

रजकास्तुन्नवायाश्च[4] [5]ग्रामघोषमहत्तराः ।
शैलूषाश्च[6] सह स्त्रीभिर्ययुः कैवर्तकास्तथा ॥ १५ ॥

उनमें कोई धोबी थे, कोई दर्ज़ी थे, कोई गाँवों के मुखिया थे, कोई अहीरों के मुखिया थे, कोई नट अपनी स्त्रियों सहित थे (ये नट

---

१ रोचकाः—काचकुप्यादिकर्तारः इति कतकः । २ स्नापकाः—तैलाभ्यङ्गादिस्नानकारिणः । (गो०) ३ उच्छादकाः—अङ्गमर्दकाः । (गो०) ४ तुन्नवायाः—सूच्यासीवनकर्तारः । (रा०) ५ ग्रामघोषमहत्तराः—ग्राममहत्तराः घोषमहत्तराश्च । (गो०) ६ शैलूषाः—भूमिकाधारिणः स्त्रीजीविनो वा । (गो०)

आजीवी होने के कारण ही स्त्रियों सहित गये थे) और, कोई मल्लाह थे ॥ १५ ॥

[1]समाहिता वेदविदो ब्राह्मणा वृत्तसम्मताः ।
[2]गोरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः ॥ १६ ॥

सहस्रों सदाचारी वेदपाठी ब्राह्मण जिनका मन श्रीराम में लगा था, छकड़ों पर बैठ भरत जी के पीछे हो लिये थे ॥ १६ ॥

सुवेषाः शुद्धवसनास्ताम्रमृष्टानुलेपनाः ।
सर्वे ते विविधैर्यानैः शनैर्भरतमन्वयुः ॥ १७ ॥

सब ही सुन्दरवेश बनाये, सुन्दर वस्त्र पहिने और लाल चन्दन लगाये और तरह तरह की सवारियों पर सवार, धीरे धीरे भरत जी के पीछे चले जाते थे ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात्केकयीसुतम् ।
भ्रातुरानयने यान्तं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार जब कैकेयीनन्दन एवं भ्रातृवत्सल भरत, श्रीरामचन्द्र को लौटा लाने के लिये चले, तब सैनिक लोग भी हर्षित होते हुए भरत जी के साथ चले जाते थे ॥ १८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्वकुञ्जरैः ।
समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गिवेरपुरं प्रति ॥ १९ ॥

वे लोग, रथों, पालकियों, छकड़ों आदि सवारियों तथा घोड़ों और हाथियों पर सवार हो, बहुत दूर चलने के बाद, शृङ्गवेरपुर में गङ्गा जी के तट पर पहुँचे ॥ १९ ॥

---

१ समाहिताः—रामावेशतचित्ताः । (शि०) २ गोरथैः—शकटैः । (गो०)

यत्र रामसखो वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृतः ।
निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

जहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी का मित्र गुह, अपनी जाति के लोगों के साथ, सावधानी के साथ, उस देश का पालन करता हुआ निवास करता था ॥ २० ॥

उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।
व्यवातिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥ २१ ॥

भरत जी के पीछे चलने वाली वह सेना चक्रवाकों से सुशोभित भागीरथी गङ्गा के तट पर पहुँच कर, वहीं टिक रही ॥ २१ ॥

निरीक्ष्यानुगतां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम् ।
भरतः सचिवान्सर्वानब्रवीद्वाक्य कोविदः ॥ २२ ॥

वचन बोलने में चतुर भरत जी अपने साथ चलने वाली सेना को टिकी हुई देख व सुखद गङ्गाजल को निहार सब मंत्रियों से कहने लगे ॥ २२ ॥

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः ।
विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इदानीमिमां नदीम् ॥२३॥

मैं चाहता हूँ कि, मेरी सेना आज यहीं पर अपने लिये अनुकूल स्थान देख टिके, कल सब इस नदी के पार उतरेंगे ॥ २३ ॥

दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः ।
और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम् ॥ २४ ॥

मैं चाहता हूँ कि, मैं स्वर्गवासी महाराज दशरथ की, उनकी और्द्धदैहिक क्रिया के निमित्त, कल इस नदी को पार करने के समय जल दूँ अर्थात् गङ्गाजल से तर्पण करूँ ॥ २४ ॥

तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः ।
न्यवेशयंस्तांश्छन्देन[1] स्वेनस्वेन पृथक्पृथक् ॥ २५ ॥

जब भरत जी ने इस प्रकार कहा, तब मंत्रियों ने "जो आज्ञा" कह, बड़ी सावधानी से सब लोगों को उनकी इच्छानुसार अलग अलग टिका दिया ॥ २५ ॥

निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं
चमूं विधानैः परिबर्हशोभिनीम्[2] ।
उवास रामस्य तदा महात्मनो
विचिन्तयानो भरतो निवर्तनम् ॥ २६ ॥

इति अशीतितमः सर्गः ॥

महात्मा भरत जी, महानदी गङ्गा के तट पर यथाविधान पात्रोपयुक्त (अथवा तंबू, खीमों में) अपनी सेना को टिका, श्रीरामचन्द्र जी के लौटाने की चिन्ता करते हुए, वहाँ निवास करते हुए ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ छन्देन—इच्छया । (गो०) २ परिबर्हशोभिनीम्—परिबर्हैर्यात्रोपयुक्त-पटनेश्माद्युपकरणं । (गो०)

चतुरशीतितमः सर्गः

—:०:—

ततो निविष्टां ध्वजिनीं[1] गङ्गामन्वाश्रितां नदीम् ।
निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन्सन्त्वरितो[2]ऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भरत जी की चतुरङ्गिनी सेना को गङ्गा जी के किनारे टिकी हुई देख और सशङ्कित हो गुह ने अपनी जाति वालों से कहा ॥१॥

महतीऽयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते ।
*तस्यान्तं नाधिगच्छामि मनसाऽपि विचिन्तयन् ॥ २ ॥

यहाँ पर यह बड़ो सेना समुद्र के समान पड़ी हुई देख पड़ती है। मैं कल्पना कर के भी इसका अन्त नहीं पा सकता अर्थात् गणना नहीं कर सकता ॥ २ ॥

यथा तु खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः ।
स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे ॥ ३ ॥

मैं समझता हूँ कि, निश्चय ही भरत बुरे विचार से स्वयं आये हैं, क्योंकि इस महाकाय रथ पर, कोविदार (कचनाराकार) इक्ष्वाकुकुल की ध्वजा, फहरा रही है ॥ ३ ॥

बन्धयिष्यति वा दाशान[3]थ वाऽस्मान्वधिष्यति ।
अथ[4] दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद्विवासितम्[5] ॥४॥

---

१ ध्वजिनीं—सेनां । (गो०) २ संत्वरितः—ससंभ्रमः । (गो०) ३ दाशानस्मान् । (गो०) ४ अथ—अथवा । (गो०) ५ विवासितं—दुर्बलं । (गो०) * पाठान्तरे—" नास्यान्तमधिगच्छामि " ।

अतः या तो भरत जी मुझे गिरफ़ार करेंगे अथवा मेरा वध करेंगे। अथवा पिता के राज्य से निकाले हुए असहाय दुर्बल श्री-रामचन्द्र जी का वध करेंगे ॥ ४ ॥

सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम्।
भरतः कैकयीपुत्रो हन्तुं समुपगच्छति ॥ ५ ॥

सो क्या कैकेयी के पुत्र भरत यह परमदुर्लभ राजश्री को भली भाँति अपने अधिकार में कर लेने के विचार से, कहीं श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिये तो नहीं जा रहे ॥ ५ ॥

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम।
तस्यार्थकामाः[1] सन्नद्धा[2] गङ्गानूपे प्रतिष्ठत ॥ ६ ॥

परन्तु वह दशरथनन्दन श्रीराम, मेरे स्वामी, अथवा सखा सभी कुछ हैं, अतएव तुम सब लोग श्रीराम के प्रयोजन के लिये, कवच पहिन और हथियार ले, गङ्गा के कछार में तैयार रहो ॥ ६ ॥

तिष्ठन्तु सर्वे दाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम्।
बलयुक्ता[3] नदीरक्षा[4] मांसमूलफलाशनाः ॥ ७ ॥

मेरे अधीन के सब नौकर, सेना सहित, फल, मूल एवं मांस खाते हुए, गङ्गा जी के पास उतारे के घाटों की रक्षा करते रहें ॥ ७ ॥

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।
सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत् ॥ ८ ॥

---

१ अर्थकामाः—प्रयोजन सिद्धिविषयकेच्छावन्तः। (शि०) २ सन्नद्धा—धृतकवचाः। (शि०) ३ बलयुक्ताः—सेनायुक्ताः। (गो०) ४ नदीरक्षाः—नदीतरणमार्गरक्षन्तः। (गो०)

घाटों की रखवाली के लिये गुह ने कहा कि, पाँच सौ नावें रहें और उनमें से प्रत्येक नाव पर सौ सौ जवान मल्लाह कवच पहिन और हथियार ले, तैयार रहें ॥ ८ ॥

यदा तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति ।
सेयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति ॥ ९ ॥

यदि भरत जी, श्रीरामचन्द्र के विषय में मुझे सन्तुष्ट जान पड़ेंगे, तो ही उनकी सेना, सकुशल गङ्गा को पार कर सकेगी ॥ ९ ॥

इत्युक्त्वोपायनं गृह्य मत्स्यमांसमधूनि च ।
अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः ॥ १० ॥

इस तरह अपने नौकरों और सैनिकों को सावधान कर, निषादपति गुह मछलियाँ, मांस, और शहद भरत जी को भेंट करने के लिये अपने साथ ले कर, चला ॥ १० ॥

तमायान्तं तु सम्प्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान् ।
भरतायाचचक्षेऽथ विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

प्रतापी और विनीतवान् सुमंत्र ने निषाद को आते देख, विनीत भाव से भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः[1] परिवारितः ।
कुशलो दण्डकारण्ये[2] वृद्धो भ्रातुश्च ते सखा ॥ १२ ॥

यह गुह यहाँ का राजा है और अपने सहस्रों बिरादरी के लोगों को साथ लिये हुए आता है । यह वृद्ध गुह दण्डकारण्य का घूमने

---

१ स्थपतिः—प्रभुः । (गो०) २ दण्डकारण्येकुशलः—तत्रसञ्चारण समर्थइत्यर्थः । (गो०)

फिरने वाला होने के कारण, वहाँ का रत्ती रत्ती हाल जानता है और तुम्हारे भाई श्रीरामचन्द्र का मित्र है ॥ १२ ॥

तस्मात्पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निषादाधिपो गुहः ।
असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

अतः हे काकुत्स्थ ! तुम निषादों के राजा गुह से भेंट करो। क्योंकि निश्चय ही यह वह स्थान जानता है, जहाँ वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण वन में निवास करते हैं ॥ १३ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद्भरतः शुभम् ।
उवाच वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति ॥ १४ ॥

सुमंत्र से ये शुभ वचन सुन, भरत बोले कि, अच्छा, गुह से तुरन्त जा कर कहो कि, वह मुझसे मिले ॥ १४ ॥

लब्ध्वाभ्यनुज्ञां संहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः ।
आगम्य भरतं प्रह्वो गुहो वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

भरत की आज्ञा पा, गुह अपने जाति बिरादरी के लोगों के साथ, भरत जी के पास आ, प्रसन्न होता हुआ बोला ॥ १५ ॥

निष्कुटश्चैव[1] देशोऽयं वञ्चिताश्चापि[2] ते वयम् ।
निवेदयामस्ते सर्वं स्वके दासकुले वस ॥ १६ ॥

हे प्रभो ! यह देश आपके घर की वाटिका (नजरबाग़) के तुल्य है। आपने अपने आने की सूचना हमें नहीं दी ; अतः हम

---

१ निष्कुट—गृहारामभूतः । (गो०) २ वञ्चिताः—अत्र गमनानिवेदनेन वञ्चिता इत्यर्थः । (गो०)

लोग आपका यथाविधि स्वागत करने से वञ्चित रहे। यह सम्पूर्ण राज्य आपका है और हम सब भी आपके हैं। अतः आप अपने दास के घर में वास कीजिये॥ १६॥

अस्ति मूलं फलं चैव निषादैः समुपाहृतम्।
आर्द्रं च मांसं शुष्कं च वन्यं चोच्चावचं महत्॥१७॥

निषाद लोगों के लाये हुए फल मूल, ताज़ा और सूखा मांस तथा वन में उत्पन्न होने वाली अन्य थोड़ी बहुत भक्ष्य वस्तुएँ ये उपस्थित हैं॥ १७॥

आशंसे[1] स्वाशिता[2] सेना वत्स्यतीमां विभावरीम्।
अर्चितो विविधैः कामैः श्वः ससैन्यो गमिष्यसि॥१८॥

इति चतुरशीतितमः सर्गः॥

मेरी प्रार्थना है कि, आज सेना मेरे यहाँ अच्छी तरह (मेरे अर्पण किये हुए) भोजन कर, रात भर यहीं रहे और हम लोग यहाँ हर तरह से सेवा करें। तदनन्तर आप सेना सहित कल यात्रा करें॥ १८॥

अयोध्याकाण्ड का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

पञ्चाशीतितमः सर्गः

—:०:—

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम्।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम्॥ १॥

---

१ आशंसे—प्रार्थयामि। (गो०) २ स्वाशिता—सुष्ठुभोजिता। (गो०)

निषादाधिपति गुह के वचन सुन, महाप्राज्ञ भरत ने अपना अभिप्राय जनाने के लिये युक्तियुक्त वचन कहे ॥ १ ॥

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुरोः सखे ।
यो मे त्वमीदृशीं सेनामेकोऽभ्यर्चितुमिच्छसि ॥ २ ॥

हे ज्येष्ठ भ्राता के मित्र ! तुम जो अकेले ही मेरी इतनी बड़ी सेना की पहुनाई करना चाहते हो—सो यह तो निश्चय ही तुम्हारा बड़ा भारी मनोरथ है। (अर्थात् तुम्हारे इस आदर से ही हम अपने को सत्कारित मानते हैं) ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा तु महातेजा गुहं वचनमुत्तमम् ।
अब्रवीद्भरतः श्रीमान्निषादाधिपतिं पुनः ॥ ३ ॥

परम तेजस्वी श्रीमान् भरत जी गुह से इस प्रकार श्रेष्ठ वचनों द्वारा बातचीत कर, फिर बोले ॥ ३ ॥

कतरेण[1] गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं गुह ।
गहनोऽयं भृशं[2] देशो गङ्गानूपो[3] दुरत्ययः ॥ ४ ॥

हे निषादराज ! भला यह तो बतलाओ कि, हम किस मार्ग से भरद्वाज के आश्रम को जायँ। क्योंकि हम देखते हैं कि, यह गङ्गा का जलप्रायदेश अत्यन्त दुष्प्रवेश्य अथवा दुर्गम है ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥

---

१ कतरेण—केनमार्गेण। (गो०) २ भृशंगहनः—अत्यन्तदुष्प्रवेशः। (गो०) ३ अनूपोदेशः—जलप्रायोदेशः। (गो०)

बुद्धिमान राजकुमार भरत का यह प्रश्न सुन, सब दुर्गम स्थानों का रास्ता जानने वाला गुह, हाथ जोड़ कर, भरत जी से बोला ॥ ५ ॥

दाशास्त्वानुगमिष्यन्ति धन्विनः सुसमाहिताः ।
अहं त्वानुगमिष्यामि राजपुत्र महायशः ॥ ६ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार! आप इसके लिये कुछ भी चिन्ता न करें। जो इस प्रान्त का रत्ती रत्ती हाल जानते हैं, वे आपकी रखवाली के लिये धनुष बाण ले, बड़ी सावधानता पूर्वक आपके साथ जायँगे और मैं स्वयं भी आपके पीछे पीछे चलूँगा ॥ ६ ॥

कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥

किन्तु, आपकी इस विशाल सेना को देख, मेरे मन में यह सन्देह उत्पन्न हो गया है कि, कहीं आप अक्लिष्टकर्मा श्रीराम के पास किसी दुष्ट अभिप्राय से तो नहीं जा रहे ॥ ७ ॥

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः ।
भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

गुह के ऐसा कहने पर आकाश की तरह निर्मल स्वभाव के भरत जी निषाद से (ऐसा सन्देह करने के लिये नाराज़ हो कर कड़े वचन नहीं बोले, प्रत्युत) मधुर वचन बोले ॥ ८ ॥

मा भूत्स कालो यत्कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि ।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥ ९ ॥

हे गुह ! वह बुरा समय न आवे, जब मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो जाय। तुमको भी मेरे सम्बन्ध में ऐसा अनुचित सन्देह करना उचित नहीं। क्योंकि मैं तो अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी को अपने पिता के तुल्य मानता हूँ ॥ ९ ॥

तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम् ।
बुद्धिरन्या न ते कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

हे गुह ! मैं तो वनवासी श्रीरामचन्द्र को लौटाने के लिये जा रहा हूँ। इस सम्बन्ध में तुमको अन्यथा न समझना चाहिये। मैं यह बात तुमसे सत्य ही सत्य कहता हूँ ॥ १० ॥

स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम् ।
पुनरेवाब्रवीद्वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥

भरत जी के यह वचन सुन, गुह प्रसन्न हो गया और प्रसन्न हो, पुनः भरत जी से कहने लगा ॥ ११ ॥

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

हे भरत ! आप धन्य हैं। आपके समान इस धराधाम पर मुझे दूसरा कोई नहीं देख पड़ता। क्योंकि, आप बिना प्रयत्न किये हाथ लगे हुए राज्य का, त्याग करना चाहते हैं ॥ १२ ॥

शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननुचरिष्यति ।
यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥ १३ ॥

निश्चय ही आपकी यह कीर्ति सदा इस लोक में बनी रहेगी। क्योंकि आप कष्ट पाते हुए श्रीराम को लौटा लाना चाहते हैं ॥ १३ ॥

एवं सम्भाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा ।
बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १४ ॥

इस प्रकार गुह की भरत से बातचीत हो रही थी कि, इतने में सूर्य का प्रकाश नष्ट हो गया (अर्थात् सूर्य अस्त हो गये) और रात हो गई ॥ १४ ॥

सन्निवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः ।
शत्रुघ्नेन सह श्रीमाञ्शयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥

गुह की बातचीत और ख़ातिरदारी से सन्तुष्ट हो भरत जी, अपनी सेना को टिका कर, शत्रुघ्न सहित पुनः लेटने को चले गये ॥ १५ ॥

["शयनं पुनरागमत्" से जान पड़ता है कि, गुह से भेंट करने के पूर्व भी भरत जी लेटे हुए आराम कर रहे थे ।]

रामचिन्तामयः शोको भरतस्य महात्मनः[1] ।
उपस्थितो ह्यनर्हस्य[2] धर्मप्रेक्षस्य[3] तादृशः[4] ॥ १६ ॥

परन्तु दुःखी न होने के योग्य उन भरत जी को भी, जो बड़े धैर्यवान् थे, तथा शोकमूलक पाप से शून्य थे, श्रीरामचन्द्र जी के चिन्तारूपी अति दुस्सह शोक ने घेर लिया ॥ १६ ॥

अन्तर्दाहेन दहनः सन्तापयति राघवम् ।
वनदाहाभिसन्तप्तं[5] गूढोऽग्निरिव[6] पादपम् ॥ १७ ॥

---

१ महात्मन—महाधीरस्यापि । (गो०) २ अनर्हस्य—नशोकयोग्यस्य । (शि०) ३ धर्मप्रेक्षस्य—शोकमूलपापशून्यस्य । (गो०) ४ तादृशः—अतिदुस्सहः । (शि०) ५ सन्तप्तं—शुष्कं । (गो०) ६ गूढोऽग्निरिव—कोटराग्निरिव । (गो०)

और वह शोकरूपी आग भरत जी को भीतर ही भीतर उसी प्रकार दग्ध करने लगी, जिस प्रकार वनाग्नि से सूखे हुए पेड़ को उसके खोड़र की आग दग्ध करती है ॥ १७ ॥

प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसम्भवम् ।
यथा सूर्यांशुसन्तप्तो हिमवान्प्रसृतो हिमम् ॥ १८ ॥

शोकाग्नि से उत्पन्न पसीना, भरत जी के सारे शरीर से उसी प्रकार निकलने लगा, जिस प्रकार सूर्य की गर्मी से पिघल कर हिमालय से बर्फ़ गिरता है ॥ १८ ॥

[आदि कवि ने भरत के शोक की उपमा पर्वत से दी है—वे कहते हैं]

ध्याननिर्दरशैलेन विनिःश्वसितधातुना ।
दैन्यपादपसङ्घेन [1]शोकायासाधिशृङ्गिणा ॥ १९ ॥

भरत के शोक रूपी पर्वत की, श्रीरामचन्द्र जी का उत्सुकता पूर्वक ध्यान ही मानों छिद्ररहित शिलाएँ हैं, वारवार लिये हुए दीर्घ श्वास मानों गेरूआदि की धाराएँ हैं, दीनता मानों पेड़ों का समूह है, और शोक से उत्पन्न हुई मन की थकावट, मानों उस पर्वत के शृङ्ग (चोटियाँ) हैं ॥ १९ ॥

प्रमोहानन्तसत्त्वेन[2] सन्तापौषधिवेणुना ।
आक्रान्तो दुःखशैलेन महता कैकयीसुतः ॥ २० ॥

और अत्यन्त मोह ही मानों अनेक वनैले जीव जन्तु हैं, तथा सन्ताप उस पर्वत की औषधियाँ तथा बाँस हैं। ऐसे दुःखरूपी पर्वत के नीचे कैकेयीनन्दन भरत दब गये ॥ २० ॥

---

१ शोकायासाधि—शोकजाचित्तश्रान्तयः। (रा०) २ अनन्तसत्त्वानि—वन्यप्राणिनोयस्मिंस्तेन। (रा०)

विनिःश्वसन्वै भृशदुर्मनास्ततः
प्रमूढसंज्ञः परमापदं गतः ।
शमं न लेभे हृदयज्वरार्दितो
नरर्षभो यूथगतो यथर्षभः ॥ २१ ॥

इस प्रकार भरत जी के ऊपर बड़ी भारी विपत्ति आयी—वे ऊँची साँसे लेने लगे और बहुत उदास हो गये। उनको अपने शरीर की सुध न रही। वे मानसिक शोकज्वर से अत्यन्त पीड़ित थे। वे, अपनी हेड़ से बिछुड़े हुए बैल की तरह, किसी प्रकार भी शान्ति न पा सके ॥ २१ ॥

[1]गुहेन सार्धं भरतः समागतो
महानुभावः सजनः[2] समाहितः[3] ।
सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुनः
गुहः समाश्वासयदग्रजं प्रति ॥ २२ ॥

इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

गुह से आलिंगन किये हुए भरत को, जो श्रीरामचन्द्र जी के वनगमन के कारण बहुत उदास थे, गुह ने अपने भाईबंदों सहित एकाग्रचित्त हो, पुनः धीरे धीरे समझाया ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ गुहेनसार्धं समागतः—गुहेनआलिङ्गतोयोभरतः। (शि०) २ सजनः—सपरिवारः। (गो०) ३ समाहितः—एकाग्रचित्तः। (गो०)

षडशीतितमः सर्गः

—:०:—

आचचक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः।
भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः॥ १॥

अनन्तर दुर्गम वन में रहने वाले गुह, अमित गुणशाली भरत जी से, श्रीरामचन्द्र जी के प्रति महात्मा लक्ष्मण जी का जो सद्भाव (प्रीति) था वह कहने लगे॥ १॥

तं जाग्रतं [1]गुणैर्युक्तं वरचापेषुधारिणम्।
भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रवम्॥ २॥

हे प्रभो! जब भाई की रखवाली के लिये तीर और कमान ले कर, भ्रातृभक्त लक्ष्मण जाग कर पहरा दे रहे थे, तब मैंने उनसे कहा॥ २॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि शेष्वास्यां सुखं राघवनन्दन॥ ३॥

हे तात! आपके सोने के लिये यह सुख की देने वाली सेज तैयार है, हे राघवनन्दन! आप सुख से इस पर सोइये॥ ३॥

उचितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः।
धर्मात्मंस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम्॥ ४॥

आप तो सुख पाने के योग्य हैं। दुःख तो सहने योग्य हम लोग हैं। सो हम लोग श्रीरामचन्द्र की रखवाली के लिये जागते रहेंगे॥ ४॥

---

१ गुणैः—भ्रातृभक्त्यादिगुणैः। (गो०)

न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन ।
मोत्सुकोऽभूर्ब्रवीम्येतदप्यसत्यं तवाग्रतः ॥ ५ ॥

(यह मत समझना कि, हम रखवाली करने में असावधानी करेंगे, क्योंकि) इस संसार में श्रीरामचन्द्र जी से बढ़ कर प्रिय मेरे लिये और दूसरा कोई नहीं है। मैं आपके सामने यह बात सत्य ही कहता हूँ। आप श्रीरामचन्द्र की रखवाली के लिये ज़रा भी किसी बात की चिन्ता न करें ॥ ५ ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन्सुमहद्यशः ।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थावाप्तिं च केवलाम्[1] ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र ही की कृपा से मैं इस लोक में बड़े यश की और विपुल धर्म तथा कामोपार्जित धन पाने की आशा करता हूँ ॥ ६ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया ।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्ज्ञातिभिः सह ॥७॥

अतः हे लक्ष्मण ! मैं धनुष ले कर अपने प्रिय सखा श्रीरामचन्द्र जी की, जो सीता सहित सो रहे हैं, अपनी बिरादरी के साथ रक्षा करूँगा ॥ ७ ॥

न हि मेऽविदितं किञ्चिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा ।
चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसहेम वयं युधि ॥ ८ ॥

इस प्रान्त का रत्ती रत्ती हाल मुझे मालूम है। क्योंकि मैं यहाँ के वन में सदा घूमा फिरा ही करता हूँ। कदाचित् श्रीराम के

1 केवलाम्—न्यायप्राप्तामितियावत् । (गो०)

ऊपर आक्रमण करने को चतुरङ्गिनी सेना भी आ जाय, तो भी मैं युद्ध में एक बार उसे रोक सकता हूँ ॥ ८ ॥

एवमस्माभिरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना ।
अनुनीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ९ ॥

हे प्रभो ! मेरी ये बातें सुन, धर्म में निष्ठा रखते हुए महात्मा लक्ष्मण जी, हम सब को यह सिखाने लगे ॥ ९ ॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥१०॥

जब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी सहित पृथिवी पर पड़े सो रहे हैं, तब मैं किस तरह इस सुखसेज पर सो सकता हूँ । मैं प्राणों को कैसे रख सकता हूँ (और प्राणों को सुख देने वाले) सुखों को कैसे भोग सकता हूँ । ॥ १० ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि ।
तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ ११ ॥

देखो न जिन श्रीरामचन्द्र के सामने युद्ध में क्या देवता और क्या असुर कोई भी नहीं ठहर सकता, वे ही श्रीराम, सीता सहित घासफूस के विस्तरे पर पड़े हैं ॥ ११ ॥

महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः ।
एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ १२ ॥

बड़ी तपस्या करने के बाद और विविध प्रयत्न करके महाराज दशरथ ने अपने जैसे लक्षणों वाला यह एकमात्र पुत्र पाया है ॥ १२ ॥

अस्मिन्प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति ।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १३ ॥

अतएव मैं कह सकता हूँ कि, इनको वन में भेज, महाराज बहुत दिनों जीवित न रह सकेंगे और निश्चय ही यह पृथिवी शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ १३ ॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः ।
निर्घोषोपरतं नूनमद्य राजनिवेशनम् ॥ १४ ॥

स्त्रियां उच्चस्वर से रोते रोते थक कर अब चुप हो गयी होंगी और अब राजभवन में सन्नाटा छाया होगा ॥ १४ ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।
नाशंसे यदि जीवेयुः सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १५ ॥

मुझे आशा नहीं कि, महाराज, कौशल्या और मेरी माता आज की रात में जीवित बच जांय ॥ १५ ॥

जीवेदपि च मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया ।
दुःखिता या तु कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥१६॥

सम्भव है शत्रुघ्न के आने की प्रतीक्षा करती हुई मेरी माता जीती रहे, परन्तु वीरप्रसविनी माता कौशल्या का इस दुःख से जीवित रहना असम्भव है ॥ १६ ॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १७ ॥

महाराज पिता जी का कितने ही दिनों से मनोरथ था कि, श्रीरामचन्द्र को राज्य सिंहासन पर बैठावें, किन्तु अब उनका यह मनोरथ उनके मन ही में चला जायगा ॥ १७ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन्काले ह्युपस्थिते ।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ १८ ॥

जब मेरे पिता जी प्राणत्याग देंगे, तब जो उनके शव को दग्ध करेंगे, वे अपना जन्म सफल करेंगे ॥ १८ ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥ १९ ॥

जिस पुरी के चबूतरे और बैठक बड़े सुन्दर बने हैं, जिसमें मनोहर राजमार्ग हैं और जिसमें अच्छे अच्छे ऊँचे मकान सुशोभित हैं और जो सर्वप्रकार के रत्नों से भूषित हैं ॥ १९ ॥

गजाश्वरथसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम् ।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २० ॥

जो हाथी, घोड़ों और रथों से परिपूर्ण है, जिसमें विविध भाँति के तुरही भेरी आदि बाजे बजा करते हैं और जिसमें सब प्रकार का सुख है और जो हृष्ट पुष्ट जनों से भरी है ॥ २० ॥

आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम् ।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २१ ॥

जो वाटिकाओं और उपवनों से भूषित है, सभाएँ और उत्सव जहाँ सदा होते ही रहते हैं—ऐसी मेरे पिता की राजधानी में, जो लोग सुखी हो कर विचरेंगे, वे ही लोग धन्य हैं ॥ २१ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।
निवृत्ते समये ह्यस्मिन्सुखिताः प्रविशेमहि ॥ २२ ॥

हे गुह ! चौदहवर्ष बीतने पर इस व्रत को पालन कर, क्या हम लोग भी सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र के साथ कुशलपूर्वक अयोध्यापुरी में सुख से प्रवेश करेंगे ? ॥ २२ ॥

परिदेवयमानस्य तस्यैवं सुमहात्मनः ।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २३ ॥

गुह ने कहा—हे भरत ! राजकुमार और महात्मा लक्ष्मण जी तीर कमान हाथ में ले, खड़े रहे और इस प्रकार विलाप करते ही करते व खड़े ही खड़े सवेरा हो गया ॥ २३ ॥

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ ।
अस्मिन्भागीरथीतीरे सुखं सन्तारितौ मया ॥ २४ ॥

प्रातःकाल सूर्य के उदय होने पर दोनों भाइयों ने, इन्हीं भागीरथी के तट पर, जटा बनाई । तब मैंने बड़े आराम से उनको पार उतारा ॥ २४ ॥

जटाधरौ तौ द्रुमचीरवाससौ
महाबलौ कुञ्जरयूथपोपमौ ।
वरेषुचापासिधरौ परन्तपौ
व्यवेक्षमाणौ सह सीतया गतौ ॥ २५ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः ॥

महाबली, तेजस्वी और शत्रुओं के दमन करने वाले वे दोनों भाई, सीता को साथ ले और मस्तक पर जटा बनाये, वृक्ष के

छिलकों के वस्त्र पहिने हुए, तरकस और धनुष धारण किये हुए तथा मेरी ओर देखते हुए, गजराज की तरह चले गये ॥ २५ ॥

अयोध्याकाण्ड का छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

सप्ताशीतितमः सर्गः

—:o:—

गुहस्य वचनं श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम् ।
ध्यानं जगाम तत्रैव यत्र[1] तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥

भरत जी ने ज्योंही गुह के ऐसे दुःखप्रद वचन सुने त्योंही, वे श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान करने लगे ॥ १ ॥

सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
पुण्डरीकविशालाक्षस्तरुणः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥

तदनन्तर सुकुमार, बड़ी भुजाओं वाले, केहरी के समान कंधे वाले, महाधैर्यवान्, कमलनयन, तरुण और मनोहर दर्शन वाले ॥२॥

प्रत्याश्वस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः ।
पपात सहसा [2]तोत्रैर्हृ[3]तिविद्ध इव द्विपः ॥ ३ ॥

भरत जी, जब दो घड़ी बाद सचेत हुए, तब बहुत उदास हो, हृदय में अङ्कुश खाये हुए हाथी की तरह अचानक मूर्छित हो, पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

---

१ यत्रतत्रैव—यत्रक्षणेअप्रियं श्रुतं तत्रैवेत्यर्थः । (गो०) २ तोत्रैः—अङ्कुशैः । (रा०) ३ हृदि—हृदयदेशे । (रा०)

तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽ[1]नन्तरस्थितः ।
परिष्वज्य रुरोदोच्चैर्विसंज्ञः शोककर्शितः ॥ ४ ॥

भरत जी की ऐसी दशा देख, निरन्तर भरत जी के पास रहने वाले शत्रुघ्न जी अत्यन्त दुखित एवं संज्ञाहीन हो, भरत जी के शरीर से लिपट कर, उच्चस्वर से विलाप कर रोने लगे ॥ ४ ॥

ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भरतस्य ताः ।
उपवासकृशा दीना भर्तुर्व्यसनकर्शिताः ॥ ५ ॥

तब भरत जी की सब माताएँ, जो उपवास करने के कारण शरीर से कृश और पति की मृत्यु होने से शोकातुर हो रही थीं, (भरत जी को मूर्छित हुआ सुन) उनके पास दौड़ी हुई गयीं ॥ ५ ॥

ताश्च तं पतितं भूमौ रुदन्त्यः पर्यवारयन् ।
कौसल्या [2]त्वनुसृत्यैनं दुर्मनाः परिषस्वजे ॥ ६ ॥

और भरत जी को भूमि पर (मूर्छित) पड़ा देख, वे उनको चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गयीं। कौशल्या ने भरत जी के निकट जा और अधिक विकल हो, भरत जी को उठा कर अपने हृदय से लगा लिया ॥ ६ ॥

वत्सला स्वं यथा [3]वत्समुपगूह्य तपस्विनी ।
परिपप्रच्छ भरतं रुदन्ती शोककर्शिता ॥ ७ ॥

---

१ अनन्तरस्थितः—निरन्तरसमीपेस्थितः। (रा०) २ अनुसृत्य—समीपं प्राप्य। (गो०) ३ उपगूह्य—परिष्वज्य। (गो०)

तदनन्तर पुत्रवत्सल एवं तपस्विनी कौशल्या, अपने निज गर्भजात पुत्र के समान, भरत जी को अपने हृदय से लगा, शोकाकुल हो, रो रो कर उनसे पूँछने लगीं ॥ ७ ॥

पुत्र व्याधिर्न ते कच्चिच्छरीरं परिबाधते ।
अद्य राजकुलस्यास्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ८ ॥

बेटा! क्या तुम्हारे शरीर में कोई बीमारी उठ खड़ी हुई है? देखो, अब इस राजकुल का जीना मरना तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है ॥ ८ ॥

त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते ।
वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः ॥ ९ ॥

हे वत्स! लक्ष्मण जी को साथ ले श्रीरामचन्द्र तो वन में चले ही गये, अब तो मैं तुम्हारा ही मुख देख कर जी रही हूँ। अब महाराज दशरथ के बाद, एक तुम्हीं हम लोगों के रक्षक हो ॥ ९ ॥

कच्चिन्नु लक्ष्मणे पुत्र श्रुतं ते किञ्चिदप्रियम् ।
पुत्रे वा ह्येकपुत्रायाः सहभार्ये वनं गते ॥ १० ॥

हे बेटा! लक्ष्मण जी के बारे में तो तुमने कोई अप्रिय बात नहीं सुनी? अथवा मेरे एकमात्र पुत्र, जो स्त्री सहित वन में गया है, उसके विषय में तो कोई अमङ्गल समाचार नहीं सुना? ॥ १० ॥

स मुहूर्तात्समाश्वस्य* रुदन्नेव महायशाः ।
कौसल्यां परिसान्त्व्येदं गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

महायशस्वी भरत जी दो घड़ी बाद सचेत हुए। तब उन्होंने रुदन करती हुई कौशल्या को धीरज बंधाया और गुह से कहने लगे ॥ ११ ॥

---

* पाठान्तरे—"स मुहूर्तं समाश्वस्य"।

भ्राता मे क्वावसद्रात्रौ क्व सीता क्व च लक्ष्मणः ।
अस्वपच्छयने कस्मिन्किं भुक्त्वा गुह शंस मे ॥ १२ ॥

हे गुह ! मेरे भाई श्रीराम ने रात कहाँ बिताई थी, उन्होंने भोजन क्या किया था और किस बिछौने पर वे सोये थे; सीता और लक्ष्मण कहाँ रहे थे ? तुम ये सब वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ १२ ॥

सोऽब्रवीद्भरतं हृष्टो[1] निषादाधिपतिर्गुहः ।
यद्विधं[2] प्रतिपेदे[3] च रामे प्रियहितेऽतिथौ ॥ १३ ॥

निषादराज गुह ने, प्रसन्न हो, (प्रसन्न इसलिये कि उसे श्रीराम जी के गुणगान करने का अवसर प्राप्त हुआ) श्रीराम जैसे प्रिय और हितैषी अतिथि का जैसा सत्कार किया था—सो कहा ॥ १३ ॥

अन्नमुच्चावचं[4] भक्ष्याः फलानि विविधानि च ।
रामायाभ्यवहारार्थं बहु चोपहृतं मया ॥ १४ ॥

हे भरत ! मैंने तरह तरह के अन्न, भक्ष्य, और बहुत से फल मूल ला कर भोजन करने के लिये श्रीराम के आगे रखे थे ॥ १४ ॥

तत्सर्वं [5]प्रत्यनुज्ञासीद्रामः सत्यपराक्रमः ।
न तु तत्प्रत्यगृह्णात्स क्षत्रधर्म[6]मनुस्मरन् ॥ १५ ॥

---

१ गुहः हृष्टः—रामवृत्तान्तकीर्तनस्यावकाशोलब्धइतिसंजातहर्षःसन् । (गो०) २ रामे यद्विधं—यादृशमुपचारादिकं । (गो०) ३ प्रतिपेदे—अकरोदिति । (गो०) ४ उच्चावचं—अनेकविधं । (शि०) ५ प्रत्यनुज्ञासीत्—मदनुग्रहार्थंस्वीकृत्यपुनर्मह्यमेवदत्तवान् । (रा०) ६ क्षत्रधर्मं—भागीरथी तीरं तत्रयोधर्मः अन्यदीयवस्तुग्रहणान्निवृत्तिस्तं । (शि०)

किन्तु सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने मुझ पर अनुग्रह करने के लिये सब चीज़ें वचन मात्र से ग्रहण कीं और मुझे क्षत्रिय धर्म का स्मरण करा कर (कि गङ्गा के तट पर क्षत्रियों को किसी की दी हुई वस्तु ग्रहण करना अनुचित है) वे सब वस्तुएँ मुझको लौटा दीं ॥ १५ ॥

[नोट—किसी किसी टीकाकार का मत है कि, श्रीरामचन्द्र के उपवास करने का कारण तीर्थविधि का पालन था—अर्थात् तीर्थ में जा कर प्रथम दिन उपवास करना चाहिये। इसी लिये उन्होंने गुह की भेंट ग्रहण नहीं की थी। किन्तु आगे के श्लोक से यह अनुमान सिद्ध नहीं होता।]

न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा ।
इति तेन वयं राजन्नऽनुनीता[1] महात्मना ॥ १६ ॥

और मुझसे कहा—हे सखे ! हम क्षत्रिय हैं, हमारा धर्म है कि, सदा सब को सब कुछ दिया तो करें, किन्तु लें कुछ भी नहीं। हे राजन् ! उन महात्मा श्रीराम ने हम लोगों से यह कहा ॥ १६ ॥

लक्ष्मणेन समानीतं पीत्वा वारि महामनाः* ।
औपवास्यं तदाऽकार्षीद्राघवः सह सीतया ॥ १७ ॥

महामना श्रीराम, लक्ष्मण जी का लाया हुआ जल, सीता सहित पी कर, उस रात उपवास करके रह गये ॥ १७ ॥

ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत्तदा ।
[2]वाग्यतास्ते त्रय सन्ध्यां[3] समुपासत संहिताः[4] ॥१८॥

---

१ अनुनीता—प्रत्युक्ता। (शि०) २ वाग्यतः—नियतवाचः। (गो०) ३ सीतायाअपिसन्ध्यायांध्यानजपादिकमस्त्येव। (गो०) ४ संहिताः—समाहिताः। (गो०) * पाठान्तरे—"महायशः"।

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने भी, जो जल बच रहा था, सो पी लिया। तदनन्तर तीनों ने मौन और एकाग्रचित्त हो, सन्ध्यावन्दन किया॥ १८॥

[नोट—तीनों ने सन्ध्योपासन किया। तीन की संख्या में किसी किसी ने तो श्रीराम, लक्ष्मण और सुमंत्र की गणना की है, और किसी ने श्रीराम, लक्ष्मण और सीता की। जिस प्रकार सूतजातीय होने के कारण सुमंत्र को शास्त्रतः वैदिक सन्ध्योपासन करने का निषेध हो सकता है, उसी प्रकार स्त्रीजाति की होने के कारण सीता जी भी वैदिक सन्ध्योपासन करने की अधिकारिणी नहीं हैं। अतः जो समाधान सुमंत्र के लिये है, वही जानकी जी के लिये भी। श्रीगोविन्दराज जी का मत है कि, सीता ने जो सन्ध्योपासन किया उसमें केवल परमात्मा का ध्यान और उनके नाम का जप किया था। स्त्रियों तथा शूद्रों के लिये परमात्मा का ध्यान करने और उनका नाम जपने का निषेध नहीं है। यहाँ पर एक शङ्का और उठती है। वह यह कि, जलपान के बाद सन्ध्योपासन कैसा? इसका समाधान भूषणटीका में इस प्रकार किया गया है कि, गुह ने भरत के इस प्रश्न के उत्तर में कि, श्रीराम ने क्या खाया था, कहा कि, मेरे लाये हुए फलादि को लौटा-लक्ष्मण के लाये हुए जल को पी कर, श्रीराम रहे। यह प्रसङ्गानुसार प्रश्न का उत्तर है। इससे यह न समझना चाहिये कि, जल पीने के अनन्तर श्रीरामचन्द्र ने सन्ध्योपासन किया था।]

सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत्स्वास्तरं शुभम्।
स्वयमानीय बर्हींषि क्षिप्रं राघवकारणात्॥ १९॥

तदनन्तर महात्मा लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र के सोने के लिये तुरन्त कुश ला कर बिछा दिये॥ १९॥

तस्मिन्समाविशद्रामः स्वास्तरे सह सीतया।
प्रक्षाल्य च तयोः पादावपचक्राम लक्ष्मणः॥ २०॥

और जब उन पर श्रीरामचन्द्र जी सीता सहित लेटे, तब लक्ष्मण उन दोनों के पैर धो कर, वहाँ से कुछ दूर हट कर, चले आये ॥ २० ॥

एतत्तदिङ्गुदीमूलमिदमेव च तत्तृणम् ।
यस्मिन्रामश्च सीता च रात्रिं तां शयितावुभौ ॥२१॥

हे राजकुमार! देखो यही तो वह इंगुदी का पेड़ है और यही वह तृणशय्या है। इसी पर उस रात में श्रीराम और सीता—दोनों सोये थे ॥ २१ ॥

[1]नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलित्रवा-
ञ्शरैः सुपूर्णाविषुधी[2] परन्तपः ।
महद्धनुः सज्यमुपोह्य[3] लक्ष्मणो
[4]निशामतिष्ठत्परितोऽस्य केवलम् ॥ २२ ॥

उस रात में शत्रुओं को दमन करने वाले लक्ष्मण, तीर से भरे दो तरकस बाँध, हाथों में गोह के चमड़े के दस्ताने पहिन और हाथ में रोदा चढ़ा हुआ बड़ा धनुष ले, श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली के लिये उनकी तृणशय्या (से कुछ हट) उसके चारों ओर घूम घूम कर पहरा देते रहे ॥ २२ ॥

ततस्त्वहं चोत्तमबाणचापधृ-
त्स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः ।

१ नियम्य—बध्वा । (गो०) २ इषुधी—तूणीरद्वयं । (गो०) ३ उपोह्य—धृत्वा । (गो०) ४ अस्तपरितोतिष्ठत्—सर्वतो रक्षणार्थं प्रदक्षिणं चचारेत्यर्थः । (गो०)

अतन्द्रिभिर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकैः
सहेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा ॥ २३ ॥

इति सप्तशीतितमः सर्गः ॥

मैं भी एक बढ़िया धनुष हाथ में ले, अपनी बिरादरी के धनुषधारी लोगों के साथ, उन इन्द्र तुल्य श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली करता हुआ लक्ष्मण जी के साथ यहाँ रात भर जागता रहा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

अष्टाशीतितमः सर्गः

—:※:—

तच्छ्रुत्वा निपुणं[1] सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः ।
इङ्गुदीमूलमागम्य रामशय्यामवेक्ष्य ताम् ॥ १ ॥

गुह के वचन सुन भरत जी मंत्रियों सहित, सावधानतापूर्वक इंगुदी वृक्ष के नीचे गये और श्रीरामचन्द्र जी की तृणशय्या को देखने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तेन[2] महात्मना ।
शर्वरी शयिता भूमाविदमस्य विमर्दितम् ॥ २ ॥

और अपनी माताओं से बोले कि, महात्मा श्रीरामचन्द्र ने उस रात, इसी पर यहाँ शयन किया था। यह कुश उन्हींके शरीर से मर्दन किये हुए हैं ॥ २ ॥

---

१ निपुणं—सावधानं। (गो०) २ तेन—रामेण। (गो०)

महाभागकुलीनेन महाभागेन धीमता ।
जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्तुमर्हति ॥ ३ ॥

परम भाग्यवान्, कुलीन और बुद्धिशाली महाराज दशरथ से उत्पन्न हो, श्रीरामचन्द्र ने पृथिवी पर शयन किया सो यह अत्यन्त अनुचित हुआ ॥ ३ ॥

[1]अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसंवृते* ।
शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले ॥ ४ ॥

जो श्रीराम, सदा ही राजाओं के सोने योग्य केले की छाल के बने अति कोमल बिछौने से युक्त सेजों पर सोते रहे हैं, वे भला, किस तरह भूमि पर सोते होंगे ॥ ४ ॥

प्रासादाग्रविमानेषु वलभीषु[2] च सर्वदा ।
हैमराजतभौमेषु [3]वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥

पुष्पसञ्चयचित्रेषु चन्दनागरुगन्धिषु ।
पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुकसङ्घरुतेषु च ॥ ६ ॥

प्रासादवरवर्येषु शीतवत्सु सुगन्धिषु ।
उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषैर्वराभरणनिःस्वनैः ।
मृदङ्गवरशब्दैश्च सततं प्रतिबोधितः ॥ ८ ॥

---

१ अजिन—शब्देन कदल्याद्यजिनं विवक्षितं । (गो०) २ वलभीषु—कूटागारेषु । (गो०) ३ वरास्तरणशालिषु—चित्रकम्बलशालिषु । (गो०)

* पाठान्तरे—"सञ्चये ।"

जिस सातखने राजभवन की चौखण्डी की भूमि सोने और चाँदी की बनी हुई है और जिस पर अच्छे अच्छे रंग बिरंगे ऊनी गलीचे बिछे हुए हैं, जिन पर पुष्पों से चित्र विचित्र रचनाएँ की जाती हैं और जो शयनगृह चन्दन और अगर की सुगन्ध से सुवासित है, जो सफेद उजले बादल की तरह दीख पड़ता है, जहाँ पर तोता मैना आदि पक्षी बोलते, जो राजभवनों में सब से श्रेष्ठ हैं, जहाँ पर आवश्यकतानुसार ठंडक पहुँचायी जा सकती है (अर्थात् जब चाहो तब कमरे में ठंडक हो जाय) अथवा जिसमें सदा शीतल और सुगन्धित पवन का सञ्चार हुआ करता है, जिसकी ऊँची दीवालें सोने चाँदी के काम से खचित होने के कारण मेरु पर्वत जैसी जान पड़ती हैं—ऐसे उत्तम शयनागार में सोने वाले श्रीरामचन्द्र जी जो मधुर गान और उत्तम मृदङ्गादि बाजों के शब्दों से तथा सुन्दर स्त्रियों की पायजेब, नूपुर आदि गहनों के छुमछुम शब्द से जगाये जाते थे ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

वन्दिभिर्वन्दितः काले[1] बहुभिः सूतमागधैः ।
गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परन्तपः ॥ ९ ॥

और जागने के बाद, प्रातःकाल शत्रुओं के दमन करने वाले श्रीराम, जिनकी अनेक सूत, मागध और वंदीगण अनेक प्रकार की सुन्दर (पूर्व पुरुषों की) गाथाओं और स्तुतियों से वंदना करते थे ॥ ९ ॥

अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिभाति मे* ।
मुह्यते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः ॥ १० ॥

---

१ काले—प्रातःकाले । (गो०) * पाठान्तरे—" मा । "

वे ज़मीन पर सोवें, और शृगाल एवं वन्य जन्तुओं का भयङ्कर चीत्कार सुन जागें—इस बात पर मुझे न तो विश्वास ही होता है और न यह मुझे सत्य ही जान पड़ती है। क्योंकि इसकी कल्पना मात्र से मुझे भ्रम होने लगता है और स्वप्न सा जान पड़ता है॥ १०॥

न नूनं दैवतं किञ्चित्कालेन[1] बलवत्तरम्।
यत्र दाशरथी रामो भूमावेव शयीत सः॥ ११॥

निश्चय ही परमात्मा की इच्छा से बढ़ कर कोई देवता नहीं है। नहीं तो महाराज दशरथ के पुत्र हो कर भी श्रीराम ज़मीन पर क्यों सोते॥ ११॥

विदेहराजस्य सुता सीता च प्रियदर्शना।
दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च॥ १२॥

राजा जनक की बेटी, महाराज दशरथ की बहू जो अति सुन्दरी है और जिस पर महाराज दशरथ की बड़ी कृपा थी, हाय! ज़मीन पर सोती है!!॥ १२॥

इयं शय्या मम भ्रातुरिदं हि परिवर्तितम्।
स्थण्डिले[2] कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं तृणम्॥ १३॥

हे माता! देखो मेरे भाई की यह सेज है! देखो, जैसे जैसे उन्होंने करवटें बदली हैं, वैसे ही वैसे कड़ी भूमि पर बिछे हुए तृण उनके शरीर से दब दब कर कुचल गये हैं॥ १३॥

---

१ कालेन—कालात् परमात्मेच्छया। (शि०) २ स्थण्डले—भूतले। (गो०)

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयनोत्तमे ।
तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः ॥ १४ ॥

मुझे जान पड़ता है, गहने पहिने हुए सीता सोई थी। इसीसे तो जहाँ तहाँ सोने के रोना (दाने) पड़े हुए देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा ।
तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः ॥ १५ ॥

हे माता ! जान पड़ता है, यहाँ पर सीता की ओढ़नी उलझ गयी थी—क्योंकि यहाँ रेशम के धागे उलझे हुए हैं ॥ १५ ॥

मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी ।
सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥ १६ ॥

पति की सेज (कैसी ही क्यों न हो अर्थात् चाहे वह कोमल हो चाहे कठोर) स्त्रियों के लिये सदा सुखदायिनी होती है, देखो ! इसीसे तो उस सुकुमारी तपस्विनी पतिव्रता बाला सीता को इस पर सोने से कुछ भी कष्ट न हुआ ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽहं यत्सभार्यः कृते मम ।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥ १७ ॥

हा ! मैं तो जीते जी ही मर गया। मैं बड़ा निर्दयी हूँ। मेरे ही पीछे तो श्रीरामचन्द्र को अपनी स्त्री सहित, अनाथ की तरह, ऐसी शय्या पर सोना पड़ा ॥ १७ ॥

सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकस्य सम्मतः ।
सर्वलोकप्रियस्त्यक्त्वा राज्यं सुखमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

सम्राट् के कुल में जन्म ले कर, सब को सुख देने वाले और सर्वप्रिय हो कर भी वे उत्तम राज्यसुख से वञ्चित किये गये ॥१८॥

कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः ॥१९॥

हा! नील कमल के समान श्यामल शरीर वाले तथा रक्तवर्ण नेत्र वाले, देखने में मनोहर, जिन्होंने सदा सुख ही भोगा है और जो कभी दुःख भोगने योग्य नहीं है—वे श्रीरामचन्द्र किस प्रकार ज़मीन पर सोये ॥ १९ ॥

धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते ॥ २० ॥

इस समय तो शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण जी ही धन्य हैं और इन्हींको बड़भागी समझना चाहिये कि, जो ऐसे बुरे समय में भी अपने भाई श्रीराम का साथ दे रहे हैं ॥ २० ॥

सिद्धार्था खलु वैदेही पतिं याऽनुगता वनम्।
वयं संशयिताः[1] सर्वे हीनास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

और वैदेही जानकी का भी जन्म सफल है जो अपने पति के साथ वन में गयी। हम लोग श्रीरामचन्द्र जी से केवल हीन ही नहीं हैं, किन्तु हमें इस बात का भी सन्देह है कि, श्रीराम हम लोगों की सेवा अङ्गीकार करें या न करें ॥ २१ ॥

अकर्णधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति माम्*।
गते दशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥ २२ ॥

---

१ संशयिताः—अस्मत्सेवांरामोऽङ्गीकरिष्यतिनवेतिसंशयिताः। (गो०)

* पाठान्तरे—"मा"।

महाराज दशरथ के स्वर्गवासी होने से तथा श्रीरामचन्द्र जी के वनवासी होने से, बिना माँझी की नाव की तरह, यह पृथिवी, मुझे सूनी दिखलायी पड़ती है ॥ २२ ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन्मनसाऽपि वसुन्धराम् ।
वनेऽपि वसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी वनवास कर रहे हैं तो क्या हुआ, यह पृथिवी उन्हींके भुजबल से रक्षित होने के कारण, दूसरा इसे लेने को, अपने मन में कल्पना भी नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

शून्यसंवरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम् ।
अपावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥

यद्यपि इस समय अयोध्या की चहारदीवारी की रक्षा जैसी होनी चाहिये वैसी नहीं हो रही, हाथी घोड़े भी जहाँ तहाँ छूटे हुए घूम रहे हैं, उन्हें पकड़ कर कोई बाँधने वाला नहीं है। पुर के फाटक भी खुले पड़े हैं अतएव राजधानी अरक्षित है ॥ २४ ॥

[1]अप्रहृष्टबलां न्यूनां[2] [3]विषमस्थामनावृताम्[4] ।
शत्रवो नाभिमन्यन्ते भक्षान्विषकृतानिव ॥ २५ ॥

क्योंकि वहाँ की सेना उदास है, उसे पुरी की रक्षा करने की सुधि नहीं है। अतः अयोध्यापुरी इस समय साधनहीन है, दुर्दशापन्न है और बाहिर से भी उसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है;

१ अप्रहृष्टबलत्वमरक्षितत्वेहेतुः । (गो०) २ न्यूनां—साधनविहीनां । (गो०) ३ विषमस्थां—दुर्दशापन्नां । (गो०) ४ अनावृतां—बाह्यरक्षकरहितां । (गो०)

तथापि शत्रुलोग, श्रीरामचन्द्र के प्रताप के कारण, उनकी ओर देखते हुए वैसे ही डरते हैं, जैसे कोई विषैले भोजन को देख कर डरता है ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा ।
फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥२६॥

आज से मैं भी ख़ाली ज़मीन पर अथवा चटाई पर ही सोऊँगा, और नित्य फल मूल ही खाऊँगा और जटा चीर धारण करूँगा ॥ २६ ॥

तस्यार्थमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने ।
तं प्रतिश्रवमामुच्य नास्य मिथ्या भविष्यति ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र को वन से लौटा कर उनके बदले में वन में बसूँगा—क्योंकि वनवास की जो अवधि अभी शेष है, उसे मैं पूरी करूँगा जिससे बड़े भाई की चौदह वर्ष वनवास करने की प्रतिज्ञा मिथ्या न होने पावे ॥ २७ ॥

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो माऽनुवत्स्यति ।
लक्ष्मणेन सह त्वार्यो ह्ययोध्यां पालयिष्यति ॥२८॥

भाई के बदले वन में वास करने पर शत्रुघ्न जी मेरे साथ वन में रहेंगे और लक्ष्मण के सहित श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या में जा राज्यशासन करेंगे ॥ २८ ॥

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः ।
[1]अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥ २९ ॥

---

1 अपि—संभावनायामपिशब्दः । (गो०)

ब्राह्मण लोग अयोध्या में श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक करेंगे। देवताओं से मैं तो यही प्रार्थना करता हूँ कि, वे मेरा मनोरथ पूरा करें ॥ २९ ॥

प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं[1]
बहुप्रकारं यदि नाभिपत्स्यते[2] ।
[3]ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं
वने वसन्नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

इति अष्टाशीतितमः सर्गः ॥

चरणों में सीस रखने तथा अनेक प्रकार से मेरे स्वयं मनाने पर भी, यदि श्रीरामचन्द्र मेरी बात अंगीकार न करेंगे (और पिता की आज्ञा का स्वयं पालन ही करेंगे) तो मैं भी चिरकाल तक श्रीरामचन्द्र जी का सेवक बन उनके साथ वन में वास करूँगा। पर मुझे विश्वास है कि, श्रीरामचन्द्र जी भक्तवत्सल हैं, अतः वे अपने दास की उपेक्षा कभी न करेंगे ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:※:—

---

१ स्वयंनतुमंत्रिमुखेन। (रा०) २ नाभिपत्स्यते—नाङ्गीकरिष्यति। (गो०) ३ अनुवत्स्यामि—तदनुचरोभवामि। (गो०)

एकोनवतितमः सर्गः

—:o:—

[1]व्युष्य रात्रिं[2] तु तत्रैव[3] गङ्गाकूले स राघवः ।
भरतः [4]काल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

रघुकुलोत्पन्न भरत जी ने उसी स्थान पर जहाँ श्रीरामचन्द्र जी सोये थे, रात्रि व्यतीत की और जब सवेरा हुआ तब उठ कर शत्रुघ्न से कहा ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपतिं गुहम् ।
शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति वाहिनीम् ॥ २ ॥

शत्रुघ्न उठो ! सवेरा हो चुका । अब क्यों पड़े सो रहे हो । तुम्हारा कल्याण हो । तुम जा कर तुरन्त निषादराज गुह को यहाँ बुला लाओ, जिससे वह हमारी सेना को पार उतारे ॥ २ ॥

जागर्मि नाहं स्वपिमि तमेवार्यं विचिन्तयन् ।
इत्येवमब्रवीद्भ्रात्रा शत्रुघ्नोऽपि प्रचोदितः ॥ ३ ॥

यह सुन शत्रुघ्न ने भी कहा—हे भ्राता ! मैं सो नहीं रहा—जाग रहा हूँ और जिस प्रकार आप श्रीरामचन्द्र जी का चिन्तन करते हैं, वैसे ही मैं भी उन्हींका चिन्तन कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

इति संवदतोरेवमन्योन्यं नरसिंहयोः ।
आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो भरतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

---

१ व्युष्य—उषित्वा । (गो०) २ रात्रिं—रात्रौ । (गो०) ३ तत्रैव यत्ररामोऽशयिष्टतत्रैव । (गो०) ४ काल्यं—प्रत्यूषः । (गो०)

इस प्रकार दोनों पुरुषसिंह बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में निषादराज गुह ठीक समय पर पहुँचा और हाथ जोड़ कर भरत जी से बोला ॥ ४ ॥

कच्चित्सुखं नदीतीरेऽवात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम् ।
कच्चित्ते सहसैन्यस्य तावत्सर्वमनामयम् ॥ ५ ॥

हे काकुत्स्थ ! आप नदी के तट पर रात को सुखपूर्वक तो रहे। आपको या आपकी सेना में से किसी को किसी प्रकार का क्लेश तो नहीं हुआ ॥ ५ ॥

गुहस्य तत्तु वचनं श्रुत्वा स्नेहादुदीरितम् ।
[1]रामस्यानुवशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

गुह के ऐसे स्नेह-सने वचन सुन, भरत जी ने भी गुह से यह कहा ॥ ६ ॥

सुखा नः शर्वरी राजन्पूजिताश्चापि ते वयम् ।
गङ्गां तु नौभिर्बह्वीभिर्दाशाः[2] सन्तारयन्तु नः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! यह रात हम सब की सुख से बीती और तुमने हमारा भली भाँति आदर सत्कार भी किया । अब तुम अपने मल्लाहों को आज्ञा दो कि, बहुत सी नावों द्वारा हम लोगों को उस पार पहुँचा दें ॥ ७ ॥

ततो गुहः सन्त्वरितं श्रुत्वा भरतशासनम् ।
प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातिजनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

---

१ रामस्यअनुवशः—रामस्यअनुचरः । (शि०) २ दाशाः—कैवर्तिकाः । (शि०)

भरत जी की ऐसी आज्ञा पा कर गुह ने बड़ी शीघ्रता से पुनः अपने नगर में प्रवेश किया और वहाँ जा कर अपनी जातिवालों (मल्लाहों) से कहा—॥ ८ ॥

उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु च वः सदा ।
नावः समनुकर्षध्वं तारयिष्याम वाहिनीम् ॥ ९ ॥

भाइयो ! उठो ! जागो ! सदा तुम्हारा मङ्गल हो । नावों को किनारे पर ला कर, सेना को पार उतारो ॥ ९ ॥

ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात् ।
पञ्च नावां शतान्याशु समानिन्युः समन्ततः ॥१०॥

गुह द्वारा ऐसा कहे जाने पर मल्लाह लोग उठ खड़े हुए और अपने राजा के आज्ञानुसार उन लोगों ने इधर उधर से जोड़ बटोर कर ५००नावें ला कर, घाट पर लगा दीं ॥ १० ॥

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधरा वराः ।
शोभमानाः पताकाभिर्युक्तवाताः[१] सुसंहताः[२] ॥११॥

इनके अतिरिक्त राजाओं के चढ़ने योग्य "स्वस्तिक" नामक कई एक बजरा नावें भी लायी गयीं । इन स्वस्तिक नावों में घण्टे टंगे हुए थे । पताकाएँ शोभायमान थीं । हवा आने जाने के लिये खिड़कियाँ बनी थीं, और नाव की तली में कीलें आदि ऐसी सावधानी से जड़ी थीं कि, उनमें एक बूँद भी जल नाव के भीतर नहीं आ सकता था ॥ ११ ॥

---

१ युक्तवाताः—फलकुड्यकरणेन मध्ये मध्येगवाक्षनिर्माणेनच महावातनिवारणादुचितवाताः । (गो०) २ सुसंहिताः—राजारोहणस्थानत्वेनायसकीलादिभिर्दृढसन्धिबन्धाः । (गो०)

ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम् ।
[1]सनन्दिघोषां [2]कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥१२॥

उन स्वस्तिक नाम के वजरों में सफेद ऊनी कालीन बिछे हुए थे। जब वे चलायी जाती थीं, तब उनमें छोटी छोटी घंटियाँ बजती थीं, वे देखने में बड़ी सुन्दर जान पड़ती थीं। ऐसी एक नाव को गुह स्वयं लाया था ॥ १२ ॥

तामारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महायशाः* ।
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोषितः ॥१३॥

इस वजरे पर महायशस्वी भरत, शत्रुघ्न, कौशल्या, सुमित्रा, तथा अन्य जो रानियाँ थीं, सवार हुईं ॥ १३ ॥

पुरोहितश्च तत्पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये ।
अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥ १४ ॥

भरत आदि के नाव में बैठने के पूर्व पुरोहित तथा अन्य गुरुजन ब्राह्मण पहिले ही चढ़ चुके थे। तदनन्तर कौशल्यादि रानियाँ नाव में बैठी थीं। उनके बैठने के बाद सामान से लदे छकड़े नावों पर बोझे गये थे ॥ १४ ॥

[3]आवासमादीपयतां[4] तीर्थं[5] चाप्यवगाहताम् ।
[6]भाण्डानि चाददानानां घोषस्त्रिदिवमस्पृशत् ॥ १५ ॥

---

१ सनन्दिघोषां—हर्षजनककिङ्किण्यादिघोषयुक्तं । (गो०) २ कल्याणीं—शोभनां । (गो०) ३ आवास—सेनानिवेशं । (गो०) ४ आदीपयतां—अग्निनाज्वलयतां । (गो०) ५ तीर्थं—अवतरणप्रदेशं । (गो०) ६ भाण्डानि—उपकरणानि । (गो०) * पाठान्तरे—" महाबलः " ।

चलते समय छावनी में जो घास फूस था वह जला दिया गया। फिर गङ्गा जी में स्नान करने वालों का कोलाहल, तथा नावों पर सामान लादने वालों का चीत्कार शब्द ऐसा हुआ कि, आकाश प्रतिध्वनित हो उठा। अर्थात् वहाँ से सेना के कूँच के समय और नावों में सामान लादते समय बड़ा ही हल्ला हुआ ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः ।
वहन्त्यो जनमारूढं तदा सम्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

वे पालवाली नावें, जिन पर माँझी लोग बैठे हुए रखवाली कर रहे थे, नावों पर सवार लोगों को लिये हुए, बड़े वेग से चली जाती थीं ॥ १६ ॥

नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चित्काश्चिच्च वाजिनाम् ।
काश्चिदत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं[1] महाधनम्[2] ॥ १७ ॥

कितनी ही नावों में तो स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ बैठी थीं और कितनी ही नावों में घोड़े ही घोड़े भरे थे। कई एक नावों पर रथ बैल छकड़े, घोड़े, खच्चर—जो बड़े बड़े मोल के थे भरे थे ॥ १७ ॥

ताः स्म गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम् ।
निवृत्ताः [3]काण्डचित्राणि[4] क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥१८॥

धीरे धीरे वे सब नावें गङ्गा के दूसरे पार पर आ लगीं और आरोहियों को उतारा। लौटते समय, गुह के बन्धु मल्लाह लोग, नौका ले जल में विविध प्रकार के खेल करते जाते थे ॥१८॥

---

१ यानयुग्यं—यानानिरथशकटादीनि युग्यानि—अश्वतरबलीवर्दादीनि। (गो०) २ महाधनं—बहुमूल्यं। (गो०) ३ काण्डे—वारिणि। (गो०) ४ चित्राणि—चित्रगमनानि। (गो०)

सर्वैजयन्तास्तु गजा गजारोहप्रचोदिताः ।
तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सध्वजा[1] इव पर्वताः ॥ १९ ॥

महावत लोग ध्वजा सहित हाथियों को जल में पैरा कर पार उतारते थे। उस समय वे हाथी चलते फिरते पर्वतों की तरह जान पड़ते थे ॥ १९ ॥

नावश्चारुरुहुश्चान्ये प्लवैस्तेरुस्तथा परे ।
अन्ये कुम्भघटैस्तेरुरन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

कोई कोई तो छोटी नावों पर बैठ कर पार उतरे, कोई बांस आदि के बेड़ों के सहारे, कोई घरनई से और कोई स्वयं तैर कर उस पार पहुँचे ॥ २० ॥

सा पुण्या[2] ध्वजिनी[3] गङ्गां दाशैः सन्तारिता स्वयम् ।
मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् ॥ २१ ॥

गुह के नौकर मल्लाहों ने स्वयं गङ्गास्नान से पवित्र हुई सेना को पार उतार दिया। वह सेना सूर्योदय से तीसरे मैत्र नामक मुहूर्त में परम मनोहर वन को प्रस्थानित हुई ॥ २१ ॥

[4]आश्वासयित्वा च चमूं[5] महात्मा[6]
निवेशयित्वा च यथोपजोषम्[7] ।

---

१ सध्वजाः—सगमनाः । (गो०) २ पुण्या—गङ्गास्नानादिनापूता । (गो०) ३ ध्वजिनी—सेना । (गो०) ४ आश्वासयित्वा—सान्तयित्वा । (गो०.) ५ चमूं—महाजनं । (गो०) ६ महात्मा—महामतिः । (गो०) ७ यथोपजोषम्—यथासुखं । (गो०)

द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-
[1]मृत्विग्वृतः सन्भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

प्रयाग में पहुँच, महामति भरत ने सब सेना तथा साथियों को मधुर वचनों से सान्त्वना प्रदान कर, जहाँ जिसको सुविधा जान पड़ी, वहाँ टिकाया। तदनन्तर भरत जी, वशिष्ठादि ऋषियों को साथ ले, भरद्वाज जी के दर्शन करने को उनके आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २२ ॥

स [2]ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य
[3]महात्मनो [4]देवपुरोहितस्य।
ददर्श रम्योटजवृक्षषण्डं
महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

इति एकोननवतितमः सर्गः ॥

उन वेदवित् महाज्ञानी देवपुरोहित बृहस्पतिपुत्र भरद्वाज के आश्रम में पहुँच, भरतादि ने भरद्वाज जी की रमणीय पर्णशाला और सघन वृक्षों से सुशोभित बड़े वन को देखा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

१ ऋत्विग्भिः—वशिष्ठादिभिः। (रा०) २ ब्राह्मणस्य—ब्रह्मवेदः तदधीते ब्राह्मणः। (गो०) ३ महात्मनो—महाज्ञानस्य। (गो०) ४ देवपुरोहितस्य—बृहस्पति पुत्रत्वेनदेवपुरोहितत्वं "आत्मावै पुत्र नामासि" इतिन्यायात्। (गो०)

नवतितमः सर्गः

—:०:—

भरद्वाजाश्रमं दृष्ट्वा क्रोशादेव नरर्षभः ।
बलं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥

पद्भ्यामेव हि धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः ।
वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोधसम् ॥ २ ॥

धर्मज्ञ पुरुषोत्तम भरत आश्रम से कोस भर के अन्तर पर सेना आदि को टिका कर, मंत्रियों को साथ ले, अस्त्र शस्त्र छोड़ एवं राजसी पोशाक उतार, केवल रेशमी वस्त्र धारण कर, तथा पुरोहितों को आगे कर, पैदल ही, भरद्वाज जी के दर्शन करने को गये ॥ १ ॥ २ ॥

ततः सन्दर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः ।
मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥

अनन्तर जब भरत जी ने दूर से भरद्वाज जी को देखा तब मंत्रियों को भी पीछे छोड़ आप अकेले ही वशिष्ठ जी के पीछे पीछे जाने लगे ॥ ३ ॥

वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः ।
[1]सञ्चचालासनात्तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति[2] ब्रुवन् ॥ ४ ॥

महातपस्वी भरद्वाज ने वशिष्ठ जी को देखते ही शिष्यों को अर्घ्यादि लाने की आज्ञा दी और वे तुरन्त आसन छोड़ खड़े हो गये ॥ ४ ॥

---

१ संचचाल—उदतिष्ठत् । (गो०) २ अर्घ्यं आनयतेतिशेषः । (गो०)

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः ।
अबुध्यत[1] महातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥

और आगे बढ़ वशिष्ठ जी से मिले । भरत जी ने भरद्वाज को प्रणाम किया । मुनि भरद्वाज ने जान लिया कि, वे महातेजस्वी (भरत) दशरथनन्दन हैं ॥ ५ ॥

ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात्फलानि च ।
आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले[2] ॥ ६ ॥

धर्मात्मा भरद्वाज जी ने उनके लिये भी अर्घ्य सामग्री मँगवा कर, उन दोनों को अर्घ्य और पाद्य दिया । तदनन्तर भोजन के लिये फल दिये । पीछे क्रमपूर्वक उनसे उनके घर का कुशलप्रश्न पूँछा ॥ ६ ॥

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु ।
जानन्दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥

अयोध्या में भी सेना, धनागार, मित्रों और मंत्रियों के सम्बन्ध में कुशलप्रश्न पूँछा, तदनन्तर महाराज दशरथ की मृत्यु का समाचार मालूम होने के कारण उनका नाम न लिया ॥ ७ ॥

वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम् ।
शरीरेऽग्निषु वृक्षेषु शिष्येषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥

तदनन्तर वशिष्ठ जी और भरत जी ने भी भरद्वाज से उनके शरीर, अग्नि, शिष्य, मृग और पक्षियों के विषय में कुशलप्रश्न पूँछा ॥ ८ ॥

---

१ अबुध्यतेति वसिष्ठसाहचर्यादितिभावः । (गो०) २ कुले—गृहे । (गो०)

तथेति तत्प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महातपाः ।
भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात् ॥ ९ ॥

तब महातपस्वी भरद्वाज ने अपना सब का कुशल मङ्गल वृत्तान्त बतला, श्रीरामचन्द्र जी के स्नेह के कारण (न कि भरत जी के दोष दिखाने के उद्देश्य से) भरत जी से कहा ॥ ९ ॥

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं न हि मे शुध्यते[1] मनः ॥ १० ॥

हे राजकुमार ! तुम तो राज्य का शासन कर रहे हो । फिर यहाँ आने की तुम्हें क्या आवश्यकता आ पड़ी । यह सब मुझसे कहो । क्योंकि इस सम्बन्ध में मुझे विश्वास नहीं होता ॥ १० ॥

सुषुवे यममित्रघ्नं कौसल्या *नन्दवर्धनम् ।
भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम् ॥११
नियुक्तः स्त्रीनियुक्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः ।
वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥

कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥

महायशस्वी कौशल्या के आनन्द बढ़ाने वाले जिस श्रीराम को, स्त्री के कहने से, महाराज दशरथ ने भार्या सहित चौदह वर्ष के लिये वनवास दिया, उस निर्दोष राजकुमार के बारे में और उसके छोटे भाई के विषय में, निष्कण्टक राज्य भोग की

---

१ न शुध्यते—शुद्धिं न प्राप्नोति । नविश्वसीतियावत् । (गो०)
* पाठान्तरे—"नन्दिवर्धनम्"।

इच्छा से, क्या आप उन दोनों का कुछ अनभल तो करना नहीं चाहते ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह ।
पर्यश्रुनयनो दुःखाद्वाचा संसज्जमानया[1] ॥ १४ ॥

भरद्वाज जी के ऐसा कहने पर, भरत जी ने दुःखी होने के कारण आँखों में आँसू भर और गद्‌गद् कण्ठ हो कहा ॥ १४ ॥

[2]हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि[3] मन्यते ।
मत्तो न दोषमाशङ्के नैवं मामनुशाधि हि ॥ १५ ॥

हे भगवन्! सब कुछ जान कर भी (भूत भविष्य वर्तमान के ज्ञाता हो कर भी) यदि आप ऐसा समझ रहे हैं, तो मेरा जीना वृथा है। मेरा तो इस उपस्थित विपत्ति से कुछ भी लगाव नहीं है। मेरे मन में तो इसकी कभी कल्पना भी नहीं थी। अतः आप मुझसे ऐसा कठोर वचन न कहिये ॥ १५ ॥

न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे ।
नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे[4] ॥ १६ ॥

मेरी माता ने भी जो मेरे बारे में महाराज से कहा, वह भी न तो मेरा इष्ट था और न मैं उससे सन्तुष्ट हूँ और न उसका कहना मुझे स्वीकार ही है ॥ १६ ॥

अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः ।
प्रतिनेतुमयोध्यां च पादौ तस्याभिवन्दितुम् ॥ १७ ॥

---

१ संसज्जमानया—स्खलन्त्या। (गो०) २ हतोऽस्मि—व्यर्थजन्मास्मि। ३ भगवानपि—भूतभविष्यद्वर्तमानज्ञोपीत्यर्थः। ४ नाददे—नाङ्गीकृतवानस्मि। (गो०)

मैं तो उस पुरुषसिंह को प्रसन्न कर अयोध्या में लौटा लाने तथा उसको प्रणाम करने को जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

त्वं मामेवं गतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
शंस मे भगवन्रामः क्व सम्प्रति महीपतिः ॥ १८ ॥

हे भगवन्! मेरा इस प्रकार का मनोभिप्राय जान कर, आप मुझ पर प्रसन्न हो और मुझे बतावें कि, वे पृथ्वीनाथ श्रीरामचन्द्र जी इस समय कहाँ हैं? ॥ १८ ॥

वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः ।
उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद्भरतं वचः ॥ १९ ॥

तदनन्तर वशिष्ठादि ऋत्विजों ने भी भरद्वाज से श्रीरामचन्द्र जी का पता बतलाने की प्रार्थना की, तब भगवान् भरद्वाज जी भरत की बातों से प्रसन्न हो बोले ॥ १९ ॥

त्वय्येतत्पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे ।
[1]गुरुवृत्तिर्दमश्चैव[2] साधूनां चानुयायिता[3] ॥ २० ॥

हे पुरुषसिंह! तुम्हारा जन्म सुप्रसिद्ध रघुकुल में हुआ है। अतः बड़ों के कहने में चलना, इन्द्रियों का निग्रह और साधुजनों का अनुगामी होना। ये तीनों बातें तुम में होनी ही चाहिये ॥ २० ॥

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।
अपृच्छं त्वां तथात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥ २१ ॥

---

१ गुरुवृत्तिः—ज्येष्ठानुवर्तनं (गो०) २ दम—इन्द्रियनिग्रहः। (गो०)
३ साधूनांचानुयायिता—सच्चित्तानुवर्तनं। (गो०)

यद्यपि योगद्वारा मैं जानता था कि, तुम्हारा ऐसा मनोगत भाव है, तथापि लोगों के सामने प्रकट होने पर वह और भी अधिक दृढ़ हो जाय और इसके द्वारा तुम्हारी कीर्ति दिगन्तव्यापिनी हो, इस अभिप्राय से मैंने तुमसे वैसा प्रश्न किया था ॥ २१ ॥

जाने च रामं[1] धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम् ।
असौ वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥ २२ ॥

सीता और लक्ष्मण सहित धर्म के जानने वाले श्रीरामचन्द्र, जहाँ रहते हैं, मुझे मालूम है। वे इस समय चित्रकूट नामक महापर्वत पर वास करते हैं ॥ २२ ॥

श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः ।
एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं[2] कामार्थकोविद[3] ॥ २३ ॥

हे इष्टप्रद कोविद! आप कल वहाँ जाना। आज मंत्रियों के सहित यहीं ठहरिये। आपको मेरी यह बात अवश्य माननी होगी ॥ २३ ॥

ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः
[4]प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद्वचः ।
चकार बुद्धिं च तदा तदाश्रमे
निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥ २४ ॥

इति नवतितमः सर्गः ॥

---

१ रामंजाने—देशविशेषेस्थितंरामंजानमित्यर्थः । (गो०) २ कामं—अभीष्टं । (गो०) ३ कामार्थकोविद:—काँक्षितार्थप्रदानदक्षेत्यर्थः । (गो०) ४ प्रतीतिरूपः—प्रसिद्धकीर्तिः । (गो०)

जब भरद्वाज ने इस प्रकार कहा तब उदारदर्शन एवं प्रसिद्ध कीर्ति वाले राजकुमार भरत जी ने ऋषि का कहना मान रात भर ऋषि के आश्रम में रहने का विचार प्रकट किया ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकनवतितमः सर्गः

—:०:—

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा।
भरतं कैकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥

जब कैकेयीनन्दन भरत ने वहाँ टिकना निश्चय कर लिया, तब भरद्वाज ने उनको आतिथ्य ग्रहण के लिये निमंत्रण दिया ॥ १ ॥

अब्रवीद्भरतस्त्वेनं नन्विदं भवता कृतम्।
पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥

तब भरत जी बोले—आप तो अर्घ्य, पाद्य तथा वन के फल मूलों से मेरा यथोचित आतिथ्य कर ही चुके। मैं इससे सन्तुष्ट हूँ ॥ २ ॥

अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव।
जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येनकेनचित् ॥ ३ ॥

यह सुन भरद्वाज ने मुसक्या कर कहा कि, यह तो मैं जानता हूँ कि, प्रीतिपूर्वक दी हुई किसी भी वस्तु से आप प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सेनायास्तु तवैतस्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम् ।
मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमर्हो मनुजाधिप ॥ ४ ॥

किन्तु हे नरनाथ! मैं तो आपकी समस्त सेना की पहुनई करना चाहता हूँ। अतः मुझे जिससे सन्तोष हो, आपको वह करना उचित है ॥ ४ ॥

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः ।
कस्मान्नेहोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

हे पुरुषप्रवर! आप अपनी सेना को दूर छोड़, अकेले क्यों मेरे पास आये। सेना सहित मेरे आश्रम में न आने का क्या कारण है? ॥ ५ ॥

भरतः प्रत्युवाचेदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् ।
ससैन्यो नोपयातोऽस्मि भगवन्भगवद्भयात् ॥ ६ ॥

यह सुन भरत जी ने हाथ जोड़ कर भरद्वाज जी से कहा—हे भगवन्! आप कहीं कुपित न हों—इसी भय से मैं सेना सहित नहीं आया ॥ ६ ॥

राज्ञा च भगवन्नित्यं राजपुत्रेण वा सदा ।
यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु[1] तपस्विनाम्* ॥ ७ ॥

राजा हो वा राजपुत्र हो, उसे यही उचित है कि, अपने राज्य में बसने वाले ऋषियों के आश्रमों को यत्नपूर्वक छोड़ दे अर्थात् आश्रमों से दूर रहे ॥ ७ ॥

---

१ विषयेषुतपस्विनां—स्वकीयदेशेषुवर्तमानाऋषयः । (गो०)

* पाठान्तरे—"तपस्विनः" ।

वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च वरवारणाः ।
प्रच्छाद्य भगवन्भूमिं महतीमनुयान्ति माम् ॥ ८ ॥

हे भगवन्! मेरे साथ बड़े बड़े घोड़े बहुत से मनुष्य और मतवाले हाथी हैं, जिनके टिकने के लिये बहुत सी जगह अपेक्षित होती है ॥ ८ ॥

ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषू[1]टजांस्तथा ।
न हिंस्युरिति तेनाहमेकएव समागतः ॥ ९ ॥

वे आश्रम के वृक्षों को तालाव अथवा कुएँ के जल को, आश्रम भूमि को और पर्णशाला को कहीं नष्ट न कर डालें, यह विचार कर मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ ॥ ६ ॥

आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा ।
ततस्तु चक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥ १० ॥

तब महर्षि भरद्वाज जी ने कहा—आप अपनी सेना को यहीं बुला लीजिये । महर्षि की आज्ञा पा कर, भरत जी ने अपनी सेना वहीं बुलवा ली ॥ १० ॥

अग्निशालां प्रविश्याथ [2]पीत्वाऽपः परिमृज्य[3] च ।
आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर भरद्वाज जी ने अग्निशाला में जा तीन बार आचमन किया और यथाविधि मार्जन कर (जल को मंत्र पढ़ते हुए शरीर पर छिड़का) भरत जी की पहुनाई करने के लिये विश्वकर्मा का आवाहन किया ॥ ११ ॥

---

१ उटजान्—पर्णशालाः । (गो०) २ अपःपीत्वा त्रिरितिशेषः । (गो०) "त्रिराचामेत्" इतिश्रुतेः । (गो०) ३ परिमृज्य— यथाविधि मार्जनं कृत्वा । (शि०)

आह्वये विश्वकर्माणमहं[1] त्वष्टारमेव[2] च ।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १२ ॥

(आवाहन करते समय) वे कहने लगे कि, मैं भरत का आतिथ्य करने के लिये विश्वकर्मा और त्वष्टा का आवाहन करता हूँ। अतः वे आ कर सेना आदि के लिये घर आदि बनावें ॥ १२ ॥

आह्वये लोकपालांस्त्रीन्देवाञ्शक्रमुखांस्तथा ।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १३ ॥

मैं भरत की पहुनाई करना चाहता हूँ। अतः मैं तीनों लोकपाल यम, वरुण तथा कुबेर एवं इन्द्रादि देवताओं का आवाहन करता हूँ। वे आ कर पहुनाई की तैयारी करें ॥ १३ ॥

प्राक्स्रोतसश्च या नद्यः प्रत्यक्स्रोतस एव च ।
पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः ॥ १४ ॥

पृथिवी और आकाश में पूर्व से पश्चिम को और पश्चिम से पूर्व को बहने वाली जो नदियाँ हैं, वे सब आज यहाँ आवें ॥ १४ ॥

अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम् ।
अपराश्चोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम् ॥ १५ ॥

वे नदियाँ आ कर कोई तो मैरेय नाम की शराब, कोई सुरा नाम की उत्तम शराब और कोई शीतल और ऊख के रस जैसे मीठे जल को यहाँ बहा कर प्रकट करें ॥ १५ ॥

---

१ विश्वकर्मा—सर्वशिल्पकर्ता । (गो०) २ त्वष्टातु तक्षणेनगृहादि निर्माता । (गो०) ३ त्रींल्लोकपालान्—यमवरुणकुबेरान् । (गो०)

आह्वये [1]देवगन्धर्वान्विश्वावसुहहाहुहून् ।
तथैवाप्सरसो [2]देवीर्गन्धर्वीश्चापि[3] सर्वशः ॥ १६ ॥

मैं विश्वावसु, हाहा, हूहू नामक देवगन्धर्वों को और देव जाति में उत्पन्न गन्धर्वियों को तथा सब अप्सराओं का भी आवाहन करता हूँ ॥ १६ ॥

घृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुसाम् ।
नागदन्तां च हेमां च हिमामद्रिकृतस्थलाम् ॥ १७ ॥

इनके अतिरिक्त घृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलंबुसा, नागदन्ता, हेमा, और हिमालयवासिनी (सोमा) ॥ १७ ॥

शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च योषितः ।
सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः ॥ १८ ॥

और इन्द्र की सभा तथा ब्रह्मा की सभा में नाचने वाली सब अप्सराओं को, अच्छे वस्त्र धारण किये हुए तुम्बुरु के साथ, मैं आवाहन करता हूँ ॥ १८ ॥

वनं कुरुषु यद्दिव्यं वासोभूषणपत्रवत् ।
दिव्यनारीफलं शश्वत्तत्कौबेरमिहैतु च ॥ १९ ॥

कुबेर का चैत्ररथ नामक, उत्तरकुरु वाला दिव्य वन, जिसके वृक्षों के पत्ते, दिव्य वस्त्र और दिव्यनारी रूप हैं, वहाँ प्रकट हों ॥ १९ ॥

---

१ देवगन्धर्वान्—मनुष्यगन्धर्वभिन्नान् । (गो०) २ देवीः—देवजातीः । (गो०) ३ गन्धर्वीः—गन्धर्वजातीः ।

इह मे भगवान्सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम् ।
भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु ॥२०॥

इनके अतिरिक्त विविध भाँति के और बहुत से भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्यादि अन्न, भगवान् चन्द्रदेव यहाँ आ कर उत्पन्न करें ॥ २० ॥

विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि[1] च ।
सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च ॥ २१ ॥

(वे) ताज़े फूलों की त्रिम विचित्र पुष्प मालाएँ, सुरा आदि पीने के पदार्थों को और तरह तरह के मांसों को शीघ्र ही प्रस्तुत करें ॥ २१ ॥

एवं समाधिना[2] [3]युक्तस्तेजसाऽप्रतिमेन च ।
शीक्षास्वरसमायुक्तं [4]तपसा चाब्रवीन्मुनिः ॥ २२ ॥

इस प्रकार अनुपम शापानुग्रह समर्थ भरद्वाज मुनि ने योगबल से और ज्ञानबल से उपयुक्त स्वर और यथाविधि वर्णोच्चारणपूर्वक सब का आवाहन किया ॥ २२ ॥

[5]मनसा ध्यायतस्तस्य[6] प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः[7] ।
आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक्पृथक् ॥२३॥

---

१ पादपप्रच्युतानि—नवानीति भावः (गो०) २ समाधिना—योगेन । (गो०) ३ तेजसा—अनागमेदण्डनसामर्थ्येंच युक्तेन । (गो०) ४ तपसा—ज्ञानेन । (गो०) ५ मनसा—अनन्य परेणेत्यर्थः । (गो०) ६ ध्यायतः—निरन्तरचिन्तयतः । (गो०) ७ कृताञ्जले—आह्वानमुद्रोक्तः । (गो०)

भरद्वाज जी के पूर्व की ओर मुख कर बैठ कर आवाहन मुद्रा से, एकाग्रमन हो और कुछ काल तक निरन्तर चिन्तवन करते ही, वे सब देवता एक एक कर भरद्वाज जी के सामने आ उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

मलयं दर्दुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः ।
उपस्पृश्य ववौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखः शिवः[1] ॥२४॥

उस समय मलय और दर्दुर पर्वतों को स्पर्श करता हुआ सुखद पवन, शीतल मंद और सुगन्धयुक्त हो, गरमी को नाश करता हुआ चलने लगा ॥ २४ ॥

ततोऽभ्यवर्तन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।
दिव्यन्दुदुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे ॥ २५ ॥

दिव्य मेघों ने पुष्पों की वर्षा की । देवताओं के नगाड़ों का शब्द सब दिशाओं में सुनाई पड़ने लगा ॥ २५ ॥

प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान् ॥ २६ ॥

सुखद समीर के झोके आने लगे । अप्सरायें नाचने लगीं । देव गन्धर्वों का गाना और वीणाओं की झनकार सुनाई पड़ने लगी ॥ २६ ॥

स शब्दो द्यां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च ।
विवेशोच्चारितः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥२७॥

---

१ शिवः—शीतलः । (गो०)

इस प्रकार से मधुर, सम, और लय युक्त शब्द से आकाश, भूमि और प्राणियों के कान पूर्ण हो गये ॥ २७ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम् ।
ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥ २८ ॥

सुनने में मधुर ये शब्द हो हो रहे थे कि, इतने में भरत की सेना विश्वकर्मा की कारीगरी देखने लगी ॥ २८ ॥

बभूव हि समा भूमिः समन्तात्पञ्चयोजना ।
शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैडूर्यसन्निभैः ॥ २९ ॥

उन्होंने देखा कि, वहाँ की भूमि चारों ओर पाँच योजन तक बराबर एकसी और नील वैडूर्य मणि की तरह चमकीली हरी हरी दूब से ढकी हुई है ॥ २९ ॥

तस्मिन्बिल्वाः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः ।
आमलक्यो बभूवुश्च चूताश्च फलभूषणाः ॥ ३० ॥

और जगह जगह बेल, कैथा, कटहर, बिजौरा, आमला और आम के वृक्ष फलों से लदे हुए सुशोभित हैं ॥ ३० ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत् ।
आजगाम नदी दिव्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥ ३१ ॥

स्वर्गस्थ लोगों के उपभोग के योग्य, उत्तर कुरुदेश से, वहाँ एक वन भी उपस्थित हो गया। एक दिव्य नदी भी वहाँ बहने लगी। इस नदी के उभय तटों पर बहुत से वृक्ष लगे हुए थे ॥ ३१ ॥

चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्बाधास्तोरणानि शुभानि च ॥ ३२ ॥

वहाँ पर अनेक सुन्दर श्वेतवर्ण घर, हस्तिशालाएँ और अश्व शालाएँ बनी हुई देख पड़ने लगीं। महल और अटारियों से युक्त मङ्गल रूपी मनोहर तोरण देख पड़ने लगे ॥ ३२ ॥

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम्।
दिव्यमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुक्षितम्[1] ॥ ३३ ॥

सफेद बादल जैसी सफेद वंदनवारों से भूषित, सफेद पुष्पों की माला से सुशोभित, सुवासित जल से छिड़के हुए अनेक राजभवन वहाँ देख पड़ने लगे ॥ ३३ ॥

[2]चतुरश्रमसम्बाधं[3] शयनासनयानवत्।
दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं [4]दिव्यभोजनवस्त्रवत्[5] ॥ ३४ ॥

इन भवनों में चौकोन और सोने, बैठने तथा पालकी आदि रखने के लिये (अलग अलग) विशाल कमरे बने हुए थे। कितने ही कमरों में शर्करा आदि रस, उत्तम मिहीन चांवल आदि अन्न और मिहीन कपड़े भरे हुए थे ॥ ३४ ॥

[6]उपकल्पितसर्वान्नं धौतनिर्मलभाजनम्।
क्लृप्तसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

उन कमरों में पूड़ी, पुआ, कचौड़ी आदि नाना प्रकार के व्यञ्जन तथा मंजे धुले साफ बरतन रखे हुए थे। यथास्थान पूजन एवं

१ समुक्षितं—सिक्तं। (गो०) २ चतुरश्र—चतुष्कोणं। (गो०) ३ असम्बाधं—विशालं। (गो०) ४ दिव्यभोजनानि—सूक्ष्मशाल्यन्नादीनि। (गो०) ५ दिव्य वस्त्राणि—सूक्ष्मवस्त्राणि। (गो०) ६ उपकल्पितानि—सर्वान्नानि नानाविधा पूपादीनियस्मिंस्तत्। (गो०)

करने के लिये आसन बिछे हुए थे। सुन्दर सेजों पर साफ सुथरे एवं कोमल बिस्तरे बिछे हुए थे॥ ३५॥

प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा।
वेश्म तद्रत्नसम्पूर्णं भरतः केकयीसुतः॥ ३६॥

इस प्रकार के बने हुए और उत्तम सामग्री से भरे पूरे घर में, कैकेयीनन्दन महाबाहु भरत जी ने, महर्षि भरद्वाज की आज्ञा पा कर प्रवेश किया॥ ३६॥

अनुजग्मुश्च तं सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः।
बभूवुश्च मुदा युक्ता दृष्ट्वा तं वेश्मसंविधिम्॥३७॥

भरत जी के पीछे मंत्री तथा पुरोहित उस भवन में जा और उसकी बनावट और सजावट देख, आनन्द में मग्न हो गये॥ ३७॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत[1] राजवत्[2]॥ ३८॥

उस घर में राजाओं के बैठने योग्य एक राजसिंहासन था, जिसके समीप दास लोग छत्र और चमर लिये खड़े थे। मंत्रियों सहित भरत जी ने उस सिंहासन की प्रदक्षिणा की॥ ३८॥

आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥ ३९॥

(उस राजसिंहासन पर मानों श्रीरामचन्द्र जी विराजमान हैं, इस कारण से) भरत जी ने उस राजसिंहासन को प्रणाम कर उसका पूजन किया। तदनन्तर एक छोटा पङ्खा हाथ में ले भरत जी

---

१ अभ्यवर्तत—प्रदक्षिणं कृतवान्। (गो०)

राजसिंहासन के नीचे मंत्री के बैठने योग्य एक आसन पर बैठ गये ॥ ३९ ॥

आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।
ततः सेनापतिः[1] पश्चात्प्रशास्ता[2] च निषेदतुः ॥ ४० ॥

उनके बैठते ही मंत्री, पुरोहित, सेनापति और शिविर-नियन्ता (छावनी का शासक अर्थात् कैंटोमेंट मेजिस्ट्रेट) ये सब भी यथाक्रम अपने अपने स्थानों पर बैठ गये ॥ ४० ॥

ततस्तत्र [3]मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः ।
उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

सब लोगों के बैठ चुकने के थोड़ी ही देर बाद भरद्वाज मुनि की आज्ञा से गाढ़ी गाढ़ी खीर की नदियाँ वहाँ बहने लगीं ॥ ४१ ॥

तासामुभयतःकूलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः ।
रम्याश्चावसथा दिव्या ब्रह्मणस्तु प्रसादजाः ॥ ४२ ॥

भरद्वाज के अनुग्रह से, उन नदियों के दोनों तटों पर, अनेक रमणीय एवं अच्छे सफेद चूने से पुते घर देख पड़ने लगे ॥ ४२ ॥

तेनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः ।
आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

उसी समय चतुर्मुख ब्रह्मा की भेजी हुई बढ़िया बढ़िया कपड़े और गहनों से सजी हुई बीस हज़ार स्त्रियाँ वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥

---

१ सेनापतिः—दण्ड-नायकः । (गो०) २ प्रशास्ता—शिविरनियन्ता । (गो०) ३ मुहूर्तेन—अल्पकालेन । (गो०)

सुवर्णमणिमुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः ।
आगुर्विंशतिसाहस्राः कुवेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर बीस ही हज़ार स्त्रियाँ, जो सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मूंगों से अपने शरीर को सजाये हुए थीं, और जिन्हें कुबेर ने भेजा था, वहाँ आयीं ॥ ४४ ॥

याभिर्गृहीतः[1] पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते ।
आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥ ४५ ॥

नन्दनवन से आयी हुईं बीस हज़ार अप्सराएँ ऐसी सुन्दरी थीं कि, जिस पुरुष को वे आलिङ्गन करतीं, वह पुरुष पागल सा देख पड़ने लगता था ॥ ४५ ॥

नारदस्तुम्बुरुर्गोपप्रवराः सूर्यवर्चसः ।
एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥

नारद, तुम्बुरु और गोप ये सब जो सूर्य के तुल्य तेजस्वी हैं और गन्धर्वराज कहलाते हैं, भरत के सामने जा गाने लगे ॥ ४६ ॥

अलम्बुसा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना ।
उपानृत्यंस्तु भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

भरद्वाज जी की आज्ञा से अलंबुसा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका और वामना नाम की अप्सराएँ, भरत के आगे जा कर नाचने लगीं ॥ ४७ ॥

यानि माल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने ।
प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा[2] ॥ ४८ ॥

---

१ गृहीतः—आलिङ्गितः । (गो०) २ तेजसा—प्रभावेन । (गो०)

जो फूल देवताओं के बगीचों में और चैत्ररथ नामक वन में फूलते हैं, वे सब महर्षि भरद्वाज के प्रभाव से प्रयाग में देख पड़ते थे ॥ ४८ ॥

बिल्वा मार्दङ्गिका आसन्कांस्यग्राहा* विभीतकाः ।
अश्वत्था नर्तकाश्चासन्भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४९ ॥

महर्षि भरद्वाज के तपोबल से बेल के पेड़ों ने पखावजियों का, बहेड़े के पेड़ों ने मजीरा बजाने वालों का और पीपल के वृक्षों ने नाचने वालों का रूप धरा ॥ ४९ ॥

ततः [1]सरलतालाश्च तिलका नक्तमालकाः[2] ।
प्रहृष्टास्तत्र सम्पेतुः कुब्जा भूत्वाऽथ वामनाः ॥ ५० ॥

इनके अतिरिक्त देवदारु, ताल, तिलक, करंज के पेड़ हर्षित हो, कुबड़े और बौने का रूप धर वहाँ उपस्थित हुए ॥ ५० ॥

शिंशुपामलकीजम्ब्वो याश्चान्याः काननेषु ताः ।
मालती मल्लिका जातिर्याश्चान्याः कानने लताः ॥५१॥

शीशम, आँवला, जामुन के पेड़ तथा वन की मालती, मल्लिका आदि लताएँ, ॥ ५१ ॥

प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन्† ।
सुराः सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः ॥ ५२ ॥

स्त्रियों का रूप धर भरद्वाज के आश्रम में जा बसीं और पुकार पुकार कर लोगों से कहने लगीं, हे मद्य पीने वालो ! तुम मदिरा पिओ ! हे भूख के सताये लोगो ! तुम खीर खाओ ॥ ५२ ॥

---

१ सरलाः—देवदारुविशेषाः । (गो०) * पाठान्तरे—"आलम्याम्याग्राहाः ।" † पाठान्तरे—"ऽवदन्" ।

मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यावदिच्छथ ।
उच्छाद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु ॥ ५३ ॥

अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ।
संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो रुचिरलोचनाः ॥ ५४ ॥

सुन्दर और खाने योग्य मांस जितनी जिसकी इच्छा हो उतना खाओ । एक एक पुरुष को सात सात आठ आठ स्त्रियाँ मिल कर तेल की मालिश कर मनोहर नदियों के तट पर स्नान करातीं और अनेक बड़े बड़े नेत्र वाली स्त्रियाँ पुरुषों के शरीरों को मलती थीं ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

परिमृज्य तथान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ।
हयान्गजान्खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरभेः[1] सुतान् ॥ ५५ ॥

जब वे स्नान कर चुकते, तब कितनी ही सुन्दर स्त्रियाँ मिल कर उनके गीले शरीर को पोंछती थीं और उनको अमृत तुल्य शरबत पिलाती थीं । घोड़ों, हाथियों, खच्चरों, ऊँटों और बैलों को ॥ ५५ ॥

अभोजयन्वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ।
इक्षूंश्च मधुलाजांश्च भोजयन्ति स्म वाहनान् ॥५६॥

इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ।
नाश्वबन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुञ्जरग्रहः ॥ ५७ ॥

उनके रखवाले दाना चारा यथाविधि खिला रहे थे । इनमें इक्ष्वाकुवंशीय प्रधान योद्धाओं की सवारी के जो पशु थे, उनके

---

१ सुरभेः सुतान्—वृषभान् । (गो०)

महावली मालिकों ने ऊँख की गड़ेरियां और मीठी खीलें उनके खाने के लिये भेजी थीं, जो उनको खिलायी जा रही थीं। सईस व चरकट अपने अपने घोड़ों और हाथियों को पहचान तक न सके ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

मत्तप्रमत्तमुदिता चमूः सा तत्र संम्बभौ ।
तर्पिताः सर्वकामैस्ते रक्तचन्दनरूषिताः ॥ ५८ ॥

क्योंकि उस समय वह सेना नशा पी कर मतवाली हो आनन्द में मग्न हो रही थी। सब लोग इच्छानुसार तृप्ति लाभ कर लाल चन्दन शरीर में लगाये ॥ ५८ ॥

अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदैरयन् ।
नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान् ॥५९॥

और अप्सराओं से रमण कर मतवालों जैसी बातें कहने लगे। वे कहते अब हम न तो यहाँ से अयोध्या ही जांयगे और न दण्डक-वन ही जांयगे ॥ ५६ ॥

कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ।
इति पादातयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः ॥ ६० ॥

भरत जी भी मौज करें और श्रीरामचन्द्र जी भी सुखपूर्वक वन में रहें। पैदल सैनिक, चरकटे और सईस ॥ ६० ॥

अनाथास्तं[1] विधिं[2] लब्ध्वा वाचमेतामुदैरयन् ।
संम्प्रहृष्टा विनेदुस्ते[3] नरास्तत्र सहस्रशः ॥ ६१ ॥

---

१ अनाथाः—स्वतंत्रा इति । (गो०) २ तंविधिं—सत्कारं । (गो०)
३ विनेदुः—जगर्जुः । (गो०) ।

भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ।
नृत्यन्ति स्म हसन्ति स्म गायन्ति स्म च सैनिकाः ॥६२॥

इस प्रकार की पहुनई से, स्वतंत्र हो, ऊँटपटांग बकने लगे। भरत जी की सेना के हज़ारों आदमी अतिशय हर्षित हो यह कह कर गर्ज रहे थे कि, बस—यही स्वर्ग है। सैनिकों में कोई कोई तो नाच रहे थे, कोई गा रहे थे और कोई हँस ही रहे थे ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

समन्तात्परिधावन्ति माल्योपेताः सहस्रशः ।
ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम् ॥ ६३ ॥

हज़ारों सैनिक गले में मालाएँ पहिने हुए, इधर उधर दौड़ रहे थे। यद्यपि अमृत समान स्वादिष्ट भोजन कर वे लोग तृप्त हो गये थे ॥ ६३ ॥

दिव्यानुद्वीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद्भक्षणे मतिः ।
[1]प्रेष्याश्चेट्यश्च[2] वध्वश्च[3] बलस्थाश्च सहस्रशः ॥६४॥

तथापि उन दिव्य भोज्य पदार्थों को देख उनकी इच्छा पुनः भोजन करने की होती थी। उस सेना में जो सहस्रों दास दासी और सिपाहियों की स्त्रियाँ थीं ॥ ६४ ॥

बभूवुस्ते भृशं दृप्ताः सर्वे चाहतवाससः[4] ।
कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोश्वाश्च मृगपक्षिणः ॥ ६५ ॥

वे सबको सब नये नये वस्त्र धारण कर अत्यन्त गर्वीली हो गयी थीं। हाथी, खच्चर, ऊँट, बैल, घोड़े, मृग और पक्षी (सैनिक लोग अपने पालतू मृग पक्षी अपने साथ ले गये थे) ॥ ६५ ॥

---

१ प्रेष्याः—परिचारकाः । (गो०) २ चेट्योदास्यः । (गो०) ३ वध्वो-योधाङ्गनाः । (गो०) ४ 'अहतवाससः—नूतनवस्त्राः । (गो०)

बभूवुः [1]सुभृतास्तत्र नान्यो ह्यन्यमकल्पयत् ।
नाशुक्लवासास्तत्रासीत्क्षुधितो मलिनोऽपि वा ॥६६॥

सब के सब मुनि के दिये हुए पदार्थों से अघाए हुए थे। किसी को अपनी आवश्यकता की कोई वस्तु स्वयं जुटानी न पड़ी। उस समय भरत की सेना में मैले कपड़े पहने अथवा भूखा अथवा मैला कुचैला ॥ ६६ ॥

रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ।
आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः ॥ ६७ ॥

अथवा धूलधूसरित केशों वाला एक भी आदमी नहीं देख पड़ता था। वहाँ बकरों और शूकरों के मांसों से तथा अन्य अच्छे अच्छे व्यञ्जनों के ढेरों से, ॥ ६७ ॥

फलनिर्व्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ।
पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः ॥६८॥

ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ।
बभूवुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः ॥ ६९ ॥

जो फलों के रसों में बनाये गये थे; हींग, लोंग, जीरा आदि सुगंधित मसालों से छौंकी हुई दालों से और अत्युत्तम प्रकार के भातों से भरी, सहस्रों ऐसी कढ़ाइयों को, जिनमें शोभा के लिये फूलों की झंडियां लगायी गयी थीं—देख देख कर लोग चकित हो रहे थे। उस पाँच योजन घेरे में जितने कुएँ थे, वे सब गाढ़ी गाढ़ी खीर से भरे हुए थे ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

---

१ सुभृताः—सुतृप्ताः। (गो०) २ निष्ठानवरसंचयैः—व्यञ्जनश्रेष्ठसमूहैः। (गो०)

ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन्मधुस्रुतः ।
वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः ॥ ७० ॥
प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ।
[1]पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां[2] नियुतानि[3] च ॥७१॥

जितनी गौवें थीं, वे कामधेनु के समान जो माँगो सो देती थीं। जितने वृक्ष थे, वे सब शहद चुआ रहे थे। कुण्ड या बावली मैरेय नाम की शराब से भरी हुई थीं। हिरन, मोर और मुर्गे के अच्छी तरह पकाये और साफ किये हुए मांस के ढेर लगे हुए थे। अन्न भरने के लिये हज़ारों बरतन थे और भोज्य पदार्थ रखने के लिये लाखों थाल थे ॥ ७० ॥ ७१ ॥

न्यर्बुदानि च पात्राणि[4] शातकुम्भमयानि च ।
स्थाल्यः कुम्भ्यः करम्भ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृता ॥७२॥

दस करोड़ सोने के थाल और कलसे थे तथा थाली, लुटियाँ दही रखने के कलई किये बरतन जिनमें दही भरा हुआ था, वहाँ मौजूद थे ॥ ७२ ॥

[5]यौवनस्थस्य गौरस्य[6] कपित्थस्य[7] सुगन्धिनः ।
ह्रदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे ॥ ७३ ॥
बभूवुः पायसस्यान्ये शर्करायाश्च सञ्चयाः ।
कल्कांश्चूर्णकषायांश्च स्नानानि विविधानि च ॥ ७४ ॥

---

१ पात्रीणां—अन्नधानकुम्भीनां। (गो०) २ स्थालीनां—व्यञ्जनपात्राणां। (गो०) ३ नियुतानि—लक्षाणि। ४ पात्राणि—भोजनपात्राणि। ५ यौवनस्थस्य—नातिनूतनस्य नातिपुराणस्येत्यर्थः। (गो०) ६ गौरस्य—शुभ्रस्य। (गो०) ७ कपित्थस्य—तक्रस्य। (रा०)

बहुत से बरतनों में कुछ देर का तैयार किया हुआ सफेद (सादा) मट्ठा भरा हुआ था, बहुतों में ज़ीरा लौंग सोंठ आदि सुगन्धित मसालों से युक्त मट्ठा भरा हुआ था। वहाँ के अनेक कुण्डों में शिखरन, दही और दूध भरा हुआ था। चीनी की ढेरियाँ देख पड़ती थीं। स्नानोपयोगी विविध प्रकार के सूखे मसाले तथा मसालों के क्वाथ, ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ।
[1]शुक्लानंशुमत[2]श्चापि दन्तधावनसञ्चयान् ॥ ७५ ॥

नदियों के घाटों पर बरतनों में भरे हुए लोगों ने देखे। (घाटों पर) साफ और कूचो बनी हुई दतौनों के ढेर लगे थे ॥ ७५ ॥

शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च[3] [4]समुद्गेष्ववतिष्ठतः ।
दर्पणान्परिमृष्टांश्च वाससां चापि सञ्चयान् ॥७६॥

घिसा हुआ सफेद चन्दन कटोरों में भरा हुआ रखा था। साफ दर्पणों और कपड़ों के ढेर लगे थे ॥ ७६ ॥

पादुकोपानहां चैव युग्मानि च सहस्रशः ।
[5]आञ्जनीः [6]कङ्कतान्कूर्चाञ्शस्त्राणि च धनूंषि च ॥७७॥

खड़ाऊओं और जूतों की हज़ारों जोड़ियाँ रखी थीं। सुरमादानियाँ, कंघे, ब्रुश, छुत्र, धनुष ॥ ७७ ॥

---

१ शुक्लान—निर्मलान्। (गो०) २ अंशुमतः—कूर्चवतः। (गो०) ३ चन्दनकल्कान्—चन्दनपङ्कान्। (गो०) ४ समुद्गेषु—संपुटकेषु। (गो०) ५ आञ्जनीः—अञ्जनयुक्ताःकरण्डिकाः। (गो०) ६ कङ्कतान्—केशमार्जनान्। (गो०)

[1]मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ।
प्रतिपानह्रदान्पूर्णान्खरोष्ट्रगजवाजिनाम् ॥ ॥ ७८ ॥

कवच तथा तरह तरह की बैंचे और स्टूल कुर्सियाँ यथास्थान सजा कर रखे हुए थे। खाये हुए अन्न को पचाने के लिये ओषधि रूपी जल से भरे हुए कुण्ड भी थे। गधे, ऊँट हाथी और घोड़े ॥ ७८ ॥

अवगाह्य सुतीर्थांश्च ह्रदान्सोत्पलपुष्करान् ।
आकाशवर्णप्रतिमान्स्वच्छतोयान्सुखप्लवान् ॥ ७९ ॥

जहाँ सुख से उतर कर स्नान कर सकें अथवा जल पी सकें ऐसे घाटों वाले तथा फूले हुए कमल के फूलों से भरे आकाश की तरह निर्मल जल से पूर्ण अनेक तालाब भी थे ॥ ७९ ॥

नीलवैडूर्यवर्णांश्च मृदून्यवससञ्चयान् ।
निर्वापार्थान्पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥ ८० ॥

नील और वैडूर्य मणियों के रंग जैसे रंग की कोमल घास की ढेरियाँ लगी थीं और जगह जगह पशुओं के विश्राम के लिये स्थान देख पड़ते थे ॥ ८० ॥

व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम् ।
दृष्ट्वातिथ्यं कृतं तादृग्भरतस्य महर्षिणा ॥ ८१ ॥

महर्षि भरद्वाज जी ने भरत जी की पहुनाई के लिये जो ये सब स्वप्न सदृश चमत्कार पूर्ण तैयारियाँ की थीं, इनको देख देख, भरत के साथ वाले लोग विस्मित हो रहे थे ॥ ८१ ॥

१ मर्मत्राणानि—कवचादीनि। (गो०)

इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने ।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ८२ ॥

नन्दनवन में विहार करते हुए देवताओं की तरह, रमणीय भरद्वाज के आश्रम में विहार करती हुई भरत की सेना ने वह रात विताई ॥ ८२ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम् ।
भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८३ ॥

प्रातःकाल होते ही वे सब नदियाँ गन्धर्व और अप्सराएँ मुनि से विदा हो, अपने अपने स्थान को चली गयीं ॥ ८३ ॥

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नराः
तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः ।
तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः
पृथक्प्रकीर्णा मनुजैः प्रमर्दिताः ॥ ८४ ॥

इति एकनवतितमः सर्गः ॥

परन्तु भरत जी के अनुगामी वे सब मतवाले लोग वैसे ही गर्वीले और मदमत्त थे और उसी प्रकार शरीर में चन्दन लगाये हुए थे। तरह तरह की श्रेष्ठ और दिव्य पुष्पमालाएँ और पुष्प, जो इधर उधर बिखरे पड़े थे, लोगों के पैरों से कुचले जाने पर भी, पूर्ववत् ज्यों के त्यों देख पड़ते थे ॥ ८४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

द्विनवतितमः सर्गः

—:०:—

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः ।
कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम[1] ह ॥ १ ॥

सपरिवार भरत जी, भरद्वाज जी की पहुनाई में वह रात बिता, सवेरा होते ही, श्रीरामदर्शन की कामना से, भरद्वाज जी के पास गये ॥ १ ॥

तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्राञ्जलिं प्रेक्ष्य चागतम् ।
हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

पुरुषसिंह भरत को हाथ जोड़े अपने समीप खड़ा देख, अग्निहोत्र पूरा कर, भरद्वाज जी ने भरत जी से कहा ॥ २ ॥

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता ।
समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥

हे अनघ ! मेरे आश्रम में यह रात तुम्हारी सुख से तो कटी ? तुम्हारे साथ के सब लोग मेरे आतिथ्य से भली भाँति सन्तुष्ट तो हुए ? ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।
आश्रमादभिनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

यह कहते हुए तेजस्वी महर्षि भरद्वाज जब आश्रम से बाहिर आये, तब भरत जी ने हाथ जोड़ कर उनको प्रणाम किया और बोले ॥ ४ ॥

---

१ कामात्—रमप्राप्तीच्छया । (गो०)

सुखोषितोऽस्मि भगवन्समग्रबलवाहनः ।
तर्पितः सर्वकामैश्च सामात्यो [1]बलवत्त्वया ॥ ५ ॥

हे भगवन्! मैं सेना सहित इस आश्रम में सुख से रहा और हर प्रकार से आपने हम सब को अतिशय तृप्त किया ॥ ५ ॥

अपेतक्लमसन्तापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः ।
अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ॥ ६ ॥

हम सब लोगों ने सुखपूर्वक रात बिताई । अच्छे अच्छे घरों में वास किया, बढ़िया बढ़िया स्वादिष्ट भोजन किये । रास्ते में जो कष्ट थकावट हुई थी, वह सब हमारी दूर हो गयी ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन्कामं त्वामृषिसत्तम ।
समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ! अब मैं आपसे विदा हो कर, भाई के पास जाना चाहता हूँ । आप मुझे कृपादृष्टि से देखिये ॥ ७ ॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।
आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥

हे धर्मज्ञ! यह बतलाइये कि, उन महात्मा धार्मिक श्रीरामचन्द्र जी का आश्रम यहाँ से कितनी दूर है और वहाँ जाने के लिये कौनसा मार्ग है ॥ ८ ॥

इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातृदर्शनलालसम् ।
प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥

---

1 बलवत्तर्पितः—अतीवतर्पितः । (गो०)

भरत जी का ऐसा वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की लालसा रखने वाले भरत से महातेजस्वी एवं परम तपस्वी भरद्वाज जी बोले ॥ ९ ॥

भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने ।
चित्रकूटो गिरिस्तत्र रम्यनिर्दरकाननः ॥ १० ॥

हे भरत! यहाँ से अढ़ाई योजन के अन्तर पर टूटेफूटे पत्थरों वाले निर्जन वन में चित्रकूट नामक एक रमणीय पहाड़ है ॥ १० ॥

उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।
पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥

इस पर्वत की उत्तर तरफ़ मन्दाकिनी नदी बहती है। इस नदी के उभय तटों पर पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं और वह नदी रमणीय पुष्पित वन में हो कर बहती है ॥ ११ ॥

अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटश्च पर्वतः ।
तयो पर्णकुटी तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥

हे तात! उसीसे मिला हुआ चित्रकूट पर्वत है। उसी पर्वत पर एक पर्णकुटी में तुम दोनों भाइयों को निश्चय ही वास करते हुए पाओगे ॥ १२ ॥

दक्षिणेनैव मार्गेण सव्यदक्षिणमेव वा ।
गजवाजिरथाकीर्णां वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥

वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम् ।
प्रयाणमिति तच्छ्रुत्वाराजराजस्य योषितः ॥ १४ ॥

हे महाभाग ! हे वाहिनीपते ! यमुना के दक्षिण वाले मार्ग से कुछ दूर जाने वाले दो मार्ग मिलेंगे । आप दहिनी ओर वाले मार्ग से हाथी घोड़ों से युक्त अपनी सेना को यदि ले जाओगे तो तुम्हें श्रीरामचन्द्र जी का दर्शन हो जायगा । प्रस्थान करने का विचार सुन महाराज दशरथ की रानियों ने ॥ १३ ॥ १४ ॥

हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणं पर्यवारयन् ।
वेपमाना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया ॥ १५ ॥

कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः ।
असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता ॥ १६ ॥

अपनी अपनी सवारियाँ छोड़ दीं और जो रानियाँ सदा सवारी पर ही चला करती थीं, वे पैदल चल कर आयीं और भरद्वाज को घेर कर खड़ी हो गयीं । उनमें से थरथर काँपती हुई दीन और दुर्बल महारानी कौशल्या ने सुमित्रा सहित भरद्वाज जी के पैर छुए । तदनन्तर असफल मनोरथ और लोकनिन्दित ॥ १५ ॥ १६ ॥

कैकेयी तस्य जग्राह चरणौ सव्यपत्रपा[1] ।
तं प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम् ॥ १७ ॥

कैकेयी ने लज्जित हो महर्षि के चरण छुए और उन ऐश्वर्यवान महर्षि की परिक्रमा कर ॥ १७ ॥

अदूराद्भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा ।
ततः पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो दृढव्रतः ॥ १८ ॥

---

१ सव्यपत्रपा—सलज्जा । (गो०)

दुःखित चित्त हो भरत जी के निकट आ खड़ी हुई। तब दृढ़-
व्रतधारी भर : ने भरत से पूँछा ॥ १८ ॥

विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातॄणां तव राघव।
एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥ १९ ॥

"हे भरत! मैं तुम्हारी माताओं का परिचय जानना चाहता हूँ।
जब धार्मिक भरद्वाज ने यह पूँछा ॥ १६ ॥

उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यं वचनकोविदः।
यामिमां भगवन्दीनां शोकानशनकर्शिताम् ॥ २० ॥

तब वचन कहने में चतुर भरत जी ने हाथ जोड़ कर कहा—
हे भगवन्! जो यह दीन, शोक और उपवास के कारण
दुर्बल ॥ २० ॥

पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि।
एषा तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥

मेरे पिता की पटरानी तथा देवता के समान देख पड़ती हैं, सो
यही उन पुरुषसिंह एवं विक्रमयुक्त सिंह की तरह चलने वाले ॥२१॥

कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदितिर्यथा।
अस्या वामभुजं श्लिष्टा यैषा तिष्ठति दुर्मनाः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र को प्रसव करने वाली कौशल्या हैं। जैसे अदिति
ने प्रजापति को उत्पन्न किया था वैसे ही इन्होंने नरश्रेष्ठ श्रीराम
को उत्पन्न किया है और इनकी बाईं भुजा से लपटी हुई (अर्थात्
सहारा लिये हुए) जो उदास खड़ी हैं ॥ २२ ॥

कर्णिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ।
एतस्यास्तु सुता देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ ॥ २३ ॥

उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ।
यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ ॥ २४ ॥

और जो कनेर वृक्ष की पुष्पहीन शाखा की तरह देख पड़ती हैं, देवताओं के समान दोनों वीर एवं सत्यपराक्रमी राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी (सुमित्रा) हैं। हे मुनि ! जिसकी करतूत से उन दोनों पुरुषसिंहों का जीवन सङ्कट में पड़ा हुआ है ॥ २३ ॥ २४ ॥

राजापुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ।
क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां [1]सुभगमानिनीम् ॥ २५ ॥

तथा महाराज दशरथ पुत्रवियोग जनित शोक के कारण स्वर्गवासी हुए हैं । वह यही क्रोधयुक्त स्वभाव वाली, बुद्धिहीन, गर्वीली, अपने को सुभगा मानने वाली ॥ २५ ॥

ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम्[2] ।
ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् ॥ २६ ॥

ऐश्वर्य प्राप्ति की चाह रखने वाली और असती हो कर भी अपने को सती समझने वाली इस निष्ठुरा और पापिन कैकेयी को आप मेरी माता समझिये ॥ २६ ॥

---

१ सुभगमानिनीम्—सुभगांसुन्दरोमात्मानंमन्यत इति । २ आर्यरूपिणीं—सतीमिव प्रतिभासमानां । (रा०)

यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः।
इत्युक्त्वा नरशार्दूलो वाष्पगद्गदया गिरा ॥ २७ ॥
स निशश्वास ताम्राक्षो नागः क्रुद्ध इव श्वसन्।
भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तथा ॥ २८ ॥
प्रत्युवाच महाबुद्धिरिदं[1] वचनमर्थवत्॥
न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ॥ २९ ॥

इसीके कारण मुझको इस महादुःख में पड़ना पड़ा है। यह कह पुरुषसिंह भरत जी गद्गद वाणी हो और लाल नेत्र कर, क्रुद्ध हुए नाग की तरह ज़ोर से साँसे लेने लगे। तब महर्षि और भावों को जानने वाले भरद्वाज ने भरत जी को इस प्रकार कहते देख भरत जी से यह अर्थयुक्त वचन बोले—हे भरत! तुम कैकेयी को दोषी मत ठहराओ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं[2] भविष्यति।
देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥३०॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी का यह वनवास आगे चल कर सुखकारी होगा। देखो, देव, दानव और बड़े बड़े महर्षियों की ॥ ३० ॥

हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह।
अभिवाद्य तु संसिद्धः[3] कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र के वनगमन से भलाई ही होगी। यह सुन, भरत जी ने भरद्वाज जी को प्रणाम किया तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर, उनकी परिक्रमा की ॥ ३१ ॥

---

१ महाबुद्धिः—भावज्ञः। (गो०) २ सुखोदर्कं—सुखोत्तरं। (गो०)
३ संसिद्धः—लब्धाशीर्वादः। (गो०)

आमन्त्र्य[1] भरतः सैन्यं युज्यतामित्यचोदयत् ।
ततो वाजिरथान्युक्त्वा दिव्यान्हेमपरिष्कृतान् ॥ ३२ ॥

अध्यारोहत्प्रयाणार्थी बहून्बहुविधो जनः ।
[2]गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः[3] पताकिनः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर भरत जी ने महर्षि से विदा माँग प्रस्थान के लिये तैयारी करने की सेना को आज्ञा दी। भरत जी आज्ञा पा कर सब सैनिक घोड़ों पर तथा सुनहले रथों पर सवार हो, यात्रा करने लगे। सोने की जंज़ीरों से कसी हुई अंबारियों से तथा पताकाओं युक्त हथिनियों और हाथियों पर, वे लोग सवार हो कर जा रहे थे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः[4] सम्प्रतस्थिरे ।
विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च ॥ ३४ ॥

प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरेव पदातयः ।
अथ [5]यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार वर्षा के अन्त में बादलों की गड़गड़ाहट होती है, उसी प्रकार हाथी हथिनियों के चलते समय, उनकी पीठ पर लटकते हुए घंटों का शब्द होता हुआ चला जाता था। इनके अतिरिक्त बड़ी छोटी तथा बहुमूल्य की और भी बहुत सी अनेक प्रकार की सवारियाँ थीं, जिन पर सवार हो लोग चले जाते थे।

---

१ आमन्त्र्य—आप्रच्छ्य। (गो०) २ गजकन्याः—करेणवः। (गो०) ३ हेमकक्ष्याः—हैममयबन्धनरज्जवः। (गो०) ४ सघोषाः—घण्टाघोषयुक्ताः। (गो०) ५ यानप्रवेकैः—यानोत्तमैः। (गो०)

जो पैदल चला करते थे, वे पैदल ही रवाना हो गये थे। तदनन्तर कौशल्यादि रानियां उत्तम उत्तम सवारियों में बैठ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ।
चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिबिकां शुभाम् ॥३६॥

आस्थाय प्रययौ श्रीमान्भरतः सपरिच्छदः ।
सा प्रयाता महासेना गजवाजिरथाकुला ।
दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवोत्थितः ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को देखने की इच्छा से प्रसन्न होती हुई चली जाती थीं। सूर्य अथवा चन्द्रमा के समान प्रभायुक्त पालकी में बैठ सपरिवार भरत जी चले जाते थे। हाथी घोड़ों से युक्त वह महासेना वहाँ से दक्षिण दिशा को मेघ की घटा की तरह ढकती हुई, आगे चली ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

वनानि तु व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः ।
गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वपि नदीषु च ॥ ३८ ॥

उस समय वह सेना हिरनों और पक्षियों से भरे हुए वनों को तथा भागीरथी गङ्गा के पश्चिम तटवर्ती पहाड़ों और नदियों को मझाती हुई, चली जाती थी ॥ ३८ ॥

सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियोधा
वित्रासयन्ती मृगपक्षिसङ्घान् ।
महद्वनं तत्प्रतिगाहमाना
रराज सेना भरतस्य तत्र ॥ ३९ ॥

इति द्विनवतितमः सर्गः ॥

उस सेना के हाथी और घोड़े बहुत प्रसन्न जान पड़ते थे, किन्तु वनवासी मृग पक्षी इस सेना को देख कर, भयभीत हो गये थे। उस समय भरत जी की वह सेना वन में प्रवेश कर, बड़ी शोभित हुई ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का बानवेवां सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

त्रिनवतितमः सर्गः

—:०:—

तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ १ ॥

जब उस महासेना ने वन में हो कर, प्रस्थान किया; तब वनवासी मतवाले यूथपति हाथी पीड़ित हो, अपने अपने यूथों (झुंडों) को साथ ले, चारों ओर भागने लगे ॥ १ ॥

ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च रुरवश्च समन्ततः।
दृश्यन्ते वनराजीषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥

नदियों के तटों पर, पर्वतों के शिखरों पर तथा वनों में, रीछ, चित्तल, आदि वनवासी जन्तु विकल हो कर, इधर उधर भागते हुए देख पड़े ॥ २ ॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दशरथात्मजः।
वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया ॥ ३ ॥

दशरथनन्दन महात्मा भरत जी गर्जन करती हुई विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ प्रसन्न मन हो चलने लगे ॥ ३ ॥

सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः ।
महीं संच्छादयामास प्रावृषि द्यामिवाम्बुदः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार वर्षाऋतु में मेघमण्डल आकाश को ढक लेता है, उसी प्रकार महात्मा भरत जी की सागरोपम सेना, लहरों की तरह उमड़ती हुई पृथिवी को आच्छादन करती हुई चली जाती थी ॥ ४ ॥

तुरङ्गौघैरवतता वारणैश्च महाजवैः ।
अनालक्ष्या चिरं कालं तस्मिन्काले बभूव भूः ॥ ५ ॥

वहाँ की भूमि उन घोड़ों और बड़े बड़े हाथियों से ऐसी ढक गयी थी कि, बहुत देर तक दिखलाई नहीं पड़ती थी ॥ ५ ॥

स यात्वा दूरमध्वानं सुपरिश्रान्तवाहनः ।
उवाच भरतः श्रीमन्वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥

भरत जी जब बहुत दूर निकल गये, तब वाहनों को थके हुए देख, वे मंत्रिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी से कहने लगे ॥ ६ ॥

यादृशं लक्ष्यते रूपं तथा चैव श्रुतं मया ।
व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

इस स्थान का जैसा रूप देख पड़ता है और जैसा कि, इसके विषय में, मैंने सुन रखा है, इससे तो यही जान पड़ता है कि, हम लोग उस स्थान पर पहुँच गये, जो भरद्वाज जी ने बतलाया था ॥ ७ ॥

अयं गिरिश्चित्रकूट इयं मन्दाकिनी नदी ।
एतत्प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥

देखिये वह तो चित्रकूट पर्वत है और यह मन्दाकिनी नदी है और यही वन है जो दूर से नील मेघ की तरह देख पड़ता है ॥ ८ ॥

गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति ।
वारणैरवमृद्यन्ते[1] मामकैः पर्वतोपमैः ॥ ९ ॥

यही चित्रकूट पर्वत के रमणीय शिखर हैं, जो मेरे पर्वत सदृश ऊँचे हाथियों द्वारा मर्दित हो रहे हैं। (अर्थात् साथ के हाथी उस रमणीयता को नष्ट कर रहे हैं) ॥ ९ ॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु ।
नीला इवातपापाये[2] तोयं तोयधरा घनाः ॥ १० ॥

यह देखिये, जिस प्रकार वर्षाकाल में सजल श्यामल मेघमण्डल जल बरसाता है, वैसे ही चित्रकूट के वृक्ष, हाथियों की सूंड़ों के आघात से हिल कर, पर्वत के शिखरों पर फूलों की वर्षा कर रहे हैं ॥ १० ॥

[3]किन्नराचरितं देशं* पश्य शत्रुघ्न पर्वतम् ।
मृगैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥ ११ ॥

हे शत्रुघ्न ! किन्नरों से सेवित स्थान की तरह इस चित्रकूट पर्वत को देखो। जिस प्रकार समुद्र में मगर घूमा करते हैं, वैसे ही इस पर्वत पर जिधर देखो उधर मृग समूह शोभायमान हो रहा है ॥ ११ ॥

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः ।
वायुप्रविद्धा शरदि मेघराजिरिवाम्बरे ॥ १२ ॥

---

१ अवमृद्यन्ते—भज्यन्ते। (गो०) २ आतपापाये—वर्षाकाले। (गो०)
३ किन्नराचरितंदेशं—किन्नराचरितदेशरूपं पर्वतं। (गो०) * पाठान्तरे—"किन्नराचरितोद्देशं"।

शरत्काल में जिस प्रकार वायु के वेग से प्रेरित मेघसमूह आकाश में सुशोभित होता है, उसी प्रकार हमारी सेना से प्रेरित हो, ये मृगसमूह शोभायमान हो रहा है ॥ १२ ॥

कुर्वन्ति [1]कुसुमापीडाञ्शिरःसु सुरभीनमी[2] ।
मेघप्रकाशैः [3]फलकैर्दाक्षिणात्या यथा नराः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार दक्षिणी लोग अपने मस्तकों को फूल की मालाओं से सजाया करते हैं—उसी प्रकार हमारे सैनिकों ने कुसुम के गुच्छों से अपने मस्तक सजा लिये हैं ॥ १३ ॥

निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं घोरप्रदर्शनम् ।
अयोध्येव जनाकीर्णा सम्प्रति प्रतिभाति मा ॥ १४ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो यह भयानक वन पहले कैसा सांय सांय करता था, किन्तु इस समय मेरी सेना की भीड़भाड़ से यह अयोध्या जैसा देख पड़ता है ॥ १४ ॥

खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति ।
तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥ १५ ॥

घोड़ों के सुमों और बैलों के खुरों से उड़ाई हुई धूल आकाश में आ जाती है। किन्तु पवन उसे शीघ्र ही हटा देता है, मानों मेरी आँखों के सामने की रुकावट दूर कर, (श्रीरामचन्द्र की पर्णशाला दिखा कर) मुझे प्रसन्न करना चाहता है ॥ १५ ॥

---

१ कुसुमपीडान्—कुसुमशेखरान् कुर्वन्ति । (गो०) २ अमी—भटाः । (गो०) ३ मेघप्रकाशैः—फलकैः केशबन्धविशेषैः । (गो०)

स्यन्दनांस्तुरगोपेतान्सूतमुख्यैरधिष्ठितान् ।
एतान्सम्पततः[1] शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥ १६ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो, ये घोड़े सारथी सहित रथों को लिये हुए इस वन में कैसी तेज़ी से दौड़े चले जा रहे हैं ॥ १६ ॥

एतान्वित्रासितान्पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान् ।
एतमाविशतः शीघ्रमधिवासं पतत्रिणः[2] ॥ १७ ॥

यह देखो, सुन्दर और बड़े पर वाले मोर डर के मारे दौड़ कर इस पर्वत पर अपने निज स्थानों में कैसे जा रहे हैं ॥ १७ ॥

अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मा ।
तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथो[3] यथा ॥१८॥

हे अनघ ! तपस्वियों के रहने का यह स्वर्ग जैसा स्थान, मुझे बड़ा मनोहर जान पड़ता है ॥ १८ ॥

मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता[4] वने ।
मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः ॥ १९ ॥

बहुत से चित्तीदार नरहिरन अपनी मादाओं के साथ घूमते हुए कैसे सुन्दर मालूम पड़ते हैं, मानों फूलों से इनको चित्र विचित्र रचना की गयी है ॥ १९ ॥

---

१ सम्पततः—सम्यग्गच्छतः । (गो०) २ पतत्रिणः प्रशस्तपक्षानितिबर्हिविशेषणं । (गो०) ३ स्वर्गपथोयथा—स्वर्गप्रदेश इव । (गो०) ४ पृषताः—बिन्दुमृगाः । (गो०)

[1]साधुसैन्याः प्रतिष्ठन्तां[2] विचिन्वन्तु च कानने ।
यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

योग्य सैनिक वन में जा कर पता लगावें जिससे वे दोनों पुरुषसिंह श्रीराम लक्ष्मण जिस जगह रहते हों वह स्थान मिल जाय ॥ २० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः ।
विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं[3] ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

भरत जी का ऐसा वचन सुन, अपने अपने शस्त्रों को हाथ में लिए हुए वीरों ने वन में प्रवेश किया और कुछ ही दूर जा कर एक स्थान पर उन्होंने धुआँ निकलता हुआ देखा ॥ २१ ॥

ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः ।
नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥ २२ ॥

उस धुएँ को देख उन लोगों ने लौट कर भरत जी से कहा, इस स्थान में मनुष्य को छोड़ अग्नि कौन जला सकता है । अतः जान पड़ता है, वे दोनों भाई यहाँ रहते हैं ॥ २२ ॥

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परन्तपौ ।
अन्ये* रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥ २३ ॥

यदि शत्रुदमनकारी पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र तथा बलवान् लक्ष्मण न भी हों, तो श्रीराम के समान कोई अन्य तपस्वी यहाँ रहते हैं (अर्थात् यदि श्रीराम न भी हों तो वहाँ चलने से श्रीराम के रहने के स्थान का पता तो अवश्य ही चल जायगा) ॥ २३ ॥

---

१ साधुसैन्याः—उचिताः सैनिकाः । (गो०) २ प्रतिष्ठन्तां—गच्छन्त्वित्यर्थः ॥ (गो०) ३ धूमाग्रं— धूमशिखा । (गो०) * पाठान्तरे—" मन्ये "

तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम् ।
सैन्यानुवाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः ॥ २४ ॥

शत्रुओं के बल को मथन करने वाले भरत जी, उन सैनिकों का यह शिष्टसम्मत वचन सुन, उन सब से कहने लगे ॥ २४ ॥

यत्ता[1] भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः ।
अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो गुरुरेव च ॥ २५ ॥

अच्छा अब आप लोग चुपचाप यहीं ठहरे रहिये। यहाँ से आगे न जाइये। सुमंत्र और गुरु वशिष्ठ जी को साथ ले, मैं ही आगे जाऊँगा ॥ २५ ॥

एवमुक्तास्ततः सर्वे तत्र तस्थुः समन्ततः ।
भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र दृष्टिं समादधे* ॥ २६ ॥

जब भरत जी ने उनसे इस प्रकार कहा, तब वे सब उसी स्थान पर इधर उधर ठहर गये। भरत जी ने उस ओर देखा जिस ओर धुआँ उठता दिखलाई पड़ता था ॥ २६ ॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमूः
निरीक्षमाणाऽपि च धूममग्रतः ।
बभूव हृष्टा नचिरेण जानती ।
प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥ २७ ॥

इति त्रिनवतितमः सर्गः ॥

उस समय भरत जी के कहने से वे सब सैनिक वहीं टिके रहे और उस धुएँ को उठते देख, वे जान गये कि, अब परम प्रीति

---

1 यत्ताः—निःशब्दाः। (गो०) * पाठान्तरे—"समादधौ"; "समादधात्"।

भाजन श्रीरामचन्द्र जी के साथ समागम होने में बहुत विलम्ब नहीं है। यह विचार कर, वे हर्षित हो गये॥ २७॥

अयोध्याकाण्ड का तिरानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

चतुर्नवतितमः सर्गः

—:o:—

दीर्घकालोषितस्तस्मिन्गिरौ गिरिवनप्रियः।
वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन्स्वं च चित्तं विलोभयन्॥१॥
अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत्।
भार्याममरसङ्काशः शचीमिव पुरन्दरः॥ २॥

उधर श्रीरामचन्द्र जी को उस पर्वत पर रहते बहुत दिन हो चुके थे। वे सीता का तथा अपना मन बहलाने के लिये, सीता को चित्रकूट की शोभा दिखला रहे थे। उस समय उन दोनों की वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसी इन्द्र और इन्द्राणी की होती है॥ १॥ २॥

न राज्याद्भ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम्॥ ३॥

श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे भद्रे! इस रमणीय पर्वत की शोभा देखने से, राज्यनाश एवं सुहृद्वियोग जन्य दुःख मुझे अब नहीं सताता॥ ३॥

पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम्।
शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम्॥ ४॥

हे भद्रे ! नाना प्रकार के पक्षियों से परिपूर्ण, और गगनस्पर्शी एवं तरह तरह की धातुओं से युक्त शिखरों से विभूषित इस पर्वत की शोभा को देखो ॥ ४ ॥

केचिद्रजतसङ्काशाः [1]केचित्क्षतजसन्निभाः ।
पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥

इस पर्वत के कोई कोई शृङ्ग तो चांदी जैसे सफेद और चमकीले हैं और कोई कोई रक्त की तरह लाल वर्ण हैं, कोई कोई पीले और मजीठ के रंग जैसे देख पड़ते हैं और कोई उत्तम मणियों की प्रभा जैसे प्रभायुक्त देख पड़ते हैं ॥ ५ ॥

पुष्पार्क[2]केतकाभाश्च[3] केचिज्ज्योतीरसप्रभाः ।
विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥

इस पर्वत के धातुओं से विभूषित शृङ्ग पुष्पराग, स्फटिक, केतकी और पारे के समान रंगवाले और नक्षत्रों की तरह चमकीले देख पड़ते हैं ॥ ६ ॥

नानामृगगण[4]द्वीपितरक्ष्व[5]ृक्षगणैर्वृतः ।
[6]अदुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसमायुतः ॥ ७ ॥

यद्यपि यह पर्वत अनेक प्रकार के छोटे बड़े व्याघ्रों और रीछों से परिपूर्ण है, तथापि तपस्वियों के तपःप्रभाव से इन भयङ्कर जन्तुओं ने अपना दुष्ट हिंसालु-स्वभाव त्याग दिया है। इस पर्वत पर तरह तरह के पक्षी अपने अपने घोंसले बना कर निवास कर रहे हैं ॥ ७ ॥

---

१ क्षतज—रुधिर। (गो०) २ अर्कः—स्फटिकः। (गो०) ३ केतकाभाः—ईषत्पाण्डुराः। (गो०) ४ द्वीपी—महाव्याघ्रः। (गो०) ५ तरक्षुः—क्षुद्रव्याघ्रः। ६ अदुष्टैः—हिंसादिदोषरहितैः। (गो०)

आम्रजम्ब्वसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः ।
अङ्कोलैर्भव्यतिनिशैर्बिल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥
काश्मर्यरिष्टवरुणैर्मधूकैस्तिलकैस्तथा ।
बदर्यामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनबीजकैः ॥ ९ ॥
पुष्पवद्भिः फलोपेतैश्छायावद्भिर्मनोरमैः ।
एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥ १० ॥

आम, जामुन, असना, लोध, चिरौंजी, कटहर, ढाक, अंकोल, भव्य, तिमिश, बिल्व, तिन्दुक (तेंदुआ) बांस, काश्मीरी नीम, सखुआ, महुआ, तिलक, वैर, आंवला, कदम्ब, बेत, बिजौरा, नीबू आदि ले कर और अनेक प्रकार के फूल फलों वाले और छायायुक्त मनोहर वृक्षों के समूहों से भरा पूरा यह पर्वत शोभायमान् है ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान्रोमहर्षणान् ।
किन्नरान्द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान्मनस्विनः ॥ ११ ॥

हे भद्रे ! इस पर्वत के रमणीय शिखरों पर शरीर पुलकित करने वाले स्थानों को देखो। यहां मनस्वी किन्नर लोग अपनी अपनी किन्नरियों के साथ विहार कर रहे हैं ॥ ११ ॥

शाखावसक्तान्खड्गांश्च प्रवराण्यम्बराणि च ।
पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान्मनोरमान् ॥ १२ ॥

देखो उन्हींकी ये तलवारें और सुन्दर रंग बिरंगे पहिनने के कपड़े वृक्षों की डालियों में लटक रहे हैं। इन विद्याधरों की स्त्रियों के मनोहर क्रीड़ास्थलों को देखो ॥ १२ ॥

जलप्रपातैरुद्भेदैर्निष्यन्दैश्च क्वचित्क्वचित् ।
स्रवद्भिर्भात्ययं शैलः स्रवन्मद इव द्विपः ॥ १३ ॥

स्थान स्थान पर जल के झरने और ज़मीन से निकले हुए जल के सोते वह रहे हैं। इनसे यह पर्वत मद चुआने वाले गजेन्द्र की तरह शोभायमान हो रहा है ॥ १३ ॥

गुहासमीरणो गन्धान्नानापुष्पभवान्वहन् ।
घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥

पर्वत की कन्दराओं से निकला हुआ नाना पुष्पों की सुगन्धि से युक्त पवन जो नासिका को तृप्त कर रहा है, वह किस के मन को हर्षित नहीं करेगा ॥ १४ ॥

यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते ।
लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधक्ष्यति ॥१५॥

हे अनिन्दिते ! यदि तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ बहुत वर्षों तक भी मुझे यहां रहना पड़े तो भी मुझे ज़रा सा भी शोक सन्ताप नहीं सतावेगा ॥ १५ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते ।
विचित्रशिखरे ह्यस्मिन्रतवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥

हे भद्रे ! अनेक प्रकार के पुष्पों और फलों से सम्पन्न, अनेक जाति के पक्षियों से परिपूर्ण और विचित्र शिखरों से युक्त यह रमणीय चित्रकूट मुझे बड़ा पसन्द है (अर्थात् चित्रकूट में रहने से कभी मेरा जी नहीं ऊबेगा) ॥ १६ ॥

अनेन वनवासेन मया प्राप्तं फलद्वयम् ।
पितुश्चानृणता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥ १७ ॥

इस वनवास से मुझे दो फल मिले। एक तो धर्म सम्बन्धी फल पिता के ऋण से उऋण होना और दूसरा फल भरत जी को प्रसन्न करना॥ १७॥

वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह।
पश्यन्ती विविधान्भावान्मनोवाक्कायसंयतान्॥ १८॥

हे वैदेही! मेरे साथ इस चित्रकूट पर्वत पर मन, वचन और देह को वश में कर लेने वाले इन विविध साधनों को देख, तेरा मन प्रसन्न होता है कि, नहीं?॥ १८॥

इदमेवामृतं[1] प्राहू राज्ञि राजर्षयः परे।
वनवासं भवार्थाय[2] प्रेत्य मे प्रपितामहाः॥ १९॥

हे राज्ञि! इस प्रकार नियमपूर्वक वनवास राजाओं के लिये मोक्ष का साधन कहा जाता है। यही नहीं बल्कि हमारे मन्वादि पूर्वपुरुषों ने देवादि की देह प्राप्ति के लिये भी, वनवास ही को उत्कृष्ट साधन माना है॥ १९॥

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः।
बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः॥ २०॥

देखो, इस पर्वत की सैकड़ों विशाल शिलाएँ जो नीली, पीली, सफेद आदि विविध रंगों की हैं; चारों ओर कैसी शोभा दे रही हैं॥ २०॥

निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव।
ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः सहस्रशः॥ २१॥

---

१ अमृतमाहुः—मोक्षसाधनं प्राहुः। (रा०) २ प्रेत्यभवार्थाय—देवादिदेहान्तरपरिग्रहरूपप्रयोजनाय च प्राहुः। (गो०)

रात के समय इस पर्वत पर उत्पन्न हज़ारों जड़ी बूटियाँ, अपनी प्रभा से दीप्त हो, अग्निशिखर की तरह प्रकाश कर शोभायमान होती हैं ॥ २१ ॥

केचित्क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसन्निभाः ।
केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि ॥ २२ ॥

हे भामिनी ! देखो इस पर्वत पर कोई स्थान तो घर जैसा, कोई फुलवाड़ी जैसा और कोई स्थान एक ही शिला का दिखलाई पड़ता है । ये सभी इस पर्वत की शोभा बढ़ाने वाले हैं ॥ २२ ॥

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः ।
चित्रकूटस्य कूटोऽसौ दृश्यते सर्वतः शुभः ॥ २३ ॥

ऐसा जान पड़ता है मानों यह चित्रकूट पर्वत पृथिवी को फोड़ कर निकला हो । इस पर्वत का अग्रभाग चारों ओर से कैसा सुहावना देख पड़ता है ॥ २३ ॥

कुष्ठपुन्नागस्थगरभूर्जपत्रोत्तरच्छदान् ।
कामिनां [1]स्वास्तरान्पश्य कुशेशयदलायुतान् ॥२४॥

हे भद्रे ! कामी लोगों के इन बिछौनों को तो देखो । इनके नीचे तो कमलों के पत्ते बिछे हैं और पत्तों के ऊपर कूट, पुत्रजीवक और भोजपत्र की छालें बिछी हुई हैं ॥ २४ ॥

मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः ।
कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥ २५ ॥

---

१ स्वास्तरान्—शयानानीत्यर्थः । (गो०)

यह देखो कामी जनों की पहनी हुई कुम्हलाई और त्यागी हुई कमल के फूलों की मालाएँ इधर उधर पड़ी हैं और उन लोगों के खाये हुए अनेक प्रकार के फल पड़े हैं ॥ २५ ॥

वस्वौकसारां नलिनीम[1]त्येतीवोत्तरान्कुरून् ।
पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः ॥ २६ ॥

विविध प्रकार के मूल, फल और स्वच्छ जल सम्पन्न चित्रकूट पर्वत ने, कुवेर की अलकापुरी, इन्द्र की अमरावती और उत्तर कुरुदेश को रमणीयता में मात कर दिया है ॥ २६ ॥

इमं तु कालं वनिते विजह्रिवां-[2]
स्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन च ।
[3]रतिं प्रपत्स्ये [4]कुलधर्मवर्धनीं
सतां पथि स्वैर्नियमैः परैः स्थितः ॥ २७ ॥

इति चतुर्नवतितमः सर्गः ॥

हे सीते ! यदि मैं सज्जनों के मार्ग पर स्थित हो अपने श्रेष्ठ नियमों का पालन करता हुआ तुम्हारे और लक्ष्मण जी के साथ, चौदह वर्ष तक यहाँ रह पाया तो पीछे प्रजापालन रूपी धर्म को बढ़ाने वाला राज्यसुख मुझे अवश्य प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौरानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:*:—

१ अत्येतीव—रमणीयतयाऽतिक्रामतीव । (गो०) २ विजह्रिवान्—विहृतवान् । (गो०) ३ रतिं—राज्यसुखं । ४ कुलधर्मः—प्रजापालनं । (गो०)

पञ्चनवतितमः सर्गः

—:०:—

अथ शैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः ।
अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥

तदनन्तर कोशलपति श्रीरामचन्द्र जी पर्वत की शोभा दिखाने से निवृत्त हो और पर्वत से निकल निर्मल जल वाली रमणीय मन्दाकिनी नदी दिखाने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीच्च वरारोहां चारुचन्द्रनिभाननाम् ।
विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः ॥ २ ॥

कमलनयन श्रीरामचन्द्र चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली, स्त्रियों में श्रेष्ठ जनकतनया से बोले ॥ २ ॥

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् ।
कमलैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥

हे वैदेही ! इस विचित्र तट वाली, रमणीय हंस सारसादि पक्षियों से सेवित मन्दाकिनी नदी को देखो ॥ ३ ॥

नानाविधैस्तीररुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः ।
राजन्तीं [1]राजराजस्य [2]नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥

इस नदी के उभय तट फल फूल वाले अनेक जाति के वृक्षों से परिपूर्ण हैं। उनसे इस नदी की शोभा वैसी ही हो रही है जैसी कि कुबेर की सौगन्धिका नाम्नी नदी की ॥ ४ ॥

---

१ राजराजस्य—कुबेरस्य । (गो०) २ नलिनीं—सौगन्धिक सरसीं । (गो०)

मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि साम्प्रतम् ।
तीर्थानि रमणीयानि रतिं[1] संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥

इस नदी के सब घाट बड़े रमणीय हैं। अतः वहाँ जा कर स्नान करने की मेरी इच्छा हो रही है। अभी मृगों के झुण्ड इन घाटों पर जल पी कर गये हैं। अतः वहाँ का जल गँदला हो रहा है ॥५॥

जटाजिनधराः काले[2] वल्कलोत्तरवाससः ।
ऋषयस्त्ववगाहन्ते[3] नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥

हे प्रिये! देखो, जटा और मृगचर्म धारण किये और वृक्षों की छाल पहिने हुए ऋषि लोग इस नदी में यथासमय स्नान करते हैं ॥ ६ ॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्वबाहवः ।
एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः[4] ॥ ७ ॥

हे विशालाक्षि! इस ओर ये सब तीक्ष्ण नियमों का पालन करने वाले मुनिगण नियमानुसार ऊपर को बाँह कर, सूर्य भगवान का उपस्थान कर रहे हैं ॥ ७ ॥

[5]मारुतोद्धूतशिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः ।
पादपैः पत्रपुष्पाणि सृजद्भिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥

देखो पवन से कम्पित इन वृक्षों के हिलने से यह पर्वत नाचता हुआ सा मालूम पड़ता है और वृक्षों के हिलने से उनके जो पुष्प गिरते हैं सो चित्रकूट पर्वत मानों नदी को पुष्पाञ्जलि दे रहा है ॥८॥

---

१ रतिः—अवगाहनविषयां प्रीतिं । (गो०) २ काले—स्वनियमोचित काले । (गो०) ३ अवगाहन्ते—मज्जन्ति । (गो०) ४ संशितव्रताः—तीक्ष्णनियमाः । (गो०) ५ मारुतोद्धूत शिखरैः—वायुकम्पितशाखैः । (गो०)

क्वचिन्मणिनिकाशोदां क्वचित्पुलिनशालिनीम् ।
क्वचित्सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ९ ॥

हे भद्रे ! देखो, कहीं तो मंदाकिनी का जल मणि की तरह उज्ज्वल है, कहीं कहीं रेत शोभा दे रहा है, और कहीं कहीं सिद्ध लोगों की भीड़ लगी है ॥ ९ ॥

निर्धूतान्वायुना पश्य विततान्पुष्पसञ्चयान् ।
पोप्लूयमानानपरान्पश्य त्वं जलमध्यगान् ॥ १० ॥

हे भद्रे ! वायु के झोकों में नदी के तट पर बिखरे हुए पुष्पों के ढेर को देखो और जो दूसरे फूल जल में उड़ कर जा गिरे हैं, वे पानी पर कैसे उतरा रहे हैं, उन्हें भी तुम देखो ॥ १० ॥

[1]तांश्चातिवल्गुवचसो[2] रथाङ्गाह्वयना द्विजाः ।
अधिरोहन्ति कल्याणि विकूजन्तः शुभा गिरः ॥ ११ ॥

हे कल्याणी ! फूलों के ढेरों पर चढ़े हुए चक्रवाक रति के लिये अपनी मादाओं को बुलाने के लिये कैसी मधुर बोली बोल रहे हैं ॥ ११ ॥

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने ।
अधिकं पुरवासाच्च मन्ये तव च दर्शनात् ॥ १२ ॥

हे शोभने ! इस चित्रकूट पर्वत और मंदाकिनी नदी के देखने से और तुम्हारे साथ रहने से मुझे अयोध्यापुरी में रहने से भी बढ़ कर, यहाँ सुख जान पड़ता है ॥ १२ ॥

---

१ तान्—पुष्पसंचयान् । (गो०) २ वल्गुवचसः—रत्यर्थाह्वानकालिकरम्यवचसः । (गो०)

विधूतकलुषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः ।
[1]नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥ १३ ॥

हे सीते ! अब तुम इस मन्दाकिनी नदी में, जिसमें शम, दम और तप से युक्त एवं पापरहित सिद्धलोग नित्य स्नान किया करते हैं, चल कर मेरे साथ स्नान करो ॥ १३ ॥

[2]सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम् ।
[3]कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि[4] च भामिनि ॥१४॥

हे सीते ! तुम जैसे अपनी सखियों के साथ निःशङ्क जलक्रीड़ा करती थीं, वैसे ही मेरे साथ भी इस मंदाकिनी में लाल सफेद कमल के फूलों के डुबोती हुई जलक्रीड़ा करो ॥ १४ ॥

[नोट—लाल सफेद कमल के फूलों से भूषणटीकाकार ने यह अभिप्राय बतलाया है—

स्तनजघनाघातजनित तरङ्गैरितिभावः

किन्तु शिरामणिटीकाकार का कथन है कि, क्रीड़ा के लिये लाल सफेद रंग के कमलों से मंदाकिनी के जल के ढक दो ।]

त्वं पौरजनवद्[5]व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् ।
मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम् ॥ १५ ॥

---

१ नित्यविक्षोभितजलां—सदातत्स्नानेनतत्पादरेणुधन्यांमन्दाकिनीं । (गो०)
२ सखीवच्च—सख्यायथासलिलमवगाहसे तथा मया सह विगाहस्व । (गो०)
३ कमलानि—रक्ताब्जानि । (गो०) ४ पुष्कराणि—सिताम्भोजानि । (गो०)
५ व्यालान्—वनचरान् । (शि०)

हे प्रिये ! तुम यहाँ के वनवासियों को अयोध्यावासियों की तरह, इस पर्वत को अयोध्या की तरह और मंदाकिनी को सरयू की तरह समझो ॥ १५ ॥

लक्ष्मणश्चापि धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः ।
त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयतो मम ॥ १६ ॥

हे वैदेही ! यह धर्मात्मा लक्ष्मण मेरे आज्ञाकारी हैं और तुम भी सदा मेरी आज्ञा के अनुसार काम किया करती हो। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ १६ ॥

[1]उपस्पृशंस्त्रिषवणं[2] मधुमूलफलाशनः ।
नायोध्यायै न राज्याय स्पृहयेऽद्य त्वया सह ॥१७॥

त्रिकाल स्नान, और तुम्हारे साथ मधु मूल और फल का भोजन करता हुआ, मैं, अयोध्या के वास की और राज्य की आकांक्षा नहीं करता ॥ १७ ॥

इमां हि रम्यां मृगयूथशालिनीं
निपीततोयां गजसिंहवानरैः ।
सुपुष्पितैः पुष्पधरैरलंकृतां
न सोऽस्ति यः स्यादगतक्लमः सुखी ॥१८॥

जो गजों के यूथों से युक्त है और जिसका जल हाथी, सिंह और वन्दर पिया करते हैं, उस रमणीय एवं सुन्दर पुष्पों से युक्त वृक्षों द्वारा शोभित मंदाकिनी नदी का सेवन कर, वह कौन पुरुष है जो दुःखों से छूट, सुखी न हो ॥ १८ ॥

---

१ उपस्पृशन—स्नानं कुर्वन । (गो०) २ त्रिषवणं—त्रिसन्ध्यं । (गो०)

[1]इतीव रामो बहुसंगतं[2] वचः
प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन् ।
चचार रम्यं [3]नयनाञ्जनप्रभं
स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥ १९ ॥

इति पञ्चनवतितमः सर्गः ॥

रघुवंशवर्द्धन श्रीरामचन्द्र ने सीता जी से मंदाकिनी नदी के सम्बन्ध में इस प्रकार की बहुत सी उत्तम बातें कहीं । तदनन्तर उस रमणीय और नील वर्ण चित्रकूट पर्वत पर सीता के साथ लिये हुए विचरने लगे ॥ १९ ॥

अयोध्याकाण्ड का पञ्चानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षण्णवतितमः सर्गः

—:※:—

तां तथा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् ।
निषसाद गिरिप्रस्थे[4] सीतां मांसेन च्छन्दयन्[5] ॥१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सीता को मंदाकिनी नदी की शोभा दिखा कर, पर्वत की एक शिला पर बैठ गये और मांस का स्वाद बतला सीता को प्रसन्न करने लगे ॥ १ ॥

---

१ इतीव—एतादृशं । (शि०) २ संगतं—समीचीनं । (शि०) ३ नयनाञ्जनप्रभं—नीलवर्णविशिष्टं । (शि०) ४ गिरिप्रस्थे—पर्वतैकशिलायां । (शि०) ५ छन्दयन्—तत्प्रीतिमुत्पादयन् । (शि०)

इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना ।
एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने सीता से कहा—देखो, यह मांस पवित्र है, और अग्नि में भूजने से यह स्वादिष्ट हो गया है। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सीता सहित वहाँ बैठे हुए थे कि ॥ २ ॥

तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः ।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभःस्पृशौ ॥ ३ ॥

इतने में उनके पास आती हुई भरत जी की सेना के चलने से उड़ी हुई धूल और सैनिकों का कोलाहल आकाश को छूते हुए प्रकट हुए ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः ।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथा दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥

उस महाकोलाहल से त्रस्त हो बड़े बड़े यूथपति गजेन्द्र विकल हो अपने अपने यूथों को ले इधर उधर भागने लगे ॥ ४ ॥

स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः ।
तांश्च विप्रद्रुतान्सर्वान्यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस सेना के कोलाहल को सुना और हाथियों को भागते हुए देखा ॥ ५ ॥

तांश्च विद्रवतो दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा च निःस्वनम् ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥

उन हाथियों को भागते देख और सेना का कोलाहल सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने तेजस्वी लक्ष्मण जी से कहा ॥ ६ ॥

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया ।
भीमस्तनितगम्भीरस्तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण! तुमसे पुत्र को पा कर सुमित्रा देवी सुपुत्रवती है। देखो तो यह भयङ्कर बादल की गड़गड़ाहट जैसा गंभीर तुमुल शब्द कहाँ सुन पड़ता है ॥ ७ ॥

गजयूथानि वाऽरण्ये महिषा वा महावने ।
वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥

जिसको सुन, सघन वनवासी हाथियों के झुण्ड, जंगली भैंसे और मृगों के झुण्ड सिंहों सहित भयभीत हो बड़ी तेज़ी से इधर उधर भाग रहे हैं ॥ ८ ॥

राजा वा राजमात्रो[1] वा मृगयामटते वने ।
अन्यद्वा श्वापदं किञ्चित्सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

क्या कोई राजा या राजा के समान कोई पुरुष वन में शिकार खेलने आया है? अथवा कोई महाभयङ्कर और घातक जन्तु इस वन में आ गया है? हे लक्ष्मण! ज़रा इस बात का पता तो लगाओ ॥ ९ ॥

सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण ।
सर्वमेतद्यथातत्त्वमचिराज्ज्ञातुमर्हसि ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण! इस पर्वत पर अब पक्षी भी तो भली भाँति नहीं घूम सकते। अतएव तुम शीघ्र इस बात का ठीक ठीक पता लगाओ ॥ १० ॥

---

१ राजमात्रः—राज्यतुल्य । (गो०)

स लक्ष्मणः सन्त्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम् ।
प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमुदैक्षत ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, लक्ष्मण जी तुरन्त एक फूले हुए साल वृक्ष पर चढ़ गये और चारों ओर देखते हुए उन्होंने पूर्व दिशा की ओर देखा ॥ ११ ॥

तदुङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम् ।
रथाश्वगजसम्बाधां यत्तैर्युक्तां[1] पदातिभिः ॥ १२ ॥

फिर उत्तर दिशा की ओर देखने पर उन्हें उस ओर एक बड़ी सेना, जिसमें हाथी घोड़ों, रथों और सजे सजाये पैदल सिपाहियों की भीड़ देख पड़ी ॥ १२ ॥

तामश्वगजसम्पूर्णां रथध्वजविभूषिताम् ।
शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

हाथी घोड़ों से युक्त, रथ की पताकाओं से भूषित, उस सेना का वृत्तान्त निवेदन करते हुए लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १३ ॥

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥

आप अग्नि बुझा दीजिये, सीता जी से कहिये कि वे गुफा के भीतर जा बैठें। आप कवच पहिन लीजिये और धनुष तथा बाणों को सम्हालिये ॥ १४ ॥

---

१ यत्तैः—सन्नद्धैः। (गो०)

तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह ।
अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥ १५ ॥

यह सुन पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा हे वत्स सौमित्र ! ध्वज चिन्हों को देख यह तो निश्चय करो कि, यह सेना है किसकी ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी क्रोध के मारे अग्नि के समान हो, उस सेना को मानों भस्म कर डालने के लिये यह बोले ॥ १६ ॥

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम् ।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः ॥१७॥

साफ देख पड़ता है कि, कैकेयी का पुत्र भरत, राज्याभिषेक पा कर भी अकण्टक राज्य करने की कामना से, हम दोनों का वध करने के लिये आता है ॥ १७ ॥

एष वै सुमहाञ्श्रीमान्विटपी सम्प्रकाशते ।
विराजत्युद्गतस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥ १८ ॥

देखिये, वह जो बड़ा और शोभायमान वृक्ष देख पड़ता है, उसके पास जो रथ है, उस पर उजली शाखायुक्त कचनार वृक्ष के आकार की ध्वजा फहरा रही है ॥ १८ ॥

[1]भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान् ।
एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः[2] ॥ १९ ॥

---

१ भजन्ति—इमं देशं प्राप्नुवन्ती । (गो०) २ सादिनः—गजारोहाः । (गो०)

बड़े तेज़ चलने वाले घोड़ों पर चढ़े हुए सवार इधर ही आ रहे हैं और हाथियों के सवार भी हाथियों पर हर्षित हो बैठे हुए हैं ॥ १९ ॥

गृहीतधनुषौ चावां गिरिं वीर श्रयावहै ।
अथ वेहैव तिष्ठावः सन्नद्धावुद्यतायुधौ ॥ २० ॥

अब हे वीर ! हम दोनों धनुष बाण ले इस पर्वत पर चढ़ चलें अथवा दोनों जन, कवच पहिन और हथियार ले यहीं खड़े रहें ॥ २० ॥

अपि नौ वशमागच्छेत्कोविदारध्वजो रणे ।
अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥ २१ ॥

कोविदार ध्वजा वाले उन भरत को निश्चय ही हम लोग युद्ध में अपने वश में कर लेंगे जिसके कारण यह विपत्ति पड़ी है, आज हम उसे समझ लेंगे ॥ २१ ॥

त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा ।
यन्निमित्तं भवान्राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात् ॥२२॥

हे रघुनन्दन ! जिसके लिये तुम्हें, मुझे और सीता को इस दुर्दशा में पड़ना पड़ा है और जिसके कारण तुम सनातन राज्य से च्युत किये गये हो ॥ २२ ॥

सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव मे ।
भरतस्य वधे दोषं न हि पश्यामि राघव ॥ २३ ॥

वही भरत शत्रुभाव से आया है । अतः वह मार डालने योग्य है । हे राघव ! भरत के मार डालने में मुझे कुछ भी पाप नहीं जान पड़ता ॥ २३ ॥

पूर्वापकारिणां [1]त्यागे न ह्यधर्मो विधीयते ।
पूर्वापकारी भरतस्त्यक्तधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥

क्योंकि पूर्व अपकारी को मार डालने में कुछ भी पाप नहीं लगता । हे राघव ! यह भरत पूर्व में अपकार कर चुका है अतः इसको मार डालने ही में पुण्य है ॥ २४ ॥

एतस्मिन्निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुन्धराम ।
अद्य पुत्रं हतं संख्ये[2] कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥

इसको मार कर आप सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य भोग कीजिये । आज वह कैकेयी जो राज्य पाने की कामना किये हुए है, अपने पुत्र को युद्ध में मरा हुआ देखेगी ॥ २५ ॥

मया पश्येत्सुदुःखार्ता हस्तिभग्नमिव द्रुमम् ।
कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां[3] सबान्धवाम् ॥२६॥

हाथी के तोड़े हुए वृक्ष की तरह, मेरे हाथ से भरत को मरा हुआ देख, कैकेयी अत्यन्त दुःखित होगी । मैं उस कैकेयी को भी उसके भाईबन्दों और मंथरादि सहित मार डालूँगा ॥ २६

कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् ।
अद्येमं संयतं[4] क्रोधमसत्कारं[5] च मानद ॥ २७ ॥

जिससे कि यह पृथिवी उस कैकेयी रूपी महापाप से छुटकारा पा जाय । हे मान के देने वाले ! आज वहुत दिनों के रोके हुए क्रोध को और कैकेयी के किये हुए तिरस्कार को ॥ २७ ॥

---

१ त्यागे—वधे । (गो०) २ संख्ये—युद्धे । (गो०) ३ सानुबन्धां—मंथराद्यनुबंधसहितां । (गो०) ४ संयतं—स्तम्भितं । (गो०) ५ असत्कारं—तिरस्कारं । (गो०)

मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु [1]कक्षेष्विव हुताशनम् ।
अद्यैतच्चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

शत्रु की सेना के ऊपर वैसे ही छोड़ूँगा जैसे सूखे तृणों के ढेर पर आग छोड़ी जाती है। आज ही मैं चित्रकूट के वन को अपने तीखे बाणों से ॥ २८ ॥

भिन्दञ्शत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् ।
शरैर्निर्भिन्नहृदयान्कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ।
श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान्मया ॥ २९ ॥

शत्रुओं के शरीरों को काट काट कर उनके शरीर से निकले हुए रक्त से सींचूँगा। बाणों से चीरे हुए हृदय वाले हाथी घोड़ों को तथा मेरे मारे हुए मनुष्यों को जंगली जानवर घसीटेंगे ॥ २९ ॥

शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मि महामृधे ।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

इति षण्णवतितमः सर्गः ॥

आज मैं इस महासंग्राम में सेना सहित भरत का वध कर अपने धनुष और बाणों के ऋण से उऋण हो जाऊँगा—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का छियानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

1 कक्षेषु—शुष्कगुल्मेषु, (गो०)

सप्तनवतितमः सर्गः

—:o:—

सुसंरब्धं तु सौमित्रिं लक्ष्मणं क्रोधमूर्छितम् ।
रामस्तु परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार कुपित और लड़ने के लिये उद्यत लक्ष्मण को देख, उन्हें शान्त करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे ॥ १ ॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा ।
महेष्वासे महाप्राज्ञे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण! बड़ा धनुष धारण करने वाले और बड़े पण्डित भरत जी जब स्वयं आये हैं, तब उनके सामने तुम्हारे धनुष और ढाल तलवार की ज़रूरत ही क्या है (अर्थात् उनसे तुम जीत नहीं सकते) ॥ २ ॥

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमागतम् ।
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥

मैं पिता की उस सत्यवाणी को मान कर भी यदि भरत जी का वध कर मैं राज्य प्राप्त करूँ भी तो ऐसे अपवाद युक्त राज्य को ले मैं करूँगा ही क्या? ॥ ३ ॥

यद्द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् ।
नाहं तत्प्रतिगृह्णीयां भक्षान्विषकृतानिव ॥ ४ ॥

जो धन, बन्धु बान्धवों और इष्ट मित्रों का वध करने से प्राप्त हो, उसे मैं तो ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि मैं तो उसे विष मिले हुए भोजन की तरह त्याज्य समझता हूँ ॥ ४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तुमसे यह बात दावे के साथ कहता हूँ कि, मैं तो केवल अपने भाइयों ही के लिये धर्म, अर्थ, काम अथवा पृथिवी का राज्य चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सत्य सत्य अपने हथियारों को छू कर तुमसे कहता हूँ कि, मैं जो राज्य की कामना करता सो अपने भाइयों के पालन और सुख के लिये ही करता हूँ ॥ ६ ॥

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा ।
न हीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! ससागरा पृथिवी का राज्य हस्तगत करना मेरे लिये दुर्लभ नहीं, किन्तु पृथिवी तो है ही क्या, मैं अधर्मपूर्वक इन्द्रपद को भी लेना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद ।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥

हे मान देने वाले ! तुम्हारे बिना, भरत के बिना और शत्रुघ्न के बिना मुझे जिस किसी वस्तु से सुख मिलता हो, उसे अग्निदेव भस्म कर डालें ॥ ८ ॥

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः ।
मम प्राणात्प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥

श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् ।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः ।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥ ११ ॥

मुझे तो यह ज्ञान पड़ता है कि, मेरा प्राणप्रिय और भ्रातृ, वत्सल भाई जब ननिहाल से अयोध्या में आया और हम तीनों का जटा वल्कल धारण कर वन में आना सुना, तब स्नेह से पूर्ण हृदय और शोक से विकल हो तथा इस कुलधर्म को (कि बड़े का राज्याभिषेक इस कुल में सदा से होता आया है) स्मरण कर, हम लोगों से मिलने आया है। उसके यहाँ आने का अन्य कोई अभिप्राय तो नहीं ज्ञान पड़ता ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

अम्बां च केकयीं रुष्य परुषं चाप्रियं वदन् ।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः ॥ १२ ॥

(बहुत सम्भव है कि) अम्मा कैकेयी के ऊपर क्रुद्ध हो और उसको कुछ कठोर वचन कह तथा पिता को मना कर, मुझे मनाने को आया हो ॥ १२ ॥

[1]प्राप्तकालं यदेषोऽस्मान्भरतो द्रष्टुमिच्छति ।
अस्मासु मनसाऽप्येष नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ १३ ॥

यह उचित ही है कि, भरत आ कर हमसे मिलें, परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि, भरत हमारे अनिष्ट की मन में कभी कल्पना भी करें ॥ १३ ॥

---

१ प्राप्तकालं—उचितं । (रा०)

विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् ।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं योऽत्र शङ्कसे ॥ १४ ॥

क्या भरत ने इससे पूर्व कभी तुम्हारा कुछ अहित किया था जो तुम उसकी ओर से भय की शङ्का कर रहे हो ॥ १४ ॥

न हि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥

भरत के विषय में ऐसे कठोर और अप्रिय वचन तुम्हें न कहने चाहिये। क्योंकि भरत के बारे में जो कुछ तुम खरी खोटी बातें कहोगे या उसका कुछ अहित करोगे तो मानों वह तुमने मुझीसे कठोर वचन कहे और मेरा ही अहित किया ॥ १५ ॥

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि ।
भ्राता वा भ्रातरं हन्यात्सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥१६॥

हे लक्ष्मण ! ज़रा सोचो तो। चाहे कैसी भारी विपत्ति क्यों न आन पड़े, पिता किसी भी दशा में अपने पुत्र का या भाई प्राण के समान अपने भाई का वध नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

और यदि तुमने ये सब बातें राज्यप्राप्ति के लिये ही कहीं हों तो मैं भरत से कह कर राज्य तुमको दिलवा दूँगा ॥ १७ ॥

उच्यमानोऽपि भरतो मया लक्ष्मण तत्त्वतः ।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव वक्ष्यति ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सत्य कहता हूँ कि, मेरे यह कहते ही कि "राज्य इसे दे दो" भरत सिवाय "बहुत अच्छा" कहने के ना तो कभी कहेगा ही नहीं॥ १८ ॥

तथोक्तो धर्मशीलेन भ्राता तस्य हिते रतः ।
लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥

जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने ऐसा कहा, तब उनके हितैषी लक्ष्मण जी बहुत लज्जित हुए और सकुड़ कर ऐसे हो गये, मानों शरीर के अंगों में घुसे जाते हो ॥ १९ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह ।
त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥

अनन्तर लक्ष्मण जी ने लज्जित हो यह उत्तर दिया कि, मुझे तो यह जान पड़ता है कि, महाराज दशरथ स्वयं ही तुमको देखने आये हैं ॥ २० ॥

व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह ।
एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान्द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण को लज्जित देख (उनकी बात को पुष्ट करते हुए) श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—मैं भी यही समझता हूँ कि, मेरे पिता ही मुझे देखने को यहाँ आये हैं ॥ २१ ॥

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ ।
वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥

अथवा हम दोनों को सुख में रहने योग्य मान, और वनवास के दुःखों को स्मरण कर, निश्चय ही हमें घर लौटा ले जांयगे ॥२२॥

इमां वाऽप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् ।
पिता मे राघवः श्रीमान्वनादादाय यास्यति ॥ २३ ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि, इन सीता को, जो अत्यन्त सुख पाने के योग्य हैं, मेरे पिता महाराज दशरथ वन से लौटा कर इन्हें अपने साथ ले जांय ॥ २३ ॥

एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ[1] मनोरमौ ।
वायुवेगसमौ वीर जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥

यह देखो श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुए सुन्दर वायु के समान शीघ्रगामी, उनके दोनों और उत्तम घोड़े अब साफ साफ देख पड़ते हैं ॥ २४ ॥

स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे ।
नागः शत्रुञ्जयो नाम [2]वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥

देखो, बुद्धिमान पिता जी के चढ़ने का वह बड़े डीलडौल वाला और ऊँचा शत्रुञ्जय नामक हाथी भी, सेना के आगे आगे झूमता हुआ चला आता है ॥ २५ ॥

न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं [3]लोकसत्कृतम् ।
पितुर्दिव्यं महाबाहो संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥

किन्तु हे महाबाहो! पिता जी का लोकोत्तर, दिव्य एवं श्वेत छत्र न देखने से मेरे मन में सन्देह होता है ॥ २६ ॥

---

१ गोत्रवन्तौ—प्रशस्तनामानौ । पक्षान्तरेप्रशस्तकुलप्रसूतौ । (गो०) २ वृद्धः—उन्नतः । (गो०) ३ लोकसत्कृतं—लोकोत्तरं । (गो०)

वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः ।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! अब तुम मेरा कहा मान वृक्ष से उतर आओ। जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से इस प्रकार कहा ॥ २७ ॥

अवतीर्य तु सालाग्रात्तस्मात्स समितिञ्जयः ।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥२८॥

तब युद्ध में जीतने वाले लक्ष्मण जी उस शाल के पेड़ से उतर हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी के पास आ खड़े हुए ॥ २८ ॥

भरतेनापि संदिष्टा संमर्दो न भवेदिति ।
समन्तात्तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥ २९ ॥

उधर भरत जी ने सेना वालों को यह आज्ञा दी कि यहाँ श्रीरामाश्रम में किसी प्रकार की गड़बड़ या भीड़भाड़ न होने पावे। यह कह उन्होंने उस पर्वत के चारों ओर सेना टिका दी ॥ २९ ॥

अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्योजनं पर्वतस्य सा ।
पार्श्वे न्यविशदावृत्य गजवाजिरथाकुला ॥ ३० ॥

हाथी घोड़ों से पूर्ण वह सेना पहाड़ के चारों ओर छः कोस के घेरे में टिक रही ॥ ३० ॥

सा चित्रकूटे[1] भरतेन सेना
धर्मं पुरस्कृत्य विधूय दर्पम् ।

---

१ चित्रकूटे—चित्रकूट समीपे। (गो०)

प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य
विराजते नीतिमता प्रणीता[1] ॥ ३१ ॥

इति सप्तनवतितमः सर्गः ॥

नीतिमान् भरत ने धर्ममार्ग से श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिये अपना अहङ्कार त्यागा और चित्रकूट पर्वत के पास सेना ला कर ठहरा दी ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

अष्टनवतितमः सर्गः

—:०:—

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां[2] वरः।
अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तिनम्[3]* ॥ १ ॥

प्राणधारियों में श्रेष्ठ और गुरु की शुश्रूषा करने वाले भरत जी सेना को इस भांति से टिका कर श्रीरामचन्द्र जी से मिलने के लिये स्वयं पैदल ही चले ॥ १ ॥

निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत्।
भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

भरत जी की आज्ञानुसार जब सेना ठहर गयी, तब भरत जी ने शत्रुघ्न से कहा ॥ २ ॥

---

१ प्रणीता—आनीता। (गो०) २ पादवतांवरः—चराणिनांश्रेष्ठ.। (रा०)
३ गुरुवर्तिनं—गुरुशुश्रूषापरम् (रा०) * पाठान्तरे—" गुरुवर्तकम्।"

छिन्नं वनमिदं सौम्य नरसङ्घैः समन्ततः ।
लुब्धैश्च[1] सहितैरेभिस्त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! तुम शीघ्र इन सब लोगों को और इन बहेलियों को साथ ले इस वन में चारों ओर घूम फिर कर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम का पता लगाओ ॥ ३ ॥

गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिधारिणा ।
समन्वेषतु काकुत्स्थावस्मिन्परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥

गुह भी अपने सहस्रों जाति वाले को साथ ले और तीर कमान एवं तलवार धारण कर (वन के जानवरों से आत्मरक्षार्थ) स्वयं उन दोनों को खोजे ॥ ४ ॥

अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः ।
वनं सर्वं चरिष्यामि पद्भ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥

मैं स्वयं भी इन मंत्रियों, पुरवासियों गुरुओं और ब्राह्मणों को साथ ले पैदल ही इस सारे वन को मझाऊँगा ॥ ५ ॥

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

जब तक मैं श्रीरामचन्द्र जी को, महाबली लक्ष्मण को और महाभाग्यवती सीता को न देख लूँगा, तब तक मुझे चैन न पड़ेगा ॥ ६ ॥

यावन्न चन्द्रसङ्काशं द्रक्ष्यामि शुभमाननम्* ।
भ्रातुः पद्मपलाशाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

---

१ लुब्धैः—व्याधैः । (गो०) * पाठान्तरे—"यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ।"

जब तक मैं चन्द्रमा के समान और कमलनयन बड़े भाई श्रीरामचन्द्र के प्रसन्नमुख के दर्शन न कर लूँगा, तब तक मुझे चैन न पड़ेगा ॥ ७ ॥

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
शिरसा धारयिष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ८ ॥

जब तक मैं श्रीरामचन्द्र जी के राजचिन्हों से युक्त चरणयुगल अपने मस्तक पर धारण न कर लूँगा तब तक मेरा मन शान्त न होगा ॥ ८ ॥

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः ।
अभिषेकजलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

जब तक राज्य करने योग्य श्रीरामचन्द्र जी उस पितृपितामह के राज्य पर अभिषेक द्वारा अभिषेक के जल से आर्द्र (भीगे) न होंगे, तब तक मेरा जी ठिकाने न होगा ॥ ९ ॥

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम् ।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति ॥१०॥

धन्य है लक्ष्मण, जो श्रीरामचन्द्र के उस निर्मल चन्द्रोपम महाद्युति युक्त एवं कमल सदृश नेत्र वाले मुख को देखा करते हैं ॥१०॥

कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा ।
भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या याऽनुगच्छति ॥११॥

वे महाभाग्यवती जानकी जी धन्य हैं, जो ससागरा पृथिवी के स्वामी श्रीरामचन्द्र जी की अनुगामिनी हैं ॥ ११ ॥

सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः।
यस्मिन्वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥ १२ ॥

हिमालय पर्वत के समान यह चित्रकूट पर्वत भी धन्य है। क्योंकि इस पर श्रीरामचन्द्र जी उसी प्रकार वास करते हैं, जिस प्रकार कुबेर चैत्ररथ वन में रहते हैं ॥ १२ ॥

कृतकार्यमिदं दुर्गं वनं व्यालनिषेवितम्।
यदध्यास्ते महातेजा रामः शस्त्रभृतांवरः ॥ १३ ॥

यह वन जो सर्पों से सेवित होने के कारण दुर्गम है, कृतार्थ हुआ, जिसमें शस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र रहते हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा भरतः पुरुषर्षभः।
पद्भ्यामेव महाबाहुः प्रविवेश महद्वनम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार कहते कहते, महातेजस्वी पुरुषश्रेष्ठ भरत ने उस वन में पैदल ही प्रवेश किया ॥ १४ ॥

स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु।
पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतांवरः ॥ १५ ॥

बोलने वालों में श्रेष्ठ महात्मा भरत जी पर्वत के शिखरों पर लगे हुए फूले फले वृक्षों के समूहों के बीच में जा पहुँचे ॥ १५ ॥

स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमासाद्य पुष्पितम्।
रामाश्रमगतस्याग्नेर्ददर्श ध्वजमुच्छ्रितम् ॥ १६ ॥

वहाँ एक साखू के वृक्ष के ऊपर चढ़ कर, श्रीरामचन्द्र के आश्रम में जलती हुई अग्नि का बहुत ऊँचा उठता हुआ धुआ देखा ॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान्मुमोद* सहबान्धवः ।
अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥ १७ ॥

तब तो भरत जी अपने बान्धवों सहित हर्षित हुए और यहीं श्रीरामचन्द्र जी रहते हैं—यह निश्चय कर, मानों समुद्र के पार हुए ॥ १७ ॥

स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य
रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम् ।
गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम
पुनर्निवेश्यैव चमूं महात्मा ॥ १८ ॥

इति अष्टनवतितमः सर्गः ॥

इस प्रकार उस गिरिराज चित्रकूट पर तपस्वियों से सेवित, श्रीरामाश्रम को पा कर, महात्मा भरत जी, गुह को साथ ले और सेना को यथास्थान फिर ठहरा शीघ्रता से आश्रम की ओर गये ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

एकोनशततमः सर्गः

—:०:—

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्तदा ।
जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥

* पाठान्तरे—"मुमोह" ।

सेना के टिक जाने पर, भरत जी उत्सुक हो, शत्रुघ्न जी को श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम के चिन्हादि दिखाते हुए, भाई के दर्शन की कामना से, चले ॥ १ ॥

ऋषिं वसिष्ठं सन्दिश्य मातॄर्मे शीघ्रमानय ।
इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥

भरत ने वशिष्ठ जी से कहा कि, आप मेरी माताओं को शीघ्र ले आइये, (मैं आगे चलता हूँ) यह कह गुरुवत्सल भरत शीघ्रता से आगे चले ॥ २ ॥

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत ।
रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

इतने में सुमंत्र भी शत्रुघ्न को भरत के पीछे जाते देख, स्वयं शत्रुघ्न के पीछे हो लिये । क्योंकि भरत की तरह सुमंत्र को भी श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की उत्कंठा हो रही थी ॥ ३ ॥

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम् ।
भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च ददर्श ह ॥ ४ ॥

भरत जी ने जाते जाते देखा कि, तपस्वियों के आश्रम के बीच में भाई की पर्णकुटी बनी हुई है ॥ ४ ॥

शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा ।
[1]काष्ठानि चावभग्नानि [2]पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥

---

१ काष्ठानि—रात्रौप्रकाशायज्वलनीयानि । (गो०) २ पुष्पाणि पूजार्थानि । (गो०)

भरत जी ने यह भी देखा कि, उस पर्णशाला के सामने ही (रात में प्रकाश करने के लिये) टूटी लकड़ियां और पूजन के लिये फूल चुन चुन कर रखे हुए हैं ॥ ५ ॥

सलक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममीयुषः ।
कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित्क्वचित् ॥ ६ ॥

और आश्रम की पहिचान के लिये आश्रमवासी श्रीराम लक्ष्मण ने कहीं कहीं वृक्षों में कुश और चीर बांध कर चिन्ह कर दिये हैं ॥ ६ ॥

ददर्श च वने तस्मिन्महतः सञ्चयान्कृतान् ।
मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥

भरत जी ने देखा कि, शीत से बचने के लिये अथवा तापने के लिये, मृगों और भैंसों के गोबर के सूखे कंडों के ढेर लगे हैं ॥ ७ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुर्द्युतिमान्भरतस्तदा ।
शत्रुघ्नं चाब्रवीद्धृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ।
नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥

महाबाहु धृतिवान् भरत जी ने चलते चलते प्रसन्न हो अपने सब मंत्रियों और शत्रुघ्न से कहा—जान पड़ता है, हम लोग उस स्थान पर पहुँच गये जिसे भरद्वाज जी ने बतलाया था। मैं समझता हूँ कि, यहां से मन्दाकिनी नदी कहीं समीप ही है ॥ ८ ॥ ९ ॥

उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम्।
अभिज्ञानकृतः पन्था [1]विकाले गन्तुमिच्छता॥ १०॥

यहाँ इतनी ऊँचाई पर लक्ष्मण ने चीरों को बाँधा है। यह इस लिये कि, रातबिरात में जब लक्ष्मण को पानी लाने के लिये जाना पड़ता होगा, तब इन चीरचिन्हों को देख, वे आश्रम में आ जाते होंगे॥ १०॥

इदं चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम्[2]।
शैलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम्॥ ११॥

वेगवान एवं बड़े बड़े दाँतों वाले हाथी जो बड़ा नाद किया करते हैं, पर्वत के पास यह उन्होंके आने जाने का रास्ता जान पड़ता है॥ ११॥

यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं वने।
तस्यासौ दृश्यते धूमः सङ्कुलः कृष्णवर्त्मनः॥ १२॥

तपस्वी लोग सायंप्रातः होम करने के लिये सदा जिस अग्नि को स्थापित रखा करते हैं, उसीका यह काला काला धुआँ देख पड़ता है॥ १२॥

अत्राहं पुरुषव्याघ्रं [3]गुरुसंस्कारकारिणम्।
आर्यं द्रक्ष्यामि संहृष्टो महर्षिमिव राघवम्॥ १३॥

अतः इसी स्थान पर उस पुरुषसिंह एवं श्रेष्ठ संस्कार करने वाले श्रीराम को, हर्ष युक्त महर्षि के समान बैठा हुआ मैं देखूँगा॥ १३॥

---

१ विकाले—अकाले सायंकालादौ। (गो०) २ तरस्विनां—वेगवतां। (गो०) ३ गुरुसंस्कारकारिणम्—गुरुसंस्कारः श्रेष्ठसंस्कारः मन्त्रोपदेशादिः तत्कारिणं। (गो०)

अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः ।
मन्दाकिनीमनुप्राप्तस्तं जनं[1] चेदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर भरत जी कुछ समय तक आगे चल, मन्दाकिनी नदी के समीप चित्रकूट पर्वत पर जा पहुँचे और शत्रुघ्नादि अपने साथियों से कहने लगे ॥ १४ ॥

[2]जगत्यां पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासने रतः ।
जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥१५॥

देखो वह पुरुषसिंह और नरेन्द्र हो कर पृथिवी पर वीरासन से बैठे हैं और इस निर्जनस्थान में रहते हैं । हा ! मेरे जीवन और जन्म को धिक्कार है ॥ १५ ॥

मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः ।
सर्वान्कामान्परित्यज्य वने वसति राघवः ॥ १६ ॥

हा ! मेरे ही पीछे, सब के स्वामी और महाद्युतिमान श्रीरामचन्द्र जी, दारुण दुरवस्था में पड़े हैं और सब प्रकार के सुखभोगों से वञ्चित हो, वन में वास करते हैं ॥ १६ ॥

इति लोकसमाक्रुष्टः पादेष्वद्य प्रसादयन् ।
रामस्य निपतिष्यामि सीतायाश्च पुनः पुनः* ॥ १७ ॥

इससे मेरी सब में बड़ी बदनामी हुई है (अतः उस बदनामी को दूर करने के लिये) मैं बार बार श्रीरामचन्द्र और सीता के चरणों पर गिर, उनको प्रसन्न करूँगा ॥ १७ ॥

---

१ तंजनं—सहागतं शत्रुघ्नादिकम् । (गो०) २ जगत्यां—भूमौ । (गो०)
* पाठान्तरे—" सीताया लक्ष्मणस्य । "

एवं स विलपंस्तस्मिन्वने दशरथात्मजः।
ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार वन में विलाप करते हुए भरत जी ने उस विशाल पवित्र एवं मनोहर (उस) पर्णकुटी को देखा, ॥ १८ ॥

सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम्।
विशालां मृदुभिस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥ १९ ॥

जो साखू, ताल और अश्वकर्ण नाम के वृक्षों के बहुत से पत्तों से छायी गयी थी और खूब लंबी चौड़ी और कोमल थी, देखने पर वह ऐसी जान पड़ती, मानों यज्ञवेदी कुशों से ढकी हुई है ॥१९॥

शक्रायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः[1]।
रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥ २० ॥

उसमें जहाँ तहाँ, इन्द्र के वज्र के समान, युद्ध में बड़े बड़े काम करने वाले और सुवर्णरचित पीठ वाले, बड़े भारी भारी तथा शत्रु को बाधा देने वाले धनुष, टँगे हुए शोभायमान हो रहे थे ॥ २० ॥

अर्करश्मिप्रतीकाशैर्घोरैस्तूणीगतैः शरैः।
शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगवतीमिव ॥ २१ ॥

उनके पास ही तरकसों में भरे सूर्य की किरणों के समान चमकीले एवं भयङ्कर बाण शोभा दे रहे थे। मानों प्रदीप्त मुख सर्पों से भोगवती नाम्नी नगरी सुशोभित हो ॥ २१ ॥

---

1 भारसाधनैः—गुरुतररणकार्यसाधनभूतैः। (गो०)

[1]महारजतवासोभ्यामसिभ्यां च विराजिताम् ।
रुक्मविन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥२२॥

वहाँ पर दो तलवारें भी रखी थीं, जिनकी सोने की म्यानें थीं और उनके पास ही दो ढालें भी रखी थीं, जिन पर सोने के फूल बने हुए थे ॥ २२ ॥

गोधाङ्गुलित्रैरासक्तैश्चित्रैः काञ्चनभूषितैः ।
अरिसङ्घैरनाधृष्यां मृगैः [2]सिंहगुहामिव ॥ २३ ॥

वहाँ कितने ही गोधा के चाम के और काञ्चनभूषित तरह तरह के अंगुलित्राण (दस्ताने) भी शोभित हो रहे थे। जिस पर्णशाला में इस प्रकार के शस्त्र रखे थे, वह शत्रुओं द्वारा उसी प्रकार अभेद्य थी, जिस प्रकार सिंह की गुफा, हिरनों के झुण्डों के लिये अभेद्य होती है ॥ २३ ॥

प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम् ।
ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥ २४ ॥

तदनन्तर भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी के वासस्थान में प्रज्वलित अग्नियुक्त ईशानकोण में अति विशाल एवं पवित्र वेदी देखी ॥ २४ ॥

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।
उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥

भरत जी एक मुहूर्त तक तो पर्णशाला की बनावट और सजावट देखते रहे, तदनन्तर उन्होंने पर्णशाला में बैठे हुए और जटा जूट धारण किये हुए बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ २५ ॥

---

१ महारजतवासोभ्यां—स्वर्णमयकोशाभ्यां । (गो०) २ सिंहगुहामिवपर्णशालांददर्शेत्यन्वयः । (रा०)

तं तु कृष्णाजिनधरं चीरवल्कलवाससम् ।
ददर्श राममासीनमभितः[1] पावकोपमम् ॥ ॥ २६ ॥

भरत जी ने अग्नि की तरह (दुर्दर्श) श्रीरामचन्द्र को ऊपर से काले हिरन का चाम ओढ़े और कमर पर चीर वल्कल पहिने हुए, कुटी के पास ही बैठा देखा ॥ २६ ॥

सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥२७॥

उनकी भुजाएँ घुटनों तक लंबी, उनके कंधे सिंह के कंधों के समान ऊँचे और नेत्र कमल के समान थे । वे ससागरा पृथिवी के स्वामी और धर्मचारी थे ॥ २७ ॥

उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ।
स्थण्डिले दर्भसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २८ ॥

उनको भरत ने सीता और लक्ष्मण के साथ एक चबूतरे पर, कुश के आसन के ऊपर, शाश्वत ब्रह्म की तरह बैठा हुआ देखा ॥ २८ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान्दुःखशोकपरिप्लुतः ।
अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः कैकयीसुतः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को (इस प्रकार) बैठा हुआ देख, कैकेयीनन्दन धर्मात्मा भरत, दुःख और मोह से विकल हो, उनकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

---

१ अभितः—समीपे । (रा०)

दृष्ट्वैव विललापार्तो बाष्पसन्दिग्धया गिरा ।
अशक्नुवन्धारयितुं धैर्याद्वचनमब्रवीत् ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र को देखते ही भरत जी का कण्ठ अति दुःखित होने के कारण गद्गद हो गया और वे विलाप करने लगे। उस दुःख के वेग को रोकना यद्यपि उनके लिये कठिन था, तथापि किसी प्रकार धैर्य धारण कर, वे यह बोले ॥ ३० ॥

यः [1]संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त[2] उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

हाय! जो राजसभा में बैठ मंत्रियों द्वारा उपासना किये जाने योग्य हैं, वे मेरे बड़े भाई आज वन्यमृगों द्वारा उपासित हो, बैठे हैं। अर्थात् जो श्रीरामचन्द्र राजसभा में मंत्रियों के बीच बैठने योग्य हैं, वे वनजन्तुओं के बीच बैठे हैं ॥ ३१ ॥

वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो[3] महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥

जो कितने ही हज़ारों के मूल्य वाले वस्त्र धारण करने योग्य हैं, वे महात्मा मेरे ज्येष्ठ भ्राता धर्माचरण के लिये हिरन का चाम ओढ़े हुए (यहाँ) बसे हुए हैं ॥ ३२ ॥

अधारयद्यो विविधाश्चित्राः सुमनसस्तदा ।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥

---

१ संसदि—सभायां । (गो०) २ युक्तः—अर्हः । (गो०) ३ बहुसाहस्रैः—बहुसहस्रमूल्यैः । (गो०)

जो सदा तरह तरह के चित्र विचित्र पुष्पों की माला धारण करते थे, वही श्रीरामचन्द्र आज इस जटाभार को किस प्रकार सहन कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

यस्य यज्ञैर्यथोद्दिष्टैर्युक्तो धर्मस्य सञ्चयः ।
शरीरक्लेशसंभूतं स धर्मं परिमार्गते ॥ ३४ ॥

जिनको ऋषि के द्वारा यथाविधि किये गये यज्ञों से पुण्य-सञ्चय करना उचित था, वे श्रीरामचन्द्र अपने ही शरीर को कष्ट दे कर पुण्यसञ्चय कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् ।
मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥ ३५ ॥

जिनके शरीर में मूल्यवान चन्दन का लेप किया जाता था, वन मेरे ज्येष्ठ भ्राता का शरीर देखो तो कैसा मैला हो रहा है ॥३५॥

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥ ३६ ॥

हा! मेरे ही पीछे, इन सुखों का उपभोग करने वाले श्रीराम-चन्द्र यह कष्ट भोग रहे हैं। हा! मुझ नृशंस और लोकनिन्दित के इस जीवन को धिक्कार है ॥ ३६ ॥

इत्येवं विलपन्दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः ।
पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए भरत, दुःखी थे। उनका मुख-कमल पसीने से तर था। उन्होंने चाहा कि, दौड़ कर श्रीरामचन्द्र

के चरणों में गिरें, किन्तु वहां तक न पहुँच, वे रो कर बीच ही में मूर्छित हो गिर पड़े ॥ ३७ ॥

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।
उक्त्वार्येऽति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किञ्चन ॥ ३८ ॥

उस समय दुःख सन्तप्त और कातर होने के कारण महाबली राजकुमार भरत केवल एक बार "आर्य" शब्द का उच्चारण कर, फिर और कुछ न बोल सके ॥ ३८ ॥

बाष्पापिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम् ।
आर्येत्येवाथ संक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत्ततः* ॥ ३९ ॥

क्योंकि यशस्वी श्रीरामचन्द्र को देख कर, भरत जी का कण्ठ रुद्ध हो गया था। वे केवल "आर्य" कह कर वाक्शक्ति-रहित से हो गये ॥ ३९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन् ।
तावुभौ स समालिङ्ग्य रामश्चाश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४० ॥

रोते हुए शत्रुघ्न ने श्रीरामचन्द्र जी के चरणों को प्रणाम किया। तब श्रीरामचन्द्र जी इन दोनों भाइयों को छाती से लगा स्वयं रोने लगे ॥ ४० ॥

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव
समीयतू राजसुतावरण्ये ।
दिवाकरश्चैव निशाकरश्च
यथाऽम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥ ४१ ॥

---

* पाठान्तरे—"तदा"।

तदनन्तर सुमंत्र और गुह भी श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी से मिले। मानों आकाश में सूर्य और चन्द्र, शुक्र और बृहस्पति से मिल रहे हों ॥ ४१ ॥

तान्पार्थिवान्वारणयूथपाभान्
समागतांस्तत्र महत्यरण्ये ।
वनौकसस्तेऽपि समीक्ष्य सर्वे-
ऽप्यश्रूण्यमुञ्चन्प्रविहाय हर्षम् ॥ ४२ ॥

इति एकोनशततमः सर्गः ॥

उस समय हाथियों पर सवारी करने योग्य इन राजकुमारों (श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न) को उस महावन में पैदल आये हुए देख, वहाँ के वनवासी भी दुःखी हो, रोने लगे ॥ ४२ ॥

अयोध्याकाण्ड का निन्यानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

शततमः सर्गः

—:०:—

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥

जटाजूट धारण किये और चीर पहिने श्रीरामचन्द्र ने भरत जी को हाथ जोड़, पृथिवी पर पड़ा हुआ देखा। मानों प्रलय कालीन दुर्दर्श सूर्य तेजहीन हो पृथिवी पर पड़ा हो ॥ १ ॥

कथञ्चिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् ।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह बाहुना ॥ २ ॥

बड़ी कठिनाई से विवर्ण मुख और अत्यन्त दुबले पतले भाई भरत को पहिचान, श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें दोनों हाथों से पकड़ कर उठाया ॥ २ ॥

आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवः ।
अङ्के भरतमारोप्य पर्यपृच्छत्समाहितः ॥ ३ ॥

अनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उनके मस्तक को सूँघ, उनको छाती से लगा और उनको अपनी गोदी में बिठा, सावधानतापूर्वक उनसे यह बात पूँछी ॥ ३ ॥

क्व नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः ।
न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

हे तात ! तुम्हारे पिता कहाँ हैं, जो तुम इस वन में आये हो ? (क्योंकि) उनके जीवित रहते तुम वन में नहीं आ सकते थे ॥ ४ ॥

चिरस्य बत पश्यामि दूराद्भरतमागतम् ।
[1]दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन्किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥

बड़े खेद की बात है कि, बहुत दिनों बाद और बहुत दूर से चल कर आने के कारण विवर्ण मुख एवं कृश भरत को मैं कठिनाई से पहिचान पाया । हे भाई ! तुम इस वन में किस लिये आये हो ? ॥ ५ ॥

कच्चिद्धारयते तात राजा यत्त्वमिहागतः ।
कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥

---

१ दुष्प्रतीकं—वैवर्ण्यादिनादुर्ज्ञेयावयवं । (गो०)

हे भाई ! तुम जो यहाँ आये हो सो यह तो कहो कि, पिता जी तो मज़े में हैं ? कहीं शोक से विकल हो महाराज अचानक लोकान्तरित तो नहीं हुए ॥ ६ ॥

कच्चित्सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् ।
कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितरं सत्यविक्रमम् ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! तुम अभी बालक हो, सो कहीं उस सनातन राज्य में तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई ? हे सत्यविक्रम ! तुम पिता की सेवा तो भली भाँति करते हो ? ॥ ७ ॥

कच्चिद्दशरथो राजा कुशली[1] सत्यसङ्गरः ।
राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चयः ॥ ८ ॥

राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करने वाले, धर्म में निश्चित बुद्धि रखने वाले, एवं सत्यप्रतिज्ञ महाराज तो स्वस्थ हैं ? ॥ ८ ॥

स कच्चिद्ब्राह्मणो विद्वान्धर्मनित्यो महाद्युतिः ।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते ॥ ९ ॥

क्या उस विद्वान एवं महातेजस्वी ब्राह्मण का, जो नित्य धर्मकार्यों में तत्पर रहता है और इक्ष्वाकुकुल का उपाध्याय है, यथावत् सत्कार किया जाता है ? ॥ ९ ॥

सा तात कच्चित्कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती ।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥ १० ॥

हे तात ! माता कौशल्या और सुपुत्रवती माता सुमित्रा तो प्रसन्न हैं ? और परमश्रेष्ठा देवी कैकेयी तो आनन्द से हैं ? ॥ १० ॥

---

1 कुशली—अनामयः । (गो०)

कच्चिद्विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो[1] बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुद्रष्टा[2] सत्कृतस्ते[3] पुरोहितः[4] ॥ ११ ॥

हे तात! विनम्र, अनुभवी, सत्कुलोत्पन्न एवं असूयारहित और समस्त सत्कर्मानुष्ठानों में निपुण, हमजोली और पुरोहित वशिष्ठ जी के पुत्र का सत्कार तो तुम करते हो न? ॥ ११ ॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते[5] सदा ॥ १२ ॥

अग्निहोत्र के कार्य में नियुक्त, हवन की विधियों को साङ्गोपाङ्ग जानने वाला, मतिमान और सरल स्वभाव पुरोहित, हवनकाल उपस्थित होने पर, तुमको सदा सूचना देता रहता है कि, नहीं? ॥ १२ ॥

कच्चिद्देवान्पितॄन्मातॄर्गुरून्पितृसमानपि ।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥ १३ ॥

हे तात! देवता, पिता, माता, गुरु और पिता के समान पूज्य, बड़े बूढ़ों, वैद्यों और ब्राह्मणों को सब तरह से तुम मानते हो न? ॥ १३ ॥

इष्वस्त्र[6]वरसम्पन्नम[7]र्थशास्त्रविशारदम्[8] ।
सुधन्वानमुपाध्यायं[9] कच्चित्त्वं तात मन्यसे ॥ १४ ॥

---

१ कुलपुत्रः—सत्कुलप्रसूतः । (गो०) २ अनुद्रष्टा—सकल सत्कर्म निपुणः । (शि०) ३ ते तव सवयस्कः । (शि०) ४ पुरोहितः—वसिष्ठपुत्रः । (शि०) ५ वेदयते—तुभ्यंज्ञापयति कच्चित् । (गो०) ६ इषवः—अमंत्रकाःबाणाः । (गो०) ७ अस्त्राणिः—समंत्रकः । ८ अर्थशास्त्रं—नीति-शास्त्रं । (गो०) ९ उपाध्यायं—धनुर्वेदाचार्यं । (गो०)

हे तात! अस्त्र (जो मंत्रबल से चलाये जांय) शस्त्र (जो विना मंत्र के चलाये जांय) से सम्पन्न, नीति-शास्त्र-विशारद, सुधन्वा नाम के धनुर्वेदाचार्य का तो यथोचित मान तुम करते हो? ॥ १४ ॥

कच्चिदात्मसमा[1] शूराः[2] श्रुतवन्तो[3] जितेन्द्रियाः[4] ।
[5]कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥ १५ ॥

हे तात! विश्वसनीय, धीर, नीतिशास्त्रज्ञ, लालच में न फँसने वाले और प्रामाणिक कुलोत्पन्न लोगों को तुमने अपना मंत्री बनाया कि नहीं? ॥ १५ ॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव ।
[6]सुसंवृतो मन्त्रधरैरमात्यैः [7]शास्त्रकोविदैः ॥ १६ ॥

क्योंकि हे राघव! नीतिशास्त्रनिपुण एकान्त भेद की सलाह करने योग्य मंत्रियों द्वारा रक्षित, गुप्त परामर्श ही, राजाओं के लिये विजय का मूल है। (अर्थात् जिन राजाओं के मंत्री परामर्शों को गुप्त रखने वाले होते हैं या जिन राजाओं के परामर्श गुप्त रहते हैं उन्हीं राजाओं की जीत होती है) ॥ १६ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषीः कच्चित्काले प्रबुध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम्[8] ॥ १७ ॥

---

१ आत्मसमाः—विश्वसनीया इति। (गो०) २ शूराः—धीराः। (गो०) ३ श्रुतवन्तः—नीतिशास्त्रज्ञाः। ४ जितेन्द्रियाः—परैरलोभनीया इति। (गो०) ५ कुलीनाः—प्रामाणिककुलोत्पन्नाः। (गो०) ६ सुसंवृतः—सुतरांगुप्तः। (गो०) ७ शास्त्रकोविदैः—नीतिशास्त्रनिपुणैः। (गो०) ८ अर्थनैपुणम्—अर्थसम्पादन रीतिम्। (शि०)

तुम निद्रा के वश में तो नहीं रहते? यथा समय जाग तो जाते हो? तुम पिछली रात में अर्थ की प्राप्ति के उपाय तो विचारा करते हो? ॥ १७ ॥

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ १८ ॥

अकेले तो किसी विषय पर विचार नहीं करते अथवा बहुत से लोगों के बीच बैठ कर तो सलाह नहीं करते? तुम्हारा विचार कार्य रूप में परिणत होने के पूर्व दूसरे राजाओं को विदित तो नहीं हो जाता ॥ १८ ॥

[नोट—राजा को अकेले अथवा बहुत से लोगों में बैठ कोई सलाह न करनी चाहिये और न उसके विचार उपयुक्त समय के पूर्व प्रकट ही होने चाहिये ।]

कच्चिदर्थं[१] विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम्[२] ।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥

अल्प प्रयास से सिद्ध होने वाले और बड़ा फल देने वाले कार्य को करने का निश्चय कर, उसका करना तुम तुरन्त आरम्भ कर देते हो कि नहीं? उसे पूरा करने में देर तो नहीं लगाते? ॥१९॥

कच्चित्ते सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः[३] ॥ २० ॥

---

१ अर्थं—कार्यं । (गो०) २ महोदयं—महाफलं । (गो०) ३ पार्थिवाः—सामंतनृपाः । (गो०)

तुम्हारे निश्चित किये हुए सब कार्य भली भाँति पूरे हो जाने पर अथवा पूरे होने ही पर छोटे राजा जान पाते हैं न? कार्य पूरे होने के पूर्व तो उनको वे कहीं नहीं जान लेते? ॥ २० ॥

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या[1] वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः[2] ।
त्वया वा तव वाऽमात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥ २१ ॥

मंत्रियों के साथ की हुई तुम्हारी अप्रकाशित सलाह को, दूसरे लोग, तर्क से अथवा अनुमान से तो कहीं नहीं ताड़ लेते ॥ २१ ॥

कच्चित्सहस्रान्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु[3] कुर्यान्निःश्रेयसं[4] महत् ॥ २२ ॥

तुम हज़ार मूर्खों को त्याग कर एक पण्डित (सलाहकार) का आश्रय ग्रहण करते हो न? क्योंकि यदि सङ्कट के समय एक भी पण्डित पास हो, तो बड़े ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। अर्थात् बड़ा लाभ होता है ॥ २२ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।
अथवाऽप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥

राजा भले ही हज़ार या दस हज़ार मूर्खों को अपने पास रखे, परन्तु उन मूर्खों से उस राजा को कुछ भी साहाय्य नहीं मिल सकता ॥ २३ ॥

---

१ युक्त्यावा—अनुमानेनवा । (गो०) २ अपरिकीर्तिताः—अनुक्ताः इङ्गितादयः । (गो०) ३ अर्थकृच्छ्रेषु—कार्यसङ्कटेषु । (गो०) ४ महत्—निःश्रेयसं महदैश्वर्यं । (गो०)

एकोऽप्यमात्यो मेधावी [1]शूरो दक्षो[2] विचक्षणः[3] ।
राजानं राजपुत्रं* वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥

किन्तु यदि एक भी बुद्धिमान, स्थिरबुद्धि, विचारकुशल और नीतिशास्त्र में अभ्यस्त मंत्री हो, तो राजा को वा राजकुमार को बड़ी लक्ष्मी प्राप्त करा देता है ॥ २४ ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्यास्तु जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥२५॥

हे तात ! तुम, उत्तम जाति के नौकरों को उत्तम कार्य में, मध्यम जाति के नौकरों को मध्यम कार्य में और छोटी जाति के नौकरों को छोटे कामों में लगाते हो न ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहा[4]ञ्शुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥

तुम उन मंत्रियों को, जो ईमानदार हैं, जो कुलपरंपरा से मंत्री होते आते हैं, जो शुद्ध हृदय और श्रेष्ठ स्वभाव के हैं, श्रेष्ठ कार्यों में नियुक्त करते हो न ? ॥ २६ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजितप्रजम् ।
राष्ट्रं तवानुजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥

हे कैकेयीनन्दन ! तुम्हारे राज्य में उग्रदण्ड से उत्तेजित प्रजा कहीं तुम्हारा या तुम्हारे मंत्रियों का अपमान तो नहीं करती ॥ २७ ॥

---

१ शूरः—स्थिरबुद्धिः । (गो०) २ दक्षः—विचारसमर्थः । (गो०) ३ विचक्षणः—अभ्यस्तनीतिशास्त्रः । ४ पितृपैतामहान्—कुलक्रमागतान् । (गो०) * पाठान्तरे—" राजमात्रं " ।

कच्चित्त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं[1] यथा।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः॥ २८॥

जिस प्रकार स्त्रियाँ परस्त्रीगमन करने वाले पुरुष को पतित समझ उसका अनादर करती हैं, या जिस प्रकार यज्ञ करने वाले यज्ञकर्म से पतित का अनादर करते हैं, उस प्रकार कहीं अधिक कर लेने से प्रजा तुम्हारा अनादर तो नहीं करती॥ २८॥

उपायकुशलं वैद्यं[2] भृत्यसंदूषणे रतम्।
[3]शूरमैश्वर्यकामं च यो न हन्ति स वध्यते[4]॥२९॥

जो राजा, विशेष धन के लालच में फँस, कुटिल नीति विशारद पुरुष को, सज्जनों में दोष लगाने वाले नौकर को और राजा तक को मार डालने में भय न करने वाले पुरुष को नहीं मारता, वह स्वयं मारा जाता है। सो हे भाई! तुम कहीं ऐसे लोगों को तो अपने पास नहीं रखते?॥ २९॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान्धृतिमाञ्शुचिः।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः॥ ३०॥

हे भरत! तुमने किसी ऐसे पुरुष को, जो व्यवहार में चतुर, शत्रु को जीतने वाला, सैनिक कार्यों में (व्यूहादि रचना में) चतुर, विपत्ति के समय धैर्य धारण करने वाला, स्वामी का विश्वासपात्र, सत्कुलोद्भव, स्वामिभक्त, और कार्यकुशल हो, अपना सेनापति बनाया है कि नहीं?॥ ३०॥

---

१ पतितं—यष्टुकामं पतितं। (गो०) २ वैद्यं—कणिकोक्तकुटिलनीतिविद्याविदं। (गो०) ३ शूरं—राजहिंसनेपिनिर्भयं। (गो०) ४ वध्यते—राज्याद्भ्रष्टो भवति। (गो०)

बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः ।
दृष्टापदाना[1] विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥३१॥

अत्यन्त बलवान्, प्रसिद्ध, युद्धविद्या में निपुण और जिसके बल की परीक्षा ली जा चुकी है और जो पराक्रमी है ऐसे पुरुषों को पुरस्कृत कर तुमने उत्साहित किया है कि नहीं? ॥ ३१ ॥

कच्चिद्बलस्य भक्तं[2] च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥

तुम सेना वालों को कार्यानुरूप भोजन और वेतन यथासमय देने में विलम्ब तो नहीं करते ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणाच्चैव भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति दुष्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान्स्मृतः ॥३३॥

क्योंकि भोजन और वेतन समय पर न मिलने से, नौकर लोग कुपित होते हैं और मालिक की निन्दा करते हैं। नौकरों का ऐसा करना, एक बड़े भारी अनर्थ की बात है ॥ ३३ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः[3] प्रधानतः[4] ।
कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु सन्त्यजन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥

भला सब राजपूत और सरदार तो तुम्हारे ऊपर अनुराग रखते हैं? और क्या समय पर वे तुम्हारे लिये सावधानता पूर्वक अपने प्राण दे डालने को तैयार हो सकते हैं? ॥ ३४ ॥

---

१ दृष्टापदाना—अनुभूतं पौरुषं । (रा०) २ भक्तं—अन्नं वेतनं । (रा०)
३ कुलपुत्राः—क्षत्रियकुलप्रसूताः । (गो०) ४ प्रधानतः—प्रधानाः । (गो०)

कच्चिज्जानपदो [1]विद्वान्दक्षिणः[2] प्रतिभानवान्।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

अपने ही राज्य के रहने वाले, दूसरे के अभिप्राय को जानने वाले, समर्थ, हाज़िरजवाब,[1] (प्रत्युत्पन्नमति), यथोक्तवादी और दूसरे की कही बातों को तर्क से खण्डन करने वाले पुरुष को, तुमने अपना दूत बनाया है कि, नहीं ? ॥ ३५ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३६ ॥

अन्य राज्यों के अठारह पदाधिकारी और अपने राज्य के तीन (मंत्री, पुरोहित, युवराज) छोड़ शेष, पन्द्रह राज्याधिकारियों का, हाल जानने के लिये प्रत्येक के पास तीन तीन ऐसे भेदिया जो आपस में एक दूसरे को न जानते हों, नियुक्त कर, इन सब की कारवाइयों का हाल तुम जानते रहते हो न ? ॥ ३६ ॥

[नोट—अठारह पदाधिकारी ये हैं—

१ मंत्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति, ५ द्वारपाल, ६ अन्तःपुराधिकारी ७ बंधनगृहाधिकारी (दरोगा जेल) ८ धनाध्यक्ष, ९ राजा की आज्ञानुसार नौकरों को आज्ञा देने वाला, १० प्राड्विवाक (वकील) ११ धर्माध्यक्ष, १२ सेना को वेतन बाटने वाला, १३ ठेकेदार, १४ नगराध्यक्ष (कोतवाल), १५ राष्ट्रान्तपाल (सीमान्त का अफसर) १६ दुष्टों को दण्ड देने वाला (मजिस्ट्रेट) १७ जल, पर्वत, वन का रक्षक और १८ दुर्गों का रक्षक ।]

---

१ विद्वान्—पराभिप्रायज्ञः । (गो०) २ दक्षिणः—समर्थः । (गो०)

कच्चिद्व्यपास्तान[1] हितान्प्रतियातांश्च[2] सर्वदा ।
दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥

हे रिपुसूदन! उन शत्रुओं को जिनको तुमने अपने राज्य से निकाल दिया था और फिर किसी तरह लौट कर आ गये हैं, उनको दुर्बल समझ, उनकी ओर से तुम कहीं असावधान तो नहीं रहते? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्न लौकायतिकान्ब्राह्मणांस्तात सेवसे ।
[3]अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

तुम कहीं नास्तिक ब्राह्मणों को तो अपने पास नहीं रखते? क्योंकि ये लोग अपने को बड़ा पण्डित लगाते हैं, परन्तु वास्तव में मूर्ख होने के कारण वे यथावत् ज्ञानवन्त नहीं होते अथवा शास्त्र के तत्व को न जानने के कारण धर्मानुष्ठान से लोगों का चित्त हटा कर, लोगों को नरक भेजने में बड़े कुशल होते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः[4] ।
[5]बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

मुख्य मुख्य प्रामाणिक धर्मशास्त्रों के विद्यमान रहते भी, उनकी बुद्धि सदा वेदविरुद्ध तर्कों ही की ओर दौड़ा करती है और शुष्क तर्क वितर्क करने की आदत पड़ जाने से वे सदा अनर्थकारी वचन ही बोला करते हैं ॥ ३९ ॥

[नोट—अतः ऐसे नास्तिक दुर्बुद्धियों से सदा दूर रहना ही उचित है।]

---

१ व्यपास्तान्—निष्कासितान् । (गो०) २ प्रतियातान्—पुनरागतान् । (गो०) ३ अनर्थकुशला—यथावज्ज्ञानवन्तःतेनभवन्तीत्यनर्थकुशलाः । (गो०) ४ दुर्बुधाः—वेदमार्गविपरीतबुद्धयः । (गो०) ५ आन्विक्षिकींबुद्धिं प्राप्य—शुष्कतर्कविषयांबुद्धिमास्थाय । (गो०)

वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः ।
सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसङ्कुलाम् ॥ ४० ॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा ।
जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥ ४१ ॥
प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां [1]वैद्यजनाकुलाम् ।
कच्चित्समुदितां[2] स्फीतामयोध्यां परिरक्षसि ॥ ४२ ॥

हे तात ! तुम उस अयोध्या की तो भली भाँति रक्षा करते हो, जो हमारे पिता पितामहादि वीर पुरुषों की भोगी हुई, अपने नाम को चरितार्थ करने वाली, दृढ़ द्वारों वाली, हाथी घोड़े और रथों से भरी हुई, वर्णानुसार धर्म कार्यों में सदा तत्पर रहने वाले ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों से युक्त, जितेन्द्रिय और महाउत्साही हज़ारों आर्य जनों से सुशोभित, विविध आकार प्रकार के भवनों से पूर्ण, विद्वज्जनों से भरी हुई और जो दिन दिन उन्नतावस्था को प्राप्त हो रही है ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः [3]सुनिविष्टजनाकुलः ।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च[4] तटाकैश्चोपशोभितः ॥ ४३ ॥
[5]प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः ।
सुकृष्टसीमा पशुमान्हिंसाभिरभिवर्जितः[6]* ॥ ४४ ॥

---

१ वैद्य जनाकुलां—विद्वज्जनाः तैरावृतां । (गो०) २ समुदितां—सुसन्तुष्टजनाः । (गो०) ३ सुनिविष्टजनाकुलः—सुप्रतिष्ठितजनव्याप्तः । (गो०) ४ प्रपाभिः—पानीयशालाभिः । (गो०) ५ सुकृष्टसीमा—अकृष्टाईषत्कृष्टा च भूमिर्नतत्रासीत् । (गो०) ६ हिंसाभिः ईतिभिः षड्भिः । (गो०)

* पाठान्तरे—" परिवर्जितः " ।

अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः ।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥ ४५ ॥

विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः ।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥

हे राघव ! जिस देश में अनेक यज्ञानुष्ठान हो चुके हैं, जहाँ सुप्रतिष्ठित लोग रहते हैं, जो अनेक देवालयों पौंसलों और तड़ागों से शोभित है, जो हर्षित स्त्री पुरुषों से और सामाजिक उत्सवों से शोभायमान है, जहाँ पर तिल बराबर भी ज़मीन विना जुती नहीं है, जहाँ पर हाथी, घोड़े, गाय, बैल आदि पशु भरे पड़े हैं, जहाँ १ ईति का कभी भय नहीं होता, जहाँ के लोग मेघजल ही के ऊपर निर्भर नहीं है, (अर्थात् सरयू का तटवर्ती देश होने के कारण खेतों की सिंचाई के लिये वर्षाजल पर ही किसान निर्भर नहीं हैं), जो रमणीक है, जो हिंसक पशुओं से रहित हैं, जो चोरी आदि सब भयों से रहित हैं, जो नाना खानों से शोभित है, जहाँ पापीजन एक भी नहीं है, जो उत्तरोत्तर उन्नति प्राप्त है तथा जो मेरे पूर्व-पुरुषों से सुरक्षित है, वह देश तो सुखी है ? ॥४३॥ ४४॥ ४५ ॥ ४६ ॥

[१ ईति—अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः खगाः ।
अत्यासन्नाश्चराजानः षडेताईतयः स्मृताः । (गो०)]

कच्चित्ते दयिताः[1] सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः[2] ।
वार्त्तायां संश्रितस्तात लोको हि सुखमेधते ॥ ४७ ॥

हे तात ! जो लोग खेती कर और पशुओं को पाल, अपना गुज़ारा करते हैं, उन पर तुम प्रसन्न तो रहते हो ? क्योंकि ये लोग लेन देन के कार्य में नियुक्त रह कर धनधान्य युक्त होते हैं ॥ ४७ ॥

---

१ दयिताः—प्रियाः । (शि०) २ कृषिगोरक्षजीविनः—वैश्याः । (गो०)

तेषां [1]गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम् ।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥ ४८ ॥

तुम उन लोगों को उनकी इष्ट वस्तु दे तथा उनका अरिष्ट दूर कर उनका भरण पोषण तो करते हो? क्योंकि राजा को उचित है कि, वह अपने राज्य में बसने वालों की धर्म से (ईमानदारी से) रक्षा करे ॥ ४८ ॥

कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसि[2] कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥ ४९ ॥

क्या तुम स्त्रियों को प्रसन्न रखते हो? उनकी भली भाँति रक्षा करते हो कि नहीं? उनका विश्वास तो नहीं कर लेते? कभी स्त्रियों को अपना गुप्त भेद तो नहीं बतला देते? ॥ ४९ ॥

कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः[3] ।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां[4] कुञ्जराणां विभूषितम्* ॥५०॥

जिन वनों में हाथी हैं वे भली भाँति रखाये तो जाते हैं? जो हथिनियां, हाथियों को पकड़वाती हैं, उनका पालन पोषण तो ठीक ठीक होता है? तुम हाथी हथिनियों और घोड़ों के लाभ से तृप्त तो नहीं होते? ॥ ५० ॥

कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मनुष्याणां विभूषितम् ।
उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे[5] ॥ ५१ ॥

---

१ गुप्तपरीहारैः—इष्टप्रापणानिष्टनिवारणैः । (गो०) २ सान्त्वयसि—अनुकूलतयावर्तसे । (गो०) ३ धेनुकाः—गजग्रहण साधनभूताः करिण्यः । (गो०) ४ गणिकाः—करिण्यः । (गो०) ५ महापथे—सभायां । (गो०)

* पाठान्तरे—"चक्षुष्यसि" ।

हे राजपुत्र! तुम अपने को सर्व प्रकार से भूषित कर दोपहर से पहिले ही, सभा में जा, प्रजा जनों से मिलते हो कि नहीं ॥ ५१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥ ५२ ॥

तुम्हारे यहाँ जो काम करने वाले लोग हैं, वे निर्भय हो तुम्हारे निकट तो सदा नहीं चले आया करते या मारे डर के तुमसे अति दूर तो नहीं रहते। क्योंकि ये दोनों ही बातें लाभप्रद नहीं हैं। अतः काम करने वाले के साथ मध्यम व्यवहार करना उचित है। (अर्थात् इनका कभी कभी तो तुम्हारे पास आना और कभी कभी दूर रहना ही वाञ्छनीय है) ॥ ५२ ॥

कच्चित्सर्वाणि दुर्गाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः[1] ॥ ५३ ॥

तुम्हारे सब किले तो धन, धान्य, हथियार, जल, कल, क्रिया-कुशल तीर चलाने वाले योद्धाओं से परिपूर्ण हैं कि नहीं? ॥ ५३ ॥

आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः ।
[2]अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव ॥ ५४ ॥

हे राघव! तुम्हारे कोश में आमदनी अधिक और आमदनी से कम व्यय है कि नहीं, तुम्हारे कोश का धन कहीं नाचने गाने वालों को तो नहीं लुटाया जाता? ॥ ५४ ॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च ।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः ॥ ५५ ॥

---

१ शिल्पिधनुर्धरैः—क्रियाकुशलधनुर्धारिभिः। (शि०) २ अपात्रेषु—नटविटगायकेषु। (गो०)

देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा और मित्रगण—इन सब के लिये तुम्हारे कोश का धन व्यय किया जाता है कि, नहीं? ॥ ५५ ॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्माऽऽक्षारितश्चोरकर्मणा ।
अपृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्बध्यते शुचिः ॥ ५६ ॥

जब अच्छे चरित्र वाले साधु लोग, जो झूँठे चोरी आदि अपवादों से दूषित हो, विचारार्थ, न्यायालय में उपस्थित किये जाते हैं, तुम्हारे नीतिशास्त्रकुशल लोग उनसे जिरह कर सत्यासत्य का निर्णय किये बिना ही, लालच में फँस, उनको कहीं दण्ड तो नहीं दे देते? ॥ ५६ ॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥ ५७ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! जो चोर चोरी करते समय पकड़ा गया और जिरह से जिसका चोरी करना सिद्ध हो चुका, वह चोर, कहीं घूँस के लालच से छोड़ तो नहीं दिया जाता ॥ ५७ ॥

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्गतस्य च राघव ।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥ ५८ ॥

धनी और ग़रीब का झगड़ा होने पर तुम्हारे बहुश्रुत (अनुभवी) सचिव, लोभरहित हो, दोनों का मुकद्दमा, न्यायपूर्वक फैसल करते हैं कि नहीं? ॥ ५८ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यस्राणि राघव ।
तानि पुत्रपशून्घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ५९ ॥

क्योंकि हे राघव! झूठे दोषारोपण के लिये दण्डित लोगों के नेत्रों से गिरे हुए आँसू उस राजा के, जो केवल अपने शारीरिक सुख (ऐश आराम) के लिये राज्य करता है और न्याय की ओर ध्यान नहीं देता, पुत्रों और पशुओं का नाश कर डालते हैं॥ ५९॥

कच्चिद्वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यमुख्यांश्च राघव।
[1]दानेन मनसा[2] वाचा[3] त्रिभिरेतैर्बुभूषसे॥ ६०॥

हे राघव! तुम वृद्धों, बालकों, वैद्यों और मुखिया लोगों को, (१) उनको अभीष्ट वस्तु प्रदान करके, (२) उनके साथ स्नेहपूर्वक व्यवहार करके और (३) उनसे आश्वासन सूचक वचन कह—(इन) तीन तरह से राज़ी तो रखते हो?॥ ६०॥

कच्चिद्गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान्देवतातिथीन्।
चैत्यांश्च[4] सर्वान्सिद्धार्थान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि॥६१॥

तुम गुरु, वृद्ध, तपस्वि, देवता, अतिथि, चौराहे के बड़े वृक्षों और विद्या-तपोनिष्ठ ब्राह्मणों को तो श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हो?॥ ६१॥

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन च न बाधसे॥ ६२॥

कहीं धर्मानुष्ठान के समय को अर्थोपार्जन में अथवा अर्थोपार्जन के समय को धर्मानुष्ठान में तो नष्ट नहीं कर देते? अथवा सुखाभिलाष के लिये विषयवासना में फँस, अर्थोपार्जन और धर्मानुष्ठान दोनों का समय तो नहीं गँवा देते?॥ ६२॥

---

१ दानेन—अभिमतवस्तुप्रदानेन। (गो०) २ मनसा—स्नेहेन। (गो०) ३ वाचा—सान्त्ववचनेन। (गो०) ४ चैत्यान्—देवतावासभूतचतुष्पथस्थ महावृक्षान्। (गो०)

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतांवर ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्भरत सेवसे ॥ ६३ ॥

हे जीतने वालों में श्रेष्ठ ! हे कालज्ञ भरत ! धर्म अर्थ और काम इन तीनों को समय विभाग कर किया करते हो कि नहीं ? (प्रातःकाल दानादिधर्म में, तदनन्तर राजकाज में, और रात—काम के लिये) अर्थात् कहीं एक ही काम में तो सारा समय नहीं बिता देते ॥ ६३ ॥

कच्चित्ते ब्राह्मणाः शर्म[1] सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ।
[2]आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥

हे महाप्राज्ञ ! पुरजन, जनपदवासी और धर्मशास्त्र के सम्पूर्ण अर्थों के जानने वाले पण्डित तुम्हारे सुख के लिये प्रार्थना तो किया करते हैं ॥ ६४ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं [3]पञ्चवृत्तिताम् ॥ ६५ ॥

एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ६६ ॥

मङ्गलस्याप्रयोगं च प्रत्युत्थानं[4] च सर्वतः ।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदोषांश्चतुर्दश ॥ ६७ ॥

हे भरत ! १ नास्तिकपना, २ असत्यभाषण, ३ क्रोध, ४ अनवधानता, ५ दीर्घसूत्रता, ६ ज्ञानियों से न मिलना, ७ आलस्य, ८

---

१ शर्म—सुखं । (गो०) २ आशंसन्ते—प्रार्थयन्ते ३ पञ्चवृत्तिताम्—पञ्चेन्द्रियपरवशतां । (गो०) ४ प्रत्युत्थानंचसर्वतः—नीचस्यानीचस्याप्यागमने प्रत्युत्थानमित्यर्थः । (गो०)

इन्द्रियों की परवशता, ९ मंत्रियों की अवहेला कर स्वयं अकेले ही राज्य सम्बन्धी बातों पर विचार करना, १० अशुभ चिन्तकों अथवा उलटी बात सुझाने वालों से सलाह करना, ११ निश्चित किये हुए कामों को आरम्भ न करना, १२ सलाह को न छिपाना, १३ मङ्गल कृत्यों का परित्याग, और १४ नीच ऊँच सब को देख उठ खड़ा होना या सब को अभ्युत्थान देना अथवा चारों ओर युद्ध करते फिरना—इन चौदह राजदोषों को तो तुमने त्याग दिया है? ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

दश पञ्च चतुर्वर्गान्सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥ ६८ ॥

हे भरत! १ शिकार, २ जुआ, ३ दिन का सोना, ४ निन्दा करना, ५ स्त्री, ६ मद, ७ नृत्य, ८ गीत, ९ वाद्य और १० वृथा इधर उधर घूमना (ये दश कामज दोष हैं)—इनको; १ जल सम्बन्धी २ पर्वत सम्बन्धी ३ वृक्ष सम्बन्धी ४ ऊसर सम्बन्धी और ५ निर्जल देश सम्बन्धी, इन पाँच प्रकार के दुर्गों को; १ साम २ दाम ३ दण्ड और ४ भेद—इन चार नीतियों को; १ स्वामी २ मंत्री ३ राष्ट्र ४ दुर्ग, ५ कोश ६ सेना ७ मित्रराज्य, इन सात अंगों को—तुम भली भाँति जानते और इन पर विचार किया करते हो कि नहीं? १ चुगुलपन, २ दुःसाहस, ३ द्रोह. ४ डाह ॥ ६८ ॥

इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम् ।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥ ६९ ॥

५ गुण में दोष देखना, ६ अर्थ में दोष लगाना, ७ कठोरवचन, ८ तीक्ष्णदण्ड देना, (ये क्रोधज आठ दोष हैं)—इनको; १ धर्म २ अर्थ और ३ काम—इन तीनों को; तीन प्रकार की विद्याओं

यी (तीनों वेदों का पढ़ना) ; १ सन्धि, २ विग्रह, ३ चढ़ाई, ४ समय की प्रतीक्षा करते रहना, ५ शत्रुओं में फूट फैलाना, और ६ किसी बली को अपना सहायक बनाना इन छःओं को ; १ अग्नि २ जल, ३ व्याधि ४ दुर्भिक्ष और महामारी इन पांच तरह की दैविक विपत्तियों को तुम भली भांति जानते तो हो ? अधिकारियों से, चोरों से, शत्रुओं से, राजा के कृपापात्रों से और राजा के लालच से उत्पन्न हुई विपत्तियों को तुम भली भांति जानते और उन पर ध्यान तो देते हो ? १ बालक २ वृद्ध ३ दीर्घ रोगी ४ जातिबहिष्कृत, ५ डरपोंक, ६ दूसरों को डरपाने वाला, ७ लोभी ८ लोभी का संबन्धी, ९ प्रजा जिससे विरक्त हो, १० इन्द्रियासक्त, ११ बहुत लोगों के साथ परामर्श करने वाला १२ देव-ब्राह्मण-निन्दक १३ भाग्यहीन १४ भाग्य पर निर्भर रहने वाला १५ अकाल का मारा, १६ विदेश में मारा मारा फिरने वाला, १७ बहुत शत्रुओं वाला १८ यथासमय काम न करने वाला १९ सत्य धर्म में जो तत्पर नहीं २० और सेना का सताया हुआ या बड़ा पहलवान—इन बीसों को ; राज्य, स्त्री, स्थान, देश, जाति और धन जिनके छीन लिये गये हों (यह प्रकृति मण्डल है)—इनको : शत्रु, मित्र, शत्रुका भली भांति का शत्रु और परममित्र ये राजमण्डल हैं—इनको ; तुम मित्र, मित्र जानते और इन पर ध्यान देते हो ? ॥ ६९ ॥

यात्रादण्डविधानं[1] च द्वियोनी[2] सन्धिविग्रहौ ।
कच्चिदेतान्महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥ ७० ॥

---

१ यात्रादण्ड विधानं—यात्रा यानं दण्डस्यसैन्यस्यविधानं संधिधानं व्यूहभेद विधानं । (गो०) २ द्वियोनी—संधिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयौ संधेरूपं । (गो०)

हे महाप्राज्ञ! यात्राविधान, दण्डविधान, सन्धि, विग्रह, करने न करने वालों को परख लेना—इन बातों को तुम भली भाँति जानते हो कि नहीं? ७० ॥

मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टैश्चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।
कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे मिथः[1] ॥ ७१ ॥

हे मतिमान्! तुम नीतिशास्त्र के अनुसार तीन या चार मंत्रियों को एकत्र कर एक साथ, अथवा उनसे अलग अलग गुप्त परामर्श करते हो? ॥ ७१ ॥

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः ।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥७२॥

क्या तुम अग्निहोत्रादि अनुष्ठान करके वेदाध्ययन को सफल करते हो? दान और भोग में लगा कर क्या तुम अपने धन को सफल करते हो? यथाविधि सन्तानोत्पत्ति कर स्त्रियों को तुम सफल करते हो? तुमने जो शास्त्र श्रवण किया है उसके अनुसार आचरण कर तुम शास्त्रश्रवण को चरितार्थ करते हो ॥ ७२ ॥

[महाभारत में लिखा है—

अग्निहोत्रफलावेदाः, दत्तभुक्तफलं धनं ।
रतिपुत्रफलादाराः शीलवृत्तफलं श्रुतं ॥

७२वें श्लोक का आशय इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है।]

कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥७३॥

---

१ मिथः—रहसि मंत्रं मंत्रयसेकच्चित्। (गो०)

धर्म, अर्थ तथा काम के सम्बन्ध में जो बातें मैंने तुमसे अभी कही हैं और जिनके अनुसार चलने से यश और आयु बढ़ती है, वे तुम्हें पसंद हैं कि नहीं ? ॥ ७३ ॥

यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहाः ।
तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद्या च सत्पथगा शुभा ॥७४॥

सन्मार्गानुसारिणी और अनिन्दिता, जिससे हमारे पूर्वज पिता पितामहादि चलते थे, उसी वृत्ति को अवलंबन कर तुम भी चलते हो न ? ॥ ७४ ॥

कच्चित्स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव ।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥ ७५ ॥

हे भरत ! तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले ही तो नहीं खा लेते ? जो मित्र खाते समय उपस्थित हों उनको दे कर खाते हो न ? ॥ ७५ ॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा
महामतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-
दितश्च्युतः[1] स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥

इति शततमः सर्गः ॥

देखो जो नीतिज्ञ और शासनदण्डधारी राजा धर्मानुसार प्रजा का पालन करता है—वह ज्ञानी राजा पूर्वराजाओं की तरह सम्पूर्ण पृथिवी का स्वामी हो, मरने पर स्वर्ग में जा वास करता है ॥ ७६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सौवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

---

१ च्युतः—प्रारब्ध कर्मावसानेमृतइत्यर्थः । (गो०)

एकोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह ।
किं मे [1]धर्माद्विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन भरत जी बोले कि, मैं तो स्वकुलोचित रीति से रहित हूँ—अतः राजधर्म का उपदेश मेरे लिये किस काम का ॥ १ ॥

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।
ज्येष्ठपुत्रे स्थिते राजन्न कनीयान्नृपो भवेत् ॥ २ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हमारे कुल में तो सदा से यह रीति चली आती है कि, बड़े पुत्र के सामने छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता ॥ २ ॥

स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव ।
अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय[2] नः ॥ ३ ॥

अतः हे राघव ! आप मेरे साथ धनधान्यपूर्ण अयोध्यापुरी में चलिये और अपना राज्याभिषेक करवा कर, हमारे कुल का कल्याण कीजिये ॥ ३ ॥

राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे सम्मतो मम ।
यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम् ॥ ४ ॥

---

१ धर्माद्विहीनस्य—स्वकुलोचितरीतिविहीनस्य । (शि०) २ भवाय—भद्राय । (गो०)

लोग राजा को भले ही मनुष्य कहा करें, किन्तु मैं तो राजा को देवता समझता हूँ। क्योंकि उसके धर्म और अर्थ से अनुमोदित चरित्र लोकोत्तर होते हैं। अर्थात् साधारण मनुष्य से भिन्न होते हैं ॥ ४ ॥

केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते ।
दिवमार्यो गतो राजा यायजूकः सतां मतः ॥ ५ ॥

जब मैं अपनी ननिहाल केकयराज्य में था और आप वन चले आये थे, तब अनेक यज्ञ करने वाले तथा साधु सज्जन लोगों से प्रशंसित महाराज दशरथ स्वर्ग को सिधारे ॥ ५ ॥

निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे ।
दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात् ॥ ६ ॥

सीता और लक्ष्मण के साथ आपके अयोध्या छोड़ते ही महाराज दुःख और शोक से ऐसे विकल हुए कि, वे स्वर्ग को चले गये ॥ ६ ॥

उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः ।
अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ॥ ७ ॥

हे पुरुषसिंह! अब आप इस समय उठिये और पिता जी को जलाञ्जलि दीजिये। शत्रुघ्न और मैं तो पहिले ही जलाञ्जलि दे चुका हूँ ॥ ७ ॥

प्रियेण खलु दत्तं हि पितृलोकेषु राघव ।
अक्षय्यं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥ ८ ॥

हे राघव ! लोग कहा करते हैं कि, प्यारे पुत्र का दिया हुआ पिण्ड और जल पितृलोक में अक्षय्य हो कर बना रहता है, सो आप ही पिता जी के प्रिय पुत्र हैं ॥ ८ ॥

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-
स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।
त्वयाविहीनस्तव शोकरुग्णः[1] ।
त्वां संस्मरन्स्वर्गमवाप* राजा ॥ ९ ॥

इति एकोत्तरशततमः सर्गः ॥

क्योंकि आप ही को सोचते, आप ही के दर्शन की इच्छा करते, आपही को स्मरण करते, आप ही के वियोगजनित दुःख से विकल और आप ही का नाम लेते पिता जी स्वर्ग पधारे हैं ॥ ९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एकसौ एकवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

द्व्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तां श्रुत्वा करुणां[2] वाचं पितुर्मरणसंहिताम् ।
राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी के मुख से पिता के मरने की जब शोकप्रद बात सुनी, तब वे अचेत हो गये ॥ १ ॥

---

१ रुग्णः—पीडितइतियावत् । (गो०) २ करुणां—शोकावहां । (गो०)
* पाठान्तरे—"संस्मरंस्त्वामितः" "संस्मरन्नेवगतः" ।

तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा ।
वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परन्तपः ॥ २ ॥

जैसे दैत्यों के शत्रु इन्द्र दैत्यों पर युद्धकाल में वज्र का प्रहार करते हैं, वैसे ही भरत जी के वज्ररूपी वचन का प्रहार श्रीरामचन्द्र पर हुआ ॥ २ ॥

प्रगृह्य बाहू[1] रामो वै पुष्पिताग्रो यथा द्रुमः ।
वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी (पछतावे से) दोनों हाथ मलते हुए, फरसे से काटे हुए पुष्पित वृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

तथा निपतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम् ।
कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ ४ ॥

जगतपति श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर ऐसे मूर्छित पड़े थे, मानों कोई मतवाला हाथी नदी का तट ढहाते ढहाते थक कर पड़ा हुआ सो रहा हो ॥ ४ ॥

भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्शितम् ।
रुदन्तः सह वैदेह्या सिषिचुः सलिलेन वै ॥ ५ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी को मूर्छित हुआ देख सब भाई जानकी जी सहित शोक से विकल हो रोते रोते उन महाधनुषधारी श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर जल छिड़क उनकी मूर्छा भङ्ग करने का प्रयत्न करने लगे ॥ ५ ॥

---

१ बाहूप्रगृह्य —पाणिंनापाणिनीष्पीड्यउद्धृत्यवा । (गो०)

स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामास्रमुत्सृजन् ।
उपाक्रमत* काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम् ॥ ६ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी सचेत हुए, तब वे रोते रोते बहुत विलाप करने लगे ॥ ६ ॥

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम् ।
उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥ ७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी यह सुन कर कि, पिता जी स्वर्ग सिधारे हैं, भरत जी धर्मसंयुक्त यह वचन बोले ॥ ७ ॥

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते ।
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति ॥ ८ ॥

जब पिता जी ही स्वर्ग चले गये, तब मैं अयोध्या जा कर ही क्या करूँगा। उन राजश्रेष्ठ के बिना अयोध्या का शासन कौन करेगा ॥ ८ ॥

किन्नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः ।
यो मृतो मम शोकेन मया चापि न संस्कृतः ॥ ९ ॥

मेरा जैसा निरर्थक जन्म धारण करने वाला पुत्र, उन महात्मा पिता के लिये क्या कर सकता है। मेरे वियोगजन्य शोक से तो उनका देहान्त हुआ और मैं उनका अन्तिम संस्कार भी न कर पाया ॥ ९ ॥

अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयाऽनघ ।
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरे—" उपाक्रामत " ।

हे निष्पाप भरत! तुम्हीं अच्छे रहे कि, तुमने और शत्रुघ्न ने पिता जी के सम्पूर्ण अन्त्येष्टिकर्म तो कर लिये ॥ १० ॥

निष्प्रधानामनेकाग्रां[1] नरेन्द्रेण विनाकृताम् ।
निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

अभी भैया, मैं तो वनवास से लौट कर भी उन प्रधान पुरुषहीन स्वास्थ्यवर्जित अयोध्या में जाना नहीं चाहता ॥ ११ ॥

समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परन्तप ।
कोऽनु शासिष्यति[2] पुनस्ताते लोकान्तरं गते ॥१२॥

क्योंकि हे परन्तप! मैं वनवास की अवधि पूरी कर यदि अयोध्या जाऊँ भी तो वहाँ अब मुझे हिताहित का उपदेश देने वाला है ही कौन ॥ १२ ॥

पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन् ।
वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम् ॥१३॥

मेरे सद् आचरणों को देख, पिता जी मुझे स्नेहपूर्वक जो उपदेश देते थे, अब उन कर्णसुखदायी उपदेशों को मैं वहाँ किससे सुनूँगा? ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा स भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः ।
उवाच शोकसन्तप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ १४ ॥

---

१ अनेकाग्रां—स्वास्थ्यरहितां। (शि०) २ अनुशासिष्यति—हिताहित विषय प्रवृत्ति निवृत्तिकारयिष्यति। (रा०)

शोकसन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी भरत जी से यह कह कर सीता की ओर मुख कर उन पूर्णमासी के चन्द्रमा सदृश मुख वाली जानकी जी से बोले ॥ १४ ॥

सीते मृतस्ते श्वशुरः पित्रा हीनोऽसि लक्ष्मण ।
भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतिम् ॥ १५ ॥

हे सीते! तुम्हारे ससुर स्वर्ग सिधारे। हे लक्ष्मण! तुम पिताहीन हो गये। क्योंकि महाराज के स्वर्गवास का यह दुःखदायी संवाद मुझे भरत जी से अवगत हुआ है ॥ १५ ॥

ततो बहुगुणं तेषां बाष्पो* नेत्रेष्वजायत ।
तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, सब बहुगुणी एवं यशस्वी राजकुमार रोने लगे ॥ १६ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य राघवम् ।
अब्रुवञ्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन सब भाइयों ने शोक से निकल श्रीरामचन्द्र को बहुत समझाया बुझाया और कहा अब आप महाराज को जलाञ्जलि दीजिये ॥ १७ ॥

सा सीता श्वशुरं श्रुत्वा स्वर्गलोकगतं नृपम् ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामशकन्नेक्षितुं पतिम् ॥ १८ ॥

सीता जी के नेत्रों में, ससुर के देहान्तरित होने का संवाद सुनने से, इतने आंसू भर गये कि, वे अपने पति को न देख सकीं ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"बाष्पं।"

सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदन्तीं जनकात्मजाम् ।
उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः ॥ १९ ॥

तब रुदन करती हुई जानकी जी को श्रीरामचन्द्र जी ने समझा बुझा कर धीरज बंधाया। फिर शोक से विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी ने, दुखित लक्ष्मण जी से कहा ॥ १९ ॥

आनयेङ्गुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम् ।
जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥ २० ॥

हे लक्ष्मण! तुम इस समय इंगुदी के बीजों (हिंगोट) को पीस कर ले आओ और एक नया चीर मेरे पहिनने के लिये ले आओ। अब मैं पिता जी को जलाञ्जलि देने को चलता हूँ ॥ २० ॥

सीता पुरस्ताद्व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज ।
अहं पश्चाद्गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा ॥ २१ ॥

सीता आगे आगे चले और तुम इनके पीछे चलो और मैं सब के पीछे चलूँगा क्योंकि इस दारुण समय में चलने का यही विधान है ॥ २१ ॥

[नोट—ऐसे समय में चलने के लिये धर्मसूत्र का यह प्रमाण है—
" सर्वे कनिष्ठप्रथमा अनुपूर्व इतरे स्त्रियोऽग्रे । "]

ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः ।
मृदुर्दान्तश्च शान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान् ॥ २२ ॥
सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम् ।
अवातारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इक्ष्वाकु राजघराने के पुराने अनुचर, ज्ञानी, महामति, कोमलहृदय, जितेन्द्रिय, शान्तस्वभाव और श्रीराम में दृढ़ भक्ति रखने वाले सुमंत्र, उन राजकुमारों को अनेक प्रकार से समझा कर, उन्हें निर्मल जलवाली अथवा पुण्यसलिला मंदाकिनी नदी पर ले गये ॥ २२ ॥ २३ ॥

ते सुतीर्थां ततः कृच्छ्रादुपागम्य यशस्विनः ।
नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम् ॥२४॥

रमणीय और सदा फूले हुए वन में हो कर बहने वाली मंदाकिनी के सुन्दर घाट पर, वे लोग अति कष्ट से गिरते पड़ते पहुँचे ॥ २४ ॥

शीघ्रस्रोतसमासाद्य तीर्थं [1]शिवमकर्दमम् ।
सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत्रैतत्ते[2] भवत्विति ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस कीचड़ रहित और शीघ्र बहने वाली तथा कल्याणप्रद मंदाकिनी नदी के घाट पर पहुँच और "एतद्भवतु" (यह जल आपको मिले) कह कर महाराज दशरथ को जलाञ्जलि देने लगे ॥ २५ ॥

प्रगृह्य च महीपालो जलपूरितमञ्जलिम् ।
दिशं याम्यामभिमुखो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उस समय महाराज श्रीरामचन्द्र जी अंजली में जल भर और दक्षिण की ओर मुख कर रुदन करते हुए बोले ॥ २६ ॥

---

१ शिवं—कल्याणप्रदं । (शि०) २ तत्रैतत्ते—हे तात एतज्जलंभवतु त्वत्सन्निधौतिष्ठतु । (शि०)

एतत्ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् ।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ॥ २७ ॥

हे राजशार्दूल ! आज यह मेरा दिया हुआ जल, पितृलोक में आपको अक्षय हो कर मिले ॥ २७ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरात्प्रत्युत्तीर्य स राघवः ।
पितुश्चकार तेजस्वी निवापं[1]* भ्रातृभिः सह ॥ २८ ॥

तदनन्तर तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने भाइयों सहित मंदाकिनी के तट से ऊपर आ कर, महाराज को पिण्ड दिये ॥ २८ ॥

ऐङ्गुदं बदरीमिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे ।
न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बेर फलों को इंगुदी के आटे में मिला पिण्ड बनाये और कुश बिछा कर उन पिण्डों को उन कुशों पर रख, दुःखी हो रोते हुए यह कहा ॥ २९ ॥

इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम् ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥

हे महाराज ! आज कल हम लोग जो खाते हैं, वही इस समय आप भोजन कीजिये। क्योंकि मनुष्य जो स्वयं खाता है, उसीसे वह अपने देवतों को भी सन्तुष्ट करता है ॥ ३० ॥

ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य नदीतटात् ।
आरुरोह नरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥

---

१ निवापं—पिण्डप्रदानं । (गो०) * पाठान्तरे—" निर्वापं " ।

फिर नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी जिस मार्ग से नदी के किनारे पर उतर कर आये थे, उसी मार्ग से नदी के तट को छोड़, उस मनोहर शिखर वाले पर्वत पर चढ़ गये ॥ ३१ ॥

ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः ।
परिजग्राह बाहुभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥ ३२ ॥

वहां वे अपनी पर्णकुटी के द्वार पर पहुँच भरत और लक्ष्मण को दोनों भुजाओं से थाम रोने लगे ॥ ३२ ॥

तेषां तु रुदतां शब्दात्प्रतिश्रुत्कोऽभवद्गिरौ ।
भ्रातॄणां सह वैदेह्या सिंहानामिव नर्दताम् ॥ ३३ ॥

उस समय चारों राजकुमारों और सीता जी के, गर्जते हुए सिंहों का दहाड़ जैसे रोने के शब्द से पर्वत गूँज उठा ॥ ३३ ॥

महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः ।
विज्ञाय तुमुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥ ३४ ॥

पिता जी को जलदान कर चारों भाइयों के रोने का शब्द सुन, भरत की सेना के लोग डर गये ॥ ३४ ॥

अब्रुवंश्चापि रामेण भरतः सङ्गतो ध्रुवम् ।
तेषामेव महाञ्शब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥

वे आपस में कहने लगे कि श्रीरामचन्द्र से भरत की भेंट अवश्य हो गयी। क्योंकि पिता के मरने से वे अत्यन्त शोकाकुल हो विलाप कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

अथ वासान्परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम् ।
अप्येकमनसो[1] जग्मुर्यथास्थानं प्रधाविताः ॥ ३६ ॥

---

१ एकमनसः—समानहृदयाः । (शि०)

वे सब सैनिक अपने डेरों को छोड़ जिस ओर से रोने का शब्द सुन पड़ता था, उस ओर मुख कर और एक मन हो दौड़ पड़े ॥ ३६ ॥

हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः ।
सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥ ३७ ॥

उनमें से बहुत से लोग जो सुकुमार थे वे घोड़े, हाथी और अच्छे अच्छे एवं सजे हुए रथों पर सवार हो और कितने ही पैदल ही उस शब्द की ओर बढ़े ॥ ३७ ॥

अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा ।
द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाऽऽश्रमम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी को अयोध्या छोड़े अभी बहुत दिन नहीं हुए थे, तथापि उन सब को ऐसा जान पड़ता था कि, मानों श्रीराम को अयोध्या छोड़े बहुत दिन बीत गये हैं। अतएव श्रीरामचन्द्र जी को देखने की उत्कण्ठा से वे सब उनके आश्रम में पहुँचे ॥३८॥

भ्रातॄणां त्वरितास्तत्र द्रष्टुकामाः समागमम् ।
ययुर्बहुविधैर्यानैः खुरनेमिस्वनाकुलैः ॥ ३९ ॥

चारों भाइयों का समागम देखने के लिये लोग अनेक प्रकार के वाहनों पर सवार हो कर गये। उन वाहनों के पशुओं खुरों और पहियों से बड़ा शब्द हुआ ॥ ३९ ॥

सा भूमिर्बहुभिर्यानैः खुरनेमिसमाहता ।
मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे ॥ ४० ॥

उस समय उन वाहनों के पशुओं खुरों और पहियों की आहट से वह स्थान उसी प्रकार शब्दायमान हुआ, जिस प्रकार मेघों के समागम में, आकाश शब्दायमान होता है ॥ ४० ॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।
आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥ ४१ ॥

उस शब्द से डर कर हथिनियों सहित हाथी अपने मद की गन्धि से वन को सुवासित करते, वह वन छोड़ दूसरे वन में चले गये ॥ ४१ ॥

वराहवृकसङ्घाश्च महिषाः सर्पवानराः ।
व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥ ४२ ॥

शूकर और भेड़ियों के झुंड, भैंसा, सर्प, व्याघ्र, गोकर्ण नीलगाय और पृषत जाति के हिरन बहुत डर गये ॥ ४२ ॥

रथाङ्गसाह्वा नत्यूहा हंसाः कारण्डवाः प्लवाः ।
तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥४३॥

चक्रवाक, जलमुर्ग, हंस, कारण्डव, प्लव नामक जलपक्षी, कोकिल, क्रौंच ये सब पक्षी उस शब्द से, मूर्छित से हो इधर उधर भाग गये ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तैराकाशं पक्षिभिर्वृतम् ।
मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रबभौ तदा ॥ ४४ ॥

उस शब्द से त्रस्त पक्षियों से ढका हुआ आकाश और मनुष्यों से आच्छादित पृथ्वी दोनों ही अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम्* ।
आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उन सब लोगों ने सहसा जा कर, वहाँ देखा कि, यशस्वी, दोषरहित और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र चबूतरे पर बैठे हैं ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं सहितो मन्थरामपि ।
अभिगम्य जनो रामं बाष्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥ ४६ ॥

उनको उस दशा में बैठा देख, सब लोग कैकेयी व मन्थरा की निन्दा करने लगे और श्रीरामचन्द्र के निकट जा, वे सब के सब रोने लगे ॥ ४६ ॥

तान्नरान्बाष्पपूर्णाक्षान्समीक्ष्याथ सुदुःखितान् ।
पर्यष्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः ॥ ४७ ॥

उन लोगों को रुदन करते और दुखी देख, धर्मज्ञ श्रीराम जी उठे और उनको छाती से लगा, उनसे ऐसे मिले, जैसे कोई माता पिता से मिलता है ॥ ४७ ॥

स तत्र कांश्चित्परिषस्वजे नरान्
नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन् ।
चकार सर्वान्सवयस्यबान्धवान्
यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥ ४८ ॥

मिलने योग्य मनुष्यों से श्रीरामचन्द्र जी गले गले मिले; किसी किसी ने उनको प्रणाम किया। उस समय, राजकुमार

* पाठान्तरे—"अरिन्दमम्" ।

श्रीरामचन्द्र ने अपनी बराबर की उमर वाले और भाईबंदों से यथायोग्य व्यवहार किया ॥ ४८ ॥

स तत्र तेषां रुदतां महात्मनां
भुवं च खं चानुनिनादयन्स्वनः ।
गुहा गिरीणां च दिशश्च सन्ततं
मृदङ्गघोषप्रतिमः प्रशुश्रुवे ॥ ४९ ॥

इति द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥

मिलने के समय उन लोगों के रोने के शब्द से पृथिवी व आकाश शब्दायमान हो गया। पर्वत की कन्दराओं तथा सब दिशाओं में वह रोने का शब्द, मृदङ्ग के शब्द की तरह सुनाई पड़ने लगा ॥ ४९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दूसरा सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

त्र्युत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान्दशरथस्य च ।
अभिचक्राम तं देशं [1]रामदर्शनतर्पितः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र के दर्शन करने की अभिलाषा से वशिष्ठ मुनि महाराज दशरथ की रानियों को आगे कर, श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम की ओर गये ॥ १ ॥

---

१ रामदर्शनतर्पितः—रामदर्शनेसञ्जाताभिलाषः । (गो०)

राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति ।
ददृशुस्तत्र तत्तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम् ॥ २ ॥

मन्दाकिनी नदी की ओर मंद मंद चाल से चलती हुई, कौशल्यादि रानियों ने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के स्नान करने का घाट देखा ॥ २ ॥

कौसल्या बाष्पपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ।
सुमित्रामब्रवीद्दीना याश्चान्या राजयोषितः ॥ ३ ॥

उस घाट को देख कर देवी कौशल्या का मुख, मारे शोक के सूख गया। वे रो कर सुमित्रा तथा अन्य रानियों से कहने लगीं ॥ ३ ॥

इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम् ।
वने प्राक्केवलं[1] तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥

देखो, हमारे अनाथ, लोकोत्तर कर्म करने वाले तथा (कैकेयी द्वारा) राज्य से च्युत श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी के स्नानादि करने का यह घाट है ॥ ४ ॥

इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः ।
स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात् ॥ ५ ॥

हे सुमित्रा! जान पड़ता है, इसी घाट से मेरे पुत्र के लिये, तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण, निरालस्य हो स्वयं जल भर कर ले जाता है ॥ ५ ॥

---

१ केवलं—निश्चितं। (गो०)

जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान्न तु गर्हितः ।
भ्रातुर्यदर्थं सहितं सर्वं तद्विहितं गुणैः ॥ ६ ॥

यद्यपि पानी भरना छोटा काम है, तथापि इस काम को करने से वह निन्द्य नहीं है। क्योंकि अपने बड़े भाई की सेवा करना प्रशंसा करने योग्य कार्य है ॥ ६ ॥

अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः ।
नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु ॥ ७ ॥

अब (भरत के अनुरोध से) श्रीरामचन्द्र के अयोध्या लौट चलने पर, सदा सुख भोग ने योग्य अथवा कष्ट सहने के अयोग्य तुम्हारे पुत्र लक्ष्मण को, ये सब हीन पुरुषों के करने योग्य कष्टदायी कार्य नहीं करने पड़ेंगे ॥ ७ ॥

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले ।
पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥

तदनन्तर बड़े बड़े नेत्रवाली देवी कौशल्या जी ने दक्षिणाग्र कुशों पर रखा हुआ और पिता के लिये दिया हुआ इंगुदी का पिण्ड देखा ॥ ८ ॥

तं भूमौ पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा ।
उवाच देवी कौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥

जब कौशल्या जी ने देखा कि, श्रीरामचन्द्र ने आर्त हो कर पिता के लिये भूमि में वह पिण्ड रखा है, तब वे अन्य सब रानियों से बोलीं ॥ ९ ॥

इदमिक्ष्वाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः ।
राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद्यथाविधि ॥ १० ॥

इक्ष्वाकुनाथ महाराज दशरथ के लिये, श्रीरामचन्द्र ने यथाविधि जो यह पिण्ड दिया है, इसे देखो ॥ १० ॥

तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः ।
नैतदौपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११ ॥

मैं तो समझती हूँ कि, देवताओं के समान भोग भोगने वाले महात्मा दशरथ जी के योग्य यह भोजन नहीं है ॥ ११ ॥

चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो विभुः ।
कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

चारों समुद्रों तक सारी वसुधा को इन्द्र के समान भोग करने वाले महाराज, किस तरह यह इंगुदी का पिण्ड खांयगे ॥ १२ ॥

अतो दुःखतरं लोके न किञ्चित्प्रतिभाति मा ।
यत्र रामः पितुर्दद्यादिङ्गुदीक्षोद[1]मृद्धिमान् ॥ १३ ॥

हे रानियों! मुझे तो इससे बढ़ कर और कोई दुःख नहीं जान पड़ता कि, बुद्धिमान् श्रीराम ने अपने पिता के लिये इंगुदी की पिट्ठी का पिण्ड दिया ॥ १३ ॥

रामेणेङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे ।
कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के दिये हुए इस इंगुदी की पिट्ठी के पिण्ड को देख, मेरा हृदय क्यों नहीं हज़ार खण्ड हो कर फट जाता ॥१४॥

श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मा ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः[2] ॥ १५ ॥

---

1 क्षोदं—पिष्टम् । (रा०) 2 देवताः इतिश्रुतिः सर्वेश्वरः । (गो०)

लोग यह कहावत ठीक ही कहा करते हैं कि, मनुष्य जो कुछ स्वयं खाता है, वही वह अपने देव और पितरों को अर्पण करता है ॥ १५ ॥

एवमार्ता सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वास्य तां तदा ।
ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार के कौशल्या जी के वचन सुन वे रानियाँ महारानी कौशल्या को धीरज बँधाती, श्रीरामाश्रम में पहुँचीं और वहाँ श्रीरामचन्द्र जी को स्वर्ग से नीचे आये हुए देवता की तरह, बैठा देखा ॥ १६

सर्वभोगैः परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः ।
आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥ १७ ॥

उन्होंने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी सब सुखोपयोगी भोग्य पदार्थों को त्यागे बैठे हुए हैं। तब तो वे सब की सब अत्यन्त दुःखी हो कर, उच्चस्वर से रोने लगीं ॥ १७ ॥

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाञ्छुभान् ।
मातॄणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसङ्गरः ॥ १८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने माताओं को देखते ही उठ कर, उन सब के चरण छुए ॥ १८ ॥

ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृद्वङ्गुलितलैः शुभैः ।
प्रममार्जू रजः पृष्ठाद्रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥

तब बड़े बड़े नेत्रों वाली सब रानियों ने अपनी कोमल अतएव छूने पर सुख देने वाली हथेलियों से श्रीरामचन्द्र जी की पीठ की धूल पोंछी ॥ १९ ॥

सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातृः सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।
अभ्यवादयतासक्तं[1] शनै रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी भी माताओं को देख, अत्यन्त दुःखी हुए और उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी के बाद धीरे धीरे अविरत सब माताओं को प्रणाम किया ॥ २० ॥

यथा रामे तथा तस्मिन्सर्वा वर्तिरे स्त्रियः ।
वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥

जिस प्रकार उन रानियों ने श्रीरामचन्द्र की पीठ की धूल पोंछी थी, उसी प्रकार उन सब ने शुभलक्षण वाले लक्ष्मण जी की पीठ की भी धूल पोंछी, क्योंकि लक्ष्मण जी भी तो महाराज दशरथ ही के पुत्र थे ॥ २१ ॥

सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता ।
श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सा बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥

तदनन्तर सीता जी ने भी दुःखित हो, आँखों में आँसू भर सासों के पैर पकड़े और उनके सामने वे जा खड़ी हुईं ॥ २२ ॥

तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा ।
वनवासकृशां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥२३ ॥

दुःख से पीड़ित और वनवास के कष्टों के कारण कृश एवं दीन सीता जी को, देवी कौशल्या ने अपने हृदय से उसी प्रकार लगाया जिस प्रकार माता अपनी बेटी को हृदय से लगाती है। छाती से लगा कर, कौशल्या जी यह बात कहने लगी ॥ २३ ॥

---

१ आसक्तं—अविरतं । (गो०)

विदेहराजस्य सुता स्नुषा दशरथस्य च ।
रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता निर्जने वने ॥ २४ ॥

हा ! विदेहराज की बेटी, महाराज दशरथ की बहू और श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी सीता—इस निर्जन वन में कैसे कैसे कष्ट झेल रही है ॥ २४ ॥

पद्ममातपसन्तप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम् ।
काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥२५॥

हे जानकी ! धूप से मुर्झाये हुए कमल की तरह व मींजे हुए लाल कमल की तरह, अथवा धूलधूसरित सुवर्ण की तरह अथवा बदली में छिपे चन्द्रमा की तरह ॥ २५ ॥

मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम्[1] ।
भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः ॥ २६ ॥

तेरे मुख को देख, शोकाग्नि मुझे जलाये डालता है। जिस प्रकार काष्ठ को अग्नि दग्ध करता है, उसी प्रकार दुःख रूपी अरणि से उत्पन्न अग्नि मेरे मन को बिल्कुल भस्म किये डालता है ॥ २६ ॥

ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः ।
पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

महारानी कौशल्या दुःखित हो इस प्रकार कह रही थीं कि, भरत जी के बड़े भाई श्रीरामचन्द्र ने वशिष्ठ जी के पास जा, उनके चरणकमल स्पर्श किये ॥ २७ ॥

---

१ आश्रयं—आश्रयभूतंकाष्ठादिकं । (गो०)

पुरोहितस्याग्निसमस्य वै तदा
बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः ।
प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः
सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ २८ ॥

इन्द्र जिस प्रकार अपने गुरु बृहस्पति के चरण छूते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी भी अग्निसम तेजस्वी पुरोहित वशिष्ठ के चरण स्पर्श कर, उनके साथ आसन पर बैठ गये ॥ २८ ॥

ततो[1] जघन्यं सहितैः समन्त्रिभिः
पुरप्रधानैश्च सहैव सैनिकैः ।
जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवान्
उपोपविष्टो भरतस्तदाऽग्रजम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा भरत जी अपने मंत्रियों, प्रजा के मुखियों और सेनापतियों के साथ श्रीरामचन्द्र के पास, उनके नीचे आसन पर बैठे ॥ २९ ॥

उपोपविष्टस्तु तदा स वीर्यवां-
स्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम् ।
श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलिः
यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥

पराक्रमी भरत तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के समीप बैठ कर, मुनिवेषधारी श्रीरामचन्द्र जी की ओर वैसे ही हाथ जोड़ कर

1 ततोजघन्यं—वसिष्ठरामोपवेशादनन्तरं । (गो०)

देखते थे, जैसे देवराज इन्द्र, प्रजापति ब्रह्मा जी के पास हाथ जोड़ कर बैठते और उनकी ओर देखते हैं ॥ ३० ॥

किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं
प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति ।
इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो
बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा ॥ ३१ ॥

उस समय वहाँ जितने विशिष्टजन उपस्थित थे, वे अपने अपने मन में यही सोच रहे थे और उनको यह जानने के लिये बड़ा कौतुक हो रहा था कि, देखें भरत जी हाथ जोड़े हुए आदरपूर्वक श्रीरामचन्द्र जी से क्या कहते हैं ॥ ३१ ॥

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो
महानुभावो भरतश्च धार्मिकः ।
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजुरध्वरे
यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः ॥३२॥

इति त्र्युत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय सत्यवादी और धृतिमान श्रीरामचन्द्र महानुभाव लक्ष्मण जी और धर्मात्मा भरत जी नव सुहृदों के साथ शोभित हो रहे थे, मानों यज्ञ में सभासदों के साथ तीनों अग्नि सुशोभित हों ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

चतुरुत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तं तु रामः समाज्ञाय[1] भ्रातरं गुरुवत्सलम्[2] ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भरत जी को अपने में भक्तिमान जान, लक्ष्मण के साथ, भरत जी से पूछने लगे ॥ १ ॥

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया ।
यस्मात्त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥

हे भरत! तुम चीर जटा और मृगचर्म धारण कर, इस वन में आये हो, सो इसका जो कारण हो वह मुझे सुनाओ ॥ २ ॥

*यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

तुम राज्य छोड़, काले मृग का चर्म ओढ़ और जटा धारण कर जिस लिये यहाँ आये हो—सो सब मुझे बतलाओ ॥ ३ ॥

इत्युक्तः कैकयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना ।
प्रगृह्य बलवद्भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

महात्मा श्रीराम ने जब भरत से इस प्रकार पूँछा, तब भरत जी अतिकष्ट से शोक के वेग को रोक, हाथ जोड़ कर बोले ॥ ४ ॥

आर्य तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥

---

१ समाज्ञाय—ज्ञात्वा । (गो०) २ गुरुवत्सलं,—गुरौत्वंस्मिन् भक्तं । (गो०)
* पाठान्तरे—" किन्निमित्तमिमं । "

हे आर्य ! महाराज पिता जी मेरी माता कैकेयी के कहने में आ, दुष्कर कर्म कर और पुत्रशोक से विकल हो, स्वर्गवासी हुए ॥ ५ ॥

स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परन्तप ।
चकार सुमहत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥

हे परन्तप ! मेरी माता कैकेयी ने अपने यश को नाश करने वाला यह महापाप कर डाला है ॥ ६ ॥

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता ।
पतिष्यति महाघोरे निरये जननी मम ॥ ७ ॥

सो वह मेरी माता राज्यरूपी फल को न पाने के कारण शोकाकुल और विधवा हो, घोर नरक में गिरेगी ॥ ७ ॥

तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव ॥ ८ ॥

यद्यपि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ, तथापि हूँ आपका दास । सो आप मुझ पर प्रसन्न हो कर आज ही अपना राज्याभिषेक करावें और इन्द्र की तरह राजसिंहासन पर विराजें ॥ ८ ॥

इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः ।
त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

देखिये, ये प्रजाजन और ये सब विधवा माताएँ आपके पास आयी हुई हैं, अतएव आप प्रसन्न हों (अथवा कहना मान लें) ॥ ९ ॥

तदानुपूर्व्या[1] युक्तं च युक्तं चात्मनि मानद ।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान्सुहृदः कुरु ॥ १० ॥

---

१ आनुपूर्व्यायुक्तं—ज्येष्ठानुक्रमेणसंगतं । (गो०)

हे मानद ! आप ज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हैं और आप ही को राजगद्दी पर बैठना उचित भी है। अतएव धर्मानुसार राज्यभार ग्रहण कर सुहृद्जनों की कामना पूरी कीजिये ॥ १० ॥

भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया ।
शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा ॥ ११ ॥

जिस प्रकार शरदऋतु की रात विमल चन्द्रमा के द्वारा सधवा होती है, इसी प्रकार यह ससागरा पृथिवी आपको अपना पति वरण कर सधवा हो जायगी ॥ ११ ॥

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया ।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

मैं आपका केवल भाई ही नहीं हूँ, प्रत्युत शिष्य और दास भी हूँ। सो मैं इन मंत्रियों सहित आपको प्रणाम कर आपसे यह भिक्षा माँगता हूँ या प्रार्थना करता हूँ, अतः आप इनकी प्रार्थना पर ध्यान दें ॥ १२ ॥

तदिदं शाश्वतं पित्र्यं सर्वं प्रकृति[1]मण्डलम्[2] ।
पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! परम्परा से मंत्रिपद प्राप्त एवं प्रतिष्ठा पाने योग्य इन सब मंत्रियों की प्रार्थना आप अस्वीकृत न कीजिये ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकयीसुतः ।
रामस्य शिरसा पादौ जग्राह विधिवत्पुनः ॥ १४ ॥

---

१ प्रकृतिनां—मंत्रिप्रभृतीनां । (गो०) २ मण्डलं—समूहं । (गो०)

यह कह महाबाहु कैकेयीनन्दन भरत जी ने नेत्रों में आँसू भर कर श्रीरामचन्द्र जी के चरणों में पुनः विधिवत् अपना सिर रख दिया ॥ १४ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने भरत को, जो बार बार मत्त हाथी की तरह साँस ले रहे थे, हृदय से लगा कर यह बात कही ॥ १५ ॥

कुलीनः [1]सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेत्त्वद्विधो जनः ॥ १६ ॥

हे भरत ! तुम जैसा कुलवान्, सतोगुणी व्रतधारी पुरुष राज्य के लिये क्यों अपने बड़े भाई के प्रतिकूल आचरण कर, पाप का भागी बनना पसंद कर सकता ॥ १६ ॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।
न चापि जननीं बाल्यात्त्वं[2] विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

हे अरिसूदन ! मुझे तो तुममें ज़रासा भी दोष नहीं देख पड़ता । तुमको बिना समझे बूझे अपनी माता की भी निन्दा न करनी चाहिये ॥ १७ ॥

कामकारो[3] महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदाऽनघ ।
उपपन्नेषु[4] दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥ १८ ॥

---

१ सत्त्वसम्पन्न—सत्त्वगुण सम्पनः । (गो०) २ बाल्यात्—अज्ञानात् । (गो०) ३ कामकारः—स्वच्छन्दकरणं । (गो०) ४ उपपन्नेषु—शिष्य-दासादिषु । (गो०)

हे पापरहित ! हे महाप्राज्ञ ! पिता इत्यादि गुरुजन अपने अनुगत शिष्य दास और स्त्री के साथ सदा इच्छानुसार व्यवहार कर सकते हैं ॥ १८ ॥

वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः ।
भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥

संसार में साधु लोग स्त्री पुत्र और शिष्यों को जिस प्रकार आज्ञाकारी कह कर मानते हैं, बस वैसे ही, पिता के लेखे हम भी हैं। यह बात तुम्हें जान लेनी चाहिये ॥ १६ ॥

वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् ।
राज्ये वाऽपि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः[1] ॥ २० ॥

हे सौम्य ! महाराज हम लोगों के नियन्ता हैं, वे चाहें हमें चीर वसन और मृगचर्म धारण करा, वन में रखें अथवा राज्य में रखें ॥ २० ॥

यावत्पितरि धर्मज्ञे गौरवं लोकसत्कृतम् ।
तावद्धर्मभृतांश्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ ! जितना गौरव लोकपूजित पिता का है, उतना ही माता का भी है अर्थात् जितना आदर सन्मान पिता का करना चाहिये उतना ही आदर और सन्मान माता का भी करना चाहिये ॥ २१ ॥

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव ।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे ॥ २२ ॥

---

१ ईश्वरः—नियन्ता । (गो०)

हे भरत ! जब इन दोनों धर्मात्मा माता और पिता ने मुझसे कहा कि, वन जाओ, तब भला मैं किस प्रकार उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर अन्यथा कर सकता हूँ ॥ २२ ॥

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् ।
वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥ २३ ॥

अतः हे भरत ! तुम अयोध्या में जा कर लोगों की सम्मति से राजसिंहासन पर बैठो और मैं वल्कल धारण कर दण्डकवन में वास करूँगा ॥ २३ ॥

एवं कृत्वा महाराजो विभागं लोकसन्निधौ ।
व्यादिश्य च महातेजा दिवं दशरथो गतः ॥ २४ ॥

क्योंकि इसी प्रकार से महाराज, लोगों के सामने तुम्हारा और मेरा बटवारा कर स्वर्गवासी हुए हैं ॥ २४ ॥

स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव ।
पित्रा दत्तं यथा भागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥ २५ ॥

इस समय वे धर्मात्मा महाराज लोकों के और तुम्हारे भी गुरु हैं और उनको ऐसा करने का अधिकार है। अतः हे भरत ! तुम पिता के दिये हुए राज्य का उपभोग करो ॥ २५ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।
उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥ २६ ॥

हे सौम्य ! मैं भी चौदह वर्ष दण्डकवन में वास कर, महात्मा पिता जी का दिया हुआ हिस्सा उपभोग करूँगा ॥ २६ ॥

यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः
पिता महात्मा विबुधाधिपोपमः ।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं
न सर्वलोकेश्वरभावमप्यहम् ॥ २७ ॥

इति चतुरुत्तरशततमः सर्गः ॥

सब लोगों से पूजित महाराज पिता जी ने जो मुझसे कहा है, उसीको मैं अपने लिये परम हितकारी समझता हूँ। पिता की आज्ञा या इच्छा के विरुद्ध सर्वलोकेश्वर का पद भी मैं अपने लिये हितकारी नहीं समझता ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः ।
शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥

इस प्रकार बन्धु बान्धव और मित्रों के साथ उन राजकुमारों को—जो अत्यन्त दुःखित थे, रात सोच ही सोच में बीती ॥ १ ॥

रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः ।
मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥ २ ॥

जब सबेरा हुआ, तब उन भाइयों ने बंधुबान्धवों के साथ मन्दाकिनी नदी पर जा जप होम किया। तदनन्तर वे सब के सब श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम में उपस्थित हुए ॥ २ ॥

तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित्किञ्चिदब्रवीत् ।
भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

सब के सब चुपचाप श्रीरामचन्द्र जी के पास बैठे थे, कोई किसी से बातचीत नहीं करता था। सन्नाटा सा छाया हुआ था कि, इतने में सुहृदों के बीच में भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ३ ॥

सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम ।
तद्ददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥

हे भाई ! वरदान द्वारा महाराज ने जो राज्य मेरी माता को दे, उसे शान्त किया था, वह राज्य माता ने मुझे दे डाला है। अब मैं वही राज्य आपको अर्पण करता हूँ। अब आप इस निष्कण्टक राज्य का उपभोग कीजिये ॥ ४ ॥

महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे ।
दुरावारं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥

वर्षाकाल में जल की थपेड़ों से जब बाँध टूट जाता है, तब (सिवाय उस बाँध के) और कोई उस पानी को नहीं रोक सकता उसी प्रकार आपके सिवाय इस बड़े राज्य की रक्षा करने की शक्ति अन्य किसी में नहीं है ॥ ५ ॥

गतिं खर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्रिणः ।
अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते ॥ ६ ॥

हे महिपाल ! जिस प्रकार गधा घोड़े की अथवा अन्य पक्षी गरुड़ की चाल को नहीं पा सकते, उसी प्रकार मैं भी आपके

राज्यपालन की सामर्थ्य नहीं पा सकता। अर्थात् जैसी योग्यता राज्यशासन की आपमें है, वैसी मुझमें नहीं है ॥ ६ ॥

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते ।
राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥

हे राम! जिस राजा की सेवा अन्य लोग करते हैं, जीना उसी का अच्छा है; किन्तु जो राजा औरों की सेवा कर के जीता है, उसका जीवन दुःखमय है। अथवा जिसके पीछे अनेक लोग जीते हैं उसी पुरुष का जीना, जीना है और जो दूसरों के सहारे जीता है, उसका जीना न जीना बराबर है ॥ ७ ॥

यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः ।
ह्रस्वकेन दुरारोहो रूढस्कन्धो महाद्रुमः ॥ ८ ॥

स यथा पुष्पितो भूत्वा फलानि न निदर्शयेत्* ।
स तां नानुभवेत्प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥

जैसे, किसी आदमी ने वृक्ष लगाया और उसे जल से सींच कर बड़ा किया। वह वृक्ष अपनी डारों और शाखाओं को फैला कर ऐसा महावृक्ष हो गया कि, उस पर छोटे डीलडौल का आदमी नहीं चढ़ सकता। वही वृक्ष जब पुष्पित तो हो, किन्तु फल न दे, तो जिस आदमी ने वह पेड़ लगाया था, वह क्योंकर सन्तुष्ट रह सकता है? ॥ ८ ॥ ९ ॥

एषोपमा महाबाहो तमर्थं वेत्तुमर्हसि ।
यदि त्वमस्मान्वृषभो[1] भर्ता भृत्यान्न शाधि हि ॥१०॥

---

१ वृषभः—श्रेष्ठः। (शि०) * पाठान्तरे—"विदर्शयेत्।"

हे महाबाहो! यह एक उपमा है। इसका अर्थ आप समझ सकते हैं। अतः यदि सर्वश्रेष्ठ स्वामी हो कर आप हम भृत्यों का शासन नहीं करते (तो हम लोगों को, उस पुरुष की तरह जिसने फल प्राप्ति के लिये वह महावृक्ष लगाया था, फल न पाने से, हताश होना पड़ेगा) ॥ १० ॥

श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वशः ।
प्रतपन्तमिवादित्यं राज्ये स्थितमरिन्दमम् ॥ ११ ॥

तवाऽनुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः ।
अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥ १२ ॥

हे महाराज! ऐसा कीजिये जिससे ये प्रजा के लोग शत्रुओं के नाश करने वाले आपको, राज्यासन पर तपते हुए सूर्य की तरह बैठा हुआ देखें तथा ये मत्त हाथी चिंघारते हुए आपके पीछे पीछे चलें और रनवास में सब स्त्रियाँ शान्ति पा कर हर्षध्वनि करें ॥ ११ ॥ १२ ॥

तस्य साध्वित्यमन्यन्त नागरा विविधा जनाः ।
भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी से भरत जी की की हुई प्रार्थना सुन, सब नगरवासी साधु साधु कहने लगे ॥ १३ ॥

तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम् ।
रामः कृतात्मा[1] भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥ १४ ॥

उन यशस्वी भरत को, दुःखी और विलाप करते हुए देख, धैर्यवान् श्रीरामचन्द्र, समझा कर कहने लगे ॥ १४ ॥

---

१ कृतात्मः—सुशिक्षितबुद्धिः धैर्यवान्वा । (गो०)

[1]नात्मनः [2]कामकारोऽस्ति पुरुषोऽयमनीश्वरः[3] ।
इतश्चेतरवश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥ १५ ॥

हे भरत ! मनुष्य का कुछ वश नहीं है। क्योंकि यह परतंत्र है। काल (मृत्यु) इसको इधर से उधर और उधर से इधर खींचा करता है। अर्थात् नाच नचाया करता है ॥ १५ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ १६ ॥

यावत् सञ्चित पदार्थ नाशवान् हैं, जितने उच्छ्रित जीव हैं, वे (पुण्यक्षय होने पर) नीचे गिरने वाले हैं, पुत्र, मित्र, कलत्रादि जिनसे संयोग होता है, अन्त में उनसे वियोग भी होता है, और जितने जीवधारी हैं, वे सब मरणशील हैं। अथवा संग्रह और क्षय, उन्नति और अवनति, संयोग और वियोग एवं जन्म और मरण का अटूट सम्बन्ध है ॥ १६ ॥

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम् ।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम् ॥ १७ ॥

जिस प्रकार पके हुए फल को गिरने से डरना न चाहिये, उसी प्रकार उत्पन्न हुए नर को मरण से डरना न चाहिये। अर्थात् पका हुआ फल गिरता ही है और जो पैदा हुआ है वह मरता ही है ॥ १७ ॥

यथाऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वाऽवसीदति ।
तथैव सीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः ॥ १८ ॥

---

१ आत्मनः—पुरुषस्य । (गो०) २ कामकार ऐच्छिक व्यापारोऽस्ति । (गो०) ३ अनीश्वरः—अस्वतन्त्र इत्यर्थः । (गो०)

जिस प्रकार मज़बूत खंभों पर अवलंबित घर पुराना होने पर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी बुढ़ापे और मृत्यु के वश में हो, नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।
यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रमुदकाकुलम् ॥ १९ ॥

हे भरत! जो रात बीत गयी वह फिर नहीं लौटती। यमुना का जल जो एक बार समुद्र में मिल गया, वह फिर लौट कर जमुना में नहीं आता ॥ १६ ॥

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह ।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥ २० ॥

देखो! ये दिन और रात जो बीतते चले जाते हैं, सो प्राणियों की आयु की अवधि को शीघ्र शीघ्र कम करते जाते हैं। जैसे ग्रीष्म काल में सूर्य की किरनें, जल को सुखा कर कम कर देती हैं ॥ २० ॥

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि ।
आयुस्ते हीयते यस्य स्थितस्य च गतस्य च ॥२१॥

अतः हे भरत! तुम अपने लिये (अर्थात् अपने आत्मा के उद्धार के लिये) सोचो, तो सोचो, दूसरों के लिये सोच क्यों करते हो? आयु तो सभी की घटाती है, चाहे कोई बैठा रहे, चाहे चला फिरा करे ॥ २१ ॥

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति ।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते ॥ २२ ॥

मौत मनुष्य के साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और दूर जाने पर भी साथ नहीं छोड़ती और साथ जा कर साथ ही लौट भी आती है ॥ २२ ॥

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः ।
जरया पुरुषो जीर्णः किं[1] हि कृत्वा प्रभावयेत् ॥२३॥

जब शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयीं, सिर के केश सफेद हो गये और शरीर जरा से जर्जरित हो गया, तब मनुष्य कर ही क्या सकता है अथवा तब उसके रोके मौत कैसे रुक सकती है अथवा वह किस बल बूते पर दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकता है ॥२३॥

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥ २४ ॥

मनुष्य सूर्य के उदय होने पर और अस्त होने पर नित्य ही प्रसन्न होते हैं, किन्तु इससे उनकी आयु घटती है—इस बात को वे नहीं समझते ॥ २४ ॥

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिहागतम् ।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार वसन्तादि नयी नयी ऋतुओं को देख, मनुष्य प्रसन्न होते हैं, किन्तु ऋतुओं की इस अदल बदल से उनकी उम्र घटती है—यह वे नहीं जानते ॥ २५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।
समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन ॥ २६ ॥

---

1 किं हि कृत्वा प्रभावयेत्—किं कृत्वामृत्युनिवर्तने समर्थोभवेत् । (शि०)

एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च धनानि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः[1] ॥२७॥

जिस प्रकार महासागर में अन्य स्थानों से वह कर आयी हुई दो लकड़ियाँ एक स्थान पर पहुँच कर मिल जाती हैं और फिर काल पा कर पृथक् हो इधर उधर वहती चली जाती जाती हैं, इसी प्रकार भार्या, पुत्र, भाईबन्द और धन सम्पत्ति जो आ कर अपने को मिलते हैं, इन सब का कालान्तर में वियोग होना भी निश्चय ही है ॥ २६ ॥ २७ ॥

नात्र कश्चिद्यथाभावं[2] प्राणी समभिवर्तते ।
तेन तस्मिन्न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः ॥ २८ ॥

हे भरत ! इस संसार में कोई भी प्राणी यथाभिलाष अपने भाई बन्दों के साथ सदा नहीं रह सकता, अतः मृतपुरुष के लिये, उसकी मौत को रोकने की सामर्थ्य किसको है जो मरे हुए के लिये शोक किया जाय। अर्थात् मौत पर किसी का वश नहीं। अतः मरे हुए के लिये शोक करना व्यर्थ है ॥ २८ ॥

यथा हि सार्थं गच्छन्तं[3] ब्रूयात्कश्चित्पथि स्थितः ।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥ २९ ॥

जिस प्रकार यात्रियों का दल रास्ते पर चला जाता हो और राह में बैठा हुआ कोई मनुष्य कहे कि तुम्हारे पीछे पीछे हम भी आते हैं ॥ २९ ॥

---

१ विनाभवः—वियोगः । (गो०) २ यथाभावं—न समभिवर्तते । यथाभिलाषं बन्धुभिः सह न वर्तते । (गो०) ३ गच्छन्तं सार्थं—पथिक-समूहं । (गो०)

एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पितृपैतामहो ध्रुवः ।
तमापन्नः कथं शोचेद्यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥३०॥

इसी प्रकार बाप दादे परदादों के चले हुए मार्ग पर आरूढ़ पुरुष को क्यों सोच करना चाहिये । क्योंकि उस मार्ग पर चलने के अतिरिक्त और तो कोई गति ही नहीं है ॥ ३० ॥

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वाऽनिवर्तिनः ।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ॥३१॥

जिस प्रकार नदी की धार आगे ही बढ़ती जाती है, पीछे नहीं लौटती, उसी प्रकार आयु केवल जाती ही है अर्थात् घटती ही है, और आती नहीं अर्थात् बढ़ती नहीं । अतः यह देख कर आत्मा को सुख के साधनभूत धर्मकृत्यों में लगाना उचित है । क्योंकि यह प्रजा सुखभोगी ही कही गयी है अर्थात् मनुष्यजन्म धर्मकृत्य करते हुए सुख भोगने के लिये ही कहा गया है अथवा मनुष्यजन्म सुख भोगने ही को होता है ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा सशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।
धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३२ ॥

हमारे महाराज पिता जी तो अच्छे मङ्गलरूपी और दक्षिणायुक्त यज्ञों को कर निष्पाप हो स्वर्ग सिधारे हैं ॥ ३२ ॥

भृत्यानां भरणात्सम्यक्प्रजानां परिपालनात् ।
अर्थादानाच्च धर्मेण[1] पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥ ३३ ॥

---

१ धर्मेण अर्थादानात्ः—धर्मेणकरादिग्रहणात् । (गो०)

भृत्यों का भली भाँति भरण पोषण कर, प्रजा का भली भाँति पालन कर और उनसे धर्मपूर्वक कर ले कर, हमारे पिता स्वर्ग सिधारे हैं ॥ ३३ ॥

कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः[1] क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।
स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३४ ॥

चौराहों पर तालाब बावड़ी आदि बनवा, प्रजाजनों के अभीष्ट पूरे कर, तथा विपुल दक्षिणा वाले यज्ञ कर हमारे पिता महाराज दशरथ स्वर्ग सिधारे हैं ॥ ३४ ॥

इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान् ।
उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥ ३५ ॥

अनेक प्रकार के यज्ञ कर, हर तरह के बहुत से भोग भोग कर और अच्छी आयु भोग कर, महाराज स्वर्ग सिधारे हैं ॥ ३५ ॥

आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः ।
स न शोच्यः पिता तातः स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥ ३६ ॥

हे तात ! अच्छी आयु पा कर, अच्छे भोगों को भोग कर और सज्जनों से सम्मान पा कर महाराज स्वर्ग सिधारे हैं, अतः उनके लिये शोक करना उचित नहीं ॥ ३६ ॥

स जीर्णं मानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः ।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥ ३७ ॥

हमारे पिता जीर्ण शरीर को त्याग कर, ब्रह्मलोक में सुख भोगने वाले देवताओं के शरीर को प्राप्त हुए होंगे ॥ ३७ ॥

---

१ इष्टैः—जनानां स्वस्यचाभिमतैः । (गो०) २ शुभैःकर्मभिः—महापथेपुतटाकनिर्माणादिभिः । (गो०)

तं तु नैवंविधः कश्चित्प्राज्ञः शोचितुमर्हति ।
तद्विधो यद्विधश्चासि* श्रुतवान्बुद्धिमत्तरः ॥ ३८ ॥

अतएव उन पिता जी के लिये शोक करना तुम जैसे बुद्धिमान शास्त्रवेत्ता और ज्ञानी पुरुष के लिये उचित नहीं ॥ ३८ ॥

एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तथा ।
वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥ ३९ ॥

तुम बुद्धिमान, तथा धैर्यवान हो, अतः तुमको इस प्रकार शोकान्वित हो, विलाप करना हर हालत में त्यागना चाहिये ॥३९॥

स स्वस्थो भव मा† शोको यात्वा चावस तां पुरीम् ।
तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना[1] वदतांवर ॥ ४० ॥

तुम स्वस्थ हो और शोक को त्याग कर, अयोध्यापुरी में जा कर वास करो। हे वाग्मिवर ! पिता जी तुमको अयोध्यापुरी में स्वतंत्रतापूर्वक रहने की आज्ञा दे गये हैं ॥ ४० ॥

यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा ।
तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥ ४१ ॥

वह पुण्य कर्मों के करने वाले पूज्य पिता मुझको जैसी आज्ञा दे गये हैं, तदनुसार मैं भी वैसा ही करूँगा ॥ ४१ ॥

न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिन्दम ।
तत्त्वयाऽपि सदा मान्यं स वै वन्धुः स नः पिता ॥४२॥

---

१ वशिना—स्वतंत्रेण । (शि०) * पाठान्तरे—" अपि " । † पाठान्तरे —" शोचीर्यात्वा । "

हे शत्रुओं के दमन करने वाले! मुझको उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं। क्योंकि हमारे पिता, बन्धु और शासनकर्ता होने के कारण वे हमारे, तुम्हारे दोनों के लिये सदा मान्य हैं॥ ४२॥

तद्वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणः।
कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव॥ ४३॥

अतएव मैं तो पिता जी की उसी आज्ञा का, जो धर्माचरण करने वालों के सम्मत है, वन में वास करके पालन करूँगा॥ ४३॥

धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना।
भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता॥ ४४॥

हे पुरुषसिंह! जो मनुष्य धार्मिक एवं दयालु हैं तथा अपना परलोक बनाने के अभिलाषी हैं, उनको बड़े लोगों का आज्ञाकारी होना चाहिये॥ ४४॥

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ।
निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः॥ ४५॥

हे नरश्रेष्ठ! तुम पिता जी की सत्यप्रतिज्ञा को स्मरण कर, अपने मन में अब राजधर्म को स्थापित करो अर्थात् पिता जी की सत्यप्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये अयोध्या जा कर राज्य करो (शिरोमणिटीकानुसार)॥ ४५॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम्।
यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च
प्रभुर्मुहूर्ताद्विरराम रामः॥ ४६॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र, पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये अपने छोटे भाई भरत से इस प्रकार के अर्थ गर्वित वचन कह कर, मुहूर्त भर तक चुप रहे ॥ ४९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

षडुत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत् ।
ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥ १ ॥

उवाच भरतश्चित्रं[1] धार्मिको धार्मिकं वचः ।
को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिन्दम ॥ २ ॥

प्रजावत्सल श्रीराम, मंदाकिनी के तट पर जब इस प्रकार के सार्थक वचन कह कर मौन हो रहे, तब धर्मात्मा भरत जी श्रीराम जी से, अनेक प्रकार की युक्तियों से युक्त एवं धर्मयुक्त वचन बोले। भरत जी ने कहा—हे शत्रुनाशन! आपके तुल्य इस लोक में दूसरा कौन होगा ॥ १ ॥ २ ॥

न त्वां प्रव्यथयेद्दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत् ।
सम्मतश्चासि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥ ३ ॥

न तो आपको दुःख दुःखी कर सकता है और न हर्ष हर्षित कर सकता है। सब बड़े बूढ़े आपको मानते हैं, तथापि धर्म के विषय में सन्देह होने पर आप उन लोगों से पूँछा करते हैं ॥ ३ ॥

---

1 चित्रं—अनेक विधयुक्तिविशिष्टं वचः। (शि०)

यथा मृतस्तथा जीवन्यथाऽसति तथा सति ।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः ॥ ४ ॥

जिसके लिये जैसा मरा हुआ आदमी वैसा ही जीता हुआ आदमी हो या जो यह समझ रहा हो कि, यह पदार्थ मेरे पास रहा तो क्या और न रहा तो क्या, ऐसी बुद्धि वाले मनुष्य को भला क्यों किसी वस्तु के लिये सन्ताप होने लगा? ॥ ४ ॥

[1]परावरज्ञो यश्च स्यात्तथा त्वं मनुजाधिप ।
स एवं व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति ॥ ५ ॥

हे नराधिप! आप सरीखा त्रिकालज्ञ अथवा जीवात्मा परमात्मा का रूप जानने वाला पुरुष, दुःख पड़ने पर भी विषाद को प्राप्त नहीं होता ॥ ५ ॥

अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसङ्गरः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव ॥ ६ ॥

हे राघव! आप देवताओं की तरह सतोगुणी, महाधैर्यवान् होने के कारण सत्यप्रतिज्ञ हो, आप सब जानने वाले, सब कुछ देखने वाले और बुद्धिमान् हो ॥ ६ ॥

न त्वामेवं गुणैर्युक्तं [2]प्रभवाभवकोविदम् ।
अविषह्यतमं[3] दुःखमासादयितुमर्हति ॥ ७ ॥

---

१ परावरज्ञः—त्रिकालज्ञः परमात्मजीवात्मस्वरूपज्ञोवा । (गो०)
२ प्रभवाभवकोविदम्—प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणतत्वज्ञाननिपुणम् । (शि०) ३ अविषह्यतमं—अन्यैरसह्यमपि । (शि०)

ऐसे गुणों से युक्त होने के कारण आप जीवों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के कारणों को भली भाँति जानने वाले हैं। अतः आपको वे दुःख भी, जो अन्य लोगों को असह्य हैं, नहीं सता सकते ॥ ७ ॥

[एवमुक्त्वा तु भरतो रामं पुनरथाब्रवीत् ।]
प्रोषिते मयि यत्पापं मात्रा मत्कारणात्कृतम् ॥ ८ ॥

क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान्मम ।
धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ॥ ९ ॥

यह कह कर भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी से फिर यह कहा कि मेरे विदेश में रहते समय मेरी इस नीच माता ने जो पाप मेरे लिये किया है, वह मेरे लिये अनिष्टकारक है, अथवा मुझे इष्ट नहीं है, अतः मेरे ऊपर आप प्रसन्न हों। क्या करूँ मैं धर्मबन्धन से बँधा हूं नहीं तो मैं इस माता को, ॥ ८ ॥ ९ ॥

हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम् ।
कथं दशरथाज्जातः शुद्धाभिजनकर्मणः ॥ १० ॥

जानन्धर्ममधर्मिष्ठं कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ।
गुरुः [1]क्रियावान्वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च ॥ ११ ॥

जो पाप करने वाली होने के कारण दण्ड पाने योग्य है कठोर दण्ड दे मार डालता। मैं ऐसे कुलीन एवं धर्मनिष्ठ महाराज दशरथ के औरस से उत्पन्न हूँ। क्या धर्म है और क्या अधर्म, यह जान कर मुझसे यह निन्दित कर्म करते नहीं बन पड़ता। सब यज्ञों की क्रियाओं के करने वाले, पूज्य और वृद्ध महाराज पिता जी परलोकवासी हुए ॥ १० ॥ ११ ॥

---

१ क्रियावान्—यज्ञादिक्रियावान् । (गो०)

तातं न परिगर्हेयं दैवतं चेति संसदि ।
को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्बिषम् ॥ १२ ॥

अतः सब के सामने सभा में उनकी निन्दा करना उचित नहीं, किन्तु कौन ऐसा पुरुष होगा जो धर्म और अर्थ से रहित ऐसा पाप कर्म, ॥ १२ ॥

स्त्रियाः प्रियं चिकीर्षुः सन्कुर्याद्धर्मज्ञ धर्मवित् ।
[1]अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति[2] पुराश्रुतिः ॥१३॥

धर्मज्ञों के धर्म को जान कर भी, स्त्री की प्रीति की कामना से करेगा। हे धर्मज्ञ! यह एक पुरानी कहावत है कि, मरने वाले की बुद्धि बिगड़ जाती है ॥ १३ ॥

राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षं सा श्रुतिः कृता ।
[3]साध्वर्थमभिसन्धाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात् ॥१४॥
[4]तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद्भवान्[5] ।
पितुर्हि* समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते ॥ १५ ॥

सो महाराज ने यह कर्म कर यह कहावत चरितार्थ करके लोगों को प्रत्यक्ष दिखला दी। महाराज ने भले ही कैकेयी के कुपित हो कर विष खाकर मर जाने के भय से, अथवा अपने चित्त के विक्षेप से, अथवा लोगों से विना पूँछे ही, यह कर्म किया

१ अन्तकाले—विनाशकाले। (गो०) २ मुह्यन्ति— विपरीत बुद्धिं प्राप्नुवन्ति। (गो०) ३ साध्वर्थअभिसंधायः—समीचीनार्थस्मृत्वा। (गो०) ४ तातस्य यदतिक्रान्तं यद्धर्मातिक्रमणं। (गो०) ५ तद्भवान प्रत्याहरतु—निवर्तयतु। (गो०) * पाठान्तरे—" यदतिक्रान्तं "।

हो, परन्तु अब आप उनके इस कर्म को ठीक समझ, अन्यथा विचार न कीजिये। क्योंकि जो पुत्र पिता की भूलचूक को भी ठीक मान लेता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ।
तदपत्यं भवानस्तु मा भवान्दुष्कृतं पितुः ॥ १६ ॥

लोक में वही पुत्र, पुत्र माना जाता है। इसके विपरीत करने वाला पुत्र, पुत्र नहीं माना जाता। आप उनके पुत्र हो अतः उनकी भूलचूक पर ध्यान न दें ॥ १६ ॥

अभिपत्ता कृतं कर्म लोके धीरविगर्हितम् ।
कैकेयीं मां च तातं च सुहृदो बान्धवांश्च नः ॥ १७ ॥

और उनके उस लोकनिन्दित कर्म को छिपाइये। कैकेयी को, मुझको, पिता को, सुहृदों को तथा हमारे भाईबंदों को ॥ १७ ॥

पौरजानपदान्सर्वांस्त्रातु सर्वमिदं भवान् ।
क्व चारण्यं क्व च क्षात्रं क्व जटाः क्व च पालनम् ॥१८॥

तथा पुरजन आदि सब को आप इस अपवाद से बचा लीजिये। हे भाई! कहाँ तो क्षात्रधर्म और कहाँ यह जनशून्य वन-वास। कहाँ जटाधारण और कहाँ प्रजापालन! ॥ १८ ॥

ईदृशं [1]व्याहतं कर्म न भवन्कर्तुमर्हति ।
एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

अतः आप इन परस्परविरोधी कार्यों को न कीजिये। क्योंकि क्षत्रिय का सर्वप्रथम कर्त्तव्य कर्म यही है कि, वह अपना अभिषेक करावे ॥ १९ ॥

---

१ व्याहतं—विरुद्धं। (शि०)

[क्षत्रिय के लिये वानप्रस्थधर्मपालन का निषेध नहीं, तब भरत जी ने वनवास का निषेध क्यों किया ? इसका समाधान भरत जी ने स्वयं ही यह कह कर किया है कि, वानप्रस्थ होने के पूर्व क्षत्रिय को प्रजापालन करना चाहिये। आश्रमधर्मपालन में वर्णधर्म की अवहेला नहीं होनी चाहिये।]

येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ।
कथ प्रत्यक्षमुत्सृज्य [1]संशयस्थमलक्षणम्[2] ॥ २० ॥

जिससे वह प्रजा का पालन कर सके। भला बतलाइये तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष फल देने वाले धर्म को छोड़, अप्रत्यक्ष और सुखों से रहित ॥ २० ॥

[3]आयतिस्थं चरेद्धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ।
अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि ॥ २१ ॥

एवं कालान्तर में फल देने वाले, अनिश्चित धर्मकर्म का करना कौन क्षत्रिय स्वीकार करेगा ? अथवा यदि आप इस प्रकार के शरीर को कष्ट देने वाला धर्माचरण करना चाहते हैं ॥ २१ ॥

धर्मेण चतुरो वर्णान्पालयन्क्लेशमाप्नुहि ।
चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम् ॥ २२ ॥
प्राहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि ।
[4]श्रुतेन बालः स्थानेन[5] जन्मना भवतो ह्यहम् ॥२३॥

तो धर्मानुसार ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पालन करने का कष्ट आप स्वीकार कीजिये। क्योंकि हे धर्मज्ञ ! चारों आश्रमों में (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त—ये चार आश्रम हैं)

---

१ संशयस्थं—अनलङ्कं। (गो०) २ अलक्षणं—लक्षणरहितं। (गो०) ३ आयतिस्थं—कालान्तरभाविफलं। (गो०) अनिश्चितं। (शि०) ४ श्रुतेन—विद्यया। (गो०) ५ स्थानेन—पदेन। (गो०)

गृहस्थ आश्रम ही को, धर्मज्ञ लोग सर्वोत्तम बतलाते हैं। तब इस आश्रम को आप क्यों छोड़ना चाहते हैं? देखिये, क्या विद्या में, क्या पद में और क्या वय में, मैं आपके सामने बालक हूँ॥ २२॥ २३॥

स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति।
हीनबुद्धिगुणो[1] बालो हीनः स्थानेन चाप्यहम्॥२४॥

सो मैं, आपके रहते, किस तरह पृथिवी का पालन कर सकता हूँ? मैं बुद्धिहीन और सद्गुण हीन हूँ और आपसे मैं पद में भी नीचा हूँ और बालक हूँ॥ २४॥

भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे[2]।
इदं निखिलमव्यग्रं राज्यं पित्र्यमकण्टकम्॥ २५॥

अतः मैं आपके बिना रह भी नहीं सकता फिर राज्य करने की बात तो जाने ही दीजिये अथवा मैं आपके बिना जी भी नहीं सकता, राज्यपालन करना तो दूर है। अतः पिता के इस सम्पूर्ण, उत्तम एवं निष्कण्टक राज्य का॥ २५॥

अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः।
इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह॥ २६॥
ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः।
अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यां पालने व्रज॥ २७॥

हे धर्मज्ञ! आप ही बंधु बान्धवों सहित धर्म से पालन कीजिये। यहीं पर, हे मंत्र के जानने वाले! प्रजाजन, वशिष्ठ और

१ हीनबुद्धिगुणः—सद्गुणबुद्धिरहितः। (गो०) २ वर्तयितुं—स्थातुं। (गो०)

मंत्रिगण सहित वैदिक मंत्रों के ज्ञाता ऋत्विक आपका अभिषेक कर दें और आप अभिषिक्त हो कर, हम लोगों के साथ अयोध्या में राज्य करने को चलें ॥ २६ ॥ २७ ॥

विजित्य तरसा लोकान्मरुद्भिरिव वासवः ।
ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन्दुर्हृदः[1] साधु निर्दहन् ॥ २८ ॥
सुहृदस्तर्पयन्कामैस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ।
अद्यार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने ॥ २९ ॥

जिस प्रकार अपने शत्रुओं को जीत, इन्द्र ने मरुद्गणों के सहित स्वर्ग में प्रवेश किया था, उसी प्रकार आप भी हम लोगों के साथ अयोध्या में प्रवेश करें। देवऋण ऋषिऋण और पितृ-ऋण—इन तीनों ऋणों से उऋण हो, शत्रुओं को भस्म कर सुहृदों की मनोकामना पूर्ण करते हुए, मुझे अपना सेवक बना, आज्ञा दिया कीजिये। हे आर्य! आज आपके अभिषेक से सुहृद लोग हर्षित हों ॥ २८ ॥ २९ ॥

अद्य भीताः पलायन्तां दुर्हृदस्ते दिशो दश ।
[2]आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

और दुष्ट लोग भयभीत हो दसों दिशाओं में भाग जायँ। हे पुरुषश्रेष्ठ! आपको वनवास दिलाने का जो कलङ्क मेरी माता को लगा है उसको आप धो दीजिये ॥ ३० ॥

अद्य तत्रभवन्तं च पितरं रक्ष किल्बिषात् ।
शिरसा त्वाऽभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि ।
बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥ ३१ ॥

---

1 दुर्हृदः—शत्रून् । (गो०) 2 आक्रोशं—निन्दां । (रा०)

और पूज्य पिता जी को भी पाप से बचाइये। देखिये! मैं अपना मस्तक नवा आपसे यह याचना कर रहा हूँ, जिस प्रकार महेश्वर*—विष्णु सब प्राणियों पर दया करते हैं, उसी प्रकार आप भी मेरे और सब भाई बंदों के ऊपर दया कीजिये॥ ३१॥

[नोट—यद्वेदादौस्वरः प्रोक्तोवेदान्तेच प्रतिष्ठितः।

तस्यप्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः॥

भूषणटीकाकार ने "महेश्वर" का अर्थ श्रुति-इतिहास प्रमाणों से विष्णु प्रतिपादित किया है—इतर टीकाकारों ने महेश्वर का अर्थ वृषभध्वज शिव या महादेव किया है।]

अथैतत्पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः।
गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम्॥ ३२॥

यदि मेरी इस प्रार्थना को अस्वीकार कर, यहाँ से आप दूसरे वन को चले जायँगे तो मैं भी आपके साथ ही साथ चलूँगा॥ ३२॥

तथा हि रामो भरतेन ताम्यता
प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः।
न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्
मतिं पितुस्तद्वचने व्यवस्थितः॥ ३३॥

यद्यपि भरत जी इस प्रकार गिड़गिड़ा और चरणों पर अपना सिर रख कर श्रीरामचन्द्र जी को मना रहे थे, तथापि श्रीरामचन्द्र जी पिता के वचन पर ऐसे दृढ़ थे कि, वे ज़रा भी उससे विचलित न हुए अथवा किसी प्रकार भी अयोध्या लौट जाना उन्होंने स्वीकार न किया॥ ३३॥

तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे
समं जना हर्षमवाप दुःखितः ।
न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्
स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥ ३४ ॥

जो लोग वहाँ उस समय उपस्थित थे वे श्रीरामचन्द्र जी के विचार की दृढ़ता को देख, हर्ष विषाद में एक साथ मग्न हो गये। वे दुःखित तो इस लिये थे कि श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या जाना स्वीकार नहीं करते थे, साथ ही हर्ष उनको इस बात का था कि, श्रीरामचन्द्र जी दृढ़बुद्धि वाले हैं ॥ ३४ ॥

तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभाः
तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः ।
तथा* ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः
प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥ ३५ ॥

इति षडुत्तरशततमः सर्गः ॥

व्यापारियों के मुखिया, वेदपाठी ब्राह्मण, अथवा ऋत्विज लोग मूर्छित हो गये तथा रुदन करती हुई माताएँ भरत जी की प्रशंसा करने लगीं और हाथ जोड़ कर भरत जी की ओर से श्रीरामचन्द्र जी की प्रार्थना करने लगीं ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

* पाठान्तरे—" तदा "।

सप्तोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः।
प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्येऽभिसत्कृतः[1] ॥ १ ॥

जब भरत जी ने फिर कुछ कहना चाहा, तब भरत जी से स्तुति द्वारा भली भाँति सत्कार किये गये श्रीरामचन्द्र जी, अपनी जाति के लोगों के सामने कहने लगे ॥ १ ॥

उपपन्नमिदं वाक्यं यत्त्वमेवमभाषथाः।
जातः पुत्रो दशरथात्कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥ २ ॥

हे भरत! तुम नृपोत्तम महाराज दशरथ जी से, कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न हुए हो, अतः जो तुम कहते हो सो सब ठीक है ॥ २ ॥

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

पूर्वकाल में जब हमारे पिता दशरथ जी तुम्हारी माता कैकेयी से विवाह करने गये थे, तब तुम्हारे नाना से उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि, तुम्हारी बेटी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही मेरे राज्यसिंहासन पर बैठेगा ॥ ३ ॥

[नोट—महाराज दशरथ का ऐसी प्रतिज्ञा करना अनुचित न था। क्योंकि कैकेयी के साथ उनका विवाह ढलती उमर में हुआ था। अन्य रानियों के साथ बहुत दिनों रह कर, वे पुत्रोत्पन्न होने से निराश हो चुके थे। कैकेयी के

---

१ अभिसत्कृतः—भरतेनस्तोत्रादिना सम्यगभिपूजितः। (गो॰)

साथ विवाह पुत्र की कामना ही से किया था। अतः उनका ऐसी प्रतिज्ञा करना ठीक ही था।

यदि यहाँ यह कोई कहे कि, जब महाराज कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न सन्तान ही को राज्य देने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे तब श्रीरामचन्द्र को युवराजपद देने की तैयारियाँ उन्होंने क्यों कीं, तो इसका समाधान स्मृतिकारों के इस वचन से होता है—

"उद्वाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थेप्यनृतंवदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥"

इसके अतिरिक्त महाराज अपने कुल की परम्परागत प्रथा के अनुसार ज्येष्ठ राजकुमार को राजसिंहासन देने के लिये भी बाध्य थे। यदि वे इस प्रथा के विरुद्ध कार्य करते, तो प्रजा उनके इस अनुचित कार्य का घोर विरोध करती और उनकी निन्दा करती जैसा कि प्रजा ने श्रीराम के वनवास के समय किया भी था।]

देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः।
सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः॥ ४॥

इसके अतिरिक्त देवासुर संग्राम में भी तुम्हारी माता के उपकार से सन्तुष्ट हो, पिता जी ने उन्हें दो वरदान देने कहे थे॥ ४॥

ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी।
अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौवरौ वरवर्णिनी॥ ५॥

अतः हे नरश्रेष्ठ! यशस्विनी एवं सुन्दर वचन बोलने वाली तुम्हारी माता ने, पिता जी को वचनबद्ध कर उनसे दोनों वर माँगे॥ ५॥

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा।
तौ च राजा तदा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरौ॥ ६॥

हे पुरुषसिंह! एक वर से तुम्हारे लिये राज्य और दूसरे से मेरे लिये वनवास। महाराज ने भी माँगने पर इन दोनों वरों को दे अपनी प्रतिज्ञा पूरी की॥ ६॥

तेन पित्राऽहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम्॥ ७॥

हे नरवर! उसी वरदान के कारण पिता को आज्ञा से मैंने चौदह वर्ष वन में वास करना स्वीकार किया॥ ७॥

सोऽहं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः।
सीतया [1]चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः॥ ८॥

और पिता जी के वचन को सत्य करने के लिये सीता और लक्ष्मण को साथ ले और सर्दी गर्मी दुःख सुख की कुछ भी परवाह न कर मैं इस निर्जन वन में चला आया हूँ॥ ८॥

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम्।
कर्तुमर्हति राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात्॥ ९॥

हे राजेन्द्र! तुम भी अपना शीघ्र राज्याभिषेक करवा कर मेरी तरह पिता जी को सत्यवादी बनाओ॥ ९॥

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं चापि धर्मज्ञं मातरं चाभिनन्दय॥ १०॥

हे भरत! मेरी प्रसन्नता के लिये तुम महाराज को इस ऋण से उऋण करो और उनकी रक्षा करो। माता कैकेयी को भी, स्वयं राज्यासन पर बैठ कर, प्रसन्न करो॥ १०॥

---

१ अप्रतिद्वन्द्वः—शीतोष्णादिबाधारहितोऽहं। (शि०)

श्रूयते हि पुरा तात श्रुतिर्गीता यशस्विना ।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन्प्रति ॥ ११ ॥

हे तात ! सुना है कि, पूर्वकाल में गय नाम के एक यशस्वी राजा गया प्रदेश में यज्ञ करते थे। उन्होंने पितरों से यह वाक्य कहा था कि, ॥ ११ ॥

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः [1]पितॄन्यत्पाति वा सुतः ॥१२॥

पुत्र पिता को पुन्नाम नरक से उद्धार करता है और पितरों के उद्देश्य से इष्ट पूर्त कार्यों को कर पितरों को स्वर्ग में भेज सब प्रकार से पितरों की रक्षा करता रहता है। इसीसे उसको पुत्र कहते हैं ॥ १२ ॥

[नोट—इष्टापूर्त का विवरण स्मृतियों में यह लिखा है—

पूर्त—वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमर्थ्याः प्रचक्षते ॥

इष्ट—एकाग्नि कर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते ।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते ॥—V. S. Apte.]

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत् ॥ १३ ॥

इसीसे लोग विद्वान् और गुणवान बहुत से पुत्रों की चाहना करते हैं कि, उनमें से कोई पुत्र तो गया जा कर श्राद्धादि द्वारा पितरों का उद्धार करेगा ॥ १३ ॥

---

१ पितॄन् पाति—उद्देशकृतेष्टापूर्तादिना स्वर्लोकं प्रापय्य रक्षतीत्यर्थः । (गो०)

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता राजनन्दन ।
तस्मात्त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात्प्रभो ॥ १४ ॥

हे राजनन्दन ! सब राजर्षियों का इस बात पर विश्वास है। अतः हे नरश्रेष्ठ ! तुम पिता जी का नरक से उद्धार करो ॥ १४ ॥

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरनुरञ्जय ।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥ १५ ॥

हे भरत ! तुम शत्रुघ्न को तथा सब ब्राह्मणादि प्रजा को साथ ले कर, अयोध्या में जा कर प्रजाओं को आनन्दित करो ॥ १५ ॥

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन् ।
आभ्यां तु सहितो राजन्वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥१६॥

हे राजन् ! मैं भी सीता और लक्ष्मण को साथ ले शीघ्र दण्डकारण्य में प्रवेश करूँगा ॥ १६ ॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नाराणां
वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान्प्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥

हे भरत ! तुम मनुष्यों के राजा हो और मैं वनमृगों के राजाओं का राजा हूँगा। तुम प्रसन्न हो अब श्रेष्ठ नगरी अयोध्या को गमन करो और मैं भी आनन्दपूर्वक दण्डकवन में प्रवेश करूँ ॥ १७ ॥

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं
[1]वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम्।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां
छायां तामतिशयिनीं सुखी श्रयिष्ये ॥१८॥

सूर्य के आतप को रोकने वाले राजछत्र तुम्हारे मस्तक पर शीतल छाया करें और मैं जङ्गल के इन पेड़ों की सघन छाया का आश्रय ग्रहण करूँ ॥ १८ ॥

शत्रुघ्नः कुशलमतिस्तु ते सहायः
सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम्।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं
सत्यस्थं भरत चराम मा विषादम् ॥१९॥

इति सप्तोत्तरशततमः सर्गः॥

हे भरत! यह अमितबुद्धि वाले शत्रुघ्न तुम्हारे सहायक रहेंगे और सर्वलोकों में प्रसिद्ध यह लक्ष्मण मेरी सहायता करेंगे। इस प्रकार नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथ के हम चारों पुत्र महाराज दशरथ को सत्यवादी करें। अतः अब तुम विषादयुक्त मत हो ॥ १९ ॥

[*नोट—इस प्रकार जब श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी को निरुत्तरित कर* दिया, तब भरत जी को चुप देख, हितपरता के कारण, जाबालि जी ने चार्वाक मत का सहारा ले श्रीरामचन्द्र जी को जो उत्तर दिया था वह १०८ वें अध्याय में लिखा गया है।]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सातवां सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

१ वर्षत्रं—छत्रं। (गो०) २ चराम—करवामेत्यर्थः। (गो०)

अष्टोत्तरशततमः सर्गः

—:*:—

आश्वासयन्तं भरतं जावालिर्ब्राह्मणोत्तमः ।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं[1] वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार भरत जी को समझाते हुए श्रीरामचन्द्र जी से जावालि नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने ये धर्मविरुद्ध वचन कहे ॥१॥

साधु राघव मा भूत्ते बुद्धिरेवं निरर्थिका[2] ।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेर्मनस्विनः ॥ २ ॥

वाह महाराज वाह ! आपकी तो पामरजनों जैसी निरर्थक बुद्धि न होनी चाहिये। क्योंकि आप केवल श्रेष्ठ बुद्धिवाले ही नहीं, किन्तु मनस्वी भी हैं ॥ २ ॥

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् ।
यदेको जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥

भला ज़रा सोचिये तो, कौन किसका बन्धु है और कौन किसका बना बिगाड़ सकता है। यह प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और फिर अकेला ही नष्ट भी होता है ॥ ३ ॥

तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः ।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित् ॥४॥

अतः यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है—ऐसा सम्बन्ध मान कर जो पुरुष इन सम्बन्धों में आसक्त होता है, उसे पागल की

---

१ धर्मापेतं—धर्ममार्गविरुद्धं । (रा०) २ निरर्थिका—परमार्थ रहिता । (शि०)

तरह समझना चाहिये। क्योंकि विचारपूर्वक देखा जाय तो सच-मुच कोई भी किसी का नहीं है ॥ ४ ॥

यथा ग्रामान्तरं गच्छन्नरः कश्चित्कचिद्वसेत् ।
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गाँव से दूसरे गाँव को जाता हुआ, कहीं मार्ग में ठहर जाता है और अगले दिन उस स्थान को छोड़ चल देता है ॥ ५ ॥

एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु ।
आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार पिता माता, घर और धनादि सम्पत्ति के साथ भी मनुष्य का थोड़ी देर का टिकाऊ सम्बन्ध है। अतएव सज्जन लोग इनमें आसक्त नहीं होते ॥ ६ ॥

पित्र्यं राज्यं परित्यज्य स नार्हसि नरोत्तम ।
आस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥

अतएव हे नरोत्तम ! आप पिता के राज्य को छोड़, इस कुमार्ग पर, जो दुःख देने वाला, युवावस्था के अयोग्य और बहुकण्टकों से परिपूर्ण है, आरूढ़ होने योग्य नहीं हैं ॥ ७ ॥

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय ।
[२]एकवेणीधरा हि त्वां नगरी[३] सम्प्रतीक्षते ॥ ८ ॥

---

१ विषमं—यौवनानुचितं । (गो०) २ एकवेणीधरा—व्रतपरायणेत्यर्थः (गो०) ३ नगरी—तदधिदेवता । (गो०)

आप तो चल कर अब धन धान्ययुक्त अयोध्या में अपना अभिषेक करवाइये। क्योंकि अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी पति-व्रतधारण कर आपके आगमन की बाट जोह रही है॥ ८॥

राजभोगाननुभवन्महार्हान्पार्थिवात्मज।
विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे॥ ९॥

हे राजकुमार! आप बढ़िया बढ़िया राजाओं के भोगने योग्य भोगों का उपभोग करें और अयोध्या में उसी प्रकार विहार करें जिस प्रकार इन्द्र अमरावती में विहार करते हैं॥ ६॥

न ते कश्चिद्दशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन।
अन्यो राजा त्वमन्यः स तस्मात्कुरु यदुच्यते॥१०॥

न तो अब दशरथ आपके कोई हैं और न आप दशरथ के कोई हैं। राजा कोई और है और आप कोई और हैं। इसलिये मैं जो कहता हूँ उसे आप कीजिये॥ १०॥

बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं रुधिरमेव च।
संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत्॥ ११॥

प्राणी के जन्म में पिता तो वीर्य का एक कारण मात्र है। क्योंकि ऋतुमती माता के गर्भ में एकत्र हो मिला हुआ वीर्य और रज ही जीव के जन्म का हेतु है॥ ११॥

गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै।
[1]प्रवृत्तिरेषा मर्त्यानां[2] त्वं तु[3] मिथ्या विहन्यसे॥१२॥

---

१ प्रवृत्तिः—स्वभाव इत्यर्थः। (गो०) २ मर्त्यानां—मरणशीलानां। (गो०) ३ त्वं तु मिथ्याविहन्यसे—मिथ्याभूतेन संबन्धेन पीड्यसे। (गो०)

वे महाराज तो जहाँ उनको जाना था वहाँ गये। क्योंकि मरण-शील प्राणियों का स्वभाव ही यह है। तुम वृथा ही इस झूठे सम्बन्ध को ले, पीड़ित होते हो॥ १२॥

[1]अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्शोचामि नेतरान्।
ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य भेजिरे॥ १३॥

जो लोग प्रत्यक्ष मिलते हुए सुख को त्याग कर आगे सुख मिलने की आशा से कष्ट भोग कर धर्मोपार्जन करते हैं, और ऐसा करते करते नष्ट हो जाते हैं, मुझे उन्हीं लोगों के लिये दुःख है औरों के लिये नहीं, अथवा मुझे उन लोगों के लिये शोक है जो प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ को त्याग, अप्रत्यक्ष धर्म सम्पादन में तत्पर रह कर, इसलोक में तो दुःख भोगते ही हैं किन्तु वे नष्ट होने पर भी दुःख भोगते हैं। औरों के लिये नहीं॥ १३॥

अष्टका पितृदैवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः।
अन्नस्योपद्रवं[2] पश्य मृतो हि किमशिष्यति॥ १४॥

देखिये, लोग जो अष्टकादि श्राद्धकर्म पितरों के उद्देश्य से, प्रतिवर्ष किया करते हैं, उससे लोग अन्न का कैसा नाश करते हैं। भला कहीं कोई मरा हुआ भी कभी भोजन करता है?॥ १४॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति।
दद्यात्प्रवसतः श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत्॥ १५॥

यदि एक का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में पहुँच जाता तो बटोही को रास्ते में भोजन करने के लिये, भोज्य पदार्थ अपने

---

१ अर्थधर्मपराः—प्रत्यक्षसौख्यं विहाय केवलार्थसम्पादनपराः। (गो०)
२ उपद्रवं—क्षयं। (गो०)

साथ लेने की ज़रूरत ही क्या है? क्योंकि उसके सम्बन्धी उसके नाम पर घर पर ही श्राद्ध कर दिया करते और वही उस बटोही के लिये, मार्ग को भोजन का काम देता और बटोही बोझ ढोने से बच जाता ॥ १५ ॥

[1]दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः[2] कृताः ।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व सन्त्यज ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! अन्य उपायों से धनोपार्जन में क्लेश देख, दूसरों का धन हरने में चतुर लोगों ने दान द्वारा लोगों को वश में करने के लिये, धर्मग्रन्थों में लिख रखा है कि, यज्ञ करो, दान दो, दीक्षा लो, तप करो, संन्यास लो अर्थात् लोगों को धोखा दे कर उनका धन हरण करना ही इन धर्मग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य है ॥ १६ ॥

स नास्ति परमित्येव कुरु बुद्धिं महामते ।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥

हे महामते! वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है। इसे आप भली भाँति समझ लीजिये। अतः जो सामने है, उसे ग्रहण कीजिये और जो परोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है उसे पीठ पीछे कीजिये। अर्थात् प्रत्यक्ष में सुखदायक राज्य को ग्रहण कीजिये और परोक्ष की बात (कि पिता को सत्यप्रतिज्ञ करने से बड़ा पुण्य होगा,) को भुला दीजिये ॥ १७ ॥

---

१ दानसंवननाः—दानायवशीकरणोपायाः । (गो०) २ मेधाविभिः—परद्रव्यग्रहणकुशलबुद्धिभिः । (गो०)

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम्[1] ।
राज्यं त्वं प्रतिगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥

देखिये भरत जी आपसे प्रार्थना करते हैं, अतः सर्व जनानुमोदित सज्जनों के मत को स्वीकार कर, राज्य ग्रहण कीजिये ॥१८॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

नवोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

जावालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः [1]सत्यात्मनां वरः ।
उवाच परया भक्त्या स्वबुद्ध्या चाविपन्नया[2] ॥ १ ॥

जावालि की बातें सुन, सत्यभाव वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी अपनी अविचल बुद्धि से विचारे हुए, वैदिक धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करने वाले वचन बोले ॥ १ ॥

भवान्मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।
आकार्यं कार्यसङ्काशमपथ्यं पथ्यसम्मितम् ॥ २ ॥

आपने मुझे प्रसन्न करने के लिये जो बातें कहीं, वे कार्य रूप में परिणत करने के लिये अनुपयुक्त और न्यायमार्ग के विरुद्ध

---

१ सर्वलोकनिदर्शिनीम्—सर्वजनसंमतामित्यर्थः । (गो०) १ सत्यात्मनां वरः—सत्यस्वभावानां श्रेष्ठः । (रा०) सत्यात्मनां भक्त्या—वैदिकधर्मश्रद्धया । (गो०) २ अविपन्नया:—अचलितया । (गो०)

होने पर भी, साधारण दृष्टि से देखने पर, न्यायानुमोदित और करने योग्य जान पड़ती हैं अर्थात् आपकी सब बातें बनावटी हैं ॥ २ ॥

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥ ३ ॥

मर्यादा रहित, पापाचरण से युक्त, चरित्रहीन और साधु सम्मत शास्त्रों के विरुद्ध आचरण वाले पुरुष का सज्जनों के समाज में आदर नहीं होता ॥ ३ ॥

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ॥४॥

चरित्र ही अकुलीन को कुलीन, भीरु को वीर और अपावन को पावन प्रसिद्ध करता है ॥ ४ ॥

अनार्यस्त्वार्यसङ्काशः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः ।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥ ५ ॥
अधर्मं धर्मवेषेण यदीमं [1]लोकसङ्करम् ।
अभिपत्स्ये शुभं[2] हित्वा क्रियाविधिविवर्जितम्[3] ॥६॥
कश्चेतयानः[4] पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।
बहुमंस्यति मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥

---

१ लोकसंकरम्—लोकसङ्करकारकम् । (गो०) २ शुभं—शुभसाधनं वैदिकधर्मम् । (गो०) ३ क्रियाविधिविवर्जितम्—वैदिकक्रियया वेदविधिना च वर्जितं इमं त्वदुक्तमधर्मं । (गो०) ४ चेतयानः—ज्ञानवान् । (गो०)

यदि मैं श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा में रह कर, अनार्यों की तरह; पवित्र हो कर, शौचहीन की तरह और शीलवान हो कर, दुःशील की तरह धर्म के वेष से वैदिक धर्म को छोड़, लोगों में सङ्करता बढ़ाने वाले, वैदिक विधि और वैदिक क्रिया से रहित आपके बतलाये हुए धर्म को ग्रहण करूँ, तो कार्य अकार्य के जानने वाला कौन ज्ञानवान पुरुष, मुझ दुराचारी और लोकनिन्दित का सम्मान करेगा ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

कस्य धास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।
अनया वर्तमानो हि वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥

यदि आपके उपदेशानुसार मैं इस सत्य-प्रतिज्ञ-पालन-हीन वृत्ति को अवलंबन कर लूँ तो, मैं किस कर्म के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करूँगा ॥ ८ ॥

कामवृत्तस्त्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ॥९॥

जब मैं (ही) यथेच्छाचारी हो गया, तब (अन्य) सब लोग अपना मनमाना काम करने लगेंगे। क्योंकि राजा का जैसा आचरण होता है, वैसा ही आचरण प्रजा का भी हो जाता है। (यथा राजा तथा प्रजा प्रसिद्ध ही है) ॥ ९ ॥

सत्यमेवानृशंसं[1] च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥१०॥

भूतानुकम्पा प्रधान और सनातन राजधर्म सत्यरूप है, अतः राज्य सत्यरूप है और सत्य ही से यह लोक टिका हुआ है ॥ १० ॥

---

1 अनृशंसं—भूतानुकम्पाप्रधानं सनातनंच राजवृत्तं सत्यरूपमेव । (गो०)

[नोट—अर्थात् राजा का धर्म है कि वह प्राणि मात्र पर दयायुक्त व्यवहार करे और अपने व्यवहार में असत्य को स्थान न दे। राजधर्म में झूठ बोलना निषिद्ध है। भूतानुकम्पाप्रधान एवं सत्यरूप राजधर्म अनादिसिद्ध है। सत्यव्यवहार यदि लोप हो जाय तो इस लोक में एक क्षण भी रहना कठिन हो जाय।]

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे[1] ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन्परमं गच्छति क्षयम् ॥११॥

देखो ऋषि लोग और देवता लोग सत्य को उत्कृष्ट मानते हैं; क्योंकि सत्यवादी पुरुष को अक्षय्य ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

उद्विजन्ते[3] यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यं परो लोके मूलं स्वर्गस्य चोच्यते ॥ १२ ॥

मिथ्यावादी पुरुष से लोग वैसे ही डरते हैं जैसे साँप से। सत्य से युक्त धर्म केवल समस्त लौकिक व्यवहारों ही का मूल नहीं है, किन्तु स्वर्गप्राप्ति का भी मूल साधक है ॥ १२ ॥

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्यं पद्मा श्रिता सदा ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्[4] ॥१३॥

सत्य ही से ईश्वर की प्राप्ति होती है, सत्य ही से लक्ष्मी-धन धान्य मिलता है। सत्य ही सब सुखों का मूल है, सत्य से बढ़ कर और कोई वस्तु नहीं है जिसका आश्रय लिया जाय ॥ १३ ॥

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥ १४ ॥

---

१ मेनिरे—उत्कृष्टमितिशेषः । (गो०) २ परमंक्षयन्—परमधाम । (गो०) ३ उद्विजन्ते—जनाइतिशेषः । (गो०) ४ पदम्—आश्रयं । (शि०)

दान, यज्ञ, तप और वेद—ये सब सत्य हैं, अतएव सब को सदा सत्य पालन के लिये तैयार रहना चाहिये ॥ १४ ॥

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥ १५ ॥

कोई तो अपने कर्मों के फल से अपने कुल का और कोई लोक भर का पालन करता है । कोई नरक में डूबता है और कोई स्वर्ग में पूजित होता है ॥ १५ ॥

सोऽहं पितुर्नियोगं तु किमर्थं नानुपालये ।
सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतः ॥ १६ ॥

अतएव मैं (कर्मफल को जानता हुआ और) सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा करके, सत्यप्रतिज्ञ और सदाचारी पिता की सत्य रूप उस आज्ञा का, जिसकी प्रतिज्ञा सत्यतापूर्वक की गयी है, पालन क्यों न करूँ ॥ १६ ॥

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात्तमोन्वितः ।
सेतुं[1] सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः[2] सत्यप्रतिश्रवः ॥ १७ ॥

अतएव मैं न तो राज्य पाने के लोभ से, न लोगों के भुलावे में आ और न अज्ञान से क्रोध के वशवर्ती हो, पिता की सत्यरूपी मर्यादा को तोड़ूँगा, क्योंकि मैं स्वयं सत्यप्रतिज्ञ हूँ ॥ १७ ॥

असत्यसन्धस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥

---

१ सेतुं—मर्यादां । (गो० , २ गुरोः—पितुः । (शि०)

मैंने सुना है कि, जो सत्यप्रतिज्ञा को भङ्ग करने वाला, चञ्चल स्वभाव और अस्थिर चित्त है, उसका दिया हुआ हव्य और कव्य देवता और पितर ग्रहण नहीं करते ॥ १८ ॥

प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं स्वयम् ।
भारः [1]सत्पुरुषाचीर्णस्तदर्थमभिमन्यते[2] ॥ १९ ॥

मेरी समझ में प्रत्येक जीवधारी के लिये सत्यपालन रूपी धर्म सब धर्मों की अपेक्षा प्रधान धर्म है। जिस सत्यपालन रूपी धर्म-भार या वनवास रूपी धर्मभार को पूर्वकाल के सत्पुरुष उठा चुके हैं, उस भार को, आदर देना मैं पसंद करता हूँ ॥ १९ ॥

क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये [3]ह्यधर्मं धर्मसंहितम्[4] ।
क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥ २० ॥

आपके बतलाए हुए क्षात्र धर्म को, जिसमें धर्म तो नाममात्र का है और अधर्म प्रचुर परिमाण में है मैं त्याज्य समझता हूँ; क्योंकि ऐसे अधर्म रूपी धर्म का सेवन तो—नीच, निष्ठुर, लोभी और पापी लोग ही किया करते हैं ॥ २० ॥

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य च ।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥ २१ ॥

आपके बतलाये क्षात्रधर्म का पालन करने में, तीनों प्रकार के पापों की प्रवृत्ति होती है। वे तीन प्रकार के पाप हैं कायिक, मानसिक और वाचिक। (कायिक वे जो शरीर से किये जाँय,

---

१ सत्पुरुषाचीर्णः—सत्पुरुषैराचरितः । (गो०) २ अभिमन्यते—अभिमतो भवति । (गो०) ३ अधर्मं—अधर्मप्रचुरं । (गो०) ४ धर्मसंहितम्—धर्मलेशसहितं । (गो०)

मानसिक वे जो मन में सोचे जाय और वाचिक वे जो जिह्वा द्वारा किये जांय, अर्थात् झूठ बोलना, क्रोध करना, परनिन्दा करना, अपशब्द कहना आदि।) इन तीनों प्रकार के पापों का परस्पर सम्बन्ध है। पहले तो पाप का मन में सङ्कल्प उदय होता है, फिर वाणी द्वारा वह प्रकट किया जाता है और फिर वह शरीर से किया जाता है ॥ २१ ॥

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
स्वर्गस्थं चानुपश्यन्ति सत्यमेव भजेत तत् ॥ २२ ॥

जो लोग सत्यव्रतधारी हैं, उन्हें केवल राज्य, कीर्ति, यश और धन ही नहीं मिलता, किन्तु मरने पर उन्हें स्वर्ग भी प्राप्त होता है। इसीसे लोगों को सत्य बोलना और सत्य व्यवहार करना उचित है ॥ २२ ॥

[1]श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद्यद्भवानवधार्य माम्।
आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं[2] भद्रं कुरुष्व ह ॥ २३ ॥

आपने अपने मन में निश्चय कर जिसे उचित समझ रखा है, और जिसको करने के लिये आप मुझसे युक्तियुक्त वचन कह कर अनुरोध करते हैं, वह कार्य सर्वथा अनुचित है ॥ २३ ॥

कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरौ।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥ २४ ॥

भला बतलाइये तो, मैं जब पिता से वनवास की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, तब अब क्योंकर मैं उस प्रतिज्ञा को भङ्ग कर, भरत का कहना मानूँ ॥ २४ ॥

---

१ श्रेष्ठं नित्यवधार्य निश्चित्य। (गो०) २ इदं भद्रंकुरुष्वेति भवान्युक्तिकरैर्वाक्यैः यदाह तदनार्यमेवस्यात्। (गो०)

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसन्निधौ ।
प्रहृष्यमाणा सा देवी कैकेयी चाभवत्तदा ॥ २५ ॥

जब कि मैंने पिता के सामने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की थी, तब देवी कैकेयी अत्यन्त प्रसन्न हुई थीं। (सो अब मैं अपनी उस दृढ़ प्रतिज्ञा को तोड़ कैकेयी को क्यों कर दुःखी करूँ) ॥ २५ ॥

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः ।
मूलैः पुष्पैः फलैः पुण्यैः पितॄन्देवांश्च तर्पयन् ॥२६॥

अतएव मैं पवित्र मूल फल फूलों से देवता और पितरों को तृप्त कर और बचे हुओं को स्वयं भोजन कर, शुद्ध हृदय और सन्तुष्ट हो कर वन में वास करूँगा ॥ २६ ॥

[नोट—जो पदार्थ देवता पितरों को अर्पण कर खाये जाते हैं उनके खाने से हृदय शुद्ध होता है—जो ऐसा नहीं करते वे पाप करते हैं—गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है "भुञ्जते ते त्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात्" अर्थात् जो अपने खाने के लिये रसोई बनाते हैं, वे अन्न नहीं प्रत्युत पाप खाते हैं।]

[1]सन्तुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां[2] प्रवर्तये ।
[3]अकुहः श्रद्दधानः सन्कार्याकार्यविचक्षणः ॥ २७ ॥

मैं छल छिद्र त्याग कर, कर्त्तव्याकर्तव्य का विचार कर, वैदिक क्रियाकलाप में अकृत्रिम श्रद्धा रख कर, तथा पाँचों इन्द्रियों को सन्तुष्ट रख कर, पिता की वचनपालन रूपी लोकयात्रा का निर्वाह करूँगा ॥ २७ ॥

---

१ सन्तुष्टपञ्चवर्गः—परितुष्टपञ्चेन्द्रियवर्गः । (गो०) २ लोकयात्रां—पितृवचनपरिपालनरूपलोकप्रवर्तनं । (गो०) ३ अकुहः—अकृत्रिमः । (गो०)

कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम् ।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥ २८ ॥

इस कर्मभूमि में आ कर शुभकर्मानुष्ठान करना उचित है। क्योंकि कर्मों के फल के भागी अग्नि, वायु और चन्द्रमा हैं। अर्थात् मनुष्यों को क्रमानुसार अग्निलोक, वायुलोक और चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। अथवा शुभकर्मों द्वारा ही जीव अग्नि वायु और चन्द्रमा होते हैं॥ २८॥

शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः ।
तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं याता महर्षयः ॥ २९ ॥

(शुभकर्मानुष्ठान का प्रभाव दिखा कर श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं कि) सौ यज्ञ करने से इन्द्र देवराज हो कर स्वर्ग में गये और महर्षि लोग भी तप करके स्वर्ग को प्राप्त करते हैं॥ २९॥

अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा
निशम्य तन्नास्तिकहेतुवाक्यम् ।
अथाब्रवीत्तं नृपतेस्तनूजो
विगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥

उग्र तेज वाले नृपनन्दन श्रीरामचन्द्र जाबालि के नास्तिकता से भरे वचन सुन, उनको सहन न कर सके और उन वचनों की निन्दा करते हुए उनसे फिर बोले॥ ३०॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।

द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ३१ ॥

हे जाबालि! सत्य बोलना, अपने अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन करना, समय पर पराक्रम दिखाना, भूतदया, प्रियवचन बोलना, ब्राह्मण, देवता और अतिथियों का पूजन करना—इन कर्मों के करने से, साधुजन स्वर्ग की प्राप्ति बतलाते हैं ॥ ३१ ॥

तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थ-
[1]मेकोदयं संप्रतिपद्य विप्राः।
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्
काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः ॥ ३२ ॥

इसी लिये ब्राह्मण लोग, इसका यथावत् अर्थ समझ, सावधान हो कर, वर्णाश्रमोचित समस्त धर्मों का पालन करते हुए, ब्रह्मलोकादि की आकांक्षा करते हैं ॥ ३२ ॥

[2]निन्दाम्यहं कर्म पितुः कृतं त-
द्यस्त्वामगृह्णाद्विष[3]मस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्याऽनयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥ ३३ ॥

हे जाबालि! मैं अपने पिता के इस कार्य की निन्दा करता हूँ कि उन्होंने तुम्हारे जैसे वेदमार्ग से भ्रष्ट बुद्धि वाले धर्मच्युत

---

१ एकोदयं सम्प्रतिपद्य—ऐककण्ठ्यं प्राप्य। (गो०) २ निन्दाम्यहं—वैदिककर्मभ्योबहिष्करोमि। (गो०) ३ विषमस्थबुद्धिं—अवैदिकमार्गप्रवणातबुद्धिं। (गो०)

नास्तिक को अपने यहाँ रखा। क्योंकि चार्वाकादि नास्तिक मत का जो दूसरों को उपदेश देते हुए घूमा फिरा करते हैं, वे केवल घोर नास्तिक ही नहीं, प्रत्युत धर्ममार्ग से च्युत भी हैं ॥ ३३ ॥

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-
स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि ।
तस्माद्धि यः शङ्क्यतमः प्रजानां
न नास्तिकेनाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥

राजा को चाहिये कि प्रजा की भलाई के लिये ऐसे मनुष्य को वही दण्ड दे जो चोर को दिया जाता है। और जो इनको दण्ड देने में असमर्थ हो, उन समझदारों या विद्वानों को ऐसे नास्तिकों से बात चीत भी न करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

*त्वत्तो जनाः पूर्वतरे वराश्च[1]
शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।
जित्वा सदेमं च परं च लोकं
तस्माद्द्विजाः† स्वस्ति हुतं कृतं च ॥३५॥

हे जाबालि ! तुमसे पहले के ज्ञान में श्रेष्ठ जनों ने अनेक शुभ कर्म किये और उन शुभ कर्मों के प्रभाव से उन लोगों ने इहि लोक और परलोक जीते। इसीसे ब्राह्मणों ने अहिंसा सत्यादि, तपोदान परोपकारादि तथा यज्ञादि कर्मों को किया ॥ ॥ ३५ ॥

---

१ त्वत्तः—पूर्वतरेपुरातनाश्च, वराश्च ज्ञानतः श्रेष्ठाश्चजनाः। (गो०)

* पाठान्तरे—"त्वत्तो जनाः," "त्वत्तोवराः"। † पाठान्तरे—"जनाश्च", "द्विजाश्च"।

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेताः
तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥

जो धर्मानुष्ठान में सदा तत्पर रहते हैं, तेजस्वी हैं, जो दान देने में प्रधान हैं, जो हिंसा नहीं करते, जो सत्सङ्गी हैं ऐसे वशिष्ठादि प्रधान प्रधान मुनि ही संसार में पापरहित हो और तेज धारण कर सब के पूज्य होते हैं (न कि आप जैसे नास्तिक लोग) ॥ ३६ ॥

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं
रामं महात्मानमदीनसत्त्वम्[1] ।
उवाच तथ्यं पुनरास्तिकं च
सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥ ३७ ॥

जब दीनताशून्य श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर जावालि से ऐसे वचन कहे, तब जावालि जी विनय युक्त हो यथार्थ, सत्य सम्मत और आस्तिक वचन बोले ॥ ३७ ॥

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं
न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किञ्चन ।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं
भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मैं नास्तिकों जैसी बातें नहीं कहता और न मैं स्वयं नास्तिक हूँ। मेरे कहने का न यह अभिप्राय ही है कि पर-

1 अदीनसत्त्वम्—दैन्यसंसर्गशून्यम् । (शि०)

लोकादि कुछ भी नहीं हैं। परन्तु समय के प्रभाव में पड़ अथवा समय की आवश्यकतानुसार मैं आस्तिक अथवा नास्तिक हो जाता हूँ॥ ३८॥

स चापि कालोऽयमुपागतः शनैः
यथा मया नास्तिकवागुदीरिता।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्
प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम्॥ ३९॥

इति नवोत्तरशततमः सर्गः॥

हे राम! यह समय ऐसा ही था कि, मुझे नास्तिकों जैसे वचन कहने पड़े। मैंने यह वचन आपको प्रसन्न करने तथा आपको वन से लौटाने के लिये ही कहे थे॥ ३९॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ नवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

दशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

[नोट—११०वें सर्ग में श्रीराम जी को जावालि पर क्रुद्ध देख वशिष्ठ जी जावालि के कथन का सदुद्देश्य समझाने के लिये यह युक्ति देते हैं कि रघुवंश में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही को राजसिंहासन मिलता आया है। इस युक्ति की पुष्टि में वशिष्ठ जी इक्ष्वाकुवंश की संक्षिप्त वंशावली का निरूपण कर, श्रीराम का ध्यान बँटा कर उनका क्रोध शान्त करते हैं।]

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
जावालिरपि जानीते लोकस्यास्य[1] गतागतिम्* ॥१॥

1 लोकस्य—जनस्य। (गो०) * पाठान्तरे—"गतागतं"।

वशिष्ठ जी ने जब देखा कि श्रीरामचन्द्र जी जाबालि की बातों से क्रुद्ध हो गये हैं, तब वे श्रीराम जी से यह बोले—जाबालि जी प्राणियों के आवागमन को मानते हैं ॥ १ ॥

निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत्* ।
इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥

तुमको लौटाने के लिये ही उन्होंने ऐसी बातें तुमसे कही थीं। हे लोकनाथ! इस लोक की उत्पत्ति का वर्णन तुम मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सर्वं सलिलमेवासीत्पृथिवी यत्र निर्मिता ।
ततः समभवद्ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह ॥ ३ ॥

आरम्भ में जल ही जल था। उसी जल के भीतर पृथिवी बनी। तदनन्तर देवताओं के साथ ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम् ।
असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन्होंने वराह रूप धारण कर जल से पृथिवी निकाली और अपने पुत्रों सहित इस सम्पूर्ण जगत को बनाया ॥४॥

आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ।
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः काश्यपः सुतः ॥ ५ ॥

सनातन, नित्य और अव्यय ब्रह्मा आकाश से उत्पन्न हुए और उनसे मरीचि, मरीचि से कश्यप हुए ॥ ५ ॥

विवस्वान्काश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः सुतः ।
स तु प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"उक्तवान्"।

कश्यप जी से विवस्वान सूर्य, विवस्वान सूर्य से मनु ने जन्म लिया। वैवस्वत मनु ही प्रजापतियों में प्रथम प्रजापति हुए और इन्हींके पुत्र इक्ष्वाकु थे ॥ ६ ॥

यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥

इन इक्ष्वाकु को महाराज मनु ने समृद्ध पृथिवी दी थी। इन्हीं इक्ष्वाकु को हे राम! तुम अयोध्या का प्रथम राजा जानो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान्कुक्षिरित्येव* विश्रुतः।
कुक्षेरथात्मजो वीरो विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥

हे वीर! इक्ष्वाकु के पुत्र श्रीमान् कुक्षि नाम से प्रसिद्ध हुए और कुक्षि से विकुक्षि की उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान्।
बाणस्य तु महाबाहुरनरण्यो महायशाः ॥ ९ ॥

विकुक्षि के पुत्र महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए। बाण के पुत्र महाबाहु और महायशस्वी अनरण्य हुए ॥ ९ ॥

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन्न दुर्भिक्षं सतां वरे।
अनरण्ये महाराजे तस्करो नापि कश्चन ॥ १० ॥

सज्जनों में श्रेष्ठ महाराज अनरण्य के राज्यत्व काल में न तो कभी सूखा पड़ा और न कभी अकाल। उनके राज्य में कोई चोर भी न था ॥ १० ॥

अनरण्यान्महाबाहुः पृथू राजा बभूव ह।
तस्मात्पृथोर्महाराजस्त्रिशङ्कुरुदपद्यत ॥ ११ ॥

*पाठान्तरे—" एवेति "।

हे महाबाहो ! अनरण्य से पृथु जी ने जन्म लिया। पृथु जी से परम तेजस्वी त्रिशङ्कु उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

स सत्यवचनाद्वीरः सशरीरो दिवं गतः ।
त्रिशङ्कोरभवत्सूनुर्धुन्धुमारो महायशाः ॥ १२ ॥

हे वीर ! यह त्रिशङ्कु ऐसे सत्यवादी थे कि, सशरीर स्वर्ग में गये थे। त्रिशङ्कु के पुत्र परम यशस्वी धुन्धमार हुए ॥ १२ ॥

धुन्धुमारोन्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत ।
युवनाश्वसुतः श्रीमान्मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

धुन्धमार से महातेजस्वी युवनाश्व हुए। युवनाश्व के पुत्र श्रीमान् मान्धाता हुए ॥ १३ ॥

मान्धातुस्तु महातेजाः सुसन्धिरुदपद्यत ।
सुसन्धेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

मान्धाता से परमतेजस्वी सुसन्धि जन्मे। सुसन्धि से ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित् नाम के दो पुत्र हुए ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवसन्धेस्तु भरतो रिपुसूदनः ।
भरतात्तु महाबाहोरसितो नामतोऽभवत्* ॥ १५ ॥

ध्रुवसन्धि के पुत्र रिपुसूदन और यशस्वी भरत हुए। महाबाहु भरत से असित का जन्म हुआ ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशिबिन्दवः ॥ १६ ॥

हैहय, तालजंघ, शशिबिन्द और शूर ने असित से शत्रुता की ॥ १६ ॥

---

* पाठान्तरे—"नाम जायत"।

तांस्तु सर्वान्प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः ।
स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

युद्ध के समय असित ने इन सब के विरुद्ध सैन्यव्यूह बना कर इनको घेरा, किन्तु इनको पराजित करना कठिन जाना और अपना राज्य छोड़ वे तप करने के लिये परम रमणीक हिमालय पर्वत पर चले गये ॥ १७ ॥

द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ।
एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै सगरं ददौ ॥ १८ ॥

सुना जाता है कि, उनकी दो रानियाँ उस समय गर्भवती थीं । उनमें से एक ने अपनी सौत का गर्भ नाश करने के लिये उसे ज़हर दिया ॥ १८ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तमृषिं समुपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ १९ ॥

भृगुनन्दन च्यवन जी उस समय हिमालय पर्वत पर रहते थे । कालिन्दी नाम की रानी ने उन ऋषि के पास जा कर उनको प्रणाम किया ॥ १९ ॥

स तामभ्यवदद्विप्रो वरेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २० ॥

महर्षि च्यवन ने जाना कि, इसे पुत्रप्राप्ति की इच्छा है, अतः प्रसन्न हो कर उस पुत्र की कामना रखने वाली रानी से कहा कि, हे देवि! तुम्हारे गर्भ से बड़ा महात्मा, लोकविख्यात पुत्र उत्पन्न होगा ॥ २० ॥

धार्मिकश्च सुशीलश्च वंशकर्तारिसूदनः ।
कृत्वा प्रदक्षिणं* सा तु मुनिं तमनुमान्य च ॥ २१ ॥

यह धर्मात्मा, सुशील, वंश बढ़ाने वाला और शत्रुओं का संहार करेगा। यह बात सुन रानी ने बड़े आदर भाव से मुनि की प्रदक्षिणा की ॥ २१ ॥

पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम् ।
ततः सा गृहमागम्य देवी पुत्रं व्यजायत ॥ २२ ॥

और अपने घर लौट उस रानी ने कमलनयन और कमलगर्भ सदृश कान्तियुक्त पुत्र जना ॥ २२ ॥

सपत्नया तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।
गरेण सह तेनैव जातः स सगरोऽभवत् ॥ २३ ॥

इस पुत्र के उत्पन्न होने के पूर्व सौतिया डाह से कालिन्दी को उसकी सौत ने जो विष दिया था, उसी गर अर्थात् ज़हर के साथ पुत्र का जन्म होने से उस बालक का नाम सगर हुआ ॥ २३ ॥

स राजा सगरो नाम यः समुद्रमखानयत् ।
इष्ट्वा पर्वणि वेगेन त्रासयन्तमिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

उसने पर्व के समय यज्ञदीक्षा ले और खोदने से इस प्रजा को त्रस्त कर समुद्र खुदवाया ॥ २४ ॥

असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत्सगरस्येति नः श्रुतम् ।
जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे—"कृत्वा मुनिं तमनुमान्य च"।

सुना जाता है कि, इन सगर के असमञ्जस नाम का एक वीर्य-वान पुत्र हुआ। वह प्रजा को सताता था अतः उसके पापकर्मों को देख पिता ने उसे निकाल दिया था ॥ २५ ॥

*अंशुमानिति पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान् ।
दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २६ ॥

असमञ्जस के पुत्र वीर्यवान अंशुमान हुए। अंशुमान के पुत्र दिलीप हुए और दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए ॥ २६ ॥

भगीरथात्ककुत्स्थस्तु काकुत्स्था येन विश्रुताः ।
ककुत्स्थस्य च पुत्रोऽभूद्रघुर्येन तु राघवाः ॥ २७ ॥

भगीरथ जी के पुत्र ककुत्स्थ, ककुत्स्थ के पुत्र रघु हुए। इन्हीं ककुत्स्थ जी और रघु जी से काकुत्स्थ और राघव नाम की वंश परम्पराएँ चलीं ॥ २७ ॥

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ।
कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २८ ॥

रघु के एक तेजस्वी पुत्र हुआ जो प्रवृद्ध, पुरुषादक, कल्माष-पाद और सौदास के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ ॥ २८ ॥

कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छङ्खणस्त्विति विश्रुतः ।
यस्तु तद्वीर्यमासाद्य† सहसेनो व्यनीनशत् ॥ २९ ॥

कल्माषपाद से शङ्खण उत्पन्न हुआ। यह लोकप्रसिद्ध वीर्य को प्राप्त कर सेना सहित मेरे शाप से नाश को प्राप्त हुआ ॥ २९ ॥

शङ्खणस्य च पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान्सुदर्शनः ।
सुदर्शनस्याग्निवर्ण अग्निवर्णस्य शीघ्रगः ॥ ३० ॥

* पाठान्तरे—"अंशुमानपि"। † पाठान्तरे—"सहसैन्यो"।

शङ्खण से शूरवीर श्रीमान् सुदर्शन हुए। सुदर्शन से अग्निवर्ण और अग्निवर्ण से शीघ्रग हुए ॥ ३० ॥

शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुकः ।
प्रशुश्रुकस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महाद्युतिः ॥ ३१ ॥

शीघ्रग के पुत्र मरु और मरु के पुत्र प्रशुश्रुक हुए। प्रशुश्रुक के पुत्र महाद्युतिमान अम्बरीष हुए ॥ ३१ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः ।
नहुषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ३२ ॥

अम्बरीष के पुत्र सत्यपराक्रमी नहुष हुए। नहुष के पुत्र नाभाग जी बड़े धर्मात्मा थे ॥ ३२ ॥

अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुतावुभौ ।
अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ ३३ ॥

नाभाग के अज और सुव्रत नाम के दो पुत्र हुए। इनमें से अज के पुत्र धर्मात्मा महाराज दशरथ हुए ॥ ३३ ॥

[यो जित्वा वसुधां कृत्स्नां दिवं शासति स प्रभुः ।]
तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादो[1] राम इत्यभिविश्रुतः ॥३४॥

जिन महाराज दशरथ ने सम्पूर्ण पृथिवी जीत कर, स्वर्ग तक का शासन किया—उन्हीं महाराज दशरथ के विश्वविख्यात ज्येष्ठ पुत्र तुम हो। (अतएव हे राजन्! तुम अपने पिता का राज्य ग्रहण कर संसार का पालन करो) ॥ ३४ ॥

---

१ दायादः—सुतः। (गो०)

तद्गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जनं नृप ।
इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।
पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ॥ ३५ ॥

इक्ष्वाकु के वंश में ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता चला आया है। ज्येष्ठ राजकुमार के विद्यमान रहते छोटे को राजगद्दी नहीं मिल सकती ॥ ॥ ३५ ॥

स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः
सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि ।
प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं
प्रभूतराष्ट्रां पितृवन्महायशः ॥ ३६ ॥

इति दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

अतः तुम रघुवंशियों के इस सनातन कुलधर्म को लोप मत करो और अपने पिता की तरह यशस्वी हो कर, इस बहुरत्नों से पूर्ण और अनेक राज्यों से युक्त पृथिवी का शासन करो ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकादशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

वसिष्ठस्तु तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः ।
अब्रवीद्धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥

राजपुरोहित वशिष्ठ जी श्रीराम जी से यह कह, फिर धर्मसम्मत वचन और भी बोले ॥ १ ॥

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवस्त्रयः ।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥

हे काकुत्स्थ ! हे राम ! पुरुष जब जन्मता है, तब उसके तीन गुरु होते हैं। पिता, माता और आचार्य ॥ २ ॥

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पिता माता तो केवल शरीर को जन्म देते हैं, और आचार्य बुद्धि देता है। अतः वह गुरु कहलाता है ॥ ३ ॥

सोऽहं ते पितुराचार्यस्तव चैव परन्तप ।
मम त्वं वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ४ ॥

हे परन्तप ! मैं तुम्हारे पिता का और तुम्हारा भी आचार्य हूँ। अतः मैं जो कहता हूँ उसे तुम माने और सज्जनों के मार्ग का उल्लंघन मत करो ॥ ४ ॥

इमा हि ते[1] परिषदः[2] श्रेणयश्च[3] द्विजास्तथा[4] ।
एषु तात चरन्धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥

हे तात ! देखो, ये सब तुम्हारे सम्बन्धी हैं, ये ब्राह्मण समूह हैं, ये पुरवासी हैं और ये सब क्षत्रिय वैश्य हैं। इनके प्रति निज कर्त्तव्य का पालन करो और सज्जनों की बाँधी मर्यादा का उल्लंघन मत करो ॥ ५ ॥

---

१ ते—त्वत्सम्बन्धिनः। (गो०) २ परिषदः—ब्राह्मणसमूहाः। (गो०)
३ श्रेणयः—पौरजनाः। (गो०) ४ द्विजाः—क्षत्रियाः वैश्याश्च। (गो०)

वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम् ।
अस्यास्तु वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

देखो, यह बेचारी बूढ़ी और धर्मशीला तुम्हारी माता जो कहती है, उसका उल्लंघन करना तुमको उचित नहीं—क्योंकि जो पुरुष माता का कहना मानता है, वह सन्मार्गी कहलाता है ॥ ६ ॥

भरतस्य वचः कुर्वन्याचमानस्य राघव ।
आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥

हे सत्यधर्म पराक्रमी राघव! देखो, यह भरत आपसे याचना कर रहे हैं, सो इनकी बात मानने से भी तुम सद्गति से भ्रष्ट न होगे ॥ ७ ॥

एवं मधुरमुक्तस्तु गुरुणा राघवः स्वयम् ।
प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥

जब गुरु वशिष्ठ जी इस प्रकार मधुरवाणी से कह कर आसन पर बैठे हुए थे, तब वशिष्ठ जी को पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने उत्तर दिया ॥ ८ ॥

यन्मातापितरौ वृत्तं[1] तनये कुरुतः सदा ।
न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥

माता पिता, अपने पुत्र की जो सेवा या उपकार करते हैं, उसके बदले में प्रत्युपकार करना सहज नहीं है ॥ ९ ॥

यथाशक्ति प्रदानेन स्नापनोच्छादनेन च ।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥

---

१ वृत्तं—उपकारं । (रा०)

क्योंकि वे अपनी सामर्थ्य से अधिक पुत्र को उत्तम उत्तम भोजन वस्त्रादि देते हैं, शिशु अवस्था में सुलाते हैं, और तेल आदि से उबटन करते हैं, मधुर से मधुर वचन कह कर लाड़ प्यार करते और पुत्र की वृद्धि व जीवित रहने के लिये अनेक उपाय करते हैं॥ १० ॥

स हि राजा जनयिता पिता दशरथो मम ।
आज्ञातं यन्मया तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति ॥ ११ ॥

सो वे महाराज दशरथ जो मुझे जन्म देने वाले मेरे पिता थे। उन्होंने मुझे जो आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं होगी ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम्[1] ।
उवाच परमोदारः सूतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन, परम उदार भरत जी, समीप बैठे हुए सुमंत्र से उदास हो बोले ॥ १२ ॥

इह मे स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे ।
आर्यं [2]प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन्मे न प्रसीदति ॥ १३ ॥

हे सारथे! इस चबूतरे पर तुम शीघ्र कुशों को बिछा दो, जब तक मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी मेरे ऊपर प्रसन्न न होंगे, तब तक मैं इन्हीं कुशों पर धन्ना दे कर बैठा रहूँगा ॥ १३ ॥

अनाहारो निरालोको[3] धनहीनो[4] यथा द्विजः ।
शेष्ये पुरस्ताच्छालाया यावन्न प्रतियास्यति ॥ १४ ॥

---

१ प्रत्यनन्तर—समीपस्थं। (गो०) २ प्रत्युपवेक्ष्यामि—प्रत्युपवेशन कर्म करिष्य इत्यर्थः। (रा०) ३ निरालोको—अवकुण्ठिताननः। (गो०) ४ धन हीनः—वृद्ध्यर्थमृणप्रदानान्निर्धनः। (गो०)

जब तक श्रीरामचन्द्र जी लौट कर अयोध्या न चलेंगे, तब तक मैं एक धनहीन ब्राह्मण की तरह, भोजन त्याग, मुँह ढक इसी कुटी के द्वार पर पड़ा रहूँगा ॥ १४ ॥

[नोट—"धनहीन" ब्राह्मण से आदिकाव्यकार का अभिप्राय उस ब्राह्मण से है, जिसने अपने पास की पूँजी किसी बनिये महाजन के पास अमानतन, व्याज के लोभ से जमा करा दी है। और वह बनिया-महाजन बेईमानी कर उसकी पूँजी को हड़प कर जाय। तब उस धनहीन ब्राह्मण के लिये सिवाय धरना देने के और कोई उपाय नहीं रह जाता।]

स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः ।
कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्तरत्स्वयम् ॥ १५ ॥

यह सुन सुमंत्र श्रीराम के मुख की ओर (उनकी अनुमति के लिये) देखने लगे। तब भरत जी उदास हो, स्वयं ही कुश बिछा कर श्रीराम के सामने धरना दे कर बैठ गये ॥ १५ ॥

तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः ।
किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसि ॥ १६ ॥

भरत जी को इस प्रकार धरना दिये हुए बैठे देख, राजर्षियों में श्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भरत जी से बोले। हे भरत भैया! मैंने क्या अपकार किया है जो तुम मेरे ऊपर धरना देते हो? ॥ १६ ॥

ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान्रोद्धुमिहार्हति ।
न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥

यह काम तो ब्राह्मण का है, जो एक करवट पड़ा हुआ धरना दे कर, अपने दुःखदाता का रोध करता है। किन्तु तिलकधारी क्षत्रिय के लिये यह धरना देना उचित नहीं ॥ १७ ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद्दारुणं व्रतम् ।
पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥

हे नरव्याघ्र ! तुम इस कठोर व्रत को त्याग कर उठ खड़े हो और शीघ्र ही यहाँ से श्रेष्ठ पुरी अयोध्या को गमन करो ॥ १८ ॥

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम् ।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥

तब भरत जी उसी प्रकार धरना दिये बैठे रहे और चारों ओर बैठे हुए पुरवासी और जनपदवासियों की ओर देख कर बोले तुम सब लोग श्रीरामचन्द्र जी से क्यों कुछ नहीं कहते ? ॥ १९ ॥

ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः ।
काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग्वदति राघवः ॥ २० ॥

तब वे पुरवासी और जनपदवासी श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे—हे महात्मा ! हम लोग जानते हैं कि, भरत जी का कहना बहुत ठीक है ॥ २० ॥

एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति ।
अतएव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसा[1] ॥२१॥

फिर वे भरत जी से बोले—परन्तु श्रीरामचन्द्र जी से हम लोग आग्रह नहीं कर सकते, क्योंकि महाभाग श्रीरामचन्द्र, पिता की आज्ञा पालन करने का दृढ़ सङ्कल्प किये हुए हैं । अतः हम लोगों में यह सामर्थ्य नहीं कि, इनको तुरन्त लौट चलने को कहें ॥ २१ ॥

---

१ अञ्जसा—शीघ्रं । (गो०)

तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् ।
एवं निबोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम्[1] ॥ २२ ॥

उन सब लोगों के इन वचनों को सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले हे भरत! इन धर्मदर्शी अपने सुहृदों के वचन सुनो, और विचारो, वे क्या कह रहे हैं ॥ २२ ॥

एतच्चैवोभयं श्रुत्वा सम्यक्सम्पश्य राघव ।
उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां[2] च स्पृश तथोदकम्[3] ॥२३॥

हे रघुनन्दन! इन दोनों बातों को सुन कर इन पर भली भाँति विचार कर उठ बैठो और क्षत्रिय के अयोग्य धन्ना देने के कार्य का प्रायश्चित्त करने के लिये आचमन कर मुझे स्पर्श करो ॥ २३ ॥

अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।
शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः श्रेणयस्तथा ॥२४॥

यह बात सुन भरत जी उठ बैठे और आचमन कर यह वचन बोले, हे ब्राह्मणों! हे पुरजनों! हे क्षत्रिय वैश्यों! मेरी बात सुनो ॥ २४ ॥

न याचे[4] पितरं राज्यं नानुशासामि[5] मातरम् ।
आर्यं परमधर्मज्ञं नानुजानामि[6] राघवम् ॥ २५ ॥

---

१ धर्मचक्षुषाम्—धर्मदर्शिनां। (रा०) २ मां च स्पृश—क्षत्रिया विहित प्रत्युपवेशन प्रायश्चित्तार्थमित्यर्थः। (गो०) ३ उदकं स्पृश—उदक स्पर्श आचमनार्थः। (रा०) ४ न याचे—नयाचितवान्। (गो०) ५ नानुशासामि—नानुशास्मि एवंकुर्विति नानुशिष्टवानस्मीत्यर्थः। (गो०) ६ नानुजानामि—वनवासायनानुज्ञातवान्। (गो०)

न तो मैंने पिता से राज्य माँगा और न मैंने अपनी माता को कुछ सिखाया पढ़ाया और न मुझे श्रीरामचन्द्र जी के वनवास ही का कुछ हाल मालूम था ॥ २५ ॥

यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः ।
अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश समा वने ॥ २६ ॥

यदि पिता के आज्ञानुसार वनवास करना आवश्यक ही है तो मैं श्रीरामचन्द्र जी का प्रतिनिधि बन १४ वर्ष वन में वास करूँगा। (और श्रीरामचन्द्र मेरे प्रतिनिधि बन अयोध्या में जा राज्य करें) ॥ २६ ॥

धर्मात्मा तस्य तथ्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः ।
उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी भरत जी के इन सत्य वचनों से विस्मित हो पुरजन और जनपदवासियों की ओर देख कर बोले ॥ २७ ॥

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत्पित्रा जीवता मम ।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥

हमारे पिता महाराज दशरथ ने अपने जीते जी यदि कोई वस्तु बेच डाली, या मोल ली या किसी के यहाँ कोई वस्तु धरोहर धर दी, तो यह बात मेरे और भरत के अधिकार से बाहिर है कि, उनके किये को मेंट दें। अर्थात् बेची हुई चीज़ फेर ले या ख़रीदी हुई चीज़ लौटा दे या धरोहरी चीज़ वापिस ले ले ॥ २८ ॥

[1]उपधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः ।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

---

1 उपाधिः—प्रतिनिधिः । (गो०)

अतः मैं सज्जन जनों से निन्दा कराने के लिये यह दुष्कर्म न करूँगा कि, अपना प्रतिनिधि बना भरत को वन भेजूँ। कैकेयी ने महाराज से जो कुछ कहा या माँगा सो ठीक ही कहा या माँगा और पिता जी ने जो कुछ किया या दिया सो भी उन्होंने अच्छा ही किया ॥ २९ ॥

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम् ।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि ॥ ३० ॥

मैं यह जानता हूँ कि, भरत बड़े क्षमाशील और पूज्य बड़ों की मान मर्यादा रखने वाले हैं। इन सत्यसन्ध महात्मा में सब बातें भली ही भली हैं। (अतएव इनके द्वारा राज्यशासन होने से किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती) ॥ ३० ॥

अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः ।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥३१॥

मैं यह भी कहता हूँ कि, जब मैं वन से लौट कर आऊँगा, तब मैं अपने इन धर्मशील भाई भरत के साथ राज्य का शासनभार ग्रहण करूँगा ॥ ३१ ॥

वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम् ।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

इति एकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे भरत! महाराज से माता कैकेयी ने जो वर माँगा था, मैंने उस वर के अनुसार कार्य किया और महाराज पिता जी को मिथ्या भाषण से मुक्त किया, तुम भी कैकेयी को दिये हुए दूसरे वर के

अनुसार, राज्य ग्रहण कर महाराज को मिथ्याभाषण के दोष से मुक्त करो ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

द्वादशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम् ।
विस्मिताः सङ्गमं प्रेक्ष्य समवेता महर्षयः ॥ १ ॥

उस समय वहाँ जो ऋषि आये हुए थे, वे अतुल तेजस्वी दोनों भ्राताओं का यह रोमहर्षणकारी समागम देख, विस्मित हुए ॥ १ ॥

[1]अन्तर्हितास्त्वृषिगणाः[2] सिद्धाश्च परमर्षयः[3] ।
तौ भ्रातरौ महात्मानौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे ॥ २ ॥

पहले जो राजर्षिगण, सिद्धगण और देवर्षिगण अन्तर्धान थे, वे इन दोनों भाइयों की प्रशंसा कर कहने लगे ॥ २ ॥

स धन्यो यस्य पुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ[4] ।
श्रुत्वा वयं हि संभाषामुभयोः स्पृहयामहे[5] ॥ ३ ॥

ये दोनों धर्मज्ञ और धर्मवीर राजकुमार जिन महाराज दशरथ के पुत्र हैं, वे धन्य हैं। इन दोनों की बातचीत सुन, हम लोगों को

---

१ अन्तर्हिताः—पूर्वमेवान्तर्धानं प्राप्ताः। (गो०) २ ऋषिगणाः—राजर्षिगणाः। (गो०) ३ परमर्षयः—देवर्षयः। (गो०) ४ धर्मविक्रमौ—धर्मशूरौ। ५ स्पृहयामहे—पुनः पुनःश्रोतुं वाञ्छामः। (शि०)

यह इच्छा हो रही है कि, इन दोनों की वार्तालाप हम बार बार सुना करें ॥ ३ ॥

ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः ।
भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः सङ्गता[1] वचः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वे ऋषिगण, जो रावण का वध शीघ्र करवाना चाहते थे, पुरुषसिंह भरत के पास गये और एक स्वर से यह बोले ॥ ४ ॥

कुलेजात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः ।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते [2]पितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥

हे अटल प्रतिज्ञा वाले ! हे शुभ चरित्रयुक्त महायशस्वी भरत ! तुमने कुलीनकुल में जन्म लिया है। यदि तुम अपने पिता को सुखी करना चाहते हो, तो तुम्हें वही करना उचित है, जो श्रीरामचन्द्र जी तुमसे कहते हैं ॥ ५ ॥

सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः ।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

हम सब यही चाहते हैं कि, श्री रामचन्द्र जी अपने पिता के ऋण से उऋण हों। (क्योंकि) कैकेयी के ऋण से उऋण होने से महाराज दशरथ स्वर्गवासी हुए हैं ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः ।
राजर्षयश्चैव तदा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

---

१ संगताः—ऐककण्ठ्यंप्राप्ताः । (गो०) २ पितरं यद्यवेक्षसे—पितुः सुखं यदीच्छसि । (रा०)

यह कह कर गन्धर्व, राजर्षि तथा देवर्षि सब अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ ७ ॥

ह्लादितस्तेन वाक्येन शुभेन शुभदर्शनः ।
रामः संहृष्टवदनस्तानृषीनभ्यपूजयत्[1] ॥ ८ ॥

शुभदर्शन श्रीरामचन्द्र जी ने उन ऋषियों के इस कथन से हर्षित हो, उनसे कहा कि, आपने भली भाँति मेरा धर्म बचाया ॥ ८ ॥

त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया ।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥

उस समय भरत जी डर कर गद्गदवाणी से हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से फिर बोले ॥ ९ ॥

राजधर्ममनुप्रेक्ष्य कुलधर्मानुसन्ततिम् ।
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम[2] मातुश्च याचनाम् ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! राज्यपरिपालन धर्म और ज्येष्ठ ही को अधिकार प्राप्त होता आया है—इस कुलप्रथा पर भली भाँति विचार कर, आपको मेरी माता कौशल्या की प्रार्थना पूरी करनी चाहिये ॥ १० ॥

रक्षितुं सुमहद्राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे ।
पौरजानपदांश्चापि [3]रक्तान्रञ्जयितुं तथा ॥ ११ ॥

इस बड़े राज्य की अकेले रक्षा करने का और आपमें अनुराग रखने वाले इन पुरवासियों तथा जनपदवासियों का मनोरञ्जन करने का मुझे साहस नहीं होता ॥ ११ ॥

---

[1] अभ्यपूजयत्—सम्यङ्मांधर्मतोरक्षितवन्त । (रा०) [2] ममभातुः—कौशल्यायाः । (रा०) [3] रक्तान्—त्वद्विषयकानुरागविशिष्टान् । (शि०)

ज्ञातयश्च हि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः ।
त्वामेव प्रतिकाङ्क्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १२ ॥

ज्ञाति बिरादरी वाले, सैनिक, इष्ट मित्र—सब के सब, जल बरसाने वाले मेघ की आशा करने वाले उत्सुक किसान की तरह, एकमात्र आप ही के राज्यशासन की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय [1]प्रतिपद्य हि ।
शक्तिमानसि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ॥ १३ ॥

अतएव हे बुद्धिमान्! आप इस राज्य को ग्रहण कीजिये और जिसको चाहिये उसे राजसिंहासन पर बिठा दीजिये। क्योंकि राज्यशासन करने को, हे काकुत्स्थ! आप ही समर्थ हैं ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा न्यपतद्भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा ।
भृशं सम्प्रार्थयामास राममेव प्रियंवदः ॥ १४ ॥

यह कह कर भरत जी अपने भाई श्रीरामचन्द्र के चरणों में गिर पड़े और हे राम! हे राम!—इस प्रकार सम्बोधित कर बार बार प्रार्थना करने लगे ॥ १४ ॥

तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरं स्वयम् ॥ १५ ॥

भरत को चरणों में पड़ा देख, श्रीरामचन्द्र जी ने मतवाले हंस की तरह मनोहर कण्ठ वाले, कमलदल समान नेत्रवाले और श्यामवर्ण भरत को उठा कर अपनी गोद में बिठाया और उनसे बोले ॥ १५ ॥

---

1 प्रतिपद्य—स्वीकृत्य, कस्मिंश्चित्स्थापयहि। (रा०)

आगता त्वामियं[1] बुद्धिः स्वजा[2] वैनयिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥ १६ ॥

मेरे वनवास के विरुद्ध और राज्यशासन स्वीकार कर किसी को राजसिंहासन पर बिठा देने की बात जो तुमने कही, वह स्वाभाविक और गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त होने का फल स्वरूप है। अतः (इससे स्पष्ट है कि) तुम भली भाँति राज्यशासन कर सकते हो। (अर्थात् तुम्हारी ऐसी सुन्दर बुद्धि का होना ही तुममें सुशासन की योग्यता के होने का प्रमाण है) ॥ १६ ॥

अमात्यैश्च[3] सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः[4]।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य सुमहान्त्यपि कारय ॥ १७ ॥

अब तुम प्रधान सचिव, सुहृद, बुद्धिमानों और उपमंत्रियों के साथ समस्त बड़े बड़े कार्यों के सम्बन्ध में परामर्श ले राज्य को सुव्यवस्था करो ॥ १७ ॥

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥ १८ ॥

चन्द्रमा की शोभा चन्द्रमा को भले ही छोड़ दे, हिमालय भले ही हिम को छोड़ दे। भले ही समुद्र अपनी सीमा को नाँघ जाय, किन्तु मैं पिता की प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता ॥ १८ ॥

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥ १९ ॥

---

१ इयंबुद्धिः—मद्वनवासविरोधिनी स्वीयत्वेनांगीकृत्यस्थापनविषया। (रा०) २ स्वजा—स्वाभाविकी। (रा०) ३ अमात्यैः—प्रधानसचिवैः। (गो०) ४ मंत्रिभिः—उपमंत्रिभिः। (गो०)

हे तात! तुम्हारी माता ने भले ही तुम्हारे स्नेह अथवा तुमको राज्य दिलाने के लोभ के वशवर्ती हो, यह काम किया हो, परन्तु तुम इन बातों को अपने मन में न रखना और सदा उसके साथ माता के समान व्यवहार करना ॥ १९ ॥

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् ।
तेजसाऽऽदित्यसङ्काशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥ २० ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब तेज में सूर्य के समान अथवा प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, कौशल्यानन्दन से भरत जी कहने लगे ॥ २० ॥

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥ २१ ॥

हे आर्य! इन सुवर्णभूषित पादुकाओं पर आप अपने चरण रखिये, क्योंकि ये ही दोनों खड़ाऊं सब के योगक्षेम का निर्वाह करेंगी ॥ २१ ॥

[नोट—अप्राप्त-वस्तु की प्राप्ति योग और प्राप्त-वस्तु की रक्षा क्षेम ।]

सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके ह्यवरुह्य च ।
प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥ २२ ॥

भरत के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र ने वे खड़ाऊं अपने पैरों में पहिन लीं और फिर उनको उतार कर महात्मा भरत को दे दीं ॥ २२ ॥

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् ।
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥

फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।
तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः ॥ २४ ॥

तब भरत जी ने भक्ति सहित उन दोनों खड़ाउओं को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, आज से ले कर चौदह वर्ष तक जटा चीर धारण कर और कंदमूल फल खा कर, तुम्हारे आगमन की बाट जोहता हुआ, हे रघुनन्दन! मैं नगर के बाहिर रहूँगा ॥ २३ ॥ २४ ॥

तव पादुकयोर्न्यस्य* राज्यतन्त्रं† परन्तप।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।
तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥ २६ ॥

हे परन्तप! सब राजकार्य आपकी खड़ाउओं को अर्पण कर, (मैं राज्य का प्रबन्ध करता रहूँगा परन्तु) जिस दिन चौदहवाँ वर्ष पूरा होगा उस दिन भी यदि आपको मैंने अयोध्या में न देखा तो मैं अग्नि में गिर कर भस्म हो जाऊँगा। भरत की इस बात को सुन श्रीरामचन्द्र जी ने "तथास्तु" (ऐसा ही होगा) कह कर (चौदहवाँ वर्ष पूर्ण होते ही लौट कर आ जाने की) प्रतिज्ञा की और भरत को आदर पूर्वक हृदय से लगाया ॥ २५ ॥ २६ ॥

शत्रुघ्नं च परिष्वज्य भरतं चेदमब्रवीत्।
मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥

फिर भरत और शत्रुघ्न को हृदय से लगा कर श्रीराम जी ने भरत जी से यह कहा कि, देखो माता कैकेयी की रक्षा करना। ख़बरदार उस पर क्रोध मत करना ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—"न्यस्त"। † पाठान्तरे—"राजतन्त्रः"।

मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुसत्तम ।
इत्युक्त्वाऽश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥ २८ ॥

इसके लिये तुम्हें मेरी और सीता की शपथ है । यह कह नेत्रों में आंसू भर श्रीरामचन्द्र जी ने दोनों भाइयों को विदा किया ॥२८॥

स पादुके ते भरतः प्रतापवान्
स्वलंकृते सम्परिपूज्य धर्मवित् ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

तब धर्मात्मा भरत जी ने उन अलंकृत और अति उज्ज्वल खड़ाउओं का भली भांति पूजन किया । तदनन्तर श्रीराम जी की परिक्रमा कर उन खड़ाउओं को (उस) उत्तम हाथी के मस्तक पर रखा, (जिस पर महाराज दशरथ सवार हुआ करते थे) ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्यात्प्रतिनन्द्य तं जनं
गुरूंश्च मन्त्रिप्रकृतीस्तथाऽनुजौ ।
व्यसर्जयद्राघववंशवर्धनः
स्थिरः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥

तदनन्तर हिमालय की तरह अपने धर्मपालन में अटल अचल, रघुवंश के बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने यथाक्रम गुरु, मंत्री, प्रजा और दोनों छोटे भाइयों का सत्कार कर, उन सब को विदा किया ॥ ३० ॥

तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो
दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः ।

स त्वेव मातॄरभिवाद्य सर्वा
रुदन्कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥ ३१ ॥

इति द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

गद्गदकण्ठ और शोक से विकल होने के कारण माताओं में से किसी भी माता के मुख से श्रीरामचन्द्र जी के प्रति एक बात भी न निकल सकी। श्रीरामचन्द्र जी भी सब मताओं को प्रणाम कर, रोते बिलपते कुटी के भीतर चले गये ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ बारहवां सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा।
आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ १ ॥

तदनन्तर भरत जी ने हाथी के मस्तक से खड़ाऊं उतार अपने मस्तक पर रखीं और हर्षित होते हुए और शत्रुघ्न को अपने साथ ले, रथ पर सवार हुए ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः।
अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वशिष्ठ, वामदेव, दृढ़व्रत जाबालि तथा विचारचतुर अन्य सब मंत्री आगे आगे चले ॥ २ ॥

मन्दाकिनीं नदीं* पुण्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा।
प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥

सब लोग महागिरि चित्रकूट की परिक्रमा कर रमणीय मंदाकिनी के सामने पूर्व की ओर जाने लगे ॥ ३ ॥

पश्यन्धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च।
प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥

भरत जी अपनी सेना के साथ नाना प्रकार की मनोहर धातुओं को देखते देखते चित्रकूट के उत्तर चले जाते थे ॥ ४ ॥

अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा।
आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥

भरत जी ने चित्रकूट से थोड़ी ही दूर पर एक आश्रम देखा, जिसमें ऋषियों सहित भरद्वाज मुनि रहते थे ॥ ५ ॥

स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य बुद्धिमान्।
अवतीर्य रथात्पादौ ववन्दे †कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाज जी के आश्रम में पहुँच, भरत जी रथ से उतर पड़े और मुनि जी को प्रणाम किया ॥ ६ ॥

ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत्।
अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

तब भरद्वाज जी ने प्रसन्न हो, भरत से कहा—हे तात! क्या तुम्हारी श्रीरामचन्द्र से भेंट हुई? क्या तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हुआ? ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—"रम्यां"। † पाठान्तरे—"भरतस्तदा।"

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता ।
प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो भ्रातृवत्सलः ॥ ८ ॥

जब बुद्धिमान् भरद्वाज जी ने इस प्रकार पूँछा, तब भ्रातृवत्सल भरत जी ने भरद्वाज जी को उत्तर देते हुए कहा ॥ ८ ॥

स याच्यमानो गुरुणा मया च दृढविक्रमः ।
राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! मैंने और गुरु वशिष्ठ जी ने जब श्रीरामचन्द्र जी से लौटने के लिये प्रार्थना की, तब श्रीरामचन्द्र जी ने परम प्रसन्न हो वशिष्ठ जी से कहा ॥ ९ ॥

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः ।
चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥ १० ॥

पिता जी ने मुझे चौदह वर्ष वन में रखने की जो प्रतिज्ञा की है, मैं उनकी इस प्रतिज्ञा का यथावत् पालन करूँगा ॥ १० ॥

एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥ ११ ॥

इस प्रकार कहे जाने पर, वचन बोलने वालों में चतुर और बड़े विद्वान वशिष्ठ जी ने उन वाक्यविशारद श्रीरामचन्द्र से यह महत्व की बात कही ॥ ११ ॥

एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते ।
अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरे तव ॥ १२ ॥

हे महाप्राज्ञ! तब इस समय तुम हर्षित हो प्रतिनिधि के समान अपनी इन सुवर्णभूषित खड़ाउओं को दे दो और अयोध्या के योग क्षेम में तत्पर बने रहो ॥ १२ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः ।
पादुके अधिरुह्यैते मम राज्याय वै ददौ ॥ १३ ॥

हे भरद्वाज जी! वशिष्ठ जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी ने पूर्व की ओर मुख कर, इन खड़ाउओं को पहिना और राज्य के पालन की सामर्थ्य रखने वाली ये खड़ाऊ मुझे दे दीं ॥ १३ ॥

निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना ।
अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥ १४ ॥

उन महात्मा श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से उनको लौटा लाने के उद्देश्य से निवृत्त हो कर, मैं इन शुभ खड़ाऊओं को ले अयोध्या को लौटा जा रहा हूँ ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।
भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुवाच तम् ॥ १५ ॥

महात्मा भरत जी के ये शुभ वचन सुन, महर्षि भरद्वाज जी उनसे शुभतर वचन बोले ॥ १५ ॥

नैतच्चित्रं नरव्याघ्र शीलवृत्तवतां वर ।
यदार्यं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्ने[1] [2]सृष्टमिवोदकम् ॥ १६ ॥

हे सुशील और चरित्रवान् पुरुषसिंह! यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि, तुममें ऐसी सुजनता है। क्योंकि पानी बह कर तो तालाब या गढ़े ही में जमा होता है ॥ १६ ॥

---

१ निम्ने—तटाकादौ। (गो०) २ सृष्टं—सृतं। (गो०)

अमृतः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव ।
यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥

जिनके तुम जैसे धर्मात्मा और धर्मवत्सल पुत्र हैं वे महाबाहु महाराज दशरथ अजर अमर हैं ॥ १७ ॥

तमृषिं तु महात्मानमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः ।
आमन्त्रयितुमारेभे चरणावुपगृह्य च ॥ १८ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः ।
भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मुनि का वचन सुन, भरत हाथ जोड़ और उनके चरण छू और बार बार परिक्रमा कर, उनसे विदा हो, मंत्रियों सहित अयोध्या को प्रस्थानित हुए ॥ १८ ॥ १९ ॥

यानैश्च सकटैश्चैव हयैर्नागैश्च सा चमूः ।
पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ॥ २० ॥

भरत जी के साथ जो सेना थी वह भी उनके पीछे हो ली। इस सेना के लोगों में से कोई रथों कोई छकड़ों कोई हाथियों और कोई घोड़ों पर सवार थे ॥ २० ॥

ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम् ।
ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शुभजलां नदीम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे सब लोग, लहरों से लहराती यमुना को पार कर फिर पवित्रतोया गङ्गा के तट पर पहुँचे ॥ २१ ॥

तां* पुण्यजलसम्पूर्णां सन्तीर्य सहबान्धवः ।
शृङ्गिवेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—"रम्य"।

भरत जी सेना तथा भाई बंधों के साथ पवित्र जल से पूर्ण गङ्गा को पार कर शृङ्गवेरपुर में पहुँचे ॥ २२ ॥

शृङ्गिवेरपुराद्भूयस्त्वयोध्यां सन्ददर्श ह ।
अयोध्यां च ततो दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम् ॥२३॥

शृङ्गवेरपुर से, चल कर भरत उस अयोध्यापुरी में पहुँचे, जो कि, उनके पिता महाराज दशरथ से और भाई श्रीरामचन्द्र से हीन थी ॥ २३ ॥

भरतो दुःखसन्तप्तः सारथिं चेदमब्रवीत् ।
सारथे पश्य विध्वस्ता साऽयोध्या न प्रकाशते ।
निराकारा[1] निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वरा ॥ २४ ॥

इति त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

ऐसी उदास अयोध्यापुरी को देख भरत जी दुःख से सन्तप्त हो सारथी से बोले कि, हे सारथे! देखो, यह अयोध्या कैसी ध्वस्त हो रही है। यह अब पहले जैसी शोभायुक्त अयोध्या नहीं रही। क्योंकि इसमें न तो कहीं सजावट है, और न कहीं आनन्दोत्सव ही देख पड़ते हैं। यह बड़ी दीन दिखलाई पड़ती है। देखो, नगर भर में कैसा सन्नाटा छाया हुआ है ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

१ निराकारा—निर्गतशोभनाकारा। (गो०)

चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान्प्रभुः ।
अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः ॥ १ ॥

इस प्रकार महायशस्वी भरत जी ने, चलते समय गंभीर ध्वनि करने वाले रथ में बैठ, शीघ्र ही अयोध्या में प्रवेश किया ॥ १ ॥

विडालोलूकचरितामालीननरवारणाम् ।
तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ॥ २ ॥

नगरी में जा कर भरत जी ने देखा कि, अयोध्या में जिधर देखो उधर ही बिल्लियाँ और उलूक दिखलाई पड़ते हैं। घरों के द्वार बंद हैं। चारों ओर वैसे ही अँधकार छा रहा है जैसे कृष्णपक्ष की रात में अँधकार ही अँधकार देख पड़ता है ॥ २ ॥

राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम् ।
ग्रहेणाभ्युत्थितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥

अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा के राहु द्वारा ग्रसे जाने पर रोहिणी की शोभा नष्ट सी देख पड़ती है, उसी प्रकार अयोध्या की दशा हो रही है ॥ ३ ॥

*अल्पोष्णक्षुब्धसलिलां घर्मोत्तप्तविहङ्गमाम् ।
लीनमीनझषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव ॥ ४ ॥

अथवा गरमी के मौसम में जिस समय पहाड़ी नदियों का जल सूर्य की गर्मी से गरम और मैला हो जाता है और वहाँ के जल-पक्षी गर्मी के कारण वहाँ से उड़ कर, अन्यत्र चले जाते हैं और

---

* पाठान्तरे—"अनिलोक्षुब्ध" ।

मछलियाँ मर जाती हैं, तथा अन्य जन्तु भी वहाँ नहीं रहते, एवं उस नदी की जो शोच्य दशा होती है वही शोच्य दशा अयोध्या की है ॥ ४ ॥

विधूमामिव हेमाभामध्वराग्रेः समुत्थिताम् ।
हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां प्रविलयं गताम् ॥ ५ ॥

अथवा, जिस प्रकार घी की आहुति से अग्नि की शिखा पहले तो सोने के समान उज्ज्वल ज्योति का प्रकाश करती है, पीछे उसमें किसी गीली वस्तु के गिरने से वह सहसा मन्द पड़ जाती है और अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के विरह में अयोध्या देख पड़ती है ॥ ५ ॥

विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम् ।
हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे ॥ ६ ॥

अथवा वह अयोध्या ऐसी जान पड़ती है, जैसी वह सेना जिसके (वीरों के) कवच, हाथी, घोड़े रथ और ध्वजा किसी महायुद्ध में छिन्न भिन्न हो जाने तथा वीर योद्धाओं के मारे जाने के कारण, विपन्न दशा को प्राप्त हुई हो ॥ ६ ॥

*सफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम् ।
प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥ ७ ॥

अथवा, प्रबल वायु के वेग से समुद्र की लहरें जिस प्रकार फागों सहित गरजती हुई उठती हैं, और पीछे मंद पवन के चलने से शब्दरहित हो जाती हैं, उसी प्रकार अयोध्यापुरी हो रही है ॥ ७ ॥

त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः ।
[1]सुत्याकाले विनिर्वृत्ते वेदिं गतरवामिव ॥ ८ ॥

---

१ सुत्याकाले—समाप्ते । (शि०) * पाठान्तरे—"सफेना सस्वना" ।

अथवा जिस प्रकार यज्ञ की समाप्ति हो चुकने पर योग्य याचकों से रहित हो, यज्ञशाला सुनसान हो जाती है, उसी प्रकार अयोध्या सुनसान देख पड़ती है ॥ ८ ॥

गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामचरन्तीं तृणं नवम् ।
गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम् ॥ ९ ॥

अथवा जिस प्रकार साँड़ के वियोग में तरुण गाय, उत्कण्ठित हो ताज़ी हरी घास न खा कर, उदास हो गोशाला में खड़ी रहती है—उसी प्रकार अयोध्या भी उदास देख पड़ती है ॥ ९ ॥

[1]प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः ।
वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव ॥ १० ॥

अथवा जैसे चमकीली और सुन्दर मणियों से हीन, मोतियों का नया हार शोभारहित हो जाता है, वैसे ही अयोध्या शोभाहीन हो रही है ॥ १० ॥

सहसा चलितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयाद्गताम् ।
संहृतद्युतिविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम् ॥ ११ ॥

अथवा, जिस प्रकार पुण्यक्षय होने पर, अपने स्थान से चलायमान हो आकाश से दिन में गिरने से, तारा प्रभाहीन हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या भी प्रभाहीन हो रही है ॥ ११ ॥

पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरनादिताम् ।
द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव ॥ १२ ॥

---

१ प्रभाकराद्यैः—पद्मरागाद्यैः । (गो०)

अथवा, वसन्तऋतु के अन्त में जैसे मतवाले भौंरों से गुञ्जारित खिले हुए फूलों वाली वनलता, वन की आग से झुलस जाती है, वैसे ही अयोध्या भी झुलसी हुई सी देख पड़ती है ॥ १२ ॥

[1]संमूढनिगमां स्तब्धां संक्षिप्तविपणापणाम् ।
प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां द्यामिवाम्बुधरैर्वृताम् ॥ १३ ॥

अयोध्या के राजमार्ग सुनसान पड़े हैं। बाज़ार सब बंद हैं न तो कोई दुकान ही खुली है और न कहीं कोई चीज़ ही बिक रही है। जैसे वर्षाकाल में मेघों से आकाश व्याप्त होने के कारण, चन्द्रमा और नक्षत्रों से हीन रात डरावनी जान पड़ती है, वैसे ही अयोध्या भी डरावनी दीख पड़ती है ॥ १३ ॥

क्षीणपानोत्तमैर्भिन्नैः शरावैरभिसंवृताम् ।
हतशौण्डामिवाकाशे[2] पानभूमिमसंस्कृताम् ॥ १४ ॥

अथवा अयोध्यापुरी ऐसी जान पड़ती है, मानों मद्य पीने वालों के मारे जाने से मद्य से रहित, टूटे फूटे पात्रों से भरी, बिना झाड़ी बुहारी, मैदान में, मद्यपानशाला हो ॥ १४ ॥

[3]रुग्णभूमितलां निम्नां रुग्णपात्रैः समावृताम् ।
उपयुक्तोदकां[4] भग्नां प्रपां निपतितामिव[5] ॥ १५ ॥

अथवा अयोध्यापुरी उस पौंशाला की तरह देख पड़ती है जिसकी भूमि विदीर्ण होने के कारण ध्वस्त हो गयी हो और

---

१ संमूढनिगमां—जनसञ्चाररहितमार्गां । (गो०) २ आकाशे—अनावृतदेशे । (गो०) ३ रुग्णभूमितलां—विदीर्णभूमितलां । (गो०) ४ उपयुक्तोदकां—उपात्तसलिलां । (शि०) ५ निपतितां— विनाशाय विपतितवतीं । (शि०)

जिसमें टूटे फूटे बरतन भरे पड़े हों, और जहाँ पानी चुक जाने के कारण प्यासे लोग पड़े हों ॥ १५ ॥

विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम्[1] ।
भूमौ बाणैर्विनिष्कृत्तां पतितां ज्यामिवायुधात्[2] ॥१६॥

अथवा अयोध्या वैसी ही शोभाहीन देख पड़ती है, जैसी की किसी बड़े धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा (डोरी) बलवान वीरों के बाणों से कट कर धनुष से गिर पृथिवी पर पड़ी शोभाहीन होती है ॥ १६ ॥

सहसा युद्धशौण्डेन[3] हयारोहेण वाहिताम् ।
[4]निक्षिप्तभाण्डामुत्सृष्टां[5] [6]किशोरीमिव दुर्बलाम् ॥१७॥

अथवा जैसे युद्धचतुर मनुष्य से हठात् सवारी की गयी दुर्बल घोड़ी, जो शत्रुसैन्य से मार कर गिरा दी गयी हो, शोभाहीन देख पड़ती है ॥ १७ ॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्श्रीमान्दशरथात्मजः ।
वाहयन्तं रथश्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

रथ पर बैठे हुए श्रीमान् दशरथनन्दन भरत जी उन सुमंत्र से बोले, जो उस उत्तम रथ को हाँक रहे थे ॥ १८ ॥

[7]किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्छितो न निशम्यते ।
यथापुरमयोध्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

---

१ तरस्विनां—वीराणां । (गो०) २ आयुधात्—धनुषः । (गो०) ३ युद्धशौण्डेन—आहवसमर्थेन । (गो०) ४ निक्षिप्तभाण्डाम्—अवरोपित अश्वभूषां । (गो०) ५ उत्सृष्टां—वाहनानर्हां । (गो०) ६ किशोरीं—बालवडवां । (गो०) ७ किंनुखलु—अहोकष्टं जातमित्यर्थः । (गो०)

हाय! कैसे दुःख की बात है कि, इस पुरी में जैसे पहले गाना बजाना हुआ करता था, वैसा आज कहीं नहीं सुनाई पड़ता ॥१९॥

[1]वारुणीमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्छितः ।
धूपितागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥ २० ॥

फूल मालाओं की मस्त करने वाली एवं चन्दन अगर की धूप की सुगन्धि पहले की तरह चारों ओर फैली हुई नहीं जान पड़ती। अथवा जैसा पहले पुष्प चन्दन और अगर का गन्ध चारों ओर फैला रहता था वैसा आज नहीं फैल रहा ॥ २० ॥

यानप्रवरघोषश्च स्निग्धश्च हयनिःस्वनः ।
प्रमत्तगजनादश्च महांश्च रथनिस्वनः ॥ २१ ॥
नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां राम विवासिते ।
चन्दनागरुगन्धांश्च महार्हांश्च नवस्रजः ॥ २२ ॥
गते हि रामे तरुणाः सन्तप्ता नोपभुञ्जते ।
वहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥ २३ ॥

हे सुमंत्र! जैसा कि, पूर्वकाल में रथ आदि सवारियों के चलने का शब्द, घोड़ों के हिनहिनाने और हाथियों के चिंघाड़ने का शब्द सुन पड़ता था, वैसा आज इस पुरी में श्रीराम जी के वन में चले जाने के कारण नहीं सुन पड़ता। हाय! चन्दन और बड़े मूल्यवान् ताज़े पुष्पहारों को श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में सन्तप्त हो अयोध्यावासी तरुणों ने धारण करना त्याग दिया है। अब लोग चित्रविचित्र पुष्प मालाएँ धारण कर वाहिर नहीं निकलते ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

---

1 वारुणीमदगन्धश्च—मदोत्पादकोगन्ध इत्यर्थः । (गो०)

नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकार्दिते पुरे ।

सह नूनं मम भ्रात्रा पुरस्यास्य द्युतिर्गता ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के शोक से सब नगरवासी ऐसे विकल हैं कि, उत्सव का नाम तक सुनाई नहीं पड़ता, मानों इस नगरी की शोभा मेरे भाई के साथ चली गयी ॥ २४ ॥

न हि राजत्ययोध्येयं [1]सासारेवार्जुनी[2] क्षपा[3] ।

कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः ।

जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः ॥ २५ ॥

हा ! यह अयोध्या तो मूसलधार वर्षा से युक्त शुक्लपक्ष की रात्रि की तरह प्रकाशहीन हो गयी है। (अर्थात् शुक्लपक्ष की रात बड़ी सुहावनी होती है, किन्तु बदली आ जाने के कारण उसका सुहावनापन नष्ट हो जाता है।) सो कब मेरे भाई श्रीरामचन्द्र उत्सव की तरह यहाँ आ कर, ग्रीष्मकालीन मेघ की तरह अयोध्या में आनन्द की वर्षा करेंगे ॥ २५ ॥

तरुणैश्चारुवेषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः[4] ।

सम्पद्भिरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः ॥ २६ ॥

जैसे पहिले सुन्दर वेष धारण कर और अकड़ कर चलने वाले जवानों से राजमार्ग की शोभा होती थी, वैसी शोभा अयोध्या के राजमार्गों की अब नहीं देख पड़ती ॥ २६ ॥

एवं बहुविधं जल्पन्विवेश वसतिं पितुः ।

तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥ २७ ॥

---

१ सासारा—वेगवद्वृष्टि सहिता। (गो०) २ अर्जुनी—शुक्लपक्ष सम्बन्धनी। (गो०) ३ क्षपा—रात्रि। (रा०) ४ उन्नतगामिभिः—सगर्वगमनैः। (गो०)

इस प्रकार शोक सन्ताप करते हुए भरत जी ने, अपने पिता के निवासस्थान में, जो महाराज के विना सिंहरहित गुफा की तरह जान पड़ता था, प्रवेश किया ॥ २७ ॥

तदा तदन्तःपुरमुज्झितप्रभं
सुरैरिवोत्सृष्टमभास्करं दिनम् ।
निरीक्ष्य सर्वं तु विविक्तमात्मवान्
मुमोच वाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥ २८ ॥

इति चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय शोभाहीन निर्जन रनवास को देख, भरत रोने लगे और उसी प्रकार अत्यन्त दुःखी हुए, जिस प्रकार देवासुर संग्राम में सूर्यरहित दिन को देख, देवता लोग दुखी हुए थे ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः

—:*:—

ततो निक्षिप्य[1] मातॄः स अयोध्यायां दृढव्रतः ।
भरतः शोकसन्तप्तो गुरूनिदमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

दृढव्रतधारी भरत जी ने माताओं को अयोध्या में पहुँचा दिया। तदनन्तर वे शोक से पीड़ित हो, वशिष्ठादि गुरुजनों से बोले ॥ १ ॥

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽद्य वः ।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना ॥ २ ॥

---

१ निक्षिप्य—संस्थाप्य । (शि०)

मैं नन्दिग्राम जाऊँगा, इसके लिये मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। वहाँ रह कर जैसे होगा वैसे श्रीरामचन्द्र जी के वियोग के समस्त दुःख सहूँगा ॥ २ ॥

गतश्च हि दिवं राजा वनस्थश्च गुरुर्मम ।
रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः ॥ ३ ॥

महाराज तो स्वर्ग पधारे, और बड़े भाई वन में जा बैठे। अतः मैं राज्यशासन के लिये श्रीरामचन्द्र जी की प्रतीक्षा करूँगा। क्योंकि महायशस्वी श्रीरामचन्द्र ही अयोध्या के राजा हैं ॥ ३ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।
अब्रुवन्मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः ॥ ४ ॥

महात्मा भरत जी के ऐसे शुभ वचन सुन, समस्त मंत्री और पुरोहित वशिष्ठ जी उनसे बोले ॥ ४ ॥

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया ।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत् ॥ ५ ॥

हे भरत! तुमने भ्राता के स्नेहवश जो कुछ कहा, वह अत्यन्त श्लाघनीय है। क्यों न हो, ये वचन तुम्हारे ही मुख से निकलने योग्य हैं ॥ ५ ॥

नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे ।
आर्यमार्गं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान् ॥ ६ ॥

जब तुम अपने भाई में प्रीतिमान हो और उनका सौहार्द्र सम्पादन कर अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग में पहुँचे हुए हो, तब भला कौन पुरुष तुम्हारी बात न मानेगा ॥ ६ ॥

मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाऽभिलषितं प्रियम् ।
अब्रवीत्सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति ॥ ७ ॥

अपनी अभिलाषा के अनुसार मंत्रियों के मुख से प्रिय वचन सुन भरत जी ने सुमंत्र से कहा कि, मेरा रथ तैयार करो ॥ ७ ॥

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातॄः समभिवाद्य सः ।
आरुरोह रथं श्रीमाञ्शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ ८ ॥

जब रथ आ गया, तब भरत जी प्रसन्न हो कर सब माताओं से अच्छी तरह वार्तालाप कर और उनसे आज्ञा ले, शत्रुघ्न जी सहित रथ पर सवार हुए ॥ ८ ॥

आरुह्य च रथं शीघ्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ ।
ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः ॥ ९ ॥

उस रथ पर शीघ्र सवार हो, मंत्रियों और पुरोहितों को साथ ले दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न परम प्रसन्न होते हुए वहाँ से चले ॥ ९ ॥

अग्रतो गुरवस्तत्र वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः ।
प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतोऽभवत् ॥१०॥

वशिष्ठादि पूज्य ब्राह्मण भरत के रथ के आगे पूर्व को मुख कर सब को साथ लिये हुए नन्दिग्राम की ओर चले ॥ १० ॥

बलं च तदनाहूतं गजाश्वरथसङ्कुलम् ।
प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः ॥ ११ ॥

भरत जी के वहाँ से रवाने होते ही उनकी सेना भी हाथी घोड़ों रथों के सहित विना बुलाये ही उनके पीछे होली तथा सब पुरवासी भी उनके साथ हो लिये ॥ ११ ॥

रथस्थः स हि धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।
नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्याधाय पादुके ॥ १२ ॥

धर्मात्मा एवं भ्रातृवत्सल भरत अपने माथे पर भाई की खड़ाऊओं को रखे हुए, रथ पर सवार हो बहुत शीघ्र नन्दिग्राम में पहुँचे ॥ १२ ॥

ततस्तु भरतः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः ।
अवतीर्य रथात्तूर्णं गुरूनिदमुवाच ह ॥ १३ ॥

तदनन्तर भरत जी तुरन्त ही नन्दिग्राम में प्रवेश कर और तुरन्त रथ से उतर गुरुओं से यह बोले ॥ १३ ॥

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं सन्न्यासवत्स्वयम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥ १४ ॥

भाई श्रीरामचन्द्र ने यह श्रेष्ठराज्य मुझे धरोहर की तरह सौंपा है, सो उनकी ये सुवर्ण भूषित पादुका ही इसके योग क्षेम का निर्वाह करेंगी ॥ १४ ॥

भरतः शिरसा कृत्वा सन्न्यासं[1] पादुके ततः ।
अब्रवीद्दुःखसन्तप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम्[2] ॥ १५ ॥

अनन्तर श्रीराम की दी हुई प्रतिनिधि रूपी उन पादुकाओं को अपने सीस पर लगा, दुःख सन्तप्त हो भरत जी सब प्रजाजनों से बोले ॥ १५ ॥

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥१६॥

---

१ सन्न्यासं पादुके—स्वप्रतिनिधित्वेनन्यस्तेपादुके । (गो०) २ प्रकृति-मण्डलम्—प्रजासमूहं । (शि०)

इन पादुकाओं को साक्षात् श्रीरामचन्द्र जी के चरण समझ, इनके ऊपर शीघ्र छत्र तानों, चँवर डुलाओ, क्योंकि ये मेरे परम गुरु की पादुकाएँ हैं और इनसे राज्य में मानों धर्म स्थापित हुआ है ॥ १६ ॥

[नोट—"पादुकाओं से राज्य में धर्म का स्थापित होना" अर्थात् बड़े के रहते छोटे का राजसिंहासन पर बैठना अधर्म था। अतः ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी की प्रतिनिधि रूप पादुकाओं के राजसिंहासन पर स्थापित होने से, अधर्म दूर हुआ है और धर्म स्थापित हुआ है।]

भ्रात्रा हि मयि सन्न्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्* ।
तमिमं [1]पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रेमपूर्वक जो यह धरोहर मुझे सौंपी है, सो इसकी मैं उनके लौट कर आने तक रक्षा करूँगा ॥ १७ ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥ १८ ॥

फिर जब कि, वे अयोध्या जी में आ जांयगे, तब मैं अपने हाथों उनके चरणों में ये पादुका पहिना, पादुका सहित उनके चरणों के दर्शन करूँगा ॥ १८ ॥

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवृत्तिताम्[2] ॥ १९ ॥

---

१ पालयिष्यामि—रक्षिष्यामि। (गो०) २ गुरुवृत्तिताम् भजिष्ये—पितरीवशुश्रूषांकरिष्यामि। (गो०) * पाठान्तरे—"सौहृदात्स्वीम्।"

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी से मिल और उनका राज्य उनको सौंप पिता की जैसी सेवा पुत्र को करनी चाहिये, वैसी मैं उनकी सेवा करूँगा ॥ १९ ॥

राघवाय च सन्न्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो[1] भवामि च ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र को इन 'धरोहर रूपी पादुकाओं को, इस राज्य को और इस राजधानी अयोध्या को सौंप, अपनी माता के कारण अपने ऊपर लगे हुए अपयश को मैं धो डालूँगा ॥ २० ॥

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे प्रहृष्टमुदिते जने ।
प्रीतिर्मम यशश्चैव भवेद्राज्याच्चतुर्गुणम् ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होने पर प्रजाजन, हर्षित और आनन्दित होंगे। उस समय इस राज्य को श्रीरामचन्द्र जी के अर्पण करने से लोगों की मेरे प्रति चौगुनी प्रीति ही नहीं होगी, बल्कि मुझे यश भी मिलेगा। (अर्थात् अब जो अपयश मिला है वह दूर हो कर मुझे यश की प्राप्ति होगी) ॥ २१ ॥

एवं तु विलपन्दीनो भरतः स महायशाः ।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह ॥ २२ ॥

महायशस्वी वीर भरत इस प्रकार विलाप कर और दीन दुःखी हो, मंत्रियों की सहायता से नन्दिग्राम में रह, राज्य करने लगे ॥ २२ ॥

स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।
नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २३ ॥

---

1 धूतपाप—इत्यत्रपापशब्देनकैकय्यीनिमित्तमयशउच्यते। (गो०)

वीर भरत चीर वसन और जटाजूट धारण कर, मुनियों का वेष बना समस्त सेना सहित नन्दिग्राम में रहने लगे ॥ २३ ॥

रामागमनमाकाङ्क्षन्भरतो भ्रातृवत्सलः ।
भ्रातुर्वचनकारी च प्रतिज्ञापारगस्तथा ॥ २४ ॥

पादुके त्वभिषिच्याथ नन्दिग्रामेऽवसत्तदा ।
सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् ॥
भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां न्यवेदयत् ॥ २५ ॥

भ्रातृवत्सल, श्रीरामचन्द्र जी के आने की आकांक्षा रखने वाले, श्रीरामचन्द्र जी के आज्ञाकारी और अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने वाले भरत जी राजसिंहासन पर श्रीरामचन्द्र जी की पादुकाओं को अभिषिक्त कर नन्दिग्राम में रहने लगे। उन्होंने स्वयं उन पादुकाओं पर छत्र तान और चँवर डुला, समस्त राज्य का शासन उन पादुकाओं को निवेदन किया ॥ २४ ॥ २५ ॥

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके ।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥ २६ ॥

तब श्रीमान् भरत जी इस प्रकार पादुकाओं का राज्याभिषेक कर उनके अधीन हो, राज्यशासन करने लगे ॥ २६ ॥

तदा हि यत्कार्यमुपैति किञ्चि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद्भरतो यथावत् ॥ २७ ॥

इति पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय राज्यशासन सम्बन्धी जो कुछ करना होता, वह पादुकाओं को जना कर किया जाता अथवा कोई बड़ी मूल्यवान भेंट आती तो वह पहिले पादुकाओं के सामने रखी जाती थी पीछे उसका यथाविधि व्यवहार किया जाता था ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

षोडशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

प्रतिप्रयाते भरते वसन्रामस्तपोवने ।
लक्षयामास [1]सोद्वेगमथौत्सुक्यं[2] तपस्विनाम् ॥ १ ॥

भरत जी जब अयोध्या में लौट आये तब श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, चित्रकूट पर्वतवासी तपस्विगण डरे हुए हैं और वे स्थानान्तर में जाने को उत्सुक हो रहे हैं ॥ १ ॥

ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात्तापसाश्रमे ।
राममाश्रित्य [3]निरतास्तानलक्षयदुत्सुकान् ॥ २ ॥

जो तपस्वी पहले चित्रकूट के समीप तापसाश्रम में श्रीराम के सहारे रहा करते थे, उन्हें भी उस स्थान को छोड़ अन्यत्र जाने के लिये, श्रीरामचन्द्र जी ने उत्सुक देखा ॥ २ ॥

नयनैर्भृकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः ।
अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः[4] कथाः ॥ ३ ॥

---

१ सोद्वेगं—सभयं। (गो०) २ औत्सुक्यं—आश्रमान्तरगमनाभिलाषं। (गो०) ३ निरतास्तान्—उत्सुकानगमनोत्सुकान्। अलक्षयतरामः इत्यनुषङ्गः। (गो०) ४ मिथः—रहस्ये। (गो०)

क्योंकि वे नेत्रों और भृकुटियों के सङ्केतों से, श्रीराम को दिखा दिखा, सन्देह युक्त हो, आपस में बातचीत और धीरे धीरे कुछ गुप्त परामर्श किया करते थे ॥ ३ ॥

तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि[1] शङ्कितः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उनको उत्सुक देख और अपने विषय में उनको सशङ्कित देख, उनके अध्यक्ष ऋषि से हाथ जोड़ कर कहा ॥ ४ ॥

न कच्चिद्भगवन्किञ्चित्पूर्ववृत्तमिदं मयि ।
दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥

हे भगवन्! क्या पूर्वकालीन मेरे आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि आप लोगों को देख पड़ी, जिससे तपस्वि लोगों के मन में विकार पैदा हो गया है ॥ ५ ॥

प्रमादाच्चरितं किच्चित्किञ्चिन्नावरजस्य[2] मे ।
लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं [3]नानुरूपमिवात्मनः ॥ ६ ॥

अथवा क्या ऋषि लोगों ने मेरे छोटे भाई, महानुभाव लक्ष्मण जी को अनवधानतावश कोई अन्यायाचरण करते देखा है ॥ ६ ॥

कच्चिच्छुश्रूषमाणा वः शुश्रूषणपरा मयि ।
प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीता युक्तं न वर्तते ॥ ७ ॥

---

१ आत्मनि शङ्कितः—स्वस्मिन् संजातशङ्कः । २ अवरजस्य—लक्ष्मणस्य । (गो०) ३ नानुरूपं—अनुचितं । (रा०)

या आप लोगों की सेवा करती हुई और मेरी शुश्रूषा में निरत सीता जी ने तो अनवधानतावश कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जो स्त्रियों के लिये अनुचित हो ॥ ७ ॥

अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः ।
वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, एक बूढ़े महर्षि, जिनका शरीर बहुत दिनों तक तप करते करते जीर्ण हो गया था, काँपते हुए, सब प्राणियों पर दया करने वाले श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥८॥

कुतः कल्याणसत्त्वायाः[1] कल्याणाभिरतेस्तथा ।
चलनं तात वैदेह्यास्तपस्विषु विशेषतः ॥ ९ ॥

हे तात ! कल्याण स्वभाव वाली और प्राणियों का कल्याण करने में तत्पर सीता जी क्या कभी किसी के साथ—सो भी विशेष कर ऋषियों के साथ, किसी प्रकार का युक्तिविरुद्ध व्यवहार कर सकती है ? ॥ ९ ॥

त्वन्निमित्तमिदं तावत्तापसान्प्रति वर्तते ।
रक्षोभ्यस्तेन संविग्नाः कथयन्ति मिथः[2] कथाः ॥१०॥

यथार्थ बात तो यह है कि, आपके कारण, ऋषियों के ऊपर राक्षसों ने अत्याचार करना आरम्भ कर दिया है । इसी लिये ऋषिगण भयभीत हो आपस में अपने बचाव के लिये गुप्त परामर्श किया करते हैं ॥ १० ॥

---

१ कल्याणसत्त्वायाः—कल्याणस्वभावायाः । (गो०) २ मिथः—रहसि । (गो०)

रावणावरजः कश्चित्खरो नामेह राक्षसः ।
[1]उत्पाट्य तापसान्सर्वाञ्जनस्थाननिकेतनान् ॥ ११ ॥

रावण का छोटा भाई खर नाम का राक्षस है, जो जनस्थान-वासी सब तपस्वियों को उनके जनस्थान के आश्रमों से निकाल बाहर कर रहा है ॥ ११ ॥

धृष्टश्च जितकाशी[2] च नृशंसः पुरुषादकः ।
अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥

हे तात ! वह बड़ा ढीठ और जयी है तथा ऐसा निष्ठुर है कि, मनुष्यों को मार मार कर खाया करता है । अतः वह महापातकी है और आपका यहाँ रहना उसको सह्य नहीं है ॥ १२ ॥

त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे ।
तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥

हे तात ! जब से तुम इस आश्रम में आ कर रहने लगे हो, तब से राक्षस लोग और भी अधिक तपस्वियों को सताने लगे हैं ॥ १३ ॥

दर्शयन्ति हि बीभत्सैः[3] [4]क्रूरैर्भीषणकैरपि ।
[5]नानारूपैर्विरूपैश्च[6] [7]रूपैर्विकृतदर्शनैः[8] ॥ १४ ॥

वे लोग अनेक प्रकार के जुगुप्सित, भयङ्कर, भीषण, और विलक्षण विकट शक्लें बना तपस्वियों को डराया करते हैं ॥ १४ ॥

---

१ उत्पाट्य—निष्कास्येति । (गो०) २ जितकाशी—जिताहवः । (गो०) ३ बीभत्सैः—जुगुप्सितैः । (गो०) ४ क्रूरैः—भयङ्करैः । (गो०) ५ नानारूपैः—अनेक प्रकारैः । (गो०) ६ विरूपैः—लोकविलक्षण संस्थानैः । (गो०) ७ रूपैः—शरीरैः । (गो०) ८ विकृत दर्शनैः—विकृतदृष्टिभिः । (गो०)

[1]अप्रशस्तैरशुचिभिः सम्प्रयोज्य च तापसान् ।
प्रतिघ्नन्त्यपरान्क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थिताः ॥ १५ ॥

वे अशुभ और अपवित्र वस्तुएँ तपस्वियों के आश्रमों में डाल ऋषियों को तंग करते हैं। अधिकतर तो वे सीधे सादे तपस्वियों को देखते ही मार डालते हैं ॥ १५ ॥

तेषु तेष्वाश्रमस्थानेष्वबुद्ध[2]मवलीय च ।
रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः[3] ॥ १६ ॥

वे क्षुद्र बुद्धि वाले राक्षस छिप छिप कर सर्वत्र घूमा करते हैं, और जहाँ कहीं किसी तपस्वी को अचेत पाते हैं, तो तत्क्षण ही मार डालते हैं ॥ १६ ॥

अपक्षिपन्ति स्रुग्भाण्डानग्नीन्सिञ्चन्ति वारिणा ।
कलशांश्च प्रमृद्गन्ति हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥

जब तपस्वि लोग हवन करने बैठते हैं, तब राक्षस आ कर, स्रुवों और यज्ञपात्रों को फेंक कर, अग्नि के ऊपर पानी डाल बुझा देते हैं और कलसों को फोड़ डालते हैं ॥ १७ ॥

तैर्दुरात्मभिरामृष्टानाश्रमान्प्रजिहासवः ।
गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम् ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! उन दुष्टों के उपद्रवों से तंग आ कर तपस्वि इन आश्रमों को त्याग कर दूसरे आश्रमों में चलने के लिये मुझे प्रेरणा कर रहे हैं ॥ १८ ॥

---

१ अप्रशस्तैः—अशुभैः । (गो०) २ अबुद्धं—अविदितं । (गो०)
३ अल्पचेतसः—क्षुद्रबुद्धयः (गो०)

तत्पुरा राम [1]शारीरामुपहिंसां तपस्विषु।
दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम् ॥ १९ ॥

हे श्रीराम! वे दुष्ट राक्षस इस वन के तपस्वियों को मार डालने की धमकियाँ दिया करते हैं, अतः हम लोग इस आश्रम को त्यागे देते हैं ॥ १९ ॥

बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम्।
पुराणाश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः ॥ २० ॥

यहाँ से थोड़ी ही दूर पर, महर्षि अश्व का, बहुत से कन्दमूल फलों से युक्त विचित्र तपोवन है। हम सब मुनियों को साथ ले, वहीं जा बसेंगे ॥ २० ॥

खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा तात प्रवर्तते।
सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥

हे तात! अगर तुमको ठीक जान पड़े तो तुम भी हम लोगों के साथ वहीं चलो। क्योंकि वह खर राक्षस तुमको भी तंग करेगा ॥ २१ ॥

सकलत्रस्य सन्देहो नित्यं यत्तस्य राघव।
समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाद्य ते ॥२२॥

हे राघव! यद्यपि तुम उससे अपनी रक्षा करने में समर्थ हो, तथापि स्त्री को साथ ले कर यहाँ रहना सदा खटके से ख़ाली न होने के कारण, तुम्हारे लिये क्लेशदायी होगा ॥ २२ ॥

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम्।
न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरवरोद्धुं समुत्सुकम्* ॥ २३ ॥

---

१ शरीरसम्बन्धिनीम्—हिंसां तपस्विषुदर्शयन्ति। (शि०) * पाठान्तरे "समुत्सुकः।"

कुलपति का ऐसा वचन सुन और जाने के लिये उनको अत्यन्त उत्सुक देख, राजकुमार श्रीरामचन्द्र किसी प्रकार भी समझा बुझा कर, वह स्थान त्यागने से उन्हें न रोक सके ॥ २३ ॥

अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम् ।
स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥२४॥

तदनन्तर कुलपति, श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा कर, उनको समझा बुझा और उनसे विदा हो तथा सब तपस्वियों को साथ ले, उस आश्रम को त्याग कर, चल दिये ॥ २४ ॥

रामः [1]संसाध्य त्वृषिगणमनुगमनाद्
देशात्तस्मात्कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।
सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः
पुण्यं वासाय स्वनिलयमभिसंपेदे ॥ २५ ॥

इस प्रकार जब उन लोगों की प्रस्थान करने की तैयारी हुई, तब श्रीरामचन्द्र जी भी कुछ दूर तक उनको पहुँचाने गये। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी कुलपति की अनुमति ले और उनको प्रणाम कर, अपनी पवित्र पर्णशाला में लौट आये। जब श्रीरामचन्द्र जी लौटने लगे, तब ऋषियों ने प्रीतिपूर्वक योग्य कर्त्तव्यकर्म का भली भाँति उनको उपदेश दे, उनको विदा किया ॥ २५ ॥

आश्रमं त्वृषिविरहितं प्रभुः
क्षणमपि न विजहौ स राघवः ।

---

१ संसाध्य—प्रस्थाप्य । (गो०)

राघवं हि [1]सततमनुगता-
स्तापसाश्चर्षिचरितधृतगुणाः ॥ २६ ॥

इति षोडशोत्तरशततमः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी उस ऋषिहीन आश्रम को क्षण भर के लिये भी सूना नहीं छोड़ते थे। उनमें से कुछ ऋषि ऐसे थे जो श्रीरामचन्द्र जी का तपस्वियों जैसा आचरण देख, उनको अपना मन समर्पित कर चुके थे। अतः वे ऋषि श्रीरामचन्द्र जी को अपने मन में सदा स्मरण किया करते थे ॥ २६ ॥

[श्लोक २५, २६ का वृत्त भूषणकार ने चिन्त्य बतलाया है।]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

राघवस्त्वथ यातेषु तपस्विषु विचिन्तयन्।
न तत्रारोचयद्वासं कारणैर्बहुभिस्तदा ॥ १ ॥

ऋषियों के उस आश्रम को त्याग कर चले जाने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने अनेक बातों को सोच विचार कर, वहाँ रहना ठीक न समझा ॥ १ ॥

इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः।
सा च मे स्मृतिरन्वेति तां नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥

---

१ ऋषिचरितैरामेधृतगुणाः—समर्पित मनसः तापसाः राघवं सततमनुगताः मनसा प्राप्ताः। (शि०)

श्रीरामचन्द्र ने विचारा कि, इस स्थान पर नगरवासियों से, भाई भरत से और माताओं से मेरी भेंट हुई थी, सो यहाँ रहने से मेरी चित्तवृत्ति सदा उन्हींकी ओर लगी रहती है, और वह मुझे शोकाकुल किया करती है ॥ २ ॥

स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः ।
हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥

विशेष कर यहाँ महात्मा भरत की सेना के टिकने से, हाथी घोड़ों ने (जो लीद और मूत्र त्याग किया था अथवा) जो रौंदा था, इससे यहाँ की भूमि अत्यन्त गन्दी हो गयी है ॥ ३ ॥

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति सञ्चिन्त्य राघवः ।
[1]प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च सङ्गतः ॥ ४ ॥

अतः इस आश्रम को त्याग दूसरी जगह चलना ठीक है। इस प्रकार सोच विचार कर, श्रीरामचन्द्र जी अपने साथ सीता जी और लक्ष्मण को ले, वहाँ से चल दिये ॥ ४ ॥

सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः ।
तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ से प्रस्थान कर, अत्रि मुनि के आश्रम में पहुँच, मुनि को प्रणाम किया। अत्रि मुनि ने भी उनको पुत्रभाव से देखा ॥ ५ ॥

स्वयमातिथ्य[2]मादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम् ।
सौमित्रिं च महाभागां सीतां च समसान्त्वयत्[3] ॥६॥

---

१ प्रातिष्ठत—प्रस्थितः। (गो०) २ आतिथ्यमादिश्य—आतिथ्यं कृत्वा। (गो०) ३ समसान्त्वयत्—प्रीतियुक्तेनचक्षुषापश्यत। (रा०)

अत्रि ऋषि ने स्वयं श्रीरामचन्द्र जी का यथाविधि अतिथि सत्कार कर, महाभाग लक्ष्मण और सीता जी को स्नेह की दृष्टि से देखा ॥ ६ ॥

पत्नीं च समनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम् ।
सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥

सब प्राणियों के हित में रत, धर्मज्ञ अत्रि मुनि ने वहाँ पर उपस्थित, अपनी वृद्धा तपस्विनी पत्नी अनुसूया जी को बुला कर, उनको आदरपूर्वक बिठा कर समझाया ॥ ७ ॥

अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः ॥ ८ ॥

तदनन्तर ऋषिश्रेष्ठ अत्रि जी ने उन महाभाग्यवती, तपस्विनी और धर्म में निरत अनुसुया जी से कहा कि, जानकी जी हमारे आश्रम में आयी हैं, सो इनको अपने साथ ले जा कर, इनका आदर सत्कार करो ॥ ८ ॥

रामाय चाचचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥

यया मूलफले सृष्टे जाह्नवी च प्रवर्तिता ।
उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥ १० ॥

दश वर्षसहस्राणि यया तप्तं महत्तपः ।
अनसूयाव्रतैः स्नात्वा प्रत्यूहाश्च निवर्तिताः ॥ ११ ॥

तदनन्तर अत्रि जी ने श्रीरामचन्द्र जी से तपस्विनी एवं धर्मचारिणी अनुसूया का वह सब वृत्तान्त कहा कि, दस वर्ष तक

बराबर जल की वृष्टि न होने से जब संसार भस्म होने लगा था, तब अनुसूया जी ने किस प्रकार अपनी उग्र तपस्या से ऋषियों के लिये फलमूल उत्पन्न किये और स्नान करने को गङ्गा नदी वहाँ बहायी और किस प्रकार हज़ार वर्ष तक उग्र तपस्या कर और तपस्या के प्रभाव से, सब ऋषियों के तप के विघ्न नष्ट किये ॥ ९ ॥ ॥ १० ॥ ११ ॥

देवकार्यनिमित्तं च यया सन्त्वरमाणया ।
दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥ १२ ॥

अत्रि जी ने श्रीराम जी से कहा—हे अनघ ! यह वही अनुसूया हैं, जिन्होंने देवताओं का काम बनाने के लिये, तुरन्त ही दस रात की एक रात कर दी थी ॥ १२ ॥

तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां यशस्विनीम् ।
अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥ १३ ॥

अतः इन्हीं सब कारणों से यह यशस्विनी सब प्राणियों से नमस्कार किये जाने योग्य अर्थात् सब की पूज्या हैं। इन बूढ़ी बड़ी तथा सदा क्रोध रहित मनवाली अनुसूया जी के साथ जानकी जी जाँय ॥ १३ ॥

अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता ।
तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥१४॥

जो अपने उत्कृष्ट कर्मों के कारण लोकों में अनुसूया के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन तपस्विनी एवं साथ जाने के योग्य अनुसूया के पास जानकी जी शीघ्र जाँय ॥ १४ ॥

एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः ।
सीतामुवाच धर्मज्ञामिदं वचनमुत्तमम् ॥ १५ ॥

अत्रि जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा "तथास्तु"—(बहुत अच्छा सीता अनुसूया जी के साथ जायँगी) तदनन्तर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी से यह वचन कहा ॥ १५ ॥

राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन्मुनेरस्य समीरितम् ।
श्रेयोर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥ १६ ॥

हे राजपुत्रि ! मुनि जी ने जो कहा सो तो तुमने सुन ही लिया। अतः अब तुम अपने कल्याण के लिये शीघ्र इन तपस्विनी जी के साथ गमन करो ॥ १६ ॥

सीता त्वेतद्वचः श्रुत्वा राघवस्य हितैषिणः ।
तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥ १७ ॥

हितैषी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, सीता जी, पतिव्रत धर्म की जानने वाली अत्रिपत्नी—अनुसूया के साथ गयीं ॥ १७ ॥

शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम् ।
सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदली यथा ॥ १८ ॥

अनुसूया जी का शरीर, बुढ़ापे के कारण शिथिल हो गया था, सब शरीर की खाल सिकुड़ गयी थी और सिर के बाल सफ़ेद हो गये थे। हवा के वेग से काँपते हुए केले के पेड़ को तरह, उनका शरीर सदा काँपा करता था ॥ १८ ॥

तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम् ।
अभ्यवादयदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत्[1] ॥ १९ ॥

उन महाभाग्यवती और पतिव्रता अनुसूया जी को, सीता जी ने अपना नाम ले कर प्रणाम किया ॥ १९ ॥

[नोट—धर्मशास्त्र में जहाँ प्रणाम करने की विधि लिखी है, वहाँ प्रणाम करने वालों के नामोच्चारण पूर्वक प्रणाम करने की विधि निर्दिष्ट है। यथा—"अमुक गोत्रोत्पन्नोऽहं अमुक शर्माऽहं अभिवादयामि।"]

अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तामनिन्दिताम् ।
बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ २० ॥

उन अनिन्दिता तपस्विनी जी को वैदेही ने प्रणाम करके, तदुपरान्त हाथ जोड़ और प्रसन्न हो उनसे कुशल प्रश्न किया ॥२०॥

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् ।
सान्त्वयन्त्यब्रवीद्धृष्टा दिष्ट्या[2] धर्ममवेक्षसे[3] ॥ २१ ॥

धर्मचारिणी और महाभाग्यवती सीता जी को प्रणाम करते और कुशलप्रश्न पूँछते देख, अनुसूया जी ने धीरज बँधाने के लिये सीता जी से कहा—हे सीते! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि, तुम पतिव्रतधर्म की ओर भली भाँति ध्यान देती हो ॥ २१ ॥

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते [4]मानमृद्धिं च मानिनि* ।
[5]अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या[6] त्वमनुगच्छसि ॥ २२ ॥

---

१ समुदाहरत्—प्रणाम विधिविनोच्चारयामास। (शि०) २ दिष्ट्या—भाग्येन। (गो०) ३ धर्ममवेक्षसे—पातिव्रत्य धर्ममवधानेन समीक्षसे। (गो०) ४ मानं—अहंकारं। (गो०) ५ अवरुद्धं—नियुक्तं। (शि०) ६ दिष्ट्या—भाग्यमेतत्। (शि०) * पाठान्तरे—"भामिनि"।

हे मानिनी! तुम्हारे लिये यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि, तुम अपनी जाति वालों को, राजकुमारी होने के अहङ्कार को और धन सम्पत्ति को त्याग कर, वनवासी श्रीराम की अनुगामिनी हुई हो ॥ २२ ॥

नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥२३॥

पति वन में रहे अथवा नगर में रहे, पति पापी हो अथवा पुण्यात्मा हो; जो स्त्री अपने पति से प्रीति रखती है, वह उत्तमोत्तम लोकों को प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ २४ ॥

भले ही पति क्रूर स्वभाव का हो, कामी हो, धनहीन हो, किन्तु श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियों के लिये उनका पति देवता के तुल्य है अथवा पति ही उनका परम देवता है ॥ २४ ॥

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम्।
[1]सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥ २५ ॥

हे वैदेही! मैंने भली भाँति विचार कर देखा, परन्तु पति से अधिक स्त्रियों का बन्धु कोई नहीं पाया। क्योंकि पति सब अवस्थाओं में, अक्षय तप की तरह, पत्नी की रक्षा करने में समर्थ है ॥ २५ ॥

न त्वेवमवगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः।
कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥ २६ ॥

---

१ सर्वत्रयोग्यं—सर्वावस्थासुरक्षणसमर्थं। (गो०)

हे वैदेही ! कामासक्त, पतियों की स्वामिनी दुष्टा स्त्रियाँ, भलाई बुराई का विचार नहीं करतीं ॥ २६ ॥

प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि ।
अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥२७॥

हे मैथिली ! ऐसी स्त्रियाँ निश्चय ही अनकरने कामों में फँस, अपनी निन्दा करवाती और धर्मभ्रष्ट भी होती हैं ॥ २७ ॥

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः ।
स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा धर्मकृतस्तथा ॥ २८ ॥

किन्तु तुम्हारी तरह जिन गुणवती स्त्रियों ने संसार के अच्छे बुरे कर्मों को जान लिया है, वे, पुण्यकर्मा पुरुषों की तरह स्वर्गप्राप्त करती हैं ॥ २८ ॥

तदेवमेनं त्वमनुव्रता सती
पतिव्रतानां समयानुवर्तिनी ।
भव स्वभर्तुः सह धर्मचारिणी
यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥ २९ ॥

इति सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे सती ! इसी प्रकार तुम पति के कहने में चल और पतिव्रताओं के आचरण करती हुई, अपने पति की सहधर्मिणी हो। ऐसा करने से तुम्हें यश और पुण्य दोनों मिलेंगे ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया ।
प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

जब निन्दारहित अनुसूया ने इस प्रकार कहा, तब सीता जी उनके कथन का अनुमोदन कर धीरे से बोलीं ॥ १ ॥

नैतदाश्चर्यमार्याया यन्मां त्वमनुभाषसे ।
विदितं तु मयाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

हे आर्ये! आपका मुझे इस प्रकार का उपदेश देना—कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु मैं भी यह जानती हूँ कि, नारी का पति ही गुरु होता है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद्भर्ता ममार्ये वृत्तवर्जितः ।
[1]अद्वैधमुपचर्तव्यस्तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥

यद्यपि पति अच्छी वृत्ति से हीन और दरिद्र ही क्यों न हो, तथापि मुझ जैसी स्त्रियों को उसके प्रति द्वैधी भाव न रखना चाहिये अर्थात् पति के साथ प्रीतिपूर्वक वर्ताव करना चाहिये ॥३॥

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।
स्थिरानुरागो धर्मात्मा [2]मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥

---

१ अद्वैधं—द्वैधीभावरहितं । (गो०) २ मातृवतपितृवत्प्रियः—अत्यन्तहित परत्वेन । (गो०)

फिर जो पति गुणवान होने के कारण सराहनीय है, दयावान्, जितेन्द्रिय, स्थिरानुरागी, धर्मज्ञ और माता पिता की तरह अत्यन्त हित तत्पर है, उसका तो कहना ही क्या है ॥ ४ ॥

यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः ।
तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥

देखिये, श्रीरामचन्द्र जी की जो भावना अपनी जननी कौशल्या में है, उनकी वही भावना महाराज की अन्य सब रानियों में भी है। अर्थात् उनको भी श्रीराम निज मातृवत् समझ उनके साथ माता जैसा व्यवहार करते हैं ॥ ५ ॥

सकृद्दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः ।
मातृवद्वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥

इतना ही नहीं—किन्तु, महाराज दशरथ ने जिन स्त्रियों की ओर एक बार भी आँख उठा कर देख लिया अर्थात् अपनी स्त्री मान कर देखा, उन स्त्रियों को भी महाराज के प्यारे वीरवर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र मातृवत् सम्मान की दृष्टि से देखते हैं ॥ ६ ॥

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम् ।
समाहितं मे श्वश्र्वा च हृदये तद्धृतं महत् ॥ ७ ॥

मैं जब इस भयानक निर्जन वन को आने लगी, तब सास कौशल्या जी ने आपकी तरह मुझे जो उपदेश दिया था, वह मेरे हृदय में है अर्थात् मेरे हृदयपटल पर अङ्कित है ॥ ७ ॥

पाणिप्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसन्निधौ ।
अनुशिष्टा जनन्यास्मि वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥

विवाह के समय अग्नि के सामने मेरी माता ने मुझे जो उपदेश दिया था, वह भी मुझे याद है ॥ ८ ॥

नवीकृतं च तत्सर्वं वाक्यैस्ते धर्मचारिणि ।
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद्विधीयते ॥ ९ ॥

हे धर्मचारिणी ! पतिसेवा को छोड़ स्त्री के लिये दूसरी तपस्या नहीं है—इत्यादि उपदेश जो मेरे बन्धुबान्धवों ने मुझे दिये थे, उनको आपने पुनः (आज) मेरी स्मृति में ताज़े (नवीन) कर दिये ॥ ९ ॥

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते ।
तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥

देखिये, सावित्री अपने पति की सेवा कर के ही, स्वर्ग में, आदर प्राप्त कर निवास करती हैं। इसी प्रकार आप भी पतिसेवा द्वारा स्वर्ग पावेंगी ॥ १० ॥

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता ।
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

सब स्त्रियों में श्रेष्ठ और स्वर्ग की देवी रोहिणी भी, चन्द्रमा के बिना एक क्षण भी नहीं देख पड़तीं ॥ ११ ॥

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः ।
देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥

इसी प्रकार की और भी अनेक उत्तम स्त्रियां, जो दृढ़व्रत धर्म धारण करने वाली हैं, वे अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से स्वर्ग में जाती हैं ॥ १२ ॥

ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः ।
शिरस्याघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥

सीता जी की ये बातें सुन, अनुसूया जी हर्षित हुई और सीता जी का मस्तक सूँघ उनको हर्षित कर, कहने लगीं ॥ १३ ॥

नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति मे ।
तत्संश्रित्य बलं सीते च्छन्दये त्वां शुचिस्मिते ॥ १४ ॥

हे सीते ! मैंने अनेक प्रकार के व्रतनियम आदि का पालन कर, जो तपःफल सञ्चित किया है, वह थोड़ा नहीं बहुत अधिक है। अतः हे शुचिस्मिते ! उस तपःफल के बल से तुझे वर देना चाहती हूँ सो तू वर माँग ॥ १४ ॥

उपपन्नं मनोज्ञं च वचनं तव मैथिलि ।
प्रीता चास्म्युचितं किं ते करवाणि ब्रवीहि मे ॥ १५ ॥

क्योंकि हे मैथिली ! तूने जो उचित एवं मनोहर वचन कहे हैं, उनसे मैं तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। अब तू बतला कि, मैं तेरा क्या प्रियकार्य करूँ ॥ १५ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया ।
कृतमित्यब्रवीत्सीता तपोबलसमन्विताम् ॥ १६ ॥

पतिव्रतधर्म की जानने वाली तपोबल से युक्त अनुसूया जी के यह वचन सुन, सीता जी ने विस्मित हो तथा मुसक्या कर, कहा कि, आपके अनुग्रह ही से मेरी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी ॥१६॥

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराऽभवत् ।
सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥ १७ ॥

पतिव्रतधर्म की जानने वाली अनुसूया जी सीता जी के यह वचन सुन, उन पर और भी अधिक प्रसन्न हुई और बोलीं—हे सीते! तुझे देख कर मुझे जो हर्ष हुआ है, उसके अनुरूप उसे मैं अवश्य सफल करूँगी ॥ १७ ॥

इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च ।
अङ्गरागं च वैदेहि महार्हं चानुलेपनम् ॥ १८ ॥

यह उत्तम दिव्य माला, वस्त्र, भूषण, अङ्गराग तथा मूल्यवान् उबटन, जो मैं देती हूँ, इनसे तेरे अंग सुशोभित होंगे ॥ १८ ॥

मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत् ।
[1]अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥ १९ ॥
अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे ।
शोभयिष्यति भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥२०॥

हे जनकनन्दिनी! इन वस्तुओं का नित्य व्यवहार करने से भी ये कभी मैली नहीं होंगी और तेरे शरीर के लिये ठीक होंगी और तेरे अंगों को शोभा बढ़ावेंगी। मेरे दिये हुए इस दिव्य अंगराग को अपने अंगों में लगाने से तुम अपने पति को उसी प्रकार शोभित करोगी जैसे लक्ष्मीदेवी नाशरहित भगवान् श्रीविष्णु को शोभित करती हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा ।
मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

जानकी जी ने अनुसूया जी के दिये हुए उत्तम प्रेमोपहार वस्त्र, अँगराग, आभूषण और मालाआदि को ग्रहण किया ॥ २१ ॥

---

१ अनुरूपं—तद्गात्रानुरूपं। (गो०) २ असंक्लिष्टं—अबाधितशोभमित्यर्थः। (गो०)

प्रतिगृह्य च तत्सीता प्रीतिदानं यशस्विनी ।
श्लिष्टाञ्जलिपुटा तत्र समुपास्त तपोधनाम् ॥ २२ ॥

यशस्विनी सीता ने अनुसूया जी के दिये हुए, उस प्रेमोपहार को ग्रहण किया और हाथ जोड़ कर तपस्विनी अनुसूया के पास बैठीं ॥ २२ ॥

तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता ।
वचनं प्रष्टुमारेभे कथां कांचिदनुप्रियाम्* ॥ २३ ॥

जानकी जी को पास बैठी देख, दृढ़व्रत धारण करने वाली अनुसूया जी सीता जी से कोई मनोरञ्जन बात सुनने की इच्छा से पूँछने लगीं ॥ २३ ॥

स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना ।
राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

हे जानकी ! इन यशस्वी श्रीरामचन्द्र ने तुमको स्वयंवर में पाया यह कथा मैं संक्षेप से तो सुन चुकी हूँ ॥ २४ ॥

तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि ।
यथाऽनुभूतं कार्त्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

किन्तु हे मैथिली ! इस वृत्तान्त को मैं विस्तार पूर्वक सुनना चाहती हूँ । सो जो कुछ हुआ वह समस्त मुझे सुनाओ ॥ २५ ॥

एवमुक्ता तु सा सीता तां ततो धर्मचारिणीम् ।
श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥२६॥

सीता जी ने, अनुसूया जी के ये वचन सुन, धर्मचारिणी तपस्विनी अनुसूया जी से यह कहा कि, सुनिये वह वृत्तान्त सुनाती हूँ ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—"कांचित्प्रियकथामनु" ।

मिथिलाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित् ।
क्षत्रधर्मे ह्यभिरतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥ २७ ॥

सीता जी बोलीं—मिथिला के अधिपति, वीर और धर्मज्ञ महाराज जनक, क्षात्रकर्त्तव्य पालन में सदा तत्पर रहते हैं, और न्यायपूर्वक राज्य का शासन करते हैं ॥ २७ ॥

तस्य लाङ्गलहस्तस्य कर्षतः क्षेत्रमण्डलम् ।
अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥२८॥

यज्ञ के लिये यज्ञभूमि का संस्कार करने को जब हल हाथ में ले वे क्षेत्र जोतने लगे, तब मैं पृथिवी को भेद कर, उनकी पुत्री के रूप में निकल आयी ॥ २८ ॥

स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिविक्षेपतत्परः ।
पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गीं जनको विस्मितोऽभवत् ॥ २९ ॥

उस समय राजा जनक जो मंत्रपाठपूर्वक मुट्ठी में ले औषधि के बीज बोने में तत्पर थे, मेरे सारे शरीर में धूल लगी देख, विस्मित हुए ॥ २९ ॥

[1]अनपत्येन च स्नेहादङ्कमारोप्य च स्वयम् ।
ममेयं तनयेत्युक्त्वा* स्नेहो मयि निपातितः ॥ ३० ॥

सन्तानहीन होने के कारण, उन्होंने स्नेह से स्वयं मुझे उठा अपनी गोदी में लिया और यह कहा कि, यह मेरी बेटी है—मेरे ऊपर बड़ा स्नेह करने लगे ॥ ३० ॥

अन्तरिक्षे च वागुक्ताप्रतिमामानुषी किल ।
एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव ॥ ३१ ॥

---

१ अनपत्येनचतेन—स्नेहान्मामङ्कमारोप्य । (गो०)

* पाठान्तरे—" तनयेत्युक्ता " ।

उस समय आकाश से मनुष्य जैसी बोली में यह वचन सुन पड़े कि—हे राजन्! निश्चय ही यह तुम्हारी धर्मपुत्री है॥ ३१॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः।
[1]अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः॥ ३२॥

तब तो मेरे धर्मात्मा पिता मिथिलाधीश बहुत प्रसन्न हुए और मेरे मिलने से नरेन्द्र को बड़ी समृद्धि प्राप्त हुई॥ ३२॥

दत्ता चास्मीष्टवद्देव्यै[2] ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणा[3]।
तया संभाविता[4] चास्मि स्निग्धया मातृसौहृदात्॥३३॥

सदा यज्ञानुष्ठान करने वाले महाराज जनक ने मुझे अपनी पटरानी को जो सन्तान की इच्छा रखती थीं, ईप्सित-वस्तु की तरह सौंप दिया। वे आदर और स्नेह से माता जैसे अनुराग से मेरा लालन पालन करने लगीं॥ ३३॥

[5]पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।
चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधनः॥ ३४॥

मुझे विवाह करने के योग्य उम्र में पहुँची देख, पिता जी उसी प्रकार चिन्ताग्रस्त और विकल हुए, जिस प्रकार धन के नाश से निर्धन मनुष्य विकल और चिन्ताग्रस्त होता है॥ ३४॥

सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात्।
[6]प्रधर्षणामवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि॥ ३५॥

---

१ मल्लाभोत्तरं तस्य महती समृद्धिर्जातेति भावः। (रा०) २ इष्टवद्देव्यै—इच्छावत्यै देव्यै। (गो०) यद्वा सन्तानेच्छावत्यै देव्यै। (रा०) ३ पुण्यकर्मणा—अनवरतयज्ञादिकर्मयुक्तेनजनकेन। (गो०) ४ संभाविता—संवर्धितेत्यर्थः। (गो०) ५ पतिसंयोग सुलभं—पाणिग्रहणोचितं। (रा०) ६ प्रधर्षणा—तिरस्क्रिया। (गो०)

क्योंकि, कन्या का पिता चाहे इन्द्र के समान ही क्यों न हो, और वर के पक्ष के लोग बराबर या हीन दर्जे ही के क्यों न हों, किन्तु कन्या के पिता को, नीचा ही देखना पड़ता है ॥ ३५ ॥

तां धर्षणामदूरस्थां दृष्ट्वा चात्मनि पार्थिवः ।
चिन्तार्णवगतः पारं नाससादाप्लवो यथा ॥ ३६ ॥

अतः मेरे पिता उस तिरस्कार के होने में कुछ भी विलम्ब न देख, चिन्तासागर में निमग्न हो गये और नौकाहीन जन की तरह वे उस चिन्तासागर के पार न जा सके ॥ ३६ ॥

अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाध्यगच्छद्विचिन्तयन् ।
सदृशं चानुरूपं च महीपालः पतिं मम ॥ ३७ ॥

पिता जी, मुझे अयोनिजा जान मेरे सदृश और मेरे योग्य वर, बहुत ढूढ़ने पर भी न पा सके। अतः उनको इस बात की सदा चिन्ता बनी रहती थी ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य सन्ततम् ।
स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धीमतः ॥ ३८ ॥

निरन्तर सोचते सोचते मेरे बुद्धिमान् पिता ने यह विचारा कि, इस पुत्री के विवाह के लिये स्वयंवर की योजना करना उचित है ॥ ३८ ॥

महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना ।
दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूणी चाक्षयसायकौ ॥ ३९ ॥

पूर्वकाल में किसी समय किसी महायज्ञ में मेरे पिता जी के किसी पूर्वज को, वरुण जी ने प्रीतिपूर्वक एक श्रेष्ठ धनुष, और अक्षय बाणों से पूर्ण दो तरकस दिये थे ॥ ३९ ॥

अर्सचाल्यं मनुष्यैश्च यत्नेनापि च गौरवात् ।
तन्न शक्ता नमयितुं स्वप्नेष्वपि नराधिपाः ॥ ४० ॥

यह धनुष इतना भारी था कि, अनेक मनुष्य मिल कर बड़ा प्रयत्न करने पर भी उसे सरका भी नहीं सकते थे, और राजा लोग स्वप्न में भी उसको नहीं लचा सकते थे ॥ ४० ॥

तद्धनुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृतं सत्यवादिना ।
समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्त्र्य पार्थिवान् ॥ ४१ ॥

मेरे सत्यवादी पिता महाराज जनक ने पुरुषानुक्रम से वह धनुष पाया था। सो उन्होंने राजाओं को निमंत्रण दे एकत्र किया और फिर उन सब के सामने बोले ॥ ४१ ॥

इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः ।
तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः ॥४२॥

हे राजा लोगों! आप लोगों में से जो पुरुष इस धनुष को उठा कर, इस पर रोदा चढ़ा देगा, मैं अपनी पुत्री उसीको व्याह दूँगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४२ ॥

तच्च दृष्ट्वा धनुःश्रेष्ठं गौरवाद्गिरिसन्निभम् ।
अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने ॥ ४३ ॥

राजा लोग पहाड़ की तरह भारी उस धनुषश्रेष्ठ को देख, और उसे उठाने को अपने में शक्ति न पा कर, धनुष को प्रणाम कर के चले गये ॥ ४३ ॥

सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः ।
विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः ॥ ४४ ॥

स्वयंवर होने के बहुत दिनों बाद यह महाद्युतिमान् श्रीरामचन्द्र जी विश्वामित्र जी के साथ, पिता जी का यज्ञ देखने आये ॥ ४४ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः ।
विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥ ४५ ॥

मेरे पिता जी ने भाई लक्ष्मण के साथ आये हुए सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी और धर्मात्मा विश्वामित्र जी का भली भाँति आदर सत्कार किया ॥ ४५ ॥

प्रोवाच पितरं तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
सुतौ दशरथस्येमौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ॥ ४६ ॥

तदनन्तर विश्वामित्र जी ने मेरे पिता से कहा कि, ये महाराज दशरथ के दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण हैं और यह आपका धनुष देखना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

धनुर्दर्शय रामाय राजपुत्राय दैविकम्[1] ।
इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद्धनुः समुपानयत् ॥ ४७ ॥

अतः आप श्रीरामचन्द्र जी को वरुण का दिया हुआ वह धनुष दिखला दीजिये। विश्वामित्र जी के यह कहने पर, जनक जी ने वह धनुष मँगवा दिया ॥ ४७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः ।
ज्यां समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

और पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने पलक मारते उस धनुष को नवा, उस पर झट रोदा चढ़ा दिया और उसे टंकोरा ॥ ४८ ॥

---

१ दैवकं—देवदत्तं । (रा०)

तेन पूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः ।
तस्य शब्दोऽभवद्भीमः पतितस्याशनेरिव ॥ ४९ ॥

टंकोर देने के लिये ज़ोर से डोरी खींचने के कारण बीच से उसके दो टुकड़े हो गये। उसके टूटने से ऐसा भयङ्कर शब्द हुआ मानों कहीं वज्र गिरा हो ॥ ४६ ॥

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसन्धिना ।
निश्चिता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर मेरे सत्यसन्ध पिता ने मेरा दान करने के लिये उत्तम जलपात्र मँगवाया और श्रीरामचन्द्र को मुझे देने को वे उद्यत हुए ॥ ५० ॥

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः ।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ ५१ ॥

किन्तु देने के लिये उद्यत होने पर भी, अयोध्याधिपति अपने पिता का अभिप्राय जाने विना, श्रीरामचन्द्र जी ने मुझे ग्रहण करना स्वीकार न किया ॥ ५१ ॥

ततः श्वशुरमामन्त्र्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।
मम पित्रा त्वहं दत्ता रामाय विदितात्मने ॥ ५२ ॥

तब मेरे पिता ने मेरे वृद्ध ससुर महाराज दशरथ जी को निमंत्रण भेज बुलवाया और उनकी अनुमति से जगत् में प्रसिद्ध (अथवा आत्मवेत्ता) श्रीरामचन्द्र जी को मुझे सौंप दिया अर्थात् उनके साथ मेरा विवाह कर दिया ॥ ५२ ॥

---

१ छन्दं—अभिप्रायं । (गो०)

मम चैवानुजा साध्वी ऊर्मिला प्रियदर्शना ।
भार्यार्थे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥ ५३ ॥

मेरी छोटी, सीधी सादी और सुन्दर बहिन उर्मिला को, मेरे पिता ने स्वयं लक्ष्मण को भार्या रूप में दिया। अर्थात् लक्ष्मण के साथ उसका भी विवाह कर दिया ॥ ५३ ॥

एवं दत्तास्मि रामाय तदा तस्मिन्स्वयंवरे ।
अनुरक्तास्मि धर्मेण पतिं वीर्यवतां वरम् ॥ ५४ ॥

इति अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे तपोधने! मैं उस स्वयंवर में इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी को दी गयी। तब से मैं धर्मानुसार पराक्रमवालों में श्रेष्ठ अपने पति श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करने में अनुरागिनी हूँ ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम् ।
पर्यष्वजत बाहुभ्यां शिरस्याघ्राय मैथिलीम् ॥ १ ॥

पतिव्रताधर्म को जानने वाली अनसूया जी ने सीता के विवाह का सविस्तर वृत्तान्त सुन, जानकी जी का मस्तक सूँघा और दोनों हाथों से पकड़, उनको अपने हृदय से लगा कर, कहा ॥ १ ॥

व्यक्ताक्षरपदं चित्रं[1] भाषितं मधुरं[2] त्वया।
यथा स्वयंवरं वृत्तं तत्सर्वं हि श्रुतं मया ॥ २ ॥

तू ने स्वयंवर का जो समस्त वृत्तान्त, साफ साफ, मनोहर और विचित्र रीति से कहा, सो मैंने सब सुना ॥ २ ॥

रमेऽहं कथया ते तु दृढं मधुरभाषिणि।
रविरस्तं गतः श्रीमानुपोह्य रजनीं शिवाम् ॥ ३ ॥

हे मधुरभाषिणी! यद्यपि तेरी इस कथा के सुनने में मेरा मन बहुत लगता है, तथापि अब सूर्य भगवान् अस्ताचलगामी हो चुके हैं और सुन्दर रात होना चाहती है ॥ ३ ॥

दिवसं प्रतिकीर्णानामाहारार्थं पतत्रिणाम्।
सन्ध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः ॥ ४ ॥

देखो न! दिन भर भोजन की खोज में इधर उधर उड़ते हुए पक्षी, सन्ध्या हुई देख बसेरा लेने के लिये अपने अपने घोंसलों में आ गये हैं। यह उन्हींका शब्द सुन पड़ता है ॥ ४ ॥

एते चाप्यभिषेकार्द्रा मुनयः कलशोद्यताः।
सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः ॥ ५ ॥

ये मुनि लोग स्नान कर भींगे हुए वल्कल वस्त्र तथा जल के कलसे लिये हुए, साथ साथ आ रहे हैं ॥ ५ ॥

ऋषीणामग्निहोत्रेषु हुतेषु विधिपूर्वकम्।
कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः ॥ ६ ॥

---

1 चित्रं—बहुविधव्यञ्जनाविशिष्टम्। (शि०) २ मधुरं—मनोहरं। (शि०)

ऋषियों के विधि विधान से किये हुए अग्निहोत्र का धुआँ, जो कबूतर की गरदन के रंग के समान लाल (धुमैले लाल) वर्ण का है, वायु के वेग से आकाश की ओर उठता हुआ देख पड़ता है ॥ ६ ॥

अल्पपर्णा हि तरवो घनीभूताः समन्ततः ।
विप्रकृष्टेऽपि देशेऽस्मिन्न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥ ७ ॥

ये सब अल्प पत्तों वाले पेड़, जो यहाँ से दूर होने के कारण साफ़ नहीं दिखलायी पड़ते, चारों ओर से अन्धकार के कारण सघन जान पड़ते हैं। दिशाएँ भी अन्धकार छा जाने से प्रकाश रहित हो गयी हैं। अथवा अँधेरा छा जाने के कारण चारों ओर दूर दूर खड़े हुए थोड़े पत्ते वाले पेड़ भी सघन जान पड़ते हैं। अब किसी दिशा में भी उजियाला नहीं देख पड़ता ॥ ७ ॥

[1]रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः ।
तपोवनमृगा ह्येते [2]वेदितीर्थेषु शेरते ॥ ८ ॥

देखो निशाचर चारों ओर घूमने लगे हैं और तपोवन के मृग अग्निहोत्र की वेदी के पवित्र स्थानों में पड़े सो रहे हैं ॥ ८ ॥

संप्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता ।
ज्योत्स्नाप्रावरणश्चन्द्रो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे ॥ ९ ॥

हे सीते! देखो रात भी तारागणों से भूषित हो आ पहुँची और चन्द्रमा भी चाँदनी फैलाता हुआ आकाश में उदय हो रहा है ॥ ९ ॥

गम्यतामनुजानामि रामस्यानुचरी भव ।
कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाऽहं परितोषिता ॥ १० ॥

---

1 रजनीचरसत्त्वा—निशाचराः । (शि॰) 2 वेदितीर्थेषु—पावनवेदिषु । (शि॰)

अब मेरी अनुमति से तुम जा कर श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करो। तुम्हारी मनोहर कथावार्ता सुन मुझे बहुत ही सन्तोष हुआ॥ १०॥

अलंकुरु च तावत्वं प्रत्यक्षं मम मैथिलि।
प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालङ्कारशोभिता॥ ११॥

हे मैथिली! तुम इन दिव्य अलंकारों को मेरे सामने ही धारण करो और इनसे भूषित हो, मेरी प्रसन्नता बढ़ाओ। अर्थात् मुझे प्रसन्न करो॥ ११॥

सा तथा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा।
प्रणम्य शिरसा तस्यै रामं त्वभिमुखा ययौ॥ १२॥

तब देवकन्या के तुल्य सीता जी उन अलङ्कारों से अपने शरीर को सजा कर और अनुसूया जी के चरणों में अपना सीस रख, (अर्थात् प्रणाम कर) श्रीरामचन्द्र जी के पास गयीं॥ १२॥

तथा तु भूपितां सीतां ददर्श वदतांवरः।
राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च॥ १३॥

वचन बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी सीता जी को भूषित देख, अनुसूया जी के दिये हुए प्रेमोपहार से बहुत प्रसन्न हुए॥ १३॥

न्यवेदयत्ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली।
प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्रजम्॥ १४॥

तदनन्तर अनुसूया जी के दिये हुए प्रेमोपहार अर्थात् वस्त्र, आभूषण, माला आदि के मिलने का वृत्तान्त सीता जी ने श्रीराम-

चन्द्र जी से कहा अथवा प्रेमोपहार की वस्तुएँ सीता जी ने श्रीराम-चन्द्र जी को दिखलाईं ॥ १४ ॥

महृष्टस्त्वभवद्रामो लक्ष्मणश्च महारथः ।
मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम् ॥ १५ ॥

मनुष्यों के लिये अलभ्य, अनुसूया जी के किये हुए जानकी जी के सत्कार को देख, श्रीरामचन्द्र और महारथी लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए। अथवा अनुसूया जी ने जानकी जी का जो सत्कार किया, वह मनुष्यों के लिये दुर्लभ है, अतः उसे देख श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए। अथवा मनुष्यों को दुर्लभ जो वस्त्राभूषण प्रेमोपहार में अनुसूया जी ने जानकी जी को दिये थे, उन्हें देख श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

ततस्तां शर्वरीं प्रीतः पुण्यां[1] शशिनिभाननः ।
अर्चितस्तापसैः सिद्धैरुवास रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने तपस्वियों और सिद्धों से सत्कारित हो, और अनुसूया जी के दिये हुए वस्त्राभरणों से भूषित चन्द्रमुखी सीता जी को देख, वह रात वहीं रह कर बिताई ॥ १६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामभिषिच्य[2] हुताग्निकान् ।
आपृच्छेतां नरव्याघ्रौ तापसान्वनगोचरान् ॥ १७ ॥

जब रात बीती और सवेरा हुआ, तब दोनों पुरुषसिंहों ने स्नान और सन्ध्योपासन अग्निहोत्रादि कर्मों से निश्चिन्त

---

१ पुण्यां—अनुसूयया पुण्ययालंकारां सीतां दृष्ट्वा । (रा०) २ अभिषिच्य हुताग्निकान्—स्नात्वाकृतहोमान् । (गो०)

हो, वनवासी तपस्वियों से आगे वन में जाने के लिये विदा माँगी ॥ १७ ॥

तावूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः ।
वनस्य तस्य सञ्चारं राक्षसैः समभिप्लुतम् ॥ १८ ॥

तब धर्मचारी और वनवासी तपस्वियों ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राघव ! इस वन में मनुष्यों का घूमना फिरना, राक्षसों के कारण बड़ा भयावह है। अथवा राक्षसों के उपद्रव से यह वन प्रदेश बड़ी जोखों का स्थान हो रहा है ॥ १८ ॥

रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव ।
वसन्त्यस्मिन्महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! इस वन में नाना रूपधारी एवं नरमांसभोजी राक्षस और रक्त पीने वाले हिंस्रपशु रहते हैं ॥ १९ ॥

[1]उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वातापसं धर्मचारिणम् ।
अदन्त्यस्मिन्महारण्ये तान्निवारय राघव ॥ २० ॥

वे राक्षस और जंगली हिंस्रपशु इस वन में किसी धर्मचारी तपस्वी को कभी अपवित्र दशा में या असावधान पाते हैं तो मार कर खा जाते हैं। अतः हे राघव ! आप इन दुष्टों को मारें। (राक्षस अपवित्र दशा में रहने वाले तपस्वियों को और वन्य जन्तु सिंह व्याघ्रादि असावधान तपस्वियों को) ॥ २० ॥

एष पन्था महर्षीणां फलान्यहरता वने ।
अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥ २१ ॥

---

१ उच्छिष्टं—अशुचिं । (रा०)

हे राघव ! इस रास्ते से तपस्वी लोग वन में फल लेने जाते हैं, अतः इसी रास्ते से आपका भी इस दुर्गम वन में जाना ठीक है ॥ २१ ॥

इतीव तैः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-
द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परन्तपः
वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः
सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम् ॥ २२ ॥

इति एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

जब तपस्वियों ने हाथ जोड़ मङ्गल आशीर्वाद दे कर इस प्रकार कहा, तब शत्रुओं के तपाने वाले श्रीराम और लक्ष्मण ने सीता जी सहित, उस दुर्गम वन में, उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार सूर्यदेव मेघमण्डल में प्रवेश करते हैं ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ अयोध्याकाण्ड समाप्त हुआ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्
अयोध्याकाण्डः समाप्तः ॥

—:*:—

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण

हिन्दी भाषानुवाद सहित

अरण्यकाण्ड—४

५

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा

प्रकाशक

रामनरायन लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

अरण्यकाण्ड—४

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०,

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य २)

विषय-सूची

अरण्यकाण्ड

इति

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ १॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥ २॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥ ३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥ ४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥ ६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम्।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम्।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम्।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:※:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणाः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—※—

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—•※•—

अरण्यकाण्डः

प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान्[1] ।
ददर्श रामो दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम् ॥ १ ॥

धैर्यवान् और दुर्द्धर्ष श्रीरामचन्द्र जी ने दण्डक नामक महावन में प्रवेश कर, तपस्वियों के आश्रम देखे ॥ १ ॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्मया लक्ष्म्या[2] समावृतम् ।
यथा प्रदीप्तं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम् ॥ २ ॥

इन आश्रमों में जगह जगह यज्ञ में काम आने वाले कुशों के ढेर लगे थे । आश्रमवासियों के चीर जगह जगह सूखने के लिये फैलाये हुए थे । वेदाध्ययन और वैदिक कर्मानुष्ठान के कारण, इन आश्रमों में एक प्रकार का ऐसा तेज व्याप्त था, जिसे राक्षसादि उसी प्रकार नहीं सहन कर सकते थे, जिस प्रकार आकाशस्थ सूर्य का तेज सहन नहीं किया जाता ॥ २ ॥

शरण्यं सर्वभूतानां सुसंमृष्टाजिरं सदा ।
मृगैर्बहुभिराकीर्णं पक्षिसङ्घैः समावृतम् ॥ ३ ॥

---

१ आत्मवान् – धैर्यवान् । (गो०) २ ब्राह्मलक्ष्म्या – ब्राह्मीलक्ष्मीः ब्रह्मविद्याभ्याम जनितस्तेजो विशेषः । (रा०)

ये आश्रम प्राणि मात्र के लिये सुखप्रद आश्रयस्थल थे और स्वच्छ स्थानों से सुशोभित थे। इन आश्रमों में बहुत से हिरन निर्भय घूमा फिरा करते थे और पक्षियों की टोलियां, आश्रमों के वृक्षों पर रहा करती थीं ॥ ३ ॥

पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः ।
विशालैरग्निशरणै[1]: स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः ॥ ४ ॥

इन आश्रमों में अप्सराएँ आ कर नृत्य किया करती थीं। वे इन आश्रमों का सम्मान करती थीं, यहाँ बड़ी लंबी चौड़ी यज्ञशालाएँ बनी थीं; जिनमें अग्निकुण्ड के समीप स्रुवा, यज्ञपात्र, मृगचर्म और कुश रखे हुए थे ॥ ४ ॥

समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम् ।
आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥ ५ ॥

इन आश्रमों में समिधाएँ, जल से भरे घड़े, और कन्द मूल फल रखे थे। बनैले बड़े बड़े पेड़ों में स्वादिष्ट और खाने योग्य पवित्र फल लगे थे ॥ ५ ॥

बलि[2]होमार्चितं[3] पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ।
पुष्पैर्वन्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया ॥ ६ ॥

इन सब आश्रमों में नित्य ही बलिवैश्वदेव होता और पवित्र वेद-ध्वनि हुआ करती थी। वहाँ देवताओं पर चढ़े हुए बनैले फूल बिखरे हुए थे और खिले हुए कमल के फूलों से परिपूर्ण तलैयों से ये सब आश्रम सुशोभित थे ॥ ६ ॥

---

१ अग्निशरणैः—अग्निहोत्रगृहैः। (गो०) २ बलिभिः—भूतबलिप्रभृतिभिः। (गो०) ३ होमैर्वैश्वदेवादिहोमैश्च। (गो०)

फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः ।
सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्[1]मुनिभिर्वृतम् ॥ ७ ॥

इन सब आश्रमों में कन्दमूल फल खाने वाले, चीर और मृगचर्म धारण करने वाले, जितेन्द्रिय, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, तथा वृद्ध मुनिगण वास करते थे ॥ ७ ॥

पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः[2] ।
तद्ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ॥ ८ ॥

ये आश्रम, नियताहारी और पवित्र परमर्षियों से सुशोभित और सदा वेदों के पढ़ने का शब्द होते रहने के कारण, ब्रह्मलोक के समान प्रसिद्ध थे ॥ ८ ॥

ब्रह्मविद्भिर्[3]महाभागैर्ब्राह्मणैरुपशोभितम् ।
स दृष्ट्वा राघवः श्रीमांस्तापसाश्रममण्डलम् ॥ ९ ॥

परब्रह्म का ज्ञान रखने वाले महाभाग ब्राह्मणों से सुशोभित इन आश्रमों को देख, श्रीमान् रामचन्द्र जी ने ॥ ९ ॥

अभ्यगच्छन्महातेजा विज्यं कृत्वा महद्धनुः ।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः ॥ १० ॥

अपने बड़े धनुष का रोदा उतार कर, उन आश्रमों की ओर गमन किया। दिव्यज्ञानसम्पन्न महर्षियों ने जब श्रीरामचन्द्र जी को आते हुए जाना ॥ १० ॥

---

१ पुराणैः—वृद्धैः। (गो०) २ परमर्षिभिः—उत्कृष्टमुनीनामपि पूजनीयैः। (गो०)
३ ब्रह्मविद्भिः—परब्रह्मज्ञानिभिः। (गो०)

अभ्यगच्छंस्तथा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम् ।
ते[1] तं सोममिवोद्यन्तं[2] दृष्ट्वा वै धर्मचारिणः ॥ ११ ॥

तब प्रसन्न हो, वे त्रिकालज्ञ महर्षि श्रीरामचन्द्र और यशस्विनी जानकी जी की ओर चले। उन लोगों ने अन्धकारनाशक चन्द्रमा के समान श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ ११ ॥

लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम् ।
मङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्ण[3]न्दृढव्रताः ॥ १२ ॥

साथ में लक्ष्मण तथा यशस्विनी सीताजी को देख, उन दृढ़ व्रतधारी महर्षियों ने तीनों को मङ्गलाशीर्वाद दिया और उनको अपनी रक्षा करने वाले देवता समझ, उनका यथाविधि आदर सत्कार किया ॥ १२ ॥

रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् ।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥ १३ ॥

वे सब वनवासी ऋषि गण, रामचन्द्र जी के रूप का सौन्दर्य, लावण्य, सुकुमारता और सुवेष को देख, अत्यन्त विस्मित हुए ॥ १३ ॥

[नोट—श्रीरामचन्द्र जी के शरीर और रूप को देख उन महर्षियों को इस लिये विस्मय हुआ कि, ऐसे सुकुमार इस महाघोर वन में क्यों आये हैं ।]

वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव ।
आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनचारिणः ॥ १४ ॥

---

१ ते—त्रिकालज्ञाः । (गो०) २ उद्यन्तं—सोममिव स्थितं अन्धकारनिवर्तन-प्रवृत्तंचन्द्रमिवास्थितं । (गो०) ३ प्रत्यगृह्णन्—संरक्षकेष्टदेवता बुद्ध्यापरिगृहीत-वन्तः । (रा०)

वे वनचारी ऋषिगण आश्चर्य में आ, श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी जी को बिना पलक झपकाये इकटक निहारते रहे ॥ १४ ॥

अत्रैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रतम् ।
अतिथिं पर्णशालायां[1] राघवं संन्यवेशयन् ॥ १५ ॥

तदनन्तर प्राणी मात्र के हित में तत्पर उन महाभाग ऋषियों ने अपूर्व अतिथि श्रीरामचन्द्र जी को लेजा कर अपनी पर्णकुटी में ठहराया ॥ १५ ॥

ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः ।
आजह्रुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः ॥ १६ ॥

अग्नि के समान तेजस्वी, महाभाग एवं धर्मचारी ऋषियों ने यथाविधि श्रीरामचन्द्र का सत्कार कर, हाथ पैर धोने के लिये जल दिया ॥ १६ ॥

मूलं पुष्पं फलं वन्यमाश्रमं च महात्मनः ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञास्ततः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ॥ १७ ॥

अनन्तर उन धर्मज्ञ, महात्मा और वन में रहने वाले ऋषियों ने कन्दमूल फल और फूल ला कर अर्पण किये और वे हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ १७ ॥

धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यस्त्वं महायशाः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरुः ॥ १८ ॥

हे रामचन्द्र ! आप वर्णाश्रम धर्म के पालनकर्त्ता और जनों के रक्षक तथा महायशस्वी हैं। शासनदण्ड धारण करने वाला राजा, गुरुवत् पूज्य और मान्य है ॥ १८ ॥

---

१ पर्णशालायां—स्वपर्णशालायां । (गो०)

इन्द्रस्येह[1] चतुर्भागः[2] प्रजा रक्षति राघव ।
राजा तस्माद्वरान्भोगान्भुङ्क्ते लोकनमस्कृतः ॥ १९ ॥

हे राघव ! राजा इस भूस्वर्ग में इन्द्र का चतुर्थांश है । वह प्रजा की रक्षा करता है, इसीलिये वह सब लोगों का प्रणम्य है और श्रेष्ठ और रमणीय पदार्थों का भोग करता है ॥ १६ ॥

[नोट—राजा को इन्द्र का चतुर्थांश कहने का आधार यह है—
"अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिः कल्पितो नृपः ।"]

ते वयं[3] भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः ।
नगरस्थो[4] वनस्थो[5] वा त्वं नो राजा जनेश्वरः ॥ २० ॥

हम लोग आपके राज्य में बसने वाले आपकी प्रजा हैं । अतः आपको हमारी रक्षा करनी चाहिये । आप चाहें नगर में रहें, चाहें वन में रहें; आप हमारे राजा हैं । अथवा चाहे आप राजसिंहासनासीन हों या न हों, किन्तु हमारे राजा आप ही हैं ॥ २० ॥

न्यस्तदण्डा[6] वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
रक्षितव्यास्त्वया शश्वद्गर्भभूता[7]स्तपोधनाः ॥ २१ ॥

हे राजन् ! हम लोगों ने क्रोध को त्याग कर इन्द्रियों को जीता है । अतः हम शाप द्वारा इन उपद्रवकारियों को दण्ड देने में असमर्थ हैं । अतएव आपको हम सब तपस्वियों की, प्रजा की तरह, सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

---

१ इह—भूस्वर्गे । (गो०) २ चतुर्भागः—चतुर्थांशः । (गो०) ३ ते वयं—आर्तावयं । (गो०) ४ नगरस्थः—सिंहासनस्थोवा । (गो०) ५ वनस्थः—तद्रहितोवा । (गो०) ६ न्यस्तदण्डा —शापतो निग्रहकरणरहिताः । (गो०) ७ गर्भभूताः प्रजातुल्याः (गो०)

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैर्वन्यैश्च राघवम्[1] ।
अन्यैश्च विविधाहारैः सलक्ष्मणमपूजयन् ॥ २२ ॥

यह कह कर उन लोगों ने फल फूल कन्द मूल आदि विविध प्रकार के वन में उत्पन्न होने वाले भोज्य पदार्थों से श्रीरामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण का अतिथि-सत्कार किया ॥ २२ ॥

तथान्ये तापसाः सिद्धा रामं वैश्वानरोपमाः[2] ।
न्यायवृत्ता[3] यथान्यायं तर्पयामासुरीश्वरम् ॥ २३ ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

इसी प्रकार वहाँ के उन अन्य सिद्धपुरुषों और तपस्वियों ने जो अपने स्वरूप के विरुद्ध काम्य कर्मों को त्याग चुके थे, और स्वरूपानुरूप कैङ्कर्य करते थे, श्रीरामचन्द्र जी का यथोचित सत्कार कर उनको सन्तुष्ट किया ॥ २३ ॥

अरण्यकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

द्वितीयः सर्गः

—:※:—

कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्योदयनं प्रति ।
आमन्त्र्य स मुनीन्सर्वान्वनमेवान्वगाहत ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी अगले दिन सूर्य के उदय होने पर उन सब मुनियों से बिदा माँग फिर आगे वन में चले ॥ १ ॥

---

१ राघवमित्यनेन सीतापूजनमप्यर्थ सिद्धः । (गो०) २ वैश्वानरोपमाः—स्वरूपविरुद्धनिषिद्ध काम्यकर्मान्तर त्यागिन इत्यर्थः । (गो०) ३ न्यायवृत्ता—स्वरूपानुरूपकैङ्कर्यवृत्तयः । (गो०)

नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलवृकसेवितम् ।
ध्वस्तवृक्षलतागुल्मं दुर्दर्शसलिलाशयम् ॥ २ ॥

निष्कूजनानाशकुनि झिल्लिकागणनादितम् ।
लक्ष्मणानुगतो रामो वनमध्यं ददर्श ह ॥ ३ ॥

उस वन में अनेक प्रकार के जीव जन्तु थे तथा शार्दूल और भेड़िया घूमा फिरा करते थे। उस वन में कहीं भी न वृक्ष, न लता, न गुल्म दिखलाई पड़ते थे। तालाबों का जल सूख जाने के कारण वे केवल भयङ्कर ही नहीं देख पड़ते थे, बल्कि जलाभाव के कारण वहाँ किसी पक्षी की बोली भी नहीं सुन पड़ती थी। केवल झिल्ली की झनकार सुनाई देती थी। चलते चलते सीता, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वन के बीच में पहुँच, वहाँ का यह भयङ्कर दृश्य देखा ॥ २ ॥ ३ ॥

वनमध्ये तु काकुत्स्थस्तस्मिन्घोरमृगायुते ।
ददर्श गिरिशृङ्गाभं पुरुषादं महास्वनम् ॥ ४ ॥

जंगली पशुओं से सेवित उस घोर वन के बीच पहुँच, श्रीरामचन्द्र जी ने पहाड़ की चोटी के समान लंबा, नरमांसभक्षी, महाशब्द करनेवाला एक राक्षस देखा ॥ ४ ॥

गम्भीराक्षं महावक्त्रं विकटं[1] विषमोदरम्[2] ।
बीभत्सं विषमं दीर्घं विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५ ॥

उस राक्षस की आँखें माथे के भीतर बहुत गहरी घुसी हुई थीं, मुँह बहुत लंबा था, उसका शरीर विशाल था, पेट ऊँचा नीचा था,

---

१ विकटं—विशालं। (गो०) २ विषमोदरं—निम्नोन्नतोदरं। (गो०)

उसकी आकृति बड़ी घिनौनी थी, उसका शरीर टेढ़ा मेढ़ा था, ऊँचा नीचा, ख़ाली भरा हुआ था अर्थात् उसके शरीर का एक भी अंग एक सा न था। अतः वह देखने में बड़ा भयङ्कर जान पड़ता था ॥ ५ ॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वसार्द्रं रुधिरोक्षितम् ।
त्रासनं सर्वभूतानां व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

वह राक्षस रुधिर से भींगा हुआ व्याघ्र का चमड़ा ओढ़े हुए था। जब वह अपना मुँह फैला कर जमुहाई लेता था, तब वह काल की तरह सब प्राणियों को त्रस्त कर देता था अर्थात् उसका खुला हुआ मुख देख सब प्राणी भयभीत हो जाते थे ॥ ६ ॥

त्रीन्सिंहांश्चतुरो व्याघ्रान्द्वौ वृषौ पृषतान्दश ।
सविषाणं वसादिग्धं गजस्य च शिरो महत् ॥ ७ ॥

अवसज्यायसे शूले विनदन्तं महास्वनम् ।
स रामं लक्ष्मणं चैव सीतां दृष्ट्वाथ मैथिलीम् ॥ ८ ॥

वह तीन शेर, चार व्याघ्र, दो बैल और दस बारहसिंहों तथा दांतों सहित चर्बी से भरा हुआ एक हाथी का मस्तक, जो लोहे के त्रिशूल में विधा हुआ था, लिये हुए तथा नाद करता और चिल्लाता हुआ देख पड़ा। वह श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को देख, ॥७॥८॥

अभ्यधावत संक्रुद्धः प्रजाः काल इवान्तकः ।
स कृत्वा भैरवं नादं चालयन्निव मेदिनीम् ॥ ९ ॥

अङ्केनादाय वैदेहीमपक्रम्य ततोऽब्रवीत् ।
युवां जटाचीरधरौ सभार्यौ क्षीणजीवितौ ॥ १० ॥

और महाक्रोध में भर, प्रलयकारी काल के समान उनकी ओर दौड़ा। वह महाभयङ्कर राक्षस गर्जन कर, पृथिवी को कँपाता हुआ, सीता को गोदी में उठा और कुछ दूर जा कर कहने लगा—तुम दोनों जटाचीर धारण किये स्त्रियों सहित इस वन में जो आये हो, सो तुम अपने को कुछ ही क्षणों का महमान समझो अथवा अपने को मरा हुआ ही समझो ॥९॥१०॥

[नोट—मूल में "सभार्यौ" द्विवचन में भार्या शब्द का प्रयोग करने से जान पड़ता है कि, विराध ने समझा कि, सीता दोनों की भार्या है।]

प्रविष्टौ दण्डकारण्यं शरचापासिधारिणौ।
कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह॥ ११ ॥

इस दण्डकवन में (तुम सिर्फ जटा चीर धारी बनकर ही नहीं किन्तु) तीर कमान ले और तलवार बांध कर आये हो। फिर जब तुम तपस्वी का रूप (जटाचीर धारण करने से) धारण किये हो, तब यह तो बतलाओ कि, स्त्री के साथ तपस्वियों का रहना कैसे सम्भव है ॥ ११ ॥

अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ।
अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः॥ १२ ॥

अतः बतलाओ तुम दोनों अधर्मी, पापी और मुनियों का नाम धराने वाले कौन हो ? मैं विराध नामक राक्षस हूँ और इस दुर्गम वन में ॥ १२ ॥

चरामि सायुधो नित्यमृषिमांसानि भक्षयन्।
इयं नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति॥ १३ ॥

शस्त्र लिये ऋषि मुनियों के मांस को भक्षण करता हुआ, नित्य घूमा करता हूँ। यह सुन्दरी नारी मेरी भार्या होगी ॥ १३ ॥

विराधवध

युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मृधे ।
तस्यैवं ब्रुवतो धृष्टं विराधस्य दुरात्मनः ॥ १४ ॥

तुम दोनों महापापी हो, अतः तुम दोनों के साथ में युद्ध कर, तुम्हारा दोनों का रुधिर पिऊँगा । जब उस दुरात्मा विराध ने ऐसे धृष्टतापूर्ण वचन कहे ॥ १४ ॥

श्रुत्वा सगर्वं वचनं सम्भ्रान्ता जनकात्मजा ।
सीता प्रावेपतोद्वेगात्प्रवाते कदली यथा ॥ १५ ॥

तब उसके इन अहङ्कार युक्त वचनों को सुन कर, जानकी जी डरीं और मारे डर के वे वायु के वेग से काँपते हुए, केले के पेड़ की तरह, थर थर काँपने लगीं ॥ १५ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः सीतां विराधाङ्कगतां शुभाम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणं वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १६ ॥

उधर श्रीरामचन्द्र जी सीता को विराध की गोदी में देख, उदास हो लक्ष्मण से बोले ॥ १६ ॥

पश्य सौम्य नरेन्द्रस्य जनकस्यात्मसम्भवाम् ।
मम भार्यां शुभाचारां विराधाङ्के प्रवेशिताम् ॥ १७ ॥

हे सौम्य ! देखो राजा जनक की बेटी, शुद्धाचरण वाली मेरी भार्या सीता, विराध द्वारा पकड़ ली गयी है ॥ १७ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धां राजपुत्रीं मनस्विनीम् ।
यदभिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृतं च यत् ॥ १८ ॥

यह मनस्विनी राजपुत्री बड़े लाड़प्यार से पाली पोसी गयी है। सो इसकी यह दशा हुई। सो जिस उद्देश्य से कैकेयी ने वरदान मांगा था वह उसका उद्देश्य आज सफल हुआ ॥ १८ ॥

कैकेय्यास्तु सुसम्पन्नं क्षिप्रमद्यैव लक्ष्मण ।
या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घदर्शिनी ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! कैकेयी बड़ी दूरदर्शिनी है जो अपने पुत्र को राज्य दिला कर भी सन्तुष्ट न हुई (और हमें इस अभिप्राय से वन में भेजा कि, वन में जब सीता को राक्षस हर लेंगे और राम उस दुःख से मर जांयगे तब मेरे बेटे का राज्य निष्कण्टक हो जायगा) इतनी जल्दी उसी कैकेयी की मनोभिलाष आज पूरी हुई ॥ १९ ॥

ययाहं सर्वभूतानां हितः प्रस्थापितो वनम् ।
अद्येदानीं सकामा सा या माता मम मध्यमा ॥ २० ॥

जिस कैकेयी ने मुझ जैसे सब प्राणियों के हितैषी को वन में निकलवा दिया उस मेरी मझली माता कैकेयी का इस घड़ी मनोरथ पूर्ण हुआ ॥ २० ॥

[नोट — जिस कैकेयी को श्रीरामचन्द्र ने पहिले "कनीयसी" छोटी माता कहा था अब उसीको "मध्यमा माता" क्यों कहा — इसका समाधान भूषणटीकाकार ने इस प्रकार किया है। "यद्यपि पूर्वं मम माता कनीयसीत्युक्तं तथापि महिषीत्रयोपेक्षया कनीयसीत्वं, सर्वदशरथपत्न्यपेक्षया मध्यमत्वं । त्रिशतं पञ्चाशच्च दशरथपत्न्यः सन्तीति पूर्वमेवोक्तं ।]

परस्पर्शात्तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे ।
पितुर्वियोगात्सौमित्रे स्वराज्यहरणात्तथा ॥ २१ ॥

हे लक्ष्मण ! इस समय सीता का राक्षस द्वारा छुआ जाना देख, मुझको जैसा दुःख हो रहा है वैसा दुःख मुझे न तो पिता के मरने पर हुआ और न राज्य छूटने पर हुआ ॥ २१ ॥

इति ब्रुवति काकुत्स्थे बाष्पशोकपरिप्लुते ।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २२ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब आँखों में आँसू भर और शोकाकुल हो लक्ष्मण जी मंत्रमुग्ध सर्प की तरह क्रोध में भर फुँफकार मारते हुए, यह बोले ॥ २२ ॥

अनाथ इव भूतानां नाथस्त्वं वासवोपमः ।
मया प्रेष्येण काकुत्स्थ किमर्थं परितप्यसे ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मेरे जैसे सेवक के साथ होते हुए और इन्द्र की तरह सब प्राणियों के स्वयं स्वामी हो कर भी, आप एक अनाथ की तरह क्यों सन्तप्त हो रहे हैं ? ॥ २३ ॥

शरेण निहतस्याद्य मया क्रुद्धेन रक्षसः ।
विराधस्य गतासोर्हि मही पास्यति शोणितम् ॥ २४ ॥

मैं क्रुद्ध हो, अभी इस राक्षस को बाण से मार इसका रुधिर पृथिवी को पिलाता हूँ ॥ २४ ॥

राज्यकामे मम क्रोधो भरते यो बभूव ह ।
तं विराधे मोक्ष्यामि वज्री वज्रमिवाचले ॥ २५ ॥

राज्य की कामना रखने वाले भरत पर मुझे जो क्रोध आया था, वह क्रोध आज मैं इस विराध पर उसी तरह उतारूँगा, जैसे इन्द्र वज्र का प्रहार कर पहाड़ों पर अपना क्रोध उतारते हैं ॥ २५ ॥

मम भुजबलवेगवेगितः
पततु शरोऽस्य महान्महोरसि ।
व्यपनयतु तनोश्च जीवितं
पततु ततः स महीं विघूर्णितः ॥ २६ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे राम ! मेरी भुजाओं के बल के वेग से चलाया हुआ महाबाण इसके हृदय को विदीर्ण कर इसको मार डालेगा और यह घुमरी खाता हुआ पृथिवी पर गिरेगा ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

तृतीयः सर्गः

—:*:—

इत्युक्त्वा लक्ष्मणः श्रीमान्राक्षसं प्रहसन्निव ।
को भवान्वनमभ्येत्य चरिष्यति यथासुखम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी से यह कह श्रीमान् लक्ष्मण ने (तिरस्कार सूचक) मुसक्या कर राक्षस से पूछा कि, आप कौन हैं जो इस प्रकार स्वेच्छाचारी हो इस वन में घूमा करते हैं ॥ १ ॥

अथोवाच पुनर्वाक्यं विराधः पूरयन्वनम् ।
आत्मानं पृच्छते ब्रूतं कौ युवां क्व गमिष्यथः ॥ २ ॥

इसके उत्तर में विराध अपनी गम्भीर वाणी से उस वन को फिर पूर्ण करता हुआ बोला—मैं जो तुमसे पूँछता हूँ उसका उत्तर दो कि, तुम दोनों कौन हो और कहाँ जा रहे हो ॥ २ ॥

तमुवाच ततो रामो राक्षसं ज्वलिताननम् ।
पृच्छन्तं सुमहातेजा इक्ष्वाकुकुलमात्मनः ॥ ३ ॥

यह सुन अंगार के समान जलते हुए भयङ्कर मुख वाले राक्षस को श्रीरामचन्द्र जी ने अपने इक्ष्वाकुवंश का नाम बतलाया ॥ ३ ॥

क्षत्रियौ वृत्तसम्पन्नौ विद्धि नौ वनगोचरौ ।
त्वां तु वेदितुमिच्छावः कस्त्वं चरसि दण्डकान् ॥ ४ ॥

और कहा कि, हम क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय वर्णोचित वृत्ति सम्पन्न हैं और वन में आये हैं, यह तुझे जान लेना चाहिये। हम तेरा परिचय भी चाहते हैं कि, इस दण्डक वन में घूमने वाला तू कौन है ॥ ४ ॥

तमुवाच विराधस्तु रामं सत्यपराक्रमम् ।
हन्त वक्ष्यामि ते राजन्निबोध मम राघव ॥ ५ ॥

यह सुन विराध ने सत्यपराक्रम श्रीराम से कहा—हे राघव! मैं अपना वृत्तान्त कहता हूँ, तुम सुनो ॥ ५ ॥

पुत्रः किल जयस्याहं मम माता शतह्रदा ।
विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसाः ॥ ६ ॥

मैं निश्चय ही जय का पुत्र हूँ और शतह्रदा मेरी माता है। इस पृथिवी के सब राक्षस मुझे विराध नाम से पुकारते हैं ॥ ६ ॥

तपसा चापि मे प्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा ।
शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च ॥ ७ ॥

मैंने अपनी तपस्या के बल से ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर, उनसे यह वरदान पाया है कि, मैं किसी शस्त्र से न तो घायल होऊँ और न मारा ही जा सकूँ ॥ ७ ॥

उत्सृज्य प्रमदामेनामनपेक्षौ यथागतम् ।
त्वरमाणौ पलायेथां न वां जीवितमाददे ॥ ८ ॥

अतः तुम इस स्त्री को और मेरे साथ लड़कर विजय प्राप्त करने की इच्छा को त्याग कर जहाँ से आये हो वहीं को भाग जाओ। मेरी इच्छा नहीं कि मैं तुम्हारा वध करूँ ॥ ८ ॥

तं रामः प्रत्युवाचेदं कोपसंरक्तलोचनः ।
राक्षसं विकृताकारं विराधं पापचेतसम् ॥ ९ ॥

विराध के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्रजी क्रोध में भर लाल लाल आँखे कर, उस पापी और विकट शरीर वाले विराध राक्षस से बोले ॥ ९ ॥

क्षुद्र धिक्त्वां तु हीनार्थं मृत्युमन्वेषसे ध्रुवम् ।
रणे संप्राप्स्यसे तिष्ठ न मे जीवन्गमिष्यसि ॥ १० ॥

हे अधम ! तुझको धिक्कार है । तू बड़ी ओछी जाति का है । तू निश्चय ही अपनी मौत को खोज में है । सो खड़ा रह, तू आज मुझसे युद्ध कर, जीता बच कर न जा पावेगा ॥ १० ॥

ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशिताञ्छरान् ।
सुशीघ्रमभिसंधाय राक्षसं निजघान ह ॥ ११ ॥

यह कह श्रीरामचन्द्र जी ने उस राक्षस को लक्ष्य कर शीघ्र धनुष पर रोदा चढ़ाया और उस पर बड़े पैने बाण रखकर चलाये ॥ ११ ॥

धनुषा ज्यागुणवता सप्त बाणान्मुमोच ह ।
रुक्मपुङ्खान्महावेगान्सुपर्णानिलतुल्यगान् ॥ १२ ॥

उन्होंने धनुष पर रोदा चढ़ा सुनहले पुंखों से युक्त पवन और गरुड़ के समान शीघ्रगामी सात बाण चलाये ॥ १२ ॥

ते शरीरं विराधस्य भित्त्वा बर्हिणवाससः ।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां पावकोपमाः ॥ १३ ॥

वे बाण जिनमें मोर के पंख लगे हुए थे विराध के शरीर को फोड़ ख़ून से सने, अग्नि की तरह लाल लाल पृथिवी पर जा गिरे ॥ १३ ॥

स विद्धो न्यस्य वैदेहीं शूलमुद्यम्य राक्षसः ।
अभ्यद्रवत्सुसंक्रुद्धस्तदा रामं सलक्ष्मणम् ॥ १४ ॥

बाणों से विद्ध हुआ विराध, सीता जी को छोड़, और हाथ में त्रिशूल ले क्रोध में भर श्रीराम लक्ष्मण की ओर झपटा ॥ १४ ॥

स विनद्य महानादं शूलं शक्रध्वजोपमम् ।
प्रगृह्याशोभत तदा व्यात्ताननं इवान्तकः ॥ १५ ॥

उस समय वह बड़ा नाद करता और इन्द्रध्वज के समान शूल को हाथ में लिये हुए ऐसा जान पड़ता था, मानों मुख फैलाये साक्षात् काल दौड़ा हुआ आता हो ॥ १५ ॥

अथ तौ भ्रातरौ दीप्तं शरवर्षं ववर्षतुः ।
विराधे राक्षसे तस्मिन्कालान्तकयमोपमे ॥ १६ ॥

उस राक्षस को अपनी ओर आता देख दोनों भाई, उस यमराज की समान विराध राक्षस पर चमकते हुए तीरों की वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

स प्रहस्य महारौद्रः स्थित्वाऽजृम्भत राक्षसः ।
जृम्भमाणस्य ते बाणाः कायान्निष्पेतुराशुगाः ॥ १७ ॥

तब वह महाभयङ्कर राक्षस हँसा और खड़े हो कर उसने जमुहाई ली। उसके जमुहाई लेते ही वे शीघ्रगामी बाण उसके शरीर से निकल कर पृथिवी पर गिर पड़े॥ १७॥

बलात्तु वरदानस्य प्राणान्संरोध्य राक्षसः।
विराधः शूलमुद्यम्य राघवावभ्यधावत॥ १८॥

यद्यपि विराध उन बाणों के आघात से अति पीड़ित था; तथापि वरदान के बल से वह मरा नहीं और जीता रहा और शूल उठा दोनों भाइयों की ओर दौड़ा॥ १८॥

तच्छूलं वज्रसङ्काशं गगने ज्वलनोपमम्[1]।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद रामः शस्त्रभृतां वरः॥ १९॥

तब शस्त्रधारण करने वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने वज्र और आकाशस्थ अग्नि के समान उसके शूल को दो बाणों से काट कर गिरा दिया॥ १९॥

तद्रामविशिखच्छिन्नं शूलं तस्य कराद्भुवि।
पपाताशनिना च्छिन्नं मेरोरिव शिलातलम्॥ २०॥

विराध के हाथ से वह शूल श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कट टुकड़े टुकड़े हो उसी तरह पृथिवी पर गिरा, जिस प्रकार वज्र के आघात से मेरुपर्वत की शिलाएँ टुकड़े टुकड़े हो गिरती हैं॥ २०॥

तौ खड्गौ क्षिप्रमुद्यम्य कृष्णसर्पोपमौ शुभौ।
तूर्णमापततस्तस्य तदा प्राहरतां बलात्॥ २१॥

जब उसका शूल कट गया, तब श्रीराम और लक्ष्मण अपनी अपनी तलवारों को ले, अति शीघ्र काटने को तैयार नाग की तरह

---

१ गगने ज्वलनः—आकाशस्थाग्निः। (गो०)

उस पर झपटे और उस पर बल पूर्वक तलवारों का वार करने लगे ॥ २१ ॥

स वध्यमानः सुभृशं बाहुभ्यां परिरभ्य तौ ।
अप्रकम्प्यौ नरव्याघ्रौ रौद्रः प्रस्थातुमैच्छत ॥ २२ ॥

जब वह राक्षस तलवारों के आघात से अत्यन्त पीड़ित हुआ, तब दोनों पुरुषश्रेष्ठों को जो बड़ी धीरता से लड़ रहे थे, और जिन्हें कोई हरा नहीं सकता था, विराध दोनों हाथों से पकड़ और अपने कंधों पर रख, ले चला (इस लिये कि दूर लेजा कर दोनों को ज़मीन पर पटक कर मार डालें) ॥ २२ ॥

तस्याभिप्रायमाज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
वहत्वयमलं तावत्पथाऽनेन तु राक्षसः ॥ २३ ॥
यथा चेच्छति सौमित्रे तथा वहतु राक्षसः ।
अयमेव हि नः पन्था येन याति निशाचरः ॥ २४ ॥

उसके अभिप्राय को समझ श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—बड़ी अच्छी बात है कि, यह हमें कंधे पर चढ़ा ले जा रहा है। अतः हे लक्ष्मण ! जहाँ इसकी हमें ले जाने कि इच्छा हो इसे ले चलने दो, क्योंकि इसी मार्ग से जिससे यह हमको लिये जा रहा है—हमें जाना है ॥ २३ ॥ २४ ॥

स तु स्वबलवीर्येण समुत्क्षिप्य निशाचरः ।
बालाविव स्कन्धगतौ चकारातिबलौ ततः ॥ २५ ॥

उस अतिबली विराध राक्षस ने अपने बल पराक्रम से श्रीराम और लक्ष्मण को दो बालकों की तरह अपने दोनों कंधों पर बिठा लिया ॥ २५ ॥

तावारोप्य ततः स्कन्धं राघवौ रजनीचरः ।
विराधो निनदन्घोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥ २६ ॥

वह विराध राक्षस श्रीराम लक्ष्मण को अपने कंधों पर रख, बड़े ज़ोर से चिल्लाता हुआ वन की ओर चला ॥ २६ ॥

वनं महामेघनिभं प्रविष्टो
द्रुमैर्महद्भिर्विविधैरुपेतम् ।
नानाविधैः पक्षिशतैर्विचित्रं ।
शिवायुतं व्यालमृगैर्विकीर्णम् ॥ २७ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

फिर वह राक्षस महामेघ के तुल्य अनेक प्रकार के बड़े बड़े वृक्षों से युक्त विविध प्रकार के पक्षियों के समूह से परिपूर्ण, सियार, अजगरों और मृगों से युक्त वन में उन दोनों को ले चला ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुर्थः सर्गः

—※—

ह्रियमाणौ तु तौ दृष्ट्वा वैदेही रामलक्ष्मणौ ।
उच्चैःस्वरेण चुक्रोश प्रगृह्य[1] सुभुजा भुजौ ॥ १ ॥

जब विराध श्रीराम और लक्ष्मण को हरण कर ले चला, तब यह देख जानकी जी अपनी बड़ी बड़ी भुजाएँ उठा ज़ोर ज़ोर से रो कर कहने लगीं ॥ १ ॥

---

१ प्रगृह्य—उद्यम्य । (रा०)

एष दाशरथी रामः सत्यवा[1]ञ्शीलवा[2]ञ्शुचिः[3] ।
रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सहलक्ष्मणः ॥ २ ॥

हा ! यह भयानक राक्षस, महाराज दशरथ के सत्यभाषी, सदाचारी और सीधे सादे पुत्र श्रीरामचन्द्र को, लक्ष्मण सहित हरे लिये जाता है ॥ २ ॥

मां वृका भक्षयिष्यन्ति शार्दूला द्वीपिनस्तथा ।
मां हरोत्सृज्य काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम ॥ ३ ॥

अब मुझे ये वनैले जन्तु शेर चीते खा डालेंगे । हे राक्षसोत्तम ! मैं तुझे नमस्कार करती हूँ। तू इन दोनों काकुत्स्थ-राजकुमारों को छोड़ दे और इनके बदले मुझे हर ले ॥ ३ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वेगं[4] प्रचक्रतुर्वीरौ वधे तस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥

सीता का ऐसा वचन सुन दोनों वीर भाई श्रीराम और लक्ष्मण, उस दुरात्मा के घात के लिये उद्यत हो, शीघ्रता करने लगे ॥ ४ ॥

तस्य रौद्रस्य सौमित्रिर्बाहुं सव्यं बभञ्ज ह ।
रामस्तु दक्षिणं बाहुं तरसा[5] तस्य रक्षसः ॥ ५ ॥

उस भयङ्कर राक्षस की बाईं भुजा लक्ष्मण जी ने और दहिनी भुजा श्रीरामचन्द्रजी ने बल लगा कर तोड़ डाली ॥ ५ ॥

---

१ सत्यवान्—सत्यवचनवान् । (गो०) २ शीलवान—सदाचारसम्पन्नः । (गो०) ३ शुचिः—ऋजबुद्धिः । (गो०) ४ वेगं—त्वराम् । (रा०) ५ तरसा—बलेन । (गो०)

स भग्नबाहुः संविग्नो[1] निपपाताशु राक्षसः ।
धरण्यां मेघसङ्काशो वज्रभिन्न इवाचलः ॥ ६ ॥

जब उस राक्षस की दोनों बांहें टूट गयीं तब वह मेघ के समान काला राक्षस भयभीत हो तुरन्त ज़मीन पर वैसे ही गिर पड़ा, जैसे वज्र के आघात से पर्वत टूट कर गिरता है ॥ ६ ॥

मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिः सूदयन्तौ तु राक्षसम् ।
उद्यम्योद्यम्य चाप्येनं स्थण्डिले निष्पिपेषतुः ॥ ७ ॥

उस समय वे दोनों भाई उस राक्षस को घूंसों से मारते, पैरों से ठुकराते और उठा उठा कर ज़मीन पर पटकते हुए उसे चूर्ण किये डालते थे ॥ ७ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैः खड्गाभ्यां च परिक्षतः ।
निष्पिष्टो बहुधा भूमौ न ममार स राक्षसः ॥ ८ ॥

यद्यपि उस राक्षस के शरीर में अनेक तीर विंधे हुए थे और वह तलवारों के अनेक घाव खाये हुए था, तथा कई बार ज़मीन पर उसने पटकी भी खायी थी, तथापि वह मरा नहीं था ॥ ८ ॥

तं प्रेक्ष्य रामः सुभृशमवध्यमचलोपमम् ।
भयेष्वभयदः[2] श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

भय के समय, स्वगुणों के कीर्त्तन, स्मरणादि करने पर अभय देने वाले श्रीरामचन्द्र ने उस पर्वत के समान सर्वथा अवध्य राक्षस का दोष लक्ष्मण से कहा ॥ ९ ॥

---

१ संविग्नः—भीतः । (गो०) २ भयेषु अभयदः—भयकालेषु अभयदः । स्वगुणादि श्रवण स्मरण कीर्तिनादिना । (रा०)

तपसा पुरुषव्याघ्र राक्षसोऽयं न शक्यते ।
शस्त्रेण युधि निर्जेतुं राक्षसं निखनावहे ॥ १० ॥

हे पुरुषसिंह! यह राक्षस अपने तपोबल से शस्त्र द्वारा नहीं जीता जा सकता, अतः आओ इसे पृथिवी में गाड़ दें ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं राक्षसः प्रश्रितं[1] वचः ।
इदं प्रोवाच काकुत्स्थं विराधः पुरुषर्षभम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी का वचन सुन वह राक्षस विनय पूर्वक पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगा ॥ ११ ॥

हतोऽहं पुरुषव्याघ्र शक्रतुल्यबलेन वै ।
मया तु पूर्वं त्वं मोहान्न ज्ञातः पुरुषर्षभः ॥ १२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! हे पुरुषसिंह! मैं आपके इन्द्र तुल्य पराक्रम से अधमरा हो गया हूँ। मैंने अब तक अज्ञान से आपको नहीं पहचाना था ॥ १२ ॥

कौसल्या सुप्रजा तात रामस्त्वं विदितो मया ।
वैदेही च महाभागा लक्ष्मणश्च महायशाः ॥ १३ ॥

हे तात! अब इस समय मैंने जाना कि, आप श्रीराम हैं और आपके कारण देवी कौशल्या सुपुत्रवती हुई हैं। इन सौभाग्यवन्ती सीता और महायशस्वी लक्ष्मण को भी मैंने भली भाँति पहचान लिया है ॥ १३ ॥

अपि शापादहं घोरां प्रविष्टो राक्षसीं तनुम् ।
तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वः शप्तो वैश्रवणेन ह ॥ १४ ॥

---

१ प्रश्रितं—विनयान्वितं । (गो०)

हे राम ! मैंने शापवश यह घोर राक्षसशरीर पाया है। मैं पहले तुम्बरु नाम का गन्धर्व था। मुझे कुवेर ने शाप दिया था ॥ १४ ॥

प्रसाद्यमानश्च मया सोऽब्रवीन्मां महायशाः।
यदा दाशरथी रामस्त्वां वधिष्यति संयुगे ॥ १५ ॥

शाप देने के बाद जब मैंने उनको प्रसन्न किया, तब वे महायशस्वी मुझसे बोले कि, जब दशरथनन्दन श्रीराम तुझे युद्ध में मारेंगे ॥१५॥

तदा प्रकृतिमापन्नो[1] भवान्स्वर्गं गमिष्यति।
इति वैश्रवणो राजा रम्भासक्तं पुराऽनघ ॥ १६ ॥

तब तू फिर अपने पूर्ववत् शरीर को प्राप्त कर स्वर्ग को जायगा। हे अनघ ! मुझे राजा वरुण जी ने यह शाप इस लिये दिया था कि, रम्भा पर मैं आसक्त हो गया था ॥ १६ ॥

अनुपस्थीयमानो मां संक्रुद्धो व्याजहार ह।
तव प्रसादान्मुक्तोऽहमभिशापात्सुदारुणात् ॥ १७ ॥

अतः मैं समय पर वरुण जी के पास उपस्थित न हो सका। इस पर अप्रसन्न हो उन्होंने शाप दिया। अब मैं आपकी कृपा से उस दारुण शाप से छूट गया ॥ १७ ॥

भुवनं स्वं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु परन्तप।
इतो वसति धर्मात्मा शरभङ्गः प्रतापवान् ॥ १८ ॥

हे परन्तप ! आपका मङ्गल हो, मैं अब अपने लोक को जाऊँगा। इसी वन में प्रतापी एवं धर्मात्मा शरभङ्ग जी का आश्रम है ॥ १८ ॥

---

१ प्रकृतिं—स्वरूपं। (गो०)

अध्यर्धयोजने तात महर्षिः सूर्यसन्निभः ।
तं क्षिप्रमभिगच्छ त्वं स ते श्रेयो विधास्यति ॥ १९ ॥

हे तात ! सूर्य के समान उन महर्षि का आश्रम यहाँ से डेढ योजन की दूरी पर है । उनके समीप आप शीघ्र जाँय । वे आपका भला करेंगे ॥ १९ ॥

अवटे चापि मां राम प्रक्षिप्य कुशली व्रज ।
रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

हे राम ! आप मुझे गड्ढे में डाल कुशल पूर्वक चले जाइये । मरे हुए राक्षसों को ज़मीन में गाड़ना, यह प्राचीन प्रथा है ॥ २० ॥

अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः ।
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं विराधः शरपीडितः ॥ २१ ॥

क्योंकि जो मरे हुए राक्षस गड्ढा खोद कर गाड़ दिये जाते हैं, उनको सनातन लोक प्राप्त होते हैं । इस प्रकार विराध राक्षस, जो शरपीड़ित था, श्रीरामचन्द्र जी से कह ॥ २१ ॥

बभूव स्वर्गसंप्राप्तो न्यस्तदेहो महाबलः ।
तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं लक्ष्मणं व्यादिदेश ह ॥ २२ ॥

और शरीर को त्याग, स्वर्ग में चला गया । श्रीरामचन्द्र जी ने राक्षस के ये वचन सुन लक्ष्मण जी को आज्ञा दी ॥ २२ ॥

कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण ।
वनेऽस्मिन्सुमहच्छ्वभ्रं खन्यतां रौद्रकर्मणः ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम इन वन के बीच, प्रचण्ड हाथी की तरह भीमकर्मा इस राक्षस के शरीर को गाड़ने के लिये, एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदो ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥ २४ ॥

लक्ष्मणजी को गड्ढा खोदने की आज्ञा दे, पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी स्वयं भी अपने पैरों से विराध का गला दबा खड़े रहे ॥ २४ ॥

ततः खनित्रमादाय लक्ष्मणः श्वभ्रमुत्तमम् ।
अखनत्पार्श्वतस्तस्य विराधस्य महात्मनः ॥ २५ ॥

तब लक्ष्मण ने खंता ले, विराध के पास ही एक गड्ढा खोदा ॥ २५ ॥

तं मुक्तकण्ठं निष्पिष्य शङ्कुकर्णं[1] महास्वनम् ।
विराधं प्राक्षिपच्छ्वभ्रे नदन्तं भैरवस्वनम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने गधे जैसे कान वाले विराध के गले से अपने पैर हटा लिये और उसको उठा कर उस गड्ढे में डाल दिया। उस समय विराध अति घोर शब्द करने लगा ॥ २६ ॥

तमाहवे निर्जितमाशुविक्रमौ
स्थिरावुभौ संयति[2] रामलक्ष्मणौ ।
मुदान्वितौ चिक्षिपतुर्भयावहं
नदन्तमुत्क्षिप्य बिले तु राक्षसम् ॥ २७ ॥

---

१ शङ्कुकर्णं—शङ्कुः कीलंतत्सदृशं गर्दभाकारंवा। (गो०) २ संयति—युद्धस्थिरौ। (गो०)

युद्ध में स्थिर चित्त और सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र व लक्ष्मण ने प्रसन्न हो विकटाकार उस प्रकाण्ड राक्षस को, युद्ध में पराजित किया और अपने भुजबल से उठा कर, उस शोर करते हुए राक्षस को गड्ढे में डाल कर, ऊपर से वह गड्ढा मिट्टी से पाट दिया ॥ २७ ॥

अवध्यतां प्रेक्ष्य महासुरस्य तौ
शितेन शस्त्रेण तदा नरर्षभौ ।
समर्थ्य चात्यर्थविशारदावुभौ
बिले विराधस्य वधं प्रचक्रतुः ॥ २८ ॥

पैने से पैने शस्त्र से भी उस महाअसुर को मरते न देख, और उसके वध का एक मात्र उपाय गढ़े में गाढ़ना निश्चित कर उन दोनों चतुर भाइयों ने उसे गढ़े में गाढ़ कर उसका वध किया ॥ २८ ॥

स्वयं विराधेन हि मृत्युरात्मनः
प्रसह्य रामेण वधार्थमीप्सितः ।
निवेदितः काननचारिणा[1] स्वयं
न मे वधः शस्त्रकृतो भवेदिति ॥ २९ ॥

विराध ने बरजोरी अपनी मौत के लिये श्रीरामचन्द्रजी से इच्छा प्रकट की, क्योंकि उसने स्पष्ट अपने मुख से कहा कि, मैं किसी भी शस्त्र से नहीं मारा जा सकता ॥ २९ ॥

[नोट—आदिकाव्यकार ने यह श्लोक इस लिये लिखा है कि, जिससे लोग श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर यह दोष न लगावें कि, उन्होंने विराध को

1 काननचारिणा-विराधेन । (रा०)

जीवित ज़मीन में गाड़ दिया। इसका समाधान करने ही को इस श्लोक में कहा गया है कि, विराध ने अपने आप अपनी मौत बुलाई और वरदान द्वारा अस्त्र शस्त्र से अवध्य होने के कारण, उसका वध करने के लिये श्रीरामचन्द्र को उसे ज़िन्दा ज़मीन में गाड़ना पड़ा।]

तदेव रामेण निशम्य भाषितं
कृता मतिस्तस्य बिलप्रवेशने।
बिलं च रामेण बलेन रक्षसा
प्रवेश्यमानेन वनं विनादितम्॥ ३०॥

विराध का कहना मान कर ही श्रीरामचन्द्र ने उसको गड्ढे में डाला था। जिस समय वह गड्ढे में पटका गया, उस समय वह ऐसा गरजा कि, उसके चीत्कार से सारा वन प्रतिध्वनित हो गया॥ ३०॥

प्रहृष्टरूपाविव रामलक्ष्मणौ
विराधमुर्व्यां प्रदरे निखाय तम्।
ननन्दतुर्वीतभयौ महावने
शिलाभिरन्तर्दधतुश्च राक्षसम्॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण उस विराध राक्षस को पृथिवी में गाड़ और उस महावन में भय रहित हो अत्यन्त प्रसन्न हुए॥ ३१॥

ततस्तु तौ कार्मुकखड्गधारिणौ
निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम्।
विजह्रतुस्तौ मुदितौ महावने
दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव॥ ३२॥

इति चतुर्थः सर्गः॥

तदनन्तर धनुष और तलवार धारी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस राक्षस का वध कर और जानकी जी को ले उस महावन में प्रसन्न हो उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार आकाश में चन्द्र और सूर्य शोभित होते हैं ॥ ३२ ॥

अरण्यकाण्ड का चौथा सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चमः सर्गः

—※—

हत्वा तु तं भीमबलं विराधं राक्षसं वने ।
ततः सीतां परिष्वज्य समाश्वास्य च वीर्यवान् ॥ १ ॥

इस प्रकार पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने उस भयङ्कर राक्षस का वध कर, और सीता जी को गले लगा उनको बहुत कुछ ढाँढस बँधाया ॥ १ ॥

[नोट—सीता जी विराध द्वारा पकड़ी जाने से बहुत दुःखी और लज्जित थीं । अतः श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें बड़े प्यार से समझाया ।]

अब्रवील्लक्ष्मणं रामो भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।
कष्टं वनमिदं दुर्गं न च स्म वनगोचराः[1] ॥ २ ॥

और अपने तेजस्वी भाई लक्ष्मण से बोले—यह वन बड़ा दुर्गम और कष्टदायी है । हम लोगों ने ऐसा विकट वन इसके पूर्व कभी नहीं देखा था ॥ २ ॥

---

१ वयंचेतः पूर्वं कदापि ईदृशं वनं न दृष्टं । (रा०)

अभिगच्छामहे शीघ्रं शरभङ्गं तपोधनम् ।
आश्रमं शरभङ्गस्य राघवोऽभिजगाम ह ॥ ३ ॥

इसलिये आओ शीघ्र शरभङ्ग के आश्रम में चलें। यह कह श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर चले ॥ ३ ॥

तस्य देवप्रभावस्य तपसा[1] भावितात्मनः ।
समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम् ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँच कर, उन देवतुल्य प्रभाव वाले और तपस्या द्वारा ब्रह्म का साक्षात् किये हुए, शरभङ्ग के आश्रम में दूर से एक बड़ा चमत्कार देखा ॥ ४ ॥

विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरोपमम् ।
अवरुह्य रथोत्सङ्गात्सकाशे विबुधानुगम् ॥ ५ ॥

कि सूर्य और अग्नि के समान प्रकाशमान, देवराज इन्द्र अपने शरीर की प्रभा से प्रकाशित हो, देवताओं के साथ श्रेष्ठ रथ पर चढ़े हुए हैं ॥ ५ ॥

असंस्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम् ।
सुप्रभाभरणं देवं विरजोऽ[2]म्बरधारिणम् ॥ ६ ॥

श्याम रंग के घोड़ों से युक्त उनका रथ पृथिवी का स्पर्श न कर आकाश में चलता था, उनके सब आभूषण चमक रहे थे और पहिनने के वस्त्र भी उजले थे ॥ ६ ॥

तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।
हरिभि[3]र्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥

---

१ तपसा भवितात्मनः—साक्षात्कृत परब्रह्मणः "तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व" इति श्रुतेः। (गो०) २ विरजो—निर्मलं। (गो०) ३ हरिभिः—श्यामैः। (गो०)

ददर्शादूरतस्तस्य तरुणादित्यसन्निभम् ।
पाण्डुराभ्रघनप्रख्यं चन्द्रमण्डलसन्निभम् ॥ ८ ॥

अपश्यद्विमलं छत्रं चित्रमाल्योपशोभितम् ।
चामरव्यजने चाग्र्ये रुक्मदण्डे महाधने ॥ ९ ॥

गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि ।
गन्धर्वामरसिद्धाश्च बहवः परमर्षयः ॥ १० ॥

अन्तरिक्षगतं देवं वाग्भिरग्र्याभिरीडिरे ।
सह सम्भाषमाणे तु शरभङ्गेण वासवे ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दूर से देखा कि, उनके मस्तक पर तरुण सूर्य (मध्यान्ह के सूर्य) के समान अथवा सफेद मेघ के तुल्य अथवा चन्द्रमण्डल के सदृश विमल छत्र, जो चित्र विचित्र मालाओं से सुशोभित था, लगा हुआ है। उनके आगे सोने की डंडी के और मूल्यवान चवर और पंखा लिये हुए दो सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें उनके मस्तक पर डुला रही थीं। बहुत से देव गन्धर्व और सिद्ध और देवर्षिश्रेष्ठ शब्दों से युक्त स्तुति-पाठ करते जाते थे। उस समय इन्द्र शरभङ्ग जी से कुछ वार्त्तालाप कर रहे थे ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा शतक्रतुं तत्र रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
रामोऽथ रथमुद्दिश्य लक्ष्मणाय प्रदर्शयन् ॥ १२ ॥

वहाँ पर इन्द्र को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने, लक्ष्मण का ध्यान उस रथ की ओर आकृष्ट कर, लक्ष्मण से कहा ॥ १२ ॥

अर्चिष्मन्तं[1] श्रिया[2] जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण ।
प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! परम दीप्तमान, कान्तियुक्त, तपते हुए सूर्य की तरह चमकीले इस अद्भुत एवं आकाशचारी रथ को देखो ॥ १३ ॥

ये हयाः पुरुहूतस्य[3] पुरा शक्रस्य नः श्रुताः ।
अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम् ॥ १४ ॥

मैंने पहले अनेक यज्ञ करने वाले इन्द्र के घोड़ों के विषय में सुना था, सो निश्चय ही आकाशचारी श्याम रंग के दिव्य घोड़े वे ही हैं ॥ १४ ॥

इमे च पुरुषव्याघ्रा ये तिष्ठन्त्यभितो रथम् ।
शतं शतं कुण्डलिनो युवानः खड्गपाणयः ॥ १५ ॥
विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिघायतबाहवः ।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥ १६ ॥
उरोदेशेषु सर्वेषां हारा ज्वलनसन्निभाः ।
रूपं बिभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम् ॥ १७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस रथ के चारों ओर जो सैकड़ों युवा पुरुष कानों में कुण्डल पहिने कमर में तलवार बाँधे विशाल वक्षःस्थल और विशाल भुजा वाले, लाल पोशाक पहिने हुए, व्याघ्र के समान दुर्द्धर्ष और गले में अग्नि तुल्य हार पहिने हुए हैं, सब के सब पचीस वर्ष की उमर के जान पड़ते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ अर्चिष्मन्तं—सतेजस्कं । (गो०) २ श्रिया—कान्त्या । (गो०) ३ पुरुहूतस्य—यज्वभिर्बहुशो । (गो०)

एतद्धि किल देवानां वयो भवति नित्यदा ।
यथेमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते प्रियदर्शनाः ॥ १८ ॥

हे पुरुषसिंह! देवताओं की उम्र और सौन्दर्य निश्चय ही सदा ऐसा ही बना रहता है, जैसे कि ये अब देख पड़ते हैं ॥ १८ ॥

इहैव सह वैदेह्या मुहूर्तं तिष्ठ लक्ष्मण ।
यावज्जानाम्यहं व्यक्तं क एष द्युतिमान्रथे ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण! जब तक मैं जाकर यह जान लूँ कि, यह बैठा हुआ द्युतिमान पुरुष कौन है, तब तक तुम मुहूर्त भर सीता जी के साथ यहीं खड़े रहो ॥ १९ ॥

तमेवमुक्त्वा सौमित्रिमिहैव स्थीयतामिति ।
अभिचक्राम काकुत्स्थः शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ २० ॥

लक्ष्मण जी से यह कह कि, तुम यहीं खड़े रहो, श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर बढ़े ॥ २० ॥

ततः समभिगच्छन्तं प्रेक्ष्य रामं शचीपतिः ।
शरभङ्गमनुप्राप्य विविक्त इदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

शचीपति इन्द्र ने श्रीराम को आते देख, शरभङ्ग से बिदा माँगी और देवताओं से गुप्त रीति से यह बोले ॥ २१ ॥

इहोपयात्यसौ रामो यावन्मां नाभिभाषते ।
निष्ठां नयतु तावत्तु ततो मां द्रष्टुमर्हति ॥ २२ ॥

देखो श्रीरामचन्द्र इधर ही चले आ रहे हैं। सो उनको मुझसे बातचीत करने का अवसर न दे कर उनके यहाँ पहुँचने के पूर्व ही, यहाँ से हमें अन्यत्र ले चलो, जिससे वे हमें देख भी न पावें ॥ २२ ॥

जितवन्तं कृतार्थं च द्रष्टाऽहमचिरादिमम् ।
कर्म ह्यनेन कर्तव्यं महदन्यैः सुदुष्करम् ॥ २३ ॥
निष्पादयित्वा तत्कर्म ततो मां द्रष्टुमर्हति ।
इति वज्री तमामन्त्र्य मानयित्वा च तापसम् ॥ २४ ॥
रथेन हरियुक्तेन ययौ दिवमरिन्दमः ।
प्रयाते तु सहस्राक्षे राघवः सपरिच्छदम् ॥ २५ ॥

अभी इनको ऐसा बड़ा दुष्कर कार्य करना है, जो दूसरों से हो ही नहीं सकता । जब यह थोड़े दिनों बाद राक्षसों को जीत कर कृतकार्य होगें, तब मैं इनके दर्शन करूँगा । उस कार्य को कर चुकने पर ही यह मुझे देख सकेंगे । तदनन्तर इन्द्र महर्षि शरभङ्ग से बिदा माँग और उनका विशेष सन्मान कर, घोड़े जुते हुए रथ में बैठ स्वर्ग को चले गये । इन्द्र के जाने के बाद, श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण सहित ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

अग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गमुपागतम् ।
तस्य पादौ च संगृह्य रामः सीता च लक्ष्मणः ॥ २६ ॥

अग्निहोत्र में बैठे हुए शरभङ्ग जी के पास गये और श्रीरामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण ने उनके चरण छुए ॥ २६ ॥

निषेदुः समनुज्ञाता लब्धवासा निमन्त्रिताः ।
ततः शक्रोपयानं तु पर्यपृच्छत्स राघवः ॥ २७ ॥

शरभङ्ग ने उनके टिकने के लिये स्थान बतलाया और भोजन के लिये निमंत्रण दिया । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ इन्द्र के आने का कारण पूछा ॥ २७ ॥

शरभङ्गश्च तत्सर्वं राघवाय न्यवेदयत् ।
मामेष वरदो राम ब्रह्मलोकं निनीषति ॥ २८ ॥

शरभङ्ग ने सब वृत्तान्त कह सुनाया । (शरभङ्ग ने कहा) हे राम ! यह वरदाता इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक में ले जाने के लिये आये थे ॥ २८ ॥

जितमुग्रेण तपसा दुष्प्रापमकृतात्मभिः[1] ।
अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः ॥ २९ ॥

मैंने तप द्वारा वह लोक प्राप्त करने का अधिकार सम्पादन कर लिया, जिसे भगवद्-उपासना किये विना पाना कठिन है । हे पुरुष-सिंह ! यह विचार कर कि, आप समीप आ पहुँचे हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम् ।
त्वयाऽहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना ॥ ३० ॥

समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं देवसेवितम् ।
अक्षया नरशार्दूल मया लोका जिताः शुभाः ॥ ३१ ॥

अतः आप सरीखे प्रिय अतिथि के दर्शन किये विना, मुझे ब्रह्म-लोक में जाना अभीष्ट नहीं । हे पुरुषसिंह ! अब आप जैसे धर्म-निष्ठ और महात्मा से मिल भेंट कर मैं स्वर्ग या ब्रह्मलोक को चला जाऊँगा । हे नरशार्दूल ! मैंने तपःप्रभाव से जिन अक्षय्य और रम्य लोकों का अधिकार प्राप्त कर रखा है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ।
एवमुक्तो नरव्याघ्रः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ३२ ॥

---

१ अकृतात्मभिः —अनुनुष्ठितभगवदुपासनैः । (रा०)

ऋषिणा शरभङ्गेण राघवो वाक्यमब्रवीत् ।
अहमेवाहरिष्यामि सर्वलोकान्महामुने ॥ ३३ ॥

सो उन ब्रह्मलोक, और स्वर्ग की प्राप्त के साधन रूप तपःफल को, मैं आपको समर्पित करता हूँ। आप ग्रहण करें। महर्षि शरभङ्ग जी के ऐसा कहने पर सब शास्त्रों के जानने वाले पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग ऋषि से बोले—हे महामुने! मैं स्वयं ही उन सब लोकों को प्राप्त करूँगा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ।
राघवेणैवमुक्तस्तु शक्रतुल्यबलेन वै ॥ ३४ ॥

मैं इस वन में रहना चाहता हूँ। आप मुझे रहने के लिये स्थान बतलाइये। इन्द्र के समान बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ने जब इस प्रकार कहा ॥ ३४ ॥

शरभङ्गो महाप्राज्ञः पुनरेवाब्रवीद्वचः ।
इह राम महातेजाः सुतीक्ष्णो नाम धार्मिकः ॥ ३५ ॥
वसत्यरण्ये धर्मात्मा स ते श्रेयो विधास्यति ।
सुतीक्ष्णमभिगच्छ त्वं शुचौ देशे तपस्विनम् ॥ ३६ ॥

तब महाप्राज्ञ शरभङ्ग जी फिर बोले। हे राम! इस वन में महातेजस्वी और धर्मात्मा सुतीक्ष्ण नामक एक ऋषि रहते हैं। वे धर्मात्मा ही आपका कल्याण करेंगे। आप उनके पवित्र आश्रम में जाइये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

रमणीये वनोद्देशे स ते वासं विधास्यति ।
इमां मन्दाकिनीं राम प्रतिस्रोतामनुव्रज ॥ ३७ ॥

वे आपको रहने के लिये कोई रम्य स्थान इस वनप्रान्त में बतला देंगे। उनके आश्रम में पहुँचने के लिये हे राम! आप इस मन्दाकिनी के बहाव को धर उसके किनारे किनारे चले जांय ॥ ३७ ॥

नदीं पुष्पोडुपवहां तत्र तत्र गमिष्यसि ।
एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम् ॥ ३८ ॥

हे तात! देखो, इस नदी में अनेक बड़े बड़े फूल छोटी छोटी नावों की तरह बहते देख पड़ते हैं। इनको देखते हुए आप चले जांय। मैंने आपको रास्ता बता दिया, किन्तु दो घड़ी मेरी ओर आप देखते रहें या दर्शन दें ॥ ३८ ॥

यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः ।
ततोऽग्निं सुसमाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवित् ॥ ३९ ॥

शरभङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ।
तस्य रोमाणि केशांश्च ददाहाग्निर्महात्मनः ॥ ४० ॥

जीर्णां त्वचं तथास्थीनि यच्च मांसं सशोणितम् ।
रामस्तु विस्मितो भ्रात्रा भार्यया च सहात्मवान् ॥४१॥

हे तात! सर्प जिस प्रकार पुरानी केंचली छोड़ता है, उसी प्रकार मैं भी इस समय यह पुरानी देह छोड़ना चाहता हूँ। ऐसा कह मंत्रवेत्ता शरभङ्ग मुनि अग्नि को स्थापन कर और उसमें घी की आहुति दे, अग्नि में कूद पड़े। उस समय अग्नि ने उन महात्मा के रोम, केश, जीर्णत्वचा, हड्डियाँ, और रुधिर सहित मांस को भस्म कर डाला। भाई लक्ष्मण और भार्या सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यह देख विस्मय हुआ कि, ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

स च पावकसङ्काशः कुमारः समपद्यत ।
उत्थायाग्निचयात्तस्माच्छरभङ्गो व्यरोचत ॥ ४२ ॥

उस अग्नि में से शरभङ्ग जी अग्नि तुल्य कान्तिमान् एक कुमार का रूप धारण कर निकले और शोभायमान हुए ॥ ४२ ॥

स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम् ।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत ॥ ४३ ॥

तदनन्तर शरभङ्ग जी अग्निहोत्रियों, ऋषियों, महात्माओं और देवताओं के लोकों को छोड़ते हुए, ब्रह्मलोक में जा पहुँचे ॥ ४३ ॥

स पुण्यकर्मा भवने द्विजर्षभः
पितामहं सानुचरं ददर्श ह ।
पितामहश्चापि समीक्ष्य तं द्विजं
ननन्द सुस्वागतमित्युवाच ह ॥ ४४ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

पुण्यात्मा, ब्राह्मणश्रेष्ठ शरभङ्ग जी ने ब्रह्मलोक में जा, अनुचरों से घिरे हुए पितामह ब्रह्मा जी के दर्शन किये। ब्रह्मा जी भी शरभङ्ग को देख आनन्दित हुए और उनसे स्वागतवचन बोले ॥ ४४ ॥

अरण्यकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

षष्ठः सर्गः

—※—

शरभङ्गे दिवं याते मुनिसङ्घाः समागताः ।
अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम् ॥ १ ॥

शरभङ्ग जी जब ब्रह्मलोक को चले गये, तब दण्डकवन में रहने वाले मुनिगण एकत्र हो तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के पास आये ॥ १ ॥

[**नोट** --इन मुनियों का विवरण आगे के चार श्लोकों में दिया है। जो मुनि उस समय श्रीरामचन्द्र जी के पास आये, वे कैसे कैसे साधक थे यह बात इस विवरण के देखने से अवगत होती है ।]

वैखानसा वालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः ।
अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च धार्मिकाः ॥ २ ॥

दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे ।
गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवाभ्रावकाशकाः[1] ॥ ३ ॥

मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे ।
आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः ॥ ४ ॥

व्रतोपवासिनो दान्तास्तथार्द्रपटवाससः ।
सजपाश्च तपोनित्यास्तथा पञ्चतपोन्विताः ॥ ५ ॥

आये हुए मुनियों में वैखानस (ब्रह्म के नख से उत्पन्न) वालखिल्य (ब्रह्म के रोम से उत्पन्न), सम्प्रक्षाल (ब्रह्म के पैर के धोवन के

---

१ अभ्रावकाशकाः—वर्षवातातपादिष्वप्यनावृतदेश एव वर्तमानाः । (गो०)

जल से उत्पन्न), मरीचिप (सूर्य व चन्द्र की किरणों को पी कर रहने वाले), अश्मकूट (कच्चे अन्न को पत्थर से कूट कर खाने वाले), पत्राहार (वृक्षों के पत्तों को खाने वाले), दन्तोलूखली (कच्चे अन्न को दांतों से कुचल कर खाने वाले), उन्मज्जका (कण्ठ भर जल में खड़े हो तपस्या करने वाले), गात्रशय्या (बिछौना बिछाये विना ही ज़मीन पर सोने वाले), अशय्य (जो कभी सोते ही न थे), अभ्रावकाशक (वर्षा गर्मी जाड़े की ऋतुओं में खुले मैदान में रहने वाले), सलिलाहारी (पानी पी कर रहने वाले), वायुभक्षी (केवल हवा पी कर रहने वाले), आकाशनिलय (जो विना छाये स्थानों में रहते थे), स्थण्डलशायी (लीपी हुई पवित्र भूमि पर सोने वाले), व्रतोपवासी, इन्द्रियों को जीतने वाले, गीले वस्त्र सदा धारण करने वाले, सदा जप करने वाले, सदा तप करने वाले तथा पञ्चाग्नि तापने वाले ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

सर्वे ब्राह्मया[1] श्रिया जुष्टा दृढयोगाः समाहिताः ।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ॥ ६ ॥

ये सब के सब ऋषि मुनि ब्रह्मवर्चस से युक्त थे, और योगाभ्यास में दृढ़ और सावधान रहने वाले थे। ये सब तपस्वी शरभङ्ग के आश्रम में श्रीरामचन्द्र जी के पास आये ॥ ६ ॥

अभिगम्य च धर्मज्ञा रामं धर्मभृतां वरम् ।
ऊचुः परमधर्मज्ञमृषिसङ्घाः समाहिताः ॥ ७ ॥

इस प्रकार के परम धर्मात्मा ऋषि मुनि सब वहाँ जा कर धार्मिकश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से सावधानता पूर्वक बोले ॥ ७ ॥

त्वमिक्ष्वाकुकुलस्यास्य पृथिव्याश्च महारथ ।
प्रधानश्चासि नाथश्च देवानां मघवानिव ॥ ८ ॥

---

१ ब्राह्मया श्रिया—ब्रह्मविद्यानुष्ठानजनित ब्रह्मवर्चसेन । (गो०)

हे राम ! आप इक्ष्वाकु-वंश में प्रधान, पृथिवीनाथ, और महारथी हैं। यही नहीं किन्तु जिस प्रकार देवताओं के राजा इन्द्र हैं, उसी प्रकार आप भी मुख्य लोगों के नाथ हैं। अर्थात् आप राजाओं के राजा अर्थात् स्वामी होने के कारण महाराज हैं ॥ ८ ॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु यशसा विक्रमेण च ।
पितृभक्तिश्च सत्यं च त्वयि धर्मश्च पुष्कलः ॥ ९ ॥

आपका यश और पराक्रम तीनों लोकों में (भूर्भुवः स्वः लोकों में) प्रसिद्ध है। आप पूर्ण पितृभक्त, सत्यवादी और साङ्गोपाङ्ग धर्म का पालन करने वाले हैं ॥ ९ ॥

त्वामासाद्य महात्मानं धर्मज्ञं धर्मवत्सलम् ।
अर्थित्वान्नाथ वक्ष्यामस्तच्च नः क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

आप जैसे महात्मा, धर्मज्ञ और धर्मवत्सल को पा कर, हम लोग याचक बन कर, जो कुछ आपसे कहना चाहते हैं, उसके लिये आप हमें क्षमा करें ॥ १० ॥

अधर्मस्तु महांस्तात भवेत्तस्य महीपतेः ।
यो हरेद्बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ॥ ११ ॥

हे तात ! वह राजा बड़ा अधर्मी है, जो प्रजा से पैदवारी का छठवाँ हिस्सा राजकर में उगाह कर भी, प्रजा का पुत्रवत् पालन नहीं करता ॥ ११ ॥

युञ्जानः स्वानिव प्राणान्प्राणैरिष्टान्सुतानिव ।
नित्ययुक्तः[1] सदा रक्षन्सर्वान्विषयवासिनः ॥ १२ ॥

---

१ नित्ययुक्तः—सदासावधानः । (रा०)

और जो राजा सदा यत्नवान और सावधान रह कर, अपने राज्य की प्रजा की अपने प्राणों के समान रक्षा करता है ॥ १२ ॥

प्राप्नोति शाश्वतीं राम कीर्तिं स बहुवार्षिकीम् ।
ब्रह्मणः स्थानमासाद्य तत्र चापि महीयते ॥ १३ ॥

वह राजा, इस लोक में बहुवर्षव्यापिनी स्थायी कीर्ति प्राप्त कर, अन्त में ब्रह्मलोक में जा, विशेष सन्मान का पात्र होता है ॥१३॥

यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः ।
तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥ १४ ॥

धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को, कन्दमूल फल खा कर, तप द्वारा ऋषि जो पुण्यफल सञ्चय करते हैं, उसका चौथा भाग मिलता है ॥ १४ ॥

सोऽयं ब्राह्मणभूयिष्ठो वानप्रस्थगणो महान् ।
त्वन्नाथोऽनाथवद्राम राक्षसैर्बाध्यते भृशम् ॥ १५ ॥

हे रामचन्द्र ! यह वानप्रस्थ लोग, जिनमें ब्राह्मण अधिक हैं, तुम जैसे रक्षक के रहते भी अनाथ की तरह राक्षसों द्वारा मारे जाते हैं ॥ १५ ॥

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा[1] वने ॥ १६ ॥

हे राम ! आप इधर आइये और उन बहुत से आत्मदर्शी मुनियों के मृत शरीरों को देखिये जिनको घोर राक्षसों ने भालों की नोकों से छेदकर, तलवारों से काट कर मार डाला हैं ॥ १६ ॥

---

१ बहुधा—छेदनभेदनभक्षणादिभिः । (गो०)

पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि ।
चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं[1] महत् ॥ १७ ॥

पम्पानदी के तटवर्ती तथा मन्दाकिनी के तट पर रहने वाले और चित्रकूटवासी ऋषि ही बहुत मारे जाते हैं ॥ १७ ॥

एवं वयं न मृष्यामो[2] विप्रकारं[3] तपस्विनाम् ।
क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः ॥ १८ ॥

हमसे, इन तपस्वियों के ये कष्ट, जो उन्हें इस वन में, भयङ्कर राक्षसों द्वारा मिला करते हैं, सहन नहीं होते। अथवा इस वन में भयङ्कर राक्षस तपस्वियों को जो दुःख दिया करते हैं, वे हमसे सहे नहीं जाते ॥ १८ ॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।
परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः ॥ १९ ॥

हे राम! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः हम सब आपके शरण आये हैं। आप हमको इन राक्षसों से जो हम लोगों को मारा करते हैं, बचाइये ॥ १९ ॥

परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते ।
परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज २० ॥

हे वीर! इस पृथिवी पर आपको छोड़, दूसरा कोई हमारी रक्षा करने वाला, हमें नहीं देख पड़ता । अतः हे राजकुमार! आप हमारी इन राक्षसों से रक्षा करें ॥ २० ॥

---

१ कदनं हिंसा । (गो०) २ नमृष्यामः—सोढुमशक्ताः । (रा०) ३ विप्रकारं—दुखं । (रा०)

एतच्छ्रुत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां[1] तपस्विनाम्[2] ।
इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः ॥ २१ ॥

इस प्रकार उन महातपा तपस्वियों के वचन सुन, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी ने उन सब तपस्वियों से उत्तर में यह कहा ॥ २१ ॥

नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञप्तोऽहं तपस्विनाम् ।
केवलेनात्मकार्येण प्रवेष्टव्यं मया वनम् ॥ २२ ॥

आप लोगों का मुझसे प्रार्थना करना ठीक नहीं। क्योंकि मैं तो तपस्वियों का आज्ञाकारी हूँ। मुझको केवल अपने कार्य के लिये इस वन में आया हुआ जानिये, अथवा आप मुझे अपना कार्य कराने को, जिस वन में चाहिये भेज दीजिये ॥ २२ ॥

विप्रकारमपाक्रष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम् ।
पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ॥ २३ ॥

मैं तो आप लोगों के कष्ट को, जो आप लोगों को राक्षसों से मिलता है, दूर करने, तथा पिता की आज्ञा का पालन करने ही को इस वन में आया हूँ ॥ २३ ॥

[नोट—"प्रविष्टोऽहमिदं वनम्" का तात्पर्य यही है कि, यदि मुझे केवल पिता की आज्ञानुसार वनवास ही करना होता तो मैं यहाँ न आ कर दूसरे किसी वन में जा सकता था ; किन्तु मुझे तो पिता की आज्ञा का पालन और आपके कष्टों को दूर करना था । इसी लिये मैं इस वन में आया हूँ ।]

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया ।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः ॥ २४ ॥

---

१ तापसानां—मुनीनां । (गो०) २ तपस्विनां—प्रशस्ततपसां । (गो०)

आप लोगों के काम के लिये ही मैं इच्छापूर्वक यहाँ आया हूँ। अतः मेरा इस वन में रहना बड़ा लाभदायक होगा ॥ २४ ॥

तपस्विनां रणे शत्रून्हन्तुमिच्छामि राक्षसान् ।
पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः ॥ २५ ॥

मैं तपस्वियों के शत्रु राक्षसों का युद्धक्षेत्र में वध करना चाहता हूँ। तपोधन ऋषिगण मेरे और मेरे भाई के पराक्रम को देखें ॥२५॥

दत्त्वाऽभयं चापि तपोधनानां
धर्मे धृतात्मा सह लक्ष्मणेन ।
तपोधनैश्चापि सभाज्यवृत्तः
सुतीक्ष्णमेवाभिजगाम वीरः ॥ २६ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

धर्मधुरन्धर वीर श्रीरामचन्द्र तपस्वियों को अभय कर, और उनसे पूजित हुए। तदनन्तर लक्ष्मण, सीता, तथा उन ऋषियों को अपने साथ ले, वे सुतीक्ष्ण जी के आश्रम की ओर चले ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तमः सर्गः

—*—

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परन्तपः ।
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं जगाम सह तैर्द्विजैः ॥ १ ॥

परन्तप श्रीरामचन्द्र जी, उन मुनियों को अपने साथ लिये हुए, सीता और लक्ष्मण सहित सुतीक्ष्ण के आश्रम की ओर गये ॥ १ ॥

स गत्वाऽदूरमध्वानं नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ।
ददर्श विपुलं शैलं[1] महामेघमि[2]वोन्नतम् ॥ २ ॥

शरभङ्ग ऋषि के आश्रम से बहुत दूर आगे जा, और मार्ग में अनेक गहरी नदियों को पार कर, बड़े चौड़े और एक बड़े बादल की तरह श्यामरंग के, पार्वत्यवन प्रदेश में, वे जा पहुँचे ॥ २ ॥

ततस्तदिक्ष्वाकुवरौ सन्ततं विविधैर्द्रुमैः ।
काननं तौ विविशतुः सीतया सह राघवौ ॥ ३ ॥

तदनन्तर इक्ष्वाकुवंश सम्भूत श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, सीता जी सहित, उस वन में पहुँचे, जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे हुए थे ॥ ३ ॥

प्रविष्टस्तु वनं घोरं बहुपुष्पफलद्रुमम् ।
ददर्शाश्रममेकान्ते चीरमालापरिष्कृतम्[3] ॥ ४ ॥

उस वन में पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी ने, अनेक फलफूल वाले वृक्षों के बीच बना हुआ, एकान्त स्थल में एक आश्रम देखा, जो चारों ओर पुष्पमालाओं से भूषित था ॥ ४ ॥

तत्र तापसमासीनं मलपङ्कजटाधरम् ।
रामः सुतीक्ष्णं विधिव[4]त्तपोवृद्धमभाषत ॥ ५ ॥

---

१ शैलं—शैलसन्निधिवनं । (गो०) २ महामेघमिवेति—श्यामकायामुपमा । (गो०) ३ परिष्कृतं—अलंकृतं । (गो०) ४ विधिवत्—क्रमवत् । (गो०)

वहाँ पर धूलधूसरित शरीर और जटाधारी अथवा धूलधूसरित जटाधारी और तपस्या में लीन, तपोवृद्ध सुतीक्ष्ण को देख, श्रीरामचन्द्र जी उनसे क्रमशः यह बोले ॥ ५ ॥

रामोऽहमस्मि भगवन्भवन्तं द्रष्टुमागतः ।
त्वं माऽभिवद धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रम[1] ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! मेरा नाम श्रीरामचन्द्र है । मैं यहाँ आपके दर्शन करने आया हूँ । अतएव हे धर्मज्ञ ! हे अमोघ-तपः-प्रभाव-शालिन महर्षे ! आप मुझसे बोलिये ॥ ६ ॥

स निरीक्ष्य ततो वीरं रामं धर्मभृतां वरम् ।
समाश्लिष्य च बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब सुतीक्ष्ण जी ने धार्मिकश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी की ओर देखा और दोनों भुजाओं से श्रीरामचन्द्र जी को अपने हृदय से लगा लिया । तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ ७ ॥

स्वागतं खलु ते वीर राम धर्मभृतां वर ।
आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम् ॥ ८ ॥

हे धार्मिकश्रेष्ठ ! हे वीर श्रीराम ! आप भले आये । आपके यहाँ पधारने से यह आश्रम इस समय सनाथ की तरह दिखलाई पड़ता है ॥ ८ ॥

प्रतीक्षमाणस्त्वामेव नारोहेऽहं महायशः ।
देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले ॥ ९ ॥

हे महायशस्विन् ! मैं आपही के दर्शन की प्रतीक्षा में, इतने दिनों तक इस लोक में रहा और इस शरीर को त्याग देवलोक

---

१ सत्यविक्रमः—अमोघतपःप्रभाव । (गो०)

को नहीं गया। अथवा आपही के दर्शन की अभिलाषा से मैं इस संसार में अभी तक हूँ और परलोक जाने के लिये मैंने शरीर नहीं त्यागा ॥ ९ ॥

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टोऽसि मे श्रुतः।
इहोपयातः काकुत्स्थ देवराजः शतक्रतुः ॥ १० ॥

मैंने यह सुना था कि, आप राज्य त्याग कर चित्रकूट में वास करते हैं। हे काकुत्स्थ! यहाँ देवराज इन्द्र आये थे ॥ १० ॥

[क्यों आये थे से बतलाते हैं कि,]

उपागम्य च मां देवो महादेवः सुरेश्वरः।
सर्वाल्लोकाञ्जितानाह मम पुण्येन कर्मणा ॥ ११ ॥

महादेव सुरेश्वर इन्द्र ने आ कर मुझसे कहा कि, तुम अपने पुण्यफल के प्रभाव से समस्त लोकों को जीत चुके, (अर्थात् समस्त लोकों में जाने के अधिकारी हो चुके) ॥ ११ ॥

तेषु देवर्षिजुष्टेषु जितेषु तपसा मया।
मत्प्रसादात्सभार्यस्त्वं विहरस्व सलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

सो हे राम! मेरे तपोबल से जीते हुए उन लोकों में, जहाँ देवर्षियों का वास है, मेरे अनुग्रह से आप सीता और लक्ष्मण सहित, विहार कीजिये ॥ १२ ॥

[नोट—सुतीक्ष्णजी, अपने तप का फल, जैसा कि अनन्य भगवद्भक्त किया करते हैं, भगवान् को समर्पण करते हैं।]

तमुग्रतपसा युक्तं महर्षिं सत्यवादिनम् ॥
प्रत्युवाचात्मवान्रामो ब्रह्माणमिव काश्यपः ॥ १३ ॥

यह सुन आत्मवान् श्रीरामचन्द्र जी, सत्यवादी और उग्र तपस्या करने वाले महर्षि सुतीक्ष्ण से उसी प्रकार बोले, जिस प्रकार इन्द्र ब्रह्मा जी से बोलते हैं ॥ १३ ॥

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान्महामुने ।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ १४ ॥

हे महामुने ! मैं स्वयं ही इन लोकों का सम्पादन कर लूँगा । मैं इस वन में रहना चाहता हूँ, सो आप मुझे कोई स्थान बतला दें ॥ १४ ॥

भवान्सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः ।
आख्यातः शरभङ्गेण गौतमेन महात्मना ॥ १५ ॥

क्योंकि गौतम कुलोद्भव महात्मा शरभङ्ग ने मुझसे यह कहा है कि, आप इस वन के सब स्थानों के जानकार और परोपकारी हैं ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं हर्षेण महताऽऽप्लुतः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन लोकविश्रुत महर्षि सुतीक्ष्ण अत्यन्त प्रसन्न हो, यह मधुर वचन बोले ॥ १६ ॥

अयमेवाश्रमो राम गुणवान्रम्यतामिह ।
ऋषिसङ्घानुचरितः सदा मूलफलान्वितः ॥ १७ ॥

हे राम ! आप इसी आश्रम में रहिये । क्योंकि इस आश्रम में सब प्रकार की सुविधाएँ हैं । यहाँ ऋषि लोग रहते हैं, और फल और कन्दमूल फल भी सदा मिला करते हैं ॥ १७ ॥

इममाश्रममागम्य मृगसङ्घा महायशः ।
अटित्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वा[1]कुतोभयाः ॥ १८ ॥

किन्तु इस आश्रम में वन्यपशुओं के झुण्ड के झुण्ड आया करते हैं और घूमघाम कर तथा अपने शरीर की सुन्दरता से आश्रमवासियों का मन लुभा कर लौट जाते हैं और किसी से नहीं डरते ॥ १८ ॥

नान्यो दोषो भवेदत्र मृगेभ्योऽन्यत्र विद्धि वै ।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य महर्षेर्लक्ष्मणाग्रजः ॥ १९ ॥
उवाच वचनं धीरो विकृष्य सशरं धनुः ।
तानहं सुमहाभाग मृगसङ्घान्समागतान् ॥ २० ॥
हन्यां निशितधारेण शरेणाशनिवर्चसा ॥
भवांस्तत्राभिषज्येत किं स्यात्कृच्छ्रतरं ततः ॥ २१ ॥

अतः आप जान लें कि, यहाँ पर जंगली जानवरों के उपद्रव को छोड़ और किसी बात का खटका नहीं है । महर्षि के ऐसे वचन सुन, धीर श्रीरामचन्द्र जी ने तीर कमान हाथ में ले, यह वचन कहे—हे महाभाग ! मैं यहाँ आने वाले वन्यपशुओं को पैने धारवाले बाणों से मारूँगा । परन्तु इससे आपका मन दुःखी होगा, और आपका मन दुःखी होने से मुझे बड़ा कष्ट होगा ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नाश्रमे वासं चिरं तु न समर्थये ।
तमेवमुक्त्वा वरदं रामः सन्ध्यामुपागमत् ॥ २२ ॥

अतः मैं इस आश्रम में बहुत दिनों तक रहना उचित नहीं समझता । यह कह श्रीरामचन्द्र जी सन्ध्या करने चले गये ॥ २२ ॥

---

१ लोभयित्वा—समाधिभङ्गं जनयित्वा विचित्रतरवेषैरितिशेषः । (गो०)

अन्वास्य पश्चिमां सन्ध्यां तत्र वासमकल्पयत् ।
सुतीक्ष्णस्याश्रमे रम्ये सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २३ ॥

तदनन्तर सायंसन्ध्योपासन कर, श्रीरामचन्द्र जी सुतीक्ष्ण के रमणीक आश्रम में सीता लक्ष्मण सहित बसे ॥ २३ ॥

ततः शुभं[1] तापसभोज्य[2]मन्नं
स्वयं सुतीक्ष्णः पुरुषर्षभाभ्याम् ।
ताभ्यां सुसत्कृत्य[3] ददौ महात्मा
सन्ध्यानिवृत्तौ रजनीमवेक्ष्य[4] ॥ २४ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

जब श्रीरामचन्द्र सायंसन्ध्योपासन कर चुके तब महात्मा सुतीक्ष्ण जी ने दोनों राजकुमारों का अर्घ्यपाद्यादि से अच्छी तरह पूजन कर उनको रात में खाने योग्य पवित्र फल मूल तथा अन्नादि स्वयं ला कर दिये ॥ २४ ॥

[नोट—भूषणटीकाकार का मत है कि, सीता जी ने ("रामभुक्त शेषं") राम जी की पत्तल में बचा हुआ अन्न खाया था । अतः इस श्लोक में सीता जी का नाम नहीं है ।]

अरण्यकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

---

१ शुभं—भक्त्युपनीतत्वेन पावनं । (गो०) २ तापसभोज्यं—फलमूलादि । (गो०) ३ सुसत्कृत्य—अर्घ्यपाद्यादिना सम्पूज्य । (गो०) ४ रजनीमवेक्ष्य—रजनीभक्ष्यानुसारं । (गो०)

अष्टमः सर्गः

—:※:—

रामस्तु सहसौमित्रिः सुतीक्ष्णेनाभिपूजितः।
परिणाम्य[1] निशां तत्र प्रभाते प्रत्यबुध्यत ॥ १ ॥

सुतीक्ष्ण द्वारा भली प्रकार सत्कारित हो, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने वह रात उसी आश्रम में बितायी और सबेरा होते ही जागे ॥ १ ॥

उत्थाय तु यथाकालं राघवः सह सीतया।
उपास्पृशत्[2] सुशीतेन जलेनोत्पलगन्धिना ॥ २ ॥

तदनन्तर सीता सहित यथा समय बिस्तरे से उठ, श्रीरामचन्द्र जी ने कमलों की सुवास से युक्त शीतल जल से स्नान किये ॥ २ ॥

[**नोट**—कमल पुष्प की गन्ध से युक्त जल, तालाब ही का हो सकता है, अतः इससे जान पड़ता है कि, श्रीराम जी ने तालाब में स्नान किये थे।]

अथ तेऽग्निं सुरांश्चैव[3] वैदेही रामलक्ष्मणौ।
काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विशरणे वने ॥ ३ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और वैदेही ने उस तपोवन में विधिवत् और यथासमय हवन कर परिवार सहित नारायण का पूजन किया ॥ ३ ॥

[**नोट**— नारायण के परिवार में लक्ष्मी, विश्वकसेन, गरुड़ादि हैं।]

---

१ परिणाम्य—अतिवाह्य। (गो०) २ उपास्पृशत्—स्नातवान्। (गो०) ३ सुरान्—नारायणं। सहपत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् इत्ययोध्याकाण्डोक्तेः। परिवारापेक्षया बहुवचनं। (गो०)

उदयन्तं दिनकरं दृष्ट्वा विगतकल्मषाः ।
सुतीक्ष्णमभिगम्येदं श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ४ ॥

जब सूर्योदय हुआ, तब वे पुण्यात्मा दोनों राजकुमार, सुतीक्ष्ण के पास जा, विनीत मनोहर वचन बोले ॥ ४ ॥

[**नोट**—इससे यह जान पड़ता है कि, सूर्योदय होने के पूर्व ही श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण, हवन इत्यादि धर्मानुष्ठान कर चुके थे। कात्यायन सूत्रानुसार इससे अनुदित होम करने का पक्ष समर्थन होता है। "अनुदित होम" से अभिप्राय है सूर्य उदय न हो तभी होम करना।]

सुखोषिताः स्म भगवंस्त्वया पूज्येन पूजिताः ।
आपृच्छामः प्रयास्यामो मुनयस्त्वरयन्ति नः ॥ ५ ॥

हे भगवन्! आपने पूज्य हो कर भी हमारा भली भाँति सत्कार किया। हम आपके आश्रम में बड़े सुख से रहे। अब हम आपसे जाने के लिये अनुमति माँगते हैं, क्योंकि हमारे साथी मुनि चलने के लिये जल्दी मचा रहे हैं ॥ ५ ॥

त्वरामहे वयं द्रष्टुं सर्वमाश्रममण्डलम् ।
ऋषीणां पुण्यशीलानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ६ ॥

दण्डकवनवासी समस्त पुण्यशील ऋषियों के आश्रमों को हम शीघ्र देखना चाहते हैं ॥ ६ ॥

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामः सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः ।
धर्मनित्यैस्तपोदान्तैर्विशिखैरिव पावकैः ॥ ७ ॥

अब हमारी यह इच्छा है कि, यदि आप आज्ञा दें तो प्रज्ज्वलित अग्निशिखा की तरह तेजस्वी सदा धर्म में तत्पर और तपोनिष्ठ तथा जितेन्द्रिय इन मुनिपुङ्गवों के साथ हम चले जाँय ॥ ७ ॥

अविषह्यातपो यावत्सूर्यो नातिविराजते ।
अमार्गेणागतां लक्ष्मीं प्राप्येवान्वयवर्जितः ॥ ८ ॥
तावदिच्छामहे गन्तुमित्युक्त्वा चरणौ मुनेः ।
ववन्दे सह सौमित्रिः सीतया सह राघवः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार साधु-समागम-वर्जित एवं अन्याय से उपार्जित ऐश्वर्य वाले लोगों का ऐश्वर्यवान् होना असह्य हो जाता है उसी प्रकार, जब तक सूर्य की घाम असह्य न हो, (अर्थात् धूप में तेज़ी न आवे) तब तक ही हम रास्ता चलना चाहते हैं। (अर्थात् ठंडे ठंडे में हम मंज़िल तै करना चाहते हैं) यह कह तीनों ने मुनि को प्रणाम किया ॥ ८ ॥ ९ ॥

तौ संस्पृशन्तौ चरणावुत्थाप्य मुनिपुङ्गवः ।
गाढमालिङ्ग्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

मुनिश्रेष्ठ सुतीक्ष्ण जी ने प्रणाम करते हुए उन दोनों राजकुमारों को उठा कर अपने हृदय से लगाया और उनसे स्नेहपूरित ये वचन कहे ॥ १० ॥

अरिष्टं गच्छ पन्थानं राम सौमित्रिणा सह ।
सीतया चानया सार्धं छाययेवानुवृत्तया ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! आप लक्ष्मण, और छाया की तरह पीछे पीछे चलने वाली सीता जी सहित, मङ्गल पूर्वक यात्रा कीजिये ॥ ११ ॥

पश्याश्रमपदं रम्यं दण्डकारण्यवासिनाम् ।
एषां तपस्विनां वीर तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

---

१ अन्वयवर्जितः—साधुसमागमवर्जितोदुष्प्रभुरिव । (गो०)

हे वीर ! योग में जिनके मन संलग्न हैं, ऐसे दण्डकवनवासी इन सब ऋषि मुनियों के रमणीय आश्रमों को आप देख कर कृतार्थ कर आइये ॥ १२ ॥

सुप्राज्यफलमूलानि पुष्पितानि वनानि च ।
प्रशस्तमृगयूथानि शान्तपक्षिगणानि च ॥ १३ ॥
फुल्लपङ्कजखण्डानि प्रसन्नसलिलानि च ।
कारण्डवविकीर्णानि तटाकानि सरांसि च ॥ १४ ॥

विविध प्रकार के बहुत कन्दमूल फलों से युक्त फूले हुए वृक्षों से परिपूर्ण उन वनों में जिनमें श्रेष्ठ वन्य पशु और शान्त पक्षी रहते हैं, और जहाँ स्वच्छ जल वाले ऐसे ताल हैं कि, जिनमें कमल फूल रहे हैं और जिनमें कारण्डवादि जलपक्षी किलोले किया करते हैं आप देख आइये ॥ १३ ॥ १४ ॥

द्रक्ष्यसे दृष्टिरम्याणि गिरिप्रस्रवणानि च ।
रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिरुतानि च १५ ॥

इनके अतिरिक्त जो देखने में अत्यन्त सुन्दर हैं ऐसे पहाड़ी झरने तथा बोलते हुए मोरों से भरे हुए वन भी आप देख आइये ॥ १५ ॥

गम्यतां वत्स सौमित्रे भवानपि च गच्छतु ।
आगन्तव्यं त्वया तात पुनरेवाश्रमं मम ॥ १६ ॥

हे वत्स राम ! जाइये । हे लक्ष्मण ! आप भी जाइये । किन्तु हे तात ! इन सब आश्रमों को देख, फिर भी आप मेरे इस आश्रम में आइये ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।
प्रदक्षिणं मुनिं कृत्वा प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १७ ॥

जब सुतीक्ष्ण ने यह कहा तथा उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी "बहुत अच्छा" कह कर, लक्ष्मण सहित मुनि की परिक्रमा कर जाने के लिये उद्यत हुए ॥ १७ ॥

ततः शुभतरे तूणी धनुषी चायतेक्षणा ।
ददौ सीता तयोर्भ्रात्रोः खड्गौ च विमलौ ततः ॥ १८ ॥

तदनन्तर विशाल नेत्रवाली जानकी जी ने दोनों भाइयों को श्रेष्ठ तरकस और दो तेज़ धार वाली और चमकती हुई (अर्थात् साफ़-विमल) तलवारें दीं ॥ १८ ॥

[नोट—जान पड़ता है, राजकुमारों ने सोते समय ये आयुध खोल कर रख दिये थे । चलते समय सीता ने ये उनको फिर दिये ।]

आवध्य च शुभे तूणी चापौ चादाय सस्वनौ ।
निष्क्रान्तावाश्रमाद्गन्तुमुभौ तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वे दोनों सुन्दर तरकस बाँध लिये और दोनों ने टंकार का शब्द करने वाले दो धनुष लिये और आगे जाने के लिये वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण उस आश्रम से बाहर निकले ॥ १९ ॥

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ दीप्यमानौ स्वतेजसा ।
प्रस्थितौ धृतचापौ तौ सीतया सह राघवौ ॥ २० ॥

॥ इति अष्टमः सर्गः ॥

कान्तिवान्, सौन्दर्य युक्त और अपने तेज से प्रकाशित, धनुषों को लिये हुए दोनों दशरथनन्दन, सीता सहित सुतीक्ष्ण के आश्रम से प्रस्थानित हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

नवमः सर्गः

सुतीक्ष्णेनाभ्यनुज्ञातं प्रस्थितं रघुनन्दनम् ।
हृद्यया[1] स्निग्धया[2] वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी, सुतीक्ष्ण से विदा माँग प्रस्थानित हुए, तब सीता जी ने अपने पति श्रीरामचन्द्र से ये युक्तियुक्त और स्नेह पूर्ण वचन कहे ॥ १ ॥

अधर्मं तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान् ।
निवृत्तेन तु शक्योऽयं व्यसनात्कामजादिह ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! आप तो बड़े हैं, किन्तु सूक्ष्म रीत्या विचार करने से जान पड़ेगा कि, आप अधर्म को सञ्चय कर रहे हैं । इस समय आप जिस कामज व्यसन में प्रवृत्त हो रहे हैं, उससे निवृत्त होने ही से आप अधर्म के सञ्चय से बच सकते हैं । अर्थात् आप तपस्वी हैं, तपस्वी होकर भी आप यदि कामज-व्यसन-मृगादि-वध करने में प्रवृत्त होंगे तो आपको ऐसा करना नहीं सोहेगा । क्योंकि तपस्वी को हिंसा आदि करना उचित नहीं । अतः अधर्म को सञ्चित न करने के लिये, जब तक आप तपस्वी के वेष में हैं, शिकार आदि व्यसनों को त्याग दीजिये ॥ २ ॥

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत ।
मिथ्या वाक्यं परमकं तस्माद्गुरुतरावुभौ ॥ ३ ॥

---

१ हृद्यया—युक्तियुक्तत्वेन, हृदयंगमया । (गो०) २ स्निग्धया—स्नेह-प्रवृत्तया । (गो०)

कामज व्यसन तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् एक तो झूठ बोलना। किन्तु झूठ बोलने से बढ़ कर दो कामज व्यसन और हैं ॥३॥

[नोट—कामज-इच्छा से अथवा जान बूझ कर व्यसन, पाप, दोष।]

परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता[1]।
मिथ्या वाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव ॥ ४ ॥

दूसरा परस्त्रीगमन और तीसरा विना वैर जीवों की हिंसा। हे राघव! झूठ तो आप न कभी बोले न आगे ही कभी बोलेंगे ॥४॥

कुतोऽभिलाषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन ॥ ५ ॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित्।
स्वदारनिरतस्त्वं च नित्यमेव नृपात्मज ॥ ६ ॥

परस्त्रीगमन अथवा परस्त्री की अभिलाषा जो धर्म की नाश करने वाली है, न तो कभी आपको हुई और न आगे ही कभी होने की सम्भावना है। क्योंकि हे राजकुमार! आप तो स्वदारनिरत अर्थात् अपनी ही स्त्री में अनुराग रखने वाले हैं, अतः इसकी कल्पना भी आपके मन में नहीं उठ सकती ॥ ५ ॥ ६ ॥

धर्मिष्ठः सत्यसन्धश्च पितुर्निर्देशकारकः।
सत्यसन्ध महाभाग श्रीमल्ल[2]क्ष्मणपूर्वज[3] ॥ ७ ॥

फिर आप धर्मात्मा हैं, सत्यसन्ध हैं, पिता की आज्ञा का पालन करने वाले हैं, निरवधिक ऐश्वर्य सम्पन्न हैं और त्याग में लक्ष्मण से भी बढ़ कर हैं ॥ ७ ॥

---

१ रौद्रता—हिंसकता। (गो०) २ श्रीमान्—निरवधिकैश्वर्य। (गो०)
३ लक्ष्मणपूर्वज—वैराग्ये लक्ष्मणादप्यधिक। (गो०)

त्वयि सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
तच्च सर्वं महाबाहो शक्यं धर्तुं जितेन्द्रियैः ॥ ८ ॥

हे महाबाहो ! आप में सत्य और धर्म आदि सब शुभ गुण विद्यमान हैं। और ये गुण उसीमें ठहर सकते हैं, जो जितेन्द्रिय होता है। अर्थात् अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखता है ॥ ८ ॥

तव वश्येन्द्रियत्वं च जानामि शुभदर्शन ।
तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम् ॥ ९ ॥
निर्वैरं क्रियते मोहात्तच्च ते समुपस्थितम् ।
प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ १० ॥
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम् ।
एतन्निमित्तं च वनं दण्डका इति विश्रुतम् ॥ ११ ॥
प्रस्थितस्त्वं सह भ्रात्रा धृतबाणशरासनः ।
ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः ॥ १२ ॥

हे शुभदर्शन ! मैं यह भी भली भाँति जानती हूँ कि, आप अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले हैं। परन्तु तीसरा भयानक दोष अर्थात् मोहवश विना वैर दूसरों का वध करना, आपमें उपस्थित होने वाला है। क्योंकि हे वीर ! तुम दण्डकारण्य वासी ऋषियों की रक्षा के लिये, संग्राम में राक्षसों के मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हो और इसको पूरा करने के लिये ही आप इस प्रसिद्ध दण्डक नामक वन में धनुष बाण ले, लक्ष्मण सहित जा रहे हैं। आपको इस प्रकार जाते देख कर, मेरा जी घबड़ाता है ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

त्वद्वृत्तं[1] चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम् ।
न हि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान्प्रति ॥ १३ ॥

जब मैं आपके सत्य प्रतिज्ञापालन, स्वदारनिरतत्व आदि गुणों को, जो आपके सौख्य और हित के साधन रूप हैं, सोचती विचारती हूँ, तब मुझे हे वीर ! आपका दण्डकवन में जाना अच्छा नहीं लगता अर्थात् आप सत्यप्रतिज्ञ हैं और राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे और ऐसा करने से आपके सुख और हित को हानि होगी। इन बातों पर विचार कर के मुझे आपका दण्डकवन में प्रवेश करना नहीं रुचता—पसंद नहीं आता ॥ १३ ॥

कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम ।
त्वं हि बाणधनुष्पाणिर्भ्रात्रा सह वनं गतः ॥ १४ ॥

इसका कारण मैं बतलाती हूँ। आप सुनें। आप तीर कमान ले भाई सहित वन में जा रहे हैं ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा वनचरान्सर्वान्कच्चित्कुर्याः शरव्ययम् ।
क्षत्रियाणां च हि धनुर्हुताशस्येन्धनानि च ॥ १५ ॥
समीपतः स्थितं तेजो[2] बलमुच्छ्रयते[3] भृशम् ।
पुरा किल महाबाहो तपस्वी सत्यवाक्शुचिः ॥ १६ ॥

वहाँ जब आप राक्षसों को देखेंगे, तब उनमें से किसी न किसी पर आप बाण भी अवश्य ही चलायेंगे। क्योंकि जिस प्रकार समीप रखा हुआ ईंधन अग्नि के तेज को बढ़ाता है, उसी प्रकार क्षत्रियों

---

१ त्वद्वृत्तं—सत्यप्रतिज्ञत्वरूपचरित्रं सत्यप्रतिज्ञत्वस्वदारनिरतत्वादिकं। (रा०)
२ तेजोबलं—तेजोरूपंबलं। (गो०) ३ उच्छ्रयते—वर्धयति। (गो०)

का सन्निवर्ती धनुष उनके तेज रूपी बल को बहुत बढ़ाता है। पुराने ज़माने में, हे महाबाहो ! सत्यवादी और ईमानदार ॥१५॥१६॥

कस्मिंश्चिदभवत्पुण्ये वने रतमृगद्विजे ।
तस्यैव तपसो विघ्नं कर्तुमिन्द्रः शचीपतिः ॥ १७ ॥

कोई ऋषि, मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण किसी पवित्र वन में रहा करते थे । उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये, शचीनाथ इन्द्र ॥ १७ ॥

खड्गपाणिरथागच्छदाश्रमं भटरूपधृत् ।
तस्मिंस्तदाश्रमपदे निहितः खड्ग उत्तमः ॥ १८ ॥
स न्यासविधिना दत्तः पुण्ये तपसि तिष्ठतः ।
स तच्छस्त्रमनुप्राप्य न्यासरक्षणतत्परः ॥ १९ ॥

हाथ में तलवार ले और रथ में बैठ योद्धा के वेष में (उन तपस्वी) ऋषि के आश्रम में आये । और अपनी वह उत्तम तलवार उस आश्रम में उस तपोनिष्ठ, पवित्राचरणसम्पन्न ऋषि के पास धरोहर की भाँति रख कर चले गये। ऋषि उस तलवार को पा उसकी रक्षा करने लगे ॥ १८ ॥ १९ ॥

[न्यास-विधिना—धरोहर के रूप में । धरोहर की परिभाषा धर्मशास्त्र में यह दी हुई है ।]

राजचोरादिकभयाद्दायादानां च वञ्चनात् ।
स्थाप्यतेऽन्य गृहे द्रव्यं न्यासः स परिकीर्तितः ।]

वने तं विचरत्येव रक्षन्प्रत्ययमात्मनः[1] ।
यत्र गच्छत्युपादातुं मूलानि च फलानि च ॥ २० ॥

---

१ आत्मनः प्रत्ययं—विश्वासस्थापितं वस्तु । (गो०)

अपने ऊपर विश्वास कर के अपने पास रखी हुई धरोहर की वस्तु—तलवार को वे जहाँ जाते वहाँ लिये रहते थे। यदि उन्हें फलमूल लाने के लिये जाना पड़ता, तो वे, उस तलवार को भी अपने साथ ही लेते जाते थे ॥ २० ॥

न विना याति तं खड्गं न्यासरक्षणतत्परः ।
नित्यं शस्त्रं परिवहन्क्रमेण स तपोधनः ॥ २१ ॥

उस धरोहर की रखवाली में तत्पर वे ऋषि विना उस तलवार को लिये कहीं न जाते। उस तलवार को सदा पास रखने से धीरे धीरे उन तपस्वी की ॥ २१ ॥

चकार रौद्रीं[1] स्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम् ।
ततः स रौद्रे[2]ऽभिरतः प्रमत्तो ऽधर्मकर्शितः[3] ॥ २२ ॥
तस्य शस्त्रस्य संवासाज्जगाम नरकं मुनिः ।
एवमेतत्पुरा वृत्तं शस्त्रसंयोगकारणम् ॥ २३ ॥

बुद्धि हिंसापरायण हो गयी और उनका विश्वास तप से हट गया। उस तलवार से वे प्राणियों का वध करने लगे, और मतवाले से हो गये। वे अधर्म से पीड़ित हो, उस शस्त्र को पास रखने के कारण अन्त में नरकगामी हुए। हे राम! शस्त्र को पास रखने से प्राचीन काल में ऐसा हो चुका है ॥ २२ ॥ २३ ॥

अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते ।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां न शिक्षये ॥ २४ ॥

---

१ रौद्रीं—हिंसापरां। (गो०) २ रौद्रे—हिंसारूपकर्मणि। (गो०)
३ अधर्मकर्शितः—पीडितः। (गो०)

अतः समझदार लोग, अग्नि संयोग की तरह शस्त्र संयोग को भी विकार का कारण बतलाया करते हैं। (अर्थात् जिस प्रकार अग्नि को साथ रखने से उपद्रव खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार शस्त्र पास रखने से भी उपद्रव खड़े होते हैं) मैं आपको सीख नहीं देती, प्रत्युत स्नेह और सम्मान पुरस्सर आपको इस बात का स्मरण कराती हूँ ॥ २४ ॥

न कथञ्चन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया ।
बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान्दण्डकाश्रितान् ॥ २५ ॥

आप भी सदा धनुष लिये रहते हैं, अतः आप उस ऋषि जैसी बुद्धि अपनी कभी मत करना कि, विना बैर दण्डकारण्यवासी राक्षसों का वध करने लगें ॥ २५ ॥

अपराधं विना हन्तुं लोकान्वीर न कामये ।
क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु निरतात्मनाम् ॥ २६ ॥
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम् ।
क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ॥ २७ ॥

हे वीर! बिना अपराध किसी का वध करना लोग पसंद नहीं करते। वन में विचरते हुए क्षत्रियों का धनुष धारण करना (निरपराध जीवों की हिंसा करने के लिये नहीं प्रत्युत) दुःखी लोगों की रक्षा करने के लिये है। देखिये तो, कहाँ शस्त्र और कहाँ वन? कहाँ क्षत्रिय धर्म (अर्थात् नृशंस कर्महिंसा) और कहाँ तपस्या अर्थात् (शान्तकर्म) अर्थात् ये दोनों ही परस्पर विरोधिनी बाते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ।
तदार्य कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात् ॥ २८ ॥

अतः हम लोगों के लिये देश धर्म, अर्थात् तपोवन का धर्म पूज्य है (अर्थात् तपोवन में रह कर हमें तपोवनोचित धर्म का पालन कर, उसका सम्मान करना चाहिये। क्योंकि शस्त्रों के सेवन से, क्रूर लोगों की तरह बुद्धि बिगड़ जाती है ॥ २८ ॥

पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ।
अक्षया तु भवेत्प्रीतिः श्वश्रूश्वशुरयोर्मम ॥ २९ ॥
यदि राज्यं परित्यज्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः ।
धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् ॥ ३० ॥

आप जब लौट कर अयोध्या जाइयेगा, तब पुनः क्षत्रिय धर्म का पालन कर लीजियेगा। यदि आप इस समय राज्य त्यागी होकर ऋषियों के आचरण से रहेंगे, तो मेरे सास और ससुर की प्रीति भी आप में बढ़ेगी। देखिये धर्म से अर्थ का और धर्म ही से सुख की प्राप्ति होती है ॥ २९ ॥ ३० ॥

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ।
आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः ।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभ्यते सुखम् ॥ ३१ ॥

कहाँ तक कहा जाय, धर्म द्वारा सभी कुछ मिल सकता है। अतः इस जगत में धर्म ही सार है। चतुर लोग अनेक प्रकार के नियमों (चान्द्रायणव्रतादि) से यत्नपूर्वक, शरीर को कष्ट दे धर्म का साधन करते हैं, क्योंकि शारीरिक सुखदायी साधनों से धर्म का लाभ नहीं होता ॥ ३१ ॥

नित्यं शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने ।
सर्वं हि विदितं तुभ्यं त्रैलोक्यमपि तत्त्वतः ॥ ३२ ॥

अतः हे सौम्य ! आप इस तपोवन में जब तक रहैं, तब तक सदा विशुद्ध मन से तपस्वियों के योग्य धर्मानुष्ठान करें। आपको तो तीनों लोकों का सब यथार्थ हाल मालूम ही है। (मैं आपको क्या बतला सकती हूँ) ॥ ३२ ॥

स्त्रीचापलादेतदुदाहृतं मे
धर्मं च वक्तुं तव कः समर्थः।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन
यद्रोचते तत्कुरु मा चिरेण ॥ ॥ ३३ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

स्त्री-स्वभाव-सुलभ चपलता वश मैंने आपसे ये बातें कहीं हैं। भला आपको धर्मोपदेश कौन दे सकता है। अतः लक्ष्मण जी के साथ इन बातों पर विचार कर, जो उचित समझिये, उसे अविलंब कीजिये ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

दशमः सर्गः

—:*:—

वाक्यमेतत्तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्तया[1]।
श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ मैथिलीम् ॥ १ ॥

सीताजी ने पति के प्रेमवश हो जो बातें कहीं, उन्हें सुन, प्रतिज्ञा-पालन रूपी धर्म में रत और निष्ठावान् श्रीरामचन्द्र जी ने सुन, उत्तर में सीता जी से कहा ॥ १ ॥

---

१ भर्तृभक्तया — भर्तृप्रेमपारवश्येन। (गो०)

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया[1] सदृशं वचः ।
कुलं व्यपदिशन्त्या[2] च धर्मज्ञे जनकात्मजे ॥ २ ॥

हे धर्मज्ञे ! हे जनकनन्दिनी ! तू ने स्नेहपूर्वक अपने उच्च कुलोद्भवा होने की सूचक जैसी हित की बातें मुझसे कही हैं, वे तुम्हारे कहने के योग्य ही हैं ॥ २ ॥

[अच्छा जब हित की बात है और ठीक है, तो फिर उसके अनुसार श्रीरामचन्द्र क्यों नहीं चले, तब न चलने का कारण दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं ।]

किं तु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः ।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त शब्दो भवेदिति ॥ ३ ॥

किन्तु अभी तुम कह चुकी हो कि, क्षत्रिय लोग धनुष धारण इस लिये करते हैं कि, (देखो सर्ग ६ का २७ वाँ श्लोक) जिससे किसी दुःखिया का आर्त शब्द न सुन पड़े । अर्थात् कोई बली किसी निर्बल को सताने न पावे ॥ ३ ॥

मां सीते स्वयमागम्य शरण्याः शरणं गताः ।
ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ॥ ४ ॥

फिर हे सीते ! दण्डकवनवासी वे दुःखी तपस्वी, मुझको सब का रक्षक समझ स्वयं ही मेरे शरण में आये ॥ ४ ॥

वसन्तो धर्मनिरता वने मूलफलाशनाः ।
न लभन्ते सुखं भीता राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ ५ ॥

हे भीरु ! देखो ये बेचारे सदैव फल फूल खाते और धर्मानुष्ठान करते हुए, वन में (सब से अलग) रहते हैं । तिस पर भी क्रूर कर्म

---

१ स्निग्धया—अनुरक्तता । (गो०) २ कुलं व्यपदिशन्त्या—स्वमहाकुलीनत्वं प्रख्यापमन्त्या । (गो०)

करने वाले राक्षसों के अत्याचारों के कारण, वे बेचारे सुख से नहीं रहने पाते ॥ ५ ॥

काले काले[1] च निरता नियमैर्विविधैर्वने ।
भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः ॥ ६ ॥

सदैव विविध (धर्म) नियमों के पालन में निरत, वनवासी इन तपस्वियों को नरमांस भोजी घोर राक्षस खा डाला करते हैं ॥ ६ ॥

ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः ।
अस्मानभ्यवपद्येति[2] मामूचुर्द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥

राक्षसों द्वारा खाये जाने वाले दण्डकवनवासी वे ब्राह्मणोत्तम मेरे अनुग्रह के प्रार्थी हुए हैं ॥ ७ ॥

मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम् ।
कृत्वा चरणशुश्रूषां[3] वाक्यमेतदुदाहृतम् ॥ ८ ॥
प्रसीदन्तु[4] भवन्तो मे ह्री[5]रेषा हि ममातुला[6] ।
यदीदृशैरहं विप्रैरुपस्थेयै[7]रुपस्थितः[8] ॥ ९ ॥

मैंने उनको कही हुई बातें सुन और उनकी पादवंदना कर उनसे यह बात कही कि, मेरे अपचार को आप लोग क्षमा करें। मुझे स्वयं इस बात से बड़ी लज्जा है कि, जिन ब्राह्मणों के पास मुझे स्वयं जाना चाहिये था वे मेरे पास उपस्थित हुए हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ काले काले—सर्वकाले । (गो०) २ अभ्यवपद्येति:—अनुग्रहः । (गो०) ३ चरणशुश्रूषां—पादवन्दनं । (गो०) ४ प्रसीदन्तु—ममपचारक्षमन्तां । (गो०) ५ ह्री—लज्जा । (गो०) ६ अतुलाः—अधिका । (गो०) ७ उपस्थेयैः—अभिगन्तव्यैः । (गो०) ८ उपस्थितः—अभिगतः । (गो०)

किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसन्निधौ ।
सर्वैरेतैः समागम्य वागियं समुदाहृता ॥ १० ॥

अब बतलाइये—मैं अब आपकी क्या सेवा करूँ? हे सीते! मैंने जब उनसे यह कहा, तब वे सब ब्राह्मण एक साथ यह बाले ॥ १० ॥

राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः ।
अर्दिताः स्म दृढं राम भवान्नस्तत्र रक्षतु ॥ ११ ॥

हे श्रीराम! इस दण्डकवन में बहुत से कामरूपी राक्षस हमें सताया करते हैं, इस समय उनसे हमारी रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥

होमकालेषु सम्प्राप्ताः पर्वकालेषु चानघ ।
धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १२ ॥

(क्योंकि वे केवल हमें सताते ही नहीं है, बल्कि) अग्निहोत्र करते समय और दर्शपौर्णमासादि यज्ञों के समय, वे मांसभक्षी दुर्धर्ष राक्षस आ कर यज्ञकार्यों में बाधा डालते हैं। या विघ्न करते हैं ॥ १२ ॥

राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम् ।
गतिं मृगयमाणानां[1] भवान्नः परमा गतिः[2] ॥ १३ ॥

राक्षसों से सताये हुए तपस्या में निरत तपस्वीगण इस आपत्ति से बचने के लिये, रक्षक खोज रहे हैं। सो आप ही हमारे रक्षक हैं ॥ १३ ॥

कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान् ।
चिरार्जितं तु नेच्छामस्तपः खण्डयितुं वयम् ॥ १४ ॥

---

१ मृगयमाणानां—अन्वेषवतां । (गो०) २ गतिः—त्रातारं । (रा०)

यद्यपि हम लोग अपने तपोबल से शाप द्वारा उनको नष्ट कर सकते हैं, तथापि बहुत दिनों के इकट्ठे किये हुए तप को हम खण्डित करना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरं चैव राघव ।
तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः ॥ १५ ॥

क्योंकि हम लोगों का तप नित्य अनेक विघ्नों को बचा कर सञ्चित किया हुआ है और दुश्चर है । इस लिये भले ही वे राक्षस हमें मार कर खा जायँ, परन्तु हम उनको शाप नहीं देते ॥ १५ ॥

तदर्द्यमानान्रक्षोभिर्दण्डकारण्यवासिभिः
रक्ष नस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने ॥ १६ ॥

अतएव राक्षसों से पीड़ित हम दण्डकवनवासियों की, अपने भाई सहित आप रक्षा कीजिये । क्योंकि इस वन में आप ही हमारे रक्षक हैं ॥ १६ ॥

मया चैतद्वचः श्रुत्वा कार्त्स्न्येन परिपालनम् ।
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे ॥ १७ ॥

हे जनकनन्दिनी ! दण्डकवनवासी ऋषियों के ऐसे वचन सुन, मैंने सब प्रकार से रक्षा करने की उनसे प्रतिज्ञा की है ॥ १७ ॥

संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम् ।
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा ॥ १८ ॥

अब मैं अपनी इस प्रतिज्ञा को जो मैंने मुनियों से की है जीते जी अन्यथा नहीं कर सकता । क्योंकि सत्य ही सदा से मेरा इष्ट है ॥ १८ ॥

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥ १९ ॥

मुझे भले ही अपने प्राण गँवाने पड़ें अथवा लक्ष्मण सहित तुम्हें ही क्यों न त्याग देना पड़े; किन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं त्याग सकता। विशेष कर उस प्रतिज्ञा को जो ब्राह्मणों से कर चुका हूँ ॥ १९ ॥

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम् ।
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय तु किं पुनः ॥ २० ॥

हे वैदेही! ऋषियों का पालन तो मुझे अवश्य ही करना चाहिये, चाहें वे कहें या न कहें। फिर मैं तो उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा किये हुए हूँ ॥ २० ॥

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वयाऽनघे ।
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टो[1]ऽनुशिष्यते ॥ २१ ॥

हे अनघे सीते! तुमने स्नेह और सौहार्द से जो ये बातें कही हैं, उनसे मैं तुमसे अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। क्योंकि अप्रिय पुरुष को उपदेश कोई नहीं करता ॥ २१ ॥

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव चात्मनः ।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ २२ ॥

हे सीते! तुमने मुझसे अपने वंश के योग्य और उचित वचन ही कहे हैं। तुमको ऐसा ही करना उचित भी था क्योंकि तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे तुम प्राणों से भी अधिक प्यारी हो ॥२२॥

---

१ अनिष्टः—अप्रियः पुरुषः । (गो०)

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
सीतां प्रियां मैथिलराजपुत्रीम् ।
रामो धनुष्मान्सह लक्ष्मणेन ।
जगाम रम्याणि तपोवनानि ॥ २३ ॥

इति दशमः सर्गः ॥

धनुष धारण किये हुए महात्मा श्रीरामचन्द्र जी, जनकनन्दिनी प्यारी सीता से इस प्रकार के वचन कह कर, लक्ष्मण सहित उस रमणीय तपोवन में चले गये ॥ २३ ॥

अरण्यकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकादशः सर्गः

—※—

अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुमध्यमा ।
पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ॥ १ ॥

आगे आगे श्रीरामचन्द्र, बीच में पतली कटि वाली सीता जी और सीता जी के पीछे हाथ में धनुष लिये लक्ष्मण चले जाते थे ॥ १ ॥

तौ पश्यमानौ विविधाञ्शैलप्रस्थान्वनानि च ।
नदीश्च विविधा रम्या जग्मतुः सीतया सह ॥ २ ॥

उन दोनों ने जानकी सहित जाते समय तरह तरह के पर्वत-शृङ्गों को, वनों को तथा अनेक रम्य नदियों को देखा ॥ २ ॥

सारसांश्चक्रवाकांश्च नदीपुलिनचारिणः ।
सरांसि च सपद्मानि युक्तानि जलजैः खगैः ॥ ३ ॥

उन नदियों के तटों पर सारस, चकई और चकवा विचर रहे थे। तालाबों में कमल फूले हुए थे और उनमें जलपक्षी तैर रहे थे ॥ ३ ॥

यूथबद्धांश्च पृषतान्मदोन्मत्तान्विषाणिनः ।
महिषांश्च वराहांश्च नागांश्च द्रुमवैरिणः ।॥ ४ ॥

चित्तल हिरन, सींगदार बनैले भैंसे, तथा पेड़ों के शत्रु शूकर और हाथियों के झुण्ड के झुण्ड वन में घूम रहे थे ॥ ४ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ।
ददृशुः सहिता रम्यं तटाकं योजनायतम् ॥ ५ ॥

बहुत दूर चल कर, सूर्य डूबने के समय, इन्होंने एक रमणीक झील देखी जो एक योजन लंबी थी ॥ ५ ॥

पद्मपुष्करसंबाधं गजयूथैरलङ्कृतम् ।
सारसैर्हंसकादम्बैः सङ्कुलं जलचारिभिः ॥ ६ ॥

उस झील में कमल के फूल फूले हुए थे, उसके आस पास हाथियों के झुण्ड के झुण्ड घूम फिर रहे थे और सारस राजहंस कलहंस आदि जलपक्षिगण उसमें कल्लोलें कर रहे थे ॥ ६ ॥

प्रसन्नसलिले रम्ये तस्मिन्सरसि शुश्रुवे ।
गीतवादित्रनिर्घोषो न तु कश्चन दृश्यते ॥ ७ ॥

उस निर्मल और रमणीय जलवाली झील में गाने बजाने का शब्द तो सुनाई पड़ता था; परन्तु वहाँ गाने बजाने वाला कोई नहीं देख पड़ता था ॥ ७ ॥

ततः कौतूहलाद्रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
मुनिं धर्मभृतं नाम प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ८ ॥

तब महाबलवान् श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने कौतूहलवश, धर्मभृत नामक ऋषि से पूछा ॥ ८ ॥

इदमत्यद्भुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने ।
कौतूहलं महज्जातं किमिदं साधु कथ्यताम् ॥ ९ ॥

हे महर्षे ! यहाँ गाने बजाने का यह अद्भुत शब्द सुन, हम लोगों को बड़ा कौतुक हुआ है, यह है क्या ? सो आप ठीक ठीक बतलाइये ॥ ९ ॥

वक्तव्यं यदि चेद्विप्र नातिगुह्यमपि प्रभो ।
तेनैवमुक्तो धर्मात्मा राघवेण मुनिस्तदा ॥ १० ॥
प्रभावं सरसः कृत्स्नमाख्यातुमुपचक्रमे ।
इदं पञ्चाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम् ॥ ११ ॥

हे प्रभो ! यदि कोई रहस्य की भी बात हो, तो भी कहिये। जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब धर्मात्मा मुनि तत्क्षण उस सरोवर के प्रभाव का समस्त वर्णन करने लगे। वे बोले-हे रामचन्द्र ! इसका नाम पञ्चाप्सर है और इसमें सदा जल बना रहता है ॥ १० ॥ ११ ॥

निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना ।
स हि तेपे तपस्तीव्रं माण्डकर्णिर्महामुनिः ॥ १२ ॥

इसको माण्डकर्णि नामक मुनि ने अपने तपस्या के प्रभाव से निर्मित किया है। माण्डकर्णि ने बड़ा घोर तप किया था ॥ १२ ॥

दश वर्षसहस्राणि वायुभक्षो जलाश्रयः ।
ततः प्रव्यथिताः सर्वे देवाः साग्निपुरोगमाः ॥ १३ ॥

जब उन्होंने दस हज़ार वर्ष तक वायु पी कर और इस सरोवर में रह कर तपस्या की, तब अग्नि आदि समस्त देवता बहुत घबड़ाये ॥ १३ ॥

अब्रुवन्वचनं सर्वे परस्परसमागतः ।
अस्माकं कस्यचित्स्थानमेष प्रार्थयते मुनिः ॥ १४ ॥

वे लोग एकत्र हो, आपस में कहने लगे कि, जान पड़ता है ये ऋषि हममें से किसी देवता का पद प्राप्त करने के लिये ही तप कर रहे हैं ॥ १४ ॥

इति संविग्नमनसः सर्वे ते त्रिदिवौकसः ।
तत्र कर्तुं तपोविघ्नं देवैः सर्वैर्नियोजिताः ॥ १५ ॥
प्रधानाप्सरसः पञ्च विद्युत्सदृशवर्चसः ।
अप्सरोभिस्ततस्ताभिर्मुनिर्दृष्टपरावरः[1] ॥ १६ ॥

ऐसा मन में विचार और घबड़ा कर, उन सब देवताओं ने ऋषि के तप में विघ्न डालने के लिये बिजली के समान तेजवाली पाँच प्रधान अप्सराओं को, इस काम के लिये नियुक्त किया । उन अप्सराओं ने, इहलोक और परलोक सम्बन्धी धर्म अधर्म को जानने वाले मुनि को ॥ १५ ॥ १६ ॥

नीतो मदनवश्यत्वं सुराणां कार्यसिद्धये ।
ताश्चैवाप्सरसः पञ्च मुनेः पत्नीत्वमागताः ॥ १७ ॥

---

१ दृष्टपरावरः—दृष्टैहिकपारलौकिकधर्माधर्मः । (रा०)

देवताओं का काम पूरा करने के लिये काम के वश में कर लिया। ऋषि ने उन पांचों अप्सराओं को अपनी स्त्रियां बना लिया॥ १७॥

तटाके निर्मितं तासामस्मिन्नन्तर्हितं गृहम्।
तथैवाप्सरसः पञ्च निवसन्त्यो यथासुखम्॥ १८॥

तब ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से इस झील में उनके रहने के लिये एक अदृश्य घर बनाया, जिसमें वे सब पाँचों अप्सराएँ सुख पूर्वक रहने लगीं॥ १८॥

रमयन्ति तपोयोगान्मुनिं यौवनमास्थितम्।
तासां संक्रीडमानानामेष वादित्रनिःस्वनः॥ १९॥

और तप के प्रभाव से युवा अवस्था को प्राप्त उन ऋषि के साथ वे विहार करने लगीं। ऋषि के साथ विहार करती हुई उन अप्सराओं ही के गाने बजाने का यह शब्द है॥ १९॥

श्रूयते भूषणोन्मिश्रो गीतशब्दो मनोहरः।
आश्चर्यमिति तस्यैतद्वचनं भावितात्मनः॥ २०॥

राघवः प्रतिजग्राह सह भ्रात्रा महायशाः।
एवं कथयमानस्य ददर्शाश्रममण्डलम्॥ २१॥

उन्हींके गहनों की झनकार से मिल कर यह मनोहर गाने का शब्द सुन पड़ता है। विशुद्धचित्त धर्मभृत से यह वृत्तान्त सुन, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ और यही बातचीत करते करते उन्होंने एक आश्रममण्डल देखा॥ २०॥ २१॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्मया[1] लक्ष्म्या समावृतम् ।
प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः ॥ २२ ॥

वे आश्रम कुश और चीर से वेष्टित थे और उनमें तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। उस आश्रममण्डल में, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी गये ॥ २२ ॥

उवास मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महायशाः ।
तथा तस्मिन्स काकुत्स्थः श्रीमत्याश्रममण्डले ॥ २३ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण का वहाँ रहने वाले महर्षियों ने अतिथि-सत्कार किया और श्रीरामचन्द्र जी उसी आश्रम-मण्डल में टिक रहे ॥ २३ ॥

उषित्वा तु सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम् ॥ २४ ॥
येषामुषितवान्पूर्वं सकाशे स महास्त्रवित् ।
क्वचित्परिदशा[2]न्मासानेकं संवत्सरं क्वचित् ॥ २५ ॥
क्वचिच्च चतुरो मासान्पञ्चषट् चापरान्क्वचित् ।
अपरत्राधिकं मासादप्यर्धमधिकं क्वचित् ॥ २६ ॥
त्रीन्मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसत्सुखम् ।
एवं संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै ॥ २७ ॥

रात भर सुखपूर्वक वस तथा ऋषियों द्वारा सत्कारित हो, श्रीरामचन्द्र जी बारी बारी से उन सब ऋषियों के आश्रमों में, जिनमें वे पहले हो आये थे, कहीं १४ मास, कहीं एक वर्ष,

---

१ ब्राह्मया लक्ष्म्या—ब्राह्मण सम्पूर्ण । (गो०) २ परिदशान्—चतुर्दशमासान ।

कहीं चार मास, कहीं पाँच मास, कहीं एक वर्ष से भी अधिक, कहीं पखवारे से अधिक, कहीं तीन महीने और कहीं साढ़े तीन महीने, कहीं तीन मास, कहीं आठ मास श्रीरामचन्द्र जी सुखपूर्वक ठहरे ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ।
परिसृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया ॥ २८ ॥

इस प्रकार वन में, धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता सहित बस कर, दस वर्ष बिता दिये ॥ २८ ॥

सुतीक्ष्णस्याश्रमं श्रीमान्पुनरेवाजगाम ह ।
स तमाश्रममासाद्य मुनिभिः प्रतिपूजितः ॥ २९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् श्रीरामचन्द्र जी फिर सुतीक्ष्ण के आश्रम में आये और आश्रम में आने पर आश्रमवासी मुनियों द्वारा उनका सत्कार किया गया ॥ २९ ॥

तत्रापि न्यवसद्रामः किञ्चित्कालमरिन्दमः ।
अथाश्रमस्थो विनयात्कदाचित्तं महामुनिम् ॥ ३० ॥
उपासीनः स काकुत्स्थ सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत् ।
अस्मिन्नरण्ये भगवन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥
वसतीति मया नित्यं कथाः कथयतां श्रुतम् ।
न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया ॥ ३२ ॥

शत्रुओं को मारने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ कुछ दिन रह कर, एक दिन विनय पूर्वक महर्षि सुतीक्ष्ण से यह पूँछा कि, हे भगवन् ! इसी वन में कहीं मुनियों में श्रेष्ठ अगस्त्य जी भी रहते हैं; यह बात

मैं नित्य ही मुनियों के मुख से सुना करता हूँ, किन्तु यह वन इतना लंबा चौड़ा है कि, मुझे उनके रहने के स्थान का पता आज तक नहीं चला ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कुत्राश्रममिदं पुण्यं महर्षेस्तस्य धीमतः ।
प्रसादात्तत्रभवतः सानुजः सह सीतया ॥ ३३ ॥
अगस्त्यमभिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम् ।
मनोरथो महानेष हृदि मे परिवर्तते ॥ ३४ ॥
यदहं तं मुनिवरं शुश्रूषेयमपि स्वयम् ।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः ॥ ३५ ॥

फिर मुझे यह भी नहीं मालूम हुआ कि, उन धीमान् महर्षि का इस रमणीक वन में आश्रम किस ठौर है. मैं सीता और लक्ष्मण सहित उनको प्रसन्न करने तथा प्रणाम करने के लिये वहाँ जाना चाहता हूँ। मेरे मन में यह एक बड़ा मनोरथ है कि, मैं स्वयं उनकी सेवा शुश्रूषा करूँ। इस प्रकार मुनि जी ने, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी का वचन सुना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम् ।
अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम् ॥ ३६ ॥

और उत्तर में सुतीक्ष्ण जी ने प्रसन्न हो कर दशरथनन्दन से कहा। मैं आपसे और लक्ष्मण से यह बात कहने ही को था ॥ ३६ ॥

अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव ।
दिष्ट्या त्विदानीमर्थेऽस्मिन्स्वयमेव ब्रवीषि माम् ॥ ३७ ॥

बड़े आनन्द की बात है कि, आपने वही बात स्वयं मुझसे कही। आप लक्ष्मण व सीता जी को साथ ले अगस्त्याश्रम में जाइये ॥ ३७ ॥

अहमाख्यामि ते वत्स यत्रागस्त्यो महामुनिः।
योजनान्याश्रमादस्मात्तथा चत्वारि वै ततः ॥ ३८ ॥
दक्षिणेन महाञ्छ्रीमानगस्त्यभ्रातुराश्रमः।
स्थलीप्राये वनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते ॥ ३९ ॥

हे वत्स! अब मैं आपको उस स्थान का पता बतलाता हूँ, जहाँ अगस्त्य जी रहते हैं। सुनिये, यहाँ से चार जोजन (१६ कोस) पर, दक्षिण दिशा में अत्यन्त रमणीक अगस्त्य जी के भाई का आश्रम है। इस वन प्रदेश में उस आश्रम की भूमि चौरस है और वहाँ अनेक पीपल के पेड़ों का वन शोभित हो रहा है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाशकुनिनादिते।
पद्मिन्यो विविधास्तत्र प्रसन्नसलिलाः शिवाः ॥ ४० ॥

वहाँ बहुत से पुष्पों एवं फलों के वृक्ष हैं, और तरह तरह के पक्षी बोला करते हैं। वहाँ स्वच्छ एवं शुद्ध जल से भरे अनेक जलाशय हैं जिनमें अनेक प्रकार के कमलों के फूल फूले हुए हैं ॥ ४० ॥

हंसकारण्डवाकीर्णाश्चक्रवाकोपशोभिताः।
तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम गम्यताम् ॥ ४१ ॥

वे सरोवर हंस, जल कुक्कुट और चक्रवाक पक्षियों से सुशोभित हैं। वहाँ एक रात ठहर कर, प्रातः काल होते ही आप वहाँ से यात्रा कीजियेगा ॥ ४१ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय वनषण्डस्य[1] पार्श्वतः।
तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमन्तरम् ॥ ४२ ॥

---

१ वनषण्डस्य—वनसमूहस्य। (गो०) २ आस्थाय—उद्दिश्य। (गो०)

वहाँ से वन समूह की बगल से, दक्षिण दिशा की ओर एक योजन (४ कोस) चलने पर आपको अगस्त्य जी का आश्रम मिलेगा ॥ ४२ ॥

रमणीये वनोद्देशे बहुपादपसंवृते ।
रंस्यते तत्र वैदेही लक्ष्मणश्च सह त्वया ॥ ४३ ॥

वहाँ रमणीय और अनेक वृक्षों से युक्त आश्रम में आप सीता और लक्ष्मण के सहित सुख से वास कीजियेगा ॥ ४३ ॥

स हि रम्यो वनोद्देशो बहुपादपसङ्कुलः ।
यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥ ४४ ॥

वह वनस्थली अनेक वृक्षों से सुशोभित होने के कारण अत्यन्त रमणीय है । यदि आप उन महर्षि अगस्त्य जी के दर्शन करना चाहते हैं ॥ ४४ ॥

अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महायशः ।
इति रामो मुनेः श्रुत्वा सह भ्रात्राऽभिवाद्य च ॥ ४५ ॥

तो हे महायशस्विन् ! आज ही जाने का निश्चय कर लीजिये । सुतीक्ष्ण जी के ये वचन सुन, और भ्राता सहित मुनि को प्रणाम कर, ॥ ४५ ॥

प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुजः सीतया सह ।
पश्यन्वनानि रम्याणि पर्वतांश्चाभ्रसन्निभान् ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, अपने भाई लक्ष्मण और सीता जी को साथ ले, अगस्त्य जी के आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए और रास्ते में उन्होंने अनेक रमणीक वन और मेघ के तुल्य पर्वत देखे ॥ ४६ ॥

सरांसि सरितश्चैव पथि मार्गवशानुगान्[1] ।
सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम् ॥ ४७ ॥

सुतीक्ष्ण जी के बतलाये मार्ग को धर, श्रीरामचन्द्र जी अनेक नदियों और सरोवरों को, जो रास्ते में पड़ते थे, देखते हुए, सुखपूर्वक चले जाते थे ॥ ४७ ॥

इदं परमसंहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ।
एतदेवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः ॥ ४८ ॥
अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातुर्दृश्यते पुण्यकर्मणः ।
यथा हि मे वनस्यास्य ज्ञाताः पथि सहस्रशः ॥ ४९ ॥
सन्नताः फलभारेण पुष्पभारेण च द्रुमाः ।
पिप्पलीनां च पक्कानां वनादस्मादुपागतः ॥ ५० ॥
गन्धोऽयं पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः ।
तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः ॥ ५१ ॥

चलते चलते श्रीरामचन्द्र जी ने परमहर्षित हो, लक्ष्मण जी से यह बात कही कि, निश्चय ही महात्मा अगस्त्य के पुण्यात्मा भ्राता का यह आश्रम दिखलाई पड़ता है। क्योंकि, जैसा सुना था, वैसा ही मार्ग से इस वन में आते आते, फल और फूलों के बोझ से झुके हुए, हजारों वृक्ष देख पड़ते हैं। यह देखो पकी हुई पीपलों की कड़वी बू, वन के पवन से उड़ायी हुई, आ रही है। जगह जगह इकट्ठे किये हुए काठ के ढेर देख पड़ते हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

लूनाश्च पथि दृश्यन्ते दर्भा वैडूर्यवर्चसः ।
एतच्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम् ॥ ५२ ॥

---

१ मार्गवशानुगान्—मार्गवशात्प्राप्तान् । (रा०)

पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं संप्रदृश्यते ।
विविक्तेषु[1] च तीर्थेषु कृतस्नाता द्विजातयः ॥ ५३ ॥
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमार्जितैः ।
तत्सुतीक्ष्णस्य वचनं यथा सौम्य मया श्रुतम् ॥ ५४ ॥

और हरी मणि अर्थात् पन्ने की तरह ये कटे हुए हरे हरे रंग के कुश रास्ते में देख पड़ते हैं । देखो, वन में यह काले मेघ के शृङ्ग की तरह आश्रम के अग्नि का धूम देख पड़ता है । इन पवित्र तीर्थों में ब्राह्मण लोग स्नान कर और स्वयं तोड़े हुए फूलों से पुष्पार्चा (पुष्पाञ्जलि) कर रहेहैं । हे सौम्य ! सुतीक्ष्ण ने जो पहचानें बतलायी थीं, वे सब यहां देख पड़ती हैं ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

[नोट—श्लोक में "कुसुमैः स्वयमार्जितः" को देख—पूजाविधान का यह प्रमाण स्मरण हो आता है—" समित्पुष्पकुशादीनि श्रोत्रियः स्वयमाहरेत ।" अर्थात् हवन के लिये समिधा, कुश और पूजन के लिये पुष्प श्रोत्रिय ब्राह्मण को स्वयं लाने चाहिये ।]

अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नूनमेष भविष्यति ।
निगृह्य तरसा मृत्युं[2] लोकानां हितकाम्यया ॥ ५५ ॥
यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्छरण्या[3] पुण्यकर्मणा ।
इहैकदा किल क्रूरो वातापिरपि चेल्वलः ॥ ५६ ॥

अतः अगस्त्य जी के भाई का आश्रम अवश्य यही होगा । इनके भाई अगस्त्य जी ने सब लोगों के हितार्थ, बलपूर्वक मृत्यु के समान दैत्यों को मार कर, इस दक्षिण दिशा को पुण्यात्माओं (ऋषि मुनियों)

---

१ विविक्तेषु—पूतेषु । (गो०) २ मृत्युं तत्तुल्यं दैत्यं । (रा०)
३ शरण्या—वासयोग्या । (रा०)

के रहने योग्य बना दिया है। किसी समय इस वन में बड़े क्रूर वातापि और इल्वल नाम के ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

भ्रातरौ सहितावास्तां ब्राह्मणघ्नौ महासुरौ ।
धारयन्ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्[1] ॥ ५७ ॥

दो महाअसुर भाई, जो ब्राह्मणों को मार कर खा जाया करते थे, रहते थे। इनमें से इल्वल नाम का राक्षस, ब्राह्मण का रूप धर और ब्राह्मण की तरह संस्कृत भाषा बोलता हुआ ॥ ५७ ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, उस समय के ब्राह्मणों की बोलचाल की भाषा संस्कृत थी।]

आमन्त्रयति विप्रान्स्म श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः ।
भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम् ॥ ५८ ॥

श्राद्ध के बहाने, ब्राह्मणों को न्योता देता था। फिर मेढ़ा का रूप धारण किये हुए अपने भाई वातापि को मार कर और उसका मांस पका कर ॥ ५८ ॥

तान्द्विजान्भोजयामास श्राद्धदृष्टेन[2] कर्मणा ।
ततो भुक्तवतां तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥
वातापे निष्क्रमस्वेति स्वरेण महता वदन् ।
ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वातापिर्मेषवन्नदन् ॥ ६० ॥

श्राद्ध की विधि से उनको भोजन करा दिया करता था। जब ब्राह्मण भोजन कर चुकते, तब इल्वल बड़े ज़ोर से चिल्ला कर कहता था कि, हे भाई वातापे! तुम निकल आओ। तब वातापी भी भाई का वचन सुन, मेढ़े के समान बोलता हुआ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

---

१ संस्कृतंवदन्—ब्राह्मणवदितिशेषः। (रा०) २ श्राद्धदृष्टेन—श्राद्धकल्पावगतेन। (गो०)

भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पतत् ।
ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेवं कामरूपिभिः ॥ ६१ ॥
विनाशितानि संहत्य नित्यशः पिशिताशनैः ।
अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणों के शरीरों को चीरता फाड़ता निकल आता था। हे लक्ष्मण ! इस प्रकार ये कामरूपी और नरमाँसभोजी राक्षस मिल कर, सहस्रों ब्राह्मण नित्य मारने लगे। तब देवताओं ने आ कर, महर्षि अगस्त्य की स्तुति की ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

अनुकूलः किल श्राद्धे भक्षितः स महासुरः ।
ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तोदकं ततः ॥ ६३ ॥

और अगस्त्य जी ने अन्य ब्राह्मणों की तरह श्राद्धभोजन में वातापि का भक्षण किया। तब इल्वल ने "सम्पन्न" (अर्थात् श्राद्ध पूरा हुआ) कह कर, मुनि के हाथ पर "अवनेजन" (भोजनानन्तर का आचमन) के लिये जल दे कर, ॥ ६३ ॥

भ्रातरं निष्क्रमस्वेति चेल्वलः सोऽभ्यभाषत ।
स तं तथा भाषमाणं भ्रातरं विप्रघातिनम् ॥ ६४ ॥

सदा की भाँति (पेट फाड़ कर) निकलने के लिये भाई को पुकारा। तब ब्राह्मणों का घात करने वाले और भाई को बार बार पुकारने वाले इल्वल से ॥ ६४ ॥

अब्रवीत्प्रहसन्धीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः ।
कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः ॥ ६५ ॥

मुनियों में श्रेष्ठ और बुद्धिमान् अगस्त्य जी ने हँस कर कहा कि, भला अब वह कैसे निकल सकता है, क्योंकि मैंने तो उस राक्षस को पचा डाला ॥ ६५ ॥

भ्रातुस्ते मेषरूपस्य गतस्य यमसादनम् ।
अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रयम्[1] ॥ ६६ ॥

मेढ़ा रूपधारी तेरा भाई तो यमालय में पहुँच गया। अगस्त्य जी के मुख से भाई के मरने की बात सुन, ॥ ६६ ॥

प्रधर्षयितुमारेभे[2] मुनिं क्रोधान्निशाचरः ।
सोऽभिद्रवन्मुनिश्रेष्ठं मुनिना दीप्ततेजसा ॥ ६७ ॥

क्रोध में भर वह राक्षस अगस्त्य जी को मार डालने के लिये उन पर झपटा। तब तपस्या के तेज से दीप्तमान अगस्त्य जी ने ॥ ६७ ॥

चक्षुषाऽनलकल्पेन[3] निर्दग्धो निधनं गतः ।
तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तटाकवनशोभितः ॥ ६८ ॥

प्रज्वलित अग्नि के समान नेत्रों से उसकी ओर देख, उसे भस्म कर, मार डाला। हे लक्ष्मण! उन्हीं अगस्त्य जी के भाई का यह तड़ाग और वन से शोभित आश्रम है ॥ ६८ ॥

विप्रानुकम्पया येन कर्मेदं दुष्करं कृतम् ।
एवं कथयमानस्य तस्य सौमित्रिणा सह ॥ ६९ ॥

जिन्होंने ब्राह्मणों के ऊपर अनुग्रह कर, दूसरों से न होने योग्य, यह काम किया था। इस प्रकार, लक्ष्मण जी से बातचीत करते करते ॥ ६९ ॥

रामस्यास्तं गतः सूर्यः सन्ध्याकालोऽभ्यवर्तत ।
उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि ॥ ७० ॥

---

१ निधनसंश्रयं—नाशविषयं। (गो०) २ प्रधर्षयितुं—हिंसितुं। (गो०)
३ अनलकल्पेन—अग्निसदृशेन। (गो०)

सूर्य अस्त हो गये और सन्ध्याकाल हो गया। तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने यथाविधि सायं सन्ध्योपासन किया ॥ ७० ॥

[नोट—अगस्त्य तथा इल्वल-वातापि के आख्यान को पढ़ कर यह बात भी जानी जाती है कि, रामायणकाल में ब्राह्मण, ब्राह्मणों को, श्राद्धभोजन में माँस का भी भोजन करवाया करते थे।]

प्रविवेशाश्रमपदं तमृषिं सोऽभ्यवादयत्।
सम्यक्प्रतिगृहीतश्च मुनिना तेन राघवः ॥ ७१ ॥

सन्ध्योपासन करने के उपरान्त वे अगस्त्य जी के भाई के आश्रम में गये और उनको प्रणाम किया। अगस्त्य जी के भाई ने भी भली भाँति स्वागत कर उनका आतिथ्य किया ॥ ७१ ॥

न्यवसत्तां निशामेकां प्राश्य मूलफलानि च।
तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां विमले सूर्यमण्डले ॥ ७२ ॥

कन्दमूल और फल खा कर, श्रीरामचन्द्र जी एक रात्रि वहाँ ठहरे। फिर रात बीतने और सबेरा होने पर ॥ ७२ ॥

भ्रातरं तमगस्त्यस्य ह्यामन्त्रयत राघवः।
अभिवादये त्वां भगवन्सुखमध्युषितो निशाम् ॥ ७३ ॥
आमन्त्रये त्वां गच्छामि गुरुं ते द्रष्टुमग्रजम्।
गम्यतामिति तेनोक्तो जगाम रघुनन्दनः ॥ ७४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी के भाई से विदा माँगते समय कहा—हे भगवन्! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हम लोगों की रात बड़े सुख से यहाँ कटी। अब आप हम लोगों को जाने की अनुमति दीजिये। क्योंकि हम लोग आपके पूज्य बड़े भाई के दर्शन करना चाहते हैं। इस पर जब अगस्त्य के भ्राता ने कहा—"बहुत अच्छा पधारिये", तब श्रीरामचन्द्र जी वहाँ से प्रस्थानित हुए ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

यथोद्दिष्टेन मार्गेण वनं तच्च व्यलोकयन् ।
नीवारान्पनसांस्तालांस्तिमिशान्वञ्जुलान्धवान् ॥ ७५ ॥
चिरिबिल्वान्मधूकांश्च बिल्वानपि च तिन्दुकान् ।
पुष्पितान्पुष्पिताग्राभिर्लताभिरनुवेष्टितान् ॥ ७६ ॥
ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तारपादपान् ।
हस्तिहस्तैर्विमृदितान्वानरैरुपशोभितान् ॥ ७७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बतलाये हुए मार्ग से चलते हुए उस वन की शोभा निरखते जाते थे। उस वन में नीवार, कटहल, शाल, बञ्जुल, तिनिश, ढांक, तथा पुराने पुराने बेल, महुआ, तेंदुआ आदि वृक्ष, जो स्वयं फूले हुए थे तथा जिनमें फूली हुई लताएँ लिपटी हुई थीं, ऐसे सैकड़ों वृक्ष श्रीरामचन्द्र जी ने उस वन में देखे। उन वृक्षों में से कितने ही हाथियों की सूंड़ों से टूटे हुए थे और कितनों ही पर बंदर बैठे हुए उनकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

मत्तैः शकुनिसङ्घैश्च शतशश्च प्रणादितान् ।
ततोऽब्रवीत्समीपस्थं रामो राजीवलोचनः ॥ ७८ ॥

उन वृक्षों पर सैकड़ों पक्षी मतवाले हो, बोल रहे थे। वहाँ की ऐसी शोभा देख, राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ने निकटस्थ ॥७८॥

पृष्ठतोऽनुगतं वीरं लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ।
स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा शान्तमृगद्विजाः ॥ ७९ ॥

और पीछे आते हुए तथा शोभा बढ़ाने वाले वीर लक्ष्मण जी से कहा—इन सब वृक्षों के पत्ते जैसे चिकने दिखलाई देते हैं और मृगगण तथा पक्षी जैसे शान्त स्वभाव दृष्टिगत हो रहे हैं, इससे तो यही जान पड़ता है कि, ॥ ७९ ॥

आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा[1] ॥ ८० ॥

उन विशुद्ध चित्त महर्षि का आश्रम अब अधिक दूर नहीं है, जो अपने ही कर्म से अगस्त्य के नाम से लोक में विख्यात है ॥८०॥

[नोट—अगस्त्य का अगस्त्य नाम क्यों पड़ा यह इसी सर्ग के ८६—८७ श्लोकों में सङ्केत से बतलाया गया है।]

आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः ।
आज्यधूमाकुलवनश्चीरमालापरिष्कृतः ॥ ८१ ॥

थके बटोहियों की थकावट दूर करने वाला उनका आश्रम यही देख पड़ता है। देखो न, अग्निहोत्र का धुआँ वन में छाया हुआ है। जहाँ तहाँ वृक्षों की डालियों पर चीर वस्त्र सुखाने को फैलाये हुए हैं और पुष्पमालाएँ लटका कर आश्रम की सजावट की गयी है ॥८१॥

प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः ।
निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया ॥ ८२ ॥

देखो, स्वाभाविक वैर विरोध को छोड़ वन्यजन्तु कैसे शान्त बैठे हुए हैं और तरह तरह के पक्षी शब्द कर रहे हैं। इन्होंने मृत्यु रूपी उन राक्षसों को बलपूर्वक, लोकों के हितार्थ मार कर, ॥ ८२ ॥

दक्षिणा दिक्कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ।
तस्येदमाश्रमपदं प्रभावद्यस्य राक्षसैः ॥ ८३ ॥

दिगियं दक्षिणा त्रासाद्दृश्यते[2] नोपभुज्यते ।
यदाप्रभृति[2] चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा ॥ ८४ ॥

---

१ स्वेनैव कर्मणा—विन्ध्यस्तम्भन रूपेण । अगस्तम्भयतीत्यगस्त्य इति व्युत्पत्तेः। (गो०) २ त्रासात् दृश्यते—नतुप्राचीनकाल इवोपभुज्यते । (गो०) यदाप्रभृति—अगस्त्यागमनात्प्रभृति । (गो०)

दक्षिण दिशा को पुण्यकर्मा ऋषि मुनियों के रहने योग्य बना दिया है। इन्हींके प्रभाव से राक्षसगण भयभीत हो, दक्षिण दिशा की ओर केवल देखते तो हैं, किन्तु पूर्वकाल की तरह ब्राह्मणों को मार कर, खा जाने का उनको साहस नहीं होता। जब से महर्षि अगस्त्य इस आश्रम में आ कर रहने लगे हैं ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

तदाप्रभृतिनिर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः ।
नाम्ना[1] चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा ॥ ८५ ॥

तब से यहाँ के राक्षसों ने ब्राह्मणों के साथ वैर विरोध करना छोड़ दिया है और वे अब शान्त हो कर रहा करते हैं। इसीसे यह दक्षिण दिशा अब अगस्त्य जी की दिशा के नाम से प्रसिद्ध हो गयी है ॥ ८५ ॥

प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धर्षा क्रूरकर्मभिः ।
मार्गं निरोद्धुं निरतो भास्करस्याचलोत्तमः ॥ ८६ ॥

और क्रूरकर्मा दुर्धर्ष राक्षसों को नीचा दिखाने के कारण, दक्षिण दिशा तीनों लोकों में विख्यात हुई है। अथवा जो दक्षिण दिशा किसी समय क्रूरकर्मा राक्षसों के कारण तीनों लोकों में दुर्धर्ष कह कर प्रसिद्ध थी, वह अब अगस्त्य जी की कृपा से सब लोगों के रहने योग्य हो गयी। पर्वतों में श्रेष्ठ विन्ध्य पर्वत जो सूर्य का रास्ता रोकना चाहता था ॥ ८६ ॥

निदेशं पालयन्यस्य विन्ध्यः शैलो न वर्धते ।
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः ॥ ८७ ॥
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान्विनीतजनसेवितः ।
एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यरतः सताम् ॥ ८८ ॥

---

१ अतएवेयं दक्षिणादिक् नाम्ना भगवतोऽगस्त्यस्य दिगिति प्रसिद्धेत्युच्यते। (गो०)

किन्तु यह विन्ध्य शैल अगस्त्य जी की आज्ञा पालन कर, सूर्य का रास्ता रोकने को अब ऊँचा नहीं होता। तीनों लोकों में अपने कर्मों से प्रसिद्ध उन दीर्घजीवी महर्षि अगस्त्य का यहीं विनीत जनों से सेवित आश्रम है। यह मुनि, लोगों से सम्मानित हैं और साधुओं की भलाई करने में सदा तत्पर रहते हैं ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

अस्मानभिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ।
आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥ ८९ ॥

जब हम उनके आश्रम में जाँयगे तब वे हमारा कल्याण करेंगे। मैं उन महर्षि अगस्त्य का आराधन करूँगा ॥ ८९ ॥

शेषं च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ।
अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ९० ॥

हे सौम्य! मैं वनवास का शेष काल अगस्त्य जी के आश्रम में रह कर ही बिताऊँगा। हे प्रभो! इस आश्रम में देवता, गन्धर्व, सिद्ध और देवर्षि ॥ ९० ॥

अगस्त्यं नियताहारं सततं पर्युपासते ।
नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो[1] वा यदि वा शठः[2] ॥ ९१ ॥
नृशंसः[3] कामवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः ।
अत्र देवाश्च यक्षाश्च नागाश्च पतगैः[4] सह ॥ ९२ ॥

नियताहारी अगस्त्य जी की सदा उपासना किया करते हैं। ये मुनि ऐसे प्रभावशाली हैं कि, इनके आश्रम में झूठा, निर्दयी और

---

१ क्रूरः—निर्दयः। (गो०) २ शठः—गूढविप्रियकृत्। (गो०) ३ नृशंस—घातुकः। (गो०) ४ पतगैः—गरुडजातिभिः। (गो०)

कपटी, घातक, कामी, किसी भाँति जीवित नहीं रह सकता। यहाँ देव, यक्ष, नाग और गरुड़ ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

वसन्ति नियताहारा धर्ममाराधयिष्णवः ।
अत्र सिद्धा महात्मानो विमानैः सूर्यसन्निभै ॥ ९३ ॥
त्यक्तदेहा नवैर्देहैः[1] स्वर्याताः परमर्षयः ।
यक्षत्वममरत्वं च राज्यानि विविधानि च ।
अत्र देवाः प्रयच्छन्ति भूतैर्[2]आराधिताः शुभैः ॥ ९४ ॥

नियताहार हो धर्म की आराधना करने के लिये वास करते हैं। यहाँ महात्मा सिद्ध तथा महर्षि, सूर्य की तरह चमचमाते विमानों में बैठ कर, यह शरीर छोड़ कर और दिव्य शरीर धारण कर, स्वर्ग को चले जाते हैं। जो पुण्य कर्म करने वाले हैं, वे इस आश्रम में रह कर, देवताओं के अनुग्रह से देवत्व, यक्षत्व, राज्य तथा विविध प्रकार के ईप्सित पदार्थों को पाते हैं ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

आगताः स्माश्रमपदं सौमित्रे प्रविशाग्रतः ।
निवेदयेह मां प्राप्तमृषये सीतया सह ॥ ९५ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण! अब हम आश्रम में आ पहुँचे हैं। अब तुम आगे जा कर, उनको सीता सहित हमारे आगमन की सूचना दो ॥ ९५ ॥

अरण्यकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

---

१ नवैः—दिव्यैः। (गो०) २ भूतैः—प्राणिभिः। (गो०)

द्वादशः सर्गः

—※—

स प्रविश्याश्रमपदं लक्ष्मणो राघवानुजः ।
अगस्त्यशिष्यमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण आश्रम में गये और अगस्त्य जी के शिष्य के पास जा उससे यह वचन बोले ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम ज्येष्ठस्तस्य सुतो बली ।
रामः प्राप्तो मुनिं द्रष्टुं भार्यया सह सीतया ॥ २ ॥

महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र, बलवान् श्रीरामचन्द्र जी, अपनी स्त्री सीता जी के साथ, मुनि के दर्शन करने को आये हैं ॥ २ ॥

लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः[1] ।
अनुकूलश्[2]च भक्तश्[3]च यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ ३ ॥

मेरा नाम लक्ष्मण है और मैं उनका हितकारी, प्रिय और प्रीतिमान् छोटा भाई हूँ । कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी के प्रसङ्ग में आपने मेरा नाम भी सुना हो ॥ ३ ॥

ते वयं वनमत्युग्रं प्रविष्टाः पितृशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छामहे सर्वे भगवन्तं निवेद्यताम् ॥ ४ ॥

हम लोग पिता की आज्ञा से इस भयङ्कर वन में आये हैं । आप जा कर, भगवान् अगस्त्य जी से निवेदन करें कि, हम लोग उनके दर्शन करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

---

१ हितः—हितकारी ।(गो०) २ अनुकूलः—प्रियकरः । ३ भक्तः—प्रीतिमान् । (गो०)

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य तपोधनः ।
तथेत्युक्त्वाऽग्निशरणं[1] प्रविवेश निवेदितुम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण के ये वचन सुन वह शिष्य बहुत अच्छा कह कर, अग्नि-शाला में, अगस्त्य जी से निवेदन करने के लिये गया ॥ ५ ॥

स प्रविश्य मुनिश्रेष्ठं तपसा दुष्प्रधर्षणम्[2] ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं रामागमनमञ्जसा ॥ ६ ॥

उस शिष्य ने अग्निशाला में जा और हाथ जोड़ कर, तपोबल से युक्त मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जी से श्रीराम जी के आगमन का वृत्तान्त कहा ॥ ६ ॥

यथोक्तं लक्ष्मणेनैव शिष्योऽगस्त्यस्य सम्मतः ।
पुत्रौ दशरथस्येमौ रामो लक्ष्मण एव च ॥ ७ ॥
प्रविष्टावाश्रमपदं सीतया सह भार्यया ।
द्रष्टुं भवन्तमायातौ शुश्रूषार्थमरिन्दमौ ॥ ८ ॥

अगस्त्य जी के कृपापात्र शिष्य ने लक्ष्मण जी के कथनानुसार कहा कि, महाराज दशरथ के राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण, आप के आश्रम में अपनी भार्या सहित आये हैं और वे शत्रुतापन आपके दर्शन और आपकी सेवा शुश्रूषा करना चाहते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

यदत्रानन्तरं तत्त्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।
ततः शिष्यादुपश्रुत्य प्राप्तं रामं सलक्ष्मणम् ॥ ९ ॥
वैदेहीं च महाभागामिदं वचनमब्रवीत् ।
दिष्ट्या[3] रामश्चिरस्याद्य द्रष्टुं मां समुपागतः ॥ १० ॥

---

१ अग्निशरणं—अग्निगृहं । (गो०) २ दुष्प्रधर्षणं—मुनिश्रेष्ठम् । (गो०)
३ दिष्ट्या—भाग्यमेतत् । (रा०)

अब जो कुछ मुझे कर्त्तव्य हो सो आज्ञा कीजिये। शिष्य के मुख से श्रीरामचन्द्र वा लक्ष्मण वा महाभागा सीता जी का आगमन सुन, अगस्त्य जी बोले—यह बड़े भाग्य की बात है कि, बहुत दिनों पर श्रीरामचन्द्र जी मुझसे मिलने आये हैं॥ ९ ॥ १० ॥

मनसा काङ्क्षितं ह्यस्य मयाप्यागमनं प्रति ।
गम्यतां सत्कृतो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ११ ॥
प्रवेश्यतां समीपं मे किं चासौ न प्रवेशितः ।
एवमुक्तस्तु मुनिना धर्मज्ञेन महात्मना ॥ १२ ॥

मेरे मन में भी उनसे मिलने की अभिलाषा थी। सो तुम जा कर लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को बड़े आदर के साथ लिवा लाओ। तुम शीघ्र उनको मेरे पास लिवा क्यों नहीं लाये। जब धर्मज्ञ महात्मा अगस्त्य जी ने इस प्रकार कहा॥११॥१२॥

अभिवाद्याब्रवीच्छिष्यस्तथेति नियताञ्जलिः ।
ततो निष्क्रम्य सम्भ्रान्तः शिष्यो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १३ ॥

तब शिष्य, प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर, यह कहता हुआ कि बहुत अच्छा अभी लिवाये लाता हूँ, बाहिर गया और आदर पूर्वक लक्ष्मण जी से बोला ॥ १३ ॥

क्वासौ रामो मुनिं द्रष्टुमेतु प्रविशतु स्वयम् ।
ततो गत्वाऽऽश्रमद्वारं शिष्येण सह लक्ष्मणः ॥१४॥

श्रीरामचन्द्र कौन से हैं वे आवें और मुनि जी का दर्शन करें। लक्ष्मण जी उस शिष्य को अपने साथ ले आश्रम के द्वार पर गये ॥ १४ ॥

दर्शयामास काकुत्स्थं सीतां च जनकात्मजाम् ।
तं शिष्यः प्रश्रितो[1] वाक्यमगस्त्यवचनं ब्रुवन् ॥ १५ ॥

और उस शिष्य को जनकनन्दिनी सीता और श्रीरामचन्द्र को दिखलाया। उस शिष्य ने प्रीति सहित अगस्त्य जी का संदेसा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १५ ॥

प्रावेशयद्यथान्यायं सत्काराहं सुसत्कृतम् ।
प्रविवेश ततो रामः सीतया सह लक्ष्मणः ॥ १६ ॥

फिर उन सत्कार करने योग्यों का यथाविधि सत्कार कर, वह शिष्य श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण को आश्रम के भीतर ले गया ॥ १६ ॥

प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं ह्यवलोकयन् ।
स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैव च ॥ १७ ॥
विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ।
सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कौबेरमेव च ॥ १८ ॥
धातुर्विधातुः स्थाने च वायोः स्थानं तथैव च ।
नागराजस्य च स्थानमनन्तस्य महात्मनः ॥ १९ ॥
स्थानं तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च ।
स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ २० ॥
कार्त्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति ।
ततः शिष्यैः परिवृतो मुनिरप्यभिनिष्पतत् ॥ २१ ॥

---

1 प्रश्रितं — प्रीतियुक्तं । (रा०)

उस आश्रम के भीतर जा श्रीरामचन्द्रादि ने देखा कि, आश्रम में शान्त स्वभाव हिरन चारों ओर बैठे हैं। इन तीनों ने देखा कि, अगस्त्य जी के आश्रम में ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, भग, कुवेर, धाता, विधाता, वायु, नागराज शेष जी, गायत्री, वसु, वरुण, कार्तिकेय, धर्मराज के स्थान वा मन्दिर बने हुए हैं। इतने में शिष्यों को साथ लिये हुए अगस्त्य जी भी अग्निशाला से निकले ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

तं ददर्शाग्रतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसाम् ।
अब्रवीद्वचनं वीरो लक्ष्मण लक्ष्मिवर्धनम् ॥ २२ ॥

तब वीर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनियों में सब से बढ़ कर तेजस्वी अगस्त्य जी को सामने से आता हुआ देख, शोभा बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी से कहा ॥ २२ ॥

एष लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः ।
औदार्येण[1]वगच्छामि[2] निधानं तपसामिमम् ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! भगवान् अगस्त्य ऋषि अग्निशाला से निकल कर, आरहे हैं। इनके तेज विशेष को देखने से जान पड़ता है कि, यह तप की खान है ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम् ।
जग्राह परमप्रीतस्तस्य पादौ परन्तपः ॥ २४ ॥

यह कह, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी ने सूर्य के समान तेजस्वी महर्षि अगस्त्य के चरण छुए ॥ २४ ॥

---

१ औदार्येण—तपोजनिततेजोविशेषप्रोत्कर्षेण । (शि०) २ अवगच्छामि—जानामि । (शि०)

अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः ।
सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः ॥ २५ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण जी सहित प्रणाम कर के हाथ जोड़े हुए खड़े रहे ॥ २५ ॥

प्रतिजग्राह[1] काकुत्स्थमर्चयित्वाऽऽसनोदकैः ।
कुशलप्रश्नमुक्त्वा च ह्यास्यतामिति चाब्रवीत् ॥ २६ ॥

तब महर्षि अगस्त्य जी ने श्रीरामचन्द्र जी को अतिथि मान, आसन और पैर धोने को जल दिया । तदनन्तर कुशल पूँछ कर, कहा कि बैठिये ॥ २६ ॥

अग्निं हुत्वा[2] प्रदायार्घ्यमतिथीन्प्रतिपूज्य[3] च ।
वानप्रस्थेन धर्मेण[4] स तेषां भोजनं ददौ ॥ २७ ॥

तदनन्तर वैश्वदेव कर और अर्घ्य, पाद्य, आचमन, पुष्पादि से उन अतिथियों का पूजन कर, सिद्ध किये हुए कन्द मूल भोजन करने के लिये दिये ॥ २७ ॥

प्रथमं चोपविश्याथ धर्मज्ञो मुनिपुङ्गवः ।
उवाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर धर्मज्ञ महर्षि अगस्त्य प्रथम आसन पर बैठ, पीछे कर जोड़ कर बैठे हुए धर्मकोविद श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ २८ ॥

---

१ प्रतिजग्राह—अतिथित्वेनेति शेषः । (गो०) २ अग्निंहुत्वा—वैश्वदेवं कृत्वा । (गो०) ३ प्रतिपूज्य—आचमनीयपुष्पादिभिः पूजयित्वा । (गो०) ४ वानप्रस्थेन धर्मेण—सिद्धभोजनं कन्दमूलादिकं ददौ । (गो०)

अग्निं हुत्वा प्रदानार्घ्येणातिथिं प्रतिपूजयेत् ।
अन्यथा खलु काकुत्स्थ तपस्वी समुदाचरन् ॥ २९ ॥
दुःसाक्षीव[1] परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत् ।
राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः ॥ ३० ॥
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान्प्राप्तः प्रियातिथिः ।
एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैरन्यैश्च राघवम् ॥ ३१ ॥

हे काकुत्स्थ, वैश्वदेव कर तथा अर्घ्यादि से अतिथि का पूजन करना चाहिये। जो तपस्वी ऐसा नहीं करता, वह परलोक में मिथ्यावादी गवाह की तरह अपना माँस आप खाता है। आप तो सब लोकों के स्वामी धर्मचारी और महारथी हैं। सो आप जैसे विशिष्ट एवं प्रिय अतिथि आज हमारे पाहुने हुए हैं। अतः आपका पूजन और सत्कार करना हमारा कर्त्तव्य है। यह कह कर फल, मूल, पुष्प तथा अन्य पदार्थों को ला कर महर्षि, श्रीरामचन्द्र जी का ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पूजयित्वा यथाकामं पुनरेव ततोऽब्रवीत् ।
इदं दिव्यं महच्चापं हेमवज्रविभूषितम् ॥ ३२ ॥
वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।
अमोघः सूर्यसङ्काशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः ॥ ३३ ॥
दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षयसायकौ ।
सम्पूर्णौ निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥ ३४ ॥

यथेष्ट पूजन कर कहा—हे पुरुषसिंह! इस दिव्य बड़े धनुष को, जो सुवर्ण और हीरों से भूषित है और जिसको विश्व

---

१ दुःसाक्षी—कूटसाक्षी। (गो०)।

महातेजस्वी भगवान् महर्षि अगस्त्य, श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर और उन सर्वश्रेष्ठ आयुधों उनको दे कर, उनसे फिर कहने लगे ॥३७॥

[नोट—किसी किसी संस्करण के इस सर्ग में लगभग २६ श्लोक और पाये जाते हैं, किन्तु प्रक्षिप्त होने के कारण वे यहाँ छोड़ दिये गये हैं ।]

अरण्यकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

त्रयोदशः सर्गः

—:*:—

राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण ।
अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तौ स्थः सह सीतया ॥ १ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! और हे लक्ष्मण ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम दोनों सीता सहित हमें प्रणाम करने आये, इससे हम तुम्हारे ऊपर बड़े प्रसन्न हैं ॥ १ ॥

अध्वश्रमेण वां खेदो बाधते प्रचुरश्रमः ।
व्यक्तमुत्कण्ठते चापि मैथिली जनकात्मजा ॥ २ ॥

यह स्पष्ट विदित होता है कि, मार्ग चलने की थकावट से तुमको महाकष्ट हुआ है । जनकनन्दिनी मैथिली भी विश्राम करने को उत्सुक जान पड़ती हैं ॥ २ ॥

एषा हि सुकुमारी च दुःखैश्च न विमानिता ।
प्राज्यदोषं[1] वनं प्राप्ता भर्तृस्नेहप्रचोदिता ॥ ३ ॥

यह बड़ी ही सुकुमार हैं, इन्होंने काहे को ऐसे कष्ट कभी सहे होंगे । किन्तु पतिस्नेह से प्रेरित हो, अनेक कष्ट देने वाले इस वन में आयी हैं ॥ ३ ॥

---

१ प्राज्यदोषं—बहुदोषं । (गो०)

यथैषा रमते राम इह सीता तथा कुरु ।
दुष्करं कृतवत्येषा वने त्वामनुगच्छती ॥ ४ ॥

इस आश्रम में, जिस प्रकार इनको सुख मिले, तुम वैसा ही करो। इन्होंने यह बड़ा ही दुष्कर कार्य किया जो ये तुम्हारे साथ वन में आयी हैं ॥ ४ ॥

एषा हि प्रकृतिः स्त्रीणामासृष्टे रघुनन्दन ।
समस्थमनुरज्यन्ति विषमस्थं त्यजन्ति च ॥ ५ ॥

क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ ही से स्त्रियों का स्वभाव यही चला आता है कि, स्त्रियाँ सुख में तो अपने पतियों का साथ देती हैं और विपत्ति में उनका साथ छोड़ देती हैं ॥ ५ ॥

शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा ।
गरुडानिलयोः शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषितः ॥ ६ ॥

स्त्रियों का मन बिजली की तरह चञ्चल होता है। ये शस्त्रों की धार की तरह तेज स्वभाव वाली, (अर्थात् ऐसे कटु वचन बोलने वाली जो शस्त्र की तरह हृदय के आर पार हो जाय) और गरुड़ तथा वायु की तरह शीघ्रता की अनुगामिनी होती हैं, अर्थात् इनके विचार बड़ी जल्दी जल्दी बदला करते हैं ॥ ६ ॥

इयं तु भवतो भार्या दोषैरेतैर्विवर्जिता ।
श्लाघ्या च व्यपदेश्या[1] च यथा देवी ह्यरुन्धती ॥ ७ ॥

किन्तु हे रामचन्द्र! आपकी भार्या इन सीता जी में, इन दोषों में से एक भी दोष नहीं है। इसलिये ये तो प्रशंसनीय और अरुन्धती की तरह पतिव्रता स्त्रियों की सिरमौर हैं ॥ ७ ॥

---

१ व्यपदेश्या—पतिव्रतास्वग्रगण्या । (गो०)

अलङ्कृतोऽयं देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह ।
वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिन्दम ॥ ८ ॥

हे शत्रुओं को दमन करने वाले! तुमने सीता और लक्ष्मण सहित यहाँ वास कर, इस स्थान की शोभा बढ़ा दी। अथवा तुम, लक्ष्मण और सीता सहित जहाँ रहोगे, वही स्थान शोभायुक्त हो जायगा ॥ ८ ॥

एवमुक्तः स मुनिना राघवः संयताञ्जलिः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यमृषिं दीप्तमिवानलम् ॥ ९ ॥

ऋषि के ऐसा कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर और विनम्र हो, अग्नि के समान तेजस्वी अगस्त्य मुनि से कहा ॥ ९ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गवः ।
गुणैः सभ्रातृभार्यस्य वरदः परितुष्यति ॥ १० ॥

मैं अपने को धन्य और अनुगृहीत समझता हूँ कि, आप जैसे वरदाता मेरे, मेरे भाई और भार्या के गुणों से परम सन्तुष्ट हैं ॥ १० ॥

किंतु व्यादिश मे देशं सोदकं बहुकाननम् ।
यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः[1] सुखम् ॥ ११ ॥

किन्तु हे मुनिवर! मुझे कोई ऐसा स्थान बतलाइये, जहाँ जल का कष्ट न हो, जो मनोहर वनों से युक्त हो और जहाँ मैं आश्रम बना कर और एकाग्र हो, सुखपूर्वक वास करूँ ॥ ११ ॥

ततोऽब्रवीन्मुनिश्रेष्ठः श्रुत्वा रामस्य तद्वचः ।
ध्यात्वा मुहूर्तं धर्मात्मा धीरो[2] धीरतरं[3] वचः ॥ १२ ॥

---

१ निरतः—एकाग्रः । (गो०) २ धीर—धीमान् । (गो०) ३ धीरतरं—अतिनिश्चितं । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के कथन को सुन, धर्मात्मा श्रीमान् एवं मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जी मुहूर्त्त भर ध्यानमग्न हो (सोच कर), यह अति निश्चित (भली भाँति सोचा विचारा हुआ) वचन बोले ॥ १२ ॥

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः ।
देशो बहुमृगः श्रीमान्पञ्चवट्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥

हे तात ! यहाँ से एक योजन (चारकोस) के अन्तर पर बहुत से फूलों और फलों से युक्त और जल तथा मृगों से भरा पूरा, पञ्चवटी नाम का एक प्रसिद्ध स्थान है ॥ १३ ॥

तत्र गत्वाऽऽश्रमपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह ।
रंस्यसे त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन् ॥ १४ ॥

तुम लक्ष्मण जी सहित वहाँ जाओ और आश्रम बना कर, अपने पिता के वचन का यथाविधि पालन करते हुए, सुखपूर्वक रहो ॥ १४ ॥

विदितो ह्येष वृत्तान्तो मम सर्वस्तवानघ ।
तपसश्च प्रभावेन स्नेहाद्दशरथस्य च ॥ १५ ॥
हृदयस्थश्च ते च्छन्दो[1] विज्ञातस्तपसा मया ।
इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने ॥ १६ ॥

हे अनघ (पाप रहित) ! महाराज दशरथ मेरे स्नेही थे, सो हमें तपःप्रभाव से तुम्हारा समस्त वृत्तान्त मालूम है। इतना ही नहीं, बल्कि तप के प्रभाव से हमें यह भी मालूम है कि, तुम्हारे मन में क्या है। तभी तो तुम इस तपोवन में वास करने की हमसे प्रतिज्ञा कर के भी, रहने के लिये मुझसे अन्य स्थान पूँछते हो ॥१५॥१६॥

---

१ छन्दोभिप्रायः । (गो०)

अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति ।
स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १७ ॥

अतएव हे राम ! मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम पञ्चवटी में जा कर रहो। उस रमणीक वनस्थली में सीता का मन भी लग जायगा ॥ १७ ॥

स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव ।
गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १८ ॥

हे राघव ! वह स्थान सराहनीय है और यहां से दूर भी नहीं है, तथा गोदावरी के समीप है । वहां सीता जी का मन लग जायगा ॥ १८ ॥

प्राज्यमूलफलश्चैव नानाद्विजगणायुतः ।
विविक्तश्च महाबाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥ १९ ॥

वहां कन्दमूल और फलों की बहुतायत है और तरह तरह के पक्षियों से वह स्थान भरा हुआ है। हे महाबाहो ! वह एकान्त, पवित्र और रम्य स्थान है ॥ १९ ॥

भवानपि सदारश्च शक्तश्च परिरक्षणे[1] ।
अपि चात्र वसन्राम तापसान्पालयिष्यसि ॥ २० ॥

हे श्रीराम ! आप सीता जी सहित तपस्वियों की रक्षा कर सकते हैं। सो वहां रह कर आप तपस्वियों का पालन भी कर सकेंगे ॥ २० ॥

एतदालक्ष्यते वीर मधूकानां महद्वनम् ।
उत्तरेणास्य गन्तव्यं न्यग्रोधमधिगच्छता ॥ २१ ॥

---

१ परिरक्षणे—तापसानामितिशेषः । (गो०)

हे श्रीराम! यह जो महुओं का महावन दिखाई पड़ता है, उसके उत्तर की ओर से जा कर एक वट वृक्ष के पास तुम पहुँचोगे ॥२१॥

ततः स्थलमुपारुह्य पर्वतस्याविदूरतः ।
ख्यातः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥ २२ ॥

वट वृक्ष के आगे पर्वत के समीप समतल भूमि में पहुँचने पर, पुष्पों से सदा सुशोभित पञ्चवटी नाम का विख्यात वन तुमको मिलेगा ॥ २२ ॥

अगस्त्येनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
सत्कृत्यामन्त्रयामास तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ २३ ॥

अगस्त्य जी के इस प्रकार कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित, उन सत्यवादी ऋषि का भली भाँति पूजन कर, उनसे बिदा माँगी ॥ २३ ॥

तौ तु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
तदाश्रमात्पञ्चवटीं जग्मतुः सह सीतया ॥ २४ ॥

अगस्त्य जी की अनुमति प्राप्त कर, दोनों राजकुमारों ने ऋषि को प्रणाम किया और सीता को साथ ले, वे उनके आश्रम से पञ्चवटी के लिये रवाना हुए ॥ २४ ॥

गृहीतचापौ तु नराधिपात्मजौ
विषक्ततूणौ[1] समरेष्वकातरौ ॥
यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा
प्रजग्मतुः पञ्चवटीं समाहितौ ॥ २५ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

---

१ विषक्ततूणौ—बद्धतूणीरौ । (गो०)

समर में न डरने वाले दोनों राजकुमार, धनुष बाण धारण कर और पीठ पर तरकसों को बाँध, अगस्त्य जी के बतलाये मार्ग से, बड़ी सावधानी के साथ, पञ्चवटी की ओर चले ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुर्दशः सर्गः

—※—

अथ पञ्चवटीं गच्छन्नन्तरा रघुनन्दनः।
आससाद महाकायं गृध्रं भीमपराक्रमम् ॥ १ ॥

पञ्चवटी की ओर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने मार्ग में एक बड़े भारी शरीर वाले और भयानक पराक्रमी गीध को देखा ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा तौ महाभागौ वटस्थं रामलक्ष्मणौ।
मेनाते[1] राक्षसं पक्षिं ब्रुवाणौ को भवानिति ॥ ॥ २ ॥

महाभाग श्रीराम लक्ष्मण ने, अगस्त्य जी के बतलाये हुए वट वृक्ष पर उसे बैठा देख और उसे राक्षस समझ, उससे पूछा कि, तू कौन है? ॥ २ ॥

स तौ मधुरया वाचा सौम्यया[2] प्रीणयन्निव।
उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥ ३ ॥

गीध ने बड़े सौजन्य के साथ, और मधुर शब्दों में, श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करते हुए, उत्तर दिया—हे वत्स! मुझे तुम अपने पिता का मित्र जानो ॥ ३ ॥

---

१ मेनाते—मत्वा। (गो०) २ सौम्यया—सौजन्यपरया। (गो०)।

स तं पितृसखं बुद्ध्वा पूजयामास राघवः ।
स तस्य कुलमव्यग्रमथ[1] पप्रच्छ नाम च ॥ ४ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने उसे अपने पिता का मित्र जान, उसका आदर सत्कार किया और उससे उसका ठीक ठीक कुल और नाम पूँछा ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा सर्वभूतसमुद्भवम् ।
आचचक्षे द्विजस्तस्मै कुलमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, गीध ने सब जीवों की उत्पत्ति के वर्णन का प्रसङ्ग छेड़, अपना कुल और नाम बतलाया ॥ ५ ॥

पूर्वकाले महाबाहो ये प्रजापतयोऽभवन् ।
तान्मे निगदतः सर्वानादितः शृणु राघव ॥ ६ ॥

हे महाबाहो! पूर्वकाल में जो प्रजापति हो चुके हैं, उन सब का मैं आदि से वर्णन करता हूँ। आप सुनिये ॥ ६ ॥

कर्दमः प्रथमस्तेषां विकृतस्तदनन्तरः ।
शेषश्च संश्रयश्चैव बहुपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ७ ॥
स्थाणुर्मरीचिरत्रिश्च क्रतुश्चैव महाबलः ।
पुलस्त्यश्चाङ्गिराश्चैव प्रचेताः पुलहस्तथा ॥ ८ ॥
दक्षो विवस्वानपरोऽरिष्टनेमिश्च राघव ।
कश्यपश्च महातेजास्तेषामासीच्च पश्चिमः ॥ ९ ॥

---

1 अव्यग्रं—यथास्यात्तथा । (शि०)

१ कर्दम प्रजापति उन सब में बड़े थे। उनके बाद २ विकृत, ३ शेष, ४ संश्रय, ५ बहुपुत्र, ६ स्थाणु, ७ मरीचि ८ अत्रि, ९ क्रतु १० पुलस्त्य ११ अंगिरा १२ प्रचेता १३ पुलह १४ दक्ष १५ विवस्वान १६ अरिष्टनेमि १७ और सब से पीछे कश्यप हुए ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्रजापतेस्तु दक्षस्य बभूवुरिति विश्रुतम् ।
षष्टिर्दुहितरो राम यशस्विन्यो महायशः ॥ १० ॥

हे महायशस्वी राम! इनमें से दक्ष प्रजापति के यशस्विनी और लोक में विख्यात साठ कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

कश्यपः प्रतिजग्राह तासामष्टौ सुमध्यमाः ।
अदितिं च दितिं चैव दनुमप्यथ कालिकाम् ॥ ११ ॥

इनमें से आठ अति सुन्दरी कन्याओं का विवाह कश्यप जी ने अपने साथ किया। उन आठ कन्याओं के नाम ये हैं—१ अदिति, २ दिति, ३ दनु, ४ कालिका, ॥ ११ ॥

ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुं चाप्यनलामपि ।
तास्तु कन्यास्ततः प्रीतः कश्यपः पुनरब्रवीत् ॥ १२ ॥

५ ताम्रा, ६ क्रोधवशा, ७ मनु और ८ अनला हैं। इन आठों से कश्यप ने पुनः कहा ॥ १२ ॥

पुत्रांस्त्रैलोक्यभर्तृन्वै जनयिष्यथ मत्समान् ।
अदितिस्तन्मना राम दितिश्च मनुजर्षभ ॥ १३ ॥

कि, तुम मेरे समान और तीनों लोकों का भरण पोषण करने वाले पुत्र उत्पन्न करो। यह सुन कर, दिति, अदिति, ॥ १३ ॥

कालिका च महाबाहो शेषास्त्वमनसोऽभवन् ।
आदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ॥ १४ ॥

और कालिका ने तो अंगीकार किया और शेष ने पति की बात पर ध्यान न दिया । अदिति से ३३ देवता उत्पन्न हुए ॥१४॥

आदित्या वसवो रुद्रा ह्यश्विनौ च परन्तप ।
दितिस्त्वंजनयत्पुत्रान्दैत्यांस्तात यशस्विनः ॥ १५ ॥

अर्थात् १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, २ अश्विनी कुमार । हे अरिन्दम ! दिति के गर्भ से यशस्वी दैत्य उत्पन्न हुए ॥ १५ ॥

तेषामियं वसुमती पुरासीत्सवनार्णवा ।
दनुस्त्वजनयत्पुत्रमश्वग्रीवमरिन्दम ॥ १६ ॥

पहले वन और समुद्र सहित यह पृथिवी उन्हींकी थी । हे अरिन्दम ! दनु ने अश्वग्रीव नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ १६ ॥

नरकं कालकं चैव कालिकापि व्यजायत ।
क्रौञ्चीं भासीं तथा श्येनीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ॥ १७ ॥

कालिका ने नरक और कालक दो पुत्र उत्पन्न किये ; कौंची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी ॥ १७ ॥

ताम्रापि सुषुवे कन्याः पञ्चैता लोकविश्रुताः ।
उलूकाञ्जनयत्क्रौञ्ची भासी भासान्व्यजायत ॥ १८ ॥

ये लोकविख्यात पाँच कन्याएँ, ताम्रा के गर्भ से उत्पन्न हुईं । इनमें से क्रौञ्ची के गर्भ से उलूक, और भासी के गर्भ से भाषक नामक पक्षी उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

श्येनी श्येनांश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजसः ।
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

श्येनी के गर्भ से अति तेजस्वी श्येन और गीध उत्पन्न हुए और धृतराष्ट्री से सब हंस और कलहंस उत्पन्न हुए ॥ १९ ॥

चक्रवाकांश्च भद्रं ते विजज्ञे साऽपि भामिनी ।
शुकी नतां विजज्ञे तु नताया विनता सुता ॥ २० ॥

चक्रवाक भी उसीके गर्भ से उत्पन्न हुए । शुकी से नता नाम्नी लड़की उत्पन्न हुई और नता से विनता की उत्पत्ति हुई ॥ २० ॥

दश क्रोधवशा राम विजज्ञे ह्यात्मसम्भवा ।
मृगीं च मृगमन्दां च हरिं भद्रमदामपि ॥ २१ ॥

हे राम ! क्रोधवशा के दस लड़कियां उत्पन्न हुईं, जिनके नाम ये हैं १ मृगी, २ मृगनन्दा ३ हरी, ४ भद्रमदा ॥ २१ ॥

मातङ्गीमपि शार्दूलीं श्वेतां च सुरभिं तथा ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां सुरसां कद्रुकामपि ॥ २२ ॥

५ मातङ्गी, ६ शार्दूली, ७ श्वेता, ८ सुरभि, ९ सर्वलक्षण सम्पन्ना सुरसा और १० कद्रुकी ॥ २२ ॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्चमरास्तथा ॥ २३ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मृगी से समस्त मृग, उत्पन्न हुए और मृगमन्दा से रीछ, सृमर और चमर (सुरागाय) उत्पन्न हुए ॥ २३ ॥

हर्यांश्च हरयोऽपत्यं वानरांश्च तरस्विनः ।
ततस्त्विरावतीं नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम् ॥ २४ ॥

हरी नाम स्त्री से बलवान सिंह और वानर उत्पन्न हुए। तदनन्तर इरावती नाम की कन्या भद्रमदा से उत्पन्न हुई ॥ २४ ॥

तस्यास्त्वैरावतः पुत्रो लोकनाथो महागजः ।
मातङ्गास्त्वथ मातङ्ग्या अपत्यं मनुजर्षभ ॥ २५ ॥

इरावती से ऐरावत नामक महागज, जो एक दिग्गज है, उत्पन्न हुआ। हे नरश्रेष्ठ ! मातङ्गी से सब हाथी उत्पन्न हुए ॥ २५ ॥

गोलाङ्गूलांश्च शार्दूली व्याघ्रांश्चाजनयत्सुतान् ।
दिशागजांश्च काकुत्स्थ श्वेताऽप्यजनयत्सुतान् ॥ २६ ॥

शार्दूली से गोलाङ्गूल और व्याघ्र उत्पन्न हुए। हे काकुत्स्थ ! श्वेता ने दिग्गजों को उत्पन्न किया ॥ २६ ॥

ततो दुहितरौ राम सुरभिर्द्वे व्यजायत ।
रोहिणीं नाम भद्रं ते गन्धर्वीं च यशस्विनीम् ॥ २७ ॥

हे राम ! सुरभी की दो यशस्विनी लड़कियाँ हुईं। एक का नाम था रोहिणी और दूसरी का गन्धर्वी ॥ २७ ॥

रोहिण्यजनयद्गा वै गन्धर्वी वाजिनः सुतान् ।
सुरसाजनयन्नागान्राम कद्रूस्तु पन्नगान् ॥ २८ ॥

रोहिणी के गर्भ से गौ, बैल और गन्धर्वी से घोड़े उत्पन्न हुए। हे राम ! सुरसा ने नागों को उत्पन्न किया और कद्रू ने सर्पों को ॥ २८ ॥

मनुर्मनुष्याञ्जनयद्राम पुत्रान्यशस्विनः ।
ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्याञ्शूद्रांश्च मनुजर्षभ ॥ २९ ॥

हे राम ! मनु नाम की स्त्री से यशस्वी मनुष्य, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए ॥ २९ ॥

सर्वान्पुण्यफला[1]न्वृक्षाननलापि व्यजायत ।
विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसास्वसा ॥ ३० ॥

अनला ने अच्छे अच्छे फल वाले वृक्ष उत्पन्न किये । विनता शुकी की नतिनी थी और कद्रू तथा सुरसा ये दोनों बहिनें थीं ॥३०॥

कद्रूर्नागं सहस्रास्यं विजज्ञे धरणीधरम् ।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च ॥ ३१ ॥

कद्रू ने सहस्रों नागों को उत्पन्न किया । ये ही पृथिवी को धारण किये हुए हैं । विनता के दो पुत्र हुए, गरुड़ और अरुण ॥ ३१ ॥

तस्मा[2]ज्जातोऽहमरुणात्सम्पातिस्तु ममाग्रजः ।
जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिन्दम ॥ ३२ ॥

मैं अरुण का पुत्र हूँ और सम्पाति मेरा बड़ा भाई है । हे अरिन्दम ! मेरा नाम जटायु है और मुझे आप श्येनी का पुत्र जानिये ॥ ३२ ॥

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि ।
इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम् ।
सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ॥ ३३ ॥

हे तात ! अगर तुम चाहोगे तो मैं वनवास में तुम्हारी सहायता करूँगा । क्योंकि यह वन बड़ा दुर्गम है और इसमें अनेक वन्यपशु

---

१ पुण्यफलान्—चारुफलान् । (गो०) २ तस्मात्—अरुणात् । (शि०)

और राक्षस रहते हैं। हे तात! जब तुम और लक्ष्मण आश्रम छोड़, कहीं चले जाओगे, तब मैं सीता की रखवाली किया करूँगा ॥ ३३ ॥

जटायुषं तं प्रतिपूज्य राघवो ।
मुदा परिष्वज्य च सन्नतोऽभवत् ।
पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवा-
ञ्जटायुषा संकथितं पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जटायु का यह वृत्तान्त सुन, आदर और हर्ष सहित उसे अपने हृदय से लगाया और उसे प्रणाम किया। क्योंकि उसने कई बार अपने को श्रीरामचन्द्र जी के पिता का मित्र कह कर परिचय दिया था ॥ ३४ ॥

स तत्र सीतां परिदाय[1] मैथिलीं
सहैव तेनातिबलेन पक्षिणा ।
जगाम तां पञ्चवटीं सलक्ष्मणो
रिपून्दिधक्षञ्शलभानिवानलः ॥ ३५ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

फिर लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी की रक्षा के लिये जटायु को अपने साथ ले एवं शत्रुओं को भस्म करने की इच्छा से, तथा वन की रक्षा करने के लिये, सुप्रसिद्ध पञ्चवटी को चले ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ

—:※:—

---

[1] परिदाय—रक्षणार्थाय। (गो०)

पञ्चदशः सर्गः

—:※:—

ततः पञ्चवटीं गत्वा नानाव्याल[1]मृगायुताम् ।
उवाच भ्रातरं रामः सौमित्रिं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, उस पञ्चवटी में, जो नाना प्रकार के बनैले जीव जन्तुओं और दुष्ट सर्पों से भरी थी, पहुँच कर, तेजस्वी लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥ १ ॥

आगताः स्म यथोद्दिष्टममुं देशं महर्षिणा ।
अयं पञ्चवटीदेशः सौम्य पुष्पितपादपः ॥ २ ॥

हे सौम्य ! हम लोग महर्षि अगस्त्य जी के बतलाये हुए स्थान पर आ पहुँचे । यही पञ्चवटी है, जहाँ पुष्पित वृक्षों से भरा हुआ वन देख पड़ता है ॥ २ ॥

सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः कानने निपुणो ह्यसि ।
आश्रमः कतरस्मिन्नो देशे भवति सम्मतः ॥ ३ ॥

आश्रम बनाने के लिये उपयुक्त स्थान चुनने में तुम निपुण हो, अतः इस वन में दृष्टि फैला कर देखो कि, हम लोगों के आश्रम के लिये कौन सी जगह ठीक होगी ॥ ३ ॥

रमते यत्र वैदेही त्वमहं चैव लक्ष्मण ।
तादृशो दृश्यतां देशः सन्निकृष्टजलाशयः ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! स्थान ऐसा होना चाहिये, जहाँ सीता जी, तुम और हम सुखपूर्वक रहें और जल भी जहाँ से समीप हो ॥ ४ ॥

---

१ व्याला—दुष्ट सर्पाः । (गो०)

वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा ।
सन्निकृष्टं च यत्र स्यात्समित्पुष्पकुशोदकम् ॥ ५ ॥

जहाँ रमणीक वन हो, जहाँ जल भी अच्छा और बहुत हो, जहाँ समिधा, पुष्प और कुश समीप मिल सकें, ऐसा कोई स्थान तुम खोजो ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः ।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर, सीता जी के सामने, श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ ६ ॥

परवानस्मि[1] काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं[2] स्थिते ।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥ ७ ॥

हे राम ! मैं तो सदा से आपके अधीन हूँ । आप स्वयं कोई रमणीक स्थान चुन कर, वहाँ मुझे आश्रम बनाने की आज्ञा दें ॥ ७ ॥

सुप्रीतस्तेन वाक्येन लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
विमृशन्रोचयामास देशं सर्वगुणान्वितम् ॥ ८ ॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और उन्होंने विचार कर, एक ऐसा स्थान चुना, जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ थीं ॥ ८ ॥

स तं रुचिरमाक्रम्य[3] देशमाश्रमकर्मणि[4] ।
हस्तौ गृहीत्वा हस्तेन रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

---

१ परवानस्मि—ममास्मिता तवास्मितावन्न भवति पारतन्त्र्यैकवेषाममास्मितेतिभावः । (गो०) २ वर्षशतं—शतशब्दआनन्त्यवचनः । सार्वकालिकं । मम पारतन्त्र्यमितिभावः । (गो०) ३ आक्रम्य—स्वीयत्वेनाभिमन्य । (गो०) ४ आश्रमकर्मणि—आश्रमनिमित्तं । (गो०)

आश्रम बनाने के लिये उपयुक्त स्थान पसन्द कर और अपने हाथ से लक्ष्मण जी के दोनों हाथ पकड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ९ ॥

अयं देशः समः श्रीमान्पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः ।
इहाश्रमपदं सौम्य यथावत्कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

हे सौम्य ! यह स्थान समतल है और परम शोभायुक्त भी है। क्योंकि देखो, यह पुष्पित वृक्षों से घिरा हुआ है; अतः इसी स्थान पर तुम यथायोग्य आश्रम की रचना करो ॥ १० ॥

इयमादित्यसङ्काशैः पद्मैः सुरभिगन्धिभिः ।
अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पद्मशोभिता ॥ ११ ॥

देखो, सूर्य के समान उज्ज्वल, मन को प्रसन्न करने वाली, कमल के फूलों की सुगन्धि से युक्त यह पुष्करिणी भी यहाँ से समीप ही है ॥ ११ ॥

[**नोट**—भगवान् श्रीरामचन्द्र ने कमलों से युक्त पुष्करिणी के समीप का स्थान क्यों पसन्द किया—इसका कारण है, जो नीचे के श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है।

"तुलसीकाननं यत्र, यत्र पद्मवनानि च ।
वसन्तिवैष्णवा यत्र, तत्र सन्निहतो हरिः ॥"]

यथा ख्यातऽऽमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना ।
इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता ॥ १२ ॥

विशुद्धात्मा अगस्त्य मुनि ने जैसा बतलाया था, वैसा ही यहाँ गोदावरी का दृश्य है। देखो, रमणीय गोदावरी नदी, फूले हुए वृक्षों से घिरी हुई है ॥ १२ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।
नातिदूरेन* चासन्ने मृगयूथनिपीडिता: ॥ १३ ॥

हंस, जलकुक्कुट और चक्रवाकों से शोभित है और वह यहां से न तो अति निकट और न बहुत दूर ही है । इसके तट पर वन्यपशु जल पीने के लिये आया करते हैं ॥ १३ ॥

मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो[1] बहुकन्दराः ।
दृश्यन्ते गिरयः सौम्य फुल्लै[2]स्तरुभिरावृताः ॥ १४ ॥

यहाँ पर अनेक ऐसे पर्वत देख पड़ते हैं जिन पर मोर बोल रहे हैं, जो बड़े रमणीक, ऊँचे, अनेक गुफाओं से सुशोभित और फूले फूले वृक्षों से युक्त हैं ॥ १४ ॥

सौवर्णै राजतैस्ताम्रैर्देशे देशे च धातुभिः ।
गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः[3] ॥ १५ ॥

ये पहाड़ जगह जगह सोने, चांदी, तांवा आदि धातुओं से सुशोभित हैं । धातुओं के रंग की रेखाओं से युक्त हाथी ऐसे जान पड़ते हैं, मानों मकानों में खिड़कियाँ लगी हों ॥ १५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरपनसाम्रकैः[4] ।
नीवारैस्तिमिशैश्चैव पुंनागैश्चोपशोभिताः ॥ १६ ॥

ये पहाड़ साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहर, तिन्नी, निवार, तिमिश और नागवृक्षों से सुशोभित हैं ॥ १६ ॥

---

१ प्रांशवः—उन्नताः । (गो०) २ फुल्लैः विकसितपुष्पैः । (गो०) ३ परमभक्तिभिः—उत्कृष्टरेखालङ्कारैः । (गो०) ४ आम्रकैः—रसालभेदैः । (गो०)

* पाठान्तरे—" नातिदूरेण "

चूतैरशोकैस्तिलकैश्चम्पकैः केतकैरपि ।
पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृताः ॥ १७ ॥

और आम, अशोक, तिलक, चम्पा, केतकी आदि पुष्प, गुल्म और लता आदि से वेष्टित हैं ॥ १७ ॥

चन्दनैः स्पन्दनैर्नीपैः पनसैर्लिकुचैरपि ।
धवाश्वकर्णखदिरैः शमीकिंशुकपाटलैः ॥ १८ ॥

ये चन्दन, स्पन्दन, कदंब, बड़हर, लुचकुचा, धव, अश्वकर्ण, खैर, शमी, किंशुक और पटल नामक वृक्षों से शोभित हैं ॥ १८ ॥

इदं[1] पुण्यमिदं मेध्य[2]मिदं बहुमृगद्विजम् ।
इह वत्स्यामि सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा ॥ १९ ॥

अतएव हे लक्ष्मण! यह स्थान दर्शन मात्र से पुण्यप्रद है, पवित्र है और बहुत से मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण है। अतः हे लक्ष्मण! हम लोग जटायु के समीप इसी जगह रहेंगे ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा ।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः ॥ २० ॥

जब श्रीरामचन्द्र ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी ने अति शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी के रहने के लिये एक आश्रम बनाया ॥ २० ॥

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संखात[3]मृत्तिकाम ।
सुस्तम्भां मस्करै[4]र्दीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम् ॥ २१ ॥

---

१ इदंपुण्यं — दर्शनमात्रेणपुण्यसम्पादकम् । (शि०) २ मेध्यं—पवित्रं । (गो०) ३ मस्करैः—वेणुभिः । (गो०) ४ संखातमृत्तिकाम्—भित्तीकृत मृत्तिकां । (गो०)

उस प्रशस्त पर्णशाला में मट्टी की दीवालें खड़ी कीं और लंबे बासों की थूनियों पर, बांसो का ठाठ बांधा ॥ २१ ॥

शमीशाखाभिरास्तीर्य दृढपाशावपाशिताम् ।
कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा ॥ २२ ॥

उस ठाठ पर शमी की डालियाँ बिछा कर, उनको ठाट में कस कर बाँध दिया । फिर उन डालियों के ऊपर कुश, काँस और सरपत बिछा कर, अच्छी तरह छवनई कर दी ॥ २२ ॥

समीकृततलां रम्यां चकार लघुविक्रमः ।
निवासं राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम् ॥ २३ ॥

फिर लक्ष्मण जी ने उस पर्णशाला के फर्श को समतल समान (ऊँचा नीचापन मिटा) कर, उसे श्रीरामचन्द्र जी के रहने योग्य और देखने में सुन्दर बना कर तैयार कर दिया ॥ २३ ॥

स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान्नदीं गोदावरीं तदा ।
स्नात्वा पद्मानि चादाय सफलः पुनरागतः ॥ २४ ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने गोदावरी में स्नान किये और कमल पुष्पों तथा फलों को ले, वे पर्णशाला में लौट आये ॥ २४ ॥

ततः पुष्पबलिं कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि ।
दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम् ॥ २५ ॥

लौट कर लक्ष्मण जी ने पुष्पबलि दे तथा यथाविधान वास्तु शान्ति कर, उस (नवीन) बनाये हुए आश्रम को, श्रीरामचन्द्र को दिखलाया ॥ २५ ॥

स तं दृष्ट्वा कृतं सौम्यमाश्रमं सह सीतया ।
राघवः पर्णशालायां हर्षमाहारयद्[1]भृशम् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी सीता जी के साथ, लक्ष्मण जी की बनाई हुई और देखने में सुन्दर उस कुटी को देख, परम सन्तुष्ट हुए ॥ २६ ॥

सुसंहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा ।
अतिस्निग्धं[2] च गाढं च वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तब प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को अच्छी तरह छाती से लगा लिया और यह बोले ॥ २७ ॥

प्रीतोस्मि ते महत्कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो ।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः ॥ २८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने यह बड़ा भारी काम कर डाला। इसका तुम्हें पुरस्कार भी मिलना चाहिये—सो उस पुरस्कार के बदले, मैंने तुम्हें अपने हृदय से लगा लिया ॥ २८ ॥

भावज्ञेन[3] कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण ।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः[4] पिता मम ॥ २९ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जैसे, मन की बात जान लेने वाले, उपकार को मानने वाले और धर्मज्ञ पुत्र के विद्यमान होते हुए, मुझे यह नहीं जान पड़ता कि मेरे पिता मर गये ॥ २९ ॥

[नोट—इसका मतलब यह है कि, जिस प्रकार महाराज दशरथ हर प्रकार से मेरी आवश्यकताओं को पूरी करते थे और सदा इस बात का ध्यान

---

१ हर्षमाहारयत्—सन्तोषप्राप्तवान् । (गो०) २ अतिस्निग्धं च गाढं चेति-परिष्वङ्गक्रियाविशेषणं । (गो०) ३ भावज्ञेन मच्चित्तज्ञेन । (गो०) ४ न संवृत्तोनमृतः । (रा०)

रखते थे कि, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे—उसी प्रकार हे लक्ष्मण ! तुम भी मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति और असुविधाओं के दूर करने का सदा ध्यान रखते हो ।]

एवं लक्ष्मणमुक्त्वा तु राघवो लक्ष्मिवर्धनः ।
तस्मिन्देशे बहुफले न्यवसत्सुसुखं वशी[1] ॥ ३० ॥

शोभा बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से इस प्रकार कह कर और जितेन्द्रिय हो, उस बहुफलयुक्त स्थान में बड़े सुख से वास करने लगे ॥ ३० ॥

कञ्चित्कालं स धर्मात्मा सीतया लक्ष्मणेन च ।
अन्वास्यमानो न्यवसत्स्वर्गलोके यथाऽमरः ॥ ३१ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

इस प्रकार वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण से सेवित हो, वहाँ कुछ दिनों उसी प्रकार सुख से रहे, जिस प्रकार देवता लोग स्वर्ग में सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ३१ ॥

अरण्यकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षोडशः सर्गः

—:※:—

वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः ।
शरद्व्यपाये हेमन्त ऋतुरिष्टः प्रवर्तते ॥ १ ॥

---

1 वशी—विषयचापलरहितः । (गो०)

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ सुख से वास कर, शरदृऋतु बिता दी। तदनन्तर सब को प्रिय लगने वाली हेमन्तु ऋतु आरम्भ हुई ॥ १ ॥

स कदाचित्प्रभातायां शर्वर्यां रघुनन्दनः ।
प्रययावभिषेकार्थं रम्यां गोदावरीं नदीम् ॥ २ ॥

एक दिन जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जी रमणीय गोदावरी में स्नान करने गये ॥२॥

प्रह्वः कलशहस्तस्तं सीतया सह वीर्यवान् ।
पृष्ठतोऽनुव्रजन्भ्राता सौमित्रिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

बलवान लक्ष्मण, सीता जी के साथ, हाथ में कलसा लिये हुए, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले और उनसे यह बात बोले ॥ ३ ॥

अयं स कालः संप्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद ।
अलंकृत इवाभाति येन[1] संवत्सरः शुभः ॥ ४ ॥

हे प्रियभाषी! आपकी प्यारी हेमन्त ऋतु आ गयी है। इस ऋतु के आगमन से पके हुए अन्नादि से, यह शुभ संवत्सर सुशोभित सा जान पड़ता है ॥ ४ ॥

नीहारपरुषो लोकः[2] पृथिवी सस्यशालिनी ।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः ॥ ५ ॥

---

१ येनहेमन्तेनशुभोऽयं संवत्सरः—सुपक्वसस्यादि संपत्त्याअलंकृतइवाभाति ।
२ परुषोलोकः—रूक्षशरीरइति । (शि०)

सर्दी पड़ने से लोगों के शरीर का चमड़ा रूखा हो गया है, खेत अनाज से हरे भरे देख पड़ते हैं, पानी छूने को मन नहीं चाहता और आग तापने को जी चाहता है ॥ ५ ॥

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः ।
कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥ ६ ॥

इस समय सज्जनजन नवान्न से देवता और पितरों का पूजन कर, नवशस्य निमित्त यज्ञ करते हुए, निष्पाप हुए हैं ॥ ६ ॥

[नोट—खेती आदि करने में अनेक जीवों की हिंसा करने से जो पाप लगता है, वह नवीन अन्न से देव-पितृ-पूजन करने पर छूट जाता है। धर्मशास्त्र का वचन है—

नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीहयोयवाः।
नाश्नीयात्तान् हुत्वैव मन्येष्वनियमः स्मृतः ॥

इसी प्रमाण के आधार पर उत्तरभारत में होली की प्रथा चली है।]

प्राज्यकामा[1] जनपदाः सम्पन्नतरगोरसाः ।
विचरन्ति महीपाला यात्रास्था विजिगीषवः ॥ ७ ॥

इस समय सब जनपदों में सब आवश्यक वस्तुएँ अधिकता से प्राप्त होती हैं। इस समय अन्य ऋतुओं की अपेक्षा गोरस, (दूध दही घी) भी अधिक होता है। राजा लोग, जो विजय की इच्छा रखने वाले हैं, वे भी इन्हीं दिनों यात्रा करते हैं ॥ ७ ॥

सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम् ।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक्प्रकाशते ॥ ८ ॥

दक्षिणायन सूर्य होने के कारण उत्तर दिशा, तिलक हीन स्त्री की तरह शोभारहित अर्थात् प्रकाशहीन हो गयी है ॥ ८ ॥

---

१ प्राज्यकामाः—प्राप्तसकलेप्सिताः । (शि०)

प्रकृत्या हिमकोशाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम् ।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान्हिमवान्गिरिः ॥ ९ ॥

हिमालय वैसे ही सदा बर्फ से ढका रहता है, किन्तु इन दिनों सूर्य भगवान से उसके बहुत दूर हो जाने के कारण, हिमालय का हिमवान् नाम पूरा पूरा चरितार्थ हो रहा है। अर्थात् हेमन्तऋतु में हिमालय के ऊपर अपार बर्फ जमा हो जाती है ॥ ९ ॥

अत्यन्तसुखसञ्चारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः ।
दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः ॥ १० ॥

इस ऋतु में दोपहर के समय घूमना फिरना अच्छा लगता है, क्योंकि धूप की तेज़ी से सर्दी न लग कर, धूप सुखदायिनी लगती है। इन दिनों सूर्य सब को सुख देने वाले होते हैं; और छाया तथा जल अच्छे नहीं लगते ॥ १० ॥

मृदुसूर्याः सनीहाराः पटुशीताः[१] समारुताः ।
शून्यारण्या[२] हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

इस ऋतु में सूर्य का पहले जैसा तेज नहीं रहता। कुहरा पड़ने तथा पवन चलने से शीत की अधिकता हो जाती है। अथवा शीत प्रबल हो जाता है। वन में बसने वाले लोग खुले मैदानों में रहने के कारण, शीत से पीड़ित हो, वन में इधर उधर नहीं घूमते, इससे वन सूने से जान पड़ते हैं ॥ ११ ॥

निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारुणाः ।
शीता वृद्धतरा यामास्त्रियामा[३] यान्ति साम्प्रतम् ॥ १२ ॥

---

१ पटुशीताः—प्रबलशीताः । (गो०) २ शून्यारण्याः—अरण्यावनचराः तैः शून्याः आवरणरहितत्वेन शीतपीडिताः न वहिः संचरन्तीत्यर्थः । (गो०) । ३ त्रियामः—रात्रयः । (रा०) ।

पुष्य नक्षत्र युक्त इस पुष्य मास में, और पाला पड़ती हुई धूसर रंग की रात में, कोई खुले मैदान में नहीं सो सकता। दिन की अपेक्षा रात में सर्दी अधिक पड़ती है और दिन की अपेक्षा रात बड़ी भी अधिक होती है ॥ १२ ॥

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ १३ ॥

जैसे मुँह की भाप से दर्पण धुंधला पड़ जाता है, वैसे ही चद्रमा भी, जिसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और मनोहरता सूर्य-मण्डल में चली गयी है, धुंधला जान पड़ता है ॥ १३ ॥

ज्योत्स्नी तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते ॥ १४ ॥

कुहरा के कारण चन्द्रमा की चांदनी अब पूर्णिमा की रात में भी नहीं चटकती (खिलती) उसका केवल कुछ कुछ धुंधला सा प्रकाश देख पड़ता है। जैसे धूप के मारे श्याम वर्ण हुई सीता जी, केवल पहिचानी तो जाती हैं, किन्तु शोभित नहीं होतीं ॥ १४ ॥

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥ १५ ॥

देखो, इस ऋतु में पच्छिम का वायु, जो स्वभाव से ठंडा है, कुहरा के कारण, दुगना ठंडा हो कर, चल रहा है ॥ १५ ॥

बाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च ।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रौञ्चसारसैः ॥ १६ ॥

ये जौ और गेहूँ के खेतों से भरे हुए और कुहरे से छाये हुए वन, सूर्योदय के समय बोलते हुए क्रौंच एवं सारस पक्षियों से, कैसे शोभा युक्त जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः ।
शोभन्ते किञ्चिदानम्राः शालयः कनकप्रभाः ॥ १७ ॥

ये सुनहले शालि समूह, खजूर के फूल की तरह, तण्डुलों की बालों के बोझ से, कुछ झुके हुए कैसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १७ ॥

मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः ।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते ॥ १८ ॥

यह सूर्य कितना ऊँचा चढ़ आया है, तो भी, पाले के मारे किरणों का प्रकाश न होने के कारण, चन्द्रमा की तरह देख पड़ता है ॥ १८ ॥

अग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः ।
सरक्तः किञ्चिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ ॥ १९ ॥

सबेरे तो सूर्य की धूप में तेज़ी जान ही नहीं पड़ती, परन्तु दोपहर को धूप तेज़ होने पर भी अच्छी लगती है । इस समय सूर्य का प्रकाश कुछ पीला सा हो, पृथिवी को शोभित कर रहा है ॥ १९ ॥

अवश्याय[1]निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला[2] ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥ २० ॥

ओस की बूंदों के गिरने से हरी हरी घास तर हो गयी है, इस घास पर जब प्रातःकालीन सूर्य की किरणें पड़ती हैं, तब वन की भूमि की शोभा देखते ही बन आती है ॥ २० ॥

स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥ २१ ॥

---

१ अवश्यायः—हिमं, हिमबिन्दुः । (गो०) २ शाद्वलः—शष्यप्रचुराभूमिः । (रा०)

देखिये, ये जंगली हाथी, जो बहुत प्यासा है, इस अत्यन्त शीतल जल को (पीना तो एक ओर रहा) स्पर्श करते ही, अपनी सूँड़ सकोड़ लेता है ॥ २१ ॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।
न विगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम्[1] ॥ २२ ॥

ये जल में विहार करने वाले पक्षी, जल में डुबकी नहीं मारते, केवल चुपचाप तट पर बैठे हैं, जैसे कायर योद्धा, संग्राम से डर कर, चुपचाप बैठ रहते हैं ॥ २२ ॥

अवश्याय[2]तमोनद्धा[3] नीहारतमसा वृताः ।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥ २३ ॥

पुष्पशून्य वनश्रेणी, कुहरा के अन्धकार से ढक जाने पर, ऐसी जान पड़ती है, मानों सो रही हों ॥ २३ ॥

बाष्पसंछन्नसलिला रुत[4]विज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥ २४ ॥

इस समय नदियां, जो कुहरे से ढकी हैं, और जिनकी वालू कोहरे से तर है, केवल तहों से जान पड़ती है, (इसी प्रकार) सारस भी इस समय (कोहरे के अंधकार के कारण) केवल बाली से पहचाने जाते हैं ॥ २४ ॥

तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वाद्भास्करस्य च ।
शैत्यादगाग्रस्थमपि[5] प्रायेण रसवद्[6]ज्जलम् ॥ २५ ॥

---

१ आहवं—युद्धं । (गो०) २ अवश्यायः—हिमसलिलं । (गो०) ३ नद्धाः—बद्धाः । (गो०) ४ रुतं—शब्दं । (गो०) ५ अगाग्रस्थमपि—निर्मल शिलातलस्थमपि । (गो०) ६ रसवत्—विषवत् । (गो०)

निर्मल शिलातल का जल भी तुषार के गिरने और सूर्य का तेज़ मंद पड़ जाने के कारण, विष की तरह अनुपादेय हो रहा है ॥ २५ ॥

जराजर्झरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ॥ २६ ॥

कमलों के पत्ते जीर्ण हो कर झड़ गये, कमल के फूलों की कर्णिका और केसर भी गिर गयी हैं, मारे पाले के उनमें, केवल डंडी मात्र रह गयी हैं। इसीसे कमल के तड़ाग अब शोभाहीन हो रहे हैं ॥२६॥

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रः काले दुःखसमन्वितः ।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे ॥ २७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय धर्मात्मा भरत जी आपके वियोग-जनित दुःख से दुखी हो, अयोध्या जी में, आपकी भक्ति के वशवर्त्ती हो, तपस्या करते होंगे ॥ २७ ॥

त्यक्त्वा राज्यं[1] च मानं[2] च भोगांश्च[3] विविधान्बहून् ।
तपस्वी[4] नियताहारः[5] शेतेशीते[6] महीतले ॥ २८ ॥

प्रभुत्व को और राजपुत्र होने के अभिमान को तथा फूलों के हार, चन्दन तथा वनितादि राजाओं के भोगने योग्य तरह तरह के अनेक भोगों को त्याग और जटा वल्कल धारण कर तथा फल मूल खा कर, भरत जी इस शीतकाल में ज़मीन पर सोते होंगे ॥ २८ ॥

सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः ।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम् ॥ २९ ॥

---

१ राज्यं—प्रभुत्वं । (गो०) २ मानं—राजपुत्राहमित्यभिमानं । (गो०) ३ भोगान्—स्रक्चन्दनवनितादीन् । (गो०) ४ तपस्वी—तपस्विचिन्हजटादिमान् । (गो०) ५ नियताहारः—फलमूलाद्यशनः । (गो०) ६ शीत—इत्यनेनावरणराहित्यमुच्यते । (गो०)

वे भी निश्चय ही इस समय अपने मंत्रियों के साथ सरयू नदी में स्नान करने को जाते होंगे ॥ २६ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः* ।
कथं न्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥ ३० ॥

जो भरत अत्यन्त सुख से पाले पोसे गये हैं और स्वभाव ही से सुकुमार हैं, वे भरत, किस प्रकार पाला पड़ने के समय पिछली रात में, सरयू में स्नान करते होंगे ॥ ३० ॥

पद्मपत्रेक्षणो वीरः श्यामो नि दरो[1] महान् ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो[2] जितेन्द्रियः ॥ ३१ ॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः ।
सन्त्यज्य विविधान्भोगानार्यं सर्वात्मना श्रितः ॥ ३२ ॥

जो भरत जी कमलनेत्र, श्यामवर्ण, सूक्ष्मोदर, (थोंदथूदीले नहीं, अर्थात् बड़े पेट वाले नहीं) बड़ाई करके युक्त, धर्मज्ञ, सत्यवादी, परस्त्री विमुख, जितेन्द्रिय, प्रियभाषी, मनोहर, बड़ी भुजाओं वाले और शत्रुओं को दमन करने वाले हैं, वे समस्त राजसुखोचित भोगों को त्याग कर, हे राम ! सब प्रकार से आप ही के आश्रित हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

जितः[3] स्वर्ग[4]स्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना ।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते ॥ ३३ ॥

यद्यपि तुम्हारे भाई महात्मा भरत जी तपस्वी के भेष में वनवासी नहीं हुए, तथापि उन्होंने तुम्हारे अनुरूप तपस्वी का भेष धारण कर

१ निरुदरो—अतुन्दिलः । (गो०) २ ह्रीनिषेधः—ह्रियापरनारी विषये निषेध । (रा०) ३ जितः - तिरस्कृतः । (गो०) ४ स्वर्गः—रामप्राप्त्यन्तरायभूतः स्वर्गः । (गो०)

* पाठान्तरे—"सुखोचितः"

और तपस्वियों के नियमों का पालन कर, स्वर्ग को जीत लिया है, अर्थात् आपके वियोग में स्वर्ग का भी तिरस्कार कर दिया है। इस का भाव यह है कि, आपके बिना उन्होंने राज्य के स्वर्गीय भोगों का तिरस्कार किया है ॥ ३३ ॥

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा[1] इति ।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः ॥ ३४ ॥

संसार में जो यह कहावत प्रचलित है कि, मनुष्य में पिता का स्वभाव नहीं आता, वरन माता ही का स्वभाव आता है, सो भरत जी ने इस कहावत को झूठा कर के दिखा दिया। (कहावत—"माँ पै पूत, पिता पै घोड़ा, बहुत नहीं तो, थोड़ा थोड़ा।") ॥ ३४ ॥

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः ।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी* ॥ ३५ ॥

परन्तु जिसके पति तो महाराज दशरथ हों और पुत्र साधु भरत जैसा हो, वह माता कैकेयी क्यों कर ऐसी क्रूर स्वभाव की हुई?॥३५॥

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं स्नेहाद्ब्रुवति धार्मिके ।
परिवादं जनन्यास्तमसहन्राघवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

महात्मा लक्ष्मण जी ने, भ्रातृस्नेह के वशवर्त्ती हो, जब ऐसे वचन कहे, तब श्रीरामचन्द्र जी, माता कैकेयी की निन्दा न सह कर, बोले ॥ ३६ ॥

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथञ्चन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥ ३७ ॥

---

१ द्विपदाः—मनुष्याः। (गो०)

* पाठान्तरे—"क्रूरशीलिनी।

हे भाई लक्ष्मण ! तुम मझली माता कैकेयी की निन्दा मत करो। तुम तो केवल इक्ष्वाकुनाथ भरत की चर्चा करो ॥ ३७ ॥

निश्चिताऽपि हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता ।
भरतस्नेहसन्तप्ता बालिशी[1]क्रियते पुनः ॥ ३८ ॥

यद्यपि मैं १४ वर्ष तक वनवास करने का अब तक दृढ़ निश्चय किये हुए हूँ और उसके लिये दृढ़व्रत हूँ, तथापि भरत के स्नेह का जब मुझे स्मरण आता है, तब मैं विकल हो जाता हूँ और मेरी बुद्धि बालकों जैसी हो जाती है ॥ ३८ ॥

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च ।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥ ३९ ॥

भरत जी की प्रिय, मधुर, हृदय को अमृत की तरह तृप्त करने वाली, और मन को प्रसन्न करने वाली बातें, मुझे याद आ रही हैं ॥ ३९ ॥

कदा न्वहं समेष्यामि भरतेन महात्मना ।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥ ४० ॥

नहीं कह सकता मैं कब, महात्मा भरत जी और वीर शत्रुघ्न से तुम्हारे सहित फिर मिलूँगा ॥ ४० ॥

इत्येवं विलपंस्तत्र प्राप्य गोदावरीं नदीम् ।
चक्रेऽभिषेकं काकुत्स्थः सानुजः सह सीतया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विलाप करते करते लक्ष्मण और सीता सहित गोदावरी नदी पर पहुँच गये और तीनों ने गोदावरी में स्नान किये ॥ ४१ ॥

---

१ बालिशीक्रियते—बालबुद्धिरिवभवति । (गो०)

तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितॄन्दैवतानि च ।
स्तुवन्ति[1] स्मोदितं सूर्यं देवताश्च[2] समाहिताः ॥ ४२ ॥

तदन्तर उन्होंने गोदावरी के जल से देव पितरों का तर्पण कर, उदय होते हुए सूर्य का उपस्थान कर, सन्ध्यादि देवता की अर्थात् सूर्य-मण्डल-मध्यवर्ती-नारायण की एकाग्रचित्त से स्तुति की ॥ ४२ ॥

[**नोट**—इस श्लोक में—"तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितॄन्दैवतानि च" देखकर अवगत होता है कि रामायणकाल में जल द्वारा देव और ऋषि पितृ देवों का तर्पण करने की प्रथा प्रचलित थी ।]

कृताभिषेकः स रराज रामः
सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन ।
कृताभिषेको गिरिराजपुत्र्या
रुद्रः सनन्दी भगवानिवेशः ॥ ४३ ॥

॥ इति षोडशः सर्गः ॥

उस समय स्नान कर के श्रीरामचन्द्र जी, सीता और लक्ष्मण सहित उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हुए या सुशोभित हुए, जिस प्रकार पार्वती और नन्दी सहित भगवान् शिव जी शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

अरण्यकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ स्तुवन्ति—उपतस्थिरे । (गो०) २ देवताः—सन्ध्यादि देवताः । (गो०)

सप्तदशः सर्गः

—※—

कृताभिषेको रामस्तु सीता सौमित्रिरेव च ।
तस्माद्गोदावरीतीरात्ततो जग्मुः स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण स्नान कर, गोदावरी के तट से अपने आश्रम को लौटे ॥ १ ॥

आश्रमं तमुपागम्य राघवः सहलक्ष्मणः ।
कृत्वा पौर्वाह्णिकं[1] कर्म पर्णशालामुपागमत् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने आश्रम में पहुँच कर, लक्ष्मण जी सहित पूर्वाह्णिक—ब्रह्मयज्ञादि कर्म कर, पर्णशाला में प्रवेश किया ॥ २ ॥

उवास सुखितस्तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चकार विविधाः कथाः ॥ ३ ॥

वहाँ श्रीरामचन्द्र जी महर्षियों द्वारा पूजित हो कर, सुख से वास करने लगे और लक्ष्मण से अनेक प्रकार की पुराण एवं इतिहासों की कथाएँ कहने लगे ॥ ३ ॥

स रामः पर्णशालायामासीनः सह सीतया ।
विरराज महाबाहुश्चित्रया चन्द्रमा इव ॥ ४ ॥

उस पर्णशाला में सीता जी के साथ बैठे हुए महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी, ऐसे शोभित होते थे, जैसे चित्रा नक्षत्र के सहित चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ४ ॥

---

१ पौर्वाह्णिकं—ब्रह्मयज्ञादि नत्वग्नि कृत्यम् अनुदितहोमत्वेन तस्य सूर्योपस्थानानन्तर भावित्वा भावात् । (गो०)

तथाऽऽसीनस्य रामस्य कथासंसक्तचेतसः ।
तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यदृच्छया ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तो बैठे हुए बातचीत कर रहे थे कि, इतने में एक राक्षसी अकस्मात् वहाँ जा पहुँची ॥ ५ ॥

सा तु शूर्पणखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः ।
भगिनी राममासाद्य ददर्श त्रिदशोपमम् ॥ ६ ॥
सिंहोरस्कं महाबाहुं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
आजानुबाहुं दीप्तास्यमतीव प्रियदर्शनम् ॥ ७ ॥
गजविक्रान्तगमनं जटामण्डलधारिणम् ।
सुकुमारं महासत्त्वं[1] पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्[2] ॥८॥
राममिन्दीवरश्यामं कन्दर्पसदृशप्रभम् ।
बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता ॥ ९ ॥

उस राक्षसी का नाम शूर्पणखा था और वह रावण की बहिन थी । देवताओं के समान, सिंह जैसी छाती वाले, महाबाहु, कमल पत्र के समान विशाल नेत्र वाले, घुटनों तक लंबी भुजाओं वाले, तेजस्वी, देखने में अतीव सुन्दर, मदमत्त गज की तरह चलने वाले, जटामण्डलधारी, सुकुमार, महाबलवान्, राजलक्षणों से युक्त, नील कमल के तुल्य श्याम वर्णवाले, और कामदेव के समान सुन्दर, श्रीरामचन्द्र जी को इन्द्र की तरह बैठा हुआ देख, वह राक्षसी काम से मोहित हो गयी अर्थात् उन पर आसक्त हो गयी ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ महासत्त्वं—महाबलं । (गो०) २ पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्—राजलक्षणानि । (गो०)

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं[1] महोदरी ।
विशालाक्षं विरूपाक्षी[2] सुकेशं[3] ताम्रमूर्धजा ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी का मुख सुन्दर था और उस राक्षसी का ख़राब। श्रीरामचन्द्र जी के शरीर का मध्यभाग न बहुत बड़ा था न छोटा था और उस राक्षसी के शरीर का मध्य भाग बहुत बड़ा था अर्थात् वह बड़े पेट वाली थी। श्रीरामचन्द्र जी के नेत्र बड़े बड़े थे और उस राक्षसी के नेत्र विकट थे। श्रीरामचन्द्र जी के सिर के केश नीले थे और उस राक्षसी के लाल लाल थे ॥ १० ॥

प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा ।
तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी देखने में सुन्दर थे और वह राक्षसी देखने में महाकुरूपा थी । श्रीरामचन्द्र जी का कण्ठस्वर मधुर था, उस राक्षसी का नितान्त कर्कश। श्रीरामचन्द्र जी जवान थे और वह राक्षसी महावृद्धा थी। श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त मधुरभाषी थे और वह राक्षसी सदा टेढ़ी ही बात बोला करती थी ॥ ११ ॥

न्यायवृत्तं[4] सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना ।
शरीरज[5]समाविष्टा राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का आचरण उचित था और उस राक्षसी का अत्यन्त गर्हित। श्रीरामचन्द्र जी देखने में जैसे प्रिय थे वह राक्षसी वैसी ही भयङ्कर थी। ऐसी वह राक्षसी कामातुर हो, श्रीरामचन्द्र जी से बोली ॥ १२ ॥

---

१ वृत्तमध्यं—तनुमध्यं (गो०) २ विरूपाक्षी—विकटनेत्री (गो०) ३ सुकेशं—नीलकेशं । (गो०) ४ न्यायवृत्तं—उचिताचारं । (गो०) । ५ शरीरजो—मन्मथः । (गो०)

जटी तापसरूपेण सभार्यः शरचापधृत् ।
आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम् ॥ १३ ॥

जटा धारण किये, तपस्वी का भेष बनाये और तीर कमान लिये, स्त्री सहित, तुम इस राक्षसों से सेवित वन में, क्यों आये हो? ॥ १३ ॥

किमागमनकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तु राक्षस्या शूर्पणख्या परन्तपः ॥ १४ ॥
ऋजुबुद्धितया[1] सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।
अनृतं न हि रामस्य कदाचिदपि सम्मतम् ॥ १५ ॥

तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है, सो ठीक ठीक बतलाओ। शत्रुओं के तपाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने शूर्पणखा के ये वचन सुन, सरलता से अपना समस्त वृत्तान्त कहना आरम्भ किया। क्योंकि श्रीरामचन्द्र झूठ बोलना कभी पसन्द नहीं करते ॥ १४ ॥ १५ ॥

विशेषेणाश्रमस्थस्य[2] समीपे स्त्रीजनस्य च ।
आसीद्दशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः ॥ १६ ॥

सो भी विशेष कर तपोवन में बैठ कर और स्त्रियों के सामने। अतः श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—देवतुल्य पराक्रमी महाराज दशरथ नाम के महाराज थे ॥ १६ ॥

तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
भ्राताऽयं लक्ष्मणो नाम यवीयान्मामनुव्रतः ॥ १७ ॥

उन्हींका मैं ज्येष्ठपुत्र हूँ। संसार में मैं राम के नाम से प्रसिद्ध हूँ। यह मेरा आज्ञाकारी छोटा भाई है। इसका नाम लक्ष्मण है ॥ १७ ॥

---

१ ऋजुबुद्धितया—सरलस्वभावेन। (शि०) २ आश्रमस्थस्य—तपोवनस्थस्य (गो०)

इयं भार्या च वैदेही मम सीतेति विश्रुता ।
नियोगात्तु[2] नरेन्द्रस्य पितुर्मातुश्च यन्त्रितः[1] ॥ १८ ॥

और यह विदेहनन्दिनी मेरी भार्या है और इसका नाम सीता है। अपने पिता महाराज दशरथ और माता की आज्ञा से प्रेरित हो ॥ १८ ॥

धर्मार्थं[3] धर्मकाङ्क्षी[4] च वनं वस्तुमिहागतः ।
त्वां तु वेदितुमिच्छामि कथ्यतां काऽसि कस्य वा ॥१९॥

तपोरूपी धर्म की सिद्धि के लिये और पिता को आज्ञा का पालन करने की आकाँक्षा से, मैं यहाँ इस वन में आया हूँ। अब मैं तुम्हारा परिचय भी जानना चाहता हूँ। सो तुम बतलाओ कि, तुम कौन हो, और किसकी स्त्री हो और किसकी लड़की हो? ॥ १९ ॥

न हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे ।
इह वा किन्निमित्तं त्वमागता ब्रूहि तत्त्वतः ॥ २० ॥

तुम जैसी बनठन कर आयी हो, सो वास्तव में तुम वैसी हो नहीं। तुम तो मुझे कोई राक्षसी जान पड़ती हो। अब तुम ठीक ठीक बतलाओ कि, तुम यहाँ किस लिये आयी हो? ॥ २० ॥

साऽब्रवीद्वचनं श्रुत्वा राक्षसी मदनार्दिता ।
श्रूयतां राम वक्ष्यामि तत्त्वार्थं वचनं मम ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन वह कामातुर राक्षसी बोली— हे राम! मेरे वचन सुनिये, मैं अब अपना परिचय तुम्हें ठीक ठीक देती हूँ ॥ २१ ॥

---

१ यन्त्रितः—नियतः। (गो०) २ नियोगात् आज्ञाबलात्। (रा०) ३ धर्मार्थं—तपोरूपधर्मसिद्ध्यर्थं। (गो०) ४ धर्मकाङ्क्षी—पितृवाक्यपालनरूपधर्मकाङ्क्षी। (रा०)

अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी ।
अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयङ्करा ॥ २२ ॥

मैं शूर्पणखा नाम की कामरूपिणी राक्षसी हूँ। मैं सब को डराती हुई, अकेली इस वन में घूमा करती हूँ ॥ २२ ॥

रावणो नाम मे भ्राता वलीयान्राक्षसेश्वरः ।
वीरो विश्रवसः पुत्रो यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ २३ ॥

बड़ा बलवान्, शूर और विश्रवामुनि का पुत्र तथा राक्षसों का राजा, जिसका नाम कदाचित् तुमने सुना हो, रावण मेरा भाई है ॥२३ ॥

प्रवृद्धनिद्रश्च सदा कुम्भकर्णो महाबलः ।
विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः ॥ २४ ॥

मेरे मझले भाई का नाम कुम्भकर्ण है जो सदा सोया करता है, किन्तु है बड़ा बलवान्। मेरे सब से छोटे भाई का नाम विभीषण है। वह बड़ा धर्मात्मा है, इसीसे वह जन्म से राक्षस होने पर भी, उसके आचरण राक्षसों जैसे नहीं हैं ॥ २४ ॥

प्रख्यातवीर्यौ च रणे भ्रातरौ खरदूषणौ ।
तानहं समतिक्रान्ता राम त्वा पूर्वदर्शनात् ॥ २५ ॥
समुपेतास्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम् ।
अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी ॥ २६ ॥

खर और दूषण नाम के मेरे दो भाई और हैं, जो युद्ध करने में बड़े प्रसिद्ध पराक्रमी हैं। हे राम ! तुमको पहिली बार देखते ही, (तुम पर आसक्त हो), मैं उन सब की कुछ भी परवाह न कर, तुम जैसे उत्तम पुरुष को अपना पति बनाने को यहाँ आयी हूँ। मैं बड़ी प्रभाव

शालिनी और बलवती हूँ। इसीलिये मैं स्वच्छन्द घूमती रहती हूँ। अर्थात् जहाँ चाहती हूँ वहाँ जाती हूँ ॥ २५ ॥ २६ ॥

चिराय भव मे भर्ता सीतया किं करिष्यसि ।
विकृता च विरूपा च न चेयं सदृशी तव ॥ २७ ॥

सो तुम चिरकाल के लिये मेरे पति बनो। तुम सीता को ले कर क्या करोगे? यह तो विकराल और कुरूपा है। अतः यह तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ २७ ॥

[नोट—"भव मे भर्ता" से ज्ञात पड़ता है कि, राक्षससमाज में विधवाएं पुनर्विवाह कर सकती थीं।]

अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम् ।
इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ॥ २८ ॥
अनेन ते सह भ्रात्रा भक्षयिष्यामि मानुषीम् ।
ततः पर्वतशृङ्गाणि वनानि विविधानि च ॥
पश्यन्सह मया कान्त दण्डकान्विचरिष्यसि ॥ २९ ॥

सौन्दर्य की दृष्टि से मैं तुम्हारी भार्या बनने योग्य हूँ। अतः तुम मुझे अपनी स्त्री की तरह देखो। इस कुरूपा, कुलटा, विकटाकार वाली और लटकती हुई थोंद वाली, मानुषी सीता को, तुम्हारे इस भाई के सहित, मैं खा डालूँगी। तब तुम मेरे साथ पर्वत के इन शिखरों पर और इन विविध वनों को देखते हुए, इस दण्डक वन में विचरना ॥ २८ ॥ २९ ॥

इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम् ।
इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥ ३० ॥

॥ इति सप्तदशः सर्ग ॥

वचन बोलने में चतुर श्रीरामचन्द्र जी ने शूर्पणखा के ये वचन सुन और मुसक्या कर, क्रूरमना राक्षसी से यह कहना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

—※—

अष्टादशः सर्गः

—※—

ततः शूर्पणखां रामः कामपाशावपाशिताम्।
स्वच्छया[1] श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उपहास करते हुए, कामपीड़ित शूर्पणखा से साफ़ साफ़ शब्दों में, किन्तु मधुर वाणी से मुसकरा कर कहा ॥ १ ॥

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम।
त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥ २ ॥

हे देवि! मेरा विवाह तो हो चुका है और यह मेरी पत्नी मुझे प्यारी भी बहुत है। अतः तुम जैसी स्त्री को सौत का होना बड़ा दुःखदायी होगा ॥ २ ॥

अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः।
श्रीमानकृतदारश्च[2] लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ ३ ॥

हाँ, मेरे छोटे भाई लक्ष्मण के पास इस समय स्त्री नहीं है और वह है भी शीलवान्, सुन्दर, तेजस्वी और पराक्रमी ॥ ३ ॥

[नोट— "अकृतदार" का अर्थ "अविवाहित" इस लिये नहीं हो सकता कि, श्रीरामचन्द्र जी पर मिथ्याभाषण का दोष लगता है। श्रीरामचन्द्र जी तो कहते हैं—"आनृतंनोक्तपूर्व में नच वक्ष्ये कदाचन" तथा "न वितथा परिहासकथास्वपि"।]

---

१ स्वच्छया—स्पष्टार्थया। (गो०) २ अकृतदारः—असहकृतदार। (गो०)

अपूर्वी[१] भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः ।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥ ४ ॥

यह तरुण है और इसे बहुत दिनों से स्त्री सुख भी प्राप्त नहीं हुआ । अतः इसे भार्या की आवश्यकता भी है । देखने में भी बड़ा सुस्वरूप होने के कारण, यह तुम्हारे अनुरूप ही पति होगा ॥ ४ ॥

एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम ।
असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥

सो हे विशालाक्षी ! तुम मेरे भाई को अपना पति बना लो । इसको अपना पति बनाने से तुम्हें सौत का दुःख भी न होगा और तुम इसके साथ उसी प्रकार सुख से रहोगी, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा मेरु के पास रहती है ॥ ५ ॥

इति रामेण सा प्रोक्ता राक्षसी काममोहिता ।
विसृज्य रामं सहसा ततो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ६ ॥

वह काम से पीड़ित राक्षसी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, तुरन्त श्रीरामचन्द्र जी को छोड़, लक्ष्मण जी से जा कर बोली ॥ ६ ॥

अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याऽहं वरवर्णिनी ।
मया सह सुखं सर्वान्दण्डकान्विचरिष्यसि ॥ ७ ॥

मैं सब स्त्रियों में अधिक सुन्दरी होने के कारण, तुम्हारे इस सौन्दर्य के योग्य ही तुम्हारी भार्या बनूँगी और तुम मेरे साथ सुख पूर्वक इस समूचे दण्डकवन में विचरोगे ॥ ७ ॥

---

१ अपूर्वी—चिरादज्ञातभार्यासुख। (गो०)

एवमुक्तस्तु सौमित्री राक्षस्या वाक्यकोविदः ।
ततः शूर्पणखां स्मित्वा लक्ष्मणो युक्तमब्रवीत् ॥ ८ ॥

शूर्पणखा की यह बात सुन, वाक्पटु लक्ष्मण जी मुसक्या कर उससे यह युक्तियुक्त वचन बोले ॥ ८ ॥

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि ।
सोऽहमार्येण परवान्भ्रात्रा कमलवर्णिनि ॥ ९ ॥

हे कमलवर्णिनि ! (कमल समान रंग के शरीरवाली) तुम मुझ जैसे पराये दास की स्त्री बन कर, क्यों दासी बनना चाहती हो ? क्योंकि मैं तो अपने उन बड़े भाई के परवश हूँ ॥ ९ ॥

समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदितामलवर्णिनी ।
आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी ॥ १० ॥

हे विशालनेत्रवाली ! तुम तो सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न मेरे बड़े भाई की यदि छोटी या दूसरी स्त्री बनोगी, तो तुम्हारी सब मनोकामना पूरी होंगीं और तुम बहुत प्रसन्न होवोगी ॥ १० ॥

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति ॥ ११ ॥

फिर जब तुम इनसे विवाह कर लोगी, तब ये इस कुरूपा, कुलटा, कराली, बड़े पेट वाली और बूढ़ी स्त्री को छोड़, तुम्हारे ही अनुरागी बन जायँगे ॥ ११ ॥

को हि रूपमिदं श्रेष्ठं सन्त्यज्य वरवर्णिनि ।
मानुषीषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः ॥ १२ ॥

हे वरवर्णिनी ! हे वरारोहे ! भला कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो तुम्हारे इस सर्वश्रेष्ठ रूप का अनादर कर, मानुषी में अनुराग करेगा ॥ १२ ॥

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी ।
मन्यते तद्वचस्तथ्यं परिहासाविचक्षणा[1] । ॥ १३ ॥

जब लक्ष्मण जी ने उससे इस प्रकार कहा, तब वह बड़े पेटवाली और भयङ्कर राक्षसी, उपहास के मर्म को न समझ, लक्ष्मण की बातों को सत्य ही मान बैठी ॥ १३ ॥

सा रामं पर्णशालायामुपविष्टं परन्तपम् ।
सीतया सह दुर्धर्षमब्रवीत्काममोहिता ॥ १४ ॥

वह कामपीड़ित तो थी ही, सो वह पर्णकुटी में सीता जी के साथ बैठे हुए, शत्रुओं को तपाने वाले, दुर्धर्ष श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर कहने लगी ॥ १४ ॥

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
वृद्धां भार्यामवष्टभ्य मां न त्वं बहुमन्यसे ॥ १५ ॥

हे राम ! इस कुरूपा, कुलटा, भयङ्कर, महोदरी और बूढ़ी के सामने तुम (मेरी जैसी सुन्दरी का) ज़रा भी ख़्याल नहीं करते ॥ १५ ॥

अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम् ।
त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम् ॥ १६ ॥

तो लो, मैं अभी तुम्हारे सामने इस मानुषी को खाये डालती हूँ और फिर सौत का खटका दूर कर, मैं तुम्हारे साथ इस वन में आनन्दपूर्वक विहार करूँगी ॥ १६ ॥

---

१ परिहासाविचक्षणा—परिहासानभिज्ञा । (गो०)

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा ।
अभ्यधावत्सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव ॥ १७ ॥

यह कह कर, दहकते हुए अङ्गारे के समान नेत्रों वाली शूर्पणखा, महाक्रुद्ध हो, हिरनी के बच्चे जैसे नेत्रों वाली सीता जी पर वैसे ही झपटी, जैसे रोहिणी की ओर उल्कापिण्ड वेग से झपटता हो ॥ १७ ॥

तां मृत्युपाशप्रतिमामापतन्तीं महाबलः ।
निगृह्य[1] रामः कुपितस्ततो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १८ ॥

यम की फाँसी के समान राक्षसी को आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर, हुङ्कार से उसे रोका और लक्ष्मण जी से कहा ॥ १८ ॥

क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथञ्चन ।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथञ्चित्सौम्य जीवतीम्[2] ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! ऐसे असभ्य और क्रूर जनों से हँसी दिल्लगी न करनी चाहिये । हे सौम्य ! शूर्पणखा की यह क्रूरता देख, सीता कैसे स्वस्थ्य रह सकती है ? ॥ १९ ॥

इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम् ।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि ॥ २० ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! तुम इस कुरूपा, कुलटा, अत्यन्त मतवाली, और बड़े पेट वाली राक्षसी को और भी कुरूप कर दो ॥ २० ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः* ।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासं महाबलः ॥ २१ ॥

---

१ निगृह्य हुंकारेण प्रतिषिध्य । (गो०) २ कथंचिज्जीवतीं-शूर्पणखाया । क्रौर्यमालोक्य कथंचित्स्वास्थ्यमापन्नां । (गो०)

* पाठान्तरे—"पार्श्वतः" ।

महाबलवान् लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, क्रुद्ध हो और तलवार निकाल कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने ही उस राक्षसी के नाक कान काट डाले ॥ २१ ॥

निकृत्तकर्णनासा तु विस्वरं सा विनद्य च ।
यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम् ॥ २२ ॥

तब तो वह घोर राक्षसी शूर्पणखा कान और नाक कटने के कारण विकट चीत्कार करती हुई, जिधर से आयी थी, उधर ही वन में भागी ॥ २२ ॥

सा विरूपा महाघोरा राक्षसी शोणितोक्षिता ।
ननाद विविधान्नादान्यथा प्रावृषि तोयदः ॥ २३ ॥

अति भयानक शरीरवाली कुरूपा वह राक्षसी, रुधिर में सनी, वर्षाकालीन बादल की तरह, नाना प्रकार के शब्द करती हुई गरजने लगी ॥ २३ ॥

सा विक्षरन्ती रुधिरं बहुधा घोरदर्शना ।
प्रगृह्य बाहू गर्जन्ती प्रविवेश महावनम् ॥ २४ ॥

वह पहले से भी अधिक भयानक रूपवाली हो, बाहें उठा, घावों से रुधिर टपकाती हुई, महावन में घुस गयी ॥ २४ ॥

ततस्तु सा राक्षससङ्घसंवृतं
खरं जनस्थानगतं विरूपिता ।
उपेत्य तं भ्रातरमुग्रदर्शनं ।
पपात भूमौ गगनाद्यथाऽशनिः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वह कुरूपा राक्षसी, जनस्थान में, जहाँ खर नाम का उग्रतेजवान् उसका भाई राक्षसों की मण्डली में बैठा था, जा कर, उसके सामने, आकाश से गिरे हुए वज्र की तरह, पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥ २५ ॥

ततः सभार्यं भयमोहमूर्छिता
सलक्ष्मणं राघवमागतं वनम् ।
विरूपणं चात्मनि शोणितोक्षिता
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

रुधिर से सनी, भय और मोह से अचेत (अर्थात् जिसका चित्त ठिकाने न था) खर की बहिन राक्षसी शूर्पणखा ने, खर को, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का वन में आना और उनके द्वारा अपनी नाक और कानों के काटे जाने का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनविंशः सर्गः

—*—

तां तथा पतितां दृष्ट्वा विरूपां शोणितोक्षिताम् ।
भगिनीं क्रोधसन्तप्तः खरः पप्रच्छ राक्षसः ॥ १ ॥

विरूप और रुधिर से सनी हुई अपनी बहिन को ज़मीन पर गिरी हुई देख, खर नामक राक्षस ने क्रोध से सन्तप्त हो, अपनी बहिन से पूँछा ॥ १ ॥

उत्तिष्ठ तावदाख्याहि प्रमोहं जहि सम्भ्रमम् ।
व्यक्तमाख्याहि केन त्वमेवंरूपा विरूपिता ॥ २ ॥

उठ कर बैठ जा और अपना जी ठिकाने कर के, अपना हाल तो कह । निर्भय हो, साफ साफ बतला कि, तुझे किसने कुरूप किया ॥२॥

कः कृष्णसर्पमासीनमाशीविषमनागसम् ।
तुदत्यभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया ॥ ३ ॥

सामने बैठे हुए, कुण्डली बाँधे, निरपराध विषधर काले साँप को, खेल के मिस, अथवा अनायास, ऊंगली से किसने छेड़ा है ॥ ३ ॥

कः कालपाश[1]मासज्य[2] कण्ठे मोहान्न बुध्यते[3] ।
यस्त्वामद्य[4] समासाद्य पीतवान्विषमुत्तमम् ॥ ४ ॥

कौन अपने गले में काल की फाँसी लगा कर, यह नहीं जानता कि, पीछे इससे उसे मरना होगा । जिसने तेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है, अर्थात् जिसने तेरी नाक और कान काटे हैं ; उसने मानों हलाहल विष पिया है ॥ ४ ॥

बलविक्रमसम्पन्ना कामगा कामरूपिणी ।
इमामवस्थां नीता त्वं केनान्तकसमा गता ॥ ५ ॥

अरे तू तो ऐसी बल विक्रम वाली, स्वच्छन्द घूमने वाली, कामरूपिणी और काल के समान है । तेरी ऐसी दुर्दशा किसने कर डाली ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।
कोऽयमेवं विरूपा त्वां महावीर्यश्चकार ह ॥ ६ ॥

---

१ कालपाशं—मृत्युपाशं । (गो०) २ आसज्य—आबध्य । (गो०) ३ न बुध्यते—उत्तरक्षणे स्वमरणं न जानाति । (गो०) ४ आसाद्य—प्राप्य । (गो०)

देवताओं गन्धर्वों, भूतपिशाचों, ऋषियों और महात्माओं में कौन ऐसा महापराक्रमी है, जिसने तेरे नाक कान काट डाले ॥ ६ ॥

न हि पश्याम्यहं लोके यः कुर्यान्मम विप्रियम् ।
अन्तरेण सहस्राक्षं महेन्द्रं पाकशासनम् ॥ ७ ॥

मैं तो सहस्रलोचन इन्द्र की भी यह सामर्थ्य नहीं देखता कि, वह मेरे साथ छेड़खानी करे—फिर मनुष्यों की तो गिनती ही किसमें है ॥ ७ ॥

अद्याहं मार्गणैः[1] प्राणानादास्ये जीवितान्तकैः[2] ।
सलिले क्षीरमासक्तं निष्पिबन्निव सारसः[4] ॥ ८ ॥

जिस प्रकार हंस जल मिश्रित दूध को, जल से अलग कर पी लेता है, उसी प्रकार आज मैं भी प्राण हरण करने वाले अपने बाणों से उस शत्रु के, जिसने तुम्हें विरूप किया है, प्राण शरीर से अलग कर दूँगा ॥ ८ ॥

निहतस्य मया संख्ये[3] शरसंकृत्तमर्मणः ।
सफेनं रुधिरं रक्तं मेदिनी कस्य पास्यति ॥ ९ ॥

युद्ध में मेरे चलाये हुए बाणों से विदीर्ण हो, कौन मरना चाहता है? और किसका फेन सहित रक्त यह पृथ्वी पीना चाहती है ? ॥ ९ ॥

कस्य पत्ररथाः[5] कायान्मांसमुत्कृत्य सङ्गताः ।
प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे ॥ १० ॥

---

१ मार्गणैः—बाणैः । (गो०) २ जीवतान्तकैः—शत्रुजीवितविनाशकरैः । (गो०) ३ संख्ये—युद्धे । (गो०) ४ सारसः—हंसविशेषः । (गो०) ५ पत्ररथाः—पक्षिणः (गो०)

युद्ध में मेरे हाथ से मरे हुए किस पुरुष की देह का मांस नोच नोच कर, गिद्धादि पक्षियों के झुण्ड, प्रसन्न हो कर, खाया चाहते हैं ? ॥ १० ॥

तं न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
मयापकृष्टं कृपणं[1] शक्तास्त्रातुमिहाहवे ॥ ११ ॥

मैं जिस पर चढ़ाई करूँगा, उस मेरे अपराधी को, न देवता, न गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस बचा सकेंगे ॥ ११ ॥

उपलभ्य[2] शनैः संज्ञां तं मे शंसितुमर्हसि ।
येन त्वं दुर्विनीतेन[3] वने विक्रम्य निर्जिता ॥ १२ ॥

अब तू अपना जी धीरे धीरे ठिकाने कर, उस दुष्ट का नाम पता आदि मुझे बतला, जिसने तुझे इस वन में अपने पराक्रम से जीता है ॥ १२ ॥

इति भ्रातुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धस्य च विशेषतः[4] ।
ततः शूर्पणखा वाक्यं सबाष्पमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

अतिशय क्रुद्ध भाई के ये वचन सुन, शूर्पणखा आँसुओं से डबडबाती हुई, बोली ॥ १३ ॥

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥ १४ ॥

तरुण, सुस्वरूप, सुकुमार, महाबली, कमलनयन, चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए, ॥ १४ ॥

---

१ कृपणं—अपराधिनं । (शि०) २ उपलभ्य—प्राप्य । (गो०) ३ दुर्विनीतेन—दुर्जनेन । (गो०) ४ विशेषतः—अतिशयेन । (गो०)

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १५ ॥

फलमूलाहारी, जितेन्द्रिय, तपस्वी और, धर्मचारी महाराज दशरथ के दो राजपुत्र राम और लक्ष्मण नाम के दो भाई हैं ॥ १५ ॥

गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
देवौ वा मानुषौ वा तौ न तर्कयितुमुत्सहे ॥ १६ ॥

वे देखने में गन्धर्वराज की तरह और राजलक्षणों से युक्त जान पड़ते हैं । वे दोनों देवता हैं, या मनुष्य हैं, इसका कुछ निश्चय नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥ १७ ॥

मैंने, उन दोनों के साथ क्षीणकटिवाली युवती, सुन्दरी और सब भूषणों से भूषित एक स्त्री भी देखी ॥ १७ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्य[1] ताम् ।
इमामवस्थां नीताऽहं यथाऽनाथाऽसती तथा ॥ १८ ॥

उस स्त्री के निमित्त अथवा उस स्त्री के कहने से उन दोनों भाइयों ने मिल कर, मेरी वैसी दशा की, जैसी कि, किसी अनाथा और कुलटा स्त्री की, की जाती है ॥ १८ ॥

तस्याश्चानृजुवृत्तायाः[2] तयोश्च हतयोरहम् ।
सफेनं पातुमिच्छामि रुधिरं रणमूर्धनि ॥ १९ ॥

---

१ प्रमदामधिकृत्य—निमित्तीकृत्य । (गो०) २ अनृजुवृत्तायाः-कुटिलवृत्तायाः । (गो०)

हे भाई ! मैं अब यह चाहती हूँ कि, युद्ध में वे दोनों कुटिल भाई मय उस स्त्री के मारे जाँय और मैं उनका फेन सहित (अर्थात् ताज़ा, टटका) खून पीऊँ ॥ १९ ॥

एष मे प्रथमः[1] कामः[2] कृतस्तात त्वया भवेत् ।
तस्यास्तयोश्च रुधिरं पिबेयमहमाहवे ॥ २० ॥

मेरी सब से बढ़ कर (या श्रेष्ठ) यही अभिलाषा है। इसे तुम पूरी करो कि, जिससे मैं युद्धक्षेत्र में उन तीनों का रक्तपान करूँ ॥ २० ॥

इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दश महाबलान् ।
व्यादिदेश खरः क्रुद्धो राक्षसानन्तकोपमान् ॥ २१ ॥

शूर्पणखा के यह कहने पर, खर ने क्रुद्ध हो, यमराज के समान बलवान १४ राक्षसों को आज्ञा दी कि, ॥ २१ ॥

मानुषौ शस्त्रसम्पन्नौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ।
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं घोरं प्रमदया सह ॥ २२ ॥

जो शस्त्र धारण किये हुए हैं, काले मृग का चर्म ओढ़े हुए और चीर पहिने हुए हैं तथा जो इस घोर दण्डकवन में, स्त्री सहित आये हुए हैं ॥ २२ ॥

तौ हत्वा तां च दुर्वृत्तामपावर्तितुमर्हथ ।
इयं च रुधिरं तेषां भगिनी मम पास्यति ॥ २३ ॥

उन दोनों जनों को, उस दुष्ट स्त्री के सहित मार कर, लौट आओ। क्योंकि यह मेरी बहिन उनका रुधिर पीवेगी ॥ २३ ॥

---

१ प्रथमः—श्रेष्ठः । (गो०) २ कामः—अभिलाषः । (गो०)

मनोरथोऽयमिष्टोऽस्या[1] भगिन्या मम राक्षसः ।
शीघ्रं सम्पाद्यतां तौ च प्रमथ्य[2] स्वेन तेजसा ॥ २४ ॥

हे राक्षसो ! मेरी बहिन का यह मनोरथ है और मुझे भी यही इष्ट है कि, तुम लोग शीघ्र उन तीनों को अपने बल पराक्रम से मार डालो ॥ २४ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
तत्र जग्मुस्तया सार्धं घना वातेरिता यथा ॥ २५ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार खर की आज्ञा पा कर, चौदहों राक्षस, वायु से उड़ाये हुए मेघों की तरह, शूर्पणखा के साथ वहाँ गये, जहाँ श्रीरामाश्रम था ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्नीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

विंशः सर्गः

—:*:—

ततः शूर्पणखा घोरा राघवाश्रममागता ।
रक्षसामाचचक्षे तौ भ्रातरौ सह सीतया ॥ १ ॥

तदनन्तर वह भयङ्कर रूपवाली शूर्पणखा, श्रीरामाश्रम में पहुँची और उन दोनों भाई राम, लक्ष्मण तथा सीता को, उन राक्षसों को दिखलाया ॥ १ ॥

---

१ अस्याअयंमनोरथः ममचायमिष्टः सम्मतइत्यर्थः । (गो०) २ प्रमथ्य—हत्वा । (गो०)

ते रामं पर्णशालायामुपविष्टं महाबलम् ।
ददृशुः सीतया सार्धं वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २ ॥

उन राक्षसों ने पर्णकुटी में महाबली श्रीराम को सीता और लक्ष्मण सहित बैठे हुए देखा ॥ २ ॥

तान्दृष्ट्वा राघवः श्रीमानागतां तां च राक्षसीम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उन राक्षसों को और शूर्पणखा को आया हुआ देख, तेजस्वी लक्ष्मण से कहा ॥ ३ ॥

मुहूर्तं भव सौमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तरः[1] ।
इमानस्या वधिष्यामि पदवीमागतान्[2]इह ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! थोड़ी देर तुम सीता के पास रह कर इनकी, रखवाली करो । इतने में मैं इस राक्षसी के इन हिमायतियों को मार डालूँगा ॥ ४ ॥

वाक्यमेतत्ततः श्रुत्वा रामस्य विदितात्मनः ।
तथेति लक्ष्मणो वाक्यं रामस्य प्रत्यपूजयत् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी ने विदितात्मा श्रीरामचन्द्र के वचन सुन कर और उनके कथन को स्वीकार करते हुए, "बहुत अच्छा" कहा ॥ ५ ॥

राघवोऽपि महच्चापं चामीकरविभूषितम् ।
चकार सज्यं धर्मात्मा तानि रक्षांसि चाब्रवीत् ॥ ६ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी, सुवर्णभूषित अपने बड़े धनुष पर रोदा चढ़ा, उन राक्षसों से कहा ॥ ६ ॥

---

१ प्रत्यनन्तरः—रक्षणार्थं समीपवर्ती भव । (शि०) २ पदवीमागतान्—तत्सहायत्वेन प्राप्तान् । (शि०)

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम् ॥ ७ ॥

देखो हम दोनों महाराज दशरथ के पुत्र, सीता को अपने साथ ले, इस दुर्गम दण्डकवन में आये हैं ॥ ७ ॥

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंसथ ॥ ८ ॥

हम फलमूल खाने वाले, जितेन्द्रिय, तपस्वी और धर्मचारी हो, इस दण्डकवन में रहते हैं, सो तुम हमारे ऊपर क्यों चढ़ कर आये हो अथवा हमें मारने आये हो ? ॥ ८ ॥

युष्मान्पापात्मकान्हन्तुं विप्रकारान्महाहवे ।
ऋषीणां तु नियोगेन प्राप्तोऽहं सशरायुधः ॥ ९ ॥

(हम तपस्वी तो हैं, किन्तु हम लोगों के धनुष धारण करने का कारण यह है कि,) हम इस महावन में, तुम्हारे जैसे पापिष्ठों को, जो ऋषियों को सताया करते हैं, ऋषियों की आज्ञा से, मारने के लिये, धनुष बाण ले कर आये हैं ॥ ९ ॥

तिष्ठतैवात्र सन्तुष्टा[1] नोपावर्तितुमर्हथ[2] ।
यदि प्राणैरिहार्थो वा निवर्तध्वं निशाचराः ॥ १० ॥

इस लिये तुम निर्भय जहाँ के तहाँ खड़े रहना—भागना मत । और यदि अपने प्राण बचाने हों तो, हे राक्षसों ! तुम यहाँ से लौट जाओ ॥ १० ॥

---

१ सन्तुष्टा—अभीता । (गो०) २ नोपावर्तितुमर्हथ—मा पलायध्वमित्यर्थः । (गो०)

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
ऊचुर्वाचं सुसंक्रुद्धा ब्रह्मघ्नाः शूलपाणयः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, वे ब्रह्मघाती और शूलधारी चौदह राक्षस, महाक्रुद्ध हो बोले ॥ ११ ॥

संरक्तनयना घोरा रामं संरक्तलोचनम् ।
परुषं मधुराभाषं हृष्टा दृष्टपराक्रमम् ॥ १२ ॥

वे लाल लाल नेत्र कर, लाल लाल नेत्रों वाले, मधुरभाषी, परम प्रसन्न रहने वाले और दृढ़ पराक्रमी श्रीरामचन्द्र से कठोर वचन बोले ॥ १२ ॥

क्रोधमुत्पाद्य नो भर्तुः खरस्य सुमहात्मनः ।
त्वमेव हास्यसे प्राणानद्यास्माभिर्हतो युधि ॥ १३ ॥

देखो, तुमने हमारे महात्मा खर को अपने ऊपर क्रुद्ध स्वयं किया है। सो तुम आज लड़ाई में हमारे हाथ से मारे जाओगे ॥ १३ ॥

का हि ते शक्तिरेकस्य बहूनां रणमूर्धनि ।
अस्माकमग्रतः स्थातुं किं पुनर्योद्धुमाहवे ॥ १४ ॥

तुम्हारे अकेले की क्या ताब है, जो हमारे सामने रण में खड़े भी रह सको! हमारे साथ लड़ना तो बात ही निराली है ॥ १४ ॥

एहि बाहुप्रयुक्तैर्नः परिघैः[१] शूलपट्टिशैः[२] ।
प्राणांस्त्यक्ष्यसि वीर्यं च धनुश्च करपीडितम्[३] ॥ १५ ॥

---

१ परिघैः—गदाभेदैः। (गो०) २ पट्टिशैः—असिभेदैः। (गो०) ३ करपीडितम्—करेण दृढ गृहीतम्। (शि०)

हमारी चलायी इन गदाओं और तलवारों से घायल हो, तुमको केवल अपने हाथ का यह धनुष ही नहीं त्यागना पड़ेगा; किन्तु तुम्हें अपने बलवीर्य और प्राणों से भी हाथ धोने पड़ेंगे ॥१५॥

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा राममेवाभिदुद्रुवुः ॥ १६ ॥

यह कह वे चौदहों राक्षस क्रुद्ध हो और अपने आयुधों को उठा, एक साथ श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटे ॥ १६ ॥

चिक्षिपुस्तानि शूलानि राघवं प्रति दुर्जयम् ।
तानि शूलानि काकुत्स्थ समस्तानि चतुर्दश ॥ १७ ॥
तावद्भिरेव चिच्छेद शरैः काञ्चनभूषणैः ।
ततः पश्चान्महातेजा नाराचान्[1]सूर्यसन्निभान् ॥ १८ ॥
जग्राह परमक्रुद्धश्चतुर्दश शिलाशितान्[2] ।
गृहीत्वा धनुरायस्य लक्ष्यानुदिश्य राक्षसान् ॥ १९ ॥
मुमोच राघवो बाणान्वज्रानिव शतक्रतुः ।
ते भित्त्वा रक्षसां वेगाद्वक्षांसि रुधिराप्लुताः ॥ २० ॥

दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी पर उन लोगों ने त्रिशूल चलाये । तब श्रीरामचन्द्र जी ने उन समस्त चौदहों त्रिशूलों को सुवर्णभूषित उतने ही (१४) बाणों से काट डाला । तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो सूर्य के समान चमचमाते, बिना फरके और सिली पर पैनाये हुए चौदह बाण ले, उनको धनुष पर रखा और राक्षसों को लक्ष्य कर उसी प्रकार उन्हें छोड़े, जिस प्रकार इन्द्र वज्र

---

[1] नाराचान्—अफलकान् बाणान् (गो०) २ शिलाशितान—शाणोपल निघृष्टान् । शिलानिर्भेदक्षमानित्यर्थः । (गो०—रा०)

को चलाते हैं। वे सब बाण, बड़े वेग से राक्षसों की छाती फोड़, रुधिर में सने, ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

विनिष्पेतुस्तदा भूमौ न्यमज्जन्ताशनिस्वनाः ।
ते भिन्नहृदया भूमौ छिन्नमूला इव द्रुमाः ॥ २१ ॥

वज्र की तरह घहराते हुए पृथिवी पर जा गिरे। बाणों के आघात से वे चौदहों राक्षस भी विदीर्ण हृदय हो, जड़ से कटे हुए वृक्ष की तरह भूमि पर गिर पड़े ॥ २१ ॥

निपेतुः शोणितार्द्राङ्गा विकृता विगतासवः[1] ।
तान्दृष्ट्वा पतितान्भूमौ राक्षसी क्रोधमूर्छिता ॥ २२ ॥

वे राक्षस खून से लथर पथर थे, उनकी शक्लें बिगड़ गयी थीं और वे निर्जीव हो गये थे। उनको ज़मीन पर गिरा हुआ देख, शूर्पणखा क्रोध से अधीर हो गयी ॥ २२ ॥

परित्रस्ता पुनस्तत्र व्यसृजद्भैरवस्वनान् ।
सा नदन्ती* महानादं जवाच्छूर्पणखा पुनः ॥ २३ ॥

और भयभीत हो, उसने वहाँ पुनः बड़ा भयङ्कर शब्द किया और महानाद करती हुई वह शूर्पणखा, ॥ २३ ॥

उपगम्य खरं सा तु किञ्चित्संशुष्कशोणिता ।
पपात पुनरेवार्ता सनिर्यासेवसल्लरी† ॥ २४ ॥

जिसके शरीर का खून सूख गया था—खर के पास पहुँची और कातर हो सूखी हुई लता की तरह फिर गिर पड़ी ॥ २४ ॥

---

१ विगतासवः—विगतप्राणाः । (गो०)

* पाठान्तरे "पुनर्नादं" । † पाठान्तरे—"सल्लकी" ।

भ्रातुः समीपे शोकार्ता ससर्ज निनदं मुहुः ।
सस्वरं मुमुचे बाष्पं विषण्णवदना तदा ॥ २५ ॥

भाई के पास जा, वह शोकातुर हो बहुत चीखने लगी और चिल्ला चिल्ला कर रोने लगी । तब मारे शोक के उसका चेहरा फीका पड़ गया ॥ २५ ॥

निपातितान्दृश्य रणे तु राक्षसा-
न्प्रधाविता शूर्पणखा पुनस्ततः ।
वधं च तेषां निखिलेन रक्षसां
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

वह खर की बहिन शूर्पणखा, युद्ध में राक्षसों को मरा हुआ देख, दौड़ी दौड़ी खर के पास गयी और बोली कि, सब राक्षस मारे गये ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकविंशः सर्गः

—※—

स पुनः पतितां दृष्ट्वा क्रोधाच्छूर्पणखां खरः ।
उवाच व्यक्तया वाचा तामनर्थार्थ[1]मागताम् ॥ १ ॥

सब राक्षसों का सत्यानाश करवाने को उद्यत शूर्पणखा को फिर ज़मीन पर पड़ी हुई देख, क्रोध में भर, खर फिर चिल्ला कर बोला ॥ १ ॥

---

१ अनर्थार्थं — सर्वराक्षस विनाशार्थं । (गो०)

मया त्विदानीं शूरास्ते राक्षसा रुधिराशनः ।
त्वत्प्रियार्थं विनिर्दिष्टाः किमर्थं रुद्यते पुनः ॥ २ ॥

मैंने तुझे प्रसन्न करने के लिये रुधिर पीने वाले और शूरवीर चौदह राक्षस भेजे दिये—अब तू क्यों फिर रो रही है ॥ २ ॥

भक्ता[1]श्चैवानुरक्ताश्च हिताश्च मम नित्यशः ।
घ्नन्तोऽपि न निहन्तव्या न न कुर्युर्वचो मम ॥ ३ ॥

जिन राक्षसों को मैंने (छांट कर) भेजा है, वे मेरे विश्वासपात्र हैं और उनका मुझमें पूर्ण अनुराग होने के कारण, वे मेरे सदा हित चाहने वाले हितैषी हैं। वे किसी के मारने पर भी, मारे नहीं जा सकते और न मेरी आज्ञा टाल सकते हैं (अर्थात् न तो उनके मारे जाने की मुझे शङ्का है और न मुझे उनके वहां न जाने का सन्देह ही है) ॥ ३ ॥

किमेतच्छ्रोतुमिच्छामि कारणं यत्कृते पुनः ।
हा नाथेति विनर्दन्ती सर्पवद्वेष्टसे* क्षितौ ॥ ४ ॥

यह क्या बात है और इसका क्या कारण है, जो तू फिर "हा नाथ" कह कर चिल्लाती हुई सांप की तरह ज़मीन पर लोट रही है। मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

अनाथवद्विलपसि नाथे तु मयि संस्थिते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ मा भैषीर्वैक्लव्यं[2] त्यज्यतामिह ॥ ५ ॥

अरे जब मैं तेरा रक्षक मौजूद हूँ, तब तू अनाथ की नाईं विलाप क्यों करती है उठ! उठ! डर मत और कातरता त्याग दे अर्थात् अधीर मत हो ॥ ५ ॥

---

१ भक्ताः—विश्वासभाजः। (गो०) २ वैक्लव्यं—कातर्यं। (गो०)

* पाठान्तरे—"सर्पवल्लुठसि"।

इत्येवमुक्ता दुर्धर्षा खरेण परिसान्त्विता ।
विमृज्य नयने सास्रे खरं भ्रातरमब्रवीत् ॥ ६ ॥

जब खर ने इस प्रकार उस दुर्धर्षा को धीरज बंधाया, तब वह आँसुओं को पोंछ कर, अपने भाई खर से कहने लगी ॥ ६ ॥

अस्मीदानीमहं प्राप्ता हृतश्रवणनासिका ।
शोणितौघपरिक्लिन्ना त्वया च परिसान्त्विता ॥ ७ ॥

हे खर ! नाक और कानों से हीन, और लोहू से तरवतर, मैं जब (पहले) तेरे पास आयी थी, तब तूने धीरज बंधा कर ॥ ७ ॥

प्रेषितास्च त्वया वीर राक्षसास्ते चतुर्दश ।
निहन्तुं राघवं क्रोधान्मत्प्रियार्थं सलक्ष्मणम् ॥ ८ ॥

और क्रुद्ध हो कर, चौदह राक्षस मेरे प्रियार्थ, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र का वध करने को भेजे थे ॥ ८ ॥

ते तु रामेण सामर्षाः शूलपट्टिशपाणयः ।
समरे निहताः सर्वे सायकैर्मर्मभेदिभिः ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र ने मर्मभेदी पैने बाणों से शूल पटा आदि हाथों में लिये हुए और क्रोध में भरे हुए उन चौदहों राक्षसों को युद्ध में मार डाला ॥ ९ ॥

तान्दृष्ट्वा पतितान्भूमौ क्षणेनैव महाबलान् ।
रामस्य च महत्कर्म महांस्त्रासोऽभवन्मम ॥ १० ॥

उन महाबली राक्षसों का एक क्षण ही में पृथिवी पर गिरना (अर्थात् मरना) तथा श्रीरामचन्द्र के इस महत् कर्म को देख, मुझे बड़ा डर लगा ॥ १० ॥

अहमस्मि समुद्विग्ना[1] विषण्णा[2] च निशाचर ।
शरणं त्वां पुनः प्राप्ता सर्वतोभयदर्शिनी ॥ ११ ॥

हे निशाचर! मैं भयभीत, और दुखी हूँ और हर ओर मुझे भय ही भय देख पड़ता है। इसीसे पुनः तेरे शरण आयी हूँ ॥ ११ ॥

विषादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि ।
किं मां न त्रायसे मग्नां विपुले शोकसागरे ॥ १२ ॥

विषाद रूप मगरों से पूर्ण और त्रास रूपी लहरों से युक्त महासागर में, मैं डूब रही हूँ। सो मुझे तू क्यों नहीं बचाता? ॥ १२ ॥

एते च निहता भूमौ रामेण निशितैः शरैः ।
येऽपि मे पदवीं प्राप्ता राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १३ ॥

जो माँसभक्षी हिमायती राक्षस तूने मेरे साथ भेजे थे। वे श्रीराम के पैने बाणों से मारे जा कर ज़मीन में पड़े हैं ॥ १३ ॥

मयि ते यद्यनुक्रोशो यदि रक्षःसु तेषु च ।
रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर ॥ १४ ॥

यदि मेरे ऊपर और उन राक्षसों के ऊपर तुझे दया हो और श्रीराम के साथ युद्ध करने की तुझमें शक्ति और तेज अर्थात् पराक्रम हो; ॥ १४ ॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि राक्षसकण्टकम् ।
यदि रामं ममामित्रं न त्वमद्य वधिष्यसि ॥ १५ ॥

तो दण्डकारण्यवासी राक्षसों के इस कण्टक अर्थात् शत्रु को मार डाल। यदि आज ही तू मेरे शत्रु राम को नहीं मार डालेगा; ॥ १५ ॥

१ समुद्विग्ना—भीता। (गो०) २ विषण्णा—दुःखिता। (गो०)

तव चैवाग्रतः प्राणांस्त्यक्ष्यामि निरपत्रपा ।
बुद्ध्याहमनुपश्यामि न त्वं रामस्य संयुगे ॥ १६ ॥

स्थातुं प्रतिमुखे शक्तः सबलश्च महात्मनः ।
शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः ॥ १७ ॥

तो मैं तेरे सामने ही लाज छोड़, अपने प्राण दे दूँगी । क्योंकि, मैं यह जानती हूँ कि, तू श्रीरामचन्द्र के साथ युद्ध में बड़ी भारी सेना को साथ ले कर भी नहीं ठहर सकता । तू अपने को शूर समझे हुए बैठा है, पर वास्तव में तू शूर है नहीं और तू अपने पराक्रम की जो डींगे मारता है, वे सब झूठी हैं ॥ १६ ॥ १७ ॥

मानुषौ यौ न शक्नोषि हन्तुं तौ रामलक्ष्मणौ ।
रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर ॥ १८ ॥

क्योंकि तू उन दो मनुष्यों अर्थात् श्रीराम और लक्ष्मण को भी नहीं मार सकता । अगर तुझमें श्रीराम के साथ युद्ध करने की शक्ति और तेज नहीं है; ॥ १८ ॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि तं कुलपांसन ।
निःसत्त्वस्याल्पवीर्यस्य वासस्ते कीदृशस्त्विह ॥ १९ ॥

तो हे कुलाधम ! तू दण्डकारण्य में बसना छोड़ कर, चला जा । क्योंकि तुझ जैसा निःसत्व और निर्बल यहाँ कैसे रह सकता है ॥ १९ ॥

अपयाहि जनस्थानात्त्वरितः सहबान्धवः ।
रामतेजोभिभूतो हि त्वं क्षिप्रं विनशिष्यसि ॥ २० ॥

तू शीघ्र अपने कुटुम्ब को साथ ले, जनस्थान से चला जा । नहीं तो तू श्रीरामचन्द्र के तेज से पराजित हो, शीघ्र ही मारा जायगा ॥ २० ॥

स हि तेजःसमायुक्तो रामो दशरथात्मजः ।
भ्राता चास्य महावीर्यो येन चास्मि विरूपिता ॥ २१ ॥

क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र एक तेजस्वी पुरुष हैं और उनका भाई भी, जिसने मेरी नाक और कान काटे, बड़ा पराक्रमी है ॥ २१ ॥

एवं विलप्य बहुशो राक्षसी विततोदरी[1] ।
भ्रातुः समीपे दुःखार्ता नष्टसंज्ञा बभूव ह ।
कराभ्यामुदरं हत्वा रुरोद भृशदुःखिता ॥ २२ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार वह बड़े पेटवाली राक्षसी बहुत भाँति विलाप कर, भाई के निकट, शोकाकुल हो, मूर्छित हो गयी और फिर होश में आ, अत्यन्त दुःखी हो, दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर, रोने लगी ॥ २२ ॥

अरण्यकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

द्वाविंशः सर्गः

—:*:—

एवमाधर्षितः शूरः शूर्पनख्या खरस्तदा ।
उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥ १ ॥

जब शूर्पणखा ने खर को धिक्कारा, तब वह शूर, राक्षसों के बीच (शूर्पणखा से) ये कठोर वचन बोला ॥ १ ॥

---

१ विततोदरी—विस्तृतोदरी । (गो०)

तवावमानप्रभवः क्रोधोऽयमतुलो मम ।
न शक्यते धारयितुं लवणाम्भ[1] इवोत्थितम् ॥ २ ॥

हे शूर्पणखे ! तेरा अपमान होने से मेरे मन में जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह अतुल क्रोध मुझसे वैसे ही नहीं सम्हाला जाता, जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र अपने जल के वेग को नहीं सम्हाल सकता ॥ २ ॥

न रामं गणये वीर्यान्मानुषं क्षीणजीवितम् ।
आत्मदुश्चरितैः प्राणान्हतो योऽद्य विमोक्ष्यति ॥ ३ ॥

मैं अपने बल के सामने मरणोन्मुख मनुष्य शरीरधारी श्रीराम को, कुछ भी नहीं गिनता । उसने जो कुकर्म किया है, उससे उसे आज ही अपने प्राण त्यागने पड़ेंगे ॥ ३ ॥

बाष्पः संह्रियतामेष सम्भ्रमश्च विमुच्यताम् ।
अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि यमसादनम् ॥ ४ ॥

अब तू अपना रोना धोना बंद कर, व्याकुलता को त्याग दे । श्रीराम को, उसके भाई सहित मैं यमपुरी भेजता हूँ ॥ ४ ॥

परश्वध[2]हतस्याद्य मन्दप्राणस्य संयुगे ।
रामस्य रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥ ५ ॥

हे राक्षसी ! युद्ध में कुठार से काटे गये और अधमरे श्रीराम के गर्मागर्म और लाल लाल लोहू को तू पीना ॥ ५ ॥

सा प्रहृष्टा वचः श्रुत्वा खरस्य वदनाच्च्युतम् ।
प्रशशंस पुनर्मौर्ख्याद्भ्रातरं रक्षसां वरम् ॥ ६ ॥

---

१ लवणाम्भ इवोत्थितम्—लवण समुद्रःउल्बणं पर्वोत्थितं स्ववेगमिव । (शि०) २ परश्वधः—कुठारः । (गो०)

खर के मुख से निकले हुए इन वचनों को सुन, शूर्पणखा बहुत प्रसन्न हो गयी और मूर्खतावश राक्षसश्रेष्ठ खर की पुनः प्रशंसा करने लगी ॥ ६ ॥

तया परुषितः पूर्वं पुनरेव प्रशंसितः ।
अब्रवीद्दूषणं नाम खरः सेनापतिं तदा ॥ ७ ॥

इस प्रकार पहिले धिक्कारा हुआ और पीछे प्रशंसित खर, अपने सेनापति दूषण से बोला ॥ ७ ॥

चतुर्दश सहस्राणि मम चित्तानुवर्तिनाम् ।
रक्षसां भीमवेगानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥
नीलजीमूतवर्णानां घोराणां क्रूरकर्मणाम् ।
लोकहिंसाविहाराणां बलिनामुग्रतेजसाम् ॥ ९ ॥
तेषां शार्दूलदर्पाणां महास्यानां महौजसाम् ।
सर्वोद्योगमुदीर्णानां[1] रक्षसां सौम्य कारय ॥ १० ॥

हे सौम्य ! मेरे मन के अनुसार काम करने वाले, अति वेगवान्, युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले, काले मेघों के समान वर्ण वाले घोर रूप धारी, क्रूरकर्मा, और लोगों की हत्या कर के सदा खेलने वाले, बलवान्, उग्रतेजधारी, शार्दूल की तरह दर्प वाले, विकृत मुख वाले, बड़े पराक्रमी, युद्ध के सब कार्यों में गर्वीले चौदह हज़ार राक्षसों को लड़ने के लिये तैयार करो ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

उपस्थापय मे क्षिप्रं रथं सौम्य धनूंषि च ।
शरांश्चित्रांश्च खड्गश्च शक्तीश्च विविधाः शिताः ॥ ११ ॥

---

१ उदीर्णानां—गर्वितानां । (गो०)

और हे सौम्य ! मेरे रथ को धनुष को, विचित्र बाणों को, पैनी पैनी अनेक तलवारों तथा शक्तियों को ला कर, शीघ्र उपस्थित करो ॥ ११ ॥

अग्रे निर्यातुमिच्छामि पौलस्त्यानां महात्मनाम् ।
वधार्थं दुर्विनीतस्य रामस्य रणकोविदः ॥ १२ ॥

हे रणपण्डित ! मैं, इन पुलस्त्य कुलोद्भव महानुभाव राक्षसों के आगे आगे, उस दुष्ट राम को मारने के लिये, प्रस्थान करना चाहता हूँ ॥ १२ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सूर्यवर्णं महारथम् ।
सदश्वैः शबलैर्युक्तमाचचक्षेऽथ दूषणः ॥ १३ ॥

खर के ये वचन सुन, दूषण ने सूर्य की तरह चमचमाते रथ में, चितकबरे घोड़े जोत कर, उसे खर के सामने ला खड़ा किया ॥ १३ ॥

तं मेरुशिखराकारं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
हेमचक्रमसंबाधं वैडूर्यमयकूबरम् ॥ १४ ॥

खर के रथ का आकार, मेरु पर्वत जैसा था, विशुद्ध खरे सोने के आभूषणों से वह रथ सजाया गया था, रथ के पहिये भी सोने ही के थे और उसके जुए में वैडूर्य मणि (पन्ने) जड़े हुए थे ॥ १४ ॥

मत्स्यैः पुष्पैर्द्रुमैः शैलैश्चन्द्रसूर्यैश्च काञ्चनैः ।
मङ्गलैः[1] पक्षिसङ्घैश्च ताराभिरभिसंवृतम् ॥ १५ ॥

उस रथ के भीतर सोने की मछलियाँ, पुष्पित वृक्ष, पहाड़, चन्द्र, सूर्य, तारागण और तरह तरह के पक्षियों के आकार की मङ्गलकारी प्रतिमाएँ यथास्थान जड़ी हुई थीं ॥ १५ ॥

---

[1] मङ्गलैः—मङ्गलावहैः अलङ्कारकैः । (गो०)

ध्वजनिस्त्रिंश[1]सम्पन्नं किङ्किणीकविराजितम् ।
सदश्वयुक्तं सोऽमर्षादारुरोह खरो रथम् ॥ १६ ॥

रथ पर ध्वजा फहरा रही थी। उसके भीतर यथास्थान खड्गादि अस्त्र शस्त्र रखे हुए थे और छोटी छोटी घंटियाँ उसके चारों ओर लटक रही थीं। उस रथ में अच्छी जाति के घोड़े जुते हुए थे। ऐसे उत्तम रथ पर खर अत्यन्त कुपित हो सवार हुआ ॥ १६ ॥

निशाम्य तु रथस्थं तं राक्षसा भीमविक्रमाः ।
तस्थुः संपरिवार्यैनं दूषणं च महाबलम् ॥ १७ ॥

खर को रथ में बैठा देख, महापराक्रमी राक्षसों की सेना सहित दूषण भी, खर को घेर कर, जाने को तैयार हो गया ॥ १७ ॥

खरस्तु तान्महेष्वासान्घोरवर्मायुधध्वजान् ।
निर्यातेत्यब्रवीद्धृष्टो रथस्थः सर्वराक्षसान् ॥ १८ ॥

खर ने, रथ में बैठे हुए महाधनुष लिये और बड़े मजबूत जिरह-बख्तर पहिने तथा तलवार ढाल ध्वजा आदि अनेक प्रकार के आयुधों से सज्जित सब राक्षसों से प्रसन्न हो कर, आगे बढ़ने को कहा ॥१८॥

ततस्तद्राक्षसं सैन्यं घोरवर्मायुधध्वजम् ।
निर्जगाम जनस्थानान्महानादं महाजवम् ॥ १९ ॥

तब वह अस्त्र शस्त्र से सजी हुई राक्षसों की सेना, महानाद करती हुई बड़ी तेज़ी के साथ जनस्थान से रवाना हुई ॥ १९ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः सुतीक्ष्णैश्च परश्वधैः ।
खड्गैश्चक्रैश्च हस्तस्थैर्भ्राजमानैश्च तोमरैः ॥ २० ॥

---

१ निस्त्रिंशैः — खड्गादिभिः । (शि०)

उस राक्षस सैन्य के योद्धा, मुद्गर, पट्टा, पैने त्रिशूल, फरसे, तलवार, चक्र, बल्लम आदि हथियार हाथों में लिये हुए थे और उन्हें घुमाते हुए, शोभायमान हो रहे थे ॥ २० ॥

शक्तिभिः परिघैर्घोरैरतिमात्रैश्च कार्मुकैः ।
गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः ॥ २१ ॥

शक्ति, परिघ, महाभयङ्कर धनुष, गदा, तलवार, मूसल, वज्र, आदि भयङ्कर अस्त्र शस्त्रों को धारण कर, ॥ २१ ॥

राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निर्यातानि जनस्थानात्खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ २२ ॥

चौदह हज़ार भयङ्कर राक्षस, जो खर के मन के अनुसार काम किया करते थे, जनस्थान से चले ॥ २२ ॥

तांस्त्वभिद्रवतो दृष्ट्वा राक्षसान्भीमविक्रमान् ।
खरस्यापि रथः किञ्चिज्जगाम तदनन्तरम् ॥ २३ ॥

जब वे भीम विक्रमी राक्षस महावेग से चल दिये, तब उनको जाते हुए देख, खर का रथ भी कुछ अन्तर पर, उनके साथ साथ चला ॥ २३ ॥

ततस्ताञ्शबलानश्वांस्तप्तकाञ्चनभूषितान् ।
खरस्य मतिमाज्ञाय सारथिः समचोदयत् ॥ २४ ॥

सारथी ने खर की आज्ञा से उन चितकबरे घोड़ों को जिन पर सोने का साज कसा हुआ था, हाँका ॥ २४ ॥

स चोदितो रथः शीघ्रं खरस्य रिपुघातिनः ।
शब्देनापूरयामास दिशश्च प्रदिशस्तदा ॥ २५ ॥

उस समय शत्रुघाती खर का चलता हुआ रथ, अपने चलने के शब्द से दिशाओं और विदिशाओं को नादित करता हुआ, चला ॥२५॥

प्रवृद्धमन्युस्तु खरः खरस्वनो
रिपोर्वधार्थं त्वरितो यथाऽन्तकः ।
अचूचुदत्सारथिमुन्नदन्घनं
महाबलो मेघ इवाश्मवर्षवान् ॥ २६ ॥

इति द्वाविंशः सर्ग ॥

वह अति बलवान् उच्च स्वर वाला खर, अत्यन्त क्रुद्ध हो, यमराज की तरह, शत्रु के वध के लिये शीघ्रता के साथ, ओले बरसाने वाले मेघ की तरह गरजता हुआ, सारथी से बोला कि, रथ शीघ्र हाँको ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रयोविंशः सर्गः

—:*:—

* तं प्रयान्तं जनस्थानादशिवं शोणितोदकम्[1] ।
अभ्यवर्षन्महामेघस्तुमुलो गर्दभारुणः ॥ १ ॥

जब जनस्थान से वह राक्षससैन्य युद्ध के लिये रवाना हुई, तब गधे के शरीर जैसे धूसर रंग के महामेघों ने खून जैसे लाल रंग का अमङ्गलसूचक जल बरसाया ॥ १ ॥

---

१ शोणितोदकम्—रक्तवर्णजलं । (गो०)

* पाठान्तरे—" तस्मिन्याते "

निपेतु[१]स्तुरगास्तस्य रथयुक्ता[२] महाजवाः ।
समे पुष्पचिते[३] देशे राजमार्गे यदृच्छया[४] ॥ २ ॥

खर के रथ में जो तेज़ चलने वाले घोड़े जुते हुए थे, वे चलते चलते राजमार्ग पर, जिस पर फूल बिछे हुए थे और जो समथर था, दैवयोग से गिर पड़े ॥ २ ॥

श्यामं रुधिरपर्यन्तं[५] बभूव परिवेषणम् ।
अलातचक्रप्रतिमं परिगृह्य[६] दिवाकरम् ॥ ३ ॥

सूर्य के चारों ओर श्याम वर्ण का घेरा बन गया, इस घेरे का बाहिरी भाग लाल रङ्ग का था ॥ ३ ॥

ततो ध्वजमुपागम्य हेमदण्डं समुच्छ्रितम्[७] ।
समाक्रम्य महाकायस्तस्थौ गृध्रः सुदारुणः ॥ ४ ॥

एक बड़े डील डौल का और भयङ्कर गीध, रथ की ऊँची ध्वजा पर, जिसकी डंडी सोने की थी, चक्कर लगा कर, बैठ गया ॥४॥

जनस्थानसमीपे तु समागम्य खरस्वनाः[८] ।
विस्वरा[९]न्विविधांश्चक्रुर्मांसादा मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥

जनस्थान के निकट जा, मांस-भक्षी एवं विकट शब्दकारी पशुपक्षी भयङ्कर शब्द कर, चिल्लाने लगे ॥ ५ ॥

---

१ निपेतुः—स्खलिताः । (गो०) २ रथयुक्ताः—रथेबद्धाः । (गो०) ३ पुष्पचिते—पुष्पैर्निबिडे । (गो०) ४ यदृच्छया—दैवगत्या । (गो०) ५ पर्यन्ते—प्रान्ते । (गो०) ६ परिगृह्य—परितोव्याप्य । (गो०) ७ समुच्छ्रितं—उन्नतं । (गो०) ८ खरस्वनाः—परुषस्वनाः । (गो०) ९ विस्वरान्—विकृतस्वरान् (गो०) ।

व्याजह्रुश्च प्रदीप्तायां दिशि वै भैरवस्वनम् ।
अशिवं यातुधानानां शिवा[1]घोरा महास्वनाः ॥ ६ ॥

भयानक सियार सूर्य की ओर मुख कर, राक्षसों के लिये अमङ्गल सूचक भयङ्कर शब्द कर, चिल्लाने लगे ॥ ६ ॥

प्रभिन्न[2]गिरिसङ्काशास्तोयशोणितधारिणः ।
आकाशं तदनाकाशं चक्रुर्भीमा बलाहकाः ॥ ७ ॥

इन्द्र द्वारा काटे हुए पर वाले पर्वतों की तरह बड़े बड़े मेघ, जिन में लाल रंग का जल भरा हुआ था, आकाश में छा गये। अर्थात् लाल लाल रंग के बड़े बड़े बादलों से आकाश छिप गया ॥ ७ ॥

बभूव तिमिरं घोरमुद्धतं रोमहर्षणम् ।
दिशो वा विदिशो वाऽपि न च व्यक्तं चकाशिरे ॥ ८ ॥

उस समय ऐसा रोमाञ्चकारी और घोर अन्धकार छा गया कि, दिशाएँ और विदिशाएँ ढप गयीं थीं और कुछ भी नहीं सूझ पड़ता था ॥ ८ ॥

क्षतजार्द्र[3]सवर्णाभा सन्ध्या कालं विना बभौ ।
खरस्याभिमुखा नेदुस्तदा घोरमृगाः खगाः ॥ ९ ॥

सूर्यास्त का समय न होने पर भी खून से भींगे कपड़े की तरह, लाल सन्ध्या हुई जान पड़ने लगी। भयङ्कर पशु पक्षी खर की ओर मुँह कर, भयङ्कर स्वर से चिल्लाने लगे ॥ ९ ॥

कङ्क[4]गोमायुगृध्राश्च चुक्रुशुर्भयशंसिनः ।
नित्याशिवकराः* युद्धे शिवा घोरनिदर्शनाः ॥ १० ॥

---

१ शिवाः—सृगालाः। (गो०) २प्रभिन्नाः—इन्द्रच्छिन्नपक्षाः (गो०) ३ क्षतजार्द्र—क्षतजेन रक्तेनार्द्रं संसिक्तं यत् पटादिकं तत्तुल्याभा। (गो०) ४कङ्काः—स्थूलकायाः, भयङ्कराः। (गो०) * पाठान्तरे—"शुभकराः"।

भयङ्कर सियार और गीध. खर के हृदय को दहलाने वाले उच्च स्वर से शब्द करने लगे। युद्ध में जिनका बोलना सदा अपशकुन सूचक माना गया है, ऐसी सियारनें भी भय उपजाती हुईं ॥ १० ॥

नेदुर्बलस्याभिमुखं ज्वालोद्गारिभिराननैः ।
कबन्धः[1] परिघाभासो[2] दृश्यते भास्करान्तिके ॥ ११ ॥

सेना के सामने मुख से आग उगलती हुईं, घोर चीत्कार करने लगीं। सूर्य के निकट परिघ (लोहे का डंडा) की तरह पुच्छल तारा देख पड़ा ॥ ११ ॥

जग्राह सूर्यं स्वर्भानुरपर्वणि महाग्रहः ।
प्रवाति मारुतः शीघ्रंनिष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः ॥ १२ ॥

ग्रहण लगने का समय न होने पर भी राहु ने सूर्य को ग्रस लिया। हवा भी बड़े वेग से चलने लगी। सूर्य प्रभाहीन हो गया ॥ १२ ॥

उत्पेतुश्च विना रात्रिं ताराः खद्योतसप्रभाः ।
संलीनमीनविहगा नलिन्यः शुष्कपङ्कजाः ॥ १३ ॥

रात न होने पर भी जुगुनू की तरह आकाश में तारे चमकने लगे। मछलियां जल के भीतर और पत्ती पेड़ों के पत्तों में जा छिपे। तालाबों के कमल सूख गये ॥ १३ ॥

तस्मिन्क्षणे बभूवुश्च विना पुष्पफलैर्द्रुमाः ।
उद्धूतश्च विना वातं रेणुर्जलधरारुणः ॥ १४ ॥

उस समय वहां के पेड़ों के फूल और फल अपने आप गिर पड़े। विना पवन के अंधड़ उठा। बादलों का रंग लाल हो गया ॥१४॥

---

१ कबन्धो—धूमकेतुः। (रा०) २ परिघ—आयुधविशेष। (रा०)

वीचीकूचीति वाश्यन्त्यो बभूवुस्तत्र शारिकाः ।
उल्काश्चापि सनिर्घाता निपेतुर्घोरदर्शनाः ॥ १५ ॥

मैना (पत्ती) चींचीं चूंचूं करने लगीं; कड़ कड़ शब्द के साथ भयङ्कर उल्कापात होने लगे ॥ १५ ॥

प्रचचाल मही सर्वा सशैलवनकानना ।
खरस्य च रथस्थस्य नर्दमानस्य धीमतः ॥ १६ ॥

वन और पर्वतों के सहित पृथिवी कांप उठी । जब धीमान् खर रथ में बैठा हुआ, गरजने लगा ॥ १६ ॥

प्राकम्पत भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसज्जत ।
सास्रा सम्पद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः ॥ १७ ॥

तब उसकी वाम भुजा फड़की । उसका स्वर बिगड़ गया । इधर उधर देखते हुए खर के नेत्रों से आँसू निकल पड़े ॥ १७ ॥

ललाटे च रुजा जाता न च मोहान्न्यवर्तत ।
तान्समीक्ष्य महोत्पातानुत्थितान्रोमहर्षणान् ॥ १८ ॥

उसके माथे में दर्द होने लगा । तो भी मोहवश वह युद्ध-क्षेत्र में जाने से न रुका । प्रत्युत इन सब रोमाञ्चकारी महाउत्पातों को होते हुए देख कर भी, ॥ १८ ॥

अब्रवीद्राक्षसान्सर्वान्प्रहसन्स खरस्तदा ।
महोत्पातानिमान्सर्वानुत्थितान्घोरदर्शनान् ॥ १९ ॥
न चिन्तयाम्यहं वीर्याद्बलवान्दुर्बलानिव ।
तारा अपि शरैस्तीक्ष्णैः पातयामि नभःस्थलात् ॥ २० ॥

वह खर हँसता रहा और सब राक्षसों से बोला—इन सब भयङ्कर उत्पातों को मैं अपने पराक्रम के समाने वैसे ही कुछ भी नहीं गिनता जैसे बलवान् पुरुष अपने सामने निर्बल पुरुष को कुछ भी नहीं समझता। मैं तो अपने पैने तीरों से तारों को आकाश से गिरा सकता हूँ॥ १९॥ २०॥

मृत्युं मरणधर्मेण संक्रुद्धो योजयाम्यहम्।
राघवं तं बलोत्सिक्तं भ्रातरं चास्य लक्ष्मणम्॥ २१॥

और क्रुद्ध होने पर मृत्यु को भी मार सकता हूँ। अब तो मैं अपने को बलवान् समझने वाले श्रीरामचन्द्र और उनके भाई लक्ष्मण को॥ २१॥

अहत्वा सायकैस्तीक्ष्णैर्नोपावर्तितुमुत्सहे।
सकामा भगिनी मेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तयोः॥ २२॥

पैने बाणों से विना मारे मैं लौट नहीं सकता। मेरी बहिन उन दोनों का रक्तपान कर, सफल मनोरथ होवे,॥ २२॥

यन्निमित्तस्तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः।
न क्वचित्प्राप्तपूर्वो मे संयुगेषु पराजयः॥ २३॥

जिसके लिये श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की बुद्धि उल्टी हो गयी। आज तक मैं कभी किसी युद्ध में पराजित नहीं हुआ॥ २३॥

युष्माकमेतत्प्रत्यक्षं नानृतं कथयाम्यहम्।
देवराजमपि क्रुद्धो मत्तैरावतयायिनम्॥ २४॥
वज्रहस्तं रणे हन्यां किं पुनस्तौ कुमानुषौ।
सा तस्य गर्जितं श्रुत्व राक्षसस्य महाचमूः॥ २५॥

यह बात तुम सब लोगों को मालूम ही है। इसमें मैं मिथ्या कुछ भी नहीं कह रहा हूँ। मैं तो क्रुद्ध हो, मत्त ऐरावत पर सवार होकर, चलने वाले और वज्रधारी देवराज को भी युद्ध में मार सकता हूँ। फिर इन दो दुष्ट मनुष्यों का मारना मेरे लिये कौन बड़ी बात है। इस प्रकार खर का गर्जन तर्जन सुन कर, वह राक्षसों की बड़ी सेना ॥ २४ ॥ २५ ॥

प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता ।
समीयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

जो मरणोन्मुखी थी, अत्यन्त हर्षित हुई। उधर युद्ध देखने के लिये महात्मा लोग आये ॥ २६ ॥

ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २७ ॥

उन आने वालों में ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारणादि और भी अन्य पुण्यात्मा जन वहाँ एकत्र हो कर, कहने लगे ॥ २७ ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः[1] ।
जयतां राघवः संख्ये पौलस्त्यान्रजनीचरान् ॥ २८ ॥
चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान् ।
एतच्चान्यच्च बहुशो ब्रुवाणाः परमर्षयः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार सुदर्शन चक्र से भगवान् विष्णु ने समस्त श्रेष्ठ दैत्यों का वध किया था—उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी इन पुलस्त्य कुलोद्भव राक्षसों को जीत कर गौओं, ब्राह्मणों तथा भगवद्भक्तों का मङ्गल करें। परमर्षियों ने ऐसे तथा और भी अनेक प्रकार के वचन आपस में कहे ॥ २८ ॥ २९ ॥

१ अभिसङ्गताः—अनुकूलाः। (गो०)

जातकौतूहलास्तत्र विमानस्थाश्च देवताः ।
ददृशुर्वाहिनीं तेषां राक्षसानां गतायुषाम् ॥ ३० ॥

कुतूहलवश विमानों में बैठे हुए देवता गण, गतायु राक्षसों की सेना को देखने लगे ॥ ३० ॥

रथेन तु खरो वेगादुग्रसैन्यो विनिःसृतः ।
तं दृष्ट्वा राक्षसं भूयो राक्षसाश्च विनिःसृताः ॥ ३१ ॥

खर सेना के आगे अपना रथ ले गया । उसको आगे जाते देख, राक्षस भी उसके साथ आगे बढ़े ॥ ३१ ॥

श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहङ्गमः ।
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ॥ ३२ ॥
मेघमाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ।
द्वादशैते महावीर्याः प्रतस्थुरभितः खरम् ॥ ३३ ॥

उस समय उसको घेर कर बारह बड़े पराक्रमी राक्षस चले । उन राक्षसों के नाम थे १ श्येनगामी, २ पृथुग्रीव, ३ यज्ञशत्रु, ४ विहङ्गम ५ दुर्जय, ६ करवीराक्ष, ७ परुष, ८ कालकार्मुक, ९ मेघमाली, १० महामाली, ११ सर्पास्य और १२ रुधिराशन ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी त्रिशिरास्तथा ।
चत्वार एते सेनान्यो दूषणं पृष्ठतो ययुः ॥ ३४ ॥

महाकपाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथी और त्रिशिरा; ये चार सेनापति दूषण के पीछे पीछे चले जाते थे ॥ ३४ ॥

सा भीमवेगा समराभिकामा
महाबला राक्षसवीरसेना ।

तौ राजपुत्रौ सहसाऽभ्युपेता
माला ग्रहाणामिव चन्द्रसूर्यौ ॥ ३५ ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

जिस प्रकार ग्रहों की माला सूर्य और चन्द्रमा को घेरती हैं, उसी प्रकार भयङ्कर वेगवाली और युद्ध की अभिलाषा रखने वाली राक्षसों की महाबलवती वीर सेना ने सहसा जा कर, राजकुमारों को घेर लिया ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुर्विंशः सर्गः

—※—

आश्रमं प्रतियाते तु खरे खरपराक्रमे।
तानेवौत्पातिकान्रामः सह भ्रात्रा ददर्श ह ॥ १ ॥

जब कठोर पराक्रमी खर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम की ओर चला, तब उसके चलने के समय जो अपशकुन अथवा अमङ्गल सूचक उत्पात हुए थे, उन्हें श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने देखा ॥ १ ॥

तानुत्पातान्महाघोरानुत्थितानभिहर्षणान्।
प्रजानामहितान्दृष्ट्वा वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

उन रोमाञ्चकारी घोर उत्पातों को, जो प्रजाजनों के लिये अहितकारी थे, देख कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ २ ॥

इमान्पश्य महाबाहो सर्वभूतापहारिणः ।
समुत्थितान्महोत्पातान्संहर्तुं सर्वराक्षसान् ॥ ३ ॥

हे महाबाहो! देखो, ये सब प्राणिनाशक उत्पात, राक्षसकुल का संहार करने के लिये हो रहे हैं ॥ ३ ॥

अमी रुधिरधारास्तु विसृजन्तः खरस्वनान् ।
व्योम्नि मेघा विवर्तन्ते[1] परुषा गर्दभारुणाः ॥ ४ ॥

गधे के समान, मटमैले रंग वाले बादल, आकाश में इधर उधर दौड़ कर, भयङ्कर शब्द के साथ, रुधिर बरसा रहे हैं ॥ ४ ॥

सधूमाश्च शराः सर्वे मम युद्धाभिनन्दिनः ।
रुक्मपृष्ठानि चापानि[2] विवेष्टन्ते* च लक्ष्मण ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण! देखो मेरे बाणों से धुआँ निकल रहा है, मानों युद्ध होने का ये आनन्द मना रहे हैं। और सुवर्ण से भूषित पीठ वाले धनुष चलायमान हो रहे हैं ॥ ५ ॥

यादृशा[3] इह कूजन्ति पक्षिणो वनचारिणः ।
अग्रतो नो भयं प्राप्तं संशयो जीवितस्य च ॥ ६ ॥

इन वनचारी पक्षियों के इस प्रकार बोलने से, ऐसा जान पड़ता कि, शीघ्र ही भय उपस्थित होने वाला है। यही क्यों, प्रत्युत प्राण-सङ्कट मालूम होता है ॥ ६ ॥

संप्रहारस्तु[4] सुमहान्भविष्यति न संशयः ।
अयमाख्याति मे बाहुः स्फुरमाणो मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

---

१ विवर्तन्ते—संचरन्ति । (गो०) २ विवेष्टन्ते—चलन्ति । (गो०) ३ यादृशाः—प्रसिद्धाः । (गो०) ४ संप्रहारः—युद्धं । (गो०)

* पाठान्तरे—"विवर्तन्ते" ।

निस्सन्देह महासमर होगा। किन्तु मेरे दक्षिण बाहु का बार बार फड़कना यह बतलाता है कि, ॥ ७ ॥

सन्निकर्षे तु नः शूर जयं शत्रोः पराजयम् ।
सप्रभं च प्रसन्नं च तव वक्त्रं हि लक्ष्यते ॥ ८ ॥

हे शूर ! शीघ्र ही मेरा विजय और शत्रुओं का पराजय होने वाला है। (इस अनुमान की पुष्टि इससे भी हो रही है कि,) तुम्हारा मुख कान्तिमय और हर्षित देख पड़ता है ॥ ८ ॥

उद्यतानां हि युद्धार्थं येषां भवति लक्ष्मण ।
निष्प्रभं वदनं तेषां भवत्यायुःपरिक्षयः ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! युद्ध के लिये उद्यत पुरुषों का मुख यदि प्रभाहीन देख पड़े तो जानना चाहिये कि, उनकी आयु क्षीण हो चुकी है अर्थात् युद्ध में वे अवश्य मारे जायँगे ॥ ९ ॥

रक्षसां नर्दतां घोरः श्रूयते च महाध्वनिः ।
आहतानां च भेरीणां राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ १० ॥

राक्षसों के गर्जने की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है और क्रूरकर्मा राक्षसों के मारू बाजों की भी कैसी महाध्वनि सुनाई दे रही है ॥ १० ॥

अनागतविधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता ।
आपदं शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता ॥ ११ ॥

पण्डित और आपत्ति की शङ्का करने वाले पुरुष को, अपने कल्याण की कामना के लिये, पहिले ही से विपत्ति का प्रतिकार करना चाहिये ॥ ११ ॥

तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः ।
गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसङ्कुलाम् ॥ १२ ॥

अतएव हाथ में धनुष बाण ले तथा सीता जी को साथ ले, तुम वृक्षों की झुरमुट में छिपी हुई किसी दुर्गम पर्वत कन्दरा में शीघ्र जा बैठो ॥ १२ ॥

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया ।
शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम् ॥ १३॥

मैं यह नहीं चाहता कि, तुम मेरे कथन के प्रतिकूल कुछ कहो। हे वत्स! तुम्हें मेरे चरणों की शपथ है। तुम शीघ्र जानकी को ले कर, गिरिकन्दरा में चले जाओ ॥ १३ ॥

त्वं हि शूरश्च बलवान्हन्या ह्येतान्न संशयः ।
स्वयं तु हन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान् ॥ १४ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि, तुम शूर हो और बलवान हो और इन सब राक्षसों का वध कर सकते हो। किन्तु मैं स्वयं ही इन सब राक्षसों को मारना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः सह सीतया ।
शरानादाय चापं च गुहां दुर्गां समाश्रयत् ॥ १५ ॥

जब श्रीराम ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी अपने साथ सीताजी को ले और हाथ में धनुर्बाण धारण कर, पर्वत की एक दुर्गम गुफा में चले गये ॥ १५ ॥

तस्मिन्प्रविष्टे तु गुहां लक्ष्मणे सह सीतया ।
हन्त निर्युक्तमित्युक्त्वा रामः कवचमाविशत् ॥ १६ ॥

जब सीता जी को साथ ले लक्ष्मण जी गिरिगुहा में चले गये। तब श्रीरामचन्द्र जी इस बात से कि, लक्ष्मण ने उनका कहना मान लिया, प्रसन्न हुए और उन्होंने कवच (ज़िरह बख़्तर) धारण किया ॥ १६ ॥

स तेनाग्निनिकाशेन कवचेन विभूषितः ।
बभूव रामस्तिमिरे विधूमोऽग्निरिवोत्थितः ॥ १७ ॥

अग्नि की तरह चमचमाते कवच को धारण करने से, श्रीरामचन्द्र जी उसी प्रकार शोभित हुए, जिस प्रकार अन्धकार में प्रज्ज्वलित अग्नि की ज्वाला शोभित होती है ॥ १७ ॥

स चापमुद्यम्य महच्छरानादाय वीर्यवान् ।
बभूवावस्थितस्तत्र ज्यास्वनैः पूरयन्दिशः ॥ १८ ॥

तदनन्तर वीर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी धनुष को उठा, बाणों को ले, धनुष के रोदे की टंकार से दशो दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए, खड़े हो गये ॥ १८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।
समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ १९ ॥

इसके अनन्तर युद्ध देखने की इच्छा से देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण और महात्मा लोग एकत्र हुए ॥ १९ ॥

ऋषयश्च महात्मानो लोके ब्रह्मर्षिसत्तमाः ।
समेत्य चोचुः सहिता अन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २० ॥

महात्मा ऋषि तथा लोकप्रसिद्ध ब्रह्मर्षि तथा अन्य पुण्यात्मा जन एकत्र हो आपस में कहने लगे ॥ २० ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः ।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान्रजनीचरान् ॥ २१ ॥

गौ, ब्राह्मण, और साधुओं का मङ्गल हो और श्रीरामचन्द्र जी युद्ध में पुलस्त्यवंशी निशाचरों को (उसी प्रकार) जीतें ॥ २१ ॥

चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान् ।
एवमुक्त्वा पुनः प्रोचुरालोक्य च परस्परम् ॥ २२ ॥

जिस प्रकार हाथ में चक्र ले, विष्णु भगवान ने सब श्रेष्ठ असुरों को जीता था । यह कह कर और आपस में एक दूसरे को देख, वे लोग फिर कहने लगे ॥ २२ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥ २३ ॥

इन चौदह हज़ार भीमकर्मा राक्षसों के साथ अकेले श्रीरामचन्द्र कैसे युद्ध कर सकेंगे ॥ २३ ॥

इति राजर्षयः सिद्धाः सगणाश्च द्विजर्षभाः ।
जातकौतूहलास्तस्थुर्विमानस्थाश्च देवताः ॥ २४ ॥

राजर्षि, सिद्ध, परिकर सहित ब्राह्मणश्रेष्ठ और विमानों में बैठे देवता गण, कौतूहलाक्रान्त हो, वहाँ उपस्थित थे ॥ २४ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि[1] स्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयाद्विव्यथिरे तदा ॥ २५ ॥

उस समय तेजस्वी और संग्राम के लिये तैयार श्रीरामचन्द्र जी को खड़ा देख, प्राणि मात्र ही त्रस्त हो, दुःखी हुए ॥ २५ ॥

---

१ संग्रामशिरसि—युद्धाग्रे । (गो०)

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव पिनाकिनः ॥ २६ ॥

क्योंकि उस समय क्लेश रहित कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी का अनुपम रूप ऐसा देख पड़ता था, जैसा क्रुद्ध और धनुषधारी रुद्र का रूप होता है ॥ २६ ॥

इति संभाष्यमाणे तु देवगन्धर्वचारणैः ।
ततो गम्भीरनिर्ह्रादं घोरवर्मायुधध्वजम् ॥ २७ ॥
अनीकं यातुधानानां समन्तात्प्रत्यदृश्यत ।
सिंहनादं विसृजतामन्योन्यमभिगर्जताम्[1] ॥ २८ ॥

देवता, गन्धर्व और चारण इस प्रकार आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में महागम्भीर शब्द करती तथा कवच, आयुध धारण किये तथा ध्वजा फहराती हुई राक्षसों की सेना चारों ओर से आती हुई देख पड़ी। उस सेना में राक्षस बीर सिंहनाद कर रहे थे और आपस में कह रहे थे कि, हम शत्रु को मारेंगे, हम शत्रु को मारेंगे ॥ २७ ॥ २८ ॥

चापानि विस्फारयतां जृम्भतां चाप्यभीक्ष्णशः ।
विप्रघुष्टस्वनानां च दुन्दुभीश्चापि निघ्नताम् ॥ २९ ॥

उनमें से कोई कोई अपने धनुषों को बार बार टंकोरते थे। कोई कोई जंभाई लेते थे और कोई कोई उच्च स्वर से चिल्लाते थे और कोई कोई नगाड़ों को बजाते थे ॥ २६ ॥

तेषां सुतुमुलः शब्दः पूरयामास तद्वनम् ।
तेन शब्देन वित्रस्ताः श्वापदा वनचारिणः ॥ ३० ॥

---

१ अन्योन्यमभिगर्जतः—अहमेव शत्रुं हनिष्यामि इति जल्पताम् । (गो०)

उन राक्षसों ने ऐसा घोर शब्द किया कि, वह बन उस शब्द से प्रतिध्वनित होने लगा और उस शब्द को सुन कर, वनचारी पशु डर गये ॥ ३० ॥

दुद्रुवुर्यत्र निःशब्दं पृष्ठतो न व्यलोकयन् ।
तत्त्वनीकं महावेगं रामं समुपसर्पत ॥ ३१ ॥

और जिस ओर वह शब्द नहीं सुन पड़ता था, उस ओर को भागे जाते थे और उनमें से कोई पीछे मुड़ कर न देखता था। इस ओर वह राक्षसी सेना बड़े वेग के साथ श्रीरामचन्द्र जी के समीप आ पहुँची ॥ ३१ ॥

धृतनानाप्रहरणं गम्भीरं सागरोपमम् ।
रामोऽपि चारयंश्चक्षुः सर्वतो रणपण्डितः ॥ ३२ ॥

उस सेना के योद्धा तरह तरह के हथियार लिये हुए थे। वह सेना गम्भीर समुद्र की तरह उफनती हुई आ पहुँची। तब रण-विद्या में निपुण श्रीरामचन्द्र जी ने अपने चारों ओर देखा ॥ ३२ ॥

ददर्श खरसैन्यं तद्युद्धाभिमुखमुत्थितम् ।
वितत्य च धनुर्भीमं तूण्योश्चोद्धृत्य सायकान् ॥ ३३ ॥
क्रोधमाहारयत्तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।
दुष्प्रेक्षः सोऽभवत्क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, खर की सेना, लड़ने के लिये, सामने चली आती है। तब श्रीरामचन्द्र जी, अपने भयङ्कर धनुष को उठा और तरकस से बाणों को निकाल, सब राक्षसों के वध के लिये अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उस समय क्रोध में भरे श्रीरामचन्द्र जी की ओर देखना उसी प्रकार दुष्कर था, जिस प्रकार प्रलयकालीन अग्नि को देखना दुष्कर होता है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

तं दृष्ट्वा तेजसाऽऽविष्टं प्राद्रवन्वनदेवताः ।
तस्य क्रुद्धस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा ।
दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः ॥ ३५ ॥

तेजोयुक्त श्रीरामचन्द्र जी को देख, वनदेवता भाग खड़े हुए। उस समय क्रुद्ध हुए श्रीरामचन्द्र जी का रूप ऐसा जान पड़ता था, जैसा कि दक्षयज्ञ को विध्वंस करने को उद्यत शिव जी का रूप हो गया था ॥ ३५ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि स्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयार्तानि प्रदुद्रुवुः ॥ ३६ ॥

तेज से आविष्ट श्रीरामचन्द्र जी को युद्धार्थ खड़ा देख, सब लोग डर कर इधर उधर भाग गये ॥ ३६ ॥

तत्कार्मुकैराभरणैर्ध्वजैश्च
तैर्वर्मभिश्चाग्निसमानवर्णैः ।
बभूव सैन्यं पिशिताशनानां
सूर्योदये नीलमिवाभ्रवृन्दम् ॥ ३७ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

जिस प्रकार नीले बादल सूर्योदय काल में शोभित होते हैं उसी प्रकार राक्षससेना भी, अग्नि समान चमकते हुए कवच, धनुष, आभरण और ध्वजाओं से युक्त हो कर, शोभित हुई ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—✻—

पञ्चविंशः सर्गः

—※—

अवष्टब्धधनुं रामं क्रुद्धं च रिपुघातिनम् ।
ददर्शाश्रममागम्य खरः सह पुरःसरैः ॥ १ ॥

अपने साथियों सहित खर ने श्रीरामाश्रम में जा, श्रीरामचन्द्र जी को क्रुद्ध हो, हाथ में धनुष लिये और शत्रुओं का वध करने के लिये उद्यत देखा ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा सशरं चापमुद्यम्य खरनिःस्वनम् ।
रामस्याभिमुखं सूतं चोद्यतामित्यचोदयत् ॥ २ ॥

यह देख, उसने बाण सहित धनुष उठा, सारथी से उच्चस्वर से कहा कि, श्रीरामचन्द्र के सामने रथ ले चलो ॥ २ ॥

स खरस्याज्ञया सूतस्तुरगान्समचोदयत् ।
यत्र रामो महाबाहुरेको धुन्वन्स्थितो धनुः ॥ ३ ॥

खर की आज्ञा के अनुसार सारथी ने घोड़े हाँके और वह रथ वहाँ ले गया, जहाँ पर महाबाहु श्रीराम धनुष को टंकोरते हुए अकेले खड़े थे ॥ ३ ॥

तं तु निष्पतितं दृष्ट्वा सर्वे ते रजनीचराः ।
नर्दमाना महानादं सचिवाः पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

खर को श्रीरामचन्द्र जी के सामने जाते देख, उसके समस्त राक्षस सैनिक और सचिव गर्जते गर्जते खर के पास जा, उसे घेर कर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स तेषां यातुधानानां मध्ये रथगतः खरः ।
बभूव मध्ये ताराणां लोहिताङ्ग इवोदितः ॥ ५ ॥

तब रथ पर चढ़ा हुआ खर, राक्षसों के बीच ऐसा देख पड़ता था, जैसा कि, तारों के बीच में मङ्गल का तारा देख पड़ता है ॥५॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा[1] महानादं ननाद समरे खरः ॥ ६ ॥

खर ने एक हज़ार बाणों से श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित कर, बड़े ज़ोर से गर्जना की ॥ ६ ॥

ततस्तं भीमधन्वानं क्रुद्धाः सर्वे निशाचराः ।
रामं नानाविधैः शस्त्रैरभ्यवर्षन्त दुर्जयम् ॥ ७ ॥

तब तो सब राक्षस क्रुद्ध हो, महा-धनुर्धर एवं दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर तरह तरह के शस्त्रों की वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः ।
राक्षसाः समरे रामं निजघ्नू रोषतत्पराः ॥ ८ ॥

रोष में भरे राक्षस लोग उस युद्ध में, श्रीरामचन्द्र को मुद्गर, पटा, शूल, भाला, तलवार और फरसे से मारने लगे ॥ ८ ॥

ते बलाहकसङ्काशा[2] महानादा महौजसः ।
अभ्यधावन्त काकुत्स्थं रथैर्वाजिभिरेव च ॥ ९ ॥
गजैः पर्वतकूटाभै रामं युद्धे जिघांसवः ।
ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन्रक्षसां गणाः ॥ १० ॥

अर्दयित्वा—पीडयित्वा । (गो०) २ बलाहकसङ्काशाः—मेघतुल्याः । (गो०)

वे सब राक्षस जो बड़े बलवान और मेघ के समान गर्जने वाले थे, रथों, घोड़ों और पर्वत समान हाथियों को दौड़ा कर, श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिये उन पर बाणों की वर्षा कर, आक्रमण करने लगे ॥ ९ ॥ १० ॥

शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा: बलाहका: ।
स तैः परिवृतो घोरै राघवो रक्षसां गणैः ॥ ११ ॥

जैसे मेघ, पर्वतों पर जल की वर्षा करते हैं, वैसे ही राक्षसों ने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर बाणों की वर्षा की। उस समय उन भयङ्कर राक्षसों ने श्रीरामचन्द्र जी को घेर लिया ॥ ११ ॥

तानि मुक्तानि शस्त्राणि यातुधानैः स राघवः ।
प्रतिजग्राह[1] विशिखैर्नद्योघानिव[2] सागरः ॥ १२ ॥

राक्षसों के चलाये हुए शस्त्रों को श्रीरामचन्द्र जी ने उसी प्रकार अपने बाणों से रोका, जिस प्रकार समुद्र नदियों की धारों को रोकता है ॥ १२ ॥

स तैः प्रहरणैर्घोरैर्भिन्नगात्रो न विव्यथे ।
रामः प्रदीप्तैर्बहुभिर्वज्रैरिव महाचलः ॥ १३ ॥

उनके चलाये शस्त्रों के प्रहार से घायल हो कर भी श्रीरामचन्द्र जी वैसे ही व्यथित न हुए, जैसे जाज्वल्यमान बहुत से वज्रों के गिरने से हिमालय पर्वत व्यथित नहीं होता ॥ १३ ॥

स विद्धः क्षतजैर्दिग्धः[3] सर्वगात्रेषु राघवः ।
बभूव रामः सन्ध्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः ॥ १४ ॥

---

१ प्रतिजग्राह — प्रतिरुरोध। (गो०) नद्योघान् — नदीप्रवाहान्। (गो०)
३ क्षतजदिग्धः — रुधिरालिप्तः। (गो०)

उस समय श्रीरामचन्द्र के समस्त अंगों के घायल हो जाने के कारण उनसे रुधिर के बहने से वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे सन्ध्या काल में मेघों से घिरा हुआ सूर्य जान पड़ता है ॥ १४ ॥

विषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
एकं सहस्रैर्बहुभिः[1]तदा दृष्ट्वा समावृतम् ॥ १५ ॥

अकेले श्रीरामचन्द्र जी को चौदह हज़ार राक्षसों से घिरा देख, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि गण दुखी हुए ॥ १५ ॥

ततो रामः सुसंक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ।
ससर्ज विशिखान्बाणाञ्शतशोथ सहस्रशः ॥ १६ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, अपने धनुष को मण्डलाकार कर, सैकड़ों हज़ारों पैने बाण छोड़े ॥ १६ ॥

दुरावारान्दुर्विषहान्[2]कालदण्डोपमान्रणे ।
मुमोच लीलया रामः कङ्कपत्रानजिह्मगान्[3] ॥ १७ ॥

रणक्षेत्र में ये बाण कालदण्ड की तरह न तो किसी के रोके रुक ही सकते थे और न उनकी मार कोई सह ही सकता था। श्रीरामचन्द्र जी ने अनायास (अर्थात् खेल ही खेल में) सुवर्ण भूषित और कङ्क-पत्र से युक्त तथा अपनी सीध पर जाने वाले हज़ारों बाण छोड़े ॥ १७ ॥

ते शराः शत्रुसैन्येषु मुक्ता रामेण लीलया ।
आददू रक्षसां प्राणान्[4]पाशाः कालकृता इव ॥ १८ ॥

---

१ बहुभिः सहस्रैः—चतुर्दश सहस्रैः । (गो०) २ दुर्विषहान्—दुःसहान् । (गो०) ३ अजिह्मगान्—अवक्रगामिनः । (गो०) ४ प्राणानददुः—अमारयन्नित्यर्थः । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के अनायास चलाये बाणों ने, कालपाश की तरह, राक्षसों के प्राण हरण किये ॥ १८ ॥

भित्त्वा राक्षसदेहांस्तांस्ते शरा रुधिराप्लुताः ।
अन्तरिक्षगता रेजुर्दीप्ताग्निसमतेजसः ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चलाये बाण राक्षसों के शरीर को भेद और खून से तर हो, आकाश में जा, जाज्वल्यमान् अग्नि की तरह शोभायमान हुए ॥ १९ ॥

असंख्येयास्तु रामस्य सायकाश्चापमण्डलात् ।
विनिष्पेतुरतीवोग्रा रक्षःप्राणापहारिणः ॥ २० ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के धनुषमण्डल से अगणित बाण, जो अति उग्र थे और राक्षसों के लिये प्राणनाशक थे, छूट रहे थे ॥ २० ॥

ते रथो साङ्गदान्बाहून्सहस्ताभरणान्भुजान् ।*
धनूंषि च ध्वजाग्राणि वर्माणि† च शिरांसि च ॥ २१ ॥

राक्षसों के बाजूबन्द सहित बाहुओं और हाथ में पहिनने योग्य गहनों सहित भुजाओं, धनुषों, ध्वजाओं के अग्र भागों, कवचों और शिरों को श्रीरामचन्द्र के बाणों ने काट गिराया ॥ २१ ॥

चिच्छिदुर्बिभिदुश्चापि रामचापगुणाच्युता ।
बाहून्सहस्ताभरणानूरून्करिकरोपमान् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष के रोदे से छूटे हुए बाणों ने राक्षसों के हाथ में पहनने योग्य आभूषणों सहित बाहुओं और हाथी की तरह जंघाओं को छिन्न भिन्न कर डाला ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—"चर्माणि"।

† २१ वें श्लोक का यह पाठ कई संस्करणों में नहीं पाया जाता ।

चिच्छेद रामः समरे शतशोथ सहस्रशः ।
हयान्काञ्चनसन्नाहान्रथयुक्तान्ससारथीन् ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इस युद्ध में सैकड़ों हज़ारों काञ्चन भूषित रथों में जुते हुए घोड़ों को सारथी सहित काट कर गिरा दिया ॥ २३ ॥

गजांश्च सगजारोहान्सहयान्सादिनस्तथा[1] ।
पदातीन्समरे हत्वा ह्यनयद्यमसादनम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने हाथियों को उनके सवारों सहित तथा घोड़ों को घुड़सवारों सहित और पैदल सैनिकों को मार कर, यमालय भेज दिया ॥ २४ ॥

ततो नालीक[2]नाराचै[3]स्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः[4] ।
भीमवार्तस्वरं चक्रुर्भिद्यमाना निशाचराः ॥ २५ ॥

नालीक, नाराच (लोहे के बाण) और पैनी नोक के विकर्णि (कान के आकार की नोंक वाले) नाम के बाणों से जब राक्षस मारे जाते, तब वे घायल हो, बड़ा भयङ्कर आर्तनाद करते थे ॥ २५ ॥

तत्सैन्यं निशितैर्बाणैरर्दितं मर्मभेदिभिः ।
रामेण न सुखं[5] लेभे शुष्कं वनमिवाग्निना ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मर्मभेदी पैने बाणों से मर्दित, वह राक्षस सेना किसी प्रकार अपनी रक्षा न कर सकी । जैसे सूखा जंगल आग लगने पर आग से अपनी रक्षा नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

---

१ सादिन—अश्वारोहान् । (गो०) २ नालीकः—नालमात्रशराः । (गो०) ३ नाराचाः—आयसशराः । (गो०) ४ विकर्णिनः—कर्णशराः । (गो०) सुखं—दुःख निवृत्तिं । (गो०)

केचिद्भीमबलाः शूराः शूलान्खड्गान्परश्वधान्।
रामस्याभिमुखं गत्वा चिक्षिपुः परमायुधान्[1] ॥ २७ ॥

राक्षससेना के किसी किसी बलवान शूर योद्धा ने, श्रीरामचन्द्र जी के सामने जा, उन पर अपने बड़े बड़े आयुध—यथा त्रिशूल, तलवारें और फरसे चलाये ॥ २७ ॥

तानि बाणैर्महाबाहुः शस्त्राण्यावार्य राघवः।
जहार समरे प्राणांश्चिच्छेद च शिरोधरान् ॥ २८ ॥

परन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने अपने बाणों से केवल उनके चलाये शस्त्रों को ही नहीं काट कर गिराया, प्रत्युत उन उन चलाने वालों के सिरों को काट कर उनको मार भी डाला ॥ २८ ॥

ते च्छिन्नशिरसः पेतुश्छिन्नवर्मशरासनाः।
सुपर्णवातविक्षिप्ता जगत्यां पादपा यथा ॥ २९ ॥

वे राक्षस सिरों के कट जाने से, कटे हुए कवचों और धनुषों को लिये हुए ऐसे गिरे, जैसे गरुड़ जी के पंखों की हवा के झोंकों से वृक्ष उखड़ कर, ज़मीन पर गिर पड़ते हैं ॥ २९ ॥

अवशिष्टाश्च ये तत्र विषण्णा[2]श्च निशाचराः।
खरमेवाभ्यधावन्त शरणार्थं[3] शरार्दिताः ॥ ३० ॥

जो राक्षस मारे जाने से बच गये थे वे बाणों की मार से पीड़ित रक्षा के लिये खर की ओर दौड़े ॥ ३० ॥

तान्सर्वान्पुनरादाय समाश्वास्य च दूषणः।
अभ्यधावत काकुत्स्थं क्रुद्धो रुद्रमिवान्तकः[4] ॥ ३१ ॥

---

१ परमायुधानिति शूलादि विशेषणं। (गो०) २ विषण्णाः—दुःखिता। (गो०) ३ शरणार्थं—रक्षणार्थं। (गो०) ५ रुद्रमिवान्तकः—रुद्रपराजितोयमः। (गो०)

दूषण ने उन सब को धीरज बँधाया और उनको अपने साथ ले, वह रुद्र से पराजित क्रुद्ध यमराज की तरह, श्रीरामचन्द्र जी की ओर दौड़ा ॥ ३१ ॥

निवृत्तास्तु पुनः सर्वे दूषणाश्रयनिर्भयाः ।
राममेवाभ्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥ ३२ ॥

दूषण का सहारा पा कर वे सब भागे हुए राक्षस निर्भीक हो और साल, ताल (वृक्ष विशेष) एवं शिला रूपी आयुधों को ले, फिर श्रीरामचन्द्र जी के सामने गये ॥ ३२ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च चापहस्ता महाबलाः ।
सृजन्तः शरवर्षाणि शस्त्रवर्षाणि संयुगे[1] ॥ ३३ ॥

वे महाबली राक्षस हाथों में त्रिशूलों, मुगदरों और धनुषों को ले, श्रीराचन्द्र जी के ऊपर युद्धक्षेत्र में बाणों और शस्त्रों की वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

द्रुमवर्षाणि मुञ्चन्तः शिलावर्षाणि राक्षसाः ।
तद्बभूवाद्भुतं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥

राक्षसों ने वृक्षों और शिलाओं की श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर वर्षा की। उस समय अपूर्व, भयङ्कर, और रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ ॥ ३४ ॥

रामस्य च महाघोरं पुनस्तेषां च रक्षसाम् ।
ते समन्तादभिक्रुद्धा राघवं पुनरभ्ययुः ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्र और राक्षसों का फिर बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। राक्षसों ने क्रोध में भर चारों ओर से श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

---

१ संयुगे—संग्रामे । (शि०)

तैश्च सर्वा दिशो दृष्ट्वा प्रदिशश्च समावृताः ।
राक्षसैरुद्यतप्रासैः शरवर्षाभिवर्षिभिः ॥ ३६ ॥
स कृत्वा भैरवं नादमस्त्रं परमभास्वरम् ।
संयोजयत गान्धर्वं राक्षसेषु महाबलः ॥ ३७ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, सब दिशाएँ और विदिशाएँ राक्षसों से भरी हुई हैं और राक्षस मेरे ऊपर चारों ओर से, प्रास और बाणों की वर्षा करने को उद्यत हैं, तब उन्होंने बड़ा भयङ्कर नाद कर, प्रज्वलित गान्धर्वास्त्र को राक्षसों पर छोड़ने के लिये धनुष पर रखा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

ततः शरसहस्राणि निर्ययुश्चापमण्डलात्[1] ।
सर्वा दश दिशो बाणैरावार्यन्त समागतैः ॥ ३८ ॥

उस समय उस गन्धर्वास्त्र से हज़ारों बाण निकले, जिनसे दसों दिशाएँ ढक गयीं ॥ ३८ ॥

नाददानं शरान्घोरान्न मुञ्चन्त शिलीमुखान् ।
विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः ॥ ३९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ऐसी फुर्ती से बाण छोड़ रहे थे कि बाणों से पीड़ित राक्षसों को यह न मालूम पड़ता था कि, श्रीरामचन्द्र जी कब भयङ्कर पैने बाणों को तरकस से निकालते और कब छोड़ते थे ॥ ३९ ॥

शरान्धकारमाकाशमावृणोत्सदिवाकरम् ।
बभूवावस्थितो रामः प्रवमन्निव ताञ्शरान् ॥ ४० ॥

---

१ चापमण्डलात्—संहितगान्धर्वस्त्रात् । (गो०)

उन बाणों ने आकाश को ढक लिया और सूर्य के ढक जाने से अंधकार छा गया। किन्तु तिस पर भी श्रीरामचन्द्र जी धीर भाव से खड़े हुए उन पर बाणों की वर्षा करते ही रहे ॥ ४० ॥

युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् ।
युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाभवत् ॥ ४१ ॥

उन बाणों से कितने ही राक्षस एक साथ गिर पड़ते, कितने ही अत्यन्त आहत (घायल) होते और बहुत से एक साथ ही मूर्छित हो गिर पड़ते थे। उनके शरीरों से (रणभूमि) ढक गयी ॥४१॥

निहताः[1] पतिताः[2] क्षीणा[3]श्छिन्ना[4] भिन्ना[5] विदारिताः[6] ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते राक्षसास्ते सहस्रशः ॥ ४२ ॥

उस रणाङ्गण में जिधर देखो उधर ही हज़ारों राक्षस ऐसे पड़े हुए देख पड़ते थे; जो युद्ध में मारे गये थे ; जो भयभीत हो भूमि पर गिर पड़े थे ; जिनके प्राण कण्ठ में अटके हुए थे ; जिनके शरीर के दो टुकड़े हो गये थे ; जिनके शरीर के कट कर टुकड़े कटुड़े हो गये थे और जिनके पेट फटे हुए थे ॥ ४२ ॥

सोष्णीषैरुत्तमाङ्गैश्च साङ्गदैर्बाहुभिस्तथा ।
ऊरुभिर्जानुभिश्छिन्नैर्नानारूपविभूषणैः ॥ ४३ ॥

कहीं पर राक्षसों के पगड़ी सहित कटे सिर, कहीं पर उनकी बाजूबन्द सहित कटी बाँहें, कहीं पर उनके कटे हुए ऊरू; कहीं पर उनकी कटी हुई जाँघें और कहीं पर उनके तरह तरह के गहने पड़े हुए थे ॥ ४३ ॥

---

१ निहताः—केवलं प्रहताः । (गो०) २ पतिताः—अशनिपातइवभयेन भूमौपतिताः । (गो०) ३ क्षीणाः—कण्ठगतप्राणाः । (गो०) छिन्नाः—द्विधाकृताः । (गो०) ५ भिन्ना—खण्डितावयवाः । (गो०) ६ विदारिताः—नृसिंहेन हिरण्यवद्नाभिकण्ठमुद्भिन्नशरीराः । (गो०)

हयैश्च द्विपमुख्यैश्च रथैर्भिन्नैरनेकशः ।
चामरैर्व्यजनैश्छत्रैर्ध्वजैर्नानाविधैरपि ॥ ४४ ॥

उस रणक्षेत्र में, अनेक मरे हुए घोड़े, हाथी, तथा अनेक टूटे हुए रथ और तरह तरह के छत्र, चंवर, पंखा तथा ध्वजाएँ टूटी फूटी पड़ी हुई थीं ॥ ४४ ॥

रामस्य बाणाभिहतैर्विचित्रैः शूलपट्टिशैः ।
खड्गैः खण्डीकृतैः प्रासैर्विकीर्णैश्च परश्वधैः ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कटे हुए त्रिशूल, पटा, और तलवारें, भाले, फरसे आदि शस्त्र रणभूमि में बिखरे हुए थे ॥ ४५ ॥

चूर्णिताभिः शिलाभिश्च शरैश्चित्रैरनेकशः ।
विच्छिन्नैः समरे भूमिर्विकीर्णाभूद्भयङ्करा ॥ ४६ ॥

तथा टूटी शिलाओं और अनेक कटे हुए शरों के इधर उधर रणक्षेत्र में पड़े रहने से, वहाँ की भूमि बड़ी भयानक देख पड़ती थी ॥ ४६ ॥

तान्दृष्ट्वा निहतान्संख्ये राक्षसान्परमातुरान् ।
न तत्र सहितुं शक्ता रामं परपुरञ्जयम् ॥ ४७ ॥

इति पञ्चविंशः शर्गः ॥

इस प्रकार बहुत से आतुर राक्षसों को युद्ध में मरा हुआ देख, जो राक्षस जीते बच गये थे, वे शत्रुओं को जीतनेवाले श्रीरामचन्द्र जी के प्रहार को न सह सके । अर्थात् भाग खड़े हुए ॥ ४७ ॥

अरण्यकाण्ड का बाईसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

षड्विंशः सर्गः

—:*:—

दूषणस्तु स्वकं सैन्यं हन्यमानं निरीक्ष्य सः ।
सन्दिदेश महाबाहुर्भीमवेगान्दुरासदान् ॥ १ ॥
राक्षसान्पञ्च साहस्रान्समरेष्वनिवर्तिनः ।
ते शूलैः पट्टिशैः खड्गैः शिलावर्षैर्द्रुमैरपि ॥ २ ॥

महाबाहु दूषण ने जब देखा कि, उसकी सेना मारी जाती है, तब उसने भयङ्कर आक्रमणकारी, दुर्धर्ष और रणक्षेत्र में कभी पीठ न दिखाने वाले पांच हज़ार राक्षसों को युद्ध करने की आज्ञा दी। दूषण को आज्ञा पा कर, वे सैनिक राक्षस शूलों, पटों, खड्गों, शिलाओं और वृक्षों की वर्षा करने लगे ॥ १ ॥ २ ॥

शरवर्षैरविच्छिन्नं ववृषुस्तं समन्ततः ।
स द्रुमाणां शिलानां च वर्षं प्राणहरं महत् ॥ ३ ॥

इनके अतिरिक्त उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर अविच्छिन्न रूप से और चारों ओर से बाणों की वृष्टि भी की। वृक्षों और शिलाओं की वह महावृष्टि प्राणों की हरने वाली थी ॥ ३ ॥

प्रतिजग्राह[1] धर्मात्मा राघवस्तीक्ष्णसायकैः ।
प्रतिगृह्य च तद्वर्षं निमीलित इवर्षभः ॥ ४ ॥

---

१ प्रतिजग्राह—प्रतिरुरोध । (गो०)

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने अपने पैने बाणों से उस वृष्टि को रोका। जैसे बैल आंख बन्द कर वर्षा को सहता है (अर्थात् जिस प्रकार बैल वृष्टि की कुछ भी परवाह नहीं करता) वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी ने उस वृष्टि की कुछ भी परवाह न की ॥ ४ ॥

रामः क्रोधं परं भेजे वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।
ततः क्रोधसमाविष्टः प्रदीप्त इव तेजसा ॥ ५ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और सब राक्षसों के मारने का दृढ़ निश्चय किया। उस समय क्रोध और तेज से प्रकाशमान हो उन्होंने ॥ ५ ॥

शरैरवाकिरत्सैन्यं सर्वतः सहदूषणम् ॥
ततः सेनापतिः क्रुद्धो दूषणः शत्रुदूषणः ॥ ६ ॥

दूषण और उसकी सेना के ऊपर तीरों की वर्षा की। फिर शत्रुदूषण सेनापति दूषण क्रुद्ध हो कर, ॥ ६ ॥

शरैरशनिकल्पैस्तं राघवं समवाकिरत् ।
ततो रामः सुसंक्रुद्धः क्षुरेणास्य महद्धनुः ॥ ७ ॥

वज्र तुल्य बाणों से श्रीरामचन्द्र के ऊपर वृष्टि करने लगा। तब श्रीरामचन्द्र जी ने क्रुद्ध हो छुरे की धार के समान पैने बाणों से दूषण का बड़ा धनुष ॥ ७ ॥

चिच्छेद समरे वीरश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
हत्वा चाश्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैरर्धचन्द्रेण सारथेः ॥ ८ ॥
शिरो जहार तद्रक्षस्त्रिभिर्विव्याध वक्षसि ।
स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ॥ ९ ॥

काट कर, और चार बाण चला, उसके रथ के चारों घोड़ों को मार डाला। फिर घोड़ों को मार, एक अर्धचन्द्राकार बाण से दूषण के सारथी का सिर काट गिराया, और तीन बाण दूषण की छाती में मारे। तब दूषण ने, जिसका धनुष काटा जा चुका था, और घोड़ों के और सारथी के मारे जाने के कारण, जो रथहीन हो गया था ॥ ८ ॥ ९ ॥

जग्राह गिरिशृङ्गाभं परिघं रोमहर्षणम् ।
वेष्टितं काञ्चनैः पट्टैर्देवसैन्यप्रमर्दनम् ॥ १० ॥

गिरिशृङ्ग के तुल्य, रोमाञ्चकारी एक परिघ को उठाया। यह परिघ, सुवर्ण से मढ़ा हुआ था और देवताओं की सेना को मर्दन करने वाला था ॥ १० ॥

आयसैः शङ्कुभिस्तीक्ष्णैः कीर्णं परवसोक्षितम्[1] ।
वज्राशनिसमस्पर्शं परगोपुरदारणम् ॥ ११ ॥

उसमें लोहे की पैनी नुकीली कीलें जड़ी थीं और वह शत्रुओं की चर्बी में सना हुआ था। वह वज्र के समान कठोर था और वह शत्रु के नगर के फाटक को तोड़ने वाला था ॥ ११ ॥

तं महोरगसङ्काशं प्रगृह्य परिघं रणे ।
दूषणोऽभ्यद्रवद्रामं क्रूरकर्मा निशाचरः ॥ १२ ॥

महासर्प के समान उस परिघ को उठा, युद्ध क्षेत्र में, क्रूरकर्मा दूषण राक्षस, श्रीरामचन्द्र के ऊपर दौड़ा ॥ १२ ॥

तस्याभिपतमानस्य दूषणस्य स राघवः ।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद सहस्ताभरणौ भुजौ ॥ १३ ॥

---

१ परवसोक्षितम्—शत्रुमेदः सिक्तं। (गो०)

तब उसको अपनी ओर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथों सहित उसकी दोनों भुजाएँ, जो भूषणों से भूषित थीं दो बाण मार कर, काट डालीं ॥ १३ ॥

भ्रष्टः[1]तस्य[2] महाकायः[3] पपात रणमूर्धनि ।
परिघच्छिन्नहस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः ॥ १४ ॥

भुजाओं के कटने से उसका वह बृहदाकार परिघ भी इन्द्रध्वजा की तरह रणक्षेत्र में गिर पड़ा ॥ १४ ॥

स कराभ्यां विकीर्णाभ्यां पपात भुवि दूषणः ।
विषाणाभ्यां विशीर्णाभ्यां मनस्वीव[4] महागजः ॥ १५ ॥

हाथों के कटने से दूषण ज़मीन पर उसी प्रकार गिरा, जिस प्रकार, दांतों के टूट जाने पर धीर गजराज गिरता है ॥ १५ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे ।
साधु साध्विति काकुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन्[5] ॥ १६ ॥

दूषण को युद्ध में मरा और ज़मीन पर पड़ा देख, सब लोगों ने (दर्शक लोग) साधु साधु कह कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा की ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धास्त्रयः सेनाग्रयायिनः ।
संहत्याभ्यद्रवन्रामं मृत्युपाशावपाशिताः ॥ १७ ॥

---

१ भ्रष्टः—हस्ताच्च्युतः । (गो०) २ तस्य—दूषणस्य । (गो०) ३ महाकायः—महाप्रमाणः । (गो०) ४ मनस्वी—धीरः । (गो०) ५ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०)

इसी बीच में एकत्र हो, खर के तीन सेनाग्रगण्य (सेनापति) मृत्यु के वशवर्ती होने के कारण, क्रोध में भर, श्रीरामचन्द्र जी का सामना करने गये ॥ १७ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महाबलः ।
महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः ॥ १८ ॥

उन महाबलवान राक्षस सेना-पातियों के नाम महाकपाल, स्थूलाक्ष, और प्रमाथी थे। इनमें से महाकपाल एक बड़ा त्रिशूल उठा ॥ १८ ॥

स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्य प्रमाथी च परश्वधम् ।
दृष्ट्वैवापततस्तूर्णं राघवः सायकैः शितैः ॥ १९ ॥
तीक्ष्णाग्रैः प्रतिजग्राह संप्राप्तानतिथीनिव ।
महाकपालस्य शिरश्चिच्छेद परमेषुभिः ॥ २० ॥

और स्थूलाक्ष पटा ले कर तथा प्रमाथी फरसा ले कर, श्रीरामचन्द्र जी की ओर चले। इन तीनों के चलाये हुए शस्त्रों को अपने ऊपर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने पैने बाणों से इन तीनों का वैसा ही स्वागत किया; जैसा कि, आये हुए पाहुने का किया जाता है। श्रीरामचन्द्र जी ने एक पैने बाण से महाकपाल का सिर काट डाला ॥ १९ ॥ २० ॥

असंख्येयैस्तु बाणौघैः प्रममाथ[1] प्रमाथिनम् ।
स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः ॥ २१ ॥

तदनन्तर अगणित बाणों से प्रमाथी का सिर चूर चूर कर दिया। वह कटे हुए महावृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥२१॥

---

१ प्रममाथः—चूर्णीचकारेत्यर्थः। (गो०)

स्थूलाक्षस्याक्षिणी तीक्ष्णैः पूरयामास सायकैः ।
दूषणस्यानुगान्पञ्चसाहस्रान्कुपितः क्षणात् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पैने पैने बाणों से स्थूलाक्ष की आंखें भर दीं, क्षण भर में श्रीरामचन्द्र जी ने दूषण के पांच हज़ार ॥ २२ ॥

बाणौघैः पञ्चसाहस्रैरनयद्यमसादनम् ।
दूषणं निहतं दृष्ट्वा तस्य चैव पदानुगान् ॥ २३ ॥

अनुयायी राक्षस सैनिकों को क्रोध में भर, पांच हज़ार बाण चला, यमालय को भेज दिया । दूषण और उसकी पैदल सेना को मरा हुआ देख, ॥ २३ ॥

व्यादिदेश खरः क्रुद्धः सेनाध्यक्षान्महाबलान् ।
अयं विनिहतः संख्ये दूषणः सपदानुगः ॥ २४ ॥

खर ने क्रोध में भर अन्य महाबलवान् सेनापतियों को यह आज्ञा दी कि, यह दूषण तो अपने पैदल सैनिकों सहित युद्ध में मारा गया ॥ २४ ॥

महत्या सेनया सार्धं युध्वा रामं कुमानुषम् ।
शस्त्रैर्नानाविधाकारैर्हनध्वं सर्वराक्षसाः ॥ २५ ॥

अब तुम सब लोग मिल कर और अपनी महती सेना को साथ ले, विविध प्रकार के शस्त्रों से मनुष्याधम राम को मार डालो ॥२५॥

एवमुक्त्वा खरः क्रुद्धो राममेवाभिदुद्रुवे ।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहङ्गमः ॥ २६ ॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।
मेघमाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥ २७ ॥

द्वादशैते महावीर्या बलाध्यक्षाः ससैनिकाः ।
राममेवाभ्यवर्तन्त विसृजन्तः शरोत्तमान् ॥ २८ ॥

यह कह कर और क्रोध में भर स्वयं ही खर ने श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया। श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहङ्गम, दुर्जय, करवीराक्ष, पुरुष, कालकार्मुक, मेघमाली, माहमाली, सर्पास्य और रुधिराशन नाम के १२ महाबली सेनाध्यक्षों ने अपनी अधीनस्थ सेनाओं को साथ ले, बड़े पैने पैने बाण चला कर, श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

ततः पावकसङ्काशैर्हेमवज्रविभूषितैः ।
जघान शेषं तेजस्वी तस्य सैन्यस्य सायकैः ॥ २९ ॥

तब तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी अग्नि तुल्य तथा सुवर्ण और हीरों से भूषित बाणों से उस बची हुई सेना का नाश करने लगे ॥ २९ ॥

ते रुक्मपुङ्खा विशिखाः सधूमा इव पावकाः ।
निजघ्नुस्तानि रक्षांसि वज्रा इव महाद्रुमान् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार वज्र के आघात से बड़े बड़े वृक्ष गिर जाते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने अपने सुवर्ण पुङ्ख वाले सधूम अग्नि के समान बाणों से, राक्षसों को मार कर, गिराना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

रक्षसां तु शतं रामः शतेनैकेन कर्णिना[1] ।
सहस्रं च सहस्रेण जघान रणमूर्धनि ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में एक सौ (कान के आकार के) बाण चला कर, एक सहस्र राक्षसों का एक एक बार में संहार किया ॥ ३१ ॥

---

१ कर्णिना—कर्णाकार शरीरेण । (गो०)

तैर्भिन्नवर्माभरणाश्छिन्नभिन्नशरासनाः ।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां रजनीचराः ॥ ३२ ॥

उनके बाणों से राक्षसों के कवच, आभूषण और धनुष टूट कर गिर पड़े। वे राक्षस स्वयं भी खून से तरबतर हो और मर कर ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ३२ ॥

तैर्मुक्तकेशैः समरे पतितैः शोणितोक्षितैः ।
आस्तीर्णा वसुधा कृत्स्ना महावेदिः कुशैरिव ॥ ३३ ॥

खून में सने और समरभूमि में मर कर गिरे हुए राक्षसों के खुले हुए बालों से, वह समस्त रणभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानों यज्ञ की वेदी पर कुश बिछे हों ॥ ३३ ॥

क्षणेन तु महाघोरं वनं निहतराक्षसम् ।
बभूव निरयप्रख्यं[1] मांसशोणितकर्दमम् ॥ ३४ ॥

बात की बात में उन राक्षसों के मारे जाने से वहाँ महाघोर वन, मरे हुए राक्षसों के मांस और रक्त की कीचड़ से नरक के समान हो गया ॥ ३४ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण मानुषेण पदातिना ॥ ३५ ॥

मनुष्य श्रीरामचन्द्र ने अकेले और पैदल ही चौदह हज़ार भयङ्कर कर्म करने वाले राक्षसों को मार डाला ॥ ३५ ॥

तस्य सैन्यस्य सर्वस्य खरः शेषो महारथः ।
राक्षसस्त्रिशिराश्चैव रामश्च रिपुसूदनः ॥ ३६ ॥

---

१ निरयप्रख्यं—नरकतुल्यं । (गो०)

इस राम-राक्षस-युद्ध में अब केवल तीन जन अर्थात् शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्र, महारथी खर और त्रिशिरा राक्षस बच रहे ॥ ३६ ॥

शेषा हता महासत्त्वा राक्षसा रणमूर्धनि ।
घोरा दुर्विषहाः सर्वे लक्ष्मणस्याग्रजेन ते ॥ ३७ ॥

इनके अतिरिक्त जो राक्षस थे उन सब को महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने मार डाला था । वे राक्षस बड़े भयङ्कर और दुर्धर्ष थे ॥ ३७ ॥

ततस्तु तद्भीमबलं महाहवे
समीक्ष्य रामेण हतं बलीयसा ।
रथेन रामं महता खरस्तदा
समाससादेन्द्र इवोद्यताशनिः ॥ ३८ ॥

इति षड्विंशः सर्ग ॥

उस महासंग्राम में भयङ्कर एवं बलवान् समस्त राक्षसों को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा मरा हुआ देख, खर एक बड़े रथ पर सवार हो, वज्र उठाये इन्द्र की तरह, श्रीराम के सामने हुआ ॥ ३८ ॥

अरण्यकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तविंशः सर्गः

—:※:—

खरं तु रामाभिमुखं प्रयान्तं वाहिनीपतिः[1] ।
राक्षसस्त्रिशिरा नाम सन्निपत्येदमब्रवीत्[2] ॥ १ ॥

---

१ वाहिनीपतिः—सेनापतिः । (गो०) २ सन्निपत्य—समीपमागत्येत्यर्थः । (गो०)

खर को श्रीरामचन्द्र के सामने जाते देख, त्रिशिरा नाम के सेनापति ने, खर के समीप जा कर, यह बात कही ॥ १ ॥

मां नियोजय विक्रान्त सन्निवर्तस्व साहसात् ।
पश्य रामं महाबाहुं संयुगे विनिपातितम् ॥ २ ॥

हे स्वामिन्! आप इस समय रामचन्द्र जी के सामने जाने का साहस न कीजिये और (अपने बदले) मुझ पराक्रमी को राम से लड़ने के लिये नियुक्त कीजिये। देखिये, मैं इस महाबाहु रामचन्द्र को युद्ध में मार कर, अभी गिराये देता हूँ ॥ २ ॥

प्रतिजानामि ते सत्यमायुधं चाहमालभे[1] ।
यथा रामं वधिष्यामि वधार्हं सर्वरक्षसाम् ॥ ३ ॥

मैं हथियार छू कर, आपके सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं इस रामचन्द्र को, जो समस्त राक्षसों के मारने योग्य है, अवश्य मारूँगा ॥ ३ ॥

अहं वाऽस्य रणे मृत्युरेष वा समरे मम ।
विनिवृत्य रणोत्साहान्मुहूर्तं प्राश्निको[2] भव ॥ ४ ॥

चाहे तो मैं इसको मारूँ अथवा यह मुझे मार डाले। आप स्वयं युद्ध में प्रवृत्त न हो कर, मुहूर्त्त भर मध्यस्थ बन कर, दोनों ओर का युद्ध देखिये ॥ ४ ॥

*प्रहृष्टो[3] वा हते रामे जनस्थानं प्रयास्यसि ।
मयि वा निहते रामं संयुगायो[4]पयास्यसि ॥ ५ ॥

---

१ आलभे—स्पृशामि। (गो०) २ प्राश्निकः—जयापजयनिर्णायकः। (गो०)
३ प्रहृष्टे—गर्विष्टे। (गो०) ४ संयुगाय—युद्धं कर्तुं। (गो०)
* पाठान्तरे—"प्रहृष्टे"

यदि राम मारा जाय, तो आप गर्व सहित जनस्थान को चले जाइयेगा और यदि कहीं मैं ही मारा जाऊँ, तो आप उससे युद्ध करने को उसके सामने जाना ॥ ५ ॥

खरस्त्रिशिरसा तेन मृत्युलोभात्प्रसादितः ।
गच्छ युध्येत्यनुज्ञातो राघवाभिमुखो ययौ ॥ ६ ॥

जब उस (श्रीरामचन्द्र) की मृत्यु का लालच दिखा, त्रिशिरा ने खर को प्रसन्न किया, तब खर ने उससे कहा कि, अच्छा जाओ और लड़ो। यह आज्ञा पा कर, त्रिशिरा श्रीरामचन्द्र जी के सन्मुख गया ॥ ६ ॥

त्रिशिराश्च रथेनैव वाजियुक्तेन भास्वता ।
अभ्यद्रवद्रणे रामं त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ७ ॥

वह तीन सिरों वाला (त्रिशिरा) घोड़ों के देदीप्यमान् रथ पर सवार हो, युद्ध करने को श्रीरामचन्द्र जी के सामने गया—मानों तीन शिखर वाला पर्वत जाता हो ॥ ७ ॥

शरधारासमूहान्स महामेघ इवोत्सृजन् ।
व्यसृजत्सदृशं नादं जलार्द्रस्य तु दुन्दुभेः ॥ ८ ॥

वह त्रिशिरा महामेघ की तरह, बाणों की वर्षा करने लगा और ऐसे गर्जा मानों जल से भींगा नगाड़ा बज रहा हो ॥ ८ ॥

आगच्छन्तं त्रिशिरसं राक्षसं प्रेक्ष्य राघवः ।
धनुषा प्रतिजग्राह विधून्वन्[1]सायकाञ्शितान् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने त्रिशिरा को आते देख और धनुष ले, उस पर तीखे बाण छोड़े ॥ ९ ॥

---

१ विधून्वन्—मुञ्चन् । (गो०)

स संप्रहार[1]स्तुमुलो रामत्रिशिरसोर्महान् ।
बभूवातीव बलिनोः सिंहकुञ्जरयोरिव ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र और त्रिशिरा का बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ; मानों अति बलवान् सिंह और गजेन्द्र का युद्ध हो ॥ १० ॥

ततस्त्रिशिरसा बाणैर्ललाटे ताडितास्त्रिभिः ।
अमर्षी[3] कुपितो रामः संरब्ध[2]मिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

त्रिशिरा ने तीन बाण श्रीरामचन्द्र जी के ललाट में मारे। तब ऋषियों के कष्टों को न सहने वाले श्रीरामचन्द्र ने क्रोध में भर त्रिशिरा को झिड़क कर कहा ॥ ११ ॥

अहो विक्रमशूरस्य राक्षसस्येदृशं बलम् ।
पुष्पैरिव शरैर्यस्य ललाटेऽस्मि परिक्षतः[4] ॥ १२ ॥

अरे विक्रमी शूर राक्षस! क्या तुझमें इतना ही बल है कि, तेरे मारे हुए बाण मेरे ललाट में फूलों की तरह जान पड़े ॥ १२ ॥

ममापि प्रतिगृह्णीष्व शरांश्चापगुणच्युतान् ।
एवमुक्त्वा तु संरब्धः शरानाशीविषोपमान् ॥ १३ ॥

अच्छा अब तू मेरे धनुष के रोदे से छूटे हुए बाणों को रोक सकता हो तो रोक। यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने कुपित हो, सर्पों की तरह ॥ १३ ॥

त्रिशिरोवक्षसि क्रुद्धो निजघान चतुर्दश ।
चतुर्भिस्तुरगानस्य शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ १४ ॥

---

१ संप्रहारो—युद्धं । (गो०) २ संरब्धम्—सकोपं । (गो०) ३ अमर्षी—ऋष्यपराधासहनशीलः । (शि०) ४ परिक्षतो—हतोस्मि । (शि०)

चौदह बाण त्रिशिरा की छाती में मारे और चार पैने पैने बाण उसके रथ के चारों घोड़ों के मार ॥ १४ ॥

न्यपातयत तेजस्वी चतुरस्तस्य वाजिनः ।
अष्टभिः सायकैः सूतं रथोपस्थान्न्यपातयत् ॥ १५ ॥

तेजस्वी श्रीरामचन्द्र ने त्रिशिरा के चारों घोड़े मार कर गिरा दिये, फिर आठ बाण मार कर त्रिशिरा के सारथी को मार, रथ पर गिरा दिया ॥ १५ ॥

रामश्चिच्छेद बाणेन ध्वजं चास्य समुच्छ्रितम् ।
ततो हतरथा[1]त्तस्मादुत्पन्तं निशाचरम् ॥ १६ ॥
बिभेद रामस्तं बाणैर्हृदये सोऽभवज्जडः[2] ।
सायकैश्चाप्रमेयात्मा सामर्षस्तस्य रक्षसः ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उसके रथ की ऊँची ध्वजा भी एक बाण से काट दी। तब घोड़ों और सारथी से रहित उस रथ से त्रिशिरा को कूदते देख, अप्रमेयात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर, उसकी छाती को मारे बाणों के विदीर्ण कर डाला। तब त्रिशिरा निश्चेष्ट हो गया ॥ १६ ॥ १७ ॥

शिरांस्यपातयद्रामो वेगवद्भिस्त्रिभिः शितैः ।
स भूमौ रुधिरोद्गारी रामबाणाभिपीडितः ॥ १८ ॥
न्यपतत्पतितैः पूर्वं स्वशिरोभिर्निशाचरः ।
हतशेषास्ततो भग्ना राक्षसाः खरसंश्रयाः[3] ।
द्रवन्ति स्म न तिष्ठन्ति व्याघ्रत्रस्ता मृगा इव ॥ १९ ॥

---

१ हतरथात्—हतहयसारथिकरथात्। (गो०) २ जड़ः—निश्चेष्टः। (गो०) ३ खरसंश्रयाः—खरसेनकाः। (गो०) * पाठान्तरे—"रथोपस्थेन्यपातयत्।"

तब श्रीरामचन्द्र जी ने तुरन्त तीन बाण मार उसके तीनों सिर काट कर गिरा दिये। वह त्रिशिरा, श्रीराम के बाणों से पीड़ित हो, भूमि पर रुधिर गिराता हुआ, अपने मस्तकों के साथ रणभूमि में गिर पड़ा। उसको मरा देख, बचे हुए खर के सेवक राक्षस हतोत्साह हो, रणभूमि में खड़े न रह कर, वैसे ही भाग गये, जैसे व्याघ्र से भयभीत हो, मृग भागते हैं॥ १८ ॥ १९ ॥

तान्खरो द्रवतो दृष्ट्वा निवर्त्य रुषितः स्वयम्।
राममेवाभिदुद्राव राहुश्चन्द्रमसं यथा॥ २०॥

इति सप्तविंशः सर्गः॥

उनको भागते देख, खर ने रोष में भर उनको लौटाया और स्वयं श्रीरामचन्द्र जी की ओर वैसे ही दौड़ा, जैसे राहु, चन्द्रमा के ऊपर दौड़ता है॥ २०॥

अरण्यकाण्ड का सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टाविंशः सर्गः

—※—

निहतं दूषणं दृष्ट्वा रणे त्रिशिरसा सह।
खरस्याप्यभवत्त्रासो दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम्॥ १॥

त्रिशिरा सहित दूषण को मरा हुआ देख, खर भी श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम से डर गया॥ १॥

स दृष्ट्वा राक्षसं सैन्यमविषह्यं महाबलः।
हतमेकेन रामेण त्रिशिरोदूषणावपि॥ २॥

वह सोचने लगा कि, अकेले श्रीराम ने अति बलवती राक्षसों की सेना त्रिशिरा और दूषण सहित मार डाली ॥ २ ॥

तद्बलं[1] हतभूयिष्ठं[2] विमनाः प्रेक्ष्य राक्षसः ।
आससाद खरो रामं नमुचिर्वासवं यथा ॥ ३ ॥

उस सेना को तथा चुने चुने वीर राक्षसों को मरा हुआ देख, खर उदास हुआ और श्रीरामचन्द्र के ऊपर वैसे ही झपटा, जैसे इन्द्र के ऊपर नमुचि दैत्य झपटा था ॥ ३ ॥

विकृष्य बलवच्चापं[3] नाराचान्रक्तभोजनान् ।
खरश्चिक्षेप रामाय क्रुद्धानाशीविषानिव ॥ ४ ॥

खर ने बड़े ज़ोर से धनुष को खींच, श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर क्रुद्ध सर्प के विष के समान रुधिर पान करने वाले बाण छोड़े ॥४॥

ज्यां विधून्वन्सुबहुशः शिक्षयाऽस्त्राणि दर्शयन् ।
चकार समरे मार्गाञ्शरै रथगतः खरः ॥ ५ ॥

धनुष के रोदे को बार बार झटकारता और अपनी अस्त्रविद्या का परिचय देता हुआ और तरह तरह के बाण छोड़ता हुआ रथ पर सवार खर, रणभूमि में घूमने लगा ॥ ५ ॥

स सर्वाश्च दिशो बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।
पूरयामास तं दृष्ट्वा रामोऽपि सुमहद्धनुः ॥ ६ ॥

उस महारथी को बाणों से समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ पूरित करते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने भी बड़ा धनुष हाथ में लिया ॥ ६ ॥

---

१ बलं—सैन्यं । (गो०) २ हतभूयिष्ठं—हतप्रवरराक्षसं । (गो०)
३ बलवत्—अत्यन्तं । (गो०)

स सायकैर्दुर्विषहैः सस्फुलिङ्गैरिवाग्निभिः ।
नभश्चकाराविवरं पर्जन्य इव वृष्टिभिः ॥ ७ ॥

और आग के अंगारों की तरह न सहने योग्य तीरों से आकाश को छा दिया। मानों मेघ बरस रहा हो ॥ ७ ॥

तद्बभूव शितैर्बाणैः खररामविसर्जितैः ।
पर्याकाशमनाकाशं सर्वतः शरसङ्कुलम् ॥ ८ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र और खर के छोड़े हुए बाणों से सारा आकाश भरा हुआ था ॥ ८ ॥

शरजालावृतः सूर्यो न तदा स्म प्रकाशते ।
अन्योन्यवधसंरम्भादुभयोः संप्रयुध्यतोः ॥ ९ ॥

एक दूसरे को मार डालने की इच्छा से युद्ध करते हुए दोनों के शरजाल से सूर्य ढक गये थे और सूर्य का प्रकाश नहीं देख पड़ता था ॥ ९ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
आजघान खरो रामं तोत्रैः[1]रिव महाद्विपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर महावत जिस प्रकार महागज के अंकुश मारता है, उसी प्रकार खर ने पैने नालीक, नाराच और विकीर्ण नामक बाण श्रीरामचन्द्र जी के मारे ॥ १० ॥

तं रथस्थं धनुष्पाणिं राक्षसं पर्यवस्थितम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

---

१ तोत्रैः—गजशिक्षणयष्टिभिः। (गो०)

उस समय हाथ में धनुष लिये और रथ पर सवार खर, सब प्राणियों को ऐसा देख पड़ता था, मानों पाश को हाथ में लिये काल घूमता हो ॥ ११ ॥

हन्तारं सर्वसैन्यस्य पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
परिश्रान्तं महासत्त्वं मेने रामं खरस्तदा ॥ १२ ॥

अपनी समस्त सेना का विनाश करने वाले पुरुषार्थी, श्रीरामचन्द्र जी को, जो उस समय कुछ कुछ श्रान्त हो गये थे, खर ने बड़ा बलवान् समझा अथवा पुरुषार्थी बलवान् श्रीराम को श्रान्त समझा ॥ १२ ॥

तं सिंहमिव विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
दृष्ट्वा नोद्विजते रामः सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ १३ ॥

सिंह तुल्य पराक्रमी और सिंह सदृश व्यवहार करने वाले श्रीरामचन्द्र खर को देख, उसी प्रकार कुछ भी न घबड़ाये, जिस प्रकार सिंह एक क्षुद्र हिरन को देख नहीं घबड़ाता ॥ १३ ॥

ततः सूर्यनिकाशेन रथेन महता खरः ।
आससाद रणे रामं पतङ्ग इव पावकम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर खर, सूर्य समान द्युतिमान रथ पर सवार हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास वैसे ही पहुँचा जैसे पतंगे अग्नि के समीप जाते हैं ॥ १४ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुष्टिदेशे महात्मनः ।
खरश्चिच्छेद रामस्य दर्शयन्पाणिलाघवम् ॥ १५ ॥

खर ने जाते ही, अपने हाथ की सफाई दिखाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी के धनुष को उस जगह से काट डाला जहाँ पर वे उसे पकड़े हुए थे ॥ १५ ॥

स पुनस्त्वपरान्सप्त शरानादाय मर्मणि[1] ।
निजघान खरः क्रुद्धः शक्राशनिसमप्रभान् ॥ १६ ॥

फिर खर ने क्रोध में भर और वज्र समान सात बाणों को चला, श्रीरामचन्द्र जी का कवच विदीर्ण कर डाला ॥ १६ ॥

ततस्तत्प्रहतं बाणैः खरमुक्तैः सुपर्वभिः ।
पपात कवचं भूमौ रामस्यादित्यवर्चसः ॥ १७ ॥

खर के चलाये बाणों से श्रीरामचन्द्र जी का सूर्य के समान चमकीला कवच टूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ १७ ॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम्[2] ।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥ १८ ॥

फिर अगणित बाणों से अनुपम पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित कर, रणभूमि में खर ने महानाद किया ॥ १८ ॥

स शरैरर्पितः क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवः ।
रराज समरे रामो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १९ ॥

उस समय खर के बाणों से सम्पूर्ण अंगों के बिध जाने से क्रुद्ध श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी शोभा जान पड़ी, जैसी धूम रहित अग्नि की ॥ १९ ॥

ततो गम्भीरनिर्ह्रादं रामः शत्रुनिबर्हणः ।
चकारान्ताय स रिपोः सज्यमन्यन्महद्धनुः ॥ २० ॥

---

१ मर्मणि निजघान—अवदारयति स्म । (गो०) २ अप्रतिमौजसम्—अनुपम पराक्रमंरामं । (शि०)

तदनन्तर शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने, शत्रुओं का नाश करने के लिये गंभीर शब्द करने वाले बड़े धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥ २० ॥

सुमहद्वैष्णवं यत्तदति[1]सृष्टं[2] महर्षिणा ।
वरं तद्धनुरुद्यम्य खरं समभिधावत ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, महर्षि अगस्त्य जी के दिये हुए प्रसिद्ध वैष्णव धनुषश्रेष्ठ को उठा कर, खर की ओर झपटे ॥ २१ ॥

ततः कनकपुङ्खैस्तु शरैः सन्नतपर्वभिः[3] ।
बिभेद रामः संक्रुद्धः खरस्य समरे ध्वजम् ॥ २२ ॥

युद्ध में क्रुद्ध हो श्रीरामचन्द्र जी ने सुवर्ण के पुंख लगे हुए और सीधी गांठो वाले तीरों से खर के रथ की ध्वजा काट डाली ॥ २२ ॥

स दर्शनीयो बहुधा विकीर्णः काञ्चनध्वजः ।
जगाम धरणीं सूर्यो देवतानामिवाज्ञया[4] ॥ २३ ॥

उस समय खर के रथ की, वह देखने योग्य सुवर्ण निर्मित ध्वजा, ज़मीन पर गिर कर, वैसे ही सुशोभित हुई, जैसे देवताओं के शाप से भूमि पर गिरे हुए सूर्य की शोभा हुई थी ॥ २३ ॥

तं चतुर्भिः खरः क्रुद्धो रामं गात्रेषु मार्गणैः ।
विव्याध युधि मर्मज्ञो मातङ्गमिव तोमरैः ॥ २४ ॥

तब मर्मस्थलों को जानने वाले खर ने क्रुद्ध हो कर, चार बाणों से श्रीरामचन्द्र जी के हृदय तथा अन्य मर्मस्थलों को वैसे ही वेध डाला, जैसे भाले से हाथी वेधा जाता है ॥ २४ ॥

---

१ यत्तदिति—प्रसिद्ध्यतिशयवाची । (गो०) २ अतिसृष्टं—दत्तं । (गो०)
३ सन्नतपर्वभिः—ऋजुपर्वभिः । (गो०) ४ आज्ञया—शापेन । (गो०)

स रामो बहुभिर्बाणैः खरकार्मुकनिःसृतैः ।
विद्धो रुधिरसिक्ताङ्गो बभूव रुषितो भृशम् ॥ २५ ॥

खर के धनुष से छूटे हुए बहुत से बाणों के लगने से श्रीरामचन्द्र जी घायल हो गये और खून से सराबोर हो गये । अतः वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ २५ ॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः प्रगृह्य परमाहवे ।
मुमोच परमेष्वासः षट् शरानभिलक्षितान्[1] ॥ २६ ॥

धनुषधारियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने एक बढ़िया धनुष ले, खर का निशाना बांध, उसके ऊपर छः बाण छोड़े ॥ २६ ॥

शिरस्येकेन बाणेन द्वाभ्यां बाह्वोरथार्दयत् ।
त्रिभिश्चन्द्रार्धवक्त्रैश्च[2] वक्षस्यभिजघान ह ॥ २७ ॥

इनमें से एक बाण से खर का माथा, दो से उसकी दोनों भुजाएँ घायल कीं और तीन अर्धचन्द्राकार मुख वाले बाण उसकी छाती में मारे ॥ २७ ॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान्भास्करोपमान् ।
जिघांसू राक्षसं क्रुद्धस्त्रयोदश समाददे ॥ २८ ॥

इसके बाद महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने क्रुद्ध हो सूर्य के समान चमकते हुए १३ नाराच (बाण विशेष) ले, खर को मारने की इच्छा से उस पर छोड़े ॥ २८ ॥

---

१ अभिलक्षितान्—लक्ष्योद्देश्यत्वेन बोधितान् । (शि०) २ चन्द्रार्धवक्त्रैः—अर्धचन्द्राकारमुखैः । (गो०)

ततोऽस्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
षष्ठेन तु शिरः संख्ये खरस्य रथसारथेः ॥ २९ ॥

एक से रथ के जुए को, चार से चरों घोड़ों को और छठवें से खर के रथ के सारथी के सिर को छेद डाला ॥ २९ ॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं बलवान्द्वाभ्यामक्षं महाबलः ।
द्वादशेन तु बाणेन खरस्य सशरं धनुः ॥ ३० ॥
छित्त्वा वज्रनिकाशेन राघवः प्रहसन्निव[1] ।
त्रयोदशेनेन्द्रसमो बिभेद समरे खरम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने तीन बाणों से रथ के तीनों बांसों को, दो से रथ की धुरी को, और बारहवें बाण से खर के बाण सहित धनुष को काट डाला। फिर खेल ही खेल में (अनायास) वज्र समान तेरहवां बाण, इन्द्र समान श्रीरामचन्द्र जी ने खर के मारा ॥३०॥३१॥

प्रभग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
गदापाणिरवप्लुत्य तस्थौ भूमौ खरस्तदा ॥ ३२ ॥

धनुष और रथ के टूट जाने से, घोड़ों और सारथि के मारे जाने से, खर रथहीन होने के कारण, हाथ में गदा ले, रथ से कूदा और रणभूमि पर खड़ा हो गया ॥ ३२ ॥

तत्कर्म रामस्य महारथस्य
समेत्य[2] देवाश्च महर्षयश्च ।

---

१ प्रहसन्निव—लीलयेत्यर्थः । (गो०) २ समेत्य—समूहीभूय । (गो०)

अपूजयन्प्राञ्जलयः प्रहृष्टा-
स्तदा विमानाग्रगताः समेताः[2] ॥ ३३ ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

उस समय महारथी श्रीरामचन्द्र जी के इस (अद्भुत) कर्म को देख, देवता और महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुए और एकत्र हो तथा विमानों पर चढ़, वहाँ (जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे) आये और हाथ जोड़, श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति की ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—※—

खरं तु विरथं रामो गदापाणिमवस्थितम् ।
मृदुपूर्वं[3] महातेजाः परुषं[4] वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

रथहीन खर को हाथ में गदा लिये हुए देख, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने उससे न्यायोचित और मर्मस्पर्शी वचन कहे ॥ १ ॥

गजाश्वरथसंबाधे बले महति तिष्ठता[5] ।
कृतं सुदारुणं कर्म सर्वलोकजुगुप्सितम् ॥ २ ॥

हे वीर ! अनेक हाथियों, घोड़ों, रथों, और बहुत सी सेना का अधिपति हो, तूने सर्वलोकनिन्दित घोर पाप कर्म किये हैं ॥ २ ॥

---

१ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०) २ समेताः—आगताः । (गो०) ३ मृदुपूर्वं—न्यायावलम्बनेनोक्तं । (गो०) ४ परुषं—मर्मोद्घाटनरूपत्वात् । (गो०) ५ तिष्ठता—अधिपतित्वेन तिष्ठतेत्यर्थः । (गो०)

उद्वेजनीयो[1] भूतानां नृशंसः[2] पापकर्मकृत् ।
त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोपि न तिष्ठति[3] ॥ ३ ॥

(कदाचित् इन पापकर्मों को करते समय तुझे यह नहीं मालूम था कि,) प्राणियों को दुःख देने वाला घातक (अत्याचारी) और पापकर्म करने वाला पुरुष, भले ही वह त्रिलोकीनाथ ही क्यों न हो–(अधिक दिनों) नहीं जी सकता । (फिर तुझ जैसे तुच्छ जीव की तो बिसांत ही क्या है) ॥ ३ ॥

कर्म लोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर[4] ।
तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्पं दुष्टमिवागतम् ॥ ४ ॥

हे रजनीचर ! लोकविरुद्ध कर्म करने वाले, अत्याचारी को सब लोग वैसे ही मारते हैं, जैसे आये हुए दुष्ट सर्प को ॥ ४ ॥

लोभा[5]त्पापानि कुर्वाणः कामाद्वा[6] यो न बुध्यते[7] ।
भ्रष्टः[8]पश्यति[9]तस्यान्तं[10]ब्राह्मणी[11]करकादिव[12]॥५॥

जो मनुष्य लालचवश अथवा अपूर्व लाभ की इच्छा से काम कर के नहीं पछताता, उसे उस कर्म का फल, ऐश्वर्य से भ्रष्ट होना वैसे ही अनुभव करना पड़ता है, जैसे बमनी जाति का जन्तु वृष्टि के ओलों को खा कर, उसका परिणाम स्वरूप मृत्यु का अनुभव करता है ॥५॥

---

१ उद्वेजनीयः—उद्वेजकः । २नृशंसो—घातकः ।(गो०) ३ न तिष्ठति — न जीवेत् । (गो०) ४ क्षणदाचर—रजनीचर । (शि०) ५ लोभात्—लब्धस्यत्यागासहिष्णुतया । (गो०) ६ कामात्—अपूर्वलाभेच्छया । (गो०) ७ नबुध्यते – नपश्चातापं करोति । (रा०) ८ भ्रष्टः - ऐश्वर्याद्भ्रष्टः । (गो०) ९अन्तं – फलं । (गो०) १० पश्यति—अनुभवति । (गो०) ११ करकाः – वर्षोपलाः । (गो०) १२ ब्राह्मणी—रक्त पुच्छिका । (गो०)

वसतो दण्डकारण्ये तापसान्धर्मचारिणः ।
किंनु हत्वा महाभागान्फलं प्राप्स्यसि राक्षस ॥ ६ ॥

हे राक्षस ! इस दण्डकवन में बसने वाले धर्माचरण में रत महाभाग तपस्वियों को (निरपराध) मारने से, तुझे इसका फल भोगना होगा, क्या तू यह नहीं जानता था ॥ ६ ॥

न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोकजुगुप्सिताः ।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार गली हुई जड़ के वृक्ष बहुत दिनों तक नहीं खड़े रह सकते अर्थात् गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार पापी, क्रूर और लोकनिन्दित जन ऐश्वर्य पा कर भी बहुत दिनों तक नहीं जीवित रह सकते ॥ ७ ॥

अवश्यं लभते जन्तुः फलं पापस्य कर्मणः ।
घोरं पर्यागते काले द्रुमाः पुष्पमिवार्तवम् ॥ ८ ॥

जिस प्रकार समय पा कर, पेड़ फूलते हैं, उसी प्रकार समय प्राप्त होने पर जीवों को उनके किये पाप कर्मों का घोर फल अवश्य मिलता है । अर्थात् समय पर पाप का फल अवश्य प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

न चिरात्प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम् ।
सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर ॥ ९ ॥

हे निशाचर ! जिस प्रकार विषमिश्रित अन्न खाने से शीघ्र ही आदमी मर जाता है, उसी प्रकार पापी को किये हुए पापों का फल प्राप्त होने में विलंब नहीं होता । अर्थात् शीघ्र मिलता है ॥ ९ ॥

पापमाचरतां घोरं लोकस्याप्रियमिच्छताम् ।
अहमासादितो राज्ञा[1] प्राणान्हन्तुं निशाचर ॥ १० ॥

---

[1] राज्ञा—दशरथेननियुक्त । (रा०)

हे निशाचर! तू लोकों का अहित चाहने वाला होने के कारण महापापी है। अतः महाराज दशरथ का भेजा हुआ मैं तेरे प्राणों का नाश करने को यहाँ आया हूँ ॥ १० ॥

अद्य हि त्वां मया मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः ।
विदार्य निपतिष्यन्ति[1] वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ११ ॥

आज ये सुवर्ण भूषित मेरे छोड़े हुए बाण तेरे शरीर को चीर कर वैसे ही घुसेंगे, जैसे सर्प अपनी बांबी में घुसता है ॥ ११ ॥

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता धर्मचारिणः ।
तानद्य निहतः संख्ये ससैन्योऽनुगमिष्यसि ॥ १२ ॥

जिन धर्मचारी ऋषि मुनियों को तूने इस दण्डकारण्य में आकर खाया है, आज युद्ध में सेना सहित मर कर, तू भी उनके पीछे जायगा ॥ १२ ॥

अद्य त्वां विहतं बाणैः पश्यन्तु परमर्षयः ।
निरयस्थं विमानस्था ये त्वया हिंसिताः पुरा ॥ १३ ॥

पहिले जिन तपस्वियों को तूने मारा है, आज वे विमान में लौट कर, तुझको मेरे बाणों से मरा और नरक में जाता हुआ देखें ॥ १३ ॥

प्रहर त्वं यथाकामं कुरु यत्नं कुलाधम ।
अद्य ते पातयिष्यामि शिरस्तालफलं यथा ॥ १४ ॥

अरे कुलाधम! मेरे मरने के लिये तुझे जो उपाय करना हो सो कर ले और यथेष्ट प्रहार भी कर ले। अन्त में तो मैं, अवश्य ही ताल के फल की तरह तेरा सिर काट कर, गिरा ही दूँगा ॥ १४ ॥

---

[1] निपतिष्यन्ति—प्रवेक्ष्यन्ति। (गो०)

एवमुक्तस्तु रामेण क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।
प्रत्युवाच खरो रामं प्रहसन्क्रोधमूर्छितः ॥ १५ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब खर क्रुद्ध हो और लाल लाल आँखें निकाल तथा (तिरस्कार सूचक) हँसी हँस कर, श्रीराम से बोला ॥ १५ ॥

प्राकृतान्[1] राक्षसान्हत्वा युद्धे दशरथात्मज ।
आत्मना[2] कथयात्मानमप्रशस्यं प्रशंससि ॥ १६ ॥

हे दशरथ के पुत्र! क्षुद्र (अर्थात् साधारण) राक्षसों को मार कर, प्रशंसा योग्य न होने पर भी, तू अपने मुँह अपनी प्रशंसा कर रहा है ॥ १६ ॥

विक्रान्ता बलवन्तो वा ये भवन्ति नरर्षभाः ।
कथयन्ति न ते किञ्चित्तेजसा[3] स्वेन गर्विताः ॥ १७ ॥

जो श्रेष्ठ पुरुष पराक्रमी और बलवान होते हैं, वे अपने प्रताप का गर्व कर, कभी अपना बखान नहीं करते ॥ १७ ॥

प्राकृतास्त्वकृतात्मानो लोके[4] क्षत्रियपांसनाः ।
निरर्थकं विकत्थन्ते यथा राम विकत्थसे ॥ १८ ॥

हे श्रीराम ! जो क्षुद्र, कल्मष चित्त वाले और क्षत्रियाधम हैं, वे ही तेरी तरह व्यर्थ बकवाद किया करते हैं ॥ १८ ॥

कुलं व्यपदिशन्वीरः समरे कोऽभिधास्यति ।
मृत्युकाले हि सम्प्राप्ते स्वयमप्रस्तवे[5] स्तवम् ॥ १९ ॥

---

१ प्राकृताः—क्षुद्राः । (गो०) २ आत्मना—स्वयमेव । (गो०) ३ तेजसा—प्रतापेन । (गो०) ४ अकृतात्मानः—कल्मषचित्ताः । (रा०) ५ अप्रस्तवे—अनवसरे । (गो०)

रणभूमि में, जहाँ मृत्यु होना कोई अनहोनी बात नहीं, वहाँ पर कौन ऐसा शूर है, जो अपने कुल का बखान कर, ऐसे अनवसर में अपनी बड़ाई अपने आप करेगा ॥ १९ ॥

सर्वथैव लघुत्वं ते कत्थनेन विदर्शितम् ।
सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना[1] ॥ २० ॥

अतएव तूने अपना बखान कर, सब प्रकार से अपना ओछापन वैसे ही दिखलाया है, जैसे अग्नि में तपाने पर बनावटी सोना अपना बनावटीपन प्रकट कर देता है ॥ २० ॥

न तु मामिह तिष्ठन्तं पश्यसि त्वं गदाधरम् ।
धराधरमिवाकम्प्यं पर्वतं धातुभूषितम् ॥ २१ ॥

हे श्रीराम ! क्या तू यह नहीं देखता कि, मैं गदा लिये लड़ने के लिये उद्यत, यहाँ पर विविध धातुओं से शोभित पर्वत की तरह, अचल अटल खड़ा हुआ हूँ ॥ २१ ॥

पर्याप्तोऽहं गदापाणिर्हन्तुं प्राणान्रणे तव ।
त्रयाणामपि लोकानां पाशहस्त इवान्तकः ॥ २२ ॥

मैं इस अपने हाथ की गदा से पाशधारी यमराज की तरह युद्ध में केवल तेरा ही नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों का संहार कर सकता हूँ ॥ २२ ॥

कामं बह्वपि वक्तव्यं त्वयि वक्ष्यामि न त्वहम् ।
अस्तं गच्छेद्धि सविता युद्धविघ्नस्ततो भवेत् ॥ २३ ॥

---

१ कुशाग्निना—स्वर्णोद्दिशोधनाग्निना । (रा०) यद्वा दर्भमाश्रितेनाग्निना । (गो०)

तेरी इस आत्मश्लाघा के उत्तर में यद्यपि मैं बहुत कुछ कह सकता हूँ, तथापि मैं तुझसे अब और कुछ कहना नहीं चाहता—क्योंकि (कहने सुनने में व्यर्थ समय निकला जाता है और) यदि सूर्यास्त हो गया तो युद्ध में विघ्न पड़ेगा ॥ २३ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां हतानि ते ।
त्वद्विनाशात्करोम्येष तेषामास्रप्रमार्जनम् ॥ २४ ॥

तूने जो चौदह हज़ार राक्षसों को मारा है, सो अब मैं तुझे मार कर, उनकी विधवा स्त्रियों और अनाथ बच्चों के आँसू पोछूँगा ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धस्तां गदां परमाङ्गदः[1] ।
खरश्चिक्षेप रामाय प्रदीप्तामशनिं यथा ॥ २५ ॥

यह कह कर, खर ने अत्यन्त कुपित हो, सुवर्ण के बंदों से बँधी हुई, इन्द्र के वज्र के समान, देदीप्यमान गदा, श्रीराम के ऊपर फेंकी ॥ २५ ॥

खरबाहुप्रमुक्ता सा प्रदीप्ता महती गदा ।
भस्म वृक्षांश्च गुल्मांश्च कृत्वागात्तत्समीपतः ॥ २६ ॥

खर की फेंकी हुई वह चमचमाती बड़ी भारी गदा, अगल बगल के वृक्षों और लता गुल्मों को भस्म करती हुई, श्रीरामचन्द्र जी के पास आ पहुँची ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं ज्वलितां मृत्युपाशोपमां गदाम् ।
अन्तरिक्षगतां रामश्चिच्छेद बहुधा शरैः ॥ २७ ॥

---

१ परमाङ्गदः—कनकवलयानि यस्यास्तांप्रसिद्धांहस्तस्थागिदां । (रा०)

तब श्रीरामचन्द्र जी ने उस चमचमाती और मृत्युपाश के समान गदा के, आकाश ही में मारे बाणों के टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ २७ ॥

सा विकीर्णा शरैर्भग्ना पपात धरणीतले ।
गदा मन्त्रौषधबलैर्व्यालीव विनिपातिता ॥ २८ ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

बाणों से चूर चूर हो कर, वह पृथिवी पर वैसे ही गिर पड़ी, जैसे मंत्र और औषधि के प्रभाव से नागिन गिर पड़ती है ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

त्रिंशः सर्गः

—:※:—

भित्त्वा तु तां गदां बाणै राघवो धर्मवत्सलः ।
स्मयमानः[1] खरं वाक्यं संरब्ध[2]मिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी उस गदा को बाणों से नष्ट कर, उपहास करते हुए उस घबड़ाये हुए खर से यह बोले ॥ १ ॥

[नोट—"धर्मवत्सल" विशेषण श्रीरामचन्द्र जी के लिये इस लिये यहाँ दिया गया है कि, श्रीरामचन्द्र जी "निरायुध" शत्रु का वध करना धर्मविरुद्ध समझते हैं ।]

एतत्ते बलसर्वस्वं दर्शितं राक्षसाधम ।
शक्तिहीनतरो मत्तो वृथा त्वमवगर्जसि ॥ २ ॥

१ स्मयमानः—परिहसन्नित्यर्थः । (गो०) संरब्धं—भ्रान्तमितिखरविशेषणं, "संरम्भः सम्भ्रमे कोपे" इत्यमरः । (गो०)

हे राक्षसाधम ! (क्या) तेरा सब बल इतना ही था, जो तूने अभी दिखलाया। (किन्तु आश्चर्य है कि,) मुझसे बल में न्यून होने पर भी, मतवाले की तरह तू वृथा ही डींग मारता है ॥ २ ॥

एषा बाणविनिर्भिन्ना गदा भूमितलं गता ।
अभिधान[1]प्रगल्भस्य[2] तव प्रत्यरिघातिनी[3] ॥ ३ ॥

बढ़ बढ़ कर बातें मारने वाले, तुझ ढीठ की, शत्रुनाशिनी यह गदा, मेरे बाणों से चूर हो , पृथिवी पर पड़ी है ॥ ३ ॥

यत्त्वयोक्तं विनष्टानामहमास्रप्रमार्जनम् ।
राक्षसानां करोमीति मिथ्या तदपि ते वचः ॥ ४ ॥

तूने जो कहा था कि, "मैं मरे हुए राक्षसों की विधवाओं और अनाथ बच्चों के आंसू पोंछूँगा" सो तेरी वह बात भी झूठी हो गयी ॥ ४ ॥

नीचस्य क्षुद्रशीलस्य मिथ्यावृत्तस्य रक्षसः ।
प्राणानपहरिष्यामि गरुत्मानमृतं यथा ॥ ५ ॥

जिस प्रकार गरुड़ जी ने अमृत को हरा था, उसी प्रकार मैं भी नीच, ओछे स्वभाव वाले, झूठा व्यवहार करने वाले, तुझ राक्षस के प्राण (अभी) हरता हूँ ॥ ५ ॥

अद्य ते च्छिन्नकण्ठस्य फेनबुद्बुदभूषितम् ।
विदारितस्य मद्बाणैर्मही पास्यति शोणितम् ॥ ६ ॥

मेरे बाणों से विदारित हो, जब तेरा सिर कट जायगा, तब तेरे गले के झाग सहित रक्त को पृथिवी आज पान करेगी ॥ ६ ॥

---

१ अभिधाने—वचसि । (गो०) २ प्रगल्भस्य—धृष्टस्य । (गो०) ३ प्रत्यरिघातिनी—अरीनरीन् प्रतिघातिनी गदा । (गो०)

पांसुरूषितसर्वाङ्गः स्रस्तन्यस्तभुजद्वयः ।
स्वप्स्यसे गां समालिङ्ग्य दुर्लभां प्रमदामिव ॥ ७ ॥

अभी तू धूल धूसरित हो और अपनी दोनों भुजाओं को फैला कर, भूमि को वैसे ही आलिङ्गन किये हुए सोवेगा, जैसे कोई कामी पुरुष किसी दुर्लभ स्त्री को आलिङ्गन कर के सोता है ॥ ७ ॥

प्रवृद्धनिद्रे[1] शयिते त्वयि राक्षसपांसने ।
भविष्यन्त्यशरण्यानां[2] शरण्या[3] दण्डका इमे ॥ ८ ॥

अरे राक्षसाधम ! जब तू दीर्घ निद्रा में सो जायगा, (अर्थात् मर जायेगा) तब अरक्षित ऋषियों के लिये यह दण्डकवन, सुख से रहने योग्य स्थान हो जायगा ॥ ८ ॥

जनस्थाने हतस्थाने[4] तव राक्षस मच्छरैः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति सर्वतो मुनयो वने ॥ ९ ॥

जब मेरे बाणों से यह जनस्थान राक्षसशून्य हो जायगा, तब मुनि लोग इस वन में निर्भय हो, सर्वत्र आ जा सकेंगे ॥ ९ ॥

अद्य विप्रसरिष्यन्ति राक्षस्यो हतबान्धवाः ।
बाष्पार्द्रवदना दीना भयादन्यभयावहाः ॥ १० ॥

दूसरों को भयभीत करने वाली राक्षसियां, अपने सम्बन्धियों के मारे जाने के कारण, दीनभाव से रोती हुई और भयभीत हो, आज यहाँ से भाग जांयगी ॥ १० ॥

---

१ प्रवृद्धनिद्रे—दीर्घनिद्रे । (गो०) २ अशरण्यानां—ऋष्यादीनामरक्षितानां । (गो०) ३ शरण्याः—सुखावासभूताः (गो०) ४ हतं निवृत्तं । स्थानं—राक्षसस्थितिर्यस्मात् । (शि०)

अद्य शोकरसज्ञास्ता भविष्यन्ति निरर्थकाः ।
अनुरूपकुलाः पत्न्यो यासां त्वं पतिरीदृशः ॥ ११ ॥

जिन राक्षसियों के तुम जैसे दुराचारी पति हैं, वे अपने कुल के अनुरूप दुराचारिणी राक्षसियाँ, आज शोकरस का आस्वादन कर, हीनवीर्य हो जायँगी । अर्थात् अब वे उपद्रव न करेंगी ॥ ११ ॥

नृशंस नीच क्षुद्रात्मन्नित्यं ब्राह्मणकण्टक ।
यत्कृते शङ्कितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः ॥ १२ ॥

रे निष्ठुर ! रे नीच ! रे क्षुद्र बुद्धि वाले ! अरे ब्राह्मणों को सदा सताने वाले ! तुम जैसे लोगों के डर ही से मुनि लोग निःशङ्क हो हवन नहीं करने पाते ॥ १२ ॥

तमेवमभिसंरब्धं[1] ब्रुवाणं राघवं रणे ।
खरो निर्भर्त्सयामास रोषात्खरतरस्वनः ॥ १३ ॥

जब कुपित हो श्रीरामचन्द्र जी ने खर से ऐसे वचन कहे ; तब खर भी क्रोध में भर, उच्चस्वर से श्रीरामचन्द्र जी को दुर्वादिक कहता हुआ बोला ॥ १३ ॥

दृढं[2] खल्ववलिप्तोसि[3] भयेष्वपि च निर्भयः ।
वाच्यावाच्यं ततो हि त्वं मृत्युवश्यो न बुध्यसे ॥ १४ ॥

निश्चय ही तू बड़ा घमंडी है । इसीसे तू भय रहने पर भी निर्भयसा जान पड़ता है । तेरी मृत्यु निकट है । इसीसे तू बोलते समय यह नहीं समझ सकता कि, क्या कहना चाहिये और क्या नहीं ॥ १४ ॥

---

१ तमेवमभिसंरब्ध—एवंवचोब्रुवाणम् । (शि०) २ दृढं—निश्चितं । (गो०) ३ अवलिप्तोसि—गर्वितोसि । (गो०)

कालपाशपरिक्षिप्ता भवन्ति पुरुषा हि ये ।
कार्याकार्यं न जानन्ति ते निरस्तषडिन्द्रियाः ॥ १५ ॥

जो लोग शीघ्र मरने वाले होते हैं, उनकी अन्तःकरणादि छःओं इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसीसे उनको करने अनकरने कामों का ज्ञान नहीं रहता ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामं संरुध्य भ्रुकुटीं ततः ।
स ददर्श महासालमविदूरे निशाचरः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी से इस प्रकार कह और भौंहें सकोड़, खर ने पास ही साल का एक बहुत बड़ा वृक्ष देखा ॥ १६ ॥

रणे प्रहरणस्यार्थे सर्वतो ह्यवलोकयन् ।
स तमुत्पाटयामास संदश्य दशनच्छदम् ॥ १७ ॥

उसने युद्ध करने के लिये शस्त्र की खोज में अपने चारों ओर निगाह डाली, (किन्तु जब उसे अन्य कोई शस्त्र अपने योग्य न देख पड़ा, तब) उसने किचकिचा कर उस वृक्ष को उखाड़ा ॥ १७ ॥

तं समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां विनद्य च महाबलः ।
राममुद्दिश्य चिक्षेप हतस्त्वमिति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

और घोर गर्जना कर, दोनों भुजाओं से उस वृक्ष को, श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्य कर और यह कह कर कि, "बस अब तुम मारे गये" फेंका ॥ १८ ॥

तमापतन्तं बाणौघैश्छित्त्वा रामः प्रतापवान् ।
रोषमाहारयत्तीव्रं निहन्तुं समरे खरम् ॥ १९ ॥

प्रतापी श्रीरामचन्द्र जी ने उस साल वृक्ष को अपनी ओर आते देख, बाण मार कर उसके खण्ड खण्ड कर डाले और क्रोध में भर खर को मार डालने के लिये तीव्र बाण निकाले ॥ १९ ॥

जातस्वेदस्ततो रामो रोषाद्रक्तान्तलोचनः ।
निर्बिभेद सहस्रेण बाणानां समरे खरम् ॥ २० ॥

उस समय मारे क्रोध के श्रीराम जी का शरीर पसीने से तर और उनके नेत्र ख़ून की तरह लाल, हो गये । उन्होंने एक हज़ार बाण खर के मारे ॥ २० ॥

तस्य बाणान्तरा[1]द्रक्तं बहु सुस्राव फेनिलम्[2] ।
गिरेः प्रस्रवणस्येव तोयधारापरिस्रवः[3] ॥ २१ ॥

उन बाणों के घावों में से फेनयुक्त रक्त की धारें उसी प्रकार बहने लगीं, जिस प्रकार पहाड़ी झरनों से पानी की धारें बहती हैं ॥ २१ ॥

विह्वलः स कृतो बाणैः खरो रामेण संयुगे ।
मत्तो रुधिरगन्धेन तमेवाभ्यद्रवद्द्रुतम् ॥ ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने खर को उस युद्ध में, बाणों के आघात से व्याकुल कर दिया । तब तो वह (अपने शरीर से निकलते हुए) रक्त की गन्ध से मतवाला हो, बड़े वेग से श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटा ॥ २२ ॥

तमापतन्तं संरब्धं[4] कृतास्त्रो रुधिराप्लुतम् ।
अपासर्पत्प्रतिपदं[5] किञ्चित्त्वरितविक्रमः ॥ २३ ॥

---

१ बाणान्तरात्—बाणक्षतविवरात् । (गो०) २ फेनिलं—फेनवत् । (गो०) ३ परिस्रवः—प्रवाहः । (गो०) ४ संरब्धं—सम्भ्रान्तं । (गो०) ५ प्रतिपदं—अस्त्र मोचनप्रतिकूलं । (गो०)

खर को, क्रुद्ध और खून में डूबा हुआ अपनी ओर आते देख, और उस पर अस्त्र छोड़ने की घात न पा, श्रीरामचन्द्र जी तुरन्त कुछ पीछे हट गये ॥ २३ ॥

[नोट—'श्रीरामचन्द्र जी का दो चार पग पीछे हटना खर के भय से नहीं, किन्तु अस्त्र चलाने के लिये पर्याप्त अन्तर प्राप्त करने के लिये था।]

ततः पावकसङ्काशं वधाय समरे शरम् ।

खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डमिवापरम् ॥ २४ ॥

युद्ध में खर का वध करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी ने दूसरे ब्रह्मदण्ड के समान और अग्नि तुल्य बाण (अपने तरकस से) निकाला ॥ २४ ॥

स तं दत्तं मघवता सुरराजेन धीमता ।

सन्दधे चापि धर्मात्मा मुमोच च खरं प्रति ॥ २५ ॥

यह बाण अगस्त्य जी को धीमान् इन्द्र ने दिया था, (और अगस्त्य से श्रीरामचन्द्र जी को मिला था,) धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वही बाण धनुष पर रख, खर के ऊपर छोड़ा ॥ २५ ॥

स विमुक्तो महाबाणो निर्घातसमनिस्वनः ।

रामेण धनुरायम्य खरस्योरसि चापतत् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष को तान कर जब बाण छोड़ा, तब वह बाण वज्र के समान महानाद करता हुआ खर की छाती में जा कर लगा ॥ २६ ॥

स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना ।

रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये यथान्तकः ॥ २७ ॥

उस बाण से निकले अग्नि से खर दग्ध हो कर, पृथिवी पर वैसे ही गिर पड़ा, जैसे श्वेतारण्य में रुद्र ने अपने तृतीय नेत्र के अग्नि से अन्तकासुर को दग्ध कर, गिराया था ॥ २७ ॥

[नोट—कूर्मपुराण के उत्तरखण्ड के ३६ वें अध्याय में लिखा है कि, परमशैव श्वेत नाम के एक राजर्षि कालञ्जर पर्वत पर जब तप कर रहे थे; तब अन्तकासुर ने उन्हें मार डालने के लिये, उन पर आक्रमण किया। उस समय भक्तवत्सल शिव जी ने अपने बांए पैर के आघात से अन्तकासुर को मार डाला था। (रा०)]

स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर्यथा ।
वलो वेन्द्राशनिहतो निपपात हतः खरः ॥ २८ ॥

जैसे वज्र से वृत्तासुर, फेन से नमुचि, और इन्द्र के वज्र से बलि मारे गये, वैसे ही खर भी श्रीरामचन्द्र जी के बाण से मर कर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २८ ॥

ततो राजर्षयः सर्वे सङ्गताः परमर्षयः[1] ।
सभाज्य[2] मुदिता राममिदं वचनमब्रुवन् ॥ २९ ॥

तब सब राजर्षि और ब्रह्मर्षि एकत्र हो और प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास गये और उनका पूजन कर, उनसे यह बोले ॥२९॥

एतदर्थं महाभाग* महेन्द्रः पाकशासनः ।
शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरन्दरः ॥ ३० ॥

इसी उद्देश्य से पाकशासन महेन्द्र शरभङ्ग जी के पुण्याश्रम में आये थे ॥ ३० ॥

आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ।
एषां वधार्थं क्रूराणां रक्षसां पापकर्मणाम् ॥ ३१ ॥

और इन क्रूरकर्मा पापी राक्षसों के वध के लिये ही यत्नपूर्वक महर्षिगण आपको यहाँ लाये थे ॥ ३१ ॥

---

१ परमर्षयः—ब्रह्मर्षयः। (गो०) २ सभाज्य—सम्पूज्य। (गो०)
* पाठान्तरे—" महातेजा "।

तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ।
सुखं धर्मं चरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः ॥ ॥ ३२ ॥

हे दशरथात्मज ! सो हमारा यह काम आपने कर दिया । अब इस दण्डकवन में महर्षि लोग सुख से धर्मानुष्ठान किया करेंगे ॥ ३२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह सङ्गताः ।
दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः ॥ ३३ ॥

इतने ही में देवता लोग चारणों को साथ लिये हुए आये और उन लोगों ने नगाड़े बजा कर चारों ओर फूलों की वर्षा की ॥ ३३ ॥

रामस्योपरि संहृष्टा ववृषुर्विस्मितास्तदा ।
अर्धाधिकमुहूर्तेन[1] रामेण निशितैः शरैः ॥ ३४ ॥

फिर हर्षित हो और श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर पुष्पों की वृष्टि कर, वे विस्मित हुए कि, तीन ही घड़ी में अपने पैने बाणों से ॥३४॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
खरदूषणमुख्यानां निहतानि महाहवे ॥ ३५ ॥

उस महायुद्ध में खर दूषणादि मुख्य राक्षसों के सहित, श्रीरामचन्द्र ने घोर कर्म करने वाले १४ हज़ार राक्षसों को (कैसे) मार डाला ॥ ३५ ॥

अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः ।
अहो वीर्यमहो दाक्ष्यं[2] विष्णोरिव हि दृश्यते ॥ ३६ ॥

---

१ अर्धाधिक मूहूर्तेन—घटिकात्रयेण । (गो०) २ दाक्ष्यं—सर्वसंहारचातुर्यं । (गो०)

विदितात्मा श्रीरामचन्द्र का यह कर्म बड़ा भारी है। आहा इनका यह पराक्रम और सर्व-संहार-चातुर्य विष्णु के तुल्य देख पड़ता है ॥ ३६ ॥

इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम् ।
एतस्मिन्नन्तरे[1] वीरो लक्ष्मणः सह सीतया ॥ ३७ ॥

यह कह कर, वे सब देवता जहाँ से आये थे, वहाँ लौट कर चले गये। इसी बीच में शूरवीर लक्ष्मण, सीता जी को साथ लिये हुए ॥ ३७ ॥

गिरिदुर्गाद्विनिष्क्रम्य संविवेशाश्रमं सुखी[2] ।
ततो रामस्तु विजयी पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३८ ॥

गिरिगुहा से निकल कर और श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम से प्रसन्न होते हुए आश्रम में पहुँचे । तदनन्तर विजयी श्रीरामचन्द्र जी की महर्षियों ने पूजा की ॥ ३८ ॥

प्रविवेशाश्रमं वीरो लक्ष्मणेनाभिपूजितः ।
तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम् ॥ ३९ ॥

फिर लक्ष्मण जी से पूजित हो, वीरवर श्रीरामचन्द्र जी ने आश्रम में प्रवेश किया। शत्रुहन्ता एवं महर्षियों को आनन्द देने वाले श्रीरामचन्द्र जी को देख ॥ ३९ ॥

बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे।
मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान्हतान् ।
रामं चैवाव्यथं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥ ४० ॥

---

१ अन्तरे—अवसरे। (गो०) २ सुखी—रामपराक्रमदर्शनजन्यसन्तोषवान् । (गो०)

जनकनन्दिनी सीता जी प्रसन्न हुई और राक्षसों को मरा हुआ देख, जानकी जी ने परम सुख माना। फिर श्रीरामचन्द्र जी को विथा रहित अथवा निरापद देख, जानकी जी सन्तुष्ट हुई ॥ ४० ॥

ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं
सभाज्यमानं मुदितैर्महर्षिभिः ।
पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना
बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा ॥ ४१ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

राक्षस समूह को मर्दन करनेवाले और प्रसन्नचित्त महर्षियों द्वारा पूजित श्रीरामचन्द्र को देख, चन्द्रवदनी जनकनन्दिनी सीता प्रसन्न हुई और पुनः श्रीरामचन्द्र जी को गले लगाया ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का तीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकत्रिंशः सर्गः

—*—

त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः ।
प्रविश्य लङ्कां वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर अकम्पन नामक राक्षस शीघ्रता पूर्वक जनस्थान से लङ्का को गया और वहाँ जा कर, रावण से बोला ॥ १ ॥

जनस्थानस्थिता राजन्राक्षसा बहवो हताः ।
खरश्च निहतः संख्ये कथञ्चिदहमागतः ॥ २ ॥

---

१ कथञ्चिदिति — स्त्रीवेषधारणेनेति भावः । (गो०)

हे राजन्! जनस्थान में रहने वाले खर समेत बहुत से राक्षस युद्ध में मारे गये। मैं किसी तरह जीता जागता यहाँ आया हूँ॥ २॥

[नोट—भूषणटीकाकार ने "किसी तरह" का भाव यह दर्शाया है कि, अकम्पन् स्त्रीवेश धारण कर भागा था।]

एवमुक्तो दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः।
अकम्पनमुवाचेदं निर्दहन्निव चक्षुषा॥ ३॥

अकम्पन के ये वचन सुन, रावण के नेत्र क्रोध के मारे लाल हो गये और वह अकम्पन से त्योरी चढ़ा ऐसे बोला, मानों उसे नेत्राग्नि से भस्म ही कर देगा॥ ३॥

केन रम्यं जनस्थानं हतं मम परासुना[1]।
को हि सर्वेषु लोकेषु गतिं[2] चाधिगमिष्यति॥ ४॥

किस गतायु ने मेरे उस रमणीय जनस्थान को ध्वंस कर दिया! किसकी यह इच्छा हुई है कि, वह त्रिलोकी में न रहने पावे॥ ४॥

न हि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम्।
प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन न विष्णुना॥ ५॥

मुझे चिढ़ा कर, इन्द्र, यम, कुवेर और विष्णु भी सुख से नहीं रह सकते॥ ५॥

कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम्।
मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे॥ ६॥

क्योंकि मैं काल का भी काल हूँ और अग्नि को भी भस्म कर सकता हूँ। अधिक क्या मैं मृत्यु को भी मरणशील बना सकता हूँ॥ ६॥

दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसाऽऽदित्यपावकौ।
वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमहमुत्सहे॥ ७॥

---

१ परासुना—परागत प्राणेन। (शि०) २ गतिं—स्थितिं। (गो०)

क्रुद्ध होने पर, मैं अपने तेज से अग्नि और सूर्य को भी दग्ध कर सकता हूँ और अपने वेग से वायु का वेग नष्ट कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

तथा क्रुद्धं दशग्रीवं कृताञ्जलिरकम्पनः ।
भयात्सन्दिग्धया[1] वाचा रावणं याचतेऽभयम् ॥ ८ ॥

रावण को इस प्रकार क्रुद्ध देख, अकम्पन बहुत डरा और हाथ जोड़ अस्पष्ट अक्षरों से युक्त शब्दों में, अर्थात् लड़खड़ाती ज़बान से उसने अभयदान माँगा ॥ ८ ॥

दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसांवरः ।
स विश्रब्धोऽब्रवीद्वाक्यमसन्दिग्धमकम्पनः ॥ ९ ॥

तब राक्षसश्रेष्ठ रावण ने अकम्पन को अभय प्रदान किया । तब रावण के अभयदान पर विश्वास कर, अकम्पन ने साफ साफ समस्त वृत्तान्त कहा ॥ ९ ॥

पुत्रो दशरथस्यास्ति सिंहसंहननो युवा ।
रामो नाम वृषस्कन्धो वृत्तायतमहाभुजः ॥ १० ॥
वीरः पृथुयशाः श्रीमानतुल्यबलविक्रमः ।
हतं तेन जनस्थानं खरश्च सहदूषणः ॥ ११ ॥

सिंह के समान सुन्दर शरीरावयव वाले, युवावस्था को प्राप्त, ऊँचे कन्धों वाले, गोल एवं लंबी भुजाओं वाले, वीर, महायशस्वी, सुस्वरूप, और अतुलित बल पराक्रम वाले श्रीरामचन्द्र ने, जो महाराज दशरथ के पुत्र हैं, जनस्थान में आ कर, खर और दूषण को मारा है ॥ १० ॥ ११ ॥

---

१ सन्दिग्धया—सन्दिग्धाक्षरया । (गो०) २ याचते—अयाचत । (गो०)

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।
नागेन्द्र[1] इव निःश्वस्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

राक्षसेश्वर रावण, अकम्पन के वचन सुन, सर्पेन्द्र की तरह फुंफकार छोड़ता हुआ बोला ॥ १२ ॥

स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सर्वामरैः सह ।
उपयातो जनस्थानं ब्रूहि कच्चिदकम्पन ॥ १३ ॥

हे अकम्पन ! तू यह तो बतला कि, क्या वह राम देवराज इन्द्र और सब देवताओं को साथ ले, जनस्थान में आया है ? ॥ १३ ॥

रावणस्य पुनर्वाक्यं निशम्य तदकम्पनः ।
आचचक्षे बलं तस्य विक्रमं च महात्मनः ॥ १४ ॥

रावण के इस प्रश्न के उत्तर में अकम्पन रावण से श्रीरामचन्द्र जी के बल विक्रम का बखान करता हुआ, पुनः बोला ॥ १४ ॥

रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।
दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः पुरन्दरसमो युधि ॥ १५ ॥

हे रावण ! श्रीरामचन्द्र बड़ा तेजस्वी और धनुषधारियों में श्रेष्ठ है । युद्ध में दिव्यास्त्रों के चलाने में उसकी इन्द्र की तरह सामर्थ्य है ॥ १५ ॥

तस्यानुरूपो बलवान्रक्ताक्षो दुन्दुभिस्वनः ।
कनीयाँल्लक्ष्मणो नाम भ्राता शशिनिभाननः ॥ १६ ॥

चन्द्रमा के समान मुख वाला उसका छोटा भाई लक्ष्मण है । वह राम के समान बली है । उसके बोलने का शब्द नगाड़े के शब्द की तरह गम्भीर है और उसके दोनों नेत्र लाल रंग के हैं ॥ १६ ॥

---

१ नागेन्द्र—सर्पेन्द्र । (गो०)

स तेन सह संयुक्तः पावकेनानिलो यथा ।
श्रीमान्राजवरस्तेन जनस्थानं निपातितम् ॥ १७ ॥

जैसे पवन की सहायता से अग्नि वन को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार श्रीमान् राजश्रेष्ठ राम ने अपने भाई के साथ जनस्थान को उजाड़ा है ॥ १७ ॥

नैव देवा महात्मानो नात्र कार्या विचारणा ।
शरा रामेण तूत्सृष्टा रुक्मपुङ्खाः पतत्रिणः ॥ १८ ॥

राम की सहायता को महानुभाव देवता नहीं आये थे । इस विषय में आप और कुछ सोच विचार न करें । क्योंकि श्रीरामचन्द्र ने उस युद्ध में सुवर्ण पुंख युक्त ऐसे बाण छोड़े थे ॥ १८ ॥

सर्पाः पञ्चानना[1] भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान् ।
येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्शिताः[2] ॥ १९ ॥
तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम् ।
इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ ॥ २० ॥

जो सर्प बन और मुँह फाड़ राक्षसों को खा गये । उन बाणों से भयभीत हो, राक्षस लोग जब भागते, तब जहाँ जहाँ वे जाते वहाँ वहाँ वे श्रीराम को सामने खड़ा पाते थे । हे अनघ ! इस प्रकार राम ने तुम्हारा जनस्थान ध्वस्त किया ॥ १९ ॥ २० ॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
जनस्थानं गमिष्यामि हन्तुं रामं सलक्ष्मणम् ॥ २१ ॥

अकम्पन का वचन सुन, रावण बोला—मैं राम और लक्ष्मण को मारने के लिये जनस्थान जाऊँगा ॥ २१ ॥

---

१ पञ्चाननाः—विस्तृताननाः (गो०) २ भयकर्शिताः—भयपीडिताः । (गो०)

अथैवमुक्ते वचने प्रोवाचेदमकम्पनः ।
शृणु राजन्यथावृत्तं रामस्य बलपौरुषम् ॥ २२ ॥

रावण की यह बात सुन, अकम्पन बोला—हे राजन्! श्रीरामचन्द्र जैसे चरित्रवान्, बली, और पुरुषार्थी हैं, सो मैं कहता हूँ; आप उसे सुनिये ॥ २२ ॥

असाध्यः[1] कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः ।
आपगायाः सुपूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः ॥ २३ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जब क्रुद्ध हों तब किसी में ऐसी शक्ति नहीं, जो पराक्रम से उनको जीत सके। वे बाणविद्या में ऐसे पटु हैं कि, जल से लबालब भरी नदी के प्रवाह के वेग को, वे अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥ २३ ॥

सतारग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत्[2] ।
असौ रामस्तु मज्जन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तरैयों, नवग्रह, और सत्ताइसों नक्षत्रों सहित आकाशमण्डल को खण्ड खण्ड कर सकते हैं। डूबती हुई पृथिवी को भी श्रीमान् रामचन्द्र उबार सकते हैं ॥ २४ ॥

भित्त्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद्विभुः ।
वेगं वाऽपि समुद्रस्य वायुं वा विधमे[3]च्छरैः ॥ २५ ॥

और यदि वे चाहें तो समुद्र की वेलाभूमि (तट की भूमि) को तोड़ कर, सारे संसार को जलमग्न कर सकते हैं। (इसी प्रकार) वे समुद्र अथवा पवन का वेग अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥ २५ ॥

---

१ असाध्यः—अनिग्राह्यः। (गो०) २ अवसादयेत्—विशीर्णं कुर्यात्। (गो०) ३ विधमेत्—रुन्ध्यात्। (गो०)

संहृत्य वा पुनर्लोकान्विक्रमेण महायशाः ।
शक्तः स पुरुषव्याघ्रः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः ॥ २६ ॥

पुरुषश्रेष्ठ एवं महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी अपने पराक्रम से समस्त लोकों का संहार कर, फिर नयी सृष्टि रच सकते हैं ॥ २६ ॥

न हि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं त्वया युधि ।
रक्षसां वाऽपि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव ॥ २७ ॥

हे दशग्रीव! तुम या तुम्हारे राक्षस युद्ध में राम को परास्त नहीं कर सकते । जैसे पापी लोग स्वर्ग नहीं पा सकते ॥ २७ ॥

न तं वध्यमहं मन्ये सर्वैर्देवासुरैरपि ।
अयं तस्य वधोपायस्तं [1]ममैकमनाः[2] शृणु ॥ २८ ॥

मेरी जान में तो सब देवता और असुर मिल कर भी उन्हें नहीं मार सकते । किन्तु उनके मारने का मैं उपाय बतलाता हूँ, उसे ध्यान दे कर, सुनिये ॥ २८ ॥

भार्या तस्योत्तमा लोके सीता नाम सुमध्यमा[3] ।
श्यामा[4] समविभक्ताङ्गी स्त्रीरत्नं[5] रत्नभूषिता ॥ २९ ॥

उनके साथ उनकी भार्या सीता है । वह संसार की समस्त स्त्रियों से चढ़ बढ़ कर है । उसकी पतली कमर है और उसके शरीर के अन्य सब अँग भी सुन्दर और सुडौल हैं । इस समय उसकी चढ़ती हुई जवानी है । वह स्त्रियों में श्रेष्ठ और रत्न जटित भूषणों से भूषित है ॥ २९ ॥

---

१ मम—मत्तः (गो०) २ एकमनाः—सावधानाः (गो०) ३ सुमध्यमा—शोभन कटि विशिष्टं । (शि०) ४ श्यामा—यौवनमध्यस्था । (गो०) ५ स्त्रीरत्नं—स्त्रीश्रेष्ठा । (गो०)

नैव देवी[1] न गन्धर्वी नाप्सरा नाऽपि दानवी ।
तुल्या सीमन्तिनी[2] तस्या मानुषीषु कुतो भवेत् ॥ ३० ॥

सौन्दर्य में उनकी स्त्री का सामना न तो किसी देवता की कोई स्त्री, न किसी गन्धर्व की कोई स्त्री, न कोई अप्सरा और न किसी दानव की स्त्री कर सकती है। फिर भला मनुष्य की स्त्री तो उसके सौन्दर्य के समान हो ही कैसे सकती है ॥ ३० ॥

तस्यापहर भार्यां त्वं प्रमथ्य तु महावने ।
सीतया रहितः कामी रामो हास्यति जीवितम् ॥ ३१ ॥

सो तुम उस महावन में जा, जैसे बने वैसे छलबल से रामचन्द्र की भार्या को हर लाओ। सीता रहित हो, रामचन्द्र जो कामी हैं, अपने प्राण (आप) छोड़ देंगे ॥ ३१ ॥

अरोचयत तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।
चिन्तयित्वा महाबाहुरकम्पनमुवाच ह ॥ ३२ ॥

महाबाहु राक्षसेश्वर रावण को अकम्पन का बतलाया हुआ यह उपाय पसंद आया, वह सोच विचार कर अकम्पन से बोला ॥ ३२ ॥

बाढं काल्यं गमिष्यामि ह्येकः सारथिना सह ।
आनयिष्यामि वैदेहीमिमां हृष्टो महापुरीम् ॥ ३३ ॥

बहुत अच्छा! कल मैं अकेला सारथी को अपने साथ ले कर, जाऊँगा और जानकी को हर्षित हो, इस लङ्कापुरी में ले आऊँगा ॥ ३३ ॥

---

१ देवी—देवस्त्री। (गो०) २ सीमन्तिनी—स्त्री । (गो०)

अथैवमुक्त्वा प्रययौ खरयुक्तेन रावणः ।
रथेनादित्यवर्णेन दिशः सर्वा प्रकाशयन् ॥ ३४ ॥

दूसरे दिन रावण सूर्य के समान चमकते हुए रथ पर, जिसमें खच्चर जुते हुए थे, सवार हो, सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ, चला ॥ ३४ ॥

स रथो राक्षसेन्द्रस्य नक्षत्रपथगो महान् ।
सञ्चार्यमाणः शुशुभे जलदे चन्द्रमा इव ॥ ३५ ॥

राक्षसराज का वह आकाशगामी महारथ, नक्षत्र मार्ग से चलता हुआ ऐसा शोभित हुआ, जैसे मेघमण्डल में चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ३५ ॥

स मारीचाश्रमं प्राप्य ताटकेयमुपागमत् ।
मारीचेनार्चितो राजा भक्ष्यभोज्यैरमानुषैः[1] ॥ ३६ ॥

रावण, ताड़का के पुत्र मारीच के आश्रम में पहुँच, मारीच के पास गया । मारीच ने मनुष्यलोक में मिलना जिनका दुर्लभ था, ऐसे खाने पीने के पदार्थों को सामने रख रावण का आतिथ्य किया ॥ ३६ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा तु आसनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया[2] वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

और मारीच ने स्वयं बैठने को आसन और पैर धोने को जल दे, रावण का सत्कार किया । तदनन्तर मारीच ने रावण से प्रयोजन की बात कही ॥ ३७ ॥

---

१ अमानुषैः—मनुष्यलोकदुर्लभैः । २ (गो०) अर्थोपहितया—प्रयोजनेन विशिष्टया । गो०)

कच्चित्सुकुशलं राजँल्लोकानां[1] राक्षसेश्वर ।
आशङ्के नाथ जाने त्वं यतस्तूर्णमिहागतः ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! हे राक्षसेश्वर ! कहिये राक्षस लोग सकुशल तो हैं ? हे नाथ ! हड़बड़ा कर यहाँ आपके आने से, मुझे राक्षसों के सकुशल होने में शङ्का होती है ॥ ३८ ॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥ ३९ ॥

मारीच द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर, महातेजस्वी और बातचीत करने में चतुर रावण बोला ॥ ३९ ॥

आरक्षो[2] मे हतस्तात रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
जनस्थानमवध्यं तत्सर्वं युधि निपातितम् ॥ ४० ॥

बड़े कठिन कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने हमारे जनस्थान के रक्षक खर दूषणादि सब राक्षसों को, जो किसी के मारे नहीं मर सकते थे, युद्ध में मार डाला ॥ ४० ॥

तस्य मे कुरु साचिव्यं[3] तस्य भार्यापहारणे ।
राक्षसेन्द्रवचः श्रुत्वा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

अतः श्रीराम की स्त्री हर लाने के काम में तुमको मेरी सहायता करनी चाहिये । रावण की यह बात सुन मारीच बोला ॥ ४१ ॥

आख्याता केन सीता सा मित्ररूपेण शत्रुणा ।
त्वया राक्षसशार्दूल को न नन्दति निन्दितः[4] ॥ ४२ ॥

---

१ लोकानां—राक्षसलोकानां । (गो०) २ आरक्षः—अन्तपालः । (गो०) ३ साचिव्यं—साहाय्यं । (गो०) ४ निन्दितः—तिरस्कृताः । (गो०)

किस मित्ररूप शत्रु ने तुमको सीता का नाम बतलाया है? हे राक्षसशार्दूल! (जिसने तुम्हें यह काम करने की सलाह दी है) उसने ऐसा कर, तुम्हारा तिरस्कार किया है। वह कौन है, जो तुम्हारे ऐश्वर्य को देख प्रसन्न नहीं होता अर्थात् जिसने ऐसी बुरी सलाह तुम्हें दी है, वह तुम्हारे ऐश्वर्य से जलता है ॥ ४२ ॥

सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे ।
रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं[1] छेत्तुमिच्छति ॥ ४३ ॥

"सीता को यहाँ ले आओ" यह बात तुमसे किसने कही है? यह मुझे बतलाओ कि, वह कौन है जो समस्त राक्षसों के प्राधान्य को नष्ट करना चाहता है? ॥ ४३ ॥

प्रोत्साहयति कश्चित्त्वां स हि शत्रुरसंशयः ।
आशीविषमुखाद्दंष्ट्रामुद्धर्तुं चेच्छति त्वया ॥ ४४ ॥

किसने तुम्हें इस काम के लिये प्रोत्साहित किया है? जिसने तुम्हें इसके लिये प्रोत्साहित किया है, वह निस्सन्देह तुम्हारा शत्रु है। क्योंकि वह तुम्हारे हाथ से विषधर सर्प के मुख से, विषदन्त उखड़वाना चाहता है ॥ ४४ ॥

कर्मणा तेन केनाऽसि कापथं प्रतिपादितः ।
सुखसुप्तस्य ते राजन्प्रहृतं केन मूर्धनि ॥ ४५ ॥

यह काम तुमसे करवा कर कौन तुम्हें कुपथ में ले जाना चाहता है? हे राजन्! सुख से सोते हुए, तुम्हारे मस्तक पर किसने प्रहार किया है? ॥ ४५ ॥

मारीच नीचे के श्लोक में श्रीराम को गन्धहस्ती की उपमा देता है।

---

१ शृङ्गं—प्राधान्यं। (गो०)

विशुद्धवंशाभिजनाग्रहस्त-
स्तेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः ।
उदीक्षितुं रावण नेह युक्तः
स संयुगे राघवगन्धहस्ती[1] ॥४६॥

हे रावण! शुद्धवंशोद्भव, विशुद्ध वंश ही जिनकी लंबी सूंड़ है, प्रताप जिनका मद है, और दोनों लंबी भुजाएँ ही जिनके दोनों दांत हैं, उन राम रूपी मदमत्त हाथी से युद्ध में तुम उसके सामने भी जाने योग्य नहीं हो, लड़ना तो बात ही दूसरी है ॥ ४६ ॥

[नोट — गन्धहस्ती — मदमत्त गज । गन्धहस्ती उसे कहते हैं जिसकी गन्धि मात्र से अन्य हाथी भाग जाते हैं ।]

अब नीचे के श्लोक में मारीच श्रीरामचन्द्र की उपमा सिंह से देता है ।

असौ रणान्तः स्थितिसन्धिवालो[2]
विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः ।
सुप्तस्त्वया बोधयितुं न युक्तः
शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ ४७ ॥

रणपटुता रूपी पूँछधारी और राक्षसरूपी हिरनों का शिकार करने वाले. तथा पैने पैने बाण रूपी दांत वाले, रामरूपी पुरुष-सिंह को, जो सो रहे हैं, तुम जगाने योग्य नहीं हो ॥ ४७ ॥

नीचे के श्लोक में श्रीरामचन्द्र जी की उपमा पाताल से दी गयी है ।

चापावहारे भुजवेगपङ्के
शरोर्मिमाले सुमहाहवौघे ।

---

१ गन्धहस्ती — मदगजः यस्य गन्धमात्रेण अन्यगजाः पलायन्ते सगन्धहस्ती । (गो०) २ वालो — लाङ्गूलं । (गो०)

न रामपातालमुखेऽतिघोरे
प्रस्कन्दितुं[1] राक्षसराज युक्तम् ॥ ४८ ॥

धनुष रूपी नक्रों से युक्त, भुजवेगरूपी दल दल से परिपूर्ण, बाण रूपी लहरों से तरङ्गित और महासंग्रामरूपी प्रवाह वाले श्रीरामरूपी घोर पाताल के मुख में कूदने की शक्ति, तुममें नहीं है। अथवा ऐसे भयङ्कर पाताल के मुख में कूदना तुम्हें उचित नहीं है ॥ ४८ ॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र
लङ्कां प्रसन्नो भव साधु गच्छ ।
त्वं स्वेषु दारेषु रमस्व नित्यं
रामः सभार्यो रमतां वनेषु[2] ॥ ४९ ॥

अतएव हे लङ्केश्वर ! तुम प्रसन्न हो (अर्थात् मेरा कहना मान लो) और लङ्का पर प्रसन्न हो कर (अनुग्रह कर के), सुमार्गगामी हो। सुमार्गगामी हो कर सदा अपनी धर्म पत्नियों के साथ विहार करो और श्रीरामचन्द्र प्रसन्न हो वन में अपनी भार्या के साथ विहार करें ॥ ४९ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवो मारीचेन स रावणः ।
न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्तमम् ॥ ५० ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

मारीच ने जब इस प्रकार कह कर रावण को समझाया, तब रावण लङ्का को लौट कर अपने श्रेष्ठभवन में चला गया ॥ ५० ॥

अरण्यकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

---

१ प्रस्कन्दितुं—पतितुं । (गो०) २ हे लंकेश्वर ! त्वं प्रसीद अतएव लंक प्रसन्न प्रसादको भव । अतएव साधु सुमार्गं गच्छ प्राप्य हि सुमार्गमेवाहत्वं स्वेषुदारेष नित्यं रमस्व । स्वभार्यो रामः वनेषु रमताम् । (शि०)

द्वात्रिंशः सर्गः

—※—

ततः शूर्पणखा दृष्ट्वा सहस्राणि चतुर्दश ।
हतान्येकेन रामेण रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ १ ॥
दूषणं च खरं चैव हतं त्रिशिरसा सह ।
दृष्ट्वा पुनर्महानादं ननाद जलदो यथा ॥ २ ॥

तदनन्तर जब शूर्पणखा ने देखा कि, अकेले राम ने चौदह हज़ार भीमकर्मा राक्षसों को मार डाला और दूषण, खर तथा त्रिशिरा भी मारे गये ; तब वह मेघ की तरह गम्भीर गर्जना करने लगी ॥ १ ॥ २ ॥

सा दृष्ट्वा कर्म रामस्य कृतमन्यैः सुदुष्करम् ।
जगाम परमोद्विग्ना लङ्कां रावणपालिताम् ॥ ३ ॥

जो काम दूसरों से कभी नहीं हो सकता था, उस काम को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा किया हुआ देख, शूर्पणखा बहुत घबड़ानी और रावण की लङ्का को गयी ॥ ३ ॥

सा ददर्श विमानाग्रे[1] रावणं दीप्ततेजसम् ।
उपोपविष्टं सचिवैर्मरुद्भि[2]रिव वासवम् ॥ ४ ॥

शूर्पणखा ने बड़े तेज से युक्त रावण को पुष्पक विमान के अग्र भाग में मंत्रियों सहित उसी प्रकार बैठा देखा, जिस प्रकार इन्द्र देवताओं सहित बैठते हैं ॥ ४ ॥

---

१ विमानाग्रे—पुष्पक विमानाग्रे । (गो०) २ मरुद्भिः—देवैः । (गो०)

आसीनं सूर्यसङ्काशे काञ्चने परमासने ।
रुक्मवेदिगतं प्राज्यं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ५ ॥

सूर्य के समान चमकते हुए सुवर्णनिर्मित श्रेष्ठसिंहासन पर बैठने से, रावण की शोभा वैसी हो रही थी, जैसी कि, सुवर्ण भूषित वेदी पर, प्रज्वलित अग्नि की होती है ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।
अजेयं समरे शूरं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

युद्ध में, देवता, गन्धर्व, भूत, ऋषि, व महात्माओं से अजेय (न जीते जाने योग्य) शूरवीर और काल की तरह मुख खोले ॥ ६ ॥

देवासुरविमर्देषु[1] वज्राशनिकृतव्रणम् ।
ऐरावतविषाणाग्रैरुत्कृष्टकिणवक्षसम् ॥ ७ ॥

देवासुर संग्राम में वज्र के लगने के कारण घाव से युक्त, और छाती में ऐरावत गज के दांतों के घाव के चिन्हों से भूषित ॥ ७ ॥

विंशद्भुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम् ।
विशालवक्षसं वीरं राजलक्षणशोभितम् ॥ ८ ॥

बीस भुजाओं और दस सीस वाला, देखने योग्य, छत्र चँवर सहित, विशाल छाती वाला, शूर, राजलक्षणों से शोभित ॥ ८ ॥

स्निग्धवैडूर्यसङ्काशं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।
सुभुजं शुक्लदशनं महास्यं पर्वतोपमम् ॥ ९ ॥

चमकीले पन्ने की तरह शरीर की कान्ति से युक्त, विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए, लंबी बाहों और बड़े मुख वाला और पर्वत के समान लंबा ॥ ९ ॥

---

1 विमर्देषु—युद्धेषु । (गो०)

विष्णुचक्रनिपातैश्च शतशो देवसंयुगे ।
अन्यैः शस्त्रप्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम् ॥ १० ॥

सैकड़ों वार देवताओं के साथ लड़ते समय विष्णु के चक्र से तथा अन्य अनेक महायुद्धों में शस्त्रों से घायल, ॥ १० ॥

आहताङ्गंसमस्तैश्च देवप्रहरणैस्तथा ।
अक्षोभ्याणां समुद्राणां क्षोभणं क्षिप्रकारिणम् ॥ ११ ॥

तथा देवताओं के प्रहार से जिसके समस्त अंग घायल थे, अक्षोभ्य समुद्रों को भी क्षुब्ध करने वाला तथा सब कामों को शीघ्र करने वाला, ॥ ११ ॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां सुराणां च प्रमर्दनम् ।
उच्छेत्तारं च धर्माणां परदाराभिमर्शनम् ॥ १२ ॥

बड़े बड़े पर्वतों को उखाड़ कर फैंकने वाला, देवताओं को मर्दन करने वाला, सब धर्मों की जड़ काटने वाला, परस्त्रीगामी ॥ १२ ॥

सर्वदिव्यास्त्रयोक्तारं यज्ञविघ्नकरं सदा ।
पुरीं भोगवतीं प्राप्य पराजित्य च वासुकिम् ॥ १३ ॥

समस्त दिव्यास्त्रों को चलाने वाला, सदा यज्ञों में विघ्न डालने वाला, भोगपुरी में जा, वासुकि को पराजित कर, ॥ १३ ॥

तक्षकस्य प्रियां भार्यां पराजित्य जहार यः ।
कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम् ॥ १४ ॥

तक्षक को युद्ध में पराजित कर, उसकी प्यारी स्त्री को हर लाने वाला, कैलास पर जा, कुवेर को जीत कर, ॥ १४ ॥

विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः ।
वनं चैत्ररथं दिव्यं नलिनीं[1] नन्दनं वनम् ॥ १५ ॥
विनाशयति यः क्रोधाद्देवोद्यानानि वीर्यवान् ।
चन्द्रसूर्यौ महाभागावुत्तिष्ठन्तौ[2] परन्तपौ ॥ १६ ॥

उनका इच्छाचारी पुष्पक विमान छीनने वाला, क्रुद्ध हो दिव्य चैत्ररथ नामक वन को, तथा कुवेर की नलिनी नामक पुष्करिणी को और देवताओं के नन्दनादि उद्यानों को नाश, करने वाला, पराक्रमी, उदय होते हुए सूर्य चन्द्र को ॥ १५ ॥ १६ ॥

निवारयति बाहुभ्यां यः शैलशिखरोपमः ।
दश वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥ १७ ॥

दोनों बाहों से निवारण करने वाला, पर्वतशिखर की तरह लंबा, महावन में दस हज़ार वर्ष तप कर, ॥ १७ ॥

पुरा स्वयंभुवे धीरः शिरांस्युपजहार यः ।
देवदानवगन्धर्वपिशाचपतगोरगैः ॥ १८ ॥
अभयं यस्य संग्रामे मृत्युतो[3] मानुषादृते ।
मन्त्रैरभिष्टुतं पुण्यमध्वरेषु[4] द्विजातिभिः ॥ १९ ॥
हविर्धानेषु यः सोममुपहन्ति महाबलः ।
आप्तयज्ञहरं[5] क्रूरं ब्रह्मघ्नं दुष्टचारिणम् ॥ २० ॥

---

१ नलिनीं—कुवेरस्य पुष्करिणीं । (गो०) २ उत्तिष्ठन्तौ—उद्यन्तौ । (गो०) ३ मृत्युतः—मृत्योः । (गो०) ४ अध्वरेषु—यागेषु । (गो०) ५ आप्तयज्ञहरं—आप्तानदक्षिणाकालं प्राप्तान्यज्ञान् हरतीतितथा । (गो०)

पूर्वकाल में ब्रह्मा जी को अपने मस्तकों को काट कर चढ़ाने वाला, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्पों से युद्ध में मृत्यु को प्राप्त न होने वाला; मनुष्यों का तिरस्कार कर, उनके द्वारा मारे जाने का वरदान, न माँगने वाला, यज्ञों में मंत्रों से स्तुति किये गये ब्राह्मणों के पवित्र सोम को नष्ट करने वाला, महाबली, दक्षिणा देने के समय यज्ञ का ध्वंस करने वाला, नृशंस, ब्रह्महत्यारा, दुष्टाचारी ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

कर्कशं निरनुक्रोशं[1] प्रजानामहिते रतम् ।
रावणं सर्वभूतानां सर्वलोकभयावहम् ॥ २१ ॥

कर्कश, दयाशून्य, प्रजाजनों का अहित करने वाला, सब प्राणियों और सब लोकों को भयभीत करने वाला जो रावण था, ॥२१॥

राक्षसी भ्रातरं शूरं सा ददर्श महाबलम् ।
तं दिव्यवस्त्राभरणं दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ २२ ॥

उस महाबली शूर, अपने भाई को शूर्पणखा ने देखा। वह रावण सुन्दर वस्त्र पहिने हुए था और सुन्दर मालाओं से विभूषित था ॥ २२ ॥

आसने सूपविष्टं च कालकाल[2]मिवोद्यतम् ।
राक्षसेन्द्रं महाभागं पौलस्त्यकुलनन्दनम् ॥ २३ ॥

वह आसन पर भली भाँति बैठा हुआ था और उस समय वह मृत्यु के मृत्यु की तरह उद्यत सा देख पड़ता था। ऐसे राक्षसराज, महाभाग और पौलस्त्यनन्दन ॥ २३ ॥

---

१ निरनुक्रोशं—निर्दयं। (गो०) २ कालकालं—मृत्योरपिमृत्युं। (गो०)

रावणं शत्रुहन्तारं मन्त्रिभिः परिवारितम् ।
अभिगम्याब्रवीद्वाक्यं राक्षसी भयविह्वला ॥ २४ ॥

शत्रुहन्ता, और मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण के पास जा शूर्पणखा ने भय से व्याकुल हो कहा, ॥ २४ ॥

तमब्रवीद्दीप्तविशाललोचनं
प्रदर्शयित्वा[1] भयमोहमूर्छिता ।
सुदारुणं वाक्यमभीतचारिणी
महात्मना शूर्पणखा विरूपिता ॥ २५ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा विरूपित (शक्ल बिगड़ी हुई) शूर्पणखा अपने कटे हुए कानों और नाक को दिखला चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले रावण से भय और मोह से मोहित हो, निडर सी हो, कठोर वचन बोली ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—※—

ततः शूर्पणखा दीना[2] रावणं लोकरावणम् ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धा[3] परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

१ प्रदर्शयित्वा—स्ववैरूपमितिशेषः । (गो०) २ दीना—रामपरिभूतत्वात् । (गो०) ३ संक्रुद्धा—स्वपरिभवदर्शनेपि भ्रातुर्निश्चलतया संक्रुद्धा । (गो०)

तदनन्तर मंत्रियों के बीच बैठे हुए और संसार को रुलाने वाले रावण पर शूर्पणखा क्रुद्ध हुई (क्रुद्ध इसलिये कि, खरदूषण आदि के मारे जाने पर भी वह हाथ पर हाथ धरे बैठा है) और उसने उससे कठोर वचन कहे ॥ १ ॥

प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तो[1] निरङ्कुशः[2] ।
समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे ॥ २ ॥

हे रावण! तू अत्यन्त मतवाला हो, सदा कामपरवश बना रहता है। तूने नीति मर्यादा त्याग दी है। अतएव जो घोर विपत्ति इस समय सामने है और जिसे तुझे जानना चाहिये, उससे तू बेख़बर है ॥ २ ॥

सक्तं ग्राम्येषु[3] भोगेषु कामवृत्तं[4] महीपतिम् ।
लुब्धं न बहु मन्यन्ते श्मशानाग्निमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

देख, जो राजा सदा स्त्री मैथुनादि भोगों में आसक्त, स्वेच्छाचारी और लोभी होता है, उस राजा को, प्रजाजन श्मशान की आग की तरह बहुत नहीं मानते अर्थात् आदर नहीं करते ॥ ३ ॥

स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिवः ।
स तु वै सह राज्येन तैश्च कार्यैर्विनश्यति ॥ ४ ॥

जो राजा समय पर अपने कार्यों को स्वयं नहीं करता, वह केवल अपने उन कार्यों ही को नष्ट नहीं करता, बल्कि अपने राज्य को भी चौपट कर डालता है ॥ ४ ॥

---

१ स्वैरवृत्तः—स्वतन्त्रः। (गो०) २ निरङ्कुशः—नीतिमर्यादा रहितः। (शि०) ३ ग्राम्येषु—मैथुनादिषु। (गो०) ४ कामवृत्तं—यथेच्छव्यापारं। (गो०)

[1]अयुक्तचारं [2]दुर्दर्शमस्वाधीनं[3] नराधिपम् ।
वर्जयन्ति नरा दूरान्नदीपङ्कमिव द्विपाः ॥ ५ ॥

जो राजा अयोग्य कार्य करने वाला है, जो समय पर राजसभा में आ कर प्रजाजनों को दर्शन नहीं देता और जो अपनी रानियों के अधीन रहता अथवा दूसरे की कही बातों पर सहसा विश्वास कर लिया करता है; उस राजा को प्रजाजन उसी प्रकार दूर से त्याग देते हैं, जिस प्रकार हाथी नदी के दलदल को दूर से त्याग देते हैं ॥ ५ ॥

ये न रक्षन्ति [4]विषयमस्वाधीना[5] नराधिपाः ।
ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा ॥ ६ ॥

जो राजा अपने हाथ से निकले हुए और पराये हाथ में गये हुए अपने राज्य की रक्षा (अर्थात् अपने अधिकार में) नहीं कर सकते; उन राजाओं की सम्पत्ति की वृद्धि समुद्रस्थित पर्वत की तरह नहीं होती ॥ ६ ॥

आत्मवद्भिर्विगृह्य त्वं देवगन्धर्वदानवैः ।
अयुक्तचारश्चपलः कथं राजा भविष्यसि ॥ ७ ॥

एक तो तू चञ्चल है, दूसरे तू यत्न करने में असावधान है, तीसरे तू दूतों के सञ्चार से हीन है (अर्थात् तेरे चर सर्वत्र नियुक्त नहीं हैं) फिर देवता, गन्धर्व और दानवों से वैर कर, तू किस प्रकार राज्य कर सकता है ॥ ७ ॥

---

१ अयुक्तचारं—अनियोजितचारं । (गो०) २ दुर्दर्शं—उचितकाले सभायां प्रजादर्शनप्रदान रहित । (गो०) ३ अस्वाधीनं—पत्न्यादिपरतंत्रं परप्रत्ययनेय बुद्धिवा (गो०) ४ विषयं—स्वराज्यं । (गो०) ५ अस्वाधीनं—पूर्वं स्वाधीन देशं पश्चात् परायत्त । (रा०)

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस ।
ज्ञातव्यं तु न जानीषे कथं राजा भविष्यसि ॥ ८ ॥

तू बालक की तरह विवेकशून्य और बुद्धिहीन है। इसीसे तुझे जो बात जाननी चाहिये उसे भी तू नहीं जानता, भला फिर किस तरह अपने राज्य की रक्षा कर सकेगा? ॥ ८ ॥

येषां चारश्च कोशश्च नयश्च जयतांवर ।
अस्वाधीना नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः ॥ ९ ॥

हे जीतनेवालों में श्रेष्ठ! जिन राजाओं के अधीन उनके चर (जासूस), धनागार और राजनीति नहीं है, (अर्थात् जो राजनीति स्वयं न जान कर, अपने मंत्रियों के ऊपर निर्भर हैं) वे राजा साधारण जनों के समान हैं ॥ ९ ॥

यस्मात्पश्यन्ति दूरस्थान्सर्वानर्थान्नराधिपाः ।
चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः ॥ १० ॥

राजा लोग दूर के समस्त वृत्तान्तों को चरों (जासूसों) को नियुक्त कर, उनके द्वारा मानों (स्वयं) देखते रहते हैं। इसीसे वे "दीर्घचक्षु" "दूर दृष्टि वाले", कहलाते हैं ॥ १० ॥

अयुक्तचारं मन्ये त्वां प्राकृतैः सचिवैर्वृतम् ।
स्वजनं तु जनस्थानं[1] हतं यो नावबुध्यसे ॥ ११ ॥

मैं जानती हूँ कि, तूने कहीं भी जासूस नियत नहीं किये और तू साधारण बुद्धि वाले मंत्रियों में उठा बैठा करता है। इसीसे तुझे जनस्थानवासी अपने कुटुम्बियों के नष्ट होने का कुछ भी हाल नहीं मालूम ॥ ११ ॥

---

१ जनस्थानं—जनस्थानस्थितं। (गो०)

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां क्रूरकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण खरश्च सहदूषणः ॥ १२ ॥

खर और दूषण के सहित चौदह हज़ार क्रूरकर्मा (कठोर कर्म करने वाले) राक्षसों को अकेले एक श्रीराम ने मार डाला ॥ १२ ॥

ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ।
धर्षितं च जनस्थानं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ १३ ॥

(इतना ही नहीं) अक्लिष्टकर्मा राम ने ऋषियों को अभय (निर्भय) कर दिया, दण्डकवन में शान्ति स्थापित कर दी और जनस्थान को उजाड़ डाला ॥ १३ ॥

त्वं तु लुब्धः प्रमत्तश्च पराधीनश्च रावण ।
विषये स्वे समुत्पन्नं भयं यो नावबुध्यसे ॥ १४ ॥

तू कामलोलुप, मदमत्त और पराधीन होने के कारण, अपने ऊपर आती हुई विपत्ति को नहीं समझता ॥ १४ ॥

तीक्ष्णमल्पप्रदातारं प्रमत्तं गर्वितं शठम् ।
व्यसने सर्वभूतानि नाभिधावन्ति पार्थिवम् ॥ १५ ॥

जो राजा क्रूर स्वभाव वाला, थोड़ा देने वाला अर्थात् कृपण, मदमत्त, अभिमानी और धूर्त होता है, उस राजा को विपत्ति के समय, कोई भी सहायता नहीं देता ॥ १५ ॥

अतिमानिनमग्राह्य[1]मात्म[2]सम्भावितं नरम् ।
क्रोधनं[3] व्यसने[4] हन्ति स्वजनोऽपि महीपतिम् ॥ १६ ॥

---

१ अग्राह्यं सद्भिरितिशेषः । (गो०) २ आत्मना—स्वेनैवबहुमानंप्राप्तः । (गो०) ३ क्रोधनं—अस्थाने क्रोधवन्तं । (गो०) ४ व्यसने—व्यसनेकाले । (गो०)

जो राजा अत्यन्त अभिमानी होता है, जिसे सज्जन लोग पसंद नहीं करते, जो स्वयं अपने को बड़ा प्रतिष्ठित समझता है, जो अनुचित क्रोध करता है, ऐसे राजा के ऊपर दुःख पड़ने पर, उसके निकट सम्बन्धी भी उसका वध करते हैं ॥ १६ ॥

नानुतिष्ठति कार्याणि भयेषु न बिभेति च ।
क्षिप्रं राज्याच्च्युतो दीनस्तृणैस्तुल्यो भविष्यति ॥ १७ ॥

जो राजा अपने कर्तव्य का यथावत् पालन नहीं करता, भय उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता, ऐसा राजा शीघ्र राज्यच्युत होने के कारण दीन हो, तिनके के समान अर्थात् तुच्छ हो जाता है ॥ १७ ॥

शुष्कैः काष्ठैर्भवेत्कार्यं लोष्टैरपि च पांसुभिः ।
न तु स्थानात्परिभ्रष्टैः कार्यं स्याद्वसुधाधिपैः ॥ १८ ॥

सूखी लकड़ी, ढेला और धूल से भी अनेक कार्य हो सकते हैं; किन्तु राज्यभ्रष्ट राजा से कोई काम नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

उपभुक्तं यथा वासः स्रजो वा मृदिता यथा ।
एवं राज्यात्परिभ्रष्टः समर्थोऽपि निरर्थकः ॥ १९ ॥

जैसे पहिना हुआ कपड़ा और मर्दन की हुई माला दूसरे के काम की नहीं, वैसे ही राज्यभ्रष्ट राजा सामर्थ्यवान हो कर भी निरर्थक समझा जाता है ॥ १९ ॥

अप्रमत्तश्च यो राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रियः ।
कृतज्ञो धर्मशीलश्च स राजा तिष्ठते चिरम् ॥ २० ॥

और जो राजा इन्द्रियों को अपने वश में कर के, सावधान रहता और अपने तथा दूसरे राज्यों का समस्त वृत्तान्त जानता रहता है,

जो कृतज्ञ (किये हुए उपकार को मानने वाला) और धर्म में रत रहता है, वह बहुत काल तक राजपद पर स्थित रहता है ॥ २० ॥

नयनाभ्यां प्रसुप्तोऽपि जागर्ति नयचक्षुषा ।
व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ॥ २१ ॥

जो राजा आँखों को बंद किये सोते रहने पर भी नीति-शास्त्र रूपी आँखों से जागता रहता है, जिसका क्रोध और प्रसन्नता यथा समय प्रकट होती है अथवा जिसका क्रोध और प्रसन्नता व्यर्थ नहीं जाती, उस राजा का लोग सम्मान करते हैं ॥ २१ ॥

त्वं तु रावण दुर्बुद्धिर्गुणैरेतैर्विवर्जितः ।
यस्य तेऽविदितश्चारै रक्षसां सुमहान्वधः ॥ २२ ॥

हे रावण ! तू बुद्धिहीन होने के कारण इन सद्गुणों से रहित है । इसीसे तो तुझे इतने बड़े राक्षसों के संहार का जासूसों द्वारा कुछ भी वृत्तान्त न जान पड़ा ॥ २२ ॥

परावमन्ता[1] विषयेषु सङ्गतो
न देशकालप्रविभागतत्त्ववित् ।
अयुक्तबुद्धिर्गुणदोषनिश्चये
विपन्नराज्यो न चिराद्विपत्स्यसे ॥ २३ ॥

तू शत्रुओं की उपेक्षा करता है और भोग विलास में मस्त रहता है। इसीसे तुझे देश काल के विभागों का तत्व नहीं मालूम और इसीसे तेरी बुद्धि में गुण दोष विवेचन की सामर्थ्य नहीं है। अतएव तुझे शीघ्र ही विपद्ग्रस्त और राज्यभ्रष्ट होना पड़ेगा ॥ २३ ॥

---

१ परावमन्ता—शत्रुषूपेक्षावान् । (गो०)

इति स्वदोषान्परिकीर्तितांस्तया
समीक्ष्य बुद्धया क्षणदाचरेश्वरः ।
धनेन दर्पेण बलेन चान्वितो
विचिन्तयामास चिरं स रावणः ॥ २४ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

धन, बल, और अभिमान से युक्त राक्षसेन्द्र रावण, शूर्पणखा के बतलाए हुए दोषों को बुद्धि से विचार कर, बहुत देर तक मन ही मन सोचता रहा ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का तेतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—※—

ततः शूर्पणखां क्रुद्धां ब्रुवन्तीं परुषं वचः ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धः परिपप्रच्छ रावणः ॥ १ ॥

तदनन्तर क्रोध में भर कठोर वचन कहने वाली शूर्पणखा से मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण ने, अत्यन्त क्रुध हो पूँछा ॥ १ ॥

कश्च रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः ।
किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टः स दुरासदम् ॥ २ ॥

राम कौन है ? किस प्रकार का उसका बल है ? उसका रूप और पराक्रम कैसा है ? ऐसे दुस्तर दण्डकवन में वह क्यों आया है ॥ २ ॥

आयुधं किं च रामस्य निहता येन राक्षसाः ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ॥ ३ ॥

उसने किस आयुध से खर, दूषण और त्रिशिरा सहित १४ हज़ार राक्षसों को युद्ध में मारा ॥ ३ ॥

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ४ ॥

जब राक्षसराज रावण ने इस प्रकार कहा, तब शूर्पणखा मारे क्रोध के संज्ञाहीन हो गयी और श्रीरामचन्द्र जी का यथार्थ वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

दीर्घबाहुर्विशालाक्षश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ।
कंदर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः ॥ ५ ॥

वह बोली —दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र दीर्घ बाहु, विशाल नयन चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए हैं, वे कामदेव के समान सुन्दर हैं ॥ ५ ॥

शक्रचापनिभं चापं विकृष्य कनकाङ्गदम्[1] ।
दीप्तान्क्षिपति नाराचान्सर्पानिव महाविषान् ॥ ६ ॥

उनका धनुष, इन्द्र के धनुष के समान है और उसकी मूठ में जगह जगह सुवर्ण के बंद लगे हुए हैं, उस धनुष को खींच कर, चमचमाते और तेज विष वाले सर्पों के समान तीरों को वे चलाते हैं ॥ ६ ॥

---

१ कनकाङ्गदम्—कनकमयपट्टबंधं। (गो०)

नाददानं शरान्घोरान् मुञ्चन्तं शिलीमुखान् ।
न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे ॥ ७ ॥

युद्ध में जब वे बाण छोड़ते थे, तब मैं यह नहीं देख पायी कि, वे कब तरकस में से तीर निकालते, कब उसे धनुष पर रखते और कब धनुष को खींच उसे छोड़ते थे ॥ ७ ॥

हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः
इन्द्रेणेवोत्तमं सस्यमाहतं त्वश्मवृष्टिभिः ॥ ८ ॥

परन्तु जिस प्रकार इन्द्र के बरसाये ओलों से अनाज के खेत नष्ट होते हैं, उसी प्रकार उनकी बाणवृष्टि से राक्षसों की सेना का मारा जाना अवश्य मैं देखती थी ॥ ८ ॥

रक्षसां भीमरूपाणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तेनैकेन पदातिना ॥ ९ ॥

उन चौदह हज़ार भयङ्कर राक्षसों को तीक्ष्ण बाणों से अकेले और पैदल रामचन्द्र ने मार डाला ॥ ९ ॥

अर्धाधिकमुहूर्तेन खरश्च सहदूषणः ।
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ॥ १० ॥

तीन घड़ी में रामचन्द्र ने खर और दूषण सहित उन १४ हज़ार राक्षसों को मार कर, दण्डकवन में राक्षसों का उपद्रव शान्त कर, ऋषियों को अभय कर दिया ॥ १० ॥

एका कथञ्चिन्मुक्ताऽहं परिभूय महात्मना ।
स्त्रीवधं शङ्कमानेन रामेण विदितात्मना ॥ ११ ॥

उन विदितात्मा एवं महाबलवान् रामचन्द्र ने, स्त्रीवध करना अनुचित जान, केवल मुझे किसी तरह छोड़ दिया ॥ ११ ॥

भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः ।
अनुरक्तश्च भक्तश्च[1] लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १२ ॥

रामचन्द्र का छोटा भाई लक्ष्मण, पराक्रमी और महातेजस्वी है। गुणों में तथा पराक्रम में वह अपने भाई ही के समान है। वह अपने भाई में अनुरागवान् भी है और उनकी सेवा में भी लगा रहता है ॥ १२ ॥

अमर्षी[2] दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान्बली ।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिश्चरः ॥ १३ ॥

लक्ष्मण अपने बड़े भाई के प्रति अपराध करने वाले का अपराध सह नहीं सकता। वह स्वयं किसी से जीता भी नहीं जा सकता। वह बड़ा पराक्रमी बुद्धिमान् और बलवान है। वह रामचन्द्र का दहिना हाथ अथवा शरीर के बाहिर रहने वाला प्राण है। अर्थात् अत्यन्त प्रिय है ॥ १३ ॥

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना ।
धर्मपत्नी प्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते रता ॥ १४ ॥

रामचन्द्र जी की जो धर्मपत्नी है उसके बड़े बड़े नेत्र हैं अ उसका चेहरा पूर्णिमासी के चन्द्रमा की तरह सुन्दर है। वह रामचन्द्र को अत्यन्त प्रिय है और सदा रामचन्द्र जी के हितसाधन में और प्रिय कामों के करने में तत्पर रहती है ॥ १४ ॥

सा सुकेशी सुनासोरुः सुरूपा च यशस्विनी ।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा ॥ १५ ॥

---

१ भक्तश्च—तत्कार्यभजनशीलः। (गो०) २ अमर्षी—रामापराध असहन शीलः। (रा०)

उस यशस्विनी रामचन्द्र जी की भार्या के केश नासिका, ऊरू और रूप अति उत्तम हैं। वह उस वन की अधिष्ठात्री देवी और दूसरी लक्ष्मी की तरह वहां शोभा को प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुङ्गनखी शुभा ।
सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा ॥ १६ ॥

तपाये सोने की तरह तो उसके शरीर का वर्ण है। उसके नख लाल और उभरे हुए हैं। उस पतली कमर वाली सुन्दरी का नाम सीता है और वह विदेहराज की पुत्री है। वह शुभ लक्षणों वाली है (अर्थात् स्त्रियों के लिये जो शुभ लक्षण सामुद्रिक शास्त्र में बतलाये गये हैं, उनसे वह युक्त है।) ॥ १६ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी ।
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ १७ ॥

उसके सौन्दर्य्य के टक्कर की न तो कोई देवी है, न कोई गन्धर्वी है, न कोई यक्षिणी है न कोई किन्नरी है। इस धराधाम पर तो मैंने ऐसी सुन्दरी स्त्री इसके पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १७ ॥

यस्य सीता भवेद्भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत् ।
अतिजीवेत्स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरन्दरात् ॥ १८ ॥

वह सीता जिसकी भार्या हो और जिसे वह प्रसन्न हो, अपनी छाती से लगा ले, वह पुरुष सब लोगों ही से नहीं, किन्तु इन्द्र से भी बढ़ कर सुखी हो, जीवन व्यतीत करे ॥ १८ ॥

सा सुशीला वपुःश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
तवानुरूपा भार्या स्यात्त्वं च तस्यास्तथा पतिः ॥ १९ ॥

वह सुशीला, प्रशंसनीय शरीर वाली और इस भूतल पर अनुपमरूप वाली सीता तेरी ही भार्या होने योग्य है और तू ही उसका पति होने योग्य है। अथवा तेरे ही योग्य वह भार्या है और तू ही उसका योग्य पति है ॥ १९ ॥

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
भार्यार्थे च तवानेतुमुद्यताहं वराननाम् ॥ २० ॥

इसीसे मैं उस विशाल जांघोंवाली और उभड़े हुए कुचों वाली सुन्दरी को तेरी भार्या बनाने के लिये, ले आने को गयी थी ॥ २० ॥

विरूपिताऽस्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज ।
तां तु दृष्ट्वाऽद्य वैदेहीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ २१ ॥

किन्तु हे महाभुजा वाले! उस निर्दयी लक्ष्मण ने मेरे दोनों कान और मेरी नाक काट डाली। उस पूर्ण चन्द्रवदनी वैदेही को देखते ही ॥२१॥

मन्मथस्य शराणां वै त्वं विधेयो भविष्यसि ।
यदि तस्यामभिप्रायो भार्यार्थे तव जायते ।
शीघ्रमुद्ध्रियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः ॥ २२ ॥

तू कामदेव के बाणों का लक्ष्य बन जायगा। यदि तू उसे अपनी स्त्री बनाना चाहता हो, तो शीघ्र अपने विजय (अर्थात् कार्य सिद्धि) के लिये अपना दहिना पैर उठा ॥ २२ ॥

[नोट—यदि किसी कार्य की सिद्धि के लिये जाना हो, तो चलने के समय सब से प्रथम दहिना पैर उठा कर चले।]

रोचते यदि ते वाक्यं ममैतद्राक्षसेश्वर ।
क्रियतां निर्विशङ्केन वचनं मम रावण ॥ २३ ॥

हे राक्षसेश्वर! यदि मेरा कहना तुझे पसन्द हो, तो मैंने जो कहा है, उसके अनुसार शङ्का त्याग कर, कार्य आरम्भ कर ॥ २३ ॥

विज्ञायेहात्मशक्तिं च ह्रियतामबला बलात् ।
सीता सर्वानवद्याङ्गी भार्यार्थे राक्षसेश्वर ॥ २४ ॥

हे राक्षसेश्वर! पहले अपने बल पौरुष का विचार कर, तदनन्तर उस सर्वाङ्गसुन्दरी अबला सीता को अपनी स्त्री बनाने के लिये, बलपूर्वक हर ला ॥ २४ ॥

निशम्य रामेण शरैरजिह्मगै-
र्हताञ्जनस्थानगतान्निशाचरान् ।
खरं च बुद्ध्वा निहतं च दूषणं
त्वमत्र कृत्यं [1]प्रतिपत्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

हे रावण! खरदूषण सहित जनस्थानवासी राक्षसों का रामचन्द्र के बाणों से वध हुआ है, यह जान कर, अब जो कुछ करना हो, सो समझ बूझ कर, तू कर ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चत्रिंशः सर्गः ।

—※—

ततः शूर्पणखावाक्यं तच्छ्रुत्वा रोमहर्षणम् ।
सचिवानभ्यनुज्ञाय कार्यं बुद्ध्वा जगाम सः ॥ १ ॥

---

१ प्रतिपत्तुं—ज्ञातुं । (गो०)

शूर्पणखा के ऐसे रोमाञ्चकारी वचनों को सुन, सचिवों को विदा कर तथा कर्त्तव्य निश्चित कर, रावण जाने को तैयार हुआ ॥ १ ॥

तत्कार्यमनुगम्याथ यथावदुपलभ्य च ।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २ ॥

वह मन ही मन अपने कर्त्तव्यकर्म को विचारता और उसके गुण दोषों के बलाबल को सोचता हुआ, चला जाता था ॥ २ ॥

इति कर्तव्यमित्येव कृत्वा निश्चयमात्मनः ।
स्थिरबुद्धिस्ततो रम्यां यानशालामुपागमत् ॥ ३ ॥

आगे के कर्त्तव्य को मन में निश्चित कर और स्थिरबुद्धि हो वह अपने रमणीक गाड़ीख़ाने में गया ॥ ३ ॥

यानशालां ततो गत्वा प्रच्छन्नो राक्षसाधिपः ।
सूतं संचोदयामास रथः संयोज्यतामिति ॥ ४ ॥

चुपचाप गाड़ीख़ाने में जा, राक्षसेश्वर ने सारथी को रथ जोत कर तैयार करने की आज्ञा दी ॥ ४ ॥

एवमुक्तः क्षणेनैव सारथिर्लघुविक्रमः ।
रथं संयोजयामास तस्याभिमतमुत्तमम् ॥ ५ ॥

रावण की आज्ञा के अनुसार फुर्तीले सारथी ने, रावण का वह उत्तम रथ, जो उसे पसंद था, क्षण भर में जोत कर तैयार किया ॥ ५ ॥

काञ्चनं रथमास्थाय कामगं रत्नभूषितम् ।
पिशाचवदनैर्युक्तं खरैः कनकभूषणैः ॥ ६ ॥

रावण उस इच्छाचारी, सुवर्णरचित तथा रत्नविभूषित रथ में, जिसमें पिशाच तुल्य मुख वाले खच्चर जुते थे, बैठा ॥ ६ ॥

मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः ।
राक्षसाधिपतिः श्रीमान्ययौ नदनदीपतिम् ॥ ७ ॥

चलते समय मेघ तुल्य शब्द करने वाले उस रथ पर, कुवेर का छोटा भाई राक्षसेश्वर श्रीमान् रावण सवार हो, समुद्र की ओर रवाना हुआ ॥ ७ ॥

स श्वेतवालव्यजनः श्वेतच्छत्रो दशाननः ।
स्निग्धवैडूर्यसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ॥ ८ ॥

उस समय रावण श्वेत छत्र और श्वेत चँवर से शोभायमान हो रहा था। रावण के शरीर की कान्ति वैडूर्य मणि की तरह थी, और वह कानों में बढ़िया सोने के कुण्डल पहिने हुए था ॥ ८ ॥

विंशद्भुजो दशग्रीवो दर्शनीयपरिच्छदः[1] ।
त्रिदशारिर्मुनीन्द्रघ्नो दशशीर्ष इवाद्रिराट् ॥ ९ ॥

उसके दस मुख, बीस भुजा थीं और उसका देखने योग्य अन्य सामान था। वह देवताओं और मुनियों का घातक था और दस सिरों से युक्त होने के कारण, वह दसशिखर वाले पर्वत जैसा देख पड़ता था ॥ ९ ॥

कामगं रथमास्थाय शुशुभे राक्षसेश्वरः ।
विद्युन्मण्डलवान्मेघः सबलाक इवाम्बरे ॥ १० ॥

---

१ दर्शनीयपरिच्छदः—दर्शनीयसामग्री विशिष्टः । (शि०)

उस इच्छाचारी रथ में बैठा हुआ रावण ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि, बिजली से युक्त और बगलों की पंक्ति से भूषित बादल आकाश में शोभित होता है ॥ १० ॥

सशैलं सागरानूपं[1] वीर्यवानवलोकयन् ।
नानापुष्पफलैर्वृक्षैरनुकीर्णं सहस्रशः ॥ ११ ॥

उस पराक्रमी रावण ने जाते हुए, पहाड़ युक्त समुद्र तट, (अथवा समुद्र का पहाड़ी तट) जहाँ पर हज़ारों फूले फले वृक्ष लगे थे, देखा ॥ ११ ॥

शीतमङ्गलतोयाभिः[2] पद्मिनीभिः समन्ततः ।
विशालैराश्रमपदैर्वेदिमद्भिः समावृतम् ॥ १२ ॥

शीतल और निर्मल जल से भरे और चारों ओर कमल पुष्पों से सुशोभित तालाबों, तथा चारो ओर चबूतरों से घिरे हुए बड़े बड़े आश्रमों से वह देश शोभित था ॥ १२ ॥

कदल्या ढकि[3]संबाधं नालिकेरोपशोभितम् ।
सालैस्तालैस्तमालैश्च पुष्पितैस्तरुभिर्वृतम् ॥ १३ ॥

केलों का वन चारों ओर लगा था, भोज्य अन्न की राशि एकत्र थी । नारियल के वृक्ष शोभायमान् थे । शाल, ताल, तमाल आदि नाना प्रकार के फूले हुए पेड़ लगे थे ॥ १३ ॥

नागैः सुपर्णैर्गन्धर्वैः किन्नरैश्च सहस्रशः ।
अजैः[4]वैखानसैः[5]माषैः[6]वालखिल्यैर्मरीचिपैः[7] ॥ १४ ॥

---

१ सागरानूपं—समुद्रतीरं । (गो०) २ मङ्गलतोयाभिः—शुभजलाभिः । (गो०) ३ आढकिः—सूपोपयुक्तधान्यस्तम्बः । (गो०) ४ अजैः—अयोनिजैः । (गो०) ५ वैखानसैः—ब्रह्मनखजैः । (गो०) ६ माषैः माषगोत्रजैः । (गो०) ७ मरीचिपैः—रविकिरणपानव्रतनिष्ठैः । (गो०)

नाग, गरुड़, गन्धर्व और सहस्रों किन्नरों से वह स्थान परिपूर्ण था। अयोनिज वैखानस, (अर्थात् ब्रह्मपुत्र) माष गोत्रज, वालखिल्य, सूर्य की किरणें पी कर अनुष्ठान करने वाले तपस्वियों ॥ १४ ॥

अत्यन्तानियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः ।
जितकामैश्च सिद्धैश्च चारणैरुपशोभितम् ॥ १५ ॥

तथा अत्यन्त अल्प आहार करने वाले महर्षियों से वह स्थान सुशोभित था। काम को जीतने वाले सिद्ध एवं चारण उस स्थान को शोभित कर रहे थे ॥ १५ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिर्दिव्यरूपाभिरावृतम् ।
क्रीडारतिविधिज्ञाभिरप्सरोभिः सहस्रशः ॥ १६ ॥

वहाँ पर, दिव्य आभूषण और दिव्य पुष्पहारों से भूषित, दिव्य रूप वालीं और क्रीड़ा व रति की विधि जानने वालीं हज़ारों अप्सराएँ भी थीं ॥ १६ ॥

सेवितं देवपत्नीभिः श्रीमतीभिः श्रिया वृतम् ।
देवदानवसङ्घैश्च चरितं त्वमृताशिभिः ॥ १७ ॥

वहाँ पर देवताओं की शोभायुक्त, सुथरी स्त्रियाँ भी घूम फिर रही थीं। अमृत पीने वाले देवताओं तथा दानवों के दल के दल वहाँ विचर रहे थे ॥ १७ ॥

हंसक्रौञ्चप्लवा[1]कीर्णं सारसैः सम्प्रणादितम् ।
वैडूर्यप्रस्तरं[2] रम्यं स्निग्धं सागरतेजसा[3] ॥ ॥ १८ ॥

१ प्लवाः—जलकुक्कुटाः । (गो०) २ वैडूर्यप्रस्तरं—वैडूर्यमयाःप्रस्तराः। (गो०) ३ सागरतेजसा—सागरोर्मिवैभवेन स्निग्धंसार्द्रं शीतलम्। (रा०)

वह स्थान, हंस, क्रौंच, जलकुक्कुट (अथवा मेंढ़क) और सारसों से परिपूर्ण था। वैडूर्यमणि की शिला वहाँ बिछी थीं, समुद्र की लहरों के हिलोरों से वह स्थान सदा ही रमणीक और शीतल बना रहता था ॥ १८॥

पाण्डराणि विशालानि दिव्यमाल्ययुतानि च।
तूर्यगीताभिजुष्टानि विमानानि समन्ततः ॥ १९ ॥

रावण ने सफेद, बड़े बड़े और दिव्य पुष्पों की मालाओं से सजे हुए, विमानों को, जिनमें गाना बजाना हो रहा था, वहाँ पर हर तरफ उड़ते हुए देखा ॥ १९ ॥

तपसा जितलोकानां कामगान्यभिसम्पतन्[1]।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ददर्श धनदानुजः ॥ २० ॥

जिन लोगों ने अपने तप के फल से अनेक लोकों में जाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है, उनके विमान कुबेर के भाई रावण को रास्ते में मिले। कुबेर के छोटे भाई अर्थात् रावण ने, गन्धर्व और-अप्सराओं को भी वहाँ देखा ॥ २० ॥

निर्यासरसमूलानां[2] चन्दनानां सहस्रशः।
वनानि पश्यन्सौम्यानि घ्राणतृप्तिकराणि च ॥ २१ ॥

वहाँ पर रावण ने सुगंध से नासिका को तृप्त करने वाले हज़ारों चन्दन के वृक्षों तथा हींग के वृक्षों के वन देखे ॥ २१ ॥

अगरूणां च मुख्यानां वनान्यु[3]पवनानि[4] च।
तक्कोलानां[5] च जात्यानां[6] फलानां च सुगन्धिनाम् ॥ २२

---

१ अभिसम्पतन्—मार्गवशात् प्राप्नुवन्। (गो०) २ निर्यासरसमूलानां—हिंगुरूप निर्यासरसयुक्तमूलानां। (गो०) ३ वनानि—अकृत्तिमाणि। (गो०) ४ उपवनानि—कृत्तिमाणि। (गो०) ५ तक्कोलानां—गन्धद्रव्याणां। (गो०) ६ जात्यानां—जातिभवानां। (गो०)

अगर के वनों (अकृत्रिम) और उपवनों (कृत्रिम) को, और उत्तम फलों सहित, तथा सुगन्धित फलों से लदे अच्छी जाति के तकाल नामक वृक्षों को रावण ने रास्ते में देखा ॥ २२ ॥

पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि [1]मरिचस्य च ।
मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि [2]तीरतः ॥ २३ ॥

तमाल के फूलों को, कालीमिर्च के छोटे वृक्षों को, मोतियों के ढेर को, जो समुद्र के तट पर पड़े सूख रहे थे, रावण ने देखा ॥ २३ ॥

शङ्खानां प्रस्तरं[3] चैव प्रवालनिचयं[4] तथा ।
काञ्चनानि च शैलानि राजतानि च सर्वशः ॥ २४ ॥

शङ्खों के ढेर और मूंगों के ढेर और सोने तथा चाँदी के पहाड़ों को, जो चारों तरफ थे, उसने देखा ॥ २४ ॥

प्रस्रवाणि मनोज्ञानि प्रसन्नानि ह्रदानि च ।
धनधान्योपपन्नानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च ॥ २५ ॥

उसने मनोहर झरने तथा निर्मल जल के कुण्ड देखे । फिर ऐसे नगर देखे, जो धन धान्य और सुन्दर स्त्रियों से परिपूर्ण थे ॥ २५ ॥

हस्त्यश्वरथगाढानि नगराण्यवलोकयन् ।
तं समं सर्वतः स्निग्धं मृदुसंस्पर्शमारुतम् ॥ २६ ॥

उनमें हाथी घोड़े भरे हुए थे । वे घरों की पंक्तियों से युक्त थे । ऐसे कितने ही नगर रावण ने देखे । रावण ने, शीतल, मन्द-सुगन्ध पवन सहित समुद्र का तट, जो स्वर्ग जैसा सुन्दर जान पड़ता था देखा ॥ २६ ॥

---

१ मरिचस्य—मरीचस्य । (गो०) २ तीरतः—तीरे । (गो०) ३ प्रस्तरं—समूहं । (गो०) ४ निचयं—समूहं । (गो०)

अनूपं सिन्धुराज्यस्य ददर्श त्रिदिवोपमम् ।
तत्रापश्यत्स मेघाभं न्यग्रोध मृषिभिर्वृतम् ॥ २७ ॥

रावण चलते, चलते वहाँ पहुँचा जहाँ एक बड़ा भारी बरगद का पेड़ था और जो मेघ के समान बड़ा और मुनियों से सेवित था ॥२७॥*

समन्ताद्यस्य ताः शाखाः शतयोजन मायताः ।
यस्य हस्तिनमादाय महाकायं च कच्छपम् ॥ २८ ॥

उसकी शाखाएं चारों ओर सौ योजन (चार सौ कोस) के घेरे में फैली हुई थीं। किसी समय महाबलवान गरुड़ जी एक बड़े भारी हाथी और कछुए को ॥ २८ ॥

भक्षार्थं गरुड़ः शाखामाजगाम महाबलः ।
तस्य तां सहसा शाखां भारेण पतगोत्तमः ॥ २९ ॥

लेकर खाने के लिये उस पेड़ की शाखा पर आ बैठे थे। गरुड़ जी तथा उन दोनों जानवरों के बोझ से उसकी शाखा सहसा (टूट गयी) ॥ २९ ॥

सुपर्णः पर्णबहुलां बभञ्ज च महाबलः ।
तत्र वैखानसा माषा बालखिल्या मरीचिपाः ॥ ३० ॥
अजा बभूवुर्धूम्राश्च सङ्गताः परमर्षयः ।
तेषां दयार्थं गरुडस्तां शाखां शतयोजनाम् ॥ ३१ ॥
जगामादाय वेगेन तौ चोभौ गजकच्छपौ ।
एकपादेन धर्मात्मा भक्षयित्वा तदामिषाम् ॥ ३२ ॥

वह शाखा जो टूटी थी, उसमें बहुत पत्ते लगे हुए थे। इसी शाखा पर वैखानस, माष, मरीचिप, बालखिल्य, अज और

---

* २७ वे श्लोक के प्रथम पाद का अर्थ २६ वे श्लोक के अर्थ में सम्मिलित है।

धूम्र आदि बड़े बड़े ऋषि इकट्ठे थे। इन महार्षियों पर अनुग्रह कर गरुड़ जी ने उस सौ योजन वाली शाखा को एक पैर से और उन दोनों जन्तुओं को दूसरे पैर से पकड़ा। फिर वहाँ से बड़े वेग से गरुड़ जी चले गये। दूसरे पैर से गज और कच्छप को दबा, गरुड़ ने उनका माँस खाया ॥ ३०॥३१॥३२ ॥

निषादविषयं हत्वा शाखया पतगोत्तमः ।
प्रहर्षमतुलं लेभे मोक्षयित्वा महामुनीन् ॥ ३३ ॥

फिर उस शाखा से निषादों के देश का संहार कर और उन मुनियों को बचा कर वे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३३ ॥

स तेनैव प्रहर्षेण द्विगुणीकृतविक्रमः ।
अमृतानयनार्थं वै चकार मतिमान्मतिम् ॥ ३४ ॥

उस हर्ष के कारण मतिमान गरुड़ जी का पराक्रम दूना हो गया और उन्होंने अमृत लाने के लिए उद्योग किया ॥ ३४ ॥

अयोजालानि निर्मथ्य भित्त्वा रत्नमयं गृहम् ।
महेन्द्रभवनाद्गुप्तमाजहारामृतं ततः ॥ ३५ ॥

गरुड़ जी लोहे के जाल को काट और रत्ननिर्मित घर को फोड़, इन्द्र के घर में सुरक्षित रखे हुए अमृत को ले आये ॥ ३५ ॥

तं महर्षिगणैर्जुष्टं सुपर्णकृतलक्षणम् ।
नाम्ना सुभद्रं न्यग्रोधं ददर्श धनदानुजः ॥ ३६ ॥

सो रावण, उस गरुड़ चिन्हित तथा महर्षिगण सेवित सुभद्र नामक वट वृक्ष को देखता हुआ ॥ ३६ ॥

तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः ।
ददर्शाश्रममेकान्ते रम्ये पुण्ये वनान्तरे ॥ ३७ ॥

तत्र कृष्णाजिनधरं जटावल्कलधारिणम् ।
ददर्श नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम् ॥ ३८ ॥

समुद्र के उस पार जा कर रावण ने एकान्त, पवित्र और रमणीक वन प्रदेश में कृष्ण-मृग-चर्म को ओढ़े हुए और जटाजूट सिर पर रखाये, नियमित आहार करने वाले मारीच नामक राक्षस को देखा ॥३७॥३८॥

स रावणः समागम्य विधिवत्तेन रक्षसा ।
मारीचेनार्चितो राजा[1]सर्वकामैरमानुषैः ॥ ३९ ॥

रावण को देख, मारीच ने ऐसी भोग्य वस्तुओं से, जो मनुष्यों को मिलनी दुर्लभ हैं, विधिपूर्वक उसका सत्कार किया ॥ ३९ ॥

तं स्वयंपूजयित्वा तु भोजनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥

मारीच ने भोजन के लिये भोज्य पदार्थ और पीने के लिये जल स्वयं दे, रावण की पूजा कर, यह अर्थयुक्त वचन कहा ॥ ४० ॥

कच्चित्सुकुशलं राजन्लङ्कायां राक्षसेश्वर ।
केनार्थेन पुनस्त्वं वै तूर्णमेवमिहागतः ॥ ४१ ॥

हे राक्षसेश्वर! कहिये आपकी लङ्का में सब कुशल तो है। आपके पुनः इतनी जल्दी यहाँ आने का क्या कारण है ॥ ४१ ॥

---

१ सर्वकामैः—सर्वभोग्यवस्तुभिः । (गो०)

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।
तं तु पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥ ४२ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

जब मारीच ने यह कहा, तब वचन बोलने में निपुण महातेजस्वी रावण ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ ४२ ॥

अरण्यकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ

—*—

षट्त्रिंशः सर्गः

—*—

मारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः ।
आर्तोऽस्मि मम चार्तस्य भवान्हि परमा गतिः ॥ १ ॥

हे तात मारीच ! मैं जो कहता हूँ उसे तुम सुनो । इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ । तुम ही मेरा इस दुःख से निस्तार कर सकते हो ॥ १ ॥

जानीषे त्वं जनस्थाने यथा भ्राता खरो मम ।
दूषणश्च महाबाहुः स्वसा शूर्पणखा च मे ॥ २ ॥
त्रिशिराश्च महातेजा राक्षसः पिशिताशनः ।
अन्ये च बहवः शूरा लब्धलक्षा[1] निशाचराः ॥ ३ ॥
वसन्ति मन्नियोगेन नित्यवासं च राक्षसाः ।
बाधमाना महारण्ये मुनीन्वै धर्मचारिणः ॥ ४ ॥

---

१ लब्धलक्षाः — लब्धयुद्धोत्साहाः । (रा०)

तुम उस स्थान को तो जानते ही हो, जिस स्थान में मेरा भाई खर और महाबाहु दूषण मेरी बहिन शूर्पणखा महातेजस्वी और मांस भोजी त्रिशिरा राक्षस तथा बहुत से अन्य शूरवीर, युद्ध में उत्साही राक्षस लोग, मेरी आज्ञा से बसते थे। वे सब राक्षस महावन में धर्मचारी ऋषियों के अनुष्ठान में विघ्न डाला करते थे ॥२॥३॥४॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
शूराणां लब्धलक्षाणां खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

इन सब राक्षसों की संख्या १४ हज़ार थी। ये सब के सब भयङ्कर कर्म करने वाले, शूरवीर युद्ध करने में उत्साही और खर की मर्ज़ी के मुताबिक काम करने वाले थे ॥५॥

ते त्विदानीं जनस्थाने वसमाना महाबलाः ।
सङ्गताः परमायत्ता रामेण सह संयुगे ॥ ६ ॥

वे महाबली इन दिनों जनस्थान में रहते थे। वे श्रीरामचन्द्र के साथ जूझ मरे ॥६॥

नानाप्रहरणोपेतः खरप्रमुखराक्षसाः ।
तेन सञ्जातरोषेण रामेण रणमूर्धनि ॥ ७ ॥

विविध भाँति के आयुध में खर प्रमुख राक्षस गण युद्धक्षेत्र में उपस्थित हुए थे। श्रीरामचन्द्र ने क्रोध में भर उस युद्ध-क्षेत्र में, ॥७॥

अनुक्त्वा परुषं किञ्चिच्छरैर्व्यापारितं धनुः ।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसामुग्रतेजसाम् ॥ ८ ॥
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैर्मानुषेण पदातिना ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः ॥ ९ ॥

एक भी कठोर वचन न कह कर, बाण छोड़ना आरम्भ कर दिया और १४,००० उग्रतेजा राक्षसों को मनुष्य श्रीरामचन्द्र ने पांव पियादे ही पैने बाणों से मार डाला। इस युद्ध में खर और दूषण भी मारे गये ॥ ८ ॥ ९ ॥

हतश्च त्रिशिराश्चापि निर्भया दण्डकाः कृताः ।
पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः ॥१०॥

और त्रिशिरा को भी मार कर, राम ने दण्डक-वन-वासियों को निर्भय कर दिया। राम का आचरण ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि उस क्षीण जीवन राम को पिता ने क्रोध कर स्त्री सहित घर से निकाल दिया है ॥१०॥

स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसनः ।
दुःशीलः कर्कशस्तीक्ष्णो मूर्खो लुब्धोऽजितेन्द्रियः ॥११॥

वही दुःशील, कठोर हृदय, तीक्ष्ण, मूर्ख, लोभी, अजितेंद्रिय और क्षत्रिय-कुल-कलङ्क इस राक्षस-सेना का मारने वाला है ॥११॥

त्यक्त्वा धर्ममधर्मात्मा भूतानामहिते रतः ।
येन वैरं विनारण्ये सत्त्वमाश्रित्य केवलम् ॥१२॥

वह धर्म को त्याग और अधर्म का अवलंबन कर, सदा प्राणियों का अहित किया करता है। उसने अपने बल के घमंड में आ, बिना बैर ही ॥१२॥

कर्णनासापहरणाद्भगिनी मे विरूपिता ।
तस्य भार्यां जनस्थानात्सीतां सुरसुतोपमाम् ॥१३॥

मेरी बहिन के कान नाक काट कर उसे विरूप कर दिया। अतः जनस्थान से उसकी देवकन्या तुल्य सुन्दरी भार्या सीता को ॥१३॥

आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भव ।
त्वया ह्यहं सहायेन पार्श्वस्थेन महाबल ॥१४॥
भ्रातृभिश्चसुरान्युद्धे समग्रान्नाभिचिन्तये ।
तत्सहायो भव त्वं मे समर्थो ह्यसि राक्षस ॥१५॥

ज़बरदस्ती हर लाऊँगा सो तुम इस काम में मेरी सहायता करो। हे महाबल! यदि तू मेरा सहायक बन मेरे पास रहे और मेरे भाई मेरे सहायक हों, तो मैं सारे देवताओं को भी कुछ नहीं गिनता। अतः हे राक्षस! तू मेरी सहायता कर, क्योंकि तू सहायता करने में समर्थ है ॥ १४ ॥ १५ ॥

वीर्ये युद्धे च दर्पे च न ह्यस्ति सदृशस्तव ।
उपायज्ञो महाञ्शूरः सर्वमायाविशारदः ॥१६॥

बल में, लड़ने में और दर्प में तेरे तुल्य दूसरा नहीं है। तू उपाय का जानने वाला है, बड़ा शूरवीर है तथा सब माया जानने वाला है ॥ १६ ॥

एतदर्थमहं प्राप्तस्त्वत्समीपं निशाचर ।
शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम ॥१७॥

हे निशाचर! इसी लिये मै तेरे पास आया हूँ। हे मारीच! जिस प्रकार तुम्हें मेरी सहायता करनी पड़ेगी, सो मैं बतलाता हूँ। उसे तू सुन ॥१७॥

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ।
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ॥१८॥

तू चाँदी की बूंदों से युक्त सोने का हिरन बन कर, श्रीरामचन्द्र के आश्रम में जा कर सीता के सामने चरना ॥१८॥

त्वां तु निःसंशयं सीता दृष्ट्वा तु मृगरूपिणम् ।
गृह्यतामिति भर्तारं लक्ष्मणं चाभिधास्यति ॥१९॥

ऐसे मृग का रूप धारण किये हुए तुझको देख, सीता निश्चय ही अपने स्वामी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण से कहेगी कि, इस हिरन को पकड़ लाओ ॥ १९ ॥

ततस्तयोरपाये तु शून्ये सीतां यथासुखम् ।
निराबाधो हरिष्यामि राहुश्चन्द्रप्रभामिव ॥२०॥

जब वे तुझे पकड़ने को आश्रम से दूर चले जाँयगे, तब मैं आश्रम में जा बिना किसी बाधा के सीता को उसी प्रकार हर लाऊँगा, जिस प्रकार राहु चन्द्रमा की प्रभा को हरता है ॥ २० ॥

ततः पश्चात्सुखं रामे भार्याहरणकर्शिते ।
विश्रब्धः[1] प्रहरिष्यामि कृतार्थेनान्तरात्मना[2] ॥२१॥

तदनन्तर भार्या के हर जाने से श्रीरामचन्द्र जी शोक के मारे निर्बल हो जांयगे । तब मैं कृतार्थ हो निर्भयता पूर्वक और धैर्य धारण कर तथा सहज में राम को पकड़ लूँगा ॥ २१ ॥

तस्य रामकथां श्रुत्वा मारीचस्य महात्मनः ।
शुष्कं समभवद्वक्त्रं परित्रस्तो बभूव ह ॥ २२ ॥

रावण के मुख से श्रीरामचन्द्र की चर्चा सुन, महात्मा मारीच का मुख सूख सा गया और वह बहुत ही भयभीत हो गया ॥ २२ ॥

ओष्ठौ परिलिहञ्शुष्कौ नेत्रैरनिमिषैरिव ।
मृतभूत इवार्तस्तु रावणं समुदैक्षत ॥ २३ ॥

---

१ विश्रब्धः—निःशङ्कः । (गो०) २ अन्तरात्मना—अन्तस्थ धैर्येण । (गो०)

वह मारे चिन्ता के अपने सूखे ओंठों को चाटने लगा और उसके नेत्र कुछ देर तक खुले के खुले ही रह गये (अर्थात् झपके नहीं) वह मृतक की तरह आर्त हो, रावण की ओर निहारने लगा ॥ २३ ॥

स रावणं त्रस्तविषण्णचेता
महावने रामपराक्रमज्ञः ।
कृताञ्जलिस्तत्त्वमुवाच वाक्यं
हितं च तस्मै हितमात्मनश्च ॥२४॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

वह (मारीच) पहले ही से अर्थात् महावन में खर दूषण के वध की घटना होने के पूर्व श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम को जानता था। अतः वह हाथ जोड़ कर, रावण से अपने और रावण के हित की बात बोला ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः ।

—※—

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो मारीचो राक्षसेश्वरम् ॥ १ ॥

महाप्राज्ञ राक्षसराज के यह वचन सुन, वाक्य बोलने में पटु मारीच ने उससे कहा ॥ १ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ २ ॥

हे राजन्! मुँहसोहली बात कहने वाले लोग बहुत सहज में मिल सकते हैं; किन्तु सुनने में अप्रिय और यथार्थ में हितकारी वचनों के कहने और सुनने वाले लोग संसार में कम मिलते हैं ॥ २ ॥

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यं गुणोन्नतम् ।
अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ ३ ॥

निश्चय ही तू बड़े पराक्रमी, श्रेष्ठ गुणों वाले तथा इन्द्र वरुण के तुल्य रामचन्द्र जी को नहीं जानता है। क्योंकि एक तो तूने जासूस जगह जगह नियत नहीं किये, जो तुझे ठीक ठीक वृत्तान्त बतलाते रहें, दूसरे तू चञ्चल स्वभाव का है ॥ ३ ॥

अपि स्वस्ति भवेत्तात सर्वेषां भुवि रक्षसाम् ।
अपि रामो न संक्रुद्धः कुर्याल्लोकमराक्षसम् ॥ ४ ॥

क्या रामचन्द्र से वैर बाँध कर, राक्षसकुल का कल्याण हो सकता है? कहीं क्रुद्ध हो कर रामचन्द्र इस भूलोक को राक्षसहीन न कर डालें ॥ ४ ॥

अपि ते जीवितान्ताय नोत्पन्ना जनकात्मजा ।
अपि सीतानिमित्तं च न भवेद्व्यसनं मम ॥ ५ ॥

क्या जानकी का जन्म तुम्हारा नाश करने को तो नहीं हुआ? कहीं सीता के लिये मुझे भारी सङ्कट में न फंसना पड़े ॥५॥

अपि त्वमीश्वरं प्राप्य कामवृत्तं[1] निरङ्कुशम् ।
न विनश्येत्पुरी लङ्का त्वया सह सराक्षसा ॥ ६ ॥

तुझ स्वेच्छाचारी निरङ्कुश स्वामी को पा कर, कहीं समस्त राक्षसों सहित लङ्कापुरी नष्ट न हो जाय ॥ ६ ॥

त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः [2]पापमन्त्रितः ।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः ॥ ७ ॥

तेरे जैसा यथेच्छाचारी, दुःशील, बुरे विचारों वाला, दुष्ट राजा, केवल अपने आप ही को नहीं, बल्कि आत्मीय जनों सहित अपने राष्ट्र को भी चौपट कर डालता है ॥ ७ ॥

न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथञ्चन ।
न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपांसनः ॥ ८ ॥

न तो श्रीरामचन्द्र को उनके पिता ने निकाला है, न वे कभी मर्यादा को उल्लंघन करने वाले ही हैं। न वे लोभी हैं, न दुष्ट स्वभाव हैं और न क्षत्रिय-कुल-कलङ्क हैं ॥ ८ ॥

न च धर्मगुणैर्हीनः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
न तीक्ष्णो न च भूतानां सर्वेषामहिते रतः ॥ ९ ॥

कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले रामचन्द्र धर्म और सद्गुणों से रहित नहीं हैं। न वे उग्र स्वभाव ही के हैं और न वे प्राणियों को सताते हैं, बल्कि वे तो सब के हितैषी हैं ॥ ९ ॥

वञ्चितं पितरं दृष्ट्वा कैकेय्या सत्यवादिनम् ।
करिष्यामीति धर्मात्मा तात प्रव्रजितो वनम् ॥ १० ॥

---

१ कामवृत्तं—यथेच्छाव्यापारं। (गो०) २ पापमंत्रितं—पापं दुष्टं मंत्रितं विचारो यस्यसः। (गो०)

रामचन्द्र जी, अपने सत्यवादी पिता को, कैकेयी द्वारा ठगा हुआ देख, पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये वन में चले आये हैं ॥ १० ॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं पितुर्दशरथस्य च ।
हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ११ ॥

उन्होंने कैकेयी और अपने पिता दशरथ को प्रसन्न करने के लिये राज्य और राजसी भोगों को छोड़, इस दण्डकवन में प्रवेश किया है ॥ ११ ॥

न रामः कर्कशस्तात[1] नाविद्वान्नाजितेन्द्रियः ।
अनृतं दुःश्रुतं चैव नैव त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

हे रावण ! न तो राम कठोर हृदय हैं, न मूर्ख हैं और न अजितेंद्रिय ही हैं। न वे झूठ और कर्ण-कटु वचन बोलने वाले हैं। उनके लिये तुमको ऐसा न कहना चाहिये ॥ १२ ॥

रामो विग्रहवान्धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः ।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानां मघवानिव ॥ १३ ॥

राम तो धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं, वे बड़े साधु और सत्यपराक्रमी हैं। जिस प्रकार इन्द्र देवताओं के नायक हैं, उसी प्रकार राम भी सब लोगों के नायक हैं ॥ १३ ॥

कथं त्वं तस्य वैदेहीं रक्षितां स्वेन [2]तेजसा ।
इच्छसि प्रसभं हर्तुं प्रभामिव विवस्वतः ॥ १४ ॥

---

१ कर्कशः—कठिन हृदयः । (गो०) २ स्वेन तेजसा—पातिव्रत्य वैभवेन । (गो०)

उन राम की सीता को, जो अपने पतिव्रता धर्म से आप ही सुरक्षित हैं, तुम किस प्रकार सूर्य की प्रभा की तरह बरजोरी हरना चाहते हो? ॥ १४ ॥

शरार्चिषमनाधृष्यं चापखड्गेन्धनं रणे।
रामाग्निं सहसा दीप्तं न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि ॥ १५ ॥

बाण रूपी ज्वाला से युक्त, स्पर्श के अयोग्य, धनुष रूपी इंधन से युक्त जलती हुई राम रूपी, आग में कूदने का दुस्साहस तुमको न करना चाहिये ॥ १५ ॥

धनुर्व्यादितदीप्तास्यं शरार्चिषममर्षणम्।
चापपाशधरं वीरं शत्रुसैन्यप्रहारिणम् ॥ १६ ॥
राज्यं सुखं च सन्त्यज्य जीवितं चेष्टमात्मनः।
नात्यासादयितुं तात रामान्तकमिहार्हसि ॥ १७ ॥

धनुष का चढ़ाना ही जिसका खुला हुआ प्रदीप्त मुख है। बाण ही जिसका प्रकाश है और न सहने योग्य धनुर्बाण धारण किये हुए, शत्रुसैन्य विनाशकारी राम रूपी काल का सामना कर, तुम राज्यसुख, अपने जीवन और अपने इष्ट से क्यों हाथ धोना चाहते हो ॥ १६ ॥ १७ ॥

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा।
न त्वं समर्थस्तां हर्तुं रामचापाश्रयां वने ॥ १८ ॥

जिन रामचन्द्र की भार्या सीता है, उनके तेज की तुलना नहीं है। जो सीता रामचन्द्र के धनुष के बल से रक्षित है, उन्हें तुम हरने की सामर्थ्य अपने में नहीं रखते ॥ १८ ॥

तस्य सा नरसिंहस्य सिंहोरस्कस्य भामिनी ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्या नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥

पुरुषसिंह और सिंह जैसे वक्षःस्थल वाले रामचन्द्र, अपनी पतिव्रता भार्या को, अपने प्राणों से बढ़ कर प्यारी समझते हैं ॥ १९ ॥

न सा धर्षयितुं शक्या मैथिल्योजस्विनः प्रिया ।
दीप्तस्येव हुताशस्य शिखा सीता सुमध्यमा ॥ २० ॥

वह सूक्ष्म कटि वाली सीता प्रज्ज्वलित अग्नि शिखा के समान है। रामचन्द्र जी की प्यारी मैथिली को हर लाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है ॥ २० ॥

किमुद्यममिमं व्यर्थं कृत्वा ते राक्षसाधिप ।
दृष्टश्चेत्त्वं रणे तेन तदन्तं तव जीवितम् ॥ २१ ॥

हे राक्षसेश्वर ! तुम यह वृथा उद्योग क्यों करते हो ? यदि कहीं तुम राम के सामने पड़ गये, तो युद्ध में फिर तुम जीते नहीं बचोगे ॥ २१ ॥

जीवितं च सुखं चैव राज्यं चैव सुदुर्लभम् ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥ २२ ॥

राज्य, सुख और यह जीवन, संसार में महादुर्लभ वस्तुएं हैं। यदि इन वस्तुओं को चिरकाल तक उपभोग करने की इच्छा हो, तो रामचन्द्र से बिगाड़ मत करो ॥ २२ ॥

न सर्वैः सचिवैः सार्धं विभीषणपुरोगमैः ।
मन्त्रयित्वा तु धर्मिष्ठैः कृत्वा निश्चयमात्मनः ॥ २३ ॥

जान पड़ता है, तुमने सीता के हरने का निश्चय, अपने सब सचिवों तथा धर्मिष्ठ विभीषणादि कुटुम्बियों से परामर्श किये बिना ही कर डाला है ॥ २३ ॥

दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ।
आत्मनश्च बलं ज्ञात्वा राघवस्य च तत्वतः ।
हिताहितं विनिश्चित्य क्षमं त्वं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

तुमको उचित है कि, दोषों और गुणों की विशेषता और न्यूनता तथा अपने और श्रीरामचन्द्र जी के बलाबल का तथा हिताहित का यथार्थ विचार कर, जो अच्छा जान पड़े, सो करो ॥ २४॥

अहं तु मन्ये तव न क्षमं रणे
समागमं कोसलराजसूनुना ।
इदं हि भूयः शृणु वाक्यमुत्तमं
क्षमं च युक्तं च निशाचरेश्वर ॥ २५॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

हे राक्षसेश्वर ! मेरी जान में तो कोशलराज के पुत्र के साथ तुम्हारा युद्ध छेड़ना सर्वथा अनुचित है। फिर भी मैं तुम्हारी भलाई के लिये और कई एक युक्तियुक्त बातें कहता हूँ, उनको तुम सुनो ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का सैंतोसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टत्रिंशः सर्गः

—※—

कदाचिदप्यहं वीर्यात्पर्यटन्पृथिवीमिमाम् ।
बलं नागसहस्रस्य[1]धारयन्पर्वतोपमः ॥ १ ॥

हे रावण! किसी समय मैं अपने पराक्रम के अभिमान में चूर, इस पृथिवीमण्डल पर घूमता था। मेरे पर्वत के समान शरीर में एक हज़ार हाथियों का बल था ॥ १ ॥

नीलजीमूतसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
भयं लोकस्य जनयन्किरीटी परिघायुधः ॥ २ ॥
व्यचरं दण्डकारण्ये ऋषिमांसानि भक्षयन् ।
विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मद्वित्रस्तो महामुनिः ॥ ३ ॥

मेरे शरीर की कान्ति नीले रंग के बादल के समान थी। कानों में तपाये हुए सोने के कुण्डल पहिने, मस्तक पर किरीट धारण किये और हाथ में परिघ लिये हुए, तथा लोगों को भय उपजाता हुआ; मैं दण्डकवन में घूम घूम कर, ऋषियों का मांस खाता था। अनन्तर धर्मात्मा महर्षि विश्वामित्र मेरे भय से भीत हो, ॥ २ ॥ ३ ॥

स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत् ।
अद्य रक्षतु मां रामः पर्वकाले[2] समाहितः ॥४॥

---

१ नागो गजः । (गो०) २ पर्वकाले—यागकाले । (रा०)

मारीचान्मे भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर।
इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥५॥

स्वयं महाराज दशरथ के पास जा, उनसे यह बात बोले, हे नरेश्वर! मारीच का मुझे बहुत डर लगता है, अतः श्रीरामचन्द्र जी को मेरे पास रह कर, यज्ञकाल में मेरी रक्षा करनी होगी। ऐसा मुनि का वचन सुन, धर्मात्मा महाराज दशरथ ने, ॥४॥५॥

प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम्।
बालो द्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः ॥६॥

महाभाग और महामुनि विश्वामित्र से उत्तर में कहा— श्रीरामचन्द्र जी अभी बारह वर्ष की उम्र के बालक हैं और अस्त्र विद्या भी इनको नहीं आती ॥ ६ ॥

कामं[1] तु मम यत्सैन्यं मया सह गमिष्यति।
बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेत्य निशाचरान् ॥७॥
वधिष्यामि मुनिश्रेष्ठ शत्रूंस्तव यथेप्सितम्। *
इत्येवमुक्तः स मुनी राजानमिदमब्रवीत् ॥८॥

अतः हे मुनिश्रेष्ठ! (यह तो आपके साथ नहीं जांयगे, किन्तु) आपका काम करने के लिये मैं स्वयं अपनी बड़ी चतुरङ्गिनी सेना सहित चल कर, आपके शत्रु निशाचरों का आपकी इच्छा के अनुसार वध करूँगा। महाराज के ये वचन सुन, विश्वामित्र जी ने महाराज से यह कहा ॥ ७ ॥ ८ ॥

---

१ कामं—भृशं। (गो०) *पाठान्तरे—"मनसेप्सितान्।"

रामान्नान्यद्बलं लोके पर्याप्तं तस्य रक्षसः ।
देवतानामपि भवान्समरेष्वभिपालकः ॥९॥
आसीत्तव कृतं कर्म त्रिलोके विदितं नृप ।
काममस्तु महत्सैन्यं तिष्ठत्विह परन्तप ॥१०॥

यद्यपि आप युद्ध में देवताओं के भी रक्षक होने में समर्थ हैं और आपके वीरत्वपूर्ण कार्य तीनों लोकों में विख्यात हैं, तथापि श्रीरामचन्द्र को छोड़ और किसी में इतना बल नहीं, जो उस राक्षस का सामना कर सके। अतः हे परन्तप! आप अपनी चतुरङ्गिनी सेना को यहीं रहने दीजिये ॥ ९ ॥ १० ॥

बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे ।
गमिष्ये राममादाय स्वस्ति तेस्तु परन्तप ॥११॥

यह महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र बालक हुए तो क्या, यही उस राक्षस का निग्रह करने में समर्थ्य हैं। अतः हे परन्तप! आपका मङ्गल हो, मैं रामको अपने साथ ले जाऊँगा ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु स मुनिस्तमादाय नृपात्मजम् ।
जगाम परमप्रीतो विश्वामित्रः स्वमाश्रमम् ॥१२॥

महर्षि विश्वामित्र यह कह कर और श्रीरामचन्द्र जी को अपने संग ले, परम प्रसन्न होते हुए अपने सिद्धाश्रम में आये ॥१२॥

तं तदा दण्डकारण्ये यज्ञमुद्दिश्य दीक्षितम् ।
बभूवोपस्थितो रामश्चित्रं विस्फारयन्धनुः ॥ १३ ॥

---

१ विस्फारयन्धनुः—रामः चित्रंधनुः विस्फारयन् नयन्सन् रक्षणाय समीपं प्राप्तो बभूवेत्यर्थः । (गो०)

तदनन्तर जब महर्षि विश्वामित्र ने यज्ञ-दीक्षा ली, तब श्रीरामचन्द्र जी अपने विचित्र धनुष को ले, विश्वामित्र जी के यज्ञ की रक्षा के लिये उनके पास उपस्थित हुए ॥ १३ ॥

अजातव्यञ्जनः[1] श्रीमान्पद्मपत्रनिभेक्षणः ।
एकवस्त्रधरो[2] धन्वी शिखी[3] कनकमालया ॥१४॥
शोभयन्दण्डकारण्यं दीप्तं स्वेन तेजसा ।
अदृश्यत ततो रामो बालचन्द्र इवोदितः ॥१५॥

उस समय बालरूप श्रीमान् रामचन्द्र जिनके पद्मपत्र के समान नेत्र थे, जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए थे, जिनके हाथ में धनुष था, जिनके सिर पर कुलोचित शिखा थी और जो सुवर्ण की माला गले में पहिने हुए थे, अपने प्रदीप्त तेज से दण्डकवन को सुशोभित करते हुए, ऐसे देख पड़ते थे; जैसे उदयकाल में द्वितीया का चन्द्रमा शोभायुक्त देख पड़ता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

ततोऽहंमेघसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
बली दत्तवरो दर्पादाजगाम तदाश्रमम् ॥१६॥

तब मैं (कृष्ण) मेघाकार, सोने के कुण्डल पहिने हुए और वर प्रभाव से बल के मद में मत्त हो, विश्वामित्र जी के आश्रम में गया ॥ १६ ॥

तेन दृष्टः प्रविष्टोऽहं सहसैवोद्यतायुधः ।
मां तु दृष्ट्वाधनुः सज्यमसम्भ्रान्तश्चकार सः ॥१७॥

---

१ अजातव्यञ्जनः—अनुत्पन्नयौवन लक्षणः । (गो०) २ एकवस्त्रधरः—ब्रह्मचर्य व्रतेस्थितः । (गो०) ३ शिखी—कुलोचितशिखायुक्तः । (गो०)

निर्भय अथवा सावधान राम ने मुझे हथियार लिये हुए आते देख, तुरन्त हर्षित हो अपने धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥ १७ ॥

अवजानन्नहं मोहाद्बालोऽयमिति राघवम् ।
विश्वामित्रस्य तां वेदिमभ्यधावं कृतत्वरः ॥१८॥

परन्तु मैंने मूर्खतावश राम को बालक समझा और मैं विश्वामित्र की वेदी की ओर फुर्ती के साथ दौड़ा ॥१८॥

तेन मुक्तस्ततो बाणः शितः शत्रुनिबर्हणः ।
तेनाहं त्वाहतः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने ॥१९॥

यह देख, रामचन्द्र ने शत्रुओं के मारने वाले एक पैने बाण को चला, मुझे वहाँ से सौ योजन दूर समुद्र में फेंक दिया ॥ १९ ॥

नेच्छता[1] तात मां हन्तुं तदा वीरेण रक्षितः ।
रामस्य शरवेगेन निरस्तोऽहमचेतनः[2] ॥ २० ॥

हे तात ! वीर रामचन्द्र की इच्छा उस समय मेरा वध करने की न थी, इसीसे उन्होंने मेरा वध न कर, मेरे प्राण बचाये। मैं राम के शरवेग से इतनी दूर फेंके जाने के कारण मूर्छित हो गया ॥ २० ॥

पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि ।
प्राप्य संज्ञां चिरात्तात लङ्कां प्रति गतः पुरीम् ॥ २१ ॥

मैं इस गहरे समुद्र में आकर गिरा। फिर हे तात ! बहुत देर बाद अब मैं सचेत हुआ और लङ्कापुरी में गया ॥ २१ ॥

---

१ नेच्छता—अनिच्छता । (गो०) २ अचेतनः—मूर्छितः । (गो०)

एवमस्मि तदा मुक्तः सहायास्तु निपातिताः[1] ।
अकृतास्त्रेण बालेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ २२ ॥

इस तरह मैं तो उस समय बच गया, किन्तु मेरे सहायक अन्य सब राक्षसों को कठिन कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र ने, जो उस समय अस्त्र-सञ्चालन-विद्या में निपुण भी न थे, और बालक ही थे, मार डाला ॥ २२ ॥

तन्मया वार्यमाणस्त्वं यदि रामेण विग्रहम् ।
करिष्यस्यापदं घोरां क्षिप्रं प्राप्स्यसि रावण ॥ २३ ॥

इसीसे मैं तुम्हें मना कर रहा हूँ, यदि तिस पर भी तुम रामचन्द्र से लड़ाई छेड़ोगे, तो घोर विपत्ति में पड़, शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ २३ ॥

क्रीडारतिविधिज्ञानां समाजोत्सवशालिनाम् ।
रक्षसां चैव सन्तापमनर्थं चाहरिष्यसि[2] ॥ २४ ॥

तुम ! क्रीड़ा और रति की विधि को जानने वाले और सभाओं के उत्सवों को देखने वाले राक्षसों के सन्ताप के कारण बन अनर्थ बटोरोगे ॥ २४ ॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां[3] नानारत्नविभूषिताम् ।
द्रक्ष्यसि त्वं पुरीं लङ्कां विनष्टां मैथिलीकृते ॥ २५ ॥

सीता को हर कर तुम मन्दिर और अटा अटारियों से पूर्ण और नाना रत्नों से भूषित लङ्का को नष्ट हुआ देखोगे ॥ २५ ॥

---

१ निपातिताः—हताः । (गो०) २ आहरिष्यसि—यत्नेन सम्पादयिष्यसि । (गो०) । ३ सम्बाधां—निविडां । (गो०)

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः[1] पापसंश्रयात् ।
परपापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नागह्रदे[2] यथा ॥ २६ ॥

जो लोग पाप नहीं करते, वे भी पापी जनों के संसर्ग से नष्ट हो जाते हैं। जैसे सर्पयुक्त जल के कुण्ड की मछलियाँ सर्पों के संसर्ग से (गरुड़ द्वारा) नष्ट होती हैं ॥ २६ ॥

दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गान्दिव्याभरणभूषितान् ।
द्रक्ष्यस्यभिहतान्भूमौ तव दोषात्तु राक्षसान् ॥ २७ ॥

तुम अपनी करतूत से, दिव्य चन्दन से चर्चित और दिव्य वस्त्राभूषण से सुसज्जित शरीर वाले राक्षसों को भूमि पर मर कर पड़े हुए देखोगे ॥ २७ ॥

[3]हृतदारान्सदारांश्च दश विद्रवतो दिशः ।
हतशेषानशरणान्[4]द्रक्ष्यसि त्वं निशाचरान् ॥ २८ ॥

हे रावण ! तुम युद्ध से बचे हुए रक्षक रहित अर्थात् अनाथ राक्षसों को या तो स्त्रियों को त्यागे हुए अथवा साथ लिये हुए दशों दिशाओं में भागते हुए देखोगे ॥ २८ ॥

शरजालपरिक्षिप्तामग्निज्वालासमावृताम् ।
प्रदग्धभवनां लङ्कां द्रक्ष्यसि त्वं न संशयः ॥ २९ ॥

बाणजाल से घिरी हुई और अग्निशिखा से पीड़ित, भस्म गृहों से युक्त लङ्का को, तुम निसन्देह देखोगे ॥ २९ ॥

---

१ शुचयः—अपापा । (गो०) २ नागह्रदे—सर्पह्रदे । (गो०) ३ हृतदारान्—त्यक्तदारान् । (गो०) ४ अशरणान्—रक्षकरहितान् । (गो०)

परदाराभिमर्शात्तु नान्यत्पापतरं महत् ।
प्रमदानां सहस्राणि तव राजन्परिग्रहः ॥ ३० ॥

हे रावण ! पराई स्त्री को हरने से बढ़ कर कोई दूसरा पाप नहीं है। फिर तुम्हारे रनवास में तो हज़ारों स्त्रियाँ मौजूद हैं ॥ ३० ॥

भव स्वदारनिरतः स्वकुलं रक्ष राक्षस ।
मानमृद्धिं च राज्यं च जीवितं चेष्टमात्मनः ॥ ३१ ॥

अतः तुम उन्हीं अपनी स्त्रियों पर प्रीति करो और अपने कुल की, राक्षसों के मान की, राज्य की और अपने अभीष्ट जीवन की रक्षा करो ॥ ३१ ॥

कलत्राणि च सौम्यानि मित्रवर्गं तथैव च ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम्[1] ॥ ३२ ॥

यदि तुम परम सुन्दरी स्त्रियों और इष्ट मित्रों के साथ बहुत दिनों तक सुख भोगना चाहते हो, तो राम से बिगाड़ मत करो ॥ ३२ ॥

निवार्यमाणः सुहृदा मया भृशं
प्रसह्य[2] सीतां यदि धर्षयिष्यसि ।
गमिष्यसि क्षीणबलः सबान्धवो
यमक्षयं रामशरात्तजीवितः ॥ ३३ ॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

---

१ रामविप्रियम्—रामापराधं । (गो०) २ प्रसह्य—बलात्कृत्य मामनादृत्येत्यर्थः । (गो०)

हे रावण ! मैं तुम्हारा हितैषी मित्र हूँ। यदि इस पर भी तुम बरजोरी सीता को हरोगे, तो तुम भाईबंदों सहित क्षीणबल हो, राम के बाणों से मारे जा कर, यमपुरी सिधारोगे ॥३३॥

अरण्यकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—*—

एवमस्मि तदा मुक्तः कथंचित्तेन संयुगे।
इदानीमपि यद्वृत्तं तच्छृणुष्व निरुत्तरम्[1] ॥ १ ॥

हे रावण ! उस समय मैं जैसे बचा सो तुमसे बतलाया, अब मैं आगे का हाल कहता हूँ, सो तुम मुझे बीच में टोंके बिना सुनो ॥ १ ॥

राक्षसाभ्यामहं द्वाभ्यामनिर्विण्णस्तथा कृतः।
सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ २ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी से बैर हो जाने के कारण) मैं अन्य दो मृग रूपी राक्षसों को अपने साथ ले दण्डकवन में गया, किन्तु इस बार भी मुझे परास्त होना पड़ा ॥ २ ॥

दीप्तजिह्वो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो महाबलः।
व्यचरं दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः ॥ ३ ॥

---

१ निरुत्तरम्—मध्ये वाक्यविच्छेदाकरणेन श्रृणिवत्यर्थः। (गो०)
२ अनिर्विण्णः—निर्वेदरहितः। (गो०)

उस समय अग्निशिखा की तरह तो मेरी जिह्वा लपलपाती थी और मेरे दांत बड़े पैने थे। मैं एक बड़े बलवान् मृग जैसा रूप धारण किये हुए था और मांस खाता हुआ दण्डकवन में घूम रहा था ॥३॥

अग्निहोत्रेषु तीर्थेषु चैत्यवृक्षेषु रावण ।
अत्यन्तघोरो व्यचरं तापसान्सम्प्रधर्षयन् ॥ ४ ॥

हे रावण! अग्निहोत्र के स्थानों में, तीर्थों में, और पूज्य वृक्षों के निकट जा, मैं अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर, तपस्वियों को उत्पीड़ित किया करता था ॥ ४ ॥

निहत्य दण्डकारण्ये तापसान्धर्मचारिणः ।
रुधिराणि पिबंस्तेषां तथा मांसानि भक्षयन् ॥ ५ ॥

दण्डकवन में, धर्मचारी तपस्वियों का वध कर, उनका रक्त पीता और उनका मांस खाता था ॥ ५ ॥

ऋषिमांसाशनः क्रूरस्त्रासयन्वनगोचरान् ।
तथा रुधिरमत्तोऽहं विचरन्धर्मदूषकः ॥ ६ ॥

ऋषियों का मांस खाने वाला मैं अत्यन्त निष्ठुर बन, बनवासी ऋषियों को दुःख देता था। इस प्रकार रक्तपान से मतवला हो, मैं धर्म को नष्ट करता हुआ, दण्डकवन में विचरता था ॥ ६ ॥

आसादयं[1] तदा रामं तापसं धर्मचारिणम् ।
वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणं च महारथम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर मैंने तपस्वियों के धर्म का पालन करने में निरत रामचन्द्र, भाग्यवती सीता और महारथी लक्ष्मण को भी सताया ॥ ७ ॥

---

१ आसादयं--अपीडयन् । (शि०)

तापसं नियताहारं सर्वभूतहिते रतम् ।
सोऽहं वनगतं रामं परिभूय[1] महाबलम् ॥ ८ ॥

तपस्वी रामचन्द्र का, जो नियमित भोजन करने वाले हैं और जो सब प्राणियों की भलाई में तत्पर रहते हैं तथा जो महाबलवान एवं वन में रहते हैं, मैंने फिर तिरस्कार किया ॥ ८ ॥

तापसोऽयमिति ज्ञात्वा पूर्ववैरमनुस्मरन् ।
अभ्यधावं हि संक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः ॥ ९ ॥

जिघांसुरकृतप्रज्ञस्तं प्रहारमनुस्मरन् ।
तेन मुक्तास्त्रयो बाणाः शिताः शत्रुनिबर्हणाः ॥ १० ॥

विकृष्य बलवच्चापं सुपर्णानिलनिस्वनाः ।
ते बाणा वज्रसङ्काशाः सुमुक्ता रक्तभोजनाः ॥ ११ ॥

मैंने समझा रामचन्द्र एक साधारण तपस्वी हैं। अतः पहले के वैर को स्मरण कर तथा क्रोध में भर, मैं मृग का रूप धारण किये हुए, नुकीले सींगों को आगे कर और उनके पराक्रम को जान कर भी, उनको मार डालने की इच्छा से, उन पर झपटा। तब उन्होंने शत्रुनाशकारी तीन पैने बाण, जो गरुड़ या पवन की तरह बड़े वेग-वान्, वज्र के तुल्य अमोघ और रुधिर पीनेवाले थे, धनुष को कान तक खींच कर छोड़े ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

आजग्मुः सहिताः सर्वे त्रयः सन्नतपर्वणः ।
पराक्रमज्ञो रामस्य शठो दृष्टभयः पुरा ॥ १२ ॥

उनको अपनी ओर आते देख मैं तो भागा। क्योंकि मैं राम के पराक्रम को जानता था और पहले से भयभीत भी था ॥ १२ ॥

---

१ परिभूय—अनादृत्य। (शि०)

*समुत्क्रान्तस्ततो मुक्तस्तावुभौ राक्षसौ हतौ ।
शरेण मुक्तो रामस्य कथञ्चित्प्राप्य जीवितम् ॥१३ ॥

किन्तु मेरे दोनों साथी उन बाणों के लगने से मारे गये। मैंने किसी प्रकार रामचन्द्र के बाण से अपनी रक्षा की और प्राण बचाये ॥ १३ ॥

इह प्रव्राजितो[1] युक्तः[2]तापसोऽहं समाहितः[3] ।
वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ॥ १४ ॥

अब मैं और सब दुष्टताओं को त्याग, मन को अपने वश में कर, तपस्वियों के लिये उपयोगी आचरण करने में तत्पर हूँ। किन्तु अब भी मुझे चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए, रामचन्द्र प्रत्येक वृक्ष में देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ।
अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण ॥ १५ ॥

हे रावण ! जैसे हाथ में फांसी लिये यमराज देख पड़ें, वैसे ही मुझे हाथ में धनुष लिये राम देख पड़ते हैं। सो एक दो राम नहीं, ऐसे राम मुझे सहस्रों देख पड़ते हैं; जिनसे मुझे बड़ा डर लगता है ॥ १५ ॥

रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे ।
राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसाधिप ॥ १६ ॥

---

१ प्रव्राजितोः--कृत सकलदुर्वृत्त परित्याग । (गो०) २ युक्तः—उचिताचरणः। (गो०) ३ समाहितः नियतमनस्कः । (गो०) * पाठान्तरे "समुद्भ्रान्तः" ।

और तो क्या, यह सारा वन ही मुझे राममय देख पड़ता है। हे राक्षसनाथ! जब मैं देखता हूँ, तब मुझे राम ही देख पड़ते हैं। रामरहित स्थान तो मुझे देख ही नहीं पड़ता ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः ।
रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण ॥ १७ ॥

मैं स्वप्न में राम को देख घबड़ा कर मूर्छित हो जाता हूँ। हे रावण! और तो क्या, जिन नामों के आदि में रकार होता है उनके सुनने से भी मुझे डर लगता है ॥ १७ ॥

रत्नानि च रथाश्चैव त्रासं सञ्जनयन्ति मे ।
अहं तस्य प्रभावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम् ॥ १८ ॥

रत्न और रथ शब्दों के आदि में रकार होने के कारण ये शब्द भी मुझे भयभीत कर देते हैं। मैं रामचन्द्र के प्रभाव को जानता हूँ। इसीसे कहता हूँ कि, तुम रामचन्द्र से लड़ने में समर्थ नहीं हो ॥ १८ ॥

बलिं वा नमुचिं वाऽपि हन्याद्धि रघुनन्दनः ।
रणे रामेण युध्यस्व क्षमां वा कुरु राक्षस ॥ १९ ॥

रामचन्द्र में राजा बलि और नमुचि को भी मारने की शक्ति है। इस पर भी तुम्हारी इच्छा हो तो तुम चाहे उनसे लड़ो अथवा न लड़ो ॥ १९ ॥

न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि ।
बहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः ॥ २० ॥

किन्तु यदि तुम मुझे जीता जागता देखना चाहते हो, तो मेरे सामने राम की चर्चा भी मत करो। ऐसे अनेक साधु और धर्माचरणयुक्त लोग इस संसार में हो गये हैं ॥ २० ॥

परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ।
सोऽहं तवापराधेन विनश्येयं निशाचर ॥ २१ ॥

जिन्हें दूसरों के किये अपराधों के कारण सकुटुम्ब नष्ट हो जाना पड़ा है। सो क्या मुझे भी तुम्हारे अपराध के लिये अपना नाश करवाना पड़ेगा ॥ २१ ॥

कुरु यत्ते क्षमं तत्त्वमहं त्वा नानुयामि ह ।
रामश्च हि महातेजा महासत्त्वो महाबलः ॥ २२ ॥

तुम्हें अब जैसा सूझ पड़े वैसा तुम करो, किन्तु मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा। क्योंकि रामचन्द्र बड़े तेजस्वी, पराक्रमी और बड़े बलवान् हैं ॥ २२ ॥

अपि राक्षसलोकस्य न भवेदन्तको हि सः ।
यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥ २३ ॥
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥ २४ ॥

कहीं ऐसा न हो कि, राक्षसों का नाम निशान तक न रह जाय। यद्यपि जनस्थान का रहने वाला खर, शूर्पणखा के लिये अक्लिष्टकर्मा रामचन्द्र द्वारा मारा गया; तथापि यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो, हे रावण! तुम्हीं बतलाओ, इसमें रामचद्र का क्या अपराध है? ॥ २३॥२४ ॥

इदं वचो बन्धुहितार्थिना मया
यथोच्यमानं यदि नाभिपत्स्यसे ।

सबान्धवस्त्यक्ष्यसि जीवितं रणे
हतोऽद्य रामेण शरैरजिह्मगैः ॥ २५ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

तुम मेरे बन्धु हो, इसीसे मैंने तुम्हारी भलाई के लिये ही ये सब बातें तुमसे कही हैं। यदि तुम मेरी बातों को न मानोगे, तो (स्मरण रखना) तुम सपरिवार रामचन्द्र के बाणों से युद्ध में मारे जावोगे ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

चत्वारिंशः सर्गः

—*—

मारीचेन तु तद्वाक्यं क्षमं युक्तं निशाचरः।
उक्तो न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम् ॥ १ ॥

युक्तियुक्त और मानने योग्य वचनों को सुन कर भी, रावण वैसे ही न माना, जैसे अपना मरण चाहने वाला आदमी औषध (का प्रभाव) नहीं मानता ॥ १ ॥

तं पथ्यहितवक्तारं मारीचं राक्षसाधिपः।
अब्रवीत्परुषं वाक्यमयुक्तं कालचोदितः ॥ २ ॥

उस समय, मृत्यु से प्रेरित रावण ने हितकर और युक्तियुक्त वचन कहने वाले मारीच से ऊटपटांग और कठोर वचन कहे ॥ २ ॥

यत्किलैतदयुक्तार्थं मारीच मयि कथ्यते ।
वाक्यं निष्फलमत्यर्थमुप्तं बीजमिवोषरे ॥ ३ ॥

हे मारीच ! तुमने जो यह मेरी इच्छा के विरुद्ध वचन मुझसे कहे, सो ठीक नहीं हैं और ऊसर भूमि में बीज फैंक देने के समान निष्फल हैं ॥ ३ ॥

त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे[1] ।
पापशीलस्य मूर्खस्य मानुषस्य विशेषतः ॥ ४ ॥

तुम्हारे ये वचन मेरी राम के विषय की धारणा को अन्यथा नहीं कर सकते । अर्थात् सीताहरण सम्बन्धी भावी युद्ध से मेरा मन नहीं फेर सकते । मैं उस पापी, मूर्ख और विशेष कर मनुष्य राम से नहीं डरता, ॥ ४ ॥

यस्त्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा ।
स्त्रीवाक्यं प्राकृतं[2] श्रुत्वा वनमेकपदे[3] गतः ॥ ५ ॥

जिसने अपने सुहृदों को, राज्य को और माता पिता को छोड़, केवल स्त्री के निःसार वचनों से वनवास करना तुरन्त अङ्गीकार कर लिया ॥ ५ ॥

अवश्यं तु मया तस्य संयुगे खरघातिनः ।
प्राणैः प्रियतरा सीता हर्तव्या तव सन्निधौ ॥ ६ ॥

मैं तो युद्ध में खर का वध करने वाले उस राम की प्राणों से भी अधिक प्यारी भार्या को अवश्य हरूँगा ॥ ६ ॥

---

१ रामस्यसंयुगे रामस्यविषये । (गो०) २ प्राकृतं—असारं । (गो०) ३ एकपदे—उत्तरक्षणे । (गो०)

एवं मे निश्चिता बुद्धिर्हृदि मारीच वर्तते ।
न व्यावर्तयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ७ ॥

मारीच ! इस विषय में मेरे मन की ऐसी दृढ़ धारणा है कि, देवताओं सहित इन्द्र भी उसे नहीं पलट सकते ॥ ७ ॥

दोषं गुणं वा संपृष्टस्त्वमेवं वक्तुमर्हसि ।
अपायं वाऽप्युपायं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥ ८ ॥

यदि मैंने तुमसे इस विषय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने को गुण दोष पूंछे होते, तो ये सब बातें तुम कह सकते थे ॥ ८ ॥

संपृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता ।
उद्यताञ्जलिना राज्ञे य इच्छेद्भूति[1]मात्मनः ॥ ९ ॥

जो मंत्री चतुर और ऐश्वर्य के अभिलाषी होते हैं, वे राजा द्वारा कोई बात पूंछी जाने पर हाथ जोड़ कर उचित उत्तर देते हैं ॥ ९ ॥

वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं हितं शुभम् ।
उपचारेण[2] युक्तं च वक्तव्यो वसुधाधिपः ॥ १० ॥

क्योंकि राजा से बड़े सम्मान के साथ, अनुकूल, कोमल, हितयुक्त और शुभ वचन ही कहने चाहिये ॥ १० ॥

सावमर्दं[3] तु यद्वाक्यं मारीच हितमुच्यते ।
नाभिनन्दति तद्राजा मानार्हो मानवर्जितम् ॥ ११ ॥

हे मारीच ! हितकर भी वचन यदि तिरस्कार पूर्वक कहा जाय, तो माननीय राजा उस मानवर्जित वचन को सुन, प्रसन्न नहीं होते ॥ ११ ॥

---

१ भूतिं—ऐश्वर्यं । (गो०) २ उपचारेणयुक्तं—बहुमानेनपुरस्कृतं । (गो०) ३ सावमर्दं—तिरस्कारसहितं । (गो०)

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः ।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य वरुणस्य यमस्य च ॥ १२ ॥

अमित तेज वाला राजा, अग्नि, इन्द्र, चन्द्र, यम और वरुण, इन पाँच देवताओं का रूप धारण करता है ॥ १२ ॥

औष्ण्यं[1] तथा विक्रमं च सौम्यं[2] दण्डं[3] प्रसन्नताम् ।
धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर ॥ १३ ॥

इसीसे राजा में, अग्नि का मुख्य गुण उष्णत्व अर्थात् तीक्ष्णता, इन्द्र का मुख्य गुण पराक्रम, चन्द्रमा का मुख्य गुण आल्हादकत्व (देखने से देखने वालों को प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला) यम का मुख्य गुण दण्ड अर्थात् दुष्टों का निग्रह और वरुण का मुख्य गुण प्रसन्नता पाये जाते हैं ॥ १३ ॥

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु मान्याः[4] पूज्याश्च[5] पार्थिवाः ।
त्वं तु [6]धर्ममविज्ञाय केवलं मोहमास्थितः[7] ॥ १४ ॥

अतः सब अवसरों में राजा का मन से सम्मान और वाणी से सत्कार करना चाहिये। तूने राजधर्म को त्याग कर, अज्ञान का आश्रय लिया है (अर्थात् तू राजधर्म नहीं जानता और मूर्ख है) ॥१४॥

अभ्यागतं मां दौरात्म्यात्परुषं वक्तुमिच्छसि ।
गुणदोषौ न पृच्छामि क्षमं चात्मनि राक्षस ॥ १५ ॥

---

१ औष्ण्यं—तैक्ष्ण्यं । (गो०) २ सौम्यं—आल्हादकरत्वं । (गो०) ३ दण्डं—दुष्टनिग्रहं । (गो०) ४ मान्याः—मनसापूज्याः । (गो०) ५ पूज्याः—वाचा बहुमन्तव्याः । (गो०) ६ धर्मं—राजधर्मं । (गो०) ७ मोहं—अज्ञानं । (गो०)

इसीसे तेरे घर में अतिथि रूप में आने पर भी तूने दुर्जनतावश मुझसे ऐसे कठोर वचन कहे हैं। मैं (अपने भावी कर्तव्य के) न तो तुझसे गुण और दोष ही पूँछता हूँ और न अपनी भलाई (का उपाय) ॥१५॥

मयोक्तं तव चैतावत्सम्प्रत्यमितविक्रम।
अस्मिंस्तु त्वं महाकृत्ये साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

हे अमित विक्रमी! मेरा तो तुझसे इतना ही कहना है कि, सीताहरण के इस महाकार्य में तू मेरी सहायता कर ॥ १६ ॥

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम।
सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ॥ १७ ॥

मेरे कथनानुसार मेरी सहायता तुझे किस प्रकार करनी होगी सो भी मैं कहता हूँ, सुन। तू सोने और चांदी की बुन्दकियों-दार हिरन बन कर ॥१७॥

आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे[1] चर।
प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

रामाश्रम में जा और वहाँ सीता के सामने (घास) चरने लग। फिर सीता को लुभा कर, जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा ॥१८॥

त्वां तु मायामृगं दृष्ट्वा काञ्चनं जातविस्मया।
आनयैनमिति क्षिप्रं रामं वक्ष्यति मैथिली ॥ १९ ॥

तेरे सोने के बनावटी मृग रूप को देख सीता को आश्चर्य होगा और वह राम से तुरन्त मृग को पकड़ लाने को कहेगी ॥१९॥

---

१ प्रमुखे—अग्रे। (गो०)

अपक्रान्ते तु काकुत्स्थे दूरं यात्वा व्युदाहर ।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं रामवाक्यानुरूपकम् ॥ २० ॥

जब राम आश्रम से निकल तेरा पीछा करे, तब तू दूर जा कर, ठीक रामचन्द्र जी की बोली में "हा सीते" "हा लक्ष्मण" कह कर चिल्लाना ॥२०॥

तच्छ्रुत्वा रामपदवीं[1] सीतया च प्रचोदितः ।
अनुगच्छति सम्भ्रान्तः सौमित्रिरपि सौहृदात् ॥ २१ ॥

तब ऐसा शब्द सुन सीता लक्ष्मण को भेजेगी और लक्ष्मण भाई के प्रेम से राम के मार्ग का अनुसरण करेंगे ॥२१॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे लक्ष्मणे च यथासुखम्[2] ।
आनयिष्यामि वैदेहीं सहस्राक्षः शचीमिव ॥ २२ ॥

राम और लक्ष्मण के आश्रम से चले जाने पर, मैं विना प्रयास ही सीता को उसी प्रकार ले आऊँगा, जिस प्रकार इन्द्र शची को ले आये थे ॥ २२ ॥

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस ।
राज्यस्यार्धं प्रयच्छामि मारीच तव सुव्रत ॥ २३ ॥

हे राक्षस ! बस मेरा इतना काम कर चुकने पीछे, तू जहाँ चाहे वहाँ चले जाना । (इस काम के पारिश्रमिक में), हे सुव्रत मारीच ! मैं तुझे अपना आधा राज्य दूँगा ॥२३॥

गच्छ सौम्य शिवं[3] मार्गं[4] कार्यस्यास्य विवृद्धये ।
अहं त्वानुऽगमिष्यामि सरथो दण्डकावनम् ॥ २४ ॥

---

१ पदवीं—मार्गं । (गो०) २ यथासुखं—यत्नंविना । (गो०) ३ शिवं—मनोहरं । (गो०) ४ मार्गं—मृगसम्बन्धिरूपं मार्गं । (गो०)

हे सौम्य! तुम इस कार्य को पूरा करने के लिये मृगों के चलने के मनोहर मार्ग से चलो। मैं भी रथ सहित तुम्हारे पीछे दण्डकवन में आता हूँ ॥२४॥

प्राप्य सीतामयुद्धेन वञ्चयित्वा तु राघवम् ।
लङ्कां प्रति गमिष्यामि कृतकार्यः सह त्वया ॥ २५ ॥

इस प्रकार छलबल से बिना युद्ध किये ही राम की सीता को पा कर, मैं कृतकार्य हो, तेरे साथ लङ्का की ओर चल दूँगा ॥२५॥

न चेत्करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै ।
एतत्कार्यमवश्यं मे बलादपि[1] करिष्यसि ।
राज्ञो हि प्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते ॥ २६ ॥

यदि तू मेरा यह काम न करेगा, तो मैं तुझे अभी मार डालूँगा। तुझे मेरा यह काम अपनी इच्छा न रहते भी अवश्य करना होगा। क्योंकि कोई आदमी राजा के विरुद्ध आचरण कर, सुखी नहीं रह सकता ॥ २६ ॥

आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते
मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्य ।
एतद्यथावत्प्रतिगृह्य[2] बुद्ध्या
यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथा त्वम् ॥ २७ ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

---

१ बलादपि—अनिच्छतापि। (गो०) २ प्रतिगृह्य—निश्चित्य। (गो०)

राम के पास जाने से तो तुझे अपने बचने की केवल शङ्का मात्र ही है। किन्तु मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण करने से तेरी मौत निश्चित ही है। अतः इन दोनों बातों को सोच विचार कर, तुझे अपने लिये जो हितकर जान पड़े, सो अब कर ॥२७॥

अरण्यकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—※—

आज्ञप्तोऽराजवद्वाक्यं प्रतिकूल निशाचरः : ।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं मारीचो राक्षसाधिपम् ॥ १ ॥

जब प्रतिकूल वचन कहने पर राक्षसनाथ रावण ने राजाओं की तरह इस प्रकार आज्ञा दी, तब मारीच ने निर्भीक हो उससे ये कठोर वचन कहे ॥१॥

केनायमुपदिष्टस्ते विनाशः पापकर्मणा ।
सपुत्रस्य सराष्ट्रस्य सामात्यस्य निशाचर ॥ २ ॥

हे राक्षस! किस पापी ने तुम्हें यह उपदेश दिया है, जिससे तुम अपने राज्य, मंत्रियों और पुत्रों सहित नाश को प्राप्त हो ॥२॥

कस्त्वया सुखिना राजन्नाभिनन्दति पापकृत् ।
केनेदमुपदिष्टं ते मृत्युद्वारमुपायतः[1] ॥ ३ ॥

---

1 उपायतः—व्याजेन। (गो०)

वह कौन पापी है, जो तुम्हें सुखी देख सुखी नहीं है? किसने उपाय के छल से यह तुम्हारी मौत का उपाय तुमको सुझाया है? ॥३॥

शत्रवस्तव सुव्यक्तं हीनवीर्या निशाचराः ।
इच्छन्ति त्वां विनश्यन्तमुपरुद्धं बलीयसा ॥ ४ ॥

हे राक्षसनाथ! यह तो स्पष्ट ही है कि, तुम्हारे शत्रु बलहीन हो गये हैं, इसीसे वे चाहते हैं कि, कोई बलवान आ कर, तुम्हें घेर ले और तुम्हें नष्ट कर डाले ॥ ४ ॥

केनेदमुपदिष्टं ते क्षुद्रेणाहितवादिना ।
यस्त्वामिच्छति नश्यन्तं स्वकृतेन निशाचर ॥ ५ ॥

हे रावण! वह कौन नीच और तुम्हारा अहितकारी शत्रु है, जो तुम्हें यह शिक्षा दे, तुम्हारा नाश तुम्हारे ही हाथों करवाना चाहता है ॥५॥

वध्याः खलु न हन्यन्ते सचिवास्तव रावण ।
ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः ॥ ६ ॥

हे रावण! सचिव अवश्य ही अवध्य हैं। किन्तु वे सचिव अवश्य मार डालने योग्य हैं, जो तुम्हें कुमार्ग पर चलने से नहीं रोकते ॥६॥

अमात्यैः कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रितः ।
निग्राह्यः सर्वथा सद्भिर्न निग्राह्यो निगृह्यसे ॥ ७ ॥

जब राजा यथेच्छाचारी हो कुमार्गगामी होने लगे, तब मंत्रियों का यह कर्त्तव्य है कि, वे उसे सर्वप्रकार रोकें, किन्तु तुम्हें कौन रोके। तुम तो किसी का कहना मानते ही नहीं ॥ ७ ॥

धर्ममर्थं च कामं च यशश्च जयतांवर ।
स्वामिप्रसादात्सचिवाः प्राप्नुवन्ति निशाचर ॥८॥

हे निशाचर ! हे विजय करने वालों में श्रेष्ठ ! मंत्रियों को अपने अपने स्वामी की प्रसन्नता ही से धर्म अर्थ काम और यश की प्राप्ति होती है॥ ८ ॥

विपर्यये तु तत्सर्वं व्यर्थं भवति रावण ।
व्यसनं स्वामिवैगुण्यात्प्राप्नुवन्तीतरे जनाः ॥ ९ ॥

और स्वामी के अप्रसन्न होने पर, हे रावण ! सब ही व्यर्थ हो जाता है। स्वामी के अप्रसन्न होने से इतर जनों को दुःख होता है॥ ९ ॥

राजमूलोहि धर्मश्च जयश्च जयतांवर ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु रक्षितव्या नराधिपाः ॥ १० ॥

हे जयतांवर ! धर्म व विजय का मूल राजा ही है, अथवा राजा ही प्रजाओं के धर्म व विजय का मूलकारण है। इसी लिये हर दशा में राजा लोगों की रक्षा करनी चाहिये ॥१०॥

राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन[1] निशाचर ।
न चापिप्रतिकूलेन[2] नाविनीतेन[3] राक्षस ॥ ११ ॥

हे निशाचर ! जो राजा अत्याचारी होने के कारण प्रजा जनों को अप्रसन्न रखता है और अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता ॥११॥

ये तीक्ष्णमन्त्राः[4] सचिवा भज्यन्ते सह तेन वै ।
विषमे[5] तुरगाः शीघ्रा मन्द[6]सारथयो यथा ॥ १२ ॥

---

१ तीक्ष्णेन—क्रूरदण्डेन । (गो०) २ प्रतिकूलेन—प्रजाविरुद्धेन । (गो०) ३ अविनीतेन—इन्द्रियजयरहितेन । (गो०) ४ तीक्ष्णमंत्राः—तीक्ष्णोपाय प्रयोक्तारः । (गो०) ५ विषमे—निम्नोन्नत प्रदेशे । (गो०) ६ मन्द—अपटु । (गो०)

उग्र उपायों से काम लेने वाले मंत्री उस राजा के साथ अपने किये का फल उसी प्रकार भोगते हैं, जिस प्रकार ऊँची नीची ज़मीन पर तेज़ी के साथ घोड़े हांकने वाला नौसिखुआ सारथी। (अर्थात् ऊबड़ खाबड़ सड़क पर तेज़ी के साथ रथ दौड़ाने से केवल घोड़ों ही को कष्ट नहीं होता; किन्तु सारथी को भी कष्ट झेलना पड़ता है) ॥१२॥

बहवः साधवो लोके युक्ता[1] धर्ममनुष्ठिताः।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥ १३ ॥

हे रावण! अनेक धर्मज्ञ जो धर्मानुष्ठान में तत्पर और नीति-मार्ग का अनुसरण करते थे, दूसरों के अपराध से अपने परिवार सहित नष्ट हो चुके हैं) ॥ १३ ॥

स्वामिना प्रतिकूलेन प्रजास्तीक्ष्णेन रावण।
रक्ष्यमाणा न वर्धन्ते मेषा गोमायुना यथा ॥ १४ ॥

हे रावण! उग्रस्वभाव और प्रतिकूलाचरणसम्पन्न राजा से रक्षित प्रजा की उन्नति वैसे ही नहीं होती, जैसे सियारों से रक्षित भेड़ों को उन्नति नहीं होती ॥१४॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ १५ ॥

जिन राक्षसों के तुम जैसे क्रूर स्वभाव, निर्बुद्धि और अजितेन्द्री राजा हो, वे राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायँगे ॥ १५ ॥

---

१ युक्ताः—नीतिमार्गनिष्ठाः। (गो०)

तदिदं काकतालीयं[1] घोरमासादितं मया ।
अत्रैव शोचनीयस्त्वं ससैन्यो विनशिष्यसि ॥ १६ ॥

अस्तु, मैं तो इस घोर काम में हाथ डालने से मारा जाऊँगा ही (इसका मुझे सोच नहीं) सोच तो मुझे इसका है कि, तुम ससैन्य नष्ट होगे ॥१६॥

मां निहत्य तु रामश्च न चिरात्त्वां वधिष्यसि ।
अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये यदरिणा हतः ॥ १७ ॥

मुझे क्या ? मैं यहाँ न मर कर यदि शत्रु (राम) के ही हाथ से मरूँगा तो (शत्रु के द्वारा मारे जाने के कारण) कृतकृत्य भी हो जाऊँगा; पर (याद रखो) राम तुम्हें भी अविलंब मार डालेंगे ॥१७॥

दर्शनादेव रामस्य हतं मामुपधारय ।
आत्मानं च हतं विद्धि हृत्वा सीतां सबान्धवम् ॥१८॥

तू निश्चय जान कि, जहाँ राम के सामने मैं गया कि, मैं मारा-गया (अथवा रामदर्शन ही से तू मुझे मरा समझ ले)। साथ ही सीता को हरने से तू भी अपने को परिवार सहित मरा हुआ समझ ले ॥१८॥

आनयिष्यसि चेत्सीतामाश्रमात्सहितो मया ।
नैव त्वमसि नाहं च नैव लङ्का न राक्षसाः ॥ १९ ॥

मान लो, यदि तुम सीता को रामाश्रम से हर भी लाये और मैं भी जीता जागता बच गया, तो भी तुम्हारी, मेरी, लङ्का की और लङ्कावासी राक्षसों की कुशल नहीं ॥१९॥

---

१ काकतालीयं—यादृच्छकं । (गो०)

निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा
न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर ।
परेतकल्पा हि गतायुषो नरा
हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥ २० ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रावण ! मैं तेरा हितैषी हूँ। मेरे मना करने पर भी तू मेरी इन बातों पर कान नहीं देता। सो ठीक ही है, क्योंकि जिन लोगों की आयु समाप्त होने वाली होती है, वे प्रेततुल्य हो जाते हैं, और अपने मित्रों के हितकारी वचनों को नहीं माना करते ॥२०॥

अरण्यकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—:※:—

एवमुक्त्वा तु वचनं मारीचो रावणं ततः ।
गच्छावेत्यब्रवीद्दीनो[1] भयाद्रात्रिंचरप्रभोः ॥ १ ॥

मारीच ने राक्षसराज रावण से ऐसे कठोर वचन तो कहे, किन्तु उसके भय से भीत हो, साथ ही घबड़ा कर यह भी कहा कि, अच्छा मैं चलता हूँ ॥१॥

दृष्टश्चाहं पुनस्तेन शरचापासिधारिणा ।
मद्वधोद्यतशस्त्रेण विनष्टं जीवितं च मे ॥ २ ॥

---

१ दीन — दौस्थ्यमुपपादयति । (गो०)

किन्तु यदि मेरे मारने को धनुर्बाण एवं खड्ग लिये हुए रामचन्द्र मुझे फिर दिखलाई पड़े, तो मेरा प्राण गया हुआ ही समझना ॥ २ ॥

न हि रामं पराक्रम्य जीवन्प्रतिनिवर्तते ।
वर्तते प्रतिरूपोऽसौ यमदण्डहतस्य ते ॥ ३ ॥

क्योंकि कोई भी पुरुष रामचन्द्र के सामने जा, अपने पराक्रम से जीता जागता नहीं लौट सकता । क्योंकि रामचन्द्र यमदण्ड के समान हैं । सो तुम और मैं दोनों ही मारे जाँयगे ॥३॥

किन्तु शक्यं मया कर्तुमेवं त्वयि दुरात्मनि ।
एष गच्छाम्यहं तात स्वस्ति तेऽस्तु निशाचर ॥ ४ ॥

तुम जैसे दुरात्मा पर मेरा क्या वश है । अस्तु, हे तात ! हे निशाचर ! तेरा मङ्गल हो, लो मैं अब चलता हूँ ॥४॥

प्रहृष्टस्त्वभवत्तेन वचनेन स रावणः ।
परिष्वज्य सुसंश्लिष्टमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

मारीच का यह वचन सुन, राक्षसेश्वर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसका गाढ़ आलिंगन कर, उससे यह वचन बोला ॥ ५ ॥

एतच्छौण्डीर्य[1]युक्तं ते मच्छन्दादिव भाषितम् ।
इदानीमसि मारीचः पूर्वमन्यो निशाचरः ॥ ६ ॥

हे मारीच ! अब तुमने वीरतायुक्त बात मेरे मन के अनुसार कही है । अब मैंने जाना कि, तुम मारीच हो । पहिले तो मैं तुम्हें एक साधरण राक्षस समझता था ॥६॥

---

१ शौण्डीर्यं—वीरत्वं । (गो०)

आरुह्यतामयं शीघ्रं रथो रत्नविभूषितः। ।
मया सह तथा युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ॥ ७ ॥

अब तुम इस रत्नविभूषित और पिशाच-मुख वाले खरों से युक्त रथ पर मेरे साथ सवार हो लो ॥७॥

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ।
तां शून्ये प्रसभं सीतामानयिष्यामि मैथिलीम् ॥ ८ ॥

और सीता को लुभा कर फिर जहाँ चाहो वहाँ चले जाना। उस समय मैं सूनी पा, सीता को हर लाऊँगा ॥८॥

ततो रावणमारीचौ विमानमिव तं रथम् ।
आरुह्य ययतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात् ॥ ९ ॥

तदनन्तर मारीच और रावण विमान जैसे रथ पर सवार हुए और तुरन्त उस आश्रम से रवाना हुए ॥९॥

तथैव तत्र पश्यन्तौ पत्तनानि वनानि च ।
गिरींश्च सरितः सर्वा राष्ट्राणि नगराणि च ॥ १० ॥

जाते हुए उन दोनों ने रास्ते में अनेक ग्रामों, वनों, पर्वतों, नदियों राष्ट्रों और नगरों को देखा * ॥ १० ॥

समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः ।
ददर्श सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः ॥ ११ ॥

तदनन्तर दण्डकवन में जा, राक्षसराज रावण और मारीच ने श्रीरामाश्रम को देखा ॥ ११ ॥

---

*लोगों का अनुमान है कि, वर्तमान् बंबई नगर का टापू ही मारीच के रहने का स्थान था।

अवतीर्य रथात्तस्मात्ततः काञ्चनभूषणात् ।
हस्ते गृहीत्वा मारीचं रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर सुवर्ण भूषित रथ से उतर, रावण ने मारीच का हाथ पकड़ उससे कहा ॥१२॥

एतद्रामाश्रमपदं दृश्यते कदलीवृतम् ।
क्रियतां तत्सखे शीघ्रं यदर्थं वयमागताः ॥ १३ ॥

केले के वृक्षों से घिरा हुआ यही रामचन्द्र का आश्रम है; अब हे मित्र ! जिस काम के लिये हम लोग आये हैं, उसे झट पट कर डालो ॥१३॥

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा ।
मृगो भूत्वाऽऽश्रमद्वारि रामस्य विचचार ह ॥ १४ ॥

तब रावण का यह वचन सुन, मारीच राक्षस मृग बन कर, रामाश्रम के द्वार पर विचरने लगा ॥१४॥

स तु रूपं समास्थाय महदद्भुतदर्शनम् ।
मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः ॥ १५ ॥

उस समय मारीच ने अपना बड़ा अद्भुत मृग का रूप बनाया। नीलम की तो उसके सींगों की नोंकें थीं और मुख की रंगत कुछ सफेद और कुछ काली थी ॥१५॥

रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः ।
किञ्चिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलदलाधरः ॥ १६ ॥

मुख लाल कमल जैसा था और कान श्याम कमल के समान थे। गर्दन कुछ उठी हुई और शरीर का निचला भाग नील कमल की तरह बैजनी रंग का था ॥१६॥

कुन्देन्दुवज्रसङ्काशमुदरं चास्य भास्वरम्
मधूकनिभपार्श्वश्च पद्मकिञ्जल्कसन्निभः ॥ १७ ॥

उसका पेट नीले कमल के रंग का और हीरा की तरह चमकता था। महुआ के पुष्प के रंग की तरह रंग की उसकी दोनों कोखे थीं और कमल की केसर के रंग जैसे रंग की उसकी छवि थी ॥१७॥

वैडूर्यसङ्काशखुरस्तनुजङ्घः सुसंहतः ।
इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजता ॥ १८ ॥

पन्ने के रंग जैसे रंग के उसके खुर, उसकी जांघे पतली और सब सन्धियां भरी हुई थीं; और इन्द्रधनुष जैसे रंग की पूछ को वह उठाये हुए था ॥ १८ ॥

मनोहरःस्निग्धवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः ।
क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परमशोभनः ॥ १९ ॥

वह देखने में बड़ा मनोहर, सचिक्कन रंग का था। और तरह तरह के रत्नों के रंगों से उसका शरीर सजा हुआ था। वह मारीच क्षणभर में परम् शोभायमान मृग बन गया था ॥ १९ ॥

वनं प्रज्वलयन्रम्यं रामाश्रमपदं च तत् ।
मनोहरं दर्शनीयं रूपं कृत्वा स राक्षसः ॥ २० ॥

वह राक्षस मारीच देखने योग्य मनोहर रूप धारण कर, उस वन और रमणीक श्रीरामाश्रम को शोभित करने लगा ॥ २० ॥

प्रलोभनार्थं वैदेह्या नानाधातुविचित्रितम् ।
विचरन्गच्छते तस्माच्छाद्वलानि समन्ततः ॥ २१ ॥

वह, जानकी जी को लुभाने के लिये नाना प्रकार की धातुओं जैसे रंगों से विचित्र रूप धारण कर, हरी हरी दूब चरता हुआ, श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम में चारो ओर घूमने लगा ॥ २१ ॥

रूप्यैर्बिन्दुशतैश्चित्रो भूत्वा स प्रियदर्शनः ।
विटपीनां किसलयान्भङ्क्त्वादन्विचचार ह ॥ २२ ॥

चांदी के रंग की सैकड़ों बूँदों से विभूषित होने के कारण वह बहुत ही भला मालूम पड़ता था और वृक्षों के कोमल पत्तों को चरता हुआ घूमता था ॥२२॥

कदलीगृहकं गत्वा कर्णिकारानितस्ततः ।
समाश्रयन्मन्दगतिः सीतासन्दर्शनं तथा ॥ २३ ॥

वह धीमी चाल से इधर उधर घूमता हुआ कभी केलों के और कभी कनैर की कुंजों की ओर जाता, जिससे सीता की दृष्टि में वह पड़ जाय ॥२३॥

राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः ।
रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम् ॥ २४ ॥

वह, कमल पुष्प के रंग जैसी विचित्र पीठ को दिखलाता श्रीराम के आश्रम में सुखपूर्वक (मनमाना) घूमने लगा ॥ २४ ॥

पुनर्गत्वा निवृत्तश्च विचचार मृगोत्तमः ।
गत्वा मुहूर्तं त्वरया पुनः प्रतिनिवर्तते ॥ २५ ॥

वह मृगोत्तम बार बार आश्रम में जाता और बार बार लौट आता था । फिर कुछ ही देर बाद वह आश्रम में जाता और थोड़े ही देर बाद वहाँ से फिर लौट आता था । इस प्रकार वह मृग आश्रम में घूम फिर रहा था ॥ २५ ॥

विक्रीडंश्च क्वचिद्भूमौ पुनरेव निषीदति ।
आश्रमद्वारमागम्य मृगयूथानि गच्छति ॥ २६ ॥

वह कुछ काल तक कुलेल करता और फिर क्षण भर विश्राम करता । फिर आश्रम के द्वार पर आ कर मृगों के झुंडों में चला जाता ॥२६॥

मृगयूथैरनुगतः पुनरेव निवर्तते ।
सीतादर्शनमाकाङ्क्षन्राक्षसो मृगतां गतः ॥ २७ ॥

और मृगों के झुंडों के पीछे पीछे हो लेता और फिर लौट आता था । उस राक्षस ने जानकी के दर्शन की इच्छा से मृग का रूप धारण किया था ॥ २७ ॥

परिभ्रमति चित्राणि मण्डलानि विनिष्पतन्[1] ।
समुद्वीक्ष्य च तं सर्वे मृगा ह्यन्ये वनेचराः ॥ २८ ॥

वह चित्र विचित्र मण्डलाकार गतियों से (अर्थात् चक्कर लगा कर) घूम रहा था । उसको देख हिरन तथा अन्य वनचर जन्तु॥२८॥

उपागम्य समाघ्राय विद्रवन्ति दिशो दश ।
राक्षसः सोऽपि तान्वन्यान्मृगान्मृगवधे रतः ॥ २९ ॥

उसके पास आ कर उसके शरीर को सूँघते और सूँघ कर इधर उधर भाग जाते थे । वह पशुघाती राक्षस भी ॥२९॥

प्रच्छादनार्थं भावस्य न भक्षयति संस्पृशन् ।
तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना ॥ ३० ॥

अपना भाव छिपाने के लिये उनको छू कर के भी वह उनको खाता न था । उस समय सुघर नेत्रोंवाली सीता जी ॥३०॥

कुसुमापचयव्यग्रा पादपानभ्यवर्तत ।
कर्णिकारानशोकांश्च चूतांश्च मदिरेक्षणा ॥ ३१ ॥

जानकी जी फूल तोड़ने में व्यग्र कभी कनैर, कभी अशोक और कभी आम के वृक्षों के नीचे घूम रही थीं ॥३१॥

कुसुमान्यपचिन्वन्ती चचार रुचिरानना ।
अनर्हाऽरण्यवासस्य सा तं रत्नमयं मृगम् ॥ ३२ ॥

वनवास करने के अयोग्य, सुन्दर मुखवाली सीता जी ने फूल तोड़ने के लिये इधर उधर घूमते समय उस रत्नमय मृग को देखा ॥३२॥

मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना ।
सा तं रुचिरदन्तोष्ठी रूप्यधातुतनूरुहम् ॥ ३३ ॥

सुन्दर दाँतों और अधर वाली जानकी जी ने उस मणि मुक्ताओं से सर्वाङ्ग-विभूषित और रुपैले रोओं से चमकते हुए मृग को ॥३३॥

विस्मयोत्फुल्लनयना सस्नेहं समुदैक्षत ।
स च तां रामदयितां पश्यन्मायामयो मृगः ॥ ३४ ॥

आश्चर्य चकित हो बड़े प्यार से देखा । वह बनावटी हिरन भी श्रीरामचन्द्र की प्यारी जानकी को देखता रहा ॥३४॥

विचचार पुनश्चित्रं दीपयन्निव तद्वनम् ।
अदृष्टपूर्वं तं दृष्ट्वा नानारत्नमयं मृगम् ।
विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा ॥ ३५ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

फिर वह विचित्र मृग उस वन को सुशोभित करता हुआ वहाँ घूमने लगा। उस अपूर्व एवं अनेक रत्नमय मृग को देख, जनकदुलारी जानकी जी को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥३५॥

अरण्यकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—※—

सा तं संप्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमान्यपचिन्वती ।
हैमराजतवर्णाभ्यां पार्श्वाभ्यामुपशोभितम् ॥ १ ॥

फूलों को चुनती हुई सीता जी ने उस मृग को देखा, जो सोने और रूपे के रंग वाली कोखों से सुशोभित था ॥ १ ॥

प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्ट[1]हाटक[2]वर्णिनी ।
भर्तारमभिचक्रन्द[3] लक्ष्मणं चापि सायुधम् ॥ २ ॥

सुन्दर अंगों वाली तथा विशुद्ध सुवर्ण जैसे रंग के शरीरवाली सीता, उस हिरन को देख, अति आनन्दित हुई और आयुध ले कर आने के लिये श्रीराम और लक्ष्मण को उच्च स्वर से बुलाया ॥२॥

तयाऽऽहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम् ॥ ३ ॥

---

१ मृष्टं—शुद्धं। (गो०) २ हाटकं—सुवर्णं। (गो०)। ३ अभिचक्रन्द—उच्चैराह्वयत्। (गो०)

सीता जी के इस प्रकार पुकारने पर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस ओर ताकते हुए वहाँ गये और उन्होंने भी उस मृग को देखा ॥३॥

शङ्कमानस्तु तं दृष्ट्वा लक्ष्मणो राममब्रवीत् ।
तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम् ॥ ४ ॥

उस मृग को देख, लक्ष्मण के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ और उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—मुझे तो मृगरूपधारी यह निशाचर मारीच जान पड़ता है ॥४॥

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना[1] वने ।
अनेन निहता राजन्राजानः कामरूपिणा ॥ ५ ॥

हे राम ! इस पापी दुष्ट राक्षस ने मृगरूप धारण कर के परम हर्षित हो, शिकार खेलने को वन में आये हुए अनेक राजाओं को मारा है ॥५॥

अस्य मायाविदो मायामृगरूपमिदं कृतम् ।
भानुमत्पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसन्निभम् ॥ ६ ॥

इस मायावी ने, इस समय माया के बल से मृग का रूप धारण किया है। हे पुरुषसिंह ! सूर्य की तरह (अथवा) गन्धर्वनगर की तरह यह मृग परम दीप्ति युक्त जान पड़ता है ॥ ६ ॥

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव ।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः ॥ ७ ॥

---

१ उपाधिना—मृगरूपछलेन । (रा०)

हे पृथिवीनाथ ! हे राघव ! इस धरणीतल पर तो इस प्रकार का रत्नों से भूषित विचित्र मृग कोई है नहीं। अतः निस्सन्देह यह सब बनावट है ॥ ७ ॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता ।
उवाच सीता संहृष्टा चर्मणा हृतचेतना ॥ ८ ॥

छद्मवेषधारी मृग को देखने से हतबुद्धि हुई सीता, लक्ष्मण को बोलने से रोक कर और परम प्रसन्न हो एवं मुसकरा कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ ८ ॥

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः ।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति ॥ ९ ॥

हे आर्यपुत्र ! यह परम मनोहर मृग मेरे मन को हरे लेता है। सो हे महाबाहो ! इसे तुम ले आओ। मैं इसके साथ खेला करूँगी ॥९॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः ।
मृगाश्चरन्ति सहिताः सृमराश्चमरास्तथा ॥ १० ॥
ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च वानराः किन्नरास्तथा ।
विचरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा मनोहराः ॥ ११ ॥

हे महाबाहो ! हमारे इस आश्रम में बहुत से मनोहर एवं श्रेष्ठ रूपवाले मृग, सृमर ऋच्छ, पृषत, वानर और किन्नरादि जातियों के अनेक जीव घूमा फिरा करते हैं ॥१०॥ ११॥

न चास्य सदृशो राजन्दृष्टपूर्वो मृगः पुरा ।
तेजसा[1] क्षमया[2] दीप्त्या[3] यथाऽयं मृगसत्तमः ॥१२॥

---

१ तेजसा—वर्णेन । (गो०) २ क्षमया—अत्वरया । (गो०) ३ दीप्त्या—शरीर प्रकाशेन ।(गो०)

किन्तु हे राजन्! जैसा रंग और जैसी चमक इस उत्तम हिरन में है और जैसा यह शान्त स्वभाव है, वैसा हिरन तो मैंने दूसरा पहले कभी नहीं देखा ॥१२॥

नानावर्णविचित्राङ्गो रत्नबिन्दुसमाचितः ।
द्योतयन्वनमव्यग्रं शोभते शशिसन्निभः ॥ १३ ॥

इसका सारा शरीर कैसा रंग बिरंगा है, बीच बीच में रत्नों की बिंदुकी कैसी शोभा दे रही हैं। यह मृग चन्द्रमा के समान वन-भूमि को शान्तभाव से कैसा प्रकाशित कर रहा है ॥ १३ ॥

अहो [1]रूपमहो लक्ष्मीः[2] स्वरसंपच्च शोभना ।
मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे ॥ १४ ॥

आहा! देखो तो इसके शरीर का रंग और कान्ति कैसी अच्छी है और कैसा मनोहर इसका शब्द है। हे राम! यह रंग विरंगा अद्भुत हिरन मेरे मन को हरे लेता है ॥ १४ ॥

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव ।
आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति ॥ १५ ॥

यदि तुम कहीं इसे जीता ही पकड़ लेते, तो यह एक बड़ा आश्चर्य-प्रद पदार्थ आश्रम में रह कर, विस्मय उत्पन्न किया करता ॥ १५ ॥

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः ।
अन्तःपुरविभूषार्थो मृग एष भविष्यति ॥ १६ ॥

फिर वनवास की अवधि बीतने पर जब हम लोग अयोध्या चलेंगे; तब यह मृग हमारे रनवास की शोभा होगा॥१६॥

---

१ रूपं—वर्णः । (गो०) १ लक्ष्मीः—कान्तिः । (गो०)

भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो ।
[1]मृगरूपमिदं व्यक्तं विस्मयं जनयिष्यति ॥ १७ ॥

हे प्रभो ! इस उत्तम मृग को देख देख कर भरत, आप, मेरी सास और मैं स्वयं, विस्मित हुआ करूँगी ॥१७॥

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः ।
अजिनं नरशार्दूल रुचिरं मे भविष्यति ॥ १८ ॥

यदि यह मृगोत्तम जीता न भी पकड़ मिले, तो हे पुरुषसिंह ! इसका चाम भी मुझे बहुत पसंद आवेगा ॥१८॥

निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि ।
[2]शष्पबृस्यां [3]विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम्[4] ॥१९॥

यदि यह मारा ही गया तो भी इसकी सुनहली चाम की चटाई पर बिछा कर, मैं बैठना पसन्द करूँगी ॥१९॥

[5]कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं[6] मतम् ।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥ २० ॥

यद्यपि यह मैं जानती हूँ कि, मनमानी चीज़ पर मन चला कर, उसकी प्राप्ति के लिये पति को प्रेरणा करना, सती स्त्रियों के लिये सर्वथा अनुचित और भयङ्कर कृत्य है, तथापि इस मृग की अद्भुत देह ने मुझे अत्यन्त विस्मित कर दिया है ॥ २० ॥

---

१ मृगरूपं—प्रशस्तमृगः । (गो०) २ शष्पबृस्यां—बालतृणैः कृतायां बृस्यां । (गो०) ३ उपासितुं—स्थातुं । (गो०) ४ विनीतायां—आस्तृतायां । (गो०) ५ कामवृत्तं—भर्तृप्रेरणरूपस्वेच्छाव्यापारः । (गो०) ६ असदृशं—अयुक्तं । (गो०)

तेन काञ्चनरोम्णा तु मणिप्रवरशृङ्गिणा ।
तरुणादित्यवर्णेन नक्षत्रपथ[1]वर्चसा ॥ २१ ॥
बभूव राघवस्यापि मनो विस्मयमागतम् ।
एवं सीतावचः श्रुत्वा तं दृष्ट्वा मृगमद्भुतम् ॥ २२ ॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी भी उस सुवर्ण रोम वाले, मणिभूषित सींगों वाले, तरुण सूर्य के समान कान्ति वाले और आकाश के समान रंग वाले मृग को देख, विस्मित हुए । सीता के ऐसे वचन सुन और उस अद्भुत मृग को देख, ॥ २१ ॥ २२ ॥

लोभितस्तेन रूपेण सीतया च प्रचोदितः ।
उवाच राघवो हृष्टो भ्रातरं लक्ष्मणं वचः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का मन उस मृग पर लुभा गया । वे सीता जी के कथन को मान और प्रसन्न हो अपने भाई लक्ष्मण से बोले ॥२३॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः स्पृहां मृगगतामिमाम् ।
रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ २४ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो तो सीता इस मृग के सौन्दर्य पर कैसी लट्टू हो गयी है । सचमुच अब ऐसा मृग मिलना दुर्लभ है ॥२४॥

न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये ।
कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्य कश्चित्समो मृगः ॥ २५ ॥

क्योंकि हे लक्ष्मण ! जब ऐसा मृग नन्दनवन और चैत्ररथवन ही में नहीं है, तब पृथिवी पर ऐसा मृग मिलना सर्वथा दुर्लभ है ॥ २५ ॥

---

१ नक्षत्रपथः—छायापथः । (गो०)

[1]प्रतिलोमानुलोमा[2]श्च रुचिरा रोमराजयः ।
शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः[3] कनकबिन्दुभिः ॥ २६ ॥

इस मृग के शरीर पर आड़ी तिरछी सुन्दर रोमावली सुवर्ण बिन्दुओं से भूषित हो, कैसी अद्भुत जान पड़ती हैं ॥२६॥

पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम् ।
जिह्वां मुखान्निःसरन्तीं मेघादिव शतह्रदाम् ॥ २७ ॥

जैसे मेघ में बिजली कौंधे, वैसे ही जमुहाई लेने के समय इसके मुख से अग्निशिखा के समान लप लप करती जीभ निकलती है ॥२७॥

मसारगल्लर्कमुखः शङ्खमुक्तानिभोदरः ।
कस्य नामाभिरूपो[4]ऽसौ न मनो लोभयेन्मृगः ॥ २८ ॥

इसका मुख, नीलम के प्याले जैसा है और इसका पेट शङ्ख और मोती की तरह है । भला ऐसा सुन्दर मृग किसके मन को न लुभावेगा अथवा ऐसा सुन्दर मृग देख कौन लोभायमान न होगा? ॥२८॥

कस्य रूपमिदं दृष्ट्वा जाम्बूनदमयं प्रभो ।
नानारत्नमयं दिव्यं न मनो विस्मयं व्रजेत् ॥ २९ ॥

इसका सुवर्णनिर्मित और नाना रत्नखचित दिव्य रूप देख, किसका मन विस्मित न होगा ॥ २९ ॥

[किं पुनर्मैथिली सीता बाला नारी न विस्मयेत् ।]
मांसहेतोरपि मृगान्विहारार्थं च धन्विनः ॥ ३० ॥

---

१ प्रतिलोमाः—तिर्यग्भूताः । (गो०) २ अनुलोमाः—अनुकूलाः (गो०) ३ चित्राः—आश्चर्यभूताः । (गो०) ४ अभिरूपः—सुन्दरः । (गो०)

फिर भला इसको देख मैथिली सीता, जो एक स्त्री है, क्यों न विस्मित होगी। हे लक्ष्मण! धनुर्धारी राजा लोग, मांस और विनोद के लिये भी आखेट में मृगों को मारते हैं ॥३०॥

घ्नन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने ।
धनानि व्यवसायेन विचीयन्ते महावने ॥ ३१ ॥

राजाओं को शिकार के लिये बड़े बड़े वनों में घूमने फिरने पर बहुमूल्य पदार्थ भी मिल जाते हैं ॥ ३१ ॥

धातवो विविधाश्चापि मणिरत्नसुवर्णिनः ।
तत्सारमखिलं नृणां धनं निचयवर्धनम् ॥ ३२ ॥

अनेक प्रकार की धातुएँ, तरह तरह की मणियाँ, रत्न और स्वर्ण उनको मिलते हैं। इन्हीं श्रेष्ठ पदार्थों से राजा लोग अपने धनागार की वृद्धि करते हैं ॥ ३२ ॥

मनसा चिन्तितं सर्वं यथा शुक्रस्य लक्ष्मण ।
अर्थी येनार्थकृत्येन संव्रजत्यविचारयन् ॥ ३३ ॥

हे लक्ष्मण! इसी लिये वन में सब लोगों की इच्छा उसी प्रकार पूरी होती है, जिस प्रकार शुक्र की इच्छा पूरी हुई थी। अर्थ के लिये उद्योग करने में जो अर्थ अनायास मिल जाय ॥ ३३ ॥

तमर्थमर्थशास्त्रज्ञाः प्राहुरर्थ्यांश्च लक्ष्मण ।
एतस्य मृगरत्नस्य[1] परार्ध्ये[2] काञ्चनत्वचि ॥ ३४ ॥
उपवेक्ष्यति वैदेही मया सह सुमध्यमा ।
न कादली न प्रियकी न प्रवेणी न चाविकी ॥ ३५ ॥

---

१ मृगरत्नस्य—मृगश्रेष्ठस्य । (गो०) २ परार्ध्ये—श्लाघ्ये । (गो०)

भवेदेतस्य सदृशी स्पर्शनेनेति मे मतिः ।

एष चैव मृगः श्रीमान्यश्च दिव्यो नभश्चरः[1] ॥ ३६ ॥

हे लक्ष्मण ! उसी अर्थ को अर्थशास्त्रज्ञ अर्थ कहते हैं । अतः इस श्रेष्ठ मृग की श्लाघ्य सुनहली खाल पर सुन्दर कमर वाली जानकी मेरे साथ बैठेगी । मेरी समझ में इस मृग की खाल के बराबर छूने में कोमल, न तो कादली, न प्रियकी, न प्रवेणी न चाविकी जाति के हिरनों की खाल हो सकती है । यह मृग और आकाशचारी दिव्य ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ ।

यदि वाऽयं तथा यन्मां भवेद्वदसि लक्ष्मण ॥ ३७ ॥

मृगशिरा नक्षत्र रूपी मृग—दोनों ही अत्यन्त शोभायुक्त हैं । हे लक्ष्मण ! यदि तुम्हारा कहना ही ठीक हो ॥ ३७ ॥

मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया ।

एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना[2] ॥ ३८ ॥

और यह राक्षसी माया ही हो, तो भी इसका वध करना मेरा कर्त्तव्य है । क्योंकि इस कसाई मारीच ने दुष्टतापूर्वक, ॥ ३८ ॥

वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुङ्गवाः ।

उत्थाय[3] बहवो येन मृगयायां जनाधिपाः ॥ ३९ ॥

वन में विचरते हुए पहिले अनेक श्रेष्ठ मुनियों का वध किया है और वन में प्रकट हो, शिकार खेलने के लिये आये हुए अनेक राजाओं को जो, ॥ ३९ ॥

---

१ नभश्चरोमृगः—मृगशीर्षः । (गो०) २ अकृतात्मना—दुष्टभावेन । (गो०)
३ उत्थाय—प्रादुर्भूय । (गो०)

निहताः परमेष्वासास्तस्माद्वध्यस्त्वयं मृगः ।
पुरस्तादिह वातापिः परिभूय तपस्विनः ॥ ४० ॥

बड़े बड़े धनुधारी थे, इसने वध किया है। इसलिये भी यह मृग-रूपधारी मारीच मारने योग्य है। पूर्वकाल में वातापी नामक राक्षस तपस्वियों को धोखा दे कर, ॥ ४० ॥

उदरस्थो द्विजान्हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव ।
स कदाचिच्चिराल्लोभादाससाद महामुनिम् ॥ ४१ ॥

और उनके पेट में घुस उनको वैसे ही मार डाला करता था, जैसे गर्भस्थ खच्चरी अपनी माता को मार डालती है, सो उस राक्षस ने बहुत दिनों बाद, लोभ में पड़, अगस्त्य जी पर हाथ साफ करना चाहा ॥ ४१ ॥

अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्षस्तस्य बभूव ह ।
समुत्थाने[1] च तद्रूपं[2] कर्तुकामं समीक्ष्य तम् ॥ ४२ ॥
उत्स्मयित्वा तु भगवान्वातापिमिदमब्रवीत् ।
त्वयाविगण्य[3] वातापे परिभूताः स्वतेजसा ॥४३॥
जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः ।
तदेतन्न भवेद्रक्षो वातापिरिव लक्ष्मण ॥ ४४ ॥

वह राक्षस अगस्त्य मुनि का भक्ष्य बन गया। फिर श्राद्ध के अन्त में अपना पूर्व रूप धारण करने की इच्छा उस राक्षस की देख अगस्त्य जी ने हँस कर उससे यह कहा— हे वातापे! तूने बिना

---

१ समुत्थाने—श्राद्धान्ते । (गो०) २ तद्रूपं—रक्षोरूपं । (गो०)
३ अविगण्य—अविचार्य । (गो०)

सोचे समझे इस जीवलोक में बहुत ब्राह्मणों को अपने कुल से नष्ट किया है, अतः तू मेरे पेट में जीर्ण हो गया। हे लक्ष्मण! वातापी की तरह ही क्या यह राक्षस नहीं है? ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम् ।
भवेद्धतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मां गतः ॥ ४५ ॥

जब यह मेरे जैसे जितेन्द्रिय और सदा धर्म में तत्पर रहने वाले का तिरस्कार करता है, तब यह उसी तरह मेरे हाथ से मारा जायगा, जिस प्रकार अगस्त्य द्वारा वातापी मारा गया था ॥ ४५ ॥

इह त्वं भव सन्नद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम् ।
अस्यामायत्तमस्माकं यत्कृत्यं रघुनन्दन ॥ ४६ ॥

अब तुम तो शस्त्र ले और सावधान रह कर, जानकी की रक्षा करो। क्योंकि जानकी की रक्षा करना हमारा अवश्य करणीय कार्य है ॥ ४६ ॥

अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यपि वा मृगम् ।
यावद्गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम् ॥ ४७ ॥

अब मैं या तो इस मृग को पकड़ कर ही लाता हूँ अथवा इसका वध ही करता हूँ। हे लक्ष्मण! अब मैं इस मृग को लाने के लिये शीघ्रता पूर्वक जाता हूँ ॥ ४७ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेहीं मृगत्वचि गतस्पृहाम् ।
त्वचा प्रधानया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ ४८ ॥

देखो लक्ष्मण सीता जी की लालसा इस मृगचर्म में कितनी अधिक है। इससे यह हिरन अपनी खाल के कारण आज अवश्य मारा जायगा ॥ ४८ ॥

अप्रमत्तेन ते भाव्यमाश्रमस्थेन सीतया ।
यावत्पृषतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम् ।
हत्वैतच्चर्म चादाय शीघ्रमेष्यामि लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

हे लक्ष्मण ! जब तक मैं इस मृग को एक ही बाण से मार और इसका चाम ले लौट कर न आऊँ, तब तक तुम सावधानता पूर्वक इस आश्रम में सीता के पास रहो। मैं शीघ्र ही लौट कर आता हूँ ॥ ४९ ॥

[1]प्रदक्षिणेनातिबलेन पक्षिणा
जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण ।
भवाप्रमत्तः परिगृह्य मैथिलीं
प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः ॥ ५० ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्ग ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जानकी की रक्षा के लिये अत्यन्त बली और चतुर जटायु के साथ सब से सदा चौकन्ने रह कर, यहाँ सावधान बने रहना ॥ ५० ॥

अरण्यकाण्ड का तेतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❋—

---

१ प्रदक्षिणेन—अत्यन्तसमर्थेन । (गो०)

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

तथा तु तं समादिश्य भ्रातरं रघुनन्दनः ।
बबन्धासिं महातेजा जाम्बूनदमयत्सरुम्[1] ॥ १ ॥

भाई को इस प्रकार समझा कर, श्रीरामचन्द्र ने सोने की मूठ लगी हुई तलवार ली ॥ १ ॥

ततस्त्र्यवनतं चापमादायात्मविभूषणम् ।
आबध्य च कलापौ द्वौ जगामोदग्रविक्रमः ॥ २ ॥

फिर तीन जगह से झुका हुआ धनुष, जो उनका आभूषण था, ले और दो तरकस पीठ पर बांध, प्रचण्ड पराक्रमी श्रीरामचन्द्र रवाना हुए ॥ २ ॥

तं वञ्चयानो राजेन्द्रमापतन्तं निरीक्ष्य वै ।
बभूवान्तर्हितस्त्रासात्पुनः सन्दर्शनेऽभवत् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी को आते देख, धोखेबाज़ मारीच कुछ देर के लिये छिप गया । पीछे से फिर दिखलाई दिया ॥ ३ ॥

बद्धासिर्धनुरादाय प्रदुद्राव यतो मृगः ।
तं स्म पश्यति रूपेण द्योतमानमिवाग्रतः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी खड्ग कमर में बांधे और धनुष हाथ में लिये हुए, जिधर वह देख पड़ा उसी ओर चले । मारीच कान्तिमान् श्रीरामचन्द्र जी को अपने समाने ही देखता था ॥ ४ ॥

---

१ त्सरुः—खड्गमुष्टिः । (गो०)

अवेक्ष्यावेक्ष्य धावन्तं धनुष्पाणिं महावने ।
अतिवृत्तमिषोः पाताल्लोभयानं कदाचन ॥ ५ ॥

कभी वह मृग धनुषधारी श्रीरामचन्द्र को वार वार देख कर उस महावन में दौड़ लगाता । कभी कुलांचें मार कर, दूर हो जाता और कभी अति निकट आ उनको लुभाता ॥ ५ ॥

शङ्कितं तु समुद्भ्रान्तमुत्पतन्तमिवाम्बरे ।
दृश्यमानमदृश्यं च वनोद्देशेषु केषुचित् ॥ ६ ॥

कभी शङ्कित और घबड़ा कर वह इतनी ऊँची लङ्गंग भरता कि, मानों वह आकाश में चला जायगा । कभी देखते ही देखते अदृश्य हो जाता और कभी वन में दूर जा निकलता ॥ ६ ॥

छिन्नाभ्रैरिव संवीतं शारदं चन्द्रमण्डलम् ।
मुहूर्तादेव ददृशे मुहुर्दूरात्प्रकाशते ॥ ७ ॥

कभी वह (पवन से) छितराये हुए मेघों से घिरे हुए शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह छिप जाता और मुहूर्त्त बाद ही फिर दूर पर दिखलाई पड़ता था ॥ ७ ॥

दर्शनादर्शनादेवं सोऽपाकर्षत राघवम् ।
सुदूरमाश्रमस्यास्य मारीचो मृगतां गतः ॥ ८ ॥

इस प्रकार वार वार छिपता और प्रगट होता हुआ मृग रूपधारी मारीच, श्रीरामचन्द्र जी को आश्रम से दूर ले गया ॥ ८ ॥

आसीत्क्रुद्धस्तु काकुत्स्थो विवशः[1]तेन मोहितः[2] ।
अथावतस्थे *सुश्रान्तश्छायामाश्रित्य शाद्वले ॥ ९ ॥

---

१ विवशः कुतूहलपरवशः । (गो०) २ मोहितः—वञ्चितः । (गो०)

* पाठान्तरे—"सम्भ्रान्तः ।"

श्रीरामचन्द्र जी कुतूहलवश हो, मारीच से जब इस प्रकार छले गये, तब वे क्रुद्ध और थक जाने के कारण छायायुक्त तृणमय स्थान पर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

स तमुन्मादयामास मृगरूपो निशाचरः ।
मृगैः परिवृतो वन्यैरदूरात्प्रत्यदृश्यत ॥ १० ॥

वह मृगरूपधारी निशाचर श्रीरामचन्द्र जी को भुलावा देने के लिये, अन्य मृगों में जा मिला और समीप ही देख पड़ा ॥ १० ॥

ग्रहीतुकामं दृष्ट्वैनं पुनरेवाभ्यधावत ।
तत्क्षणादेव संत्रासात्पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ ११ ॥

जब उसने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी मुझे पकड़ा ही चाहते हैं, तब वह फिर भागा और डर कर फिर छिप गया ॥ ११ ॥

पुनरेव ततो दूराद्वृक्षषण्डाद्विनिःसृतम् ।
दृष्ट्वा रामो महातेजास्तं हन्तुं कृतनिश्चयः ॥ १२ ॥

फिर वह बहुत दूर जा कर वृक्ष समूह से निकलता हुआ दिखलाई पड़ा । महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने वह देख कर अब उस मृग को मार डालना ही निश्चय किया ॥ १२ ॥

भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः ।
सूर्यरश्मिप्रतीकाशंज्वलन्तमरिमर्दनः ॥ १३ ॥

उन्होंने रोष में भर कर, बड़े वेग से तरकस से सूर्य की तरह चमचमाता और शत्रु का नाश करने वाला एक बाण निकाला ॥ १३ ॥

सन्धाय सुदृढे चापे विकृष्य बलवद्बली ।
तमेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ १४ ॥

और उसको अपने मज़बूत धनुष पर चढ़ा और रोदे को बल पूर्वक खींच, और हिरन का निशाना बांध, फुंसकारते हुए सांप की तरह ॥ १४ ॥

मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम् ।

शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः ॥ १५ ॥

छोड़ा। ब्रह्मा के बनाये हुए और चमचमाते हुए उस उत्तम बाण ने जा कर, उस मृग के शरीर को विदीर्ण कर डाला॥ १५॥

मारीचस्यैव हृदयं विभेदाशनिसन्निभः ।

तालमात्रमथोत्प्लुत्य न्यपतत्स शरातुरः ॥ १६ ॥

उस वज्र तुल्य बाण के लगने से मारीच एक ताड़ वृक्ष के बराबर ऊँचा उछल कर और बाण की चोट से व्यथित हो, ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ १६ ॥

विनदन्भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः ।

म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् ॥ १७ ॥

ज़मीन पर गिर अल्प समय जीने वाले मारीच ने भयङ्कर नाद किया। मरते समय मारीच ने बनावटी (हिरन के) शरीर का त्याग दिया ॥ १७ ॥

स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम् ।

इह प्रस्थापयेत्सीता शून्ये तां रावणो हरेत् ॥ १८ ॥

उस समय वह रावण की बात याद कर, विचारने लगा कि, सीता क्यों कर लक्ष्मण को यहाँ भेजे, जिससे सीता को एकान्त में पा, रावण हर कर ले जाय ॥ १८ ॥

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वरम् ।

सदृशं राघवस्यैव हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ १९ ॥

उपयुक्त अवसर जान, मारीच ने ठीक श्रीरामचन्द्र के कण्ठस्वर का अनुकरण कर, चिल्ला कर कहा—हा सीते! हा लक्ष्मण! ॥१९॥

तेन मर्मणि निर्विद्धः शरेणानुपमेन च ।
मृगरूपं तु तत्त्यक्त्वा राक्षसं रूपमात्मनः ॥२०॥

श्रीरामचन्द्र जी के अनुपम बाण से उसका मर्मस्थल ऐसा विदीर्ण हो गया था कि, वह फिर मृग का रूप धारण न कर सका और अपने राक्षस रूप में प्रकट हो गया ॥ २० ॥

चक्रे स सुमहाकायो मारीचो जीवितं त्यजन् ।
ततो विचित्रकेयूरः सर्वाभरणभूषितः ॥ २१ ॥

मरने के समय मारीच विशाल शरीरधारी हो गया और उस समय विचित्र केयूरादि सब आभूषण धारण किये हुए वह देख पड़ा ॥ २१ ॥

हेममाली महादंष्ट्रो राक्षसोऽभूच्छराहतः ।
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ २२ ॥

बाण के लगने से वह सुवर्ण की माला पहिने हुए बड़े बड़े दाँतों वाला राक्षस बन गया। उस भयङ्कर राक्षस को पृथिवी पर गिरा हुआ देख ॥ २२ ॥

रामोरुधिरसिक्ताङ्गं वेष्टमानं महीतले ।
जगाम मनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ॥ २३ ॥

और लोहू से तरबतर जमीन पर लोटता हुआ देख, श्रीरामचन्द्र मन ही मन सीता की चिन्ता करने लगे। उस समय उन्हें लक्ष्मण की कही बात याद आयी ॥ २३ ॥

मारीचस्यैव मायैषा पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु ।
तत्तथा ह्यभवच्चाद्यमारीचोऽयं मया हतः ॥ २४ ॥

वे सोचने लगे कि, देखो लक्ष्मण ने पहले ही कहा था कि, यह मारीच की माया है । सो उन्हींकी बात ठीक निकली और यह मारीच मेरे द्वारा मारा गया ॥ २४ ॥

हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य च महास्वनम् ।
ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत् ॥२५॥

यह राक्षस "हा ! सीते हा लक्ष्मण !" चिल्लाता हुआ मरा है । सो जब ये शब्द सीता ने सुने होंगे, तब उसकी क्या दशा हुई होगी ॥ २५ ॥

लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति ।
इति सञ्चिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः ॥२६॥

इससे महाबाहु लक्ष्मण की भी न मालूम क्या दशा हुई होगी । यह सोचने से डर के मारे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र के शरीर के रोए खड़े हो गये ॥ २६ ॥

तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम् ।
राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वरम् ॥ २७ ॥

उस समय मृगरूपी मारीच को मार और उसका इस प्रकार चिल्लाना सुन कर, वे बहुत डरे और दुःखी हुए ॥ २७ ॥

निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः ॥
त्वरमाणो जनस्थानं [1]ससाराभिमुखस्तदा ॥ २८ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

---

1 ससार—ययौ (गो०)

तदनन्तर (श्रीरामचन्द्र जी) एक और मृग को मार और उसका मांस ले शीघ्रतापूर्वक जनस्थान की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—※—

आर्तस्वरं तु तं भर्तुर्विज्ञाय सदृशं वने।
उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीहि राघवम् ॥ १ ॥

जब जानकी जी ने उस वन में पति के कण्ठस्वर के सदृश स्वर में आर्त्तनाद सुना, तब वे लक्ष्मण से बोलीं कि, जा कर तुम श्रीरामचन्द्र को देखो तो ॥ १ ॥

न हि मे हृदयं स्थाने[1] जीवितं[2] वाऽवतिष्ठते※।
क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम् ॥ २ ॥

इस समय मेरा जी ठिकाने नहीं; चित्त न जाने कैसा हो रहा है। क्योंकि मैंने परम पीड़ित और अत्यन्त चिल्लाते हुए श्रीरामचन्द्र का शब्द सुना है ॥ २ ॥

आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि।
तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम्[3] ॥ ३ ॥

---

१ स्थाने—स्वस्थाने। (गो०) २ जीवितं—प्राणः। (गो०) ३ शरणैषिणं—रक्षकार्थिनं। (गो०) ※ पाठान्तरे—"तिष्ठति।"

अतः तुम वन में जा कर इस प्रकार आर्त्तनाद करने वाले अपने भाई की रक्षा करो और दौड़ कर शीघ्र आओ, क्योंकि उनको इस समय रक्षक की आवश्यकता है ॥ ३ ॥

रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम् ।
न जगाम तथोक्तस्तु भ्रातुराज्ञाय शासनम् ॥ ४ ॥

जान पड़ता है, वे राक्षसों के वश में जा पड़े हैं, इसीसे वे सिंहों के बीच में पड़े हुए बैल की तरह विकल हैं। सीता जी के इस कहने पर भी लक्ष्मण जी न गये। क्योंकि उनको उनके भाई श्रीरामचन्द्र जाते समय आश्रम में रह कर, सीता की रखवाली करने की आज्ञा दे गये थे ॥ ४ ॥

तमुवाच ततस्तत्र कुपिता जनकात्मजा ।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ॥ ५ ॥

तब तो सीता जी ने क्रोध कर लक्ष्मण से कहा—हे लक्ष्मण ! तुम अपने भाई के मित्ररूपी शत्रु हो ॥ ५ ॥

यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपत्स्यसे ।
इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥ ६ ॥

क्योंकि इस दशा में भी तुम भाई के समीप नहीं जाते। मैंने जान लिया, तुम मेरे लिये अपने भाई का विनाश चाहते हो ॥ ६ ॥

लोभान्मम कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम् ।
व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥ ७ ॥

तुम निश्चय ही मुझे हथियाने के लोभ से श्रीरामचन्द्र जी के पास नहीं जाते। तुमको अपने भाई का दुःखी होना अच्छा लगता है। अपने भाई में तुम्हारी ज़रा भी प्रीति नहीं है ॥ ७ ॥

तेन तिष्ठसि विस्रब्धस्तमपश्यन्महाद्युतिम् ।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत् ॥ ८ ॥
कर्तव्यमिह तिष्ठन्त्या यत्प्रधानस्त्वमागतः ।
इति ब्रुवाणां वैदेहीं बाष्पशोकपरिप्लुताम् ॥ ९ ॥

(यदि ऐसा न होता तो) तुम क्या उस महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र के बिना इसी प्रकार निश्चिन्त और स्थिर बैठे रहते । देखो जिन श्रीरामचन्द्र जी के अधीन में हो कर, तुम वन में आये हो, उन्हीं श्रीरामचन्द्र जी के प्राण जब सङ्कट में पड़े हैं, तब मैं यहाँ रह कर ही क्या करूँगी (अर्थात् यदि तुम न जाओगे तो मैं जाऊँगी) । जब जानकी जी ने आँखों में आँसू भर कर, यह कहा ॥ ८ ॥ ९ ॥

अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव ।
पन्नगासुरगन्धर्वदेवमानुषराक्षसैः ॥ १० ॥

तब मृगी के समान डरी हुई सीता जी से लक्ष्मण जी बोले कि, पन्नग, असुर, गन्धर्व, देवता, मनुष्य, राक्षस ॥ १० ॥

अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः ।
देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु ॥ ११ ॥
राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च ।
दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने ॥ १२ ॥
यो रामं प्रति युध्येत समरे वासवोपमम् ।
अवध्यः समरे रामो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

कोई भी तुम्हारे पति (श्रीरामचन्द्र जी) को नहीं जीत सकता । इसमें कुछ भी सन्देह मत करना । हे सीते ! हे शोभने ! देवताओं,

मनुष्यों, गन्धर्वों, पक्षियों, राक्षसों, पिशाचों, किन्नरों, मृगों, भयङ्कर वानरों में कोई भी ऐसा नहीं, जो इन्द्र के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र के सामने रणक्षेत्र में खड़ा रह सके। युद्धक्षेत्र में श्रीरामचन्द्र अवध्य हैं। अतः तुमको ऐसा कहना उचित नहीं ॥११॥१२॥१३॥

न त्वामस्मिन्वने हातुमुत्सहे राघवं विना ।
अनिवार्यं बलं तस्य बलैर्बलवतामपि ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र की अनुपस्थिति में, मैं तुम्हें इस वन में अकेली छोड़ कर नहीं जा सकता। बड़े बड़े बलवानों की भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र के बल को रोक सकें ॥१४॥

त्रिभिर्लोकैः समुद्युक्तैः सेश्वरैरपि सामरैः ।
हृदयं निर्वृतं तेऽस्तु सन्तापस्त्यज्यतामयम् ॥१५॥

अगर तीनों लोक और समस्त देवताओं सहित इन्द्र इकट्ठे हो जाँय, तो भी श्रीरामचन्द्र का सामना नहीं कर सकते। अतः तुम सन्ताप को दूर कर, आनन्दित हो ॥ १५ ॥

आगमिष्यति ते भर्ता शीघ्रं हत्वा मृगोत्तमम् ।
न च तस्य स्वरो व्यक्तं मायया केनचित्कृतः ॥ १६ ॥

उस उत्तम मृग को मार तुम्हारे पति शीघ्र आ जाँयगे। जो शब्द तुमने सुना है, वह श्रीरामचन्द्र जी का नहीं है, यह तो किसी का बनावटी शब्द है ॥ १६ ॥

गन्धर्वनगरप्रख्या माया सा तस्य रक्षसः ।
न्यासभूतासि वैदेहि न्यस्ता मयि महात्मना ॥ १७ ॥
रामेण त्वं वरारोहे न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।
कृतवैराश्च वैदेहि वयमेतैर्निशाचरैः ॥ १८ ॥

खरस्य निधनादेव जनस्थानवधं प्रति ।
राक्षसा विविधा वाचो विसृजन्ति[1] महावने ॥ १९ ॥

बल्कि गन्धर्व-नगर की तरह यह उस राक्षस की माया है। हे सीते ! महात्मा श्रीरामचन्द्र जी मुझको, तुम्हें धरोहर की तरह सौंप गये हैं। अतः हे वरारोहे ! मैं तुम्हें अकेली छोड़ कर जाना नहीं चाहता। (हे वैदेही ! एक बात और है) जनस्थाननिवासी खरादि राक्षसों का वध करने से राक्षसों से हमारा वैर हो गया है। सो इस महावन में राक्षस लोग हम लोगों को धोखा देने के लिये भाँति भाँति की बोलियाँ बोला करते हैं ॥१७॥१८॥१९॥

[2]हिंसाविहारा वैदेहि न चिन्तयितुमर्हसि ।
लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा क्रुद्धा संरक्तलोचना ॥ २० ॥

और साधु जनों को पीड़ित करना राक्षसों का एक प्रकार का खेल है। अतः तुम किसी बात की चिन्ता मत करो। जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा, तब सीता जी के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये ॥ २० ॥

अब्रवीत्परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम् ।
[3]अनार्य[4]करुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥ २१ ॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत् ।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे ॥ २२ ॥

---

१ वाचो विसृजन्ति अस्मन्मोहनार्थमितिशेषः । (गो०) २ हिंसैव साधुजन पीडैव विहारोयेषां । (रा०) ३ अनार्य—दुःशील । (गो०) ४ अकरुणारम्भ—दयाप्रसक्तिरहित । (गो०)

और उन्होंने लक्ष्मण से, जो यथार्थ बात कह रहे थे, कठोर वचन कहते हुए कहा—हे दुःशील कठोर हृदय! हे क्रूर स्वभाव और कुलकलङ्क! मैं जान गयी कि, श्रीरामचन्द्र जी का विपद्ग्रस्त होना तुझको भला लगता है। तभी तो तू श्रीरामचन्द्र जी को विपद्ग्रस्त देख ऐसा कहता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

नैतच्चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्भवेत् ।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण! तुझ जैसे घातक और सदैव छिपे छिपे व्यवहार करने वाले वैरी की यदि ऐसी निन्द्य पापबुद्धि हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ॥ २३ ॥

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि ।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥ २४ ॥

लक्ष्मण! तेरा स्वभाव बड़ा खोटा है, इसीसे तू अकेला श्रीराम के साथ वन में आया है। अथवा छिप कर भरत का भेजा हुआ तू श्रीराम के साथ आया है ॥ २४ ॥

तन्न सिध्यति सौमित्रे तव वा भरतस्य वा ।
कथमिन्दीवरश्यामं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ २५ ॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम् ।
समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्ये न संशयः ॥ २६ ॥

सो लक्ष्मण! याद रखना तेरी और भरत की यह साध कभी पूरी होने वाली नहीं। भला मैं नीलोत्पल श्याम और कमलनयन श्रीरामचन्द्र को छोड़, क्यों क्षुद्र जन को अपना पति बनाऊँगी। मैं तो तेरे सामने ही अपने प्राण निश्चय ही दे दूँगी ॥ २५ ॥ २६ ॥

रामं विना क्षणमपि न हि जीवामि भूतले ।
इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम् ॥ २७ ॥

श्रीराम के बिना इस भूतल पर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती । जब जानकी जी ने, ऐसी रोमाञ्चकारी कठोर बातें कहीं ॥ २७ ॥

अब्रवील्लक्ष्मणः सीतां प्राञ्जलिर्विजितेन्द्रियः ।
उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ॥ २८ ॥

तब जितेन्द्रिय लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर सीता से कहा—आप मेरी साक्षात् देवता हैं, (अर्थात् पूज्या हैं) अतः मैं आपकी इन बातों का उत्तर नहीं दे सकता ॥ २८ ॥

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि ।
स्वभावस्त्वेष नारीणामेवं लोकेषु दृश्यते ॥ २९ ॥

हे मैथिली ! आपने जो ये अनुचित बातें कही हैं, सो स्त्रियों के लिये इनका कहना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । क्योंकि संसार में स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है ॥ २९ ॥

विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः ।
न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥ ३० ॥

लोक में देखा जाता है कि, स्त्रियाँ धर्म को छोड़ने वालीं, चञ्चल, उग्रस्वभाव और आपस में भेदभाव डालने वाली होती हैं । किन्तु हे जानकी ! ऐसे वाक्य मैं सह नहीं सकता ॥ ३० ॥

श्रोत्रयोरुभयोर्मध्ये तप्तनाराचसन्निभम् ।
उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिभूता वनेचराः ॥ ३१ ॥

अत्यन्त तपाये हुए बाणों की तरह तुम्हारे ये वचन मेरे दोनों कानों को विद्ध कर रहे हैं। अच्छा सब वनवासी देवता गण मेरे साक्षी बन कर सुनें ॥ ३१ ॥

न्यायवादी यथान्यायमुक्तोऽहं परुषं त्वया ।
धिक्त्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्मामेवं विशङ्कसे ॥ ३२ ॥

मेरे यथार्थ कहने पर भी तुमने मुझसे कठोर वचन कहे। अतः तुमको धिक्कार है। जान पड़ता है, आज तुम्हारा अनिष्ट होने वाला है, तभी तुमको मुझ पर ऐसा निर्मूल सन्देह हुआ है ॥ ३२ ॥

स्त्रीत्वं दुष्टं स्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम् ।
गमिष्ये यत्र काकुत्स्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने ॥ ३३ ॥

हे सीते! इस समय तुमने स्त्रियोचित दुष्ट स्वभाव दिखलाया है। मैं तो श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा मान, तुम्हें अकेली छोड़ कर, नहीं जाता था। किन्तु हे वरानने! तुम्हारा मङ्गल हो! लो मैं अब श्रीरामचन्द्र के पास जाता हूँ ॥ ३३ ॥

रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः ।
निमित्तानि हि घोराणि यानि प्रादुर्भवन्ति मे ॥ ३४ ॥

हे विशालाक्षि! समस्त वनदेवता तुम्हारी रक्षा करें। इस समय बड़े बुरे बुरे शकुन मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः ॥ ३५ ॥

क्या मैं श्रीरामचन्द्र सहित लौट, फिर तुम्हें (यहाँ) देख सकूँगा ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा रुदन्ती जनकात्मजा ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्रं बाष्पपरिप्लुता ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण की ये बातें सुन, रोती हुई जानकी जी ने लक्ष्मण जी को उत्तर देते हुए आँखों में आंसू भर, फिर कठोर वचन कहे ॥ ३६ ॥

गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि विना रामेण लक्ष्मण ।
आबन्धिष्येऽथ वा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥ ३७ ॥

हे लक्ष्मण! श्रीराम के विना मैं गोदावरी में डूब मरूँगी अथवा गले में फाँसी लगा कर मर जाऊँगी अथवा किसी ऊँचे स्थान से गिर कर प्राण दे दूँगी ॥ ३७ ॥

पिबाम्यहं विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
न त्वहं राघवादन्यं कदापि* पुरुषं स्पृशे ॥ ३८ ॥

अथवा हलाहल विष पीलूँगी अथवा अग्नि में कूद कर भस्म हो जाऊँगी; किन्तु श्रीरामचन्द्र को छोड़, परपुरुष को स्पर्श कभी भी न करूँगी ॥ ३८ ॥

इति लक्ष्मणमाक्रुश्य सीता दुःखसमन्विता ।
पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरं प्रजघान ह ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण से इस प्रकार कह और शोक से पीड़ित हो सीता दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर रोने लगीं ॥ ३९ ॥

तमार्तरूपां विमना रुदन्तीं
सौमित्रिरालोक्य विशालनेत्राम्
आश्वासयामास न चैव भर्तुः
तं भ्रातरं किञ्चिदुवाच सीता ॥ ४० ॥

---

* पाठान्तरे—"पदापि।"

विशालनयना जनकनन्दिनी को ऐसे आर्त्तभाव से, उदास हो रोते हुए देख, लक्ष्मण ने उनको समझाया बुझाया, किन्तु जानकी ने अपने देवर से फिर कुछ भी न कहा (अर्थात् रूठ गयीं) ॥ ४० ॥

ततस्तु सीतामभिवाद्य लक्ष्मणः
कृताञ्जलिः किञ्चिदभिप्रणम्य च।
अन्वीक्षमाणो बहुशश्च मैथिलीं
जगाम रामस्य समीपमात्मवान् ॥ ४१ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर जितेन्द्रिय लक्ष्मण जी हाथ जोड़ और बहुत झुक कर सीता जी को प्रणाम कर और बार बार सीता को देखते हुए श्रीरामचन्द्र के पास चल दिये ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—*—

तथा परुषमुक्तस्तु कुपितो राघवानुजः
स विकाङ्क्षन्भृशं[1] रामं प्रतस्थे न चिरादिव[2] ॥ १ ॥

इस प्रकार जानकी की कटूक्तियों से कुपित हो, लक्ष्मण जी वहाँ से जाने की बिलकुल इच्छा न रहते भी, श्रीरामचन्द्र जी के पास तुरन्त चल दिये ॥ १ ॥

---

१ भृशं—अत्यन्तम्। (शि०) २ नचिरादिव—अविलम्बितमेव। इवशब्दो वाक्यालङ्कार इतिवा। (गो०)

तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः ।
अभिचक्रामवैदेहीं परिव्राजकरूपधृत् ॥ २॥

इतने में एकान्त अवसर पा, रावण ने सन्यासी का भेष बनाया और वह तुरन्त सीता के सामने आ पहुँचा ॥ २ ॥

[1]श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही ।
वामे चांसेऽवसज्ज्याथ शुभे [2]यष्टिकमण्डलू ॥ ३ ॥

उस समय रावण स्वच्छ गेरुआ रङ्ग के कपड़े पहिने हुए था, उसके सिर पर चोटी थी, सिर पर छत्र लगाये और पैरों में खड़ाऊ पहिने हुए था। उसके वाम कंधे पर त्रिदण्ड था और हाथ में कमण्डलु लिये हुए था ॥ ३ ॥

[**नोट**—रावण ने उस समय के संन्यासियों का यथार्थ रूप धारण किया था। इससे जान पड़ता है, रामायणकाल के संन्यासी चोटीकट नहीं होते थे। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपने रामायण के अनुवाद में "शिखी" का अर्थ किया है "सिर पर बाल रखाये"—इसका कारण उनका चोटीकट संन्यासियों का पक्षपाती होना ही कहा जा सकता है। ऋषि अङ्गिरा ने सन्यासियों के चिन्ह बतलाते हुए लिखा है:—

"यतेर्लिङ्ग प्रवक्ष्यामि येनासौ लक्ष्यते यतिः
ब्रह्मसूत्रं त्रिदण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणं ।
शिक्यं पात्रं बृसी चैव कौपीनं कटिवेष्टनम्
यस्यैतद्विद्यते लिङ्गं स यतिर्नेतरो यतिः ॥

इसके अतिरिक्त मिश्र जी ने मूल श्लोक में प्रयुक्त "यष्टि" का अर्थ किया है "लाठी"। यदि रामाभिरामी तथा भूषण आदि टीकाकारों का किया हुआ महाभारत से समर्थित यष्टि का अर्थ (रावणास्तु यतिर्भूत्वामुण्डः कुण्डी त्रिदण्ड धृक्) त्रिदण्ड न भी करते, तो प्रसङ्गानुसार "दण्ड" तो करते; किन्तु न मालूम मिश्र जी महाराज ने यष्टि का अर्थ "लाठी" क्यों कर, कर डाला]

---

१ श्लक्ष्णः—स्वच्छः (शि०) २ यष्टिः—त्रिदण्डं (गो०) (रा०)

परिव्राजकरूपेण वैदेहीं समुपागमत् ।
तामाससादातिबलो भ्रातृभ्यां रहितां वने ॥ ४ ॥

इस प्रकार का यति भेष धारण कर अतिबली रावण, श्रीराम लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सीता को अकेली पा, उनके पास उसी प्रकार गया ॥ ४ ॥

रहितां चन्द्रसूर्याभ्यांसन्ध्यामिव महत्तमः ।
तामपश्यत्ततो बालां रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य की अनुपस्थिति में सन्ध्या के समय अन्धकार आता है । उसने श्रीरामाश्रम में जा यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को वैसे ही देखा ॥ ५ ॥

रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद्भृशदारुणः ।
तमुग्रतेजः कर्माणं जनस्थानरुहा द्रुमाः ॥ ६ ॥
समीक्ष्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च मारुतः ।
शीघ्रस्रोताश्च तं दृष्ट्वा वीक्षन्तं रक्तलोचनम् ॥ ७ ॥

जैसे चन्द्रमा की अनुपस्थिति में राहु रोहिणी को देखता है । उस अत्याचारी रावण को देख, जनस्थान के वृक्ष हिलते न थे और हवा का चलना भी बन्द हो गया था । लाल लाल नेत्र कर सीता जी की ओर उसे देखते हुए देख ॥ ६ ॥ ७ ॥

स्तिमितं गन्तुमारेभे भयाद्गोदावरी नदी ।
रामस्य त्व[1]न्तरप्रेप्सुर्दशग्रीवस्तदन्तरे ॥ ८ ॥

---

१ अन्तरप्रेप्सु—छिद्रान्वेषी । (गो०)

भय के मारे, तेज बहने वाली गोदावरी की धार भी धीमी पड़ गयी। श्रीराम से सीता का वियोग कराने की इच्छा रखने वाला रावण, ॥ ८ ॥

उपतस्थे च वैदेहीं भिक्षुरूपेण रावणः ।
अभव्यो भव्यरूपेण भर्तारमनुशोचतीम् ॥ ९ ॥

जो दुर्जन होने पर भी उस समय सन्यासी का भेष धारण कर सज्जन बना हुआ था, सीता जी के पास, जो श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता में मग्न थीं, पहुँचा ॥ ६ ॥

अभ्यवर्तत वैदेहीं चित्रामिव शनैश्चरः ।
स पापो भव्यरूपेण तृणैः कूप इवावृतः ॥ १० ॥

रावण, जानकी जी के पास उसी तरह गया, जिस प्रकार शनैश्चर चित्रा के पास जाता है। उस समय उस पापी रावण का वह भव्य रूप वैसा ही जान पड़ता था, जैसा किसी कुएँ का, जो तृणों से ढका हुआ हो ॥ १० ॥

अतिष्ठत्प्रेक्ष्य वैदेहीं रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
शुभां रुचिरदन्तोष्ठीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ ११ ॥
आसीनां पर्णशालायां बाष्पशोकाभिपीडिताम् ।
स तां पद्मपलाशाक्षीं पीतकौशेयवासिनीम् ॥ १२ ॥
अभ्यागच्छत वैदेहीं दुष्टचेता निशाचरः ।
स मन्मथशराविष्टो ब्रह्मघोषमुदीरयन् ॥ १३ ॥

रावण यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को देखता हुआ खड़ा हो गया। सुन्दर रूपवाली, मनोहर दाँतों वाली, पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुख वाली, जो सीता पर्णकुटी में बैठी हुई अपने पति के शोक से दुःखी हो रही थीं, उन कमल सदृश नेत्र वाली, सुनहले

रंग की साड़ी पहिने हुए सीता के पास वह दुष्ट रावण पहुँचा। और सीता को देख वह कामासक्त हो संन्यासियों के पढ़ने योग्य वेद के मंत्रों को पढ़ने लगा ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपः।
तामुत्तमां स्त्रियं लोके पद्महीनामिव श्रियम् ॥ १४॥
विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशशंस ह।
का त्वं काञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनि ॥ १५ ॥
कमलानां शुभां मालां पद्मनीव हि बिभ्रती।
[1]ह्रीःकीर्तिःश्रीः[2] शुभा [3]लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने ॥१६॥
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी[4]।
समाः शिखरिणः स्निग्धाः पाण्डुरा दशनास्तव ॥१७॥

तदनन्तर वह त्रैलोक्य-सुन्दरी और कमलहीन लक्ष्मी की तरह शोभायमान शरीर से युक्त सीता की प्रशंसा करने लगा (रावण बोला—हे रूप्य काञ्चन के समान वर्ण वाली! हे चंपै रंग की साड़ी पहिनने वाली! हे सुन्दर कमल के फूलों की माला से सुशोभित कमलिनि! हे शुभानने! क्या तुम विष्णुपत्नी भूदेवी हो। अथवा कीर्ति हो, अथवा कमला हो, अथवा लक्ष्मी देवी हो, अथवा कोई अप्सरा हो, अथवा स्वतंत्र विहार करने वाली कामदेव की पत्नी रति तो नहीं हो? तुम्हारे दांत बराबर हैं, (ऊबड़ खाबड़ नहीं) उनके अग्रभाग कुन्द के फूल की तरह मनोहर और सफेद हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ ह्रीः—विष्णुपत्नी भूमिः। (गो०) २ श्रीः—कमला। (गो०) ३ लक्ष्मीः—कान्त्यधिष्ठानदेवता। (गो०) ४ स्वैरचारिणी—स्वतंत्रा। (गो०)

विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके ।
विशालं जघनं पीनमूरू करिकरोपमौ ॥ १८ ॥

तेरे नेत्र विशाल, निर्मल और अरुणाई लिये हुए हैं और उनमें काली पुतलियाँ हैं। तेरी जंघाएं बड़ी और मोटी हैं और उनके नीचे का भाग हाथी की सूंड़ की तरह है ॥ १८ ॥

एतावुपचितौ[1] वृत्तौ संहतौ[2] संप्रविल्गतौ ।
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धौ तालफलोपमौ ॥ १९ ॥

और वे उठे हुए एवं गोलाकार होने के कारण आपस में मिले हुए और कुछ कुछ कम्पायमान हो रहे हैं। तुम्हारे दोनों उरोज मोटे और उनके अग्रभाग तने हुए हैं। वे परम मनोहर हैं और कोमल एवं ताल फल के आकार वाले हैं ॥ १९ ॥

मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ ।
चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ॥ २० ॥

उन उरोजों पर मणियों की माला पड़ी हुई उनको शोभायमान कर रही है। हे मनोहर-हास्य-युक्ते ! हे सुन्दर दांतों वाली ! हे सुन्दर नेत्रों वाली ! हे विलासिनि ! ॥ २० ॥

मनो हरसि मे कान्ते नदीकूलमिवाम्भसा ।
करान्तमितमध्यासि सुकेशी संहतस्तनी ॥ २१ ॥

हे कान्ते ! तू मेरे मन को वैसे ही हर रही है जैसे नदी का जल नदी के तट को हरण करता है। तू पतली कमर वाली है, तू सुन्दर केशों वाली है और मिले हुए उरोजों से तू सुशोभित है ॥ २१ ॥

---

१ उपचितौ—उन्नतौ। (गो०) २ संहितौ—अन्योन्यसंश्लिष्टौ। (गो०)

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी ।
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ २२ ॥

इस महीतल पर तो मैंने ऐसी रूपवती स्त्री कभी नहीं देखी। तेरे रूप के समान न तो कोई देवता की स्त्री है, न कोई गन्धर्वी है, न कोई यक्षिणी है और न कोई किन्नरी ही है ॥ २२ ॥

रूपमग्र्यं च लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते ।
इह वासश्च कान्तारे चित्तमुन्मादयन्ति मे ॥ २३ ॥

कहाँ तो तेरा ऐसा सुन्दर रूप और तेरी यह सुकुमारता और वय (उम्र) और कहाँ यह वन में रहना। जब मैं इन बातों पर विचार करता हूँ, तब मेरा मन उन्मत्त हो उठता है ॥ २३ ॥

सा प्रतिक्राम भद्रं ते न त्वं वस्तुमिहार्हसि ।
राक्षसानामयं वासो घोराणां कामरूपिणाम् ॥ २४ ॥

अतः तू आश्रम से निकल चल। तेरा यहाँ (वन में) रहना ठीक नहीं। क्योंकि इस वन में कामरूपी भयङ्कर राक्षसों का डेरा है ॥ २४ ॥

प्रासादाग्राणि रम्याणि नगरोपवनानि च ।
सम्पन्नानि सुगन्धीनि युक्तान्याचरितुं त्वया ॥ २५ ॥

तुझको तो सुन्दर विशाल वनों में और रमणीक एवं सम्पन्न नगरों और सुगन्धित पुष्पों से युक्त वृक्षों से परिपूर्ण उपवनों में विहार करना उचित है ॥ २५ ॥

वरं माल्यं वरं भोज्यं वरं वस्त्रं च शोभने ।
भर्तारं च वरं मन्ये त्वद्युक्तमसितेक्षणे ॥ २६ ॥

हे शोभने! तुझे तो उत्तम पुष्पमालाएँ धारण करनी चाहिये, सुस्वादु भोजन करने चाहिये। सुन्दर बढ़िया वस्त्र पहिनने चाहिये। हे असितेक्षणे! तेरे समान तेरे लिये सुन्दर घर भी होना चाहिये ॥२६ ॥

का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने ।
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ॥ २७ ॥

हे वरानने! क्या तू रुद्रों की, मरुतों की अथवा वसुओं की स्त्री है? तू तो मुझे देवता सी जान पड़ती है ॥ २७ ॥

नेह गच्छन्ति गन्धर्वा न देवा न च किन्नराः ।
राक्षसानामयं वासः कथं नु त्वमिहागता ॥ २८ ॥

इस वन में गन्धर्व, देवता अथवा किन्नर नहीं आया करते। क्योंकि यहाँ तो राक्षसों का डेरा है, सो तू यहाँ क्यों कर आयी? ॥ २८ ॥

इह शाखामृगाः सिंहा द्वीपिव्याघ्रमृगास्तथा ।
ऋक्षास्तरक्षवः[1] कङ्काः कथं तेभ्यो न बिभ्यसि ॥ २९ ॥

इस वन में बंदर, सिंह, चीते, बघेरें, मृग, रीछ, बड़े बड़े बाघ, और मांसभक्षी बड़े बड़े पक्षी रहते हैं, क्या उनका तुझको डर नहीं लगता ॥ २९ ॥

मदान्वितानां घोराणां कुञ्जराणां तरस्विनाम्[2] ।
कथमेका महारण्ये न बिभेषि वरानने ॥ ३० ॥

हे वरानने! इस महावन में बड़े बड़े बलवान भयङ्कर और मतवाले हाथी घूमा करते हैं। सो अकेली होने पर भी तुझे उनसे डर क्यों नहीं लगता ॥ ३० ॥

---

१ तरक्षवो—मृगादनामहाव्याघ्राः। (गो०) २ तरस्विनां—बलवतां। (गो०)

काऽसि कस्य कुतश्चित्त्वं किंनिमित्तं च दण्डकान्।
एका चरसि कल्याणि घोरान्राक्षससेवितान्॥ २१॥

हे कल्याणी! तू कौन है? किसकी स्त्री है? कहाँ से आयी है? और इस दण्डकवन में आने का कारण क्या है? तू भयङ्कर राक्षसों से सेवित इस वन में अकेली क्यों विचरती है॥ ३१॥

इति प्रशस्ता वैदेही रावणेन दुरात्मना।
द्विजातिवेषेण[1] हितं[2] दृष्ट्वा रावणमागतम्॥ ३२॥

जब इस प्रकार रावण ने सीता जी की प्रशंसा की तब उस संन्यासवेषधारी रावण को आया हुआ देख, सीता जी ने उसका यथाविधि आतिथ्य किया॥ ३२॥

सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली।
उपनीयासनं पूर्वं पाद्येनाभिनिमन्त्र्य च।
अब्रवीत्सिद्धमित्येव तदा तं सौम्यदर्शनम्॥ ३३॥

सीता ने पहले उसे बैठने को आसन दिया, फिर पैर धोने को जल दिया, फिर फल आदि भोज्य पदार्थ देते हुए कहा, यह सिद्ध किये हुए पदार्थ हैं (अर्थात् भूंजे हुए अथवा पकाये हुए)॥ ३३॥

द्विजातिवेषेण समीक्ष्य मैथिली
समागतं पात्रकुसुम्भ[3]धारिणम्।
अशक्यमुद्द्वेष्टुमपायदर्शनं
न्यमन्त्रयद्ब्राह्मणवत्तदाऽङ्गना॥ ३४॥

---

१ द्विजातिवेषेण—संन्यासवेषे (गो०) २ हितं—सहितं (गो०) ३ कुसुम्भ—महारजताख्यरञ्जकद्रव्यविशेष रक्तंवस्त्रं। (गो०)

संन्यासी का रूप धारण किये, गेरुआ वस्त्र पहिने अथवा कमण्डल लिये हुए रावण को देख, और उसे महात्मा जान, जानकी जी ने उसकी उपेक्षा करनी उचित न समझी। अतः जानकी जी ने उसका ब्राह्मण जैसा सत्कार किया ॥ ३४ ॥

इयं बृसी ब्राह्मण काममास्यताम्
इदं च पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति ।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमम्
त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम् ॥ ३५ ॥

सीता जी ने कहा—हे ब्राह्मण ! यह आसन है इस पर आप बिराजें। यह पैर धोने को जल है, इसे लें। ये वन में उत्पन्न हुए पक्के या भूने हुए फल आपके भोजन के लिये हैं। आप इनको व्यग्रता छोड़ अर्थात् शान्त होकर, खाँय ॥ ३५ ॥

निमन्त्र्यमाणः प्रतिपूर्णभाषिणीं
नरेन्द्रपत्नीं प्रसमीक्ष्य मैथिलीम् ।
प्रसह्य तस्या हरणे धृतं मनः
समार्पयत्स्वात्मवधाय रावणः ॥ ३६ ॥

सीता जी ने जब इस प्रकार रावण का आतिथ्य किया और मधुर वचन कहे, तब रावण ने अपना नाश करने के लिये बलपूर्वक सीता को हरना चाहा ॥ ३६ ॥

ततः सुवेषं मृगयागतं पतिं
प्रतीक्षमाणा सहलक्ष्मणं तदा ।

*विवीक्षमाणा हरितं ददर्श तन्
महद्वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ ॥ ३७ ॥
इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

सीता जी परम सुन्दर और शिकार के लिये गए हुए श्रीरामचन्द्र जी को तथा लक्ष्मण जी को प्रतीक्षा करती हुई वन की ओर देखने लगीं। उस समय उनको चारों ओर हरा हरा वन ही देख पड़ा, किन्तु श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण आते न देख पड़े ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—※—

रावणेन तु वैदेही तथा पृष्ठा जिहीर्षता[1] ।
परिव्राजकलिङ्गेन शशंसात्मानमङ्गना ॥ १ ॥

जब संन्यासी वेषधारी रावण ने हरण करने की अभिलाषा से, इस प्रकार पूँछा, तब सीता जी ने अपने मन में विचारा ॥१॥

ब्राह्मणश्चातिथिश्चायमनुक्तो हि शपेत माम् ।
इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

कि इस ब्राह्मण अतिथि को यदि मैं अपना नाम व गोत्र न बतलाऊँगी, तो यह मुझे शाप दे देगा। इस बात पर दो घड़ी विचार कर सीता जी बोलीं ॥ २ ॥

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः ।
सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामभार्या द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

---

१ जिहीर्षता—हर्तुमिच्छता। (गो०)

*पाठान्तरे—"निरीक्षमाणा," वा "समीक्षमाणा"।

मैं मिथिला देशाधिपति राजा जनक की लड़की हूँ। मेरा नाम सीता है और मैं श्रीरामचन्द्र की प्रिय भार्या हूँ ॥ ३ ॥

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने ।
भुञ्जानान्मानुषान्भोगान्सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ४ ॥

विवाह के अनन्तर मैं ने बारह वर्ष तक इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी अयोध्या में रह कर, मनुष्यदुर्लभ भोग भोगे और अपने सब मनोरथों को पूर्ण किया ॥ ४ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः ।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभि[1]: ॥ ५ ॥

तदनन्तर तेरहवें वर्ष महाराज दशरथ ने श्रेष्ठ मंत्रियों से परामर्श कर, श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करने का विचार किया ॥ ५ ॥

तस्मिन्संभ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने ।
कैकेयी नाम भर्तारमार्या[2] सा याचते वरम् ॥ ६ ॥

जब श्रीरामाभिषेक की सब तैयारियाँ होने लगीं, तब कैकेयी ने, जो मेरी सास लगती है, महाराज से वर माँगा ॥ ६ ॥

प्रतिगृह्य तु कैकेयी श्वशुरं सुकृतेन मे ।
मम प्रव्राजनं भर्तुर्भरतस्याभिषेचनम् ॥ ७ ॥

कैकेयी ने, मेरे ससुर को धर्म के वश में कर, मेरे पति के लिये वनवास और भरत के लिये राज्याभिषेक चाहा ॥ ७ ॥

द्वावयाचत भर्तारं सत्यसंधं नृपोत्तमम् ।
नाद्य भोक्ष्ये न च स्वप्स्ये न च पास्ये कथञ्चन ॥ ८ ॥

---

१ राजमंन्त्रिभिः—मंत्रिश्रेष्ठैः (गो०) २ आर्या—पूज्या ममश्वश्रूरित्यर्थः । (गो०)

सत्यप्रतिज्ञ व पतिश्रेष्ठ महाराज दशरथ से ये दो वर माँगे। साथ ही यह भी कहा कि, मैं आज न किसी प्रकार भी खाऊँगी न पीऊंगी और न सोऊँगी ॥ ८ ॥

एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्याभिषिच्यते ।
इति ब्रुवाणां कैकेयीं श्वशुरो मे स मानदः ॥ ९ ॥

यदि श्रीराम का राज्याभिषेक हुआ तो मैं अपने प्राण दे दूँगी। जब कैकेयी ने इस प्रकार कहा, तब बहुत सन्मान करने वाले मेरे ससुर महाराज दशरथ जी ने ॥ ९ ॥

अयाचतार्थैरन्वर्थैर्न च याच्ञां चकार सा ।
मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः ॥ १० ॥

कैकेयी से विविध प्रकार के अन्य पदार्थ माँगने के लिये कहा—परन्तु उसने और कुछ न चाहा। उस समय मेरे पति महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र की उम्र २५ वर्ष की ॥ १० ॥

अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते ।
रामेति प्रथितो लोके गुणवान्[1]सत्यवाञ्शुचिः ॥ ११ ॥
विशालाक्षो महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः ।
कामार्तस्तु महातेजाः पिता दशरथः स्वयम् ॥ १२ ॥
कैकेय्याः प्रियकामार्थं तं रामं नाभ्यषेचयत् ।
अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम् ॥ १३ ॥

और मेरी जन्मकाल से गणना करके १८ वर्ष की थी, श्रीरामचन्द्र जो लोक में प्रसिद्ध हैं और जो सुशील, सत्यवादी, पवित्र, बड़े नेत्रों और लंबी बाहुओं वाले हैं तथा सब प्राणियों के हितकारी हैं—उनका

---

१ गुणवान्—सौशील्यवान्। (गो०)

महातेजस्वी महाराज दशरथ ने कामासक्त हो, कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए स्वयं राज्याभिषेक न किया और जब अभिषेक के लिये श्रीरामचन्द्र पिता के समीप गये ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच धृतं वचः ।
तव पित्रा समाज्ञप्तं ममेदं शृणु राघव ॥ १४ ॥

तब कैकेयी ने धीरज धारण कर, कहा—हे रामचन्द्र ! तुम्हारे पिता ने तुम्हारे लिये जो आज्ञा दी है, वह मुझसे सुनो ॥ १४ ॥

भरताय प्रदातव्यमिदं राज्यमकण्टकम् ।
त्वया हि खलु वस्तव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ १५ ॥

यह निष्कण्टक राज्य भरत को दिया जाय और तुम्हें १४ वर्ष तक अवश्य वन में रहना चाहिये ॥ १५ ॥

वने प्रव्रज काकुत्स्थ पितरं मोचयानृतात् ।
तथेत्युक्त्वा च तां रामः कैकेयीमकुतोभयः ॥ १६ ॥

इससे तुम्हें चाहिये कि, तुम अपने पिता को झूठा न होने दो। तब दृढ़व्रतधारी मेरे पति श्रीरामचन्द्र जी ने निडर हो कैकेयी से कहा कि, अच्छा ऐसा ही होगा ॥ १६ ॥

चकार तद्वचस्तस्या मम भर्ता दृढव्रतः ।
दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात्सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ॥ १७ ॥

और तदनुसार ही कार्य भी किया। मेरे पति बड़े दृढ़व्रत हैं। वे दान तो देते हैं, पर दान लेते नहीं, वे सच बोलते हैं, किन्तु झूठ नहीं बोलते ॥ १७ ॥

एतद्ब्राह्मण रामस्य ध्रुवं व्रतमनुत्तमम् ।
तस्य भ्राता तु द्वैमात्रो लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १८ ॥

हे ब्राह्मण ! रामचन्द्र जी के निश्चय ये ही उत्तमोत्तम व्रत हैं। उनके सौतेले भाई लक्ष्मण बड़े वीर हैं ॥ १८ ॥

रामस्य पुरुषव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा ।
स भ्राता लक्ष्मणो नाम धर्मचारी दृढव्रतः ॥ १९ ॥

वे मेरे पति के सहायक और समर में शत्रु का नाश करने वाले हैं। वे दृढ़व्रत और ब्रह्मचारी लक्ष्मण ॥ १९ ॥

अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः प्रव्रजन्तं मया सह ।
जटी तापसरूपेण मया सह सहानुजः ॥ २० ॥

जटा रखाये हुए हाथ में धनुष लिये तपस्वी के रूप में, मेरे साथ अनुगामी हुए हैं ॥ २० ॥

प्रविष्टो दण्डकारण्यं धर्मनित्यो जितेन्द्रियः ।
ते वयं प्रच्युता राज्यात्कैकेय्यास्तु कृते त्रयः ॥ २१ ॥

इस प्रकार धर्म में नित्य तत्पर और जितेन्द्रिय, श्रीरामचन्द्र जी आदि हम तीनों जन कैकेयी द्वारा राज्य से च्युत हो, इस दण्डक-वन में आये हैं ॥ २१ ॥

विचराम द्विजश्रेष्ठ वनं गम्भीरमोजसा ।
समाश्वस मुहूर्तं तु शक्यं वस्तुमिह त्वया ॥ २२ ॥
आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम् ।
[रुरून्गोधान्वराहांश्च हत्वाऽऽदयामिषान्बहून् ॥२३॥]

और अपने बलबूते पर इस भयङ्कर वन में विचरते हैं। द्विजश्रेष्ठ, तुम मुहूर्त भर यहाँ ठहरो। मेरे पति अनेक वन्य पदार्थों को ले कर आते होंगे। रुरु, गोह और बनैले शूकर को मार, वे बहुत सा मांस लावेंगे ॥२२॥२३॥

स त्वं नाम च गोत्रं च कुलं चाचक्ष्व तत्त्वतः।
एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ॥ २४ ॥

अब आप अपना नाम, गोत्र और कुल ठीक ठीक बतलाइये और यह भी बतलाइये कि, आप अकेले इस दण्डकवन में क्यों फिरते हैं ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां रामपत्न्यां महाबलः।
प्रत्युवाचोत्तरं तीव्रं रावणो राक्षसाधिपः ॥ २५ ॥

जब सीता जी ने ऐसे वचन कहे, तब महाबली राक्षसनाथ रावण ने ये कठोर वचन कहे ॥ २५ ॥

येन वित्रासिता लोकाः सदेवासुरपन्नगाः।
अहं स रावणो नाम सीते रक्षोगणेश्वरः ॥ २६ ॥

हे सीते! जिसके डर से देवताओं, असुरों और मनुष्यों सहित तीनों लोक थरथराते हैं, मैं वही राक्षसों का राजा रावण हूँ ॥ २६ ॥

त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्ट्वा कौशेयवासिनीम्।
रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते ॥ २७ ॥

हे अनिन्दिते! तेरे सुवर्ण तुल्य शरीर के रंग और कौशेय वस्त्र को देख कर, मुझे अपनी पत्नियों के प्रति प्रीति नहीं रही ॥ २७ ॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ॥ २८ ॥

मैं बहुत सी उत्तम स्त्रियों को अनेक स्थानों से हर कर लाया हूँ। सो तू उन सब में मेरी पटरानी बन ॥ २८ ॥

लङ्का नाम समुद्रस्य मध्ये मम महापुरी ।
सागरेण परिक्षिप्ता निविष्टा नागमूर्धनि ॥ २९ ॥

समुद्र के बीच में लङ्का नाम की मेरी महापुरी है। वह चारों ओर से समुद्र से घिरी हुई है और पर्वतशृङ्ग पर स्थित है ॥ २९ ॥

तत्र सीते मया सार्धं वनेषु विहरिष्यसि ।
न चास्यारण्यवासस्य स्पृहयिष्यसि भामिनि ॥३०॥

हे सीते! वहाँ तू मेरे साथ जब वनों में विहार करेगी, तब तुझे इस वन में रहने की इच्छा न रह जायगी ॥ ३० ॥

पञ्च दास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः ।
सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि ॥ ३१ ॥

हे सीते! यदि तू मेरी भार्या बनना अंगीकार कर लेगी, तो पाँच हज़ार दासियां, जो समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं, तेरी परिचर्या करेंगीं ॥ ३१ ॥

रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा ।
प्रत्युवाचानवद्याङ्गी तमनादृत्य राक्षसम् ॥ ३२ ॥

रावण के ऐसे वचन सुन, अनिन्दिता सीता कुपित हुई और उस राक्षस का तिरस्कार कर बोलीं ॥ ३२ ॥

महागिरिमिवाकम्प्यं महेन्द्रसदृशं पतिम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यमहं राममनुव्रता ॥ ३३ ॥

महेन्द्राचल पर्वत की तरह अचल अटल और समुद्र की तरह क्षोभरहित श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३३ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं न्यग्रोधपरिमण्डलम् ।
सत्यसन्धं महाभागमहं राममनुव्रता ॥ ३४ ॥

जो सब शुभलक्षणों से युक्त और वटवृक्ष की तरह सब को सदैव सुखदायी हैं, उन सत्यप्रतिज्ञ और महाभाग श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३४ ॥

[वटवृक्ष—"कूपोदकं वटच्छाया युवतीनां स्तनद्वयम् ।
शीतकाले भवेत्युष्णमुष्णकाले च शीतलम् ॥"]

महाबाहुं महोरस्कं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
नृसिंहं सिंहसङ्काशमहं राममनुव्रता ॥ ३५ ॥

महाबाहु, चौड़ी छाती वाले, सिंह जैसी चाल चलने वाले, पुरुषसिंह, और सिंह से समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३५ ॥

पूर्णचन्द्राननं रामं राजवत्सं[1] जितेन्द्रियम् ।
पृथुकीर्त्तिं महात्मानमहं राममनुव्रता ॥ ३६ ॥

मैं उन राजकुमार एवं जितेन्द्रिय श्रीराम की अनुगामिनी हूँ, जिनका मुख पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य है, जिनकी कीर्ति दिग दिगन्त व्यापिनी है और जो महात्मा हैं ॥ ३६ ॥

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिच्छसि सुदुर्लभाम् ।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥ ३७ ॥

सो तू शृगाल के समान हो कर, सिंहनी के तुल्य मुझे चाहता है। किन्तु तू मुझे उसी प्रकार नहीं छू सकता, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा को कोई नहीं छू सकता ॥ ३७ ॥

---

१ राजवत्सं—राजकुमारं (गो०)

पादपान्काञ्चनान्नूनं* बहून्पश्यसि मन्दभाक् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां यस्त्वमिच्छसि रावण ॥ ३८ ॥

अरे अभागे राक्षस ! जब तू श्रीरामचन्द्र जी की प्रिय भार्या को हरना चाहता है, तब निश्चय ही तू बहुत से सुवर्णमय वृक्ष (स्वप्न में) देखता होगा ॥ ३८ ॥

[नोट—जो शीघ्र मरने वाले होते हैं, उनको स्वप्न में सोने के वृक्ष दिखलाई पड़ते हैं ।]

क्षुधितस्य हि सिंहस्य मृगशत्रोस्तरस्विनः ।
आशीविषस्य वदनाद्दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥ ३९ ॥

मृग के बलवान शत्रु भूखे सिंह के अथवा विषधर सर्प के मुख से तू दाँत उखाड़ना चाहता है ॥ ३९ ॥

मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं पाणिना हर्तुमिच्छसि ।
कालकूटं विषं पीत्वा स्वस्तिमान्गन्तुमिच्छसि ॥ ४० ॥

तू पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचल को हाथ से हरण करना चाहता है और हलाहल विषपान कर के भी तू सुखपूर्वक चला जाना चाहता है ॥ ४० ॥

अक्षि सूच्या प्रमृजसि जिह्वया लेक्षि च क्षुरम् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां योऽधिगन्तुं[1] त्वमिच्छसि ॥ ४१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की भार्या को पाने की इच्छा कर, मानों तू आँख की सफाई सुई से करता है और जिह्वा से छुरे को चाटता है ॥ ४१ ॥

अवसज्य शिलां कण्ठे समुद्रं तर्तुमिच्छसि ।
सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि ॥ ४२ ॥

---

१ अधिगन्तु—प्राप्तुं । (गो०) * पाठान्तरे—'बहू" ।

अथवा गले में पत्थर बाँध समुद्र को पार करता है और हाथों से सूर्य और चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है ॥ ४२ ॥

यो रामस्य प्रियां भार्यां प्रधर्षयितुमिच्छसि ।
अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥ ४३ ॥

तू जो श्रीरामचन्द्र की भार्या को प्राप्त करना चाहता है, सो मानों तू प्रज्वलित अग्नि को वस्त्र में लपेट कर ले जाना चाहता है ॥ ४३ ॥

कल्याणवृत्तां[१] रामस्य यो भार्यां हर्तुमिच्छसि ।
अयोमुखानां शूलानामग्रे चरितुमिच्छसि ।
रामस्य सदृशीं भार्यां योऽधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥४४॥

तू जो ! शुभाचरण वाले श्रीराम की भार्या के पाने की अभिलाषा रखता है, सो मानों तू लोहे के नुकीले कांटों पर चलना चाहता है। तू श्रीराम की ऐसी पत्नी को प्राप्त करना चाहता है ॥४४॥

यदन्तरं सिंहसृगालयोर्वने[२]
यदन्तरं स्यन्दिनिका[३]समुद्रयोः ।
सुराग्र्य[४]सौवीर[५]कयोर्यदन्तरं
तदन्तरं वै तव राघवस्य च ॥ ४५ ॥

जो भेद सिंह और स्यार में है, जो अन्तर क्षुद्र नदी और समुद्र है; जो अन्तर श्रेष्ठ मद्य और कांजी में है; वही अन्तर श्रीरामचन्द्र में और तुझमें है ॥ ४५ ॥

---

१ कल्याणवृत्तां—शुभाचारां। (गो०) २ वने—जले। (गो०) ३ स्यन्दिनिका—क्षुद्रनदी। (गो०) ४ सुराग्र्यं—श्रेष्ठ मद्यं। (गो०) ५ सौवीरकं—काञ्जिकं। (गो०)

यदन्तरं काञ्चनसीसलोहयो-
र्यदन्तरं चन्दनवारिपङ्कयोः ।
यदन्तरं हस्तिविडालयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४६ ॥

जो अन्तर सोने और सीसे लोहे में है, जो अन्तर चन्दन और पानी की कीचड़ में है, जो अन्तर वन में (वसने वाले) हाथी और बिल्ली में है; वही अन्तर दशरथनन्दन और तुझमें है ॥ ४६ ॥

यदन्तरं वायसवैनतेययो-
र्यदन्तरं [1]मद्गुमयूरयोरपि ।
यदन्तरं सारसगृध्रयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४७ ॥

जो अन्तर गरुड़ और कौए में है, जो अन्तर जलकाक और मोर में है और जो अन्तर वन में (वसने वाले) सारस और गृद्ध में है; वही अन्तर दाशरथी श्रीराम और तुझमें है ॥ ४७ ॥

तस्मिन्सहस्राक्षसमप्रभावे
रामे स्थिते कार्मुकबाणपाणौ ।
हृतापि तेऽहं न जरां गमिष्ये
वज्रं यथा मक्षिकयाऽवगीर्णम् ॥ ४८ ॥

इन्द्र के समान प्रभाव वाले और हाथ में धनुष बाण लिये हुए श्रीरामचन्द्र के रहते यदि तू मुझे हर भी ले जायगा, तो मुझे उसी

---

१ मद्गुः—जलवायसः । (गो०)

तरह न पचा सकेगा, जैसे मक्खी (चांवल के धोखे में) हीरा खा कर, उसे नहीं पचा सकती ॥ ४८ ॥

इतीव तद्वाक्यमदुष्टभावा
सुधृष्टमुक्त्वा रजनीचरं तम् ।
गात्रप्रकम्पव्यथिता बभूव
वातोद्धता सा कदलीव तन्वी ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार पवन के वेग से केले का वृक्ष काँपने लगता है, वैसे ही साधु स्वभाव वाली सीता, अत्यन्त धृष्टतापूर्ण बचन उस राक्षस से कह कर, थर थर कांपने लगी ॥ ४९ ॥

तां वेपमानामुपलक्ष्य सीतां
स रावणो मृत्युसमप्रभावः ।
कुलं बलं नाम च कर्म च स्वं
समाचचक्षे भयकारणार्थम् ॥ ५० ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

काल समान रावण, सीता को डर से थर थर काँपने देख, उसे और भी अधिक भयभीत करने के लिये, अपने कुल, बल, नाम और कामों का बखान करने लगा ॥ ५० ॥

अरण्यकाण्ड का सैतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—※—

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां संरब्धः[1] परुषं वचः ।
ललाटे भ्रुकुटीं कृत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १ ॥

जब सीता जी ने इस प्रकार के कठोर वचन कहे, तब रावण ने महाक्रुद्ध हो और भौंहे टेढी कर, कठोर वचन कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

भ्राता वैश्रवणस्याहं सापत्न्यो वरवर्णिनि ।
रावणो नाम भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ २ ॥

हे सुन्दरी! तेरा भला हो, मैं कुवेर का सौतेला भाई हूँ। मेरा नाम रावण है। मै दससीस वाला और बड़ा प्रतापी हूँ ॥ २ ॥

यस्य देवाः सगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।
विद्रवन्ति भयाद्भीता मृत्योरिव सदा प्रजाः ॥ ३ ॥

मेरे डर के मारे देवता, गन्धर्व, पिशाच, पन्नग और सर्प उसी प्रकार भाग खड़े होते हैं, जैसे मनुष्य लोग मृत्यु के डर से भागते हैं ॥ ३ ॥

येन वैश्रवणो राजा द्वैमात्रः[2] कारणान्तरे ।
द्वन्द्वमासादितः[3] क्रोधाद्रणे विक्रम्य निर्जितः ॥ ४ ॥

मैंने अपने सौतेले भाई कुवेर को कारण विशेष वश युद्ध में क्रुद्ध हो अपने बल विक्रम से जीता है ॥ ४ ॥

---

१ संरब्धः—कुपितः। (गो०) २ द्वैमात्रः—सपत्नीमातृपुत्रः। (गो०)
३ द्वन्द्वं—युद्धं। (गो०)

यद्भयार्तः परित्यज्य स्वमधिष्ठानमृद्धिमत् ।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठमध्यास्ते नरवाहनः ॥ ५ ॥

वह कुवेर मेरे भय से भीत हो, भरी पूरी अपनी लङ्कापुरी को त्याग, पर्वतश्रेष्ठ कैलास पर जा बसा है ॥ ५ ॥

यस्य तत्पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम् ।
वीर्यादेवार्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्[1] ॥ ६ ॥

उसके सुन्दर और इच्छाचारी पुष्पक विमान को मैंने बरजोरी उससे छीन लिया है। मैं उसी विमान में बैठ आकाश में घूमा करता हूँ ॥ ६ ॥

मम सञ्जातरोषस्य मुखं दृष्ट्वैव मैथिलि ।
विद्रवन्ति परित्रस्ताः सुराः शक्रपुरोगमाः ॥ ७ ॥

हे मैथिली ! इन्द्रादि देवता मेरा कुपित मुख देख, भयभीत हो भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र मारुतो वाति शङ्कितः ।
तीव्रांशुः शिशिरांशुश्च भयात्सम्पद्यते रविः ॥ ८ ॥

जहाँ मैं खड़ा होता हूँ, वहाँ पवन शङ्कायुक्त हो बहता है। मेरे डर के मारे सूर्य की प्रखर किरणें चन्द्रमा की तरह शीतल पड़ जाती हैं ॥ ८ ॥

निष्कम्पपत्रास्तरवो नद्यश्च स्तिमितोदकाः ।
भवन्ति यत्र यत्राहं तिष्ठामि विचरामि च ॥ ९ ॥

---

१ विहायसम्—आकाशं । (गो०)

जहां पर मैं उठता बैठता हूँ या घूमता फिरता हूँ, वहाँ वृक्षों के पत्तों का हिलना बंद हो जाता है और नदियों की धार रुक जाती है ॥ ९ ॥

मम पारे समुद्रस्य लङ्का नाम पुरी शुभा ।
सम्पूर्णा राक्षसैर्घोरैर्यथेन्द्रस्यामरावती ॥ १० ॥

समुद्र के पार लङ्का नामक मेरी परम सुन्दर नगरी है। वह भयङ्कर राक्षसों से वैसे ही परिपूर्ण है, जैसे (देवताओं से) इन्द्रपुरी अमरावती ॥ १० ॥

प्राकारेण परिक्षिप्ता पाण्डुरेण विराजता ।
हेमकक्ष्या पुरी रम्या वैडूर्यमयतोरणा ॥ ११ ॥

वह सफेद परकोटे से घिरी हुई है। उसके चौक सोने के हैं और उसके बाहिरी सब फाटक वैडूर्य मणि के बने हुए हैं। वह नगरी सुरम्य है ॥ ११ ॥

हस्त्यश्वरथसंबाधा तूर्यनादविनादिता ।
सर्वकालफलैर्वृक्षैः सङ्कुलोद्यान शोभिता ॥ १२ ॥

हाथियों और घोड़ों तथा रथों से वह भरी हुई है और उसमें बाजे सदा बजा ही करते हैं, सब ऋतुओं में फलने वाले वृक्षों से युक्त उद्यानों से वह सुशोभित है ॥ १२ ॥

तत्र त्वं वसती सीते राजपुत्रि मया सह ।
न स्मरिष्यसि नारीणां मानुषीणां मनस्विनी ॥ १३ ॥

हे राजकुमारी सीते! वहाँ चल कर तू मेरे साथ रहना। वहाँ रहने पर तुझे कभी मानवी नारियों का स्मरण भी न होगा ॥ १३ ॥

भुञ्जाना मानुषान्भोगान्दिव्यांश्च वरवर्णिनि ।
न स्मरिष्यसि रामस्य मानुषस्य गतायुषः ॥ १४ ॥

हे वरवर्णिनी ! जब तू वहाँ मनुष्योचित भोग्य एवं दिव्य पदार्थों को उपभोग करेगी ; तब तू गतायु और मनुष्य-शरीर-धारी राम को कभी याद भी न करेगी ॥ १४ ॥

स्थापयित्वा प्रियं पुत्रं *राज्ये दशरथेन यः ।
मन्दवीर्यः सुतो ज्येष्ठस्ततः प्रस्थापितो ह्ययम् ॥ १५ ॥

देखो दशरथ ने अपने प्यारे पुत्र भरत को राज्य पर बिठाया और निकम्मे ज्येष्ठ पुत्र राम को बन में निकाल दिया ॥ १५ ॥

तेन किं भ्रष्टराज्येन रामेण गतचेतसा[1] ।
करिष्यसि विशालाक्षि तापसेन[2] तपस्विना[3] ॥ १६ ॥

हे विशालाक्षी ! तुम उस राज्यभ्रष्ट एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान-शून्य, डरपोंक और शोच्य राम के पास रह कर क्या करोगी ? ॥१६॥

सर्वराक्षसभर्तारं कामा[4]त्स्वयमिहागतम् ।
न मन्मथशराविष्टं प्रत्याख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥

मैं राक्षसों का राजा हो कर भी अपनी इच्छा से अपने आप यहाँ आया हूँ । मैं कामदेव के बाणों से घायल हो रहा हूँ । मेरा तिरस्कार करना तुझको उचित नहीं है ॥ १७ ॥

प्रत्याख्याय हि मां भीरु परितापं गमिष्यसि ।
चरणेनाभिहत्येव पुरूरवसमुर्वशी ॥ १८ ॥

---

१ गतचेतसा--कर्त्तव्याकर्त्तव्यमूढमनसा । (गो०) २ तापसेन—" भग्ना कृषेर्भागवता भवन्ति " इति न्यायेन अशूरेण । (गो०) ३ तपस्विना—शोच्येन । (गो०) ४ कामात्—स्वेच्छया । (शि०) * पाठान्तरे—" राज्ञा " ।

हे भीरु ! यदि तू मेरा तिरस्कार करेगी, तो पीछे तुझको वैसे ही पछताना पड़ेगा, जैसे उर्वशी अप्सरा राजा पुरूरवा के लात मार कर, पछतायी थी ॥ १८ ॥

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः ।
तव भाग्येन सम्प्राप्तं भजस्व वरवर्णिनि ॥ १९ ॥

राम मनुष्य है, वह युद्ध में मेरी एक अंगुली के बल के समान भी (बलवान्) नहीं है । (अर्थात् उसमें इतना भी बल नहीं, जितना मेरी एक अंगुली में है) अतः वह युद्ध में मेरा सामना कैसे कर सकता है । हे वरवर्णिनी ! इसे तू अपना सौभाग्य समझ कि, मैं यहाँ आया हूँ । अतः तू मुझे अङ्गीकार कर ॥ १९ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही क्रुद्धा संरक्तलोचना ।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं [1]रहिते राक्षसाधिपम् ॥ २० ॥

रावण के ऐसे वचन सुन, सीता कुपित हो और लाल लाल नेत्र कर, उस निर्जन वन में रावण से कठोर वचन बोली ॥ २० ॥

कथं वैश्रवणं देवं सर्वभूतनमस्कृतम् ।
भ्रातरं व्यपदिश्य त्वमशुभं कर्तुमिच्छसि ॥ २१ ॥

हे रावण ! तू सर्वदेवताओं के पूज्य कुवेर को अपना भाई बतला कर भी, ऐसा बुरा काम करने को (क्यों) उतारु हुआ है ? ॥ २१ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ २२ ॥

हे रावण ! याद रख । निश्चय ही वे समस्त राक्षस मारे जायँगे, जिनका तुझ जैसा क्रूर, दुष्टबुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा है ॥२२॥

---

१ रहिते—निर्जने वने । (गो०)

अपहृत्य शचीं भार्यां शक्यमिन्द्रस्य जीवितुम् ।
न च रामस्य भार्यां मामपनीयास्ति जीवितम् ॥ २३ ॥

इन्द्र की पत्नी शची को हर कर, कोई चाहे भले ही जीता बना रहे; किन्तु रामपत्नी मुझको हर कर, कोई जीता नहीं रह सकता ॥२३॥

जीवेच्चिरं वज्रधरस्य हस्ता-
च्छचीं प्रधृष्याप्रतिरूपरूपाम् ।
न मादृशीं राक्षस दूषयित्वा
पीतामृतस्यापि तवास्ति मोक्षः ॥ २४ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राक्षस ! अत्यन्त रूपवती शची को हरने वाला, वज्रधारी इन्द्र के हाथ से एक वार जीता बच भी सकता है; किन्तु मुझ जैसी को दूषित कर, अमृतपान किया हुआ पुरुष भी, मृत्यु के हाथ से नहीं बच सकता ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—※—

सीताया वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ।
हस्ते हस्तं समाहत्य चकार सुमहद्वपुः ॥ १ ॥

प्रतापी रावण ने सीता के ये वचन सुन, हाथ पर हाथ मार, अपना विशाल शरीर प्रकट किया ॥ १ ॥

स मैथिलीं पुनर्वाक्यं बभाषे च ततो भृशम् ।
नोन्मत्तया श्रुतौ मन्ये मम वीर्यपराक्रमौ ॥ २ ॥

फिर उसने सीता से कहा—मैं जानता हूँ कि, तू पगली है, क्योंकि तूने मेरे बल एवं पराक्रम पर ध्यान नहीं दिया ॥ २ ॥

उद्वहेयं भुजाभ्यां तु मेदिनीमम्बरे स्थितः ।
आपिबेयं समुद्रं च हन्यां मृत्युं रणे स्थितः ॥ ३ ॥

मैं आकाश में बैठा बैठा अपनी भुजाओं से इस पृथिवी को उठा सकता हूँ, और समुद्र को पी सकता हूँ और काल को संग्राम में मार सकता हूँ ॥ ३ ॥

अर्कं रुन्ध्यां शरैस्तीक्ष्णैर्निर्भिन्द्यां* हि महीतलम् ।
कामरूपिणमुन्मत्ते पश्य मां कामदं पतिम् ॥ ४ ॥

मैं अपने पैने बाणों से सूर्य की गति को रोक सकता हूँ और पृथिवी को विदीर्ण कर सकता हूँ। हे उन्मत्ते! मुझ इच्छारूपधारी और मनोरथपूर्ण करने वाले पति को देख। (अर्थात् मुझे अपना पति बना) ॥ ४ ॥

एवमुक्तवतस्तस्य सूर्यकल्पे शिखिप्रभे ।
क्रुद्धस्य [1]हरिपर्यन्ते रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ ५ ॥

ऐसा कहते हुए रावण की पीली आँखे मारे क्रोध के प्रज्वलित आग की तरह लाल हो गयीं ॥ ५ ॥

सद्यः सौम्यं परित्यज्य भिक्षुरूपं स रावणः ।
स्वं रूपं कालरूपाभं भेजे वैश्रवणानुजः ॥ ६ ॥

---

१ हरिपर्यन्ते—पिङ्गलवर्णपर्यन्ते । (गो०) * पाठान्तरे—" विभिन्द्यां ।"

उसी क्षण कुबेर के छोटे भाई रावण ने अपने उस संन्यासी भेष को त्याग, काल के समान भयङ्कर रूप धारण किया ॥ ६ ॥

संरक्तनयनः [1]श्रीमांस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
क्रोधेन महताऽविष्टो नीलजीमूतसन्निभः ॥ ७ ॥

विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल धारण किये हुए, विचित्र शक्ति सम्पन्न और नील मेघ की तरह डीलडौल का रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ ७ ॥

दशास्यः कार्मुकी बाणी बभूव क्षणदाचरः ।
स परिव्राजकच्छद्म महाकायो विहाय तत् ॥ ८ ॥

उस समय वह महाकाय रावण, बनावटी संन्यासी का रूप त्याग कर, दस मुख और बीस भुजा वाला हो गया ॥ ८ ॥

प्रतिपद्य स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः ।
संरक्तनयनः क्रोधाज्जीमूतनिचयप्रभः ॥ ९ ॥

राक्षसेश्वर रावण ने अपना असली रूप धारण कर लिया। क्रोध के मारे उस नीलमेघ सदृश शरीर वाले रावण के नेत्र लाल हो गये थे ॥ ९ ॥

रक्ताम्बरधरस्तस्थौ स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य मैथिलीम् ।
स तामसितकेशान्तां भास्करस्य प्रभामिव ॥ १० ॥
वसनाभरणोपेतां मैथिलीं रावणोऽब्रवीत् ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं यदि भर्तारमिच्छसि ॥ ११ ॥

---

1 श्रीमान् विचित्रशक्तिसम्पन्नः । (गो०)

वह लाल वस्त्र पहिने हुए था और स्त्रियों में उत्तम जानकी की ओर देख, उन सूर्य के समान प्रभावाली, काले बालों से युक्त, वस्त्र भूषण धारण किये हुए जानकी जी से कहने लगा—यदि तीनों लोकों में विख्यात व्यक्ति को तू अपना पति बनाना चाहती है ॥ १० ॥ ११ ॥

मामाश्रय वरारोहे तवाहं सदृशः पतिः ।
मां भजस्व चिराय त्वमहं श्लाघ्यः प्रियस्तव ॥ १२ ॥

तो हे वरारोहे! मेरा पल्ला पकड़। क्योंकि मैं ही तेरे योग्य पति हूँ। तू चिरकाल तक मेरे साथ रह। मैं ही तेरा उपयुक्त प्रेमी हूँ ॥ १२ ॥

नैव चाहं क्वचिद्भद्रे करिष्ये तव विप्रियम् ।
त्यज्यतां मानुषो भावो मयि भावः प्रणीयताम् ॥ १३ ॥

हे भद्रे! मैं कभी कोई बात तेरे मन के प्रतिकूल न करूँगा। अतः तू अब राम, जो मनुष्य है, उसकी ओर से अपने प्रेम को हटा, मुझसे प्रेम कर ॥ १३ ॥

राज्याच्च्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम् ।
कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डितमानिनि ॥ १४ ॥

रामचन्द्र तो राज्यच्युत, अकृतकार्य और परिमित आयु वाला है। अरे मूढ़ और अपने को बुद्धिमान समझने वाली! तू राम के कौन से गुण पर लट्टू हो रही है? ॥ १४ ॥

यः स्त्रिया वचनाद्राज्यं विहाय ससुहृज्जनम् ।
अस्मिन्व्यालानुचरिते वने वसति दुर्मतिः ॥ १५ ॥

जो राम, स्त्री का कहना मान, राज्य और इष्टमित्रों को त्याग, इस सर्पादि सङ्कुल भयानक वन में बास करता है, वह दुर्बुद्धि नहीं तो है क्या? ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं वाक्यं प्रियार्हां प्रियवादिनीम् ।
अभिगम्य सुदुष्टात्मा राक्षसः काममोहितः ॥ १६ ॥

इस प्रकार उस प्रियभाषिणी और प्रेम करने योग्य सीता से कह, कामान्ध एवं महादुष्ट राक्षस रावण ने सीता के निकट जा ॥१६॥

जग्राह रावणः सीतां बुधः खे रोहिणीमिव ।
वामेन सीतां पद्माक्षीं मूर्धजेषु करेण सः ॥ १७ ॥
ऊर्वोस्तु दक्षिणेनैव परिजग्राह पाणिना ।
तं दृष्ट्वा मृत्युसङ्काशं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम् ॥ १८ ॥
प्राद्रवन्गिरिसङ्काशं भयार्ता वनदेवताः ।
स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः ॥ १९ ॥
प्रत्यदृश्यत [1]हेमाङ्गो रावणस्य महारथः ।
ततस्तां परुषैर्वाक्यैर्भर्त्सयन्स महास्वनः ॥ २० ॥

सीता को उसी प्रकार पकड़ लिया, जिस प्रकार आकाश में बुध ने रोहिणी को पकड़ लिया था। रावण ने बाएँ हाथ से सीता के सिर के बालों को और दहिने हाथ से दोनों ऊरुओं को पकड़ा। उस समय काल के समान पैने दांतो वाले और लंबी भुजाओं वाले तथा पर्वत के समान लंबे चौड़े डीलडौल वाले रावण को देख, वनदेवता भयभीत हो, भाग गये। तदनन्तर रावण का मायामय आकाशचारी बड़ा रथ, जिसमें खच्चर जुते हुए थे और जिसके पहिये सोने के थे, सामने देख पड़ा। रावण ने गम्भीर स्वर से, कठोर वचन कह, सीता को धमकाया ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

---

१ हेमाङ्गो—स्वर्णमयचक्रः। (गो०)

अङ्केनादाय वैदेहीं रथमारोपयत्तदा ।
सा गृहीता विचुक्रोश रावणेन यशस्विनी ॥ २१ ॥
रामेति सीता दुःखार्ता रामं दूरगतं वने ।
तामकामां[1] स कामार्तः पन्नगेन्द्रवधूमिव ॥ २२ ॥

फिर गोदी में उठा सीता को रथ में बिठा लिया। उस समय रावण द्वारा पकड़ी हुई यशस्विनी सीता अत्यन्त दुःखी हो, वन में दूर गये हुए श्रीराम को "राम" "राम" कह, बड़े ज़ोर से पुकारने लगी। उस समय वह कामान्ध राक्षस विरागिणी सीता को पन्नगराज की स्त्री की तरह ॥ २१ ॥ २२ ॥

विवेष्टमानामादाय उत्पपाताथ रावणः ।
ततः सा राक्षसेन्द्रेण ह्रियमाणा विहायसा ॥ २३ ॥
भृशं चुक्रोश मत्तेव भ्रान्तचित्ता यथाऽऽतुरा ।
हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक ॥ २४ ॥

रावण छटपटाती सीता को ले कर रथ सहित आकाशमार्ग से चल दिया। उस समय रावण के वश में पड़ी सीता उन्मत्त की तरह घबड़ा कर, रोगी की तरह बहुत विलाप करने लगी। सीता जी विलाप करती हुई कहने लगी, हे बड़ी भुजाओं वाले और गुरुजनों के मन को प्रसन्न करने वाले लक्ष्मण ! ॥ २३ ॥ २४ ॥

ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा *कामरूपिणा ।
जीवितं सुखमर्थांश्च धर्महेतोः[2] परित्यजन् ॥ २५ ॥

---

१ अकामां—विरागिणीं । (गो०) २ धर्महेतो—आश्रित संरक्षण रूप धर्महेतोः । (गो०)

* पाठान्तरे—"मामर्षिणा ।"

मुझे कामरूपी राक्षस हरे लिये जाता है। हाय! तुम्हें इसकी ख़बर नहीं है। हे राघव! तुमने आश्रितों की रक्षा रूपी धर्म के लिये जीवन-सुख और राज्य को भी त्याग दिया ॥ २५ ॥

ह्रियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि ।
ननु नामाविनीतानां विनेतासि[1] परन्तप ॥ २६ ॥

यह पापी राक्षस मुझे हरे लिये जाता है, क्या तुमको यह नहीं देख पड़ता? हे परन्तप! तुम तो दुर्जनों के शिक्षक (दण्ड देने वाले) हो ॥ २६ ॥

कथमेवंविधं पापं न त्वं शास्सि हि रावणम् ।
ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ॥२७॥

तब इस प्रकार के पाप करने वाले इस पापी रावण को क्यों दण्ड नहीं देते? ठीक है, दुष्ट कर्म का फल तुरन्त ही नहीं मिलता ॥ २७ ॥

कालोऽप्यङ्गी[2] भवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये[3] ।
स कर्म कृतवानेतत्कालोपहतचेतनः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार अनाज के पकने में कुछ समय लगता है, उसी प्रकार पाप भी कर्त्ता को फल देने के लिये कुछ समय लेता है। रावण ने काल के प्रभाव से चेतना रहित हो (नष्ट बुद्धि हो), जो यह कर्म किया है ॥ २८ ॥

जीवितान्तकरं घोरं रामाद्व्यसनमाप्नुहि ।
हन्तेदानीं सकामास्तु कैकेयी सह बान्धवैः ॥ २९ ॥

---

१ विनेतासि—शिक्षकः। (गो०) २ कालोऽप्यङ्गी—सहकारिकारणं। (गो०)
३ पक्तये—पाकाय। (गो०)

सो इसके लिये रावण को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्राणान्त करने वाली घोर विपद् में पड़ना पड़ेगा। इस समय अपने बान्धवों सहित कैकेयी का मनोरथ पूरा हुआ॥ २९ ॥

ह्रिये यद्धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः।
[1]आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकारान्सुपुष्पितान्॥ ३० ॥

क्योंकि धर्म में तत्पर और यशस्वी श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी मैं हरी जा रही हूँ। मैं जनस्थान में इन फूले हुए कर्णिकार वृक्षों को सम्बोधन कर कहती हूँ कि,॥ ३० ॥

क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः।
माल्यवन्तं शिखरिणं वन्दे प्रस्रवणं गिरिम्॥ ३१ ॥

कि तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र से कह देना कि, रावण सीता को हर कर ले गया। पुष्पित वृक्षों से युक्त एवं प्रशस्त शिखर वाले प्रस्रवण पर्वत को मैं प्रणाम करती हूँ कि,॥ ३१ ॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः।
हंसकारण्डवाकीर्णां वन्दे गोदावरीं नदीम्॥ ३२ ॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी से कह देना कि रावण सीता को हर कर ले गया। हंस और सारस पक्षियों से सेवित गोदावरी नदी को मैं प्रणाम करती हूँ कि,॥ ३२ ॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः।
दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे॥ ३३ ॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी से कह देना कि सीता को रावण हर ले गया। अनेक वृक्षों से पूर्ण इस वन में जो देवता रहते हैं,॥३३॥

---

१ आमंत्रये—संबोधयामि। (गो०)

नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम् ।
यानि कानि चिद्प्यत्र सत्त्वानि[१] निवसन्त्युत ॥३४॥
सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानपि ।
ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ ३५ ॥
विवशापहृता सीता रावणेनेति शंसत ।
विदित्वा मां महाबाहुरमुत्रापि महाबलः ॥ ३६ ॥

उन सब को मैं प्रणाम करती हूँ कि, वे मेरा (रावण द्वारा) हरा जाना मेरे पति (श्रीरामचन्द्र जी) से कह दें। अन्य जो कोई जीव-जन्तु इस वन में रहते हैं, तथा जो मृगपक्षी (यहाँ) हैं उन सब की मैं शरण होती हूँ और उनसे प्रार्थना करती हूँ कि, वे मेरे पति से कह दें कि, उनकी प्राणों के समान प्यारी भार्या (सीता) को, बरजोरी रावण ने हर लिया है। क्योंकि बड़ी भुजाओं वाले महाबली श्रीराम को यदि यह वृत्तान्त मालूम हो गया तो, ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि ।
सा तदा करुणा वाचो विलपन्ती सुदुःखिता ॥ ३७ ॥

वे अपने पराक्रम द्वारा मुझे यमराज से भी छुड़ा लावेंगे। इस प्रकार दुःखित और दीन हो विलाप करती हुई सीता ने ॥ ३७ ॥

वनस्पतिगतं गृध्रं ददर्शायतलोचना ।
सा तमुद्वीक्ष्य सुश्रोणी रावणस्य वशं गता ॥ ३८ ॥

जो विशाल नेत्र वाली थी, वृक्ष पर बैठे हुए जटायु को देखा। रावण के वश में पड़ी हुई सीता ने जटायु को देख ॥ ३८ ॥

---

१ सत्त्वानि—जन्तवः। (गो०)

समाक्रन्दद्भयपरा दुःखोपहतया गिरा ।
जटायो पश्य मामार्य ह्रियमाणामनाथवत् ॥ ३९ ॥
अनेन राक्षसेन्द्रेण करुणं पापकर्मणा ।
नैष वारयितुं शक्यस्तव क्रूरो निशाचरः ।
सत्त्ववाञ्जितकाशी च सायुधश्चैव दुर्मतिः ॥ ४० ॥

भयभीत एवं दुःखित हो रो कर कहा, हे मेरे बड़े बूढ़े जटायु! देखो यह पापी रावण मुझे अनाथ की तरह निर्भय भाव से पकड़ कर लिये जाता है। जान पड़ता है तुम इस महाबली, विजयी, कूटयुद्ध करने वाले, क्रूर और आयुधधारी राक्षस को रोक नहीं सकते (अतः) ॥ ३९ ॥ ४० ॥

रामाय तु यथातत्त्वं जटायो हरणं मम ।
लक्ष्मणाय च तत्सर्वमाख्यातव्यमशेषतः ॥ ४१ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्ग ॥

हे जटायु! तुम श्रीरामचन्द्र जी से मेरे हरे जाने का यथार्थ वृत्तान्त कह देना और लक्ष्मण को यह आद्यन्त समस्त वृत्तान्त बता देना ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चाशः सर्गः

—:※:—

तं शब्दमवसुप्तस्तु[1] जटायुरथ शुश्रुवे ।
निरीक्ष्य रावणं क्षिप्रं वैदेहीं च ददर्श सः ॥ १ ॥

---

1 अवसुप्तः—ईषत्सुप्तो जटायुः । (गो०)

जटायु ने जो उस समय ऊँघ रहा था, सीता की आवाज़ सुन, आँखें खोलीं और उसने रावण और सीता को देखा ॥ १ ॥

ततः पर्वतकूटाभस्तीक्ष्णतुण्डः खगोत्तमः ।
वनस्पतिगतः श्रीमान्व्याजहार शुभां गिरम् ॥ २ ॥

उस पर्वत के शृङ्ग के तुल्य बड़े डीलडौल के जटायु पक्षी ने, जिसकी बड़ी पैनी चोंच था, पेड़ पर बैठे ही बैठे मधुर शब्दों में रावण से कहा ॥ २ ॥

दशग्रीव स्थितो धर्म[1] पुराणे[2] सत्य संश्रयः ।
जटायुर्नाम नाम्नाऽहं गृध्रराजो महाबलः ॥ ३ ॥

हे दशग्रीव! मैं सदैव से सेवाधर्म में लगा हुआ हूँ और सत्य पर आरूढ़ हूँ । मेरा नाम जटायु है और मैं गीधों का महाबलवान् राजा हूँ ॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।
लोकानां च हिते युक्तो रामो दशरथात्मजः ॥ ४ ॥
तस्यैषा लोकनाथस्य धर्मपत्नी यशस्विनी ।
सीता नाम वरारोहा यां त्वं हर्तुमिहेच्छसि ॥ ५ ॥

जो सब लोकों के राजा हैं, जो इन्द्र और वरुण के तुल्य हैं और जो प्राणि मात्र की भलाई में लगे रहते हैं, उन्हीं त्रिलोकीनाथ दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्र की यह यशस्विनी वरारोहा धर्मपत्नी सीता है, जिसे तुम हर कर लिये जाते हो ॥ ४ ॥ ५ ॥

---

१ धर्मे—दास्यवृत्तावित्यर्थः । (गो०) २ पुराणे —सनातने । (गो०)

कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान्परामृशेत् ।
रक्षणीया विशेषेण राजदारा महाबलः ॥ ६ ॥

जो राजा धर्ममार्ग पर आरूढ़ है क्या उसको परस्त्री पर हाथ डालना उचित है ? हे महाबली ! तुमको तो राजपत्नी की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये ॥ ६ ॥

निवर्तय मतिं नीचां परदाराभिमर्शनात् ।
न तत्समाचरेद्धीरो[1] यत्परोऽस्य विगर्हयेत् ॥ ७ ॥

अतः तुम पराई स्त्री के हरण करने की नीच बुद्धि को त्याग दो । जिस काम के करने से निन्दा होती हो, वह काम श्रीमान् पुरुष नहीं किया करते ॥ ७ ॥

यथाऽऽत्मनस्तथाऽन्येषां दारा रक्ष्या विपश्चिता[2] ।
*धर्ममर्थं च कामं च शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम्[3] ॥ ८ ॥
व्यवस्यन्ति न राजानो धर्मं पौलस्त्यनन्दन ।
राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः ॥ ९ ॥

विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है कि, अपनी स्त्री की तरह पराई स्त्री की भी रक्षा करे । हे पौलस्त्यनन्दन ! शिष्टजन अथवा विवेकीजन धर्म, अर्थ, अथवा काम सम्बन्धी किसी भी कार्य के विषय में जब शास्त्र का विधान नहीं पाते, तब राजा जैसा करता है, उसीका वे लोग अनुसरण करते हैं । अतः राजा को सदैव धर्ममार्ग का अनुसरण करना चाहिये । क्योंकि राजा ही धर्म और राजा ही काम और राजा ही समस्त उत्तम द्रव्यों का ख़ज़ाना है ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ धीरः—धीमान् । (गो०) २ विपश्चिता—विवेकिना । (गो०) ३ शास्त्रेष्वनागतम्—शास्त्रेषु अनुपदिष्टं । (गो०) * पठान्तरे—" अर्थं वा यदि वा कामं शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम्" ।

धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते ।
पापस्वभावश्चपलः कथं त्वं रक्षसांवर ॥ १० ॥

धर्म, शुभकर्म अथवा पापकर्म सब की जड़ राजा ही है। क्योंकि राजा की प्रवृत्ति के अनुसार ही प्रजाजनों की भी प्रवृत्ति होती है। हे! राक्षसोत्तम! स्वभाव ही से पापी और चञ्चल हो कर भी ॥ १० ॥

ऐश्वर्यमभिसम्प्राप्तो विमानमिव दुष्कृतिः ।
कामं स्वभावो यो यस्य न शक्यः परिमार्जितुम् ॥ ११ ॥

तुम किस प्रकार दुष्कर्म करने वाले जन को देवविमान प्राप्त होने के समान, इस ऐश्वर्य को प्राप्त हुए हो? जो कामी है अथवा स्वेच्छाचारी है, वह अपने उस स्वभाव को बदल नहीं सकता ॥११॥

न हि दुष्टात्मनामार्य[1]मावसत्यालये[2] चिरम् ।
विषये वा पुरे वा ते यदा रामो महाबलः ॥ १२ ॥
नापराध्यति धर्मात्मा कथं तस्यापराध्यसि ।
यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥ १३ ॥

इसीसे दुष्ट जनों के हृदय में सदुपदेश बहुत देर तक नहीं टिकता जब महाबली श्रीराम ने तुम्हारे अधिकृत देश में, अथवा पुर में, तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया; तब तुम उनके प्रति यह अपराध कार्य क्यों कर रहे हो। यदि कहो कि, शूर्पणखा के पीछे जनस्थान-वासी खरादि का ॥ १२ ॥ १३ ॥

---

१ आर्यं—सदुपदेशः। (गो०) २ आलये—हृदये। (गो०)

अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः॥ १४॥

वध कर अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र पहिले ही मर्यादा भङ्ग कर चुके हैं, तो तुम्हीं बतलाओ कि, वास्तव में श्रीरामचन्द्र का इसमें क्या दोष है, ॥ १४॥

यस्य त्वं लोकनाथस्य भार्यां हृत्वा गमिष्यसि।
क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा॥ १५॥
दहेद्दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा।
सर्पमाशीविषं बद्ध्वा वस्त्रान्ते नावबुध्यसे॥ १६॥

जो तुम उन लोकनाथ की भार्या को हर कर लिये जाते हो? हे रावण! तुम तुरन्त सीता को छोड़ दो। नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि, जिस प्रकार इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर को भस्म किया था, उसी प्रकार कहीं श्रीराम तुझे (भी) अपने अग्नितुल्य नेत्र से भस्म कर डालें। अरे रावण! महाविषैले सर्प को आंचल में बाँध कर भी, तू नहीं चेतता॥ १५॥ १६॥

ग्रीवायां प्रतिमुक्तं[1] च कालपाशं न पश्यसि।
स भारः सौम्य भर्तव्यो यो नरं नावसादयेत्॥ १७॥

तुम गले में काल का फंदा लगा कर भी आँख से नहीं देखते। हे सौम्य! बोझ उतना ही उठाना चाहिये जितने से स्वयम् दब जाना न पड़े॥ १७॥

---

1 प्रतिमुक्तं—आमुक्तं। (गो०)

तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम् ।
यत्कृत्वा न भवेद्धर्मो न कीर्त्तिर्न यशो भुवि ॥ १८ ॥
शरीरस्य भवेत्खेदः कस्तत्कर्म समाचरेत् ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि मम जातस्य रावण ॥ १९ ॥

वही अन्न खाना चाहिये जो किसी प्रकार के रोग को उत्पन्न न कर के पच जाय । जिस कार्य के करने में न तो पुण्य ही होता है और न संसार में कीर्ति और यश ही फैलता है, बल्कि जिसके करने से शरीर को क्लेश हो ऐसे कर्म को कौन (समझदार) पुरुष करेगा ? हे रावण ! मुझे उत्पन्न हुए साठ हज़ार वर्ष बीत चुके ॥ १८ ॥ १९ ॥

पितृपैतामहं राज्यं यथावदनुतिष्ठतः ।
वृद्धोऽहं त्वं युवा धन्वी सशरः कवची रथी ॥ २० ॥

और मैं अपने बाप दादों के परम्परागत प्राप्त राज्य का पालन यथावत् करता हूँ । यद्यपि मैं बूढ़ा हूँ और तुम युवा हो, रथ पर सवार हो, कवचधारी हो और धनुष बाण लिये हुए हो ॥२०॥

तथाऽप्यादाय वैदेहीं कुशली न गमिष्यसि ।
न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः ॥ २१ ॥

तथापि तुम सीता को ले कर यहाँ से कुशलपूर्वक नहीं जा सकते ! मेरी आँखों के सामने तुम बरजोरी सीता को नहीं ले जा सकते ॥ २१ ॥

हेतुभिर्न्यायसायुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव ।
युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ॥ २२ ॥

जैसे किसी वेदवेत्ता के समाने कोई तर्कशास्त्री वेद के मंत्रों का अनुचित अर्थ नहीं कर सकता। हे रावण! यदि तुझे शूरवीर होने का दावा है, तो दो घड़ी यहाँ रुक कर, मुझसे युद्ध कर ॥ २२ ॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा।
असकृत्संयुगे येन निहता *दैत्यदानवाः ॥ २३ ॥

फिर देखना कि, मैं तुझे मार कर पृथिवी पर उसी प्रकार लिटाता हूँ कि नहीं, जिस प्रकार पहिले खर मर कर पृथिवी पर लोट चुका है। हे रावण! जिन्होंने अनेक वार युद्ध में दैत्य और दानवों को मारा है ॥ २३ ॥

न चिराच्चीरवासास्त्वां रामो युधि वधिष्यति।
किं नु शक्यं मया कर्तुं गतौ दूरं नृपात्मजौ ॥ २४ ॥

वे चीरधारी श्रीराम संग्राम में क्या तेरा वध करने में देर लगावेंगे! मैं क्या करूँ वे दोनों राजकुमार वन में दूर निकल गये हैं ॥ ३४ ॥

क्षिप्रं त्वं नश्यसे[1] नीच तयोर्भातो न संशयः।
न हि मे जीवमानस्य नयिष्यसि शुभामिमाम् ॥ २५ ॥
सीतां कमलपत्राक्षीं रामस्य महिषीं प्रियाम्।
अवश्यं तु मया कार्यं प्रियं तस्य महात्मनः ॥ २६ ॥
जीवितेनापि रामस्य तथा दशरथस्य च।
तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्तं पश्य रावण ॥ २७ ॥

---

१ नश्यसे—अदर्शनं प्राप्नोषि। (गो०) * पाठान्तरे—"देव"

हे नीच ! तू भी उनसे डर कर, निस्सन्देह शीघ्र मारा जायगा, किन्तु मेरे जीते जी तो तू कमलनयनी श्रीराम की प्यारी पटरानी सीता को नहीं ले जाने पावेगा। क्योंकि मैं तो उन महात्मा श्रीराम की और दशरथ की भलाई जान दे कर भी अवश्य करूँगा। हे दशग्रीव रावण ! खड़ा रह !! खड़ा रह !!! मुहूर्त्त भर में ॥ २५ ॥ ॥ २६ ॥ २७ ॥

युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं[1] निशाचर ।
वृन्तादिव फलं त्वा तु पातयेयं रथोत्तमात् ॥ २८ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

हे निशाचर ! मैं तेरा अपने बल के अनुरूप युद्धोचित आतिथ्य कर, पके फल की तरह तुझे इस उत्तम रथ से नीचे गिराये देता हूँ ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकपञ्चाशः सर्गः

—※—

इत्युक्तस्य यथान्यायं रावणस्य जटायुषा ।
क्रुद्धस्याग्निनिभाः सर्वा रेजुर्विंशतिदृष्टयः ॥ १ ॥

जटायु के न्यायपूर्वक कहे हुए बचनों को सुन कर, रावण के बीसों नेत्र क्रोध में भरने के कारण अग्नि के समान लाल पड़ गये ॥ १ ॥

---

१ यथाप्राणं—यथाबलं । (गो०)

संरक्तनयनः कोपाच्चलत्काञ्चनकुण्डलः ।
राक्षसेन्द्रोऽभिदुद्राव पतगेन्द्रममर्षणः[1] ॥ २ ॥

तब जटायु के वाक्यों को न सह कर शुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए रावण, क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर, जटायु पर बड़े वेग से दौड़ा ॥ २ ॥

स [2]संप्रहारस्तुमुलस्तयोस्तस्मिन्महावने ।
बभूव वातोद्धतयोर्मेघयोर्गगने यथा ॥ ३ ॥

जिस प्रकार आकाश में पवन प्रेरित दो मेघों की टक्कर होती है, उसी प्रकार उन दोनों का विकट युद्ध हुआ ॥ ३ ॥

तद्बभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा ।
सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव ॥ ४ ॥

पक्षधारी दो माल्यवान श्रेष्ठपर्वतों की तरह गृद्धराज जटायु और राक्षसेश्वर रावण का अद्भुत युद्ध हुआ ॥ ४ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
अभ्यवर्षन्महाघोरैर्गृध्रराजं महाबलः ॥ ५ ॥

रावण ने महाबली जटायु के ऊपर पैनी नोकों वाले नालीक और विकर्णि नामक बड़े भयङ्कर तीरों की वर्षा कर उसे ढक दिया ॥५॥

स तानि शरजालानि गृध्रः पत्ररथेश्वरः[3] ।
जटायुः प्रतिजग्राह[4] रावणास्त्राणि संयुगे ॥ ६ ॥

---

१ अमर्षणः—असहनः । (गो०) २ संप्रहारः—युद्धं । (गो०) ३ पत्ररथेश्वरः—पक्षीश्वरः । (गो०) ४ प्रतिजग्राह—सेहे । (गो०)

परन्तु पक्षीश्वर गृद्ध ने उस युद्ध में रावण के सब तीरों और अस्त्रों के प्रहारों को सह लिया ॥ ६ ॥

तस्य तीक्ष्णनखाभ्यां तु चरणाभ्यां महाबलः ।
चकार बहुधा गात्रं व्रणान्पतगसत्तमः ॥ ७ ॥

और जटायु ने अपने पैने नखवाले दोनों पैरों से रावण के शरीर को क्षत विक्षत कर डाला ॥ ७ ॥

अथ क्रोधाद्दशग्रीवो जग्राह दश मार्गणान्[1] ।
मृत्युदण्डनिभान्घोराञ्शत्रुमर्दनकाङ्क्षया ॥ ८ ॥

तब तो क्रोध में भर कर, दशग्रीव रावण ने जटायु का वध करने के लिये बड़े भयङ्कर कालदण्ड की तरह दस बाण निकाले ॥ ८ ॥

स तैर्बाणैर्महावीर्यः पूर्णमुक्तैरजिह्मगैः[2] ।
बिभेद निशितैस्तीक्ष्णैर्गृध्रं घोरैः शिलीमुखैः ॥ ९ ॥

और कान तक धनुष के रोदे को खींच कर, उन सीधे चलने वाले सान पर पैनाये हुए और भयङ्कर बाणों से जटायु का शरीर विदीर्ण किया ॥ ९ ॥

स राक्षसरथे पश्यञ्जानकीं बाष्पलोचनाम् ।
अचिन्तयित्वा तान्बाणान्राक्षसं समभिद्रवत् ॥ १० ॥

जटायु ने उन बाणों की तो कुछ परवाह न की, किन्तु जब देखा कि, रावण के रथ में बैठी जानकी नेत्रों से आंसू बहा रही है, तब वह रावण की ओर झपटा ॥ १० ॥

---

१ मार्गणान्—बाणान् । (गो०) २ अजिह्मगैः—ऋजुगामिभिः । (गो०)

ततोऽस्य सशरं चापं मुक्तामणिविभूषितम् ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्ज पतगेश्वरः ॥ ११ ॥

और उस महातेजस्वी पक्षिराज ने मारे लातों के रावण का तीरों सहित धनुष, जिसमें मोती और मणियाँ जड़ी थीं, तोड़ डाला ॥११॥

ततोऽन्यद्धनुरादाय रावणः क्रोधमूर्छितः ।
ववर्ष शरवर्षाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १२ ॥

तब तो अत्यन्त कुपित हो रावण ने दूसरा धनुष उठाया और जटायु पर सैकड़ों सहस्रों बाणों की वर्षा की ॥१२॥

शरैरावारितस्तस्य संयुगे पतगेश्वरः ।
कुलायमुपसम्प्राप्तः पक्षीव प्रबभौ तदा ॥ १३ ॥

उस समय जटायु उस शरसमूह से बिंध कर घोंसले में बैठे हुए पक्षी का तरह शोभा को प्राप्त हुआ ॥ १३ ॥

स तानि शरवर्षाणि पक्षाभ्यां च विधूय च ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्जास्य महद्धनुः ॥ १४ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी जटायु ने अपने दोनों पंखों से उस शरजाल को खण्डित कर, अपने दोनों पंजों से रावण के उस (दूसरे) बड़े धनुष को भी तोड़ डाला ॥ १४ ॥

तच्चाग्निसदृशं दीप्तं रावणस्य शरावरम्[1] ।
पक्षाभ्यां स महावीर्यो व्याधुनोत्पतगेश्वरः ॥ १५ ॥

---

१ शरावरं—कवचं । (गो०)

(इतना ही नहीं बल्कि) अपने पंखों के प्रहार से महातेजस्वी जटायु ने रावण का अग्नि की तरह चमचमाता कवच भी तोड़ फोड़ डाला ॥ १५ ॥

काञ्चनोरश्छदान्दिव्यान्पिशाचवदनान्खरान् ।
तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥ १६ ॥

उस बली जटायु ने रावण का सुवर्णमय दिव्य कवच तोड़, अति शीघ्र दौड़ने वाले और पिशाचों जैसे मुख वाले रथ में जुते हुए खच्चरों को मार डाला, ॥ १६ ॥

वरं त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम् ।
मणिहेमविचित्राङ्गं बभञ्ज च महारथम् ॥ १७ ॥

फिर इच्छागामी, अग्नि के समान चमचमाता, और मणियों के बने पावदानों से युक्त, तथा जिसके जुये में तीन बाँस लगे हुए थे—ऐसे रावण के बड़े रथ को जटायु ने तोड़ डाला ॥ १७ ॥

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशं छत्रं च व्यजनैः सह ।
पातयामास वेगेन ग्राहिभी राक्षसैः सह ॥ १८ ॥

फिर जटायु ने पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह छत्र, चामरों को और उनके थामने वाले राक्षसों को भी मार डाला ॥ १८ ॥

सारथेश्चास्य वेगेन तुण्डेनैव महच्छिरः ।
पुनर्व्यपाहरच्छ्रीमान्पक्षिराजो महाबलः ॥ १९ ॥

फिर महाबली पक्षिराज जटायु ने अपनी चोंच के प्रहार से रावण के सारथी का बड़ा सिर भी काट डाला । इस प्रकार परम बल सम्पन्न पक्षिराज द्वारा ॥ १९ ॥

स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः ॥ २० ॥

जब रावण का धनुष तोड़ा गया, रथ नष्ट किया गया, और घोड़े तथा सारथी मार डाले गये, तब रावण सीता को अपनी गोदी में लिये हुए भूमि पर कूद पड़ा ॥ २० ॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ रावणं भग्नवाहनम् ।
साधु साध्विति भूतानि गृध्रराजमपूजयन् ॥ २१ ॥

सवारी नष्ट होने के कारण रावण को पृथ्वी पर गिरा हुआ देख, समस्त प्राणी "वाह वाह" कह कर, जटायु की प्रशंसा करने लगे ॥ २१ ॥

परिश्रान्तं तु तं दृष्ट्वा जरया पक्षियूथपम् ।
उत्पपात पुनर्हृष्टो मैथिलीं गृह्य रावणः ॥ २२ ॥

पक्षिराज जटायु को बुढ़ापे के कारण थका जान, रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सीता को ले फिर आकाशमार्ग से चल दिया ॥२२॥

तं प्रहृष्टं निधायाङ्के गच्छन्तं जनकात्मजाम् ।
गृध्रराजः समुत्पत्य समभिद्रुत्य रावणम् ॥ २३ ॥

रावण को प्रसन्न होते हुए और जानकी को लेकर जाते हुए देख, जटायु ने बड़े वेग से उसका पीछा किया ॥ २३ ॥

*समावार्य महातेजा जटायुरिदमब्रवीत् ।
वज्रसंस्पर्शबाणस्य भार्यां रामस्य रावण ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे "ममावार्य" "तमावार्य" वा ।

अल्पबुद्धे हरस्येनां वधाय खलु रक्षसाम् ।
समित्रबन्धुः सामात्यः सबलः सपरिच्छदः ॥ २५ ॥

और उस महातेजस्वी जटायु ने रावण का मार्ग रोक उससे यह कहा—तू अपने इष्टमित्रों, भाईबन्धुओं, मंत्रियों, सेनाओं और कुटुम्ब सहित समस्त राक्षसकुल का सर्वनाश करने के लिये हो, वज्र समान बाण धारण करने वाले श्रीरामचन्द्र की भार्या, इन जानकी को चुरा कर लिये जा रहा है ॥ २४ ॥ २५ ॥

विषपानं पिबस्येतत्पिपासित इवोदकम् ।
अनुबन्धम्[1]अजानन्तः कर्मणामविचक्षणाः[2] ॥ २६ ॥

जिस प्रकार प्यासा पानी पीता है, उसी प्रकार तू यह विषपान कर रहा है। असमर्थ लोग जिस प्रकार अपने किये हुए कर्म के फल को न जान कर, ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव विनश्यन्ति यथा त्वं विनशिष्यसि ।
बद्धस्त्वं कालपाशेन क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे ॥ २७ ॥

शीघ्र विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार तू भी विनष्ट हो जायगा। तूने अपने गले में काल की फाँसी डाल ली है, अब तू किस देश में भाग कर इससे निस्तार पा सकता है ॥ २७ ॥

वधाय बडिशं गृह्य सामिषं जलजो यथा ।
न हि जातु दुराधर्षौ काकुत्स्थौ तव रावण ॥ २८ ॥

---

१ अनुबन्धः फलम् । (गो०) २ अविचक्षणाः—असमर्थाः । (गो०)

धर्षणं चाश्रमस्यास्य क्षमिष्येते तु राघवौ ।
यथा त्वया कृतं कर्म भीरुणा लोकगर्हितम् ॥ २९ ॥
तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः ।
युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ॥ ३० ॥

मांस के टुकड़े से युक्त वंशी के कांटे की ओर अपने प्राण खोने को जिस प्रकार मछली दौड़ती है, उसी प्रकार तू भी यह काम कर रहा है। हे रावण! श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण अजेय हैं, वे तेरे इस अपराध को, जो तू उनके आश्रम से सीता को हर कर लिये जाता है कभी क्षमा न करेंगे। तू जो यह लोकनिन्दित और डरपोकों जैसा काम कर रहा है, सो चोरों के योग्य है, वीरों के योग्य नहीं है। यदि तुझे वीर होने का अभिमान है, तो दो घड़ी ठड़ा रह और युद्ध कर ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा ।
परेतकाले पुरुषो यत्कर्म प्रतिपद्यते ॥ ३१ ॥
विनाशायात्मनोऽधर्म्यं प्रतिपन्नोऽसि कर्म तत् ।
पापानुबन्धो वै यस्य कर्मणः कर्म को नु तत् ॥ ३२ ॥

और फिर देख, मैं तुझे उसी तरह, जिस तरह तेरा भाई खर मारा गया है, मार कर भूमि पर गिराता हूँ कि, नहीं। मरते समय मनुष्य अपने नाश के लिये जैसे अधर्म के काम किया करते हैं, वैसे ही तू भी कर रहा है। जिस कर्म का सम्बन्ध पाप से है उस कर्म को कौन पुरुष ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कुर्वीत लोकाधिपतिः स्वयंभूर्भगवानपि ।
एवमुक्त्वा शुभं वाक्यं जटायुस्तस्य रक्षसः ॥ ३३ ॥

निपपात भृशं पृष्ठे दशग्रीवस्य वीर्यवान् ।
तं गृहीत्वा नखैस्तीक्ष्णैर्विरराद समन्ततः ॥ ३४ ॥

करेगा—भले ही वह लोकाधिपति साक्षात् ब्रह्मा ही क्यों न हो। इस प्रकार की हित की बातें कह, जटायु उस बलवान राक्षस दशग्रीव रावण की पीठ से लिपट गया और अपने पैने नाखूनों से उसकी समस्त पीठ विदीर्ण कर डाली ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

[नोट—जब रावण ने जटायु का तिरस्कार कर, उसकी बातों पर ध्यान न दिया और वह आगे बढ़ने लगा, तब जटायु उसकी पीठ में लिपट गया—ऐसा जान पड़ता है ।]

अधिरूढो गजारोहो यथा स्याद्दुष्टवारणम् ।
विरराद नखैरस्य तुण्डं पृष्ठे समर्पयन् ॥ ३५ ॥

जैसे महावत् दुष्ट हाथी की गर्दन पर सवार हो, उसके अंकुश चुभोता है, उसी प्रकार जटायु ने रावण की पीठ पर अपनी चोंच चुभोयी ॥ ३५ ॥

केशांश्चोत्पाटयामास नखपक्षमुखायुधः ।
स तथा गृध्रराजेन क्लिश्यमानो मुहुर्मुहुः ॥ ३६ ॥

नख, चोंच और पंखों के हथियार से लड़ने वाले जटायु ने रावण के सिर के बाल नोंच डाले । इस प्रकार जटायु से बार बार सताये जाने पर ॥ ३६ ॥

[1]अमर्षस्फुरितोष्ठः सन्प्राकम्पत[2] स रावणः ।
स परिष्वज्य वैदेहीं वामेनाङ्केन रावणः ॥ ३७ ॥

---

१ अमर्षेण—क्रोधेन । (गो०) २ प्राकम्पत—प्रहारार्थं प्रदक्षिणं प्राचलदित्यर्थः । (गो०)

रावण क्रोध के मारे ओंठों को फरफराता हुआ, जटायु पर वार करने के लिये मुड़ा। उसने सीता को बाईं बगल में दबाया॥ ३७॥

तलेनाभिजघानाशु जटायुं क्रोधमूर्छितः।
जटायुस्तमभिक्रम्य तुण्डेनास्य खगाधिपः॥ ३८॥

और वह क्रोध में भर कर, जटायु के थपेड़ मारने लगा। पक्षिराज जटायु ने उसके थपेड़े को बचाया और अपनी चोंच से॥ ३८॥

वामबाहून्दश तदा [1]व्यपाहरदरिन्दमः।
संछिन्नबाहोः सद्यैव बाहवः सहसाऽभवन्॥ ३९॥

शत्रुसूदन जटायु ने रावण की बाईं ओर की दसों भुजाओं को काट गिराया; किन्तु तत्क्षण रावण की बीसों भुजाएँ उसी प्रकार निकल आयीं,॥ ३९॥

विषज्वालावलीयुक्ता वल्मीकादिव पन्नगाः।
ततः क्रोधाद्दशग्रीवः सीतामुत्सृज्य रावणः॥ ४०॥

जिस प्रकार विष को ज्वलाएं फैंकते हुए सर्प बाँबी से निकलते हैं। तब रावण ने क्रोध में भर सीता को तो छोड़ दिया॥ ४०॥

मुष्टिभ्यां चरणाभ्यां च गृध्रराजमपोथयत्[2]।
ततो मुहूर्तं संग्रामो बभूवातुलवीर्ययोः॥ ४१॥
राक्षसानां च मुख्यस्य पक्षिणां प्रवरस्य च।
तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः॥ ४२॥

---

१ व्यपाहरत्—अच्छिनत्। (गो०) २ अपोथयत्—अताडयत्। (गो०)

और वह मूंकों और लातों से गृध्रराज को मारने लगा। अतुल वीर्यवान उन दोनों का (अर्थात् राक्षसराज और पक्षिराज का) एक मुहूर्त्त तक घमासान युद्ध हुआ। उस समय श्रीराम के लिये युद्ध करते हुए जटायु के, रावण ने ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पक्षौ पार्श्वौ च पादौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत् ।
स च्छिन्नपक्षः सहसारक्षसा रौद्रकर्मणा ।
निपपात हतो गृध्रो धरण्यामल्प जीवितः ॥ ४३ ॥

तलवार से समूल दोनों पर और दोनों पैर काट डाले। तब भयानक कर्म करने वाले रावण द्वारा पक्षों के काटे जाने पर जटायु गृद्ध मरणप्रायः हो कर, पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम् ।
अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता ॥ ४४ ॥

जटायु को घायल पड़ा देख, दुःख से पीड़ित हो कर, सीता उस की ओर उसी प्रकार दौड़ी, जिस प्रकार कोई अपने किसी भाई बन्धु को पीड़ित देख, उसकी ओर दौड़ता है ॥ ४४ ॥

तं नीलजीमूतनिकाशकल्पं
सुपाण्डुरोरस्कमुदारवर्यम् ।
ददर्श लङ्काधिपतिः पृथिव्यां
जटायुषं शान्तमिवाग्निदावम् ॥ ४५ ॥

लङ्काधिपति रावण ने, नीले मेघ के समान रंग वाले, पाण्डुर रंग की छाती वाले और अत्यन्त पराक्रमी जटायु को, उस समय, शान्त हुई वन की आग की तरह, पृथिवी पर पड़ा देखा ॥ ४५ ॥

ततस्तु तं पत्ररथं महीतले
निपातितं रावणवेगमर्दितम् ।
पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना
रुरोद सीता जनकात्मजा तदा ॥ ४६ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

रावण के द्वारा मर्दित अंगों वाले और भूमि पर लोटते हुए जटायु को अपने कण्ठ से लगा, शशिवदनी जानकी जी रोने लगीं ॥ ४६ ॥

अरण्यकाण्ड का एक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—※—

तमल्पजीवितं गृध्रं स्फुरन्तं राक्षसाधिपः ।
ददर्श भूमौ पतितं समीपे राघवाश्रमात् ॥ १ ॥

राक्षसेश्वर रावण ने श्रीरामाश्रम के समीप उस मृतप्राय जटायु को भूमि पर पड़ा हुआ और तड़फड़ाते हुए देखा ॥ १ ॥

सा तु ताराधिपमुखी रावणेन बलीयसा* ।
गृध्रराजं विनिहतं विललाप सुदुःखिता ॥ २ ॥

बलवान् रावण द्वारा मारे गये जटायु को देख, सीता जी बहुत दुःखी हुईं और विलाप करने लगीं ॥ २ ॥

---

* पाठान्तरे—"समीक्ष्य तम्।"

आलिङ्ग्य गृध्रं निहतं रावणेन बलीयसा ।
विललाप सुदुःखार्ता सीता शशिनिभानना ॥ ३ ॥

बलवान रावण द्वारा घायल किये गये गृद्धराज को आलिङ्गन कर, चन्द्रवदनी सीता अत्यन्त दुखी हो, विलाप करने लगीं ॥ ३ ॥

निमित्तं लक्षणज्ञानं शकुनिस्वरदर्शनम् ।
अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां प्रतिदृश्यते ॥ ४ ॥

वे बोलीं कि, बाए या दहिने अङ्गों का फड़कना, पक्षियों का बोलना और स्वप्न में सुवर्ण रूपी वृक्षों आदि का देखना; मनुष्यों के सुख दुःख के बारे में साक्षी रूप देख पड़ते हैं ॥ ४ ॥

नूनं राम न जानासि महद्व्यसनमात्मनः ।
धावन्ति नूनं काकुत्स्थं मदर्थं मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥

यद्यपि आज निश्चय ही मृग और पक्षीगण इस विपत्ति की सूचना देने को श्रीराम के सामने दौड़ते होंगे, तथापि यह भी निश्चय है कि, श्रीरामचन्द्र जी इस महान् कष्ट को न समझ सकेंगे ॥ ५ ॥

अयं हि पापचारेण मां त्रातुमभिसङ्गतः ।
शेते विनिहतो भूमौ ममाभाग्याद्विहङ्गमः ॥ ६ ॥

यह बेचारा जटायु, जो मेरी रक्षा करने यहाँ आया था, यह भी मारा जा कर, मेरे अभाग्य से ज़मीन पर अचेत हुआ पड़ा है ॥ ६ ॥

त्राहि मामद्य काकुत्स्थ लक्ष्मणेति वराङ्गना ।
सुसंत्रस्ता समाक्रन्दच्छृण्वतां तु [1]यथाऽन्तिके ॥ ७ ॥

---

१ श्रृणुतामन्तकेयथा — श्रृण्वतांसमीप इव । (गो०)

हे राम! हे लक्ष्मण! इस समय मुझे आ कर बचाओ। डरी हुई सीता इस प्रकार उस समय रो कर कह रही थी; मानों श्रीराम और लक्ष्मण पास ही कहीं उसकी बातें सुन ही रहे हों ॥ ७ ॥

तां क्लिष्टमाल्याभरणां विलपन्तीमनाथवत् ।
अभ्यधावत वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ८ ॥

अनाथ की तरह विलाप करती हुई, कुम्हलाई हुई माला और मसले हुए आभूषणों को पहिने हुए सीता की ओर राक्षसेश्वर रावण दौड़ा ॥ ८ ॥

तां लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्तीं महाद्रुमान् ।
मुञ्चमुञ्चेति बहुशः प्रवदन्राक्षसाधिपः ॥ ९ ॥

उस समय सीता लता की तरह बड़े बड़े वृक्षों से लिपटने लगी। तब रावण ने उनसे बार बार कहा "छोड़ छोड़" ॥ ९ ॥

क्रोशन्तीं रामरामेति रामेण रहितां वने ।
जीवितान्ताय केशेषु जग्राहान्तकसन्निभः ॥ १० ॥

उस समय श्रीराम की अनुपस्थिति में राम राम कह कर, उस वन में रोती हुई सीता के पास जा, रावण ने काल की तरह अपने विनाश के लिये सीता के सिर के बाल पकड़ लिये ॥ १० ॥

प्रधर्षितायां सीतायां बभूव सचराचरम् ।
जगत्सर्वममर्यादं तमसाऽन्धेन संवृतम् ॥ ११ ॥

सीता का ऐसा अपमान होते देख कर, सम्पूर्ण चराचर जगत् मर्यादा रहित हो कर, निविड़ अन्धकार से व्याप्त हो गया। अर्थात् सब चराचर जीव किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये ॥ ११ ॥

न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः ।
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दीनां दिव्येन चक्षुषा ॥ १२ ॥

हवा का चलना बंद हो गया । सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया । उस समय दुःखिनी सीता के केशाकर्षण को दिव्य दृष्टि से देख, ॥ १२ ॥

कृतं कार्यमिति श्रीमान्व्याजहार पितामहः ।
प्रहृष्टा व्यथिताश्चासन्सर्वे ते परमर्षयः ॥ १३ ॥

ब्रह्मा जी ने कहा कि, कार्य सिद्ध हो गया । समस्त बड़े बड़े ऋषि लोग हर्षित और दुःखित भी हुए ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दण्डकारण्यवासिनः ।
रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्वा यदृच्छया ॥ १४ ॥

दण्डकारण्यवासी लोगों ने सीता का केशाकर्षण देख, जान लिया कि, रावण के नाश में अब बहुत विलंब नहीं है ॥ १४ ॥

स तु तां राम रामेति रुदन्तीं लक्ष्मणेति च ।
जगामादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १५ ॥

हा राम ! हा लक्ष्मण ! कह कर, रोती हुई जानकी को पकड़ कर, राक्षसनाथ रावण आकाश में चला गया ॥ १५ ॥

तप्ताभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवासिनी ।
रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामिनी यथा ॥ १६ ॥

उस समय विशुद्ध सुवर्ण के भूषणों को पहिने हुए और चंपई रंग की साड़ी धारण किये हुए राजपुत्री जानकी ऐसी जान पड़ी, मानों बादल में बिजली ॥ १६ ॥

उद्धूतेन च वस्त्रेण तस्याः पीतेन रावणः ।
अधिकं प्रतिबभ्राज गिरिर्दीप्त इवाग्निना ॥ १७ ॥

उस समय सीता जी की चंपई रंग की साड़ी के उड़ने से रावण भी, अग्नि से प्रदीप्त पर्वत की तरह शोभित जान पड़ता था ॥ १७ ॥

तस्याः परमकल्याण्यास्ताम्राणि सुरभीणि च ।
पद्मपत्राणि वैदेह्या अभ्यकीर्यन्त रावणम् ॥ १८ ॥

परम कल्याण रूपिणी सीता जी के शरीर पर जो सुगन्धि युक्त लाल वर्ण के कमलदल थे, वे रावण के शरीर पर गिरते जाते थे ॥ १८ ॥

तस्याः कौशेयमुद्धूतमाकाशे कनकप्रभम् ।
बभौ चादित्यरागेण ताम्रमभ्रमिवातपे ॥ १९ ॥

सुवर्ण के रंग जैसी सीता जी की साड़ी, जो आकाश में उड़ रही थी, ऐसी शोभायमान् जान पड़ती थी, जैसे सूर्य की प्रभा से लाल मेघ शोभायमान् होते हैं ॥ १९ ॥

तस्यास्तत्सुनसं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ।
न रराज विना रामं विनालमिव पङ्कजम् ॥ २० ॥

सीता का निर्मल मुखमण्डल, रावण की गोदी में, श्रीरामचन्द्र जी के विना, नाल (डंडी) रहित कमल की तरह किसी प्रकार भी शोभायमान नहीं देख पड़ता था ॥ २० ॥

बभूव जलदं नीलं भित्त्वा चन्द्र इवोदितः ।
सुललाटं सुकेशान्तं पद्मगर्भाभमव्रणम् ॥ २१ ॥

शुक्लैः सुविमलैर्दन्तैः प्रभावद्भिरलङ्कृतम् ।
तस्यास्तद्विमलं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ॥ २२ ॥

अच्छे ललाट वाला, सुन्दर केशों से युक्त, पद्मगर्भसम प्रकाशित, क्षतिरहित, सुन्दर, सफेद, स्वच्छ और प्रभायुक्त दांतों से सुशोभित और मनोहर नेत्रों से युक्त सीता का मुखमण्डल, रावण की गोद में ऐसा जान पड़ता था, जैसे नीले मेघों से निकल कर चन्द्रमा उदय हुआ हो ॥ २१ ॥ २२ ॥

रुदितं व्यपमृष्टास्रं चन्द्रवत्प्रियदर्शनम् ।
सुनासं चारु ताम्रोष्ठमाकाशे हाटकप्रभम् ॥ २३ ॥
*राक्षसेन्द्रसमाधूतं तस्यास्तद्वदनं शुभम् ।
शुशुभे न विना रामं दिवा चन्द्र इवोदितः ॥ २४ ॥

अनवरत रोदनयुक्त आंसुओं से मलिन हुआ, चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, सुन्दर नासिका सहित, मनोहर व लाल ओंठों से युक्त, सुवर्ण जैसी कान्तिवाला और रावण की तेज चाल के कारण कम्पित सीता का मुख, श्रीरामचन्द्र के विना वैसे ही सुशोभित नहीं होता था, जैसे दिन में उदय हुआ चन्द्रमा ॥ २३ ॥ २४ ॥

सा हेमवर्णा नीलाङ्गं मैथिली राक्षसाधिपम् ।
शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता ॥ २५ ॥

सुवर्ण के रंग के शरीर की सीता नीले रंग के शरीर वाले रावण के साथ ऐसी शोभायमान होती थी जैसे सोने की जंज़ीर नीले रंग के हाथी के शरीर पर शोभायमान होती है ॥ २५ ॥

---

*पाठान्तरे—" राक्षसेन ।"

सा पद्मगौरी हेमाभा रावणं जनकात्मजा ।
विद्युद्घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ॥ २६ ॥

वह कमल फूल के केसर के और सोने के समान पीली और सुवर्ण के भूषणों से भूषित सीता रावण की गोद में ऐसी शोभा देती थी, मानों बादल में बिजली दमक रही हो ॥ २६ ॥

तस्या भूषणघोषेण वैदेह्या राक्षसाधिपः ।
बभौ सचपलो नीलः सघोष इव तोयदः ॥ २७ ॥

उस समय सीता जी के गहनों के बजने के शब्द से रावण गरजते हुए मेघ की तरह जान पड़ता था ॥ २७ ॥

उत्तमाङ्गच्च्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।
सीताया ह्रीयमाणायाः पपात धरणीतले ॥ २८ ॥

जिस समय रावण सीता को हर कर ले चला; उस समय सीता जी के सिर से फूलों की झड़ी सी पृथिवी पर चारों ओर हो रही थी ॥ २८ ॥

सा तु रावणवेगेन पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।
समाधूता दशग्रीवं पुनरेवाभ्यवर्तत ॥ २९ ॥
अभ्यवर्तत पुष्पाणां धारा वैश्रवणानुजम् ।
नक्षत्रमाला विमला मेरुं नगमिवोन्नतम् ॥ ३० ॥

वायु के झोकों और रावण के आकाश-गमन के वेग से वे पुष्प उसके चारों ओर उड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों नक्षत्रों की माला बड़े ऊँचे मेरुपर्वत के चारों ओर घूम रही हो ॥ २९ ॥ ३० ॥

चरणान्नूपुरं भ्रष्टं वैदेह्या रत्नभूषितम् ।
विद्युन्मण्डलसङ्काशं पपात मधुरस्वनम् ॥ ३१ ॥

उसी समय जानकी जी के चरण से मधुर झनकार करता हुआ रत्नजड़ाऊ नूपुर खसक कर, चक्कर खाती हुई बिजली की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ३१ ॥

तां महोल्का[1]मिवाकाशे दीप्यमानां स्वतेजसा ।
जहाराकाशमाविश्य सीतां वैश्रवणानुजः ॥ ३२ ॥

कुबेर का छोटा भाई रावण तेजस्विनी सीता को, आकाशमार्ग में उत्पातसूचक तारा (महोल्का) की तरह लिये हुए चला जाता था ॥ ३२ ॥

तस्यास्तान्यग्निवर्णानि भूषणानि महीतले ।
सघोषाण्यवकीर्यन्त क्षीणास्तारा इवाम्बरात् ॥ ३३ ॥

सीता जी के वे अग्नि की तरह दमकते हुए गहने, खुल खुल कर ज़मीन पर झनकार के साथ ऐसे गिरते थे, जैसे अकाश से टूटे हुए तारे ॥ ३३ ॥

तस्याः स्तनान्तराद्भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः ।
वैदेह्या निपतन्भाति गङ्गेव गगनाच्च्युता ॥ ३४ ॥

सीता जी के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ हार, जो चन्द्रमा की तरह चमचमाता था, ज़मीन पर गिरते समय ऐसा जान पड़ा, मानो आकाश से गङ्गा गिर रही हो ॥ ३४ ॥

---

१ महोल्का—उत्पातसूचकतारा। (गो०)

उत्पन्न[1]वाताभिहता नानाद्विजगणायुताः ।
मा भैरिति विधूताग्रा[2] व्याजह्रुरिव पादपाः ॥ ३५ ॥

रावण के गमन के वेग से उत्पन्न वायु से कम्पित हो, पत्तिगण मानों अपना सिर हिला कर, सीता को धीरज बंधाते हुए कह रहे थे कि, डरो मत ॥ ३५ ॥

नलिन्यो ध्वस्तकमलास्त्रस्तमीनजलेचराः ।
सखीमिव [3]गतोच्छ्वासामन्वशोचन्त मैथिलीम् ॥ ३६ ॥

तालाबों में जो कमल के फूल थे (रावण के गमन के वेग-से) वे ध्वस्त हो गये थे और मछली आदि जलचर जीव जन्तु, भयभीत हो गये थे। मानों वे भी सीता के वियोग से वैसे विकल हो रहे थे , जैसे कोई स्त्री अपनी सहेली के लिये शोक करती हो ॥ ३६ ॥

समन्तादभिसम्पत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः ।
अन्वधावंस्तदा रोषात्सीतां छायानुगामिनः ॥ ३७ ॥

सिंह, व्याघ्र, मृग और पत्ती क्रोध में भर सीता जी की परछाईं पकड़ने के लिये चारो ओर से आ कर, उनके पीछे पीछे दौड़ते चले जाते थे ॥ ३७ ॥

जलप्रपातास्रमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहवः ।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः ॥ ३८ ॥

जानकी जी के हरे जाने से, पर्वतश्रेणी अपने शिखर रूपी बाहों को उठा और झरनों के जल से मानों अश्रु बहा रो रही थी ॥ ३८ ॥

---

१ उत्पन्नेति—रावणवेगोत्पन्नेत्यर्थः । (गो०) २ विधूताग्राः—आश्वसनाय चलितशिरसः सन्तः । (गो०) ३ गतोच्छ्वासां—गतप्राणां । (गो०)

हियमाणां तु वैदेहीं दृष्ट्वा दीनो दिवाकरः ।
प्रतिध्वस्तप्रभः श्रीमानासीत्पाण्डरमण्डलः ॥ ३९ ॥

सीता जी का हरा जाना देख, सूर्यदेव दुःखी होने के कारण तेजहीन हो गये और उनका मण्डल धुंधला पड़ गया ॥ ३९ ॥

नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानृशंसता ।
यत्र रामस्य वैदेहीं भार्यां हरति रावणः ॥ ४० ॥
इति सर्वाणि भूतानि गणशः[1] पर्यदेवयन् ।
वित्रस्तका दीनमुखा रुरुदुर्मृगपोतकाः[2] ॥ ४१ ॥

उस वन के यावत् प्राणी एकत्र हो विलाप करते हुए कहते थे कि, जब रावण, श्रीरामभार्या सीता को हर कर लिये जाता है, तब फिर धर्म, सत्य, दया, सरलता और सुशीलता की तो इतिश्री ही हो गयी। एक ओर मृगछौने त्रस्त हो दुःखी हो रो रहे थे ॥४०॥४१॥

उद्वीक्ष्योद्वीक्ष्य नयनैरास्रपाताविलेक्षणाः ।
सुप्रवेपितगात्राश्च बभूवुर्वनदेवताः ॥ ४२ ॥

वारंबार नेत्र खोल खोल कर यह देखने से, वनदेवताओं के शरीर मारे भय के थर थर काँप रहे थे ॥ ४२ ॥

विक्रोशन्तीं दृढं सीतां दृष्ट्वा दुःखं तथा गताम् ॥ ४३ ॥
तां तु लक्ष्मण रामेति क्रोशन्तीं मधुरस्वरम् ।
अवेक्षमाणां बहुशो वैदेहीं धरणीतलम् ॥ ४४ ॥

---

१ गणशः—सङ्घशः । (गो०) २ मृगपोतकाः—मृगशावाः । (गो०)

स तामाकुलकेशान्तां विप्रमृष्टविशेषकाम् ।
जहारात्मविनाशाय दशग्रीवो मनस्विनीम् ॥ ४५ ॥

मधुर स्वर से हा राम ! हा लक्ष्मण ! कह कर चिल्लाती, रोती, दुःखी होती हुई और बार बार पृथिवी की ओर निहारती, खुले हुए बाल और माथे के मिटे हुए तिलक वाली और दृढ़ पतिव्रत धारण करने वाली सीता को रावण अपने विनाश के लिये हर कर लिये जाता था ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

ततस्तु सा चारुदती शुचिस्मिता
विनाकृता बन्धुजनेन मैथिली ।
अपश्यती राघवलक्ष्मणावुभौ
विवर्णवक्त्रा भयभारपीडिता ॥ ४६ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

मनोहर दांतों वाली, मन्द मन्द हास करने वाली सीता, बन्धुजनों से हीन और दोनों अर्थात् राम लक्ष्मण को न देखने से, बहुत उदास और भयभीत हो गयी ॥ ४६ ॥

अरण्यकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:※:—

खमुत्पतन्तं तं दृष्ट्वा मैथिली जनकात्मजा ।
दुःखिता परमोद्विग्ना भये महति वर्तिनी ॥ १ ॥

रावण को आकाशमार्ग से जाते देख, जनकात्मजा मैथिली बहुत डरी और दुःखित हो घबड़ा गयी ॥ १ ॥

रोषरोदनताम्राक्षी भीमाक्षं राक्षसाधिपम् ।
रुदन्ती करुणं सीता ह्रियमाणेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

हरे जाने पर, क्रोध के मारे और रोते रोते सीता के नेत्र लाल हो गये, वह आर्तस्वर से रोती हुई भयङ्कर नेत्रों वाले राक्षसेश्वर रावण से यह बोली ॥ २ ॥

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणाऽनेन रावण ।
ज्ञात्वा विरहितां यन्मां चोरयित्वा पलायसे ॥ ३ ॥

अरे नीच रावण ! क्या तुझको यह काम करते हुए लज्जा नहीं मालूम पड़ती कि, जो तू मुझे अकेली पा और चुरा कर भागा जा रहा है ॥ ३ ॥

त्वयैव नूनं दुष्टात्मन्भीरुणा हर्तुमिच्छता ।
ममापवाहितो भर्ता मृगरूपेण मायया ॥ ४ ॥

मैं जान गयी तू बड़ा दुष्ट और डरपोंक है । अतः निश्चय ही तू मुझे हरने के लिये मायामृग के रूप से, मेरे पति को आश्रम से दूर ले गया ॥ ४ ॥

यो हि मामुद्यतस्त्रातुं सोऽप्ययं विनिपातितः ।
गृध्रराजः पुराणोऽसौ श्वशुरस्य सखा मम ॥ ५ ॥

फिर इस बूढ़े गृद्धराज को भी, जो मेरे ससुर का मित्र था और मेरी रक्षा करने को तैयार हुआ था, मार डाला ॥ ५ ॥

परमं खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम ।
विश्राव्य नामधेयं हि युद्धेनास्मि जिता त्वया ॥ ६ ॥

हे राक्षसाधम ! इससे तू बड़ा पराक्रमी जान पड़ता है। (यह व्यङ्ग्योक्ति है) तूने केवल अपना नाम सुना कर, मुझे हरा है—तू मुझे युद्ध में जीत कर नहीं लाया ॥ ६ ॥

ईदृशं गर्हितं कर्म कथं कृत्वा न लज्जसे ।
स्त्रियाश्च हरणं नीच रहिते तु परस्य च ॥ ७ ॥

अरे नीच ! सूने में पराई स्त्री के हरण करने का, यह निन्दनीय कर्म कर, तुझे लज्जा नहीं आती ? ॥ ७ ॥

कथयिष्यन्ति लोकेषु पुरुषाः कर्म कुत्सितम् ।
सुनृशंसमधर्मिष्ठं तव शौण्डीर्यमानिनः ॥ ८ ॥

तू अपने को शूर बतला कर, जो ऐसा क्रूर और पापकर्म कर रहा है, सो लोग तेरे इस कर्म की निन्दा करेंगे ॥ ८ ॥

धिक्ते शौर्यं च सत्त्वं च यत्त्वं कथितवांस्तदा ।
कुलाक्रोशकरं लोके धिक्ते चारित्रमीदृशम् ॥ ९ ॥

हरन करने के समय तूने जिस शूर वीरता और बल को बखान किया था, उस तेरी शूरवीरता और बल को धिक्कार है। इस लोक में कुल को कलङ्क लगाने वाले तेरे इस चरित्र पर भी लानत है ॥ ९ ॥

किं कर्तुं शक्यमेवं हि यज्जवेनैव धावसि ।
मुहूर्तमपि तिष्ठस्व न जीवन्प्रतियास्यसि ॥ १० ॥

ऐसी दशा में जब तू बड़े वेग से भागा जा रहा है कोई क्या कर सकता है। हाँ, यदि तू एक मुहूर्त भर ठहर जाय, तो तू जीता हुआ तो न जा सकेगा ॥ १० ॥

न हि चक्षुष्पथं प्राप्य तयोः पार्थिवपुत्रयोः ।
ससैन्योऽपि समर्थस्त्वं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ ११ ॥

उन राजपुत्रों की दृष्टि में पड़ते ही तू अपनी सेना सहित भी एक मुहूर्त्त भर भी जीता जागता नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

न त्वं तयोः शरस्पर्शं सोढुं शक्तः कथञ्चन ।
वने प्रज्वलितस्येव स्पर्शमग्नेर्विहङ्गमः ॥ १२ ॥

पक्षी जिस प्रकार वन के दावानल को नहीं छू सकता, उसी प्रकार तू उन राजकुमारों के बाणों का स्पर्श किसी तरह सहन नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

साधु कृत्वाऽऽत्मनः पथ्यं साधु मां मुञ्च रावण ।
मत्प्रधर्षणरुष्टो हि भ्रात्रा सह पतिर्मम ॥ १३ ॥
विधास्यति विनाशाय त्वं मां यदि न मुञ्चसि ।
येन त्वं व्यवसायेन बलान्मां हर्तुमिच्छसि ॥ १४ ॥

अतएव हे रावण! भली प्रकार अपना हित विचार कर सीधी तरह मुझको छोड़ दे। यदि न छोड़ेगा, तो मेरी धर्षणा से क्रुद्ध हो, मेरे पति अपने भाई लक्ष्मण सहित तेरे विनाश के लिये उद्योग करेंगे। हे नीच! जिस उद्देश से तू बरजोरी मुझे हरे लिये जाता है॥ १३ ॥ १४ ॥

व्यवसायः स ते नीच भविष्यति निरर्थकः ।
न ह्यहं तमपश्यन्ती भर्तारं विबुधोपमम् ॥ १५ ॥

वह तेरा उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकेगा। क्योंकि मैं उस देवता तुल्य अपने पति को न देख ॥ १५ ॥

उत्सहे शत्रुवशगा प्राणान्धारयितुं चिरम् ।
न नूनं चात्मनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे ॥ १६ ॥

और शत्रु के वश में पड़, बहुत दिनों जीती न रह सकूँगी। मैं समझती हूँ कि, तू अपने हित और कल्याण की ओर दृष्टि नहीं देता ॥ १६ ॥

मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते ।
मुमूर्षूणां हि सर्वेषां यत्पथ्यं तन्न रोचते ॥ १७ ॥

जो पुरुष शीघ्र मरने वाला होता है वह अपथ्य सेवन करने लगता है। क्योंकि ऐसे पुरुष को पथ्य वस्तु भली ही नहीं लगती ॥ १७ ॥

पश्याम्यद्य हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम् ।
यथा चास्मिन्भयस्थाने न बिभेषि दशानन ॥ १८ ॥

हे दशानन! मैं देख रही हूँ कि, तेरे गले में काल की फाँसी पड़ चुकी है, क्योंकि इस भय के स्थान में भी तुझे भय नहीं लगता ॥१८॥

व्यक्तं हिरण्मयान्हि त्वं सम्पश्यसि महीरुहान् ।
नदीं वैतरणीं घोरां रुधिरौघनिवाहिनीम् ॥ १९ ॥

इससे स्पष्ट है कि, तू सोने के वृक्ष देखता (स्वप्न में) होगा। तू भयङ्कर और रुधिर के प्रवाह को बहाने वाली वैतरणी नदी को ॥ १९ ॥

असिपत्रवनं चैव भीमं पश्यसि रावण ।
तप्तकाञ्चनपुष्पां च वैडूर्यप्रवरच्छदाम् ॥ २० ॥

द्रक्ष्यसे शाल्मलीं तीक्ष्णामायसैः कण्टकैश्चिताम् ।
न हि त्वमीदृशं कृत्वा तस्यालीकं[1] महात्मनः ॥ २१ ॥

और भयङ्कर असिपत्र वन नामक नरक को देखना चाहता है। तू तपाये हुए सुवर्ण के फलों से पूर्ण और पन्नों के पत्रों वाले और नुकीले लोहे के काँटों से युक्त शाल्मली के वृक्ष को देखेगा। महात्मा श्रीराम का ऐसा अप्रिय कार्य कर ॥ २० ॥ २१ ॥

[**नोट**—जो परदाराभिगमन करते हैं उन्हें मरने पर यमलोक में कटीले शाल्मली वृक्ष को आलिङ्गन करना पड़ता है।]

*चरितुं शक्ष्यसि चिरं विषं पीत्वेव निर्घृणः ।
बद्धस्त्वं कालपाशेन दुर्निवारेण रावण ॥ २२ ॥

तू बहुत दिनों जीवित नहीं रह सकता। जैसे कोई विष पी कर बहुत दिनों तक नहीं जी सकता। हे निर्घृण रावण ! अब तू दृढ़ कालपाश से बंध गया है ॥ २२ ॥

क्व गतो लप्स्यसे शर्म भर्तुर्मम महात्मनः ।
निमेषान्तरमात्रेण विना भ्रात्रा महावने ॥ २३ ॥

मेरे महात्मा भर्त्ता के सामने से भाग कर, तू कहाँ सुख पा सकता है ! उन्होंने पलक मारते दण्डकवन में अकेले ही अपने भाई लक्ष्मण की सहायता के बिना ॥ २३ ॥

राक्षसा निहता येन सहस्राणि चतुर्दश ।
स कथं राघवो वीरः सर्वास्त्रकुशलो बली ।
न त्वां हन्याच्छरैस्तीक्ष्णैरिष्टभार्यापहारिणम् ॥ २४ ॥

---

१ अलीकं—अप्रियं। (गो०)

* पाठान्तरे—"धारितुं", "धरितं" वा।

चौदह हजार राक्षसों को मार डाला था। वे सब अस्त्रों के चलाने में निपुण एवं बलवान तथा वीर श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी भार्या के चोर तुझको अपने पैने बाणों से क्यों न मारेंगे ॥ २४ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं वैदेही रावणाङ्कगा ।
भयशोकसमाविष्टा करुणं विललाप ह ॥ २५ ॥

रावण की गोद में पड़ी हुई सीता, भय और शोक से पीड़ित हो, इस प्रकार के और भी अनेक कठोर वचन कह, करुण स्वर से विलाप करने लगी ॥ २५ ॥

तथा भृशार्ता बहु चैव भाषिणीं
विलापपूर्वं करुणं च भामिनीम् ।
जहार पापः करुणं विवेष्टतीं
नृपात्मजामागतगात्रवेपथुम् ॥ २६ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

जानकी जी बहुत घबड़ा कर, करुणा सहित विलाप कर अनेक कठोर वचन कहने लगीं। उस समय वह पापी रावण भय से कांपता हुआ, छटपटाती सीता को लिये चला जाता था ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—※—

ह्रियमाणा तु वैदेही कञ्चिन्नाथमपश्यती !
ददर्श गिरिश्रृङ्गस्थान्पञ्च वानरपुङ्गवान् ॥ १ ॥

इस प्रकार जाती हुई सीता ने, जब कोई अपना बचाने वाला न देखा, तब उनकी निगाह एक पर्वतशिखर पर बैठे हुए, पांच बंदरों पर पड़ी ॥ १ ॥

तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम् ।
उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च ॥ २ ॥

उन विशालाक्षी वरारोहा जानकी जी ने सुवर्ण की तरह चमकीले चंपई रंग के वस्त्र में बाँध अपने कुछ उत्तम गहनों को उन बंदरों के बीच में ॥ २ ॥

मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति मैथिली ।
वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम् ॥ ३ ॥

यह समझ कर, गिरा दिया कि, वे बानर सम्भवतः सीता के हरण का संदेसा श्रीराम से कह दें। सीता जी के छोड़े हुए वे वस्त्र सहित आभूषण बंदरों के बीच में जा गिरे ॥ ३ ॥

सम्भ्रमात्तु दशग्रीवस्तत्कर्म न स बुद्धवान्।
पिङ्गाक्षास्तां विशालाक्षीं नेत्रैरनिमिषैरिव ॥ ४ ॥

विक्रोशन्तीं तथा सीतां ददृशुर्वानरर्षभाः ।
स च पम्पामतिक्रम्य लङ्कामभिमुखः पुरीम् ॥ ५ ॥

सीता जी का यह कर्म, हड़बड़ी में रावण ने नहीं जान पाया । पीली आंखों वाले वे श्रेष्ठ वानर उच्च स्वर से चिल्लाती हुई सीता को बिना पलक झपकाये अर्थात् टकटकी बांधे देखते रहे । पम्पा को नांघ लंकापुरी की ओर ॥ ४ ॥ ५ ॥

जगाम रुदतीं गृह्य वैदेहीं राक्षसेश्वरः ।
तां जहार सुसंहृष्टो रावणो मृत्युमात्मनः ॥ ६ ॥

राक्षसेश्वर रावण रोती हुई सीता को लिये हुए चला गया । उस समय रावण सीता रूपी अपनी मौत को लिये वैसे ही अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ चला जाता था ॥ ६ ॥

उत्सङ्गेनेव भुजगीं तीक्ष्णदंष्ट्रां महाविषाम् ।
वनानि सरितः शैलान्सरांसि च विहायसा ॥ ७ ॥

जैसे कोई पैने दांतों वाली और महाविषैली साँपिन को अपनी गोद में ले प्रसन्न होता हो । अनेक वनों, नदियों, पहाड़ों और झीलों को पीछे छोड़ता हुआ, रावण आगे बढ़ता चला जाता था ॥ ७ ॥

स क्षिप्रं समतीयाय शरश्चापादिव च्युतः ।
तिमिनक्रनिकेतं तु वरुणालयमक्षयम् ॥ ८ ॥

वह ऐसी जल्दी चला जा रहा था, जैसे धनुष से छूटा बाण जाता है । तिमि (एक प्रकार की बड़ी भयङ्कर मछली) और घड़ियालों के निवासस्थान और वरुण के आवासस्थान सागर को भी रावण ने पार किया ॥ ८ ॥

सरितां शरणं गत्वा समतीयाय सागरम् ।
सम्भ्रमात्परिवृत्तोर्मी रुद्धमीनमहोरगः ॥ ९ ॥

उस समय सीता को हरी जाती देख, नदीनाथ समुद्र तरङ्गहीन हो गया और उसमें रहने वाले मत्स्य और सर्प घबड़ा उठे ॥ ९ ॥

वैदेह्यां ह्रियमाणायां बभूव वरुणालयः ।
अन्तरिक्षगता वाचः [1]ससृजुश्चारणास्तदा ॥ १० ॥

सीता जी के हरने पर समुद्र की तो यह दशा हुई । उधर आकाशस्थित चारणगण यह बात बोले, ॥ १० ॥

एतदन्तो दशग्रीव इति सिद्धास्तदाब्रुवन् ।
स तु सीतां विवेष्टन्तीमङ्केनादाय रावणः ॥ ११ ॥

बस अब रावण किसी प्रकार नहीं बच सकता । उस समय यही बात सिद्धों ने भी कही । रावण छटपटाती हुई सीता को गोदी में लिये ॥ ११ ॥

प्रविवेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः ।
सोऽभिगम्यं पुरीं लङ्कां सुविभक्तमहापथाम् ॥ १२ ॥

अपनी लङ्का पुरी में ले गया । वह सीता को नहीं ले गया बल्कि वह अपनी मृत्यु को ले गया । लङ्कापुरी बड़े बड़े चौराहों और चौड़ी सड़कों से सुशोभित थी ॥ १२ ॥

संरूढकक्ष्याबहुलं स्वमन्तःपुरमाविशत् ।
तत्र तामसितापाङ्गां शोकमोहपरायणाम् ॥ १३ ॥

---

१ ससृजुः—ऊचुः । (गो०)

उसकी शालाएँ राक्षसजनों से भरी हुई थीं। रावण ने अपने अन्तःपुर में ले जाकर सीता को, जो शोक मोह से युक्त और परम सुन्दरी थी, बैठा दिया ॥ १३ ॥

निदधे रावणः सीता मयो मायामिव स्त्रियम् ।
अब्रवीच्च दशग्रीवः पिशाचीर्घोरदर्शनाः ॥ १४ ॥

उस समय ऐसा बोध हुआ मानो मयदानव अपनी पुरी में आसुरी माया ले आया है। रावण ने सीता जी को अपने रनवास में ठहरा भयङ्कर सूरतवाली पिशाचिनों से कहा ॥ १४ ॥

यथा नेमां पुमान्स्त्री वा सीतां पश्यत्यसम्मतः ।
मुक्तामणिसुवर्णानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥ १५ ॥
यद्यदिच्छेत्तदेवास्या देयं मच्छन्दतो यथा ।
या च वक्ष्यति वैदेहीं वचनं किञ्चिदप्रियम् ॥ १६ ॥
अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानान्न तस्या जीवितं प्रियम् ।
तथोक्त्वा राक्षसीस्तास्तु राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥१७॥

मेरी आज्ञा हुए बिना सीता को न कोई पुरुष और न कोई स्त्री ही देखने पावे। मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र, गहने आदि वस्तुओं में से सीता जो माँगे सो तुम मुझसे पूंछे बिना उसे देना। जान कर अथवा अनजाने जो कोई सीता से कठोर वचन कहेगा, वह जान से मार डाला जायगा। प्रतापी रावण इस प्रकार उन राक्षसियों को आज्ञा दे ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्किं कृत्यमिति चिन्तयन् ।
ददर्शाष्टौ महावीर्यान्राक्षसान्पिशिताशनान् ॥ १८ ॥

अन्तःपुर से निकल सोचने लगा कि, अब क्या करना चाहिये। इस प्रकार सोचते बिचारते उसने देखा कि, आठ मांसभक्षी और बड़े बलवान राक्षस बैठे हैं॥ १८॥

स तान्दृष्ट्वा महावीर्यो वरदानेन मोहितः।
उवाचैतानिदं वाक्यं प्रशस्य बलवीर्यतः॥ १९॥

उन राक्षसों को देख और ब्रह्मा जी के बरदान से मोहित रावण, उनके बल और पराक्रम की प्रशंसा करता हुआ, उनसे यह बोला॥ १९॥

नानाप्रहरणाः क्षिप्रमितो गच्छत सत्वराः।
जनस्थानं हतस्थानं भूतपूर्वं खरालयम्॥ २०॥

हे राक्षस लोगों! अब तुम लोग तरह तरह के अस्त्र लेकर शीघ्र यहाँ से जनस्थान को, जहाँ पहिले खर रहा करता और जो इस समय नष्ट हो गया है, जाओ॥ २०॥

तत्रोष्यतां जनस्थाने शून्ये निहतराक्षसे।
पौरुषं बलमाश्रित्य त्रासमुत्सृज्य दूरतः॥ २१॥

और वहाँ जा कर रहो। क्योंकि वहाँ के राक्षसों के मारे जाने से वह स्थान शून्य हुआ पड़ा है। तुम लोग अपने पुरुषार्थ और बल के भरोसे वहाँ जा कर रहना और किसी बात से डरना मत॥ २१॥

बलं हि सुमहद्यन्मे जनस्थाने निवेशितम्।
सदूषणखरं युद्धे हतं रामेण सायकैः॥ २२॥

मैंने तो जनस्थान में एक बड़ी सेना रखी थी, किन्तु श्रीरामचन्द्र ने अपने बाणों से खरदूषण सहित उसको मार डाला॥ २२॥

तत्र क्रोधो ममामर्षाद्धैर्यस्योपरि वर्तते ।
वैरं च सुमहज्जातं रामं प्रति सुदारुणम् ॥ २३ ॥

अतः इससे मुझे बड़ा क्रोध हुआ है और इस क्रोध ने मेरे धैर्य को भी दबा लिया है। श्रीराम के साथ मेरा बड़ा भारी वैर हो गया है ॥ २३ ॥

निर्यातयितुमिच्छामि तच्च वैरमहं रिपोः ।
न हि लप्स्याम्यहं निद्रामहत्वा संयुगे रिपुम् ॥ २४ ॥

इस वैर का बदला मैं शत्रु से लेना चाहता हूँ और जब तक मैं युद्ध में अपने शत्रु को न मार डालूँगा, तब तक मुझे नींद नहीं आवेगी ॥ २४ ॥

तं त्विदानीमहं हत्वा खरदूषणघातिनम् ।
रामं शर्मोपलप्स्यामि धनं लब्ध्वेव निर्धनः ॥ २५ ॥

किन्तु जब मैं खरहन्ता श्रीराम का वध कर डालूँगा, तब मुझे वैसे ही प्रसन्नता होगी, जैसी प्रसन्नता किसी निर्धनी को धन पाने पर होती है ॥ २५ ॥

जनस्थाने वसद्भिस्तु भवद्भी राममाश्रिता ।
प्रवृत्तिरुपनेतव्या किं करोतीति तत्त्वतः ॥ २६ ॥

तुम लोग जनस्थान में रह कर, श्रीराम किस समय क्या करते हैं, सो सदा ही ठीक ठीक खोज खबर लेते रहो ॥ २६ ॥

अप्रमादाच्च गन्तव्यं सर्वैरपि निशाचरैः ।
कर्तव्यश्च सदा यत्नो राघवस्य वधं प्रति ॥ २७ ॥

तुम सब लोग वहाँ बड़ी सावधानी से जाना और श्रीरामचन्द्र को मार डालने के लिये सदा प्रयत्नवान् बने रहना ॥ २७ ॥

युष्माकं च बलज्ञोऽहं बहुशो रणमूर्धनि ।
अतश्चास्मिञ्जनस्थाने मया यूयं नियोजिताः ॥ २८ ॥

रणक्षेत्र में मैं तुम लोगों के पराक्रम की अनेक बार परीक्षा कर चुका हूँ। इसीसे मैं तुम लोगों को जनस्थान में रहने के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ २८ ॥

ततः प्रियं वाक्यमुपेत्य राक्षसा
महार्थमष्टावभिवाद्य रावणम् ।
विहाय लङ्कां सहिताः प्रतस्थिरे
यतो जनस्थानमलक्ष्यदर्शनाः ॥ २९ ॥

रावण के इस प्रकार के मधुर और सारगर्भित वचन सुन, वे आठो राक्षस, रावण को प्रणाम कर, और लङ्का छोड़, गुप्त रूप से जनस्थान को चल दिये ॥ २९ ॥

ततस्तु सीतामुपलभ्य रावणः
सुसंप्रहृष्टः परिगृह्य मैथिलीम् ।
प्रसज्य रामेण च वैरमुत्तमं
बभूव मोहान्मुदितः स राक्षसः ॥ ३० ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

इधर सीता को पा कर, रावण प्रसन्न हो, लङ्का में रहने लगा और श्रीराम के साथ वैर बाँध कर भी, वह भ्रान्तिवश प्रसन्न हुआ ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:※:—

संदिश्य राक्षसान्घोरान्रावणोऽष्टौ महाबलान्।
आत्मानं [1]बुद्धिवैक्लब्यात्कृतकृत्यममन्यत ॥ १ ॥

रावण ने महाबलवान आठ राक्षसों को जनस्थान में रहने के लिये भेज, अपने बुद्धिदौर्बल्य से, अपने को कृतकृत्य माना ॥ १ ॥

स चिन्तयानो वैदेहीं कामबाणसमर्पित[2]:।
प्रविवेश गृहं रम्यं सीतां द्रष्टुमभित्वरन् ॥ २ ॥

और वह कामबाण से पीड़ित हो, सीता का स्मरण करता हुआ, सीता को देखने के लिये अपने रमणीक घर में गया ॥ २ ॥

स प्रविश्य तु तद्वेश्म[3] रावणो राक्षसाधिपः।
अपश्यद्राक्षसीमध्ये सीतां शोकपरायणाम् ॥ ३ ॥

---

१ बुद्धिवैक्लव्यात्—बुद्धिदौर्बल्यात्। (गो०) २ समर्पितः—पीडित। (गो०) ३ वेश्म—अन्तःपुरं। (गो०)

राक्षसेश्वर रावण ने उस घर में प्रवेश कर, दुःख से पीड़ित सीता को राक्षसियों के बीच में बैठे हुए देखा ॥ ३ ॥

अश्रुपूर्णमुखीं दीनां शोकभाराभिपीडिताम् ।
वायुवेगैरिवाक्रान्तां मज्जन्तीं नावमर्णवे ॥ ४ ॥

उस समय सीता जी शोक के भार से पीड़ित अत्यन्त उदास और नेत्रों से आँसू बहाती हुई बैठी थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानों नाव, हवा के झोंके से उलट कर, जल में डूब रही हो ॥ ४ ॥

मृगयूथपरिभ्रष्टां मृगीं श्वभिरिवावृताम् ।
अधोमुखमुखीं सीतामभ्येत्य च निशाचरः ॥ ५ ॥

अथवा झुंड से छूटी हुई और कुत्तों से घिरी हुई हिरनी हो। उस समय नीचे सिर किये बैठी हुई सीता को रावण ने देखा ॥ ५ ॥

तां तु शोकपरां दीनामवशां राक्षसाधिपः ।
स बलाद्दर्शयामास गृहं देवगृहोपमम् ॥ ६ ॥

शोक से पीड़ित और उदास सीता जी की इच्छा न रहते भी, रावण ने बरजोरी उनको अपना देवगृह तुल्य दिव्यभवन दिखलाया ॥ ६ ॥

हर्म्यप्रासादसंबाधं स्त्रीसहस्रनिषेवितम् ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानारत्नसमन्वितम् ॥ ७ ॥

उस घर में अनेक अटा अटारियाँ और बारजे थे। उसमें हज़ारों स्त्रियाँ रहती थीं और तरह तरह के पक्षी कलत्नें कर रहे थे तथा यथास्थान अनेक प्रकार के रत्न जड़े हुए थे ॥ ७ ॥

*दान्तैश्च तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैरपि ।
वज्रवैडूर्यचित्रैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोहरैः ॥ ८ ॥

उस भवन के खंभे हाथीदाँत, सुवर्ण, स्फटिक, चाँदी और वैडूर्य की नक्काशी के काम से भूषित और देखने में बड़े मनोहर जान पड़ते थे ॥ ८ ॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्हादं तप्तकाञ्चनतोरणम् ।
सोपानं काञ्चनं चित्रमारुरोह तया सह ॥ ९ ॥

(उस समय) सुरीली नौबत बज रही थी और दरवाज़े पर सोने की वंदनवारें लटक रही थीं रावण सीता को लिये हुए सुवर्ण-निर्मित विचित्र सीढ़ियों पर चढ़ा ॥ ९ ॥

दान्तिका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः ।
हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासादपङ्क्तयः ॥ १० ॥

उस भवन की अटारियों के सुन्दर झरोखे हाथीदाँत और चाँदी के बने थे। वहाँ पर बहुत सी ऐसी अटारियाँ बनी हुई थीं, जिनमें सोने के जंगले लगे हुए थे ॥ १० ॥

सुधामणिविचित्राणि भूमिभागानि सर्वशः ।
दशग्रीवः स्वभवने प्रादर्शयत मैथिलीम् ॥ ११ ॥

उन अटारियों के सब फर्श चूना के पक्के बने थे और रंग बिरंगे पत्थर जगह जगह जड़े हुए थे। इस प्रकार के अपने भवन को रावण ने जानकी जी को दिखलाया ॥ ११ ॥

[1]दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च नानावृक्षसमन्विताः ।
रावणो दर्शयामास सीतां शोकपरायणाम् ॥ १२ ॥

---

१ दीर्घिकाः—वाप्यः । (गो०)

* पाठान्तरे—"काञ्चनैः", "दान्तकैः" वा ।

शोकपरायणा सीता को रावण ने उस भवन में जगह जगह बनी हुई बावड़ी व पुष्करिणी, जिनके चारों ओर वृक्ष शोभायमान थे, दिखलायीं ॥ १२ ॥

दर्शयित्वा तु वैदेह्याः कृत्स्नं तद्भवनोत्तमम् ।
उवाच वाक्यं पापात्मा सीतां लोभितुमिच्छया ॥ १३ ॥

अपने उस समस्त उत्तम भवन को रावण ने सीता को दिखलाया और सीता को लोभ में फसाने के लिये वह पापी रावण बोला ॥ १३ ॥

दश राक्षसकोट्यश्च द्वाविंशतिरथापराः ।
तेषां प्रभुरहं सीते सर्वेषां भीमकर्मणाम् ॥ १४ ॥

हे सीते ! मैं दस करोड़ और बाइस करोड़ अर्थात् बत्तीस करोड़ बड़े भयङ्कर काम करने वाले राक्षसों का स्वामी हूँ ॥ १४ ॥

[1]वर्जयित्वा जरावृद्धान्बालांश्च रजनीचरान् ।
सहस्रमेकमेकस्य मम कार्यपुरःसरम् ॥ १५ ॥

बूढ़े और बालक राक्षसों को छोड़ कर, मेरे निज के एक हज़ार टहलुए हैं ॥ १५ ॥

यदिदं राजतन्त्रं मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवितं च विशालाक्षि त्वं मे प्राणैर्गरीयसी ॥ १६ ॥

---

१ वर्जयित्वेतिबालवृद्धान्विना ममैकस्य एकसहस्र परिचारक जातं । (गो०)
२ राजतंत्रं—राजपरिक । (गो०)

यह समस्त राजपरिकर तुम्हारे ही अधीन है। हे विशालाक्षि! मेरा जीवन भी तुम्हारे अधीन है। क्योंकि मैं तुम्हें अपने प्राणों से भी बढ़ कर प्रिय समझता हूँ॥ १६॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां मम योऽसौ परिग्रहः।
तासां त्वमीश्वरा सीते मम भार्या भव प्रिये॥ १७॥

हे प्रिये सीते! मेरे रनवास में जो मेरी व्याही हुई स्त्रियाँ हैं, उन सब के ऊपर तुम स्वामिनी बनो॥ १७॥

साधु किं तेऽन्यथा बुद्ध्या रोचयस्व वचो मम।
भजस्व माऽभितप्तस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ १८॥

हे सीते! मैंने जो अभी कहा है उसे तुम मान लो। क्योंकि मैंने जो कहा है वही ठीक है। तुम इसके विपरीत यदि कुछ करोगी तो उसका कुछ फल न होगा। इस समय मैं काम से पीड़ित हो रहा हूँ सो मुझे अंगीकार कर, तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ॥ १८॥

परिक्षिप्ता सहस्रेण लङ्केयं शतयोजना।
नेयं धर्षयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः॥ १९॥

सौ योजन के विस्तार वाली लङ्का चारो ओर एक हज़ार योजन तक समुद्र से घिरी है। अतः सब देवताओं सहित इन्द्र भी इसे जीत नहीं सकते॥ १६॥

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषूरगेषुच।
अहं पश्यामि लोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत्॥ २०॥

क्या देवताओं में, क्या यक्षों में, क्या गन्धर्वों में और क्या नागों में, ऐसा कोई भी मुझे नहीं देख पड़ता, जो पराक्रम में मेरा सामना कर सके ॥ २० ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन गतायुषा ।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा ॥ २१ ॥

देखो, राज्य से च्युत, दीन, भिक्षुक, पैदल घूमने वाले, मनुष्य जाति के और गतायु एवं अल्पतेज वाले श्रीराम को ले कर, तुम क्या करोगी ? ॥ २१ ॥

भजस्व सीते मामेव भर्ताहं सदृशस्तव ।
यौवनं ह्यध्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह ॥ २२ ॥

हे सीते ! तुम तो मुझे ही अपनाओ, क्योंकि तुम्हारे योग्य पति तो मैं ही हूँ । यह जवानी सदा नहीं रहती, अतः जब तक यह है तब तक तुम मेरे साथ विहार करो ॥ २२ ॥

दर्शने मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने ।
काऽस्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः ॥ २३ ॥

हे वरानने ! अब तुम श्रीरामचन्द्र से पुनः मिलने की आशा मत रक्खो । क्योंकि ऐसी शक्ति किसमें है जो कल्पना द्वारा भी यहाँ आ सके ॥ २३ ॥

न शक्यो वायुराकाशे पाशैर्बद्धुं महाजवः ।
दीप्यमानस्य चाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलां शिखाम्* ॥ २४ ॥

जिस तरह प्रचण्ड पवन का पाशों से बांधना और अग्नि की शिखा का थामना असम्भव है, उसी तरह श्रीरामचन्द्र का यहाँ आना भी असम्भव है ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे—"विमलाशिखा", "विमलाः शिखाः" ।

त्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने ।
विक्रमेण नयेद्यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम् ॥ २५ ॥

हे शोभने ! मैं तो तीनों लोकों में ऐसी सामर्थ्य किसी में नहीं देखता जो मेरी भुजा से रक्षित तुझको अपने पराक्रम द्वारा यहाँ से ले जाय ॥ २५ ॥

लङ्कायां सुमहद्राज्यमिदं त्वमनुपालय ।
त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचराः ॥ २६ ॥

अतएव तू अब इस लङ्का के विशाल राज्य का पालन कर, केवल मैं स्वयं और देवता लोग ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण चराचर तेरे टहलुए हो कर रहेंगे ॥ २६ ॥

अभिषेकोदकक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व माम् ।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम् ॥ २७ ॥

तू अपना अभिषेक करा कर और प्रसन्न हो कर मेरे साथ विहार कर। पूर्वजन्म के तेरे जो कुछ पाप थे, वे सब वनवास करने से नष्ट हो गये ॥ २७ ॥

यश्च ते सुकृतो धर्मस्तस्येह फलमाप्नुहि ।
इह माल्यानि सर्वाणि दिव्यगन्धानि मैथिली ॥ २८ ॥

और जो पूर्वजन्म के पुण्यफल बाकी हैं, उनके फलों को तू लङ्का में रह कर उपभोग कर। हे मैथिली ! यहाँ पर जो ये दिव्य मालाएँ और चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ हैं ॥ २८ ॥

भूषणानि च मुख्यानि सेवस्व च मया सह ।
पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे ॥ २९ ॥

और जो बढ़िया बढ़िया आभूषण हैं, उन सब को, तू मेरे साथ विहार कर के भोग। मेरे भाई कुवेर का पुष्पक नामक, ॥ २९ ॥

विमानं सूर्यसङ्काशं तरसा निर्जितं मया।
विशालं रमणीयं च तद्विमानमनुत्तमम् ॥ ३० ॥
तत्र सीते मया सार्धं विहरस्व यथासुखम्।
वदनं पद्मसङ्काशं विमलं चारुदर्शनम् ॥ ३१ ॥
शोकार्तं तु वरारोहे न भ्राजति वरानने।
एवं वदति तस्मिन्सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना ॥ ३२ ॥

सूर्य के समान देदीप्यमान जो विमान है और जिसे मैंने संग्राम में जीत कर पाया है, वह विशालकाय, रमणीय, और विमानों में उत्तम है। उसमें बैठ कर तू मेरे साथ सुख सहित, विहार कर। हे वरानने! तेरा यह मुख जो कमल की तरह साफ और सुन्दर है, शोक के कारण मलिन होने से शोभित नहीं होता। जब रावण ने इस प्रकार कहा; तब सीता वस्त्र से ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

पिधायेन्दुनिभं सीता मुखमश्रूण्यवर्तयत्।
ध्यायन्तीं तामिवास्वस्थां दीनां चिन्ताहतप्रभाम् ॥ ३३ ॥

चन्द्र के समान अपना मुख ढांक कर रोने लगी। मारे चिन्ता के उसका मुख फीका पड़ गया। वह अत्यन्त उदास और अस्वस्थ्य सी हो, चिन्तामग्न हो गयी ॥ ३३ ॥

उवाच वचनं पापो रावणो राक्षसेश्वरः।
अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन च ॥ ३४ ॥

ऐसी दशा को प्राप्त सीता से पापी राक्षसेश्वर रावण कहने लगा। हे वैदेही! धर्मलोप हो जाने की शङ्का से तेरा लज्जित होना व्यर्थ है॥ ३४॥

आर्षोऽयं दैवनिष्यन्दो यस्त्वामभिगमिष्यति।
एतौ पादौ मयास्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौ ॥३५॥

क्योंकि राक्षस विवाह भी तो ऋषिप्रोक्त विवाह है। (यह अधर्म कार्य नहीं है) इस विवाह के द्वारा परपुरुष का संसर्ग प्रायश्चिताह नहीं है। देखो मैं अपने दसों सिर, तेरे दोनों कोमल चरणों पर रखता हूँ॥ ३५॥

प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते।
इमाः शून्या[1] मया वाचः शुष्यमाणेन[2] भाषिताः।
न चापि रावणः काञ्चिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह॥ ३६॥

अब तू मेरे ऊपर तुरन्त प्रसन्न हो जा। मै तेरा वशवर्ती दास हूँ। देख, मैंने काम से पीड़ित होने के कारण ही ऐसी अधीनताई की बातें केवल तुझीसे कही हैं। नहीं तो रावण ने आज तक कभी किसी स्त्री के पैरों पर अपने सिर नहीं रखे॥ ३६॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम्।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते॥ ३७॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः॥

---

१ शून्याः—नीचाः (गो०) २ शुष्यमाणेन—अनङ्गेन तप्यमानेन। (गो०)

रावण, मृत्यु के वश हो कर सीता से इस प्रकार कह कर, अपने मन में समझ बैठा कि, सीता मेरी हो गयी ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:※:—

सा तथोक्ता तु वैदेही निर्भया शोककर्शिता ।
तृणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

रावण द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर शोक से पीड़ित सीता जी ने, तिनके की आड़ कर, निर्भय हो, रावण से कहा ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम [1]धर्मसेतुरिवाचलः ।
सत्यसन्धः परिज्ञातो[2] यस्य पुत्रः स राघवः ॥ २ ॥

महाराज दशरथ जी, जो धर्म की अटल मर्यादा के स्थापन करने वाले थे और अपनी सत्यप्रतिज्ञा के लिये प्रसिद्ध थे, श्रीरामचन्द्र जी उन्हींके पुत्र हैं ॥ २ ॥

रामो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षो दैवतं हि पतिर्मम ॥ ३ ॥

वे श्रीरामचन्द्र भी धर्मात्मा के नाम से तीनों लोकों में विख्यात हैं । वे ही दीर्घबाहु और विशालाक्ष श्रीरामचन्द्र मेरे पति और देवता हैं ॥ ३ ॥

---

१ धर्मसेतुः—मर्यादास्थापकः । (गो०) २ परिज्ञातः—प्रसिद्धः । (गो०)

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान्हरिष्यति ॥ ४ ॥

वे इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए हैं, उनके सिंहों जैसे कंधे हैं और वे बड़े द्युतिमान् हैं। वे अपने भाई लक्ष्मण के सहित यहाँ आ कर अवश्य ही तेरा वध करेंगे ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं यद्यहं तस्य त्वया स्यां धर्षिता बलात् ।
शयिता त्वं हतः संख्ये जनस्थाने यथा खरः ॥ ५ ॥

यदि कहीं उनकी उपस्थिति में तूने मुझे बलपूर्वक हरने का साहस किया होता तो तू आज युद्ध में मारा जा कर जनस्थान में खर की तरह भूमि पर पड़ा (अनन्त निन्द्रा में) सोता होता ॥ ५ ॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महाबलाः ।
राघवे निर्विषाः[1] सर्वे सुपर्णे पन्नगा यथा ॥ ६ ॥

तू जिन भयङ्कर महाबली राक्षसों का बखान कर चुका है वे सब श्रीरामचन्द्र जी के सामने जाते ही उसी प्रकार निर्वीर्य (बलहीन) हो जायँगे , जिस प्रकार गरुड़ के सामने जाने से बड़े बड़े विषधर सर्प विषहीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य ज्याविप्रमुक्तास्ते शराः काञ्चनभूषणाः ।
शरीरं विधमिष्यन्ति गङ्गाकूलमिवोर्मयः ॥ ७ ॥

श्रीराम के धनुष से छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण राक्षसों के शरीर को उसी प्रकार वेध डालेंगे जिस प्रकार गङ्गा की लहरें किनारों को ध्वस्त कर डालती हैं ॥ ७ ॥

---

१ निर्विषाः — निर्वीर्या इति राक्षसपक्षे । (गो०)

अक्षुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि रावण ।
उत्पाद्य सुमहद्वैरं जीवंस्तस्य न मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

हे रावण ! यद्यपि तू देवताओं और दानवों से अवध्य है, तथापि श्रीरामचन्द्र से वैर बाँध तू जीता नहीं बच सकता ॥ ८ ॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽन्तकरो बली ।
पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ॥ ९ ॥

बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ही तेरे बचे हुए जीवन का समय पूरा कर देंगे। यज्ञस्तम्भ में बँधे हुए पशु की तरह अब तेरा जीना दुर्लभ है ॥ ९ ॥

यदि पश्येत्स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा ।
रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो गच्छेः सद्यः पराभवम् ॥ १० ॥

यदि श्रीरामचन्द्र क्रोध से प्रज्वलित अपने नेत्रों से तुझे देख दें, तो हे राक्षस ! तू अभी भस्म हो कर पराभव को प्राप्त हो जाय ॥१०॥

यश्चन्द्रं नभसो भूमौ पातयेन्नाशयेत वा ।
सागरं शोषयेद्वापि स सीतां मोचयेदिह ॥ ११ ॥

जो श्रीरामचन्द्र आकाश से चन्द्रमा को भूमि पर गिरा या नष्ट कर सकते हैं और समुद्र का जल सुखा सकते हैं वे ही श्रीरामचन्द्र सीता को यहाँ से छुड़ावेंगे ॥ ११ ॥

गतायुस्त्वं गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः ।
लङ्का वैधव्यसंयुक्ता त्वत्कृतेन भविष्यति ॥ १२ ॥

तेरे किये हुए परदाराभिमर्शन रूपी पाप से तेरी आयु बीत चुकी। तेरी श्री नष्ट हो चुकी, तेरा बल नष्ट हो चुका और तेरी इन्द्रियाँ भी अपने अपने कामों से जवाब दे चुकीं। तेरी यह लङ्का भी अब शीघ्र ही विधवा होने वाली है ॥ १२ ॥

[पराई स्त्री के साथ खोटा कर्म करने से स्मृतियों के अनुसार मनुष्य की आयु, उसका बल, यश और उसकी लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाती है। यथा
आयुर्बलं यशो लक्ष्मीः परदाराभिमर्शनात् सद्यएव विनश्यन्ति ।]

न ते पापमिदं कर्म सुखोदर्कं भविष्यति ।
याहं नीता विनाभावं[1] पतिपार्श्वात्त्वया वने ॥ १३ ॥

तूने जो यह पापकर्म किया है, सो इसका परिणाम कभी सुखदायी नहीं हो सकता। क्योंकि तूने वन में रहते हुए, मेरा वियोग मेरे पति से करवाया है ॥ १३ ॥

स हि दैवतसंयुक्तो मम भर्ता महाद्युतिः ।
निर्भयो वीर्यमाश्रित्य शून्ये वसति दण्डके ॥ १४ ॥

मेरे वह महाद्युतिमान् स्वामी अपने भाई लक्ष्मण के साथ केवल अपने पराक्रम से, निर्भय हो, निर्जन वन में वास करते हैं ॥ १४ ॥

स ते दर्पं बलं वीर्यमुत्सेकं च तथाविधम् ।
अपनेष्यति गात्रेभ्यः शरवर्षेण संयुगे ॥ १५ ॥

वह संग्राम में बाणों की वर्षा कर के तेरी देह से, तेरे अभिमान, बल और पराक्रम और मर्यादाहीन कर्म करने की तेरी प्रवृति को दूर कर देंगे ॥ १५ ॥

---

[1] विनाभावं—वियोगं। (गो०) उत्सेकं—उल्लंघ्यकार्यकारित्वं। (गो०)

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः ।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥ १६ ॥

मृत्यु के वश होने के कारण जब प्राणियों का नाश निकट आ जाता है, तब वे काल के वश हो कार्यों में प्रमाद करने लगते हैं ॥१६॥

मां प्रधृष्य स ते कालः प्राप्तोऽयं राक्षसाधम ।
आत्मनो राक्षसानां च वधायान्तःपुरस्य च ॥ १७ ॥

हे राक्षसाधम ! मेरी धर्षणा से तेरी मौत निकट आ पहुँची है । अब तेरा, तेरे राक्षसों का और तेरे अन्तःपुरवासियों का वध होगा ॥ १७ ॥

न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्रुग्भाण्डमण्डिता ।
द्विजातिमन्त्रपूता च चण्डालेनाभिमर्शितुम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार स्रुवा तथा अन्य यज्ञपात्रों से भूषित और ब्राह्मणों से मन्त्र द्वारा पवित्र की हुई यज्ञवेदी चाण्डाल के छूने योग्य नहीं होती ॥ १८ ॥

तथाऽहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी पतिव्रता ।
त्वया स्प्रष्टुं न शक्याऽस्मि राक्षसाधम पापिना ॥१९॥

उसी प्रकार उन धर्मतत्पर श्रीरामचन्द्र जी की पतिव्रता धर्मपत्नी तुझ जैसे राक्षसाधम पापी के छूने योग्य नहीं है ॥ १९ ॥

क्रीडन्ती राजहंसेन पद्मषण्डेषु नित्यदा ।
हंसी सा तृणषण्डस्थं कथं पश्येत मद्गुकम् ॥ २० ॥

राजहंस के साथ कमलों में सदा क्रीड़ा करने वाली हंसनी तृणों के बीच बैठे हुए जलकाक को कैसे देख सकती है ॥ २० ॥

इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा खादयस्व वा ।
नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वापि राक्षस ॥ २१ ॥

हे राक्षस ! यह शरीर तो निश्चेष्ट है, चाहे तू इसे बाँध या मार । मुझे इस शरीर को न रखना है और न अपने प्राण ही बचाने हैं ॥२१॥

न तु शक्ष्याम्युपक्रोशं[1] पृथिव्यां दातुमात्मनः ।
एवमुक्त्वा तु वैदेही क्रोधात्सुपरुषं वचः ॥ २२ ॥
रावणं मैथिली तत्र पुनर्नोवाच किञ्चन ।
सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं रोमहर्षणम् ॥ २३ ॥

क्योंकि मैं इस पृथिवी पर अपना अपवाद करवाना नहीं चाहती । इस प्रकार वैदेही क्रोध में भर रावण से कठोर वचन कह कर, चुप हो गयी और फिर कुछ भी न बोली । सीता जी के ये रोमाञ्चकारी कठोर वचन सुन कर ॥ २२ ॥ २३ ॥

प्रत्युवाच ततः सीतां भयसंदर्शनं वचः ।
शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान्द्वादश भामिनि ॥२४॥

रावण, सीता को भय दिखलाता हुआ कहने लगा । हे सीते ! सुन, बारह महीने के भीतर ॥ २४ ॥

कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि ।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः ॥ २५ ॥

---

१ उपक्रोशं—अपवादं । (गो०)

चारुहासिनी (सुन्दर हँसी हँसने वाली) ! यदि तू मुझे स्वीकार न करेगी तो मेरे रसोइये, मेरे प्रातः कालीन भोजन (कलेवा) के लिये तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणः शत्रुरावणः ।
राक्षसीश्च ततः क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

शत्रु को रुलाने वाला रावण सीता से ऐसे कठोर, वचन कह कर क्रोध में भर राक्षसियों से यह वचन बोला ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव हि राक्षस्यो विकृता घोरदर्शनाः ।
दर्पमस्या विनेष्यध्वं मांसशोणितभोजनाः ॥ २७ ॥

हे विकटरूपा ! हे भयङ्कर रूप वाली ! हे रक्त मांस खाने वाली राक्षसियों ! तुम सब इस सीता का गर्व दूर करो ॥ २७ ॥

वचनादेव तास्तस्य सुघोरा राक्षसीगणाः ।
कृतप्राञ्जलयो भूत्वा मैथिलीं पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

भयङ्कर सूरत वाली राक्षसियों ने यह सुन तत्क्षण (रावण को) हाथ जोड़ और जो आज्ञा कह, सीता जी को घेर लिया ॥ २८ ॥

स ताः प्रोवाच राजा तु रावणो घोरदर्शनः ।
प्रचाल्य चरणोत्कर्षैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ २९ ॥

यह देख, रावण मानों अपनी चाल से पृथिवी को कंपा और विदीर्ण करता हुआ, कुछ पग चल कर उन राक्षसियों से फिर कहने लगा ॥ २९ ॥

अशोकवनिकामध्ये मैथिली नीयतामियम् ।
तत्रेयं रक्ष्यतां गूढं युष्माभिः परिवारिता ॥ ३० ॥

इस सीता को तुम लोग अशोकवाटिका में ले जाओ और वहाँ इसको घेर कर गूढ़ भाव से सदा इसकी रखवाली किया करो ॥३०॥

तत्रैनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम् ।
आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव ॥ ३१ ॥

जंगली हथिनी जिस प्रकार वश में की जाती है उसी प्रकार तुम सब भी खूब डरा धमका कर और फिर धीरज बँधा कर इसे मेरे वश में करो ॥ ३१ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षस्यो रावणेन ताः ।
अशोकवनिकां जग्मुर्मैथिलीं प्रतिगृह्य तु ॥ ३२ ॥

जब रावण ने इस प्रकार उनको आज्ञा दी, तब वे राक्षसियाँ सीता जी को अपने साथ ले, अशोकवाटिका में चली गयीं ॥३२॥

सर्वकालफलैर्वृक्षैर्नानापुष्पफलैर्वृताम् ।
सर्वकालमदैश्चापि द्विजैः समुपसेविताम् ॥ ३३ ॥

वह अशोकवाटिका ऐसे वृक्षों से युक्त थी, जिनमें सदैव फल फला करते और तरह तरह के फूल फूला करते थे और जिन पर सदा मतवाले हो भाँति भाँति के पक्षी रहा करते थे ॥ ३३ ॥

सा तु शोकपरीताङ्गी मैथिली जनकात्मजा ।
राक्षसीवशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा ॥ ३४ ॥

उस समय शोक से कर्षित और राक्षसियों के पाले पड़ी हुई सीता की वही दशा थी जो दशा हिरनी की बाघिन के पाले पड़ने से होती है ॥ ३४ ॥

शोकेन महता ग्रस्ता मैथिली जनकात्मजा ।
न शर्म लभते भीरुः पाशबद्धा मृगी यथा ॥ ३५ ॥

बड़े भारी शोक में पड़ी हुई जनकदुलारी मैथिली को फंदे में फंसी हुई हिरनी की तरह, अशोकवाटिका में ज़रा भी सुख न मिला ॥ ३५ ॥

न विन्दते तत्र तु शर्म मैथिली
विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता ।
पतिं स्मरन्ती दयितं च दैवतं
विचेतनाऽभूद्भयशोकपीडिता ॥ ३६ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

विकट नेत्र वाली राक्षसियों से डरायी धमकायी जाने के कारण अत्यन्त भयभीत हो, जानकी जी को कुछ भी आराम न मिला और अपने प्यारे पति और देवर को स्मरण करती हुईं सीता जी अचेत सी हो गयीं ॥ ३६ ॥

अरण्यकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—✻—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—※—

राक्षसं मृगरूपेण चरन्तं कामरूपिणम् ।
निहत्य रामो मारीचं तूर्णं पथि निवर्तते ॥ १ ॥

उस ओर श्रीरामचन्द्र जी मृग रूप धर कर विचरण करने वाले काम रूपी राक्षस मारीच को मार, शीघ्र ही आश्रम की ओर लौटे ॥ १ ॥

तस्य संत्वरमाणस्य द्रष्टुकामस्य मैथिलीम् ।
क्रूरस्वनोऽथ गोमायुर्विननादास्य पृष्ठतः ॥ २ ॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी बड़ी शीघ्रता के साथ सीता जी को देखने के लिये लौट रहे थे, उस समय उनकी पीठ के पीछे श्रृगाल महाकठोर शब्द कर के चिल्लाने लगा ॥ २ ॥

स तस्य स्वरमाज्ञाय दारुणं रोमहर्षणम् ।
चिन्तयामास गोमायोः स्वरेण परिशङ्कितः ॥ ३ ॥

उस गीदड़ का वह रोमाञ्चकारी और दारुण शब्द सुन, श्रीरामचन्द्र जी के मन में शङ्का उत्पन्न हो गयी और वे चिन्तित हुए ॥ ३ ॥

अशुभं बत मन्येऽहं गोमायुर्वाश्यते यथा ।
स्वस्ति स्यादपि वैदेह्या राक्षसैर्भक्षणं विना ॥ ४ ॥

(मन ही मन) उन्होंने कहा जिस प्रकार का शब्द गीदड़ कर रहा है, इससे तो जान पड़ता है कि, कोई अशुभ होगा। कहीं राक्षसों ने सीता को खा न डाला हो। अब तो सीता को सकुशल देख कर ही मेरे जी में जी आवेगा ॥ ४ ॥

मारीचेन तु विज्ञाय स्वरमालम्ब्य मामकम् ।
विक्रुष्टं मृगरूपेण लक्ष्मणः शृणुयाद्यदि ॥ ५ ॥

मृगरूप धारी मारीच जो मेरी बोली बना लक्ष्मण और सीता का नाम ले पुकारा था, उसे यदि लक्ष्मण ने सुना होगा ॥ ५ ॥

स सौमित्रिः स्वरं श्रुत्वा तां च हित्वा च मैथिलीम् ।
तयैव प्रहितः क्षिप्रं मत्सकाशमिहैष्यति ॥ ६ ॥

तो लक्ष्मण उस पुकार को सुन और सीता जी द्वारा प्रेरित हो और सीता को छोड़, शीघ्र ही मेरे पास आवेंगे ॥ ६ ॥

राक्षसैः सहितैर्नूनं सीताया ईप्सितो वधः ।
काञ्चनश्च मृगो भूत्वा व्यपनीयाश्रमात्तु माम् ॥ ७ ॥

मारीच सोने का मृग बन, मुझे आश्रम से इतनी दूर बहका लाया। इससे जान पड़ता है कि, राक्षस मिल कर, निश्चय ही सीता का वध करना चाहते हैं ॥ ७ ॥

दूरं नीत्वा तु मारीचो राक्षसोऽभूच्छराहतः ।
हा लक्ष्मण हतोऽस्मीति यद्वाक्यं व्याजहार च ॥ ८ ॥

आश्रम से मुझे इतनी दूर ले जा कर और मेरे बाण से घायल हो कर, उसका—"हा लक्ष्मण! मैं मारा गया कहना—(अवश्य राक्षसों के षड़यंत्र का सूचक है।) ॥ ८ ॥

अपि स्वस्ति भवेत्ताभ्यां रहिताभ्यां महावने ।
जनस्थाननिमित्तं हि कृतवैरोऽस्मि राक्षसैः ॥ ९ ॥

इस महावन में मेरे वहाँ से चले आने पर उन दोनों का मङ्गल हो । जनस्थाननिवासी राक्षसों का वध करने के कारण अब तो राक्षसों से बैर बँध ही गया है ॥ ९ ॥

निमित्तानि च घोराणि दृश्यन्तेऽद्य बहूनि च ।
इत्येवं चिन्तयन्रामः श्रुत्वा गोमायुनिःस्वनम् ॥ १० ॥

तिस पर मुझे बहुत से बड़े बुरे अशकुन दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी मन ही मन सोचते विचारते और गीदड़ों का चीत्कार सुनते आश्रम की ओर लौटे ॥ १० ॥

आत्मनश्चापनयनान्मृगरूपेण रक्षसा ।
आजगाम जनस्थानं राघवः परिशङ्कितः ॥ ११ ॥

वे बार बार अपने मन में यही सोचते विचारते थे कि, देखो मृग रूपी राक्षस आश्रम से मुझे कितनी दूर ले आया ऐसा सोचते और शङ्कित होते श्रीरामचन्द्र जनस्थान में पहुँचे ॥ ११ ॥

तं दीनमनसो दीनमासेदुर्मृगपक्षिणः ।
सव्यं कृत्वा महात्मानं घोरांश्च ससृजुः स्वरान् ॥ १२ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी को उदास देख, सब मृग और पक्षी स्वयं उदास हो उनके पास गये और बाईं ओर से रास्ता काट कर, घोर शब्द करने लगे ॥ १२ ॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि महाघोराणि राघवः ।
न्यवर्तताथ [1]त्वरितो जवेना[2]श्रममात्मनः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र इन महाभयङ्कर अपशकुनों को देख कर हड़बड़ा कर, शीघ्रता पूर्वक अपने आश्रम को लौटने लगे ॥ १३ ॥

स तु सीतां वरारोहां लक्ष्मणं च महाबलम् ।
आजगाम जनस्थानं चिन्तयन्नेव राघवः ॥ १४ ॥

वे वरारोहा सीता और महाबली लक्ष्मण के लिये चिन्ता करते हुए जनस्थान में पहुँचे ॥ १४ ॥

ततो लक्ष्मणमायान्तं ददर्श विगतप्रभम् ।
ततोऽविदूरे रामेण समीयाय[3] स लक्ष्मणः ॥ १५ ॥

रास्ते में श्रीरामचन्द्र ने, उदास लक्ष्मण को अपनी ओर आते हुए देखा । जब लक्ष्मण निकट आ गये ॥ १५ ॥

विषण्णः सुविषण्णेन दुःखितो दुःखभागिना ।
सञ्जगर्हेऽथ तं भ्राता ज्येष्ठो लक्ष्मणमागतम् ॥ १६ ॥
विहाय सीतां विजने वने राक्षससेविते ।
गृहीत्वा च करं सव्यं लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १७ ॥

तब विषादित और दुःखित हो श्रीरामचन्द्र जी ने आये हुए लक्ष्मण जी की, जो विषाद युक्त और दुःखी हो रहे थे, उस निर्जन वन में सीता को अकेली छोड़ आने के लिये निन्दा की। श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण का बायाँ हाथ पकड़ कर ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ त्वरितः—मानसिकत्वरासहितः । (गो०) २ जवेन—कायिकत्वरया । (गो०) ३ समीयाय—सङ्गतः । (गो०)

उवाच [1]मधुरोदर्कमिदं परुषमार्तिमत् ।
अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतं यस्त्वं विहाय ताम् ॥ १८ ॥
सीतामिहागतः सौम्य कच्चित्स्वस्ति भवेदिह ।
न मेऽस्ति संशयो वीर सर्वथा जनकात्मजा ॥ १९ ॥

आर्त्त की तरह कुछ कोमलता युक्त, कठोर वचन कहे—हे लक्ष्मण ! तुमने यह बहुत बुरा काम किया जो तुम उस सीता को अकेली छोड़ यहाँ चले आये। हे सौम्य ! तुम्हारी इस करतूत से क्या सीता की भलाई होगी ? हे वीर ! मुझे तो इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है कि, सीता को ॥ १८ ॥ १९ ॥

विनष्टा भक्षिता वापि राक्षसैर्वनचारिभिः ।
अशुभान्येव भूयिष्टं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ २० ॥

वनचारी राक्षसों ने या तो मार डाला या खा डाला। क्योंकि ये सब अशकुन ऐसे हो रहे हैं॥ २० ॥

अपि लक्ष्मण सीतायाः सामग्र्यं प्राप्नुयावहे ।
जीवन्त्याः* पुरुषव्याघ्र सुताया जनकस्य वै ॥ २१ ॥

कि हे लक्ष्मण ! हे पुरुष व्याघ्र ! मैं जनकदुलारी सीता को जीता और सकुशल देख सकूंगा कि नहीं ॥ २१ ॥

यथा वै मृगसङ्घाश्च गोमायुश्चैव भैरवम् ।
वाश्यन्ते शकुनाश्चापि प्रदीप्तामभितो दिशम् ।
अपि स्वस्ति भवेत्तस्या राजपुत्र्या महाबल ॥ २२ ॥

---

१ मधुरोदर्कं—मधुरोत्तर । (गो०)

* पाठान्तरे—"जीवन्त्यः"

हे महाबली ! ये मृग समूह, गीदड़ और पक्षी सूर्य की ओर मुँह उठा ऐसा शब्द कर रहे हैं, जिससे जान पड़ता है कि, राजपुत्री सीता के कुशल होने में सन्देह है ॥ २२ ॥

इदं हि रक्षो मृगसन्निकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम् ।
हतं कथञ्चिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्म्रियमाण एव ॥ २३ ॥

वह राक्षस जो मृग का रूप धर मुझे भुलावा दे आश्रम से बहुत दूर ले गया वह किसी प्रकार बड़े श्रम से मारा गया, मरते समय उसने निज राक्षस रूप धारण किया ॥ २३ ॥

मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम् ।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥ २४ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! इस समय मेरा मन बहुत उदास है और घबड़ा रहा है। बाईं आँख भी फड़क रही है। हे लक्ष्मण ! निस्सन्देह सीता अब आश्रम में नहीं है। या तो कोई उसे हर कर ले गया, या वह मर गयी अथवा रास्ते में होगी ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—※—

स दृष्ट्वा लक्ष्मणं दीनं शून्ये दशरथात्मजः ।
पर्यपृच्छत धर्मात्मा वैदेहीमागतं विना ॥ १ ॥

धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने उस निर्जनवन में लक्ष्मण को सीता के विना आया हुआ देख, उनसे पूछा ॥ १ ॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगामह ।
क्व सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! जो दण्डकारण्य में आते समय मेरे साथ आ रही थी और जिसे छोड़ तुम यहाँ आये हो, वह वैदेही कहाँ है ॥ २ ॥

राज्य भ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान्परिधावतः ।
क्व सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुमध्यमा ॥ ३ ॥

राज्य से भ्रष्ट, दीन और दण्डकवन में घूमते हुए जो मेरे दुःख की साथिन है, वह क्षीण कटि वाली सीता कहाँ है ? ॥ ३ ॥

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम् ।
क्व सा प्राणसहाया मे सीता [1]सुरसुतोपमा ॥ ४ ॥

---

[1] सुरसुता—सुरस्त्री । (गो०)

हे वीर! जिसके बिना मैं क्षण भर भी जीता नहीं रह सकता वह मेरे प्राणों की आधार और देवस्त्री के समान सीता कहाँ है? ॥ ४ ॥

पतित्वममराणां वा पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण ।
तां विना [1]तपनीयाभां नेच्छेयं जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण! मैं उस सुवर्ण-वर्ण जनकात्मजा के बिना, स्वर्ग राज्य या भूमण्डल का राज्य नहीं चाहता ॥ ५ ॥

कच्चिज्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम ।
कच्चित्प्रव्राजनं सौम्य न मे मिथ्या भविष्यति ॥ ६ ॥

हे सौम्य! मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी वैदेही क्या अभी तक जीवित है? कहीं मेरी चौदह वर्ष वन में रहने की प्रतिज्ञा तो मिथ्या नहीं हो जायगी? ॥ ६ ॥

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि ।
कच्चित्सकामा सुखिता कैकेयी सा भविष्यति ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण! सीता के पीछे मेरे प्राण त्यागने पर और तुम्हारे अयोध्या लौट कर जाने पर, क्या कैकेयी सफल मनोरथ और सुखी होगी? ॥ ७ ॥

सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां मृतपुत्रा तपस्विनी[2] ।
उपस्थास्यति कौसल्या कच्चित्सौम्य न केकयीम् ॥८॥

---

१ तपनीयं—स्वर्णं। (गो०) २ तपस्विनी—शोच्या। (गो०) ३ वृत्ता—परेता। (गो०)

हे सौम्य ! बापुरी कौशल्या मृत-पुत्रा हो जाने पर, अपने पुत्र के राज्य पाने से हर्षित और सफल मनोरथ कैकेयी की टहल कभी न करेगी ॥ ८ ॥

यदि जीवति वैदेही गमिष्याम्याश्रमं पुनः ।
सुवृत्ता[1] यदि वृत्ता[2] सा प्राणांस्त्यक्ष्यामि लक्ष्मण ॥९॥

हे लक्ष्मण ! यदि सीता जीती होगी तो मैं आश्रम में जाऊँगा और यदि वह पतिव्रता जीवित न हुई तो मैं अपनी जान दे दूँगा ॥ ९ ॥

यदि मामाश्रमगतं वैदेही नाभिभाषते ।
पुनः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! यदि आश्रम में जाने पर सीता पूर्ववत् हँस कर मुझसे बातचीत न करेगी तो मैं मर जाऊँगा ॥ १० ॥

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा ।
त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम सच सच मुझे बतलाओ कि, सीता जीती है कि नहीं ? अथवा रक्षा करने में तुम्हारी असावधानी होने के कारण राक्षसों ने उसे खा डाला ? ॥ ११ ॥

सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखदर्शिनी ।
मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! वह सुकुमारी और बाला सीता, जिसने दुःख कभी नहीं सहे, मेरे वियोग में उदास हो चिन्ताग्रस्त होगी ॥ १२ ॥

---

१ सुवृत्ता—स्वाचारा। (गो०) २ वृत्ता—परेता। (गो०)

सर्वथा रक्षसा तेन जिह्मेन[1] सुदुरात्मना ।
वदता लक्ष्मणेत्युच्चैस्तवापि जनितं भयम् ॥ १३ ॥

अतिशय दुष्ट राक्षस मारीच ने उच्च स्वर से "हा लक्ष्मण मैं मारा गया" पुकार कर, तुमको धोखा दिया और तुम्हारे मन में भय उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

श्रुतस्तु शङ्के वैदेह्या स स्वरः सदृशो मम ।
त्रस्तया प्रेषितस्त्वं च द्रष्टुं मां शीघ्रमागतः ॥ १४ ॥

सीता ने भी मेरे समान कण्ठस्वर को सुन कर और डर कर शङ्कित हो तुमको मेरे निकट भेजा और तुम भी मुझे देखने के लिये तुरन्त चले आये ॥ १४ ॥

सर्वथा तु कृतं कष्टं सीतामुत्सृजता वने ।
प्रतिकर्तुं नृशंसानां रक्षसां दत्तमन्तरम् ॥ १५ ॥

हे लक्ष्मण ! तुमने जानकी को वन में अकेली छोड़ कर अच्छा काम नहीं किया। तुमने यहाँ आ कर उन नृशंस राक्षसों को मुझसे बदला लेने का अवसर दिया ॥ १५ ॥

दुःखिताः खरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः ।
तैः सीता निहता घोरैर्भविष्यति न संशयः ॥ १६ ॥

मेरे द्वारा खर के मारे जाने से माँसभोजी राक्षस गण दुःखित हैं। उन घोर राक्षसों ने अवश्य सीता को खा डाला होगा ॥ १६ ॥

---

[1] जिह्मेन—कपटेन । (गो०)

अहोऽस्मिन्व्यसने मग्नः सर्वथा शत्रुसूदन ।
*किंन्विदानीं करिष्यामि शङ्के प्राप्तव्यमीदृशम् ॥१७॥

हे शत्रुसूदन लक्ष्मण ! मैं तो बड़े सङ्कट में पड़ गया । मुझे तो अब इस बात की चिन्ता है कि, ऐसी विपत्ति पड़ने पर मैं क्या करूँगा ॥ १७ ॥

इति सीतां वरारोहां चिन्तयन्नेव राघवः ।
आजगाम जनस्थानं त्वरया सहलक्ष्मणः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सुमुखी सीता के लिये चिन्ता करते हुए लक्ष्मण जी के साथ शीघ्रता के साथ जनस्थान में पहुँचे ॥ १८ ॥

विगर्हमाणोऽनुजमार्तरूपं
क्षुधा श्रमाच्चैव पिपासया च ।
विनिःश्वसञ्शुष्कमुखो विवर्णः
[1]प्रतिश्रयं प्राप्तसमीक्ष्य शून्यम् ॥ १९ ॥

भूख, प्यास और थकावट के मारे श्रीरामचन्द्र जी का मुख सूख गया और चेहरे की रंगत फीकी पड़ गयी थी । उन्होंने आर्त हो दीर्घ निश्वास त्याग कर, लक्ष्मण जी के कर्म की निन्दा की और अपने आश्रम में पहुँच उसको सूना पड़ा पाया ॥ १९ ॥

स्वमाश्रमं सम्प्रविगाह्य वीरो
विहारदेशाननुसृत्य कांश्चित् ।

---

१ प्रतिश्रयं—स्वाश्रमप्रदेशं । (गो०)
* पाठान्तरे—"किन्त्विदानीं", किंचेदानीं"

एतत्तदित्येव निवासभूमौ
प्रहृष्टरोमा व्यथितो बभूव ॥ २० ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

अपना आश्रम देख चुकने पर वीर श्रीरामचन्द्र सीता जी के कई एक विहारस्थलों में घूमे और ये सीता के विहारस्थल हैं यह बात याद आते ही उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वे बहुत व्यथित हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—※—

अथाश्रमादुपावृत्तमन्तरा[1] रघुनन्दनः ।
परिपप्रच्छ सौमित्रिं रामो दुखार्दितं पुनः ॥ १ ॥

आश्रम को लौटते समय मार्ग में श्रीरामचन्द्र जी के पूँछने पर जब लक्ष्मण चुप रहे और कुछ न बोले तब फिर महादुःखी हो, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहने लगे ॥ १ ॥

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोपास्य मैथिलीम् ।
यदा सा तव विश्वासाद्वने विरहिता मया ॥ २ ॥

---

१ अन्तरा—मध्येमार्गे । (गो०)

भाई ! मैंने तो तुम्हारे विश्वास पर सीता को वन में अकेले छोड़ा था । सो तुम उसे अकेली छोड़ क्यों यहाँ चले आये ॥ २ ॥

दृष्ट्वैवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यज्य लक्ष्मण ।
शङ्कमानं महत्पापं यत्सत्यं व्यथितं मनः ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता को छोड़, तुमको आते देख मेरा मन अनिष्ट की शङ्का कर जो व्यथित हुआ था सो मेरी वह शङ्का सत्य ही सिद्ध हुई ॥ ३ ॥

स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे ।
दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि ॥ ४ ॥

तुम को दूर ही से जानकी के बिना आते देख, मेरा बायाँ नेत्र, बायी भुजा और हृदय का वाम भाग फड़कने लगा था ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भूयो दुःखसमाविष्टो दुःखितं राममब्रवीत् ॥ ५ ॥

शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन पुनः अत्यन्त दुःखी हुए और दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ५ ॥

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः ।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥ ६ ॥

मैं अपनी इच्छा से जानकी को छोड़ यहाँ नहीं आया, बल्कि उनके उग्र वचन कहने पर ही मैं आपके पास आया हूँ ॥ ६ ॥

आर्येणेव पराक्रुष्टं हा सीते लक्ष्मणेति च ।
परित्राहीति यद्वाक्यं मैथिल्यास्तच्छ्रुतिं गतम् ॥ ७ ॥

आप ही ने तो "हा लक्ष्मण" और "हा सीता मुझे बचाओ" उच्चस्वर से कहा था। आपका यह उच्चस्वर से कहा हुआ वाक्य जानकी जी के कान तक पहुँचा ॥ ७ ॥

सा तमार्तस्वरं श्रुत्वा तव स्नेहेन मैथिली ।
गच्छ गच्छेति मामाह रुदन्ती भयविह्वला ॥ ८ ॥

आपके इस आर्त स्वर को सुन आपकी प्रीति के कारण रोती और भयभीत हुई सीता ने मुझसे "शीघ्र जाओ, शीघ्र जाओ" कहा ॥ ८ ॥

प्रचोद्यमानेन मया गच्छेति बहुशस्तया ।
प्रत्युक्ता मैथिली वाक्यमिदं त्वत्प्रत्ययान्वितम् ॥ ९ ॥

जब सीता ने कितनी ही बार मुझसे जाने को कहा, तब मैंने आपके सम्बन्ध में उनको विश्वास कराने के लिये यह कहा ॥ ९ ॥

न तत्पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत् ।
निर्वृता भव नास्त्येतत्केनाप्येवमुदाहृतम् ॥ १० ॥

मुझे कोई ऐसा राक्षस नहीं देख पड़ता जो श्रीरामचन्द्र जी को भयभीत कर सके। अतः तुम चिन्ता मत करो। यह श्रीरामचन्द्र जी का नहीं बल्कि किसी दूसरे का बनावटी शब्द है ॥ १० ॥

विगर्हितं च नीचं च कथमार्योऽभिधास्यति ।
त्राहीति वचनं सीते यस्त्रायेत्त्रिदशानपि ॥ ११ ॥

हे सीते! जो श्रीरामचन्द्र जी देवताओं की रक्षा करने में समर्थ हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र—"मुझे बचाओ" ऐसा निन्द्य और तुच्छ वचन कैसे कह सकते हैं ॥ ११ ॥

किंनिमित्तं तु केनापि भ्रातुरालम्ब्य मे स्वरम् ।
राक्षसेनेरितं वाक्यं त्राहि त्राहीति शोभने ॥ १२ ॥

हे शोभने! किसी राक्षस ने किसी दुष्ट अभिप्राय से मेरे भाई के कण्ठस्वर का अनुकरण कर कहा होगा कि, "मुझे बचाओ मुझे बचाओ" ॥ १२ ॥

[1]विस्वरं व्याहृतं वाक्यं लक्ष्मण त्राहि मामिति ।
न भवत्या व्यथा कार्या कुनारीजनसेविता ॥ १३ ॥

"हे लक्ष्मण! मुझे बचाओ।" इस वाक्य को कहने वाले के कण्ठस्वर की विशेष विवेचना करने पर यह श्रीरामचन्द्र का कहा हुआ वाक्य नहीं जान पड़ता। अतः निन्द्य स्त्रियों की तरह आपको इसके लिये दुःखी न होना चाहिये ॥ १३ ॥

अलं वैक्लव्यमालम्ब्य स्वस्था भव निरुत्सुका ।
न सोऽस्ति त्रिषु लोकेषु पुमान्वै राघवं रणे ॥ १४ ॥

व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं। अतः तुम अब स्वस्थ हो जाओ। क्योंकि तीनों लोकों में ऐसा कोई पुरुष नहीं जो श्रीरामचन्द्र के सामने युद्ध में खड़ा रह सके ॥ १४ ॥

जातो वा जायमानो वा संयुगे यः पराजयेत् ।
न जय्यो राघवो युद्धे देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ १५ ॥

---

१ विस्वरमिति—स्वर प्रकार विशेष शोधनेऽपिनार्यं रागस्वर इति । (गो०)

जो युद्ध में, श्रीराम को पराजित करे—ऐसा न तो कोई उत्पन्न हुआ और न आगे ही कोई उत्पन्न होगा। इन्द्रादि देवताओं में भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र को युद्ध में जीत सकें ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा तु वैदेही परिमोहितचेतना[1] ।
उवाचाश्रूणि मुञ्चन्ती दारुणं मामिदं वचः ॥ १६ ॥

ऐसा कहने पर भी, कलुषित बुद्धि होने के कारण, आँसू बहाते हुए सीता जी ने मुझसे ये कठोर वचन कहे ॥ १६ ॥

भावो मयि तवात्यर्थं पाप एव निवेशितः ।
विनष्टे भ्रातरि प्राप्तुं न च त्वं मामवाप्स्यसि ॥ १७ ॥

मेरे ऊपर तुम्हारी नियत डिग गयी है, पर याद रखो, श्रीरामचन्द्र जी के मारे जाने पर भी तुम मुझे न पा सकोगे ॥ १७ ॥

सङ्केताद्भरतेन त्वं रामं समनुगच्छसि ।
क्रोशन्तं हि यथात्यर्थं नैवमभ्यवपद्यसे ॥ १८ ॥

तुम भरत के इशारे से श्रीरामचन्द्र के साथ आये हो। इसीसे तो श्रीरामचन्द्र जी के बुलाने पर भी तुम, सहायतार्थ उनके पास नहीं जाते ॥ १८ ॥

रिपुः प्रच्छन्नचारी त्वं मदर्थमनुगच्छसि ।
राघवस्यान्तरप्रेप्सुस्तथैनं नाभिपद्यसे ॥ १९ ॥

---

1 परिमोहितचेतना—कलुषितबुद्धिः। (गो०)

तुम गुप्त शत्रु हो अथवा मित्ररूपी शत्रु हो और मेरे लिये ही श्रीराम के साथ आये हो। तुम सदा अवसर ढूढ़ते हो कि, कब श्रीरामचन्द्र जी कहीं जायँ और मैं सीता को हथियाऊँ। इसी से तो तुम श्रीराम की सहायता के लिये नहीं जाते ॥ १९ ॥

एवमुक्तो हि वैदेह्या संरब्धो रक्तलोचनः ।
क्रोधात्प्रस्फुरमाणोष्ठ आश्रमादभिनिर्गतः ॥ २० ॥

जब जानकी जी ने मुझसे इस प्रकार कहा, तब मुझे क्रोध आ गया और मारे क्रोध के मेरे नेत्र लाल हो गये और ओंठ फड़कने लगे। मैं आश्रम के बाहिर चला आया ॥ २० ॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं रामः सन्तापमोहितः ।
अब्रवीद्दुष्कृतं सौम्य तां विना यत्त्वमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण के ऐसा कहने पर, सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे सौम्य! तुम जो जानकी को छोड़, चल खड़े हुए, सो तुमने बहुत ही बुरा काम किया ॥ २१ ॥

जानन्नपि समर्थं मां राक्षसां विनिवारणे ।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निःसृतो भवान् ॥२२॥

आप तो यह जानते ही थे कि, राम राक्षसों को मारने में समर्थ हैं, फिर क्यों मैथिली के कठोर वचन सुन आप चल खड़े हुए ॥ २२ ॥

न हि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यद्यासि मैथिलीम् ।
*क्रुद्धायाः परुषं वाक्यं श्रुत्वा यत्त्वमिहागतः ॥ २३ ॥

* पाठान्तरे—"क्रुद्धायाः परुषं श्रुत्वा स्त्रियाश्चत्वमिहागतः ।"

हे लक्ष्मण ! तुम सीता को छोड़ कर चल खड़े हुए—इस बात से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं हूँ। क्योंकि तुम क्रुद्ध स्त्री का कठोर वचन सुन यहाँ चले आये ॥ २३ ॥

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत्प्रचोदितः ।
क्रोधस्य वशमापन्नो नाकरोः शासनं मम ॥ २४ ॥

तुमने यह काम सर्वथा अनुचित किया जो सीता के कहने पर क्रुद्ध हो, मेरी आज्ञा की अवज्ञा की ॥ २४ ॥

असौ हि राक्षसः शेते शरेणाभिहतो मया ।
मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः ॥ २५ ॥

देखो यह राक्षस मेरे बाण से घायल हो मरा पड़ा है। यह वही है जो मृग का रूप धारण कर मुझे आश्रम से दूर ले आया है ॥ २५ ॥

विकृष्य चापं परिधाय सायकं
सलीलबाणेन च ताडितो मया ।
मार्गीं तनुं त्यज्य स विक्लबस्वरो
बभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥ २६ ॥

मैंने धनुष खींच और उस पर बाण रख साधारण रीति से उसे चला जब एक ही बाण उसके मारा, तब वह बनावटी हिरन का शरीर छोड़, आर्तस्वर करता हुआ केयूरधारी राक्षस हो गया ॥ २६ ॥

शराहतेनैव तदार्तया गिरा
स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसंश्रवम् ।

उदाहृतं तद्वचनं सुदारुणं
त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥ २७ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः

जब वह तीर से घायल हुआ, तब दूर तक सुनाई पड़े इतने उच्च कण्ठ से, आर्तनाद कर उसने मेरे कण्ठस्वर का अनुकरण कर वह अत्यन्त दारुण वाक्य कहा, जिसे सुन तुम वैदेही को छोड़ यहाँ चले आये ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षष्टितमः सर्गः

—※—

भृशमाव्रजमानस्य[1] तस्याधोवामलोचनम्।
प्रास्फुरच्चास्खलद्रामो वेपथुश्चाप्यजायत ॥ १ ॥

मारीच का वध कर आश्रम को आते समय श्रीरामचन्द्र जी के वाम नेत्र का नीचे का भाग बार बार फड़का, और चलने में अकस्मात् पैर फिसल गया और शरीर कांपने लगा ॥ १ ॥

[नोट—प्रसिद्ध है कि—

"प्रयाणकालेस्खलनं करोतीष्टस्य भञ्जनं"

अर्थात् यात्रा के समय पैर का फिसलना (अथवा हाथ की छड़ी का गिर कर टूट जाना) अशकुन माना गया है और इसका फल यह है कि, जिस कार्य के लिये जाय वह कार्य सिद्ध न हो।]

१ आव्रजमानस्य—आगच्छतः। (गो०) २ वेपथुः—कम्पः। (गो०)

उपालक्ष्य निमित्तानि सोऽशुभानि मुहुर्मुहुः ।
अपि क्षेमं नु सीताया इति वै व्याजहार च ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी इन अशकुनों को देख कहने लगे कि, जाने सीता सकुशल है कि, नहीं ॥ २ ॥

त्वरमाणो जगामाथ सीतादर्शनलालसः ।
शून्यमावसथं[1] दृष्ट्वा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ ३ ॥

सीता को देखने की अभिलाषा से शीघ्र शीघ्र चल जब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण आश्रम में पहुँचे तब देखा कि भवन सूना पड़ा है। आश्रम को सूना देख वे बहुत घबड़ाये ॥ ३ ॥

उद्भ्रमन्निव वेगेन विक्षिपन्रघुनन्दनः ।
तत्र तत्रोटजस्थानमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ४ ॥

वे उद्भ्रान्त मनुष्य की तरह हाथों को झटकारते पर्णशाला के भीतर गये और वहाँ चारों ओर घूम फिर कर सीता को खोजा ॥४॥

ददर्श पर्णशालां च रहितां सीतया तदा ।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव ॥ ५ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने पर्णशाला को सीता जी के वहाँ न होने से, उसी प्रकार शोभाहीन पाया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में कमलनी ध्वस्त होने के कारण शोभाहीन हो जाती है ॥ ५ ॥

रुदन्तमिव वृक्षैश्च म्लानपुष्पमृगद्विजम् ।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं सन्त्यक्तवनदेवतम् ॥ ६ ॥

---

१ आवसथं—गृहं । (गो०)

उस समय उस आश्रम के वृक्ष मानों रो रहे थे, फूल कुम्हलाये हुए थे और मृग तथा पक्षी उदास हो रहे थे। वनदेवता उस आश्रम को ध्वस्त और शोभाहीन देख, उसे त्याग कर चल दिये थे ॥ ६ ॥

विप्रकीर्णाजिनकुशं विप्रविद्धबृसीकटम् ।
दृष्ट्वा शून्यं निजस्थानं विललाप पुनः पुनः ॥ ७ ॥

उस आश्रम में मृगचर्म और कुश इधर उधर पड़े हुए थे। आसन और चटाई इधर उधर फैंकी हुई पड़ी हुई थीं। अपने आश्रम को सूना देख, श्रीरामचन्द्र जी बार बार विलाप कर रहे थे ॥ ७ ॥

हृता मृता वा नष्टा[1] वा भक्षिता वा भविष्यति ।
निलीनाप्यथ वा भीरुरथवा वनमाश्रिता ॥ ८ ॥

वे कह रहे थे कि, क्या सीता को कोई हर ले गया या वह मर गई या अपने आप अन्तर्धान हो गयी अथवा किसी ने उसे मार कर खा डाला, अथवा विनोद के लिये वह यह कर रही है अथवा डरपोंक होने के कारण कहीं छिप रही है अथवा वन में चली गयी है ॥ ८ ॥

गता विचेतुं पुष्पाणि फलान्यपि च वा पुनः ।
अथवा पद्मिनीं याता जलार्थं वा नदीं गता ॥ ९ ॥

अथवा कहीं फूल चुनने और फल लाने को वन में गयी है अथवा जल लाने के लिये किसी सरोवर या नदी पर गयी है ॥ ६ ॥

---

१ नष्टा—याद्दच्छिकमदर्शनं गता। (गो०) २ निलीना—विनोदाय व्यवहिता। (गो०)

यत्नान्मृगयमाणस्तु नाससाद वने प्रियाम् ।
शोकरक्तेक्षणः शोकादुन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ १० ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यत्न पूर्वक ढूँढ़ने पर भी उस वन में अपनी प्यारी सीता को कहीं न पाया, तब शोक के मारे उनकी आँखें लाल हो गयीं और मारे शोक के वे उन्मत्त की तरह हो गये ॥ १० ॥

वृक्षाद्वृक्षं प्रधावन्स गिरेश्चाद्रिं नदान्नदीम् ।
बभूव विलपन्रामः शोकपङ्कार्णवाप्लुतः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी शोक रूपी कीचड़ के समुद्र में डूब कर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक, एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ तक और एक नदी से दूसरी नदी तक विलाप करते हुए दौड़ते फिरते थे ॥ ११ ॥

अपि कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।
कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम् ॥ १२ ॥

(वे विलाप करके कहते थे) हे कदंब वृक्ष ! तुम्हारे फूलों पर विशेष अनुराग रखने वाली मेरी प्रिया शुभानना सीता का पता यदि तुम्हें मालूम हो तो बतलाओ ॥ १२ ॥

स्निग्धपल्लवसङ्काशा पीतकौशेयवासिनी ।
शंसस्व यदि वा दृष्टा बिल्व बिल्बोपमस्तनी ॥१३॥

हे बिल्व वृक्ष ! उस बिल्व-फल-सदृश स्तन वाली, पल्लव समान कान्ति युक्त, पीली रेशमी साड़ी पहिने हुए सीता को, यदि तुमने देखा हो तो मुझे बतलाओ ॥ १३ ॥

अथवाऽर्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम् ।
जनकस्य सुता भीरुर्यदि जीवति वा न वा ॥ १४ ॥

अथवा हे अर्जुन वृक्ष ! मेरी प्यारी सीता तुमको बहुत चाहती थी, सो वह जनकदुलारी और डरपोंक जानकी जीवित है कि नहीं- सो बतलाओ ॥ १४ ॥

ककुभः ककुभोरूं तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम् ।
यथा पल्लवपुष्पाढ्यो भाति ह्येष वनस्पतिः ॥ १५ ॥

यह ककुभ का पेड़, ककुभ के समान जाघों वाली सीता को निश्चय ही जानता होगा। क्योंकि यह वनस्पति, लता, पत्ते और पुष्पों से कैसा लदा हुआ है ? ॥ १५ ॥

भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो ह्ययम् ।
एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम् ॥ १६ ॥

यह तिलक-वृक्ष तो तिलक-वृक्ष-प्रिय सीता का पता अवश्य जानता होगा; देखो इस वृक्ष श्रेष्ठ तिलक वृक्ष के ऊपर भौंरे कैसे गूंज रहे हैं ॥ १६ ॥

अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतसम् ।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासन्दर्शनेन माम् ॥ १७ ॥

हे अशोक वृक्ष ! तुम शोक के नाश करने वाले हो। अतः तुम शोक से हतचित्त मुझको शीघ्र मेरी प्रिया से मिला कर, मुझे अपने जैसे नाम वाला (अर्थात् अशोक—शोकरहित) कर दो ॥ १७ ॥

यदि ताल त्वया दृष्टा पक्वतालफलस्तनी ।
कथयस्व वरारोहां कारुण्यं यदि ते मयि ॥ १८ ॥

हे ताल वृक्ष ! यदि तुमने पके हुए ताल फल के आकार सदृश स्तनवाली सीता को देखा हो और मेरे ऊपर तुम ज़रा भी दया करते हो, तो मुझे बतलाओ कि, वह वरारोहा सीता कहाँ है ? ॥ १८ ॥

यदि दृष्टा त्वया सीता जम्बु जाम्बूनदप्रभा* ।
प्रियां यदि विजानीषे निःशङ्कं कथयस्व मे ॥ १९ ॥

हे जामुन वृक्ष ! यदि सुवर्ण समान प्रभावाली मेरी प्रिया को तुमने देखा हो तो निःसङ्कोच हो बतला दो ॥ १९ ॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य सुपुष्पैः शोभसे भृशम् ।
कर्णिकारप्रिया साध्वी शंस दृष्टा प्रिया यदि ॥ २० ॥

हे कर्णिकार ! आज तो तुम पुष्पों से पुष्पित हो अत्यन्त शोभित हो रहे हो । यदि तुमने मेरी पतिव्रता सीता को देखा हो तो, मुझे बतला दो ॥ २० ॥

चूतनीपमहासालान्पनसान्कुरवान्धवान् ।
दाडिमानसनान्गत्वा दृष्ट्वा रामो महायशाः ॥ २१ ॥
मल्लिका माधवीश्चैव चम्पकान्केतकीस्तथा ।
पृच्छन्रामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ २२ ॥

इसी प्रकार महायशस्वी श्रीरामचन्द्र, आम, कदंब बड़े बड़े साखू, कटहर, कुरट, अनार, मौलसिरी, नागकेसर, चंपा और

---

*पाठान्तरे—"जम्बुफलोपमाम्" ।

केतकी के वृत्तों के पास जा उनसे पूंछते हुए उन्मत्त की तरह वन में देख पड़ते थे ॥ २१ ॥ २२ ॥

अथवा मृगशावाक्षीं मृग जानासि मैथिलीम् ।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत् ॥ २३ ॥

(केवल वृत्तों ही से नहीं श्रीरामचन्द्र जी ने सीता का हाल वन के पशुओं से भी पूंछा। वे मृगों से बोले)—हे मृगों! क्या तुम उस मृगनयनी सीता का कुछ हाल जानते हो। अवश्य मृगों की तरह देखने वाली मेरी कान्ता हिरनियों के साथ होगी ॥ २३ ॥

गज सा गजनासोरुर्यदि दृष्टा त्वया भवेत् ।
तां मन्ये विदितां तुभ्यमाख्याहि वरवारण ॥ २४ ॥

हे गजेन्द्र! तुम्हारी सूंड के समान आकार की जांघों वाली सीता को क्या तुमने कहीं देखा है? मैं तो समझता हूँ तुम उसका पता अवश्य जानते हो—सो तुम उसका पता मुझे बतलाओ ॥ २४ ॥

शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना ।
मैथिली मम विस्रब्धं कथयस्व न ते भयम् ॥ २५ ॥

हे शार्दूल! यदि चन्द्राननी मेरी प्यारी मैथिली तुम्हारी जान में कहीं हो, तो मुझ पर विश्वास कर और निर्भय हो मुझे बतला दो ॥ २५ ॥

किं धावसि प्रिये *दूरं दृष्टासि कमलेक्षणे ।
वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—'नूनं', "मेऽद्य"

हे कमलेक्षणे ! मैंने तुम्हें देख लिया । अब तुम क्यों दूर भागी जाती हो । वृक्षों की आड़ में क्यों छिपती हो । मुझसे बातचीत क्यों नहीं करती ? ॥ २६ ॥

तिष्ठतिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि ।
नात्यर्थं हास्यशीलाऽसि किमर्थं मामुपेक्षसे ॥ २७ ॥

हे वरारोहे ! खड़ी रह, खड़ी रह । क्या तुझको मेरे ऊपर दया नहीं आती । तेरा तो स्वभाव इतना हास्यप्रिय नहीं था, फिर तू क्यों मेरी ऐसी उपेक्षा कर रही है ॥ २७ ॥

पीतकौशेयकेनासि सूचिता वरवर्णिनि ।
धावन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम् ॥ २८ ॥

हे वरवर्णिनी (सुन्दर वर्ण धारिणी) ! तेरी पीली साड़ी से मैंने तुझको पहिचान लिया और दौड़ती हुई तुझे देख लिया । यदि तू मेरी हितैषिणी हो तो अब खड़ी रह ॥ २८ ॥

नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी ।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति ॥ २९ ॥

अथवा हे चारुहासिनी ! मैंने जिसको देखा है वह तुम नहीं हो । तुमको तो अवश्य ही किसी ने मार डाला । यदि ऐसा न होता तो मुझे इस दारुण दुःख में पड़ा सीता मेरी उपेक्षा न करती ॥२९॥

व्यक्तं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताशनैः ।
विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया ॥ ३० ॥

अवश्य ही मांस खाने वाले राक्षसों ने मेरी अनुपस्थिति में मेरी प्रिया के अंगों के टुकड़े टुकड़े करके उसे खा डाला ॥ ३० ॥

नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं चारुकुण्डलम् ।
पूर्णचन्द्रमिव ग्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम् ॥ ३१ ॥

ओहो ! उसका वह पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य मुख, जो सुन्दर दांतों और ओंठों से युक्त तथा सुन्दर नासिका से शोभित एवं कुण्डलों से भूषित था, राक्षसों द्वारा ग्रस्त होने पर निश्चय ही प्रभाहीन अर्थात् फीका पड़ गया होगा ॥ ३१ ॥

सा हि चम्पकवर्णाभा ग्रीवा ग्रैवेयशोभिता ।
कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा ॥३२॥

हा ! उस विलाप करती हुई चम्पकवर्णी की, हार पचलड़ी आदि आभूषणों से शोभित, कोमल एवं सुन्दरी ग्रीवा, राक्षसों ने काट कर खा डाली होगी ॥ ३२ ॥

नूनं विक्षिप्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ ।
भक्षितौ वेपमानाग्रौ सहस्ताभरणाङ्गदौ ॥ ३३ ॥

नवीन पत्तों की तरह कोमल और हाथों में पहनने योग्य आभूषणों से भूषित, उसकी छटपटाती हुई दोनों भुजाओं को राक्षसों ने खा डाला होगा ॥ ३३ ॥

मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै ।
[1]सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥ ३४ ॥

---

१ सार्थेन—पथिकसमुदायेन । (गो०)

राक्षसों द्वारा खाये जाने के लिये ही वह मुझसे अलहदा हुई, जैसे पथिकों के समूह से बिछुड़ी हुई स्त्री, अनेक भाई बंदों के रहने पर भी—नष्ट हो जाती है ॥ ३४ ॥

हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसि त्वं प्रियां क्वचित् ।
हा प्रिये क्व गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
इत्येवं विलपन्रामः परिधावन्वनाद्वनम् ।
क्वचिदुद्भ्रमते वेगात्क्वचिद्विभ्रमते[1] बलात् ॥ ३६ ॥

हा महाबाहो! हा लक्ष्मण! क्या तुम्हें मेरी प्यारी कहीं देख पड़ती है? हा भद्रे! हा सीते! तुम कहाँ चली गयीं? इस प्रकार श्रीरामचन्द्र बार बार विलाप करते हुए वन में इधर उधर दौड़ते फिरते थे। कभी दौड़ते दौड़ते वे गिर पड़ते और कभी हवा के बवंडर की तरह चक्कर काटने लगते थे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

क्वचिन्मत्त इवाभाति कान्तान्वेषणतत्परः ।
स वनानि नदीः शैलान्गिरिप्रस्रवणानि च ।
काननानि च वेगेन भ्रमत्यपरिसंस्थितः ॥ ३७ ॥

कभी श्रीरामचन्द्र जी उन्मत की तरह देख पड़ते थे। कभी कभी वे सीता जी को ढूढ़ते हुए वेग सहित नदी, पहाड़, झरने, और वनों में घूम फिर रहे थे ॥ ३७ ॥

तथा स गत्वा विपुलं महद्वनं
परीत्य सर्वं त्वथ मैथिलीं प्रति ।

---

[1] विभ्रमते—वात्येव भ्रमणं प्राप्नोति । (शि०)

[1]अनिष्ठिताशः स चकार मार्गणे
पुनः प्रियायाः परमं परिश्रमम् ॥ ३८ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

सीता के मिलने की पूर्ण आशा रख, अथवा सीता के मिलने की आशा को परित्याग न कर, श्रीरामचन्द्र उस विशाल वन में बराबर भ्रमण करते हुए बार बार सीता को खोजने का श्रम उठाने लगे। अथवा आशा परित्याग न करके श्रीरामचन्द्र जी बार बार बड़े परिश्रम के साथ उस विशाल वन में घूम कर सीता को खोज रहे थे ॥ ३८ ॥

अरण्यकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकषष्टितमः सर्गः

—:*:—

दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं शून्यं रामो दशरथात्मजः ।
रहितां पर्णशालां च विध्वस्तान्यासनानि च ॥ १ ॥

इस प्रकार सारा वन मझा श्रीरामचन्द्र जी फिर अपने आश्रम में आये। तब भी उन्होंने देखा कि, आश्रम सूना पड़ा है और आसन चटाई आदि भी इधर उधर पड़ी हैं ॥ १ ॥

अदृष्ट्वा तत्र वैदेहीं सन्निरीक्ष्य च सर्वशः ।
उवाच रामः प्राक्रुश्य प्रगृह्य रुचिरौ भुजौ ॥ २ ॥

---

१ अनिष्ठिताशः—अनिष्पन्नाशः सन् । (गो०)

सर्वत्र खोजने पर भी सीता को न देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण की दोनों सुन्दर भुजाओं को पकड़ उच्चस्वर से बोले ॥ २ ॥

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता ।
केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता कहाँ है ? वह यहाँ से कहाँ गयी ? अथवा यहाँ से उसे कोई पकड़ कर ले गया ? अथवा किसी ने उसे खा डाला ? ॥ ३ ॥

वृक्षेणाच्छाद्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि ।
अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम् ॥ ४ ॥

हे सीते ! वृक्ष की ओट में छिप यदि तुम मुझसे हँसी करती हो, तो अब और अधिक हँसी कर मुझे दुःखी मत करो ॥ ४ ॥

यैः सह क्रीडसे सीते विश्वस्तैर्मृगपोतकैः ।
एते हीनास्त्वया सौम्ये ध्यायन्त्यास्राविलेक्षणाः ॥ ५ ॥

हे सीते ! तुम जिन पालतू मृगछौनों के साथ खेला करती थीं, वे सब के सब तुम्हारे वियोग में आँसू बहाते, तुम्हें स्मरण कर रहे हैं ॥५॥

सीतया रहितोऽहं वै न हि जीवामि लक्ष्मण ।
*वृतं शोकेन महता सीताहरणजेन माम् ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता के बिना मैं जीता नहीं रह सकता । सीता के हर जाने से उत्पन्न हुए महाशोक ने मुझे घेर लिया है ॥ ६ ॥

परलोके महाराजो नूनं द्रक्ष्यति मे पिता ।
कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—"मृतं"

अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः ।
कामवृत्तमनार्यं मां मृषावादिनमेव च ॥ ८ ॥
धिक्त्वामिति परे लोके व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता ।
विवशं शोकसन्तप्तं दीनं भग्नमनोरथम् ॥ ९ ॥
मामिहोत्सृज्य करुणं कीर्त्तिर्नरमिवानृजुम्[1] ।
क्व गच्छसि वरारोहे मां नोत्सृज सुमध्यमे ॥ १० ॥

परलोक में मेरी भेंट पितृदेव महाराज दशरथ से अवश्य होगी और वे कहेंगे कि, प्रतिज्ञात वनवास की अवधि को पूरा किये बिना तुम मेरे पास क्यों चले आये? मुझको स्वेच्छाचारी, अनार्य, और मिथ्यावादी, कह कर परलोक में मेरे पिता मुझे अवश्य ही धिक्कारेंगे। हे सीते! विवश, शोकाकुल, दीन, भग्नमनोरथ और दयापात्र मुझको उसी प्रकार छोड़, तुम कहाँ जाती हो. जिस प्रकार कपटाचारी को कीर्ति त्याग कर चली जाती है। हे वरारोहे! हे सुमध्यमे! तुम कहाँ जाती हो? तुम मुझको मत त्यागो ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

त्वया विरहितश्चाहं मोक्ष्ये जीवितमात्मनः ।
इतीव विलपन्रामः सीतादर्शनलालसः ॥ ११ ॥

हे प्रिये! तेरे वियोग में मैं अपने प्राण गँवा दूँगा। श्रीरामचन्द्र जी सीता को देखने की आकांक्षा कर, इस प्रकार विलाप करने लगे ॥ ११ ॥

न ददर्श सुदुःखार्तो राघवो जनकात्मजाम् ।
अनासादयमानं तं सीतां दशरथात्मजम् ॥ १२ ॥

---

१ अनृजु—कपटाचारं। (गो०)

इस प्रकार अत्यन्त दुःख से आर्त्त होने पर भी सीता जी को न पा कर दशरथनन्दन ॥ १२ ॥

पङ्कमासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुञ्जरम् ।
लक्ष्मणो राममत्यर्थमुवाच हितकाम्यया ॥ १३ ॥

कीचड़ में फँसे हुए हाथी की तरह, शोक में मग्न हो गये। तब लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी की हितकामना के लिये उनसे बोले ॥ १३॥

मा विषादं महाबाहो कुरु यत्नं मया सह ।
इदं च हि वनं शूर बहुकंदरशोभितम् ॥ १४ ॥

हे बड़ी भुजाओं वाले! आप दुःखी न हूजिये। आइये मेरे साथ सीता को ढूढ़ने का प्रयत्न कीजिये। हे वीर! इस वन में बहुत सी कंदराएं (गुफाएं) हैं ॥ १४ ॥

प्रियकाननसञ्चारा वनोन्मत्ता च मैथिली ।
सा वनं वा प्रविष्टा स्यान्नलिनीं वा सुपुष्पिताम् ॥१५॥

जानकी जी को वन में घूमना प्रिय है। इसीसे वे वन को देख उन्मत्त सी हो जाती हैं। अतः या तो वे कहीं इस वन में घूम रही होंगी अथवा किसी पुष्पित कमलों से शोभित सरोवर पर होंगी ॥१५॥

सरितं वाऽपि सम्प्राप्ताः मीनवञ्जुल[1]सेविताम् ।
स्नातुकामा निलीना स्याद्धासकामा वने क्वचित् ॥१६॥

हो सकता है वे मछलियों और वञ्जुल पत्तियों से सेवित नदी में स्नान करने गयी हों अथवा हम दोनों के साथ हँसी करने को कहीं छिपी बैठी हों ॥ १६ ॥

---

१ वञ्जुलो वेतसः। (गो०)

विन्रासयितुकामा वा लीना स्यात्कानने क्वचित् ।
जिज्ञासमाना[1] वैदेहीं त्वां मां च पुरुषर्षभ ॥ १७ ॥

अथवा हमको तंग करने के लिये इस वन में कहीं छिप गयी हों. अथवा आपकी और मेरी, खोजने की शक्ति की परीक्षा ले रही हों ॥ १७ ॥

तस्या ह्यन्वेषणे श्रीमन्क्षिप्रमेव यतावहै ।
वनं सर्वं विचिनुवो यत्र सा जनकात्मजा ॥ १८ ॥

अतएव हे श्रीमन् ! हम दोनों को उनके खोजने में शीघ्र यत्नवान् होना चाहिये । जहाँ हो वहाँ जानकी को पाने के लिये हमको यह सारा वन मझाना चाहिये ॥ १८ ॥

मन्यसे यदि काकुत्स्थ मा स्म शोके मनः कृथाः ।
एवमुक्तस्तु सौहार्दाल्लक्ष्मणेन समाहितः ॥ १९ ॥

हे काकुत्स्थ ! यदि आप मेरा कहना मानें तो शोकाकुल मत हूजिये । इस प्रकार जब लक्ष्मण जी ने सौहार्द्र से समझाया तब श्रीरामचन्द्र जी का चित्त ठिकाने हुआ और ॥ १९ ॥

सह सौमित्रिणा रामो विचेतुमुपचक्रमे ।
तौ वनानि गिरींश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण जी के साथ सीता को खोजने लगे । अब वे दोनों वनों पहाड़ों, नदियों और सरोवरों को ढूंढने लगे ॥ २० ॥

---

१ जिज्ञासमाना —आवयोरन्वेषणादिसामर्थ्यं जिज्ञासमानेत्यर्थः । गो०)

निखिलेन विचिन्वानौ सीतां दशरथात्मजौ ।
तस्य शैलस्य सानूनि[1] गुहाश्च शिखराणि च ॥ २१ ॥

दशरथनन्दन उन दोनों राजकुमारों ने रत्ती रत्ती कर सारे वनों, पहाड़ों, नदियों और सरोवरों को ढूढ़ा । उन्होंने वहाँ के पर्वत के शिला प्रदेशों, कंदराओं और शिखरों को भी देखा ॥ २१ ॥

निखिलेन विचिन्वानौ नैव तामभिजग्मतुः ।
विचित्य सर्वतः शैलं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २२ ॥

यद्यपि उन्होंने रत्ती रत्ती वन मझाया, किन्तु सीता का पता न लगा । सारा पहाड़ खोज कर श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण से कहा ॥२२॥

नेह पश्यामि सौमित्रे वैदेहीं पर्वते शुभाम् ।
ततो दुःखाभिसन्तप्तो लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
विचरन्दण्डकारण्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।
प्राप्स्यसि त्वं महाप्राज्ञ मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ २४ ॥
यथा विष्णुर्महाबाहुर्बलिं बद्ध्वा महीमिमाम् ।
एवमुक्तस्तु सौहार्दाल्लक्ष्मणेन स राघवः ॥ २५ ॥

हे लक्ष्मण ! इस पहाड़ पर तो सीता नहीं दिखलाई पड़ती । तब दुःख से सन्तप्त लक्ष्मण, दण्डकवन में विचरते हुए एवं तेजस्वी श्रीरामचन्द्र से बोले—हे महाप्राज्ञ ! तुम्हें जानकी जी वैसे ही मिलेगी जैसे बलि को बाँध, विष्णु को यह पृथिवी मिली थी । इस प्रकार सौहार्द्र से लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥२३॥२४॥२५॥

---

[1] सानूनि—शिलाप्रदेशान । (शि०)

उवाच दीनया वाचा दुःखाभिहतचेतनः ।
वनं सर्वं सुविचितं पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ॥ २६ ॥
गिरिश्चायं महाप्राज्ञ बहुकंदरनिर्झरः ।
न हि पश्यामि वैदेहीं प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २७ ॥

तब दुःख से विकल हो श्रीरामचन्द्र जी दीन वाणी से लक्ष्मण से कहने लगे। हे महाप्राज्ञ! मैंने समस्त वन और खिले हुए कमलों से युक्त सरोवरें, यह पहाड़, बहुत सी कंदराएं और अनेक झरने भली भाँति खोजें, किन्तु प्राणों से भी बढ़ कर वैदेही न मिली ॥ २६ ॥ २७ ॥

एवं स विलपन्रामः सीताहरणकर्शितः ।
दीनः शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलो[1]ऽभवत् ॥ २८ ॥

सीता-हरण से व्यथित श्रीरामचन्द्र इस प्रकार विलाप करते हुए उदास और शोकाकुल हो दो घड़ी के लिये परवश हो गये ॥ २८ ॥

सन्तप्तो [2]ह्यवसन्नाङ्गो गतबुद्धि[3]र्विचेतनः[4] ।
निषसादातुरो दीनो निःश्वस्यायतमायतम् ॥ २९ ॥

वे सन्तप्त होने के कारण कृशाङ्ग, निस्संज्ञ, निश्चेष्ट, आर्त्त और दीन हो कर गरम और लंबी साँसें लेने लगे ॥ २९ ॥

बहुलं स तु निःश्वस्य रामो राजीवलोचनः ।
हा प्रियेति विचुक्रोश बहुलो बाष्पगद्गदः ॥ ३० ॥

---

१ विह्वलः--परवशः (गो०) २ अवसन्नाङ्गः—कृशाङ्गः । (गो०) ३ गतबुद्धिः—निस्संज्ञः । (गो०) ४ विचेतनः—निश्चेष्टः । (गो०)

राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र बारंबार लंबी साँसें ले और "हा प्रिये" कह तथा गद्गद हो, उच्च स्वर से रोने लगे ॥ ३० ॥

तं ततः सान्त्वयामास लक्ष्मणः प्रियबान्धवः ।
बहुप्रकारं धर्मज्ञः प्रश्रितं प्रश्रिताञ्जलिः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी दशा देख, उनके प्यारे भाई धर्मज्ञ लक्ष्मण जी ने, विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर, उनको अनेक प्रकार से सान्त्वना प्रदान की ॥ ३१ ॥

अनादृत्य तु तद्वाक्यं लक्ष्मणोष्ठपुटाच्च्युतम् ।
अपश्यंस्तां प्रियां सीतां प्राक्रोशत्स पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

इतिः एकषष्टितमः सर्गः ॥

किन्तु श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण की कही बातों का तिरस्कार कर, और प्यारी सीता को न देख, बार बार उच्चस्वर से रोने लगे ॥ ३२ ॥

अरण्यकाण्ड का इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

द्विषष्टितमः सर्गः

सीतामपश्यन्धर्मात्मा कामोपहतचेतनः ।
विललाप महाबाहू रामः कमललोचनः ॥ १ ॥

महावाहु, धर्मात्मा और कमललोचन श्रीरामचन्द्र, सीता जी को न देख, मारे शोक के चेतनाशून्य हो विलाप करने लगे ॥ १ ॥

पश्यन्निव स तां सीतामपश्यन्मदनार्दितः ।
उवाच राघवो वाक्यं विलापाश्रयदुर्वचम् ॥ २ ॥

सीता को न देख कर भी मानों देखते हुए श्रीरामचन्द्र काम से पीड़ित हो गद्गद् कण्ठ से बोले ॥ २ ॥

त्वमशोकस्य शाखाभिः पुष्पप्रियतया प्रिये ।
आवृणोषि शरीरं ते मम शोकविवर्धनी ॥ ३ ॥
कदलीकाण्डसदृशौ कदल्या संवृतावुभौ ।
ऊरू पश्यामि ते देवि नासि शक्ता निगूहितुम् ॥ ४ ॥

हे पुष्पों की चाहने वाली और मेरे शोक को बढ़ाने वाली प्रिये! तू अपने शरीर को अशोक की शाखाओं से छिपाती है और केले के वृक्ष के समान अपनी दोनों जाँघों को केले के वृक्ष से छिपा तो रही है; किन्तु छिपा नहीं सकती, मैं उनको देख रहा हूँ ॥ ३ ॥ ४ ॥

कर्णिकारवनं भद्रे हसन्ती देवि सेवसे ।
अलं ते परिहासेन मम बाधावहेन वै ॥ ५ ॥

हे भद्रे! हे देवि! तू हसती हुई कर्णिकार के वन में विचर रही है, किन्तु मुझको पीड़ा दे कर; अतः अब मेरे साथ ठट्ठा मत कर ॥ ५ ॥

परिहासेन किं सीते परिश्रान्तस्य मे प्रिये ।
अयं स परिहासोऽपि साधु देवि न रोचते ॥ ६ ॥

हे प्रिये सीते! मुझ परिश्रान्त के साथ ठट्ठा करने से क्या लाभ? यह तेरा परिहास करना ठीक न होने के कारण मुझे पसंद नहीं है ॥ ६ ॥

विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते ।
अवगच्छामि ते शीलं परिहासप्रियं प्रिये ॥ ७ ॥

हे प्रिये! मुझे यह मालूम है कि, तू परिहास-प्रिय है, परन्तु विशेष कर इस आश्रम-स्थान में परिहास करना अच्छा नहीं ॥ ७ ॥

आगच्छ त्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव ।
सुव्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हृताऽपि वा ॥ ८ ॥
न हि सा विलपन्तं मामुपसंप्रैति लक्ष्मण ।
एतानि मृगयूथानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण ॥ ९ ॥

हे विशालाक्षी! यह तेरी पर्णकुटी सूनी पड़ी है, सो यहाँ आ! हे लक्ष्मण! स्पष्ट जान पड़ता है कि, राक्षसों ने सीता को खा डाला या वे उसे हर ले गये। क्योंकि मुझे विलाप करते देख कर भी वह मेरे पास नहीं आती। हे लक्ष्मण! देखो ये मृगों के झुंड आँखों में आँसू भर ॥ ८ ॥ ९ ॥

शंसन्तीव हि वैदेहीं भक्षितां रजनीचरैः ।
हा ममार्ये[1] क्व यातासि हा साध्वि वरवर्णिनि ॥१०॥

मानों कह रहे हैं कि, राक्षसों ने सीता को खा डाला है। हे मेरी पूज्ये! हे पतिव्रते! हे वरवर्णिनि! तू कहाँ गयी? ॥ १० ॥

---

१ आर्ये—पूज्ये। (गो०)

हा सकामा त्वया देवी कैकेयी सा भविष्यति ।
सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः ॥ ११ ॥

हे देवि ! मेरे कारण कैकेयी सफलमनोरथ होगी। क्योंकि वह देखेगी कि, सीता सहित मैं घर से निकला था और जाऊँगा सीता रहित ॥ ११ ॥

कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तः पुरं पुनः ।
निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥ १२ ॥

मुझसे किस प्रकार सीता बिना सूने अन्तःपुर में फिर जाया जायगा ? सब लोग मुझको पराक्रमहीन और निठुर बतलावेंगे ॥१२॥

कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे ।
निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥ १३ ॥

सीता के हर जाने से मेरा कातरपन तो स्पष्ट ही है। मैं जब वनवास से लौट कर जाऊँगा तब मिथिलेश जनक ॥ १३ ॥

कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम् ।
विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥ १४ ॥

मुझसे जानकी की कुशल पूछेंगे। उस समय मैं क्यों कर उनके सामने अपनी आँखें कर सकूँगा। विदेहराज सीता रहित मुझको देख निश्चय ॥ १४ ॥

दुहितृस्नेहसन्तप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।
अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥ १५ ॥

अपनी बेटी जानकी के नाश से सन्तप्त हो मूर्च्छित हो जायँगे। अथवा मैं भरत द्वारा पालित अयोध्या में जाऊँ ही नहीं ॥ १५ ॥

स्वर्गोऽपि सीतया हीनः शून्य एव मतो मम ।
मामिहोत्सृज्य हि वने गच्छायोध्यां पुरीं शुभाम् ॥१६॥

अयोध्या की तो बात ही क्या है, मेरे मतानुसार तो सीता के विना स्वर्ग भी सूना है। अतएव हे लक्ष्मण ! तुम मुझको इस वन में छोड़ अयोध्या को चले जाओ ॥ १६ ॥

न त्वहं तां सीतां जीवेयं हि कथश्चन ।
गाढमाश्लिष्य भरतो वाच्यो मद्वचनात्त्वया ॥ १७ ॥

क्योंकि मैं सीता विना किसी प्रकार भी जीवित नहीं रह सकता। वहाँ जा और भरत को गाढ़ आलिंगन कर मेरी ओर से कहना ॥ १७ ॥

अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति वसुन्धराम् ।
अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो ॥ १८ ॥
कौसल्या च यथान्यायमभिवाद्या ममाज्ञया ।
रक्षणीया प्रयत्नेन भवता सूक्तकारिणा ॥ १९ ॥

कि, श्रीरामचन्द्र जी ने यह आज्ञा दी है कि, तुमही पृथिवी का पालन करो। मेरी माता, कैकेयी और अपनी माता सुमित्रा और कौशल्या को यथाक्रम मेरी ओर से प्रणाम करना ! हे लक्ष्मण ! मेरे आज्ञानुवर्ती आपको उचित है कि, माताओं की यत्नपूर्वक रक्षा करते रहना ॥ १८ ॥ १९ ॥

सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रकर्शन ।
विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत् ॥ २० ॥

हे परन्तप ! तुम सीता का तथा मेरे विनाश का वृत्तान्त भी मेरी जननी से विस्तार पूर्वक कह देना ॥ २० ॥

इति विलपति राघवे सुदीने
वनमुपगम्य तया विना सुकेश्या ।
भयविकलमुखस्तु लक्ष्मणोऽपि
व्यथितमना भृशमातुरो बभूव ॥ २१ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्ग ॥

श्रीरामचन्द्र जी सुकेशी सीता के विरह में अत्यन्त विकल हो, इस प्रकार से विलाप करने लगे। भय और विकलता से लक्ष्मण जी भी व्यथित हो अत्यन्त आतुर हो गये ॥ २१ ॥

अरण्यकाण्ड का बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—※—

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः
कामेन शोकेन च पीड्यमानः ।
विषादयन्भ्रातरमार्तरूपो
भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम् ॥ १ ॥

राजपुत्र श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी सीता के विना काम और शोक से पीड़ित होने के कारण भाई लक्ष्मण को भी विषादयुक्त कर स्वयं भी फिर अत्यन्त विषादयुक्त हुए ॥ १ ॥

स लक्ष्मणं शोकवशाभिपन्नं
शोके निमग्नो विपुले तु रामः ।
उवाच वाक्यं व्यसनानुरूपम्
उष्णं विनिःश्वस्य रुदन्सशोकम् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी विपुल शोक में निमग्न हो, गरम साँस ले, शोक व्याकुल लक्ष्मण से, शोक के कारण रो कर बोले ॥ २ ॥

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी
मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम् ।
शोकेन शोको हि परम्पराया
मामेति भिन्दन्हृदयं मनश्च ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं समझता हूँ कि, मेरे समान दुष्कर्म करने वाला दूसरा पुरुष इस पृथिवी पर नहीं है। देखो न, एक के बाद एक, इस प्रकार लगातार शोक मेरे हृदय और मन को विदीर्ण किये डालता है ॥ ३ ॥

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।
तत्रायमद्यापतितो विपाको
दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ ४ ॥

पहले जन्म में निश्चय ही मैंने बढ़ बढ़ कर अनेक बार बहुत से पाप किये हैं, उन्हींका कर्मविपाक आज मुझे भोगना पड़ता है और इसीसे मेरे ऊपर दुःख के ऊपर दुःख पड़ रहे हैं ॥ ४ ॥

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः
पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगम्[1]
आपूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो न, राज्य का नाश, स्वजनों का वियोग, पिता का मरण, जननी से विछोह, इन बातों का जब मैं स्मरण करता हूँ तब मेरा हृदय शोकों से परिपूर्ण हो जाता है ॥ ५ ॥

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं
शान्तं शरीरे वनमेत्य शून्यम् ।
सीतावियोगात्पुनरप्युदीर्णं
काष्ठैरिवाग्निः सहसा प्रदीप्तः ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! इस शून्य वन में आने पर, मैं इन सब दुःखों को भूल सा गया था। किन्तु सीता के वियोग से, काठ के संयोग से सहसा प्रज्वलित आग की तरह, वे भूले हुए दुःख फिर हरे हो गये हैं ॥ ६ ॥

सा नूनमार्या मम राक्षसेन
बलाद्धृता खं समुपेत्य भीरुः ।

१ शोकवेगं—शोकराशिं । (गो०) २ प्रविचिन्तितानि—स्मृतानि । (गो०)

अपस्वरं सस्वरविप्रलापा

भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्ष्णम् ॥ ७ ॥

निस्सन्देह कोई राक्षस उसी भीरू स्वभाव वाली पूज्या सीता को, आकाशमार्ग से ले गया है और उस समय वह भयभीत हो, विकृत स्वर से बारंबार रोई और चिल्लाई होगी ॥ ७ ॥

तौ लोहितस्य[1] प्रियदर्शनस्य

सदोचितावुत्तमचन्दनस्य ।

वृत्तौ स्तनौ शोणितपङ्कदिग्धौ

नूनं प्रियाया मम नाभिभातः ॥ ८ ॥

गोल और लाल चन्दन जैसे लाल रंग वाले और देखने में प्रिय लगने वाले मेरी प्रिया जानकी जी के स्तन, जो सदा उत्तम चन्दन से चर्चित होने योग्य हैं, वे अवश्य ही गाढ़े गाढ़े लोहू से सन गये होंगे ॥ ८ ॥

तच्छलक्ष्णसुव्यक्तमृदुप्रलापं

तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम् ।

रक्षोवशं नूनमुपागतायाः

न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥ ९ ॥

मधुर, स्पष्ट और कोमल वचनों का बोलने वाला और सुन्दर घुंघराले बालों के बीच शोभित मेरी प्रिया का मुख, राक्षस के वश में होने से वैसे ही शोभायमान नहीं होता होगा जैसे राहु से ग्रस्त चन्द्रमा शोभायमान नहीं होता ॥ ९ ॥

---

१ लोहितस्य—लोहिताख्यस्य उत्तम चन्दनस्य । (गो०)

तां हारपाशस्य सदोचितायां
ग्रीवां प्रियाया मम सुव्रतायाः ।
रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति
विभिद्य शून्ये रुधिराशनानि ॥ १० ॥

मेरी पतिव्रता प्रिया की वह सुन्दर गरदन जो सदा हारों से भूषित रहती थी, निश्चय ही एकान्त पा, रुधिर पीने वाले राक्षसों ने उसे चीर कर उसका रुधिर पिया होगा ॥ १० ॥

मया विहीना विजने वने या
रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा ।
नूनं विनादं कुररीव दीना
सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥ ११ ॥

मेरी अनुपस्थिति में जब निर्जन वन में राक्षसों ने चारों ओर से घेर कर सीता को खींचा होगा, तब उस बड़े नेत्र वाली ने अवश्य ही कुररी की तरह बड़ा आर्तनाद किया होगा ॥ ११ ॥

अस्मिन्मया सार्धमुदारशीला
शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! उदार स्वभाव वाली सीता, मेरे साथ इस शिला पर बैठ मनोहर हास्यपूर्वक तुमसे कितनी ही बातें कहा करती थी ॥ १२ ॥

गोदावरीयं सरितां वरिष्ठा
प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि
नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥१३॥

हे लक्ष्मण! यह नदियों में श्रेष्ठ गोदावरी नदी मेरी प्रिया को सर्वदा अत्यन्त प्यारी थी सो मैं सोचता हूँ कि, कदाचित् नदी के तट पर गयी हो, किन्तु वह अकेली तो वहाँ कभी नहीं जाती ॥१३॥

पद्मानना पद्मविशालनेत्रा
पद्मानि वानेतुमभिप्रयाता ।
तदप्ययुक्तं न हि सा कदाचिन्
मया विना गच्छति पङ्कजानि ॥ १४ ॥

फिर मैं यह भी सोचता हूँ कि, वह कमलमुखी और कमल के समान विशाल नेत्र वाली कहीं कमल के फूल लाने को न गयी हो; किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मेरे बिना वह कमल लेने भी नहीं जाती ॥ १४ ॥

कामं त्विदं पुष्पितवृक्षषण्डं
नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम् ।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्तम्
एकाकिनी साऽतिबिभेति भीरुः॥ १५ ॥

अथवा इस फूले हुए वृक्षों के समूह से शोभित तथा भाँति भाँति के पक्षियों से युक्त इस वन को देखने वह अपनी इच्छा से

गयी हो! किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह डरपोंक स्वभाव को होने के कारण अकेली वन में जाते बहुत डरती थी॥ १५॥

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ
लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन्।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा
शंसस्व मे शोकवशस्य सत्यम्॥ १६॥

हे सूर्यदेव! तुम लोगों के किये अनकिये तथा पाप पुण्य मय कर्मों के साक्षी हो। मुझे यह तो सत्य सत्य बतलाओ कि, मेरी प्रिया कहाँ गयी। अथवा उसको कोई हर कर ले गया? क्योंकि मैं इस समय शोक से विकल हो रहा हूँ॥ १६॥

लोकेषु सर्वेषु च नास्ति किञ्चि-
द्यत्तेन नित्यं विदितं भवेत्तत्।
शंसस्व वायो कुलशालिनीं तां
हृता मृता वा पथि वर्तते वा॥ १७॥

हे पवनदेव! समस्त लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो नित्य आपकी जानकारी में न आती हो। अतएव आप ही उस कुल-मर्यादा को रखने वाली सीता के विषय में यह बतलाओ कि, वह मर गई या किसी ने उसे हर लिया या वह इसी वन के किसी मार्ग में है॥ १७॥

इतीव तं शोकविधेयदेहं
रामं विसंज्ञं विलपन्तमेवम्।

* पाठान्तरे "नित्यम्"।

उवाच सौमित्रिरदीनसत्त्वो
न्याये स्थितः कालयुतं च वाक्यम् ॥१८॥

जब लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी को शोक से विह्वल हो इस प्रकार अव्यवस्थित चित्त वाले मनुष्य की तरह विलाप करते देखा, तब लक्ष्मण ने दीनता त्याग न्यायानुमोदित एवं कालोचित वचन श्रीरामचन्द्र जी से कहे ॥ १८ ॥

शोकं विमुञ्चार्य धृतिं भजस्व
सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः ।
उत्साहवन्तो हि नरा न लोके
सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ॥ १९ ॥

हे आर्य ! शोक को त्यागिये और धैर्य को धारण कीजिये। तदनन्तर उत्साह पूर्वक जानकी जी को ढूंढ़िये। क्योंकि जो लोग उत्साही होते हैं वे दुष्कर कार्यों के करने में भी कभी दुःख नहीं पाते ॥ १९ ॥

इतीव सौमित्रिमुदग्रपौरुषं[1]
ब्रुवन्तमार्तो रघुवंशवर्धनः ।
न चिन्तयामास धृतिं विमुक्तवान्
पुनश्च दुःखं महदभ्युपागमत् ॥ २० ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

---

१ उदग्रपौरुषं — श्रेष्ठपराक्रमं। (गो०)

श्रेष्ठ पराक्रमी लक्ष्मण के यह कहने पर भी श्रीरामचन्द्र ने आर्त होने के कारण लक्ष्मण जी के कथन को सुना अनसुना कर दिया। बल्कि वे धैर्य छोड़ पुनः अत्यन्त दुःखी हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ

—※—

चतुःषष्टितमः सर्ग

—※—

स दीनो दीनया वाचा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ।
शीघ्रं लक्ष्मण जानीहि गत्वा गोदावरीं नदीम् ॥ १ ॥

दीनता को प्राप्त श्रीरामचन्द्र दीन वचन कह लक्ष्मण से बोले—हे लक्ष्मण! तुम शीघ्र गोदावरी के तट पर जाकर देख आओ कि ॥ १ ॥

अपि गोदावरीं सीता पद्मान्यानयितुं गता ।
इत्युक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः *पुनरेवहि ॥ २ ॥
नदीं गोदावरीं रम्यां जगाम लघुविक्रमः[1] ।
तां लक्ष्मणस्तीर्थवतीं विचित्वा राममब्रवीत् ॥ ३ ॥
नैनां पश्यामि तीर्थेषु क्रोशतो न शृणोति मे ।
कं नु सा देशमापन्ना वैदेही क्लेशनाशिनी ॥ ४ ॥

जानकी कहीं कमल के फूल लेने तो वहाँ नहीं गयी। श्रीरामचन्द्र जी के पुनः वही बात कहने पर शीघ्रगामी लक्ष्मण तुरन्त

---

१ लघुविक्रमः—अतिशीघ्रपादप्रक्षेपवान् लक्ष्मणः। (शि०)

* पाठान्तरे—"परवीरहा।"

गोदावरी के तट पर पहुँचे और उस सुन्दर घाटों वाली गोदावरी के चारों ओर देख भाल कर श्रीरामचन्द्र के पास लौट आये और बोले—मैंने सभी घाटों पर उन्हें ढूढ़ा, किन्तु कहीं भी वे मुझे न मिलीं। मैंने उन्हें पुकारा भी किन्तु मुझे कुछ उत्तर न मिला। नहीं मालूम क्लेशनाशिनी सीता, कहाँ चली गयीं॥ २॥ ३॥ ४॥

न ह्यहं वेद तं देशं यत्र सा जनकात्मजा।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दीनः सन्तापमोहितः॥ ५॥

मैं नहीं कह सकता कि, जानकी जी कहाँ हैं? लक्ष्मण जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी उदास और सन्तप्त हो॥ ५॥

रामः समभिचक्राम स्वयं गोदावरीं नदीम्।
स तामुपस्थितो रामः क सीतेत्येवमब्रवीत्॥ ६॥

तथा स्वयं गोदावरी नदी के तट पर जा, कहने लगे—हे सीते! तुम कहाँ हो?॥ ६॥

भूतानि राक्षसेन्द्रेण बधार्हेण हृतामपि।
न तां शशंसू रामाय तथा गोदावरी नदी॥ ७॥

सब प्राणियों ने तथा गोदावरी नदी ने श्रीरामचन्द्र जी से यह न कहा कि, बध करने योग्य रावण सीता को हर कर ले गया है॥ ७॥

ततः प्रचोदिता भूतैः[1] शंसास्मत्तां प्रियामिति।
न तु साऽभ्यवदत्सीतां पृष्टा रामेण शोचता॥ ८॥

तदनन्तर उस वन के प्राणियों ने गोदावरी से अनुरोध किया कि, श्रीरामचन्द्र को बतला दे कि, रावण सीता को हर कर ले गया है।

---

१ भूतानि—वन्यानि सत्त्वानि। (गो०)

चिन्ताग्रस्त श्रीरामचन्द्र जी ने पूंछा ; किन्तु गोदावरी ने न बतलाया ॥ ८ ॥

रावणस्य च तद्रूपं कर्माणि च दुरात्मनः ।
ध्यात्वा भयात्तु वैदेहीं सा नदी न शशंस ताम् ॥ ९ ॥

क्योंकि रावण की शक्ल और उस दुष्ट के कार्यों का स्मरण कर मारे डर के गोदावरी को साहस न हुआ कि, वह सीता का हाल श्रीराम से कहे ॥ ९ ॥

निराशस्तु तया नद्या सीतायाः दर्शने कृतः ।
उवाच रामः सौमित्रिं सीताऽदर्शनकर्शितः ॥ १० ॥

सीता जी के दर्शन से इस प्रकार नदी से निराश हो श्रीरामचन्द्र जी ने जो सीता के विरह से पीडित थे, लक्ष्मण जी से कहा ॥१०॥

एषा गोदावरी सौम्य किञ्चिन्न प्रतिभाषते ।
किन्नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥ ११ ॥
मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम् ।
या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥ १२ ॥
सर्वं व्यपनयेच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता ।
ज्ञातिपक्षविहीनस्य राजपुत्रीमपश्यतः ॥ १३ ॥

हे सौम्य! देखो यह गोदावरी तो कुछ जवाब ही नहीं देती। अब लौट कर महाराज जनक से तथा सीता की माता से मैं कैसे अप्रिय वचन कहूँगा। जो जानकी वन में उत्पन्न कन्द मूलादि से सन्तुष्ट हो, मुझ राज्य विहीन के सब शोक दूर किया करती थी, वह सीता कहाँ गयी? एक तो पहले ही मैं कुटुम्बियों से रहित था, अब राजपुत्री जानकी भी नहीं रही ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

मन्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम जाग्रतः ।
मन्दाकिनीं जनस्थानमिमं प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १४ ॥
सर्वाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि दृश्यते ।
एते मृगा महावीरा मामीक्षन्ते मुहुर्मुहुः ॥ १५ ॥

सो अब ऐसा मुझे जान पड़ता है कि, ये रातें भी जागने के कारण मेरे लिये बहुत बड़ी हो जाँयगी। मन्दाकिनी नदी, जनस्थान और इस समस्त प्रस्रवण पहाड़ को चल फिर कर ढूंढूंगा। कदाचित् सीता से भेंट हो जाय। हे वीर! देखो ये बड़े बड़े मृग मेरी ओर देखते हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

वक्तुकामा इव हि मे इङ्गितान्युपलक्षये ।
तांस्तु दृष्ट्वा नरव्याघ्रो राघवः प्रत्युवाच ह ॥ १६ ॥

इनके सङ्केतों से ऐसा जान पड़ता है मानों ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। उनकी (मृगों की) ओर देख पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र ने उनसे कहा ॥ १६ ॥

क्व सीतेति निरीक्षन्वै बाष्पसंरुद्धया दृशा ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहसोत्थिताः ॥ १७ ॥
दक्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम् ।
मैथिली ह्रियमाणा सा दिशं यामन्वपद्यत ॥ १८ ॥

हे मृगों! सीता कहाँ है? यह कहते ही श्रीरामचन्द्र जी की आँखों में आँसू भर आये और कण्ठ गद्गद हो गया। श्रीरामचन्द्र के इस प्रकार पूंछने पर वे मृग शीघ्र उठ कर दक्षिणाभिमुख हो आकाश मार्ग को दिखलाते हुए चले और जिस रास्ते से रावण सीता को हर कर ले गया था, उसी मार्ग से वे आगे बढ़े ॥१७॥१८॥

तेन मार्गेण धावन्तो निरीक्षन्ते नराधिपम् ।
येन मार्गं च भूमिं च निरीक्षन्ते स्म ते मृगाः ॥ १९ ॥
पुनश्च मार्गमिच्छन्ति लक्ष्मणेनोपलक्षिताः ।
तेषां वचनसर्वस्वं लक्षयामास चेङ्गितम् ॥ २० ॥

उसी मार्ग पर मृग दौड़ते चले जाते थे और मुड़ मुड़ कर पीछे श्रीरामचन्द्र जी को देखते जाते थे। जिस ओर के रास्ते को और ज़मीन को वे मृग देखते तथा जाते जाते शब्द करते जाते थे ; उस ओर लक्ष्मण ने देखा और उन मृगों की बोली के अभिप्राय को समझ तथा उनकी चेष्टा पर ध्यान दे ॥ १९ ॥ २० ॥

उवाच लक्ष्मणो ज्येष्ठं धीमान्भ्रातरमार्तवत् ।
क्व सीतेति त्वया पृष्टा यथेमे सहसोत्थिताः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण ने आर्त्त की तरह अपने ज्येष्ठ बुद्धिमान भाई से कहा—आपने इनसे पूछा कि, सीता कहाँ है? सो ये मृग एक साथ उठ कर, ॥ २१ ॥

दर्शयन्ति क्षितिं चैव दक्षिणां च दिशं मृगाः ।
साधु गच्छावहै देव दिशमेतां हि नैर्ऋतिम् ॥ २२ ॥

हमें आकाश और दक्षिण दिशा दिखला रहे हैं। अतः जैसा कि, ये बतला रहे हैं, वैसे ही हमें नैऋत्य दिशा की ओर चलना चाहिये ॥ २२ ॥

यदि स्यादागमः कश्चिदार्या वा साऽथ लक्ष्यते ।
बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ॥ २३ ॥

सम्भव है उस ओर जाने से सीता का पता चल जाय या वहीं मिल जाय। लक्ष्मण के ये बचन सुन और "बहुत अच्छा" कह, श्रीरामचन्द्र दक्षिण दिशा की ओर चल दिये॥ २३॥

लक्ष्मणानुगतः श्रीमान्वीक्षमाणो वसुन्धराम्।
एवं सम्भाषमाणौ तावन्योन्यं भ्रातरावुभौ॥ २४॥

लक्ष्मण जी श्रीराम के पीछे हो लिये। श्रीरामचन्द्र ज़मीन की ओर दृष्टि लगाये हुए चले। इस प्रकार वे दोनों भाई आपस में वार्त्तालाप करते चले जाते थे॥ २४॥

वसुन्धरायां पतितं पुष्पमार्गमपश्यताम्।
तां पुष्पवृष्टिं पतितां दृष्ट्वा रामो महीतले॥ २५॥

उन्होंने कुछ दूर आगे जा कर देखा कि, पृथवी में आकाश से गिरे हुए फूल मार्ग पर पड़े हैं। उस पुष्पवृष्टि के पुष्पों को धरातल पर पड़े हुए देख,॥ २५॥

उवाच लक्ष्मणं वीरो दुःखितो दुःखितं वचः।
अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण॥ २६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दुःखी हो दुःखित लक्ष्मण से कहा, हे लक्ष्मण! मैं जानता हूँ ये वे ही फूल हैं॥ २६॥

पिनद्धानीह वैदेह्या मया दत्तानि कानने।
मन्ये सूर्यश्च वायुश्च मेदिनी च यशस्विनी॥ २७॥
अभिरक्षन्ति पुष्पाणि प्रकुर्वन्तो मम प्रियम्।
एवमुक्त्वा महाबाहुं लक्ष्मणं पुरुषर्षभः॥ २८॥

जो मैंने ला कर वन में सीता को दिये थे और जिन्हें उसने अपने अंगों पर धारण किया था। ऐसा जान पड़ता है कि, मेरी प्रसन्नता के लिये सूर्य ने इन्हें कुम्हलाने नहीं दिया, पवन ने इनको उड़ा कर तितर बितर नहीं किया और यशस्विनी पृथिवी ने इन्हें जहाँ के तहाँ बनाये रखा है। पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम ने इस प्रकार महाबाहु लक्ष्मण से कहा ॥ २७ ॥ २८ ॥

उवाच रामो धर्मात्मा गिरिं प्रस्रवणाकुलम् ।
कच्चित्क्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने प्रस्रवण पर्वत से कहा, हे पर्वतनाथ! क्या तुमने उस सर्वाङ्गसुन्दरी सीता को देखा है? ॥ २९ ॥

रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ।
क्रुद्धोऽब्रवीद्गिरिं तत्र सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३० ॥

मेरी प्रिया मेरे बिना क्या इस वन में तुमने कहीं देखी है। जब उस पर्वत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब श्रीरामचन्द्र कड़क कर क्रुद्ध हो वैसे ही उस पर्वत से बोले, जैसे सिंह गुर्रा कर मृगों से बोलता है ॥ ३० ॥

तां हेमवर्णां हेमाभां सीतां दर्शय पर्वत ।
यावत्सानूनि सर्वाणि न ते विध्वंसयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

हे पर्वत! तुम मुझे उस सुवर्णवर्णा सीता को दिखला दो। नहीं तो मैं तुम्हारे इन शृङ्गों को नष्ट कर डालूँगा ॥ ३१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण पर्वतो मैथिलीं प्रति ।
शंसन्निव ततः सीतां नादर्शयत राघवे ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र द्वारा सीता के विषय में इस प्रकार पूछे जाने पर वह पर्वत बतलाने की इच्छा रखता हुआ भी, (रावण के भय से) बतलाने को तैयार न हुआ ॥ ३२ ॥

ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्चयम् ।
मम बाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि ॥ ३३ ॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत से कहा कि, तू मेरे बाणों की आग से जल कर भस्म हो जायगा (अर्थात् मैं तुझे अपने बाणों से भस्म कर डालूँगा) ॥ ३३ ॥

असेव्यः सन्ततं चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः ।
इमां वा सरितां चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ।
यदि नाख्याति मे सीतामार्यां चन्द्रनिभाननाम् ॥ ३४ ॥

फिर तृण वृक्ष, पल्लवादि के भस्म होने से कोई तेरा आश्रय ग्रहण न करेगा । हे लक्ष्मण ! यदि यह पर्वत और नदी गोदावरी मेरी पतिव्रता एवं चन्द्रवदनी सीता का पता नहीं बतलावेगी तो आज मैं इस गोदावरी नदी को भी सुखा डालूँगा और पर्वत को नष्ट कर डालूँगा ॥ ३४ ॥

एवं स रुषितो रामो दिधक्षन्निव चक्षुषा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार से श्रीरामचन्द्र जी कह, अत्यन्त कुपित हुए और क्रुद्ध हो, वे मानों नेत्रों से उस पर्वत को भस्म करना चाहते थे ॥ ३५ ॥

ददर्श भूमौ निष्क्रान्तं राक्षसस्य पदं महत् ।
त्रस्ताया रामकाङ्क्षिण्याः प्रधावन्त्या इतस्ततः ॥ ३६ ॥

इतने में वहाँ भूमि पर राक्षस का विशाल पद-चिन्ह देख पड़ा । साथ ही उन जानकी जी के पदों के चिन्ह भी दिखलाई पड़े, जो

श्रीरामचन्द्र के दर्शनों की इच्छा किये हुए, राक्षस से त्रस्त हो, इधर उधर दौड़ी थीं। ॥ ३६ ॥

राक्षसेनानुवृत्ताया मैथिल्याश्च पदान्यथ ।
स समीक्ष्य परिक्रान्तं सीताया राक्षसस्य च ॥ ३७ ॥

राक्षस का पीछा करने से जानकी के भी पैरों के चिन्ह राक्षस के पैरों के चिन्हों के भीतर बने देख पड़े। श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी वा राक्षस के पदचिन्हों को एक में मिला देखा ॥ ३७ ॥

भग्नं धनुश्च तूणी च विकीर्णं बहुधा रथम् ।
सम्भ्रान्तहृदयो रामः शशंस भ्रातरं प्रियम् ॥ ३८ ॥

फिर धनुष व तरकस को भी टूटा हुआ वहाँ पड़ा देख, तथा रथ को भी चूर चूर हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी ने उद्विग्न हो, अपने प्यारे भाई लक्ष्मण से कहा ॥ ३८ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः शीर्णाः कनकबिन्दवः ।
भूषणानां हि सौमित्रे माल्यानि विविधानि च ॥ ३९ ॥

हे लक्ष्मण! देखो जानकी जी के गहनों के सोने के रौने (दाने) तथा विचित्र प्रकार की मालाएं यहाँ बिखरी हुई पड़ी हैं ॥ ३९ ॥

तप्तबिन्दुनिकाशैश्च चित्रैः क्षतजबिन्दुभिः ।
आवृतं पश्य सौमित्रे सर्वतो धरणीतलम् ॥ ४० ॥

और देखो ये लोहू की सुवर्णबिन्दु सम विचित्र बूंदे, पृथिवी के चारों ओर टपकायी हुई सी देख पड़ती हैं ॥ ४० ॥

मन्ये लक्ष्मण वैदेही राक्षसैः कामरूपिभिः ।
भित्त्वा भित्त्वा विभक्ता वा भक्षिता वा भविष्यति ॥४१॥

हे लक्ष्मण! इससे जान पड़ता है कि, कामरूपी राक्षसों ने सीता के शरीर को टुकड़े टुकड़े कर और आपस में हिस्सा बांट कर खा डाला है ॥ ४१ ॥

तस्या निमित्तं वैदेह्या द्वयोर्विवदमानयोः ।
बभूव युद्धं सौमित्रे घोरं राक्षसयोरिह ॥ ४२ ॥

ऐसा मालूम देता है कि, सीता के लिये दो राक्षसों का यहाँ परस्पर झगड़ा हुआ है और आपस में घोर लड़ाई हुई है ॥ ४२ ॥

मुक्तामणिचितं चेदं तपनीयविभूषितम् ।
धरण्यां पतितं सौम्य कस्य भग्नं महद्धनुः ॥ ४३ ॥

हे सौम्य! मोती और मोतियों से जड़ा हुआ यह विशाल धनुष टूटा हुआ ज़मीन पर किसका पड़ा हुआ है? ॥ ४३ ॥

[राक्षसानामिदं वत्स सुराणामथवाऽपि वा ।]
तरुणादित्यसङ्काशं वैदूर्यगुलिकाचितम् ॥ ४४ ॥

हे वत्स! या तो यह धनुष किसी राक्षस का है अथवा किसी देवता का। क्योंकि यह मध्यान्ह कालीन सूर्य की तरह कैसा चमक रहा है और स्थान स्थान पर पन्नों की गोलियाँ कैसी जड़ी हैं ॥ ४४ ॥

विशीर्णं पतितं भूमौ कवचं कस्य काञ्चनम् ।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ ४५ ॥

यह सोने का कवच किसका टूटा फूटा पड़ा है और सौ कीलियों का यह छत्र जो दिव्य मालाओं से भूषित है, किसका है? ॥ ४५ ॥

भग्नदण्डमिदं कस्य भूमौ सम्यङ्निपातितम् ।
काञ्चनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदनाः खराः ॥ ४६ ॥
भीमरूपा महाकायाः कस्य वा निहता रणे ।
दीप्तपावकसङ्काशो द्युतिमान्समरध्वजः ॥ ४७ ॥
अपविद्धश्च भग्नश्च कस्य सांग्रामिको रथः ।
रथाक्षमात्रा विशिखास्तपनीयविभूषणाः ॥ ४८ ॥

और यह टूटा हुआ दण्ड किसका ज़मीन पर पड़ा हुआ है? देखो ये सुवर्णकवच से सजे हुए, पिशाचमुख, भयङ्कर और बड़े डील डौल के खच्चर युद्ध में किसके मारे गये हैं। यह प्रज्वलित अग्नि की तरह चमकता और समरध्वज युक्त संग्राम-रथ चूर हो कर किसका पड़ा है? या सौ अंगुल लंबे और फलहीन एवं सुवर्ण-भूषित ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

कस्येमेऽभिहता बाणाः प्रकीर्णा घोरकर्मणः ।
शरावरौ शरैः पूर्णौ विध्वस्तौ पश्य लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

भयङ्कर बाण किसके छितराये हुए पड़े हैं। हे लक्ष्मण! बाणों से भरे ये दोनों तरकस किसके पड़े हुए हैं? ॥ ४९ ॥

प्रतोदाभीषुहस्तो वै कस्यायं सारथिर्हतः ।
कस्येमौ पुरुषव्याघ्र शयाते निहतौ युधि ॥ ५० ॥
चामरग्राहिणौ सौम्य सोष्णीषमणिकुण्डलौ ।
पदवी पुरुषस्यैषा व्यक्तं कस्यापि रक्षसः ॥ ५१ ॥

देखो, चाबुक और रास हाथ में लिये किसी का सारथी भी मरा हुआ पड़ा है। हे पुरुषसिंह! चँवर लेने वाले ये दोनों जन जो सिर

पर पगड़ी और कानों में जड़ाऊ कुण्डल धारण किये हुए हैं, युद्ध में मरे हुए किसके पड़े हैं, जान पड़ता है कि, अवश्य यह किसी राक्षस के आने जाने का मार्ग है ॥ ५० ॥ ५१ ॥

वैरं शतगुणं पश्य ममेदं जीवितान्तकम् ।
सुघोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः ॥ ५२ ॥

हे सौम्य! देखो अत्यन्त कठोर हृदय, और काम रूपी राक्षसों के साथ अब तो सौगुना अधिक ऐसा बैर हो गया, जिसका परिणाम उनका प्राणनाश होगा ॥ ५२ ॥

हृता मृता वा सीता सा भक्षिता वा तपस्विनी ।
न धर्मस्त्रायते सीतां ह्रियमाणां महावने ॥ ५३ ॥

या तो राक्षसों ने सीता को हर लिया, अथवा उस तपस्विनी ने सङ्कट में पड़, स्वयं प्राण त्याग दिये अथवा किसी वन्य पशु ने उसे खा डाला। देखो हरे जाने के समय इस महावन में धर्म ने भी सीता की रक्षा न की ॥ ५३ ॥

भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण ।
के हि लोकेऽप्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः ॥ ५४ ॥

हे सौम्य! जब जानकी जी मार कर खायी गयी अथवा हरी ही गयी, तब यदि धर्म ने उसकी रक्षा न की, तब इस संसार में और कौन ईश्वरीय शक्ति सम्पन्न पुरुष मेरा हित कर सकता है ॥ ५४ ॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं[1] करुणवेदिनम्[2] ।
अज्ञानादवमन्येरन्सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ५५ ॥

---

१ शूरमपि संहारकरणसमर्थमपि । (गो०) २ करुणवेदिनं—कारुण्यपरंमपुरुषं। (गो०)

इसीसे हे लक्ष्मण ! प्राणिमात्र अज्ञान के वशवर्ती हो, उन परमेश्वर का, जो लोकों के रचने, पालने और संहार करने की शक्ति रखते हैं, नहीं मानते अर्थात् उनका अनादर करते हैं। लोगों का यह स्वभाव ही है ॥ ५५ ॥

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं [1]करुणवेदिनम् ।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥ ५६ ॥

हे सौम्य ! देवता लोग तो मेरे कोमल-हृदय, लोकहित में तत्पर, जितेन्द्रिय और दयालु होने के कारण मुझको पराक्रमहीन मानते हैं ॥ ५६ ॥

मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण ।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥ ५७ ॥

हे लक्ष्मण ! इन गुणों का समावेश मुझमें होने के कारण, गुण दूषित हो गये हैं। देखो, अब सब प्राणियों और विशेष कर राक्षसों के अभाव के लिये ॥ ५७ ॥

संहृत्यैव शशिज्योत्स्नां महान्सूर्य इवोदितः ।
संहृत्यैव गुणान्सर्वान्मम तेजः प्रकाशते ॥ ५८ ॥

चन्द्रमा की चाँदनी को हटा, उदय हुए सूर्य की तरह, इन गुणों को नाश कर, मेरा तेज कैसा प्रकट होता है ॥५८ ॥

नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
किन्नरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥५९॥

---

१ करुणवेदिनं दान्तं—विषयचापल्यरहितं मां। (गो०)

हे लक्ष्मण ! इस तेज के प्रकट होने पर न तो यक्ष, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस, न किन्नर और न मनुष्य ही सुखी रहने पावेंगे ॥ ५९ ॥

ममास्त्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण ।
निःसम्पातं करिष्यामि ह्यद्य त्रैलोक्यचारिणाम् ॥ ६० ॥

हे लक्ष्मण ! देखो , मैं अपने अस्त्र रूपी बाणों से आकाश को ढके देता हूँ, जिससे तीनों लोकों में आने जाने वाले विमानों का रास्ता ही बंद हो जायगा ॥ ६० ॥

सन्निरुद्धग्रहगणमावारितनिशाकरम् ।
विप्रनष्टानलमरुद्भास्करद्युतिसंवृतम् ॥ ६१ ॥

ग्रहों की गति रुक जायगी, चद्रमा जहाँ का तहाँ स्थिर हो जायगा। वायु, अग्नि और सूर्य की द्युति के ढक जाने से सर्वत्र अन्धकार छा जायगा ॥ ६१ ॥

विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम् ।
ध्वस्तद्रुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥ ६२ ॥

पर्वतों के शृङ्ग काट कर मैं गिरा दूँगा, जलाशयों को सुखा दूँगा और वनों को वृक्ष, लता तथा झाड़ों से शून्य कर दूँगा। समुद्रों को उजाड़ दूँगा ॥ ६२ ॥

त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालधर्मणा ।
न तां कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति यदीश्वराः* ॥ ६३ ॥

यदि देवतागण सीता को कुशल पूर्वक मुझे न दे देंगे, तो मैं तीनों लोकों में प्रलयकाल उपस्थित कर दूँगा ॥ ६३ ॥

---

* पाठान्तरे—ममेश्वराः ।

अस्मिन्मुहूर्ते सौमित्रे मम द्रक्ष्यन्ति विक्रमम् ।
नाकाशमुत्पतिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ६४ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं उनको (देवताओं को) अभी अपना पराक्रम दिखला दूँगा । आकाश में जाकर भी कोई न बच सकेगा ॥ ६४ ॥

मम चापगुणोन्मुक्तैर्बाणजालैर्निरन्तरम् ।
अर्दितं मम नाराचैर्ध्वस्तभ्रान्तमृगद्विजम् ॥ ६५ ॥

हे लक्ष्मण ! आज मेरे धनुष से छूटे हुए तीरों से समस्त प्राणी निरन्तर आहत होंगे । मृग व पक्षी सब के सब तीरों से घायल हो कर तथा घबड़ा कर नष्ट हो जांयगे ॥ ६५ ॥

समाकुलममर्यादं जगत्पश्याद्य* लक्ष्मण ।
आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीवलोकं दुरासदैः† ॥ ६६ ॥

करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम् ।
मम रोषप्रयुक्तानां सायकानां बलं सुराः ॥ ६७ ॥

द्रक्ष्यन्त्यद्य विमुक्तानामतिदूरातिगामिनाम् ।
नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसाः ॥ ६८ ॥

हे लक्ष्मण ! देखना, सारा जगत् घबड़ा कर मर्यादा त्याग देगा । सीता के लिये मैं कमान का रोदा कान तक खींच कर, ऐसे बाण छोड़ूँगा, जिन्हें कोई न सह सकेगा और मैं इस जगत को पिशाचों और राक्षसों से शून्य कर दूँगा । आज मेरे उन बाणों की महिमा को, जिन्हें मैं क्रोध में भर चलाऊँगा और जो बहुत दूर तक चले जायेंगे, देवता लोग देखेंगे । न तो देवता, न दैत्य न पिशाच और न राक्षस ही ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

---

* पाठान्तरे—"जगत्पश्यार्य ।" †पाठान्तरे...दुरावरैः ।"

भविष्यन्ति मम क्रोधात्त्रैलोक्ये विप्रणाशिते ।
देवदानवयक्षाणां लोका ये रक्षसामपि ॥ ६९ ॥

क्रोध में भर इस त्रैलोक्य का नाश करते समय मेरे सामने टिक सकेंगे । देवताओं, दानवों, यक्षों और राक्षसों के भी जो लोक हैं ॥ ६९॥

बहुधा न भविष्यन्ति बाणौघैः शकलीकृताः ।
निर्मर्यादानिमाँल्लोकान्करिष्याम्यद्य सायकैः ॥ ७० ॥

वे मेरे तीरों की मार से खण्ड खण्ड हो कर नीचे गिर पड़ेंगे । मैं अपने बाणों की मार से आज लोकों की मर्यादा भङ्ग कर दूँगा ॥ ७० ॥

हृतां मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वराः ।
तथारूपां हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥ ७१ ॥

यदि देवता लोग मेरी सीता को जो भले ही हर ली गयी हो या मर ही क्यों न गयी हो, सकुशल मुझे न देवेंगे ॥ ७१ ॥

नाशयामि जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
इत्युक्त्वा रोषाताम्राक्षो रामो निष्पीड्य कार्मुकम् ॥७२॥

तो मैं चराचर सहित सारे जगत ही को नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों को नष्ट कर डालूँगा । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध के मारे नेत्रों को लाल लाल कर, हाथ में धनुष लिया ॥ ७२ ॥

शरमादाय सन्दीप्तं घोरमाशीविषोपमम् ।
सन्धाय धनुषि श्रीमान्रामः परपुरञ्जयः ॥ ७३ ॥

फिर चमचमाता और सर्प के विष के समान भयङ्कर बाण ले, शत्रुनाशकारी श्रीमान रामचन्द्र ने धनुष पर रखा ॥ ७३ ॥

युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ।
यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः[1] ॥ ७४ ॥
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण ।
तथाऽहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्मि सर्वथा ॥ ७५ ॥

और प्रलय कालीन अग्नि की तरह क्रुद्ध हो यह वचन बोले—हे लक्ष्मण ! जिस प्रकार से बुढ़ापा, मृत्यु और भाग्य प्राणी मात्र के रोके नहीं रोके जा सकते, उसी प्रकार क्रोध से युक्त मुझको भी कोई किसी प्रकार भी नहीं रोक सकता ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

पुरेव मे चारुदतीमनिन्दितां
दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम् ।
सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं
जगत्सशैलं [2]परिवर्तयाम्यहम ॥ ७६ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

सुन्दर दाँत वाली, निन्दा रहित मैथिली सीता यदि मुझे न मिली तो मैं देव, गन्धर्व, मनुष्य, पन्नग और पहाड़ों सहित सारे जगत को नष्ट कर डालूँगा ॥ ७६ ॥

अरण्यकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ विधिः—अदृष्टं । (गो०) २ परिवर्तयामि—नाशयामि । (गो०)

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:*:—

तप्यमानं तथा रामं सीताहरणकर्शितम् ।
लोकानामभवे युक्तं संवर्तकमिवानलम् ॥ १ ॥
वीक्षमाणं धनुः सज्यं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
दग्धुकामं जगत्सर्वं युगान्ते तु यथा हरम् ॥ २ ॥
अदृष्टपूर्वं संक्रुद्धं दृष्ट्वा रामं तु लक्ष्मणः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ ३ ॥

सीता जी के हरण से क्लेशित और सन्तप्त और प्रलय कालीन अग्नि की तरह लोकों का नाश करने में तत्पर, बार बार रोदा युक्त धनुष को देखते हुए, बार बार लंबी साँसें लेते हुए, तथा युग के अन्त में सम्पूर्ण जगत् को रुद्र की तरह भस्म करने को तत्पर, अपूर्व विलक्षण क्रोध से युक्त, श्रीरामचन्द्र जी को देख, लक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर उनसे बोले। (उस समय) मारे डर के लक्ष्मण जी का मुख सूख गया था ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
न क्रोधवशमापन्नः प्रकृतिं हातुमर्हसि ॥ ४ ॥

आप दयालु स्वभाव, जितेन्द्रिय और प्राणिमात्र के हित में रत होकर, इस समय क्रोध के वशवर्ती हो, अपने स्वभाव को न त्यागिये ॥ ४ ॥

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा ।
एतच्च नियतं सर्वं त्वयि चानुत्तमं यशः ॥ ५ ॥

जैसे चन्द्रमा में श्री, सूर्य में प्रभा, वायु में गति और पृथ्वी में क्षमा नियमित रूप से रहती है, वैसे ही आपमें इन चारों गुणों के सहित उत्तम यश स्थित है ॥ ५ ॥

एकस्य नापराधेन लोकान्हन्तुं त्वमर्हसि ।
न तु जानामि कस्यायं भग्नः सांग्रामिको रथः ॥ ६ ॥
केन वा कस्य वा हेतोः सायुधः सपरिच्छदः ।
खुरनेमिक्षतश्चायं सिक्तो रुधिरबिन्दुभिः ॥ ७ ॥

आपको यह उचित नहीं कि, एक के अपराध से सम्पूर्ण जगत का नाश करें। अभी तो यह भी नहीं मालूम कि, यह किसका अस्त्रशस्त्रों सहित तथा सपरिकर संग्राम रथ टूट पड़ा है और किसने और क्यों इसको तोड़ा है। यह स्थान खुर और रथ के पहियों से खुदा हुआ तथा लोहू की बूंदों से छिटकाया हुआ देख पड़ता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

देशो निर्वृत्तसंग्रामः सुघोरः पार्थिवात्मज ।
एकस्य तु विमर्दोऽयं न द्वयोर्वदतां वर ॥ ८ ॥

हे राजकुमार! अतः अवश्य ही यहाँ घोर संग्राम हुआ है। साथ ही यह भी जान पड़ता है कि, एक रथी के साथ किसी पशु का युद्ध हुआ है; दो जनों का युद्ध नहीं हुआ ॥ ८ ॥

न हि वृत्तं हि पश्यामि बलस्य महतः पदम् ।
नैकस्य तु कृते लोकान्विनाशयितुमर्हसि ॥ ९ ॥

बड़ी सेना के चरणचिन्ह भी यहाँ पर नहीं देख पड़ते। इस लिये आपको एक के पीछे समस्त लोकों का नाश करना ठीक नहीं ॥ ९ ॥

युक्तादण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः ।
सदा त्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमा गतिः ॥ १० ॥

राजा लोग अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले होने पर भी दयालु और शान्त स्वभाव हुआ करते हैं और आप तो सदा सब प्राणियों को शरण देने वाले और उनकी परमगति हैं ॥ १० ॥

को नुदारप्रणाशं ते साधु मन्येत राघव ।
सरितः सागराः शैला देवगन्धर्वदानवाः ॥ ११ ॥

हे राघव ! आपकी स्त्री का नष्ट होना कौन अच्छा मानता है। नदी, समुद्र, पर्वत, देव, गन्धर्व और दानव ॥ ११ ॥

नालं ते विप्रियं कर्तुं दीक्षितस्येव साधवः[1] ।
येन राजन्हृता सीता तमन्वेषितु मर्हसि ॥ १२ ॥

इनमें से कोई भी आपका बिगाड़ नहीं कर सकता, जैसे ऋत्विज यज्ञदीक्षा प्राप्त पुरुष का अप्रिय नहीं कर सकते। हे राजन् ! जिसने सीता चुराई है, उसकी तलाश करना चाहिये ॥ १२ ॥

मद्द्वितीयो धनुष्पाणिः सहायैः परमर्षिभिः ।
समुद्रं च विचेष्यामः पर्वतांश्च वनानि च ॥ १३ ॥
गुहाश्च विविधा घोरा नदीः पद्मवनानि च ।
देवगन्धर्वलोकांश्च विचेष्यामः समाहिताः ॥
यावन्नाधिगमिष्यामस्तव भार्यापहारिणम् ॥ १४ ॥

---

१ साधवः—ऋत्विजः। (गो०)

इस काल में भी, मैं धनुष को ले आपका सहायक होऊँगा। महर्षि भी आपको इस कार्य में सहायता देंगे। हम लोग जब तक सीता का हरण करने वाले का पता न लगा लेंगे, तब तक समुद्र, पर्वत, वन, भयानक गुफाएँ, कमलों सहित अनेक ताल तलैयाँ, देव और गन्धर्वों के लोकों में चल, सावधानी से ढूंढ़ते ही रहेंगे ॥१३॥१४॥

न चेत्साम्ना प्रदास्यन्ति पत्नीं ते त्रिदशेश्वराः ।
कोसलेन्द्र ततः पश्चात्प्राप्तकालं करिष्यसि ॥ १५ ॥

इस पर भी यदि देवतागण सीधी तरह आपकी पत्नी को ला कर, उपस्थित न करेंगे, तो हे कौशलेन्द्र ! उनको दण्ड दीजियेगा ॥ १५ ॥

शीलेन साम्ना विनयेन सीतां
नयेन न प्राप्स्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ततः समुत्पाटय हेमपुङ्खै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः शरौघैः ॥ १६ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

हे नरेन्द्र ! शील, साम, विनय और नीति से यदि सीता आपको न मिले, तो आप इन्द्र के वज्र के समान सोने के पुंखों वाले तीरों से लोकों को नष्ट कर डालियेगा ॥ १६ ॥

अरण्यकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षट्षष्टितमः सर्गः

—※—

तं तथा शोकसन्तप्तं विलपन्तमनाथवत् ।
मोहेन महताऽऽविष्टं परिद्यूनमचेतनम् ॥ १ ॥

लक्ष्मण के इस प्रकार समझाने पर भी शोकसन्तप्त, अनाथ की तरह विलाप करते, महामोह से युक्त, मारे चिन्ता के चेतना रहित ॥ १ ॥

ततः सौमित्रिराश्वास्य मुहूर्तादिव लक्ष्मणः ।
रामं संबोधयामास चरणौ चाभिपीडयन् ॥ २ ॥

श्रीराम को लक्ष्मण जी उनके चरण पकड़ कर, एक मुहूर्त्त तक समझाते हुए, कहने लगे ॥ २ ॥

महता तपसा राम महता चापि कर्मणा ।
राज्ञा दशरथेनासि लब्धोऽमृतमिवामरैः ॥ ३ ॥

हे राम ! महाराज दशरथ ने बड़े जप, तप और कर्मानुष्ठान कर के आपको उसी प्रकार प्राप्त किया था, जिस प्रकार बड़े बड़े प्रयत्न कर, देवताओं ने अमृत प्राप्त किया था ॥ ३ ॥

तव चैव गुणैर्बद्धस्त्वद्वियोगान्महीपतिः ।
राजा देवत्वमापन्नो भरतस्य यथा श्रुतम् ॥ ४ ॥

महाराज, तुम्हारे गुणों पर मुग्ध हो, तुम्हारे वियोग में, देवलोक को प्राप्त हुए हैं । यह बात हम लोगों को भरत जी से अवगत हो चुकी है ॥ ४ ॥

यदि दुःखमिदं प्राप्तं काकुत्स्थ न सहिष्यसे ।
प्राकृतश्चाल्पसत्त्वश्च इतरः कः सहिष्यति ॥ ५ ॥

हे काकुत्स्थ ! यदि आप ही इस प्राप्त हुए दुःख को न सहेंगे, तो अज्ञानी और अल्पबुद्धि वाले दूसर लोगों में कौन सह सकेगा ॥५॥

[आश्वासिहि नरश्रेष्ठ प्राणिनः कस्यनापदः ।
संस्पृश त्वग्निवद्राजन् क्षणेन् व्यपयान्तिच ॥ ६ ॥]

हे नरश्रेष्ठ ! आप अपने चित्त को सँभालिये । क्योंकि कौन ऐसा प्राणी है, जिस पर विपत्ति नहीं पड़ती और अग्नि की तरह स्पर्श कर, क्षण भर ही में निकल नहीं जाती ॥ ६ ॥

लोकस्वभाव एवैष ययातिर्नहुषात्मजः ।
गतः शक्रेण सालोक्यमनयस्तं तमः स्पृशत् ॥ ७ ॥

लोक का स्वभाव ही यह है । देखिये राजा नहुष के पुत्र ययाति स्वर्ग में जा कर भी अपनी उद्दण्डता से च्युत हुए ॥ ७ ॥

महर्षियों वसिष्ठस्तु यः पितुर्नः पुरोहितः ।
अह्ना पुत्रशतं जज्ञे तथैवास्य पुनर्हतम् ॥ ८ ॥

फिर हमारे पिता के पुरोहित महर्षि वशिष्ठ जी के सौ पुत्रों को एक ही दिन में विश्वामित्र ने मार डाला ॥ ८ ॥

या चेयं जगतां माता देवी लोकनमस्कृता ।
अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते सत्यसंश्रव ॥ ९ ॥

हे सत्यप्रतिज्ञ ! जगन्माता, सर्वपूज्या यह पृथ्वी भी स्थिर नहीं है । भूकम्पादि दुःख इस पर भी पड़ा करते हैं ॥ ९ ॥

यौ धर्मौ जगतां नेत्रौ यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
आदित्यचन्द्रौ ग्रहणमभ्युपेतौ महाबलौ ॥ १० ॥

जो सूर्य चन्द्र जगत् के नेत्र और साक्षात् धर्म स्वरूप हैं और जिनमें समस्त संसार टिका हुआ है, सो इन दोनों महाबलियों को भी राहु केतु ग्रस लेते हैं ॥ १० ॥

[1]सुमहान्त्यपि भूतानि देवाश्च पुरुषर्षभ ।
न दैवस्य प्रमुञ्चन्ति सर्वभूतादिदेहिनः[2] ॥ ११ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! राजा मान्धाता, नल आदि जैसे बड़े बड़े लोग और देवता भी तो सर्वान्तर्यामी दैव से छुटकारा नहीं पा सकते ॥ ११ ॥

शक्रादिष्वपि देवेषु वर्तमानौ नयानयौ ।
श्रूयेते नरशार्दूल न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥

इन्द्रादि देवता भी नीति अनीति से उत्पन्न सुख और दुःख भोगते हुए सुने जाते हैं। अतः आप दुःखी न हों ॥ १२ ॥

नष्टायामपि वैदेह्यां हृतयामपि चानघ ।
शोचितुं नार्हसे वीर यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥ १३ ॥

हे अनघ ! हे वीर ! चाहे जानकी मार डाली गयी हो अथवा हर ही क्यों न ली गयी हो। तो भी आपको साधारण लोगों की तरह शोक करना उचित नहीं ॥ १३ ॥

त्वद्विधा न हि शोचन्ति सततं सत्यदर्शिनः ।
सुमहत्स्वपि कृच्छ्रेषु रामानिर्विण्णदर्शनाः ॥ १४ ॥

---

१ सुमहान्त्यपि भूतानि—मान्धातृप्रभृति महाजना अपि । (गो०)
२ सर्वभूतादिदेहिनः—सर्वभूतान्तर्यामिन इत्यर्थः । (गो०)

क्योंकि आप जैसे निरन्तर यथार्थदर्शी महात्मा शोक से विकल नहीं होते। प्रत्युत बड़े बड़े क्लेशकारी स्थानों अथवा अवसरों में भी ऐसे लोग विगत शोक देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

तत्त्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्ध्या समनुचिन्तय ।
बुद्ध्या युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे ॥ १५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! आप अपनी बुद्धि से इसका ठीक ठीक विचार कीजिये। क्योंकि जो बुद्धिमान् होते हैं, वे अपनी बुद्धि ही से शुभ और अशुभ जान लेते हैं ॥ १५ ॥

अदृष्टगुणदोषाणामध्रुवाणां तु कर्मणाम् ।
नान्तरेण क्रियां तेषां फलमिष्टं प्रवर्तते ॥ १६ ॥

जिन कर्मों के गुण दोष प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते, ऐसे अस्थिर कर्मों के अनुष्ठान से, इष्टफल की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है ॥ १६ ॥

त्वमेव हि पुरा राम मामेवं बहुशोऽन्वशाः[1] ।
अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद्बृहस्पतिः ॥ १७ ॥

हे वीर ! आप ही ने मुझे पहले कितना न्याय और अन्याय सम्बन्धी उपदेश दिया था, सो भला आपको उपदेश देने में तो साक्षात् बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं ॥ १७ ॥

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्वया[2] ।
शोकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं सम्बोधयाम्यहम् ॥ १८ ॥

---

१ अन्वशाः—अनुशासितवानसि। (गो०) २ दुरन्वया—दुर्लभा। (गो०)

हे महाप्राज्ञ ! आपकी बुद्धि को देवता लोग भी नहीं पा सकते। किन्तु इस समय शोक के कारण आपका ज्ञान जो सो रहा है, उसे मैं जगाता हूँ ॥ १८ ॥

दिव्यं च मानुषं च त्वमात्मनश्च पराक्रमम् ।
इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे ॥ १९ ॥

हे इक्ष्वाकुश्रेष्ठ ! आप अपने दिव्य और मानवी पराक्रम की ओर देख कर, शत्रुवध का प्रयत्न कीजिये ॥ १९ ॥

किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषर्षभ ।
तमेव त्वं रिपुं पापं विज्ञायोद्धर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सब का नाश कर आप क्या कीजियेगा। आप उसी अपने शत्रु को खोजिये, जिसने सीता हरी है और उसीका आप नाश भी कीजिये ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का छ्यासठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:*:—

पूर्वजोऽप्युक्तमात्रस्तु लक्ष्मणेन सुभाषितम् ।
सारग्राही महासारं प्रतिजग्राह राघवः ॥ १ ॥

जब लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र को इस प्रकार समझाया, तब सारग्राही श्रीरामचन्द्र शान्त हुए ॥ १ ॥

सन्निगृह्य महाबाहुः प्रवृत्तं कोपमात्मनः ।
अवष्टभ्य धनुश्चित्रं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

और महाबाहु श्रीरामचन्द्र ने क्रोध को त्याग और अपने विचित्र धनुष की प्रत्यञ्चा उतार लक्ष्मण से कहा ॥ २ ॥

किं करिष्यावहे वत्स क्व वा गच्छाव लक्ष्मण ।
केनोपायेन पश्येयं सीतामिति विचिन्तय ॥ ३ ॥

हे वत्स लक्ष्मण ! अब क्या करूँ और कहाँ जाऊँ ? अब यह सोचो कि, सीता के पाने के लिये क्या उपाय किया जाय ? ॥ ३ ॥

तं तथा परितापार्तं लक्ष्मणो राममब्रवीत् ।
इदमेव जनस्थानं त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ४ ॥

तब अत्यन्त सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी से लक्ष्मण ने कहा—आप इसी जनस्थान में सीता को खोजिये ॥ ४ ॥

राक्षसैर्बहुभिः कीर्णं नानाद्रुमलतायुतम् ।
सन्तीह गिरिदुर्गाणि [1]निर्दराः कन्दराणि च ॥ ५ ॥

क्योंकि यहाँ बहुत से राक्षस रहा करते हैं और यहाँ अनेक वृक्ष, लता, दुर्गम पर्वत घाटियाँ और कन्दराएँ हैं ॥ ५ ॥

गुहाश्च विविधा घोरा नानामृगगणाकुलाः ।
आवासाः किन्नराणां च गन्धर्वभवनानि च ॥ ६ ॥

वे कन्दराएँ विविध प्रकार के भयङ्कर जीव जन्तुओं से भरी हैं। यहाँ अनेक किन्नरों के निवासस्थान और गन्धर्वों के भवन भी हैं ॥ ६ ॥

---

१ निर्दराः—विदीर्णपाषाणाः । (रा०)

तानि युक्तो मया सार्धं त्वमन्वेषितुमर्हसि ।
त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नरर्षभ ॥ ७ ॥

उन सब को आप मेरे साथ चल कर भली भाँति ढूढ़िये । आप जैसे महात्मा, बुद्धिमान् और नृपतिश्रेष्ठ ॥ ७ ॥

आपत्सु न प्रकम्पन्ते वायुवेगैरिवाचलाः ।
इत्युक्तस्तद्वनं सर्वं विचचार सलक्ष्मणः ॥ ८ ॥

सङ्कट के समय वैसे ही कभी विचलित नहीं होते, जैसे वायु के झोकों से पर्वत नहीं हिलाया जा सकता । लक्ष्मण जी के कहने को मान, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित उस समस्त वन में विचरने लगे ॥ ८ ॥

क्रुद्धो रामः शरं घोरं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।
ततः पर्वतकूटाभं महाभागं द्विजोत्तमम् ॥ ९ ॥

क्रुद्ध हो कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष पर बड़ा पैना और महाभयङ्कर छुरा के नाम से प्रसिद्ध बाण चढ़ा लिया ॥ ९ ॥

ददर्श पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम् ।
तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १० ॥

कुछ दूर आगे जाने पर श्रीरामचन्द्र ने पर्वत के शिखर की तरह विशालकाय और रुधिर से तर उस महाभाग पक्षिराज जटायु को भूमि पर पड़ा देखा । उसे देख श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ १० ॥

अनेन सीता वैदेही भक्षिता नात्र संशयः ।
गृध्ररूपमिदं रक्षो व्यक्तं भवति कानने ॥ ११ ॥

देखो, निस्सन्देह इसीने सीता को खाया है। अवश्य ही यह गृद्ध का रूप धारण किये कोई राक्षस है और इसी वन में घूमता फिरता है ॥ ११ ॥

भक्षयित्वा विशालाक्षीमास्ते सीतां यथासुखम् ।
एनं वधिष्ये दीप्तास्यैर्घोरैर्बाणैरजिह्मगैः ॥ १२ ॥

देखो यह राक्षस विशालनेत्रों वाली सीता को खा कैसे सुख से बैठा हुआ है। अतः मैं सीधे जाने वाले और अग्नि की तरह चम चमाते भयङ्कर बाणों से इसका वध करूँगा ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वाऽभ्यपतद्गृध्रं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।
क्रुद्धो रामः समुद्रान्तां कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ १३ ॥

यह कह कर और क्रोध कर, आसमुद्र पृथ्वी को कंपाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर क्षुर नामक बाण रखा और तदनन्तर वे उसे देखने के लिये उसके समीप गये ॥ १३ ॥

तं दीनं दीनया वाचा सफेनं रुधिरं वमन् ।
अभ्यभाषत पक्षी तु रामं दशरथात्मजम् ॥ १४ ॥

इनको आते देख, बेचारे जटायु ने, फेनयुक्त रुधिर की वमन कर और अत्यन्त दुःखी हो दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र से कहा ॥१४॥

यामोषधिमिवायुष्मन्नन्वेषसि महावने ।
सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ॥ १५ ॥

हे आयुष्मन् ! ओषधि की तरह तुम जिसे इस महावन में ढूढ़ते फिरते हो, उस देवी सीता को और मेरे प्राणों को रावण ने निर्भय हो हर लिया है ॥ १५ ॥

त्वया विरहिता देवी लक्ष्मणेन च राघव ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन बलीयसा ॥ १६ ॥

हे राघव ! महाबली रावण को, आपकी और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सूने आश्रम से सीता को हर कर ले जाते हुए मैंने देखा है ॥ १६ ॥

सीतामभ्यवपन्नोऽहं रावणश्च रणे मया ।
विध्वंसितरथश्चात्र पातितो धरणीतले ॥ १७ ॥

सीता को ले जाते देख, मैंने रावण का सामना किया और उससे युद्ध कर उसके रथ को तोड़ कर, यहाँ गिरा दिया ॥ १७ ॥

एतदस्य धनुर्भग्नमेतदस्य शरावरम् ।
अयमस्य रथो राम भग्नः सांग्रामिको मया ॥ १८ ॥

हे श्रीराम ! देखिये, वह तो उसका टूटा हुआ धनुष पड़ा है और यह उसका बढ़िया बाण टूटा पड़ा है। मेरा तोड़ा हुआ यह उसका संग्राम-रथ पड़ा है ॥ १८ ॥

अयं तु सारथिस्तस्य मत्पक्षो निहतो युधि ।
परिश्रान्तस्य मे पक्षौ च्छित्त्वा खड्गेन रावणः ॥ १९ ॥

यह सारथी भी उसीका है, जिसे युद्ध में मैंने अपने पंखों के प्रहार से मार कर पृथिवी पर पटक दिया था। मुझे थका हुआ देख, रावण ने तलवार से मेरे पंख काट डाले ॥ १९ ॥

सीतामादाय वैदेहीमुत्पपात विहायसम् ।
रक्षसा निहतं पूर्वं न मां हन्तुं त्वमर्हसि ॥ २० ॥

और सीता को ले वह आकाशमार्ग से चला गया। राक्षस ने तो पहिले ही मुझे मार डालने में कुछ उठा नहीं रखा, अतः आपको मेरा वध करना उचित नहीं ॥ २० ॥

रामस्तस्य तु विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखस्तदा ।
द्विगुणीकृततापार्तः सीतासक्तां प्रियां कथाम् ॥ २१ ॥

गृध्रराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद्धनुः ।
निपपातावशो भूमौ रुरोद सहलक्ष्मणः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र इस प्रकार उसकी दशा देख और उसके मुख से प्यारी सीता का वृत्तान्त सुन, दूने दुःखी हुए। तदनन्तर जटायु को छाती से लगा और धनुष को फेंक, पृथिवी पर गिर, लक्ष्मण सहित रोने लगे ॥ २१ ॥ २२ ॥

[1]एकमेकायने दुर्गे निःश्वसन्तं कथञ्चन ।
समीक्ष्य दुःखिततरो रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ २३ ॥

अकेले मनुष्य के जाने योग्य मार्ग वाले विकट स्थान में पड़े और कभी कभी सांस लेते हुए जटायु को देख; शोक से विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ २३ ॥

राज्याद्भ्रंशो वने वासः सीता नष्टा द्विजो हतः ।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्निर्दहेदपि पावकम् ॥ २४ ॥

राज्य से भ्रष्ट, वन में वास, सीताहरण और इस पक्षी का मरण, ये सब मेरे खोटे भाग्य के ही परिणाम हैं। इस प्रकार का मेरा खोटा भाग्य यदि चाहे तो अग्नि को भी भस्म कर सकता है ॥ २४ ॥

---

१ एकमेकायने—एकमात्रजनगम्ये अतएव कृच्छ्रे देशे पतितमिति शेषः। (शि०)

सम्पूर्णमपि चेदद्य प्रतरेयं[1] महोदधिम् ।
सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या विशुष्येत्सरितां पतिः ॥ २५ ॥

मैं अपने भाग्य का क्या बखान करूँ। यदि मैं अपने सन्ताप की शान्ति के लिये समुद्र में कूदूँ, तो वह भी मेरे खोटे भाग्य से सूख जाय ॥ २५ ॥

नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन्सचराचरे ।
येनेयं महती प्राप्ता मया व्यसनवागुरा ॥ २६ ॥

हे भाई ! इस चराचर जगत में, मेरे तुल्य अभागा कोई न होगा। क्योंकि इसीके कारण, मुझे महादुःख रूपी जाल में फँसना पड़ा है ॥ २६ ॥

अयं पितृवयस्यो[2] मे गृध्रराजो जरान्वितः ।
शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात् ॥ २७ ॥

देखो यह वृद्ध गृद्धराज जटायु मेरे पिता का मित्र है। मेरा भाग्य लौट जाने से यह भी मृत हो पृथिवी पर पड़ा है ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा बहुशो राघवः सहलक्ष्मणः ।
जटायुषं च पस्पर्श पितृस्नेहं विदर्शयन् ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से अनेक बातें कहीं। तदनन्तर लक्ष्मण जी सहित श्रीरामचन्द्र ने पिता समान स्नेह दिखलाते हुए जटायु को स्पर्श किया ॥ २८ ॥

निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं
स गृध्रराजं परिरभ्य रामः ।

---

१ प्रतरेयं—तापशान्तये प्लवेयं चेत्। (गो०) २ पितृवयस्यः—सखा। (गो०)

क्व मैथिली प्राणसमा ममेति
विमुच्य वाचं निपपात भूमौ ॥ २९ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

पंख कटे हुए और रुधिर में सने गीधों के राजा जटायु के शरीर पर हाथ फेर, श्रीरामचन्द्र ने उससे यह बात पूछी कि, "मेरी वह प्राण समान सीता कहाँ है?" यह कह श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर गिर पड़े ॥ २९ ॥

अरण्यकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अष्टषष्टितमः सर्गः

रामः संप्रेक्ष्य तं गृध्रं भुवि रौद्रेण पातितम् ।
सौमित्रिं मित्रसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

जटायु को, उस भयङ्कर राक्षस के प्रहार से पृथिवी पर पड़ा हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से यह बोले ॥ १ ॥

ममायं नूनमर्थेषु यतमानो विहङ्गमः ।
राक्षसेन हतः संख्ये प्राणांस्त्यक्ष्यति दुस्त्यजान् ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण! निश्चय ही यह पक्षी मेरा काम करता हुआ, मेरे लिये ही राक्षस द्वारा लड़ाई में मारा जा कर अब दुस्त्यज प्राणों को त्याग रहा है ॥ २ ॥

अयमस्य[1] शरीरेऽस्मिन्प्राणो लक्ष्मण विद्यते ।
तथाहि स्वरहीनोऽयं विक्लवः समुदीक्षते ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! अभी इसके शरीर में थोड़ी थोड़ी जान बाकी है किन्तु इसका स्वर धीमा पड़ गया है और विकल हो, यह हम लोगों को देख रहा है ॥ ३ ॥

जटायो यदि शक्नोषि वाक्यं व्याहरितुं पुनः ।
सीतामाख्याहि भद्रं ते वधमाख्याहि चात्मनः ॥ ४ ॥

हे जटायु ! यदि तुममें बोलने की शक्ति हो, तो तुम सीता का वृत्तान्त और अपने वध का हाल मुझसे पुनः कहो । तुम्हारा कल्याण हो ॥ ४ ॥

किन्निमित्तोऽहरत्सीतां रावणस्तस्य किं मया ।
अपराधंतु यं दृष्ट्वा रावणेन हृता प्रिया ॥ ५ ॥

किस लिये रावण ने सीता को हरा । मैंने उसका क्या बिगाड़ा था जिससे वह मेरी प्यारी को हर ले गया ॥ ५ ॥

कथं तच्चन्द्रसङ्काशं मुखमासीन्मनोहरम् ।
सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन्काले द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

हे पक्षिश्रेष्ठ ! उस समय सीता का वह चन्द्रसम सुन्दर मुखमण्डल कैसा देख पड़ता था और उस समय सीता ने क्या क्या कहा था ॥ ६ ॥

कथंवीर्यः कथंरूपः किंकर्मा स च राक्षसः ।
क्व चास्य भवनं तात ब्रूहि मे परिपृच्छतः ॥ ७ ॥

---

१ अयंप्राणः—सूक्ष्मप्राणः । (गो०)

उस राक्षस का पराक्रम और रूप कैसा है ? वह राक्षस काम क्या करता है और वह रहने वाला कहाँ का है। मैं जो पूछता हूँ सो सब आप बतला दें ॥ ७ ॥

तमुद्वीक्ष्याथ दीनात्मा विलपन्तमनन्तरम् ।
वाचाऽतिसन्नया[1] रामं जटायुरिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

तब जटायु ने श्रीरामचन्द्र का विलाप सुन, विकल हो बड़ी कठिनता से अर्थात् लड़खड़ाती वाणी से उनसे यह कहा ॥ ८ ॥

हृता सा राक्षसेन्द्रेण रावणेन विहायसा ।
मायामास्थाय विपुलां वातदुर्दिनसङ्कुलाम् ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह दुरात्मा राक्षसेन्द्र रावण, वायु और मेघों की घटा से युक्त बड़ी माया रच कर, सीता को हर कर ले गया है ॥ ९ ॥

परिश्रान्तस्य मे तात पक्षौ च्छित्त्वा स राक्षसः ।
सीतामादाय वैदेहीं प्रयातो दक्षिणां दिशम् ॥ १० ॥

मुझ थके हुए के दोनों पंख काट, वह राक्षस सीता को दक्षिण दिशा को चला गया है ॥ १० ॥

उपरुध्यन्ति मे प्राणा दृष्टिर्भ्रमति राघव ।
पश्यामि वृक्षान्सौवर्णानुशीरकृतमूर्धजान् ॥ ११ ॥

हे राघव ! मरण की पीड़ा से मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। मेरी आँखों के सामने चक्कर आ रहे हैं। मुझे अपने सामने सोने के वृक्ष, जिनकी चोटियों पर खस जमा है, देख पड़ते हैं ॥ ११ ॥

---

1 अतिसन्नया—अतिकाश्यं प्राप्तया ।(गो०)

येन यातो मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः ।
विप्रनष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

हे राम ! जिस घड़ी रावण ने सीता को हरा वह घड़ी ऐसी है कि, उस घड़ी में खोया हुआ धन उसके मालिक को पुनः प्राप्त हो। अथवा नष्ट हुआ धन उसीके स्वामी को मिले ॥ १२ ॥

विन्दो नाम मुहूर्तोऽयं स च काकुत्स्थ नाबुधत् ।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १३ ॥

हे काकुत्स्थ ! उसके हरणकाल के मुहूर्त्त का नाम वृन्द था। किन्तु रावण को यह बात मालूम न थी। आपकी प्रिया सीता को हर कर राक्षसेश्वर रावण ॥ १३ ॥

झषवद्बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति ।
न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति ॥ १४ ॥

बंसी के काँटे को निगलने वाली मछली की तरह शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगा। तुमको जानकी के लिये दुःखी न होना चाहिये ॥१४॥

वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्रं हत्वा ते राक्षसं रणे ।
असंमूढस्य गृध्रस्य रामं प्रत्यनुभाषतः ॥ १५ ॥

क्योंकि तुम शीघ्र युद्ध में उस राक्षस को मार, फिर सीता के साथ विहार करोगे। अतः सावधानता पूर्वक वार्तालाप करते करते ॥ १५ ॥

आस्यात्सुस्राव रुधिरं म्रियमाणस्य सामिषम् ।
पुत्रो विश्रवसः साक्षाद्भ्राता वैश्रवणस्य च ॥ १६ ॥

मांस और रुधिर की उसे वमन हुई। तिस पर भी उसने इतना और बतलाया कि, वह राक्षस विश्रवा का पुत्र और कुबेर का भाई है ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा दुर्लभान्प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः।
ब्रूहि ब्रूहीति रामस्य ब्रुवाणस्य कृताञ्जलेः ॥ १७ ॥

यह कह पक्षिराज जटायु ने अपने दुर्लभ प्राणों को त्याग दिया। उधर श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े कह रहे थे कि, आगे कहो; आगे कहो ॥ १७ ॥

त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य जग्मुः प्राणा विहायसम्।
स निक्षिप्य शिरो भूमौ प्रसार्य चरणौ तदा ॥ १८ ॥

गीध के शरीर को छोड़ जटायु का आत्मा आकाश में पहुँचा। तब उस पक्षी का सिर पृथिवी पर लटक पड़ा और उसके दोनो पैर फैल गये ॥ १८ ॥

विक्षिप्य च शरीरं स्वं पपात धरणीतले।
तं गृध्रं प्रेक्ष्य ताम्राक्षं गतासुमचलोपमम् ॥ १९ ॥

शरीर को फैला कर वह पृथिवी पर गिर पड़ा। श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत के समान बड़े भारी डीलडौल के, ताम्रवत् लाल नेत्र वाले गीध को मरा हुआ देखा ॥ १९ ॥

रामः सुबहुभिर्दुःखैर्दीनः सौमित्रिमब्रवीत्।
बहूनि रक्षसां वासे वर्षाणि वसता सुखम् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत दुःखी और उदास हो लक्ष्मण से कहा—बहुत काल तक जन-स्थान में सुख पूर्वक रह कर ॥ २० ॥

अनेन दण्डकारण्ये विशीर्णमिह पक्षिणा ।
अनेकवार्षिको यस्तु चिरकालसमुत्थितः ॥ २१ ॥

इस पक्षी ने इसी दण्डकारण्य में प्राण त्यागे हैं (अर्थात् यहीं रहा और यहीं प्राण भी त्यागे) यह बहुत काल का पुराना बूढ़ा है ॥ २१ ॥

सोऽयमद्य हतः शेते कालो हि दुरतिक्रमः ।
पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे ॥ २२ ॥
सीतामभ्यवपन्नो वै रावणेन बलीयसा ।
गृध्रराज्यं परित्यज्य पैतृपैतामहं महत् ॥ २३ ॥

सो वह आज यहाँ मरा हुआ पड़ा है । इसीसे कहा जाता है कि, काल का उलङ्घन कोई नहीं कर सकता । देखो लक्ष्मण ! यह गीध मेरा कैसा उपकारी था । यह सीता को बचाते समय बलवान् रावण के हाथ से मारा गया है । देखो वंशपरम्परागत गृद्धराज्य को परित्याग कर ॥ २२ ॥ २३ ॥

मम हेतोरयं प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः ।
सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः ॥ २४ ॥

इस पक्षिराज ने मेरे पीछे अपने प्राण गँवाये हैं । हे लक्ष्मण ! निश्चय ही साधु-स्वभाव और धर्मात्मा सर्वत्र ही पाये जाते हैं ॥ २४ ॥

शूराः शरण्यः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् ॥ २५ ॥

सो केवल मनुष्यों ही में नहीं, किन्तु पशुपक्षियों में भी वीर और शरण आये हुए की रक्षा करने वाले पाये जाते हैं । हे सौम्य !

सीता जी के हरे जाने का मुझे उतना अब क्लेश नहीं है, जितना कि, ॥ २५ ॥

यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप ।
राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः ॥ २६ ॥
पूजनीयश्च मान्यश्च तथाऽयं पतगेश्वरः ।
सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम् ॥ २७ ॥

मुझे मेरे लिये प्राण गँवाने वाले इस गृद्ध के मरने का है। जिस प्रकार महायशस्वी महाराज दशरथ मेरे पूज्य और मान्य थे, उसी प्रकार पूज्य और मान्य यह पक्षिराज है। हे लक्ष्मण! तुम जा कर लकड़ियाँ ले आओ। मैं लकड़ियाँ रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करूँगा॥ २६ ॥ २७ ॥

गृध्रराजं दिधक्षामि मत्कृते निधनं गतम् ।
देहं पतगराजस्य* चितामारोप्य राघव ॥ २८ ॥

जो गृद्धराज मेरे पीछे मारा गया है, उसका दाह मैं करूँगा। यह कह श्रीरामचन्द्र जी ने जटायु के मृत शरीर को चिता पर रखा ॥ २८ ॥

इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा ।
या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः ॥ २९ ॥

फिर लक्ष्मण से कहा कि, मैं इस गीधराज का, जिसे भयङ्कर कर्म करने वाले रावण ने मार डाला है, दाहकर्म करता हूँ। (फिर जटायु के आत्मा को संबोधन कर श्रीरामचन्द्र जी बोले) जो गति अश्वमेधादि यज्ञ करनेवालों को, जो गति अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों को मरने के बाद प्राप्त होती है, वह तुम्हें प्राप्त हो ॥ २९ ॥

---

* पाठान्तरे—" नाथं पतगलोकस्य "।

अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ।
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ॥ ३० ॥

जो गति (या लोक) मुमुक्षुओं को, जो गति (या लोक) भूमिदान करने वालों को प्राप्त होती हैं उन उत्तम गतियों (लोकों) को तुम मेरी आज्ञा से प्राप्त हो ॥ ३० ॥

[नोट—इस प्रसङ्ग से यह बात निष्पन्न होती है कि, कर्मज्ञानादि से भी कहीं बढ़ कर भगवत्कैङ्कर्य की महिमा है ।]

गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ।
एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ॥ ३१ ॥

हे महाबली गृद्धराज ! मैंने तुम्हारा अन्तिम संस्कार किया है । अब तुम जाओ । यह कह कर और गीध के मृत शरीर को चिता पर रख उसमें श्रीरामचन्द्र ने आग लगा दी ॥ ३१ ॥

ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ।
रामोऽथ सहसौमित्रिर्वनं गत्वा स वीर्यवान् ॥ ३२ ॥

धर्मात्मा अर्थात् कृतज्ञ श्रीरामचन्द्र अपने भाई बन्द की तरह जटायु का दाहकर्म कर, दुःखी हुए । तदनन्तर पराक्रमी श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण जी के साथ वन में जा, ॥ ३२ ॥

स्थूलान्हत्वा महारोहीननु तस्तार तं द्विजम् ।
रोहिमांसानि चोत्कृत्य पेशीकृत्य महायशाः ॥ ३३ ॥

शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले ।
यत्तत्प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः ॥ ३४ ॥

तत्स्वर्गगमनं तस्य पित्र्यं[1] रामो जजाप ह ॥
ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ ॥
उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ३५ ॥

मोटो रोहू मछलियों को मार कर, उस पक्षी के लिये महायशस्वी श्रीराम ने भूमि पर कुश बिछाये। फिर मछलियों के मांस के टुकड़े कर और मांस को साफ़ कर तथा उसे पीस कर, उसके पिण्ड बना सुन्दर हरे कुशों के ऊपर पक्षी को पिण्डदान किया। ब्राह्मणगण मृतकर्म में मृतपुरुष की सद्गति के लिये जिन मंत्रों का प्रयोग करते हैं, उन मंत्रों का प्रयोग श्रीरामचन्द्र जी ने गृद्धराज की स्वर्गगमन कामना के लिये, उसको अपना पितर मान, किया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित गोदावरी नदी के तट पर पहुँच कर, गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना जले गृध्राय राघवौ ।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने शास्त्र की निर्दिष्ट की हुई विधि से जल में स्नान कर, गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥ ३६ ॥

स गृध्रराजः कृतवान्यशस्करं
सुदुष्करं कर्म रणे निपातितः ।
महर्षिकल्पेन च संस्कृतस्तदा
जगाम पुण्यां गतिमात्मनः शुभाम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वह जटायु, जिसने अत्यन्त दुष्कर और यश देने वाला कर्म कर युद्ध में प्राण गँवाये थे, महर्षियों की तरह श्रीराम-

---

1 पित्र्यं—पितृदेवताकं। (गो०)

चन्द्र जी के हाथ से अन्तिम संस्कार पाकर परमपवित्र पुण्यगति अर्थात् परमपद (त्रिपाद विभूति-वैकुण्ठ) को प्राप्त हुआ ॥३७॥

कृतोदकौ तावपि पक्षिसत्तमे
स्थिरां च बुद्धिं प्रणिधाय जग्मतुः ।
प्रवेश्य सीताधिगमे ततो मनो
वनं सुरेन्द्राविव विष्णुवासवौ ॥ ३८ ॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

पक्षियों में उत्तम जटायु का श्राद्धादि कर्म कर और पक्षिराज के इस कथन में कि, तुमको सीता मिलेगी, विश्वास कर, दोनों भाई सीता को खोजने के लिये इन्द्र और उपेन्द्र की तरह वन में आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

[नोट---इस प्रसङ्ग से यह बात निष्पन्न होती है कि, श्राद्धादि मृतक कर्म करने की पद्धति अनादि काल से चली आ रही है। दूसरी बात ध्यान देने योग्य है कि श्रीरामचन्द्र जी ने वैदिक मन्त्रों से गीध का पिण्ड दानादि क्यों किया? इस शङ्का का समाधान करते हुए भूषणटीकाकार ने कहा है कि, गीध भगवद्भक्त था, अतः उसके लिये वर्ण का बंधन नहीं रहा। क्योंकि महाभारत का यह वचन है कि---

"न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः ।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥]"

आरण्यकाण्ड का अड़सठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—:※:—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

कृत्वैवमुदकं तस्मै प्रस्थितौ रामलक्ष्मणौ ।
अवेक्षन्तौ वने सीतां पश्चिमां जग्मतुर्दिशम् ॥ १ ॥

पक्षिराज की जलक्रियादि पूरी कर, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वहाँ से रवाने हो, वन में सीता को ढूंढते हुए पश्चिम दिशा की ओर चले ॥ १ ॥

तौ दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ ।
अविप्रहतमैक्ष्वाकौ पन्थानं प्रतिजग्मतुः* ॥ २ ॥

फिर धनुष बाण खड्ग हाथों में ले दोनों भाई उस मार्ग से जिस पर पहले कोई नहीं चला था, चल कर, पश्चिम दक्षिण के कोण की ओर चले ॥ २ ॥

गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम् ।
आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ३ ॥

अनेक प्रकार के घने झाड़, वृक्षवल्ली, लता आदि होने के कारण वह रास्ता केवल दुर्गम हो नहीं था, बल्कि भयङ्कर भी था ॥ ३ ॥

व्यतिक्रम्य तु वेगेन व्यालसिंहनिषेवितम् ।
सुभीमं तन्महारण्यं व्यतियातौ महाबलौ ॥ ४ ॥

इस मार्ग को तै कर, वे अत्यन्त बलवान दोनों राजकुमार, ऐसे स्थान में पहुँचे, जहाँ पर अजगर सर्प और सिंह रहते थे। इस महाभयङ्कर महारण्य को भी उन दोनों ने पार किया ॥ ४ ॥

ततः परं जनस्थानात्त्रिक्रोशं गम्य राघवौ ।
क्रौञ्चारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर चलते चलते वे दोनों बड़े पराक्रमी राजकुमार जनस्थान से तीन कोस दूर, क्रौञ्च नामक एक घने जङ्गल में पहुँचे ॥ ५ ॥

---

* पाठान्तरे—" पन्थानं प्रतिपेदतुः " ।
अथवा " पन्थानमभिजग्मतुः " ।

नानामेघघनप्रख्यं प्रहृष्टमिव सर्वतः ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानाव्यालमृगैर्युतम् ॥ ६ ॥

यह वन मेघों की घटा की तरह गंभीर था। उसमें जिधर देखो उधर फूल खिले हुए होने के कारण तथा भाँति भाँति के पक्षियों से भरा पूरा और तरह तरह के अजगरों और अन्य वन जन्तुओं से परिपूर्ण होने के कारण वह हँसता हुआ सा जान पड़ता था ॥६॥

दिदृक्षमाणौ वैदेहीं तद्वनं तौ विचिक्यतुः ।
तत्र तत्रावतिष्ठन्तौ सीताहरणकर्शितौ ॥ ७ ॥

दोनों राजकुमार सीता जी के हरण से दुःखित हो, उस बन में इधर उधर सीता जी को खोजने लगे। बीच बीच में वे ठहर भी जाते थे ॥ ७ ॥

ततः पूर्वेण तौ गत्वा त्रिक्रोशं भ्रातरौ तदा ।
क्रौञ्चारण्यमतिक्रम्य मतङ्गाश्रममन्तरे ॥ ८ ॥

तदनन्तर वे दोनों राजकुमार तीन कोस पूर्व की ओर जा, क्रौञ्चारण्य को पार कर, मतङ्गाश्रम में पहुँचे ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा तु तद्वनं घोरं बहुभीममृगद्विजम् ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं सर्वं गहनपादपम् ॥ ९ ॥

वह वन बहुत से भयङ्कर बनैले जीव जन्तुओं से भरा हुआ होने के कारण बड़ा भयङ्कर था। उसमें तरह तरह के जीव जन्तु रहते थे और वह सघन वृक्षों से भरा हुआ था ॥ ९ ॥

ददृशाते तु तौ तत्र दरीं दशरथात्मजौ ।
पातालसमगम्भीरां तमसा नित्यसंवृताम् ॥ १० ॥

दोनों दशरथनन्दनों ने वहाँ पर एक पर्वत-कन्दरा देखी। वह पाताल की तरह गहरी थी और उसमें सदा अंधकार छाया रहता था ॥ १० ॥

आसाद्य तौ नरव्याघ्रौ दर्यास्तस्या विदूरतः ।
ददृशाते महारूपां राक्षसीं विकृताननाम् ॥ ११ ॥

उन दोनों पुरुषसिंहों ने, उस गुफा के समीप जा कर एक भयङ्कर रूप वाली विकरालमुखी राक्षसी को देखा ॥ ११ ॥

भवदामल्पसत्त्वानां बीभत्सां रौद्रदर्शनाम् ।
लम्बोदरीं तीक्ष्णदंष्ट्रां करालां परुषत्वचम् ॥ १२ ॥

वह छोटे जीव जन्तुओं के लिये बड़ी डरावनी थी। उसका रूप बड़ा घिनौना था। वह देखने में बड़ी भयङ्कर थी। क्योंकि उसकी डाढ़े बड़ी पैनी थीं और पेट बड़ा लंबा था। उसकी खाल बड़ी कड़ी थी ॥ १२ ॥

भक्षयन्तीं मृगान्भीमान्विकटां मुक्तमूर्धजाम् ।
प्रैक्षेतां तौ ततस्तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

वह बड़े बड़े मृगों को खाया करती थी, वह विकट रूप वाली और सिर के बालों को खोले हुए थी। ऐसी उस राक्षसी को उन दोनों भाइयों ने देखा ॥ १३ ॥

सा समासाद्य तौ वीरौ व्रजन्तं भ्रातुरग्रतः ।
एहि रंस्यावहेत्युक्त्वा समालम्बत[1] लक्ष्मणम् ॥ १४ ॥

---

१ समालम्बत—हस्ते गृहीतवती। (गो०)

वह राक्षसी इन दोनों भाइयों को देख और आगे चलते हुए लक्ष्मण को देख, बोली—"आओ हम दोनों विहार करें", तदनन्तर उसने लक्ष्मण का हाथ पकड़ लिया ॥ १४ ॥

उवाच चैनं वचनं सौमित्रिमुपगूह्य[1] सा ।
अहं त्वयोमुखी नाम लाभस्ते त्वमसि प्रियः ॥ १५ ॥

वह लक्ष्मण जी को चिपटा कर कहने लगी—मेरा अयोमुखी नाम है। तुम मुझे बड़े प्रिय हो। बड़े भाग्य से तुम मुझे मिले हो॥ १५ ॥

नाथ पर्वतकूटेषु नदीनां पुलिनेषु च ।
आयुःशेषमिमं वीर त्वं मया सह रंस्यसे ॥ १६ ॥

हे नाथ! दुर्गम पर्वतों में और नदियों के तटों पर जीवन के शेष दिनों तक मेरे साथ तुम विहार करना ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु कुपितः खड्गमुद्धृत्य लक्ष्मणः ।
कर्णनासौ स्तनौ चास्या निचकर्तारिसूदनः ॥ १७ ॥

उसके ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी ने कुपित हो और म्यान से तलवार निकाल उसके नाक, कान और स्तनों को काट डाला ॥ १७ ॥

कर्णनासे निकृत्ते तु विस्वरं सा विनद्य च ।
यथागतं प्रदुद्राव राक्षसी भीमदर्शना ॥ १८ ॥

जब उसके कान और नाक काट डाले गये, तब वह भयङ्कर राक्षसी भयङ्कर नाद करती जिधर से आयी थी उधर ही को भाग खड़ी हुई ॥ १८ ॥

---

१ उपगुह्य—आलिङ्ग्य। (गो०)

तस्यां गतायां गहनं विशन्तौ वनमोजसा ।
आसेदतुरमित्रघ्नौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

जब वह वहाँ से चली गयी तब शत्रुओं का नाश करने वाले और महातेजस्वी दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वहाँ से शीघ्रता पूर्वक चल एक गहन वन में पहुँचे ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्तु महातेजाः [1]सत्त्ववाञ्शील[2]वाञ्शुचिः[3] ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम्* ॥ २० ॥

महातेजस्वी, निर्मल मन वाले, सदाचारी एवं पवित्र शरीर वाले लक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर प्रकाशमान श्रीरामचन्द्रजी से बोले ॥२०॥

स्पन्दते मे दृढं बाहुरुद्विग्नमिव मे मनः ।
प्रायशश्चाप्यनिष्टानि निमित्तान्युपलक्षये ॥ २१ ॥

हे भाई ! मेरी वाम भुजा बहुत फड़क रही है और मन ऊब सा रहा है । इनके अतिरिक्त और भी अपशकुन मुझे देख पड़ते हैं ॥२१॥

तस्मात्सज्जीभवार्य त्वं कुरुष्व वचनं हितम् ।
ममैव हि निमित्तानि सद्यः शंसन्ति सम्भ्रमम् ॥ २२ ॥

सो आप मेरे कहने से तैयार रहिये । ये सारे के सारे अपशकुन मुझे निकटवर्ती भय की स्पष्ट सूचना दे रहे हैं ॥ २२ ॥

एष वञ्जुलको नाम पक्षी परमदारुणः ।
आवयोर्विजयं युद्धे शंसन्निव विनर्दति ॥ २३ ॥

---

१ सत्ववान — निर्मलमनस्कः । (गो०) २ शीलवान् — सद्वृत्तान् (गो०) ५ शुचि — कायशुद्धियुक्तः । (गो०) * "पाठान्तरे — दीप्ततेजसम्"

परन्तु विजय हमारी अवश्य होगी। क्योंकि यह अत्यन्त भयानक वञ्जलक पक्षी मानों हमारी विजयसूचना का बखान करता हुआ बोल रहा है ॥ २३ ॥

तयोरन्वेषतोरेवं सर्वं तद्वनमोजसा ।
संजज्ञे विपुलः शब्दः प्रभञ्जन्निव तद्वनम् ॥ २४ ॥

जिस समय तेजस्वी श्रीराम और लक्ष्मण उस वन को ढूँढ रहे थे; उस समय एक ऐसा भयानक शब्द सुन पड़ा, जिससे ऐसा जान पड़ा कि, मानों वन टुकड़े टुकड़े हुआ जाता हो ॥ २४ ॥

संवेष्टितमिवात्यर्थं गगनं मातरिश्वना[1] ।
वनस्य तस्य शब्दोऽभूद्दिवमापूरयन्निव ॥ २५ ॥

इतने में बड़ी ज़ोर से आंधी चली। पवन चलने के शब्द से समस्त वन शब्दायमान हो गया और वह शब्द आकाश में छा सा गया ॥ २५ ॥

तं शब्दं काङ्क्षमाणस्तु रामः कक्षे[2] सहानुजः ।
ददर्श सुमहाकायं राक्षसं विपुलोरसम् ॥ २६ ॥

वे दोनों भाई उस शब्द होने का कारण जानना ही चाहते थे कि, एक बड़े डीलडौल का और चौड़ी छाती वाला राक्षस समीप ही देख पड़ा ॥ २६ ॥

आसेदतुस्ततस्तत्र तावुभौ प्रमुखे स्थितम् ।
विवृद्धमशिरोग्रीवं कबन्धमुदरेमुखम् ॥ २७ ॥

वह राक्षस आकर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सामने खड़ा हो गया। वह बहुत लंबा चौड़ा, बिना सिर और गरदन का कबन्ध था और उसका मुख पेट में था ॥ २७ ॥

---

१ मातरिश्वना—वायुना। (गो०) २ कक्षे—गुल्मे। (गो०)

रोमभिर्निचितैस्तीक्ष्णैर्महागिरिमिवोच्छ्रितम् ।
नीलमेघनिभं रौद्रं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ २८ ॥

उसके शरीर के रोंगटे काँटों की तरह नुकीले थे और वह पहाड़ की तरह ऊँचा था। बड़ा भयङ्कर और मेघ की गरज की तरह उसका स्वर था ॥ २८ ॥

अग्निज्वालानिकाशेन ललाटस्थेन दीप्यता ।
महापक्ष्मेण पिङ्गेन विपुलेनायतेन च ॥ २९ ॥

अग्नि की शिखा की तरह प्रदीप्त उसका एक नेत्र ललाट में था, जिस पर धुमैले पलक थे। वह नेत्र बड़ा भी बहुत था ॥ २९ ॥

एकेनोरसि घोरेण नयनेनाशुदर्शिना ।
महादंष्ट्रोपपन्नं तं लेलिहानं महामुखम् ॥ ३० ॥

एक नेत्र उसका उसकी छाती पर था। वह नेत्र अत्यन्त भयङ्कर देख पड़ता था। उसका मुख भी बहुत बड़ा था, जिसमें बड़े बड़े दाँत थे और वह अपने ओठों को चाटता था ॥ ३० ॥

भक्षयन्तं महाघोरानृक्षसिंहमृगाद्विपान् ।
घोरौ भुजौ विकुर्वाणमुभौ योजनमायतौ ॥ ३१ ॥
कराभ्यां विविधान्गृह्य ऋक्षान्पक्षिगणान्मृगान् ।
आकर्षन्तं विकर्षन्तमनेकान्मृगयूथपान् ॥ ३२ ॥

बड़े बड़े भयङ्कर भालुओं, सिंहो, मृगों, और पक्षियों को वह खाया करता था और बड़ी बड़ी तथा भयङ्कर एवं एक योजन भर लंबी दोनों भुजाओं को फैला, हाथों से अनेक रीछों, पक्षियों, और मृगों को पकड़ कर, अपने मुख में डाल लिया करता था ॥३१॥३२॥

स्थितमावृत्य पन्थानं तयोर्भ्रात्रोः प्रपन्नयोः[1] ।
अथ तौ समभिक्रम्य क्रोशमात्रे ददर्शतुः ॥ ३३ ॥
महान्तं दारुणं भीमं कबन्धं भुजसंवृतम् ।
कबन्धमिव संस्थानादतिघोरप्रदर्शनम् ॥ ३४ ॥
स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ ।
जग्राह सहितावेव राघवौ पीडयन्बलात् ॥ ३५ ॥

वह रास्ता रोके हुए था। एक कोस की दूरी से ही राक्षस दोनों भाइयों को देख पड़ा और जब वे उसके पास पहुँचे, तब उस अत्यन्त भयङ्कर एवं निष्ठुर कबन्ध ने अपनी लंबी भुजाएँ फैला कर उन दोनों को किचकिचा कर पकड़ लिया॥ ३३ ॥ ३४ ३५ ॥

खड्गिनौ दृढधन्वानौ तिग्मतेजोवपुर्धरौ ।
भ्रातरौ विवशं प्राप्तौ कृष्यमाणौ महाबलौ ॥ ३६ ॥

तलवार और मज़बूत धनुष लिये हुए, अत्यन्त तेजस्वी शरीर धारी और महाबलवान् होने पर भी, वे दोनों भाई कबन्ध द्वारा खींच लिये गये॥ ३६ ॥

तत्र धैर्येण शूरस्तु राघवो नैव विव्यथे ।
बाल्यादनाश्रयत्वाच्च लक्ष्मणस्त्वतिविव्यथे ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र तो अपनी धीरता और वीरता से दुःखी न हुए, परन्तु लक्ष्मण बालक होने के कारण पकड़े जाने पर घबड़ा गये॥ ३७ ॥

उवाच च विषण्णः सन्राघवं राघवानुजः ।
पश्य मां वीर विवशं राक्षसस्य वशं गतम् ॥ ३८ ॥

---

[1] प्रपन्नयोः—समीपं प्राप्तयोः। (गो०)

और दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले, हे वीर! देखो मैं तो इस राक्षस के फंदे में फँस गया॥ ३८॥

मयैकेन विनिर्युक्तः परिमुञ्चस्व राघव।
मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम्॥ ३९॥

अतः अब आप मेरी इस राक्षस को बलि दे और अपने को छुड़ा, आप सुखपूर्वक चले जाइये॥ ३९॥

अधिगन्ताऽसि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः।
प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम्॥ ४०॥

हे काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र! मुझे विश्वास है कि, आपको सीता मिलेगी। आप पुरखों का राज्य पाकर॥ ४०॥

तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा।
लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिमब्रवीत्॥ ४१॥

और राजसिंहासन पर बैठ, मुझे सदा स्मरण करते रहियेगा अथवा मुझे भूल मत जाइयेगा। जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा तब श्रीरामचन्द्र जी उनसे बोले॥ ४१॥

मा स्म त्रासं कृथा वीर न हि त्वादृग्विषीदति।
एतस्मिन्नन्तरे क्रूरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ ४२॥

हे वीर! भयभीत मत हो। क्योंकि तुम्हारे जैसे पराक्रमी पुरुषों को इस प्रकार घबड़ाना उचित नहीं। इतने में उस निर्दयी राक्षस ने दोनों भाई श्रीराम लक्ष्मण से कहा॥ ४२॥

पप्रच्छ घननिर्घोषः कबन्धो दानवोत्तमः
कौ युवां वृषभस्कन्धौ महाखड्गधनुर्धरौ॥ ४३॥

दानवोत्तम कबन्ध ने मेघ की तरह गरज कर पूछा कि, तुम दोनों युवक जो वृषभ जैसे ऊँचे कंधों वाले और बड़े बड़े खड्गों को धारण किये हुए हो, कौन हो? ॥ ४३ ॥

घोरं देशमिमं प्राप्तौ मम भक्षावुपस्थितौ ।
वदतं कार्यमिह वां किमर्थं चागतौ युवाम् ॥ ४४ ॥

इस भयङ्कर वन में आकर तुम मेरे भक्ष्य बने हो। अब तुम अपना प्रयोजन बतलाओ कि, तुम दोनों यहाँ क्यों आये हो॥ ४४ ॥

इमं देशमनुप्राप्तौ क्षुधार्तस्येह तिष्ठतः ।
सबाणचापखड्गौ च तीक्ष्णशृङ्गाविवर्षभौ ॥ ४५ ॥

मैं इस समय भूख से दुःखी हो रहा हूँ। सो तुम्हारा यहाँ धनुष बाण और खड्ग धारण कर, पैने सींगों के बैल की तरह आना ॥ ४५ ॥

ममास्यमनुसम्प्राप्तौ दुर्लभं जीवितं पुनः ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कबन्धस्य दुरात्मनः ॥ ४६ ॥

मानों मेरे मुख में पड़ना है। अतः तुम्हारा अब जीवित बचना दुर्लभ है। उस दुष्ट कबन्ध के ये बचन सुन ॥ ४६ ॥

उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ।
कृच्छ्रात्कृच्छ्रतरं प्राप्य दारुणं सत्यविक्रम ॥ ४७ ॥

सूखे मुख से श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण से बोले। हे सत्यपराक्रमी! देखो, ऐसे ऐसे दारुण कष्ट सह कर, ॥ ४७ ॥

व्यसनं जीवितान्ताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम् ।
कालस्य सुमहद्वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४८ ॥

और प्राणों को जोखों में डाल कर कर भी प्यारी सीता को हम न पा सके। हे लक्ष्मण! मुझे तो काल ही सब से बढ़ कर बली जान पड़ता है ॥ ४८ ॥

त्वां च मां च नरव्याघ्र व्यसनैः पश्यमोहितौ ।
नातिभारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

हे लक्ष्मण! देखो, तुम और मैं दोनों ही काल के प्रभाव से इस विपत्ति में आ फंसे हैं। प्राणिमात्र को दुःख देने में काल को तनिक भी श्रम नहीं होता ॥ ४९ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे।
कालाभिपन्नाः सीदन्ति तथा वालुकसेतवः ॥ ५० ॥

देखो, शूर, बलवान् एवं अस्त्रविद्या में पटु लोग भी युद्ध में काल के वश होकर बालू के बाँध की तरह खसक पड़ते हैं ॥ ५० ॥

इति ब्रुवाणो दृढसत्यविक्रमो
महायशा दाशरथिः प्रतापवान् ।
अवेक्ष्य सौमित्रिमुदग्रपौरुषं
स्थिरां तदा स्वां मतिमात्मनाऽकरोत् ॥ ५१ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

दृढ़, सत्यपराक्रमी, प्रतापी और महायशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने बड़े पुरुषार्थी लक्ष्मण को देख कर और मन में सोच समझ कर, धैर्य धारण किया ॥ ५१ ॥

अरण्यकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्ततितमः सर्गः

—※—

तौ तु तत्र स्थितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बाहुपाशपरिक्षिप्तौ कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को अपनी बाहों में जकड़े हुए खड़े देख, कबन्ध ने उनसे कहा ॥ १ ॥

तिष्ठतः किं नु मां दृष्ट्वा क्षुधार्तं क्षत्रियर्षभौ ।
आहारार्थं तु सन्दिष्टौ दैवेन गतचेतसौ ॥ २ ॥

अरे क्षत्रियश्रेष्ठ! मुझे देख तुम दोनों जन डरे हुए से क्यों खड़े हो! मुझ भूखे के आहार के लिये विधाता ने तुमको मेरे पास भेज दिया है ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणो वाक्यं प्राप्तकालं हितं तदा ।
उवाचार्तिं समापन्नो विक्रमे कृतनिश्चयः* ॥ ३ ॥

कबन्ध के ये वचन सुन, लक्ष्मण जी दुःखित हो और अपना बल अज़माने का निश्चय कर, समयानुकूल श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३ ॥

त्वां च मां च पुरा तूर्णमादत्ते राक्षसाधमः ।
तस्मादसिभ्यामस्याशु बाहू च्छिन्दावहै गुरू ॥ ४ ॥

देखो, यह राक्षसाधम हम दोनों को पकड़े हुए है। अतः हम दोनों इसकी ये दोनों बड़ी भारी भुजाएं काट डालें ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—"कृतलक्षणः"।

भीषणोऽयं महाकायो राक्षसो भुजविक्रमः ।
लोकं ह्यतिजितं कृत्वा ह्यावां हन्तुमिहेच्छति ॥ ५ ॥

यह बड़े डीलडौल का भयङ्कर राक्षस केवल अपनी भुजाओं के बलबूते पर सब लोकों को जीत कर, अब हम दोनों को मार डालना चाहता है ॥ ५ ॥

निश्चेष्टानां वधो राजन्कुत्सितो जगतीपतेः ।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥ ६ ॥

हे राघव ! यज्ञ में बलि देने के लिये लाये गये बकरों की तरह चेष्टा रहित मरना क्षत्रियों के लिये बड़ी निन्दा की बात है ॥ ६ ॥

एतत्सञ्जल्पितं श्रुत्वा तयोः क्रुद्धस्तु राक्षसः ।
विदार्यास्यं तदा रौद्रस्तौ भक्षयितुमारभत् ॥ ७ ॥

उन दोनों की इस प्रकार की बातचीत सुन, राक्षस क्रुद्ध हो अपना भयङ्कर मुँह फैला, उन दोनों को खाने के लिये तैयार हुआ ॥ ७ ॥

ततस्तौ देशकालज्ञौ खड्गाभ्यामेव राघवौ ।
अच्छिन्दतां सुसंहृष्टौ[1] बाहू तस्यांसदेशतः ॥ ८ ॥

तब देश और काल के जानने वाले श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने अपनी अपनी तलवारों से उसकी बाहें सहज में कन्धे से काट डालीं ॥ ८ ॥

दक्षिणो[2] दक्षिणं बाहुमसक्त[3]मसिना ततः ।
चिच्छेद रामो वेगेन सव्यं वीरस्तु लक्ष्मणः ॥ ९ ॥

---

१ सुसंहृष्टौ—कदलीकाण्ड वत्सुखच्छेदनादिति । (गो०) २ दक्षिणः—समर्थः । (गो०) ३ असक्तं—अप्रतिबंधं यथाभवात तथा । (गो०)

तलवार चलाने में समर्थ अथवा दक्ष श्रीरामचन्द्र ने उसकी दहिनी भुजा और शूरवीर लक्ष्मण ने उसकी बाईं भुजा बड़ी फुरती से काटी ॥ ९ ॥

स पपात महाबाहुश्छिन्नबाहुर्महास्वनः ।
खं च गां च दिशश्चैव नादयञ्जलदो यथा ॥ १० ॥

भुजाओं के कटते ही महाबाहु कबन्ध, मेघ की तरह भयङ्कर शब्द कर और अपने उस भयङ्कर शब्द से आकाश, पृथिवी तथा समस्त दिशाओं को पूरित करता हुआ, भूमि पर गिर पड़ा ॥१०॥

स निकृत्तौ भुजौ दृष्ट्वा शोणितौघपरिप्लुतः ।
दीनः पप्रच्छ तौ वीरौ कौ युवामिति दानवः ॥ ११ ॥

दोनों भुजाओं के कटने से अपने शरीर को रुधिर से लस्त-पस्त देख और दीन हो, दानव कबन्ध ने पूछा, तुम दोनों युवक कौन हो? ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
शशंस राघवं तस्य कबन्धस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

इस प्रश्न के उत्तर में शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण, कबन्ध को, श्रीरामचन्द्र का परिचय देते हुए, कहने लगे ॥ १२ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
अस्यैवावरजं विद्धि भ्रातरं मां च लक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

यह इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न हैं और श्रीराम के नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं। मैं इनका छोटा भाई हूँ और मेरा नाम लक्ष्मण है ॥१३॥

[मात्रा प्रतिहृते राज्ये रामः प्रव्राजितो वनम् ।
मया सह चरत्येष भार्यया च महद्वनम्] ॥ १४ ॥

इनकी सौतेली माता ने इनकी राज्य की प्राप्ति में बाधा डाली और उसके कहने से ये, वन में चले आये। सो मेरे तथा अपनी भार्या के सहित ये महावन में विचरण करते थे ॥ १४ ॥

अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने ।
राक्षसाऽपहृता पत्नी यामिच्छन्ताविहागतौ ॥ १५ ॥

इन देवतुल्य प्रभावशाली श्रीरामचन्द्र की पत्नी को, इस विजन वन में रहने के समय, एक राक्षस हर कर ले गया है। उसीको खोजते खोजते हम लोग यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

त्वं तु को वा किमर्थं वा कबन्धसदृशो वने ।
आस्येनोरसि दीप्तेन भग्नजङ्घो [1]विवेष्टसे ॥ १६ ॥

यह तो बतलाओ कि, तुम कौन हो और किस लिये कबन्ध को तरह और अपनी छाती में चमचमाता मुख लगाये, जंघारहित हो, इस निर्जन वन में लोट रहे हो ॥ १६ ॥

एवमुक्तः कबन्धस्तु लक्ष्मणेनोत्तरं वचः ।
उवाच परमप्रीतस्तदिन्द्रवचनं स्मरन् ॥ १७ ॥

लक्ष्मण जी का वचन सुन, वह राक्षस हर्षित हो और इन्द्र की कही बात को स्मरण कर, कहने लगा ॥ १७ ॥

स्वागतं वां नरव्याघ्रौ दिष्ट्या पश्यामि चाप्यहम् ।
दिष्ट्या चेमौ निकृत्तौ मे युवाभ्यां बाहुबन्धनौ ॥१८॥

हे नरश्रेष्ठ ! मैं तुम दोनों का स्वागत करता हूँ। आज भाग्य ही से मैंने तुम दोनों के दर्शन पाये हैं। यह भी मेरे लिये सौभाग्य

---

१ विवेष्टसे—लुठसीतियावत् । (गो०)

की बात है कि, मेरे इन दोनों बाहुरूपी बन्धनों को तुमने काट डाला ॥ १८ ॥

विरूपं यच्च मे रूपं प्राप्तं ह्यविनयाद्यथा ।
तन्मे शृणु नरव्याघ्र तत्त्वतः शंसतस्तव ॥ १९ ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

मैंने अपनी अनम्रता से जिस प्रकार यह बेढंगा रूप पाया है, उसका यथार्थ वर्णन मैं करता हूँ। हे नरव्याघ्र! उसे तुम सुनो ॥१९॥

अरण्यकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकसप्ततितमः सर्गः

—*—

पुरा राम महाबाहो महाबलपराक्रम ।
रूपमासीन्ममाचिन्त्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १ ॥

हे महाबाहु श्रीरामचन्द्र! प्राचीन काल में मैं महाबलवान् और बड़ा पराक्रमी था, मैं अपने अचिन्त्य रूप की सुन्दरता के लिये तीनों लोकों में वैसे ही प्रसिद्ध था ॥ १ ॥

यथा सोमस्य शक्रस्य सूर्यस्य च यथा वपुः ।
सोऽहं रूपमिदं कृत्वा लोकवित्रासनं महत् ॥ २ ॥

जैसे सूर्य, इन्द्र और चन्द्रमा प्रसिद्ध हैं। मैं लोगों को डराने के लिये बड़ा भयानक रूप बना कर ॥ २ ॥

ऋषीन्वनगतान्राम त्रासयामि ततस्ततः ।
ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया ॥ ३ ॥

हे राम ! वन में बसने वाले ऋषियों को त्रस्त करने लगा। कुछ काल बीतने पर स्थूलशिरा नाम के एक महर्षि को मैंने कुपित किया ॥ ३ ॥

संचिन्वन्विविधं वन्यं रूपेणानेन धर्षितः ।
तेनाहमुक्तः प्रेक्ष्यैवं घोरशापाभिधायिना ॥ ४ ॥

एक दिन स्थूलशिरा वन में विविध भाँति के फूलफलादि इकट्ठे कर रहे थे। मैंने इस रूप से उनको बहुत दुःख दिया। तब उन्होंने मेरी ओर देख कर, मुझे घोर शाप दिया ॥ ४ ॥

एतदेवनृशंसं ते रूपमस्तु विगर्हितम् ।
स मया याचितः क्रुद्धः शापस्यान्तो भवेदिति ॥ ५ ॥

वे बोले—तेरा इसी प्रकार का क्रूर और गर्हित रूप सदा के लिये हो जाय। क्रुद्ध हो उनको शाप देते देख, मैंने शाप के अन्त के लिये उनसे प्रार्थना की ॥ ५ ॥

अभिशापकृतस्येति तेनेदं भाषितं वचः ।
यदा छित्त्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद्विजने वने ॥ ६ ॥

तब शाप का अन्त होने के लिये उन्होंने कहा कि, जब श्रीरामचन्द्र तेरी दोनों भुजाएं काट विजन वन में तुझे फूंक देंगे ॥ ६ ॥

तदा त्वं प्राप्स्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम् ।
श्रिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण ॥ ७ ॥
इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तमेवं रणाजिरे[1] ।
अहं हि तपसाग्रेण पितामहमतोषयम् ॥ ८ ॥

---

१ रणाजिरे—रणाङ्गणे। (गो०)

तब तू पूर्ववत् अपना अत्यन्त सुन्दर और शुभ रूप पावेगा। हे लक्ष्मण! तुम मुझे दनु का पुत्र जानो। तब तक मेरा रूप सुन्दर था। किन्तु मेरा यह विकराल रूप तो रणाङ्गण में इन्द्र के कुपित होने से हुआ है। वह वृत्तान्त इस प्रकार है—मैंने उग्रतप द्वारा ब्रह्मा जी को सन्तुष्ट किया ॥ ७ ॥ ८ ॥

दीर्घमायुः स मे प्रादात्ततो मां [1]विभ्रमोऽस्पृशत् ।
दीर्घमायुर्मया प्राप्तं किं मे शक्रः करिष्यति ॥ ९ ॥

सन्तुष्ट हो जब मुझे ब्रह्मा जी ने दीर्घायु होने का वरदान दिया; तब मुझे बड़ा गर्व हो गया। मैंने सोचा कि, जब मुझे दीर्घायु होने का वरदान मिल चुका है; तब इन्द्र मेरा क्या कर सकता है ॥ ९ ॥

इत्येवं बुद्धिमास्थाय रणे शक्रमधर्षयम् ।
तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ॥ १० ॥

यह सोच मैंने युद्धक्षेत्र में इन्द्र को ललकारा। तब इन्द्र ने अपना सौ धार का बज्र मेरे ऊपर छोड़ा ॥ १० ॥

सक्थिनी चैव मूर्धा च शरीरे संप्रवेशितम् ।
स मया याच्यमानः सन्नानयद्यमसादनम् ॥ ११ ॥

जिसके लगने से मेरी दोनों जंघाएँ और मस्तक शरीर में घुस गये, किन्तु मेरे प्रार्थना करने पर मुझे मार नहीं डाला अथवा मैंने अपनी मौत चाही भी परन्तु उन्होंने मुझे यमपुर को नहीं भेजा ॥११॥

पितामहवचः सत्यं तदस्त्विति ममाब्रवीत् ।
अनाहारः कथं शक्तो भग्नसक्थिशिरोमुखः ॥ १२ ॥

---

1 विभ्रमोगर्वः (रा०) ।

प्रत्युत इन्द्र ने इतना ही कहा कि, जाओ पितामह ब्रह्मा जी का वचन सत्य हो। इस पर मैंने इन्द्र से कहा कि—जंघा, सिर और मुख तो आपने वज्र के आघात से मेरे शरीर में घुसा दिये। अब मैं भोजन विना बहुत दिनों तक कैसे जीता रहूँगा॥ १२॥

वज्रेणाभिहतः कालं सुदीर्घमपि जीवितुम्।
एवमुक्तस्तु मे शक्रो बाहू योजनमायतौ॥ १३॥

इस बात को सुन इन्द्र ने कहा कि, अच्छा, अब तेरी बाँहें, एक योजन लंबी हो जाँयगी और तू बहुत दिनों तक जीवित भी रहेगा॥१३॥

प्रादादास्यं च मे कुक्षौ तीक्ष्णदंष्ट्रमकल्पयत्।
सोऽहं भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां संकृष्यास्मिन्वनेचरान्॥१४॥
सिंहद्विपमृगव्याघ्रान्भक्षयामि समन्ततः।
स तु मामब्रवीदिन्द्रो यदा रामः सलक्ष्मणः॥ १५॥
छेत्स्यते समरे बाहू तदा स्वर्गं गमिष्यसि।
अनेन वपुषा राम वनेऽस्मिन्राजसत्तम॥ १६॥

इन्द्र ने मेरे मुख में पैने पैने दाँत लगा मुख मेरे पेट में लगा दिया। तब से मैं अपने दोनों लंबे हाथ फैला कर, वन में विचरने वाले सिंह, चीते, हिरन, तेंदुए को पकड़ पकड़ कर मुख में डाल लिया करता हूँ। इन्द्र ने मुझसे यह भी कहा कि, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जब तुम्हारी भुजाओं को काटेंगे, तब तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। तब से हे राजसत्तम! मैं इसी शरीर से इस वन में॥ १४॥ १५॥ १६॥

यद्यत्पश्यामि सर्वस्य ग्रहणं साधु रोचये।
अवश्यं ग्रहणं रामो मन्येऽहं समुपैष्यति॥ १७॥

मैं जिस जीवजन्तु को पाता, उसे पकड़ना अच्छा समझता था। साथ ही यह भी विचारता था कि, किसी दिन श्रीरामचन्द्र भी मेरी भुजाओं से अवश्य पकड़े जायँगे ॥ १७ ॥

इमां बुद्धिं पुरस्कृत्य देहन्यासकृतश्रमः ।
स त्वं रामोऽसि भद्रं ते नाहमन्येन राघव ॥ १८ ॥

इस प्रकार मैं इस शरीर को त्यागने के लिये प्रयत्न कर रहा था। सो आप वही राम हैं। क्योंकि और किसी का सामर्थ्य नहीं, जो मुझे मार सके ॥ १८ ॥

शक्यो हन्तुं यथातत्त्वमेवमुक्तं महर्षिणा ।
अहं हि [1]मतिसाचिव्यं करिष्यामि नरर्षभ ॥ १९ ॥

क्योंकि महर्षि जी ही ने ऐसा कहा था सो सत्य ही हुआ। अतः हे पुरुषश्रेष्ठ! और तो मुझसे कुछ नहीं हो सकता, परन्तु मैं अपने बुद्धिबल से आपकी सहायता करूँगा ॥ १९ ॥

मित्रं चैवोपदेक्ष्यामि युवाभ्यां संस्कृतोऽग्निना ।
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दनुना तेन राघवः ॥ २० ॥

आप द्वारा मेरा अग्निसंस्कार होने पर, मैं आपको एक मित्र बताऊँगा। जब इस प्रकार से उस दनु के पुत्र ने धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २० ॥

इदं जगाद वचनं लक्ष्मणस्योपशृण्वतः ।
रावणेन हृता भार्या मम सीता यशस्विनी ॥ २१ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को सुनाते हुए उससे कहा— रावण ने मेरी यशस्विनी भार्या सीता हर ली है ॥ २१ ॥

---

१ मतिसाचिव्यं—बुद्धिसाहाय्यं। (गो०)

निष्क्रान्तस्य जनस्थानात्सह भ्रात्रा यथासुखम् ।
नाममात्रं तु जानामि न रूपं तस्य रक्षसः ॥ २२ ॥

रावण ने जब सीता हरी, तब मैं लक्ष्मण सहित जनस्थान से बाहिर गया हुआ था । मैं उस राक्षस का नाम मात्र जानता हूँ, उसे पहचानता नहीं ॥ २२ ॥

निवासं वा प्रभावं वा वयं तस्य न विद्महे ।
शोकार्तानामनाथानामेवं विपरिधावताम् ॥ २३ ॥

हमें यह भी नहीं मालूम कि, वह कहाँ का रहने वाला है और उसका प्रभाव कैसा है । देखो, हम शोकाकुल और सहायहीन हो इधर उधर मारे मारे फिर रहे हैं ॥ २३ ॥

कारुण्यं सदृशं कर्तुमुपकारे च वर्तताम् ।
काष्ठान्यादाय शुष्काणि काले भग्नानि कुञ्जरैः ॥ २४ ॥

इसलिये तुम हम पर दया कर, हमारी उपयुक्त सहायता करो । हम हाथियों के, समय पर अर्थात् खाने के लिये तोड़े हुए लक्कड़ इकट्ठे कर, ॥ २४ ॥

धक्ष्यामस्त्वां वयं वीर श्वभ्रे महति कल्पिते ।
स त्वं सीतां समाचक्ष्व येन वा यत्र वा हृता ॥ २५ ॥

और बड़ा गढ़ा खोद, हे वीर ! हम तुम्हें अभी भस्म किये देते हैं । किन्तु तुम यह तो बताओ कि, सीता को कौन हर कर ले गया है और कहाँ ले गया है ॥ २५ ॥

कुरु कल्याणमत्यर्थं यदि जानासि तत्त्वतः ।
एवमुक्तस्तु रामेण वाक्यं दनुरनुत्तमम् ॥ २६ ॥

प्रोवाच कुशलो वक्तुं वक्तारमपि राघवम् ।
दिव्यमस्ति न मे ज्ञानं नाभिजानामि मैथिलीम् ॥ २७ ॥

यदि तुम्हें ठीक ठीक हाल मालूम हो और यदि उसे तुम हमें बतला दोगे, तो इससे हमारा बड़ा काम निकलेगा । जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब वह दानवश्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी से बड़ी कुशलता के साथ कहने लगा । वह बोला—हे राम ! न तो मुझे दिव्य ज्ञान है और न मैं सीता को पहिचानता ही हूँ ॥ २६ ॥ २७ ॥

यस्तां ज्ञास्यति तं वक्ष्ये दग्धः स्वं रूपमास्थितः ।
अदग्धस्य तु विज्ञातुं शक्तिरस्ति न मे प्रभो ॥ २८ ॥

परन्तु मैं जल कर जब अपना असली रूप पाऊँगा, तब मैं उस बतलाने वाले का नाम ठिकाना बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है । हे प्रभो ! बिना दग्ध हुए बतलाने की मुझमें शक्ति नहीं है ॥ २८ ॥

राक्षसं ते महावीर्यं सीता येन हृता तव ।
विज्ञानं हि मम भ्रष्टं शापदोषेण राघव ॥ २९ ॥

जिस राक्षस ने तुम्हारी सीता हरी है वह बड़ा पराक्रमी है । हे राघव ! शाप-दोष से मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है ॥ २९ ॥

स्वकृतेन मया प्राप्तं रूपं लोकविगर्हितम् ।
किंतु यावन्न यात्यस्तं सविता श्रान्तवाहनः ॥ ३० ॥

अपने पाप के बल से मुझे यह लोकनिन्दित रूप प्राप्त हुआ है । हे श्रीरामचन्द्र ! सूर्यास्त होने के पूर्व ही ॥ ३० ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, मुर्दे को सूर्यास्त के बाद दग्ध न करना चाहिये ।]

तावन्मामवटे क्षिप्त्वा दह राम यथाविधि ।
दग्धस्त्वयाऽहमवटे न्यायेन रघुनन्दन ॥ ३१ ॥
वक्ष्यामि तमहं वीर यस्तं ज्ञास्यति राक्षसम् ।
तेन सख्यं च कर्तव्यं न्यायवृत्तेन राघव ।
कल्पयिष्यति ते प्रीतः साहाय्यं लघुविक्रमः ॥ ३२ ॥

मुझे गढ़े में रख, यथाविधि भस्म कर दो। हे राम! जब तुम मुझे विधिपूर्वक गढ़े में डाल भस्म कर दोगे, तब मैं उसका नाम तुमको बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है। तुम उससे न्यायपूर्वक मित्रता करना। वह प्रसन्न हो कर बहुत शीघ्र तुम्हारा काम कर देगा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

न हि तस्यास्त्वविज्ञातं त्रिषु लोकेषु राघव ।
सर्वान्परिसृतो लोकान्पुराऽसौ कारणान्तरे ॥ ३३ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

क्योंकि तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे वह न जानता हो। क्योंकि वह कारणान्तर से, सब लोकों में पहिले घूम चुका है ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—*—

एवमुक्तौ तु तौ वीरौ कबन्धेन नरेश्वरौ ।
गिरिप्रदरमासाद्य पावकं विससर्जतुः ॥ १ ॥

उन राजकुमारों से कबन्ध ने जब इस प्रकार कहा, तब उन दोनों भाइयों ने एक पहाड़ी गढ़े में उसके शरीर को डाल, आग लगा दी ॥ १ ॥

लक्ष्मणस्तु महोल्काभिर्ज्वलिताभिः समन्ततः ।
चितामादीपयामास सा प्रजज्वाल सर्वतः ॥ २ ॥

फिर लक्ष्मण ने बड़े बड़े लक्कड़ जला चारों ओर से चिता में आग लगा, चिता प्रदीप्त कर दी। चिता चारों ओर से जलने लगी ॥ २ ॥

तच्छरीरं कबन्धस्य घृतपिण्डोपमं महत् ।
मेदसा पच्यमानस्य मन्दं दहति पावकः ॥ ३ ॥

तब कबन्ध का घी के पिंड के समान चरबी से पूर्ण बड़ा शरीर, अग्नि में धीरे धीरे जलने लगा ॥ ३ ॥

स विधूय चितामाशु विधूमोऽग्निरीवोत्थितः ।
अरजे वाससी बिभ्रन्मालां दिव्यां महाबलः ॥ ४ ॥

तदनन्तर महाबली कबंध शीघ्र चिता को छोड़, दो स्वच्छ वस्त्र और दिव्य माला धारण कर, धूमरहित अग्नि की तरह उसमें से निकला ॥ ४ ॥

ततश्चिताया वेगेन भास्वरो विमलाम्बरः ।
उत्पपाताशु संहृष्टः सर्वप्रत्यङ्गभूषणः ॥ ५ ॥

वह कान्तियुक्त शरीर धारण कर, प्रसन्न होता हुआ, बड़े वेग से आकाश में गया। उसके शरीर के समस्त अंग प्रत्यंग गहनों से भूषित थे ॥ ५ ॥

विमाने भास्वरे तिष्ठन्हंसयुक्ते यशस्करे ।
प्रभया च महातेजा दिशो दश विराजन् ॥ ६ ॥

तदनन्तर वह चमचमाते हंसयुक्त यश देने वाले विमान में बैठकर अपने शरीर की प्रभा से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने लगा ॥६॥

सोऽन्तरिक्षगतो रामं कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु राघव तत्त्वेन यथा सीतामवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

आकाश में पहुँच कबन्ध ने श्रीराम को सम्बोधन कर कहा— हे श्रीरामचन्द्र ! सुनो मैं बतलाता हूँ जिस प्रकार तुमको सीता मिलेगी ॥ ७ ॥

राम षड्युक्तयो लोके याभिः सर्वं विमृश्यते ।
परिमृष्टो दशान्तेन दशाभागेन सेव्यते ॥ ८ ॥

काम करने की संसार में छः युक्तियाँ हैं-(यथा १ सन्धि, २ विग्रह, ३ यान, ४ आसन, ५ द्वैधीभाव और ६ समाश्रय) श्रेष्ठजन इन्हींकी सहायता से सब बातों का विचार करते हैं। इनको काम में लाये बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता। जो मनुष्य दुर्दशाग्रस्त होता है अथवा जिसे दुर्दशा घेर लेती है उसकी दुर्दशा ही होती चली जाती है ॥ ८ ॥

दशाभागगतो हीनस्त्वं हि राम सलक्ष्मणः ।
यत्कृते व्यसनं प्राप्तं त्वया दारप्रधर्षणम् ॥ ९ ॥

तुम दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण दुर्दशाग्रस्त हो रहे हो। इसीसे स्त्रीहरण का यह दुःख तुम पर पड़ा है ॥ ९ ॥

तदवश्यं त्वया कार्यः स सुहृत्सुहृदां वर ।
अकृत्वा हि न ते सिद्धिमहं पश्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥

अतः हे सुहृदों में श्रेष्ठ ! तुम अवश्य उससे मैत्री करो। क्योंकि मैंने बहुत सोचा, मुझे तो तुम्हारे कार्य की सिद्धि, बिना उससे मैत्री किये, अन्य किसी उपाय से नहीं दीख पड़ती ॥ १० ॥

श्रूयतां राम वक्ष्यामि सुग्रीवो नाम वानरः ।
भ्राता निरस्तः क्रुद्धेन वालिना शक्रसूनुना ॥ ११ ॥

हे श्रीराम ! सुनो, मैं कहता हूँ ! सुग्रीव नाम का एक वानर है। इन्द्रपुत्र वालि ने उस अपने भाई को क्रुद्ध हो, निकाल दिया है ॥ ११ ॥

ऋश्यमूके गिरिवरे पम्पापर्यन्तशोभिते ।
निवसत्यात्मवान्वीरश्चतुर्भिः सह वानरैः ॥ १२ ॥

वह ज्ञानवान सुग्रीव अपने चार साथी वानरों के सहित ऋष्यमूक पर्वत पर जो पम्पा सरोवर तक फैला हुआ शोभायमान है, सदा वास करता है ॥ १२ ॥

वानरेन्द्रो महावीर्यस्तेजोवानमितप्रभः ।
सत्यसन्धो विनीतश्च धृतिमान्मतिमान्महान् ॥ १३ ॥

वह वानरों का राजा सुग्रीव बड़ा बलवान, तेजस्वी, अमित प्रभा वाला, सत्यप्रतिज्ञ, विनीत, धैर्यवान् और बड़ा बुद्धिमान है ॥ १३ ॥

दक्षः प्रगल्भो द्युतिमान्महाबलपराक्रमः ।
भ्रात्रा विवासितो राम राज्यहेतोर्महाबलः ॥ १४ ॥

वह सुग्रीव चतुर, साहसी, कान्तिमान् महाबली और महा पराक्रमी है। हे श्रीराम ! उस महाबली को उसके ज्येष्ठ भाई बाली ने राज्य के हेतु निकाल दिया है ॥ १४ ॥

स ते सहायो मित्रं च सीतायाः परिमार्गणे ।
भविष्यति हि ते राम मा च शोके मनः कृथाः ॥ १५ ॥

निश्चय ही वह तुमसे मैत्री करेगा और सीता के ढूढ़ने में तुम्हें सहायता भी देगा। हे राम ! तुम दुःखी मत हो ॥ १५ ॥

भवितव्यं हि यच्चापि न तच्छक्यमिहान्यथा ।
कर्तुमिक्ष्वाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १६ ॥

हे इक्ष्वाकु-कुलशार्दूल ! होनहार को मैंटने की शक्ति किसी में नहीं हैं। क्योंकि काल की गति को कोई रोक नहीं सकता ॥ १६ ॥

गच्छ शीघ्रमितो राम सुग्रीवं तं महाबलम् ।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ॥ १७ ॥

अतः हे राम ! अब तुम शीघ्र यहाँ से महाबली सुग्रीव के पास जाओ। हे राघव ! यहाँ से शीघ्र जाकर तुम उससे मैत्री कर लो ॥१७॥

अद्रोहाय समागम्य दीप्यमाने विभावसौ ।
स च ते नावमन्तव्यः सुग्रीवो वानराधिपः ॥ १८ ॥

जिससे पीछे आपस में मनमुटाव न हो, इस लिये प्रज्वलित अग्नि को साक्षी कर मैत्री करना। साथ ही यह भी याद रखना कि, वानरराज सुग्रीव का आपके द्वारा कभी अपमान न होने पावे ॥ १८ ॥

कृतज्ञः कामरूपी च सहायार्थी च वीर्यवान् ।
शक्तौ ह्यद्य युवां कर्तुं कार्यं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

क्योंकि वह वानरराज कृतज्ञ है, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला है, बड़ा बलवान है और इस समय उसे भी सहायता

की आवश्यकता है (तुम दोनों उसके कार्य को करने में समर्थ भी हो) ॥ १९ ॥

कृतार्थो वाऽकृतार्थो वा कृत्यं तव करिष्यति ।
स ऋक्षरजसः पुत्रः पम्पामटति शङ्कितः ॥ २० ॥

चाहे उसका काम पूरा हो जाय या अधूरा ही रहे, किन्तु वह तुम्हारा काम कर देगा । वह ऋक्षराज नामक वानर का पुत्र, भाई के डर के मारे पम्पा के किनारे किनारे घूमा करता है ॥ २० ॥

भास्करस्यौरसः पुत्रो वालिना कृतकिल्बिषः[1] ।
सन्निधायायुधं क्षिप्रमृश्यमूकालयं कपिम् ॥ २१ ॥

वह सूर्य का औरस पुत्र, वालि से शत्रुता होने के कारण बहुत दुःखी रहता है । तुम सब आयुधों को रख कर, उस ऋष्यमूक पर्वतवासी वानर से ॥ २१ ॥

कुरु राघव सत्येन[2] वयस्यं वनचारिणम् ।
स हि स्थानानि सर्वाणि कार्त्स्न्येन कपिकुञ्जरः ॥ २२ ॥
नरमांसाशिनां लोके नैपुण्यादधिगच्छति ।
न तस्याविदितं लोके किञ्चिदस्ति हि राघव ॥ २३ ॥

शपथपूर्वक मैत्री करना । क्योंकि वह कपिकुञ्जर सुग्रीव मनुष्याहारी राक्षसों के समस्त स्थानों को भली भाँति जानता है । हे राघव ! लोक में कोई भी जगह ऐसी नहीं, जिसे वह न जानता हो ॥ २२ ॥ २३ ॥

---

१ कृतकिल्बिषः—कृतवैरः । (गो०) २ सत्येन—शपथेन । (गो०)

यावत्सूर्यः प्रतपति सहस्रांशुररिन्दम ।
स नदीर्विपुलाञ्छैलान्गिरिदुर्गाणि कन्दरान् ॥ २४ ॥

हे अरिन्दम ! जहाँ तक सूर्य की किरण जा सकती है उतने बीच की समस्त नदियों, पर्वतों, दुर्गम स्थानों और कन्दराओं को ॥ २४ ॥

अन्वीक्ष्य वानरैः सार्धं पत्नीं तेऽधिगमिष्यति ।
वानरांश्च महाकायान्प्रेषयिष्यति राघव ॥ २५ ॥

वानरों के साथ ढूढ़ कर वह तुम्हारी पत्नी तुमको प्राप्त करवा देगा । अथवा (स्वयं न जाकर) अपने अधीनस्थ बड़े डीलडौल के बन्दरों को सीता को ढूँढ़ने के लिये भेज सकेगा ॥ २५ ॥

दिशो विचेतुं तां सीतां त्वद्वियोगेन शोचतीम् ।
स यास्यति वरारोहां निर्मलां रावणालये ॥ २६ ॥

तुम्हारे वियोग में चिन्तित निष्कलङ्क सुन्दरी सीता का पता लगा—यदि वह रावण के घर में हुई तो भी—वहाँ से ला कर उन्हें तुमसे मिला देगा ॥ २६ ॥

स मेरुशृङ्गाग्रगतामनिन्दितां
प्रविश्य पातालतलेऽपि वाश्रिताम् ।
प्लवङ्गमानां प्रवरस्तव प्रियां
निहत्य रक्षांसि पुनः प्रदास्यति ॥ २७ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्ग ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह वानरश्रेष्ठ ऐसा प्रतापी है कि, चाहे सीता मेरुपर्वत के शिखर पर गयी हो अथवा पाताल में हो, वह वहाँ जा और राक्षसों को मार कर, तुम्हें लाकर दे देगा ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

—:※:—

निदर्शयित्वा रामाय सीतायाः प्रतिपादने ।
वाक्यमन्वर्थमर्थज्ञः कबन्धः पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

कबन्ध सीता जी के मिलने का इस प्रकार उपाय बतला, फिर भी श्रीरामचन्द्र जी से अर्थयुक्त वचन कहने लगा ॥ १ ॥

एष राम शिवः पन्था यत्रैते पुष्पिता द्रुमाः ।
प्रतीचीं दिशमाश्रित्य प्रकाशन्ते मनोरमाः ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! वहाँ जाने के लिये आपको यह रास्ता सुखदायी होगा, क्योंकि ये जहाँ फूले हुए मनोहर वृक्ष लग रहे हैं। वे वृक्ष पश्चिम की ओर देखने से देख पड़ेंगे ॥ २ ॥

जम्बूप्रियालपनसप्लक्षन्यग्रोधतिन्दुकाः ।
अश्वत्थाः कर्णिकाराश्च चूताश्चान्ये च पादपाः ॥ ३ ॥

देखो, जामुन, चिरोंजी, कटहर, बड़, पाकर, तेंदू, पीपल, कठ, चम्पा और आम के अनेक वृक्ष हैं ॥ ३ ॥

धन्वना नागवृक्षाश्च तिलका नक्तमालकाः ।
नीलाशोकाः कदम्बाश्च करवीराश्च पुष्पिताः ॥ ४ ॥

धव, नागकेसर, तिलक, करञ्ज, नील, अशोक, कदंब और पुष्पित कनैर ॥ ४ ॥

अग्निमुख्या अशोकश्च सुरक्ताः पारिभद्रकाः ।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वा च तान्बलात् ॥ ५ ॥

अरूस, अशोक, रक्तचन्दन और मन्दार-नामक वृक्ष लगे हैं। या तो इन पर चढ़ कर अथवा बलपूर्वक उनकी डालें झुका कर ॥ ५ ॥

फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन्तौ गमिष्यथः ।
तदतिक्रम्य काकुत्स्थ वनं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥

अमृत की तरह मीठे फलों को तोड़ और उनको खाते हुए तुम दोनों जन चले जाना । हे काकुत्स्थ ! उस पुष्पित वृक्षों से युक्त वन को नांघने पर ॥ ६ ॥

नन्दनप्रतिमं चान्यत्कुरवो ह्युत्तरा इव ।
सर्वकामफला वृक्षाः पादपास्तु मधुस्रवाः ॥ ७ ॥

तुमको नन्दन और उत्तर कुरु की तरह रक्तवन मिलेगा । इस वन के वृक्षों में सदा फल फूला करते हैं और बड़े मीठे और रसदार होते हैं ॥ ७ ॥

सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा ।
फलभारानतास्तत्र महाविटपधारिणः ॥ ८ ॥

उस वन में, चैत्ररथ वन की तरह वृक्षों में सब ऋतुओं के फल लगा करते हैं। फलों के बोझ से वहाँ के वृक्ष झुके रहते हैं ॥ ८ ॥

शोभन्ते सर्वतस्तत्र मेघपर्वतसन्निभाः ।
तानारुह्यथ वा भूमौ पातयित्वा यथासुखम् ॥ ९ ॥

बड़ी बड़ी शाखाओं के कारण वहाँ के वृक्ष पर्वताकार मेघों की तरह सुशोभित देख पड़ते हैं। हे राम! इन वृक्षों पर चढ़ कर अथवा ज़मीन पर गिरा कर—जैसे सुविधा हो वैसे ॥ ९ ॥

फलान्यमृतकल्पानि लक्ष्मणस्ते प्रदास्यति ॥
चङ्क्रमन्तौ वरान्देशाञ्शैलाञ्छैलं वनाद्वनम् ॥ १० ॥

लक्ष्मण जी उन अमृत की तरह स्वादिष्ट फलों को लाकर तुमको दे दिया करेंगे! इस प्रकार कितने ही सुन्दर देशों, पर्वतों और बनों में घूमते फिरते ॥ १० ॥

ततः पुष्करिणीं वीरौ पम्पां नाम गमिष्यथः ।
अशर्करामविभ्रंशां समतीर्थामशैवलाम् ॥ ११ ॥

तुम दोनों पम्पा नामक सरोवर पर पहुँचोगे। इस सरोवर के भीतर न तो सिवार (एक प्रकार की पानी में जमने वाली घास) है और न कंकड़ियाँ हैं। इसके तट की भूमि पर विकलाहट भी नहीं है। इसके सब घाट भी एक से बने हैं ॥ ११ ॥

राम सञ्जातवालूकां कमलोत्पलशालिनीम् ।
तत्र हंसाः प्लवाः क्रौञ्चाः कुरराश्चैव राघव ॥ १२ ॥

हे राम! उसमें अच्छी रेती है। उसमें कमल फूला करते हैं हे राघव! वहाँ हंस, राजहंस, क्रौंच और कुरर रहते हैं ॥ १२ ॥

[1]वल्गुस्वना निकूजन्ति पम्पासलिलगोचराः[2] ।
नोद्विजन्ते नरान्दृष्ट्वा [3]वधस्याकोविदाः शुभाः ॥ १३ ॥

सरोवर में तैरते हुए बड़ी प्यारी बोलियाँ बोला करते हैं। वे मनुष्यों को देख डरते नहीं ; क्योंकि वध क्या होता है सो वे जानते ही नहीं (अर्थात् वहाँ कोई पक्षी नहीं मारने पाता) ॥ १३ ॥

घृतपिण्डोपमान्स्थूलांस्तान्द्विजान्भक्षयिष्यथः ।
रोहितान्चक्रतुण्डांश्च नडमीनांश्च राघव ॥ १४ ॥

हे राघव ! उन घृतपिण्ड की तरह मोटे मोटे पक्षियों को और रोहू, चक्रतुण्ड, नड नामक मछलियों को मार कर तुम खाना ॥१४॥

पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान्हतान् ।
निस्त्वक्पक्षानयस्तप्तान[4]कृशानेककण्टकान् ॥ १५ ॥

हे रामचन्द्र ! जिनके पंख नहीं होते और जो बड़ी मोटी होती हैं एवं त्वचा और बहुत काँटों वाली बढ़िया मछलियों को काँटे में छेद कर और आग पर भूंज कर (कबाब बना कर) ॥ १५ ॥

तव भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सम्प्रदास्यति ।
भृशं ते खादतो मत्स्यान्पम्पायाः पुष्पसञ्चये ॥ १६ ॥

बड़े चाव से लक्ष्मण तुमको देंगे। कमल पुष्पों में विचरती हुई बहुत सी मछलियों को तुम खाना ॥ १६ ॥

पद्मगन्धि शिवं[5]वारि सुखशीतमनामयम् ।
उद्धृत्य सतताक्लिष्टं रौप्यस्फाटिकसन्निभम् ॥ १७ ॥

---

१ वल्गुस्वनाः—रम्यस्वनाः। (गो०) २ सलिलगोचराः—सलिलचारिणः (गो०) ३ वधस्याकोविदाः—वधमजानानाः। (गो०) ४ अयस्तप्तान्—अयः-शूलाग्रप्रोततया पक्वान्। (गो०) ५ शिवं—पापापहं। (गो०)

असौ पुष्करपर्णेन लक्ष्मणः पाययिष्यति ।
स्थूलान्गिरिगुहाशय्यान्वराहान्वनचारिणः ॥ १८ ॥
अपां लोभादुपावृत्तान्वृषभानिव नर्दतः ।
[1]रूपान्वितांश्च पम्पायां द्रक्ष्यसि त्वं नरोत्तम ॥ १९ ॥

पम्पा सरोवर का कमल पुष्प की सुगन्धि से युक्त, रोग-हर, पापनाशक, आनन्ददायक, सुशीतल, चाँदी और स्फटिक पत्थर की तरह स्वच्छ जल, लक्ष्मण कमल के पत्तों में लाकर तुमको पिलावेंगे। पर्वत कंदरों में सोने वाले तथा वन में बिचरने वाले बड़े मोटे मोटे सुन्दर सुअर जो पम्पा सरोवर के तट पर बैल की तरह बोलते हुए जल पीने आया करते हैं, तुमको देख पड़ेंगे ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

सायाह्ने विचरन्राम विटपीन्माल्यधारिणः ।
शीतोदकं च पम्पाया दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि ॥ २० ॥

हे श्रीराम ! सन्ध्या के समय जब तुम वहाँ घूमा करोगे तब तुम को बड़ी बड़ी शाखाएं वाले और फूले हुए वृक्षों तथा पम्पा सरोवर के शीतल जल को देख कर तुम्हारा शोक दूर हो जायगा ॥ २० ॥

सुमनोभिश्चितांस्तत्र तिलकान्नक्तमालकान् ।
उत्पलानि च फुल्लानि पङ्कजानि च राघव ॥ २१ ॥

हे राघव ! वहाँ पर तिलक और करंज के वृक्ष फूलों से लदे हैं। कुई और कमल के फूल वहाँ फूले हुए हैं ॥ २१ ॥

न तानि कश्चिन्माल्यानि तत्रारोपयिता[2] नरः ।
न च वै म्लानतां यान्ति न च शीर्यन्ति राघव ॥ २२ ॥

---

१ रूपान्वितान्—सौन्दर्यवतः। (गो०) २ आरोपयिता—गृहीत्वाग्रथिता। (गो०)

हे राघव ! किन्तु उन फूलों की माला बनाने वाला कोई आदमी वहाँ नहीं रहता। वहाँ के पुष्प न कभी मुरझाते हैं, न अपने आप गिरते हैं ॥ २२ ॥

मतङ्गशिष्यास्तत्रासन्नृषयः सुसमाहिताः ।
तेषां भाराभितप्तनां वन्यमाहरतां गुरोः ॥ २३ ॥

वहाँ पर मतङ्ग ऋषि के शिष्य ऋषि लोग एकाग्रचित्त होकर रहते थे। जब वे गुरु के लिये बन के फल फूल कंद लेने जाते और बोझ से पीड़ित होते ॥ २३ ॥

ये प्रपेतुर्महीं तूर्णं शरीरात्स्वेदबिन्दवः ।
तानि जातानि माल्यानि मुनीनां तपसा तदा ॥ २४ ॥

तब उनकी देह से पसीने की जो बूँदे टपकतीं, वे उनकी तपस्या के प्रभाव से फूल हो जाती थीं ॥ २४ ॥

स्वेदविन्दुसमुत्थानि न विनश्यन्ति राघव ।
तेषामद्यापि तत्रैव दृश्यते परिचारिणी ॥ २५ ॥

हे राघव ! पसीने की बूँदों से उत्पन्न होने के कारण वे फूल कभी नष्ट नहीं होते। (वे ऋषि लोग तो उस स्थान को त्याग कर चले गये हैं) परन्तु उनकी परिचारिका अब तक वहाँ देख पड़ती हैं ॥ २५ ॥

[1]श्रमणी शवरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ।
त्वां तु धर्मे[2] स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम् ॥ २६ ॥

---

१ श्रमणी—संन्यासिनी। (गो०) २ धर्मे—गुरु परिचरणधर्मे। (गो०

दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति ।
ततस्तद्राम पम्पायास्तीरमाश्रित्य पश्चिमम् ॥ २७ ॥

हे काकुत्स्थ ! उसका नाम शबरी है । वह संन्यासिनी है और वह बहुत बूढ़ी है । परन्तु वह गुरुपरिचर्या में सदा निरत रहने वाली शबरी देवोपम और सब लोगों से नमस्कार किये जाने योग्य, आपके दर्शन कर, स्वर्ग को चल देगी । पम्पा के पश्चिम तीर पर ॥ २६ ॥ २७ ॥

आश्रमस्थानमतुलं[1] गुह्यं[2] काकुत्स्थ पश्यसि ।
न तत्राक्रमितुं नागाः शक्नुवन्ति तमाश्रमम् ॥ २८ ॥

तुमको अनुपम एक ऐसा आश्रम देख पड़ेगा, जिसे दुर्गम होने के कारण, अन्य लोग नहीं देख सकते । हाथी उस आश्रम को नहीं नष्ट कर सकते ॥ २८ ॥

विविधास्तत्र वै नागा वने तस्मिंश्च पर्वते ।
ऋषेस्तत्र मतङ्गस्य विधानात्तच्च काननम् ॥ २९ ॥

यद्यपि वहाँ के वन और वहाँ के पर्वत पर बहुत से हाथी रहा करते हैं, तथापि मतङ्ग ऋषि के प्रभाव से उस आश्रम के वन को नष्ट भ्रष्ट नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

[मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ।]
तस्मिन्नन्दनसङ्काशे देवारण्योपमे वने ॥ ३० ॥

हे रघुनन्दन ! वह वन मतङ्गवन के नाम से प्रसिद्ध है । हे श्रीराम ! वह वन देवताओं के नन्दन वन की तरह रमणीक है ॥ ३० ॥

---

१ अतुलं—अनुपमम् । (गो०) २ गुह्यं—इतरैरदर्शनीयं । (गो०)

नानाविहगसङ्कीर्णे रंस्यसे राम निर्वृतः[1] ।
ऋश्यमूकश्च पम्पायाः पुरस्तात्पुष्पितद्रुमः ॥ ३१ ॥

उसमें भाँति भाँति के दुःख त्याग कर पक्षी रहते हैं। हे श्रीराम! उस वन में तुम विहार करना। पम्पा सरोवर के सामने ही पुष्पित वृक्षों से शोभित ऋष्यमूक नामक पर्वत है ॥ ३१ ॥

सुदुःखारोहणो नाम शिशुनागाभिरक्षितः ।
उदारो ब्रह्मणा चैव पूर्वकाले विनिर्मितः ॥ ३२ ॥
शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि ।
यत्स्वप्ने लभते वित्तं तत्प्रबुद्धोऽधिगच्छति ॥ ३३ ॥

उस दुरारोह पर्वत की रखवाली छोटे छोटे हाथी के बच्चे किया करते हैं। इस पर्वत को उदारमना ब्रह्मा जी ने पूर्वकाल में स्वयं बनाया था। उस पर्वत के शिखर पर यदि कोई पुरुष सोवे और स्वप्न में उसे धन का मिलना देख पड़े तो, जागने पर भी उसे धन मिलता है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

न त्वेनं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति ।
यस्तु तं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति ॥ ३४ ॥
तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्तमादाय राक्षसाः ।
तत्रापि शिशुनागानामाक्रन्दः श्रूयते महान् ॥ ३५ ॥

पापाचारी और पापी पुरुष उस पर्वत पर नहीं चढ़ सकता। यदि कोपाचारी और पापी पुरुष उस पर चढ़ भी जाय तो जब

---

१ निर्वृतः—निवृत्तदुःख। (गो०)

वह सोता है तब राक्षस लोग उसे मार डालते हैं। वहाँ पर छोटे हाथियों का चिंघारना बहुत सुन पड़ता है ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

क्रीडतां राम पम्पायां मतङ्गारण्यवासिनाम् ।
सिक्ता रुधिरधाराभिः संहृत्य परमद्विपाः ॥ ३६ ॥
प्रचरन्ति पृथक्कीर्णा मेघवर्णास्तरस्विनः ।
ते तत्र पीत्वा पानीयं विमलं शीतमव्ययम् ॥ ३७ ॥

हे श्रीराम ! ये महागज मतङ्ग ऋषि के वन में क्रीड़ा करते और वहीं रहते हैं। वे सब लाल मद की धारों से तर, कभी तो गिरोह बाँध घूमते हैं, कभी अलग अलग चरते हैं। उनके शरीर का रंग काले मेघ जैसा है और वे बड़े बलवान हैं। वे वहाँ पर पम्पा सरोवर का कभी न निघटने वाला, निर्मल और शीतल जल पीकर ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

निर्वृताः संविगाहन्ते[1] वनानि वनगोचराः ।
ऋक्षांश्च द्वीपिनश्चैव नीलका[2]मलकप्रभान् ॥ ३८ ॥
रुरूनपेतापजयान्दृष्ट्वा शोकं जहिष्यसि ।
राम तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा ॥ ३९ ॥
शिलापिधाना काकुत्स्थ दुःखं चास्याः प्रवेशनम् ।
तस्या गुहायाः प्राग्द्वारे महाञ्शीतोदको ह्रदः ॥ ४० ॥

और अपनी प्यास मिटा, वन में प्रवेश कर, वन में विचरा करते हैं। हे राम ! रीछ, बाघ और नीलम मणि की तरह प्रभा

१ संविगाहन्ते—प्रविशन्ति । (गो०) २ नीलकोमलकप्रभान्—नील रत्नवन्मनोज्ञ प्रभान् । (गो०)

वाले रुरु मृगों को देखने से तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा। वहाँ पर एक पहाड़ी बड़ी गुफा है। उसका द्वार एक शिला से बंद रहता है। उसके भीतर जाना बड़ा कष्टदायक है। उस गुफा के मुहारे के सामने ही शीतल जल का एक बड़ा सरोवर है ॥ ३८ ॥ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

फलमूलान्वितो रम्यो नानामृगसमावृतः ।
तस्यां वसति सुग्रीवश्चतुर्भिः सह वानरैः ॥ ४१ ॥

वहाँ अनेक फल और मूल हैं। भाँति भाँति के बनैले जीव जन्तु उसके इर्दगिर्द घूमा फिरा करते हैं। उसीमें अपने साथी चार बानरों के सहित सुग्रीव रहा करता है ॥ ४१ ॥

कदाचिच्छिखरे तस्य पर्वतस्यावतिष्ठते ।
कबन्धस्त्वनुशास्यैवं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥

कभी कभी वह पर्वतशिखर पर भी जा बैठा करता है। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को सब बातें बतला कर वह कबंध राक्षस ॥ ४२ ॥

स्रग्वी भास्करवर्णाभः खे व्यरोचत वीर्यवान् ।
तं तु खस्थं महाभागं कबन्धं रामलक्ष्मणौ ॥
प्रस्थितौ त्वं व्रजस्वेति वाक्यमूचतुरन्तिके ॥ ४३ ॥

माला धारण किये सूर्य की तरह चमचमाता हुआ वीर्यवान वह राक्षस आकाश में जा शोभायमान हुआ। उस बड़े भाग्यवान को देख, श्रीराम और लक्ष्मण ने उससे कहा कि, अच्छा अब हम तो सुग्रीव के पास जाते हैं, तुम भी स्वर्ग को जाओ ॥ ४३ ॥

गम्यतां कार्यसिद्ध्यर्थमिति तावब्रवीत्स च ।
सुप्रीतौ तावनुज्ञाप्य कबन्धः प्रस्थितस्तदा ॥ ४४ ॥

इस पर कबंध ने कहा कि, आप भी अपना काम सिद्ध करने के लिये जाइये। तब कबंध हर्षित श्रीराम लक्ष्मण से बिदा हो, वहाँ से प्रस्थानित हुआ ॥ ४४ ॥

स तत्कबन्धः प्रतिपद्य रूपं
वृतः श्रिया भास्करतुल्यदेहः ।
निदर्शयन्राममवेक्ष्य खस्थः
सख्यं कुरुष्वेति तदाऽभ्युवाच ॥ ४५ ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार कबन्ध अपना पूर्वरूप प्राप्त कर शोभायुक्त, देदीप्यमान अपनी देह को दिखला और आकाश में स्थित हो श्रीराम को देख कर उनसे बोला कि, आप जाकर सुग्रीव से मैत्री कीजिये ॥ ४५ ॥

अरण्यकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—*—

तौ कबन्धेन तं मार्गं पम्पाया दर्शितं वने ।
प्रतस्थतुर्दिशं गृह्य प्रतीचीं नृवरात्मजौ ॥ १ ॥

वे दोनों राजकुमार कवन्ध के बतलाये मार्ग को धर पश्चिम की ओर उस वन में हो कर चले ॥ १ ॥

तौ शैलेष्वाचितानेकान्क्षौद्रकल्पफलान्द्रुमान् ।
वीक्षन्तौ जग्मतुर्द्रष्टुं सुग्रीवं रामलक्ष्मणौ ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण पहाड़ों पर तरह तरह के शहद की तरह मीठे फलों से फले हुए वृक्षों को देखते हुए, सुग्रीव से मिलने के लिये चले जाते थे ॥ २ ॥

कृत्वा च शैलपृष्ठे तु तौ वासं रामलक्ष्णौ ।
पम्पायाः पश्चिमं तीरं राघवावुपतस्थतुः ॥ ३ ॥

श्रीराम लक्ष्मण रास्ते में एक पर्वत के ऊपर टिक कर पम्पा सरोवर के और पश्चिम तट पर जा पहुँचे ॥ ३ ॥

तौ पुष्करिण्याः पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम् ।
अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ॥ ४ ॥

पम्पा सरोवर के पश्चिमी तट पर पहुँच वहाँ उन्होंने शवरी का रमणीक आश्रम देखा ॥ ४ ॥

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम् ।
सुरम्यमभिवीक्षन्तौ शबरीमभ्युपेयतुः ॥ ५ ॥

बहुत से वृक्षों से घिरे हुए शवरी के आश्रम में जा और वहाँ की रमणीयता देखते हुए, वे शवरी के निकट जा पहुँचे ॥ ५ ॥

तौ च दृष्ट्वा तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।
रामस्य पादौ जग्राह लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ ६ ॥

वह सिद्धा शबरी इन दोनों भाइयों को देखते ही हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी। फिर उसने दोनों बुद्धिमान भाइयों के चरणों का स्पर्श किया ॥ ६ ॥

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि ।
तामुवाच ततो रामः श्रमणीं शंसितव्रताम् ॥ ७ ॥

फिर उसने अर्घ्य, पाद्य, आचमन आदि यथाविधि अर्पण कर उनका आतिथ्य किया। तब श्रीरामचन्द्र जी ने धर्म निरता शबरी से पूछा ॥ ७ ॥

कच्चित्ते निर्जिता विघ्ना:[1] कच्चित्ते वर्धते तपः ।
कच्चित्ते नियतः[2] क्रोध आहारश्च तपोधने ॥ ८ ॥

कामादि छः रिपुओं को जो तपस्या में विघ्न डाला करते हैं, तुमने जीत तो लिया है? तुम्हारी तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ती तो जाती है? तुमने क्रोध को तो अपने वश में कर रखा है? हे तपोधने! तुम आहार में तो संभल कर रहती हो न? ॥ ८ ॥

कच्चित्ते नियमाः[3] प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्[4] ।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि ॥ ९ ॥

हे चारुभाषिणी! तुम्हारे सब व्रत तो ठीक ठीक चले जाते हैं? तुम्हारा मन सन्तुष्ट तो रहता है? क्या तुम्हारी गुरु-शुश्रुषा सफल हुई ॥ ६ ॥

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता ।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्युपस्थिता ॥ १० ॥

---

१ विघ्ना—तपोविघ्ना: कामादयः। (गो) २ नियतः—निगृहीतः। (गो०)
३ नियमाः—व्रतानि। (गो०) ४ मनसः सुखं—मनः सन्तोषः। (गो०)

जब श्रीरामचन्द्र जी ने शवरी से ये प्रश्न किये, तब सिद्धपुरुषों की मान्य वह सिद्धा तपस्विनी श्रीराम से कहने लगी ॥ १० ॥

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव सन्दर्शनान्मया ।
अद्य मे सफलं तप्तं गुरवश्च सुपूजिताः ॥ ११ ॥

आपके दर्शन करके मुझे आज तप करने का फल मिल गया। आज, मेरा तप करना और गुरु की सेवा करना सफल हुआ ॥११॥

अद्य मे सफलं जन्म स्वर्गश्चैव भविष्यति ।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥

यही क्यों, आज मेरा जन्म भी सफल हो गया। हे देवश्रेष्ठ पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ! आज आपका पूजन कर, मुझे स्वर्ग भी मिल जायगा ॥ १२ ॥

चक्षुषा तव सौम्येन पूताऽस्मि रघुनन्दन ।
गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिन्दम ॥ १३ ॥

हे श्रीराम ! आपके निर्हेतुक कृपाकटाक्ष से आज मैं पवित्र हो गयी। हे अरिन्दम ! आपकी कृपा से मुझे अब अक्षय्य लोकों की भी प्राप्ति होगी ॥ १३ ॥

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः ।
इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम् ॥ १४ ॥

हे श्रीराम ! जब आप चित्रकूट में पधारे थे, तब वे ऋषिलोग जिनकी मैं सेवा किया करती थी, दिव्य विमानों में बैठ स्वर्ग को चले गये ॥ १४ ॥

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः ।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम् ॥ १५ ॥

जाते समय वे महाभाग और धर्मज्ञ महर्षि मुझसे यह कह गये कि, श्रीरामचन्द्र तेरे इस पुण्यजनक आश्रम में आवेंगे ॥ १५ ॥

स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः ।
तं च दृष्ट्वा वराँल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

उस समय तू उनका और उनके साथी लक्ष्मण का स्वागत कर आतिथ्य करना । उनके दर्शन करने से तुझे श्रेष्ठ अक्षय्य लोकों की प्राप्ति होगी ॥ १६ ॥

मया तु विविधं वन्यं सञ्चितं पुरुषर्षभ ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसंभवम् ॥ १७ ॥

हे पुरुषोत्तम ! मैंने आपके लिये पम्पा सरोवर के निकटवर्त्ती वन से अनेक वन में उत्पन्न होने वाले कन्दमूल फलों को इकट्ठा कर रखा है ॥ १७ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम् ।
राघवः प्राह विज्ञाने[1] तां नित्यमबहिष्कृताम् ॥ १८ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ये वचन सुन अति दुर्लभ परमात्मा का ज्ञान रखने वाली उस शबरी से बोले ॥ १८ ॥

दनोः सकाशत्तत्त्वेन प्रभावं ते महात्मनः ।
श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रष्टुं यदि मन्यसे ॥ १९ ॥

हे तपस्विनी ! मैंने दनु के मुख से तुम्हारे महात्मा मुनियों के प्रभाव को भली भांति से सुन रखा है । किन्तु यदि तुम्हें मेरी बात पसंद हो तो, मुझे प्रत्यक्ष उनका प्रभाव दिखला दो ॥ १९ ॥

---

१ विज्ञाने नित्यबहिष्कृताम्—अतिदुर्लभपरमात्मज्ञानेविज्ञानवतीं । (शि०)

एतत्तु वचनं श्रुत्वा रामवक्त्राद्विनिःसृतम् ।
शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से निकले हुए ये वचन सुन, शबरी ने दोनों भाइयों को वह बड़ा बन दिखलाया ॥ २० ॥

पश्य मेघघनप्रख्यं मृगपक्षिसमाकुलम् ।
मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ॥ २१ ॥

वह बोली—हे रघुनन्दन ! मृगों और पक्षियों से भरा पूरा और काले बादल की तरह श्याम रङ्ग का यह वन देखिये। यह मतङ्ग वन के नाम से प्रसिद्ध है ॥ २१ ॥

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महावने* ।
जुहवांचक्रिरे[1] तीर्थं[2] [3]मन्त्रवन्मन्त्रपूजितम् ॥ २२ ॥

इसी महाबन में विशुद्धात्मा और मंत्रों को जानने वाले गुरु लोग वैदिक मंत्रों से यज्ञ किया करते थे और उन्होंने गङ्गादि पवित्र तीर्थों को मंत्रशक्ति से यहाँ बुलाया था ॥ २२ ॥

इयं प्रत्यक्स्थली वेदिर्यत्र ते मे सुसत्कृताः ।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः ॥ २३ ॥

यही वह प्रत्यक्स्थल नाम की वेदी है, जहाँ बैठ कर मेरे पूज्य गुरुलोग पुष्पाञ्जलि (वृद्धावस्था के कारण) थर थराते हुए हाथों से अर्पण किया करते थे ॥ २३ ॥

---

१ जुहवांचक्रिरे—आहूतवन्तः । (गो०) २ तीर्थं—गंगादिपुण्यसलिलं । (गो०) ३ मन्त्रवत्—मन्त्रवतां। (गो०) * पाठान्तरे—"महाद्युते," "महामते।"

तेषां तपःप्रभावेण पश्याद्यापि रघूद्वह ।
द्योतयन्ति दिशः सर्वा श्रिया वेद्योऽतुलप्रभाः ॥ २४ ॥

हे रघुनन्दन ! देखिये उनके तपोबल से आज भी यह वेदी अपनी अतुलित प्रभा से सब दिशाओं को प्रकाशित कर रही है ॥ २४ ॥

अशक्नुवद्भिस्तैर्गन्तुमुपवासश्रमालसैः ।
चिन्तितेऽभ्यागतान्पश्य सहितान्सप्त सागरान् ॥ २५ ॥

जब उपवास करते करते वे निर्बल हो गये, तब उनके चिन्तवन करते ही सातों समुद्र उनके स्नानार्थ यहाँ प्रकट हुए। सो इन सातों समुद्रों को देखिये ॥ २५ ॥

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता वल्कलाः पादपेष्विह ।
अद्यापि नावशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन ॥ २६ ॥

इस जगह स्नान करके उन्होंने अपने जो गीले बल्कल वस्त्र इन वृक्षों पर सुखाये थे, वे आज तक नहीं सूखे ॥ २६ ॥

देवकार्याणि कुर्वद्भिर्यानीमानि कृतानि वै ।
पुष्पैः कुवलयैः सार्धं ग्लानत्वं नोपयान्ति वै ॥ २७ ॥

देवताओं के पूजन में उन लोगों ने जो कोमल हाल की खिली कलियाँ चढ़ाई थीं, वे अब तक नहीं मुरझायीं हैं ॥ २७ ॥

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया ।
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्तुमेतत्कलेवरम् ॥ २८ ॥

उनके वन में जो सब वस्तुएं देखने योग्य थीं, वे सब आपने देखीं

और उनके सबन्ध में जो बातें सुनने योग्य थीं, वे सब आपने सुन लीं। अब मैं आपकी आज्ञा से चाहती हूँ कि, इस शरीर को त्याग दूँ॥ २८॥

तेषामिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम्।
मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी॥ २९॥

जिससे मैं उन धर्मात्मा महर्षियों के पास जा सकूँ, जिनकी मैं दासी हूँ और जिनका यह आश्रम है॥ २९॥

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः।
प्रहर्षमतुलं लेभे आश्चर्यमिति तत्त्वतः॥ ३०॥

उस धर्मिष्ठा शबरी के वचन सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे, सचमुच यह बड़े आश्चर्य की बात है॥ ३०॥

तामुवाच ततो रामः श्रमणीं संशितव्रताम्।
अर्चितोऽहं त्वया भक्त्या गच्छ कामं यथासुखम्॥३१॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी दृढ़ व्रत धारिणी शबरी से बोले कि, हे भद्रे! तूने हमारा भली भाँति पूजन किया अब तू सुख पूर्वक जहाँ जाना चाहती हो वहाँ चली जा॥ ३१॥

इत्युक्ता जटिला वृद्धा चीरकृष्णाजिनाम्बरा।
तस्मिन्मुहूर्ते शबरी देहं जीर्णं जिहासती॥ ३२॥

श्रीरामचन्द्र का यह बचन सुन उसी घड़ी वह जटाधारिणी तथा चीर एवं कृष्ण मृगचर्म को पहिरने वाली शबरी अपनी पुरानी देह को त्यागने की इच्छा से॥ ३२॥

अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने ।
ज्वलत्पावकसङ्काशा स्वर्गमेव जगाम सा ॥ ३३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की अनुमति ले, जलती हुई आग में कूद पड़ी। फिर उस अग्नि में से प्रज्वलित अग्नि की तरह चमचमाता रूप धारण कर, वह निकली और स्वर्ग को चली गयी ॥ ३३ ॥

दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमाल्यानुलेपना ।
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना ॥ ३४ ॥

उस समय वह बढ़िया आभूषण पहिने हुए थी। उसके शरीर में दिव्य चन्दन लगा हुआ था। वह सुन्दर वस्त्र पहिने हुए थी। आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित हो वह देखने में बड़ी सुन्दरी जान पड़ती थी ॥ ३४ ॥

विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामिनी यथा ।
यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः ।
तत्पुण्यं शबरी स्थानं जगामात्मसमाधिना ॥ ३५ ॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

वह अपने शरीर की प्रभा से वहाँ ऐसा प्रकाश कर रही थी, जैसे बिजली अपने प्रकाश से चारों ओर प्रकाश कर दिया करती है। उसके गुरु धर्मात्मा महर्षि लोग जिन लोकों में विहार करते थे, वहीं वह शबरी भी अपने समाधिबल से जा पहुँची ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

दिवं तु तस्या यातायां शबर्यां स्वेन तेजसा ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चिन्तयामास राघवः ॥ १ ॥

जब शबरी अपने तेज के प्रभाव से स्वर्ग को चली गयी, तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण सहित सोचने लगे ॥ १ ॥

स चिन्तयित्वा धर्मात्मा प्रभावं तं महात्मनाम् ।
हितकारिणमेकाग्रं लक्ष्मणं राघवोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

और उन महात्माओं के प्रभाव को सोच एकमात्र परम हितैषी अपने भाई लक्ष्मण से श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ २ ॥

दृष्टोऽयमाश्रमः सौम्य बह्वाश्चर्यः कृतात्मनाम् ।
[1]विश्वस्तमृगशार्दूलो नानाविहगसेवितः ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! मैंने उन महात्माओं का यह आश्रम देखा । यहाँ तो अनेक आश्चर्यमय वस्तुएं देख पड़ती हैं । देखो न यहाँ पर हिरन और सिंह तथा अनेक पक्षी आपस का वैरभाव त्याग कर बसे हुए हैं ॥ ३ ॥

सप्तानां च समुद्राणामेषु तीर्थेषु लक्ष्मण ।
उप[2]स्पृष्टं च विधिवत्पितरश्चापि तर्पिताः ॥ ४ ॥

---

१ विश्वस्ताः—विश्वासं प्राप्ताः परस्परहिंसकत्वरहिताः।(गो०) २ उपस्पृष्टं—स्नातं । (गो०)

प्रनष्टमशुभं तत्तत्कल्याणं समुपस्थितम् ।
तेन तत्त्वेन हृष्टं मे मनो लक्ष्मण सम्प्रति ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैंने उनके इस सप्तसागर तीर्थ में स्नान कर विधिवत् पितृतर्पण भी किया । इससे मेरा जो अशुभ था वह दूर हो गया और शुभ आकर अब उपस्थित हुआ । सो अशुभ के नष्ट होने और शुभ के प्राप्त होने से इस समय मेरा मन, हे लक्ष्मण ! अत्यन्त हर्षित है ॥ ४ ॥ ५ ॥

हृदये हि नरव्याघ्र शुभमाविर्भविष्यति ।
तदागच्छ गमिष्यावः पम्पां तां प्रियदर्शनाम् ॥ ६ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय मेरे हृदय में शुभ भावों का आविर्भाव होगा । सो अब आओ पम्पा सरोवर के तट पर चलें ॥ ६ ॥

ऋश्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते ।
यस्मिन्वसति धर्मात्मा सुग्रीवोंशुमतः सुतः ॥ ७ ॥

वहाँ से वह ऋष्यमूक पर्वत भी समीप ही देख पड़ता है, जिस पर सूर्य के पुत्र धर्मात्मा सुग्रीव रहते हैं ॥ ७ ॥

नित्यं वालिभयात्त्रस्तश्चतुर्भिः सह वानरैः ।
अभित्वरे च तं द्रष्टुं सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ ८ ॥

सुग्रीव सदा वाली के भय से त्रस्त हो, चार वानरों सहित वहाँ पर रहते हैं । अतः मैं उन वानरश्रेष्ठ सुग्रीव को देखने के लिये शीघ्र ही चलूँगा ॥ ८ ॥

तदधीनं हि मे सौम्य सीतायाः परिमार्गणम् ।
एवं ब्रुवाणं तं धीरं रामं सौमित्रिरब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे सौम्य! क्योंकि सीता जी की खोजना उसीके अधीन है। इस प्रकार कहते हुए वीर श्रीरामचन्द्र से लक्ष्मण जी बोले ॥ ९ ॥

गच्छावस्त्वरितं तत्र ममापि त्वरते मनः।
आश्रमात्तु ततस्तस्मान्निष्क्रम्य स विशांपतिः ॥ १० ॥

हां, वहाँ शीघ्र ही पहुँचना चाहिये। मेरा मन भी वहाँ पहुँचने के लिये जल्दी कर रहा है। यह सुन पृथ्वीश्वर दोनों भाई उस मातङ्गाश्रम से रवाना हुए ॥ १० ॥

आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सहप्रभुः* ।
स ददर्श ततः पुण्याम्[1]उदारजनसेविताम् ॥ ११ ॥

लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी पम्पा के तट पर पहुँचे और उन्होंने उस झील को देखा जिसके तट पर तपस्या करने वाले ऋषि मुनि रहा करते थे ॥ ११ ॥

नानाद्रुमलताकीर्णां पम्पां पानीयवाहिनीम्[2] ।
पद्मैः सौगन्धिकैः[3]ताम्रां शुक्लां कुमुदमण्डलैः ॥ १२ ॥

पम्पा नाम की झील के चारों ओर सघन वृक्ष और लताएँ लगी हुई थीं और इसका जल पीने में शीतल और स्वादिष्ट था। उसमें लाल लाल कमल और सफेद कुईं के फूल फूल रहे थे ॥ १२ ॥

नीलां कुवलयोद्घाटैर्बहुवर्णां[4] कुथामिव ।
स तामासाद्य वै रामो दूरादुदकवाहिनीम् ॥ १३ ॥

---

१ उदारजनाः—मुनिप्रभृतयः। (गो०) २ पानीयवाहिनीं—पानार्हशीतल स्वाद जलवतीमित्यर्थः। (गो०) ३ सौगन्धिकैः—कल्हारैः। (गो०) ४ कुवलयोद्घाटैः—कुवलयसमूहैः। (गो०) कुथा—चित्र कम्बलं। (गो०)

* पाठान्तरे—सहाभिभूः।

मतङ्गसरसं नाम ह्रदं समवगाहत ।
अरविन्दोत्पलवतीं पद्मसौगन्धिकायुताम् ॥ १४ ॥
पुष्पिताम्रवणोपेतां बर्हिणोद्घुष्टनादिताम् ।
तिलकैर्बीजपूरैश्च धवैः शुक्लद्रुमैस्तथा ॥ १५ ॥
पुष्पितैः करवीरैश्च पुंनागैश्च सुपुष्पितैः ।
मालतीकुन्दगुल्मैश्च भाण्डीरैर्निचुलैस्तथा ॥ १६ ॥
अशोकैः सप्तपर्णैश्च केतकैरतिमुक्तकैः ।
अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः प्रमदामिव भूषिताम् ॥ १७ ॥

सरोवर में नीले रङ्ग के कमल के फूल भी थे। इन सफेद, लाल और नीले कमलों से ऐसा जान पड़ता था, मानों रङ्ग विरङ्गा कंवल बिछा हो। फिर श्रीरामचन्द्र जी मतङ्गसर नाम के कुण्ड पर गये। इस कुण्ड का जल उत्तम था और दूर से बह कर वह उसमें गिरता था। श्रीरामचन्द्र जी ने इस ह्रद में स्नान किये। ह्रद में खुशबूदार लाल, नीले सफेद कमल खिले हुए थे। उसके चारोंओर पुष्पित आम का वन था और उस वन में मोर बोल रहे थे। तिलक, बीजपूरक, वट, लोध्र, फूली हुई कनैर और फूले हुए पुन्नाग, मालती, कुंद, गुल्म, भांडीर, निचुल, (हर्फारेवड़ी) अशोक, सप्तपर्ण, केतकि, नेमि आदि वृक्षों से वह वन शृङ्गार की हुई स्त्री की तरह भूषित देख पड़ता था ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

समीक्षमाणौ पुष्पाढ्यं सर्वतो विपुलद्रुमम् ।
कोयष्टिकैश्चार्जुनकैः शतपत्रैश्च कीचकैः ॥ १८ ॥

कोयष्टिका, अर्जुन, शतफ, लंबे बाँस आदि के वृक्ष उस वन में फूलों से लदे हुए, दोनों राजकुमारों ने देखे ॥ १८ ॥

एतैश्चान्यैश्च विहगैर्नादितं तु वनं महत्।
ततो जग्मतुरव्यग्रौ राघवौ सुसमाहितौ ॥ १९ ॥

इनके अतिरिक्त उस वन में और भी वृक्ष थे। वह महावन भाँति भाँति के पक्षियों की बोलियों से गूंज रहा था। दोनों पुरुष-श्रेष्ठ उस वन में अव्यग्र और सावधान हो विचरण करने लगे ॥ १९ ॥

तद्वनं चैव सरसः पश्यन्तौ शकुनैर्युतम्।
स ददर्श ततः पम्पां शीतवारिनिधिं शुभाम् ॥ २० ॥

उस वन को तथा उस सरोवर को जो पक्षियों से सेवित था-दोनों भाइयों ने भली भाँति घूम फिर कर देखा। तदनन्तर पवित्र शीतल जल के भण्डार पम्पा नामक सरोवर को देखा ॥२०॥

प्रहृष्टनानाशकुनां पादपैरुपशोभिताम्।
स रामो विविधान्वृक्षान्सरांसि विविधानि च ॥ २१ ॥
पश्यन्कामाभिसन्तप्तो जगाम परमं[1] ह्रदम्।
पुष्पितोपवनोपेतां सालचम्पकशोभिताम् ॥ २२ ॥

वहाँ पर भाँति भाँति के पक्षी प्रसन्न हो बोल रहे थे और तरह तरह के वृक्षों से वह शोभित हो रहा था। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विविध वृक्षों और तालावों को देखते और कामपीड़ित हो, पम्पा सरोवर पर पहुँचे। वह पम्पा सरोवर फूले हुए साल, चम्पा आदि वृक्षों से युक्त उपवनों से घिरी हुई थी ॥ २१ ॥ २२ ॥

रम्योपवनसंबाधां रम्यसंपीडितोदकाम्।
स्फटिकोपमतोयाढ्यां श्लक्ष्णवालुकसन्तताम् ॥ २३ ॥

---

1 परमं ह्रदम्—पम्पाख्यसरं। (गो०)

मनोहर वन उसके किनारे पर था वह कमलों से पूर्ण थी और उसका जल ऊपर से गिरने के कारण स्फटिक की तरह निर्मल था और उसकी सुन्दर चिकनी बालू थी ॥ २३ ॥

स तां दृष्ट्वा पुनः पम्पां पद्मसौगन्धिकैर्युताम् ।
इत्युवाच तदा वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमः ॥ २४ ॥

तदनन्तर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने उस सुगन्धित कमल के फूलों से युक्त पम्पा सरोवर को पुनः देख लक्ष्मण से कहा ॥ २४ ॥

अस्यास्तीरे तु पूर्वोक्तः पर्वतो धातुमण्डितः ।
ऋश्यमूक इति ख्यातः पुण्यः पुष्पितपादपः ॥ २५ ॥

इसीके किनारे कवन्ध का बतलाया और धातुओं से मण्डित एवं विख्यात ऋष्यमूक पर्वत जिस पर पवित्र पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं, अवस्थित है ॥ २५ ॥

हरेर्ऋक्षरजोनाम्नः पुत्रस्तस्य महात्मनः ।
अध्यास्ते तं महावीर्यः सुग्रीव इति विश्रुतः ॥ २६ ॥

महात्मा वानर ऋक्षराज के पुत्र महाबलवान् सुग्रीव उसी पर रहते हैं ॥ २६ ॥

सुग्रीवमभिगच्छ त्वं वानरेन्द्र नरर्षभ ।
इत्युवाच पुनर्वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमम् ॥ २७ ॥

सो हे नरश्रेष्ठ ! तुम वानरराज सुग्रीव के पास जाओ। यह कह, फिर श्रीरामचन्द्र जी सत्यपराक्रमी लक्ष्मण से कहने लगे ॥ २७ ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तस्यामासक्तचेतसा ।
कथं मया विना शक्यं सीतां लक्ष्मण जीवितुम् ॥२८॥

हे लक्ष्मण ! मैं राज्य से भ्रष्ट दीन और सीतागतप्राण हो रहा हूँ। बिना मेरे सीता क्योंकर जी सकेगी ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्त्वा मदनाभिपीडितः
स लक्ष्मणं वाक्य मनन्यचेतसम्[1] ।
विवेश पम्पां नलिनीं[2] मनोहरां
रघूत्तमः शोकविषादयन्त्रितः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी काम से पीडित हो लक्ष्मण जी से, जो उनकी बात सुनने को सावधान थे इस प्रकार कह और शोक से पीडित हो, उस कमल से युक्त मनोहर पम्पासरोवर में स्नान करने के लिये घुसे ॥ २९ ॥

ततो महद्वर्त्म सुदूरसंक्रमः
क्रमेण गत्वा [3]प्रतिकूलधन्वनम् ।
ददर्श पम्पां शुभदर्शकानना-
मनेकनानाविधपक्षिजालकाम् ॥ ३० ॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्ग ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्

अरण्यकाण्डः समाप्तः ॥

---

१ अनन्यचेतसं—स्ववाक्यश्रवणेऽसावधानं । (गो०) २ नलिनीं—सरसीं । (गो०) ३ प्रतिकूलधन्वनम्—पथिकजनप्रतिकूलभूतमरुकान्तारं कबन्धवनमित्यर्थः । (गो०)

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, कबन्ध के अत्यन्त भयङ्कर वन को पार कर तथा बहुत दूर चल कर और रास्ते में अनेक दर्शनीय सुन्दर वनों से जो भाँति भाँति के पक्षियों से परिपूर्ण था, शोभित पम्पासरोवर को देखते हुए ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अरण्यकाण्ड समाप्त हुआ ॥

Printed by RAMZAN ALI SHAH, at the National Press, Allahabad.

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

किष्किन्धाकाण्ड—५

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य २)

विषय-सूची

किष्किन्धाकाण्ड

तुमको इतना भूगोल क्यों कर विदित हुआ? उत्तर में सुग्रीव का कहना कि वालि से भयभीत हो मुझे अपने प्राण बचाने के लिये सारी पृथ्वी का पर्यटन करना पड़ा था, इससे मुझे पृथ्वी के समस्त स्थलों का वृत्तान्त अवगत है।

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—*—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम्।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम्।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम्।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

स्निग्धैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्तो भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महान्धकारणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:*:—

किष्किन्धाकाण्डः

स तां पुष्करिणीं गत्वा पद्मोत्पलझषाकुलाम्[1] ।
रामः सौमित्रिसहितो विललापाकुलेन्द्रियः ॥ १ ॥

जब लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी कमलों और मछलियों से युक्त पम्पा नाम की परम मनोहर झील पर गये, तब वे सीता का स्मरण कर विकल हो गये और विलाप करने लगे ॥ १ ॥

तस्य दृष्ट्वैव तां हर्षादिन्द्रियाणि चकम्पिरे ।
स कामवशमापन्नः सौमित्रिमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

किन्तु जब उन्होंने पम्पा सरोवर को अच्छी तरह देखा, तब हर्ष में भर उनका शरीर काँप उठा और कामातुर हो वे लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥ २ ॥

सौमित्रे शोभते पम्पा वैडूर्यविमलोदका ।
फुल्लपद्मोत्पलवती शोभिता विविधैर्द्रुमैः ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, पन्ने की तरह हरे रंग और स्वच्छ जल वाली इस पम्पा सरोवर की कैसी शोभा हो रही है। इसमें तरह तरह

---

१ पद्मोत्पलझषाकुलां—कमलेन्दीवरमत्स्यै आकुलां । (गो०)

के कमल खिल रहे हैं और इसके चारों ओर खड़े नाना भाँति के वृक्ष इसको सुशोभित कर रहे हैं ॥ ३ ॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम् ।
यत्र राजन्ति शैलाभा द्रुमाः सशिखरा इव ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण! देखो, पम्पा के निकटवर्ती वनों में शृङ्गयुक्त पर्वत की तरह ऊँचे ऊँचे पेड़ शोभायमान हो रहे हैं ॥ ४ ॥

मां तु शोकाभिसन्तप्तं माधवः[1] पीडयन्निव ।
भरतस्य[2] च दुःखेन वैदेह्या हरणेन च ॥ ५ ॥
शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना ।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा ॥ ६ ॥

मुझ शोकसन्तप्त को वसन्त पीड़ा सी दे रहा है। एक तो भरत जी का अयोध्यापुरी के बाहिर नन्दिग्राम में रह कर व्रतोपवासादि कर दुःख सहन करना, दूसरा सीता का हरण। इनसे यद्यपि मैं अत्यन्त पीड़ित हूँ; तथापि निर्विकार एवं शीतल जल वाली, अनेक प्रकार के पुष्पों से सुशोभित और विचित्र काननों से युक्त यह पम्पा झील मुझे शोभायुक्त मालूम पड़ती है ॥ ५ ॥ ६ ॥

नलिनैरपि संछन्ना ह्यत्यर्थं शुभदर्शना ।
सर्पव्यालानुचरिता मृगद्विजसमाकुला ॥ ७ ॥

यह पम्पा झील कमल के फूलों से ढकी हुई होने से देखने में बड़ी सुन्दर जान पड़ती है। इसके आस पास साँप अजगर घूमा

---

१ माधवो—वसन्तः। (गो०) २ भरतस्यदुःखेन—नगराद्बहिर्व्रतोपवासादि नियमकृतदुःखेन। (गो०)

करते हैं और वनैले मृग आदि पशु तथा पक्षी इसके तट पर सदा भरे रहते हैं ॥ ७ ॥

अधिकं प्रतिभात्येतन्नीलपीतं तु शाद्वलम् ।
द्रुमाणां विविधैः पुष्पैः परिस्तोमै[1]रिवार्पितम् ॥ ८ ॥

यह झील नीले पीले तृणों से सुशोभित है और नाना प्रकार के पुष्पों वाले वृक्षों से जो हाथी की रंग बिरंगी झूल की तरह जान पड़ते हैं, कैसी शोभायमान हो रही है ॥ ८ ॥

पुष्पभारसमृद्धानि शिखराणि समन्ततः ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिरुपगूढानि सर्वतः ॥ ९ ॥

देखो, ये वृक्ष जिनकी फुनगियाँ फूलों के बोझ से लदी हैं और जो स्वयं चारों ओर से फूली हुई लताओं से लिपटे हुए हैं, इस पम्पा झील की शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ९ ॥

सुखानिलोऽयं सौमित्रे कालः प्रचुरमन्मथः[2] ।
गन्धवान्[3]सुरभिर्मासो[4] जातपुष्पफलद्रुमः ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, सुखदायक पवन सन् सन् करता बह रहा है। यह मधुमास कामोद्दीपक होने के कारण गर्वीला सा हो रहा है। इस ऋतु में वृक्ष, फूलों और फलों से भर जाते हैं ॥ १० ॥

पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्पशालिनाम् ।
सृजतां पुष्पवर्षाणि तोयं तोयमुचामिव ॥ ११ ॥

---

१ परिस्तोमैः कुथैः । (गो०) २ प्रचुरमन्मथः—कामोद्दीपकं । (रा०)
३ गन्धवान्—कामोद्दीपनेनगर्ववान् । (रा०) ४ सुरभिर्मासो —मधुमासः (रा०)

हे लक्ष्मण! पुष्पित वृक्षों से युक्त वनों का रूप तो देखो। वन के ये वृक्ष ऐसी ही पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं, मानों बादल पानी की वर्षा कर रहे हों ॥ ११ ॥

प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः ।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति गाम् ॥ १२ ॥

सुन्दर पत्थरों के ऊपर उगे हुए नाना प्रकार के वृक्ष पवन के वेग से काँप कर पृथिवी के ऊपर फूलों की वर्षा कर रहे हैं ॥ १२ ॥

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः ।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडन्निव समन्ततः ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण! यह वसन्त ऋतु का वायु, इन पुष्पों के द्वारा जो कुछ गिरे और कुछ गिरने को हैं और कुछ वृक्षों ही में लगे हैं, कैसा चारों ओर खेल सा खेल रहा है ॥ १३ ॥

विक्षिपन्विविधाः शाखा नगानां कुसुमोत्कचाः ।
मारुतश्चलितस्थानैः षट्पदैरनुगीयते ॥ १४ ॥

वायु चलने पर पुष्पों से लदी वृक्षों की शाखाओं के साथ फूल भी हिलने लगते हैं। फूलों के हिलने से उन पर बैठे हुए भौंरे फूलों को छोड़ गूंजने लगते हैं ॥ १४ ॥

मत्तकोकिलसन्नादैर्नर्तयन्निव पादपान् ।
शैलकन्दरनिष्क्रान्तः प्रगीत इव चानिलः ॥ १५ ॥

देखो, पहाड़ की गुफाओं से निकल कर वायु वृक्षों को नचाता हुआ इन मतवाली कोयलों के द्वारा मानों मधुर गान कर रहा है ॥ १५ ॥

तेन विक्षिपतात्यर्थं पवनेन समन्ततः ।
अमी संसक्तशाखाग्रा ग्रथिता इव पादपाः ॥ १६ ॥

पवन के चारों ओर से चलने पर वृक्षों की शाखाओं के परस्पर मिल जाने से ये वृक्ष माला की तरह गुथे हुए से जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

स एष सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः ।
गन्धमभ्यावहन्पुण्यं श्रमापनयनोऽनिलः ॥ १७ ॥

यह पवन सुखस्पर्शी, चन्दन की तरह शीतल और शुद्ध गन्ध से युक्त हो, श्रम को दूर कर रहा है ॥ १७ ॥

अमी पवनविक्षिप्ता विनदन्तीव पादपाः ।
षट्पदैरनुकूजन्तो वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १८ ॥

मधुगन्ध युक्त वनों में वायु से प्रेरित यह वृक्षावली, भौंरों के गुंजार द्वारा मानों नाद कर रही है ॥ १८ ॥

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु पुष्पवद्भिर्मनोरमैः ।
संसक्तशिखराः[1] शैला विराजन्ते महाद्रुमैः ॥ १९ ॥

पर्वतों के शिखरों पर उगे हुए सुन्दर पुष्पित वृक्षों की फुनगियों के आपस में मिल जाने से पर्वत की शोभा ऐसी हो रही है, मानों पुष्पों का ढेर शोभित हो ॥ १६ ॥

पुष्पसंछन्नशिखरा मारुतोत्क्षेपचञ्चलाः ।
अमी मधुकरोत्तंसाः प्रगीता इव पादपाः ॥ २० ॥

---

१ संसक्त शिखराः—परस्परसंश्लिष्टाग्राः । (गो०)

वृक्षों की फुनगियां पुष्पों से ढक जाने से तथा उनके ऊपर भौंरें के गुंजार करने से और पवन के झोकों के लगने के कारण वृक्षों के हिलने से ऐसा जान पड़ता है, मानों पेड़ गा नाच रहे हैं ॥ २० ॥

पुष्पिताग्रांस्तु पश्येमान्कर्णिकारान्समन्ततः ।
हाटकप्रतिसंछन्नान्नरान्पीताम्बरानिव ॥ २१ ॥

हे लक्ष्मण ! चारों ओर खड़े इन फूले हुए कर्णिकार (कनैर) के पेड़ों को तो देखो । मानों सुवर्ण के आभूषण पहिने हुए और पीताम्बर धारण किये हुए मनुष्य खड़े हों ॥ २१ ॥

अयं वसन्तः सौमित्रे नानाविहगनादितः ।
सीतया विप्रहीणस्य शोकसन्दीपनो मम ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! यह वसन्त ऋतु विविध प्रकार के पक्षियों से नादित हो, मेरे सीता-वियोग-जन्य शोक को बढ़ा रहा है ॥ २२ ॥

मां हि शोकसमाक्रान्तं सन्तापयति मन्मथः ।
हृष्टः प्रवदमानश्च मामाह्वयति कोकिलः ॥ २३ ॥

शोक से सन्तापित मुझको यह कामदेव और भी अधिक सन्तप्त कर रहा है और प्रसन्न हो कूकती हुई कोयल मानों मुझे ललकार रही है ॥ २३ ॥

एष नत्यूहको हृष्टो रम्ये मां वननिर्झरे ।
प्रणदन्मन्मथाविष्टं शोचयिष्यति लक्ष्मण ॥ २४ ॥

देखो लक्ष्मण ! जान पड़ता है कि, मनोरम वन के झरनों के तट पर बैठा हुआ जलकुक्कुट, हर्षित हो, अपने शब्द से मुझ कामातुर को विकल कर देगा ॥ २४ ॥

श्रुत्वैतस्य पुरा शब्दमाश्रमस्था मम प्रिया ।
मामाहूय प्रमुदिता परमं प्रत्यनन्दत ॥ २५ ॥

मेरी प्रिया सीता, आश्रम में इसकी बोली सुन और मुझको बुला कर अत्यानन्दित होती थी ॥ २५ ॥

एवं विचित्राः पतगा नानारावविराविणः ।
वृक्षगुल्मलताः पश्य सम्पतन्ति ततस्ततः ॥ २६ ॥

ये तरह तरह के अद्भुत पक्षी भाँति भाँति की बोलियाँ बोलते हुए चारों ओर से आ कर वृक्षों, गुल्मों और लताओं पर गिरते हैं ॥ २६ ॥

विमिश्रा विहगाः पुम्भिरात्मव्यूहाभिनन्दिताः ।
भृङ्गराजप्रमुदिताः सौमित्रे मधुरस्वराः ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! भाँति भाँति के (नर और मादा) पक्षियों के जोड़े अपने समुदायों में आनन्दित हो रहे हैं और देखो भृङ्गराज पक्षी प्रसन्न हो, कैसी प्यारी बोली बोल रहा है ॥ २७ ॥

तस्याः कूले प्रमुदिताः शकुनाः सङ्घशस्त्विह ।
नत्यूहरुतविक्रन्दैः पुंस्कोकिलरुतैरपि ॥ २८ ॥

देखो पम्पा के तट पर पक्षियों के समूह के समूह, दात्यूह पक्षी तथा नरकोयल की बोलियाँ सुन कैसे प्रसन्न हो रहे हैं ॥ २८ ॥

स्वनन्ति पादपाश्चेमे ममानङ्गप्रदीपनाः ।
अशोकस्तवकाङ्गारः षट्पदस्वननिःस्वनः ॥ २९ ॥

देखो, ये सब पेड़ भी बोल रहे हैं। जिससे मेरा काम उत्तेजित होता है और गुंजार करते हुए भौंरों से भरा यह अशोक के

पुष्पों का गुच्छा मुझे दहकते हुए अंगार की तरह मालूम पड़ता है ॥ २९ ॥

मां हि पल्लवताम्रार्चिर्वसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति ।
न हि तां सूक्ष्मपक्ष्माक्षीं सुकेशीं मृदुभाषिणीम् ॥ ३० ॥
अपश्यतो मे सौमित्रे जीवितेऽस्ति प्रयोजनम् ।
अयं हि दयितस्तस्याः कालो रुचिरकाननः ॥ ३१ ॥

हे लक्ष्मण ! यह वसन्त ऋतु रूपी आग, जिसमें लाल लाल पत्ते रूपी ज्वाला उठ रही है, मुझे मानों भस्म कर डालेगी। उस कमलनयनी, सुकेशी और मधुरभाषिणी को देखे विना मेरा जीना व्यर्थ है। क्योंकि मेरी प्यारी को यह ऋतु बहुत ही प्यारी लगती है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

कोकिलाकुलसीमान्तो दयिताया ममानघ ।
मन्मथायाससम्भूतो वसन्तगुणवर्धितः ॥ ३२ ॥
अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निर्न चिरादिव ।
अपश्यतस्तां दयितां पश्यतो रुचिरद्रुमान् ॥ ३३ ॥

हे दोषरहित ! यह समय जिसमें चारों ओर से कोयल की कुहू कुहू सुन पड़ती है मेरी प्रिया को बहुत पसन्द है। मदन की भय-जनित शोक रूपी आग, जो वसन्त के रमणीय गुणों से अधिक बढ़ रही है, मुझे थोड़ी ही देर में बहुत जल्द भस्म कर डालेगी। क्योंकि यह सुन्दर वृक्ष तो मुझे देख पड़ते हैं; किन्तु प्यारी सीता मुझे नहीं देख पड़ती ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

ममायमात्मप्रभवो[1] भूयस्त्व[2]मुपयास्यति ।
अदृश्यमाना वैदेही शोकं वर्धयते मम ॥ ३४ ॥

अतः कामदेव और भी बढ़ेगा। इस समय सीता का मेरे पास न होना मेरे शोक को अधिकाधिक बढ़ा रहा है ॥ ३४ ॥

दृश्यमानो वसन्तश्च स्वेदसंसर्गदूषकः ।
मां ह्यद्य मृगशावाक्षी चिन्ताशोकबलात्कृतम् ॥ ३५ ॥

यह रति की थकावट दूर करने वाला वसन्त, मेरे सामने आ और उस मृगनयनी, चिन्तावती और शोकपूर्ण, के सामने न होने से मुझे बहुत दुःखी कर रहा है ॥ ३५ ॥

सन्तापयति सौमित्रे क्रूरश्चै[1]त्रो वनानिलः ।
अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः ॥ ३६ ॥

स्वैः पक्षैः पवनोद्धूतैर्गवाक्षैः स्फाटिकैरिव ।
शिखिनीभिः परिवृतास्त एते मदमूर्छिताः ॥ ३७ ॥

हे लक्ष्मण ! यह चैत्र का क्रूर वन-वायु भी मुझे पीड़ित करता है। देखो ! ये मोर नाचते हुए इधर उधर शोभायमान हो रहे हैं। वायु से कम्पायमान इनके पंख ऐसी शोभा दे रहे हैं, मानों स्फटिक के बनाये हुए झरोखे हों। ये समस्त मोर अपनी मोरनियों से घिरे हुए उन्मत्त से हो रहे हैं ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

मन्मथाभिपरीतस्य[3] मम मन्मथवर्धनाः ।
पश्य लक्ष्मण नृत्यन्तं मयूरमुपनृत्यति ॥ ३८ ॥

---

१ आत्मप्रभवः—मन्मथः । (गो०) २ भूयस्त्वं—प्रवृद्धत्वं । (रा०) ३ अभिपरीतस्य—व्याप्तस्य । (रा०)

शिखिनी मन्मथार्तैषा भर्तारं गिरिसानुषु ।
तामेव मनसा[1] रामां[2] मयूरोऽप्युपधावति ॥ ३९ ॥

ये मोर स्वयं कामदेव से व्याप्त हो मेरे काम को उत्तेजित कर रहे हैं। देखो लक्ष्मण! इस पर्वत की चोटी पर मोर को नाचते देख कर, यह मोरनी कामदेव से पीड़ित हो, अपने पति के साथ नाच रही है और वह अपने पति के पास जाना चाहती है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

वितत्य रुचिरौ पक्षौ रुतैरुपहसन्निव ।
मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हृता प्रिया ॥ ४० ॥

मोर अपने सुन्दर दोनों पंखों को फैला कर और प्यारी बोली बोल मानों मेरा उपहास करता है। इस मोर की मोरनी को कोई राक्षस पकड़ कर के नहीं ले गया ॥ ४० ॥

तस्मान्नृत्यति रम्येषु वनेषु सह कान्तया ।
मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुःसहः ॥ ४१ ॥

इसीसे तो यह इस रमणीय वन में अपनी प्यारी के साथ नाच रहा है। हे लक्ष्मण! इस चैत्र मास में सीता के बिना मेरा यहाँ रहना दुःसह है ॥ ४१ ॥

पश्य लक्ष्मण संरागं तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
यदेषा शिखिनी कामाद्भर्तारं रमतेऽन्तिके ॥ ४२ ॥

---

१ मनसा उपधावीत—समीपमागन्तुमिच्छतीत्यर्थः । (गो०) २ रामां—कान्तां । (गो०)

हे लक्ष्मण ! पशु पक्षियों में भी प्रेमानुराग पाया जाता है। देखो, ये मोरनियां काम से पीड़ित हो मोरों के पास कैसी दौड़ी चली जाती हैं ॥ ४२ ॥

ममाप्येवं विशालाक्षी जानकी जातसम्भ्रमा ।
मदनेनाभिवर्तेत यदि नापहृता भवेत् ॥ ४३ ॥

यदि मेरी उस विशालाक्षी जानकी को राक्षस हर कर न ले गया होता, तो वह भी कामपीड़ित हो, मेरे पास आने की इच्छा करती ॥ ४३ ॥

पश्य लक्ष्मण पुष्पाणि निष्फलानि भवन्ति मे ।
पुष्पभारसमृद्धानां वनानां शिशिरात्यये[1] ॥ ४४ ॥

देखो लक्ष्मण ! इस वसन्त ऋतु में वन के सब पुष्पित वृक्षों के फूल, मेरे लिये किसी काम के नहीं ॥ ४४ ॥

रुचिराण्यपि पुष्पाणि पादपानामतिश्रिया ।
निष्फलानि महीं यान्ति समं मधुकरोत्करैः ॥ ४५ ॥

वृक्षों के शोभारूपी ये फूल जो अत्यन्त सुन्दर हैं, भौरों के झुण्डों के साथ साथ पृथिवी पर गिर कर निष्फल हुए जाते हैं ॥ ४५ ॥

वदन्ति रावं मुदिताः शकुनाः सङ्घशः कलम् ।
आह्वयन्त इवान्योन्यं कामोन्मादकरा मम ॥ ४६ ॥

ये पक्षियों के समूह हर्ष से चहकते और एक दूसरे को ललकारते मेरे काम की उन्मादावस्था की वृद्धि कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

---

१ शिशिरात्यये—वसन्ते (गो०)

वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया ।
नूनं परवशा सीता साऽपि शोचत्यहं यथा ॥ ४७ ॥

इस समय जहाँ मेरी प्यारी सीता होगी, यदि वहाँ भी वसन्त हुआ, तो वह भी परवश हो, मेरी तरह शोक कर विकल होती होगी ॥ ४७ ॥

नूनं न तु वसन्तोऽयं देशं स्पृशति यत्र सा ।
कथं ह्यसितपद्माक्षी वर्तयेत्सा मया विना ॥ ४८ ॥

निश्चय ही जहाँ पर सीता होगी वहाँ वसन्त ऋतु का नाम निशान भी न होगा । नहीं तो वह कमलनयनी मेरे बिना वहाँ कैसे रह सकती थी ॥ ४८ ॥

अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया ।
किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्भर्त्सिता परैः ॥४९॥

और यदि जहाँ पर मेरी प्यारी है वहाँ भी वसन्त ऋतु हुआ, तो वह सुश्रोणी दूसरों से डराई धमकाई जा कर, क्या करती होगी ॥ ४९ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुपूर्वाभिभाषिणी ।
नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ५० ॥

श्यामा, कमलनयनी और मृदुभाषण करने वाली सीता इस वसन्त ऋतु के आने पर निश्चय ही अपने प्राण गँवा देगी ॥ ५० ॥

दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम सम्प्रति वर्तते ।
नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥ ५१ ॥

इस समय इस बात का तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि, मेरे वियोग में सीता कभी जीवित नहीं रह सकती ॥ ५१ ॥

मयि भावस्तु[1] वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः ।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः ॥ ५२ ॥

क्योंकि मेरे मन में सीता का और सीता के मन में मेरा पूर्ण और यथार्थ अनुराग है ॥ ५२ ॥

एष पुष्पवहो वायुः सुखस्पर्शो हिमावहः ।
तां विचिन्तयतः कान्तां पावकप्रतिमो[2] मम ॥ ५३ ॥

यह शीतल मन्द सुगन्ध वायु सीता के लिये चिन्तातुर, मुझको अग्नि की तरह सन्तापकारी है ॥ ५३ ॥

सदा सुखमहं मन्ये यं पुरा सह सीतया ।
मारुतः स विना सीतां शोकं वर्धयते मम ॥ ५४ ॥

जिस पवन को पहले मैं सीता के साथ रहते समय अत्यन्त सुखकारक मानता था, वही वायु इस समय सीता के विना मेरा शोक बढ़ा रहा है ॥ ५४ ॥

तां विना स विहङ्गो यः पक्षी प्रणदितस्तदा ।
वायसः पादपगतः प्रहृष्टमभिनर्दति ॥ ५५ ॥

जब सीता जी पास थीं तब इस कौए ने आकाश में उड़ और कठोर बोली बोल, जानकी के वियोग की सूचना दी थी। इस समय यह पक्षी प्रसन्नता से उड़ कर वृक्ष पर बैठ फिर उनके (सीता के) मिलन को जता रहा है ॥ ५५ ॥

---

१ भावोऽनुरागः । (गो०) २ पावकप्रतिमा—सन्तापकर इत्यर्थः । (गो०)

एष वै तत्र वैदेह्या विहगः प्रतिहारकः ।
पक्षी मां तु विशालाक्ष्याः समीपमुपनेष्यति ॥ ५६ ॥

मुझे मालूम पड़ता है कि, यह कौआ मुझे सीता का सन्देशा दे रहा है और यह मुझे उस विशालाक्षी के पास पहुँचावेगा ॥ ५६ ॥

शृणु लक्ष्मण सन्नादं वने मदविवर्धनम् ।
पुष्पिताग्रेषु वृक्षेषु द्विजानामुपकूजताम् ॥ ५७ ॥

लक्ष्मण सुनो ! इन फूली हुई वृक्षों की शाखाओं पर बैठे हुए पक्षियों का चहकना मेरी कामवासना को बढ़ा रहा है ॥ ५७ ॥

विक्षिप्तां पवनेनैतामसौ तिलकमञ्जरीम् ।
षट्पदः सहसाऽभ्येति मदोद्धूतामिव प्रियाम् ॥ ५८ ॥

देखो यह भौरा पवन चालित इस तिलक वृक्ष की लता पर कैसा शीघ्र जा कर मँडरा रहा है, मानों कोई मतवाला अपनी प्यारी के पास जाय ॥ ५८ ॥

कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः ।
स्तवकैः पवनोत्क्षिप्तैस्तर्जयन्निव मां स्थितः ॥ ५९ ॥

यह अशोक का पेड़ कामीजनों के शोक का बढ़ाने वाला है। यह पवन से कम्पित हो अपने पत्तों से मानों मुझको डरवाता हुआ खड़ा है ॥ ५६ ॥

अमी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः ।
विभ्रमोत्सिक्तमनसः साङ्गरागा नरा इव ॥ ६० ॥

हे लक्ष्मण ! ये बौरे हुए आम के वृक्ष ऐसे देख पड़ते हैं, मानों अंगराग (चन्दनादि) को लगाये हुए कामोन्मत्त मनुष्य हों ॥ ६० ॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाश्चित्रासु वनराजिषु ।
किन्नरा नरशार्दूल विचरन्ति ततस्ततः ॥ ६१ ॥

हे लक्ष्मण ! इस पम्पासरोवर के तटवर्ती विचित्र वन में किन्नर लोग इधर उधर कैसे घूम फिर रहे हैं ॥ ६१ ॥

इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः ।
नलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुणसूर्यवत् ॥ ६२ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, इस समय पम्पासरोवर के जल में ये सुगन्ध युक्त कमल के फूल तरुण सूर्य्य को तरह कैसे चमचमा रहे हैं ॥६२॥

एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता ।
हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकान्विता ॥ ६३ ॥

देखो यह पम्पा नाम की झील, भाँति भाँति के सुगन्ध युक्त कमल-पुष्पों से तथा हंस और कारण्डव पक्षियों से कैसी सुन्दर जान पड़ती है ॥ ६३ ॥

जले तरुणसूर्याभैः षट्पदाहतकेसरैः ।
पङ्कजैः शोभते पम्पा समन्तादभिसंवृता ॥ ६४ ॥
चक्रवाकयुता नित्यं चित्रप्रस्थवनान्तरा ।
मातङ्गमृगयूथैश्च शोभते सलिलार्थिभिः ॥ ६५ ॥

इस पम्पा के बगल वाले विचित्र वन, चक्रवाकों के झुण्डों से तथा पानी पीने के अभिलाषी मृगों और हाथियों के दलों से युक्त हो कर कैसे शोभित हो रहे हैं ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

पवनाहितवेगाभिरूर्मिभिर्विमलेऽम्भसि ।
पङ्कजानि विराजन्ते ताड्यमानानि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

हे लक्ष्मण! देखो वायु के झोकों से उठी हुई लहरों के लहराने से यह कमल के फूल कैसे अच्छे मालूम देते हैं ॥ ६६ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षीं सततं पङ्कजप्रियाम् ।
अपश्यतो मे वैदेहीं जीवितं नाभिरोचते ॥ ६७ ॥

कमलाक्षी जानकी को, जिसको कमल पुष्प अत्यन्त प्रिय हैं, न देखने से मुझे अपना जीवित रहना भी अच्छा नहीं जान पड़ता ॥ ६७ ॥

अहो कामस्य वामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम् ।
स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम् ॥ ६८ ॥

हे लक्ष्मण! ज़रा कामदेव की वामगति को तो देखो। जिसका वियोग हो चुका है और जिसका फिर मिलना भी अति दुर्लभ है, उसी शुभ वचन बोलनेवाली कल्याणी का, यह बार बार स्मरण कराती है ॥ ६८ ॥

शक्यो धारयितुं कामो भवेदद्यागतो[1] मया ।
यदि भूयो वसन्तो मां न हन्यात्पुष्पितद्रुमः ॥ ६९ ॥

यदि पुष्पित वृक्षों वाला यह वसन्त मुझे न सतावे, तो मैं इस समय काम के वेग को भी रोक सकता हूँ ॥ ६९ ॥

यानि स्म रमणीयानि तया सह भवन्ति मे ।
तान्येवारमणीयानि जायन्ते मे तया विना ॥ ७० ॥

देखो सीता के पास रहने पर मुझे जो पदार्थ प्रिय लगते थे वे उसके बिना मुझे अब फीके जान पड़ते हैं ॥ ७० ॥

---

1 अद्यागतः—इदानीं वर्तमानः । (गो०)

पद्मकोशपलाशानि दृष्ट्वा दृष्टिर्हि मन्यते ।
सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण ॥ ७१ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरी निगाह में इन कमलपत्रों का बड़ा आदर है। क्योंकि ठीक ये सीता की आँखों के कोयों के समान देख पड़ते हैं ॥ ७१ ॥

पद्मकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरविनिःसृतः ।
निःश्वास इव सीताया वाति वायुर्मनोहरः ॥ ७२ ॥

कमल के फूलों की केसर की सुगन्धि से मिला हुआ और अन्य वृक्षों के बीच हो कर चलने वाला, यह मनोहर पवन सीता के निश्वास के तुल्य बह रहा है ॥ ७२ ॥

सौमित्रे पश्य पम्पाया दक्षिणे गिरिसानुनि ।
पुष्पितां कर्णिकारस्य यष्टिं[1] परमशोभनाम् ॥ ७३ ॥

हे लक्ष्मण ! पम्पा की दक्षिण ओर देखो। वहाँ पर्वत-शिखर पर कर्णिकार की फूली हुई लताएँ कैसी मनोहर देख पड़ती हैं ॥ ७३ ॥

अधिकं शैलराजोऽयं धातुभिः सुविभूषितः ।
विचित्रं सृजते रेणुं वायुवेगविघट्टितम् ॥ ७४ ॥

अनेक धातुओं से विभूषित यह पर्वतराज तेज़ वायु के चलने से कैसी विचित्र धूल उड़ा रहा है ॥ ७४ ॥

गिरिप्रस्थास्तु सौमित्रे सर्वतः संप्रपुष्पितैः ।
निष्पत्रैः सर्वतो रम्यैः प्रदीप्ता इव किंशुकैः ॥ ७५ ॥

---

१ यष्टिं—लतां । (गो०)

हे लक्ष्मण ! इस पर्वत के शिखर चारों ओर से फूले हुए तथा पत्तों से रहित टेसू के पेड़ों से युक्त ऐसे जान पड़ते हैं, मानों पर्वत में आग लग गयी हो ॥ ७५ ॥

पम्पातीररुहाश्चेमे संसक्ता मधुगन्धिनः ।
मालतीमल्लिकाषण्डाः करवीराश्च पुष्पिताः ॥ ७६ ॥
केतक्यः सिन्धुवाराश्च वासन्त्यश्च सुपुष्पिताः ।
माधव्यो गन्धपूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च सर्वशः ॥ ७७ ॥
चिरिबिल्वा मधूकाश्च वञ्जुला वकुलास्तथा ।
चम्पकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाः सुपुष्पिताः ॥ ७८ ॥
नीपाश्च वरणाश्चैव खर्जूराश्च सुपुष्पिताः ।
पद्मकाश्चोपशोभन्ते नीलाशोकाश्च पुष्पिताः ॥ ७९ ॥
लोध्राश्च गिरिपृष्ठेषु सिंहकेसरपिञ्जराः ।
अङ्कोलाश्च कुरण्टाश्च पूर्णकाः पारिभद्रकाः ॥ ८० ॥
चूताः पाटलयश्चैव कोविदाराश्च पुष्पिताः ।
मुचुलिन्दार्जुनाश्चैव दृश्यन्ते गिरिसानुषु ॥ ८१ ॥
केतकोद्दालकाश्चैव शिरीषाः शिंशुपा धवाः ।
शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव रक्ताः कुरवकास्तथा ॥ ८२ ॥
तिनिशा नक्तमालाश्च चन्दनाः स्पन्दनास्तथा ।
पुष्पितान्पुष्पिताग्राभिर्लताभिः परिवेष्टितान् ॥ ८३ ॥

पम्पा सरोवर के तरुवर पम्पा सरोवर ही के जल से सींचे हुए । मधुर गन्धयुक्त ये जुही, बिजौरा, नीबू, कुन्द के गुच्छे, चिलबिल, महुआ, बेंत, मौलसिरी, चंपा, तिलक, नागकेसर, पद्मक,

नीज, अशोक, लोध, अकोल, कोरैया, चूर्णक, मदार, आम, गुलाब, कचनार, मुचकुन्द, केवड़ा, लसोड़ा, सिरसा, सीसों, धव, सेमर, टेसू, लाल कौरैया, तिमिश, करञ्ज, चन्दन, स्यन्दन आदि के वृत्त फूल रहे हैं और फूली हुई लताओं से युक्त है ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ ७६ ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

द्रुमान्पश्येह सौमित्रे पम्पाया रुचिरान्बहून् ।
वातविक्षिप्तविटपान्यथासन्नान्द्रुमानिमान् ॥ ८४ ॥
लताः समनुवर्तन्ते मत्ता इव वरस्त्रियः ।
पादपात्पादपं गच्छञ्शैलाच्छैलं वनाद्वनम् ॥ ८५ ॥
वाति नैकरसास्वादः सम्मोदित इवानिलः ।
केचित्पर्याप्तकुसुमाः पादपा मधुगन्धिनः ॥ ८६ ॥

हे लक्ष्मण ! पम्पा के तट पर इन अनेक सुन्दर पेड़ों को तो देखो। वायु के झोंको से इनकी डालियाँ कैसी हिल रही हैं और लताएँ भी इनको उसी प्रकार आलिङ्गन करती हैं, जिस प्रकार मद से मतवाली सुन्दरियाँ अपने पतियों को आलिङ्गन करती हैं। देखो यह पवन एक वृत्त से दूसरे वृत्त पर, एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर और एक वन से दूसरे वन में जा कर और अनेक रसों का स्वाद ले कर, अत्यन्त आनन्दित सा घूम रहा है। किसी किसी पेड़ की डालियाँ अधिक पुष्पयुक्त होने के कारण बहुत अधिक महक दे रही हैं ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

केचिन्मुकुलसंवीताः श्यामवर्णा इवाबभुः ।
इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि ॥ ८७ ॥
रागमत्तो मधुकरः कुसुमेष्ववलीयते ।
निलीय पुनरुत्पत्य सहसान्यत्र गच्छति ॥ ८८ ॥

कोई कोई पेड़ कलियों से युक्त श्याम वर्ण हो शोभायमान हो रहे हैं। ये फूल मीठे हैं, यह स्वादिष्ट हैं, यह फूल खिले हुए हैं—इस प्रकार समझ और अनुराग में भर भौंरा उड़ उड़ कर फूलों पर बैठता है, और फिर वहाँ से उड़ कर सहसा अन्य वृक्ष पर जाता है ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्वसौ ।
इयं कुसुमसङ्घातैरुपस्तीर्णा सुखाकृता ॥ ८९ ॥

मधु का लोभी भौंरा इस प्रकार पम्पा-तीर-वर्ती वृक्षों पर मँडराता फिरता है। देखो तो इस भूमि पर कैसे फूल बिछे हैं। मानों सोने के लिये कोमल चटाई बिछी हो ॥ ८९ ॥

स्वयं निपतितैर्भूमिः शयनप्रस्तरैरिव ।
विविधा विविधैः पुष्पैस्तैरेव नगसानुषु ॥ ९० ॥
विकीर्णैः पीतरक्ता हि सौमित्रे प्रस्तराः कृतः ।
हिमान्ते पश्य सौमित्रे वृक्षाणां पुष्पसम्भवम् ॥ ९१ ॥
पुष्पमासे हि तरवः सङ्घर्षादिव पुष्पिताः
आह्वयन्त इवान्योन्यं नगाः षट्पदनादिताः ॥ ९२ ॥

ये फूल अपने आप गिरे हैं, किन्तु ऐसे गिरे हैं, मानों सोने के लिये सेज बिछी हो। इस पर्वत के शिखरों पर विविध रंग के पुष्पों से रंग बिरंगी चादर सी बिछी हुई है। हे लक्ष्मण! देखो हेमन्त ऋतु के बीतने पर फूलों की कैसी बाहुल्यता देख पड़ती है। मानों ये वृक्ष एक दूसरे को देखा देखी फूलों को उत्पन्न कर रहे हैं। ये पेड़ भौंरों की गुंजार से मानों आपस में एक दूसरे को ललकार रहे हैं ॥ ९० ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

कुसुमोत्तंसविटपाः शोभन्ते बहु लक्ष्मण ।
एष कारण्डवः पक्षी विगाह्य सलिलं शुभम् ॥ ९३ ॥

हे लक्ष्मण ! पुष्पों से लदे वृक्ष बहुत शोभायमान हो रहे हैं। यह कारण्डव पक्षी, इस विमल जल में डुबकी लगा, ॥ ९३ ॥

रमते कान्तया सार्धं काममुद्दीपयन्मम ।
मन्दाकिन्यास्तु यदिदं रूपमेवं मनोहरम् ॥ ९४ ॥

अपनी मादा के साथ विहार करता हुआ, मानों मेरे कामदेव को उत्तेजित कर रहा है। इस पम्पा का मन्दाकिनी जैसा मनोहर रूप ठीक ही है ॥ ९४ ॥

स्थाने जगति विख्याता गुणास्तस्या मनोरमाः ।
यदि दृश्येत सा साध्वी यदि चेह वसेमहि ॥ ९५ ॥
स्पृहयेयं न शक्राय नायोध्यायै रघूत्तम ।
न ह्येवं रमणीयेषु शाद्वलेषु तया सह ॥ ९६ ॥
रमतो मे भवेच्चिन्ता न स्पृहान्येषु वा भवेत् ।
अमी हि विविधैः पुष्पैस्तरवो रुचिरच्छदाः ॥ ९७ ॥

क्योंकि उसके मनोहर गुण तो जगजाहिर हैं। यदि वह पतिव्रता कहीं इस समय देख पड़ती, तो हे रघूत्तम ! अयोध्या की तो बात ही क्या, इन्द्रासन की भी मैं चाह न करता और इसी जगह वास करता। उसके साथ जब मैं इस हरित तृणमय देश में विहार करता, तब न तो मुझे किसी प्रकार की चिन्ता होती और न अन्य पदार्थों की मुझे आकांक्षा होती। देखो अनेक पुष्पों से शोभित और हरे हरे सुन्दर पत्तों से युक्त ये वृक्ष ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

काननेऽस्मिन्विना कान्तां चित्तमुन्मादयन्ति मे ।
पश्य शीतजलां चेमां सौमित्रे पुष्करायुताम् ॥ ९८ ॥

चक्रवाकानुचरितां कारण्डवनिषेविताम् ।
प्लवैः क्रौञ्चैश्च सम्पूर्णां वराहमृगसेविताम् ॥ ९९ ॥

इस वन में प्यारी सीता के बिना, मेरे चित्त को उन्मादित कर रहे हैं। हे लक्ष्मण! शीतल जल वाली कमलों से युक्त, चक्रवाकों से सेवित, कारण्डवों से सुशोभित, बत्तकों, जलमुरगावियों आदि जलपक्षियों से युक्त, सुअर, हिरन, सिंह आदि अन्य जन्तुओं से सेवित इस पम्पा झील को देखो ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

अधिकं शोभते पम्पा विकूजद्भिर्विहङ्गमैः ।
दीपयन्तीव मे कामं विविधा मुदिता द्विजाः ॥ १०० ॥

इस पम्पा सरोवर की शोभा इन बोलते हुए पक्षियों से और भी अधिक बढ़ गई है। तरह तरह के प्रमुदित पक्षी मेरी कामवासना को उत्तेजित करते हैं ॥ १०० ॥

श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम् ।
पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान्मृगान् ॥ १०१

और पङ्कजनयनी, श्यामा और चन्द्रवदनी प्यारी सीता का स्मरण कराते हैं। देखो, इन विचित्र शिखरों पर ये हिरन हिरनियों के साथ विहार कर रहे हैं ॥ १०१ ॥

मां पुनर्मृगशावाक्ष्या वैदेह्या विरहीकृतम् ।
व्यथयन्तीव मे चित्तं संचरन्तस्ततस्ततः ॥ १०२ ॥

और मृग-शावक-नयनी वैदेही के विरह में मुझको व्यथित करते हैं। ये मृगगण जो इधर उधर घूम रहे हैं, मेरे मन को दुःखी कर रहे हैं ॥ १०२ ॥

अस्मिन्सानुनि रम्ये हि मत्तद्विजगणायुते।
पश्येयं यदि तां कान्तां ततः स्वस्ति भवेन्मम ॥ १०३ ॥

यदि मैं मतवाले पक्षियों से पूर्ण इस मनोहर शिखर पर उस प्राणप्यारी का दर्शन पाऊँ तो, मेरा जी ठिकाने हो अथवा मेरा मन स्वस्थ हो ॥ १०३ ॥

जीवेयं खलु सौमित्रे मया सह सुमध्यमा।
सेवते यदि वैदेही पम्पायाः पवनं सुखम् ॥ १०४ ॥

हे लक्ष्मण! यदि वह पतली कमर वाली जानकी मेरे साथ इस पम्पा के तट पर सुखदायी पवन सेवन करे, तो मैं निश्चय ही जीवित रह सकता हूँ ॥ १०४ ॥

पद्मसौगन्धिकवहं शिवं शोकविनाशनम्।
धन्या लक्ष्मण सेवन्ते पम्पोपवनमारुतम् ॥ १०५ ॥

हे लक्ष्मण! वे लोग धन्य हैं जो कमल के फूलों की सुगन्धि से युक्त, पम्पासरोवर के तट के शोकहारी वायु का सेवन करते हैं ॥ १०५ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी प्रिया विरहिता मया।
कथं धारयति प्राणान्विवशा जनकात्मजा ॥ १०६ ॥

वह श्यामा, कमलनयनी जनककुमारी सीता मेरे वियोग में विवश हो, प्राण धारण करने में कैसे समर्थ होगी? ॥ १०६ ॥

किंतु वक्ष्यामि राजानं धर्मज्ञं सत्यवादिनम् ।
सीताया जनकं पृष्टः कुशलं जनसंसदि ॥ १०७ ॥

अब मैं उस धर्मज्ञ, और सत्यवादी राजा जनक को जब वे सब के सामने, सीता का कुशल मुझसे पूंछेंगे, क्या उत्तर दूँगा ? ॥ १०७ ॥

या मामनुगता मन्दं[1] पित्रा प्रवाजितं वनम् ।
सीता सत्पथ[2]मास्थाय क्व नु सा वर्तते प्रिया ॥१०८॥

मैं बड़ा अभागा हूँ । जब पिता जी ने मुझे वन में भेजा, तब सीता मेरे साथ आई । हा ऐसी पतिव्रता प्यारी सीता इस समय न मालुम कहाँ होगी ? ॥ १०८ ॥

तया विहीनः कृपणः कथं लक्ष्मण धारये ।
या मामनुगता राज्याद्भ्रष्टं विगतचेतसम्[3] ॥ १०९ ॥

हे लक्ष्मण ! राज्य से रहित होने पर मुझ विकल हृदय के साथ जो सीता यहाँ आई थी, उसके विना इस समय मैं दीन हो कर क्यों कर जीवित बना रहूँ ? ॥ १०९ ॥

तच्चार्वञ्चितपक्ष्माक्षं सुगन्धि शुभमव्रणम् ।
अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मनो मम ॥ ११० ॥

इस समय सुन्दर कमल जैसे नेत्रों से भूषित, सुगन्धयुक्त और व्रणरहित प्यारी के मुख को देखे विना मेरा मन विकल हो रहा है ॥ ११० ॥

---

१ मन्दं—भाग्यरहितं । (गो०) २ सत्पथं—पतिव्रतामार्गं । (गो०)
३ विगतचेतसं—विकलहृदयं । (गो०)

स्मितहास्यान्तरयुतं गुणवन्मधुरं हितम् ।
वैदेह्या वाक्यमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण ॥ १११ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सीता के वे अनुपम वाक्य कब सुनूँगा जो हास्य युक्त गुणों से युक्त, सुनने में मधुर और परिणाम में हितकारी होते हैं ॥१११ ॥

प्राप्य दुःखं वने श्यामा सा मां मन्मथकर्शितम् ।
नष्टदुःखेव हृष्टेव साध्वी साभ्यभाषत ॥ ११२ ॥

वह श्यामा वन में कष्ट सह कर भी, मुझे कामपीड़ित देख, दुःख रहित की तरह हर्षित हो, मनोहर वचन बोला करती थी ॥ ११२ ॥

किंनु वक्ष्यामि कौसल्यामयोध्यायां नृपात्मज ।
क्व सा स्नुषेति पृच्छन्तीं कथं चातिमनस्विनीम् ॥ ११३ ॥

हे राजपुत्र ! मैं अयोध्या में लौट कर, माता कौशल्या को, जब वह मुझ से पूँछेगी कि, मेरी पुत्रवधू सीता कहाँ है, तब क्या उत्तर दूँगा ॥ ११३ ॥

गच्छ लक्ष्मण पश्य त्वं भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
न ह्यहं जीवितुं शक्तस्तामृते जनकात्मजाम् ॥ ११४ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम अयोध्या को लौट जाओ और भ्रातृवत्सल भरत से मिलो । मैं तो अब सीता के बिना न जीऊँगा ॥ ११४ ॥

इति रामं महात्मानं विलपन्तमनाथवत् ।
उवाच लक्ष्मणो भ्राता वचनं युक्तमव्ययम्[1] ॥ ११५ ॥

---

१ युक्तमव्ययम्—युक्तिभिरविनाश्यं । (गो०)

इस प्रकार अनाथ की तरह श्रीरामचन्द्र को विलाप करते देख, लक्ष्मण ने युक्ति से खण्डन न करने योग्य वचन कहे ॥ ११५ ॥

संस्तम्भ राम भद्रं ते मा शुचः पुरुषोत्तम ।
नेदृशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम् ॥ ११६ ॥

हे राम ! धीरज रखो । तुम्हारा मङ्गल हो । तुम चिन्ता मत करो । हे पुरुषोत्तम ! तुम जैसे निर्मल बुद्धिवालों की बुद्धि ऐसी मन्द तो नहीं होनी चाहिये ॥ ११६ ॥

स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने ।
अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद्वर्तिरार्द्रापि दह्यते ॥ ११७ ॥

आप विरहजन्य दुःख को स्मरण कर, प्रियजनों के प्रति स्नेह को त्याग दीजिये । क्योंकि देखिये, अत्यन्त स्नेहयुक्त (तेल में पड़ने से) गीली बत्ती भी जल जाती है ॥ ११७ ॥

यदि गच्छति पातालं ततो ह्यधिकमेव वा ।
सर्वथा रावणस्तावन्न भविष्यति राघव ॥ ११८ ॥

हे राघव ! रावण चाहे तो पाताल में अथवा पाताल से भी बढ़ कर किसी अन्य गुप्तस्थान में जा छिपे, पर वह बच नहीं सकता—वह मारा तो अवश्य ही जायगा ॥ ११८ ॥

प्रवृत्तिर्[1]लभ्यतां तावत्तस्य पापस्य रक्षसः ।
ततो हास्यति वा सीतां निधनं वा गमिष्यति ॥ ११९ ॥

प्रथम तो उस पापी राक्षस का वृत्तान्त जानना चाहिये । तदनन्तर या तो वह सीता को स्वयं छोड़ ही देगा अथवा मारा ही जायगा ॥ ११९ ॥

---

१ प्रवृत्तिः—वार्ता । (गो०)

यदि यात्यदितेर्गर्भं रावणः सह सीतया ।
तत्राप्येनं हनिष्यामि न चेद्दास्यति मैथिलीम् ॥ १२० ॥

यदि रावण सीता सहित दिति के गर्भ में जा छिपे और सीता को न दे तो मैं वहाँ भी उसका वध करूँगा ॥ १२० ॥

स्वास्थ्यं भद्रं भजस्वार्य त्यज्यतां कृपणा मतिः ।
अर्थो हि नष्टकार्यार्थैर्नायत्नेनाधिगम्यते ॥ १२१ ॥

इस लिये हे भाई ! आप अपना चित्त ठिकाने कीजिये । इस दैन्य को त्याग दीजिये । क्योंकि खोई हुई वस्तु विना प्रयत्न किये नहीं मिलती ॥ १२१ ॥

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम् ।
सोत्साहस्यास्ति लोकेऽस्मिन्न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥ १२२

हे भाई ! उत्साह बड़ा बलवान होता है । क्योंकि उत्साह से बढ़ कर दूसरा कोई बल ही नहीं है । जो उत्साही लोग हैं, उनके लिये इस संसार में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ १२२ ॥

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।
उत्साहमात्रमाश्रित्य सीतां प्रतिलभेमहि ॥ १२३ ॥

उत्साही जन किसी भी कार्य के करने में नहीं घबड़ाते । अतः हम भी केवल उत्साह ही से जानकी को प्राप्त करेंगे ॥ १२३ ॥

त्यज्यतां कामवृत्तत्वं शोकं संन्यस्य पृष्ठतः ।
महात्मानं कृतात्मानमात्मानं नावबुध्यसे ॥ १२४ ॥

आप महात्मा और कृतविद्य हो कर भी अपने स्वरूप को क्यों नहीं चीन्हते ? आप शोक को, त्याग कर कामी जनों जैसी इस वृत्ति को पीठ पीछे फैंकिये, अर्थात् त्याग दीजिये ॥ १२४ ॥

एवं संबोधितस्तत्र शोकोपहतचेतनः ।
न्यस्य शोकं च मोहं च ततो धैर्यमुपागमत् ॥ १२५ ॥

जब लक्ष्मण जी ने शोक से विकल श्रीरामचन्द्र जी को इस प्रकार समझाया, तब श्रीरामचन्द्र जी ने शोक और मोह को त्याग धैर्य धारण किया ॥ १२५ ॥

सोऽभ्यतिक्रामदव्यग्रस्तामचिन्त्यपराक्रमः ।
रामः पम्पां सुरुचिरां रम्यपारिप्लवद्रुमाम्[1] ॥ १२६ ॥

तदनन्तर अचिन्त्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अव्यग्र चित्त से हिलते हुए वृक्षों से युक्त उस अत्यन्त मनोहर पम्पासर को घूम घूम कर देखने लगे ॥ १२६ ॥

निरीक्षमाणः सहसा महात्मा
सर्वं वनं निर्झरकन्दरांश्च ।
उद्विग्नचेताः सह लक्ष्मणेन
विचार्य दुःखोपहतः प्रतस्थे ॥ १२७ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी वनस्थली, झरने व गुफाओं को देखते हुए लक्ष्मण सहित उद्विग्न और दुःखित थे, तथापि (मन ही मन) विचार करते हुए चले जाते थे ॥ १२७ ॥

तं मत्तमातङ्गविलासगामी
गच्छन्तमव्यग्रमना महात्मा ।
स लक्ष्मणो राघवमप्रमत्तो
ररक्ष धर्मेण बलेन चैव ॥ १२८ ॥

---

1 पारिप्लवद्रुमाम्—चञ्चलद्रुमां । (गो०)

मतवाले हाथी की तरह चलने वाले, अव्यग्रमना, महात्मा लक्ष्मण जी, श्रीरामचन्द्र जी की धर्म से और बल से भी सावधानतापूर्वक रक्षा करते जाते थे ॥ १२८ ॥

ताावृश्यमूकस्य समीपचारी
चरन्ददर्शाद्भुतदर्शनीयौ ।
शाखामृगाणामधिपस्तरस्वी
वितत्रसे नैव चिचेष्ट किञ्चित् ॥ १२९ ॥

ऋष्यमूक पर्वत के समीप वालि के भय से विचरने वाले और बड़े वेगवान् वानरराज सुग्रीव उन दोनों भाइयों के अद्भुत रूप के दर्शन कर, भयभीत हो कुछ निश्चेष्ट हो गये ॥ १२६ ॥

स तौ महात्मा गजमन्दगामी
शाखामृगस्तत्र चिरं चरन्तौ ।
दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम
चिन्तापरीतो भयभारमग्नः ॥ १३० ॥

सुग्रीव वहाँ बहुत देर से घूमता ही था कि, इतने में गज की तरह मन्द गमन करने वाले दोनों राजकुमारों को देख वह बहुत दुःखी हुआ और चिन्ता के मारे विकल हो बहुत डर गया ॥ १३० ॥

तमाश्रमं पुण्यसुखं शरण्यं
सदैव शाखामृगसेवितान्तम् ।
त्रस्ताश्च दृष्ट्वा हरयोऽभिजग्मुः
महौजसौ राघवलक्ष्मणौ तौ १३१ ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

महापराक्रमशाली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को देख और डर कर वहाँ के बन्दर उस पवित्र, सुखदायी और सुरक्षित तथा वानरों से सेवित आश्रम को छोड़ भाग गये ॥ १३१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पहिला सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्वितीयः सर्गः

—※—

तौ तु दृष्ट्वा महात्मानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
वरायुधधरौ वीरौ सुग्रीवः शङ्कितोऽभवत् ॥ १ ॥

वीर और अति उत्तम आयुधधारी दोनों भाई महात्मा श्रीराम लक्ष्मण को देख वानरराज सुग्रीव भयभीत हुए ॥ १ ॥

उद्विग्नहृदयः सर्वा दिशः समवलोकयन् ।
न व्यतिष्ठत कस्मिंश्चिद्देशे वानरपुङ्गवः ॥ २ ॥

और उद्विग्न हो सब दिशाओं को देखते हुए वानरश्रेष्ठ सुग्रीव एक स्थान पर न टिक सके ॥ २ ॥

नैव चक्रे मनः स्थातुं वीक्षमाणो महाबलौ ।
कपेः परमभीतस्य चित्तं व्यवससाद ह ॥ ३ ॥

उन महाबली दोनों वीरों को देख कर, सुग्रीव ने वहाँ ठहरने की इच्छा न की, उन परमत्रस्त कपिश्रेष्ठ का मन अत्यन्त विषाद को प्राप्त हुआ ॥ ३ ॥

चिन्तयित्वा[1] स धर्मात्मा विमृश्य गुरुलाघवम्[2] ।
सुग्रीवः परमोद्विग्नः सर्वैरनुचरैः सह ॥ ४ ॥

वे धर्मात्मा कपिराज सुग्रीव वालि को स्मरण कर और उनके बल का आधिक्य और अपने बल का अल्पत्व विचार कर, अपने अनुचरों सहित बहुत घबड़ाये ॥ ४ ॥

ततः स सचिवेभ्यस्तु सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
शशंस परमोद्विग्नः पश्यंस्तौ रामलक्ष्मणौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीव, राम लक्ष्मण को देखने के कारण घबड़ा कर अपने मंत्रियों से बोले ॥ ५ ॥

एतौ वनमिदं दुर्गं वालिप्रणिहितौ ध्रुवम् ।
छद्मना चीरवसनौ प्रचरन्ताविहागतौ ॥ ६ ॥

ये दोनों अवश्य वालि के भेजे हुए हैं और कपटाचार से चीर वस्त्र धारण कर इस दुर्गम वन में घूमते फिरते यहाँ आये हैं ॥ ६ ॥

ततः सुग्रीवसचिवा दृष्ट्वा परमधन्विनौ ।
जग्मुर्गिरितटात्तस्मादन्यच्छिखरमुत्तमम् ॥ ७ ॥

धनुषधारी राम लक्ष्मण को देख सुग्रीव के सचिव पम्पा सरोवर के उस तट को छोड़ उस पहाड़ के अन्य ऊँचे शिखर पर चले गये ॥ ७ ॥

ते क्षिप्रमधिगम्याथ यूथपा यूथपर्षभम् ।
हरयो वानरश्रेष्ठं परिवार्योपतस्थिरे ॥ ८ ॥

---

१ चिन्तयित्वा वालिबलं संस्मृत्य । (शि०) २ गुरुलाघवम्—तद्बलस्य गुरुत्वं स्वबलस्य लघुत्वं । (रा०)

उनमें से बड़े बड़े यूथों के यूथपति वानर शीघ्रता से वानर-श्रेष्ठ सुग्रीव के पास जा उनको घेर कर खड़े हो गये ॥ ८ ॥

एकमेकायनगताः प्लवमाना गिरेर्गिरिम् ।
प्रकम्पयन्तो वेगेन गिरीणां शिखराण्यपि ॥ ९ ॥

एक एक कर वे सब एकत्र हो और पर्वतशिखरों को हिलाते हुए एक पर्वत से कूद कर दूसरे पर्वत पर जाने लगे। अर्थात् कूद फाँद करने लगे ॥ ९ ॥

ततः शाखामृगाः सर्वे प्लवमाना महाबलाः ।
बभञ्जुश्च नगांस्तत्र पुष्पितान्दुर्गसंश्रितान् ॥ १० ॥

अनन्तर वे बड़े बड़े बली कपि उस पर्वत पर उगे हुए बड़े बड़े पेड़ों की पुष्पित डालियों को तोड़ तोड़ कर गिराने लगे ॥ १० ॥

आप्लवन्तो हरिवराः सर्वतस्तं महागिरिम् ।
मृगमार्जारशार्दूलांस्त्रासयन्तो ययुस्तदा ॥ ११ ॥

तदनन्तर वे बड़े बली वानर उस महापर्वत के समस्त स्थानों में बसने वाले मृग, वनबिलाव, शार्दूलादिकों को भयभीत कर कूद फाँद कर जाने लगे ॥ ११ ॥

ततः सुग्रीवसचिवाः पर्वतेन्द्रं समाश्रिताः ।
संगम्य कपिमुख्येन सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥ १२ ॥

फिर सुग्रीव के मुख्य मुख्य मंत्री सुग्रीव के सामने जा हाथ जोड़ कर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

ततस्तं भयसंविग्नं वालिकिल्बिषशङ्कितम् ।
उवाच हनुमान्वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः ॥ १३ ॥

तब बातचीत करने में चतुर हनुमान जी वालि के डर से अनिष्ट की शङ्का कर के भयभीत हुए, सुग्रीव से बोले ॥ १३ ॥

सम्भ्रमस्त्यज्यतामेष सर्वैर्वालिकृते महान् ।
मलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः ॥ १४ ॥
यस्मादुद्विग्नचेतास्त्वं प्रद्रुतो हरिपुङ्गव ।
तं क्रूरदर्शनं क्रूरं नेह पश्यामि वालिनम् ॥ १५ ॥

वालि के डर से कोई वानर भयभीत न हो, क्योंकि यह पर्वत श्रेष्ठ मलयाचल है। यहाँ पर वालि के भय की सम्भावना भी नहीं है फिर जिस कारण से तुम लोग घबड़ा कर भागे हो वह क्रूर दर्शन और क्रूरस्वभाव वालि भी तो मुझे यहाँ नहीं देख पड़ता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

यस्मात्तव भयं सौम्य पूर्वजात्पापकर्मणः ।
स नेह वाली दुष्टात्मा न ते पश्याम्यहं भयम् ॥ १६ ॥

हे सौम्य ! जिस पापी बड़े भाई से तुम डरते हो, वह दुष्टात्मा वालि मुझे यहाँ नहीं देख पड़ता ॥ १६ ॥

अहो शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवङ्गम ।
लघुचित्ततयाऽऽत्मानं न स्थापयसि यो मतौ ॥ १७ ॥

हे वानरराज ! आश्चर्य है कि, आप अपना शाखामृगत्व स्पष्ट ही प्रदर्शित कर रहे हैं। आप चञ्चल स्वभाव वानर जाति के होने के कारण अपनी बुद्धि को स्थिर नहीं रख सकते और ज़रा ज़रा सी बातों से अपना जी छोटा कर लेते हैं ॥ १७ ॥

बुद्धि[1]विज्ञान[2]सम्पन्न इङ्गितैः सर्वमाचर ।
न ह्यबुद्धिं गतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि ॥ १८ ॥

---

1 बुद्धिः सामान्यतोज्ञानं (गो०) 2 विशेषतो ज्ञानं विज्ञानं (गो०)

सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान तथा सङ्केत द्वारा आपको अपने सब काम कर लेने चाहिये। क्योंकि बुद्धिहीन राजा सब प्राणियों का शासन नहीं कर सकता है॥ १८॥

सुग्रीवस्तु शुभं वाक्यं श्रुत्वा सर्वं हनूमतः।
ततः शुभतरं वाक्यं हनूमन्तमुवाच ह॥ १९॥

सुग्रीव, हनुमान के यह शुभवचन सुन, उनसे अति हितकर वचन बोले॥ १६॥

दीर्घबाहू विशालाक्षौ शरचापासिधारिणौ।
कस्य न स्याद्भयं दृष्ट्वा ह्येतौ सुरसुतोपमौ॥ २०॥

हे हनुमन्! दीर्घबाहु, विशाल चक्षु, तीर, कमान, और खड्ग धारण किये और देवपुत्रों के समान, इन दोनों को देख कर, किसको भय न सतावेगा?॥ २०॥

वालिप्रणिहितावेतौ शङ्केऽहं पुरुषोत्तमौ।
राजानो बहुमित्राश्च विश्वासो नात्र हि क्षमः॥ २१॥

मुझे तो इन दोनों नरश्रेष्ठों को देख यही शङ्का होती है कि, ये दोनों निश्चय ही वालि के भेजे हुए हैं। क्योंकि राजाओं के बहुत मित्र हुआ करते हैं, अतः इन पर विश्वास न करना चाहिये॥ २१॥

अरयश्च मनुष्येण विज्ञेयाश्छन्नचारिणः।
विश्वस्तानामविश्वस्ता रन्ध्रेषु प्रहरन्ति हि॥ २२॥

मनुष्य को चाहिये कि, वह कपट रूपधारी वैरियों को पहचाने। क्योंकि वे कपट रूपधारी विश्वास करने वालों पर स्वयं तो

विश्वास नहीं करते, किन्तु अवसर मिलने पर प्रहार करते हैं ॥ २२ ॥

कृत्येषु वाली मेधावी राजानो बहुदर्शनाः ।
भवन्ति परहन्तारस्ते ज्ञेयाः प्राकृतैर्नरैः ॥ २३ ॥

वालि ऐसे कामों में बड़ा चतुर है। क्योंकि राजा लोग बहुदर्शी और उपायों के जानने वाले हुआ करते हैं। वे अपने शत्रुओं का घात करने में बड़े उद्योगी होते हैं। अतः मुझ जैसे क्षुद्रजनों को उचित है कि, ऐसे मनुष्यों को पहचाने ॥ २३ ॥

तौ त्वया प्राकृतेनैव गत्वा ज्ञेयौ प्लवङ्गम ।
इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च ॥ २४ ॥
लक्षयस्व तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि ।
विश्वासयन्प्रशंसाभिरिङ्गितैश्च पुनः पुनः ॥ २५ ॥

अतः हे हनुमन्! तुम अपना प्राकृत वेष बना कर, उनके समीप जाओ और चेष्टाओं से, रूप (शक्ल) से और वार्तालाप से उनका भेद ले आओ। यदि वे प्रसन्न जान पड़ें तो उनकी बार बार प्रशंसा कर और चेष्टाओं से उनके मन में अपने ऊपर विश्वास उत्पन्न कर लेना ॥ २४ ॥ २५ ॥

ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुङ्गव ।
प्रयोजनं प्रवेशस्य वनस्यास्य धनुर्धरौ ॥ २६ ॥

हे वानरश्रेष्ठ! तुम मेरी ओर मुख कर खड़े होना और उन दोनों से वन में आने का प्रयोजन पूँछना ॥ २६ ॥

शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवङ्गम ।
व्याभाषितैर्वा विज्ञेया स्याद्दुष्टादुष्टता तयोः ॥ २७ ॥

हे वानर! यदि उनका हृदय तुम्हें शुद्ध जान पड़े, तो तुम उनके रूपों से तथा बातचीत से उनके मन की दुष्टता अदुष्टता का पता लगा लेना ॥ २७ ॥

इत्येवं कपिराजेन सन्दिष्टो मारुतात्मजः ।
चकार गमने बुद्धिं यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ २८ ॥

जब इस प्रकार सुग्रीव ने मारुतात्मज हनुमानजी को आज्ञा दी, तब हनुमान जी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के निकट जाने को तैयार हुए ॥ २८ ॥

तथेति सम्पूज्य वचस्तु तस्य त-
त्कपेः सुभीमस्य दुरासदस्य च ।
महानुभावो हनुमान्ययौ तदा
स यत्र रामोतिबलश्च लक्ष्मणः ॥ २९ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

महानुभाव कपिश्रेष्ठ हनुमान, अतिभीत दुर्धंष सुग्रीव जी के वचन मान, जहाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण थे, वहाँ को चले गये ॥ २९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का द्वितीय सर्ग पूरा हुआ।

—※—

तृतीयः सर्गः

—※—

वचो विज्ञाय हनुमान्सुग्रीवस्य महात्मनः ।
पर्वतादृश्यमूकात्तु पुप्लुवे यत्र राघवौ ॥ १ ॥

हनुमान, महात्मा सुग्रीव के वचन सुन ऋष्यमूक पर्वत से कूद कर श्रीराम और लक्ष्मण के निकट गये ॥ १ ॥

कपिरूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः ।
भिक्षुरूपं[1] ततो भेजे शठबुद्धितया[2] कपिः ॥ २ ॥

जाते समय अपने छिपाने के लिये हनुमानजी ने वानर का रूप छोड़ संन्यासी का वेष धारण किया ॥ २ ॥

ततः स हनुमान्वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया ।
विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च ॥ ३ ॥
आवभाषे तदा वीरौ यथावत्प्रशशंस च ।
सम्पूज्य विधिवद्वीरो हनुमान्मारुतात्मजः ॥ ४ ॥

तदनन्तर हनुमानजी श्रीराम और लक्ष्मण के पास गये और नम्रता पूर्वक प्रणाम कर मधुर एवं मनोहर वाणी से उन दोनों की प्रशंसा करने लगे। उन दोनों वीरों की यथार्थ प्रशंसा कर, पवनतनय हनुमान जी ने, विधिपूर्वक उन दोनों को पूजा की ॥ ३ ॥ ४ ॥

उवाच कामतो[3] वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ ।
राजर्षिदेवप्रतिमौ तापसौ संशितव्रतौ ॥ ५ ॥

हनुमान जी ने सुग्रीव के आदेश के अविरुद्ध, अपनी इच्छानुसार उन सत्यपराक्रमी दोनों वीरों से मृदुभाव से कहा—आप राजर्षि सदृश, देवताओं के समान तपस्वी और कठोर व्रतधारी, हैं ॥ ५ ॥

---

१ भिक्षुरूपं—सन्यासि वेषं। (गो०) २—शठबुद्धितया—वञ्चकबुद्धितया। (गो०) ३ कामतः—सुग्रीवोपदेशाविरुद्धस्वेच्छातः। (रामानु०)

देशं कथमिमं प्राप्तौ भवन्तौ वरवर्णिनौ ।
त्रासयन्तौ मृगगणानन्यांश्च वनचारिणः ॥ ६ ॥

हे सुन्दरवर्णवालो ! आप लोग मृगों और अन्य वनचारियों को त्रस्त करते हुए, इस वन में क्यों आये हैं? ॥ ६ ॥

पम्पातीररुहान्वृक्षान्वीक्षमाणौ समन्ततः ।
इमां नदीं शुभजलां शोभयन्तौ तपस्विनौ ॥ ७ ॥

आप लोग पम्पा के तटवर्ती वृक्षों को चारों ओर से देखते हुए इस पुण्य जल वाली नदी की शोभा को बढ़ा रहे हैं ॥ ७ ॥

धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चीरवाससौ ।
निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविमाः प्रजाः ॥ ८ ॥

आप धैर्यवान्, सुवर्ण की कान्ति के समान चीर पहिने हुए, बड़ी बाहों वाले और ऊँची स्वाँस लेते हुए कौन हैं, जो इन वनवासी प्रजाजनों को पीड़ा देते हैं ॥ ८ ॥

सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ सिंहातिबलविक्रमौ ।
शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुसूदनौ ॥ ९ ॥

आपकी चितवन सिंह के समान है। आप महाबलवान् और महापराक्रमी हैं। इन्द्रधनुष की तरह आप दोनों के धनुष देख कर जान पड़ता है कि, आप शत्रुओं का नाश कर देंगे ॥ ९ ॥

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ वृषभश्रेष्ठविक्रमौ[1] ।
हस्तिहस्तोपमभुजौ द्युतिमन्तौ नरर्षभौ ॥ १० ॥

---

१ वृषभश्रेष्ठविक्रमौः—वृषभश्रेष्ठगमनौ । (गो०)

आप कान्तिमान्, सुस्वरूप, और सांड की तरह मस्तानी चाल चलने वाले हैं। आप हाथी की सूंड़ की तरह उतार चढ़ाव वाली लंबी भुजाओं वाले हैं। आप बुद्धिमान् और पुरुषों में श्रेष्ठ हैं ॥१०॥

प्रभया पर्वतेन्द्रोऽयं युवयोरवभासितः ।
राज्यार्हावमरप्रख्यौ कथं देशमिहागतौ ॥ ११ ॥

आप दोनों की प्रभा से यह पर्वत प्रकाशित हो रहा है और दोनों ही जन जो राज्य करने योग्य तथा देवतुल्य हैं, इस वन में क्यों आये हैं? ॥ ११ ॥

पद्मपत्रेक्षणौ वीरौ जटामण्डलधारिणौ ।
अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिवागतौ ॥ १२ ॥

आपके नेत्र कमल के सदृश हैं, आप वीर हैं और जटाजूट धारण किये हुए हैं। आप दोनों की मुखाकृति एक दूसरे से मिलती जुलती हुई सी है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानों आप दोनों देवलोक से यहां आये हैं ॥ १२ ॥

यदृच्छयेव सम्प्राप्तौ चन्द्रसूर्यौ वसुन्धराम् ।
विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ ॥ १३ ॥

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि, मानों चन्द्रमा और सूर्य अपनी इच्छा से धराधाम पर अवतीर्ण हुए हों। आप दोनों जन ऊँचे वक्षःस्थलों से युक्त, मनुष्यों का रूप धारण किये हुए क्या कोई देवता हैं ॥ १३ ॥

सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ[1] ।
आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः ॥ १४ ॥

---

1 समदाविवगोवृषौ—समदौहृष्टौगोवृषौ तरुणवृषभाविव । (शा०)

आप दोनों वीरों के कंधे सिंह के समान हैं। आप महाउत्साही और तरुण वृषभों की तरह हैं। आपकी भुजाएँ विशाल और गोल परिघाकार* देख पड़ती हैं ॥ १४ ॥

सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः ।
उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम् ॥ १५ ॥

आप समस्त आभूषण धारण करने योग्य हो कर भी भूषण क्यों धारण नहीं करते? मेरी समझ में तो आप दोनों ही पृथिवी की रक्षा करने योग्य हैं अर्थात् राजा होने योग्य हैं ॥ १५ ॥

ससागरवनां कृत्स्नां विन्ध्यमेरुविभूषिताम् ।
इमे च धनुषी चित्रे[1] श्लक्ष्णे चित्रनुलेपने[2] ॥ १६ ॥

आप सागर, वन, विन्ध्याचल, मेरु पर्वत से विभूषित, इस समूची पृथिवी की रक्षा कर सकते हैं। आपके ये दोनों धनुष अद्भुत, चिकने और सुनहली कलई किये हुए हैं ॥ १६ ॥

प्रकाशेते यथेन्द्रस्य वज्रे हेमविभूषिते ।
सम्पूर्णा निशितैर्बाणैस्तूणाश्च शुभदर्शनाः ॥ १७ ॥

और इन्द्र के हेमविभूषित वज्र की तरह शोभा दे रहे हैं। आप दोनों के तरकस भी पैने बाणों से परिपूर्ण हो, देखने में बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं ॥ १७ ॥

जीवितान्तकरैर्घोरैः श्वसद्भिरिव पन्नगैः ।
महाप्रमाणौ विस्तीर्णौ तप्तहाटकभूषितौ ॥ १८ ॥

---

१ चित्रे—अद्भुतावहे । (गो०) २ चित्रानुलेपने—स्वर्णजलरूपणं ययोस्ते । (रा०)

* परिघ—एक प्रकार की गदा।

खड्गावेतौ विराजेते निर्मुक्ताविव पन्नगौ ।
एवं मां परिभाषन्तं कस्माद्वै नाभिभाषथः ॥ १९ ॥

आपके तरकसों के बाण फुसकारते हुए सर्प की तरह स्पर्श करते ही शत्रु के प्राणों का संहार करने वाले हैं। बड़े लंबे तथा चौड़े और सुनहली मूँठों वाले ये दोनों खड्ग कैंचुली छोड़े हुए सर्पों की तरह लड़ रहे (टकरा रहे) हैं। मैं आपसे इस प्रकार (सभ्यतापूर्वक) बातचीत करता हूँ; किन्तु इसका क्या कारण है जो आप मुझसे नहीं बोलते ॥ १८ ॥ १९ ॥

सुग्रीवो नाम धर्मात्मा कश्चिद्वानरयूथपः ।
वीरो विनिकृतो[1] भ्रात्रा जगद्भ्रमति दुःखितः ॥ २० ॥

सुग्रीव नामक धर्मात्मा और वीर कोई एक वानर है, जो वानरों का मुखिया है। वह अपने भाई द्वारा छला जा कर दुःखित हो सारे जगत में घूमता फिरता है ॥ २० ॥

प्राप्तोऽहं प्रेषितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना ।
राज्ञा वानरमुख्यानां हनूमान्नाम वानरः ॥ २१ ॥

मैं उसके वानरों में मुख्य हनुमान नामक वानर हूँ और उस वानरराज महात्मा सुग्रीव का भेजा हुआ आपके समीप आया हूँ ॥ २१ ॥

युवाभ्यां सह धर्मात्मा सुग्रीवः सख्यमिच्छति ।
तस्य मां सचिवं विद्धि वानरं पवनात्मजम् ॥ २२ ॥

---

१ विनिकृतः—वञ्चितः । (गो०)

वे धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनों के साथ मैत्री करना चाहते हैं। मुझे आप पवन का पुत्र और सुग्रीव का मन्त्री जानिये ॥ २२ ॥

भिक्षुरूपप्रतिच्छन्नं सुग्रीवप्रियकाम्यया ।
ऋश्यमूकादिह प्राप्तं कामगं कामरूपिणम् ॥ २३ ॥

सुग्रीव की प्रीति के लिये (अर्थात् प्रसन्नता के लिये) मैंने संन्यासी का रूप धारण किया है। क्योंकि मैं यथेच्छाचारी और यथेच्छ रूप धारण करने वाला हूँ। मैं ऋष्यमूक पर्वत से यहाँ आया हूँ ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा तु हनुमांस्तौ वीरौ रामलक्ष्मणौ ।
वाक्यज्ञौ वाक्यकुशलः पुनर्नोवाच किञ्चन ॥ २४ ॥

वाक्यज्ञ और वीर श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण से इस प्रकार कह, वाक्यकुशल हनुमान जी चुप हो गये और फिर कुछ न बोले ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
प्रहृष्टवदनः श्रीमान्भ्रातरं पार्श्वतः स्थितम् ॥ २५ ॥

हनुमान जी के ये वचन सुन कर श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न हुए और पास खड़े हुए लक्ष्मण जी से बोले ॥ २५ ॥

सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव काङ्क्षमाणस्य ममान्तिकमुपागतः ॥ २६ ॥

हे लक्ष्मण! ये उन वानरराज महात्मा सुग्रीव के मन्त्री हैं जिनसे मैं स्वयं मिलना चाहता था। सो यह उनके मन्त्री स्वयं ही मेरे पास आये हैं ॥ २६ ॥

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिन्दम ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! सुग्रीव के वाक्यविशारद सचिव और शत्रुओं का नाश करने वाले इन कपिश्रेष्ठ से तुम मधुर वाणी से नीति पूर्वक बातचीत करो ॥ २७ ॥

नानृग्वेदविनीतस्य[1] नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम् ॥ २८ ॥

क्योंकि जिस प्रकार की बातचीत इन्होंने हमसे की है, वैसी बातचीत ऋग्वेद-यजुर्वेद और सामवेद के जाने बिना, कोई कर नहीं सकता ॥ २८ ॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥ २९ ॥

अवश्य ही इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण बहुधा सुना है। (अर्थात् पढ़ा है) क्योंकि इन्होंने इतनी बातें कहीं, किन्तु इनके मुख से एक भी बात अशुद्ध नहीं निकली ॥ २९ ॥

न मुखे नेत्रयोर्वाऽपि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च गात्रेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥ ३० ॥

इतना ही नहीं, प्रत्युत बोलते समय भी इनके नेत्र, ललाट, भौंहे तथा अन्य शरीर का कोई अवयव विकृति को प्राप्त नहीं हुआ ॥३०॥

अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमद्रुतम् ।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमे स्वरे ॥ ३१ ॥

---

१ विनीतस्य—शिक्षितस्य । (गो०)

इन्होंने अपने कथन को न तो अंधाधुंध बढ़ाया (जिसे सुनने से जी ऊब उठे) और न इतना संक्षिप्त ही किया कि, उसका भाव समझने में भ्रम उत्पन्न हो। अपने कथन को व्यक्त करते समय इन्होंने न तो शीघ्रता की और न विलम्ब ही किया। इनके कहे वचन हृदयस्थ और कण्ठगत हैं, (अर्थात् बनावटी नहीं है अथवा जो अक्षर जहाँ से उठना चाहिये उसे इन्होंने वहीं से उठाया है।) इनका स्वर भी मध्यम है ॥ ३१ ॥

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं[1] वाचं हृदयहारिणीम्[2] ॥ ३२ ॥

इनकी वाणी व्याकरण से संस्कारित क्रमसम्पन्न और न धीमी है और न तेज़ है। ये जो बातें करते हैं, वे मधुर और अन्य गुणों से युक्त होती हैं ॥ ३२ ॥

अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥ ३३ ॥

छाती, कण्ठ, सिर—इन तीन स्थानों से निकली हुई, इनकी अद्भुत वाणी, हाथ में तलवार लिये (मारने को उद्यत) शत्रु के कठोर हृदय को भी पिघला देगी, औरों की तो बात ही क्या है ॥ ३३ ॥

एवंविधो यस्य दूतो न भवेत्पार्थिवस्य तु ।
सिध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ ॥ ३४ ॥

हे लक्ष्मण! यदि इस प्रकार का दूत राजा के पास न रहे, तो राजाओं के कार्य क्यों कर सिद्ध हों? ॥ ३४ ॥

१—कल्याणीं—इतरगुणवतीं। (गो०) २ हृदयहारिणीम्—मधुरां। (गो०)

एवं गुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः ।
तस्य सिध्यन्ति सर्वार्था दूतवाक्यप्रचोदिताः ॥ ३५ ॥

जिस राजा के पास ऐसे गुणवान् कार्य बनाने वाले दूत रहते हों, उस राजा के सब काम दूतों के वाक्यों ही से सिद्ध हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिः सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
अभ्यभाषत वाक्यज्ञो वाक्यज्ञं पवनात्मजम् ॥ ३६ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजी ने इस प्रकार कहा, तब वचन बोलने में चतुर लक्ष्मण ने पवनतनय एवं सुग्रीव के सचिव वाक्यज्ञ हनुमान जी से कहा ॥ ३६ ॥

विदिता नौ गुणा विद्वन्सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ॥ ३७ ॥

हे विद्वन् ! हम लोगों को महात्मा सुग्रीव के सब गुण विदित हैं। हम दोनों उन्हीं कपिराज सुग्रीव को ढूँढते फिरते हैं ॥ ३७ ॥

यथा ब्रवीषि हनुमन्सुग्रीववचनादिह ।
तत्तथा हि करिष्यावो वचनात्तव सत्तम ॥ ३८ ॥

हे हनुमन् ! सुग्रीव ने जो तुम्हारे द्वारा हमसे कहलाया है, हम लोग तदनुसार ही करेंगे ॥ ३८ ॥

तत्तस्य वाक्यं निपुणं निशम्य
प्रहृष्टरूपः पवनात्मजः कपिः ।

मनः समाधाय जयोपपत्तौ
सख्यं तदा कर्तुमियेष ताभ्याम् ॥ ३९ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

कपिश्रेष्ठ पवनतनय हनुमान जी लक्ष्मणजी के ये वचन सुन अत्यन्त प्रसन्न हुए और वालि को इनके द्वारा जीतने का मन में निश्चय कर, सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी की परस्पर मैत्री कराने की इच्छा करते हुए ॥ ३९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ

—*—

चतुर्थः सर्गः

—:०:—

ततः प्रहृष्टो हनुमान्कृत्यवानिति तद्वचः ।
श्रुत्वा मधुरसम्भाषं सुग्रीवं मनसा गतः ॥ १ ॥

हनुमान जी, श्रीलक्ष्मणजी के मधुर सम्भाषण को सुन, अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने मन में सुग्रीव का मनोरथ सिद्ध हुआ जाना ॥ १ ॥

भव्यो राज्यागमस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
यदयं कृत्यवान्प्राप्तः कृत्यं चैतदुपागतम् ॥ २ ॥

उन्होंने विचारा कि, सुग्रीव को पुनः राज्य की प्राप्ति होगी। क्योंकि सुग्रीव से इनका भी कुछ प्रयोजन जान पड़ता है और अपने काम के लिये ये स्वयं यहाँ आये हैं ॥ २ ॥

ततः परमसंहृष्टो हनुमान्प्लवगर्षभः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं रामं वाक्यविशारदः ॥ ३ ॥

तब तो वानरश्रेष्ठ हनुमान (यह विचार) परम प्रसन्न हुए और वचन बोलने में निपुण श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥ ३ ॥

किमर्थं त्वं वनं घोरं पम्पाकाननमण्डितम् ।
आगतः सानुजो दुर्गं नानाव्यालमृगायुतम् ॥ ४ ॥

हे राम ! पम्पासरोवर के तीरवर्ती वन से सुशोभित तथा भाँति भाँति के अजगरों और बाघ चीतों से भरे हुए वन में आप भाई के सहित किस लिये आये हैं ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणो रामचोदितः ।
आचचक्षे महात्मानं रामं दशरथात्मजम् ॥ ५ ॥

हनुमान जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र जी के कहने से, हनुमान जी को दशरथनन्दन श्री रामचन्द्र जी का सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ५ ॥

राजा दशरथो नाम द्युतिमान्धर्मवत्सलः ।
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभ्यपालयत् ॥ ६ ॥
न द्वेष्टा विद्यते तस्य न च स द्वेष्टि कञ्चन ।
स च सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापरः ॥ ७ ॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टवानाप्तदक्षिणैः ।
तस्यायं पूर्वजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥ ८ ॥

हे हनुमन् ! दशरथ नाम के महाराज जो तेजस्वी, धर्मवत्सल, धर्मपूर्वक सदा चारों वर्णों की प्रजा का पालन करने वाले, शत्रु-

रहित, द्वेषशून्य, और प्राणि मात्र का दूसरे पितामह ब्रह्मा की तरह पालन करने वाले, और जो दक्षिणायुक्त अग्निष्टोमादि बहुत से यज्ञ करने वाले थे, उनके ये प्रथम पुत्र श्रीरामचन्द्र के नाम से लोगों में प्रसिद्ध हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

शरण्यः सर्वभूतानां पितुर्निर्देशपारगः ।
वीरो दशरथस्यायं पुत्राणां गुणवत्तमः ॥ ९ ॥

ये सब प्राणियों के रक्षक, पितृआज्ञा का पालन करने वाले, और दशरथ के सुपुत्रों में अत्यन्त गुणवान् हैं ॥ ९ ॥

राजलक्षणसम्पन्नः संयुक्तो राजसम्पदा ।
राज्याद्भ्रष्टो वने वस्तुं मया सार्धमिहागतः ॥ १० ॥

इनमें समस्त राजाओं के लक्षण विद्यमान हैं और यावत् राज्य सम्पत्ति वाले हैं। किन्तु राज्यभ्रष्ट हो कर मेरे साथ वन में रहने के लिये इस वन में आये हैं ॥ १० ॥

भार्यया च महातेजाः सीतयाऽनुगतो वशी ।
दिनक्षये महातेजाः प्रभयेव दिवाकरः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रभा के सहित अस्ताचलगामी होते हैं, उसी प्रकार यह भी अपनी प्यारी पत्नी सीता के साथ यहां आये हैं ॥ ११ ॥

अहमस्यावरो भ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः ।
कृतज्ञस्य बहुज्ञस्य लक्ष्मणो नाम नामतः ॥ १२ ॥

मैं इनका छोटा भाई हूँ। ये कृतज्ञ और बहुज्ञ हैं। मैं इनके गुणों पर मोहित हो, इनकी सेवा किया करता हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है ॥ १२ ॥

सुखार्हस्य महार्हस्य[1] सर्वभूतहितात्मनः ।
ऐश्वर्येण च हीनस्य वनवासाश्रितस्य च ॥ १३ ॥

यह सुख भोगने और ऐश्वर्य सम्पन्न होने योग्य हैं तथा प्राणिमात्र के हितैषी हैं। किन्तु इस समय ऐश्वर्य से विहीन हो वन-वास कर रहे हैं ॥ १३ ॥

रक्षसापहृता भार्या रहिते कामरूपिणा ।
तच्च न ज्ञायते रक्षः पत्नी येनास्य सा हृता ॥ १४ ॥

हम लोगों की अनुपस्थिति में इनकी पत्नी को कामरूपी राक्षस हर ले गया है। जिस राक्षस ने उन्हें हरा है, उसको हमने अभी तक नहीं जान पाया ॥ १४ ॥

दनुर्नाम दितेः पुत्रः शापाद्राक्षसतां गतः ।
आख्यातस्तेन सुग्रीवः समर्थो वानरर्षभः ॥ १५ ॥

दनु नामक दिति के पुत्र ने जो शाप के कारण कबन्ध राक्षस हो गया था—हमें इस कार्य में सहायता देने की सामर्थ्य रखने वाले वानरोत्तम सुग्रीव का नाम बतलाया है ॥ १५ ॥

स ज्ञास्यति महावीर्यस्तव भार्यापहारिणम् ।
एवमुक्त्वा दनुः स्वर्गं भ्राजमानो गतः सुखम् ॥ १६ ॥

उसने हमसे कहा था कि, महाबलवान सुग्रीव तुम्हारी स्त्री के चुराने वाले को जानता है और वह बतला देगा। यह कह

---

१ महार्हस्य—ऐश्वर्यासम्पन्नस्य । (गो०)

कर वह दनु दिव्य रूप धारण कर सुखपूर्वक स्वर्ग को चला गया॥ १६ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं याथातथ्येन पृच्छतः ।
अहं चैव हि रामश्च सुग्रीवं शरणं गतौ ॥ १७ ॥

हे हनुमन्! तुम्हारे पूँछने पर जो कुछ सच्चा सच्चा हाल था सो मैंने तुमको सुनाया। मैं और श्रीरामचन्द्र सुग्रीव के शरण में आये हैं॥ १७ ॥

एष दत्त्वा च वित्तानि प्राप्य चानुत्तमं यशः ।
लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति ॥ १८ ॥

देखो, ये लोकों के नाथ, श्रीरामचन्द्र जी बहुत सा द्रव्य ब्राह्मणों को दे और बड़ा यश सम्पादन कर, इस समय सुग्रीव को अपना रक्षक बनाया चाहते हैं॥ १८ ॥

पिता यस्य पुरा ह्यासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः ।
तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः ॥ १९ ॥

जो लोकों के शरण देने वाले और धर्मवत्सल महाराज दशरथ थे, उनके पुत्र ने रक्षक बनने योग्य सुग्रीव को अपना रक्षक बनाया है॥ १९ ॥

सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा ।
गुरुर्मे[1] राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः ॥ २० ॥

पहिले जो लोकों के स्वयं आश्रयदाता थे वे ही मेरे बड़े भाई धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव को अपना आश्रयदाता या रक्षक बनाना चाहते हैं॥ २० ॥

---

१ गुरुः—अग्रजः। (गो०)

यस्य प्रसादे सततं प्रसीदेयुरिमाः प्रजाः ।
स रामो वानरेन्द्रस्य प्रसादमभिकाङ्क्षते ॥ २१ ॥

जिनके प्रसन्न होने पर यह प्रजा प्रसन्न होती थी, वे श्रीरामचन्द्र वानरराज सुग्रीव की अपने ऊपर प्रसन्नता चाहते हैं ॥ २१ ॥

येन सर्वगुणोपेताः पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।
मानिताः सततं राज्ञा सदा दशरथेन वै ॥ २२ ॥
तस्यायं पूर्वजः पुत्रस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
सुग्रीवं वानरेन्द्रं तु रामः शरणमागतः ॥ २३ ॥

सर्वगुणों से युक्त राजाओं को जिन महाराज दशरथ ने सम्मानित किया था, उन्हींके जगत्प्रसिद्ध ज्येष्ठपुत्र श्रीरामचन्द्र जी वानरेन्द्र सुग्रीव के शरण में जाना चाहते हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥

शोकाभिभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते ।
कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं हरियूथपः ॥ २४ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्यारी पत्नी के शोक से विकल हो, सुग्रीव के शरण में आये हैं, अतः वानरराज सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर कृपा करनी चाहिये ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं करुणं साश्रुलोचनम् ।
हनुमान्प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २५ ॥

जब इस प्रकार दीन भाव से और आँखों में आँसू भर लक्ष्मण जी ने कहा; तब वाक्यविशारद हनुमान जी उनसे बोले ॥ २५ ॥

ईदृशा बुद्धिसम्पन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
द्रष्टव्या वानरेन्द्रेण दिष्ट्या दर्शनमागताः ॥ २६ ॥

हे लक्ष्मण ! इस प्रकार के बुद्धिमान् क्रोध शून्य और जितेन्द्रिय महात्मा पुरुष से सुग्रीव को अवश्य भेंट करनी चाहिये। क्योंकि ऐसे पुरुषों से भेंट बड़े भाग्य से होती है ॥ २६ ॥

स हि राज्यात्परिभ्रष्टः कृतवैरश्च वालिना ।
हृतदारो वने त्यक्तो भ्रात्रा विनिकृतो[1] भृशम् ॥ २७ ॥

सुग्रीव भी राज्य से भ्रष्ट हैं और वालि से शत्रुता हो, जाने के कारण वे वालि द्वारा वञ्चित किये गये हैं और भयभीत हो वन में वास करते हैं। वालि ने उनकी स्त्री को भी छीन लिया है ॥ २७ ॥

करिष्यति स साहाय्यं युवयोर्भास्करात्मजः ।
सुग्रीवः सह चास्माभिः सीतायाः परिमार्गणे ॥ २८ ॥

वे सूर्यपुत्र सुग्रीव, सीता का पता लगाने में आपकी सहायता करेंगे और मैं स्वयं भी इस कार्य में हाथ बटाऊँगा ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्त्वा हनुमाञ्श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।
बभाषे सोऽभिगच्छेम सुग्रीवमिति राघवम् ॥ २९ ॥

हनुमान जी इस प्रकार के सुमधुर और कोमल वचन कह श्रीरामचन्द्र जी से बोले, हे वीर! आइये अब सुग्रीव के पास चलें ॥ २९ ॥

एवं ब्रुवाणं धर्मात्मा हनुमन्तं स लक्ष्मणः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं[2] प्रोवाच राघवम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार कहते हुए हनुमान जी का महात्मा लक्ष्मण जी ने दूतानुरूप सन्मान किया। तदनन्तर वे श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥ ३० ॥

---

१ विनिकृतः—वञ्चितः। (गो०) २ यथान्यायं—दूतानुरूपं। (गो०)

कपिः कथयते हृष्टो यथार्थं मारुतात्मजः।
कृत्यवान्सोऽपि संप्राप्तः कृतकृत्योऽसि राघव ॥ २१ ॥

हे राघव! पवनतनय ने जो कुछ प्रसन्न हो कहा है, उस पर से यह जाना जाता है कि, सुग्रीव भी आप ही की तरह अर्थी हैं। अतः वह आपके कार्य में सहायता देगा ॥ २१ ॥

प्रसन्नमुखवर्णश्च व्यक्तं हृष्टश्च भाषते।
नानृतं वक्ष्यते धीरो हनुमान्मारुतात्मजः ॥ २२ ॥

धीर पवनतनय हनुमान जी जिस प्रकार हर्षित हो प्रसन्नमुख से बातचीत कर रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि, ये कभी झूठ नहीं बोलते ॥ २२ ॥

ततः स तु महाप्राज्ञो हनुमान्मारुतात्मजः।
जगामादाय तौ वीरौ हरिराजाय राघवौ ॥ २३ ॥

तदनन्तर बड़े चतुर हनुमान जी दोनों भाइयों को सुग्रीव के पास ले चलने को तैयार हुए ॥ २३ ॥

भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः।
पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः ॥ २४ ॥

उस समय उन्होंने संन्यासी का रूप त्याग कर, अपना असली वानर रूप धारण किया और दोनों राजकुमारों को अपनी पीठ पर चढ़ा उनको सुग्रीव के पास ले गये ॥ २४ ॥

स तु विपुलयशाः कपिप्रवीरः
पवनसुतः कृतकृत्यवत्प्रहृष्टः।

गिरिवरमुरुविक्रमः प्रयातः
सुशुभमतिः सह रामलक्ष्मणाभ्याम् ॥ ३५ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

महायशस्वी वानरश्रेष्ठ पवनपुत्र हनुमान, उसी प्रकार परम प्रसन्न हुए, जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने पर होता है। हनुमान जी श्रीराम और लक्ष्मण सहित उस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूक पर जा पहुँचे ॥ ३५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौथा सर्ग पूर्ण हुआ।

—※—

पञ्चमः सर्गः ॥

—※—

[जान पड़ता है श्री राम और लक्ष्मण को देख कर, भयभीत हो सुग्रीव मलय पर्वत के किसी सघन स्थान में जा छिपे थे। अतः हनुमानजी ऋष्यमूक पर श्रीराम और लक्ष्मण को छोड़ असली बात कहने को अकेले ही सुग्रीव के पास गये।]

ऋश्यमूकात्तु हनुमान्गत्वातु मलयं गिरिम्।
आचचक्षे तदा वीरौ कपिराजाय राघवौ ॥ १ ॥

हनुमानजी ऋष्यमूक पर्वत से मलयाचल पर जा, सुग्रीव से श्री राम और लक्ष्मण के आगमन का वृत्तान्त निवेदन कर, कहने लगे ॥ १ ॥

अयं रामो महाप्राज्ञः संप्राप्तो दृढविक्रमः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामोऽयं सत्यविक्रमः ॥ २ ॥

हे महाप्राज्ञ ! यह दृढ़ और सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ आये हैं ॥ २ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो रामो दशरथात्मजः ।
धर्मे निगदित[1]श्चैव पितुर्निर्देशपारगः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र इक्ष्वाकुकुलोद्भव महाराज दशरथ के पुत्र हैं और पितृआज्ञा पालनरूपी धर्मानुष्ठान में प्रसिद्ध हैं तथा पिता का आज्ञा के पालन करने वाले हैं ॥ ३ ॥

तस्यास्य वसतोऽरण्ये नियतस्य महात्मनः ।
रावणेन हृता भार्या स त्वां शरणमागतः ॥ ४ ॥

वन में वास करते हुए इन धर्मात्मा की भार्या को रावण हर ले गया है । अब ये आपकी शरण में आये हैं ॥ ४ ॥

राजसूयाश्वमेधैश्च वह्निर्येनाभितर्पितः ।
दक्षिणाश्च तथोत्सृष्टा गावः शतसहस्रशः ॥ ५ ॥
तपसा सत्यवाक्येन वसुधा येन पालिता ।
स्त्रीहेतोस्तस्य पुत्रोऽयं रामस्त्वां शरणं गतः ॥ ६ ॥

जिन्होंने राजसूय और अश्वमेध यज्ञों को कर, अग्निदेव को तृप्त किया है और जिन्होंने बहुत सी दक्षिणा और सैकड़ों हज़ारों गायें ब्राह्मणों को दे डाली हैं तथा जिन्होंने बड़े परिश्रम से सत्यतापूर्वक पृथिवी का शासन किया है, उनके पुत्र ये श्रीरामचन्द्र राक्षस द्वारा हरी हुई स्त्री के पुनः प्राप्त करने के लिये आपके शरण में आये हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

---

१ निगदितः—प्रसिद्धः । (गो०)

भवता सख्यकामौ तौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
प्रतिगृह्यार्चयस्वैतौ पूजनीयतमावुभौ ॥ ७ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई पूज्य जनों में अग्रणी हैं और आपसे मित्रता करना चाहते हैं। अतः इनको ग्रहण कर इनका सत्कार कीजिये ॥ ७ ॥

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं सुग्रीवो हृष्टमानसः ।
भयं च राघवाद्घोरं प्रजहौ विगतज्वरः ॥ ८ ॥

हनुमान के ये वचन सुन, सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हुए और श्रीरामचन्द्र को देख उनके मन में जो बड़ा भारी भय उत्पन्न हो गया था, वह दूर हुआ और उनकी चिन्ता दूर हुई ॥ ८ ॥

स कृत्वा मानुषं रूपं सुग्रीवः प्लवगर्षभः ।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रीत्या प्रोवाच राघवम् ॥ ९ ॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने मनुष्य का रूप धारण कर और अत्यन्त दर्शनीय बन कर प्रीतिपूर्वक श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ९ ॥

भवान्धर्मविनीतश्च[1] विक्रान्तः सर्ववत्सलः ।
आख्याता वायुपुत्रेण तत्त्वतो मे भवद्गुणाः ॥ १० ॥

आप धर्मज्ञ हैं, पराक्रमी हैं और सब पर कृपा करने वाले हैं। क्योंकि हनुमान जी ने आपके गुण यथार्थ रूप से कह सुनाये हैं ॥ १० ॥

तन्ममैवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो ।
यत्त्वमिच्छसि सौहार्दं वानरेण मया सह ॥ ११ ॥

---

१ धर्मविनीतः—धर्मशिक्षितः । (रा०)

हे प्रभो! मैं जाति का वन्दर हूँ। मेरे साथ आपने जो मैत्री करनी चाही है सो यह आपने मुझको बड़ा सम्मान प्रदान किया है और इससे मुझे बड़ा लाभ है ॥ ११ ॥

रोचते यदि वा सख्यं वाहुरेष प्रसारितः।
गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा ॥ १२ ॥

यदि मेरे साथ मैत्री करना आपको पसन्द हो तो मैं अपना यह हाथ पसारता हूँ। आप इसे अपने हाथ से पकड़ कर मित्रता की मर्यादा स्थापित कीजिये ॥ १२ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवेण सुभाषितम्।
स प्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥ १३ ॥

सुग्रीव के ये सुन्दर वचन सुन श्रीरामचन्द्र ने प्रसन्न मन से सुग्रीव का हाथ अपने हाथ से पकड़ा ॥ १३॥

हृद्यं सौहृदमालम्ब्य पर्यष्वजत पीडितम्।
ततो हनूमान्सन्त्यज्य भिक्षुरूपमरिन्दमः ॥ १४ ॥

और फिर प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र ने सुग्रीव को भलीभाँति अपनी छाती से लगाया। इतने में हनुमान जी ने संन्यासि रूप त्याग कर ॥ १४ ॥

काष्ठयोः स्वेन[1] रूपेण जनयामास पावकम्।
दीप्यमानं ततो वह्निं पुष्पैरभ्यर्च्य सत्कृतम् ॥ १५ ॥

और अपना वानर का रूप धारण कर दो अरणियों को मथ कर आग निकाली। फिर अग्निदेव का पुष्पादि से पूजन किया ॥ १५ ॥

---

१ स्वेनरूपेण—वानररूपेण। (गो०)

तयोर्मध्येऽथ सुप्रीतो निदधे सुसमाहितः ।
ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर उस अग्नि को दोनों (राम और सुग्रीव) के बीच में स्थापित किया। जब अग्नि जलने लगी; तब दोनों ने उसकी परिक्रमा की ॥ १६ ॥

सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ ।
ततः सुप्रीतमनसौ तावुभौ हरिराघवौ ॥ १७ ॥

अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ न तृप्तिमुपजग्मतुः ।
त्वं वयस्योऽसि मे हृद्यो ह्येकं दुःखं सुखं च नौ ॥१८॥

सुग्रीवं राघवो वाक्यमित्युवाच प्रहृष्टवत् ।
ततः स पर्णबहुलां छित्त्वा शाखां सुपुष्पिताम् ॥१९॥

इस प्रकार सुग्रीव और श्रीराम की मैत्री हो गई। तदन्तर अत्यन्त प्रसन्न मन से वे दोनों श्रीराम और सुग्रीव आपस में एक दूसरे को देखने लगे और बहुत देर तक देखते रहने पर भी दोनों में से एक को भी तृप्ति न हुई। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र ने प्रसन्न हो, सुग्रीव से कहा—तुम मेरे हृदय के प्यारे सखा हो। आज से तुम्हारा दुःख सुख मेरा दुःख सुख और मेरा दुःख सुख तुम्हारा दुःख सुख हुआ। सुग्रीव साखू के पेड़ के पत्तों और फूलों से लदी हुई एक डाली तोड़ लाये ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

सालस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ।
लक्ष्मणायाथ संहृष्टो हनुमान्प्लवगर्षभः ॥ २० ॥

सुग्रीव उस साखू के पेड़ की डाली को ज़मीन पर बिछा कर श्रीरामचन्द्र सहित उस पर बैठ गये। तदनन्तर वानरोत्तम हनुमान जी ने प्रसन्न हो कर, ॥ २० ॥

शाखां चन्दनवृक्षस्य ददौ परमपुष्पिताम् ।
ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ॥ २१ ॥
प्रत्युवाच तदा रामं हर्षव्याकुललोचनः ।
अहं विनिकृतो राम चरामीह भयार्दितः ॥ २२ ॥

अत्यन्त फूली हुई चन्दन वृक्ष की एक डाली तोड़ कर, लक्ष्मण जी को बैठने के लिये दी। तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो मधुर वाणी से, हर्ष के मारे आँखों में आँसू भरे हुए श्रीरामचन्द्रजी से बोले। हे राम! मैं वालि द्वारा छला गया हूँ और उसके डर से मारा मारा फिरता हूँ ॥ २१ ॥ २२ ॥

हृतभार्यो वने त्रस्तो दुर्गमे तदुपाश्रितः ।
सोऽहं त्रस्तो वने भीतो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ॥ २३ ॥

मैं भार्या के हर जाने से दुःखी हूँ और भयभीत हो इस दुर्गम वन में वास करता हूँ। मेरा चित्त सदा विकल रहता है और रात दिन मारे डर के मुझे इस वन में भीरु की तरह रहना पड़ता है ॥ २३ ॥

वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ।
वालिनो मे महाभाग भयार्तस्याभयं कुरु ॥ २४ ॥

हे राघव! मेरे वालि नामक भाई के कारण मेरी यह दशा हुई है। क्योंकि वह मुझसे शत्रुता रखता है। हे महाभाग! मैं भयभीत हो रहा हूँ। आप मुझे वालि के भय से अभय कीजिये ॥ २४ ॥

कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ भयं मे न भवेद्यथा।
एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः॥ २५॥

हे काकुत्स्थ! और ऐसा कुछ कीजिये कि, जिससे मेरा यह भय सदा के लिये दूर हो जाय। जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा तब तेजस्वी धर्मज्ञ और धर्मवत्सल॥ २५॥

प्रत्यभाषत काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव।
उपकारफलं मित्रं विदितं मे महाकपे॥ २६॥

श्रीरामचन्द्रजी मुसक्याते हुए सुग्रीव से कहने लगे। हे महाकपे! मैं यह जानता हूँ कि, मित्रता करने से उपकार ही होता है॥ २६॥

वालिनं तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम्।
अमोघाः सूर्यसङ्काशा ममैते निशिताः शराः॥ २७॥

मैं तुम्हारी भार्या को छीनने वाले वालि का वध करूँगा। मेरे ये अमोघ (कभी ख़ाली न जाने वाले अर्थात् अचूक) सूर्य की तरह चमचमाते और पैने बाण॥ २७॥

तस्मिन्वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः।
कङ्कपत्रप्रतिच्छन्ना महेन्द्राशनिसन्निभाः॥ २८॥
तीक्ष्णाग्रा ऋजुपर्वाणः सरोषा भुजगा इव।
तमद्य वालिनं पश्य क्रूरैराशीविषोपमैः॥
शरैर्विनिहतं भूमौ विकीर्णमिव पर्वतम्॥ २९॥

उस दुष्ट वालि के ऊपर बड़े वेग से गिरेंगे। देखो ये कङ्कपत्र-भूषित, इन्द्रवज्र के तुल्य प्रभावाले, तीखे और सीधे पोरोंवाले बाण कुपित सर्प की तरह कैसे जान पड़ते हैं। तुम अब देखना कि, सर्पों

की तरह मेरे इन बाणों से वालि मारा जा कर पहाड़ की तरह भूमि पर कैसे गिरता है ॥ २८ ॥ २९ ॥

स तु तद्वचनं श्रुत्वा रामवस्यात्मनो हितम् ।
सुग्रीवः परमप्रीतः सुमहद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३० ॥

अपने लिये हितकर श्रीरामचन्द्रजी के इन वचनों को सुन सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हो कर कहने लगे ॥ ३० ॥

तव प्रसादेन नृसिंह राघव
प्रियां च राज्यं च समाप्नुयामहम् ।
तथा कुरु त्वं नरदेव वैरिणं
यथा न हिंस्यात्स पुनर्ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

हे नरों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र ! आपकी कृपा से मुझे मेरी पत्नी और राज्य तो मिल ही जायँगे ; किन्तु साथ ही साथ कुछ ऐसा भी कीजिये जिससे वह मेरा वैरी जेठा भाई फिर मुझे न मारे ॥ ३१ ॥

सीताकपीन्द्रक्षणदाचराणां
राजीवहेमज्वलनोपमानि ।
सुग्रीवरामप्रणयप्रसङ्गे
वामानि नेत्राणि समं स्फुरन्ति ॥ ३२ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र और सुग्रीव की मैत्री होने के समय कमल सदृश सीता का दहिना और सुवर्ण की तरह पीला वालि का तथा अग्नि की तरह लाल रावण के वाम नेत्र फड़कने लगे ॥ ३२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

षष्ठः सर्गः

—※—

पुनरेवाब्रवीत्प्रीतो राघवं रघुनन्दनम् ।
अयमाख्याति मे राम सचिवो मन्त्रिसत्तमः ॥ १ ॥

तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो कर पुनः श्रीरामचन्द्रजी से बोले कि, हे रामचन्द्र! मंत्रियों में श्रेष्ठ मेरे मंत्री हनुमान ने आपका सब वृत्तान्त मुझे बतला दिया है ॥ १ ॥

हनुमान्यन्निमित्तं त्वं निर्जनं वनमागतः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वसतश्च वने तव ॥ २ ॥

हनुमान जी ने मुझे सारा वृत्तान्त बतला दिया है कि, जिस कारण आपको अपने छोटे भाई लक्ष्मण सहित वन में वास करना पड़ता है ॥ २ ॥

रक्षसापहृता भार्या मैथिली जनकात्मजा
त्वया वियुक्ता रुदती लक्ष्मणेन च धीमता ॥ ३ ॥

रुदन करती हुई आपकी भार्या मिथिलेशनन्दनी जानकी को राक्षस हर कर ले गया, जिस समय आप और धीमान् लक्ष्मण उपस्थित न थे ॥ ३ ॥

अन्तरप्रेप्सुना तेन हत्वा गृध्रं जटायुषम् ।
भार्यावियोगजं दुःखमचिरात्त्वं विमोक्ष्यसे ॥ ४ ॥

वह राक्षस तो अवसर की खोज में था ही (सो आप दोनों के आश्रम से हटते ही वह सीता को हर कर ले गया) जब जटायु ने

उसे रोकना चाहा तब उस (राक्षस ने) जटायु को मार डाला। अब मैं थोड़े ही दिनों में आपके इस भार्या-वियोग-जन्य दुःख को र दूँगा ॥ ४ ॥

अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव।
रसातले वा वर्तन्तीं वर्तन्तीं वा नभस्तले ॥ ५ ॥

मैं वेदश्रुति को तरह सीता को छुड़ा कर आपके निकट ले आऊँगा। वह रसातल या आकाश कहीं भी क्यों न हो ॥ ५ ॥

अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिन्दम।
इदं तथ्यं मम वचस्त्वमवेहि च राघव ॥ ६ ॥

हे अरिन्दम! मैं आपकी भार्या को ला कर आपसे मिला दूँगा। हे राघव! आप मेरे इस कथन को सत्य मानें ॥ ६ ॥

न शक्या सा जरयितुम[1]पि सेन्द्रैः सुरासुरैः।
तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा ॥ ७ ॥

इन्द्र सहित देवता अथवा दैत्य दानव कोई भी आपकी भार्या जानकी जी को उसी तरह नहीं पचा सकता जिस प्रकार विष को कोई नहीं पचा सकता ॥ ७ ॥

त्यज शोकं महाबाहो तां कान्तामानयामि ते।
अनुमानात्तु जानामि मैथिली सा न संशयः ॥ ८ ॥

हे महाबाहो! आप शोक छोड़ दीजिये। मैं आपकी प्यारी को लाये देता हूँ। हे राम! मैं अनुमान से जानता हूँ कि, निस्सन्देह वही सीता होगी ॥ ८ ॥

---

१ जरयितुं—आत्मसात्कर्तुं। (गो०)

ह्रियमाणा मया दृष्टा रक्षसा क्रूरकर्मणा ।
क्रोशन्ती राम रामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम् ॥ ९ ॥

जिसे मैंने क्रूरकर्मा राक्षस द्वारा हर कर लिये जाते हुए देखा है। उस समय वह राम राम और लक्ष्मण लक्ष्मण कह कर उच्च स्वर से पुकार रही थी ॥ ९ ॥

स्फुरन्ती रावणस्याङ्के पन्नगेन्द्रवधूर्यथा ।
आत्मना पञ्चमं मां हि दृष्ट्वा शैलतटे स्थितम् ॥ १० ॥

और रावण की गोद में नागिन की तरह छटपटा रही थी। उस समय मुझ समेत पाँच वानरों को पर्वत पर बैठा देख ॥ १० ॥

उत्तरीयं तया त्यक्तं शुभान्याभरणानि च ।
तान्यस्माभिर्गृहीतानि निहितानि च राघव ॥ ११ ॥

उत्तरीय वस्त्र सहित कई एक उत्तम आभूषणों को ऊपर से छोड़ा। उन सब को मैंने उठा कर रख छोड़ा है ॥ ११ ॥

आनयिष्याम्यहं तानि प्रत्यभिज्ञातुमर्हसि ।
तमब्रवीत्ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ॥ १२ ॥

मैं उन्हें लाता हूँ। आप उन्हें पहचानिये। यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने प्रियभाषी सुग्रीव से कहा ॥ १२ ॥

आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलम्बसे ।
एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम् ॥ १३ ॥
प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रियकाम्यया ।
उत्तरीयं गृहीत्वा तु शुभान्याभरणानि च ॥ १४ ॥

इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः ।
ततो गृहीत्वा तद्वासः शुभान्याभरणानि च ॥ १५ ॥

हे मित्र! उन सब वस्तुओं को शीघ्र ले आओ। विलंब क्यों कर रहे हो! जब श्रीरामचन्द्र ने यह कहा, तब सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिये पहाड़ की एक गहन गुहा में प्रवेश किया और शीघ्रता पूर्वक उस उत्तरीय वस्त्र और उन बहुमूल्यवान् आभूषणों को ला कर श्रीरामचन्द्र के सामने रखा और यह कहा कि, यें देखिये वे ये ही हैं। तब श्रीरामचन्द्र जी उन वस्त्रों और उन बढ़िया गहनों को हाथ में ले कर ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

अभवद्बाष्पसंरुद्धो नीहारेणेव चन्द्रमाः ।
सीतास्नेहप्रवृत्तेन स तु बाष्पेण दूषितः ॥ १६ ॥

कुहरे में ढके चन्द्रमा की तरह अश्रुयुक्त हो गये। सीता का प्रेम उभ्फलने से उनके नेत्र आँसुओं से दूषित हो गये ॥ १६ ॥

हा प्रियेति रुदन्धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत्क्षितौ ।
हृदि कृत्वा तु बहुशस्तमलङ्कारमुत्तमम् ॥ १७ ॥
निशश्वास भृशं सर्पो बिलस्थ इव रोषितः ।
अविच्छिन्नाश्रुवेगस्तु सौमित्रिं वीक्ष्य पार्श्वतः ॥ १८ ॥
परिदेवयितुं[1] दीनं रामः समुपचक्रमे ।
पश्य लक्ष्मण वैदेह्या संत्यक्तं ह्रियमाणया ॥ १९ ॥

वे "प्यारी" कह कर रोते हुए, धीरज छोड़ भूमि पर गिर पड़े। श्रीरामचन्द्र जी उन बढ़िया आभूषणों को बार बार छाती से

१ परिदेवयितुं—प्रकपितुं । (गो०).

लगा, बिल में बैठे क्रुद्ध सर्प की तरह फुंसकारें छोड़ने लगे और नेत्रों से अविरल अश्रुधार प्रवाहित कर बग़ल में बैठे लक्ष्मण की ओर देख दीन भाव से प्रलाप करने लगे। वे बोले—हे लक्ष्मण! देखो, जब राक्षस जानकी जी को हर कर लिये जाता था, तब उन्होंने ये वस्तुएँ नीचे डाली थीं॥ १७॥ १८॥ १९॥

उत्तरीयमिदं भूमौ शरीराद्भूषणानि च।
शाद्वलिन्यां ध्रुवं भूम्यां सीतया ह्रियमाणया॥ २०॥
उत्सृष्टं भूषणमिदं तथारूपं हि दृश्यते।
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्॥ २१॥

सीता ने हरण के समय यह उत्तरीय वस्त्र और ये आभूषण अपने शरीर से उतार कर हरी घास से युक्त भूमि पर छोड़ दिये थे। देखो ये सब वैसे के वैसे ही बने हुए हैं। श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कहने पर लक्ष्मण जी ने कहा॥ २०॥ ॥ २१॥

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥ २२॥

मैं सीता के बाजूबंद और कुण्डलों को नहीं पहचानता, किन्तु हाँ मैं उनके (पैर के) बिछुओं को अवश्यय पहचानता हूँ; क्योंकि चरणवंदना के समय इनको मैं नित्य ही देखा करता था॥ २२॥

ततः स राघवो दीनः सुग्रीवमिदमब्रवीत्।
ब्रूहि सुग्रीव कं देशं ह्रियन्ती लक्षिता त्वया॥ २३॥

तब तो दीन हो कर श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव से यह बोले—सुग्रीव यह तो बतलाओ, तुमने उसको किस देश की ओर जाती हुई देखा था॥ २३॥

रक्षसा रौद्ररूपेण मम प्राणैः प्रिया प्रिया।
क्व वा वसति तद्रक्षो महद्व्यसनदं मम ॥ २४ ॥

मेरी प्यारी प्रिया को हर कर ले जाने वाला वह भयङ्कर राक्षस कहाँ रहता है, जिसने मुझे यह बड़ा भारी दुःख दे रखा है ॥ २४ ॥

यन्निमित्तमहं सर्वान्नाशयिष्यामि राक्षसान्।
हरता मैथिलीं येन मां च रोपयता भृशम्।
आत्मनो जीवितान्ताय मृत्युद्वारमपावृतम् ॥ २५ ॥

उसकी इस करतूत के कारण मुझे समस्त राक्षसों का संहार करना पड़ेगा। उसने जानकी को हर कर मुझे बहुत क्रुद्ध किया है मानों उसने अपनी मौत का दरवाज़ा स्वयं ही खोला है ॥ २५ ॥

मम दयिततरा हृता वनान्ता-
द्रजनिचरेण विमथ्य[1] येन सा।
कथय मम रिपुं त्वमद्य वै
प्लवगपते यमसन्निधिं नयामि ॥ २६ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

हे कपीश्वर! जिस राक्षस ने मुझे धोखा दे कर मेरी प्राणप्यारी को वन में हरा है, उस मेरे वैरी का नाम तुम मुझे बतलाओ जिससे मैं उसे आज ही यमपुरी भेजदूँ ॥ २६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

१ विमथ्य—वञ्चयित्वा। (रा०)

सप्तमः सर्गः

—※—

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणार्तेन वानरः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं सबाष्पं बाष्पगद्गदः ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार आर्त्त हो वचन कहे, तब वानर सुग्रीव ने भी आँखों में आँसू भर हाथ जोड़ और गद्गद् हो कर कहा ॥ १ ॥

न जाने निलयं तस्य सर्वथा पापरक्षसः ।
सामर्थ्यं विक्रमं वाऽपि दौष्कुलेयस्य वा कुलम् ॥ २ ॥

मुझे उस पापी राक्षस का न तो निवासस्थान और न उसकी सामर्थ्य और पराक्रम ही मालूम है। मैं उस दुष्ट कुल वाले का कुल भी नहीं जानता ॥ २ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि त्यज शोकमरिन्दम ।
करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम् ॥ ३ ॥

किन्तु हे शत्रुनाशन ! मैं सत्य सत्य प्रतिज्ञा कर के कहता हूँ कि, जानकी जी को प्राप्त करने के लिये मैं कोई बात उठा न रखूँगा। अतः अब आप शोक न कीजिये ॥ ३ ॥

रावणं सगणं हत्वा परितोष्यात्मपौरुषम् ।
तथाऽस्मि कर्ता न चिराद्यथा प्रीतो भविष्यसि ॥ ४ ॥

वंश सहित रावण को मार, और अपने पुरुषार्थ को सफल कर मैं ऐसा कार्य करूँगा जिससे आप प्रसन्न हो जांयगे ॥ ४ ॥

अलं वैक्लव्य[1]मालम्ब्य धैर्यमात्मगतं स्मर ।
त्वद्विधानामसदृशमीदृशं विद्धि लाघवम् ॥ ५ ॥

बस अब आप दीनता त्यागिये और धीरज रखिये । क्योंकि आप जैसे पुरुषों को इस प्रकार की दीनता प्रदर्शित करना बड़ी ओछी बात है ॥ ५ ॥

मयाऽपि व्यसनं प्राप्तं भार्याहरणजं महत् ।
न चाहमेवं शोचामि न च धैर्यं परित्यजे ॥ ६ ॥

मैं भी तो अपनी पत्नी के हरे जाने से बड़ा दुःख भोग रहा हूँ । किन्तु मैं इस प्रकार न तो दुःखी होता हूँ और न धीरज ही छोड़ बैठता हूँ ॥ ६ ॥

नाहं तामनुशोचामि प्राकृतो[2] वानरोऽपि सन् ।
महात्मा च विनीतश्च[3] किं पुनर्धृतिमान्भवान् ॥ ७ ॥

यद्यपि मैं अनार्य जाति का वानर हूँ, तथापि मैं उसके लिये इतना चिन्तातुर नहीं हूँ । फिर आप तो महात्मा बड़े बूढ़ों द्वारा सुशिक्षित, और धैर्यवान् पुरुष हैं ॥ ७ ॥

बाष्पमापतितं धैर्यान्निग्रहीतुं त्वमर्हसि ।
मर्यादां सत्त्वयुक्तानां[4] धृतिं नोत्स्रष्टुमर्हसि ॥ ८ ॥

आप शोक से निकलते हुए अपने आँसुओं को धैर्य धारण कर रोकिये । सतोगुणियों के मर्यादारूप धैर्य को आप न त्यागिये ॥ ८ ॥

---

१ वैक्लव्यं—दैन्यं । (गो०) २ प्राकृतः—हीनः । (गो०) ३ विनीतश्च—वृद्धैः सुशिक्षितः । (गो०) ४ सत्त्वयुक्तानां—सत्त्वगुणवतां । (रा०)

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तके।
विमृशन्वै स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति ॥ ९ ॥

क्योंकि धैर्यवान् पुरुष, स्वजन-वियोग के समय, धननाश के समय, भय उपस्थित होने पर और प्राणों की शङ्का उपस्थित होने पर भी; अपनी बुद्धि से काम लेते हैं और उसीसे वे कभी दुःखी नहीं होते ॥ ९ ॥

बालिशस्तु नरो नित्यं वैक्लव्यं योऽनुवर्तते।
स मज्जत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नौर्जले ॥ १० ॥

जो लोग मूर्ख होते हैं, वे नित्य ही दीन बने रहते हैं। वे लाचार हो शोक में वैसे ही डूब जाते हैं, जैसे बड़े बोझ से दबी हुई नाव पानी में डूब जाती है ॥ १० ॥

एषोऽञ्जलिर्मया बद्धः प्रणयात्त्वां प्रसादये।
पौरुषं श्रय शोकस्य नान्तरं[1] दातुमर्हसि ॥ ११ ॥

मैं आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि, आप मेरी प्रीति की ओर देख कर, प्रसन्न हों और पुरुषार्थ का सहारा ले, शोक को अपने मन में पैठने का अवसर ही न दें ॥ ११ ॥

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम्।
तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥

जो लोग शोक किया करते हैं, वे कभी सुखी हो ही नहीं सकते। प्रत्युत उनके तेज की भी हानि होती है। अतः आपको शोक न करना चाहिये ॥ १२ ॥

---

१ अन्तरं—अवकाशं। (गो०)

शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः ।
स शोकं त्यज राजेन्द्र धैर्यमाश्रय केवलम् ॥ १३ ॥

हे राजेन्द्र ! जो लोग सदा शोक में डूबे रहते हैं, उनके जीवन में भी सन्देह हो जाता है । अतः आप शोक को त्याग कर, केवल धैर्य धारण कीजिये ॥ १३ ॥

हितं वयस्यभावेन ब्रूमि नोपदिशामि ते ।
वयस्यतां पूजयन्मे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १४ ॥

मैं केवल मित्रता के कर्त्तव्य से प्रेरित हो, आपसे आपके हित की बात कहता हूँ—मैं आपको उपदेश नहीं देता । अतः आप मेरी मैत्री को मान शोक मत कीजिये ॥ १४ ॥

मधुरं सान्त्वितस्तेन सुग्रीवेण स राघवः ।
मुखमश्रुपरिक्लिन्नं वस्त्रान्तेन प्रमार्जयत् ॥ १५ ॥
प्रकृतिस्थस्तु काकुत्स्थः सुग्रीववचनात्प्रभुः ।
संपरिष्वज्य सुग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

जब सुग्रीव ने श्रीराम को इस प्रकार मधुर वचनों से समझाया, तब श्रीरामचन्द्र अपने कपड़े के छोर से, आँसू से भरे अपने मुख को पोंछ, स्वस्थ हो एवं सुग्रीव को हृदय से लगा कर, यह बात बोले ॥ १५ ॥ १६ ॥

कर्तव्यं यद्वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च ।
अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत्त्वया ॥ १७ ॥

हे सुग्रीव ! स्नेही और हितैषी मित्र के अनुरूप और योग्य कार्य तुमने किया है ॥ १७ ॥

एष च प्रकृतिस्थोऽहमनुनीतस्त्वया सखे।
दुर्लभो हीदृशो बन्धुरस्मिन्काले विशेषतः ॥ १८ ॥

हे मित्र! तुम्हारे समझाने बुझाने से मेरा मन ठीक हो गया है। तुम्हारे जैसा मित्र मिलना दुर्लभ है। सो भी ऐसी विपत्ति के समय ॥ १८ ॥

किं तु यत्नस्त्वया कार्यो मैथिल्याः परिमार्गणे।
राक्षसस्य च रौद्रस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥ १९ ॥

परन्तु हे मित्र! सीता जी और उस घोर दुरात्मा राक्षस रावण का पता लगाने का तुम प्रयत्न करो ॥ १९ ॥

मया च यदनुष्ठेयं विस्रब्धेन तदुच्यताम्।
वर्षास्विव च सुक्षेत्रे सर्वं संपद्यते मयि ॥ २० ॥

अपना जो काम तुम मुझसे करवाना चाहते हो सो तुम मुझसे बेधड़क कहो। मैं तुम्हारे सब काम उसी प्रकार सिद्ध कर दूँगा जिस प्रकार उपजाऊ खेत में वर्षा ऋतु में बोया हुआ बीज सफल होता है ॥ २० ॥

मया च यदिदं वाक्यमभिमानात्[1] समीरितम्।
तत्त्वया हरिशार्दूल तत्त्वमित्युपधार्यताम् ॥ २१ ॥
अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन।
एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव च ते शपे ॥ २२ ॥

हे वानरश्रेष्ठ! मैंने शौर्याभिमान से जो बात कही है इसको तुम सत्य सत्य ही जानना। क्योंकि न तो पहले मैं कभी मिथ्या बोला

1 अभिमानात्—शौर्याभिमानात्। (गो०)

और न आगे ही कभी बोलूंगा। इस बात के लिये मैं प्रतिज्ञा करता हूँ और सत्यता पूर्वक शपथ खाता हूँ ॥ २१ ॥ २२ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवो वानरैः सचिवैः सह ।
राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रतिज्ञातं विशेषतः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन कर सुग्रीव अपने मंत्रियों सहित बहुत प्रसन्न हुए—विशेष कर श्रीरामचन्द्र जी की प्रतिज्ञा को सत्य जान उन्होंने अपने को कृतार्थ माना ॥ २३ ॥

एवमेकान्तसंपृक्तौ ततस्तौ नरवानरौ ।
उभावन्योन्यसदृशं सुखं दुःखं प्रभाषताम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार एकान्त में बैठ वे दोनों नर और वानर अपने अपने सुख दुःख आपस में कहते सुनते थे ॥ २४ ॥

महानुभावस्य वचो निशम्य
हरिर्नराणामृषभस्य तस्य ।
कृतं स मेने हरिवीरमुख्य-
स्तदा स्वकार्यं हृदयेन विद्वान् ॥ २५ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

वानरराज सुग्रीव ने राजराजेश्वर श्रीरामचन्द्र के वचन सुन मन ही मन विचार किया कि, निस्सन्देह अब मेरा कार्य हो गया। अथवा सुग्रीव ने अपना कार्य पूर्ण हुआ जाना ॥ २५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

अष्टमः सर्गः

—※—

परितुष्टस्तु सुग्रीवस्तेन वाक्येन वानरः ।
लक्ष्मणस्याग्रतो राममिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचनों से सन्तुष्ट हो कर, वानर सुग्रीव ने लक्ष्मण के ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र से यह कहा ॥ १ ॥

सर्वथाऽहमनुग्राह्यो देवतानामसंशयः ।
उपपन्नगुणोपेतः सखा यस्य भवान्मम ॥ २ ॥

जब आप जैसे सर्वगुण सम्पन्न मेरे मित्र हो चुके, तब मैं देवताओं का भी सब प्रकार से कृपापात्र बन चुका ॥ २ ॥

शक्यं खलु भवेद्राम सहायेन त्वयाऽनघ ।
सुरराज्यमपि प्राप्तुं स्वराज्यं किं पुनः प्रभो ॥ ३ ॥

हे राम ! आपकी सहायता से तो मैं स्वर्ग का राज्य भी प्राप्त कर सकता हूँ । इस राज्य की गिनती ही क्या है ? ॥ ३ ॥

सोऽहं सभाज्यो बन्धूनां सुहृदां चैव राघव ।
यस्याग्निसाक्षिकं मित्रं लब्धं राघववंशजम् ॥ ४ ॥

हे राघव ! अब तो मैं अपने मित्र बांधवों का पूज्य हो गया । क्योंकि मेरे अब महाराज रघु के वंश वाले अग्निसाक्षिक मित्र हुए हैं ॥ ४ ॥

अहमप्यनुरूपस्ते वयस्यो ज्ञास्यसे शनैः ।
न तु वक्तुं समर्थोऽहं स्वयमात्मगतान्गुणान् ॥ ५ ॥

किन्तु हे राघव! मैं भी आपका योग्य मित्र हूँ—यह बात आपको धीरे-धीरे जान पड़ेगी। मैं अपनी बड़ाई अपने मुँह से आपके सामने नहीं कर सकता॥ ५॥

महात्मनां तु भूयिष्ठं[1] त्वद्विधानां कृतात्मनाम्।
निश्चला भवति प्रीतिर्धैर्यमात्मवता[2]मिव॥ ६॥

आप जैसे महात्मा और अत्यन्त स्वाधीन पुरुषों की प्रीति और धैर्य अटल होते हैं॥ ६॥

रजतं वा सुवर्णं वा वस्त्राण्याभरणानि च।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः॥ ७॥

जो सन्मित्र होते हैं वे अपने मित्र की सोने, चाँदी की चीज़ें, भूषण वस्त्रादि को अपनी ही समझते हैं अर्थात् अपनी और मित्र की चीज़ों को एक ही सी समझते हैं। भेदभाव नहीं रखते॥ ७॥

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा।
निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमा गतिः॥ ८॥

चाहे धनी हो चाहे निर्धन, चाहे दुःखी हो चाहे सुखी, चाहे निर्दोष हो चाहे सदोष—मित्र मित्र ही है॥ ८॥

धनत्यागः सुखत्यागो देहत्यागोऽपि वा पुनः।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम्॥ ९॥

जो लोग आपस के स्नेह ही को देखते हैं उनके लिये अपने मित्र के पीछे धन का त्याग, सुख का त्याग अथवा देश तक का त्याग कोई बड़ी बात नहीं॥ ९॥

---

१ भूयिष्ठ—अतिशयेन। (गो०) २ आत्मवतां—स्वाधीनानां। (रा०)

तत्तथेत्यब्रवीद्रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो लक्ष्म्या[1] वासवस्येव धीमतः ॥ १० ॥

प्रियवादी सुग्रीव के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने, इन्द्र की कान्ति की तरह कान्ति वाले धीमान लक्ष्मण जी के सामने सुग्रीव से कहा—तुम्हारा कहना बहुत ठीक है॥ १० ॥

ततो रामं स्थितं दृष्ट्वा लक्ष्मणं च महाबलम् ।
सुग्रीवः सर्वतश्चक्षुर्वने लोल[2]मपातयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र और महाबलवान लक्ष्मण को भूमि पर बैठा देख, पर्वत पर चारों ओर दृष्टि फैला कर निहारा ॥ ११ ॥

स ददर्श ततः सालमविदूरे हरीश्वरः ।
सुपुष्पमीषत्पत्राढ्यं भ्रमरैरुपशोभितम् ॥ १२ ॥

सुग्रीव को पास ही साखू का एक वृक्ष देख पड़ा, जिसमें कुछ फूल और पत्ते लगे थे और जिस पर भौंरे मड़रा रहे थे ॥ १२ ॥

तस्यैकां पर्णबहुलां भङ्क्त्वा शाखां सुपुष्पिताम् ।
सालस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ॥ १३ ॥

तब सुग्रीव उस वृक्ष से एक सघन पत्तों वाली और पुष्पित डाली तोड़ लाये और उसको बिछा कर, उस पर श्रीरामचन्द्र के साथ वे बैठ गये ॥ १३ ॥

तावासीनौ ततो दृष्ट्वा हनूमानपि लक्ष्मणम् ।
सालशाखां समुत्पाट्य विनीतमुपवेशयत् ॥ १४ ॥

---

१ लक्ष्म्या—कान्त्या । (गो०) २ लोलं—चक्षुः । (गो०)

सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र को बैठे हुए देख, हनुमान जी ने लक्ष्मण जी के बैठने के लिये एक साखू की डाली तोड़ी और उसे बिछा कर उस पर विनीत भाव से लक्ष्मण जी को बिठाया ॥ १४ ॥

सुखोपविष्टं रामं तु प्रसन्नमुदधिं यथा ।
फलपुष्पसमाकीर्णे तस्मिन्गिरिवरोत्तमे ॥ १५ ॥

तब सुप्रसन्न मन तथा सागर की तरह गम्भीर स्वभाव युक्त श्री राम को फल पुष्प परिपूर्ण उस श्रेष्ठ पर्वत पर बैठा हुआ देख कर, ॥ १५ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।
उवाच प्रणयाद्रामं हर्षव्याकुलिताक्षरम् ॥ १६ ॥

सुग्रीव हर्षित हो मधुर एवं हितकारी वचनों से, प्रेम और हर्ष पूर्ण होने के कारण घबड़ाये से हो कर, श्रीरामचन्द्र से बोले ॥ १६ ॥

अहं विनिकृतो भ्रात्रा चराम्येष भयार्दितः ।
ऋश्यमूकं गिरिवरं हृतभार्यः सुदुःखितः ॥ १७ ॥

मैं वालि से छला जा कर, उसके डर के मारे इस ऋष्यमूक पर्वत पर मारा मारा फिरता हूँ। मुझे अपनी स्त्री के छिन जाने का बड़ा दुःख है ॥ १७ ॥

सोऽहं त्रस्तो भये मग्नो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ।
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ॥ १८ ॥

सो यहाँ पर भी उस वालि के भय से मैं त्रस्त रहा करता हूँ और इसीसे मेरा जी भी ठिकाने नहीं रहता। मेरे भाई वालि ने मुझे धोखा दिया है। मेरा उसका वैर हो गया है ॥ १८ ॥

वालिनो मे भयार्तस्य सर्वलोकाभयङ्कर ।
ममापि त्वमनाथस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

हे सब लोकों के अभयदाता ! मैं वालि से बहुत भयभीत हूँ और मेरा रक्षक भी कोई नहीं है। अतः आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ।
प्रत्युवाच स काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ २० ॥

जब सुग्रीव जी ने ऐसा कहा तब धर्मज्ञ धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी हँसते हुए उनसे बोले ॥ २० ॥

उपकारफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम् ।
अद्यैव तं हनिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ॥ २१ ॥

मनुष्य उपकार करने ही से मित्र और अपकार करने से ही शत्रु हो जाता है। मैं फिर भी कहता हूँ कि, मैं आज ही तुम्हारी भार्या के हरने वाले उस वालि को मार डालूँगा ॥ २१ ॥

इमे हि मे महावेगाः पत्रिणस्तिग्मतेजसः ।
कार्त्तिकेयवनोद्भूताः शरा हेमविभूषिताः ॥ २२ ॥

ये मेरे बाण बड़े वेगवान्, बड़े परों वाले, तीखे, चमचमाते, और कार्तिकेय जी के वन में उत्पन्न एवं सुवर्ण भूषित हैं ॥ २२ ॥

कङ्कपत्रप्रतिच्छन्ना महेन्द्राशनिसन्निभाः ।
सुपर्वाणः सुतीक्ष्णाग्राः सरोषा इव पन्नगाः ॥ २३ ॥

ये कङ्कपत्रों से सुशोभित, इन्द्र के वज्र के समान, अच्छे पर्वों (पोरुओं) वाले तीखे फलकों से युक्त और क्रुद्ध सर्प की तरह हैं ॥ २३ ॥

भ्रातृसंज्ञममित्रं ते वालिनं कृतकिल्बिषम् ।
शरैर्विनिहतं पश्य विकीर्णमिव पर्वतम् ॥ २४ ॥

इन बाणों से मैं तुम्हारे शत्रु रूपी भाई और पापी वालि को मारूँगा । तुम उसे भूमि पर पर्वत की तरह गिरा देखोगे ॥ २४ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाहिनीपतिः ।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

वाहिनीपति सुग्रीव, श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन अत्यन्त हर्षित हो "साधु साधु" कह श्रीरामचन्द्र जी की बड़ाई करने लगे ॥ २५ ॥

राम शोकाभिभूतोऽहं शोकार्तानां भवान्गतिः ।
वयस्य इति कृत्वा हि त्वय्यहं परिदेवये ॥ २६ ॥

हे राम ! मैं शोक से विकल हो रहा हूँ और आप शोक से पीड़ित पुरुषों की गति हैं । सो मैं आपको अपना मित्र समझ आपके सामने अपना दुःख प्रकट कर रहा हूँ ॥ २६ ॥

त्वं हि पाणिप्रदानेन वयस्यो मेऽग्निसाक्षिकम् ।
कृतः प्राणैर्बहुमतः सत्येनापि शपामि ते ॥ २७ ॥

आपने अपने हाथ से मेरा हाथ पकड़ अग्नि के सामने मुझे अपना मित्र बनाया है । मैं सत्य सत्य शपथ पूर्वक कहता हूँ कि, आप मुझे निज प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं ॥ २७ ॥

वयस्य इति कृत्वा च विस्रब्धं प्रवदाम्यहम् ।
दुःखमन्तर्गतं यन्मे मनो हरति नित्यशः ॥ २८ ॥

आपको अपना मित्र समझ कर और आप पर विश्वास कर मैं अपना समस्त वृत्तान्त आपके सामने प्रकट करता हूँ। हे राम! मेरे मन के भीतर का यह दुःख मुझे सदा बहुत सताया करता है ॥ २८ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं बाष्पदूषितलोचनः ।
बाष्पोपहतया वाचा नोच्चैः शक्नोति भाषितुम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार कहते कहते सुग्रीव की आँखों से आँसू बहने लगे और गला भर आया और गला भर आने से वह उच्च स्वर से न बोल सके ॥ २९ ॥

बाष्पवेगं तु सहसा नदीवेगमिवागतम् ।
धारयामास धैर्येण सुग्रीवो रामसन्निधौ ॥ ३० ॥
स निगृह्य तु तं बाष्पं प्रमृज्य नयने शुभे ।
विनिःश्वस्य च तेजस्वी राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ३१ ॥

वानरराज सुग्रीव ने, नदी के वेग की तरह बहते हुए आँसुओं के वेग को धैर्य धारण कर रोका। फिर आँसू पोंछ और ठंडी साँस ले, श्रीराम को अपनी विपत्कथा कह सुनाई ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पुराहं वालिना राम राज्यात्स्वादवरोपितः ।
परुषाणि च संश्राव्य निर्धूतोऽस्मि बलीयसा ॥ ३२ ॥
हृता भार्या च मे तेन प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
सुहृदश्च मदीया ये संयता बन्धनेषु ते ॥ ३३ ॥

हे राम! पहले बलवान वालि ने मुझको राजसिंहासन से उतार और कठोर वचन कह धिक्कारा और बरजोरी घर से निकाल

दिया। फिर मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी भार्या को छीन लिया और जो मेरे हितैषी मित्र थे, उनको पकड़ कर वन्दी वना लिया ॥ ३३ ॥

यत्नवांश्च सुदुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव ।
बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥ ३४ ॥

हे राघव ! वह दुष्ट मेरा नाश करने के लिये कई वार यत्न कर चुका है। किन्तु अभी तक उसने मुझे मारने को जितने बन्दर भेजे वे सब मेरे हाथ से मारे गये ॥ ३४ ॥

शङ्कया त्वेतया चेह दृष्ट्वा त्वामपि राघव ।
नोपसर्पाम्यहं भीतो भये सर्वे हि बिभ्यति ॥ ३५ ॥

हे राघव ! इसी शङ्का के कारण मैं आपको देख आपके पास नहीं आया। मैं वालि से बहुत डरा हुआ हूँ और भय से सब भयभीत होते ही हैं ॥ ३५ ॥

केवलं हि सहाया मे हनूमत्प्रमुखास्त्विमे ।
अतोऽहं धारयाम्यद्य प्राणान्कृच्छ्रगतोऽपि सन् ॥ ३६

ये केवल हनुमानादि वानर मेरे सहायक हैं। इसीसे अत्यन्त क्लेश भोगता हुआ भी मैं जीवित हूँ ॥ ३६ ॥

एते हि कपयः स्निग्धा मां रक्षन्ति समन्ततः ।
सह गच्छन्ति गन्तव्ये नित्यं तिष्ठन्ति च स्थिते ॥ ३७ ॥

ये वानर मेरे बड़े स्नेही हैं और मेरी सब प्रकार से रक्षा किया करते हैं। जहाँ कहीं मैं जाता हूँ वहाँ ही ये मेरे साथ जाते हैं और जहाँ कहीं मैं रहता हूँ वहाँ ही ये मेरे साथ रहते हैं। सारांश यह कि, ये सदा मेरे साथ रहते हैं ॥ ३७ ॥

संक्षेपस्त्वेष ते राम किमुक्त्वा विस्तरं हि ते ।
स मे ज्येष्ठो रिपुर्भ्राता वाली विश्रुतपौरुषः ॥ ३८ ॥

हे राम ! विस्तार करने से क्या, मैंने अपना सब वृत्तान्त संक्षेप से कह दिया। मेरा ज्येष्ठ भ्राता वालि मेरा वैरी है और एक प्रसिद्ध पराक्रमी वानर है ॥ ३८ ॥

तद्विनाशाद्धि मे दुःखं प्रनष्टं स्यादनन्तरम् ।
सुखं मे जीवितं चैव तद्विनाशनिबन्धनम् ॥ ३९ ॥

उसके नाश होने ही से मेरे दुःख का भी नाश होगा। उसके मारे जाने ही से मेरे सुखी होने और जीवित रहने की भी सम्भावना हो सकती है ॥ ३९ ॥

एष मे राम शोकान्तः शोकार्तेन निवेदितः ।
दुःखितः सुखितो वाऽपि सख्युर्नित्यं सखा गतिः ॥४०॥

मैंने शोकार्त्त हो कर जो अपने शोक के नाश का उपाय बतलाया है, बस इसीसे मेरा दुःख दूर हो सकता है। मित्र दुःखी हो अथवा सुखी, मित्र के लिये मित्र ही एकमात्र सहारा है ॥ ४० ॥

श्रुत्वैतद्वचनं रामः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ।
किंनिमित्तमभूद्वैरं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४१ ॥

सुग्रीव के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र ने उनसे यह कहा—वालि के साथ तुम्हारी शत्रुता किस लिये हुई, सो मैं ठीक ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

अहं हि कारणं श्रुत्वा वैरस्य तव वानर ।
आनन्तर्यं विधास्यामि सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ ४२ ॥

मैं पहले तुम्हारे दोनों को पारस्परिक शत्रुता का कारण सुन चुकने पर बलाबल का विचार कर, तुम्हें सुखी करने का विधान करूँगा॥ ४२ ॥

बलवान्हि ममामर्षः श्रुत्वा त्वामवमानितम् ।
वर्धते हृदयोत्कम्पी प्रावृड्वेग इवाम्भसः ॥ ४३ ॥

हे सुग्रीव ! तुम्हारे अपमान की बात सुन, मेरा क्रोध, हृदय-कम्पनकारी वर्षाकालीन जल की तरह बढ़ता जाता है ॥ ४३ ॥

हृष्टः कथय विस्रब्धो यावदारोप्यते धनुः ।
सृष्टश्चेद्धि मया बाणो निरस्तश्च रिपुस्तव ॥ ४४ ॥

तुम प्रसन्न मन से मुझ पर विश्वास कर, अपना हाल कहो। इतने में मैं अपने धनुष पर रोदा चढ़ाता हूँ। तुम यह बात पक्की जान लेना कि, मैंने बाण छोड़ा कि, तुम्हारा वैरी मरा ॥ ४४ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः काकुत्स्थेन महात्मना ।
प्रहर्षमतुलं लेभे चतुर्भिः सह वानरैः ॥ ४५ ॥

जब महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव से कहा, तब सुग्रीव अपने चारों सहचारी वानरों सहित अतुलित हर्ष को प्राप्त हुए ॥ ४५ ॥

ततः प्रहृष्टवदनः सुग्रीवो लक्ष्मणाग्रजे ।
वैरस्य कारणं तत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

तदनन्तर सुग्रीव ने प्रसन्न हो श्रीरामचन्द्रजी से वालि से वैर बँधने का कारण कहना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

नवमः सर्गः

—※—

श्रूयतां राम यद्वृत्तमादितः प्रभृति त्वया ।
यथा वैरं समुद्भूतं यथा चाहं निराकृतः ॥ १ ॥

हे राम ! जिस प्रकार वालि से मेरा वैर हुआ और जिस प्रकार मैं घर से निकाला गया—सो मैं आदि से कहता हूँ। आप सुनिये ॥ १ ॥

वाली नाम मम भ्राता ज्येष्ठः शत्रुनिषूदनः ।
पितुर्बहुमतो नित्यं ममापि च तथा पुरा ॥ २ ॥

शत्रुओं का नाश करने वाले मेरे बड़े भाई वालि को हमारे पिता बहुत मानते थे और वैर होने के पूर्व, मैं भी उसे बहुत मानता था ॥ २ ॥

पितर्युपरतेऽस्माकं ज्येष्ठोऽयमिति मन्त्रिभिः ।
कपीनामीश्वरो राज्ये कृतः परमसम्मतः ॥ ३ ॥

कुछ दिनों बाद जब पिता जी का देहान्त हुआ, तब वालि को, जेठा समझ, मंत्रियों ने राजसिंहासन पर बैठाया ॥ ३ ॥

राज्यं प्रशासतस्तस्य पितृपैतामहं महत् ।
अहं सर्वेषु कालेषु प्रणतः प्रेष्यवत्स्थितः ॥ ४ ॥

वालि पिता पितामहादिकों के विस्तृत राज्य का शासन करने लगा। मैं उसके पास दास की तरह विनीतभाव से रहने लगा ॥ ४ ॥

मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो[1] दुन्दुभेः सुतः ।
तेन तस्य महद्वैरं स्त्रीकृतं विश्रुतं पुरा ॥ ५ ॥

कुछ समय बीतने पर दुन्दुभी के ज्येष्ठ एवं तेजस्वी पुत्र मायावी के साथ किसी स्त्री के पीछे, वालि की शत्रुता हो गयी ॥ ५ ॥

स तु सुप्तजने रात्रौ किष्किन्धाद्वारमागतः ।
नर्दति स्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद्रणे ॥ ६ ॥

एक बार रात्रि में, जबकि सब लोग सो रहे थे, वह दानव किष्किन्धा नगरी के बहिर्द्वार पर आ बड़े ज़ोर से चिल्लाया और युद्ध के लिये वालि को ललकारा ॥ ६ ॥

प्रसुप्तस्तु मम भ्राता नर्दितं भैरवस्वनम् ।
श्रुत्वा न ममृषे वाली निष्पपात जवात्तदा ॥ ७ ॥
स तु वै निःसृतः क्रोधात्तं हन्तुमसुरोत्तमम् ।
वार्यमाणस्ततः स्त्रीभिर्मया च प्रणतात्मना ॥ ८ ॥
स तु निर्धूय सर्वान्नो निर्जगाम महाबलः ।
ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥ ९ ॥

उस समय सोता हुआ मेरा भाई वालि उसके उस भयङ्कर गर्जन को सुन, जाग उठा और उसके उस तर्जन को न सह कर तथा क्रोध में भर, बड़ी तेज़ी से उसे मारने को घर से निकला। यद्यपि वालि की स्त्रियों ने और मैंने भी विनम्र भाव से उसको बहुत रोका ; तथापि वह महाबली किसी का कहना न मान, घर से निकल ही गया। उस समय भ्रातृ-स्नेह के वशवर्त्ती हो, मैं भी उसके साथ हो लिया ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ पूर्वजः—अग्रजः । (गो०)

स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम् ।
असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव ततो भृशम् ॥ १० ॥

तदनन्तर वह असुर, मेरे भाई को तथा दूर पर मुझको देख, डर गया और डर कर बड़ी तेज़ी से भागा ॥ १० ॥

तस्मिन्द्रवति संत्रस्ते ह्यावां द्रुततरं गतौ ।
प्रकाशश्च कृतो मार्गश्चन्द्रेणोद्गच्छता तदा ॥ ११ ॥

जब वह हम लोगों से डर कर बड़ी तेज़ी से भागा, तब हम दोनों भाई भी बड़ी तेज़ी से उसके पीछे दौड़े । क्योंकि चन्द्रमा के उदय होने से उस समय चाँदनी छिटकी हुई थी ॥ ११ ॥

स तृणैरावृतं दुर्गं धरण्या विवरं महत् ।
प्रविवेशासुरो वेगादावामासाद्य विष्ठितौ ॥ १२ ॥

भागते भागते वह असुर, पृथिवी के एक बड़े दुर्गम बिल में, जिसका मुख घास फूँस से ढका हुआ था, बड़ी तेज़ी से घुस गया । हम दोनों भाई, उस बिल के द्वार पर पहुँच कर, रुक गये ॥ १२ ॥

तं प्रविष्टं रिपुं दृष्ट्वा बिलं रोषवशं गतः ।
मामुवाच तदा वाली वचनं क्षुभितेन्द्रियः ॥ १३ ॥

अपने वैरी को गुफा में घुसा हुआ देख, मेरा भाई वालि बहुत क्रुद्ध हुआ और क्षुब्ध हो मुझसे बोला ॥ १३ ॥

इह त्वं तिष्ठ सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः ।
यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि सहसा रिपुम् ॥ १४ ॥

हे सुग्रीव ! जब तक मैं इस शत्रु को मार कर न लौटूँ, तब तक तुम यहीं पर खड़े रहना ॥ १४ ॥

मया त्वेतद्वचः श्रुत्वा याचितः स परन्तपः।
शापयित्वा च मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं महत् ॥ १५ ॥

वालि का यह वचन सुन, मैंने उसके साथ उस गुफा में जाने की प्रार्थना की, किन्तु वालि ने मुझे अपने चरणों की शपथ दे कर, अकेले ही उस बड़ी गुफा में प्रवेश किया ॥ १५ ॥

तस्य प्रविष्टस्य बिलं साग्रः[1] संवत्सरो गतः।
स्थितस्य च मम द्वारि स कालोऽप्यत्यवर्तत ॥ १६ ॥
अहं तु नष्टं तं ज्ञात्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः।
भ्रातरं तु न पश्यामि पापाशङ्कि च मे मनः ॥ १७ ॥

जब वालि को उस गुफा में घुसे एक वर्ष से ऊपर बीत गया, तब तो मैंने वालि को मरा समझा और स्नेह से मैं विकल हो गया। भाई को न देखने से मेरे मन में अनिष्ट की शङ्का उत्पन्न हुई ॥ १६ ॥ १७ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य बिलात्तस्माद्विनिःसृतम्।
सफेनं रुधिरं रक्तमहं दृष्ट्वा सुदुःखितः ॥ १८ ॥

इस पर भी मैं वहाँ खड़ा ही रहा। बहुत दिनों बाद उस गुफा से फेन सहित रुधिर निकला। उसे देख, मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥ १८ ॥

नर्दतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः।
निरस्तस्य च संग्रामे क्रोशतो निःस्वनो गुरोः ॥ १९ ॥

तब युद्ध में निरत और गर्जते हुए असुरों का घोर शब्द मुझको सुनाई पड़ा ॥ १९ ॥

---

[1] साग्रः—सम्पूर्णः। (गो०)

अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम्।
पिधाय च विलद्वारं शिलया गिरिमात्रया ॥ २० ॥

तब तो मैंने इन लक्षणों से वालि को मरा हुआ जान, एक बड़ी भारी शिला ले कर, उस गुफा का द्वार बंद कर दिया ॥ २० ॥

शोकार्तश्चोदकं कृत्वा किष्किन्धामागतः सखे।
गूहमानस्य मे तत्त्वं यत्नतो मन्त्रिभिः श्रुतम् ॥ २१ ॥

हे मित्र! फिर शोकार्त्त हो और भाई को जलाञ्जलि दे, मैं किष्किन्धा में आया। यद्यपि मैंने वालि के मरने की बात यत्न पूर्वक छिपाई; तथापि मंत्रियों को मालूम ही हो गयी ॥ २१ ॥

ततोऽहं तैः समागम्य सम्मतैरभिषेचितः।
राज्यं प्रशासतस्तस्य न्यायतो मम राघव ॥ २२ ॥

हे राघव! तदनन्तर उन सब मंत्रियों ने मिल कर, मेरा राज्याभिषेक कर दिया। तब मैं न्यायपूर्वक राज्य करने लगा ॥ २२ ॥

आजगाम रिपुं हत्वा वाली तमसुरोत्तमम्।
अभिषिक्तं तु मां दृष्ट्वा वाली संरक्तलोचनः ॥ २३ ॥

इतने में अपने शत्रु उस महाअसुर को मार, वालि लौट आया। मुझको राजसिंहासन पर बैठा देख, मारे क्रोध के उसकी आँखें लाल हो गयीं ॥ २३ ॥

मदीयान्मन्त्रिणो बद्ध्वा परुषं वाक्यमब्रवीत्।
निग्रहेऽपि समर्थस्य तं पापं प्रति राघव ॥ २४ ॥

उसने मेरे मंत्रियों को पकड़ उनसे बड़े कठोर शब्द कहे। हे राघव! यद्यपि उस समय मुझमें यह शक्ति थी कि, मैं उस पापिष्ठ वालि का निग्रह करता; ॥ २४ ॥

न प्रावर्तत मे बुद्धिर्भ्रातुर्गौरवयन्त्रिता ।
हत्वा शत्रुं स मे भ्राता प्रविवेश पुरं तदा ॥ २५ ॥

तथापि भाई के बड़प्पन का विचार कर, मैंने वैसा न किया। जब मेरे उस भाई ने अपने वैरी को मार, नगर में प्रवेश किया ॥ २५ ॥

मानयंस्तं महात्मानं यथावच्चाभ्यवादयम् ।
उक्ताश्च नाशिषस्तेन सन्तुष्टेनान्तरात्मना ॥ २६ ॥

तब मैंने उसका सम्मान करने के लिये उसे प्रणाम किया। किन्तु उसने न तो मुझे आशीर्वाद दिया और न वह मुझ पर प्रसन्न ही हुआ ॥ २६ ॥

नत्वा पादावहं तस्य मुकुटेनास्पृशं प्रभो ।
कृताञ्जलिरुपागम्य स्थितोऽहं तस्य पार्श्वतः ।
अपि वाली मम क्रोधान्न प्रसादं चकार सः ॥ २७ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

हे प्रभो! मैंने बारबार मुकुट सहित अपना सीस उसके चरणों में रख उसे प्रणाम किया और हाथ जोड़े मैं उसकी बग़ल में खड़ा रहा, किन्तु वह मेरे ऊपर प्रसन्न न हुआ ॥ २७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

दशमः सर्गः

—※—

ततः क्रोधसमाविष्टं संरब्धं तमुपागतम् ।
अहं प्रसादयाञ्चक्रे भ्रातरं हितकाम्यया ॥ १ ॥

तब मैं उसकी हितकामना से, उसको क्रोध में भरा देख, उसे प्रसन्न करने लगा ॥ १ ॥

दिष्ट्याऽसि कुशली प्राप्तो दिष्ट्यापि निहतो रिपुः ।
अनाथस्य हि मे नाथस्त्वमेकोऽनाथनन्दनः ॥ २ ॥

मैंने कहा—यह बड़े भाग्य की बात है कि, आप शत्रु को मार कर सकुशल लौट आये। मुझ अनाथ के एक तुम्हीं नाथ हो और अनाथों को हर्षित करने वाले हो ॥ २ ॥

इदं बहुशलाकं ते पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ।
छत्रं सवालव्यजनं प्रतीच्छस्व मयोद्यतम् ॥ ३ ॥

अब आप अपना यह बहुतसी कीलियों वाला और पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह मनोहर छत्र और चंवर, जिसे मैंने धारण किया था—लीजिये ॥ ३ ॥

आर्तश्चाथ बिलद्वारि स्थितः संवत्सरं नृप ।
दृष्ट्वाहं शोणितं द्वारि बिलाच्चापि समुत्थितम् ॥ ४ ॥

हे राजन्! मैं उस गुफा के द्वार पर आर्त्त हो, एक वर्ष तक खड़ा रहा। पीछे से उस बिल से एक बड़ी भारी रुधिर की धार निकली ॥ ४ ॥

शोकसंविग्नहृदयो भृशं व्याकुलितेन्द्रियः ।
अपिधाय बिलद्वारं गिरिशृङ्गेण तत्तथा ॥ ५ ॥

तब तो मैं शोकाकुल और अत्यन्त विकल हुआ और एक बड़ी शिला से गुफा का द्वार बंद कर दिया ॥ ५ ॥

तस्माद्देशादपाक्रम्य किष्किन्धां प्राविशं पुनः ।
विषादात्त्विह मां दृष्ट्वा पौरैर्मन्त्रिभिरेव च ॥ ६ ॥
अभिषिक्तो न कामेन तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ।
त्वमेव राजा मानार्हः सदा चाहं यथापुरम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर वहाँ से पुनः किष्किन्धा में आया । मंत्रियों और पुरवासियों ने मुझे दुःखी देख—मेरी इच्छा न रहते भी मुझे राजसिंहासन पर बिठा दिया । सो आप इसको क्षमा करें । आप ही सम्मान पाने योग्य राजा हैं । मैं पहले आपका जैसा सेवक था वैसा ही मैं सदा रहूँगा । ६ ॥ ७ ॥

राजभावनियोगोऽयं मया त्वद्विरहात्कृतः ।
सामात्यपौरनगरं स्थितं निहतकण्टकम् ॥ ८ ॥

आपके न रहने ही से मुझे लोगों ने राजसिंहासन पर बिठा दिया था । आप मंत्रियों और पुरवासियों सहित जैसा निरुपद्रव इस नगर को छोड़ गये थे, यह वैसा ही बना हुआ है ॥ ८ ॥

न्यासभूतमिदं राज्यं तव निर्यातयाम्यहम् ।
मा च रोषं कृथाः सौम्य मयि शत्रुनिबर्हण ॥ ९ ॥

अभी तक आपका यह राज्य मेरे पास धरोहर की तरह रखा था, उसे मैं आपको लौटाये देता हूँ । हे शत्रुसूदन ! मेरे ऊपर आप क्रुद्ध न हों ॥ ९ ॥

याचे त्वां शिरसा राजन्मया बद्धोऽयमञ्जलिः ।
बलादस्मि समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः ॥ १० ॥
राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशजिगीषया ।
स्निग्धमेवं ब्रुवाणं मां स तु निर्भर्त्स्य वानरः ॥ ११ ॥
धिक्त्वामिति च मामुक्त्वा बहु तत्तदुवाच ह ।
प्रकृतीश्च समानीय मन्त्रिणश्चैव सम्मतान् ॥ १२ ॥

हे राजन्! मैं अपना माथा नवा और हाथ जोड़, आपसे यही माँगता हूँ। मंत्रियों और पुरवासियों ने मुझे बरजोरी इस लिये राजसिंहासन पर बिठा दिया था कि, कहीं सूना राज्य देख, कोई वैरी इसे न दबा ले। मैं विनम्र भाव से जब इस प्रकार कह रहा था, तब वाली ने मुझे बहुत धिक्कारा। फिर प्रजाजनों और मंत्रियों को एकत्र कर, ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

मामाह सुहृदां मध्ये वाक्यं परमगर्हितम् ।
विदितं वो यथा रात्रौ मायावी स महासुरः ॥ १३ ॥
मां समाह्वयत क्रूरो युद्धकाङ्क्षी सुदुर्मतिः ।
तस्य तद्गर्जितं श्रुत्वा निःसृतोऽहं नृपालयात् ॥ १४ ॥

और मेरे मित्रों के बीच मुझसे उसने बड़ी बुरी बुरी बातें कहीं। उसने कहा तुम लोग यह तो जानते ही हो कि, उस नृशंस मायावी महासुर ने मुझे रात को युद्ध के लिये ललकारा था। उसकी आवाज़ सुन, मैं तुरन्त राजभवन से निकला ॥ १३ ॥ १४ ॥

अनुयातश्च मां तूर्णमयं भ्राता सुदारुणः ।
स तु दृष्ट्वैव मां रात्रौ सद्वितीयं महाबलः ॥ १५ ॥

मायद्वद्भयसंत्रस्तो वीक्ष्यावां तमनुद्रुतौ ।
अनुद्रुतश्च वेगेन प्रविवेश महाविलम् ॥ १६ ॥

और मेरे पीछे पीछे मेरा यह कठोर हृदय भाई भी हो लिया। उस रात में, हम दोनों जनों को देख, वह महावली असुर भयभीत हो, भागा। जब हमने भी उसका पीछा किया, तब वह बड़ी तेज़ी से भाग कर, एक बड़ी गुफा में घुस गया ॥ १५ ॥ १६ ॥

तं प्रविष्टं विदित्वा तु सुघोरं सुमहद्बिलम् ।
अयमुक्तोऽथ मे भ्राता मया तु क्रूरदर्शनः ॥ १७ ॥

'उस बहुत बड़ी और भयङ्कर गुफा में उसको घुसा हुआ जान, मैंने अपने इस क्रूरदर्शन भाई से कहा ॥ १७ ॥

अहत्वा नास्ति मे शक्तिः प्रतिगन्तुमितः पुरीम् ।
बिलद्वारि प्रतीक्ष त्वं यावदेनं निहन्म्यहम् ॥ १८ ॥

मैं इसे मारे बिना पुरी में नहीं जा सकता। सो जब तक मैं इसको मार कर लौटूँ, तब तक तुम इस गुफा के द्वार पर रह कर, मेरी प्रतीक्षा करना ॥ १८ ॥

स्थितोऽयमिति मत्वा तु प्रविष्टोऽहं दुरासदम् ।
तं च मे मार्गमाणस्य गतः संवत्सरस्तदा ॥ १९ ॥

मैं यह जान कर कि, मेरा भाई तो द्वार पर मौजूद ही है, उस दुर्गम गुफा में घुस गया। वहाँ जा कर उस दानव के ढूँढ़ने ही में एक साल लगा ॥ १६ ॥

स तु दृष्टो मया शत्रुरनिर्वेदा[1]द्भयावहः ।
निहतश्च मया तत्र सोऽसुरो बन्धुभिः सह ॥ २० ॥

---

१ अनिर्वेदात्—अक्लेशात् । (गो०)

वह भयावह शत्रु बिना प्रयास ही मुझे देख पड़ा। मैंने सपरिवार उसको मार डाला ॥ २० ॥

तस्यास्यात्तु प्रवृत्तेन रुधिरौघेण तद्बिलम् ।
पूर्णमासीद्दुराक्रामं स्तनतस्तस्य[1] भूतले[2] ॥ २१ ॥

वध करने के समय वह ऐसा चिल्लाया कि उसकी उस चिल्लाहट से तथा उसके शरीर से निकले हुए रक्त से वह गुफा भर गयी ॥ २१ ॥

सूदयित्वा तु तं शत्रुं विक्रान्तं तं महासुरम् ।
निष्क्रामन्नैव पश्यामि बिलस्यापिहितं मुखम् २२ ॥

उस महापराक्रमी महासुर को मार, जब मैं वहाँ से बाहिर आने लगा ; तब देखा कि, गुफा का द्वारा बंद पड़ा है ॥ २२ ॥

विक्रोशमानस्य तु मे सुग्रीवेति पुनः पुनः ।
यदा प्रतिवचो नास्ति ततोऽहं भृशदुःखितः ॥ २३ ॥

तब मैंने सुग्रीव ! सुग्रीव ! कह कर, बार बार पुकारा। किन्तु जब मुझे किसी ने उत्तर न दिया ; तब मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥२३॥

पादप्रहारैस्तु मया बहुभिस्तद्विदारितम् ।
ततोऽहं तेन निष्क्रम्य पथा पुरमुपागतः ॥ २४ ॥

अन्त में मैंने लातों से उस पत्थर को तोड़ डाला और उस मार्ग से निकल कर, मैं नगर में आया ॥ २४ ॥

अत्रानेनास्मि संरुद्धो राज्यं प्रार्थयताऽऽत्मनः ।
सुग्रीवेण नृशंसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम् ॥ २५ ॥

---

१ स्तनतः—गर्जतः । (गो०) २ भूतले—भूविवरे । (गो०)

इस क्रूर सुग्रीव ने भ्रातृस्नेह को भुला कर, राज्य पाने के लोभ से मुझे गुफा में बंद कर दिया था ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा तु मां तत्र वस्त्रेणैकेन वानरः ।
तदा निर्वासयामास वाली विगतसाध्वसः ॥ २६ ॥

साधुपन को त्याग, वालि ने यह कह और एक वस्त्र पहिना कर, मुझे निकाल दिया ॥ २६ ॥

तेनाहमपविद्धश्च हृतदारश्च राघव ।
तद्भयाच्च मही कृत्स्ना क्रान्तेयं सवनार्णवा ॥ २७ ॥

हे राघव ! मेरी स्त्री को भी उसने छीन लिया । तब से मैं उसके भय से त्रस्त हो वनों और समुद्रों सहित सारी पृथिवी पर घूमता रहा ॥ २७ ॥

ऋश्यमूकं गिरिवरं भार्याहरणदुःखितः ।
प्रविष्टोऽस्मि दुराधर्षं वालिनः कारणान्तरे ॥ २८ ॥

अपनी स्त्री के छिन जाने के दुःख से दुःखी हो, मैं इस ऋष्यमूक पर्वत पर चला आया । क्योंकि, कारणान्तर से वालि इस पर्वत पर नहीं आ सकता ॥ २८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं वैरानुकथनं महत् ।
अनागसा मया प्राप्तं व्यसनं पश्य राघव ॥ २९ ॥

वालि से महावैर बँधने का जो कारण था, वह आपको सुनाया । हे राम देखिये, मैं निरपराध होने पर भी, महादुःख भोग रहा हूँ ॥ २९ ॥

वालिनस्तु भयार्तस्य सर्वलोकाभयङ्कर ।
कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात् ३० ॥

हे राम ! आप सब लोकों के भय दूर करने वाले हैं। अतः वालि को दण्ड दे कर, मुझे भी उसके भय से छुड़ाइये ॥ ३० ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मसंहितम् ।
वचनं वक्तुमारेभे सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ ३१ ॥

तेजस्वी एवं धर्मात्मा श्रीराम जी सुग्रीव के यह धर्मसाने वचन सुन और मुसकरा कर, उससे कहने लगे ॥ ३१ ॥

अमोघाः सूर्यसङ्काशा ममैते निशिताः शराः ।
तस्मिन्वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः ॥ ३२ ॥

हे सुग्रीव ! मेरे ये तीखे और सूर्य की तरह चमचमाते अचूक बाण उस दुराचारी वालि के ऊपर बड़ी तेज़ी के साथ गिरेंगे ॥ ३२ ॥

यावत्तं नाभिपश्यामि तव भार्यापहारिणम् ।
तावत्स जीवेत्पापात्मा वाली चारित्रदूषकः ॥ ३३ ॥

जब तक मैं तुम्हारी स्त्री को छीनने वाले वालि को नहीं देख पाता, तभी तक उस कुचरित्र और पापाचारी को जीवित समझो ॥ ३३ ॥

आत्मानुमानात्पश्यामि मग्नं त्वां शोकसागरे ।
त्वामहं तारयिष्यामि कामं प्राप्स्यसि पुष्कलम् ॥ ३४ ॥

मैं अपने ऊपर से जानता हूँ कि, तुम भी शोकसागर में निमग्न हो रहे हो, किन्तु तुम्हारा उद्धार करूँगा और तुमको बड़ा लाभ होगा ॥ ३४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्यात्मनो हितम् ।
सुग्रीवः परमप्रीतः सुमहद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

इति दशमः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के हर्ष और पौरुष बढ़ाने वाले वचनों को सुन कर, सुग्रीव बहुत प्रसन्न हुए और बड़े अर्थगर्भित वचन बोले ॥ ३५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकादशः सर्गः

—※—

रामस्य वचनं श्रुत्वा हर्षपौरुषवर्धनम् ।
सुग्रीवः पूजयांचक्रे राघवं प्रशशंस च ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के हर्ष और पुरुषार्थ बढ़ाने वाले वचन सुन कर, सुग्रीव उनका पूजन कर प्रशंसा करते हुए बोले ॥ १ ॥

असंशयं प्रज्वलितैस्तीक्ष्णैर्मर्मातिगैः शरैः ।
त्वं दहेः कुपितो लोकान्युगान्त इव भास्करः ॥ २ ॥

हे राम ! आप क्रुद्ध होने पर चमचमाते, पैने और मर्मभेदी बाणों से समस्त लोकों को वैसे ही जला सकते हैं, जैसे प्रलयकालीन सूर्य ॥ २ ॥

वालिनः पौरुषं यत्तद्यच्च वीर्यं धृतिश्च या ।
तन्ममैकमनाः श्रुत्वा विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ३ ॥

किन्तु वालि का पौरुष, पराक्रम और धीरता को सावधानता पूर्वक सुन लीजिये। तदनन्तर जो उचित समझिये कीजिये॥ ३॥

समुद्रात्पश्चिमात्पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम्।
क्रामत्यनुदिते सूर्ये वाली व्यपगतक्लमः॥ ४॥

वालि सूर्य उदय होने के पूर्व पश्चिम समुद्र से पूर्व समुद्र तक और दक्षिण समुद्र से उत्तर समुद्र के किनारे तक घूम आता है, किन्तु इतनी दूर चल कर भी वह थकता नहीं॥ ४॥

अग्राण्यारुह्य शैलानां शिखराणि महान्त्यपि।
ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य तरसा प्रतिगृह्णाति वीर्यवान्॥ ५॥

वह महापराक्रमी वालि पर्वतों पर चढ़, उनके बड़े बड़े शिखरों को उछाल कर (गेंद की तरह) हाथ में गुपक लेता है॥ ५॥

बहवः सारवन्तश्च वनेषु विविधा द्रुमाः।
वालिना तरसा भग्ना बलं प्रथयताऽऽत्मनः॥ ६॥

वनों के बड़े बड़े दृढ़ और तरह तरह के वृक्षों को उसने उखाड़ कर फेंक दिया है और अपने बल का परिचय दिया है॥ ६॥

महिषो दुन्दुभिर्नाम कैलासशिखरप्रभः।
बलं नागसहस्रस्य धारयामास वीर्यवान्॥ ७॥

कैलास पर्वत के शिखर के समान विशालकाय दुन्दुभी नामक पराक्रमी भैंसा, अपने शरीर में एक हज़ार हाथियों का बल रखता था॥ ७॥

वीर्योत्सेकेन दुष्टात्मा वरदानाच्च मोहितः।
जगाम सुमहाकायः समुद्रं सरितां पतिम्॥ ८॥

वह अपने शारीरिक बल और वरदान के घमण्ड से मतवाला हो महाकाय दुन्दभी, समुद्र के निकट गया ॥ ८ ॥

ऊर्मिमन्तमतिक्रम्य सागरं रत्नसञ्चयम् ।
मह्यं युद्धं प्रयच्छेति तमुवाच महार्णवम् ॥ ९ ॥

वह समुद्र की लहरों को रोक कर रत्नसञ्चयी समुद्र से बोला कि, मुझसे युद्ध करो ॥ ९ ॥

ततः समुद्रो धर्मात्मा समुत्थाय महाबलः ।
अब्रवीद्वचनं राजन्नसुरं कालचोदितम् ॥ १० ॥

हे राजन् ! तब धर्मात्मा समुद्र ने उठ कर कालपाश से बद्ध उस दानव से कहा कि, ॥ १० ॥

समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्धविशारद ।
श्रूयतां चाभिधास्यामि यस्ते युद्धं प्रदास्यति ॥ ११ ॥

हे युद्धविशारद ! मुझमें तो इतनी सामर्थ्य नहीं कि, मैं तेरे साथ लड़ सकूँ, किन्तु सुन, मैं तुझे उसको बतलाता हूँ, जो तेरे साथ युद्ध कर सकेगा ॥ ११ ॥

शैलराजो महारण्ये तपस्विशरणं परम् ।
शङ्करश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः ॥ १२ ॥
गुहाप्रस्रवणोपेतो बहुकन्दरनिर्दरः ।
स समर्थस्तव प्रीतिमतुलां कर्तुमाहवे ॥ १३ ॥

देख, तपस्वियों की आश्रयस्थल और शङ्कर के ससुर, हिमवान नाम से प्रसिद्ध और अनेक गुफाओं और झरनों से युक्त, पर्वतराज के निकट तुम जाओ। वह तुम को युद्ध में प्रसन्न कर सकता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

तं भीत इति विज्ञाय समुद्रमसुरोत्तमः ।
हिमवद्वनमागच्छच्छरश्चापादिव च्युतः ॥ १४ ॥

वह असुरोत्तम समुद्र को अपने से भयभीत हुआ जान, कमान से छूटे हुए तीर की तरह बड़े वेग से सीधा हिमालय के वन में पहुँचा ॥ १४ ॥

ततस्तस्य गिरेः श्वेता गजेन्द्रविपुलाः शिलाः ।
चिक्षेप बहुधा भूमौ दुन्दुभिर्विननाद च ॥ १५ ॥

और उस पर्वत की, बर्फ से ढकी होने के कारण सफेद और गजेन्द्र की तरह विशाल शिला को उखाड़ उखाड़ कर, भूमि पर पटक, बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ १५ ॥

ततः श्वेताम्बुदाकारः सौम्यः प्रीतिकराकृतिः ।
हिमवानब्रवीद्वाक्यं स्व एव शिखरे स्थितः ॥ १६ ॥

तब सफेद बादल की तरह सुन्दर और मनोहर आकार धारण कर, हिमालय अपने एक शिखर पर खड़ा हो कर, दुन्दुभि से बोला ॥ १६ ॥

क्लेष्टुमर्हसि मां न त्वं दुन्दुभे धर्मवत्सल ।
रणकर्मस्वकुशलस्तपस्विशरणं ह्यहम् ॥ १७ ॥

हे धर्मवत्सल दुन्दुभे! मुझे कष्ट देना तुम्हें उचित नहीं। क्योंकि मैं तो रणकौशल में कुशल नहीं हूँ। मैं तो तपस्वियों का आश्रयस्थल मात्र हूँ ॥ १७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा गिरिराजस्य धीमतः ।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं रोषात्संरक्तलोचनः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् हिमवान के ऐसे वचन सुन, वह दुन्दुभि क्रोध से लाल लाल नेत्र कर के बोला ॥ १८ ॥

यदि युद्धेऽसमर्थस्त्वं मद्भयाद्वा निरुद्यमः ।
तमाचक्ष्व प्रदद्यान्मे योऽद्य युद्धं युयुत्सतः ॥ १९ ॥

यदि तुम मुझसे युद्ध करने में असमर्थ हो अथवा मेरे डर से तुम उद्यमहीन हो तो, बतलाओ मुझसे युद्ध करने योग्य कौन है? ॥ १९ ॥

हिमवानब्रवीद्वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः ।
अनुक्तपूर्वं धर्मात्मा क्रोधात्तमसुरोत्तमम् ॥ २० ॥

वचन बोलने में चतुर धर्मात्मा हिमालय उसके ऐसे वचन सुन उस क्रोध से मतवाले असुरोत्तम से ऐसे वचन बोला जैसे कि, वह पहिले कभी नहीं बोला था ॥ २० ॥

वाली नाम महाप्राज्ञः शक्रतुल्यपराक्रमः ।
अध्यास्ते वानरः श्रीमान्किष्किन्धामतुलप्रभाम् ॥ २१ ॥

हिमवान ने कहा—हे असुरोत्तम! अतुलित प्रभा वाली किष्किन्धा नामक नगरी में बड़ा बुद्धिमान, प्रतापी और इन्द्र के समान पराक्रमी वालि नाम का एक वानर रहता है ॥ २१ ॥

स समर्थो महाप्राज्ञस्तव युद्धविशारदः ।
द्वन्द्वयुद्धं महद्दातुं नमुचेरिव वासवः ॥ २२ ॥

वह बड़ा बुद्धिमान वालि तुमसे उसी प्रकार युद्ध कर सकता है, जिस प्रकार नमुचि दैत्य के साथ इन्द्र ने युद्ध किया था ॥ २२ ॥

तं शीघ्रमभिगच्छ त्वं यदि युद्धमिहेच्छसि ।
स हि दुर्धर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि ॥ २३ ॥

यदि तुमको युद्ध करने की अभिलाषा है, तो तुम शीघ्र उसके पास जाओ। क्योंकि वह बड़ा दुर्धर्ष और युद्ध के कार्य में बड़ा शूर है॥ २३॥

श्रुत्वा हिमवतो वाक्यं क्रोधाविष्टः स दुन्दुभिः।
जगाम तां पुरीं तस्य किष्किन्धां वालिनस्तदा॥२४॥

हिमवान के ये वचन सुन दुन्दुभि क्रोध में भरा हुआ अति शीघ्रता पूर्वक वालि की किष्किन्धा नामक नगरी में आया॥ २४॥

धारयन्माहिषं रूपं तीक्ष्णशृङ्गो भयावहः।
प्रावृषीव महामेघस्तोयपूर्णो नभस्तले॥ २५॥

वह असुर पैने पैने सींगों सहित भयानक भैंसे का रूप धारण किये हुए, आकाश में वर्षा ऋतु के जलपूर्ण मेघ की तरह देख पड़ता था॥ २५॥

ततस्तद्द्वारमागम्य किष्किन्धाया महावलः।
ननर्द कम्पयन्भूमिं दुन्दुभिर्दुन्दुभिर्यथा॥ २६॥

फिर वह महावली दुन्दुभि किष्किन्धा नगरी के द्वार पर जा पृथिवी को कंपाता हुआ, नगाड़े के शब्द के समान नाद करने लगा॥ २६॥

समीपस्थान्द्रुमान्भञ्जन्वसुधां दारयन्खुरैः।
विषाणेनोल्लिखन्दर्पात्तद्द्वारं द्विरदो यथा॥ २७॥

वह अभिमान में भर मतवाले हाथी की तरह किष्किन्धा के द्वार वाले पेड़ों को उखाड़ने और अपने खुरों और सींगों से भूमि को खोदने लगा॥ २७॥

अन्तःपुरगतो वाली श्रुत्वा शब्दममर्पणः।
निष्पपात सह स्त्रीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः ॥ २८ ॥

अन्तःपुर में बैठा हुआ वालि उसके शब्द को सुन और उसे न सह कर, तारागण सहित चन्द्रमा की तरह सब स्त्रियों के साथ बाहर चला आया ॥ २८ ॥

मितं व्यक्ताक्षरपदं तमुवाचाथ दुन्दुभिम्।
हरीणामीश्वरो वाली सर्वेषां वनचारिणाम् ॥ २९ ॥

समस्त वनचरों और वानरों का राजा वालि, दुन्दभि से संक्षेप में, किन्तु स्पष्ट शब्दों में बोला ॥ २९ ॥

किमर्थं नगरद्वारमिदं रुद्ध्वा विनर्दसि।
दुन्दुभे विदितो मेऽसि रक्ष प्राणान्महाबल ॥ ३० ॥

तू क्यों इस नगर के द्वार को छेंके हुए गर्जता है। हे महाबलवान् दुन्दभि! मैं तुझे जानता हूँ। तू अपने प्राण बचा ॥ ३० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वानरेन्द्रस्य धीमतः।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं रोषात्संरक्तलोचनः ॥ ३१ ॥

धीमान् वानरराज वालि के ऐसे वचन सुन कर, दुन्दभि लाल लाल आँखें कर, वालि से कहने लगा ॥ ३१ ॥

न त्वं स्त्रीसन्निधौ वीर वचनं वक्तुमर्हसि।
मम युद्धं प्रयच्छाद्य ततो ज्ञास्यामि ते बलम् ॥ ३२ ॥

हे वीर! स्त्रियों के समीप खड़े हो कर, तुझे ऐसी बातें कहनी उचित नहीं। आज मेरे साथ युद्ध कर, तब मुझे तेरा बल मालूम हो जायगा ॥ ३२ ॥

अथवा धारयिष्यामि क्रोधमद्य निशामिमाम् ।
गृह्यतामुदयः स्वैरं कामभोगेषु वानर ॥ ३३ ॥

अथवा यदि तू अभी युद्ध करना नहीं चाहता हो तो, आज मैं अपने क्रोध को रोके लेता हूँ। कल सवेरे युद्ध हो। हे वानर! आज की रात तुम सुख और भोग लो ॥ ३३ ॥

दीयतां सम्प्रदानं[1] च परिष्वज्य च वानरान् ।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्त्वं संसादय सुहृज्जनान् ॥ ३४ ॥

जो कुछ तुम्हें दान पुण्य करना हो सो कर लो और जिन वानरों से मिलना भेंटना हो मिल भेंट लो और सब इष्टमित्रों को भी आदर मान से प्रसन्न कर लो ॥ ३४ ॥

सुदृष्टां कुरु किष्किन्धां कुरुष्वात्मसमं पुरे ।
क्रीडस्व च सह स्त्रीभिरहं ते दर्पनाशनः ॥ ३५ ॥

किष्किन्धा को भी भली भाँति देख भाल लो, और अपने समान किसी योग्य वानर को यह राज्य सौंप दो। अपनी स्त्रियों से क्रीडा भी कर लो। क्योंकि मैं तुम्हारा अहङ्कार दूर कर, तुमको मार डालूँगा ॥ ३५ ॥

यो हि मत्तं[2] प्रमत्तं[3] वा सुप्तं वा रहितं[4] भृशम् ।
हन्यात्स भ्रूणहा लोके त्वद्विधं[5] मदमोहितम्[6] ॥ ३६ ॥

---

१ सम्प्रदानं—देयद्रव्यं । (गो०) २ मत्तं—मधुपानादिनामत्तं । (गो०) ३ प्रमत्तं—अनवहितं । (गो०) ४ रहितं—आयुधादिशून्यं । (गो०) ५ त्वद्विधं—त्वामिवस्त्रीमध्यगतं । (गो०) ६ मदमोहितं—मदनमोहितं । (गो०)

जो पुरुष शराबी, असावधान, सोते हुए, आयुधादि से रहित, और तुम्हारी तरह मदन से मोहित को मारता है, वह गर्भहत्या के पाप को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

स महस्याब्रवीन्मन्दं क्रोधात्तमसुरोत्तमम् ।
विसृज्य ताः स्त्रियः सर्वास्ताराप्रभृतिकास्तदा ॥ ३७ ॥

उस असुर के ये वचन सुन, वालि ने क्रोध में भर उन तारा आदि समस्त स्त्रियों को विदा किया और मुसक्या कर धीरे धीरे दुन्दभि से कहा ॥ ३७ ॥

मत्तोऽयमिति मा मंस्था यद्यभीतोऽसि संयुगे ।
मदोयं संप्रहारेऽस्मिन्वीरपानं समर्थ्यताम् ॥ ३८ ॥

हे वीर ! तू मुझे मतवाला मत जान । यदि तू संग्राम में निर्भय है, तो इस मद्यपान को तू वीरपान जान ॥ ३८ ॥

तमेवमुक्त्वा संक्रुद्धो मालामुत्क्षिप्य काञ्चनीम् ।
पित्रा दत्तां महेन्द्रेण युद्धाय व्यवतिष्ठत ॥ ३९ ॥

ऐसा कह, वालि अपने गले की माला को, जो उसे उसके पिता इन्द्र ने दी थी, पहिन कर, युद्ध के लिये उद्यत हुआ ॥ ३६ ॥

विषाणयोर्गृहीत्वा तं दुन्दुभिं गिरिसन्निभम् ।
आविध्यत तदा वाली विनदन्कपिकुञ्जरः ॥ ४० ॥

वालि ने उस पहाड़ जैसे आकार के दुन्दभि के दोनों सींग पकड़, उसे दूर फेंक दिया और घोर नाद किया ॥ ४० ॥

वाली व्यापातयाञ्चक्रे ननर्द च महास्वनम् ।
श्रोत्राभ्यामथ रक्तं तु तस्य सुस्राव पात्यतः ॥ ४१ ॥

दुन्दुभि को गिरा कर वालि सिंहनाद कर गर्जने लगा। वालि ने उसे ऐसी ज़ोर से पटका कि, उसके कानों से रक्त बहने लगा ॥४१॥

तयोस्तु क्रोधसंरम्भात्परस्परजयैषिणोः ।
युद्धं समभवद्घोरं दुन्दुभेर्वानरस्य च ॥ ४२ ॥

तदनन्तर परस्पर जीतने की इच्छा रखने वाले और क्रोध में भरे हुए वालि और दुन्दुभि का घोर युद्ध हुआ ॥ ४२ ॥

अयुध्यत तदा वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ।
मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव शिलाभिः पादपैस्तथा ॥ ४३ ॥

इन्द्र तुल्य पराक्रमी वालि लात, घूंसा, जाँघ, शिला और वृक्षों से युद्ध करने लगा ॥ ४३ ॥

परस्परं घ्नतोस्तत्र वानरासुरयोस्तदा ।
असीददसुरो युद्धे शक्रसूनुर्व्यवर्धत ॥ ४४ ॥

वानर और असुर का युद्ध हुआ। युद्ध होते होते उस असुर का बल क्षीण होने लगा और वालि का बढ़ने लगा ॥ ४४ ॥

व्यापारवीर्यधैर्यैश्च परिक्षीणं पराक्रमैः ।
तं तु दुन्दुभिमुत्पाट्य धरण्यामभ्यपातयत् ॥ ४५ ॥

जब दुन्दुभि का साहस, बल, धैर्य और पराक्रम मन्द पड़ गया, तब वालि ने उठा कर, उसे ज़मीन पर पटक दिया ॥ ४५ ॥

युद्धे प्राणहरे तस्मिन्निष्पिष्टो दुन्दुभिस्तदा ।
पपात च महाकायः क्षितौ पञ्चत्वमागतः ॥ ४६ ॥

उस प्राणविनाशकारी युद्ध में दुन्दुभि को वालि ने चूर्ण कर डाला। तब वह महाकाय असुर ज़मीन पर गिर कर, मर गया ॥ ४६ ॥

तं तोलयित्वा बाहुभ्यां गतसत्त्वमचेतनम् ।
चिक्षेप बलवान्वाली वेगेनैकेन योजनम् ॥ ४७ ॥

बलवान् वालि ने उस गतप्राण दुन्दुभि को उठा कर, एक योजन पर फेंक दिया ॥ ४७ ॥

तस्य वेगप्रविद्धस्य वक्त्रात्क्षतजबिन्दवः ।
प्रपेतुर्मारुतोत्क्षिप्ता मतङ्गस्याश्रमं प्रति ॥ ४८ ॥

वालि ने जब उसे बड़े ज़ोर से फेंका, तब उसके मुख से टपकता हुआ रुधिर, वायु के झोके से उड़ कर, मतङ्ग के आश्रम में गिरा ॥ ४८ ॥

तान्दृष्ट्वा पतितांस्तस्य मुनिः शोणितविप्रुषः ।
क्रुद्धस्तत्र महाभागश्चिन्तयामास को न्वयम् ॥ ४९ ॥
येनाहं सहसा स्पृष्टः शोणितेन दुरात्मना ।
कोऽयं दुरात्मा दुर्बुद्धिरकृतात्मा[1] च बालिशः ॥ ५० ॥

मुनि उन रुधिर की बूंदों को देख, बहुत क्रुद्ध हुए और कुछ देर तक वे सोचते रहे कि, किस दुष्ट ने मेरे ऊपर यह रुधिर का छिड़काव किया है। वह कौन दुरात्मा, दुर्बुद्धि, नीच, अजितेन्द्रिय और मूर्ख है? ॥ ४९ ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वाथ विनिष्क्रम्य ददर्श मुनिपुङ्गवः ।
महिषं पर्वताकारं गतासुं पतितं भुवि ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सोच विचार ज्यों ही मुनि आश्रम से निकले, त्यों ही उन्हें एक पर्वताकार भैंसा मरा हुआ, ज़मीन पर पड़ा, देख पड़ा ॥ ५१ ॥

---

१ अकृतात्मा—अवशीकृतान्तःकरणः । (गो०)

स तु विज्ञाय तपसा वानरेण कृतं हि तत्।
उत्ससर्ज महाशापं क्षेप्तारं वालिनं प्रति ॥ ५२ ॥

तब तो मतङ्ग मुनि ने तपोबल से जान लिया कि, यह सारी करतूत वालि की है। अतः यह जान उन्होंने भैंसा फेंकने वाले वालि को शाप दिया ॥ ५२ ॥

इह तेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत् ॥
वनं मत्संश्रयं येन दूषितं रुधिरस्रवैः ॥ ५३ ॥

मेरे आश्रम को जिसने रक्त की बूंदों से तर कर दूषित कर दिया है, वह इस आश्रम में न आने पावेगा और यदि आया तो वह मर जायगा ॥ ५३ ॥

संभग्नाः पादपाश्चेमे क्षिपतेहासुरीं तनुम्।
समन्ताद्योजनं पूर्णमाश्रमं मामकं यदि ॥ ५४ ॥
आगमिष्यति दुर्बुद्धिर्व्यक्तं स न भविष्यति।
ये चापि सचिवास्तस्य संश्रिता मामकं वनम् ॥ ५५ ॥
न च तैरिह वस्तव्यं श्रुत्वा यान्तु यथासुखम्।
यदि तेऽपीह तिष्ठन्ति शपिष्ये तानपि ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

इस असुर की मृत देह फैंक कर, जिसने मेरे आश्रम के वृक्ष तोड़े हैं वह यदि मेरे आश्रम में घुसा या इस आश्रम के चार कोस के घेरे के भीतर वह दुर्बुद्धि आया, तो भी, वह निश्चय ही मर जायगा। उसके मित्र या मंत्री—कोई भी जो मेरे वन में वास करते हैं, अब वे भी यहाँ न रहैं। यदि वे यहाँ रहेंगे तो, उन्हें भी मैं अवश्य शाप दे दूँगा। अतः मेरे इस शाप को सुन, उन्हें अन्यत्र जहाँ कहीं सुख मिले, वहाँ चल देना चाहिये ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

वनेऽस्मिन्मामकेऽत्यर्थं पुत्रवत्परिपालिते ।
पत्राङ्कुरविनाशाय फलमूलाभवाय च ॥ ५७ ॥

क्योंकि मैं इस वन का पालन सदा पुत्रवत् किया करता हूँ। उनके यहाँ रहने से पत्ते अङ्कुर फल और मूल एक भी नहीं बचने पाते ॥ ५७ ॥

दिवसश्चास्य मर्यादा यं द्रष्टा श्वोऽस्मि वानरम् ।
बहुवर्षसहस्राणि स वै शैलो भविष्यति ॥ ५८ ॥

आज के दिन तक मेरे शाप की मर्यादा है, सवेरा होते ही वालि की ओर के जिस किसी वंदर को यहाँ देखूँगा, तो उसे हज़ारों वर्ष तक पत्थर हो कर रहना पड़ेगा ॥ ५८ ॥

ततस्ते वानराः श्रुत्वा गिरं मुनिसमीरिताम् ।
निश्चक्रमुर्वनात्तस्मात्तान्दृष्ट्वा वालिरब्रवीत् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर उस वन के रहने वाले सब वानर मुनि के ये वचन सुन कर, वहाँ से चले गये। उनको वहाँ से निकला हुआ देख, वालि बोला ॥ ५९ ॥

किं भवन्तः समस्ताश्च मतङ्गवनवासिनः ।
मत्समीपमनुप्राप्ता अपि स्वस्ति वनौकसाम् ॥ ६० ॥

मतङ्गवनवासी वानरों! तुम सब के सब क्यों मेरे पास आये हो? सब वानर प्रसन्न तो हैं? ॥ ६० ॥

ततस्ते कारणं सर्वं तदा शापं च वालिनः ।
शशंसुर्वानराः सर्वे वालिने हेममालिने ॥ ६१ ॥

उन सब वानरों ने सुवर्णमालाधारी वालि से सारा वृत्तान्त कहा और यह कहा कि, आपको भी मतङ्ग मुनि ने शाप दिया है ॥ ६१ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा वाली वचनं वानरेरितम् ।
स महर्षि तदासाद्य याचते स्म कृताञ्जलिः ॥ ६२ ॥

उन वानरों के वचन सुन वालि महर्षि मतङ्ग के पास जा और हाथ जोड़ उनको प्रसन्न करने लगा ॥ ६२ ॥

महर्षिस्तमनादृत्य प्रविवेशाश्रमं तदा ।
शापधारणभीतस्तु वाली विह्वलतां गतः ॥ ६३ ॥

परन्तु महर्षि मतङ्ग उसकी बातों पर ध्यान न दे, अपने आश्रम के भीतर उठ कर चले गये और शाप के भय से वालि अत्यन्त विकल हो गया ॥ ६३ ॥

ततः शापभयाद्भीत ऋश्यमूकं महागिरिम् ।
प्रवेष्टुं नेच्छति हरिर्द्रष्टुं वापि नरेश्वर ॥ ६४ ॥

हे नरेश्वर! तब से शाप के भय से वालि इस ऋष्यमूक पर्वत पर कभी नहीं आता—यहाँ तक कि, इस पर्वत की ओर मारे डर के देखता भी नहीं ॥ ६४ ॥

तस्याप्रवेशं ज्ञात्वाऽहमिदं राम महावनम् ।
विचरामि सहामात्यो विषादेन विवर्जितः ॥ ६५ ॥

वालि का इस वन में आना निषिद्ध जान कर ही मैं, विषाद रहित हो, मंत्रियों सहित इस वन में वास करता हूँ ॥ ६५ ॥

एषोऽस्थिनिचयस्तस्य दुन्दुभेः सम्प्रकाशते ।
वीर्योत्सेकान्निरस्तस्य गिरिकूटोपमो महान् ॥ ६६ ॥

देखिये, यही उस दुन्दुभि की हड्डियों का पहाड़ के समान ढेर है, जिसको वालि ने अपने वल पराक्रम से उठा कर, यहाँ फैंका था ॥ ६६ ॥

इमे च विपुलाः सालाः सप्त शाखावलम्बिनः ।
यत्रैकं घटते[1] वाली निष्पत्रयितुमोजसा ॥ ६७ ॥

हे राम ! ये जो मोटे सात साखू के बड़ी बड़ी शाखाओं वाले पेड़ हैं, इनमें से एक एक को वालि अपने पराक्रम से हिला कर विना पत्ते का कर सकता है ॥ ६७ ॥

एतदस्यासमं वीर्यं मया राम प्रकीर्तितम् ।
कथं तं वालिनं हन्तुं समरे शक्ष्यसे नृप ॥ ६८ ॥

हे राम ! मैंने यह आपसे वालि का वल वर्णन किया सो आप उस वालि को युद्ध में किस प्रकार मार सकेंगे ॥ ६८ ॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं प्रहसँल्लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
कस्मिन्कर्मणि निर्वृत्ते श्रद्दध्या वालिनो वधम् ॥ ६९ ॥

इस प्रकार कहते हुए सुग्रीव से लक्ष्मण जी ने हँस कर कहा—श्रीरामचन्द्र जी कौनसा काम कर के तुमको दिखावें जिससे उनके द्वारा वालि के मारे जाने का तुमको विश्वास हो ॥ ६९ ॥

तमुवाचाथ सुग्रीवः सप्त सालानिमान्पुरा ।
एवमेकैकशो वाली विव्याधाथ स चासकृत् ॥ ७० ॥

यह सुन, सुग्रीव वोले कि, ये सात साल के वृक्ष जो सामने देख पड़ते हैं वालि इन पेड़ों में से एक को पकड़ जब चाहता था, तव एक ही वार में सव वृक्षों को हिला देता था ॥ ७० ॥

रामोऽपि दारयेदेषां वाणेनैकेन चेद्द्रुमम् ।
वालिनं निहतं मन्ये दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥ ७१ ॥

---

1 घटते—शक्नोति । (गो०)

सो श्रीरामचन्द्र जी भी यदि एक ही बाण से इनमें से एक भी साल के वृक्ष को काट डालें तो, मैं इनका पराक्रम देख, वालि को मरा समझूँ ॥ ७१ ॥

हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण ।
उद्यम्याथ प्रक्षिपेच्चेत्तरसा द्वे धनुःशते ॥ ७२ ॥

मृत दुन्दुभि की हड्डियों के ढेर को एक पैर से यदि राम दो सौ धनुष पर फेंक दें तो मैं वालि को मरा समझूँ ॥ ७२ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवो रामं रक्तान्तलोचनम् ।
ध्यात्वा मुहूर्तं काकुत्स्थं पुनरेव वचोऽब्रवीत् ॥ ७३ ॥

यह कह सुग्रीव लाल लाल नेत्र कर और मुहूर्त भर सोच कर, फिर श्रीराम से बोले ॥ ७३ ॥

शूरश्च शूरघाती च प्रख्यातबलपौरुषः ।
बलवान्वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः ॥ ७४ ॥

हे राम ! वालि स्वयं बड़ा शूर वीर और शूर वीरों का वध करने वाला है। वह एक प्रसिद्ध बलवान् और पुरुषार्थी है। उस बलवान् वानर वालि को युद्ध में कोई पराजित नहीं कर सकता है ॥ ७४ ॥

दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि ।
यानि संचिन्त्य भीतोऽहमृश्यमूकं समाश्रितः ॥ ७५ ॥

उसके जितने काम देखे जाते हैं, उन्हें देवता भी नहीं कर सकते। उनके उन कर्मों का स्मरण करने ही से मुझे बड़ा डर लगता है और इसीसे मैं इस ऋष्यमूक पर्वत पर पड़ा रहता हूँ ॥ ७५ ॥

तमजय्यमधृष्यं च वानरेन्द्रममर्षणम् ।
विचिन्तयन्न मुञ्चामि ऋश्यमूकमहं त्विमम् ॥ ७६ ॥

उस अजेय, अधृष्य, और सहन करने के अयोग्य वालि की याद कर के, मैं ऋष्यमूक पर्वत को नहीं छोड़ सकता ॥ ७६ ॥

उद्विग्नः शङ्कितश्चापि विचरामि महावने ।
अनुरक्तैः सहामात्यैर्हनुमत्प्रमुखैर्वरैः ॥ ७७ ॥

मै उद्विग्न और शङ्कित हो हनुमानादि पांच मंत्रियों के साथ इस महावन में घूमा फिरा करता हूँ ॥ ७७ ॥

उपलब्धं च मे श्लाघ्यं सन्मित्रं मित्रवत्सल ।
त्वामहं पुरुषव्याघ्र हिमवन्तमिवाश्रितः ॥ ७८ ॥

हे मित्रवत्सल नरश्रेष्ठ ! आप श्लाघ्य और सन्मित्र हैं। जैसे लोग हिमालय का आश्रय लेते हैं, वैसे ही मैंने आपका आश्रय लिया है ॥ ७८ ॥

किंतु तस्य वलज्ञोऽहं दुर्भ्रातुर्बलशालिनः ।
अप्रत्यक्षं तु मे वीर्यं समरे तव राघव ॥ ७९ ॥

हे राघव ! मुझे अपने उस बलवान् एवं दुष्टात्मा भाई वालि का बल मालूम है ; परन्तु मुझे अभी यह नहीं मालूम कि, आप कैसे बलवान् हैं ॥ ७९ ॥

न खल्वहं त्वां तुलये नावमन्ये न भीषये ।
कर्मभिस्तस्य भीमैस्तु कातर्यं जनितं मम ॥ ८० ॥

इस लिये न तो मैं उसके साथ तुलना कर सकता हूँ, न मैं आपका अनादर करता हूँ और न आपको उससे भयभीत ही करता हूँ। किन्तु उसके इन भयङ्कर कर्मों को सोच कर, मैं कातर होता हूँ ॥ ८० ॥

कामं राघव ते वाणी प्रमाणं धैर्यमाकृतिः ।
सूचयन्ति परं तेजो भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ८१ ॥

हे राघव ! आपके वचन, धैर्य और आकृति ही से आपके वीर होने का परिचय मिलता है। ये सब गुण, राख से ढकी हुई आग की तरह आपके तेज को सूचित करते हैं ॥ ८१ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य महात्मनः ।
स्मितपूर्वमथो रामः प्रत्युवाच हरिं प्रभुः ॥ ८२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी महात्मा सुग्रीव के ये वचन सुन, मुसक्या कर उनसे बोले ॥ ८२ ॥

यदि न प्रत्ययोऽस्मासु विक्रमे तव वानर ।
प्रत्ययं समरे श्लाघ्यमहमुत्पादयामि ते ॥ ८३ ॥

हे वानर ! यदि तुमको मेरे पराक्रम पर विश्वास नहीं है, तो मैं तुम्हें अपने में वालि के साथ युद्ध करने में उत्कृष्ट बल रखने का पक्का विश्वास कराये देता हूँ ॥ ८३ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सान्त्वं लक्ष्मणपूर्वजः ।
राघवो दुन्दुभेः कायं पादाङ्गुष्ठेन लीलया ॥ ८४ ॥
तोलयित्वा महाबाहुश्चिक्षेप दशयोजनम् ।
असुरस्य तनुं शुष्कं पादाङ्गुष्ठेन वीर्यवान् ॥ ८५ ॥

महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव को समझा कर, अपने पैर के अँगूठे से दुन्दुभी की हड्डियों के ढेर को अनायास दस योजन पर फेंक दिया। उस असुर के शरीर की सूखी हड्डियों को बलवान श्रीरामचन्द्र जी के पैर के अँगूठे से ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कायं सुग्रीवः पुनरब्रवीत् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो राममिदं वचनमर्थवत् ॥ ८६ ॥

फैका जाना देख, सुग्रीव ने लक्ष्मण के सामने श्रीरामचन्द्र जी से अर्थयुक्त ये वचन कहे ॥ ८६ ॥

हरीणामग्रतो वीरं तपन्तमिव भास्करम् ।
आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे ॥ ८७ ॥
लघुः सम्प्रति निर्मांसस्तृणभूतश्च राघव ।
परिश्रान्तेन मत्तेन भ्रात्रा मे वालिना तदा ॥ ८८ ॥
क्षिप्तमेवं प्रहर्षेण भवता रघुनन्दन ।
नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य वाऽधिकम् ॥ ८९ ॥

सुग्रीव ने ये वचन वानरों के सामने सूर्य की तरह तपते हुए श्रीरामचन्द्र जी से कहे—हे सखे! पहले यह शरीर रुधिर मांस युक्त था। उस समय मेरे भाई वालि ने बड़े परिश्रम से इसे उठा कर फैंका था। हे रघुनन्दन! अब तो यह शरीर मांसहीन होने से तृण की तरह, हल्का हो गया है। उसे आपने सहज में फैंक दिया है। अतः आपके और वालि के बल में कमीवेशी नहीं मालूम हो सकती ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

आर्द्रं शुष्कमिति ह्येतत्सुमहद्राघवान्तरम् ।
स एव संशयस्तात तव तस्य च यद्बले ॥ ९० ॥

हे राघव! गीली और सूखी वस्तु के वज़न में बड़ा अन्तर होता है। इसीसे आपके और उसके बल की तुलना करने में संशय उत्पन्न हो गया ॥ ९० ॥

सालमेकं तु निर्भिन्द्या भवेद्व्यक्तिर्बलाबले ।
कृत्वेदं कार्मुकं सज्यं हस्तिहस्तमिवाततम् ।
आकर्णपूर्णमायम्य विसृजस्व महाशरम् ॥ ९१ ॥

आप एक साखू के पेड़ को भेदन करें तो अभी आपका और वालि का बलाबल मालूम पड़ जाय। आप इस हाथी की सूँड़ की तरह अपने धनुष पर रोदा चढ़ा कर और उसे कान तक खींच एक बड़ा तीर छोड़िये ॥ ९१ ॥

इमं हि सालं सहितस्त्वया शरो
न संशयोत्रास्ति विदारयिष्यति ।
अलं विमर्शेन मम प्रियं ध्रुवं
कुरुष्व राजात्मज शापितो मया ॥ ९२ ॥

हे राजपुत्र! आपका छोड़ा हुआ तीर निश्चय ही इस शाल के वृक्ष को विदीर्ण कर डालेगा। अब आप इस विषय में कुछ भी सोच विचार न करें और आपको मेरी शपथ है, आप अवश्य मेरा इतना प्रिय कार्य कर के दिखावें ॥ ९२ ॥

यथा हि तेजःसु वरः सदा रवि-
र्यथा हि शैलो हिमवान्महाद्रिषु ।
यथा चतुष्पात्सु च केसरी वर-
स्तथा नराणामसि विक्रमे वरः ॥ ९३ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

जैसे तेजस्वियों में सूर्य, पर्वतों में हिमालय और चौपायों में सिंह श्रेष्ठ है, वैसे ही पराक्रमशाली पुरुषों में आप श्रेष्ठ हैं ॥ ९३ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

द्वादशः सर्गः

—*—

एतच्च वचनं श्रुत्वा सुग्रीवेण सुभाषितम् ।
प्रत्ययार्थं महातेजा रामो जग्राह कार्मुकम् ॥ १ ॥

सुग्रीव के इन वचनों को सुन महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने, उनको विश्वास कराने के लिये, अपना धनुष उठाया ॥ १ ॥

स गृहीत्वा धनुर्घोरं शरमेकं च मानदः ।
सालमुद्दिश्य चिक्षेप ज्यास्वनैः पूरयन्दिशः ॥ २ ॥

मानप्रद श्रीराम जी ने उस भयङ्कर धनुष पर एक तीर रख, और साल के पेड़ को निशाना बना उसे ऐसे ज़ोर से छोड़ा कि, उसके छुटने के शब्द से दसों दिशाएँ परिपूर्ण हो गयीं ॥ २ ॥

स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः[1] ।
भित्त्वा सालान्गिरिप्रस्थे सप्त भूमिं विवेश ह ॥ ३ ॥

सोने के बंदों से जकड़ा हुआ, वह तीर बलवान श्रीरामचन्द्र जी द्वारा चलाया जा कर, सातों तालों के पेड़ों को और पर्वत को फोड़ कर ज़मीन में घुस गया ॥ ३ ॥

प्रविष्टस्तु मुहूर्तेन धरां भित्त्वा महाजवः ।
निष्पत्य च पुनस्तूर्णं स्वतूणीं प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

वह तीर बड़ी तेज़ी से निकल ज़मीन को फोड़ और मुहूर्त्त भर में वहाँ से फिर श्रीरामचन्द्र जी के तरकस में आ गया ॥ ४ ॥

---

१ स्वर्णपरिष्कृतः—स्वर्णपट्टालंकृतः ।

तान्दृष्ट्वा सप्त निर्भिन्नान्सालान्वानरपुङ्गवः ।
रामस्य शरवेगेन विस्मयं परमं गतः ॥ ५ ॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने सात ताल वृक्षों को विदीर्ण करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के बाण के वेग को देख बड़ा अचंभा माना ॥ ५ ॥

स मूर्ध्ना न्यपतद्भूमौ प्रलम्बीकृतभूषणः[1] ।
सुग्रीवः परमप्रीतो राघवाय कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥

सुग्रीव के मालादि भूषण खसक पड़े। उन्होंने पृथिवी पर पसर कर श्रीरामचन्द्रजी को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और परम प्रसन्न हो हाथ जोड़े ॥ ६ ॥

इदं चोवाच धर्मज्ञं कर्मणा तेन हर्षितः ।
रामं सर्वास्त्रविदुषां श्रेष्ठं शूरमवस्थितम् ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के उस कार्य से प्रसन्न हो, सुग्रीव, सर्वशस्त्र-विशारद, वीरवर और धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ७ ॥

सेन्द्रानपि सुरान्सर्वांस्त्वं बाणैः पुरुषर्षभ ।
समर्थः समरे हन्तुं किं पुनर्वालिनं प्रभो ॥ ८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप अपने बाणों से चाहे तो युद्ध में इन्द्रादि समस्त देवताओं को मार सकते हैं। फिर वालि की तो बिसात ही क्या है ॥ ८ ॥

येन सप्त महासाला गिरिर्भूमिश्च दारिताः ।
बाणेनैकेन काकुत्स्थ स्थाता ते को रणाग्रतः ॥ ९ ॥

---

१ प्रलम्बीकृतभूषण—इत्यनेन वदात्स्पर्शउक्तः । (गो०)

जिसने सात साल के पेड़ों को और भूमि को एक ही बाण से विदीर्ण कर डाला, उसके (अर्थात् आपके) सामने युद्धक्षेत्र में कौन खड़ा रह सकता है ॥ ९ ॥

अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परा मम ।
सुहृदं त्वां समासाद्य महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ १० ॥

आज मेरा दुःख दूर हुआ और मुझे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। मैंने तुमको इन्द्र और वरुण के तुल्य मित्र पाया है ॥ १० ॥

तमद्यैव प्रियार्थं मे वैरिणं भ्रातृरूपिणम् ।
वालिनं जहि काकुत्स्थ मया बद्धोऽयमञ्जलिः ॥ ११ ॥

हे श्रीराम ! मैं आपके हाथ जोड़ता हूँ। आप मुझे प्रसन्न करने के लिये वैरी रूपी मेरे भाई को मारिये ॥ ११ ॥

ततो रामः परिष्वज्य सुग्रीवं प्रियदर्शनम् ।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो लक्ष्मणानुमतं वचः ॥ १२ ॥

बड़े बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी के समान प्रियदर्शन सुग्रीव को गले लगा कर, उनसे कहा ॥ १२ ॥

अस्माद्गच्छेम किष्किन्धां क्षिप्रं गच्छ त्वमग्रतः ।
गत्वा चाह्वय सुग्रीव वालिनं भ्रातृगन्धिनम्[1] ॥ १३ ॥

हे सुग्रीव ! अब यहाँ से शीघ्र ही किष्किन्धा को चलना चाहिये। तुम आगे जा कर अपने भ्रातृहिंसक भाई को ललकारो ॥ १३ ॥

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम् ।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन्गहने वने ॥ १४ ॥

---

१ भ्रातृगन्धिनम्—भ्रातृहिंसकं । (गो०)

यह कह कर, श्रीराम सुग्रीवादि सब तुरन्त वालि की राजधानी किष्किन्धा पुरी में पहुँचे और सघन वन में पेड़ों की आड़ में छिप कर खड़े रहे ॥ १४ ॥

सुग्रीवो व्यनदद्घोरं वालिनो ह्वानकारणात् ।
गाढं परिहितो[1] वेगान्नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम् ॥ १५ ॥

सुग्रीव कपड़ा कमर में लपेट वालि को बुलाने के लिये बड़े ज़ोर से चिल्लाते रहे, मानों आकाश को वे विदीर्ण कर डालेंगे ॥ १५ ॥

ननाद सुमहानादं पूरयन्वै नभःस्थलम् ।
तं श्रुत्वा निनदं भ्रातुः क्रुद्धो वाली महाबलः ॥ १६ ॥

उच्चस्वर से चिल्लाते हुए सुग्रीव के नाद से आकाश परिपूर्ण हो गया। तब भाई के उस नाद को सुन, महाबली वालि बहुत क्रुद्ध हुआ ॥ १६ ॥

निष्पपात* सुसंरब्धो भास्करोऽस्ततटादिव ।
ततस्तु तुमुलं युद्धं वालिसुग्रीवयोरभूत् ॥ १७ ॥

और ऐसे झपट कर आया, जैसे सूर्य अस्ताचल से निकल कर आते हैं। तदनन्तर वालि और सुग्रीव का तुमुल युद्ध हुआ ॥१७॥

गगने ग्रहयोर्घोरं बुधाङ्गारकयोरिव ।
तलैरशनिकल्पैश्च वज्रकल्पैश्च मुष्टिभिः ॥ १८ ॥

आकाश में बुध और मङ्गल ग्रहों की तरह वालि और सुग्रीव, वज्र तुल्य थप्पड़ और वज्र तुल्य घूँसों से ॥ १८ ॥

---

१ गाढं परिहितो—बलवृद्धये दृढबद्धपरिधानः। (गो०) * पाठान्तरे "निश्चक्राम"।

जघ्नतुः समरेऽन्योन्यं भ्रातरौ क्रोधमूर्छितौ ।
ततो रामो धनुष्पाणिस्तावुभौ समुदीक्ष्य तु ॥ १९ ॥

क्रोध में भर एक दूसरे को मारने लगे । उस समय श्रीरामचन्द्र जी धनुष बाण लिये हुए उन दोनों भाइयों को देखते रहे ॥ १९ ॥

अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ ।
यन्नावगच्छत्सुग्रीवं वालिनं वाऽपि राघवः ॥ २० ॥

दोनों एक ही शक्ल सूरत के थे, मानों दोनों अश्वनीकुमार हों। श्रीरामचन्द्र जी को यह भेद न जान पड़ा कि, उन दोनों में कौनसा वालि है और कौन सा सुग्रीव ॥ २० ॥

ततो न कृतवान्बुद्धिं मोक्तुमन्तकरं शरम् ।
एतस्मिन्नन्तरे भग्नः सुग्रीवस्तेन वालिना ॥ २१ ॥
अपश्यन्राघवं नाथमृश्यमूकं प्रदुद्रुवे ।
क्लान्तो रुधिरसिक्ताङ्गः प्रहारैर्जर्जरीकृतः* ॥ २२ ॥

इसीसे श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रु के प्राण हरने वाले अपने बाण को न छोड़ा। उधर सुग्रीव, वालि से हार कर, श्रीरामचन्द्र जी को अपनी सहायता करने में उद्यत न देख, ऋष्यमूक पर्वत पर भाग गया। उस समय वालि के प्रहारों से सुग्रीव क्षत विक्षत हो रहा था। वह थक गया था और खून में डूबा हुआ था ॥ २१ ॥ २२ ॥

वालिनाऽभिद्रुतः क्रोधात्प्रविवेश महावनम् ।
तं प्रविष्टं वनं दृष्ट्वा वाली शापभयार्दितः ॥ २३ ॥

---

* पाठान्तरे "जर्झरी"

वालि ने जब क्रोध में भर सुग्रीव का पीछा किया, तब सुग्रीव भाग कर महावन में चला गया। सुग्रीव को उस महावन में प्रविष्ट हुआ देख, वालि शाप के भय से त्रस्त हो ॥ २३ ॥

मुक्तो ह्यसि त्वमित्युक्त्वा सन्निवृत्तो महाद्युतिः ।
राघवोऽपि सह भ्रात्रा सह चैव हनूमता ॥ २४ ॥

बोला कि, जा तुझे छोड़ दिया। यह कह वह महाद्युतिमान् वालि वहाँ से लौट गया। श्रीरामचन्द्र जी भी लक्ष्मण और हनुमान के साथ ॥ २४ ॥

तदेव वनमागच्छत्सुग्रीवो यत्र वानरः ।
तं समीक्ष्यागतं रामं सुग्रीवः सहलक्ष्मणम् ॥ २५ ॥
ह्रीमान्दीनमुवाचेदं वसुधामवलोकयन् ।
आह्वयस्वेति मामुक्त्वा दर्शयित्वा च विक्रमम् ॥ २६ ॥

उस वन में पहुँचे जहाँ सुग्रीव थे। सुग्रीव ने, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी को आते देख, लज्जा के मारे नीचे सिर झुका, पृथिवी की ओर देखते हुए दीनता पूर्वक कहा—हे राम! तुमने अपना पराक्रम दिखा, मुझसे तो कहा कि, वालि को ललकारो ॥ २५ ॥ २६ ॥

वैरिणा घातयित्वा च किमिदानीं त्वया कृतम् ।
तामेव वेलां वक्तव्यं त्वया राघव तत्त्वतः ॥ २७ ॥

और शत्रु से मुझे ख़ूब पिटवाया सो यह तुमने क्यों किया? हे राघव! यदि आपको उसे नहीं मारना था तो यह बात आपको स्पष्ट रूप से पहिले ही कह देनी चाहिये थी ॥ २७ ॥

वालिनं न निहन्मीति ततो नाहमितो व्रजे ।
तस्य चैवं ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ २८ ॥

कि, मैं वालि को न मारूँगा। यदि यह बात मुझे मालूम हो जाती तो मैं यहाँ से वहाँ क्यों जाता। इस प्रकार कहते हुए महात्मा सुग्रीव से ॥ २८ ॥

करुणं दीनया वाचा राघवः पुनरब्रवीत् ।
सुग्रीव श्रूयतां तात क्रोधश्च व्यपनीयताम् ॥ २९ ॥
कारणं येन बाणोऽयं न मया स विसर्जितः ।
अलङ्कारेण वेषेण[1] प्रमाणेन[2] गतेन च ॥ ३० ॥
त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम् ।
स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर ॥ ३१ ॥
विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिः[3] वां नोपलक्षये ।
ततोऽहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने करुणा पूर्ण और नम्रता युक्त शब्दों में पुनः कहा। हे सुग्रीव ! क्रोध मत करो। मैंने जिस लिये तीर नहीं चलाया उसका कारण सुनो। तुम्हारी दोनों की सजावट, आकार, डील-डौल, चालढाल एक दूसरे से बिल्कुल मिलती है। यहाँ तक कि, तुम दोनों का कण्ठस्वर, तेज, चितवन, विक्रम और बोलचाल में भी कुछ विशेषता नहीं देख पड़ती। हे वानरोत्तम, तुम दोनों की एकसी शकू होने के कारण मैं धोखे में पड़ गया ॥२९॥३०॥३१॥३२॥

नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिवर्हणम् ।
जीवितान्तकरं घोरं सादृश्यात्तु विशङ्कितः ॥ ३३ ॥

---

१ वेषेण—आकारेण । (गो०) २ प्रमाणेन—औन्नत्येन । (रा०)
३ व्यक्तिं—विशेषं । (गो०)

इसी लिये मैंने महावेगवान् शत्रुनाशकारी तीर नहीं छोड़ा। उस समय मेरे मन में तुम दोनों का एकसा रूप देख, सन्देह उठ खड़ा हुआ था और इसीसे प्राणघातक भयङ्कर वाण मैंने नहीं छोड़ा था ॥ ३३ ॥

मूलघातो न नौ स्याद्धि द्वयोरपि कृतो मया।
त्वयि वीरे विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया ॥ ३४ ॥

हे कपिराज! यदि धोखे में और हड़बड़ी में वह वाण तुम्हारे लग जाता तो हम दोनों की जड़ ही कट जाती ॥ ३४ ॥

मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्याद्धरीश्वर।
दत्ताभयवधो नाम पातकं महदुच्यते ॥ ३५ ॥

और हे हरीश्वर! मेरी मूर्खता और लड़कपन का सर्वत्र ढिंढोरा पिट जाता। इतना ही नहीं, वलिक अभय दे कर, वध करने से मुझे बड़ा भारी पाप लगता ॥ ३५ ॥

अहं च लक्ष्मणश्चैव सीता च वरवर्णिनी।
त्वदधीना वयं सर्वे वनेऽस्मिञ्शरणं भवान् ॥ ३६ ॥

क्या मैं, क्या लक्ष्मण और क्या श्रेष्ठवर्ण वाली जानकी—हम सब ही आपके अधीन हैं, क्योंकि यहां इस वन में आप ही एक मात्र हम लोगों के रक्षक हैं ॥ ३६ ॥

तस्माद्युध्यस्व भूयस्त्वं निःशङ्को* वानरेश्वर।
†अस्मिन्मुहूर्ते सुग्रीव पश्य वालिनमाहवे ॥ ३७ ॥
निरस्तमिषुणैकेन वेष्टमानं महीतले।
अभिज्ञानं कुरुष्व त्वमात्मनो वानरेश्वर ॥ ३८ ॥

---

* पाठान्तरे "मा मा शङ्काश्च वानर"। † पाठान्तरे—"एतन्"।

अतएव हे कपिराज ! तुम निःशङ्क होकर पुनः जा कर, वालि से लड़ो। तुम इसी मुहूर्त्त देखोगे कि, संग्राम में मेरे एक वाण से गिर कर वाली भूमि पर छटपटा रहा है। किन्तु हे वानरराज ! तुम अपनी पहिचान के लिये कोई चिन्ह धारण कर लो ॥३७॥ ३८ ॥

येन त्वामभिजानीयां द्वन्द्वयुद्धमुपागतम् ।
गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाट्य शुभलक्षणाम् ॥ ३९ ॥
कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमाकुलाम् ॥ ४० ॥

जिससे द्वन्द्वयुद्ध करते समय मैं तुमको पहिचान सकूँ। हे लक्ष्मण ! तुम इस फूली हुई और शुभ लक्षण वाली नागपुष्पी लता को उखाड़ कर, महात्मा सुग्रीव के गले में बांध दो। तब पर्वत के किनारे उगी हुई और फूली हुई ॥ ३९ ॥ ४० ॥

लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत् ।
स तया शुशुभे श्रीमाँल्लतया कण्ठसक्तया ॥ ४१ ॥
मालयेव वलाकानां ससन्ध्य इव तोयदः ॥ ४२ ॥

नागपुष्पी को उखाड़, लक्ष्मण ने उसे सुग्रीव के कण्ठ में बांध दी। उस लता की माला पहिनने से सुग्रीव की ऐसी शोभा हुई, जैसी शोभा कि, बगलों की पंक्ति से सन्ध्याकालीन मेघ की होती है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

विभ्राजमानो वपुषा रामवाक्यसमाहितः ।
जगाम सह रामेण किष्किन्धां वालिपालिताम् ॥ ४३ ॥

॥ इति द्वादशः सर्गः ॥

अपने शरीर को इस प्रकार शोभायमान कर और श्रीरामचन्द्र के वचनों पर ध्यान दे कर, सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी को साथ ले, पुनः वालि को राजधानी किष्किन्धा पुरी को गये ॥ ४३ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रयोदशः सर्गः

—*—

ऋश्यमूकात्स धर्मात्मा किष्किन्धां लक्ष्मणाग्रजः ।
जगाम सहसुग्रीवो वालिविक्रमपालिताम् ॥ १ ॥

वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र, सुग्रीव को साथ ले, ऋश्यमूक से, ालि के पराक्रम से पालित, किष्किन्धा पुरी को गये ॥ १ ॥

समुद्यम्य महच्चापं रामः काञ्चनभूषितम् ।
शरांश्चादित्यसङ्काशान्गृहीत्वा रणसाधकान् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष पर रोदा चढ़ा कर और सूर्य की तरह चमचमाते और लड़ाई में काम आने वाले तीर, हाथ में ले लिये ॥ २ ॥

अग्रतस्तु ययौ तस्य राघवस्य महात्मनः ।
सुग्रीवः संहतग्रीवो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ ३ ॥

मज़बूत गरदन वाले सुग्रीव और महाबली लक्ष्मण, महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के आगे आगे हो लिये ॥ ३ ॥

पृष्ठतो हनुमान्वीरो नलो नीलश्च वानर।
तारश्चैव महातेजा हरियूथपयूथपः ॥ ४ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी के पीछे हनुमान, नल, नील और महातेजस्वी तार हो लिये। तार यूथपतियों के यूथ का पति अर्थात् जरनल था ॥ ४ ॥

ते वीक्षमाणा वृक्षांश्च पुष्पभारावलम्बिनः।
प्रसन्नाम्बुवहाश्चैव सरितः सागरङ्गमाः ॥ ५ ॥

रास्ते में वे पुष्पों के बोझ से झुके हुए पेड़ों को और स्वच्छ जल वाली एवं समुद्रगामिनी नदियों को देखते जाते थे ॥ ५ ॥

कन्दराणि च शैलांश्च निर्दराणि गुहास्तथा।
शिखराणि च मुख्यानि दरीश्च प्रियदर्शनाः ॥ ६ ॥

वे कन्दराएँ, पहाड़, घाटियां, गुफाएँ, बड़े बड़े शिखर और देखने में सुन्दर दरें देखते जाते थे ॥ ६ ॥

वैडूर्यविमलैः पर्णैः पद्मैश्चाकोशकुड्मलैः।
शोभितान्सजलान्मार्गे तटाकांश्च व्यलोकयन् ॥ ७ ॥

उन लोगों ने जाते जाते रास्ते में पन्नों की तरह हरे रंग के पत्तों सहित खिले हुए कमल के फूलों से युक्त शोभायमान तालाव देखे ॥ ७ ॥

कारण्डैः सारसैर्हंसैर्वञ्जुलैर्जलकुक्कुटैः।
चक्रवाकैस्तथा चान्यैः शकुनैरुपनादितान् ॥ ८ ॥

उन तालावों के तट पर कारण्डव, सारस, हंस, वञ्जुल, जलकुक्कुट, चकई चकवा आदि पक्षी मीठी बोलियां बोल रहे थे ॥ ८ ॥

मृदुशष्पाङ्कुराहारान्निर्भयान्वनगोचरान् ।
चरतः सर्वतोऽपश्यन्स्थलीषु हरिणान्स्थितान् ॥९॥

उन लोगों को, मुलायम हरी दूब चरने वाले और निर्भय हो वन में घूमने वाले हिरन, वहाँ की वन-स्थलियों में चारों ओर बैठे हुए देख पड़े ॥ ६ ॥

तटाकवैरिणश्चापि शुक्लदन्तविभूषितान् ।
घोरानेकचरान्वन्यान्द्विरदान्कूलघातिनः ॥ १० ॥

तड़ागों के वैरी, सफ़ेद दाँतों वाले, भयङ्कर रूप वाले, नदियों के कगारों को गिराने वाले, जंगली हाथी भी देख पड़े ॥ १० ॥

मत्तान्गिरितटोत्कृष्टाञ्जङ्गमानिव पर्वतान् ।
वारणान्वारिदप्रख्यान्महीरेणुसमुक्षितान् ॥ ११ ॥

मतवाले, पर्वतों पर टक्कर मारने वाले, चलते पर्वत की तरह अथवा बड़े बड़े मेघों की तरह, धूल से नहाये हुए हाथियों को ॥११॥

वने वनचरांश्चान्यान्खेचरांश्च विहङ्गमान् ।
पश्यन्तस्त्वरिता जग्मुः सुग्रीववशवर्तिनः ॥ १२ ॥

वानरों को तथा और भी अन्य प्रकार के वनचारी जीवों को और आकाशचारी अनेक पक्षियों को देखते हुए, सुग्रीव के वशवर्ती हो, वे सब चले जाते थे ॥ १२ ॥

तेषां तु गच्छतां तत्र त्वरितं रघुनन्दनः ।
द्रुमषण्डं वनं दृष्ट्वा रामः सुग्रीवमब्रवीत् ॥ १३ ॥

जिस समय वे सब बड़ी तेज़ी से चले जा रहे थे, उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने सघन वृक्षों वाले एक वन प्रदेश को देख, सुग्रीव से कहा ॥ १३ ॥

एष मेघ इवाकाशे वृक्षषण्डः प्रकाशते ।
मेघसङ्घातविपुलः पर्यन्तकदलीवृतः ॥ १४ ॥

हे मित्र ! आकाशस्थ मेघ की तरह यह जो वृक्ष समूह हैं और जिसके चारों ओर केले के पेड़ लगे हैं, ॥ १४ ॥

किमेतज्ज्ञातुमिच्छामि सखे कौतूहलं हि मे ।
कौतूहलापनयनं कर्तुमिच्छाम्यहं त्वया ॥ १५ ॥

यह क्या है? इसे मैं जानना चाहता हूँ। क्योंकि इसे जानने का मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है। सो तुम मेरे इस कौतूहल को दूर करो ॥ १५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
गच्छन्नेवाचचक्षेऽथ सुग्रीवस्तन्महद्वनम् ॥ १६ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, चलते चलते सुग्रीव ने उस महावन का वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ १६ ॥

एतद्राघव विस्तीर्णमाश्रमं श्रमनाशनम् ।
उद्यानवनसम्पन्नं स्वादुमूलफलोदकम् ॥ १७ ॥

हे रघुनन्दन ! यह लंबा चौड़ा और श्रम को हरने वाला एक आश्रम है। यह उद्यान, वन और स्वादिष्ट कन्द मूल फल और जल से परिपूर्ण है ॥ १७ ॥

अत्र सप्तजना नाम मुनयः संशितव्रताः ।
सप्तैवासन्नधः शीर्षा नियतं जलशायिनः ॥ १८ ॥

इसमें बड़े कठोर व्रतधारी सप्तजन नामक सात मुनि तप किया करते थे। तपस्या करते समय वे ऊपर को पैर और नीचे को सिर किये रहते थे और नियम से जलशयन करते थे ॥ १८ ॥

सप्तरात्रकृताहारा वायुना वनवासिनः ।
दिवं वर्षशतैर्याताः सप्तभिः सकलेवराः ॥ १९ ॥

वे वनवासी मुनि सात दिन पीछे एक दिन केवल वायुभक्षण कर लेते थे। इस प्रकार उन्होंने सात सौ वर्ष तक तप किया और अन्त में सातों के सातों सदेह स्वर्ग को सिधारे ॥ १९ ॥

तेषामेवंप्रभावानां द्रुमप्राकारसंवृतम् ।
आश्रमं सुदुराधर्षमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥ २० ॥

उन्हीं मुनियों के प्रभाव से यह आश्रम वृक्षों से घिरा हुआ है और इसमें इन्द्र सहित सुर और असुर भी नहीं जा सकते ॥ २० ॥

पक्षिणो वर्जयन्त्येतत्तथाऽन्ये वनचारिणः ।
विशन्ति मोहाद्ये तत्र निवर्तन्ते न ते पुनः ॥ २१ ॥

पक्षी अथवा अन्य जंगली कोई जीव इसमें नहीं जाते और जो कोई भूला भटका वहाँ चला जाता है, वह फिर वहाँ से लौट कर नहीं आता; अर्थात् वहीं मर जाता है ॥ २१ ॥

विभूषणरवाश्चात्र श्रूयन्ते सकलाक्षराः ।
तूर्यगीतस्वनाश्चात्र गन्धो दिव्यश्च राघव ॥ २२ ॥

हे राघव! इसमें अप्सराओं का मधुर गान और गहनों की झंकार, और बाजों की ध्वनि सुन पड़ती है और बड़ी सुगन्धि भी आया करती है ॥ २२ ॥

त्रेताग्नयोऽपि दीप्यन्ते धूमो ह्यत्र प्रकाशते ।
वेष्टयन्निव वृक्षाग्रान्कपोताङ्गारुणो घनः ॥ २३ ॥

इस आश्रम में तीनों प्रकार के अग्नि (अर्थात् गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि और औग्नाग्नि) प्रज्वलित रहते हैं। उनका यह कबूतर के अंग के रंग जैसा कुछ कुछ लाल धुआँ, इन सब वृक्षों पर छाया रहता है ॥ २३ ॥

एते वृक्षाः प्रकाशन्ते धूमसंसक्तमस्तकाः ।
मेघजालप्रतिच्छन्ना वैडूर्यगिरयो यथा ॥ २४ ॥

देखो ये वृक्ष, जिनकी फुनगियाँ धुआँ से ढकी हैं, ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे मेघों से ढका हुआ पन्ने का पर्वत हो ॥ २४ ॥

कुरु प्रणामं धर्मात्मंस्तान्समुद्दिश्य राघव ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रयतः संयताञ्जलिः ॥ २५ ॥

हे धर्मात्मन्! हे राघव! तुम लक्ष्मण सहित हाथ जोड़ कर, उन मुनियों के उद्देश्य से प्रणाम करो ॥ २५ ॥

प्रणमन्ति हि ये तेषां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
न तेषामशुभं किञ्चिच्छरीरे राम दृश्यते ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! जो लोग इन ब्रह्मवादी सिद्ध पुरुषों को प्रणाम करते हैं, उनके शरीर में ज़रासा भी पाप नहीं रहता ॥ २६ ॥

ततो रामः सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन कृताञ्जलिः ।
समुद्दिश्य महात्मानस्तानृषीनभ्यवादयत् ॥ २७ ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने भाई लक्ष्मण सहित, हाथ जोड़ कर, उन महात्मा ऋषियों को प्रणाम किया ॥ २७ ॥

अभिवाद्य तु धर्मात्मा रामो भ्राता च लक्ष्मणः ।
सुग्रीवो वानराश्चैव जग्मुः संहृष्टमानसाः ॥ २८ ॥

उनको प्रणाम कर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण, सुग्रीव तथा अन्य वानर प्रसन्न होते हुए गमन करने लगे ॥ २८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं तस्मात्सप्तजनाश्रमात् ।
ददृशुस्तां दुराधर्षां किष्किन्धां वालिपालिताम् ॥२९॥

सप्तजन आश्रम से बहुत दूर चलने के बाद उन लोगों ने वालि की दुर्द्धर्ष किष्किन्धा नगरी देखी ॥ २९ ॥

ततस्तु रामानुजरामवानराः
प्रगृह्य शस्त्राण्युदितार्कतेजसः ।
पुरीं सुरेशात्मजवीर्यपालितां
वधाय शत्रोः पुनरागताः सह ॥ ३० ॥

॥ इति त्रयोदशः सर्गः ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण तथा अन्य वानर सूर्य की तरह चमचमाते शस्त्रों को ले, शत्रु का वध करने के लिये, इन्द्रपुत्र वालि की राजधानी किष्किन्धा में फिर पहुँचे ॥ ३० ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

चतुर्दशः सर्गः

—*—

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिपालिताम् ।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन्गहने वने ॥ १ ॥

वे सब लोग शीघ्रता पूर्वक वालि द्वारा पालित किष्किन्धा के समीप पहुँच, सघन वन में पेड़ों की आड़ में खड़े हो गये ॥ १ ॥

विसार्य* सर्वतो दृष्टिं कानने काननप्रियः ।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः क्रोधमाहारयद्भृशम् ॥ २ ॥

मोटी गर्दन वाले सुग्रीव चारों ओर वन में दृष्टि फैला कर, युद्ध करने के लिये अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ २ ॥

ततः स निनदं घोरं कृत्वा युद्धाय चाह्वयत् ।
परिवारैः परिवृतो नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम् ॥ ३ ॥

और बड़ी ज़ोर से चिल्ला कर युद्ध के लिये वालि को ललकारने लगे । उनका वह नाद चारों ओर व्याप्त हो गया और उस समय ऐसा जान पड़ा मानों आकाश फटा जाता है ॥ ३ ॥

गर्जन्निव महामेघो वायुवेगपुरःसरः ।
अथ वालार्कसदृशो दृप्तसिंहगतिस्तदा ॥ ४ ॥

वायु के वेग से चलते हुए बड़े बादल की तरह गर्ज कर, वालसूर्य सदृश सिंह जैसी चाल चलने वाले ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा रामं क्रियादक्षं सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत् ।
हरिवागुरया व्याप्तां तप्तकाञ्चनतोरणाम् ॥ ५ ॥

क्रियाकुशल श्रीराम को देख, सुग्रीव बोले, हे रामचन्द्र ! वानरों को फँसाने वाले पाशों से युक्त तथा तपाये हुए काञ्चन की वन्दनवारों से भूषित, ॥ ५ ॥

पश्य† प्राकारयन्त्राढ्यां किष्किन्धां वालिनः पुरीम् ।
प्रतिज्ञा या त्वया वीर कृता वालिवधे पुरा ॥ ६ ॥

परकोटे और कलों से सुसज्जित, वालि की किष्किन्धा पुरी को देखिये । हे वीर ! वालि के वध के लिये पहिले तुमने जो प्रतिज्ञा की थी ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—" विचार्य" † पाठान्तरे—" प्राहःस्म ध्वज "

सफलां तां कुरु क्षिप्रं लतां काल इवागतः ।
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सुग्रीवेण स राघवः ॥ ७ ॥

उसे आप उसी प्रकार शीघ्र सफल कीजिये जिस प्रकार ऋतु प्राप्त होने पर लताएँ फूलने फलने लगती हैं। जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी से सुग्रीव ने यह कहा ॥ ७ ॥

तमथोवाच सुग्रीवं वचनं शत्रुसूदनः ।
कृताभिज्ञानचिह्नस्त्वमनया गजसाह्वया ॥ ८ ॥
लक्ष्मणेन समुत्पाट्य यैषा कण्ठे कृता तव ।
शोभसे ह्यधिकं वीर लतया कण्ठसक्तया ॥ ९ ॥
विपरीत इवाकाशे सूर्यो नक्षत्रमालया ।
अद्य वालिसमुत्थं ते भयं वैरं च वानर ॥ १० ॥

तब शत्रुओं का संहार करने वाले श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव से बोले—हे वीर! तुम्हारी पहिचान के लिये, लक्ष्मण ने गजपुष्पीलता को उखाड़, तुम्हारे कण्ठ में बांध ही दिया है। इस कारण तुम्हारी ऐसी शोभा हो रही है जैसे आकाश में नक्षत्रों की माला के समीप जाने से सूर्य की होती है। हे वानर! आज मैं वालि सम्बन्धी तुम्हारा भय और वैर ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

एकेनाहं प्रमोक्ष्यामि बाणमोक्षेण संयुगे ।
मम दर्शय सुग्रीव वैरिणं भ्रातृरूपिणम् ॥ ११ ॥

युद्ध में एक ही बाण चला कर, नष्ट कर दूँगा। हे सुग्रीव! तुम अपने भ्रातृरूपी वैरी को मुझे दिखला भर दो ॥ ११ ॥

वाली विनिहतो यावद्वने पांसुषु चेष्टते ।
यदि दृष्टिपथं प्राप्तो जीवन्स विनिवर्तते ॥ १२ ॥

वालि आज मेरे बाण से घायल हो कर, वन में धूल के ऊपर गिर कर छटपटावेगा। यदि वह मेरे सामने आ कर जीता लौट जाय ॥ १२ ॥

ततो दोषेण मा गच्छेत्सद्यो गर्हेच्च मा भवान् ।
प्रत्यक्षं सप्त ते साला मया बाणेन दारिताः ॥ १३ ॥

तो तुम मुझे दोष देना और फिर मेरे पास मत आना तथा मुझे धिकारना। यह तो तुम देख ही चुके हो कि, मैंने एक ही बाण से सातों ताल वृक्षों का भेदन कर दिया ॥ १३ ॥

तेनावेहि बलेनाद्य वालिनं निहतं मया ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे वीर कृच्छ्रेऽपि तिष्ठता ॥ १४ ॥

इससे तुमको विश्वास हो गया होगा कि, मैं वालि को मार सकता हूँ। अतः आज तुम वालि को मरा हुआ ही समझो। हे वीर ! बड़ी बड़ी कठिनाइयों में पड़ कर भी, मैं झूँठ कभी नहीं बोला ॥ १४ ॥

धर्मलोभपरीतेन[1] न च वक्ष्ये कथञ्चन ।
सफलां च करिष्यामि प्रतिज्ञां जहि संभ्रमम् ॥ १५ ॥
प्रसूतं कलमं क्षेत्रे वर्षेणेव शतक्रतुः ।
तदाह्वाननिमित्तं त्वं वालिनो हेममालिनः ॥ १६ ॥

और न कभी बोलूँगा। क्योंकि मुझे धर्म की हानि सह्य नहीं है। तुम अपने मन से अपना सन्देह निकाल डालो। मैं अपनी प्रतिज्ञा उसी प्रकार सफल करूँगा, जिस प्रकार इन्द्र जल बर्सा कर धान्य के खेतों को सफल करते हैं। अब तुम उस सुवर्णमालाधारी वालि को ललकारो ॥ १५ ॥ १६ ॥

---

१ धर्मलोभपरीतेन—धर्महान्यसहिष्णुनेत्यर्थः। (गो०)

सुग्रीव कुरु तं शब्दं निष्पतेद्येन वानरः ।
जितकाशी बलश्लाघी त्वया चाधर्षितः पुरा ॥ १७ ॥

इसके लिये तुम ऐसा शब्द करो, जिससे वह बाहिर निकल आवे। क्योंकि वालि सदा ही विजय को चाहना किया करता है और अपने बली होने की नामवरी के लिये वह सदा घूमा ही करता है। फिर इसके पूर्व तुमको वह हरा भी चुका है ॥ १७ ॥

निष्पतिष्यत्यसङ्गेन[1] वाली स प्रियसंयुगः ।
रिपूणां धर्षणं शूरा मर्षयन्ति न संयुगे ॥ १८ ॥

समरप्रिय वालि तुम्हारा शब्द सुनते ही तुरन्त निकल आवेगा। क्योंकि शूर लोग युद्ध में वैरी की ललकार नहीं सह सकते ॥ १८ ॥

जानन्तस्तु स्वकं वीर्यं स्त्रीसमक्षं विशेषतः ।
स तु रामवचः श्रुत्वा सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ॥ १९ ॥

जो लोग अपने पराक्रम को जानते हैं वे, विशेष कर, स्त्री के सामने, शत्रु की ललकार सुन, चुपचाप नहीं बैठ सकते। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, सुवर्णवर्ण वाले सुग्रीव जी, ॥ १९ ॥

ननर्द क्रूरनादेन विनिर्भिन्दन्निवाम्बरम् ।
तस्य शब्देन वित्रस्ता गावो यान्ति हतप्रभाः ।
राजदोष[2]परामृष्टाः[3] कुलस्त्रिय इवाकुलाः ॥ २० ॥

आकाश को विदीर्ण करते हुए भयङ्कर नाद करने लगे। उस नाद से डर कर गायें सहम गयीं और वैसे ही भाग खड़ी हुई जैसे

---

१ असङ्गेन—अविलंबेन। (गो०) २ राजदोष—अराजकत्वदोषरूपेण। (गो०) ३ परामृष्टाः परैः परपुरुषै आमृष्टाः केशेषुगृहीताः। (गो०)

अराजकता फैलने पर परपुरुष द्वारा सिर के केश खैंचे जाने पर, कुलीन स्त्रियाँ सहम जाती और भाग खड़ी होती हैं ॥ २० ॥

द्रवन्ति च मृगाः शीघ्रं भग्ना इव रणे हयाः ।
पतन्ति च खगा भूमौ क्षीणपुण्या इव ग्रहाः ॥ २१ ॥

लड़ाई के मैदान में चाबुक से पीटे हुए घोड़ों की तरह मृगगण इधर उधर दौड़ने लगे। उड़ते हुए पक्षी, क्षीण-पुण्य ग्रहों की तरह पृथिवी पर गिरने लगे ॥ २१ ॥

ततः स जीमूतगणप्रणादो
नादं व्यमुञ्चत्त्वरया प्रतीतः ।
सूर्यात्मजः शौर्यविवृद्धतेजाः
सरित्पतिर्वानिलचञ्चलोर्मिः ॥ २२ ॥

॥ इति चतुर्दशः सर्गः ॥

सूर्यपुत्र सुग्रीव, जिसका तेज, शौर्य और बल बहुत बढ़ गया था श्रीरामचन्द्र जी के वचनों पर विश्वास कर, मेघ की तरह इस प्रकार नाद कर रहा था, जिस प्रकार वायु से प्रेरित चञ्चल तरङ्गों वाला समुद्र गरजता है ॥ २२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चदशः सर्गः

—*—

अथ तस्य निनादं तु सुग्रीवस्य महात्मनः ।
शुश्रावान्तःपुरगतो वाली भ्रातुरमर्षणः ॥ १ ॥

अन्तःपुर में स्त्रियों के बीच बैठे हुए वालि से सुग्रीव का सिंहनाद सुन कर न रहा गया ॥ १ ॥

श्रुत्वा तु तस्य निनदं सर्वभूतप्रकम्पनम् ।
मदश्चैकपदे नष्टः क्रोधश्चापतितो महान् ॥ २ ॥

सब प्राणियों को कंपायमान करने वाले उस सिंहनाद को सुन कर, वालि का सारा नशा सहसा उतर गया और वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ २ ॥

स तु रोषपरीताङ्गो वाली सन्ध्यातपप्रभः ।
उपरक्त[1] इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥ ३ ॥

सुवर्ण के समान दीप्तिवान् वालि क्रुद्ध हो, राहुग्रस्त सूर्य की तरह तत्काल ही प्रभाहीन जान पड़ने लगा ॥ ३ ॥

वाली दंष्ट्राकरालस्तु क्रोधाद्दीप्ताग्निसन्निभः ।
भात्युत्पतितपद्माभः समृणाल इव ह्रदः ॥ ४ ॥

मारे क्रोध के वालि अपने कराल दांत पीसने लगा, उसकी दोनों आँखें दहकते हुए अंगारे की तरह लाल हो गयीं । उस समय वह पुष्पहीन कमलदण्डों से युक्त जलाशय की तरह दिखलाई पड़ता था ॥ ४ ॥

शब्दं दुर्मर्षणं श्रुत्वा निष्पपात ततो हरिः ।
वेगेन चरणन्यासैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ ५ ॥

सुग्रीव के न सहने योग्य सिंहनाद को सुन, वालि ज़मीन पर पैर पटकता बड़े वेग से निकला । उसके पैर पटकने से ऐसा जान पड़ता था, मानों वह ज़मीन को विदीर्ण कर डालेगा ॥ ५ ॥

---

१ उपरक्तो राहुग्रस्तो । (गो०)

तं तु तारा परिष्वज्य स्नेहादर्शितसौहृदा।
उवाच त्रस्तासंभ्रान्ता हितोदर्कमिदं वचः॥ ६॥

यह देख तारा भयभीत हो बहुत घबड़ायी और प्रेम सहित वालि को आलिङ्गन कर यह हित की बात बोली॥ ६॥

साधु क्रोधमिमं वीर नदीवेगमिवागतम्।
शयनादुत्थितः काल्यं त्यज भुक्तामिव स्रजम्॥ ७॥

हे वीर! नदी के वेग की तरह उमड़े हुए इस क्रोध को तुम उसी तरह त्याग दो, जिस तरह शय्या से सो कर उठा हुआ पुरुष, रात की पहिनी हुई फूलमाला को त्याग देता है॥ ७॥

काल्यमेतेन संग्रामं करिष्यसि हरीश्वर।
वीर ते शत्रुबाहुल्यं फल्गुता वा न विद्यते॥ ८॥

हे कपिराज! कल जा कर तुम सुग्रीव के साथ लड़ लेना। हे वीर! यद्यपि न तो तुम्हारा शत्रु तुमसे बल में अधिक है और न उससे किसी बात में तुम कम हो॥ ८॥

सहसा तव निष्क्रामो मम तावन्न रोचते।
श्रूयतां चाभिधास्यामि यन्निमित्तं निवार्यसे॥ ९॥

तथापि इस समय तुम्हारा घर से सहसा निकलना मुझे पसंद नहीं आता। मैं जिसलिये तुम्हें रोक रही हूँ उसका कारण भी बतलाती हूँ। सुनिये,॥ ९॥

पूर्वमापतितः क्रोधात्स त्वामाह्वयते युधि।
निष्पत्य च निरस्तस्ते हन्यमानो दिशो गतः॥ १०॥

पहले जब सुग्रीव ने महाक्रोध कर, तुम्हें युद्ध के लिये ललकारा था, तब तुम गये और उसे मार कर भगा आये॥ १०॥

त्वया तस्य निरस्तस्य पीडितस्य विशेषतः ।
इहैत्य पुनराह्वानं शङ्कां जनयतीव मे ॥ ११ ॥

हाल ही में तुम्हारे हाथ से पिट कर और भगाया जा कर भी वह फिर तुम्हें ललकार रहा है—इससे मेरे मन में बड़ा सन्देह उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

दर्पश्च व्यवसायश्च यादृशस्तस्य नर्दतः ।
निनादस्य च संरम्भो नैतदल्पं हि कारणम् ॥ १२ ॥

क्योंकि इस समय उसका अहङ्कार, उद्योग और नाद का ढंग जैसा है, उस पर ध्यान देने से कहना पड़ता है कि, यह कोई साधारण बात नहीं है अथवा इसका कारण साधारण नहीं है ॥१२॥

नासहायमहं मन्ये सुग्रीवं तमिहागतम् ।
अवष्टब्धसहायश्च यमाश्रित्यैष गर्जति ॥ १३ ॥

मैं तो समझती हूँ कि, विना सहायता पाये सुग्रीव यहाँ आने वाला नहीं। उसे अवश्य कोई सहायक मिल गया है, जिसके बल-बूते पर वह ऐसा गर्ज रहा है ॥ १३ ॥

प्रकृत्या निपुणश्चैव बुद्धिमांश्चैव वानरः ।
अपरीक्षितवीर्येण सुग्रीवः सह नैष्यति ॥ १४ ॥

सुग्रीव स्वभाव ही से चतुर और बुद्धिमान वानर है। उसने विना भली भाँति बल विक्रम की जाँच किये, कभी किसी से मैत्री न की होगी ॥ १४ ॥

पूर्वमेव मया वीर श्रुतं कथयतो वचः ।
अङ्गदस्य कुमारस्य वक्ष्यामि त्वा हितं वचः ॥ १५ ॥

हे वीर ! अंगद के मुख से पहिले मैं जो बातें सुन चुकी हूँ, वे हितकर बातें तुमसे कहती हूँ ॥ १५ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं वनान्तमुपनिर्गतः ।
प्रवृत्तिस्तेन कथिता चारैराप्तैर्निवेदिता ॥ १६ ॥

कुमार अंगद वन में घूमने गया था । वहाँ इसे विश्वस्त जासूसों से मालूम हुआ कि ॥ १६ ॥

अयोध्याधिपतेः पुत्रौ शूरौ समरदुर्जयौ ।
इक्ष्वाकूणां कुले जातौ प्रथितौ रामलक्ष्मणौ ॥ १७ ॥

अयोध्या के महाराज दशरथ के दो पुत्र जो बड़े शूरवीर होने के कारण, युद्ध में अजेय हैं और इक्ष्वाकुकुलोद्भव हैं तथा जिनके नाम श्रीराम और लक्ष्मण प्रसिद्ध हैं ॥ १७ ॥

सुग्रीवप्रियकामार्थं प्राप्तौ तत्र दुरासदौ ।
तव भ्रातुर्हि विख्यातः सहायो रणकर्कशः ॥ १८ ॥

सुग्रीव का अभीष्ट कार्य करने के लिये, वे दोनों दुर्द्धर्ष वीर कटिबद्ध हुए हैं । वे ही प्रसिद्ध रणकर्कश तुम्हारे भाई सुग्रीव के सहायक बने हैं ॥ १८ ॥

रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः ।
निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः ॥ १९ ॥

उनमें से श्रीरामचन्द्र, जो शत्रु का मर्दन करने के लिये प्रलयकाल के अग्नि की तरह उठे हैं, वे साधुओं के वृक्षरूपी आश्रयदाता और दीन दुःखियों के एकमात्र सहारे हैं ॥ १९ ॥

आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः ॥ २० ॥

धातूनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान्।
तत्क्षमं न विरोधस्ते सह तेन महात्मना ॥ २१ ॥

वे आर्त्तों के अवलंब, यश के पात्र, लौकिक ज्ञान और शास्त्रजन्य ज्ञान से सम्पन्न, पितृआज्ञाकारी, धातुओं की खान हिमालय की तरह गुणों की महाखान हैं। उन महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से विरोध करना तुमको उचित नहीं ॥ २० ॥ २१ ॥

दुर्जयेनाप्रमेयेन रामेण रणकर्मसु।
शूर वक्ष्यामि ते किञ्चिन्न चेच्छाम्यभ्यसूयितुम् ॥ २२ ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र संग्राम में दुर्जय हैं। हे शूर! मैं तुमसे कुछ कहती हूँ। तुम उस मेरे कथन का बुरा न मानना ॥ २२ ॥

श्रूयतां क्रियतां चैव तव वक्ष्यामि यद्धितम्।
यौवराज्येन सुग्रीवं तूर्णं साध्वभिषेचय ॥ २३ ॥

मैं तुम्हारे हित की जो बात कहती हूँ, उसे सुनो और तदनुसार कार्य करो। तुम अभी सुग्रीव को युवराजपद पर अभिषिक्त कर दो ॥ २३ ॥

विग्रहं मा कृथा वीर भ्रात्रा राजन्यवीयसा* ।
अहं हि ते क्षमं मन्ये तेन रामेण सौहृदम् ॥ २४ ॥

तुम उसके साथ झगड़ा टंटा मत करो। क्योंकि सुग्रीव तुम्हारा छोटा भाई है। मेरी यह भी इच्छा है कि, तुम्हारी, श्रीरामचन्द्र जी से प्रीति हो जाय ॥ २४ ॥

सुग्रीवेण च संप्रीतिं वैरमुत्सृज्य दूरतः।
लालनीयो हि ते भ्राता यवीयानेष वानरः ॥ २५ ॥

* पाठान्तरे—"राजन्बलीयसा"

और तुम भी वैरभाव छोड़ कर सुग्रीव से भी मेल कर लो। वह तुम्हारा छोटा भाई है, तुम्हें तो उसका लालन पालन करना चाहिये ॥ २५ ॥

तत्र वा सन्निहस्थो वा सर्वथा बन्धुरेव ते।
न हि तेन समं बन्धुं भुवि पश्यामि कञ्चन ॥ २६ ॥

चाहे वह तुमसे दूर रहे अथवा तुम्हारे समीप, पर है तो तुम्हारा भाई ही। मुझे तो सारे संसार में उस जैसा भाई कोई नहीं देख पड़ता ॥ २६ ॥

दानमानादिसत्कारैः कुरुष्व प्रत्यनन्तरम्।
वैरमेतत्समुत्सृज्य तव पार्श्वे स तिष्ठतु ॥ २७ ॥

अतः दान मानादि से उसका सत्कार कर, उसे अपना लो। फिर तो वह स्वयं ही वैर छोड़ तुम्हारे पास रहने लगेगा ॥ २७ ॥

सुग्रीवो विपुलग्रीवस्तव बन्धुः सदा मतः।
भ्रातुः सौहृदमालम्ब नान्या गतिरिहास्ति ते ॥ २८ ॥

बड़ी गरदन वाला सुग्रीव तुम्हारा सदा अनुकूल बन्धु है। अतः तुम उसके साथ सौहार्द्र स्थापन कर लो। इसको छोड़ तुम्हारे कल्याण का और कोई उपाय नहीं है ॥ २८ ॥

यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि चावैषि मां हिताम्।
याच्यमानः प्रयत्नेन साधु वाक्यं कुरुष्व मे ॥ २९ ॥

यदि तुम मेरी प्रसन्नता के लिये कोई काम करना चाहते हो और मुझे अपनी हितैषिणी मानते हो, तो मैं जो कुछ प्रार्थना करती हूँ, उसे अपने लिये हितकर जान, तदनुसार बड़े यत्न के साथ कार्य करो ॥ २९ ॥

प्रसीद पथ्यं शृणु जल्पितं हि मे
न रोषमेवानुविधातुमर्हसि ।
क्षमो हि ते कोसलराजसूनुना
न विग्रहः शक्रसमानतेजसा ॥ ३० ॥

तुम मेरे हितकर वचनों को सुन कर, क्रुद्ध न होना। इन्द्र तुल्य तेजस्वी उन कोशलराजपुत्र के साथ तुम्हारा विरोध करना अच्छा नहीं ॥ ३० ॥

तदा हि तारा हितमेव वाक्यं
तं वालिनं पथ्यमिदं बभाषे ।
न रोचते तद्वचनं हि तस्य
कालाभिपन्नस्य विनाशकाले ॥ ३१ ॥

॥ इति पञ्चदशः सर्गः ॥

तारा गिड़गिड़ा कर, इस प्रकार पथ्यरूप हितकर वचन कह रही थी, किन्तु वालि को वे वचन अच्छे नहीं लगते थे। क्योंकि उसके सिर पर तो काल खेल रहा था ॥ ३१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

षोडशः सर्गः

—*—

तामेवं ब्रुवतीं तारां ताराधिपनिभाननाम् ।
वाली निर्भर्त्सयामास वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

जब चन्द्रमुखी तारा ने वालि से इस प्रकार कहा तब वह तारा को धिक्कारता हुआ यह वचन बोला ॥ १ ॥

गर्जतोऽस्य च संरम्भं भ्रातुः शत्रोर्विशेषतः ।
मर्षयिष्याम्यहं केन कारणेन वरानने ॥ २ ॥

हे वरानने (श्रेष्ठमुखवाली)! मेरा वह भाई तो मेरा बड़ा शत्रु है। फिर वह जब इस प्रकार गर्व सहित गर्ज रहा है, तब भला मैं उसके इस गर्जन तर्जन को कैसे सह सकता हूँ ॥ २ ॥

अधर्षितानां शूराणां समरेष्वनिवर्तिनाम् ।
धर्षणामर्षणं भीरु मरणादतिरिच्यते ॥ ३ ॥

हे भीरु! देख, जो शूर कभी किसी से पराजित नहीं हुए और जिन्होंने रणक्षेत्र में शत्रु को कभी पीठ नहीं दिखाई, उनके लिये इस प्रकार का तिरस्कार सहना मरने से भी गया बीता है ॥ ३ ॥

सोढुं न च समर्थोऽहं युद्धकामस्य संयुगे ।
सुग्रीवस्य च संरम्भं हीनग्रीवस्य गर्जतः ॥ ४ ॥

रणक्षेत्र में युद्धाभिलाषी हीनग्रीव सुग्रीव का अभिमान सहित गर्जना, मैं किसी भी तरह नहीं सह सकता ॥ ४ ॥

न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का विचार कर, तू मेरे लिये दुःखी मत हो। क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी धर्मज्ञ और कृतज्ञ हैं। वे ऐसा पापकर्म क्योंकर करेंगे ॥ ५ ॥

निवर्तस्व सह स्त्रीभिः कथं भूयोऽनुगच्छसि ।
सौहृदं दर्शितं तारे मयि भक्तिः कृता त्वया ॥ ६ ॥

तू स्त्रियों के साथ लौट जा। तू क्यों फिर मेरे पीछे चली आती है। हे तारे! तुझको मेरे प्रति जितनी हितैषिता और प्रीति दिखलानी चाहिये थी, उतनी तू दिखला चुकी ॥ ६ ॥

प्रतियोत्स्याम्यहं गत्वा सुग्रीवं जहि संभ्रमम् ।
दर्पमात्रं विनेष्यामि न च प्राणैर्विमोक्ष्यते ॥ ७ ॥

मैं तो सुग्रीव से युद्ध कर, उसका दर्प चूर्ण करूँगा, किन्तु उसकी जान न लूँगा। अतः तू विकल न हो ॥ ७ ॥

अहं ह्याजिस्थितस्यास्य करिष्यामि यथेप्सितम् ।
वृक्षैर्मुष्टिप्रहारैश्च पीडितः प्रतियास्यति ॥ ८ ॥

युद्ध के लिये खड़े सुग्रीव का जैसा कि तू कहती है, मैं वध न करूँगा। अतः मैं केवल वृक्षों और घूसों के प्रहार से उसे पीड़ित करूँगा, जिससे वह अपनी गुफा में लौट कर, चला जाय ॥ ८ ॥

न मे गर्वितमायस्तं सहिष्यति दुरात्मवान् ।
कृतं तारे सहायत्वं[1] सौहृदं दर्शितं मयि ॥ ९ ॥

हे तारे! वह दुरात्मा मेरी गर्व भरी चोट न सह सकेगा। तूने परामर्श दे अपना सौहार्द्र प्रकट किया है ॥ ९ ॥

शापितासि मम प्राणैर्निवर्तस्व जनेन च ।
अहं जित्वा निवर्तिष्ये तमहं भ्रातरं रणे ॥ १० ॥

तुझे मेरे प्राणों की शपथ (मेरी जान की क़सम) है। तू अब इन सब स्त्रियों के साथ लौट जा। मैं युद्ध में भाई को केवल हरा कर ही लौट आऊँगा ॥ १० ॥

---

१ सहायत्वं—बुद्धिसाहाय्यं। (गो०)

तं तु तारा परिष्वज्य वालिनं प्रियवादिनी ।
चकार रुदती मन्दं दक्षिणा[1] सा प्रदक्षिणम् ॥ ११ ॥

प्रियवादिनी और अत्यन्त चतुरा तारा, वालि के शरीर से लिपट कर धीरे धीरे (मन्द स्वर से) रोई और फिर उसने वालि की परिक्रमा की ॥ ११ ॥

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रवद्विजयैषिणी ।
अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता ॥ १२ ॥

फिर वालि के विजय के लिये मन्त्रयुक्त मङ्गलाचार कर, शोकाकुल हो, अन्य स्त्रियों सहित वह रनवास में चली गयी ॥ १२ ॥

प्रविष्टायां तु तारायां सह स्त्रीभिः स्वमालयम् ।
नगरान्निर्ययौ क्रुद्धो महासर्प इव श्वसन् ॥ १३ ॥

स्त्रियों सहित तारा के अन्तःपुर में चले जाने पर, वालि क्रुद्ध सर्प की तरह फुँसकारता हुआ, किष्किन्धा से बाहिर निकला ॥ १३ ॥

स निष्पत्य महातेजा वाली परमरोषणः ।
सर्वतश्चारयन्दृष्टिं शत्रुदर्शनकाङ्क्षया ॥ १४ ॥

महाबली वालि ने बाहिर निकल और रोष में भर, शत्रु को खोजने की आकांक्षा से, चारों ओर देखा ॥ १४ ॥

स ददर्श ततः श्रीमान्सुग्रीवं हेमपिङ्गलम् ।
सुसंवीतमवष्टब्धं दीप्यमानमिवानलम् ॥ १५ ॥

---

१ दक्षिणा—स्वहितपरहितयोश्च तुल्यहिता । (गो०)

तदनन्तर सोने की तरह पीले नेत्र वाले सुग्रीव को, कमर कसे और युद्ध के लिये तैयार देखा। उस समय सुग्रीव दहकती हुई आग की तरह जान पड़ते थे ॥ १५ ॥

स तं दृष्ट्वा महावीर्यं सुग्रीवं पर्यवस्थितम् ।
गाढं परिदधे वासो वाली परमरोषणः ॥ १६ ॥

इस प्रकार लड़ने के लिये तैयार सुग्रीव को देख, वालि ने भी अत्यन्त क्रुद्ध हो, कपड़े से अपनी कमर कस कर बाँधी ॥ १६ ॥

स वाली गाढसंवीतो मुष्टिमुद्यम्य वीर्यवान् ।
सुग्रीवमेवाभिमुखो ययौ योद्धुं कृतक्षणः[1] ॥ १७ ॥

पराक्रमी वालि कमर कस और घूँसा तान, सुग्रीव से लड़ने के लिये अवसर खोजता हुआ चला ॥ १७ ॥

श्लिष्टमुष्टिं समुद्यम्य संरब्धतरमागतः ।
सुग्रीवोऽपि तमुद्दिश्य वालिनं हेममालिनम् ॥ १८ ॥

सुग्रीव भी मूका तान और अत्यन्त क्रुद्ध; सोने का हार धारण किये हुए वालि के समीप गये ॥ १८ ॥

तं वाली क्रोधताम्राक्षः सुग्रीवं रणपण्डितम् ।
आपतन्तं महावेगमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

तब वालि, क्रोध के मारे रक्त नयन और रणविशारद सुग्रीव को महावेग से अपनी ओर आते देख, यह बोला ॥ १९ ॥

एष मुष्टिर्मया बद्धो गाढः सन्निहिताङ्गुलिः ।
मया वेगविमुक्तस्ते प्राणानादाय यास्यति ॥ २० ॥

---

१ कृतक्षणः—लब्धावसरो । (गो०)

देख, सब उँगलियों को मोड़ कर, मैंने जो यह मुका बांधा है, सो जब मैं बड़े ज़ोर से इसे तेरे मारूँगा, तब इसके लगने से तेरे प्राण निकल जायँगे ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः क्रुद्धो वालिनमब्रवीत् ।
तव चैव हरन्प्राणान्मुष्टिः पततु मूर्धनि ॥ २१ ॥

वालि के यह कहने पर सुग्रीव ने क्रुद्ध हो, वालि से कहा—हमारा मूका भी तेरे सिर पर लगने से तेरे प्राण हर लेगा ॥ २१ ॥

ताडितस्तेन संक्रुद्धस्तमभिक्रम्य वेगितः ।
अभवच्छोणितोद्गारी सोत्पीड इव पर्वतः ॥ २२ ॥

तब वालि ने अत्यन्त क्रुद्ध हो कर, बड़े ज़ोर से सुग्रीव के घूँसा मारा । उस घूँसे के लगने से सुग्रीव, उसी प्रकार मुख से खून थोकने लगा, जिस प्रकार पर्वत से झरने का जल निकलता है ॥ २२ ॥

सुग्रीवेण तु निःसङ्गं सालमुत्पाट्य तेजसा ।
गात्रेष्वभिहतो वाली वज्रेणेव महागिरिः ॥ २३ ॥

तब सुग्रीव ने साखू का एक पेड़ उखाड़, वालि के ऐसे मारा जैसे इन्द्र ने पर्वतराज के वज्र मारा था ॥ २३ ॥

स तु वाली प्रचलितः सालताडनविह्वलः ।
गुरुभारसमाक्रान्तो नौसार्थ इव सागरे ॥ २४ ॥

उस वृक्ष के लगने से विकल हो, वालि उसी तरह डगमगाया, जिस प्रकार बहुत बोझ से लदी हुई नाव, समुद्र के बीच डगमगाती है ॥ २४ ॥

तौ भीमबलविक्रान्तौ सुपर्णसमवेगिनौ ।
प्रवृद्धौ घोरवपुषौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥ २५ ॥

इस तरह भयङ्कर बल-विक्रम-शाली तथा गरुड़ के समान वेग-वान तथा विशाल काय वालि और सुग्रीव ऐसे लड़ने लगे, मानों आकाश में चन्द्र और सूर्य लड़ रहे हों ॥ २५ ॥

परस्परममित्रघ्नौ छिद्रान्वेषणतत्परौ ।
ततोऽवर्धत वाली तु बलवीर्यसमन्वितः ॥ २६ ॥
सूर्यपुत्रो महावीर्यः सुग्रीवः परिहीयते ।
वालिना भग्नदर्पस्तु सुग्रीवो मन्दविक्रमः ॥ २७ ॥

वे दोनों आपस में एक दूसरे की घात देख रहे थे। इस बीच में वालि का बल एवं पराक्रम बढ़ रहा था और सुग्रीव का घटता जाता था। सुग्रीव वालि द्वारा गर्वहीन और क्षीण पराक्रम हो गये ॥ २६ ॥ २७ ॥

वालिनं प्रति सामर्षो दर्शयामास राघवम् ।
वृक्षैः सशाखैः सशिखैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः ॥ २८ ॥
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः ।
तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ २९ ॥

परन्तु सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी को दिखाने के लिये, वालि के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो, जड़ व शाखा सहित पेड़ों, शिलाओं और वज्र सम धारवाले नखों से, घूँसों से, लातों से, जाँघों से और बाहुओं से बराबर लड़ने लगे। उन दोनों का युद्ध वैसा ही घोर हुआ, जैसा कि, वृत्रासुर के साथ इन्द्र का हुआ था ॥ २८ ॥ २९ ॥

तौ शोणिताक्तौ युध्येतां वानरौ वनचारिणौ ।
मेघाविव महाशब्दैस्तर्जयानौ* परस्परम् ॥ ३० ॥

वे दोनों वनचर बंदर युद्ध करते हुए रुधिर से तरबतर हो और मेघ की तरह घोर शब्द कर, परस्पर तर्जन गर्जन करने लगे ॥ ३० ॥

हीयमानमथोऽपश्यत्सुग्रीवं वानरेश्वरम् ।
प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, सुग्रीव का पराक्रम घट जाने के कारण वह वारंवार इधर उधर ताक रहा है ॥ ३१ ॥

ततो रामो महातेजा आर्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम् ।
शरं च वीक्षते वीरो वालिनो वधकारणात् ॥ ३२ ॥

तब महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव को आर्त्त देख, वालि का वध करने की इच्छा से, बाण की ओर देखने लगे ॥ ३२ ॥

ततो धनुषि सन्धाय शरमाशीविषोपमम् ।
पूरयामास तच्चापं कालचक्रमिवान्तकः ॥ ३३ ॥

फिर वे विषधर सर्प की तरह एक बाण धनुष पर रख, यमराज के कालचक्र की तरह, अपने धनुष के रोदे को खींचा ॥ ३३ ॥

तस्य ज्यातलघोषेण त्रस्ताः पत्ररथेश्वराः[1] ।
प्रदुद्रुवुर्मृगाश्चैव युगान्त इव मोहिताः ॥ ३४ ॥

---

१ पत्ररथेश्वराः—पक्षिश्रेष्ठाः । (गो०) * पाठान्तरे—" वर्जमानौ " ।

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष की टंकार से बड़े बड़े पक्षी और मृग भयभीत हुए और प्रलयकाल उपस्थित हुआ समझ, मोहित हो भागने लगे ॥ ३४ ॥

मुक्तस्तु वज्रनिर्घोषः प्रदीप्ताशनिसन्निभः ।
राघवेण महावाणो वालिवक्षसि पातितः ॥ ३५ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने, प्रदीप्त अग्नि के समान और वज्र जैसा शब्द करता हुआ महावाण छोड़ा । वह बड़े वेग से जा कर, वालि की छाती में लगा ॥ ३५ ॥

ततस्तेन महातेजा वीर्योत्सिक्तः कपीश्वरः ।
वेगेनाभिहतो वाली निपपात महीतले ॥ ३६ ॥

वाण के लगते ही महातेजस्वी और पराक्रमी वालि घायल हो ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ ३६ ॥

इन्द्रध्वज इवोद्धूतः पौर्णमास्यां महीतले ।
आश्वयुक्समये मासि गतश्रीको विचेतनः ॥ ३७ ॥

जैसे आश्विन की पूर्णिमा के अन्त में इन्द्रध्वज गिर पड़ता है, वैसे ही वालि गिरा और गिर कर श्रीहीन और अचेत हो गया ॥ ३७ ॥

नरोत्तमः कालयुगान्तकोपमं
शरोत्तमं काञ्चनरूप्यभूषितम् ।
ससर्ज दीप्तं तममित्रमर्दनं
सधूममग्निं मुखतो यथा हरः ॥ ३८ ॥

पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने कालरूपी, शत्रुनाशकारी एवं सुनहला और रुपहला कामदार शर, उसी प्रकार छोड़ा, जिस प्रकार शिव जी अपने मुख से धूम सहित आग छोड़ते हैं ॥ ३८ ॥

अथोक्षितः शोणिततोयविस्रवैः
सुपुष्पिताशोक इवानिलोद्धतः ।
विचेतनो वासवसूनुराहवे
विभ्रंशितेन्द्रध्वजवत्क्षितिं गतः ॥ ३९ ॥

॥ इति षोडशः सर्गः ॥

उस बाण के लगने से वालि का पर्वताकार शरीर रक्त के छींटों से रंग गया और वह पुष्पित अशोक वृक्ष की तरह देख पड़ने लगा। इन्द्रसुत वालि, मूर्छित हो पवन के झोंके से टूटे हुए इन्द्रध्वज की तरह भूमि पर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तदशः सर्गः

—※—

ततः शरेणाभिहतो रामेण रणकर्कशः ।
पपात सहसा वाली निकृत्त इव पादपः ॥ १ ॥

रणकर्कश वालि, श्रीरामचन्द्र जी के बाण से घायल हो, कटे हुए वृक्ष की तरह सहसा पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ १ ॥

स भूमौ न्यस्तसर्वाङ्गस्तप्तकाञ्चनभूषणः ।
अपतद्देवराजस्य मुक्तरश्मिरिव ध्वजः ॥ २ ॥

तपाये हुए सोने के आभूषण पहिने हुए वालि, ज़मीन पर कटी हुई डोरी वाली इन्द्रध्वजा की तरह गिर कर, पृथिवी पर लोट गया ॥ २ ॥

तस्मिन्निपतिते भूमौ वानराणां गणेश्वरे ।
नष्टचन्द्रमिव व्योम न व्यराजत भूतलम् ॥ ३ ॥

वानरराज वालि के भूमि पर गिरते ही उसके राज्य की भूमि उसी प्रकार शोभारहित हो गयी, जिस प्रकार चन्द्रमाहीन आकाश शोभारहित हो जाता है ॥ ३ ॥

भूमौ निपतितस्यापि तस्य देहं महात्मनः ।
न श्रीर्जहाति न प्राणा न तेजो न पराक्रमः ॥ ४ ॥

यद्यपि वालि ज़मीन पर गिर पड़ा, तथापि उस महात्मा के शरीर की शोभा, प्राण, तेज और पराक्रम नष्ट न हुए ॥ ४ ॥

शक्रदत्ता वरा माला काञ्चनी वज्रभूषिता ।
दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियं च सा ॥ ५ ॥

क्योंकि इन्द्रप्रदत्त, हीरे की जड़ाऊ, सुवर्ण की उत्तम, माला ने वानरराज वालि के प्राणों को, तेज को, और शोभा को रोक रखा था ॥ ५ ॥

स तया मालया वीरो हैमया हरियूथपः ।
सन्ध्यानुरक्तपर्यन्तः पयोधर इवाभवत् ॥ ६ ॥

वानरराज वीर वालि, उस सुवर्ण की माला को धारण करने से सन्ध्याकालीन मेघ की तरह शोभायमान हो रहा था ॥ ६ ॥

तस्य माला च देहश्च मर्मघाती च यः शरः ।
त्रिधेव रचिता लक्ष्मीः पतितस्यापि शोभते ॥ ७ ॥

यद्यपि वालि गिर पड़ा था, तथापि उस समय भी उस सुवर्ण की माला, रक्तरञ्जित देह और मर्मघाती तीर से वालि सुशोभित देख पड़ता था ॥ ७ ॥

तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम् ।
रामबाणासनात्क्षिप्तमावहत्परमां गतिम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष से छूटा हुआ और स्वर्ग का मार्ग दिखाने वाला (साधक) वह बाण वीर वालि को परमगति का देने वाला हुआ ॥ ८ ॥

तं तदा पतितं संख्ये गतार्चिषमिवानलम् ।
बहुमान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव ॥ ९ ॥
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात्परिच्युतम् ।
आदित्यमिव कालेन युगान्ते भुवि पातितम् ॥ १० ॥
महेन्द्रमिव दुर्धर्षं महेन्द्रमिव दुःसहम् ।
महेन्द्रपुत्रं पतितं वालिनं हेममालिनम् ॥ ११ ॥
सिंहोरस्कं महाबाहुं दीप्तास्यं हरिलोचनम् ।
लक्ष्मणानुगतो रामो ददर्शोपससर्प च ॥ १२ ॥

इस प्रकार संग्राम में घायल हो गिरे हुए ज्वाला रहित अग्नि की तरह अथवा पुण्यक्षीण होने पर स्वर्गच्युत ययाति की तरह अथवा प्रलय काल में पृथिवी पर गिरे हुए सूर्य की तरह और इन्द्र की तरह दुर्धर्ष, तथा विष्णु की तरह दुस्सह, ऊँची छाती वाले, बड़ी भुजा वाले, प्रदीप्त मुख और पीले नेत्रों वाले इन्द्रपुत्र वालि को देख, बहुसम्मान पुरस्सर दोनों भाई उसके समीप चले गये ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

तं दृष्ट्वा राघवं वाली लक्ष्मणं च महाबलम् ।
अब्रवीत्प्रश्रितं[1] वाक्यं परुषं धर्मसंहितम् ॥ १३ ॥

---

१ प्रश्रितं—विनयान्वितं । (गो०)

महाबली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को देख, वह (वालि) नम्रतायुक्त और धर्मयुक्त कठोर वचन बोला ॥ १३ ॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रथितः प्रियदर्शनः ।
कुलीनः सत्त्वसंपन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ॥ १४ ॥

तुम एक राजा के पुत्र, जगत्प्रसिद्ध, देखने में सुन्दर, कुलीन, बलवान्, तेजस्वी और व्रतधारी कहलाते हो ॥ १४ ॥

पराङ्मुखवधं[1] कृत्वा को नु प्राप्तस्त्वया गुणः[2] ।
यदहं युद्धसंरब्धः शरेणोरसि ताडितः ॥ १५ ॥

हे राम ! दूसरे से युद्ध करते हुए का वध कर, तुमने कौनसा बड़प्पन पाया । जिस समय मैं सुग्रीव के साथ युद्ध में फँसा हुआ था उस समय तुमने मेरे तीर मारा ॥ १५ ॥

कुलीनः सत्त्वसंपन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।
रामः करुणवेदी च प्रजानां च हिते रतः ॥ १६ ॥

हे राम ! तुम कुलीन, पराक्रमी, तेजस्वी, सदाचारी, करुणा के स्वरूप को जानने वाले, और प्रजा के हित में तत्पर रहने वाले हो ॥ १६ ॥

सानुक्रोशो महोत्साहः समयज्ञो[3] दृढव्रतः ।
इति ते सर्वभूतानि कथयन्ति यशो भुवि ॥ १७ ॥

आप दयावान्, बड़े उत्साही, आचार के जानने वाले और दृढ़ व्रतधारी हैं । पृथिवी के सब जन इस प्रकार तुमको प्रसिद्ध कर तुम्हारे यश का बखान किया करते हैं ॥ १७ ॥

---

१ पराङ्मुखवध—परयुद्धासक्तवधं । (गो०) २ गुणः—उत्कर्षः । (गो०) ३ समयज्ञः—आचारज्ञः । (गो०)

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः ।
पार्थिवानां गुणा राजन्दण्डश्चाप्यपराधिषु ॥ १८ ॥

दम, शम, क्षमा, धर्म, धैर्य, सत्व, पराक्रम और अपराधियों को दण्ड देना—ये राजाओं के गुण हैं ॥ १८ ॥

तान्गुणान्संप्रधार्याहमग्र्यं चाभिजनं तव ।
तारया प्रतिषिद्धोऽपि सुग्रीवेण समागतः ॥ १९ ॥

मैं सुना करता था कि, तुम में ये सब राजोचित गुण हैं और आपको श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुआ जान, तारा के मना करने पर भी, मैं सुग्रीव से युद्ध करने को तैयार हुआ था ॥ १९ ॥

न मामन्येन संरब्धं प्रमत्तं योद्धुमर्हति ।
इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव ॥ २० ॥

दूसरे के साथ युद्ध में प्रवृत्त, दूसरी ओर ध्यान देने वाले मुझ पर तुम तीर न छोड़ोगे—यह मेरा विचार तब था, जब मैंने आपको देखा भी न था ॥ २० ॥

स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम् ।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥ २१ ॥

परन्तु अब मैंने अच्छी तरह जान लिया कि, तुम कोरी धर्म की ध्वजा उड़ाने वाले, तृणों से ढके हुए कूप की तरह, अधर्मी और पापाचारी हो ॥ २१ ॥

सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम् ।
नाहं त्वामभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम् ॥ २२ ॥

तुम्हारा वेश मात्र सज्जनों जैसा है, किन्तु छिपी हुई आग की तरह, तुम कपटी धर्मानुष्ठानी हो ॥ २२ ॥

विषये वा पुरे वा ते यदा नापकरोम्यहम् ।
न च त्वामवजाने च कस्मात्त्वं हंस्यकिल्विषम् ॥ २३ ॥

हे राम! मैंने तुम्हारे देश या नगर में कोई बुरा काम नहीं किया। इस लिये मेरी समझ में नहीं आता कि, तुमने क्यों मुझे मारा है ॥ २३ ॥

फलमूलाशनं नित्यं वानरं वनगोचरम् ।
मामिहाप्रतियुध्यन्तमन्येन च समागतम् ॥ २४ ॥

देखो, मैं तो सदा फल मूल खाया करता हूँ और वन में रहने वाला वंदर हूँ। फिर मैं तो दूसरे के साथ युद्ध में फँसा हुआ था ॥ २४ ॥

लिङ्गमप्यस्ति ते राजन्दृश्यते धर्मसंहितम् ।
कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवान्[1]नष्टसंशयः[2] ॥ २५ ॥
धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः क्रूरं कर्म समाचरेत् ।
राम राजकुले जातो धर्मवानिति विश्रुतः ॥ २६ ॥

हे राजन्! तुम धर्मधारियों जैसे चिन्ह भी धारण किये हुए हो। फिर भला बतलाओ तो, कौन ऐसा क्षत्रियकुलोत्पन्न, शास्त्रों को सुन कर, धर्माधर्म के सम्बन्ध में संशयहीन हो तथा धर्मधारियों जैसे चिन्ह धारण कर, तुम्हारी तरह ऐसा कठोर कर्म करेगा। हे रामचन्द्र! तुम महाराज रघु के कुल में उत्पन्न हुए हो और धर्मात्मा कहलाते हो ॥ २५ ॥ २६ ॥

अभव्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसि ।
साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ ॥ २७ ॥

---

१ श्रुतवान्—शास्त्रश्रवण सम्पन्नः अतएव २ नष्टसंशयः—धर्माधर्मविषयक संशयरहितः। (शि०)

फिर तुम सौम्य हो कर भी, सुग्रीव जैसे क्रूर जन के साथ क्यों फिरते हो। अथवा शुभरूप धारण करके तुम अधर्म कर्म क्यों करते हो अथवा जब कि तुम इस प्रकार के पापाचारी हो, तब तुम अपने को धर्म के वेश में क्यों छिपाये रहते हो ? हे राजन्! क्षमा, दान, धर्म, सत्य, धैर्य, पराक्रम ॥ २७ ॥

पार्थिवानां गुणा राजन्दण्डश्चाप्यपराधिषु ।
वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशनाः ॥ २८ ॥

और अपराधियों को दण्ड देना—ये राजाओं के गुण हैं। हे राम! हम लोग तो फल मूल खाने वाले, वनचारी शाखामृग (बंदर) हैं ॥ २८ ॥

एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं[1] नरेश्वरः ।
भूमिर्हिरण्यं रूप्यं च विग्रहे कारणानि च ॥ २९ ॥
अत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा ।
नयश्चविनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि ॥ ३० ॥
राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः ।
त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थितः ॥ ३१ ॥
राजवृत्तैश्च सङ्कीर्णः शरासनपरायणः ।
न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता ॥ ३२ ॥

हम लोगों का तो यह स्वभाव है। (अर्थात् यदि हम लोगों की बुद्धि पशुओं जैसी हो तो आश्चर्य नहीं) किन्तु आप केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि नरेश्वर अर्थात् राजा हो। (आप में तो पशु-बुद्धि कभी न आनी चाहिये) मनुष्यों में ज़मीन, और धन दौलत

---

1 पुरुषः मनुष्यः। (गो०)

को ले कर झगड़े उठ खड़े होते हैं। (सो हमारे पास तो केवल वन के फल मूल हैं) सो क्या आपको इन फल मूलों का या मेरे अधिकृत वन का लोभ (इस कार्य में प्रवृत्ति का कारण) है? नीति, विनय, अनुग्रह और विग्रह—राजाओं के लिये अनुष्ठेय होने पर भी, इनके अनुष्ठान में स्वेच्छाचारिता नहीं करनी चाहिये, किन्तु तुम तो अत्यन्त स्वेच्छाचारी, कोपन स्वभाव, चञ्चल चित्त और राजनीति के विरुद्ध आचरण वाले तथा धनुष बाण धारण करने वाले हो। तुममें न तो धर्म का आदर है और न तुम्हारी बुद्धि ही स्थिर है ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

इन्द्रियैः कामवृत्तः सन्कृष्यसे मनुजेश्वर ।
हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम् ॥ ३३ ॥

हे नरनाथ! तुम तो स्वेच्छाचारी होने के कारण इन्द्रियों के दास बने हुए हो। मुझ जैसे निरपराधी को तीर से मार कर ॥ ३३ ॥

किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कृत्वा कर्म जुगुप्सितम् ।
राजहा ब्रह्महा गोघ्नश्चोरः प्राणिवधे रतः ॥ ३४ ॥
नास्तिकः परिवेत्ता च सर्वे निरयगामिनः ।
सूचकश्च कदर्यश्च[1] मित्रघ्नो गुरुतल्पगः ॥ ३५ ॥
लोकं पापात्मनामेते गच्छन्त्यत्र न संशयः ।
अधार्यं चर्म मे सद्भी रोमाण्यस्थि च वर्जितम् ॥ ३६ ॥

और ऐसा घृणित कर्म कर के तुम सज्जनों के बीच में क्या कहोगे? देखो राजघाती, ब्राह्मणघाती, गोघाती, चोर और जीव-

---

१ कदर्यः—लुब्धः ।

धारियों की हिंसा में तत्पर, नास्तिक, परिवेत्ता (ज्येष्ठ भ्राता के अविवाहित होने पर भी अपना विवाह कर लेने वाला) ये सब नरकगामी होते हैं। चुग़लखोर, सूम, मित्रघाती, गुरुपत्नीगामी भी निस्सन्देह नरकगामी होते हैं। हे श्रीराम ! देखो, जो सज्जन लोग हैं वे न तो मेरे चर्म को और न मेरे रुश्रों को और न मेरी हड्डियों को अपने काम में लाते हैं ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

अभक्ष्याणि च मांसानि त्वद्विधैर्धर्मचारिभिः ।
पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण[1] राघव ॥ ३७ ॥
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः ।
चर्म चास्थि च मे राजन्न स्पृशन्ति मनीषिणः ॥ ३८ ॥

तुम जैसे धर्मचारी जन हम लोगों का मांस भी नहीं खाते। क्योंकि हे राघव! पांच नख वाले पांच जन्तु यथा श्वाविध, सेई, गोह, खरगोश और कछुआ ब्राह्मण और क्षत्रियों के खाने योग्य हैं। किन्तु हे राजन्! जो समझदार लोग हैं, वे तो मेरी चाम और हड्डी भी नहीं छूते ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

[नोट—श्लोक ३७ में "ब्रह्मक्षत्रेण" को देख मानना पड़ेगा कि, रामायणकाल में मांसभक्षण की प्रथा ब्राह्मणों और क्षत्रियों में समान रूप से वर्तमान थी।]

अभक्ष्याणि च मांसानि सोऽहं पञ्चनखो हतः ।
तारया वाक्यमुक्तोऽहं सत्यं सर्वज्ञया हितम् ॥ ३९ ॥

और मांस तो हमारा अभक्ष्य है ही। सो वर्जित पांच नख वालों में से मुझको तुमने मारा है। सब हाल जानने वाली तारा ने मुझसे सत्य और हित ही की बात कही थी ॥ ३९ ॥

---

1 ब्रह्मक्षत्रेणेत्युपलक्षणं त्रैवर्णिकेनेत्यर्थः । (गो०)

तदतिक्रम्य मोहेन कालस्य वशमागतः ।
त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुन्धरा ॥ ४० ॥
प्रमदा शीलसम्पन्ना धूर्तेन पतिना यथा ।
शठो नैकृतिकः क्षुद्रो मिथ्याप्रश्रितमानसः ॥ ४१ ॥

किन्तु मैं अज्ञानवश उनका कहना न मान, कालकवलित हुआ । हे काकुत्स्थ ! जिस प्रकार धूर्त पति को पा कर सुशील स्त्री सनाथ नहीं होती, उसी प्रकार तुम जैसे नाथ को पा कर, पृथिवी सनाथ नहीं हुई । क्योंकि तुम तो धूर्त, अपकारी, ओछे, और बनावटी शान्ति को धारण करने वाले हो ॥ ४० ॥ ४१ ॥

कथं दशरथेन त्वं जातः पापो महात्मना ।
छिन्नचारित्रकक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिना ॥ ४२ ॥

दशरथ जैसे महात्मा के तुम जैसे पापात्मा कैसे उत्पन्न हुए ? जिसने चारित्र रूप बन्धन को तोड़ डाला और सज्जनों के धर्ममार्ग को उल्लङ्घन किया है ॥ ४२ ॥

त्यक्तधर्माङ्कुशेनाहं निहतो रामहस्तिना ।
अशुभं चाप्ययुक्तं च सतां चैव विगर्हितम् ॥ ४३ ॥

और जिसने धर्म रूपी अङ्कुश का भय त्याग दिया है, उस राम रूपी हाथी से मैं मारा गया हूँ । अशुभ, अयुक्त और सज्जनों से निन्दित ॥ ४३ ॥

वक्ष्यसे चेदृशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः ।
उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमस्ते प्रकाशितः ॥ ४४ ॥
अपकारिषु तं राजन्न हि पश्यामि विक्रमम् ।
दृश्यमानस्तु युध्येथा मया यदि नृपात्मज ॥ ४५ ॥

कर्म कर, तुम सज्जनों के सामने क्या जवाब दोगे ? मुझ उदासीनों पर तुमने जैसा बल पराक्रम दिखलाया है, वैसा अपकारियों पर प्रकट करते तुम मुझे नहीं देख पड़ते । हे राजकुमार ! यदि तुम मेरे सम्मुख हो कर मुझसे लड़ते ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया ।
त्वयाऽदृश्येन तु रणे निहतोऽहं दुरासदः ॥ ४६ ॥

तो तुम मेरे हाथ से मारे जा कर, अवश्य यमराज का दर्शन करते । परन्तु क्या कहूँ ? तुमने तो छिप कर, मुझे वैसे मारा है ॥ ४६ ॥

प्रसुप्तः पन्नगेनेव नरः पापवशं गतः ।
सुग्रीवप्रियकामेन यदहं निहतस्त्वया ॥ ४७ ॥
मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः ।
मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान्भवेत् ॥ ४८ ॥

जैसे पापात्मा लोग सोते हुए सर्प को मार डालते हैं । हे राम ! यदि तुमने सुग्रीव को प्रसन्न करने के लिये मुझे मारा है और यदि तुम मुझे अपना यह प्रयोजन बतला देते, तो मैं एक ही दिन में सीता को ला देता ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यां ते निहतं रावणं रणे ।
न्यस्तां सागरतोये वा पाताले वापि मैथिलीम् ॥ ४९ ॥
आनयेयं तवादेशाच्छ्वेतामश्वतरीमिव ।
युक्तं यत्प्राप्नुयाद्राज्यं सुग्रीवः स्वर्गते मयि ॥ ५० ॥

यही नहीं, बल्कि उस रावण को संग्राम में मार और उसका गला बांध, तुम्हारे पास ले आता । तुम्हारी सीता चाहे समुद्र जल के

भीतर होती अथवा पाताल ही में क्यों न होती, किन्तु तुम्हारी आज्ञा के अनुसार उसी प्रकार सीता को ला देता, जिस प्रकार हयग्रीव भगवान् मधु और कैटभ नाम दैत्यों से पाताल में अवरुद्ध श्वेताश्वतरी रूपी श्रुति को ले आये थे। मेरे स्वर्गवासी होने पर सुग्रीव को राज्य मिलना तो ठीक ही है ॥ ४९ ॥ ५० ॥

अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाऽहं निहतो रणे।
काममेवंविधो लोकः कालेन विनियुज्यते।
क्षमं चेद्भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम् ॥ ५१ ॥

किन्तु तुम्हारे हाथ से अधर्मपूर्वक मेरा मारा जाना अनुचित है। जो जन्मता है वह एक दिन अवश्य मरेगा ही। सो मुझे अपने मरने का तो कुछ भी विषाद नहीं है। किंतु विषाद तो मुझे इस बात का है कि, तुम अपने अनुचित कृत्य का उत्तर लोगों को क्या दोगे? सो तुम इसका ठीक ठीक उत्तर सोच लो ॥ ५१ ॥

इत्येवमुक्त्वा परिशुष्कवक्त्रः
शराभिघाताद्व्यथितो महात्मा।
समीक्ष्य रामं रविसन्निकाशं
तूष्णीं बभूवामरराजसूनुः ॥ ५२ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

यह कहते कहते महाबलवान वालि का मुख सूख गया और तीर के घाव से वह व्यथित हो गया। फिर सूर्य के समान प्रकाशमान श्रीरामचन्द्र जी को सामने देख, इन्द्रपुत्र वालि चुप हो गया ॥५२॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

अष्टादशः सर्गः

—※—

इत्युक्तः प्रश्रितं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
परुषं वालिना रामो निहतेन विचेतसा ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा घायल और अचेतन वालि, श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार विनयान्वित धर्म-अर्थ-युक्त तथा हितकर, किन्तु कठोर, वचन बोला ॥ १ ॥

तं निष्प्रभमिवादित्यं मुक्ततोयमिवाम्बुदम् ।
उक्तवाक्यं हरिश्रेष्ठमुपशान्तमिवानलम् ॥ २ ॥
धर्मार्थगुणसम्पन्नं हरीश्वरमनुत्तमम्
अधिक्षिप्तस्तदा रामः पश्चाद्वालिनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

आभाहीन सूर्य, अथवा जलरहित मेघ, अथवा बुझी हुई आग के समान, धर्मार्थ-गुण-युक्त वचनों से, उत्तम वानरनाथ वालि द्वारा आक्षेप किये जाने पर, श्रीरामचन्द्र जो वालि से बोले ॥ २ ॥ ३ ॥

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम् ।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे ॥ ४ ॥

धर्म, अर्थ, काम और लौकिकाचार को जाने विना ही, तुम बालक की तरह, मेरी निन्दा क्यों करते हो ? ॥ ४ ॥

अपृष्ट्वा बुद्धिसम्पन्नान्वृद्धानाचार्यसम्मतान् ।
सौम्य वानर चापल्यात्किं मां वक्तुमिहेच्छसि ॥ ५ ॥

हे सौम्य ! मान्य आचार्यों और बुद्धिमान् बड़े बूढ़ों से विना पूँछे, वानर-स्वभाव-सुलभ चपलतावश, क्या तुम मुझसे इस विषय में कुछ कह सकते हो ? ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना ।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहप्रग्रहावपि ॥ ६ ॥

(क्या तुम नहीं जानते कि,) पर्वतों और वनों सहित यह समस्त भूमण्डल इक्ष्वाकुवंश वालों का है। इस अखिल भूमण्डल में जितने पशु पक्षी मनुष्य रहते हैं, उन सब को दण्ड देने अथवा उन पर अनुग्रह करने का इक्ष्वाकुवंशवालों को अधिकार है ॥ ६ ॥

तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवागृजुः ।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥ ७ ॥

भरतजी, जो सत्यवादी, सीधे, धर्म, काम और अर्थ के तत्व के ज्ञाता तथा अपराधियों को दण्ड देने और साधुओं पर अनुग्रह करने में तत्पर हैं, इस समय इस भूमण्डल का शासन कर रहे हैं ॥ ७ ॥

नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन्सत्यं च सुस्थितम् ।
विक्रमश्च यथादृष्टः स राजा देशकालवित् ॥ ८ ॥

भरतजी नीतिवान् और शिक्षित राजा हैं। वे सत्याचरण में निरत हैं और पराक्रमी होने के साथ साथ यथोचित देश काल के जानने वाले हैं ॥ ८ ॥

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः ।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः[1] ॥ ९ ॥

---

[1] धर्मसन्तान—धर्मवृद्धि। (गो०)

उन्हींके धर्माज्ञापालक हम तथा अन्य राजा लोग धर्मवृद्धि की कामना से, सारी पृथिवी पर घूमा फिरा करते हैं ॥ ६ ॥

तस्मिन्नृपतिशार्दूले भरते धर्मवत्सले ।
पालयत्यखिलां भूमिं कश्चरेद्धर्मनिग्रहम् ॥ १० ॥

उन राजसिंह और धर्मवत्सल राजा भरत के राज्यकाल में किस पुरुष में सामर्थ्य है, जो धर्मविरुद्ध कोई कर्म कर सके ? ॥१०॥

ते वयं धर्मविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः ।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृह्णीमो यथाविधि ॥ ११ ॥

हम लोग भरत जी की आज्ञा के अनुसार तथा अपने उत्कृष्ट धर्ममार्ग पर आरूढ़ हो, अधर्मयुक्त पुरुषों का यथाविधि विचार किया करते हैं ॥ ११ ॥

त्वं तु संक्लिष्टधर्मा च कर्मणा च विगर्हितः ।
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि ॥ १२ ॥

तुम धर्म को सताने वाले, कुकर्म में रत, केवल काम के दास बन कर, राजधर्म की उपेक्षा कर रहे हो ॥ १२ ॥

ज्येष्ठो भ्राता पिता चैव यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे पथि हि वर्तिनः ॥ १३ ॥

धर्ममार्ग पर चलने वाले जनों के मतानुसार जेठा भाई, पिता और विद्यादाता गुरु ये तीनों ही जन्मदाता पिता के बराबर हैं ॥१३॥

यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः ।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चेदत्र कारणम् ॥ १४ ॥

धर्म की व्यवस्था के अनुसार छोटा भाई, पुत्र और शिष्य ; ये तीनों पुत्र के बराबर हैं ॥ १४ ॥

सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवङ्गम ।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम् ॥ १५ ॥

हे वानर! सज्जनों का धर्म ऐसा सूक्ष्म है कि, सहज में उसे कोई जान नहीं सकता। परन्तु वह धर्म प्रत्येक प्राणी के हृदय में वर्त्तमान है। इसीसे अन्तरात्मा द्वारा ही शुभाशुभ का ज्ञान हुआ करता है ॥ १५ ॥

चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः ।
जात्यन्ध इव जात्यन्धैर्मन्त्रयन्द्रक्ष्यसे नु किम् ॥ १६ ॥

तुम बन्दर की जाति के और चञ्चल स्वभाव के हो! तुम अपने जैसे अशिक्षित बुद्धिवाले बंदरों के साथ परामर्श कर धर्म की सूक्ष्मगति को कैसे जान सकते हो! क्योंकि जो मनुष्य जन्मान्ध होता है वह यदि किसी दूसरे जन्मान्ध, के साथ परामर्श कर, मार्ग जानना चाहे तो क्या उसे मार्ग मिल सकता है? ॥ १६ ॥

अहं तु व्यक्ततामस्य वचनस्य ब्रवीमि ते ।
न हि मां केवलं रोषात्त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

अब मैं अपने इस कथन को स्पष्ट किये देता हूँ। तुम केवल रोष में भर मुझे दोषी नहीं ठहरा सकते ॥ १७ ॥

तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः ।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥ १८ ॥

पहिले जिस लिये मैंने तुमको मारा है, उसका कारण जान लो। तुमने सनातन धर्म को छोड़, अपने भाई की भार्या को अपनी भार्या बना लिया है ॥ १८ ॥

अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात्स्नुषायां पापकर्मकृत् ॥ १९ ॥

इन महात्मा सुग्रीव के जीवित रहते, इनकी भार्या रुमा के साथ, जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, तुम कामासक्त हो, पापकर्म करते हो ॥ १६ ॥

तद्व्यतीतस्य ते धर्मात्कामवृत्तस्य वानर।
भ्रातृभार्याविमर्शेऽस्मिन्दण्डोऽयं प्रतिपादितः ॥ २० ॥

तुमने कामासक्त हो धर्ममार्ग का उल्लङ्घन किया है। भाई की स्त्री के साथ बुरा काम करने के लिये मैंने यह दण्ड तुमको दिया है ॥ २० ॥

न हि धर्मविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप ॥ २१ ॥

हे हरियूथप! धर्म की मर्यादा की उल्लङ्घन करने वाले और लोक-व्यवहार की मर्यादा के विरुद्ध चलने वाले को मारने के सिवाय मुझे और कोई दण्ड नहीं देख पड़ता ॥ २१ ॥

न हि ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्भवः।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाऽप्यनुजस्य यः ॥ २२ ॥

मेरा जन्म श्रेष्ठ क्षत्रिय कुल में हुआ है, अतः मैं पाप अर्थात् पपी को इस तरह नहीं देख सकता। जो कोई सहोदरा भगिनी अथवा अपने छोटे भाई की स्त्री ॥ २२ ॥

प्रचरेत नरः कामात्तस्य दण्डो वधः स्मृतः।
भरतस्तु महीपालो वयं चादेशवर्तिनः ॥ २३ ॥

के साथ कामव्यवहार (बुरा काम) करता है, उसके लिये वध ही उचित दण्ड बतलाया गया है। हम तो महाराज भरत के आज्ञापालक हैं ॥ २३ ॥

त्वं तु धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम् ।
गुरुधर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन् ॥ २४ ॥

अतः हम तुमसे धर्मत्याग करने वाले की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं, क्योंकि जो बुद्धिमान धर्म (ईमानदारी) से प्रजा का पालन करते हैं, वे महाअधर्मियों का निग्रह किये बिना कैसे रह सकते हैं ? ॥ २४ ॥

भरतः कामवृत्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः ।
वयं तु भरतादेशं विधिं कृत्वा हरीश्वर ॥ २५ ॥

भरत जी ने कामाधीन और स्वेच्छाचारियों को दण्ड देने की व्यवस्था की है। सो हे हरीश्वर ! हम लोग भरत के निर्देशानुसार शास्त्र की विधि का पालन करने में तत्पर रहते हैं ॥ २५ ॥

त्वद्विधान्भिन्नमर्यादान्नियन्तुं पर्यवस्थिताः ।
सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा ॥ २६ ॥

और तुम जैसे धर्म की मर्यादा तोड़ने वालों का नियन्त्रण करने को तैयार रहते हैं। फिर सुग्रीव मेरा मित्र है। मेरे लिये जैसे लक्ष्मण हैं वैसे ही सुग्रीव भी हैं ॥ २६ ॥

दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयसि रतः स मे ।
प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसन्निधौ ॥ २७ ॥

यह मित्रता स्त्री और राज्य के लिये हुई है, इसके लिये वानरों के सामने मैं सुग्रीव को वचन भी दे चुका हूँ ॥ २७ ॥

प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ।
तदेभिः कारणैः सर्वैर्महद्भिर्धर्मसंहितैः ॥ २८ ॥
शासनं तव यद्युक्तं तद्भवाननुमन्यताम् ।
सर्वथा धर्म इत्येव द्रष्टव्यस्तव निग्रहः ॥ २९ ॥

सो भला मुझ जैसा पुरुष अपनी प्रतिज्ञा को कैसे तोड़ सकता है। इन्हीं सब धर्मविषयक बड़े बड़े कारणों से तुम्हें मैंने जो उचित दण्ड दिया है, उसे तुम भी मान लो। तुम्हें जो दण्ड दिया गया है, वह सब प्रकार से धर्मानुसार है ॥ २८ ॥ २९ ॥

वयस्यस्यापि कर्तव्यं धर्ममेवानुपश्यतः ।
शक्यं त्वयापि तत्कार्यं धर्ममेवानुपश्यता ॥ ३० ॥

मित्र के कर्त्तव्य की ओर दृष्टि रखते हुए, मुझे मित्र का उपकार करना उचित ही था और धर्म की ओर दृष्टि करके तुमको भी यह उचित था कि, तुम प्रार्थनापूर्वक यह दण्ड ग्रहण करते ॥ ३० ॥

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ[1] ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तत्तथा चरितं हरे ॥ ३१ ॥

हे वानर! इस विषय में मनु जी के शुभाचरण प्रतिपादक दो श्लोक सुने जाते हैं। इनको धर्मज्ञ पुरुषों ने भी माना है और मैं भी मानता हूँ ॥ ३१ ॥

---

१ चारित्रवत्सलौ—शुभाचरणप्रतिपादकौ। (शि०)

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३२ ॥

उन श्लोकों का अभिप्राय यह है कि, जो मनुष्य पाप करने पर राजा द्वारा दण्डित किये जाते हैं वे पाप से मुक्त हो, पुण्यात्मा सत्पुरुषों की तरह, स्वर्गवासी होते हैं ॥ ३२ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।
राजा त्वशासन्पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३३ ॥

जो चोर अथवा पापी स्वयं जा कर राजा से अपना पापकर्म कह देता है और दण्ड चाहता है, उसे राजा चाहे तो दण्ड दे चाहे दण्ड न दे कर क्षमा कर दे। दोनों दशाओं में वह पापी तो पाप से छूट जाता है; किन्तु राजा पापी को पाप का दण्ड न देने से स्वयं पाप का भागी हो जाता है ॥ ३३ ॥

आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम् ।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतम् त्वया ॥ ३४ ॥

जैसा पाप तुमने किया है वैसा हो किसी श्रमण (बौद्ध सन्यासी) ने भी किया था और जब वह दण्डित होने के लिये महाराज मान्धाता के पास गया; तब उन्होंने उसे दण्ड न दे कर क्षमा कर दिया। इसके लिये महाराज मान्धाता को घोर कष्ट सहना पड़ा था ॥ ३४ ॥

[नोट—इस श्लोक में "श्रमण" शब्द देख, कहना पड़ेगा कि बौद्धमत राजा मान्धाता के समय में भी प्रचलित था। श्रमण का अर्थ टीकाकार ने "क्षपणक" किया है। क्षपणक का अर्थ आपटे साहब ने अपने कोश में, A Baudha or Jaina mendicant, लिखा है।]

अन्यैरपि कृतं पापं प्रमत्तैर्वसुधाधिपैः ।
प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः ॥ ३५ ॥

इसी तरह अन्य लोग जो प्रमादवश पाप कर, राजाओं द्वारा दण्ड ग्रहण कर, प्रायश्चित्त कर डालते हैं, इससे उनका पाप दूर हो जाता है ॥ ३५ ॥

तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः ॥ ३६ ॥

हे वानरोत्तम ! अब तुम्हारा पछताना व्यर्थ है। क्योंकि यह तुम्हारा वध धर्मानुसार ही किया गया है और मैं धर्मशास्त्र के वश में हूँ; स्वतन्त्र नहीं हूँ ॥ ३६ ॥

शृणु चाप्यपरं भूयः कारणं हरिपुङ्गव ।
यच्छ्रुत्वा हेतुमद्वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! इस विषय के और भी कारण है, मैं उन्हें भी तुम्हें बतलाता हूँ। उनको सुनकर तुम अपने मन का क्रोध त्याग दो ॥ ३७ ॥

न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरियूथप ।
वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः ॥ ३८ ॥
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून्मृगान् ।
प्रधावितान्वा वित्रस्तान्विस्रब्धांश्चापि निष्ठितान् ॥ ३९ ॥

हे हरियूथप ! मैंने तुमको जो छिप कर मारा है, सो इसके लिये न तो मुझे सन्ताप है और न दुःख ही। क्योंकि अनेक शिकारी लोग जाल, फंदा और कपट व्यवहार से, छिपकर या प्रकट हो कर,

भागते हुए, डरे हुए, निर्भय बैठे हुए अनेक मृग पकड़ा ही करते हैं ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

प्रमत्तानप्रमत्तान्वा नरा मांसार्थिनो भृशम् ।
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते ॥ ४० ॥

मांसाहारी लोग सावधान या असावधान मृगों को पीठ पीछे से मारा ही करते हैं। इसमें कुछ भी दोष नहीं है ॥ ४० ॥

यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः ।
तस्मात्त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर ॥ ४१ ॥

धर्म के तत्व को जानने वाले बड़े बड़े राजर्षि शिकार खेला ही करते हैं। हे वानर! इसीसे मैंने भी छिप कर, तुम्हें युद्ध में बाण से मारा है ॥ ४१ ॥

अयुध्यन्प्रतियुध्यन्वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि ।
दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च ॥ ४२ ॥
राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न संशयः ।
तान्न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत् ॥ ४३ ॥

चाहें तुम्हारे साथ युद्ध कर अथवा युद्ध न कर, मैंने तुम्हें मारा, तो इसमें दोष क्या है? क्योंकि तुम वानर तो हो ही। देखो, दुर्लभ धर्म, जीवन और कल्याण के देने वाले राजा ही होते हैं। अतः उनको न तो मारना चाहिये, न उन पर क्रोध करना चाहिये, न उन पर आक्षेप करना चाहिये और न उनसे कटुवचन कहने चाहिये ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

देवा मनुष्यरूपेण चरन्त्येते महीतले ।
त्वं तु धर्ममविज्ञाय केवलं रोषमास्थितः ॥ ४४ ॥

प्रदूषयसि मां धर्मे पितृपैतामहे स्थितम् ।
एवमुक्तस्तु रामेण वाली प्रव्यथितो भृशम् ॥ ४५ ॥

क्योंकि वे साधारण मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत वे मनुष्य रूपी देवता पृथिवी पर घूमा करते हैं। तुम तो धर्म का तिरस्कार कर, केवल क्रोध के वशवर्ती हो मुझको, जो बाप दादों के धर्म पर आरूढ़ हूँ, दोष लगाते हो। श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कहने पर, वालि को बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

न दोषं राघवे दध्यौ धर्मेऽधिगतनिश्चयः ।
प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः ॥ ४६ ॥

वह धर्म की दृष्टि से सोचने लगा और भली भाँति विचार कर, उसने श्रीरामचन्द्र जी को निर्दोष पाया। तब कपिराज वालि ने हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ४६ ॥

यत्त्वमात्थ नरश्रेष्ठ तदेवं नात्र संशयः ।
प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि* नाप्रकृष्टस्तु शक्नुयात्† ॥ ४७ ॥

हे पुरुषोत्तम! तुम जो कहते हो सो निसन्देह ठीक है। भला क्षुद्र जन की क्या सामर्थ्य है, जो उत्कृष्ट जनों के साथ उत्तर प्रत्युत्तर कर सके ॥ ४७ ॥

तदयुक्तं मया पूर्वं प्रमादादुक्तमप्रियम् ।
तत्रापि खलु मे दोषं कर्तुं नार्हसि राघव ॥ ४८ ॥

पहिले मैंने भूल से जो कठोर वचन कहे, हे राघव! उनके लिये मुझे तुम दोषी मत ठहराओ ॥ ४८ ॥

---

* पाठान्तरे—" प्रकृष्टेऽहं "। † पाठान्तरे—" शक्नुयाम् "।

त्वं हि दृष्टार्थतत्त्वज्ञः[1] प्रजानां च हिते रतः।
कार्यकारणसिद्धौ[2] ते प्रसन्ना बुद्धिरव्यया ॥ ४९ ॥

क्योंकि तुम तो हम लोगों के मन की बातों को जानने वाले अथवा सब पदार्थों के तत्त्व को जानने वाले और प्रजाजनों के हित में तत्पर हो। तुम दण्डविधान करने और दण्ड का कारण निश्चित करने में निपुण हो ॥ ४९ ॥

मामप्यगतधर्माणं व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम्।
धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय ॥ ५० ॥

हे धर्मज्ञ! मैं धर्म उल्लङ्घन करने वालों में अग्रणी हूँ। तुम धर्मयुक्त वचनों (के उपदेश) से मुझको उत्तम लोक दे कर, मेरा प्रतिपालन करो ॥ ५० ॥

न त्वात्मानमहं शोचे न तारां न च बान्धवान्।
यथा पुत्रं गुणश्रेष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम् ॥ ५१ ॥

मुझे न तो अपनी, न तारा की और न भाईबन्दों की कुछ चिन्ता है। किन्तु मुझे इस समय जो कुछ चिन्ता है, वह सोने के बाजू पहिने हुए, अपने गुणी पुत्र अङ्गद की है ॥ ५१ ॥

स ममादर्शनाद्दीनो बाल्यात्प्रभृति लालितः।
तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति ॥ ५२ ॥

---

१ दृष्टार्थतत्त्वज्ञः—अस्मदादिज्ञान विषयीभूतार्थ याथार्थ्य विज्ञाता। (शि०) २ कार्यकारणसिद्धौ—कार्यं दण्डनं कारणं तद्धेतु भूतंपापं तयोः सिद्धौ परिज्ञाने। (गो०)

क्योंकि लड़कपन से बड़े दुलार के साथ पाला पोसा हुआ मेरा वह पुत्र, मुझे न देख कर, सूखे हुए तालाव की तरह सूख जायगा ॥ ५२ ॥

वालश्चाकृतवुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः ।
तारेयो राम भवता रक्षणीयो महावलः ॥ ५३ ॥

हे राम ! तारा के गर्भ से उत्पन्न मेरे एक मात्र प्यारे पुत्र अङ्गद की, जो अभी कच्ची बुद्धि का है, किन्तु है महावली, तुम रक्षा करो ॥ ५३ ॥

सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम् ।
त्वं हि शास्ता च गोप्ता च कार्याकार्यविधौ स्थितः ॥५४॥

सुग्रीव और अङ्गद के विषय में आप उत्तम बुद्धि रखें, क्योंकि आप ही उनके रक्षक और शासनकर्त्ता हैं और करने अनकरने कामों के वारे में आप ही उनके शिक्षक हैं ॥ ५४ ॥

या ते नरपते वृत्तिर्[1]भरते लक्ष्मणे च या ।
सुग्रीवे चाङ्गदे राजंस्तां त्वमाधातुमर्हसि ॥ ५५ ॥

हे राजन् ! आपकी जैसी प्रीति भरत और लक्ष्मण में है, वैसी ही प्रीति आप सुग्रीव और अङ्गद में भी रखें ॥ ५५ ॥

मद्दोषकृतदोषां तां यथा तारां तपस्विनीम् ।
सुग्रीवो नावमन्येत तथाऽवस्थातुमर्हसि ॥ ५६ ॥

मेरे अपराधों को स्मरण कर, सुग्रीव तपस्विनी तारा को तंग न करें या निकाल न दें ; आप ऐसी व्यवस्था कर दीजियेगा ॥ ५६ ॥

---

१ वृत्तिः—प्रीतिः । (गो०)

त्वया ह्यनुगृहीतेन राज्यं शक्यमुपासितुम् ।
त्वद्वशे वर्तमानेन तव चित्तानुवर्तिना ॥ ५७ ॥
शक्यं दिवं चार्जयितुं वसुधां चापि शासितुम् ।
त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन्वार्यमाणोऽपि तारया ॥ ५८ ॥
सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः ।
इत्युक्त्वा सन्नतो रामं विरराम हरीश्वरः ॥ ५९ ॥

आपके वश में रह कर, आपकी इच्छानुसार चल कर और आपका कृपापात्र बन कर ही वह वानर (सुग्रीव) अपने राज्य का केवल शासन ही नहीं कर सकता, बल्कि स्वर्ग की प्राप्ति भी सहज में कर सकता है। हे श्रीरामचन्द्र! मैं तुम्हारे हाथ से मारे जाने की इच्छा ही से तारा की बात न मान कर, सुग्रीव से लड़ने आया था। वानरराज वालि श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर, चुप हो गया ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

स तमाश्वासयद्रामो वालिनं व्यक्तदर्शनम्[1] ।
सामसम्पन्नया वाचा धर्मतत्त्वार्थयुक्तया ॥ ६० ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी धर्मार्थयुक्त एवं साधुसम्मत वचनों से बड़े ज्ञानवान् वालि को समझाने लगे ॥ ६० ॥

न सन्तापस्त्वया कार्य एतदर्थं प्लवङ्गम ।
न वयं भवता चिन्त्या नाप्यात्मा हरिसत्तम ॥ ६१ ॥
वयं भवद्विशेषेण धर्मतः कृतनिश्चयाः ।
दण्ड्ये यः पातयेद्दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्ड्यते ॥ ६२ ॥

---

१ व्यक्तदर्शनं—विशदज्ञानं । (गो०)

कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः ।
तद्भवान्दण्डसंयोगादस्माद्विगतकिल्बिषः ॥ ६३ ॥
गतः स्वां प्रकृतिं धर्म्यां धर्मदृष्टेन वर्त्मना ।
त्यज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम् ॥
त्वया विधानं हर्यग्र्य न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ ६४ ॥

हे वानर! तुम मेरे लिये और अपने लिये ज़रा भी सन्तप्त न होना। क्योंकि मैंने धर्मशास्त्र द्वारा भली भाँति विचार कर देखा है कि, दण्ड देने योग्य को जो दण्ड देता है और जो दण्ड पाता है, उसकी कार्य-सिद्धि और कारण-सिद्धि कभी नष्ट नहीं होती। अतः दण्ड पा कर, तुम पाप से छूट गये और दण्ड ही द्वारा तुम अपनी धर्मयुक्त प्रकृति को प्राप्त कर सके। अतः अब तुम शोक और मोह को त्याग, अपने मन का खटका दूर कर दो, क्योंकि तुम पूर्वकृत कर्मों के फल को उल्लङ्घन नहीं कर सकते॥ ६१॥ ६२॥ ६३॥ ६४॥

यथा त्वय्यङ्गदो नित्यं वर्तते वानरेश्वर ।
तथा वर्तेत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः ॥ ६५ ॥

हे कपिराज! अङ्गद जिस प्रकार तुम्हारे साथ वर्ताव करता था वैसा ही व्यवहार वह मेरे और सुग्रीव के साथ भी निस्सन्देह करेगा॥ ६५॥

स तस्य वाक्यं मधुरं महात्मनः
समाहितं धर्मपथानुवर्तिनः ।
निशम्य रामस्य रणावमर्दिनो
वचः सुयुक्तं निजगाद वानरः ॥ ६६ ॥

महात्मा एवं रणजयी श्रीरामचन्द्र जी के धर्मयुक्त और समाधानकारक वचनों को सुन, फिर वालि ने युक्तियुक्त वचन कहे ॥ ६६ ॥

शराभितप्तेन विचेतसा मया
प्रदूषितस्त्वं यदजानता प्रभो ।
इदं महेन्द्रोपम भीमविक्रम
प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर ॥ ६७ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

हे इन्द्र के समान भीम विक्रम सम्पन्न! मैंने तीर की चोट से विकल हो, निर्बुद्धियों जैसी जो कटु बातें कही हैं, उनके लिये आप मुझे क्षमा करें और मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ६७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनविंशः सर्गः

—*—

स वानरमहाराजः शयानः शरविक्षतः ।
प्रत्युक्तो हेतुमद्वाक्यैर्नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

वह कपिराज वालि, जो तीर से घायल हो, ज़मीन पर पड़ा हुआ था और जिसे युक्तियुक्त वचनों से श्रीरामचन्द्र जी ने समझाया था, फिर कुछ न बोल सका ॥ १ ॥

अश्मभिः परिभिन्नाङ्गः पादपैराहतो भृशम् ।
रामबाणेन च क्रान्तो जीवितान्ते मुमोह सः ॥ २ ॥

क्योंकि एक तो उसके अङ्ग पत्थरों से चुटीले हो ही रहे थे, दूसरे पेड़ों का आघात भी उसने सहा था, तिस पर श्रीरामचन्द्र के तीर के घाव से तो वह अब तब हो रहा था, अर्थात् मरने ही वाला था। मरने के पूर्व वालि मूर्छित हो गया ॥ २ ॥

तं भार्या वाणमोक्षेण रामदत्तेन संयुगे।
हतं प्लवगशार्दूलं तारा शुश्राव वालिनम् ॥ ३ ॥

इतने में तारा ने सुना कि, वानरश्रेष्ठ वालि युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी के शराघात से मारा गया ॥ ३ ॥

सा सपुत्राप्रियं श्रुत्वा वधं भर्तुः सुदारुणम्।
निष्पपात भृशं त्रस्ता मृगीव गिरिगह्वरात् ॥ ४ ॥

पति के मारे जाने की अत्यन्त दारुण खबर पा कर, पुत्र को लिये हुए तारा, त्रस्त हो, गिरिकन्दरा से उसी प्रकार दौड़ कर बाहिर निकली, जिस प्रकार डरी हुई हिरनी दौड़ कर भागती है ॥ ४ ॥

ये त्वङ्गदपरीवारा वानरा भीमविक्रमाः।
ते सकार्मुकमालोक्य रामं त्रस्ताः प्रदुद्रुवुः ॥ ५ ॥

जो वानर अङ्गद के साथ सदा रहते थे और बड़े बलवान कहलाते थे, वे श्रीरामचन्द्र को धनुष लिये हुए देख, मारे डर के भाग खड़े हुए ॥ ५ ॥

सा ददर्श ततस्त्रस्तान्हरीनापततो द्रुतम्* ।
यूथादिव परिभ्रष्टान्मृगान्निहतयूथपान् ॥ ६ ॥

तारा ने देखा कि, मुखिया के मारे जाने पर और झुंड से बिछुड़े हुए हिरनों की तरह, बन्दर डर कर, भाग रहे हैं ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"भृशम्"

तानुवाच समासाद्य दुःखितान्दुःखिता सती ।
रामवित्रासितान्सर्वाननुबद्धानिवेषुभिः ॥ ७ ॥

तब ते दुखिनी तारा ने, उन वानरों के समीप जा, जो श्रीरामचन्द्र जी को देख, ऐसे भाग गये थे, मानों वे (स्वयं) बाणों से घायल हो गये हों, दुःखित हो, कहा ॥ ७ ॥

वानरा राजसिंहस्य यस्य यूयं पुरःसराः ।
तं विहाय सुसंत्रस्ताः कस्माद्द्रवथ दुर्गताः ॥ ८ ॥

हे वानरों ! जिस राजसिंह के तुम लोग आगे आगे चला करते थे, उसे छोड़, तुम लोग क्यों इस प्रकार त्रस्त हो कर भागते हो ॥ ८ ॥

राज्यहेतोः स चेद्भ्राता भ्रात्रा रौद्रेण पातितः ।
रामेण प्रहितै रौद्रैर्मार्गणैर्दूरपातिभिः ॥ ९ ॥

अगर राज्य पाने के लिये वानरराज को उसके क्रूर भाई सुग्रीव ने, श्रीराम के दूरगामी बाणों से, दूर खड़े श्रीरामचन्द्र द्वारा मरवा डाला, तो इसके लिये तुम क्यों डर कर, भाग रहे हो ॥ ९ ॥

कपिपत्न्या वचः श्रुत्वा कपयः कामरूपिणः ।
प्राप्तकालमविक्लिष्टमूचुर्वचनमङ्गनाम् ॥ १० ॥

तारा के वचन सुन कर, कामरूपी वानर समयानुकूल और युक्तियुक्त उससे यह वचन बोले ॥ १० ॥

जीवपुत्रे निवर्तस्व पुत्रं रक्षस्व चाङ्गदम् ।
अन्तको रामरूपेण हत्वा नयति वालिनम् ॥ ११ ॥

हे जीवपुत्रे (वह स्त्री जिसका पुत्र जीवित है) तुम घर को लौट जाओ और अपने पुत्र अंगद की रक्षा करो। क्योंकि श्रीराम रूपी काल, वालि को मार कर लिये जाता है ॥ ११ ॥

क्षिप्तान्वृक्षान्समाविध्य विपुलाश्च शिलास्तथा ।
वाली वज्रसमैर्बाणै रामेण विनिपातितः ॥ १२ ॥

देखो न, वालि के फेंके हुए अनेक वृक्षों और शिलाओं को व्यर्थ कर श्रीरामचन्द्र ने अपने वज्र तुल्य बाण से वालि को अन्त में मार ही डाला ॥ १२ ॥

अभिद्रुतमिदं सर्वं विद्रुतं प्रसृतं बलम् ।
*अस्मिन्प्लवगशार्दूले हते शक्रसमप्रभे ॥ १३ ॥

इन्द्र तुल्य पराक्रमसम्पन्न कपिराज को मरा हुआ देख, यह समस्त कपिसेना भयभीत हो भागी जाती है ॥ १३ ॥

रक्ष्यतां नगरद्वारमङ्गदश्चाभिषिच्यताम् ।
पदस्थं वालिनः पुत्रं भजिष्यन्ति प्लवङ्गमाः ॥ १४ ॥

इस समय नगर की रक्षा का प्रबन्ध कर, अंगद को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर दीजिये। जब अंगद राजसिंहासन पर बैठ जायँगे, तब सब वानर उनकी सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

अथवाऽरुचितं स्थानमिह ते रुचिरानने ।
आविशन्ति हि दुर्गाणि क्षिप्रमन्यानि वानराः ॥ १५ ॥

अथवा हे रुचिरानने! (सुन्दरमुख वाली) यदि तुम्हें यहाँ ठहरना अच्छा लगता हो तो, ये सब बन्दर इस पर्वत के दुर्गम स्थानों में तुरन्त चले जायँगे ॥ १५ ॥

---

* पाठान्तरे "तस्मिन्।"

अभार्याश्च सभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः ।
लुब्धेभ्यो विप्रयुक्तेभ्यस्तेभ्यो नस्तुमुलं भयम् ॥ १६ ॥

क्योंकि उनमें अनेक तो ऐसे हैं, जिनके स्त्री नहीं हैं और बहुत स्त्री वाले भी हैं । ये सब सुग्रीवादि वानर राज्य के लालची और पहले के हमारे शत्रु हैं । इसीसे इन लोगों से हमें बड़ा डर लगता है ॥ १६ ॥

अल्पान्तरगतानां तु श्रुत्वा वचनमङ्गना ।
आत्मनः प्रतिरूपं सा बभाषे चारुहासिनी ॥ १७ ॥

चारुहासिनी तारा थोड़ी दूर खड़े हुए वानरों के ऐसे वचन सुन, उनसे अपनी पदमर्यादा के अनुकूल वचन बोली ॥ १७ ॥

पुत्रेण मम किं कार्यं किं राज्येन किमात्मना ।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन्भर्तरि नश्यति ॥ १८ ॥

जब मेरे वे (ये) महाभाग कपिश्रेष्ठ पति ही न रहे—मर गये, तब मुझे पुत्र, राज्य अथवा अपने जीवन ही का क्या करना है ॥ १८ ॥

पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः ।
योऽसौ रामप्रयुक्तेन शरेण विनिपातितः ॥ १९ ॥

जो मेरे पति श्रीरामचन्द्रजी के छोड़े हुए तीर से मारे गये हैं, मैं तो उन्हीं महात्मा के चरणों के समीप जाऊँगी ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा प्रदुद्राव रुदन्ती शोककर्शिता ।
शिरश्चोरश्च बाहुभ्यां दुःखेन समभिघ्नती ॥ २० ॥

यह कह कर, शोक से विकल हुई तारा रोती हुई उस ओर दौड़ी और मारे दुःख के अपने हाथों से अपना सिर और छाती पीटने लगी ॥ २० ॥

आव्रजन्ती ददर्शाथ पतिं निपतितं भुवि ।
हन्तारं दानवेन्द्राणां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ २१ ॥
क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां वज्राणामिव वासवम् ।
महावातसमाविष्टं महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
शक्रतुल्यपराक्रान्तं वृष्ट्वेवोपरतं घनम् ।
नर्दन्तं नर्दतां भीमं शूरं शूरेण पातितम् ॥ २३ ॥
शार्दूलेनामिषस्यार्थे मृगराजं यथा हतम् ।
अर्चितं सर्वलोकस्य सपताकं सवेदिकम् ॥ २४ ॥
नागहेतोः सुपर्णेन चैत्यमुन्मथितं यथा ।
अवष्टभ्य च तिष्ठन्तं ददर्श धनुरुत्तमम् ॥ २५ ॥
रामं रामानुजं चैव भर्तुश्चैवानुजं शुभा ।
तानतीत्य समासाद्य भर्तारं निहतं रणे ॥ २६ ॥

वहाँ आ कर उसने अपने पति को ज़मीन पर पड़ा हुआ देखा। जो वालि समर में पीठ न दिखाने वाला, दानवेन्द्रों का मारने वाला था, जो वज्र चलाने वाले इन्द्र की तरह बड़े बड़े पर्वतों का फेंकने वाला था, जो प्रचण्ड पवन से युक्त मेघों की तरह गर्जने वाला था, इन्द्र जैसा पराक्रमी और बरसे हुए मेघ की तरह था और वानरों में श्रेष्ठ था उस वीर को, शूर श्रीरामचन्द्र जी ने मार कर वैसे ही गिरा दिया है, जैसे शार्दूल माँस के लिये सिंह को मार डालता है। अथवा जिस प्रकार सर्वपूज्य पताका और वेदी सहित वृक्ष को, साँप पकड़ने के लिये, गरुड़ गिरा देता है। उस समय तारा ने धनुषधारी श्रीरामचन्द्र को तथा उनके छोटे भाई लक्ष्मण को तथा सुग्रीव को

खड़े देखा; तथा आगे बढ़ युद्ध में मारे गये अपने पति को ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

समीक्ष्य व्यथिता भूमौ सम्भ्रान्ता निपपात ह ।
सुप्त्वेवै* पुनरुत्थाय आर्यपुत्रेति क्रोशतीं ॥
रुरोद सा पतिं दृष्ट्वा सन्दितं मृत्युदामभिः ॥ २७ ॥

देख, विकल और उद्विग्न हो तारा भूमि पर गिर पड़ी। थोड़ी देर बाद तारा सोती हुई के समान उठ कर, हा आर्यपुत्र! कह और कालकवलित पति को देख, रोने लगी ॥ २७ ॥

तामवेक्ष्य तु सुग्रीवः क्रोशन्तीं कुररीमिव ।
विषादमगमत्कष्टं दृष्ट्वा चाङ्गदमागतम् ॥ २८ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

उस समय सुग्रीव, कुररी की तरह रोती हुई तारा को और अंगद को वहाँ खड़े देख, बहुत दुखी हुए ॥ २८ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

विंशः सर्गः

—*—

रामचापविसृष्टेन शरेणान्तकरेण तम् ।
दृष्ट्वा विनिहतं भूमौ तारा ताराधिपानना ॥ १ ॥

चन्द्रमुखी तारा श्रीरामचन्द्र जी के धनुष से छूटे हुए प्राणनाशक बाण से अपने पति को मरा हुआ देख, ॥ १ ॥

---

* पाठान्तरे "सुप्त्वेव"। † पाठान्तरे—"शोचती"।

सा समासाद्य भर्तारं पर्यष्वजत भामिनी ।
इषुणाभिहतं दृष्ट्वा वालिनं कुञ्जरोपमम् ॥ २ ॥

वह बाण से मारे गये और हाथी की तरह गिरे हुए वालि के निकट जा, उससे लिपट गयी ॥ २ ॥

वानरेन्द्रं महेन्द्राभं शोकसन्तप्तमानसा ।
तारा तरुमिवोन्मूलं पर्यदेवयदातुरा ॥ ३ ॥

फिर पर्वतेन्द्र के समान वानरेन्द्र वालि को उखड़े हुए वृक्ष की तरह पड़ा देख, वह विलाप कर कहने लगी ॥ ३ ॥

रणे दारुण विक्रान्त प्रवीर प्लवतांवर ।
किं दीनामनुरक्तां* मामद्य त्वं नाभिभाषसे ॥ ४ ॥

युद्ध में दारुण विक्रम दिखाने वाले, उत्कृष्टवीर और वानर-श्रेष्ठ ! तुम इस समय इस दीना और तुममें अनुराग रखने वाली से क्यों नहीं बोलते ? ॥ ४ ॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम् ।
नैवंविधाः शेरते हि भूमौ नृपतिसत्तमाः ॥ ५ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! तुम उठो और उत्तम पलंग पर शयन करो। क्योंकि नृपश्रेष्ठ इस प्रकार ज़मीन पर नहीं लेटा करते ॥ ५ ॥

अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप ।
गतासुरपि यां गात्रैर्मां विहाय निषेवसे ॥ ६ ॥

हे पृथिवीनाथ ! मैं जान गयी कि, यह पृथिवी तुमको अतीव प्रिय है । क्योंकि तुम प्राणहीन हो कर भी, मुझे छोड़ अपने शरीर से पृथिवी को चिपटाये हुए हो ॥ ६ ॥

---

*पाठान्तरे—"दीनामपुरोभागाम्" ।

व्यक्तमन्या त्वया वीर धर्मतः सम्प्रवर्तिता ।
किष्किन्धेव पुरी रम्या स्वर्गमार्गे विनिर्मिता ॥ ७ ॥

हे वीर ! मैं जान गयी । तुमने आज अपने धर्मबल से किष्किन्धा की तरह स्वर्ग के मार्ग में कोई और रमणीक पुरी बनाई है ॥ ७ ॥

यान्यस्माभिस्त्वया सार्धं वनेषु मधुगन्धिषु ।
विहृतानि त्वया काले तेषामुपरमः कृतः ॥ ८ ॥

तुम्हारे साथ वसन्त ऋतु में हम लोगों ने, जो विहार सुगन्धि-युक्त वनों में किये हैं, वे सब आज तुम्हारे साथ ही समाप्त हो गये ॥ ८ ॥

निरानन्दा निराशाहं निमग्ना शोकसागरे ।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने महायूथपयूथपे ॥ ९ ॥

हे महायूथपतियों के यूथपति ! तुम्हारे मरते ही मेरा सारा आनन्द और सारी आशाएँ मिट्टी में मिल गई और मैं शोकसागर में डूब गयी ॥ ९ ॥

हृदयं सुस्थिरं मह्यं दृष्ट्वा विनिहतं पतिम् ।
यन्न शोकाभिसन्तप्तं स्फुटतेऽद्य सहस्रधा ॥ १० ॥

हाय ! मेरा यह हृदय कैसा कठोर है, जो तुमको भूमि पर गिरा देख, शोक से सन्तप्त हो, टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाता ॥ १० ॥

सुग्रीवस्य त्वया भार्या हृता स च विवासितः ।
यत्तु तस्य त्वया व्युष्टिः[1] प्राप्तेयं प्लवगाधिप ॥ ११ ॥

---

१ व्युष्टिः—फलं । (गो०)

तुमने सुग्रीव की भार्या को छीन कर, सुग्रीव को वन में निकाल दिया, सो हे वानरराज! आज यह उसी कर्म का फल प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥

निःश्रेयसपरा मोहात्त्वया चाहं विगर्हिता।
यैषाऽब्रवं हितं वाक्यं वानरेन्द्र हितैषिणी ॥ १२ ॥

हे वानरेन्द्र! मैं सदा से तुम्हारा कल्याण चाहने वाली और हितैषिणी हूँ। किन्तु तुमने तो मोहवश, हित की बातें कहने पर भी मुझको दुत्कार दिया ॥ १२ ॥

रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद।
नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ॥ १३ ॥

हे मानद! मुझे निश्चय है कि, अब तुम स्वर्ग में जा वहाँ पर अपने रूप यौवन से गर्वित हो, परम चतुरा अप्सराओं के मन को मुग्ध कर दोगे ॥ १३ ॥

कालो निःसंशयो नूनं जीवितान्तकरस्तव।
बलाद्येनावपन्नोऽसि सुग्रीवस्यावशो वशम् ॥ १४ ॥

मैंने निश्चय कर के जान लिया है कि, जीवन का अन्त करने वाले काल ने बरजोरी तुमको यहाँ ला कर सुग्रीव के वश में कर दिया है ॥ १४ ॥

वैधव्यं शोकसन्तापं कृपणं कृपणा सती।
अदुःखोपचिता पूर्वं वर्तयिष्याम्यनाथवत् ॥ १५ ॥

हाय! जो मैं अभी तक कभी दीन नहीं हुई थी, सो आज दीन हुई और सदा सुख से पली हुई मुझको, अब विधवापन का शोक और सन्ताप भोगना पड़ेगा ॥ १५ ॥

लालितश्चाङ्गदो वीरः सुकुमारः सुखोचितः ।
वत्स्यते कामवस्थां मे पितृव्ये क्रोधमूर्छिते ॥ १६ ॥

हाय ! अब मेरे इस दुलारे और सुख भोगने योग्य वीर सुकुमार अङ्गद की क्या दशा होगी । क्योंकि सुग्रीव क्रोधी स्वभाव का ठहरा । उससे अङ्गद से कैसे पटेगी ॥ १६ ॥

कुरुष्व पितरं पुत्र सुदृष्टं धर्मवत्सलम् ।
दुर्लभं दर्शनं वत्स तव तस्य भविष्यति ॥ १७ ॥

बेटा ! अपने धर्मवत्सल पिता का अन्तिम बार दर्शन कर लो, क्योंकि फिर इनका दर्शन तुमको दुर्लभ हो जायगा ॥ १७ ॥

समाश्वासय पुत्रं त्वं सन्देशं सन्दिशस्व च ।
मूर्ध्नि चैनं समाघ्राय प्रवासं प्रस्थितो ह्यसि ॥ १८ ॥

हे नाथ ! अपने इस पुत्र को ढाँढस बंधाओ और मुझसे जो कुछ कहना हो सो कह दो । पुत्र का मस्तक सूंघ लो, क्योंकि अब तो तुम सदा के लिये परदेश जा ही रहे हो ॥ १८ ॥

रामेण हि महत्कर्म कृतं त्वामभिनिघ्नता ।
आनृण्यं च गतं तस्य सुग्रीवस्य प्रतिश्रवे ॥ १९ ॥

तुम्हें मार कर, श्रीराम ने बड़ा काम किया है । वे यह कार्य कर अपनी उस प्रतिज्ञा से उऋण हो चुके, जो उन्होंने सुग्रीव से की थी ॥ १९ ॥

सकामो भव सुग्रीव रुमां त्वं प्रतिपत्स्यसे ।
भुङ्क्ष्व राज्यमनुद्विग्नः शस्तो भ्राता रिपुस्तव ॥ २० ॥

हे सुग्रीव ! तुम्हारा वैरी भाई मारा गया । अब तुम सफल मनोरथ हो रुमा को लो और बेखटके राज्य करो ॥ २० ॥

किं मामेवं विलपतीं प्रेम्णा त्वं नाभिभाषसे ।
इमाः पश्य वरा वह्वीर्भार्यास्ते वानरेश्वर ॥ २१ ॥

हे वानरेश्वर ! मैं आपकी प्यारी पत्नी आपके सामने खड़ी रो रही हूँ, सो तुम मुझसे बोलते क्यों नहीं । यह देखो, तुम्हारी अन्य स्त्रियाँ भी तुमको घेरे खड़ी हुई विलाप कर रही हैं ॥ २१ ॥

तस्या विलपितं श्रुत्वा वानर्यः सर्वतश्च ताः ।
परिगृह्याङ्गदं दीनं दुःखार्ताः परिचुक्रुशुः ॥ २२ ॥

इस प्रकार का तारा का विलाप सुन, वे सब वानरी अङ्गद को पकड़ दुःख से विकल हो चिल्ला कर कहने लगीं ॥ २२ ॥

किमङ्गदं साङ्गदवीरबाहो ।
विहाय यास्यद्य चिरप्रवासम् ।
न युक्तमेवं गुणसन्निकृष्टं
विहाय पुत्रं प्रियपुत्र गन्तुम् ॥ २३ ॥

हे वीरवर ! तुम इस प्रियदर्शन अङ्गद को छोड़ अनन्त काल के लिये क्यों यात्रा करते हो ? अपने समान गुणवान् और सुन्दर एवं मनोहर रूप वाले पुत्र का त्याग कर जाना तुमको उचित नहीं ॥ २३ ॥

किमप्रियं ते प्रियचारुवेष
मया कृतं नाथ सुतेन वा ते ।
सहाङ्गदां मां स विहाय वीर
यत्प्रस्थितो दीर्घमितः प्रवासम् ॥ २४ ॥

हे प्रिय चारु वेषधारी ! क्या मुझसे या अङ्गद से कोई अपराध बन आया है जो तुम अङ्गद सहित मुझको छोड़ यहाँ से इतने दूर देश की यात्रा के लिये प्रस्थानित हो रहे हो ॥ २४ ।

यद्यप्रियं किञ्चिदसम्प्रधार्य
कृतं मया स्यात्तव दीर्घबाहो ।
क्षमस्व मे तद्धरिवंशनाथ
व्रजामि मूर्ध्ना तव वीर पादौ ॥ २५ ॥

हे दीर्घबाहो ! हे वानरराज ! यदि मुझसे कोई अपराध बन पड़ा हो, तो आप उसे क्षमा करें। मैं तुम्हारे चरणों में अपना सीस रख, तुम्हें प्रणाम करती हूँ ॥ २५ ॥

तथा तु तारा करुणं रुदन्ती
भर्तुः समीपे सह वानरीभिः ।
व्यवस्यत प्रायमुपोपवेष्टु-
मनिन्द्यवर्णा भुवि यत्र वाली ॥ २६ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

निन्द्यवर्ण रहित अर्थात् सुन्दरी तारा सब वानरियों के साथ करुणा कर के रोने लगी और उसने पति के समीप बैठ, अन्न जल त्याग, प्राण त्यागने का निश्चय किया ॥ २६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकविंशः सर्गः

—※—

ततो निपतितां तारां च्युतां तारामिवाम्बरात् ।
शनैराश्वासयामास हनुमान्हरियूथपः ॥ १ ॥

तदनन्तर आकाश से टूटे हुए तारे की तरह तारा को ज़मीन पर लोटते देख, वानरयूथपति हनुमान जी धीरे धीरे उसे समझाने लगे ॥ १ ॥

गुणदोषकृतं जन्तुः स्वकर्मफलहेतुकम् ।
अव्यग्रस्तदवाप्नोति सर्वं प्रेत्य शुभाशुभम् ॥ २ ॥

वे बोले—प्राणी मरने के बाद जीवित समय में अपने किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों द्वारा प्राप्त शुभाशुभ फल को अवश्य पाते हैं ॥ २ ॥

शोच्या शोचसि कं शोच्यं दीनं दीनाऽनुकम्पसे ।
कस्य को वाऽनु शोच्योऽस्ति देहेऽस्मिन्बुद्बुदोपमे ॥ ३ ॥

बड़े दुःख की बात है कि, तू किस शोक करने योग्य पुरुष के लिये शोक करती और किस दीन के लिये यह दीनता दिखला दया कर रही है! इस पानी के बबूले की तरह शरीर में कौन किस के लिये पश्चात्ताप कर सकता है ॥ ३ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं द्रष्टव्यो जीवपुत्रया ।
आयत्यां[1] च विधेयानि समर्थान्[2]यस्य चिन्तय ॥ ४ ॥

---

१ आयत्यां—उत्तरकाले । (गो०) २ समर्थानि—हितानि । (गो०)

तू अपने इस कुमार पुत्र अंगद की ओर देख और अपने पति वालि के पारलौकिक हित के लिये जो आगे करना है, उसे सोच ॥४॥

जानास्यनियतामेवं भूतानामागतिं गतिम् ।
तस्माच्छुभं[1] हि कर्तव्यं पण्डितेनैहलौकिकम्[2] ॥ ५ ॥

प्राणियों की सद्गति अथवा दुर्गति का कुछ निश्चय नहीं, इसी लिये समझदार लोग प्राणियों की हितकामना के लिये और्ध्वदैहिक-क्रिया कर्म और रोदनादि किया करते हैं ॥ ५ ॥

यस्मिन्हरिसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
वर्तयन्ति कृतांशानि सोऽयं दिष्टान्तमागतः ॥ ६ ॥

जिन वालि के जीवनकाल में हज़ारों लाखों वानर अपना काम बांटे हुए रहा करते थे, आज वेही वालि अपने भाग्य में लिखा हुआ फल भोग रहे हैं ॥ ६ ॥

यदयं न्यायदृष्टार्थः सामदानक्षमापरः ।
गतो धर्मजितां भूमिं नैनं शोचितुमर्हसि ॥ ७ ॥

वालि राज्य का शासन नीति से करते थे और साम, दान और क्षमा में तत्पर रहते थे—अतः ये उस लोक को गये हैं, जहाँ धर्माचरण वाले पुरुष जाया करते हैं। अतः तू इनके लिये दुःखी मत हो ॥ ७ ॥

सर्वे हि हरिशार्दूलाः पुत्रश्चायं तवाङ्गदः ।
इदं हर्यृक्षराज्यं च त्वत्सनाथमनिन्दिते ॥ ८ ॥

हे अनिन्दिते ! ये बड़े बड़े वानर, तेरा पुत्र अंगद और वालि का छोड़ा हुआ राज्य, ये सब तेरे ही अधीन हैं ॥ ८ ॥

---

१ शुभं—और्ध्वदैहिकं । (गो०) २ ऐहलौकिक—रोदनादिकं । (गो०)

ताविमौ शोकसन्तापौ शनैः[1] प्रेरय[2] भामिनि।
त्वया परिगृहीतोऽयमङ्गदः शास्तु मेदिनीम् ॥ ९ ॥

अतः हे भामिनि! तू शोक और सन्ताप को धीरे धीरे त्याग दे। अंगद तेरे आज्ञानुसार इस पृथिवी का शासन करे ॥ ९ ॥

सन्ततिश्च यथा दृष्टा कृत्यं यच्चापि साम्प्रतम्।
राज्ञस्तत्क्रियतां तावदेष कालस्य निश्चयः ॥ १० ॥

धर्मशास्त्र में सन्तान जिस प्रयोजन के लिये बतलाई गयी है, उस प्रयोजन का समय आ पहुँचा है। वालि के लिये जो उत्तरकालीन कर्म करने चाहिये, वे अब किये जांय। क्योंकि ऐसे समय ऐसा ही करने का विधान बतलाया गया है ॥ १० ॥

संस्कार्यो हरिराजश्च अङ्गदश्चाभिषिच्यताम्।
सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि ॥ ११ ॥

कपिराज वालि का अग्निसंस्कार कर, अंगद का राज्याभिषेक कर। क्योंकि अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठा हुआ देख कर, तेरे चित्त का उद्वेग दूर होगा और तुझे शान्ति मिलेगी ॥ ११ ॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा भर्तृव्यसनपीडिता।
अब्रवीदुत्तरं तारा हनुमन्तमवस्थितम् ॥ १२ ॥

पति के दुःख से दुःखी तारा हनुमान जी के ये वचन सुन कर, वहाँ पर खड़े हनुमान जी से कहने लगी ॥ १२ ॥

---

१ शनैः—क्रमेण। (गो०) २ प्रेरय—निवर्तय। (गो०)

अङ्गदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकतः शतम् ।
हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम् ॥ १३ ॥

मेरे लिये, अंगद जैसे सौ पुत्रों की अपेक्षा, इस मरे हुए वीर के शरीर का आलिङ्गन ही श्रेष्ठ है ॥ १३ ॥

न चाहं हरिराजस्य प्रभवाम्यङ्गदस्य वा ।
पितृव्यस्तस्य सुग्रीवः सर्वकार्येष्वनन्तरः ॥ १४ ॥

न तो मैं अपने पति का अग्निसंस्कार ही कर सकती हूँ और न अंगद को राजसिंहासन पर ही बैठा सकती हूँ। अब तो अंगद के चचा सुग्रीव ही सब कार्य करेंगे ॥ १४ ॥

न ह्येषा बुद्धिरास्थेया हनुमन्नङ्गदं प्रति ।
पिता हि बन्धुः पुत्रस्य न माता हरिसत्तम ॥ १५ ॥

हे हनुमान! अंगद को राजसिंहासन पर बैठाने की बात मुख से मत निकालो। (क्योंकि इससे चचा भतीजे में विद्वेष होगा।) क्योंकि पुत्र का बन्धु पिता है (अर्थात् पिता के अभाव में पिता का भाई)। माता बन्धु नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

न हि मम हरिराजसंश्रया-
त्क्षमतरमस्ति परत्र चेह वा ।
अभिमुखहतवीरसेवितं
शयनमिदं मम सेवितुं क्षमम् ॥ १६ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

मेरे लिये तो इस लोक में क्या और परलोक में क्या—इस कपिराज के आश्रय को छोड़ और कुछ भी हितकारक नहीं है। युद्ध

में शत्रु के सन्मुख खड़े और मारे गये पति की शय्या की सेवा करना ही मेरे लिये ठीक है। (अर्थात् मुझे राज्य आदि से प्रयोजन नहीं है।) ॥ १९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्वाविंशः सर्गः

—※—

वीक्षमाणस्तु मन्दासुः सर्वतो मन्दमुच्छ्वसन्।
आदावेव तु सुग्रीवं ददर्श त्वात्मजं ततः* ॥ १ ॥

वालि ने जिसकी साँस धीरे धीरे चल रही थी, चारों ओर देख, पहले सुग्रीव की ओर और फिर अंगद की ओर देखा ॥ १ ॥

तं प्राप्तविजयं वाली सुग्रीवं प्लवगेश्वरः।
आभाष्य व्यक्तया वाचा सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

वालि ने विजयी एवं वानरराज सुग्रीव से स्नेहयुक्त यह स्पष्ट वचन कहे ॥ २ ॥

सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्बिषात्।
कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात् ॥ ३ ॥

हे सुग्रीव! मुझे तुम (अपने मन में) दोषी मत ठहराना। क्योंकि मैंने जो कुछ तुम्हारे प्रति अनुचित व्यवहार किया, वह मुझे भावी (होनी) के वश हो और भ्रम में पड़ कर, बरजोरी करना पड़ा ॥ ३ ॥

---

* पाठान्तरे—"त्वात्मजाग्रतः"।

युगपद्विहितं तात न मन्ये सुखमावयोः ।
सौहार्दं भ्रातृयुक्तं हि तदिदं तात नान्यथा ॥ ४ ॥

हे तात ! मेरी समझ में तो एक ही काल में हम दोनों का सुखपूर्वक रहना हम लोगों के भाग्य में नहीं लिखा था। क्योंकि भाई के साथ रहने से तो भ्रातृप्रेम होना चाहिये था, सो न हो, कर उल्टा आपस में वैर हुआ ॥ ४ ॥

प्रतिपद्य त्वमद्यैव राज्यमेषां वनौकसाम् ।
मामप्यद्यैव गच्छन्तं विद्धि वैवस्वतक्षयम् ॥ ५ ॥

अब तुम इस वानरों के राज्य को लो और मुझे तुम इसी समय से मरा हुआ समझो ॥ ५ ॥

जीवितं च हि राज्यं च श्रियं च विपुलामिमाम् ।
प्रजहाम्येष वै तूर्णं महच्चागर्हितं यशः ॥ ६ ॥

मैं इस समय अपना जीवन ही नहीं त्यागता, बल्कि अपना राज्य और विपुल धन सम्पत्ति को तथा अनिन्दित यश को भी त्यागता हूँ ॥ ६ ॥

अस्यां त्वहमवस्थायां वीर वक्ष्यामि यद्वचः ।
यद्यप्यसुकरं राजन्कर्तुमेव तदर्हसि ॥ ७ ॥

हे वीर ! इस अवस्था में जो कुछ मैं कहता हूँ, सो यद्यपि उसका करना कठिन है, तथापि तुम उसे अवश्य करना ॥ ७ ॥

सुखार्हं सुखसंवृद्धं बालमेनमबालिशम् ।
बाष्पपूर्णमुखं पश्य भूमौ पतितमङ्गदम् ॥ ८ ॥

ज़मीन पर पड़े और रोते हुए इस अंगद की ओर देखो। यह सुख भोगने योग्य है और बड़े लाड़ प्यार से पाल पोस कर, इतना बड़ा हुआ है। यह बालक होने पर भी मूर्ख नहीं है ॥ ८ ॥

मम प्राणैः प्रियतरं पुत्रं पुत्रमिवौरसम् ।
मया हीनमहीनार्थं सर्वतः परिपालय ॥ ९ ॥

तुम प्राणों से भी बढ़ कर मेरे प्यारे इस बालक का अपने औरस पुत्र की तरह सब प्रकार से पालन करना; जिससे यह मेरे न रहने पर, किसी प्रकार का दुःख न पावे ॥ ९ ॥

त्वमेवास्य हि दाता च परित्राता च सर्वतः ।
भयेष्वभयदश्चैव यथाऽहं प्लवगेश्वर ॥ १० ॥

अब तुम ही मेरी तरह इसके वस्त्राभरण के देने वाले और सब प्रकार से रक्षक हो और भय उपस्थित होने पर इसे अभय देने वाले हो ॥ १० ॥

एष तारात्मजः श्रीमांस्त्वया तुल्यपराक्रमः ।
रक्षसां तु वधे तेषामग्रतस्ते भविष्यति ॥ ११ ॥

यह तारा का पुत्र तुम्हारे ही तुल्य पराक्रमी है और राक्षसों के संहार में तुम्हारे आगे बढ़ कर लड़ेगा ॥ ११ ॥

अनुरूपाणि कर्माणि विक्रम्य बलवान्रणे ।
करिष्यत्येष तारेयस्तरस्वी तरुणोऽङ्गदः ॥ १२ ॥

यह बलवान् अपने पराक्रम से सब कामों को यथारीति सम्पादन करेगा। क्योंकि यह अंगद केवल तरुण ही नहीं, बल्कि तेजस्वी भी है ॥ १२ ॥

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये ।
औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता ॥ १३ ॥

सुषेण की बेटी यह तारा सूक्ष्म अर्थ के विचार करने में और विविध उत्पातों से उत्पन्न हुए भयों का निर्णय करने में बड़ी निपुण है ॥ १३ ॥

यदेषा साध्विति ब्रूयात्कार्यं तन्मुक्तसंशयम् ।
न हि तारामतं किञ्चिदन्यथा परिवर्तते ॥ १४ ॥

अतः यह जो कुछ कहे, उसे तुम निस्संशय हो करना । क्योंकि तारा का किया हुआ कोई विचार उल्टा नहीं पड़ता ॥ १४ ॥

राघवस्य च ते कार्यं कर्तव्यमविशङ्कया ।
स्यादधर्मो ह्यकरणे त्वां च हिंस्याद्विमानितः ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का कार्य करने में भी किसी प्रकार न हिचकिचाना । यदि न करोगे तो तुमको अधर्म होगा और श्रीरामचन्द्र जी इससे अपना अपमान समझ, तुमको मार डालेंगे ॥ १५ ॥

इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम् ।
उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां संप्रजह्यान्मृते मयि ॥ १६ ॥

हे सुग्रीव ! इस सोने की दिव्य माला को मेरे गले से निकाल कर, अपने गले में डाल लो । इस माला में अति उत्तम विजयश्री का वास है । यदि मैं इसे पहिने हुए मर गया, तो फिर इसमें वह बात न रहेगी ॥ १६ ॥

इत्येवमुक्तः सुग्रीवो वालिना भ्रातृसौहृदात् ।
हर्षं त्यक्त्वा पुनर्दीनो ग्रहग्रस्त इवोडुराट् ॥ १७ ॥

जब वालि ने भायपन के वश हो, ऐसे स्नेहयुक्त वचन कहे, तब सुग्रीव हर्ष परित्याग कर, राहु से ग्रस्त चन्द्रमा की तरह, उदास हो गये ॥ १७ ॥

तद्वालिवचनाच्छान्तः कुर्वन्युक्तमतन्द्रितः ।
जग्राह सोऽभ्यनुज्ञातो मालां तां चैव काञ्चनीम् ॥१८॥

सुग्रीव ने स्वस्थचित्त हो वालि के कथनानुसार कार्य कर, अर्थात् उनकी आज्ञा से वह सोने की माला स्वयं पहिन ली ॥ १८ ॥

तां मालां काञ्चनीं दत्त्वा वाली दृष्ट्वाऽऽत्मजं स्थितम् ।
संसिद्धः प्रेत्यभावाय स्नेहादङ्गदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

मृत्यु के समीप पहुँचा हुआ वालि, उस सोने की माला को सुग्रीव को दे और अपने पुत्र को पास खड़ा हुआ देख, स्नेह से यह बोला ॥ १९ ॥

देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये ।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव ॥ २० ॥

तुम प्रिय अप्रिय वचनों को सहते, देश काल के अनुसार सुख दुःख भोगते हुए, सुग्रीव के अधीन रहना ॥ २० ॥

यथा हि त्वं महाबाहो लालितः सततं मया ।
न तथा वर्तमानं त्वां सुग्रीवो बहु मंस्यते ॥ २१ ॥

हे महाबाहो ! तुम्हारे अपराध करने पर भी मैं जैसा सदा तुम्हारा लालन पालन करता था, यदि वैसा ही तुम करोगे, तो सुग्रीव तुमको अधिक प्यार न करेंगे ॥ २१ ॥

मास्यामित्रैर्गतं गच्छेर्मा शत्रुभिररिन्दम ।
भर्तुरर्थपरो दान्तः सुग्रीववशगो भव ॥ २२ ॥

हे अरिन्दम! तुम इनके मित्रों अथवा शत्रुओं से न मिलना और इनको अपना भरण-पोषण-कर्त्ता मान, शान्त हो, इनके वश में रहना ॥ २२ ॥

न चातिप्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते ।
उभयं हि महान्दोषस्तस्मादन्तरदृग्भव ॥ २३ ॥

तुम किसी से न तो अत्यन्त प्रेम करना और न किसी से बिगाड़ करना। क्योंकि ये दोनों ही खटके के मार्ग हैं। अतः तुम मध्यभाव से वर्ताव करना ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वाऽथ विवृत्ताक्षः शरसंपीडितो भृशम् ।
विवृतैर्दशनैर्भीमैर्बभूवोत्क्रान्तजीवितः ॥ २४ ॥

इस प्रकार कहते कहते वालि ने बाण की पीड़ा से व्यथित हो, दोनों नेत्रों और दांतों को फैला कर, प्राण त्याग दिये ॥ २४ ॥

ततो विचुक्रुशुस्तत्र वानरा हरियूथपाः ।
परिदेवयमानास्ते सर्वे प्लवगपुङ्गवाः ॥ २५ ॥

तब तो सब बंदर और यूथप बड़ी ज़ोर से रो रो कर कहने लगे ॥ २५ ॥

किष्किन्धा ह्यद्य शून्यासीत्स्वर्गते वानराधिपे ।
उद्यानानि च शून्यानि पर्वताः काननानि च ॥ २६ ॥

हाय! वानरराज के स्वर्ग सिधारने से आज किष्किन्धा नगरी और यहां के सब बाग़ बग़ीचे व पर्वत व जंगल सूने हो गये ॥ २६ ॥

हते प्लवगशार्दूले निष्प्रभा वानराः कृताः ।
येन दत्तं महद्युद्धं गन्धर्वस्य महात्मनः ॥ २७ ॥

जिस वालि ने गन्धर्व के साथ बड़ा भारी युद्ध किया था, उस वानरराज के मारे जाने से वानरगण प्रभाहीन हो गये ॥ २७ ॥

गोलभस्य महावाहोर्दश वर्षाणि पञ्च च ।
नैव रात्रौ न दिवसे तद्युद्धमुपशाम्यति ॥ २८ ॥

वालि ने गोलभ नामक महावली गन्धर्व के साथ पन्द्रह वर्ष लों द्वन्द्व युद्ध किया था। वह युद्ध न तो दिन में और न रात में ही कभी बंद होता था ॥ २८ ॥

ततस्तु षोडशे वर्षे गोलभो विनिपातितः ।
हत्वा तं दुर्विनीतं तु वाली दंष्ट्राकरालवान् ॥ २९ ॥

अन्त में वालि ने सोलहवें वर्ष में गोलभ को पटक दिया। कराल डाढ़ों वाले वालि ने उस दुर्विनीत गन्धर्व को मार कर ॥ २९ ॥

सर्वाभयकरोऽस्माकं कथमेष निपातितः ॥ ३० ॥

हम सब लोगों को अभय किया था। ऐसा यह वालि आज किस प्रकार मारा गया ॥ ३० ॥

हते तु वीरे प्लवगाधिपे तदा
प्लवङ्गमास्तत्र न शर्म लेभिरे ।

किसी किसी संस्करण में २७ वें श्लोक के बाद यह एक श्लोक और भी दिया हुआ है ।

यस्य वेगेन महता काननानि वनानि च ।
पुष्पौघेणानुबध्यन्ते करिष्यति तदद्य कः ॥

वनेचराः सिंहयुते महावने
यथा हि गावो निहते गवांपतौ ॥ ३१ ॥

वानरराज वालि के मारे जाने से सब वानर उसी प्रकार दुःखी हुए, जिस प्रकार सिंहयुक्त महावन में गौओं के स्वामी के मरने से गौएँ दुखी होती हैं ॥ ३१ ॥

ततस्तु तारा व्यसनार्णवाप्लुता
मृतस्य भर्तुर्वदनं समीक्ष्य सा ।
जगाम भूमिं परिरभ्य वालिनं
महाद्रुमं छिन्नमिवाश्रिता लता ॥ ३२ ॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

तारा महादुःख सागर में डूब और पति को पृथिवी पर मृत अवस्था में पड़ा देख, कटे हुए वृक्ष से लपटी हुई लता की तरह, वालि से लिपट, पृथिवी पर गिर पड़ी ॥ ३२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयोविंशः सर्गः

—※—

ततः समुपजिघ्रन्ती कपिराजस्य तन्मुखम् ।
पतिं लोकाच्च्युतं[1] तारा मृतं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

अपने स्वर्गगत मृतपति कपिराज वालि का मुख चुम्बन कर, तारा ने कहा ॥ १ ॥

१ लोकाच्च्युतं—स्वर्गतमित्यर्थः । (गो०)

शेषे त्वं विषमे दुःखमनुक्त्वा वचनं मम ।
उपलोपचिते वीर सुदुःखे वसुधातले ॥ २ ॥

हे वीर! मेरा कहना न मान कर, तुम उस ऊबड़ खाबड़ पथरीली कष्टदायी ज़मीन पर सो रहे हो ॥ २ ॥

मत्तः प्रियतरा नूनं वानरेन्द्र मही तव ।
शेषे हि तां परिष्वज्य मां च न प्रतिभाषसे ॥ ३ ॥

हे वानरनाथ! मैं जान गयी निश्चय ही यह पृथिवी तुमको मुझ से अधिक प्रिय है। क्योंकि तुम उसका आलिङ्गन कर मुझसे बोलते भी नहीं ॥ ३ ॥

सुग्रीवस्य वशं प्राप्तो विधिरेष भवत्यहो ।
सुग्रीव एव विक्रान्तो वीर साहसिकप्रिय ॥ ४ ॥

हे साहसप्रिय! बड़े आश्चर्य की बात है कि, यह राम रूप दैव सुग्रीव के वश में हो गये। अतः वही बड़ा विक्रमशाली सिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

ऋक्षवानरमुख्यास्त्वां बलिनः पर्युपासते ।
एषां विलपितं कृच्छ्रमङ्गदस्य च शोचतः ॥ ५ ॥
मम चेमां गिरं श्रुत्वा किं त्वं न प्रतिबुध्यसे ।
इदं तद्वीरशयनं यत्र शेषे हतो युधि ॥ ६ ॥
शायिता निहता यत्र त्वयैव रिपवः पुरा ।
विशुद्धसत्त्वाभिजन प्रिययुद्ध मम प्रिय ॥ ७ ॥

ये मुख्य मुख्य रीछ और बंदर तुम्हारी सेवा शुश्रूषा कर रहे हैं। इन लोगों के और अत्यन्त शोकग्रस्त हो, विलाप करते हुए अंगद

के और मेरे वचनों को सुन कर, तुम क्यों नहीं उठ बैठते। हे वीर! जिस सेज पर तुम संग्राम में मारे जा कर सो रहे हो, वह वही वीरों के सोने योग्य सेज है, जिस पर तुम पहले शत्रुओं को मार कर सुला चुके हो। हे शुद्धपराक्रमी! हे विशुद्ध कुलोद्भव! हे मेरे प्यारे! ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

मामनाथां विहायैकां गतस्त्वमसि मानद ।
शूराय न प्रदातव्या कन्या खलु विपश्चिता ॥ ८ ॥

हे सम्मान करने वाले! तुम मुझ अनाथा को छोड़ चल दिये। पण्डित अर्थात् ज्ञानवान् लोगों को चाहिये कि, वे शूर को कभी अपनी बेटी न व्याहें ॥ ८ ॥

शूरभार्यां हतां पश्य सद्यो मां विधवां कृताम् ।
अवभग्नश्च मे मानो भग्ना मे शाश्वती गतिः ॥ ९ ॥

क्योंकि देखो न! मैं शूर की पत्नी बात की बात में विधवा कर दी गयी। हाय मेरा मान भी गया और सदा के लिये सुख भी नष्ट हो गया ॥ ९ ॥

अगाधे च निमग्नाऽस्मि विपुले शोकसागरे ।
अश्मसारमयं नूनमिदं मे हृदयं दृढम् ॥ १० ॥

मैं इस समय अथाह विपुल शोकसागर में डूब रही हूँ। हा! मेरा यह कलेजा निश्चय ही लोहे जैसा मज़बूत है ॥ १० ॥

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा यन्नाद्य शतधा गतम् ।
सुहृच्चैव हि भर्ता च प्रकृत्या मम च प्रियः ॥ ११ ॥

जो आज पति को मरा हुआ देख कर भी, सौ टुकड़े नहीं हो जाता। हाय मेरा स्वभाव ही से निष्कपट पति और मेरा प्राणप्यारा यह वालि ॥ ११ ॥

आहवे च पराक्रान्तः शूरः पञ्चत्वमागतः।
पतिहीना तु या नारी कामं भवतु पुत्रिणी॥ १२॥
धनधान्यैः सुपूर्णापि विधवेत्युच्यते जनैः।
स्वगात्रप्रभवे वीर शेषे रुधिरमण्डले॥ १३॥

जो संग्राम करने में पराक्रमी और शूर था, मर गया। जो स्त्री पतिहीन है, वह पुत्रवती हो और धनधान्य से भरी पूरी भी क्यों न हो—उसे लोग विधवा ही कहते हैं। हे वीर! तुम अपने शरीर से निकलते हुए रक्त में सने उसी प्रकार सो रहे हो॥ १२॥ १३॥

कृमिराग[1]परिस्तोमे त्वमात्मशयने यथा।
रेणुशोणितसंवीतं गात्रं तव समन्ततः॥ १४॥

जैसे तुम अपने लाख के रंग के बिछौने पर सोते थे। देखो तुम्हारे सारे शरीर में धूल और लोहू लग रहा है॥ १४॥

परिरब्धुं न शक्नोमि भुजाभ्यां प्लवगर्षभ।
कृतकृत्योऽद्य सुग्रीवो वैरेऽस्मिन्नतिदारुणे॥ १५॥

हे वानरोत्तम! इसीसे मैं अपनी भुजाओं से तुमको अपने गले नहीं लगा सकती। वालि से अति दारुण वैर बाँध, सुग्रीव का मनोरथ आज पूरा हुआ॥ १५॥

यस्य रामविमुक्तेन हृतमेकेषुणा भयम्।
शरेण हृदि लग्नेन गात्रसंस्पर्शने तव॥ १६॥
वारितास्मि* निरीक्षन्ती त्वयि पञ्चत्वमागते।
उद्बबर्ह शरं नीलस्तस्य गात्रगतं तदा॥ १७॥

---

1 कृमिरागस्य—लाक्षारसरक्तवस्त्रस्य। (शि०) * पाठान्तरे—" वार्यामि त्वां "।

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के छोड़े हुए एक ही बाण से सुग्रीव का भय दूर हो गया है। हृदय में चुभे हुए बाण की रोक के कारण ही मैं भली भांति तुम्हारा आलिङ्गन नहीं कर सकती और तुम्हारे मरने पर भी मैं केवल तुम्हें देख रही हूँ। उस समय नील नामक वानर ने उस बाण को वैसे ही खींच लिया ॥ १६ ॥ १७ ॥

गिरिगह्वरसंलीनं दीप्तमाशीविषं यथा।
तस्य निष्कृष्यमाणस्य बाणस्य च बभौ द्युतिः ॥ १८ ॥
अस्तमस्तकसंरुद्धो रश्मिर्दिनकरादिव।
पेतुः क्षतजधारास्तु व्रणेभ्यस्तस्य सर्वशः ॥ १९ ॥

जैसे पर्वत की कन्दरा से ज़हरीला सांप निकले। उस समय वह खींचा हुआ बाण, वैसा ही दीप्तमान जान पड़ा, जैसा कि, अस्ताचल पर्वत पर पहुँचे हुए सूर्य की किरणें दीप्तमान जान पड़ती हैं। बाण के बाहिर खींचने पर बालि के शरीर के सब घावों से खून की धारें बह चलीं ॥ १८ ॥ १९ ॥

ताम्रगैरिकसंपृक्ता धारा इव धराधरात्।
अवकीर्णं विमार्जन्ती भर्तारं रणरेणुना ॥ २० ॥

मानों पर्वत से लाल गेरू की धारें बहती हों। तारा ने बालि के शरीर की धूल पोंछी और ॥ २० ॥

आस्रैर्नयनजैः शूरं सिषेचास्त्र[1]समाहतम्।
रुधिरोक्षितसर्वाङ्गं दृष्ट्वा विनिहतं पतिम् ॥ २१ ॥

आंखों में आंसू भरे हुए बालि के शरीर को अपने अश्रुजल से धोया। मृतपति के सारे शरीर में रक्त लगा देख, ॥ २१ ॥

---

१ अस्त्रसमाहततनमश्रुव्याप्तम्। (शि०)

उवाच तारा पिङ्गाक्षं पुत्रमङ्गदमङ्गना ।
अवस्थां पश्चिमां पश्य पितुः पुत्र सुदारुणाम् ॥ २२ ॥

संप्रसक्तस्य वैरस्य गतोऽन्तः पापकर्मणा ।
बालसूर्योदयतनुं प्रयान्तं यमसादनम् ॥ २३ ॥

तारा ने पीले नेत्र वाले निज पुत्र अंगद से कहा, हे पुत्र! अपने पिता की इस अस्तकाल की दारुण दशा को देखो। जो शत्रुता इन्होंने बरजोरी की यह उसी का फल है। हे बेटा! प्रातःकालीन सूर्य की तरह चमचमाते शरीर वाले और यमालय को जाते हुए अपने पिता को देख लो ॥ २२ ॥ २३ ॥

अभिवादय राजानं पितरं पुत्र मानदम् ।
एवमुक्तः समुत्थाय जग्राह चरणौ पितुः ॥ २४ ॥
भुजाभ्यां पीनवृत्ताभ्यामङ्गदोऽहमिति ब्रुवन् ।
अभिवादयमानं त्वामङ्गदं त्वं यथा पुरा ॥ २५ ॥
दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे ।
अहं पुत्रसहाया त्वामुपासे गतचेतनम्* ॥ २६ ॥

हे बेटा! तुम मान देने वाले अपने पिता राजा को प्रणाम करो। तारा के इस प्रकार कहने पर अंगद ने उठ कर अपनी मोटी मोटी भुजाओं से पिता के चरण पकड़ कर कहा—मैं अंगद हूँ। इस पर तारा ने वालि से कहा कि, जिस प्रकार पहले प्रणाम करने पर तुम (अंगद को) आशीर्वाद दे कर कहा करते थे कि, दीर्घायु हो—सो अब क्यों आशीर्वाद नहीं देते। देखो, मैं इस समय पुत्र सहित, तुम्हारे पास वैसे ही बैठी हूँ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

* पाठान्तरे—"गतचेतसम्।"

सिंहेन निहतं सद्यो गौः सवत्सेव गोवृषम् ।
इष्ट्वा संग्रामयज्ञेन रामप्रहरणाम्भसि ॥ २७ ॥
अस्मिन्नवभृथे स्नातः कथं पत्न्या मया विना ।
या दत्ता देवराजेन तव तुष्टेन संयुगे ॥ २८ ॥

जैसे सिंह द्वारा मारे गये सांड़ की गाय, अपने बछड़े सहित उसके पास खड़ी रहती है। तुम्हारा संग्राम रूपी यज्ञ पूर्ण हो चुका है। अब पत्नी के विना, श्रीरामचन्द्र के अस्त्र रूपी जल से तुम्हारा अवभृथ अर्थात् यज्ञान्तस्नान किस प्रकार पूरा होगा? देवराज इन्द्र ने संग्राम में सन्तुष्ट हो, जो सुवर्ण की माला तुमको दी थी, वह माला इस समय मुझे ।तुम्हारे कण्ठ में नहीं देख पड़ती ; इसका क्या कारण है ॥ २७ ॥ २८ ॥

शातकुम्भमयीं मालां तां ते पश्यामि नेह किम् ।
राजश्रीर्न जहाति त्वां गतासुमपि मानद ।
सूर्यस्यावर्तमानस्य शैलराजमिव प्रभा ॥ २९ ॥

हे मानद ! प्राण निकल जाने पर भी यह राज्यश्री तुमको वैसे ही नहीं त्यागती, जैसे सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य की प्रभा नहीं छोड़ती ॥ २९ ॥

न मे वचः पथ्यमिदं त्वया कृतं
न चास्मि शक्ता विनिवारणे तव ।
हता सपुत्राऽस्मि हतेन संयुगे
सह त्वया श्रीर्विजहाति मामिह ॥ ३० ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

हाय मैंने जो हितकर वचन तुमसे कहे थे, उन पर तुम ने कुछ भी ध्यान न दिया। मुझमें वह शक्ति न थी कि, मैं तुम को रोक लेती। इसका परिणाम यह हुआ कि, युद्ध में तुम्हारे मारे जाने से मैं पुत्रवती विनाश को प्राप्त हुई। हाय जिस प्रकार राज्यश्री ने तुम्हारा परित्याग किया, वैसे ही मेरा भी परित्याग किया है॥ ३०॥

किष्किन्धाकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुर्विंशः सर्गः

—※—

तां त्वश्रुवेगेन दुरासदेन
त्वभिप्लुतां शोकमहार्णवेन।
पश्यंस्तदा वाल्यनुजस्तरस्वी
भ्रातुर्वधेनाप्रतिमेन तेपे॥ १॥

अत्यन्त वेगवान्, अत्यन्त कठिनाई से पार होने योग्य शोक रूपी महासागर में डूबती हुई तारा को देख, वालि के छोटे भाई सुग्रीव भाई के मारे जाने से बहुत दुःखी हुए॥ १॥

स बाष्पपूर्णेन मुखेन वीक्ष्य
क्षणेन निर्विण्णमना मनस्वी।
जगाम रामस्य शनैः समीपं
भृत्यैर्वृतः सम्परिदूयमानः॥ २॥

तारा को रोती हुई देख, मनस्वी सुग्रीव बहुत दुःखी हुए और अपने अनुचरों को साथ ले, धीरे धीरे श्रीरामचन्द्र जी के समीप गये॥ २॥

स तं समासाद्य गृहीतचाप-
मुदात्तमाशीविषतुल्यबाणम् ।
यशस्विनं लक्षणलक्षिताङ्ग-
मवस्थितं राघवमित्युवाच ॥ ३ ॥

उस समय शास्त्रों में कथित उत्तम लक्षणों से युक्त श्रीरामचन्द्र जी हाथ में धनुष लिये और उस पर बड़े पैने बाण चढ़ाये, लक्ष्मण सहित खड़े थे। उनके पास जा कर सुग्रीव कहने लगे ॥ ३ ॥

यथाप्रतिज्ञातमिदं नरेन्द्र
कृतं त्वया दृष्टफलं च कर्म ।
ममाद्य भोगेषु नरेन्द्रपुत्र
मनो निवृत्तं सह जीवितेन ॥ ४ ॥

हे नरेन्द्र! आपने जो प्रतिज्ञा की थी उसको तो आपने पूरा कर दिया और मैंने भी उस काम को पूरा हुआ देख लिया; किन्तु हे राजकुमार! अब मेरा मन राज्य भोग से फिर गया है और अब मैं अपने इस निन्द्य जीवन से कोई भी सुख पाने की इच्छा नहीं करता ॥ ४ ॥

अस्यां महिष्यां तु भृशं रुदन्त्यां
पुरे च विक्रोशति दुःखतप्ते ।
हतेऽग्रजे संशयितेऽङ्गदे च
न रामराज्ये रमते मनो मे ॥ ५ ॥

हे राम! मेरे भाई वालि के मारे जाने से उनकी पटरानी तारा बहुत रो रही है और पुरवासी भी दुःख से सन्तप्त हो, हाहाकार कर

रहे हैं। बड़े भाई के मर जाने से अब अंगद के जीने में भी सन्देह है। इस लिये राज्य करने को मेरा जी नहीं चाहता ॥ ५ ॥

क्रोधादमर्षादतिविप्रधर्षाद्-
भ्रातुर्वधो मेऽनुमतः पुरस्तात् ।
हते त्विदानीं हरियूथपेऽस्मिन्
सुतीव्रमिक्ष्वाकुकुमार तप्स्ये ॥ ६ ॥

हे इक्ष्वाकुकुमार! क्रोध से अथवा डाह से या मेरा अत्यन्त अपमान होने के कारण पहले तो मैं चाहता था कि, भाई मारा जाय; किन्तु अब उसके मारे जाने पर मुझे बड़ा दुःख है ॥ ६ ॥

श्रेयोऽद्य मन्ये मम शैलमुख्ये
तस्मिन्निवासश्चिरमृश्यमूके ।
यथा तथा वर्तयतः स्ववृत्त्या
नेमं निहत्य त्रिदिवस्य लाभः ॥ ७ ॥

उस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूक पर चिरकाल तक रह कर, अन्य किसी प्रकार अपनी आजीविका का प्रबन्ध करना, मुझे अपने लिये कल्याणकारक जान पड़ता है, परन्तु भाई को मार कर, स्वर्ग का मिलना भी मुझे पसंद नहीं ॥ ७ ॥

न त्वां जिघांसामि चरेति यन्मा-
मयं महात्मा मतिमानुवाच ।
तस्यैव तद्राम वचोऽनुरूप-
मिदं पुनः कर्म च मेऽनुरूपम् ॥ ८ ॥

उस बुद्धिमान महात्मा ने मुझसे कहा था कि, मैं तुझे मारना नहीं चाहता—तू जहाँ चाहे वहाँ चला जा। हे राम! ये वचन उसीके योग्य थे। साथ ही मेरे वचन और तदनुसार मेरा यह कर्म, मेरे (अर्थात् मुझ नीच के) अनुरूप ही हैं॥ ८॥

भ्राता कथं नाम महागुणस्य
भ्रातुर्वधं राघव रोचयेत।
राज्यस्य दुःखस्य च वीर सारं
न चिन्तयन्कामपुरस्कृतः सन्॥ ९॥

हे रामचन्द्र! भाई कैसा भी क्यों न हो; क्या कोई भाई अपने बड़े गुणवान् भाई का वध कभी पसंद करेगा? कामासक्त होने के कारण हाय मैंने राज्यसुख और भ्रातृसुख में कौन उत्कृष्ट है—यह न जाना॥ ९॥

वधो हि मे मतो नासीत्स्वमाहात्म्याव्यतिक्रमात्।
ममासीद्बुद्धिदौरात्म्यात्प्राणहारी व्यतिक्रमः॥ १०॥

हे राम! मैं भाई का वध नहीं चाहता था; किन्तु अपना अपमान होने पर मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो गयी, जिसके कारण ऐसा प्राणहिंसक कर्म मुझसे बन पड़ा॥ १०॥

द्रुमशाखावभग्नोऽहं मुहूर्तं परिनिष्टनन्।
सान्त्वयित्वा त्वनेनोक्तो न पुनः कर्तुमर्हसि॥ ११॥

देखो, जब मैं वहाँ पहुँच कर मुहूर्त्त भर गरजा, तब उसने वृक्ष की डाली से मुझे मारा; किन्तु साथ ही मुझे आश्वासन दे कर यह कहा कि, ख़बरदार फिर ऐसी धृष्टता मत करना॥ ११॥

भ्रातृत्वमार्यभावश्च धर्मश्चानेन रक्षितः ।
मया क्रोधश्च कामश्च कपित्वं च प्रदर्शितम् ॥ १२ ॥

हे राघव ! वालि ने भ्रातृभाव, बड़प्पन और धर्म की रक्षा की, किन्तु मैंने निस्सन्देह क्रोध, काम और बंदरपन दिखलाया ॥ १२ ॥

अचिन्तनीयं परिवर्जनीय-
मनीप्सनीयं स्वनवेक्षणीयम् ।
प्राप्तोऽस्मि पाप्मानमिमं नरेन्द्र
भ्रातुर्वधात्त्वाष्ट्रवधादिवेन्द्रः ॥ १३ ॥

हे मित्र ! देवराज इन्द्र ने विश्वकर्मा के पुत्र विश्वरूप का वध कर के जिस प्रकार हत्या बटोरी थी, वैसे ही मैंने भी भाई का वध कर, यह अचिन्त्य, साधुओं द्वारा त्याग योग्य, अवाञ्छित और गर्हित कर्म कर डाला है ॥ १३ ॥

पाप्मानमिन्द्रस्य मही जलं च
वृक्षाश्च कामं जगृहुः स्त्रियश्च ।
को नाम पाप्मानमिमं क्षमेत
शाखामृगस्य प्रतिपत्तुमिच्छन् ॥ १४ ॥

इन्द्र के उस पाप को पृथिवी, जल, वृक्ष और स्त्रियों ने आपस में बाँट लिया था ; किन्तु मुझ वानर का पाप बाँटने को कौन राज़ी होगा ? ॥ १४ ॥

नार्हामि सम्मानमिमं प्रजानां
न यौवराज्यं कुत एव राज्यम् ।

अधर्मयुक्तं कुलनाशयुक्त-
मेवंविधं राघव कर्म कृत्वा ॥ १५ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! इस प्रकार का अधार्मिक और कुल का नाश करने वाला पाप कर, मैं कैसे आशा रखूं कि, प्रजाजन मेरा आदर भी करें। मैं तो अपने को युवराजपद पाने के योग्य भी नहीं समझता, फिर भला राज्यप्राप्ति की तो बात ही निराली है॥ १५॥

पापस्य कर्तास्मि विगर्हितस्य
क्षुद्रस्य लोकापकृतस्य चैव।
शोको महान्मामभिवर्ततेऽयं
वृष्टेर्यथा निम्नमिवाम्बुवेगः॥ १६॥

हे श्रीरामचन्द्र! मैं इस निन्दित, श्रोछे और लोकापकारी पाप का कर्त्ता हूँ। इस बात का मुझे जो महान शोक हो रहा है, वह मुझे उसी प्रकार बाधा दे रहा है, जिस प्रकार बरसाती जल का वेग नीची भूमि को बाधा देता है॥ १६॥

सोदर्यघाताऽपरगात्रवालः
सन्तापहस्ताक्षिशिरोविषाणः।
एनोमयो मामभिहन्ति हस्ती
दृप्तो नदीकूलमिव प्रवृद्धः॥ १७॥

देखिये! यह पाप रूपी मतवाला हाथी, जो भाई की हत्या रूपी अङ्ग और बालों से युक्त है, तथा भाई के नाश से उत्पन्न हुआ सन्ताप जिसकी सूँड़, नेत्र, सिर और दांत हैं, मुझे वैसे ही मा डालता है, जैसे जंगली हाथी नदी के तट को तोड़ता है॥ १७॥

अंहो वतेदं नृवराविपह्य
निवर्तते मे हृदि साधु वृत्तम् ।
विवर्णमग्नौ परितप्यमानं
किट्टं यथा राघव जातरूपम् ॥ १८ ॥

हे पुरुषोत्तम ! यह बड़े ही दुःख और अचरज की बात है कि, इस पाप से मेरे मन का साधुभाव वैसे ही नष्ट हो रहा है, जैसे अग्नि में तपाने से खोटे सोने का मैल उस सोने को नष्ट कर देता है ॥ १८ ॥

महाबलानां हरियूथपाना-
मिदं कुलं राघव मन्निमित्तम् ।
अस्याङ्गदस्यापि च शोकतापा-
दर्धस्थितप्राणमितीव मन्ये ॥ १९ ॥

हे राम ! मैं तो यह समझता हूँ कि, महाबली वानर सेनापतियों का कुल मेरे कारण तथा अंगद के शोक सन्ताप से अधमरा सा हो गया है ॥ १९ ॥

सुतः सुलभ्यः सुजनः सुवश्यः
कुतः सुपुत्रः सदृशोऽङ्गदेन ।
न चापि विद्येत स वीर देशो
यस्मिन्भवेत्सोदरसन्निकर्षः ॥ २० ॥

हे राम ! पुत्र की प्राप्ति सहज है और अपने सब सुजन भी सहज में अपने वश में किये जा सकते हैं; किन्तु अंगद जैसा गुणवान् पुत्र कहाँ मिल सकता है ? फिर हे वीर ! वैसा कोई देश भी नहीं देख पड़ता, जहाँ फिर सहोदर भाई से भेंट हो सके ॥ २० ॥

यद्यङ्गदो वीरवराई जीवे-
ज्जीवेच्च माता परिपालनार्थम् ।
विना तु पुत्रं परितापदीना
तारा न जीवेदिति निश्चितं मे ॥ २१ ॥

देखिये, प्रथम तो पिता के वियोगजनित शोक से अंगद के जीवित रहने ही में सन्देह है। कदाचित् वह माता का पालन करने को जीवित रहे; किन्तु यदि वह जीवित न रहा, तो मुझे निश्चय है कि, उसकी माता तारा कभी जीती न रहेगी ॥ २१ ॥

सोऽहं प्रवेक्ष्याम्यतिदीप्तमग्निं
भ्रात्रा च पुत्रेण च सख्यमिच्छन् ।
इमे विचेष्यन्ति हरिप्रवीराः
सीतां निदेशे तव वर्तमानाः ॥ २२ ॥

मैं अपने और उसके पुत्र के साथ मैत्री करने की इच्छा से यदि दहकती हुई आग में गिर पड़ूँ, तो भी ये समस्त वीर वानर आपकी आज्ञा में रह कर, सीता जी को ढूढ़ देंगे ॥ २२ ॥

कृत्स्नं तु ते सेत्स्यति कार्यमेत-
न्मय्यप्रतीते मनुजेन्द्रपुत्र ।
कुलस्य हन्तारमजीवनार्हं
रामानुजानीहि कृतागसं माम् ॥ २३ ॥

हे नरेन्द्रकुमार! मेरी अनुपस्थिति में भी ये वानरगण आपके समस्त काम करेंगे। मैं कुल का नाशक अब अधिक जीने के योग्य नहीं हूँ। अतः आप अब मुझे आज्ञा दीजिये ॥ २३ ॥

इत्येवमार्तस्य रघुप्रवीरः
श्रुत्वा वचो वाल्यनुजस्य तस्य ।
सञ्जातबाष्पः परवीरहन्ता
रामो मुहूर्तं विमना बभूव ॥ २४ ॥

वालि के छोटे भाई सुग्रीव ने अत्यन्त आर्त्त हो कर, जब इस प्रकार के वचन कहे, तब शत्रुओं को तपाने वाले श्रीरामचन्द्र जी के नेत्रों में आँसू भर आये और एक मुहूर्त्त तक उदास हो गये ॥ २४ ॥

तस्मिन्क्षणेऽभीक्ष्णमवेक्ष्यमाणः
क्षितिक्षमावान्भुवनस्य गोप्ता ।
रामो रुदन्तीं व्यसने निमग्नां
समुत्सुकः सोऽथ ददर्श ताराम् ॥ २५ ॥

पृथिवी की तरह क्षमावान् और भुवनरक्षक श्रीरामचन्द्र जी रोती हुई और दुःख में डूबी हुई तारा को उत्सुकता पूर्वक देखने लगे ॥ २५ ॥

तां चारुनेत्रां कपिसिंहनाथं
पतिं समाश्लिष्य तदा शयानाम् ।
उत्थापयामासुरदीनसत्त्वां
मन्त्रिप्रधानाः कपिवीरपत्नीम् ॥ २६ ॥

इसी बीच में प्रधान मंत्रियों ने सुन्दर नेत्रों वाली तारा को, जो पति के शरीर से लिपटी हुई भूमि पर पड़ी थी, उठा कर पति से अलग किया ॥ २६ ॥

सा विस्फुरन्ती परिरभ्यमाणा
भर्तुः सकाशादपनीयमाना ।
ददर्श रामं शरचापपाणिं
स्वतेजसा सूर्यमिव ज्वलन्तम् ॥ २७ ॥

पति से हटाने के समय तारा बहुत छटपटाती । फिर जब मंत्री उसे श्रीरामचन्द्र जी के पास ले गये, तब उसने धनुष बाण लिये अपने तेज से दीप्तमान सूर्य के सदृश श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ २७ ॥

सुसंवृतं पार्थिवलक्षणैश्च
तं चारुनेत्रं मृगशावनेत्रा ।
अदृष्टपूर्वं पुरुषप्रधान-
मयं स काकुत्स्थ इति प्रजज्ञे ॥ २८ ॥

सुन्दर नेत्रों वाली अथवा मृगशावक नयनी तारा ने कभी पहले श्रीराम को नहीं देखा था ; किन्तु सर्व-लक्षण-सम्पन्न पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी को देखते ही वह जान गयी कि, यही श्रीरामचन्द्र हैं ॥ २८ ॥

तस्येन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महानुभावस्य समीपमार्या ।
आर्ताऽतितूर्णं व्यसनाभिपन्ना
जगाम तारा परिविह्वलन्ती ॥ २९ ॥

उस समय वह तारा इन्द्र सदृश दुर्धर्ष और महा-प्रभाववान् श्रीरामचन्द्र जी को देख, अत्यन्त विकल हो कर, तुरन्त श्रीरामचन्द्र जी के पास गयी ॥ २९ ॥

सा तं समासाद्य विशुद्धसत्त्वा
शोकेन सम्भ्रान्तशरीरभावा।
मनस्विनी वाक्यमुवाच तारा
रामं रणोत्कर्षणलब्धलक्षम् ॥ ३० ॥

शोक के मारे क्रुद्ध और पति के मारने वाले को दुर्वाक्य कहने के लिये उद्यत, किन्तु श्रीराम की सन्निधि के कारण पापनिर्मुक्त तारा, रणस्थल में उत्कृष्ट कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर, बोली ॥ ३० ॥

त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च
जितेन्द्रियश्चोत्तमधार्मिकश्च।
अक्षय्यकीर्त्तिश्च विचक्षणश्च
क्षितिक्षमावान्क्षतजोपमाक्षः ॥ ३१ ॥

हे राघव! आपका भेद वेद भी नहीं पा सकते हैं। आप दुराधर्ष, जितेन्द्रिय उत्तम धर्माचरण-सम्पन्न, पूर्ण कीर्तिवान्, चतुर, पृथिवी की तरह क्षमावान और कमल के फूल जैसे लाल रंग के नेत्रों वाले हैं ॥ ३१ ॥

त्वमात्तबाणासनबाणपाणि-
र्महाबलः संहननोपपन्नः।
मनुष्यदेहाभ्युदयं विहाय
दिव्येन देहाभ्युदयेन युक्तः ॥ ३२ ॥

आप धनुष बाण धारण किये हुए, महाबली और दृढ़ शरीर वाले हैं। आप मनुष्य शरीर के अभ्युदय को त्याग कर, दिव्य शरीर की सम्पत्ति से युक्त हुए हैं ॥ ३२ ॥

येनैकबाणेन हतः प्रियो मे
तेनैव मां त्वं जहि सायकेन ।
हता गमिष्यामि समीपमस्य
न मामृते राम रमेत वाली ॥ ३३ ॥

हे वीर! जिस तीर से आपने वालि को मारा है, उसी बाण से आप मुझे भी मार डालिये; जिससे मैं मर कर, उसके समीप पहुँच जाऊँ। क्योंकि मेरे विना वालि वहां प्रसन्न नहीं रह सकेगा ॥ ३३ ॥

स्वर्गेऽपि पद्मामलपत्रनेत्रः
समेत्य संप्रेक्ष्य च मामपश्यन् ।
न ह्येष उच्चावचताम्रचूडा
विचित्रवेषाप्सरसोऽभजिष्यत् ॥ ३४ ॥

हे कमलनेत्र! स्वर्गीय पुरुषों से वालि की जब भेंट होगी और वहां जब वह मुझे न देखेगा, तब वह वहां की विचित्र वेष धरने वाली और भांति भांति के लाल रंग के फूलों से चोटी गूंथे हुए अप्सराओं के साथ विहार न करेंगे ॥ ३४ ॥

स्वर्गेऽपि शोकं च विवर्णतां च
मया विना प्राप्स्यति वीर वाली ।
रम्ये नगेन्द्रस्य तटावकाशे
विदेहकन्यारहितो यथा त्वम् ॥ ३५ ॥

हे वीर! स्वर्ग में भी वालि, विना मेरे शोकान्वित और उदास ही रहेगा। जैसे सीता विना आप पर्वतों पर खिन्न रहते हैं ॥ ३५ ॥

त्वं वेत्थ यावद्वनिताविहीनः
प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः ।
तत्त्वं प्रजानञ्जहि मां न वाली
दुःखं ममादर्शनजं भजेत ॥ ३६ ॥

आप यह तो जानते ही हैं कि, स्त्री के बिना कारा पुरुष दुखी रहता है। अतः आप इस बात के तत्व को विचार कर, मुझे मार डालिये। क्योंकि मुझे देखे बिना वालि स्वर्ग में न रह सकेगा ॥३६॥

यच्चापि मन्येत भवान्महात्मा
स्त्रीघातदोषो न भवेत्तु मह्यम् ।
आत्मेयमस्येति च मां जहि त्वं
न स्त्रीवधः स्यान्मनुजेन्द्रपुत्र ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्! अगर आप यह समझें कि, मुझे मारने से आपको स्त्रीहत्या का पाप लगेगा, तो आप अपने मन की यह शङ्का दूर कर डालें। क्योंकि तारा और वालि के आत्मा को आप एक ही समझें। हे नरेन्द्रपुत्र! इस लिये स्त्रीहत्या का पाप आपको न लगेगा ॥ ३७ ॥

शास्त्रप्रयोगाद्विविधाच्च वेदा-
दात्मा ह्यनन्यः पुरुषस्य दाराः ।
दारप्रदानान्न हि दानमन्य-
त्प्रदृश्यते ज्ञानवतां हि लोके ॥ ३८ ॥

अनेक शास्त्रों और वेदों में भी यह बात लिखी है कि, स्त्री और पुरुष की आत्मा अलग अलग नहीं होती। इसीसे ज्ञानी लोग कहा

करते हैं कि, संसार में स्त्रीदान से बढ़ कर, अन्य कोई दान नहीं है ॥ ३८ ॥

त्वं चापि मां तस्य मम प्रियस्य
प्रदास्यसे धर्ममवेक्ष्य वीर ।
अनेन दानेन न लप्स्यसे त्व-
मधर्मयोगं मम वीर घातात् ॥ ३९ ॥

हे वीर ! आप धर्म को विचार कर और मुझे मार कर वालि को स्त्रीदान करने का पुण्यफल प्राप्त करेंगे। अतः इस दान के फल से आपको मेरे वध का कुछ भी पाप न लगेगा ॥ ३९ ॥

आर्तामनाथामपनीयमाना-
मेवंविधामर्हसि मां निहन्तुम् ।
अहं हि मातङ्गविलासगामिना
प्लवङ्गमानामृषभेण धीमता ॥ ४० ॥

मैं आर्त्त, अनाथ, और पति से बिछुड़ी हुई हूँ। मैं इस दुर्दशा में हूँ। अतः अवश्य मारी जाने योग्य हूँ। क्योंकि मैं मत्त हाथी की तरह चलने वाले धीमान् वानरश्रेष्ठ ॥ ४० ॥

विना वरार्होत्तमहेममालिना
चिरं न शक्ष्यामि नरेन्द्र जीवितुम् ।
इत्येवमुक्तस्तु विभुर्महात्मा
तारां समाश्वास्य हितं बभाषे ॥ ४१ ॥

उत्तम सुवर्ण की माला धारण करने वाले वालि के विना बहुत दिनों न जी सकूँगी। तारा के वचन सुन, तारा को समझाते हुए श्रीरामचन्द्र जी उससे हितकर वचन कहने लगे ॥ ४१ ॥

मा वीरभार्ये विमतिं कुरुष्व
लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा ।
तं चैव सर्वं सुखदुःखयोगं
लोकोऽब्रवीत्तेन कृतं विधात्रा ॥ ४२ ॥

हे वीरपत्नी ! तुम ऐसी उलटी बातें मत कहो । क्योंकि यह सारा विश्वप्रपञ्च विधाता का बनाया हुआ है । इतना ही नहीं, बल्कि मनुष्यों को जो संयोग और वियोग जनित सुख दुःख प्राप्त होते हैं सो यह भी उसी विधना का विधान है । यह बात सभी लोग कहा करते हैं ॥ ४२ ॥

त्रयो हि लोका विहितं विधानं
नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य ।
प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव
पुत्रस्तु ते प्राप्स्यति यौवराज्यम् ॥ ४३ ॥

देखो तीनों लोक उस विधाता के रचे हुए विधान को नहीं मेंट सकते । क्योंकि सब ही तो उसके वश में हैं । तुम पहिले की तरह सुखी होओगी और तुम्हारे पुत्र को यौवराज्यपद मिलेगा ॥ ४३ ॥

धात्रा विधानं विहितं तथैव
न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति ।
आश्वासिता तेन तु राघवेण
प्रभावयुक्तेन परन्तपेन ।
सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन
सुवेषरूपा विरराम तारा ॥ ४४ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

क्योंकि विधाता ने ऐसी ही व्यवस्था कर रखी है। जैसा विलाप इस समय तुम कर रही हो, वैसा विलाप शूरों की स्त्रियाँ नहीं किया करतीं। प्रभावशाली और शत्रुहन्ता महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने जब तारा को इस प्रकार समझाया, तब सुवेषधारिणी वीरपत्नी तारा ने विलाप करना बंद किया ॥ ४४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चविंशः सर्गः

—※—

सुग्रीवं चैव तारां च साङ्गदां सहलक्ष्मणः।
समानशोकः काकुत्स्थः सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥

अब लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने, जो उस समय सुग्रीव, तारा और अंगद की तरह स्वयं भी दुःखी हो रहे थे; सुग्रीव, तारा और अंगद को धीरज बंधाते हुए कहा ॥ १ ॥

न शोकपरितापेन श्रेयसा युज्यते मृतः।
यदत्रानन्तरं कार्यं तत्समाधातुमर्हथ ॥ २ ॥

शोक और सन्ताप करने से मरे हुए प्राणी का भला नहीं होता, अतः आगे जो काम करना है, उसको तुम लोग करो ॥ २ ॥

लोकवृत्तम्[1] अनुष्ठेयं कृतं वो बाष्पमोक्षणम्।
न कालादुत्तरं किञ्चित्कर्म शक्यमुपासितुम् ॥ ३ ॥

---

१ लोकवृत्तं—लोकाचारसिद्धं। (गो०)

लोकाचारसिद्ध जो रोनाधोना था वह तो तुम कर चुकीं, अब समयोचित कर्म करो। जिस समय जो कर्म करना चाहिये, उस समय वही कर्म करना चाहिये। दूसरा काम करना और समय को विता देना ठीक नहीं ॥ ३ ॥

नियतिः[1] कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम् ।
नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह[2] कारणम् ॥ ४ ॥

ईश्वर ही समस्त लोकों की उत्पत्ति का कारण है। ईश्वर ही समस्त कर्मों का सिद्ध करने वाला है और ईश्वर ही प्राणी मात्र का प्रेरक है ॥ ४ ॥

न कर्ता कस्यचित्कश्चिन्नियोगे चापि नेश्वरः ।
स्वभावे वर्तते लोकस्तस्य कालः परायणम् ॥ ५ ॥

न तो कोई पुरुष किसी कर्म का स्वतंत्र रूप से कर्त्ता है और न कोई किसी काम की प्रेरणा में ईश्वरत्व रखता है। किन्तु समस्त लोक स्वभावाधीन हैं और काल रूपी ईश्वर उस स्वभाव का प्रेरक है अर्थात् समस्त कार्य करता है ॥ ५ ॥

न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते ।
स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते ॥ ६ ॥

देखो वह काल रूपी ईश्वर जन्ममरणादि व्यवस्था के बाहिर कोई काम नहीं करता, किन्तु व्यवस्थानुसार ही सब कुछ करता है ॥ ६ ॥

न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः ।
न मित्रज्ञातिसम्बन्धः कारणं नात्मनो[3] वशः[4] ॥ ७ ॥

---

१ नियतिः—ईश्वरः । (गो०) २ नियोगेषु—प्रेरणेषु । (गो०)
३ आत्मनो—जीवस्य । (गो०) ४ न वशः—न स्वतन्त्रः । (गो०)

कालरूपी ईश्वर न तो किसी का पक्षपाती है, न उसको वश में करने का कोई उपाय है और न उसको जीतने के लिये किसी प्रकार का पराक्रम काम दे सकता है। वह किसी से मित्र या जाति-गत सम्बन्ध भी नहीं रखता। इसीसे कालरूपी ईश्वर, जीव के परतंत्र नहीं है ॥ ७ ॥

किं तु कालपरीणामो द्रष्टव्यः साधु पश्यता ।
धर्मश्चार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः ॥ ८ ॥

अतः विवेकी पुरुष का कर्त्तव्य है कि, धर्म, अर्थ और काम को कालक्रम से उत्पन्न हुआ समझ, उसको कालरूपी ईश्वर ही का परिणाम जाने ॥ ८ ॥

इतः स्वां प्रकृतिं वाली गतः प्राप्तः क्रियाफलम्[1] ।
धर्मार्थकामसंयोगैः पवित्रं प्लवगेश्वरः ॥ ९ ॥

देखो मेरे बाण के लगने से उसका प्रायश्चित्त हो गया और इससे उसका शुद्ध भाव हो गया। इस लोक में समयानुसार उसने जो धर्म अर्थ काम सम्बन्धी अनुष्ठानादि किये थे, उनके प्रभाव से अथवा उनका फल स्वरूप उसको स्वर्ग की प्राप्ति हुई ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्य च संयोगाज्जितस्तेन महात्मना ।
स्वर्गः परिगृहीतश्च प्राणानपरिरक्षता ॥ १० ॥

अपने विहित धर्मानुष्ठान से और शूरवीरों के अनुष्ठेय धर्मानुष्ठान से वालि ने जो स्वर्गलोक पहिले ही सम्पादन कर लिया था, वही स्वर्गलोक उसे अब प्राप्त हुआ है ॥ १० ॥

---

१ क्रियाफलं—स्वर्गप्राप्तः। (गो०)

एषा वै नियतिः श्रेष्ठा यां गतो हरियूथपः ।
तदलं परितापेन प्राप्तकालमुपास्यताम् ॥ ११ ॥

वालि जिस गति को प्राप्त हुआ है वह श्रेष्ठगति है। अतः सद्गतिप्राप्त प्राणी के लिये शोक करना उचित नहीं। अब तो तुमको समयानुसार कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करना चाहिये अर्थात् प्रेत कर्मानुष्ठान करना चाहिये ॥ ११ ॥

वचनान्ते तु रामस्य लक्ष्मणः परवीरहा ।
अवदत्प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं गतचेतसम् ॥ १२ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी यह वचन कह चुके, तब शत्रुघाती लक्ष्मण जी चेतनारहित वानरराज सुग्रीव से बोले ॥ १२ ॥

कुरु त्वमस्य सुग्रीव प्रेतकार्यमनन्तरम् ।
ताराङ्गदाभ्यां सहितो वालिनो दहनं प्रति ॥ १३ ॥

तुम तारा और अंगद को साथ ले, इस समय वालि का प्रेत-कर्म आरम्भ कर, पहले दाहकर्म करो ॥ १३ ॥

समाज्ञापय काष्ठानि शुष्काणि च बहूनि च ।
चन्दनादीनि दिव्यानि वालिसंस्कारकारणात् ॥ १४ ॥

इनको जलाने के लिये नौकरों को आज्ञा दो कि, वे सूखी चन्दनादि की लकड़ी ले आवें ॥ १४ ॥

समाश्वासय चैनं त्वमङ्गदं दीनचेतसम् ।
मा भूर्बालिशबुद्धिस्त्वं त्वदधीनमिदं पुरम् ॥ १५ ॥

इस समय तुम उदास अङ्गद को धीरज बंधाओ। तुमको इस समय लड़कबुद्धि न दिखानी चाहिये, क्योंकि यह नगर तुम्हारे ही अधीन है ॥ १५ ॥

अङ्गदस्त्वानयेन्माल्यं वस्त्राणि विविधानि च ।
घृतं तैलमथो गन्धान्यच्चात्र समनन्तरम् ॥ १६ ॥

अङ्गद से कह कर फूलमाला विविध प्रकार के वस्त्र, घी, तेल, और गुग्गुलादि गन्धपदार्थों को मँगवालो ॥ १६ ॥

त्वं तार शिविकां शीघ्रमादायागच्छ सम्भ्रमात् ।
त्वरा गुणवती युक्ता ह्यस्मिन्काले विशेषतः ॥ १७ ॥

हे तार ! तुम जा कर शीघ्र शिविका लाओ, क्योंकि इस समय विशेषकर शीघ्रता करने ही की आवश्यकता है और इसीसे लाभ है ॥ १७ ॥

सज्जीभवन्तु प्लवगाः शिविकावहनोचिताः ।
समर्था बलिनश्चैव निर्हरिष्यन्ति वालिनम् ॥ १८ ॥

जो वानर बलवान और समर्थ हों, उन्हें वालि को शिविका ले चलने के लिये तैयार करो ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सुमित्रानन्दवर्धनः ।
तस्थौ भ्रातृसमीपस्थो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ १९ ॥

सुमित्रानन्दन और शत्रुघाती लक्ष्मण जी इस प्रकार सुग्रीव से कह कर, अपने भाई के पास जा खड़े हुए ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा तारः सम्भ्रान्तमानसः ।
प्रविवेश गुहां[1] शीघ्रं शिविकासक्तमानसः ॥ २० ॥

लक्ष्मण जी के वचन सुन तार, तुरन्त किष्किन्धा नगरी में शिविका (म्याना, पालकी) लाने को गया ॥ २० ॥

---

१ गुहां—किष्किन्धां । (गो०)

आदाय शिविकां तारः स तु पर्यापतत्पुनः ।
वानरैरुह्यमानां तां शूरैरुद्वहनोचितैः ॥ २१ ॥

तार उस शिविका को, जो वालि के चढ़ने योग्य थी, वानरों के कन्धों पर रखवा, फिर उस स्थान में आया, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे ॥ २१ ॥

दिव्यां भद्रासनयुतां शिविकां स्यन्दनोपमाम् ।
पक्षिकर्मभिराचित्रां द्रुमकर्मविभूषिताम् ॥ २२ ॥

वह शिविका बहुत उत्तम थी। उसमें बैठने के लिये अच्छा गद्दा बिछा हुआ था और उसकी बनावट रथ जैसी थी। उसके भीतर और बाहिर विविध पक्षियों और नाना प्रकार के वृक्षों के चित्र चित्रित थे ॥ २२ ॥

आचितां चित्रपत्तीभिः सुनिविष्टां समन्ततः ।
विमानमिव सिद्धानां जालवातायनान्विताम् ॥ २३ ॥

उस पर कृत्रिम वृक्षों के फूल पत्ती बनी थी और पैदल योद्धाओं के चित्र भी बने हुए थे। एक ही ओर नहीं, बल्कि चारों ओर उस शिविका की ऐसी ही सजावट थी। सिद्धपुरुषों के विमान की तरह, उसमें जालियाँ और झरोखे बने हुए थे ॥ २३ ॥

सुनियुक्तां विशालां च सुकृतां शिल्पिभिः* कृताम् ।
दारुपर्वतकोपेतां चारुकर्मपरिष्कृताम् ॥ २४ ॥

उसमें घुसने के लिये बड़े सुन्दर दरवाज़े थे, वह बड़ी लंबी चौड़ी थी, कारीगरों ने उसको बड़ा सुन्दर बनाया था। उसमें काठ का एक क्रीड़ा पर्वत भी बना हुआ था। शिल्पियों ने उसके बनाने में अपनी चतुराई की पराकाष्ठा दिखलायी थी ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे —"विश्वकर्मणाम्।"

वराभरणहारैश्च चित्रमाल्योपशोभिताम् ।
गुहागहनसंछन्नां रक्तचन्दनरूपिताम् ॥ २५ ॥

वह शिविका मूल्यवान आभूषण और हारों से भूषित थी। उस पर चित्रविचित्र फूलों की सजावट हो रही थी। उसमें वन व कन्दरादि के दृश्य चित्रित किये गये थे। वह लाल चन्दन की लकड़ी की बनी हुई थी ॥ २५ ॥

पुष्पौघैः समभिच्छन्नां पद्ममालाभिरेव च ।
तरुणादित्यवर्णाभिर्भ्राजमानाभिरावृताम् ॥ २६ ॥

उसमें फूल बिछाए हुए थे और उस पर कमल के फूलों की मालाएँ पड़ी हुई थीं। वह प्रातःकालीन सूर्य की तरह चारों ओर से चमक रही थी ॥ २६ ॥

ईदृशीं शिविकां दृष्ट्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
क्षिप्रं विनीयतां वाली प्रेतकार्यं विधीयताम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार की शिविका देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा—वालि को शीघ्र इसमें रख लिया जाय और प्रेतकर्म करवाया जाय ॥ २७ ॥

ततो वालिनमुद्यम्य सुग्रीवः शिविकां तदा ।
आरोपयत विक्रोशन्नङ्गदेन सहैव तु ॥ २८ ॥

तब सुग्रीव और अंगद दोनों ने रोते रोते उठा कर, वालि को शिविका में रखा ॥ २८ ॥

आरोप्य शिविकां चैव वालिनं गतजीवितम् ।
अलंकारैश्च विविधैर्माल्यैर्वस्त्रैश्च भूषितम् ॥ २९ ॥

गतप्राण वालि को तरह तरह के उत्तम पुष्पहारों, वस्त्रों आभूषणों से भूषित कर, शिविका में लिटाया ॥ २९ ॥

आज्ञापयत्तदा राजा सुग्रीवः प्लवगेश्वरः ।
और्ध्वदैहिकमार्यस्य क्रियतामनुरूपतः ॥ ३० ॥

तदनन्तर कपिराज सुग्रीव ने यह आज्ञा दी कि, मेरे बड़े भाई का अन्तिम संस्कार विधिविधान से, उसके अनुरूप ही किया जाय ॥ ३० ॥

विश्राणयन्तो रत्नानि विविधानि बहून्यपि ।
अग्रतः प्लवगा यान्तु शिविकासमनन्तरम् ॥ ३१ ॥

शिविका के आगे आगे वानर अनेक प्रकार के और बहुत से रत्न लुटाते हुए चले । उनके पीछे शिविका चली ॥ ३१ ॥

राज्ञामृद्धिविशेषा हि दृश्यन्ते भुवि यादृशाः ।
तादृशं वालिनः क्षिप्रं प्राक्कुर्वन्नौर्ध्वदैहिकम् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार पृथिवीमण्डल पर राजाओं का क्रियाकर्म ठाठ बाठ से हुआ करता है, वैसा ही मेरे भाई का भी क्रियाकर्म तुरन्त धूमधाम से हो ॥ ३२ ॥

अङ्गदं परिगृह्याशु तारप्रभृतयस्तदा ।
क्रोशन्तः प्रययुः सर्वे वानरा हतबान्धवाः ॥ ३३ ॥

अपने परम बन्धु वालि की मौत से विकल तार आदि समस्त वानर, अंगद को आगे कर, रोते हुए चले जाते थे ॥ ३३ ॥

ततः प्रणिहिताः सर्वा वानर्योऽस्य वशानुगाः ।
चुक्रुशुर्वीर वीरेति भूयः क्रोशन्ति ताः स्त्रियः ॥ ३४ ॥

उनके पीछे बंदरियाँ जोकि वालि की अनुचरी थीं, हाय वीर! हाय वीर!! कह कर, चिल्लाती हुई चली जाती थीं ॥ ३४ ॥

ताराप्रभृतयः सर्वा वानर्यो हतयूथपाः ।
अनुजग्मुर्हि भर्तारं क्रोशन्त्यः करुणस्वनाः ॥ ३५ ॥

विधवा तारा आदि वानरराज की स्त्रियाँ अपने मृतपति की शिविका के पीछे पीछे करुणस्वर से रोती चिल्लाती चली जाती थीं ॥ ३५ ॥

तासां रुदितशब्देन वानरीणां वनान्तरे ।
वनानि गिरयः सर्वे विक्रोशन्तीव सर्वतः ॥ ३६ ॥

उस समय उन वानरपत्नियों के रोने के शब्द की गूंज (प्रतिध्वनि) से चारों ओर के वन और पर्वत भी रोते हुए से जान पड़ते थे ॥ ३६ ॥

पुलिने गिरिनद्यास्तु विविक्ते जलसंवृते ।
चितां चक्रुः सुबहवो वानराः शोककर्शिताः ॥ ३७ ॥

पर्वत की तराई में बहती हुई नदी के तट पर और निर्जन स्थान में बहुत से शोकविह्वल वानरों ने चिता बना कर तैयार की ॥ ३७ ॥

अवरोप्य ततः स्कन्धाच्छिबिकां वहनोचिताः ।
तस्थुरेकान्तमाश्रित्य सर्वे शोकसमन्विताः ॥ ३८ ॥

शिविका ढोने वालों ने शिविका अपने कन्धों से उतार कर नीचे रख दी और वे शोकसन्तप्त हो एक ओर जा, खड़े हो गये ॥ ३८ ॥

ततस्तारा पतिं दृष्ट्वा शिबिकातलशायिनम् ।
आरोप्याङ्के शिरस्तस्य विललाप सुदुःखिता ॥ ३९ ॥

शिविका में चढ़े हुए पति को देख, तारा ने अपने पति का सिर अपनी गोद में रख लिया और दुःखित हो विलाप करने लगी ॥ ३९ ॥

हा वानरमहाराज हा नाथ मम वत्सल ।
हा महार्ह महाबाहो हा मम प्रिय पश्य माम् ॥ ४० ॥

हा वानर महाराज ! हा नाथ ! हा मेरे ऊपर दया करने वाले ! हा महा योग्य ! हा बड़ी भुजाओं वाले ! हा मेरे प्यारे ! मुझे देखो तो ॥ ४० ॥

जनं न पश्यसीमं त्वं कस्माच्छोकाभिपीडितम् ।
प्रहृष्टमिव ते वक्त्रं गतासोरपि मानद ॥ ४१ ॥

तुम इस शोक से विकल जन की ओर क्यों नहीं देखते ! हे मानद ! यद्यपि तुम्हारे प्राण निकल चुके हैं, तथापि तुम्हारा चेहरा प्रसन्न देख पड़ता है ॥ ४१ ॥

अस्तार्कसमवर्णं च लक्ष्यते जीवतो यथा ।
एष त्वां रामरूपेण कालः कर्षति वानर ॥ ४२ ॥

अस्ताचलगामी सूर्य की तरह तुम्हारा मुख वैसे दमक रहा है जैसा कि जीवित काल में दमकता था । देखो यह रामरूपी काल तुमको परलोक में ले जाने के लिये खींच रहा है ॥ ४२ ॥

येन स्म विधवाः सर्वाः कृता एकेषुणा रणे* ।
इमास्तास्तव राजेन्द्र वानर्यो वल्लभाः सदा ॥ ४३ ॥

---

* पाठान्तरे—" वने " ।

पादैर्विकृष्टमध्वानमागताः किं न बुध्यसे ।
तवेष्टा ननु नामैता भार्याश्चन्द्रनिभाननाः ॥ ४४ ॥

इसने युद्ध में एक ही बाण में हम सब बंदरियों को विधवा कर डाला। हे राजेन्द्र ! यह सब बंदरियां जिनको तुम सदा प्यार किया करते थे, पांव पांव इतना दूर चली आयी हैं। इनको तुम क्यों नहीं देखते ! अपनी प्यारी चन्द्रवदनी ईप्सित भार्याओं को ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

इदानीं नेक्षसे कस्मात्सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ।
एते हि सचिवा राजंस्तारप्रभृतयस्तव ॥ ४५ ॥
पुरवासी जनश्चायं परिवार्याऽऽसतेऽनघ ।
विसर्जयैतान्प्लवगान्यथोचितमरिन्दम ॥ ४६ ॥

और कपिराज सुग्रीव को तुम इस समय क्यों नहीं देखते। हे अनघ ! ये तारा आदि तुम्हारे मंत्रिगण, और पुरजन तुमको घेर कर दुःखी हो रहे हैं। हे अरिन्दम ! इन सब को जैसे सदा यथोचित रूप से विदा किया करते थे, वैसे विदा करो ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

ततः क्रीडामहे सर्वा वनेषु मदनोत्कटाः ।
एवं विलपतीं तारां पतिशोकपरिप्लुताम् ॥ ४७ ॥

तब हम सब काम से मत्त हो कर, तुम्हारे साथ यहां वन में विहार करेंगी। इस प्रकार विलाप करती हुई और पतिशोक से विकल तारा को ॥ ४७ ॥

उत्थापयन्ति स्म तदा वानर्यः शोककर्शिताः ।
सुग्रीवेण ततः सार्धमङ्गदः पितरं रुदन् ॥ ४८ ॥

चितामारोपयामास शोकेनाभिहतेन्द्रियः ।
ततोऽग्निं विधिवद्दत्त्वा सोपसव्यं चकार ह ॥ ४९ ॥

शोकविह्वल बंदरियों ने उठाया। तब अंगद ने सुग्रीव के साथ रोते रोते शोकाकुल हो वालि को चिता के ऊपर रखा और विधिवत् प्रदक्षिणा कर चिता में आग दी ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः ।
संस्कृत्य वालिनं ते तु विधिपूर्वं प्लवङ्गमाः ॥ ५० ॥

उस समय पिता को महायात्रा करते देख अंगद बहुत विकल हुआ। इस प्रकार उन वानरों ने विधिपूर्वक वालि का अग्नि-संस्कार किया ॥ ५० ॥

आजग्मुरुदकं कर्तुं नदीं शीतजलां शुभाम्* ।
ततस्ते सहितास्तत्र ह्यङ्गदं स्थाप्य चाग्रतः ॥ ५१ ॥

तदनन्तर वे वालि को जलाञ्जलि देने के लिये शीतल एवं निर्मल जल वाली नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ अंगद को आगे कर, सुग्रीव ने तारा तथा अन्य वानरों सहित वालि को जलाञ्जलि दी ॥ ५१ ॥

सुग्रीवतारासहिताः सिषिचुर्वालिने जलम् ।
सुग्रीवेणैव दीनेन दीनो भूत्वा महाबलः ।
समानशोकः काकुत्स्थः प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥ ५२ ॥

महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव की तरह शोकाकुल और उदास हो, वालि का प्रेतकार्य करवाया ॥ ५२ ॥

---

* पाठान्तरे—"शिवम्"।

ततस्तु तं वालिनमग्र्यपौरुषं
प्रकाशमिक्ष्वाकुवरेषुणा हतम् ।
प्रदीप्य दीप्ताग्निसमौजसं तदा
सलक्ष्मणं राममुपेयिवान्हरिः ॥ ५३ ॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर अति बलवान् श्रीराम जी के एक ही वाण से निहत, प्रदीप्त अग्नि तुल्य तेजस्वी वालि का प्रेतकार्य कर, सुग्रीव लक्ष्मण सहित वहाँ आये, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे ॥ ५३ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पच्चीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

षड्विंशः सर्गः

—*—

ततः शोकाभिसन्तप्तं सुग्रीवं क्लिन्नवाससम् ।
शाखामृगमहामात्राः परिवार्योपतस्थिरे ॥ १ ॥

शोकरूपी अग्नि से सन्तापित और गीले वस्त्र पहिने खड़े हुए सुग्रीव को मंत्रिगण घेर कर खड़े हो गये ॥ १ ॥

अभिगम्य महाबाहुं राममक्लिष्टकारिणम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पितामहमिवर्षयः ॥ २ ॥

समस्त वानर लंबी भुजाओं वाले और सरलता से कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के पास जा, उसी प्रकार खड़े हुए, जिस प्रकार ऋषिगण ब्रह्मा जी के पास जा और हाथ जोड़ कर खड़े होते हैं ॥ २ ॥

ततः काञ्चनशैलाभस्तरुणार्कनिभाननः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं हनुमान्मारुतात्मजः ॥ ३ ॥

तदनन्तर तरुण सूर्य की तरह लाल मुख वाले और सुवर्ण पर्वत की तरह प्रकाशमान पवनतनय श्रीहनुमान जी हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३ ॥

भवत्प्रसादात्सुग्रीवः पितृपैतामहं महत् ।
वानराणां सुदुष्प्रापं प्राप्तो राज्यमिदं प्रभो ॥ ४ ॥

हे राम ! आपकी कृपा से सुग्रीव ने, बड़े बड़े दाँतों वाले और बड़े बली एवं महात्मा वानरों का अपने पिता पितामहादिकों का यह राज्य जिसका मिलना दुर्लभ था, पाया है ॥ ४ ॥

भवता समनुज्ञातः प्रविश्य नगरं शुभम् ।
संविधास्यति कार्याणि सर्वाणि ससुहृद्गणः* ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! अब यह आपकी आज्ञा प्राप्त कर, किष्किन्धापुरी में जा, अपने सुहृदों सहित समस्त कार्य करेंगे ॥ ५ ॥

स्नातोऽयं विविधैर्गन्धैरौषधैश्च यथाविधि ।
अर्चयिष्यति रत्नैश्च माल्यैश्च त्वां विशेषतः ॥ ६ ॥

फिर यह विविध भाँति की सुगन्धियुक्त ओषधियों से विधिवत स्नान कर, रत्न मालादि से विशेष रूप से आपका पूजन करेंगे ॥ ६ ॥

इमां गिरिगुहां रम्यामभिगन्तुमितोऽर्हसि ।
कुरुष्व स्वामिसम्बन्धं[1] वानरान्सम्प्रहर्षयन् ॥ ७ ॥

---

१ वानराणां स्वामिनासम्बन्धंकुरु—सुग्रीवं वानरराजं कुरु । (गो०)

* पाठान्तरे—" ससुहृज्जनः " ।

अतः आप किष्किन्धा में पधारिये और सुग्रीव को वानरराज बना कर, प्रसन्न कीजिये ॥ ७ ॥

एवमुक्तो हनुमता राघवः परवीरहा ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं बुद्धिमान्वाक्यकोविदः ॥ ८ ॥

शत्रुहन्ता, अतिबुद्धिमान् और वाक्यविशारद श्रीरामचन्द्र जी हनुमान जी के ये वचन सुन, उनसे बोले ॥ ८ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य ग्रामं वा यदि वा पुरम् ।
न प्रवेक्ष्यामि हनुमन्पितुर्निर्देशपालकः ॥ ९ ॥

हे सौम्य ! मैं चौदह वर्ष तक ग्राम अथवा नगर के भीतर नहीं जा सकता । क्योंकि मुझे पिता की आज्ञा का पालन करना है । ६ ॥

सुसमृद्धां गुहां रम्यां सुग्रीवो वानरर्षभः ।
प्रविष्टो विधिवद्वीरः क्षिप्रं राज्येऽभिषिच्यताम् ॥ १० ॥

उस समृद्धिशाली दिव्य किष्किन्धापुरी में वानरश्रेष्ठ सुग्रीव जायँ और तुम सब शीघ्र ही विधिपूर्वक उनको राजसिंहासन पर अभिषिक्त करो ॥ १० ॥

एवमुक्त्वा हनूमन्तं रामः सुग्रीवमब्रवीत् ।
वृत्तज्ञो वृत्तसंपन्नमुदारबलविक्रमम् ॥ ११ ॥
इममप्यङ्गदं वीर यौवराज्येऽभिषेचय ।
ज्येष्ठस्य स सुतो ज्येष्ठः सदृशो विक्रमेण ते ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी हनुमान जी से यह कह कर, फिर सुग्रीव से कहने लगे, हे वीर ! देखो तुम व्यवहारकुशल हो, अतः तुम इन

उदार, एवं वज्रविक्रमशाली वीर अंगद को युवराज बनाओ। क्योंकि यह तुम्हारे बड़े भाई का ज्येष्ठपुत्र है और पराक्रम में तुम्हारे ही सदृश है ॥ ११ ॥ १२ ॥

अङ्गदोऽयमदीनात्मा यौवराज्यस्य भाजनम् ।
पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः ॥ १३ ॥

अंगद बड़ा उत्साही है और युवराज होने योग्य है। देखो वर्षा ऋतु का यह प्रथम मास श्रावण है ॥ १३ ॥

प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिकाः ।
नायमुद्योगसमयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम् ॥ १४ ॥

और चौमासे के चार मास होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। इस समय सीता जी के खोजने का काम नहीं हो सकता। अतः तुम किष्किन्धा में जाओ ॥ १४ ॥

अस्मिन्वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्मणः ।
इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ॥ १५ ॥

और मैं लक्ष्मण सहित इस पर्वत पर निवास करूँगा। यह पर्वत की कन्दरा बड़ी रमणीक, लंबी चौड़ी और हवादार है ॥१५॥

प्रभूतसलिला सौम्य प्रभूतकमलोत्पला ।
कार्त्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावणवधे यत ॥ १६ ॥

इसके पास ही बहुत जलयुक्त और खिले हुए कमल के फूलों से युक्त जलाशय भी है। जब कार्तिक मास लगे, तब तुम रावण के वध के लिये यत्न करना ॥ १६ ॥

एष नः समयः सौम्य प्रविश त्वं स्वमालयम् ।
अभिषिक्तः स्वराज्ये च सुहृदः संप्रहर्षय ॥ १७ ॥

इस समय तुम अपने घर जा कर और अपना राज्याभिषेक करवा, अपने इष्टमित्रों को प्रसन्न करो ॥ १७ ॥

इति रामाभ्यनुज्ञातः सुग्रीवो वानराधिपः ।
प्रविवेश पुरीं रम्यां किष्किन्धां वालिपालिताम् १८ ॥

जब श्रीराम ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब वानरराज सुग्रीव वालि की रमणीक राजधानी किष्किन्धापुरी में गया ॥ १८ ॥

तं वानरसहस्राणि प्रविष्टं वानरेश्वरम् ।
अभिवाद्य प्रविष्टानि सर्वतः पर्यवारयन् ॥ १९ ॥

जाते समय हज़ारों वानर सुग्रीव को प्रणाम कर और घेर कर नगरी में प्रविष्ट हुए ॥ १९ ॥

ततः प्रकृतयः सर्वा दृष्ट्वा हरिगणेश्वरम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पतिता वसुधायां समाहिताः ॥ २० ॥

वहाँ पहुँचने पर समस्त प्रजा के लोगों ने कपिराज को साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ २० ॥

सुग्रीवः प्रकृतीः सर्वाः सम्भाष्योत्थाप्य वीर्यवान् ।
भ्रातुरन्तःपुरं सौम्यं प्रविवेश महावलः ॥ २१ ॥

तव पराक्रमी सुग्रीव ने उन सब को उठा कर, उनसे प्रीतिपूर्वक बातचीत की और फिर वे महावली सुग्रीव अपने भाई के रनवास में गये ॥ २१ ॥

प्रविश्य त्वभिनिष्क्रान्तं सुग्रीवं वानरर्षभम् ।
अभ्यषिञ्चन्त सुहृदः सहस्राक्षमिवामराः ॥ २२ ॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीव जब रनवास से निकले, तब उनके सुहृदों ने उनका राज्याभिषेक उसी प्रकार किया, जिस प्रकार देवता लोग इन्द्र का किया करते हैं ॥ २२ ॥

तस्य पाण्डुरमाजह्रुश्छत्रं हेमपरिष्कृतम् ।
शुक्ले च वालव्यजने हेमदण्डे यशस्करे ॥ २३ ॥

सोने की डंडी का सफेद छत्र और सोने की डंडियों के दो बढ़िया चमर अभिषेक के लिये वे लोग ले आये ॥ २३ ॥

तथा सर्वाणि रत्नानि सर्वबीजौषधीरपि ।
सक्षीराणां च वृक्षाणां प्ररोहान्कुसुमानि च ॥ २४ ॥

और अनेक प्रकार के रत्न, सब प्रकार के बीज, सब औषधियाँ, क्षीर वाले वृक्षों के अङ्कुर और तरह तरह के फूल भी एकत्र किये गये ॥ २४ ॥

शुक्लानि चैव वस्त्राणि श्वेतं चैवानुलेपनम् ।
सुगन्धीनि च माल्यानि स्थलजान्यम्बुजानि च ॥ २५ ॥
चन्दनानि च दिव्यानि गन्धांश्च विविधान्बहून् ।
अक्षत जातरूपं* च प्रियङ्गुमधुसर्पिषी ॥ २६ ॥
दधि चर्म च वैयाघ्रं वाराही चाप्युपानहौ ।
समालम्भनमादाय रोचनां समनःशिलाम् ॥ २७ ॥

सफेद वस्त्र, कर्पूरादिक सफेद उबटन, सुगन्धियुक्त पुष्पों के हार, गुलाब के फूल, दिव्य चन्दन, दिव्य सुगन्धियुक्त वस्तुएँ, अक्षत, प्रियंगु, मधु, सरसों, दही, व्याघ्रचर्म, शूकर के चाम के जूते, समा-

* पाठान्तरे—"अक्षताज्ञात"।

लम्भन नाम का अनुलेपन विशेष, गोरोचन, मैनसिल, आदि सामग्री अभिषेक के लिये एकत्र की गयी ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

आजग्मुस्तत्र मुदिता वराः कन्यास्तु षोडश ।
ततस्ते वानरश्रेष्ठं यथाकालं यथाविधि ॥ २८ ॥
रत्नैर्वस्त्रैश्च भक्षैः* च तोषयित्वा द्विजर्षभान्[1] ।
ततः कुशपरिस्तीर्णं समिद्धं[2] जातवेदसम्[3] ॥ २९ ॥
मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदो जनाः ।
ततो हेमप्रतिष्ठाने वरास्तरणसंवृते ॥ ३० ॥
प्रासादशिखरे रम्ये चित्रमाल्योपशोभिते ।
प्राङ्मुखं विविधैर्मन्त्रैः स्थापयित्वा वरासने ॥ ३१ ॥

फिर सुलक्षण युक्त सोलह कन्याएँ प्रसन्न होती हुईं अभिषेकस्थल में आयीं। तदनन्तर उन वानरों ने यथाविधि अभिषेक करने के लिये रत्नों, वस्त्रों और भक्ष्य पदार्थों से (अभिषेक कृत्य कराने को आये हुए) ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया। मंत्र जानने वाले ब्राह्मण, वेदी पर कुश बिछा कर और अग्नि प्रज्ज्वलित कर, मंत्रों से पवित्र हविष्यान्न की आहुति देने लगे। जब हवन समाप्त हुआ, तब मनोहर सुवर्ण भूषित बिछौनों से युक्त, चित्र और मालाओं से सुशोभित रमणीय भवन की अटारी पर, श्रेष्ठसिंहासन पर, मंत्रों से विधिपूर्वक, पूर्व को मुख करवा, सुग्रीव को बैठाया ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

नदीनदेभ्यः संहृत्य तीर्थेभ्यश्च समन्ततः ।
आहृत्य च समुद्रेभ्यः सर्वेभ्यो वानरर्षभाः ॥ ३२ ॥

---

१ द्विजर्षभान्—याजनार्थमाहूतान् । (गो०) २ समिद्धं—ज्वलितं । (गो०) जातवेदसम्—अग्निं । (गो०) * पाठान्तरे—“ भक्ष्यैः ” ।

अपः कनककुम्भेषु निधाय विमलाः शुभाः ।
शुभैर्वृषभशृङ्गैश्च कलशैश्चापि काञ्चनैः ॥ ३३ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ ३४ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनुमाञ्जाम्बवान्नलः ।
अभ्यषिञ्चन्त सुग्रीवं प्रसन्नेन सुगन्धिना ॥ ३५ ॥

सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा ।
अभिषिक्ते तु सुग्रीवे सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥ ३६ ॥

प्रचुक्रुशुर्महात्मानो हृष्टास्तत्र सहस्रशः ।
रामस्य तु वचः कुर्वन्सुग्रीवो हरिपुङ्गवः ॥ ३७ ॥

फिर नदियों, नदों, तीर्थों और समुद्रों से वानरोत्तम द्वारा लाये हुए विमल जलों को सोनों के घड़ों में भर दिया। फिर बैल के सींगों में तथा सोने के कलसों में उन्हें भर कर, महर्षिप्रोक्त शास्त्र की विधि से, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैंद, द्विविद, हनुमान और जाम्बवान ने विमल सुगन्धियुक्त जल से सुग्रीव को वैसे ही स्नान कराये, जैसे अष्टवसु इन्द्र को स्नान करवाते हैं। जब इस प्रकार सुग्रीव का अभिषेक हो गया, तब हज़ारों वानरपुङ्गव हर्षित हो आनन्दध्वनि करने लगे। तदनन्तर वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा के अनुसार ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

अङ्गदं सम्परिष्वज्य यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।
अङ्गदे चाभिषिक्ते तु सानुक्रोशाः प्लवङ्गमाः ॥ ३८ ॥

साधु साध्विति सुग्रीवं महात्मानोऽभ्यपूजयन् ।
रामं चैव महात्मानं लक्ष्मणं च पुनः पुनः ॥ ३९ ॥

और अंगद को गले लगा युवराजपद पर प्रतिष्ठित किया। अंगद को युवराज पद पर अभिषिक्त देख, और अंगद पर दया दिखला, सब वानर "वाह वाह" कह कर, महात्मा सुग्रीव की बड़ाई करने लगे। तदनन्तर वे सब प्रसन्न हो, महात्मा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की वार वार स्तुति करने लगे ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

प्रीताश्च तुष्टुवुः सर्वे तादृशे तत्र वर्तिति* ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णा पताकाध्वजशोभिता ।
बभूव नगरी रम्या किष्किन्धा गिरिगह्वरे ॥ ४० ॥

सुग्रीव और अंगद का अभिषेक देख, सब वानर प्रसन्न हुए और वह किष्किन्धा नगरी हृष्ट पुष्ट जनों से भर गयी तथा ध्वजा पताकाओं से सुशोभित हो, अत्यन्त दर्शनीय हो गयी ॥ ४० ॥

निवेद्य रामाय तदा महात्मने
महाभिषेकं कपिवाहिनीपतिः ।
रुमां च भार्यां प्रतिलभ्य वीर्यवा-
नवाप राज्यं त्रिदशाधिपो यथा ॥ ४१ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

अभिषेक का सारा वृत्तान्त श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन कर, कपिसेनापति महापराक्रमी सुग्रीव, अपनी भार्या रुमा को प्राप्त कर, इन्द्र की तरह वानरराज्य पर प्रतिष्ठित हुए ॥ ४१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

* पाठान्तरे—"वर्तिनि"।

सप्तविंशः सर्गः

—※—

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे प्रविष्टे वानरे गुहाम्।
आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम्॥ १॥

जब सुग्रीव का अभिषेक हो चुका और वे किष्किन्धा में चले गये, तब श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण को अपने साथ ले, प्रस्रवण पर्वत पर चले आये॥ १॥

शार्दूलमृगसंघुष्टं सिंहैर्भीमरवैर्वृतम्।
नानागुल्मलतागूढं बहुपादपसङ्कुलम्॥ २॥

वह प्रस्रवण पर्वत शार्दूल, और मृगों से भरा हुआ था और भयङ्कर सिंह उस पर दहाड़ा करते थे। अनेक प्रकार की झाड़ियों लताओं और वृक्षों से वह भरा पूरा था॥ २॥

ऋक्षवानरगोपुच्छैर्मार्जारैश्च निषेवितम्।
मेघराशिनिभं शैलं नित्यं शुचिजलाश्रयम्॥ ३॥

उस पर रीछ, बंदर, गोपुच्छ, वनबिलाव रहा करते थे। वह मेघाडम्बर की तरह देख पड़ता था। उस पर जो पानी के झरने थे उनका जल सदा साफ रहता था॥ ३॥

तस्य शैलस्य शिखरे महतीमायतां गुहाम्।
प्रत्यगृह्णत वासार्थं रामः सौमित्रिणा सह॥ ४॥

उस शैल की चोटी पर एक बड़ी लंबी चौड़ी गुफा थी। श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित उस गुफा को रहने के लिये पसंद किया॥ ४॥

कृत्वा च समयं सौम्यः सुग्रीवेण सहानघः ।
कालयुक्तं महद्वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ॥ ५ ॥
विनीतं भ्रातरं भ्राता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ।
इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ॥ ६ ॥

अनघ श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव के साथ पर्वत पर रहने की अवधि निश्चित कर, श्री के बढ़ाने वाले एवं विनीत भाई लक्ष्मण जी से समयानुकूल वचन कहे। (वे बोले) हे लक्ष्मण! यह पर्वत की कन्दरा बड़ी मनोहर, लंबी चौड़ी और हवादार है ॥ ५ ॥ ६ ॥

अस्यां वसाव सौमित्रे वर्षरात्रमरिन्दम ।
गिरिशृङ्गमिदं रम्यमुन्नतं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥

हे सौमित्र! हे अरिन्दम! मैं वर्षाकाल यहीं बिताऊँगा। हे नृपनन्दन! इस पर्वत का शिखर, रमणीय, और ऊँचा है ॥ ७ ॥

श्वेताभिः कृष्णताम्राभिः शिलाभिरुपशोभितम् ।
नानाधातुसमाकीर्णं दरीनिर्झरशोभितम् ॥ ८ ॥

यह सफेद, काली और लाल रंग की शिलाओं से शोभित और नाना धातुओं से चित्रित है और जल के झरनें तथा गुफाओं से भी शोभित हैं ॥ ८ ॥

विविधैर्वृक्षषण्डैश्च चारुचित्रलतावृतम् ।
नानाविहगसंघुष्टं मयूररवनादितम् ॥ ९ ॥

यह अनेक वृक्ष समूहों और मनोहर विचित्र लताओं से घिरा हुआ, नाना पक्षियों से युक्त और मोरों के शब्द से शब्दायमान है ॥ ९ ॥

मालतीकुन्दगुल्मैश्च सिन्धुवारकुरण्टकैः ।
कदम्बार्जुनसर्जैश्च पुष्पितैरुपशोभितम् ॥ १० ॥

पुष्पित मालती और कुन्दों के गुच्छों से तथा सिरस, कदंब, अर्जुन और साखुओं के पेड़ों से सुशोभित है ॥ १० ॥

इयं च नलिनी रम्या फुल्लपङ्कजमण्डिता ।
नातिदूरे गुहाया नौ भविष्यति नृपात्मज ॥ ११ ॥

हे राजकुमार ! खिले हुए कमल के फूलों से भूषित नदी, जल बढ़ने पर हमारी गुफा के समीप ही बहने लगेगी ॥ ११ ॥

प्रागुदक्प्रवणे देशे गुहा साधु भविष्यति ।
पश्चाच्चैवोन्नता सौम्य निवातेयं भविष्यति ॥ १२ ॥

इस गुफा के ईशानकोण की भूमि नीची है और इसका पिछला भाग ऊँचा है । इस लिये हमें यहाँ हवा का डर नहीं रहेगा अर्थात् हवा के झोंकों से वृष्टि जल भी न आवेगा ॥ १२ ॥

गुहाद्वारे च सौमित्रे शिला समतला शुभा ।
श्लक्ष्णा चैवायता चैव भिन्नाञ्जनचयोपमा ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! गुफा के द्वार पर जो शिला है । वह समतल और चिकनी तथा लंबी चौड़ी होने से यहाँ रहने वालों के लिये, कल्याणदायिनी है और अंजन की तरह काली है ॥ १३ ॥

गिरिशृङ्गमिदं तात पश्य चोत्तरतः शुभम् ।
भिन्नाञ्जनचयाकारमम्भोधरमिवोत्थितम् ॥ १४ ॥

हे तात ! यह देखो उत्तर की ओर इस पर्वत का शिखर अंजन के ढेर की तरह अथवा उमड़े हुए मेघ की तरह देख पड़ता है ॥ १४ ॥

दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितं श्वेतमिवापरम् ।
कैलासशिखरप्रख्यं नानाधातुविभूषितम् ॥ १५ ॥

दक्षिण ओर भी कैलास पर्वत के शिखर की तरह और श्वेत मेघों के समान एवं अनेक प्रकार की धातुओं से रंगा हुआ, यह पर्वत शिखर शोभायमान हो रहा है ॥ १५ ॥

प्राचीनवाहिनीं चैव नदीं भृशमकर्दमाम् ।
गुहायाः पूर्वतः पश्य त्रिकूटे जाह्नवीमिव ॥ १६ ॥

इस गुफा के अग्रभाग में कीचड़ रहित और पूर्व की ओर बहने वाली यह नदी उसी प्रकार शोभायमान है, जिस प्रकार त्रिकूट पर्वत पर गङ्गा शोभायमान हो ॥ १६ ॥

*चम्पकैस्तिलकैस्तालै स्तमालै रतिमुक्तकैः ।
पद्मकैः सरलैश्चैव अशोकैश्चैव शोभिताम् ॥ १७ ॥
वानीरैस्तिमिशैश्चैव वकुलैः केतकैर्धवैः ।
हिन्तालैस्तिरिटैर्नीपैर्वेत्रकैः कृतमालकैः ॥ १८ ॥
तीरजैः शोभिता भाति नानारूपैस्ततस्ततः ।
वसनाभरणोपेता प्रमदेवाभ्यलंकृता ॥ १९ ॥

इसके तटवर्ती और तरह तरह के चंपा, तिलक, ताल, तमाल, पौंड़क, पद्मक, पीत देवदार, अशोक, वानीर नामक बेंत, तिमिर वृक्ष, मौलसरी, केवड़ा, हिन्ताल, तिमिश, बेंत और अमलतासादि वृक्ष, जो इसीके जल से उत्पन्न हुए हैं, इस नदी की ऐसी शोभा बढ़ा रहे हैं, जैसे वस्त्राभूषण से विभूषित स्त्री सुशोभित होती है ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

* पाठान्तरे—" चम्पकैस्तिलकैश्चैव वकुलैः केतकैर्धवैः " ।

शतशः पक्षिसङ्घैश्च नानानादैर्विनादिता।
एकैकमनुरक्तैश्च चक्रवाकैरलङ्कृता ॥ २० ॥

सैकड़ों पक्षियों के झुंडों की तरह तरह की बोलियां सुनाई पड़ती हैं और परस्पर अनुराग युक्त चकवा चकई से यह भूषित है ॥ २० ॥

पुलिनैरतिरम्यैश्च हंससारससेवितैः।
प्रहसन्तीव भात्येषा नारी सर्वविभूषिता ॥ २१ ॥

अति रमणीय तीर देशों से शोभित तथा हंस और सारस पक्षियों से सेवित होने के कारण यह नदी अनेक प्रकार के रत्न-जटित आभूषणों से विभूषित स्त्री की तरह हँसती हुई सी जान पड़ती है ॥ २१ ॥

क्वचिन्नीलोत्पलैश्छन्ना भाति रक्तोत्पलैः क्वचित्।
क्वचिदाभाति शुक्लैश्च दिव्यैः कुमुदकुड्मलैः ॥ २२ ॥

इस नदी में कहीं नीले रंग के, कहीं लाल रंग के कमल के फूल फूल रहे हैं और कहीं दिव्य सफेद रंग की कुमुदनी की कलियाँ इसकी शोभा बढ़ा रही हैं ॥ २२ ॥

पारिप्लवशतैर्जुष्टा बर्हिणक्रौञ्चनादिता।
रमणीया नदी सौम्य मुनिसङ्घैर्निषेविता ॥ २३ ॥

सैकड़ों जलपक्षी, मयूर और क्रौंच इसके तट पर बोल रहे हैं। इस सुन्दर रमणीय नदी के तट पर ऋषिगण भी वास करते हैं ॥ २३ ॥

---

* पाठान्तरे—"अन्योन्यं"।

पश्य चन्दनवृक्षाणां पङ्क्तीः सुरचिता[1] इव ।
ककुभानां च दृश्यन्ते मनसेवोदिताः समम् ॥ २४ ॥

देखो, चन्दन के वृक्षों की पंक्ति ऐसी जान पड़ती है, मानों माला गूंथी हुई हो और अर्जुन वृक्षों की पंक्तियां ऐसी देख पड़ती हैं मानों मन के सङ्कल्प से उगी हों अर्थात् जैसा किसी ने मन में चाहा हो वैसे ही एक पंक्ति में लगी हों अथवा किसी की लगाई हुई हों ॥ २४ ॥

अहो सुरमणीयोऽयं देशः शत्रुनिषूदन ।
दृढं रंस्याव सौमित्रे साध्वत्र निवसावहै ॥ २५ ॥

हे शत्रुनिषूदन ! यह तो परम रमणीय स्थान है । हे सौमित्रे हम लोग यहां बड़े सुख से निवास करेंगे ॥ २५ ॥

इतश्च नातिदूरे सा किष्किन्धा चित्रकानना ।
सुग्रीवस्य पुरी रम्या भविष्यति नृपात्मज ॥ २६ ॥

हे राजकुमार ! यहां पर रहने से सुग्रीव की रमणीय और चित्रविचित्र काननों वाली किष्किन्धा पुरी भी बहुत दूर नहीं पड़ेगी ॥ २६ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषः श्रूयते जयतांवर ।
नर्दतां वानराणां च मृदङ्गाडम्बरैः सह ॥ २७ ॥

हे विजयिश्रेष्ठ ! देखो, यहां से गाने बजाने का शब्द और वानरों का गर्जन तर्जन, मृदङ्ग की गमक में मिल कर, सुनाई पड़ता है ॥ २७ ॥

---

१ सुरचिता इव—मालारूपेणं ग्रथिता इव । (गो॰)

लब्ध्वा भार्यां कपिवरः प्राप्य राज्यं सुहृद्वृतः ।
ध्रुवं नन्दति सुग्रीवः सम्प्राप्य महतीं श्रियम् ॥ २८ ॥

कपिवर सुग्रीव अपनी भार्या, राज्य और महती राज्यलक्ष्मी प्राप्त कर के, अपने मित्रों के साथ आनन्द मनाता होगा ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा न्यवसत्तत्र राघवः सहलक्ष्मणः ।
बहुदृश्यदरीकुञ्जे तस्मिन्प्रस्रवणे गिरौ ॥ २९ ॥

इस प्रकार कह, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी इस अत्यन्त मनोहर कन्दरा वाले और अनेक दृश्यों से युक्त एवं कुञ्जवाले प्रस्रवण पहाड़ पर रहने लगे ॥ २९ ॥

सुसुखेऽपि बहुद्रव्ये[1] तस्मिन्हि धरणीधरे ।
वसतस्तस्य रामस्य रतिरल्पाऽपि नाभवत् ॥ ३० ॥

यद्यपि उस पर्वत पर सब प्रकार का सुपास था, बहुत से पुष्प फलादि थे, तथापि श्रीरामचन्द्र का मन वहाँ रहने से प्रसन्न न हुआ ॥ ३० ॥

हृतां हि भार्यां स्मरतः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ।
उदयाभ्युदितं दृष्ट्वा शशाङ्कं च विशेषतः ॥ ३१ ॥

क्योंकि जब वे प्राण से भी अधिक प्यारी और हरी हुई सीता का स्मरण करते और विशेष कर जब वे उदयाचल पर उदित होते हुए चन्द्रमा को देखते ॥ ३१ ॥

आविवेश न तं निद्रा निशासु शयनं गतम् ।
तत्समुत्थेन शोकेन बाष्पोपहतचेतसम् ॥ ३२ ॥

---

१ बहुद्रव्ये—बहुपुष्पफलादिघने । (गो०)

तब श्रीरामचन्द्र जी सीता के वियोगजनित शोक से आंसू बहाते और हतबुद्धि हो जाते थे तथा रात में उनको विस्तरे पर लेटने पर भी नींद नहीं आती थी ॥ ३२ ॥

तं शोचमानं काकुत्स्थं नित्यं शोकपरायणम् ।
तुल्यदुःखोऽब्रवीद्भ्राता लक्ष्मणोऽनुनयन्वचः ॥ ३३ ॥

सदैव शोकान्वित श्रीरामचन्द्र जी को शोकाकुल देख, उन्हीं की तरह शोकाकुल लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से नम्रता पूर्वक यह वचन कहे ॥ ३३ ॥

अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि ।
शोचतो व्यवसीदन्ति सर्वार्था विदितं* हि ते ॥ ३४ ॥

हे वीर! आप व्यथित हो शोकाकुल न हों, क्योंकि आप सब जानते ही हैं कि, शोक करने वाले लोग सदा कष्ट ही पाया करते हैं ॥ ३४ ॥

भवान्क्रियापरो लोके भवान्दैवपरायणः ।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव ॥ ३५ ॥

शोक न करने का कारण बतलाते हुए लक्ष्मण जी कहते हैं कि, आप अखिलभुवनवासियों की क्रियाओं के प्रवर्तक हैं और देवताओं को तृप्ति करने वालों के आश्रयस्थल भी आप ही हैं। (शिरोमणिटीका के मतानुसार) हे राघव! आप आस्तिक हैं, धर्मानुष्ठानतत्पर हैं और उद्यमी हैं ॥ ३५ ॥

न ह्यव्यवसितः शत्रुं राक्षसं तं विशेषतः ।
समर्थस्त्वं रणे हन्तुं विक्रमैर्जिह्मकारिणम् ॥ ३६ ॥

---

* पाठान्तरे—"विहितं"।

यदि आप किसी प्रकार का उद्योग न कर, अपना चित्त विकल रखेंगे, तो उस कपटाचारी राक्षस रावण को युद्ध में आप कैसे मार सकेंगे ॥ ३६ ॥

समुन्मूलय शोकं त्वं व्यवसायं स्थिरं कुरु ।
ततः सपरिवारं तं निर्मूलं कुरु राक्षसम् ॥ ३७ ॥

अतः आप शोक को निर्मूल कर उद्योग में लगिये । तदनन्तर आप सपरिवार उस रावण को निर्मूल करिये ॥ ३७ ॥

पृथिवीमपि काकुत्स्थ ससागरवनाचलाम् ।
परिवर्तयितुं शक्तः किमङ्ग पुन रावणम् ॥ ३८ ॥

हे राम ! आप तो सागर, वन और पर्वतों सहित इस पृथिवी को उलट सकते हैं । रावण की तो बात ही क्या है ॥ ३८ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षस्व प्रावृट्कालोऽयमागतः ।
ततः सराष्ट्रं सगणं रावणं त्वं वधिष्यसि ॥ ३९ ॥

बरसात तो सिर पर ही है, अतः आप शरत्काल तक ठहरें। तब राज्य और परिवार सहित तुम रावण का वध करना ॥ ३९ ॥

अहं तु खलु ते वीर्यं प्रसुप्तं प्रतिबोधये ।
दीप्तैराहुतिभिः काले भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ४० ॥

राख से ढकी हुई आग को आहुति दे कर प्रज्वलित करने की तरह आपके सोते हुए पराक्रम को मैं जगाता हूँ ॥ ४० ॥

लक्ष्मणस्य तु तद्वाक्यं प्रतिपूज्य हितं शुभम् ।
राघवः सुहृदं स्निग्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

लक्ष्मण जी के उपयुक्त और हितकारी वचनों का आदर कर, हितैषी और स्नेही लक्ष्मण जी से श्रीरामचन्द्र जी यह कहने लगे ॥ ४१ ॥

वाच्यं यदनुरक्तेन स्निग्धेन च हितेन च ।
सत्यविक्रमयुक्तेन तदुक्तं लक्ष्मण त्वया ॥ ४२ ॥

हे लक्ष्मण! अनुरागी, स्नेही, हितैषी और सत्यपराक्रमी पुरुष को जैसा समझाना उचित है, वैसा ही तुमने मुझे समझाया है ॥ ४२ ॥

एष शोकः परित्यक्तः सर्वकार्यावसादकः ।
विक्रमेष्वप्रतिहतं तेजः प्रोत्साहयाम्यहम् ॥ ४३ ॥

यह लो, मैंने समस्त कार्यों के विनाश करने वाले शोक को त्याग दिया। अब मैं अपने पराक्रम सम्बन्धी दुराधर्ष तेज को प्रोत्साहित करता हूँ ॥ ४३ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षिष्ये स्थितोस्मि वचने तव ।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमनुपालयन् ॥ ४४ ॥

मैं तुम्हारा वचन मान कर, सुग्रीव की सहायता और नदियों की अनुकूलता प्राप्त करने के लिये, शरत्काल की प्रतीक्षा करूँगा ॥४४॥

उपकारेण वीरस्तु प्रतिकारेण युज्यते ।
अकृतज्ञोप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः ॥ ४५ ॥

जो वीर पुरुष होते हैं, वे अपने उपकारी पुरुष का अवश्य प्रत्युपकार करते ही हैं। वे यदि कृतघ्न हो जाय और उपकार को न मान, प्रत्युपकार न करें; तो ऐसा करने वालों के मन उनकी ओर से फट जाते हैं ॥ ४५ ॥

अथैवमुक्तः प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत्प्रतिपूज्य भाषितम् ।
उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन्दर्शनमात्मनः शुभम् ॥ ४६ ॥

फिर लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के युक्तियुक्त वचन सुन और उनकी प्रशंसा कर, हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी के सन्मुख हो, यह बोले ॥ ४६ ॥

यथोक्तमेतत्तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता न चिराद्धरीश्वरः ।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिमं भवा-
ञ्जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः ॥ ४७ ॥

हे नरेन्द्र ! आप जो कुछ कहते हैं सो सब ठीक है और मैं भी यही समझता हूँ कि, वानरवर सुग्रीव शीघ्र ही सहायता करने को उद्यत होंगे । आप वर्षाकाल व्यतीत करते हुए शरत्काल की प्रतीक्षा कीजिये । वर्षाकाल समाप्त होने पर, आप अपने शत्रु के निग्रह करने में दत्तचित्त होना ॥ ४७ ॥

नियम्य कोपं प्रतिपाल्यतां शर-
त्क्षमस्व मासांश्चतुरो मया सह ।
वसाचलेऽस्मिन्मृगराजसेविते
संवर्धयञ्शत्रुवधे समुद्यमम् ॥ ४८ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

आप क्रोध को रोक कर, शरत्काल तक शान्त रहिये और चौमासे भर मेरे साथ इस मृगराजसेवित पर्वत पर रहिये; तदनन्तर शत्रुवध की तैयारी कीजियेगा ॥ ४८ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

अष्टाविंशः सर्गः

—*—

स तथा वालिनं हत्वा सुग्रीवमभिषिच्य च ।
वसन्माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार वालि को मार और सुग्रीव को राजसिंहासन पर बिठा, माल्यवान पर्वत पर रहते हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ १ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः ।
सम्पश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसन्निभैः ॥ २ ॥

वर्षाकाल आ पहुँचा । देखो, पर्वतों के समान बड़े बड़े मेघों के समूह से आकाश आच्छादित हो गया है ॥ २ ॥

नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः ।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम् ॥ ३ ॥

देखो, आकाश सूर्य की किरणों से समुद्र के जल को खींच कर, और नौ मास तक गर्भधारण कर, अब इस वृष्टि रूपी रसायन को उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपङ्क्तिभिः ।
कुटजार्जुनमालाभिरलङ्कर्तुं दिवाकरम् ॥ ४ ॥

इस समय इन मेघ रूपी सीढ़ियों से आकाश में पहुँच कर, कौरैया और अर्जुन के फूलों की मालाओं से सूर्य अलङ्कृत हो रहे हैं ॥ ४ ॥

सन्ध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वधिकपाण्डरैः ।
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम् ॥ ५ ॥

आकाश ने सन्ध्या के लाल रंग से रञ्जित सफेद किनारे वाले और रसीले मेघ रूप कपड़े के टुकड़ों से मानों अपने घावों पर पट्टियाँ बांध रखी हैं ॥ ५ ॥

मन्दमारुतनिश्वासं सन्ध्याचन्दनरञ्जितम् ।
आपाण्डुजलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम् ॥ ६ ॥

यह आकाश, मन्दवायुरूप निश्वास को त्यागता, सन्ध्यारूपी चन्दन से चर्चित, सफेद मेघ रूपी कपोल वाला, कामासक्त की तरह देख पड़ता है ॥ ६ ॥

एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता ।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति ॥ ७ ॥

घाम से तप कर, कष्ट पायी हुई यह पृथिवी, नवीन जल से पूर्ण हो, शोकातुर सीता की तरह, आंसू गिरा रही है ॥ ७ ॥

मेघोदरविनिर्मुक्ताः *कर्पूरदलशीतलाः ।
शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकिगन्धिनः ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—" कल्हारसुखशीतलाः " ।

मेघों से निकला, कपूर की तरह शीतल और केवड़े की गन्धि से युक्त, यह वायु, अञ्जलि से पीने के योग्य है ॥ ८ ॥

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरधिवासितः ।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते ॥ ९ ॥

अर्जुन के पुष्पित वृक्षों से शोभित और केवड़े की सुगन्धि से युक्त यह पर्वत, सुग्रीव की तरह शत्रुरहित हो कर, धाराओं से सींचा जाता है ॥ ९ ॥

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः ।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः ॥ १० ॥

इन पहाड़ों ने, जिनकी कन्दराओं में हवा भरी हुई है, जो मेघ-रूपी काले मृग का चर्म और धारारूपी यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं ; मानों अध्ययन करना आरम्भ कर दिया है ॥ १० ॥

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरिव ताडितम् ।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम् ॥ ११ ॥

आकाश, जिसमें मेघ गर्ज रहे हैं, मानों बिजली रूपी सोने के कोड़े की चोट खा कर, पीड़ा से आर्त्तनाद करता है ॥ ११ ॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति मा ।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी ॥ १२ ॥

इन काले मेघों में चमकती हुई बिजली, रावण की गोद में छटपटाती हुई तपस्विनी वैदेही की तरह जान पड़ती है ॥ १२ ॥

इमास्ता मन्मथवतां हिताः प्रतिहता दिशः ।
अनुलिप्ता इव घनैर्नष्टग्रहनिशाकराः ॥ १३ ॥

ये सब दिशाएँ मेघों से ढक गयी हैं। अतः तारे और चन्द्रमा छिप गये हैं। इसीसे इस समय पूर्वादिक दिशाओं का ज्ञान नहीं होता। अतः ये दिशाएँ कामासक्त पुरुषों के लिये सुख देने वाली हो गयी हैं॥ १३॥

कचिद्वाष्पाभिसंरुद्धान्वर्षागमसमुत्सुकान्।
कुटजान्पश्य सौमित्रे पुष्पितान्गिरिसानुषु।
मम शोकाभिभूतस्य कामसन्दीपनान्स्थितान्॥ १४॥

हे सौमित्रे! देखो, इस पर्वत के शिखरों पर ये कौरैया के पेड़, जो वर्षा के नवीन जल से सींचे जाने के लिये वर्षा के जल के लिये उत्कण्ठित थे, फूल रहे हैं। ये मुझ शोकपीड़ित का कामोद्दीपन करते हुए, टिके हुए हैं॥ १४॥

रजः प्रशान्तं सहिमोऽद्य वायु-
र्निदाघदोषप्रसराः प्रशान्ताः।
स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानां
प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान्॥ १५॥

वर्षा होने के कारण धूल का उड़ना बंद हो गया। शीतल पवन चलने लगा। ग्रीष्म काल के समस्त दोष दूर हो गये। राजाओं की अन्य देशों पर चढ़ाई रुक गई। विदेशी लोग अपने अपने देशों को जाने लगे॥ १५॥

सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः
प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः।
अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु
यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति॥ १६॥

मानसरोवर के लोभी हंस मानसरोवर की ओर चल दिये। चकवा अपनी प्यारी चकई से मिल गया है और लगातार बरसते हुए बरसाती जल से बिगड़े हुए रास्तों पर सवारियों का आना जाना बंद हो गया है॥ १६॥

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।
क्वचित्क्वचित्पर्वतसंनिरुद्धं
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य॥ १७॥

इस समय आकाश में कहीं प्रकाश देख पड़ता है, कहीं नहीं। क्योंकि आकाशमण्डल में मेघ छाये हुए हैं और कहीं वह पर्वतों से संरुद्ध हो रहा है। अतः तरङ्गहीन महासागर की तरह शोभायमान है॥ १७॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति॥ १८॥

ये पहाड़ी नदियाँ, इस नवीन बरसाती जल के गिरने से, साखू और कदम्ब के पुष्पों तथा पर्वत की धातुओं के मिलने से लाल रंग की हो कर, कैसी शीघ्र गति बह रही हैं॥ १८॥

रसाकुलं[1] षट्पदसन्निकाशं
प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्।

---

1 रसाकुलं—माधुर्यव्याप्तं। (गो०)

अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम् ॥ १९ ॥

मीठे और भौरे की तरह काले काले जामुन फलों को लोग, खा रहे हैं। ये रंग विरंगे पके आम के फल वायु के झोकों से टूट कर भूमि पर गिरते हैं ॥ १९ ॥

विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः
शैलेन्द्रकूटाकृतिसन्निकाशाः
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा
मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः ॥ २० ॥

बिजली रूपी पताका से शोभित और बगलों की पंक्ति रूपी माला पहिने हुए शैलशिखर समान डीलडौल के और भयङ्कर नाद करने वाले मेघ, रण में मतवाले हाथियों की तरह बड़ा नाद कर रहे हैं ॥ २० ॥

वर्षोदकाप्यायितशाद्वलानि
प्रवृत्तनृत्तोत्सवबर्हिणानि ।
वनानि निर्वृष्टबलाहकानि
पश्यापराह्णेष्वधिकं विभान्ति ॥ २१ ॥

देखो मध्यान्होत्तर ये वन कैसे शोभायमान हो रहे हैं। वर्षा होने के कारण हरी हरी घास की हरियाली देख पड़ती है, मोर प्रसन्न हो नाच रहे हैं। क्योंकि मेघ अति वृष्टि कर के अब थम गये हैं ॥ २१ ॥

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं
बलाकिनो वारिधरा नदन्तः ।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥ २२ ॥

बगुलों की पंक्तियों से सुशोभित और गर्जते हुए मेघ जल के भारी बोझ से पर्वत के ऊँचे ऊँचे शिखरों पर विश्राम कर के फिर चले जाते हैं ॥ २२ ॥

मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती
सम्मोदिता भाति बलाकपङ्क्तिः ।
वातावधूता वरपौण्डरीकी
लम्बेव माला रचिताम्बरस्य ॥ २३ ॥

गर्भधारण करने के लिये मेघ के प्रति कामयुक्त हो बकपंक्ति प्रसन्न हो, वायु से कम्पित श्रेष्ठ कमल के फूलों की उत्तम माला की तरह, आकाश के कण्ठ का हार सी बन, शोभायमान हो रही है ॥ २३ ॥

बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन ।
गात्रानुवृत्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥ २४ ॥

बीच बीच में छोटी छोटी बीर बहूटियों से भरी हुई हरी घास से इस पृथिवी की ऐसी शोभा हो रही है, जैसी कि, लाल बूटे वाले हरे दुपट्टे के ओढ़ने वाली स्त्री की होती ॥ २४ ॥

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति ।
हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति ॥ २५ ॥

इस वर्षा काल में धीरे धीरे निद्रा केशव के, नदियां द्रुत वेग से समुद्र के, बकपंक्ति हर्षित हो, मेघ के और कामिनी स्त्रियाँ अपने प्रीतम के पास जाती हैं ॥ २५ ॥

जाता वनान्ताः शिखिसम्प्रनृत्ता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः ।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवराभिरामा ॥ २६ ॥

इस समय वनों में मोर नाच रहे हैं। कदम्ब के पेड़ों की शाखाओं में पुष्प खिल रहे हैं, वृषभ गौओं को देख, कामातुर हो रहे हैं और पृथिवी हरी हरी घास से अत्यन्त सुन्दर देख पड़ती है ॥२६॥

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति ।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ॥ २७ ॥

देखो, इस समय नदियाँ बही जाती हैं, मेघ बर्ष रहे हैं, मतवाले हाथी चिंघाड़ रहे हैं, वन शोभित हो रहे हैं। अपनी मोरनियों के विरह में मोर चिन्तित हो रहे हैं और वानरगण (फलों के लिये) आशावान् हो रहे हैं ॥ २७ ॥

प्रहर्षिताः केतकपुष्पगन्ध-
माघ्राय हृष्टा वननिर्झरेषु ।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः
सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति ॥ २८ ॥

ये गजेन्द्र, केवड़े की गन्ध को सूंघ और प्रसन्न हो, झरने के जल के गिरने के शब्दों से विकल और मतवाले हो, मोरों के शब्द में शब्द मिला, चिंघाड़ रहे हैं ॥ २८ ॥

धारानिपातैरभिहन्यमानाः
कदम्बशाखासु विलम्बमानाः ।
क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं
शनैर्मदं षट्चरणास्त्यजन्ति ॥ २९ ॥

भौंरे, धारा के गिरने से ताड़ित हो, कदम्ब की डालियों पर आ बैठते हैं और पूर्वसञ्चित गाढ़े पुष्प रस रूप मद को धीरे धीरे त्याग देते हैं ॥ २९ ॥

अङ्गारचूर्णोत्करसन्निकाशैः
फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः ।
जम्बूद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखा
निलीयमाना इव षट्पदौघैः ॥ ३० ॥

देखो जामुन वृक्ष की डालियां, कोयले की राख की ढेर की तरह रस भरे फलों से ऐसी शोभायमान हो रही हैं, मानों भौंरों के झुण्ड इनका रस पी रहे हों ॥ ३० ॥

तडित्पताकाभिरलङ्कृताना-
मुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम् ।
विभान्ति रूपाणि बलाहकानां
रणोद्यतानामिव वारणानाम् ॥ ३१ ॥

देखो, विद्युत रूपी पताकाओं से शोभित, और महागम्भीर शब्द वाले इन बादलों के रूप ऐसे जान पड़ते हैं, मानो रण करने को तैयार हाथी एकत्र हो रहे हैं ॥ ३१ ॥

मार्गानुगः शैलवनानुसारी
सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य ।
युद्धाभिकामः प्रतिनागशङ्की
मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसन्निवृत्तः ॥ ३२ ॥

पर्वतों और वनों में विचरने वाला यह हाथी, जो पहाड़ी वन की ओर चला जाता था, मेघ के शब्द को सुन और उसे अपने शत्रु हाथी को चिंघार समझ, युद्ध करने की कामना से, लौटा चला आता है ॥ ३२ ॥

क्वचित्प्रगीता इव षट्पदौघैः
क्वचित्प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः ।
क्वचित्प्रमत्ता इव वारणेन्द्रै-
र्विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः ॥ ३३ ॥

ये वन, जिन में कहीं तो भौंरे गूंज रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं, और कहीं मतवाले हाथी विचर रहे हैं, नाना प्रकार के कौतुकों से परिपूर्ण होने के कारण, कैसे देख पड़ते हैं ॥ ३३ ॥

कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाढ्या
वनान्तभूमिर्नववारिपूर्णा ।
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तै-
रापानभूमिप्रतिमा विभाति ॥ ३४ ॥

इस जंगल की भूमि, जो कदम्ब, साखू, अर्जुन, और गुलाब के फूलों से परिपूर्ण है और नवीन जल रूपी मद्य से भरी है, मतवाले मोरों के नाचने से, कलवरिया की तरह जान पड़ती है ॥ ३४ ॥

मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम् ।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहङ्गाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति ॥ ३५ ॥

प्यासे पखेरू, जिनके पंख पानी से बिगड़ गये हैं, मोती के समान पत्तों पर गिरा हुआ और इन्द्र का दिया हुआ निर्मल जल, हर्षित हो पी रहे हैं ॥ ३५ ॥

षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवङ्गमोदीरितकण्ठतालम् ।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-
र्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३६ ॥

भौंरों का जो गुञ्जार हो रहा है वह मानों वीणा की मधुर झंकार है। मेढकों की टर्र टर्र, मानों कण्ठ से दिया हुआ ताल है, मेघों की गड़गड़ाहट, मानों मृदङ्ग से निकली हुई गमक है। इस प्रकार का सङ्गीत वनों में हो रहा ॥ ३६ ॥

क्वचित्प्रनृत्तैः क्वचिदुन्नदद्भिः
क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः ।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरै-
र्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३७ ॥

देखो कहीं तो मोर नाच रहे हैं, कहीं बोल रहे हैं और कहीं अपनी लंबी पूंछ रूपी अलङ्कार को लटका कर पेड़ों पर बैठे हुए हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है कि, वन में मानों गाना बजाना हो रहा है ॥ ३७ ॥

स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा
विहाय निद्रां चिरसन्निरुद्धाम् ।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा
नवाम्बुधाराभिहता नदन्ति ॥ ३८ ॥

अनेक रंग रूप और अनेक प्रकार की बोलियां बोलने वाले ये बंदर, मेघ की गड़गड़ाहट सुन, बहुत देर से लगी हुई नींद को त्याग, इस नवीन वृष्टि की जलधार से भींग कर, कैसी किलकारियां मार रहे हैं ॥ ३८ ॥

नद्यः समुद्वाहितचक्रवाका-
स्तटानि शीर्णान्यपवाहयित्वा ।
दृप्ता नवप्राभृतपूर्णभोगा
द्रुतं स्वभर्तारमुपोपयान्ति ॥ ३९ ॥

देखो, ये नदियां जिनमें चक्रवाक तैरते हुए देख पड़ते हैं, अपने पुराने और दरके हुए करारों को ढहाती हैं। वे वेग रूप गर्व को और

नवीन (भरे हुए) शरीर को धारण कर, पूर्व के अङ्गीकृत समुद्र रूपी पति के पास चली जा रही हैं ॥ ३६ ॥

नीलेषु नीलाः प्रविभान्ति सक्ता
मेघेषु मेघा नववारिपूर्णाः ।
दवाग्निदग्धेषु दवाग्निदग्धाः
शैलेषु शैला इव बद्धमूलाः ॥ ४० ॥

नवीन जल से परिपूर्ण ये काले मेघ समूह, अन्य काले मेघ समूहों से मिल ऐसे जान पड़ते हैं, मानों वनाग्नि से जले हुए पहाड़ों में वैसे ही पर्वत छिपते हों ॥ ४० ॥

प्रहृष्टसन्नादितबर्हिणानि
सशक्रगोपाकुलशाद्वलानि ।
चरन्ति नीपार्जुनवासितानि
गजाः सुरम्याणि वनान्तराणि ॥ ४१ ॥

इन रमणीय वनों में जिनमें मतवाले मयूर बोल रहे हैं और वीरबहूटियों से पूर्ण घास लहराती है और अर्जुन के फूलों की सुगन्ध आ रही है, हाथियों के झुण्ड चर रहे हैं ॥ ४१ ॥

नवाम्बुधाराहतकेसराणि
द्रुतं परित्यज्य सरोरुहाणि ।
कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि
वनानि हृष्टा भ्रमराः पतन्ति ॥ ४२ ॥

देखो ये भौंरें नवीन जलवृष्टि से झड़े हुए केसर वाले कमलों को छूकर नवीन केसर से युक्त कदम्ब के फूलों का प्रसन्न हो पान कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा
वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः ।
रम्या नगेन्द्रा निभृता नरेन्द्राः
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः ॥ ४३ ॥

इस समय मदमत्त गज, प्रसन्न वृषभ, जंगलों में अत्यन्त पराक्रमयुक्त सिंह देख पड़ते हैं। पर्वतों की शोभा रमणीक हो रही है और राजा लोग उद्यमहीन देख पड़ते हैं। इस समय सुरपति इन्द्र मेघों द्वारा क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

मेघाः समुद्भूतसमुद्रनादा
महाजलौघैर्गगनावलम्बाः ।
नदीस्तटाकानि सरांसि वापी-
र्महीं च कृत्स्नामपवाहयन्ति ॥ ४४ ॥

समुद्र के नाद को भी दबा देने वाले ये मेघ, बहुत सा जल भरे हुए, आकाश में रह कर, वर्षा द्वारा नदी, तालाब, सरोवर, बावली और समस्त पृथिवी को परिपूर्ण कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

वर्षप्रवेगा विपुलाः पतन्ति
प्रवान्ति वाताः समुदीर्णघोषाः ।
प्रनष्टकूलाः प्रवहन्ति शीघ्रं
नद्यो जलैर्विप्रतिपन्नमार्गाः ॥ ४५ ॥

देखो, जलवृष्टि कैसे ज़ोर से हो रही है और वायु कैसा प्रचण्ड चल रहा है। नदियाँ तटरूपी मर्यादा को तोड़, बुरे रास्ते से बड़े वेग से जल को बहा रही हैं ॥ ४५ ॥

---

* पाठान्तरे—"विश्रान्त"।

नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः
सुरेन्द्रदत्तैः पवनोपनीतैः ।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति ॥ ४६ ॥

मनुष्य जिस प्रकार राजा को स्नान कराते हैं, वैसे ही वायु से प्रेरित, जल से भरे मेघ रूपी घड़े से स्नान कर के, पर्वत समूह मानों अपना रूप और शोभा दिखला रहे हैं ॥ ४६ ॥

घनोपगूढं गगनं सतारं
न भास्करो दर्शनमभ्युपैति ।
नवैर्जलौघैर्धरणी वितृप्ता
तमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशाः ॥ ४७ ॥

इन दिनों मेघाच्छादित आकाश में न तो तारे ही देख पड़ते हैं और न सूर्य ही के दर्शन होते हैं। पृथिवी नवीन जलप्रवाह से तृप्त हो गयी है और समस्त दिशाओं में अंधकार छा जाने से, उनमें ज़रा सा भी प्रकाश नहीं देख पड़ता ॥ ४७ ॥

महान्ति कूटानि महीधराणां
धाराभिधौतान्यधिकं विभान्ति ।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातै-
र्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः ॥ ४८ ॥

पर्वतों के बड़े बड़े शिखर जो जलप्रवाह से धुले हुए हैं, इन बड़े बड़े झरनों के कारण ऐसे शोभायमान हो रहे हैं, मानों मोतियों की लंबी मालाएँ धारण किये हुए हों ॥ ४८ ॥

शैलोपलप्रस्खलमानवेगाः
शैलोत्तमानां विपुलाः प्रपाताः ।
गुहासु सन्नादितबर्हिणासु
हारा विकीर्यन्त इवाभिभान्ति ॥ ४९ ॥

बड़े बड़े पहाड़ों के झरनों का पानी चट्टानों पर बड़े वेग से बहता हुआ, मोरों के नाद से युक्त कन्दराओं में मोती के टूटे हुए हार की तरह छितरा कर गिर रहा है ॥ ४६ ॥

शीघ्रप्रवेगा विपुलाः प्रपाता
निर्धौतशृङ्गोपतला गिरीणाम् ।
मुक्ताकलापप्रतिमाः पतन्तो
महागुहोत्सङ्गतलैर्ध्रियन्ते ॥ ५० ॥

पर्वतों के बड़े वेग से बहने वाले झरने, पहाड़ों की चोटियों को धोते हुए, बड़े वेग से गिर कर, बड़ी गुफाओं में मोतियों की ढेरी के समान शोभा दे रहे हैं ॥ ५० ॥

सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः ।
पतन्तीवाकुला दिक्षु तोयधाराः समन्ततः ॥ ५१ ॥

स्वर्गीय स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के समय, मर्दन करने के कारण टूटे हुए अनुपम मोतियों के हार की तरह, चारों ओर वृष्टि का जल छितरा रहा है ॥ ५१ ॥

निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः ।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः ॥५२॥

पक्षियों के अपने घोंसलों में बसेरा लेने से और कमल के फूलों के समिट कर बंद हो जाने से और मालती के फूलों के खिलने से, सूर्य का अस्त होना, जाना जाता है ॥ ५२ ॥

वृत्ता यात्रा नरेन्द्राणां सेना प्रतिनिवर्तते ।
वैराणि चैव मार्गाश्च सलिलेन समीकृताः ॥ ५३ ॥

इस वर्षा काल में राजाओं की यात्रा स्थगित हो रही है। जिस किसी राजा की सेना किसी शत्रु पर चढ़ाई करने चल पड़ी थी, वह भी वर्षाकाल उपस्थित होने के कारण रास्ते में जहाँ की तहाँ रुकी हुई है ॥ ५३ ॥

मासि प्रोष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम् ।
अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः ॥ ५४ ॥

इस भाद्र मास में सामवेदी ब्राह्मणों का अध्ययन काल आ पहुँचा ॥ ५४ ॥

निवृत्तकर्मायतनो नूनं सञ्चितसञ्चयः ।
आषाढीमभ्युपगतो भरतः कोसलाधिपः ॥ ५५ ॥

कोशलाधिपति भरत कर उगाहने आदि के कार्यों से निवृत्त हो और चौमासे में खर्च के लिये भोजनाच्छादन की सामग्री घर में संग्रह कर, आषाढ़ी पूर्णिमा से किसी विशेष अनुष्ठान में लग गये होंगे ॥ ५५ ॥

नूनमापूर्यमाणायाः सरय्वा वर्धते रयः ।
मां समीक्ष्य समायान्तमयोध्याया इव स्वनः ॥ ५६ ॥

सरयू नदी में बाढ़ आने से वह लबालब भरी होगी और उसका कोलाहल, ऐसा होता होगा, जैसा कि, मेरी वनयात्रा के समय अयोध्यावासियों ने किया था ॥ ५६ ॥

इमाः स्फीतगुणा वर्षाः सुग्रीवः सुखमश्नुते ।
विजितारिः सदारश्च राज्ये महति च स्थितः ॥ ५७ ॥

भरीपूरी वर्षा ऋतु के लक्षण इस समय भली भाँति जान पड़ रहे हैं। सुग्रीव भी इस समय सुख भोगते होंगे। क्योंकि उनका शत्रु मारा गया और उनको उनकी स्त्री भी मिल गयी और साथ ही एक बड़ा राज्य भी उनके हाथ लग गया ॥ ५७ ॥

अहं तु हृतदारश्च राज्याच्च महतश्च्युतः ।
नदीकूलमिव क्लिन्नमवसीदामि लक्ष्मण ॥ ५८ ॥

किन्तु; हे लक्ष्मण! मैं स्त्री को गँवा और इतने बड़े राज्य से वञ्चित हो, धार से कटते हुए नदी के तट की तरह, इस समय दुःखी हो रहा हूँ ॥ ५८ ॥

शोकश्च मम विस्तीर्णो वर्षाश्च भृशदुर्गमाः ।
रावणश्च महाञ्शत्रुरपारं प्रतिभाति मे ॥ ५९ ॥

एक तो यह वर्षाकाल अत्यन्त दुर्गम है, दूसरे रावण भी ऐसा वैसा शत्रु नहीं है—बड़ा प्रबल शत्रु है, तीसरे मेरा शोक उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। सो ये सब मुझे दुस्तर ही जान पड़ते हैं ॥ ५९ ॥

अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गांश्च भृशदुर्गमान् ।
प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किञ्चिदीरितम् ॥ ६० ॥

मार्गों की दुर्गमता देख, और यात्रा के लिये इस काल को अनुकूल न समझ कर ही, मैंने सुग्रीव से, उस समय जिस समय कि, वह प्रणाम कर जाने लगा था, इस विषय में कुछ नहीं कहा था ॥ ६० ॥

अपि चातिपरिक्लिष्टं चिराद्दारैः समागतम् ।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद्वक्तु नेच्छामि वानरम् ॥ ६१ ॥

सुग्रीव अत्यन्त कष्ट पा कर बहुत दिनों बाद अपनी स्त्रियों से मिला है। मेरा कार्य बड़ा भारी है। अतः मैं उससे अभी कुछ कहना नहीं चाहता ॥ ६१ ॥

स्वयमेव हि विश्रम्य ज्ञात्वा कालमुपागतम् ।
उपकारं च सुग्रीवो वेत्स्यते नात्र संशयः ॥ ६२ ॥

इसमें मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं कि, सुग्रीव जब आराम कर चुकेगा, तब आप ही समय आने पर मेरे प्रति उपकार करने का स्मरण करेगा ॥ ६२ ॥

तस्मात्कालप्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षण ।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमनुपालयन् ॥ ६३ ॥

अतः हे शुभलक्षणों से युक्त लक्ष्मण ! मैं नदियों की और सुग्रीव की अनुकूलता की प्रतीक्षा करता हुआ, यहाँ ठहरा हुआ हूँ ॥ ६३ ॥

उपकारेण वीरो हि प्रतिकारेण युज्यते ।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः ॥ ६४ ॥

वीर लोग उपकार का बदला अवश्य ही प्रत्युपकार से देते हैं। जो ऐसा नहीं करते, उनसे उपकार करने वाले का मन फट जाता है ॥ ६४ ॥

*तेनैवमुक्तः प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत्प्रतिपूज्य भाषितम् ।

---

* पाठान्तरे "तमेवमुक्तः ।"

उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन्¹दर्शनमात्मनः शुभम् ॥ ६५ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से इस प्रकार कहा, तब वे हाथ जोड़ और उनके कथन का सम्मान करते हुए और अपना मत प्रकट करते हुए, उनसे बोले ॥ ६५ ॥

यथोक्तमेतत्तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता न चिराद्धरीश्वरः ।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिमं भवा-
ञ्जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः ॥ ६६ ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

हे नरेन्द्र! आपने जो कुछ कहा तदनुसार सुग्रीव शीघ्र ही करेंगे। इस समय आप क्षमा करें और शरत्काल की प्रतीक्षा करते हुए यहाँ रहें। वर्षाकाल समाप्त होने पर शत्रु के विनाश में तत्पर होना ॥ ६६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—※—

समीक्ष्य विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम्
सारसारवसंघुष्टं रम्यज्योत्स्नानुलेपनम् ॥ १ ॥

---

१ दर्शनं—मतं । (गो०)

जब आकाश में बादलों का गड़गड़ाना और बिजली का कड़कना न देख पड़ने लगा, और जब सारसों से निनादित और मनोहर चाँदनी से छिटका हुआ विमल आकाश देख पड़ा, तब सुग्रीव के समीप हनुमान जी गये ॥ १ ॥

समृद्धार्थं च सुग्रीवं मन्दधर्मार्थसंग्रहम् ।
अत्यर्थमसतां मार्गमेकान्तगतमानसम् ॥ २ ॥
निर्वृत्तकार्यं सिद्धार्थं प्रमदाभिरतं सदा ।
प्राप्तवन्तमभिप्रेतान्सर्वानपि*मनोरथान् ॥ ३ ॥
स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीप्सिताम् ।
विहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम् ॥ ४ ॥

सुग्रीव अत्यन्त समृद्धशाली हो कर, धर्म और अर्थ को एकत्र करने के विषय में शिथिल और असत् नरों के मार्ग का अवलम्बन किये हुए अर्थात् अत्यन्त कामासक्त, तथा सब कार्यों को छोड़, सब अभीष्टों को प्राप्त, सदा स्त्रियों के साथ रत और सब मनोरथों को प्राप्त किये हुए राज्य को पा कर, तथा अपनी स्त्री रूमा और वाञ्छनीय तारा को पाकर, रात दिन विहार किया करते। वे किसी बात की चिन्ता न करते थे ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

क्रीडन्तमिव देवेन्द्रं नन्दनेऽप्सरसां गणैः ।
मन्त्रिषु न्यस्तकार्यं च मन्त्रिणामनवेक्षकम् ॥ ५ ॥

वे अपनी स्त्रियों के साथ उसी तरह विहार करते, जिस प्रकार नन्दनवन में इन्द्र अप्सराओं के साथ विहार करते हैं। उन्होंने

---

* पाठान्तरे—" सर्वानिव । "

सारा राजकाज मंत्रियों पर छोड़ रखा था और स्वयं कभी भी उसे न देखते थे ॥ ५ ॥

उत्सन्नराज्यसन्देहं कामवृत्तमवस्थितम् ।
निश्चितार्थोऽर्थतत्त्वज्ञः कालधर्मविशेषवित् ॥ ६ ॥

वे राज्य के नाश का कभी सन्देह भी न करते थे । कामासक्त सुग्रीव को देख, अर्थतत्व के जानने वाले, सब कार्यों का निश्चय किये और समयानुकूल धर्म के तत्व को जानने वाले ॥ ६ ॥

प्रसाद्य वाक्यैर्मधुरैर्हेतुमद्भिर्मनोरमैः ।
वाक्यविद्वाक्यतत्त्वज्ञं हरीशं मारुतात्मजः ॥ ७ ॥

वाक्यविशारद पवननन्दन श्रीहनुमान जी प्रीतिसाने, युक्तियुक्त, मनोहर वचनों से वाक्यतत्व के ज्ञाता सुग्रीव को प्रसन्न कर, ॥ ७ ॥

हितं तत्त्वं च पथ्यं च सामधर्मार्थनीतिमत् ।
प्रणयप्रीतिसंयुक्तं विश्वासकृतनिश्चयम् ॥ ८ ॥

सत्ययुक्त, हितकारी, साम,-धर्म-अर्थ, नीति-युक्त, प्रेमप्रीति मिश्रित, ऐसे विश्वस्त वचन बोले, जिन पर उनका स्वयं विश्वास था ॥ ८ ॥

हरीश्वरमुपागम्य हनुमान्वाक्यमब्रवीत् ।
राज्यं प्राप्तं यशश्चैव कौली श्रीरपि वर्धिता ॥ ९ ॥

मित्राणां संग्रहः शेषस्तं भवान्कर्तुमर्हति ।
यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते ॥ १० ॥

तस्य राज्यं च कीर्त्तिश्च प्रतापश्चाभिवर्धते ।
यस्य कोशश्च [1]दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप ॥ ११॥

हनुमान जी ने कपिराज सुग्रीव के पास जा कर कहा—"हे कपिराज! तुमने राज्य और कीर्ति पाई और अपने कुल की लक्ष्मी भी बढ़ाई। अब आपको उचित है कि, अपने मित्र का जो कार्य करना बाक़ी है, उसे आप करें। क्योंकि जो समय का ज्ञान रखने वाला पुरुष अपने मित्र के साथ अच्छा वर्ताव करता है, उसका राज्य, कीर्ति और प्रताप उत्तरोत्तर बढ़ता है। हे पृथिवीनाथ! जो राजा अपने कोश, सेना (अर्थात् पुलिस) मित्र और आत्मा ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥

समवेतानि सर्वाणि स राज्यंमहदश्नुते ।
तद्भवान्वृत्तसम्पन्नः स्थितः पथि निरत्यये ॥ १२ ॥

पर समान रूप से प्रेम रखता है, वह बड़े राज्य को भोगता है। आप चरित्रवान् हैं और निष्कण्टक मार्ग पर आरूढ़ हैं ॥ १२ ॥

मित्रार्थमभिनीतार्थं यथावत्कर्तुमर्हति ।
सन्त्यज्य सर्वकर्माणि मित्रार्थे योनवर्तते ॥ १३ ॥

अतः मित्र के प्रतिज्ञात कार्य को यथोचित रीति से करने में ढीलढाल न कीजिये। क्योंकि जो मनुष्य अपने सब कामों को छोड़, मित्र का काम नहीं करता है ॥ १३ ॥

सम्भ्रमाद्धि कृतोत्साहः सोऽनर्थैर्नावरुध्यते ।
यस्तु कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते ॥ १४ ॥
स कृत्वा महतोऽप्यर्थान्न मित्रार्थेन युज्यते ।
यदिदं वीर कार्यं नो मित्रकार्यमरिन्दम ॥ १५ ॥

---

[1] दण्डः सेनाविशेषः । (गो०)

और उद्वेगवश अपने उत्साह को नष्ट कर डालता है, वह अनर्थ में फंस जाता है। जो मनुष्य समय व्यतीत होने पर मित्र के कार्य में लगता है, वह भले ही सिरतोड़ परिश्रम करे, किन्तु उसके किये मित्र का काम पूरा नहीं होता। हे शत्रुघाती! अब वह समय बीता हो चाहता है॥ १४ ॥ १५ ॥

क्रियतां राघवस्यैतद्वैदेह्याः परिमार्गणम् ॥ १६ ॥

अतः अब श्रीरामचन्द्र जी की सीता का पता लगाने का काम पूरा करना चाहिये॥ १६ ॥

न च कालमतीतं ते निवेदयति [1]कालवित्।
त्वरमाणोऽपि सन्प्राज्ञस्तव राजन्वशानुगः ॥ १७ ॥

यद्यपि समय बीतने ही वाला है और श्रीरामचन्द्र जी को अपने काम के लिये शीघ्रता भी बहुत है, तथापि वे समय के परखने वाले श्रीराम कुछ नहीं करते। क्योंकि वे तुम्हारी ही इच्छानुसार कार्य कर रहे हैं॥ १७ ॥

कुलस्य हेतुः स्फीतस्य दीर्घबन्धुश्च राघवः।
अप्रमेयप्रभावश्च स्वयं चाप्रतिमो गुणैः ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तुम्हारे कुल की वृद्धि करने वाले हैं, तुम्हारे बड़े मित्र हैं, वे बड़े प्रभाव वाले हैं और गुणों में सब के ऊपर हैं॥ १८ ॥

तस्य त्वं कुरु वै कार्यं पूर्वं तेन कृतं तव।
हरीश्वर हरिश्रेष्ठानाज्ञापयितुमर्हसि ॥ १९ ॥

---

१ कालवित् रामइतिशेषः। (गो०)

वे आपका काम पहले ही कर चुके हैं, अतः अब आपको भी उनका काम करना चाहिये। हे कपिराज! अब आप मुख्य मुख्य वानरों को आज्ञा दीजिये ॥ १६ ॥

न हि तावद्भवेत्कालो व्यतीतश्चोदनादृते ।
चोदितस्य हि कार्यस्य भवेत्कालव्यतिक्रमः ॥ २० ॥

जब तक श्रीरामचन्द्र जी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते, तब तक आपको ठहरना उचित नहीं, (अर्थात् उनके कथन की प्रतिज्ञा मत कीजिये) किन्तु जब वे कुछ कहेंगे तब समय की हानि समझी जायगी अथवा जो काम प्रेरणा विना स्वयं ही किया जाता है, उससे समय का उल्लङ्घन नहीं समझा जाता, किन्तु जो कार्य प्रेरणा द्वारा किया जाता है, वह कार्य समय पर हुआ नहीं समझा जाता ॥ २० ॥

अकर्तुरपि कार्यस्य भवान्कर्ता हरीश्वर ।
किं पुनः प्रतिकर्तुस्ते राज्येन च धनेन च ॥ २१ ॥

हे कपिराज! आप तो अनुपकारी का भी काम कर देने वाले हैं, फिर जिन्होंने वालि को मार, आपको राज्य दिलवाया है, उनका तो उपकार आप करेंहीगे, इसमें कहना ही क्या है ॥ २१ ॥

शक्तिमानपि विक्रान्तो वानरर्क्षगणेश्वर ।
कर्तुं दाशरथेः प्रीतिमाज्ञायां किं न सज्जसे ॥ २२ ॥

आप वानरों और रीछों के राजा हैं और श्रीरामचन्द्र जी शक्तिमान् और अतिशय विक्रमशाली हैं, आप श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता के हेतु, उनका कार्य करने के लिये क्यों तैयार नहीं होते? ॥ २२ ॥

कामं खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान्।
वशे दाशरथिः कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञां तु काङ्क्षते ॥ २३ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी सुर, असुर और भुजङ्गों को भी अपने बाणों से अपने वश में कर सकते हैं, वह तो आपकी प्रतिज्ञा को परखते हैं ॥ २३ ॥

प्राणत्यागाविशङ्केन कृतं तेन तव प्रियम्।
तस्य मार्गाम वैदेहीं पृथिव्यामपि चाम्बरे ॥ २४ ॥

उन्होंने अपनी जान हथेली पर रख कर, आपका काम कर, आपको प्रसन्न किया। अतः हम लोग सीता जी को पृथिवी व आकाश में, जहाँ कहीं भी वे हों, ढूँढ़ लावेंगे ॥ २४ ॥

न देवा न च गन्धर्वा नासुरा न मरुद्गणाः।
न च यक्षा भयं तस्य कुर्युः किमुत राक्षसाः ॥ २५ ॥

देव, दानव, गन्धर्व, असुर, मरुद्गण और यक्षगण सब ही, युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी से डरते हैं, फिर राक्षस लोग उनसे क्यों न डरेंगे ॥ २५ ॥

तदेवं शक्तियुक्तस्य पूर्वं प्रियकृतस्तव।
रामस्यार्हसि पिङ्गेश कर्तुं सर्वात्मना प्रियम् ॥ २६ ॥

हे पिङ्गेश! इस प्रकार के शक्तियुक्त श्रीरामचन्द्र आपका उपकार पहिले ही कर चुके हैं; अतः आपको उचित है, कि सर्व प्रकार आप उनका उपकार करें ॥ २६ ॥

नाधस्तादवनौ नाप्सु गतिर्नोपरि चाम्बरे।
कस्यचित्सज्जतेऽस्माकं कपीश्वर तवाज्ञया ॥ २७ ॥

हे कपीश्वर! आपकी आज्ञा से हम लोग पाताल, पृथिवी, जल और आकाश में बेरोकटोक जा सकते हैं ॥ २७ ॥

तदाज्ञापय कः किं ते कृते कुत्र व्यवस्यतु ॥
हरयो ह्यप्रधृष्यास्ते सन्ति कोट्यग्रतोऽनघाः ॥ २८ ॥

हे अनघ! करोड़ों दुर्द्धर्ष वंदर आपके अधीन हैं, सो आप आज्ञा दीजिये कि, कौन कहाँ जाय ॥ २८ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा काले साधु निवेदितम् ।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नश्चकार मतिमुत्तमाम् ॥ २९ ॥

हनुमान जी के समयोचित और उत्तम रूप से कहे गये वचनों को सुन कर, महापराक्रमी सुग्रीव ने हनुमान जी के कथन की सराहना की ॥ २६ ॥

स सन्दिदेशाभिमतं नीलं नित्यकृतोद्यमम् ।
दिक्षु सर्वासु सर्वेषां सैन्यानामुपसंग्रहे ॥ ३० ॥

सुग्रीव ने उद्यमशील नील नामक वानर को, सब दिशाओं से वानरी सैन्य एकत्र करने की आज्ञा दी ॥ ३० ॥

यथा सेना समग्रा मे यूथपालाश्च सर्वशः ।
समागच्छन्त्यसङ्गेन सेनाग्राणि तथा कुरु ॥ ३१ ॥

सुग्रीव ने कहा—तुमको ऐसा यत्न करना चाहिये, जिससे सब यूथपाल अपने अपने सेनापतियों सहित अपनी समस्त सेना ले कर यहाँ आवें ॥ ३१ ॥

ये त्वन्तपालाः प्लवगाः शीघ्रगा व्यवसायिनः ।
समानयन्तु ये सैन्यं त्वरिताः शासनान्मम ॥ ३२ ॥

जो दिगन्त की सेना के पालक, उद्योगी और तेज़ चलने वाले वानर हैं, मेरी आज्ञा से तुम्हारी सेना को तुरन्त यहाँ ले आवें ॥३२॥

स्वयं चानन्तरं सैन्यं भवानेवानुपश्यतु ।
त्रिपञ्चरात्रादूर्ध्वं यः प्राप्नुयान्नेह वानरः ।
तस्य प्राणान्तिको दण्डो नात्र कार्या विचारणा ॥ ३३ ॥

तदनन्तर सैनिकों की हाज़िरी लेना, उनकी व्यवस्था करना आदि जो कार्य हैं उनको तुम करो। जो बंदर पन्द्रह दिन के भीतर यहाँ न आवेगा, उसे बिना कुछ सोचे विचारे प्राणदण्ड दिया जावेगा ॥ ३३ ॥

हरींश्च वृद्धानुपयातु साङ्गदो
भवान्ममाज्ञामधिकृत्य निश्चिताम् ।
इति व्यवस्थां हरिपुङ्गवेश्वरो
विधाय वेश्म प्रविवेश वीर्यवान् ॥ ३४ ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

हे नील ! हमारे अधीन जो बड़े बूढ़े वानर हैं, उनके पास तुम स्वयं जाओ और अपने साथ अङ्गद को लेते जाओ। कपिप्रवर, पराक्रमी सुग्रीव इस प्रकार की व्यवस्था कर, राजभवन में चले गये ॥ ३४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

त्रिंशः सर्गः

—※—

गुहां प्रविष्टे सुग्रीवे विमुक्ते गगने घनैः ।
वर्षरात्रोपितो रामः कामशोकाभिपीडितः ॥ १ ॥

इधर तो सुग्रीव राजमन्दिर में गये, उधर आकाश मेघरहित हुआ। बरसाती रातों के बीत जाने पर श्रीरामचन्द्र जी कामजन्य शोक से पीड़ित हुए ॥ १ ॥

पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम्
शारदीं रजनीं चैव दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी आकाश को सफेद, चन्द्रमण्डल को विमल और चांदनी रात को देख, ॥ २ ॥

कामवृत्तं च सुग्रीवं नष्टां च जनकात्मजाम् ।
बुद्ध्वा कालमतीतं च मुमोह परमातुरः ॥ ३ ॥

तथा कामासक्त सुग्रीव को और जनककुमारी को हरी हुई जान और समय को व्यतीत होता हुआ विचार, अत्यन्त आतुर हो मूर्छित हो गये ॥ ३ ॥

स तु संज्ञामुपागम्य मुहूर्तान्मतिमान्पुनः ।
मनःस्थामपि वैदेहीं चिन्तयामास राघवः ॥ ४ ॥

अनन्तर बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी एक मुहूर्त भर में चित्त को सावधान कर, जानकी जी के लिये चिन्तित हुए ॥ ४ ॥

आसीनः पर्वतस्याग्रे हेमधातुविभूषिते ।
शारदं गगनं दृष्ट्वा जगाम मनसा प्रियाम् ॥ ५ ॥

वे हेमधातु विभूषित पर्वत के अग्रभाग पर बैठ, शरद ऋतु का आकाश देख मन ही मन अपनी प्यारी का चिन्तवन करने लगे ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा च विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम् ।
सारसारवसंघुष्टं विललापार्तया गिरा ॥ ६ ॥

शरत्कालीन विद्युत और मेघों से रहित आकाशमण्डल को देख और सरोवरों पर बोलते हुए सारसों की बोली सुन, श्रीरामचन्द्र जी अति आर्त वाणी से विलाप करने लगे ॥ ६ ॥

सारसारवसन्नादैः सारसारवनादिनी ।
याऽश्रमे रमते बाला साऽद्य ते रमते कथम् ॥ ७ ॥

(वे बोले) जो सीता सारस की तरह शब्द किया करती तथा सारसों की बोली सुन आश्रम में आनन्दित होती थी, वह इस समय क्योंकर अपना मन बहलाती होगी ॥ ७ ॥

पुष्पितांश्चासनान्दृष्ट्वा काञ्चनानिव निर्मलान् ।
कथं सा रमते बाला पश्यन्ती मामपश्यती ॥ ८ ॥

सुवर्ण की तरह निर्मल इन पुष्पित असन वृक्षों को देख कर, और मुझे न देख कर, वह बाला किस प्रकार अपना मन मुदित करती होगी ॥ ८ ॥

या पुरा कलहंसानां स्वरेण कलभाषिणी ।
बुध्यते चारुसर्वाङ्गी साऽद्य मे बुध्यते कथम् ॥ ९ ॥

जो मधुर वचन बोलने वाली सीता कलहंसों की बोली सुन जागा करती थी, वह सर्वाङ्गश्रेष्ठा इस समय क्योंकर रहती होगी ? ॥ ९ ॥

निःस्वनं चक्रवाकानां निशम्य सहचारिणाम् ।
पुण्डरीकविशालाक्षी कथमेषा भविष्यति ॥ १० ॥

अपनी चकवी के साथ क्रीड़ा करने वाले इन चकवों की बोली सुन, वह कमल सदृश विशाल नयनी कैसे जीवित रहेगी ?॥ १० ॥

सरांसि सरितो वापीः काननानि वनानि च ।
तां विना मृगशावाक्षीं चरन्नाद्य सुखं लभे ॥ ११ ॥

मैं उस मृगनयनी के विना सरोवरों, नदियों, वापियों, वनों और काननों में विचरण कर के भी सुखी नहीं हूँ ॥ ११ ॥

अपि तां मद्वियोगाच्च सौकुमार्याच्च भामिनीम् ।
न दूरं पीडयेत्कामः शरद्गुणनिरन्तरः ॥ १२ ॥

शरद्काल के इन साधनों से उत्पन्न हुआ काम, मेरे विरह और उसकी सुकुमारता के कारण उस भामिनी को अवश्य अत्यन्त कष्ट देता होगा ॥ १२ ॥

एवमादि नरश्रेष्ठो विललाप नृपात्मजः ।
विहङ्ग इव सारङ्गः सलिलं त्रिदशेश्वरात् ॥ १३ ॥

सारङ्ग पक्षी जैसे जल के लिये इन्द्र से कातर हो कर, प्रार्थना करता है, वैसे ही राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी अनेक प्रकार से विलाप करने लगे ॥ १३ ॥

ततश्चश्चूर्य रम्येषु फलार्थी गिरिसानुषु ।
ददर्श पर्युपावृत्तो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणोऽग्रजम् ॥ १४ ॥

इतने में लक्ष्मण जी, जो फल लाने को पहाड़ के शिखरों पर टेढ़े मेढ़े मार्गों से गये हुए थे लौट आये और उन्होंने अपने बड़े भाई को शोक करते पाया ॥ १४ ॥

तं चिन्तया दुःसहया परीतं
विसंज्ञमेकं विजने मनस्वी ।
भ्रातुर्विषादात्परितापदीनः
समीक्ष्य सौमित्रिरुवाच रामम् ॥ १५ ॥

मनस्वी लक्ष्मण जी, असह्नीय चिन्ता से अचेत और एकान्त में बैठे हुए श्रीरामचन्द्र को देख, उनका विषाद दूर करने को अत्यन्त दीन हो कर बोले ॥ १५ ॥

किमार्य कामस्य वशंगतेन
किमात्मपौरुष्यपराभवेन ।
अयं सदा संह्रियते समाधिः
किमत्र योगेन निवर्तितेन ॥ १६ ॥

हे भाई ! आप जो काम के वश में हो, आत्मपौरुष को त्याग बैठे हैं, सो यह आप क्या कर रहे हैं ? आपके चित्त की स्थिरता नष्ट हुई जाती है । सो क्या आप इसका निवारण मन को स्थिर कर, नहीं कर सकते ॥ १६ ॥

क्रियाभियोगं मनसः प्रसादं
समाधियोगानुगतं च कालम् ।

सहायसामर्थ्यमदीनसत्त्व
स्वकर्महेतुं च कुरुष्व तात ॥ १७ ॥

आप अपने मन को प्रसन्न कर और धैर्य धारण कर कार्य के लिये उद्योग कीजिये। फिर इस समय अपना मन स्थिर कर और दैन्य भाव परित्याग कर, सुग्रीव की सहायता से और देव पूजनादि कर्मों से अपना काम कीजिये ॥ १७ ॥

न जानकी मानववंशनाथ
त्वया सनाथा सुलभा परेण ।
न चाग्निचूडां ज्वलितामुपेत्य
न दह्यते वीरवरार्ह कश्चित् ॥ १८ ॥

हे मानव-वंश-नाथ ! सीता के आप ही एकमात्र नाथ अर्थात् स्वामी हैं। उसका दूसरा कोई स्वामी नहीं हो सकता। हे वीरवर पूज्य ! भला बतलाइये तो प्रज्वलित अग्नि की शिखा को पकड़ कर, कौन विना जले बच सकता है ॥ १८ ॥

सलक्षणं लक्ष्मणमप्रधृष्यं
स्वभावजं वाक्यमुवाच रामः ।
हितं च पथ्यं च नयप्रसक्तं
ससाम धर्मार्थसमाहितं च ॥ १९ ॥

लक्ष्मण जी के ऐसे वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी, हितकारी लाभप्रद, राजनीतियुक्त, धीरज बंधाने वाले, धर्म और अर्थ युक्त वचन बोले ॥ १९ ॥

निःसंशयं कार्यमवेक्षितव्यं
क्रियाविशेषो ह्यनुवर्तितव्यः ।
ननु प्रवृत्तस्य दुरासदस्य
कुमार कार्यस्य फलं न चिन्त्यम् ॥ २० ॥

हे लक्ष्मण ! धैर्य धारण पूर्वक ऐसा उत्साह करना चाहिये जिससे सीता अवश्य मिल जाय और इस कार्य की सिद्धि में जो असह्य कष्ट झेलने पड़ें, उनकी चिन्ता भी न करनी चाहिये ॥ २० ॥

अथ पद्मपलाशाक्षीं मैथिलीमनुचिन्तयन् ।
उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ॥ २१ ॥

कमलनयनी सीता जी की याद कर, श्रीरामचन्द्र जी का मुख सूख गया और वे लक्ष्मण जी से बोले ॥ २१ ॥

तर्पयित्वा सहस्राक्षः सलिलेन वसुन्धराम् ।
निर्वर्तयित्वा[1] सस्यानि कृतकर्मा व्यवस्थितः ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, इन्द्र वर्षा द्वारा पृथिवी को तृप्त कर और अन्न को पका कर, अब कृतार्थ हुए ॥ २२ ॥

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषाः शैलद्रुमपुरोगमाः ।
विसृज्य सलिलं मेघाः परिश्रान्ता नृपात्मज ॥ २३ ॥

हे राजकुमार ! धीर गम्भीर शब्द करने वाले मेघ भी, पर्वत, वृक्ष और नगरों पर जल की वृष्टि कर, अब शान्त हो गये हैं ॥२३॥

नीलोत्पलदलश्यामाः श्यामीकृत्वा दिशो दश ।
विमदा इव मातङ्गाः शान्तवेगाः पयोधराः ॥ २४ ॥

---

१ निर्वर्तयित्वा—परिपक्वानि कृत्वा । (गो०)

मेघ जो नील कमल के पत्ते की तरह श्याम वर्ण थे, दसों दिशाओं को हरी भरी कर के मदहीन हाथियों की तरह, वेग रहित हो गये हैं ॥ २४ ॥

जलगर्भा महावेगाः कुटजार्जुनगन्धिनः ।
चरित्वा विरताः सौम्य वृष्टिवाताः समुद्यताः ॥ २५ ॥

बरसाती हवा भी, जो जल से नम थी और बड़ी वेग वाली थी तथा कोरैया और अर्जुन के फूलों की महक से सुवासित थी, अब थम गयी है ॥ २५ ॥

घनानां वारणानां च मयूराणां च लक्ष्मण ।
नादः प्रस्रवणानां च प्रशान्तः सहसानघ ॥ २६ ॥

हे लक्ष्मण! अब न तो मेघों की गड़गड़ाहट न हाथियों की चिंघाड़े, न मोरों की बोली और न झरनों का कल कल शब्द ही सुनाई पड़ता है ॥ २६ ॥

अभिवृष्टा महामेघैर्निर्मलाश्चित्रसानवः ।
अनुलिप्ता इवाभान्ति गिरयश्चित्रदीप्तिभिः ॥ २७ ॥

देखो बड़े बड़े मेघों की वृष्टि से इन पर्वतों के कंगूरे धुल कर साफ हो गये हैं। इन पर जब चन्द्रमा की किरणें पड़ती हैं, तब ये कैसी शोभा देने लगते हैं ॥ २७ ॥

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।
नवसङ्गमसव्रीडा जघनानीव योषितः ॥ २८ ॥

शरत्कालीन नदियाँ धीरे धीरे अपने पुलिन प्रदेश वैसे ही उघारती हैं; जैसे गौने आयी हुई रमणी प्रथम पति-संगम के समय, लज्जा के मारे अपनी जाँघें धीरे धीरे उघारती है ॥ २८ ॥*

---

* यह श्लोक उत्तरभारत के संस्करणों में नहीं पाया जाता।

शाखासु सप्तच्छदपादपानां
प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम् ।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां
श्रियं विभज्याद्य शरत्प्रवृत्ता ॥ २९ ॥

देखो, शरद् ऋतु ने सतोना की डालियों में, तारा, सूर्य और चन्द्र की प्रभा में तथा हाथियों की क्रीडाओं में, अपनी उत्तम नवीन शोभा को मानों विभाजित कर दिया है ॥ २६ ॥

संप्रत्यनेकाश्रयचित्रशोभा
लक्ष्मीः शरत्कालगुणोपनीता ।
सूर्याग्रहस्तप्रतिबोधितेषु
पद्माकरेष्वभ्यधिकं विभाति ॥ ३० ॥

शरत्काल के उत्कर्ष से प्राप्त, यह शरत्कालीन नानावर्णों की कान्ति, सूर्य की किरणों से विकसित, इन कमल समूहों में अत्यधिक शोभा का विस्तार कर रही है ॥ ३० ॥

सप्तच्छदानां कुसुमोपगन्धी
षट्पादवृन्दैरनुगीयमानः ।
मत्तद्विपानां पवनोऽनुसारी
दर्पं वनेष्वभ्यधिकं करोति ॥ ३१ ॥

यह शरत्काल शतावरी के फूलों को सुवासित करता, भ्रमरों में गुञ्जार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता, पवन के पीछे पीछे चलता हुआ और मदमत्त हाथियों के मद को बढ़ाता हुआ, अत्यधिक शोभायुक्त हो रहा है ॥ ३१॥

अभ्यागतैश्चारुविशालपक्षैः
सरःप्रियैः पद्मरजोवकीर्णैः ।
महानदीनां पुलिनोपयातैः
क्रीडन्ति हंसाः सह चक्रवाकैः ॥ ३२ ॥

मनोहर विशाल पंखों वाले हँस, जो मानसरोवर से आये हैं और कामप्रिय हैं तथा कमल पुष्प के पराग से सने हुए हैं, बड़ी बड़ी नदियों के तटों पर चकवा चकई के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां समूहेषु च दर्पितेषु ।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विभाति लक्ष्मीर्बहुधा विभक्ता ॥ ३३ ॥

देखो, यह शरत्कालीन शोभा, मतवाले हाथियों में, उन्मत्त सांडों में और निर्मल जल वाली नदियों में अनेक प्रकार से बँट कर, सुशोभित हो रही है ॥ ३३ ॥

नभः समीक्ष्याम्बुधरैर्विमुक्तं
विमुक्तबर्हाभरणा वनेषु ।
प्रियास्वसक्ता विनिवृत्तशोभा
गतोत्सवा ध्यानपरा मयूराः ॥ ३४ ॥

ये मोर आकाश में मेघों को न देख कर अपने भूषण रूपी पंखों को फैला कर, अपनी प्यारी मोरनी में अनुरागशून्य, शोभा-

रहित और उत्सवहीन होकर, कुछ चिन्ता करते हुए से देख पड़ते हैं ॥ ३४ ॥

मनोज्ञगन्धैः प्रियकैरनल्पैः
पुष्पातिभारावनताग्रशाखैः ।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरामै-
रुद्द्योतितानीव वनान्तराणि ॥ ३५ ॥

ये बड़े बड़े वृक्ष जो मनोहर गन्ध को फैला रहे हैं, और जिनकी डालियाँ फूलों के बोझ से झुक गयी हैं और जो सुनहले रंग के पुष्पों से देखने वालों के नेत्रों को लुभा रहे हैं, मानों इन वनों को अत्यन्त शोभायुक्त कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

प्रियान्वितानां नलिनीप्रियाणां
वने रतानां कुसुमोद्धतानाम् ।
मदोत्कटानां मदलालसानां
गजोत्तमानां गतयोऽद्य मन्दाः ॥ ३६ ॥

नलिनी (कुईं) प्रिय, अपनी प्यारी हथनियों के साथ रहने वाले, वन के फूलों को सूंघने वाले, मद से भरे और काम भोग में लवलीन ये उत्तम उत्तम हाथी, कैसे धीरे धीरे चले जा रहे हैं ॥ ३६ ॥

व्यभ्रं नभः शस्त्रविधौतवर्णं
कृशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कह्लारशीताः पवनाः प्रवान्ति
तमोविमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥ ३७ ॥

आकाश मण्डल तलवार की तरह चमचमा रहा है। नदियों के जल का प्रवाह अत्यन्त मन्द पड़ गया अथवा नदियों का जल घट गया है। कमल के फूल की गन्ध से सुवासित हवा बह रही है और समस्त दिशाएँ अंधकार से मुक्त हो प्रकाशित हो रही हैं ॥ २७ ॥

सूर्यातपक्रामणनष्टपङ्का
भूमिश्चिरोद्घाटितसान्द्ररेणुः ।
अन्योन्यवैरेण समायुतानाम्
उद्योगकालोऽद्य नराधिपानाम् ॥ २८ ॥

सूर्य की गर्मी से कीचड़ सूख कर नष्ट हो गयी, धूल उड़ने लगी और आपस में वैर रखने वाले राजाओं की चढ़ाई का समय आ पहुँचा है ॥ २८ ॥

शरद्गुणाप्यायितरूपशोभाः
प्रहर्षिताः पांसुसमुक्षिताङ्गाः ।
मदोत्कटाः सम्प्रति युद्धलुब्धा
वृषा गवां मध्यगता नदन्ति ॥ २९ ॥

शरत्काल के प्रभाव से रूप और शोभा में वृद्धि को प्राप्त हर्षित, धूलधूसरित, मदमत्त और लड़ने के लिये उत्सुक ये बैल, गौओं के बीच खड़े डकार रहे हैं ॥ २९ ॥

समन्मथं तीव्रगतानुरागाः
कुलान्विता मन्दगतिं करेण्वः ।

मदान्वितं सम्परिवार्य यान्तं
वनेषु भर्तारमनुप्रयान्ति ॥ ४० ॥

हथिनियां काम से विकल, अत्यन्त अनुरागवती, अपने झुँड के साथ धीरे धीरे चलती, अपने मतवाले पति हाथी के पीछे पीछे वन में जा रही हैं ॥ ४० ॥

त्यक्त्वा वराण्यात्मविभूषणानि
वर्हाणि तीरोपगता नदीनाम् ।
निर्भर्त्स्यमाना इव सारसौघैः
प्रयान्ति दीना विमदा मयूराः ॥ ४१ ॥

नदियों के तट पर मयूर अपने पंख रूपी उत्तम आभरणों को फेंक, और सारसों से अनादृत हो, उदास और मदहीन हो कर चले जाते हैं ॥ ४१ ॥

वित्रास्य कारण्डवचक्रवाका-
न्महारवैर्भिन्नकटा गजेन्द्राः ।
सरःसु बुद्धाम्बुजभूषणेषु
विक्षोभ्य विक्षोभ्य जलं पिबन्ति ॥ ४२ ॥

ये मद के बहाने वाले बड़े बड़े गजराज चिंघाड़ से कारण्डव और चक्रवाक पक्षियों को भयभीत करते हुए, इन पुष्पित कमलवाले तड़ागों में घुस कर, हलोर हलोर कर जल पी रहे हैं ॥ ४२ ॥

व्यपेतपङ्कासु सुवालुकासु
प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु ।

ससारसा रावविनादितासु
नदीषु हृष्टा निपतन्ति हंसाः ॥ ४३ ॥

कीचड़ से शून्य, और वालुका वाली और निर्मल जल से भरी, गौओं की हेड़ों से घिरी और सारसों से नादित, इन नदियों में हंस प्रसन्न हो, कूद कूद क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

नदीघनप्रस्रवणोदकाना-
मतिप्रवृद्धानिलबर्हिणानाम् ।
प्लवङ्गमानां च गतोत्सवानां
द्रुतं रवाः सम्प्रति सम्प्रनष्टाः ॥ ४४ ॥

इस समय नदी, मेघ, झरना अति प्रचण्ड पवन, मयूर और हर्षित मेढ़कों की बोली सुन नहीं पड़ती ॥ ४४ ॥

अनेकवर्णाः सुविनष्टकाया
नवोदितेष्वम्बुधरेषु नष्टाः ।
क्षुधार्दिता घोरविषा बिलेभ्य-
श्चिरोषिता विप्रसरन्ति सर्पाः ॥ ४५ ॥

बरसात के कारण रंग विरंगे और महाविषधारी सर्प, भूख के कारण बड़े दुवले शरीर के हो, बहुत दिनों बाद, अपने अपने बिलों से निकल रहे हैं ॥ ४५ ॥

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका ।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम् ॥ ४६ ॥

शोभायमान चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से हर्षोत्फुल्ल, निर्मल नक्षत्रों से युक्त और अरुण रंगवाली सन्ध्या, आकाश को स्वयं छोड़ती जाती है ॥ ४६ ॥

रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा
तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा ।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति
नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी ॥ ४७ ॥

रात्रि में उदय हुआ चन्द्रमा मानों रात्रि रूपी स्त्री का मुख है, तारागण मानों इसके मनोहर नेत्र हैं और चांदनी मानों उसके वस्त्र के समान है। अतः ऐसी रात रूपी कामिनी वस्त्र धारण किये हुए सुलक्षणा नारी की तरह विराजमान है ॥ ४७ ॥

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारसचारुपङ्क्तिः ।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला ॥ ४८ ॥

ये सारसों की सुन्दर पंक्ति पके हुए धानों की बालों को खा कर प्रसन्नमन हो, आकाश में तेज़ी से उड़ी चली जा रही है, मानों पवन से उड़ाई हुई फूलों की माला हो ॥ ४८ ॥

सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेतं
महाह्रदस्थं सलिलं विभाति ।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं
तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ॥ ४९ ॥

सोते हुए हंसों और कुई के फूले हुए फूलों से इस बड़े तालाब के जल की ऐसी शोभा हो रही है, जैसी कि रात में मेघ रहित,

नक्षत्रों से युक्त आकाश की, उदय हुए पूर्णमासी के चन्द्रमा से होती है ॥ ४९ ॥

प्रकीर्णहंसाकुलमेखलानां
प्रबुद्धपद्मोत्पलमालिनीनाम् ।
वाप्युत्तमानामधिकाद्य लक्ष्मी-
र्वराङ्गनानामिव भूषितानाम् ॥ ५० ॥

क्षुद्रघण्टिका रूपी हंसों से और माला रूपी इन खिले हुए कमलों से उत्तम बावलियों की ऐसी शोभा हो रही है, जैसी शोभा किसी शृङ्गार की हुई स्त्री की होती है ॥ ५० ॥

वेणुस्वनव्यञ्जिततूर्यमिश्रः
प्रत्यूषकालानिलसम्प्रवृद्धः ।
सम्मूर्छितो गह्वरगोवृषणा-
मन्योन्यमापूरयतीव शब्दः ॥ ५१ ॥

प्रातःकाल की हवा बांसों के छेदों में घुस बांसुरी के शब्द के साथ नगाड़े की तरह शब्द करती है। वह बड़े बड़े बैलों के शब्दों से मिल कर, गुफाओं में प्रतिध्वनित होता है। उस समय ऐसा जान पड़ता है, मानों ये शब्द परस्पर मिल कर, एक दूसरे के शब्द को बढ़ा रहे हैं ॥ ५१ ॥

नवैर्नदीनां कुसुमप्रभासै-
र्व्याधूयमानैर्मृदुमारुतेन ।
धौतामलक्षौमपटप्रकाशैः
कूलानि काशैरुपशोभितानि ॥ ५२ ॥

ये नदियों के तट, जिन पर कांस फूल रहे हैं और जो हवा के झोकों से धीरे धीरे हिल रहे हैं ; ऐसे जान पड़ते हैं, मानों धुले हुए साफ़ सफ़ेद रेशमी वस्त्र पहिने हुए हों ॥ ५२ ॥

वनप्रचण्डा[1] मधुपानशौण्डाः
प्रियान्विताः षट्चरणाः प्रहृष्टाः ।
वनेषु मत्ताः पवनानुयात्रां
कुर्वन्ति पद्मासनरेणुगौराः ॥ ५३ ॥

वन में निरङ्कुश हो घूमने वाले, पुष्पों का रस पीने में धूर्त, अपनी अपनी प्यारियों को लिये हुए, हर्षित, और कमल एवं असन के फूलों की धूल से पीले, ये भौंरे पवन के साथ साथ उड़ते फिरते हैं ॥ ५३ ॥

जलं प्रसन्नं कुमुदं प्रभासं
क्रौञ्चस्वनः शालिवनं विपक्वम् ।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः
शंसन्ति वर्षव्यपनीतकालम् ॥ ५४ ॥

यह निर्मल जल, जिसमें कमल के फूल खिल रहे हैं और क्रौंच पक्षी बोल रहे हैं, और पके हुए साठी के चावल, मन्द पवन और स्वच्छ चन्द्रमा—ये, सब के सब, वर्षाकाल के अन्त के द्योतक हैं ॥ ५४ ॥

मीनोपसन्दर्शितमेखलानां
नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः ।

---

१ वने प्रचण्डाः—निरङ्कुशगतया । (गो०)

कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां
प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम्[२] ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार कामी पुरुषों द्वारा भोगी गयी रमणी प्रातःकाल के समय अलसाती हुई धीरे धीरे चलती हैं उसी प्रकार मीन रूपी करधनी पहिने हुए नदी रूपी वधूटियाँ धीमी चाल से चल रही हैं अर्थात् उनका प्रवाह-वेग मन्द पड़ गया है ॥ ५५ ॥

सचक्रवाकानि सशैवलानि
काशैर्दुकूलैरिव संवृतानि ।
सपत्रलेखानि सरोचनानि
वधूमुखानीव नदीमुखानि ॥ ५६ ॥

चक्रवाक पक्षियों से और सिवार (एक प्रकार की जल में उगने वाली घास) से सँवारी हुई और काँस रूपी वस्त्र को धारण किये हुए नदियों के तट ऐसे जान पड़ते हैं, मानों पत्ररेखाओं और रोचना से विभूषित घूँघट काढ़े हुए स्त्रियों के मुख हों ॥ ५६ ॥

प्रफुल्लबाणासनचित्रितेषु
प्रहृष्टषट्पादनिकूजितेषु ।
गृहीतचापोद्यतचण्डदण्डः
प्रचण्डचारोऽद्य वनेषु कामः ॥ ५७ ॥

फूली हुई कनसरैया और असन के पेड़ों से चित्रित और हर्षोत्फुल्लित भौंरों से गुञ्जारित इन वनों में मानों कामदेव

२ कामिनीनाम्—वारस्त्रीणां । (गो०)

हाथ में धनुष लिये हुए विरही जनों को दण्ड देने के लिये, प्रचण्ड प्रताप से घूम रहा हो ॥ ५७ ॥

लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा
नदीस्तटाकानि च पूरयित्वा ।
निष्पन्नसस्यां वसुधां च कृत्वा
त्यक्त्वा नभस्तोयधराः प्रनष्टाः ॥ ५८ ॥

मेघ समूह जल की सुवृष्टि से लोगों को सन्तुष्ट करता, नदियों और तालावों को जल से पूर्ण कर, और पृथिवी को अन्न रूपी सम्पत्ति प्रदान कर। और आकाश को परित्याग कर, नष्ट हो गया है ॥ ५८ ॥

प्रसन्नसलिलाः सौम्य कुररीभिर्विनादिताः ।
चक्रवाकगणाकीर्णा विभान्ति सलिलाशयाः ॥ ५९ ॥

हे सौम्य ! निर्मल जल वाले जलाशय जिनके तट पर कुरर पत्ती बोल रहे हैं, और चकवाकों से युक्त हैं, कैसे सुन्दर जान पड़ते हैं ॥ ५६ ॥

असनाः सप्तपर्णाश्च कोविदाराश्च पुष्पिताः ।
दृश्यन्ते बन्धुजीवाश्च श्यामाश्च गिरिसानुषु ॥ ६० ॥

इस समय पर्वत के शिखरों पर असन, सतावरी, कोविदार, दुपहरिया व श्याम आदि वृत्त एवं लताएँ कैसी फूल रही हैं ॥ ६० ॥

हंससारसचक्राह्वैः कुररैश्च समन्ततः ।
पुलिनान्यवकीर्णानि नदीनां पश्य लक्ष्मण ॥ ६१ ॥

हे लक्ष्मण! देखो इस समय हंस, सारस चक्रवाक और कुरर आदि पक्षी नदियों के कछार में चारों ओर बैठे हुए देख पड़ते हैं॥ ६१॥

अन्योन्यं बद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज।
उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः॥ ६२॥

हे सौम्य! आपस में वैरी और विजयाभिलाषी राजाओं की युद्धयात्रा के उद्योग का यही समय है॥ ६२॥

इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज।
न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं वा तथाविधम्॥ ६३॥

हे राजकुमार! यह राजाओं की प्रथम यात्रा के दिन आ गये, परन्तु न तो मैं सुग्रीव को देखता और न मैं सीता जी के खोजने के लिये कोई तैयारी ही देखता हूँ॥ ६३॥

चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः
मम शोकाभिभूतस्य सौम्य सीतामपश्यतः॥ ६४॥

हे लक्ष्मण! देखो बरसात के चार मास सौ वर्ष के समान बीते हैं। क्योंकि मैं पहिले ही शोकाकुल था, तिस पर सीता का भी वियोग हो गया॥ ६४॥

चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम्।
विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव चाङ्गना॥ ६५॥

सीता मेरे पीछे पीछे इस घोर दण्डकवन में वैसे ही आयी जैसे चकवी अपने पति चकवा के पीछे हो लेती है॥ ६५॥

प्रियाविहीने दुःखार्ते हृतराज्ये विवासिते ।
कृपां न कुरुते राजा सुग्रीवो मयि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥
अनाथो हृतराज्योऽयं रावणेन च धर्षितः ।
दीनो दूरगृहः कामी मां चैव शरणं गतः ॥ ६७ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो प्रियाहीन और अत्यन्त दुःखी, राज्य से च्युत, और घर से निकाले गये मुझ पर सुग्रीव को दया नहीं आती कि, मैं अनाथ हूँ, मेरा राज्य हर लिया गया और रावण से पीड़ित हूँ, दुःखी हूँ, दूर का रहने वाला हूँ, कामासक्त हूँ और उसके शरण में आया हूँ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

इत्येतैः कारणैः सौम्य सुग्रीवस्य दुरात्मनः ।
अहं वानरराजस्य परिभूतः परन्तप ॥ ६८ ॥

हे सौम्य ! हे परन्तप ! इन्हीं सब कारणों से दुरात्मा सुग्रीव मेरी उपेक्षा कर रहा है ॥ ६८ ॥

स कालं परिसंख्याय सीतायाः परिमार्गणे ।
कृतार्थः समयं कृत्वा दुर्मतिर्नावबुध्यते ॥ ६९ ॥

देखो, वह दुर्मति सुग्रीव, सीता के ढूँढ़ने के लिये समय का नियम कर के (अर्थात् समय निर्दिष्ट कर के) भी, इस समय स्वयं सफलमनोरथ होने के कारण, नहीं चेतता ॥ ६९ ॥

स किष्किन्धां प्रविश्य त्वं ब्रूहि वानरपुङ्गवम् ।
मूर्खं ग्राम्यसुखे सक्तं सुग्रीवं वचनान्मम ॥ ७० ॥

तुम किष्किन्धा में जा कर उस वानरश्रेष्ठ से, जो मूर्खता से घरेलू सुखों में फँस रहा है ; मेरी ओर से कहना ॥ ७० ॥

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम् ।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः ॥ ७१ ॥

कि जो बल-पौरुषयुक्त एवं पूर्वोपकारी अर्थियों की आशा दे कर फिर उसको पूरा नहीं करता, वह इस लोक में अधम पुरुष कहा जाता है ॥ ७१ ॥

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम् ।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥ ७२ ॥

परन्तु जो अपनी भली अथवा बुरी प्रतिज्ञा को पूरी करता है, वह वीर और नरों में उत्तम समझा जाता है ॥ ७२ ॥

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥ ७३ ॥

मित्र द्वारा अपना काम निकाल, जो पुरुष मित्र का काम नहीं करते, उन कृतघ्नों के मरने पर उनका मांस वे जीव जन्तु भी नहीं खाते, जो कच्चा मांस खाया करते हैं ॥ ७३ ॥

नूनं काञ्चनपृष्ठस्य विकृष्टस्य मया रणे ।
द्रष्टुमिच्छति चापस्य रूपं विद्युद्गणोपमम् ॥ ७४ ॥

मुझे मालूम पड़ता है कि, तू अब मेरे बिजुली की तरह चम-चमाते, सुवर्ण की पीठ वाले धनुष को जिस पर मैं रोदा चढ़ा कर खींचूंगा, रण में देखना चाहता है ॥ ७४ ॥

घोरं ज्यातलनिर्घोषं क्रुद्धस्य मम संयुगे ।
निर्घोषमिव वज्रस्य पुनः संश्रोतुमिच्छति ॥ ७५ ॥

और क्रोध में भर खींची गयी, धनुष की डोरी (रोदा) की टंकार को, जो वज्र के शब्द के तुल्य है, रणक्षेत्र में तू सुनना चाहता है ॥ ७५ ॥

काममेवंगतेऽप्यस्य परिज्ञाते पराक्रमे ।
त्वत्सहायस्य मे वीर न चिन्ता स्यान्नृपात्मज ॥ ७६ ॥

हे वीर राजकुमार ! यद्यपि सुग्रीव इस समय कामासक्त हो, अचेत हो रहा है, तथापि वह मेरे पराक्रम को जानता है और यह भी जानता है कि, तुम मेरे सहायक हो। किन्तु आश्चर्य है कि, ये सब जान कर भी वह निश्चिन्त है ॥ ७६ ॥

यदर्थमयमारम्भः कृतः परपुरञ्जय ।
समयं नाभिजानाति कृतार्थः प्लवगेश्वरः ॥ ७७ ॥

हे शत्रु के नगर को जीतने वाले ! देखो, जिस काम के लिये मैंने सुग्रीव से मैत्री की और उसके शत्रु वालि का वध किया, उसको सुग्रीव, अपना काम निकल जाने पर, भूला हुआ है ॥ ७७ ॥

वर्षासमयकालं तु प्रतिज्ञाय हरीश्वरः ।
व्यतीतांश्चतुरो मासान्विहरन्नावबुध्यते ॥ ७८ ॥

देखो वर्षा बीतने पर सीता जी के ढूँढ़ने का यत्न करने की उसने प्रतिज्ञा की थी, परन्तु बरसात के चारों मास बीत गये तो भी वह स्त्रियों के साथ विहार में लीन हो, अब भी नहीं चेतता ॥ ७८ ॥

सामात्यपरिषत्क्रीडन्पानमेवोपसेवते ।
शोकदीनेषु नास्मासु सुग्रीवः कुरुते दयाम् ॥ ७९ ॥

सुग्रीव अपने मंत्रियों और इष्ट मित्रों के साथ मधुपान में मत्त हो और क्रीड़ा करता हुआ, मुझ शोकाकुल और दीन पर दया नहीं करता ॥ ७६ ॥

उच्यतां गच्छ सुग्रीवस्त्वया वत्स महाबल ।
मम रोषस्य यद्रूपं ब्रूयाश्चैनमिदं वचः ॥ ८० ॥

हे वत्स! हे महाबली! तुम सुग्रीव के पास जाओ और उससे ऐसे वचन कहो, जिससे वह मेरे क्रोध का परिणाम जान जाय ॥ ८० ॥

न च सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ ८१ ॥
एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया ।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम् ॥ ८२ ॥

उससे कहो कि हे सुग्रीव! जिस मार्ग से मर कर वालि गया है, वह रास्ता सकरा या बंद नहीं हो गया है। उससे यह भी कह देना कि वालि को तो मैंने अकेला ही मारा था, किन्तु प्रतिज्ञाच्युत होने के कारण सुग्रीव को मैं सकुटुम्ब यमालय भेज दूँगा ॥८१॥८२॥

तदेवं विहिते कार्ये यद्धितं पुरुषर्षभ ।
तत्तद्ब्रूहि नरश्रेष्ठ त्वर कालव्यतिक्रमः ॥ ८३ ॥

हे नरश्रेष्ठ! इसके अतिरिक्त तुम उससे वे बातें कहना जिससे काम बने और जल्दी सीता का पता मिले। इस काम में देर न लगनी चाहिये ॥ ८३ ॥

कुरुष्व सत्यं मयि वानरेश्वर
प्रतिश्रुतं धर्ममवेक्ष्य शाश्वतम् ।

मा वालिनं प्रेत्य गतो यमक्षयं
त्वमद्य पश्येर्मम चोदितैः शरैः ॥ ८४ ॥

सुग्रीव से यह भी कहना कि, हे वानरराज ! प्रतिज्ञा का पूर्ण करना यह अत्तय्य धर्म का कृत्य है। अतः तुमने जो मुझसे प्रतिज्ञा की है, उसे सत्य कर दिखाओ। देखना, कहीं मेरे छोड़े हुए बाणों से मारे जा कर, यमपुरी में वालि को तुम्हें न देखना पड़े ॥ ८४ ॥

स पूर्वजं तीव्रविवृद्धकोपं
लालप्यमानं प्रसमीक्ष्य दीनम् ।
चकार तीव्रां मतिमुग्रतेजा
हरीश्वरे मानववंशनाथः ॥ ८५ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

मानववंश के बढ़ाने वाले, उग्रतेज सम्पन्न लक्ष्मण, यह देख कर कि, श्रीरामचन्द्र जी का क्रोध बढ़ता जाता है और वे उदास हो रहे हैं, सुग्रीव पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ ८५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकत्रिंशः सर्गः

—※—

स कामिनं दीनमदीनसत्त्वं[1]
शोकाभिपन्नं[2] समुदीर्णकोपम्[3]
नरेन्द्रसूनुर्नरदेवपुत्रं
रामानुजः पूर्वजमित्युवाच ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई राजकुमार लक्ष्मण जी काम से उत्पन्न हुए शोक से युक्त और अधीन होने पर भी दीन श्रीरामचन्द्र जी का क्रोध बढ़ते देख, अपने जेष्ठ भ्राता से इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

न वानरः स्थास्यति साधुवृत्ते
न मंस्यते कर्मफलानुषङ्गान् ।
न भोक्ष्यते वानरराज्यलक्ष्मीं
यथा हि नाभिक्रमतेऽस्य बुद्धिः ॥ २ ॥

सुग्रीव आख़िर है तो वानर ही। भला वह क्या जाने कि, सत्पुरुषों को अपने मित्रों के साथ कैसा व्यवहार करना होता है। उसका इन वातों पर भी ध्यान नहीं है कि, उसने अग्नि को साक्षी कर मैत्री की है, और मैत्री के कारण ही उसका शत्रु वालि मारा गया, उसको उसकी स्त्री और राज्य की प्राप्ति हुई। इससे जान पड़ता है कि, सुग्रीव के भाग्य में वहुत दिनों तक राज्यलक्ष्मी का

---

१ दीनमदीनसत्त्वं—एतेन वस्तुतः अदीन सत्त्वोपिदैन्यं भावयतीतिगम्यते। (गो०) २ शोकाभिपन्नं—शोकं प्राप्तं। (गो०) ३ समुदीर्णकोपं—अभिवृद्धकोपं। (गो०)

मांगना नहीं यदा। इसीसे तो वह हम लोगों के काम को भूले हुए बैठा है ॥ २ ॥

मतिक्षयाद्ग्राम्यसुखेषु सक्त-
स्तव प्रसादाप्रतिकारबुद्धिः ।
हतोऽग्रजं पश्यतु वीर तस्य
न राज्यमेवं विगुणस्य देयम् ॥ ३ ॥

उसकी बुद्धि मारी जाने के कारण ही वह घरेलू सुखों में फँसा हुआ है और आपने उसका जो उपकार किया है, उसके बदले में प्रत्युपकार करने की उसकी इच्छा नहीं है। अतः उसे अब मर कर अपने वीर बड़े भाई से भेंट करनी होगी। क्योंकि ऐसे गुण रहित अथवा बेसहूर को राज्य देना ठीक नहीं ॥ ३ ॥

न धारये कोपमुदीर्णवेगं
निहन्मि सुग्रीवमसत्यमद्य ।
हरिप्रवीरैः सह वालिपुत्रो
नरेन्द्रपत्न्या[1] विचयं[2] करोतु ॥ ४ ॥

मुझसे यह बढ़ता हुआ क्रोध अब थामे नहीं थमता। मैं आज उस असत्यवादी सुग्रीव को मारे बिना न रहूँगा। वालि का पुत्र अंगद, वीर वानरों को साथ ले सीता जी का पता लगा देगा ॥ ४ ॥

तमात्तबाणासनमुत्पतन्तं
निवेदितार्थं रणचण्डकोपम् ।

---

१ नरेन्द्रपत्न्या—सीतायाः। (गो०) २ विचयं—अन्वेषणं। (गो०)

उवाच रामः परवीरहन्ता
स्ववेक्षितं[1] सानुनयं च वाक्यम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी धनुष ले कर खड़े हो गये। तब शत्रु को मारने वाले श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण को अत्यन्त कुपित और रण करने के लिये उद्यत देख, उनका कोप शान्त करने के लिये उनको भली भाँति समझा कर, नम्रता पूर्वक बोले ॥ ५ ॥

न हि वै त्वद्विधो लोके पापमेवं समाचरेत् ।
पापमार्येण[2] यो हन्ति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जैसे पुरुष को मित्रवध रूपी पाप कर्म का करना उचित नहीं। जो मनुष्य अच्छी तरह विवेचना कर अपने क्रोध को मारता है, वही वीर और वही पुरुषों में श्रेष्ठ कहलाता है ॥ ६ ॥

नेदमद्य त्वया ग्राह्यं साधुवृत्तेन लक्ष्मण ।
तां प्रीतिमनुवर्तस्व पूर्ववृत्तं च सङ्गतम् ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम उत्तम चरित्रवान थे। अतः तुम्हें ऐसा काम करना उचित नहीं, सुग्रीव के साथ वैसी ही प्रीति रखना और पहले स्थापित की हुई मैत्री का स्मरण रखना ॥ ७ ॥

सामोपहितया वाचा रूक्षाणि[3] परिवर्जयन् ।
वक्तुमर्हसि सुग्रीवं व्यतीतं कालपर्यये ॥ ८ ॥

---

१ स्ववेक्षितं—सुष्ठुनिरूपितं। (गो०) २ आर्येण—सम्यग्विवेकेन। (गो०) ३ रूक्षाणि—परुषाणि। (गो०)

देखो सुग्रीव से कठोर वचन मत कहना, भली भाँति समझा कर उनसे इतना ही कहना कि, तुम्हारा नियत किया हुआ समय बीत गया है ॥ ८ ॥

सोऽग्रजेनानुशिष्टार्थो यथावत्पुरुषर्षभः ।
प्रविवेश पुरीं वीरो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार समझाने पर, पुरुषश्रेष्ठ, शत्रुघाती और वीरश्रेष्ठ लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई की आज्ञा से किष्किन्धापुरी में प्रवेश किया ॥ ९ ॥

ततः शुभमतिः प्राज्ञो भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
लक्ष्मणः प्रतिसंरब्धो जगाम भवनं कपेः ॥ १० ॥

फिर शुभमति वाले, बुद्धिमान् और भाई के हित में तत्पर, लक्ष्मण जी ने दिखावटी क्रोध प्रकट कर और सुग्रीव के वध का विचार परित्याग कर, कपिराज सुग्रीव के भवन में प्रवेश किया ॥ १० ॥

शक्रबाणासनप्रख्यं धनुः कालान्तकोपमः ।
प्रगृह्य गिरिशृङ्गाभं मन्दरः सानुमानिव ॥ ११ ॥

इन्द्रधनुष की तरह अथवा कालान्तक यम की तरह अथवा पर्वत-शिखर की तरह लंबा धनुष ले, लक्ष्मण जी, मन्दराचल पर्वत की तरह वहाँ जा खड़े हुए ॥ ११ ॥

यथोक्तकारी वचनमुत्तरं चैव सोत्तरम्[1] ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या मत्वा रामानुजस्तथा ॥ १२ ॥

---

१ सोत्तरम—स्वेनवक्ष्यमाणोत्तरसहितं । (गो०)

भ्राता के वचनानुसार कार्य करने वाले अथवा भाई के वचन को पूरा करने वाले, बुद्धि में बृहस्पति के समान लक्ष्मण जी अपने मन में श्रीरामचन्द्र जी के वचन के अतिरिक्त अपनी ओर से जो कुछ और कहना था सो विचारते जाते थे ॥ १२ ॥

कामक्रोधसमुत्थेन भ्रातुः कोपाग्निना वृतः ।
प्रभञ्जन इवाप्रीतः प्रययौ लक्ष्मणस्तदा ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का मनोरथ पूर्ण न होने के कारण, श्रीरामचन्द्र जी को, जो क्रोध उत्पन्न हुआ था, उससे स्वयं क्रुद्ध हो, लक्ष्मण जी अप्रसन्न होते हुए, हवा की तरह बड़ी तेज़ी से चले जाते थे ॥ १३ ॥

सालतालाश्वकर्णांश्च तरसा पातयन्बहून् ।
पर्यस्यन्गिरिकूटानि द्रुमानन्यांश्च वेगितः ॥ १४ ॥

वे रास्ते में बहुत से साखू, ताल, अश्वकर्ण तथा अन्य पेड़ों को, एवं पर्वतशृङ्गों को गिराते चले जाते थे ॥ १४ ॥

शिलाश्च शकलीकुर्वन्पद्भ्यां गज इवाशुगः ।
दूरमेकपदं त्यक्त्वा ययौ कार्यवशाद्द्रुतम् ॥ १५ ॥

वे पर्वत की शिलाओं को अपने पैरों से फोड़ते, दूर दूर पर कदम रखते, कार्यवश अति शीघ्रता से चले जाते थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि, मानों कोई मतवाला हाथी तोड़ता फोड़ता चला जा रहा है ॥ १५ ॥

तामपश्यद्बलाकीर्णां हरिराजमहापुरीम् ।
दुर्गामिक्ष्वाकुशार्दूलः किष्किन्धां गिरिसङ्कटे ॥ १६ ॥

इक्ष्वाकुश्रेष्ठ लक्ष्मण जी ने बड़े बड़े, पर्वतों के बीच बसी हुई, सेना से परिपूर्ण एवं दुर्गम कपिराज सुग्रीव की किष्किन्धा पुरी देखी ॥ १६ ॥

रोषात्प्रस्फुरमाणोष्ठः सुग्रीवं प्रति लक्ष्मण ।
ददर्श वानरान्भीमान्किष्किन्धाया बहिश्चरान् ॥ १७ ॥

सुग्रीव के ऊपर कुपित होने से लक्ष्मण जी के अधर फड़क रहे थे। उन्होंने भीम पराक्रमी अनेक वानरों को किष्किन्धा के बाहिर घूमते फिरते देखा ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वानराः सर्वे लक्ष्मणं पुरुषर्षभम् ।
शैलशृङ्गाणि शतशः प्रवृद्धांश्च महीरुहान् ॥ १८ ॥
जगृहुः कुञ्जरप्रख्या वानराः पर्वतान्तरे ।
तान्गृहीतप्रहरणान्हरीन्दृष्ट्वा तु लक्ष्मणः ॥ १९ ॥

वे सब गजराज की तरह वानर, पुरुषपुङ्गव लक्ष्मण जी को क्रुद्ध देख, सैकड़ों पर्वतशृङ्गों और सैकड़ों बड़े बड़े वृत्तों को ले, पर्वतों पर जा खड़े हो गये। उन वानरों को आयुध लिये हुए देख, लक्ष्मण जी ॥ १८ ॥ १९ ॥

बभूव द्विगुणं क्रुद्धो बह्विन्धन इवानलः ।
तं ते भयपरीताङ्गाः क्रुद्धं दृष्ट्वा प्लवङ्गमाः ॥ २० ॥

का क्रोध ऐसा इतना बढ़ गया मानों बहुत से ईंधन से आग प्रज्वलित हुई हो। तब उन सब वानरों ने लक्ष्मण को क्रुद्ध देख, ॥ २० ॥

कालमृत्युयुगान्ताभं शतशो विद्रुता दिशः ।
ततः सुग्रीवभवनं प्रविश्य हरिपुङ्गवाः ॥ २१ ॥

प्रलयकालीन मृत्यु के समान लक्ष्मण को क्रुद्ध देख, सैकड़ों बंदर चारों ओर भाग गये। उनमें जो श्रेष्ठवानर थे, उन्होंने सुग्रीव के भवन में जा ॥ २१ ॥

क्रोधमागमनं चैव लक्ष्मणस्य न्यवेदयन् ।
तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृषो रहः ॥ २२ ॥

लक्ष्मण का क्रुद्ध हो आना कह सुनाया। सुग्रीव उस समय तारा के साथ कामासक्त था ॥ २२ ॥

न तेषां कपिवीराणां शुश्राव वचनं तदा ।
ततः सचिवसन्दिष्टा हरयो रोमहर्षणाः ॥ २३ ॥

अतः उसने उन वानरवीरों की बात पर कुछ भी ध्यान न दिया। तब मंत्रियों की आज्ञा से बड़े बड़े वानर, जिनको देखने से रोंगटे खड़े हो, जाते ॥ २३ ॥

गिरिकुञ्जरमेघाभा नगर्या निर्ययुस्तदा ।
नखदंष्ट्रायुधा घोराः सर्वे विकृतदर्शनाः ॥ २४ ॥

और जिनके शरीर का डीलडौल, पहाड़ अथवा हाथी अथवा मेघों के समान था, किष्किन्धा नगरी से निकले। उनके बड़े बड़े दांत और नख उनके आयुध थे और उनको देखने से डर मालूम पड़ता था ॥ २४ ॥

सर्वे शार्दूलदंष्ट्राश्च* सर्वे च विकृताननाः
दशनागबलाः केचित्केचिद्दशगुणोत्तराः ॥ २५ ॥
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यविक्रमाः ॥ २६ ॥

वे सब के सब शार्दूल की तरह डाढ़ों वाले और विकटाकार थे। किसी के शरीर में दस हाथी का, किसी के शरीर में सौ हाथी का और किसी किसी के शरीर में हज़ार हाथियों जितना पराक्रम था ॥ २५ ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे "दर्पाश्च"।

कृत्स्नां हि कपिभिर्व्याप्तां द्रुमहस्तैर्महाबलैः ॥ २७ ॥
अपश्यल्लक्ष्मणः क्रुद्धः किष्किन्धां तां दुरासदाम् ।
ततस्ते हरयः सर्वे प्राकारपरिघान्तरात् ॥२८ ॥
निष्क्रम्योदग्रसत्त्वास्तु तस्थुराविष्कृतं तदा ।
सुग्रीवस्य प्रमादं च पूर्वजस्यार्थमात्मवान् ॥ २९ ॥

क्रुद्ध लक्ष्मण जी ने देखा कि, समस्त किष्किन्धा नगरी वानरों से भरी हुई है और कोई भी शत्रु उसे जीत नहीं सकता। तदनन्तर वे सब वानर कोट और खाई से निकल खुलंखुल्ला लड़ने को खड़े हो गये। तदनन्तर सुग्रीव के प्रमाद और अपने बड़े भाई के कार्य को ॥ २७ ॥ २८ ॥ २६ ॥

बुद्ध्वा कोपवशं वीरः पुनरेव जगाम सः ।
स दीर्घोष्णमहोच्छ्वासः कोपसंरक्तलोचनः ॥ ३० ॥
बभूव नरशार्दूलः सधूम इव पावकः ।
बाणशल्यस्फुरज्जिह्वः सायकासनभोगवान् ॥ ३१ ॥
स्वतेजोविषसङ्घातः पञ्चास्य इव पन्नगः ।
तं दीप्तमिव कालाग्निं नागेन्द्रमिव कोपितम् ॥ ३२ ॥

विचार कर, वीर लक्ष्मण अत्यन्त क्रुद्ध हुए। वे लंबी और गर्म श्वास लेते मारे क्रोध के लाल लाल आँखों वाले, धूम सहित आग की तरह जान पड़ने लगे। फर लगे हुए वाण ही मानों लपलपाती हुई जिह्वा है, धनुष जिसका शरीर है; ऐसे पाँच सिर वाले विषधर सर्प की तरह वे जान पड़ने लगे। कालाग्नि की तरह प्रदीप्त और क्रुद्ध गजराज की तरह ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

समासाद्याङ्गदस्त्रासाद्विषादमगमद्भृशम् ।
सोऽङ्गदं रोषताम्राक्षः सन्दिदेश महायशाः ॥ ३३ ॥

लक्ष्मण को देख अंगद बहुत डर गये और बड़े दुःखी हुए। इस समय लाल लाल नेत्रों से अंगद को देख महायशस्वी लक्ष्मण ने उनको आज्ञा दी ॥ ३३ ॥

सुग्रीवः कथ्यतां वत्स ममागमनमित्युत ।
एष रामानुजः प्राप्तस्त्वत्सकाशमरिन्दमः ॥ ३४ ॥
भ्रातुर्व्यसनसन्तप्तो द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः ।
तस्य वाक्ये यदि रुचिः क्रियतां साधु वानर ॥ ३५ ॥

हे वत्स ! जा कर सुग्रीव को मेरे आगमन की सूचना दो और कहना कि हे शत्रुनाशक ! श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण अपने भाई के दुःख से सन्तप्त हो, तुमसे मिलने के लिये दरवाज़े पर खड़े हैं। यदि तुम उनके वचन सुनना पसंद करो, तो शीघ्र आ कर सुनो ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ वत्स वाक्यमिदं मम ॥ ३६ ॥
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा शोकाविष्टोऽङ्गदोऽब्रवीत् ।
पितुः समीपमागम्य सौमित्रिरयमागतः ॥ ३७ ॥

हे वत्स ! मेरा यह संदेसा सुग्रीव से कह, तुम शीघ्र वापिस आओ। लक्ष्मण के ये वचन सुन, शोकाकुल हो, अंगद दौड़ कर सुग्रीव के पास गये और बोले कि, देखिये लक्ष्मण आये हुए हैं॥ ३६ ॥ ३७ ॥

अथाङ्गदस्तस्य वचो निशम्य
सम्भ्रान्तभावः परिदीनवक्त्रः ।

निर्गत्य तूर्णं नृपतेस्तरस्वी
ततः रुमायाश्चरणौ ववन्दे ॥ ३८ ॥

अंगद, लक्ष्मण के वचन सुन अत्यन्त विकल और उदास हुए। उन्होंने लक्ष्मण के पास से जा पहले सुग्रीव को, फिर रुमा को प्रणाम किया ॥ ३८ ॥

संगृह्य पादौ पितुरग्र्यतेजा
जग्राह मातुः पुनरेव पादौ।
पादौ रुमायाश्च निपीडयित्वा
निवेदयामास ततस्तमर्थम् ॥ ३९ ॥

उग्रतेजवाले अंगद ने सुग्रीव के चरणस्पर्श कर, फिर माता के (तारा) के चरण छुए। तदनन्तर रुमा के पैर पकड़ कर, लक्ष्मण जी का संदेसा कहा ॥ ३९ ॥

स निद्रामदसंवीतो वानरो न विबुद्धवान्।
बभूव मदमत्तश्च मदनेन च मोहितः ॥ ४० ॥

मदनमोहित मदमत्त वानर सुग्रीव निद्रा के कारण ऐसे बेसुध थे कि, अंगद की बातें न तो उन्होंने सुनीं और न समझीं ॥ ४० ॥

ततः किलकिलां चक्रुर्लक्ष्मणं प्रेक्ष्य वानराः।
प्रसादयन्तस्तं क्रुद्धं भयमोहितचेतसः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर भयभीत वानर लक्ष्मण को क्रुद्ध देख, उनको प्रसन्न करने के लिये किलकारने (का शब्द) लगे ॥ ४१ ॥

ते महौघनिभं दृष्ट्वा वज्राशनिसमस्वनम् ।
सिंहनादं समं चक्रुर्लक्ष्मणस्य समीपतः ॥ ४२ ॥

उस समय उन वानरों का एक साथ किलकारियों का शब्द ऐसा हुआ जैसा कि, बिजली की कड़क का अथवा सिंहनाद का होता है। यह शब्द लक्ष्मण जी के पास ही हुआ था ॥ ४२ ॥

तेन शब्देन महता प्रत्यबुध्यत वानरः ।
मदविह्वलताम्राक्षो व्याकुलस्रग्विभूषणः ॥ ४३ ॥

उस महाकोलाहल को सुन, सुग्रीव होश में आये। परन्तु उस समय सुग्रीव के नेत्र नशे से लाल हो रहे थे और पुष्पमाला उनके गले में सुशोभित हो रही थी। किन्तु वे उस समय घवड़ाये हुए थे ॥ ४३ ॥

अथाङ्गदवचः श्रुत्वा तेनैव च समागतौ ।
मन्त्रिणौ वानरेन्द्रस्य संम्मतोदारदर्शिनौ ॥ ४४ ॥

प्लक्षश्चैव प्रभावश्च मन्त्रिणावर्थधर्मयोः ।
वक्तुमुच्चावचं प्राप्तं लक्ष्मणं तौ शशंसतुः ॥ ४५ ॥

सुग्रीव ने अंगद के वचन सुने। इतने में अंगद के साथ ही प्लक्ष और प्रभाव नामक सुग्रीव के दो मंत्री भी सुग्रीव के पास पहुँचे। ये दोनों मंत्री सुग्रीव के कृपापात्र और सब से मिलते भेंटते थे। ये अर्थ और धर्म सम्बन्धी विषयों में सुग्रीव को ऊँच नीच समझाया करते थे। इन दोनों ने भी लक्ष्मण के आगमन की सूचना सुग्रीव को दी ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

प्रसादयित्वा सुग्रीवं वचनैः सामनिश्चितैः[1] ।
आसीनं पर्युपासीनौ यथा शक्रं मरुत्पतिम् ॥ ४६ ॥

लक्ष्मण को किस प्रकार सान्त्वना देनी उचित है—प्रथम तो इस विषय का वार्तालाप कर, उन दोनों ने सुग्रीव को प्रसन्न किया। फिर वे दोनों सुग्रीव के दोनों ओर, वैसे ही बैठ गये, जैसे इन्द्र के पास देवता बैठते हैं॥ ४६ ॥

सत्यसन्धौ महाभागौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
वयस्यभावं सम्प्राप्तौ राज्यार्हौ राज्यदायिनौ ॥ ४७ ॥

तदनन्तर उन दोनों ने कहा—आपको राज्य दिलाने वाले, स्वयं राज्यशासन करने की योग्यता रखने वाले, महाभाग, सत्य प्रतिज्ञ, दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, जो तुम्हारे साथ मैत्री कर चुके हैं ॥ ४७ ॥

तयोरेको धनुष्पाणिर्द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः ।
यस्य भीताः प्रवेपन्तो नादान्मुञ्चन्ति वानराः ॥ ४८ ॥

उन दोनों में से एक जन लक्ष्मण धनुष हाथ में लिये द्वार पर खड़े हैं। उन्हीं के डर से वानर थर थर काँपते हुए कोलाहल मचा रहे हैं॥ ४८ ॥

स एष राघवभ्राता लक्ष्मणो वाक्यसारथिः[2] ।
व्यवसायरथः प्राप्तस्तस्य रामस्य शासनात् ॥ ४९ ॥

---

१ सामनिश्चितैः—सान्त्वविषये निश्चितैः । (गो०) २ वाक्यसारथिः—रामवाक्यप्रेरित इत्यर्थः । (गो०)

यह श्रीरामचन्द्र के भाई लक्ष्मण राम के वचनों से प्रेरित हो, उन्हींकी आज्ञा से व्यवसाय रूपी रथ पर सवार हो, यहाँ आये हैं ॥ ४९ ॥

[नोट —व्यवसाय रूपी रथ से अभिप्राय है कर्त्तव्यकार्य का निश्चय करने के लिये—(शि०) "व्यवसायः करणीयार्थ विषयक निश्चयः ।]

अयं च दयितो राजंस्तारायास्तनयोऽङ्गदः ।
लक्ष्मणेन सकाशं ते प्रेषितस्त्वरयानघ ॥ ५० ॥

हे राजन ! हे अनघ ! यह तारा के प्यारे पुत्र अंगद उन्हीं लक्ष्मण जी के भेजे हुए अतिशीघ्र आपके पास आये हैं ॥ ५० ॥

सोऽयं रोषपरीताक्षो द्वारि तिष्ठति वीर्यवान् ।
वानरान्वानरपते चक्षुषा निर्दहन्निव ॥ ५१ ॥

हे वानरपते ! वे पराक्रमी लक्ष्मण जी ही क्रोध से लाल नेत्र किये, मानों अपने नेत्राग्नि से वानरों को जलाते हुए द्वार पर खड़े हैं ॥ ५१ ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः सह बन्धुभिः ।
गच्छ शीघ्रं महाराज रोषो ह्यस्य निवर्त्यताम् ॥ ५२ ॥

हे महाराज ! आप इस समय पुत्र और भाईबंदों सहित शीघ्र चल कर, उनके चरणों में सीस झुका, प्रणाम कीजिये और उनके क्रोध को शमन कीजिये ॥ ५२ ॥

यदाह रामो धर्मात्मा तत्कुरुष्व समाहितः[१] ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये[२] भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ५३ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

---

१ समाहितः—स्वस्थचित्तोभवेत । (शि०) २ स्वसमये—स्वमर्यादायां । (गो०)

हे राजन्! आप अपनी मर्यादा में स्थित हो, अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कीजिये, जिससे श्रीरामचन्द्र जी स्वस्थचित्त हो तुमको धर्मशील जानें ॥ ५३ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्वात्रिंशः सर्गः

—※—

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवः सचिवैः सह ।
लक्ष्मणं कुपितं श्रुत्वा मुमोचासनमात्मवान्[1] ॥ १ ॥

अंगद के वाक्य सुन और लक्ष्मण को क्रुद्ध जान, धैर्यवान् सुग्रीव मंत्रियों सहित आसन छोड़, उठ बैठे ॥ १ ॥

सचिवानब्रवीद्वाक्यं निश्चित्य गुरुलाघवम् ।
मन्त्रज्ञान्मन्त्रकुशलो मन्त्रेषु परिनिष्ठितान् ॥ २ ॥

सुग्रीव ने उन मंत्रियों से, जो विचार करने में बड़े निपुण थे श्रीरामचन्द्र की बड़ाई और अपनी छुटाई के विषय में कुछ भी न कह, यह कहा ॥ २ ॥

न मे दुर्व्याहृतं किञ्चिन्नापि मे दुरनुष्ठितम् ।
लक्ष्मणो राघवभ्राता क्रुद्धः किमिति चिन्तये ॥ ३ ॥

मुझे रह रह कर यह चिन्ता होती है कि, मैंने न तो उनको दुर्वचन कहे और न उनके साथ कोई बुरा बर्ताव ही किया, तब श्रीरामचन्द्र के भाई लक्ष्मण के क्रुद्ध होने का कारण क्या है? ॥ ३ ॥

---

1 आत्मवान्—धैर्यवान्। (शि०)

असुहृद्भिर्ममामित्रैर्नित्यमन्तरदर्शिभिः ।
मम दोषानसम्भूतान्श्रावितो राघवानुजः ॥ ४ ॥

मेरी समझ में तो यह आता है कि, मेरे वैरियों ने, जो सदा मेरे दोष ढूंढ़ने में लगे रहते हैं, लक्ष्मण से मेरी झूठी शिकायत की है ॥ ४ ॥

अत्र तावद्यथाबुद्धि सर्वैरेव यथाविधि ।
भावस्य निश्चयस्तावद्विज्ञेयो निपुणं शनैः ॥ ५ ॥

इस विषय में तुम सब लोग यथाविधि और यथाबुद्धि विचार कर, इस बात का ठीक निश्चय करो ॥ ५ ॥

न खल्वस्ति मम त्रासो लक्ष्मणान्नापि राघवात् ।
मित्रं त्वस्थानकुपितं जनयत्येव सम्भ्रमम् ॥ ६ ॥

मुझे श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण का ज़रा भी डर नहीं है, परन्तु मित्र का अकारण अथवा विना अपराध क्रुद्ध होना ही भयप्रद है ॥ ६ ॥

सर्वथा सुकरं मित्रं दुष्करं परिपालनम् ।
अनित्यत्वाच्च चित्तानां प्रीतिरल्पेऽपि भिद्यते ॥ ७ ॥

मैत्री करना तो सहज है, किन्तु मैत्री का निबाहना दुष्कर है, क्योंकि चित्त की अस्थिरता से ज़रा सी बात में प्रीति में अन्तर पड़ जाता है ॥ ७ ॥

अतो निमित्तं त्रस्तोऽहं रामेण तु महात्मना ।
यन्ममोपकृतं शक्यं प्रतिकर्तुं न तन्मया ॥ ८ ॥

अतएव इन्हीं सब बातों को सोच विचार कर मैं महात्मा श्रीरामचन्द्र से डरता हूँ। क्योंकि मैं जो कुछ उनका उपकार कर सकता था, वह भी मैं अभी तक नहीं कर सका ॥ ८ ॥

सुग्रीवेणैवमुक्तस्तु हनुमान्मारुतात्मजः* ।
उवाच स्वेन तर्केण मध्ये वानरमन्त्रिणाम् ॥ ९ ॥

सुग्रीव के ये वचन सुन कर, वानरश्रेष्ठ हनुमान जी मंत्रियों के बीच ऊहापोह कर बोले ॥ ९ ॥

सर्वथा नैतदाश्चर्यं यस्त्वं हरिगणेश्वर ।
न विस्मरसि सुस्निग्धमुपकारकृतं शुभम् ॥ १० ॥

हे कपिराज! आप जो श्रीरामचन्द्र जी के उपकार को नहीं भूले—सो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि उपकारी महात्मा लोगों का स्वभाव ही ऐसा अच्छा होता है ॥ १० ॥

राघवेण तु वीरेण भयमुत्सृज्य दूरतः ।
त्वत्प्रियार्थं हतो वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ॥ ११ ॥

देखो, वीरवर श्रीरामचन्द्र जी ने ज़रा भी न डर कर, तुम्हारा प्रीति के लिये, दूर ही से उस इन्द्र के समान पराक्रमी वालि को मार डाला ॥ ११ ॥

सर्वथा प्रणयात्क्रुद्धो राघवो नात्र संशयः ।
भ्रातरं सम्प्रहितवाँल्लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १२ ॥

अतः इसमें ज़रा सा भी सन्देह नहीं कि, श्रीरामचन्द्र जी का तुम्हारे ऊपर क्रुद्ध होना भी प्रेमयुक्त है। इसीसे उन्होंने कान्तिवर्द्धन लक्ष्मण को तुम्हारे पास भेजा है ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—"हनुमान्हरिपुङ्गवः ।"

त्वं प्रमत्तो न जानीषे कालं कालविदांवर ।
फुल्लसप्तच्छदश्यामा प्रवृत्ता तु शरच्छिवा ॥ १३ ॥

हे समय को पहचानने वालों में श्रेष्ठ! तुमने मत्त हो कर, समय को नहीं जाना । देखिये हरे हरे पत्ते वाले छितिउन के पेड़, फूलों से लदफँद गये हैं और कल्याणकारिणी शरद ऋतु का आरम्भ हो चुका ॥ १३ ॥

निर्मलग्रहनक्षत्रा द्यौः प्रनष्टबलाहका ।
प्रसन्नाश्च दिशः सर्वाः सरितश्च सरांसि च ॥ १४ ॥

आकाश में ग्रह और नक्षत्र सब निर्मल हो गये । मेघ जहाँ के तहाँ समा गये, अर्थात् आकाश में मेघ नहीं देख पड़ते । समस्त दिशाएं, नदियाँ और सरोवरें शोभा युक्त हो रही हैं ॥ १४ ॥

प्राप्तमुद्योगकालं तु नावैषि हरिपुङ्गव ।
त्वं प्रमत्त इति व्यक्तं लक्ष्मणोऽयमिहागतः ॥ १५ ॥

हे कपिप्रवर ! सीता जी के ढूँढ़ने के लिये उद्योग करने का समय आ गया, किन्तु आपने इस पर कुछ भी ध्यान न दिया । अतः आपको असावधान जान, लक्ष्मण जी यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

आर्तस्य हृतदारस्य परुषं पुरुषान्तरात् ।
वचनं मर्षणीयं ते राघवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी इस समय स्त्री हर जाने के कारण पीड़ित हो रहे हैं, अतः दूसरे पुरुष के मुख से तुमको कठोर वचन सुनने ही पड़ेंगे ॥ १६ ॥

कृतापराधस्य हि ते नान्यत्पश्याम्यहं क्षमम् ।
अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा लक्ष्मणस्य प्रसादनात् ॥ १७ ॥

अब तो हाथ जोड़ कर लक्ष्मण से क्षमाप्रार्थना करने ही से, मुझे तुम्हारी भलाई देख पड़ती है। क्योंकि समय चूक जाने का अपराध तुमसे बन पड़ा है ॥ १७ ॥

नियुक्तैर्मन्त्रिभिर्वाच्यो ह्यवश्यं पार्थिवो हितम् ।
अत एव भयं त्यक्त्वा ब्रवीम्यवधृतं[1] वचः ॥ १८ ॥

राजकार्य में लगे हुए मंत्रियों का यह कर्त्तव्य है कि, वे राजा से हितकारी बात कहैं। इसीसे निर्भय हो मैंने निश्चय हितकर वचन कहे हैं ॥ १८ ॥

अभिक्रुद्धः समर्थो हि चापमुद्यम्य राघवः ।
सदेवासुरगन्धर्वं वशे स्थापयितुं जगत् ॥ १९ ॥

देखिये श्रीरामचन्द्र जी में इतनी सामर्थ्य है कि, यदि कुपित हों, तो वे धनुष द्वारा देव, असुर गन्धर्व सहित इस जगत को अपने वश में कर सकते हैं ॥ १९ ॥

न स क्षमः कोपयितुं यः प्रसाद्यः पुनर्भवेत् ।
पूर्वोपकारं स्मरता कृतज्ञेन विशेषतः ॥ २० ॥

ऐसे पुरुष को नाराज़ न करना चाहिये, जिसको पीछे प्रसन्न करना पड़े और विशेष कर पहले किये हुए अपने प्रति उपकारों को स्मरण कर, उपकार करने वाले कृतज्ञ पुरुष को ॥ २० ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये भर्तुर्भार्येव तद्वशे ॥ २१ ॥

हे राजन् ! आप पुत्र तथा सुहृज्जनों को अपने साथ ले लक्ष्मण के पास जाइये और सीस नवा उनको प्रणाम कीजिये और जिस

---

1 अवधृतं—हितत्वेन निश्चितं । (शि०)

प्रकार भार्या अपने भर्त्ता के वश में रहती है, वैसे ही समय आने पर आप उनके कहने में चलिये ॥ २१ ॥

न रामरामानुजशासनं त्वया
कपीन्द्र युक्तं मनसाप्यपोहितुम् ।
मनो हिं ते ज्ञास्यति मानुषं वलं
सराघवस्यास्य सुरेन्द्रवर्चसः ॥ २२ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

हे कपिराज ! श्रीरामचन्द्र और उनके भाई श्रीलक्ष्मण जी की आज्ञा के उल्लङ्घन की मन में कल्पना करना भी आपको उचित नहीं। क्योंकि इन्द्र तुल्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी कैसे वलवान हैं यह तो आप जानते ही हैं ॥ २२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बत्तीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—※—

अथ प्रतिसमादिष्टो[1] लक्ष्मणः परवीरहा ।
प्रविवेश गुहां रम्यां* किष्किन्धां रामशासनात् ॥ १ ॥

किष्किन्धा में चलने के लिये अंगद द्वारा प्रार्थना किये जाने पर, श्रीराम की आज्ञा से आये हुए शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी, सुन्दर किष्किन्धा पुरी में घुसे ॥ १ ॥

---

१ प्रतिसमादिष्टः—प्रत्याहूता। अङ्गदेनेति शेषः। (गो०) * पाठान्तरे "घोरां।"

द्वारस्था हरयस्तत्र महाकाया महाबलाः ।
बभूवुर्लक्ष्मणं दृष्ट्वा सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥ २ ॥

द्वार पर खड़े हुए बड़े बड़े डीलडौल वाले महाबलवान वानर, लक्ष्मण जी को देखते ही, हाथ जोड़ कर खड़े हो गये ॥ २ ॥

निःश्वसन्तं तु तं दृष्ट्वा क्रुद्धं दशरथात्मजम् ।
बभूवुर्हरयस्त्रस्ता न चैनं पर्यवारयन्[1] ॥ ३ ॥

क्रोध से निःश्वास छोड़ते हुए लक्ष्मण को देख, वानरगण ऐसे डरे कि, उनके पीछे पीछे न जा सके ॥ ३ ॥

स तां रत्नमयीं श्रीमान्दिव्यां पुष्पितकाननाम् ।
रम्यां रत्नसमाकीर्णां[2] ददर्श महतीं गुहाम् ॥ ४ ॥

लक्ष्मण जी ने, उस समय महती किष्किन्धा पुरी को जो रत्नखचित, शोभामयी, दिव्य पुष्पित रमनों से शोभित और रमणीक थी तथा जिसमें दूकानों पर रत्नों के ढेर लगे हुए थे, देखी ॥ ४ ॥

[3]हर्म्यप्रासादसम्बाधां[4] नानापण्योपशोभिताम् ।
सर्वकालफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम् ॥ ५ ॥

उसमें अनेक धनियों के घर और देवगृह बने हुए थे। बाज़ारों में भाँति भाँति के माल बिक्री के लिये भरे पड़े थे। वहाँ पर ऐसे वृक्ष थे जो सदा सब ऋतुओं में फलते थे और वहाँ पुष्पित वृक्ष भी शोभित थे ॥ ५ ॥

---

१ नचैनं पर्यवारयन्—भयेन लक्ष्मणमुपगन्तुं नाशक्नुवन्नित्यर्थः । (गो०)
२ रत्नसमाकीर्णां—आपणस्थरत्नसमाकीर्णां । (गो०) ३ हर्म्याः धनिनांवासाः । (गो०) ४ प्रासादाः—देवगृहाः । (गो०)

देवगन्धर्वपुत्रैश्च वानरैः कामरूपिभिः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरैः शोभितां प्रियदर्शनैः ॥ ६ ॥

अपनी इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, दिव्य पुष्पों की मालाओं और वस्त्रों से शोभित, देखने में सुन्दर, देवताओं और गन्धर्वों के औरस से उत्पन्न वानरों से वह पुरी शोभायमान थी ॥ ६ ॥

चन्दनागरुपद्मानां गन्धैः सुरभिगन्धिनाम् ।
मैरेयाणां मधूनां च सम्मोदितमहापथाम् ॥ ७ ॥

चन्दन, अगर, और कमल पुष्प पराग से सुगन्धित और मैरेय और मधु नाम की दो मदिराओं की गन्ध से सुवासित वहाँ के राजमार्ग थे ॥ ७ ॥

[विन्ध्यमेरुगिरिप्रख्यैः प्रासादैरुपशोभिताम्* ।]
ददर्श गिरिनद्यश्च विमलास्तत्र राघवः ॥ ८ ॥

वह नगरी विन्ध्याचल और मेरु पर्वत के समान बड़े ऊँचे ऊँचे भवनों से शोभित थी । लक्ष्मण जी ने अनेक निर्मल जल वाली पहाड़ी नदियां भी वहाँ देखीं ॥ ८ ॥

अङ्गदस्य गृहं रम्यं मैन्दस्य द्विविदस्य च ।
गवयस्य गवाक्षस्य गजस्य शरभस्य च ॥ ९ ॥
विद्युन्मालेश्च सम्पातेः सूर्याक्षस्य हनूमतः ।
वीरबाहोः सुबाहोश्च नलस्य च महात्मनः ॥ १० ॥
कुमुदस्य सुषेणस्य तारजाम्बवतोस्तथा ।
दधिवक्त्रस्य नीलस्य सुपाटलसुनेत्रयोः ॥ ११ ॥

---

* पाठान्तरे—"प्रासादैर्नैकभूमिभिः ।"

एतेषां कपिमुख्यानां राजमार्गे महात्मनाम् ।
ददर्श गृहमुख्यानि महासाराणि[1] लक्ष्मणः ॥ १२ ॥

उस नगरी में राजमार्ग के अगल बगल अंगद, मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज, शरभ, विद्युन्माली, सम्पाति, सूर्य्याक्ष, हनुमान, वीरबाहु, सुबाहु, नल, कुमुद, सुषेण, तार, जाम्बवान, दधिवक्त्र नील, सुपाटल और सुनेत्र इन प्रधान प्रधान महाबलवान वानरों के भवन, जो बड़े सुन्दर और दृढ़ बने थे, लक्ष्मण जी ने देखे ॥ ९ ॥ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

पाण्डुराभ्रप्रकाशानि दिव्यमाल्ययुतानि च ।
प्रभूतधनधान्यानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च ॥ १३ ॥

वे भवन सफेद मेघों की तरह चमकते थे, गन्ध मालाओं से भूषित थे। धन, धान्य, से भरे पूरे और सुन्दरी स्त्रियों से शोभित थे ॥ १३ ॥

पाण्डुरेण[2] तु सालेन परिक्षिप्तं दुरासदम् ।
वानरेन्द्रगृहं रम्यं महेन्द्रसदनोपमम् ॥ १४ ॥

वानरेन्द्र सुग्रीव जी का घर चूने की अस्तरकारी की चहारदीवारी के भीतर बना था। वह चहारदीवारी इतनी ऊँची थी कि, उसके भीतर सहसा कोई जा नहीं सकता था। कपिराज का भवन इन्द्र के भवन की तरह बड़ा सुन्दर बना हुआ था ॥ १४ ॥

शुक्लैः प्रासादशिखरैः कैलासशिखरोपमैः ।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभितम् ॥ १५ ॥

---

१ महासाराणि—अतिदृढानि । (गो०) २ पाण्डुरेणतुसालेन—सुधाधवलितप्रकारेण । (गो०)

उस भवन की सफेद रंग की अटारियां, हिमाच्छादित कैलास-शिखर जैसी जान पड़ती थी। उसके भीतर ऐसे फल फूल के वृक्ष सुशोभित थे, जो सदासर्वदा फला फूला करते थे ॥ १५ ॥

महेन्द्रदत्तैः श्रीमद्भिर्नीलजीमूतसन्निभैः ।
दिव्यपुष्पफलैर्वृक्षैः शीतच्छायैर्मनोहरैः ॥ १६ ॥

ये सब वृक्ष स्वर्ग में उत्पन्न होने वाले इन्द्र के दिये हुए थे। और अत्यन्त कान्ति युक्त श्याम मेघ घटा की तरह दिव्य पुष्पों और फलों के देने वाले (भी) थे। इनकी शीतल छाया मनोहारिणी थी ॥ १६ ॥

हरिभिः संवृतद्वारं बलिभिः शस्त्रपाणिभिः ।
दिव्यमाल्यावृत्तं शुभ्रं तप्तकाञ्चनतोरणम् ॥ १७ ॥

राजभवन के द्वार पर बलवान् और हाथों में अस्त्र शस्त्र लिये हुए वानर खड़े पहरा दे रहे थे। दिव्य मालाओं से भूषित, श्वेत रंग के, और सोने की वन्दनवारों से शोभित ॥ १७ ॥

सुग्रीवस्य गृहं रम्यं प्रविवेश महाबलः ।
अवार्यमाणः सौमित्रिर्महाभ्रमिव भास्करः ॥ १८ ॥

कपिराज सुग्रीव के मनोहर भवन में महाबली लक्ष्मण जी ने प्रवेश किया। उस समय लक्ष्मण जी राजभवन में बेरोकटोक ऐसे चले जाते थे, जैसे महामेघमण्डल में सूर्य जाते हैं ॥ १८ ॥

स सप्त कक्ष्या धर्मात्मा नानाजनसमाकुलाः ।
प्रविश्य सुमहद्गुप्तं ददर्शान्तःपुरं महत् ॥ १९ ॥

वानरों से भरी पूरी और अत्यन्त सुरक्षित सात ड्योढ़ियों को नाघ, लक्ष्मण जी ने सुग्रीव का विशाल अन्तःपुर (रनवास) देखा ॥ १९ ॥

हैमराजतपर्यङ्कैर्बहुभिश्च वरासनैः ।
महार्हास्तरणोपेतैस्तत्र तत्रोपशोभितम् ॥ २० ॥

अन्तःपुर के भीतर जहाँ तहाँ सोने चाँदी के पलंग, अनेक प्रकार के बैठने के लिये मञ्च (पीढ़े), जिन पर, बढ़िया कीमती बिछौने बिछे थे, रखे हुए थे ॥ २० ॥

प्रविशन्नेव सततं शुश्राव मधुरस्वरम् ।
तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समगीतपदाक्षरम् ॥ २१ ॥

रनवास में जाते ही लक्ष्मण जी ने मधुर स्वर में, ताल लै से युक्त और वीणा के ऊपर गाया जाने वाला गाना सुना ॥ २१ ॥

बह्वीश्च विविधाकारा रूपयौवनगर्विताः ।
स्त्रियः सुग्रीवभवने ददर्श स महाबलः ॥ २२ ॥

लक्ष्मण जी ने सुग्रीव के रनवास में रूप और यौवन के मद से मतवाली बहुत सी और विविध आकार प्रकार की स्त्रियाँ देखीं ॥२२॥

दृष्ट्वाभिजनसम्पन्नाश्चित्रमाल्यकृतस्रजः ।
फलमाल्यकृतव्यग्रा भूषणोत्तमभूषिताः ॥ २३ ॥

ये स्त्रियाँ उत्तम कुलवती थीं, और उत्तम मालाएँ और आभूषणों से भूषित थीं तथा पुष्प मालाएँ गूंथने एवं फल-संग्रह करने में लगी हुई थीं ॥ २३ ॥

नातृप्तान्नापि चाव्यग्रान्नानुदात्तपरिच्छदान् ।
सुग्रीवानुचरांश्चापि लक्षयामास लक्ष्मणः ॥ २४ ॥

लक्ष्मण जी ने सुग्रीव के नौकर चाकरों को भी देखा, जो सन्तुष्ट थे और अपने मालिक के कामों को बड़ी सावधानी से कर रहे थे तथा साफ सुथरी और बढ़िया पोशाकं पहिने हुए थे ॥ २४ ॥

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निनदं तथा ।
सन्निशम्य ततः श्रीमान्सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत् ॥ २५ ॥

नूपुर और करधनी की झनकार सुन, श्रीमान् सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी लज्जित हुए ॥ २५ ॥

रोषवेगप्रकुपितः श्रुत्वा चाभरणस्वनम् ।
चकार ज्यास्वनं वीरो दिशः शब्देन पूरयन् ॥ २६ ॥

उन आभूषणों की झनकार सुन वीर लक्ष्मण जी क्रुद्ध हुए और अपने धनुष के रोदे का ऐसा टंकोरा कि उसका शब्द दशों दिशाओं में छा गया (और आभूषणों की झमाझम का शब्द दब गया) ॥ २६ ॥

चारित्रेण महाबाहुरपकृष्टः स लक्ष्मणः ।
तस्थावेकान्तमाश्रित्य रामशोकसमन्वितः ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के शोक से विकल एवं चरित्रवान् लक्ष्मण जी और आगे न जा सके और वहीं एकान्त स्थान देख (जहाँ स्त्रियों का आना जाना नहीं होता था) खड़े हो गये ॥ २७ ॥

तेन चापस्वनेनाथ सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
विज्ञायाऽऽगमनं त्रस्तः सञ्चचाल वरासनात् ॥ २८ ॥

वानरराज सुग्रीव उस धनुष की टंकार सुन जान गये कि, लक्ष्मण जी आ पहुँचे। इससे वे ऐसे डरे कि, अपना बहुमूल्य आसन छोड़ उठ खड़े हुए ॥ २८ ॥

अङ्गदेन यथा मह्यं पुरस्तात्प्रतिवेदितम् ।
सुव्यक्तमेष सम्प्राप्तः सौमित्रिर्भ्रातृवत्सलः ॥ २९ ॥

और बोले कि, अंगद ने मुझसे जैसा कहा था, तदनुसार भ्रातृवत्सल लक्ष्मण जी आ पहुँचे ॥ २९ ॥

अङ्गदेन समाख्यातं ज्याखनेन च वानरः ।
बुबुधे लक्ष्मणं प्राप्तं मुखं चास्य व्यशुष्यत ॥ ३० ॥

सुग्रीव, अंगद के मुख से लक्ष्मण का आगमन पहले ही सुन चुके थे, इस बार उनको उनके धनुष के रोदे की टंकार सुन पड़ी। इससे लक्ष्मण का आगमन प्रत्यक्ष जान, वानरराज का मुख डर के मारे सूख गया ॥ ३० ॥

ततस्तारां हरिश्रेष्ठः सुग्रीवः प्रियदर्शनाम् ।
उवाच हितमव्यग्रस्त्राससम्भ्रान्तमानसः ॥ ३१ ॥

पहिले तो वानरश्रेष्ठ सुग्रीव, डर के मारे घबड़ा गये, किन्तु फिर सम्हल कर, उन्होंने सुन्दरी तारा से अपनी भलाई के लिये सावधानी से ये वचन कहे ॥ ३१ ॥

किन्नु तत्कारणं सुभ्रु प्रकृत्या मृदुमानसः ।
सरोष इव सम्प्राप्तो येनायं राघवानुजः ॥ ३२ ॥

हे सुन्दर भौंहों वाली! लक्ष्मण जी के क्रुद्ध होने का क्या कारण है? लक्ष्मण जी तो स्वभाव ही से कोमलचित्त हैं, फिर ये कुपित हो क्यों आये हैं ॥ ३२ ॥

किं पश्यसि कुमारस्य रोषस्थानमनिन्दिते ।
न खल्वकारणे कोपमाहरेन्नरसत्तमः ॥ ३३ ॥

हे अनिन्दिते ! राजकुमार के कुपित होने का कारण तुम्हारी समझ में क्या आता है ? नरश्रेष्ठ लक्ष्मण जी कभी अकारण क्रोध करने वाले नहीं हैं ॥ ३३ ॥

यदस्य कृतमस्माभिर्बुध्यसे किञ्चिदप्रियम् ।
तद्बुद्ध्या सम्प्रधार्याशु क्षिप्रमर्हसि भाषितुम् ॥ ३४ ॥

यदि तुम्हारी समझ में मेरा कोई अपराध आये, तो विचार कर शीघ्र उसके लिये कोई उपाय बतलाओ ॥ ३४ ॥

अथ वा स्वयमेवैनं द्रष्टुमर्हसि भामिनि* ।
वचनैः सान्त्वयुक्तैश्च प्रसादयितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

अथवा, हे भामिनि ! तुम स्वयं जा कर उनसे मिलो और समझा बुझा कर, उनको प्रसन्न करो ॥ ३५ ॥

त्वद्दर्शनविशुद्धात्मा न स कोपं करिष्यति ।
न हि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम् ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण जी शुद्धान्तःकरण वाले हैं अतः वे तुझे देख कुपित न होंगे। क्योंकि महात्मा लोग (अर्थात् सभ्य लोग) स्त्रियों के साथ कठोर व्यवहार नहीं करते ॥ ३६ ॥

त्वया सान्त्वैरुपक्रान्तं प्रसन्नेन्द्रियमानसम् ।
ततः कमलपत्राक्षं द्रक्ष्याम्यहमरिन्दमम् ॥ ३७ ॥

जब तेरे समझाने बुझाने से उनका क्रोध शान्त हो जायगा और वे प्रसन्न हो जायंगे, तब मैं उन शत्रुहन्ता और कमल-नयन लक्ष्मण जी से भेंट करूँगा ॥ ३७ ॥

---

* पाठान्तरे "—भाषितुम् ।"

सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्बकाञ्चीगुणहेमसूत्रा ।
सुलक्षणा लक्ष्मणसन्निधानं
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः[1] ॥ ३८ ॥

सुग्रीव के कथनानुसार सुलक्षणा तारा, लक्ष्मण जी के पास गयी; किन्तु मारे नशे के उस समय उसकी आँखें चढ़ी हुई थीं, करधनी और सुवर्ण हार की लरें अस्तव्यस्त हो लटक रही थीं। मारे नशे के उसके पैर लड़खड़ा रहे थे और स्तन के बोझ से वह झुकी जाती थी ॥ ३८ ॥

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नीं
तस्थावुदासीनतया महात्मा ।
अवाङ्मुखोऽभून्मनुजेन्द्रपुत्रः
स्त्रीसन्निकर्षाद्विनिवृत्तकोपः ॥ ३९ ॥

उस समय वीरवर राजकुमार लक्ष्मण जी, कपिराज की पत्नी को देख, उदास हुए और नीचे मुख कर खड़े रहे। तारा को देख कर, उनका क्रोध भी दूर हो गया ॥ ३९ ॥

सा पानयोगाद्विनिवृत्तलज्जा
दृष्टिप्रसादाच्च नरेन्द्रसूनोः ।
उवाच तारा प्रणयप्रगल्भं
वाक्यं महार्थं परिसान्त्वपूर्वम् ॥ ४० ॥

---

१ नमिताङ्गयष्टिः—स्तनभारेणेतिशेषः । (शि०)

मद्पान के कारण तारा लज्जाहीन तो थी ही, फिर जब उसने लक्ष्मण जी की दृष्टि नर्म देखी, तब तो वह ढीठ हो कर, प्रेम पूर्वक अर्थगर्भित ऐसे वचन बोली, जिनसे लक्ष्मण जी स्वस्थ हो जायँ ॥ ४० ॥

किं कोपमूलं मनुजेन्द्रपुत्र
कस्ते न सन्तिष्ठति वाङ्निदेशे ।
कः शुष्कवृक्षं वनमापतन्तं
दवाग्निमासीदति निर्विशङ्कः ॥ ४१ ॥

हे राजकुमार! आप क्यों क्रुद्ध हो रहे हैं, किसने आपके आदेश की अवहेला की है। वह कौन जन है, जो निर्भय हो, शुष्क वन में आग लगा, अग्नि में स्वयं भस्म होना चाहता है ॥ ४१ ॥

स तस्या वचनं श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमशङ्कितम्* ।
भूयः प्रणयदृष्टार्थं[1] लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

लक्ष्मण जी, तारा के ऐसे प्रेमसने, निर्भीक और सान्त्वनाप्रद वाक्य सुन कर, अतिशय स्नेह दिखलाने के प्रयोजन से (ये वचन) बोले ॥ ४२ ॥

किमयं कामवृत्तस्ते लुप्तधर्मार्थसंग्रहः ।
भर्ता भर्तृहिते युक्ते न चैनमवबुध्यसे ॥ ४३ ॥

यह क्या बात है, तुम्हारा पति धर्म और अर्थ का नाश करने के लिये कामासक्त हो रहा है। तुम तो उसकी हितैषिणी हो, सो तुम भी तो नहीं चेतती ॥ ४३ ॥

---

१ प्रणयदृष्टार्थं—स्नेहसन्दर्शित प्रयोजनं । (गो०) * पाठान्तरे "असंशयम् ।"

न चिन्तयति राज्यार्थं नास्माञ्शोकपरायणान् ।
सामात्यपरिषत्तारे पानमेवोपसेवते ॥ ४४ ॥

न तो तुम्हारे पति को राजकाज की कुछ चिन्ता है और न हम दुखियारों ही को उसको कुछ फ़िक्र है। (यहाँ तक कि) उसने राजकाज चलाने को एक मामूली परिषद् बना रखी है और स्वयं वह केवल मद्य पिया करता है ॥ ४४ ॥

स मासांश्चतुरः कृत्वा प्रमाणं प्लवगेश्वरः ।
व्यतीतांस्तान्मदव्यग्रो विहरन्नावबुध्यते ॥ ४५ ॥

देखो, कपिराज ने चार मास बाद सीता को ढूढ़ने की प्रतिज्ञा की थी। सो वे चार मास भी बीत गये। किन्तु शराब पी कर विहार करने में मग्न हो, उसे इस बात को कुछ भी चिन्ता नहीं है ॥ ४५ ॥

न हि धर्मार्थसिद्ध्यर्थं पानमेवं प्रशस्यते ।
पानादर्थश्च धर्मश्च कामश्च परिहीयते ॥ ४६ ॥

धर्म और अर्थ की सिद्धि के लिये शराब पीना अच्छा नहीं है। क्योंकि शराब पीने से धर्म, अर्थ और काम नष्ट हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

धर्मलोपो महांस्तावत्कृते ह्यप्रतिकुर्वतः ।
अर्थलोपश्च मित्रस्य नाशे गुणवतो महान् ॥ ४७ ॥

उपकारी को उपकार द्वारा बदला न दिया जाय, तो धर्म का नाश होता है। गुणवान् मित्र के साथ यदि विरोध हो गया अथवा मैत्री न रही, तो इससे अर्थनाश होता है अर्थात् बड़ी हानि होती है ॥ ४७ ॥

मित्रं ह्यर्थगुणश्रेष्ठं सत्यधर्मपरायणम् ।
तद्द्वयं तु परित्यक्तं न तु धर्मे व्यवस्थितम् ॥ ४८ ॥

मित्र को चाहिये कि, वह अपने श्रेष्ठ गुण से मित्र का काम पूरा करे और मित्र के साथ सत्यधर्मयुक्त अर्थात् सच्चा व्यवहार करे। सुग्रीव ने इन दोनों ही को त्याग दिया। अतः वह धर्मात्मा या धर्मपथारूढ़ नहीं कहा जा सकता ॥ ४८ ॥

तदेवं प्रस्तुते कार्ये कार्यमस्माभिरुत्तरम् ।
यत्कार्यं कार्यतत्त्वज्ञे तदुदाहर्तुमर्हसि ॥ ४९ ॥

हे कार्यतत्वज्ञे तारे! इस समय इस तरह के उपस्थित कार्य में हमें आगे क्या करना चाहिये, सो तू बतला ॥ ४९ ॥

सा तस्य धर्मार्थसमाधियुक्तं
निशम्य वाक्यं मधुरस्वभावम् ।
तारा गतार्थे मनुजेन्द्रकार्ये
विश्वासयुक्तं तमुवाच भूयः ॥ ५० ॥

इस प्रकार के धर्म और अर्थ युक्त और प्रकृतमधुर लक्ष्मण जी के वचनों को सुन तारा, श्रीरामचन्द्र के उस काम के सम्बन्ध में, जिसकी अवधि बीत चुकी थी, विश्वास दिलाती हुई, पुनः बोली ॥ ५० ॥

न कोपकालः क्षितिपालपुत्र
न चातिकोपः स्वजने विधेयः ।
त्वदर्थकामस्य जनस्य तस्य
प्रमादमप्यर्हसि वीर सोढुम् ॥ ५१ ॥

हे राजकुमार! न तो यह क्रुद्ध होने का समय है और न स्वजनों पर क्रुद्ध होना ही उचित है। परन्तु आपके काम में तत्पर जन से यदि कुछ भूल चूक बन पड़ी हो, तो उसे आप क्षमा करें ॥ ५१ ॥

कोपं कथं नाम गुणप्रकृष्टः
कुमार कुर्यादपकृष्टसत्त्वे।
कस्त्वद्विधः कोपवशं हि गच्छे-
त्सत्त्वावरुद्धस्तपसः प्रसूतिः ॥ ५२ ॥

हे कुमार, तुम्हारे जैसा उत्कृष्ट गुणों वाला ऐसा जन कौन होगा, जो अपने से हीन बलवाले जन पर तुम्हारे जैसा कोप करे। और कौन ऐसा सतोगुणी और तपस्विप्रवर होगा, जो इस प्रकार कोप के वशीभूत हो जाय ॥ ५२ ॥

जानामि रोषं हरिवीरबन्धोः
जानामि कार्यस्य च कालसङ्गम्।
जानामि कार्यं त्वयि यत्कृतं नः
तच्चापि जानामि यदत्र कार्यम् ॥ ५३ ॥

उस वानरबन्धु पर श्रीरामचन्द्र जी के कुपित होने का कारण मुझे मालूम है और मैं यह भी जानती हूँ कि, सीता के ढूढ़ने का उद्योगकाल उपस्थित है। आपने हम लोगों का जो उपकार किया है और आप लोगों के प्रति हम लोगों का जो कर्त्तव्य है, वह भी मुझे मालूम है ॥ ५३ ॥

तच्चापि जानामि यथाऽविषह्यं
बलं नरश्रेष्ठ शरीरजस्य।

जानामि यस्मिंश्च जनेऽवबद्धं
कामेन सुग्रीवमसक्तमद्य ॥ ५४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! शरीर में कामदेव का जैसा बल होता है, सो मुझे मालूम है। और काम के वेग से सुग्रीव जिस जन में फँस कर, आपकेकार्य को भूले हुए हैं, यह भी मैं जानती हूँ ॥ ५४ ॥

न कामतन्त्रे तव बुद्धिरस्ति
त्वं वै यथा मन्युवशं प्रपन्नः ।
न देशकालौ हि न चार्थधर्मा-
वपेक्षते कामरतिर्मनुष्यः ॥ ५५ ॥

आपकी प्रवृत्ति रतिक्रीड़ा में न होने ही से आप क्रुद्ध हुए हैं। जो मनुष्य काम के वश में हो जाता है, वह देश, काल, अर्थ और धर्म में से किसी की भी परवाह नहीं करता ॥ ५५ ॥

तं कामवृत्तं मम सन्निकृष्टं
कामाभियोगाच्च निवृत्तलज्जम् ।
क्षमस्व तावत्परवीरहन्त-
स्त्वद्भ्रातरं वानरवंशनाथम् ॥ ५६ ॥

सो हे शत्रुहन्ता ! इस समय आप अपने भाई उस वानरराज को, जो कामासक्त हो, निर्लज्ज हो गया है और आपके डर से मेरे पास छिपा हुआ है, क्षमा कीजिये ॥ ५६

महर्षयो धर्मतपोभिकामाः
कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः ।

अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु
कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥ ५७ ॥

क्योंकि जब बड़े बड़े महर्षि भी, जो वर्णाश्रमधर्मपालन में दृढ़ता से तत्पर हो, तपस्या किया करते हैं, कामासक्त हो, ऐसे अज्ञानी हो जाते हैं कि, फिर उन्हें धर्म कर्म की कुछ भी परवाह नहीं रहती, तब सुग्रीव तो जाति का वानर होने से वैसे ही चपल स्वभाव का है और तिस पर वह राजा है। वह भला क्यों न इन्द्रियों के सुखोपभोग में आसक्त हो? ॥ ५७ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महार्थं
सा वानरी लक्ष्मणमप्रमेयम् ।
पुनः सखेलं मदविह्वलं च
भर्तुर्हितं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ५८ ॥

वह मदघूर्णितनयना वानरी तारा, इस प्रकार अतुलित बुद्धिसम्पन्न लक्ष्मण जी को समझा कर, फिर भी लीला पूर्वक अपने पति का हित करने वाले यह वचन बोली ॥ ५८ ॥

उद्योगस्तु चिराज्ञप्तः सुग्रीवेण नरोत्तम ।
कामस्यापि विधेयेन तवार्थप्रतिसाधने ॥ ५९ ॥

हे नरोत्तम! यद्यपि सुग्रीव कामासक्त है, तथापि उसने आपके काम के लिये अपने मंत्रियों को बहुत दिन हुए तभी आज्ञा दे दी थी ॥ ५९ ॥

आगता हि महावीर्या हरयः कामरूपिणः ।
कोटीशतसहस्राणि नानानगनिवासिनः ॥ ६० ॥

भिन्न भिन्न पर्वतों पर बसने वाले, यथेच्छ रूप धारण करने वाले महापराक्रमी सैकड़ों हज़ारों करोड़ वानर, यहाँ आ पहुँचे हैं ॥ ६० ॥

तदागच्छ महाबाहो चारित्रं[1] रक्षितं त्वया ।
अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम् ॥ ६१ ॥

हे महाबाहो! आपने अन्तःपुर में प्रवेश न कर, सदाचार की भली भाँति रक्षा की है। अब रनवास में चलिये, क्योंकि खोटी दृष्टि से मित्र की स्त्री को न देखना चाहिये, अथवा कपट रहित, मित्र भाव से मित्र की स्त्री को देखना दोषावह नहीं है ॥ ६१ ॥

तारया चाभ्यनुज्ञातस्त्वरया चापि चोदितः ।
प्रविवेश महाबाहुरभ्यन्तरमरिन्दमः ॥ ६२ ॥

शत्रुनाशक महाबाहु लक्ष्मण जी, तारा की अनुमति तथा उसके शीघ्र भीतर चलने का अनुरोध करने से अन्तःपुर में गये ॥ ६२ ॥

ततः सुग्रीवमासीनं काञ्चने परमासने ।
महार्हास्तरणोपेते ददर्शादित्यसन्निभम् ॥ ६३ ॥

अन्दर जा कर लक्ष्मण जी ने देखा कि, सूर्य के समान प्रकाशमान सुग्रीव सोने के मञ्च पर, जिस पर बड़ा मूल्यवान् बिछौना बिछा था, बैठे हुए हैं ॥ ६३ ॥

दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपं यशस्विनम् ।
दिव्यमाल्याम्बरधरं महेन्द्रमिव दुर्जयम् ॥ ६४ ॥

---

१ चारित्रं रक्षितं त्वया—अन्तःपुरस्थवलोकनमनुचितमिति बहिरेव तिष्ठता त्वयासदाचारः सम्यगनुष्ठित इत्यर्थः । (गो०)

उस समय यशस्वी सुग्रीव दिव्य गहने दिव्य वस्त्र और दिव्य पुष्प मालाओं के पहिनने से बड़े सुन्दर और इन्द्र की तरह दुर्जेय देख पड़ते थे ॥ ६४ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिः प्रमदाभिः समावृतम् ।
संरब्धतररक्ताक्षो बभूवान्तकसन्निभः ॥ ६५ ॥

अच्छे अच्छे गहने और पुष्प मालाएँ पहिने हुए स्त्रियाँ सुग्रीव के चारों ओर बैठी हुई थीं। इस प्रकार सुग्रीव को बैठे हुए देख लक्ष्मण जी की आँखें मारे क्रोध के लाल हो गयीं और वे दूसरे काल की मूर्त्ति की तरह भयानक देख पड़ने लगे ॥ ६५ ॥

रुमां तु वीरः परिरभ्य गाढं
वरासनस्थो वरहेमवर्णः ।
ददर्श सौमित्रिमदीनसत्त्वं
विशालनेत्रः सुविशालनेत्रम् ॥ ६६ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

श्रेष्ठ सुवर्णवर्ण, उत्तम आसन पर स्थित, विशाल नेत्र, सुग्रीव ने रुमा को चिपटाये हुए, महावीर्यवान् विशाल नेत्र वाले लक्ष्मण जी को देखा ॥ ६६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—※—

तमप्रतिहतं क्रुद्धं प्रविष्टं पुरुषर्षभम्।
सुग्रीवो लक्ष्मणं दृष्ट्वा बभूव व्यथितेन्द्रियः॥ १॥

पुरुषश्रेष्ठ लक्ष्मण को क्रुद्ध और विना रोक टोक आते हुए देख, सुग्रीव बहुत घबड़ा उठे॥ १॥

क्रुद्धं निःश्वसमानं तं प्रदीप्तमिव तेजसा।
भ्रातुर्व्यसनसन्तप्तं दृष्ट्वा दशरथात्मजम्॥ २॥

उस समय दशरथनन्दन लक्ष्मण जी मारे क्रोध के फुंसकार मारते थे और उनका चेहरा तमतमा रहा था। क्योंकि वे भाई के दुःख से सन्तप्त हो रहे थे। लक्ष्मण को इस प्रकार क्रुद्ध देख,॥ २॥

उत्पपात हरिश्रेष्ठो हित्वा सौवर्णमासनम्।
महान्महेन्द्रस्य यथा स्वलंकृत इव ध्वजः॥ ३॥

कपिप्रवर सुग्रीव अपने सोने का सिंहासन छोड़, इन्द्र की अलंकृत बड़ी ध्वजा की तरह उठ खड़े हुए॥ ३॥

उत्पतन्तमनूत्पेतू रुमाप्रभृतयः स्त्रियः।
सुग्रीवं गगने पूर्णचन्द्रं तारागणा इव॥ ४॥

सुग्रीव के खड़े होते ही रुमा आदि स्त्रियाँ भी उठ खड़ी हुईं। उस समय उन स्त्रियों के बीच सुग्रीव की ऐसी शोभा हुई, जैसी आकाश में तारों के बीच चन्द्रमा की होती है॥ ४॥

संरक्तनयनः श्रीमान्विचचाल कृताञ्जलिः ।
बभूवावस्थितस्तत्र कल्पवृक्षो महानिव ॥ ५ ॥

श्रीमान् अरुण नेत्र सुग्रीव हाथ जोड़ लक्ष्मण के निकट जा, महान् कल्पवृक्ष की तरह खड़े हो गये ॥ ५ ॥

रुमाद्वितीयं सुग्रीवं नारीमध्यगतं स्थितम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धः सतारं शशिनं यथा ॥ ६ ॥

क्रुद्ध हुए लक्ष्मण जी ने, तारों के बीच स्थित चन्द्रमा की तरह, रुमा तथा दूसरी पत्नी तारा के साथ अन्य स्त्रियों के बीच खड़े हुए सुग्रीव से कहा ॥ ६ ॥

सत्त्वाभिजनसम्पन्नः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।
कृतज्ञः सत्यवादी च राजा लोके महीयते ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, दयालु, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ और सत्यवादी राजा ही लोक में पूजा जाता है ॥ ७ ॥

यस्तु राजा स्थितोऽधर्मे मित्राणामुपकारिणाम् ।
मिथ्या प्रतिज्ञां कुरुते को नृशंसतरस्ततः ॥ ८ ॥

किन्तु जो राजा उपकारी मित्रों के सामने प्रतिज्ञा कर के उसे पूरी नहीं करता, उससे बढ़ कर नृशंस और कौन हो सकता है ॥ ८ ॥

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते ।
आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुरुषानृते ॥ ९ ॥

एक घोड़े के विषय में झूठ बोलने से सौ घोड़े मारने का पाप, और एक गाय के बारे में झूठ बोलने से एक हजार गायें मारने का पाप लगता है और पुरुष के विषय में झूठ बोलने से आत्महत्या और स्वजनहत्या का पाप लगता है ॥ ९ ॥

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः ।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर ॥ १० ॥

हे वानरराज ! प्रथम मित्र से उपकार प्राप्त कर, पीछे जो उस उपकार का बदला नहीं चुकाता, वह पुरुष कृतघ्न कहलाता है और समस्त प्राणियों द्वारा मार डालने के योग्य है ॥ १० ॥

गीतोऽयं ब्रह्मणा श्लोकः सर्वलोकनमस्कृतः ।
दृष्ट्वा कृतघ्नं क्रुद्धेन तं निबोध प्लवङ्गम ॥ ११ ॥

हे वानर ! सर्वलोकनमस्कृत ब्रह्मा जी ने कृतघ्न पुरुष को देख और क्रुद्ध हो यह श्लोक कहा था । उसे सुनो ॥ ११ ॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चोरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ १२ ॥

सत्पुरुषों के मतानुसार, ब्राह्मण के मारने वाले का, मद्य पीने वाले का, चोर का और व्रतभङ्ग करने वाले का उद्धार हो भी सकता है, किन्तु कृतघ्नी का उद्धार किसी प्रकार नहीं हो सकता । अथवा ब्रह्महत्यारे का, मद्यप का, चोर का, और व्रतभङ्ग करने वाले का तो प्रायश्चित हो सकता है, पर कृतघ्नी का नहीं ॥ १२ ॥

अनार्यस्त्वं कृतघ्नश्च मिथ्यावादी च वानर ।
पूर्वं कृतार्थो रामस्य न तत्प्रतिकरोषि यत् ॥ १३ ॥

हे वानर! तुम नीच, कृतघ्न और झूठे हो। क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के द्वारा अपना काम निकाल कर, तुम उनका काम नहीं कर रहे हो॥ १३॥

ननु नाम कृतार्थेन त्वया रामस्य वानर।
सीताया मार्गणे यत्नः कर्तव्यः कृतमिच्छता[1] ॥ १४ ॥

हे वानर! जब श्रीरामचन्द्र जी ने तुम्हारा काम कर दिया, तब उनके उस उपकार का स्मरण कर उनकी सीता का पता लगाना तुम्हारा आवश्यक कर्त्तव्य है॥ १४॥

स त्वं ग्राम्येषु भोगेषु सक्तो मिथ्याप्रतिश्रवः।
न त्वां रामो विजानीते सर्पं मण्डूकराविणम् ॥ १५ ॥

परन्तु तुम तो झूठी प्रतिज्ञा करने वाले बन कर, नीच भोगों में फँसे हुए हो। (खेद है) श्रीरामचन्द्र जी, मेढ़क पकड़ने के लिये मेढक की बोली बोलने वाले सर्प जैसे तुमको न पहचान सके॥१५॥

महाभागेन रामेण पापः करुणवेदिना।
हरीणां प्रापितो राज्यं त्वं दुरात्मा महात्मना ॥ १६ ॥

देखो महाभाग और महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने दया कर तुम जैसे पापिष्ठ और दुष्ट को वानरों का राज्य दिला दिया है॥ १६॥

कृतं चेन्नाभिजानीषे रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
सद्यस्त्वं निशितैर्बाणैर्हतो द्रक्ष्यसि वालिनम् ॥ १७ ॥

यदि तुम अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के किये हुए उपकार का ख़याल न करोगे, तो शीघ्र ही तुम उनके बाणों से प्राणत्याग कर वालि से भेंट करोगे॥ १७॥

---

१ कृतमिच्छता—उपकारंस्मरता। (गो०)

न च सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ १८ ॥

जिस मार्ग से वालि मारा जा कर, गया है, वह मार्ग बंद नहीं हो गया। अतः तुम अपनी प्रतिज्ञा पर डटे रहो और वालि के पथ का अनुसरण मत करो ॥ १८ ॥

न नूनमिक्ष्वाकुवरस्य कार्मुक-
च्युताञ्शरान्पश्यसि वज्रसन्निभान् ।
ततः सुखं नाम निषेवसे सुखी
न रामकार्यं मनसाऽप्यवेक्षसे ॥ १९ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

तुमने श्रीरामचन्द्र जी के कार्य को मन से भुला डाला है, अतः निश्चय ही तुम तभी तक यह सारा सुख भोग सकते हो, जब तक तुम श्रीरामचन्द्र जी के वज्र समान बाण उनके धनुष से छूटे हुए नहीं देखते ॥ १६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—※—

तथा ब्रुवाणं सौमित्रिं प्रदीप्तमिव तेजसा ।
अब्रवील्लक्ष्मणं तारा ताराधिपनिभानना ॥ १ ॥

अपने तेज से देदीप्यमान लक्ष्मण जी ने जब इस प्रकार सुग्रीव से कहा, तब चन्द्रवदनी तारा लक्ष्मण जी से बोली ॥ १ ॥

नैवं लक्ष्मण वक्तव्यो नायं परुषमर्हति ।
हरीणामीश्वरः श्रोतुं तव वक्त्राद्विशेषतः ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण, आपको ऐसे कठोर वचन न कहने चाहिये। क्योंकि यह कपीश्वर हैं, अतः विशेष कर आपके मुख से तो, ऐसे वचन सुनने योग्य यह नहीं है ॥ २ ॥

नैवाकृतज्ञः सुग्रीवो न शठो नापि दारुणः ।
नैवानृतकथो वीर न जिह्मश्च कपीश्वरः ॥ ३ ॥

हे वीर! यह सुग्रीव न तो कृतघ्नी हैं, न शठ हैं और न नृशंस ही हैं। यह कपिराज न तो झूठ बोलते हैं और न कपटी हैं ॥ ३ ॥

उपकारं कृतं वीरो नाप्ययं विस्मृतः कपिः ।
रामेण वीर सुग्रीवो यदन्यैर्दुष्करं रणे ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इनका जो उपकार किया है, उसे यह भूले नहीं। क्योंकि जैसा उपकार युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी ने इनका किया है, वैसा और कोई नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

रामप्रसादात्कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
प्राप्तवानिह सुग्रीवो रुमां मां च परन्तप ॥ ५ ॥

हे परन्तप! श्रीरामचन्द्र जी के अनुग्रह ही से सुग्रीव को यश की, परम्परागत वानरराज्य की, रुमा की और मेरी प्राप्ति हुई है ॥ ५ ॥

सुदुःखं शयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम् ।
प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रो यथा मुनिः ॥ ६ ॥

जो बहुत दिनों तक कष्ट झेलने के बाद सुख पाता है, उसे समय जाता हुआ वैसे ही जान नहीं पड़ता, जैसे विश्वामित्र मुनि को नहीं जान पड़ा था ॥ ६ ॥

घृताच्यां किल संसक्तो दश वर्षाणि लक्ष्मण ।
अहोऽमन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! विश्वामित्र दस वर्ष तक घृताची* अप्सरा के साथ विहार करते रहे, किन्तु उन धर्मात्मा महर्षि विश्वामित्र को यह न जान पड़ा कि, दस वर्ष कब बीत गये ॥ ७ ॥

स हि प्राप्तं न जानीते कालं कालविदांवरः ।
विश्वामित्रो महातेजाः किं पुनर्यः पृथग्जनः ॥ ८ ॥

जब कि काल के जानने वालों में श्रेष्ठ महातेजस्वी विश्वामित्र ही को (विषय भोग में फँस) समय का बोध नहीं हुआ, तब अन्य लोगों की बात ही क्या है ॥ ८ ॥

[1]देहधर्मं गतस्यास्य परिश्रान्तस्य लक्ष्मण ।
अवितृप्तस्य कामेषु कामं क्षन्तुमिहार्हसि ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! शरीरस्वभाव के वशवर्ती, श्रान्त, कामवासना से अतृप्त, इन सुग्रीव का अपराध आप श्रीरामचन्द्र जी से क्षमा करा दें ॥ ९ ॥

न च रोषवशं तात गन्तुमर्हसि लक्ष्मण ।
[2]निश्चयार्थमविज्ञाय सहसा प्राकृतो यथा ॥ १० ॥

---

१ देहधर्मं—शरीरस्वभावं । (गो०) २ निश्चयार्थं—निश्चयरूपमर्थं सुग्रीवाभिप्रायमिति । (गो०)

*बालकाण्ड में मेनका नाम आया है । अतः यहाँ घृताची से तारा का अभिप्राय मेनका से है । यह गोविन्दराज जी का मत है ।

श्रीरामचन्द्र और वानरराज सुग्रीव का मैत्री स्थापन

हे लक्ष्मण ! सुग्रीव का अभिप्राय निश्चित रूप से जाने विना, साधारण मनुष्य की तरह तुम्हारा सहसा क्रुद्ध होना ठीक नहीं ॥१०॥

सत्त्वयुक्ता हि पुरुषास्त्वद्विधाः पुरुषर्षभ ।
अविमृश्य न रोषस्य सहसा यान्ति वश्यताम् ॥ ११ ॥

क्योंकि, हे नरश्रेष्ठ ! आप जैसे सतोगुणी पुरुष विना विचारे क्रोध के वशवर्ती नहीं होते ॥ ११ ॥

प्रसादये त्वां धर्मज्ञ सुग्रीवार्थे समाहिता ।
महान्रोषसमुत्पन्नः संरम्भः[1] त्यज्यतामयम् ॥ १२ ॥

हे धर्मज्ञ ! सुग्रीव की भलाई के लिये मैं एकाग्रचित्त हो आपको मना लेना चाहती हूँ । इस महान् क्रोध को और क्षोभ को त्यागिये ॥ १२ ॥

रुमां मां कपिराज्यं च धनधान्यवसूनि च ।
रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति मतिर्मम ॥ १३ ॥

मेरा तो यह मत है कि, सुग्रीव आवश्यकता आ पड़ने पर श्रीरामचन्द्र जी के काम के लिये रुमा को, मुझको, कपिराज्य को, पशुओं को, धान्य को और रत्नादि को भी त्याग देंगे ॥ १३ ॥

समानेष्यति सुग्रीवः सीतया सह राघवम् ।
शशाङ्कमिव रोहिण्या निहत्वा रावणं रणे ॥ १४ ॥

सुग्रीव रावण को युद्ध में मार कर, श्रीरामचन्द्र जी को सीता से वैसे ही मिला देंगे, जैसे रोहिणी चन्द्रमा से मिलती है ॥ १४ ॥

---

1 संरम्भः—संक्षोभः । (शि०)

शतकोटिसहस्राणि लङ्कायां किल राक्षसाः ।
अयुतानि च षट्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि च ॥ १५ ॥

लङ्का में रावण के पास निश्चय ही इस समय दस खरब, चार लाख साठ हज़ार राक्षसों की सेना है ॥ १५ ॥

अहत्वा तांश्च दुर्धर्षान्राक्षसान्कामरूपिणः ।
न शक्यो रावणो हन्तुं येन सा मैथिली हृता ॥ १६ ॥

उन दुर्धर्ष, कामरूपी राक्षसों को युद्ध में मारे विना, सीता को हर कर, अपने घर ले जाने वाले रावण का वध नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

ते न शक्या रणे हन्तुमसहायेन लक्ष्मण ।
रावणः क्रूरकर्मा च सुग्रीवेण विशेषतः ॥ १७ ॥

सो हे लक्ष्मण ! सुग्रीव उन राक्षसों को और विशेष कर उस पराक्रमी रावण को विना सहायता के नहीं मार सकेंगे ॥ १७ ॥

एवमाख्यातवान्वाली स ह्यभिज्ञो हरीश्वरः ।
आगमस्तु न मे व्यक्तः* श्रवणात्तद्ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

कपिराज वालि इन बातों से परिचित थे सो, उन्हींसे मैंने ये बातें सुन रखी हैं। स्वयं इन सब बातों को जानकार मैं नहीं हूँ ॥ १८ ॥

त्वत्सहायनिमित्तं वै प्रेषिता हरिपुङ्गवाः ।
आनेतुं वानरान्युद्धे सुबहून्हरियूथपान् ॥ १९ ॥

आपकी सहायता के लिये कपिराज ने बहुत से वानरयूथप बुलवाये हैं और उनको बुलाने के लिये प्रधान वानर वीर भेजे हैं ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—" श्रवात्तस्मात् । "

तांश्च प्रतीक्षमाणोऽयं विक्रान्तान्सुमहाबलान् ।
राघवस्यार्थसिद्ध्यर्थं न निर्याति हरीश्वरः ॥ २० ॥

यह उन विक्रमशाली और महाबलवान् वानरों के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन सब के आये बिना श्रीरामचन्द्र जी के कार्य की सिद्धि के लिये यह कपिराज बाहर नहीं निकलते ॥ २० ॥

कृताऽत्र संस्था सौमित्रे सुग्रीवेण यथा पुरा ।
अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः ॥ २१ ॥

सुग्रीव ने जैसी व्यवस्था पहिले से कर रखी है, उसके अनुसार तो उन सब महाबली वानरों को आज ही यहाँ पहुँच जाना चाहिये ॥ २१ ॥

ऋक्षकोटिसहस्राणि गोलाङ्गूलशतानि च ।
अद्य त्वामुपयास्यन्ति जहि कोपमरिन्दम ।
कोट्योऽनेकास्तु काकुत्स्थ कपीनां दीप्ततेजसाम् ॥ २२ ॥

हे अरिन्दम ! हे काकुत्स्थ ! करोड़ों रीछों, हज़ारों गोपुच्छों, और करोड़ों पराक्रमी वानरों की सेना आज आना ही चाहती है। अतः आप अपना क्रोध शान्त करें ॥ २२ ॥

तव हि मुखमिदं निरीक्ष्य कोपा-
त्क्षतजनिभे नयने निरीक्षमाणाः ।
हरिवरवनिता न यान्ति शान्ति
प्रथमभयस्य हि शङ्किताः स्म सर्वाः ॥२३॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण! क्रोध से तमतमाता हुआ आपका चेहरा और आपकी लाल लाल आँखें देख, वानरराज की सब स्त्रियां घबड़ा रही हैं। क्योंकि वालि के वध को देख, उनके मन में पहिले ही से भय उत्पन्न हो गया है॥ २२॥

किष्किन्धाकाण्ड का पैंतीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्त्रिंशः सर्गः

—※—

इत्युक्तस्तारया वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम्।
मृदुस्वभावः सौमित्रिः प्रतिजग्राह तद्वचः॥ १॥

जब तारा ने इस प्रकार के विनीत और धर्मयुक्त वचन कहे, तब लक्ष्मण जी नरम पड़े और उसका कहना मान लिया॥ १॥

तस्मिन्प्रतिगृहीते तु वाक्ये हरिगणेश्वरः।
लक्ष्मणात्सुमहत्त्रासं वस्त्रं क्लिन्नमिवात्यजत्॥ २॥

जब लक्ष्मण जी ने तारा की बात मान, क्रोध शान्त किया, तब सुग्रीव ने भी अपने भय को गीले वस्त्र की तरह त्याग दिया॥ २॥

ततः कण्ठगतं माल्यं चित्रं बहुगुणं[1] महत्।
चिच्छेद विमदश्चासीत्सुग्रीवो वानरेश्वरः॥ ३॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीव ने अपने गले की चित्रविचित्र बहुविध भोगप्रद माला को तोड़ कर फेंक दिया और वे सचेत हो गये॥ ३॥

---

१ बहुगुणं—बहुविधभोगप्रदं। (गो०)

स लक्ष्मणं भीमबलं सर्ववानरसत्तमः ।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवः सम्प्रहर्षयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने महाबली लक्ष्मण को प्रसन्न करने के लिये उनसे विनीत भाव से कहा ॥ ४ ॥

प्रनष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
रामप्रसादात्सौमित्रे पुनः प्राप्तमिदं मया ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैंने श्री, यश और पुश्तैनी कपिराज्य, जो कि मेरे हाथ से निकल गया था, श्रीरामचन्द्र जी के अनुग्रह ही से पुनः पाया है ॥ ५ ॥

कः शक्तस्तस्य देवस्य* विख्यातस्य स्वकर्मणा ।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मज ॥ ६ ॥

हे राजकुमार ! अनेक अद्भुत कर्मों के द्वारा विख्यात, देवस्वरूप श्रीरामचन्द्र जी जैसे उपकारी का किञ्चितमात्र भी बदला कौन चुका सकता है ॥ ६ ॥

सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम् ।
सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा ॥ ७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी तो अपने ही पराक्रम से रावण को मार कर सीता को लावेंगे । मैं तो नाम मात्र का उनका सहायक रहूँगा ॥ ७ ॥

सहायकृत्यं किं तस्य येन सप्त महाद्रुमाः ।
शैलश्च वसुधा चैव बाणेनैकेन दारिताः ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—" ख्यातस्य स्वेन कर्मणा । तादृशं विक्रमं वीर प्रतिकर्तुमरिन्दम । "

जिस वीर ने एक ही बाण से सात साल वृक्षों को वेध कर पहाड़ और पृथिवी को फोड़ डाला, उसको दूसरे की सहायता की आवश्यकता ही क्या है ॥ ८ ॥

धनुर्विष्फारयाणस्य यस्य शब्देन लक्ष्मण ।
सशैला कम्पिता भूमिः सहायैस्तस्य किं नु वै ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! जिसके धनुष के रोदे की टंकार से पहाड़ों सहित पृथिवी भी कांप उठती है, उसको किसी की सहायता की क्या आवश्यकता हो सकती है ॥ ९ ॥

अनुयात्रां नरेन्द्रस्य करिष्येऽहं नरर्षभ ।
गच्छतो रावणं हन्तुं वैरिणं सपुरःसरम् ॥ १० ॥

हे नरश्रेष्ठ ! जिस समय नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी रावण का वध करने को अग्रसर होंगे, उस समय मैं भी उनके पीछे हो लूंगा ॥ १० ॥

यदि किञ्चिदतिक्रान्तं विश्वासात्प्रणयेन वा ।
प्रेष्यस्य क्षमितव्यं मे न कश्चिन्नापराध्यति ॥ ११ ॥

यदि विश्वास अथवा प्रेम के वशवर्ती हो, इस दास से कोई अपराध बन आया हो, तो उस अपराध को वे क्षमा करें । क्योंकि ऐसा दास तो विरला ही होता है, जिससे स्वामी का कोई न कोई अपराध न बन पड़ता हो ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
अभवल्लक्ष्मणः प्रीतः प्रेम्णा* चैनमुवाच ह ॥ १२ ॥

महानुभाव सुग्रीव ने जब इस प्रकार कहा, तब लक्ष्मण जी प्रसन्न हुए और प्रीतिपूर्वक उनसे बोले ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—" चैव "; " चेद । "

सर्वथा हि मम भ्राता सनाथो वानरेश्वर ।
त्वया नाथेन सुग्रीव प्रश्रितेन[1] विशेषतः ॥ १३ ॥

हे कपिराज ! मेरे भाई का मनोरथ सब प्रकार से पूरा होगा और विशेष कर उस दशा में, जब तुम्हारे जैसे विनम्र अथवा स्नेह-युक्त उनके सहायक हैं ॥ १३ ॥

यस्ते प्रभावः सुग्रीव यच्च ते शौचमार्जवम् ।
अर्हस्त्वं कपिराज्यस्य श्रियं भोक्तुमनुत्तमाम् ॥ १४ ॥

हे सुग्रीव ! जैसा तुम्हारा प्रभाव है, जैसा तुम्हारा शुद्ध व्यवहार है और जैसी तुममें सरलता है, इनसे तो तुम इस कपिराज-पद की उत्तम राज्यलक्ष्मी भोगने के सर्वथा योग्य हो ॥ १४ ॥

सहायेन च सुग्रीव त्वया रामः प्रतापवान् ।
वधिष्यति रणे शत्रूनचिरान्नात्र संशयः ॥ १५ ॥

तुम्हारी सहायता से बलवान् हो, श्रीरामचन्द्र जी शीघ्र ही युद्ध में अपने वैरी रावण को मारेंगे । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
उपपन्नं च युक्तं च सुग्रीव तव भाषितम् ॥ १६ ॥

हे सुग्रीव ! तुम मित्र धर्म के जानने वाले, कृतज्ञ, और रणक्षेत्र में पीठ न दिखाने वाले हो । तुम जो कुछ कहते हो सो सब उचित ही है ॥ १६ ॥

---

१ प्रश्रितेन—स्नेहयुक्तेन । (शि०)

दोषज्ञः सति सामर्थ्ये कोऽन्यो भाषितुमर्हति ।
वर्जयित्वा मम ज्येष्ठं त्वां च वानरसत्तम ॥ १७ ॥

हे वानरोत्तम, मेरे ज्येष्ठ भ्राता को और तुमको छोड़, सामर्थ्य रखने वाला कौन पुरुष ऐसा होगा, जो अपने दोषों को जान कर, उन्हें अपने मुख से कहे ॥ १७ ॥

सदृशश्चासि रामस्य विक्रमेण बलेन च ।
सहायो दैवतैर्दत्तश्चिराय हरिपुङ्गव ॥ १८ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! तुम पराक्रम में और बल में, श्रीरामचन्द्र जी के समान हो । हे वानरश्रेष्ठ ! देवताओं की ओर से तुम हम लोगों को चिरकाल के लिये सहायक दिये गये हो ॥ १८ ॥

किं तु शीघ्रमितो वीर निष्क्राम त्वं मया सह ।
सान्त्वयस्व वयस्यं त्वं भार्याहरणकर्शितम् ॥ १९ ॥

परन्तु हे वीर ! अब तुम मेरे साथ शीघ्र ही इस स्थान से चल कर, सीताहरण से दुःखी और अपने मित्र विकल श्रीरामचन्द्र जी को धीरज बँधाओ ॥ १९ ॥

यच्च शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा रामस्य भाषितम् ।
मया त्वं परुषाण्युक्तस्तच्च त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ २० ॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

हे मित्र ! शोक से विकल श्रीरामचन्द्र जी की बातें सुन, मैंने तुमसे जो कठोर वचन कहे—इसके लिये तुम मुझे क्षमा करो ॥ २० ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—*—

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना।
हनुमन्तं स्थितं पार्श्वे सचिवं त्विदमब्रवीत् ॥ १ ॥

महात्मा लक्ष्मण के वचन सुन, सुग्रीव, एक ओर खड़े हुए अपने सचिव हनुमान से यह बोले ॥ १ ॥

महेन्द्रहिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरेषु च।
मन्दरे पाण्डुशिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः ॥ २ ॥

जो वानर महेन्द्राचल, हिमाचल, विन्ध्याचल, कैलासशिखर और श्वेतशिखर वाले मन्दराचल पर रहते हैं ॥ २ ॥

तरुणादित्यवर्णेषु भ्राजमानेषु सर्वतः।
पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमायां तु ये दिशि ॥ ३ ॥

तथा जो पश्चिम दिशा में तरुण सूर्य तुल्य वर्ण वाले वानर, सदा प्रकाशमान, समुद्र तटवर्ती पर्वतों पर रहते हैं ॥ ३ ॥

आदित्यभवने[1] चैव गिरौ सन्ध्याभ्रसन्निभे।
पद्मतालवनं भीमं संश्रिता हरिपुङ्गवाः ॥ ४ ॥

तथा सन्ध्याकालीन मेघ की तरह उदयाचल और अस्ताचल पर और पद्मताल वन में जो भयङ्कर आकार वाले श्रेष्ठवानर रहते हैं ॥ ४ ॥

---

1 आदित्यभवने—उदयगिरौ। (गो०)

अञ्जनाम्बुदसङ्काशाः कुञ्जरप्रतिमौजसः ।
अञ्जने पर्वते चैव ये वसन्ति प्लवङ्गमाः ॥ ५ ॥

तथा काले मेघों के समान डीलडौल वाले और गजेन्द्र की तरह पराक्रमी, जो वानर अञ्जन नामक पर्वत पर रहते हैं ॥ ५ ॥

*वनशैलगुहावासा वानराः कनकप्रभाः ।
मेरुपार्श्वगताश्चैव ये धूम्रगिरिसंश्रिताः ॥ ६ ॥

तथा जो सुनहली आभा वाले वानर, वनों में, पर्वत की कन्दराओं में रहते हैं, तथा जो मेरुपर्वत की बगल में रहने वाले तथा धूम्रपर्वत पर बसने वाले हैं ॥ ६ ॥

तरुणादित्यवर्णाश्च पर्वते च महारुणे ।
पिबन्तो मधु मैरेयं भीमवेगाः प्लवङ्गमाः ॥ ७ ॥

तथा जो वानर तरुण सूर्य की तरह रंग वाले हैं और मैरेय नाम की शराव पिया करते हैं और बड़े फुर्तीले हैं ॥ ७ ॥

वनेषु च सुरम्येषु सुगन्धिषु महत्सु च ।
तापसानां च रम्येषु वनान्तेषु समन्ततः ॥ ८ ॥

तथा जो वानर उन अत्यन्त सुवासित और रमणीय समस्त वनों में, जहाँ तपस्वियों के रमणीय आश्रम हैं, वास करते हैं ॥ ८ ॥

तांस्तान्समानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्ववानरान् ।
सामदानादिभिः† सर्वैराशु प्रेषय वानरान् ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—" मनःशिला "; " महाशैल ।" † पाठान्तरे—" कल्पैराशु "; " कल्पैवानरैर्वेगवत्तरैः "; " कल्पैराशु प्रेरय ।"

सारांश यह कि, पृथिवीमण्डल पर जहाँ जहाँ वानर हों, उन सब को, समझा बुझा कर, लालच दिखला कर, (जैसे बने वैसे) शीघ्र यहाँ बुला लो ॥ ९ ॥

प्रेषिताः प्रथमं ये च मया दूता महाजवाः ।
त्वरणार्थं तु भूयस्त्वं हरीन्सम्प्रेषयापरान् ॥ १० ॥

मैंने शीघ्रगामी जिन दूतों को पहले भेजा था, उनसे अपना काम शीघ्रता पूर्वक पूरा कराने के लिये, तुम फिर और वानर भेजो ॥ १० ॥

ये प्रसक्ताश्च कामेषु दीर्घसूत्राश्च वानराः ।
इहानयस्व तान्सर्वाञ्शीघ्रं तु मम शासनात् ॥ ११ ॥

जो वानर कामासक्त हैं या दीर्घसूत्री हैं, उनको मेरी आज्ञा सुना कर, तुरन्त यहाँ बुलवा लो ॥ ११ ॥

अहोभिर्दशभिर्ये हि नागच्छन्ति ममाज्ञया ।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो राजशासनदूषकाः ॥ १२ ॥

मेरी आज्ञा से जो वानर दस दिन के भीतर यहाँ न आ जाँयगे, वे दुष्ट राजाज्ञा की अवहेला करने के अपराध में, जान से मार डाले जाँयगे ॥ १२ ॥

शतान्यथ सहस्राणां कोट्यश्च मम शासनात् ।
प्रयान्तु कपिसिंहानां निदेशे मम ये स्थिताः ॥ १३ ॥

जो सैकड़ों हज़ारों और करोड़ों श्रेष्ठवानर मेरे आज्ञानुवर्ती हैं, वे मेरी आज्ञा से तुरन्त यहाँ चले आवें ॥ १३ ॥

मेरुमन्दरसङ्काशाश्छादयन्त इवाम्बरम् ।
घोररूपाः कपिश्रेष्ठा यान्तु मच्छासनादितः ॥ १४ ॥

आकाश को छा लेने वाले मेघों अथवा पर्वतों के सदृश डील डौल वाले और भयङ्कर रूपधारी श्रेष्ठवानर मेरी आज्ञा से तुरन्त यहाँ से जायँ ॥ १४ ॥

ते गतिज्ञा[1] गतिं गत्वा पृथिव्यां सर्ववानराः ।
आनयन्तु हरीन्सर्वांस्त्वरिताः शासनान्मम ॥ १५ ॥

सब वानरों के वासस्थानों को जानने वाले वे वानर, पृथिवी पर रहने वाले समस्त वानरों के वासस्थानों का पता लगा कर, मेरी आज्ञा से उनको तुरन्त यहाँ लिवा लावें ॥ १५ ॥

तस्य वानरराजस्य श्रुत्वा वायुसुतो वचः ।
दिक्षु सर्वासु विक्रान्तान्प्रेषयामास वानरान् ॥ ॥ १६ ॥

वानरराज सुग्रीव के ये वचन सुन, पवननन्दन हनुमान जी ने सब दिशाओं में पराक्रमी वानर भेज दिये ॥ १६ ॥

ते पदं विष्णुविक्रान्तं[2] पतत्रिज्योतिरध्वगाः ।
प्रयाताः प्रहिता राज्ञा हरयस्तत्क्षणेन वै ॥ १७ ॥

सुग्रीव की आज्ञा से वे वानर पक्षियों और नक्षत्रों के आकाशस्थ मार्ग से, उसी क्षण रवाना हो गये ॥ १७ ॥

ते समुद्रेषु गिरिषु वनेषु च सरःसु च ।
वानरा वानरान्सर्वान्रामहेतोरचोदयन् ॥ १८ ॥

उन वानरों ने समुद्रतटों, पर्वतों, वनों और सरोवरों के रहने वाले वानरों को श्रीरामचन्द्र जी के काम के लिये सुग्रीव की आज्ञा कह सुनाई ॥ १८ ॥

---

१ गतिज्ञा—तत्स्थानभिज्ञः । (शि०) २ विष्णुविक्रान्तंपदं—आकाशं । (गो०)

मृत्युकालोपमस्याज्ञां राजराजस्य वानराः ।
सुग्रीवस्याययुः श्रुत्वा सुग्रीवभयदर्शिनः ॥ १९ ॥

मृत्यु की तरह कपिराज सुग्रीव की उस आज्ञा को सुन कर और तदनुसार सुग्रीव के भय से त्रस्त हो, सब वानर सुग्रीव के पास जाने को प्रस्थानित हुए ॥ १९ ॥

ततस्तेऽञ्जनसङ्काशा गिरेस्तस्मान्महाजवाः ।
तिस्रः कोटयः प्लवङ्गानां निर्ययुर्यत्र राघवः ॥ २० ॥

तदनन्तर कज्जल वर्ण और महाबली तीन करोड़ वानर अञ्जनगिरि को छोड़, श्रीरामचन्द्र जी के पास चल दिये (अर्थात् अञ्जनगिरि से तीन करोड़ वानर आये) ॥ २० ॥

अस्तं गच्छति यत्रार्कस्तस्मिन्गिरिवरे स्थिताः ।
तप्तहेममहाभासस्तस्मात्कोटयो दश च्युताः ॥ २१ ॥

पर्वतश्रेष्ठ अस्ताचल पर जो वानर रहा करते थे और जिनके शरीर का सुनहला रंग था, और जो संख्या में दस करोड़ थे, वे भी किष्किन्धा के लिये रवाना हुए ॥ २१ ॥

कैलासशिखरेभ्यश्च सिंहकेसरवर्चसाम् ।
ततः कोटिसहस्राणि वानराणामुपागमन् ॥ २२ ॥

कैलास शिखर पर वसने वाले वानर भी जिनके शरीर का रंग सिंह के अयाल जैसा था और जिनकी संख्या कोटिसहस्र थी, किष्किन्धा में आये ॥ २२ ॥

फलमूलेन जीवन्तो हिमवन्तमुपाश्रिताः ।
तेषां कोटिसहस्राणां सहस्रं समवर्तत ॥ २३ ॥

हिमालय-पर्वत-वासी वानर, जो फल मूल खा कर निर्वाह किया करते थे और जिनकी संख्या अर्वों थी, किष्किन्धा में आये ॥ २३ ॥

अङ्गारकसमानानां भीमानां भीमकर्मणाम् ।
विन्ध्याद्वानरकोटीनां सहस्राण्यपतन्द्रुतम् ॥ २४ ॥

विन्ध्याचल पर रहने वाले वानर, जिनके शरीर का रंग अंगारे जैसा था और जो देखने में भयङ्कर ही न थे, किन्तु भयङ्कर कर्म करने वाले भी थे और जिनकी संख्या सहस्र करोड़ अर्थात् एक अर्ब थी, तुरन्त आ पहुँचे ॥ २४ ॥

क्षीरोदवेलानिलयास्तमालवनवासिनः ।
नारिकेलाशनाश्चैव तेषां संख्या न विद्यते ॥ २५ ॥

क्षीर समुद्र के तट पर रहने वाले तथा तमाल वन में वसने वाले तथा नारियल खाने वाले जो वानर थे, उनकी गणना नहीं थी अर्थात् वे असंख्य थे, ॥ २५ ॥

वनेभ्यो गह्वरेभ्यश्च सरिद्भ्यश्च महाजवाः ।
आगच्छद्वानरी सेना पिबन्तीव दिवाकरम् ॥ २६ ॥

किष्किन्धा में वनों, कन्दराओं और नदियों के तटों से महाबलवान् वानरी सेना ऐसे आने लगी, मानों वह सूर्य ही को पान कर जायगी ॥ २६ ॥

ये तु त्वरयितुं याता वानराः सर्ववानरान् ।
ते वीरा हिमवच्छैलं ददृशुस्तं महाद्रुमम् ॥ २७ ॥

जो वानर अन्य सब वानरों को शीघ्रता पूर्वक बुलाने को गये थे, उन वीर वानरों ने हिमालय पर्वत पर एक महावृक्ष देखा ॥ २७ ॥

तस्मिन्गिरिवरे रम्ये यज्ञो माहेश्वरः पुरा ।
सर्वदेवमनस्तोषो बभौ दिव्यो मनोहरः ॥ २८ ॥

उस रमणीक पर्वत पर पूर्वकाल में सब देवताओं के मन को सन्तुष्ट करने वाला दिव्य मनोहर माहेश्वर यज्ञ हुआ था ॥ २८ ॥

अन्ननिष्पन्दजातानि मूलानि च फलानि च ।
अमृतास्वादकल्पानि ददृशुस्तत्र वानराः ॥ २९ ॥
तदन्नसम्भवं दिव्यं फलं मूलं मनोहरम् ।
यः कश्चित्सकृदश्नाति मासं भवति तर्पितः ॥ ३० ॥

वहाँ पर अन्न के रस से नाना प्रकार के फूल और फल पैदा हो गये थे। ये अमृत के समान स्वादिष्ट थे और जो कोई एक बार भी इनको खा लेता, तो एक मास तक उसे भूख ही नहीं लगती थी। (अथवा वह एक मास तक अफरा हुआ रहता था) ॥ २९ ॥ ३० ॥

तानि मूलानि दिव्यानि फलानि च फलाशनाः ।
औषधानि च दिव्यानि जगृहुर्हरियूथपाः ॥ ३१ ॥

फल फूल भक्षण करने वाले उन प्रधान प्रधान वानरों ने वे सब दिव्य फल मूल लिये और अनेक प्रकार की जड़ी बूटियाँ भी लीं, जो वहाँ पर लगी हुई थीं ॥ ३१ ॥

तस्माच्च यज्ञायतनात्पुष्पाणि सुरभीणि च ।
आनिन्युर्वानरा गत्वा सुग्रीवप्रियकारणात् ॥ ३२ ॥

कपिराज सुग्रीव को भेंट करने के लिये, उन वानरों ने उस यज्ञस्थान से सुगन्धित फूल भी अपने साथ ले लिये ॥ ३२ ॥

ते तु सर्वे हरिवराः पृथिव्यां सर्ववानरान् ।
सञ्चोदयित्वा त्वरिता यूथानां जग्मुरग्रतः ॥ ३३ ॥

वे सब कपिश्रेष्ठ, पृथिवी के सब वानरों को सुग्रीव की आज्ञा सुना, बहुत शीघ्र सब यूथों के आने के पहिले ही, किष्किन्धा में लौट आये ॥ ३३ ॥

ते तु तेन मुहूर्तेन यूथपाः शीघ्रगामिनः ।
किष्किन्धां त्वरया प्राप्ताः सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ ३४ ॥

वे शीघ्र चलने वाले यूथप बात की बात में तुरन्त सुग्रीव के पास किष्किन्धा में आ पहुँचे ॥ ३४ ॥

ते गृहीत्वौषधीः सर्वाः फलं मूलं च वानराः ।
तं प्रतिग्राहयामासुर्वचनं चेदमब्रुवन् ॥ ३५ ॥

उन्होंने वे सब जड़ी बूटियाँ, फल और फूल सुग्रीव को भेंट किये और यह कहा ॥ ३५ ॥

सर्वे परिगताः शैलाः समुद्राश्च वनानि च ।
पृथिव्यां वानराः सर्वे शासनादुपयान्ति ते ॥ ३६ ॥

हम सब ने पर्वतों समुद्रों और वनों में जा कर उन उन स्थानों में रहने वाले वानरों को आपका आदेश सुना दिया। पृथिवी के समस्त वानर आपकी आज्ञा को मान, यहाँ पहुँचने ही वाले हैं ॥ ३६ ॥

एवं श्रुत्वा ततो हृष्टः सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
प्रतिजग्राह तत्प्रीतस्तेषां सर्वमुपायनम् ॥ ३७ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार उन वानरों के वचन सुन, वानरराज सुग्रीव प्रसन्न हुए और उनकी भेंट को अंगीकार किया ॥ ३७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

अष्टत्रिंशः सर्गः

—※—

प्रतिगृह्य च तत्सर्वमुपायनमुपाहृतम् ।
वानरान्सान्त्वयित्वा च सर्वानेव व्यसर्जयत् ॥ १ ॥

उन वानरों की लाई हुई भेंट को अंगीकार कर और उनकी (अर्थात् उनके काम की और फुर्ती की) प्रशंसा कर, उनको विदा किया ॥ १ ॥

विसर्जयित्वा स हरीञ्शूरांस्तान्कृतकर्मणः ।
मेने कृतार्थमात्मानं राघवं च महाबलम् ॥ २ ॥

उन वीर और काम पूरा कर के आये हुए वानरों को विदा कर, सुग्रीव ने अपने को तथा महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी को सफलमनोरथ माना ॥ २ ॥

स लक्ष्मणो भीमबलं सर्ववानरसत्तमम् ।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं सम्प्रहर्षयन् ॥ ३ ॥

अनन्तर लक्ष्मण जी, सुग्रीव को प्रसन्न करते हुए, उन महाबली वानरराज सुग्रीव से विनम्रभाव से बोले ॥ ३ ॥

किष्किन्धाया विनिष्क्राम यदि ते सौम्य रोचते ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य सुभाषितम् ॥ ४ ॥

हे सौम्य ! यदि तुम पसंद करो, तो हम लोग किष्किन्धा के बाहिर चले चलें । लक्ष्मण जी के ऐसे सुन्दर वचन सुन कर, ॥ ४ ॥

सुग्रीवः परमप्रीतो वाक्यमेतदुवाच ह ।
एवं भवतु गच्छावः स्थेयं त्वच्छासने मया ॥ ५ ॥

सुग्रीव बहुत प्रसन्न हुए और यह बोले, बहुत अच्छा। आइये चलें। मैं तो आपका आज्ञापालक हूँ ॥ ५ ॥

तयेवमुक्त्वा सुग्रीवो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
विसर्जयामास तदा तारामन्याश्च योषितः ॥ ६ ॥

सुग्रीव ने शुभलक्षण युक्त लक्ष्मण जी से इस प्रकार कह, तारा तथा अन्य स्त्रियों को वहाँ से अन्तःपुर में जाने के लिये विदा किया ॥ ६ ॥

एतेत्युच्चैर्हरिवरान्सुग्रीवः समुदाहरत् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा हरयः शीघ्रमाययुः ॥ ७ ॥

तदनन्तर सुग्रीव ने "यहाँ आओ २" कह कर उच्च स्वर से वानरश्रेष्ठ को बुलाया। उनके वचन सुन वे वंदर तुरन्त वहाँ आ पहुँचे ॥ ७ ॥

बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः ।
तानुवाच ततः प्राप्तान्राजार्कसदृशप्रभः ॥ ८ ॥

जो लोग राज्य घराने की स्त्रियों के सामने जा सकते थे। वे आ कर हाथ जोड़े हुए खड़े हो गये। तब सूर्य समान प्रभावाले सुग्रीव ने उनसे कहा ॥ ८ ॥

[नोट—" ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः " से स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि, सुग्रीव के रनवास में पर्दा था और रनवास की स्त्रियाँ हरेक वानर के सामने नहीं निकलती थीं।]

उपस्थापयत क्षिप्रं शिबिकां मम वानराः ।
श्रुत्वा तु वचनं तस्य हरयः शीघ्रविक्रमाः ॥ ९ ॥

समुपस्थापयामासुः शिबिकां प्रियदर्शनाम् ।
तामुपस्थापितां दृष्ट्वा शिबिकां वानराधिपः ॥ १० ॥

लक्ष्मणारुह्यतां शीघ्रमिति सौमित्रिमब्रवीत् ।
इत्युक्त्वा काञ्चनं यानं सुग्रीवः सूर्यसन्निभम् ॥ ११ ॥

बृहद्भिर्हरिभिर्युक्तमारुरोह सलक्ष्मणः ।
पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ १२ ॥

हे वानरों ! तुरन्त जा कर मेरी पाल्की ले आओ । सुग्रीव के ये वचन सुन, फुर्तीले और बली वानरों ने बड़ी सुन्दर पालकी ला कर उपस्थित कर दी । सुग्रीव ने पालकी को देख, लक्ष्मण जी से कहा कि, आप इस पर शीघ्र सवार हों । यह कह कर उस सूर्य समान चमकती हुई सोने की पालकी पर, जिसके उठाने को बड़े बड़े वानर नियुक्त थे, सुग्रीव लक्ष्मण जी सहित सवार हुए । सुग्रीव के ऊपर सफेद छत्र ताना गया ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

शुक्लैश्च वालव्यजनैर्धूयमानैः समन्ततः ।
शङ्खभेरीनिनादैश्च वन्दिभिश्चाभिनन्दितः ॥ १३ ॥

उनके ऊपर सफेद बालों का चंवर भी डुलाया जाता था । शङ्ख और नगाड़े बज रहे थे । वन्दीगण स्तुति करते जाते थे ॥ १३ ॥

निर्ययौ प्राप्य सुग्रीवो राज्यश्रियमनुत्तमाम् ।
स वानरशतैस्तीक्ष्णैर्बहुभिः शस्त्रपाणिभिः ॥ १४ ॥

सुग्रीव उत्कृष्ट राज्यलक्ष्मी को प्राप्त हो कर, रनवास से निकले । उस समय उनकी पालकी को घेरे हुए सैकड़ों बलवान वानर हाथों में बहुत से बड़े पैने हथियार ले चले जाते थे ॥ १४ ॥

परिकीर्णो ययौ तत्र यत्र रामो व्यवस्थितः ।
स तं देशमनुप्राप्य श्रेष्ठं रामनिषेवितम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार सिपाहियों से घिरे हुए, सुग्रीव वहाँ गये, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी ठहरे हुए थे। उस उत्तम स्थान पर जहाँ श्रीरामचन्द्र जी ठहरे हुए थे, पहुँच कर ॥ १५ ॥

अवातरन्महातेजाः शिविकायाः सलक्ष्मणः ।
आसाद्य च ततो रामं कृताञ्जलिपुटोऽभवत् ॥ १६ ॥

महातेजस्वी सुग्रीव जी, लक्ष्मण सहित पालकी से उतरे और श्रीरामचन्द्र जी के सामने जा कर, हाथ जोड़े खड़े हो गये ॥ १६ ॥

कृताञ्जलौ स्थिते तस्मिन्वानराश्चाभवंस्तथा ।
तटाकमिव तद्दृष्ट्वा रामः कुड्मलपङ्कजम् ॥ १७ ॥

अपने राजा को हाथ जोड़े हुए खड़ा देख, अन्य वानर भी हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। उस समय श्रीरामचन्द्र जी को ऐसा जान पड़ा, मानों कमल की कलियों से पूर्ण तालाब हो ॥ १७ ॥

वानराणां महत्सैन्यं सुग्रीवे प्रीतिमानभूत् ।
पादयोः पतितं मूर्ध्ना तमुत्थाप्य हरीश्वरम् ॥ १८ ॥

वानरराज की महती सेना को देख, श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव के ऊपर प्रसन्न हुए और पैर पर सीस रखे हुए कपिराज को उठा कर, ॥ १८ ॥

प्रेम्णा च बहुमानाच्च राघवः परिषस्वजे ।
परिष्वज्य च धर्मात्मा निषीदेति ततोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े प्रेम के साथ और सम्मान पूर्वक सुग्रीव को अपनी छाती से लगा लिया और छाती से लगाने के बाद श्रीराम जी ने सुग्रीव से बैठने को कहा ॥ १९ ॥

तं निषण्णं ततो दृष्ट्वा क्षितौ रामोऽब्रवीद्वचः ।
धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते ॥ २० ॥

विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम ।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते ॥ २१ ॥

स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ।
अमित्राणां वधे युक्तो मित्राणां संग्रहे रतः ॥ २२ ॥

सुग्रीव को ज़मीन पर बैठा हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा । हे कपिश्रेष्ठ ! जो राजा अपने समय को बाँट कर धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कार्य किया करता है, वही राजा राज्य करने योग्य होता है और जो धर्म और अर्थ त्याग कर, केवल कामासक्त हो जाता है, वह उस पुरुष की तरह है, जो वृक्ष की डाली पर सो कर, वहाँ से गिरने पर ही सचेत होता है। जो राजा शत्रु के वध में तत्पर और मित्रों के संग्रह में कटिबद्ध रहता है ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

त्रिवर्गफलभोक्ता तु राजा धर्मेण युज्यते ।
उद्योगसमयस्त्वेष प्राप्तः शत्रुविनाशन ॥ २३ ॥

वह राजा धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग का भोक्ता और धर्मात्मा कहलाता है । हे शत्रुविनाशन ! अब उद्योग का समय आ कर उपस्थित हुआ है ॥ २३ ॥

सञ्चिन्त्यतां हि पिङ्गेश हरिभिः सह मन्त्रिभिः ।
एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

अतः आप अपने वानर मंत्रियों से सलाह करो । जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव से कहा, तब सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ २४ ॥

प्रनष्टा श्रीश्च कीर्त्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
त्वत्प्रसादान्महाबाहो पुनः प्राप्तमिदं मया ॥ २५ ॥

हे महाबाहो ! आप ही की कृपा से मुझे हाथ से निकली हुई यह राज्यलक्ष्मी, कीर्त्ति और पुस्तैनी कपिराज्य पुनः मिला है ॥२५॥

तव देव प्रसादाच्च भ्रातुश्च जयतांवर ।
कृतं न प्रतिकुर्याद्यः पुरुषाणां स दूषकः ॥ २६ ॥

हे देव ! और जीतने वालों में श्रेष्ठ ! आपके और आपके भाई लक्ष्मण जी के अनुग्रह से हो मुझे यह राज्य मिला है । जो उपकार के बदले प्रत्युपकार नहीं करता, वह निन्द्य समझा जाता है ॥ २६ ॥

एते वानरमुख्याश्च शतशः शत्रुसूदन ।
प्राप्ताश्चादाय बलिनः पृथिव्यां सर्ववानरान् ॥ २७ ॥

हे शत्रुसूदन ! इन सैकड़ों वानर-सेनापतियों के साथ पृथिवी के सम्पूर्ण बलवान वीर वानर एकत्र हुए हैं ॥ २७ ॥

ऋक्षाश्चावहिताः शूरा गोलाङ्गूलाश्च राघव ।
कान्तारवनदुर्गाणामभिज्ञा घोरदर्शनाः ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! ये रीछ, वानर, गोलांगूल, बड़े वीर, डरावने रूप वाले और निर्जन स्थान, वन एवं दुर्गम स्थानों के भेदुआ हैं ॥ २८ ॥

देवगन्धर्वपुत्राश्च वानराः कामरूपिणः ।
स्वैः स्वैः परिवृताः सैन्यैर्वर्तन्ते पथि राघव ॥ २९ ॥

हे राघव ! ये सब के सब वानर कोई देवताओं के और कोई गन्धर्वों के औरस से उत्पन्न हुए हैं। इसीसे जब जैसा चाहें तब ये वैसा रूप धारण कर सकते हैं। इनमें से बहुत से अपनी अधीनस्थ सेनाओं को लिये हुए रास्ते में हैं, अर्थात् चले आ रहे हैं ॥ २९ ॥

शतैः शतसहस्रैश्च कोटिभिश्च प्लवङ्गमाः ।
अयुतैश्चावृता वीराः शङ्कुभिश्च परन्तप ॥ ३० ॥

अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्तैश्च वानराः ।
समुद्रैश्च परार्धैश्च हरयो हरियूथपाः ॥ ३१ ॥

आगमिष्यन्ति ते राजन्महेन्द्रसमविक्रमाः ।
मेरुमन्दरसङ्काशा विन्ध्यमेरुकृतालयाः ॥ ३२ ॥

हे परन्तप ! सैकड़ों लाखों, करोड़ों, अयुतों, शङ्खों, अर्बुदों, मध्य, अन्त्य, समुद्र और अपरार्द्ध संख्यक वानर लोग और इनके यूथपति आने वाले हैं। ये सब इन्द्र के समान पराक्रमी हैं और मेरु अथवा मन्दराचल के समान डीलडौल वाले हैं। इनका वासस्थान विन्ध्याचल है ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

ते त्वामभिगमिष्यन्ति राक्षसं ये सबान्धवम् ।
निहत्य रावणं संख्ये ह्यानयिष्यन्ति मैथिलीम् ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! ये सब सीता की खोज में जायँगे और राक्षसों से युद्ध कर सकुटुम्ब रावण को मार, जानकी जी को आपके निकट ले आवेंगे ॥ ३३ ॥

ततस्तमुद्योगमवेक्ष्य बुद्धिमा-
न्हरिप्रवीरस्य निदेशवर्तिनः ।
बभूव हर्षाद्वसुधाधिपात्मजः
प्रबुद्धनीलोत्पलतुल्यदर्शनः ॥ ३४ ॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

बुद्धिमान् राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी अपने आज्ञाकारी कपिराज सुग्रीव की तैयारी देख, खिले हुए नील कमल की तरह प्रफुल्लित हो गये ॥ ३४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—*—

इति ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो धर्मभृतांवरः ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य प्रत्युवाच कृताञ्जलिम् ॥ १ ॥

सुग्रीव ने जब इस प्रकार कहा, तब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव को अपनी छाती से लगा लिया । फिर सुग्रीव से, जो हाथ जोड़े हुए थे, वे कहने लगे ॥ १ ॥

यदिन्द्रो वर्षते वर्षं न तच्चित्रं भवेत्क्वचित् ।
आदित्यो वा सहस्रांशुः कुर्याद्वितिमिरं नभः ॥ २ ॥

यदि देवराज इन्द्र जल की वर्षा करें, अथवा सहस्र किरण वाले सूर्य आकाश के अन्धकार को नष्ट कर, उसे प्रकाशित कर दें, तो ये कोई आश्चर्य की बातें नहीं हैं ॥ २ ॥

चन्द्रमा रश्मिभिः कुर्यात्पृथिवीं सौम्य निर्मलाम् ।
त्वद्विधो वाऽपि मित्राणां प्रतिकुर्यात्परन्तप ॥ ३ ॥
एवं त्वयि न तच्चित्रं भवेद्यत्सौम्य शोभनम् ।
जानाम्यहं त्वां सुग्रीव सततं प्रियवादिनम् ॥ ४ ॥

यह भी कोई विस्मयोत्पादिनी बात नहीं कि, चन्द्रमा अपनी विमल किरणों से पृथिवी को सुन्दर शोभायुक्त कर दें। इसी प्रकार तुम जैसे सत्पुरुष यदि अपने मित्रों का प्रत्युपकार कर इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा की तरह लोकहितकर शुभकर्म करो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। हे सुग्रीव ! यह मैं जानता हूँ कि, तुम सदा ही प्रिय बोला करते हो ॥ ३ ॥ ४ ॥

त्वत्सनाथः सखे संख्ये जेतास्मि सकलानरीन् ।
त्वमेव मे सुहृन्मित्रं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

मुझे यह विश्वास है कि, तुम्हारे साहाय्य से तो मैं समस्त शत्रुओं को परास्त कर दूँगा। तुम मेरे हितैषी मित्र हो, अतः तुम मेरी मदद करो ॥ ५ ॥

जहारात्मविनाशाय वैदेहीं राक्षसाधमः ।
वञ्चयित्वा तु पौलोमीमनुह्लादो यथा शचीम् ॥ ६ ॥

जिस प्रकार अनुह्लाद, शची के पिता पौलोमी को धोखा दे शची को हर ले गया था और पीछे इन्द्र द्वारा मारा गया था, उसी प्रकार वह राक्षसाधम रावण अपना नाश करवाने को सीता जी को हर ले गया है ॥ ६ ॥

न चिरात्तं हनिष्यामि रावणं निशितैः शरैः ।
पौलोम्याः पितरं दृप्तं शतक्रतुरिवाहवे ॥ ७ ॥

शत्रुहन्ता इन्द्र ने जिस प्रकार शची के हरने वाले और हरने की अनुमति देने वाले शची के पिता को, जो बल के गर्व से गर्वित था, मार डाला था, मैं भी उसी प्रकार शीघ्र पैने बाणों से युद्ध में रावण को मार डालूँगा ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव रजः समभिवर्तत ।
उष्णां तीव्रां सहस्रांशोश्छादयद्गगने प्रभाम् ॥ ८ ॥
दिशः पर्याकुलाश्चासन्रजसा तेन मूर्छता[1] ।
चचाल च मही सर्वा सशैलवनकानना ॥ ९ ॥

इतने ही में ऐसी धूल उड़ी कि, सूर्य ढक गये और ऐसा अंधकार छा गया कि, दिशाओं का ज्ञान न रहा और पर्वतों तथा जंगलों सहित पृथिवी हिल उठी ॥ ८ ॥ ९ ॥

ततो नगेन्द्रसङ्काशैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाबलैः ।
कृत्स्ना संछादिता भूमिरसंख्येयैः प्लवङ्गमैः ॥ १० ॥

देखते देखते पहाड़ जैसे विशाल शरीर धारी, पैने पैने दाँतों वाले और महाबली अगणित वानरों से सारी पृथिवी ढक गयी ॥ १० ॥

निमेषान्तरमात्रेण ततस्तैर्हरियूथपैः ।
कोटीशतपरीवारैः कामरूपिभिरावृता ॥ ११ ॥

फिर पलक मारते ही इच्छारूपधारी सैकड़ों करोड़ यूथनाथ वानरों से पृथिवी ढक गयी ॥ ११ ॥

---

1 मूर्छता—व्याप्तवता । (गो०)

नादेयैः पार्वतीयैश्च सामुद्रैश्च महाबलैः ।
हरिभिर्मेघनिर्ह्रादैरन्यैश्च वनचारिभिः ॥ १२ ॥

ये वानरगण नदियों के तटों पर, पर्वतों पर, समुद्रों के तटों पर और वनों में रहने वाले और मेघ समान गर्जने वाले थे ॥ १२ ॥

तरुणादित्यवर्णैश्च शशिगौरैश्च वानरैः ।
पद्मकेसरवर्णैश्च श्वेतैर्मेरुकृतालयैः ॥ १३ ॥

इनमें कितने ही तरुण सूर्य की तरह लाल रंग के, कितने ही चन्द्रमा की तरह सफेद रंग के, कितने ही कमल-केसर के (पीले) रंग के थे, (इनमें से) मेरु पर्वत वासी वानरों का श्वेत रंग था ॥ १३ ॥

कोटीसहस्रैर्दशभिः श्रीमान्परिवृतस्तदा ।
वीरः शतवलिर्नाम वानरः प्रत्यदृश्यत ॥ १४ ॥

दस हज़ार करोड़ वानरों को साथ लिये हुए, शोभायुक्त शतवली नामक वीर वानर देख पड़ा ॥ १४ ॥

ततः काञ्चनशैलाभस्ताराया वीर्यवान्पिता ।
अनेकैर्दशसाहस्रैः कोटिभिः प्रत्यदृश्यत ॥ १५ ॥

तदनन्तर सुमेरु पर्वताकार तारा का पिता अनेक सहस्र कोटि बंदरों को अपने साथ लिये हुए आ कर उपस्थित हुआ ॥ १५ ॥

तथापरेण कोटीनां सहस्रेण समन्वितः ।
पिता रुमायाः सम्प्राप्तः सुग्रीवश्वशुरो विभुः ॥ १६ ॥

एक सहस्र करोड़ वानरों को साथ लिये सुग्रीव के और रुमा के पिता आये ॥ १६ ॥

पद्मकेसरसङ्काशस्तरुणार्कनिभाननः ।
बुद्धिमान्वानरश्रेष्ठः सर्ववानरसत्तमः ॥ १७ ॥
अनीकैर्बहुसाहस्रैर्वानराणां समन्वितः ।
पिता हनुमतः श्रीमान्केसरी प्रत्यदृश्यत ॥ १८ ॥

कमलकेसर की तरह रंग वाले और तरुण सूर्य की तरह लाल लाल मुख वाले बुद्धिमान और सब वानरों में श्रेष्ठ हनुमान के पिता केसरी नामक वानर अगणित कपिसेना लिये आते देख पड़े ॥ १७ ॥ १८ ॥

गोलाङ्गूलमहाराजो गवाक्षो भीमविक्रमः ।
वृतः कोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यत ॥ १९ ॥

तदनन्तर गोलांगूल (गौ जैसी पूंछ वाले) बंदरों के महाराज और भीम पराक्रमी गवाक्ष नामक वानर एक हज़ार करोड़ वानरों को साथ लिये वहाँ आये ॥ १९ ॥

ऋक्षाणां भीमवेगानां धूम्रः शत्रुनिवर्हणः ।
वृतः कोटिसहस्राभ्यां द्वाभ्यां समभिवर्तत ॥ २० ॥

भीम वेगवान् रीछों के राजा शत्रुहन्ता धूम्र नामक रीछ दो सहस्र करोड़ रीछों की सेना लिये हुए आये ॥ २० ॥

महाचलनिभैर्घोरैः पनसो नाम यूथपः ।
आजगाम महावीर्यस्तिसृभिः कोटिभिर्वृतः ॥ २१ ॥

पर्वताकार वपुधारी और भयङ्कर पनस नामक यूथपति वानर, महाबलवान् तीन करोड़ वानरों को ले कर उपस्थित हुए ॥ २१ ॥

नीलाञ्जनचयाकारो नीलो नामाथ यूथपः ।
अदृश्यत महाकायः कोटिभिर्दशभिर्वृतः ॥ २२ ॥

नीलपर्वत की तरह विशाल वपुधारी नील नामक यूथपति, दस करोड़ वानरों को ले कर उपस्थित हुए ॥ २२ ॥

ततः काञ्चनशैलाभो गवयो नाम यूथपः ।
आजगाम महावीर्यः कोटिभिः पञ्चभिर्वृतः ॥ २३ ॥

पाँच करोड़ वानरों को लिये हुए, सुवर्ण पर्वत की तरह द्युतिवाले महाबली गवय नामक यूथपति उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

दरीमुखश्च बलवान्यूथपोऽभ्याययौ तदा ।
वृत्तः कोटिसहस्रेण सुग्रीवं समुपस्थितः ॥ २४ ॥

एक सहस्र कोटि वानरों की सेना साथ लिये हुए, दरीमुख नामक बलवान् यूथपति सुग्रीव के समीप आ कर उपस्थित हुए ॥ २४ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभावश्विपुत्रौ महाबलौ ।
कोटिकोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यताम् ॥ २५ ॥

मैंद और द्विविद नामक महाबलवान् वानर अश्विनी के पुत्र एक एक हज़ार कोटि सेना साथ ले कर आये ॥ २५ ॥

गजश्च बलवान्वीरः कोटिभिस्तिसृभिर्वृतः ।
आजगाम महातेजाः सुग्रीवस्य समीपतः ॥ २६ ॥

बलवान् वीर गज, तीन करोड़ वानरों को साथ ले कर सुग्रीव के पास उपस्थित हुआ ॥ २६ ॥

ऋक्षराजो महातेजा जाम्बवान्नाम नामतः ।
कोटिभिर्दशभिः प्राप्तः सुग्रीवस्य वशे स्थितः ॥ २७ ॥

रीछों के राजा महातेजस्वी जाम्बवान् दस करोड़ भालुओं को साथ ले सुग्रीव के पास आये ॥ २७ ॥

रुमण्वान्नाम विक्रान्तो वानरो वानरेश्वरम् ।
आययौ बलवांस्तूर्णं कोटीशतसमावृतः ॥ २८ ॥

रुमण नामक तेजस्वी और विक्रमशाली कपिराज शतकोटि वानरों के साथ आकर अति शीघ्र उपस्थित हुआ ॥ २८ ॥

ततः कोटिसहस्राणां सहस्रेण शतेन च ।
पृष्ठतोऽनुगतः प्राप्तो हरिभिर्गन्धमादनः ॥ २९ ॥

महापराक्रमी गन्धमादन नामक यूथपति सैकड़ों हज़ारों कोटि वानरों को साथ लिये हुए आये ॥ २९ ॥

ततः पद्मसहस्रेण वृतः शङ्कुशतेन च ।
युवराजोऽङ्गदः प्राप्तः पितृतुल्यपराक्रमः ॥ ३० ॥

अपने पिता वालि की तरह पराक्रमी युवराज अङ्गद, एक हज़ार पद्म, और एक हज़ार शङ्कु बंदरों को साथ लिये हुए देख पड़े ॥ ३० ॥

ततस्ताराद्युतिस्तारो हरिर्भीमपराक्रमः ।
पञ्चभिर्हरिकोटीभिर्दूरतः प्रत्यदृश्यत ॥ ३१ ॥

तारा की तरह द्युतिमान् तार नामक यूथपति पाँच करोड़ वानरी सेना के साथ दूर से आते हुए देख पड़े ॥ ३१ ॥

इन्द्रजानुः कपिर्वीरो यूथपः प्रत्यदृश्यत ।
एकादशानां कोटीनामीश्वरस्तैश्च संवृतः ॥ ३२ ॥

ग्यारह करोड़ वानरों को साथ लिये हुए वीरवर कपियूथपति इन्द्रजानु आते देख पड़े ॥ ३२ ॥

ततो रम्भस्त्वनुप्राप्तस्तरुणादित्यसन्निभः ।
अयुतेनावृतश्चैव सहस्रेण शतेन च ॥ ३३ ॥

तरुण सूर्य की तरह तेजस्वी रम्भक नामक यूथपति सौ करोड़ बंदरों को साथ लिये हुए देख पड़े ॥ ३३ ॥

ततो यूथपतिर्वीरो दुर्मुखो नाम वानरः ।
प्रत्यदृश्यत कोटिभ्यां द्वाभ्यां परिवृतो बली ॥ ३४ ॥

दुर्मुख नामक वीर यूथपति वानर, दो करोड़ बंदरों को लिये हुए आते देख पड़े ॥ ३४ ॥

कैलासशिखराकारैर्वानरैर्भीमविक्रमैः ।
वृतः कोटिसहस्रेण हनुमान्प्रत्यदृश्यत ॥ ३५ ॥

कैलासशिखर की तरह विशाल शरीर धारी भयङ्कर पराक्रम वाले हनुमान जी सहस्र करोड़ वानरों को साथ ले उपस्थित हुए ॥ ३५ ॥

नलश्चापि महावीर्यः संवृतो द्रुमवासिभिः ।
कोटीशतेन सम्प्राप्तः सहस्रेण शतेन च ॥ ३६ ॥

फिर महाबली नल नामक यूथनाथ, पेड़ों पर रहने वाले सौ करोड़ एक हज़ार वानरों की सेना साथ लिये हुए आये ॥ ३६ ॥

ततो दधिमुखः श्रीमान्कोटिभिर्दशभिर्वृतः ।
सम्प्राप्तोऽभिमतस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर शोभायुक्त दधिमुख नामक यूथपति दस करोड़ वानरों के साथ महात्मा सुग्रीव के समीप आया ॥ ३७ ॥

शरभः कुमुदो वह्निर्वानरो रंह एव च ।
एते चान्ये च बहवो वानराः कामरूपिणः ॥ ३८ ॥
आवृत्य पृथिवीं सर्वां पर्वतांश्च वनानि च ।
यूथपाः समनुप्राप्तास्तेषां संख्या न विद्यते ॥ ३९ ॥

इसी तरह यथेच्छरूपधारी शरभ, कुमुद, वह्नि और रम्भ आदि अनेक अन्य वानरयूथपति अखिल पृथिवी, पर्वत, और वनों को ढकते हुए वहां आये । इनकी गिनती नहीं थी ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

आगताश्च विशिष्टाश्च पृथिव्यां सर्ववानराः ।
आप्लुवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ॥ ४० ॥

पृथिवी पर जो मुख्य मुख्य वानर थे, वे सब उछलते कूदते, किलकारियां मारते सुग्रीव के पास आ पहुँचे ॥ ४० ॥

अभ्यवर्तन्त सुग्रीवं सूर्यमभ्रगणा इव ।
कुर्वाणा बहुशब्दांश्च *प्रकृष्टा बलशालिनः ॥ ४१ ॥

और चारों ओर से सुग्रीव को ऐसे घेर लिया जैसे बादल सूर्य को घेर लेते हैं । आये हुए प्रकृष्ट बलशाली वानर अनेक प्रकार की बोलियां बोल रहे थे ॥ ४१ ॥

[नोट—सुग्रीव द्वारा किये गये इस वानरी सैन्य-संग्रह से यह अवगत होता है कि किष्किन्धाराज्य में सामन्त प्रथा प्रचलित थी ।]

* पाठान्तरे " प्रहृष्टा " ।

शिरोभिर्वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयन् ।
अपरे वानरश्रेष्ठाः संयम्य च यथोचितम् ॥
सुग्रीवेण समागम्य स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ४२ ॥

इनमें से कोई कोई तो सिर झुका अपना आना सुग्रीव को जता रहे थे और कोई कोई यथोचित रीति से हाथ जोड़ कर, सुग्रीव के पास जा खड़े हुए थे ॥ ४२ ॥

सुग्रीवस्त्वरितो रामे सर्वांस्तान्वानरर्षभान् ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञः स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर सुग्रीव ने, तुरन्त ही धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी को उन सब वानरों का आगमन हाथ जोड़ कर निवेदन किया और फिर वानर यूथपतियों से कहा ॥ ४३ ॥

यथासुखं पर्वतनिर्झरेषु
वनेषु सर्वेषु च वानरेन्द्राः ।
निवेशयित्वा विधिवद्बलानि
बलं बलज्ञः प्रतिपत्तुमीष्टे ॥ ४४ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे समस्त वानरेन्द्रों ! पर्वतों झरनों और वनों में जहाँ जिसको सुविधा हो, वहाँ समस्त सैनिक वानरों को ठहरा दो। फिर तुममें जो सेना की पद्धति से अभिज्ञ हों, वे सैनिकों को गिन डालें ॥ ४४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चत्वारिंशः सर्गः

—※—

अथ राजा समृद्धार्थः[1] सुग्रीवः प्लवगाधिपः* ।
उवाच नरशार्दूलं रामं परवलार्दनम् ॥ १ ॥

फिर समृद्धशाली कपिराज सुग्रीव ने शत्रुहन्ता नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १ ॥

आगता विनिविष्टाश्च वलिनः कामरूपिणः ।
†वानरेद्रा महेन्द्राभा ये मद्विषयवासिनः ॥ २ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! ये इन्द्र के समान पराक्रमी एवं काम रूपी वानरगण जो मेरे राज्य के अन्तर्गत रहने वाले हैं, आ गये ॥ २ ॥

त इमे वहुविक्रान्तैर्वलिभिः‡ भीमविक्रमैः ।
आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसन्निभाः ॥ ३ ॥

ये अनेक स्थानों में अपना वलविक्रम प्रकट कर चुके हैं। ये वड़े भीम पराक्रमी, दैत्य दानवों के समान घोर रूप वाले और वलवान समस्त वानर आ पहुँचे हैं ॥ ३ ॥

ख्यातकर्मापदानाश्च वलवन्तो जितक्लमाः ।
पराक्रमेषु विख्याता व्यवसायेषु चोत्तमाः ॥ ४ ॥

ये सब युद्धविद्या में प्रसिद्ध हैं, वड़े वलवान और कभी थकने वाले नहीं हैं। ये प्रसिद्ध पराक्रमी भी हैं और अपने कामों में वड़े कुशल हैं ॥ ४ ॥

---

१ समृद्धार्थः—प्रवृद्धसर्वसम्पत्तिः । (गो०) * पाठान्तरे—"प्लवगेश्वरः ।" † पाठान्तरे—"वानरा वारणेन्द्राभा ।" ‡ पाठान्तरे—हरिभिः ।"

पृथिव्यम्बुचरा राम नानानगनिवासिनः ।
कोटथग्रश[1] इमे प्राप्ता वानरास्तव किङ्कराः ॥ ५ ॥

हे राम ! ये सब पृथिवी आकाश में घूमने वाले अनेक पर्वतों पर रहने वाले हैं। ये असंख्य वानर जो आये हैं, सो ये सब आप के दास हैं ॥ ५ ॥

निदेशवर्तिनः सर्वे सर्वे गुरुहिते रताः ।
अभिप्रेतमनुष्ठातुं तव शक्ष्यन्त्यरिन्दम ॥ ६ ॥

ये सब अपने बड़ों की आज्ञा मानने वाले और उनके हित में तत्पर रहने वाले हैं। हे अरिन्दम ! ये आपकी इच्छानुसार सब काम कर सकते हैं ॥ ६ ॥

त इमे बहुसाहस्रैरनीकैर्भीमविक्रमैः ।
यन्मन्यसे नरव्याघ्र प्राप्तकालं तदुच्यताम् ॥ ७ ॥

सो ये कितनी ही सहस्र भीमविक्रमी सेना आपकी सेवा में उपस्थित है, अब आपका जैसा विचार हो, वैसी समयोचित आज्ञा दीजिये ॥ ७ ॥

त्वत्सैन्यं त्वद्वशे युक्तमाज्ञापयितुमर्हसि ।
काममेषामिदं कार्यं विदितं मम तत्त्वतः ॥ ८ ॥

हे राम ! यह आपकी सेना आपकी आज्ञानुवर्तिनी है, आप इसे आज्ञा दें। यद्यपि इनको आगे जो करना है वह मैं तत्वतः (सारांश रूप में) जानता हूँ (अर्थात् इनको सीता जी को ढूंढ़ना होगा) ॥ ८ ॥

---

1 कोट्यग्रश इति बहुसंख्योपलक्षणं । (गो०)

तथापि तु यथातत्त्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।
*तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो दशरथात्मजः ॥ ९ ॥

तथापि आप इनको यथार्थरीत्या आज्ञा दीजिये । जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा, तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ॥ ९ ॥

बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत् ।
ज्ञायतां मम वैदेही यदि जीवति वा न वा ॥ १० ॥
स च देशो महाप्राज्ञ यस्मिन्वसति रावणः ।
अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ॥ ११ ॥
प्राप्तकालं विधास्यामि तस्मिन्काले सह त्वया ।
नाहमस्मिन्प्रभुः कार्ये वानरेश न लक्ष्मणः ॥ १२ ॥
त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्लवगेश्वर ।
त्वमेवाज्ञापय विभो मम कार्यविनिश्चयम् ॥ १३ ॥

सुग्रीव को गले लगा, यह वचन बोले, पहिले तो यह जान लेना है कि, जानकी जीती हैं या नहीं । फिर उस देश का पता लगाना है, जहाँ रावण रहता है । जब जानकी जी के जीवित रहने और रावण के निवासस्थान का पता चल जायगा, तब उस समय वहाँ पहुँच कर तुम्हारी सलाह से समयानुसार उचित कार्य किया जायगा । हे वानरेश ! मैं या लक्ष्मण इस कार्य को पूरा नहीं कर सकते । तुम्हीं इस कार्य को कराने वाले हो और हे वानरराज ! तुम्हीं इस काम को पार लगाने वाले हो । अतः तुम्हीं इस बारे में निश्चित कार्य को समझ बूझ कर, इनको आज्ञा दो ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

---

* पाठान्तरे—" इति "

त्वं हि जानासि यत्कार्यं मम वीर न संशयः ।
सुहृद्द्वितीयो विक्रान्तः प्राज्ञः कालविशेषवित् ॥ १४ ॥

हे वीर ! तुम निस्सन्देह मेरे काम को जानते हो। एक तो तुम मेरे हितैषी, दूसरे पराक्रमी, तीसरे बुद्धिमान और चौथे समय को जानने वाले हो ॥ १४ ॥

भवानस्मद्धिते युक्तः सुहृदाप्तोऽर्थवित्तमः ।
एवमुक्तस्तु सुग्रीवो विनतं नाम यूथपम् ॥ १५ ॥
अब्रवीद्रामसान्निध्ये लक्ष्मणस्य च धीमतः ।
शैलाभं मेघनिर्घोषमूर्जितं प्लवगेश्वरः ॥ १६ ॥

आप मेरे हित में तत्पर सुहृद हैं तथा अर्थवेत्ता हैं। जब श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से इस प्रकार कहा, तब सुग्रीव ने, बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी ही के आगे, विनत नामक यूथपति से, जो पर्वताकार था और मेघ की तरह गरज रहा था, कहा ॥ १५ ॥ १६ ॥

सोमसूर्यात्मजैः सार्धं वानरैर्वानरोत्तम ।
देशकालनयैर्युक्तः कार्याकार्यविनिश्चये ॥ १७ ॥
वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ।
अधिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम् ॥ १८ ॥

हे वानरोत्तम ! चन्द्र सूर्य की तरह वर्ण वाले वानरों को जो देश काल और नीति के जानने वाले तथा जो करने अनकरने कार्यों के विषय में निश्चय करने की योग्यता रखने वाले एवं बलवान एक

लक्ष वानरों को साथ ले, तुम पूर्व दिशा को जाओ और वहाँ पर पर्वतों और काननों में ॥ १७ ॥ १८ ॥

तत्र सीतां च वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।
मार्गध्वं गिरिशृङ्गेषु वनेषु च नदीषु च ॥ १९ ॥

सीता जी का और रावण के आवासस्थान का पता लगाओ। इनका पता लगाने के लिये वहाँ के समस्त पर्वतशिखर, वन और नदियों को ढूंढ़ो ॥ १९ ॥

नदीं भागीरथीं रम्यां सरयूं कौशिकीं तथा ।
कालिन्दीं यमुनां रम्यां यामुनं च महागिरिम् ॥ २० ॥

सरस्वतीं च सिन्धुं च शोणं मणिनिभोदकम् ।
महीं कालमहीं चैव शैलकाननशोभिताम् ॥ २१ ॥

भागीरथी गङ्गा, रमणीक सरयू, कौशिकी, कलिन्दी यमुना और रमणीक यमुनातटवर्ती विशाल पर्वत, सरस्वती, सिन्धु, मणि की तरह स्वच्छ जल वाला सोनभद्र, मही, और पर्वतों वनों सहित कालमही नदियों को ढूँढ़ो ॥ २० ॥ २१ ॥

ब्रह्ममालान्विदेहांश्च मालवान्काशिकोसलान् ।
मागधांश्च महाग्रामान्पुण्ड्रान्वङ्गांस्तथैव च ॥ २२ ॥

ब्रह्ममाल, विदेह, मालवा, काशिराज्य, कोसलराज्य, मगध, महाग्राम, पुण्ड्र, वंग आदि देशों के प्रत्येक स्थान को खोजो ॥ २२ ॥

पत्तनं कोशकाराणां भूमिं च रजताकराम् ।
सर्वमेतद्विचेतव्यं मार्गयद्भिस्ततस्ततः ॥ २३ ॥

रामस्य दयितां भार्यां सीतां दशरथस्नुषाम् ।
समुद्रमवगाढांश्च पर्वतान्पत्तनानि च ॥ २४ ॥

उन नगरों को भी खोजो जहाँ रेशम के कीड़े होते हैं और जहाँ चाँदी की खानें हैं। तुम इन सब प्रदेशों में घूम फिर कर सर्वत्र महाराजा दशरथ की पुत्रवधू और श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी भार्या सीता को ढूँढ़ो। समुद्र के बीच जो टापू हैं, उनके पहाड़ों और नगरों में भी ढूँढ़ना ॥ २३ ॥ २४ ॥

मन्दरस्य च ये कोटिं संश्रिताः केचिदायताम् ।
[1]कर्णप्रावरणाश्चैव तथा चाप्योष्ठकर्णकाः ॥ २५ ॥

घोरलोहमुखाश्चैव जवनाश्चैकपादकाः ।
अक्षया बलवन्तश्च पुरुषाः पुरुषादकाः ॥ २६ ॥

किराताः कर्णचूडाश्च हेमाङ्गाः प्रियदर्शनाः ।
आममीनाशनास्तत्र किराता द्वीपवासिनः ॥ २७ ॥

अन्तर्जलचरा घोरा नरव्याघ्रा इति श्रुताः ।
एतेषामालयाः सर्वे विचेयाः काननौकसः ॥ २८ ॥

मन्दराचल पर्वत की तलहटी में जो नगर बसे हुए हैं, उन सब में भी ढूँढ़ना। कर्णरहित, ओंठों पर कानों वाले, भयङ्कर लोह मुख वाले, बड़ी तेज़ी के साथ चलने वाले, इकटंगे, अक्षय्य बल-वाले, नरमाँसभोजी लोग, कच्ची मछलियाँ खाने वाले किरात, कानों के ऊपर चोटी रखाने वाले, सुनहली रंग की देह वाले, देखने में सुन्दर, किरात द्वीपवासी, जो जल के भीतर जलजन्तुओं की

---

१ कर्णप्रावरणाः—आच्छादितवर्णाः । निष्कर्णाइत्यर्थः । (गो०)

तरह विचरने वाले हैं और भयङ्कर हैं तथा नरव्याघ्र कह कर प्रसिद्ध हैं, इन सब के रहने के स्थानों को, हे वानरो! तुम ढूंढना ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

गिरिभिर्ये च गम्यन्ते प्लवनेन प्लवेन च ।
रत्नवन्तं यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् ॥ २९ ॥

जिन स्थानों में पर्वतों पर से मार्ग हो अथवा जहाँ तरनयों या नाव से जा सको, वहाँ जा कर ढूंढना। सात राज्यों से सुशोभित रत्नवान् यवद्वीप में भी जाना ॥ २९ ॥

सुवर्णरूप्यकं चैव सुवर्णाकरमण्डितम् ।
यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः ॥ ३०

इस द्वीप में सोने की खानें होने से लोग इसे सोने चांदी का द्वीप भी कहा करते हैं। यवद्वीप के आगे शिशिर नामक पर्वत है ॥ ३० ॥

दिवं स्पृशति शृङ्गेण देवदानवसेवितः ।
एतेषां गिरिदुर्गेषु प्रपातेषु वनेषु च ॥ ३१ ॥
मार्गध्वं सहिताः सर्वे रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
ततो रक्तजलं शोणमगाधं शीघ्रवाहिनम् ॥ ३२ ॥

इस पर्वत के शिखर आकाशस्पर्शी हैं और उन पर देवता दानव रहा करते हैं। इन सब गिरदुर्गों, नदी के मुहानों पर, और वनों में तुम सब मिल कर यशस्विनी रामपत्नी सीता का पता लगाना। फिर, लाल रंग का अगाध जल वाला और बड़ी तेज़ धार वाला शोण नामक नद मिलेगा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्धचारणसेवितम् ।
तस्य तीर्थेषु रम्येषु विचित्रेषु वनेषु च ॥ ३३ ॥

रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ।
पर्वतप्रभवा नद्यः सुरम्या बहुनिष्कुटाः[1] ॥ ३४ ॥

फिर समुद्र के उस पार जाना। वहाँ सिद्ध चारणों से सेवित उसके तटों पर, रम्य विचित्र वनों में, रावण सहित जानकी जी को इधर उधर तलाश करना। वहाँ पर पहाड़ी नदियों के तटों पर बहुत से रमणीक उद्यान हैं ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

मार्गितव्या दरीमन्तः पर्वताश्च वनानि च ।
ततः समुद्रद्वीपांश्च सुभीमान्द्रष्टुमर्हथ ॥ ३५ ॥

उनमें तथा घाटियों में, पर्वतों पर और वनों में तुम सीता को तथा रावण के आवास-स्थान को तलाश करना। तदनन्तर तुम को बड़े भयानक समुद्री टापू देख पड़ेंगे ॥ ३५ ॥

ऊर्मिमन्तं समुद्रं च क्रोशन्तमनिलोद्धतम् ।
तत्रासुरा महाकायाश्छायां गृह्णन्ति नित्यशः ॥ ३६ ॥

वहाँ पर बड़ी बड़ी लहरें उठती हैं और वायु के संयोग से समुद्र नाद करता है, वहाँ पर बड़े शरीर वाले असुर लोग रहते हैं, जो सदैव समुद्र के ऊपर उड़ने वालों की छाया पकड़ लेते हैं ॥ ३६ ॥

ब्रह्मणा समनुज्ञाता दीर्घकालं बुभुक्षिताः ।
तं कालमेघप्रतिमं महोरगनिषेवितम् ॥ ३७ ॥

---

१ निष्कुटाः—उद्यानविशेषाः। (गो०)

आकाशचारियों की छाया पकड़ने के लिये उनको ब्रह्मा जी की आज्ञा है। वे बहुत दिनों से भूखे हैं। तुम उस प्रलयकालीन मेघों के समान तथा बड़े सर्पों से युक्त ॥ ३७ ॥

अभिगम्य महानादं [1]तीर्थेनैव महोदधिम् ।
ततो रक्तजलं भीमं लोहितं नाम सागरम् ॥ ३८ ॥

उस महानाद करते हुए समुद्र के किनारे किनारे ही जाना (अथवा बड़ी सावधानी से जाना और उन छायाग्राहियों से सावधान रहना। तदनन्तर तुमको लाल जल का लोहित नामक भयङ्कर समुद्र मिलेगा ॥ ३८ ॥

गता द्रक्ष्यथ तां चैव बृहतीं कूटशाल्मलीम् ।
गृहं च वैनतेयस्य नानारत्नविभूषितम् ॥ ३९ ॥

वहां जाने पर तुम्हें एक बड़ा सेमर का पेड़ देख पड़ेगा। वहीं पर नाना रत्नविभूषित गरुड़ का घर बना हुआ है ॥ ३९ ॥

तत्र कैलाससङ्काशं विहितं विश्वकर्मणा ।
तत्र शैलनिभा भीमा मन्देहा नाम राक्षसाः ॥ ४० ॥
शैलशृङ्गेषु लम्बन्ते नानारूपा भयावहाः ।
ते पतन्ति जले नित्यं सूर्यस्योदयनं प्रति ॥ ४१ ॥
निहता ब्रह्मतेजोभिरहन्यहनि राक्षसाः ।
अभितप्ताश्च सूर्येण लम्बन्ते स्म पुनः पुनः ॥ ४२ ॥

वह घर कैलाश की तरह विश्वकर्मा ने बनाया है। वहाँ नानारूप धारी पर्वताकार और भयङ्कर मन्देह नामी राक्षस पर्वत

---

१ तीर्थेनाभिगम्य—उपायेनाभिगम्य। (गो०)

शिखरों पर लटका करते हैं। जब सूर्य उदय होते हैं, तब सूर्य के ताप से तप्त हो नित्य ब्राह्मणों की अर्घ्याञ्जलि से ये मारे जाते हैं और सूर्य के ताप से तप्त हो, फिर पर्वतशिखर पर लटक जाते हैं ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

ततः पाण्डुरमेघाभं क्षीरोदं नाम सागरम् ।
गता द्रक्ष्यथ दुर्धर्षा मुक्ताहारमिवोर्मिभिः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर सफेद बादल के रंग का क्षीरोद नाम का समुद्र है। वहाँ जाने पर तुम देखोगे कि, वह अपनी लहरों से मोती के हार की तरह जान पड़ता है ॥ ४३ ॥

तस्य मध्ये महाञ्श्वेत ऋषभो नाम पर्वतः ।
दिव्यगन्धैः कुसुमितै राजतैश्च नगैर्वृतः ॥ ४४ ॥

क्षीरोद समुद्र के बीच में ऋषभ नाम का एक पहाड़ है; उस पर दिव्य गन्ध युक्त फले फूले सघन पेड़ लग रहे हैं ॥ ४४ ॥

सरश्च राजतैः पद्मैर्ज्वलितैर्हेमकेसरैः ।
नाम्ना सुदर्शनं नाम राजहंसैः समाकुलम् ॥ ४५ ॥

उस पर्वत पर ही सुदर्शन नाम का एक तालाब है जिसमें सुनहले रंग के कमल के फूल सुशोभित हो रहे हैं और वहाँ राजहंस किलोलें किया करते हैं ॥ ४५ ॥

विबुधाश्चारणा यक्षाः किन्नराः साप्सरोगणाः ।
हृष्टाः समभिगच्छन्ति नलिनीं तां रिरंसवः ॥ ४६ ॥

उस सरोवर के तट पर बहुत से चारण, यक्ष, किन्नर और अप्सराएँ हर्षित हो क्रीड़ा करने के लिये घूमा करती हैं ॥ ४६ ॥

क्षीरोदं समतिक्रम्य ततो द्रक्ष्यथ वानराः ।
जलोदं सागरश्रेष्ठं सर्वभूतभयावहम् ॥ ४७ ॥

हे वानरगण ! क्षीरसागर उतरने के बाद जलोद नामक सागर मिलेगा। यह समुद्र सब प्राणियों को भय उपजाने वाला है ॥ ४७ ॥

तत्र तत्कोपजं तेजः कृतं हयमुखं महत् ।
अस्याहुस्तन्महावेगमोदनं सचराचरम् ॥ ४८ ॥

उसमें और्व नामक ब्रह्मर्षि के क्रोध से उत्पन्न विशाल हयमुख नामक तेज उत्पन्न हुआ है। उसका अद्भुत तेज है और युगान्त में चर अचर समस्त प्राणि उसमें भात की तरह उबलते हैं ॥ ४८ ॥

तत्र विक्रोशतां नादो भूतानां सागरौकसाम् ।
श्रूयते च समर्थानां दृष्ट्वा तद्वडवामुखम् ॥ ४९ ॥

समुद्रवासी प्राणी जो उसकी लपटें सह सकते हैं, वे उस वड़वानल को देख कर, मारे डर के चिल्लाया करते हैं। उनके चिल्लाने का शब्द वहां सुन पड़ता है ॥ ४९ ॥

स्वादूदस्योत्तरे देशे योजनानि त्रयोदश ।
जातरूपशिलो नाम महान्कनकपर्वतः ॥ ५० ॥

स्वाद समुद्र के उत्तर तट पर तेरह योजन विस्तार वाला, सोने की तरह प्रभावाला एक बड़ा पहाड़ है, जिसका नाम जातरूपशिल है ॥ ५० ॥

तत्र चन्द्रप्रतीकाशं पन्नगं धरणीधरम् ।
पद्मपत्रविशालाक्षं ततो द्रक्ष्यथ वानराः ॥ ५१ ॥

हे वानरों ! वहाँ पर तुम लोग चन्द्रमा की तरह सफ़ेद प्रभा वाले और कमलपत्र की तरह बड़े बड़े नेत्रों वाले एक धरणीधर सर्प को देखोगे ॥ ५१ ॥

आसीनं पर्वतस्याग्रे सर्वभूतनमस्कृतम् ।
सहस्रशिरसं देवमनन्तं नीलवाससम् ॥ ५२ ॥

पहाड़ के शिखर पर सब देवताओं से नमस्कृत, सहस्र मस्तकों वाले अनन्त जी नीलाम्बर धारण किये हुए बैठे रहते हैं ॥ ५२ ॥

त्रिशिराः काञ्चनः केतुस्तालस्तस्य महात्मनः ।
स्थापितः पर्वतस्याग्रे विराजति सवेदिकः ॥ ५३ ॥

उसी पर्वत के शिखर पर तीन शाखा वाला, सुनहला ताल का वृक्ष, ध्वजा की तरह एक वेदी पर लगा हुआ है ॥ ५३ ॥

पूर्वस्यां दिशि निर्माणं कृतं तत्त्रिदशेश्वरैः ।
ततः परं हेममयः श्रीमानुदयपर्वतः ॥ ५४ ॥

देवताओं ने पूर्व दिशा की सीमा के निर्देश के लिये इस ताल वृक्ष को चिन्ह स्वरूप वहाँ बना रखा है। इसके बाद कान्तिमान (अर्थात् चमकीले) सुवर्णमय उदय पर्वत है ॥ ५४ ॥

तस्य कोटिर्दिवं स्पृष्ट्वा शतयोजनमायता ।
जातरूपमयी दिव्या विराजति सवेदिका ॥ ५५ ॥

इस पर्वत का अगला शिखर आकाशस्पर्शी है और सौ योजन लंबा है। वह सोने की दिव्य वेदी सहित वहाँ विराजमान है ॥ ५५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ।
जातरूपमयैर्दिव्यैः शोभते सूर्यसन्निभैः ॥ ५६ ॥

उस पर सुनहले दिव्य सूर्य की तरह चमकीले और फूले हुए साल, ताल, तमाल और कनैर के पेड़ लगे हुए हैं ॥ ५६ ॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ।
शृङ्गं सौमनसं नाम जातरूपमयं ध्रुवम् ॥ ५७ ॥

उस पर्वत पर सुवर्णमय एकसौमनस नामक शिखर है, जो एक योजन विस्तार वाला (लंबा) और दस योजन ऊँचा है ॥ ५७ ॥

तत्र पूर्वं पदं कृत्वा पुरा विष्णुस्त्रिविक्रमे ।
द्वितीयं शिखरे मेरोश्चकार पुरुषोत्तमः ॥ ५८ ॥

पूर्वकाल में पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने (वामनावतार के समय) तीन पग पृथिवी नापने के समय, पहला पैर इसीके शृङ्ग पर रखा था, और दूसरा पैर मेरु पर्वत के शिखर पर ॥ ५८ ॥

उत्तरेण परिक्रम्य जम्बूद्वीपं दिवाकरः ।
दृश्यो भवति भूयिष्ठं शिखरं तन्महोच्छ्रयम् ॥ ५९ ॥

सूर्य भगवान् उत्तर की ओर से जम्बुद्वीप की परिक्रमा करते हुए इसीके उच्च शिखर पर लोगों को भली भाँति देख पड़ते हैं ॥५९॥

तत्र वैखानसा नाम बालखिल्या महर्षयः ।
प्रकाशमाना दृश्यन्ते सूर्यवर्णास्तपस्विनः ॥ ६० ॥

वहाँ पर सूर्य के समान प्रकाशमान, वैखानस नामक बालखिल्य महर्षि तपस्या करते हुए दिखलाई पड़ते हैं ॥ ६० ॥

अयं सुदर्शनो द्वीपः पुरो यस्य प्रकाशते ।
यस्मिंस्तेजश्च चक्षुश्च सर्वप्राणभृतामपि ॥ ६१ ॥

इसीके पास सुदर्शन नामक द्वीप देख पड़ेगा। जब इस सौमनस शिखर पर सूर्योदय होता है, तब सब प्राणियों के नेत्रों में उजाला आता है ॥ ६१ ॥

शैलस्य तस्य शृङ्गेषु कन्दरेषु वनेषु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६२ ॥

उस शैल के ऊपर की कन्दराओं और वनों में रावण सहित जानकी जी तथा रावण की सर्वत्र तलाश करना ॥ ६२ ॥

काञ्चनस्य च शैलस्य सूर्यस्य च महात्मनः ।
आविष्टा तेजसा सन्ध्या पूर्वा रक्ता प्रकाशते ॥ ६३ ॥

सुवर्ण के शैल पर जब सूर्य का प्रकाश पड़ता है, तब प्रातः सन्ध्या लाल लाल रंग की देख पड़ती है ॥ ६३ ॥

पूर्वमेतत्कृतं द्वारं पृथिव्या भुवनस्य च ।
सूर्यस्योदयनं चैव पूर्वा ह्येषा दिगुच्यते ॥ ६४ ॥

ब्रह्मा ने पूर्व काल में यही पूर्व दिशा रूप पृथिवी और भुवनों का द्वार बनाया। इसी दिशा में सूर्य उदय होते हैं, अतः इसे पूर्व दिशा कहते हैं ॥ ६४ ॥

तस्य शैलस्य पृष्ठेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६५ ॥

उस उदयाचल के ऊपर के झरनों और कन्दराओं में सीता और रावण को खोजना ॥ ६५ ॥

ततः परमगम्या स्याद्दिक्पूर्वा त्रिदशावृता ।
रहिता चन्द्रसूर्याभ्यामदृश्या तिमिरावृता ॥ ६६ ॥

आगे देवता लोगों का निवासस्थल होने के कारण उस पर्वत के आगे पूर्व दिशा अगम्य है अर्थात् जाने के योग्य नहीं है। क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश विना वहाँ अंधकार बना रहता है और कुछ सूझ नहीं पड़ता ॥ ६६ ॥

शैलेषु तेषु सर्वेषु कन्दरेषु वनेषु च ।
ये च नोक्ता मया देशा विचेया तेषु जानकी ॥ ६७ ॥

अतः तुम उन पर्वतों, गुहाओं और उन नदियों के तटवर्ती स्थानों में तथा उन देशों में, जिनके नाम मैंने नहीं लिये हैं, जा कर, जानकी को ढूँढ़ना ॥ ६७ ॥

एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ६८ ॥

हे वानरश्रेष्ठो! बस यहीं तक वानर लोग जा सकते हैं। इसके आगे का हाल, सूर्य का प्रकाश न होने से तथा मर्यादाहीन होने के कारण, मुझे मालूम नहीं ॥ ६८ ॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।
मासे पूर्णे निवर्तध्वमुदयं प्राप्य पर्वतम् ॥ ६९ ॥

देखो सीता और रावण का पता लगा कर और उदयाचल तक जा कर, एक महीने के भीतर ही लौट आना ॥ ६९ ॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन्वध्यो भवेन्मम ।
सिद्धार्थाः सन्निवर्तध्वमधिगम्य च मैथिलीम् ॥ ७० ॥

महीने से अधिक मत लगाना। जो एक महीने के ऊपर लगावेगा उसे मैं मार डालूँगा। ख़बरदार! काम पूरा कर के लौटना। जाओ और सीता का पता लगा कर आओ॥ ७०॥

महेन्द्रकान्तां वनषण्डमण्डितां
दिशं चरित्वा निपुणेन वानराः।
अवाप्य सीतां रघुवंशजप्रियां
ततो निवृत्ताः सुखिनो भविष्यथ॥ ७१॥

इति चत्वारिंशः सर्गः॥

इन्द्र की स्त्री, वनादिकों से भूषित, पूर्व दिशा को तुम चतुर वानर भली भाँति खोजना, यदि तुम श्रीरामचन्द्र जी की प्रिय जानकी का पता लगा कर लौटोगे, तो तुम सब बहुत प्रसन्न होंगे॥ ७१॥

किष्किन्धाकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—*—

ततः प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तन्महद्वानरं बलम्।
दक्षिणां प्रेषयामास वानरानभिलक्षितान्[1]॥ १॥

कपिराज वीरवर सुग्रीव ने उस महती वानरी सेना को पूर्व दिशा की ओर भेज, कार्यसाधन में परीक्षित वानरों को दक्षिण दिशा में भेजा॥ १॥

१ अभिलक्षितान्—कार्यसाधकत्वेन परीक्षितान्। (शि०)

नीलमग्निसुतं चैव हनुमन्तं च वानरम् ।
पितामहसुतं चैव जाम्बवन्तं महाबलम् ॥ २ ॥
सुहोत्रं च शरारिं च शरगुल्मं तथैव च ।
गजं गवाक्षं गवयं सुषेणवृषभं तथा ॥ ३ ॥
मैन्दं च द्विविदं चैव विजयं गन्धमादनम् ।
उल्कामुखमनङ्गं* च हुताशनसुतावुभौ ॥ ४ ॥
अङ्गदप्रमुखान्वीरान्वीरः कपिगणेश्वरः ।
वेगविक्रमसम्पन्नान्सन्दिदेश विशेषवित् ॥ ५ ॥

अग्निसुत नील, हनुमान, और ब्रह्मा के पुत्र महाबली जाम्बवान, सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय, सुषेण, वृषभ, मैन्द, द्विविद, विजय, गन्धमादन, तथा अग्नि के दोनों पुत्र उल्कामुख और अनङ्ग को, जो वेग और पराक्रम वाले थे, कपिराज और सब देशों को विशेष रूप से जानने वाले सुग्रीव ने दक्षिण दिशा को भेजा ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

तेषामग्रेसरं चैव महद्बलमथाङ्गदम्† ।
विधाय हरिवीराणामादिशद्दक्षिणां दिशम् ॥ ६ ॥

दक्षिण दिशा को जो वानर भेजे, उन सब के मुखिया बड़े बलवान् युवराज अंगद को बना कर, सुग्रीव ने उनको दक्षिण दिशा को भेजा ॥ ६ ॥

ये केचन समुद्देशास्तस्यां दिशि सुदुर्गमाः ।
कपीशः कपिमुख्यानां स तेषां तानुदाहरत् ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—"असङ्गं ।" † पाठान्तरे "महद्बलमसङ्गमम् ।"

कपिराज सुग्रीव ने उस दिशा में जो जो देश दुर्गम थे, उनका वृत्तान्त उन वानरों के नेताओं के बतलाया ॥ ७ ॥

सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलतायुतम् ।
नर्मदां च नदीं रम्यां* महोरगनिषेविताम् ॥ ८ ॥

तुमको सहस्र शिखर वाला विविध वृक्षों से युक्त विन्ध्याचल प्रथम मिलेगा। फिर बड़े बड़े सर्पों से युक्त और रमणीय गोदावरी नदी मिलेगी ॥ ८ ॥

ततो गोदावरीं रम्यां कृष्णवेणीं महानदीम् ।
वरदां च महाभागां महोरगनिषेविताम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर गोदावरी और रमणीक कृष्णवेणी नदी मिलेगी। इन वर देने वाली महाभागा नदियों के आस पास बड़े बड़े सर्प रहते हैं ॥ ९ ॥

मेखलामुत्कलां चैव दशार्णनगराण्यपि ।
अश्ववन्तीमवन्तीं च सर्वमेवानुपश्यत ॥ १० ॥

तदनन्तर तुम लोगों को मेखल, उत्कल, दशार्ण देश के नगर, अश्ववन्ती और अवन्ती मिलेगी। इन प्रदेशों में घूम फिर कर पता लगाना ॥ १० ॥

विदर्भानृषिकांश्चैव रम्यान्माहिषकानपि ।
तथा वङ्गान्कलिङ्गांश्च कौशिकांश्च समन्ततः ॥ ११ ॥

फिर तुमको विदर्भ, ऋषिक, और रमणीक माहिषक भी मिलेगा। फिर वंग, कलङ्ग और कौशिक देश मिलेंगे। इन देशों में सर्वत्र खोज कर ॥ ११ ॥

---

* पाठान्तरे—"दुर्गां।"

अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वतनदीगुहम् ।
नदीं गोदावरीं चैव सर्वमेवानुपश्यत ॥ १२ ॥

तुम लोग दण्डकारण्य के समस्त पहाड़ों, वहाँ की नदियों, गुफाओं तथा गोदावरी नदी के तटवर्ती स्थानों को खोजना ॥ १२ ॥

तथैवान्ध्रांश्च पुण्ड्रांश्च चोलान्पाण्ड्यान्सकेरलान्
अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः ॥ १३ ॥

तदनन्तर आन्ध्र, पुण्ड्र चोल, पांड्य और केरल, देशों को देख, अयोमुख नामक धातुओं से मण्डित पर्वत पर जाना ॥ १३ ॥

विचित्रशिखरः श्रीमांश्चित्रपुष्पितकाननः ।
सचन्दनवनोद्देशो मार्गितव्यो महागिरिः ॥ १४ ॥

यह पर्वत विचित्र शिखरों तथा अनेक फूले हुए वनों से शोभायुक्त है। इसके ऊपर चन्दन वृक्षों का वन है। सो इस महापर्वत पर भी ढूढ़ना ॥ १४ ॥

ततस्तामापगां दिव्यां प्रसन्नसलिलां शिवाम् ।
तत्र द्रक्ष्यथ कावेरीं विहितामप्सरोगणैः ॥ १५ ॥

इसके बाद तुम लोगों को दिव्य, स्वच्छ जल वाली, पुण्यतोया कावेरी मिलेगी, जिसके तटों पर अप्सराएँ विहार किया करती हैं ॥ १५ ॥

तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महौजसम् ।
द्रक्ष्यथादित्यसङ्काशमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १६ ॥

फिर मलय पर्वत के शिखर पर आसीन महातेजस्वी सूर्य के समान ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी मिलेंगे ॥ १६ ॥

ततस्तेनाभ्यनुज्ञाताः प्रसन्नेन महात्मना ।
ताम्रपर्णीं ग्राहजुष्टां तरिष्यथ महानदीम् ॥ १७ ॥

जब वे प्रसन्न हो तुमको विदा करें, तब वहां से चल कर घड़ियालों से परिपूर्ण ताम्रपर्णी महानदी के पार होना ॥ १७ ॥

सा चन्दनवनैर्दिव्यैः प्रच्छन्ना द्वीपशालिनी ।
कान्तेव युवतिः कान्तं समुद्रमवगाहते ॥ १८ ॥

इस नदी के उभय तट और इसके द्वीप (टापू) चन्दन के पेड़ों से आच्छादित हैं। यह नदी समुद्र से वैसे ही जा कर मिलती है, जैसे कोई युवती स्त्री अपने पति से मिलती है ॥ १८ ॥

ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणिविभूषितम् ।
युक्तं कवाटं पाण्ड्यानां गता द्रक्ष्यथ वानराः ॥ १९ ॥

हे वानरों! तदनन्तर तुम लोगों को सोने का और दिव्य मोतियों का जड़ाउ पांड्यवंशियों का फाटक देख पड़ेगा ॥ १९ ॥

ततः समुद्रमासाद्य सम्प्रधार्यार्थनिश्चयम् ।
आगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः ॥ २० ॥

चित्रनानानगः श्रीमान्महेन्द्रः पर्वतोत्तमः ।
जातरूपमयः श्रीमानवगाढो महार्णवम् ॥ २१ ॥

नानाविधैर्नगैः सर्वैर्लताभिश्चोपशोभितम् ।
देवर्षियक्षप्रवरैरप्सरोभिश्च सेवितम् ॥ २२ ॥

सिद्धचारणसङ्घैश्च प्रकीर्णं सुमनोहरम् ।
तमुपैति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु ॥ २३ ॥

तदनन्तर तुम्हें समुद्र मिलेगा। उस समुद्र के पार जाने के विषय में अपनी सामर्थ्य को विचार कर, उसके पार होना। वहाँ पर अगस्त्य मुनि ने समुद्र के भीतर महेन्द्राचल पहाड़ को खड़ा कर दिया है। यह पर्वत सुवर्णमय है। इसके अनेक प्रकार के शृङ्ग लताओं से सुशोभित हैं। उस पर्वत पर देवर्षि, यक्ष, अप्सराएँ और चारण रहा करते हैं। इससे भी यह बड़ा मनोहर हो गया है। प्रत्येक पर्व पर समुद्रस्नान करने को इस पर्वत पर इन्द्र आया करते हैं॥ २०॥ २१॥ २२॥ २३॥

द्वीपस्तस्यापरे पारे शतयोजनविस्तृतः।
अगम्यो मानुषैर्दीप्तस्तं मार्गध्वं समन्ततः॥ २४॥

इस समुद्र के उस पार सौ योजन लंबा एक द्वीप है। उस द्वीप में कोई मनुष्य नहीं जा सकता। उस द्वीप में भी सर्वत्र खोजना॥ २४॥

तत्र सर्वात्मना सीता मार्गितव्या विशेषतः।
स हि देशस्तु वध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः॥ २५॥
राक्षसाधिपतेर्वासः सहस्राक्षसमद्युतेः।
दक्षिणस्य समुद्रस्य मध्ये तस्य तु राक्षसी॥ २६॥
अङ्गारकेति विख्याता च्छायामाक्षिप्य भोजनी।
एवं निःसंशयान्कृत्वा संशयान्नष्टसंशयाः॥ २७॥
मृगयध्वं नरेन्द्रस्य पत्नीममिततेजसः।
तमतिक्रम्य लक्ष्मीवान्समुद्रे शतयोजने॥ २८॥

वहाँ जा कर उसमें सब जगह विशेष कर सीता को ढूंढ़ना। वही स्थान इन्द्र तुल्य दीप्तमान राक्षसपति दुरात्मा और वध करने

योग्य रावण का वासस्थल है। दक्षिणसमुद्र के बीच में अङ्गारिका नाम की प्रसिद्ध राक्षसी है, जो आकाशचारियों को उनकी छाया द्वारा पकड़ कर खा डाला करती है। मेरे बतलाये हुए संशययुक्त स्थानों को भली भाँति देख भाल कर और सब सन्देहों को दूर कर अमित तेजस्वी नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी की भार्या सीता को खोजना। उस द्वीप को लांघ कर, सौ योजन वाले शोभायुक्त समुद्र के बीच ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

गिरिः पुष्पितको नाम सिद्धचारणसेवितः।
चन्द्रसूर्यांशुसङ्काशः सागराम्बुसमावृतः ॥ २९ ॥

पुष्पितक नाम का एक पहाड़ है, इस पर भी सिद्ध और चारण रहा करते हैं। यह सूर्य और चन्द्रमा की तरह कान्तिमान् चारों ओर से सागर के जल से घिरा हुआ है ॥ २९ ॥

भ्राजते विपुलैः शृङ्गैरम्बरं विलिखन्निव।
तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यं दिवाकरः ॥ ३० ॥

इस पर्वत के शिखर आकाशस्पर्शी हैं। इसके एक सोने के शृङ्ग का सूर्य भगवान् सेवन किया करते हैं ॥ ३० ॥

श्वेतं राजतशृङ्गं* च सेवते यं निशाकरः।
न तं कृतघ्नाः पश्यन्ति न नृशंसा न नास्तिकाः ३१ ॥

और उसके दूसरे चांदी के शृङ्ग का निशानाथ चन्द्रमा सेवन किया करते हैं। इस पर्वत को कृतघ्न, नृशंस और नास्तिक लोग नहीं देख पाते ॥ ३१ ॥

प्रणम्य शिरसा शैलं तं विमार्गत वानराः।
तमतिक्रम्य दुर्धर्षाः सूर्यवान्नाम पर्वतः ॥ ३२ ॥

---

* पाठान्तरे—"राजतमेकं।"

अध्वना दुर्विगाहेन योजनानि चतुर्दश ।
ततस्तमप्यतिक्रम्य वैद्युतो नाम पर्वतः ॥ ३३ ॥

हे वानरो ! तुम इस पर्वत को प्रणाम कर सीता जी को ढूढ़ना । उस पर्वत के आगे जाने पर तुमको दुर्धर्ष सूर्यवान् नाम का पर्वत मिलेगा । पूर्वकथित पर्वत से यह पर्वत चौदह योजन के अन्तर पर है, किन्तु इसका मार्ग बड़ा बेंड़ा है । सूर्यवान् पर्वत के आगे तुम्हें वैद्युत नाम का पहाड़ मिलेगा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

सर्वकामफलैर्वृक्षैः सर्वकालमनोहरैः ।
तत्र भुक्त्वा वरार्हाणि मूलानि च फलानि च ॥ ३४ ॥

यह पर्वत सदा हरा भरा और सुन्दर बना रहता है और इसके ऊपर जो वृक्ष हैं, वे सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले फलों से लदे रहते हैं । वहाँ उन वृक्षों के अत्युत्तम फल मूलों को खा कर ॥ ३४ ॥

मधूनि पीत्वा जुष्टानि* परं गच्छत वानराः
तत्र नेत्रमनःकान्तः कुञ्जरो नाम पर्वतः ॥ ३५ ॥

और मधुपान करके तथा तृप्त हो कर आगे जाना । तब आँखों को और मन को आनन्द देने वाला कुञ्जर नामक पर्वत मिलेगा ॥ ३५ ॥

अगस्त्यभवनं यत्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।
तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ॥ ३६ ॥

इसी पर्वत पर विश्वकर्मा का बनाया हुआ अगस्त्य मुनि का एक भवन है । यह भवन एक योजन लंबा और दस योजन ऊँचा है ॥ ३६ ॥

---

* पाठान्तरे—" मुख्यानि । "

शरणं[1] काञ्चनं दिव्यं नानारत्नविभूषितम् ।
तत्र भोगवती नाम सर्पाणामालयः पुरी ॥ ३७ ॥

यह भवन सोने का है और अनेक रत्नों से भूषित है। वहीं पर सर्पों की भोगवती नाम की पुरी है ॥ ३७ ॥

विशालकक्ष्या दुर्धर्षा सर्वतः परिरक्षिता ।
रक्षिता पन्नगैर्घोरैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाविषैः ॥ ३८ ॥

इस पुरी की बड़ी बड़ी गलियाँ हैं। यह दुर्धर्ष है। क्योंकि चारों ओर से बड़े बड़े भयङ्कर और पैने दाँतों वाले महाविषधर सर्पों से यह सुरक्षित है ॥ ३८ ॥

सर्पराजो महाप्राज्ञो यस्यां वसति वासुकिः ।
निर्याय मार्गितव्या च सा च भोगवती पुरी ॥ ३९ ॥

यहीं पर बड़े बुद्धिमान सर्पों के राजा वासुकि रहा करते हैं। वहाँ जा कर उस भोगवतीपुरी में भी सीता को ढूँढ़ना ॥ ३९ ॥

तत्र चानन्तरा देशा ये केचन सुसंवृताः ।
तं च देशमतिक्रम्य महानृषभसंस्थितः ॥ ४० ॥

वहाँ पर अनेक ऐसे देश हैं, जो छिपे हुए हैं अर्थात् जिन्हें बहुत कम लोग जानते हैं। उनमें जा कर ढूँढ़ना। इस देश के आगे तुम्हें बैल के आकार का ऋषभ नामक पर्वत देख पड़ेगा ॥ ४० ॥

सर्वरत्नमयः श्रीमानृषभो नाम पर्वतः ।
गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥ ४१ ॥

---

[1] शरणं—गृहं। (गो०)

इस ऋषभ पर्वत में सब प्रकार के रत्न हैं और यह बड़ा शोभायमान है। इसके ऊपर गोरोचन के रंग का, पद्मपत्र के रंग का, तमाजदल वर्ण का चन्दन उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

दिव्यमुत्पद्यते यत्र तच्चैवाग्निसमप्रभम् ।
न तु तच्चन्दनं दृष्ट्वा स्प्रष्टव्यं च कदाचन ॥ ४२ ॥

जहाँ पर ये दिव्य चन्दन उत्पन्न होता है, वहीं पर अग्नि के समान रंग का चन्दन भी पैदा होता है। उस चन्दन को देख कर, उसे कभी मत छूना ॥ ४२ ॥

रोहिता नाम गन्धर्वा घोरा रक्षन्ति तद्वनम् ।
तत्र गन्धर्वपतयः पञ्च सूर्यसमप्रभाः ॥ ४३ ॥

क्योंकि रोहित नामक भयङ्कर गन्धर्व उस वन की रक्षा किया करते हैं। ये पाँच गन्धर्वों के स्वामी सूर्य के समान प्रभा वाले हैं ॥ ४३ ॥

शैलूषो ग्रामणीः शिग्रुः शुभ्रो बभ्रुस्तथैव च ।
रविसोमाग्निवपुषां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥ ४४ ॥

उन पाँच के नाम हैं शैलूष, ग्रामणी, शिग्र, शुभ्र, और बभ्रु । वहाँ पर सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि जैसे शरीरधारी पुण्यात्मा जन रहा करते हैं ॥ ४४ ॥

अन्ते पृथिव्या दुर्धर्षास्तत्र स्वर्गजितः स्थिताः ।
ततः परं न वः सेव्यः पितृलोकः सुदारुणः ॥ ४५ ॥

इसके आगे पृथिवी का अन्त है। यहाँ पर बड़े दुर्धर्ष लोग जिन्होंने अपने पुण्य के बल से स्वर्ग सम्पादन कर लिया है, वास

करते हैं। इसके आगे दारुण पितृलोक है, जहाँ मनुष्य लोग नहीं जा सकते॥ ४५॥

राजधानी यमस्यैषा कष्टेन तमसा वृता।
एतावदेव युष्माभिर्वीरा वानरपुङ्गवाः॥ ४६॥

वहाँ पर अंधकार से आच्छादित यमराज की राजधानी (संयमिनी पुरी) है। वहाँ पर तुम क्षणमात्र भी नहीं ठहर सकते। हे वानरश्रेष्ठों! बस यहीं तक तुम लोग जा सकोगे॥ ४६॥

शक्यं विचेतुं गन्तुं वा नातो गतिमतां गतिः।
सर्वमेतत्समालोक्य यच्चान्यदपि दृश्यते॥ ४७॥

इससे आगे और फिर मनुष्यादि कोई भी नहीं जा सकते। जो जो स्थान मैंने बतलाये, वे सब तथा अन्य स्थान भी जो तुम्हें दिखलाई दें, ढूढ़ना॥ ४७॥

गतिं विदित्वा वैदेह्याः सन्निवर्तितुमर्हथ।
यस्तु मासान्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतेति वक्ष्यति॥
मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति॥ ४८॥

सीता जी का पता लगा कर तुम लोग लौट आओ। एक मास के भीतर जो मुझसे सीता के देखने का संवाद देगा, वह मेरे सदृश विभव पा कर, अनेक प्रकार के भोगों और सुखों का उपभोग करता हुआ, विहार करेगा॥ ४८॥

ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद्विशेषतः।
कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति॥ ४९॥

और उससे बढ़ कर मेरा प्राणप्रिय दूसरा न होगा। वह यदि कितना ही अपराध करे, मैं उसे अपना बन्धु ही मानूँगा ॥ ४६ ॥

अमितबलपराक्रमा भवन्तो
विपुलगुणेषु कुलेषु च प्रसूताः ।
मनुजपतिसुतां यथा लभध्वं
तदधिगुणं पुरुषार्थमारभध्वम् ॥ ५० ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे वानरो! तुम लोग अमित बल विक्रम वाले और बड़े गुणवान हो तथा तुम्हारा जन्म उत्तम कुल में हुआ है। इस समय तुम सब ऐसा पुरुषार्थ कर के दिखलाओ, जिससे श्रीरामचन्द्र जी की भार्या सीता जी मिल जाँय ॥ ५० ॥

किष्किन्धाकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

द्विचत्वारिंशः सर्गः

अथ प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तान्हरीन्दक्षिणां दिशम् ।
अब्रवीन्मेघसङ्काशं सुषेणं नाम यूथपम् ॥ १ ॥

उन समस्त वानरों को दक्षिण दिशा में भेज, मेघ के समान डीलडौल वाले सुषेण नामक यूथपति से सुग्रीव कहने लगे ॥ १ ॥

तारायाः पितरं राजा श्वशुरं भीमविक्रमम् ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यमभिगम्य प्रणम्य च ॥ २ ॥

सुषेण, तारा के पिता थे और वालि के ससुर थे तथा बड़े भयङ्कर विक्रमशाली थे। अतः सुग्रीव उनके पास जा, प्रणाम कर तथा हाथ जोड़ कर उनसे बोले ॥ २ ॥

मरीचिपुत्रं मारीचमर्चिष्मन्तं महाकपिम्।
वृतं कपिवरैः शूरैर्महेन्द्रसदृशद्युतिम् ॥ ३ ॥

महर्षि मारीच के पुत्र अर्चिष्मान् नामक महावानर से भी सुग्रीव ने कहा। यह वानर अति शूर था, इसके अनुयायी बहुत से वानर भी थे। इसका शरीर महेन्द्राचल की तरह बड़ा लंबा चौड़ा था और उसके चेहरे पर तेज विराजमान था ॥ ३ ॥

बुद्धिविक्रमसम्पन्नं वैनतेयसमं जवे*।
मरीचिपुत्रान्मारीचानर्चिर्मालान्महाबलान् ॥ ४ ॥

यह बड़ा बुद्धिमान और पराक्रमी था और तेज चलने में गरुड़ के समान था। यह महर्षि मरीच का पुत्र था और इसका नाम अर्चिष्मान् था। यह देदीप्यमान माला पहिने हुए था और महाबलवान था ॥ ४ ॥

ऋषिपुत्रांश्च तान्सर्वान्प्रतीचीमादिशद्दिशम्।
द्वाभ्यां शतसहस्राभ्यां कपीनां कपिसत्तमाः ॥ ५ ॥
सुषेणप्रमुखा यूयं वैदेहीं परिमार्गत।
सुराष्ट्रान्सहवाह्लीकान्चन्द्र चित्रांस्तथैव† च ॥ ६ ॥
स्फीताञ्जनपदान्रम्यान्विपुलानि पुराणि च।
पुन्नागगहनं कुक्षिं वकुलोद्दालकाकुलम् ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—"समद्युतिम्"। † पाठान्तरे—"शूरान्भीमांस्तथैवच"।

तथा केतकषण्डांश्च मार्गध्वं हरियूथपाः ।
प्रत्यक्स्रोतोगमाश्चैव नद्यः शीतजलाः शिवाः ॥ ८ ॥
तापसानामरण्यानि कान्तारा गिरयश्च ये ।
ततः स्थलीं मरुप्रायामत्युच्चशिरसः शिलाः ॥ ९ ॥
गिरिजालावृतां दुर्गां मार्गित्वा पश्चिमां दिशम् ।
ततः पश्चिममासाद्य समुद्रं द्रष्टुमर्हथ ॥ १० ॥

इन ऋषिपुत्र को तथा उसके अनुयायी वानरों को पश्चिम दिशा में जाने की सुग्रीव ने आज्ञा दी। सुग्रीव बोले—हे वानरो! तुम लोग सुषेण को अपना नेता बना कर, दो लाख वानरों के साथ जा कर सीता का पता लगाओ। हे कपियूथपतियों! तुम लोग सौराष्ट्र, वाल्हीक, चन्द्रचित्र नामक देशों के बड़े बड़े रमणीय और पुराने जनपदों में, नागकेसर के जंगल वाले देशों में, मौलसिरी तथा लसोड़े के जंगलों में और केवड़े के जंगलों में सीता को खोजो। पश्चिमवाहिनी नदियों के तटवर्ती स्थानों में, तपस्वियों के रहने के वनों में, बड़े दुर्गम पर्वतों पर, मरु देशों में, अति ऊँची शिलाओं पर, तथा पर्वतमाला से युक्त दुर्गम भूमि वाली पश्चिम दिशा को देखने के बाद, पश्चिम समुद्र के तट पर आ कर ढूंढ़ना ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

तिमिनक्रायुतजलमक्षोभ्यमथ वानराः ।
ततः केतकषण्डेषु तमालगहनेषु च ॥ ११ ॥

इस समुद्र में बड़े बड़े तिमिङ्गल मच्छ और नाके मगर भरे हुए हैं। इस समुद्र के तटवर्ती केवड़े और तमालों के वनों में ॥ ११ ॥

कपयो विहरिष्यन्ति नारिकेलवनेषु च ।
तत्र सीतां च मार्गध्वं निलयं रावणस्य च ॥ १२ ॥

तथा नारियल के वनों में, जहाँ वानर घूमा फिरा करते हैं, सीता और रावण के आवास-स्थान को तलाश करना ॥ १२ ॥

वेलातटनिविष्टेषु पर्वतेषु वनेषु च ।
मुरचीपत्तनं चैव रम्यं चैव जटीपुरम् ॥ १३ ॥

अवन्तीमङ्गलोपां च तथा चालक्षितं वनम् ।
राष्ट्राणि च विशालानि पत्तनानि ततस्ततः ॥ १४ ॥

समुद्र तटवर्ती समस्त पर्वत, वन और मुरचीपत्तन, रमणीक जटीपुर, अवंती, अंगलोपा, अलक्षित नामक वन भी देखना। फिर राष्ट्रों में तथा बड़े बड़े नगरों में भी ढूढ़ना ॥ १३ । १४ ॥

सिन्धुसागरयोश्चैव सङ्गमे तत्र पर्वतः ।
महान्हेमगिरिर्नाम शतशृङ्गो महाद्रुमः ॥ १५ ॥

जहाँ पर सिन्धु नद और बड़े समुद्र का सङ्गम होता है, वहाँ पर एक पहाड़ है। उसका नाम है हेमगिरि और उस पर सौ शिखर हैं। उस पर एक बड़ा वृक्ष है ॥ १५ ॥

तस्य प्रस्थेषु रम्येषु सिंहाः पक्षगमाः स्थिताः ।
तिमिमत्स्यगजांश्चैव नीडान्यारोपयन्ति ते ॥ १६ ॥

उसके रमणीक शिखर पर पक्षधारी सिंह हैं, जो तिमि मच्छ जैसे बड़े भारी जलजीवों और हाथियों को उठा कर अपने घोंसलों में ले जाते हैं ॥ १६ ॥

तानि नीडानि सिंहानां गिरिशृङ्गगताश्च ये ।
दृप्तास्तृप्ताश्च मातङ्गास्तोयदस्वननिःस्वनाः ॥ १७ ॥

विचरन्ति विशालेऽस्मिंस्तोयपूर्णे समन्ततः ।
तस्य शृङ्गं दिवस्पर्शं काञ्चनं चित्रपादपम् ॥ १८ ॥

इन सिंहों के घोंसले उसी पहाड़ के शिखरों पर बने हुए हैं इस पर्वत के चारों ओर जल है। और इसी पर्वत के शिखर पर बड़े मोटे ताज़े, मदमस्त गज, जो मेघ की तरह चिंघारते हैं, घूमा फिरा करते हैं। उसका एक शिखर जो सुवर्णमय है आकाशस्पर्शी है और उसके ऊपर चित्रविचित्र पेड़ लगे हुए हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥

सर्वमाशु विचेतव्यं कपिभिः कामरूपिभिः ।
कोटिं तत्र समुद्रे तु काञ्चनीं शतयोजनाम् ॥ १९ ॥

इस पर्वत पर तुम सब वानर आवश्यक रूप धारण कर भली भाँति ढूंढ लेना। इसी समुद्र में पारियात्र नामक पहाड़ की सुवर्णमयी चोटी शतयोजन लंबी है ॥ १९ ॥

दुर्दर्शां पारियात्रस्य गता द्रक्ष्यथ वानराः ।
कोट्यस्तत्र चतुर्विंशद्गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ॥ २० ॥

हे वानरो! वहाँ जाने पर इस चोटी का देखना दुर्गम होने पर भी तुम लोग उसे देख सकोगे। उस चोटी पर चौबीस करोड़ बड़े बलवान गन्धर्व रहा करते हैं ॥ २० ॥

वसन्त्यग्निनिकाशानां महतां कामरूपिणाम् ।
पावकार्चिःप्रतीकाशाः समवेताः सहस्रशः ॥ २१ ॥

वहाँ के रहने वाले गन्धर्व अग्नि की तरह दीप्यमान और बड़े इच्छारूपधारी हैं। वे अग्नि शिखर की तरह प्रकाशित हो, चारों ओर घूमा करते हैं ॥ २१ ॥

नात्यासादयितव्यास्ते वानरैर्भीमविक्रमैः ।
नादेयं[1] च फलं तस्माद्देशात्किञ्चित्प्लवङ्गमैः ॥ २२ ॥

यद्यपि तुम लोग भी बड़े पराक्रमी हो, तथापि न तो उनके पास जाना और न उनसे छेड़छाड़ करना। वहाँ के फल भी मत लेना ॥ २२ ॥

दुरासदा हि ते वीराः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
फलमूलानि ते तत्र रक्षन्ते भीमविक्रमाः ॥ २३ ॥

क्योंकि वहाँ के गन्धर्व बड़े वीर दुर्धर्ष और बलवान् हैं। वे भीम पराक्रमी गन्धर्व, वहाँ जो फल हैं, उनकी रखवाली करते हैं ॥ २३ ॥

तत्र यत्नश्च कर्तव्यो मार्गितव्या च जानकी ।
न हि तेभ्यो भयं किञ्चित्कपित्वमनुवर्तताम् ॥ २४ ॥

वहाँ सीता को भली भाँति यत्न पूर्वक खोजना। उनसे डरना मत। क्योंकि बंदरपन दिखलाने से वे तुमसे न बोलेंगे ॥ २४ ॥

तत्र वैडूर्यवर्णाभो वज्रसंस्थानसंस्थितः ।
नानाद्रुमलताकीर्णो वज्रो नाम महागिरिः ॥ २५ ॥
श्रीमान्समुदितस्तत्र योजनानां शतं समम् ।
गुहास्तत्र विचेतव्याः प्रयत्नेन प्लवङ्गमाः ॥ २६ ॥

हे वानरो! वहाँ पर वैडूर्यमणि के रंग का और हीरे जैसी चमक वाला तथा अनेक प्रकार के पेड़ों से युक्त, शतयोजन चौड़ा और शोभायमान वज्र नाम का एक बड़ा पहाड़ है। उस पर्वत की सब गुफाएँ देखना ॥ २५ ॥ २६ ॥

---

१ नादेयं—नस्वीकार्यं। (गो०)

चतुर्भागे[1] समुद्रस्य[2] चक्रवान्नाम पर्वतः ।
तत्र चक्रं सहस्रारं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २७ ॥

खारी समुद्र के चतुर्थ भाग में चक्रवान नामक एक पर्वत है। उस पर्वत पर विश्वकर्मा ने हज़ार आरों का एक चक्र बनाया था ॥ २७ ॥

तत्र पञ्चजनं हत्वा हयग्रीवं च दानवम् ।
आजहार ततश्चक्रं शङ्खं च पुरुषोत्तमः ॥ २८ ॥

वहीं पर पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने पञ्चजन और हयग्रीव नाम के दो दानवों को मार कर, शङ्ख और चक्र ग्रहण किये थे ॥ २८ ॥

तस्य सानुषु चित्रेषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २९ ॥

इस पर्वत के शृङ्गों और इसकी बड़ी बड़ी गुफाओं में सीता जी तथा रावण का पता लगाना ॥ २९ ॥

योजनानां ततः षष्टिर्वराहो नाम पर्वतः ।
सुवर्णशृङ्गः सुश्रीमानगाधे वरुणालये ॥ ३० ॥

इसके आगे अगाध समुद्र में साठ योजन की ऊँचाई वाला सुवर्ण शिखर वाला वराह नाम का एक बड़ा सुन्दर पर्वत है ॥ ३० ॥

---

१ चतुर्भागे—चतुर्थभागे । (गो०) २ समुद्रस्य—लवणसमुद्रस्य । (गो०)

तत्र प्राग्ज्योतिषं नाम जातरूपमयं पुरम् ।
यस्मिन्वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः ॥ ३१ ॥

इसी पर्वत पर सुवर्णमय प्राग्जोतिष-नामक नगर है, जिसमें नरक नाम का दुष्टात्मा दानव रहता है ॥ ३१ ॥

तत्र सानुषु चित्रेषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ३२ ॥

उस पर्वत के चित्रविचित्र शिखरों तथा विशाल गुफाओं में रावण सहित जानकी को ढूंढ़ना ॥ ३२ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं काञ्चनान्तरनिर्दरः ।
पर्वतः सर्वसौवर्णो धाराप्रस्रवणायुतः ॥ ३३ ॥

उस सुवर्णगर्भ पर्वतराज को पार करने पर धाराओं और झरनों से भूषित सर्वसौवर्ण नाम का पर्वत मिलेगा ॥ ३३ ॥

तं गजाश्च वराहाश्च सिंहा व्याघ्राश्च सर्वतः ।
अभिगर्जन्ति सततं तेन शब्देन दर्पिताः ॥ ३४ ॥

उस पहाड़ पर सुअर, सिंह, व्याघ्रादि जंगली जानवर सदा ही अपनी बोली की प्रतिध्वनि सुन और अहङ्कार से युक्त हो, गर्जा करते हैं ॥ ३४ ॥

यस्मिन्हरिहयः[1] श्रीमान्महेन्द्रः पाकशासनः ।
अभिषिक्तः सुरै राजा मेघवान्नाम पर्वतः ॥ ३५ ॥

---

१ हरिहयः—श्यामवर्णाश्वयुक्तः । (गो०)

इसके आगे तुम्हें मेघवान् नाम का पहाड़ मिलेगा। इसी पर श्यामवर्ण के घोड़ों से युक्त, शोभायमान इन्द्र का देवताओं ने सुरराज्य पर अभिषेक किया था ॥ ३५ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं महेन्द्रपरिपालितम् ।
षष्टिं गिरिसहस्राणि काञ्चनानि गमिष्यथ ॥ ३६ ॥

इन्द्रपालित इस शैलेन्द्र को नांघने पर, तुमको सोने के साठ हज़ार पर्वत मिलेंगे ॥ ३६ ॥

तरुणादित्यवर्णानि भ्राजमानानि सर्वतः ।
जातरूपमयैर्वृक्षैः शोभितानि सुपुष्पितैः ॥ ३७ ॥

इस पर्वतमाला का प्रकाश चारों ओर मध्यान्ह कालीन सूर्य की तरह बड़ा चमकीला है। यहाँ पर सुवर्णमय और पुष्पित वृक्ष सुशोभित हैं ॥ ३७ ॥

तेषां मध्ये स्थितो राजा मेरुरुत्तरपर्वतः ।
आदित्येन प्रसन्नेन शैलो दत्तवरः पुरा ॥ ३८ ॥
तेनैवमुक्तः शैलेन्द्रः सर्व एव त्वदाश्रयाः ।
मत्प्रसादाद्भविष्यन्ति दिवा रात्रौ च काञ्चनाः ॥ ३९ ॥

इनके मध्य में सुमेरु नामक पर्वतराज है। इसको सूर्य ने प्रसन्न हो कर यह वरदान दिया है कि, तुम्हारे आश्रित जो पर्वत रहेंगे वे भी मेरी कृपा से, क्या दिन में और क्या रात में सदा सुनहले देख पड़ेंगे ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

त्वयि ये चापि वत्स्यन्ति देवगन्धर्वदानवाः ।
ते भविष्यन्ति रक्ताश्च प्रभया काञ्चनप्रभाः ॥ ४० ॥

तेरे ऊपर जो कोई देवता, दानव गन्धर्व रहेंगे, वे सब सुवर्ण की तरह लाल दिखलाई पड़ेंगे ॥ ४० ॥

विश्वेदेवाश्च मरुतो वसवश्च दिवौकसः ।
आगम्य पश्चिमां सन्ध्यां मेरुमुत्तरपर्वतम् ॥ ४१ ॥
आदित्यमुपतिष्ठन्ति तैश्च सूर्योऽभिपूजितः ।
अदृश्यः सर्वभूतानामस्तं गच्छति पर्वतम् ॥ ४२ ॥

इस पर्वत पर विश्वेदेव, वसु, और मरुत तथा अन्यदेव सायं सन्ध्या के समय आ कर सूर्यदेव की उपासना करते हैं। सूर्य देवता उनसे पूजे जा कर और सब जीवों की दृष्टि से अदृश्य हो, अस्ताचलगामी होते हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

योजनानां सहस्राणि दश तानि दिवाकरः ।
मुहूर्तार्धेन तं शीघ्रमभियाति शिलोच्चयम् ॥ ४३ ॥

उस समय सूर्य अर्ध मुहूर्त में बड़ी शीघ्रता से दस हज़ार योजन चल कर, अस्ताचल पर पहुँच जाते हैं ॥ ४३ ॥

शृङ्गे तस्य महद्दिव्यं भवनं सूर्यसन्निभम् ।
प्रासादगणसम्बाधं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ४४ ॥

उस पर्वत के शिखर पर बड़ा दिव्य, सूर्य के समान चमकीला, कई खनों (मंज़िलों) वाला भवन, विश्वकर्मा का बनाया हुआ है ॥ ४४ ॥

शोभितं तरुभिश्चित्रैर्नानापक्षिसमाकुलैः ।
निकेतं पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ ४५ ॥

वह भाँति भाँति के चित्रविचित्र वृक्षों और पक्षियों से परिपूर्ण है। यह ही पाशहस्त वरुण जी का स्थान है ॥ ४५ ॥

अन्तरा मेरुमस्तं च तालो दशशिरा महान्।
जातरूपमयः श्रीमान्भ्राजते चित्रवेदिकः॥ ४६॥

आगे मेरु और अस्ताचल के बीच में दश डालियों का, सुवर्णमय, अत्यन्त मनोहर और विचित्र वेदिकायुक्त एक ताल का पेड़ है॥ ४६॥

तेषु सर्वेषु दुर्गेषु सरःसु च सरित्सु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः॥ ४७॥

वहाँ के समस्त दुर्गम स्थानों में, सरोवरों और नदियों के तटवर्ती प्रदेशों में, सीता सहित रावण को खोजना॥ ४७॥

यत्र तिष्ठति धर्मज्ञस्तपसा स्वेन भावितः।
मेरुसावर्णिरित्येव ख्यातो वै ब्रह्मणा समः॥ ४८॥

वहीं पर ब्रह्मा जी के समान तेजस्वी और अपने तेज से प्रकाशित धर्मात्मा मेरुसावर्णि नाम के एक विख्यात महर्षि रहते हैं॥ ४८॥

प्रष्टव्यो मेरुसावर्णिर्महर्षिः सूर्यसन्निभः।
प्रणम्य शिरसा भूमौ प्रवृत्तिं मैथिलीं प्रति॥ ४९॥

उन सूर्य के समान तेजस्वी महर्षि मेरुसावर्णि को पृथिवी पर माथा टेक कर प्रणाम करना और उनसे जानकी जी के बारे में पूँछना॥ ४९॥

एतावज्जीवलोकस्य भास्करो रजनीक्षये।
कृत्वा वितिमिरं सर्वमस्तं गच्छति पर्वतम्॥ ५०॥

बस यहीं तक जीवलोक में, रात के बीत जाने पर, सूर्य नारायण उदयाचल पर्वत से मेरुसावर्णि तक अन्धकार का नाश कर, अस्ताचल को चले जाते हैं ॥ ५० ॥

एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ५१ ॥

हे वानरोत्तम ! बस यहीं तक वानरगण जा सकते हैं। इसके आगे का हाल सूर्य का प्रकाश न होने तथा भूभाग की मर्यादा (का पता) न होने के कारण, मुझे नहीं मालूम ॥ ५१ ॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।
अस्तं पर्वतमासाद्य पूर्णे मासे निवर्तत ॥ ५२ ॥

तुम लोग अस्ताचल तक जा कर, सीता का तथा रावण के आवासस्थान का पता लगा कर, एक मास पूरा होते होते लौट आना ॥ ५२ ॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन्वध्यो भवेन्मम ।
सहैव शूरो युष्माभिः श्वशुरो मे गमिष्यति ॥ ५३ ॥

एक मास से अधिक मत लगाना। जो कोई लगावेगा उसे मैं मार डालूँगा। तुम्हारे साथ मेरे यह शूरवीर ससुर जायँगे ॥ ५३ ॥

श्रोतव्यं सर्वमेतस्य भवद्भिर्दिष्टकारिभिः ।
गुरुरेष महाबाहुः श्वशुरो मे महाबलः ॥ ५४ ॥

अतः आप सब उनके कहने में चलना। जो कुछ यह कहें, उसे सुनना। क्योंकि मेरे यह महाबाहु ससुर पूज्य हैं और महाबलवान् हैं ॥ ५४ ॥

भवन्तश्चापि विक्रान्ताः प्रमाणं[1] सर्वकर्मसु ।
प्रमाणमेनं संस्थाप्य पश्यध्वं पश्चिमां दिशम् ॥ ५५ ॥

यद्यपि आप लोग भी पराक्रमी और सब कार्यों की व्यवस्था करने वाले हैं, तथापि आप इनको अपना व्यवस्थापक बना कर पश्चिम दिशा में सीता और रावण के आवासस्थान की खोज का कार्य करना ॥ ५५ ॥

दृष्टायां तु नरेन्द्रस्य पत्न्याममिततेजसः ।
कृतकृत्या भविष्यामः कृतस्य प्रतिकर्मणा ॥ ५६ ॥

इन अतुलित तेज सम्पन्न नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी की भार्या का पता लगा देने से हम सब कृतकृत्य हो जांयगे और इनके उपकार का बदला भी चुक जायगा ॥ ५६ ॥

अतोऽन्यदपि *यत्किञ्चित्कार्यस्यास्य हितं भवेत् ।
सम्प्रधार्य भवद्भिश्च देशकालार्थसंहितम् ॥ ५७ ॥

अतएव मेरे कथन के अतिरिक्त यदि कोई हितकर काम जान पड़े तो उसे भी देश, काल और अर्थ का विचार कर, करना ॥ ५७ ॥

ततः सुषेणप्रमुखाः प्लवङ्गाः
सुग्रीववाक्यं निपुणं निशम्य ।
आमन्त्र्य सर्वे प्लवगाधिपं ते
जग्मुर्दिशं तां वरुणाभिगुप्ताम् ॥ ५८ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

---

१ प्रमाणं—व्यवस्थापकं । (गो०) * पाठान्तरे—"यत्कार्यं ।"

तब सुषेणादि निपुण वानर कपिराज सुग्रीव के वचन सुन, और उनसे आज्ञा ले, वरुण से रक्षित पश्चिम दिशा को चले गये ॥ ५८ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—※—

ततः सन्दिश्य सुग्रीवः श्वशुरं पश्चिमां दिशम् ।
वीरं शतवलिं नाम वानरं वानरर्षभः ॥ १ ॥

सुग्रीव ने अपने ससुर सुषेण को पश्चिम दिशा में भेजा। तदनन्तर शतवलि नामक वानरश्रेष्ठ की ओर देख कर, ॥ १ ॥

उवाच राजा धर्मज्ञः सर्ववानरसत्तमम् ।
वाक्यमात्महितं चैव रामस्य च हितं तथा ॥ २ ॥

धर्मज्ञ कपिराज सुग्रीव ने उन समस्त वानरोत्तमों से ऐसे वचन कहे, जो अपने और श्रीरामचन्द्र जी के हित के लिये थे ॥ २ ॥

वृतः शतसहस्रेण त्वद्विधानां वनौकसाम् ।
वैवस्वतसुतैः सार्धं प्रतिष्ठस्व स्वमन्त्रिभिः ॥ ३ ॥

सुग्रीव ने कहा—तुम अपने मेल के एक लाख वानरों को साथ ले तथा अपने समस्त यमसुत मंत्रियों सहित यात्रा करो ॥ ३ ॥

दिशं ह्युदीचीं विक्रान्तां हिमशैलावतंसकाम् ।
सर्वतः परिमार्गध्वं रामपत्नीमनिन्दिताम् ॥ ४ ॥

तुम हिमालय पर्वत से भूषित उत्तर दिशा में सर्वत्र अनिन्दिता श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी सीता का पता लगाओ ॥ ४ ॥

अस्मिन्कार्ये विनिर्वृत्ते कृते दाशरथेः प्रिये ।
ऋणान्मुक्ता भविष्यामः कृतार्थार्थविदांवराः ॥ ५ ॥

हे विदांवरो (जानने वालों में श्रेष्ठ) ! श्रीरामचन्द्र जी का यह प्रिय कार्य पूरा हो जाने पर, हम सब उनके ऋण से उऋण हो, कृतार्थ होंगे ॥ ५ ॥

कृतं हि प्रियमस्माकं राघवेण महात्मना ।
तस्य चेत्प्रतिकारोऽस्ति सफलं जीवितं भवेत् ॥ ६ ॥

देखो, श्रीरामचन्द्र जी ने हमारा मनोभिलषित कार्य पूरा किया है, सो यदि हम लोग प्रत्युपकार द्वारा उनका कुछ भी बदला चुका सकें, तो हमारा जीवन सफल हो ॥ ६ ॥

अर्थिनः कार्यनिर्वृत्तिमकर्तुरपि यश्चरेत् ।
तस्य स्यात्सफलं जन्म किं पुनः पूर्वकारिणः ॥ ७ ॥

जिसने अपना कोई उपकार नहीं किया, यदि उसका भी कोई उपकार कर दिया जाय तो भी जीवन सफल होता है। फिर जिसने पहले ही अपने को उपकार द्वारा उपकृत कर दिया है, उसका कार्य करने में तो कहना ही क्या है ॥ ७ ॥

एतां बुद्धिं *समास्थाय दृश्यते जानकी यथा ।
तथा भवद्भिः कर्तव्यमस्मत्प्रियहितैषिभिः ॥ ८ ॥

आप लोग मेरे हितैषी हैं, अतः इन बातों को सोच समझ कर, ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे जानकी जी का पता लग जाय ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—" अवस्थाय ।"

अयं हि सर्वभूतानां मान्यस्तु नरसत्तमः ।
अस्मासु चागतप्रीती रामः परपुरञ्जयः ॥ ९ ॥

वैरी के पुर को जीतने वाले नरोत्तम यह श्रीरामचन्द्र जी सब प्राणियों के मान्य और हम लोगों से प्रीति करते हैं ॥ ९ ॥

इमानि वनदुर्गाणि नद्यः शैलान्तराणि च ।
भवन्तः परिमार्गन्तु बुद्धिविक्रमसम्पदा ॥ १० ॥

अतः तुम लोग अपनी बुद्धि और पराक्रम से, जैसे बने वैसे, जिन दुर्गम स्थानों, नदियों और पर्वतों को मैं बतलाऊँ, वहाँ वहाँ जा कर जानकी का पता लगाओ ॥ १० ॥

तत्र म्लेच्छान्पुलिन्दांश्च शूरसेनांस्तथैव च ।
प्रस्थलान्भरतांश्[1]चैव कुरूंश्च सह मद्रकैः ॥ ११ ॥

काम्बोजान्यवनांश्चैव शकानारट्टकानपि ।
बाह्लीकानृषिकांश्चैव पौरवानथ टङ्कणान् ॥ १२ ॥

चीनान्परमचीनांश्च निहारांश्च पुनः पुनः ।
अन्विष्य* दरदांश्चैव हिमवन्तं तथैव च ॥ १३ ॥

लोध्रपद्मकषण्डेषु देवदारुवनेषु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १४ ॥

उत्तर दिशा में म्लेच्छ, पुलिन्द, शूरसेन, प्रस्थल, इन्द्रप्रस्थादि प्रदेश, दक्षिण कुरु, मद्रक, काम्बोज, यवन, शक, अरट्ट, बाल्हीक, ऋषिक, पौरव, टङ्कण, चीन, परमचीन, निहार, दरद, हिमवन्त

---

[1] भरतां—इन्द्रप्रस्थादिप्रदेशान् । (गो०) * पाठान्तरे—"अन्वीक्ष्य" ।

पर्वत को, लोध्र के वनों, पद्मक के वनों और देवदारु के वनों में रावण और वैदेही को भली भाँति ढूढ़ना ॥ ११ ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥ १४ ॥

ततः सोमाश्रमं गत्वा देवगन्धर्वसेवितम् ।
कालं नाम महासानुं पर्वतं तं गमिष्यथ ॥ १५ ॥

इसके अनन्तर तुम लोग सोमाश्रम में जा देवता और गन्धर्वों से सेवित तथा बड़े बड़े कंगूरों से युक्त काल नामक पर्वत पर जाना ॥ १५ ॥

महत्सु तस्य शृङ्गेषु* निर्दरेषु गुहासु च ।
विचिनुध्वं महाभागां रामपत्नीं ततस्ततः ॥ १६ ॥

उसके बड़े बड़े शिखरों, घाटियों और कन्दराओं में तुम लोग उन निन्दारहित महाभागा श्रीरामचन्द्र जी की भार्या को भली भाँति ढूढ़ना ॥ १६ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं हेमगर्भं महागिरिम् ।
ततः सुदर्शनं नाम गन्तुमर्हथ पर्वतम् ॥ १७ ॥

काल पर्वत के आगे तुमको हेमगर्भ नाम का बड़ा पहाड़ मिलेगा। इसके बाद तुम सुदर्शन नामक पर्वत पर जाना ॥ १७ ॥

ततो देवसखो नाम पर्वतः पतगालयः ।
नानापक्षिगणाकीर्णो विविधद्रुमभूषितः ॥ १८ ॥

तदनन्तर तुमको देवसखा नाम का पर्वत मिलेगा। इस पर्वत पर बहुत से पक्षी रहा करते हैं और यह भाँति भाँति के वृक्षों से भूषित है ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"शैलस्य।"

तस्य काननषण्डेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १९ ॥

देवसखा नाम के पर्वत के वनों में, झरनों पर तथा गुफाओं में रावण सहित जानकी को ढूंढना ॥ १६ ॥

तमतिक्रम्य चाकाशं सर्वतः शतयोजनम् ।
अपर्वतनदीवृक्षं सर्वसत्त्वविवर्जितम् ॥ २० ॥

देवसखा नाम के पर्वत को नांघने के बाद, तुमको सौ योजन लंबा चौड़ा जनशून्य एक मैदान मिलेगा। इसमें न तो कोई पर्वत है, न नदी है न वृक्ष और न कोई-जीव ही है ॥ २० ॥

तं तु शीघ्रमतिक्रम्य कान्तारं रोमहर्षणम् ।
कैलासं पाण्डुरं शैलं प्राप्य हृष्टा भविष्यथ ॥ २१ ॥

इस रोमाञ्चकारी मैदान को शीघ्रता पूर्वक पार करना। तदनन्तर तुमको सफेद रंग का कैलास नाम का पर्वत मिलेगा जिसे देख तुम सब बहुत प्रसन्न होगे ॥ २१ ॥

तत्र पाण्डुरमेघाभं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
कुबेरभवनं रम्यं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २२ ॥

उस कैलास पर्वत पर सफेद बादल जैसा और सुवर्ण भूषित, विश्वकर्मा का निर्मित, कुबेर का सुन्दर भवन दिखलाई पड़ेगा ॥२२॥

विशाला नलिनी यत्र प्रभूतकमलोत्पला ।
हंसकारण्डवाकीर्णा ह्यप्सरोगणसेविता ॥ २३ ॥

वहाँ पर एक पुष्करिणी भी है जिसमें बहुत से कमल उत्पन्न होते हैं। वहाँ पर हंस, कारण्डव पक्षी तथा अप्सराएँ रहा करती हैं ॥ २३ ॥

तत्र वैश्रवणो राजा सर्वभूतनमस्कृतः ।
धनदो रमते श्रीमान्गुह्यकैः सह यक्षराट् ॥ २४ ॥

उस भवन में धन देने वाले, यक्षराज राजा वैश्रवण (कुबेर) जिनको सब प्रणाम करते हैं, गुह्यों के सहित विहार किया करते हैं ॥ २४ ॥

तस्य चन्द्रनिकाशेषु पर्वतेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २५ ॥

उस कैलास पर्वत की चन्द्र तुल्य प्रकाशित पर्वतमाला में और गुफाओं में रावण और सीता को भली भाँति ढूँढ़ना ॥ २५ ॥

क्रौञ्चं तु गिरिमासाद्य बिलं तस्य सुदुर्गमम् ।
अप्रमत्तैः प्रवेष्टव्यं दुष्प्रवेशं हि तत्स्मृतम् ॥ २६ ॥

कैलास पर्वत के बाद, तुम लोगों को क्रौंच पर्वत मिलेगा। उस पहाड़ के दुर्गम बिल में बड़ी सावधानी से जाना। क्योंकि लोग उस बिल को दुष्प्रवेश्य बतलाते हैं ॥ २६ ॥

वसन्ति हि महात्मानस्तत्र सूर्यसमप्रभाः ।
देवैरप्यर्चिताः सम्यग्देवरूपा महर्षयः ॥ २७ ॥

वहाँ सूर्य जैसे तेज वाले देवरूप बड़े बड़े महात्मा महर्षि लोग रहते हैं। उनकी देवता लोग भी पूजा किया करते हैं ॥ २७ ॥

क्रौञ्चस्य तु गुहाश्चान्याः सानूनि शिखराणि च ।
निर्दराश्च नितम्बाश्च विचेतव्यास्ततस्ततः ॥ २८ ॥

उस क्रौंच पर्वत की अन्य गुफाओं, उसके शिखरों, घाटियों और तलैटी को भली भाँति ढूँढ़ना ॥ २८ ॥

क्रौञ्चस्य शिखरं चापि निरीक्ष्य च ततस्ततः ।
अवृक्षं कामशैलं च मानसं विहगालयम् ॥ २९ ॥

क्रौंच पर्वत के शिखर के ऊपर भी अच्छी तरह देखना भालना। इसी पर्वत पर मानस नाम का एक कामशैल है। यद्यपि उस पर कोई वृक्ष नहीं है, तथापि वह पक्षियों का घर है ॥ २९ ॥

न गतिस्तत्र भूतानां देवदानवरक्षसाम् ।
स च सर्वैर्विचेतव्यः ससानुप्रस्थभूधरः ॥ ३० ॥

वहाँ देव, दानव, राक्षसादि कोई भी प्राणी नहीं जा सकता। सो तुम लोग उस पर्वत के छोटे बड़े शिखरों और कन्दराओं को ढूढ़ना ॥ ३० ॥

क्रौञ्चं गिरिमतिक्रम्य मैनाको नाम पर्वतः ।
मयस्य भवनं यत्र दानवस्य स्वयं कृतम् ॥ ३१ ॥

क्रौंच गिरि के आगे तुमको मैनाक पर्वत मिलेगा। यहीं पर मय-दानव का भवन है, जो इसीका बनाया हुआ है ॥ ३१ ॥

मैनाकस्तु विचेतव्यः ससानुप्रस्थकन्दरः ।
स्त्रीणामश्वमुखीनां च निकेतास्तत्र तत्र तु ॥ ३२ ॥

मैनाक पर्वत के शिखरों और कंदराओं को भी ढूँढ़ना। उस पर्वत पर घुड़मुही औरतों (किम्पुरुषस्त्रियों) के घर बने हुए हैं ॥ ३२ ॥

तं देशं समतिक्रम्य आश्रमं सिद्धसेवितम् ।
सिद्धा वैखानसास्तत्र वालखिल्याश्च तापसाः ॥ ३३ ॥

वहाँ से आगे जाने पर सिद्धों से सेवित आश्रम मिलेगा। वहाँ पर सिद्ध वैखानस (वानप्रस्थ) और वालखिल्य ब्रह्मचारी रहते हैं ॥ ३३ ॥

वन्द्यास्ते तु तपःसिद्धास्तपसा वीतकल्मषाः।
प्रष्टव्या चापि सीतायाः [1]प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः ॥ ३४ ॥

उन तपःसिद्ध और पापरहित तपस्वियों को तुम लोग विनय पूर्वक प्रणाम करना और उनसे सीता का वृत्तान्त पूँछना ॥ ३४ ॥

हेमपुष्करसंछन्नं तस्मिन्वैखानसं सरः।
तरुणादित्यसङ्काशैर्हंसैर्विचरितं शुभैः ॥ ३५ ॥

वहाँ पर वैखानस नाम का एक तालाब है जिसमें सुवर्ण के रंग जैसे कमल भरे हुए हैं और उसके तट पर, मध्यान्ह कालीन सूर्य के समान रंग वाले सुन्दर हंस विचरा करते हैं ॥ ३५ ॥

औपवाह्यः कुबेरस्य सार्वभौम इति स्मृतः।
गजः पर्येति तं देशं सदा सह करेणुभिः ॥ ३६ ॥

इस तालाब पर कुबेर की सवारी का हाथी, जिसका नाम सार्वभौम है, अपनी हथिनियों सहित विचरा करता है ॥ ३६ ॥

तत्सरः समतिक्रम्य नष्टचन्द्रदिवाकरम्।
अनक्षत्रगणं व्योम निष्पयोदमनादितम् ॥ ३७ ॥

उस सरोवर के आगे जाने पर, तुम्हें ऐसा देश मिलेगा जहाँ यद्यपि सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और मेघ न देख पड़ेंगे, तथापि आदि अन्त रहित आकाश देख पड़ेगा ॥ ३७ ॥

---

[1] प्रवृत्तिः—वृत्तान्तः। (शि०)

गभस्तिभिरिवार्कस्य स तु देशः प्रकाशते ।
विश्राम्यद्भिस्तपःसिद्धैर्देवकल्पैः स्वयंप्रभैः ॥ ३८ ॥

और उस देश में सूर्य की किरणों की तरह प्रकाश दिखलाई पड़ेगा। वहाँ पर अपने ही तेज से प्रकाशित देव समान, सिद्ध लोग तप किया करते हैं ॥ ३८ ॥

तं तु देशमतिक्रम्य शैलोदा नाम निम्नगा ।
उभयोस्तीरयोस्तस्याः कीचका नाम वेणवः ॥ ३९ ॥

उस देश के आगे शैलोदा नाम की नदी है। उसके दोनों तटों पर कीचक नाम बाँस उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

ते नयन्ति परं तीरं सिद्धान्प्रत्यानयन्ति च ।
उत्तराः कुरवस्तत्र कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ॥ ४० ॥

वे सिद्धपुरुषों को इस तट से उस तट पर और उस तट से इस तट पर पहुँचाया करते हैं। उस नदी के उस पार उत्तर-कुरु नामक देश है। वहाँ पुण्यात्मा लोग रहा करते हैं ॥ ४० ॥

ततः काञ्चनपद्माभिः पद्मिनीभिः कृतोदकाः[1] ।
नीलवैडूर्यपत्राभिर्नद्यस्तत्र सहस्रशः ॥ ४१ ॥

और वहाँ सुनहले कमलों से युक्त जल से भरी पूरी पुष्करिणी हैं। वहाँ पर पन्नों के पत्रों से युक्त लाल कमल के फूलों से विभूषित हज़ारों नदियाँ हैं ॥ ४१ ॥

रक्तोत्पलवनैश्चात्र मण्डिताश्च हिरण्मयैः ।
तरुणादित्यसदृशैर्भान्ति तत्र जलाशयाः ॥ ४२ ॥

---

१ कृतोदकाः—पर्याप्तोदकाः । (गो०)

वहाँ लाल कमलों के वनों से, जो सुनहले देख पड़ते हैं, शोभायमान् और तरुण सूर्य की तरह चमकदार अनेक तालाब हैं ॥ ४२ ॥

महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः ।
नीलोत्पलवनैश्चित्रैः स देशः सर्वतो वृतः ॥ ४३ ॥

बड़े मूल्यवान् रत्नों और सुवर्ण तुल्य केसर वाले अद्भुत कमल के फूलों के जंगल से वह देश चारों ओर से घिरा हुआ है ॥ ४३ ॥

[1]निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च [2]महाधनैः ।
उद्भूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः ॥ ४४ ॥

इस देश की नदियों के ऊँचे ऊँचे तटों पर, गोल मोती, अत्यन्त सुन्दर और महामूल्यवान् रत्न और सोना पड़ा हुआ है ॥ ४४ ॥

सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा नगोत्तमैः ।
जातरूपमयैश्चापि हुताशनसमप्रभैः ॥ ४५ ॥

वहाँ पर सब रत्नों से भरे पूरे अद्भुत उत्तम उत्तम वृक्ष हैं, जो सुवर्णमयी अग्निज्वाला की तरह चमकीले हैं ॥ ४५ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।
दिव्यगन्धरसस्पर्शाः सर्वकामान्स्रवन्ति च ॥ ४६ ॥

इन वृक्षों में सदा फल फला करते हैं, और उन पर पक्षी भरे रहते हैं। उनकी गन्ध, उनका रस और उनका स्पर्श दिव्य है और वे सब मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं ॥ ४६ ॥

नानाकाराणि वासांसि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।
मुक्तावैडूर्यचित्राणि भूषणानि तथैव च ॥ ४७ ॥

---

१ निस्तुलाभिः—वर्तुलाभिः । (गो०) २ महाधनैः—बहुमूल्यैः । (गो०)

स्त्रीणां चाप्यनुरूपाणि पुरुषाणां तथैव च ।
सर्वर्तुसुखसेव्यानि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ॥ ४८ ॥

इन पेड़ों में कितने ही ऐसे पेड़ हैं, जिनमें तरह तरह के स्त्रियों और पुरुषों के पहिनने योग्य वस्त्र और मोती, पन्ना आदि मणियों के जड़ाऊ गहने फलते हैं और कोई कोई सब ऋतुओं में खाने योग्य फलों को उत्पन्न किया करते हैं ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

*महार्हमणि चित्राणि[1] †फलंत्यन्ये नगोत्तमाः ।
शयनानि प्रसूयन्ते चित्रास्तरणवन्ति च ॥ ४९ ॥

अनेक ऐसे वृक्ष हैं जो बड़ी मूल्यवान् मणियों की तरह फलों को उत्पन्न करते हैं। इन वृक्षों में से अनेक अच्छे अच्छे चित्रविचित्र बिछौने से युक्त पलंग पैदा करते हैं ॥ ४९ ॥

मनःकान्तानि माल्यानि फलन्त्यत्रापरे द्रुमाः ।
पानानि च महार्हाणि भक्ष्याणि विविधानि च ॥ ५० ॥

किसी किसी में मनोहर फूलों के हार और किसी किसी में मूल्यवान् तरह तरह के पीने और खाने योग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ ५० ॥

स्त्रियश्च गुणसम्पन्ना रूपयौवनलक्षिताः ।
गन्धर्वाः किन्नराः सिद्धा नागा विद्याधरास्तथा ॥ ५१ ॥

रमन्ते सहितास्तत्र नारीभिर्भास्करप्रभाः ।
सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे रतिपरायणाः ॥ ५२ ॥

---

1 चित्राणि—फलानि । (शि०) * पाठान्तरे—" महार्हाणि च " ।
† पाठान्तरे " हैमान्यन्ये " ।

किसी किसी वृक्ष में गुणवती, रूपवती युवती स्त्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वहाँ पर सूर्य की तरह प्रभा वाले गन्धर्व किन्नर, सिद्ध, नाग और विद्याधर अपनी स्त्रियों को लिये हुए विहार करते हैं। वे सब के सब पुण्यवान् और सब के सब रति में तत्पर हैं ॥५१॥५२॥

सर्वे कामार्थसहिता वसन्ति सहयोषितः।
गीतवादित्रनिर्घोषाः सोत्कृष्टहसितस्वनः ॥ ५३ ॥
श्रूयते सततं तत्र सर्वभूतमनोहरः।
तत्र नामुदितः कश्चिन्नास्ति कश्चिदसत्प्रियः ॥ ५४ ॥

और वे सब के सब कामभोग युक्त हो अपनी अपनी स्त्रियों के सहित वास करते हैं। वहाँ पर उत्कृष्ट हास्ययुक्त स्वर सहित, गाना बजाना सदा सुनाई पड़ता है, जो सब प्राणियों के मन को मुग्ध कर लेता है। वहाँ न तो कोई उदास देख पड़ता और न कोई बुरे कर्म अथवा वस्तु का प्रेमी देख पड़ता है (अर्थात् वहाँ वेश्याओं अथवा कुलटा स्त्रियों का अभाव है) ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

अहन्यहनि वर्धन्ते गुणास्तत्र मनोरमाः।
समतिक्रम्य तं देशमुत्तरः [1]पयसां निधिः ॥ ५५ ॥

वहाँ पर दिनों दिन वहाँ के वासियों के सद्गुणों की वृद्धि हुआ करती है। उस देश से आगे उत्तर की ओर जाने पर तुमको क्षीर समुद्र मिलेगा ॥ ५५ ॥

तत्र सोमगिरिर्नाम मध्ये हेममयो महान्।
इन्द्रलोकगता ये च ब्रह्मलोकगताश्च ये ॥ ५६ ॥

---

१ पयसां निधिः—लवणसमुद्रः। (गो०); क्षीराब्धिः। (शि०)

उन क्षीर समुद्र के बीच में सुवर्णमय और अति विशाल सोमगिरि नाम का पर्वत है। जो लोग इन्द्रलोक को अथवा ब्रह्मलोक को जाते हैं ॥ ५६ ॥

देवास्तं समवेक्षन्ते गिरिराजं दिवं गताः ।
स तु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते ॥ ५७ ॥

तथा स्वर्ग में आने जाने के समय देवता गण इस सोमगिरि नाम पर्वतराज को देखा करते हैं। (अर्थात् उक्त लोकों के रास्ते में यह है।) यद्यपि इस देश में सूर्य का प्रकाश नहीं है, तथापि सोमगिरि के प्रकाश से वह देश प्रकाशित रहता है ॥ ५७ ॥

सूर्यलक्ष्म्याभिविज्ञेयस्तपतेव विवस्वता ।
भगवानपि विश्वात्मा शम्भुरेकादशात्मकः ॥ ५८ ॥
ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्षिपरिवारितः ।
न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः ॥ ५९ ॥

और ऐसा जान पड़ता है, मानों सूर्य ही का प्रकाश हो रहा हो। वहाँ पर भगवान् विश्वरूप एकादशरुद्रात्मक देवेश श्रीब्रह्मा जी ब्रह्मर्षियों के साथ निवास करते हैं। अतः देखो तुम लोग कुरु के उत्तर देश में कभी मत जाना ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

अन्येषामपि भूतानां नातिक्रामति वै गतिः ।
स हि सोमगिरिर्नाम देवानामपि दुर्गमः ॥ ६० ॥

क्योंकि वहाँ पर कोई भी जीवधारी नहीं जा सकता। (अर्थात् ब्रह्मर्षियों को छोड़ अन्य कोई नहीं जा सकता) उस सोमगिरि पर देवता लोग भी नहीं जा सकते ॥ ६० ॥

तमालोक्य ततः क्षिप्रमुपावर्तितुमर्हथ ।
एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ॥
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ६१ ॥

तुम लोग तो केवल उसके दर्शन कर तुरन्त लौट आना। हे वानरश्रेष्ठो! बस, वानर लोग वहाँ तक जा सकते हैं। उसके आगे न तो सूर्य का प्रकाश है और न आगे का स्थान पृथिवी की सीमा के भीतर है। अतः इसके आगे क्या है सो मैं भी नहीं जानता ॥ ६१ ॥

सर्वमेतद्विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम् ।
यदन्यदपि नोक्तं च तत्रापि क्रियतां मतिः ॥ ६२ ॥

किन्तु जो जो स्थान मैंने तुमको बतलाये हैं, उन उन स्थानों में अच्छी तरह ढूढ़ना और जो स्थान मेरे बतलाने से छूट गये हैं उन सब को भी तुम लोग अपनी बुद्धि के अनुसार खोजना ॥ ६२ ॥

ततः कृतं दाशरथेर्महत्प्रियं
महत्तरं चापि ततो मम प्रियम् ।
कृतं भविष्यत्यनिलानलोपमा
विदेहजादर्शनजेन कर्मणा ॥ ६३ ॥

हे वायु और अग्नि के समान पराक्रम वालो! सीता जी का पता लगाने से श्रीरामचन्द्र जी और मैं, दोनों ही बहुत प्रसन्न होवेंगे ॥ ६३ ॥

ततः कृतार्थाः सहिताः सबान्धवा
मयार्चिताः सर्वगुणैर्मनोरमैः ।

चरिष्यथोर्वीं प्रतिशान्तशत्रवः
सहप्रिया भूतधराः प्लवङ्गमाः ॥ ६४ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे वानरों! तदनन्तर सफल मनोरथ हो कर और मुझसे सम्मानित हो, तुम सब अपने परिवार सहित, निष्कण्टक हो, अपनी सुविधा का स्थान देख, स्वच्छन्दता से विचरना ॥ ६४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तैतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

विशेषेण तु सुग्रीवो हनुमत्यर्थमुक्तवान्।
स हि तस्मिन्हरिश्रेष्ठे निश्चितार्थोऽर्थसाधने ॥ १ ॥

सुग्रीव ने हनुमान से कुछ विशेष बातें कहीं; क्योंकि उनको निश्चय था कि, यह कार्य कपिश्रेष्ठ हनुमान जी द्वारा ही सिद्ध होगा ॥ १ ॥

अब्रवीच्च हनूमन्तं विक्रान्तमनिलात्मजम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः प्रभुः सर्ववनौकसाम् ॥ २ ॥

समस्त वानरों के अधिपति सुग्रीव, पराक्रमशाली पवनतनय हनुमान जी से परम प्रसन्न हो कहने लगे ॥ २ ॥

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये।
नाप्सु वा गतिसङ्गं ते पश्यामि हरिपुङ्गव ॥ ३ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! मैं जानता हूँ कि, भूमि में, अन्तरिक्ष में (जहाँ बादल चला करते हैं) अथवा पवन के चलने के स्थान आकाश में, अथवा स्वर्ग में, अथवा जल में—सर्वत्र तुम वेरोक टोक जा सकते हो ॥ ३ ॥

सासुराः सगन्धर्वाः सनागनरदेवताः ।
विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः ॥ ४ ॥

तुम असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य, देवता, और सागर पहाड़ों सहित समस्त लोकों को जानते हो ॥ ४ ॥

गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे ।
पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य *महात्मनः ॥ ५ ॥

हे वीर महाकपे ! गति, वेग, तेज और फुर्ती में तुम अपने पिता महात्मा वायु के समान हो ॥ ५ ॥

तेजसा वापि ते भूतं समं भुवि न विद्यते ।
तद्यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवोपपादय ॥ ६ ॥

तुम्हारे समान तेजस्वी इस पृथिवी पर तो दूसरा कोई है नहीं। अतः हे वीर ! ऐसा उद्योग करना जिससे सीता का पता लग जाय ॥ ६ ॥

त्वय्येव हनुमन्नस्ति† बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित ॥ ७ ॥

हे हनुमान् ! तुम में बल, बुद्धि, विक्रम, तथा देश एवं काल का ज्ञान और नीति का विचार पूर्ण रूप से हैं, एवं तुम नीति में पण्डित हो ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" महौजसः । " † पाठान्तरे—" हनुमन्स्वस्ति " ।

ततः कार्यसमासङ्गमवगम्य हनूमति ।
विदित्वा हनुमन्तं च चिन्तयामास राघवः ॥ ८ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी, हनुमान द्वारा कार्य की सिद्धि जान और उनके बल विक्रम को तथा कार्य की गुरुता का मन ही मन विचार करने लगे ॥ ८ ॥

सर्वथा निश्चितार्थोऽयं हनूमति हरीश्वरः ।
निश्चितार्थकरश्चापि हनुमान्कार्यसाधने ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने विचारा कि, कपिराज सुग्रीव का यह निश्चय है कि, हनुमान द्वारा कार्य पूरा होगा और मेरा भी ऐसा ही विचार है कि, हनुमान ही यह काम कर सकेंगे ॥ ९ ॥

तदेवं प्रस्थितस्यास्य परिज्ञातस्य कर्मभिः ।
भर्त्रा परिगृहीतस्य ध्रुवः कार्यफलोदयः ॥ १० ॥

हनुमानजी अपने पहले किये हुए कर्मों द्वारा प्रसिद्ध हैं और सुग्रीव की भी इन पर कृपा है। तथा स्वामी की जिस पर विशेष कृपा होती है अथवा, स्वामी जिसका विशेष आदर करता है वह अवश्य कार्य को पूरा करता है ॥ १० ॥

तं समीक्ष्य महातेजा व्यवसायोत्तरं हरिम् ।
कृतार्थ इव संवृत्तः प्रहृष्टेन्द्रियमानसः ॥ ११ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी हनुमान जी को कार्यसाधन में श्रेष्ठ समझ, अपना कार्य हुआ सा जान, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ११ ॥

ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम् ।
अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परन्तपः ॥ १२ ॥

तदनन्तर शत्रुघाती श्रीरामचन्द्रजी ने हनुमान जी को अपने नामाक्षर से चिन्हित अँगूठी, सीता जी को विश्वास दिलाने के लिये, दी ॥ १२ ॥

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा ।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥ १३ ॥

(और कहा कि) हे कपिश्रेष्ठ ! इस अँगूठी को देख जनकनन्दिनी जान जायगी कि, तुम मेरे पास से आये हो और तुम पर विश्वास कर, तुमसे मिलेगी ॥ १३ ॥

व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः ।
सुग्रीवस्य च सन्देशः सिद्धिं कथयतीव मे ॥ १४ ॥

हे वीर ! तुम्हारा व्यवसाय, बल और विक्रम और सुग्रीव का आदेश, ये सब बातें मेरे कार्य की सिद्धि को जनाती हैं ॥ १४ ॥

स तं गृह्य हरिश्रेष्ठः* स्थाप्य मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
वन्दित्वा चरणौ चैव प्रस्थितः प्लवगोत्तमः ॥ १५ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान जी उस अँगूठी को माथे चढ़ा और हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्रजी के चरणों को प्रणाम कर, चल दिये ॥१५॥

स तत्प्रकर्षन्हरिणां बलं महद्-
बभूव वीरः पवनात्मजः कपिः ।
गताम्बुदे व्योम्नि विशुद्धमण्डलः
शशीव नक्षत्रगणोपशोभितः ॥ १६ ॥

उस समय वानरी सेना से घिरे हुए पवनतनय कपिवीर हनुमानजी की ऐसी शोभा हुई, जैसी कि, विमल (बादलशून्य)

---

* पाठान्तरे—" हरीश्रेष्ठः । "

आकाशमण्डल में तारागण सहित चन्द्रमा की शोभा होती है ॥ १६ ॥

अतिबल बलमाश्रितस्तवाहं
हरिवरविक्रम विक्रमैरनल्पैः ।
पवनसुत यथाभिगम्यते सा
जनकसुता हनुमंस्तथा कुरुष्व ॥ १७ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे सिंह जैसे विक्रम वाले! हे अति बलशालिन्! मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है। हे हनुमान्! तुम इस समय ऐसा उद्योग करो, जिससे मुझे जानकी जी मिल जायँ ॥ १७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौवालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—※—

सर्वांश्चाहूय सुग्रीवः प्लवगान्प्लवगर्षभः ।
[1]समस्तानब्रवीद्भूयो रामकार्यार्थसिद्धये ॥ १ ॥

जिससे श्रीरामचन्द्रजी का कार्य सिद्ध हो जाय, कपिराज सुग्रीव ने फिर सब वानरों को एक साथ बुला कर, पक्षपातशून्य हो कहा ॥ १ ॥

१ समः—सर्वत्रपक्षपातरहितः। (गो०)

[पहले सुग्रीव ने, अलग अलग बुला कर कहा था — इस बार सब से एक साथ कहा]।

एवमेतद्विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम् ।
तदुग्रशासनं भर्तुर्विज्ञाय हरिपुङ्गवाः ॥ २ ॥
शलभा इव संछाद्य मेदिनीं सम्प्रतस्थिरे ।
रामः प्रस्रवणे तस्मिन्न्यवसत्सहलक्ष्मणः ॥ ३ ॥
प्रतीक्षमाणस्तं मासं यः सीताधिगमे कृतः ।
उत्तरां तु दिशं रम्यां गिरिराजसमावृताम् ॥ ४ ॥

हे वानरश्रेष्ठों ! देखो, मैंने जैसे बतलाया है, वैसे ही सीता और रावण को ढूंढ़ना। अपने राजा की या मालिक की यह उग्र आज्ञा सुन कर, वानरश्रेष्ठ टीढ़ी दल की तरह समस्त पृथिवी को ढक कर प्रस्थानित हुए। उधर सीता जी का समाचार जानने में एक मास की निश्चत की हुई अवधि की समाप्ति की प्रतीक्षा करते हुए, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के सहित प्रस्रवण पर्वत पर टिके रहे। इधर हिमालय से छेकी हुई रमणीय उत्तर दिशा की ओर ॥२॥ ३॥ ४॥

प्रतस्थे *हरिभिर्वीरो हरिः शतवलिस्तदा ।
पूर्वां दिशं प्रति ययौ विनतो हरियूथपः ॥ ५ ॥

शतवलि नामक यूथपति अपनी वानरी सेना को साथ ले प्रस्थानित हुआ। उधर विनत नामक यूथपति अपनी सेना को ले पूर्व दिशा की ओर चल दिया ॥ ५ ॥

ताराङ्गदादिसहितः प्लवगः †पवनात्मजः ।
अगस्त्यचरितामाशां दक्षिणां हरियूथपः ॥ ६ ॥

* पाठान्तरे—" सहसा "। † पाठान्तरे—" मारुतात्मजः "।

हनुमानजी भी तार अङ्गदादि के साथ अगस्त्य सेवित दक्षिण दिशा की ओर चल दिये ॥ ६ ॥

पश्चिमां तु दिशं घोरां सुषेणः प्लवगेश्वरः ।
प्रतस्थे हरिशार्दूलो भृशं वरुणपालिताम् ॥ ७ ॥

वानरों के मुखिया सुषेण वरुण जी पालित घोर पश्चिम दिशा की ओर सिधारे ॥ ७ ॥

ततः सर्वा दिशो राजा चोदयित्वा यथातथम् ।
कपिसेनापतीन्मुख्यान्मुमोद सुखितः[1] सुखम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर चारों दिशाओं में यथायोग्य वानर सेनापतियों को भेज, कपिराज सुग्रीव वैसे ही प्रसन्न हुए जैसे वे पहले राज्यप्राप्त कर सुखी हुए थे ॥ ८ ॥

एवं *संचोदिताः सर्वे राज्ञा वानरयूथपाः ।
स्वां स्वां दिशमभिप्रेत्य त्वरिताः सम्प्रतस्थिरे ॥ ९ ॥

इस प्रकार भेजे जा कर, सब वानर सेनापति अपनी अपनी निर्दिष्ट दिशाओं में शीघ्रतापूर्वक चल दिये ॥ ९ ॥

आनयिष्यामहे सीतां हनिष्यामश्च रावणम् ।
[2]नदन्तश्चोन्नदन्त[3]श्च गर्जन्तश्च[4] प्लवंगमाः ॥ १० ॥

---

१ सुखितः सुखम्—पूर्वराज्यलाभेन सुखितो राजा सुखं यथा भवति तथा मुमोद । उत्तरोत्तरं सुख प्राप्तेत्यर्थः । (गो०) २ नदन्तः—शब्दं कुर्वन्तः । (गो०) ३ उन्नदन्तः—पुनः सन्तोषातिशयेन उच्चैर्नदन्तः । (गो०) ४ गर्जन्तः —आत्मश्लाघां कुर्वन्तः । * पाठान्तरे—" सम्बोधितः " ।

क्ष्वेलन्तो[१] धावमानाश्चविनदन्तो[२] महाबलाः ।
अहमेको हनिष्यामि प्राप्तं रावणमाहवे ॥ ११ ॥

वे महाबली वानरगण यह कह कर कि, हम "सीता को लावेंगे, हम रावण का वध करेंगे" गर्जते, उच्च स्वर से शब्द करते, अपनी बड़ाई करते, सिंहनाद करते, दौड़ते हुए और किलकारियां मारते चले जाते थे। वे लोग आपस में कहते जाते थे, यदि रावण मुझे मिल गया तो, मैं अकेला ही युद्ध में उसके प्राण ले लूंगा ॥ १० ॥ ११ ॥

ततश्चोन्मथ्य सहसा हरिष्ये जनकात्मजाम् ।
वेपमानां श्रमेणाद्य भवद्भिः स्थीयतामिति* ॥ १२ ॥

कोई कहता अब आप श्रम न करें धीरज धरें, मैं रावण को मार कर, भय से कांपती हुई जानकी को छीन लाऊँगा ॥ १२ ॥

एक एवाहरिष्यामि पातालादपि जानकीम् ।
विमथिष्याम्यहं वृक्षान्पातयिष्याम्यहं गिरीन् ॥ १३ ॥

धरणीं धारयिष्यामि क्षोभयिष्यामि सागरान् ।
अहं योजनसंख्यायाः प्लविता नात्र संशयः ॥ १४ ॥

शतं योजनसंख्यायाः शतं समधिकं ह्यहम् ।
भूतले सागरे वापि शैलेषु च वनेषु च ॥ १५ ॥
पातालस्यापि वा मध्ये न ममाच्छिद्यते गतिः ॥ १६ ॥

---

१ क्ष्वेलन्तः—सिंहनादं कुर्वन्तः । (गो०) २ विनदन्तः—नादानकुर्वन्तः । (गो०) * पाठान्तरे "स्थीयतामिह" ।

कोई कहता, यदि जानकी पाताल में भी छिपाई गयी होगी तो, भी मैं अकेला ही उसे ला दूँगा। कोई कहता मैं पेड़ों के टुकड़े टुकड़े कर डालूँगा, पहाड़ों को ढहा दूँगा, पृथिवी को उठालूँगा, समुद्र को क्षुब्ध कर डालूँगा। कोई कहता मैं एक छलांग में एक योजन कूद सकता हूँ। कोई कहता मैं एक छलांग में सौ योजन नांघ सकता हूँ। किसी ने कहा मैं सौ से भी अधिक नांघ सकता हूँ। कोई कहता मैं बिना रोक टोक सारी पृथिवी, समुद्र, पहाड़ वन अथवा पाताल में जा सकता हूँ। मेरी गति को कोई नहीं रोक सकता ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

इत्येकैकं तदा तत्र वानरा बलदर्पिताः ।
ऊचुश्च वचनं तत्र हरिराजस्य सन्निधौ ॥ १६ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

कपिराज सुग्रीव की सन्निधि में एक एक कर, उन बन्दरों ने बल के गर्व से गर्वित हो, इस प्रकार के वचन कहे ॥ १६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पैंतालिसवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

गतेषु वानरेन्द्रेषु रामः सुग्रीवमब्रवीत् ।
कथं भवान्विजानीते सर्वं वै मण्डलं भुवः ॥ १ ॥

जब वानर-सेनापति लोग चले गये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से पूँछा कि, यह तो बतलाओ आपको समस्त भूमण्डल का हाल किस प्रकार अवगत हुआ ॥ १ ॥

सुग्रीवस्तु ततो राममुवाच प्रणतात्मवान् ।
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये विस्तरेण नरर्षभ ॥ २ ॥

इसके उत्तर में सुग्रीव ने सिर नवा श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे पुरुषोत्तम! सुनिये, मैं विस्तार पूर्वक समस्त वृतान्त कहता हूँ ॥ २ ॥

यदा तु दुन्दुभिं नाम दानवं महिषाकृतिम् ।
परिकालयते वाली मलयं प्रति पर्वतम् ॥ ३ ॥

जब भैंसा का रूप धारण किये हुए दुन्दभी नामक दानव, वालि से लड़ने किष्किन्धा में आया और वालि के भय से मलय पर्वत की ओर भागा ॥ ३ ॥

तदा विवेश महिषो मलयस्य गुहां प्रति ।
विवेश वाली तत्रापि मलयं तज्जिघांसया ॥ ४ ॥

और वह मलय पर्वत की गुफा में घुस गया, तब वालि भी उसका वध करने की इच्छा से उस गुफा में घुसा ॥ ४ ॥

ततोऽहं तत्र निक्षिप्तो गुहाद्वारि विनीतवत् ।
न च निष्क्रमते वाली तदा संवत्सरे गते ॥ ५ ॥

मैं उस गुफा के द्वार पर विनययुक्त हो ठहरा रहा। मुझे वहाँ ठहरे हुए जब एक वर्ष हो गया और तब भी वालि बाहिर न आया ॥ ५ ॥

ततः क्षतजवेगेन आपुपूरे तदा बिलम् ।
तदहं विस्मितो दृष्ट्वा भ्रातृशोकविषार्दितः ॥ ६ ॥

तदनन्तर रुधिर की धार ऐसे वेग से निकली कि, वह गुफा खून से भर गयी। उसको देख मैं विस्मित और भाई के मारे जाने का अनुमान कर, उसके शोक से अत्यन्त दुःखी हुआ॥ ६॥

अथाहं कृतबुद्धिस्तु सुव्यक्तं निहतो गुरुः।
शिला पर्वतसङ्काशा बिलद्वारि मयावृता॥ ७॥

मुझे यह विश्वास हो गया कि, वालि अवश्य मारा गया। तब मैंने एक पर्वताकार शिला ले उस गुफा के द्वार को बंद कर दिया॥ ७॥

अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशेदिति।
ततोऽहमागां किष्किन्धां निराशस्तस्य जीविते॥ ८॥

इस लिये कि, यदि दानव बाहिर निकलना चाहेगा तो निकल न सकेगा, बल्कि उसीमें मर जायगा। तदनन्तर मैं किष्किन्धा में चला आया और वालि के जीवन से हताश हो गया॥ ८॥

राज्यं च सुमहत्प्राप्तं तारया रुमया सह।
मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः॥ ९॥

फिर मैं बहुत बड़ा राज्य प्राप्त कर तथा तारा और रुमा एवं अपने मित्रों के साथ, सम्पूर्ण चिन्ताओं को छोड़, रहने लगा॥ ९॥

आजगाम ततो वाली हत्वा तं दानवर्षभम्।
ततोऽहमददां राज्यं गौरवाद्भययन्त्रितः॥ १०॥

इसी बीच में उस दानवश्रेष्ठ को मार कर, वालि आ पहुँचा। तब मैंने वालि के बड़प्पन का विचार कर और उससे भयभीत हो राजसिंहासन उसको दिया॥ १०॥

स मां जिघांसुर्दुष्टात्मा वाली प्रव्यथितेन्द्रियः।
परिकालयते क्रोधाद्धावन्तं सचिवैः सह ॥ ११ ॥

किन्तु दुष्टात्मा वालि व्यथित हो, मुझे मार डालने के लिये मेरे ऊपर दौड़ा, तब मैं अपने मंत्रियों के साथ भागा ॥ ११ ॥

ततोऽहं वालिना तेन सानुबन्धः[1] प्रधावितः।
नदीश्च विविधाः पश्यन्वनानि नगराणि च ॥ १२ ॥

तब वालि ने मेरे मंत्रियों सहित मेरा पीछा किया। मैंने भागते भागते रास्ते में विविध नदियां, वन और नगर देखे ॥ १२ ॥

आदर्शतलसङ्काशा ततो वै पृथिवी मया।
अलातचक्रप्रतिमा दृष्टा गोष्पदवत्तदा ॥ १३ ॥

उस समय से यह पृथिवी मेरे लिये दर्पण की तरह हो गयी है। यह पृथिवी मुझे अलातचक्र के समान देख पड़ी और मैंने इसे गोष्पद की तरह कर डाला ॥ १३ ॥

[१ अलातचक्र—प्रज्वलित लुका। २ गोष्पद—नमभूमि पर जब गौ चलती है तब उसके, चलने से उसके खुर से गड़ा बन जाता है। उस गढ़े में भरा हुआ जल।]

पूर्वां दिशं ततो गत्वा पश्यामि विविधान्द्रुमान्।
पर्वतांश्च नदी रम्याः सरांसि विविधानि च ॥ १४ ॥

प्रथम मैं पूर्व दिशा में गया और वहां विविध प्रकार के पेड़, पर्वत, नदी और विविध रमणीक सरों को देखा ॥ १४ ॥

---

१ सानुबन्धः—आमात्यः। (गो०)

उदयं तत्र पश्यामि पर्वतं धातुमण्डितम् ।
क्षीरोदं सागरं चैव नित्यमप्सरसालयम् ॥ १५ ॥

उस दिशा में धातुओं से मण्डित उदयाचल को तथा क्षीर सागर को, जहाँ सदा अप्सराएँ रहा करती हैं, देखा ॥ १५ ॥

परिकालयमानस्तु वालिनाभिद्रुतस्तदा ।
पुनरावृत्य सहसा प्रस्थितोऽहं तदा विभो ॥ १६ ॥

मैं भाग रहा था और वालि भी बड़ी तेज़ी से मेरा पीछा कर रहा था। तब मैं वहाँ से भाग कर फिर उदयाचल पर्वत पर गया ॥ १६ ॥

पुनरावर्तमानस्तु वालिनाऽभिद्रुतो द्रुतम् ।
दिशस्तस्यास्ततो भूयः प्रस्थितोऽदक्षिणां दिशम् ॥ १७ ॥

किन्तु जब वालि ने फिर भी वहाँ मेरा पीछा बड़ी तेज़ी से किया, तब मैं पूर्व दिशा को त्याग, दक्षिण दिशा में चला गया ॥ १७ ॥

विन्ध्यपादपसङ्कीर्णां चन्दनद्रुमशोभिताम् ।
द्रुमशैलांस्ततः पश्यन्भूयो दक्षिणतोऽपरान् ॥ १८ ॥

दक्षिण दिशा में विन्ध्याचल है और वह चन्दन के वृक्षों से शोभित है। वहाँ मैंने वृक्ष की आड़ से देखा कि, वालि मेरा पीछा किये चला आता है। तब मैं दक्षिण दिशा को त्याग ॥ १८ ॥

पश्चिमां तु दिशं प्राप्तो वालिना समभिद्रुतः ।
सम्पश्यन्विविधान्देशानस्तं च गिरिसत्तमम् ॥ १९ ॥

वालि से पिछ्याया हुआ मैं पश्चिम दिशा में गया। वहाँ मैं तरह तरह के देशों को देखता हुआ अस्ताचल तक चला गया॥ १९॥

प्राप्य चास्तं गिरिश्रेष्ठमुत्तरां सम्प्रधावितः।
हिमवन्तं च मेरुं च समुद्रं च तथोत्तरम्॥ २०॥

गिरिश्रेष्ठ अस्ताचल पर पहुँच कर, मैं फिर उत्तर दिशा को भागा। उत्तर दिशा में पहुँच, हिमालय, मेरु और उत्तर समुद्र तक गया॥ २०॥

यदा न विन्दं शरणं वालिना समभिद्रुतः।
तदा मां बुद्धिसम्पन्नो हनुमान्वाक्यमब्रवीत्॥ २१॥

परन्तु जब वालि के भय से मेरा कहीं भी पिण्ड न छूटा, तब बुद्धिमान् हनुमान जी ने मुझसे कहा॥ २१॥

इदानीं मे स्मृतं राजन्यथा वाली हरीश्वरः।
मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले॥ २२॥

हे राजन्! इस समय मुझको याद आयी है कि, इस वानरराज वालि को मतङ्ग मुनि का शाप है कि, यदि उनके आश्रममण्डल में॥ २२॥

प्रविशेद्यदि वै वाली मूर्धाऽस्य शतधा भवेत्।
तत्र वासः सुखोऽस्माकं निरुद्विग्नो भविष्यति॥ २३॥

वालि जायगा तो उसके सिर के हज़ारों टुकड़े हो जायँगे। अतः वहाँ हम लोग सुखपूर्वक बेखटके रहेंगे॥ २३॥

ततः पर्वतमासाद्य ऋश्यमूकं नृपात्मज।
न विवेश तदा वाली मतङ्गस्य भयात्तदा॥ २४॥

हे राजकुमार! उस पर्वत पर वालि, मतङ्ग ऋषि जी के शाप के डर से नहीं आया ॥ २४ ॥

एवं मया तदा राजन्प्रत्यक्षमुपलक्षितम् ।
पृथिवीमण्डलं कृत्स्नं गुहामस्यागतस्ततः ॥ २५ ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राजन्! इस प्रकार मैं समस्त पृथिवीमण्डल प्रत्यक्ष देख कर, इस किष्किन्धा नगरी में लौट आया ॥ २५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छियालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—※—

दर्शनार्थं तु वैदेह्याः सर्वतः कपियूथपाः ।
व्यादिष्टाः कपिराजेन यथोक्तं जग्मुरञ्जसा ॥ १ ॥

जानकी जी के ढूंढ़ने के लिये आज्ञा पा कर सब कपियूथपति, सुग्रीव द्वारा बतलाई हुई निर्दिष्ट दिशाओं को रवाना हुए ॥ १ ॥

सरांसि सरितः [1]कक्षानाकाशं नगराणि च ।
[2]नदीदुर्गांस्तथा शैलान्विचिन्वन्ति समन्ततः ॥ २ ॥

वे सब सरोवरों, नदियों, लतागृहों, (कुंजों) आकाश, नदियों के दुर्गम स्थानों और पहाड़ों को चारों ओर से खोजने लगे ॥ २ ॥

---

१ कक्षान्—गुल्मान् । लतागृहानित्यर्थः । (गो०) २ नदीदुर्गान्—नदीभिर्दुर्गमान् । (गो०)

सुग्रीवेण समाख्याताः सर्वे वानरयूथपाः ।
प्रदेशान्प्रविचिन्वन्ति सशैलवनकाननान् ॥ ३ ॥
विचित्य दिवसं सर्वे सीताधिगमने धृताः ।
समायान्ति स्म मेदिन्यां निशाकालेषु वानराः ॥ ४ ॥
सर्वर्तुकामान्देशेषु वानराः सफलान्द्रुमान् ।
आसाद्य रजनीं शय्यां चक्रुः सर्वेष्वहःसु ते ॥ ५ ॥

वे वानर सारे दिन तो सुग्रीव के वतलाये देशों, पहाड़ों और वनों में सीता को ढूढ़ने में तत्पर रहते थे, किन्तु जव सूरज डूवता, तव वे भूमि पर आ ऐसे स्थान पर जहाँ सव ऋतुओं में फल देने वाले फले हुए वृक्ष होते, सो रहते थे ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

तदहः प्रथमं कृत्वा मासे प्रस्रवणं गताः ।
कपिराजेन सङ्गम्य निराशाः कपियूथपाः ॥ ६ ॥

इस प्रकार प्रस्रवण गिरि से प्रस्थान करने के दिन से पूरा एक मास सीता को ढूढ़ने में लगा तथा हताश हो सव वानर सुग्रीव के पास लौट कर आ गये ॥ ६ ॥

विचित्य तु दिशं पूर्वां यथोक्तां सचिवैः सह ।
अदृष्ट्वा विनतः सीतामाजगाम महावलः ॥ ७ ॥

महावीर विनत अपने मंत्रियों सहित जैसा कि, सुग्रीव ने उसे वताया था ; पूर्व दिशा में सीता को ढूढ़ कर और सीता का पता न पा कर लौट आया ॥ ७ ॥

उत्तरां च दिशं सर्वां विचित्य स महाकपिः ।
आगतः सह सैन्येन वीरः शतवलिस्तदा ॥ ८ ॥

इसी प्रकार महाकपि वीर शतबलि भी समस्त उत्तर दिशा में सीता जी को ढूंढ़ कर सेना सहित लौट आया ॥ ८ ॥

सुषेणः पश्चिमामाशां विचित्य सह वानरैः ।
समेत्य मासे सम्पूर्णे सुग्रीवमुपचक्रमे ॥ ९ ॥

इसी प्रकार सुषेण भी अपनी सेना सहित पूरे एक मास तक पश्चिम दिशा में सीता जी को ढूंढ़ तथा पता न पा कर सुग्रीव के पास लौट आया ॥ ९ ॥

तं प्रस्रवणपृष्ठस्थं समासाद्याभिवाद्य च ।
आसीनं सह रामेण सुग्रीवमिदमब्रुवन् ॥ १० ॥

उस प्रस्रवण पर्वत पर आ कर, उन सब यूथपतियों ने श्रीरामचन्द्रजी के साथ बैठे हुए सुग्रीव को प्रणाम कर उनसे कहा ॥ १० ॥

विचिताः सर्वताः सर्वे वनानि गहनानि च ।
निम्नगाः सागरान्ताश्च सर्वे जनपदाश्च ये ११ ॥

गुहाश्च विचिताः सर्वास्त्वया याः परिकीर्तिताः ।
विचिताश्च महागुल्मा लताविततिसन्तताः ॥ १२ ॥

गहनेषु च देशेषु दुर्गेषु विषमेषु च ।
सत्त्वान्यतिप्रमाणानि विचितानि हतानि च ॥ १३ ॥

हे राजन्! हमने आपके बतलाये हुए सब पहाड़, छोटे और बड़े वन, नदियाँ, समुद्रतट, समस्त जनपद, गुफाएँ, लतागृह ढूंढ़े। फिर समस्त दुष्प्रवेश्य द्वीपों में, ऊँचे नीचे स्थानों में, जहाँ व कठिनाई से जा सके थे, जा कर, ढूंढ़ा और वहाँ हमें जो बड़े बड़े

शरीरधारी जीव जन्तु मिले, उनको रावण समझ हमने मार डाला। किन्तु जानकी का पता न लगा॥ ११॥ १२॥ १३॥

उदारसत्त्वाभिजनो महात्मा
स मैथिलीं द्रक्ष्यति वानरेन्द्रः।
दिशं तु यामेव गता तु सीता
तामास्थितो वायुसुतो हनूमान्॥ १४॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः॥

हे कपिराज! महापराक्रमी और श्रेष्ठ कुलोत्पन्न हनुमान जी सीता का पता अवश्य लगावेंगे। क्योंकि रावण सीता को जिस दक्षिण दिशा में ले गया था, उसीमें हनुमान जी गये हैं॥ १४॥

किष्किन्धाकाण्ड का सैंतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—※—

सह ताराङ्गदाभ्यां तु गत्वा स हनुमान्कपिः।
सुग्रीवेण यथोद्दिष्टं तं देशमुपचक्रमे॥ १॥

सुग्रीव ने जैसा बतलाया था, तदनुसार हनुमान जी तार और अङ्गद के साथ दक्षिण दिशा को गये॥ १॥

स तु दूरमुपागम्य सर्वैस्तैः कपिसत्तमैः।
विचिनोति स्म विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च॥ २॥

वे सब वानरों को साथ लिये हुए, बहुत दूर चले गये और विन्ध्याचल की गहन गुफाओं में सीता जी को ढूंढ़ने लगे ॥ २ ॥

पर्वताग्रान्नदीदुर्गान्सरांसि विपुलान्द्रुमान् ।
वृक्षषण्डांश्च विविधान्पर्वतान्घनपादपान् ॥ ३ ॥

अन्वेषमाणास्ते सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ।
न सीतां ददृशुर्वीरा मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ ४ ॥

विन्ध्याचल के शिखर प्रदेशों को, नदियों को, दुर्गमस्थानों को, सरोवरों को, अनेक वृक्ष समूहों को, वनों को, विविध पर्वतों को और झाड़ियों को चारों ओर से ढूंढ़ते हुए भी, उन वीरों को जनकनन्दिनी मैथिली का पता न चला ॥ ३ ॥ ४ ॥

ते भक्षयन्तो मूलानि फलानि विविधानि च ।
अन्वेषमाणा दुर्धर्षा न्यवसंस्तत्र तत्र ह ॥ ५ ॥

वे विविध प्रकार के मूलों और फलों को खाते और ढूंढ़ते हुए दुर्धर्ष स्थानों में जहाँ तहाँ टिक जाते थे ॥ ५ ॥

स तु देशो दुरन्वेषो गुहागहनवान्महान् ।
निर्जलं निर्जनं शून्यं गहनं रोमहर्षणम् ॥ ६ ॥

वे सब ऐसे निर्जल, निर्जन और शून्य स्थान को, जिसे देखने से रोमाञ्च हो, तथा वैसे ही वनों को भी ढूंढ़ कर बड़े पीड़ित हुए। क्योंकि वहाँ की गुफाओं में और वहाँ के सघन वनप्रदेश में खोजना अत्यन्त दुष्कर कार्य था ॥ ६ ॥

त्यक्त्वा तु तं तदा देशं सर्वे वै हरियूथपाः ।
तादृशान्यप्यरण्यानि विचित्य भृशपीडिताः ॥ ७ ॥

तदनन्तर वे सब कपियूथपति उस प्रदेश को त्याग कर, वैसे ही अन्य वनों में सीता को ढूंढ़ने लगे, किन्तु यहाँ भी उनको बड़े बड़े कष्ट झेलने पड़े ॥ ७ ॥

देशमन्यं दुराधर्षं विविशुश्चाकुतोभयाः ।
यत्र वन्ध्यफला वृक्षा विपुष्पाः पर्णवर्जिताः ॥ ८ ॥

वहाँ से अधिक कठिन देश में वे वानर अत्यन्त निर्भीक हो कर गये। वहाँ के वृक्षों में न तो फल थे, न फूल थे और न पत्ते ही थे ॥ ८ ॥

निस्तोयाः सरितो यत्र मूलं यत्र सुदुर्लभम् ।
न सन्ति महिषा यत्र न मृगा न च हस्तिनः ॥ ९ ॥

वहाँ की नदियों में जल नहीं था और वहाँ मूलों का मिलना भी बहुत कठिन था। वहाँ पर न भैंसे, न मृग और न हाथी ही थे ॥ ६ ॥

शार्दूलाः पक्षिणो वापि ये चान्ये वनगोचराः ।
न यत्र वृक्षा नौषध्यो न लता नापि वीरुधः[1] ॥ १० ॥

वहाँ न शार्दूल, न पक्षी, न कोई अन्य वनैला जीव जन्तु ही था। न वृक्ष थे, न कोई जड़ी बूटी थी, न वृक्षलता और न स्थललता ही थीं ॥ १० ॥

स्निग्धपत्राः स्थले यत्र पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ।
प्रेक्षणीयाः सुगन्धाश्च भ्रमरैश्चापि वर्जिताः ॥ ११ ॥

---

१ वीरुधः—स्थललताः। (रा०)

किन्तु वहाँ की भूमि में हरे हरे पत्तों से युक्त, फूले हुए फूलों से शोभायमान, जो देखने में सुन्दर और सुगन्ध युक्त थे, कमल के वृक्ष दिखलाई पड़े, परन्तु उन कमल के फूलों पर भौंरा एक भी न था ॥ ११ ॥

कण्डुर्नाम महाभागः सत्यवादी तपोधनः ।
महर्षिः परमामर्षी नियमैर्दुष्प्रधर्षणः ॥ १२ ॥

वहाँ पर महाभाग सत्यवादी तपोधन महाक्रोधी, महर्षि कण्डु रहते थे । वे अपने ब्रह्मकर्म सम्बन्धी नियम पालन में दुर्धर्ष थे ॥ १२ ॥

तस्य तस्मिन्वने पुत्रो बालः षोडशवार्षिकः ।
प्रनष्टो जीवितान्ताय क्रुद्धस्तत्र महामुनिः ॥ १३ ॥

उस वन में उनका एक सोलह वर्ष का बालक मर गया था । इस पर उन महर्षि को वहाँ बड़ा क्रोध उपजा ॥ १३ ॥

तेन धर्मात्मना शप्तं कृत्स्नं तत्र महद्वनम् ।
अशरण्यं दुराधर्षं मृगपक्षिविवर्जितम् ॥ १४ ॥

और उन धर्मात्मा ने उस समस्त महावन को शाप दिया कि, आज से इस वन में कोई नहीं रहेगा, यह दुष्प्रवेश्य होगा और यह मृग पक्षी आदि जीवों से रहित होगा ॥ १४ ॥

तस्य ते काननान्तांश्च गिरीणां कन्दराणि च ।
प्रभवाणि नदीनां च विचिन्वन्ति समाहिताः ॥ १५ ॥

उन सब वानरों ने उस वन के समस्त पहाड़ों की कन्दराएँ तथा नदियों के तटवर्ती स्थानों को भली भाँति ढूंढ़ा ॥ १५ ॥

तत्र चापि महात्मानो नापश्यञ्जनकात्मजाम् ।
हर्तारं रावणं वापि सुग्रीवप्रियकारिणः ॥ १६ ॥

परन्तु उन महात्माओं ने वहाँ भी जनकनन्दिनी को न पाया और न सुग्रीव के प्रिय मित्र श्रीरामचन्द्र जी की भार्या के हर्त्ता रावण ही का पता लगा ॥ १६ ॥

ते प्रविश्याशु तं भीमं लतागुल्मसमावृतम् ।
ददृशुः क्रूरकर्माणमसुरं सुरनिर्भयम् ॥ १७ ॥

उन्होंने उस भयङ्कर लता गुल्म से युक्त वन में जा कर देवताओं से निर्भय, भयङ्करकर्मा एक असुर को देखा ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वानरा घोरं स्थितं शैलमिवापरम् ।
गाढं परिहिताः सर्वे दृष्ट्वा तं पर्वतोपमम् ॥ १८ ॥

उन वानरों ने उस पर्वताकार भयङ्कर असुर को देख, वे इससे लड़ने के लिये कटिबद्ध हुए ॥ १८ ॥

सोऽपि तान्वानरान्सर्वान्नष्टाः स्थेत्यब्रवीद्बली ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो मुष्टिमुद्यम्य संहितम् ॥ १९ ॥

वह बलवान् राक्षस भी उन समस्त वानरों को देख बोला कि, मैं अभी तुमको नष्ट किये डालता हूँ। तदनन्तर घूँसा तान और अत्यन्त क्रुद्ध हो वह उन सब वानरों की ओर दौड़ा ॥ १६ ॥

तमापतन्तं सहसा वालिपुत्रोऽङ्गदस्तदा ।
रावणोऽयमिति ज्ञात्वा तलेनाभिजघान ह ॥ २० ॥

---

१ परिहिताः—सन्नद्धाः (शि०)

स वालिपुत्राभिहतो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
असुरो न्यपतद्भूमौ पर्यस्त इव पर्वतः ॥ २१ ॥

उसको आते देख, अंगद ने उसे रावण जान उसके एक ऐसा थप्पड़ मारा कि, वह मुख से रुधिर उगलता हुआ, उखड़े हुए पर्वत की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २० ॥ २१ ॥

तेऽपि तस्मिन्निरुच्छ्वासे वानरा जितकाशिनः ।
व्यचिन्वन्प्रायशस्तत्र सर्वं तद्गिरिगह्वरम् ॥ २२ ॥

उस असुर के मरने से वे विजयी वानर पहाड़ की समस्त कन्दराओं को और वन को रत्ती रत्ती कर के ढूढ़ने लगे ॥ २२ ॥

विचितं तु ततः कृत्वा सर्वे ते काननं पुनः ।
अन्यदेवापरं घोरं विविशुर्गिरिगह्वरम् ॥ २३ ॥

उस वन को वार वार ढूढ़ते ढूढ़ते वे एक दूसरी विचित्र भयङ्कर पहाड़ी गुफा में घुसे ॥ २३ ॥

ते विचित्य पुनः खिन्ना विनिष्पत्य समागताः ।
एकान्ते वृक्षमूले तु निषेदुर्दीनमानसाः ॥ २४ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

उन सब वानरों ने वहाँ भी सीता जी और रावण को ढूढ़ा और वहाँ भी उनको न पा कर, वे दुःखी हुए और उदास हो, एकान्त में एक वृक्ष के नीचे बैठ गये ॥ २४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अड़तालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—※—

अथाङ्गदस्तदा सर्वान्वानरानिदमब्रवीत् ।
परिश्रान्तो महाप्राज्ञः समाश्वास्य शनैर्वचः ॥ १ ॥

तदनन्तर महाबुद्धिमान् अङ्गद थक कर समस्त वानरों को क्रमशः समझा बुझा कर कहने लगे ॥ १ ॥

वनानि गिरयो नद्यो दुर्गाणि गहनानि च ।
दर्यो गिरिगुहाश्चैव विचितानि समन्ततः ॥ २ ॥

हम लोगों ने बड़े बड़े सघन वन, पर्वत, नदी, दुर्गम स्थान, घाटी, पहाड़ों की कन्दराएँ भली भाँति ढूढ़ी ॥ २ ॥

तत्र तत्र सहास्माभिर्जानकी न च दृश्यते ।
तद्वा रक्षो हृता येन सीता सुरसुतोपमा ॥ ३ ॥

किन्तु इन सब स्थानों में से कहीं भी देवकन्या की तरह सीता को अथवा सीता को हरने वाले राक्षस रावण को न पाया ॥ ३ ॥

कालश्च वो महान्यातः सुग्रीवश्चोग्रशासनः ।
तस्माद्भवन्तः सहिता विचिन्वन्तु समन्ततः ॥ ४ ॥

खोजते खोजते समय भी बहुत बीत गया और उधर सुग्रीव की आज्ञा भी बड़ी कठोर है । अतः आप सब मिल कर पुनः खोजिये ॥ ४ ॥

विहाय तन्द्रीं शोकं च निद्रां चैव समुत्थिताम् ।
विचिनुध्वं यथा सीतां पश्यामो जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

आप सब को आलस्य, शोक, और निद्रा का त्याग कर देना चाहिये और ऐसी मुस्तैदी से ढूढ़ना चाहिये, जिससे जानकी जी मिल जांय ॥ ५ ॥

अनिर्वेदं च दाक्ष्यं[1] च मनसश्चापराजयः[2] ।
कार्यसिद्धिकराण्याहुस्तस्मादेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ ६ ॥

मन की प्रफुल्लता, उत्साह और धैर्य कार्य की सिद्धि के साधन कहे जाते हैं। इसीसे मैं तुम लोगों से यह बात कहता हूँ कि, ॥ ६ ॥

अद्यापि तद्वनं दुर्गं विचिन्वन्तु वनौकसः ।
खेदं त्यक्त्वा पुनः सर्वैर्वनमेतद्विचीयताम् ॥ ७ ॥

हे वानरों ! तुम लोग खेद का परित्याग कर, पुनः वनों तथा दुर्गम स्थानों को भली भाँति ढूँढो ॥ ७ ॥

अवश्यं क्रियमाणस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ।
अलं निर्वेदमागम्य न हि नो मीलनं[3] क्षमम् ॥ ८ ॥

भली भाँति किये हुए काम का फल अवश्य मिलता हुआ देखा जाता है। अतएव हिम्मत हार कर, हम लोगों को हाथ पर हाथ रख कर, चुप चाप बैठना उचित नहीं ॥ ८ ॥

सुग्रीवः कोपनो राजा तीक्ष्णदण्डश्च वानरः ।
भेतव्यं तस्य सततं रामस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥

---

१ दाक्ष्यं—उत्साहः । (गो०) २ मनसश्चपराजयः—धैर्यमित्यर्थः । (गो०) ३ मीलनं—नेत्र मीलनं । कर्त्तव्यं अकृत्वा तूष्णीं भाव इत्यर्थः । (गो०)

फिर एक तो सुग्रीव क्रोधी स्वभाव के राजा हैं, दूसरे वे कठोर दण्ड देने वाले हैं। अतः उनसे तथा महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से हम सब को सदा डरना चाहिये ॥ ९ ॥

हितार्थमेतदुक्तं वः क्रियतां यदि रोचते ।
उच्यतां वा क्षमं[1] यन्नः सर्वेषामेव वानराः ॥ १० ॥

मैंने जो कहा है, सो तुम सब की भलाई के लिये ही कहा है, यदि तुम्हें पसंद आवे तो इसके अनुसार कार्य करो। यदि नहीं तो जो तुम लोग उचित समझते हो वह बतलाओ ॥ १० ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा वचनं गन्धमादनः ।
उवाचाव्यक्तया वाचा पिपासाश्रमखिन्नया ॥ ११ ॥

अङ्गद के इन वचनों को सुन, गन्धमादन नामक वानर जो बहुत थका हुआ था और प्यास से विकल था, कहने लगा ॥ ११ ॥

सदृशं खलु वो वाक्यमङ्गदो यदुवाच ह ।
हितं चैवानुकूलं च क्रियतामस्य भाषितम् ॥ १२ ॥

हे भाइयो! अङ्गद ने जो कुछ कहा है वह निश्चय ही उनके योग्य है, हितकर है और हम लोगों के अनुकूल है। अतः इनके कथनानुसार ही हम लोगों को कार्य करना चाहिये ॥ १२ ॥

पुनर्मार्गामहे शैलान्कन्दरांश्च दरींस्तथा ।
काननानि च शून्यानि गिरिप्रस्रवणानि च ॥ १३ ॥

आओ हम लोग फिर से पहाड़, गुफाएँ, घाटियाँ, वन, शून्य स्थल, पहाड़ी झरनों को ढूंढे ॥ १३ ॥

---

1 क्षमं—युक्तं । (शि०)

यथोद्दिष्टानि सर्वाणि सुग्रीवेण महात्मना ।
विचिन्वन्तु वनं सर्वे गिरिदुर्गाणि सर्वशः ॥ १४ ॥

जैसे कि महात्मा सुग्रीव ने बतला दिया है, वैसे ही आओ सब वानर मिल कर वनों और दुर्गम पर्वतों को भली भाँति खोजें ॥१४॥

ततः समुत्थाय पुनर्वानरास्ते महाबलाः ।
विन्ध्यकाननसङ्कीर्णां विचेरुर्दक्षिणां दिशम् ॥ १५

तदनन्तर सब वानर विन्ध्याचल के जंगलों से व्याप्त दक्षिण दिशा में घूम फिर कर ढूढ़ने लगे ॥ १५ ॥

ते शारदाभ्रप्रतिमं श्रीमद्रजतपर्वतम् ।
शृङ्गवन्तं दरीमन्तमधिरुह्य च वानराः ॥ १६ ॥

अब वे वानरगण शारदीय मेघमाला जैसे शोभायुक्त तथा शिखरों और घाटियों वाले रजत पर्वत पर चढ़ गये ॥ १६ ॥

तत्र *लोध्रवनं रम्यं सप्तपर्णवनानि च ।
व्यचिन्वंस्ते हरिवराः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ १७ ॥

वे कपिश्रेष्ठ वहाँ सीता जी के दर्शन की कामना से रमणीय लोध्रवन और सतौना के वनों को ढूढ़ने लगे ॥ १७ ॥

तस्याग्रमधिरूढास्ते श्रान्ता विपुलविक्रमाः ।
न पश्यन्ति स्म वैदेहीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १८ ॥

वे उस पर्वत की सब से ऊँची चोटी पर चढ़ कर, ढूढ़ते ढूढ़ते हैरान हो गये। किन्तु श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी सीता को न पाया ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—" कोद्रवनं " ।

ते तु दृष्टिगतं कृत्वा तं शैलं बहुकन्दरम् ।
अवारोहन्त हरयो वीक्षमाणाः समन्ततः ॥ १९ ॥

इतने में उनको एक पर्वत देख पड़ा, जिसमें बहुत सी गुफाएँ थीं। उस पर्वत पर भी वे चढ़ गये और वहाँ भी चारों ओर सीता जी को ढूँढ़ा ॥ १६ ॥

अवरुह्य ततो भूमिं श्रान्ता विगतचेतसः ।
स्थित्वा मुहूर्तं तत्राथ वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥ २० ॥

तदनन्तर वे सब के सब श्रान्त हो मूर्छित से हो गये और घबड़ा कर पर्वत से उतर कर, भूमि पर चले आये। वहाँ वे एक वृक्ष के नीचे बैठ कुछ देर तक सुस्ताये ॥ २० ॥

ते मुहूर्तं समाश्वस्ताः किंचिद्भग्नपरिश्रमाः ।
पुनरेवोद्यताः कृत्स्नां मार्गितुं दक्षिणां दिशम् ॥ २१ ॥

कुछ देर तक विश्राम कर और थकावट मिटा वे फिर समस्त दक्षिण दिशा को ढूँढ़ने के लिये उद्यत हुए ॥ २१ ॥

हनुमत्प्रमुखास्ते तु प्रस्थिताः प्लवगर्षभाः ।
विन्ध्यमेवादितस्तावद्विचेरुस्ते ततस्ततः ॥ २२ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

हनुमदादि प्रमुख कपिगण पुनः विन्ध्याचल से ले कर दक्षिण दिशा को ढूँढ़ने लगे ॥ २२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चाशः सर्गः

—※—

सह ताराङ्गदाभ्यां तु संगम्य हनुमान्कपिः ।
विचिनोति स्म विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ १ ॥

हनुमान जो अपने साथ अङ्गद और तार को साथ ले, विन्ध्याचल की गुफाओं और दुर्गम स्थानों अथवा सघन वन को ढूढ़ने लगे ॥ १ ॥

सिंहशार्दूलजुष्टेषु गुहाश्च सरितस्तथा ।
विषमेषु नगेन्द्रस्य महाप्रस्रवणेषु च ॥ २ ॥

वे वानर विन्ध्य पर्वत की सिंह-शार्दूल-युक्त गुफाओं, सरिताओं और बड़े बड़े दुर्गम झरनों पर जा कर सीता को ढूढ़ने लगे ॥ २ ॥

आसेदुस्तस्य शैलस्य कोटिं दक्षिणपश्चिमाम् ।
तेषां तत्रैव वसतां स कालो व्यत्यवर्तत ॥ ३ ॥

वे विन्ध्यपर्वत के दक्षिण और पश्चिम वाले कोने पर खोज करने लगे । इतने ही में सुग्रीव की निर्दिष्ट की हुई अवधि बीत गयी ॥ ३ ॥

स हि देशो दुरन्वेषो गुहागहनवान्महान् ।
तत्र वायुसुतः सर्वं विचिनोति स्म पर्वतम् ॥ ४ ॥

वह स्थान भी बड़ी कठिनाई से खोजने योग्य था, क्योंकि वहाँ पर बड़ी बड़ी दुर्गम गुफाएँ थीं और वहाँ जो वन था वह भी बड़ा

लंबा चौड़ा और सघन था। परन्तु हनुमान जी ने उस समस्त पर्वत को भी ढूढ़ डाला ॥ ४ ॥

परस्परेण हनुमानन्यांन्यस्याविदूरतः ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ ५ ॥
मैन्दश्च द्विविदश्चैव सुषेणो जाम्बवान्नलः ।
अङ्गदो युवराजश्च तारश्च वनगोचरः ॥ ६ ॥
गिरिजालावृतान्देशान्मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ।
विचिन्वन्तस्ततस्तत्र ददृशुर्विवृतं[1] बिलम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर एक दूसरे का साथ छोड़ और थोड़ी थोड़ी दूर पर रह कर, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविन्द, सुषेण, जाम्बवान, नल, युवराज अङ्गद और वानर तार, पर्वतमाला से छिपे देशों में घुस घुस कर, दक्षिण दिशा में ढूंढ़ने लगे। इतने में ढूंढ़ते ढाँढ़ते वहाँ उनको एक विस्तृत बिल देख पड़ा ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

दुर्गमृक्षबिलं नाम दानवेनाभिरक्षितम् ।
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च सलिलार्थिनः ॥ ८ ॥
अवकीर्णं लतावृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम् ।
ततः क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन् ॥ ९ ॥
जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः ।
ततस्तद्बिलमासाद्य सुगन्धि दुरतिक्रमम् ॥ १० ॥

उस बिल का नाम ऋक्षबिल अर्थात् रीछ का बिल था। वह दुर्गम था और दानव से रक्षित था। उन सब के सब वानरों ने, जो

[1] विवृतं—विस्तृतं। (गो०)

भूख और प्यास से विकल, थके और जलपान की इच्छा किये हुए थे, उस बड़े बिल को, जो लताओं तथा वृक्षों से ढका हुआ था, देखा उस बिल में से क्रौंच, हंस, सारस, जल से तराबोर तथा कमल के पराग के पीले रंग से रंगे हुए निकल रहे थे। उस सुवासित और दुष्प्रवेश्य बिल के पास जाने पर ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

विस्मयव्यग्रमनसो बभूवुर्वानरर्षभाः ।
सञ्जातपरिशङ्कास्ते तद्बिलं प्लवगोत्तमाः ॥ ११ ॥

उन सब वानरोत्तमों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे घबड़ाये भी। उन वानरश्रेष्ठों को उस बिल के विषय में बड़ा सन्देह उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

अभ्यपद्यन्तसंहृष्टास्तेजोवन्तो महाबलाः ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं दैत्येन्द्रनिलयोपमम् ॥ १२ ॥

परन्तु वे लोग बड़े तेजस्वी और महाबलवान थे, अतः बिल के द्वार के समीप जा पहुँचे और (वहाँ जल होने के चिन्ह देख) प्रसन्न हुए। वह बिल उनको नाना जीवों से भरा हुआ, दैत्येन्द्र राजा बलि के आवासस्थल, पाताल की तरह देख पड़ा ॥ १२ ॥

दुर्दर्शमतिघोरं च दुर्विगाहं च सर्वशः ।
ततः पर्वतकूटाभो हनुमान्पवनात्मजः ॥ १३ ॥
अब्रवीद्वानरान्सर्वान्कान्तारवनकोविदः ।
गिरिजालावृतान्देशान्मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ॥ १४ ॥
वयं सर्वे परिश्रान्ता न च पश्याम मैथिलीम् ।
अस्माच्चापि बिलाद्धंसाः क्रौञ्चाश्च सह सारसैः ॥ १५ ॥

जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च निष्पतन्ति स्म सर्वतः ।
नूनं सलिलवानत्र कूपो वा यदि वा ह्रदः ॥ १६ ॥

वह केवल सब ओर से दुष्प्रवेश्य ही न था, किन्तु उसके देखने से ही डर लगता था। पर्वताकार विशाल वपुधारी तथा बड़े बड़े वनों का हाल जानने वाले हनुमान जी, उन सब वानरों से बोले—हम सब लोग पर्वतमाला से पूरित दक्षिण के देशों को ढूढ़ते ढूढ़ते थक गये और सीता का पता न लगा सके। इस बिल में से हंस, क्रौंच, सारस और चक्रवाक पक्षी जल से तर निकल रहे हैं। इससे निश्चय होता है कि, इसमें या तो जल पूरित कोई कुआ है अथवा तालाब है ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

तथा चेमे बिलद्वारे स्निग्धास्तिष्ठन्ति पादपाः ।
इत्युक्त्वा तद्बिलं सर्वे विविशुस्तिमिरावृतम् ॥ १७ ॥

देखो, इस बिल के मुहाने पर भी हरे भरे वृक्ष लगे हुए हैं। (इससे भी वहाँ कुआ या तालाब का होना निश्चित होता है।) हनुमान जी के यह कहने पर वे सब वानर उस अंधियारे बिल में घुस गये ॥ १७ ॥

अचन्द्रसूर्यं हरयो ददृशू रोमहर्षणम् ।
निशाम्य तस्मात्सिंहांश्च तांस्तांश्च मृगपक्षिणः ॥ १८ ॥

उस बिल में सूर्य अथवा चन्द्रमा का प्रकाश न था—अतः उसमें जाते ही वानरों के रोंगटे खड़े हो गये। परन्तु उसमें से सिंहो, मृगों और पक्षियों को निकलते देख, ॥ १८ ॥

प्रविष्टा हरिशार्दूला बिलं तिमिरसंवृतम् ।
न तेषां सज्जते चक्षुर्न तेजो न पराक्रमः ॥ १९ ॥

वे सब वानरश्रेष्ठ उस अंधियारे बिल में घुस गये। उस समय उनकी यह दशा थी कि, उनको आँखों से देख नहीं पड़ता था और (प्यासे होने के कारण) उनके शरीर में तेज और पराक्रम नहीं रह गया था ॥ १६ ॥

वायोरिव गतिस्तेषां दृष्टिस्तमसि वर्तते ।
ते प्रविष्टास्तु वेगेन तद्बिलं कपिकुञ्जराः ॥ २० ॥

यद्यपि उस अन्धकार में उनको कुछ भी नहीं देख पड़ता था, तथापि वे कपिकुञ्जर, वायु की तरह धड़धड़ाते हुए उस बिल में घुस गये ॥ २० ॥

प्रकाशमभिरामं च ददृशुर्देशमुत्तमम् ।
ततस्तस्मिन्बिले दुर्गे नानापादपसङ्कुले ॥ २१ ॥
अन्योन्यं सम्परिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम् ।
ते नष्टसंज्ञास्तृषिताः सम्भ्रान्ताः सलिलार्थिनः ॥ २२ ॥

जब वे उस बिल के भीतर पहुँच गये, तब उन्होंने वहाँ सुन्दर प्रकाश और उत्तम स्थान देखा। (किन्तु वहाँ पहुँचने के पूर्व) उस दुर्गम तथा विविध वृक्षों से परिपूर्ण बिल में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए (अर्थात् एक दूसरे का सहारा लिए हुए) वे एक योजन चले थे। (सहारा लेने का कारण यह था कि,) वे प्यास से विकल और थके माँदे पानी के लिये मूर्छित से हो रहे थे ॥ २१ ॥ २२ ॥

परिपेतुर्बिले तस्मिन्कञ्चित्कालमतन्द्रिताः ।
ते कृशा दीनवदनाः परिश्रान्ताः प्लवङ्गमाः ॥ २३ ॥

वे वानर पहले ही से दुर्बल शरीर, उदास वदन और थके माँदे थे, अतः उस बिल में पहुँच, वे थोड़ी देर तक (भूमि पर) पड़े रहे ॥ २३ ॥

आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते तदा ।
ततस्तं देशमागम्य सौम्यं वितिमिरं वनम् ॥ २४ ॥

जब वे अपने जीवन से निराश हो रहे थे, तब उनको प्रकाश देख पड़ा। वे वानर ऐसे स्थान में जा पहुँचे, जहाँ प्रकाशयुक्त सुन्दर वन था ॥ २४ ॥

ददृशुः काञ्चनान्वृक्षान्दीप्तवैश्वानरप्रभान् ।
सालांस्तालांश्च पुन्नागान्ककुभान्वञ्जुलान्धवान् ॥ २५ ॥

चम्पकान्नागवृक्षांश्च कर्णिकारांश्च पुष्पितान् ।
स्तवकैः काञ्चनैश्चित्रै रक्तैः किसलयैस्तथा ॥ २६ ॥

आपीडैश्च लताभिश्च हेमाभरणभूषितान् ।
तरुणादित्यसङ्काशान्वैडूर्यकृतवेदिकान् ॥ २७ ॥

उस वन में उन्होंने प्रज्वलित अग्नि की तरह सोने के पेड़ देखे। उनमें साखू, ताड़, तमाल, नागकेसर, मौलसिरी, धव, चम्पा, नागवृक्ष, और पुष्पित कर्णिकार के वृक्ष भी थे; जो सोने के रंग विरंगे पुष्पों के गुच्छों, लाल पत्तों, मञ्जरियों और लताओं से ऐसे शोभायमान थे, मानों किसी ने उन्हें सोने के गहनों से सजा दिया हो। उनमें ऐसे भी कितने पेड़ थे, जो मध्याह्न कालीन सूर्य की तरह चमचमाते पन्नों के चबूतरों पर लगे हुए थे ॥ २५ ॥ २६ ॥ ॥ २७ ॥

विभ्राजमानान्वपुषा पादपांश्च हिरंण्मयान् ।
नीलवैडूर्यवर्णाश्च पद्मिनीः पतगावृताः ॥ २८ ॥

ये सब वृक्ष काञ्चनमय होने से चमक रहे थे। सरोवरों के तटों पर नीलम और पन्ने के रंग के नीले हरे पक्षी कूज रहे थे ॥ २८ ॥

महद्भिः काञ्चनैः पद्मैर्वृता बालार्कसन्निभैः ।
जातरूपमयैर्मत्स्यैर्महद्भिश्च सकच्छपैः ॥ २९ ॥

उनमें प्रातःकालीन सूर्य की तरह रंग वाले बड़े बड़े सोने के कमल के फूल खिले हुए थे और सोने की बड़ी बड़ी मछलियाँ, और कछुए उनमें भरे थे ॥ २९ ॥

नलिनीस्तत्र ददृशुः प्रसन्नसलिलावृताः ।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि तथैव च ॥ ३० ॥

इस प्रकार की स्वच्छ जल वाली पुष्करिणियों को देखने के अतिरिक्त वहाँ पर सैकड़ों सोने चांदी के बने हुए सतखने भवन खड़े हुए थे ॥ ३० ॥

तपनीयगवाक्षाणि मुक्ताजालावृतानि च ।
हैमराजतभौमानि वैडूर्यमणिमन्ति च ॥ ३१ ॥

उनमें सोने के झरोखे थे और द्वारों पर मोतियों की वंदनवारें लटक रही थीं। भवनों के फर्श सोने चांदी के थे और यथास्थान उनमें पन्ना नीलम आदि मणियाँ जड़ी हुई थीं ॥ ३१ ॥

ददृशुस्तत्र हरयो गृहमुख्यानि सर्वशः ।
पुष्पितान्फलिनो वृक्षान्प्रवालमणिसन्निभान् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार के बड़े बड़े भवन उन वानरों ने वहाँ चारों ओर देखे। वहाँ जो वृक्ष थे उनमें मूँगा और मणियों की तरह फूल और फल लगे हुए थे ॥ ३२ ॥

काञ्चनभ्रमरांश्चैव *मधूनि च समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शयनान्यासनानि च ॥ ३३ ॥

उन वृक्षों पर सोने के (सुनहले रंग के) भ्रमर गूँज रहे थे और चारों ओर मधु ही मधु दिखलाई पड़ता था। उन भवनों में मणियों के जड़ाऊ और सोने के बने हुए रंग विरंगे पलंग और आसन पड़े हुए थे ॥ ३३ ॥

महार्हाणि च यानानि ददृशुस्ते समन्ततः ।
हैमराजतकांस्यानां भाजनानां च सञ्चयान् ॥ ३४ ॥

बहुमूल्य सवारियाँ भी चारों ओर खड़ी हुई देख पड़ती थीं और सोने, चाँदी एवं काँसे के बरतनों के ढेर लगे हुए थे ॥ ३४ ॥

अगरूणां च दिव्यानां चन्दनानां च सञ्चयान् ।
शुचीन्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च ॥ ३५ ॥

अगर, और दिव्य चन्दनों का ढेर लगा हुआ था। जगह जगह अनेक प्रकार के अतिपवित्र खाद्यपदार्थ (अर्थात्) मूलों और फलों के ढेर लगे हुए थे ॥ ३५ ॥

महार्हाणि च पानानि मधूनि रसवन्ति च ।
दिव्यानामम्बराणं च महार्हाणां च सञ्चयान् ॥ ३६ ॥

बड़े मूल्यवान पेय पदार्थ और, रसीले मधु फल रखे थे। वहाँ बड़े सुन्दर और मूल्यवान् पहिनने के वस्त्रों का भी अच्छा सञ्चय था ॥ ३६ ॥

कम्बलानां च चित्राणामजिनानां च सञ्चयान् ।
तत्र तत्र च विन्यस्तान्दीप्तान्वैश्वानरप्रभान् ॥ ३७ ॥

---

* पाठान्तरे —" वधूनि "।

इनके अतिरिक्त प्रज्वलित अग्नि की तरह चमकीले रंग बिरंगे कंबल (शाल दुशाले) तथा मृगचर्मों के ढेर भी जगह जगह लगे हुए थे ॥ ३७ ॥

ददृशुर्वानराः शुभ्राञ्जातरूपस्य सञ्चयान् ।
तत्र तत्र विचिन्वन्तो बिले तस्मिन्महाबलाः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उन महाबली वानरों ने वहाँ बिल में (इधर उधर) ढूढ़ते ढूढ़ते निर्मल सुवर्ण के ढेर के ढेर जहाँ तहाँ देखे ॥ ३८ ॥

ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं काञ्चिददूरतः ।
तां दृष्ट्वा भृशसंत्रस्ताश्चीरकृष्णाजिनाम्बराम् ॥
तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उन शूर वानरों ने पास ही एक तपस्विनी स्त्री को, जो काले मृग का चर्म धारण किये हुए थी और नियत आहार किया करती थी और बड़ी तेजस्विनी थी, देखा । उसको देख वे सब बहुत भयभीत हो गये ॥ ३९ ॥

विस्मिता हरयस्तत्र व्यवातिष्ठन्त[1] सर्वशः ।
पप्रच्छ हनुमांस्तत्र कासि त्वं कस्य वा बिलम् ॥ ४० ॥

वे सब के सब वानर उसे देख विस्मित हो दूर खड़े हो गये । तदनन्तर हनुमान जी ने उससे पूँछा कि, तुम कौन हो और यह बिल किस का है ? ॥ ४० ॥

ततो हनूमान्गिरिसन्निकाशः
कृताञ्जलिस्तामभिवाद्य वृद्धाम् ।

---

१ व्यवातिष्ठन्ति—दूरेस्थिता । (गो०)

पप्रच्छ का त्वं भवनं विलं च
रत्नानि हेमानि वदस्व कस्य ॥ ४१ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

पर्वततुल्य देहधारी हनुमान जी ने हाथ जोड़ कर, उस वृद्ध तापसी से पूछा कि, आप यह तो बतलावें कि, आप कौन हैं? यह भवन और यह बिल किसके हैं और इन रत्नों और सुवर्ण की ढेरियों का मालिक कौन है? ॥ ४१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकपञ्चाशः सर्गः

—※—

इत्युक्त्वा हनुमांस्तत्र पुनः कृष्णाजिनाम्बराम् ।
अब्रवीत्तां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ॥ १ ॥

यह कह हनुमान जी ने फिर उस चीर और कृष्णाजिन के वस्त्र धारण करने वाली, महाभागा, तापसी और धर्मचारिणी स्त्री से कहा ॥ १ ॥

इदं प्रविष्टाः सहसा विलं तिमिरसंवृतम् ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ताः परिखिन्नाश्च सर्वशः ॥ २ ॥

हम सब लोग थके माँदे भूखे प्यासे और सब प्रकार से खिन्न हो कर, सहसा इस अंधकारपूर्ण बिल में चले आये हैं ॥ २ ॥

महद्धरण्या विवरं प्रविष्टाः स्म पिपासिताः ।
इमांस्त्वेवंविधान्भावान्विविधानद्भुतोपमान् ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा वयं प्रव्यथिताः सम्भ्रान्ता नष्टचेतसः ।
कस्यैते काञ्चना वृक्षास्तरुणादित्यसन्निभाः ॥ ४ ॥

हम लोग विशेष कर प्यासे होने के कारण ही इस बड़े भारी बिल में चले आये हैं, परन्तु यहाँ पर इन अनेक प्रकार के अद्भुत पदार्थों को देख कर, अधिक व्यथित और विकल होने के कारण, हम सब अचेत से हो गये हैं। ये सब मध्यान्हकालीन सूर्य की तरह चमकीले सोने के वृक्ष किसके हैं? ॥ ३ ॥ ४ ॥

शुचीन्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च ।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणि च ॥ ५ ॥

ये सब पवित्र भोज्य पदार्थ फल मूलादि किसके हैं? ये सोने के सतखने भवन और चाँदी के घर ॥ ५ ॥

तपनीयगवाक्षाणि मणिजालावृतानि च ।
पुष्पिताः फलवन्तश्च पुण्याः सुरभिगन्धिनः ॥ ६ ॥

जो सोने के झरोखों से युक्त हैं और जिन पर मणियों की पर्दाएँ पड़ी हैं, किसके हैं? ये सब फल-फूल-युक्त पेड़, जिनकी पवित्र सुगन्ध फैली हुई है, ॥ ६ ॥

इमे जाम्बूनदमयाः पादपाः कस्य तेजसा ।
काञ्चनानि च पद्मानि जातानि विमले जले ॥ ७ ॥

ये सब सुवर्णमय वृक्ष तथा निर्मल जल में ये सब सुवर्णमय कमल, किसके तेज से फूल रहे हैं ॥ ७ ॥

कथं मत्स्याश्च सौवर्णाश्चरन्ति सह कच्छपैः ।
आत्मानमनुभावं च कस्य चैतत्तपोबलम् ॥ ८ ॥

ये सोने की मछलियाँ कछुओं सहित जल में क्योंकर विचरती हैं? क्या ये सब चमत्कार आपके तपःप्रभाव के फल स्वरूप हैं अथवा किसी अन्य के ॥ ८ ॥

अजानतां नः सर्वेषां सर्वमाख्यातुमर्हसि ।
एवमुक्ता हनुमता तापसी धर्मचारिणी ॥ ९ ॥

हम लोगों को इसका हाल नहीं मालूम । अतः आप हमें इसका समस्त वृत्तान्त बतलाइये । जब हनुमान जी ने इस प्रकार पूछा, तब वह धर्मचारिणी तापसी, ॥ ९ ॥

प्रत्युवाच हनूमन्तं सर्वभूतहिते रता ।
मयो नाम महातेजा मायावी दानवर्षभः ॥ १० ॥

जो सब प्राणियों के ऊपर दया करने वाली थी, हनुमान जी के प्रश्नों का उत्तर देती हुई कहने लगी । महातेजस्वी मय नाम का एक मायावीश्रेष्ठ दानव था ॥ १० ॥

तेनेदं निर्मितं सर्वं मायया काञ्चनं वनम् ।
पुरा दानवमुख्यानां विश्वकर्मा बभूव ह ॥ ११ ॥

उसने ही यह सब सुवर्णमय वन अपनी माया के बल से बनाया है । पहले यह दानव, मुख्यदानवों का विश्वकर्मा अर्थात् शिल्पी था ॥ ११ ॥

येनेदं काञ्चनं दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम् ।
स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥ १२ ॥

जिसने यह सुवर्णमय दिव्य भवन बनाया है, उसने महावन में एक हज़ार वर्ष तप कर, ॥ १२ ॥

पितामहाद्वरं लेभे सर्वमौशनसं धनम् ।
वनं विधाय बलवान्सर्वकामेश्वरस्तदा ॥ १३ ॥

पितामह ब्रह्मा जी से यह वर पाया कि, शिल्पविद्या सम्बन्धी जो विद्या शुक्राचार्य ने बनायी है, उसका समस्त ज्ञान उसको हो। वह महाबली इस वन को बना, यहाँ की समस्त भोग्य वस्तुओं का स्वामी हो गया ॥ १३ ॥

उवास सुखितः कालं कञ्चिदस्मिन्महावने ।
तमप्सरसि हेमायां शक्तं दानवपुङ्गवम् ॥ १४ ॥

वह इस महावन में कुछ दिनों तक सुखपूर्वक रहा। फिर वह हेमा नामक एक अप्सरा पर आसक्त हो गया ॥ १४ ॥

विक्रम्यैवाशनिं गृह्य जघानेशः पुरन्दरः ।
इदं च ब्रह्मणा दत्तं हेमायै वनमुत्तमम् ॥ १५ ॥

तब इन्द्र ने युद्ध में अपने वज्र से उसको मार डाला। तब ब्रह्मा जी ने यह उत्तम वन हेमा को दे डाला ॥ १५ ॥

शाश्वताः कामभोगाश्च गृहं चेदं हिरण्मयम् ।
दुहिता मेरुसावर्णेरहं तस्याः स्वयंप्रभा ॥ १६ ॥

यहाँ के पदार्थों का उपभोग करने की आज्ञा और यह सुवर्णमय भवन भी हेमा को दिया। मैं मेरुसावर्णी की बेटी स्वयंप्रभा हूँ ॥ १६ ॥

इदं रक्षामि भवनं हेमाया वानरोत्तम ।
मम प्रियसखी हेमा नृत्तगीतविशारदा ॥ १७ ॥

हे वानरोत्तम ! मैं हेमा के इस भवन की रखवाली किया करती हूँ। मेरी प्यारी सखी हेमा नाचने गाने में बड़ी निपुण है ॥ १७ ॥

तया दत्तवरा चास्मि रक्षामि भवनोत्तमम् ।
किं कार्यं कस्य वा हेतोः कान्ताराणि प्रपश्यथ ॥
कथं चेदं वनं दुर्गं युष्माभिरुपलक्षितम् ॥ १८ ॥

उसीके दिये हुए वर से मैं इस उत्तम वन की रक्षा करती हूँ। अब तुम बतलाओ तुम किस कार्य के लिये अथवा किस कारणवश इस वन में आये हो । इस दुर्गमवन को तुमने किस प्रकार देखा ॥ १८ ॥

इमान्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च ।
भुक्त्वा पीत्वा च पानीयं सर्वं मे वक्तुमर्हथ ॥ १९ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

तुम सब लोग इन खाने पीने योग्य पदार्थों को खा कर और पानी पीकर अपने यहाँ आने का समस्त वृतान्त मुझसे कहो ॥ १९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—※—

अथ तानब्रवीत्सर्वान्विक्रान्तान्हरिपुङ्गवान् ।
इदं वचनमेकाग्रा तापसी धर्मचारिणी ॥ १ ॥

जब वे सब पराक्रमी वानरश्रेष्ठ खा पी कर विश्राम कर चुके, तब तपसी धर्मचारिणी स्वयंप्रभा ने एकाग्रचित्त हो, उनसे ये वचन कहे ॥ १ ॥

वानरा यदि वः खेदः प्रणष्टः फलभक्षणात् ।
यदि चैतन्मया श्राव्यं श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ २ ॥

हे वानरों ! यदि फल खा कर तुम्हारी थकावट मिट गयी हो, और यदि यह बात मेरे सुनने के योग्य हो, तो मैं चाहती हूँ कि, तुम अपना वृत्तान्त मुझे कह सुनाओ ॥ २ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनुमान्मारुतात्मजः ।
आर्जवेन[1] यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ३ ॥

पवनतनय हनुमान जी उस तापसी के ये वचन सुन, निष्कपट भाव से सारा वृत्तान्त ज्यों का त्यों कहने लगे ॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।
रामो दाशरथिः श्रीमान्प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ४ ॥

इन्द्र और वरुण तुल्य, सर्वलोकों के राजा दशरथ जी के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी दण्डक वन में आये ॥ ४ ॥

---

१ आर्जवेन्—अकपटेन । (गो०)

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया।
तस्य भार्या जनस्थानाद्रावणेन हृता बलात् ॥ ५ ॥

उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण और उनकी पत्नी वैदेही थी। जनस्थान से उनकी भार्या को वरजोरी रावण हर कर ले गया ॥ ५ ॥

वीरस्तस्य सखा राज्ञः सुग्रीवो नाम वानरः।
राजा वानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम् ॥ ६ ॥

उनके मित्र राजा सुग्रीव हैं जो बड़े वीर हैं। उन्हीं वानरों के राजा सुग्रीव ने हमको सीता को ढूँढ़ने के लिये भेजा है ॥ ६ ॥

अगस्त्यचरितामाशां दक्षिणां यमरक्षिताम्।
सहैभिर्वानरैर्घोरैरङ्गदप्रमुखैर्वयम् ॥ ७ ॥

हम लोग अङ्गदादि प्रधान वानरों के साथ अगस्त्य सेवित दक्षिण दिशा में आये हैं ॥ ७ ॥

रावणं सहिताः सर्वे राक्षसं कामरूपिणम्।
सीतया सह वैदेह्या मार्गध्वमिति चोदिताः ॥ ८ ॥

सुग्रीव ने हम लोगों को आज्ञा दी है कि, हम सब मिल कर सीता जी का तथा कामरूपी राक्षस का पता लगावें ॥ ८ ॥

विचित्य तु वयं सर्वे समग्रां दक्षिणां दिशम्।
बुभुक्षिताः परिश्रान्ता वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥ ९ ॥

तदनुसार हमने सारी दक्षिण दिशा ढूँढ़ डाली। अन्त में भूखे प्यासे और थके मांदे हो, वृक्ष के नीचे बैठ गये ॥ ९ ॥

विवर्णवदनाः सर्वे सर्वे ध्यानपरायणाः ।
नाधिगच्छामहे पारं मग्नाश्चिन्तामहार्णवे ॥ १० ॥

हमारे सब के चेहरे पीले पड़ गये और हम लोग अत्यन्त चिन्तित हुए। हम चिन्ता के समुद्र में ऐसे डूबे कि, किसी तरह उसके पार न जा सके ॥ १० ॥

चारयन्तस्ततश्चक्षुर्दृष्टवन्तो वयं बिलम् ।
लतापादपसंछन्नं तिमिरेण समावृतम् ॥ ११ ॥

जब हम चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर खोज रहे थे, तब हमको यह बिल देख पड़ा, जो लता और वृक्षों से ढका था और जिसमें अन्धकार छाया हुआ था ॥ ११ ॥

अस्माद्धंसा जलक्लिन्नाः पक्षैः सलिलरेणुभिः* ।
कुरराः सारसाश्चैव निष्पतन्ति पतत्रिणः ॥ १२ ॥

उस समय इस बिल से जल में भींगे और पुष्पपराग से रंगे हंस, कुरर और सारस पक्षी निकल रहे थे ॥ १२ ॥

साध्वत्र प्रविशामेति मया तूक्ताः प्लवङ्गमाः ।
तेषामपि हि सर्वेषामनुमानमुपागतम् ॥ १३ ॥

यह देख हमने वानरों से कहा कि, अच्छा चलो इसमें चलें। मेरी यह बात सब वानरों को रुची अथवा जल से भींगे पक्षियों को देख इसमें जल का अनुमान कर सब वानर इस बिल में आने को राज़ी हो गये ॥ १३ ॥

गच्छाम प्रविशामेति भर्तृकार्यत्वरान्विताः ।
ततो गाढं निपतिता गृह्य हस्तौ परस्परम् ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"सलिलविस्रवैः ।"

हम सब को कार्य पूरा करने की उतावली थी, अतएव हम सब बड़ी शीघ्रता से इस बिल में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए घुस आये ॥ १४ ॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम् ।
एतन्नः कार्यमेतेन कृत्येन वयमागताः ॥ १५ ॥

इस प्रकार हम इस अन्धकाराछन्न बिल में सहसा घुसे । बस यही हमारा कार्य है और इसी कार्य के लिये हम यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

त्वां चैवोपगताः सर्वे परिद्यूना[1] बुभुक्षिताः ।
आतिथ्यधर्मदत्तानि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

हम सब के सब भूख और प्यास से क्षीण हो, तुम्हारे पास आये और तुमने आतिथ्य धर्मानुसार हमें फल मूल खाने को दिये ॥ १६ ॥

अस्माभिरुपभुक्तानि बुभुक्षापरिपीडितैः ।
यत्त्वया रक्षिताः सर्वे म्रियमाणा बुभुक्षया ॥ १७ ॥

भूख से पीड़ित, हम लोगों ने उन फलों को खाया । सो तुमने मानों भूख से मरते हुए हम लोगों की जान बचा ली ॥ १७ ॥

ब्रूहि प्रत्युपकारार्थं किं ते कुर्वन्तु वानराः ।
एवमुक्ता तु सर्वज्ञा वानरैस्तैः स्वयंप्रभा ॥ १८ ॥

अब बतलाओ इसके बदले में हम सब वानर तुम्हारा क्या प्रत्युपकार करें । जब उन वानरों ने सर्वज्ञ स्वयंप्रभा से इस प्रकार कहा ॥ १८ ॥

---

१ परिद्यूनाः—परिक्षीणाः । (गो०)

प्रत्युवाच ततः सर्वानिदं वानरयूथपान् ।
सर्वेषां परितुष्टास्मि वानराणां तरस्विनाम् ।
चरन्त्या मम धर्मेण न कार्यमिह केनचित् ॥ १९ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

तब वह उन सब वानर यूथपतियों से यह बोली कि, मैं तुम समस्त बलवान् वानरों से सन्तुष्ट हूँ। मैं यहाँ धर्मानुष्ठान कर रही हूँ। मुझे किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ १९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—*—

एवमुक्तः शुभं वाक्यं तापस्या धर्मसंहितम् ।
उवाच हनुमान्वाक्यं तामनिन्दितचेष्टिताम् ॥ १ ॥

जब उस तपस्विनी ने इस प्रकार शुभ एवं धर्मयुक्त वचन कहे, तब हनुमान जी ने उस अनिन्द्रत कार्य करने वाली से कहा ॥ १ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मः सर्वे वै धर्मचारिणि ।
यः कृतः समयोऽस्माकं सुग्रीवेण महात्मना ॥ २ ॥

हे धर्मचारिणी ! हम सब तेरे शरण हैं । महात्मा सुग्रीव ने हमारे लिये जो अवधि बांध दी थी ॥ २ ॥

स च कालो ह्यतिक्रान्तो बिले च परिवर्तताम् ।
सा त्वमस्माद्बिलाद्घोरादुत्तारयितुमर्हसि ॥ ३ ॥

वह इस बिल में रहते रहते ही बीत गयी। सो आप शीघ्रता पूर्वक हम सब को इस बिल से बाहर पहुँचा दीजिये ॥ ३ ॥

तस्मात्सुग्रीववचनादतिक्रान्तान्गतायुषः ।
त्रातुमर्हसि नः सर्वान्सुग्रीवभयकर्शितान् ॥ ४ ॥

क्योंकि हम सब ने सुग्रीव की बाँधी हुई अवधि बिता दी है सो हमारा सब का मरण अब निकट ही है। अतः सुग्रीव के भय से भीत हम सब की तुम रक्षा करो ॥ ४ ॥

महच्च कार्यमस्माभिः कर्तव्यं धर्मचारिणि ।
तच्चापि न कृतं कार्यमस्माभिरिहवासिभिः ॥ ५ ॥

हे धर्मचारिणी! हमको बड़ा भारी काम करना था—वह काम हम यहाँ रहने के कारण नहीं कर सके ॥ ५ ॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी वाक्यमब्रवीत् ।
जीवता दुष्करं मन्ये प्रविष्टेन निवर्तितुम् ॥ ६ ॥

हनुमान जी के इस प्रकार कहने पर तापसी ने कहा—इस बिल में जो घुस आता है, यद्यपि उसका जीवित यहाँ से लौटना दुष्कर है ॥ ६ ॥

तपसस्तु प्रभावेण नियमोपार्जितेन च ।
सर्वानेव बिलादस्मादुद्धरिष्यामि वानरान् ॥ ७ ॥

तथापि मैं नियमोपार्जित अपनी तपस्या के प्रभाव से तुम सब वानरों को इस बिल के बाहिर निकाल दूँगी ॥ ७ ॥

निमीलयत चक्षूंषि सर्वे वानरपुङ्गवाः ।
न हि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः ॥ ८ ॥

तुम सब कपिश्रेष्ठ अपनी अपनी आँखें बंद कर लो—क्योंकि विना नेत्र बंद किये इस विल से कोई नहीं निकल सकता ॥ ८ ॥

ततः संमीलिताः सर्वे सुकुमाराङ्गुलैः करैः ।
सहसा पिदधुर्दृष्टिं हृष्टा गमनकाङ्क्षिणः* ॥ ९ ॥

तव अपने अपने हाथों की कोमल अँगुलियों से सब वानरों ने अपनी अपनी आँखें ढक लीं। क्योंकि उस विल से निकल ने की उन सब को बड़ी प्रसन्नता और उत्सुकता थी ॥ ९ ॥

वानरास्तु महात्मानो हस्तरुद्धमुखास्तदा ।
निमेषान्तरमात्रेण विलादुत्तारितास्तया ॥ १० ॥

जव उन सव महात्मा वानरों ने अपनी अपनी आँखें हाथों से ढक लीं, तव उस तपस्विनी ने एक पल में उन सब वानरों को विल के वाहिर पहुँचा दिया ॥ १० ॥

ततस्तान्वानरान्सर्वांस्तापसी धर्मचारिणी ।
निःसृतान्विषमात्तस्मात्समाश्वास्येदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

उस धर्मचारिणी तापसी स्वयंप्रभा ने जव उन सव के सव वानरों को उस बेढव स्थान से बाहिर पहुँचा दिया, तव वह उनको धीरज बँधाती हुई कहने लगी ॥ ११ ॥

एष विन्ध्यो गिरिः श्रीमान्नानाद्रुमलताकुलः ।
एष प्रस्रवणः शैलः सागरोऽयं महोदधिः ॥ १२ ॥

अनेक प्रकार के वृक्षलता आदि से शोभायमान विन्ध्याचल पर्वत यही है, यह प्रश्रवण पर्वत है और यह महासागर है ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—गमनकाङ्क्षया ।

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि भवनं वानरर्षभाः ।
इत्युक्त्वा तद्बिलं श्रीमत्प्रविवेश स्वयंप्रभा ॥ १३ ॥

तुम्हारा मङ्गल हो, मैं अब अपने भवन को जाऊँगी । यह कह कर तापसी स्वयंप्रभा उस परम सुन्दर बिल में घुस गयी ॥ १३ ॥

ततस्ते ददृशुर्घोरं सागरं वरुणालयम् ।
अपारमभिगर्जन्तं घोरैरूर्मिभिरावृतम् ॥ १४ ॥

जब सब वानर बिल के बाहिर आये, तब उन्होंने उस भयङ्कर वरुणालय (वरुण जी का घर) सागर को देखा, जिसका पारावार न था, जो गर्ज रहा था तथा जिसमें बड़ी बड़ी भयङ्कर लहरें उठ रही थीं ॥ १४ ॥

मयस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम् ।
तेषां मासो व्यतिक्रान्तो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ १५ ॥

मय के मायारचित बिल, पर्वतों तथा दुर्गम स्थानों को ढूढ़ते ढूढ़ते ही सुग्रीव का निर्दिष्ट किया हुआ एक मास, व्यतीत हो गया ॥ १५ ॥

विन्ध्यस्य तु गिरेः पादे सम्प्रपुष्पितपादपे ।
उपविश्य महात्मानश्चिन्तामापेदिरे तदा ॥ १६ ॥

अतएव वे सब महात्मा वानर विन्ध्यपर्वत की तलहटी में जहाँ फूले हुए वृक्ष लगे हुए थे, बैठ कर चिन्तित हो, सोचने लगे ॥ १६ ॥

ततः पुष्पातिभाराग्राँल्लताशतसमावृतान् ।
द्रुमान्वासन्तिकान्दृष्ट्वा बभूवुर्भयशङ्किताः ॥ १७ ॥

वसन्त ऋतु में फूलने वाले वृक्षों को फूलों से लदे और सैकड़ों लताओं से वेष्टित देख, वे सब वानर बहुत भयभीत हुए (अतिकाल व्यतीत हो जाने के कारण) ॥ १७ ॥

ते वसन्तमनुप्राप्तं प्रतिबुद्ध्वा परस्परम् ।
नष्टसन्देशकालार्था निपेतुर्धरणीतले ॥ १८ ॥

आपस में यह कहते हुए कि, वसन्तकाल आ पहुँचा और सुग्रीव का नियत किया हुआ समय बीत गया, वे पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १८ ॥

ततस्तान्कपिवृद्धांस्तु शिष्टांश्चैव वनौकसः ।
वाचा मधुरयाऽऽभाष्य यथावदनुमान्य च ॥ १९ ॥
स तु सिंहवृषस्कन्धः पीनायतभुजः कपिः ।
युवराजो महाप्राज्ञ अङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

तदनन्तर यथावत् अनुमान कर, सिंह वृषभ सदृश कंधों वाले, मोटी और लंबी भुजाओं वाले और बड़े बुद्धिमान युवराज अंगद बड़े बूढ़े और शिष्ट वानरों से मधुर वाणी से बोले ॥ १९ ॥ २० ॥

शासनात्कपिराजस्य वयं सर्वे विनिर्गताः ।
मासः पूर्णो बिलस्थानां हरयः किं न बुध्यते ॥ २१ ॥

हम सब लोग कपिराज सुग्रीव की आज्ञा से किष्किन्धा से निकले थे। सुग्रीव ने एक मास की जो अवधि बाँधी थी, वह तो उस बिल ही में बीत गयी। सो हे वानरो! तुमको यह बात क्यों नहीं खटकती ॥ २१ ॥

वयमाश्वयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः ।
प्रस्थिताः सोऽपि चातीतः किमतः कार्यमुत्तरम् ॥ २२ ॥

देखो हम सब एकत्र कर एक मास में कार्य कर लौट आने का समय निर्दिष्ट कर, कार्तिक मास में भेजे गये थे। सो वह अवधि तो बीत गयी। अब आप लोग बतलाइये आगे क्या किया जाय ॥ २२ ॥

भवन्तः प्रत्ययं प्राप्ता नीतिमार्गविशारदाः ।
हितेष्वभिरता भर्तुर्निसृष्टाः सर्वकर्मसु ॥ २३ ॥

आप लोग कपिराज के विश्वासपात्र हैं, नीतिविशारद हैं, स्वामी के हित में तत्पर हैं और सब कार्यों के करने में निपुण हैं ॥ २३ ॥

कर्मस्वप्रतिमाः सर्वे दिक्षु विश्रुतपौरुषाः ।
मां पुरस्कृत्य निर्याताः पिङ्गाक्षप्रतिचोदिताः ॥ २४ ॥

कार्यकुशलता में आप बेजोड़ हैं. आप अपने पुरुषार्थ के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। पीले नेत्र वाले कपिराज की आज्ञा से आप लोग मुझे अपना प्रधान बना कर, घर से निकले हैं ॥ २४ ॥

इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्र संशयः ।
हरिराजस्य सन्देशमकृत्वा कः सुखी भवेत् ॥ २५ ॥

किन्तु जिस कार्य के लिये हम आये हैं, वह अभी तक पूरा नहीं हुआ। अतः अब हम लोग निस्सन्देह मारे जायँगे। क्योंकि कपिराज की आज्ञा की अवहेला कर, कौन सुखी हो सकता है? ॥ २५ ॥

तस्मिन्नतीते काले तु सुग्रीवेण कृते स्वयम् ।
प्रायोपवेशनं युक्तं सर्वेषां च वनौकसाम् ॥ २६ ॥

जो अवधि स्वयं सुग्रीव ने बाँधी थी, उसके बीत जाने पर, अब सब वानरों को उचित है कि, खाना पीना छोड़ दें ॥ २६ ॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः स्वामिभावे व्यवस्थितः ।
न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान् ॥ २७ ॥

क्योंकि सुग्रीव का स्वभाव वैसे ही बड़ा कठोर है, तिस पर वह इस समय हम लोगों के राजा हैं। अतः अपराध होने पर वे किसी तरह हम लोगों को क्षमा न करेंगे ॥ २७ ॥

अप्रवृत्तौ च सीतायाः [1]पापमेव करिष्यति ।
तस्मात्क्षममिहाद्यैव प्रायोपविशनं हि नः ॥ २८ ॥

बल्कि सीता का पता न लगाने के कारण वे हमें अवश्य मार डालेंगे। अतः उस मारे जाने से तो यहाँ भूखे प्यासे रह कर, मर जाना कहीं अच्छा है ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च धनानि च गृहाणि च ।
ध्रुवं नो हिंसिता राजा सर्वान्प्रतिगतानितः ॥ २९ ॥

वधेनाप्रतिरूपेण श्रेयान्मृत्युरिहैव नः ।
न चाहं यौवराज्येन सुग्रीवेणाभिषेचितः ॥ ३० ॥

यदि हम लोग यहाँ से किष्किन्धा में लौट कर चले जायँगे तो, सुग्रीव निश्चय ही हम सब को मार डालेंगे। अतः इस समय पुत्र, स्त्री, धन और गृहादि की मोहममता त्याग कर, सुग्रीव के हाथ से मारे जाने की अपेक्षा, यहाँ ही मरना हम लोगों के लिये श्रेयस्कर है। सुग्रीव ने मुझे युवराजपद पर स्वयं अभिषिक्त नहीं किया ॥ २९ ॥ ३० ॥

---

[1] पापं—वधं। (शि०)

नरेन्द्रेणाभिषिक्तोऽस्मि रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
स पूर्वं बद्धवैरो मां राजा दृष्ट्वा व्यतिक्रमम् ॥ ३१ ॥
घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः ।
किं मे सुहृद्भिर्व्यसनं पश्यद्भिर्जीवितान्तरे ॥ ३२ ॥

बल्कि अक्लिष्टकर्मा महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने मुझको अभिषिक्त किया है (अर्थात् इसके लिये मैं श्रीरामचन्द्र जी का कृतज्ञ हूँ—सुग्रीव का नहीं) । सुग्रीव तो पहले ही से मुझे अपना वैरी माने बैठा है । फिर जब उसे यह मालूम होगा कि, मैंने काम पूरा नहीं किया, तो वह अवश्य ही मुझे बड़ी निठुरता से मरवा डालेगा । अपने इष्टमित्रों के सामने, उस निन्द्य मृत्यु की अपेक्षा ॥ ३१ ॥ ॥ ३२ ॥

इहैव प्रायमासिष्ये पुण्ये सागररोधसि ।
एतच्छ्रुत्वा कुमारेण युवराजेन भाषितम् ॥ ३३ ॥

इस पुण्यप्रद सागर तट पर प्राण त्यागना हमारे लिये ठीक है । जब युवराज के इन वचनों को उन सब वानरों ने सुना ॥ ३३ ॥

सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः करुणं वाक्यमब्रुवन् ।
तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः प्रियासक्तश्च राघवः ॥ ३४ ॥

तब वे सब के सब वानर गण करुणापूर्ण वाणी से बोले, सुग्रीव तो उग्र प्रकृति के हैं और श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रिया में अनुरक्त हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

अदृष्टायां तु वैदेह्यां दृष्ट्वा चैव समागतान् ।
राघवप्रियकामार्थं घातयिष्यत्यसंशयम् ॥
न क्षमं चापराद्धानां गमनं स्वामिपार्श्वतः ॥ ३५ ॥

हम लोगों को जब वे देखेंगे कि, वानर (अकृतकार्य हो) लौट आये, तब श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिये अवश्य ही हम लोगों को मार डालेंगे। अतः अपराध कर के स्वामी के पास जाना उचित नहीं ॥ ३५ ॥

इहैव सीतामन्विष्य प्रवृत्तिमुपलभ्य वा ।
नो चेद्गच्छाम तं वीरं गमिष्यामो यमक्षयम् ॥ ३६ ॥

हम लोग यहीं रह कर सीता को ढूंढ़ेंगे अथवा सीता का वृत्तान्त जानने का प्रयत्न करेंगे। यदि बिना पता पाये हम लोग उस वीर के पास गये तो हमें यमालय जाना पड़ेगा ॥ ३६ ॥

प्लवङ्गमानां तु भयार्दितानां
श्रुत्वा वचस्तार इदं बभाषे ।
अलं विषादेन बिलं प्रविश्य
वसाम सर्वे यदि रोचते वः ॥ ३७ ॥

उन भयभीत वानरों के ये वचन सुन, तार ने यह कहा, तुम लोग दुःखी न हो। यदि तुम लोगों की इच्छा हो, तो हम सब इस बिल में फिर चले चलें और वहीं चल कर बस जाँय ॥ ३७ ॥

इदं हि मायाविहितं सुदुर्गमं
प्रभूतवृक्षोदकभोज्यपेयकम् ।
इहास्ति नो नैव भयं पुरन्दरा-
न्नराधवाद्वानरराजतोऽपि वा ॥ ३८ ॥

क्योंकि यह माया द्वारा निर्मित बिल बड़ा दुर्गम है। वहाँ बसने पर भोजन की भी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। क्योंकि वहाँ पर खाने

के लिये अनेक फल उत्पन्न करने वाले वृक्ष हैं और पीने के लिये बहुत सा जल भी है। वहाँ रहने पर न तो इन्द्र का, न कपिराज सुग्रीव का और न श्रीरामचन्द्र जी ही का कुछ भय है ॥ ३८ ॥

श्रुत्वाङ्गदस्यापि वचोऽनुकूल-
मूचुश्च सर्वे हरयः प्रतीताः ।
यथा न हिंस्येम तथा विधान-
मसक्तमद्यैव विधीयतां नः ॥ ३९ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

इसके अनुकूल अंगद के भी वचन सुन, सब वानर उनकी बातों पर विश्वास कर, बोले कि हे युवराज! आप ऐसा प्रबन्ध करें, जिससे हम लोग न मारे जाँय ॥ ३६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—※—

तथा ब्रुवति तारे तु ताराधिपतिवर्चसि ।
अथ मेने हृतं राज्यं हनुमानङ्गदेन तत् ॥ १ ॥

चन्द्रमा के समान प्रभाशाली तार के इस प्रकार कहने पर हनुमान जी ने अनुमान द्वारा जाना कि, बस वानरों का राज्य अंगद ने लिया, अर्थात् सब बन्दर अंगद के कहने में आ गये ॥ १ ॥

बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्बलसमन्वितम् ।
चतुर्दशगुणं मेने हनुमान्वालिनः सुतम् ॥ २ ॥

क्योंकि हनुमान जी ने देखा कि अंगद् *अष्टाङ्ग बुद्धि से सम्पन्न हैं, †चार प्रकार के सैनिक बल से युक्त हैं, और ‡चौदह गुणों से भूषित हैं ॥ २ ॥

आपूर्यमाणं शश्वच्च तेजोवलपराक्रमैः ।
शशिनं शुक्लपक्षादौ वर्धमानमिव श्रिया ॥ ३ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, अंगद् सदा ही तेज, बल और पराक्रम में, शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह उत्तरोत्तर शोभा की अधिकता से शोभायमान हो रहे हैं ॥ ३ ॥

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या विक्रमे सदृशं पितुः ।
शुश्रूषमाणं तारस्य शुक्रस्येव पुन्दरम् ॥ ४ ॥

अंगद् बुद्धि में बृहस्पति के समान, पराक्रम में अपने पिता के समान और तार की बातों को वे उसी प्रकार मानते हैं, जैसे इन्द्र, शुक्र की बातों को मानते हैं ॥ ४ ॥

---

* अष्टाङ्गबुद्धि :—
"ग्रहणं धारणं चैव स्मरणं प्रतिपादनम् ।
ऊहोपाहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥" (गो०)

† चार प्रकार के बल :—
१ बाहुबल, २ मनोबल, ३ उपायबल और ४बन्धुबल । (गो०)

‡ चौदहगुण—
" देशकालज्ञता दार्ढ्यं सर्वक्लेशसहिष्णुता ।
सर्वविज्ञानिता दाक्ष्यमूर्जःसंवृतमन्त्रता ॥
अविसंवादिता शौर्यं शक्तिज्ञत्वं कृतज्ञता ।
शरणागतवात्सल्यममर्षत्वमचापलम् ॥" (गो०)

भर्तुरर्थे परिश्रान्तं सर्वशास्त्रविदां वरम् ।
अभिसन्धातुमारेभे हनुमानङ्गदं ततः ॥ ५ ॥

तब ऐसे अंगद को अपने स्वामी के कार्य के साधन में परिश्रान्त अथवा शिथिल देख, सर्वशास्त्र विशारद हनुमान जी उनको रास्ते पर लाने के लिये कहने लगे ॥ ५ ॥

स चतुर्णामुपायानां तृतीयमुपवर्णयन् ।
भेदयामास तान्सर्वान्वानरान्वाक्यसम्पदा ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपने मन में विचार हनुमान जी ने चार प्रकार के (१ साम, २ दाम, ३ भेद, ४ दगड) उपायों में से तीसरे उपाय से काम लिया और अपनी वाणी की चतुराई से वानरों में आपस में भेद डाला अर्थात् फूट फैलायी ॥ ६ ॥

तेषु सर्वेषु भिन्नेषु ततोऽभीषयदङ्गदम् ।
भीषणैर्बहुभिर्वाक्यैः कोपोपायसमन्वितैः ॥ ७ ॥

जब वे अंगद से फूट कर उनसे अलग हो गये, तब हनुमान जी ने दगडनीति का आश्रय ले, अनेक भयप्रद वाक्यों से अंगद को भय दिखला कर, कहा ॥ ७ ॥

त्वं समर्थतरः पित्रा युद्धे तारेय वै धुरम् ।
दृढं धारयितुं शक्तः कपिराज्यं यथा पिता ॥ ८ ॥

हे तारेय (तारा के पुत्र) ! तुम युद्ध करने में पिता से भी बढ़ कर सामर्थ्य रखते हो, और कपियों के राजसिंहासन पर अभिषिक्त होने पर तुम अपने पिता की तरह ही दृढ़ता से राज्य कर सकते हो ॥ ८ ॥

नित्यमस्थिरचित्ता हि कपयो हरिपुङ्गव ।
नाज्ञाप्यं विसहिष्यन्ति पुत्रदारान्विना त्वया ॥ ९ ॥

किन्तु, हे वानरश्रेष्ठ ! ये वानर सदा चञ्चल चित्त स्वभाव के होते हैं, सो ये अपने पुत्रों और स्त्रियों को छोड़, तुम्हारे आज्ञाकारी कभी नहीं बने रहेंगे ॥ ९ ॥

त्वां नैते ह्यनुयुञ्जेयुः प्रत्यक्षं प्रवदामि ते ।
यथायं जाम्बवान्नीलः सुहोत्रश्च महाकपिः ॥ १० ॥

न ह्यहं त इमे सर्वे सामदानादिभिर्गुणैः ।
दण्डेन वा त्वया शक्याः सुग्रीवादपकर्षितुम् ॥ ११ ॥

मैं तुमसे इन सब के मुँह पर ही कहता हूँ कि, ये लोग (अपनी स्त्रियों और पुत्रों को छोड़, तुम्हारे ऊपर अनुरागवान नहीं होंगे।) ये जाम्बवान्, नील, महाकपि सुहोत्र और मुझको तथा इन समस्त वानरों के मन को तुम साम, दाम, भेद, दण्ड द्वारा सुग्रीव की ओर से कभी नहीं फेर सकते ॥ १० ॥ ११ ॥

विगृह्यासनमप्याहुर्दुर्बलेन बलीयसः ।
आत्मरक्षाकरस्तस्मान्न विगृह्णीत दुर्बलः ॥ १२ ॥

देखो बलवान् दुर्बल को जीत कर, उसका आसन ले सकता है, अतएव दुर्बल को अपनी रक्षा के लिये बलवान से वैर करना उचित नहीं ॥ १२ ॥

यां चेमां मन्यसे धात्रीमेतद्बिलमिति श्रुतम् ।
एतल्लक्ष्मणबाणानामीषत्कार्यं विदारणे ॥ १३ ॥

और जो तुम इस बिल को अपनी रक्षा करने वाला समझ बैठे हो, सो यह भी व्यर्थ ही है, क्योंकि इस गुफा को बाणों से नष्ट कर देना लक्ष्मण जी के लिये एक खेल सरीखा है ॥ १३ ॥

स्वल्पं[1] हि कृतमिन्द्रेण क्षिपता ह्यशनिं पुरा ।
लक्ष्मणो निशितैर्बाणैर्भिन्द्यात्पत्रपुटं यथा ॥ १४ ॥

जब इन्द्र ने क्रुद्ध हो इस पर वज्र मारा, तब इसमें एक छोटा सा छेद ही हो कर रह गया था, किन्तु जब लक्ष्मण जी क्रुद्ध होंगे, तब पैने बाणों से पत्ते के दोने की तरह इस बिल को नष्ट कर डालेंगे ॥ १४ ॥

लक्ष्मणस्य तु नाराचा बहवः सन्ति तद्विधाः ।
वज्राशनिसमस्पर्शा गिरीणामपि दारणाः ॥ १५ ॥

लक्ष्मण जी के पास पर्वतों तक को तोड़ने वाले वज्र तुल्य बहुत से बाण विद्यमान हैं ॥ १५ ॥

अवस्थाने यदैव त्वमासिष्यसि परन्तप ।
तदैव हरयः सर्वे त्यक्ष्यन्ति कृतनिश्चयाः ॥ १६ ॥

हे परन्तप ! तुम जैसे ही इस बिल में अपना वास-स्थान बनाओगे, वैसे ही ये सब वानर अपना इरादा पक्का कर, तुमको छोड़ कर चल देंगे ॥ १६ ॥

स्मरन्तः पुत्रदाराणां नित्योद्विग्ना बुभुक्षिताः ।
खेदिता दुःखशय्याभिस्त्वां करिष्यन्ति पृष्ठतः ॥ १७ ॥

ये सब वानर अपनी अपनी स्त्रियों और अपने अपने बाल बच्चों को याद कर, सदा उद्विग्न चित्त रहने के कारण, न तो खायँगे

---

१ स्वल्पंकृतं—द्वारमात्रे कृतं । (गो०)

और न मारे दुःख के सोवेंगे ही। परिणाम यह होगा कि, तुम्हें पीठ दिखा ये चल देंगे। अर्थात् तुम्हें पीछे छोड़ देंगे ॥ १७ ॥

स त्वं हीनः सुहृद्भिश्च हितकामैश्च बन्धुभिः।
तृणादपि भृशोद्विग्नः स्पन्दमानाद्भविष्यसि ॥ १८ ॥

इस प्रकार तुम मित्र और हितैषी बन्धुओं से रहित हो कर, तिनके से भी गये बीते हो जाओगे और उद्विग्नता के कारण तुम्हारा हृदय ज़ोर ज़ोर से फड़कने लगेगा ॥ १८ ॥

*अत्युग्रवेगा निशिता घोरा लक्ष्मणसायकाः।
अपावृत्तं जिघांसन्तो महावेगा दुरासदाः ॥ १९ ॥

स्मरण रखना, लक्ष्मण के अति वेगयुक्त, भयङ्कर और बड़े कष्ट से सहने योग्य बाणों को तुम रोक न सकोगे और वे तुम्हारे शरीर को विदीर्ण कर डालेंगे ॥ १९ ॥

अस्माभिस्तु गतं सार्धं विनीतवदुपस्थितम्।
आनुपूर्व्यात्तु सुग्रीवो राज्ये त्वां स्थापयिष्यति ॥ २० ॥

और यदि तुम हमारे साथ चलोगे और विनीत भाव से सुग्रीव के सामने खड़े हो जाओगे, तो सुग्रीव क्रमागत प्राप्त राज्य पर, तुमको अभिषिक्त कर देंगे ॥ २० ॥

†धर्मकामः पितृव्यस्ते प्रीतिकामो दृढव्रतः।
शुचिः सत्यप्रतिज्ञश्च न त्वां जातु जिघांसति ॥ २१ ॥

तुम्हारे चचा सुग्रीव धर्मात्मा, प्रीतिमान्, दृढ़व्रत, पवित्र और सत्य प्रतिज्ञ हैं। वे कभी तुम्हारा वध न करेंगे ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—" न च जातुनहिंस्युस्त्वां। † पाठान्तरे—" धर्मराजः "।

प्रियकामश्च ते मातुस्तदर्थं चास्य जीवितम् ।
तस्यापत्यं च नास्त्यन्यत्तस्मादङ्गद गम्यताम् ॥ २२ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

फिर वे कभी ऐसा काम न करेंगे जो तुम्हारी माता तारा को प्रीतिकर न हो, क्योंकि सुग्रीव का जीवन तारा के अधीन है (फिर सुग्रीव के कोई दूसरा पुत्र भी नहीं है कि, वे तुम्हें मार कर उसे राज्य दे देंगे । अतएव हे अंगद ! तुम अवश्य किष्किन्धा चलो ॥ २२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—*—

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ।
स्वामिसत्कारसंयुक्तमङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

हनुमान जी के विनम्र एवं धर्मयुक्त तथा स्वामी के प्रति सम्मान-सूचक वचनों को सुन, अंगद बोले ॥ १ ॥

स्थैर्यमात्म मनःशौचमानृशंस्यमथार्जवम् ।
विक्रमश्चैव धैर्यं च सुग्रीवे नोपपद्यते ॥ २ ॥

हे हनुमान् ! स्थिरबुद्धिता, आत्मशुद्धि, अन्तःकरण की पवित्रता, कोमलता, विनम्रता, विक्रम और गम्भीरता, ये सब गुण सुग्रीव में हैं ही नहीं ॥ २ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम् ।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः ॥ ३ ॥

देखो, सुग्रीव ने तो अपने जीवित ज्येष्ठ भ्राता की स्त्री को, जो धर्म से उसकी माता के समान है, अपनी स्त्री बना लिया, यह तो महानिन्द्य कर्म है ॥ ३ ॥

कथं स धर्मं जानीते येन भ्रात्रा महात्मना ।
युद्धायाभिनियुक्तेन बिलस्य पिहितं मुखम् ॥ ४ ॥

वह दुरात्मा क्यों कर धर्म का जानने वाला कहा जा सकता है, जिसने युद्ध करते हुए अपने बड़े भाई की आज्ञा के विरुद्ध, बिल का द्वार बंद कर दिया ॥ ४ ॥

सत्यात्पाणिगृहीतश्च कृतकर्मा महायशाः ।
विस्मृतो राघवो येन स कस्य तु कृतं स्मरेत् ॥ ५ ॥

जिसने सत्य को आगे कर, (अर्थात् सत्यप्रतिज्ञा कर) हाथ पकड़ मैत्री का और फिर वही अपने उपकारी और महायशस्वी मित्र श्रीरामचन्द्र जी को भूल गया, उसे कौन कृतज्ञ कह सकता है? ॥ ५ ॥

लक्ष्मणस्य भयाद्येन नाधर्मभयभीरुणा ।
आदिष्टा मार्गितुं सीतां धर्ममस्मिन्कथं भवेत् ॥ ६ ॥

जिसने लक्ष्मण के भय से, न कि अधर्म के भय से भीत हो सीता को ढूंढ़ने के लिये हमको भेजा, भला उसमें धर्म कहाँ हो सकता है ॥ ६ ॥

तस्मिन्पापे कृतघ्ने तु स्मृतिहीने चलात्मनि ।
आर्यः को विश्वसेज्जातु तत्कुलीनो जिजीविषुः ॥ ७ ॥

ऐसे पापी, कृतघ्नी, शास्त्रोक्त धर्महीन और चञ्चलमना में कौन श्रेष्ठ पुरुष और विशेष कर, उसी कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष, क्यों कर विश्वास कर सकता है ॥ ७ ॥

राज्ये पुत्रः प्रतिष्ठाप्यः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
कथं शत्रुकुलीनं मां सुग्रीवो जीवयिष्यति ॥ ८ ॥

फिर सुग्रीव चाहे गुणवान् हो अथवा गुणरहित, परन्तु वह अपने शत्रु के पुत्र को राज्य दे कर, क्यों कर मुझे जीवित रख सकेगा ॥ ८ ॥

भिन्नमन्त्रोऽपराद्धश्च हीनशक्तिः कथं ह्यहम् ।
किष्किन्धां प्राप्य जीवेयमनाथ इव दुर्बलः ॥ ९ ॥

बिल में जा कर रहने का मेरा जो विचार था, वह अब प्रकाशित हो चुका है। उस मंत्रणा के कारण मैं सुग्रीव के निकट अब अपराधी हूँ। साथ ही मैं हीन बल भी हूँ। ऐसी दशा में मैं यदि किष्किन्धा जाऊँ भी तो वहाँ मैं दुर्बल और अनाथ हो कर क्योंकर जीवित रह सकूँगा ॥ ९ ॥

उपांशुदण्डेन हि मां बन्धनेनोपपादयेत् ।
शठः क्रूरो नृशंसश्च सुग्रीवो राज्यकारणात् ॥ १० ॥

उस शठ, क्रूर और निष्ठुर सुग्रीव को राज्य का बड़ा लोभ है। अतः वह भले ही मुझे प्रत्यक्ष दण्ड न दे, अथवा मेरा वध न करे, किन्तु कोई झूठी तोहमत मुझ पर लगा, मुझे बंधुआ (कैदी) तो वह अवश्य ही बना लेगा ॥ १० ॥

बन्धनाद्वाऽवसादान्मे श्रेयः प्रायोपवेशनम् ।
अनुजानीत मां सर्वे गृहं गच्छन्तु वानराः ॥ ११ ॥

उस बंधन के दुःख से मुझे भूखप्यास से शरीर त्याग करना ही श्रेयस्कर जान पड़ता है। इसलिये सब वानर गण मुझे इस विषय में आज्ञा दें और स्वयं वे अपने अपने घरों को लौट जांय ॥ ११ ॥

अहं वः प्रतिजानामि नागमिष्याम्यहं पुरीम् ।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे ॥ १२ ॥

मैं प्रतिज्ञापूर्वक यह कह रहा हूँ कि, मैं किष्किन्धा में लौट कर न जाऊँगा। मेरे लिये तो अब यहाँ रह कर, प्रायोपवेशन, द्वारा मर जाना ही श्रेयस्कर है ॥ १२ ॥

अभिवादनपूर्वं तु राघवौ बलशालिनौ ।
अभिवादनपूर्वं तु राजा कुशलमेव च ॥ १३ ॥

तुम सब जाओ और मेरी ओर से सुग्रीव को प्रणाम कर उनसे कुशल प्रश्न पूँछना और बलशाली श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी से भी प्रणाम पूर्वक मेरी ओर से कुशल प्रश्न पूँछना ॥ १३ ॥

वाच्यस्तातो यवीयान्मे सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
आरोग्यपूर्वं कुशलं वाच्या माता रुमा च मे ॥ १४ ॥

मेरे चचा व राजा सुग्रीव से तथा मेरी माता रुमा से, आरोग्य पूर्वक मेरा कुशल संवाद कहना ॥ १४ ॥

मातरं चैव मे तारामाश्वासयितुमर्हथ ।
प्रकृत्या प्रियपुत्रा सा सानुक्रोशा तपस्विनी ॥ १५ ॥

मेरी माता को समझा देना। देखो उस तपस्विनी को स्वभाव ही से मैं बहुत प्यारा हूँ। उसका मुझ पर बड़ा स्नेह है ॥ १५ ॥

विनष्टमिह मां श्रुत्वा व्यक्तं हास्यति जीवितम् ।
एतावदुक्त्वा वचनं वृद्धांस्तानभिवाद्य च ॥ १६ ॥

वह जब मेरे मरने का संवाद सुनेगी, तब वह अवश्य अपना शरीर त्याग देगी। ये वचन कह और वृद्ध वानरों को प्रणाम कर, ॥ १६ ॥

विवेश चाङ्गदो भूमौ रुदन्दर्भेषु दुर्मनाः।
तस्य संविशतस्तत्र रुदन्तो वानरर्षभाः ॥ १७ ॥

अंगद रुदन करते हुए भूमि पर कुश बिछा, मरने के लिये उदास हो बैठ गये। उनको इस तरह मरने के लिये तत्पर देख, सब वानरोत्तम रोने लगे ॥ १७ ॥

नयनेभ्यः प्रमुमुचुरुष्णं वै वारि दुःखिताः।
सुग्रीवं चैव निन्दन्तः प्रशंसन्तश्च वालिनम् ॥ १८ ॥

वे सब के सब रो रो कर नेत्रों से आँसू गिराने तथा सुग्रीव की निन्दा और वालि की प्रशंसा करने लगे ॥ १८ ॥

परिवार्याङ्गदं सर्वे व्यवस्यन्प्रायमासितुम्।
मतं तद्वालिपुत्रस्य विज्ञाय प्लवगर्षभाः ॥ १९ ॥

वे सब वानरोत्तम अंगद का ऐसा निश्चय जान, स्वयं भी मरने को तैयार हो गये और अंगद को घेर कर बैठ गये ॥ १६ ॥

उपस्पृश्योदकं तत्र प्राङ्मुखाः समुपाविशन्।
दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः ॥ २० ॥

वे सब जल से आचमन कर, दक्षिणाग्र कुशों को बिछा, स्वयं पूर्वाभिमुख हो, समुद्र के तट पर बैठे ॥ २० ॥

मुमूर्षवो हरिश्रेष्ठा एतत्क्षममिति स्म ह।
रामस्य वनवासं च क्षयं दशरथस्य च ॥ २१ ॥

जनस्थानवधं चैव वधं चैव जटायुषः।
हरणं चैव वैदेह्या वालिनश्च वधं रणे।
रामकोपं च वदतां हरीणां भयमागतम्॥ २२॥

इस प्रकार मरने की कामना किये हुए वे सब वानर, श्रीरामचन्द्र जी का वनवास, दशरथ का मरण, जनस्थान का नाश, जटायु का मरण, सीता जी का रावण द्वारा हरा जाना और युद्ध में वालि का श्रीरामचन्द्र जी द्वारा मारा जाना तथा श्रीरामचन्द्र जी के कुपित होने आदि घटनाओं का वर्णन करने लगे। इतने में उनके ऊपर एक विपत्ति आई॥ २१॥ २२॥

*एवं वदद्भिर्बहुभिर्महीधरो
महाद्रिकूटप्रतिमैः प्लवङ्गमैः।
बभूव सन्नादितनिर्दरान्तरो
भृशं नदद्भिर्जलदैरिवोल्वणैः॥ २३॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः॥

इस प्रकार कहते हुए, पर्वत के समान विशाल शरीर धारी वानरगण इधर उधर भाग कर पर्वतों के ऊपर चढ़ गये। उनके विविध प्रकार के चीत्कारों से झरनों सहित पर्वत और उसकी कन्दराएँ वैसे ही गूंज उठीं, जैसे आकाश में मेघ गर्जते हैं॥ २३॥

किष्किन्धाकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

* पाठान्तरे—"स संविशद्"।

षट्पञ्चाशः सर्गः

—※—

उपविष्टास्तु ते सर्वे यस्मिन्प्रायं गिरिस्थले।
हरयो गृध्रराजश्च तं देशमुपचक्रमे ॥ १ ॥

जिस पर्वत पर वे सब वानर मरने के लिये बैठे हुए थे, उसी पर्वत पर एक गृध्रराज आ उपस्थित हुआ ॥ १ ॥

सम्पातिर्नाम नाम्ना तु चिरञ्जीवी विहङ्गमः।
भ्राता जटायुषः श्रीमान्प्रख्यातबलपौरुषः ॥ २ ॥

उस गृध्रराज का नाम सम्पाति था और वह बहुत बूढ़ा पक्षी था। वह प्रसिद्ध बलवान और पराक्रमी तथा शोभायुक्त जटायु का भाई था ॥ २ ॥

कन्दरादभिनिष्क्रम्य स विन्ध्यस्य महागिरेः।
उपविष्टान्हरीन्दृष्ट्वा हृष्टात्मा गिरमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वह उस महागिरि विन्ध्याचल की एक गुफा से निकल और वानरों को वहाँ बैठा देख, बहुत प्रसन्न हुआ और यह वचन बोला ॥ ३ ॥

विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते।
यथाऽयं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः ॥ ४ ॥

निश्चय ही प्राणियों को, उनके पूर्वार्जित कर्मों के फलानुसार अच्छे बुरे फल मिला करते हैं। देखो, उसीके अनुसार आज बहुत दिनों बाद यह भोजन मुझे मिला है ॥ ४ ॥

परं पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम् ।
उवाचेदं वचः पक्षी तान्निरीक्ष्य प्लवङ्गमान् ॥ ५ ॥

इन वानरों में से जो जो मरते जायगे क्रम से मैं उन उनको खाता जाऊँगा। उन वानरों को देख, जब सम्पाति ने इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भक्ष्यलुब्धस्य पक्षिणः ।
अङ्गदः परमायस्तो हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

तब उस भोजनभट्ट पक्षी की ये बातें सुन, अंगद अति खिन्न हो, हनुमान जी से कहने लगे ॥ ६ ॥

पश्य सीतापदेशेन साक्षाद्वैवस्वतो यमः ।
इमं देशमनुप्राप्तो वानराणां विपत्तये ॥ ७ ॥

देखो हम लोग तो सीता को ढूढ़ने आये थे, परन्तु यह साक्षात् यमराज के समान, वानरों पर विपत्ति डालने को यहाँ आया है ॥ ७ ॥

रामस्य न कृतं कार्यं राज्ञो न च वचः कृतम् ।
हरीणामियमज्ञाता विपत्तिः सहसाऽऽगता ॥ ८ ॥

हम लोगों से न तो श्रीरामचन्द्र जी ही का कोई काम बन पड़ा और न हम सुग्रीव की आज्ञा का पालन ही कर सके। तिस पर इस समय वानरों के लिये यह अनजानी विपत्ति आ उपस्थित हो गयी ॥ ८ ॥

वैदेह्याः प्रियकामेन कृतं कर्म जटायुषा ।
गृध्रराजेन यत्तत्र श्रुत वस्तदशेषतः ॥ ९ ॥

देखो, सीता जी के हित के लिये गृध्रराज जटायु ने जो कुछ किया, वह सब तो तुम सब ने सुना ही है ॥ ९ ॥

तथा सर्वाणि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ।
प्रियं कुर्वन्ति रामस्य त्यक्त्वा प्राणान्यथा वयम् ॥१०॥

क्या पशु और क्या पक्षी, जितने प्राणी हैं, वे सब अपने प्राणों को दे कर भी, श्रीरामचन्द्र जी के प्रियकार्य को वैसे ही करते हैं, जैसे कि हम सब ॥ १० ॥

अन्योन्यमुपकुर्वन्ति स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
तेन तस्योपकारार्थं त्यजतात्मानमात्मना ॥ ११ ॥
प्रियं कृतं हि रामस्य धर्मज्ञेन जटायुषा ।
राघवार्थे परिश्रान्ता वयं सन्त्यक्तजीविताः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के स्नेह और करुणा के वशवर्ती हो प्राणी मात्र एक दूसरे का उपकार करते हैं । अतएव श्रीरामचन्द्र जी के उपकार के लिये, अपने आप अपना शरीर अर्पण कर, धर्मज्ञ जटायु ने श्रीरामचन्द्र जी का प्रिय कार्य साधन किया । हम लोग भी श्रीराम-चन्द्र जी के काम के लिये, अपने प्राणों को हथेली पर रख कर और परिश्रम उठा कर, ॥ ११ ॥ १२ ॥

कान्ताराणि प्रपन्नाः स्म न च पश्याम मैथिलीम् ।
स सुखी गृध्रराजस्तु रावणेन हतो रणे ॥ १३ ॥

मुक्तश्च सुग्रीवभयाद्गतश्च परमां गतिम् ।
जटायुषो विनाशेन राज्ञो दशरथस्य च ॥ १४ ॥

इस घोर वन में आये हैं, परन्तु क्या करें सीता जी को न देख पाये । वह गृध्रराज जटायु, जो रण में रावण द्वारा मारा गया, बड़ा सुखी हुआ और सुग्रीव के भय से छूट उसने मोक्ष पायी । जटायु और दशरथ के मरने से, ॥ १३ ॥ १४ ॥

हरणेन च वैदेह्याः संशयं हरयो गताः ।
रामलक्ष्मणयोर्वास अरण्ये सह सीतया ॥ १५ ॥
राघवस्य च बाणेन वालिनश्च तथा वधः ।
रामकोपादशेषाणां राक्षसानां तथा वधः ।
कैकेय्या वरदानेन इदं हि विकृतं कृतम् ॥ १६ ॥

और सीता के हरण से, हम सब वानरों के प्राण संशय में पड़ गये। श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण और सीता का वनवास, श्रीरामचन्द्र जी के बाण से वालि का वध और श्रीरामचन्द्र जी के कोप से जनस्थानवासी समस्त राक्षसों का वध—ये समस्त अनर्थ कैकेयी के वरदान के कारण हुए हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

तदसुखमनुकीर्तितं वचो
भुवि पतितांश्च समीक्ष्य वानरान्
भृशचलितमतिर्महामतिः
कृपणमुदाहृतवान्स गृध्रराट् ॥ १७ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

महामति गृध्रराज सम्पाति उन वानरों के कथित अपने छोटे भाई के विषय में असुखकर, दुःखदायी वचनों को सुन कर, अत्यन्त चकित हो, पृथिवी पर पड़े हुए उन वानरों की ओर देख कर दया-युक्त ये वचन बोले ॥ १७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—※—

तत्तु श्रुत्वा तदा वाक्यमङ्गदस्य मुखोद्गतम् ।
अब्रवीद्वचनं गृध्रस्तीक्ष्णतुण्डो महास्वनः ॥ १ ॥

उच्च स्वर से बोलने वाले और पैनी चोंच वाले सम्पाति, अंगद के मुख से निकले हुए ये वचन सुन कर, बोले ॥ १ ॥

कोऽयं गिरा घोषयति प्राणैः प्रियतमस्य मे ।
जटायुषो वधं भ्रातुः कम्पयन्निव मे मनः ॥ २ ॥

कथमासीज्जनस्थाने युद्धं राक्षसगृध्रयोः ।
नामधेयमिदं भ्रातुश्चिरस्याद्य मया श्रुतम् ॥ ३ ॥

कौन मेरे प्राणप्रिय भाई जटायु का वध-वृत्तान्त कह कर, मेरा कलेजा दहला रहा है। जनस्थान में राक्षस और गृध्र का क्यों कर युद्ध हुआ? मुझे अपने भाई का नाम आज बहुत दिनों बाद सुनाई पड़ा है ॥ २ ॥ ३ ॥

इच्छेयं गिरिदुर्गाच्च भवद्भिरवतारितुम् ।
यवीयसो गुणज्ञस्य श्लाघनीयस्य विक्रमैः ॥ ४ ॥

अतिदीर्घस्य कालस्य तुष्टोऽस्मि परिकीर्तनात् ।
तदिच्छेयमहं श्रोतुं विनाशं वानरर्षभाः ॥ ५ ॥

भ्रातुर्जटायुषस्तस्य जनस्थाननिवासिनः ।
तस्यैव च मम भ्रातुः सखा दशरथः कथम् ॥ ६ ॥

अतः मैं चाहता हूँ कि, आप लोग मुझे इस दुर्गम पर्वत से नीचे उतार लें। गुण और पराक्रम में सराहनीय अपने छोटे भाई का बहुत दिनों बाद संवाद पाने से मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ। हे वानरश्रेष्ठों! अब मैं जनस्थानवासी अपने भाई जटायु के मारे जाने का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। मेरे उस भाई से और उन दशरथ से मैत्री किस प्रकार हुई ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

यस्य रामः प्रियः पुत्रो ज्येष्ठो गुरुजनप्रियः ।
सूर्यांशुदग्धपक्षत्वान्न शक्नोम्युपसर्पितुम् ॥ ७ ॥

जिनके प्रिय एवं श्रेष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र जी पूज्य लोगों के प्रियपात्र हैं? क्या करूँ, सूर्य की किरणों से मेरे परों के दग्ध हो जाने के कारण मुझसे तो अब हिला डुला भी नहीं जाता ॥ ७ ॥

इच्छेयं पर्वतादस्मादवतर्तुमरिन्दमाः ।
शोकाद्भ्रष्टस्वरमपि श्रुत्वा ते हरियूथपाः ॥ ८ ॥
श्रद्दधुर्नैव तद्वाक्यं कर्मणा तस्य शङ्किताः ।
ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवङ्गमाः ॥ ९ ॥
चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान्नो भक्षयिष्यति ।
सर्वथा प्रायमासीनान्यदि नो भक्षयिष्यति ॥ १० ॥

अतः हे शत्रुओं को मारने वाले! मैं इस पर्वत से उतरना चाहता हूँ। यद्यपि भाई के मृत्यु का संवाद सुनने के कारण उत्पन्न हुए शोक से सम्पाति का गला भर आया था, तथापि वानरों को उसकी बात पर विश्वास न हुआ। क्योंकि हिंसा आदि उसके (स्वाभाविक) कर्म ऐसे थे, जिनसे कि, वानरों के मन में उसकी ओर से सन्देह उत्पन्न हो गया था। मरने के लिये व्रत धारण किये हुए उन वानरों

ने गृध्र को देख अपनी (उस समय की) बड़ी खोटी बुद्धि से यह विचारा कि, यह गीध हम सब को खा डालेगा ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

कृतकृत्या भविष्यामः क्षिप्रं सिद्धिमितो गताः ।
एतां बुद्धिं ततश्चक्रुः सर्वे ते वानरर्षभाः ॥ ११ ॥

सो हम तो प्राण त्यागने को बैठे ही हैं। हमने अपने मन में मरने का जो ठान ठाना है, वह शीघ्र हमारा पूरा हो जायगा और हम (श्रीरामकाज में प्राणत्याग करने से) कृतकृत्य हो जाँयगे। उन सब वानरोत्तमों ने इस प्रकार निश्चय कर ॥ ११ ॥

अवतार्य गिरेः शृङ्गाद्गृध्रमाहाङ्गदस्तदा ।
बभूवर्क्षरजा नाम वानरेन्द्रः प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ममार्यः पार्थिवः पक्षिन्धार्मिकस्तस्य चात्मजौ ।
सुग्रीवश्चैव वाली च पुत्रावोघबलावुभौ ॥ १३ ॥

सब वानरों ने सम्पाति को पर्वत के शिखर से नीचे उतारा। तदनन्तर अङ्गद ने कहा—हे पक्षिन्! ऋक्षराज नामक प्रतापवान एक वानरराज हो गये हैं। मेरे कुल के प्रथम पूर्वज वे ही थे। उन के दो धर्मात्मा पुत्र हुए। उनके नाम वालि और सुग्रीव पड़े। ये दोनों ही बड़े बलवान् हुए ॥ १२ ॥ १३ ॥

लोके विश्रुतकर्माभूद्राजा वाली पिता मम ।
राजा कृत्स्नस्य जगत इक्ष्वाकूणां महारथः ॥ १४ ॥

रामो दाशरथिः श्रीमान्प्रविष्टो दण्डकावनम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया ॥ १५ ॥

पितुर्निदेशनिरतो धर्म्यं पन्थानमाश्रितः।
तस्य भार्या जनस्थानाद्रावणेन हृता बलात्॥ १६॥

उनमें मेरे पिता वालि बड़े विख्यात और वानरों के राजा हुए। अखिल पृथिवीमण्डल के राजा और इक्ष्वाकुवंशोद्भव महाराज दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी अपने छोटे भाई लक्ष्मण और भार्या जानकी को साथ ले, पितृआज्ञा को पालन करते हुए तथा धर्ममार्ग को अवलंबन कर, दण्डकवन में आये। उनकी स्त्री जानकी को जनस्थान से रावण बरजोरी हर कर ले गया॥ १४॥ ॥ १५॥ १६॥

रामस्य तु पितुर्मित्रं जटायुर्नाम गृध्रराट्।
ददर्श सीतां वैदेहीं ह्रियमाणां विहायसा॥ १७॥

इसी बीच में श्रीरामचन्द्र जी के पिता महाराज दशरथ के मित्र जटायु नाम के गृध्रराज ने देखा कि, रावण सीता को हर कर आकाशमार्ग से लिये जाता है॥ १७॥

रावणं विरथं कृत्वा स्थापयित्वा च मैथिलीम्।
परिश्रान्तश्च वृद्धश्च रावणेन हतो रणे॥ १८॥

तब उन्होंने रावण का रथ तोड़ डाला और सीता को उससे छीन लिया; परन्तु वृद्धावस्था के कारण जटायु जब लड़ते लड़ते थक गये, तब रावण ने उनको लड़ाई में मार डाला॥ १८॥

एवं गृध्रो हतस्तेन रावणेन बलीयसा।
संस्कृतश्चापि रामेण गतश्च गतिमुत्तमाम्॥ १९॥

इस प्रकार उस बलवान रावण द्वारा जटायु मारे गये। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उनका अन्त्येष्टिसंस्कार किया, जिससे उनको मोक्ष हो गया॥ १९॥

ततो मम पितृव्येण सुग्रीवेण महात्मना ।
चकार राघवः सख्यं सोऽवधीत्पितरं मम ॥ २० ॥

तदनन्तर मेरे महात्मा चाचा सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी से मैत्री की। तब श्रीरामचन्द्र जी ने मेरे पिता वालि को मार डाला ॥ २० ॥

मम पित्रा विरुद्धो हि सुग्रीवः सचिवैः सह ।
निहत्य वालिनं रामस्ततस्तमभिषेचयत् ॥ २१ ॥

क्योंकि सुग्रीव अपने मंत्रियों सहित मेरे पिता से वैर रखते थे। सो वालि का वध कर श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव को राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया ॥ २१ ॥

स राज्ये स्थापितस्तेन सुग्रीवो वानराधिपः ।
राजा वानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा राजसिंहासन पर स्थापित किये हुए वानरराज सुग्रीव ने वानरयूथपतियों को सीता का पता लगाने को भेजा है ॥ २२ ॥

एवं रामप्रयुक्तास्तु मार्गमाणास्ततस्ततः ।
वैदेहीं नाधिगच्छामो रात्रौ सूर्यप्रभामिव ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के कथनानुसार सीता का पता लगाने के कार्य में हम प्रवृत्त हुए और बहुत ढूंढा, किन्तु जिस प्रकार रात्रि में सूर्य की प्रभा ढूंढने पर भी नहीं मिलती, उसी प्रकार ढूंढने पर भी सीता नहीं मिली ॥ २३ ॥

ते वयं दण्डकारण्यं विचित्य सुसमाहिताः ।
अज्ञानात्तु प्रविष्टाः स्मः* धरण्या विवृतं बिलम् ॥ २४ ॥

हम लोग बड़ी सावधानी से दण्डकवन खोज रहे थे कि, अनजाने हम एक बिल में घुस गये ॥ २४ ॥

मयस्य मायाविहितं तद्बिलं च विचिन्वताम् ।
व्यतीतस्तत्र नो मासो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ २५ ॥

मयदानव निर्मित उस बिल में ढूढ़ते ढूढ़ते सुग्रीव को निर्दिष्ट की हुई अवधि बीत गयी ॥ २५ ॥

ते वयं कपिराजस्य सर्वे वचनकारिणः ।
कृतां संस्थामतिक्रान्ता भयात्प्रायमुपास्महे ॥ २६ ॥

हम लोग कपिराज सुग्रीव के आज्ञानुवर्ती हैं। उनके निर्दिष्ट किये हुए अवधिकाल के बीत जाने से, भय के मारे, हम लोग प्रायोपवेशनव्रत धारण कर यहाँ पड़े हुए हैं ॥ २६ ॥

क्रुद्धे तस्मिंस्तु काकुत्स्थे सुग्रीवे च सलक्ष्मणे ।
गतानामपि सर्वेषां तत्र नो नास्ति जीवितम् ॥ २७ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण जी और सुग्रीव जी के कुपित होने पर, यदि हम वहाँ जाँय भी, तो भी हमें अपने जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। अतः हम मरने के लिये यहाँ पड़े हैं ॥ २७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

* पाठान्तरे—" धर्मिण्या "।

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—※—

इत्युक्तः करुणं वाक्यं वानरैस्त्यक्तजीवितैः ।
सवाष्पो वानरान्गृध्रः प्रत्युवाच महास्वनः ॥ १ ॥

जब प्राणत्याग करने के लिये निश्चय किये हुए वानरों ने इस प्रकार करुणा भरे वचन कहे, तब सम्पाति ने आँखों में आँसू भर, गम्भीर स्वर में उन वानरों से कहा ॥ १ ॥

यवीयान्मम स भ्राता जटायुर्नाम वानराः ।
यमाख्यात हतं युद्धे रावणेन बलीयसा ॥ २ ॥

हे वानरो! तुमने बलवान रावण द्वारा युद्ध में, जिस जटायु नाम गृध्र का मारा जाना अभी बतलाया है, वह मेरा छोटा भाई था ॥ २ ॥

वृद्धभावादपक्षत्वाच्छृण्वंस्तदपि मर्षये ।
न हि मे शक्तिरस्त्यद्य भ्रातुर्वैरविमोक्षणे ॥ ३ ॥

क्या करूँ, मैं अब बूढ़ा होने से निर्बल हो रहा हूँ और मेरे पंख भी नहीं रहे। अब मुझे यह बात चुपचाप सहलेनी पड़ती है। क्योंकि भाई के वध का बदला लेने की मुझमें अब शक्ति ही नहीं रही ॥ ३ ॥

पुरा वृत्रवधे वृत्ते परस्परजयैषिणौ ।
आदित्यमुपयातौ स्वो ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ॥ ४ ॥

प्राचीन काल में, जिस समय वृत्रासुर का वध इन्द्र द्वारा किया गया था, उस समय हम दोनों भाई एक दूसरे को हराने की आकांक्षा

से उड़ते उड़ते, जगमगाती हुई किरणों वाले सूर्यनारायण के समीप जा पहुँचे ॥ ४ ॥

आवृत्त्याऽऽकाशमार्गे तु जवेन स्म गतौ भृशम् ।
मध्यं प्राप्ते दिनकरे जटायुरवसीदति ॥ ५ ॥

आकाश में बड़ी तेज़ी के साथ उड़ते उड़ते हमको दो पहर हो गया । उस समय सूर्य की किरणों की गर्मी से जटायु विकल हो गया ॥ ५ ॥

तमहं भ्रातरं दृष्ट्वा सूर्यरश्मिभिरर्दितम् ।
पक्षाभ्यां छादयामास स्नेहात्परमविह्वलम्* ॥ ६ ॥

उस समय सूर्य की किरणों से अपने छोटे भाई को अत्यन्त पीड़ित देख, मैंने मारे स्नेह के अत्यन्त विह्वल हो, उसे अपने परों से ढक लिया ॥ ६ ॥

निर्दग्धपक्षः पतितो विन्ध्येऽहं वानरर्षभाः ।
अहमस्मिन्वसन्भ्रातुः प्रवृत्तिं नोपलक्षये ॥ ७ ॥

हे वानरश्रेष्ठो ! तब सूर्य के ताप से मेरे दोनों पंख भस्म हो जाने से मैं विन्ध्याचल पर यहाँ आकर गिरा । तब से आज तक मुझे उसका कुछ भी अच्छा बुरा समाचार नहीं मिला ॥ ७ ॥

जटायुषस्त्वेवमुक्तो भ्राता सम्पातिना तदा ।
युवराजो महाप्राज्ञः प्रत्युवाचाङ्गदस्तदा ॥ ८ ॥

जब जटायु के ज्येष्ठ भ्राता सम्पाति ने इस प्रकार कहा, तब बड़े बुद्धिमान् युवराज अंगद बोले ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—"विह्वलः" ।

जटायुषो यदि भ्राता श्रुतं ते गदितं मया।
आख्याहि यदि जानासि निलयं तस्य रक्षसः ॥ ९ ॥

यदि तुम्ही जटायु के भाई हो, और मेरा सब कथन तुमने सुन लिया है, तो मुझे उस राक्षस का घर बतला दो ॥ ९ ॥

अदीर्घदर्शनं तं वै रावणं राक्षसाधिपम्।
अन्तिके यदि वा दूरे यदि जानासि शंस नः ॥ १० ॥

यदि तुम उस अविचारी राक्षसाधम रावण का निवास-स्थान, भले ही वह दूर हो या निकट, जानते हो, तो हमें बतला दो ॥ १० ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा ज्येष्ठो भ्राता जटायुषः।
आत्मानुरूपं वचनं वानरान्सम्प्रहर्षयन् ॥ ११ ॥

यह सुन जटायु का ज्येष्ठ भ्राता महातेजस्वी सम्पाति, वानरों को हर्षित करता हुआ अपने अनुरूप वचन बोला ॥ ११ ॥

निर्दग्धपक्षो गृध्रोऽहं हीनवीर्यः प्लवङ्गमाः।
वाङ्मात्रेण तु रामस्य करिष्ये साह्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

हे वानरश्रेष्ठो! यद्यपि मेरे पंख जल गये हैं, और इस समय मेरे शरीर में बल पराक्रम ज़रा भी नहीं रह गया, तथापि मैं केवल वाणीमात्र से श्रीरामचन्द्र जी का उत्तम साहाय करूँगा ॥ १२ ॥

जानामि वारुणाँल्लोकान्विष्णोस्त्रैविक्रमानपि।
महासुरविमर्दान्वाऽप्यमृतस्य च मन्थनम् ॥ १३ ॥

वरुणादि लोकों से ले कर जितने लोक वामनरूप धारण कर भगवान विष्णु ने नापे थे, उन सब का वृत्तान्त मुझे मालूम है।

देवासुरों का संग्राम और समुद्र मथ कर, अमृत के निकाले जाने आदि की घटनाएँ भी मुझे मालूम हैं ॥ १३ ॥

रामस्य यदिदं कार्यं कर्तव्यं प्रथमं मया ।
जरया च हृतं तेजः प्राणाश्च शिथिला मम ॥ १४ ॥

क्या करूँ, बुढ़ापे के कारण मेरे शरीर में ज़रा भी बल नहीं रह गया और मेरे प्राण शिथिल हो गये हैं अर्थात् उत्साह भी नहीं रहा, इस लिये मैं विशेष साहाय्य नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन दुरात्मना ॥ १५ ॥

रूपवती और सब आभूषण से भूषित एक तरुणी स्त्री को मैंने देखा था, जिसे दुरात्मा रावण हर कर लिये जाता था ॥ १५ ॥

क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च भामिनी ।
भूषणान्यपविध्यन्ती गात्राणि च विधून्वती ॥ १६ ॥

वह स्त्री हा राम ! हा राम !! हा लक्ष्मण ! हा लक्ष्मण ! कह कर चिल्ला रही थी और अपने गहने उतार उतार कर फेंकती जाती थी तथा अपना सिर और छाती पीटती जाती थी ॥ १६ ॥

सूर्यप्रभेव शैलाग्रे तस्याः कौशेयमुत्तमम् ।
असिते राक्षसे भाति यथा वा तडिदम्बुदे ॥ १७ ॥

उसकी पीली रेशमी साड़ी उस काले शरीर वाले राक्षस के शरीर पर पड़ कर ऐसी शोभा देती थी, जैसे काले पर्वत के शिखर पर सूर्य की पीली प्रभा शोभा देती है अथवा जैसे नीले आकाश में बिजली की चमक ॥ १७ ॥

तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात् ।
श्रूयतां मे कथयतो निलयं तस्य रक्षसः ॥ १८ ॥

वह स्त्री श्रीरामचन्द्र जी का नाम ले कर चिल्लाती जाती थी, इससे मुझे मालूम पड़ता है कि, वही सीता होगी। अब मैं तुम्हें उस राक्षस के घर का पता बतलाता हूँ ॥ १८ ॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद्भ्राता वैश्रवणस्य च ।
अध्यास्ते नगरीं लङ्कां रावणो नाम राक्षसः ॥ १९ ॥

वह राक्षस विश्रवमुनि का पुत्र और कुबेर का सगा भाई है तथा लङ्का नाम की पुरी में रहता है। उसका नाम रावण है ॥ १९ ॥

इतो *द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णे शतयोजने ।
तस्मिँल्लङ्कापुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ २० ॥

इस समुद्र-तट से पूरे सौ योजन की दूरी पर एक द्वीप है। उसमें विश्वकर्मा की बनाई लङ्का नाम की नगरी है ॥ २० ॥

जाम्बूनदमयैर्द्वारैश्चित्रैः काञ्चनवेदिकैः ।
प्राकारेणार्कवर्णेन महता सुसमावृता ॥ २१ ॥

उस पुरी के सब द्वार सोने के हैं और बैठकें भी सोने ही की रंग बिरंगी बनी हुई हैं। सूर्य के तुल्य चमकीला और विशाल एक परकोटा उस पुरी को चारों ओर से घेरे हुए है ॥ २१ ॥

तस्यां वसति वैदेही दीना कौशेयवासिनी ।
रावणान्तःपुरे रुद्धा राक्षसीभिः समावृता ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—" द्वीपः " ।

उसी लङ्कापुरी के भीतर पीली रेशमी साड़ी धारण किये हुए, उदास सीता रहती है। वह रावण के रनवास में क़ैद है और राक्षसी उसकी रखवाली किया करती हैं ॥ २२ ॥

जनकस्यात्मजां राज्ञस्तत्र द्रक्ष्यथ मैथिलीम् ।
लङ्कायामथ गुप्तायां सागरेण समन्ततः ॥ २३ ॥

यदि तुम वहाँ जा सको तो तुम उस जनकनन्दिनी को वहाँ देख सकोगे। किन्तु वह लङ्कापुरी चारों ओर से समुद्र से रक्षित है ॥ २३ ॥

सम्प्राप्य सागरस्यान्तं सम्पूर्णं शतयोजनम् ।
आसाद्य दक्षिणं तीरं ततो द्रक्ष्यथ रावणम् ॥ २४ ॥

यहाँ से पूरे सौ योजन जाने बाद दक्षिणतट पर पहुँच कर, तुम रावण को देख सकोगे ॥ २४ ॥

तत्रैव त्वरिताः क्षिप्रं विक्रमध्वं प्लवङ्गमाः ।
ज्ञानेन खलु पश्यामि दृष्ट्वा प्रत्यागमिष्यथ ॥ २५ ॥

अतः हे वानरश्रेष्ठों! तुम शीघ्र वहाँ जाओ और अपना विक्रम प्रकट करो। मैं अपने ज्ञान द्वारा जानता हूँ कि, तुम देख कर लौट आओगे ॥ २५ ॥

आद्यः पन्थाः कुलिङ्गानां ये चान्ये धान्यजीविनः ।
द्वितीयो बलिभोजानां[1] ये च वृक्षफलाशिनः ॥ २६ ॥
भासास्तृतीयं गच्छन्ति क्रौञ्चाश्च कुररैः सह ।
श्येनाश्चतुर्थं गच्छन्ति गृध्रा गच्छन्ति पञ्चमम् ॥ २७ ॥

---

1 बलिभोजानां—काकानां। (गो०)

बलवीर्योपपन्नानां रूपयौवनशालिनाम् ।
षष्ठस्तु पन्था हंसानां वैनतेयगतिः परा ॥ २८ ॥

एक तो कबूतर आदि धान्य जीवी पक्षी ; दूसरे फलादि खाने वाले कौए, तीसरे भास, क्रौंच, कुरर इत्यादि ; चौथे बाज ; पांचवे गृध्र ; छठवें बल, पराक्रम, रूप, और यौवन सम्पन्न हंस, वहाँ जा सकते हैं। गरुड़ की गति तो सब के ऊपर है ही अर्थात् सब से बढ़-कर है, वे तो सर्वत्र आ जा सकते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

वैनतेयाच्च नो जन्म सर्वेषां वानरर्षभाः ।
इहस्थोऽहं प्रपश्यामि रावणं जानकीं तथा ॥ २९ ॥

हे कपिवरो ! हमारा जन्म गरुड़ जी से हुआ है और मैं यहीं से रावण और जानकी को देख रहा हूँ ॥ २९ ॥

अस्माकमपि सौपर्णं दिव्यं चक्षुर्बलं तथा ।
तस्मादाहारवीर्येण निसर्गेण च वानराः ॥ ३० ॥

आयोजनशतात्साग्राद्वयं पश्याम नित्यशः ।
अस्माकं विहिता वृत्तिर्निसर्गेण च दूरतः ॥ ३१ ॥

क्योंकि हम लोगों की आँखों का बल, गरुड़ की दिव्य आँखों से उत्पन्न है अथवा हमारे नेत्रों की दृष्टि भी गरुड़ की दिव्य दृष्टि के बराबर ही है। गरुड़ के वंश में उत्पन्न होने के कारण तथा मांसादि भक्षण करने के बल से हम लोग सौ योजन ही नहीं, बल्कि इससे भी अधिक दूर की वस्तु सदा देख सकते हैं। स्वभावतः जीवनवृत्ति के निर्वाहार्थ हमें दूर की दृष्टि दी गयी है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

विहिता पादमूले तु वृत्तिश्चरणयोधिनाम्[1] ।
गर्हितं तु कृतं कर्म येन स पिशिताशिना ॥ ३२ ॥

किन्तु मुरगे आदि को उस पेड़ की जड़ ही तक देखने की दृष्टि दी गयी है जिस पर वे बैठते या रहते हैं। हमने उस जन्म में बुरे कर्म किये, इसी लिये हम मांसाहारी हुए हैं ॥ ३२ ॥

प्रतीकार्यं च मे तस्य वैरं भ्रातुः कृतं भवेत् ।
उपायो दृश्यतां कश्चिल्लङ्घने लवणाम्भसः ॥ ३३ ॥

मुझे अपने भाई का वैर रावण से लेना है। सो तुम लोग इस खारी समुद्र के नांघने का कोई उपाय सोचो ॥ ३३ ॥

अभिगम्य तु वैदेहीं समृद्धार्था गमिष्यथ ।
समुद्रं नेतुमिच्छामि भवद्भिर्वरुणालयम् ॥ ३४ ॥

मैं कहता हूँ कि, तुम जानकी जी के निकट पहुँच कर, कार्य-सिद्ध कर लौट आओगे। मेरी इच्छा है कि, अब आप लोग मुझे समुद्र तट पर ले चलें ॥ ३४ ॥

प्रदास्याम्युदकं भ्रातुः स्वर्गतस्य महात्मनः ।
ततो नीत्वा तु तं देशं तीरं नदनदीपतेः ॥
निर्दग्धपक्षं सम्पातिं वानराः सुमहौजसः ॥ ३५ ॥

जिससे मैं अपने महात्मा स्वर्गवासी भाई को जलाञ्जलि दे सकूँ। सम्पाति के ऐसा कहने पर बड़े बलवान वानर उस दग्धपक्ष सम्पाति को समुद्र के तट पर ले गये ॥ ३५ ॥

---

१ चरणयोधिनां—कुक्कुटानां ।

पुनः प्रत्यानयित्वा च तं देशं पतगेश्वरम् ।
बभूवुर्वानरा हृष्टाः प्रवृत्तिमुपलभ्य ते ॥ ३६ ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

पक्षिराज सम्पाति को, वहाँ से उठा कर वानरों ने समुद्र के तट पर पहुँचा दिया और सीता जी का वृत्तान्त सुन कर, वे वानर हर्षित हुए ॥ ३६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—*—

ततस्तदमृतास्वादं गृध्रराजेन भाषितम् ।
निशम्य मुदिता हृष्टास्ते[1] वचः प्लवगर्षभाः ॥ १ ॥

इस प्रकार गृध्रराज सम्पाति के कहे हुए अमृत जैसे स्वादिष्ट वचनों को सुन कर, वे वानरश्रेष्ठ मारे आनन्द के रोमाञ्चित हो गये ॥ १ ॥

जाम्बवान्वानरश्रेष्ठः सह सर्वैः प्लवङ्गमैः ।
भूतलात्सहसोत्थाय गृध्रराजमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

तदनन्तर जाम्बवान् वानरों के साथ सहसा भूमि से उठ कर, सम्पाति से कहने लगे ॥ २ ॥

---

१ हृष्टा—रोमाञ्चिताः । (गो०)

क्व सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम् ।
तदाख्यातु भवान्सर्वं गतिर्भव वनौकसाम् ॥ ३ ॥

सीता कहाँ है? उसे किसने देखा और कौन उसे हर ले गया? ये सब बातें बतला कर, आप इन वानरों के प्राण बचाइये ॥ ३ ॥

को दाशरथिबाणानां वज्रवेगनिपातिनाम् ।
स्वयं लक्ष्मणमुक्तानां न चिन्तयति विक्रमम् ॥ ४ ॥

वह कौन पुरुष है, जिसने श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी के धनुष से छूटे हुए, वज्र के समान वेग से जाने वाले बाणों के विक्रम की ज़रा भी परवाह नहीं की ॥ ४ ॥

स हरीन्प्रीतिसंयुक्तान्सीताश्रुतिसमाहितान् ।
पुनराश्वासयन्प्रीत इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

यह सुन गृध्रराज प्रसन्न हुए और उन वानरों को धीरज बंधा, जो कि सीता का वृत्तान्त सुनने को सावधान हो तत्पर थे, यह वचन बोले ॥ ५ ॥

श्रूयतामिह वैदेह्या यथा मे हरणं श्रुतम् ।
येन चापि ममाख्यातं यत्र वाऽऽयतलोचना ॥ ६ ॥

मैंने जैसा जानकी का हरण सुना है और जिसने मुझसे कहा है और जहाँ पर वह बड़े नेत्रों वाली जानकी विद्यमान है, इन सब बातों को मैं कहता हूँ, तुम लोग सुनो ॥ ६ ॥

अहमस्मिन्गिरौ दुर्गे बहुयोजनमायते ।
चिरान्निपतितो वृद्धः क्षीणप्राणपराक्रमः ॥ ७ ॥

मुझे इस दुर्गम और बहुत योजनों के लंबे चौड़े पर्वत पर गिरे हुए बहुत दिन बीत गये। अब तो मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ और मेरे शरीर में न तो उत्साह ही रह गया और न पराक्रम ही ॥ ७ ॥

तं मामेवं गतं पुत्रः सुपार्श्वो नाम नामतः ।
आहारेण यथाकालं बिभर्ति पततांवरः ॥ ८ ॥

मेरी इस प्रकार की दुरवस्था में सुपार्श्व नाम का मेरा पुत्र मुझे भोजन दे कर मेरा पालन किया करता था ॥ ८ ॥

तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजङ्गमाः ।
मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार गन्धर्व अत्यन्त कामी, साँप अत्यन्त क्रोधी और हिरन बड़े डरपोंक होते हैं, उसी प्रकार हम लोग बहुत खाने वाले होते हैं ॥ ९ ॥

स कदाचित्क्षुधार्तस्य ममाहाराभिकाङ्क्षिणः ।
गतसूर्येऽहनि प्राप्तो मम पुत्रो ह्यनामिषः ॥ १० ॥

एक दिन की बात है सवेरा होते ही सुपार्श्व, आहार की खोज में गया और साँझ होने पर बिना माँस लिये ही रीते हाथों लौट आया ॥ १० ॥

स मया वृद्धभावाच्च कोपाच्च परिभर्त्सितः ।
क्षुत्पिपासापरीतेन कुमारः पततांवरः ॥ ११ ॥

बुढ़ाई के कारण मैं उस समय बहुत भूखा था। सो भोजन न पाने से मैंने अपने पक्षिप्रवर पुत्र को बहुत कुछ भला बुरा कहा ॥ ११ ॥

स मामाहार[1]संरोधात्पीडितः प्रीतिवर्धनः ।
[2]अनुमान्य यथातत्त्वमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तब वह मेरी प्रसन्नता को बढ़ाने वाला सुपार्श्व आहार न पाने के कारण मेरे द्वारा धमकाये जाने पर, बहुत दुःखी हुआ और मुझसे क्षमा माँग कर उसने यथार्थ बात मुझसे यह कही ॥ १२ ॥

अहं तात यथाकालमामिषार्थी खमाप्लुतः ।
महेन्द्रस्य गिरेर्द्वारमावृत्य च समास्थितः ॥ १३ ॥

हे तात ! मैं यथासमय माँस की खोज में आकाश में उड़ा और महेन्द्राचल की राह छेंक कर, मैं खड़ा था ॥ १३ ॥

ततः सत्त्वसहस्राणां सागरान्तरचारिणाम् ।
पन्थानमेकोऽध्यवसं सन्निरोद्धुमवाङ्मुखः ॥ १४ ॥

मैं नीचे को मुँह कर के चुपचाप समुद्र के भीतर घूमने फिरने वाले सहस्रों जीव जन्तुओं का रास्ता रोकने को, बैठा रहा ॥ १४ ॥

तत्र कश्चिन्मया दृष्टः सूर्योदयसमप्रभाम् ।
स्त्रियमादाय गच्छन्वै भिन्नाञ्जनचयोपमः* ॥ १५ ॥

वहाँ पर मैंने देखा कि, काजल की तरह काले रंग का कोई व्यक्ति उदयकालीन सूर्य जैसी प्रभावाली एक स्त्री को लिये हुए चला जाता है ॥ १५ ॥

सोऽहमभ्यवहारार्थे[3] तौ दृष्ट्वा कृतनिश्चयः ।
तेन साम्ना विनीतेन पन्थानमभियाचितः ॥ १६ ॥

---

१ आहारसंरोधात्—आहारस्याप्राप्तेरित्यर्थः । (शि०) २ अनुमान्य—मांसंप्रार्थ्य । ३ अभ्यवहारार्थं—" पितुरभ्यवहारार्थं नेष्यामीति कृतनिश्चय-वृत्यर्थः । " (रा०) * पाठान्तरे—" प्रभः " ।

मैंने अपने मन में यह निश्चय किया कि, ये दोनों आज मेरे पिता के भोजन के लिये होंगे। परन्तु उस पुरुष ने गिड़ गिड़ा कर और विनय कर मुझसे रास्ता माँगा ॥ १६ ॥

न हि सामोपपन्नानां प्रहर्ता विद्यते क्वचित् ।
नीचेष्वपि जनः कश्चित्किमङ्ग बत मद्विधः ॥ १७ ॥

अतः मैंने उसे निकल जाने दिया। क्योंकि मधुरभाषी जनों पर प्रहार करने वाला कदाचित् ही कोई इस भूमण्डल पर निकले। यहाँ तक कि, जब नीच भी ऐसा काम नहीं करता, तब मेरे जैसा उस पर क्यों कर प्रहार कर सकता था॥ १७ ॥

स यातस्तेजसा व्योम संक्षिपन्निव वेगतः ।
अथाहं खचरैर्भूतैरभिगम्य सभाजितः ॥ १८ ॥

सो वह अपने तेज से आकाश का तिरस्कार करता हुआ झट पट निकल गया। तदनन्तर आकाशचारी जीवों ने मेरी बड़ी प्रशंसा की॥ १८ ॥

दिष्ट्या जीवसि तातेति ह्यब्रुवन्मां महर्षयः ।
कथञ्चित्सकलत्रोऽसौ गतस्ते स्वस्त्यसंशयम् ॥ १९ ॥

बड़े बड़े ऋषि लोग कहने लगे कि, भाग्यवश ही सीता जीती बच गयीं। यह पुरुष इस स्त्री के सहित भाग्य ही से तुमसे बच कर निकल गया। तुम्हारा मङ्गल हो॥ १९ ॥

एवमुक्तस्ततोऽहं तैः सिद्धैः परमशोभनैः ।
स च मे रावणो राजा रक्षसां प्रतिवेदितः ॥ २० ॥
हरन्दाशरथेर्भार्यां रामस्य जनकात्मजाम् ।
भ्रष्टाभरणकौशेयां शोकवेगपराजिताम् ॥ २१ ॥

रामलक्ष्मणयोर्नाम क्रोशन्तीं मुक्तमूर्धजाम् ।
एष कालात्ययस्तावदिति कालविदांवरः ॥ २२ ॥

तदनन्तर परम शोभायमान सिद्ध लोगों ने मुझे बतलाया कि, वह पुरुष राक्षसों का राजा रावण था और वह स्त्री जिसके गहने गिरते जाते थे, जिसकी पीली रेशमी साड़ी हवा में उड़ रही थी, जिसके सिर की चोटी खुली हुई थी, जो शोकाकुल हो श्रीराम और लक्ष्मण का नाम ले पुकार रही थी, जनकनन्दिनी थी, जो दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्र की भार्या थी और जिसे रावण हर कर लिये जाता था। कालज्ञों में श्रेष्ठ उस सुपार्श्व ने कहा कि, हे तात! इसीसे आज मुझे देर हो गयी ॥ २२ ॥

एतमर्थं समग्रं मे सुपार्श्वः प्रत्यवेदयत् ।
तच्छ्रुत्वाऽपि हि मे बुद्धिर्नासीत्काचित्पराक्रमे ॥ २३ ॥

जब सुपार्श्व ने मुझसे यह समस्त वृतान्त कहा, तब उसे सुन कर भी मेरी इच्छा न हुई कि मैं कुछ पराक्रम कर दिखाऊँ ॥ २३ ॥

अपक्षो हि कथं पक्षी कर्म किञ्चिदुपक्रमे ।
यत्तु शक्यं मया कर्तुं वाग्बुद्धिगुणवर्तिना ॥ २४ ॥
श्रूयतां तत्प्रवक्ष्यामि भवतां पौरुषाश्रयम् ।
वाङ्मतिभ्यां तु सर्वेषां करिष्यामि प्रियं हि वः ॥ २५ ॥

क्योंकि पंखविहीन पक्षी, भला क्या काम कर सकता है? पर हाँ, जो कुछ वाणी या बुद्धिबल से मैं कर सकता हूँ, उसे सुनो। क्योंकि उसका करना तुम्हारे पौरुष पर निर्भर है। मैं भी अपनी वाणी से (अर्थात् वचन द्वारा) और बुद्धि के अनुसार तुम्हारी सहायता करूँगा ॥ २४ ॥ २५ ॥

यद्धि दाशरथेः कार्यं मम तन्नात्र संशयः ।
ते भवन्तो मतिश्रेष्ठा बलवन्तो मनस्विनः ॥ २६ ॥
प्रेषिताः कपिराजेन देवैरपि दुरासदाः ।
रामलक्ष्मणबाणाश्च निशिताः कङ्कपत्रिणः ॥ २७ ॥
त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्तास्त्राणनिग्रहे ।
कामं खलु दशग्रीवस्तेजोबलसमन्वितः ॥
भवतां तु समर्थानां न किञ्चिदपि दुष्करम् ॥ २८ ॥

क्योंकि जो श्रीरामचन्द्र जी का काम है उसे मैं निश्चय ही अपना ही काम समझता हूँ। आप लोग भी बुद्धिमान्, बलवान्, शूर और देवताओं का भी सामना करने वाले हैं। यही समझ कर सुग्रीव ने तुम लोगों को इधर भेजा है। कङ्कपत्र युक्त श्रीराम लक्ष्मण जी के बाण भी तीनों लोकों का नाश और उद्धार (दण्ड और दया) करने में समर्थ हैं। यद्यपि दशग्रीव रावण तेजस्वी और बलवान् है, तथापि सब कार्यों को पूरा करने की सामर्थ्य रखने वाले, तुम लोगों के लिये अजेय नहीं है ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

तदलं कालसङ्गेन[1] क्रियतां बुद्धिनिश्चयः ।
न हि कर्मसु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ २९ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

अब देर करना व्यर्थ है, सो झटपट तुम उपाय निश्चित कर डालो। क्योंकि तुम्हारे समान बुद्धिमान् लोग कार्य करने में आलस्य नहीं करते ॥ २९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

---

१ कालसङ्गेन—कालविलंबेन। (गो०)

षष्टितमः सर्गः

—※—

ततः कृतोदकं स्नातं तं गृध्रं हरियूथपाः ।
उपविष्टा गिरौ दुर्गे परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

जब सम्पाति स्नान कर अपने भाई को जलाञ्जलि दे चुका, तब वानर भी उस दुर्गम पर्वत पर उसको चारों ओर से घेर कर बैठे ॥ १ ॥

तमङ्गदमुपासीनं तैः सर्वैर्हरिभिर्वृतम् ।
जनितप्रत्ययो हर्षात्सम्पातिः पुनरब्रवीत् ॥ २ ॥

सब वानरों सहित अङ्गद के समीप बैठा हुआ सम्पाति उनको विश्वास कराता हुआ हर्षित हो फिर यह बोला ॥ २ ॥

कृत्वा निःशब्दमेकाग्राः शृण्वन्तु हरयो मम ।
तत्त्वं सङ्कीर्तयिष्यामि यथा जानामि मैथिलीम् ॥ ३ ॥

हे वानरो! तुम सब एकाग्र मन कर, मैं जो कहूँ, उसे सुनो। अब मैं तुमको यथार्थ रीत्या बतलाऊँगा कि, मैं सीता को किस प्रकार जानता हूँ ॥ ३ ॥

अस्य विन्ध्यस्य शिखरे पतितोऽस्मि पुरातने* ।
सूर्यातपपरीताङ्गो निर्दग्धः सूर्यरश्मिभिः ॥ ४ ॥

पहले मैं सूर्य के ताप से विकल और सूर्य की किरणों से जला हुआ इसी विन्ध्याचल की चोटी पर गिरा ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—"पुरा वने," "महावने" वा ।

लब्धसंज्ञस्तु षड्रात्राद्विवशो विह्वलन्निव ।
वीक्षमाणो दिशः सर्वा नाभिजानामि किञ्चन ॥ ५ ॥

फिर छः दिन में मैं सचेत हुआ, परन्तु मैं ऐसा विवश और विकल था कि, देखने पर भी मुझे दिशा का ज्ञान नहीं होता था ॥ ५ ॥

ततस्तु सागराञ्शैलान्नदीः सर्वाः सरांसि च ।
वनान्युदधिवेलां च समीक्ष्य मतिरागमत् ॥ ६ ॥

कुछ दिनों बाद समुद्र, पहाड़, नदी, तालाब, जंगल तथा अन्य विविध स्थानों को देखने से मुझे ज्ञान हुआ ॥ ६ ॥

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरान्तरकूटवान् ।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चितः ॥ ७ ॥

तब मैंने जाना कि, शिखरयुक्त और अनेक कन्दराओं वाले हृष्ट पुष्ट पक्षियों से युक्त दक्षिण समुद्र के तट पर यह विन्ध्याचल पर्वत है ॥ ७ ॥

आसीच्चात्राश्रमः* पुण्यः सुरैरपि सुपूजितः ।
ऋषिर्निशाकरो नाम यस्मिन्नुग्रतपा भवत् ॥ ८ ॥

यहाँ पर देवताओं से पूजित एक आश्रम था। उसमें उग्रतपा निशाकर नामक एक ऋषि रहते थे ॥ ८ ॥

अष्टौ वर्षसहस्राणि तेनास्मिन्नृषिणा विना ।
वसतो मम धर्मज्ञाः स्वर्गते तु निशाकरे ॥ ९ ॥

वे तो स्वर्गवासी हुए, किन्तु मैंने उनके बिना अकेले ही इस स्थान में आठ हज़ार वर्षों तक वास किया ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"आश्रमं"।

अवतीर्य च विन्ध्याग्रात्कृच्छ्रेण विषमाच्छनैः ।
तीक्ष्णदर्भां वसुमतीं दुःखेन पुनरागतः ॥ १० ॥

तदनन्तर मैं बड़े कष्ट के साथ इस विन्ध्याचल की चोटी से ऊबड़ खाबड़ रास्ते से नीचे उतरा और बड़े कष्ट से इस कटीली कुशों से युक्त भूमि पर आया ॥ १० ॥

तमृषिं द्रष्टुकामोऽस्मि दुःखेनाभ्यागतो भृशम् ।
जटायुषा मया चैव बहुशोऽधिगतो हि सः ॥ ११ ॥

उन ऋषि के दर्शन करने की कामना से, जटायु के साथ पहिले भी मैं अनेक बार उनसे मिलने के लिये बड़े बड़े कष्ट झेल कर आया था ॥ ११ ॥

तस्याश्रमपदाभ्याशे ववुर्वाताः सुगन्धिनः ।
वृक्षो नापुष्पितः* कश्चिदफलो वा न विद्यते ॥ १२ ॥

उनके आश्रम के पास अति सुगन्धियुक्त पवन चल रहा था और वहां ऐसा एक भी वृक्ष नहीं देख पड़ता था, जो फला फूला न हो १२ ॥

उपेत्य चाश्रमं पुण्यं वृक्षमूलमुपाश्रितः ।
द्रष्टुकामः प्रतीक्षेऽहं भगवन्तं निशाकरम् ॥ १३ ॥

मैं उस आश्रम में एक वृक्ष के नीचे जा बैठा और भगवान् निशाकर मुनि के दर्शन की प्रतीक्षा करने लगा ॥ १३ ॥

अथापश्यमदूरस्थमृषिं ज्वलिततेजसम् ।
कृताभिषेकं दुर्धर्षमुपावृत्तमुदङ्मुखम् ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—" वाऽपुष्पितः " ।

इतने में मैंने दूर से ऋषि को देखा कि, वे परम तेजस्वी दुर्धर्ष ऋषि स्नान कर के उत्तर को मुख किये हुए चले आ रहे हैं ॥ १४ ॥

तमृक्षाः सृमरा व्याघ्राः सिंहा नागाः सरीसृपाः ।
परिवार्योपगच्छन्ति* दातारं प्राणिनो यथा ॥ १५ ॥

भिखमंगे जिस प्रकार दाता को घेर कर चलते हैं, उसी प्रकार, रीछ, सृमर, व्याघ्र, सिंह और अनेक सर्प उनको घेरे हुए चले आते थे ॥ १५ ॥

ततः प्राप्तमृषिं ज्ञात्वा तानि सत्वानि वै ययुः ।
प्रविष्टे राजनि यथा सर्वं सामात्यकं बलम् ॥ १६ ॥

राजा को अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ जान कर मंत्री, सैनिक आदि जिस प्रकार अपने अपने स्थानों को चले जाते हैं, उसी प्रकार उन ऋषिप्रवर को आश्रम में पहुँचा कर, वे सब जीवजन्तु अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ १६ ॥

ऋषिस्तु दृष्ट्वा मां प्रीतः प्रविष्टश्चाश्रमं पुनः ।
मुहूर्तमात्रान्निष्क्रम्य ततः कार्यमपृच्छत ॥ १७ ॥

ऋषि जी मुझे देख और प्रसन्न हो आश्रम में चले गये और मुहूर्त भर बाद पुनः आश्रम के बाहिर आ, मुझसे आने का कारण पूँछने लगे ॥ १७ ॥

सौम्य वैकल्यतां दृष्ट्वा रोम्णां ते नावगम्यते ।
अग्निदग्धविमौ पक्षौ त्वक्चैव व्रणिता तव ॥ १८ ॥

वे बोले—हे सौम्य ! तुम्हारे पंखों का रोग देख कर, मैं तुमको पहचान नहीं सका । तुम्हारे ये पंख अग्नि से जल गये और तुम्हारे शरीर की खाल में भी घाव हो रहे हैं ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"धातरं"।

गृध्रौ द्वौ दृष्टपूर्वौ मे मातरिश्वसमौ जवे ।
गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ ॥ १९ ॥

मैंने पहले पवन के समान वेग वाले गृधों के राजा कामरूपी दो भाइयों को देखा था ॥ १९ ॥

ज्येष्ठो हि त्वं तु सम्पाते जटायुरनुजस्तव ।
मानुषं रूपमास्थाय गृह्णीतां चरणौ मम ॥ २० ॥

हे सम्पाते! उनमें तुम बड़े और जटायु तुम्हारा छोटा भाई है। तुम दोनों ने मनुष्य का रूप धर कर मेरे पैर छुए थे ॥ २० ॥

किं ते व्याधिसमुत्थानं पक्षयोः पतनं कथम् ।
दण्डो वायं कृतः केन सर्वमाख्याहि पृच्छतः ॥ २१ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

तुम्हें किस रोग ने आ कर घेर रखा है? तुम्हारे दोनों पंख कैसे गिर पड़े? अथवा यह दण्ड किसने तुम्हें दिया है? सो मैं पूँछता हूँ। तुम अपना समस्त हाल मुझसे कहो ॥ २१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकषष्टितमः सर्गः

—※—

ततस्तद्दारुणं कर्म दुष्करं साहसात्कृतम् ।
आचचक्षे मुनेः सर्वं सूर्यानुगमनं तदा ॥ १ ॥

निशाकर मुनि द्वारा पूँछे जाने पर सम्पाति ने सूर्य के निकट जाने का, अपना वह दुष्कर और दुस्साहस पूर्ण कर्म कहा ॥ १ ॥

भगवन्व्रणयुक्तत्वाल्लज्जया व्याकुलेन्द्रियः ।
परिश्रान्तो न शक्नोमि वचनं प्रतिभाषितुम् ॥ २ ॥

वह बोला—हे भगवन्! मेरे शरीर भर में घाव हो गये हैं। इस कारण एक तो लज्जा मुझे मालूम पड़ती है, दूसरे मैं घावों की पीड़ा से विकल भी हूँ तथा इतनी दूर से आने में थक भी गया हूँ। अतः मुझसे अधिक बोला नहीं जाता ॥ २ ॥

अहं चैव जटायुश्च सङ्घर्षाद्दर्पमोहितौ ।
आकाशं पतितौ वीरौ जिज्ञासन्तौ पराक्रमम् ॥ ३ ॥

हे मुने! जटायु और मैं अपनी अपनी उड़ने की शक्ति के गर्व से गर्वित हो, प्रतिद्वन्द्वता के लिये आकाश में उड़े थे ॥ ३ ॥

कैलासशिखरे बद्ध्वा मुनीनामग्रतः पणम् ।
रविः स्यादनुयातव्यो यावदस्तं महागिरिम् ॥ ४ ॥

उड़ने के पूर्व हम दोनों ने कैलास शिखरस्थ मुनियों के सामने यह बाज़ी बदी कि, सूर्य के अस्त होने के पूर्व ही हम दोनों को सूर्य के निकट पहुँच कर, पृथिवी पर लौट आना होगा ॥ ४ ॥

अथावां युगपत्प्राप्तावपश्याव महीतले ।
रथचक्रप्रमाणानि नगराणि पृथक्पृथक् ॥ ५ ॥

अस्तु, हम दोनों एक ही काल में उड़े और आकाश में बहुत ऊँचे पहुँच गये। जब हमने नीचे पृथिवी की ओर देखा, तब पृथिवी तल के नगर रथ के पहिये की तरह अलग अलग पड़े हुए देख पड़े ॥ ५ ॥

क्वचिद्वादित्रघोषांश्च क्वचिद्भूषणनिःस्वनः* ।
गायन्तीश्चाङ्गना बह्वीः पश्यावो रक्तवाससः ॥ ६ ॥

वहाँ से हमने देखा कि, कहीं तो बाजे बज रहे थे, कहीं स्त्रियों के आभूषणों की झनकार हो रही थी और कहीं लाल कपड़े पहिने स्त्रियाँ गा रही थीं ॥ ६ ॥

तूर्णमुत्पत्य चाकाशमादित्यपथमाश्रितौ ।
आवामालोकयावस्तद्वनं शाद्वलसन्निभम् ॥ ७ ॥

उपलैरिव संछन्ना दृश्यते भूः शिलोच्चयैः ।
आपगाभिश्च संवीता सूत्रैरिव वसुन्धरा ॥ ८ ॥

जब और ऊँचे गये और सूर्य के आने जाने के मार्ग पर पहुँचे और वहाँ से नीचे भूमि की ओर देखा, तब हमें पृथिवी घास से पूर्ण वन की तरह देख पड़ी । अर्थात् वहाँ से बड़े बड़े पेड़ छोटी घास की तरह देख पड़े और पृथिवी के बड़े बड़े पर्वत छोटे पत्थरों के ढोकों की तरह जान पड़े । नदियों सहित पृथिवी ऐसी जान पड़ी मानों नदी रूपी डोरें से वह लपेटी हुई हो ॥ ७ ॥ ८ ॥

हिमवांश्चैव विन्ध्यश्च मेरुश्च सुमहान्नगः ।
भूतले सम्प्रकाशन्ते नागा इव जलाशये ॥ ९ ॥

हिमालय, विन्ध्याचल और मेरु ये बड़े बड़े पहाड़ ऐसे देख पड़े जैसे किसी तालाब में हाथी खड़े हों ॥ ६ ॥

तीव्रः स्वेदश्च खेदश्च भयं चासीत्तदावयोः ।
समाविशति मोहश्च तमो मूर्छा च दारुणा ॥ १० ॥

* पाठान्तरे—" ब्रह्मघोषांश्च शुश्रुवः ।"

उस समय हम दोनों के शरीर पसीने से तर हो गये, तथा मन में अत्यन्त खेद और भय उत्पन्न हुआ। हम दोनों व्याकुल हो कर मूर्छित हो गये ॥ १० ॥

न दिग्विज्ञायते याम्या नाग्नेया न च वारुणी।
युगान्ते नियतो लोको हतो दग्ध इवाग्निना ॥ ११ ॥

हे महर्षे! उस समय हमें दक्षिण, अग्निकोण, अथवा पश्चिम आदि दिशा विदिशाओं में से किसी का ज्ञान न रहा। उस समय हमें ऐसा जान पड़ता था कि, युगान्त के समय प्रलयकाल उपस्थित है और यह लोक अग्नि से दग्ध हो नष्ट सा हो रहा है ॥ ११ ॥

मनश्च मे हतं भूयः सन्निवर्त्य तु संश्रयम्।
यत्नेन महता ह्यस्मिन्पुनः सन्धाय चक्षुषि ॥ १२ ॥

यत्नेन महता भूयो रविः समवलोकितः।
तुल्यः पृथ्वीप्रमाणेन भास्करः प्रतिभाति नौ ॥ १३ ॥

फिर जब मैंने सूर्य को देखा, तब मेरा मन और मेरे दोनों नेत्र शक्ति हीन हो गये। तदनन्तर बड़े यत्न से मैंने अपने मन और नेत्रों को स्थिर कर, सूर्य की ओर देखा, तो सूर्यमण्डल हमको प्रमाण में पृथिवी के समान बहुत बड़ा जान पड़ा ॥ १२ ॥ १३ ॥

जटायुर्मामनापृच्छ्य निपपात महीं ततः।
तं दृष्ट्वा तूर्णमाकाशादात्मानं मुक्तवानहम् ॥ १४ ॥

इतने में जटायु बिना मुझसे पूँछे पृथिवी पर नीचे उतर आया। उसे लौटते देख, मैं भी नीचे की ओर लौट पड़ा ॥ १४ ॥

पक्षाभ्यां च मया गुप्तो जटायुर्न प्रदह्यते।
प्रमादात्तत्र निर्दग्धः पतन्वायुपथादहम्॥ १५॥
आशङ्के तं निपतितं जनस्थाने जटायुषम्।
अहं तु पतितो विन्ध्ये दग्धपक्षो जडीकृतः॥ १६॥

जटायु के ऊपर तो मैंने अपने परों से छाया कर दी—इससे वह तो न जला, किन्तु मैं जल गया। जब मैं वायुपथ से नीचे आ रहा था, तब मुझे जान पड़ा कि, कदाचित् जटायु जनस्थान में गिरा। मैं इस विन्ध्यपर्वत पर गिरा और मेरे परों के भस्म हो जाने से मैं जड़वत् हो गया॥ १५॥ १६॥

राज्येन हीनो भ्रात्रा च पक्षाभ्यां विक्रमेण च।
सर्वथा मर्तुमेवेच्छन्पतिष्ये शिखराद्गिरेः॥ १७॥

इति एकषष्टितमः सर्गः॥

मैं राज्यहीन, भ्रातृहीन, पंखहीन और विक्रमहीन हो गया हूँ। अतः मैं अब चाहता हूँ कि, इस पर्वत से गिर कर अपनी जान दे दूँ॥ १७॥

किष्किन्धाकाण्ड का एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

द्विषष्टितमः सर्गः

—*—

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठमरुदं दुःखितो भृशम्।
अथ ध्यात्वा मुहूर्तं तु भगवानिदमब्रवीत्॥ १॥

सम्पाति ने वानरों से कहा कि, मुनि से इस प्रकार कह कर, मैं बहुत दुःखित हो रोने लगा। तदनन्तर मुनि ने कुछ काल तक ध्यान कर, मुझसे यह कहा ॥ १ ॥

पक्षौ च ते प्रपक्षौ च पुनरन्यौ भविष्यतः ।
प्राणाश्च चक्षुषी चैव विक्रमश्च बलं च ते ॥ २ ॥

हे गृध्र ! तेरे पर और रोम फिर से निकल आवेंगे और तेरी आँखें, तेरा उत्साह, पराक्रम और बल पूर्ववत् हो जायगा ॥ २ ॥

पुराणे सुमहत्कार्यं भविष्यति मया श्रुतम् ।
दृष्टं मे तपसा चैव श्रुत्वा च विदितं मम ॥ ३ ॥

मैंने पुराणान्तर में सुना है और तपोबल से जाना भी है कि, आगे एक बड़ी घटना होने वाली है ॥ ३ ॥

राजा दशरथो नाम कश्चिदिक्ष्वाकुनन्दनः ।
तस्य पुत्रो महातेजा रामो नाम भविष्यति ॥ ४ ॥

इक्ष्वाकुवंश में दशरथ नाम के कोई राजा होंगे। उनके श्रीराम नाम का एक महातेस्वी पुत्र होगा ॥ ४ ॥

अरण्यं च सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन गमिष्यति ।
तस्मिन्नर्थे नियुक्तः सन्पित्रा सत्यपराक्रमः ॥ ५ ॥

वे सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता की आज्ञा से अपने भाई लक्ष्मण सहित वन में जायँगे ॥ ५ ॥

नैर्ऋतो रावणो नाम तस्य भार्यां हरिष्यति ।
राक्षसेन्द्रो जनस्थानादवध्यः सुरदानवैः ॥ ६ ॥

रावण नाम का राक्षस उनकी पत्नी को जनस्थान से हर कर ले जायगा। वह राक्षसेन्द्र रावण सब देवताओं और दानवों से अवध्य होगा ॥ ६ ॥

सा च कामैः प्रलोभ्यन्ती भक्ष्यैर्भोज्यैश्च मैथिली।
न भोक्ष्यति महाभागा दुःखे मग्ना यशस्विनी ॥ ७ ॥

वह जानकी को विविध प्रकार के भक्ष्य भोज्य पदार्थों का लोभ दिखला ललचावेगा, किन्तु वह महाभागा, यशस्विनी एवं दुःख से पीड़ित सीता कोई भी वस्तु ग्रहण न करेगी ॥ ७ ॥

परमान्नं तु वैदेह्या ज्ञात्वा दास्यति वासवः।
यदन्नममृतप्रख्यं सुराणामपि दुर्लभम् ॥ ८ ॥
तदन्नं मैथिली प्राप्य विज्ञायेन्द्रादिदं त्विति।
अग्रमुदधृत्य रामाय भूतले निर्वपिष्यति ॥ ९ ॥
यदि जीवति मे भर्ता लक्ष्मणेन सह प्रभुः।
देवत्वं गच्छतोर्वापि तयोरन्नमिदं त्विति ॥ १० ॥

यह जान कर इन्द्र देवदुर्लभ पायस (खीर) सीता के भोजन के लिये भेजेंगे। तब उसे इन्द्र द्वारा भेजा हुआ जान सीता ग्रहण करेगी और पहले उसमें से थोड़ी सी खीर निकाल श्रीरामचन्द्र जी के लिये भूमि पर यह कह कर रखेगी कि, यदि मेरे पति श्रीरामचन्द्र जी और देवर लक्ष्मण जीवित हों, अथवा यदि वे देवत्व को प्राप्त हुए हों, तो भी मेरा दिया हुआ यह अन्न उनको प्राप्त हो ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥ १० ॥

एष्यन्त्यन्वेषकास्तस्या रामदूताः प्लवङ्गमाः।
आख्येया राममहिषी त्वया तेभ्यो विहङ्गम ॥ ११ ॥

हे पक्षि! तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के भेजे हुए वानरदूत यहाँ आवेंगे। उस समय तुम उनको सीता जी का पता बतलाओगे ॥ ११ ॥

सर्वथा हि न गन्तव्यमीदृशः क्व गमिष्यसि ।
देशकालौ प्रतीक्षस्व पक्षौ त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ १२ ॥

अतः तुम इस स्थान को छोड़ कहीं मत जाना और इस दशा में तुम कहीं जा भी न सकोगे। तुम देश काल की बाट जोहते हुए यहाँ ठहरे रहो। तुम्हारे नवीन पर निकलेंगे ॥ १२ ॥

नोत्सहेयमहं कर्तुमद्यैव त्वां सपक्षकम् ।
इहस्थस्त्वं तु लोकानां हितं कार्यं करिष्यसि ॥ १३ ॥

मैं तुम्हारे नये पंख इस लिये उत्पन्न करना नहीं चाहता कि, यहाँ पर रह कर तुम लोकहितकर कार्य साधन करोगे ॥ १३ ॥

त्वयापि खलु तत्कार्यं तयोश्च नृपपुत्रयोः ।
ब्राह्मणानां सुराणां च मुनीनां वासवस्य च ॥ १४ ॥

क्योंकि उस कार्य के करने से तुम केवल उन दोनों राजकुमारों ही का कार्य न करोगे, बल्कि उसके द्वारा ब्राह्मणों का, बड़े बड़े महर्षियों का और इन्द्र का भी बड़ा उपकार होगा ॥ १४ ॥

इच्छाम्यहमपि द्रष्टुं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
नेच्छे चिरं धारयितुं प्राणांस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ।
महर्षिस्त्वब्रवीदेवं दृष्टतत्त्वार्थदर्शनः ॥ १५ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

मेरी भी इच्छा है कि, मैं उन दोनों भाई राम लक्ष्मण को देखूँ। पर मेरी इच्छा अब बहुत दिनों जीने की नहीं है। अतः मैं अब अपना शरीर त्याग दूँगा। हे वानरो! तत्त्वदर्शी मुनि ने मुझसे ऐसा कहा था॥ १५॥

किष्किन्धाकाण्ड का बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—※—

एतैरन्यैश्च बहुभिर्वाक्यैर्वाक्यविदां वरः।
मां प्रशस्याभ्यनुज्ञाप्य प्रविष्टः स स्वमाश्रमम्॥ १॥

वाक्यविशारद मुनिवर इस प्रकार और भी बहुत प्रकार से मुझे समझा बुझा कर तथा मेरी प्रशंसा कर, आश्रम में चले गये॥ १॥

कन्दरात्तु विसर्पित्वा पर्वतस्य शनैः शनैः।
अहं विन्ध्यं समारुह्य भवतः प्रतिपालये॥ २॥

तदनन्तर मैं भी धीरे धीरे वहाँ से सरक कर और विन्ध्याचल पर आ कर तुम लोगों के आने की प्रतीक्षा कर रहा था॥ २॥

अद्य त्वेतस्य कालस्य साग्रं वर्षशतं गतम्।
देशकालप्रतीक्षोऽस्मि हृदि कृत्वा मुनेर्वचः॥ ३॥

आज इस बात को सौ से कुछ अधिक ही वर्ष बीत चुके। मैं मुनि की बात को मन में रख और देश काल की राह देखता हुआ यहाँ रह रहा हूँ॥ ३॥

महाप्रस्थानमासाद्य स्वर्गते तु निशाकरे ।
मां निर्दहति सन्तापो[1] वितर्कैर्बहुभिर्वृतम् ॥ ४ ॥

महायात्रा कर जब महर्षि निशाकर स्वर्ग को चले गये। तब मैं विविध विचारों में फँस अत्यन्त सन्तप्त हुआ ॥ ४ ॥

उत्थितां मरणे बुद्धिं मुनिवाक्यैर्निवर्तये ।
बुद्धिर्या तेन मे दत्ता प्राणानां रक्षणाय तु ॥ ५ ॥

कभी कभी मन में यह विचार उठता कि, मर जाना ही ठीक है, किन्तु मुनि के वचनों का स्मरण आते ही मैं मरने के विचार को त्याग देता ॥ ५ ॥

सा मेऽपनयते दुःखं दीप्तेवाग्निशिखा तमः ।
बुद्ध्यता च मया वीर्यं रावणस्य दुरात्मनः ॥ ६ ॥

जैसे अग्निशिखा अन्धकार को नष्ट कर देता है, वैसे ही मुनिवर की दी हुई उस बुद्धि ने मेरे सन्ताप को नाश कर दिया। दुरात्मा रावण के बल को अपने पुत्र के बल से कम जान ॥ ६ ॥

पुत्रः सन्तर्जितो वाग्भिर्न त्राता मैथिली कथम् ।
तस्या विलपितं श्रुत्वा तौ च सीताविनाकृतौ ॥ ७ ॥

मैंने अपने पुत्र को खूब फटकारा और कहा कि, तूने सीता का विलाप सुन और श्रीराम लक्ष्मण का सीता से वियोग सुन, सीता को क्यों न बचाया ॥ ७ ॥

न मे दशरथस्नेहात्पुत्रेणोत्पादितं प्रियम् ।
तस्य त्वेवं ब्रुवाणस्य सम्पातेर्वानरैः सह ॥ ८ ॥

---

१ वितर्कैः विविध विचारैः । (गो०)

उत्पेततुस्तदा पक्षौ समक्षं वनचारिणाम् ।
स दृष्ट्वा स्वां तनुं पक्षैरुद्गतैररुणच्छदैः ॥ ९ ॥

मेरा दशरथ के साथ जैसा स्नेह था उसके अनुसार मेरे पुत्र ने कार्य कर मुझे प्रसन्न न किया। सम्पाति इस प्रकार वानरों से वार्तालाप कर ही रहा था कि, इतने में वानरों के सामने ही उसके नये पंख निकल आये। सम्पाति अपने नये लाल लाल पंखों को निकलते देख, ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्रहर्षमतुलं लेभे वानरांश्चेदमब्रवीत् ।
ऋषेर्निशाकरस्यैव प्रभावादमितात्मनः ॥ १० ॥
आदित्यरश्मिनिर्दग्धौ पक्षौ मे पुनरुत्थितौ ।
यौवने वर्तमानस्य ममासीद्यः पराक्रमः ॥ ११ ॥
तमेवाद्यानुगच्छामि बलं पौरुषमेव च ।
सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ ॥ १२ ॥

परम प्रसन्न हुआ और वानरों से यह बोला—अमित तेज सम्पन्न महर्षि निशाकर जी के प्रभाव से मेरे सूर्य की किरणों से जले हुए दोनों पंख फिर उग आये। युवावस्था में मुझमें जैसा बल और पुरुषार्थ था वैसा ही बल और पुरुषार्थ मेरे शरीर में हो गया है। हे वानरों! अब तुम सब प्रकार से प्रयत्न करो, तुम्हें सीता अवश्य मिल जायगी ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः ।
इत्युक्त्वा स हरीन्सर्वान्सम्पातिः पतगोत्तमः ॥
उत्पपात गिरेः शृङ्गाज्जिज्ञासुः खगमां गतिम्* ॥१३॥

* पाठान्तरे—"खगमो गतिम्"।

क्योंकि जब मेरे पंख जम आये तब मुझे तुम्हारी कार्यसिद्धि का विश्वास हो रहा है। वह पक्षिश्रेष्ठ सम्पाति, उन समस्त वानरों से इस प्रकार कह, अपनी आकाशचारिणी गति की परीक्षा लेने को उस पर्वतशृङ्ग से उड़ा॥ १३॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रीतिसंहृष्टमानसाः।
बभूवुर्हरिशार्दूला विक्रमाभ्युदयोन्मुखाः॥ १४॥

वानरगण भी सम्पाति के वचन सुन अत्यन्त हर्षित हुए और सीता जी के ढूढ़ने में अपना अपना विक्रम दिखाने को उद्यत हुए॥ १४॥

अथ पवनसमानविक्रमाः
प्लवगवराः प्रतिलब्धपौरुषाः।
अभिजिदभिमुखा दिशं ययुः
जनकसुतापरिमार्गणोन्मुखाः॥ १५॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः॥

फिर पवन समान विक्रमी एवं पुरुषार्थी वानरगण जनकनन्दिनी को ढूढ़ने के लिये अभिजित मुहूर्त में दक्षिण दिशा को चले॥ १५॥

किष्किन्धाकाण्ड का तिरसठवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—※—

आख्याता गृध्रराजेन समुत्पत्य प्लवङ्गमाः ।
सङ्गम्य प्रीतिसंयुक्ता विनेदुः सिंहविक्रमाः ॥ १ ॥

गृध्रराज के इस प्रकार कहने पर सिंह के समान विक्रमी वानर गण इकट्ठे हो, बड़े आनन्द से कूदने उछलने लगे और हर्षध्वनि करने लगे ॥ १ ॥

सम्पातेर्वचनं श्रुत्वा हरयो रावणक्षयम् ।
हृष्टाः सागरमाजग्मुः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २ ॥

रावण के नाश के सम्बन्ध में सम्पाति के कहे वचन स्मरण कर वे सब वानरगण प्रसन्न होते हुए सीता को देखने की कामना से समुद्र के तट पर पहुँचे ॥ २ ॥

अभिक्रम्य तु तं देशं ददृशुर्भीमविक्रमाः ।
कृत्स्नं लोकस्य महतः प्रतिविम्बमिव स्थितम् ॥ ३ ॥

भयङ्कर विक्रमवान् वानर, समुद्र के तट पर पहुँच, वहाँ समस्त लोकों के प्रतिविम्ब की तरह महान् समुद्र को देखने लगे ॥ ३ ॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य समासाद्योत्तरां दिशम् ।
सन्निवेशं ततश्चक्रुः *सहिता वानरोत्तमाः ॥ ४ ॥

तदनन्तर महावली वानर वीरों ने दक्षिण समुद्र के उत्तर तट पर जा, वहाँ वानरी सेना को टिकाया ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—" हरिवीरा महाबलाः " ।

सत्त्वैर्महद्भिर्विकृतैः क्रीडद्भिर्विविधैर्जले ।
*व्यात्तास्यैः सुमहाकायैरूर्मिभिश्च समाकुलम् ॥ ५ ॥

(उस समय समुद्र के) जल में विविध प्रकार के बड़े बड़े आकार के भयङ्कर जलजन्तु क्रीड़ा कर रहे थे और बड़ी लंबी चौड़ी और ऊँची लहरों से वह व्याप्त हो रहा था ॥ ५ ॥

प्रसुप्तमिव चान्यत्र क्रीडन्तमिव चान्यतः ।
क्वचित्पर्वतमात्रैश्च जलराशिभिरावृतम् ॥ ६ ॥

वह समुद्र कहीं तो सोते हुए मनुष्य की तरह शान्त और कहीं अपनी लहरों से खेलता हुआ सा देख पड़ता था। कहीं कहीं पर्वताकार जल राशि उमड़ रही थी ॥ ६ ॥

सङ्कुलं दानवेन्द्रैश्च पातालतलवासिभिः ।
रोमहर्षकरं दृष्ट्वा विषेदुः कपिकुञ्जराः ॥ ७ ॥

पातालवासी दानवेन्द्रों से युक्त, रोमाञ्चकारी समुद्र को देख, वानरश्रेष्ठ घबराये और उदास हुए ॥ ७ ॥

आकाशमिव दुष्पारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः ।
विषेदुः सहसा सर्वे कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ८ ॥

वानरगण, आकाश की तरह अपार समुद्र को देख, घबड़ाये और सब एक साथ कह उठे कि, अब क्या किया जाय ॥ ८ ॥

विषण्णां वाहिनीं दृष्ट्वा सागरस्य निरीक्षणात् ।
आश्वासयामास हरीन्भयार्तान्हरिसत्तमः ॥ ९ ॥

सागर को देखने से सेना को घबड़ाया हुआ देख, वानरश्रेष्ठ अंगद ने उनको समझा कर धीरज बँधाया ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—" व्यस्तस्तैः " ।

तान्विषादेन महता विषण्णान्वानरर्षभान् ।
उवाच मतिमान्काले वालिसूनुर्महाबलः ॥ १० ॥

उस समय विषाद से अत्यन्त विषादयुक्त उन वानरश्रेष्ठों से बुद्धिमान वालि के पुत्र अंगद बोले ॥ १० ॥

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तमः ।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ ११ ॥

हे वानरो! विषाद मत करो। क्योंकि विषाद अत्यन्त दोषकारक है। क्रुद्ध सर्प जिस प्रकार बालकों को मार डालता है, उसी प्रकार विषाद भी पुरुषों को मार डालता है ॥ ११ ॥

विषादोऽयं प्रसहते विक्रमे पर्युपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिध्यति ॥ १२ ॥

पराक्रम दिखाने का समय उपस्थित होने पर जो पुरुष विषाद करता है, वह तेजहीन तो होता ही है, साथ ही उसका कार्य भी सिद्ध नहीं होता ॥ १२ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामङ्गदो वानरैः सह ।
हरिवृद्धैः समागम्य पुनर्मन्त्रममन्त्रयत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार बातचीत करते करते रात बीत गयी। जब प्रातःकाल हुआ तब अंगद वृद्ध वानरों के साथ फिर विचार करने लगे ॥ १३ ॥

सा वानराणां ध्वजिनी परिवार्याङ्गदं बभौ ।
वासवं परिवार्येव मरुतां वाहिनी स्थिता ॥ १४ ॥

देवताओं की सेना जिस प्रकार इन्द्र के चारों ओर उनको घेर कर बैठती है, उसी प्रकार कपिसेना अंगद को घेर कर बैठी ॥ १४ ॥

कोऽन्यस्तां वानरीं सेनां शक्तः स्तम्भयितुं भवेत् ।
अन्यत्र वालितनयादन्यत्र च हनूमतः ॥ १५ ॥

उस वानरों में अंगद और हनुमान के सिवाय और कोई ऐसा न था जो उस विचलित वानरी सेना को थामता ॥ १५ ॥

ततस्तान्हरिवृद्धांश्च तच्च सैन्यमरिन्दमः ।
[1]अनुमान्याङ्गदः श्रीमान्वाक्यमर्थवदब्रवीत् ॥ १६ ॥

शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीमान अंगद जी वृद्ध वानरों का सम्मान कर के, यह सार वचन बोले ॥ १६ ॥

क इदानीं महातेजा लङ्घयिष्यति सागरम् ।
कः करिष्यति सुग्रीवं सत्यसन्धमरिन्दमम् ॥ १७ ॥

इस समय वह कौन तेजस्वी वानर है, जो समुद्र को नाँघ कर शत्रुहन्ता सुग्रीव की प्रतिज्ञा को सच्ची करेगा ॥ १७ ॥

को वीरो योजनशतं लङ्घयेच्च प्लवङ्गमाः ।
इमांश्च यूथपान्सर्वान्मोक्षयेत्को महाभयात् ॥ १८ ॥

इस सेना में वह कौन वीर वानर है, जो सौ योजन नाँघ कर, इन समस्त यूथपतियों को बड़े भय से मुक्त करे ॥ १८ ॥

कस्य प्रभावाद्दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च ।
इतो निवृत्ताः पश्येम सिद्धार्थाः सुखिनो वयम् ॥ १९ ॥

---

[1] अनुमान्य—सत्कृत्य । (रा०)

किसके अनुग्रह से हम लोग सफल मनोरथ हो, सुखपूर्वक अपनी अपनी स्त्रियों, पुत्रों और घरों को यहाँ से लौट कर देखेंगे ॥ १९ ॥

कस्य प्रसादाद्रामं च लक्ष्मणं च महाबलम् ।
अभिगच्छेम संहृष्टाः सुग्रीवं च महाबलम् ॥ २० ॥

किसके अनुग्रह से हम सब महाबली श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण और सुग्रीव के निकट प्रसन्न होते हुए जायगे। अथवा उनको अपना मुँह दिखला सकेंगे ॥ २० ॥

यदि कश्चित्समर्थो वः सागरप्लवने हरिः ।
स ददात्विह नः शीघ्रं पुण्यामभयदक्षिणाम् ॥ २१ ॥

यदि तुममें से कोई कपिश्रेष्ठ इस सागर को नांघ सकता हो तो वह तुरन्त हमको पुण्य की देने वाली अभय दक्षिणा दे ॥ २१ ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा न कश्चित्किञ्चिदब्रवीत् ।
स्तिमितेवाभवत्सर्वा तत्र सा हरिवाहिनी ॥ २२ ॥

अंगद के ये वचन सुन किसी ने कुछ न कहा। समस्त कपिसैन्य मौन हो गयी ॥ २२ ॥

पुनरेवाङ्गदः प्राह तान्हरीन्हरिसत्तमः ।
सर्वे बलवतां श्रेष्ठा भवन्तो दृढविक्रमाः ॥
व्यपदेश्यकुले जाताः पूजिताश्चाप्यभीक्ष्णशः ॥ २३ ॥

तब वानरश्रेष्ठ अंगद फिर उनसे बोले। हे वानरों! तुम सभी बलवानों में श्रेष्ठ, दृढ़, पराक्रमी और उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए हो सदा ही सम्मान प्राप्त करते रहे हो ॥ २३ ॥

न हि वो गमने सङ्गः कदाचित्कस्यचित्कचित् ।
ब्रुवध्वं यस्य या शक्तिः प्लवने प्लवगर्षभाः ॥ २४ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

यदि तुममें से कोई भी सौ योजन का समुद्र न नांघ सकता हो तो जो जितना नांघ सकता हो वह मुझे बतलावे ॥ २४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौंसठवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—※—

ततोऽङ्गदवचः श्रुत्वा सर्वे ते वानरोत्तमाः ।
स्वं स्वं गतौ समुत्साहमाहुस्तत्र यथाक्रमम् ॥ १ ॥

अंगद के ये वचन सुन, वे समस्त वानरयूथपति उत्साहित हो अपनी अपनी नांघने की सामर्थ्य का वर्णन यथाक्रम करने लगे ॥ १ ॥

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव सुषेणो जाम्बवांस्तथा ॥ २ ॥

गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, सुषेण, जाम्बवान् ने अपनी अपनी नांघने की सामर्थ्य बतलायी ॥ २ ॥

आबभाषे गजस्तत्र प्लवेयं दशयोजनम् ।
गवाक्षो योजनान्याह गमिष्यामीति विंशतिम् ॥ ३ ॥

गज ने कहा मैं दस योजन और गवाक्ष ने कहा मैं बीस योजन, लांघ सकता हूँ ॥ ३ ॥

गवयो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह ।
त्रिंशतं तु गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः ॥ ४ ॥

गवय नामक वानर जो वहाँ था उसने अन्यवानरों से कहा कि मैं तीस योजन नाँघ सकता हूँ ॥ ४ ॥

शरभस्तानुवाचाथ वानरान्वानरर्षभः ।
चत्वारिंशद्गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः ॥ ५ ॥

वानरोत्तम शरभ ने उन वानरों से कहा कि, मैं एक छलांग में ४० योजन जा सकता हूँ ॥ ५ ॥

*वानरांस्तु महातेजा अब्रवीद्गन्धमादनः ।
योजनानां गमिष्यामि पञ्चाशत्तु न संशयः ॥ ६ ॥

महातेजस्वी गन्धमादन ने उन वानरों से कहा कि, मैं निस्सन्देह ५० पचास योजन तक चला जाऊँगा ॥ ६ ॥

मैन्दस्तु वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह ।
योजनानां परं षष्टिमहं प्लवितुमुत्सहे ॥ ७ ॥

मैन्द वानर ने उन वानरों से कहा कि, मैं एक छलाँग में ६० योजन जा सकता हूँ ॥ ७ ॥

ततस्तत्र महातेजा द्विविदः प्रत्यभाषत ।
गमिष्यामि न सन्देहः सप्तति योजनान्यहम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी द्विविद बोला कि, मैं निस्सन्देह ७० योजन जा सकता हूँ ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—" वानरस्तु " ।

सुषेणस्तु हरिश्रेष्ठः प्रोक्तवान्कपिसत्तमान् ।
अशीतिं योजनानां तु प्लवेयं प्लवगेश्वराः ॥ ९ ॥

कपिश्रेष्ठ सुषेण ने उन वानरोत्तमों से कहा मैं एक छलाँग में ८० योजन समुद्र पार कर सकता हूँ ॥ ९ ॥

तेषां कथयतां तत्र सर्वांस्ताननुमान्य च ।
ततो वृद्धतमस्तेषां जाम्बवान्प्रत्यभाषत ॥ १० ॥

जब सब वानरों ने ऐसा कहा, तब उन सब का आदर कर के बूढ़े जाम्बवान् बोले ॥ १० ॥

पूर्वमस्माकमप्यासीत्कश्चिद्गतिपराक्रमः ।
ते वयं वयसः पारमनुप्राप्ताः स्म साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

युवावस्था में मुझमें भी छलाँग मारने की शक्ति थी, किन्तु अब तो मेरी युवावस्था रही नहीं ॥ ११ ॥

किं तु नैवं गते शक्यमिदं कार्यमुपेक्षितुम् ।
यदर्थं कपिराजश्च रामश्च कृतनिश्चयौ ॥ १२ ॥

तथापि मैं इस कार्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। क्योंकि जिस कार्य के लिये श्रीरामचन्द्र जी और कपिराज सुग्रीव दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, वह कार्य तो अवश्य करना ही पड़ेगा ॥ १२ ॥

साम्प्रतं कालभेदेन या गतिस्तां निबोधत ।
नवतिं योजनानां तु गमिष्यामि न संशयः ॥ १३ ॥

अतः इस समय मुझमें जितनी छलाँग मारने की शक्ति है, उसको सुनो। मैं निस्सन्देह ९० योजन (अब भी) छलाँग मार कर जा सकता हूँ ॥ १३ ॥

तांस्तु सर्वान्हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवान्पुनरब्रवीत् ।
न खल्वेतावदेवासीद्गमने मे पराक्रमः ॥ १४ ॥

यह कह जाम्बवान पुनः उन वानरोत्तमों से बोले कि, पहले भी मुझमें इतना ही बल था, यह मत समझ लेना ॥ १४ ॥

मया महाबलेश्चैव यज्ञे विष्णुः सनातनः ।
प्रदक्षिणीकृतः पूर्वं क्रममाणस्त्रिविक्रमम् ॥ १५ ॥

उस समय मुझमें ऐसा पराक्रम था कि, जब सनातन त्रिविक्रम वामन रूपी विष्णु जी ने राजा बलि के यज्ञ में तीन पैर से तीनों लोक नाप लिये तब मैंने उनकी परिक्रमा की थी ॥ १५ ॥

स इदानीमहं वृद्धः प्लवने मन्दविक्रमः ।
यौवने च तदासीन्मे बलमप्रतिमं परैः ॥ १६ ॥

क्या करूँ अब तो बूढ़ा हूँ और छलांग मारने की शक्ति मेरी अब मन्द पड़ गयी है। जवानी में मेरे बराबर बल किसी दूसरे में नहीं था ॥ १६ ॥

सम्प्रत्येतावदेवाद्यशक्यं मे गमने स्वतः ।
नैतावता च संसिद्धिः कार्यस्यास्य भविष्यति ॥ १७ ॥

इस समय तो मुझमें केवल ९० ही योजन तक जाने की सामर्थ्य है, किन्तु इतने से तो काम नहीं चल सकता ॥ १७ ॥

अथोत्तरम्[1] उदारार्थम्[2] अब्रवीदङ्गदस्तदा ।
अनुमान्य महाप्राज्ञं जाम्बवन्तं महाकपिः ॥ १८ ॥

---

१ उत्तरं—श्रेष्ठं। (शि०) २ उदारार्थं—विपुलार्थकं। (शि०)

तदनन्तर बड़े बुद्धिमान जाम्बवान का आदर कर कपिश्रेष्ठ अंगद ने विपुल अर्थ युक्त एवं उत्तम ये वचन कहे ॥ १८ ॥

अहमेतद्गमिष्यामि योजनानां शतं महत् ।
निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्न* वेति न निश्चिता ॥१९॥

मैं एक छलांग में सौ योजन कूद सकता हूँ, किन्तु मुझे वहाँ से अपनी लौट आने की सामर्थ्य में सन्देह है ॥ १९ ॥

तमुवाच हरिश्रेष्ठं जाम्बवान्वाक्यकोविदः ।
ज्ञायते गमने शक्तिस्तव हर्यृक्षसत्तम ॥ २० ॥

वाक्यविशारद जम्बवान, कपिश्रेष्ठ अंगद से कहने लगे, हे कपिवर! मुझे तुम्हारी छलांग मारने की शक्ति मालूम है ॥ २० ॥

कामं शतं सहस्रं वा न ह्येष विधिरुच्यते ।
योजनानां भवाञ्शक्तो गन्तुं प्रतिनिवर्तितुम् ॥ २१ ॥

सौ योजन क्या, आप तो सैकड़ों सहस्रों योजन कूद कर जा सकते और लौट भी सकते हैं ॥ २१ ॥

न हि प्रेषयिता तात स्वामी प्रेष्यः कथञ्चन ।
भवताऽयं जनः सर्वः प्रेष्यः प्लवगसत्तम ॥ २२ ॥

किन्तु हे तात! आप मेरे स्वामी हैं अतः मैं तो आपका भेजा हुआ जा सकता हूँ; किन्तु मैं आपको कभी नहीं भेज सकता। ये सब वानरगण आपके आज्ञाकारी दूत हैं ॥ २२ ॥

भवान्कलत्रमस्माकं स्वामिभावे व्यवस्थितः ।
स्वामी कलत्रं[1] सैन्यस्य गतिरेषा परन्तप ॥ २३ ॥

---

१ कलत्रं—रक्षणीयं वस्तु । (गो०) * पाठान्तरे—"स्याद्व"।

आप हम लोगों के स्वामी होने के कारण हमारा कर्त्तव्य है कि, हम आपको रक्षणीय वस्तु की तरह रक्षा करें। ये सब सेना आपकी आज्ञा के अधीन है। आप ही इसकी एकमात्र गति हैं ॥ २३ ॥

तस्मात्कलत्रवत्तत्र* प्रतिपाल्यः सदा भवान्।
अपि चैतस्य कार्यस्य भवान्मूलमरिन्दम ॥ २४ ॥

अतएव हमारा कर्त्तव्य है कि, रक्षणीय वस्तु की तरह हम सब आपकी ख़बरदारी रखें। हे शत्रुहन्ता! आप ही इस कार्य की जड़ हैं ॥ २४ ॥

मूलमर्थस्य संरक्ष्यमेष कार्यविदां नयः।
मूले हि सति सिध्यन्ति गुणाः पुष्पफलोदयाः ॥ २५ ॥

कार्य की जड़ की रक्षा करनी उचित है, यही कार्यवेत्ताओं की नीति है। क्योंकि यदि जड़ बनी रही तो फल फूल फिर भी हो सकते हैं ॥ २५ ॥

तद्भवानस्य कार्यस्य साधने सत्यविक्रम।
बुद्धिविक्रमसम्पन्नो हेतुरत्र परन्तप ॥ २६ ॥

हे परन्तप! आप बुद्धिमान्, पराक्रमी और सत्यविक्रमी होने के कारण इस कार्य के साधन में कारणीभूत हैं ॥ २६ ॥

गुरुश्च गुरुपुत्रश्च त्वं हि नः कपिसत्तम।
भवन्तमाश्रित्य वयं समर्था ह्यर्थसाधने ॥ २७ ॥

हे कपिश्रेष्ठ! आप हम लोगों के मान्य पुरुष के पुत्र होने के कारण हमारे सब के मान्य हैं, आप ही के सहारे हम लोग इस कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो सकेंगे ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—"तस्मात्कलत्रवत्तात।"

उक्तवाक्यं महाप्राज्ञं जाम्बवन्तं महाकपिः ।
प्रत्युवाचोत्तरं वाक्यं वालिसूनुरथाङ्गदः ॥ २८ ॥

जब महामतिमान् जाम्बवान् ने इस प्रकार कहा, तब कपिश्रेष्ठ वालितनय अंगद ने जाम्बवान् को उत्तर देते हुए कहा ॥ २८ ॥

यदि नाहं गमिष्यामि नान्यो* वानरपुङ्गवः† ।
पुनः खल्विदमस्माभिः कार्यं प्रायोपवेशनम् ॥ २९ ॥

यदि न तो मैं जाऊँ और यदि न अन्य ही कोई वीर वानर जाय, तो फिर प्रायोपवेशन कर प्राणत्याग करना ही हम लोगों के लिये निश्चित ठहरता है ॥ २९ ॥

न ह्यकृत्वा हरिपतेः सन्देशं तस्य धीमतः ।
तत्रापि गत्वा प्राणानां पश्यामि परिरक्षणम् ॥ ३० ॥

फिर कार्य पूरा किये विना, धीमान् कपिराज के समीप जा कर, अपने प्राण बचाना सम्भव नहीं ॥ ३० ॥

स हि प्रसादे चात्यर्थं कोपे च हरिरीश्वरः ।
अतीत्य तस्य सन्देशं विनाशो गमने भवेत् ॥ ३१ ॥

क्योंकि सुग्रीव हमको पुरस्कृत और दण्डित कर सकते हैं। अतः उनकी आज्ञा का पालन किये विना उनके निकट जाने से निस्सन्देह प्राण गँवाने पड़ेंगे ॥ ३१ ॥

तद्यथा ह्यस्य कार्यस्य न भवत्यन्यथा गतिः ।
तद्भवानेव दृष्टार्थः[1] संचिन्तयितुमर्हति ॥ ३२ ॥

---

१ दृष्टार्थः—विज्ञातसकलपदार्थः। (शि०) * पाठान्तरे—" नान्ये "। † पाठान्तरे—" पुङ्गवाः "।

अतएव आप सकल पदार्थवेत्ता समस्त वानरगण ऐसा कोई उपाय सोचें जिससे सुग्रीव की आज्ञा के अनुसार जानकी जी का दर्शन रूपी कार्य निस्सन्देह पूर्ण हो ॥ ३२ ॥

सोऽङ्गदेन तदा वीरः प्रत्युक्तः प्लवगर्षभः ।
जाम्बवानुत्तरं वाक्यं प्रोवाचेदं ततोऽङ्गदम् ॥ ३३ ॥

अस्य ते वीर कार्यस्य न किञ्चित्परिहीयते ।
एष सञ्चोदयाम्येनं यः कार्यं साधयिष्यति ॥ ३४ ॥

तब कपिश्रेष्ठ जाम्बवान् इस प्रकार के अंगद के वचन सुन कर बोले, हे वीर ! तुम्हारा काम किसी प्रकार न बिगड़ने पावेगा । देखो जो अब तुम्हारे इस कार्य को पूरा करेगा, उसे मैं अब प्रेरणा करता हूँ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

ततः प्रतीतं प्लवतां वरिष्ठ-
मेकान्तमाश्रित्य सुखोपविष्टम् ।
सञ्चोदयामास हरिप्रवीरो
हरिप्रवीरं हनुमन्तमेव ॥ ३५ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

तदनन्तर कपिवर जाम्बवान्, वानरों में श्रेष्ठ, एकान्त में चुपचाप मज़े में बैठे हुए, विश्वस्त हनुमान जी से बोले ॥ ३५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

षट्षष्टितमः सर्गः

—※—

अनेकशतसाहस्रीं विषण्णां हरिवाहिनीम् ।
जाम्बवान्समुदीक्ष्यैवं हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

जाम्बवान् लाखों वानरों की सेना को दुखी देख, हनुमान जी से बोले ॥ १ ॥

वीर वानरलोकस्य सर्वशास्त्रविशारद ।
तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनुमन्किं न जल्पसि ॥ २ ॥

हे समस्त वानर कुलों में श्रेष्ठ हनुमान! हे सर्वशास्त्रविशारद! तुम अकेले और चुपचाप क्यों बैठे हो? क्यों नहीं कुछ कहते? ॥ २ ॥

हनुमन्हरिराजस्य सुग्रीवस्य समो ह्यसि ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च ॥ ३ ॥

हे हनुमान! तुम सुग्रीव के तुल्य हो। यही नहीं, बल्कि तेज और बल में तो मैं तुम्हें श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण के भी बराबर समझता हूँ ॥ ३ ॥

[1]अरिष्टनेमिनः पुत्रो वैनतेयो महाबलः ।
गरुत्मानिति विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम् ॥ ४ ॥

भगवान् कश्यप के पुत्र महाबली विनतानन्दन गरुड़ जो सब पक्षियों में श्रेष्ठ और प्रसिद्ध हैं ॥ ४ ॥

---

१ अरिष्टनेमिनः—काश्यपस्य । नकारान्तत्वमार्षं (गो०) ।

बहुशो हि मया दृष्टः सागरे स महाबलः ।
भुजगानुद्धरन्पक्षी महावेगो महायशाः ॥ ५ ॥

हे महाबल ! मैंने बहुत बार देखा है कि, महायशा और महावेगवान् गरुड़ जी ने बहुत से भुजङ्गों को अपने भोजन के लिये निकाला है ॥ ५ ॥

पक्षयोर्यद्बलं तस्य तावद्भुजबलं तव ।
विक्रमश्चापि वेगश्च न ते तेनावहीयते ॥ ६ ॥

गरुड़ जी के दोनों पंखों में जितना बल है, तुम्हारी दोनों भुजाओं में भी उतना ही बल है । तुम तेज और विक्रम में उनसे किसी प्रकार कम नहीं हो ॥ ६ ॥

बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव ।
विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न बुध्यसे ॥ ७ ॥

तुम में बल, बुद्धि, तेज और उत्साह सब प्राणियों से अधिक है। फिर तुम अपने को क्यों भूले हुए हो ? ॥ ७ ॥

अप्सराप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला ।
अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः ॥ ८ ॥

अप्सराओं में श्रेष्ठ पुञ्जिकस्थली नाम की अप्सरा, जिसका दूसरा नाम अञ्जना है, वह केसरी नामक वानर की पत्नी हुई ॥ ८ ॥

विख्याता त्रिषु लोकेषु रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
अभिशापादभूत्तात वानरी कामरूपिणी ॥ ९ ॥

उसका रूप तीनों लोकों में विख्यात था । उसके रूप की उपमा नहीं थी । किन्तु हे तात ! उसने शापवश कामरूपिणी वानरी हो जन्म लिया ॥ ९ ॥

दुहिता वानरेन्द्रस्य कुञ्जरस्य महात्मनः ।
कपित्वे चारुसर्वाङ्गी कदाचित्कामरूपिणी ॥ १० ॥

मानुषं विग्रहं कृत्वा रूपयौवनशालिनी ।
विचित्रमाल्याभरणा महार्हक्षौमवासिनी ॥ ११ ॥

अचरत्पर्वतस्याग्रे प्रावृडम्बुदसन्निभे ।
तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम् ॥ १२ ॥

स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽपहरच्छनैः ।
स ददर्श ततस्तस्या वृत्तावूरू सुसंहतौ ॥ १३ ॥

वह अञ्जना वानरोत्तम कुञ्ज की कन्या कहलायी। एक वार वह अञ्जना रूप एवं यौवन से सुशोभित, मनुष्य का रूप धारण कर, रंग बिरंगे फूलों की माला और रेशमी साड़ी पहिन, वर्षाकालीन मेघ की तरह, पर्वतशिखर पर घूम रही थी। पर्वतशिखरस्थ उस विशाल नेत्र वाली की पीले रंग की और लाल किनारीदार साड़ी को पवन ने उड़ा दिया। तदनन्तर वायु ने उसके गोल गोल और अच्छी गढ़न वाली जाँघों को, ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

स्तनौ च पीनौ सहितौ सुजातं चारु चाननम् ।
तां विशालायतश्रोणीं तनुमध्यां यशस्विनीम् ॥ १४ ॥
दृष्ट्वैव शुभसर्वाङ्गीं पवनः काममोहितः ।
स तां भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां पर्यष्वजत मारुतः ॥ १५ ॥

ऊँचे ऊँचे दोनों कुचों को, सुन्दर मुख और अति सुन्दर नितंबों तथा पतली कमर को देख, तथा कामासक्त हो, दोनों भुजाएँ पसार बरजोरी उसे गले लगा लिया ॥ १४ ॥ १५ ॥

मन्मथाविष्टसर्वाङ्गो गतात्मा तामनिन्दिताम् ।
सा तु तत्रैव सम्भ्रान्ता सुवृत्ता वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥

उस समय पवनदेव ऐसे कामासक्त हो गये कि, उन्हें अपने तन की ज़रा भी सुधबुध न रही। तब तो वह पतिव्रता स्त्री बहुत घबड़ायी और सावधान हो कर बोली ॥ १६ ॥

एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति ।
अञ्जनाया वचः श्रुत्वा मारुतः प्रत्यभाषत ॥ १७ ॥

मेरे एक-पति-व्रत को कौन नष्ट करना चहाता है। उसके इस प्रश्न के उत्तर में वायु ने कहा ॥ १७ ॥

न त्वां हिंसामि सुश्रोणि माऽभूत्ते सुभगे भयम् ।
*मारुतोऽस्मि गतो यत्त्वां परिष्वज्य यशस्विनीम् ॥१८॥

हे सुन्दरी! हे सुभगे! तुम डरो मत। मैं तेरे साथ संभोग न करूँगा। मैं पवन हूँ। हे यशस्विनी! मैंने तो तेरा आलिंगन मात्र किया है ॥ १८ ॥

वीर्यवान्बुद्धिसम्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति ।
महासत्वो महातेजा महाबलपराक्रमः ॥ १९ ॥

इससे तेरे वीर्यवान्, बुद्धिमान्, बड़ा पराक्रमी तथा बड़ा तेजस्वी और महाबली पुत्र उत्पन्न होगा ॥ १९ ॥

लङ्घने प्लवने चैव भविष्यति मया समः ।
एवमुक्ता ततस्तुष्टा जननी ते महाकपे ॥ २० ॥

वह कूदने फाँदने और तैरने में मेरे ही समान होगा। हे महाकपे! पवनदेव के ऐसे वचन सुन, तुम्हारी माता सन्तुष्ट हुई ॥२०॥

---

* पाठान्तरे—"मनसाऽस्मि।"

गुहायां त्वां महाबाहो प्रजज्ञे प्लवगर्षभम् ।
अभ्युत्थितं ततः सूर्यं बालो दृष्ट्वा महावने ॥ २१ ॥
फलं चेति जिघृक्षुस्त्वमुत्प्लुत्याभ्युद्गतो दिवम् ।
शतानि त्रीणि गत्वाऽथ योजनानां महाकपे ॥ २२ ॥

उसने तुम्हें एक गुफा में जन्मा। उस महावन में एक दिन प्रातःकाल के समय सूर्य भगवान् को उदय हुआ देख, तुमने उन्हें कोई फल समझा और उस फल को लेने की इच्छा से तुम कूद कर आकाश में पहुँचे और तीन सौ योजन ऊपर चले गये ॥ २१ ॥ २२ ॥

तेजसा तस्य निर्धूतो न विषादं गतस्ततः ।
तावदापततस्तूर्णमन्तरिक्षं महाकपे ॥ २३ ॥
क्षिप्तमिन्द्रेण ते वज्रं क्रोधाविष्टेन धीमता ।
तदा शैलाग्रशिखरे वामो हनुरभज्यत ॥ २४ ॥

वहाँ सूर्य की किरणों के ताप से भी तुम न घबड़ाये। हे महाकपे! उस समय तुमको आकाश में जाते देख, धीमान् इन्द्र ने क्रोध कर, तुम्हारे वज्र मारा। तब तुम पर्वत के शृङ्ग पर आकर गिरे और तुम्हारी बायीं ओर की ठोढ़ी टूट गयी ॥ २३ ॥ २४ ॥

ततो हि नामधेयं ते हनुमानिति कीर्त्यते ।
ततस्त्वां निहतं दृष्ट्वा वायुर्गन्धवहः स्वयम् ॥ २५ ॥
त्रैलोक्ये भृशसंक्रुद्धो न ववौ वै प्रभञ्जनः ।
सम्भ्रान्ताश्च सुराः सर्वे त्रैलोक्ये क्षोभिते सति ॥ २६ ॥

तभी से तुम्हारा नाम हनुमान पड़ा। तदनन्तर पवनदेव ने तुम्हारी यह दशा देख, अत्यन्त कुपित हो, तीनों लोकों में अपना बहना बंद कर दिया। तब तो वायु के बंद होते ही तीनों लोकों में खलबली मच गयी और देवता भी बहुत घबड़ा उठा ॥ २५ ॥ २६ ॥

प्रसादयन्ति संक्रुद्धं मारुतं भुवनेश्वराः ।
प्रसादिते च पवने ब्रह्मा तुभ्यं वरं ददौ ॥ २७ ॥

उन्होंने वायु को प्रसन्न करने के लिये प्रयत्न किया और जब वायु देव प्रसन्न हुए, तब ब्रह्मा जी ने तुमको यह वर दिया ॥ २७ ॥

अशस्त्रवध्यतां तात समरे सत्यविक्रम ।
वज्रस्य च निपातेन विरुजं त्वां समीक्ष्य च ॥ २८ ॥

सहस्रनेत्रः प्रीतात्मा ददौ ते वरमुत्तमम् ।
स्वच्छन्दतश्च मरणं ते भूयादिति वै प्रभो ॥ २९ ॥

कि, तुम लड़ाई में किसी भी शस्त्र से न मारे जा सकोगे। तदनन्तर वज्र के द्वारा तथा इतनी ऊँचाई से पर्वत पर गिरने पर तुमको पीड़ित न देख, इन्द्र प्रसन्न हुए और यह उत्तम वर दिया कि, तुम्हारा इच्छामरण हो ॥ २८ ॥ २९ ॥

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः ॥ ३० ॥

हे महावीर! तुम केसरी वानर के क्षेत्रज और भीमपराक्रमी पवन के औरस पुत्र हो। यही नहीं, बल्कि तुम तेज में भी अपने पिता पवन के तुल्य हो ॥ ३० ॥

त्वं हि वायुसुतो वत्स प्लावने चापि तत्समः ॥ ३१ ॥

हे वत्स! तुम पवनपुत्र हो और कूदने फांदने में भी उन्हींके समान हो ॥ ३१ ॥

वयमद्य गतप्राणा भवानस्त्रातु साम्प्रतम्।
दक्षो विक्रमसम्पन्नः पक्षिराज इवापरः ॥ ३२ ॥

देखो, हम सब इस समय गतप्राण हो रहे हैं। सो तुम हमारी रक्षा करो। तुम चतुर और पराक्रमी होने के कारण दूसरे गरुड़ की तरह हो ॥ ३२ ॥

त्रिविक्रमे मया तात सशैलवनकानना।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी परिक्रान्ता प्रदक्षिणम् ॥ ३३ ॥

हे तात! त्रिविक्रमावतार के समय मैंने पहाड़ों और वनों सहित इस पृथिवी की इक्कीस बार परिक्रमा की थी ॥ ३३ ॥

तथा चौषधयोऽस्माभिः सञ्चिता देवशासनात्।
निष्पन्नममृतं याभिस्तदासीन्नो महद्बलम् ॥ ३४ ॥

और उन्हीं देव की आज्ञा से मैंने विविध ओषधियाँ इकट्ठी कीं, जिनको समुद्र में डाल देवताओं ने समुद्र को मथा था और अमृत पाया था। उन दिनों मेरे शरीर में बड़ा बल था ॥ ३४ ॥

स इदानीमहं वृद्धः परिहीनपराक्रमः।
साम्प्रतं कालमस्माकं भवान्सर्वगुणान्वितः ॥ ३५ ॥

किन्तु अब तो मैं वृद्ध हो जाने से पराक्रमहीन हो रहा हूँ। इस समय तो हम सब वानरों में तुम्ही सर्वगुण सम्पन्न हो ॥ ३५ ॥

तद्विजृम्भस्व[1] विक्रान्तः प्लवतामुत्तमोह्यसि।
त्वद्वीर्यं द्रष्टुकामेयं सर्ववानरवाहिनी ॥ ३६ ॥

---

१ विजृम्भस्व—उत्प्लवस्व। (शि०)

इस समय तुम समुद्र के पार जाओ, क्योंकि तुम लांघने वालों में सर्वश्रेष्ठ हो। देखो, यह सारी की सारी वानरी सेना तुम्हारे बलवीर्य को देखना चाहती है ॥ ३६ ॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम् ।
परा हि सर्वभूतानां हनुमन्या गतिस्तव ॥ ३७ ॥

हे कपियों में शार्दूल! उठो और इस समुद्र को नांघो। तुम्हारा समुद्र का नांघना प्राणिमात्र के लिये हितकर है ॥ ३७ ॥

विषण्णा हरयः सर्वे हनूमन्किमुपेक्षसे ।
विक्रमस्व महावेगो विष्णुस्त्रीन्विक्रमानिव ॥ ३८ ॥

सब वानर दुःखी हो रहे हैं। सो हे हनुमान्! तुम इन सब की उपेक्षा क्यों कर रहे हो? जैसे भगवान विष्णु ने तीन पग पृथिवी नांपने के अपना शरीर बढ़ाया था, उसी प्रकार तुम भी अपना विक्रम प्रदर्शित करो ॥ ३८ ॥

ततस्तु वै जाम्बवता प्रचोदितः
[1]प्रतीतवेगः पवनात्मजः कपिः ।
प्रहर्षयन्स्तां हरिवीरवाहिनीं
चकार रूपं पवनात्मजस्तदा ॥ ३९ ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

तब जाम्बवान की प्रेरणा से पवनतनय हनुमान जी को अपने बल का स्मरण हो आया। तदनन्तर वीर कपिवाहिनी को

---

१ प्रतीतवेगः—स्मृतस्ववेगादिः। (शि०)

हर्षित कर, पवनतनय हनुमान ने समुद्र के लाँघने योग्य अपने शरीर को बड़ा किया ॥ ३१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—※—

तं दृष्ट्वा जृम्भमाणं[1] ते क्रमितुं शतयोजनम् ।
वीर्येणापूर्यमाणं च सहसा वानरोत्तमम् ॥ १ ॥

सौ योजन समुद्र को नांघने के लिये अपने शरीर को बढ़ाये हुए वानरश्रेष्ठ हनुमान जी को सहसा वेग से पूर्ण देख ॥ १ ॥

सहसा शोकमुत्सृज्य प्रहर्षेण समन्विताः ।
विनेदुस्तुष्टुवुश्चापि हनुमन्तं महाबलम् ॥ २ ॥

समस्त वानरमण्डली शोक को त्याग कर और हर्षित हो, महाबली हनुमान जी की स्तुति करने लगी ॥ २ ॥

प्रहृष्टा विस्मिताश्चैव वीक्षन्ते स्म समन्ततः ।
त्रिविक्रमकृतोत्साहं नारायणमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

उस समय हनुमान जी का छोटा शरीर बढ़ कर वैसा ही बड़ा हो गया था, जैसा कि, तीन पग पृथिवी नापने के समय, वामन जी का हो गया था। हनुमान जी का ऐसा रूप देख, वानर अत्यन्त प्रसन्न हुए और साथ ही विस्मित भी ॥ ३ ॥

---

१ जृम्भमाणं—वर्धमानं । (गो०)

संस्तूयमानो हनुमान्व्यवर्धत महाबलः ।
समाविध्य[1] च लाङ्गूलं हर्षाच्च बलमेयिवान्[2] ॥ ४ ॥

वानरों द्वारा स्तुति किये जाने पर, हनुमान जी ने अपना शरीर बढ़ाया। वे पूँछ पसार कर या फैला कर, हर्षित हुए तथा अपने बल को स्मरण करते हुए ॥ ४ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य वृद्धैर्वानरपुङ्गवैः ।
तेजसापूर्यमाणस्य रूपमासीदनुत्तमम् ॥ ५ ॥

जब बूढ़े बूढ़े श्रेष्ठ वानरों ने हनुमान जी की प्रशंसा की, तब हनुमान जी तेज से परिपूर्ण और अनुपम शरीर युक्त हो गये ॥ ५ ॥

यथा विजृम्भते सिंहो विवृद्धो गिरिगह्वरे ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तथा सम्प्रति जृम्भते ॥ ६ ॥

जिस प्रकार महासिंह किसी लंबी चौड़ी गुफा में जंभाई लेता है, उसी प्रकार वायु के औरस पुत्र हनुमान, जँभाई लेने और शरीर को बढ़ाने लगे ॥ ६ ॥

अशोभत मुखं तस्य जृम्भमाणस्य धीमतः ।
[3]अम्बरीषमिवादीप्तं विधूम इव पावकः ॥ ७ ॥

जँभाते समय बुद्धिमान् हनुमान जी का मुख दहकते हुए भाड़ की तरह अथवा धूमरहित आग की तरह शोभायमान हुआ ॥ ७ ॥

हरीणामुत्थितो मध्यात्सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
अभिवाद्य हरीन्वृद्धान्हनुमानिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

---

१ समाविध्य—प्रसार्य । (शि०) २ उपेयवान—सस्मार । (शि०)
३ अम्बरीषोपमम्—सूर्यसदृशं । (शि०), भ्राष्ट्रं । (गो०)

तदनन्तर उन वानरों के बीच हनुमान जी आनन्द से रोमाञ्चित हो, उठ खड़े हुए और बड़े बूढ़े वानरों को प्रणाम कर, यह बोले ॥ ८ ॥

अरुजत्पर्वताग्राणि हुताशनसखोऽनिलः ।
बलवानप्रमेयश्च वायुराकाशगोचरः ॥ ९ ॥

तस्याहं शीघ्रवेगस्य शीघ्रगस्य महात्मनः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवने नास्ति मत्समः ॥ १० ॥

मैं, अग्नि के मित्र, आकाशचारी, पर्वतशृङ्गों को हिलाने वाले, बलवान्, अनुपम, गरुड़ के समान तेज़ चलने वाले, शीघ्रगामी महात्मा पवनदेव का औरस पुत्र हूँ और छलांग मारने में मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ ९ ॥ १० ॥

उत्सहेयं हि विस्तीर्णमालिखन्तमिवाम्बरम् ।
मेरुं गिरिमसङ्गेन परिगन्तुं सहस्रशः ॥ ११ ॥

इस लंबे चौड़े आकाश को स्पर्श करने वाले मेरु पर्वत तक मैं हज़ारों बार आ जा सकता हूँ ॥ ११ ॥

बाहुवेगप्रणुन्नेन सागरेणाहमुत्सहे ।
समाप्लावयितुं लोकं सपर्वतनदीह्रदम् ॥ १२ ॥

मैं अपने भुजबल से समुद्र को हिला कर ; पहाड़, नदी और तालाबों सहित इस लोक को डुबा सकता हूँ ॥ १२ ॥

ममोरुजङ्घवेगेन भविष्यति समुत्थितः ।
समुच्छ्रितमहाग्राहः समुद्रो वरुणालयः ॥ १३ ॥

मेरी जाँघों और घुटनों के वेग से यह नक्रालय समुद्र उफन पड़ेगा और इसमें रहने वाले मत्स्य, कच्छ, नक्र आदि जलजन्तु ऊपर आ जायँगे ॥ १३ ॥

पन्नगाशनमाकाशे पतन्तं पक्षिसेविते ।
वैनतेयमहं शक्तः परिगन्तुं सहस्रशः ॥ १४ ॥

पक्षियों से सेवित आकाश में सर्पभोगी गरुड़ जितनी देर में जितनी दूर जा सकते हैं, मैं उतनी ही देर में उतनी दूर, हज़ार वार आ जा सकता हूँ ॥ १४ ॥

उदयात्प्रस्थितं वाऽपि ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ।
अनस्तमितमादित्यमभिगन्तुं समुत्सहे ॥ १५ ॥

मैं प्रकाशमान और उदयाचल से निकले सूर्य के पास, उनके अस्ताचलगामी होने के पूर्व पहुँच सकता हूँ ॥ १५ ॥

ततो भूमिमसंस्पृश्य पुनरागन्तुमुत्सहे ।
प्रवेगेनैव महता भीमेन प्लवगर्षभाः ॥ १६ ॥

हे वानरों ! फिर पृथिवी तक आकर उसको स्पर्श किये बिना ही अत्यन्त शीघ्र वेग से सूर्य के पास जा सकता हूँ ॥ १६ ॥

उत्सहेयमतिक्रान्तुं सर्वानाकाशगोचरान् ।
सागरं शोषयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम् ॥ १७ ॥

जितने आकाशचारी ग्रह नक्षत्रादि हैं, उन सब को मैं नांघ सकता हूँ। मैं समुद्र को सुखा दूँगा और पृथिवी को विदीर्ण कर डालूँगा ॥ १७ ॥

पर्वतांश्चूर्णयिष्यामि प्लवमानः प्लवङ्गमाः ।
हरिष्याम्यूरुवेगेन प्लवमानो महार्णवम् ॥ १८ ॥

हे वानरों! मैं छलांग मार कर पर्वतों को चूर्ण कर डालूँगा मैं समुद्र नांघने के समय अपनी जांघों के वेग से समुद्र को भी खींच ले जा सकता हूँ ॥ १८ ॥

लतानां विविधं पुष्पं पादपानां च सर्वशः ।
अनुयास्यन्ति मामद्य प्लवमानं विहायसा ॥ १९ ॥

मैं जब आकाशमार्ग से जाने लगूँगा, तब लताओं और वृक्षों के विविध प्रकार के फूल मेरे पीछे पीछे जायगे ॥ १९ ॥

भविष्यति हि मे पन्थाः [1]स्वातेः पन्था इवाम्बरे ।
चरन्तं घोरमाकाशमुत्पतिष्यन्तमेव वा ॥ २० ॥

द्रक्ष्यन्ति निपतन्तं च सर्वभूतानि वानराः ।
महामेघप्रतीकाशं मां च द्रक्ष्यथ वानराः ॥ २१ ॥

और उस समय मेरे गमन का मार्ग उन पुष्पों के कारण वैसा ही जान पड़ेगा, जैसे ताराओं से पूर्ण आकाश में छायापथ। हे वानरो! आकाश में ऊपर जाते समय, तथा समुद्र के उस पार पहुँचने के समय महामेघ के समान मेरे भयङ्कर रूप को सब प्राणी देखेंगे ॥ २० ॥ २१ ॥

दिवमावृत्य गच्छन्तं ग्रसमानमिवाम्बरम् ।
विधमिष्यामि जीमूतान्कम्पयिष्यामि पर्वतान् ॥ २२ ॥

मैं आकाश को ढप कर अर्थात् आकाश को ग्रास करता हुआ चलूँगा। मैं जाते समय बादलों को छिन्न भिन्न कर दूँगा और पर्वतों को हिला दूँगा ॥ २२ ॥

---

[1] स्वातेः पन्था—परिपूर्णताराच्छाया पथः। (गो०)

सागरं क्षोभयिष्यामि प्लवमानः समाहितः ।
वैनतेयस्य सा शक्तिर्मम या मारुतस्य वा ॥ २३ ॥

जब मैं सावधान हो छलांग मारूँगा, तब मैं समुद्र को शून्य कर डालूँगा। इस प्रकार जाने की शक्ति तीन ही की है—अर्थात् गरुड़ की, मेरी और वायु की ॥ २३ ॥

ऋते सुपर्णराजानं मारुतं वा महाजवम् ।
न तद्भूतं प्रपश्यामि यन्मां प्लुतमनुव्रजेत् ॥ २४ ॥

गरुड़ या महावेगवान वायु को छोड़, अन्य मैं किसी को ऐसा नहीं देखता, जो नाँघते समय मेरे साथ तो क्या, मेरे पीछे पीछे भी जा सके ॥ २४ ॥

निमेषान्तरमात्रेण निरालम्बनमम्बरम् ।
सहसा निपतिष्यामि घनाद्विद्युदिवोत्थिता ॥ २५ ॥

बादल से निकली हुई बिजली की तरह मैं पलक मारते इस निरालंब आकाश में उड़ कर पहुँच जाऊँगा ॥ २५ ॥

भविष्यति हि मे रूपं प्लवमानस्य सागरे ।
विष्णोर्विक्रममाणस्य पुरा त्रीन्विक्रमानिव ॥ २६ ॥

समुद्र को लाँघते समय मेरा रूप वैसा ही हो जायगा जैसा कि, त्रिविक्रम भगवान् का था ॥ २६ ॥

बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा ।
अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २७ ॥

हे वानरों! तुम हर्षित हो। मैं सीता को अवश्य देखूँगा। क्योंकि मेरी बुद्धि और मन को पूर्ण विश्वास है। मेरी चेष्टा भी ऐसी ही होती है ॥ २७ ॥

मारुतस्य समो वेगे गरुडस्य समो जवे ।
अयुतं योजनानां तु गमिष्यामीति मे मति ॥ २८ ॥

मैं वेग में वायु के और शीघ्रता में गरुड़ के समान हूँ। मैं तो समझता हूँ कि, मैं दस हज़ार योजन नांघ जाऊँगा ॥ २८ ॥

वासवस्य सवज्रस्य ब्रह्मणो वा स्वयंभुवः ।
विक्रम्य सहसा हस्तादमृतं तदिहानये ॥ २९ ॥

मेरी समझ में, इस समय मुझमें इतना उत्साह है कि, मैं अपने पराक्रम से, वज्रधारी इन्द्र के अथवा स्वयंभू ब्रह्म के हाथ से अमृत छीन कर ला सकता हूँ ॥ २९ ॥

तेजश्चन्द्राग्निगृह्णीयां सूर्याद्वा तेज उत्तमम् ।
लङ्कां वापि समुत्क्षिप्य गच्छेयमिति मे मतिः ॥ ३० ॥

मुझे विश्वास है कि, मैं अपने तेज से चन्द्रमा और सूर्य को पकड़ कर और लङ्का को उखाड़ कर, यहाँ ला सकता हूँ ॥ ३० ॥

तमेवं वानरश्रेष्ठं गर्जन्तममितौजसम् ।
प्रहृष्टा हरयस्तत्र समुदैक्षन्त विस्मिताः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार अमित बलशाली एवं गर्जते हुए हनुमान की ओर सब वानर लोग विस्मय युक्त हो देख कर प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा ज्ञातीनां शोकनाशनम् ।
उवाच परिसंहृष्टो जाम्बवान्हरिसत्तमम् ॥ ३२ ॥

अपनी जाति वालों के शोक को मिटाने वाले हनुमान जी के वचनों को सुन, वानरश्रेष्ठ जाम्बवान् अत्यन्त प्रसन्न हो बोले ॥३२॥

वीर केसरिणः पुत्र हनुमान्मारुतात्मज ।
ज्ञातीनां विपुलः शोकस्त्वया तात विनाशितः ॥ ३३ ॥

हे वेगवान्, वायुपुत्र, केसरीनन्दन ! हे तात ! तुमने अपनी बिरादरी वालों का बड़ा भारी शोक मिटा दिया ॥ ३३ ॥

तव कल्याणरुचयः कपिमुख्याः समागताः ।
मङ्गलं कार्यसिद्ध्यर्थं करिष्यन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥

तुम्हारे कल्याण की इच्छा से तुम्हारी यात्रा की सिद्धि के लिये ये समस्त वानर यूथपति यहाँ एकत्र हो मङ्गलपाठ पढ़ेंगे ॥ ३४ ॥

ऋषीणां च प्रसादेन कपिवृद्धमतेन च ।
गुरूणां च प्रसादेन प्लवस्व त्वं महार्णवम् ॥ ३५ ॥

ऋषियों के अनुग्रह से और बूढ़े वानरों के आशीर्वाद से और गुरुजनों की कृपा से तुम समुद्र के पार जाओ ॥ ३५ ॥

स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव ।
त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवितानि वनौकसाम् ॥ ३६ ॥

जब तक तुम लौट कर न आओगे तब तक हम सब वानर एक पैर से खड़े रहेंगे, क्योंकि इन समस्त वानरों का जीवन, तुम्हारे ही हाथ है ॥ ३६ ॥

ततस्तु हरिशार्दूलस्तानुवाच वनौकसः ।
नेयं मम मही वेगं लङ्घने धारयिष्यति ॥ ३७ ॥

उनके ये वचन सुन हनुमान जी ने उन वानरों से कहा कि, यह पृथिवी मेरे कूदने के वेग को न थाम सकेगी ॥ ३७ ॥

एतानीह नगस्यास्य शिलासङ्कटशालिनः ।
शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च ॥ ३८ ॥

किन्तु शिलाओं से युक्त बड़े और स्थिर महेन्द्र पर्वत के शिखर दृढ़ और विशाल होने के कारण मेरे वेग को थाम सकते हैं ॥ ३८ ॥

एषु वेगं करिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम् ।
नानाद्रुमविकीर्णेषु धातुनिष्यन्दशोभिषु ॥ ३९ ॥

अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त और धातुओं से शोभित यह बड़े शिखर अवश्य मेरे गमन के वेग को थाम सकेगा, अतः इसी पर से मैं छलांग मारूँगा ॥ ३९ ॥

एतानि मम निष्पेषं पादयोः प्लवतां वराः ।
प्लवतो धारयिष्यन्ति योजनानामितः शतम् ॥ ४० ॥

हे वानरश्रेष्ठों ! ये बड़े बड़े शिखर यहाँ से शतयोजन के छलांग मारने का वेग थाम लेगें ॥ ४० ॥

ततस्तं मारुतप्रख्यः स हरिर्मारुतात्मजः ।
आरुरोह नगश्रेष्ठं महेन्द्रमरिमर्दनः ॥ ४१ ॥

यह कह शत्रुहन्ता पवन तुल्य पवननन्दन हनुमान जी पर्वत श्रेष्ठ महेन्द्राचल पर्वत पर चढ़ गये ॥ ४१ ॥

वृतं नानाविधैर्वृक्षैर्मृगसेवितशाद्वलम् ।
लताकुसुमसम्बाधं नित्यपुष्पफलद्रुमम् ॥ ४२ ॥

महेन्द्राचल पर्वत पर भाँति भाँति के फूल फूले हुए थे, उस पर दूब के हरे भरे रमनों में मृगगण चर रहे थे । इस पर विविध भाँति

की लताएँ फूली हुई थीं और सब ऋतुओं में फले फूले वृक्ष बने रहते थे ॥ ४२ ॥

सिंहशार्दूलचरितं मत्तमातङ्गसेवितम् ।
मत्तद्विजगणोद्घुष्टं सलिलोत्पीडसंकुलम् ॥ ४३ ॥

यह पर्वत सिंहशार्दूल, और मत्तगज से परिपूर्ण और भाँति भाँति के पक्षियों से कूजित था। इस पर जल के झरने भी बहुत थे ॥ ४३ ॥

महद्भिरुच्छ्रितं शृङ्गैर्महेन्द्रं स महाबलः ।
विचचार हरिश्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः ॥ ४४ ॥

महाबली, इन्द्र की तरह विक्रमशाली, कपिश्रेष्ठ हनुमान महेन्द्राचल के सब से ऊँचे शृङ्ग पर चढ़ कर घूमने लगे ॥ ४४ ॥

पादाभ्यां पीडितस्तेन महाशैलो महात्मनः ।
*ररास सिंहाभिहतो महान्मत्त इव द्विपः ॥ ४५ ॥

महात्मा हनुमान जी ने दोनों पैरों से उस पर्वत को ऐसा दबाया कि, शैल के ऊपर विचरने वाले जीव जन्तुओं सहित, सिंह से त्रस्त हाथी की तरह, वह शैल मानों चिंघारने लगा ॥ ४५ ॥

मुमोच सलिलोत्पीडान्विप्रकीर्णशिलोच्चयः ।
वित्रस्तमृगमातङ्गः प्रकम्पितमहाद्रुमः ॥ ४६ ॥

और जल की फुहार छोड़ने लगा। उसकी चट्टाने चूर चूर हो गिरने लगीं। हिरन, हाथी सब भयभीत हो गये और बड़े बड़े पेड़ थर थर काँपने लगे ॥ ४६ ॥

---

* पाठान्तरे—" रराज।"

नागगन्धर्वमिथुनैः पानसंसर्गकर्कशैः ।
उत्पतद्भिश्च विहगैर्विद्याधरगणैरपि ॥ ४७ ॥

त्यज्यमानमहासानुः सन्निलीनमहोरगः ।
चलशृङ्गशिलोद्घातस्तदाभूत्स महागिरिः ॥ ४८ ॥

मैथुन और मद्यपान करने में आसक्त नागों और गन्धर्वों के जोड़ों (अर्थात् स्त्री पुरुष) विद्याधरों और उड़ने वाले पक्षियों ने वह पर्वत त्याग दिया और वे आकाशमार्ग से उड़ चले। वहाँ के सर्प भी उस पर्वत को छोड़ भाग गये। उस पर्वत की शिलाएं भी चूर चूर हो उड़ गयी ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

निःश्वसद्भिस्तदार्तैस्तु भुजङ्गैरर्धनिःसृतैः ।
सपताक इवाभाति स तदा धरणीधरः ॥ ४९ ॥

उस समय हनुमान जी के पैरों से दबा हुआ महेन्द्राचल पर्वत, आधे निकले हुए और फुफकार मारते हुए सर्पों द्वारा ऐसा जान पड़ता था, मानों वह पताकाओं से भूषित है ॥ ४९ ॥

ऋषिभिस्त्राससम्भ्रान्तैस्त्यज्यमानः शिलोच्चयः ।
सीदन्महति कान्तारे सार्थहीन इवाध्वगः ॥ ५० ॥

जो ऋषिगण उस पर्वत पर तप किया करते थे, उन्होंने भी भयभीत हो उस पर्वत का रहना त्याग दिया। वह पर्वत उस समय ऐसा दुःखी जान पड़ता था, जैसा कि साथियों का साथ छुट जाने से कोई बटोही वन में अकेला पड़ जाने से दुःखी होता है ॥ ५० ॥

स वेगवान्वेगसमाहितात्मा
हरिप्रवीरः परवीरहन्ता ।

मनः समाधाय महानुभावो
जगाम लङ्कां मनसा मनस्वी ॥ ५१ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

शत्रुहन्ता, वेगवान्, मनस्वी, महानुभाव, और कपिश्रेष्ठ हनुमान जी सागर नाँघने का दृढ़ विचार कर, मन से लंका में पहुँच गये ॥ ५१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्

किष्किन्धाकाण्डः समाप्तः ॥

—*—

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—*—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

सुन्दरकाण्ड—६

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २,०००] [मूल्य १॥)

सुन्दरकाण्ड

की

विषयानुक्रमणिका

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ १॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कविताविनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥ २॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥ ३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥ ४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥ ६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:※:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक् पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता राममागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—※—

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—※—

सुन्दरकाण्डः

ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्शनः ।
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि ॥ १ ॥

तदनन्तर शत्रुदमनकर्त्ता हनुमान जी, सीता जी का पता लगाने के लिये, आकाश के उस मार्ग से, जिस पर चारण लोग चला करते हैं, जाने को तैयार हुए ॥ १ ॥

दुष्करं निष्प्रतिद्वन्द्वं चिकीर्षन्कर्म वानरः ।
समुदग्रशिरोग्रीवो गवां पतिरिवाऽऽबभौ ॥ २ ॥

इस प्रकार के दुष्कर कर्म करने की इच्छा कर, सिर और गर्दन उठा कर, वृषभ की तरह, प्रतिद्वन्द्वीरहित अथवा विघ्न-बाधा-रहित, हनुमान जी शोभायमान हुए ॥ २ ॥

अथ वैडूर्यवर्णेषु शाद्वलेषु महाबलः ।
धीरः [1]सलिलकल्पेषु विचचार यथासुखम् ॥ ३ ॥

धीर वीर हनुमान जी, समुद्रजलवत् अथवा पन्ने की तरह हरी रंग की [illegible] ऊपर, यथासुख विचरने लगे ॥ ३ ॥

---

१ सलिलकल्पेषु—समुद्रजलवत् । (रा०)

द्विजान्वित्रासयन्धीमानुरसा पादपान्हरन् ।
मृगांश्च सुबहून्निघ्नन्प्रवृद्ध इव केसरी ॥ ४ ॥

उस समय बुद्धिमान् हनुमान जो, पक्षियों को त्रस्त करते, अपनी छाती की टक्कर से अनेक वृक्षों को उखाड़ते, और बहुत से मृगों को मारते हुए ऐसे जान पड़ते थे, जैसे बड़ा भयङ्कर सिंह देख पड़ता हो ॥ ४ ॥

नीललोहितमाञ्जिष्ठपत्रवर्णैः सितासितैः ।
स्वभावविहितैश्चित्रैर्धातुभिः समलङ्कृतम् ॥ ५ ॥
कामरूपिभिराविष्टमभीक्ष्णं सपरिच्छदैः ।
यक्षकिन्नरगन्धर्वैर्देवकल्पैश्च पन्नगैः ॥ ६ ॥
स तस्य गिरिवर्यस्य तले नागवरायुते ।
तिष्ठन्कपिवरस्तत्र ह्रदे नाग इवावभौ ॥ ७ ॥

नीली, लाल, मजीठो और कमल के रंग की तथा सफेद एवं काली रंग की रंग बिरंगी स्वभावसिद्ध धातुओं से भूपित, विविध भाँति के आभूषणों और वस्त्रों को पहिने हुए और अपने अपने परिवारों सहित देवताओं की तरह काम रूपी यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और सर्पों से सेवित तथा उत्तम जाति के हाथियों से व्याप्त, उस महेन्द्र पर्वत की तलैटी में, वानरश्रेष्ठ हनुमान जी, सरोवरस्थित हाथी की तरह शोभायमान हुए ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

स सूर्याय महेन्द्राय पवनाय [१]स्वयंभुवे ।
[२]भूतेभ्यश्चाञ्जलिं कृत्वा चकार गमने मतिम् ॥ ८ ॥

---

१ स्वयंभुवे—चतुर्मुखाय । (गो०) २ भूतेभ्यः—[illegible]योनिभ्यः । (गो०)

हनुमान जी ने सूर्य, इन्द्र, वायु, ब्रह्मा तथा अन्यान्य देवताओं को नमस्कार कर के वहाँ से प्रस्थान करना चाहा ॥ ८ ॥

अञ्जलिं प्राङ्मुखः कुर्वन्पवनायात्मयोनये[1] ।
ततोऽभिववृधे गन्तुं दक्षिणो दक्षिणां दिशम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर वे पूर्व मुख हो, हाथ जोड़ अपने पिता पवनदेव को प्रणाम कर, दक्षिण दिशा को ओर जाने को अग्रसर हुए ॥ ९ ॥

प्लवङ्गप्रवरैर्दृष्टः प्लवने कृतनिश्चयः ।
ववृधे रामवृद्ध्यर्थं समुद्र इव पर्वसु ॥ १० ॥

वानरश्रेष्ठों ने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी के कार्य की सिद्धि के लिये, समुद्र नांघने का निश्चय किये हुए हनुमान जी का शरीर, ऐसे बढ़ने लगा जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र बढ़ता है ॥ १० ॥

[2]निष्प्रमाणशरीरः सँल्लिलङ्घयिषुरर्णवम् ।
बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम् ॥ ११ ॥

हनुमान जी ने समुद्र फांदने के समय अपना शरीर निर्मर्याद बढ़ाया और अपनी दोनों भुजाओं और चरणों से पर्वत को ऐसा दबाया कि, ॥ ११ ॥

स चचालाचलश्चापि मुहूर्तं कपिपीडितः ।
तरूणां पुष्पिताग्राणां सर्वं पुष्पमशातयत् ॥ १२ ॥

दबाने से एक मुहूर्त तक वह अचल पर्वत चलायमान हो गया और उसके ऊपर जो पुष्पित वृक्ष थे, उन वृक्षों के सब फूल झड़ कर गिर पड़े ॥ १२ ॥

---

१ आत्मयोनये—स्वकारणभूताय । (गो०) २ निष्प्रमाणशरीरः—निर्मर्यादशरीरः । (गो०)

तेन पादपमुक्तेन पुष्पौघेण सुगन्धिना ।
सर्वतः संवृतः शैलो बभौ पुष्पमयो यथा ॥ १३ ॥

वृक्षों से झड़े हुए सुगन्धयुक्त फूलों के ढेरों से वह पर्वत ढक गया और ऐसा जान पड़ने लगा, मानों वह समस्त पहाड़ फूलों ही का है ॥ १३ ॥

तेन चोत्तमवीर्येण पीड्यमानः स पर्वतः ।
सलिलं सम्प्रसुस्राव मदं मत्त इव द्विपः ॥ १४ ॥

जब वीर्यवान् कपिप्रवर हनुमान जी ने उस पर्वत को दबाया, तब उससे अनेक जल की धारें निकल पड़ीं। वे धारें ऐसी जान पड़ती थीं, मानों किसी मतवाले हाथी के शरीर से मद बहता हो ॥ १४ ॥

पीड्यमानस्तु बलिना महेन्द्रस्तेन पर्वतः ।
[1]रीतीर्निर्वर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः ॥ १५ ॥

बलवान् हनुमान जी के दबाने से उस महेन्द्राचल पर्वत के चारों ओर धातुओं के बह निकलने से ऐसा जान पड़ता था, मानों पिघलाए हुए सोने और चाँदी की रेखाएँ खिंची हों। अथवा, पीली, काली और सफेद लकीरें खिंच रही हों ॥ १५ ॥

मुमोच च शिलाः शैलो विशालाः समनःशिलाः ।
मध्यमेनार्चिषा जुष्टो धूमराजीरिवानलः ॥ १६ ॥

वह पर्वत मनसिलयुक्त बड़ी बड़ी शिलाएं गिराने लगा। उस समय ऐसा जान पड़ा, मानों बीच में तो आग जल रही हो और चारों ओर से धुआं निकल रहा हो ॥ १६ ॥

---

१ रीतीः—रेखाः । (गो०)

गिरिणा पीड्यमानेन पीड्यमानानि सर्वतः ।
गुहाविष्टानि भूतानि विनेदुर्विकृतैः स्वरैः ॥ १७ ॥

हनुमान जी के दबाने से उस पर्वत की गुफाओं में रहने वाले जीवजन्तु विकराल शब्द करने लगे ॥ १७ ॥

स महान्सत्त्वसन्नादः शैलपीडानिमित्तजः ।
पृथिवीं पूरयामास दिशश्चोपवनानि च ॥ १८ ॥

पर्वत के दबने के कारण उन जीव जन्तुओं का ऐसा घोर शब्द हुआ कि, उससे संपूर्ण पृथिवी, दिशा, और जंगल भर गये ॥ १८ ॥

शिरोभिः पृथुभिः सर्पा व्यक्तस्वस्तिकलक्षणैः ।
वमन्तः पावकं घोरं ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥ १९ ॥

स्वस्तिक (शुभ) चिन्हों से चिन्हित फनधारी बड़े बड़े सर्प, जो उस पर्वत में रहा करते थे, क्रुद्ध हुए और मुख से भयङ्कर आग उगलते हुए, शिलाओं को अपने दाँतों से काटने लगे ॥ १९ ॥

तास्तदा सविषैर्दष्टाः कुपितैस्तैर्महाशिलाः ।
जज्वलुः पावकोद्दीप्ता बिभिदुश्च सहस्रधा ॥ २० ॥

क्रुद्ध हो कर विषधरों द्वारा दाँतों से काटी हुई वे बड़ी बड़ी शिलाएँ जलने लगीं और उनके हज़ारों टुकड़े हो गये ॥ २० ॥

यानि चौषधजालानि तस्मिञ्जातानि पर्वते ।
विषघ्नान्यपि नागानां न शेकुः शमितुं विषम् ॥ २१ ॥

यद्यपि उस पर्वत पर सर्पविषनाशक अनेक जड़ी बूटियाँ थीं, तथापि वे भी उस विष को शान्त न कर सकीं ॥ २१ ॥

भिद्यतेऽयं गिरिर्भूतै[1]रिति मत्वा तपस्विनः ।
त्रस्ता विद्याधरास्तस्मादुत्पेतुः स्त्रीगणैः सह ॥ २२ ॥

जब हनुमानजी ने पर्वत को दबाया, तब उस पर्वत पर बसने वाले तपस्वी और विद्याधर लोग घबड़ा कर अपनी अपनी स्त्रियों को साथ ले वहां से चल दिये ॥ २२ ॥

पानभूमिगतं हित्वा हैममासवभाजनम् ।
पात्राणि च महार्हाणि करकांश्च हिरण्मयान् ॥ २३ ॥

उस समय वे लोग ऐसे डरे कि, शराब पीने की जगह पर जो सोने की बैठकी और बड़े बड़े मूल्यवान सुवर्णपात्र, सुवर्ण के करवे थे उन्हें वे वहीं छोड़ कर, चल दिये ॥ २३ ॥

लेह्यानुच्चावचान्भक्ष्यान्मांसानि विविधानि च ।
आर्षभाणि च चर्माणि खड्गांश्च कनकत्सरून् ॥ २४ ॥

चटनी आदि विविध पदार्थ और खाने के योग्य तरह तरह के मांस, सांवर के चमड़े की बनी ढालें तथा सोने की मूंठ की तलवारें जहाँ की तहां छोड़, वे लोग जान लेकर, आकाशमार्ग से चल दिये ॥ २४ ॥

कृतकण्ठगुणाः क्षीवा रक्तमाल्यानुलेपनाः ।
रक्ताक्षाः पुष्कराक्षाश्च गगनं प्रतिपेदिरे ॥ २५ ॥

गले में सुन्दर पुष्पहारों को पहिने हुए तथा शरीर में अच्छे अंगराग लगाये अरुण एवं कमल नेत्रों से युक्त विद्याधरों ने आकाश में जा कर दम ली ॥ २५ ॥

---

१ भूतैः यक्षरक्षः प्रभृतिमहाभूतैः । (रा०)

हारनूपुरकेयूरपारिहार्यधराः स्त्रियः ।
विस्मिताः सस्मितास्तस्थुराकाशे रमणैः सह ॥ २६ ॥

इनकी स्त्रियाँ, जो हार, नूपुर (बिछुवा) बिजायठ और ककनों से अपना शरीर सजाये हुए थीं, अत्यन्त आश्चर्यचकित हो अपने अपने पतियों के पास जा कर, आकाश में खड़ी हो गयीं ॥ २६ ॥

दर्शयन्तो [1]महाविद्यां विद्याधरमहर्षयः ।
*विस्मितास्तस्थुराकाशे वीक्षांचक्रुश्च पर्वतम् ॥ २७ ॥

वे विद्याधर और महर्षिगण अणिमादि अष्ट महाविद्याओं को दिखलाते, आकाश में खड़े हो कर पर्वत की ओर देखने लगे ॥२७॥

शुश्रुवुश्च तदा शब्दमृषीणां भावितात्मनाम् ।
चारणानां च सिद्धानां स्थितानां विमलेऽम्बरे ॥ २८ ॥
एष पर्वतसङ्काशो हनूमान्मारुतात्मजः ।
तितीर्षति महावेगः सागरं मकरालयम् ॥ २९ ॥

वे निर्मल आकाशस्थित विशुद्धमना महात्मा ऋषियों को यह कहते सुन रहे थे कि, देखो यह पर्वताकार शरीर वाले हनुमान बड़ी तेज़ी से समुद्र के पार जाना चाहते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

रामार्थं वानरार्थं च चिकीर्षन्कर्म दुष्करम् ।
समुद्रस्य परं पारं दुष्प्रापं प्राप्तुमिच्छति ॥ ३० ॥

ये वीर वानर हनुमान जो, श्रीरामचन्द्र का कार्यसिद्ध करने और इन वानरों के प्राण बचाने के लिये, दुष्प्राप्य समुद्र के उस पार जाने की इच्छा कर, एक दुष्कर कार्य करना चाहते हैं ॥ ३० ॥

---

१ महाविद्यां—अणिमाद्यष्टमहाविद्यां । (गो०) * पाठान्तरे—" सहितास्तस्थुराकाशे " ।

इति विद्याधराः श्रुत्वा वचस्तेषां तपस्विनाम्* ।
तमप्रमेयं ददृशुः पर्वते वानरर्षभम् ॥ ३१ ॥

उन तपस्वियों की कही हुईं इन बातों को सुन, विद्याधर लोग उस पर्वतस्थित अप्रमेय बलशाली हनुमान जी को देखने लगे ॥ ३१ ॥

दुधुवे च स रोमाणि चकम्पे चाचलोपमः ।
ननाद सुमहानादं स महानिव तोयदः ॥ ३२ ॥

उस समय पावक की तरह, पवननन्दन हनुमान जी ने अपने शरीर के रोमों को फुला, पर्वताकार अपने शरीर को हिलाया और महामेघ की तरह महानाद कर वे गर्जे ॥ ३२ ॥

आनुपूर्व्येण वृत्तं च लाङ्गूलं लोमभिश्चितम् ।
उत्पतिष्यन्विचिक्षेप पक्षिराज इवोरगम् ॥ ३३ ॥

और चढ़ाव उतार दार गोल और रुएं दार अपनी पूँछ को हनुमान जी ने ऐसे झटकारा जैसे गरुड़ सांप को झटकारता है ॥ ३३ ॥

तस्य लाङ्गूलमाविद्धमतिवेगस्य पृष्ठतः ।
ददृशे गरुडेनेव ह्रियमाणो महोरगः ॥ ३४ ॥

इनकी पीठ पर हिलती हुईं इनकी पूँछ, गरुड़ द्वारा पकड़े हुए अजगर सांप की तरह हिलती हुई देख पड़ती थी ॥ ३४ ॥

बाहू संस्तम्भयामास महापरिघसन्निभौ ।
ससाद च कपिः कट्यां चरणौ सञ्चुकोच च ॥ ३५ ॥

---

* पाठान्तरे—" महात्मनाम् " ।

हनुमान जी ने कूदने के समय अपने परिघ आकार वाली दोनों भुजाओं को जमा कर, कमर पर दोनों पैरों का बल दिया और उनको (पैरों को) सकोड़ लिया ॥ ३५ ॥

संहृत्य च भुजौ श्रीमांस्तथैव च शिरोधराम् ।
तेजः सत्त्वं तथा वीर्यमाविवेश स वीर्यवान् ॥ ३६ ॥

उन्होंने अपने हाथों, सिर और होठों को भी सकोड़ा । तदनन्तर अपने तेज, बल और पराक्रम को सँभाल दूर से जाने के रास्ते को देखा ॥ ३६ ॥

मार्गमालोकयन्दूरादूर्ध्वं प्रणिहितेक्षणः ।
रुरोध हृदये प्राणानाकाशमवलोकयन् ॥ ३७ ॥
पद्भ्यां दृढमवस्थानं कृत्वा स कपिकुञ्जरः ।
निकुञ्च्य कर्णौ हनुमानुत्पतिष्यन्महाबलः ॥ ३८ ॥

उछलने के समय हनुमान जी ने ऊपर की ओर आकाश को देख, दम साधी और ज़मीन पर अपने पैर जमा, दोनों कानों को सिकोड़ा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

वानरान्वानरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः ॥ ३९ ॥
गच्छेत्तद्वद्गमिष्यामि लङ्कां रावणपालिताम् ।
न हि द्रक्ष्यामि यदि तां लङ्कायां जनकात्मजाम् ॥४०॥
अनेनैव हि वेगेन गमिष्यामि सुरालयम् ।
यदि वा त्रिदिवे सीतां न *द्रक्ष्यामि कृतश्रमः ॥ ४१ ॥

* पाठान्तरे—"द्रक्ष्याम्यकृतश्रमः"।

बद्ध्वा राक्षसराजानमानयिष्यामि रावणम् ।
सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया ॥ ४२ ॥

आनयिष्यामि वा लङ्कां समुत्पाट्य सरावणाम् ।
एवमुक्त्वा तु हनुमान्वानरान्वानरोत्तमः ॥ ४३ ॥

वे कपियों में उत्तम हनुमान वानरों से बोले कि, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के छोड़े हुए बाण हवा की तरह जाते हैं, उसी प्रकार मैं रावण पालित लङ्का में चला जाऊँगा । यदि जनकनन्दिनी मुझे वहाँ न देख पड़ी, तो इसी वेग से मैं स्वर्ग को चला जाऊँगा । यदि वहाँ भी प्रयत्न करने पर सीता न देख पड़ी, तो मैं राक्षस-राज रावण को बाँध कर यहाँ लेआऊँगा । या तो मैं इस प्रकार सफल मनोरथ हो सीता सहित ही लौटूँगा, नहीं तो रावण सहित लङ्का को उखाड़ कर ही ले आऊँगा । कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने वानरों से इस प्रकार कहा ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

उत्पपाताथ वेगेन वेगवानविचारयन् ।
सुपर्णमिव चात्मानं मेने स कपिकुञ्जरः ॥ ४४ ॥

मार्ग के विघ्नों की कुछ भी परवाह न कर, वेगवान् हनुमान जी अत्यन्त वेग से कूदे और उस समय अपने को गरुड़ के तुल्य समझा ॥ ४४ ॥

समुत्पतति तस्मिंस्तु वेगात्ते नगरोहिणः ।
संहृत्य विटपान्सर्वान्समुत्पेतुः समन्ततः ॥ ४५ ॥

उस समय हनुमान जी के छलांग भरते ही, उस पहाड़ के पेड़ पत्तों और डालियों के चारों ओर से इनके पीछे बड़े वेग से ॥ ४५ ॥

स मत्तकोयष्टि*मकान्पादपान्पुष्पशालिनः ।
उद्वहन्नूरुवेगेन जगाम विमलेऽम्बरे ॥ ४६ ॥

हनुमान जी पक्षियों से युक्त और पुष्पित वृक्षों को अपनी जाँघों के वेग से अपने साथ लिये हुए निर्मल आकाश में गये ॥ ४६ ॥

ऊरुवेगोद्धता वृक्षा मुहूर्तं कपिमन्वयुः ।
प्रस्थितं दीर्घमध्वानं स्वबन्धुमिव बान्धवाः ॥ ४७ ॥

जाँघों के वेग से उड़े हुए वे पेड़, कुछ ही देर तक हनुमान जी के पीछे पीछे गये । तदनन्तर जिस प्रकार दूर देश की यात्रा करने वाले बन्धु के पीछे उसके भाईबंद कुछ दूर तक जाकर लौट आते हैं उसी प्रकार ये वृक्ष भी हनुमान जी को थोड़ी दूर पहुँचा कर लौटे ॥ ४७ ॥

†तदूरुवेगोन्मथिताः सालाश्चान्ये नगोत्तमाः ।
अनुजग्मुर्हनूमन्तं सैन्या इव महीपतिम् ॥ ४८ ॥

हनुमान जी की जाँघों के वेग से उखड़े हुए साल आदि के बड़े बड़े पेड़ उनके पीछे वैसे ही चले जाते थे, जैसे राजा के पीछे पीछे सेना चलती है ॥ ४८ ॥

सुपुष्पिताग्रैर्बहुभिः पादपैरन्वितः कपिः ।
हनूमान्पर्वताकारो बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ४९ ॥

उस समय अनेक फूले हुए वृक्षों से, पिछ्याये हुए एवं पर्वताकार हनुमान जी का अद्भुत रूप देख पड़ा ॥ ४९ ॥

सारवन्तोऽथ ये वृक्षा न्यमज्जँल्लवणाम्भसि ।
भयादिव महेन्द्रस्य पर्वता वरुणालये ॥ ५० ॥

---

* पाठान्तरे—"भ" । † पाठान्तरे—"तमूरु" ।

हनुमान जी के पीछे उड़ने वाले वृक्षों में जो भारी पेड़ थे, वे समुद्र में गिर कर वैसे ही डूब गये जैसे इन्द्र के भय से पहाड़ समुद्र में डूबे थे ॥ ५० ॥

स नानाकुसुमैः कीर्णः कपि साङ्कुरकोरकैः ।
शुशुभे मेघसङ्काशः खद्योतैरिव पर्वतः ॥ ५१ ॥

उन पेड़ों के फूलों, अङ्कुरों और कलियों से उन मेघ के समान कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ऐसे शोभायमान हो रहे थे, जैसे कि जुगुनुओं से कोई पर्वत शोभायमान होता है ॥ ५१ ॥

विमुक्तास्तस्य वेगेन मुक्त्वा पुष्पाणि ते द्रुमाः ।
अवशीर्यन्त सलिले निवृत्ताः सुहृदो यथा ॥ ५२ ॥

हनुमान जी के गमनवेग से छूट कर, वे वृक्ष अपने फूलों को गिरा कर और तितर बितर हो समुद्र के जल में उसी प्रकार गिरे, जिस प्रकार किसी अपने बंधुजन को पहुँचा कर, सुहृद् लोग तितर बितर हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

लघुत्वेनोपपन्नं तद्विचित्रं सागरेऽपतत् ।
द्रुमाणां विविधं पुष्पं कपिवायुसमीरितम् ॥ ५३ ॥

हनुमान जी के गमनवेग से उत्पन्न पवन द्वारा प्रेरित वृक्षों के विविध प्रकार के पुष्प, हल्के होने के कारण समुद्र में विचित्र रीति से गिर कर शोभित होते थे ॥ ५३ ॥

*ताराशतमिवाकाशं प्रबभौ स महार्णवः ।
†पुष्पौघेणानुविद्धेन नानावर्णेन वानरः ॥ ५४ ॥

---

* पाठान्तरे—" ताराचित " † पाठान्तरे—"अनुवद्धेन", "सुगन्धेन" ।

वंभौ मेघ इवाकाशे विद्युद्गणविभूषितः ।
तस्य वेगसमुद्भूतैः *पुष्पैस्तोयमदृश्यत ॥ ५५ ॥

ताराभिरभिरामाभिरुदिताभिरिवाम्बरम् ।
तस्याम्बरगतौ वाहू ददृशाते प्रसारितौ ॥ ५६ ॥

उन फूलों के गिरने से समुद्र, सहस्रों ताराओं से शोभित आकाश की तरह जान पड़ता था । सुगन्धयुक्त और रंग विरंगे पुष्पों से कपिश्रेष्ठ हनुमान ऐसे शोभित हुए जैसे बिजुली की रेखाओं से मण्डित आकाशस्थित मेघ शोभित होता है । जिस प्रकार आकाशमण्डल उदय हुए सुन्दर तारागण के गुच्छों से सज जाता है ; उसी प्रकार समुद्र का जल हनुमान जी के गमनवेग से उड़ कर गिरे हुए पुष्पों से शोभित होने लगा । उस समय हनुमान जी के पसारे हुए हाथ आकाश में ऐसे जान पड़े ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६

पर्वताग्राद्विनिष्क्रान्तौ पञ्चास्याविव पन्नगौ ।
पिवन्निव वभौ †श्रीमान्सोर्मिमालं महार्णवम् ॥ ५७ ॥

मानों पर्वत के शिखर से पाँच सिरों वाले दो साँप निकल रहे हों । आकाश में जाते समय हनुमान जी जब नीचे को मुख करते थे, तब ऐसा जान पड़ता था कि, मानों तरङ्गों से युक्त समुद्र को पी डालना चाहते हैं ॥ ५७ ॥

पिपासुरिव चाकाशं ददृशे स महाकपिः ।
तस्य विद्युत्प्रभाकारे वायुमार्गानुसारिणः ॥ ५८ ॥

---

* पाठान्तरे—" वेगसमाधूतैः " । † पाठान्तरे—" चापि सोर्मि-
...

और जब वे ऊपर को मुख उठा कर चलते तब ऐसा जान पड़ता मानों वे आकाश को पी जाना चाहते हैं। वायुमार्ग से जाते हुए हनुमान जी के बिजली की तरह चमकते हुए ॥ ५८ ॥

नयने सम्प्रकाशेते पर्वतस्थाविवानलौ ।
पिङ्गे पिङ्गाक्षमुख्यस्य बृहती परिमण्डले ॥ ५९ ॥

दोनों नेत्र ऐसे देख पड़ते थे जैसे पर्वत पर दो ओर से दावानल लगा हो। उनकी पोली पीली और बड़ी बड़ी ॥ ५६ ॥

चक्षुषी सम्प्रकाशेते *चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ।
मुखं नासिकया तस्य ताम्रया ताम्रमाबभौ ॥ ६० ॥

आंखें चन्द्रमा और सूर्य को तरह चमक रही थीं। लाल नाक और हनुमान जी का लाल लाल मुखमण्डल ॥ ६० ॥

सन्ध्यया समभिस्पृष्टं यथा †सूर्यस्य मण्डलम् ।
लाङ्गूलं च समाविद्धं प्लवमानस्य शोभते ॥ ६१ ॥
अम्बरे वायुपुत्रस्य शक्रध्वज इवोच्छ्रितः ।
लाङ्गूलचक्रेण महाञ्शुक्लदंष्ट्रोऽनिलात्मजः ॥ ६२ ॥

सन्ध्याकालीन सूर्यमण्डल की तरह शोभायमान हो रहा था। आकाशमार्ग से जाते समय हनुमान जी की हिलती हुई पूँछ ऐसी शोभायमान हो रही थी, जैसे आकाश में इन्द्रध्वज। फिर जब कभी वे अपनी पूँछ को मण्डलाकार कर लेते थे, तब मुख के सफेद दांतों के साथ उनकी छवि ऐसी जान पड़ती थी ; ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

---

* पाठान्तरे—" चन्द्रसूर्याविवोदितौ " । † पाठान्तरे—" तत्सूर्यमण्डलम् " ।

व्यरोचत महाप्राज्ञः परिवेषीव भास्करः ।
स्फिग्देशेनाभिताम्रेण रराज स महाकपिः ॥ ६३ ॥

महता दारितेनेव गिरिर्गैरिकधातुना ।
तस्य वानरसिंहस्य प्लवमानस्य सागरम् ॥ ६४ ॥

जैसी कि, सूर्य में मण्डल पड़ने से सूर्य की छवि जान पड़ती है। उनकी कमर का पिछला भाग अत्यधिक लाल होने के कारण ऐसा जान पड़ता था, मानों पर्वत में गेरू की खान खुली पड़ी हो। कपिसिंह हनुमान जी के समुद्र लांघने के समय ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

कक्षान्तरगतो वायुर्जीमूत इव गर्जति ।
खे यथा निपतन्त्युल्का ह्युत्तरान्ताद्विनिःसृता ॥ ६५ ॥

उनकी दोनों बगलों में से वायु के निकलने का ऐसा शब्द होता था जैसा कि, मेघ के गर्जने से होता है। उस समय वेगवान कपि ऐसे देख पड़े, जैसे उत्तर दिशा से एक बड़ा अग्नि का लुका दूसरे एक छोटे लुक्के के साथ दक्षिण की ओर चला जाता हो ॥ ६५ ॥

दृश्यते [1]सानुबन्धा च तथा स कपिकुञ्जरः ।
पतत्पतङ्गसङ्काशो व्यायतः शुशुभे कपिः ॥ ६६ ॥

प्रवृद्ध इव मातङ्गः कक्ष्यया बध्यमानया ।
उपरिष्टाच्छरीरेण च्छायया चावगाढया ॥ ६७ ॥

सागरे मारुताविष्टा नौरिवासीत्तदा कपिः ।
यं यं देशं समुद्रस्य जगाम स महाकपिः ॥ ६८ ॥

---

१ सानुबन्धा—सपुच्छा ।

तब जाते हुए सूर्य की तरह बड़े आकार वाले कपिश्रेष्ठ हनुमान जी अपनी पूँछ सहित कमर में रस्सा बंधे हुए महागज की तरह शोभायमान होने लगे। आकाश में उड़ते हुए हनुमान जी के बड़े शरीर और समुद्र के जल में पड़ी हुई उसकी छाया. दोनों मिलकर ऐसी शोभा दे रहे थे, जैसी वायु के झोंके से कांपती हुई नौका शोभा देती है। हनुमान जो समुद्र के जिस भाग में पहुँचते ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

*स स तस्योरुवेगेन सोन्माद इव लक्ष्यते ।
सागरस्योर्मिजालानि उरसा शैलवर्ष्मणा ॥ ६९ ॥

वहाँ वहाँ का समुद्र का भाग खलबलाता हुआ सा ज्ञान पड़ता था। वे पर्वत के समान अपने वक्षस्थल से समुद्र की लहरों को ढकेलते हुए चले जाते थे ॥ ६९ ॥

[नोट—इस वर्णन से जान पड़ता है कि, हनुमान जी समुद्र के जल की सतह से बहुत ऊंचे नहीं उड़े थे ।]

अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ।
कपिवातश्च बलवान्मेघवातश्च निःसृतः ॥ ७० ॥
सागरं भीमनिर्घोषं कम्पयामासतुर्भृशम् ।
विकर्षन्नूर्मिजालानि बृहन्ति लवणाम्भसि ॥ ७१ ॥
पुप्लुवे कपिशार्दूलो विकिरन्निव रोदसी ।
मेरुमन्दरसङ्काशानुद्गतान्स महार्णवे ॥ ७२ ॥

---

* पाठान्तरे—"सागरस्योर्मिजालानामुरसा"।

सुन्दरकाण्ड

समुद्रोल्लङ्घन

*अतिक्रामन्महावेगस्तरङ्गान्गणयन्निव ।
तस्य वेगसमुद्धूतं जलं सजलदं तदा ॥ ७३ ॥

एक तो हनुमान जी के वेग से जाने के कारण उत्पन्न वायु और दूसरा मेघों से उत्पन्न हुआ वायु—दोनों ही उस महागर्जन करते हुए समुद्र को क्षुब्ध कर रहे थे। इस प्रकार वे क्षार समुद्र की लहरों को चीरते हनुमान जी मानों आकाश और भूमि को अलगाते हुए चले जाते थे। इसी प्रकार मेरु और मन्दराचल पर्वत की तरह ऊँची ऊँची समुद्र की लहरों को नांघते हुए वे ऐसे उड़े चले जाते थे, मानों वे तरङ्गों को गिनते हुए जाते हों। उस समय कपि के तेज़ी के साथ जाने के कारण उड़ा हुआ समुद्र का जल ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

अम्बरस्थं विबभ्राज शारदाभ्रमिवाततम् ।
तिमिनक्रझषाः कूर्मा दृश्यन्ते विवृतास्तदा ॥ ७४ ॥

और मेघ—(दोनों) आकाश में ऐसे शोभायमान जान पड़ते थे जैसे शरत्कालीन मेघ शोभायमान होते हैं। समुद्र में रहने वाले तिमि जाति के मत्स्य, मगर, अन्य प्रकार के मत्स्य तथा कछुवे जल के ऊपर देख पड़ते थे अर्थात् जल के ऊपर निकल आये थे ॥ ७४ ॥

वस्त्रापकर्षणेनेव शरीराणि शरीरिणाम् ।
प्लवमानं समीक्ष्याथ भुजङ्गाः सागरालयाः ॥ ७५ ॥
व्योम्नि तं कपिशार्दूलं सुपर्ण इति मेनिरे ।
दशयोजनविस्तीर्णा त्रिंशद्योजनमायता ॥ ७६ ॥

---

* पाठान्तरे—"अत्यक्रामन्"।

वे जल जन्तु ऐसे जान पड़ते थे जैसे मनुष्य का शरीर कपड़ा उतार लेने पर देख पड़ता है। समुद्र में रहने वाले सर्पों ने हनुमान जी को आकाश में उड़ते देख जाना कि, गरुड़ जी उड़े हुए चले जाते हैं। दस योजन चौड़ी और तीस योजन लंबी ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

छाया वानरसिंहस्य जले चारुतराऽभवत् ।
श्वेताभ्रघनराजीव वायुपुत्रानुगामिनी ॥ ७७ ॥

तस्य सा शुशुभे छाया वितता लवणाम्भसि ।
शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः ॥ ७८ ॥

हनुमान जी के शरीर की छाया समुद्रजल में अत्यन्त शोभायमान जान पड़ती थी। पवननन्दन हनुमान जी के शरीर की अनुगामिनी छाया, समुद्र के जल में पड़ने से सफेद रंग के बड़े बादल की तरह सुन्दर जान पड़ती थी। वे महातेजस्वी और विशालकाय महाकपि ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वतः ।
येनासौ याति बलवान्वेगेन कपिकुञ्जरः ॥ ७९ ॥

आकाश में अवलंब रहित हो पंख वाले पर्वत की तरह सुशोभित हुए। वानरोत्तम बलवान् हनुमान जी जिस मार्ग से बड़े वेग से गमन कर रहे थे, ॥ ७९ ॥

तेन मार्गेण सहसा द्रोणीकृत इवार्णवः ।
आपाते पक्षिसङ्घानां पक्षिराज इवाबभौ* ॥ ८० ॥

---

* पाठान्तरे—" इव व्रजन् । "

वह समुद्र का मार्ग मानों दोना ऐसा मालूम पड़ता था। आकाश में गमन करते हुए हनुमान जी गरुड़ की तरह जान पड़ते थे ॥ ८० ॥

हनूमान्मेघजालानि प्रकर्षन्मारुतो यथा ।
प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ॥ ८१ ॥

हनुमान जी वायु की तरह मेघ समूह को चीरते फाड़ते चले जाते थे। कभी तो वे बादल के भीतर छिप जाते थे और कभी वे बादल के बाहिर प्रकट हो जाते थे ॥ ८१ ॥

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव लक्ष्यते ।
पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमाञ्जिष्ठकानि च ॥ ८२ ॥

जब वे बादल के बाहिर आते तब वे घटा से निकले हुए चन्द्रमा की तरह जान पड़ते थे। सफेद, नीले, लाल और मंजीठ रंग के ॥ ८२ ॥

कपिनाकृष्यमाणानि महाभ्राणि चकाशिरे ।
प्लवमानं तु तं दृष्ट्वा प्लवगं त्वरितं तदा ॥ ८३ ॥

बड़े बड़े बादल, कपिप्रवर हनुमान जी से खींचे जाकर, ऐसे जान पड़ते थे, मानों वे पवन के द्वारा चालित हो रहे हों। हनुमान जी को बड़ी तेज़ी से समुद्र लाँघते देख ॥ ८३ ॥

ववृषुः पुष्पवर्षाणि देवगन्धर्वचारणाः* ।
तताप न हि तं सूर्यः प्लवन्तं वानरेश्वरम् ॥ ८४ ॥

देवताओं, गन्धर्वों, और चारणों ने उन पर फूलों की वर्षा की। सूर्यनारायण ने भी समुद्र लाँघते समय हनुमान जी को अपनी किरणों से सन्तप्त नहीं किया ॥ ८४ ॥

* पाठान्तरे—"दानवाः।"

सिषेवे च तदा वायू रामकार्यार्थसिद्धये ।
ऋषयस्तुष्टुवुश्चैनं प्लवमानं विहायसा ॥ ८५ ॥

और पवनदेव ने भी, श्रीरामचन्द्र जी के कार्य की सिद्धि के लिये, (जाते हुए) हनुमान जी का श्रम हरने के लिये, शीतल हो, मन्द गति से सञ्चार किया । आकाश मार्ग से जाते हुए हनुमान जी की ऋषियों ने स्तुति की ॥ ८५ ॥

[नोट—जो लोग लङ्का में हनुमान जी का जाना समुद्र तैर कर बतलाते हैं ; उनको इस श्लोक में प्रयुक्त " विहायसा " (आकाशमार्ग से) शब्द पर ध्यान देना चाहिये ।]

जगुश्च देवगन्धर्वाः प्रशंसन्तो महौजसम् ।
नागाश्च तुष्टुवुर्यक्षा रक्षांसि विविधानि च* ॥ ८६ ॥

महाबली हनुमान जी की देवता और गन्धर्व भी प्रशंसा कर रहे थे । विविध यक्ष, राक्षस और नाग सन्तुष्ट हो ॥ ८६ ॥

†प्रेक्ष्याकाशे कपिवरं सहसा विगतक्लमम् ।
तस्मिन्प्लवगशार्दूले प्लवमाने हनूमति ॥ ८७ ॥

आकाश में कपिश्रेष्ठ हनुमान को सहसा श्रमरहित जाते देख, प्रशंसा कर रहे थे । जिस समय हनुमान जी समुद्र के पार जाने लगे ॥ ८७ ॥

इक्ष्वाकुकुलमानार्थी चिन्तयामास सागरः ।
साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि नाहं हनूमतः ॥ ८८ ॥

---

* पाठान्तरे—" विबुधाः खगाः । " † पाठान्तरे—" प्रेक्ष्य सर्वे । "

तब समुद्र इक्ष्वाकुकुलोद्भव श्रीरघुनाथ जी का सम्मान करने की कामना से सोचने लगा कि, यदि इस समय मैं वानरश्रेष्ठ हनुमान जी की सहायता न ॥ ८८ ॥

करिष्यामि भविष्यामि [1]सर्ववाच्यो विवक्षताम् ।
अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः ॥ ८९ ॥

करूँगा तो मैं सब प्रकार से निन्द्य समझा जाऊँगा। क्योंकि मेरी उन्नति के करने वाले तो इक्ष्वाकुकुल के नाथ महाराज सगर ही थे ॥ ८९ ॥

इक्ष्वाकुसचिवश्चायं नावसीदितुमर्हति ।
तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः ॥ ९० ॥

यह हनुमान जी इक्ष्वाकुकुलोद्भव श्रीरामचन्द्र जी के मंत्री हैं। इनको किसी प्रकार का कष्ट न होना चाहिये। अतः मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे हनुमान जी को विश्राम मिले ॥ ९० ॥

शेषं च मयि विश्रान्तः सुखेनातिपतिष्यति ।
इति कृत्वा मतिं साध्वीं समुद्रश्छन्नमम्भसि ॥ ९१ ॥

मेरे द्वारा यह विश्राम कर समुद्र का शेष भाग सुखपूर्वक कूद जांय। इस प्रकार अपने मन में साधु सङ्कल्प निश्चय कर समुद्र जल से ढके हुए ॥ ९१ ॥

[2]हिरण्यनाभं मैनाकमुवाच गिरिसत्तमम् ।
त्वमिहासुरसङ्घानां पातालतलवासिनाम् ॥ ९२ ॥

---

१ सर्ववाच्यः—सर्वप्रकारेण निन्द्यः । (गो०) २ हिरण्यनाभ—हिरण्यशृङ्गं । (गो०)

और सुवर्ण की चोटी वाले गिरवर मैनाक पर्वत से बोले—हे मैनाक! पातालवासी असुरों को ॥ ६२ ॥

देवराज्ञा गिरिश्रेष्ठ परिघः सन्निवेशितः ।
त्वमेषां *ज्ञातवीर्याणां पुनरेवोत्पतिष्यताम् ॥ ९३ ॥

रोकने के लिये, इन्द्र ने तुमको यहाँ एक परिघ (अर्गल बेंड़ा) की तरह स्थापित कर रक्खा है। इन्द्र को इन दैत्यों का पराक्रम मालूम है। जिससे वे पुनः ऊपर न निकल आवें ॥ ६३ ॥

पातालस्याप्रमेयस्य द्वारमावृत्य तिष्ठसि ।
तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव शक्तिस्ते शैल वर्धितुम् ॥ ९४ ॥

इसीसे तुम असीम पाताल का द्वार रोके रहते हो। हे मैनाक! तुम सीधे तिरछे, ऊपर नीचे जैसे चाहो वैसे घट बढ़ सकते हो ॥६४॥

तस्मात्सञ्चोदयामि त्वामुत्तिष्ठ नगसत्तम ।
स एव कपिशार्दूलस्त्वामुपैष्यति †वीर्यवान् ॥ ९५ ॥

अतएव हे पर्वतोत्तम! मैं तुमसे कहता हूँ कि, तुम उठो। देखो ये बलवान हनुमान तुम्हारे ऊपर पहुँचना ही चाहते हैं ॥ ६५ ॥

हनूमान्रामकार्यार्थं भीमकर्मा खमाप्लुतः ।
अस्य साह्यं मया कार्यमिक्ष्वाकुहितवर्तिनः ॥ ९६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का काम करने के लिये, भयङ्कर कर्म करने वाले, हनुमान जी आकाशमार्ग से जा रहे हैं। मैं इक्ष्वाकुवंशियों का हितैषी हूँ। अतएव मेरा यह कर्त्तव्य है कि, मैं इनकी (हनुमान जी की) कुछ सहायता करूँ ॥ ६६ ॥

---

* पाठान्तरे—“ जातवीर्याणां । ” † पाठान्तरे—“ त्वामुपर्येति । ”

श्रमं च प्लवगेन्द्रस्य समीक्ष्योत्थातुमर्हसि ।
हिरण्यनाभो मैनाको निशम्य लवणाम्भसः ॥ ९७ ॥

तुम हनुमान जी के श्रम की ओर देख कर जल के ऊपर उठो । क्षारसमुद्र के ये वचन सुन, हिरण्यशृङ्ग मैनाक ॥ ९७ ॥

उत्पपात जलात्तूर्णं महाद्रुमलतायुतः ।
स सागरजलं भित्त्वा बभूवात्युत्थितस्तदा ॥ ९८ ॥

बड़े बड़े वृक्षों और लताओं से युक्त, जल के ऊपर तुरन्त निकल आया । उस समय वह सागर के जल को चीर कर वैसे ही ऊपर को उठा ॥ ९८ ॥

यथा जलधरं भित्त्वा दीप्तरश्मिर्दिवाकरः ।
स महात्मा मुहूर्तेन पर्वतः सलिलावृतः ॥ ९९ ॥
दर्शयामास शृङ्गाणि सागरेण नियोजितः ।
शातकुम्भमयैः शृङ्गैः सकिन्नरमहोरगैः ॥ १०० ॥

जैसे मेघों को चीर कर चमकते हुए सूर्यदेव उदय होते हैं । इस प्रकार समुद्र जल से ढके हुए उन महात्मा मैनाक पर्वत ने, समुद्र का कहना मान, एक मुहूर्त में, अपने वे शिखर पानी के ऊपर निकाल दिये जो सुवर्णमय और किन्नरों तथा बड़े बड़े उरगों द्वारा सेवित थे ॥ ९९ ॥ १०० ॥

आदित्योदयसङ्काशैरालिखद्भिरिवाम्बरम् ।
तप्तजाम्बूनदैः शृङ्गैः पर्वतस्य समुत्थितैः ॥ १०१ ॥

वे शिखर उदयकालीन प्रकाशमान सूर्य की तरह थे और आकाश को स्पर्श करते थे । उस पर्वत के तप्तसुवर्ण जैसी आभा वाले शिखरों के जल के ऊपर निकलने से ॥ १०१ ॥

आकाशं [1]शस्त्रसङ्काशमभवत्काञ्चनप्रभम् ।
जातरूपमयैः शृङ्गैर्भ्राजमानैः स्वयम्प्रभैः ॥ १०२ ॥
आदित्यशतसङ्काशः सोऽभवद्गिरिसत्तमः ।
तमुत्थितमसङ्गेन[2] हनुमानग्रतः स्थितम् ॥ १०३ ॥
मध्ये लवणतोयस्य विघ्नोऽयमिति निश्चितः ।
स तमुच्छ्रितमत्यर्थं महावेगो महाकपिः ॥ १०४ ॥

नीला आकाश सुवर्णमय देख पड़ने लगा। उस समय वह अपनी अत्यन्त प्रकाश युक्त सुनहले शिखरों की प्रभा से शोभायमान हुआ। उस समय सौ सूर्य की तरह उस पर्वतश्रेष्ठ मैनाक की शोभा हुई। विना विलंब किये समुद्र से निकल, आगे खड़े हुए तथा खारी समुद्र के बीच स्थित मैनाक पर्वत को देख, हनुमान जी ने अपने मन में यह निश्चित किया कि, यह एक विघ्न आ उपस्थित हुआ है। तब उस अत्यन्त ऊँचे उठे हुए मैनाक को हनुमान जी ने बड़े ज़ोर से ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

उरसा पातयामास जीमूतमिव मारुतः ।
स *तथा पातितस्तेन कपिना पर्वतोत्तमः ॥ १०५ ॥

अपनी छाती की ठोकर से वैसे ही हटा दिया जैसे पवनदेव, बादलों को हटा देते हैं। जब हनुमान जी ने उस गिरिश्रेष्ठ को हटा दिया या नीचे बैठा दिया ॥ १०५ ॥

बुद्ध्वा तस्य कपेर्वेगं जहर्ष च ननाद च ।
तमाकाशगतं वीरमाकाशे समवस्थितः ॥ १०६ ॥

---

१ शस्त्रसङ्काशं—नीलमित्यर्थः। (गो०) २ असंगेन—विलंबराहित्येन। (शि०) * पाठान्तरे—" तदा। "

प्रीतो हृष्टमना वाक्यमब्रवीत्पर्वतः कपिम्।
मानुषं धारयन्रूपमात्मनः शिखरे स्थितः॥ १०७॥

तब मैनाक, हनुमान जी के वेग का अनुभव कर, प्रसन्न हुआ और गर्जा। मैनाक पर्वत फिर आकाश की ओर उठा और आकाश स्थित वीर हनुमान जी से, प्रसन्न हो बड़ी प्रीति के साथ मनुष्य का रूप धारण कर तथा अपने शिखर पर खड़े हो कर बोला॥ १०६॥ ॥ १०७॥

दुष्करं कृतवान्कर्म त्वमिदं वानरोत्तम।
निपत्य मम शृङ्गेषु विश्रमस्व यथासुखम्॥ १०८॥

हे वानरोत्तम! यह तुम बड़ा ही कठिन काम करने को उद्यत हुए हो। अतः तुम मेरे शृङ्ग पर कुछ देर ठहर कर विश्राम कर लो। तदनन्तर तुम सुख पूर्वक आगे चले जाना॥ १०८॥

राघवस्य कुले जातैरुदधिः परिवर्धितः।
स त्वां रामहिते युक्तं प्रत्यर्चयति सागरः॥ १०९॥

इस समुद्र की वृद्धि श्रीरामचन्द्र जी के पूर्वपुरुषों द्वारा हुई है और तुम श्रीरामचन्द्र जी के हितसाधन में तत्पर हो, अतएव यह समुद्र आपका आतिथ्य सत्कार करना चाहता है १०९॥

कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः।
सोऽयं तत्प्रतिकारार्थी त्वत्तः सम्मानमर्हति॥ ११०॥

क्योंकि उपकार करने वाले का उपकार करना यह सनातन धर्म है। सो यह श्रीरामचन्द्र जी का प्रत्युपकार करना चाहता है। अतः तुमको समुद्र के सम्मान की रक्षा करनी चाहिये॥ ११०॥

त्वन्निमित्तमनेनाहं बहुमानात्प्रचोदितः ।
योजनानां शतं चापि कपिरेष खमाप्लुतः ॥ १११ ॥

तुम्हारा सत्कार करने के लिये समुद्र ने मेरा बहुत सा सम्मान कर मुझे यहाँ भेजा है। उन्होंने मुझसे कहा है कि, देखो यह कपि सौ योजन जाने के लिये आकाश में उड़े हैं ॥ १११ ॥

तव सानुषु विश्रान्तः शेषं प्रक्रमतामिति ।
तिष्ठ त्वं हरिशार्दूल मयि विश्रम्य गम्यताम् ॥ ११२ ॥

अतः हनुमान जी तुम्हारे शिखर पर विश्राम कर शेष मार्ग को पूरा करें। सो हे कपिशार्दूल ! तुम यहाँ ठहर कर विश्राम करो। तदनन्तर आगे चले जाना ॥ ११२ ॥

तदिदं गन्धवत्स्वादु कन्दमूलफलं बहु ।
तदास्वाद्य हरिश्रेष्ठ विश्रम्य श्वो गमिष्यसि ॥ ११३ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! मेरे वृक्षों से स्वादिष्ट और सुगन्ध युक्त बहुत से कन्दमूल फलों को खा कर विश्राम करो। कल सवेरे तुम चले जाना ॥ ११३ ॥

अस्माकमपि सम्बन्धः कपिमुख्य त्वयास्ति वै ।
प्रख्यातस्त्रिषु लोकेषु महागुणपरिग्रहः ॥ ११४ ॥

हे कपियों में प्रधान ! मेरा भी तुम्हारे साथ कुछ सम्बन्ध है, जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। तुम महागुण के ग्रहण करने वाले हो अर्थात् बड़े गुणी हो ॥ ११४ ॥

वेगवन्तः प्लवन्तो ये प्लवगा मारुतात्मज ।
तेषां मुख्यतमं मन्ये त्वामहं कपिकुञ्जर ॥ ११५ ॥

हे पवननन्दन ! इस लोक में जितने कूदने वाले वेगवान् वानर हैं, हे कपीश्वर ! उन सब में, मैं तुमको मुख्य समझता हूँ ॥ ११५ ॥

अतिथिः किल पूजार्हः प्राकृतोऽपि विजानता ।
धर्मं जिज्ञासमानेन किं *पुनर्यादृशो भवान् ॥ ११६ ॥

धर्म जिज्ञासुओं के लिये तो एक साधारण अतिथि भी पूज्य है, फिर आपके समान गुणी अतिथि का सत्कार करना तो मेरे लिये सर्वथा उचित ही है ॥ ११६ ॥

त्वं हि देववरिष्ठस्य मारुतस्य महात्मनः ।
पुत्रस्तस्यैव वेगेन सदृशः कपिकुञ्जर ॥ ११७ ॥

फिर तुम देवताओं में श्रेष्ठ महात्मा पवनदेव के पुत्र हो । हे कपिकुञ्जर ! वेग में भी तुम अपने पिता के समान ही हो ॥ ११७ ॥

पूजिते त्वयि धर्मज्ञ पूजां प्राप्नोति मारुतः ।
तस्मात्त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम् ॥११८॥

हे धर्मज्ञ ! तुम्हारी पूजा करने से मानों पवनदेव ही का पूजन हो गया । अतः तुम मेरे पूज्य हो । इसके अतिरिक्त और भी एक कारण तुम्हारे पूज्य होने का है । उसे भी तुम सुन लो ॥ ११८ ॥

पूर्वं कृतयुगे तात पर्वताः पक्षिणोऽभवन् ।
†तेऽभिजग्मुर्दिशः सर्वा गरुडानिलवेगिनः ॥ ११९ ॥

---

* पाठान्तरे—" पुनस्त्वादृशो महान् । " † पाठान्तरे—" ते हि । "

हे तात ! प्राचीन काल में सत्ययुग में सब पहाड़ों के पंख हुआ करते थे। वे पंखधारी पहाड़ गरुड़ जी की तरह बड़े वेग से चारों ओर उड़ा करते थे ॥ ११९ ॥

ततस्तेषु प्रयातेषु देवसङ्घाः सहर्षिभिः ।
भूतानि च भयं जग्मुस्तेषां पतनशङ्कया ॥ १२० ॥

पर्वतों को उड़ते देख, देवता, ऋषि तथा अन्य समस्त प्राणी उनके अपने ऊपर गिरने की शङ्का से डर गये ॥ १२० ॥

ततः क्रुद्धः सहस्राक्षः पर्वतानां शतक्रतुः ।
पक्षांश्चिच्छेद वज्रेण तत्र तत्र सहस्रशः ॥ १२१ ॥

तब हज़ार नेत्रों वाले इन्द्र ने कुपित हो, अपने वज्र से इधर उधर घूमने वाले हजारों पहाड़ों के पंख काट डाले ॥ १२१ ॥

स मामुपगतः क्रुद्धो वज्रमुद्यम्य देवराट् ।
ततोऽहं सहसाक्षिप्तः श्वसनेन महात्मना ॥ १२२ ॥

जब देवराज इन्द्र वज्र उठा कर मेरी ओर आये, तब महात्मा पवनदेव ने मुझको सहसा उठा कर फेंक दिया ॥ १२२ ॥

अस्मिँल्लवणतोये च प्रक्षिप्तः प्लवगोत्तम ।
गुप्तपक्षः समग्रश्च तव पित्राऽभिरक्षितः ॥ १२३ ॥

हे वानरोत्तम ! मुझे उन्होंने इस खारी समुद्र में उठा कर फेंक दिया। इस प्रकार तुम्हारे पिता पवनदेव ने मेरे समस्त पंखों की रक्षा की ॥ १२३ ॥

ततोऽहं मानयामि त्वां मान्यो हि मम मारुतः ।
त्वया मे ह्येष सम्बन्धः कपिमुख्य महागुणः ॥ १२४ ॥

हे पवननन्दन ! तुम्हारे साथ मेरा यही सम्बन्ध है । तुम एक तो मेरे पूज्य पवनदेव के पुत्र हो दूसरे कपियों में मुख्य और बड़े गुणवान होने के कारण मेरे मान्य हो, अतः मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ ॥ १२४ ॥

*अस्मिन्नेवंविधे कार्ये सागरस्य ममैव च ।
प्रीतिं प्रीतमनाः कर्तुं त्वमर्हसि महाकपे ॥ १२५ ॥

हे महाकपे ! तुम्हारे ऐसा करने पर मेरी और सागर की प्रीति और भी बढ़ेगी अथवा तुम्हारे ऐसा करने पर मैं और समुद्र बहुत प्रसन्न होंगे, अतः हे महाकपे ! तुम मेरा आतिथ्य ग्रहण कर मुझे प्रसन्न करो ॥ १२५ ॥

श्रमं †मोचय पूजां च गृहाण कपिसत्तम ।
प्रीतिं च बहुमन्यस्व प्रीतोऽस्मि तव दर्शनात् ॥ १२६ ॥

हे कपिसत्तम ! तुम अपना श्रम दूर कर, मेरा आतिथ्य ग्रहण कर मुझे प्रसन्न करो । तुम्हें देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १२६ ॥

एवमुक्तः कपिश्रेष्ठस्तं नगोत्तममब्रवीत् ।
प्रीतोऽस्मि कृतमातिथ्यं मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १२७ ॥

जब मैनाक ने इस प्रकार कहा तब कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने गिरिश्रेष्ठ मैनाक से कहा—मैं आपके अतिथ्य से प्रसन्न हूँ । आपने मेरा सत्कार किया, अब आप अपने मन में किसी प्रकार का खेद न करें ॥ १२७ ॥

---

* पाठान्तरे—" तस्मिन् । " † पाठान्तरे—" मोक्षय "

त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते ।
प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा ॥ १२८ ॥

एक तो मुझे कार्य करने की त्वरा है । दूसरे समय भी बहुत हो चुका है । तीसरे मैंने वानरों के सामने यह प्रतिज्ञा भी की है कि, मैं बीच में कहीं न ठहरूँगा ॥ १२८ ॥

इत्युक्त्वा पाणिना शैलमालभ्य हरिपुङ्गवः ।
जगामाकाशमाविश्य वीर्यवान्प्रहसन्निव ॥ १२९ ॥

यह कह कर कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने मैनाक को हाथ से छुआ । तदनन्तर पराक्रमी हनुमान हँसते हुए आकाश में उड़ चले ॥ १२९ ॥

स पर्वतसमुद्राभ्यां बहुमानादवेक्षितः ।
पूजितश्चोपपन्नाभिराशीर्भिरनिलात्मजः ॥ १३० ॥

तब तो समुद्र और मैनाक पर्वत ने हनुमान जी को बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा, उनको आशीर्वाद दिया और उनका अभिनन्दन किया ॥ १३० ॥

अथोर्ध्वं दूरमुत्पत्य हित्वा शैलमहार्णवौ ।
पितुः पन्थानमास्थाय जगाम विमलेऽम्बरे ॥ १३१ ॥

तदनन्तर हनुमान जी, मैनाक तथा समुद्र को छोड़, बहुत ऊँचे विमल आकाश में जा, पवन के मार्ग से उड़ कर जाने लगे ॥ १३१ ॥

*ततश्चोर्ध्वगतिं प्राप्य गिरिं तमवलोकयन् ।
वायुसूनुर्निरालम्बे जगाम विमलेऽम्बरे ॥ १३२ ॥

* पाठान्तरे "भूयश्चोर्ध्वगतिं ।"

हनुमान जी ने आकाश में पहुँच मैनाक की ओर देखा और फिर वे पवननन्दन निरालम्ब (बिना सहारे) विमल आकाश में उड़ चले ॥ १३२ ॥

[नोट—हनुमान जी का आकाश मार्ग से जाना पूर्व श्लोकों से स्पष्ट है ।]

*द्वितीयं हनुमत्कर्म दृष्ट्वा तत्र सुदुष्करम् ।
प्रशशंसुः सुराः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ १३३ ॥

हनुमान जी का यह दूसरा दुष्कर कार्य देख, सब देवता, सिद्ध और महर्षि गण उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १३३ ॥

देवताश्चाभवन्हृष्टास्तत्रस्थास्तस्य कर्मणा ।
काञ्चनस्य सुनाभस्य सहस्राक्षश्च वासवः ॥ १३४ ॥

उस समय वहाँ जो देवता उपस्थित थे वे तथा सहस्र नेत्र इन्द्र सुवर्णशृङ्ग वाले मैनाक के इस कार्य से उसके ऊपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १३४ ॥

†उवाच वचनं धीमान्परितोषात्सगद्गदम् ।
सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः ॥ १३५ ॥

शचीपति देवराज इन्द्र स्वयं सुवर्ण शृङ्गवाले पर्वतश्रेष्ठ मैनाक से प्रसन्न हो, गद्गद वाणी से बोले ॥ १३५ ॥

हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम् ।
अभयं ते प्रयच्छामि तिष्ठ सौम्य यथासुखम् ॥ १३६ ॥

हे सुवर्ण शिखरों वाले शैलेन्द्र ! मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हुआ । मैं तुझको अभयवर देता हूँ । तू अब जहाँ चाहे वहाँ सुखपूर्वक रह सकता है ॥ १३६ ॥

---

* पाठान्तरे—" तद्द्वितीयं हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम् । "

† पाठान्तरे—" श्रीमान् । "

साह्यं कृतं त्वया सौम्य विक्रान्तस्य हनूमतः ।
क्रमतो योजनशतं निर्भयस्य भये सति ॥ १३७ ॥

हे सौम्य ! भय रहते भी पराक्रमी हनुमान जी को निर्भीक हो सौ योजन समुद्र के पार जाते देख, तथा उनको बीच में विश्राम करने का अवसर दे तूने उनकी बड़ी सहायता की है ॥ १३७ ॥

रामस्यैष हि दौत्येन याति दाशरथेर्हरिः ।
सत्क्रियां कुर्वता तस्य तोषितोऽस्मि भृशं त्वया ॥ १३८ ॥

ये हनुमान जी, श्रीरामचन्द्र जी के दूत बन कर जा रहे हैं। इनका तूने जो सत्कार किया, इससे मैं तेरे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ ॥ १३८ ॥

ततः प्रहर्षमगमद्विपुलं पर्वतोत्तमः ।
देवतानां पतिं दृष्ट्वा परितुष्टं शतक्रतुम् ॥ १३९ ॥

तब तो गिरिश्रेष्ठ मैनाक, देवराज इन्द्र को अपने ऊपर प्रसन्न देख, बहुत प्रसन्न हुआ ॥ १३९ ॥

स वै दत्तवरः शैलो बभूवावस्थितस्तदा ।
हनूमांश्च मुहूर्तेन व्यतिचक्राम सागरम् ॥ १४० ॥

इन्द्र से अभयदान प्राप्त कर, मैनाक सुस्थिर हुआ। उधर हनुमान जी भी मैनाक अधिकृत समुद्र के भाग को मुहूर्त्त मात्र में पार कर गये ॥ १४० ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अब्रुवन्सूर्यसङ्काशां सुरसां नागमातरम् ॥ १४१ ॥

तब तो देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियों ने सूर्य के समान प्रकाश वाली नागों की माता सुरसा से कहा ॥ १४१ ॥

अयं वातात्मजः श्रीमान्प्लवते सागरोपरि ।
हनूमान्नाम तस्य त्वं मुहूर्तं विघ्नमाचर ॥ १४२ ॥

पवननन्दन हनुमान जी समुद्र के पार जाने के लिये आकाश मार्ग से चले जा रहे हैं । अतः तुम उनके गमन में एक मुहूर्त्त के लिये विघ्न डालो ॥ १४२ ॥

राक्षसं रूपमास्थाय सुघोरं पर्वतोपमम् ।
दंष्ट्राकरालं पिङ्गाक्षं वक्त्रं कृत्वा नभःसमम् ॥ १४३ ॥

अतः तुम अति भयङ्कर पर्वत के समान बड़ा राक्षस का रूप धर कर पीले नेत्रों सहित भयङ्कर दाँतों से युक्त अपना मुख बना कर इतनी बढ़ो कि आकाश छू लो ॥ १४३ ॥

बलमिच्छामहे ज्ञातुं भूयश्चास्य पराक्रमम् ।
त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति ॥ १४४ ॥

क्योंकि हम सब हनुमान जी के बल और पराक्रम को परीक्षा लेना चाहते हैं । या तो हनुमान तुमको किसी उपाय से जीत लेंगे अथवा दुःखी हो कर चले जायगे ॥ १४४ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी दैवतैरभिसत्कृता ।
समुद्रमध्ये सुरसा बिभ्रती राक्षसं वपुः ॥ १४५ ॥

जब देवताओं ने सुरसा से आदर पूर्वक इस प्रकार कहा, तब सुरसा राक्षसी का रूप धर समुद्र के बीच जा खड़ी हुई ॥ १४५ ॥

विकृतं च विरूपं च सर्वस्य च भयावहम् ।
प्लवमानं हनूमन्तमावृत्येदमुवाच ह ॥ १४६ ॥

उस समय का सुरसा का रूप ऐसा विकट और भयङ्कर था कि, जिसे देख सब को डर लगता था। सुरसा, समुद्र के पार जाते हुए हनुमान जी का रास्ता छेक कर उनसे कहने लगी ॥ १४६ ॥

मम भक्ष्यः प्रदिष्टस्त्वमीश्वरैर्वानरर्षभ ।
अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम् ॥ १४७ ॥

हे वानरश्रेष्ठ! देवताओं ने तुझको मेरा भक्ष्य बनाया है। इसलिये मैं तुझको खा जाऊँगी। आ तू अब मेरे मुख में घुस ॥ १४७ ॥

एवमुक्तः सुरसया प्राञ्जलिर्वानरर्षभः ।
प्रहृष्टवदनः *श्रीमान्सुरसां वाक्यमब्रवीत् ॥ १४८ ॥

सुरसा के इस प्रकार कहने पर हनुमान जी ने प्रसन्न हो कर सुरसा से कहा ॥ १४८ ॥

रामो †दाशरथिः श्रीमान्प्रविष्टो दण्डकावनम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया ॥ १४९ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी अपने भाई लक्ष्मण और भार्या सीता के साथ दण्डकारण्य में आये ॥ १४९ ॥

[1]अन्यकार्यविषक्तस्य बद्धवैरस्य राक्षसैः ।
तस्य सीता हृता भार्या रावणेन तपस्विनी ॥ १५० ॥

---

१ अन्यकार्यविषक्तस्य—मारीचमृगग्रहण व्यासक्तस्य । (गो०)
* पाठान्तरे—"श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ।" † पाठान्तरे—"दाशरथिर्नाम ।"

और कारणान्तर से उनसे और राक्षसों से परस्पर शत्रुता हो गयी। इससे रावण उनकी तपस्विनी भार्या सीता को हर कर ले गया॥ १५०॥

तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात्।
कर्तुमर्हसि रामस्य साह्यं विषयवासिनी॥ १५१॥

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से मैं सीता जी के पास दूत बन कर जा रहा हूँ। तुम श्रीरामचन्द्र जी के राज्य में बसने वाली हो, अतः तुम्हें तो मेरी सहायता करनी चाहिये॥ १५१॥

अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम्।
आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिश्रृणोमि ते॥ १५२॥

अथवा जब मैं सीता को देख, अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी को उनका समाचार दे आऊँ तब मैं तुम्हारे मुख में आकर प्रवेश करूँगा। मैं यह तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ॥ १५२॥

एवमुक्ता हनुमता सुरसा कामरूपिणी।
तं प्रयान्तं समुद्वीक्ष्य सुरसा वाक्यमब्रवीत्॥ १५३॥

जब हनुमान जी ने इस प्रकार उससे कहा, तब वह कामरूपिणी सुरसा हनुमान जी को जाते देख, उनसे बोली॥ १५३॥

बलं जिज्ञासमाना वै नागमाता हनूमतः।
हनूमान्नातिवर्तेन्मां कश्चिदेष वरो मम॥ १५४॥

हनुमान जी के बल की परीक्षा लेती हुई नागमाता बोली कि, हे हनुमान! मुझको ब्रह्मा जी ने यह वर दे रखा है कि, मेरे आगे से कोई जीता जागता नहीं जा सकता॥ १५४॥

प्रविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम ।
वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा ॥ १५५ ॥

हे वानरोत्तम ! पहिले तुम मेरे मुख में प्रवेश करो, फिर तुरन्त चले जाना। विधाता ने मुझे पूर्वकाल में यही वरदान दिया है ॥ १५५ ॥

व्यादाय वक्त्रं विपुलं स्थिता सा मारुतेः पुरः ।
एवमुक्तः सुरसया क्रुद्धो वानरपुङ्गवः ॥ १५६ ॥

यह कह कर नागमाता सुरसा, अपना बड़ा भारी मुख फैला, हनुमान जी के सामने खड़ी हो गयी। सुरसा के ऐसे वचन सुन कपिश्रेष्ठ हनुमान जी क्रुद्ध हुए ॥ १५६ ॥

अब्रवीत्कुरु वै वक्त्रं येन मां विषहिष्यसे ।
इत्युक्त्वा सुरसां क्रुद्धा दशयोजनमायता* ॥ १५७ ॥

हनुमान जी ने उससे कहा कि, तू अपना मुख उतना बड़ा फैला जिसमें कि मैं समा सकूँ। यह सुन सुरसा ने क्रुद्ध हो अपना मुख दस योजन फैलाया ॥ १५७ ॥

दशयोजनविस्तारो बभूव हनुमांस्तदा ।
तं दृष्ट्वा मेघसङ्काशं दशयोजनमायतम् ॥ १५८ ॥

तब हनुमान जी ने भी अपना शरीर दस योजन का कर लिया। तब हनुमान जी के शरीर को मेघ के समान दस योजन लंबा देख ॥ १५८ ॥

---

* पाठान्तरे—" इत्युक्त्वा सुरसां क्रुद्धो दशयोजनमायताम् ।

चकार *सुरसाप्यास्यं विंशद्योजनमायतम् ।
ततः परं हनूमांस्तु त्रिंशद्योजनमायतः ॥ १५९ ॥

सुरसा ने अपना मुख बीस योजन का कर लिया। तब हनुमान जी ने अपना शरीर तीस योजन लंबा कर लिया ॥ १५९ ॥

चकार सुरसा वक्त्रं चत्वारिंशत्तथायतम् ।
बभूव हनूमान्वीरः पञ्चाशद्योजनोच्छ्रितः ॥ १६० ॥

तब सुरसा ने अपना मुख चालीस योजन चौड़ा कर लिया। इस पर हनुमान जी ने अपना शरीर पचास योजन ऊँचा कर लिया ॥ १६० ॥

चकार सुरसा वक्त्रं षष्टियोजनमायतम् ।
तथैव हनुमान्वीरः सप्ततीयोजनोच्छ्रितः ॥ १६१ ॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख साठ योजन चौड़ा किया, तब हनुमान जी सत्तर योजन के हो गये ॥ १६१ ॥

चकार सुरसा वक्त्रमशीतीयोजनायतम् ।
†हनूमानचलप्रख्यो नवतीयोजनोच्छ्रितः ॥ १६२ ॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख अस्सी योजन का कर लिया तब हनुमान जी वृहदाकार पर्वत की तरह नब्बे योजन लंबे हो गये ॥ १६२ ॥

चकार सुरसा वक्त्रं शतयोजनमायतम् ।
तद्दृष्ट्वा व्यादितं चास्यं वायुपुत्रः सुबुद्धिमान् ॥१६३॥

---

* पाठान्तरे—"सुरसा चास्यं ।" † पाठान्तरे—"त्वास्य ।"

दीर्घजिह्वं सुरसया सुघोरं नरकोपमम् ।
स संक्षिप्यात्मनः कायं जीमूत इव मारुतिः ॥ १६४ ॥
तन्मुहूर्ते हनुमान्बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः ।
सोऽभिपत्याशु तद्वक्त्रं निष्पत्य च महाबलः* ॥१६५॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख सौ योजन फैलाया; तब बुद्धिमान् वायुनन्दन हनुमान जी ने उसके उस सौ योजन फैले हुए बड़ी जिह्वा से युक्त, भयङ्कर और नरक की तरह मुख को देख, मेघ की तरह अपने शरीर को समेटा और वे तत्क्षण अंगूठे के बराबर छोटे शरीर वाले हो गये। तदनन्तर वे महाबली उसके मुख में प्रवेश कर तुरन्त बाहिर निकल आये ॥ १६३ ॥ १६४ ॥ १६५ ॥

अन्तरिक्षे स्थितः श्रीमान्प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
प्रविष्टोऽस्मि हि ते वक्त्रं दाक्षायणि नमोस्तु ते ॥ १६६ ॥

और आकाश में खड़े हो हँसते हुए यह बोले—हे दाक्षायणि! तुझको नमस्कार है। मैं तेरे मुख में प्रवेश कर चुका ॥ १६६ ॥

गमिष्ये यत्र वैदेही सत्यश्चास्तु वरस्तव ।
तं दृष्ट्वा वदनान्मुक्तं चन्द्रं राहुमुखादिव ॥ १६७ ॥

तेरा वरदान सत्य हो गया। अब मैं वहाँ जाता हूँ, जहाँ सीता जी हैं। राहु के मुख से चन्द्रमा के समान, हनुमान जी को अपने मुख से निकला हुआ देख, ॥ १६७ ॥

अब्रवीत्सुरसा देवी स्वेन रूपेण वानरम् ।
अर्थसिद्ध्यै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥१६८॥

---

* पाठान्तरे—" महाजवः । "

सुरसा अपना रूप धारण कर हनुमान जी से बोली—हे कपि-श्रेष्ठ! तुम अपना कार्य सिद्ध करने के लिये जहाँ चाहो तहाँ जाओ ॥ १६८ ॥

समानय त्वं वैदेहीं राघवेण महात्मना ।
तत्तृतीयं हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १६९ ॥

और महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से सीता को लाकर मिला दो। हनुमान जी का यह तीसरा दुष्कर कर्म देख, ॥ १६९ ॥

साधु साध्विति भूतानि प्रशशंसुस्तदा हरिम् ।
स सागरमनाधृष्यमभ्येत्य वरुणालयम् ॥ १७० ॥

जगामाकाशमाविश्य वेगेन गरुडोपमः ।
सेविते वारिधाराभिः पन्नगैश्च निषेविते ॥ १७१ ॥

"साधु साधु" कह कर सब लोग हनुमान जी की प्रशंसा करने लगे। तदनन्तर हनुमान जी वरुणालय समुद्र के ऊपर, आकाशमार्ग से गरुड़ की तरह बड़े वेग से जाने लगे। वह आकाशमार्ग जलधारा से युक्त, पक्षियों से सेवित था ॥ १७० ॥ ॥ १७१ ॥

चरिते [1]कैशिकाचार्यैरैरावतनिषेविते ।
सिंहकुञ्जरशार्दूलपतगोरगवाहनैः ॥ १७२ ॥

विमानैः सम्पतद्भिश्च विमलैः समलङ्कृते ।
वज्राशनिसमाघातैः पावकैरुपशोभिते ॥ १७३ ॥

---

१ कैशिकाचार्यैः—कैशिकेरागविशेषे आचार्यैः विद्याधरविशेषैरित्यर्थः ।

तुम्बुरु आदि विद्याधरों से सेवित, ऐरावत सहित, सिंह, गजेन्द्र, शार्दूल, पक्षी और सर्प आदि वाहनों से युक्त निर्मल विमानों से भूषित; वज्र के तुल्य स्पर्श वाले, अग्नि तुल्य ॥ १७२ ॥ १७३ ॥

कृतपुण्यैर्महाभागैः स्वर्गजिद्भिरलङ्कृते ।
वहता हव्यमत्यर्थं सेविते [1]चित्रभानुना ॥ १७४ ॥

ग्रहनक्षत्रचन्द्रार्कतारागणविभूषिते ।
महर्षिगणगन्धर्वनागयक्षसमाकुले ॥ १७५ ॥

विविक्ते विमले विश्वे विश्वावसुनिषेविते ।
देवराजगजाक्रान्ते चन्द्रसूर्यपथे शिवे ॥ १७६ ॥

पुण्यात्मा महाभाग स्वर्ग को जीतने वालों से शोभित, सदा ही हव्य को लिये हुए अग्नि, ग्रह, सूर्य और तारागण से सेवित; महर्षि, गन्धर्व, नाग और यक्षों से पूर्ण, एकान्त, विमल, विशाल और विश्वावसु गन्धर्व से सेवित, इन्द्र के ऐरावत गज से रोंदा हुआ; चन्द्रमा और सूर्य का सुन्दर मार्ग ॥ १७४ ॥ १७५ ॥ १७६ ॥

विताने जीवलोकस्य विमले ब्रह्मनिर्मिते ।
बहुशः सेविते वीरैर्विद्याधरगणैर्वरैः ॥ १७७ ॥

जीवलोक का चँदोवा रूपी इस स्वच्छ मार्ग को ब्रह्मा जी ने बनाया है। इस मार्ग का सेवन अनेक वीर और श्रेष्ठ विद्याधर गण किया करते हैं ॥ १७७ ॥

जगाम वायुमार्गे च गरुत्मानिव मारुतिः ।
[हनूमान्मेघजालानि प्रकर्षन्मारुतो यथा ॥ १७८ ॥

---

1 चित्रभानुना—वह्निना । (गो०)

ऐसे वायुमार्ग से पवनकुमार हनुमान जी गरुड़ जी की तरह बड़ी तेज़ी के साथ, उड़े चले जाते थे। जाते हुए वे मेघों को चीरते हुए चले जाते थे ॥ १७८ ॥

कालागुरुसवर्णानि रक्तपीतसितानि च ।
कपिनाऽऽकृष्यमाणानि महाभ्राणि चकाशिरे ॥ १७९ ॥

काले, अगर की तरह लाल, पीले और सफेद रंग के बड़े बड़े बादल कपिश्रेष्ठ हनुमान जी द्वारा खींचे जाकर अत्यन्त शोभा को प्राप्त होते थे ॥ १७६ ॥

प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ।
प्रावृषीन्दुरिवाभाति निष्पतन्प्रविशंस्तदा ॥ १८० ॥

प्रदृश्यमानः सर्वत्र हनुमान्मारुतात्मजः ।
भेजेऽम्बरं निरालम्बं लम्बपक्ष इवाद्रिराट् ॥ १८१ ॥

हनुमान जी कभी तो मेघों के पीछे छिप जाते और कभी बाहिर निकल आते थे। उनके बारंबार मेघों में छिपने और निकलने से वे वर्षा कालीन चन्द्रमा की तरह सर्वत्र सब को देख पड़ते थे। हनुमान जी पंख लटकाये पर्वतश्रेष्ठ की तरह निराधार मार्ग में देख पड़ते थे ॥ १८० ॥ १८१ ॥

प्लवमानं तु तं दृष्ट्वा सिंहिका नाम राक्षसी ।
मनसा चिन्तयामास प्रवृद्धा कामरूपिणी ॥ १८२ ॥

इनको आकाश-मार्ग से जाते देख सिंहिका नाम राक्षसी, जो समुद्र में रहती थी और जो बहुत बूढ़ी हो चुकी थी तथा जो इच्छानुसार तरह तरह के रूप धारण कर सकती थी अपने मन में विचारने लगी कि, ॥ १८२ ॥

अद्य दीर्घस्य कालस्य भविष्याम्यहमाशिता ।
इदं हि मे महत्सत्त्वं चिरस्य वशमागतम् ॥ १८३ ॥

आहा आज मुझे बहुत दिनों बाद भोजन मिलेगा । क्योंकि आज यह विशालकाय जीव बहुत दिनों बाद मेरे हाथ लगा है ॥ १८३ ॥

इति संचिन्त्य मनसा छायामस्य समाक्षिपत् ।
छायायां संगृहीतायां* चिन्तयामास वानरः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार विचार, सिंहिका ने हनुमान जी की परछाईं पकड़ी । छाईं पकड़ जाने पर हनुमान जी विचारने लगे ॥ १८४ ॥

समाक्षिप्तोऽस्मि सहसा पङ्गूकृतपराक्रमः ।
प्रतिलोमेन वातेन महानौरिव सागरे ॥ १८५ ॥

अचानक पकड़ जाने से मेरा पराक्रम शिथिल हो गया । इस समय मेरी दशा तो समुद्र में पड़ी और प्रतिकूल वायु से रुकी हुई बड़ी नाव की तरह हो रही है ॥ १८५ ॥

तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव वीक्षमाणः समन्ततः† ।
ददर्श स महासत्त्वमुत्थितं लवणाम्भसि ॥ १८६ ॥

इस प्रकार सोच, हनुमान जी अगल बगल, ऊपर नीचे देखने लगे । तब उन्होंने देखा कि, खारी समुद्र में कोई एक बड़ा भारी जन्तु उतरा रहा है ॥ १८६ ॥

---

* पाठान्तरे—" गृह्यमाणायां । " † पाठान्तरे—" ततः कपिः । "

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास मारुतिर्विकृताननाम् ।
कपिराज्ञा यदाख्यातं सत्त्वमद्भुतदर्शनम् ॥ १८७ ॥
छायाग्राहि महावीर्यं तदिदं नात्र संशयः ।
स तां बुद्ध्वाऽर्थतत्त्वेन सिंहिकां मतिमान्कपिः ॥ १८८ ॥
व्यवर्धत महाकायः प्रावृषीव बलाहकः ।
तस्य सा कायमुद्वीक्ष्य वर्धमानं महाकपेः ॥ १८९ ॥

उस विकराल मुख वाले जन्तु को देख जब हनुमानजी ने अपने मन में विचार किया, तब इन्हें कपिराज सुग्रीव की बात याद पड़ी और उन्होंने निश्चय किया कि, अद्भुत सूरत वाला और छाया पकड़ने वाला महाबली जीव निस्सन्देह यही है। इस प्रकार उसके कर्म को देख, बुद्धिमान् हनुमान जी उस सिंहिका को पहचान कर वर्षाकाल के बादल की तरह बढ़े। जब सिंहिका ने हनुमान के शरीर को बढ़ता हुआ देखा ॥ १८७ ॥ १८८ ॥ १८९ ॥

वक्त्रं प्रसारयामास पातालतलसन्निभम् ।
घनराजीव गर्जन्ती वानरं समभिद्रवत् ॥ १९० ॥

तब उसने पाताल की तरह अपना मुख फैलाया और वह बादल की तरह गर्जती हुई हनुमान जी की ओर दौड़ी ॥ १९० ॥

स ददर्श ततस्तस्या विवृतं सुमहन्मुखम् ।
[1]कायमात्रं च मेधावी मर्माणि च महाकपिः ॥ १९१ ॥

तब हनुमान जी ने उसके भयङ्कर और विशाल मुख को और उसके शरीर की लंबाई चौड़ाई तथा शरीर के मर्मस्थलों को भलीभाँति देखा भाला ॥ १९१ ॥

---

१ कायमात्रं—देहप्रमाणं । (गो०)

स तस्या विवृते वक्त्रे वज्रसंहननः कपि ।
संक्षिप्य मुहुरात्मानं निष्पपात महाबलः ॥ १९२ ॥

महाबली और वज्र के समान दृढ़ शरीर वाले हनुमान जी ने, अपना शरीर अत्यन्त कृश कर लिया और वे उसके बड़े मुख में घुस गये ॥ १९२ ॥

आस्ये तस्या निमज्जन्तं ददृशुः सिद्धचारणाः ।
ग्रस्यमानं यथा चन्द्रं पूर्णं पर्वणि राहुणा ॥ १९३ ॥

उस समय सिद्धों और चारणों ने हनुमान जी को सिंहिका के मुख में गिरते हुए देखा। जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा, राहु से ग्रसा जाता है, उसी प्रकार हनुमान जी भी सिंहिका द्वारा ग्रसे गये ॥ १९३ ॥

ततस्तस्या नखैस्तीक्ष्णैर्मर्माण्युत्कृत्य वानरः ।
उत्पपाताथ वेगेन [1]मनःसम्पातविक्रमः ॥ १९४ ॥

हनुमान जी ने सिंहिका के मुख में जा, अपने पैने नखों से उसके मर्मस्थल चीर फाड़ डाले और मन के समान शीघ्र वेग से वे वहाँ से निकल कर, फिर ऊपर चले गये ॥ १९४ ॥

तां तु [2]दृष्ट्या च धृत्या च दाक्षिण्येन निपात्य हि ।
स कपिप्रवरो वेगाद्ववृधे पुनरात्मवान् ॥ १९५ ॥

इस प्रकार से हनुमान जी ने उसे दूर ही से देख कर, धैर्य और चतुराई से मार गिराया। तदनन्तर उन्होंने पुनः अपना शरीर पूर्ववत् बड़ा कर लिया ॥ १९५ ॥

---

१ मनःसम्पातविक्रमः—मनोवेगतुल्यगतिः । (गो०) २ दृष्ट्या—देव दर्शनेन । (गो०)

हृतहृत्सा हनुमता पपात [1]विधुराम्भसि ।
तां हतां वानरेणाशु पतितां वीक्ष्य सिंहिकाम् ॥१९६॥

वह राक्षसी हृदय के फट जाने से आर्त्त हो, समुद्र के जल में डूब गयी। हनुमान जी द्वारा बात की बात में मार कर गिरायी गयी सिंहिका को देख ॥ १६६ ॥

भूतान्याकाशचारीणि तमूचुः प्लवगर्षभम् ।
भीममद्य कृतं कर्म महत्सत्त्वं त्वया हतम् ॥ १९७ ॥

आकाशचारी प्राणियों ने हनुमान जी से कहा। तुमने जो इस बड़े जन्तु को मारा सो आज तुमने बड़ा भयङ्कर काम कर डाला ॥ १६७ ॥

साधयार्थमभिप्रेतमरिष्टं गच्छ मारुते ।
यस्य त्वेतानि चत्वारि वानरेन्द्र यथा तव ॥ १९८ ॥
धृतिर्दृष्टिर्मतिर्दाक्ष्यं स कर्मसु न सीदति ।
स तैः सम्भावितः पूज्यैः प्रतिपन्नप्रयोजनः ॥ १९९ ॥

अब तुम निर्विघ्न हो अपना अपना कार्य सिद्ध करो। हे वानरेन्द्र! तुम्हारी तरह जिसमें, धीरता, सूक्ष्मदृष्टि, बुद्धि और चतुराई ये चार गुण होते हैं, वह कभी किसी काम के करने में नहीं घबड़ाता। ये चारों गुण तुममें मौजूद हैं। पूज्य हनुमान जी उन प्राणियों से पूजित और अपने कार्य की सिद्धि के विषय में निश्चित से हो ॥ १६८ ॥ १६६ ॥

जगामाकाशमाविश्य पन्नगाशनवत्कपिः ।
प्राप्तभूयिष्ठपारस्तु सर्वतः प्रतिलोकयन् ॥ २०० ॥

---

1 विधुरा—आर्ता। (गो०)

गरुड़ की तरह बड़े वेग से आकाश में उड़ने लगे और समुद्र के दूसरे तट के निकट पहुँच चारों ओर देखने लगे ॥ २०० ॥

योजनानां शतस्यान्ते वनराजिं ददर्श सः ।
ददर्श च पतन्नेव विविधद्रुमभूषितम् ॥ २०१ ॥

तब उन्हें वहाँ से सौ योजन के फासले पर बड़ा भारी एक जंगल देख पड़ा । जाते जाते उन्होंने विविध वृक्षों से भूषित ॥ २०१ ॥

द्वीपं शाखामृगश्रेष्ठो मलयोपवनानि च ।
सागरं सागरानूपं सागरानूपजान्द्रुमान् ॥ २०२ ॥

द्वीप (टापू), और मलयागिरि के उपवनों को देखा । उन्होंने सागर और सागर का तट और सागरतट पर लगे हुए पेड़ों को ॥ २०२ ॥

सागरस्य च पत्नीनां मुखान्यपि विलोकयन् ।
स महामेघसङ्काशं समीक्ष्यात्मानमात्मवान् ॥ २०३ ॥
निरुन्धन्तमिवाकाशं चकार मतिमान्मतिम् ।
कायवृद्धिं प्रवेगं च मम दृष्ट्वैव राक्षसाः ॥ २०४ ॥

तथा सागर की पत्नी अर्थात् नदियों को और नदियों के और समुद्र के संगमस्थानों को (भी) देखा । बुद्धिमान् हनुमान जी ने महामेघ के समान अपने शरीर को जो आकाश को ढके हुए था, देख कर अपने मन में विचारा कि, मेरा यह बड़ा शरीर और मेरा वेग देख कर राक्षस लोग ॥ २०३ ॥ २०४ ॥

मयि कौतूहलं कुर्युरिति मेने महाकपिः ।
ततः शरीरं संक्षिप्य तन्महीधरसन्निभम् ॥ २०५ ॥

पुनः [1]प्रकृतिमापेदे वीतमोह [2]इवात्मवान् ।
तद्रूपमतिसंक्षिप्य[3] हनूमान्प्रकृतौ स्थितः ।
त्रीन्क्रमानिव विक्रम्य बलिवीर्यहरो हरिः ॥ २०६ ॥

मुझे एक खेल की वस्तु समझेंगे । यह विचार उन्होंने अपने पर्वताकार शरीर को अति छोटा कर लिया। उन्होंने काम-मोहादिविहीन जीवन्मुक योगी की तरह पुनः अपना लघुरूप जा सदा बना रहता था, वैसे ही धारण कर लिया ; जैसे भगवान् वामन ने बलि को छलने के समय अपने शरीर को बढ़ा कर, पुनः छोटा कर लिया था ॥ २०५ ॥ २०६ ॥

स चारुनानाविधरूपधारी
परं समासाद्य समुद्रतीरम् ।
परैरशक्यः प्रतिपन्नरूपः
समीक्षितात्मा समवेक्षितार्थः ॥ २०७ ॥

विविध मनोहर रूप धारण करने वाले हनुमान जी ने दूसरे द्वारा न पार जाने योग्य समुद्र के पार पहुँच कर, और आगे के कर्त्तव्य का भली भाँति विचार कर, अपना कार्य सिद्ध करने के लिये अत्यन्त छोटा रूप धारण किया ॥ २०७ ॥

ततः स लम्बस्य गिरेः समृद्धे
विचित्रकूटे निपपात कूटे ।
सकेतकोद्दालकनारिकेले
महाद्रिकूटप्रतिमो महात्मा ॥ २०८ ॥

---

१ प्रकृतिं—नित्यानन्दस्वभावमिव । (शि०) २ आत्मवान्—योगीशरीरं (शि०) ३ संक्षिप्य—तिरस्कृत्य । (शि०)

तदनन्तर समुद्रतट से हनुमान जी लम्ब नामक पर्वत के ऊपर गये। उस लम्बपर्वत पर केतकी, उद्दालक, नारियल आदि के अनेक फले फूले वृक्ष लगे हुए थे। इस पर्वत के शिखर भी बड़े सुन्दर थे। उन्हीं सुन्दर शिखरों में से एक शिखर पर हनुमान जी जा कर ठहरे ॥ २०८ ॥

ततस्तु सम्प्राप्य समुद्रतीरं
समीक्ष्य लङ्कां गिरिराजमूर्ध्नि ।
कपिस्तु तस्मिन्निपपात पर्वते
विधूय रूपं व्यथयन्मृगद्विजान् ॥ २०९ ॥

हनुमान जी, समुद्र तीरवर्ती त्रिकूटपर्वत के शिखर पर बसी हुई लङ्का को देख और अपने पूर्वरूप को त्याग तथा वहाँ के पशुपक्षियों को डराते हुए, लम्ब गिरि नामक पर्वत पर उतरे ॥२०९॥

स सागरं दानवपन्नगायुतं
बलेन विक्रम्य महोर्मिमालिनम् ।
निपत्य तीरे च महोदधेस्तदा
ददर्श लङ्काममरावतीमिव ॥ २१० ॥

॥ इति प्रथमः सर्गः ॥

दानवों और सर्पों से व्याप्त और महातरङ्गों से युक्त महासागर को अपने बल पराक्रम से नांघ कर और उसके तट पर पहुँच कर, अमरावती के समान लङ्कापुरी को हनुमान जी ने देखा ॥ २१० ॥

सुन्दरकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्वितीयः सर्गः

—※—

स सागरमनाधृष्यमतिक्रम्य महाबलः ।
त्रिकूट शिखरेलङ्कां स्थितां स्वस्थो ददर्श ह ॥ १ ॥

अपने वल पराक्रम से महावली हनुमान जी ने अपार समुद्र को नांघ कर और सावधान होकर, त्रिकूटपर्वत पर वसी हुई लङ्कापुरी को देखा ॥ १ ॥

ततः पादपमुक्तेन पुष्पवर्षेण वीर्यवान् ।
अभिवृष्टः स्थितस्तत्र बभौ पुष्पमयो यथा ॥ २ ॥

उस पर्वत पर जो फूले हुए वृत्त थे, वे पवन के वेग से हिलने लगे । उनके हिलने से फूल टूट टूट कर गिरने लगे, उन वृक्षों की पुष्प वर्षा से वीर्यवान हनुमान जी मानों पुष्पमय हो गये ॥ २ ॥

योजनानां शतं श्रीमांस्तीर्त्वाप्यमितविक्रमः ।
अनिःश्वसन्कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति ॥ ३ ॥

शोभावान् एवं अमित विक्रमशाली हनुमान जी इतने चौड़े अर्थात् १०० योजन के समुद्र को फांद आये, किन्तु न तो उन्होंने वीच में कहीं दम ली और न उनके मन में ग्लानि ही उपजी ॥ ३ ॥

शतान्यहं योजनानां क्रमेयं सुबहून्यपि ।
किं पुनः सागरस्यान्तं संख्यातं शतयोजनम् ॥ ४ ॥

हनुमान जी मन ही मन कहने लगे कि, इस शत योजन मर्यादा वाले समुद्र की तो वात ही क्या है; मैं तो वहुत से और सैकड़ों योजन मर्यादा वाले समुद्रों को फांद सकता हूँ ॥ ४ ॥

स तु वीर्यवतां श्रेष्ठः प्लवतामपि चोत्तमः ।
जगाम वेगवाँल्लङ्कां लङ्घयित्वा महोदधिम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार मन ही मन सोचते विचारते श्रेष्ठ वीर्यवान्, कपियों में मुख्य, महावेगवान् हनुमान जी समुद्र को फांद कर लङ्का में गये ॥ ५ ॥

शाद्वलानि च नीलानि गन्धवन्ति वनानि च ।
*पुष्पवन्ति च मध्येन जगाम नगवन्ति च ॥ ६ ॥
शैलांश्च †तरुभिश्छन्नान्वनराजीश्च पुष्पिताः ।
अभिचक्राम तेजस्वी हनुमान्प्लवगर्षभः ॥ ७ ॥

वानरोत्तम तेजस्वी हनुमान जी, रास्ते में हरी हरी घासों और सुगन्ध युक्त मधु से भरे और सुन्दर वृक्षों से शोभित वनों और वृक्षों से आच्छादित पर्वतों और पुष्पित वृक्षों से पूर्ण वनों में हो कर जा रहे थे ॥ ६ ॥ ७ ॥

स तस्मिन्नचले तिष्ठन्वनान्युपवनानि च ।
स नगाग्रे च तां लङ्कां ददर्श पवनात्मजः ॥ ८ ॥

जब पवननन्दन हनुमान जी ने उस पहाड़ पर खड़े हो कर देखा, तब उन्हें वन उपवन तथा पर्वतशिखर पर बसी हुई लङ्का देख पड़ी ॥ ८ ॥

सरलान्कर्णिकारांश्च खर्जूरांश्च सुपुष्पितान् ।
प्रियालान्मुचुलिन्दांश्च कुटजान्केतकानपि ॥ ९ ॥

वनों में उन्हें देवदारु, कर्णिकार, पुष्पित खजूर, चिरौंजी, खिन्नी, महुआ, केतकी, ॥ ९ ॥

* पाठान्तरे—" गण्डवन्ति । " † पाठान्तरे—" तरुसच्छन्नान् । "

प्रियङ्गून्गन्धपूर्णांश्च नीपान्सप्तच्छदांस्तथा ।
असनान्कोविदारांश्च करवीरांश्च पुष्पितान् ॥ १० ॥

सुगन्धित प्रियंगु, कंदब, शतावरी, असन, कोविदार और फूले हुए करवीर के वृक्ष देख पड़े ॥ १० ॥

पुष्पभारनिबद्धांश्च तथा मुकुलितानपि ।
पादपान्विहगाकीर्णान्पवनाधूतमस्तकान् ॥ ११ ॥

इन वृक्षों में से बहुत से तो फूलों से लदे थे और बहुतों में कलियां लगी हुई थीं। उन पर झुंड के झुंड पक्षी बैठे हुए थे। उन वृक्षों की फुनगियां पवन के चलने से हिल रही थीं ॥ ११ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा वापीः पद्मोत्पलायुताः ।
आक्रीडान्विविधान्रम्यान्विविधांश्च जलाशयान् ॥१२॥

वहां बावलियां भी थीं, जिनमें हंस और जलमुर्ग खेल रहे थे और कमल तथा कुई के फूल फूल रहे थे। वहां पर राजाओं के विहार करने की रमणीक तरह तरह की वाटिकाएँ थीं, जिनके भीतर विविध आकार प्रकार के जल के कुण्ड बने हुए थे ॥ १२ ॥

सन्ततान्विविधैर्वृक्षैः सर्वर्तुफलपुष्पितैः ।
उद्यानानि च रम्याणि ददर्श कपिकुञ्जरः ॥ १३ ॥

सब ऋतुओं में फलने फूलने वाले अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त वहां रमणीक वाटिकाएँ भी हनुमान जी ने देखीं ॥ १३ ॥

समासाद्य च लक्ष्मीवाँल्लङ्कां रावणपालिताम् ।
परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलङ्कृताम् ॥ १४ ॥

शोभायुक्त हनुमान जी अब रावणपालित लङ्का के समीप पहुँचे। लङ्कापुरी फूले कमलों तथा कुई से युक्त परिखा से घिरी हुई थी॥ १४॥

सीतापहरणार्थेन रावणेन सुरक्षिताम्।
समन्ताद्विचरद्भिश्च राक्षसैः *कामरूपिभिः॥ १५॥

जब से रावण सीता को हर कर लाया था, तब से लङ्का की विशेष रूप से निगरानी करने के लिये कामरूपी राक्षस लङ्का के चारों ओर घूम घूम कर पहरा दिया करते थे। (हनुमान जी ने इन पहरुए राक्षसों को भी देखा)॥ १५॥

काञ्चनेनावृतां रम्यां प्राकारेण महापुरीम्।
गृहैश्च गिरिसङ्काशैः शारदाम्बुदसन्निभैः॥ १६॥

लङ्कापुरी के चारों ओर बड़ा सुन्दर सोने का परकोटा खिंचा हुआ था। उसके भीतर शरत्कालीन मेघों के समान सफेद और पहाड़ों की तरह ऊँचे ऊँचे अनेक मकान बने हुए थे॥ १६॥

पाण्डुराभिः [1]प्रतोलीभिः †श्लिष्टाभिरभिसंवृताम्।
अट्टालकशताकीर्णां पताकाध्वजमालिनीम्॥ १७॥

लङ्का में सफेद गच की हुई पक्की और साफ़ सुथरी गलियाँ थीं। सैकड़ों छज्जेदार मकान थे और जगह जगह ध्वजा पताकाएँ फहरा रही थीं॥ १७॥

तोरणैः ‡काञ्चनैर्दीप्तां [2]लतापङ्क्तिविचित्रितैः।
ददर्श हनुमाँल्लङ्कां दिवि देवपुरीमिव॥ १८॥

---

१ प्रतोलीभिः—वीथीभिः। (गो०) २ लतापङ्क्तयः—लताकार रेखाः। (गो०) * पाठान्तरे—"रप्रधर्षिभिः।" † पाठान्तरे—"उच्चाभिः।" ‡ पाठान्तरे—"काञ्चनैर्दिव्यैः।"

वहाँ चमचमाती हुई सोने की लताकार रेखा जैसी रंग बिरंगी वंदनवारें देख पड़ती थीं। हनुमान जी ने देवताओं की अमरावती-पुरी की तरह सुन्दर सजी हुई लङ्का की शोभा देखी ॥ १८ ॥

गिरिमूर्ध्नि स्थितां लङ्कां पाण्डुरैर्भवनैः *शुभाम् ।
†स ददर्श कपिः श्रीमान्पुरमाकाशगं यथा ॥ १९ ॥

शोभायुक्त हनुमान जी ने त्रिकूटाचल पर्वत पर बसी हुई असंख्य सफेद रंग के सुन्दर मनोहर भवनों से युक्त आकाश स्पर्शी लङ्कापुरी को देखा (अथवा लङ्का ऐसी जान पड़ती थी मानों अन्तरिक्ष में बसी हो) ॥ १९ ॥

पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा ।
प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान्पुरीम् ॥ २० ॥

लङ्कापुरी का शासन रावण के हाथ में था और विश्वकर्मा ने इस पुरी को बनाया था। हनुमान जी ने देखा कि, उसके भीतर जो ऊँचे ऊँचे भवन खड़े थे, उनको देखने से ऐसा जान पड़ता, मानों वह पुरी आकाश में उड़ी जाती हो ॥ २० ॥

वप्रप्राकारजघनां विपुलाम्बुनवाम्बराम् ।
शतघ्नीशूलकेशान्तामट्टालकवतंसकाम् ॥ २१ ॥

लङ्का की परकोटे की दीवालें तो लङ्का रूपिणी स्त्री की मानों जाँघें हैं, उसके चारों ओर जो वन और समुद्र था, वह मानों उसके पहिनने के वस्त्र थे। शतघ्नी (तोपें) और त्रिशूल मानों उसके मस्तक के केश थे और उसकी जो अटारियाँ थीं, वे मानों उसके कानों के कर्णफूल थे ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—" शुभैः । " † पाठान्तरे—" ददर्श स कपिश्रेष्ठः पुरमाकाशगं यथा । "

मनसेव कृतां लङ्कां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
द्वारमुत्तरमासाद्य चिन्तयामास वानरः ॥ २२ ॥

इस प्रकार की लङ्कापुरी को विश्वकर्मा ने बड़े मन से अर्थात् जी लगा कर बनाया था। जब हनुमान जी लङ्का के उत्तर दिशा वाले फाटक पर पहुँचे, तब वे मन ही मन कहने लगे ॥ २२ ॥

कैलासशिखर*प्रख्यैरालिखन्तीमिवाम्बरम् ।
†ध्रियमाणमिवाकाशमुच्छ्रितैर्भवनोत्तमैः ॥ २३ ॥

लङ्का का उत्तर का फाटक भी कैलास के सदृश आकाश-स्पर्शी था। ऐसा ज्ञान पड़ता था, मानों उसके ऊँचे ऊँचे मकान आकाश को सहारा देने वाले खंभे हैं। अथवा वे ऊँचे मकान आकाश को धारण किये हुए हैं ॥ २३ ॥

सम्पूर्णां राक्षसैर्घोरैर्नागैर्भोगवतीमिव ॥ २४ ॥

हनुमान जी कहने लगे कि, जिस प्रकार भोगवतीपुरी नागों से भरी है, उसी प्रकार यह लङ्का भी राक्षसों से भरी हुई है ॥२४॥

तस्याश्च महतीं गुप्तिं सागरं च समीक्ष्य सः ।
रावणं च रिपुं घोरं चिन्तयामास वानरः ॥ २५ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, लङ्का की भली भाँति रक्षा तो समुद्र ही कर रहा है। साथ ही हनुमान जी ने यह भी सोचा कि, रावण भी एक महाभयङ्कर शत्रु है ॥ २५ ॥

आगत्यापीह हरयो भविष्यन्ति निरर्थकाः ।
न हि युद्धेन वै लङ्का शक्या जेतुं *सुरासुरैः ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—"प्रख्यामालिखन्ति।" † पाठान्तरे—"ध्रियमाणाम्।"

* पाठान्तरे—"सुरैरपि।"

यदि वानरगण यहाँ किसी प्रकार आभी पहुँचे, तो भी उनका यहाँ आना व्यर्थ होगा। क्योंकि इस लङ्का को जीतने की शक्ति तो देवताओं और दैत्यों में भी नहीं है ॥ २६ ॥

इमां तु विषमां दुर्गां लङ्कां रावणपालिताम् ।
प्राप्यापि स महाबाहुः किं करिष्यति राघवः ॥२७॥

रावणपालित इस विकट दुर्गम लङ्का में श्रीरामचन्द्र जी यदि आ भी गये तो, वे कर ही क्या सकेंगे ॥ २७ ॥

अवकाशो न सान्त्वस्य राक्षसेष्वभिगम्यते ।
न दानस्य न भेदस्य नैव युद्धस्य दृश्यते ॥ २८ ॥

मेरी समझ में तो राक्षस लोग, खुशामद से काबू में आने वाले नहीं। इन लोगों को लालच दिखला कर या इनमें फूट डाल कर अथवा इनसे युद्ध करके भी, इनसे पार नहीं पाया जा सकता ॥२८॥

चतुर्णामेव हि गतिर्वानराणां महात्मनाम् ।
वालिपुत्रस्य नीलस्य मम राज्ञश्च धीमतः ॥ २९ ॥

हमारी सेना में चार ही ऐसे जन हैं जो यहाँ आ सकते हैं। एक तो अंगद, दूसरे नील, तीसरा मैं और चौथे बुद्धिमान वानरराज सुग्रीव ॥ २९ ॥

यावज्जानामि वैदेहीं यदि जीवति वा न वा ।
तत्रैव चिन्तयिष्यामि दृष्ट्वा तां जनकात्मजाम् ॥ ३० ॥

अस्तु, अब सब से प्रथम तो यह जान लेना है कि, जानकी जी जीवित भी हैं कि नहीं। मैं प्रथम जानकी जी को देख लेने पर पीछे और बातों की चिन्ता करूँगा ॥ ३० ॥

ततः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ।
गिरिशृङ्गे स्थितस्तस्मिन्रामस्याभ्युदये रतः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के हित में रत, कपिश्रेष्ठ हनुमान जी पर्वत के शिखर पर बैठे हुए मुहूर्त भर तक मन ही मन सोचते रहे ॥ ३१ ॥

अनेन रूपेण मया न शक्या रक्षसां पुरी ।
प्रवेष्टुं राक्षसैर्गुप्ता क्रूरैर्बलसमन्वितैः ॥ ३२ ॥

उन्होंने सोचा कि, बलवान तथा क्रूर स्वभाव राक्षसों द्वारा रक्षित लङ्का में मैं अपने इस रूप से प्रवेश नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

उग्रौजसो महावीर्या बलवन्तश्च राक्षसाः ।
वञ्चनीया मया सर्वे जानकीं परिमार्गता ॥ ३३ ॥

तब मुझे, जानकी जी का पता लगाने के लिये, इन सब महाबली और महापराक्रमी राक्षसों को धोखा देना उचित है ॥३३॥

लक्ष्यालक्ष्येण रूपेण रात्रौ लङ्कापुरी मया ।
प्रवेष्टुं प्राप्तकालं मे कृत्यं साधयितुं महत् ॥ ३४ ॥

अतः मुझे रात के समय ऐसे रूप से जिसे कोई देखे और कोई न देखे, लङ्का में घुसना उचित है । क्योंकि इतना बड़ा कार्य विना ऐसा किये पूरा नहीं होगा ॥ ३४ ॥

तां पुरीं तादृशीं दृष्ट्वा दुराधर्षां सुरासुरैः ।
हनुमांश्चिन्तयामास विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ॥ ३५ ॥
केनोपायेन पश्येयं मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
अदृष्टो राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ॥ ३६ ॥

इस प्रकार हनुमान जी सुर और असुरों से दुराधर्ष उस लङ्का-पुरी को बराबर देखने लगे और बार बार लंबी साँसे ले यह सोचते थे कि, किस उपाय से जनकनन्दिनी जानकी को तो मैं देख लूँ और उस दुरात्मा राक्षसराज रावण की दृष्टि से बचा रहूँ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

न विनश्येत्कथं कार्यं रामस्य विदितात्मनः ।
*एकामेकस्तु पश्येयं रहिते जनकात्मजाम् ॥ ३७ ॥

तीनों लोकों में प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र जी का कार्य किस प्रकार करूँ जिससे कार्य बिगड़ने न पावे । मैं तो अकेला एकान्त में अकेली जानकी को देखना चाहता हूँ ॥ ३७ ॥

भूताश्चार्था विपद्यन्ते देशकालविरोधिताः ।
विक्लवं दूतमासाद्य तमः सूर्योदये यथा ॥ ३८ ॥

देश और काल के प्रतिकूल कार्य करने वाला और कादर दूत, बने बनाये कार्य को उसी प्रकार नष्ट कर डालता है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को ॥ ३८ ॥

अर्थानर्थान्तरे बुद्धिर्निश्चिताऽपि न शोभते ।
घातयन्ति हि कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः ॥ ३९ ॥

कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में निश्चित कर लेने पर भी, ऐसे दूतों के कारण कार्य की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि वे अपनी बुद्धिमानी के अभिमान में कार्यों को न बना कर, उन्हें बिगाड़ डालते हैं ॥ ३९ ॥

न विनश्येत्कथं कार्यं वैक्लव्यं न कथं भवेत् ।
लङ्घनं च समुद्रस्य †कथं नु न भवेद्वृथा ॥ ४० ॥

---

* पाठान्तरे—"एकामेकश्च ।" † पाठान्तरे—"कथं नु न वृथा भवेत् ।"

अतः अब किस उपाय से मैं काम लूँ जिससे न तो कार्य ही बिगड़े, और न मुझमें कादरता आवे। प्रत्युत मेरा समुद्र फाँदना वृथा भी न हो ॥ ४० ॥

मयि दृष्टे तु रक्षोभी रामस्य विदितात्मनः* ।
भवेद्व्यर्थमिदं कार्यं रावणानर्थमिच्छतः ॥ ४१ ॥

त्रिभुवनविख्यात श्रीरामचन्द्र जी रावण को दण्ड देना चाहते हैं, अतः यदि राक्षसों ने मुझे देख लिया तो श्रीरामचन्द्र जी का यह कार्य बिगड़ जायगा ॥ ४१ ॥

न हि शक्यं क्वचित्स्थातुमविज्ञातेन राक्षसैः ।
अपि राक्षसरूपेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ४२ ॥

राक्षसों से छिप कर यहाँ कोई भी नहीं रह सकता। यहाँ तक कि राक्षसों का अथवा अन्य किसी का रूप धारण करने से भी राक्षसों से छुटकारा नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

वायुरप्यत्र न ज्ञातश्चरेदिति मतिर्मम ।
न ह्यस्त्यविदितं किञ्चिद्राक्षसानां बलीयसाम् ॥ ४३ ॥

मैं तो समझता हूँ कि, वायु भी यहाँ पर गुप्त रूप से नहीं वह सकता। क्योंकि बलवान राक्षसों से कोई बात छिप नहीं सकती ॥ ४३ ॥

इहाहं यदि तिष्ठामि स्वेन रूपेण संवृतः ।
विनाशमुपयास्यामि भर्तुरर्थश्च †हास्यते ॥ ४४ ॥

यदि मैं अपने असली रूप में यहाँ ठहरा रहूँ तो केवल स्वामी कार्य ही नष्ट न होगा, बल्कि मैं भी मारा जाऊँगा ॥ ४४ ॥

* विदित्मा का अर्थ किसी किसी ने आत्मदर्शी युञ्जान योगी भी किया है। † पाठान्तरे—"हीयते।"

तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः ।
*लङ्कामभिगमिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये ॥ ४५ ॥

अतः मैं अपने शरीर को बहुत ही छोटा बना कर, श्रीरामचन्द्र जी के काम के लिये रात के समय लङ्का में जाऊँगा ॥ ४५ ॥

रावणस्य पुरीं रात्रौ प्रविश्य सुदुरासदाम् ।
विचिन्वन्भवनं सर्वं द्रक्ष्यामि जनकात्मजाम् ॥ ४६ ॥

इस अत्यन्त दुर्धर्ष रावण की राजधानी लङ्कापुरी में रात के समय घुस कर प्रत्येक घर में जा कर, सीता जी को खोजूँगा ॥ ४६ ॥

इति †निश्चित्य हनुमान्सूर्यस्यास्तमयं कपिः ।
आचकाङ्क्षे तदा वीरो वैदेह्या दर्शनोत्सुकः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार अपने मन में निश्चय कर जानकी जी को देखने के लिये उत्सुक वीर हनुमान जी, सूर्यास्त की प्रतीक्षा करने लगे ॥ ४७ ॥

सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः ।
वृषदंशकमात्रः सन्बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ४८ ॥

जब सूर्य अस्ताचलगामी हुए, तब हनुमान जी ने अपने शरीर को बिल्ली के समान छोटा और देखने में विस्मयोत्पादक बनाया ॥ ४८ ॥

¹प्रदोषकाले हनुमांस्तूर्णमुत्प्लुत्य वीर्यवान् ।
प्रविवेश पुरीं रम्यां सुविभक्तमहापथाम् ॥ ४९ ॥

---

१ वृषदंशकमात्रः—बिडाल प्रमाणः । (गो०) * पाठान्तरे—" लङ्का-मधिपतिष्यामि । " * पाठान्तरे—" सञ्चिन्त्य ।"

वीर्यवान हनुमान जी तुरन्त परकोटा फांद कर, उस रमणीय और सुन्दर राजमार्गों से युक्त, लङ्कापुरी में घुस गये ॥ ४९ ॥

प्रासादमालावितता स्तम्भैः काञ्चनराजतैः ।
शातकुम्भमयैर्जालैर्गन्धर्वनगरोपमाम् ॥ ५० ॥

हनुमान जी ने लङ्का के भीतर जाकर देखा कि, बड़े बड़े भवनों की श्रेणियों से और अनेक सुवर्णमय खंभों से तथा सोने के झरोखों से लङ्कापुरी गन्धर्व नगरी की तरह सजी हुई है ॥ ५० ॥

सप्तभौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम् ।
तलैः स्फटिकसङ्कीर्णैः कार्तस्वरविभूषितैः ॥ ५१ ॥

सत-अठ-खने-भवनों से और स्फटिक खचित तथा सुवर्ण भूषित अनेक स्थानों से वह राक्षसों की निवासस्थली लङ्कापुरी अत्यन्त शोभायुक्त देख पड़ती थी ॥ ५१ ॥

वैदूर्यमणिचित्रैश्च *मुक्ताजालविराजितैः ।
तलैः शुशुभिरे तानि भवनान्यत्र रक्षसाम् ॥ ५२ ॥

राक्षसों के घरों के फर्श वैदूर्य मणियों के जड़ाव और मोतियों की झालरों से शोभित थे ॥ ५२ ॥

काञ्चनानि विचित्राणि तोरणानि च रक्षसाम् ।
लङ्कामुद्द्योतयामासुः सर्वतः समलंकृताम् ॥ ५३ ॥

राक्षसों के घर के तोरणद्वार, जो सुवर्णनिर्मित और रंग बिरंगे बने हुए थे, चारों ओर से विभूषित हो लङ्का की शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ५३ ॥

---

* पाठान्तरे—" मुक्ताजालविभूषितैः । "

अचिन्त्यामद्भुताकारां दृष्ट्वा लङ्कां महाकपिः ।
आसीद्विषण्णो हृष्टश्च वैदेह्या दर्शनोत्सुकः ॥ ५४ ॥

जानकी जी के दर्शन के लिये उत्सुक महाकपि हनुमान जी इस प्रकार की अचिन्तनीय और आश्चर्यजनक बनावट की लङ्कापुरी को देख, पहिले तो हर्षित हुए, फिर पीछे उदास हो गये ॥ ५४ ॥

स *पाण्डुरोद्विद्धविमानमालिनीं
महार्हजाम्बूनदजालतोरणाम् ।
यशस्विनीं रावणबाहुपालितां
क्षपाचरैर्भीमबलैः समावृताम् ॥ ५५ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, रावण द्वारा रक्षित, प्रसिद्ध लङ्का-नगरी, श्रेणीबद्ध सफेद अट्टालिकाओं से, महामूल्यवान् सुवर्णमय झरोखों और तोरणद्वारों से अलङ्कृत है और अत्यन्त बलिष्ठ राक्षसों की सेना चारों ओर से उसकी रखवाली कर रही है ॥ ५५ ॥

चन्द्रोऽपि साचिव्यमिवास्य कुर्वं-
स्तारागणैर्मध्यगतो विराजन् ।
ज्योत्स्नावितानेन वितत्य लोकम्-
उत्तिष्ठते नैकसहस्ररश्मिः ॥ ५६ ॥

उस समय मानों वायुपुत्र की सहायता करने के लिये अनेक किरणों वाला चन्द्रमा, ताराओं के साथ, चाँदनी छिटकाता हुआ, आकाश में आ विराजा ॥ ५६ ॥

---

* पाठान्तरे—"पाण्डुरोद्विद्ध ।"

शङ्खप्रभं क्षीरमृणालवर्णम्-
उद्गच्छमानं व्यवभासमानम् ।
ददर्श चन्द्रं स *कपिप्रवीरः
पोप्लुयमानं सरसीव हंसम् ॥ ५७ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने देखा कि, सरोवर में जिस प्रकार हंस उछल कूद मचाते हैं, उसी प्रकार दूध अथवा मृणाल वर्ण, शङ्ख की तरह चन्द्रमा भी आकाश में उदय हो कर ऊपर को उठ रहा है ॥ ५७ ॥

सुन्दरकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

तृतीयः सर्गः

—*—

स लम्बशिखरे लम्बे लम्बतोयदसन्निभे ।
[1]सत्त्वमास्थाय मेधावी हनुमान्मारुतात्मजः ॥ १ ॥
निशि लङ्कां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः ।
रम्यकाननतोयाढ्यां पुरीं रावणपालिताम् ॥ २ ॥

बुद्धिमान् तथा महाबलवान् कपिश्रेष्ठ पवननन्दन हनुमान जी ने धैर्य धारण पूर्वक महामेघ की तरह लम्ब नामक पर्वत के उच्च शिखर

---

१ सत्त्वं—व्यवसायं । धैर्यमिति यावत् । (गो०) * पाठान्तरे—"हरिप्रवीरः ।"

पर स्थित, लङ्कापुरी में रात के समय प्रवेश किया। वह रावण की लङ्कापुरी उपवनों तथा स्वादिष्ट जल वाले कूप तड़ाग बावली से पूर्ण थी ॥ १ ॥ २ ॥

शारदाम्बुधरप्रख्यैर्भवनैरुपशोभिताम् ।
सागरोपमनिर्घोषां सागरानिलसेविताम् ॥ ३ ॥

वह शरत्कालीन बादलों की तरह सफेद भवनों से सुशोभित थी। उसमें सदा समुद्र का गर्जन सुन पड़ता था और वहाँ समुद्री पवन सदा बहा करता था ॥ ३ ॥

*सुपुष्टबलसंगुप्तां यथैव विटपावतीम् ।
चारुतोरणनिर्यूहां पाण्डुरद्वारतोरणाम् ॥ ४ ॥

विटपावती नगरी की तरह लङ्कापुरी की भी रखवाली के लिये परम हृष्ट पुष्ट राक्षसी सेना पुरी के चारों ओर नियत थी। उसके तोरणद्वारों पर मदमत्त हाथी झूमा करते थे। सफेद रंग के उसके तोरणद्वार थे ॥ ४ ॥

भुजगाचरितां गुप्तां शुभां भोगवतीमिव ।
तां सविद्युद्घनाकीर्णां ज्योतिर्मार्गनिषेविताम् ॥ ५ ॥

वह सब ओर से सर्पों द्वारा रक्षित सर्पों की भोगवतीपुरी की तरह सुरक्षित थी। वह दामिनी युक्त बादलों से घिरी और ताराओं से शोभित थी ॥ ५ ॥

†चण्डमारुतनिर्ह्रादां यथा चाप्यमरावतीम् ।
शातकुम्भेन महता प्राकारेणाभिसंवृताम् ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"सुपुष्टबलसंघुष्टां।" † पाठान्तरे—"मन्दमारुतसञ्चारां यथेन्द्रस्यामरावतीम् ।"

इन्द्र की अमरावती की तरह लङ्कापुरी भी प्रचण्ड वायु से नादित हुआ करती थी। उसके चारों ओर बड़ा ऊँचा और लंबा चौड़ा सोने की दीवारों का परकोटा खिंचा हुआ था॥ ६॥

किङ्किणीजालघोषाभिः पताकाभिरलंकृताम्।
आसाद्य सहसा हृष्टः प्राकारमभिपेदिवान्॥ ७॥

उसमें छोटी छोटी घंटियों के जाल जगह जगह बने हुए थे, जिनकी घंटियाँ सदा बजा करती थीं। जगह जगह पताकाएँ फहरा रही थीं। उस लङ्कापुरी के परकोटे की दीवाल पर हनुमान जी प्रसन्नता पूर्वक सहसा कूद कर चढ़ गये॥ ७॥

विस्मयाविष्टहृदयः पुरीमालोक्य सर्वतः।
जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैडूर्यकृतवेदिकैः॥ ८॥

उस परकोटे पर से उन्होंने उस पुरी को चारों ओर से देखा और देख कर वे विस्मित हुए। क्योंकि उन्होंने देखा कि, उस पुरी के भवनों के सब दरवाज़े सोने के थे और पन्ने के चबूतरे बने हुए थे॥ ८॥

वज्रस्फटिकमुक्ताभिर्मणिकुट्टिमभूषितैः।
तप्तहाटकनिर्यूहै राजतामलपाण्डुरैः॥ ९॥

उस पुरी के भवनों की दीवालें हीरा स्फटिक मोती तथा अन्य मणियों की बनी हुई थीं। उनका ऊपरी भाग सुवर्ण और चाँदी का बना हुआ था॥ ९॥

वैडूर्यतलसोपानैः स्फाटिकान्तरपांसुभिः।
चारुसञ्जवनोपेतैः खमिवोत्पतितैः शुभैः॥ १०॥

भवनों में जाने के लिए जो सीढ़ियां थीं, वे पन्नों की थीं और द्वारों के भीतर का समस्त फर्श भी पन्नों से जड़ कर बनाया गया था। उन द्वारों के ऊपर जो बैठके बने थे, वे बहुत ही मनोहर थे। वे इतने ऊँचे थे कि, जान पड़ता था कि, वे आकाश से बातें कर रहे हैं॥ १०॥

क्रौञ्चबर्हिणसंघुष्टै राजहंसनिषेवितैः।
तूर्याभरणनिर्घोषैः सर्वतः प्रतिनादिताम्॥ ११॥

भवनों के द्वारों पर क्रौंच, मोर आदि पक्षी सुहावनी बोलियां बोल रहे थे। राजहंस अलग ही वहाँ की शोभा बढ़ा रहे थे। सर्वत्र नगाड़ों और आभूषणों के शब्द सुन पड़ते थे॥ ११॥

वस्वोकसाराप्रतिमां *समीक्ष्य नगरीं ततः।
†खमिवोत्पतितां लङ्कां जहर्ष हनुमान्कपिः॥ १२॥

इस प्रकार समृद्धशालिनी और आकाशस्पर्शिनी अलकापुरी की तरह उस लङ्कापुरी को देख, हनुमान जी बहुत प्रसन्न हुए॥ १२॥

तां समीक्ष्य पुरीं‡ लङ्कां राक्षसाधिपतेः शुभाम्।
अनुत्तमामृद्धिमतीं§ चिन्तयामास वीर्यवान्॥ १३॥

रावण की उस सुन्दर ऋद्धमती लङ्कापुरी को देख, बलवान हनुमान जी अपने मन में कहने लगे॥ १३॥

नेयमन्येन नगरी शक्या धर्षयितुं बलात्।
रक्षिता रावणबलैरुद्यतायुधधारिभिः॥ १४॥

---

* पाठान्तरे—"तां वीक्ष्य नगरीं ततः।" † पाठान्तरे—"खमिवोत्पतितुं कामां।" ‡ पाठान्तरे—"रम्यां।" § पाठान्तरे—"युतां।"

दूसरे किसी की तो सामर्थ्य नहीं, जो इस लङ्का को जीत सके। क्योंकि रावण के सैनिक हाथों में आयुध ले इस नगरी की रक्षा करने में सदा तत्पर रहते हैं॥ १४॥

कुमुदाङ्गदयोर्वापि सुषेणस्य महाकपेः।
प्रसिद्धेयं भवेद्भूमिर्मैन्दद्विविदयोरपि॥ १५॥
विवस्वतस्तनूजस्य हरेश्च कुशपर्वणः।
ऋक्षस्य केतुमालस्य मम चैव गतिर्भवेत्॥ १६॥

परन्तु कुमुद, अंगद, महाकपि सुषेण, मैन्द, द्विविद, सूर्यपुत्र सुग्रीव और कुश जैसे लोमधारी रीछों में श्रेष्ठ जाम्बवान और मैं—बस ये ही लोग यहाँ आ सकते हैं॥ १५॥ १६॥

समीक्ष्य च महाबाहू राघवस्य पराक्रमम्।
लक्ष्मणस्य च विक्रान्तमभवत्प्रीतिमान्कपिः॥ १७॥

इस प्रकार सोच विचार कर, जब हनुमान जी ने श्रीरामचन्द्र के पराक्रम और लक्ष्मण के विक्रम की ओर दृष्टि डाली, तब तो वे प्रसन्न हो गये॥ १७॥

तां रत्नवसनोपेतां [1]गोष्ठागारावतंसकाम्।
यन्त्रागारस्तनीमृद्धां प्रमदामिव भूषिताम्॥ १८॥

लङ्का, मणि रूपी वस्त्रों से और गोशाला अथवा हयशाला रूपी कर्णभूषणों से और आयुधों के गृह रूपी स्तनों से, अलंकृत स्त्री की तरह, जान पड़ती थी॥ १८॥

तां नष्टतिमिरां दीपैर्भास्वरैश्च महागृहैः।
नगरीं राक्षसेन्द्रस्य ददर्श स महाकपिः॥ १९॥

---

१ गोष्ठागार—गोष्ठं गोशाला। इदं वाजिशालादेरप्युपलक्षणं। (रा०)

अनेक प्रकार के रत्नों से प्रकाशित भवनों में जो दीपक जल रहे थे, उनसे वहाँ पर अंधकार नाम मात्र को भी नहीं था। ऐसी राक्षसराज रावण की लङ्कापुरी को, महाकपि हनुमान जी ने देखा ॥ १९ ॥

अथ सा हरिशार्दूलं प्रविशन्तं महाबलम् ।
नगरी [1]स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम् ॥ २० ॥

इतने में कपिश्रेष्ठ महाबली हनुमान जी को लङ्कापुरी में प्रवेश करते समय, उस पुरी की अधिष्ठात्री देवी ने देख लिया ॥ २० ॥

सा तं हरिवरं दृष्ट्वा लङ्का वै कामरूपिणी* ।
स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना ॥ २१ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी को देख, वह महाविकराल मुखवाली एवं कामरूपिणी लङ्का की अधिष्ठात्री देवी स्वयं ही उठ धाई ॥ २१ ॥

†पुरस्तात्तस्य वीरस्य वायुसूनोरतिष्ठत ।
मुञ्चमाना महानादमब्रवीत्पवनात्मजम् ॥ २२ ॥

वह देवी, हनुमान जी की राह रोक उनके सामने जा खड़ी हुई और भयङ्कर नाद कर पवननन्दन से बोली ॥ २२ ॥

कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय ।
कथयस्वेह यत्तत्त्वं यावत्प्राणान्धरिष्यसि† ॥ २३ ॥

अरे वनवासी वंदर! तू कौन है? और यहाँ क्यों आया है यदि तुझे अपने प्राण प्यारे हों तो ठीक ठीक बतला ॥ २३ ॥

---

१ स्वेन रूपेण—अधिदेवतारूपेण। (रा०) * पाठान्तरे—"रावण पालिता।" † पाठान्तरे—"पुरस्तात्कपिवर्यस्य।" † पाठान्तरे—"यावत्प्राणा धरन्तिते।"

*न शक्या खल्वियं लङ्का प्रवेष्टुं वानर त्वया ।
रक्षिता रावणबलैरभिगुप्ता समन्ततः ॥ २४ ॥

हे वानर ! निश्चय ही तुझमें यह सामर्थ्य नहीं कि, तू लङ्का में घुस सके । क्योंकि रावण की सेना इसकी चारों ओर से रखवाली किया करती है ॥ २४ ॥

अथ तामब्रवीद्वीरो हनुमानग्रतः स्थिताम् ।
कथयिष्यामि ते तत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २५ ॥

सामने खड़ी हुई उस लङ्का से वीर हनुमान जी ने कहा—तू मुझसे जो कुछ पूँछ रही है, सो मैं सब ठीक ठीक बतलाऊँगा ॥२५॥

का त्वं विरूपनयना पुरद्वारेऽवतिष्ठसि ।
किमर्थं चापि मां रुद्ध्वा निर्भर्त्सयसि दारुणा ॥ २६ ॥

(परन्तु पहिले तू तो यह बतला कि) तू कौन है, जो इस नगरद्वार पर विकराल नेत्र किये खड़ी है और क्यों मेरा मार्ग रोक कर मुझे डपट रही है ॥ २६ ॥

हनुमद्वचनं श्रुत्वा लङ्का सा कामरूपिणी ।
उवाच वचनं क्रुद्धा परुषं पवनात्मजम् ॥ २७ ॥

हनुमान जी के ये वचन सुन, वह कामरूपिणी लङ्का की अधिष्ठात्री देवी, क्रुद्ध हो हनुमान जी से कठोर वचन बोली ॥ २७ ॥

अहं राक्षसराजस्य रावणस्य महात्मनः ।
आज्ञाप्रतीक्षा दुर्धर्षा रक्षामि नगरीमिमाम् ॥ २८ ॥

---

* पाठान्तरे—" न शक्या । "

मैं महाबलवान राक्षसराज रावण की आज्ञानुवर्तिनी दुर्धर्षा लङ्का नगरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ और इस पुरी की मैं रक्षा किया करती हूँ ॥ २८ ॥

न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं नगरी त्वया ।
अद्य प्राणैः परित्यक्तः स्वप्स्यसे निहतो मया ॥ २९ ॥

मेरी अवहेला कर तू इस नगरी के भीतर नहीं घुस सकता। यदि मेरी अवहेला की तो याद रखना, तू मुझसे मारा जाकर, अभी भूमि पर पड़ा हुआ देख पड़ेगा ॥ २९ ॥

अहं हि नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम ।
सर्वतः परिरक्षामि ह्येतत्ते कथितं मया ॥ ३० ॥

हे वानर! मैं स्वयं लङ्का हूँ और मैं चारों ओर से इसकी रखवाली किया करती हूँ। इसीसे मैंने तुझको रोका है ॥ ३० ॥

लङ्काया वचनं श्रुत्वा हनूमान्मारुतात्मजः ।
यत्नवान्स हरिश्रेष्ठः स्थितः शैल इवापरः ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान और उपयोगी पवननन्दन हनुमान जी लङ्का की ये बातें सुन, उसे परास्त करने के लिये उसके सामने पर्वत की तरह अचल भाव से खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

स तां स्त्रीरूपविकृतां दृष्ट्वा वानरपुङ्गवः ।
आबभाषेऽथ मेधावी सत्त्ववान्प्लवगर्षभः ॥ ३२ ॥

वानरश्रेष्ठ, बुद्धिमान एवं बलवान् हनुमान जी उस विकटाकार-रूप-धारिणी लङ्का देवी से बोले ॥ ३२ ॥

द्रक्ष्यामि नगरीं लङ्कां साट्टप्राकारतोरणाम् ।
तदर्थमिह सम्प्राप्तः परं कौतूहलं हि मे ॥ ३३ ॥

वनान्युपवनानीह लङ्कायाः काननानि च ।
सर्वतो गृहमुख्यानि द्रष्टुमागमनं हि मे ॥ ३४ ॥

हे लङ्के! मैं इस नगरी की अटारियाँ, प्राकार, तोरण, वन, उपवन, तथा प्रधान प्रधान भवनों को देखना चाहता हूँ और इसीलिये मैं यहाँ आया भी हूँ। मुझे लङ्कापुरी को देखने का बड़ा कुतूहल है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लङ्का सा कामरूपिणी ।
भूय एव पुनर्वाक्यं बभाषे परुषाक्षरम् ॥ ३५ ॥

उस कामरूपिणी लङ्कादेवी ने हनुमान जी के ये वचन सुन, फिर हनुमान जी से कठोर वचन कहे ॥ ३५ ॥

मामनिर्जित्य दुर्बुद्धे राक्षसेश्वरपालिताम् ।
न शक्यमद्य ते द्रष्टुं पुरीयं वानराधम ॥ ३६ ॥

हे दुर्बुद्धे! हे वानराधम! इस राक्षसेश्वर रावण द्वारा रक्षित लङ्कापुरी को, मुझे हराये विना अब तू नहीं देख सकता ॥ ३६ ॥

ततः स हरिशार्दूलस्तामुवाच निशाचरीम् ।
दृष्ट्वा पुरीमिमां भद्रे पुनर्यास्ये यथागतम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने उस निशाचरी से कहा—हे भद्रे! मैं एक बार इस लङ्कापुरी को देख, जहाँ से आया हूँ, वहीं लौट कर चला जाऊँगा ॥ ३७ ॥

ततः कृत्वा महानादं सा वै लङ्का* भयानकम् ।
तलेन वानरश्रेष्ठं ताडयामास वेगिता ॥ ३८ ॥

तब उस लङ्कादेवी ने बड़ी ज़ोर से भयङ्कर नाद कर, हनुमान जी के कसकर एक थप्पड़ मारा ॥ ३८ ॥

ततः स कपिशार्दूलो लङ्कया ताडितो भृशम् ।
ननाद सुमहानादं वीर्यवान्पवनात्मजः ॥ ३९ ॥

लङ्कादेवी के हाथ से ज़ोर का थप्पड़ खा, बलवान पवनन्दन ने महानाद किया ॥ ३९ ॥

ततः संवर्तयामास वामहस्तस्य सोऽङ्गुलीः ।
मुष्टिनाऽभिजघानैनां हनूमान्क्रोधमूर्छितः ॥ ४० ॥

और बाँये हाथ की अँगुलियाँ मोड़ और मुट्ठी बाँध हनुमान जी ने क्रुद्ध हो, लङ्का के एक घूंसा मारा ॥ ४० ॥

स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः ।
सा तु तेन प्रहारेण विह्वलाङ्गी निशाचरी ॥ ४१ ॥

पपात सहसा भूमौ विकृताननदर्शना ।
ततस्तु हनुमान्प्राज्ञस्तां दृष्ट्वा विनिपातिताम् ॥ ४२ ॥

तिस पर भी लङ्का को स्त्री समझ हनुमान जी ने बहुत क्रोध नहीं किया था, किन्तु वह राक्षसी लङ्का उतने ही प्रहार से विकल और लोटपोट हो ज़मीन पर गिर पड़ी और उसका मुख और भी अधिक विकराल हो गया। उसको ज़मीन पर छटपटाते देख, बुद्धिमान एवं तेजस्वी हनुमान जी को ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

* पाठान्तरे—" भयावहम् । "

कृपां चकार तेजस्वी मन्यमानः स्त्रियं तु ताम् ।
ततो वै भृशमुद्विग्ना लङ्का सा गद्गदाक्षरम् ॥ ४३ ॥
उवाच गर्वितं वाक्यं हनुमन्तं प्लवङ्गमम् ।
प्रसीद सुमहाबाहो त्रायस्व हरिसत्तम ॥ ४४ ॥

उसे स्त्री समझ उस पर बड़ी दया आयी। तदनन्तर अत्यन्त विकल वह लङ्कादेवी, गद्गद् वाणी से अभिमान रहित हो कपिवर हनुमान जी से बोली। हे कपिश्रेष्ठ महाबाहो! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो और मुझे बचाओ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

[1]समये सौम्य तिष्ठन्ति सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
अहं तु नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम ॥ ४५ ॥

क्योंकि जो धैर्यवान् और महाबली पुरुष होते हैं, वे स्त्री का वध नहीं करते। हे वानर! मैं ही लङ्का नगरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ॥ ४५ ॥

निर्जिताहं त्वया वीर विक्रमेण महाबल ।
इदं च तथ्यं शृणु वै ब्रुवन्त्या मे हरीश्वर ॥ ४६ ॥

सो हे महाबली! तुमने मुझे अपने पराक्रम से जीत लिया। महाकपीश्वर! मैं जो अब यथार्थ वृत्तान्त कहती हूँ, उसे तुम सुनो॥ ४६ ॥

स्वयंभुवा पुरा दत्तं वरदानं यथा मम ।
यदा त्वां वानरः कश्चिद्विक्रमाद्वशमानयेत् ॥ ४७ ॥

---

१ समये—स्त्रीवधवर्जनव्यवस्थायां। (गो०)

ब्रह्मा जी ने प्राचीनकाल में मुझको यह वरदान दिया था कि, जब तुझको कोई वानर परास्त कर देगा ॥ ४७ ॥

तदा त्वया हि विज्ञेयं रक्षसां भयमागतम् ।
स हि मे समयः सौम्य प्राप्तोऽद्य तव दर्शनात् ॥ ४८ ॥

तब तू जान लेना कि, अब राक्षसों के ऊपर विपत्ति आ पहुँची। सो हे सौम्य ! तुम्हारे दर्शन से आज वह मेरा समय आ गया ॥ ४८ ॥

स्वयंभूविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः ।
सीतानिमित्तं राज्ञस्तु रावणस्य दुरात्मनः ।
राक्षसां चैव सर्वेषां विनाशः समुपस्थितः ॥ ४९ ॥

क्योंकि ब्रह्मा की कही बात सत्य है—इसमें तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ सकता। देखो, सीता के कारण इस दुष्ट रावण का तथा अन्य समस्त राक्षसों का विनाशकाल आ पहुँचा ॥ ४९ ॥

तत्प्रविश्य हरिश्रेष्ठ पुरीं रावणपालिताम् ।
विधत्स्व सर्वकार्याणि यानि यानीह वाञ्छसि ॥ ५० ॥

सो हे कपिश्रेष्ठ ! तुम अब रावण द्वारा पालित इस पुरी में प्रवेश कर, जो कुछ करना चाहते हो, करो ॥ ५० ॥

प्रविश्य शापोपहतां हरीश्वरः
पुरीं शुभां राक्षसमुख्यपालिताम् ।
यदृच्छया त्वं जनकात्मजां सतीं
विमार्ग सर्वत्र गतो यथासुखम् ॥ ५१ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

हे कपीश्वर! इस शापोपहत, रावणपालित एवं सुन्दर लङ्कापुरी में मनमाना प्रवेश कर, तुम सर्वत्र ढूढ़ कर, सती सीता जी का पता लगाओ॥ ५१॥

सुन्दरकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुर्थः सर्गः

—※—

स निर्जित्य पुरीं श्रेष्ठां लङ्कां तां कामरूपिणीम्।
विक्रमेण महातेजा हनूमान्कपिसत्तमः॥ १॥

अद्वारेण महाबाहुः प्राकारमभिपुप्लुवे।
निशि लङ्कां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः॥ २॥

महाबली, महाबाहु, महातेजस्वी, वानरश्रेष्ठ हनुमान जी ने, लङ्कापुरी की कामरूपिणी अधिष्ठात्री देवी को अपने पराक्रम से जीत कर, द्वार से न जा कर, कूद कर परकोटे की दीवाल फांदी और लङ्का में प्रवेश किया॥ १॥ २॥

[नोट—द्वार से अर्थात् फाटक से हनुमान जी नहीं गये। इसका एक कारण तो यह था कि, उन्होंने पहरुए राक्षसों की निगाह बचायी, दूसरे शास्त्र की आज्ञा भी है—

ग्रामं वा नगरं वापि पत्तनं वा परस्य हि।
विशेषात्समये सौम्य न द्वारेणाविशेन्नृप॥]

प्रविश्य नगरीं लङ्कां कपिराजहितङ्करः।
चक्रेऽथ पादं सव्यं च शत्रूणां स तु मूर्धनि॥ ३॥

कपिराज सुग्रीव के हितैषी हनुमान जी ने लङ्कापुरी में प्रवेश करते ही शत्रु के सिर पर अपना बाँया पैर रखा ॥ ३ ॥

नोट—कहाँ कहाँ प्रथम वाम पैर रखना चाहिये ? यह बात बृहस्पति जी ने बतलायी है । यथा—

प्रयाणकाले च गृहप्रवेशे विवाहकालेपि च दक्षिणाङ्घ्रिम् ।
कृत्वाग्रतः शत्रुपुरप्रवेशे वामं निदध्याच्चरणं नृपालः ॥]

प्रविष्टः सत्वसम्पन्नो निशायां मारुतात्मजः ।
स महापथमास्थाय मुक्तापुष्पविराजितम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार महापराक्रमी पवननन्दन हनुमान जी रात के समय पुरी में प्रवेश कर, खिले हुए पुष्पों से सुशोभित राजमार्ग पर गमन करने लगे ॥ ४ ॥

ततस्तु तां पुरीं लङ्कां रम्यामभिययौ कपिः ।
हसितोद्घुष्टनिनदैस्तूर्यघोषपुरः सरैः ॥ ५ ॥

उस समय रमणीक लङ्कापुरी में जाते समय हनुमान जी ने लोगों के हँसने का शब्द तथा नगाड़ों के बजने का शब्द सुना ॥५॥

वज्राङ्कुशनिकाशैश्च वज्रजालविभूषितैः ।
गृहमुख्यैः पुरी रम्या बभासे द्यौरिवाम्बुदैः ॥ ६ ॥

हनुमान जी ने लङ्का में अनेक प्रकार के घर देखे । उन घरों में कोई तो वज्र के आकार का, कोई अङ्कुश के आकार का बना हुआ था । उनमें हीरे के जड़ाव के झरोखे बने हुए थे । उन मेघ सदृश घरों से उस रमणीयपुरी की ऐसी शोभा हो रही थी, जैसी शोभा मेघों से आकाश की हुआ करती है ॥ ६ ॥

प्रजज्वाल तदा लङ्का रक्षोगणगृहैः शुभैः ।
सिताभ्रसदृशैश्चित्रैः पद्मस्वस्तिकसंस्थितैः ॥ ७ ॥

राक्षसों के सुन्दर गृहों से उस काल लङ्कापुरी खूब दमक रही थी। उन घरों में से किसी की बनावट कमलाकार, किसी की स्वस्तिकाकार; थी ॥ ७ ॥

[नोट—वराहमिहिर संहिता में पद्माकार स्वस्तिकाकार आदि गृहों के लक्षण दिये हुए हैं। विस्तारभय से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया ।]

वर्धमानगृहैश्चापि सर्वतः सुविभूषिता ।
तां चित्रमाल्याभरणां कपिराजहितङ्करः ॥ ८ ॥

लङ्कापुरी सब ओर से वर्द्धमान संज्ञक आदि गृहों से शोभायमान थी। उन घरों में जगह जगह फूलों की मालाएँ शोभा के लिये लटकायी गयी थीं। सुग्रीव के हितैषी हनुमान इन घरों की सजावट देखते हुए चले जाते थे ॥ ८ ॥

राघवार्थं चरन्श्रीमान्ददर्श च ननन्द च ।
भवनाद्भवनं गच्छन्ददर्श पवनात्मजः ॥ ९ ॥

विविधाकृतिरूपाणि भवनानि ततस्ततः ।
शुश्राव मधुरं गीतं त्रिस्थानस्वरभूषितम् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र का कार्य पूरा करने के लिये, हनुमान जी लङ्कापुरी को देख प्रसन्न होते थे और जानकी जी को खोजने के लिये एक घर से दूसरे घर में जाते हुए, विविध आकार के घरों को देखते थे। उन भवनों में सुन्दर गाने का शब्द सुन पड़ता था। वह गान वक्षःस्थल, कंठ और मस्तक से निकले हुए मन्द्र, मध्य और तार नामक स्वरों से युक्त था ॥ ९ ॥ १० ॥

स्त्रीणां *मदनविद्धानां दिवि चाप्सरसामिव ।
शुश्राव काञ्चीनिनदं नूपुराणां च निःस्वनम् ॥ ११ ॥
सोपाननिनदांश्चैव भवनेषु महात्मनाम् ।
आस्फोटितनिनादांश्च क्ष्वेडितांश्च ततस्ततः ॥ १२ ॥

स्वर्गवासिनी अप्सराओं की तरह काम से उन्मत्त हुई स्त्रियों के बिछुवे और करधनी की झनकार, जो स्त्रियों के सीढ़ियों पर चढ़ने उतरने से होती थी—हनुमान जी बलवान् राक्षसों के घरों में सुनते जाते थे। कहीं तालियाँ बजाने और सिंहतुल्य दहाड़ने का शब्द भी सुन पड़ता था ॥ ११ ॥ १२ ॥

शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान्रक्षोगृहेषु वै ।
१स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान्ददर्श सः ॥ १३ ॥

हनुमान जी ने राक्षसों के भवनों में जप करने वाले राक्षसों द्वारा उच्चारित मंत्रों को सुना और स्वाध्यायनिरत राक्षसों को देखा ॥१३॥

रावणस्तवसंयुक्तान्गर्जतो राक्षसानपि ।
राजमार्गं समावृत्य स्थितं रक्षोबलं महत् ॥ १४ ॥

अनेक राक्षसों को रावण की प्रशंसा करते और गर्जते हुए देखा। राजमार्ग को घेरे हुए राक्षसों का एक बड़ा दल खड़ा हुआ था ॥ १४ ॥

ददर्श मध्यमे गुल्मे२ राक्षसस्य चरान्बहून् ।
दीक्षिताञ्जटिलान्मुण्डान्गोजिनाम्बरवाससः† ॥ १५ ॥

---

१ स्वाध्यायनिरतान्—ब्रह्मभागपाठ निरतान् । (गो०) २ मध्यमेगुल्मे—नगरमध्यस्थितसैन्यसमाजे । (गो०) * पाठान्तरे—"मदमत्तानां ।"
† पाठान्तरे—"गोजिनाम्बरधारिणः ।"

नगर के बीच में सैनिकों की जो छावनी थी, उसमें हनुमान जी ने अनेक जासूसों को देखा। इनके अतिरिक्त वहाँ पर बहुत से गृहस्थ जटाधारी, मुड़िया, बैल का चमड़ा वस्त्र की तरह ओढ़े हुए ॥ १५ ॥

दर्भमुष्टिप्रहरणानग्निकुण्डायुधांस्तथा ।
कूटमुद्गरपाणींश्च दण्डायुधधरानपि ॥ १६ ॥

कुश के मूठे से प्रहार करने वाले, मंत्रों द्वारा अग्नि से कृत्या उत्पन्न करने वाले, कटीले मुगदर धारण करने वाले, डंडा-धारी ॥ १६ ॥

एकाक्षानेककर्णांश्च चलल्लम्बपयोधरान् ।
करालान्भुग्नवक्त्रांश्च विकटान्वामनांस्तथा ॥ १७ ॥

एक आँख वाले, अनेक कानों वाले, छाती पर लंबे लटकते हुए स्तनों वाले, देखने में भयङ्कर, टेढ़े मुख वाले, विकट रूप धारी, बौने ॥ १७ ॥

धन्विनः खड्गिनश्चैव शतघ्नीमुसलायुधान् ।
परिघोत्तमहस्तांश्च विचित्रकवचोज्ज्वलान् ॥ १८ ॥

धनुषधारी, खड्गधारी, शतघ्नी और मूसलधारी, परिघ को हाथ में लिये हुए और विचित्र चमकते हुए कवच पहिने हुए राक्षसों को हनुमान जी ने देखा ॥ १८ ॥

नातिस्थूलान्नातिकृशान्नातिदीर्घातिह्रस्वकान् ।
नातिगौरान्नातिकृष्णान्नातिकुब्जान्नवामनान् ॥ १९ ॥

वहाँ ऐसे भी सैनिक राक्षस थे, जो न तो मोटे और न दुबले थे; न लंबे और न ठिगने ही थे। न बहुत गोरे और न बहुत काले थे, न कुबड़े और न बौने ही थे ॥ १९ ॥

विरूपान्बहुरूपांश्च सुरूपांश्च सुवर्चसः ।
ध्वजीन्पताकिनश्चैव ददर्श विविधायुधान् ॥ २० ॥

बदसूरत भी थे, अनेक रूपधारी थे, खूबसूरत थे और तेजस्वी भी थे। कहीं कहीं ध्वजाधारी, पताकाधारी, अनेक आयुधों को धारण करने वाले सैनिक राक्षस भी थे ॥ २० ॥

शक्तिवृक्षायुधांश्चैव पट्टसाशनिधारिणः ।
क्षेपणीपाशहस्तांश्च ददर्श स महाकपिः ॥ २१ ॥

उनमें अनेक ऐसे राक्षसों को हनुमान जी ने देखा जो शक्ति, शूल, पटा, वज्र, गुलेल और पाश धारण किये हुए थे ॥ २१ ॥

स्रग्विणः स्वनुलिप्तांश्च वराभरणभूषितान् ।
नानावेष¹समायुक्तान्यथास्वैरगतान्बहून् ॥ २२ ॥

सब राक्षस माला धारण किये हुए, चंदन लगाये हुए और बढ़िया गहने और वस्त्र पहिने हुए थे। अनेक प्रकार के वेश (फैशन) धारी राक्षसों को स्वतंत्र विहार करते हुए (हनुमान जी ने देखा) ॥ २२ ॥

तीक्ष्णशूलधरांश्चैव वज्रिणाश्च महाबलान् ।
शतसाहस्रमव्यग्रमारक्षं मध्यमं कपिः ॥ २३ ॥

लङ्का के मध्य भाग में एक लाख बलवान और सावधान राक्षस सैनिकों को हाथों में पैने शूल और वज्र लिये हुए हनुमान जी ने देखा ॥ २३ ॥

---

१ वेषः—अलंकारः । (गो०)

रक्षोधिपतिनिर्दिष्टं ददर्शान्तःपुराग्रतः ।
स तदा तद्गृहं दृष्ट्वा महाहाटकतोरणम् ॥ २४ ॥
राक्षसेन्द्रस्य विख्यातमद्रिमूर्ध्नि प्रतिष्ठितम् ।
पुण्डरीकावतंसाभिः परिखाभिः समावृतम् ॥ २५ ॥

फिर जब हनुमान जी रावण के रनवास में पहुँचे, तब वहाँ देखा कि, रावण की आज्ञा से, रनवास के सामने भी राक्षस सैनिक रखवाली कर रहे हैं। तदनन्तर हनुमान जी ने पर्वत के शिखर पर स्थित और प्रसिद्ध रावण का भवन देखा। इस भवन का तोरण द्वार सुवर्ण का बना हुआ था और इस भवन के चारों ओर जल से भरी और कमलों से शोभित खाई थी ॥ २४ ॥ २५ ॥

प्राकारावृतमत्यन्तं ददर्श स महाकपिः ।
त्रिविष्टपनिभं दिव्यं दिव्यनादविनादितम् ॥ २६ ॥

खांई के बाद एक बड़ा ऊँचा परकोटा था। हनुमान जी ने रावण के भवन को स्वर्ग की तरह सुन्दर देखा। उस भवन में स्वर्गीय गाना बजाना हो रहा था ॥ २६ ॥

वाजिहेषितसंघुष्टं नादितं भूषणैस्तथा ।
रथैर्यानैर्विमानैश्च तथा गजहयैः शुभैः ॥ २७ ॥

भवन के द्वार पर घोड़े हिन हिना रहे थे, और वे जो आभूषण धारण किये हुए थे, उनकी झनकार भी हो रही थी। इनके अतिरिक्त विविध प्रकार के रथ आदि सवारियां विमान, और अच्छी नस्ल के हाथी और घोड़े भी मौजूद थे ॥ २७ ॥

वारणैश्च चतुर्दन्तैः श्वेताभ्रनिचयोपमैः ।
भूषितं रुचिरद्वारं मत्तैश्च मृगपक्षिभिः ॥ २८ ॥

भवन के द्वार की शोभा बढ़ाने के लिये सफेद बादल जैसे चार दाँतों वाले बड़े डीलडौल के सफेद हाथी और अनेक प्रकार के मत्त मृग और पक्षी भी थे ॥ २८ ॥

रक्षितं सुमहावीर्यैर्यातुधानैः सहस्रशः ।
राक्षसाधिपतेर्गुप्तमाविवेश *गृहं कपिः ॥ २९ ॥

जिस राजभवन की रक्षा के लिये हज़ारों महाबली और पराक्रमी राक्षस नियुक्त थे, उसके भीतर हनुमान जी ने प्रवेश किया ॥ २९ ॥

सहेमजाम्बूनदचक्रवालं[1]
महार्हमुक्तामणिभूषितान्तम् ।
परार्ध्यकालागुरुचन्दनार्क्तं
स रावणान्तःपुरमाविवेश ॥ ३० ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

रावण के भवन का परकोटा विशुद्ध उत्तम सुवर्ण का बना हुआ था और उसमें यथास्थान बड़े बड़े मूल्यवान मोती और मणियों के नग जड़े हुए थे। रावण का अन्तःपुर सदा चन्दन गुग्गुल आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित रहता था। ऐसे राजभवन में हनुमान जी ने प्रवेश किया ॥ ३० ॥

सुन्दरकाण्ड का चौथा सर्ग पूरा हुआ

---

१ चक्रवालं—प्राकारमण्डलं । (गो०) * पाठान्तरे—"महाकपिः ।"

पञ्चमः सर्गः

—※—

ततः स मध्यं गतमंशुमन्तं
ज्योत्स्नावितानं महदुद्वमन्तम् ।
ददर्श धीमान्दिवि भानुमन्तं
गोष्ठे वृषं मत्तमिव भ्रमन्तम् ॥ १ ॥

हरिगीतिका

नभमधि प्रकासित तेज-धर ससि चन्द्रिकहिँ फैलावतो ।
अति दिपत जिमि वृष मत्त घूमत गोठ मैं छवि छावतो ॥ १ ॥

लोकस्य पापानि विनाशयन्तं
महोदधिं चापि समेधयन्तम् ।
भूतानि सर्वाणि विराजयन्तं[२]
ददर्श शीतांशुमथाभियान्तम् ॥ २ ॥

नासत जगत-दुख और पारावार परम वढ़ावतो ।
जीवन प्रकासित करत हिमकर लख्यो नभ मधि आवतो ॥ २ ॥

या भाति लक्ष्मीर्भुवि मन्दरस्था
तथा प्रदोषेषु च सागरस्था ।
तथैव तोयेषु च पुष्करस्था
रराज सा चारुनिशाकरस्था ॥ ३ ॥

---

१ पापानि—दुःखानि । (गो०) २ विराजयन्तं—प्रकाशयन्तं । (शि०)

छवि लसत मन्दर भूमि जो परदेस में सागर लसै।
जो नीर मधि नीरजन में सो सुछवि हिमकर में बसै॥ ३॥

हंसो यथा राजतपञ्जरस्थः
सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थ-
श्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाऽम्बरस्थः॥ ४॥

जिमि रजत पिंजर हँस केहरि बसत मन्दर माहिँ ज्यों।
जिमि वीर कुंजर बैठि हिमकर लसत अम्बर माहिँ त्यों॥ ४॥

स्थितः ककुद्मानिव तीक्ष्णशृङ्गो
महाचलः श्वेत इवोच्चशृङ्गः।
हस्तीव जाम्बूनदबद्धशृङ्गो[1]
विभाति चन्द्रः परिपूर्णशृङ्गः॥ ५॥

जिमि वृषभ तीछन-सृङ्ग गिरिवर सेतसृङ्गन सोहई।
गज हेमभूषित तथा पूरन कला सों ससि छवि भई॥ ५॥

विनष्टशीताम्बुतुषारपङ्को
महाग्रहग्राहविनष्टपङ्कः।
प्रकाशलक्ष्म्याश्रयनिर्मलाङ्को
रराज चन्द्रो भगवाञ्शशाङ्कः॥ ६॥

तम सीत जल अरु तुहिन को रवि किरन कीनो नास है।
निरमल कलङ्कहु तेज सों अति ससि करत परकास है॥ ६॥

---

१ जाम्बूनदबद्धशृङ्गो—सुवर्णबद्ध दन्तः। (शि०)

शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो
महारण्यं प्राप्य यथा गजेन्द्रः ।
राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्रः-
तथा प्रकाशो विरराज चन्द्रः ॥ ७ ॥

जिमि पाइ केहरि सिलातल कों महारन कों गज जथा ।
जिमि राज लहि राजा लसत परकास-मय हिमकर तथा ॥ ७ ॥

प्रकाशचन्द्रोदयनष्टदोषः
प्रवृद्धरक्षःपिशिताशदोषः ।
रामाभिरामेरितचित्तदोषः
स्वर्गप्रकाशो भगवान्प्रदोषः ॥ ८ ॥

ससि तेज तम दुरि बढ्यो आमिष-भखन रजनीचरन को ।
रमनी-प्रनय-कलहहिँ दुराइ प्रदोस है सुखकरन को ॥ ८ ॥

तन्त्रीस्वनाः कर्णसुखाः प्रवृत्ताः
स्वपन्ति नार्यः पतिभिः सुवृत्ताः ।
नक्तंचराश्चापि तथा प्रवृत्ता
विहर्तुमत्यद्भुतरौद्रवृत्ताः ॥ ९ ॥

सोईं लपटि तिय पियन कानहुँ बीन-सुर-सुख सों पगे ।
अति क्रूर अद्भुत चरित निसिचर-गन सबै विहरन लगे ॥ ९ ॥

मत्तप्रमत्तानि समाकुलानि
रथाश्वभद्रासनसङ्कुलानि ।

वीरश्रिया चापि समाकुलानि
दुदर्श धीमान्स कपिः कुलानि ॥ १० ॥
मदमत्त रजनीचर सुरथ हय हेम आसन सों भर्यो ।
वर वीर-सोभाजुत निसाचर-कुलहिं अवलोकन कर्यो ॥ १० ॥

परस्परं चाधिकमाक्षिपन्ति
भुजांश्च पीनानधिविक्षिपन्ति ।
मत्तप्रलापानधिविक्षिपन्ति*
मत्तानि चान्योन्यमधिक्षिपन्ति ॥ ११ ॥
कोऊ विवादहिं करत आपुस माहिं भुजहिं लड़ावते ।
ह्वै मत्त करत प्रलाप इक कों एक डपटि डरावते ॥ ११ ॥

रक्षांसि वक्षांसि च विक्षिपन्ति
गात्राणि कान्तासु च विक्षिपन्ति ।
रूपाणि चित्राणि च विक्षिपन्ति
दृढानि चापानि च विक्षिपन्ति ॥ १२ ॥
उर सों मिलावत उर बदन कोउ तियन सों लपटावते ।
कोऊ सँवारत अंग निज कोऊ धनुष टनकावते ॥ १२ ॥

दुदर्श कान्ताश्च †समालपन्त्य-
स्तथापरास्तत्र पुनः स्वपन्त्यः ।
सुरूपवक्त्राश्च तथा हसन्त्यः
क्रुद्धाः पराश्चापि विनिःश्वसन्त्यः ॥ १३ ॥

* पाठान्तरे—"मत्तप्रलापानधिकं क्षिपन्ति ।" † पाठान्तरे—"समाश्वसन्त्यः॥"

ता ठाम कोउ सोए कोऊ प्यारिन सिँगारहिं चोप सोँ।
सुन्दर-वदन कोउ हँसत लेत उसाँस कोऊ कोप सोँ॥ १३॥

महागजैश्चापि तथा नदद्भिः
सुपूजितैश्चापि तथा सुसद्भिः।
रराज वीरैश्च विनिःश्वसद्भि-
र्ह्रदो भुजङ्गैरिव निश्वसद्भिः॥ १४॥

गज नदत कहुँ सज्जन सुपूजित बसत सोभा धारते।
कहुँ वीर लेत उसाँस मनु सर में सरप फुँफकारते॥ १४॥

बुद्धिप्रधानान्रुचिराभिधाना-
न्संश्रद्दधानाञ्जगतः प्रधानान्।
नानाविधानान्रुचिराभिधानान्-
ददर्श तस्यां पुरि यातुधानान्॥ १५॥

बोलत मधुर सद्धालु बुद्धि-प्रधान जगत-प्रधान ते।
नाना विधिन के जातुधान बने रुचिर-अभिधान ते॥ १५॥

ननन्द दृष्ट्वा च स तान्सुरूपान्-
नानागुणानात्मगुणानुरूपान्।
विद्योतमानान्स तदानुरूपा-
न्ददर्श कांश्चिच्च पुनर्विरूपान्॥ १६॥

हरष्यो निरखि अनुरूप गुन के बपु विविध विधि सोहने।
कोउ कुरूपहु निज तेज सोँ लखि परैँ जनु सुन्दर बने॥ १६॥

ततो वरार्हाः सुविशुद्धभावाः
तेषां स्त्रियस्तत्र महानुभावाः ।
प्रियेषु पानेषु च सक्तभावा
ददर्श तारा इव सुप्रभावाः ॥ १७ ॥

भूषन धरे कल-भाव को तिन नारि परम प्रभाव की ।
आसक्त प्रिय अरु पान में तारा सरिस सुप्रभाव की ॥ १७ ॥

श्रिया ज्वलन्तीस्त्रपयोपगूढा
निशीथकाले रमणोपगूढाः ।
ददर्श काश्चित्प्रमदोपगूढा
यथा विहङ्गाः कुसुमोपगूढाः ॥ १८ ॥

छवि सों दिपत कोउ लजत आधी रात रमत उमङ्ग सों ।
सुन्दरिन निरख्यो मनहुँ विहँगो लपटि रहीं विहङ्ग सों ॥ १८ ॥

अन्याः पुनर्हर्म्यतलोपविष्टाः
तत्र प्रियाङ्केषु सुखोपविष्टाः ।
भर्तुः प्रिया धर्मपरा निविष्टा
ददर्श धीमान्मदनाभिविष्टाः ॥ १९ ॥

कोऊ महल के छतन बैठीं अङ्क में निज पियन के ।
पतिव्रता धर्मव्रता. मदन-वेधित हृदय कोउ तियन के ॥ १९ ॥

अप्रावृताः काञ्चनराजिवर्णाः
काश्चित्परार्घ्यास्तपनीयवर्णाः ।

पुनश्च काश्चिच्छशलक्ष्मवर्णाः
कान्तप्रहीणा रुचिराङ्गवर्णाः ॥ २० ॥

कञ्चन-वदनि बिनु ओढ़ने कोउ तप्त-सुवरन वरन की।
प्रिय सों मिलत कोउ सुन्दरी तहँ चन्द्रमा सम-वदन की ॥ २० ॥

ततः प्रियान्प्राप्य मनोभिरामान्
सुप्रीतियुक्ताः सुमनोभिरामाः ।
गृहेषु हृष्टाः परमाभिरामा
हरिप्रवीरः स ददर्श रामाः ॥ २१ ॥

निज पियन पाइ सनेह बस अभिराम कुसुमन सों बनी।
गृह में मुदित छबि धाम नारिन लखेउ कपि सोभा-सनी ॥ २१ ॥

चन्द्रप्रकाशाश्च हि वक्त्रमाला
वक्राक्षिपक्ष्माश्च सुनेत्रमालाः ।
विभूषणानां च ददर्श मालाः
शतह्रदानामिव चारुमालाः ॥ २२ ॥

कल-नयन टेढ़ी-भौहँ जुत तिन वदन ससि सम सोहते।
भूषन सजे बिज्जुरीन की अवली सरिस मन मोहते ॥ २२ ॥

न त्वेव सीतां परमाभिजातां
पथि स्थिते राजकुले प्रजाताम् ।
लतां प्रफुल्लामिव साधुजातां
ददर्श तन्वीं मनसाऽभिजाताम् ॥ २३ ॥

मन सों विधाता ने सृजी फूली लता सम सुन्दरी।
जनमी सनातन-राज-कुल सीता न पै तहँ लखि परी ॥ २३ ॥

सनातने वर्त्मनि सन्निविष्टां
रामेक्षणां तां मदनाभिविष्टाम्।
भर्तुर्मनः श्रीमदनुप्रविष्टां
स्त्रीभ्यो वराभ्यश्च सदा विशिष्टाम् ॥ २४ ॥

तापित मदन सों थित सनातन धरम ध्यावत राम कों।
निज स्वामि मन पैठी मनहुँ उत्कृष्ट सब ही वाम सों ॥ २४ ॥

उष्णार्दितां सानुसृतास्रकण्ठीं
पुरा वराहोत्तमनिष्ककण्ठीम्।
सुजातपक्ष्मामभिरक्तकण्ठीं
वने प्रनृत्तामिव नीलकण्ठीम् ॥ २५ ॥

वर-कण्ठ भूषन जोग आँसुन सिँच्यो तापित विरहिनी।
कल-भौंहँ कोमल-कण्ठ की वन माहिँ मनहुँ मयूरिनी ॥ २५ ॥

अव्यक्तरेखामिव चन्द्ररेखां
पांसुप्रदिग्धामिव हेमरेखाम्।
क्षतप्ररूढामिव वाणरेखां
वायुप्रभिन्नामिव मेघरेखाम् ॥ २६ ॥

रज धूमरित जिमि हेमरेखा सषिकला धूमिज भई।
क्षत वान के आघात को घन-अवलि वायु बिखरि गई ॥ २६ ॥

सीतामपश्यन्मनुजेश्वरस्य
रामस्य पत्नीं वदतां वरस्य।

बभूव दुःखाभिहतश्चिरस्य
प्लवङ्गमो मन्द इवाचिरस्य ॥ २७ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

दोहा

तिमि मनुजाधिप राम की तिय सिय निरख्यो नाहिँ ।
भयो मन्दमति सम दुखित कपिबर निज मन माहिँ ॥ २७ ॥

[नोट—यह कविता काशीवासी बा० कृष्णचन्द्र कृत "वाल्मीकीय सुन्दर काण्ड के पद्यानुवाद" से उद्धृत की गयी है ।]

सुन्दरकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षष्ठः सर्गः

—※—

स निकामं विमानेषु विषण्णः कामरूपधृत् ।
विचचार *कपिर्लङ्कां लाघवेन समन्वितः ॥ १ ॥

अपनी इच्छानुसार रूप धारण किये कपिश्रेष्ठ हनुमान, विषादित हो, जल्दी जल्दी अटारियों पर चढ़ चढ़ कर, लङ्कापुरी में विचरने लगे ॥ १ ॥

आससादाथ लक्ष्मीवान्राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ।
प्राकारेणार्कवर्णेन भास्वरेणाभिसंवृतम् ॥ २ ॥

* पाठान्तरे—" पुनर्लङ्कां । "

वे राक्षसराज रावण के भवन के समीप पहुँचे। वह राजभवन सूर्य सदृश चमकीले परकोटे से घिरा हुआ था ॥ २ ॥

रक्षितं* राक्षसैर्भीमैः सिंहैरिव महद्वनम् ।
समीक्षमाणो भवनं [1]चकाशे कपिकुञ्जरः ॥ ३ ॥

जिस प्रकार सिंहों से कोई महावन रक्षित होता है, उसी प्रकार वह राजभवन बड़े बड़े राक्षसों से रक्षित था। उस राजभवन की बनावट और सजावट देख हनुमान जी प्रसन्न हो गये ॥ ३ ॥

रूप्यकोपहितैश्चित्रैस्तोरणैर्हेमभूषितैः ।
विचित्राभिश्च कक्ष्याभिर्द्वारैश्च रुचिरैर्वृतम् ॥ ४ ॥

उस राजभवन का तोरणद्वार चाँदी का था और चाँदी के ऊपर सोने का काम किया गया था। उस भवन की ड्योढ़ियाँ तरह तरह की बनी हुई थीं। वहाँ की भूमि और दरवाज़े विविध प्रकार के बने थे। वे देखने में सुन्दर और भवन की शोभा बढ़ाने वाले थे ॥ ४ ॥

गजास्थितैर्महामात्रैः[2] शूरैश्च विगतश्रमैः ।
उपस्थितमसंहार्यैर्हयैः[3] स्यन्दनयायिभिः ॥ ५ ॥

वहाँ पर श्रमरहित (अथवा सहसा न थकने वाले) शूरवीर और हाथियों पर चढ़े हुए महावत, मौजूद थे। ऐसे वेगवान कि, जिनका वेग कोई रोक न सके, ऐसे रथों में जोते जाने वाले घोड़े भी वहाँ उपस्थित थे ॥ ५ ॥

---

१ चकाशे—जहर्षेत्यर्थः। (गो०) २ महामात्रैर्हस्तिपकैः। (रा०)
३ असंहार्यैः—प्रतिहतवेगैः (रा०) * पाठान्तरे—"राक्षसैर्घोरैः।"

सिंहव्याघ्रतनुत्राणैर्दान्तकाञ्चनराजतैः ।
घोषवद्भिर्विचित्रैश्च सदा विचरितं रथैः ॥ ६ ॥

सिंह और व्याघ्र के चर्म को धारण किये हुए ; सोने, चांदी, और हाथीदांत की प्रतिमाओं (खिलौनों) से सुसज्जित तथा गम्भीर शब्द करने वाले विचित्र रथ, भवन के चारों ओर (रक्षा के लिये) घूमा करते थे ॥ ६ ॥

बहुरत्नसमाकीर्णं परार्ध्यासनभाजनम् ।
*महारथसमावापं महारथमहास्वनम् ॥ ७ ॥

वहां पर विविध प्रकार के श्रेष्ठ अनेक रत्नजटित मूढ़े, कुर्सी आदि रखे हुए शोभा दे रहे थे। वहाँ पर बड़े बड़े महारथियों के रहने के मकान (बारकें) बने हुए थे और वहाँ सदा महारथियों का सिंहनाद हुआ करता था। अर्थात् राजभवन के पहरे पर बड़े बड़े महारथी नियुक्त थे ॥ ७ ॥

[नोट—महारथी का लक्षण यह बतलाया गया है :—

एकादश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते ॥]

दृश्यैश्च [1]परमोदारैस्तैस्तैश्च मृगपक्षिभिः ।
विविधैर्बहुसाहस्रैः परिपूर्णं समन्ततः ॥ ८ ॥

वह राजभवन बड़े बड़े डीलडौल के हज़ारों देखने योग्य पक्षियों और मृगों से भरा हुआ था ॥ ८ ॥

विनीतैरन्तपालैश्च[2] रक्षोभिश्च सुरक्षितम् ।
मुख्याभिश्च वरस्त्रीभिः परिपूर्णं समन्ततः ॥ ९ ॥

---

१ परमोदारैः—अतिमहद्भिः । (शि०) २ अन्तपालैः—बाह्यरक्षिभिः (गो०) * पाठान्तरे—" महारथसमावासं । "

विनीत वाहनरक्षक राक्षसों द्वारा उस राजभवन की रखवाली की जाती थी और मुख्य मुख्य सुन्दरी स्त्रियाँ उस राजभवन में सर्वत्र देख पड़ती थीं ॥ ९ ॥

मुदितप्रमदारत्नं राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ।
वराभरणसंह्रादैः समुद्रस्वननिःस्वनम् ॥ १० ॥

प्रसन्नवदना स्त्रीरत्नों के सुन्दर आभूषणों की मधुर झनकार से रावण का राजभवन समुद्र की तरह (सदा) शब्दायमान रहा करता था ॥ १० ॥

तद्राजगुणसम्पन्नं[1] मुख्यैश्चागुरुचन्दनैः ।
महाजनैः समाकीर्णं सिंहैरिव महद्वनम् ॥ ११ ॥

वह सुगन्धित धूपादि मुख्य मुख्य राजोपचार सामग्रियों से परिपूर्ण था । जिस प्रकार महावन में सिंह रहें, उसी प्रकार उस भवन में मुख्य मुख्य राक्षस रहा करते थे ॥ ११ ॥

भेरीमृदङ्गाभिरुतं शङ्खघोषविनादितम् ।
नित्यार्चितं पर्वहुतं पूजितं राक्षसैः सदा ॥ १२ ॥

वह भेरी, मृदंग, और शङ्ख के शब्दों से प्रतिध्वनित हुआ करता था तथा उस भवन में नित्य अर्चन और पर्व दिवसों में राक्षसों द्वारा हवनादि भी हुआ करते थे ॥ १२ ॥

समुद्रमिव गम्भीरं समुद्रमिव निःस्वनम् ।
महात्मनो महद्वेश्म महारत्नपरिच्छदम् ॥ १३ ॥

---

१ राजगुणसम्पन्नः—राजोपचारैर्धूपादिभिः सम्पन्नं । (गो०)

महारत्नसमाकीर्णं ददर्श स महाकपिः ।
विराजमानं वपुषा गजाश्वरथसङ्कुलम् ॥ १४ ॥

(कभी कभी) रावण के डर के मारे राजभवन समुद्र की तरह गम्भीर और निःशब्द बना रहता था। अर्थात् वहाँ कोलाहल नहीं होने पाता था। उत्तम उत्तम सामग्री से तथा भरे हुए उत्तम रत्नों से रावण के विशाल राजभवन को हनुमान जी ने देखा। उस भवन में जहाँ तहाँ गज, अश्व और रथ मौजूद थे ॥ १३ ॥ १४ ॥

लङ्काभरणमित्येव सोऽमन्यत महाकपिः ।
चचार हनुमांस्तत्र रावणस्य समीपतः ॥ १५ ॥

हनुमान जी ने उस राजभवन को लङ्कापुरी का भूषण समझा। वे अब उस स्थान पर गये, जहाँ रावण सो रहा था ॥ १५ ॥

गृहाद्गृहं राक्षसानामुद्यानानि च वानरः ।
वीक्षमाणो ह्यसंत्रस्तः प्रासादांश्च चचार सः ॥ १६ ॥

हनुमान जी राक्षसों के एक घर से दूसरे घर में तथा उनके उद्यानों में जा जा कर, सीता को ढूढ़ रहे थे। यद्यपि वे रूप बदल कर घूम रहे थे, तथापि उनको किसी प्रकार का भय नहीं था। वे भवनों में घूम फिर रहे थे ॥ १६ ॥

अवप्लुत्य महावेगः प्रहस्तस्य निवेशनम् ।
ततोऽन्यत्पुप्लुवे वेश्म महापार्श्वस्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

महावेगवान् हनुमान जी कूद कर प्रहस्त के भवन में घुसे। वहाँ से कूद कर, महाबली महापर्श्व के घर में गये ॥ १७ ॥

अथ मेघप्रतीकाशं कुम्भकर्णनिवेशनम् ।
विभीषणस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ॥ १८ ॥

तदनन्तर वे कुम्भकर्ण के मेघ की सदृश विशाल भवन में गये । वहाँ से छलांग मार वे विभीषण के घर पर पहुँचे ॥ १८ ॥

महोदरस्य च गृहं विरूपाक्षस्य चैव हि ।
विद्युज्जिह्वस्य भवनं विद्युन्मालेस्तथैव च ॥ १९ ॥

वज्रदंष्ट्रस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ।
शुकस्य च *महावेगः सारणस्य च धीमतः ॥ २० ॥

तदनन्तर क्रमशः उन्होंने महोदर, विरूपाक्ष, विद्युजिह्व, विद्युन्माली, वज्रदंष्ट्र, महावेगवान शुक और बुद्धिमान् सारण के घरों की तलाशी ली ॥ १६ ॥ २० ॥

तथा चेन्द्रजितो वेश्म जगाम हरियूथपः ।
जम्बुमालेः सुमालेश्च जगाम †भवनं ततः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे वानरयूथपति हनुमान जी इन्द्रजीत—मेघनाद के घर में गये। वहाँ से वे जम्बुमाली, सुमाली के भवनों में गये ॥ २१ ॥

रश्मिकेतोश्च भवनं सूर्यशत्रोस्तथैव च ।
वज्रकायस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ॥ २२ ॥

हनुमान जी ने रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु और वज्रकाय के घरों में जाकर सीता को ढूँढा ॥ २२ ॥

* पाठान्तरे—" महातेजाः ।" † पाठान्तरे—" हरिसत्तमः ।"

धूम्राक्षस्याथ सम्पातेर्भवनं मारुतात्मजः ।
विद्युद्रूपस्य भीमस्य घनस्य विघनस्य च ॥ २३ ॥

पवननन्दन हनुमान जी ने धूम्राक्ष, सम्पात, विद्युद्रूप, भीम, घन और विघन के घरों को ढूँढ़ा ॥ २३ ॥

शुकनासस्य वक्रस्य शठस्य विकटस्य च ।
ह्रस्वकर्णस्य दंष्ट्रस्य रोमशस्य च रक्षसः ॥ २४ ॥

फिर शुकनास, वक्र, शठ, विकट, ह्रस्वकर्ण, दंष्ट्र, रोमश राक्षस के घरों को देखा ॥ २४ ॥

युद्धोन्मत्तस्य मत्तस्य ध्वजग्रीवस्य *रक्षसः ।
विद्युज्जिह्वेन्द्रजिह्वानां तथा हस्तिमुखस्य च ॥ २५ ॥

फिर वे युद्धोन्मत्त, मत्त, ध्वजग्रीव, विद्युजिह्व, इन्द्रजिह्व और हस्तिमुख नामक राक्षसों के घरों में गये ॥ २५ ॥

करालस्य पिशाचस्य शोणिताक्षस्य चैव हि ।
क्रममाणः क्रमेणैव हनुमान्मारुतात्मजः ॥ २६ ॥

फिर कराल, पिशाच, शोणिताक्ष के घरों में पवननन्दन हनुमान जी क्रमशः गये ॥ २६ ॥

तेषु तेषु महार्हेषु भवनेषु महायशाः ।
तेषामृद्धिमतामृद्धिं ददर्श स महाकपिः ॥ २७ ॥

इन सब बड़े भवनों में जा जा कर, इन ऋद्धिशाली राक्षसों की समृद्धिशालीनता हनुमान जी ने देखी ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—"नादिनः" वा "सादिनः।"

सर्वेषां समतिक्रम्य भवनानि महायशाः* ।
आससादाथ लक्ष्मीवान्राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ॥ २८ ॥

इन सब भवनों में होते हुए बड़े यशस्वी हनुमान जी, प्रतापी राक्षसराज रावण के भवन में पहुँचे ॥ २८ ॥

रावणस्योपशायिन्यो ददर्श हरिसत्तमः ।
विचरन्हरिशार्दूलो राक्षसीर्विकृतेक्षणाः ॥ २९ ॥

हनुमान जी ने वहाँ जा कर देखा कि, रावण पड़ा सो रहा है। राजभवन में घूमते हुए हनुमान जी ने बड़ी भयङ्कर सूरत वाली राक्षसियों को रावण के शयनगृह की रक्षा करते हुए देखा ॥ २९ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च शक्तितोमरधारिणीः ।
ददर्श विविधान्गुल्मांस्तस्य रक्षःपतेर्गृहे ॥३०॥

वे हाथों में त्रिशूल, मुग्दर, शक्ति, तोमर लिये हुए थीं। हनुमान जी ने रावण के घर में विविध सूरत शक्ल को और विविध प्रकार के आयुधों को लिये हुए राक्षसियों के दलों को देखा ॥ ३० ॥

[नोट—"गुल्म" का अर्थ दल अथवा टोली है। इसे दस्ता भी कह सकते हैं। ऐसे प्रत्येक दल या दस्ते में ९ हाथी, ९ रथ, २७ घोड़े और ४५ पैदल हुआ करते थे।]

राक्षसांश्च महाकायान्नानाप्रहरणोद्यतान् ।
रक्तान्श्वेतान्सि[1]तांश्चापि हरींश्चापि महाजवान् ॥३१॥

कुलीनान्रूपसम्पन्नान्गजान्परगजारुजान् ।
निष्ठितान्गजशिक्षायामैरावतसमान्युधि ॥ ३२ ॥

---

1 सितान्—बद्धान् । (गो०) * पाठान्तरे—"समन्ततः"।

निहन्तॄन्परसैन्यानां गृहे तस्मिन्ददर्श सः ।
क्षरतश्च यथा मेघान्स्रवतश्च यथा गिरीन् ॥ ३३ ॥

मेघस्तनितनिर्घोषान्दुर्धर्षान्समरे परैः ।
सहस्रं *वाजिनां तत्र जाम्बूनदपरिष्कृतम्† ॥ ३४ ॥

ददर्श राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य निवेशने ।
शिविका विविधाकाराः स कपिर्मारुतात्मजः ॥ ३५ ॥

इन पहरेवालियों के अतिरिक्त वहाँ पर विशालकाय और शस्त्रधारण किये हुए राक्षस भी थे और लाल और सफेद रंग के घोड़े भी बँधे हुए थे। कुलीन और सुन्दर हाथियों को, जो शत्रु के हाथियों को मारने वाले, शिक्षित, रण में ऐरावत के तुल्य शत्रु-सैन्य का नाश करने वाले, मेघों की तरह मद को चुआने वाले अथवा झरने की तरह मद की धारा को बहाने वाले, मेघों की तरह चिंघारने वाले, युद्ध में शत्रु से दुर्धर्ष थे, देखे; तथा कलाबत्तू के सामान से सजी हुई घुड़सवार सेना भी हनुमानजी ने राक्षस-राज रावण के घर में देखी। पवननन्दन हनुमान जी ने विविध प्रकार की पालकियाँ भी देखीं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

हेमजालपरिच्छन्नास्तरुणादित्यवर्चसः ।
लतागृहाणि चित्राणि चित्रशालागृहाणि च ॥ ३६ ॥

क्रीडागृहाणि चान्यानि दारुपर्वतकानपि ।
कामस्य गृहकं रम्यं दिवागृहकमेव च ॥ ३७ ॥

---

* पाठान्तरे—"वाहिनीस्तत्र।" † पाठान्तरे—"परिष्कृताः।"

ददर्श राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य निवेशने ।
स मन्दरगिरिप्रख्यं मयूरस्थानसङ्कुलम् ॥ ३८ ॥

ये पालकियाँ सुवर्ण की जालियों से भूषित, मध्यान्ह के सूर्य की तरह चमचमाती थीं। अनेक चित्र विचित्र लतागृह, चित्रशालाएँ, क्रीड़ागृह, काठ के पहाड़, रतिगृह और दिन में विहार करने के गृह हनुमान जी ने राक्षसेन्द्र रावण के भवन में देखे। उस भवन में एक स्थान मन्दराचल की तरह विशाल था, जिस पर मोरों के रहने के स्थान बने हुए थे ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

ध्वजयष्टिभिराकीर्णं ददर्श भवनोत्तमम् ।
अनन्तरत्नसङ्कीर्णं निधिजालसमावृतम् ॥ ३९ ॥

और वहाँ ध्वजाएँ फहरा रही थीं। कहीं पर रत्नों के ढेर लगे हुए थे और कहीं पर विविध प्रकार का द्रव्य एकत्र था, (ऐसा सर्वश्रेष्ठ भवन हनुमान जी ने देखा) ॥ ३६ ॥

धीरनिष्ठितकर्मान्तं गृहं [1]भूतपतेरिव ।
अर्चिर्भिश्चापि रत्नानां तेजसा रावणस्य च ॥ ४० ॥

विरराजाथ तद्वेश्म रश्मिमानिव रश्मिभिः ।
जाम्बूनदमयान्येव शयनान्यासनानि च ॥ ४१ ॥

भाजनानि च *शुभ्राणि ददर्श हरियूथपः ।
मध्वासवकृतक्लेदं मणिभाजनसङ्कुलम् ॥ ४२ ॥

---

१ भूतपतेर्यक्षेश्वरस्य वा (रा०), ब्रह्मणः । (शि०) * पाठान्तरे—
" मुख्यानि । "

वहाँ पर निर्भीक, स्थिरचित्त राक्षस उन निधियों की रक्षा कर रहे थे। उस घर की शोभा ऐसी हो रही थी, जैसी कि, यक्षराज कुवेर के घर की होती है। रत्नों के प्रकाश और रावण के तेज से वह भवन ऐसा शोभित हो रहा था, जैसे सूर्य अपनी किरणों से शोभित होते हैं। वहाँ पर हनुमान जी ने ज़रदोज़ी के काम के उत्तमोत्तम बिस्तरे तथा आसन और चाँदी के स्वच्छ बरतन देखे। मद्य व आसव से वह घर तर था अर्थात् उस घर में मदिरा और आसवों का कीचड़ हो रहा था और जगह जगह मणियों के बने (शराब पीने के) पात्र ढेर के ढेर इकट्ठे किये हुए थे॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

मनोरममसम्बाधं कुवेरभवनं यथा।
नूपुराणां च घोषेण काञ्चीनां निनदेन च।
मृदङ्गतलघोषैश्च घोषवद्भिर्विनादितम्॥ ४३॥

उस घर में सब वस्तुएँ मनोहर और यथास्थान नियम से रखी हुई थीं। वह घर कुवेरभवन की तरह रमणीक था। कहीं नूपुरों की छम छम, कहीं करधनियों की झनकार, कहीं मृदङ्ग की गमक और कहीं ताल सुन पड़ता था। इस प्रकार के विविध शब्दों से वह घर नादित था॥ ४३ ॥

प्रासादसङ्घातयुतं स्त्रीरत्नशतसङ्कुलम्॥ ४४॥
सुव्यूढकक्ष्यं हनुमान्प्रविवेश महागृहम्।

इति षष्ठः सर्गः॥

भवन में अनेक अटारियाँ बनी हुई थीं, जिनमें सैकड़ों सुन्दरी स्त्रियाँ भरी पड़ी थीं। उस भवन की ड्योढ़ियाँ बड़ी मज़बूत बनी हुई थीं। ऐसे उस विशाल भवन में हनुमान जी गये॥ ४४ ॥

सुन्दरकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

सप्तमः सर्गः

[पुष्पक विमान-वर्णन]

स वेश्मजालं बलवान्ददर्श
व्यासक्तवैडूर्यसुवर्णजालम् ।
यथा महत्प्रावृषि मेघजालं
विद्युत्पिनद्धं सविहङ्गजालम् ॥ १ ॥

बलवान हनुमान जी उन घरों के समूहों को देखते चले जाते थे, जिनमें पन्नों के और सोने के झरोखे बने हुए थे। उन घरों की वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसी शोभा वर्षाकालीन मेघों की बिजुली और बकपंक्ति से होती है ॥ १ ॥

निवेशनानां विविधाश्च शालाः
प्रधानशङ्खायुधचापशालाः ।
मनोहराश्चापि पुनर्विशाला
ददर्श वेश्माद्रिषु चन्द्रशालाः ॥ २ ॥

उस विशाल भवन के भीतर रहने बठने सोने आदि के लिये विविध दालान कोठे बने हुए थे। उनमें शङ्खों शस्त्रों और धनुषों के रखने के कमरे बने हुए थे। उन पर्वताकार भवन समूहों के ऊपर बनी हुई अटारियों को, (जिनको चन्द्रशाला भी कहते हैं) हनुमान जी ने देखा ॥ २ ॥

गृहाणि नानावसुराजितानि
देवासुरैश्चापि सुपूजितानि ।

सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि
कपिर्ददर्श स्वबलार्जितानि ॥ ३ ॥

विविध प्रकार के द्रव्यों से परिपूर्ण, क्या देवता, क्या असुर सब से पूजित (अर्थात् क्या देवता और क्या असुर सभी इनमें रहने को लालायित रहते थे), समस्त दोषों से रहित और रावण के निज भुजबल से सम्पादित इन भवनों को हनुमान जी ने देखा ॥ ३ ॥

तानि प्रयत्नाभिसमाहितानि
मयेन साक्षादिव निर्मितानि ।
महीतले सर्वगुणोत्तराणि
ददर्श लङ्काधिपतेर्गृहाणि ॥ ४ ॥

बड़े प्रयत्न और सावधानी से मानों साक्षात् मय नाम के दैत्य द्वारा निर्मित और इस भूमण्डल पर सब प्रकार से श्रेष्ठ, रावण के इन भवनों को हनुमान जी ने देखा ॥ ४ ॥

ततो ददर्शोच्छ्रितमेघरूपं
मनोहरं काञ्चनचारुरूपम् ।
रक्षोधिपस्यात्मबलानुरूपं
गृहोत्तमं ह्यप्रतिरूपरूपम् ॥ ५ ॥

ये अत्यन्त ऊँचे मेघाकार, मनोहर, सोने के बने, राक्षसराज रावण के बल के अनुरूप और अनुपम उत्तम भवन थे ॥ ५ ॥

महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णं
श्रिया ज्वलन्तं बहुरत्नकीर्णम् ।

नानातरूणां कुसुमावकीर्णं
गिरेरिवाग्रं रजसावकीर्णम् ॥ ६ ॥

ये भवन मानों पृथिवी पर उतरे हुए स्वर्ग के समान कान्तिमान् और विविध प्रकार के बहुत से रत्नों से भरे हुए थे। इन विविध प्रकार के रत्नों से भरे होने के कारण, वे घर पुष्पों और पुष्पपराग से पूर्ण पर्वतशिखर जैसे जान पड़ते थे ॥ ६ ॥

[1]नारीप्रवेकैरिव दीप्यमानं
तडिद्भिरम्भोदवदर्च्यमानम् ।
हंसप्रवेकैरिव वाह्यमानं
श्रिया युतं खे *सुकृतं विमानम् ॥ ७ ॥

राक्षसराज रावण का वह राजभवन श्रेष्ठ सुन्दरियों से ऐसा प्रकाशमान हो रहा था, जैसे बिजलियों से मेघ की घटा प्रकाशित होती है। अथवा पुण्यवान् जन का हंसयुक्त आकाशचारी विमान शोभायमान होता है ॥ ७ ॥

यथा नगाग्रं बहुधातुचित्रं
यथा नभश्च ग्रहचन्द्रचित्रम् ।
ददर्श युक्तीकृतमेघचित्रं
विमानरत्नं[2] बहुरत्नचित्रम् ॥ ८ ॥

जैसे अनेक धातुओं से रंग विरंगे पर्वतशिखर की शोभा होती है अथवा जैसे चन्द्रमा और ग्रहों से भूषित आकाश और जैसे

---

१ नारीप्रवेकैः—नारीश्रेष्ठैः। (गो०) २ विमानरत्नं—पुष्पकं। (गो०)

* पाठान्तरे—"सुकृतां।"

नाना रंगों से युक्त मेघों की घटा शोभित जान पड़ती है, वैसे ही रत्नजटित रावण का विचित्र पुष्पक नामक विमान हनुमान जी ने देखा ॥ ८ ॥

[1]मही कृता [2]पर्वतराजिपूर्णा
शैलाः कृता वृक्षवितानपूर्णाः ।
वृक्षाः कृताः पुष्पवितानपूर्णाः
पुष्पं कृतं केसरपत्रपूर्णम् ॥ ९ ॥

इस विमान में अनेक जनों के बैठने की जो जगह (डेक) थी वह चित्र विचित्र चित्रकारी से चित्रित थी। उसमें नकली बैठके, पर्वतों पर बनायी गयी थीं। उन पर्वतों के ऊपर नकली वृक्षों की छाया की हुई थी। वे वृक्ष खिले हुए फूलों से लदे हुए थे और उन पुष्पों से पराग झरा करता था ॥ ९ ॥

कृतानि वेश्मानि च पाण्डुराणि
तथा सुपुष्पाण्यपि पुष्कराणि ।
पुनश्च पद्मानि सकेसराणि
धन्यानि चित्राणि तथा वनानि ॥ १० ॥

उस विमान में सफेद रंग के बहुत से घर भी बने हुए थे। उन घरों में सुन्दर पुष्पयुक्त पुष्करिणी भी थीं। उन पुष्करिणियों में पराग सहित कमल के फूल खिल रहे थे। उन घरों में ऐसी चित्रकारियाँ की गयी थीं जो सराहने योग्य थीं, तथा जो उपवन बनाये गये थे वे भी देखते ही बन आते थे ॥ १० ॥

---

१ मही—यत्र पुष्पके मही अनेक जनानामाधारस्थानं (रा०)
२ पर्वतराजिपूर्णा—चित्ररूपेणलिखिता । (गो०)

पुष्पाह्वयं नाम विराजमानं
रत्नप्रभाभिश्च विवर्धमानम् ।
वेश्मोत्तमानामपि चोच्चमानं
महाकपिस्तत्र महाविमानम् ॥ ११ ॥

हनुमान जी ने वहां ऐसा बड़ा पुष्पक नामक विमान देखा, जो रत्नों की प्रभा से दमक रहा था और ऊँचे से ऊँचे भवनों से भी बढ़ कर ऊँचा था ॥ ११ ॥

कृताश्च वैडूर्यमया विहङ्गा
रूप्यप्रवालैश्च तथा विहङ्गाः ।
चित्राश्च नानावसुभिर्भुजङ्गा
जात्यानुरूपास्तुरगाः शुभाङ्गाः ॥ १२ ॥

उस विमान में पन्नों के, चांदी के और मूंगों के पक्षी और रंग बिरंगी धातुओं के बने हुए सर्प तथा उत्तम जाति के उत्तम अंगों वाले घोड़े भी बनाये गये थे ॥ १२ ॥

प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षाः
सलीलमावर्जितजिह्मपक्षाः ।
कामस्य साक्षादिव भान्ति पक्षाः
कृता विहङ्गाः सुमुखाः सुपक्षाः ॥ १३ ॥

पक्षियों के परों पर मूंगे और सोने के फूल बने हुए थे। वे पक्षी अपने आप अपने पंखों को समेटते और पसारते थे। उन पक्षियों के पर व चोंचें बड़ी सुन्दर थीं। पंख तो उनके कामदेव के पंखों की तरह सुन्दर थे ॥ १३ ॥

नियुज्यमानास्तु गजाः सुहस्ताः
सकेसराश्चोत्पलपत्रहस्ताः ।
बभूव देवी च कृता सुहस्ता
लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता ॥ १४ ॥

इनके अतिरिक्त कमलयुक्त तालाब में, कमल के फूल को हाथ में लिये लक्ष्मी जी और उनका अभिषेक करने में नियुक्त सुन्दर सूंड़ वाले हाथी, जिनकी सूंड़ों में केसर सहित कमल के पुष्प थे, बने हुए थे ॥ १४ ॥

इतीव तद्गृहमभिगम्य शोभनं
सविस्मयो नगमिव चारुशोभनम् ।
पुनश्च तत्परमसुगन्धि सुन्दरं
हिमात्यये नगमिव चारुकन्दरम् ॥ १५ ॥

हनुमान जी विस्मययुक्त हो सुन्दर कन्दरा की तरह शोभित स्थानों से युक्त उस भवन में गये । फिर वह भवन वसन्त ऋतु होने के कारण सुगंधित खोड़र युक्त वृक्ष की तरह सुवासित हो रहा था ॥ १५ ॥

ततः स तां कपिरभिपत्य पूजितां
चरन्पुरीं दशमुखबाहुपालिताम् ।
अदृश्य तां जनकसुतां सुपूजितां
सुदुःखितः पतिगुणवेगनिर्जिताम् ॥ १६ ॥

हनुमान जी उस दसमुख रावण की भुजाओं से रक्षित, लङ्कापुरी में घूमे फिरे । किन्तु सुपूजिता, एवं पति के गुणों पर मुग्धा

जानकी जी उनको दिखलाई न पड़ी। अतः वे अत्यन्त दुःखी हुए ॥ १६ ॥

ततस्तदा [1]बहुविधभावितात्मनः
कृतात्मनो[2] जनकसुतां सुवर्त्मनः[3] ।
अपश्यतोऽभवदतिदुःखितं मनः
सुचक्षुषः[4] प्रविचरतो महात्मनः ॥ १७ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

तब अनेक चिन्ताओं से युक्त, सुन्दर नीति-मार्ग-वर्ती, एक बार देखने से ही वस्तु का बीजा वकुला नक जान लेने वाले, धैर्यवान् हनुमान जी, अनेक प्रयत्न करने पर भी और बहुत खोजने पर भी, जब सीता को न देख सके, तब वे दुःखी हुए ॥ १७ ॥

सुन्दरकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

१ बहुविधभावितात्मनः—बहुचिन्तान्वितस्य। (रा०) २ कृतात्मनो—कृतप्रयत्नस्य। (रा०) ३ सुवर्त्मनः—शोभननीतिमार्गवर्तिन इत्यर्थः। (रा०) ४ सुचक्षुषः—सकृदालोकनेन द्रष्टव्यं सर्वं करतलामलकवत्साक्षात्कर्तुं क्षमस्य। (रा०)

अष्टमः सर्गः

—※—

[पुनः पुष्पक-विमान-वर्णन]

स तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितं
महद्विमानं* बहुरत्नचित्रितम् ।
प्रतप्तजाम्बूनदजालकृत्रिमं
ददर्श वीरः पवनात्मजः कपिः ॥ १ ॥

रावण के राजभवन में रखे हुए पुष्पक विमान को, जिसमें बढ़िया सुवर्ण के बने झरोखे थे और जिसमें जगह जगह रंग बिरंगे बहुत से रत्न जड़े हुए थे, पवननन्दन वीर हनुमान ने देखा ॥ १ ॥

तदप्रमेयाप्रतिकारकृत्रिमं
कृतं स्वयं साध्विति विश्वकर्मणा ।
दिवं गतं वायुपथे प्रतिष्ठितं
व्यराजतादित्यपथस्य लक्ष्मवत् ॥ २ ॥

वह अनुपम सुन्दरता युक्त था। उसमें कृत्रिम प्रतिमाएँ थीं। उसे विश्वकर्मा ने स्वयं ही बहुत सुन्दर बनाया था। वह आकाश में चलने में प्रसिद्ध था और सूर्य के पथ का एक प्रसिद्ध चिन्हसा था ॥ २ ॥

न तत्र किञ्चिन्न कृतं प्रयत्नतो
न तत्र किञ्चिन्न महार्हरत्नवत् ।

---

* पाठान्तरे—" मणिवज्रचित्रितम् " वा " मणिरत्नचित्रितम् । "

न ते विशेषा नियताः सुरेष्वपि
न तत्र किञ्चिन्न महाविशेषवत् ॥ ३ ॥

उस विमान में ऐसी कोई वस्तु न थी जो परिश्रम पूर्वक न बनाई गयी हो और उसका कोई भाग ऐसा न था जो मूल्यवान रत्नों से न बनाया गया हो। उसका एक भी भाग ऐसा न था जिसमें कुछ न कुछ विशेषता न थी। पुष्पक में जैसी कारीगरी की गयी थी, वैसी कारीगरी देवताओं के विमानों में भी देखने में नहीं आती थी ॥ ३ ॥

तपःसमाधानपराक्रमार्जितं
मनःसमाधानविचारचारिणम्।
अनेकसंस्थानविशेषनिर्मितं
ततस्ततस्तुल्यविशेषदर्शनम् ॥ ४ ॥

रावण ने एकाग्रचित्त हो तप करके जो बल प्राप्त किया था उसीके बल उसने यह पुष्पक विमान सम्पादन किया था। वह विमान सङ्कल्प मात्र ही से यथेच्छ स्थान में पहुँचा देता था। इसमें बहुत सी बैठकें विशेष रूप से बनायी गयी थीं। इसीसे वे उस विमान के अनुरूप विशेष प्रकार की भी थीं ॥ ४ ॥

मनः समाधाय तु शीघ्रगामिनं
दुरावरं मारुततुल्यगामिनम्।
महात्मनां पुण्यकृतां *मनस्विनां
यशस्विनामग्र्यमुदामिवालयम् ॥ ५ ॥

---

*पाठान्तरे—' महर्द्धिनां ", " महर्षिणां। "

अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार अभीष्ट स्थान पर तुरन्त पहुँच जाता था। इसकी चाल वायु की तरह बड़ी तेज़ थी। चाल में इसको कोई रोक नहीं सकता था। महात्मा, पुण्यात्मा बड़े समृद्धशाली और यशस्वी लोगों के लिये तो यह मानों आनन्द का घर ही था ॥ ५ ॥

विशेषमालम्ब्य विशेषसंस्थितं
विचित्रकूटं बहुकूटमण्डितम् ।
मनोभिरामं शरदिन्दुनिर्मलं
विचित्रकूटं शिखरं गिरेर्यथा ॥ ६ ॥

यह विमान विशेष विशेष चालों के अनुसार, आकाश में घूमता था। उसमें विविध प्रकार की अनेक वस्तुएँ भरी थीं। उसमें बहुत से कमरे थे। अतिशय मनोरम, शरद्कालीन चन्द्रमा की तरह निर्मल, विचित्र शिखरों से भूषित, तथा विचित्र शिखर से युक्त पर्वत की तरह वह जान पड़ता था ॥ ६ ॥

वहन्ति यं कुण्डलशोभितानना
महाशना व्योमचरा निशाचराः ।
[1]विवृत्तविध्वस्तविशाललोचना
महाजवा भूतगणाः सहस्रशः ॥ ७ ॥

इस विमान को चलाने वाले विशालकाय आकाशचारी निशाचर थे। उनके मुख कुण्डलों से सुशोभित था। गोल, टेढ़े और विशाल नेत्रों वाले तथा महावेगवान हज़ारों भूतगण थे ॥ ७ ॥

---

१ विवृत्तानि—वर्तुलानि। (गो०) २विध्वस्तानि—भुग्नानि। (गो०)

वसन्तपुष्पोत्करचारुदर्शनं
वसन्तमासादपि कान्तदर्शनम् ।
स पुष्पकं तत्र विमानमुत्तमं
ददर्श तद्वानरवीरसत्तमः ॥ ८ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान जी ने वसन्त कालीन पुष्पों के ढेर से युक्त और वसन्तऋतु से भी अधिक सुन्दर देखने योग्य, श्रेष्ठ पुष्पक विमान देखा ॥ ८ ॥

सुन्दरकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

नवमः सर्गः

—※—

[पुष्पकविमान के ऊपर चढ़, हनुमान जी का अनेक भाँति की सोती हुई स्त्रियों के घरों का अवलोकन करना]

तस्यालयवरिष्ठस्य मध्ये विपुलमायतम् ।
ददर्श भवनश्रेष्ठं हनुमान्मारुतात्मजः ॥ १ ॥

उस उत्तम राजभवन के भीतर एक स्वच्छ साफ और लंबा चौड़ा एक भवन पवननन्दन हनुमान जी ने देखा ॥ १ ॥

अर्धयोजनविस्तीर्णमायतं योजनं हि तत् ।
भवनं राक्षसेन्द्रस्य बहुप्रासादसङ्कुलम् ॥ २ ॥

रावण के भवन की चौड़ाई आधे योजन की और लंबाई एक योजन की थी। उसमें बहुत सी अटारियां थीं ॥ २ ॥

मार्गमाणस्तु वैदेहीं सीतामायतलोचनाम्।
सर्वतः परिचक्राम हनुमानरिसूदनः ॥ ३ ॥

शत्रुहन्ता हनुमान जी विशाल नेत्र वाली सीता को ढूंढ़ते हुए उस भवन में सर्वत्र घूमे ॥ ३ ॥

उत्तमं राक्षसावासं हनुमानवलोकयन्।
आससादाथ लक्ष्मीवान्राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ॥ ४ ॥

हनुमान जी राक्षसों के उत्तम गृहों को देखते हुए, रावण के राजभवन में पहुँचे ॥ ४ ॥

चतुर्विषाणैर्द्विरदैस्त्रिविषाणैस्तथैव च।
परिक्षिप्तमसंबाधं रक्ष्यमाणमुदायुधैः ॥ ५ ॥

वह राजभवन चार और तीन दांतों वाले हाथियों से व्याप्त था। हथियार हाथ में लिये राक्षस सदा इसकी रखवाली किया करते थे ॥ ५ ॥

राक्षसीभिश्च पत्नीभी रावणस्य निवेशनम्।
आहृताभिश्च विक्रम्य राजकन्याभिरावृतम् ॥ ६ ॥

वहां अनेक सुन्दरी राक्षसी जो रावण की पत्नी थीं तथा अनेक राजकन्याएँ जिनको रावण वरजोरी छीन लाया था, उस भवन में, ॥ ६ ॥

तन्नक्रमकराकीर्णं तिमिङ्गिलझषाकुलम्।
वायुवेगसमाधूतं पन्नगैरिव सागरम् ॥ ७ ॥

वह भवन मानों नाकों, तिमिङ्गल-मत्स्यों के समूह और सर्पों से परिपूर्ण, वायु के वेग से उफनाते हुए समुद्र की तरह जान पड़ता था ॥ ७ ॥

या हि वैश्रवणे लक्ष्मीर्या चेन्द्रे हरिवाहने ।
सा रावणगृहे सर्वा नित्यमेवानपायिनी ॥ ८ ॥

कुवेर, चन्द्रमा व इन्द्र के भवन में जैसी शोभा देख पड़ती है, वैसी ही नाशरहित अथवा सदैव बनी रहने वाली शोभा रावण के भवन की भी सदा बनी रहती थी ॥ ८ ॥

या च राज्ञः कुवेरस्य यमस्य वरुणस्य च ।
तादृशी तद्विशिष्टा वा ऋद्धी रक्षोगृहेष्विह ॥ ९ ॥

राजा कुवेर, यम और वरुण के घर में जितना धन रहता है, रावण के घर में उतना ही अथवा उससे भी अधिक था ॥ ९ ॥

तस्य हर्म्यस्य मध्यस्थं वेश्म चान्यत्सुनिर्मितम् ।
बहुनिर्यूहसङ्कीर्णं ददर्श पवनात्मजः ॥ १० ॥

उस भवन के बीच में एक और सुन्दर भवन बना हुआ था, जिसमें मतवाले हाथी के आकार के अनेक स्थान बने हुए थे, उसे हनुमान जी ने देखा ॥ १० ॥

ब्रह्मणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद्विश्वकर्मणा ।
विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम् ॥ ११ ॥

परेण तपसा लेभे यत्कुबेरः पितामहात् ।
कुबेरमोजसा जित्वा लेभे तद्राक्षसेश्वरः ॥ १२ ॥

स्वर्ग में विश्वकर्मा ने जिस दिव्य एवं सर्वरत्नविभूषित पुष्पक विमान को बनाया और जो कुबेर को बड़ी तपस्या करने के बाद ब्रह्मा जी से प्राप्त हुआ था, उस विमान को अपने बाहुबल से कुबेर को जीत, रावण ने छीन लिया था ॥ ११ ॥ १२ ॥

ईहामृगसमायुक्तैः कार्तस्वरहिरण्मयैः ।
सुकृतैराचितं स्तम्भैः प्रदीप्तमिव च श्रिया ॥ १३ ॥

सोने चाँदी के काम से युक्त मृगों (वनजन्तुओं) के आकार के खिलौनों से भरा हुआ, सुडौल खंभों से और अपनी शोभा से वह चमचमा रहा था ॥ १३ ॥

मेरुमन्दरसङ्काशैरालिखद्भिरिवाम्बरम् ।
कूटागारैः शुभाकारैः सर्वतः समलङ्कृतम् ॥ १४ ॥

वह सुमेरु और मन्दराचल पर्वत की तरह आकाशस्पर्शी था तथा सुन्दर बने हुए तहखानों से भूषित था ॥ १४ ॥

ज्वलनार्कप्रतीकाशं सुकृतं विश्वकर्मणा ।
हेमसोपानसंयुक्तं चारुप्रवरवेदिकम् ॥ १५ ॥

वह अग्नि और सूर्य के सदृश प्रकाशमान था तथा विश्वकर्मा ने उसे बहुत अच्छी तरह बनाया था। उसमें सोने की सीढ़ियाँ और मनोहर चबूतरे बने हुए थे ॥ १५ ॥

जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फाटिकैरपि ।
इन्द्रनीलमहानीलमणिप्रवरवेदिकम् ॥ १६ ॥

विद्रुमेण विचित्रेण मणिभिश्च महाधनैः ।
निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिस्तलेनाभिविराजितम् ॥ १७ ॥

हवा व रोशनी के लिये उसमें सोने और स्फटिक के झरोखे अथवा खिड़कियाँ बनी हुई थीं। उसका कोई कोई भाग इन्द्रनील और महानील मणियों की वेदिकाओं से सुशोभित था और कहीं कहीं उसमें नाना प्रकार के मूंगे महामूल्य मणि और गोल मोती जड़े थे। उसका फर्श अति उत्तम सफेद अस्तरकारी की हुई जैसा जान पड़ता था ॥ १६ ॥ १७ ॥

चन्दनेन च रक्तेन तपनीयनिभेन च।
सुपुण्यगन्धिना युक्तमादित्यतरुणोपमम् ॥ १८ ॥

उसका कोई कोई भाग सफेद चन्दन से और कोई भाग लाल चन्दन से और कोई कोई सोने के समान अत्यन्त पवित्र गन्धयुक्त काष्ठ से बना था। उसकी चमक मध्यान्ह के सूर्य की तरह देख पड़ती थी ॥ १८ ॥

कूटागारैर्वराकारैर्विविधैः समलङ्कृतम्।
विमानं पुष्पकं दिव्यमारुरोह महाकपिः ॥ १९ ॥

वह पुष्पक विमान उत्तम आकार के विविध गुप्तगृहों से भूषित था। हनुमान जी उस उत्तम पुष्पक विमान पर चढ़ गये ॥ १६ ॥

तत्रस्थः स तदा गन्धं पानभक्ष्यान्नसंभवम्।
दिव्यं संमूर्छितं जिघ्रद्रूपवन्तमिवानिलम् ॥ २० ॥

वहाँ चारों ओर से पान और भक्ष्य पदार्थों की दिव्य सुगन्ध आने लगी। उसे उन्होंने सूंघा। वह सुगन्धि बड़ी उत्तम थी। मानों वहाँ के सर्वत्रव्याप्त वायु ने साक्षात् गन्ध का रूप ही धारण कर लिया था ॥ २० ॥

स गन्धस्तं महासत्त्वं बन्धुर्बन्धुमिवोत्तमम् ।
इत एहीत्युवाचेव तत्र यत्र स रावणः ॥ २१ ॥

एक भाई जिस प्रकार अपने दूसरे भाई को बुलाये ; उसी प्रकार वह गन्ध मानों हनुमान को वहाँ बुलाने लगा जहाँ रावण था ॥ २१ ॥

ततस्तां प्रस्थितः शालां ददर्श महतीं शुभाम् ।
रावणस्य मनःकान्तां कान्तामिव वरस्त्रियम् ॥ २२ ॥

वहाँ जाते हुए हनुमान जी ने वह विशाल शाला देखी, जो रावण को उत्तम स्त्री की तरह प्यारी थी ॥ २२ ॥

मणिसोपानविकृतां हेमजालविराजिताम्* ।
स्फाटिकैरावृततलां दन्तान्तरितरूपिकाम् ॥ २३ ॥

मुक्ताभिश्च प्रवालैश्च रूप्यचामीकरैरपि ।
विभूषितां मणिस्तम्भैः सुबहुस्तम्भभूषिताम् ॥ २४ ॥

वह शाला अत्यन्त रमणीक, अत्यन्त स्वच्छ मणियों की सीढ़ियों से सुशोभित और सोने की बनी जालियों से युक्त थी । स्फटिक मणियाँ उसके फर्श में जड़ी थीं, उस पर हाथी दाँत की कारीगरी हो रही थी, उसमें जहाँ तहाँ चित्र सजाये गये थे और मोती हीरा, मूंगा, रूपा, सुवर्ण से वह युक्त थी । वह अनेक मणि के खम्भों से विभूषित थी ॥ २३ ॥ २४ ॥

समैर्ऋजुभिरत्युच्चैः समन्तात्सुविभूषितैः ।
स्तम्भैः पक्षैरिवात्युच्चैर्दिवं संप्रस्थितामिव ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे—"विभूषितां ।"

इन खंभों में प्रायः सभी खंभे समान, सीधे और ऊँचे थे। 'ऐसे खंभे उस शाला के चारों ओर बने हुए थे। उन पंख जैसे अत्यन्त ऊँचे खम्भों से माने वह भवन आकाश को उड़ा सा जाता था ॥ २५ ॥

महत्या कुथयाऽऽस्तीर्णां पृथिवीलक्षणाङ्कया ।
पृथिवीमिव विस्तीर्णां सराष्ट्रगृहमालिनीम् ॥ २६ ॥

उसमें भूमि की तरह चौरस चौकोन विचित्र फ़र्श, जिसमें हीरा आदि मणियाँ जड़ी हुई थीं—बिछा था। यह कोरी रावण की शयन-शाला ही नहीं थी, बल्कि राज्यों और घरों से शोभित दूसरी लंबी चौड़ी पृथिवी ही के समान थी ॥ २६ ॥

नादितां मत्तविहगैर्दिव्यगन्धाधिवासिताम् ।
परार्घ्यास्तरणोपेतां रक्षोधिपनिषेविताम् ॥ २७ ॥

वह मतवाले पक्षियों की कूज से कूजित, और दिव्य सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित थी। वहाँ पर मूल्यवान बिछौने पर रावण सो रहा था ॥ २७ ॥

धूम्रामगुरुधूपेन विमलां हंसपाण्डुराम ।
चित्रां पुष्पोपहारेण [1]कल्माषीमिव सुप्रभाम् ॥ २८ ॥

वह शयनशाला अगर के धौले वर्ण के धुए से धौले रंग के हंस की तरह सफेद रंग जैसी जान पड़ती थी। वह पुष्पों और पत्रों की सजावट से सब मनोरथों को पूरा करने वाली वसिष्ठ की शवला गौ की तरह सुन्दर प्रभायुक्त ॥ २८ ॥

---

1 कल्माषी—शबलवर्णा. वसिष्ठधेनु मिव। (रा॰)

मनःसंह्लादजननीं वर्णस्यापि प्रसादिनीम्* ।
तां शोकनाशिनीं दिव्यां श्रियः सञ्जननीमिव ॥ २९ ॥

हृदय को आनन्दित करने वाली, शरीर के रंग को सुन्दर बनाने वाली, समस्त शोकों को दूर भगाने वाली और दिव्य शोभा को उत्पन्न करने वाली थी ॥ २९ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थैश्च पञ्च पञ्चभिरुत्तमैः ।
तर्पयामास मातेव तदा रावणपालिता ॥ ३० ॥

उस समय हनुमान जी की आँख, कान, नाक आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को रूपादि पाँचों उत्तम विषयों से, माता की तरह रावण की शयनशाला ने तृप्त (अघा) दिया ॥ ३० ॥

स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्येयं पुरी भवेत् ।
सिद्धिर्वेयं परा हि स्यादित्यमन्यत मारुतिः ॥ ३१ ॥

उस समय हनुमान जी ने मन में समझा कि, यह शयनशाला नहीं, किन्तु यह साक्षात् स्वर्ग है, देवलोक है, इन्द्र की अमरावतीपुरी है अथवा कोई उत्कृष्ट सिद्धि है ॥ ३१ ॥

प्रध्यायत इवापश्यत्प्रदीपांस्तत्र काञ्चनान् ।
धूर्तानिव महाधूर्तैर्देवनेन पराजितान् ॥ ३२ ॥

वहाँ पर सोने के दीवे ऐसे स्थिर जल रहे थे, मानों महा प्रवञ्चकों से जुए में हारे हुए धूर्त लोग बैठे शोक मना रहे हों ॥ ३२ ॥

दीपानां च प्रकाशेन तेजसा रावणस्य च ।
अर्चिर्भिर्भूषणानां च प्रदीप्तेत्यभ्यमन्यत ॥ ३३ ॥

---

* पाठान्तरे—" प्रमाथिनीम् । "

उस समय दीपों के उजियाले से, रावण के तेज से और भूषणों की चमक से, वह घर दमक रहा था ॥ ३३ ॥

ततोऽपश्यत्कुथासीनं नानावर्णाम्बरस्रजम् ।
सहस्रं वरनारीणां नानावेषविभूषितम् ॥ ३४ ॥

फिर हनुमान जी ने देखा कि, रात हो जाने से विविध प्रकार के वस्त्रों और फूलमालाओं से सजीं, हज़ारों सुन्दरी स्त्रियाँ तरह तरह के शृङ्गार किये हुए उत्तम बिछौनों पर पड़ी (वेहोश सो रही) हैं ॥ ३४ ॥

परिवृत्तेऽर्धरात्रे तु पाननिद्रावशंगतम् ।
क्रीडित्वोपरतं रात्रौ सुष्वाप बलवत्तदा ॥ ३५ ॥

आधी रात ढल जाने पर वे सब सुन्दरियाँ, शराब पीने के कारण नींद के वश हो और विहार से निवृत्त हो, सो रही हैं ॥३५॥

तत्प्रसुप्तं विरुरुचे निःशब्दान्तरभूषणम् ।
निःशब्दहंसभ्रमरं यथा पद्मवनं महत् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार सब के सो जाने से और बिछुवे पायजेब आदि की झनकार का शब्द बंद हो जाने से रावण की वह शयनशाला भ्रमरों के गुंजार और हंसों की ध्वनि से रहित, बड़े भारी कमलवन की तरह शोभायमान हो रही थी ॥ ३६ ॥

तासां संवृतदन्तानि मीलिताक्षाणि मारुतिः ।
अपश्यत्पद्मगन्धीनि वदनानि सुयोषिताम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर हनुमान जी ने परम सुन्दरी ललनाओं के मुंदे नेत्र, मुंदी बत्तीसी और कमल की सुगन्धि से युक्त वदनमण्डल देखे ॥ ३७ ॥

प्रबुद्धानीव पद्मानि तासां भूत्वा क्षपाक्षये ।
पुनः संवृतपत्राणि रात्राविव बभुस्तदा ॥ ३८ ॥

उन स्त्रियों के ऐसे मुखमण्डल रात व्यतीत होने पर कमल के फूलों को तरह प्रफुल्लित हो कर, फिर रात होने पर मुकुलित कमल की तरह, बड़े सुन्दर जान पड़ते थे। अथवा हनुमान जी ने विचारा कि, उन स्त्रियों के मुख और कमल समान हैं। क्योंकि जिस प्रकार दिन में कमल खिल जाते हैं वैसे ही ये मुख भी खिल रहे हैं और रात्रि में जैसे वे कली के रूप में हो जाते हैं वैसे ही ये भी मुंद रहे हैं। गन्ध में भी ये दोनों समान ही हैं। अतः इन स्त्रियों के मुखमण्डल और कमल में कुछ भी अन्तर नहीं है ॥ ३८ ॥

इमानि मुखपद्मानि नियतं मत्तषट्पदाः ।
अम्बुजानीव फुल्लानि प्रार्थयन्ति पुनः पुनः ॥ ३९ ॥

फिर मतवाले भौंरे खिले हुए कमल की तरह हो, इन समस्त मुखकमलों की सदा अभिलाषा किया करते हैं ॥ ३९ ॥

इति चामन्यत श्रीमानुपपत्त्या महाकपिः ।
मेने हि गुणतस्तानि समानि सलिलोद्भवैः ॥ ४० ॥

इस प्रकार सोच विचार कर हनुमान जी ने उन सुन्दरियों के मुखकमलों का और जलोत्पन्न कमलपुष्प का सादृश्य माना ॥ ४० ॥

सा तस्य शुशुभे शाला ताभिः स्त्रीभिर्विराजिता ।
शारदीव प्रसन्ना द्यौस्ताराभिरभिशोभिता ॥ ४१ ॥

अस्तु रावण की शयनशाला, इन सब ललनाओं के समूह से शरद्काल के ताराओं से मण्डित निर्मल आकाश की तरह शोभायमान हो रही थी ॥ ४१ ॥

स च ताभिः परिवृतः शुशुभे राक्षसाधिपः ।
यथा ह्युडुपतिः श्रीमांस्ताराभिरभिसंवृतः ॥ ४२ ॥

उसी प्रकार रावण स्वयं भी उन स्त्रियों के बीच रहने से तारा-गण युक्त चन्द्रमा की तरह सुशोभित हो रहा था ॥ ४२ ॥

याश्च्यवन्तेऽम्बरात्तारा: पुण्यशेषसमावृताः ।
इमास्ताः सङ्गताः कृत्स्ना इति मेने हरिस्तदा ॥ ४३ ॥

जो तारा पुण्यक्षीण होने पर आकाश से गिरते हैं, वे ही सब तारा स्त्रीरूप हो कर रावण के पास इकट्ठे हुए हैं ॥ ४३ ॥

ताराणामिव सुव्यक्तं महतीनां शुभार्चिषाम् ।
प्रभा वर्णप्रसादाश्च विरेजुस्तत्र योषिताम् ॥ ४४ ॥

क्योंकि सुन्दर प्रकाश युक्त और विशाल तारों ही की तरह उन स्त्रियों की चमक, रूप और प्रसन्नता देख पड़ती थी ॥ ४४ ॥

व्यावृत्तगुरुपीनस्रक्प्रकीर्णवरभूषणाः ।
पानव्यायामकालेषु निद्रापहृतचेतसः ॥ ४५ ॥

उनमें से बहुत सी स्त्रियों के बाल और फूलों के हार टेढ़े मेढ़े हो गये थे और बढ़िया बढ़िया गहने बिखरे हुए पड़े थे। क्योंकि मद्यपान करने और गाने नाचने के परिश्रम से थक कर वे सब निद्रा के वश हो गयी थीं ॥ ४५ ॥

व्यावृत्ततिलकाः काश्चित्काश्चिदुद्भ्रान्तनूपुराः ।
पार्श्वे गलितहाराश्च काश्चित्परमयोषितः ॥ ४६ ॥

उनमें बहुतों के माथे के तिलक मिट गये थे, अनेकों के नूपुर उल्टे सीधे हो गये थे और कितनी ही स्त्रियों के टूटे हुए हार उनके पास पड़े हुए थे ॥ ४६ ॥

मुक्ताहाराच्छताश्चान्याः काश्चिद्विस्रस्तवाससः ।
व्याविद्धरशनादामाः किशोर्य इव वाहिताः ॥ ४७ ॥

किसी किसी के मोतियों के हार टूट गये थे, किसी के कपड़े उसके शरीर से ढीले हो खिसक पड़े थे, किसी की करधनी कमर से नीचे खसक पड़ी थी। वे स्त्रियाँ थकीं हुई और बोझ उतारी हुई घोड़ियों की तरह अपने गहनों को इधर उधर डाल शयन कर रही थीं ॥ ४७ ॥

सुकुण्डलधराश्चान्या विच्छिन्नमृदितस्रजः ।
गजेन्द्रमृदिताः फुल्ला लता इव महावने ॥ ४८ ॥

अनेकों के कानों के कुण्डल गिर पड़े थे, बहुतों की मालाएँ टूट गयी थीं और रगड़ खा गयी थीं—मानों हाथियों से रूँदी हुई पुष्पित-लता महावन में पड़ी हों ॥ ४८ ॥

चन्द्रांशुकिरणाभाश्च हाराः कासांचिदुत्कटाः ।
हंसा इव बभुः सुप्ताः स्तनमध्येषु योषिताम् ॥ ४९ ॥

किसी किसी के चन्द्रमा की किरणों की तरह सफेद मोती के हार बटुर कर स्तनों के बीच में जा ऐसी शोभा दे रहे थे, मानों हंस सोते हों ॥ ४९ ॥

अपरासां च वैडूर्याः कादम्बा इव पक्षिणः ।
हेमसूत्राणि चान्यासां चक्रवाका इवाभवन् ॥ ५० ॥

अन्य स्त्रियों के पन्नों के हार स्तनों के बीच में जलकाक की तरह शोभा दे रहे थे और अन्य स्त्रियों के सोने के हार समिट कर स्तनों के बीच चकवा चकवी की तरह जान पड़ते थे ॥ ५० ॥

हंसकारण्डवाकीर्णाश्चक्रवाकोपशोभिताः ।
आपगा इव ता रेजुर्जघनैः पुलिनैरिव ॥ ५१ ॥

इस लिये वे सब स्त्रियां हंस कारण्डव पक्षियों सहित और चक्रवाकों से शोभित नदियों की तरह तट समान जंघाओं से शोभायमान हो रही थीं ॥ ५१ ॥

किङ्किणीजालसङ्कोशास्ता वक्रविपुलाम्बुजाः* ।
भावग्राहा यशस्तीराः सुप्ता नद्य इवाबभुः ॥ ५२ ॥

उन स्त्रियों के किङ्किणियों के समूह, सुवर्ण कमल की तरह जान पड़ते थे । उनकी विलास भावनाएं ग्राह के तुल्य थीं । उनके विविध गुण तट के समान थे । वे सोती हुई स्त्रियां इस प्रकार नदी की तरह शोभायमान जान पड़ती थीं ॥ ५२ ॥

मृदुष्वङ्गेषु कासांचित्कुचाग्रेषु च संस्थिताः ।
†बभूवुर्भ्रमराणीव शुभा भूषणराजयः ॥ ५३ ॥

किसी किसी स्त्री के सुकोमल अंगों में और किसी किसी के स्तनों के अग्रभाग में, आभूषणों की खरोंच भी भौंरे की तरह शोभा दे रही थी ॥ ५३ ॥

अंशुकान्ताश्च कासांचिन्मुखमारुतकम्पिताः ।
उपर्युपरि वक्त्राणां व्याधूयन्ते पुनः पुनः ॥ ५४ ॥

किसी किसी स्त्री के वस्त्र के अंचल उसके मुख पर लटक रहे थे और मुख से निकली हुई श्वास से हिल हिल कर अति शोभा दे रहे थे ॥ ५४ ॥

---

* पाठान्तरे—" हैम विपुलाम्बुजाः । " " वक्त्रकनकांबुजाः वा । "
† पाठान्तरे—" बभूवुर्भूषणानीव । "

ताः पताका इवोद्धूताः पत्नीनां रुचिरप्रभाः ।
नानावर्णाः सुवर्णानां वक्रमूलेषु रेजिरे ॥ ५५ ॥

वे रंग बिरंगे ज़रदोज़ी के वस्त्र जो बहुत चमक रहे थे, जब श्वास के पवन से हिलते थे, तब वे पताका की तरह फहराते हुए शोभायमान जान पड़ते थे ॥ ५५ ॥

ववल्गुश्चात्र कासांचित्कुण्डलानि शुभार्चिषाम् ।
मुखमारुतसंसर्गान्मन्दं मन्दं स्म योषिताम् ॥ ५६ ॥

किसी किसी के कानों के कुण्डल मुख के पवन से धीरे धीरे हिलने लगते थे ॥ ५६ ॥

शर्करासवगन्धैश्च प्रकृत्या सुरभिः सुखः ।
तासां वदननिःश्वासः सिषेवे रावणं तदा ॥ ५७ ॥

उन स्त्रियों की स्वाभाविक सुगन्धियुक्त एवं स्पर्श करने से सुखदायी, मुख से निकली हुई साँसों का पवन, शर्करासव नामक मद्य से और भी अधिक सुगन्धित हो, रावण को सुख उपजा रहा था ॥ ५७ ॥

रावणाननशङ्काश्च काश्चिद्रावणयोषितः ।
मुखानि स्म सपत्नीनामुपाजिघ्रन्पुनः पुनः ॥ ५८ ॥

रावण की कोई कोई स्त्री अपनी सौत के मुख को, रावण के मुख के भ्रम से, बार बार सूँघ रही थी ॥ ५८ ॥

अत्यर्थं सक्तमनसो रावणे ता वरस्त्रियः ।
अस्वतन्त्राः सपत्नीनां प्रियमेवाचरंस्तदा ॥ ५९ ॥

वे स्त्रियाँ भी जो रावण में अत्यन्त आसक्त थीं, मद्य के नशे में अपनी सौतों के साथ प्रीतियुक्त व्यवहार कर रही थीं ॥ ५६ ॥

बाहूनुपनिधायान्याः पारिहार्यविभूषितान् ।
अंशुकानि च रम्याणि प्रमदास्तत्र शिश्यिरे ॥ ६० ॥

कोई कोई स्त्रियाँ अपने कङ्कनों से अलंकृत भुजाओं को और सुन्दर वस्त्रों को सिर के नीचे तकिया के स्थान पर रख सो रही थीं ॥ ६० ॥

अन्या वक्षसि चान्यस्यास्तस्याः काश्चित्पुनर्भुजम् ।
अपरा त्वङ्कमन्यस्यास्तस्याश्चाप्यपरा भुजौ ॥ ६१ ॥

ऊरुपार्श्वकटीपृष्ठमन्योन्यस्य समाश्रिताः ।
परस्परनिविष्टाङ्ग्यो मदस्नेहवशानुगाः ॥ ६२ ॥

अन्योन्यस्याङ्गसंस्पर्शात्प्रीयमाणाः सुमध्यमाः ।
एकीकृतभुजाः सर्वाः सुषुपुस्तत्र योषितः ॥ ६३ ॥

एक स्त्री दूसरी स्त्री की छाती पर हाथ रखे हुए थी, कोई आपस में एक दूसरे की भुजा को अपना अपना तकिया बनाये हुए थी, कोई किसी की गोदी में पड़ी और कोई एक दूसरे के वक्षःस्थल को अपना अपना तकिया बनाये हुए थीं और कोई किसी की जाँघ, कमर और बगल से और कोई किसी की पीठ से लिपट कर तथा परस्पर अङ्गस्पर्श से अति प्रसन्न हो, भुजा से भुजा मिला कर, मदिरा के नशे में चूर, बड़े प्रेम से सो रही थी ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

अन्योन्यभुजसूत्रेण स्त्रीमाला ग्रथिता हि सा ।
मालेव ग्रथिता सूत्रे शुशुभे मत्तषट्पदा ॥ ६४ ॥

परस्पर एक दूसरे की भुजा रूपी सूत से गुथी हुई वह स्त्रियों की माला ऐसी शोभा दे रही थी, मानों डोरे में गुथी हुई पुष्पमाला भ्रमरों से युक्त हो शोभायमान होती हो ॥ ६४ ॥

लतानां माधवे मासि फुल्लानां वायुसेवनात् ।
अन्योन्यमालाग्रथितं संसक्तकुसुमोच्चयम् ॥ ६५ ॥

वैशाख मास में फूली हुई वेलों के फूल के ढेर वायु के कारण एकत्र हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों माला की तरह एक सूत्र में गुथे हों ॥ ६५ ॥

व्यतिवेष्टितसुस्कन्धमन्योन्यभ्रमराकुलम् ।
आसीद्वनमिवोद्धूतं स्त्रीवनं रावणस्य तत् ॥ ६६ ॥

रावण की स्त्रियों का वह समूह एक वन की तरह सुशोभित था। उस वन में फूली हुई वृक्षों की डालियां केशरूपी भ्रमरों से भूषित हो, वायुवेग से परस्पर लिपटी हुई सी मालूम पड़ती थीं ॥ ६६ ॥

उचितेष्वपि सुव्यक्तं न तासां योषितां तदा ।
विवेकः शक्य आधातुं भूषणाङ्गाम्बरस्रजाम् ॥ ६७ ॥

यद्यपि स्त्रियों के समस्त आभूषण उचित रीति से यथास्थानों पर थे, तथापि उनके परस्पर लिपटने से यह स्थिर करना कठिन था कि, इनमें कौन सा गहना है, कौन सो पुष्पमाला है अथवा उनका कौनसा अंग है ॥ ६७ ॥

रावणे सुखसंविष्टे ताः स्त्रियो विविधप्रभाः ।
ज्वलन्तः काञ्चना दीपाः प्रैक्षन्तानिमिषा इव ॥ ६८ ॥

रावण को इस समय निद्रावश देख, वहाँ के वे जलते हुए सोने के दीपक मानों एकटक उन स्त्रियों को जो विविध प्रकार के शृङ्गार किये हुए थीं, देख रहे थे ॥ ६८ ॥

राजर्षिविप्रदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः ।
*रक्षसां चाभवन्कन्यास्तस्य कामवशं गताः ॥ ६९ ॥

उन स्त्रियों में कोई कोई तो राजर्षियों की, कोई कोई ब्राह्मणों की, कोई कोई दैत्यों की, कोई कोई गन्धर्वों की स्त्रियाँ थीं और कोई कोई राक्षसों की कन्याएँ थीं, जिन्हें रावण ने अपनी प्रणयिनी बनाया था अथवा उनको व्याहा था ॥ ६९ ॥

युद्धकामेन ताः सर्वा रावणेन हृताः स्त्रियः ।
समदा मदनेनैव मोहिताः काश्चिदागताः ॥ ७० ॥

उनमें से किसी किसी को रावण युद्ध में उनके पिताओं को हराकर छीन लाया था और कोई कोई मदमाती युवतियाँ काम से सतायी जाकर स्वयं ही रावण के साथ चली आयी थीं ॥ ७० ॥

न तत्र काश्चित्प्रमदा प्रसह्य
वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धा ।
न चान्यकामापि न चान्यपूर्वा
विना वरार्हां जनकात्मजां ताम् ॥ ७१ ॥

यद्यपि रावण बड़ा पराक्रमी था; तथापि बरजोरी वह किसी स्त्री को हरकर नहीं लाया था, किन्तु सम्मान योग्य जानकी को छोड़, अन्य बहुत सी स्त्रियाँ रावण के सौन्दर्यादि गुणों पर मुग्ध हो स्वयं ही उसके साथ चली आयी थीं। इनमें ऐसी भी कोई स्त्री न थी

---

* पाठान्तरे—"राक्षसानां च याः कन्याः ।"

जो दूसरे को प्यार करती हो अथवा अन्य किसी पुरुष के साथ उसका संयोग हुआ हो। अथवा हनुमान जी ने वहाँ जितनी स्त्रियाँ देखीं वे सब रावण को पति समझने वाली स्त्रियाँ थीं। उनमें अकुलीन कुलटा एक भी न थी ॥ ७१ ॥

न चाकुलीना न च हीनरूपा
नादक्षिणा नानुपचारयुक्ता।
भार्याऽभवत्तस्य न हीनसत्त्वा
न चापि कान्तस्य न कामनीया ॥७२॥

उन स्त्रियों में कोई स्त्री कुलहीन, कुरूप, फूहड़, न शृङ्गार रहित और न अशक्त थी। उनमें ऐसी एक भी न थी, जिसको रावण न चाहता हो ॥ ७२ ॥

बभूव बुद्धिस्तु हरीश्वरस्य
यदीदृशी राघवधर्मपत्नी।
इमा यथा राक्षसराजभार्याः[1]
सुजातमस्येति हि साधुबुद्धेः ॥ ७३ ॥

उस समय साधुबुद्धि हनुमान जी ने अपने मन में सोचा कि, जिस प्रकार रावण की ये स्त्रियाँ अपने पति में अनुरागवती हैं; उसी प्रकार यदि श्रीरामचन्द्र जी की धर्मपत्नी सीता भी

राक्षसराजभार्या—यथा स्वपति स्मरणादिषु निरता. ईदृशी तथा रामस्मरणादि निरता यदि राघवधर्मपत्नी तत्स्मरणादीनां विघ्नो न कृतः स्यादित्यर्थः; तदा अस्य रावणस्य सुजातम् कल्याणमेवेत्यर्थः इति साधुबुद्धेर्हरीश्वरस्य बुद्धिर्निश्चयो बभूव। (शि०)

श्रीरामचन्द्र में अभी तक अनुरागवती बनी हो और [illegible] सीता के, श्रीराम के प्रति अनुराग में बाधा न पड़ी हो, तो [illegible] का कल्याण है ॥ ७३ ॥

पुनश्च सोऽचिन्तयदार्तरूपो
ध्रुवं विशिष्टा गुणतो हि सीता ।
अथायमस्यां कृतवान्महात्मा
लङ्केश्वरः कष्टमनार्यकर्म ॥ ७४ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

फिर हनुमान जी ने विचारा कि, निश्चय ही जानकी जी में पातिव्रत्यादि गुण विशेष रूप से हैं ; क्योंकि जिस समय [illegible] रावण सीता को पकड़ कर लिये जाता था, उस समय [illegible] रोती हुई गयी थीं, अतः उसका इन स्त्रियों में होना सम्भव नहीं ॥ ७४ ॥

सुन्दरकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

दशमः सर्गः

—※—

तत्र [1]दिव्योपमं मुख्यं स्फाटिकं रत्नभूषितम् ।
अवेक्षमाणो हनुमान्ददर्श शयनासनम्[2] ॥ १ ॥

---

१ दिव्योपमं—श्रेष्ठम् । (शि०) २ शयनासनम्—[illegible] । ([illegible])

तदनन्तर हनुमान जी ने उस शयनशाला में चारों ओर देखते देखते एक स्थान पर विचित्र-रत्न-विभूषित, स्फटिक का बना स्वर्गीय पलंग की तरह एक बड़ा पलंग पड़ा देखा ॥ ॥ १ ॥

दान्तकाञ्चनचित्राङ्गैर्वैडूर्यैश्च वरासनैः ।
महार्हास्तरणोपेतैरुपपन्नं महाधनैः ॥ २ ॥

उस पलंग पर हाथीदांत और सोने से चित्रकारी (नकाशी का काम) की गयी थी और जगह जगह पन्ने जड़े हुए थे। उसके ऊपर बड़े मूल्यवान् और कोमल बिछौने बिछे थे ॥ २ ॥

तस्य चैकतमे देशे सोऽग्र्यमालाविभूषितम् ।
ददर्श पाण्डुरं छत्रं ताराधिपतिसन्निभम् ॥ ३ ॥

उस शयनशाला में एक विशेष स्थान पर सफेद रंग का, चन्द्रमा की तरह चमचमाता, एक छत्र रखा था। वह छत्र दिव्यपुष्पों की माला से भूषित था ॥ ३ ॥

जातरूपपरिक्षिप्तं चित्रभानुसमप्रभम् ।
अशोकमालाविततं ददर्श परमासनम् ॥ ४ ॥

वहाँ सुवर्ण का बना हुआ, सूर्यसम प्रभायुक्त, अशोक पुष्पों की माला से अलङ्कृत एक पलंग हनुमान जी ने देखा ॥ ४ ॥

वालव्यजनहस्ताभिर्वीज्यमानं समन्ततः ।
गन्धैश्च विविधैर्जुष्टं वरधूपेन धूपितम् ॥ ५ ॥

इस पलंग के आसपास सुन्दर पुतलियाँ हाथों में चँवर पंखा ले हवा कर रही थीं, वहाँ पर विविध प्रकार के इत्र रखे हुए थे और उत्तम सुगन्धि की धूप जल रही थी, जिससे वह स्थान सुवासित हो रहा था ॥ ५ ॥

परमास्तरणास्तीर्णमाविकाजिन[1] संवृतम् ।
दामभिर्वरमाल्यानां समन्तादुपशोभितम् ॥ ६ ॥

वह पलंग कोमल पशमीने से मढ़ा था, कोमल बिस्तर उस पर बिछे हुए थे । उसके चारों ओर फूलों के हार लटक रहे थे ॥ ६ ॥

तस्मिञ्जीमूतसङ्काशं प्रदीप्तोत्तमकुण्डलम् ।
लोहिताक्षं महाबाहुं महारजतवाससम् ॥ ७ ॥

उस पलंग पर काले मेघ की तरह काले रंग का, कानों में उत्तम और चमकते हुए कुण्डल पहिने हुए, लाल लाल नेत्रों वाला, बड़ी भुजाओं वाला, कलाबत्तू के काम के कपड़े धारण किये हुए ॥ ७ ॥

लोहितेनानुलिप्ताङ्गं चन्दनेन सुगन्धिना ।
सन्ध्यारक्तमिवाकाशे तोयदं सतडिद्गणम् ॥ ८ ॥

सब शरीर में लाल चन्दन लगाये, दामिनी सहित सन्ध्याकालीन लाल बादल की तरह शोभा धारण किये हुए, ॥ ८ ॥

वृतमाभरणैर्दिव्यैः सुरूपं कामरूपिणम् ।
सवृक्षवनगुल्माढ्यं प्रसुप्तमिव मन्दरम् ॥ ९ ॥

दिव्य दिव्य गहने पहिने हुए, सुस्वरूप, कामरूपी रावण, उस पर पड़ा हुआ, ऐसा जान पड़ता था, मानों विविध प्रकार की लताओं और झाड़ियों से पूर्ण मन्दराचल पर्वत पड़ा सो रहा हो ॥ ९ ॥

---

१ अविकाजिन—ऊर्णायुचर्म । (गो०)

क्रीडित्वोपरतं रात्रौ वराभरणभूषितम् ।
प्रियं राक्षसकन्यानां राक्षसानां सुखावहम् ॥ १० ॥

रावण रात को विहार करते करते थका हुआ, मदिरापान किये हुए था । वह राक्षस-कन्याओं को प्रिय था और राक्षसों को सुख देने वाला था ॥ १० ॥

पीत्वाऽप्युपरतं चापि ददर्श स महाकपिः ।
भास्वरे शयने वीरं प्रसुप्तं राक्षसाधिपम् ॥ ११ ॥

मदिरापान एवं स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करके तृप्त हो सुवर्ण के चमचमाते पलंग पर शयन किये हुए वीर राक्षसराज को हनुमान जी ने देखा ॥ ११ ॥

निःश्वसन्तं यथा नागं रावणं वानरर्षभः ।
आसाद्य परमोद्विग्नः सोऽपासर्पत्सुभीतवत् ॥ १२ ॥
अथारोहणमासाद्य वेदिकान्तरमाश्रितः ।
सुप्तं राक्षसशार्दूलं प्रेक्षते स्म महाकपिः ॥ १३ ॥

सोते में रावण नाग की तरह श्वांस छोड़ रहा था । हनुमान रावण को देख घबड़ा कर डरे हुए मनुष्य की तरह उस जगह से कुछ दूर हट कर सीढ़ी की आड़ में एक चबूतरे पर खड़े हो गये और वहाँ से राक्षसराज को वे देखने लगे ॥ १२ ॥ १३ ॥

शुशुभे राक्षसेन्द्रस्य स्वपतः शयनोत्तमम् ।
गन्धहस्तिनि संविष्टे यथा प्रस्रवणं महत् ॥ १४ ॥

सोते हुए रावण का पलंग ऐसा शोभायमान हो रहा था, जैसे वह पहाड़ी झरना शोभायमान होता है, जिसके निकट मदमत्त हाथी सोता हो ॥ १४ ॥

काञ्चनाङ्गदनद्धौ च ददर्श स महात्मनः ।
विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजाविन्द्रध्वजोपमौ ॥ १५ ॥

रावण को दोनों भुजाएँ जो बाजूबंदों से अलङ्कृत थीं और जिनको पसार कर वह सो रहा था, इन्द्रध्वज की तरह जान पड़ती थीं ॥ १५ ॥

ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणौ ।
वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ ॥ १६ ॥

उसकी दोनों भुजाओं पर ऐरावत के दाँतों के आघात के चिन्ह हो गये थे। कंधों पर वज्र लगने के निशान थे। सुदर्शन चक्र के लगने के भो उसकी दोनों भुजाओं पर निशान बने हुए थे ॥ १६ ॥

पीनौ समसुजातांसौ संहतौ बलसंयुतौ ।
सुलक्षणनखाङ्गुष्ठौ स्वङ्गुलीतललक्षितौ ॥ १७ ॥

दोनों लंबी भुजाएँ मोटी और शरीर के अनुरूप एवं बलयुक्त थीं। उसकी अंगुलियाँ और अंगूठे के सुलक्षण युक्त नख थे और अंगुलियाँ सुन्दर सुन्दर अंगूठियों से भूषित थीं ॥ १७ ॥

संहतौ परिघाकारौ वृत्तौ करिकरोपमौ ।
विक्षिप्तौ शयने शुभ्रे पञ्चशीर्षाविवोरगौ ॥ १८ ॥

(रावण की भुजाएँ,) मोटी, परिघ के आकार वाली, हाथी की सूंड़ को तरह उतार चढ़ाव की और पलंग पर फैली हुईं ऐसी जान पड़ती थीं; मानों पाँच सिर वाले सर्प हों ॥ १८ ॥

शशक्षतजकल्पेन सुशीतेन सुगन्धिना ।
चन्दनेन परार्ध्येन स्वनुलिप्तौ स्वलंकृतौ ॥ १९ ॥

खरहा के रक्त की तरह लाल, सुगंधित, शीतल एवं उत्तम चन्दन तथा अन्य सुगंधित पदार्थों से लिप्त वे दोनों भुजाएँ सुन्दर आभूषणों से अलङ्कृत थीं ॥ १९ ॥

उत्तमस्त्रीविमृदितौ गन्धोत्तमनिषेवितौ ।
यक्षपन्नगगन्धर्वदेवदानवराविणौ ॥ २० ॥

सुन्दरी स्त्रियों के आलिङ्गन से मर्दित, अत्यन्त सुगन्धित द्रव्यों से सेवित, यक्ष, नाग, गन्धर्व, देव और दानवों को रुला देने वाली ॥ २० ॥

ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ ।
मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महाही रुषिताविव ॥ २१ ॥

और बिछौने पर फैली हुई दोनों भुजाओं को हनुमान जी ने देखा। उस समय वे दोनों भुजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानों मन्दराचल पर्वत की तलेटी में दो क्रुद्ध सर्प सो रहे हों ॥ २१ ॥

ताभ्यां स परिपूर्णाभ्यां भुजाभ्यां राक्षसेश्वरः ।
शुशुभेऽचलसङ्काशः शृङ्गाभ्यामिव मन्दरः ॥ २२ ॥

उन दोनों भुजाओं से युक्त रावण, दो शिखरों से शोभित मन्दराचल की तरह शोभायमान हो रहा था ॥ २२ ॥

चूतपुन्नागसुरभिर्वकुलोत्तमसंयुतः ।
मृष्टान्नरससंयुक्तः पानगन्धपुरःसरः ॥ २३ ॥

तस्य राक्षससिंहस्य निश्चक्राम महामुखात् ।
शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव तद्गृहम् ॥ २४ ॥

उस राक्षसराज—रावण के महामुख से निकली हुई साँसें, जो आम, नागकेसर और मौलसिरी के पुष्पों की सुगन्धि से सुवासित थीं, तथा जिनमें षड्रस युक्त अन्न तथा शराब की गन्ध मिश्रित थी, उस सम्पूर्ण शयनशाला को सुवासित करती थीं ॥ २३ ॥ २४ ॥

मुक्तामणिविचित्रेण काञ्चनेन विराजितम्
मुकुटेनापवृत्तेन[1] कुण्डलोज्ज्वलिताननम् ॥ २५ ॥

विचित्र मोती और मणियों के जड़ाउ सोने के मुकुट से, जो सोते में अपने स्थान से कुछ खसक गया था, तथा कुण्डलों से उसका मुख बड़ा सुन्दर जान पड़ता था ॥ २५ ॥

रक्तचन्दनदिग्धेन तथा हारेण शोभिना ।
पीनायतविशालेन वक्षसाभिविराजितम् ॥ २६ ॥

उसका मांसल और चौड़ा वक्षःस्थल लाल चन्दन और सुन्दर हार से अलङ्कृत था ॥ २६ ॥

पाण्डरेणापविद्धेन क्षौमेण क्षतजेक्षणम् ।
महार्हेण सुसंवीतं पीतेनोत्तमवाससा ॥ २७ ॥

वह सफेद रेशमी धोती पहिने हुए था और बढ़िया पीले रंग का दुपट्टा ओढ़े हुए था ॥ २७ ॥

माषराशिप्रतीकाशं निःश्वसन्तं भुजङ्गवत् ।
गाङ्गे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ २८ ॥

---

१ अपवृत्तेन—स्थानात्किंचिच्चलितेन । (गो०)

रावण उर्दों के ढेर की तरह और सांप की फुफकार की तरह सांस लेता हुआ, पलंग पर पड़ा ऐसे सो रहा था ; जैसे गंगा जी के गहरे जल में पड़ा हाथी सोता हो ॥ २८ ॥

चतुर्भिः काञ्चनैर्दीपैर्दीप्यमानैश्चतुर्दिशम् ।
प्रकाशीकृतसर्वाङ्गं मेघं विद्युद्गणैरिव ॥ २९ ॥

उसके चारों ओर चार सोने के दीपक जल रहे थे। उन दीपकों के प्रकाश से उसके शरीर के समस्त अंग वैसे ही प्रकाशित हो रहे थे, जैसे बिजलियों से बादल ॥ २९ ॥

पादमूलगताश्चापि ददर्श सुमहात्मनः ।
पत्नीः स प्रियभार्यस्य तस्य रक्षःपतेर्गृहे ॥ ३० ॥

हनुमान जी ने देखा कि, उस राक्षसराज रावण की शयन-शाला के बीच में पत्नीप्रिय रावण के चरणों में उसकी पत्नियाँ पड़ी हैं ॥ ३० ॥

शशिप्रकाशवदनाश्चारुकुण्डलभूषिताः ।
अम्लानमाल्याभरणा ददर्श हरियूथपः ॥ ३१ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, उन स्त्रियों के मुखमण्डल, चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान थे। उनके कानों में श्रेष्ठ कुण्डल उनकी शोभा बढ़ा रहे थे और उनके गलों में ताज़े (बिना कुम्हलाए) फूलों की मालाएँ पड़ी थीं ॥ ३१ ॥

नृत्तवादित्रकुशला राक्षसेन्द्रभुजाङ्कगाः ।
वराभरणधारिण्यो निषण्णा[1] ददृशे हरिः ॥ ३२ ॥

---

१ निषण्णाः—शयानाः । (गो०)

हनुमान जी ने देखा कि, वे सब स्त्रियाँ जो रावण की भुजाओं के बीच तथा गोद में पड़ी थीं नाचने गाने में निपुण थीं और अच्छे अच्छे गहने पहिने हुए सो रही थीं ॥ ३२ ॥

वज्रवैडूर्यगर्भाणि श्रवणान्तेषु योषिताम् ।
ददर्श तापनीयानि कुण्डलान्यङ्गदानि च ॥ ३३ ॥

उनके कानों में सोने के तथा हीरा पन्नों के जड़ाऊ कर्णफूल लटक रहे थे। हनुमान जी ने देखा कि, वे स्त्रियाँ भुजाओं में जो बाजूबंद पहिने हुए थीं, भुजाओं का तकिया लगाने से वे भी कानों के पास कुण्डलों के साथ शोभायमान हो रहे थे ॥ ३३ ॥

तासां चन्द्रोपमैर्वक्त्रैः शुभैर्ललितकुण्डलैः ।
विरराज विमानं तन्नभस्तारागणैरिव ॥ ३४ ॥

उन स्त्रियों के चन्द्रमा के समान मुखों और सुन्दर कुण्डलों से वह स्थान ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसे तारों से आकाश की शोभा होती है ॥ ३४ ॥

मदव्यायामखिन्नास्ता राक्षसेन्द्रस्य योषितः ।
तेषु तेष्ववकाशेषु प्रसुप्तास्तनुमध्यमाः ॥ ३५ ॥

मदिरा के नशे से तथा नाचने गाने के परिश्रम से अत्यन्त खिन्न हो कर जहाँ जिसे जो जगह मिली वहीं पड़ कर वह सो रही थी ॥ ३५ ॥

अङ्गहारैस्तथैवान्या कोमलैर्नृत्तशालिनी ।
विन्यस्तशुभसर्वाङ्गी प्रसुप्ता वरवर्णिनी ॥ ३६ ॥

कोई कोई मनोहर कोमलाङ्गी कामिनी निद्रावस्था में अपने कोमल हाथों को हिला डुला रही थी, जिसको देखने से जान पड़ता था, मानों वह हाव भाव दिखा कर नाच रही हो ॥ ३६ ॥

काचिद्वीणां परिष्वज्य प्रसुप्ता संप्रकाशते ।
महानदीप्रकीर्णेव नलिनी पोतमाश्रिता ॥ ३७ ॥

कोई स्त्री वीणा को अपनी छाती से लिपटा कर सो जाने से ऐसी जान पड़ती थी, मानों नदी की धार में डूबती हुई कमलिनी सौभाग्यवश किसी नाव से जा लिपटी हो ॥ ३७ ॥

अन्या कक्षगतेनैव मड्डुकेनासितेक्षणा ।
प्रसुप्ता भामिनी भाति बालपुत्रेव वत्सला ॥ ३८ ॥

कमल के समान नेत्र वाली कोई स्त्री मड्डुक नामक वाद्य (बाजा) विशेष को बग़ल में दबा वैसे ही सो रही थी, जैसे कोई स्त्री बालक को बग़ल में दबा सोती हो ॥ ३८ ॥

पटहं चारुसर्वाङ्गी पीड्य शेते शुभस्तनी ।
चिरस्य रमणं लब्ध्वा परिष्वज्येव भामिनी ॥ ३९ ॥

कोई शुभस्तनी तबला बजाते बजाते (मारे नशे के) उसी पर झुकी सो रही थी। मानों कोई स्त्री बहुत दिनों बाद अपने पति को पा कर उससे लिपट गयी हो ॥ ३९ ॥

काचिद्वंशं परिष्वज्य सुप्ता कमललोचना ।
रहः प्रियतमं गृह्य सकामेव च कामिनी ॥ ४० ॥

कोई कमल लोचनी वंसी को पकड़ कर, सो रही थी, मानों कोई कामिनी एकान्त में कामातुर हो अपने प्यारे को पकड़ रही हो ॥ ४० ॥

विपञ्चीं परिगृह्यान्या नियता नृत्तशालिनी ।
निद्रावशमनुप्राप्ता सहकान्तेव भामिनी ॥ ४१ ॥

कोई नाचने वाली स्त्री वीणा को पकड़ कर ऐसे सो रही थी मानों अपने पति के साथ पड़ी सो रही हो ॥ ४१ ॥

अन्या कनकसङ्काशैर्मृदुपीनैर्मनोरमैः ।
मृदङ्गं परिपीड्याङ्गैः प्रसुप्ता मत्तलोचना ॥ ४२ ॥

कोई कोई मदमाते नयनों वाली अपने सुवर्ण सदृश, कोमल, मांसल और सुन्दर अंगों से मृदंग को दबाये नयन मूंदे सो रही थी ॥ ४२ ॥

भुजपार्श्वान्तरस्थेन कक्षगेन कृशोदरी ।
पणवेन सहानिन्द्या सुप्ता मदकृतश्रमा ॥ ४३ ॥

एक कृशोदरी रति के श्रम से थक कर अपनी भुजाओं में ढोलक को दबाये सो रही थी ॥ ४३ ॥

डिण्डिमं परिगृह्यान्या तथैवासक्तडिण्डिमा ।
प्रसुप्ता तरुणं वत्समुपगूह्येव भामिनी ॥ ४४ ॥

कोई डमरूप्रिय स्त्री, डमरू को छाती से चिपटाये ऐसे पड़ी सो रही थी, जैसे बालवत्सा कामिनी अपने बच्चे को छिपाये पड़ी सोती हो ॥ ४४ ॥

काचिदाडम्बरं नारी भुजसंयोगपीडितम् ।
कृत्वा कमलपत्राक्षी प्रसुप्ता मदमोहिता ॥ ४५ ॥

कोई कमलनयनी मदिरा के नशे में बेहोश हो आडम्बर नाम के बाजे को भुजाओं में दबाये पड़ी सो रही थी ॥ ४५ ॥

कलशीमपविध्यान्या प्रसुप्ता भाति भामिनी ।
वसन्ते पुष्पशबला मालेव परिमार्जिता ॥ ४६ ॥

एक औरत जल के कलसे को ही लिपटा कर सो गयी थी। कलसे के जल से वह तर हो गयी थी। इससे उसकी ऐसी शोभा जान पड़ती थी, मानों वसन्त काल में फूलों की माला को ताज़ी (कुम्हलाने न पावे) रखने के लिये, उस पर जल छिड़का गया हो ॥ ४६ ॥

पाणिभ्यां च कुचौ काचित्सुवर्णकलशोपमौ ।
उपगूह्यावला सुप्ता निद्रावलपराजिता ॥ ४७ ॥

कोई अवला अपने दोनों हाथों से सोने के कलसे की तरह अपने दोनो कुचों को ढक कर, नींद के मारे पड़ी सो रही थी ॥ ४७ ॥

अन्या कमलपत्राक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना ।
अन्यामालिङ्ग्य सुश्रोणीं प्रसुप्ता मदविह्वला ॥ ४८ ॥

एक पूर्णचन्द्राननी, कमलनयनी, दूसरी एक सुन्दर नितम्ब वाली स्त्री को चिपटाये हुए नशे में पड़ी सो रही थी ॥ ४८ ॥

आतोद्यानि विचित्राणि परिष्वज्यापराः स्त्रियः ।
निपीड्य च कुचैः सुप्ताः कामिन्यः कामुकानिव ॥ ४९ ॥

इसी प्रकार अन्य स्त्रियाँ भी अनेक प्रकार के बाजों को अपने स्तनों से दवाये सो रही थीं। माना कामीपुरुषों से वे अपने कुचों को मर्दन कराती हुई पड़ी हुई थीं ॥ ४९ ॥

तासामेकान्तविन्यस्ते शयानां शयने शुभे ।
ददर्श रूपसम्पन्नामपरां स कपिः स्त्रियम् ॥ ५० ॥

अन्त में हनुमान जी ने देखा कि अलग एक सुन्दर सेज पर, अपूर्व रूप यौवनशालिनी एक स्त्री पड़ी सो रही है ॥ ५० ॥

मुक्तामणिसमायुक्तैर्भूषणैः सुविभूषिताम् ।
विभूषयन्तीमिव तत्स्वश्रिया भवनोत्तमम् ॥ ५१ ॥

मणियों और मोतियों के जड़ाऊ विविध प्रकार के भूषणों को पहिने हुए वह स्त्री अपने सौन्दर्य से मानों उस उत्तम भवन को अलङ्कृत कर रही थी ॥ ५१ ॥

गौरीं कनकवर्णाङ्गीमिष्टामन्तःपुरेश्वरीम् ।
कपिर्मन्दोदरीं तत्र शयानां चारुरूपिणीम्
स तां दृष्ट्वा महाबाहुर्भूषितां मारुतात्मजः ॥ ५२ ॥

तर्कयामास सीतेति रूपयौवनसम्पदा ।
हर्षेण महता युक्तो ननन्द हरियूथपः ॥ ५३ ॥

उसके शरीर का रंग गौर था और सुवर्ण की तरह उसके शरीर की कान्ति थी। वह सारे रनवास की स्त्रियों की स्वामिनी, रावण की प्यारी और परम रूपवती मन्दोदरी थी। महाबाहु पवन-नन्दन हनुमान जी ने उस सर्वाभरणभूषित, मन्दोदरी को सुन्दरता और जवानी को देख उसे सीता समझा और इससे उनका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता गया ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं
ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम ।

स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ
निदर्शयन्स्वां प्रकृतिं कपीनाम् ॥ ५४ ॥

इति दशमः सर्गः ॥

वानरी प्रकृति को दिखलाते हुए हनुमान जी मारे हर्ष के पूँछ को फटकारने और चूमने लगे। वे खंभे पर बार बार चढ़ने और वहाँ से नीचे भूमि पर कूदने लगे ॥ ५४ ॥

सुन्दरकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकादशः सर्गः

—※—

अवधूय च तां बुद्धिं बभूवावस्थितस्तदा।
जगाम चापरां चिन्तां सीतां प्रति महाकपिः ॥ १ ॥

हनुमान जी ने जो पहिले निश्चय किया था, कुछ ही देर बाद वह बदल गया। वे स्थिर हो कर बैठ गये और सीता जी के बारे में फिर सोचने लगे ॥ १ ॥

न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी।
न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम् ॥ २ ॥

वे मन ही मन कहने लगे कि, सीता पतिव्रता होकर, श्रीराम के वियोग में न तो सो ही सकती है, न खा सकती है, न अपना शृङ्गार कर सकती है और न मदिरा ही पी सकती है ॥ २ ॥

नान्यं नरमुपस्थातुं सुराणामपि चेश्वरम् ।
न हि रामसमः कश्चिद्विद्यते त्रिदशेष्वपि ॥ ३ ॥

अन्य पुरुष का तो पूछना ही क्या, वह देवताओं के राजा इन्द्र को अपना पति नहीं समझ सकती। क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के समान देवताओं में भी कोई नहीं है ॥ ३ ॥

अन्येयमिति निश्चित्य पानभूमौ चचार सः ।
क्रीडितेनापराः क्रान्ता गीतेन च तथा पराः ॥ ४ ॥

नृत्तेन चापराः क्रान्ताः पानविप्रहतास्तथा ।
मुरवेषु मृदङ्गेषु चेलिकासु च संस्थिताः ॥ ५ ॥

अतः यह कोई और ही स्त्री है इस प्रकार अपने मन में ठहरा, कपिश्रेष्ठ हनुमान जी सीता जी के दर्शन की अभिलाषा किये हुए पुनः रावण की पानशाला में विचरने लगे। वहाँ उन्होंने देखा कि, कोई स्त्री खेल से, कोई गाने से और कोई नाचते नाचते थक कर और कोई नशे में चूर हो कर, मुरज, मृदङ्ग, का सहारा ले चोली कसे सो रही हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

तथास्तरणमुख्येषु संविष्टाश्चापराः स्त्रियः ।
अङ्गनानां सहस्रेण भूषितेन विभूषणैः ॥ ६ ॥

कोई सुन्दर बिस्तरे पर यथानियम पड़ी सो रही थी। वहाँ पर हज़ारों स्त्रियाँ भूषणों से सजी सजाई पड़ी सो रही थीं ॥ ६ ॥

रूपसँल्लापशीलेन युक्तगीतार्थभाषिणा ।
देशकालाभियुक्तेन युक्तवाक्याभिधायिना ॥ ७ ॥

रताभिरतसंसुप्तं ददर्श हरियूथपः ।
तासां मध्ये महाबाहुः शुशुभे राक्षसेश्वरः ॥ ८ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, उनमें से कोई स्त्री तो अपने रूप का बखान करने में कोई गान का अर्थ समझा समझा कर, कोई देश-कालानुसार वार्तालाप करते करते, कोई उचित वचन बोलते बोलते और कोई रतिक्रीड़ा में रत हो, सोयी हुई थी। उनके बीच में पड़ा सोता हुआ महाबाहु रावण ऐसा शोभायमान हो रहा था ॥ ७ ॥ ८ ॥

गोष्ठे महति मुख्यानां गवां मध्ये यथा वृषः ।
स राक्षसेन्द्रः शुशुभे ताभिः परिवृतः स्वयम् ॥ ९ ॥

जैसे किसी बड़ी गोठ में, गौओं के बीच सांड़ शोभायमान होता है। स्वयं राक्षसेन्द्र रावण उन स्त्रियों के बीच उसी प्रकार शोभायमान हो रहा था ॥ ९ ॥

करेणुभिर्यथारण्ये परिकीर्णो महाद्विपः ।
सर्वकामैरुपेतां च पानभूमिं महात्मनः ॥ १० ॥

जिस प्रकार किसी वन में हथिनियों के बीच महागज शोभित होता है। रावण की पानशाला में किसी चीज़ की कमी न थी ॥ १० ॥

ददर्श कपिशार्दूलस्तस्य रक्षःपतेर्गृहे ।
मृगाणां महिषाणां च वराहाणां च भागशः ॥ ११ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने, रावण की उस पानशाला में हिरनों का, भैसों का और शूकर का मांस, अलग अलग रखा हुआ देखा ॥ ११ ॥

तत्र न्यस्तानि मांसानि पानभूमौ ददर्श सः ।
रौक्मेषु च विशालेषु भाजनेष्वर्धभक्षितान् ॥ १२ ॥

ददर्श कपिशार्दूलो मयूरान्कुक्कुटांस्तथा ।
वराहवार्ध्राणसकान्दधिसौवर्चलायुतान् ॥ १३ ॥

शल्यान्मृगमयूरांश्च हनुमानन्ववैक्षत ।
क्रकरान्विविधान्सिद्धांश्चकोरानर्धभक्षितान् ॥ १४ ॥

हनुमान जी ने उस पानशाला में सोने के पात्रों में रखे हुए अधखाये हुए, मुरगों और मोरों के मांस देखे। शूकर, जंगली बकरा (जिसके लंबे कान होते हैं), सेही, हिरन, और सब के मांस वहाँ दही और निमक से लपेटे हुए हनुमान जी ने देखे। विविध प्रकार से बनाया हुआ तीतर और चकोर पत्ती के मांस अधखाये हुए वहाँ देख पड़े ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

महिषानेकशल्यांश्च च्छागांश्च कृत निष्ठितान्[1] ।
लेह्यानुच्चावचान्पेयान्भोज्यानि विविधानि च ॥ १५ ॥

भैसों, एकशल्य मत्स्यों, (मछली जिसके एक काँटा होता) और बकरों के भली भाँति पकाये हुए मांस वहाँ रखे थे। इनके अतिरिक्त अन्य विविध प्रकार के चाटने, खाने, पीने के पदार्थ भी वहाँ रखे थे ॥ १५ ॥

तथाम्ललवणोत्तंसैर्विविधै[2] रागषाडवैः[3] ।
हारनूपुरकेयूरैरपविद्धैर्महाधनैः ॥ १६ ॥

---

१ कृतनिष्ठितान्—पर्याप्तपक्वान् । (गो०) २ रागः—श्वेतसर्षपः । (गो०) ३ षाडवाः—षड्रससंयोगकृताभक्ष्यविशेषाः । (गो०)

इनमें बहुत से तो चरपरे, खट्टे और निमकीन पदार्थों से मिश्रित थे। फिर सफेद सरसों के बनाये हुए षड्रस पदार्थ भी थे। किसी किसी पीने के पात्र में बहुमूल्य हार, नूपुर और विजायठ पड़े हुए थे ॥ १६ ॥

पानभाजनविक्षिप्तैः फलैश्च विविधैरपि ।
कृतपुष्पोपहारा भूरधिकं पुष्यति श्रियम् ॥ १७ ॥

और कहीं प्यालों में अनेक प्रकार के फल रखे थे। उस पान-शाला में इधर उधर पड़े हुए फूल वहाँ की अत्यन्त शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १७ ॥

तत्रतत्र च विन्यस्तैः सुश्लिष्टैः शयनासनैः ।
पानभूमिर्विना वह्निं प्रदीप्तेवोपलक्ष्यते ॥ १८ ॥

जहाँ तहाँ कोमल बिस्तरों सहित पलंग पड़े हुए थे। वह पान-शाला अग्नि के विना ही अग्निसम चमक रही थी ॥ १८ ॥

बहुप्रकारैर्विविधैर्वरसंस्कारसंस्कृतैः ।
मांसैः कुशलसंयुक्तैः पानभूमिगतैः पृथक् ॥ १९ ॥

बहुत से और विविध प्रकार के निपुण बावरचियों द्वारा अच्छे प्रकार से पकाये हुए मांस पानशाला में अलग अलग रखे हुए थे ॥ १९ ॥

[1]दिव्याः प्रसन्ना[2] विविधाः सुराः कृतसुरा[3] अपि ।
शर्करासवमाध्वीकपुष्पासवफलासवाः ॥ २० ॥

मांसों के अतिरिक्त वारुणी जाति की मदिरा तथा अन्य विविध प्रकार की साफ और बनावटी शराब भी वहाँ मौजूद थी। चीनी

---

१ दिव्याः—वारुणीजातीयाः । (गो०) २ प्रसन्ना—निष्कल्मषाः । (गो०) ३ कृतसुराः—कृत्रिमसुराः । (गो०)

की, शहद की, फूलों (महुआ आदि के फूलों से खींची हुई) की और फलों से खींची हुई शरावें भी वहाँ रखी हुई थीं ॥ २० ॥

वासचूर्णैश्च *विविधैर्मृष्टास्तैस्तैः पृथक्पृथक् ।
सन्तता शुशुभे भूमिर्माल्यैश्च बहुसंस्थितैः ॥ २१ ॥
हिरण्मयैश्च विविधैर्भाजनैः स्फाटिकैरपि ।
जाम्बूनदमयैश्चान्यैः करकैरभिसंवृता ॥ २२ ॥

अनेक प्रकार के साफ किये हुए सुगन्धित मसालों से बसाये हुए मांस और मदिराएँ वहाँ अलग अलग रखी थीं। वह पानशाला फूलों के ढेरों से, सुवर्ण के कनसों से, स्फटिक के पात्रों से और सौने के गड़ुओं से परिपूर्ण थी ॥ २१ ॥ २२ ॥

राजतेषु च कुम्भेषु जाम्बूनदमयेषु च ।
पानश्रेष्ठं तथा भूरि कपिस्तत्र ददर्श सः ॥ २३ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, कहीं चाँदी के और कहीं सौने के बड़े बड़े पात्रों में अच्छी अच्छी शरावें भरी हुई थीं ॥ २३ ॥

सोऽपश्यच्छातकुम्भानि शीधोर्मणिमयानि च ।
राजतानि च पूर्णानि भाजनानि महाकपिः ॥ २४ ॥

हनुमान जी ने और भी देखा कि, सुवर्ण मणि और चांदी के पात्रों में मदिरा भरी हुई है ॥ २४ ॥

क्वचिदर्धावशेषाणि क्वचित्पीतानि सर्वशः ।
क्वचिन्नैव प्रपीतानि पानानि स ददर्श ह ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे—" विविधैर्दृष्टाः । "

हनुमान जी ने देखा कि, उनमें कोई तो आधे खाली थे, कोई बिल्कुल खाली थे और कोई ज्यों के त्यों लबालब भरे हुए थे ॥ २५ ॥

क्वचिद्भक्ष्यांश्च विविधान्क्वचित्पानानि भागशः ।
क्वचिदन्नावशेषाणि पश्यन्वै विचचार ह ॥ २६ ॥

किसी स्थान में विविध प्रकार की भोजन सामग्री और पीने योग्य मदिरा सजा कर रखी हुई थी। कहीं पर भक्ष्य पदार्थ आधे खाये हुए पड़े थे। इन सब वस्तुओं को देखते भालते हनुमान जी वहाँ विचर रहे थे ॥ २६

क्वचित्प्रभिन्नैः करकैः क्वचिदालोलितैर्घटैः ।
क्वचित्सम्पृक्तमाल्यानि मूलानि च फलानि च ॥ २७ ॥

कहीं पर टूटे गडुवे और कहीं पर खाली घड़े लुढ़क रहे थे। कहीं पर फूलों की मालाओं, मूलों और फलों का गडमगड्ड हो रहा था ॥ २७ ॥

शयनान्यत्र नारीणां शून्यानि बहुधा पुनः ।
परस्परं समाश्लिष्य काश्चित्सुप्ता वराङ्गनाः ॥ २८ ॥

कहीं कहीं स्त्रियों की सेजे सुनी पड़ी थीं और कोई कोई स्त्रियाँ आपस में लिपटी हुई सो रही थीं ॥ २८ ॥

काचिच्च वस्त्रमन्यस्याः अपहृत्योपगुह्य च ।
उपगम्याबला सुप्ता निद्राबलपराजिता ॥ २९ ॥

कहीं पर कोई स्त्री औंघाती हुई दूसरी स्त्री की सेज पर जा, उसके वस्त्र छीन कर, उससे अपने शरीर को ढक कर पड़ी सो रही थी ॥ २९ ॥

तासामुच्छ्वासवातेन वस्त्रं माल्यं च गात्रजम् ।
नात्यर्थं स्पन्दते चित्रं प्राप्य मन्दमिवानिलम् ॥ ३० ॥

उनके निश्वास वायु से शरीर के वस्त्र और मालाएँ धीरे धीरे हिल रही थीं ; मानों वे मन्द पवन के चलने से हिल रहो हों ॥३०॥

चन्दनस्य च शीतस्य शीधोर्मधुरसस्य च ।
विविधस्य च माल्यस्य धूपस्य विविधस्य च ॥ ३१ ॥
बहुधा मारुतस्तत्र गन्धं विविधमुद्वहन् ।
रसानां चन्दनानां च धूपानां चैव[1] मूर्छितः ॥ ३२ ॥
प्रववौ सुरभिर्गन्धो विमाने पुष्पके तदा ।
श्यामा वदातास्तत्रान्याः काश्चित्कृष्णा वराङ्गनाः ॥३३॥
काश्चित्काञ्चनवर्णाङ्ग्यः प्रमदा राक्षसालये ।
तासां निद्रावशत्वाच्च मदनेन च मूर्छितम् ॥ ३४ ॥

शीतल चन्दन, मदिरा, मधुररस, विविध प्रकार की मालाएँ और विविध प्रकार की धूपें का गंध लिये हुए पवन बह रहा था। अनेक प्रकार के चन्दनों के इत्रों की और सुगन्धित पदार्थों की बनी धूप की सुगन्धि उड़ाता हुआ पवन उस समय पुष्पकविमान में व्याप्त (भरा हुआ) हो रहा था। हनुमान जी ने रावण के रनवास में अनेक स्त्रियाँ देखीं, जिनमें कोई साँवली, कोई काली और कोई सुवर्णवर्ण की थी। वे सब रति से थक कर, सो रही थीं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

पद्मिनीनां प्रसुप्तानां रूपमासीद्यथैव हि ।
एवं सर्वमशेषेण रावणान्तःपुरं कपिः ॥ ३५ ॥

---

1 मूर्छितः—व्याप्तः । (गो०)

उस रात में उनका सौन्दर्य मुरझाई हुई कमलिनी की तरह हो रहा था। इस प्रकार रावण के रनवास में हनुमान जी ने सब कुछ देखा॥ ३५॥

दद‍र्श सुमहातेजा न दद‍र्श च जानकीम्।
निरीक्षमाणश्च तदा ताः स्त्रियः स महाकपिः॥ ३६॥

हनुमान जी ने ये सब तो देखा, किन्तु जानकी जी उनको न देख पड़ीं। हनुमान जी उन सब स्त्रियों को देखने से॥ ३६॥

जगाम महतीं चिन्तां धर्मसाध्वसशङ्कितः।
परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम्॥ ३७॥

बहुत चिन्तित हुए, क्योंकि परस्त्रियों को सोते में देखने से उनको अपने धर्म के नष्ट होने की शङ्का उत्पन्न हो गयी॥ ३७॥

इदं खलु ममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति।
न हि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी॥ ३८॥

(वे मन ही मन कहने लगे कि) मेरा यह कर्म (सोती हुई पराई स्त्रियों का देखना) अवश्य मेरे धर्म को नष्ट कर देगा। आज तक मैंने बुरी दृष्टि से स्त्रियों को कभी नहीं देखा॥ ३८॥

अयं चाद्य मया दृष्टः परदारपरिग्रहः।
तस्य प्रादुरभूच्चिन्ता पुनरन्या मनस्विनः॥ ३९॥

किन्तु आज मैंने परस्त्रीगामी रावण को देखा है। इस प्रकार चिन्ता करते करते हनुमान जी के मन में एक दूसरी बात आयी॥ ३९॥

निश्चितैकान्तचित्तस्य कार्यनिश्चयदर्शिनी।
कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः॥ ४०॥

न हि मे मनसः किञ्चिद्वैकृत्यमुपपद्यते ।
मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने ॥ ४१ ॥

शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम् ।
नान्यत्र हि मया शक्या वैदेही परिमार्गितुम् ॥ ४२ ॥

उनके मन में स्थिरता और निश्चय पूर्वक यह बात आई कि, यद्यपि मैंने इन स्त्रियों को देखा, तथापि मेरे मन में तिल भर भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। फिर मन ही तो पाप और पुण्य करने वाली सब इन्द्रियों का प्रेरक है। सो वह मन मेरे वश में है। अतः मुझे सोती हुई पराई स्त्रियों के देखने का पाप नहीं लग सकता। फिर अन्यत्र मैं सीता को ढूँढ़ भी तो कहाँ सकता था ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

स्त्रियो हि स्त्रीषु दृश्यन्ते सर्वथा परिमार्गणे ।
यस्य सत्त्वस्य या योनिस्तस्यां तत्परिमार्ग्यते ॥ ४३ ॥

स्त्रियाँ तो स्त्रियों ही में ढूँढ़ी जाती हैं। जिस प्राणी की जो जाति होती है, वह प्राणी उसी जाति में खोजा जाता है ॥ ४३ ॥

न शक्या प्रमदा नष्टा मृगीषु परिमार्गितुम् ।
तदिदं मार्गितं तावच्छुद्धेन मनसा मया ॥ ४४ ॥

खोयी हुई स्त्री हिरनियों के समूह में नहीं खोजी जाती। अतः मैंने शुद्धमन से जानकी को खोजते हुए ॥ ४४ ॥

रावणान्तःपुरं सर्वं दृश्यते न च जानकी ।
देवगन्धर्वकन्याश्च नागकन्याश्च वीर्यवान् ॥ ४५ ॥

अवेक्षमाणो हनुमान्नैवापश्यत जानकीम् ।
तामपश्यन्कपिस्तत्र पश्यंश्चान्या वरस्त्रियः ॥ ४६ ॥

रावण के समस्त अन्तःपुर को ढूंढा, पर जानकी जी न देख पड़ीं। वीर्यवान हनुमान ने वहाँ देव, गन्धर्व, और नागों की कन्याओं को तो देखा, किन्तु उनको जानकी न देख पड़ीं। तब हनुमान जी ने जानकी को न देख कर, अन्य सुन्दरी स्त्रियों में जानकी जी को तलाश किया ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

अपक्रम्य तदा वीरः प्रध्यातुमुपचक्रमे ।
स भूयस्तु परं श्रीमान्मारुतिर्यत्नमास्थितः ।
आपानभूमिमुत्सृज्य तद्विचेतुं प्रचक्रमे ॥ ४७ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

तदनन्तर हनुमान जी, रावण के रनवास से निकल कर, अन्यत्र जा कर जानकीजी का पता लगाने का विचार करने लगे। पवन-नन्दन हनुमान जी पानशाला को त्याग, अन्य स्थानों में जानकी जी की खोज के प्रयत्न में लगे ॥ ४७ ॥

सुन्दरकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—*—

द्वादशः सर्गः

—*—

स तस्य मध्ये भवनस्य मारुति-
र्लतागृहांश्चित्रगृहान्निशागृहान् ।
जगाम सीतां प्रति दर्शनोत्सुको
न चैव तां पश्यति चारुदर्शनाम् ॥ १ ॥

रावण के वासगृह के बीच हनुमान जी ने लतागृहों, चित्रशालाओं और रात में रहने के घरों में भली भाँति ढूढ़ा, पर जानकी उनको न देख पड़ीं ॥ १ ॥

स चिन्तयामास ततो महाकपिः
प्रियामपश्यन्रघुनन्दनस्य ताम् ।
ध्रुवं हि सीता म्रियते यथा न मे
विचिन्वतो दर्शनमेति मैथिली ॥ २ ॥

हनुमान जी श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी सीता को न देख कर, अत्यन्त चिन्तित हो विचारने लगे कि, निश्चय ही जानकी जीती हुई नहीं हैं। क्योंकि मैंने उन्हें इतना ढूढ़ा, तोभी उनके मुझे दर्शन न हुए ॥ २ ॥

सा राक्षसानां प्रवरेण जानकी
स्वशीलसंरक्षणतत्परा सती ।
अनेन नूनं परिदुष्टकर्मणा
हता भवेदार्यपथे *वरे स्थिता ॥ ३ ॥

जान पड़ता है, अपने पतिव्रत धर्म की रक्षा में तत्पर और श्रेष्ठ पतिव्रतधर्म पर आरूढ़ जानकी को इस दुष्टात्मा रावण ने मार डाला ॥ ३ ॥

विरूपरूपा विकृता विवर्चसो
महानना दीर्घविरूपदर्शनाः ।
समीक्ष्य सा राक्षसराजयोषितो
भयाद्विनष्टा जनकेश्वरात्मजा ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—" परे । "

अथवा इन कुरूप, विकराल, बुरे रंग वाली, बड़े बड़े मुखों वाली, दीर्घाकार और भयङ्कर नयनों वाली रावण की स्त्रियों को देख, डर के मारे सीता स्वयं मर गयी ॥ ४ ॥

सीतामदृष्ट्वा ह्यनवाप्य पौरुषं
विहृत्य कालं सह वानरैश्चिरम् ।
न मेऽस्ति सुग्रीवसमीपगा गतिः
सुतीक्ष्णदण्डो बलवांश्च वानरः ॥ ५ ॥

हा ! न तो मुझे सीता का कुछ पता मिला और न समुद्र लाँघने का फल ही कुछ मुझे मिला। फिर वानरों के लिये, सुग्रीव का नियत किया हुआ अवधि-काल भी व्यतीत हो गया। अतः अब लौट कर सुग्रीव के पास जाना भी नहीं बन पड़ता। क्योंकि वह बलवान वानरराज बड़ा कड़ा दण्ड देने वाला है ॥ ५ ॥

दृष्टमन्तःपुरं सर्वं दृष्टा रावणयोषितः ।
न सीता दृश्यते साध्वी वृथा जातो मम श्रमः ॥ ६ ॥

मैंने रावण का सारा रनवास और उसकी स्त्रियों को रत्ती रत्ती देख डाला, पर वह सती सीता न देख पड़ी—अतः मेरा सारा परिश्रम मिट्टी में मिल गया ॥ ६ ॥

किंनु मां वानराः सर्वे गतं वक्ष्यन्ति सङ्गताः ।
गत्वा तत्र त्वया वीर किं कृतं तद्वदस्व नः ॥ ७ ॥

जब मैं लौट कर जाऊँगा और वानर मुझसे पूँछेंगे कि, तुमने, जा कर वहाँ क्या किया सो हमसे कहो—तब मैं उनसे क्या कहूँगा ॥ ७ ॥

अदृष्ट्वा किं प्रवक्ष्यामि तामहं जनकात्मजाम् ।
ध्रुवं प्रायमुपैष्यन्ति कालस्य व्यतिवर्तने ॥ ८ ॥

जानकी को देखे विना मैं उनसे क्या कहूँगा । अतः सुग्रीव की निश्चित की हुई समय की अवधि तो बीत ही गयी सो मैं तो अब अन्न-जल-त्याग यहीं अपने प्राण गँवा दूँगा ॥ ८ ॥

किं वा वक्ष्यति वृद्धश्च जाम्बवानङ्गदश्च सः ।
गतं पारं समुद्रस्य वानराश्च समागताः ॥ ९ ॥

यदि मैं समुद्र के पार वानरों के पास लौट कर जाऊँ, तो बूढ़े जाम्बवान् और युवराज अंगद मुझसे क्या कहेंगे ॥ ९ ॥

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम् ।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ॥ १० ॥

(इस प्रकार हताश होकर भी पवननन्दन ने पुनः मन ही मन कहा कि, मुझे अभी हतोत्साह न होना चाहिये—क्योंकि) उत्साह ही कार्यसिद्धि का मूल है और उत्साह ही परम सुख का देने वाला है। उत्साह ही मनुष्यों को सदैव सब कामों में लगाने वाला है ॥ १० ॥

करोति सफलं जन्तोः कर्म यच्च करोति सः ।
तस्मादनिर्वेदकरं यत्नं कुर्यादनुत्तमम् ॥ ११ ॥

उत्साह पूर्वक जीव जो काम करते हैं, उत्साह उनके उस काम को सिद्ध करता है । अतः मैं अब उत्साह पूर्वक सीता जी को ढूढ़ने का प्रयत्न करता हूँ ॥ ११ ॥

भूयस्तावद्विचेष्यामि देशान्रावणपालितान् ।
आपानशाला विचितास्तथा पुष्पगृहाणि च ॥ १२ ॥

चित्रशालाश्च विचिता भूयः क्रीडागृहाणि च ।
निष्कुटान्तररथ्याश्च विमानानि च सर्वशः ॥ १३ ॥

यद्यपि पानशाला, पुष्पगृह, चित्रशाला, क्रीड़ागृह, गृहोद्यान, भीतरी गलियाँ और अटारियों को एक बार रत्ती रत्ती ढूढ़ चुका, तथापि मैं अब इन समस्त रावणरक्षित स्थानों को दुवारा ढूढ़ूँगा ॥ १२ ॥ १३ ॥

इति संचिन्त्य भूयोऽपि विचेतुमुपचक्रमे ।
भूमीगृहांश्चैत्य गृहान्[1] गृहातिगृहकानपि[2] ॥ १४ ॥

उत्पतन्निपतंश्चापि तिष्ठन्गच्छन्पुनः पुनः ।
अपावृण्वंश्च द्वाराणि कपाटान्यवघाटयन् ॥ १५ ॥

इस प्रकार मन में निश्चय कर हनुमान जी, फिर ढूढ़ने में प्रवृत हुए। उन्होंने तहखाने (तलघर) में चौराहे के मण्डपों में तथा रहने के घरों से दूर सैर सपाटे के लिये बने हुए घरों में ऊपर नीचे सर्वत्र ढूँढ़ने लगे। कभी तो वे ऊपर चढ़ते कभी नीचे उतरते, कभी खड़े हो जाते और कभी फिर चल पड़ते थे। कहीं किवाड़ों को खोलते और कहीं उन्हें बंद कर देते थे ॥ १४ ॥ १५ ॥

प्रविशन्निष्पतंश्चापि प्रपतन्नुत्पतन्नपि ।
सर्वमप्यवकाशं स विचचार महाकपिः ॥ १६ ॥

कहीं घर में घुस, कहीं बाहिर निकल, कहीं लेट कर और कहीं बैठ कर हनुमान जी, सब स्थानों में घूमे फिरे ॥ १६ ॥

---

१ चैत्यगृहान्—चतुष्पथमण्डपान् । (गो०) २ गृहातिगृहकान्—गृहानतीत्यदूरेस्वैरविहारार्थं निर्मितान् गृहान् । (गो०)

चतुरङ्गुलमात्रोऽपि नावकाशः स विद्यते ।
रावणान्तःपुरे तस्मिन्यं कपिर्न जगाम सः ॥ १७ ॥

यहाँ तक कि, रावण के रनवास में चार अंगुल भी जगह ऐसी न बची जहाँ कपि न गये हों और जो उन्होंने न देखी हो ॥ १७ ॥

प्राकारान्तररथ्याश्च वेदिकाश्चैत्यसंश्रयाः ।
दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च सर्वं तेनावलोकितम् ॥ १८ ॥

परकोटा, परकोटे के भीतर की गलियाँ, चौराहों के चबूतरे तालाब और तलैयाँ सभी हनुमान जी ने देख डालीं ॥ १८ ॥

राक्षस्यो विविधाकारा विरूपा विकृतास्तदा ।
दृष्टा हनुमता तत्र न तु सा जनकात्मजा ॥ १९ ॥

इन जगहों में उनको विविध प्रकार की कुरूप विकराल राक्षसियाँ तो दिखलाई पड़ीं; किन्तु सीता जी कहीं भी न देख पड़ीं ॥ १९ ॥

रूपेणाप्रतिमा लोके वरा विद्याधरस्त्रियः ।
दृष्टा हनुमता तत्र न तु राघवनन्दिनी ॥ २० ॥

संसार में अनुपम सौन्दर्यवती और श्रेष्ठ विद्याधरों की स्त्रियाँ तो हनुमान जी ने देखीं, किन्तु सीता जी नहीं ॥ २० ॥

नागकन्या वरारोहाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।
दृष्टा हनुमता तत्र न तु सीता सुमध्यमा ॥ २१ ॥

चन्द्रवदनी सुन्दरी नागकन्याएँ भी हनुमान जी ने देखीं; किन्तु सुन्दरी सीता जी उन्हें न देख पड़ीं ॥ २१ ॥

प्रमथ्य राक्षसेन्द्रेण नागकन्या बलादधृताः ।
दृष्टा हनुमता तत्र न सा जनकनन्दिनी ॥ २२ ॥

वे नागकन्याएँ जिन्हें रावण बलपूर्वक ले आया था, हनुमान जी ने देखीं; किन्तु जनकनन्दिनी नहीं ॥ २२ ॥

सोऽपश्यंस्तां महाबाहुः पश्यंश्चान्या वरस्त्रियः ।
विषसाद मुहुर्धीमान्हनुमान्मारुतात्मजः ॥ २३ ॥

महाबाहु पवननन्दन हनुमान जी ने अन्य सुन्दरी स्त्रियों में ढूढ़ने पर भी जब जानकी जी को न देखा, तब वे दुखी हुए ॥ २३ ॥

उद्योगं वानरेन्द्राणां प्लवनं सागरस्य च ।
व्यर्थं वीक्ष्यानिलसुतश्चिन्तां पुनरुपागमत् ॥ २४ ॥

सीता का पता लगाने के लिये सुग्रीव का उद्योग और अपना समुद्र का फांदना व्यर्थ हुआ देख, पवननन्दन पुनः चिन्तित हुए ॥ २४ ॥

अवतीर्य विमानाच्च हनुमान्मारुतात्मजः ।
चिन्तामुपजगामाथ शोकोपहतचेतनः ॥ २५ ॥

इति द्वादशः सर्गः ॥

पवननन्दन विमान से उतर और शोक से विकल हो, अत्यन्त चिन्तित हो गये ॥ २५ ॥

सुन्दरकाण्ड का बारहवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयोदशः सर्गः

—※—

विमानात्तु सुसंक्रम्य प्राकारं हरिपुङ्गवः ।
हनुमान्वेगवानासीद्यथा विद्युद्घनान्तरे ॥ १ ॥

तदनन्तर वानरश्रेष्ठ हनुमान जी विमान से उतर कर परकोटे पर कूद कर गये। हनुमान जी का वेग उस समय ऐसा था, जैसा कि मेघ के भीतर चमकने वाली बिजली का होता है ॥ १ ॥

सम्परिक्रम्य हनुमान्रावणस्य निवेशनम् ।
अदृष्ट्वा जानकीं सीतामब्रवीद्वचनं कपिः ॥ २ ॥

रावण के आवासगृह में चारों ओर घूम फिर कर और सीता को न पा कर, हनुमान जी आप ही आप कहने लगे ॥ २ ॥

भूयिष्ठं लोलिता लङ्का रामस्य चरता प्रियम् ।
न हि पश्यामि वैदेहीं सीतां सर्वाङ्गशोभनाम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का प्रियकार्य करने के अर्थ मैंने दुबारा लङ्कापुरी खोज डाली, किन्तु उस सर्वाङ्गसुन्दरी सीता का पता तो भी न चला ॥ ३ ॥

पल्वलानि तटाकानि सरांसि सरितस्तथा ।
नद्योऽनूपवनान्ताश्च दुर्गाश्च धरणीधराः ॥ ४ ॥

पुष्करिणियाँ, तड़ाग, झीलें, छोटी बड़ी नदियाँ, नदीतट के वनों, दुर्गों और पर्वतों को ले कर ॥ ४ ॥

लोलिता वसुधा सर्वा न तु पश्यामि जानकीम् ।
इह सम्पातिना सीता रावणस्य निवेशने ॥ ५ ॥

आख्याता गृध्रराजेन न च पश्यामि तामहम् ।
किं नु सीताथ वैदेही मैथिली जनकात्मजा ॥ ६ ॥

सारा पृथिवीमण्डल देख डाला, किन्तु सीता जी न मिलीं। किन्तु सम्पाति का कहना यह है कि, सीता रावण के ही घर में है, किन्तु यहाँ तो सीता है नहीं। कहीं वैदेही, मैथिली, जनकात्मजा सीता ॥ ५ ॥ ६ ॥

उपतिष्ठेत विवशा रावणं दुष्टचारिणम् ।
क्षिप्रमुत्पततो मन्ये सीतामादाय रक्षसः ॥ ७ ॥

बिभ्यतो रामबाणानामन्तरा पतिता भवेत् ।
अथवा ह्रियमाणायाः पथि सिद्धनिषेविते ॥ ८ ॥

विवश हो, दुष्टात्मा रावण के वश में तो नहीं हो गयीं अथवा जब रावण सीता को हरण करके, श्रीरामचन्द्र जी के बाणों के भय से शीघ्रता पूर्वक आ रहा था, तब जानकी जी हड़बड़ी में कहीं बीच में खसक पड़ी हों। अथवा जब वह सिद्धों से सेवित आकाश मार्ग से सीता को हर कर ला रहा था ॥ ७ ॥ ८ ॥

मन्ये पतितमार्याया हृदयं प्रेक्ष्य सागरम् ।
रावणस्योरुवेगेन भुजाभ्यां पीडितेन च ॥ ९ ॥

तया मन्ये विशालाक्ष्या त्यक्तं जीवितमार्यया ।
उपर्युपरि वा नूनं सागरं क्रमतस्तदा ॥ १० ॥

तब जान पड़ता है कि, सागर को देखने से भयभीत हो, सीता के प्राण निकल गये हों अथवा रावण के महावेग से चलने और उसकी भुजाओं के बीच दब जाने से विकल हो, उस विशालाक्षी सीता ने प्राण त्याग दिये हों। अथवा समुद्र पार करते समय ॥ ९ ॥ १० ॥

विवेष्टमाना पतिता समुद्रे जनकात्मजा ।
अहो क्षुद्रेण वाऽनेन रक्षन्ती शीलमात्मनः ॥ ११ ॥

अबन्धुर्भक्षिता सीता रावणेन तपस्विनी ।
अथवा राक्षसेन्द्रस्य पत्नीभिरसितेक्षणा ॥ १२ ॥

अदुष्टा दुष्टभावाभिर्भक्षिता सा भविष्यति ।
सम्पूर्णचन्द्रप्रतिमं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ १३ ॥

छटपटाती सीता समुद्र में गिर पड़ी हो। अथवा अपने पातिव्रत की रक्षा करती हुई उस अनाथिनी को इस नीच रावण ने ही खा डाला हो अथवा रावण की दुष्ट स्त्रियों ने ही कमलाक्षी सीता को सौतिया डाह के कारण मिल कर खा डाला हो। अथवा पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

रामस्य ध्यायती वक्त्रं पञ्चत्वं कृपणा गता ।
हा राम लक्ष्मणेत्येवं हायोध्ये चेति मैथिली ॥ १४ ॥

विलप्य बहु वैदेही न्यस्तदेहा भविष्यति ।
अथवा निहिता मन्ये रावणस्य निवेशने ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुखमण्डल का स्मरण करती हुई वह बपुरी मर गयी हो। अथवा हा राम! हा लक्ष्मण! हा अयोध्या! कह

कर बहुत सा विलाप करती हुई मैथिली ने शरीर छोड़ दिया हो अथवा यह भी सम्भव है कि, रावण के घर में वह कहीं छिपा कर रखी गयी हो ॥ १४ ॥ १५ ॥

नूनं लालप्यते सीता पञ्जरस्थेव शारिका ।
जनकस्य सुता सीता रामपत्नी सुमध्यमा ॥ १६ ॥
कथमुत्पलपत्राक्षी रावणस्य वशं व्रजेत् ।
विनष्टा[1] वा प्रणष्टा[2] वा मृता वा जनकात्मजा ॥१७॥

और पिंजड़े में बंद मैना की तरह विवश पड़ी विलाप करती हो। किन्तु कमलदल के समान नेत्र वाली और क्षीण कटिवाली सीता जनक की बेटी और श्रीरामचन्द्र जी की भार्या होकर रावण के वश में कैसे जा सकती है? उसे रावण ने भले ही किसी तहखाने में छिपा रखा हो, अथवा वह समुद्र में गिर कर नष्ट हो गयी हो अथवा मर गयी हो ॥ १६ ॥ १७ ॥

रामस्य प्रियभार्यस्य न निवेदयितुं क्षमम् ।
निवेद्यमाने दोषः स्याद्दोषः स्यादनिवेदने ॥ १८ ॥

किन्तु श्रीरामचन्द्र जी के पास जा इन बातों में से मैं एक भी बात नहीं कह सकता। क्या किया जाय ऐसी बातें कहने से भी दोष लगता है और न कहने से भी दोष का भागी होना पड़ता है ॥ १८ ॥

कथं नु खलु कर्तव्यं विषमं प्रतिभाति मे ।
अस्मिन्नेवं गते कार्ये प्राप्तकालं क्षमं च किम् ॥ १९ ॥

---

१ विनष्टा—भूगृहादौस्थापनेनादर्शनं गता । (गो०) २ प्रणष्टा—समुद्रपतनादिना त्यक्तजीविता । (गो०)

ऐसे में निश्चय पूर्वक मेरा क्या कर्त्तव्य है इसका निश्चय करना बड़ी विषम समस्या जान पड़ती है। परिस्थिति तो यह है—अब समयानुसार क्या किया जाय ॥ १६ ॥

भवेदिति मतं भूयो हनुमान्प्रविचारयन्।
यदि सीतामदृष्ट्वाहं वानरेन्द्रपुरीमितः ॥ २० ॥
गमिष्यामि ततः को मे पुरुषार्थो भविष्यति।
ममेदं लङ्घनं व्यर्थं सागरस्य भविष्यति ॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने मन में विचारों की ऊहापोह करते करते, हनुमान बड़े विचार में पड़ गये। वे सोचने लगे कि, यदि सीता को देखे बिना किष्किन्धा को लौट चलें, तो इसमें मेरा पुरुषार्थ ही क्या समझा जायगा। बल्कि मेरा सौ योजन समुद्र का लाँघना भी व्यर्थ ही हो जायगा ॥ २० ॥ २१ ॥

प्रवेशश्चैव लङ्काया राक्षसानां च दर्शनम्।
किं मां वक्ष्यति सुग्रीवो हरयो वा समागताः ॥ २२ ॥

फिर लङ्का में प्रवेश करना और राक्षसों को देखना भालना सब ही व्यर्थ है। सुग्रीव अथवा अन्य वानर मिलने पर मुझसे क्या कहेंगे ॥ २२ ॥

किष्किन्धां समनुप्राप्तौ तौ वा दशरथात्मजौ।
गत्वा तु यदि काकुत्स्थं वक्ष्यामि परमप्रियम् ॥ २३ ॥

फिर किष्किन्धा में जाने पर दशरथनन्दन श्रीराम और लक्ष्मण मुझसे क्या कहेंगे। वहाँ जा कर यदि मैं श्रीरामचन्द्र जी से यह अप्रिय वचन कहूँ ॥ २३ ॥

न दृष्टेति मया सीता ततस्त्यक्ष्यति जीवितम् ।
परुषं दारुणं क्रूरं तीक्ष्णमिन्द्रियतापनम् ॥ २४ ॥

कि, मुझे सीता का पता नहीं मिला तो वे तत्क्षण प्राण त्याग देंगे। क्योंकि सीता के सम्बन्ध में उनसे इस प्रकार का वचन कहना श्रीराम जी के लिये केवल कठोर, भयङ्कर असह्य और इन्द्रियों को व्यथित करने वाला ही होगा ॥ २४ ॥

सीतानिमित्तं दुर्वाक्यं श्रुत्वा स न भविष्यति ।
तं तु कृच्छ्रगतं दृष्ट्वा पञ्चत्वगतमानसम् ॥ २५ ॥

सीता के बारे में कोई भी बुरी बात सुन श्रीरामचन्द्र जी का बचना कठिन होगा। उनको शोक से विकल हो प्राण त्यागते देख, ॥ २५ ॥

भृशानुरक्तो मेधावी न भविष्यति लक्ष्मणः ।
विनष्टौ भ्रातरौ श्रुत्वा भरतोऽपि मरिष्यति ॥ २६ ॥

उनके अत्यन्त अनुरागी और मेधावी लक्ष्मण भी न बचेंगे। जब श्रीराम और लक्ष्मण के मरने का वृत्तान्त भरत जी सुनेंगे, तब वे भी प्राण त्याग देंगे ॥ २६ ॥

भरतं च मृतं दृष्ट्वा शत्रुघ्नो न भविष्यति ।
पुत्रान्मृतान्समीक्ष्याथ न भविष्यन्ति मातरः ॥ २७ ॥

भरत को मरा देख, शत्रुघ्न भी जीवित न रहेंगे। जब अपने पुत्रों को मरा हुआ देखेंगी, तब उनकी माताएँ भी जीती न बचेंगी ॥२७॥

कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च न संशयः ।
कृतज्ञः सत्यसन्धश्च सुग्रीवः प्लवगाधिपः ॥ २८ ॥

निश्चय ही, कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी मर जांयगी। फिर कृतज्ञ और सत्यप्रतिज्ञ वानरराज सुग्रीव भी॥ २८॥

रामं तथागतं दृष्ट्वा ततस्त्यक्ष्यति जीवितम्।
दुर्मना व्यथिता दीना निरानन्दा तपस्विनी ॥ २९॥
पीडिता भर्तृशोकेन रुमा त्यक्ष्यति जीवितम्।
वालिजेन तु दुःखेन पीडिता शोककर्शिता ॥ ३०॥

श्रीराम को मरा देख अपना प्राण त्याग देंगे। तब अपना मन मारे, व्यथित, दीन और दुखी बेचारी रुमा अपने पति के शोक से पीड़ित हो अपने प्राण गँवा देंगी। वालि के मारे जाने के दुःख से पीड़ित और शोक से विकल॥ २६॥ ३०॥

पञ्चत्वं च गते राज्ञि तारापि न भविष्यति।
मातापित्रोर्विनाशेन सुग्रीवव्यसनेन च ॥ ३१॥

तारा उसी समय मरने को तैयार थी सो अब राजा सुग्रीव के मर जाने पर वह भी कभी न जियेगी। माता पिता और सुग्रीव के मर जाने पर॥ ३१॥

कुमारोऽप्यङ्गदः कस्माद्धारयिष्यति जीवितम्।
भर्तृजेन तु दुःखेन ह्यभिभूता वनौकसः ॥ ३२॥

युवराज अंगद क्योंकर जीवित रह सकेगा। फिर स्वामी को मरा देख वानर बहुत दुःखी हो कर॥ ३२॥

शिरांस्यभिहनिष्यन्ति तलैर्मुष्टिभिरेव च।
सान्त्वेनानुप्रदानेन मानेन च यशस्विना ॥ ३३॥

थपेड़ों और घूसों से अपने सिरों को धुन डालेंगे। जो वानर-राज सुग्रीव दान व मान से वानरों को सान्त्वना प्रदान कर ॥ ३३ ॥

लालिताः कपिराजेन प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति वानराः ।
न वनेषु न शैलेषु न निरोधेषु[1] वा पुनः ॥ ३४ ॥

उनका लालन पालन किया करते हैं, उन सुग्रीव को मरा देख समस्त वानर मर जायँगे। तब क्या वनों, क्या पर्वतों और क्या घरों में ॥ ३४ ॥

क्रीडामनुभविष्यन्ति समेत्य कपिकुञ्जराः ।
सपुत्रदाराः सामात्या भर्तृव्यसनपीडिताः ॥ ३५ ॥

शैलाग्रेभ्यः पतिष्यन्ति समेषु विषमेषु च ।
विषमुद्बन्धनं वाऽपि प्रवेशं ज्वलनस्य वा ॥ ३६ ॥

कपिकुञ्जर एकत्र हो विहार न करेंगे। अपने स्वामी के शोक से सन्तापित होकर स्त्री पुत्र और अपने अपने सेवकों को साथ लेकर वानरगण, पर्वत शिखरों पर चढ़ सम विषम भूमि पर गिर कर जान दे देंगे। अथवा विष खा कर, अथवा गले में फाँसी लगा कर, अथवा जलती हुई आग में कूद कर मर जांयगे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

उपवासमथो शस्त्रं प्रचरिष्यन्ति वानराः ।
घोरमारोदनं मन्ये गते मयि भविष्यति ॥ ३७ ॥

अथवा उपवास कर या शस्त्र से अपना गला काट वानर मर जायँगे। मैं समझता हूँ मेरे किष्किन्धा में लौट कर जाने से वहाँ महाभयङ्कर हाहाकार मच जायगा ॥ ३७ ॥

---

१ निरोधेषु—गृहादिसंवृतप्रदेशेषु । (गो०)

इक्ष्वाकुकुलनाशश्च नाशश्चैव वनौकसाम् ।
सोऽहं नैव गमिष्यामि किष्किन्धां नगरीमितः ॥ ३८ ॥

क्योंकि मेरे जाते ही इक्ष्वाकुकुल का और वानर कुल का नाश निश्चित है—अतः मैं यहाँ से किष्किन्धा तो लौट कर नहीं जाऊँगा ॥ ३८ ॥

न च शक्ष्याम्यहं द्रष्टुं सुग्रीवं मैथिलीं विना ।
मय्यगच्छति चेहस्थे धर्मात्मानौ महारथौ ॥ ३९ ॥

आशया तौ धरिष्येते वानराश्च मनस्विनः ।
[1]हस्तादानो [2]मुखादानो नियतो वृक्षमूलिकः[3] ॥४०॥

मैं सीता को देखे विना सुग्रीव के सामने नहीं जा सकता और यदि मैं वहाँ न जाकर यहीं बना रहूँ तो वे दोनों धर्मात्मा महारथी श्रीराम और लक्ष्मण तथा वानरगण आशा से जीवित तो बने रहेंगे। अतः अब तो मैं जितेन्द्रिय हो, आपसे आप जो हाथ में या मुख में आ जायगा उसको खाकर और वृक्षमूलवासी हो ॥ ३९ ॥ ४० ॥

वानप्रस्थो भविष्यामि ह्यदृष्ट्वा जनकात्मजाम् ।
सागरानूपजे देशे बहुमूलफलोदके ॥ ४१ ॥

वानप्रस्थ हो जाऊँगा। यदि मैं जानकी का पता न लगा पाया, तो अनेक फल मूल और जल से पूर्ण समुद्र के तट पर ॥ ४१ ॥

---

१ हस्तादानः—हस्तिपतितभोजी। (गो०) २ मुखादानः—मुखपतित भोजी। (गो०) ३ वृक्षमूलिकः—वृक्षमूलवासी। (गो०)

चितां कृत्वा प्रवेक्ष्यामि समिद्धमरणीसुतम् ।
[1]उपविष्टस्य वा सम्यग्लिङ्गिनं[2] साधयिष्यतः ॥ ४२ ॥

चिता बना कर और अरणी से उत्पन्न की हुई आग से उसे जला उसमें गिर कर प्राण दे दूँगा । अथवा प्रायोपवेशन व्रत धारण कर शरीर से आत्मा को छुड़ा दूँगा अर्थात् मर जाऊँगा ॥ ४२ ॥

शरीरं भक्षयिष्यन्ति वायसाः श्वापदानि च ।
इदं महर्षिभिर्दृष्टं निर्याणमिति मे मतिः ॥ ४३ ॥

सम्यगापः प्रवेक्ष्यामि न चेत्पश्यामि जानकीम् ।
सुजातमूला सुभगा कीर्त्तिमाला यशस्विनी ॥ ४४ ॥

तब मेरे मृतशरीर को कौए स्यार आदि खा डालेंगे । ऋषियों ने इस शरीर के त्याग करने का और भी उपाय बतलाया है सो यदि मुझे जानकी न मिली तो मैं जल में डूब कर मर जाऊँगा । हाय, मैंने आरम्भ में लङ्का राक्षसी को जीत कर जो नामवरी प्राप्त की अब सीता के दर्शन न पाने से वह मेरी कीर्ति सदा के लिये नष्ट हो गयी ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

अथवा चिररात्रीयं मम सीतामपश्यतः ।
तापसो वा भविष्यामि नियतो वृक्षमूलिकः ॥ ४५ ॥

और जागते जागते इतनी लंबी रात भी सीता के खोजने में समाप्त हुई । किन्तु सीता देखने को न मिली । अतः अब तो

---

१ उपविष्टस्य—प्रायोपविष्टस्य । (गो०) २ लिङ्गिनं—लिङ्गं शरीरं तद्वान् लिङ्गीआत्मा तं साधयिष्यतः शरीरादात्मानं मोचयिष्यत इत्यर्थः । (गो०)

में वृक्ष के तले; जितेन्द्रिय बन और वानप्रस्थ हो निवास करूँगा ॥ ४५ ॥

नेतः प्रतिगमिष्यामि तामदृष्ट्वासितेक्षणाम् ।
यदीतः प्रतिगच्छामि सीतामनधिगम्य ताम् ॥ ४६ ॥

उस कमल सदृश नेत्र वाली सीता को देखे बिना तो मैं अब यहाँ से न जाऊँगा और यदि सीता का पता लगाये बिना यहाँ से लौट कर गया ॥ ४६ ॥

अङ्गदः सह तैः सर्वैर्वानरैर्न भविष्यति ।
विनाशे बहवो दोषा जीवन्भद्राणि पश्यति ॥ ४७ ॥

तो अङ्गद सहित वे सब वानर जीते न बचेंगे। मरने में अनेक दोष हैं और जीवित रहने में अनेक शुभों की प्राप्ति की आशा है ॥ ४७ ॥

तस्मात्प्राणान्धरिष्यामि ध्रुवो जीवति सङ्गमः ।
एवं बहुविधं दुःखं मनसा धारयन्मुहुः ॥ ४८ ॥

अतः मैं जीवित रहूँगा। क्योंकि जीवित रहने से निश्चय ही कार्यसिद्धि होती है। इस प्रकार की अनेक चिन्ता करते हुए पवन-नन्दन बहुत दुःखी हो रहे थे ॥ ४८ ॥

नाध्यगच्छत्तदा पारं शोकस्य कपिकुञ्जरः ।
रावणं वा वधिष्यामि दशग्रीवं महाबलम् ॥ ४९ ॥

और उस शोक के पार वे न जा सके। तब उन्होंने विचारा कि, चलो महाबली दशग्रीव रावण ही का संहार करते चलें ॥ ४९ ॥

कामसस्तु हृता सीता प्रत्याचीर्णं भविष्यति।
अथ वैनं समुत्क्षिप्य उपर्युपरि सागरम् ॥ ५० ॥

क्योंकि इसको मार डालने से सीता के रहने के वैर का बदला तो हो जायगा अथवा रावण को वारंवार समुद्र के ऊपर उछालते हुए ॥ ५० ॥

रामायोपहरिष्यामि पशुं पशुपतेरिव।
इति चिन्तां समापन्नः सीतामनधिगम्य ताम् ॥ ५१ ॥
ध्यानशोकपरीतात्मा चिन्तयामास वानरः।
यावत्सीतां हि पश्यामि रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ५२ ॥
तावदेतां पुरीं लङ्कां विचिनोमि पुनः पुनः।
सम्पातिवचनाच्चापि रामं यद्यानयाम्यहम् ॥ ५३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को वैसे ही भेंट कर दूँ, जैसे पशु के मालिक को पशु सौंपा जाता है। इस प्रकार की अनेक चिन्ता करते हुए चिन्ता और शोक में डूबे हुए हनुमान ने विचारा कि, जब तक सीता न मिलेगी तब तक बार बार इसी लङ्का को ढूँढूँगा। अथवा संपाति के वचनों पर विश्वास कर श्रीरामचन्द्र जी को ही यहाँ ले आऊँ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

अपश्यन्राघवो भार्यां निर्दहेत्सर्ववानरान्।
इहैव नियताहारो वत्स्यामि नियतेन्द्रियः ॥ ५४ ॥

और यहाँ आने पर सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी ने न पाया तो क्रुद्ध हो, वे सब वानरों को भस्म कर डालेंगे। अतः यही ठीक है कि, मैं नियताहारी हो यहीं रहूँ ॥ ५४ ॥

न मत्कृते विनश्येयुः सर्वे ते नरवानराः ।
अशोकवनिका चेयं दृश्यते या महाद्रुमा ॥ ५५ ॥

मैं नहीं चाहता कि, मेरे पीछे ये सब नर और वानर नष्ट हों। मरे ये जो अशोकवाटिका में बड़े बड़े वृक्ष देख पड़ते हैं ॥ ५५ ॥

इमामभिगमिष्यामि न हीयं विचिता मया ।
वसून्रुद्रांस्तथादित्यानश्विनौ मरुतोऽपि च ॥ ५६ ॥
नमस्कृत्वा गमिष्यामि रक्षसां शोकवर्धनः ।
जित्वा तु राक्षसान्सर्वानिक्ष्वाकुकुलनन्दिनीम्
सम्प्रदास्यामि रामाय यथा सिद्धिं तपस्विने ॥ ५७ ॥

इसको तो मैंने ढूढ़ा ही नहीं। अतः अब मैं इसमें जाऊँगा। आठों वसुओं, ग्यारहों रुद्रों, बारहों आदित्यों, दोनों अश्विनीकुमारों तथा उनचासों पवनों को नमस्कार कर, राक्षसों का शोक बढ़ाने के लिये वहाँ जाऊँगा। फिर सब राक्षसों को जीत और जनकनन्दिनी को ले जाकर मैं श्रीरामचन्द्र जी को वैसे ही दूंगा, जैसे तपस्वियों को सिद्धि दी जाती है ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा चिन्तावग्रथितेन्द्रियः ।
उदतिष्ठन्महातेजा हनूमान्मारुतात्मजः ॥ ५८ ॥

चिन्ता से विकल हो, महातेजस्वी पवननन्दन हनुमान जी एक मुहूर्त तक कुछ सोच विचार कर उठ खड़े हुए ॥ ५८ ॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।

नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ ५९ ॥

और मन ही मन बोले—मैं श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को नमस्कार करता हूँ। उन देवी जनकनन्दिनी को भी मैं नमस्कार करता हूँ। मैं, रुद्र, इन्द्र, यम, वायु, चन्द्र, अग्नि और मरुद्गण को भी नमस्कार करता हूँ ॥ ५९ ॥

स तेभ्यस्तु नमस्कृत्वा सुग्रीवाय च मारुतिः ।
दिशः सर्वाः समालोक्य ह्यशोकवनिकां प्रति ॥ ६० ॥

उन सब को और सुग्रीव को नमस्कार कर, पवनकुमार ने दसों दिशाओं को अच्छी तरह देख कर, अशोकवन की ओर प्रस्थान किया ॥ ६० ॥

स गत्वा मनसा पूर्वमशोकवनिकां शुभाम् ।
उत्तरं चिन्तयामास वानरो मारुतात्मजः ॥ ६१ ॥

उस मनोहर अशोकवाटिका में हनुमान जी मन द्वारा तो पहिले ही पहुँच गये थे। तदनन्तर पवननन्दन हनुमान जी आगे के कर्त्तव्य के विषय में विचारने लगे ॥ ६१ ॥

ध्रुवं तु रक्षोबहुला भविष्यति वनाकुला ।
अशोकवनिकाचिन्त्या सर्वसंस्कारसंस्कृता ॥ ६२ ॥

उन्होंने विचारा कि, अशोकवाटिका निश्चय ही बहुत साफ सुथरी और सजी हुई होगी और उसकी रखवाली के लिये भी बहुत से राक्षस नियुक्त होंगे। अतः उसे चल कर अवश्य ढूँढ़ना चाहिये ॥ ६२ ॥

रक्षिणश्चात्र विहिता नूनं रक्षन्ति पादपान्।
भगवानपि सर्वात्मा नातिक्षोभं प्रवाति वै ॥ ६३ ॥

अवश्य ही वहाँ के पेड़ों की रखवाली के लिये रखवाले होंगे। भगवान विश्वात्मा पवनदेव भी पेड़ों को झकोरते हुए वहाँ न बहने पाते होंगे ॥ ६३ ॥

संक्षिप्तोऽयं मयात्मा च रामार्थे रावणस्य च।
सिद्धिं दिशन्तु मे सर्वे देवाः सर्षिगणास्त्विह ॥ ६४ ॥

अतः श्रीरामचन्द्र जी का कार्य पूरा करने के लिये और रावण की दृष्टि से अपने को बचाने के लिये, मैंने अपने शरीर को छोटा कर लिया है। अतः इस समय देवगण और ऋषिगण मेरा अभीष्ट पूरा करें ॥ ६४ ॥

ब्रह्मा स्वयंभूर्भगवान्देवाश्चैव दिशन्तु मे।
सिद्धिमग्निश्च वायुश्च पुरुहूतश्च वज्रभृत् ॥ ६५ ॥

वरुणः पाशहस्तश्च सोमादित्यौ तथैव च।
अश्विनौ च महात्मानौ मरुतः शर्व एव च ॥ ६६ ॥

सिद्धिं सर्वाणि भूतानि भूतानां चैव यः प्रभुः।
दास्यन्ति मम ये चान्ये ह्यदृष्टाः पथि गोचराः ॥ ६७ ॥

भगवान् स्वयंभू ब्रह्मा, देवतागण, तपस्वीगण, अग्नि, वायु, वज्रधारी इन्द्र, पाशहस्त वरुण, चन्द्रमा, सूर्य, महात्मा अश्विनीकुमार, उनचासों मरुत और रुद्र, समस्त प्राणिगण और समस्त प्राणियों के प्रभु श्रीमन्नारायण तथा अदृश्य भाव से विचरने वाले अन्य देवगण—मेरा काम पूरा करें ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

तदुन्नसं पाण्डुरदन्तमव्रणं
शुचिस्मितं पद्मपलाशलोचनम् ।
द्रक्ष्ये तदार्यावदनं कदान्वहं
प्रसन्नताराधिपतुल्यदर्शनम् ॥ ६८ ॥

ना जानूँ कब मैं उन सती एवं कमलनयनी सीता का उच्च नासिका भूषित, श्वेतदन्त शोभित, मंद मुसक्यान युक्त, चेचक के दागों से रहित, मुखारविन्द का दर्शन पाऊँगा ॥ ६८ ॥

क्षुद्रेण पापेन नृशंसकर्मणा
सुदारुणालंकृतवेषधारिणा ।
बलाभिभूता ह्यबला तपस्विनी
कथं नु मे दृष्टिपथेऽद्य सा भवेत् ॥ ६९ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

नीच, ओछे, घातक और भयङ्कर रूप वाले रावण ने कपट रूप सजा कर बलपूर्वक जिस अबला तपस्विनी सीता को हर लिया है ; वह देखें, कब मुझे देख पड़ती है ॥ ६९ ॥

सुन्दरकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

—*—

चतुर्दशः सर्गः

—*—

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मनसा चाधिगम्य ताम् ।
अवप्लुतो महातेजाः प्राकारं तस्य वेश्मनः ॥ १ ॥

महातेजस्वी हनुमान जी मुहूर्त भर कुछ विचार तथा सीता जी का ध्यान कर, रावण के घर के परकोटे से नीचे उतर आये ॥ १ ॥

स तु संहृष्टसर्वाङ्गः प्राकारस्थो महाकपिः ।
पुष्पिताग्रान्वसन्तादौ ददर्श विविधान्द्रुमान् ॥ २ ॥

उस परकोटे की भीत पर बैठ कर वसन्त आदि सब ऋतुओं में सदा फूलने वाले विविध वृक्षों को देख, महाकपि हनुमान का शरीर पुलकित हो गया ॥ २ ॥

सालानशोकान्भव्यांश्च चम्पकांश्च सुपुष्पितान् ।
उद्दालकान्नागवृक्षांश्चूतान्कपिमुखानपि ॥ ३ ॥

उन वृक्षों में सुन्दर शाल और अशोक के पेड़ तथा भली भाँति फूले फले हुए चंपा के पेड़, लसोड़ा, नागकेसर कपि के मुख की आकृति वाले आम के फलों के वृक्ष थे ॥ ३ ॥

अथाम्रवणसंछन्नां लताशतसमावृताम् ।
ज्यामुक्त इव नाराचः पुप्लुवे वृक्षवाटिकाम् ॥ ४ ॥

आम्र के वन से आच्छादित और सैकड़ों लताओं से वेष्टित उस अशोक वाटिका में रोदा से छूटे हुए तीर की तरह हनुमान जी उछल कर जा पहुँचे ॥ ४ ॥

स प्रविश्य विचित्रां तां विहगैरभिनादिताम् ।
राजतैः काञ्चनैश्चैव पादपैः सर्वतो वृताम् ॥ ५ ॥

वहाँ जाकर हनुमान जी ने देखा कि, वह वाटिका बड़ी अद्भुत है। वहाँ पेड़ों पर बैठे अनेक पक्षी कलरव कर रहे हैं, और वह चारों ओर चाँदी और सोने के वृक्षों से शोभित है ॥ ५ ॥

विहगैर्मृगसंघैश्च विचित्रां चित्रकाननाम् ।
उदितादित्यसङ्काशां ददर्श हनुमान्कपिः ॥ ६ ॥

उसमें तरह तरह के जीवजन्तु और पक्षी होने के कारण उसको विचित्र शोभा हो रही है। हनुमान जी ने वहाँ जाकर देखा कि, उदयकालीन सूर्य की तरह उस वाटिका की शोभा देख पड़ती है ॥ ६ ॥

वृतां नानाविधैर्वृक्षैः पुष्पोपगफलोपगैः ।
कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च मत्तैर्नित्यनिषेविताम् ॥ ७ ॥

उसमें विविध प्रकार के फलों और फूलों के वृक्ष भरे हुए हैं और उन पर मतवाली कोयलें कूक रही हैं तथा भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥ ७ ॥

प्रहृष्टमनुजे काले मृगपक्षिसमाकुले ।
मत्तवर्हिणसंघुष्टां नानाद्विजगणायुताम् ॥ ८ ॥

वहाँ पर जाने से मनुष्य का मन सदा प्रसन्न होता और वहाँ मृग और पक्षी भरे हुए थे। मतवाली मोरें नाचा करती और अनेक पक्षी वहाँ रहते थे ॥ ८ ॥

मार्गमाणो वरारोहां राजपुत्रीमनिन्दिताम् ।
सुखप्रसुप्तान्विहगान्बोधयामास वानरः ॥ ९ ॥

हनुमान जी ने सुन्दरी और अनिन्दिता राजकुमारी सीता को खोजते हुए, सुख की नींद में सोते हुए वहाँ के पक्षियों को जगा दिया ॥ ९ ॥

उत्पतद्भिर्द्विजगणैः पक्षैः सालाः समाहताः ।
अनेकवर्णा विविधा मुमुचुः पुष्पवृष्टयः ॥ १० ॥

जब समस्त पक्षी चौंके और परों को फैला कर उड़े, तब उनके पंखों से निकले हुए पवन के झोंका से विविध वृक्षों ने रंग बिरंगे पुष्पों की वर्षा की ॥ १० ॥

पुष्पावकीर्णः शुशुभे हनुमान्मारुतात्मजः ।
अशोकवनिकामध्ये यथा पुष्पमयो गिरिः ॥ ११ ॥

हनुमान जी फूलों के ढेर से ढक कर, उस अशोकवाटिका में उस समय फूलों के पहाड़ की तरह जान पड़ने लगे ॥ ११ ॥

दिशः सर्वाः प्रधावन्तं वृक्षषण्डगतं कपिम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि वसन्त इति मेनिरे ॥ १२ ॥

जब हनुमान जी वृक्षों ही वृक्षों उस वाटिका में चारों ओर घूमने लगे तब उन्हें देख समस्त प्राणियों ने जाना कि, वसन्त ऋतु रूप धारण कर घूम रहा है ॥ १२ ॥

वृक्षेभ्यः पतितैः पुष्पैरवकीर्णा पृथग्विधैः ।
रराज वसुधा तत्र प्रमदेव विभूषिता ॥ १३ ॥

वृक्षों से गिरे हुए फूलों से ढक कर, वहाँ की भूमि शृङ्गार की हुई स्त्री की तरह शोभायमान जान पड़ने लगी ॥ १३ ॥

तरस्विना ते तरवस्तरसाऽभिप्रकम्पिताः ।
कुसुमानि विचित्राणि ससृजुः कपिना तदा ॥ १४ ॥

बलवान हनुमान जी के ज़ोर से हिलाने पर उन पेड़ों के रंग बिरंगे फूल झड़ कर गिर पड़े ॥ १४ ॥

निर्धूतपत्रशिखराः शीर्णपुष्पफलाद्रुमाः ।
निक्षिप्तवस्त्राभरणा धूर्ता इव पराजिताः ॥ १५ ॥

उनके फूल ही नहीं वल्कि पत्ते, फुनगियां और फल पुष्प सब गिर पड़े। उस समय वे सब वृक्ष ऐसे जान पड़ते थे, जैसे जुआ में कपड़े गहने हारे हुए धूर्त देख पड़ते हैं ॥ १५ ॥

हनूमता वेगवता कम्पितास्ते नगोत्तमाः ।
पुष्पपर्णफलान्याशु मुमुचुः पुष्पशालिनः ॥ १६ ॥

पवननन्दन द्वारा ज़ोर से हिलाये हुए फूलने फलने वाले उन उत्तम वृक्षों ने अपने अपने फूल पत्ते और फल तुरन्त गिरा दिये ॥ १६ ॥

विहङ्गसङ्घैर्हीनास्ते स्कन्धमात्राश्रया द्रुमाः ।
बभूवुरगमाः सर्वे मारुतेनेव निर्धुताः ॥ १७ ॥

पक्षियों से रहित उन वृक्षों में केवल गुद्दे ही गुद्दे रह गये। हवा द्वारा नष्ट किये हुए वृक्षों की तरह वे वृक्ष अब किसी पक्षी के बैठने योग्य नहीं रह गये ॥ १७ ॥

निर्धूतकेशी युवतिर्यथा मृदितवर्णका ।
निष्पीतशुभदन्तोष्ठी नखैर्दन्तैश्च विक्षिता ॥ १८ ॥

उस समय अशोकवाटिका ऐसी जान पड़ती थी, जैसी वह तरुणी स्त्री, जिसके सिर के बाल बिखरे हों, तिलक पोछा हुआ हो, ओंठों में दाँत से काटने के घाव हों, तथा अन्य अंगों में भी दाँतों और नखों के घाव लगे हों ॥ १८ ॥

तथा लाङ्गूलहस्तैश्च चरणाभ्यां च मर्दिता ।
बभूवाशोकवनिका प्रभग्नवरपादपा ॥ १९ ॥

हनुमान जी की पूँछ, हाथ और दोनों पैरों से मर्दित होने के कारण, अशोकवाटिका के समस्त उत्तमोत्तम वृक्ष छिन्नभिन्न हो गये ॥ १९ ॥

महालतानां दामानि व्यधमत्तरसा कपिः ।
यथा प्रावृषि विन्ध्यस्य मेघजालानि मारुतः ॥ २० ॥

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में तेज़ हवा मेघों को छिन्नभिन्न कर देती है ; उसी प्रकार हनुमान जी ने बड़ी तेज़ी से वहाँ की बड़ी बड़ी लताओं को छिन्नभिन्न कर डाला ॥ २० ॥

स तत्र मणिभूमीश्च राजतीश्च मनोरमाः ।
तथा काञ्चनभूमीश्च ददर्श विचरन्कपिः ॥ २१ ॥

वहाँ घूमते फिरते हनुमान जी ने रजतमयी, मणिमयी, और सुवर्णमयी विविध प्रकार की मनोहर भूमियाँ देखीं ॥ २१ ॥

वापीश्च विविधाकाराः पूर्णाः परमवारिणा ।
महार्हैर्मणिसोपानैरुपपन्नास्ततस्ततः ॥ २२ ॥

सुस्वादु मीठे जल से भरी विविध आकार प्रकार की बावली वहाँ हनुमान जी ने देखीं । इन बावलियों की सीढ़ियों में बड़ी मूल्यवान मणियाँ जड़ी हुई थीं ॥ २२ ॥

मुक्ताप्रवालसिकताः स्फाटिकान्तरकुट्टिमाः ।
काञ्चनैस्तरुभिश्चित्रैस्तीरजैरुपशोभिताः ॥ २३ ॥

उनमें मोती और मूँगे ही बालू की तरह देख पड़ते थे और उनकी तलो में स्फटिक पत्थर जड़ा हुआ था । उनके तीर पर रंग बिरंगे सोने के वृक्ष शोभायमान थे ॥ २३ ॥

फुल्लपद्मोत्पलवनाश्चक्रवाकोपकूजिताः ।
नत्यूहरुतसंघुष्टा हंससारसनादिताः ॥ २४ ॥

उसमें फूले हुए कमलों के वन से देख पड़ते थे और चक्रवाक पक्षी गूंज रहे थे। दात्यूह, हंस और सारस पक्षी बोल रहे थे ॥ २४ ॥

दीर्घाभिर्द्रुमयुक्ताभिः सरिद्भिश्च समन्ततः ।
अमृतोपमतोयाभिः [1]शिवाभिरुपसंस्कृताः ॥ २५ ॥

उन वापियों के चारों ओर बड़े बड़े वृक्ष लगे थे और छोटी छोटी नदियां बह रही थीं। उन वापियों में अमृतोपम स्वादिष्ट जल भरा हुआ था जो भीतरी सोतों से उन वापियों में पहुँचा करता था ॥ २५ ॥

लताशतैरवतताः सन्तानकुसुमावृताः ।
नानागुल्मावृतघनाः करवीरकृतान्तराः ॥ २६ ॥

उनके ऊपर लता के मण्डप बने हुए थे और वे कल्पवृक्ष के फूलों से घिरे हुए थे। विविध गुच्छों से उनका जल ढका हुआ था और करवीर से उनके बीच में छिद्र से बने हुए थे ॥ २६ ॥

ततोऽम्बुधरसङ्काशं प्रवृद्धशिखरं गिरिम् ।
विचित्रकूटं कूटैश्च सर्वतः परिवारितम् ॥ २७ ॥

मेघ के समान उच्च शिखरों वाला एक अद्भुत पर्वत वहां चारों ओर फैला हुआ था ॥ २७ ॥

---

१ शिवाभिः—सरिद्भिः उपसंस्कृताः नित्यं पूर्णत्वायआपिताः। (शि०)

शिलागृहैरवततं नानावृक्षैः समाकुलम् ।
ददर्श हरिशार्दूलो रम्यं जगति पर्वतम् ॥ २८ ॥

उस पर्वत में अनेक पत्थर के गुफानुमा घर बने हुए थे, जिनके चारों ओर अनेक वृक्ष थे । संसार भर के पर्वतों में रमणीक इस पर्वत को हनुमान जी ने देखा ॥ २८ ॥

ददर्श च नगात्तस्मान्नदीं निपतितां कपिः ।
अङ्कादिव समुत्पत्य प्रियस्य पतितां प्रियाम् ॥ २९ ॥

इस पर्वत से निकल कर एक नदी वह रही थी । हनुमान जी को वह ऐसी जान पड़ी मानों, कोई प्रियतमा कामिनी कुपित हो अपने प्रियतम की गोद को त्याग कर, भूमि पर गिर पड़ी हो ॥ २९ ॥

जले निपतिताग्रैश्च पादपैरुपशोभिताम् ।
वार्यमाणामिव क्रुद्धां प्रमदां प्रियबन्धुभिः ॥ ३० ॥

जैसे कोई मानिनी कामिनी कुपित हो अपने प्रियतम को त्याग अन्यत्र जाना चाहे और उसको प्यारी सखी सहेलियाँ उसे रोक रही हों, वैसे ही उस नदी के तीरवर्ती वृक्षों की डालियाँ जल में डूबी हुई इसी भाव को प्रदर्शित कर रही थीं ॥ ३० ॥

पुनरावृत्ततोयां च ददर्श स महाकपिः ।
प्रसन्नामिव कान्तस्य कान्तां पुनरुपस्थिताम् ॥ ३१ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, कुछ दूर जा कर नदी का जल पुनः पीछे आ रहा है । मानों वह रूठी हुई कामिनी प्रसन्न हो कर लौट कर प्रियतम के समीप आ रही है ॥ ३१ ॥

तस्यादूराच्च पद्मिन्यो नानाद्विजगणायुताः ।
ददर्श हरिशार्दूलो हनुमान्मारुतात्मजः ॥ ३२ ॥

पवननन्दन हनुमान जी ने देखा कि, उस नदी से कुछ दूर हट कर अनेक जाति के पक्षियों से युक्त और कमल के फूलों से शोभित एक पुष्करिणी है ॥ ३२ ॥

कृत्रिमां दीर्घिकां चापि पूर्णां शीतेन वारिणा ।
मणिप्रवरसोपानां मुक्तासिकतशोभिताम् ॥ ३३ ॥

फिर हनुमान जी ने कृत्रिम दीर्घी भी देखी जो ठंडे जल से परिपूर्ण थीं और उनकी सीढ़ियां मणिमय बनी हुई थीं। वे मुक्ता रूपी बालू से शोभित थीं ॥ ३३ ॥

विविधैर्मृगसङ्घैश्च विचित्रां चित्रकाननाम् ।
प्रासादैः सुमहद्भिश्च निर्मितैर्विश्वकर्मणा ॥ ३४ ॥

अनेक प्रकार के मृगों से और चित्र विचित्र वनों से युक्त तथा अनेक बहुत बड़े बड़े भवनों से शोभित उस वाटिका को विश्वकर्मा ने बनाया था ॥ ३४ ॥

काननैः कृत्रिमैश्चापि सर्वतः समलंकृताम् ।
ये केचित्पादपास्तत्र पुष्पोपगफलोपगाः ॥ ३५ ॥

नकली वनों से वह चारों ओर से सजाई गयी थी । वहाँ जितने फूलने और फलने वाले वृक्ष लगे थे ॥ ३५ ॥

सच्छात्राः सवितर्दीकाः सर्वे सौवर्णवेदिकाः[१] ।
लताप्रतानैर्बहुभिः पर्णैश्च बहुभिर्वृताम् ॥ ३६ ॥

---

१ सौवर्णवेदिकाः—वितर्दिकारोहणार्थं सुवर्णमयसोपानवेदिकायुक्ताः

वे सब छाते की तरह ऊपर से फैले हुए छाया किये हुए थे, उनके चारों ओर चबूतरे बने हुए थे, जिन पर चढ़ने के लिये सोने की सीढ़ियाँ थीं। वहाँ अनेक लताओं के जाल थे, जिनके पत्तों से वहाँ छाया बनी रहती थी ॥ ३६ ॥

काञ्चनीं शिंशुपामेकां ददर्श हनुमान्कपिः ।
वृतां हेममयीभिस्तु वेदिकाभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर हनुमान जी ने सुनहले रंग का एक शिंशुपा वृक्ष देखा। उसका थंवला सोने का बना हुआ था ॥ ३७ ॥

सोऽपश्यद्भूमिभागांश्च गर्तप्रस्रवणानि च ।
सुवर्णवृक्षानपरान्ददर्श शिखिसन्निभान् ॥ ३८ ॥

इनके अतिरिक्त हनुमान जी ने वहाँ अनेक भूभाग (क्यारियाँ), पहाड़ी झरने तथा अन्य अग्नि की तरह कान्तिमान् सुवर्ण वृक्ष भी देखे ॥ ३८ ॥

तेषां द्रुमाणां प्रभया मेरोरिव दिवाकरः ।
अमन्यत तदा वीरः काञ्चनोऽस्मीति वानरः ॥ ३९ ॥

सुमेरु के संसग से जिस प्रकार सूर्य भगवान प्रदीप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार उन समस्त सुवर्ण वृक्षों की प्रभा से हनुमान जी ने अपने को सुवर्णमय जाना ॥ ३९ ॥

तां काञ्चनैस्तरुगणैर्मारुतेन च वीजिताम् ।
किङ्किणीशतनिर्घोषां दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥ ४० ॥

जब वे पेड़ वायु के झोंके से हिले, तब उनमें से असंख्य घुंघुरुओं के एक साथ झनकारने का शब्द हुआ। इससे हनुमान जी को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४० ॥

स पुष्पिताग्रां रुचिरां तरुणाङ्कुरपल्लवाम् ।
तामारुह्य महाबाहुः शिंशुपां पर्णसंवृताम् ॥ ४१ ॥

सुन्दर पुष्पों वाले, नवीन अङ्कुरों तथा पत्तों से युक्त दीप्तिमान् उन वृक्षों में से हनुमान जी उस शिंशपा वृक्ष पर चढ़ गये और उसके पत्तों में अपने को छिपा लिया ॥ ४१ ॥

इतो द्रक्ष्यामि वैदेहीं रामदर्शनलालसाम् ।
इतश्चेतश्च दुःखार्तां सम्पतन्तीं यदृच्छया ॥ ४२ ॥

वहाँ बैठ वे विचारने लगे कि, यहाँ से कदाचित् मैं सीता को देख सकूँ । क्योंकि दुःख से विकल हो वह श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की लालसा किये हुए, इधर उधर घूमती दैवात इधर आ निकले ॥ ४२ ॥

अशोकवनिका चेयं दृढं रम्या दुरात्मनः ।
चम्पकैश्चन्दनैश्चापि वकुलैश्च विभूषिता ॥ ४३ ॥

यह रावण की अशोकवाटिका अति रमणीय है । चन्दन चंपा और मौलसिरी के इसकी वृक्ष शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ४३ ॥

इयं च नलिनी रम्या द्विजसङ्घनिषेविता ।
इमां सा राममहिषी ध्रुवमेष्यति जानकी ॥ ४४ ॥

यह पुष्करिणी भी कमलों से पूर्ण है और इसके चारों ओर बैठे हुए पक्षी भी इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं । अतः श्रीरामचन्द्र जी की महिषी सीता यहाँ अवश्य आवेगी ॥ ४४ ॥

सा रामा राममहिषी राघवस्य प्रिया सती ।
वनसञ्चारकुशला ध्रुवमेष्यति जानकी ॥ ४५ ॥

श्रीराम की प्यारी जानकी घूमने में चतुर है ; अतः वह घूमती घामती अवश्य यहाँ आवेगी ॥ ४५ ॥

अथवा मृगशावाक्षी वनस्यास्य विचक्षणा[1] ।
वनमेष्यति सार्येह रामचिन्तासुकर्शिता ॥ ४६ ॥

अथवा वनविचरणप्रिया मृगशावकनयनी सीता वन सम्बन्धी हूढ़ खोज में चतुर है, सो वह श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता में विकल हो और उस चिन्ता को कम करने के लिये, बहुत सम्भव है, यहाँ आवे ॥ ४६ ॥

रामशोकाभिसन्तप्ता सा देवी वामलोचना ।
वनवासे रता नित्यमेष्यते वनचारिणी ॥ ४७ ॥

वह वामलोचना माता, श्रीरामचन्द्र जी के वियोगजनित शोक से सन्तप्त है और वनवास का उसे अभ्यास है, अतः उसका इधर आना सम्भव है ॥ ४७ ॥

वनेचराणां सततं नूनं स्पृहयते पुरा ।
रामस्य दयिता भार्या जनकस्य सुता सती ॥ ४८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की प्रिय भार्या और जनकनन्दिनी, पहिले सती जानकी, वन के मृगों और पक्षियों पर अति प्रेम रखती थी ॥ ४८ ॥

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी ।
नदीं चेमां शिवजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी ॥ ४९ ॥

—प्रांतः और सन्ध्या काल में स्नान जप आदि करने वाली तथा सदा सोलह वर्ष जैसी देख पड़ने वाली तथा सुन्दर वर्ण वाली

---

१ वनस्यास्य विचक्षणा—वनसम्बन्ध्यन्वेषणादि कुशला । (गो०)

जानकी इस नदी के स्वच्छ जल में स्नानादि तथा *ईश्वरोपासना करने अवश्य आवेगी ॥ ४९ ॥

तस्याश्चाप्यनुरूपेयमशोकवनिका शुभा ।
शुभा या पार्थिवेन्द्रस्य पत्नी रामस्य संमता ॥ ५० ॥

राजेन्द्र श्रीरामचन्द्र की श्रेष्ठा एवं प्यारी भार्या जानकी के आने के लिये यह उत्तम अशोकवाटिका सर्वथा उपयुक्त भी है ॥ ५० ॥

यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना ।
आगमिष्यति साऽवश्यमिमां शिवजलां नदीम् ॥ ५१ ॥

यदि वह चन्द्रानननी देवी जानकी जीती है, तो वह शीतल जल वाली इस नदी के तट पर अवश्य ही आवेगी ॥ ५१ ॥

एवं तु मत्वा हनुमान्महात्मा
प्रतीक्षमाणो मनुजेन्द्रपत्नीम् ।
अवेक्षमाणश्च ददर्श सर्वं
सुपुष्पिते पत्रघने निलीनः ॥ ५२ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

इस प्रकार महात्मा हनुमान जी उस फूले हुए शिंशपावृक्ष के घने पत्तों में अपने को छिपाये, सीता के आने की प्रतीक्षा करते हुए चारों ओर आँख फैला कर देखते हुए बैठे रहे ॥ ५२ ॥

सुन्दरकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ

---

* "सन्ध्यार्थे" का अर्थ टीकाकारों ने ईश्वरोपासना इसलिये किया है कि, धर्मशास्त्रों में स्त्रियों को, पुरुषों की तरह, वैदिक विधि विधान से सन्ध्योपासन करने का अधिकार प्राप्त नहीं है ।

पञ्चदशः सर्गः

स वीक्षमाणस्तत्रस्थो मार्गमाणश्च मैथिलीम् ।
अवेक्षमाणश्च महीं सर्वां तामन्ववैक्षत ॥ १ ॥

हनुमान जी उस वृक्ष पर बैठे हुए, सीता जी को ढूढने के लिये, पृथिवी पर चारों ओर दृष्टि फैला कर, देख रहे थे ॥ १ ॥

सन्तानकलताभिश्च पादपैरुपशोभिताम् ।
दिव्यगन्धरसोपेतां सर्वतः समलंकृताम् ॥ २ ॥

वह वन कल्पवृक्षों की लताओं और वृक्षों से शोभित, दिव्य गन्धों और दिव्य रसों से पूर्ण, और चारों ओर सजा हुआ था ॥ २ ॥

तां स नन्दनसङ्काशां मृगपक्षिगिराहताम् ।
हर्म्यप्रासादसंबाधां कोकिलाकुलनिःस्वनाम् ॥ ३ ॥

वह वन नन्दनवन के तुल्य, मृग और पक्षियों से पूर्ण, अटा अटारियों से युक्त भवनों से सघन और कोकिल की कूज से कूजित था ॥ ३ ॥

काञ्चनोत्पलपद्माभिर्वापीभिरुपशोभिताम् ।
बह्वासनकुथोपेतां बहुभूमिगृहायुताम् ॥ ४ ॥

उसमें सुवर्ण के कमलों वाली वापियां थीं, और वहां बहुत सुन्दर बैठने के लिये बैठकें बनी हुई थीं और बिछौने पड़े हुए उसमें पृथिवी के नीचे अनेक तहखाने भी बने हुए थे ॥ ४ ॥

सर्वर्तुकुसुमै रम्यां फलवद्भिश्च पादपैः।
पुष्पितानामशोकानां श्रिया सूर्योदयप्रभाम्॥ ५॥
प्रदीप्तामिव तत्रस्थो *हनूमानन्ववैक्षत।
निष्पत्रशाखां विहगैः क्रियमाणामिवासकृत्॥ ६॥

उसमें ऐसे वृक्ष लगे हुए थे, जिनमें सब ऋतुओं में फल और फूल लगे रहते थे। फूले हुए अशोकवृक्ष की कान्ति से वहाँ मानों सूर्योदय की प्रभा फैल रही थी। हनुमान जी ने देखा कि, पेड़ों की डालियों पर अनेक पक्षी अपने दोनों परों को फैलाये और पत्तों को ढके बैठे थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था, मानों वृक्षों की डालियों में पत्ते हैं ही नहीं॥ ५॥ ६॥

विनिष्पतद्भिः शतशश्चित्रैः पुष्पावतंसकैः[1]।
आमूलपुष्पनिचितैरशोकैः शोकनाशनैः॥ ७॥

सैकड़ों रंग बिरंगे पक्षी जो अपनी चोंचों में फूलों को दबाये हुए थे, आभूषणों से सजे हुए से जान पड़ते थे। जड़ से ले कर फुनगी तक फूले और मन को हर्षित करने वाले अशोकवृक्ष॥ ७॥

पुष्पभारातिभारैश्च स्पृशद्भिरिव मेदिनीम्।
कर्णिकारैः कुसुमितैः किंशुकैश्च सुपुष्पितैः॥ ८॥

फूलों के बोझ से झुक कर, मानों पृथिवी को छू रहे थे। फूले हुए कनेर और टेसू के फूलों की॥ ८॥

स देशः प्रभया तेषां प्रदीप्त इव सर्वतः।
पुंनागाः सप्तपर्णाश्च चम्पकोद्दालकास्तथा॥ ९॥

---

१ पुष्पावतंसकैः—चञ्चुपुटलग्नपुष्पालंकृतैरित्यर्थः। (गो०) * पाठान्तरे—"मारुतिः समुदैक्षत।"

प्रभा से, वह स्थान चारों ओर से प्रदीप्त जैसा जान पड़ता था अर्थात् उन लाल लाल फूलों से ऐसा जान पड़ता था मानों, चारों ओर आग लगी हुई है। वहाँ नागकेसर, छितिऊन, चंपा, लसोड़ा ॥ ९ ॥

विवृद्धमूला बहवः शोभन्ते स्म सुपुष्पिताः ।
शातकुम्भनिभाः केचित्केचिदग्निशिखोपमाः ॥ १० ॥

आदि बड़ी बड़ी जड़ों वाले फूले हुए वृक्ष वहाँ की शोभा बढ़ा रहे थे। इन वृक्षों में कोई तो सोने के रंग के, कोई अग्नि के रंग के ॥ १० ॥

नीलाञ्जननिभाः केचित्तत्राशोकाः सहस्रशः ।
नन्दनं विविधोद्यानं चित्रं चैत्ररथं यथा ॥ ११ ॥

अतिवृत्तमिवाचिन्त्यं दिव्यं रम्यं श्रियावृतम् ।
द्वितीयमिव चाकाशं पुष्पज्योतिर्गणायुतम् ॥ १२ ॥

और कोई काजल की तरह काले रंग के थे। इस प्रकार के रंग विरंगे हज़ारों अशोकवृक्ष वहाँ थे। यह अशोकवाटिका इन्द्र के नन्दनकानन और कुवेर के चैत्ररथ नामक उद्यान से भी उत्तमता, रमणीयता, और सौन्दर्य में बढ़ी चढ़ी थी। इसके सौन्दर्य की कल्पना भी करना सम्भव नहीं है। कहै तो कह सकते हैं कि, रावण का अशोकउद्यान पुष्प रूपी तारागण से युक्त दूसरे आकाश के समान था ॥ ११ ॥ १२ ॥

पुष्परत्नशतैश्चित्रं पञ्चमं सागरं यथा ।
सर्वर्तुपुष्पैर्निचितं पादपैर्मधुगन्धिभिः ॥ १३ ॥

अथवा पुष्प रूपी सैकड़ों रंग बिरंगे रत्नों से भरा पाँचवाँ सागर था। सब ऋतुओं में इसमें फूलों के ढेर लगे रहते थे और मधुगन्धयुक्त वृक्षों से यह सँवारा हुआ था ॥ १३ ॥

नानानिनादैरुद्यानं रम्यं मृगगणैर्द्विजैः ।
अनेकगन्धप्रवहं पुण्यगन्धं मनोरमम् ॥ १४ ॥

शैलेन्द्रमिव गन्धाढ्यं द्वितीयं गन्धमादनम् ।
अशोकवनिकायां तु तस्यां वानरपुङ्गवः ॥ १५ ॥

इसमें विविध प्रकार के पक्षी कूजा करते और तरह तरह के पक्षी और मृग रहा करते थे। विविध प्रकार की मनोहर सुगंधों से सुवासित मानों दूसरा गिरिश्रेष्ठ गन्धमादन था। उस अशोक वाटिका में हनुमान जी ने ॥ १४ ॥ १५ ॥

स ददर्शाविदूरस्थं चैत्यप्रासादमुच्छ्रितम् ।
मध्ये स्तम्भसहस्रेण स्थितं कैलासपाण्डुरम् ॥ १६ ॥

समीप ही ऊँचा एक गोलाकार भवन देखा। उसके बीच में एक हज़ार खंभे थे और उसका रंग कैलासपर्वत की तरह सफेद था ॥ १६ ॥

प्रवालकृतसोपानं तप्तकाञ्चनवेदिकम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि द्योतमानमिव श्रिया ॥ १७ ॥

उसकी सीढ़ियाँ मूंगे की और उसके चबूतरे सोने के थे। वह भवन ऐसा प्रकाशमान हो रहा था कि, उसकी ओर देखने से आँखें चौंधिया जाती थीं ॥ १७ ॥

विमलं प्रांशुभावत्वादुल्लिखन्तमिवाम्बरम् ।
ततो मलिनसंवीतां राक्षसीभिः समावृताम् ॥ १८ ॥

उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः ।
ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम् ॥ १९ ॥

वह भवन बहुत साफ स्वच्छ था और ऊँचाई में आकाश से बातें करता था। उसमें मैले कपड़े पहिने और राक्षसियों से घिरी, उपवास से कृश, उदास और बार बार लंबो सांसें लेती हुई और शुक्लपक्ष के आरम्भ में चन्द्ररेखा को तरह निर्मल एक स्त्री को हनुमान जी ने देखा ॥ १८ ॥ १६ ॥

मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेण रुचिरप्रभाम् ।
पिनद्धां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः ॥ २० ॥

मनोहर कान्तियुक्त सीता जी का रूप, जो धूए से ढकी हुई अग्निशिखा की तरह बड़ी कठिनाई से देखने में आता था, हनुमान जी ने देखा ॥ २० ॥

पीतेनैकेन संवीतां क्लिष्टेनोत्तमवाससा ।
सपङ्कामनलंकारां विपद्मामिव पद्मिनीम् ॥ २१ ॥

वह एक पुरानी पीले रंग की उत्तम साड़ी पहिने हुए और आभूषण रहित होने से पुष्पहीन कमलिनी की तरह शोभाहीन जान पड़ती थी ॥ २१ ॥

*पीडितां दुःखसन्तप्तां परिम्लानां तपस्विनीम् ।
ग्रहेणाङ्गारकेणेव पीडितामिव रोहिणीम् ॥ २२ ॥

* पाठान्तरे—" व्रीडितां ।"

पीड़ित और दुःख से सन्तप्त, अत्यन्त दुर्बल तपस्विनी जानकी—मङ्गलग्रह से सतायी हुई रोहिणी की तरह, उदास जान पड़ती थी ॥ २२ ॥

अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च ।
शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम् ॥ २३ ॥

सदा शोकान्वित और चिन्तित और उदास रहने और उपवास करने के कारण वह दुबली पतली हो गयी थी और उसकी आँखों में आँसुओं की धारा बह रही थी ॥ २३ ॥

प्रियं जनमपश्यन्तीं पश्यन्तीं राक्षसीगणम् ।
स्वगणेन मृगीं हीनां श्वगणाभिवृतामिव ॥ २४ ॥

उसके नेत्रों के सामने सदा राक्षसियाँ रहा करती थीं। वह अपने प्रियजन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को न देखने के कारण, झुंड से बिछुड़ी और शिकारी कुत्तों से घिरी हिरनी की तरह त्रस्त और घबड़ायी हुई थी ॥ २४ ॥

नीलनागाभया वेण्या जघनं गतयैकया ।
नीलया[1] नीरदापाये वनराज्या महीमिव ॥ २५ ॥

काले साँप की तरह जो चोटी उसकी जाँघ पर आ पड़ी थी वह ऐसी जान पड़ती थी, जैसे शरद् ऋतु में नील वर्ण वाली वनपंक्ति से पृथिवी जान पड़ती है ॥ २५ ॥

सुखार्हां दुःखसन्तप्तां व्यसनानामकोविदाम् ।
तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम् ॥ २६ ॥

---

१ नीरदापाये—शरदि । (गो०)

तर्कयामास सीतेति कारणैरुपपादिभिः ।
ह्रियमाणा तदा तेन रक्षसा कामरूपिणा ॥ २७ ॥

सुख भोगने योग्य और कभी दुःख न भोगे हुए, किन्तु अब दुःख-सन्तप्त मलिन वेश बनाये और दुबली पतली उस विशाल नयनी को देख, हनुमान जी ने तर्क वितर्क द्वारा अनेक कारणों से अपने मन में निश्चय किया कि, यह सीता है। वह अपने मन में कहने लगे कि, कामरूपी रावण जब इसको हर कर लिये आता था ॥२६॥ २७ ॥

यथारूपा हि दृष्टा वै तथारूपेयमङ्गना ।
पूर्णचन्द्राननां सुभ्रूं चारुवृत्तपयोधराम् ॥ २८ ॥

तब मैंने जैसी रूप वाली स्त्री देखी थी, वैसा ही रूप इस स्त्री का है। क्योंकि उसीकी तरह यह पूर्णचन्द्रवदनी है, इसकी सुन्दर भौंएँ हैं तथा इसके गोल पयोधर हैं ॥ २८ ॥

कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः ।
तां [1]नीलकण्ठीं* बिम्बोष्ठीं सुमध्यां सुप्रतिष्ठिताम् ॥२९॥

अपने शरीर की कान्ति से इसने मानों समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रखा है। इसका कण्ठ इन्द्र-नील-मणि-जटित आभूषण की प्रभा से दमक रहा है। इसके अधर कुन्दरू की तरह लाल हैं, कमर पतली और समस्त अंग साँचे में ढले हुए से हैं ॥ २९ ॥

सीतां पद्मपलाशाक्षीं मन्मथस्य रतिं यथा ।
इष्टां सर्वस्य जगतः पूर्णचन्द्रप्रभामिव ॥ ३० ॥

---

१ नीलकण्ठी—सौभाग्यसूचकेन्द्रनीलमणिमयकण्ठस्थभूषणप्रभया तद्वर्ण-कण्ठी । (रा०) * पाठान्तरे—" नीलकेशीं । "

यह कमलनयनी सीता मानों साक्षात् मदन की स्त्री रति अथवा पूर्णिमा के चन्द्र की चाँदनी की तरह सारे जगत् की इष्टदेवी है ॥३०॥

भूमौ सुतनुमासीनां[१] नियता मिव तापसीम् ।
निःश्वासबहुलां भीरुं भुजगेन्द्रवधूमिव ॥ ३१ ॥

यह सुन्दर शरीर वाली सीता मन को वश में किये हुए तपस्विनी की तरह पृथिवी पर बैठी है और त्रस्त नागिन की तरह वार वार निःश्वास छोड़ रही है ॥ ३१ ॥

शोकजालेन महता विततेन न राजतीम् ।
संसक्तां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः ॥ ३२ ॥

बड़े भारी शोकजाल में पड़ जाने से सीता अब पूर्ववत् शोभायमान नहीं है । यह इस समय ऐसी जान पड़ती है, मानों धुए के बीच अग्निशिखा छिपी हो ॥ ३२ ॥

तां स्मृतीमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव ।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव ॥ ३३ ॥

सन्दिग्धार्थ मन्वादि की उक्तियों की तरह, अथवा क्षीण हुई सम्पत्ति को तरह, अथवा अविश्वासयुक्त श्रद्धा की तरह, अथवा हतआशा की तरह. ॥ ३३ ॥

सोपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव ।
अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव ॥ ३४ ॥

अथवा विघ्नयुक्त सिद्धि की तरह, अथवा कलुषित (बिगड़ी हुई) बुद्धि की तरह, अथवा असत्य अपवाद की तरह, अथवा लुप्तप्राय कीर्ति की तरह ॥ ३४ ॥

---

१ नियतां—यत्चितां । (शि०)

रामोपरोधव्यथितां रक्षोहरणकर्शिताम् ।
अबलां मृगशावाक्षीं वीक्षमाणां *समन्ततः ॥ ३५ ॥

राक्षस द्वारा हरी जाने पर तथा श्रीरामचन्द्र जी से मिलने में बाधा पड़ने के कारण, शोक से विकल मृगशावकनयनी यह अबला, घबड़ा कर चारों ओर देख रही है ॥ ३५ ॥

वाष्पाम्बुपरिपूर्णेन कृष्णवक्राक्षिपक्ष्मणा ।
वदनेनाप्रसन्नेन निःश्वसन्तीं पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

काली वरनियों से युक्त आंसू भरे नेत्रों और उदास मुख वाली यह अबला बार बार लंबी साँसे ले रही है ॥ ३६ ॥

मलपङ्कधरां दीनां मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
प्रभां नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृताम् ॥ ३७ ॥

यह आभूषण धारण करने योग्य होने पर भी आभूषणशून्य सी हो रही है और शरीर में मैल लगा हुआ है तथा यह अत्यन्त उदास हो रही है ; मानों काले मेघों से ढकी चन्द्रमा की प्रभा हो ॥ ३७ ॥

तस्य सन्दिदिहे बुद्धिर्मुहुः सीतां निरीक्ष्य तु ।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ॥ ३८ ॥

इस प्रकार सीता को देख, हनुमान जी की बुद्धि वैसे ही चक्कर में पड़ गयी, जैसे अभ्यास के अभाव में विद्या शिथिल पड़ जाती है ॥ ३८ ॥

दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलङ्कृताम् ।
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम् ॥ ३९ ॥

---

* पाठान्तरे—"ततस्ततः ।"

हनुमान जी ने सीता को अलङ्कारहीन देख कर, शब्दव्युत्पत्ति से हीन अर्थान्तर प्रतिपादक वाक्य की तरह बड़ी कठिनाई से पहिचाना ॥ ३६ ॥

तां समीक्ष्य विशालाक्षीं राजपुत्रीमनिन्दिताम् ।
तर्कयामास सीतेति कारणैरुपपादिभिः ॥ ४० ॥

अनिन्दिता, विशालाक्षी राजपुत्री सीता को देख कर, हनुमान जी ने कई कारणों के आधार पर तर्क वितर्क किया और विचारने लगे कि, क्या यही सीता है? ॥ ४० ॥

वैदेह्या यानि चाङ्गेषु तदा रामोऽन्वकीर्तयत् ।
तान्याभरणजालानि शाखाशोभीन्यलक्षयत् ॥ ४१ ॥

सीता जी को पहिचानने का मुख्य कारण यह था कि, श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी के शरीर पर जिन आभूषणों का होना बतला दिया था, उनमें से बहुत से हनुमान जी ने देखे ॥ ४१ ॥

सुकृतौ कर्णवेष्टौ च श्वदंष्ट्रौ च सुसंस्थितौ ।
मणिविद्रुमचित्राणि हस्तेष्वाभरणानि च ॥ ४२ ॥

श्यामानि चिरयुक्तत्वात्तथा संस्थानवन्ति च ।
तान्येवैतानि मन्येऽहं यानि रामोऽन्वकीर्तयत् ॥ ४३ ॥

कानों में बहुत अच्छे बने हुए कुण्डल और कुत्ते के दाँतों के आकार की कानों की तर्कियाँ और हाथों में मूँगा तथा मणियों के जड़ाऊ कँगन थे; जो बहुत दिनों से साफ न करने के कारण काले पड़ गये थे, किन्तु थे यथास्थान। (इन्हें देख हनुमान जी ने मन ही मन कहा कि,) वे ये ही भूषण हैं; जिनको श्रीरामचन्द्र जी ने बतलाया था ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

तत्र यान्यवहीनानि तान्यहं नोपलक्षये ।
यान्यस्या नावहीनानि तानीमानि न संशयः ॥ ४४ ॥

किन्तु उन बतलाये हुओं में कई नहीं देख पड़ते हैं । सो वे गिर गये हैं या खो गये हैं । परन्तु जो मौजूद हैं, वे निस्सन्देह ठीक ठीक हैं ॥ ४४ ॥

पीतं कनकपट्टाभं स्रस्तं तद्वसनं शुभम् ।
उत्तरीयं नगासक्तं तदा दृष्टं प्लवङ्गमैः ॥ ४५ ॥

उनमें से ज़रदोज़ी का पीला डुपट्टा जो पर्वत पर खसक कर गिर पड़ा था, उसे तो वहाँ उपस्थित हम सब वानरों ने देखा ही था ॥ ४५ ॥

भूषणानि *विचित्राणि दृष्टानि धरणीतले ।
अनयैवापविद्धानि स्वनवन्ति महान्ति च ॥ ४६ ॥

तथा कई एक उत्तम (अथवा अद्भुत) भूषण जो पृथिवी पर पड़े हुए देखे थे और जिनके गिरने पर बड़ा झन झन शब्द हुआ था, इन्हींके गिराये हुए थे ॥ ४६ ॥

इदं चिरगृहीतत्वाद्वसनं क्लिष्टवत्तरम् ।
तथापि नूनं तद्वर्णं तथा श्रीमद्यथेतरत् ॥ ४७ ॥

यद्यपि बहुत दिनों की पहिनी हुई होने के कारण इनकी ओढ़नी मसली हुई सी और मैली हो गयी है ; तौ भी उसकी रङ्गत नहीं उड़ी है और जो वस्त्र हमें वहाँ मिला था उसीकी तरह यह चटकदार बनी हुई है ॥ ४७ ॥

---

* पाठान्तरे—" मुख्यानि । "

इयं कनकवर्णाङ्गी रामस्य महिषी प्रिया ।
प्रनष्टाऽपि सती याऽस्य मनसो न प्रणश्यति ॥ ४८ ॥

यह सुवर्णाङ्गी श्रीराम जी की प्यारी पटरानी पतिव्रता सीता; यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी के सन्मुख नहीं हैं, तो भी श्रीराम जी के मन से दूर नहीं हुई है ॥ ४८ ॥

इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिः परितप्यते ।
कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च ॥ ४९ ॥

यह वही है, जिसके लिये श्रीरामचन्द्र जी चार प्रकार से सन्तप्त हो रहे हैं। अर्थात् कारुण्य, आनृशंस्य, शोक और मदन से ॥ ४९ ॥

स्त्री प्रनष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः ।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च ॥ ५० ॥

स्त्रीहरण हो गयी इस कारण करुणा, आश्रितजन की रक्षा न कर पायी इस लिये दयालुता, भार्या का पता नहीं चलता इसका शोक और प्रिया का वियोग होने से कामदेव की पीड़ा। ये चार प्रकार के शोक श्रीरामचन्द्र जी को सता रहे हैं ॥ ५० ॥

अस्या देव्या यथा रूपमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम् ।
रामस्य च यथा रूपं तस्येयमसितेक्षणा ॥ ५१ ॥

इस देवी का जैसा रूप लावण्य और अंग प्रत्यंग का सौन्दर्य है, वैसा ही श्रीरामचन्द्र जी का भी है। अतः इससे तो यह श्रीरामचन्द्र जी ही की प्यारी सीता जान पड़ती है ॥ ५१ ॥

अस्या देव्या मनस्तस्मिंस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम् ।
तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ५२ ॥

इस देवी का मन श्रीरामचन्द्र जी में है और श्रीरामचन्द्र जी का इनमें है इसी लिये ये सीता देवी और वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, अब तक जी रहे हैं। नहीं तो (ये दोनों) एक क्षण भी नहीं जी सकते थे ॥ ५२ ॥

दुष्करं कृतवान्रामो हीनो यदनया प्रभुः ।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति ॥ ५३ ॥

इनके विरह में श्रीरामचन्द्र जी महाराज का जीते रहना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। आश्चर्य है, सीता जी के विरह-जन्य-शोक से पीड़ित हो कर भी, श्रीरामचन्द्र जी अब तक जीवित है; नहीं तो इनके विरह-जन्य-शोक से उनका (श्रीरामचन्द्र जी का) नष्ट हो जाना कोई आश्चर्य की बात न थी ॥ ५३ ॥

दुष्करं कुरुते रामो य इमां मत्तकाशिनीम् ।
विना सीतां महाबाहुर्मुहूर्तमपि जीवति ॥ ५४ ॥

मेरी समझ में तो महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी यह बड़ा ही दुष्कर कार्य कर रहे हैं कि, सीता जैसी अनुरागवती पत्नी के बिना वे मुहूर्त भर भी जीवित रह रहे हैं ॥ ५४ ॥

एवं सीतां तदा दृष्ट्वा हृष्टः पवनसम्भवः ।
जगाम मनसा रामं प्रशशंस च तं प्रभुम् ॥ ५५ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

पवननन्दन ने इस प्रकार सीता को देखा और वे बहुत प्रसन्न हुए और मनसा श्रीरामचन्द्र जी के समीप जा उनकी प्रशंसा अथवा स्तुति करने लगे ॥ ५५ ॥

सुन्दरकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

षोडशः सर्गः

—※—

प्रशस्य तु प्रशस्तव्यां सीतां तां हरिपुङ्गवः ।
गुणाभिरामं रामं च पुनश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ १ ॥

प्रशंसा करने योग्य सीता जी की प्रशंसा कर, और गुणाभिराम श्रीरामचन्द्र जी के गुणानुवाद कर, हनुमान जी फिर सोचने विचारने लगे ॥ १ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा बाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
सीतामाश्रित्य तेजस्वी हनुमान्विललाप ह ॥ २ ॥

एक मुहूर्त्त भर कुछ सोच कर तेजस्वी हनुमान जी नेत्रों में आँसू भर और सीता के लिये विलाप कर, मन ही मन कहने लगे ॥ २ ॥

मान्या गुरुविनीतस्य लक्ष्मणस्य गुरुप्रिया ।
यदि सीताऽपि दुःखार्ता कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ३ ॥

गुरुओं द्वारा सुशिक्षित श्रीलक्ष्मण के ज्येष्ठभ्राता श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी सीता, जब ऐसे कष्ट भोग रही है, तब दूसरों का कहना ही क्या है ? हा ! काल के प्रभाव को उल्लंघन करना (अथवा काल के प्रभाव से बचना) सर्वथा दुस्साध्य है ॥ ३ ॥

रामस्य व्यवसायज्ञा[1] लक्ष्मणस्य च धीमतः ।
नात्यर्थं क्षुभ्यते देवी गङ्गेव जलदागमे ॥ ४ ॥

सीता जी, बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी की प्रयत्नशीलता या पराक्रम को भली भाँति जानती हैं । तभी तो

---

१ व्यवसायज्ञा—पराक्रमज्ञा । (रा०)

वर्षा कालीन गङ्गा की तरह, अन्य नदियों का जल आने पर भी, यह क्षोभ को प्राप्त नहीं हो रही है ॥ ४ ॥

तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम् ।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा ॥ ५ ॥

सचमुच स्वभाव, वय, चरित्र, कुल और शुभलक्षणों में सीता जी श्रीरामचन्द्र जी की भार्या होने योग्य हैं और वे इनके योग्य पति हैं ॥ ५ ॥

तां दृष्ट्वा नवहेमाभां लोककान्तामिव श्रियम् ।
जगाम मनसा रामं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर सुवर्णाङ्गी लक्ष्मी जी की तरह लोकानन्ददायिनी उन जानकी जी के दर्शन कर, हनुमान जी मन से श्रीरामचन्द्र जी के पास जा, कहने लगे ॥ ६ ॥

अस्या हेतोर्विशालाक्ष्या हतो वाली महाबलः ।
रावणप्रतिमो वीर्ये कबन्धश्च निपातितः ॥ ७ ॥

इन विशालाक्षी सीता के लिये ही तो श्रीरामचन्द्र जी ने महाबली वालि को और रावण की तरह पराक्रमी कबन्ध को मारा था ॥ ७ ॥

विराधश्च हतः संख्ये राक्षसो भीमविक्रमः ।
वने रामेण विक्रम्य महेन्द्रेणेव शम्बरः ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इन्हींके लिये युद्ध में भयङ्कर पराक्रमी विराध को उसी प्रकार मारा था; जिस प्रकार इन्द्र ने शंवरासुर को ॥ ८ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
निहतानि जनस्थाने शरैरग्निशिखोपमैः ॥ ९ ॥

इन्हींके लिये श्रीरामचन्द्र जी ने अग्निशिखा की तरह चमचमाते बाणों से जनस्थान-निवासी भयङ्कर कर्म करने वाले चौदह हज़ार राक्षसों को मारा था ॥ ९ ॥

खरश्च निहतः संख्ये त्रिशिराश्च निपातितः ।
दूषणश्च महातेजा रामेण विदितात्मना ॥ १० ॥

युद्ध में खर, त्रिशिरा और महातेजस्वी दूषण को, प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र जी ने मारा था ॥ १० ॥

ऐश्वर्यं वानराणां च दुर्लभं वालिपालितम् ।
अस्या निमित्ते सुग्रीवः प्राप्तवाँल्लोकसत्कृतम् ॥ ११ ॥

इन्हींके पीछे दुर्लभ वानरों का राज्य, जिसका पालन वालि करता था, लोकमान्य सुग्रीव को मिला ॥ ११ ॥

सागरश्च मया क्रान्तः श्रीमान्नदनदीपतिः ।
अस्या हेतोर्विशालाक्ष्याः पुरी चेयं निरीक्षिता ॥ १२ ॥

मैंने भी इन्हीं विशालाक्षी जानकी के लिये समुद्र फांदा और यह लङ्कापुरी देखी ॥ १२ ॥

यदि रामः समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत् ।
अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः ॥ १३ ॥

मेरी समझ में तो यदि श्रीरामचन्द्र जी इन देवी के लिये, केवल यह पृथिवी ही नहीं, वल्कि समस्त लोकों को भी उलट दें ; तो भी उनका ऐसा करना उचित ही है ॥ १३ ॥

राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा ।
त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात्कलाम् ॥ १४ ॥

यदि त्रिलोकी के राज्य और जनकनन्दिनी की तुलना की जाय, तो त्रिलोकी का राज्य, सीता की एक कला के बराबर भी तो नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

इयं सा धर्मशीलस्य मैथिलस्य महात्मनः ।
सुता जनकराजस्य सीता भर्तृदृढव्रता ॥ १५ ॥

क्योंकि धर्मात्मा महात्मा जनक की यह सुता सीता, पातिव्रत धर्म के निर्वाह करने में पूर्ण दृढ़ है ॥ १५ ॥

उत्थिता मेदिनीं भित्त्वा क्षेत्रे हलमुखक्षते ।
पद्मरेणुनिभैः कीर्णा शुभैः केदारपांसुभिः ॥ १६ ॥

पद्मरेणु की तरह खेती की धूल से धूसरित, हल की नोंक से जुते हुए खेत से यह पृथिवी को फोड़ कर निकली थी ॥ १६ ॥

विक्रान्तस्यार्यशीलस्य संयुगेष्वनिवर्तिनः ।
स्नुषा दशरथस्यैषा ज्येष्ठा राज्ञो यशस्विनी ॥ १७ ॥

और बड़े पराक्रमी श्रेष्ठस्वभाव वाले और युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले महाराज दशरथ की महायशस्विनी जेठी पुत्रवधू है ॥ १७ ॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य रामस्य विदितात्मनः ।
इयं सा दयिता भार्या राक्षसीवशमागता ॥ १८ ॥

और धर्मात्मा, कृतज्ञ तथा प्रसिद्ध पुरुष श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी पत्नी है। सो इस समय ये बेचारी राक्षसियों के वश में आ पड़ी हैं॥ १८॥

सर्वान्भोगान्परित्यज्य भर्तृस्नेहबलात्कृता।
अचिन्तयित्वा दुःखानि प्रविष्टा निर्जनं वनम्॥ १९॥

अपने पति के प्रेम की वशवर्तिनी हो यह घर के समस्त सुख भोगों को त्याग कर और वन के दुःखों की रत्ती भर भी परवाह न कर, निर्जन वन में चली आयी॥ १९॥

सन्तुष्टा फलमूलेन भर्तृशुश्रूषणे रता।
या परां भजते प्रीतिं वनेऽपि भवने यथा॥ २०॥

और फल फूल खा कर सन्तुष्ट हो अपने पति की सेवा करती हुई, घर की तरह वन में भी प्रसन्न ही रहती थी॥ २०॥

सेयं कनकवर्णाङ्गी नित्यं सुस्मितभाषिणी।
सहते यातनामेतामनर्थानामभागिनी॥ २१॥

जिसने कभी कोई विपत्ति नहीं झेली, जो सदा हँसमुख बनी रहती थी, वही यह सुवर्ण सदृश वर्ण वाली सीता कष्ट भोग रही है॥ २१॥

इमां तु शीलसम्पन्नां द्रष्टुमर्हति राघवः।
रावणेन प्रमथितां प्रपामिव पिपासितः॥ २२॥

रावण द्वारा सतायी हुई इस सुशीला जानकी को देखने के लिये श्रीरामचन्द्र जी उसी तरह उत्सुक हैं; जिस तरह पौशाला देखने को प्यासा उत्सुक हुआ करता है॥ २२॥

अस्या नूनं पुनर्लाभाद्राघवः प्रीतिमेष्यति ।
राजा राज्यात्परिभ्रष्टः पुनः प्राप्येव मेदिनीम् ॥ २३ ॥

निश्चय ही इनको पुनः पाकर श्रीरामचन्द्र जी वैसे ही प्रसन्न होंगे ; जैसे खोये हुए राज्य को प्राप्त कर राजा प्रसन्न होता है ॥२३॥

कामभोगैः परित्यक्ता हीना वन्धुजनेन च ।
धारयत्यात्मनो देहं *तत्समागमलालसा ॥ २४ ॥

माला चन्दनादि सुख भोगों से वञ्चित और वन्धुवान्धवों से रहित यह जानकी श्रीरामचन्द्र जी से मिलने की लालसा ही से प्राण धारण किये हुए है ॥ २४ ॥

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान्पुष्पफलद्रुमान् ।
एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति ॥ २५ ॥

न तो ये राक्षसियों को और न फले फूले इन वृक्षों की ओर देखती है। ये तो एकाग्र मन से केवल श्रीरामचन्द्र जी के ध्यान ही में मग्न है ॥ २५ ॥

भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणादपि ।
एषा †विरहिता तेन भूषणार्हा न शोभते ॥ २६ ॥

क्योंकि स्त्रियों के लिये उनका पति ही भूषण है, वलिक भूषण से भी बढ़ कर ही है। अतः यह पति वियोग के कारण, शोभा योग्य होने पर भी, शोभायमान नहीं हो रही ॥ २६ ॥

दुष्करं कुरुते रामो हीनो यदनया प्रभुः ।
धारयत्यात्मनो देहं न दुःखेनावसीदति ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—" तत्समागमकाङ्क्षिणी ।" † पाठान्तरे—" एषा तु रहिता ।"

इसके पति श्रीरामचन्द्र जी इसके वियोग में भी जीते हैं; सो सचमुच वे यह बड़ा दुष्कर कार्य कर रहे हैं ॥ २७ ॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रनिभेक्षणाम् ।
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथितं मनः ॥ २८ ॥

काले केशवाली, कमलनयनी और सुख भोगने योग्य इस जानकी को दुःखी देख, मेरा भी कलेजा मारे दुःख के फटा जाता है ॥ २८ ॥

क्षितिक्षमा पुष्करसन्निभाक्षी
या रक्षिता राघवलक्ष्मणाभ्याम् ।
सा राक्षसीभिर्विकृतेक्षणाभिः
संरक्ष्यते सम्प्रति वृक्षमूले ॥ २९ ॥

हा! जो पृथिवी के समान क्षमा करने वाली है और जिसकी रक्षा स्वयं श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण करते थे, आज वही कमल-नयनी सीता विकट नेत्रों वाली राक्षसियों के पहरे में वृक्ष के नीचे बैठी है ॥ २९ ॥

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा
व्यसनपरम्परयातिपीड्यमाना ।
सहचररहितेव चक्रवाकी
जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना ॥ ३० ॥

सीता, पाले की मारी कमलिनी की तरह, दुःखों से उत्पीड़ित हो तथा चकवा से रहित चकवी की तरह शोचनीय दशा को प्राप्त हुई है ॥ ३० ॥

अस्या हि पुष्पावनताग्रशाखाः
शोकं दृढं वै जनयन्त्यशोकाः ।
हिमव्यपायेन च मन्दरश्मि-
रभ्युत्थितो नैकसहस्ररश्मिः ॥ ३१ ॥

फूलों के भार से झुकी हुई अशोक वृक्ष की ये डालियाँ और वसन्त कालीन यह निर्मल और सूर्य की अपेक्षा मन्द किरणों वाला यह चन्द्रमा, इस देवी के शोक को और भी अधिक बढ़ा रहे होंगे ॥ ३१ ॥

इत्येवमर्थं कपिरन्ववेक्ष्य
सीतेयमित्येव निविष्टबुद्धिः ।
संश्रित्य तस्मिन्निषसाद वृक्षे
बली हरीणामृषभस्तरस्वी ॥ ३२ ॥

इति षोडशः सर्गः ॥

बलवान कपिश्रेष्ठ हनुमान इस प्रकार मन ही मन भली भाँति यह निश्चय कर कि, यही सीता है, और अपना प्रयोजन सिद्ध हुआ देख, उसी वृक्ष पर अच्छी तरह बैठ गये ॥ ३२ ॥

सुन्दरकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तदशः सर्गः

—※—

ततः कुमुदषण्डाभो निर्मलो निर्मलं स्वयम् ।
प्रजगाम नभश्चन्द्रो हंसो नीलमिवोदकम् ॥ १ ॥

उस समय कुमुद पुष्पों की तरह निर्मल चन्द्रमा निर्मल आकाश में, कुछ ऊपर चढ़ वैसे ही शोभित हुआ, जैसे नील जल वाली झील में हंस शोभित होता है ॥ १ ॥

साचिव्यमिव कुर्वन्स प्रभया निर्मलप्रभः ।
चन्द्रमा रश्मिभिः शीतैः सिषेवे पवनात्मजम् ॥ २ ॥

निर्मल प्रभा वाले चन्द्रदेव, अपनी चांदनी से हनुमान जी की सहायता करते हुए, उनको अपनी शीतल किरणों से हर्षित करने लगे ॥ २ ॥

स ददर्श ततः सीतां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
शोकभारैरिव न्यस्तां भारैर्नावमिवाम्भसि ॥ ३ ॥

हनुमान जी ने चांदनी के सहारे चन्द्रमुखी सीता को देखा। उस समय सीता की दशा मारे शोक के वैसी ही हो रही थी; जैसी कि, अधिक बोझ से लदी हुई नाव की जल में होती है ॥ ३ ॥

दिदृक्षमाणो वैदेहीं हनुमान्पवनात्मजः ।
स ददर्शाविदूरस्था राक्षसीर्घोरदर्शनाः ॥ ४ ॥

जानकी को देखते देखते पवननन्दन हनुमान जी की दृष्टि उन भयङ्कर शब्दों वाली राक्षसियों पर पड़ी, जो सीता जी के समीप बैठी हुई थीं ॥ ४ ॥

एकाक्षीमेककर्णां च कर्णप्रावरणां तथा ।
अकर्णां शङ्कुकर्णां च मस्तकोच्छ्वासनासिकाम् ॥५॥
अतिकायोत्तमाङ्गीं च तनुदीर्घशिरोधराम् ।
[1]ध्वस्तकेशीं तथाऽकेशीं[2] केशकम्बलधारिणीम् ॥ ६ ॥

---

१ ध्वस्तकेशीं—स्वल्पकेशीं । (गो०) २ अकेशीं—अनुत्पन्नकेशीं । (गो०)

उन राक्षसियों में कोई कानी, कोई एक कान की बूची, कोई बहुत बड़े कानों वाली, कोई दोनों कानों की बूची, कोई कील की तरह कानों वाली तथा कोई मस्तक पर नाक वाली और नाक से साँस लेती हुई वहाँ बैठी थी। उनमें से किसी के शरीर का ऊपरी भाग बहुत बड़ा था, किसी की गर्दन पतली और लंबी थी, किसी के सिर पर थोड़े बाल थे और किसी की चाँद पर बाल उगे ही न थे। किसी के शरीर पर इतने रोम थे कि, वह ऐसी जान पड़ती थी, मानों काला कंबल ओढ़े हुए हो॥ ५ ॥ ६ ॥

लम्बकर्णललाटां च लम्बोदरपयोधराम्।
लम्बोष्ठीं *चुबुकोष्ठीं च लम्बास्यां लम्बजानुकाम् ॥७॥

किसी के लंबे लंबे कान और लंबा कपाल था और किसी का लंबा पेट और लंबे पयोधर (स्तन) थे। किसी के लंबे ओंठ, किसी के ओंठ ढोंड़ी तक लटक रहे थे, कोई लंबे मुख वाली थी और कोई लंबी जाँघां वाली थी ॥ ७ ॥

†ह्रस्वां दीर्घां तथा कुब्जां विकटां वामनां तथा।
करालां भुग्नवक्त्रां च पिङ्गाक्षीं विकृताननाम् ॥ ८ ॥

कोई नाटी, कोई लंबी, कोई कुबड़ी, कोई विकटाकार, कोई बौनी कोई भयङ्कर रूप वाली, कोई टेढ़े मुख वाली, कोई पीले नेत्रों वाली और कोई विकृत मुख वाली थी ॥ ८ ॥

विकृताः पिङ्गलाः कालीः क्रोधनाः कलहप्रियाः।
कालायसमहाशूलकूटमुद्गरधारिणीः ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"चिबुकोष्ठीः"। † पाठान्तरे—"ह्रस्वदीर्घां"।

कोई टेढ़े मेढ़े अंगों वाली, कोई पीली, कोई काली, कोई सदा, क्रुद्ध रहने वाली और कोई कलहप्रिया थी। उनमें कोई लोहे का बड़ा शूल और कोई काँटेदार मुगदर हाथ में लिये हुए थी ॥ ९ ॥

वराहमृगशार्दूलमहिषाजशिवामुखीः ।
गजोष्ट्रहयपादोश्च निखातशिरसोऽपराः ॥ १० ॥

किसी का मुख शूकर जैसा, किसी का हिरन जैसा, किसी का शार्दूल जैसा, किसी का भैंसा जैसा, किसी का बकरी जैसा और किसी का स्यारिन जैसा था। किसी के पैर हाथी जैसे, किसी के ऊँट जैसे और किसी के घोड़े जैसे थे। किसी किसी का सिर माथे में घुसा हुआ था ॥ १० ॥

एकहस्तैकपादाश्च खरकर्ण्यश्वकर्णिकाः ।
गोकर्णीहस्तिकर्णीश्च हरिकर्णीस्तथापराः ॥ ११ ॥

कोई एक हाथ और कोई एक पैर वाली थी। किसी के कान गधे जैसे, किसी के घोड़े जैसे, किसी के गाय जैसे, किसी के हाथी जैसे, तथा किसी के वन्दर जैसे थे ॥ ११ ॥

अनासा अतिनासाश्च तिर्यङ्नासा विनासिकाः ।
गजसन्निभनासाश्च ललाटोच्छ्वासनासिकाः ॥ १२ ॥

किसी के नाक थी ही नहीं, किसी के नाक तो थी ; किन्तु वह बहुत बड़ी थी। किसी की नाक टेढ़ी थी और किसी की विशेष रूप की नासिका थी। किसी की नाक हाथी की सूंड़ जैसी और किसी की नाक उसके ललाट में थी जिससे वह साँस लेती थी ॥ १२ ॥

हस्तिपादा महापादा गोपादाः पादचूलिकाः ।
अतिमात्रशिरोग्रीवा अतिमात्रकुचोदरीः ॥ १३ ॥

किसी के हाथी जैसे पैर, किसी के महाभारी पैर, किसी के बैलों जैसे पैर और किसी के पैरों पर चोटी जैसे केशों का समूह था। किसी की गर्दन और सिर ही देख पड़ते थे और किसी के पेट और स्तन ही स्तन देख पड़ते थे ॥ १३ ॥

अतिमात्रास्यनेत्राश्च दीर्घजिह्वानखास्तथा।
अजामुखीर्हस्तिमुखीर्गोमुखीः सूकरीमुखीः ॥ १४ ॥

किसी के बड़ा मुख और किसी के बड़े बड़े नेत्र थे और किसी के लंबी जीभ और नख थे। कोई बकरे के मुख वाली, कोई हाथी के मुख वाली, कोई गौ के मुख वाली और कोई शूकरी जैसे मुख वाली थी ॥ १४ ॥

हयोष्ट्रखरवक्त्राश्च राक्षसीर्घोरदर्शनाः।
शूलमुद्गरहस्ताश्च क्रोधनाः कलहप्रियाः ॥ १५ ॥

किसी का मुख घोड़े जैसा, किसी का ऊँट जैसा और किसी का गधे जैसा था। वे सब राक्षसी बड़े भयङ्कर रूपवाली थीं। उनके हाथों में शूल और मुग्दर थे तथा वे बड़ी गुस्सैल और झगड़ा करने वाली थीं ॥ १५ ॥

कराला धूम्रकेशीश्च राक्षसीर्विकृताननाः।
पिबन्तीः सततं पानं सदा मांससुराप्रियाः ॥ १६ ॥

वे भयङ्कर और धुएँ के तुल्य केशवाली, तथा भयङ्कर मुखों वाली राक्षसियाँ थीं। वे सदा शराब पिया करती थीं। क्योंकि उनको शराब पीना और माँस खाना बहुत प्रिय लगता था ॥ १६ ॥

मांसशोणितदिग्धाङ्गीर्मांसशोणितभोजनाः।
ता ददर्श कपिश्रेष्ठो रोमहर्षणदर्शनाः ॥ १७ ॥

उनके शरीर में माँस और रुधिर सना हुआ था, क्योंकि वे रुधिर पीती और माँस खाया करती थीं। उनको देखने से देखने वाले के शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते थे। ऐसी राक्षसियों को हनुमान जी ने देखा ॥ १७ ॥

स्कन्धवन्तमुपासीनाः परिवार्य वनस्पतिम् ।
तस्याधस्ताच्च तां देवीं राजपुत्रीमनिन्दिताम् ॥ १८ ॥

वे सब की सब, उस सघन वृक्ष को घेरे हुए बैठी थीं, जिसके नीचे सुन्दरी राजपुत्री सीता जी बैठी हुई थीं ॥ १८ ॥

लक्षयामास लक्ष्मीवान्हनुमाञ्जनकात्मजाम् ।
निष्प्रभां शोकसन्तप्तां मलसङ्कुलमूर्धजाम् ॥ १९ ॥

हनुमान जी ने जनकनन्दिनी को देखा कि, वे प्रभाहीन हो रही हैं और शोक से सन्तप्त हैं तथा उनके सिर के बाल मैल से चीकट हो रहे हैं ॥ १९ ॥

क्षीणपुण्यां च्युतां भूमौ तारां निपतितामिव ।
[1]चारित्रव्यपदेशाढ्यां भर्तृदर्शनदुर्गताम् ॥ २० ॥

मानों क्षीणपुण्य कोई तारा पृथिवी पर गिरा पड़ा है। सीता जी एक प्रसिद्ध पतिव्रता स्त्री हैं। परन्तु इस समय इनको अपने पति का दर्शन दुर्लभ हो रहा है ॥ २० ॥

भूषणैरुत्तमैर्हीनां भर्तृवात्सल्यभूषणाम् ।
राक्षसाधिपसंरुद्धां बन्धुभिश्च विनाकृताम् ॥ २१ ॥

यद्यपि उनके अंगों में बढ़िया गहने नहीं हैं; तथापि वे पति-प्रेम रूपी भूषण से भूषित हैं और बन्धुजनों से रहित वे रावण के यहाँ नजरबन्द हैं ॥ २१ ॥

---

१ चारित्रव्यपदेशाढ्यां—पतिव्रताधर्माचरणख्यातिसम्पन्नाम् । (गो०)

विपूथां सिंहसंरुद्धां बद्धां गजवधूमिव ।
चन्द्ररेखां पयोदान्ते शारदाभ्रैरिवावृताम् ॥ २२ ॥

उस समय जानकी जी ऐसी जान पड़ती थीं, मानों अपने झुंड से छूटी और बंधी हुई हथिनी, सिंह के चंगुल में फँस गयी है। अथवा मानों वर्षाऋतु के अन्त में, चन्द्र की चाँदनी शारदीय मेघों में छिप रही है ॥ २२ ॥

क्लिष्टरूपामसंस्पर्शादयुक्तामिव वल्लकीम् ।
सीतां भर्तृवशे युक्तामयुक्तां [1]राक्षसीवशे ॥ २३ ॥

उबटनादि न लगाने से, वे मानों बहुत दिनों से बिना बजाई वीणा की तरह मलिन हो रही हैं। जो सीता जी अपने पति के पास रहने योग्य हैं; वे आज राक्षसियों के क्रूरकटाक्ष का लक्ष्य बनी हुई हैं अथवा राक्षसियों के पहरे में हैं ॥ २३ ॥

अशोकवनिकामध्ये शोकसागरमाप्लुताम् ।
ताभिः परिवृतां तत्र सग्रहामिव रोहिणीम् ॥ २४ ॥

अशोकवाटिका में सीता, मानों शोकसागर में डूब कर, मङ्गल ग्रह से ग्रसित रोहिणी की तरह, उन राक्षसियों से घिरी हैं ॥ २४ ॥

ददर्श हनुमान्देवीं *लतामकुसुमामिव ।
सा मलेन च दिग्धाङ्गी वपुषा चाप्यलंकृता ॥ २५ ॥

हनुमान जी ने अशोकवाटिका में पुष्पहीन लता की तरह, सीता जी को शरीर में मैल लपेटे और शृङ्गाररहित देखा ॥ २५ ॥

---

१ राक्षसीवशे अयुक्तां—तद्वचनान्यश्रृण्वन्तीमित्यर्थः । (गो०)

* पाठान्तरे—" लतां कुसुमितामिव " ।

मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च ।
मलिनेन तु वस्त्रेण परिक्लिष्टेन भामिनीम् ॥ २६ ॥
संवृतां मृगशावाक्षीं ददर्श हनुमान्कपिः ।
तां देवीं दीनवदनामदीनां भर्तृतेजसा[1] ॥ २७ ॥

सुन्दर होने पर भी सीता जी कीचड़ में सनी हुई नलिनी की तरह, शोभाहीन हो रही थीं। हनुमान जी ने देखा कि, मृगनयनी सीता जी अपने शरीर को एक जीर्ण और मैले कुचैले वस्त्र से ढके हुए हैं। यद्यपि सीता जी इस समय उदास थीं तथापि वे श्रीरामचन्द्र जी के बल पराक्रम का स्मरण कर उदास नहीं जान पड़ती थीं ॥ २६ ॥ २७ ॥

रक्षितां स्वेन शीलेन सीतामसितलोचनाम् ।
तां दृष्ट्वा हनुमान्सीतां मृगशावनिभेक्षणाम् ॥ २८ ॥

काले काले नेत्रों वाली सीता जी अपने शील स्वभाव से स्वयं अपने पातिव्रत धर्म की रक्षा कर रही थीं। उन मृगशावकनयनी सीता जी को हनुमान जी ने देखा ॥ २८ ॥

मृगकन्यामिव त्रस्तां वीक्षमाणां समन्ततः ।
दहन्तीमिव निःश्वासैर्वृक्षान्पल्लवधारिणः ॥ २९ ॥

वे मृगछौनी की तरह भयभीत हो, चारों ओर देख रही थीं और अपने निःश्वासों से मानों आसपास के पल्लवधारी वृक्षों को भस्म किये डालती थीं ॥ २९ ॥

सङ्घातमिव शोकानां दुःखस्योर्मिमिवोत्थिताम् ।
तां क्षमां सुविभक्ताङ्गीं विनाभरणशोभिनीम् ॥ ३० ॥

१ भर्तृतेजसा—रामतेजः स्मरणेन । (शि०)

प्रहर्षमतुलं लेभे मारुतिः प्रेक्ष्य मैथिलीम् ।
हर्षजानि च सोऽश्रूणि तां दृष्ट्वा मदिरेक्षणाम् ॥
मुमोच हनुमांस्तत्र नमश्चक्रे च राघवम् ॥ ३१ ॥

(उस समय हनुमान जी को ऐसा जान पड़ा) मानों शोक-सागर से दुःख रूपी लहरें उठ रही हों । क्षमा की साक्षात् मूर्ति, सुन्दर अङ्गों वाली तथा बिना आभूषणों के भी शोभायमान जानकी जी को देख, हनुमान जी बहुत प्रसन्न हुए । उन श्रेष्ठ नेत्रों वाली जानकी जी को देख, हनुमान जी आनन्द के आंसू बहाने लगे और उन्होंने मनसा श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम किया ॥ ३० ॥ ३१ ॥

नमस्कृत्वा स रामाय लक्ष्मणाय च वीर्यवान् ।
सीतादर्शनसंहृष्टो हनुमान्संवृतोऽभवत् ॥ ३२ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

महाबली हनुमान जी ने श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी को मनसा प्रणाम किया और सीता के दर्शन पाने से अत्यन्त प्रसन्न हो, वे उसी वृक्ष के पत्तों में छिप कर बैठ गये ॥ ३२ ॥

सुन्दरकाण्ड का सत्तरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अष्टादशः सर्गः

तथा विप्रेक्षमाणस्य वनं पुष्पितपादपम् ।
विचिन्वतश्च वैदेहीं किञ्चिच्छेषा निशाभवत् ॥ १ ॥

उस पुष्पित वृक्षों से युक्त अशोकवाटिका को देखते देखते और सीता को खोजते खोजते अब थोड़ी हो रात रह गयी ॥ १ ॥

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम् ।
शुश्राव ब्रह्मघोषांश्च विरात्रे[1] ब्रह्मरक्षसाम्[2] ॥ २ ॥

रात बीतने पर षडङ्गवेदों के ज्ञाता और उत्तमोत्तम यज्ञों के करने वाले ब्राह्मणराक्षसों के वेदपाठ की ध्वनि हनुमान जी ने सुनी ॥ २ ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, लङ्का में चारों वर्ण के राक्षस थे और यज्ञ करने और षडङ्गवेदाध्ययन करने वाले ब्राह्मण राक्षस भी वहाँ रहा करते थे ।]

अथ मङ्गलवादित्रैः शब्दैः श्रोत्रमनोहरैः ।
प्राबुध्यत महाबाहुर्दशग्रीवो महाबलः ॥ ३ ॥

तदनन्तर मङ्गलसूचक बाजों की कर्णमधुर ध्वनि के साथ महाबली एवं महावीर रावण जगाया गया ॥ ३ ॥

विबुध्य तु यथाकालं राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।
स्रस्तमाल्याम्बरधरो वैदेहीमन्वचिन्तयत् ॥ ४ ॥

यथासमय प्रतापी रावण सो कर उठ बैठा और सोते में खसकी हुई मालाओं और वस्त्रों को सम्हालता हुआ सीता के विषय में चिन्ता करने लगा ॥ ४ ॥

भृशं नियुक्तस्तस्यां च मदनेन मदोत्कटः ।
न स तं राक्षसः कामं शशाकात्मनि गूहितुम् ॥ ५ ॥

१ विरात्रे—रात्र्यावसाने । (शि०) २ ब्रह्मरक्षसाम्—ब्राह्मणत्वविशिष्ट :क्ष । (गो०), ब्राह्मणराक्षसानाम् । (शि०)

क्योंकि वह कामवेग के वश हो सीता जी में अत्यन्त आसक्त हो गया था और वह उस कामवेग को किसी प्रकार भी रोकने में समर्थ न था ॥ ५ ॥

स सर्वाभरणैर्युक्तो बिभ्रच्छ्रियमनुत्तमाम् ।
तां नगैर्बहुभिर्जुष्टां सर्वपुष्पफलोपगैः ॥ ६ ॥

वह रावण समस्त आभूषणों को पहिनने के कारण अपूर्व शोभा धारण कर, उस सर्वऋतु में फलने फूलने वाले वृक्षों से युक्त ॥ ६ ॥

वृतां पुष्करिणीभिश्च नानापुष्पोपशोभिताम् ।
सदामदैश्च विहगैर्विचित्रां *परमाद्भुतैः ॥ ७ ॥

तथा अनेक पुष्करिणियों से तथा विविध प्रकार के पुष्पों से शोभित, तथा परम अद्भुत एवं मतवाले पक्षियों से कूजित ॥ ७ ॥

ईहामृगैश्च विविधैर्जुष्टां दृष्टिमनोहरैः ।
वीथीः सम्प्रेक्षमाणश्च †मणिकाञ्चनतोरणाम् ॥ ८ ॥

तथा देखने में सुन्दर अनेक प्रकार के बनावटी मृगों (खिलौनों) से शोभित तथा मणि और काञ्चन के तोरणों तथा उद्यान-वीथियों को देखता हुआ ॥ ८ ॥

नानामृगगणाकीर्णां फलैः प्रपतितैर्वृताम् ।
अशोकवनिकामेव प्राविशत्सन्ततद्रुमाम् ॥ ९ ॥

तथा अनेक प्रकार के वनैले जन्तुओं से युक्त, चुये हुए पके फलों से व्याप्त, सघन वृक्षों से पूर्ण, उस अशोकवाटिका में पहुँचा ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"परमाद्भुताम्"। † पाठान्तरे—"मणिकाञ्चनतोरणाः"।

अङ्गनाशतमात्रं तु तं व्रजन्तमनुव्रजत् ।
महेन्द्रमिव पौलस्त्यं देवगन्धर्वयोषितः ॥ १० ॥

उसके पीछे पीछे सैकड़ों स्त्रियाँ भी वैसे ही चली जाती थीं जैसे देवता और गन्धर्वों की स्त्रियाँ इन्द्र के पीछे चलती हैं ॥ १० ॥

दीपिकाः काञ्चनीः काश्चिज्जगृहुस्तत्र योषितः ।
वालव्यजनहस्ताश्च तालवृन्तानि चापराः ॥ ११ ॥

किसी किसी स्त्री के हाथ में सुवर्ण के दीपक (अर्थात् लालटैन) किसी के हाथ में चँवर और किसी के हाथ में ताड़ के पंखे थे ॥ ११ ॥

काञ्चनैरपि भृङ्गारैर्जह्रुः सलिलमग्रतः ।
मण्डलाग्रान्बृसींश्चैव गृह्यान्याः पृष्ठतो ययुः ॥ १२ ॥

कोई कोई जल से भरी सुवर्ण की झारी हाथ में लिये हुए आगे चलती थीं, और कोई गोल आसन लिये हुए पीछे चली जाती थी ॥ १२ ॥

काचिद्रत्नमयीं* पात्रीं पूर्णां पानस्य भामिनी ।
दक्षिणा दक्षिणेनैव तदा जग्राह पाणिना ॥ १३ ॥

कोई कोई चतुर स्त्री दहिने हाथ में मदिरा से भरी साफ रत्नजटित सुराही लिये हुए चली जाती थी ॥ १३ ॥

राजहंसप्रतीकाशं छत्रं पूर्णशशिप्रभम् ।
सौवर्णदण्डमपरा गृहीत्वा पृष्ठतो ययौ ॥ १४ ॥

* पाठान्तरे—" स्थालीं " ।

कोई राजहंस की तरह सफेद और पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह गोल और सोने की डंडी वाला छत्र रावण के ऊपर ताने उसके पीछे जा रही थी ॥ १४ ॥

निद्रामदपरीताक्ष्यो रावणस्योत्तमाः स्त्रियः ।
अनुजग्मुः पतिं वीरं घनं विद्युल्लता इव ॥ १५ ॥

नींद और मदिरा के नशे से अलसानी रावण की सुन्दरी स्त्रियाँ, उस प्रकार अपने वीर पति के पीछे चली जा रही थीं, जिस प्रकार मेघ के पीछे बिजली चमकती जाती है ॥ १५ ॥

व्याविद्धहारकेयूराः समामृदितवर्णकाः ।
समागलितकेशान्ताः सस्वेदवदनास्तथा ॥ १६ ॥

उन स्त्रियों की कण्ठमालाएं और बाजूबंद अपने अपने स्थानों से कुछ कुछ खसक गये थे और उलट पुलट गये थे। उनमें से अनेकों के अंगराग छूट गये थे उनके सिर के जूड़े खुल गये थे और उनके मुखों पर पसीने की बूँदें झलक रही थीं ॥ १६ ॥

घूर्णन्त्यो मदशेषेण निद्रया च शुभाननाः ।
स्वेदक्लिष्टाङ्गकुसुमाः सुमाल्याकुलमूर्धजाः ॥ १७ ॥

वे सुन्दरी स्त्रियाँ नशे की और नींद की खुमारी से डगमगाती पसीने से भींगे फूलों को धारण किये तथा जूड़ों में फूल सजाये हुए थीं ॥ १७ ॥

प्रयान्तं नैर्ऋतपतिं नार्यो मदिरलोचनाः ।
बहुमानाच्च कामाच्च प्रिया भार्यास्तमन्वयुः ॥ १८ ॥

इस प्रकार मदमाते नैनों वाली वे सब स्त्रियाँ, अति आदर के साथ और कामपीड़ित हो, अपने पति के पीछे पीछे चली जाती थीं ॥ १८ ॥

स च कामपराधीनः पतिस्तासां महाबलः ।
सीतासक्तमना मन्दो मदाञ्चितगतिर्बभौ ॥ १९ ॥

उनका वह महाबली और कामासक्त पति रावण, सीता पर लट्टू था, तथा नशे में चूर, झूमता हुआ धीरे धीरे चला जाता था ॥ १९ ॥

ततः काञ्चीनिनादं च नूपुराणां च निःस्वनम् ।
शुश्राव परमस्त्रीणां स कपिर्मारुतात्मजः ॥ २० ॥

पवननन्दन हनुमान जी ने उन सुन्दरी स्त्रियों की करधनियों और नूपुरों की झंकार को सुना ॥ २० ॥

तं चाप्रतिमकर्माणमचिन्त्यबलपौरुषम् ।
द्वारदेशमनुप्राप्तं ददर्श हनुमान्कपिः ॥ २१ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, वह अनुपम कर्मा, अचिन्त्य एवं असाधारण बल और पुरुषार्थ से युक्त रावण, उस वाटिका के द्वार पर आ पहुँचा है ॥ २१ ॥

दीपिकाभिरनेकाभिः समन्तादवभासितम् ।
गन्धतैलावसिक्ताभिर्ध्रियमाणाभिरग्रतः ॥ २२ ॥

आगे आगे सुगन्धित तेल से पूर्ण अनेक लालटैनों के प्रकाश में रावण का समस्त शरीर चारों ओर से भली भाँति दिखलाई पड़ रहा था ॥ २२ ॥

कामदर्पमदैर्युक्तं जिह्मताम्रायतेक्षणम् ।
समक्षमिव कन्दर्पमपविद्ध[1] शरासनम् ॥ २३ ॥

---

1 अपविद्ध—अधृत । (गो०)

उस समय रावण नशे में चूर था और काममद से पीड़ित था। उसके विशाल कुटिल नेत्र लाल हो रहे थे। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था ; मानों साक्षात् कामदेव धनुष को दूर फेंक कर, सामने चला आता हो ॥ २३ ॥

मथितामृतफेनाभमरजो वस्त्रमुत्तमम् ।
सलीलमनुकर्षन्तं विमुक्तं सक्तमङ्गदे ॥ २४ ॥

मथे हुए अमृत के झागों की तरह अति उजला तथा अति उत्तम वस्त्र, जो उसके बाजूबन्द में खसक कर अटक गया था, साधारणतया उसे खींच कर यथास्थान उसने रख लिया ॥ २४ ॥

तं पत्रविटपे लीनः पत्रपुष्पघनावृतः ।
समीपमुपसंक्रान्तं निध्यातुमुपचक्रमे ॥ २५ ॥

रावण ज्यों ज्यों समीप आता जाता था, त्यों त्यों हनुमान जी उस सघन पेड़ के फूल पत्तों में अपने शरीर को छिपाते जाते थे और छिपे छिपे ही वह यह भी जानना चाहते थे कि, सामने आता हुआ व्यक्ति कौन है ॥ २५ ॥

अवेक्षमाणस्तु ततो ददर्श कपिकुञ्जरः ।
रूपयौवनसम्पन्ना रावणस्य वरस्त्रियः ॥ २६ ॥

देखते देखते हनुमान जी ने प्रथम रावण की श्रेष्ठ और रूपवती युवती स्त्रियों को देखा ॥ २६ ॥

ताभिः परिवृतो राजा सुरूपाभिर्महायशाः ।
तन्मृगद्विजसंघुष्टं प्रविष्टः प्रमदावनम् ॥ २७ ॥

उन अत्यन्त रूपवती सुन्दरियों के साथ महायशस्वी राक्षसराज, मृगों और पक्षियों से युक्त उस प्रमोदवन (अशोकवन में) पहुँचा ॥ २७ ॥

क्षीबो विचित्राभरणः शङ्कु[1] कर्णो महाबलः ।
तेन विश्रवसः पुत्रः स दृष्टो राक्षसाधिपः ॥ २८ ॥

उस समय महाबली, उन्मत्त, मूल्यवान गहनों को धारण किये हुए और गर्व से कानों को स्तब्ध किये हुए विश्रवा के पुत्र एवं राक्षसराज रावण को हनुमान जी ने देखा ॥ २८ ॥

वृतः परमनारीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः ।
तं ददर्श महातेजास्तेजोवन्तं महाकपिः ॥ २९ ॥

रावणोऽयं महाबाहुरिति संचिन्त्य वानरः ।
अवप्लुतो महातेजा हनुमान्मारुतात्मजः ॥ ३० ॥

परम रूपवती स्त्रियों से घिरे हुए उस महातेजस्वी राक्षसराज रावण को, ताराओं से घिरे चन्द्रमा की तरह शोभित देख, वृक्ष पर चढ़े हुए पवननन्दन हनुमान जी ने सोचा कि, यह महाबाहु रावण ही है ॥ २९ ॥ ३० ॥

स तथाप्युग्रतेजाः सन्निर्धूतस्तस्य तेजसा ।
पत्रगुह्यान्तरे सक्तो हनुमान्संवृतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

यद्यपि हनुमान जी स्वयं भी अत्यन्त तेजस्वी थे, तथापि रावण के तेज के सामने वे भी दब गये और वृक्ष की एक डाली पर उसके सघन पत्तों में अपने को छिपा लिया ॥ ३१ ॥

---

१ शङ्कुकर्णः—गर्वेण स्तब्धकर्णः । (गो०)

*सीतामसितकेशान्तां सुश्रोणीं संहतस्तनीम् ।
दिदृक्षुरसितापाङ्गामुपावर्तत रावणः ॥ ३२ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

काले केशों वाली, पतली कमर वाली, कठिन स्तन वाली और काले नेत्रों वाली जानकी को देखने के लिये रावण उनके समीप गया ॥ ३२ ॥

सुन्दरकाण्ड का अट्ठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनविंशः सर्गः

—※—

तस्मिन्नेव ततः काले राजपुत्री त्वनिन्दिता ।
रूपयौवनसम्पन्नं भूषणोत्तमभूषितम् ॥ १ ॥
ततो दृष्ट्वैव वैदेही रावणं राक्षसाधिपम् ।
प्रावेपत वरारोहा प्रवाते कदली यथा ॥ २ ॥

उस समय अनिन्दिता सुन्दरी राजपुत्री सीता, रूपयौवन सम्पन्न और उत्तम भूषणों से भूषित राक्षसराज रावण को देख, मारे डर के केले के पत्ते की तरह काँपने लगी ॥ १ ॥ २ ॥

आच्छाद्योदरमूरुभ्यां बाहुभ्यां च पयोधरौ ।
उपविष्टा विशालाक्षी† रुदती वरवर्णिनी ॥ ३ ॥

विशालाक्षी और सुन्दर रंग वाली सीता दोनों जाँघों से अपने पेट को तथा बाँहों से अपने स्तनों को ढाँपे हुए बैठ कर, रोने लगी ॥ ३ ॥

---

* पाठान्तरे—" स तामसितकेशान्तां " । † पाठान्तरे—" रुदन्ती " ।

दशग्रीवस्तु वैदेहीं रक्षितां राक्षसीगणैः ।
ददर्श सीतां दुःखार्तां नावं सन्नामिवार्णवे ॥ ४ ॥

रावण ने देखा कि, राक्षसियों के पहिरे में सीता अत्यन्त दुःखी है और, समुद्र की लहरों से झोंका खाती हुई नाव की तरह डगमगा रही है ॥ ४ ॥

असंवृतायामासीनां धरण्यां संशितव्रताम् ।
छिन्नां प्रपतितां भूमौ शाखामिव वनस्पतेः ॥ ५ ॥

विना कुछ बिछाये भूमि पर बैठी हुई तथा दृढ़व्रत धारण किये हुए सीता, भूमि पर पड़ी वृक्ष की कटी डाली की तरह जान पड़ती थी ॥ ५ ॥

मलमण्डनचित्राङ्गीं मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च ॥ ६ ॥

सीता के अंग, जो भूषणों से भूषित होने योग्य थे, उन सब अंगों पर मैल चढ़ा हुआ था। वह इस समय कीचड़ से लिसी कुमुदनी की तरह जान पड़ती थी ॥ ६ ॥

समीपं राजसिंहस्य रामस्य विदितात्मनः ।
सङ्कल्पहयसंयुक्तैर्यान्तीमिव मनोरथैः ॥ ७ ॥

मानों उस समय वह मनोरथों के सङ्कल्प रूपी घोड़ों पर सवार हो, प्रसिद्ध राजसिंह श्रीरामचन्द्र जी के पास जा रही थी ॥ ७ ॥

शुष्यन्तीं रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम् ।
दुःखस्यान्तमपश्यन्तीं रामां राममनुव्रताम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान करते करते और शोक से विकल होने के कारण उसका शरीर सूख कर काँटा हो रहा था। वह बराबर रो रही थी। उसको दुःख रूपी सागर का ओर छोर नहीं देख पड़ता था। वह केवल राम ही का ध्यान लगाये हुए थी॥ ८॥

वेष्टमानां तथाऽऽविष्टां पन्नगेन्द्रवधूमिव ।
धूप्यमानां ग्रहेणेव रोहिणीं धूमकेतुना ॥ ९ ॥

वह मन्त्रमुग्धा सर्पिणी की तरह छटपटा रही थी, मानों रोहिणी धूमकेतु के ताप से सन्तप्त हो रही हो॥ ९॥

वृत्तशीलकुले जातामाचारवति धार्मिके ।
पुनः संस्कारमापन्नां जातामिव च दुष्कुले ॥ १० ॥

दृढ़-स्वभाव-सम्पन्न, समयानुकूल-आचारवान् और यज्ञादि धर्मानुष्ठान-प्रधान-कुल में उत्पन्न हो कर तथा उस कुल के योग्य ही विवाहसंस्कार से संस्कारित हो कर भी, इस समय वह लङ्कापुरी में रहने के कारण, राक्षसकुलोत्पन्न जैसी जान पड़ रही है॥ १०॥

सन्नामिव महाकीर्त्तिं श्रद्धामिव विमानिताम् ।
*प्रज्ञामिव परिक्षीणामाशां प्रतिहतामिव ॥ ११ ॥

उस समय सीता ऐसी जान पड़ती थी, जैसे निन्दित कीर्त्ति, अनादृत विश्वास, क्षीणबुद्धि, अथवा टूटी हुई आशा॥ ११॥

आयतीमिव विध्वस्तामाज्ञां प्रतिहतामिव ।
दीप्तामिव दिशं काले पूजामपहृतामिव ॥ १२ ॥

* पाठान्तरे—"पूजामिव ।"

अथवा घटी हुई आमदनी, उल्लङ्घन की हुई आज्ञा, उल्कापात के समय जलती हुई दिशाएँ, अथवा नष्ट हुई पूजा की सामग्री ॥ १२ ॥

पद्मिनीमिव विध्वस्तां हतशूरां चमूमिव ।
प्रभामिव तमोध्वस्तामुपक्षीणामिवापगाम् ॥ १३ ॥

अथवा मसली हुई कुमुदनी, नष्ट शूरों की सेना, अन्धकाराच्छन्न प्रभा, सूखी हुई नदी ॥ १३ ॥

वेदीमिव परामृष्टां शान्तामग्निशिखामिव ।
पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तेन्दुमण्डलाम् ॥ १४ ॥

अथवा अस्पृश्यों के स्पर्श द्वारा भ्रष्ट हुई यज्ञवेदी, बुझी हुई आग, राहुग्रसित चन्द्रमण्डल से युक्त पूर्णमासी की रात ॥ १४ ॥

उत्कृष्टपर्णकमलां वित्रासितविहङ्गमाम् ।
हस्तिहस्तपरामृष्टामाकुलां पद्मिनीमिव ॥ १५ ॥

अथवा टूटी हुई पंखड़ियों का कमल, भयभीत पक्षी और हाथी की सूँड़ से खलबलाई हुई कमलयुक्त पुष्करिणी ॥ १५ ॥

पतिशोकातुरां शुष्कां नदीं विस्रावितामिव ।
परया मृजया हीनां कृष्णपक्षनिशामिव ॥ १६ ॥

सीता जी श्रीरामचन्द्र जी के वियोग-जन्य-शोक से आतुर हो, ऐसी सूख गयी हैं, जैसे टूटे हुए बांध की नदी जल इधर उधर बह जाने से सूख जाती है। शरीर में उबटन आदि न लगाने से जानकी जी कृष्णपक्ष की रात की तरह कालीकलूटी सी जान पड़ती हैं ॥ १६ ॥

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ।
तप्यमानामिवोष्णेन मृणालीमचिरोद्धृताम् ॥ १७ ॥

सुकुमारी और सुन्दर अंगोंवाली एवं रत्नजटित घर में रहने योग्य जानकी, इस समय दुःख से सन्तप्त ऐसी कुम्हलायी हुई जान पड़ती है, जैसे हाल की उखड़ी हुई कमलिनी घाम के ताप से तप्त हो कुम्हला गयी हो ॥ १७ ॥

*गृहीतां लाडितां स्तम्भे यूथपेन विनाकृताम् ।
निःश्वसन्तीं सुदुःखार्तां गजराजवधूमिव ॥ १८ ॥

जिस प्रकार हथिनी पकड़ कर खूँटे में बांध दी जाती और वह अपने यूथपति के वियोग में अत्यन्त दुःखी हो, बारंबार उसांसे लेती है, उसी प्रकार सीता जो उस समय अत्यन्त विकल हो लंबी सांसे ले रही थी ॥ १८ ॥

एकया दीर्घया वेण्या शोभमानामयत्नतः ।
नीलया नीरदापाये वनराज्या महीमिव ॥ १९ ॥

बिना सम्हाली एक वेणी (चोटी) उनकी पीठ पर वैसे ही शोभायमान है ; जैसे वर्षाकाल में नीले रंग की वनश्रेणी से पृथिवी शोभित होती है ॥ १९ ॥

उपवासेन शोकेन ध्यानेन च भयेन च ।
परिक्षीणां कृशां दीनामल्पाहारां[1] तपोधनाम् ॥ २० ॥

---

१ अल्पाहारां—तोयमात्राहारामित्यर्थः । (गो०) * पाठान्तरे—
" गृहीतामालितां " ।

उपास, शोक, चिन्ता और भय के कारण सीता जी का शरीर बिलकुल दुबला पतला हो रहा है। वे केवल जलमात्र पी कर शरीर को तपा रही हैं, अर्थात कष्ट दे रही हैं ॥ २० ॥

आयाचमानां दुःखार्तां प्राञ्जलिं देवतामिव ।
भावेन रघुमुख्यस्य दशग्रीवपराभवम् ॥ २१ ॥

और दुःख से विकल हो, इष्टदेवता की तरह हाथ जोड़ कर, मानों रघुवंशियों में प्रधान श्रीरामचन्द्र जी से रावण के पराजय की प्रार्थना कर रही हैं ॥ २१ ॥

[1] समीक्षमाणां रुदतीमनिन्दितां
सुपक्ष्मताम्रायतशुक्ललोचनाम् ।
अनुव्रतां राममतीव मैथिलीं
प्रलोभयामास वधाय रावणः ॥ २२ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

निन्द्रारहित सीता जी रो रो कर श्रेष्ठ पलकों से युक्त, अरुणप्रान्त-भूषित, श्वेत विशाल नेत्रों से, अपनी रक्षा के लिये इधर उधर दृष्टि डालती हुई, अपने रक्षक को देख रही थीं और रावण श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी पतिव्रता भार्या सीता को लालच दिखला कर, मानों अपने लिये मृत्यु को आमंत्रण दे रहा था ॥ २२ ॥

सुन्दरकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा ।

—*—

---

१ समीक्षमाणं—रक्षकं समीक्षमाणां । (गो०)

विंशः सर्गः

—*—

स तां पतिव्रतां दीनां निरानन्दां तपस्विनीम् ।
साकारैर्मधुरैर्वाक्यैर्न्यदर्शयत रावणः ॥ १ ॥

रावण सङ्केतों और मधुर वचनों से राक्षसियों से घिरी हुई दीनभाव को प्राप्त दुःखिनी और तपस्विनी सीता को लुभाने लगा ॥ १ ॥

मां दृष्ट्वा नागनासोरु गूहमाना स्तनोदरम् ।
अदर्शनमिवात्मानं भयान्नेतुं त्वमिच्छसि ॥ २ ॥

रावण ने कहा—हे सुन्दरी ! तू मुझे देख कर अपने उदर और स्तनों को ढक कर, भयभीत हो, अपने सारे शरीर को छिपाना चाहती है ॥ २ ॥

कामये त्वां विशालाक्षि बहुमन्यस्व मां प्रिये ।
सर्वाङ्गगुणसम्पन्ने सर्वलोकमनोहरे ॥ ३ ॥

हे विशालाक्षी ! हे प्रिये ! मैं तुझे चाहता हूँ; अतः तू भी मुझे अच्छी तरह मान । तेरे सब अङ्ग सुन्दर हैं; अतः तू सब का मन हरने वाली है ॥ ३ ॥

नेह केचिन्मनुष्या वा राक्षसाः कामरूपिणः ।
व्यपसर्पतु ते सीते भयं मत्तः समुत्थितम् ॥ ४ ॥

हे सीते ! इस समय यहाँ न तो कोई मनुष्य है और न कामरूपी कोई राक्षस ही है । (फिर तू डरती किससे है ?) यदि तुझे मुझसे डर लगता हो तो, इस भय को तू त्याग दे ॥ ४ ॥

स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वथैव न संशयः ।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा ॥ ५ ॥

हे भीरु ! निस्सन्देह राक्षसों का यह सदा का धर्म है, कि, पराई स्त्री से सम्भोग करना अथवा पराई स्त्री को बरजोरी हर लाना ॥ ५ ॥

एवं चैतदकामां तु न त्वां स्प्रक्ष्यामि मैथिलि ।
कामं कामः शरीरे मे यथाकामं प्रवर्तताम् ॥ ६ ॥

तिस पर भी यदि तू न चाहेगी तो मैं तुझे न छुऊँगा । भले ही कामदेव मुझे खूब सतावे ॥ ६ ॥

देवि नेह भयं कार्यं मयि विश्वसिहि प्रिये ।
प्रणयस्व च तत्त्वेन मैवं भूः शोकलालसा ॥ ७ ॥

हे देवि ! यहाँ तू डरे मत और मुझमें विश्वास कर । हे प्रिये ! मुझसे तू ठीक ठीक (यथार्थ) प्रेम कर और इस प्रकार तू शोक से विकल मत हो ॥ ७ ॥

एकवेणी धराशय्या ध्यानं मलिनमम्बरम् ।
अस्थानेऽप्युपवासश्च नैतान्यौपयिकानि ते ॥ ८ ॥

एक वेणी धारण करना, विना विछौने की भूमि पर सोना, मैले कपड़े पहिनना और अनावश्यक उपवास करना ; तुझको शोभा नहीं देता ॥ ८ ॥

विचित्राणि च माल्यानि चन्दनान्यगुरूणि च ।
विविधानि च वासांसि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ९ ॥
महार्हाणि च पानानि शयनान्यासनानि च ।
गीतं नृत्यं च वाद्यं च लभ मां प्राप्य मैथिलि ॥ १० ॥

हे मैथिली! मेरे पास रह कर, रंगबिरंगे फूलों की मालाएँ पहिन, चन्दन और अगर शरीर में लगा, विविध प्रकार के सुन्दर कपड़े और गहने पहिन, बढ़िया बढ़िया शराबें पी, अच्छे अच्छे पलंगों पर सो, बढ़िया बढ़िया आसनों पर बैठ और गाना, बजाना सुन और नाचना देख ॥ ९ ॥ १० ॥

स्त्रीरत्नमसि मैवं भूः कुरु गात्रेषु भूषणम् ।
मां प्राप्य हि कथं नु स्यास्त्वमनर्हा सुविग्रहे ॥ ११ ॥

तू तो स्त्रियों में एक रत्न है। अतएव ऐसा शृङ्गारहीन वेष मत बना; बल्कि अपने शरीर के अलंकृत कर। हे सुन्दरी! मुझे पा कर भी तू क्यों अपने शृङ्गार करने योग्य शरीर की ऐसी ख़राबी कर रही है॥ ११ ॥

इदं ते चारु सञ्जातं यौवनं व्यतिवर्तते ।
यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः शीघ्रमपामिव ॥ १२ ॥

तेरी यह सुन्दर उठती हुई जवानी बीती जा रही है। यह जवानी नदी की धार की तरह है, जो एक बार बह गयी, वह फिर लौट कर नहीं आ सकती ॥ १२ ॥

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वसृक् ।
न हि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति शुभदर्शने ॥ १३ ॥

हे सुन्दरी! जान पड़ता है, रूप रचने वाले ब्रह्मा ने तुझको रच-कर, फिर रचना करना ही त्याग दिया है। क्योंकि तेरे समान रूपवती स्त्री और कोई नहीं दीख पड़ती ॥ १३ ॥

त्वां समासाद्य वैदेहि रूपयौवनशालिनीम् ।
कः पुमानतिवर्तेत साक्षादपि पितामहः ॥ १४ ॥

हे वैदेही! तेरी जैसी सुन्दरी युवती को पा कर कौन ऐसा होगा, जिसका मन कुमार्ग में न जाय। और की बात ही क्या, (तुझे देख) ब्रह्मा जी भी कुपथगामी हो जायँ॥ १४॥

यद्यत्पश्यामि ते गात्रं शीतांशुसदृशानने।
तस्मिंस्तस्मिन्पृथुश्रोणि चक्षुर्मम निबध्यते॥ १५॥

हे चन्द्रमुखी! मैं तेरे शरीर के जिस जिस अङ्ग पर दृष्टि डालता हूँ, उसी उसी अङ्ग में मेरी आँख जाकर फँस जाती है॥१५॥

भव मैथिलि भार्या मे मोहमेनं विसर्जय।
बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः॥ १६॥
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव।
लोकेभ्यो यानि रत्नानि सम्प्रमथ्याहृतानि वै॥ १७॥
तानि मे भीरु सर्वाणि राज्यं चैतदहं च ते।
विजित्य पृथिवीं सर्वां नानानगरमालिनीम्॥ १८॥
जनकाय प्रदास्यामि तव हेतोर्विलासिनि।
नेह पश्यामि लोकेऽन्यं यो मे प्रतिबलो भवेत्॥ १९॥

हे मैथिली! तू अब मेरी पत्नी बन जा। मैं जो इधर उधर से अनेक उत्तमोत्तम स्त्रियाँ ले आया हूँ; तू उन सब की मुख्य पटरानी बन जा और अब इस मोह को त्याग दे। मैं अनेकों लोकों को जीत कर जो रत्न लाया हूँ, उन सब रत्नों को तथा अपने समस्त राज्य को मैं तुझे देता हूँ। हे विलासिनी! मैं तेरे लिये, नाना नगरों से भरी यह अखिल पृथिवी जीत कर, तेरे पिता जनक को दे दूँगा। मैं इस जगत में किसी को ऐसा नहीं देखता जो मेरा सामना कर सके॥ १६॥ १७॥ १८॥ १९॥

पश्य मे सुमहद्वीर्यमप्रतिद्वन्द्वमाहवे ।
असकृत्संयुगे भग्ना मया विमृदितध्वजाः ॥ २० ॥

अशक्ताः प्रत्यनीकेषु स्थातुं मम सुरासुराः ।
*इच्छमां क्रियतामद्य [1]प्रतिकर्म तवोत्तमम् ॥ २१ ॥

युद्ध सम्बन्धी मेरे अत्यन्त बल पराक्रम को देख । युद्ध में मैंने सुर असुरों को बारंबार पराजित कर, उनकी ध्वजाएँ तोड़ गिरायी हैं । सुर और असुरों की सेना में मेरे सामने खड़ा रह सके, ऐसा कोई भी नहीं है । हे देवी ! तू मुझे अब अङ्गीकार कर, जिससे तेरा भली भाँति श्रृङ्गार कराया जाय ॥ २० ॥ २१ ॥

समभाण्यवसज्यन्तां तवाङ्गे भूषणानि च ।
साधु पश्यामि ते रूपं संयुक्तं प्रतिकर्मणा ॥ २२ ॥

और सुन्दर चमचमाते गहनों से तेरे अंग सजाये जायँ । मेरी इच्छा है कि, मैं तेरे श्रृङ्गार किये हुए रूप को देखूँ ॥ २२ ॥

प्रतिकर्माभिसंयुक्ता दाक्षिण्येन वरानने ।
भुङ्क्ष्व भोगान्यथाकामं पिब भीरु रमस्व च ॥ २३ ॥

हे सुन्दरी ! तू अपने शरीर को बहुत अच्छी तरह भूषित कर । हे भीरु ! इच्छानुसार भोगों को भोग और मदिरा पान कर मेरे साथ रमण कर ॥ २३ ॥

यथेष्टं च प्रयच्छ त्वं पृथिवीं वा धनानि च ।
†रमस्व मयि विस्रब्धा धृष्टमाज्ञापयस्व च ॥ २४ ॥

---

[1] प्रतिकर्म—अलङ्कारः । (गो०) * पाठान्तरे—" इच्छया " ।
† पाठान्तरे—" ललस्व " ।

तू जितना चाहे उतना धन या पृथिवी जिसको चाहे उसको दे डाल। मेरा विश्वास कर, मेरे साथ विहार कर और निस्सङ्कोच भाव से मुझे आज्ञा दिया कर ॥ २४ ॥

मत्प्रसादाल्ललन्त्याश्च ललन्तां बान्धवास्तव ।
ऋद्धिं ममानुपश्य त्वं श्रियं भद्रे यशश्च मे ॥ २५ ॥

मुझे प्रसन्न करने से केवल तेरी ही अभीष्ट सिद्धि न होगी; बल्कि तेरे बन्धुजनों की भी इच्छाएँ पूरी होती रहेंगी। हे भद्रे! तू मेरी ऋद्धि, धन और कीर्ति को तो देख ॥ २५ ॥

किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवाससा ।
निक्षिप्तविजयो रामो गतश्रीर्वनगोचरः ॥ २६ ॥

हे सुभगे! चीर-वल्कल-धारी राम को ले कर तू क्या करेगी? राम तो हारा हुआ है, श्रीभ्रष्ट है और वन में रहा करता है ॥ २६ ॥

व्रती स्थण्डिलशायी च शङ्के जीवति वा न वा ।
न हि वैदेहि रामस्त्वां द्रष्टुं वाप्युपलप्स्यते ॥ २७ ॥

वह केवल व्रतधारी है और ज़मीन पर सोया करता है। मुझे उसके अब तक जीवित रहने में भी सन्देह है। हे वैदेहि! राम से तेरा मिलना तो बात ही और है, तू अब उसे देख भी नहीं सकती ॥ २७ ॥

पुरोवलाकैरसितैर्मेघैर्ज्योत्स्नामिवावृताम् ।
न चापि मम हस्तात्त्वां प्राप्तुमर्हति राघवः ॥ २८ ॥

हे वैदेही! जिस प्रकार बगलों की पंक्ति मेघाच्छादित चाँदनी को नहीं देख सकती; उसी प्रकार रामचन्द्र भी अब तुझको

नहीं देख सकते। रामचन्द्र मेरे हाथ से तुझको वैसे ही अब ले भी नहीं सकते, ॥ २८ ॥

हिरण्यकशिपुः कीर्त्तिमिन्द्रहस्तगतामिव ।
चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ॥ २९ ॥

जैसे हिरण्यकशिपु इन्द्र के हाथ में गयी कीर्त्ति को नहीं पा सका। हे सुन्दर दाँतों वाली! हे चारुहासिनी! हे सुन्दरनयनी! हे विलासिनी! ॥ २६ ॥

मनो हरसि मे भीरु सुपर्णः पन्नगं यथा ।
क्लिष्टकौशेयवसनां तन्वीमप्यनलंकृताम् ॥ ३० ॥

हे भीरु! तू मेरे मन को उसी प्रकार हर रही है; जिस प्रकार गरुड़ साँप को हरता है। यद्यपि तू केवल एक पुरानी रेशमी साड़ी पहिने हुए है, शरीर से अत्यन्त दुबली है और तेरे शरीर पर गहने भी नहीं है; ॥ ३० ॥

त्वां दृष्ट्वा स्वेषु दारेषु रतिं नोपलभाम्यहम् ।
अन्तःपुरनिवासिन्यः स्त्रियः सर्वगुणान्विताः ॥ ३१ ॥

यावन्त्यो मम सर्वासामैश्वर्यं कुरु जानकि ।
मम ह्यसितकेशान्ते त्रैलोक्यप्रवराः स्त्रियः ॥ ३२ ॥

तथापि तुझे देख कर, अपनी सुन्दरी स्त्रियों में प्रेम करने को मेरा मन नहीं करता। सर्वगुणआगरी मेरे रनवास की जितनी स्त्रियाँ हैं; तू उन सब की स्वामिनी बन जा। हे काले काले केशों वाली! मेरे रनवास में तीनों लोकों की सुन्दरी स्त्रियाँ हैं। ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

तास्त्वः परिचरिष्यन्ति श्रियमप्सरसो यथा।
यानि वैश्रवणे सुभ्रु रत्नानि च धनानि च।
तानि लोकांश्च सुश्रोणि मां च भुङ्क्ष्व यथासुखम् ॥३३॥

वे सब तेरी वैसे ही टहल करेंगी, जैसे लक्ष्मी जी की अप्सराएँ टहल किया करती हैं। हे सुभगे! कुबेर का जो कुछ धन और रत्न हैं, उन सब को तथा समस्त लोकों के सुख को मेरे साथ इच्छानुसार भोग ॥ ३३ ॥

न रामस्तपसा देवि न बलेन न विक्रमैः।
न धनेन मया तुल्यस्तेजसा यशसाऽपि वा ॥ ३४ ॥

हे देवी! तप, बल, पराक्रम, धन, तेज और यश में राम मेरी बराबरी नहीं कर सकता ॥ ३४ ॥

पिब विहर रमस्व भुङ्क्ष्व भोगान्-
धननिचयं प्रदिशामि मेदिनीं च।
मयि लल ललने यथासुखं त्वं
त्वयि च समेत्य ललन्तु बान्धवास्ते ॥ ३५ ॥

तू मज़े में शराब पी, विहार कर, क्रीड़ा कर, तथा सुखों का उपभोग कर। ढेर का ढेर धन और यह पृथिवी मैं तुझे देता हूँ। हे ललने! तू भी मेरे साथ मन माना सुख भोग और तेरे साथ साथ तेरे बन्धुजन भी सुख भोगें ॥ ३५ ॥

कुसुमिततरुजालसन्ततानि
भ्रमरयुतानि समुद्रतीरजानि।

कनकविमलहारभूषिताङ्गी
विहर मया सह भीरु काननानि ॥ ३६ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

हे सुन्दर-सुवर्ण-हार से भूषित अङ्ग वाली ! हे भीरु ! तू मेरे साथ, पुष्पित वृक्षों से भरे हुए तथा भौंरों से युक्त समुद्रतीरवर्ती वनों में विहार कर ॥ ३६ ॥

सुन्दरकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—*—

एकविंशः सर्गः

—*—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सीता रौद्रस्य रक्षसः ।
आर्ता दीनस्वरा दीनं प्रत्युवाच शनैर्वचः ॥ १ ॥

उस भयङ्कर रावण के यह वचन सुन कर, विकल और दीन हो कर, सीता उत्तर में रावण से धीरे धीरे बोली ॥ १ ॥

दुःखार्ता रुदती सीता वेपमाना तपस्विनी ।
चिन्तयन्ती वरारोहा पतिमेव पतिव्रता ॥ २ ॥

दुःख से विकल रोती हुई तथा थरथराती हुई सुन्दरी तपस्विनी सीता अपने पातिव्रतधर्म की रक्षा के लिये चिन्ता कर, श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण करती हुई ॥ २ ॥

तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता ।
निवर्तय मनो मत्तः स्वजने क्रियतां मनः ॥ ३ ॥

अपने और रावण के बीच में तिनके को आड़ कर और मुसकुराती सी जान पड़ती हुई रावण से बोली। हे रावण! मेरी ओर से अपने मन को फेर कर अपनी स्त्रियों में उसे लगा॥ ३॥

न मां प्रार्थयितुं युक्तं सुसिद्धिमिव पापकृत्।
अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम्॥ ४॥

क्योंकि मैं तेरे चाहने योग्य नहीं हूँ जैसे सिद्धि, पापिष्ठ जन द्वारा चाहने योग्य नहीं होती। मैं पतिव्रत धर्म पालन करने वाली हूँ। अतः मैं ऐसा कार्य नहीं कर सकती॥ ४॥

कुलं सम्प्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया।
एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी॥ ५॥

मैं उच्च कुल में उत्पन्न हो कर पवित्र कुल में ब्याही गयी हूँ। अतः मैं ऐसा गर्हित कार्य नहीं कर सकती। उस यशस्विनी ने रावण से इस प्रकार कह,॥ ५॥

राक्षसं पृष्ठतः कृत्वा भूयो वचनमब्रवीत्।
नाहमौपयिकी भार्या परभार्या सती तव॥ ६॥

और उसकी ओर अपनी पीठ फेर फिर कहने लगी। हे रावण! मैं सती स्त्री हूँ, मैं तेरी उपयुक्त स्त्री नहीं हो सकती॥ ६॥

साधु धर्ममवेक्षस्व साधु साधुव्रतं चर।
यथा तव तथाऽन्येषां दारा रक्ष्या निशाचर॥ ७॥

तुझे उचित है कि, सद्धर्म और सद्व्रत के अनुकूल आचरण कर। जिस प्रकार अपनी स्त्री की रक्षा करनी चाहिये, वैसे ही पराई स्त्री की भी रक्षा करनी उचित है॥ ७॥

आत्मानमुपमां कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम् ।
अतुष्टं स्वेषु दारेषु चपलं चलितेन्द्रियम् ॥ ८ ॥

अतः अपने दृष्टान्त को आगे रख तू अपनी ही स्त्रियों में रमण कर। क्योंकि जो चञ्चल मन कर के और अपनी इन्द्रियों को चलायमान कर, अपनी स्त्रियों के साथ रमण कर, सन्तुष्ट नहीं होता ॥८॥

नयन्ति निकृतिप्रज्ञं परदाराः पराभवम् ।
इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे ॥ ९ ॥

ऐसे खोटी नीति पर चलने वाले मनुष्य को पराई स्त्रियाँ नष्ट कर डालती हैं। क्या यहाँ सज्जनजन नहीं रहते अथवा तू सज्जनों का सहवास पसंद नहीं करता ॥ ९ ॥

तथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता ।
वचो मिथ्याप्रणीतात्मा पथ्यमुक्तं विचक्षणैः ॥ १० ॥

क्योंकि यदि उनके साथ तेरा संसर्ग हुआ होता, तो तेरी ऐसी सदाचारहीन बुद्धि कभी न होती। या सज्जनों के हितकर वचनों को मिथ्या समझ, ॥ १० ॥

राक्षसानामभावाय त्वं वा न प्रतिपद्यसे ।
अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ॥ ११ ॥

तू कहीं राक्षसों का नाश करने पर तो नहीं तुला हुआ है। हितोपदेश को न सुनने वाले तथा अनीति करने में रत रहने वाले राजा के होने से ॥ ११ ॥

समृद्धानि विनश्यन्ति राष्ट्राणि नगराणि च ।
तथेयं त्वां समासाद्य लङ्का रत्नौघसङ्कुला ॥ १२ ॥

भरेपूरे राज्यों और नगरों का नाश हो जाता है। अतः जान पड़ता कि, रत्नों से भरी पूरी इस लङ्का का ॥ १२ ॥

अपराधात्तवैकस्य न चिराद्विनशिष्यति ।
स्वकृतैर्हन्यमानस्य रावणादीर्घदर्शिनः ॥ १३ ॥

अभिनन्दन्ति भूतानि विनाशे पापकर्मणः ।
एवं त्वां पापकर्माणं वक्ष्यन्ति निकृता[1] जनाः ॥ १४ ॥

तेरे अकेले के दोष से नाश होने वाला है। हे रावण! दूरदर्शिता के अभाव से किये हुए अपने पापों से जो पापी नष्ट होता है, उसका नाश देख कर प्राणी मात्र प्रसन्न होते हैं। इसी तरह तुझ पापी को मरा देख वे लोग जिनको तूने धोखा दिया है, यह कहेंगे ॥ १३ ॥ १४ ॥

दिष्ट्यैतद्व्यसनं प्राप्तो रौद्र इत्येव हर्षिताः ।
शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा ॥ १५ ॥

कि, बड़े हर्ष की बात है जो यह दुष्ट रावण ऐसी विपत्ति में पड़ा है। हे रावण! तू यदि मुझे अपना ऐश्वर्य या धन का लालच दिखला लुभाना चाहे, तो मैं लालच में फँसने वाली नहीं ॥ १५ ॥

अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा ।
उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम् ॥ १६ ॥

कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित् ।
अहमौपयिकी[2] भार्या तस्यैव वसुधापतेः ॥ १७ ॥

---

१ निकृताः—त्वया वञ्चिताः। (गो०) २ औपयिकी—उचिता। (गो०)

जिस प्रकार सूर्य की प्रभा सूर्य को छोड़ कर, अन्य किसी की अनुगामिनी नहीं हो सकती, उसी प्रकार मैं भी श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ कर और किसी की नहीं हो सकती। उन लोकनाथ श्रीरामचन्द्र जी की भुजा को आदर पूर्वक अपने सिर के नीचे रख, मैं अब क्योंकर किसी अन्य पुरुष की भुजा को तकिया बना सकती हूँ। मैं तो उन्हीं महाराज श्रीरामचन्द्र जी की उपयुक्त भार्या हूँ ॥१६॥१७॥

व्रतस्नातस्य धीरस्य विद्येव विदितात्मनः।
साधु रावण रामेण मां समानय दुःखिताम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार ब्रह्म-विद्या, व्रत-स्नायी ब्राह्मण ही के योग्य हो सकती है, उसी प्रकार मैं भी उन जगत्प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र जी की ही पत्नी हो सकती हूँ। हे रावण! यदि तू अपना भला चाहता हो तो तू मुझ दुखिया को अब श्रीरामचन्द्र जी से मिला दे ॥ १८ ॥

वने वासितया सार्धं करेण्वेव गजाधिपम्।
मित्रमौपयिकं कर्तुं रामः स्थानं परीप्सता ॥ १९ ॥
वधं चानिच्छता घोरं त्वयाऽसौ पुरुषर्षभः।
*विदितः स हि †धर्मात्मा शरणागतवत्सलः ॥ २० ॥

क्योंकि जैसे वन में बिछुड़ी हुई हथिनी हाथी को पा कर ही आनन्दित होती है। (वैसे ही मैं श्रीराम को पा कर ही प्रसन्न हो सकती हूँ।) हे रावण! यदि तू लङ्का बचाना चाहता है और तुझे अपना मरना अभीष्ट नहीं है; तो तुझे चाहिये कि, तू श्रीरामचन्द्र जी को अपना मित्र बना ले। देख, श्रीरामचन्द्र जी धर्मात्मा और शरणागतवत्सल के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

---

* पाठान्तरे—"विदिता तत्र धर्मात्मा।" † पाठान्तरे—"धर्मज्ञः।"

तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ।
प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम् ॥ २१ ॥

(मैं चाहती हूँ कि,) तेरी उनके साथ मैत्री हो जाय। यदि तुझे अपने प्राण प्यारे हैं, तो उन शरणागतवत्सल श्रीरामचन्द्र जी को मना ले ॥ २१ ॥

मां चास्मै प्रयतो भूत्वा निर्यातयितुमर्हसि ।
एवं हि ते भवेत्स्वस्ति सम्प्रदाय रघूत्तमे ॥ २२ ॥

और विनयपूर्वक मुझे उनको सौंप दे। श्रीरामचन्द्र जी को मुझे दे देने ही से तेरा कल्याण होगा ॥ २२ ॥

अन्यथा त्वं हि कुर्वाणो वधं प्राप्स्यसि रावण ।
वर्जयेद्वज्रमुत्सृष्टं वर्जयेदन्तकश्चिरम् ॥ २३ ॥

त्वद्विधं तु न संक्रुद्धो लोकनाथः स राघवः ।
रामस्य धनुषः शब्दं श्रोष्यसि त्वं महास्वनम् ॥ २४ ॥

शतक्रतुविसृष्टस्य निर्घोषमशनेरिव ।
इह शीघ्रं सुपर्वाणो ज्वलितास्या इवोरगाः ॥ २५ ॥

यदि तूने ऐसा न किया तो हे रावण! तू मारा जायगा। क्योंकि तुझ जैसा पापी, इन्द्र के चलाये हुए वज्र से भले ही बच जाय, और भले ही मृत्यु भी बहुत काल तक तुझे जीता छोड़ दे, किन्तु लोकनाथ श्रीरामचन्द्र जी तुझे बिना मारे नहीं छोड़ेंगे। हे रावण! तू शीघ्र ही इन्द्र के वज्र के समान श्रीरामचन्द्र जी के धनुष की टङ्कार का महाशब्द सुनेगा। इस लङ्का में बड़े फलवाले, ज्वलितमुख सर्पों की तरह, ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

इषवो निपतिष्यन्ति रामलक्ष्मणलक्षणाः ।
रक्षांसि परिनिघ्नन्तः पुर्यामस्यां समन्ततः ॥ २६ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण के नाम से अंकित बाण, लङ्कापुरी में चारों ओर गिरेंगे और राक्षसों को मारेंगे ॥ २६ ॥

असम्पातं करिष्यन्ति पतन्तः कङ्कवाससः ।
राक्षसेन्द्रमहासर्पान्स रामगरुडो महान् ॥ २७ ॥

वे कङ्कपत्रों से भूषित बाण जब यहाँ गिरेंगे, तब लङ्का में तिल बराबर भी जगह बाणों से शून्य न रह जायगी। हे रावण! राक्षस रूपी महासर्पों का श्रीराम रूपी महागरुड़ ॥ २७ ॥

उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान् ।
अपनेष्यति मां भर्ता त्वत्तः शीघ्रमरिन्दमः ॥ २८ ॥

उसी प्रकार वेग पूर्वक नष्ट कर डालेंगे, जैसे गरुड़ सर्प को। शत्रुओं को दमन करने वाले मेरे पति, अविलंब मुझे तेरे हाथ से वैसे ही छुड़ा ले जायंगे ॥ २८ ॥

असुरेभ्यः श्रियं दीप्तां विष्णुस्त्रिभिरिव क्रमैः ।
जनस्थाने हतस्थाने निहते रक्षसां बले ॥ २९ ॥

जैसे त्रिविक्रम भगवान ने तीन पैर से नाप कर, दैत्यों के हाथ से देवताओं की राज्यलक्ष्मी को छुड़ाया था। हे रावण! तेरे उस जनस्थान में, जिसका अब नाम निशान तक नहीं रह गया, जब श्रीराम ने तेरी राक्षसी सेना को नाश किया था ॥ २९ ॥

अशक्तेन त्वया रक्षः कृतमेतदसाधु वै ।
आश्रमं तु तयोः शून्यं प्रविश्य नरसिंहयोः ॥ ३० ॥

गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाऽधम ।
न हि गन्धमुपाघ्राय रामलक्ष्मणयोस्त्वया ॥ ३१ ॥
शक्यं सन्दर्शने स्थातुं शुना शार्दूलयोरिव ।
तस्य ते विग्रहे ताभ्यां [1]युगग्रहणमस्थिरम्[2] ॥ ३२ ॥

तब तुझसे कुछ भी करते धरते न बन पड़ा। किन्तु पीछे उन नरसिंहों की अनुपस्थिति में शून्य आश्रम में जा, तू मुझे चुरा लाया। जिस प्रकार कुत्ता सिंह की गन्ध पाकर उसके सन्मुख खड़ा नहीं रह सकता ; उसी प्रकार तू भी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सामने नहीं ठहर सकता। उनसे युद्ध छिड़ने पर तेरा उनसे जीतना असम्भव है ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

वृत्रस्येवेन्द्रबाहुभ्यां बाह्वोरेकस्य निग्रहः ।
क्षिप्रं तव स नाथो मे रामः सौमित्रिणा सह ।
तोयमल्पमिवादित्यः प्राणानादास्यते शरैः ॥ ३३ ॥

जिस तरह एक भुजा वाले वृत्रासुर को जीतने में इन्द्र को कुछ भी कठिनाई नहीं हुई ; उसी तरह मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण सहित, शीघ्र ही अपने बाणों से तेरे प्राणों को वैसी ही हर लेंगे ; जैसे सूर्य को थोड़ासा पानी सोखने में देर नहीं लगती ॥३३॥

गिरिं कुबेरस्य *गतोऽथ वालयं
सभां गतो वा वरुणस्य राज्ञः ।

---

१ युगग्रहणं—जयग्रहणं । (गो०) २ अस्थिरं—असंभावितं । (गो०)
२ कुबेरस्यगिरिं—कैलासं । (गो०) * पाठान्तरे—"गतोपधाय वा सभां ।"

असंशयं दाशरथेर्न मोक्ष्यसे ।
महाद्रुमः कालहतोऽशनेरिव ॥ ३४ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

हे रावण! चाहे तू कुबेर के पर्वत पर, (यानी कैलास) अथवा उसके घर में अथवा वरुण की सभा ही में क्यों न जा छिपे, तो भी तू अब श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से उसी प्रकार नहीं बच सकता; जिस प्रकार काल को प्राप्त महाद्रुम, इन्द्र के वज्र से नहीं बच सकता॥ ३४ ॥

सुन्दरकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—※—

द्वाविंशः सर्गः

—※—

सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं राक्षसाधिपः ।
प्रत्युवाच ततः सीतां विप्रियं प्रियदर्शनाम् ॥ १ ॥

सीता जी के यह कठोर वचन सुन, राक्षसराज ने प्रियदर्शन वाली सीता से उत्तर में ये अप्रिय वचन कहे॥ १ ॥

यथा यथा सान्त्वयिता वश्यः स्त्रीणां तथा तथा ।
यथा यथा प्रियं वक्ता परिभूतस्तथा तथा ॥ २ ॥

हे सीते! जैसे जैसे पुरुष स्त्री को समझाता है, वैसे ही वैसे स्त्री उस समझाने वाले पुरुष के वश में हो जाती है। किन्तु मैंने प्रिय वचनों द्वारा जितना तुझे समझाया, तूने उतना ही मेरा तिरस्कार किया॥ २ ॥

सन्नियच्छति मे क्रोधं त्वयि कामः समुत्थितः ।
द्रवतोऽमार्गमासाद्य हयानिव सुसारथिः ॥ ३ ॥

क्या करूँ, मैं तेरे ऊपर आसक्त हूँ, यह आसक्ति ही क्रोध को रोके हुए है, जैसे दौड़ते हुए घोड़ों को सारथी रोके ॥ ३ ॥

वामः[1] कामो मनुष्याणां यस्मिन्किल निबध्यते ।
जने तस्मिंस्त्वनुक्रोशः स्नेहश्च किल जायते ॥ ४ ॥

मनुष्यों के लिये काम सचमुच बड़ा प्रतिकूल है, क्योंकि काम जिसके प्रति उभर आता है, निश्चय ही उसके ऊपर स्नेह और दया उत्पन्न कर देता है ॥ ४ ॥

एतस्मात्कारणान्न त्वां घातयामि वरानने ।
वधार्हामवमानार्हां मिथ्याप्रव्रजिते रताम् ॥ ५ ॥

हे वरानने ! यही कारण है कि, मैं तेरा घात नहीं करता । नहीं तो तू मार डालने और तिरस्कार करने ही योग्य है । उस तपस्वी राम में तेरी प्रीति निपट झूठी है ॥ ५ ॥

परुषाणीह वाक्यानि यानि यानि ब्रवीषि माम् ।
तेषु तेषु वधो युक्तस्तव मैथिलि दारुणः ॥ ६ ॥

तूने मुझसे जैसे जैसे कठोर वचन कहे हैं, उनके लिये तो तेरा मार डालना ही ठीक है ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा तु वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः ।
क्रोधसंरम्भसंयुक्तः सीतामुत्तरमब्रवीत् ॥ ७ ॥

सीता से ऐसा कह कर, क्रोधाविष्ट रावण फिर सीता की बातों का उत्तर देने लगा ॥ ७ ॥

---

[1] वामः—प्रतिकूलः । (गो०)

द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृतः ।
ततः शयनमारोह मम त्वं वरवर्णिनि ॥ ८ ॥

मैंने जो अवधि निश्चित कर दी है, उसमें दो मास अभी शेष हैं, तब तक तो मुझे तेरी रक्षा करनी ही उचित है। अवधि बीतने पर तुझे मेरी सेज पर आना पड़ेगा ॥ ८ ॥

*द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम् ।
मम त्वां प्रातराशार्थमालभन्ते महानसे ॥ ९ ॥

यदि दो मास बीतने पर भी तूने मुझे अपना पति न बनाया, तो मेरे पाचक (बावर्ची) मेरे कलेवे के लिये तेरे टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे ॥ ९ ॥

तां तर्ज्यमानां संप्रेक्ष्य राक्षसेन्द्रेण जानकीम् ।
देवगन्धर्वकन्यास्ता विषेदुर्विकृतेक्षणाः ॥ १० ॥

सीता को रावण द्वारा इस प्रकार धमकायी जाती हुई देख, वे सब देव और गन्धर्व कन्याएँ, जो रावण के साथ आयी थीं, सीता को कनखियों से देख देख, बहुत दुःखी हुईं ॥ १० ॥

ओष्ठप्रकारैरपरा †वक्त्रैर्नेत्रैस्तथाऽपराः ।
सीतामाश्वासयामासुस्तर्जितां तेन रक्षसा ॥ ११ ॥

और कोई अधर, कोई नेत्र और कोई मुख चला कर, रावण से पीड़ित जानकी को धीरज बधाने लगीं ॥ ११ ॥

ताभिराश्वासिता सीता रावणं राक्षसाधिपम् ।
उवाचात्महितं वाक्यं [1]वृत्तशौण्डीर्यगर्वितम् ॥ १२ ॥

---

१ वृत्तं—पातिव्रत्यं, शौण्डीर्यं-बलं। (गो०) * पाठान्तरे—"ऊर्ध्वं द्वाभ्यां।" † पाठान्तरे—"वक्त्रनेत्रैः।"

उनसे आश्वासित सीता, अपने पातिव्रतबल से बलान्वित हो, अपने हित की बात रावण से कहने लगी॥ १२॥

नूनं न ते जनः कश्चिदस्ति निःश्रेयसे स्थितः।
निवारयति यो न त्वां कर्मणोऽस्माद्विगर्हितात्॥ १३॥

हे रावण! मुझे विश्वास हो गया कि, इस लङ्कापुरी में तेरा हितैषी कोई नहीं है, जो तुझे इस गर्हित कर्म करने से रोके॥ १३॥

मां हि धर्मात्मनः पत्नीं शचीमिव शचीपतेः।
त्वदन्यस्त्रिषु लोकेषु प्रार्थयेन्मनसाऽपि कः॥ १४॥

क्योंकि तीनों लोकों में तेरे सिवाय दूसरा कोई भी ऐसा पुरुष न होगा, जो इन्द्र की पत्नी शची की तरह धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी, मुझको चाहने की मन में कल्पना भी करता हो॥ १४॥

राक्षसाधम रामस्य भार्याममिततेजसः।
उक्तवानसि *यत्पापं क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे॥ १५॥

हे राक्षसाधम! अमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी की भार्या से तूने जैसे बुरी बातें कहीं हैं, सो तू अब कहाँ जा कर श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से अपनी रक्षा कर सकेगा॥ १५॥

यथा दृप्तश्च मातङ्गः शशश्च सहितो वने।
तथा द्विरदवद्रामस्त्वं नीच शशवत्स्मृतः॥ १६॥

यद्यपि दर्पित हाथी और खरगोश वन में एक साथ ही रहते हैं तथापि वे बराबर नहीं होते। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी हाथी के समान हैं और तू क्षुद्र खरगोश की तरह है॥ १६॥

---

* पाठान्तरे—" यच्छापं।"

स त्वमिक्ष्वाकुनाथं वै क्षिपन्निह न लज्जसे।
चक्षुषोर्विषयं तस्य न तावदुपगच्छसि ॥ १७ ॥

इक्ष्वाकुनाथ श्रीरामचन्द्र जी की निन्दा करते तुझे लाज नहीं आती। जब तक तू उनके सामने नहीं पड़ता, तब तक तू भले ही तर्जन गर्जन कर ले ॥ १७ ॥

इमे ते नयने क्रूरे विरूपे कृष्णपिङ्गले।
क्षितौ न पतिते कस्मान्मामनार्य निरीक्षतः ॥ १८ ॥

अरे तेरी ये क्रूर टेढ़ी मेंढ़ी काली पीली आँखें, जिनसे तूने मुझे बुरी निगाह से देखा है, क्यों निकल कर पृथिवी पर नहीं गिर पड़तीं ॥ १८ ॥

तस्य धर्मात्मनः पत्नीं स्नुषां दशरथस्य च।
कथं व्याहरतो मां ते *जिह्वा पाप न शीर्यते ॥ १९ ॥

उन धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी और महाराज दशरथ की वधू से तूने जिस जीभ से ऐसी बुरी बातें कही हैं वह जीभ तेरी क्यों गल कर नहीं गिर पड़ती ॥ १९ ॥

असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्।
न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥ २० ॥

हे रावण! मैं चाहूँ तो तुझको अपने पातिव्रत धर्म के प्रभाव से अभी जला कर भस्म कर डालूँ, परन्तु इसके लिये मुझे श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा नहीं है और मैं पातिव्रतधर्म पालन में तत्पर हूँ ॥ २० ॥

---

* पाठान्तरे—"न जिह्वा व्यवशीर्यते।"

नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः ।
विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः ॥ २१ ॥

तेरी यह शक्ति (मजाल) न थी कि, उन श्रीमान् रामचन्द्र जी के रहते, तू मुझे हर लाता । निश्चय जान ले कि, तेरे द्वारा मेरे हरे जाने का विधान विधाता ने तेरे नाश के लिये रचा है ॥ २१ ॥

शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च ।
अपोह्य रामं कस्माद्धि दारचौर्यं त्वया कृतम् ॥ २२ ॥

तू तो अपने को बड़ा शूरवीर लगाता है, कुबेर का भाई बनता है और सब से बढ़ कर अपने को बलवान् समझ रहा है । फिर श्रीरामचन्द्र जी को धोखा दे, तूने स्त्री को क्यों चुराया ? ॥ २२ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।
विवृत्य नयने क्रूरे जानकीमन्ववैक्षत ॥ २३ ॥

राक्षसराज रावण सीता के ऐसे वचन सुन और त्योरी बदल कर, क्रूर कटाक्ष से सीता को घूरने लगा ॥ २३ ॥

नीलजीमूतसङ्काशो महाभुजशिरोधरः ।
सिंहसत्त्वगतिः श्रीमान्दीप्तजिह्वाग्रलोचनः ॥ २४ ॥

उस समय रावण नीलवर्ण वाले बादल की तरह जान पड़ता था । उसकी भुजाएँ बड़ी बड़ी थीं और गर्दन लंबी थी । वह बलवान् सिंह के समान अकड़ कर चला करता था । उसकी जीभ और आँखें बड़ी तेजयुक्त थीं ॥ २४ ॥

चलाग्रमुकुटप्रांशुश्चित्रमाल्यानुलेपनः ।
रक्तमाल्याम्बरधरस्तप्ताङ्गदविभूषणः ॥ २५ ॥

उसके सिर का मुकुट कुछ खसका हुआ था, उसका आकार बहुत बड़ा था। गले में रंग बिरंगे फूलों की माला पहिने हुए था और पैरों में लाल चन्दन लगाये हुए था। वह लाल ही मालाएँ, लाल ही कपड़े और सोने के बाजूबंद भुजाओं में पहिने हुए था ॥ २५ ॥

श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन सुसंवृतः ।
अमृतोत्पादनद्धेन भुजगेनेव मन्दरः ॥ २६ ॥

उसकी कमर में काले रंग का कटिसूत्र लपटा हुआ था; जो समुद्रमथन के समय मेरुपर्वत से लपटे हुए काले सर्प की तरह जान पड़ता था ॥ २६ ॥

*द्वाभ्यां स परिपूर्णाभ्यां भुजाभ्यां राक्षसेश्वरः ।
शुशुभेऽचलसङ्काशः शृङ्गाभ्यामिव मन्दरः ॥ २७ ॥

पर्वत की तरह लंबे डील डौल के राक्षसराज रावण की दोनों भुजाएँ, दो शिखरों से शोभित मंदराचल की तरह शोभित जान पड़ती थीं ॥ २७ ॥

तरुणादित्यवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विभूषितः ।
रक्तपल्लवपुष्पाभ्यामशोकाभ्यामिवाचलः ॥ २८ ॥

मध्यान्ह कालीन सूर्य की तरह चमचमाते कुण्डलों से वह विभूषित था—मानों एक पर्वत लाल पत्र और लाल पुष्प धारी अशोक वृक्षों से शोभायमान हो रहा हो ॥ २८ ॥

स कल्पवृक्षप्रतिमो वसन्त इव मूर्तिमान् ।
श्मशानचैत्यप्रतिमो भूषितोऽपि भयङ्करः ॥ २९ ॥

---

* पाठान्तरे—" ताभ्यां ।"

यद्यपि रावण कल्पवृक्ष की तरह और मूर्तिमान वसंत की तरह सुशोभित हो रहा था, तथापि वह श्मशान घाट के सजे हुए वृक्ष की तरह भयङ्कर ही जान पड़ता था ॥ २९ ॥

अवेक्षमाणो वैदेहीं कोपसंरक्तलोचनः ।
उवाच रावणः सीतां भुजङ्ग इव निःश्वसन् ॥ ३० ॥

वह सीता को क्रोध के मारे लाल लाल नेत्रों से देखता हुआ और सर्प की तरह फुंफकारता हुआ बोला ॥ ३० ॥

अनयेनाभिसम्पन्नमर्थहीनमनुव्रते ।
नाशयाम्यहमद्य त्वां सूर्यः सन्ध्यामिवौजसा ॥ ३१ ॥

नीति और अर्थ से शून्य श्रीरामचन्द्र जी को मानने वाली, तुझे मैं अभी उसी प्रकार समाप्त किये देता हूँ; जैसे सूर्य सन्ध्याकालीन अन्धकार का नाश करते हैं ॥ ३१ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावणः शत्रुरावणः ।
सन्दिदेश ततः सर्वा राक्षसीर्घोरदर्शनाः ॥ ३२ ॥

शत्रुओं को रुलाने वाले रावण ने सीता से इस प्रकार कह, उन भयङ्कर समस्त राक्षसियों को आज्ञा दी ॥ ३२ ॥

[1]एकाक्षीमेककर्णां च कर्णप्रावरणां तथा ।
गोकर्णीं हस्तिकर्णीं च लम्बकर्णीमकर्णिकाम् ॥ ३३ ॥

उस समय वहाँ उपस्थित उन राक्षसियों में कोई एक आँख की, कोई एक कान की, कोई बड़े बड़े कानों की, कोई गौ जैसे कानों की, कोई हाथी जैसे कानों की, कोई बड़े लंबे लंबे कानों वाली और कोई बूची थी ॥ ३३ ॥

हस्तिपाद्यश्वपाद्यौ च गोपादीं पादचूलिकाम् ।
एकाक्षीमेकपादीं च पृथुपादीमपादिकाम् ॥ ३४ ॥

कोई हाथी, कोई घोड़ा, कोई बैल जैसे पैरों वाली और कोई पावों में बड़े बड़े केशों वाली थी। कोई एक बड़ी और एक छोटी आँखों वाली, कोई एक बड़े और एक छोटे पैरों वाली, कोई मोटे पैरों वाली, कोई बिना पैर की थी ॥ ३४ ॥

अतिमात्रशिरोग्रीवामतिमात्रकुचोदरीम् ।
अतिमात्रास्यनेत्रां च दीर्घजिह्वामजिह्विकाम् ॥ ३५ ॥

किसी की गरदन और सिर किसी के स्तन और उदर बहुत बड़े थे। किसी की आँखें बहुत बड़ी थीं और किसी की जीभ बड़ी लंबी थी, और किसी के जीभ थी ही नहीं ॥ ३५ ॥

अनासिकां सिंहमुखीं गोमुखीं सूकरीमुखीम् ।
यथा मद्वशगा सीता क्षिप्रं भवति जानकी ॥ ३६ ॥

कोई नासिकारहित, कोई सिंहमुखी, कोई गोमुखी, और कोई शूकरीमुखी थी। इन सब को सम्बोधन कर रावण बोला कि, जिस तरह यह जानकी सीता अविलंब मेरे वश में हो ॥ ३६ ॥

तथा कुरुत राक्षस्यः सर्वाः क्षिप्रं समेत्य च ।
[1]प्रतिलोमानुलोमैश्च सामदानादिभेदनैः ॥ ३७ ॥

उस तरह तुम सब मिल कर शीघ्र प्रयत्न करो। साम, दान, भेदादि, अनुकूल प्रतिकूल (उलटी सीधी बातें कह कर) उपायों से ॥३७॥

आवर्जयत वैदेहीं दण्डस्योद्यमनेन च ।
इति प्रतिसमादिश्य राक्षसेन्द्रः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥

---

1 प्रतिलोमानुलोमैश्चः—प्रतिकूलानुकूलाचरणैः । (गो०)

अथवा डरा धमका कर जैसे हो सके वैसे, तुम सीता को मेरे कावू में कर दो। इस प्रकार रावण उन राक्षसियों को बार बार आज्ञा दे ॥ ३८ ॥

कामममन्युपरीतात्मा जानकीं पर्यतर्जयत् ।
उपगम्य ततः क्षिप्रं राक्षसी धान्यमालिनी ॥ ३९ ॥

जब काम से पीड़ित रावण सीता को घुड़कने लगा, तब तुरन्त धान्यमालिनी राक्षसी रावण के पास जा ॥ ३९ ॥

परिष्वज्य दशग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ।
मया क्रीड महाराज सीतया किं तवानया ॥ ४० ॥

और रावण से लिपट उससे कहने लगी। हे महाराज! आप मेरे साथ विहार कीजिये। यह सीता आपके किस काम की है ॥ ४० ॥

विवर्णया कृपणया मानुष्या राक्षसेश्वर ।
नूनमस्या महाराज न दिव्यान्भोगसत्तमान् ॥ ४१ ॥
विदधात्यमरश्रेष्ठस्तव बाहुबलार्जितान् ।
अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते ॥ ४२ ॥

क्योंकि हे रावण! यह सीता तो बुरे रंग की, दुखिया और मानुषी है। निश्चय ही इसके भाग्य में विधाता ने आपके बाहुबल से उपार्जित दुर्लभ भोगों को भोगना लिखा ही नहीं। फिर जो स्त्री अपने को नहीं चाहती; उसकी चाह करने वाले पुरुष का शरीर सदा सन्तप्त रहता है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

इच्छन्तीं कामयानस्य प्रीतिर्भवति शोभना ।
एवमुक्तस्तु राक्षस्या समुत्क्षिप्तस्ततो बली ॥ ४३ ॥

और जो स्त्री अपने पति को चाहती है, उसको चाह करने से, चाहने का सुख प्राप्त होता है। यह कह वह राक्षसी बलवान रावण को वहाँ से हटा कर ले गयी ॥ ४३ ॥

प्रहसन्मेघसङ्काशो राक्षसः स न्यवर्तत ।
प्रस्थितः स दशग्रीवः कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥
ज्वलद्भास्करवर्णाभं प्रविवेश निवेशनम् ॥ ४४ ॥

मेघ के समान लंबा चौड़ा वह राक्षस रावण मुसक्याता हुआ वहाँ से फिरा। पृथिवी को मानों कंपायमान करता हुआ रावण, चमचमाते सूर्य की तरह अपने घर में चला गया ॥ ४४ ॥

देवगन्धर्वकन्याश्च नागकन्याश्च सर्वतः ।
परिवार्य दशग्रीवं विविशुस्तद्गृहोत्तमम् ॥ ४५ ॥

उस समय देव गन्धर्व और नागकन्याएँ भी उसको घेरे हुए उस श्रेष्ठभवन में चली गयीं ॥ ४५ ॥

स मैथिलीं धर्मपरामवस्थितां
प्रवेपमानां परिभर्त्स्य रावणः ।
विहाय सीतां मदनेन मोहितः
स्वमेव वेश्म *प्रविवेश भास्वरम् ॥४६॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

कामासक्त रावण, पातिव्रत धर्मपालन में तत्पर और डर से थर थराती हुई जानकी को डाँट डपट कर और उनको त्याग कर अपने घर चला गया ॥ ४६ ॥

सुन्दरकाण्ड का बाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

---

* पाठान्तरे—" प्रतिपद्यवीर्यवान। "; " प्रविवेशवीर्यवान्। " " प्रविवेशरावणः। "

त्रयोविंशः सर्गः

—※—

इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावणः शत्रुरावणः ।
सन्दिश्य च ततः सर्वा राक्षसीर्निर्जगाम ह ॥ १ ॥

सीता जी को इस प्रकार डरा धमका कर, शत्रुओं को रुलाने वाला राक्षसराज रावण उन सब राक्षसियों को सीता को शीघ्र वश में करने की आज्ञा दे, अशोकवाटिका से निकल कर चला आया ॥ १ ॥

निष्क्रान्ते राक्षसेन्द्रे तु पुनरन्तःपुरं गते ।
राक्षस्ये भीमारूपास्ताः सीतां समभिदुद्रुवुः ॥ २ ॥

जब राक्षस वहाँ से चल कर अपने अन्तःपुर में पहुँच गया, तब वे भयङ्कर रूपधारिणी राक्षसियाँ सीता की ओर लपकीं ॥ २ ॥

ततः सीतामुपागम्य राक्षस्यः क्रोधमूर्छिताः ।
परं *परुषया वाचा वैदेहीमिदमब्रुवन् ॥ ३ ॥

और सीता के निकट पहुँच क्रुद्ध हो उनसे बड़े कठोर यह वचन बोलीं ॥ ३ ॥

पौलस्त्यस्य वरिष्ठस्य रावणस्य महात्मनः ।
दशग्रीवस्य भार्यात्वं सीते न बहु मन्यसे ॥ ४ ॥

हे सीते ! श्रेष्ठ पुलस्त्य ऋषि के पुत्र महात्मा दशग्रीव रावण की पत्नी बनना क्या तू बड़ी बात नहीं समझती ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—" परुषं परुपावाचो । "

ततस्त्वेकजटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
आमन्त्र्य क्रोधताम्राक्षी सीतां करतलोदरीम्[1] ॥ ५ ॥

तदनन्तर छोटे पेट वाली एकजटा नाम की राक्षसी क्रोध में भर और आँखें लाल लाल कर और सीता को सम्बोधन कर, कहने लगी ॥ ५ ॥

प्रजापतीनां षण्णां तु चतुर्थो यः प्रजापतिः ।
मानसो ब्रह्मणः पुत्रः पुलस्त्य इति विश्रुतः ॥ ६ ॥

छः प्रजापतियों में जो चतुर्थ प्रजापति हैं और जो ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं और जो पुलस्त्य के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ ६ ॥

[नोट—१ मरीचि, २ अत्रि, ३ अङ्गिरस, ४ पुलस्त्य, ५ पुलह और ६ क्रतु—ये छः प्रजापति हैं ।]

पुलस्त्यस्य तु तेजस्वी महर्षिर्मानसः सुतः ।
नाम्ना स विश्रवा नाम प्रजापतिसमप्रभः ॥ ७ ॥

उन महर्षि पुलस्त्य के बड़े तेजस्वी मानसपुत्र विश्रवा जी हैं, जो प्रजापति के समान प्रभावान् हैं ॥ ७ ॥

तस्य पुत्रो विशालाक्षि रावणः शत्रुरावणः ।
तस्य त्वं राक्षसेन्द्रस्य भार्या भवितुमर्हसि ॥ ८ ॥

हे विशालाक्षी ! उन्हीं विश्रवा जी का पुत्र रावण है, जो शत्रुओं को रुलाने वाला है । तुमको उसी राक्षसराज की पत्नी बन जाना चाहिये ॥ ८ ॥

मयोक्तं चारुसर्वाङ्गि वाक्यं किं नानुमन्यसे ।
ततो हरिजटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

---

१ करतलोदरीम्—सूक्ष्मोदरविशिष्टां । (शि०)

हे सर्वाङ्गसुन्दरी! मैं जो कह रही हूँ; उसे तू क्यों नहीं मानती? तदनन्तर हरिजटा नाम की राक्षसी बोली ॥ ९ ॥

विवृत्य नयने कोपान्मार्जारसदृशेक्षणा ।
येन देवास्त्रयस्त्रिंशद्देवराजश्च निर्जिताः ॥ १० ॥

वह बिल्ली जैसी आंखों वाली हरिजटा कुपित हो और त्योरी चढ़ा कहने लगी—जिसने तेंतीसों देवताओं को और उनके राजा इन्द्र तक को हरा दिया ॥ १० ॥

तस्य त्वं राक्षसेन्द्रस्य भार्या भवितुमर्हसि ।
ततस्तु प्रघसा नाम राक्षसी क्रोधमूर्छिता ॥ ११ ॥

उस राक्षसराज की भार्या तुझको बन जाना चाहिये । तदनन्तर कुपित हो प्रघसा नाम राक्षसी ॥ ११ ॥

भर्त्सयन्ती तदा घोरमिदं वचनमब्रवीत् ।
वीर्योत्सिक्तस्य शूरस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ॥ १२ ॥

सीता जी को बुरी तरह डाँट डपट बतलाती हुई कहने लगी—देख, बड़े पराक्रमी, शूर तथा युद्धक्षेत्र में कभी शत्रु को पीठ न दिखलाने वाले ॥ १२ ॥

बलिनो वीर्ययुक्तस्य भार्यात्वं किं न *लिप्ससे ।
प्रियां बहुमतां भार्यां त्यक्त्वा राजा महाबलः ॥ १३ ॥

बलवान और पराक्रम युक्त रावण की भार्या बनना क्या तू पसंद नहीं करती? देख, वह महाबली राक्षसराज, अपनी प्यारी और कृपापात्र ॥ १३ ॥

---

* पाठान्तरे—" लप्स्यसे । "

सर्वासां च महाभागां त्वामुपैष्यति रावणः ।
समृद्धं स्त्रीसहस्रेण नानारत्नोपशोभितम् ॥ १४ ॥

और सब स्त्रियों से बढ़ कर भाग्यवती मन्दोदरी को भी त्याग कर, तेरे ही साथ रहा करेगा। फिर हज़ारों स्त्रीरत्नों से भरे पूरे और नाना रत्नों से शोभित ॥ १४ ॥

अन्तःपुरं समुत्सृज्य त्वामुपैष्यति रावणः ।
अन्या तु विकटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

अपने अन्तःपुर को त्याग, रावण तेरे वश हो जायगा। तदनन्तर एक दूसरी राक्षसी जिसका नाम विकटा था, कहने लगी ॥ १५ ॥

असकृद्देवता युद्धे नागगन्धर्वदानवाः ।
निर्जिताः समरे येन स ते पार्श्वमुपागतः ॥ १६ ॥

जिस रावण ने अनेकों वार देवताओं, नागों, गन्धर्वों और दानवों को युद्ध में परास्त किया, वह तेरे पास आया था ॥ १६ ॥

तस्य सर्वसमृद्धस्य रावणस्य महात्मनः ।
किमद्य राक्षसेन्द्रस्य भार्यात्वं नेच्छसेऽधमे ॥ १७ ॥

हे अधमे! ऐसे सब प्रकार से समृद्धशाली महात्मा राक्षसराज रावण की पत्नी अब तू क्यों बनना नहीं चाहती? ॥ १७ ॥

ततस्तु दुर्मुखी नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
यस्य सूर्यो न तपति भीतो यस्य च मारुतः ॥ १८ ॥

न वाति चासितापाङ्गे किं त्वं तस्य न तिष्ठसि ।
पुष्पवृष्टिं च तरवो मुमुचुर्यस्य वै भयात् ॥ १९ ॥

तदनन्तर दुर्मुखी नाम की राक्षसी कहने लगी। जिसके डर से न तो सूर्य (अधिक) तपता और न वायु ही (बहुत तेज़ी के साथ) बहता है, उसके वश में तू क्यों नहीं हो जाती ? जिसके भय से पेड़ फूलों की वृष्टि किया करते हैं ॥ १८ ॥ १९ ॥

शैलाश्च सुभ्रूः पानीयं जलदाश्च यदेच्छति ।
तस्य नैर्ऋतराजस्य राजराजस्य भामिनि ।
किं त्वं न कुरुषे बुद्धिं भार्यार्थे रावणस्य हि ॥ २० ॥

और पर्वत पानी बहाया करते हैं और जब रावण चाहता है; तब मेघ पानी बरसाया करते हैं; उस राक्षसराज रावण की पत्नी बनना तू क्यों पसंद नहीं करती ? ॥ २० ॥

साधु ते तत्त्वतो देवि कथितं साधु भामिनि ।
गृहाण सुस्मिते वाक्यमन्यथा न भविष्यसि ॥ २१ ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

हे भामिनी ! हे मन्द मुसक्याने वाली ! मैंने तो तुझसे जो ठीक बात थी वही कही है। तू इसे मान ले तो अच्छी बात है, नहीं तो तेरे लिये अच्छा न होगा ॥ २१ ॥

सुन्दरकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुर्विंशः सर्गः

—※—

ततः सीतां* समस्तास्ता राक्षस्यो विकृताननाः ।
परुषं परुषा नार्य ऊचुस्तां वाक्यमप्रियम् ॥ १ ॥

---

* पाठान्तरे—" उपागम्य " वा " सीतांसमस्तास्ताः । "

तदनन्तर वे विकराल आकृति वाली राक्षसियाँ मिल कर सीता से कठोर वचन कहने लगीं ॥ १ ॥

किं त्वमन्तःपुरे सीते सर्वभूतमनोहरे ।
महार्हशयनोपेते न वासमनुमन्यसे ॥ २ ॥

हे सीते ! क्या तू प्राणिमात्र का मन मोहने वाले और उत्तमोत्तम सेजों से युक्त (रावण के) रनवास में रहना पसंद नहीं करती ? ॥ २ ॥

मानुषी मानुषस्यैव भार्यात्वं बहु मन्यसे ।
प्रत्याहर मनो रामान्न त्वं जातु भविष्यसि ॥ ३ ॥

हे मानुषी ! मनुष्य की पत्नी होना तो तू बड़ी बात समझती है ; पर अब तू श्रीरामचन्द्र जी की ओर से अपना मन हटा ले, क्योंकि अब तू श्रीरामचन्द्र जी से कदापि न मिल-सकेगी ॥ ३ ॥

त्रैलोक्यवसुभोक्तारं रावणं राक्षसेश्वरम् ।
भर्तारमुपसंगम्य विहरस्व यथासुखम् ॥ ४ ॥

त्रैलोक्य की समृद्धि के भोगने वाले राक्षसराज रावण को अपना पति बना, तू मनमानी मौज उड़ा ॥ ४ ॥

मानुषी मानुषं तं तु राममिच्छसि शोभने ।
राज्याद्भ्रष्टमसिद्धार्थं विक्लवं त्वमनिन्दिते ॥ ५ ॥

हे अनिन्दिते ! हे सुन्दरी ! तू मानुषी है, इसीसे तू उस राज्य-भ्रष्ट, असफल-मनोरथ और कादर राम को चाहती है ॥ ५ ॥

राक्षसीनां वचः श्रुत्वा सीता पद्मनिभेक्षणा ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

राक्षसियों के वचन सुन कर, कमलनयनी सीता नेत्रों में आँसू भर, यह कहने लगी ॥ ६ ॥

यदिदं लोकविद्विष्टमुदाहरथ सङ्गताः ।
नैतन्मनसि वाक्यं मे किल्बिषं प्रतिभाति वः ॥ ७ ॥

तुम सब मिल कर मुझे ऐसा पाठ पढ़ा रही हो, जो लोकगर्हित है। तुम्हारी ये पापपूर्ण बातें मेरे कण्ठ में नहीं उतरतीं ॥ ७ ॥

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति ।
कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः ॥ ८ ॥

मैं मानुषी हो कर कभी राक्षस की पत्नी नहीं बन सकती। तुम सब भले ही मुझे मार कर खा डालो, किन्तु मैं तुम्हारा कहना नहीं मान सकती ॥ ८ ॥

दीनो वा राज्यहीनो वा यो मे भर्ता स मे गुरुः ।
तं नित्यमनुरक्तास्मि यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ९ ॥

भले ही मेरे स्वामी दीन दुःखिया हों और राज्यभ्रष्ट ही क्यों न हों, किन्तु मेरे लिये तो वे ही मेरे पूज्य हैं। मैं उनमें सदा वैसी ही प्रीति रखती हूँ, जैसी सुवर्चला सूर्य में, ॥ ९ ॥

यथा शची महाभागा शक्रं समुपतिष्ठति ।
अरुन्धती वसिष्ठं च रोहिणी शशिनं यथा ॥ १० ॥

महाभागा शची इन्द्र में, अरुन्धती वशिष्ठ में, रोहिणी चन्द्र में ॥ १० ॥

लोपामुद्रा यथाऽगस्त्यं सुकन्या च्यवनं यथा ।
सावित्री सत्यवन्तं च कपिलं श्रीमती यथा ॥ ११ ॥

लोपामुद्रा अगस्त्य में, सुकन्या च्यवन में, सावित्री सत्यवान् में, श्रीमती कपिल में. ॥ ११ ॥

सौदासं मदयन्तीव केशिनी सगरं यथा ।
नैषधं दमयन्तीव भैमी पतिमनुव्रता ॥ १२ ॥

मदयन्ती सौदास में, केशिनी सगर में और भीमकुमारी दमयन्ती नल में, ॥ १२ ॥

तथाऽहमिक्ष्वाकुवरं रामं पतिमनुव्रता ।
सीताया वचनं श्रुत्वा राक्षस्यः क्रोधमूर्छिताः ॥ १३ ॥

इसी प्रकार मैं इक्ष्वाकुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी को अपना पति समझ उनकी अनुयायिनी हूँ। सीता जी के ये वचन सुन कर, वे सब राक्षसियाँ बहुत क्रुद्ध हुईं ॥ १३ ॥

भर्त्सयन्ति स्म परुषैर्वाक्यै रावणचोदिताः ।
अवलीनः स निर्वाक्यो हनुमाञ्शिंशुपाद्रुमे ॥ १४ ॥

सीतां सन्तर्जयन्तीस्ता राक्षसीरशृणोत्कपिः ।
तामभिक्रम्य संक्रुद्धा वेपमानां समन्ततः ॥ १५ ॥

और क्रोधावेश में भर वे रावण से प्रेरित हो, सीता जी को बुरे बुरे शब्द कह डाँटने डपटने लगीं। उधर हनुमान जी, उस शिंशपा वृक्ष पर छिपे छिपे, चुपचाप सीता को डपटती हुई उन सब राक्षसियों

को बातें सुन रही थे। वे सब सीता को डराती धमकाती हुई उन्हें चारों ओर से घेर कर, ॥ १४ ॥ १५ ॥

भृशं संलिलिहुर्दीप्तान्प्रलम्बान्दशनच्छदान् ।
ऊचुश्च परमक्रुद्धाः प्रगृह्याशु परश्वधान् ॥ १६ ॥

बार बार अपने लंबे लंबे होंठ जीभ से चाटने लगीं और अत्यन्त क्रुद्ध हो तथा हाथों में फरसों को ले कर बोलीं ॥ १६ ॥

नेयमर्हति भर्तारं रावणं राक्षसाधिपम् ।
संभर्त्स्यमाना भीमाभी राक्षसीभिर्वरानना ॥ १७ ॥

तू इस राक्षसराज रावण को अपने योग्य पति नहीं समझती ! (तो क्या तू अपने को हम लोगों के द्वारा खाने योग्य समझती है।) उन भयङ्कर आकृति वाली राक्षसियों द्वारा इस प्रकार डराई डपटी गयी सुन्दरमुखी सीता, ॥ १७ ॥

स बाष्पमपमार्जन्ती शिंशुपां तामुपागमत् ।
ततस्तां शिंशुपां सीता राक्षसीभिः समावृता ॥ १८ ॥

आँखों से आँसू पोंछती हुई उस शीशम के पेड़ के निकट चली गयी। वहाँ भी उन राक्षसियों ने सीता का पिंड न छोड़ा और उन लोगों ने वहाँ भी सीता को घेर लिया ॥ १८ ॥

अभिगम्य विशालाक्षी तस्थौ शोकपरिप्लुता ।
तां कृशां दीनवदनां *मलिनाम्बरवासिनीम् ॥ १९ ॥

वे राक्षसी उन मलिनवस्त्रधारिणी दुर्बल, दीन, शोकसागर में निमग्न, विशालाक्षी सीता के निकट जा कर, ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—" मलिनाम्बरधारिणीम् । "

भर्त्सयांचक्रिरे सीतां राक्षस्यस्तां समन्ततः।
ततस्तां विनता नाम राक्षसी भीमदर्शना ॥ २० ॥

चारों ओर से सीता को डपटने लगीं। उनमें भयानक आकृति वाली विनता नाम की एक राक्षसी थी ॥ २० ॥

अब्रवीत्कुपिताकारा कराला निर्णतोदरी[1]।
सीते पर्याप्तमेतावद्भर्तुः स्नेहो निदर्शितः ॥ २१ ॥

वह करालवदना और बड़े पेट वाली राक्षसी अत्यन्त क्रुद्ध हो कहने लगी—हे सीते! बस बहुत हुआ। तूने अब तक अपने पति के प्रति जितना प्रेम दिखलाया, वह काफी है ॥ २१ ॥

सर्वत्रातिकृतं भद्रे व्यसनायोपकल्पते।
परितुष्टास्मि भद्रं ते मानुषस्ते कृतो विधिः ॥ २२ ॥

हे भद्रे! अति किसी बात को अच्छी नहीं होती। क्योंकि, अति का परिणाम दुःखदायी होता है। भगवान तेरा भला करे। मैं तो तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ। क्योंकि, मनुष्य का कर्त्तव्य तूने यथाविधि निभाया ॥ २२ ॥

ममापि तु वचः पथ्यं ब्रुवन्त्याः कुरु मैथिलि।
रावणं भज भर्तारं भर्तारं सर्वरक्षसाम् ॥ २३ ॥

अब मैं भी तुझसे जो तेरे हित की बात कहती हूँ, उसे हे मैथिली! तू कर। (वह यह है कि,) तू सब राक्षसों के स्वामी रावण को अपना स्वामी (पति) बना ले ॥ २३ ॥

विक्रान्तं रूपवन्तं च सुरेशमिव वासवम्।
दक्षिणं त्यागशीलं च सर्वस्य प्रियदर्शनम् ॥ २४ ॥

---

१ निर्णतोदरी—उन्नतोदरी। (गो०)

वह बड़ा पराक्रमी, रूपवान् और इन्द्र की तरह चतुर, उदार, और सब के लिये प्रियदर्शी है ॥ २४ ॥

मानुषं कृपणं रामं त्यक्त्वा रावणमाश्रय ।
दिव्याङ्गरागा वैदेहि दिव्याभरणभूषिता ॥ २५ ॥

तू मनुष्य और दीनदुखिया श्रीरामचन्द्र जी का त्याग कर, रावण का पल्ला पकड़ । आज से बढ़िया बढ़िया उबटन लगा और बढ़िया बढ़िया आभूषणों को पहिन कर, अपना शृङ्गार कर ॥२५॥

अद्यप्रभृति सर्वेषां लोकानामीश्वरी भव ।
अग्नेः स्वाहा यथा देवी शचीवेन्द्रस्य शोभने ॥ २६ ॥

और आज ही से प्राणिमात्र की तू स्वामिनी बन जा । जिस प्रकार अग्नि की भार्या स्वाहा और इन्द्र की शची है; उसी प्रकार हे सुन्दरी ! तू रावण की पत्नी बन कर शोभा को प्राप्त हो ॥ २६ ॥

किं ते रामेण वैदेहि कृपणेन गतायुषा ।
एतदुक्तं च मे वाक्यं यदि त्वं न करिष्यसि ॥ २७ ॥

अरी सीता ! तू उस दुखिया और गतायु श्रीरामचन्द्र जी को ले कर क्या करेगी, मैंने तुझसे जो बातें कहीं हैं, यदि तू उनको न मानेगी ॥ २७ ॥

अस्मिन्मुहूर्ते सर्वास्त्वां भक्षयिष्यामहे वयम् ।
अन्या तु विकटा नाम लम्बमानपयोधरा ॥ २८ ॥

तो हम सब मिल कर अभी तुझको मार कर खा डालेंगी। तदनन्तर लंबे लंबे स्तनों वाली, विकटा नाम की एक और राक्षसी ॥ २८ ॥

अब्रवीत्कुपिता सीतां मुष्टिमुद्यम्य गर्जती।
बहून्यप्रियरूपाणि वचनानि सुदुर्मते ॥ २९ ॥

अनुक्रोशान्मृदुत्वाच्च सोढानि तव मैथिलि।
न च नः कुरुषे वाक्यं हितं कालपुरःसरम् ॥ ३० ॥

क्रोध में भर और घूंसा तान कर सीता से बोली—हे सुदुर्मते! तेरे बहुत से अप्रिय वचन हम लोगों ने दया और नम्रता वश सहे; किन्तु अब यदि तू हमारे समयानुकूल और हितकारी वचनों को न मानेगी; तो अब तेरे लिये अच्छा न होगा ॥ २९ ॥ ३० ॥

आनीतासि समुद्रस्य पारमन्यैर्दुरासदम्।
रावणान्तःपुरं घोरं प्रविष्टा चासि मैथिलि ॥ ३१ ॥

हे सीते! तू समुद्र के पार लाई गई है, जहाँ और कोई नहीं आ सकता और रावण के दुर्गम अन्तःपुर में तूने केवल प्रवेश ही नहीं किया है ॥ ३१ ॥

रावणस्य गृहे रुद्धामस्माभिस्तु सुरक्षिताम्।
न त्वां शक्तः परित्रातुमपि साक्षात्पुरन्दरः ॥ ३२ ॥

वल्कि तू रावण के घर में नजरबंद है और हम लोग तेरी रखवाली पर नियत हैं। श्रीरामचन्द्र जी की तो हकीकत ही क्या है, यदि इन्द्र भी तुझे बचाना चाहें तो नहीं बचा सकते ॥ ३२ ॥

कुरुष्व हितवादिन्या वचनं मम मैथिलि।
अलमश्रुप्रपातेन त्यज शोकमनर्थकम् ॥ ३३ ॥

अतएव हे मैथिली! हम जो तुझसे तेरे हित के लिये कहती हैं, उसे तू मान ले। अब रोना बंद कर और इस व्यर्थ के शोक को छोड़ ॥ ३३ ॥

भज प्रीतिं प्रहर्षं च त्यजैतां नित्यदैन्यताम्।
सीते राक्षसराजेन सह क्रीड यथासुखम् ॥ ३४ ॥

रावण से प्रेम कर और मौज उड़ा। इस रात दिन की उदासी को दूर भगा दे और हे सीते! तू राक्षसराज रावण के साथ मजे में विहार कर ॥ ३४ ॥

जानासि हि यथा भीरु स्त्रीणां यौवनमध्रुवम्।
यावन्न ते व्यतिक्रामेत्तावत्सुखमवाप्नुहि ॥ ३५ ॥

हे भीरु! तुझको यह मालूम ही है कि स्त्रियों की जवानी, का कुछ ठीक ठिकाना नहीं। सो जब तक तेरी जवानी नहीं ढलती, तब तक तू भी मौज कर ॥ ३५ ॥

उद्यानानि च रम्याणि पर्वतोपवनानि च।
सह राक्षसराजेन चर त्वं मदिरेक्षणे ॥ ३६ ॥

हे मतवाले नयनों वाली! रमणीय बागों में, पर्वतों पर और उपवनों में राक्षसराज रावण के साथ घूम फिर ॥ ३६ ॥

स्त्रीसहस्राणि ते सप्त वशे स्थास्यन्ति सुन्दरि।
रावणं भज भर्तारं भर्तारं सर्वरक्षसाम ॥ ३७ ॥

हे सुन्दरि! सात हज़ार (अर्थात् हज़ारों) स्त्रियाँ तेरे कहने में रहेंगी। सो तू सब राक्षसों के स्वामी रावण को अपना पति बना ले ॥ ३७ ॥

उत्पाट्य वा ते हृदयं भक्षयिष्यामि मैथिलि ।
यदि मे व्याहृतं वाक्यं न यथावत्करिष्यसि ॥ ३८ ॥

और यदि आज तू हमारे कथनानुसार यथावत् (जैसा चाहिये वैसा) न करेगी, तो हम तेरा कलेजा निकाल कर खा डालेंगी ॥ ३८ ॥

ततश्चण्डोदरी नाम राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
भ्रामयन्ती महच्छूलमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर कुपित हो चण्डोदरी नाम की राक्षसी, एक बड़ा त्रिशूल घुमाती हुई बोली ॥ ३९ ॥

इमां हरिणलोलाक्षीं त्रासोत्कम्पिपयोधराम् ।
रावणेन हृतां दृष्ट्वा दौहृदो[1] मे महानभूत् ॥ ४० ॥

हे राक्षसियों ! देखो, इस मृगनयनी और भय के मारे कम्पमानस्तनी को जब रावण हर कर लाया, तब मेरे मन में एक बड़ी इच्छा उत्पन्न हुई, ॥ ४० ॥

[2]यकृत्प्लीह[3] मथोत्पीडं[4] हृदयं च सबन्धनम्[5] ।
अन्त्राण्यपि तथा शीर्षं खादेयमिति मे मतिः ॥ ४१ ॥

मैंने चाहा कि, मैं इसके उदर के दहिनी बायीं कोखों के मांस खण्डों को तथा इनके ऊपर के मांसखण्ड को, हृदय को, हृदय के नीचे के मांस को तथा आंतों को और सिर को खा जाऊँ ॥ ४१ ॥

---

१ दौहृदः—इच्छा । (गो०) २ कुक्षिदक्षिणभागस्थः कालखण्डाख्यो मांसपिण्डो यकृत । (गो०) ३ प्लीहा—प्लीहातुगुल्माख्योवामभागस्थो मांसपिण्डविशेषः । (गो०) ४ उत्पीडं—तस्योपरिस्थितं मांसं । (गो०) ५ बन्धनं—हृदयधारणमधोमांसं । (गो०)

ततस्तु प्रघसा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
कण्ठमस्या नृशंसायाः पीडयाम किमास्यते ॥ ४२ ॥

तदनन्तर प्रघसा नाम राक्षसी कहने लगी। हे राक्षसियों! हम बैठी बैठी क्या करें! आओ इस कसाइन का गला घोंट डालें ॥ ४२ ॥

निवेद्यतां ततो राज्ञे मानुषी सा मृतेति ह ।
नात्र कश्चन सन्देहः खादतेति स वक्ष्यति ॥ ४३ ॥

और चल कर रावण को सूचना देदें कि, वह मानुषी मर गयी। यह सुन वह निस्सन्देह हम लोगों को इसके खा डालने की आज्ञा दे ही देंगे ॥ ४३ ॥

ततस्त्वजामुखी नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
विशस्येमां ततः सर्वाः समान्कुरुत पीलुकान्[1] ॥ ४४ ॥

विभजाम ततः सर्वा विवादो मे न रोचते ।
पेयमानीयतां क्षिप्रं माल्यं च विविधं बहु ॥ ४५ ॥

तदनन्तर अजामुखी नाम की राक्षसी बोली—इसको मार कर इसके मांस के बराबर बराबर भाग कर डालो। क्योंकि, मुझे पीछे से झगड़ा करना पसंद नहीं है। (अर्थात् हिस्से के लिये हममें झगड़ा न हो अतः पहिले ही से बराबर बराबर टुकड़े कर डालो) अब तुरन्त जा कर शराब और विविध प्रकार की बहुत सी मालाएँ ले आओ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

---

१ पीलुकान्—मांसखण्डान् । (गो०)

ततः शूर्पणखा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
अजामुख्या यदुक्तं हि तदेव मम रोचते ॥ ४६ ॥

सुरा चानीयतां क्षिप्रं सर्वशोकविनाशिनी ।
मानुषं मांसमास्वाद्य नृत्यामोऽथ निकुम्भिलाम् ॥ ४७ ॥

तदनन्तर शूर्पणखा नाम की राक्षसी बोली—अजामुखी ने जो बात कही वह मुझे भी पसंद है। सो सब शोकों को नष्ट करने वाली शराब शीघ्र मँगवानी चाहिये। फिर मनुष्य का मांस चख कर, हम सब निकुम्भिला के समीप चल कर नाचे कूदें ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

एवं संभर्त्स्यमाना सा सीता सुरसुतोपमा ।
राक्षसीभिः सुघोराभिर्धैर्यमुत्सृज्य रोदिति ॥ ४८ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

जब इस प्रकार सुरबाला की तरह सुन्दरी सीता को, उन भयङ्कर राक्षसियों ने धमकाया डराया; तब वह धैर्य छोड़ रोने लगी ॥ ४८ ॥

सुन्दरकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

—*—

पञ्चविंशः सर्गः

—*—

तथा तासां वदन्तीनां परुषं दारुणं बहु ।
राक्षसीनामसौम्यानां रुरोद जनकात्मजा ॥ १ ॥

उन भयङ्कर राक्षसियों के इस प्रकार बहुत से कठोर वचनों के कहने पर, जानकी जी रो पड़ीं ॥ १ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही राक्षसीभिर्मनस्विनी[1] ।
उवाच परमत्रस्ता बाष्पगद्गदया गिरा ॥ २ ॥

उन राक्षसियों के इस प्रकार कहने पर पतिव्रतधर्म पालन में दृढ़ता पूर्वक तत्पर सीता जी, अत्यन्त त्रस्त हो गद्गद वाणी से बोलीं ॥ २ ॥

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति ।
कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः ॥ ३ ॥

भला कहीं मानुषी भी राक्षस की भार्या बन सकती है। तुम सब भले ही मुझे मार कर खा डालो, पर मैं तुम्हारी यह बात नहीं मान सकती ॥ ३ ॥

सा राक्षसीमध्यगता सीता सुरसुतोपमा ।
न शर्म लेभे दुःखार्ता रावणेन च तर्जिता ॥ ४ ॥

उस समय राक्षसियों के बीच फँसी हुई देवकन्यावत् सीता को, दुःख से छुटकारा पाने का कुछ और उपाय नहीं सूझ पड़ता था। क्योंकि एक तो वह दुःख से विकल थी ही तिस पर रावण ने उसे धमकाया भी था ॥ ४ ॥

वेपते स्माधिकं सीता विशन्तीवाङ्गमात्मनः ।
वने यूथपरिभ्रष्टा मृगी कोकैरिवार्दिता ॥ ५ ॥

उस समय सीता थरथर काँप रही थी और मारे डर के सिकुड़ कर, अपने शरीर में घुसी जाती थी। मानों अपने झुंड से अलग हुई कोई अकेली हिरनी भेड़ियों से घिरी हो ॥ ५ ॥

---

1 मनस्विनी—पातिव्रत्ये दृढमनः । (गो०)

सा त्वशोकस्य विपुलां शाखामालम्ब्य पुष्पिताम् ।
चिन्तयामास शोकेन भर्तारं भग्नमानसा ॥ ६ ॥

वह अत्यन्त शोक से विकल तथा हताश हो, उस वृक्ष की पुष्पित डाली को थाम कर, अपने पति श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण करने लगी ॥ ६ ॥

सा स्नापयन्ती विपुलौ स्तनौ नेत्रजलस्रवैः ।
चिन्तयन्ती न शोकस्य तदाऽन्तमधिगच्छति ॥ ७ ॥

उस समय उसके नेत्रों से निकले हुए आँसू छल छल करते उसके विपुल स्तनों को धो रहे थे । वह उस सङ्कट से पार होने का बहुत कुछ उपाय सोचती पर उसे शोक (-सागर) के पार होने का कोई उपाय नहीं सूझता था ॥ ७ ॥

सा वेपमाना पतिता प्रवाते कदली यथा ।
राक्षसीनां भयत्रस्ता विपण्णवदनाऽभवत् ॥ ८ ॥

अन्त में वह थरथरा कर वायु के झोंके से गिरे हुए केले के पेड़ की तरह, ज़मीन पर गिर पड़ी और राक्षसियों के डर से उसका मुख, फीका पड़ गया और उदास हो गया ॥ ८ ॥

तस्याः सा दीर्घविपुला वेपन्त्या *सीतया तदा ।
ददृशे कम्पिनी वेणी व्यालीव परिसर्पती ॥ ९ ॥

शरीर के थरथराने से जानकी जी की बड़ी लंबी और घनी चोटी भी थरथराने लगी । उस समय वह हिलती हुई चोटी ऐसी जान पड़ी, मानों नागिन लहरा रही हो ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"सीताया वेपितात्मनः ।"

सा निःश्वसन्ती दुःखार्ता शोकोपहतचेतना ।
आर्ता व्यसृजदश्रूणि मैथिली विललाप ह ॥ १० ॥

दुखिया जानकी शोक में अचेत हो और श्रीराम के विरह से विकल हो, उसांसे लेती हुई, विलाप करके रोने लगी ॥ १० ॥

हा रामेति च दुःखार्ता हा पुनर्लक्ष्मणेति च ।
हा श्वश्रु मम कौसल्ये हा सुमित्रेति भामिनी ॥ ११ ॥

जानकी जी विलाप करती हुई कहने लगीं—हा राम! हा लक्ष्मण! हा मेरी सास कौशल्ये! हा भामिनी सुमित्रे! ॥ ११ ॥

लोकप्रवादः सत्योऽयं पण्डितैः समुदाहृतः ।
अकाले दुर्लभो मृत्युः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ॥ १२ ॥

संसार में पण्डितों की कही हुई यह कहावत ठीक ही है कि, विना समय आये, स्त्री हो या पुरुष, कोई नहीं मरता ॥ १२ ॥

यत्राहमेवं क्रूराभी राक्षसीभिरिहार्दिता ।
जीवामि हीना रामेण मुहूर्तमपि दुःखिता ॥ १३ ॥

नहीं तो क्या, यह सम्भव था कि, जैसा कि ये दुष्टा राक्षसी मुझको सता रही है ; दुखिया, मैं श्रीरामचन्द्र जी बिना एक मुहूर्त्त भी जीती रहती ॥ १३ ॥

एषाऽल्पपुण्या कृपणा विनशिष्याम्यनाथवत् ।
समुद्रमध्ये नौः पूर्णा वायुवेगैरिवाहता ॥ १४ ॥

मैं अल्पपुण्या और दुखियारी, एक अनाथिनी की तरह वैसे ही नष्ट हो जाऊँगी; जैसे बोझ से लदी नाव समुद्र में वायु के झोकों से नष्ट हो जाती है ॥ १४ ॥

भर्तारं तमपश्यन्ती राक्षसीवशमागता ।
सीदामि *ननु शोकेन कूलं तोयहतं यथा ॥ १५ ॥

मैं अपने पति की अनुपस्थिति में इन राक्षसियों के पल्ले पड़ गयी हूँ और उसी प्रकार निश्चय ही नष्ट हो रही हूँ, जिस प्रकार पानी के धक्कों से नदीतट होता है ॥ १५ ॥

तं पद्मदलपत्राक्षं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
धन्याः पश्यन्ति मे नाथं कृतज्ञं प्रियवादिनम् ॥ १६ ॥

जो उन कमलनयन, सिंहविक्रान्तगामी, कृतज्ञ और मधुरभाषी मेरे स्वामी के दर्शन करते हैं; वे धन्य हैं ॥ १६ ॥

सर्वथा तेन हीनाया रामेण विदितात्मना ।
तीक्ष्णं विषमिवास्वाद्य दुर्लभं मम जीवितम् ॥ १७ ॥

उन प्रसिद्ध (अथवा आत्मज्ञानी) श्रीरामचन्द्र जी के बिना मेरा जीना सर्वथा वैसे ही कठिन है; जैसे हलाहल विष को पी कर पीने वाले का जीना कठिन होता है ॥ १७ ॥

कीदृशं तु मया पापं पुरा जन्मान्तरे कृतम् ।
येनेदं प्राप्यते दुःखं मया घोरं सुदारुणम् ॥ १८ ॥

नहीं मालूम मैंने पिछले जन्मों में कैसे पाप कर्म किये थे; जिनके फलस्वरूप मुझे ये घोर दारुण दुःख सहना पड़ रहा है ॥ १८ ॥

जीवितं त्यक्तुमिच्छामि शोकेन महता वृता ।
राक्षसीभिश्च रक्ष्यन्त्या रामो नासाद्यते मया ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—"खलु ।"

इस समय मेरे ऊपर जैसी भारी विपत्ति पड़ी हुई है, उससे तो मैं अब मरना ही पसंद करती हूँ। क्योंकि इन राक्षसियों के पहरे में श्रीरामचन्द्र जी को मैं नहीं पा सकती ॥ १९ ॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं धिगस्तु परवश्यताम् ।
न शक्यं यत्परित्यक्तुमात्मच्छन्देन जीवितम् ॥ २० ॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

धिक्कार है मनुष्य होने पर और धिक्कार है परतंत्रता को, जिसके पंजे में फँस मैं अपनी इच्छानुसार प्राण परित्याग भी नहीं कर सकती ॥ २० ॥

सुन्दरकाण्ड का पचीसवाँ सर्ग पूरा ।

—※—

षड्विंशः सर्गः

—※—

प्रसक्ताश्रुमुखीत्येवं ब्रुवन्ती जनकात्मजा ।
अधोमुखमुखी बाला विलप्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

इस प्रकार रुदन करती हुई सीता नीचे को सिर झुकाये फिर विलाप करने लगी ॥ १ ॥

उन्मत्तेव प्रमत्तेव भ्रान्तचित्तेव शोचती ।
उपावृत्ता किशोरीव विवेष्टन्ती महीतले ॥ २ ॥

श्रम मिटाने के लिये ज़मीन पर लोटने वाली घोड़ी की तरह, बेचारी जानकी पगली, असावधान, अथवा अनवस्थिता स्त्री की तरह लोटने लगी ॥ २ ॥

राघवस्य प्रमत्तस्य रक्षसा कामरूपिणा ।
रावणेन प्रमथ्याहमानीताक्रोशती बलात् ॥ ३ ॥

यह कामरूपी राक्षस श्रीरामचन्द्र जी को भुलावे में डाल, मुझ रोती हुई को बरजोरी हर कर यहां ले आया ॥ ३ ॥

राक्षसीवशमापन्ना भर्त्स्यमाना सुदारुणम् ।
चिन्तयन्ती सुदुःखार्ता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

अब यहां आ कर मैं राक्षसियों के पाले में पड़ कर, नित्य बुरी तरह धमकायी डरायी जाती हूँ। इस प्रकार सोच में पड़ी और अत्यन्त दुःखियारी मैं, अब जीना नहीं चाहती ॥ ४ ॥

न हि मे *जीवितेनार्थो नैवार्थैर्न च भूषणैः ।
वसन्त्या राक्षसीमध्ये विना रामं महारथम् ॥ ५ ॥

न तो मुझे अब जीने ही से कुछ प्रयोजन है और न मुझे धन-दौलत और ज़ेवर ही से कुछ काम है। क्योंकि राक्षसियों के बीच रहना और सो भी उन महाबलवान श्रीरामचन्द्र जी के विना ॥ ५ ॥

अश्मसारमिदं नूनमथवाऽप्यजरामरम् ।
हृदयं मम येनेदं न दुःखेनावशीर्यते ॥ ६ ॥

जान पड़ता है, मेरा कलेजा पत्थर का अथवा अजरामर (कभी निकम्मा या नष्ट न होने वाले) है, तभी तो इतना दुःख पड़ने पर भी टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाता ॥ ६ ॥

धिङ्मामनार्यामसतीं याऽहं तेन विनाऽकृता ।
मुहूर्तमपि रक्षामि जीवितं पापजीविता ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" जीवितैरर्थो । "

मुझ दुष्टात्मा और अपतिव्रता की तरह काम करने वाली को धिक्कार है, जो मैं श्रीरामचन्द्र जी के बिना मुहूर्त्त भर भी जीवित हूँ ॥ ७ ॥

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥ ८ ॥

मैं रावण को तो अपने वाम पाद से भी न छुऊँगी फिर उस दुष्ट की चाहना करना तो बात ही दूर की है ॥ ८ ॥

प्रत्याख्यातं न जानाति नात्मानं नात्मनः कुलम् ।
यो नृशंसस्वभावेन मां प्रार्थयितुमिच्छति ॥ ९ ॥

वह न तो मेरे मना करने पर ही कुछ ध्यान देता है, न अपने आपको और न अपने कुल ही को पहचानता है। वह तो अपने क्रूर स्वभाव के वशवर्त्ती हो, मुझे चाहता है ॥ ९ ॥

[1]छिन्ना भिन्ना[2] विभक्ता[3] वा दीप्तेवाग्नौ प्रदीपिता ।
रावणं नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम् ॥ १० ॥

चाहे मेरे शरीर के दो टुकड़े कर डालो, चाहे मुझे मसल डालो, चाहे मेरे शरीर की बोटी बोटी अलग कर दो और चाहे मेरे समूचे अंग को जलती आग में झोंक दो ; किन्तु मैं रावण की हो कर नहीं रहूँगी—तुम लोग क्यों बहुत देर से बकवाद कर रही हो ॥ १० ॥

ख्यातः प्राज्ञः[4] कृतज्ञश्च सानुक्रोशश्च राघवः ।
सद्वृत्तो निरनुक्रोशः शङ्के मद्भाग्यसंक्षयात् ॥ ११ ॥

१ छिन्ना—द्विखण्डतयाकृता । (गो०) २ भिन्ना—दलिता (गो०) ३ विभक्ता—अवयवशः कृतः । ४ प्राज्ञः—दोषवत्स्यपि गुणदर्शी । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जो विख्यात, दोषों में भी गुणों को देखने वाले, कृतज्ञ, दयालु और सदाचारी हैं; किन्तु नहीं जान पड़ता, इस समय वे क्यों ऐसे निठुर हो गये हैं। हो न हो, यह मेरे ही भाग्य का दोष है ॥ ११ ॥

राक्षसानां जनस्थाने सहस्राणि चतुर्दश।
येनैकेन निरस्तानि स मां किं नाभिपद्यते[1] ॥ १२ ॥

जिन्होंने अकेले जनस्थान में चौदह हज़ार राक्षसों का वध कर डाला, वे क्या मेरी रक्षा न करेंगे ॥ १२ ॥

निरुद्धा रावणेनाहमल्पवीर्येण रक्षसा।
समर्थः खलु मे भर्ता रावणं हन्तुमाहवे ॥ १३ ॥

इस अल्पबली रावण ने मुझे यहाँ ला कर बंदी बना कर रखा है; परन्तु निश्चय ही मेरे पति श्रीरामचन्द्र, युद्ध में रावण का वध कर डालेंगे ॥ १३ ॥

विराधो दण्डकारण्ये येन राक्षसपुङ्गवः।
रणे रामेण निहतः स मां किं नाभिपद्यते ॥ १४ ॥

जिन्होंने दण्डकवन में राक्षसोत्तम विराध को मार डाला, वे श्रीरामचन्द्र क्या मेरा उद्धार न करेंगे ॥ १४ ॥

कामं मध्ये समुद्रस्य लङ्केयं दुष्प्रधर्षणा।
न तु राघवबाणानां गतिरोधीह विद्यते ॥ १५ ॥

यद्यपि यह लङ्का समुद्र के बीच में होने के कारण इसमें बाहिर से किसी का आना सहज नहीं है, तथापि श्रीरामचन्द्र जी के बाणों की गति को कौन रोक सकता है ॥ १५ ॥

---

1 नाभिपद्यते—न रक्षति। (गो०)

किंतु तत्कारणं येन रामो दृढपराक्रमः ।
रक्षसापहृतां भार्यामिष्टां नाभ्यवपद्यते ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी दृढ़पराक्रमी हो कर भी, राक्षस द्वारा हरी हुई अपनी प्यारी पत्नी का उद्धार नहीं करते, इसका कारण क्या है ॥ १६ ॥

इहस्थां मां न जानीते शङ्के लक्ष्मणपूर्वजः ।
जानन्नपि हि तेजस्वी धर्षणं मर्षयिष्यति ॥ १७ ॥

इसका कारण यही हो सकता है कि, कदाचित् लक्ष्मण के ज्येष्ठ भाई श्रीरामचन्द्र को अभी यह मालूम नहीं हो पाया कि, मैं लङ्का में बंदी हूँ। यदि वे यह जानते होते, तो क्या ऐसे तेजस्वी हो कर, वे इस प्रकार का अपमान कभी सह सकते थे ॥ १७ ॥

हृतेति योऽधिगत्वा मां राघवाय निवेदयेत् ।
गृध्रराजोऽपि स रणे रावणेन निपातितः ॥ १८ ॥

जो जटायु हरे जाने का संवाद श्रीरामचन्द्र जी को दे सकता था; उस गृध्रराज जटायु को भी तो रावण ने युद्ध में मार डाला ॥ १८ ॥

कृतं कर्म महत्तेन मां तथाभ्यवपद्यता ।
तिष्ठता रावणद्वन्द्वे वृद्धेनापि जटायुषा ॥ १९ ॥

जटायु ने बड़ा भारी काम किया था। उसने वृद्ध हो कर भी मुझे छुड़ाने के लिये रावण से द्वन्द्वयुद्ध किया ॥ १९ ॥

यदि मामिह जानीयाद्वर्तमानां स राघवः ।
अद्य बाणैरभिक्रुद्धः कुर्याल्लोकमराक्षसम् ॥ २० ॥

अगर श्रीरामचन्द्र को मेरा यहाँ रहना मालूम पड़ जाय; तो वे आज ही क्रुद्ध हो सारे लोकों को अपने बाणों से राक्षसशून्य कर डालें ॥ २० ॥

*निर्दहेच्च पुरीं लङ्कां शोषयेच्च महोदधिम् ।
रावणस्य च नीचस्य कीर्त्तिं नाम च नाशयेत् ॥ २१ ॥

वे समुद्र को सुखा कर लङ्का को भस्म कर डालें और इस नीच रावण का नाम निशान तक न रहने दें ॥ २१ ॥

ततो निहतनाथानां राक्षसीनां गृहे गृहे ।
यथाहमेवं रुदती तथा भूयो न संशयः ॥ २२ ॥

तब वे राक्षसियाँ जिनके पति मारे जाँय, लङ्का के प्रत्येक घर में, मेरी तरह निस्सन्देह रोवें ॥ २२ ॥

अन्विष्य रक्षसां लङ्कां कुर्याद्रामः सलक्ष्मणः ।
न हि ताभ्यां रिपुर्दृष्टो मुहूर्तमपि जीवति ॥ २३ ॥

मुझे विश्वास है कि, लङ्का का पता लगा कर, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण शत्रु का नाश अवश्य करेंगे। क्योंकि उनके सामने पड़ने पर उनका शत्रु एक क्षण भी जीता नहीं रह सकता ॥ २३ ॥

चिताधूमाकुलपथा गृध्रमण्डलसङ्कुला ।
अचिरेण तु लङ्केयं श्मशानसदृशी भवेत् ॥ २४ ॥

थोड़े ही दिनों के भीतर यह लङ्का चिता के धुँए से पूर्ण और गीधों के दलों से युक्त हो कर, श्मशान जैसी बन जायगी ॥ २४ ॥

अचिरेणैव कालेन प्राप्स्याम्येव मनोरथम् ।
†दुष्प्रस्थानोऽयमाभाति सर्वेषां वो विपर्ययम् ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे—"विधमेच्च।" † पाठान्तरे—"दुष्प्रस्थानोयमाख्याति।"

थोड़े ही दिनों बाद मेरा यह मनोरथ सफल होगा। क्योंकि जहाँ सब कुमार्गगामी होते हैं; वहाँ नाश होता ही है ॥ २५ ॥

यादृशानीह दृश्यन्ते लङ्कायामशुभानि वै।
अचिरेणैव कालेन भविष्यति हतप्रभा ॥ २६ ॥

किन्तु इस समय लङ्का में जैसे अशकुन देख पड़ रहे हैं, उनको देखते हुए, अब बहुत शीघ्र यह लङ्कापुरी निस्तेज अर्थात् नष्ट हो जायगी ॥ २६ ॥

नूनं लङ्का हते पापे रावणे राक्षसाधमे।
शोषं[1] यास्यति दुर्धर्षा प्रमदा विधवा यथा ॥ २७ ॥

इस पापात्मा रावण के मारे जाने पर निस्सन्देह यह लङ्का दुर्धर्ष होने पर भी विधवा स्त्री की तरह नष्ट हो जायगी ॥ २७ ॥

पुण्योत्सवसमुत्था च नष्टभर्त्री सराक्षसी।
भविष्यति पुरी लङ्का नष्टभर्त्री यथाऽङ्गना ॥ २८ ॥

यद्यपि इस समय इस लङ्का नगरी में नित्य ही अच्छे अच्छे उत्सव हुआ करते हैं, तथापि जब रावण मारा जायगा तब यह उस स्त्री की तरह देख पड़ेगी, जिसका पति मर गया हो ॥ २८ ॥

नूनं राक्षसकन्यानां रुदन्तीनां गृहे गृहे।
श्रोष्यामि न चिरादेव दुःखार्तानामिह ध्वनिम् ॥ २९ ॥

निश्चय ही लङ्का के घर घर में राक्षस कन्याएँ रोवेंगी। मैं अब शीघ्र ही उन दुःखियारियों का रोना सुनूँगी ॥ २९ ॥

---

१ शोषं—विनाशं। (गो०)

सान्धकारा हतद्योता हतराक्षसपुङ्गवा ।
भविष्यति पुरी लङ्का निर्दग्धा रामसायकैः ॥ ३० ॥

जब श्रीरामचन्द्र के वाण इस लङ्का को भस्म कर डालेंगे, तब यह अन्धकारमय, हतप्रभ और वीरराक्षसशून्य हो जायगी ॥ ३० ॥

यदि नाम स शूरो मां रामो रक्तान्तलोचनः ।
जानीयाद्वर्तमानां हि रावणस्य निवेशने ॥ ३१ ॥

अरुणनयन वीर श्रीरामचन्द्र के पास, रावण के घर में मेरे बंदी होने का संवाद पहुँचने भर की देर है ॥ ३१ ॥

अनेन तु नृशंसेन रावणेनाधमेन मे ।
समयो यस्तु निर्दिष्टस्तस्य कालोऽयमागतः ॥ ३२ ॥

हे राक्षसियों! इस दुष्ट और अधम रावण ने मेरे लिये जो अवधि निश्चित की थी; वह भी अब पूरी होने ही वाली है ॥ ३२ ॥

अकार्यं ये न जानन्ति नैर्ऋताः पापकारिणः ।
अधर्मात्तु महोत्पातो भविष्यति हि साम्प्रतम् ॥ ३३ ॥

ये पापी राक्षस, धर्म अधर्म नहीं जानते, सो (मेरे वध रूपी) महापाप से, अब बड़ा भारी उत्पात होने वाला है ॥ ३३ ॥

नैते धर्मं विजानन्ति राक्षसाः पिशिताशनाः ।
ध्रुवं मां प्रातराशार्थे राक्षसः कल्पयिष्यति ॥ ३४ ॥

इन मांसभक्षी राक्षसों को धर्म का तत्त्व कुछ भी नहीं मालूम; अतः रावण निश्चय ही (जैसा कि वह कह गया है) अपने कलेवा के लिये मेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े करवावेगा ॥ ३४ ॥

साऽहं कथं *करिष्यामि तं विना प्रियदर्शनम् ।
रामं रक्तान्तनयनमपश्यन्ती सुदुःखिता ॥ ३५ ॥

सो मैं विना श्रीरामचन्द्र जी के क्या करूँगी। रक्तान्तनयन श्रीरामचन्द्र जी के देखे विना मुझे बड़ा दुःख हो रहा है ॥ ३५ ॥

यदि कश्चित्प्रदाता मे विषस्याद्य भवेदिह ।
क्षिप्रं वैवस्वतं देवं पश्येयं पतिना विना ॥ ३६ ॥

यदि इस समय कोई मुझे विष दे देता ; तो मैं अपने पति के वियोग में शीघ्र ही यमराज के दर्शन करती ॥ ३६ ॥

नाजानाज्जीवतीं रामः स मां लक्ष्मणपूर्वजः ।
जानन्तौ तौ न कुर्यातां नोर्व्यां हि मम मार्गणम् ॥ ३७ ॥

हा ! श्रीरामचन्द्र जी को यह नहीं मालूम कि, मैं अभी जीवित हूँ ; नहीं तो वे मेरे लिये सारी पृथिवी ढूँढ डालते ॥ ३७ ॥

नूनं ममैव शोकेन स वीरो लक्ष्मणाग्रजः ।
देवलोकमितो यातस्त्यक्त्वा देहं महीतले ॥ ३८ ॥

मुझे तो यह निश्चय जान पड़ता है कि, मेरे वियोगजन्य शोक से पीड़ित हो, इस पृथिवी पर अपना शरीर छोड़, वे लक्ष्मण के बड़े भाई वीर श्रीरामचन्द्र जी परलोक सिधार गये ॥ ३८ ॥

धन्या देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
मम पश्यन्ति ये नाथं रामं राजीवलोचनम् ॥ ३९ ॥

अब तो स्वर्गलोकवासी वे देवता, वे गन्धर्व, वे सिद्ध और वे देवर्षि धन्य हैं, जो मेरे कमलनयन स्वामी श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करते होंगे ॥ ३९ ॥

---

* पाठान्तरे—"चरिष्यामि।"

अथवा न हि तस्यार्थो धर्मकामस्य धीमतः ।
मया रामस्य राजर्षेर्भार्यया परमात्मनः[1] ॥ ४० ॥

अथवा केवल धर्म की चाहना रखने वाले, बुद्धिमान, उत्कृष्ट स्वभाव वाले एवं राजर्षि श्रीरामचन्द्र को मुझ भार्या से मतलब ही क्या है ॥ ४० ॥

दृश्यमाने भवेत्प्रीतिः सौहृदं नास्त्यपश्यतः ।
नाशयन्ति कृतघ्नास्तु न रामो नाशयिष्यति ॥ ४१ ॥

क्योंकि, सुहृद्भाव और प्रीति तो मुँह देखे की हुआ करती है। पोठपीछे कौन किसी को चाहता है। किन्तु यह रीति तो कृतघ्नों की है। श्रीरामचन्द्र के मन में पीठपीछे भी मेरी प्रीति कभी नष्ट नहीं होगी ॥ ४१ ॥

किं वा मय्यगुणाः केचित्किं वा भाग्यक्षयो मम ।
या हि सीता वरार्हेण हीना रामेण भामिनी ॥ ४२ ॥

हाँ यह हो सकता है कि, मुझमें कोई दोष हो या मेरे सौभाग्य का अन्त ही आ पहुँचा हो। नहीं तो सीता जैसे श्रेष्ठ पदार्थ को अङ्गीकार करने वाले श्रीरामचन्द्र जी का मुझसे वियोग ही क्यों होता ॥ ४२ ॥

श्रेयो मे जीवितान्मर्तुं विहीनाया महात्मनः ।
रामादक्लिष्टचारित्राच्छूराच्छत्रुनिवर्हणात् ॥ ४३ ॥

श्रेष्ठचरित्र वाले, महाबली, शत्रुहन्ता महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से जब मेरा वियोग हो गया; तब मेरे लिये ऐसे दुःख भरे जीने से मर जाना ही अच्छा है ॥ ४३ ॥

---

१ परमात्मनः—उत्कृष्टस्वभावस्य । (गो०)

अथवा न्यस्तशस्त्रौ तौ वने मूलफलाशिनौ ।
भ्रातरौ हि नरश्रेष्ठौ संवृत्तौ वनगोचरौ ॥ ४४ ॥

या यह भी हो सकता है कि, वे दोनों भाई शस्त्र त्याग कर फल-मूल खाते और मुनिवृत्ति धारण कर, वन में घूमते फिरते हों ॥४४॥

अथवा राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
छद्मना सादितौ शूरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४५ ॥

अथवा दुष्ट राक्षसराज रावण ने उन दोनों भाई रामलक्ष्मण को धोखे में मरवा डाला हो ॥ ४५ ॥

साऽहमेवं गते काले मर्तुमिच्छामि सर्वथा ।
न च मे विहितो मृत्युरस्मिन्दुःखेऽपि वर्तति ॥ ४६ ॥

ऐसे सङ्कट के समय, मैं तो मन से मरना पसन्द करती हूँ। किन्तु ऐसे दुःख के समय में भी मेरी मौत मेरे भाग्य में लिखी ही नहीं ॥ ४६ ॥

धन्याः खलु महात्मानो मुनयस्त्यक्तकिल्विषाः ।
जितात्मानो महाभागा येषां न स्तः प्रियाप्रिये ॥ ४७ ॥

निश्चय ही वे पापरहित जितेन्द्रिय महाभाग मुनिगण धन्य हैं, जिनका न तो कोई प्रिय (मित्र) है और न अप्रिय (शत्रु) अर्थात् जो रागद्वेष से परे हैं ॥ ४७ ॥

प्रियान्न सम्भवेद्दुःखमप्रियादधिकं भयम् ।
ताभ्यां हि ये वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम् ॥ ४८ ॥

जिनको अपने किसी प्रियजन के लिये न तो कभी दुःखी होना पड़ता और न किसी अपने अप्रियजन से किसी तरह का खटका

ही रहता है। जो इन दोनों अर्थात् प्रिय अप्रिय—रागद्वेष से छूट गये हैं, उन महात्माओं को मेरा प्रणाम है ॥ ४८ ॥

साऽहं त्यक्ता प्रियार्हेण रामेण विदितात्मना ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि पापस्य रावणस्य गता वशम् ॥ ४९ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

एक तो उन प्रसिद्ध (अथवा आत्मज्ञानी) प्यारे श्रीराम ने मुझे बिसार दिया, दूसरे मैं पापी रावण के पंजे में आ फँसी—अतः अब तो मैं प्राण त्यागती हूँ ॥ ४९ ॥

सुन्दरकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तविंशः सर्गः

—※—

इत्युक्ताः सीतया घोरा राक्षस्यः क्रोधमूर्छिताः ।
काश्चिज्जग्मुस्तदाख्यातुं रावणस्य तरस्विनः ॥ १ ॥

सीता की ये बातें सुन, वे राक्षसी बहुत कुपित हुईं और उनमें से कोई कोई तो इन बातों को कहने के लिये बलवान् रावण के पास चली गयीं ॥ १ ॥

ततः सीतामुपागम्य राक्षस्यो घोरदर्शनाः ।
पुनः परुषमेकार्थमनर्थार्थमथाब्रुवन् ॥ २ ॥

और जो रह गयीं, वे भयङ्कररूप वाली राक्षसियाँ, सीता के पास जा, पूर्ववत् कठोर और बुरे बुरे वचन कहने लगीं ॥ २ ॥

अद्येदानीं तवानार्ये सीते पापविनिश्चये ।
राक्षस्यो *भक्षयिष्यन्ति मांसमेतद्यथासुखम् ॥ ३ ॥

वे बोलीं, हे पापिन ! हे दुर्बुद्धे ! आज अभी ये सब राक्षसियाँ मज़े में तेरे मांस को खा डालेंगी ॥ ३ ॥

सीतां ताभिरनार्याभिर्दृष्ट्वा सन्तर्जितां तदा ।
राक्षसी त्रिजटा[1] वृद्धा शयाना वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

इन सब दयारहित राक्षसियों को सीता जी के प्रति तर्जन करते देख, त्रिजटा नामक एक वृद्धा राक्षसी लेटे लेटे ही कहने लगी ॥ ४ ॥

आत्मानं खादतानार्या न सीतां भक्षयिष्यथ ।
जनकस्य सुतामिष्टां स्नुषां दशरथस्य च ॥ ५ ॥

अरी दुष्टाओ ! तुम अपने आपको खाओ तो भले ही खा डालो, पर जनक की दुलारी और महाराज दशरथ की बहू सीता को, तुम नहीं खाने पाओगी ॥ ५ ॥

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः ।
राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या †जयाय च ॥ ६ ॥

क्योंकि आज मैंने एक बड़ा भयङ्कर और रोमाञ्चकारी स्वप्न देखा है । जिसका फल है, राक्षसों का नाश और इसके पति की विजय ॥ ६ ॥

एवमुक्तास्त्रिजटया राक्षस्यः क्रोधमूर्छिताः ।
सर्वा एवाब्रुवन्भीतास्त्रिजटां तामिदं वचः ॥ ७ ॥

---

१ त्रिजटा—विभीषणपुत्री । (गो०) * पाठान्तरे—" भक्षयिष्यामो । "
† पाठान्तरे—" भवाय । "

त्रिजटा के ये वचन सुन, उन राक्षसियों का क्रोध दूर हो गया और वे सब की सब भयभीत हो त्रिजटा से यह बोलीं ॥ ७ ॥

कथयस्व त्वया दृष्टः स्वप्नोऽयं कीदृशो निशि ।
तासां तु वचनं श्रुत्वा राक्षसीनां *मुखोद्गतम् ॥ ८ ॥

उवाच वचनं काले त्रिजटा स्वप्नसंश्रितम् ।
गजदन्तमयीं दिव्यां शिविकामन्तरिक्षगाम् ॥ ९ ॥

बतला तो रात को तूने कैसा स्वप्न देखा है । जब उन राक्षसियों ने इस प्रकार पूँछा : तब उस समय त्रिजटा उनको अपने स्वप्न का वृत्तान्त बतलाने लगी । वह बोली, मैंने स्वप्न में देखा है कि, हाथीदाँत की बनी और आकाशचारिणी पालकी में, ॥ ८ ॥ ९ ॥

युक्तां हंससहस्रेण स्वयमास्थाय राघवः ।
शुक्लमाल्याम्बरधरो लक्ष्मणेन सहागतः ॥ १० ॥

जिसमें सहस्रों हंस जुते हुए हैं; श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित, सफेद वस्त्र और सफेद पुष्पमालाएँ पहिने हुए बैठे हैं और लङ्का में आये हैं ॥ १० ॥

स्वप्ने चाद्य मया दृष्टा सीता शुक्लाम्बरावृता ।
सागरेण परिक्षिप्तं श्वेतं पर्वतमास्थिता ॥ ११ ॥

आज स्वप्न में मैंने सीता को सफेद साड़ी पहिने हुए और समुद्र से घिरे हुए एक सफेद पर्वत के ऊपर बैठे हुए देखा है ॥ ११ ॥

रामेण सङ्गता सीता भास्करेण प्रभा यथा ।
राघवश्च मया दृष्टश्चतुर्दन्तं महागजम् ॥ १२ ॥

* पाठान्तरे—"मुखाच्युतम् ।"

आरूढः शैलसङ्काशं चचार सहलक्ष्मणः ।
ततस्तौ नरशार्दूलौ दीप्यमानौ स्वतेजसा ॥ १३ ॥

(उस पर्वत के ऊपर) श्रीरामचन्द्र जी के साथ सीता जी वैसे ही वैठी हैं, जैसे सूर्य के साथ प्रभा। फिर मैंने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी चार दांतों वाले और पर्वत के समान डीलडौल वाले एक बड़े गज की पीठ पर लक्ष्मण सहित सवार हो चले जाते हैं। फिर देखा है कि, वे दोनों नरसिंह, जो अपने तेज से दमक रहे हैं ; ॥ १२ ॥ १३ ॥

शुक्लमाल्याम्बरधरौ जानकीं पर्युपस्थितौ ।
ततस्तस्य नगस्याग्रे ह्याकाशस्थस्य दन्तिनः ॥ १४ ॥

सफेद वस्त्रों और सफेद फूल की मालाओं को पहिने हुए जानकी के निकट आये हुए हैं। फिर देखा कि, उस पर्वत के शिखर पर आकाश में खड़े हाथी के ऊपर ॥ १४ ॥

भर्त्रा परिगृहीतस्य जानकी स्कन्धमाश्रिता ।
भर्तुरङ्कात्समुत्पत्य ततः कमललोचना ॥ १५ ॥

जानकी जी सवार हुई हैं। उस गज को इनके पति श्रीरामचन्द्र जी पकड़े हुए हैं। तदनन्तर कमलनयनी जानकी गोदी से उछली हैं। उस समय मैंने देखा कि, ॥ १५ ॥

चन्द्रसूर्यौ मया दृष्टा पाणिना परिमार्जती ।
ततस्ताभ्यां कुमाराभ्यामास्थितः स गजोत्तमः ॥ १६ ॥

सीतया च विशालाक्ष्या लङ्काया उपरि स्थितः ।
पाण्डुरर्षभयुक्तेन रथेनाष्टयुजा स्वयम् ॥ १७ ॥

जानकी सूर्य और चन्द्रमा को अपने दोनों हाथों से पोंछ रही हैं। तदनन्तर विशालाक्षी सीता सहित उन दोनों राजकुमारों को अपनी पीठ पर चढ़ा वह उत्तम गज आ कर लङ्का के ऊपर ठहर गया है। फिर देखा कि, आठ बैलों से युक्त रथ में स्वयं ॥ १६ ॥ १७॥

इहोपयातः काकुत्स्थः सीतया सह भार्यया ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह वीर्यवान् ॥ १८ ॥

आप बैठे और अपनी भार्या सीता को साथ ले यहाँ आये हैं। फिर बलवान श्रीरामचन्द्र, अपने भाई लक्ष्मण और भार्या सीता सहित, ॥ १८ ॥

आरुह्य पुष्पकं दिव्यं विमानं सूर्यसन्निभम् ।
उत्तरां दिशमालोक्य जगाम पुरुषोत्तमः ॥ १९ ॥

सूर्य की तरह दमकने हुए पुष्पक विमान पर सवार हो, उत्तर की ओर जाते हुए देख पड़े ॥ १६ ॥

एवं स्वप्ने मया दृष्टो रामो विष्णुपराक्रमः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह राघवः ॥ २० ॥

इस प्रकार स्वप्न में मैंने अपनी पत्नी सीता सहित विष्णु भगवान् के सदृश पराक्रमी श्रीरामचन्द्र को तथा उनके भाई लक्ष्मण को देखा है ॥ २० ॥

न हि रामो महातेजाः शक्यो जेतुं सुरासुरैः ।
राक्षसैर्वाऽपि चान्यैर्वा स्वर्गः पापजनैरिव ॥ २१ ॥

जैसे पापियों के लिये स्वर्ग में जाना असम्भव है, वैसे ही देव दानव अथवा राक्षसों के लिये श्रीरामचन्द्र का जीतना असम्भव है ॥ २१ ॥

रावणश्च मया दृष्टः क्षितौ तैलसमुक्षितः ।
रक्तवासाः पिबन्मत्तः करवीरकृतस्रजः ॥ २२ ॥

मैंने रावण को भी स्वप्न में देखा है कि, वह तेल में डूबा हुआ ज़मीन पर लोट रहा है। शराब पिये उन्मत्त हुआ, लाल कपड़े और कनेर के फूलों की माला पहिने हुए ॥ २२ ॥

विमानात्पुष्पकादद्य रावणः पतितो भुवि ।
कृष्यमाणः स्त्रिया दृष्टो मुण्डः कृष्णाम्बरः पुनः ॥ २३ ॥

पुष्पक विमान से रावण पृथिवी पर आ गिरा है। फिर देखा है कि, उसको पकड़ कर स्त्रियाँ खींच रही हैं। उसका मूँड़ मुड़ा हुआ है और वह काले कपड़े पहिने हुए है ॥ २३ ॥

रथेन खरयुक्तेन रक्तमाल्यानुलेपनः ।
पिबंस्तैलं हसन्नृत्यन्भ्रान्तचित्ताकुलेन्द्रियः ॥ २४ ॥

वह लाल माला पहिने और लालचन्दन लगाये गधों के रथ में बैठा है। फिर देखा है कि, वह तेल पी रहा है, हँस रहा है, नाच रहा है और भ्रान्त चित्त हो विकल हो रहा है ॥ २४ ॥

गर्दभेन ययौ शीघ्रं दक्षिणां दिशमास्थितः ।
पुनरेव मया दृष्टो रावणो राक्षसेश्वरः ॥ २५ ॥

और गधे पर सवार हो जल्दी जल्दी दक्षिण की ओर जा रहा है। फिर मैंने राक्षसराज रावण को देखा कि, ॥ २५ ॥

पतितोऽवाक्छिरा भूमौ गर्दभाद्भयमोहितः ।
सहसोत्थाय सम्भ्रान्तो भयार्तो मदविह्वलः ॥ २६ ॥

वह गधे पर से नीचे झुल कर भूमि पर गिर पड़ा है और भयभीत हो विकल हो रहा है। फिर तुरन्त उठ कर विकल होता हुआ, भयभीत और मतवाला ॥ २६ ॥

उन्मत्त इव दिग्वासा दुर्वाक्यं *प्रलपन्मुहुः ।
दुर्गन्धं दुःसहं घोरं तिमिरं नरकोपमम् ॥ २७ ॥

रावण, पागल की तरह नग्न हो बार बार दुर्वाक्य कहता हुआ प्रलाप कर रहा है। दुस्सह दुर्गन्ध से युक्त, भयङ्कर अन्धकार से व्याप्त नरक की तरह ॥ २७ ॥

मलपङ्कं प्रविश्याशु मग्नस्तत्र स रावणः ।
कण्ठे बद्ध्वा दशग्रीवं प्रमदा रक्तवासिनी ॥ २८ ॥
काली कर्दमलिप्ताङ्गी दिशं याम्यां प्रकर्षति ।
एवं तत्र मया दृष्टः कुम्भकर्णो निशाचरः ॥ २९ ॥

मल के कीचड़ में जा कर डूब गया है। फिर देखा कि, लाल वस्त्र पहिने हुए विकटाकार कोई स्त्री जिसके शरीर में कीचड़ लपटी हुई है, गले में रस्सी बांध रावण को दक्षिण की ओर खींच कर लिये जा रही है। इसी प्रकार मैंने निशाचर कुम्भकर्ण को भी देखा है ॥ २८ ॥ २९ ॥

रावणस्य सुताः सर्वे मुण्डास्तैलसमुक्षिताः ।
वराहेण दशग्रीवः शिंशुमारेण चेन्द्रजित् ॥ ३० ॥

रावण के समस्त पुत्रों को मूँड़ मुड़ाये और तेल में डूबा हुआ देखा है। फिर मैंने रावण को शूकर पर, मेघनाद को सूंस पर ॥३०॥

---

*पाठान्तरे—" प्रलपन्बहु । "

उष्ट्रेण कुम्भकर्णश्च प्रयातो दक्षिणां दिशम् ।
एकस्तत्र मया दृष्टः श्वेतच्छत्रो विभीषणः ॥ ३१ ॥

और कुम्भकर्ण को ऊँट पर सवार हो कर दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए देखा है। मैंने केवल विभीषण को सफेद छाता ताने, ॥ ३१ ॥

शुक्लमाल्याम्बरधरः शुक्लगन्धानुलेपनः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्नृत्तगीतैरलंकृतः ॥ ३२ ॥

सफेद फूलों की माला तथा सफेद वस्त्र धारण किये और सफेद सुगन्धित चन्दन लगाये हुए देखा है और देखा है कि, उनके सामने शङ्ख दुन्दुभी बज रही हैं और नाचना गाना हो रहा है ॥ ३२ ॥

आरुह्य शैलसङ्काशं मेघस्तनितनिःस्वनम् ।
चतुर्दन्तं गजं दिव्यमास्ते तत्र विभीषणः ॥ ३३ ॥

फिर विभीषण पर्वत के समान आकारवाले मेघ की तरह गर्जने वाले चार दांतों वाले दिव्य हाथी पर सवार हैं ॥ ३३ ॥

चतुर्भिः सचिवैः सार्धं वैहायसमुपस्थितः ।
समाजश्च मया दृष्टो गीतवादित्रनिःस्वनः ॥ ३४ ॥

उसके साथ उसके चार मंत्री हैं और वह आकाशमार्ग में स्थित है। राजसभा में मैंने गाना बजाना होते हुए देखा है ॥ ३४ ॥

पिबतां रक्तमाल्यानां रक्षसां रक्तवाससाम् ।
लङ्का चेयं पुरी रम्या सवाजिरथकुञ्जरा ॥ ३५ ॥

और देखा है कि, लङ्कावासी समस्त राक्षस मद पी रहे हैं, लाल फूलों की मालाएँ और लाल ही रंग के कपड़े पहिने हुए

हैं। फिर मैंने देखा कि, यह रमणीक लङ्कापुरी घोड़ों, रथों और हाथियों सहित ॥ ३५ ॥

सागरे पतिता दृष्टा भग्नगोपुरतोरणा ।
लङ्का दृष्टा मया स्वप्ने रावणेनाभिरक्षिता ॥ ३६ ॥

दग्धा रामस्य दूतेन वानरेण तरस्विना ।
पीत्वा तैलं प्रनृत्ताश्च प्रहसन्त्यो महास्वनाः ॥ ३७ ॥

लङ्कायां भस्मरूक्षायां प्रविष्टा राक्षसस्त्रियः ।
कुम्भकर्णादयश्चेमे सर्वे राक्षसपुङ्गवाः ॥ ३८ ॥

समुद्र में डूब गयी है और उसके गोपुरद्वार और तोरणद्वार टूट फूट गये हैं। फिर मैंने स्वप्न में देखा है कि, रावण द्वारा रक्षित लङ्का, किसी बलवान श्रीरामचन्द्र जी के दूत वानर ने जला कर भस्म कर डाली है। राक्षसों की स्त्रियों को मैंने देखा है कि, वे शरीर में भस्म लगाये तेल पी रही हैं और मतवाली हो इस लङ्का में बड़े ज़ोर से हँस रही हैं। फिर कुम्भकर्ण आदि यहाँ के प्रधान प्रधान समस्त राक्षस ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

रक्तं निवसनं गृह्य प्रविष्टा गोमयह्रदे ।
अपगच्छत पश्यध्वं सीतामाप स राघवः ॥ ३९ ॥

लाल कपड़े पहिने हुए गोबर भरे कुण्ड में गिर पड़े हैं। सो हे राक्षसियों! तुम सब यहाँ से चली जाओ। देखना सीता, श्रीरामचन्द्र जी को शीघ्र मिलती है ॥ ३९ ॥

घातयेत्परमामर्षी सर्वैः सार्धं हि राक्षसैः ।
प्रियां बहुमतां भार्यां वनवासमनुव्रताम् ॥ ४० ॥

यदि तुम लोगों ने ऐसा न किया, तो कहीं वे परमक्रुद्ध हो राक्षसों के साथ साथ तुम्हें भी मार न डालें। मेरी समझ में तो यह आता है कि, अपनी ऐसी प्यारी अत्यन्त कृपापात्री और वनवास में भी साथ देने वाली भार्या की ॥ ४० ॥

भर्त्सितां तर्जितां वाऽपि नानुमंस्यति राघवः ।
तदलं क्रूरवाक्यैर्वः सान्त्वमेवाभिधीयताम् ॥ ४१ ॥

तुम्हारे द्वारा दुर्दशा की गई देख, श्रीरामचन्द्र जी तुमको कभी क्षमा नहीं करेंगे। अतः तुम्हें उचित है कि, अब सीता से कठोर वचन मत कहो और अब उससे ऐसी बातें कहो, जिससे उसे धीरज बंधे ॥ ४१ ॥

अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते ।
यस्यामेवंविधः स्वप्नो दुःखितायां प्रदृश्यते ॥ ४२ ॥

मेरी तो यह इच्छा है कि, हम सब मिल कर, सीता जी से अनुग्रह की प्रार्थना करें। क्योंकि जिस दुखियारी स्त्री के बारे में ऐसा स्वप्न देखा जाता है कि, ॥ ४२ ॥

सा दुःखैर्विविधैर्मुक्ता प्रियं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।
भर्त्सितामपि याचध्वं राक्षस्यः किं विवक्षया ॥ ४३ ॥

वह विविध प्रकार के दुःखों से छूट कर अपने प्यारे पति को पाती है। हे राक्षसियों! यद्यपि तुम लोगों ने इसको बहुत डराया धमकाया है, तो भी तुम इस बात की चिन्ता मत करो ॥ ४३ ॥

राघवाद्धि भयं घोरं राक्षसानामुपस्थितम् ।
प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ॥ ४४ ॥

अब राक्षसों को श्रीरामचन्द्र से बड़ा भय आ पहुँचा है। जब यह जनकनन्दिनी प्रणाम करने से प्रसन्न हो जायगी ॥ ४४ ॥

अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात् ।
अपि चास्या विशालाक्ष्या न किञ्चिदुपलक्षये ॥ ४५ ॥
विरूपमपि चाङ्गेषु सुसूक्ष्ममपि लक्षणम् ।
छायावैगुण्यमात्रं तु शङ्के दुःखमुपस्थितम् ॥ ४६ ॥

तब राक्षसियों को इस महाभय से बचाने में यह समर्थ होंगी। (तुमने इतना डराया धमकाया तिस पर भी) इन विशालनयनी सीता के शरीर में दुःख की रेख भी तो नहीं देख पड़ती और न इनके अंग विरूप ही देख पड़ते हैं। इनकी मलिन कान्ति देखने से अवश्य इनके दुःखी होने का सन्देह होता है ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

अदुःखार्हामिमां देवीं वैहायसमुपस्थिताम् ।
अर्थसिद्धिं तु वैदेह्याः पश्याम्यहमुपस्थिताम् ॥ ४७ ॥

ये देवी दुःख नहीं सह सकतीं। मैंने स्वप्न में भी इनको विमान में स्थित देखा है। इससे मुझे जान पड़ता है कि, इनके कार्य की सिद्धि निश्चित होने वाली है ॥ ४७ ॥

राक्षसेन्द्रविनाशं च विजयं राघवस्य च ।
निमित्तभूतमेतत्तु श्रोतुमस्या महत्प्रियम् ॥ ४८ ॥

और रावण का नाश तथा श्रीरामचन्द्र की जीत भी अवश्य होने वाली है। एक और कारण भी है, जिससे इनका शीघ्र एक बड़ा सुखसंवाद सुनना निश्चित जान पड़ता है ॥ ४८ ॥

---

* पाठान्तरे—" राक्षसीसंहतो । "

दृश्यते च स्फुरच्चक्षुः पद्मपत्रमिवायतम् ।
ईषच्च हृषितो वास्या दक्षिणाया ह्यदक्षिणः ।
अकस्मादेव वैदेह्या वाहुरेकः प्रकम्पते ॥ ४९ ॥

वह यह कि, कमल के तुल्य विशाल इनका, वाम नेत्र फरक रहा है और इन परम प्रवीणा जानकी जी की पुलकायमान केवल वामभुजा भी अकस्मात् फरक रही है ॥ ४६ ॥

करेणुहस्तप्रतिमः सव्यश्चोरुरनुत्तमः ।
वेपमानः सूचयति राघवं पुरतः स्थितम् ॥ ५० ॥

और इनकी हाथी की सूँड़ की तरह उत्तर वाम जाँघ का फरकना यह प्रकट करता है कि, श्रीरामचन्द्र इनके पास ही खड़े हैं ॥ ५० ॥

[1]पक्षी च *शाखानिलयं प्रविष्टः
[2]पुनः पुनश्चोत्तमसान्त्ववादी ।
सुस्वागतां वाचमुदीरयानः
पुनः पुनश्चोदयतीव हृष्टः ॥ ५१ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

वृक्ष की डाली पर बैठा हुआ यह पिङ्गलिका (मादा सारस) जो प्रसन्न हो बारबार मधुर वाणी से बोल रही है, सो मानों श्रीरामचन्द्र जी के आगमन की सूचना दे रही है ॥ ५१ ॥

सुन्दरकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

---

१ पक्षी—पिङ्गलिका । (गो०) २ पुनः पुनश्चोत्तमसान्त्ववादी—भूयो भूयो मधुरवादी । (गो०) * पाठान्तरे—" शाखानिलयः । "

अष्टाविंशः सर्गः

—※—

सा राक्षसेन्द्रस्य वचो निशम्य
तद्रावणस्याप्रियमप्रियार्ता ।
सीता वितत्रास यथा वनान्ते
सिंहाभिपन्ना गजराजकन्या ॥ १ ॥

त्रिजटा के ऐसे वचन सुनने पर भी सीता जी को रावण की धमकी की याद आगयी। इसलिये वह वन में सिंह से घिरी हुई गजराजकन्या की तरह भयभीत हो गयी ॥ १ ॥

सा राक्षसीमध्यगता च भीरु-
र्वाग्भिर्भृशं रावणतर्जिता च ।
कान्तारमध्ये विजने विसृष्टा
बालेव कन्या विललाप सीता ॥ २ ॥

राक्षसियों में फँसी और रावण से डरायी धमकायी हुई सीता, निर्जन वन में छोड़ी हुई एक लड़की की तरह विलाप करने लगी ॥ २ ॥

सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके
नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः ।
यत्राहमेवं परिभर्त्स्यमाना
जीवामि किञ्चित्क्षणमप्यपुण्या ॥ ३ ॥

बड़े ही दुःख की बात है। सज्जनों का यह कथन सत्य ही है कि, विना समय आये कोई नहीं मरता। क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो इतनी डरायी धमकायी और तिरस्कार की जाने पर, मैं पापिन (क्या) एक क्षण भी जीती जागती बनी रह सकती थी॥ ३॥

सुखाद्विहीनं बहुदुःखपूर्णम्-
इदं तु नूनं हृदयं स्थिरं मे।
विशीर्यते यन्न सहस्रधाऽद्य
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य॥ ४॥

सुखरहित और दुःखपूर्ण मेरा हृदय निश्चय ही बड़ा कठोर है। यदि यह ऐसा नहीं होता तो, वज्र से तोड़े गये पर्वतशिखर की तरह यह हज़ार टुकड़े क्यों नहीं हो गया॥ ४॥

नैवास्ति दोषो मम नूनमत्र
वध्याहमस्याप्रियदर्शनस्य।
[1]भावं न चास्याहमनुप्रदातुम्
अलं द्विजो मन्त्रमिवाद्विजाय॥ ५॥

निश्चय ही मुझे आत्महत्या का पाप नहीं होगा। क्योंकि अन्त में तो यह भयङ्कर राक्षस मुझे मार ही डालेगा। अतः इसके द्वारा मारी जाने की अपेक्षा स्वयं ही मर जाना अच्छा है। फिर जिस प्रकार ब्राह्मण शूद्र को वेद मन्त्र नहीं दे सकता, वैसे ही मैं अपना हृदय रावण को नहीं दे सकती (अर्थात् उसे नहीं चाह सकती)॥ ५॥

---

१ भावं—हृदयं। (गो०)

नूनं ममाङ्गान्यचिरादनार्यः
शस्त्रैः शितैश्छेत्स्यति राक्षसेन्द्रः ।
तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे
गर्भस्थजन्तोरिव शल्यकृन्तः ॥ ६ ॥

यह मुझे निश्चय मालूम है कि, लोकनाथ श्रीरामचन्द्र के आने के पूर्व ही यह राक्षसाधिपति शस्त्र से मेरे शरीर की बोटियाँ कर डालेगा; जैसे जर्राह गर्भ में रुके हुए बालक को टुकड़े टुकड़े कर काट डालता है ॥ ६ ॥

दुःखं बतेदं मम दुःखिताया
मासौ चिरायाधिगमिष्यतो द्वौ ।
बद्धस्य वध्यस्य तथा निशान्ते
राजापराधादिव तस्करस्य ॥ ७ ॥

मुझ चिरकालीन दुखियारी के लिये रावण की निर्दिष्ट की हुई अवधि के दो मास शीघ्र ही वैसे ही पूरे हो जायँगे, जैसे राजा से फांसी की आज्ञा पाये हुए कारागृह में रुद्ध चोर की फांसी का समय शीघ्र पूरा हो जाता है ॥ ७ ॥

हा राम हा लक्ष्मण हा सुमित्रे
हा राममातः सह मे जनन्या ।
एषा विपद्याम्यहमल्पभाग्या
महार्णवे नौरिव मूढवाता ॥ ८ ॥

हा राम! हा लक्ष्मण! हा सुमित्रे! हा कौशल्ये! हा मेरी माता! मैं अपने मन्दभाग्य के कारण वैसे ही नाश को प्राप्त होने वाली हूँ; जैसे महासागर में तूफान से नाव का नाश होता है ॥८॥

तरस्विनौ धारयता मृगस्य
सत्त्वेन रूपं मनुजेन्द्रपुत्रौ ।
नूनं विशस्तौ मम कारणात्तौ
सिंहर्षभौ द्वाविव वैद्युतेन ॥ ९ ॥

क्या निश्चय ही मृगरूपधारी उस राक्षस ने मेरे पीछे उन तेजस्वी और सिंहसम पराक्रमी दोनों राजपुत्रों को बिजली से मारे हुए की तरह मार डाला ॥ ९ ॥

नूनं स कालो मृगरूपधारी
मामल्पभाग्यां लुलुभे तदानीम् ।
यत्रार्यपुत्रं विससर्ज मूढा
रामानुजं लक्ष्मणपूर्वजं च ॥ १० ॥

मृगरूपधारी उस काल ने अवश्य ही मुझ मन्दभाग्यवाली की बुद्धि उस समय हर ली थी। तभी तो मुझ मूढ़बुद्धि वाली ने दोनों के दोनों राजकुमारों को—अर्थात् श्रीराम और लक्ष्मण को, आश्रम के बाहिर भेज दिया था ॥ १० ॥

हा राम सत्यव्रत दीर्घबाहो
हा पूर्णचन्द्रप्रतिमानवक्त्र ।
हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च
वध्यां न मां वेत्सि हि राक्षसानाम् ॥ ११ ॥

हा राम ! हा सत्यव्रतधारी ! हा बड़ी बाहों वाले ! हा पूर्णिमा के चन्द्र की तरह मुख वाले ! हा प्राणीमात्र के हितैषी और प्रिय !

तुम यह बात अभी नहीं जानते कि, मैं राक्षसों के हाथ से मारी जाने वाली हूँ ॥ ११ ॥

अनन्यदेवत्वमियं क्षमा च
भूमौ च शय्या नियमश्च धर्मे ।
पतिव्रतात्वं विफलं ममेदं
कृतं कृतघ्नेष्विव मानुषाणाम् ॥ १२ ॥

मैं जो अपने पति को छोड़ अन्य किसी देवी देवता की मान मनौती नहीं करती—सो मेरी यह अनन्यता, मेरी यह क्षमा, मेरा भूमिशयन का व्रत, पातिव्रत धर्म का नियमित रूप से पालन, ये समस्त पतिव्रता स्त्रियों के पालने योग्य अनुष्ठान, वैसे ही व्यर्थ ही हो गये ; जैसे किसी का किया हुआ उपकार कृतघ्नों में निष्फल हो जाता है ॥ १२ ॥

मोघो हि धर्मश्चरितो मयाऽयं
तथैकपत्नीत्वमिदं निरर्थम् ।
या त्वां न पश्यामि कृशा विवर्णा
हीना त्वया सङ्गमने निराशा ॥ १३ ॥

मेरा आचरित यह पातिव्रत धर्म और मेरा यह अभिमान कि, मैं श्रीराम की एकमात्र पत्नी हूँ—निष्फल हुए जाते हैं। जो मैं ऐसी दुर्बल और विवर्ण हो कर भी तुम्हारे दर्शन नहीं पा रही हूँ और तुम्हारा वियोग होने पर भी तुम्हारे संयोग से हताश हो रही हूँ ॥ १३ ॥

पितुर्निर्देशं नियमेन कृत्वा
वनान्निवृत्तश्चरितव्रतश्च ।

स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभिः
त्वं रंस्यसे वीतभयः कृतार्थः ॥ १४ ॥

तुम नियमित रूप से पिता के आज्ञापालन का व्रत समाप्त कर और वन से लौट कर भय से छूट जाओगे और कृतार्थ हो कर विशाल नयनवाली अर्थात् सुन्दरी स्त्रियों के साथ मौजें उड़ाओगे ॥ १४ ॥

अहं तु राम त्वयि जातकामा
चिरं विनाशाय निबद्धभावा ।
मोघं चरित्वाथ तपो व्रतं च
त्यक्ष्यामि धिग्जीवितमल्पभाग्या ॥ १५ ॥

किन्तु हे श्रीरामचन्द्र ! मैंने तो अपना नाश करने ही कि लिये तुमको चाहा और तुमसे प्रेम बढ़ाया । मेरे व्रत और तप दोनों व्यर्थ गये. अतः मुझ अल्प भाग्यवती के जीवन को धिक्कार है. अतः मैं तो अब अपने प्राण त्यागती हूँ ॥ १५ ॥

सा जीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं
विषेण शस्त्रेण शितेन वाऽपि ।
विषस्य दाता न हि मेऽस्ति कश्चि-
च्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य ॥ १६ ॥

मैं अपना जीवन, विष खा कर अथवा गले में पैनी कटारी मार कर शीघ्र समाप्त करती । किन्तु क्या करूँ, न तो मुझे कोई विष ही ला कर देने वाला यहां देख पड़ता है और न मुझे इस राक्षस के घर में अपना गला काटने को शस्त्र ही मिल सकता है ॥ १६ ॥

इतीव देवी बहुधा विलप्य
सर्वात्मना राममनुस्मरन्ती।
प्रवेपमाना परिशुष्कवक्त्रा
नगोत्तमं पुष्पितमाससाद॥ १७॥

इस प्रकार देवी सीता अनेक प्रकार से विलाप करती तथा श्रीरामचन्द्र का स्मरण करती, थरथराती और मुँह सुखाये पुष्पित एवं श्रेष्ठ (शिंशपा) वृक्ष के निकट चली गयी और वहाँ जा शोक से विकल हो गयी॥ १७॥

शोकाभितप्ता बहुधा विचिन्त्य
सीताऽथ वेण्युद्ग्रथनं गृहीत्वा।
उद्बध्य वेण्युद्ग्रथनेन शीघ्र-
महं गमिष्यामि यमस्य मूलम्॥ १८॥

तदनन्तर बहुत कुछ सोच विचार कर, अपनी चोटी के बंधन को हाथ में ले, कहने लगी कि, मैं इसी बंधन से गले में फाँसी लगा कर, अपनी जान दे दूँगी॥ १८॥

उपस्थिता सा मृदुसर्वगात्री
शाखां गृहीत्वाऽथ नगस्य तस्य।
तस्यास्तु रामं प्रविचिन्तयन्त्या
रामानुजं स्वं च कुलं शुभाङ्ग्याः॥ १९॥

इस प्रकार निश्चय कर, कोमलाङ्गी जानकी उस वृक्ष के निकट आ और उस वृक्षश्रेष्ठ की एक डाली (फाँसी लगाने के लिये)

पकड़ चुकी थी कि, इतने में जानकी को श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की तथा अपनी कुलमर्यादा की याद आ गयी ॥ १९ ॥

शोकानिमित्तानि तथा बहूनि
धैर्यार्जितानि प्रवराणि लोके ।
प्रादुर्निमित्तानि तदा बभूवुः
पुरापि सिद्धान्युपलक्षितानि ॥ २० ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

इस बीच ही में सीता जी के शोक को नाश करने वाले और धैर्य धराने वाले तथा लोक में श्रेष्ठ समझे जाने वाले शुभ शकुन उन्हें देख पड़े ॥ २० ॥

सुन्दरकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—※—

तथागतां तां व्यथितामनिन्दितां
व्यपेतहर्षां परिदीनमानसाम् ।
शुभां निमित्तानि शुभानि भेजिरे
नरं श्रिया जुष्टमिवोपजीविनः ॥ १ ॥

जिस समय दुखियारी, हर्षशून्य, सन्तप्त और निन्दारहित सीता जी मरने की तैयारी कर रही थीं, उस समय वे सब शुभ शकुन उनके पास वैसे ही आ उपस्थित हुए ; जैसे किसी धनी के पास उसके नौकर चाकर आ कर उपस्थित होते हैं ॥ १ ॥

तस्याः शुभं वाममरालपक्ष्म-
राजीवृतं कृष्णविशालशुक्लम् ।
प्रास्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या
मीनाहतं पद्ममिवाभिताम्रम् ॥ २ ॥

उन सुन्दर केशों वाली जानकी जी के चञ्चल पलकों सहित काले तारे से शोभित, विशाल, शुक्लवर्ण और लाल कोये वाला वामनेत्र, मछली द्वारा हिलाये हुए कमलपुष्प की तरह फड़कने लगा ॥ २ ॥

भुजश्च चार्वञ्चितपीनवृत्तः
परार्ध्यकालागरुचन्दनार्हः ।
अनुत्तमेनाध्युषितः प्रियेण
चिरेण वामः समवेपताशु ॥ ३ ॥

उनकी मनोहर गोल, सुडौल और मांसल वामभुजा, जो बढ़िया अगर चन्दन से चर्चित हो कर बहुत काल से अपने प्यारे पति के संयोग से वञ्चित हो रही थी, फड़कने लगी ॥ ३ ॥

गजेन्द्रहस्तप्रतिमश्च पीनः
तयोर्द्वयोः संहतयोः सुजातः ।
प्रस्पन्दमानः पुनरूरुरस्या
रामं पुरस्तात्स्थितमाचचक्षे ॥ ४ ॥

उनकी एक दूसरे से मिली हुई सी दोनों जांघों में से वाम जांघ, जो हाथी की सूंड़ की तरह चढ़ाव उतार की थी तथा सुडौल थी,

फड़कती हुई मानों यह बतला रही थी कि, श्रीरामचन्द्र जी सीता जी के सम्मुख ही खड़े हैं ॥ ४ ॥

शुभं पुनर्हेमसमानवर्ण-
मीषद्रजोध्वस्तमिवामलाक्ष्याः ।
वासः स्थितायाः शिखराग्रदत्याः
किञ्चित्परिस्रंसत चारुगात्र्याः ॥ ५ ॥

उपमारहित आँखों वाली और अनार के दानों जैसी दन्तपंक्ति वाली सीता जी की सुनहले रंग की अर्थात् चंपई रंग की ओढ़नी, जो कुछ कुछ मैली सी हो गयी थी, सिर से खसक पड़ी ॥ ५ ॥

एतैर्निमित्तैरपरैश्च सुभ्रूः
संबोधिता प्रागपि साधु सिद्धैः ।
वातातपक्लान्तमिव प्रनष्टं
वर्षेण बीजं प्रतिसञ्जहर्ष ॥ ६ ॥

हवा और घाम से नष्ट हुआ बीज जिस तरह वर्षा होने पर पुनः हराभरा हो जाता है, उसी तरह सीता जी उक्त शुभ शकुनों को देख और उनका शुभफलादेश जान कर, हर्षित हो गयी ॥ ६ ॥

तस्याः पुनर्बिम्बफलाधरोष्ठं
स्वक्षिभ्रु केशान्तमरालपक्ष्म ।
वक्त्रं बभासे सितशुक्लदंष्ट्रं
राहोर्मुखाच्चन्द्र इव प्रमुक्तः ॥ ७ ॥

कुँदरू फल की समान लाल अधरों से युक्त, सुन्दर नेत्र, सुन्दर भौंहों व केशों सहित, चञ्चल, शोभायुक्त, सफेद मोती की तरह

चमकीले दाँतों से युक्त सीता जी का मुखमण्डल, राहु से छूटे हुए पूर्णचन्द्र की तरह सुशोभित होने लगा ॥ ७ ॥

सा वीतशोका व्यपनीततन्द्री
शान्तज्वरा हर्षविबुद्धसत्त्वा ।
अशोभतार्या वदनेन शुक्ले
शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन ॥ ८ ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

उस समय श्रीसीता जी शोक, आलस्य, और सन्ताप से रहित और स्वस्थचित्त हो, अपने प्रसन्न मुखमण्डल से ऐसी शोभायमान हुईं, जैसी कि, शुक्लपक्ष की रात, चन्द्रमा के उदय से शोभायमान होती है ॥ ८ ॥

सुन्दरकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रिंशः सर्गः

—*—

हनुमानपि विक्रान्तः सर्वं शुश्राव तत्त्वतः ।
सीतायास्त्रिजटायाश्च राक्षसीनां च तर्जनम् ॥ १ ॥

सीता जी का विलाप, त्रिजटा के स्वप्न का वृत्तान्त और राक्षसियों की डाँटडपट विक्रमशाली हनुमान जी ने सब ज्यों की त्यों सुनी ॥ १ ॥

अवेक्षमाणस्तां देवीं देवतामिव नन्दने ।
ततो बहुविधां चिन्तां चिन्तयामास वानरः ॥ २ ॥

नन्दनकानन में रहने वाली सुरसुन्दरी की तरह, अशोकवन में बैठी हुई इन देवी सीता को देख कर, हनुमान जी सोचने लगे ॥ २ ॥

यां कपीनां सहस्राणि सुबहून्ययुतानि च ।
दिक्षु सर्वासु मार्गन्ते सेयमासादिता मया ॥ ३ ॥

जिनको हज़ारों लाखों करोड़ों वानर चारों ओर ढूंढ़ते फिर रहे हैं, उन्हें मैंने ढूंढ़ निकाला है ॥ ३ ॥

चारेण तु सुयुक्तेन शत्रोः शक्तिमवेक्षता ।
गूढेन चरता तावदवेक्षितमिदं मया ॥ ४ ॥

मैंने दूत बन कर युक्तिपूर्वक शत्रु का बल देखते देखते और छिप कर इधर उधर घूम फिर कर यह जान लिया है ॥ ४ ॥

राक्षसानां विशेषश्च पुरी चेयमवेक्षिता ।
राक्षसाधिपतेरस्य प्रभावो रावणस्य च ॥ ५ ॥

मैंने राक्षसों के ऐश्वर्य को और इस लङ्कापुरी को तथा रावण के प्रभाव को देख भाल लिया है ॥ ५ ॥

युक्तं तस्याप्रमेयस्य सर्वसत्त्वदयावतः ।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनकाङ्क्षिणीम् ॥ ६ ॥

मुझे इस समय, अप्रमेय (अचिन्त्य प्रभाव) और सब प्राणियों पर दया करने वाले श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी को, जो पति के दर्शन की अभिलाषिणी है, धीरज बँधाना उचित है ॥ ६ ॥

अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
अदृष्टदुःखां दुःखार्तां दुःखस्यान्तमगच्छतीम् ॥ ७ ॥

जिन्होंने इसके पूर्व कभी दुःख नहीं सहे और जो इस दुःख-सागर में डूबती हुई पार नहीं पा रही है, ऐसी चन्द्रवदनी सीता को मैं धीरज बँधाता हूँ ॥ ७ ॥

यद्यप्यहमिमां देवीं शोकोपहतचेतनाम् ।
अनाश्वास्य गमिष्यामि दोषवद्गमनं भवेत् ॥ ८ ॥

यदि मैं शोक से विकल हुई इन सीता जी का समाधान किये बिना ही चला जाऊँ, तो मेरा यहाँ से लौटना त्रुटिपूर्ण रह जायगा ॥ ८ ॥

गते हि मयि तत्रेयं राजपुत्री यशस्विनी ।
परित्राणमविन्दन्ती जानकी जीवितं त्यजेत् ॥ ९ ॥

क्योंकि मेरे लौट जाने से यह यशस्विनी राजकुमारी सीता अपनी रक्षा का कोई उपाय न देख, प्राण छोड़ देगी ॥ ९ ॥

मया च स महाबाहुः पूर्णचन्द्रनिभाननः ।
समाश्वासयितुं न्याय्यः सीतादर्शनलालसः ॥ १० ॥

सीता से मिलने की अभिलाषा रखने वाले पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुखमण्डल वाले महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी को जिस प्रकार धीरज बँधाना उचित है, उसी प्रकार सीता को भी धीरज बँधाना उचित जान पड़ता है ॥ १० ॥

निशाचरीणां प्रत्यक्षमनर्हं चापि भाषणम् ।
कथं नु खलु कर्तव्यमिदं कृच्छ्रगतो ह्यहम् ॥ ११ ॥

किन्तु, इन राक्षसियों के सामने सीता जी से बातचीत करना तो उचित नहीं जान पड़ता। सो सीता से एकान्त में किस प्रकार बातचीत की जाय। यह तो एक बड़ी कठिनाई सामने उपस्थित है॥ ११॥

अनेन रात्रिशेषेण यदि नाश्वास्यते मया।
सर्वथा नास्ति सन्देहः परित्यक्ष्यति जीवितम्॥ १२॥

अब थोड़ी रात शेष रह गयी है, इस बीच में यदि बातचीत न हो सकी, तो निस्सन्देह यह अपने प्राण दे देगी॥ १२॥

रामश्च यदि पृच्छेन्मां किं मां सीताऽब्रवीद्वचः।
किमहं तं प्रतिब्रूयामसम्भाष्य सुमध्यमाम्॥ १३॥

फिर जब श्रीरामचन्द्र जी मुझसे पूँछेगे कि, सीता ने मेरे लिये तुमसे क्या सन्देसा कहा है, तो मैं विना सीता से वार्तालाप किये उनको क्या उत्तर दूँगा॥ १३॥

सीतासन्देशरहितं मामितस्त्वरया गतम्।
निर्दहेदपि काकुत्स्थः क्रुद्धस्तीव्रेण चक्षुषा॥ १४॥

फिर सीता का संदेसा लिये विना ही, यदि मैं लौटने में जल्दी करूँ, तो क्या श्रीरामचन्द्र जी क्रोध भरे नेत्रों से मुझे भस्म न कर डालेंगे॥ १४॥

यदि चोद्योजयिष्यामि भर्तारं रामकारणात्।
व्यर्थमागमनं तस्य ससैन्यस्य भविष्यति॥ १५॥

यदि मैं सीता से वार्तालाप किये विना लौट कर सुग्रीव द्वारा, श्रीराम के लिये चढ़ाई की तैयारी भी करवाऊँ और यहाँ सीता

आत्मघात कर डाले, तो सेनासहित इनका यहाँ आना निष्फल होगा ॥ १५ ॥

अन्तरं त्वहमासाद्य राक्षसीनामिह स्थितः ।
शनैराश्वासयिष्यामि सन्तापबहुलामिमाम् ॥ १६ ॥

अतः मैं अब ठहरा हूँ और ज्योंही अवसर मिला, त्योंही मैं इन राक्षसियों की आंख बचा चुपके से अत्यन्त सन्तप्त जानकी को धीरज बँधाये देता हूँ ॥ १६ ॥

अहं त्वतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः ।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्[1] ॥ १७ ॥

जहाँ तक मैं समझता हूँ मेरे बातचीत करने से ये राक्षसियाँ न घबड़ायेंगी—क्योंकि इस समय एक तो मैं अत्यन्त छोटे रूप में हूँ, दूसरे वानर हूँ। सो मैं मनुष्यों जैसी शुद्ध साफ बोली में बात चीत करूँगा ॥ १७ ॥

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥ १८ ॥

यदि मैं ब्राह्मणों की तरह संस्कृत भाषा में बातचीत करूँ, तो सीता मुझे रावण समझ कर, मुझसे डर जायगी ॥ १८ ॥

वानरस्य विशेषेण कथं स्यादभिभाषणम् ।
अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत् ॥ १९ ॥

क्योंकि सीता जी के मन में यह सन्देह उत्पन्न हो जायगा कि, बंदर क्योंकर संस्कृतभाषा बोल रहा है, सो वह मुझे बनावटी

---

१ संस्कृताम्—प्रयोगसौष्ठवलक्षणसंस्कारयुक्तां । (गो०)

वानर समझ कर मुझसे डर जायगी। अतः मुझे उचित है कि, मैं इसे मनुष्यों की साधारण बोलचाल में समझाऊँ ॥ १९ ॥

मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता ।
सेयमालोक्य मे रूपं जानकी भाषितं तथा ॥ २० ॥

रक्षोभिस्त्रासिता पूर्वं भूयस्त्रासं गमिष्यति ।
ततो जातपरित्रासा शब्दं कुर्यान्मनस्विनी ॥ २१ ॥

जानमाना विशालाक्षी रावणं कामरूपिणम् ।
सीतया च कृते शब्दे सहसा राक्षसीगणः ॥ २२ ॥

नहीं तो मैं अन्य किसी प्रकार से इन अनिन्दिता सीता को न समझा सकूँगा। जानकी जी पहले ही राक्षसों से त्रस्त हैं, अतः मुझे वानर के रूप में मनुष्य के समान बातें करते देख, सीता और अधिक डर जायगी। सो डर कर और मुझे कामरूपी रावण जान कर, यदि दुखियारी सीता चिल्ला उठी, तो सीता का सहसा चिल्लाना सुन ये राक्षसियाँ, ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

नानाप्रहरणो घोरः समेयादन्तकोपमः ।
ततो मां सम्परिक्षिप्य सर्वतो विकृताननाः ॥ २३ ॥

जो यमराज के समान भयङ्कर हैं, विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्र ले कर आ जायँगी और मुझे चारों ओर से घेर कर, ये जलमुँही ॥ २३ ॥

वधे च ग्रहणे चैव कुर्युर्यत्नं यथाबलम् ।
गृह्य शाखाः प्रशाखाश्च स्कन्धांश्चोत्तमशाखिनाम् ॥ २४ ॥

मुझे मार डालने या पकड़ लेने के लिये कोई बात उठा न रखेंगी। तब यही होगा कि, मैं पेड़ों की डाल डाल और गुद्दे गुद्दे दौड़ता फिरूँगा ॥ २४ ॥

दृष्ट्वा विपरिधावन्तं भवेयुर्भयशङ्किताः ।
मम रूपं च सम्प्रेक्ष्य वने विचरतो महत् ॥ २५ ॥
राक्षस्यो भयवित्रस्ता भवेयुर्विकृताननाः ।
ततः कुर्युः समाह्वानं राक्षस्यो रक्षसामपि ॥ २६ ॥

तब मुझको इस प्रकार दौड़ते देख, ये राक्षसी डर जायँगी। मेरे रूप को और मुझको महावन में फिरते देख और भी अधिक डरेंगी और डर कर उन राक्षसों को भी पुकारेंगी, ॥ २५ ॥ ॥ २६ ॥

राक्षसेन्द्रनियुक्तानां राक्षसेन्द्रनिवेशने ।
ते शूलशक्तिनिस्त्रिंशविविधायुधपाणयः ॥ २७ ॥

जो रावण के घर में रखवाली के लिये रावण द्वारा नियुक्त किये गये हैं। तब वे शूल, शक्ति, बाण, भाला आदि तरह तरह के हथियार हाथों में ले लेकर, ॥ २७ ॥

आपतेयुर्विमर्देऽस्मिन्वेगेनोद्विग्नकारिणः ।
संरुद्धस्तैः सुपरितो विधमन्रक्षसां बलम् ॥ २८ ॥

और उत्तेजित हो बड़े वेग से आ जायँगे और मुझे चारों ओर से घेर लेंगे। तब मैं उस राक्षसीसेना का नाश तो (अवश्य ही) कर डालूँगा ॥ २८ ॥

शक्नुयां न तु सम्प्राप्तुं परं पारं महोदधेः ।
मां वा गृह्णीयुराप्लुत्य बहवः शीघ्रकारिणः ॥ २९ ॥

किन्तु इनके साथ युद्ध करते करते थक जाने के कारण लौट कर समुद्र पार न जा सकूँगा। यदि बहुत से फुर्तीले राक्षसों ने मुझे कूदते हुए पकड़ लिया ॥ २९ ॥

स्यादियं [१]चागृहीतार्था मम च ग्रहणं भवेत् ।
हिंसाभिरुचयो हिंस्युरिमां वा जनकात्मजाम् ॥ ३० ॥

तो सीता को श्रीरामचन्द्र जी का संदेसा नहीं मिलेगा और मैं तो पकड़ा जाऊँगा ही। फिर हिंसाप्रिय ये राक्षस चाहे मुझे अथवा जानकी ही को मार डालें ॥ ३० ॥

विपन्नं स्यात्ततः कार्यं रामसुग्रीवयोरिदम् ।
उद्देशो नष्टमार्गेऽस्मिन्राक्षसैः परिवारिते ॥ ३१ ॥

सागरेण परिक्षिप्ते गुप्ते वसति जानकी ।
विशस्ते वा गृहीते वा रक्षोभिर्मयि संयुगे ॥ ३२ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी का और सुग्रीव का यह कार्य ही बिगड़ जायगा। क्योंकि जानकी जी ऐसे स्थान में हैं, जहाँ का मार्ग कोई नहीं जानता और राक्षसों से घिरा हुआ (अर्थात् सुरक्षित) है। इतना ही नहीं; बल्कि चारों ओर समुद्र से घिरा है, ऐसे गुप्त (अथवा सुरक्षित) स्थान में जानकी जी आ फँसी हैं कि, युद्ध में राक्षसों द्वारा मेरे मारे जाने या पकड़े जाने पर, ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

नान्यं पश्यामि रामस्य साहाय्यं कार्यसाधने ।
विमृशंश्च न पश्यामि यो हते मयि वानरः ॥ ३३ ॥

---

१ अगृहीतार्था—अविदितरामसन्देशार्था। (गो०)

मैं ऐसा किसी को नहीं देखता जो श्रीरामचन्द्रजी का यह काम पूरा कर सके। क्योंकि बहुत सोचने पर भी मेरे मारे जाने पर कोई ऐसा वानर मुझे नहीं देख पड़ता है ॥ ३३ ॥

शतयोजनविस्तीर्णं लङ्घयेत महोदधिम् ।
कामं हन्तुं समर्थोऽस्मि सहस्राण्यपि रक्षसाम् ॥ ३४ ॥

जो सौ योजन फाट वाले समुद्र को लांघ कर, यहाँ आ सके। मैं यथेष्ट रूप से हज़ारों राक्षसों को मार सकता हूँ ॥ ३४ ॥

न तु शक्ष्यामि सम्प्राप्तुं परं पारं महोदधेः ।
असत्यानि च युद्धानि संशयो मे न रोचते ॥ ३५ ॥

किन्तु फिर मैं लौट कर समुद्र पार नहीं जा सकता। युद्ध में जीत हार का कुछ निश्चय नहीं है। अतः ऐसे सन्दिग्ध कार्य में हाथ डालना मुझे पसंद नहीं ॥ ३५ ॥

कश्च निःसंशयं कार्यं कुर्यात्प्राज्ञः ससंशयम् ।
प्राणत्यागश्च वैदेह्या भवेदनभिभाषणे ॥ ३६ ॥

ऐसा कौन पुरुष होगा, जो पण्डित हो कर किसी सन्दिग्ध कार्य में, निस्सन्देह हो कर प्रवृत्त हो। फिर सीता जी से बातचीत न करने से सीता जी के प्राण जाने का भी तो सन्देह है ॥ ३६ ॥

एष दोषो महान्हि स्यान्मम सीताभिभाषणे ।
[1]भूताश्चार्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिताः ॥ ३७ ॥

---

1 भूताश्चार्थाः—निष्पन्नार्थाः। (गो०)

विक्लवं[1] दूतमासाद्य तमः सूर्योदये यथा।
[2]अर्थानर्थान्तरे बुद्धिः[3] निश्चिताऽपि[4] न शोभते ॥३८॥

घातयन्ति हि कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः।
न विनश्येत्कथं कार्यं [5]वैक्लव्यं न कथं भवेत् ॥ ३९ ॥

और बोलने से ये बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ हैं। बनावनाया काम भी, देश और काल के विपरीत कार्य करने से और असावधान अथवा अविवेकी दूत के हाथ में पड़ने से वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार। फिर स्वामी अथवा मन्त्रिवर्ग द्वारा कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के विषय में निश्चय हो जाने पर भी, असावधानतावश और पण्डितमन्य दूत के हाथ में पड़ने से भी कार्य बिगड़ जाता है। क्या करने से काम न बिगड़े और मेरी बुद्धिहीनता न समझी जाय ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

लङ्घनं च समुद्रस्य कथं नु न वृथा भवेत्।
कथं नु खलु वाक्यं मे शृणुयान्नोद्विजेत वा ॥ ४० ॥

मेरा समुद्र का लाँघना क्योंकर वृथा न हो और क्योंकर मेरी बातचीत सीता जी सुने और सुन कर क्षुब्ध न हों ॥ ४० ॥

इति सञ्चिन्त्य हनुमांश्चकार [6]मतिमान्मतिम्।
राममक्लिष्टकर्माणं स्वबन्धुमनुकीर्तयन् ॥ ४१ ॥

---

१ विक्लवं—अविवेकिनं। (गो०); अनवधानं। (शि०) २ अर्थानर्थान्तरे—कार्याकार्यविषये। (गो०) ३ बुद्धिः—विक्लवं दूतमासाद्य न शोभते। अकिंचित्कराभिभवतीत्यर्थः। (गो०) ४ निश्चितापि—स्वामिना सचिवैः सह निश्चितापि। (गो०) ५ वैक्लव्यं—बुद्धिहीनता। (गो०) ६ मतिमान्—प्रशस्तमतिः। (गो०)

इस प्रकार सोचते विचारते बड़े बुद्धिमान हनुमान जी ने अपने मन में यह निश्चय किया कि, अब मैं अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी की कथा कहना आरम्भ करूँ ॥ ४१ ॥

नैनामुद्वेजयिष्यामि तद्बन्धुगतमानसाम् ।
इक्ष्वाकूणां वरिष्ठस्य रामस्य विदितात्मनः ॥ ४२ ॥
शुभानि धर्मयुक्तानि वचनानि समर्पयन् ।
श्रावयिष्यामि सर्वाणि मधुरां प्रब्रुवन्गिरम् ।
श्रद्धास्यति यथा हीयं तथा सर्वं समादधे ॥ ४३ ॥

इससे सीता जी क्षुब्ध नहीं होंगी। क्योंकि सीता जी का ध्यान सदा श्रीरामचन्द्र जी ही में लगा रहता है। इक्ष्वाकुवंशियों में श्रेष्ठ, प्रसिद्ध अथवा आत्मज्ञानी श्रीरामचन्द्र जी के शुभ और धर्मयुक्त संदेसे को मधुर वाणी से मैं सुनाऊँगा। जिससे सीता को मेरी बातों पर विश्वास हो, मैं वैसा ही करूँगा ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

इति स बहुविधं महानुभावो
जगतिपतेः प्रमदामवेक्षमाणः ।
मधुरमवितथं जगाद वाक्यं
द्रुमविटपान्तरमास्थितो हनूमान् ॥ ४४ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार अनेक प्रकार से सोच विचार कर, (अखिल ब्रह्माण्डनायक) भूपति श्रीरामचन्द्र जी की भार्या जानकी जी को

---

१ अवितथं—मृषासंसर्ग शून्यं। (शि०)

देख कर, महानुभाव हनुमान जी ने, उस वृक्ष की डाली पर बैठे ही बैठे, मधुर किन्तु सत्य शब्दों में श्रीराम जी का संदेसा कहना आरम्भ किया ॥ ४४ ॥

सुन्दरकाण्ड का तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकत्रिंशः सर्गः

—※—

एवं बहुविधां चिन्तां चिन्तयित्वा महाकपिः ।
संश्रवे मधुरं वाक्यं वैदेह्या व्याजहार ह ॥ १ ॥

इस प्रकार बहुत कुछ सोच विचार कर, हनुमान जी, सीताजी को सुनाते हुए, इस प्रकार के मधुर वचन कहने लगे ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान् ।
पुण्यशीलो महाकीर्तिर्ऋजुरासीन्महायशाः ॥ २ ॥

दशरथ नाम के एक राजा थे, जो बड़े पुण्यात्मा, बड़ी कीर्ति वाले, सरल और महायशस्वी थे। उनके बहुत से रथ, हाथी और घोड़े थे ॥ २ ॥

राजर्षीणां गुणश्रेष्ठस्तपसा चर्षिभिः समः ।
चक्रवर्तिकुले जातः पुरन्दरसमो बले ॥ ३ ॥

वे अपने गुणों से राजर्षियों में श्रेष्ठ माने जाते थे और तप में वे ऋषियों के तुल्य थे। उनका जन्म चक्रवर्ती कुल में हुआ था और बल में वे इन्द्र के समान थे ॥ ३ ॥

अहिंसारतिरक्षुद्रो घृणी सत्यपराक्रमः ।
मुख्यश्चेक्ष्वाकुवंशस्य लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मिवर्धनः ॥ ४ ॥

वे हिंसा से दूर रहते थे और क्षुद्र लोगों का संसर्ग नहीं करते थे। वे बड़े दयालु थे और सत्यपराक्रमी थे। वे इक्ष्वाकुवंशियों में श्रेष्ठ समझे जाते थे और बड़ी कान्ति वाले और लक्ष्मी के बढ़ाने वाले थे ॥ ४ ॥

पार्थिवव्यञ्जनैर्युक्तः पृथुश्रीः पार्थिवर्षभः ।
पृथिव्यां चतुरन्तायां विश्रुतः सुखदः सुखी ॥ ५ ॥

वे राजलक्षणों से युक्त, अति शोभावान और राजाओं में श्रेष्ठ थे। चारों समुद्र पर्यन्त समस्त पृथिवीमण्डल में वे प्रसिद्ध थे। वे स्वयं सुखी रहते थे और अपनी प्रजा तथा आश्रित जनों को भी सुख देने वाले थे ॥ ५ ॥

तस्य पुत्रः प्रियो ज्येष्ठस्ताराधिपनिभाननः ।
रामो नाम विशेषज्ञः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ६ ॥

चन्द्रमा की तरह मुख वाले सकल शास्त्र और वेदों के विशेष जानने वाले और सब धनुर्धरों में श्रेष्ठ उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र जी, उनको बहुत प्रिय थे ॥ ६ ॥

रक्षिता स्वस्य *वृत्तस्य †स्वजनस्यापि रक्षिता ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य च परन्तपः ॥ ७ ॥

यह (श्रीराम जी) अपने चरित्र की रक्षा करने वाले और अपने जनों का प्रतिपालन करने वाले हैं। यही नहीं, बल्कि ये संसार के जीवमात्र के रक्षक तथा धर्म की भी मर्यादा रखने वाले हैं और शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले हैं ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" धर्मस्य । " † पाठान्तरे—" स्वजनस्य च । "

तस्य सत्याभिसन्धस्य वृद्धस्य वचनात्पितुः ।
सभार्यः सह च भ्रात्रा वीरः प्रव्राजितो वनम् ॥ ८ ॥

वीर श्रीरामचन्द्र जी, अपने सत्यप्रतिज्ञ एवं वृद्ध पिता के आज्ञानुसार अपनी पत्नी और भाई के साथ वन में भेजे गये ॥ ८ ॥

तेन तत्र महारण्ये मृगयां परिधावता ।
राक्षसा निहताः शूरा बहवः कामरूपिणः ॥ ९ ॥

वन में आ, उन्होंने शिकार खेलते हुए बहुत से यथेच्छ-रूप-धारी और बड़े शूर राक्षसों का संहार किया ॥ ९ ॥

जनस्थानवधं श्रुत्वा हतौ च खरदूषणौ ।
ततस्त्वमर्षापहृता जानकी रावणेन तु ॥ १० ॥

जनस्थानवासी १४ हज़ार राक्षसों तथा खरदूषण का मारा जाना सुन, रावण ने कुपित हो, जानकी जी को हरा ॥ १० ॥

वञ्चयित्वा वने रामं मृगरूपेण मायया ।
स मार्गमाणस्तां देवीं रामः सीतामनिन्दिताम् ॥ ११ ॥

हरने के समय उसने मायामृग के रूप में, श्रीरामचन्द्र जी को वन में धोखा दिया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उस अनिन्दिता अपनी पत्नी को ढूढ़ते हुए ॥ ११ ॥

आससाद वने मित्रं सुग्रीवं नाम वानरम् ।
ततः स वालिनं हत्वा रामः परपुरञ्जयः ॥ १२ ॥

वन में सुग्रीव नामक वानर से मैत्री की । शत्रुपुर को जीतने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने वालि नामक वानर को मार कर, ॥ १२ ॥

प्रायच्छत्कपिराज्यं तत्सुग्रीवाय महाबलः।
सुग्रीवेणापि सन्दिष्टा हरयः कामरूपिणः॥ १३॥

महाबली सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य दे दिया। तब सुग्रीव ने भी यथेच्छ-रूप-धारी वानरों को श्रीरामपत्नी को ढूँढ़ने की आज्ञा दी॥ १३॥

दिक्षु सर्वासु तां देवीं विचिन्वन्ति सहस्रशः
अहं सम्पातिवचनाच्छतयोजनमायतम्॥ १४।

तदनुसार हज़ारों वानर उन देवी को ढूढ़ते हुए, चारों दिशाओं में घूम रहे हैं। (उन्हीं में से एक) मैंने संपाति के कहने से सौ योजन विस्तार वाले॥ १४॥

अस्या हेतोर्विशालाक्ष्याः सागरं वेगवान्प्लुतः।
यथारूपां यथावर्णां यथालक्ष्मीं च निश्चिताम्॥ १५॥

समुद्र को, इस देवी के लिये बड़े वेग से नांघा है। मैंने सीता देवी का जैसा रूप रंग और उनकी कान्ति॥ १५॥

अश्रौषं राघवस्याहं सेयमासादिता मया।
विररामैवमुक्त्वासौ वाचं वानरपुङ्गवः॥ १६॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से सुनी थी, वैसी ही मैंने इनमें पायी है। इतना कह कर, हनुमान जी चुप हो गये॥ १६॥

जानकी चापि तच्छ्रुत्वा विस्मयं परमं गता।
ततः सा वक्रकेशान्ता सुकेशी केशसंवृतम्।
उन्नम्य वदनं भीरुः शिंशुपावृक्षमैक्षत॥ १७॥

उधर ये सब वृत्तान्त सुन जानकी जी को बड़ा अचम्भा हुआ। तदनन्तर घुँघराले और काले महीन केशों वाली जानकी, केशों से आच्छादित अपने मुख को ऊपर उठा कर, उस शीशम के वृक्ष को देखने लगीं ॥ १७ ॥

निशम्य सीता वचनं कपेश्च
दिशश्च सर्वाः प्रदिशश्च वीक्ष्य ।
स्वयं प्रहर्षं परमं जगाम
[1]सर्वात्मना राममनुस्मरन्ती ॥ १८ ॥

सीता हनुमान जी के ये वचन सुन, चारों ओर देख तथा सब प्रकार से श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण करती हुई, आपसे आप अत्यन्त हर्षित हुई ॥ १८ ॥

सा तिर्यगूर्ध्वं च तथाप्यधस्ता-
न्निरीक्षमाणा तमचिन्त्यबुद्धिम् ।
ददर्श पिङ्गाधिपतेरमात्यं
वातात्मजं सूर्यमिवोदयस्थम् ॥ १९ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर सीता इधर उधर, ऊपर नीचे देखने लगीं। तब सीता ने उदयकालीन सूर्य की तरह वानरराज सुग्रीव के मंत्री एवं असाधारण बुद्धिसम्पन्न पवननन्दन हनुमान जी को देखा ॥ १६ ॥

सुन्दरकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

१ सर्वात्मना—सर्वप्रकारेण। (शि०)

द्वात्रिंशः सर्गः

—*—

ततः शाखान्तरे लीनं दृष्ट्वा चलितमानसा।
वेष्टितार्जुनवस्त्रं तं विद्युत्संघातपिङ्गलम् ॥ १ ॥
सा ददर्श कपिं तत्र प्रश्रितं प्रियवादिनम्।
फुल्लाशोकोत्कराभासं तप्तचामीकरेक्षणम् ॥ २ ॥
मैथिली चिन्तयामास विस्मयं परमं गता।
अहो भीममिदं रूपं वानरस्य दुरासदम् ॥ ३ ॥

शाखाओं में छिपे, अर्जुन वृक्ष के हरे रंग के वस्त्र पहिने, बिजुली के समूह की तरह पीले, प्रियभाषी, अशोक के फूलों के ढेर की तरह कान्तिमान, सोने के सदृश पीले नेत्रों वाले और अति नम्र हो कर बैठे हुए हनुमान जी को देख, सीता जी घबड़ा गयीं और बहुत विस्मित हुईं। वे कहने लगीं, अरे! इस दुर्धर्ष वानर का रूप तो बड़ा भयानक है ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

दुर्निरीक्ष्यमिति ज्ञात्वा पुनरेव मुमोह सा।
विललाप भृशं सीता करुणं भयमोहिता ॥ ४ ॥

और देखा नहीं जा सकता। यह जान कर सीता मूर्छित हो गयीं। फिर वे भय से मोहित और दुःख से कातर हो बहुत विलाप करने लगीं ॥ ४ ॥

राम रामेति दुःखार्ता लक्ष्मणेति च भामिनी।
रुरोद बहुधा सीता मन्दं मन्दस्वरा सती ॥ ५ ॥

धीमे स्वर वाली दुःखियारी सती सीता, हा राम! हा लक्ष्मण!! कह कर, धीमी आवाज़ से बहुत रोयीं॥ ५॥

सा तं दृष्ट्वा हरिश्रेष्ठं विनीतवदुपस्थितम्।
मैथिली चिन्तयामास स्वप्नोऽयमिति भामिनी॥ ६॥

विनम्रभाव से उपस्थित कपिश्रेष्ठ हनुमान जी को देख, जानकी जी ने विचारा कि, कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रही॥ ६॥

सा वीक्षमाणा पृथुभुग्नवक्त्रं
शाखामृगेन्द्रस्य यथोक्तकारम्[1]।
ददर्श *पिङ्गप्रवरं महार्हं
वातात्मजं बुद्धिमतां वरिष्ठम्॥ ७॥

सीता जी ने जब ऊपर मुख करके देखा; तब उन्हें पुनः उन आज्ञाकारी, पवननन्दन हनुमान जी का विशाल टेढ़ा मुख देख पड़ा, जो वानरों में तथा बुद्धिमानों में श्रेष्ठ थे और मूल्यवान आभूषण पहिनने योग्य थे॥ ७॥

सा तं समीक्ष्यैव भृशं विसंज्ञा
गतासुकल्पेव बभूव सीता।
चिरेण संज्ञां प्रतिलभ्य भूयो
विचिन्तयामास विशालनेत्रा॥ ८॥

उस समय सीता बहुत डर गयीं और ऐसी मूर्छित सी हो गयीं, (अर्थात् सकपका गयीं) मानों मृतप्राय हो गयीं हो। फिर बहुत देर बाद सचेत हो, वे विशालनयनी सीता विचारने लगीं॥ ८॥

---

१ यथोक्तकारं—आज्ञाकरं। (गो०) * पाठान्तरं—"पिङ्गाधिपेतरमात्यं।"

स्वप्ने मयाऽयं विकृतोऽद्य दृष्टः
शाखामृगः शास्त्रगणैर्निषिद्धः
स्वस्त्यस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
तथा पितुर्मे जनकस्य राज्ञः ॥ ९ ॥

आज मैंने यह बड़ा बुरा स्वप्न देखा है। (बुरा क्यों?) क्योंकि स्वप्न में वानर का देखना शास्त्र में बुरा बतलाया गया है। सो लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का तथा मेरे पिता महाराज जनकाजी का मङ्गल हो ॥ ९ ॥

[नोट—स्वप्नाध्यायानुसार स्वप्न में वानर का देखना बन्धुजनों के लिये अनिष्टकर माना गया है।]

स्वप्नोऽपि नायं न हि मेऽस्ति निद्रा
शोकेन दुःखेन च पीडितायाः।
सुखं हि मे नास्ति यतोऽस्मि हीना
तेनेन्दुपूर्णप्रतिमाननेन ॥ १० ॥

(जानकी जी फिर विचार कर कहने लगीं) यह स्वप्न तो नहीं है। क्योंकि मैं सो थोड़े ही रही हूँ जो स्वप्न देखती। भला मुझ शोक और दुःख से पीड़ित को नींद कब आने लगी। निद्रा तो सुखियों को आती है। सो जब से मेरा उन चन्द्रमुख श्रीरामचन्द्र जी से विछोह हुआ है, तब से मुझे सुख कैसा ॥ १० ॥

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या
विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव।

तस्यानुरूपां च कथां तमर्थम्
एवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि ॥ ११ ॥

इसका कारण तो मुझे यह जान पड़ता है कि, मैं रात दिन श्रीराम जी के ध्यान में रहती और श्रीराम जी का नाम रटा करती हूँ। अतः मुझे तदनुरूप ही देख और सुन पड़ता है॥ ११ ॥

अहं हि तस्याद्य मनोभवेन
सम्पीडिता तद्गतसर्वभावा।
विचिन्तयन्ती सततं तमेव
तथैव पश्यामि तथा शृणोमि ॥ १२ ॥

सदा की भाँति आज भी मैं (उन्हींके वियोग में) कन्दर्प से पीड़ित हो बैठी हुई, उनका ध्यान कर रही थी। फिर मैं तो सदा उन्हींका ध्यान किया करती हूँ। इसीसे मुझे वैसा ही दिखलाई और सुनाई पड़ता है॥ १२ ॥

मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि
तथाऽपि बुद्ध्या च वितर्कयामि।
किं कारणं तस्य हि नास्ति रूपं
सुव्यक्तरूपश्च वदत्ययं माम् ॥ १३ ॥

किन्तु इसका कारण तो मेरा मनोरथ है। यह बात मैं समझती हूँ, तो भी बुद्धि इस बात को ग्रहण नहीं करती—क्योंकि मेरे मनोरथ का ऐसा रूप नहीं जान पड़ता। अर्थात् मेरा मनोरथ तो श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन का है, किन्तु यह तो वानर (का दर्शन) है और यह वानर मुझसे साफ साफ बोल भी रहा है; इसका कारण क्या है? ॥ १३ ॥

नमोऽस्तु वाचस्पतये सवज्रिणे
स्वयंभुवे चैव हुताशनाय च ।
अनेन चोक्तं यदिदं ममाग्रतो
वनौकसा तच्च तथाऽस्तु नान्यथा ॥१४॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

मैं वृहस्पति, इन्द्र, ब्रह्मा और अग्नि को प्रणाम करती हूँ और प्रार्थना करती हूँ कि, इस वानर ने जो मेरे सामने अभी कहा है, वह सच निकले, और अन्यथा न हो ॥ १४ ॥

सुन्दरकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—※—

सोऽवतीर्य द्रुमात्तस्माद्विद्रुमप्रतिमाननः ।
विनीतवेषः कृपणः प्रणिपत्योपसृत्य च ॥ १ ॥
तामब्रवीन्महातेजा हनूमान्मारुतात्मजः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय सीतां मधुरया गिरा ॥ २ ॥

इतने में मूंगे के समान लाल मुख वाले, महातेजस्वी हनुमान जी, वृक्ष की ऊँची शाखा से नीचे की शाखा* पर उतर आये और सीता के निकट जा प्रणाम कर, हाथ जोड़े हुए, अर्थात् नम्र और दीनभाव से, मधुर वाणी से बोले ॥ १ ॥ २ ॥

---

* ऊँची शाखा से नीची शाखा पर इसलिये कहा कि इसी सर्ग के १५ वें श्लोक में हनुमान जी का विशेषण—"द्रुमाश्रितम्" आया है ।

का नु पद्मपलाशाक्षि क्लिष्टकौशेयवासिनि ।
द्रुमस्य शाखामालम्ब्य तिष्ठसि त्वमनिन्दिते ॥ ३ ॥

हे कमलनयनी ! हे सर्वाङ्गसुन्दरी ! तुम कौन हो, जो ऐसे मैले कपड़े पहिने और पेड़ की डाली पकड़े हुए खड़ी हो ? ॥ ३ ॥

किमर्थं तव नेत्राभ्यां वारि स्रवति शोकजम् ।
पुण्डरीकपलाशाभ्यां विप्रकीर्णमिवोदकम् ॥ ४ ॥

कमलपत्र से जलविन्दु टपकने की तरह, तुम्हारे नेत्रों से शोक से उत्पन्न ये आंसू क्यों टपक रहे हैं ? ॥ ४ ॥

सुराणामसुराणां वा नागगन्धर्वरक्षसाम् ।
यक्षाणां किन्नराणां वा का त्वं भवसि शोभने ॥ ५ ॥

हे शोभने ! सुरों, असुरों, नागों, गन्धर्वों, राक्षसों, यक्षों, किन्नरों में से तुम कौन हो ? ॥ ५ ॥

का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने ।
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ॥ ६ ॥

हे चारुवदने ! अथवा तुम रुद्रों, वायुओं या वसुओं में से कोई हो ? क्योंकि तुम तो मुझे देवता जैसी जान पड़ रही हो ॥ ६ ॥

किंनु चन्द्रमसा हीना पतिता विबुधालयात् ।
रोहिणी ज्योतिषां श्रेष्ठा *श्रेष्ठासर्वगुणान्विता ॥ ७ ॥

अथवा तुम नक्षत्रों में श्रेष्ठ तथा सर्वगुणआगरियों में श्रेष्ठ रोहिणी तो नहीं हो, जो चन्द्रमा के वियोगजन्य शोक से ग्रसित हो, स्वर्ग से पृथिवी पर आ गिरी हो ? ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" श्रेष्ठ । "

का त्वं भवसि कल्याणि त्वमनिन्दितलोचने ।
कोपाद्वा यदि वा मोहाद्भर्तारमसितेक्षणे ॥ ८ ॥

वसिष्ठं कोपयित्वा त्वं नासि कल्याण्यरुन्धती ।
को नु पुत्रः पिता भ्राता भर्ता वा ते सुमध्यमे ॥ ९ ॥

हे सुन्दर नेत्रों वाली कल्याणी! तुम कौन हो? हे काले नेत्रों वाली! कोप या मोह वश, तुम अपने पति वशिष्ठ को, कुपित कर, यहाँ आयी हुई अरुन्धती तो नहीं हो? हे सुमध्यमे! यह तो बतलाओ कि, कहीं तुम्हारा पुत्र, पिता, भाई, अथवा पति तो ॥ ८ ॥ ९ ॥

अस्माल्लोकादमुं लोकं गतं त्वमनुशोचसि ।
रोदनादतिनिःश्वासाद्भूमिसंस्पर्शनादपि ॥ १० ॥

इस लोक से परलोक को नहीं चला गया, जिसके लिये तुम शोक कर रही हो। तुम्हारे रोने, निश्वास छोड़ने और भूमिस्पर्श करने से ॥ १० ॥

न त्वां देवीमहं मन्ये राज्ञः संज्ञावधारणात् ।
[1]व्यञ्जनानि च ते यानि लक्षणानि च लक्षये ॥ ११ ॥

यह तो मुझे निश्चय हो गया कि, तुम देवता नहीं हो। (क्योंकि देवता ये काम नहीं करते) फिर तुम बार बार महाराज श्रीरामचन्द्र जी का नाम ले रही हो। अतः तुम्हारे स्तन जंघा आदि शरीर के अवयवों की गठन तथा सामुद्रिकशास्त्र में वर्णित अन्य शारीरिक लक्षणों को देखने से ॥ ११ ॥

---

१ व्यञ्जनानि—स्तनजघनादीनि । (गो०)

महिषी भूमिपालस्य राजकन्याऽसि मे मता।
रावणेन जनस्थानाद्बलादपहृता यदि ॥ १२ ॥

मुझे निश्चित रूप से ज्ञान पड़ता है कि, तुम किसी भूपाल की पटरानी और राजकन्या हो। रावण जनस्थान से बरजोरी जिसको हर लाया था, यदि ॥ १२ ॥

सीता त्वमसि भद्रं ते तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः।
यथा हि तव वै दैन्यं रूपं चाप्यतिमानुषम्[१] ॥ १३ ॥

तुम वही सीता हो ; तो मैं तुम से पूँछता हूँ मुझे बतला दो। तुम्हारा भला हो। क्योंकि तुम्हारी दीनता से, तुम्हारे अत्यद्भुत रूप से ॥ १३ ॥

तपसा चान्वितो वेषस्त्वं राममहिषी ध्रुवम्।
सा तस्य वचनं श्रुत्वा रामकीर्तनहर्षिता ॥ १४ ॥

और तुम्हारे तपस्विनी के वेश से तुम निश्चय ही मुझे श्रीराम-पत्नी जान पड़ती हो। हनुमान जी के इन वचनों को तथा श्रीराम-नाम-कीर्तन को सुन, सीता जी हर्षित हो गयीं ॥ १४ ॥

उवाच वाक्यं वैदेही हनुमन्तं द्रुमाश्रितम्।
पृथिव्यां राजसिंहानां मुख्यस्य विदितात्मनः ॥ १५ ॥

वृक्ष पर बैठे हनुमान जी से वैदेही कहने लगीं—हे कपे! पृथिवी के समस्त श्रेष्ठ राजाओं में मुख्य एवं प्रसिद्ध ॥ १५ ॥

स्नुषा दशरथस्याहं शत्रुसैन्यप्रमाथिनः*।
दुहिता जनकस्याहं वैदेहस्य महात्मनः ॥ १६ ॥

---

१ अतिमानुषम्—अत्यद्भुतमित्यर्थः। (रा०) * पाठान्तरे—" प्रतापिनः ", " प्रणाशिनः।"

और शत्रुसैन्यहन्ता महाराज दशरथ की मैं पतोहू और महात्मा विदेह राजा जनक की मैं बेटी हूँ ॥ १६ ॥

सीता च नाम नाम्नाऽहं भार्या रामस्य धीमतः ।
समा द्वादश तत्राऽहं राघवस्य निवेशने ॥ १७ ॥

मेरा नाम सीता है, और बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी की मैं पत्नी हूँ। बारह वर्ष तक मैं श्रीरामचन्द्र जी के घर में ॥ १७ ॥

भुञ्जाना मानुषान्भोगान्सर्वकामसमृद्धिनी ।
तत्र त्रयोदशे वर्षे राज्येनेक्ष्वाकुनन्दनम् ॥ १८ ॥
अभिषेचयितुं राजा सोपाध्यायः प्रचक्रमे ।
तस्मिन्संभ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने ॥ १९ ॥

सब कामनाओं से परिपूर्ण हो, मनुष्योपयोगी समस्त पदार्थों का उपयोग करती रही। तदनन्तर तेरहवें वर्ष महाराज दशरथ ने वशिष्ठ जी की सलाह से, इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक करना चाहा। अभिषेक की सारी तैयारियाँ हो चुकने पर ॥ १८ ॥ १९ ॥

कैकेयी नाम भर्तारं देवी वचनमब्रवीत् ।
न पिबेयं न खादेयं प्रत्यहं मम भोजनम् ॥ २० ॥

कैकेयी ने अपने पति महाराज दशरथ से यह कहा कि, मैं (आज से नित्य) न तो पानी पीऊँगी न भोजन करूँगी ॥ २० ॥

एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ।
यत्तदुक्तं त्वया वाक्यं प्रीत्या नृपतिसत्तम ॥ २१ ॥

तो यदि तुम श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक करोगे। मैं अपनी जान दे दूँगी, हे नृपोत्तम ! तुमने प्रसन्न हो पूर्वकाल में मुझे जो वर दिया था ॥ २१ ॥

तच्चेन्न वितथं कार्यं वनं गच्छतु राघवः ।
स राजा सत्यवाग्देव्या-वरदानमनुस्मरन् ॥ २२ ॥

उसे यदि तुम मिथ्या न करना चाहते हो, तो श्रीरामचन्द्र जी वन को जांय। हे कपे ! वे सत्यवादी राजा अपने पूर्वदत्त वर को स्मरण कर ॥ २२ ॥

मुमोह वचनं श्रुत्वा कैकेय्याः क्रूरमप्रियम् ।
ततस्तु स्थविरो राजा सत्ये धर्मे व्यवस्थितः ॥ २३ ॥

कैकेयी के इस निष्ठुर और अप्रिय वचन को सुन कर, अचेत हो गये। तदनन्तर वृद्ध महाराज दशरथ ने सत्य रूपी धर्म का पालन करने के लिये ॥ २३ ॥

ज्येष्ठं यशस्विनं पुत्रं रुदन्राज्यमयाचत ।
स पितुर्वचनं श्रीमानभिषेकात्परं प्रियम् ॥ २४ ॥

रोदन करते हुए यशस्वी अपने ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी से दिया हुआ राज्य फेर लिया ; किन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने अपने अभिषेक से कहीं बढ़ कर पिता की आज्ञा को प्रिय माना ॥ २४ ॥

मनसा पूर्वमासाद्य वाचा प्रतिगृहीतवान् ।
दद्यान्न *प्रतिगृह्णीयात्सत्यंब्रूयान्नचानृतम् ॥ २५ ॥
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
स विहायोत्तरीयाणि महार्हाणि महायशाः ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—" प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात्किञ्चिदप्रियम् । "

और प्रथम उन्होंने उसे मन से अंगीकार कर फिर वाणी द्वारा प्रकट किया। क्योंकि सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी दान देते हैं, दान लेते नहीं, वे सदा सत्य ही बोलते हैं, झूठ कभी नहीं बोलते। इस विषय में भले ही उनके प्राण ही क्यों न चले जायँ। पर वे बोलते सच ही हैं। महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े मूल्यवान एवं बढ़िया वस्त्रों को त्याग, ॥ २५ ॥ २६ ॥

विसृज्य मनसा राज्यं जनन्यै मां समादिशत् ।
साऽहं तस्याग्रतस्तूर्णं प्रस्थिता वनचारिणी ॥ २७ ॥

तथा मन से राज्य को छोड़, मुझे अपनी जननी की सेवा करने की आज्ञा दी। परन्तु मैं तो तुरन्त वनचारिणी का वेश बना, उनके आगे ही उनके साथ वन जाने को तैयार हुई ॥ २७ ॥

न हि मे तेन हीनाया वासः स्वर्गेऽपि रोचते ।
प्रागेव तु महाभागः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ॥ २८ ॥

क्योंकि श्रीराम के विना मुझे अकेले स्वर्ग में रहना भी पसंद नहीं है। मित्रों के आनन्द को बढ़ाने वाले महाभाग लक्ष्मण भी ॥ २८ ॥

पूर्वजस्यानुयात्रार्थे द्रुमचीरैरलंकृतः ।
ते वयं भर्तुरादेशं बहुमान्य दृढव्रताः ॥ २९ ॥
प्रविष्टाः स्म पुराऽदृष्टं वनं गम्भीरदर्शनम् ।
वसतो दण्डकारण्ये तस्याहममितौजसः ॥ ३० ॥

चीर वल्कल धारण कर, बड़े भाई के साथ चलने को तैयार हो गये। सो हम सब महाराज दशरथ की आज्ञा को अति आदर और

दृढ़ता पूर्वक मान, पूर्व में कभी न देखे हुए और भयानक वन में आये। हम सब लोग दण्डकवन में रहा करते थे कि, उन महाबली ॥ २६ ॥ ३० ॥

रक्षसाऽपहृता भार्या रावणेन दुरात्मना।
द्वौ मासौ तेन मे कालो जीवितानुग्रहः कृतः।
ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां ततस्त्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ ३१ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी की भार्या (मुझ) को दुष्ट रावण हर लाया। उसने अनुग्रह कर मुझे दो मास तक और जीवित रखने की अवधि बाँध दी है। दो मास बीतने पर मुझे अपने प्राण त्यागने पड़ेंगे ॥ ३१ ॥

सुन्दरकाण्ड का तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—※—

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनुमान्हरियूथपः।
दुःखाद्दुःखाभिभूतायाः सान्त्वमुत्तरमब्रवीत् ॥ १ ॥

शोकसन्तप्ता जानकी के ये वचन सुन, कपिप्रवर हनुमान जी उनको धीरज बंधाते हुए उत्तर में यह बोले ॥ १ ॥

अहं रामस्य सन्देशाद्देवि दूतस्तवागतः।
वैदेहि कुशली रामस्त्वां च कौशलमब्रवीत् ॥ २ ॥

हे देवी! श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से दूत बन कर, मैं तुम्हारे पास उनका संदेसा लाया हूँ। श्रीरामचन्द्र जी स्वयं अच्छी तरह हैं और तुम्हारा कुशल वृत्तान्त पूँछा है॥ २॥

यो ब्राह्ममस्त्रं वेदांश्च वेद वेदविदां वरः।
स त्वां दाशरथी रामो देवि कौशलमब्रवीत्॥ ३॥

हे देवी! जो ब्रह्मास्त्र का चलाना जानते हैं, जो वेदों के ज्ञाता हैं और जो वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ हैं, उन्हीं दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने तुम्हारी राजीखुशी का हाल पूँछा है॥ ३॥

लक्ष्मणश्च महातेजा भर्तुस्तेऽनुचरः प्रियः।
कृतवाञ्शोकसन्तप्तः शिरसा तेऽभिवादनम्॥ ४॥

महातेजस्वी और अपने बड़े भाई की सेवा में सदा तत्पर रहने वाले, लक्ष्मण जी ने शोकसन्तप्त हो, तुमको सीस नवा कर प्रणाम कहलाया है॥ ४॥

सा तयोः कुशलं देवी निशम्य नरसिंहयोः।
प्रीतिसंहृष्टसर्वाङ्गी हनुमन्तमथाब्रवीत्॥ ५॥

उन दोनों नरसिंहों का कुशलसंवाद सुन, सीता का सारा शरीर हर्ष से पुलकित हो गया। वे हनुमान जी से कहने लगीं॥ ५॥

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥ ६॥

लोग एक कहावत कहा करते हैं कि, मनुष्य यदि जीवित रहे; तो सौ वर्ष के पीछे भी वह हर्षित होता है। सो यह कहावत मुझे ठीक ठीक जान पड़ती है॥ ६॥

तया समागते तस्मिन्प्रीतिरुत्पादिताऽद्भुता ।
परस्परेण चालापं विश्वस्तौ तौ प्रचक्रतुः ॥ ७ ॥

(इस प्रकार) सीता और हनुमान जी को भेंट होजाने पर अब उन दोनों में परस्पर विलक्षण अनुराग उत्पन्न हो गया और वे दोनों एक दूसरे पर विश्वास कर आपस में बातचीत करने लगे ॥ ७ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनुमान्हरियूथपः ।
सीतायाः शोकदीनायाः समीपमुपचक्रमे ॥ ८ ॥

शोककर्शिता सीता जी के उन वचनों को सुन, कपिश्रेष्ठ हनुमान जी, सीता जी के कुछ निकट चले गये ॥ ८ ॥

यथा यथा समीपं स हनुमानुपसर्पति ।
तथा तथा रावणं सा तं सीता परिशङ्कते ॥ ९ ॥

किन्तु हनुमान जी ज्यों ज्यों सीता जी के निकट पहुँचते जाते थे, त्यों त्यों सीता जी हनुमान जी को रावण समझ, उन पर सन्देह करती जाती थीं ॥ ९ ॥

अहो धिग्दुष्कृतमिदं[1] कथितं हि यदस्य मे ।
रूपान्तरमपागम्य स एवायं हि रावणः ॥ १० ॥

मैंने इससे बातचीत कर बड़ा अनुचित कार्य किया, मुझको धिक्कार है। क्योंकि यह रूप बदले हुए रावण ही है ॥ १० ॥

तामशोकस्य शाखां सा विमुक्त्वा शोककर्शिता ।
तस्यामेवानवद्याङ्गी धरण्यां समुपाविशत् ॥ ११ ॥

---

१ दुष्कृतं—अनुचितं । (गो०)

सुन्दरी सीता जी यह कह कर तथा शोक से विकल हो और अशोक की शाखा को छोड़, वहीं भूमि पर बैठ गयीं ॥ ११ ॥

हनुमानपि दुःखार्तां तां दृष्ट्वा भयमोहिताम् ।
अवन्दत महाबाहुस्ततस्तां जनकात्मजाम् ॥ १२ ॥

महाबाहु हनुमान जी ने दुखियारी सीता को भयभीत देख, उनको प्रणाम किया ॥ १२ ॥

सा चैनं भयवित्रस्ता भूयो नैवाभ्युदैक्षत ।
तं दृष्ट्वा वन्दमानं तु सीता शशिनिभानना ॥ १३ ॥

किन्तु भयभीत सीता जी ने फिर हनुमान जी की ओर नहीं देखा। बल्कि चन्द्रमुखी सीता जी ने, हनुमान जी को प्रणाम करते देख, ॥ १३ ॥

अब्रवीद्दीर्घमुच्छ्वस्य वानरं मधुरस्वरा ।
मायां प्रविष्टो मायावी यदि त्वं रावणः स्वयम् ॥ १४ ॥

ऊँची साँस ले, हनुमान जी से मधुर स्वर में कहा कि, यदि तू सचमुच कपटरूप धारण किये हुए रावण है ॥ १४ ॥

उत्पादयसि मे भूयः सन्तापं तन्न शोभनम् ।
स्वं परित्यज्य रूपं यः परिव्राजकरूपधृत् ॥ १५ ॥

जनस्थाने मया दृष्टस्त्वं स एवासि रावणः ।
उपवासकृशां दीनां कामरूप निशाचर ॥ १६ ॥

तो तूने मुझे जो पुनः शोकसन्तप्त किया है, सो अच्छा नहीं किया अथवा यह तुझे नहीं सोहता। तू वही रावण है जो अपना रूप

बदल और संन्यासी का रूप धारण कर, जनस्थान में मुझे हरने गया था। हे कामरूपी निशाचर! मैं तो वैसे ही भूखी प्यासी रह कर कृश और दीन हो रही हूँ॥ १५॥ १६॥

सन्तापयसि मां भूयः सन्तप्तां तन्न शोभनम्।
अथवा नैतदेवं हि यन्मया परिशङ्कितम्॥ १७॥

सो मुझ सन्तप्त को पुनः सन्तप्त करना, तुझको शोभा नहीं देता! और यदि मेरा यह सन्देह ठीक न हो॥ १७॥

मनसो हि मम प्रीतिरुत्पन्ना तव दर्शनात्।
यदि रामस्य दूतस्त्वमागतो भद्रमस्तु ते॥ १८॥

और बहुत करके ठीक है भी नहीं, क्योंकि तुझे देख, मेरे मन में अपने आप तेरे प्रति स्नेह उत्पन्न होता है। सो यदि तू श्रीरामचन्द्र जी का दूत बन कर यहाँ आया है, तो तेरा मङ्गल हो॥ १८॥

पृच्छामि त्वां हरिश्रेष्ठ प्रिया रामकथा हि मे।
गुणान्रामस्य कथय प्रियस्य मम वानर॥ १९॥

अब मैं तुझसे पूँछती हूँ। हे कपिश्रेष्ठ! तू मुझे श्रीरामचन्द्र जी का वृत्तान्त बतला। साथ ही हे वानर! मेरे प्यारे श्रीरामचन्द्र जी के गुणों का भी वर्णन कर॥ १९॥

चित्तं हरसि मे सौम्य नदीकूलं यथा रयः।
अहो स्वप्नस्य सुखता याऽहमेवं चिराहृता॥ २०॥
प्रेषितं नाम पश्यामि राघवेण वनौकसम्।
स्वप्नेऽपि यद्यहं वीरं राघवं सहलक्ष्मणम्॥ २१॥

हे सौम्य ! तू मेरे मन को अपनी ओर उसी प्रकार खींच रहा है; जिस प्रकार नदी अपने किनारे को अपनी ओर खींचती है। आहा ! देखो, स्वप्न भी कैसा सुखदायी होता है, जो मैं मुद्दत से श्रीरामचन्द्र जी से बिछुड़ी हुई आज श्रीरामचन्द्र जी के भेजे हुए वानर को देख रही हूँ। यदि स्वप्न में भी मैं श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी को देखती ॥ २० ॥ २१ ॥

पश्येयं नावसीदेयं स्वप्नोऽपि मम मत्सरी ।
नाहं स्वप्नमिमं मन्ये स्वप्ने दृष्ट्वा हि वानरम् ॥ २२ ॥

तो दुखी न होती, किन्तु स्वप्न भी तो मुझसे ईर्ष्या रखता है (अर्थात् ईर्ष्यावश स्वप्न में भी मुझे श्रीराम लक्ष्मण नहीं दीखते)। परन्तु यह तो मुझे स्वप्न नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि स्वप्न में बन्दर को देखने से ॥ २२ ॥

न शक्योऽभ्युदयः प्राप्तुं प्राप्तश्चाभ्युदयो मम ।
किंतु स्याच्चित्तमोहोऽयं भवेद्वातगतिस्त्वियम् ॥ २३ ॥

किसी का कल्याण नहीं होता, किन्तु मुझे तो स्वप्न में वानर देखने से सन्तोषरूपी कल्याण की प्राप्ति हुई है। कहीं यह मेरा मनविभ्रम तो नहीं है अथवा भूखी रहते रहते कहीं वायु कुपित हो कर मेरा मस्तिष्क तो नहीं बिगाड़ रहा है ? ॥ २३ ॥

उन्मादजो विकारो वा स्यादियं मृगतृष्णिका ।
अथवा नायमुन्मादो मोहोऽप्युन्मादलक्षणः ॥ २४ ॥

अथवा यह विक्षिप्ततामूलक कोई उपद्रव तो नहीं है अथवा यह मृगतृष्णा की तरह मुझे अन्य वस्तु का अन्य स्थान में भास मात्र हो रहा है ? अथवा न तो यह विक्षिप्तता है और न उससे उत्पन्न हुआ यह मोह है अर्थात् ज्ञानशून्यता ही है ॥ २४ ॥

सम्बुध्ये चाहमात्मानमिमं चापि वनौकसम् ।
इत्येवं बहुधा सीता सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २५ ॥

क्योंकि मेरे होशहवास दुरुस्त हैं अथवा मैं अपने आपको और इस वानर को भली भाँति जानती हूँ। सीता जी ने इस प्रकार बहुत कुछ ऊँचनीच सोच विचार कर, ॥ २५ ॥

रक्षसां कामरूपत्वान्मेने तं राक्षसाधिपम् ।
एतां बुद्धिं तदा कृत्वा सीता सा तनुमध्यमा ॥ २६ ॥

हनुमान जी को कामरूपी राक्षसराज रावण ही समझा। इस प्रकार का निश्चय कर, पतली कमर वाली सीता ॥ २६ ॥

न प्रतिव्याजहाराथ वानरं जनकात्मजा ।
सीतायाश्चिन्तितं बुद्ध्वा हनुमान्मारुतात्मजः ॥ २७ ॥

जनकनन्दिनी ने फिर हनुमान जी से कुछ बातचीत न की। तब पवननन्दन हनुमान जी सीता जी, को चिन्तित जान, अर्थात् अपने ऊपर सन्देह करते जान, ॥ २७ ॥

श्रोत्रानुकूलैर्वचनैस्तदा तां सम्प्रहर्षयत् ।
आदित्य इव तेजस्वी लोककान्तः शशी यथा ॥ २८ ॥

श्रुतमधुर वचन कह, उनको भली भाँति प्रसन्न करने लगे। वे बोले—जो आदित्य की तरह तेजस्वी, चन्द्रमा की तरह सर्वप्रिय हैं ॥ २८ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य देवो वैश्रवणो यथा ।
विक्रमेणोपपन्नश्च यथा विष्णुर्महायशाः ॥ २९ ॥

जो कुबेर की तरह सब लोगों के राजा, पराक्रम प्रदर्शन करने में महायशस्वी विष्णु के समान हैं ॥ २९ ॥

सत्यवादी मधुरवाग्देवो वाचस्पतिर्यथा।
रूपवान्सुभगः श्रीमान्कन्दर्प इव मूर्तिमान् ॥ ३० ॥

जो बृहस्पति की तरह सत्यवादो और मधुरभाषो हैं। जो रूपवान, सुभग और सौन्दर्य में साक्षात् मूर्तिमान कन्दर्प की तरह हैं ॥ ३० ॥

स्थानक्रोधः प्रहर्ता च श्रेष्ठो लोके महारथः।
बाहुच्छायामवष्टब्धो यस्य लोको महात्मनः ॥ ३१ ॥

जो उचित क्रोध कर दण्ड देने वाले हैं, जो सर्वश्रेष्ठ और महारथी हैं, जिनकी भुजा की छाया में रह कर लोग सुखी रहते हैं ॥ ३१ ॥

अपकृष्याश्रमपदान्मृगरूपेण राघवम्।
शून्ये येनापनीतासि तस्य द्रक्ष्यसि यत्फलम् ॥ ३२ ॥

उन श्रीरामचन्द्र जी को बनावटी हिरन द्वारा आश्रम से दूर ले जाकर और एकान्त पा, जिसने तुमको हरा है, वह अपने किये का फल पावेगा ॥ ३२ ॥

न चिराद्रावणं संख्ये यो वधिष्यति वीर्यवान्।
रोषप्रमुक्तैरिषुभिर्ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥ ३३ ॥

जो पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी क्रुद्ध हो अग्नि की तरह दीप्तमान् बाणों को चला कर युद्ध में रावण को मारेंगे ॥ ३३ ॥

तेनाहं प्रेषितो दूतस्त्वत्सकाशमिहागतः।
त्वद्वियोगेन दुःखार्तः स त्वां कौशलमब्रवीत् ॥ ३४ ॥

उन्हीका भेजा हुआ मैं उनका दूत तुम्हारे पास आया हूँ। वे तुम्हारे विरह में बड़े दुःखी हैं। सो उन्होंने तुम्हारी कुशलवार्ता पूँछी है ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणश्च महातेजाः सुमित्रानन्दवर्धनः ।
अभिवाद्य महाबाहुः स त्वां कौशलमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

महाबाहु और सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले महातेजस्वी लक्ष्मण जी ने प्रणाम पूर्वक तुम्हारी कुशलवार्ता पूँछो है ॥ ३५ ॥

रामस्य च सखा देवि सुग्रीवो नाम वानरः ।
राजा वानरमुख्यानां स त्वां कौशलमब्रवीत् ॥ ३६ ॥

हे देवी ! सुग्रीव नाम के वानर ने, जो श्रीरामचन्द्र जी के मित्र हैं और वानरों के राजा हैं, तुम्हारी राजीखुशी पूँछी है ॥ ३६ ॥

नित्यं स्मरति रामस्त्वां ससुग्रीवः सलक्ष्मणः ।
दिष्ट्या जीवसि वैदेहि राक्षसीवशमागता ॥ ३७ ॥

सुग्रीव और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी नित्य तुम्हें याद किया करते हैं। हे वैदेही ! यह सौभाग्य की बात है कि, तुम इन राक्षसियों के पंजे में फँस कर भी जीती जागती बनी हुई हो ॥ ३७ ॥

न चिराद्रक्ष्यसे रामं लक्ष्मणं च महाबलम् ।
मध्ये वानरकोटीनां सुग्रीवं चामितौजसम् ॥ ३८ ॥

हे देवी ! तुम थोड़े ही दिनों बाद लक्ष्मण सहित महाबली श्रीरामचन्द्र जी को और बड़े पराक्रमी सुग्रीव को करोड़ों वानरों सहित यहाँ देखोगी ॥ ३८ ॥

अहं सुग्रीवसचिवो हनुमान्नाम वानरः ।
प्रविष्टो नगरीं लङ्कां लङ्घयित्वा महोदधिम् ॥ ३९ ॥

मैं सुग्रीव का मंत्री हूँ और मेरा नाम हनुमान है। मैं समुद्र को लाँघ कर लङ्कापुरी में आया हूँ ॥ ३९ ॥

कृत्वा मूर्ध्नि पदन्यासं रावणस्य दुरात्मनः ।
त्वां द्रष्टुमुपयातोऽहं समाश्रित्य पराक्रमम् ॥ ४० ॥

मैं अपने बलपराक्रम के बूते, दुष्ट रावण के सिर पर पैर रख कर, (अर्थात् रावण का तिरस्कार करके) तुम्हें देखने के लिये यहाँ आया हूँ ॥ ४० ॥

नाहमस्मि तथा देवि यथा मामवगच्छसि ।
विशङ्का त्यज्यतामेषा श्रद्धत्स्व वदतो मम ॥ ४१ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

हे देवी! तुम मुझे जो समझ रही हो वह मैं नहीं हूँ (अर्थात् मैं रावण नहीं हूँ)। अतएव तुम अपने सन्देह को दूर कर, मेरे कथन पर विश्वास करो ॥ ४१ ॥

सुन्दरकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

पञ्चत्रिंशः सर्गः

तां तु रामकथां श्रुत्वा वैदेही वानरर्षभात् ।
उवाच वचनं सान्त्वमिदं मधुरया गिरा ॥ १ ॥

हनुमान जी के मुख से श्रीरामचन्द्र जी का वृत्तान्त सुन, सीता जी ने मधुर वाणी से ये शान्त (ठंडे) वचन कहे ॥ १ ॥

क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम् ।
वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः ॥ २ ॥

तेरी श्रीरामचन्द्र जी से भेंट कहाँ हुई? लक्ष्मण जी को तू कैसे जानता है? मनुष्यों का और वानरों का मेल कैसे हुआ? ॥२॥

यानि रामस्य लिङ्गानि लक्ष्मणस्य च वानर ।
तानि भूयः समाचक्ष्व न मां शोकः समाविशेत् ॥ ३ ॥

हे वानर! श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी को जो पहिचाने हैं (हुलिया) उनको तुम फिर से कहो, जिनको सुनने से मेरे मन को शोक न हो ॥ ३ ॥

कीदृशं तस्य संस्थानं रूपं रामस्य कीदृशम् ।
कथमूरू कथं बाहू लक्ष्मणस्य च शंस मे ॥ ४ ॥

उनके शरीरों की गठन कैसी है और श्रीरामचन्द्र जी का रूप कैसा है? लक्ष्मण जी की जंघाएँ और भुजाएँ कैसी हैं? यह तुम मुझे बतलाओ ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या हनुमान्पवनात्मजः* ।
ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥

जब सीता जी ने इस प्रकार पूँछा; तब पवननन्दन हनुमान जी श्रीरामचन्द्र जी की हुलिया यथावत् बतलाने लगे ॥ ५ ॥

जानन्ती बत दिष्ट्या मां वैदेहि परिपृच्छसि ।
भर्तुः कमलपत्राक्षि संस्थानं लक्ष्मणस्य च ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"हनुमान्मारुतात्मजः ।"

वे बोले—हे कमलनयनी ! तुम अपने पति और लक्ष्मण जी के शरीरों के चिन्हों का जान कर भी मुझसे पूँछती हो, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्य की बात है ॥ ६ ॥

यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च जानकी ।
लक्षितानि विशालाक्षि वदतः शृणु तानि मे ॥ ७ ॥

हे जानकी जी ! मैंने श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी के जिन शारीरिक चिन्हों को देखा है, वे सब मैं तुमसे कहता हूँ । सुनिये ॥ ७ ॥

रामः कमलपत्राक्षः *सर्वभूतमनोहरः ।
रूपदाक्षिण्यसम्पन्नः प्रसूतो जनकात्मजे ॥ ८ ॥

हे जनकनन्दिनी ! श्रीरामचन्द्र जी के नेत्र कमल के समान हैं । वे सब का मन हरण करने वाले हैं । रूप और चातुर्य को साथ लिये हुए वे उत्पन्न हुए हैं (अर्थात् वे स्वभावतः सुस्वरूप और चतुर हैं) ॥ ८ ॥

तेजसाऽऽदित्यसङ्काशः क्षमया पृथिवीसमः ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा †वासवोपमः ॥ ९ ॥

वे तेज में सूर्य, क्षमा में पृथिवी, बुद्धिमत्ता में बृहस्पति और यश में इन्द्र के तुल्य हैं ॥ ९ ॥

रक्षिता जीवलोकस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य धर्मस्य च परन्तपः ॥ १० ॥

वे समस्त प्राणियों की, अपने जनों की, अपने चरित्र की और अपने धर्म की रक्षा करने वाले हैं । साथ ही अपने शत्रुओं का नाश (भी) करने वाले हैं ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरे—“ सर्वसत्त्वमनोहरः । † पाठान्तरे—‘ पृथिवीसमः ।”

रामो भामिनि लोकेऽस्मिंश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ।
मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः ॥११॥

हे सुन्दरी ! श्रीरामचन्द्र जी इस लोक में चारों वर्णों के रक्षक और लोक की मर्यादा बांधने वाले और मर्यादा की रक्षा करने वाले हैं ॥ ११ ॥

*अर्चिष्मानर्चितो नित्यं ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ।
साधूनामुपकारज्ञः प्रचारज्ञश्च[1] कर्मणाम् ॥ १२ ॥

वे अति प्रकाशमान हैं और पूज्यों के भी पूज्य हैं। वे सदा ब्रह्मचर्यव्रत को धारण किये रहते हैं। वे साधु महात्माओं के प्रति उपकार करने के अवसर को जानने वाले अथवा साधु महात्माओं द्वारा किये हुए उपकारों को मानने वाले हैं और वे शास्त्रविहित कर्मों के प्रचार की विधि को जानते हैं अथवा शास्त्रोक्त कर्मों के प्रयोगों का वे जानने वाले हैं ॥ १२ ॥

[नोट—श्रीरामचन्द्र जी गृहस्थ थे, फिर हनुमान जी ने उन्हें " नित्य ब्रह्मचर्य-व्रत-स्थित " क्यों बतलाया ? यह शङ्का होने पर समाधान के लिये भूषणटीकाकार ने मनु भगवान् का यह श्लोक उद्धृत किया है :—

" षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्
ब्रह्मचार्येव पर्वाद्याश्चतस्रश्च विवर्जयेत् ॥ "]

राजविद्याविनीतश्च ब्राह्मणानामुपासिता ।
श्रुतवाञ्शीलसंपन्नो विनीतश्च परन्तपः ॥ १३ ॥

वे चार प्रकार की राजविद्याओं में शिक्षित; ब्राह्मणोपासक, ज्ञानवान्, शीलवान् नम्र, किन्तु शत्रुओं को तपाने या नाश करने वाले हैं ॥ १३ ॥

---

१ प्रचारज्ञः—प्रयोगज्ञः । (गो०) * पाठान्तरे—"अर्चिष्मानर्चितोत्यर्थं ।"

[नोट—चार प्रकार की राजविद्याएँ ये हैं:—

" आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ॥ "]

यजुर्वेदविनीतश्च वेदविद्भिः सुपूजितः ।
धनुर्वेदे च वेदेषु वेदाङ्गेषु च निष्ठितः ॥ १४ ॥

वे यजुर्वेद भली भांति सीखे हुए हैं, और वेदवेत्ताओं से भली भांति सम्मानित अथवा प्रशंसित हैं तथा धनुर्वेद में एवं चारों वेदों और वेदाङ्गों में निपुण हैं ॥ १४ ॥

[नोट—और वेदों का नाम लिखने से पहिले यजुर्वेद का नाम लिखने से आदिकाव्यकार का अभिप्राय यह है कि, श्रीरामचन्द्र जी यजुर्वेदी थे ।]

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवः शुभाननः ।
गूढजत्रुः सुताम्राक्षो रामो देवि जनैः श्रुतः ॥ १५ ॥

हे देवी ! श्रीरामचन्द्र जो, विशाल कंधों वाले, बड़ी भुजाओं वाले, शङ्खग्रीव, सुन्दरानन, हँसलियों की माँसल हड्डियाँ वाले, रक्तनयन और लोक में श्रीरामचन्द्र जी के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ १५ ॥

दुन्दुभिस्वननिर्घोषः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
समः समविभक्ताङ्गो वर्णं श्यामं समाश्रितः ॥ १६ ॥

उनका कण्ठस्वर दुन्दभि के समान गम्भीर है, उनके शरीर का रङ्ग चिकना है, वे बड़े प्रतापी हैं, उनके सब अंग प्रत्यंग आपस में मिले हुए और छोटे बड़े नहीं हैं और उनका श्याम वर्ण है ॥ १६ ॥

त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिसमस्त्रिषु चोन्नतः ।
त्रिताम्रस्त्रिषु च स्निग्धो गम्भीरस्त्रिषु नित्यशः ॥ १७ ॥

उनकी जाँघे, कलाई और मूठी बड़ी मज़बूत हैं। भौंह, अंड-कोश और बाहु उनके ये तीन अङ्ग लंबे हैं, केशाग्र, वृषण और जानु ये तीनों अंग उनके समान हैं। नाभि का अभ्यन्तर भाग, काख और छाती उनके ये तीन अङ्ग ऊँचे हैं। आँखों के कोये, नख और चरणों के तलुए और दोनों हथेली लाल हैं। उनके पाँव की रेखा, केश, और शिश्न का अगला भाग चिकने हैं। उनका स्वर, उनकी नाभि और गति गम्भीर हैं ॥ १७ ॥

त्रिवलीवांस्त्र्यवनतश्चतुर्व्यङ्गस्त्रिशीर्षवान् ।
चतुष्कलश्चतुर्लेखश्चतुष्किष्कुश्चतुस्समः ॥ १८ ॥
चतुर्दशसमद्वन्द्वश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्गतिः ।
महोष्ठहनुनासश्च पञ्चस्निग्धोऽष्टवंशवान् ॥ १९ ॥

उनके उदर और कण्ठ में त्रिवली पड़ती है। उनके पैर के तलुए, चरणरेखा और स्तनाग्र गहरे हैं। उनका गला, लिङ्ग, पीठ और जाँघें मोटी हैं। उनके मस्तक के ऊपर चार भँवरियाँ हैं। उनके अँगुष्ठमूल में चारों वेद की ज्ञान-सम्पादन-सूचक चार रेखाएँ हैं। उनके ललाट में महा-दीर्घायु-सूचक चार रेखाएँ हैं। चौबीस अंगुल के हाथ से वे चार हाथ लंबे हैं। उनके बाहु, घुटना, जंघा, और कपोल समान हैं। भौं, नथुने, नेत्र, कर्ण, ओष्ठ, स्तनाग्र, कुहनी, गट्टा, घुटना, अण्डकोश, कटि, हाथ, पैर और कटिका पिछला भाग समान हैं। उनके चार दाँत चिकने, परस्पर मिले हुए और पैने हैं। सिंह, शार्दूल पक्षी, हाथी और बैल की तरह चार प्रकार की उनकी चाल है। उनके ओठ, ठोड़ी और नाक विशाल हैं। वाणी, मुख, नख, लोम और त्वचा चिकनी हैं। हाथ की नली, [illegible] की नली, तर्जनी, कनिष्ठा, गुल्फ, बाहु, ऊरू और जंघा दीर्घ हैं ॥ १९ ॥

दशपद्मो दशबृहत्त्रिभिर्व्याप्तो ह्रिशुक्लवान्।
षडुन्नतो नवतनुस्त्रिभिर्व्याप्नोति राघवः॥ २०॥

उनके मुख, नेत्र, थूथन, जिह्वा, ओठ, तालु, स्तन, नख हाथ और पैर कमल के तुल्य हैं। उनके वक्षःस्थल, मस्तक, ललाट, ग्रीवा, बाहु, स्कंध, नाभि, पैर, पीठ, और कर्ण बड़े बड़े हैं। श्री, यश और तेज से वे व्याप्त हैं। उनके मातृ पितृ दोनों वंश निर्दोष हैं। उनके कक्ष, पेट, वक्षःस्थल, नासिका, स्कंध और ललाट ऊँचे हैं। अँगुलियों के पोरा, सिर के बाल, रोम, नख, त्वचा और दाढ़ी के बाल कोमल हैं। उनको सूक्ष्म दृष्टि और सूक्ष्म बुद्धि है॥ २०॥

सत्यधर्मपरः श्रीमान्संग्रहानुग्रहे रतः।
देशकालविभागज्ञः सर्वलोकप्रियंवदः॥ २१॥

श्रीरामचन्द्र जी सत्यधर्मपरायण, कान्तिवान्, द्रव्य के उपार्जन करने और दान करने में सदा तत्पर, समय का यथोचित विभाग जानने वाले और सब से प्रिय बोलने वाले हैं॥ २१॥

*भ्राता चास्य च द्वैमात्रः सौमित्रिरपराजितः।
अनुरागेण रूपेण गुणैश्चैव तथाविधः॥ २२॥

इनके भाई जो सौतेली माता सुमित्रा से उत्पन्न हुए हैं; अनुराग, रूप और गुणों में अपने भाई ही के समान हैं॥ २२॥

तावुभौ नरशार्दूलौ त्वद्दर्शनसमुत्सुकौ।
विचिन्वन्तौ महीं कृत्स्नामस्माभिरभिसङ्गतौ॥ २३॥

वे दोनों नरसिंह, तुम्हारे देखने की लालसा से तुम्हें सारी पृथिवी पर खोजते हुए, हमसे आमिले हैं॥ २३॥

---

* पाठान्तरे—"भ्रातापि तस्य"; "भ्राता च तस्य।"

त्वामेव मार्गमाणौ तौ विचरन्तौ वसुन्धराम् ।
ददर्शतुर्मृगपतिं पूर्वजेनावरोपितम्[1] ॥ २४ ॥

ऋश्यमूकस्य पृष्ठे तु बहुपादपसङ्कुले ।
भ्रातुर्भयार्तमासीनं सुग्रीवं प्रियदर्शनम् ॥ २५ ॥

वे दोनों तुमको ढूढ़ते हुए और पृथिवी पर घूमते हुए, अनेक वृक्षों से युक्त ऋष्यमूक पर्वत के समीप पहुँचे और अपने बड़े भाई वानरराज वालि द्वारा निर्वासित और भाई के डर से डरे हुए प्रियदर्शन सुग्रीव को उस पर्वत पर बैठा हुआ उन्होंने देखा ॥२४॥२५॥

वयं तु हरिराजं तं सुग्रीवं सत्यसङ्गरम् ।
परिचर्यास्महे राज्यात्पूर्वजेनावरोपितम् ॥ २६ ॥

हम लोग वहाँ वालि द्वारा राज्य से निर्वासित, सत्यप्रतिज्ञ वानरराज सुग्रीव को सेवा शुश्रूषा किया करते थे ॥ २६ ॥

ततस्तौ चीरवसनौ धनुःप्रवरपाणिनौ ।
ऋश्यमूकस्य शैलस्य रम्यं देशमुपागतौ ॥ २७ ॥

चीर धारण किये और हाथों में उत्तम धनुष को लिये हुए, वे दोनों ऋष्यमूक पर्वत की रमणीय तलैटी में पहुँचे ॥ २७ ॥

स तौ दृष्ट्वा नरव्याघ्रौ धन्विनौ वानरर्षभः ।
अवप्लुतो गिरेस्तस्य शिखरं भयमोहितः ॥ २८ ॥

कपिश्रेष्ठ सुग्रीव इन दोनों पुरुषसिंहों को हाथ में धनुष लिये हुए आते देख, भयभीत हो एक छलांग मार, ऋष्यमूकपर्वत के शिखर पर चढ़ गये ॥ २८ ॥

---

1 अवरोपितं—विवासितं । (रा०)

ततः स शिखरे तस्मिन्वानरेन्द्रो व्यवस्थितः ।
तयोः समीपं मामेव प्रेषयामास सत्वरम् ॥ २९ ॥

सुग्रीव ने पर्वतशिखर पर पहुँच, इन दोनों के पास मुझको तुरन्त भेजा ॥ २९ ॥

तावहं पुरुषव्याघ्रौ सुग्रीववचनात्प्रभू ।
रूपलक्षणसम्पन्नौ कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥ ३० ॥

मैं उन दोनों रूपवान् और शुभ लक्षणों से युक्त पुरुषसिंहों के पास अपने मालिक सुग्रीव के कहने से, हाथ जोड़े जा उपस्थित हुआ ॥ ३० ॥

तौ परिज्ञाततत्त्वार्थौ मया प्रीतिसमन्वितौ ।
पृष्ठमारोप्य तं देशं प्रापितौ पुरुषर्षभौ ॥ ३१ ॥

मैंने वार्तालाप कर, उनके तात्पर्य को जान लिया और वे दोनों भी मेरा अभिप्राय जान, बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर मैं इन दोनों नरश्रेष्ठों को अपनी पीठ पर चढ़ा, उनको ऋष्यमूक पर्वत के शिखर पर ले गया ॥ ३१ ॥

निवेदितौ च तत्त्वेन सुग्रीवाय महात्मने ।
तयोरन्योन्यसंलापाद्भृशं प्रीतिरजायत ॥ ३२ ॥

वहाँ जा कर मैंने महात्मा सुग्रीव से सब यथार्थ हाल कह दिया। तदनन्तर उन दोनों में आपस में बातचीत हुई और दोनों में अत्यन्त प्रीति भी हो गयी ॥ ३२ ॥

*तत्र तौ कीर्तिसम्पन्नौ हरीश्वरनरेश्वरौ ।
परस्परकृताश्वासौ कथया पूर्ववृत्तया ॥ ३३ ॥

---

* पाठान्तरे—" ततस्तौ । "

वहाँ पर उन दोनों कीर्तिवान कपिराज और नरराज ने आपस में अपना अपना पूर्व वृत्तान्त कह कर, एक दूसरे को धीरज बँधाया ॥ ३३ ॥

तं ततः सान्त्वयामास सुग्रीवं लक्ष्मणाग्रजः ।
स्त्रीहेतोर्वालिना भ्रात्रा निरस्तमुरुतेजसा ॥ ३४ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने, सुग्रीव को, जो स्त्री के पीछे अपने तेजस्वी भाई वालि द्वारा राज्य से निकाल दिये गये थे, धीरज बँधाया ॥ ३४ ॥

ततस्त्वन्नाशजं शोकं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
लक्ष्मणो वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी की शोक-कथा, जिसमें तुम्हारे हरे जाने का वृत्तान्त था, वानरराज सुग्रीव को कह सुनाया ॥ ३५ ॥

स श्रुत्वा वानरेन्द्रस्तु लक्ष्मणेनेरितं वचः ।
तदासीन्निष्प्रभोऽत्यर्थं ग्रहग्रस्त इवांशुमान् ॥ ३६ ॥

वानरराज सुग्रीव, लक्ष्मण जी के मुख से सारा वृत्तान्त सुन, मारे शोक के ऐसे तेजहीन हो गये ; जैसे राहु से ग्रसे हुए सूर्य, तेजहीन हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

ततस्त्वद्गात्रशोभीनि रक्षसा ह्रियमाणया ।
यान्याभरणजालानि पातितानि महीतले ॥ ३७ ॥

तब तुम्हारे शरीर को शोभित करने वाले उन सब गहनों को, जो तुमने राक्षस द्वारा हरे जाने के समय ऊपर से भूमि पर फेंके थे ॥ ३७ ॥

तानि सर्वाणि *चादाय रामाय हरियूथपाः ।
संहृष्टा दर्शयामासुर्गतिं तु न विदुस्तव ॥ ३८ ॥

ला कर और हर्षित हो सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाये। पर राक्षस तुम्हें कहाँ ले गया, यह बात उनको मालूम न थी ॥ ३८ ॥

तानि रामाय दत्तानि मयैवोपहृतानि च ।
स्वनवन्त्यवकीर्णानि तस्मिन्विगतचेतसि ॥ ३९ ॥

मैंने ही उन बजने गहनों को, जो सुग्रीव द्वारा पीछे से श्रीरामचन्द्र जी के सामने रखे गये थे, भूमि पर से उठाया था। श्रीरामचन्द्र जी उनको देखते ही मूर्छित से हो गये थे ॥ ३९ ॥

तान्यङ्के दर्शनीयानि कृत्वा बहुविधं तव ।
तेन देवप्रकाशेन देवेन परिदेवितम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर देवताओं की तरह तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने उन देखने योग्य आभूषणों को अपनी गोदी में रख, बहुत विलाप किया ॥ ४० ॥

पश्यतस्तानि रुदतस्ताम्यतश्च पुनः पुनः ।
प्रादीपयन्दाशरथेस्तानि शोकहुताशनम् ॥ ४१ ॥

उन आभूषणों को देख देख कर वे बहुत रोये, बल्कि उन आभूषणों के देखने से श्रीरामचन्द्र जी का शोकाग्नि अति प्रज्वलित हो उठा ॥ ४१ ॥

शयितं[1] च चिरं तेन दुःखार्तेन महात्मना ।
मयाऽपि विविधैर्वाक्यैः कृच्छ्रादुत्थापितः पुनः ॥ ४२ ॥

---

१ शयितं—मूर्छितं । (गो०) * पाठान्तरे—" आनीय । "

वे मारे दुःख के बहुत देर तक भूमि पर पड़े अचेत रहे। फिर मैंने विविध प्रकार से समझा बुझा कर, बड़ी कठिनाई से उनको उठाया ॥ ४२ ॥

तानि दृष्ट्वा *महार्हाणि दर्शयित्वा मुहुर्मुहुः ।
राघवः सहसौमित्रिः सुग्रीवे संन्यवेदयत् ॥ ४३ ॥

लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने बार बार उन मूल्यवान् गहनों को देखा और फिर देख कर उनको सुग्रीव को सौंप दिया ॥ ४३ ॥

स तवादर्शनादार्ये राघवः परितप्यते ।
महता ज्वलता नित्यमग्निनेवाग्निपर्वतः ॥ ४४ ॥

हे आर्ये! श्रीरामचन्द्र जी तुमको न देखने से बड़े दुःखी हो रहे हैं। जैसे ज्वालामुखी पर्वत सदा दहकता रहता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी भी तुम्हारे विरह में शोकाग्नि से सदा दहका करते हैं ॥ ४४ ॥

त्वत्कृते तमनिद्रा च शोकश्चिन्ता च राघवम् ।
तापयन्ति महात्मानमग्न्यगारमिवाग्नयः ॥ ४५ ॥

हे देवी! तुम्हारे विरह में श्रीरामचन्द्र जी को नींद नहीं पड़ती और मारे शोक और चिन्ता के वे वैसे ही सन्तप्त रहते हैं; जैसे अग्नि द्वारा अग्निकुण्ड ॥ ४५ ॥

तवादर्शनशोकेन राघवः परिचाल्यते ।
महता भूमिकम्पेन महानिव शिलोच्चयः ॥ ४६ ॥

हे सीते! तुम्हारे न देखने से वे मारे शोक के वैसे ही थर थराते रहते हैं; जैसे बड़े भारी भूकम्प के आने से पर्वतशिखर थरथराने लगते हैं ॥ ४६ ॥

---

* पाठान्तरे—"महाबाहुः।"

काननानि सुरम्याणि नदीः प्रस्रवणानि च ।
चरन्न रतिमाप्नोति त्वामपश्यन्नृपात्मजे ॥ ४७ ॥

हे राजपुत्रि ! यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त रमणीय वनों में, नदियों और झरनों के तटों पर विचरते हैं, तथापि तुम्हारे बिना वहाँ उन्हें आनन्द प्राप्त नहीं होता ॥ ४७ ॥

स त्वां मनुजशार्दूलः क्षिप्रं प्राप्स्यति राघवः ।
समित्रबान्धवं हत्वा रावणं जनकात्मजे ॥ ४८ ॥

हे जनकनन्दिनी ! वे पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी शीघ्र ही बन्धु बान्धवों सहित रावण को मार, तुम्हारा यहाँ से उद्धार करेंगे ॥ ४८ ॥

सहितौ रामसुग्रीवावुभावकुरुतां तदा ।
समयं वालिनं हन्तुं तव चान्वेषणं तथा ॥ ४९ ॥

तदनन्तर सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी ने आपस में प्रतिज्ञा की । श्रीरामचन्द्र जी ने वालि के मारने को और सुग्रीव ने तुम्हारा पता लगाने को ॥ ४९ ॥

ततस्ताभ्यां कुमाराभ्यां वीराभ्यां स हरीश्वरः ।
किष्किन्धां समुपागम्य वाली *युधि निपातितः ॥५०॥

तदनन्तर सुग्रीव उन दोनों वीर राजकुमारों को साथ ले, किष्किन्धा गये और श्रीरामचन्द्र जी ने वालि को मार गिराया ॥ ५० ॥

ततो निहत्य तरसा रामो वालिनमाहवे ।
सर्वर्क्षहरिसंघानां सुग्रीवमकरोत्पतिम् ॥ ५१ ॥

---

* पाठान्तरे—" युद्धे । "

बलवान श्रीरामचन्द्र जी ने जब युद्ध में बालि को मार डाला, तब सुग्रीव को समस्त रीछों और वानरों का राजा बनाया ॥ ५१ ॥

रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत ।
हनूमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमिहागतम् ॥ ५२ ॥

हे देवी ! इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी और सुग्रीव का (मनुष्य और वानरों का) मेल हुआ । मुझे हनुमान नामक वानर तथा उन दोनों का भेजा हुआ दूत समझो । मैं तुम्हारे ही पास आया हूँ ॥५२॥

स्वराज्यं प्राप्य सुग्रीवः समानीय महाकपीन् ।
त्वदर्थं प्रेषयामास दिशो दश महाबलान् ॥ ५३ ॥

जब सुग्रीव को उनका राज्य मिल गया; तब उन्होंने अपने महावीर वानरों को बुला कर, तुम्हारे लिये दसों दिशाओं में उनको भेजा है ॥ ५३ ॥

आदिष्टा वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण वनौकसः ।
अद्रिराजप्रतीकाशाः सर्वतः प्रस्थिता महीम् ॥ ५४ ॥

हे देवी ! वे सब पर्वताकार वानर सुग्रीव की आज्ञा पाकर, पृथिवी पर चारों ओर रवाना हुए ॥ ५४ ॥

*ततस्तु मार्गमाणास्ते† [1]सुग्रीववचनातुराः ।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः ॥ ५५ ॥

हम तथा अन्य सब वानर, सुग्रीव की आज्ञा से भयभीत हो, तुमको ढूंढ़ते हुए समस्त पृथिवी पर घूम रहे हैं ॥ ५५ ॥

---

१ सुग्रीववचनातुरा—सुग्रीवाज्ञाभीताः । (गो०) * पाठान्तरे- " ततस्ते । " † पाठान्तरे—" वै । "

अङ्गदो नाम लक्ष्मीवान्वालिसूनुर्महाबलः ।
प्रस्थितः कपिशार्दूलस्त्रिभागबलसंवृतः ॥ ५६ ॥

वालि के पुत्र, शोभायमान महाबली एवं कपिश्रेष्ठ अङ्गद एक तिहाई सेना साथ ले कर रवाना हुए ॥ ५६ ॥

तेषां नो विप्रणष्टानां विन्ध्ये पर्वतसत्तमे ।
भृशं शोकपरीतानामहोरात्रगणा गताः ॥ ५७ ॥

हम लोग जो तुमको खोजते खोजते अत्यन्त शोकाकुल हो रहे थे, पर्वतोत्तम विन्ध्यगिरि की एक गुफा में जा फँसे और वहाँ हमारे बहुत से रात दिन बीत गये ॥ ५७ ॥

ते वयं कार्यनैराश्यात्कालस्यातिक्रमेण च ।
भयाच्च कपिराजस्य प्राणांस्त्यक्तुं व्यवस्थिताः ॥ ५८ ॥

तब हम तुमको पाने से निराश हो और अवधि बीत जाने से, सुग्रीव के डर के मारे, मरने के लिये तैयार हुए ॥ ५८ ॥

विचित्य वनदुर्गाणि गिरिप्रस्रवणानि च ।
अनासाद्य पदं देव्याः प्राणांस्त्यक्तुं समुद्यताः ॥५९॥

क्योंकि जब हमने पर्वत, दुर्ग, पहाड़, झरने आदि समस्त स्थान देख डाले और तब भी तुम्हारा हमें कहीं भी पता न चला; तब हम लोगों को सिवाय अपने प्राण दे देने के और कुछ न सूझा ॥ ५९ ॥

दृष्ट्वा प्रायोपविष्टांश्च सर्वान्वानरपुङ्गवान् ।
भृशं शोकार्णवे मग्नः पर्यदेवयदङ्गदः ॥ ६० ॥

सब कपिश्रेष्ठों को प्रायोपवेशन किये हुए देख, अङ्गद शोक सागर में निमग्न हो, विलाप करने लगे ॥ ६० ॥

तव नाशं च वैदेहि वालिनश्च तथा वधम् ।
प्रायोपवेशमस्माकं मरणं च जटायुषः ॥ ६१ ॥

वे बोले—सीता का हरण, वालि का वध, हमारा प्रायोपवेशन और जटायु का मरण—ये कैसी कैसी विपत्तियां हम लोगों पर आ पड़ी हैं ॥ ६१ ॥

तेषां नः स्वामिसंदेशान्निराशानां मुमूर्षताम् ।
कार्यहेतोरिवायातः शकुनिर्वीर्यवान्महान् ॥ ६२ ॥

सुग्रीव की कठोर आज्ञा स्मरण कर, हम लोग अधमरे से हो रहे थे कि, इतने में मानों हम लोगों का काम बनाने के लिये महावीर्यवान पक्षी ॥ ६२ ॥

गृध्रराजस्य सोदर्यः सम्पातिर्नाम गृध्रराट् ।
श्रुत्वा भ्रातृवधं कोपादिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६३ ॥

जो गृध्रराज जटायु का भाई था और जिसका नाम संपाति था और जो स्वयं भी गृध्रराज था, अपने भाई जटायु का मरण सुन क्रुद्ध हो बोला ॥ ६३ ॥

यवीयान्केन मे भ्राता हतः क्व च *विनाशितः ।
एतदाख्यातमिच्छामि भवद्भिर्वानरोत्तमाः ॥ ६४ ॥

मेरा छोटा भाई किस के हाथ से कहाँ मारा गया? सो हे वानरोत्तमो! यह हाल मैं आप लोगों से सुनना चाहता हूँ ॥६४॥

* पाठान्तरे—" निपातितः । "

अङ्गदोऽकथयत्तस्य जनस्थाने महद्वधम् ।
रक्षसा भीमरूपेण त्वामुद्दिश्य यथातथम् ॥ ६५ ॥

जनस्थान में तुम्हारे लिये भयङ्कर रूपधारी रावण ने, जटायु को जैसे मारा था, सो सब हाल ज्यों का त्यों अङ्गद ने कहा ॥ ६५ ॥

जटायुषो वधं श्रुत्वा दुःखितः सोऽरुणात्मजः ।
*त्वामाह स वरारोहे वसन्तीं रावणालये ॥ ६६ ॥

अरुणपुत्र संपाति, जटायु के मारे जाने का वृत्तान्त सुन, दुःखी हुआ और उसने बतलाया कि, तुम यहां रावण के घर में हो ॥ ६६ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सम्पातेः प्रीतिवर्धनम् ।
अङ्गदप्रमुखाः सर्वे ततः संप्रस्थिता वयम् ॥ ६७ ॥

विन्ध्यादुत्थाय सम्प्राप्ताः सागरस्यान्तमुत्तरम् ।
त्वद्दर्शनकृतोत्साहा हृष्टास्तुष्टाः प्लवंगमाः ॥ ६८ ॥

संपाति के आनन्दमय वचन सुन, अंगद प्रमुख हम सब वानर, विन्ध्यपर्वत से उठे और तुम्हें देखने के लिये उत्साहित हो प्रस्थानित हुए और अत्यन्त प्रसन्न होते हुए, समुद्र के उत्तरतट पर पहुँचे ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

अङ्गदप्रमुखाः सर्वे वेलोपान्तमुपागताः ।
चिन्तां जग्मुः पुनर्भीतास्त्वद्दर्शनसमुत्सुकाः ॥ ६९ ॥

अंगदादि समस्त वानर, समुद्रतट पर पहुँच कर, समुद्र को देख डरे और तुम्हें देखने के लिये उत्सुक हो, समुद्र को पार करने के लिये, चिन्तित हुए ॥ ६९ ॥

---

* पाठान्तरे—" त्वां शशंस । "

अथाहं हरिसैन्यस्य सागरं प्रेक्ष्य सीदतः ।
व्यवधूय भयं तीव्रं योजनानां शतं प्लुतः ॥ ७० ॥

जब मैंने देखा कि, वानरी सेना अपने सामने समुद्र को देख दुखी हो रही है, तब मैं निर्भय हो सौ योजन समुद्र को लाँघ, इस पार आया ॥ ७० ॥

लङ्का चापि मया रात्रौ प्रविष्टा राक्षसाकुला ।
रावणश्च मया दृष्टस्त्वं च शोकपरिप्लुता ॥ ७१ ॥

राक्षसों से पूर्ण लङ्का में रात के समय मैं घुसा और यहाँ रावण को और शोकपीड़ित तुमको देखा ॥ ७१ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथावृत्तमनिन्दिते ।
अभिभाषस्व मां देवि दूतो दाशरथेरहम् ॥ ७२ ॥

हे सुन्दरी ! जो कुछ हाल था सो सब मैंने ज्यों का त्यों तुमसे कह सुनाया। अब तुम निःशङ्क हो मुझसे बातचीत करो। हे देवी ! मैं दाशरथी श्रीरामचन्द्र जी का दूत हूँ ॥ ७२ ॥

तं मां रामकृतोद्योगं त्वन्निमित्तमिहागतम् ।
सुग्रीवसचिवं देवि बुध्यस्व पवनात्मजम् ॥ ७३ ॥

मैं तुम्हें देखने के लिये ही श्रीरामचन्द्र जी का भेजा यहाँ आया हूँ। हे देवी ! तुम मुझे सुग्रीव का मंत्री और पवन का पुत्र जानो ॥ ७३ ॥

कुशली तव काकुत्स्थः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
गुरोराराधने युक्तो लक्ष्मणश्च सुलक्षणः ॥ ७४ ॥

समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ तुम्हारे श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हैं। और बड़े भाई की सेवा में तत्पर एवं सुलक्षणों से युक्त लक्ष्मण भी कुशलपूर्वक हैं॥ ७४॥

तस्य वीर्यवतो देवि भर्तुस्तव हिते रतः।
अहमेकस्तु सम्प्राप्तः सुग्रीववचनादिह ॥ ७५ ॥

और हे देवी! तुम्हारे बलवान् पति श्रीरामचन्द्र जी के हित-साधन में वे सदा तत्पर रहते हैं। सुग्रीव के कहने से मैं अकेला यहाँ आया हूँ॥ ७५॥

मयेयमसहायेन चरता कामरूपिणा।
दक्षिणा दिगनुक्रान्ता त्वन्मार्गविचयैषिणा ॥ ७६ ॥

इच्छारूपधारी मैंने, बिना किसी की मदद के तुम्हें खोजने के लिये, घूम फिर कर सारी दक्षिणदिशा छान डाली॥ ७६॥

दिष्ट्याऽहं हरिसैन्यानां त्वन्नाशमनुशोचताम्।
अपनेष्यामि सन्तापं तवाभिगमशंसनात् ॥ ७७ ॥

हे देवी! दैवसंयोग ही से अब मैं उस वानरी सेना वालों को, जो तुम्हारा पता न लगने से शोकग्रस्त हो रहे हैं, तुम्हारे मिल जाने का संवाद सुना कर, सन्ताप से छुड़ाऊँगा॥ ७७॥

दिष्ट्या हि मम न व्यर्थं देवि सागरलङ्घनम्।
प्राप्स्याम्यहमिदं दिष्ट्या त्वद्दर्शनकृतं यशः ॥ ७८ ॥

हे देवी! दैवसंयोग ही से मेरा समुद्र का लाँघना व्यर्थ नहीं हुआ है और तुम्हारा पता लगाने का यह यश भी मुझे दैवसंयोग ही से प्राप्त हुआ है॥ ७८॥

राघवश्च महावीर्यः क्षिप्रं त्वामभिपत्स्यते ।
समित्रबान्धवं हत्वा रावणं राक्षसाधिपम् ॥ ७९ ॥

महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी इस राक्षसराज को पुत्र और बान्धवों सहित मार कर शीघ्र, ही तुम्हें पावेंगे ॥ ७९ ॥

माल्यवान्नाम वैदेहि गिरीणामुत्तमो गिरिः ।
ततो गच्छति गोकर्णं पर्वतं केसरी हरिः ॥ ८० ॥

हे वैदेही ! माल्यवान नामक एक उत्तम पर्वत है । वहाँ से मेरे पिता केसरी गोकर्ण नामक पर्वत पर जाया करते थे ॥ ८० ॥

स च देवर्षिभिर्दिष्टः पिता मम महाकपिः ।
तीर्थे नदीपतेः पुण्ये शम्बसादनमुद्धरत् ॥ ८१ ॥

देवर्षियों की आज्ञा से मेरे पिता ने समुद्र के किसी पुण्यतीर्थ में जा, शंबर नामक असुर को मार डाला ॥ ८१ ॥

तस्याहं हरिणः क्षेत्रे जातो वातेन मैथिलि ।
हनुमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ॥ ८२ ॥

हे मैथिली ! उसी केसरी नामक वानर की अंजना नामक स्त्री के गर्भ से, पवन द्वारा मेरी उत्पत्ति हुई है और मैं अपने कर्म द्वारा ही हनुमान के नाम से संसार में प्रसिद्ध हूँ ॥ ८२ ॥

विश्वासार्थं तु वैदेहि भर्तुरुक्ता मया गुणाः ।
अचिराद्राघवो देवि त्वामितो नयितानघे ॥ ८३ ॥

हे वैदेहि ! अपने विषय में तुमको विश्वास दिलाने को मैंने तुम्हारे पति के गुणों का वर्णन किया । हे अनघे ! हे देवी ! श्रीरामचन्द्र जी बहुत जल्दी तुमको यहाँ से ले जायँगे ॥ ८३ ॥

एवं विश्वासिता सीता हेतुभिः शोककर्शिता ।
उपपन्नैरभिज्ञानैर्दूतं तमवगच्छति ॥ ८४ ॥

शोकसन्तप्ता सीता ने अनेक कारण और श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण जी के शारीरिक चिन्हों का यथार्थ पता पा कर, हनुमान जी की बातों पर विश्वास किया और उनको श्रीरामचन्द्र जी का दूत जाना ॥ ८४ ॥

अतुलं च गता हर्षं प्रहर्षेण च जानकी ।
नेत्राभ्यां वक्रपक्ष्मभ्यां मुमोचानन्दजं जलम् ॥ ८५ ॥

उस समय सीता बहुत हर्षित हुई और मारे आनन्द के टेढ़े पलकों वाले दोनों नेत्रों से वह आनन्दाश्रु बहाने लगीं ॥ ८५ ॥

चारु तद्वदनं तस्यास्ताम्रशुक्लायतेक्षणम् ।
अशोभत विशालाक्ष्या राहुमुक्त इवोडुराट् ॥ ८६ ॥

उस समय सीता के लाल और सफेद विशाल नेत्रों वाला मुख ऐसी शोभा को प्राप्त हुआ, जैसे राहु से मुक्त चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ८६ ॥

हनुमन्तं कपिं व्यक्तं मन्यते नान्यथेति सा ।
अथोवाच हनूमांस्तामुत्तरं प्रियदर्शनाम् ॥ ८७ ॥

सीता जी को अब विश्वास हो गया कि, यह हनुमान नामक वानर ही है, अन्य कोई नहीं है । तदनन्तर हनुमान जी ने सीता से फिर कहा ॥ ८७ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं समाश्वसिहि मैथिलि ।
किं करोमि कथं वा ते रोचते प्रतियाम्यहम् ॥ ८८ ॥

हे मैथिली! ये सब मैंने तुम्हें कह सुनाया। अब तुम धीरज धारण कर, मुझे बतलाओ कि, मैं अब क्या करूँ? तुम्हारी क्या इच्छा है सो बतलाओ। क्योंकि मैं अब लौटना चाहता हूँ॥ ८८॥

हतेऽसुरे संयति शम्बसादने
कपिप्रवीरेण महर्षिचोदनात्।
ततोऽस्मि वायुप्रभवो हि मैथिलि
प्रभावतस्तत्प्रतिमश्च वानरः॥ ८९॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः॥

हे विदेहकुमारी! महर्षियों की आज्ञा से वानरोत्तम केशरी ने जब शम्बसादन को मारा, तब मैं पवनदेव के प्रताप से अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ। अतः मेरा प्रभाव अर्थात् गति और पराक्रम पवनदेव ही के समान है॥ ८९॥

सुन्दरकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—*—

षट्त्रिंशः सर्गः

—*—

भूय एव महातेजा हनुमान्मारुतात्मजः।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं सीताप्रत्ययकारणात्॥ १॥

सीता को विश्वास कराने के लिये महातेजस्वी पवननन्दन नम्र वचन सीता जी से फिर बोले॥ १॥

वानरोऽहं महाभागे दूतो रामस्य धीमतः ।
रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ॥ २ ॥

हे महाभागे ! मैं वानर हूँ और बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी का दूत हूँ। हे देवी ! यह देखो, श्रीरामनामाङ्कित यह अँगूठी है ॥ २ ॥

प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना ।
समाश्वसिहि भद्रं ते क्षीणदुःखफला ह्यसि ॥ ३ ॥

तुम्हें विश्वास दिलाने के लिये श्रीरामचन्द्र जी ने यह मुझे दी थी। सो मैं लाया हूँ, अब तुम अपने चित्त को सावधान करो और समझ लो कि, तुम्हारे सब दुःख दूर हो गये ॥ ३ ॥

गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषणम् ।
भर्तारमिव सम्प्राप्ता जानकी मुदिताऽभवत् ॥ ४ ॥

अपने पति के हाथ की शोभा बढ़ाने वाली, उस अँगूठी को अपने हाथ में ले और उसे देख, जानकी जी को जान पड़ा, मानों श्रीरामचन्द्र जी ही उससे आ मिले हैं। इससे सीता जी बहुत प्रसन्न हुई ॥ ४ ॥

चारु तद्वदनं तस्यास्ताम्रशुक्लायतेक्षणम् ।
अशोभत विशालाक्ष्या राहुमुक्त इवोडुराट् ॥ ५ ॥

सीता जी का ; लाल, सफेद और विशाल नेत्रों से युक्त सुन्दर मुखमण्डल वैसे ही शोभायमान हुआ ; जैसे राहु के ग्रास से छूटा हुआ चन्द्रमा शोभायमान होता है ॥ ५ ॥

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तृसन्देशहर्षिता ।
परितुष्टा प्रियं कृत्वा प्रशशंस महाकपिम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर लज्जालु सीता पति के संवाद को पाकर हर्षित और सन्तुष्ट हुई और बड़े प्यार से हनुमान जी की प्रशंसा करने लगी ॥ ६ ॥

विक्रान्तस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्वं वानरोत्तम ।
येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रधर्षितम् ॥ ७ ॥

सीता जी कहने लगीं—हे कपिश्रेष्ठ ! तुमने अकेले ही रावण की राजधानी को सर कर लिया—इससे जान पड़ता है कि, तुम कोरे पराक्रमी और शरीर-बल-सम्पन्न ही नहीं हो, बल्कि बुद्धिमान् भी हो ॥ ७ ॥

शतयोजनविस्तीर्णः सागरो मकरालयः ।
विक्रमश्लाघनीयेन क्रमता गोष्पदीकृतः ॥ ८ ॥

फिर तुमने इस सौ योजन विस्तार वाले एवं मगर आदि भयानक जलजन्तुओं के आवासस्थान समुद्र को लांघ कर, गोपद की तरह समझा; अतएव तुम्हारा विक्रम सराहने योग्य है ॥ ८ ॥

न हि त्वां प्राकृतं मन्ये वानरं वानरर्षभ ।
यस्य ते नास्ति संत्रासो रावणान्नापि सम्भ्रमः ॥ ९ ॥

हे वानरोत्तम ! जब तुम रावण से ज़रा भी न डरे और न घबड़ाये, तब मैं तुम्हें साधारण वानर नहीं मान सकती ॥ ९ ॥

अर्हसे च कपिश्रेष्ठ मया समभिभाषितुम् ।
यद्यपि प्रेषितस्तेन रामेण विदितात्मना ॥ १० ॥

उन परम प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र जी ने जब तुमको मेरे पास भेजा है; तब तुम बेखटके मुझसे वार्तालाप कर सकते हो ॥ १० ॥

प्रेषयिष्यति दुर्धर्षो रामो न ह्यपरीक्षितम् ।
पराक्रममविज्ञाय मत्सकाशं विशेषतः ॥ ११ ॥

यह तो जानी बूझी बात है कि, दुर्धर्ष श्रीरामचन्द्र जी, बलपराक्रम बिना जाने और परीक्षा लिये किसी को अपना दूत बना कर नहीं भेजेंगे—सो भी यहाँ, मेरे पास ॥ ११ ॥

दिष्ट्या स कुशली रामो धर्मात्मा सत्यसङ्गरः ।
लक्ष्मणश्च महातेजाः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ १२ ॥

इसे मैं अपने लिये सौभाग्य ही की बात समझती हूँ कि, वे धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र जी, सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले और महातेजस्वी लक्ष्मण जी सहित कुशलपूर्वक हैं ॥ १२ ॥

कुशली यदि काकुत्स्थः किंनु सागरमेखलाम् ।
[1]महीं दहति कोपेन युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥ १३ ॥

किन्तु जब श्रीरामचन्द्र जी कुशलपूर्वक हैं, तब सागर से घिरी हुई इस लङ्कापुरी को कुपित हो, प्रलयकालीन अग्नि की तरह क्यों भस्म नहीं कर डालते ॥ १३ ॥

अथवा शक्तिमन्तौ तौ सुराणामपि निग्रहे ।
ममैव तु न दुःखानामस्ति मन्ये विपर्ययः ॥ १४ ॥

अथवा देवताओं तक को दण्ड देने की शक्ति रखने पर भी, जब वे मेरे लिये कुछ नहीं करते, तब जान पड़ता है, अभी मेरे दुःखों का अन्त नहीं आया ॥ १४ ॥

---

१ महीं—लंकाभूमि । (शि०)

*कच्चिन्न व्यथितो रामः कच्चिन्न परितप्यते ।
उत्तराणि च कार्याणि कुरुते पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

(अच्छा अब यह तो बतलाओ कि,) वे नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी दुःख तो नहीं पाते, उनको मेरे पीछे सन्ताप तो नहीं होता ? वे मेरे उद्धार के लिये यत्न तो कर रहे हैं ? ॥ १५ ॥

कच्चिन्न दीनः सम्भ्रान्तः कार्येषु च न मुह्यति ।
कच्चित्पुरुषकार्याणि कुरुते नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥

वे दीन तो नहीं रहते ? वे घबड़ाते तो नहीं ? काम करने में वे भूलते तो नहीं ? वे राजकुमार अपने पुरुषार्थ का निर्वाह तो भली भाँति किये जाते हैं ॥ १६ ॥

द्विविधं त्रिविधोपायमुपायमपि सेवते ।
विजिगीषुः सुहृत्कच्चिन्मित्रेषु च परन्तपः ॥ १७ ॥

शत्रुओं को तपाने वाले श्रीरामचन्द्र जी, विजय की अभिलाषा कर, मित्रों के प्रति साम, दान और शत्रु के प्रति दान, भेद और दण्ड नीति का वर्ताव तो करते हैं ? ॥ १७ ॥

कच्चिन्मित्राणि लभते मित्रैश्चाप्यभिगम्यते ।
कच्चित्कल्याणमित्रश्च मित्रैश्चापि पुरस्कृतः ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी औरों के साथ मैत्री तो करते हैं ? अन्य लोग भी उनके साथ मैत्री तो करते हैं ? मित्र लोग उनका और वे मित्रों का आदर मान करते हैं ? ॥ १८ ॥

कच्चिदाशास्ति[1] देवानां प्रसादं पार्थिवात्मजः ।
कच्चित्पुरुषकारं च दैवं च प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

---

१ आशास्ति—आशास्ते । (गो०)

वे नृपनन्दन ! देवताओं के अनुग्रह के लिये आशावान् तो रहते हैं ? वे अपने बल और भाग्य दोनों पर निर्भर तो रहते हैं ? ॥१९॥

कच्चिन्न विगतस्नेहः *विवासान्मयि राघवः ।
कच्चिन्मां व्यसनादस्मान्मोक्षयिष्यति वानर ॥ २० ॥

मेरे अन्यत्र रहने से श्रीरामचन्द्र जी मुझसे रूठ तो नहीं गये ? हे हनुमान् ! इस विपद् से वे हमारा उद्धार तो करेंगे ? ॥ २० ॥

सुखानामुचितो नित्यमसुखानामनूचितः ।
दुःखमुत्तरमासाद्य कच्चिद्रामो न सीदति ॥ २१ ॥

सुख से रहने योग्य और दुःख भोगने के अयोग्य श्रीरामचन्द्र जी, इस भारी विपद में फँस कहीं घबड़ा तो नहीं गये ? ॥ २१ ॥

कौसल्यायास्तथा कच्चित्सुमित्रायास्तथैव च ।
अभीक्ष्णं श्रूयते कच्चित्कुशलं भरतस्य च ॥ २२ ॥

भला ! कौसल्या, सुमित्रा और भरत जी का कुशलसंवाद तो जब कभी उनको मिलता रहता है न ? ॥ २२ ॥

मन्निमित्तेन मानार्हः कच्चिच्छोकेन राघवः ।
कच्चिन्नान्यमना रामः कच्चिन्मां तारयिष्यति ॥ २३ ॥

सदा सम्मान पाने योग्य श्रीरामचन्द्र जी मेरे विरह-जन्य-शोक से सन्तापित हो, चञ्चलमना तो नहीं हो जाते ? वे इस सङ्कट से मुझे उबारेंगे तो ? ॥ २३ ॥

कच्चिदक्षौहिणीं भीमां भरतो भ्रातृवत्सलः ।
ध्वजिनीं मन्त्रिभिर्गुप्तां प्रेषयिष्यति मत्कृते ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे—"प्रसादान्मयि ।"

क्या (तू बतला सकता है कि,) भ्रातृवत्सल भरत मेरे लिये मंत्रियों से रक्षित या परिचालित अपनी अक्षौहिणी सेना को भेजेंगे ? ॥ २४ ॥

वानराधिपतिः श्रीमान्सुग्रीवः कच्चिदेष्यति ।
मत्कृते हरिभिर्वीरैर्वृतो दन्तनखायुधैः ॥ २५ ॥

क्या वानरराज श्रीमान् सुग्रीव दांत और नखों से लड़ने वाली वानरी सेना सहित मेरे उद्धार के लिये यहाँ आवेंगे ? ॥ २५ ॥

कच्चिच्च लक्ष्मणः शूरः सुमित्रानन्दवर्धनः ।
अस्त्रविच्छरजालेन राक्षसान्विधमिष्यति ॥ २६ ॥

क्या माता सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले वीर लक्ष्मण अस्त्रों और तीरों से राक्षसों का वध करेंगे ? ॥ २६ ॥

रौद्रेण कच्चिदस्त्रेण ज्वलता निहतं रणे ।
द्रक्ष्याम्यल्पेन कालेन रावणं ससुहृज्जनम् ॥ २७ ॥

क्या थोड़े ही दिनों बाद रण में भयङ्कर और चमचमाते अस्त्र द्वारा अपने सहायकों सहित मारे गये रावण को मैं देखूँगी ? ॥ २७ ॥

कच्चिन्न तद्धेमसमानवर्णं
तस्याननं पद्मसमानगन्धि ।
मया विना शुष्यति शोकदीनं
जलक्षये पद्ममिवातपेन ॥ २८ ॥

कहीं जलहीन तड़ाग वाले कमल की तरह, मेरे वियोग में श्रीरामचन्द्र जी का कमल के फूल के समान सुगन्धियुक्त सुवर्ण की

तरह आभा वाला मुखमण्डल शोक से मलिन हो, कहीं मुर्झा तो नहीं गया ? ॥ २८ ॥

धर्मापदेशात्त्यजतश्च राज्यं
मां चाप्यरण्यं नयतः पदातिम् ।
नासीद्व्यथा यस्य न भीर्न शोकः
*कच्चित्स धैर्यं हृदये करोति ॥ २९ ॥

धर्म के लिये राज्य त्याग कर और मुझको साथ ले पैदल ही वन में आने पर भी, जिनका मन पीड़ित, भयभीत अथवा शोकान्वित नहीं हुआ, वे श्रीरामचन्द्र इस समय अपने हृदय में धैर्य तो रखते हैं ? ॥ २९ ॥

न चास्य माता न पिता च नान्यः
स्नेहाद्विशिष्टोऽस्ति मया समो वा ।
तावत्त्वहं दूत जिजीविषेयं
यावत्प्रवृत्तिं शृणुयां प्रियस्य ॥ ३० ॥

हे दूत ! क्या माता ! क्या पिता ! क्या कोई अन्यपुरुष—कोई भी क्यों न हो, मुझसे अधिक या बराबर उनका अनुराग किसी में नहीं है। सो जब तक मैं परमप्रिय श्रीरामचन्द्र जी का वृत्तान्त सुनती हूँ, तभी तक मैं जीवित भी हूँ ॥ ३० ॥

इतीव देवी वचनं महार्थं
तं वानरेन्द्रं मधुरार्थमुक्त्वा ।
श्रोतुं पुनस्तस्य वचोऽभिरामं
रामार्थयुक्तं विरराम रामा ॥ ३१ ॥

---

* पाठान्तरे—"कच्चिच्च ।"

मनोरमा सीता जी वानरश्रेष्ठ हनुमान जी से इस प्रकार के युक्तियुक्त एवं मधुर वचन कह और हनुमान जी के मुख से श्रीरामचन्द्र जी का वृत्तान्त पुनः सुनने की अभिलाषा से, चुप हो रहीं ॥ ३१ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा मारुतिर्भीमविक्रमः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

भीम पराक्रमी हनुमान जी सीता के वचन सुन और हाथ जोड़ कर, उत्तर देते हुए बोले ॥ ३२ ॥

न त्वामिहस्थां जानीते रामः कमललोचने ।
तेन त्वां नानयत्याशु शचीमिव पुरन्दरः ॥ ३३ ॥

हे कमललोचने! श्रीरामचन्द्र जी को यह नहीं मालूम कि, तुम यहाँ पर इस दशा में हो। इसीसे तुम्हें शीघ्र यहाँ से वे वैसे ही नहीं ले गये, जैसे इन्द्र अपनी स्त्री शची को अनुह्लाद दैत्य के यहाँ से ले आये थे ॥ ३३ ॥

श्रुत्वैव तु वचो मह्यं क्षिप्रमेष्यति राघवः ।
चमूं प्रकर्षन्महतीं हर्यृक्षगणसङ्कुलाम् ॥ ३४ ॥

किन्तु जब मैं जा कर उनसे तुम्हारा वृत्तान्त कहूँगा, तब श्रीरामचन्द्र जी बड़ी भारी रीछों और वानरों की सेना अपने साथ ले, यहाँ आवेंगे ॥ ३४ ॥

विष्टम्भयित्वा बाणौघैरक्षोभ्यं वरुणालयम् ।
करिष्यति पुरीं लङ्कां काकुत्स्थः शान्तराक्षसाम् ॥ ३५ ॥

और अपने बाणों से इस अक्षोभ्य समुद्र को पाट कर, इस लङ्कापुरी के राक्षसों को शान्त (नष्ट) कर देंगे ॥ ३५ ॥

तत्र यद्यन्तरा मृत्युर्यदि देवाः सहासुराः ।
स्थास्यन्ति पथि रामस्य स तानपि वधिष्यति ॥ ३६ ॥

लङ्का के ऊपर चढ़ाई करने पर, यदि साक्षात् यम (मृत्यु) या अन्य देवता, दैत्यों सहित आड़े आवेंगे अर्थात् विघ्न डालेंगे, तो श्रीरामचन्द्र जी उनको भी मार डालेंगे ॥ ३६ ॥

तवादर्शनजेनार्ये शोकेन स परिप्लुतः ।
न शर्म लभते रामः सिंहार्दित इव द्विपः ॥ ३७ ॥

हे सुन्दरी ! तुम्हारे न देखने के कारण उत्पन्न हुए शोक से, श्रीरामचन्द्र जी सिंह द्वारा पीड़ित हाथी की तरह, ज़रा भी सुखी नहीं हैं ॥ ३७ ॥

मलयेन च विन्ध्येन मेरुणा मन्दरेण च ।
दर्दुरेण च ते देवि शपे मूलफलेन च ॥ ३८ ॥

हे देवी ! मैं मलयाचल, विन्ध्याचल, मेरु, मन्दराचल, दर्दुर, तथा फलों मूलों की शपथ खा कर कहता हूँ कि, ॥ ३८ ॥

यथा सुनयनं वल्गु बिम्बोष्ठं चारुकुण्डलम् ।
मुखं द्रक्ष्यसि रामस्य पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ॥ ३९ ॥

तुम सुनयन, सुन्दर, कुँदरू फल की तरह लाल लाल अधरों से युक्त, मनोहर कुण्डलों से शोभित और उदय हुए पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह श्रीरामचन्द्र जी के मुखमण्डल को देखोगी ॥३९॥

क्षिप्रं द्रक्ष्यसि वैदेहि रामं प्रस्रवणे गिरौ ।
शतक्रतुमिवासीनं नाकपृष्ठस्य मूर्धनि ॥ ४० ॥

हे वैदेही ! ऐरावत हाथी पर बैठे हुए इन्द्र की तरह, तुम शीघ्र ही श्रीरामचन्द्र जी को प्रस्रवण पर्वत पर बैठा हुआ देखोगी ॥४०॥

न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चापि मधु सेवते।

वन्यं [1]सुविहितं नित्यं [2]भक्तमश्नाति [3]पञ्चमम्॥ ४१॥

श्रीरामचन्द्र जी ने मांस खाना और मधुसेवन करना त्याग दिया है। वे नित्य वानप्रस्थोपयोगी और वन में उत्पन्न हुए फल मूल का आदर करते अर्थात् खाते हैं और तीसरे दिन शरीरधारणोपयुक्त अन्न खाया करते हैं॥ ४१॥

नैव दंशान्न मशकान्न कीटान्न सरीसृपान्।

राघवोपनयेद्गात्रात्त्वद्गतेनान्तरात्मना॥ ४२॥

श्रीरामचन्द्र जी का मन तो तुम में ऐसा लगा हुआ है कि, उनके शरीर पर भले ही डांस, मच्छर, पतंगे अथवा सर्प ही क्यों न रेंगते रहें; किन्तु वे वहां से उन्हें नहीं हटाते॥ ४२॥

नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः।

नान्यच्चिन्तयते किञ्चित्स तु कामवशं गतः॥ ४३॥

श्रीरामचन्द्र जी सदा तुम्हारा ध्यान किया करते और तुम्हारे लिये शोकाकुल रहते हैं। वह कामवशवर्ती हो, तुम्हें छोड़ और किसी की चिन्ता नहीं करते॥ ४३॥

अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः।

सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन्प्रतिबुध्यते॥ ४४॥

नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी को वैसे तो नींद पड़ती ही नहीं और कदाचित् कभी आंख झपक ही गई तो जब जागते हैं; तब "हे सीते" मधुर वाणी से कहते हुए ही जागते हैं॥ ४४॥

---

१ सुविहितं—वानप्रस्थयोग्यत्वेन विहितं। (गो०) २ भक्तं—अन्नं। (गो०) ३ पञ्चमम्—प्रातस्सायंसायंप्रातरिति, कालचतुष्टयम् त्यक्त्वा पञ्चमे प्रातः काल इत्यर्थः। दिनद्वयमतीत्यभुंक्तइत्यर्थः। (तीर्थी)

दृष्ट्वा फलं वा पुष्पं वा यद्वाऽन्यत्सुमनोहरम् ।
बहुशो हा प्रियेत्येवं श्वसंस्त्वामभिभाषते ॥ ४५ ॥

जब कभी वे किसी बनैले सुन्दर फल, फूल या अन्य किसी सुन्दर वस्तु को देखते हैं; तब वे बहुधा हा प्यारी! कह और उसांस ले, तुमको पुकारते हैं ॥ ४५ ॥

स देवि नित्यं परितप्यमान-
स्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः ।
*धृतव्रतो राजसुतो महात्मा
तवैव लाभाय कृतप्रयत्नः ॥ ४६ ॥

हे देवी! विशेष कहना व्यर्थ है, वे सदा तुम्हारे वियोग में सन्तप्त रहते और सीते सीते कह कर सदा तुम्हें पुकारा करते हैं। धैर्यवान् महात्मा राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी तुम्हारा उद्धार करने को सदा यत्नवान् रहते हैं ॥ ४६ ॥

सा रामसङ्कीर्तनवीतशोका
रामस्य शोकेन समानशोका ।
शरन्मुखे साम्बुदशेषचन्द्रा
निशेव वैदेहसुता बभूव ॥ ४७ ॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी का संवाद पाने से सीता जी जिस प्रकार हर्षित हुई थीं, उसी प्रकार उनका अपने विरह में दुःखी होने का

---

* पाठान्तरे—"दृढव्रतो।"

वृत्तान्त सुन, वे दुःखी भी हुईं। मानों शारदीय रात्रि में चन्द्रमा बादल से निकल, फिर मेघ से आच्छादित हो गया ॥ ४७ ॥

सुन्दरकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—※—

सीता तद्वचनं श्रुत्वा पूर्णचन्द्रनिभानना ।
हनूमन्तमुवाचेदं धर्मार्थसहितं वचः ॥ १ ॥

चन्द्रवदनी सीता हनुमान जी के ये वचन सुन, उनसे धर्म और अर्थ युक्त वचन बोली ॥ १ ॥

अमृतं विषसंसृष्टं त्वया वानरभाषितम् ।
यच्च नान्यमना रामो यच्च शोकपरायणः ॥ २ ॥

हे वानर ! तुम्हारा यह कथन कि, श्रीरामचन्द्र जी का मन अन्य किसी ओर नहीं जाता और वे शोकाकुल बने रहते हैं ; विष मिले हुए अमृत के समान है ॥ २ ॥

ऐश्वर्ये वा सुविस्तीर्णे व्यसने वा सुदारुणे ।
रज्ज्वेव पुरुषं बद्ध्वा कृतान्तः परिकर्षति ॥ ३ ॥

मनुष्य भले ही बड़े ऐश्वर्य का उपभोग करता हो अथवा महा-दुःख ही क्यों न भोगता हो, किन्तु मौत, उस मनुष्य के गले में रस्सी बाँध कर उसको अपनी ओर खींचती ही रहती है ॥ ३ ॥

विधिर्नूनमसंहार्यः प्राणिनां प्लवगोत्तम ।
सौमित्रिं मां च रामं च व्यसनैः पश्य मोहितान् ॥ ४ ॥

हे वानरश्रेष्ठ! प्राणियों की भवितव्यता निश्चय ही अमिट है। देखो, लक्ष्मण, मैं और श्रीरामचन्द्र जी कैसे कैसे दुःख झेल रहे हैं॥ ४॥

शोकस्यास्य कदा पारं राघवोऽधिगमिष्यति।
प्लवमानः परिश्रान्तो हतनौः सागरे यथा॥ ५॥

नौका के टूट जाने पर समुद्र में तैरते हुए और थके हुए मनुष्य की तरह, श्रीरामचन्द्र जी प्रयत्न करके भी, न मालूम कब, इस शोकसागर के पार लगेंगे?॥ ५॥

राक्षसानां वधं कृत्वा सूदयित्वा च रावणम्।
लङ्कामुन्मूलितां कृत्वा कदा द्रक्ष्यति मां पतिः॥ ६॥

मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्र जी राक्षसों को मार, रावण का वध कर तथा लङ्का को जड़ से खोद कर, न मालूम मुझे कब देखेंगे?॥ ६॥

स वाच्यः सन्त्वरस्वेति यावदेव न पूर्यते।
अयं संवत्सरः कालस्तावद्धि मम जीवितम्॥ ७॥

हे वानर! तुम जा कर श्रीरामचन्द्र जी से शीघ्रता करने के लिये कह देना। क्योंकि जब तक यह वर्ष पूरा नहीं होता, तभी तक मेरे जीने की अवधि है॥ ७॥

वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवङ्गम।
रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम॥ ८॥

इस वर्ष का यह दसवाँ मास चल रहा है और इसकी समाप्ति में अब केवल दो मास और रह गये हैं। क्रूर रावण ने मेरे जीने के लिये यही अवधि बाँधी है॥ ८॥

विभीषणेन च भ्रात्रा मम निर्यातनं प्रति ।
अनुनीतः प्रयत्नेन न च तत्कुरुते मतिम् ॥ ९ ॥

रावण के भाई विभीषण ने इस बात के लिये यत्न किया था और अनुनय विनय भी की थी कि, रावण मुझे श्रीरामचन्द्र जी को लौटावे, परन्तु उस दुष्ट ने उनका कहना न माना ॥ ९ ॥

मम प्रतिप्रदानं हि रावणस्य न रोचते ।
रावणं मार्गते संख्ये मृत्युः कालवशं गतम् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी को मेरा लौटा देना, रावण को पसंद नहीं। क्योंकि, उसके सिर पर उसकी मौत खेल रही है और युद्धक्षेत्र में मौत रावण के वध का अवसर ढूँढ़ रही है ॥ १० ॥

ज्येष्ठा *कन्याकला नाम विभीषणसुता कपे ।
तया ममेदमाख्यातं मात्रा प्रहितया स्वयम् ॥ ११ ॥

हे कपे! यह बात विभीषण की बड़ी बेटी कला ने, अपनी माता के कहने से, मुझसे कही थी ॥ ११ ॥

‡आशंसेयं हरिश्रेष्ठ क्षिप्रं† मां प्राप्स्यते पतिः ।
अन्तरात्मा हि मे शुद्धस्तस्मिंश्च बहवो गुणाः ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—"कन्याऽनला।" † पाठान्तरे—"असंशयं।"

‡ एक संस्करण में ये दो श्लोक और हैं :—

अविन्ध्यो नाम मेधावी विद्वान्राक्षसपुङ्गवः ।
द्युतिमाञ्शीलवान्वृद्धो रावणस्य सुसम्मतः ॥
रामक्षयमनुप्राप्तं रक्षसां प्रत्यचोदयत् ।
न च तस्य स दुष्टात्मा शृणोति वचनं हितम् ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि, श्रीरामचन्द्र जी मुझे शीघ्र मिलेंगे। क्योंकि, मेरा अन्तरात्मा शुद्ध है और श्रीरामचन्द्र जी में बहुत गुण हैं ॥ १२ ॥

उत्साहः पौरुषं सत्त्वमानृशंस्यं कृतज्ञता ।
विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे ॥ १३ ॥

वे उत्साही, पुरुषार्थी, वीर्यवान्, दयालु, कृतज्ञ, विक्रमी और प्रतापी हैं ॥ १३ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां जघान यः ।
जनस्थाने विना भ्राता शत्रुः कस्तस्य नोद्विजेत् ॥ १४ ॥

जिन्होंने जनस्थान में बात की बात में चौदह हज़ार राक्षसों को, अपने भाई लक्ष्मण की सहायता बिना ही (अकेले) मार डाला, उनसे भला कौन शत्रु न डरेगा ! ॥ १४ ॥

न स शक्यस्तुलयितुं व्यसनैः पुरुषर्षभः ।
अहं तस्य प्रभावज्ञा शक्रस्येव पुलोमजा ॥ १५ ॥

उन श्रीरामचन्द्र जी के साथ इन समस्त दुःखदायी राक्षसों की बराबरी नहीं हो सकती। शची देवी जिस प्रकार इन्द्र का प्रभाव जानती हैं; उसी प्रकार मैं श्रीरामचन्द्र जी का प्रभाव जानती हूँ ॥ १५ ॥

शरजालांशुमाञ्छूरः कपे रामदिवाकरः ।
शत्रुरक्षोमयं तोयमुपशोषं नयिष्यति ॥ १६ ॥

हे कपे ! श्रीराम रूपी सूर्य, अपनी बाणजाल रूपी किरनों से, राक्षस रूपी जलाशय को सोख लेंगे ॥ १६ ॥

इति संजल्पमानां तां रामार्थे शोककर्शिताम् ।
अश्रुसंपूर्णनयनामुवाच वचनं कपिः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के विषय में बातें करती हुई दुखियारी और आँसू वहाती हुई सीता से हनुमान जी कहने लगे ॥ १७ ॥

श्रुत्वैव तु वचो मह्यं क्षिप्रमेष्यति राघवः ।
चमूं प्रकर्षन्महतीं हर्यृक्षगणसंकुलाम् ॥ १८ ॥

हे सीते ! मेरे मुख से तुम्हारा संदेसा पाते ही श्रीरामचन्द्र जी, रीछ और वानरों से पूर्ण बड़ी भारी सेना ले, शीघ्र ही यहाँ आ जायँगे ॥ १८ ॥

अथवा मोचयिष्यामि त्वामद्यैव वरानने ।
अस्माद्दुःखादुपारोह मम पृष्ठमनिन्दिते ॥ १९ ॥

हे वरानने ! अथवा मैं स्वयं ही अभी तुमको राक्षसों के अत्याचारों से छुड़ाये देता हूँ। हे अनिन्दिते ! तुम मेरी पीठ पर बैठ लो ॥ १९ ॥

त्वां तु पृष्ठगतां कृत्वा सन्तरिष्यामि सागरम् ।
शक्तिरस्ति हि मे वोढुं लङ्कामपि सरावणाम् ॥ २० ॥

तुमको अपनी पीठ पर बैठा कर मैं समुद्र पार हो जाऊँगा। (यह मत जानना कि, मैं ऐसा न कर सकूँगा।) मुझमें इतनी शक्ति है कि, मैं रावण समेत लङ्का को भी ले जा सकता हूँ ॥ २० ॥

अहं प्रस्रवणस्थाय राघवायाद्य मैथिलि ।
प्रापयिष्यामि शक्राय हव्यं हुतमिवानलः ॥ २१ ॥

हे मैथिली! मैं आज ही तुमको श्रीरामचन्द्र जी के पास प्रस्रवण गिरि पर वैसे ही पहुँचा दूँगा, जैसे अग्निदेव, इन्द्र के पास होम की हुई सामग्री पहुँचा देते हैं॥ २१॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव वैदेहि राघवं सहलक्ष्मणम्।
व्यवसायसमायुक्तं विष्णुं दैत्यवधे यथा॥ २२॥

हे वैदेही! तुम आज ही श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण को देखोगी, जैसे दैत्यवध में तत्पर विष्णु को देवताओं ने देखा था॥ २२॥

त्वद्दर्शनकृतोत्साहमाश्रमस्थं महाबलम्।
पुरन्दरमिवासीनं नागराजस्य मूर्धनि॥ २३॥

हे देवी! महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी तुम्हें देखने की अभिलाषा से उत्साहित हो, पर्वतराज प्रस्रवण के शिखर पर इन्द्र की तरह बैठे हुए हैं॥ २३॥

पृष्ठमारोह मे देवि मा विकाङ्क्षस्व शोभने।
योगमन्विच्छ रामेण शशाङ्केनेव रोहिणी॥ २४॥
*पौलोमीव महेन्द्रेण सूर्येणेव सुवर्चला।
मत्पृष्ठमधिरुह्य त्वं तराकाशमहार्णवम्॥ २५॥

हे सुन्दरी देवी! अब तुम सोच विचार मत करो और मेरी पीठ पर बैठ लो और श्रीरामचन्द्र जी से मिलने के लिये वैसे ही इच्छा करो, जैसे रोहिणी देवी चन्द्रमा से, शची देवी इन्द्र से और सुवर्चला देवी सूर्य से मिलने की इच्छा किया करती हैं। तुम

---

* पाठान्तरे—"कथयन्तीव चन्द्रेण सूर्येण च महार्चिषा।"

मेरी पीठ पर सवार हो लो, मैं आकाशमार्ग से समुद्र के पार हो जाऊँगा ॥ २४ ॥ २५ ॥

न हि मे संप्रयातस्य त्वामितो नयतोऽङ्गने ।
अनुगन्तुं गतिं शक्ताः सर्वे लङ्कानिवासिनः ॥ २६ ॥

हे सुन्दरी! जिस समय मैं यहाँ से तुम्हें लेकर चलूँगा, उस समय लङ्कानिवासी किसी भी राक्षस में इतनी शक्ति नहीं, जो मेरा पीछा कर सके ॥ २६ ॥

यथैवाहमिह प्राप्तस्तथैवाहमसंशयम् ।
यास्यामि पश्य वैदेहि त्वामुद्यम्य विहायसम् ॥ २७ ॥

जिस प्रकार मैं उस पार से यहाँ आया हूँ, उसी प्रकार तुमको अपनी पीठ पर लिये हुए, निश्चय ही मैं आकाशमार्ग से उस पार चला जाऊँगा ॥ २७ ॥

मैथिली तु हरिश्रेष्ठाच्छ्रुत्वा वचनमद्भुतम् ।
हर्षविस्मितसर्वाङ्गी हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥ २८ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी के इन अद्भुत वचनों को सुन, सीता जी हर्षित और विस्मित हो हनुमान जी से बोलीं ॥ २८ ॥

हनुमन्दूरमध्वानं कथं मां वोढुमिच्छसि ।
तदेव खलु ते मन्ये कपित्वं हरियूथप ॥ २९ ॥

हे हनुमान्! तुम मुझे लिये हुए इतनी दूर कैसे जा सकोगे! हे हरियूथप! (वानरों के सरदार) तुम्हारी इस बात से तो तुम्हारा वानरपना प्रकट होता है ॥ २९ ॥

कथं वाऽल्पशरीरस्त्वं मामितो नेतुमिच्छसि ।
सकाशं मानवेन्द्रस्य भर्तुर्मे प्लवगर्षभ ॥ ३० ॥

हे वानरोत्तम! फिर तुम इतने छोटे शरीर वाले हो कर, किस तरह मुझे नरेन्द्र मेरे पति के पास पहुँचा सकते हो? ॥ ३० ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा हनुमान्मारुतात्मजः।
चिन्तयामास लक्ष्मीवान्नवं परिभवं कृतम् ॥ ३१ ॥

लक्ष्मीवान पवननन्दन हनुमान जी, सीता के इन वचनों को सुन, मन ही मन कहने लगे कि, यह मेरा प्रथम अनादर हुआ है ॥ ३१ ॥

न मे जानाति सत्त्वं वा प्रभावं वासितेक्षणा।
तस्मात्पश्यतु वैदेही यद्रूपं मम *कामतः ॥ ३२ ॥

वह बोले—हे कृष्णनयनी! तुम अभी मेरे बल और प्रभाव को नहीं जानतीं। इसीसे ऐसा कह रही हो। अतः अब तुम, जैसा कि, मेरा कामरूपी शरीर है, उसे देखो ॥ ३२ ॥

इति संचिन्त्य हनुमांस्तदा प्लवगसत्तमः।
दर्शयामास वैदेह्याः स्वं रूपमरिमर्दनः ॥ ३३ ॥

बहुत कुछ आगा पीछा सोच कर, वानरोत्तम हनुमान जी ने शत्रुनाशकारी अपना रूप वैदेही को दिखलाया ॥ ३३ ॥

स तस्मात्पादपाद्धीमानाप्लुत्य प्लवगर्षभः।
ततो वर्धितुमारेभे सीताप्रत्ययकारणात् ॥ ३४ ॥

वानरोत्तम बुद्धिमान् हनुमान जी एक छलांग में वृक्ष से नीचे उतर सीता जी को विश्वास कराने के लिये, अपने शरीर को बढ़ाने लगे ॥ ३४ ॥

---

* पाठान्तरे—"कामतः।"

मेरुमन्दरसङ्काशो बभौ दीप्तानलप्रभः ।
अग्रतो व्यवतस्थे च सीताया वानरोत्तमः ॥ ३५ ॥

उस समय कपिश्रेष्ठ हनुमान जी मेरुपर्वत की तरह लंबे चौड़े और दहकती हुई आग की तरह कान्तिमान हो, सीता जी के सामने खड़े हो गये ॥ ३५ ॥

हरिः पर्वतसङ्काशस्ताम्रवक्त्रो महाबलः ।
वज्रदंष्ट्रनखो भीमो वैदेहीमिदमब्रवीत् ॥ ३६ ॥

उस समय पर्वताकार, लालमुख, महाबलवान् और वज्र की समान दांतों और नखों को धारण किये हुए भयङ्कर-रूप-धारी हनुमान जी ने जानकी जी से यह कहा ॥ ३६ ॥

सपर्वतवनोद्देशां साट्टप्राकारतोरणाम् ।
लङ्कामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे ॥ ३७ ॥

हे देवी ! पर्वत, वन, गृह, प्राकार और तोरण सहित इस लङ्का को और लङ्का के राजा रावण को यहाँ से उठा कर ले जाने की मुझमें शक्ति है ॥ ३७ ॥

तदवस्थाप्यतां बुद्धिरलं देवि विकाङ्क्षया ।
विशोकं कुरु वैदेहि राघवं सहलक्ष्मणम् ॥ ३८ ॥

हे देवी ! अतः तुम अब मेरे साथ चलने का निश्चय करो और मेरी उपेक्षा मत करो । हे वैदेही ! तुम मेरे साथ चल कर, श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी का शोक दूर करो ॥ ३८ ॥

तं दृष्ट्वाचलसङ्काशमुवाच जनकात्मजा ।
पद्मपत्रविशालाक्षी मारुतस्यौरसं सुतम् ॥ ३९ ॥

हनुमान जी को पर्वताकार रूप धारण किये हुए देख, कमल की तरह विशाल नयनी जनकनन्दिनी, पवननन्दन हनुमान जी से कहने लगी ॥ ३९ ॥

तव सत्त्वं बलं चैव विजानामि महाकपे ।
वायोरिव गतिं चापि तेजश्चाग्नेरिवाद्भुतम् ॥ ४० ॥

हे महाकपे! अब मैंने तुम्हारा बल पराक्रम भली भाँति जान लिया। तुम्हारी गति पवन के समान और तुम्हारा तेज अग्नि के समान अद्भुत है ॥ ४० ॥

प्राकृतोऽन्यः कथं चेमां भूमिमागन्तुमर्हति ।
उदधेरप्रमेयस्य पारं वानरपुङ्गव ॥ ४१ ॥

हे कपिश्रेष्ठ! नहीं तो क्या कोई मामूली वानर भी इस लाँघने के अयोग्य समुद्र को लाँघ कर यहाँ चला आता ॥ ४१ ॥

जानामि गमने शक्तिं नयने चापि ते मम ।
अवश्यं संप्रधार्याशु कार्यसिद्धिर्महात्मनः ॥ ४२ ॥

मैं जानती हूँ कि, तुममें बहुत दूर चलने की और मुझको अपनी पीठ पर चढ़ा कर ले जाने की शक्ति है, किन्तु शीघ्रता पूर्वक कार्य सिद्धि होने के सम्बन्ध में मुझे स्वयं भी सोच विचार लेना आवश्यक है ॥ ४२ ॥

अयुक्तं तु कपिश्रेष्ठ मम गन्तुं त्वया सह ।
वायुवेगसवेगस्य वेगो मां मोहयेत्तव ॥ ४३ ॥

मेरे विचार में तुम्हारे साथ मेरा चलना ठीक नहीं, क्योंकि, वायु के समान तुम्हारी शीघ्रगति (तेज़ चाल) मुझे मूर्छित कर देगी ॥ ४३ ॥

अहमाकाशमापन्ना ह्युपर्युपरि सागरम् ।
प्रपतेयं हि ते पृष्ठाद्भयाद्वेगेन गच्छतः ॥ ४४ ॥

पतिता सागरे चाहं तिमिनक्रझषाकुले ।
भवेयमाशु विवशा यादसामन्नमुत्तमम् ॥ ४५ ॥

जब तुम मुझे लिये हुए आकाशमार्ग से बड़े वेग से जाने लगोगे, तब मैं कदाचित् भयभीत हो, समुद्र में गिर पड़ी और समुद्र के मगर मच्छ मुझे पकड़ कर खा गये, तब तुम क्या करोगे? ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

न च शक्ष्ये त्वया सार्धं गन्तुं शत्रुविनाशन ।
कलत्रवति सन्देहस्त्वय्यपि स्यादसंशयः ॥ ४६ ॥

हे शत्रुविनाशकारी! अतः मैं तुम्हारे साथ न जा सकूँगी। क्योंकि एक जन किसी स्त्री को उड़ाये लिए जा रहा है, यह देख, निश्चय ही राक्षसगण तुम पर सन्देह करेंगे ॥ ४६ ॥

ह्रियमाणां तु मां दृष्ट्वा राक्षसा भीमविक्रमाः ।
अनुगच्छेयुरादिष्टा रावणेन दुरात्मना ॥ ४७ ॥

और मुझे लिये जाते हुए देख, दुरात्मा रावण की आज्ञा पा, भयङ्कर विक्रमशाली राक्षस लोग तुम्हारा पीछा करेंगे ॥ ४७ ॥

तैस्त्वं परिवृतः शूरैः शूलमुद्गरपाणिभिः ।
भवेस्त्वं संशयं प्राप्तो मया वीर कलत्रवान् ॥ ४८ ॥

एक तो हाथ में स्त्री, तिस पर जब तुम शूल, मुद्गरधारी वीर राक्षसों द्वारा घेर लिये जाओगे, तब तुम बड़े सङ्कट में पड़ जाओगे ॥ ४८ ॥

सायुधा बहवो व्योम्नि राक्षसास्त्वं निरायुधः ।
कथं शक्ष्यसि संयातुं मां चैव परिरक्षितुम् ॥ ४९ ॥

फिर राक्षसों के पास तो तरह तरह के हथियार होंगे और तुम आकाश में निरस्त्र होगे। ऐसी दशा होने पर, मेरी रक्षा करनी तो जहाँ तहाँ भला तुम आगे जा भी कैसे सकोगे ॥ ४६ ॥

युध्यमानस्य रक्षोभिस्तव तैः क्रूरकर्मभिः ।
प्रपतेयं हि ते पृष्ठाद्भयार्ता कपिसत्तम ॥ ५० ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! उन क्रूरकर्मा भयङ्कर राक्षसों से जब तुम सामना करोगे, तब भयभीत हो मैं अवश्य तुम्हारी पीठ से नीचे गिर पड़ूँगी ॥ ५० ॥

अथ रक्षांसि भीमानि महान्ति बलवन्ति च ।
कथञ्चित्साम्पराये त्वां जयेयुः कपिसत्तम ॥ ५१ ॥
अथवा युध्यमानस्य पतेयं विमुखस्य ते ।
पतितां च गृहीत्वा मां नयेयुः पापराक्षसाः ॥ ५२ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! फिर यदि उन भयङ्कर और महाबली राक्षसों ने युद्ध में तुम्हें जीत ही लिया अथवा तुम हार कर भागे और मैं गिर पड़ी और उन पापी राक्षसों के हाथ पड़ गयी, तो क्या होगा ? ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

मां वा हरेयुस्त्वद्धस्ताद्विशसेयुरथापि वा ।
अव्यवस्थौ हि दृश्येते युद्धे जयपराजयौ ॥ ५३ ॥

अथवा वे राक्षस तुम्हारे हाथ से मुझे छीन कर ले गये या मुझे मार ही डाला तब क्या होगा ? क्योंकि, युद्ध में कौन जीते, कौन हारे, इसका पहले से कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

अहं वापि विपद्येयं रक्षोभिरभितर्जिता ।
त्वत्प्रयत्नो हरिश्रेष्ठ भवेन्निष्फल एव तु ॥ ५४ ॥

फिर यदि राक्षसों की डाँट डपट से मेरे प्राण निकल गये तो, हे कपिश्रेष्ठ ! तुम्हारा सारा परिश्रम व्यर्थ ही होगा ॥ ५४ ॥

कामं त्वमसि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान् ।
राघवस्य यशो हीयेत्त्वया शस्तैस्तु राक्षसैः ॥ ५५ ॥

यद्यपि तुम निस्सन्देह अकेले सब राक्षसों को मार डाल सकते हो; तथापि यदि तुमने राक्षसों को मार डाला, तो तुम्हारे इस कार्य से श्रीरामचन्द्र जी के यश में तो बट्टा लग ही जायगा ॥ ५५ ॥

अथवादाय रक्षांसि न्यसेयुः संवृते हि माम् ।
यत्र ते नाभिजानीयुर्हरयो नापि राघवौ ॥ ५६ ॥

इसमें एक दोष यह भी है कि, यदि राक्षसों ने मुझे पकड़ पाया और लङ्का में ले आये तो फिर वे मुझे किसी ऐसी जगह छिपा देंगे कि, जहाँ कोई वानर या श्रीरामचन्द्र जी मुझे देख ही न पावें ॥ ५६ ॥

आरम्भस्तु मदर्थोऽयं ततस्तव निरर्थकः ।
त्वया हि सह रामस्य महानागमने गुणः ॥ ५७ ॥

अतः मेरे पीछे तुमने जो इतना श्रम किया है सो सब व्यर्थ चला जायगा । अतः यही ठीक होगा कि, तुम श्रीरामचन्द्र जी को साथ लेकर यहाँ आओ ॥ ५७ ॥

मयि जीवितमायत्तं राघवस्य महात्मनः।
भ्रातॄणां च महाबाहो तव राजकुलस्य च ॥ ५८ ॥

महाबलवान श्रीरामचन्द्र जी का और उनके सब भाइयों का तथा तुम्हारे वानरराज सुग्रीव के कुल का भी जीवन मेरे ही ऊपर निर्भर है ॥ ५८ ॥

तौ निराशौ मदर्थं तु शोकसन्तापकर्शितौ।
सह सर्वर्क्षहरिभिस्त्यक्ष्यतः प्राणसंग्रहम् ॥ ५९ ॥

यदि वे दोनों भ्राता जो इस समय सन्तप्त और शोक से विकल हो रहे हैं, मेरी ओर से हताश हो गये तो फिर निश्चय ही उनका जीना असम्भव है। उनके मरने पर वानरी सेना भी अपने प्राण गवाँ देगी ॥ ५९ ॥

भर्तृभक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
न स्पृशामि शरीरं तु पुंसो वानरपुङ्गव ॥ ६० ॥

हे वानर! तुम्हारे साथ चलने में एक यह भी आपत्ति है कि, मैं पतिव्रता हूँ—अतः श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ किसी अन्य पुरुष का शरीर (अपनी इच्छा से) नहीं छू सकती ॥ ६० ॥

यदहं गात्रसंस्पर्शं रावणस्य बलाद्गता।
अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती ॥ ६१ ॥

मुझे जो रावण के शरीर का स्पर्श हुआ सो बरजोरी हुआ। क्योंकि उस समय मैं कर ही क्या सकती थी। मैं विवश थी और उस समय मुझ पतिव्रता को बचाने वाला भी कोई न था ॥ ६१ ॥

यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सबान्धवम् ।
मामितो गृह्य गच्छेत तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥ ६२ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी बन्धुबान्धव सहित रावण को मार मुझे लेकर यहाँ से जाँय ; तो यह कार्य उनकी पदमर्यादा के अनुकूल होगा ॥ ६२ ॥

श्रुता हि दृष्टाश्च मया पराक्रमा
महात्मनस्तस्य रणावमर्दिनः ।
न देवगन्धर्वभुजङ्गराक्षसा
भवन्ति रामेण समा हि संयुगे ॥ ६३ ॥

उन शत्रुनाशकारी महात्मा श्रीरामचन्द्र जी का पराक्रम मैंने सुना भी है और देखा भी है। अतः मैं कह सकती हूँ कि, युद्ध में क्या देवता, क्या गन्धर्व, क्या सर्प और क्या राक्षस—कोई भी उनका सामना नहीं कर सकता ॥ ६३ ॥

समीक्ष्य तं संयति चित्रकार्मुकं
महाबलं वासवतुल्यविक्रमम् ।
सलक्ष्मणं को विषहेत राघवं
हुताशनं दीप्तमिवानिलेरितम् ॥ ६४ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! जब वे महाबली और इन्द्र के समान विक्रम वाले श्रीरामचन्द्र जी युद्धक्षेत्र में अपना अद्भुत धनुष हाथ में ले खड़े हो जाते हैं और लक्ष्मण उनकी सहायता में सावधान रहते हैं, तब किसकी सामर्थ्य है, जो उनके सामने खड़ा रह सके। भला वायु से बढ़ाई हुई आग की लपटों के सामने भी कोई खड़ा रह सकता है ॥ ६४ ॥

सलक्ष्मणं राघवमाजिमर्दनं
दिशागजं मत्तमिव व्यवस्थितम् ।
सहेत को वानरमुख्य संयुगे
युगान्तसूर्यप्रतिमं शरार्चिषम् ॥ ६५ ॥

जब शत्रुमर्दनकारी श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित, मतवाले दिग्गज की तरह युद्धक्षेत्र में खड़े हो जाते हैं और प्रलयकालीन सूर्य की तरह बाणों रूपी किरनों से आग बरसाने लगते हैं; तब उनके सामने ठहरने की किस में शक्ति है ॥ ६५ ॥

स मे हरिश्रेष्ठ सलक्ष्मणं पतिं
सयूथपं क्षिप्रमिहोपपादय ।
चिराय रामं प्रति शोककर्शितां
कुरुष्व मां वानरमुख्य हर्षिताम् ॥ ६६ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

हे वानरश्रेष्ठ! अतएव तुम लक्ष्मण और सुग्रीव सहित मेरे प्यारे श्रीरामचन्द्र जी को शीघ्र ही यहाँ लिवा लाओ। हे वीर! मैं श्रीरामचन्द्र जी के वियोगजन्य शोक से चिरकाल से कातर हूँ। सो मुझे अब शीघ्र तुम हर्षित करो ॥ ६६ ॥

सुन्दरकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

अष्टात्रिंशः सर्गः

—※—

ततः स कपिशार्दूलस्तेन वाक्येन हर्षितः ।
सीतामुवाच तच्छ्रुत्वा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १ ॥

सीता जी के इन वचनों को सुन, वाक्यविशारद वानरश्रेष्ठ हनुमान जी सीता जी से बोले ॥ १ ॥

युक्तरूपं त्वया देवि भाषितं शुभदर्शने ।
सदृशं स्त्रीस्वभावस्य साध्वीनां विनयस्य[1] च ॥ २ ॥

हे सुन्दरी! तुमने स्त्री-स्वभाव-सुलभ और पतिव्रता स्त्रियों के चरित्रानुकूल ही बातें कहीं हैं ॥ २ ॥

स्त्रीत्वं न तु समर्थं हि सागरं व्यतिवर्तितुम् ।
मामधिष्ठाय विस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ॥ ३ ॥

तुम स्त्री हो, इसीसे तुम मेरी पीठ पर सवार हो, सौ योजन चौड़े समुद्र को नहीं लाँघ सकती ॥ ३ ॥

द्वितीयं कारणं यच्च ब्रवीषि विनयान्विते ।
रामादन्यस्य नार्हामि संस्पर्शमिति जानकि ॥ ४ ॥

हे विनयान्विते! (विनय से युक्त अर्थात् सुशीले!) तुमने जो दूसरा कारण बतलाया कि, तुम श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ अन्य किसी पुरुष को अपनी इच्छा से नहीं छू सकतीं ॥ ४ ॥

---

1 विनयस्य—वृत्तस्य । (गो०)

एतत्ते देवि सदृशं पत्न्यास्तस्य महात्मनः।
का ह्यन्या त्वदृते देवि ब्रूयाद्वचनमीदृशम् ॥ ५ ॥

बोले हे देवी! ठीक ही है और उन महात्मा श्रीराम-चन्द्र जी की पत्नी के ही कहने योग्य है। भला तुमको छोड़, हे देवी! (किसी अवस्था में भी) और कौन स्त्री ऐसे वचन कह सकती है? ॥ ५ ॥

श्रोष्यते चैव काकुत्स्थः सर्वं निरवशेषतः।
चेष्टितं यत्त्वया देवि भाषितं मम चाग्रतः ॥ ६ ॥

हे देवी! तुमने मेरे साथ जैसा वर्ताव किया और जो बातें कहीं—उन सब को श्रीरामचन्द्र जी मेरे मुख से ज्यों का त्यों सुन लेंगे ॥ ६ ॥

कारणैर्बहुभिर्देवि रामप्रियचिकीर्षया।
स्नेहप्रस्कन्नमनसा मयैतत्समुदीरितम् ॥ ७ ॥

हे देवी! मैंने जो तुमसे अपने साथ चलने के लिये कहा था—सो इसके बहुत से कारण हैं। उनमें से मुख्य तो श्रीरामचन्द्र जी का सुखोल्लास था, दूसरा यह था कि मेरा मन स्नेह से शिथिल हो रहा था ॥ ७ ॥

लङ्काया दुष्प्रवेशत्वाद्दुस्तरत्वान्महोदधेः।
सामर्थ्यादात्मनश्चैव मयैतत्समुदाहृतम् ॥ ८ ॥

तीसरा लङ्का में आना, हरेक का काम नहीं है और न समुद्र का लाँघना ही सहज है। किन्तु मुझमें वह सामर्थ्य है, इसीसे मैंने कहा कि तुम मेरे साथ चली चलो ॥ ८ ॥

इच्छामि त्वां समानेतुमद्यैव रघुबन्धुना ।
गुरुस्नेहेन भक्त्या च नान्यथैतदुदाहृतम् ॥ ९ ॥

हे रघुनन्दिनी ! मैंने जो कहा सो कुछ अन्यथा नहीं कहा । क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के मेरे प्रति स्नेह और मेरी उनके प्रति जो भक्ति है, उससे मेरी यह इच्छा हुई कि, आज ही तुम्हें ले चल कर श्रीरामचन्द्र जी से मिला दूँ ॥ ९ ॥

यदि नोत्सहसे यातुं मया सार्धमनिन्दिते ।
अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद्राघवो हि यत् ॥ १० ॥

हे सुन्दरी ! यदि मेरे साथ चलने में तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो मुझे कोई अपनी चिह्नानी दे। जिससे श्रीरामचन्द्र जी को प्रतीति हो ॥ १० ॥

एवमुक्ता हनुमता सीता सुरसुतोपमा ।
उवाच वचनं मन्दं बाष्पप्रग्रथिताक्षरम् ॥ ११ ॥

जब हनुमान जी ने इस प्रकार कहा, तब देवकन्या की तरह सीता जी आँखों में आँसू भर (अर्थात् गद्गद् कण्ठ से) धीरे धीरे बोलीं ॥ ११ ॥

इदं श्रेष्ठमभिज्ञानं ब्रूयास्त्वं तु मम प्रियम् ।
शैलस्य चित्रकूटस्य पादे पूर्वोत्तरे पुरा ॥ १२ ॥

मेरी यही सर्वश्रेष्ठ चिह्नानी तुम श्रीरामचन्द्र जी को बतला देना कि, चित्रकूट पर्वत के ईशान कोण पर ॥ १२ ॥

तापसाश्रमवासिन्याः प्राज्यमूलफलोदके ।
तस्मिन्सिद्धाश्रिते देशे मन्दाकिन्या ह्यदूरतः ॥ १३ ॥

जो बहुत से मूलफल जल से युक्त, सिद्ध लोगों से सेवित, मन्दाकिनी नदी के समीप, तापसाश्रम में जब हम लोग रहते थे ॥ १३ ॥

तस्योपवनषण्डेषु नानापुष्पसुगन्धिषु ।
विहृत्य सलिलक्लिन्ना ममाङ्के समुपाविशः ॥ १४ ॥

तब वहाँ के विविधपुष्पों की सुगन्धि से सुवासित उपवनों में जलक्रीड़ा करके भींगी देह से तुम मेरी गोद में सो गये ॥ १४ ॥

ततो मांससमायुक्तो वायसः पर्यतुण्डयत् ।
तमहं लोष्टमुद्यम्य वारियामि स्म वायसम् ॥ १५ ॥

कि, उसी समय में एक कौआ आकर मांस के लालच से मेरे चोंच मारने लगा । मैं उस पर ढेले फैंक उसे उड़ाती थी ॥ १५ ॥

दारयन्स च मां काकस्तत्रैव परिलीयते ।
न चाप्युपारमन्मांसाद्भक्षार्थी वलिभोजनः ॥ १६ ॥

किन्तु वह मेरे चोंच से घाव कर, उसी जगह कहीं छिप जाया करता था । मैंने उसे बहुत उड़ाया, किन्तु मांसभक्षी और वलिखाने वाला वह काक न माना ॥ १६ ॥

उत्कर्षन्त्यां च रशनां क्रुद्धायां मयि पक्षिणि ।
स्रस्यमाने च वसने ततो दृष्टा त्वया ह्यहम् ॥ १७ ॥

तब तो मुझे उस कौए पर बड़ा क्रोध आया । इतने में मेरी करधनी खिसक गयी । मैं उसे ऊपर चढ़ाने लगी कि, इतने में मेरा वस्त्र खिसक गया । उस समय तुम्हारी अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी की दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी ॥ १७ ॥

त्वयापहसिता चाहं क्रुद्धा संलज्जिता तदा ।
भक्षगृध्नेन काकेन दारिता त्वामुपागता ॥ १८ ॥

आसीनस्य च ते श्रान्ता पुनरुत्सङ्गमाविशम् ।
क्रुध्यन्ती च प्रहृष्टेन त्वयाहं परिसान्त्विता ॥ १९ ॥

और तुम मुझे देख कर हँस दिये। उस समय मुझे क्रोध तो था ही साथ ही मुझे बड़ी लज्जा भी जान पड़ी। उस भक्ष्यलोलुप कौए से घायल हुई मैं, थक गयी और आकर तुम्हारी गोद में पड़ रही। मुझे कुपित देख, तुमने प्रहृष्ट हो मुझे समझाया ॥१८॥१९॥

बाष्पपूर्णमुखी मन्दं चक्षुषी परिमार्जती ।
लक्षिताहं त्वया नाथ वायसेन प्रकोपिता ॥ २० ॥

उस समय आँसुओं से मेरा मुख तर हो रहा था और धीरे धीरे आंसू पोंछ रही थी। इतने में तुमने जान लिया कि कौए ने मुझे कुपित कर दिया है ॥ २० ॥

परिश्रमात्प्रसुप्ता च राघवाङ्केऽप्यहं चिरम् ।
पर्यायेण प्रसुप्तश्च ममाङ्के भरताग्रजः ॥ २१ ॥

थक जाने के कारण मैं बहुत देर तक श्रीरामचन्द्र जी की गोद में पड़ी सोती रही, फिर पारी से श्रीरामचन्द्र जी मेरी गोद में सोये ॥ २१ ॥

स तत्र पुनरेवाथ वायसः समुपागमत् ।
ततः सुप्तप्रबुद्धां मां राघवाङ्कात्समुत्थिताम् ॥ २२ ॥

इतने में वही कौवा पुनः आया। मैं उसी क्षण श्रीरामचन्द्र जी की गोद से सो कर उठी थी ॥ २२ ॥

वायसः सहसागम्य विरराद स्तनान्तरे ।
पुनः पुनरथोत्पत्य विरराद स मां भृशम् ॥ २३ ॥

उस काक ने अचानक आ मेरे स्तनों के बीच में चोंच मारी और उछल उछल कर उसने मुझे घायल कर डाला ॥ २३ ॥

ततः समुत्थितो रामो मुक्तैः शोणितविन्दुभिः ॥ २४ ॥

तब रक्त की बूँदें श्रीरामचन्द्र जी के शरीर पर गिरने से वे उठे ॥ २४ ॥

स मां दृष्ट्वा महाबाहुर्वितुन्नां स्तनयोस्तदा ॥ २५ ॥

उन्होंने स्तनों के बीच मेरे घाव हुआ देख, ॥ २५ ॥

आशीविष इव क्रुद्धः श्वसन्वाक्यमभाषत ।
केन ते नागनासोरु विक्षतं वै स्तनान्तरम् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी सर्प की तरह कुपित और फुँसकारते हुए बोले—हे सुन्दरी ! तेरे स्तनों के बीच में किसने घाव कर दिया ? ॥ २६ ॥

कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना ।
वीक्षमाणस्ततस्तं वै वायसं समुदैक्षत ॥ २७ ॥

क्रुद्ध पांच फन वाले सांप के साथ यह खेल किसने खेला है ? यह कह ज्योंही श्रीरामचन्द्र जी ने इधर उधर दृष्टि डाली, त्योंही वह काक उन्हें दिखलाई पड़ा ॥ २७ ॥

नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैर्मामेवाभिमुखं स्थितम् ।
पुत्रः किल स शक्रस्य वायसः पततां वरः ॥ २८ ॥

उस काक के नख, रक्त में सने हुए थे और वह मेरी ओर मुख कर बैठा हुआ था। वह पक्षिश्रेष्ठ निश्चय ही इन्द्र का पुत्र था २८ ॥

धरान्तरगतः शीघ्रं पवनस्य गतौ समः ।
ततस्तस्मिन्महाबाहुः कोपसंवर्तितेक्षणः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की दृष्टि पड़ते ही वह पवन के समान वेग से झट पृथिवी में समा गया। उस समय श्रीरामचन्द्र जी मारे क्रोध के नेत्र टेढ़े कर, ॥ २९ ॥

वायसे कृतवान्क्रूरां मतिं मतिमतां वरः ।
स दर्भं संस्तरादृगृह्य ब्राह्मेणास्त्रेण योजयत् ॥ ३० ॥

उस कौए को बड़ी बुरी तरह देखा, और कुश की चटाई से एक कुश खींच, उसको ब्रह्मास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित किया ॥ ३० ॥

स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखो द्विजम् ।
स तं प्रदीप्तं चिक्षेप दर्भं तं वायसं प्रति ॥ ३१ ॥

तब तो वह कुश कालाग्नि के समान प्रज्वलित हो उठा। उस कुश को श्रीरामचन्द्र जी ने काक के ऊपर छोड़ा ॥ ३१ ॥

ततस्तु वायसं दर्भः सोऽम्बरेऽनुजगाम तम् ।
अनुसृष्टस्तदा काको जगाम विविधां गतिम् ॥ ३२ ॥

तब वह कौवा उड़ कर आकाश में गया और वह कुश उसके पीछे लग लिया। उस ब्रह्मास्त्र से पिछियाया हुआ वह काक, कितनी ही जगहों में गया ॥ ३२ ॥

त्राणकाम इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह।
स पित्रा च परित्यक्तः सुरैश्च परमर्षिभिः ॥ ३३ ॥

अपनी रक्षा के लिये वह कौआ इस पृथिवी तलपर सर्वत्र घूमा पर उसकी रक्षा न हो सकी। तब वह अपने पिता, तथा अन्य देवताओं और देवर्षियों के पास अपनी रक्षा के लिये गया। किन्तु सब ने उसे दुर दुरा दिया ॥ ३३ ॥

त्रीँल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः।
स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम् ॥ ३४ ॥

तीनों लोकों में घूम फिर कर अन्त में वह श्रीरामचन्द्र जी ही के शरण में आया। शरणागत-वत्सल श्रीरामचन्द्र जी ने उस शरण आये हुए काक को अपने सामने पृथिवी पर पड़ा हुआ देखा ॥ ३४ ॥

वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्।
न शर्म लब्ध्वा लोकेषु तमेव शरणं गतः ॥ ३५ ॥

उस वध करने योग्य काक को दयावश छोड़ दिया और न मारा। क्योंकि वह सब लोकों में घूमा फिरा, किन्तु उसका बचाव कहीं भी नहीं हो सका, इसीसे वह श्रीरामचन्द्र जी के शरण में आया था ॥ ३५ ॥

परिद्यूनं विषण्णं च स तमायान्तमब्रवीत्।
मोघं कर्तुं न शक्यं तु ब्राह्ममस्त्रं तदुच्यताम् ॥ ३६ ॥

उस काक को सन्तप्त और दुःखी हो आया हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी ने उससे कहा—यह ब्रह्मास्त्र व्यर्थ तो जा नहीं सकता; अतः तुम बतलाओ अब क्या किया जाय ॥ ३६ ॥

हिनस्तु दक्षिणाक्षि त्वच्छर इत्यथ सोऽब्रवीत् ।
ततस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम् ॥३७॥

इस पर उसने कहा कि, जब यही बात है, तब मेरी दहिनी आँख इसके भेंट है। श्रीरामचन्द्र जी ने उस ब्रह्मास्त्र से उसकी दहिनी आँख फोड़ दी ॥ ३७ ॥

दत्त्वा स दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः ।
स रामाय नमस्कृत्वा राज्ञे दशरथाय च ॥ ३८ ॥

विसृष्टस्तेन वीरेण प्रतिपेदे स्वमालयम् ।
मत्कृते काकमात्रे तु ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम् ॥ ३९ ॥

उस कौए ने अपनी दाहिनी आँख गँवा अपने प्राण बचाये और श्रीरामचन्द्र जी तथा महाराज दशरथ जी को प्रणाम कर और विदा माँग अपने घर चला गया। (हे हनुमान ! तुम उनसे कहना कि) आपने मेरे पीछे तो एक कौए पर ब्रह्मास्त्र चलाया था ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

कस्माद्यो मां हरेत्त्वत्तः क्षमसे तं महीपते ।
स कुरुष्व महोत्साहः कृपां मयि नरर्षभ ॥ ४० ॥

सो हे महाराज ! जो मुझे हर ले गया उसे आपने क्यों क्षमा कर दिया ? हे नरश्रेष्ठ ! आप अति प्रबल उत्साह का अवलंबन कर, मेरे ऊपर कृपा कीजिये ॥ ४० ॥

त्वया नाथवती नाथ ह्यनाथेव हि दृश्यते ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव मया श्रुतः ॥ ४१ ॥

तुम्हारे ऐसे नाथ के रहते; इस समय मैं अनाथिनी जैसी देख पड़ती हूँ। मैंने तो तुम्हींसे सुना है कि, दया से बढ़ कर और कोई धर्म नहीं है ॥ ४१ ॥

जानामि त्वां महावीर्यं महोत्साहं महाबलम् ।
अपारपारमक्षोभ्यं गाम्भीर्यात्सागरोपमम् ॥ ४२ ॥

फिर मुझे यह भी विदित है कि, तुम महापराक्रमी, महोत्साही और महाबलवान हो। तुम दुरधिगम्य, और समुद्र की तरह गम्भीर हो ॥ ४२ ॥

भर्तारं ससमुद्राया धरण्या वासवोपमम् ।
एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्यवान्बलवानपि ॥ ४३ ॥

और इन्द्र की तरह ससागरा पृथिवी के स्वामी हो। तुम अस्त्रवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ सत्यवादी और बलवान भी हो ॥ ४३ ॥

किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयसि राघवः ।
न नागा नापि गन्धर्वा नासुरा न मरुद्गणाः ॥ ४४ ॥

सो आप अपने उन अस्त्रों को राक्षसों पर क्यों नहीं चलाते। न तो नाग, न गन्धर्व, न असुर, न मरुद्गण ॥ ४४ ॥

रामस्य समरे वेगं शक्ताः प्रतिसमाधितुम् ।
तस्य वीर्यवतः कश्चिद्यद्यस्ति मयि संभ्रमः ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के समरवेग को नहीं सम्हाल सकते। सो यदि श्रीरामचन्द्र जी के मन में मेरा कुछ भी आदर है, ॥ ४५ ॥

किमर्थं न शरैस्तीक्ष्णैः क्षयं नयति राक्षसान् ।
भ्रातुरादेशमादाय लक्ष्मणो वा परन्तपः ॥ ४६ ॥

कस्य हेतोर्न मां वीरः परित्राति महाबलः ।
यदि तौ पुरुषव्याघ्रौ वाय्वग्निसमतेजसौ ॥ ४७ ॥

तो वे क्यों अपने पैने बाणों से राक्षसों का नाश नहीं कर डालते। अथवा भाई से पूँछ महाबलवान वीर, लक्ष्मण ही मेरी रक्षा क्यों नहीं करते? वायु और अग्नि के समान तेजस्वी वे दोनों पुरुषसिंह ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं मामुपेक्षतः ।
ममैव दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः ॥ ४८ ॥

जो देवताओं के लिये भी दुर्धर्ष हैं अर्थात् अजेय हैं, क्यों मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। (इसका कारण यदि कुछ हो सकता है) तो यही कि, निस्सन्देह मेरे किसी जन्मान्तर कृत बड़े पाप का फल यह उपस्थित हुआ है ॥ ४८ ॥

समर्थावपि तौ यन्मां नावेक्षेते परन्तपौ ।
वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रु भाषितम् ॥ ४९ ॥

क्योंकि वे दोनों शत्रुहन्ता समर्थ होकर भी मेरी ओर ध्यान नहीं देते। सीता जी के करुणयुक्त और रोकर कहे हुए इन वचनों को सुन ॥ ४९ ॥

अथाब्रवीन्महातेजा हनूमान्मारुतात्मजः ।
[1]त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन मे शपे ॥ ५० ॥

महातेजस्वी पवनपुत्र हनुमान जी कहने लगे—हे देवी! मैं शपथपूर्वक सत्य सत्य कहता हूँ कि, श्रीरामचन्द्र जी तुम्हारे वियोगजन्यशोक के कारण विषयान्तर से पराङ्मुख हो रहे हैं ॥ ५० ॥

---

१ त्वच्छोकविमुखो—त्वच्छोकेन विषयान्तरपराङ्मुखः। (गो०)

रामे दुःखाभिपन्ने च लक्ष्मणः परितप्यते।
कथंचिद्भवती दृष्टा न कालः परिशोचितुम् ॥५१॥

और बहुत दुःखी हैं। लक्ष्मण भी उनके दुःख से परितप्त हैं। अस्तु, किसी प्रकार मैंने तुमको देख तो लिया। अब यह समय शोक करने का नहीं है ॥ ५१ ॥

इमं मुहूर्तं दुःखानां द्रक्ष्यस्यन्तमनिन्दिते।
तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ राजपुत्रौ महाबलौ ॥ ५२ ॥

हे सुन्दरी! यद्यपि इस समय तुम्हें कष्ट है, तथापि तुम शीघ्र ही, इससे छुटकारा पावेगी। वे दोनों महाबली पुरुषसिंह राजकुमार ॥ ५२ ॥

त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लङ्कां भस्मीकरिष्यतः।
हत्वा च समरे क्रूरं रावणं सहबान्धवम् ॥ ५३ ॥

तुम्हारे दर्शन की लालसा से बन्धुबान्धव सहित दुष्ट रावण को युद्ध में मार कर और लङ्का को जला कर, भस्म कर डालेंगे ॥५३॥

राघवस्त्वां विशालाक्षि नेष्यति स्वां पुरीं प्रति।
ब्रूहि यद्राघवो वाच्यो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ ५४ ॥

और हे विशालाक्षी! श्रीरामचन्द्र तुमको अयोध्या ले जायंगे। अब तुम्हें महाबली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी से जो कुछ कहना हो, सो बतलाओ ॥ ५४ ॥

सुग्रीवो वापि तेजस्वी हरयोऽपि समागताः।
इत्युक्तवति तस्मिंश्च सीता सुरसुतोपमा ॥ ५५ ॥

और तेजस्वी सुग्रीव तथा समागत वानरों से जो कुछ कहना हो सो भी बतलाओ। हनुमान जी का वचन सुन, देवतनया की तरह सीता जी ने ॥ ५५ ॥

उवाच शोकसन्तप्ता हनुमन्तं प्लवङ्गमम्।
कौसल्या लोकभर्तारं सुषुवे यं मनस्विनी ॥ ५६ ॥

शोकसन्तप्त हो वानर हनुमान जी से बोलीं—मनस्विनी कौशल्या देवी ने जिन लोक-प्रति-पालक पुत्र को उत्पन्न किया है ॥ ५६ ॥

तं ममार्थे सुखं पृच्छ शिरसा चाभिवादय।
स्रजश्च सर्वरत्नानि प्रिया याश्च वराङ्गनाः ॥ ५७ ॥

ऐश्वर्यं च विशालायां पृथिव्यामपि दुर्लभम्।
पितरं मातरं चैव संमान्याभिप्रसाद्य च ॥ ५८ ॥

अनुप्रव्रजितो रामं सुमित्रा येन सुप्रजाः।
आनुकूल्येन धर्मात्मा त्यक्त्वा सुखमनुत्तमम् ॥ ५९ ॥

(कौशल्या को) पहिले प्रणाम कह कर तुम मेरी ओर से उनकी (कौशल्या की) कुशल पूँछना। मालाओं, रत्नों, प्यारी स्त्रियों और पृथिवी के दुर्लभ ऐश्वर्य को त्याग तथा माता एवं पिता को प्रसन्न करके जो श्रीराम के अनुगामी बन, वन में आये, जिनके होने से सुमित्रा देवी सुपुत्रवती कहलाती हैं, जिन्होंने भाई की भक्ति वश हो, उत्तम सुखों को त्याग, ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

अनुगच्छति काकुत्स्थं भ्रातरं पालयन्वने।
सिंहस्कन्धो महाबाहुर्मनस्वी प्रियदर्शनः ॥ ६० ॥

और जो भाई की रक्षा करते हुए वन में उनके पीछे पीछे चलते हैं, जो सिंह के समान कंधे वाले, महाभुज, मनस्वी और अति देखने में सुन्दर हैं ॥ ६० ॥

पितृवद्वर्तते रामे मातृवन्मां समाचरन् ।
ह्रियमाणां तदा वीरो न तु मां वेद लक्ष्मणः ॥ ६१ ॥

जो श्रीराम को पिता और मुझे माता समझ वर्ताव करते हैं, उन वीर लक्ष्मण को, उस समय रावण द्वारा मेरा हरा जाना न विदित हुआ ॥ ६१ ॥

वृद्धोपसेवी लक्ष्मीवाञ्शक्तो न बहु भाषिता ।
राजपुत्रः प्रियः श्रेष्ठः सदृशः श्वशुरस्य मे ॥ ६२ ॥

देखो वृद्धसेवी, शोभावान्, समर्थ, कम बोलने वाले, राजकुमार, प्रिय, श्रेष्ठ और मेरे ससुर के समान ॥ ६२ ॥

मत्तः प्रियतरो नित्यं भ्राता रामस्य लक्ष्मणः ।
नियुक्तो धुरि यस्यां तु तामुद्वहति वीर्यवान् ॥ ६३ ॥

लक्ष्मण, मुझसे भी अधिक श्रीराम को प्यारे हैं और जो किसी कार्य में नियुक्त किये जाने पर उस कार्य को बड़ी चतुराई से पूरा करते हैं ॥ ६३ ॥

यं दृष्ट्वा राघवो नैव वृत्तमार्यमनुस्मरेत् ।
स ममार्थाय कुशलं वक्तव्यो वचनान्मम ॥ ६४ ॥

जिनको देखने से श्रीरामचन्द्र जी को पिता की याद नहीं आती, उन लक्ष्मण से मेरे कथनानुसार कुशल कहना ॥ ६४ ॥

मृदुर्नित्यं शुचिर्दक्षः प्रियो रामस्य लक्ष्मणः ।
यथा हि वानरश्रेष्ठ दुःखक्षयकरो भवेत् ॥ ६५ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! जो लक्ष्मण मृदुल स्वभाव, पवित्र, चतुर और श्रीरामचन्द्र के प्यारे हैं, उनसे इस प्रकार तुम कहना, जिससे वे मेरे दुःख को नाश करें ॥ ६५ ॥

त्वमस्मिन्कार्यनियोगे [1]प्रमाणं हरिसत्तम ।
राघवस्त्वत्समारम्भान्मयि यत्नपरो भवेत् ॥ ६६ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! तुम्हीं इस कार्य के पूरा कराने के लिये व्यवस्थापक हो, सो इस प्रकार कहना जिससे श्रीरामचन्द्र जी मेरे उद्धार के लिये प्रयत्न करें ॥ ६६ ॥

इदं ब्रूयाश्च मे नाथं शूरं रामं पुनः पुनः ।
जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ॥ ६७ ॥

मेरे शूर स्वामी से यह वार वार कहना, हे दशरथात्मज ! मैं एक मास तक और जीवित रहूँगी ॥ ६७ ॥

ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते ।
रावणेनोपरुद्धां मां निकृत्या पापकर्मणा ॥ ६८ ॥

मैं तुमसे सत्य सत्य कहती हूँ कि, एक मास से अधिक बीतने पर मैं जीती न वचूँगी। क्योंकि इस पापी रावण ने बड़ी बुरी तरह मुझे बंद कर रखा है ॥ ६८ ॥

त्रातुमर्हसि वीर त्वं पातालादिव कौशिकीम् ।
ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम् ॥ ६९ ॥

[1] प्रमाणं—व्यवस्थापकः । (गो०)

सो जिस प्रकार वाराह भगवान ने, पाताल से पृथिवी का उद्धार किया था; उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी मेरा यहाँ से उद्धार करेंगे। तदनन्तर जानकी जी ने अपनी ओढ़नी के आँचल से खोल कर सुन्दर चूड़ामणि ॥ ६९ ॥

प्रदेयो राघवायेति सीता हनुमते ददौ।
प्रतिगृह्य ततो वीरो मणिरत्नमनुत्तमम् ॥ ७० ॥

हनुमान जी को दी और कहा इसे श्रीरामचन्द्र जी को दे देना। उस उत्तम मणि को ले हनुमान जी ने ॥ ७० ॥

अङ्गुल्या योजयमास नह्यस्य प्राभवद्भुजः।
मणिरत्नं कपिवरः प्रतिगृह्याभिवाद्य च।
सीतां प्रदक्षिणं कृत्वा प्रणतः पार्श्वतः स्थितः ॥ ७१ ॥

उसे अपनी अँगुली में पहिना। क्योंकि वह उनकी भुजा में न आ सकी। उस मणिश्रेष्ठ को ले और प्रणाम कर कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने सीता जी की परिक्रमा की। तदनन्तर वे हाथ जोड़ कर, उनके समीप खड़े हो गये ॥ ७१ ॥

हर्षेण महता युक्तः सीतादर्शनजेन सः।
हृदयेन गतो रामं शरीरेण तु निष्ठितः ॥ ७२ ॥

हनुमान जी सीता जी के दर्शन कर अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे। उनका शरीर तो सीता जी के पास था। किन्तु मन द्वारा वे श्रीरामचन्द्र जी के पास पहुँच गये थे ॥ ७२ ॥

मणिवरमुपगृह्य तं महार्हं
जनकनृपात्मजया धृतं प्रभावात्।

गिरिरिव पवनावधूतमुक्तः
सुखितमनाः प्रतिसंक्रमं प्रपेदे ॥ ७२ ॥

इति अष्टात्रिंशः सर्गः ।

बड़े यत्न से जिस चूड़ामणि को सीता जी ने अपने आंचल में बांध कर रखा था, उसे हनुमान जी लेकर, पर्वतशिखर पर पवन के झोंके से मुक्त हुए पुरुष की तरह, प्रसन्न हुए । तदनन्तर उन्होंने वहां से लौटना चाहा । ७२ ।

सुन्दरकाण्ड का अड़तीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—※—

मणिं दत्त्वा ततः सीता हनुमन्तमथाब्रवीत् ।
अभिज्ञानमभिज्ञातमेतद्रामस्य तत्त्वतः ॥ १ ॥

तदनन्तर चूड़ामणि देकर सीता जी हनुमान जी से बोलीं कि, इस चिह्नानी को श्रीरामचन्द्र जी भली भांति जानते हैं । १ ।

मणिं तु दृष्ट्वा रामो वै त्रयाणां संस्मरिष्यति ।
वीरो जनन्या मम च राज्ञो दशरथस्य च ॥ २ ॥

इस चूड़ामणि को देख कर, श्रीरामचन्द्र जी को तीन जनों की याद आवेगी । मेरी, मेरी माता की और महाराज दशरथ की । २ ।

स भूयस्त्वं समुत्साहे चोदितो हरिसत्तम ।
अस्मिन्कार्यसमारम्भे प्रचिन्तय यदुत्तरम् ॥ ३ ॥

हे कपिश्रेष्ठ! तुम इस कार्य में भली भाँति प्रयत्न करना। क्योंकि मणि देख कर वे युद्ध करने के लिये तुमको प्रेरित करेंगे। अतः इस कार्य में उत्साह की वृद्धि करने के लिये आगे कर्त्तव्य कर्म का अभी से विचार कर लो ॥ ३ ॥

त्वमस्मिन्कार्यनिर्योगे प्रमाणं हरिसत्तम ।
हनुमन्यत्नमास्थाय दुःखक्षयकरो भव ॥ ४ ॥

हे कपिश्रेष्ठ! इस कार्य को पूरा कराने के लिये तुम्हीं व्यवस्थापक हो। हे हनुमान्! तुम यत्नवान् होकर मेरा दुःख दूर करो ॥ ४ ॥

तस्य चिन्तयतो यत्नो दुःखक्षयकरो भवेत् ।
स तथेति प्रतिज्ञाय मारुतिर्भीमविक्रमः ॥ ५ ॥

अब ऐसा यत्न विचारो जिससे मेरा दुःख दूर होजाय। सीता का ऐसा वचन सुन, भीम पराक्रमी हनुमान जी तो बहुत अच्छा ऐसा ही करूँगा कह कर, ॥ ५ ॥

शिरसाऽऽवन्द्य वैदेहीं गमनायोपचक्रमे ।
ज्ञात्वा संप्रस्थितं देवी वानरं मारुतात्मजम् ॥ ६ ॥

और सीता जी को मस्तक नवा प्रणाम कर वहाँ से चलने को तैयार हुए। तब पवननन्दन हनुमान जी को वहाँ से चलने के लिये तैयार जान ॥ ६ ॥

वाष्पगद्गदया वाचा मैथिली वाक्यमब्रवीत् ।
कुशलं हनुमन्ब्रूयाः सहितौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७ ॥

जानकी जी ने गद्गद कण्ठ से हनुमान जी से कहा—हे हनुमान् ! श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी से मेरी राजीखुशी कह देना ॥ ७ ॥

सुग्रीवं च सहामात्यं वृद्धान्सर्वांश्च वानरान् ।
ब्रूयास्त्वं वानरश्रेष्ठ कुशलं धर्मसंहितम् ॥ ८ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! मन्त्रियों सहित सुग्रीव तथा अन्य बूढ़े बड़े वानरों से भी मेरी खुशी राजी के समाचार कह देना । ठीक ठीक धर्म सहित ॥ ८ ॥

[नोट—आदि कवि ने उक्त श्लोक में "धर्म संहितम्" दो शब्द दिये हैं । इससे जानकी जी का यह अभिप्राय जान पड़ता है कि, मैं यहाँ जिस प्रकार कुशल से हूँ—सो ईमान्दारी के साथ ज्यों का त्यों कह देना] ।

यथा स च महाबाहुर्मां तारयति राघवः ।
अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधात्त्वं समाधातुमर्हसि ॥ ९ ॥

और जिस तरह वे महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी मुझे इस शोक-सागर के पार लगावें, उस तरह उनको भली भाँति समझाना ॥ ९ ॥

जीवन्तीं मां यथा रामः संभावयति कीर्त्तिमान् ।
तत्तथा हनुमन्वाच्यो वाचा धर्ममवाप्नुहि ॥ १० ॥

हे हनुमान ! तुम इस प्रकार उनसे कहना कि, जिससे यशस्वी श्रीरामचन्द्र जी मेरे जीवित रहते रहते, मुझे मिल जाँय । ऐसे वचन कहने से तुमको बड़ा पुण्य होगा ॥ १० ॥

नित्यमुत्साहयुक्ताश्च वाचः श्रुत्वा त्वयेरिताः ।
वर्धिष्यते दाशरथेः पौरुषं मदवाप्तये ॥ ११ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी तो सदा उत्साहवान रहते ही हैं, तो भी तुम्हारे मुख से मेरे संदेसे को सुन कर, मेरी प्राप्ति के लिये उनका पुरुषार्थ बढ़ेगा ॥ ११ ॥

मत्संदेशयुता वाचस्त्वत्तः श्रुत्वैव राघवः ।
पराक्रमविधिं वीरो विधिवत्संविधास्यति ॥ १२ ॥

और मेरे सन्देशयुक्त तुम्हारे वचन सुन कर, वीर श्रीरामचन्द्र जी यथाविधान अपना पराक्रम प्रकट करने को कटिबद्ध होंगे ॥ १२ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा हनुमान्मारुतात्मजः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ १३ ॥

सीता जी के इन वचनों को सुन कर, पवननन्दन हनुमान जी ने हाथ जोड़ कर कहा ॥ १३ ॥

क्षिप्रमेष्यति काकुत्स्थो हर्यृक्षप्रवरैर्वृतः ।
यस्ते युधि विजित्यारीञ्शोकं व्यपनयिष्यति ॥ १४ ॥

हे देवी! श्रीरामचन्द्र जी बहुत ही शीघ्र बड़े बड़े बलवान वानरों और रीछों की सेना साथ लेकर यहाँ आवेंगे और शत्रुओं को मार तुम्हारा शोक दूर करेंगे ॥ १४ ॥

न हि पश्यामि मर्त्येषु नासुरेषु सुरेषु वा ।
यस्तस्य क्षिपतो बाणान्स्थातुमुत्सहतेऽग्रतः ॥ १५ ॥

क्योंकि मनुष्यों, देवताओं, अथवा दैत्य में मुझे तो ऐसा कोई देख नहीं पड़ता, जो बाणों की वर्षा करते हुए श्रीरामचन्द्र जी के सामने खड़ा रह सके ॥ १५ ॥

अप्यर्कमपि पर्जन्यमपि वैवस्वतं यमम् ।
स हि सोढुं रणे शक्तस्तव हेतोर्विशेषतः ॥ १६ ॥

हे देवी ! श्रीरामचन्द्र जी संग्राम में सूर्य, इन्द्र और यमराज का भी सामना कर सकते हैं और विशेष कर तुम्हारे लिये ॥ १६ ॥

स हि सागरपर्यन्तां महीं शासितुमीहते ।
त्वन्निमित्तो हि रामस्य जयो जनकनन्दिनि ॥ १७ ॥

हे जानकी ! वे तुम्हारे लिये ससागर अखिल भूमण्डल को जीतने के लिये तैयार हुए हैं और जय भी उन्हींको होगी ॥ १७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सम्यक्सत्यं सुभाषितम् ।
जानकी बहु मेनेऽथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

हनुमान जी के युक्तियुक्त, परमार्थयुक्त और श्रुतमधुर वचनों को सुन, जानकी जी ने अति आदरपूर्वक यह वचन कहे ॥ १८ ॥

ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः ।
भर्तृस्नेहान्वितं वाक्यं सौहार्दादनुमानयत् ॥ १९ ॥

सीता जी ने जाने के लिये तैयार खड़े हनुमान जी की ओर बार बार देख, अपने प्रति अपने स्वामी का स्नेह प्रकट करने वाले सम्मानसूचक वचन कहे ॥ १९ ॥

यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिन्दम ।
कस्मिंश्चित्संवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि ॥ २० ॥

हे शत्रुओं के दमन करने वाले वीर! यदि ठीक समझो तो एक दिन और यहीं कहीं किसी गुप्त स्थान में रह जाओ और विश्राम कर कल चले जाना ॥ २० ॥

मम चेदल्पभाग्यायाः सांनिध्यात्तव वानर ।
अस्य शोकस्य महतो मुहूर्तं मोक्षणं भवेत् ॥ २१ ॥

क्योंकि तुम्हारे मेरे पास रहने से मुझ अभागी का यह अपार दुःख, कुछ देर के लिये अवश्य घट जायगा ॥ २१ ॥

गते हि हरिशार्दूल पुनरागमनाय तु ।
प्राणानामपि सन्देहो मम स्यान्नात्र संशयः ॥ २२ ॥

हे कपिश्रेष्ठ! तुम्हारे यहाँ से लौट जाने पर और पुनः यहाँ आने के समय तक मुझे सन्देह है कि, मैं जीती रहूँ या न रहूँ ॥ २२ ॥

तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत् ।
दुःखाद्दुःखपरामृष्टां दीपयन्निव वानर ॥ २३ ॥

हे वानर! तुम्हारे न देखने का शोक भी मुझे सन्तप्त करेगा और वर्तमान दुःख से बढ़ कर यह दुःख केवल मुझे सतावेगा ही नहीं; बल्कि भस्म कर डालेगा ॥ २३ ॥

अयं च वीर सन्देहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः ।
सुमहांस्त्वत्सहायेषु हर्यृक्षेषु हरीश्वर ॥ २४ ॥

हे वीर! मुझे एक सन्देह और भी है। वह यह कि, वानरराज सुग्रीव अपनी वानरी और रीछों की बड़ी भारी सेना ले ॥ २४ ॥

कथं नु खलु दुष्पारं तरिष्यन्ति महोदधिम् ।
तानि हर्यृक्षसैन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ ॥ २५ ॥

इस अपार महासागर के पार कैसे आ पावेंगे, वे दोनों भाई और रीछ वानरों की सेना किस प्रकार पार होगी ॥ २५ ॥

त्रयाणामेव भूतानां सागरस्यास्य लङ्घने ।
शक्तिः स्याद्वैनतेयस्य तव वा मारुतस्य वा ॥ २६ ॥

तीन ही जन इस महासागर को पार कर सकते हैं । या तो गरुड़ जी या तुम अथवा पवनदेव ॥ २६ ॥

तदस्मिन्कार्यनिर्योगे वीरैवं दुरतिक्रमे ।
किं पश्यसि समाधानं त्वं हि कार्यविदां वरः ॥ २७ ॥

अतएव हे वीर ! इसलिये इस दुरतिक्रम कार्य की सफलता में तुमने कौनसा उपाय विचारा है । क्योंकि तुम कार्य को सफल करने वाले श्रेष्ठजनों में सर्वश्रेष्ठ हो ॥ २७ ॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने ।
पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते फलोदयः ॥ २८ ॥

हे शत्रुहन्ता ! एक तुम्हीं इस कार्य को पूरा कर सकते हो । अतएव यश की देने वाली, सफलता तुम्हींको प्राप्त होगी ॥ २८ ॥

बलैः समग्रैर्यदि मां रावणं जित्य संयुगे ।
विजयी स्वपुरीं यायात्तत्तस्यसदृशं भवेत् ॥ २९ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ससैन्य रावण को युद्ध में परास्त कर और विजयी हो, मुझे अपनी राजधानी में ले जाँय, तब यह कार्य उनके स्वरूपानुरूप हो ॥ २९ ॥

शरैस्तु सङ्कुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः ।
मां नयेद्यदि काकुत्स्थस्तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥ ३० ॥

शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र जी जब अपने तीरों से लङ्कापुरी को पाट दें और मुझे यहाँ से ये ले चलें, तब उनका यह कार्य उनके स्वरूपानुप हो ॥ ३० ॥

तद्यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः ।
भवेदाहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय ॥ ३१ ॥

अतएव हे वीर! जिससे महात्मा रणविजयी श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम की धाक बैठे, तुम वैसा ही प्रयत्न करना ॥ ३१ ॥

तदर्थोपहितं वाक्यं सहितं हेतुसंहितम् ।
निशम्य हनुमाञ्शेषं[1] वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

सीता जी के पूर्वकथित अर्थयुक्त परस्परसंगत और युक्तियुक्त वचनों को सुन, हनुमान जी आगे कहने लगे ॥ ३२ ॥

देवि हर्यृक्षसैन्यानामीश्वरः प्लवतां वरः ।
सुग्रीवः सत्त्वसंपन्नस्तवार्थे कृतनिश्चयः ॥ ३३ ॥

हे देवी! सुग्रीव वानरों और रीछों की सेनाओं के स्वामी हैं, वानरों में श्रेष्ठ हैं और बड़े बलवान हैं। वे तुम्हारे उद्धार के लिये निश्चय कर चुके हैं ॥ ३३ ॥

स वानरसहस्राणां कोटीभिरभिसंवृतः ।
क्षिप्रमेष्यति वैदेहि राक्षसानां निबर्हणः ॥ ३४ ॥

सो वे हज़ारों और करोड़ों वानरों को साथ ले, राक्षसों का नाश करने के लिये, यहाँ बहुत शीघ्र आवेंगे ॥ ३४ ॥

1 शेषं—पूर्वमनुक्तं । (गो०)

तस्य विक्रमसंपन्नाः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
[1]मनः सङ्कल्पसंपाता निदेशे हरयः स्थिताः ॥ ३५ ॥

उनकी आज्ञा में रहने वाले वानर लोग बड़े शूर, बड़े विक्रमी और मन के समान शीघ्रगामी हैं ॥ ३५ ॥

येषां नोपरि नाधस्तान्न तिर्यक्सज्जते गतिः ।
न च कर्मसु सीदन्ति महत्स्वमिततेजसः ॥ ३६ ॥

वे सब ऊपर नीचे, आड़े, तिरछे सब ओर जा सकते हैं। वे अतुल तेजसम्पन्न वानरगण बड़े बड़े काम सहज ही में कर डालते हैं ॥ ३६ ॥

असकृत्तैर्महोत्साहैः ससागरधराधरा ।
प्रदक्षिणीकृता भूमिर्वायुमार्गानुसारिभिः ॥ ३७ ॥

उन महोत्साही वानरों ने आकाशमार्ग से चल कर कितनी ही वार इस ससागरा और पर्वतों सहित पृथिवी की परिक्रमा कर डाली है ॥ ३७ ॥

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः ।
मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसन्निधौ ॥ ३८ ॥

सुग्रीव के पास मुझसे बढ़ कर और मेरे समान ही सब वानर हैं। मुझसे हेटा वानर तो वहाँ कोई है ही नहीं ॥ ३८ ॥

अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः ।
न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ॥ ३९ ॥

---

१ मनः सङ्कल्पसंपाताः—मनोव्यापारतुल्यगमनाः । (गो०)

जब मैं ही यहाँ आगया, तब उन महाबलवान् वानरों का तो कहना ही क्या है। ऐसे कामों में अर्थात् दूत बना कर मामूली लोग ही भेजे जाते हैं, प्रधान नहीं ॥ ३९ ॥

तदलं परितापेन देवि शोको व्यपैतु ते ।
एकोत्पातेन ते लङ्कामेष्यन्ति हरियूथपाः ॥ ४० ॥

हे देवी! इस बात के लिये तुम चिन्ता मत करो और शोक त्याग दो। वे वानरयूथपति एक ही छलांग में लङ्का में आ जायँगे ॥ ४० ॥

मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।
त्वत्सकाशं महासत्त्वौ नृसिंहावागमिष्यतः ॥ ४१ ॥

चन्द्र और सूर्य के समान वे महाबलवान और पुरुषसिंह दोनों भाई मेरी पीठ पर सवार हो तुम्हारे पास आवेंगे ॥ ४१ ॥

तौ हि वीरौ नरवरौ सहितौ रामलक्ष्मणौ ।
आगम्य नगरीं लङ्कां सायकैर्विधमिष्यतः ॥ ४२ ॥

वे दोनों पुरुषोत्तम वीरवर श्रीराम और लक्ष्मण एक साथ लङ्का में आकर इस लङ्कापुरी को तहस नहस कर डालेंगे ॥ ४२ ॥

सगणं रावणं हत्वा राघवो रघुनन्दनः ।
त्वामादाय वरारोहे स्वपुरं प्रतियास्यति ॥ ४३ ॥

हे सुन्दरी! रघुनन्दन श्रीरामचन्द्र सपरिवार रावण को मार, और तुमको ले अयोध्या को जायँगे ॥ ४३ ॥

तदाश्वसिहि भद्रं ते भव त्वं कालकाङ्क्षिणी ।
न चिराद्द्रक्ष्यसे रामं प्रज्वलन्तमिवानलम् ॥ ४४ ॥

हे सीते! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम धीरज धरो और समय की प्रतीक्षा करो। तुम बहुत शीघ्र प्रज्वलित अग्नि की तरह तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी को देखोगी ॥ ४४ ॥

निहते राक्षसेन्द्रेऽस्मिन्सपुत्रामात्यबान्धवे ।
त्वं समेष्यसि रामेण शशाङ्केनेव रोहिणी ॥ ४५ ॥

पुत्रों, मन्त्रियों और बन्धुबान्धव सहित रावण के मारे जाने पर तुम उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र से मिलोगी जिस प्रकार रोहिणी, चन्द्रमा से मिलती है ॥ ४५ ॥

क्षिप्रं त्वं देवि शोकस्य पारं यास्यसि मैथिलि ।
रावणं चैव रामेण निहतं द्रक्ष्यसेऽचिरात् ॥ ४६ ॥

हे मैथिली देवी! तुम बहुत शीघ्र इस शोकसागर के पार होगी और बहुत शीघ्र तुम श्रीराम द्वारा रावण का मारा जाना देखोगी ॥ ४६ ॥

एवमाश्वास्य वैदेहीं हनुमान्मारुतात्मजः ।
गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीं पुनरब्रवीत् ॥ ४७ ॥

पवननन्दन हनुमान जी इस प्रकार सीता को धीरज बँधा और लौटने का विचार कर, सीता से पुनः बोले ॥ ४७ ॥

तमरिघ्नं कृतात्मानं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ।
लक्ष्मणं च धनुष्पाणिं लङ्काद्वारमुपस्थितम् ॥ ४८ ॥

हे देवी! तुम हाथ में धनुष लिये हुए उन शत्रुहन्ता विजयी श्रीरामचन्द्र जी तथा लक्ष्मण जी को बहुत शीघ्र लङ्का के द्वार पर आया हुआ देखोगी ॥ ४८ ॥

नखदंष्ट्रायुधान्वीरान्सिंहशार्दूलविक्रमान् ।
वानरान्वारणेन्द्राभान्क्षिप्रं द्रक्ष्यसि सङ्गतान् ॥ ४९ ॥

तुम लङ्का में एकत्र हुए, नखों और दाँतों से लड़ने वाले सिंह और शार्दूल के समान विक्रमी और हाथियों के समान विशाल शरीरधारी वीर वानरों को भी शीघ्र देखोगी ॥ ४९ ॥

शैलाम्बुदनिकाशानां लङ्कामलयसानुषु ।
नर्दतां *कपिमुख्यानामचिराच्छ्रोष्यसि स्वनम् ॥ ५० ॥

पर्वत और मेघ के समान बड़े बड़े शरीरधारी और लङ्का के इस मलयाचल पर गर्जना करते हुए वानरों के शब्द को तुम बहुत जल्द सुनोगी ॥ ५० ॥

स तु मर्मणि घोरेण ताडितो मन्मथेषुणा ।
न शर्म लभते रामः सिंहार्दित इव द्विपः ॥ ५१ ॥

हे देवी ! श्रीरामचन्द्र जी आपके वियोग में कामदेव के बाणों से पीड़ित हो, सिंह द्वारा घायल हाथी की तरह घड़ी भर भी चैन नहीं पाते ॥ ५१ ॥

मा रुदो देवि शोकेन मा भूत्ते †मनसोऽप्रियम् ।
शचीव पत्या शक्रेण भर्त्रा नाथवती ह्यसि ॥ ५२ ॥

हे देवी ! न तो तुम अब रुदन करो न दुःखी हो और न अब किसी बात से डरो । तुम शची की तरह इन्द्र तुल्य अपने पति से मिलोगी ॥ ५२ ॥

---

* पाठान्तरे—"कपिमुख्यानामार्ये यूथान्यनेकशः ।" † पाठान्तरे—"मनसोऽप्रियम् ।"

रामाद्विशिष्टः कोऽन्योऽस्ति कश्चित्सौमित्रिणा समः ।
अग्निमारुतकल्पौ तौ भ्रातरौ तव संश्रयौ ॥ ५३ ॥

ज़रा विचारो तो श्रीरामचन्द्र जी से बढ़ कर और लक्ष्मण जी के समान जगत् में और है कौन ! सो वे दोनों भाई, जो अग्नि और पवन के समान हैं, तुम्हारे अवलंब हैं ॥ ५३ ॥

नास्मिंश्चिरं वत्स्यसि देवि देशे
रक्षोगणैरध्युषितेऽतिरौद्रे ।
न ते चिरादागमनं प्रियस्य
क्षमस्व मत्सङ्गमकालमात्रम् ॥ ५४ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे देवी ! तुम इस राक्षसों की पुरी में, जो अत्यन्त भयङ्कर है ; बहुत दिनों अब न रहोगी और न तुम्हारे प्यारे पति के यहाँ आने ही में अब विलम्ब है । बस तुम तब तक प्रतीक्षा करो ; जब तक मैं श्रीरामचन्द्र से जा कर मिलूँ ॥ ५४ ॥

सुन्दरकाण्ड का उनतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चत्वारिंशः सर्गः

—*—

श्रुत्वा तु वचनं तस्य वायुसूनोर्महात्मनः ।
उवाचात्महितं वाक्यं सीता सुरसुतोपमा ॥ १ ॥

महात्मा पवननन्दन के वचन सुन, देवकन्या के समान सीता अपने मतलब की बात बोलीं ॥ १ ॥

त्वां दृष्ट्वा प्रियवक्तारं संप्रहृष्यामि वानर ।
अर्धसञ्जातसस्येव वृष्टिं प्राप्य वसुन्धरा ॥ २ ॥

हे वानर! तुझ प्यारे वचन बोलने वाले को देख, मुझे वैसा ही हर्ष प्राप्त हुआ है; जैसा कि, आधे उगे धान्य से युक्त पृथिवी को जलवृष्टि से होता है ॥ २ ॥

यथा तं पुरुषव्याघ्रं गात्रैः शोकाभिकर्शितैः ।
संस्पृशेयं [1]सकामाऽहं तथा कुरु दयां मयि ॥ ३ ॥

तुम मेरे ऊपर दया कर के ऐसा करना कि, जिससे उत्कट इच्छा रखने वाली मैं, शोककर्षित उन पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी से मिल भेंट सकूँ ॥ ३ ॥

अभिज्ञानं च रामस्य दद्या हरिगणोत्तम ।
क्षिप्तामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशातनीम् ॥ ४ ॥
मनःशिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः ।
त्वया प्रनष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

हे वानरोत्तम! तुम श्रीरामचन्द्र जी को उस काक की आँख फोड़ने वाली पहचान अवश्य बतला देना और यह कह देना कि, जब एक बार मेरा तिलक मिट गया था; तब तुमने मेरे गालों पर मैनसिल का तिलक लगा दिया था सो इसका भी स्मरण करो ॥ ४ ॥ ५ ॥

स वीर्यवान्कथं सीतां हृतां समनुमन्यसे ।
वसन्तीं रक्षसां मध्ये महेन्द्रवरुणोपमः ॥ ६ ॥

---

१ सकामाहं—उत्कटेच्छावती । (शि०)

तुम इन्द्र और वरुण के समान बलवान हो कर भी राक्षसों के बीच रहने वाली सीता की उपेक्षा क्यों करते हो? ॥ ६ ॥

एष चूडामणिर्दिव्यो मया सुपरिरक्षितः ।
एतं दृष्ट्वा प्रहृष्यामि व्यसने त्वामिवानघ ॥ ७ ॥

देखो, यह दिव्य चूड़ामणि, मैंने अपने पास बड़े यत्न से रख छोड़ी थी और इसे जब देखती; तब इस दुःख में भी, मुझे वैसा ही आनन्द प्राप्त होता था: जैसा तुम्हें प्रत्यक्ष देखने से होता है ॥ ७ ॥

एष निर्यातितः श्रीमान्मया ते वारिसंभवः ।
अतः परं न शक्ष्यामि जीवितुं शोकलालसा ॥ ८ ॥

अब मैं इस जल से उत्पन्न मणि को तुम्हारे पास चिन्हानी के रूप में भेजती हूँ। इसको तुम्हारे पास भेज मैं दुःखियारी न जी सकूँगी ॥ ८ ॥

असह्यानि च दुःखानि वाचश्च हृदयच्छिदः ।
राक्षसीनां सुघोराणां त्वत्कृते मर्षयाम्यहम् ॥ ९ ॥

यहाँ मुझे असह्य दुःख झेलने पड़ते हैं और भयङ्कर राक्षसियों के मर्मभेदी वचन सुनने पड़ते हैं। ये सब तुम्हारे लिये ही मैं सह रही हूँ ॥ ९ ॥

धारयिष्यामि मासं तु जीवितं शत्रुसूदन ।
मासादूर्ध्वं न जीविष्ये त्वया हीना नृपात्मज ॥ १० ॥

हे शत्रुसूदन! अब से एक मास तक और मैं तुम्हारी बाट जोहती हुई जीवित रहूँगी। हे राजकुमार! एक मास बीतने बाद तुम्हारे यदि दर्शन न हुए; तो मैं प्राण त्याग दूँगी ॥ १० ॥

घोरो राक्षसराजोऽयं दृष्टिश्च न सुखा मयि ।
त्वां च श्रुत्वा विपज्जन्तं न जीवेयमहं क्षणम् ॥ ११ ॥

राक्षसराज रावण अत्यन्त निठुर है । मुझे इसकी सूरत देखना भी अच्छा नहीं लगता । यदि तुमने यहाँ आने में विलम्ब किया और यह बात मैंने सुनी, तो एक क्षण भी मैं जीवित न रहूँगी ॥ ११ ॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रु भाषितम् ।
अथाऽब्रवीन्महातेजा हनुमान्मारुतात्मजः ॥ १२ ॥

जानकी जी के रुदनपूर्वक कहे हुए इन वचनों को सुन, महा तेजस्वी पवननन्दन हनुमान जी कहने लगे ॥ १२ ॥

त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे ।
रामे दुःखाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते ॥ १३ ॥

हे देवी ! मैं शपथपूर्वक सत्य सत्य कहता हूँ कि, श्रीरामचन्द्र जी तुम्हारे वियोग-जन्य-शोक से उदास हैं और उनकी दशा देख लक्ष्मण भी सन्तप्त रहा करते हैं ॥ १३ ॥

कथंचिद्भवती दृष्टा न कालः परिशोचितुम् ।
इमं मुहूर्तं दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि भामिनि ॥ १४ ॥

संयोगवश मैंने किसी तरह अब तुमको देख पाया है । सो अब हे भामिनी ! अब तुम शीघ्र ही इन दुःखों का अन्त देखोगी अर्थात् दुखों से छूट जाओगी ॥ १४ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ राजपुत्रावरिन्दमौ ।
त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लङ्कां भस्मीकरिष्यतः ॥ १५ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह, शत्रुहन्ता राजकुमार तुम्हारे देखने के लिये उत्साहित हो, लङ्का को जला कर भस्म कर डालेंगे ॥ १५ ॥

हत्वा तु समरे क्रूरं रावणं सहबान्धवम् ।
राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रापयिष्यतः ॥ १६ ॥

हे विशालाक्षी ! बन्धुबान्धव सहित निष्ठुर रावण को मार, श्रीरामचन्द्र जी तुमको अयोध्या ले जायँगे ॥ १६ ॥

यत्तु रामो विजानीयादभिज्ञानमनिन्दिते ।
प्रीतिसञ्जननं तस्य भूयस्त्वं दातुमर्हसि ॥ १७ ॥

हे सुन्दरी ! जिस चिन्हानी को श्रीरामचन्द्र जी चीन्हते हों और जिसको देखते ही उनके मन में विश्वास उत्पन्न हो, मुझे ऐसी चिन्हानी कोई और दो ॥ १७ ॥

साब्रवीद्दत्तमेवेति मयाभिज्ञानमुत्तमम् ।
एतदेव हि रामस्य दृष्ट्वा मत्केशभूषणम् ॥ १८ ॥

इस पर सीता जी कहने लगी, हे वीर ! मैंने तुमको यह श्रेष्ठ चूड़ामणि चिन्हानी दी है, जिसको देख, ॥ १८ ॥

श्रद्धेयं हनुमन्वाक्यं तव वीर भविष्यति ।
स तं मणिवरं गृह्य श्रीमान्प्लवगसत्तमः ॥ १९ ॥

हे वीर ! श्रीरामचन्द्र जो तुम्हारे वचनों पर विश्वास कर लेंगे । तव शोभायमान वानरश्रेष्ठ हनुमान जी उस मणिश्रेष्ठ को ले, ॥ १९ ॥

प्रणम्य शिरसा देवीं गमनायोपचक्रमे ।
तमुत्पातकृतोत्साहमवेक्ष्य हरिपुङ्गवम् ॥ २० ॥

वर्धमानं महावेगमुवाच जनकात्मजा ।
अश्रुपूर्णमुखी दीना बाष्पगद्गदया गिरा ॥ २१ ॥

और जानकी जी को सीस नवा कर प्रणाम कर, वहाँ से चलने को तैयार हुए। हनुमान जी को छलांग मारने के लिये तैयार और बड़ी तेज़ी के साथ शरीर को बढ़ाते हुए देख, सीता जी आँखों में आँसू भर गद्गद कण्ठ से बोलीं ॥ २० ॥ २१ ॥

हनुमन्सिंहसङ्काशौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
सुग्रीवं च सहामात्यं सर्वान्ब्रूया ह्यनामयम् ॥ २२ ॥

हे हनुमान! सिंह समान पराक्रमी दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण से और मन्त्रियों सहित सुग्रीवादि सब वानरों से मेरा कुशल वृत्तान्त कह देना ॥ २२ ॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः ।
अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधात्त्वं समाधातुमर्हसि ॥ २३ ॥

और जैसे महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी मुझे इस शोकसागर से उबारें, वैसे ही तुम उनको समझा देना ॥ २३ ॥

इमं च तीव्रं मम शोकवेगं
रक्षोभिरेभिः परिभर्त्सनं च ।
ब्रूयास्तु रामस्य गतः समीपं
शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर ॥ २४ ॥

हे कपिश्रेष्ठ! मेरे इस तीव्र शोक के वेग का तथा राक्षसों द्वारा मेरी दुर्दशा का वृतान्त तुम श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर कह

देना। मैं आशीर्वाद देती हूँ कि, तुम्हारी यात्रा निर्विघ्न पूरी हो॥ २४॥

स राजपुत्र्या प्रतिवेदितार्थः
कपिः कृतार्थः परिहृष्टचेताः।
अल्पावशेषं प्रसमीक्ष्य कार्यं
दिशं ह्युदीचीं मनसा जगाम॥ २५॥

इति चत्वारिंशः सर्गः॥

श्री हनुमान जी राजपुत्री सीता का समस्त हाल जान लेने से, सफलमनोरथ होने के कारण परम प्रसन्न हुए और थोड़े से बचे हुए कार्य के विषय में विचार करते हुए मन द्वारा वे उत्तर दिशा को प्रस्थानित हो गये॥ २५॥

सुन्दरकाण्ड का चालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—※—

स च वाग्भिः प्रशस्ताभिर्गमिष्यन्पूजितस्तया।
तस्माद्देशादपक्रम्य चिन्तयामास वानरः॥ १॥

वहाँ से चलने के समय सीता जी की सुन्दर वचनावली द्वारा सम्मानित हो, गमन करने की इच्छा से, हनुमान जी उस स्थान से हट कर और दूसरे स्थान पर जा कर विचारने लगे॥ १॥

अल्पशेषमिदं कार्यं दृष्टेयमसितेक्षणा ।
त्रीनुपायानतिक्रम्य चतुर्थ इह *दृश्यते ॥ २ ॥

इन कृष्ण-नेत्र-वाली जानकी जी का तो दर्शन मिल गया; किन्तु एक छोटा कार्य और करना रह गया है। सो उसके करने के लिये पहिले तीन उपायों (अर्थात् साम, दान और भेद) से तो काम हो नहीं सकता, हाँ चौथे उपाय (अर्थात् दण्ड) से काम होता देख पड़ता है ॥ २ ॥

न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते
न दानमर्थोपचितेषु युज्यते ।
न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः
पराक्रमस्त्वेव ममेह रोचते ॥ ३ ॥

ये राक्षस बड़े क्रूर स्वभाव वाले हैं—अतः खुशामद बरामद से यहाँ काम नहीं चल सकता। उनके पास धन सम्पत्ति की कमी नहीं; अतः उनको धन सम्पत्ति देने का लालच दिखाना भी व्यर्थ ही है। बलदर्पित पुरुषों में भेद डाल कर भी काम निकालना कठिन है। अतः शेष कार्य को करने के लिये (दण्डनीति) पराक्रम प्रकाश करना ही मुझे ठीक जान पड़ता है ॥ ३ ॥

न चास्य कार्यस्य पराक्रमादृते
विनिश्चयः कश्चिदिहोपपद्यते ।
हतप्रवीरास्तु रणे हि राक्षसाः
कथंचिदीयुर्यदिहाद्य मार्दवम् ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—"लक्ष्यते ।"

दूसरे के बल की जाँच करने के लिये स्वपराक्रम प्रकट करने के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई उपाय कार्यसिद्धि करने वाला नहीं देख पड़ता। जब राक्षसों के पक्ष के कतिपय वीर मारे जायँगे; तब सम्भव है, राक्षस आगे के युद्ध में कुछ ढीले पड़ जाँय ॥ ४ ॥

कार्ये कर्मणि निर्दिष्टे यो बहून्यपि साधयेत् ।
पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति ॥ ५ ॥

मुख्य कार्य को प्रथम कर के और मुख्य कार्य को हानि न पहुँचाते हुए जो दूत और भी कई एक कार्य पूरे कर डाले तो वही दूत वास्तव में कार्य करने के योग्य कहा जा सकता है ॥ ५ ॥

न ह्येकः साधको हेतुः स्वल्पस्यापीह कर्मणः ।
यो ह्यर्थं बहुधा वेद स समर्थोऽर्थसाधने ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति छोटे से किसी एक काम को बड़े प्रयत्न से पूरा करता है, वह कार्यसाधक नहीं कहा जा सकता। किन्तु जो सामान्य प्रयास से अपने कार्य को अनेक प्रकार से पूरा कर डाले, उसीको कार्य करने के योग्य कहना चाहिये ॥ ६ ॥

इहैव तावत्कृतनिश्चयो ह्यहं
यदि व्रजेयं प्लवगेश्वरालयम् ।
परात्मसंमर्दविशेषतत्त्ववित्
ततः कृतं स्यान्मम भर्तृशासनम् ॥ ७ ॥

यद्यपि मैंने अब सुग्रीव के समीप जाने ही का निश्चय कर लिया है; तथापि शत्रु के साथ जब मेरा युद्ध होगा; तब अपने और शत्रु के बलाबल का ठीक ठीक विचार कर लूँगा। तदनन्तर यहाँ से चलूँगा; तभी तो स्वामी के आदेश का यथावत् पालन हो सकेगा ॥ ७ ॥

कथं नु खल्वद्य भवेत्सुखागतं
प्रसह्य युद्धं मम राक्षसैः सह ।
तथैव खल्वात्मबलं च सारवत्
संमानयेन्मां च रणे दशाननः ॥ ८ ॥

इस समय क्या करूँ जिससे राक्षसों के साथ सहज में मेरा युद्ध ठन जाय और क्योंकर रावण मुझको रणक्षेत्र में खड़ा देख, अपनी सेना की और मेरे बल की उत्कृष्टता अपकृष्टता जान ले ॥ ८ ॥

ततः समासाद्य रणे दशाननं
समन्त्रिवर्गं सबलप्रयायिनम् ।
हृदि स्थितं तस्य मतं बलं च वै
सुखेन मत्वाऽहमितः पुनर्व्रजे ॥ ९ ॥

मन्त्री, सेना तथा अपने सुहृदों के सहित रावण को युद्ध में पा कर अभी उसके हृद्गत भावों को तथा उसके बल को जान कर मैं फिर सुखपूर्वक यहाँ से रवाना हो जाऊँगा ॥ ९ ॥

इदमस्य नृशंसस्य नन्दनोपममुत्तमम् ।
वनं नेत्रमनःकान्तं नानाद्रुमलतायुतम् ॥ १० ॥

इदं विध्वंसयिष्यामि शुष्कं वनमिवानलः ।
अस्मिन्भग्ने ततः कोपं करिष्यति दशाननः ॥ ११ ॥

(तदनन्तर हनुमान जी मन ही मन कहने लगे कि, सब से सहज उपाय यह है कि,) इस निठुर रावण के नन्दनकानन तुल्य, नेत्रों और मन को सुखी करने वाले, नाना लताओं और विविध प्रकार के वृक्षों से भरे पूरे अशोक वन को, मैं वैसे ही नष्ट कर डालूँ

जैसे सूखे वन को अग्निदेव नष्ट करते हैं। इस वन के नष्ट होने पर रावण अवश्य ही क्रुद्ध होगा ॥ १० ॥ ११ ॥

ततो महत्साश्वमहारथद्विपं
बलं समादेक्ष्यति राक्षसाधिपः ।
त्रिशूलकालायसपट्टसायुधं
ततो महद्युद्धमिदं भविष्यति ॥ १२ ॥

तब वह घोड़े, रथ और हाथियों सहित, त्रिशूल, खड्ग पट्टा धारिणी अपनी बड़ी सेना मुझसे लड़ने के लिये भेजेगा। तब बड़ी भारी लड़ाई होगी ॥ १२ ॥

अहं तु तैः संयति चण्डविक्रमैः
समेत्य रक्षोभिरसह्यविक्रमः ।
निहत्य तद्रावणचोदितं बलं
सुखं गमिष्यामि कपीश्वरालयम् ॥ १३ ॥

मैं भी उन प्रचण्ड पराक्रमी राक्षसों का भयङ्कर पराक्रम के साथ सामना करूँगा और युद्ध कर के रावण की भेजी हुई समस्त सेना का नाश कर किष्किन्धापुरी को मज़े में चला जाऊँगा ॥ १३ ॥

ततो मारुतवत्क्रुद्धो मारुतिर्भीमविक्रमः ।
ऊरुवेगेन महता द्रुमान्क्षेप्तुमथारभत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर भयङ्कर विक्रमशाली पवननन्दन हनुमान जी क्रुद्ध हो पवन की तरह बड़े वेग से अशोकवन के वृक्षों को उखाड़ने लगे ॥ १४ ॥

ततस्तु हनुमान्वीरो बभञ्ज प्रमदावनम्[1] ।
मत्तद्विजसमाघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम् ॥ १५ ॥

देखते देखते, वीर हनुमान ने मतवाले पक्षियों से कूजित और विविध प्रकार के वृक्षों से सुशोभित रावण का वह अन्तःपुर वन विध्वंस कर डाला ॥ १५ ॥

तद्वनं मथितैर्वृक्षैर्भिन्नैश्च सलिलाशयैः ।
चूर्णितैः पर्वताग्रैश्च बभूवाप्रियदर्शनम् ॥ १६ ॥

वह वन वृक्षों के गिर जाने, जलाशयों के नष्ट हो जाने तथा पर्वतशिखरों के टूट जाने से बहुत ही बुरा देख पड़ने लगा ॥ १६ ॥

नानाशकुन्तविरुतैः प्रभिन्नैः सलिलाशयैः ।
ताम्रैः किसलयैः क्लान्तैः क्लान्तद्रुमलतायुतम् ॥ १७ ॥

विविध प्रकार के जलचर पक्षियों के तितर बितर हो जाने से, पुष्करिणियों के टूट जाने से, लाल लाल नवीन पत्तों के मुरझाने से तथा लता सहित वृक्षों के क्लान्त हो जाने से ॥ १७ ॥

न बभौ तद्वनं तत्र दावानलहतं यथा ।
व्याकुलावरणा रेजुर्विह्वला इव ता लताः ॥ १८ ॥

दावानल से भस्म हुए वन की तरह वह उपवन नष्ट हो गया । ओढ़नी खसकी हुई व्याकुल स्त्रियों की तरह, लताओं की दशा हो गई ॥ १८ ॥

---

1 प्रमदावनम्—अन्तःपुरवनम् । (गो०)

लतागृहैश्चित्रगृहैश्च नाशितैः
महोरगैर्व्यालमृगैश्च निर्धुतैः ।
शिलागृहैरुन्मथितैस्तथा गृहैः
प्रनष्टरूपं तदभून्महद्वनम् ॥ १९ ॥

लताग्रह, चित्रग्रह सब ही नष्ट हो गये। वहाँ के सिंह शार्दूल, मृग तथा पक्षी पीड़ित हो कोलाहल करने लगे। वहाँ जो पत्थर के बने घर थे उनको भी हनुमान जी ने गिरा दिया। उस बड़े भारी उपवन की सुन्दरता बिल्कुल नष्टभ्रष्ट हो गयी ॥ १९ ॥

सा विह्वलाशोकलताप्रताना
वनस्थली शोकलताप्रताना ।
जाता दशास्यप्रमदावनस्य
कपेर्बलाद्धि प्रमदावनस्य ॥ २० ॥

हनुमान जी ने वहाँ के अशोक लतामण्डपों को नष्ट कर, उस उपवन की भूमि को शोभाहीन कर दिया। अपने बल से राक्षसराज के उस प्रमदा (अन्तःपुर वन) को हनुमान जी ने शोक-वन बना डाला ॥ २० ॥

स तस्य कृत्वाऽर्थपतेर्महाकपिः
महद्व्यलीकं मनसो महात्मनः ।
युयुत्सुरेको बहुभिर्महाबलैः
श्रिया ज्वलंस्तोरणमास्थितः कपिः ॥ २१ ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

महाबलवान हनुमान जी रावण के मन को व्यथा पहुँचाने वाले (अशोकवन का नाश) कार्य को कर, अथवा रावण की बड़ी भारी हानि कर, अनेक राक्षसों के साथ युद्ध करने की कामना से, उस बाग़ के बड़े फाटक के ऊपर जा बैठे ॥ २१ ॥

सुन्दरकाण्ड का एकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—※—

ततः पक्षिनिनादेन वृक्षभङ्गस्वनेन च ।
बभूवुस्त्राससंभ्रान्ताः सर्वे लङ्कानिवासिनः ॥ १ ॥

अशोकवन के पक्षियों के कोलाहल को तथा वहाँ के वृक्षों के टूटने का शब्द सुन लङ्का के रहने वाले सब लोग बहुत डर गये ॥ १ ॥

विद्रुताश्च भयत्रस्ता विनेदुर्मृगपक्षिणः ।
रक्षसां च निमित्तानि क्रूराणि प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥

उस अशोक वन के मृग और पक्षी डर कर भागे और राक्षसों को विविध प्रकार के बुरे बुरे शकुन होने लगे ॥ २ ॥

ततो गतायां निद्रायां राक्षस्यो विकृताननाः ।
तद्वनं ददृशुर्भग्नं तं च वीरं महाकपिम् ॥ ३ ॥

इतने में वे भयङ्कर आकृति वाली राक्षसियाँ जो भुराये के समय सो गयी थीं, जागीं और उस बन को सब प्रकार से ध्वस्त देखा और वीर हनुमान को भी वहीं देखा ॥ ३ ॥

स तां दृष्ट्वा महाबाहुर्महासत्त्वो महाबलः ।
चकार सुमहद्रूपं राक्षसीनां भयावहम् ॥ ४ ॥

महाबलवान हनुमान जी ने राक्षसियों को देख, उनको डराने के लिये भयङ्कर रूप धारण कर लिया ॥ ४ ॥

ततस्तं गिरिसङ्काशमतिकायं महाबलम् ।
राक्षस्यो वानरं दृष्ट्वा पप्रच्छुर्जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर उन पर्वताकार महाविशाल शरीरधारी महाबलवान हनुमान जी को देख, राक्षसियां जनकनन्दिनी से पूँछने लगीं ॥ ५ ॥

कोऽयं कस्य कुतो वाऽयं किंनिमित्तमिहागतः ।
कथं त्वया सहानेन संवादः कृत इत्युत ॥ ६ ॥

हे सीते! यह कौन है, किसका भेजा हुआ आया है, कहाँ से आया है और किस लिये यहाँ आया है, तुमने इससे क्यों और क्या बातचीत की ॥ ६ ॥

आचक्ष्व नो विशालाक्षि मा भूत्ते सुभगे भयम् ।
संवादमसितापाङ्गे त्वया किं कृतवानयम् ॥ ७ ॥

हे विशालाक्षी! डरो मत और हमको बतला दो कि, तुमसे इसने क्या क्या कहा है ॥ ७ ॥

अथाब्रवीत्तदा साध्वी सीता सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रक्षसां भीमरूपाणां विज्ञाने मम का गतिः ॥ ८ ॥

इस पर सती एवं सर्वाङ्गसुन्दरी सीता ने उनको उत्तर देते हुए कहा—कामरूपी भयङ्कर राक्षसों की माया भला मैं क्या जान सकती हूँ ॥ ८ ॥

यूयमेवाभिजानीत योऽयं यद्वा करिष्यति।
अहिरेव ह्यहेः पादान्विजानाति न संशयः ॥ ९ ॥

यह तो तुम्हीं जान सकती हो कि, यह कौन है और क्या करने वाला है। क्योंकि निस्सन्देह साँप के पैर को साँप ही पहिचान सकता है ॥ ६ ॥

अहमप्यस्य भीताऽस्मि नैनं जानामि कोन्वयम्।
वेद्मि राक्षसमेवैनं कामरूपिणमागतम् ॥ १० ॥

मैं स्वयं बहुत भयभीत हो रही हूँ। मैं क्या जानूँ यह कौन है, किन्तु अनुमान से मैं तो यही जानती हूँ कि, यह कोई कामरूपी राक्षस है ॥ १० ॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा राक्षस्यो विद्रुता दिशः।
स्थिताः काश्चिद्गताः काश्चिद्रावणाय निवेदितुम् ॥११॥

सीता जी की बातें सुन राक्षसियां चारों ओर भाग खड़ी हुईं। कोई तो भयभीत हो कुछ दूर वहाँ से हट कर खड़ी हो गयी और कई एक यह हाल कहने के लिये रावण के पास चली गयीं ॥ ११ ॥

रावणस्य समीपे तु राक्षस्यो विकृताननाः।
विरूपं वानरं भीममाख्यातुमुपचक्रमुः ॥ १२ ॥

उन भयङ्कर आकृति वाली राक्षसियों ने रावण के पास जाकर विकराल रूपधारी वानर के आने का संवाद कहा ॥ १२ ॥

अशोकवनिकामध्ये राजन्भीमवपुः कपिः।
सीतया कृतसंवादस्तिष्ठत्यमितविक्रमः ॥ १३ ॥

वे कहने लगीं—हे राजन्! अशोक वाटिका में एक भयङ्कर रूप धारी वानर आया हुआ है। वह अमित बलसम्पन्न है। उसने सीता जी से बातचीत भी की और अब भी वह वहीं है॥ १३॥

न च तं जानकी सीता हरिं हरिणलोचना।
अस्माभिर्बहुधा पृष्टा निवेदयितुमिच्छति॥ १४॥

हम लोगों ने उस मृगनयनी सीता से बार बार पूँछा कि, तुम्हारी और वानर की क्या बातचीत हुई, किन्तु वह उसको बतलाना नहीं चाहती॥ १४॥

वासवस्य भवेद्दूतो दूतो वैश्रवणस्य वा।
प्रेषितो वाऽपि रामेण सीतान्वेषणकाङ्क्षया॥ १५॥

हमारी समझ में तो वह सम्भवतः इन्द्र अथवा कुबेर का दूत है अथवा राम का भेजा हुआ दूत, सीता को खोजने के लिये आया है॥ १५॥

तेन त्वद्भुतरूपेण यत्तत्तव मनोहरम्।
नानामृगगणाकीर्णं प्रमृष्टं प्रमदावनम्॥ १६॥

हे महाराज! उस अद्भुत रूपधारी वानर ने तुम्हारे सुन्दर, अनेक पशु पक्षियों से सुशोभित प्रमदावन को नष्टभ्रष्ट कर डाला है॥ १६॥

न तत्र कश्चिदुद्देशो यस्तेन न विनाशितः।
यत्र सा जानकी सीता स तेन न विनाशितः॥ १७॥

उस वाटिका में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जो उसने नष्ट न कर डाला हो, परन्तु जहां पर सीता बैठी है? केवल उस स्थान को उसने बचा दिया है॥ १७॥

जानकीरक्षणार्थं वा श्रमाद्वा नोपलक्ष्यते ।
अथवा कः श्रमस्तस्य सैव तेनाभिरक्षिता ॥ १८ ॥

यह नहीं कहा जा सकता कि, ऐसा उसने जानकी की रक्षा करने के लिये किया है अथवा थक जाने के कारण उसने वह स्थान अछूता छोड़ दिया है अथवा वह थक तो क्या सकता है, हो न हो सीता की रक्षा के लिये ही उसने उस स्थान को छोड़ दिया है ॥ १८ ॥

चारुपल्लवपुष्पाढ्यं यं सीता स्वयमास्थिता ।
प्रवृद्धः शिंशुपावृक्षः स च तेनाभिरक्षितः ॥ १९ ॥

सीता जी जिस मनोहर पल्लवपत्रयुक्त शोभायमान विशाल शीशम के पेड़ के नीचे बैठी हैं, बस उसी पेड़ को उसने छोड़ दिया है ॥ १६ ॥

तस्योग्ररूपस्योग्र त्वं दण्डमाज्ञातुमर्हसि ।
सीता संभाषिता येन तद्वनं च विनाशितम् ॥ २० ॥

हे राजन् ! तुम उस उग्ररूपी वानर को उसकी इस उद्दण्डता के लिये दण्ड दो क्योंकि उसने एक तो सीता से बातचीत की है, दूसरे अशोकवन नष्ट किया है ॥ २० ॥

मनःपरिगृहीतां तां तव रक्षोगणेश्वर ।
कः सीतामभिभाषेत यो न स्यात्त्यक्तजीवितः ॥ २१ ॥

हे राक्षसेश्वर ! आपकी मनोनीता सीता से बातचीत कर कौन जीता जागता रह सकता है ? ॥ २१ ॥

राक्षसीनां वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
हुताग्निरिव जज्वाल कोपसंवर्तितेक्षणः ॥ २२ ॥

राक्षसियों के इन वचनों को सुन कर, राक्षसराज रावण हुताग्नि की तरह प्रज्ज्वलित हो उठा और मारे क्रोध के उसकी आँखे बदल गयीं ॥ २२ ॥

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नास्रबिन्दवः ।
दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः ॥ २३ ॥

मारे क्रोध के उसके नेत्रों से आँसू टपकने लगे, मानों जलते हुए दो दीपकों में से जलते हुए तेल की बूँदे टपक पड़ी हों ॥२३॥

आत्मनः सदृशाञ्शूरान्किङ्करान्नाम राक्षसान् ।
व्यादिदेश महातेजा निग्रहार्थं हनूमतः ॥ २४ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी रावण ने अपने समान शूर किङ्कर नाम राक्षसों को, हनुमान जी के पकड़ने की आज्ञा दी ॥ २४ ॥

तेषामशीतिसाहस्रं किंकराणां तरस्विनाम् ।
निर्ययुर्भवनात्तस्मात्कूटमुद्गरपाणयः ॥ २५ ॥

उनमें से अस्सी हज़ार वेगवान किङ्कर कूट मुद्गरों (वे मुगदर जिनकी नोंकों पर लोहा लगा था) को हाथों में ले वहाँ से निकले ॥ २५ ॥

महोदरा महादंष्ट्रा घोररूपा महाबलाः ।
युद्धाभिमनसः सर्वे हनुमद्ग्रहणोन्मुखाः ॥ २६ ॥

उन सब के बड़े बड़े पेट थे। बड़े बड़े दाँत थे। अतः वे बड़े भयङ्कर देख पड़ते थे। वे महाबली राक्षस युद्ध के लिये तैयार हो, हनुमान को पकड़ने की कामना से चले ॥ २६ ॥

ते कपिं तं समासाद्य तोरणस्थमवस्थितम् ।
अभिपेतुर्महावेगाः पतङ्गा इव पावकम् ॥ २७ ॥

वे अशोकवन के तोरणद्वार पर, जहाँ हनुमान जी थे, जा पहुँचे। वे हनुमान जी पर ऐसे झपटे, जैसे पतंगे दीपक की लौ के ऊपर झपटते हैं ॥ २७ ॥

ते गदाभिर्विचित्राभिः परिघैः काञ्चनाङ्गदैः ।
आजघ्नुर्वानरश्रेष्ठं शरैश्चादित्यसन्निभैः ॥ २८ ॥

वे अद्भुत गदाओं और सोने के बंदों से भूषित परिघों और सूर्य की तरह चमचमाते पैने बाणों से कपि के ऊपर आक्रमण करने लगे ॥ २८ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः प्रासतोमरशक्तिभिः ।
परिवार्य हनूमन्तं सहसा तस्थुरग्रतः ॥ २९ ॥

उनमें से बहुत से मुगदर, पटा, प्रास (फरसा) और तोमर शस्त्रों को हाथ में ले, हनुमान जी को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये ॥ २९ ॥

हनुमानपि तेजस्वी श्रीमान्पर्वतसन्निभः ।
क्षितावाविध्य लाङ्गूलं ननाद च महास्वनम् ॥ ३० ॥

पर्वताकार विशाल शरीरधारी श्रीमान् हनुमान जी अपनी पूँछ को पृथिवी पर पटक बड़े ज़ोर से चिल्लाये ॥ ३० ॥

स भूत्वा सुमहाकायो हनुमान्मारुतात्मजः ।
धृष्टमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूरयन् ॥ ३१ ॥

पवननन्दन हनुमान जी ने विशाल शरीर धारण कर अपनी पूँछ को जो फटकारा तो उस फटकार का शब्द सारी लङ्का पुरी में सुनाई पड़ा ॥ ३१ ॥

तस्यास्फोटितशब्देन महता सानुनादिना ।
पेतुर्विहङ्गा गगनादुच्चैश्चेदमघोषयत् ॥ ३२ ॥

उनके उस भयङ्कर नाद और पूँछ फटकारने के शब्द से आकाश में उड़ते हुए पक्षी मूर्छित हो ज़मीन पर गिर पड़े । उस समय हनुमान जी गरज कर कहने लगे ॥ ३२ ॥

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ ३३ ॥

अति बलवान् श्रीरामचन्द्र जी की जै, महाबलवान लक्ष्मण जी की जै, श्रीरामचन्द्र द्वारा पालित सुग्रीव जी की जै ॥ ३३ ॥

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
हनुमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥ ३४ ॥

मैं उन कोसलपति श्रीरामचन्द्र जी का दास हूँ, जिनके लिये कोई काम कठिन नहीं है । मेरा नाम हनुमान है और युद्ध में शत्रुसैन्य का नाश करने वाला मैं पवन का पुत्र हूँ ॥ ३४ ॥

न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत् ।
शिलाभिस्तु प्रहरतः पादपैश्च पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

जब मैं चट्टानों और पेड़ों से बार बार प्रहार करने लगता हूँ, तब एक रावण तो क्या, सहस्रों रावण मेरा सामना (अथवा समानता) नहीं कर सकते ॥ ३५ ॥

अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम् ।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम् ॥ ३६ ॥

मैं समस्त राक्षसों के सामने लङ्कापुरी को ध्वंस कर और जनकनन्दिनी को प्रणाम कर तथा अपना काम पूरा कर चला जाऊँगा ॥ ३६ ॥

तस्य सन्नादशब्देन तेऽभवन्भयशङ्किताः ।
ददृशुश्च हनूमन्तं सन्ध्यामेघमिवोन्नतम् ॥ ३७ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी के इस सिंहनाद को सुन, राक्षस भय के मारे त्रस्त हो गये और सन्ध्याकालीन मेघ के समान हनुमान जी के रक्तवर्ण शरीर को देखने लगे ॥ ३७ ॥

स्वामिसन्देशनिःशङ्कास्ततस्ते राक्षसाः कपिम् ।
चित्रैः प्रहरणैर्भीमैरभिपेतुः ततस्ततः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर रावण की आज्ञा से निःशङ्क होकर वे राक्षस विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को लेकर चारों ओर से हनुमान जी के ऊपर टूट पड़े ॥ ३८ ॥

स तैः परिवृतः शूरैः सर्वतः स महाबलः ।
आससादायसं भीमं परिघं तोरणाश्रितम् ॥ ३९ ॥

जब हनुमान जी को उन शूर राक्षसों ने चारों ओर से घेर लिया, तब हनुमान जी ने तोरणद्वार से लोहे का एक बड़ा भारी बेड़ा निकाल लिया ॥ ३९ ॥

स तं परिघमादाय जघान च निशाचरान् ।
स पन्नगमिवादाय स्फुरन्तं विनतासुतः ॥ ४० ॥

विचचाराम्बरे वीरः परिगृह्य च मारुतिः ।
स हत्वा राक्षसान्वीरान्किङ्करान्मारुतात्मजः ।
युद्धकाङ्क्षी पुनर्वीरस्तोरणं समुपाश्रितः ॥ ४१ ॥

उस बेंड़े से वे उन राक्षसों को मारने लगे और विनतानन्दन गरुड़ जी जिस प्रकार फड़ फड़ाते सर्प को पकड़, आकाश में उड़ते हैं, उसी प्रकार हनुमान जी उस बेंड़े को लिये आकाश में पैंतरे बदलने लगे । पवननन्दन हनुमान जी उन वीर किङ्करों का संहार कर, फिर युद्ध की इच्छा से उसी तोरणद्वार पर जा बैठे ॥ ४० ॥ ४१ ॥

ततस्तस्माद्भयान्मुक्ताः कतिचित्तत्र राक्षसाः ।
निहतान्किंकरान्सर्वान्रावणाय न्यवेदयन् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर जो थोड़े से राक्षस मारे जाने से बच गये थे, उन्होंने रावण के पास जाकर कहा कि, किङ्कर नाम सब राक्षसों को कपि ने मार डाला ॥ ४२ ॥

स राक्षसानां निहतं महद्बलं
निशम्य राजा परिवृत्तलोचनः ।
समादिदेशाप्रतिमं पराक्रमे
प्रहस्तपुत्रं समरे सुदुर्जयम् ॥ ४३ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

राक्षसों की बड़ी सेना के मारे जाने का संवाद सुन, राक्षसराज रावण की त्योरी बदल गयी और हनुमान जी से लड़ने के लिये उसने प्रहस्त के दुर्जय और अमित पराक्रमी पुत्र को आज्ञा दी ॥ ४३ ॥

सुन्दरकाण्ड का बयालीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

——:०:——

ततः स किङ्करान्हत्वा हनुमान्ध्यानमास्थितः ।
वनं भग्नं मया [1]चैत्यप्रसादो न विनाशितः ॥ १ ॥

उन किङ्कर नाम राक्षसों का संहार कर, हनुमान जी सोचने लगे कि, मैंने यह अशोकवन तो नष्ट कर डाला; किन्तु यह देव-मन्दिर के आकार के महल को तो नष्ट किया ही नहीं ॥ १ ॥

तस्मात्प्रासादमप्येवमिमं विध्वंसयाम्यहम् ।
इति संचिन्त्य मनसा हनुमान्दर्शयन्बलम् ॥ २ ॥

अतः इस प्रासाद को भी लगे हाथ उजाड़ डालूँ । इस प्रकार मन में सोच विचार हनुमान जी ने अपना बल प्रकट किया ॥ २ ॥

चैत्यप्रसादमाप्लुत्य मेरुशृङ्गमिवोन्नतम् ।
आरुरोह हरिश्रेष्ठो हनुमान्मारुतात्मजः ॥ ३ ॥

कपिश्रेष्ठ पवननन्दन हनुमान जी एक ही छलांग में मेरुपर्वत के शिखर की तरह ऊँचे उस चैत्य प्रासाद पर चढ़ गये ॥ ३ ॥

आरुह्य गिरिसङ्काशं प्रासादं हरियूथपः ।
बभौ स सुमहातेजाः प्रतिसूर्य इवोदितः ॥ ४ ॥

अति तेजसम्पन्न कपियूथपति हनुमान जी, उस पर्वत समान ऊँचे प्रासाद के ऊपर चढ़ने पर ऐसे जान पड़ने लगे, जैसे दूसरे सूर्य भगवान् ॥ ४ ॥

---

१ चैत्यं देवायतन तद्रूपः प्रासादः—चैत्यप्रासादः त । (गो०)

संप्रधृष्य च दुर्धर्षं चैत्यप्रासादमुत्तमम् ।
हनुमान्प्रज्वलंल्लक्ष्म्या पारियात्रोपमोऽभवत् ॥ ५ ॥

उस दुर्धर्ष और श्रेष्ठ चैत्य प्रासाद को अच्छी तरह से नष्ट कर, हनुमान जी अपनी स्वाभाविक कान्ति से, पारियात्र पर्वत की तरह देख पड़े ॥ ५ ॥

स भूत्वा सुमहाकायः प्रभावान्मारुतात्मजः ।
[1]धृष्टमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूरयन् ॥ ६ ॥

फिर हनुमान जी ने अपना शरीर और भी बड़ा कर लिया और निर्भय हो ऐसे गर्जे कि, उनकी वह गर्जना सारी लङ्का में व्याप्त हो गयी ॥ ६ ॥

तस्यास्फोटितशब्देन महता श्रोत्रघातिना ।
पेतुर्विहङ्गमास्तत्र चैत्यपालाश्च मोहिताः ॥ ७ ॥

उनके उस श्रवणकठोर बड़े सिंहनाद से भयभीत हो आकाश में उड़ते हुए पक्षी गिर पड़े और उस चैत्य प्रासाद के रक्षक भी मूर्छित हो गये ॥ ७ ॥

अस्त्रविज्जयतां रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ ८ ॥

अस्त्र जानने वाले श्रीरामचन्द्र की जै हो, महाबली लक्ष्मण जी की जै हो, श्रीरामचन्द्र जी द्वारा रक्षित वानरराज सुग्रीव की जै हो ॥ ८ ॥

---

१ धृष्टम्—निर्भयम् । (रा०)

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
हनुमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥ ९ ॥

मैं उन कोसलापति श्रीरामचन्द्र जी का दास हूँ जिनके लिये कोई कार्य कठिन नहीं है। मैं शत्रुसैन्य का नाश करने वाला पवननन्दन हनुमान हूँ ॥ ९ ॥

न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत् ।
शिलाभिस्तु प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः ॥ १० ॥

हज़ारों शिलाओं और पेड़ों से प्रहार करते समय, सहस्रों रावण भी मेरे समान नहीं हो सकते ॥ १० ॥

अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम् ।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम् ॥ ११ ॥

मैं सब राक्षसों के सामने ही लङ्का को गर्द कर, जानकी जी को प्रणाम कर और अपना उद्देश्य पूरा करके चला जाऊँगा ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुश्चैत्यस्थो हरियूथपः ।
ननाद भीमनिर्ह्रादो रक्षसां जनयन्भयम् ॥ १२ ॥

चैत्य प्रासाद पर बैठे हुए, कपियूथपति हनुमान जी ने ऐसा सिंहनाद किया कि, उसे सुन राक्षस, बहुत डर गये ॥ १२ ॥

तेन शब्देन महता चैत्यपालाः शतं ययुः ।
गृहीत्वा विविधानस्त्रान्प्रासान्खड्गान्परश्वधान् ॥ १३ ॥

उस सिंहनाद को सुन उस चैत्य प्रासाद के सैकड़ों रक्षक राक्षस, विविध प्रकार के अस्त्र—प्रास, खड्ग और फरसा लेकर दौड़ पड़े और ॥ १३ ॥

निसृजन्तो महाकाया मारुतिं पर्यवारयन् ।
ते गदाभिर्विचित्राभिः परिघैः काञ्चनाङ्गदैः ॥ १४ ॥

आजघ्नुर्वानरश्रेष्ठं बाणैश्चादित्यसन्निभैः ।
आवर्त इव गङ्गायास्तोयस्य विपुलो महान् ॥ १५ ॥

परिक्षिप्य हरिश्रेष्ठं स बभौ रक्षसां गणः ।
ततो वातात्मजः क्रुद्धो भीमरूपं समास्थितः ॥ १६ ॥

महाकाय हनुमान जी को चारों ओर से घेर कर उन पर प्रहार करने लगे। वे अद्भुत गदाओं और सोने के कड़ों से भूषित परिघों से तथा सूर्य के समान चमचमाते बाणों से कपिश्रेष्ठ हनुमान जी को मारने लगे। इस समय हनुमान जी को घेरे हुए राक्षस ऐसे जान पड़ते थे, जैसे गङ्गा का बड़ा भारी जलभँवर हो। पवननन्दन हनुमान जी क्रुद्ध हुए थे और भयङ्कर रूप धारण किए हुए थे ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

प्रासादस्य महान्तस्य स्तम्भं हेमपरिष्कृतम् ।
उत्पाटयित्वा वेगेन हनुमान्पवनात्मजः ॥ १७ ॥

पवननन्दन हनुमान जी ने उस विशाल प्रासाद का सुवर्ण का बना एक खंभा बड़े वेग से उखाड़ लिया ॥ १७ ॥

ततस्तं भ्रामयामास शतधारं महाबलः ।
तत्र चाग्निः समभवत्प्रासादश्चाप्यदह्यत ॥ १८ ॥

वह खंभा सौ धार का था। उसे वे महाबली हनुमान घुमाने लगे। उससे निकलती हुई आग की चिनगारियों से वह भवन भस्म हो गया ॥ १८ ॥

दह्यमानं ततो दृष्ट्वा प्रासादं हरियूथपः ।
स राक्षसशतं हत्वा वज्रेणेन्द्र इवासुरान् ॥ १९ ॥

कपियूथपति ने उस प्रासाद को भस्म होते हुए देख, सैकड़ों राक्षसों को उससे वैसे ही मार डाला, जैसे इन्द्र अपने वज्र से असुरों को मारते हैं ॥ १९ ॥

अन्तरिक्षे स्थितः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ।
मादृशानां सहस्राणि विसृष्टानि महात्मनाम् ॥ २० ॥

आकाश में स्थित श्रीमान् हनुमान जी कहने लगे कि, मेरे ऐसे बलवान धैर्यवान् सहस्रों वानर उत्पन्न हो चुके हैं ॥ २० ॥

बलिनां वानरेन्द्राणां सुग्रीववशवर्तिनाम् ।
अटन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः ॥ २१ ॥

वे सब बलवान् वानरश्रेष्ठ सुग्रीव के वशवर्ती हैं और मैं तथा वे सब अन्य वानर अखिल पृथिवीमण्डल पर घूमते फिरते हैं ॥ २१ ॥

दशनागबलाः केचित्केचिद्दशगुणोत्तराः ।
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यविक्रमाः ॥ २२ ॥

उनमें से किसी में दस हाथी के किसी में सौ हाथी के और किसी में हज़ार हाथी के समान बल है ॥ २२ ॥

सन्ति चौघबलाः[1] केचित्केचिद्वायुबलोपमाः ।
अप्रमेयबलाश्चान्ये तत्रासन्हरियूथपाः ॥ २३ ॥

---

१ ओघबलः—ओघाख्यसंख्याकबलाः । (गो०)

और किसी में ओघ हाथियों जितना बल है और कोई वायु के समान बलवाले हैं। अन्य वानर ऐसे भी हैं जिनके बल का पारावार नहीं है। ऐसे वहाँ पर वानर यूथपति हैं ॥ २३ ॥

ईदृग्विधैस्तु हरिभिर्वृतो दन्तनखायुधैः ।
शतैः शतसहस्रैश्च कोटीभिरयुतैरपि ॥ २४ ॥

इस प्रकार के नख और दन्त आयुध वाले वहाँ वानर हैं। उनकी संख्या सौ सहस्र कोटि और दस सहस्र है ॥ २४ ॥

आगमिष्यति सुग्रीवः सर्वेषां वो निषूदनः ।
नेयमस्ति पुरी लङ्का न यूयं न च रावणः ।
यस्मादिक्ष्वाकुनाथेन बद्धं वैरं महात्मना ॥ २५ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

उनको लेकर सुग्रीव यहाँ आवेंगे और वे सब तुम्हारा सब का नाश करेंगे। न तो यह लङ्का, न तुम और न रावण ही बचेगा। क्योंकि तुमने इक्ष्वाकुवंश के स्वामी महात्मा श्रीरामचन्द्र से बैर बांधा है ॥ २५ ॥

सुन्दरकाण्ड का तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

---※---

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

---※---

संदिष्टो राक्षसेन्द्रेण प्रहस्तस्य सुतो बली ।
जम्बुमाली महादंष्ट्रो निर्जगाम धनुर्धरः ॥ १ ॥

इधर तो उन चैत्य वालों का नाश हुआ, उधर रावण की आज्ञा से प्रहस्त का पुत्र बलवान जम्बुमाली, जिसकी बड़ी बड़ी डाढ़ें थीं, धनुष ले नगर से बाहिर निकला ॥ १ ॥

रक्तमाल्याम्बरधरः स्रग्वी रुचिरकुण्डलः ।
महान्विवृत्तनयनः[1] चण्डःसमरदुर्जयः ॥ २ ॥

वह उस समय लाल माला और लाल वस्त्र पहिने हुए था। उसके गले में हार था और कानों में सुन्दर कुण्डल थे। उसके गोल गोल नेत्र थे और वह प्रचण्ड पराक्रमी और युद्ध में दुर्जय था ॥ २ ॥

दग्धत्रिकूटप्रतिमो महाजलदसन्निभः ।
महाभुजशिरःस्कन्धो महादंष्ट्रो महाननः ॥ ३ ॥

वह भस्म हुए पहाड़ की तरह अथवा महामेघ की तरह कृष्णवर्ण और विशालकाय था। उसकी बड़ी बड़ी भुजाएँ, बड़ा सिर और बड़े बड़े कन्धे थे। उसकी डाढ़े और उसका मुख भी बड़ा था ॥३॥

महाजवो महोत्साहो महासत्त्वोरुविक्रमः ।
*आजगामातिवेगेन सायुधः स महारथः ॥ ४ ॥

वह बड़ा वेगवान्, बड़ा उत्साही, बड़ा बलवान् और बड़ा पराक्रमी था। सो वह एक बड़े रथ में बैठ तथा आयुधों को ले बड़े वेग से आया ॥ ४ ॥

धनुः शक्रधनुःप्रख्यं महद्रुचिरसायकम् ।
विष्फारयानो वेगेन वज्राशनिसमस्वनम् ॥ ५ ॥

---

१ विवृत्तनयनः—मण्डलीकृतनयनः । * पाठान्तरे—"आजगामातिवेगेन वज्राशनिसमस्वनः ।"

उसका धनुष इन्द्रधनुष के समान था और वह अति सुन्दर बाणों को लिये हुए था। उसने जो अपने धनुष को टंकोरा तो उसमें से वज्र गिरने के समान बड़ा भारी शब्द हुआ ॥ ५ ॥

तस्य विष्फारघोषेण धनुषो महता दिशः ।
प्रदिशश्च नभश्चैव सहसा समपूर्यत् ॥ ६ ॥

उसके महाधनुष की टंकार के शब्द से आकाश सहित समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ सहसा पूर्ण हो गयीं ॥ ६ ॥

रथेन खरयुक्तेन तमागतमुदीक्ष्य सः ।
हनुमान्वेगसंपन्नो जहर्ष च ननाद च ॥ ७ ॥

वेगवान हनुमान जी, जम्बुमाली को गधों के रथ पर सवार देख, अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने सिंहनाद किया ॥ ७ ॥

तं तोरणविटङ्कस्थं हनुमन्तं महाकपिम् ।
जम्बुमाली महाबाहुर्विव्याध निशितैः शरैः ॥ ८ ॥

महाकपि हनुमान जी को तोरणद्वार की गौख पर बैठा देख, महाबाहु जम्बुमाली ने उनके पैने बाण मार कर उनको वेध डाला ॥ ८ ॥

अर्धचन्द्रेण वदने शिरस्येकेन कर्णिना ।
बाह्वोर्विव्याध नाराचैर्दशभिस्तं कपीश्वरम् ॥ ९ ॥

उसने अर्धचन्द्राकार बाण हनुमान जी के मुख पर, और कान के आकार का एक बाण उनके सिर में मारा। उसने हनुमान जी की भुजाओं में दस नाराच मारे ॥ ९ ॥

तस्य तच्छुशुभे ताम्रं शरेणाभिहतं मुखम् ।
शरदीवाम्बुजं फुल्लं विद्धं भास्कररश्मिना ॥ १० ॥

उस बाण के लगने से हनुमान जी का लाल मुख ऐसा शोभायमान हुआ जैसा कि, शरदृऋतु में सूर्य की किरणों के पड़ने से कमल शोभायमान होता है ॥ १० ॥

तत्तस्य रक्तं रक्तेन रञ्जितं शुशुभे मुखम् ।
यथाऽऽकाशे महापद्मं सिक्तं काञ्चनबिन्दुभिः ॥ ११ ॥

हनुमान जी का लाल लोहू से रंगा हुआ मुख, ऐसा सुशोभित हुआ, मानों आकाश में एक बड़ा कमल का फूल, जिस पर सोने की बूँदे छिटकी हों, शोभायमान हो रहा हो ॥ ११ ॥

चुकोप बाणाभिहतो राक्षसस्य महाकपिः ।
ततः पार्श्वेऽतिविपुलां ददर्श महतीं शिलाम् ॥ १२ ॥

बाणों के लगने से हनुमान जी उस राक्षस पर कुपित हुए। उस समय उन्हें बग़ल में पड़ी हुई एक बड़ी शिला देख पड़ी ॥ १२ ॥

तरसा तां समुत्पाट्य चिक्षेप बलवद्बली ।
तां शरैर्दशभिः क्रुद्धस्ताडयामास राक्षसः ॥ १३ ॥

बलवान हनुमान जी ने तुरन्त उसे उखाड़ और बड़े ज़ोर से उसे उस राक्षस के ऊपर फैंका। तब उस राक्षस ने उस शिला के दस बाण मार उसे चूर कर डाला ॥ १३ ॥

विपन्नं कर्म तद्दृष्ट्वा हनुमांश्चण्डविक्रमः ।
सालं विपुलमुत्पाट्य भ्रामयामास वीर्यवान् ॥ १४ ॥

प्रचण्ड पराक्रमी हनुमान जी ने उस शिला का फेंकना व्यर्थ हुआ देख, एक विशाल साल का वृक्ष उखाड़ लिया। फिर महाबलवान् हनुमान जी ने उसे अच्छी तरह घुमाया ॥ १४ ॥

भ्रामयन्तं कपिं दृष्ट्वा सालवृक्षं महाबलम् ।
चिक्षेप सुबहून्बाणाञ्जम्बुमाली महाबलः ॥ १५ ॥

महाबली हनुमान जी को उस साल वृक्ष को घुमाते देख, महाबली जम्बुमाली ने बहुत से बाण चलाये ॥ १५ ॥

सालं चतुर्भिश्चिच्छेद वानरं पञ्चभिर्भुजे ।
*शिरस्येकेन बाणेन दशभिस्तु स्तनान्तरे ॥ १६ ॥

चार बाणों से तो उसने उस वृक्ष के टुकड़े कर डाले और पाँच बाण उसने हनुमान जी की भुजा में, एक सिर में और दस छाती में मारे ॥ १६ ॥

स शरैः पूरिततनुः क्रोधेन महता वृतः ।
तमेव परिघं गृह्य भ्रामयामास †मारुतिः ॥ १७ ॥

उसने अत्यन्त क्रुद्ध हो बाणों से हनुमान जी का शरीर भर दिया। तब हनुमान जी ने उस बेंड़े को उठा कर घुमाया ॥ १७ ॥

अतिवेगोऽतिवेगेन भ्रामयित्वा बलोत्कटः ।
परिघं पातयामास जम्बुमालेर्महोरसि ॥ १८ ॥

अत्यन्त वेगवान और उत्कट बलशाली हनुमान जी ने उस बेंड़े को बड़ी ज़ोर से घुमा कर, जम्बुमाली की छाती में मारा ॥ १८ ॥

तस्य चैव शिरो नास्ति न बाहू न च जानुनी ।
न धनुर्न रथो नाश्वास्तत्रादृश्यन्त नेषवः ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—"शरस्येकेन।" † पाठान्तरे—"वेगतः।"

उस बेड़े की चोट से जम्बुमाली के सिर, भुजा, जांघ, धनुष, रथ, तीर और रथ के घोड़ों का पता ही न चला कि, वे सब के सब कहाँ चले गये ॥ १९ ॥

स हतस्तरसा तेन जम्बुमाली महाबलः ।
पपात निहतो भूमौ चूर्णिताङ्गविभूषणः ॥ २० ॥

महाबलवान जम्बुमाली हनुमान जी के बेड़े के आघात से मर कर ज़मीन पर गिर गया और उसका शरीर तथा आभूषण चूर चूर हो गये ॥ २० ॥

जम्बुमालिं च निहतं किङ्करांश्च महाबलान् ।
चुक्रोध रावणः श्रुत्वा कोपसंरक्तलोचनः ॥ २१ ॥

जम्बुमाली और अस्सी हज़ार महाबली किङ्कर नामक राक्षसों के मारे जाने का संवाद सुन, रावण के दोनों नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये ॥ २१ ॥

स रोषसंवर्तितताम्रलोचनः
प्रहस्तपुत्रे निहते महाबले ।
अमात्यपुत्रानतिवीर्यविक्रमान्
समादिदेशाशु निशाचरेश्वरः ॥ २२ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

प्रहस्तपुत्र महाबली जम्बुमाली के मारे जाने पर राक्षसराज रावण ने अत्यन्त पराक्रमी और बलवान मन्त्रिपुत्रों को युद्ध करने के लिये तुरन्त जाने की आज्ञा दी ॥ २२ ॥

सुन्दरकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—※—

ततस्ते राक्षसेन्द्रेण चोदिता मन्त्रिणां सुताः ।
निर्ययुर्भवनात्तस्मात्सप्त सप्तार्चिवर्चसः ॥ १ ॥

तब वे अग्नि के समान कान्तिवाले सात मन्त्रिपुत्र राक्षसराज की प्रेरणा से रावण के भवन से निकले ॥ १ ॥

महाबलपरीवारा धनुष्मन्तो महाबलाः ।
कृतास्त्रास्त्रविदां श्रेष्ठाः परस्परजयैषिणः ॥ २ ॥

वे सब के सब बड़े बलवान, अस्त्रविद्या में कुशल, अस्त्र जानने वालों में श्रेष्ठ, हनुमान जी को जीतने के अभिलाषी, अतुल पराक्रमी और धनुषधारी थे ॥ २ ॥

हेमजालपरिक्षिप्तैर्ध्वजवद्भिः पताकिभिः ।
तोयदस्वननिर्घोषैर्वाजियुक्तैर्महारथैः ॥ ३ ॥

वे ऐसे रथों में बैठ कर चले, जिनके ऊपर सोने की जाली के उयार पड़े हुए थे, ध्वजा पताकाएँ लगी हुई थीं, घोड़े जुते हुए थे और उनके चलने पर बादल की गड़गड़ाहट जैसा शब्द होता था ॥ ३ ॥

तप्तकाञ्चनचित्राणि चापान्यमितविक्रमाः ।
विष्फारयन्तः संहृष्टास्तडित्वन्त इवाम्बुदाः ॥ ४ ॥

वे अमित विक्रमशाली मन्त्रिपुत्र प्रसन्न हो सुवर्णरचित विचित्र धनुषों को टङ्कोरते दामिनीयुक्त मेघों की तरह जान पड़ते थे ॥ ४ ॥

जनन्यस्तु ततस्तेषां विदित्वा किङ्करान्हतान् ।
बभूवुः शोकसंभ्रान्ताः सबान्धवसुहृज्जनाः ॥ ५ ॥

किङ्करों का मारा जाना सुन, उन मन्त्रिपुत्रों की माताएँ बन्धुबांधव और हेती नाते दारों सहित अत्यन्त शोकसन्तप्त हो रही थीं ॥ ५ ॥

ते परस्परसंघर्षात्तप्तकाञ्चनभूषणाः ।
अभिपेतुर्हनूमन्तं तोरणस्थमवस्थितम् ॥ ६ ॥

" मैं आगे पहुँचू " " मैं आगे पहुँचू " ऐसी आपस में हिर्स करते और विशुद्ध सुवर्ण के आभूषण धारण किये हुए, वे मन्त्रि-कुमार तोरणद्वार पर बैठे हुए हनुमान जी के पास जा पहुँचे ॥ ६ ॥

सृजन्तो बाणवृष्टिं ते रथगर्जितनिःस्वनाः ।
वृष्टिमन्त इवाम्भोदा विचेरुर्नैर्ऋताम्बुदाः ॥ ७ ॥

वे राक्षस अपने धनुषों से बादल से जल की वृष्टि की तरह बाणवृष्टि करते और रथों की गड़गड़ाहट सुनाते वर्षाकालीन मेघों की तरह घूमते थे ॥ ७ ॥

अवकीर्णस्ततस्ताभिर्हनुमाञ्शरवृष्टिभिः ।
अभवत्संवृताकारः शैलराडिव वृष्टिभिः ॥ ८ ॥

उस बाणवृष्टि से हनुमान जी बाणों के भीतर ऐसे छिप गये जैसे पर्वतराज जल की वृष्टि से छिप जाता है ॥ ८ ॥

स शरान्मोघयामास तेषामाशुचरः कपिः ।
रथवेगं च वीराणां विचरन्विमलेऽम्बरे ॥ ९ ॥

तदनन्तर हनुमान जी ऐसी शीघ्रता से आकाश में जा पैतरा बदलने लगे कि, उनके वेगपूर्वक रथों का चलाना और बाणों का लक्ष्य व्यर्थ जाने लगा। अर्थात् उनके चलाये बाणों में से एक भी हनुमान जी के शरीर में नहीं लगता था ॥ ९ ॥

स तैः क्रीडन्धनुष्मद्भिर्व्योम्नि वीरः प्रकाशते ।
धनुष्मद्भिर्यथा मेघैर्मारुतिः प्रभुरम्बरे ॥ १० ॥

इस प्रकार पवननन्दन हनुमान जी उन धनुर्धारियों के साथ कुछ समय तक खेलते रहे। उस समय आकाश में, हनुमान जी इन्द्रधनुष से भूषित मेघों के साथ क्रीड़ा करते हुए आकाशचारी पवनदेव की तरह जान पड़ते थे ॥ १० ॥

स कृत्वा निनदं घोरं त्रासयंस्तां महाचमूम् ।
चकार हनुमान्वेगं तेषु रक्षःसु वीर्यवान् ॥ ११ ॥

पराक्रमी हनुमान जी ने उस सेना को डराने के लिये भयङ्कर सिंहनाद किया और वे उन राक्षसों की ओर झपटे ॥ ११ ॥

तलेनाभ्यहनत्कांश्चित्पद्भ्यां* कांश्चित्परन्तपः ।
मुष्टिनाभ्यहनत्कांश्चिन्नखैः कांश्चिद्व्यदारयत् ॥ १२ ॥

शत्रुहन्ता हनुमान ने राक्षसी सेना में से किसी को थपेड़े से, किसी को लातों से, किसी को घूँसों से मारा किसी को नखों से चीर फार डाला ॥ १२ ॥

प्रममाथोरसा कांश्चिदूरुभ्यामपरान्कपिः ।
केचित्तस्य निनादेन तत्रैव पतिता भुवि ॥ १३ ॥

---

* पाठान्तरे—"पादैः ।"

हनुमान जी ने किसी को छाती की ठेस से और किसी को जाँघों की रगड़ से मार डाला। कितने ही राक्षस तो हनुमान जी के सिंहनाद को सुन कर ही पृथिवी पर गिर कर मर गये ॥ १३ ॥

ततस्तेष्ववसन्नेषु भूमौ निपतितेषु च ।
तत्सैन्यमगमत्सर्वं दिशो दश भयार्दितम् ॥ १४ ॥

जब वे सातों मन्त्रिपुत्र इस प्रकार मारे जाकर पृथिवी पर गिर गये, तब उनकी सेना भयभीत हो, चारों ओर भाग गयी ॥ १४ ॥

विनेदुर्विस्वरं नागा निपेतुर्भुवि वाजिनः ।
भग्ननीडध्वजच्छत्रैर्भूश्च कीर्णाऽभवद्रथैः ॥ १५ ॥

सेना के हाथी चिंघारने लगे, घोड़े भूमि पर लोट पोट हो गये। रथों की टूटी हुई ध्वजाओं, ध्वजाओं के डंडों और छत्रों से रणक्षेत्र भर गया ॥ १५ ॥

स्रवता रुधिरेणाथ स्रवन्त्यो दर्शिताः पथि ।
विविधैश्च स्वरैर्लङ्का ननाद विकृतं तदा ॥ १६ ॥

रास्ते में रक्त की नालियाँ बहने लगीं। सारी लङ्का में विविध प्रकार के विकट स्वरों में आर्तनाद सुनाई पड़ने लगे ॥ १६ ॥

स तान्प्रवृद्धान्विनिहत्य राक्षसान्
महाबलश्चण्डपराक्रमः कपिः ।
युयुत्सुरन्यैः पुनरेव राक्षसैः
तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणम् ॥ १७ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

महाबली, प्रचण्ड पराक्रमी वीर हनुमान जी उन प्रधान राक्षसों को मार, पुनः युद्ध करने की इच्छा से, छलाँग मार फिर फाटक पर जा बैठे ॥ १७ ॥

सुन्दरकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

हतान्मन्त्रिसुतान्बुद्ध्वा वानरेण महात्मना।
रावणः संवृताकारश्चकार [1]मतिमुत्तमाम् ॥ १ ॥

जब रावण ने सुना कि, धीर हनुमान ने सातों मन्त्रिपुत्रों को मार डाला, तब वह भय को अपने मन में छिपा, पुनः सोचने लगा ॥ १ ॥

स विरूपाक्षयूपाक्षौ दुर्धरं चैव राक्षसम्।
प्रघसं भासकर्णं च पञ्च सेनाग्रनायकान् ॥ २ ॥

विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर, प्रघस और भासकर्ण नामक पाँच सेनापतियों को ॥ २ ॥

संदिदेश दशग्रीवो वीरान्नयविशारदान्।
हनुमद्ग्रहणे व्यग्रान्वायुवेगसमान्युधि ॥ ३ ॥

जो युद्ध में वायु की तरह वेगवान और रण-नीति-विशारद एवं शूर थे, रावण ने व्यग्र हो, हनुमान जी को पकड़ने की उनको आज्ञा दी ॥ ३ ॥

---

१ मतिं—चिन्तां। (गो०)

यात सेनाग्रगाः सर्वे महाबलपरिग्रहाः ।
सवाजिरथमातङ्गाः स कपिः शास्यतामिति ॥ ४ ॥

और कहा कि, तुम सब लोग बड़े बलवान सेनापति हो, घोड़ों रथों तथा हाथियों से युक्त बड़ी भारी सेना अपने साथ ले जाओ और उस वानर को उसकी करनी का मज़ा चखाओ ॥ ४ ॥

यत्तैश्च खलु भाव्यं स्यात्तमासाद्य वनालयम् ।
कर्म चापि समाधेयं देशकालाविरोधिनम् ॥ ५ ॥

तुम सब लोग बड़ी सावधानी से उस वनचर के पास जा, देश काल का विचार रखते हुए काम को पूरा करना ॥ ५ ॥

न ह्यहं तं कपिं मन्ये कर्मणा प्रतितर्कयन् ।
सर्वथा तन्महद्भूतं महाबलपरिग्रहम् ॥ ६ ॥

जब मैं उसकी करनी पर विचार करता हूँ, तब वह मुझे वानर नहीं जान पड़ता—बल्कि वह तो कोई महाबली प्राणी जान पड़ता है ॥ ६ ॥

भवेदिन्द्रेण वा सृष्टमस्मदर्थं तपोबलात् ।
सनागयक्षगन्धर्वा देवासुरमहर्षयः ॥ ७ ॥

मेरी समझ में तो इन्द्र ने इसको अपने तपोबल से हम लोगों का नाश करने के लिये उत्पन्न किया है। नाग, गन्धर्व, यक्षों सहित, देवताओं, दैत्यों और महर्षियों को ॥ ७ ॥

युष्माभिः सहितैः सर्वैर्मया सह विनिर्जिताः ।
तैरवश्यं विधातव्यं व्यलीकं किञ्चिदेव नः ॥ ८ ॥

मेरी आज्ञा से तथा मेरे साथ भी तुम लोगों ने उन देवताओं को जीता है। इसीसे वे लोग हम लोगों का अनिष्ट करना चाहते हैं। अवश्य ऐसा ही है ॥ ८ ॥

तदेव नात्र सन्देहः प्रसह्य परिगृह्यताम् ।
*नावमान्यश्च युष्माभिर्हरिर्धीरपराक्रमः ॥ ९ ॥

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, अतः बरजोरी तुम उसको पकड़ कर ले आओ। वह वानर धीर और वीर है। अतः तुम लोग कहीं उसको तुच्छ मत समझना ॥ ९ ॥

दृष्टा हि हरयः पूर्वं मया विपुलविक्रमाः ।
वाली च सहसुग्रीवो जाम्बवांश्च महाबलः ॥ १० ॥

पूर्वकाल में मैं बड़े बड़े पराक्रमी एवं बलवान् वाली, सुग्रीव, जाम्बुवानादि वानरों को देख चुका हूँ ॥ १० ॥

नीलः सेनापतिश्चैव ये चान्ये द्विविदादयः ।
नैवं तेषां गतिर्भीमा न तेजो न पराक्रमः ॥ ११ ॥

सेनापति नील तथा द्विविदादि जो और दूसरे वानर हैं, उनमें न तो ऐसा भयङ्कर वेग है, न ऐसा तेज है और न ऐसा पराक्रम है ॥ ११ ॥

न मतिर्न बलोत्साहौ न रूपपरिकल्पनम् ।
महत्सत्त्वमिदं ज्ञेयं कपिरूपं व्यवस्थितम् ॥ १२ ॥

उनमें से किसी में न ऐसी बुद्धि है, न ऐसा बल है, न ऐसा उत्साह है और न उनमें रूपकल्पना की ऐसी शक्ति है। अतः हे राक्षसों! यह तो वानर-रूप-धारी कोई बड़ा बलिष्ठ प्राणी है ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—"नावमान्यो भवद्भिश्च ।"

प्रयत्नं महदास्थाय क्रियतामस्य निग्रहः ।
कामं लोकास्त्रयः सेन्द्राः ससुरासुरमानवाः ॥ १३ ॥

तुम लोग बड़े प्रयत्न से उसको पकड़ना। मुझे मालूम है कि, इन्द्र प्रमुख देवता, दैत्य और मनुष्यों के सहित तीनों लोक ॥ १३ ॥

भवतामग्रतः स्थातुं न पर्याप्ता रणाजिरे ।
तथापि तु नयज्ञेन जयमाकाङ्क्षता रणे ॥ १४ ॥

युद्धक्षेत्र में तुम्हारा सामना नहीं कर सकते। तो भी रणनीति का ज्ञाता जो जयाभिलाषी हो, उसको उचित है कि, ॥ १४ ॥

आत्मा रक्ष्यः प्रयत्नेन युद्धसिद्धिर्हि चञ्चला ।
ते स्वामिवचनं सर्वे प्रतिगृह्य महौजसः ॥ १५ ॥

प्रयत्नपूर्वक अपनी रक्षा करे। क्योंकि विजयश्री बड़ी चञ्चला होती है। अर्थात् यह कोई दावे के साथ नहीं कह सकता कि, अमुक की जीत होवे होगी; रावण की आज्ञा मान ये सब महाबलवान् ॥ १५ ॥

समुत्पेतुर्महावेगा हुताशसमतेजसः ।
रथैर्मत्तैश्च मातङ्गैर्वाजिभिश्च महाजवैः ॥ १६ ॥
शस्त्रैश्च विविधैस्तीक्ष्णैः सर्वैश्चोपचिता बलैः ।
ततस्तं ददृशुर्वीरा दीप्यमानं महाकपिम् ॥ १७ ॥

तथा अग्नि के समान तेजस्वी राक्षस सेनापति रथ, मतवाले हाथी, शीघ्रगामी घोड़े और विविध प्रकार के पैने शस्त्रों से युक्त अपनी अपनी सेना सजा, प्रस्थानित हुए और युद्धक्षेत्र में जा उन लोगों ने अत्यन्त दीप्तियुक्त वीर हनुमान जी को देखा ॥ १६ ॥ १७ ॥

रश्मिमन्तमिवोद्यन्तं स्वतेजोरश्मिमालिनम्।
तोरणस्थं नरासत्वं महावेगं महाबलम् ॥ १८ ॥
महामतिं महोत्साहं महाकायं महाभुजम्।
तं समीक्ष्यैव ते सर्वे दिक्षु सर्वास्त्ववस्थिताः ॥ १९ ॥

उस समय उस फाटक के ऊपर बैठे हुए, उदित सूर्य की तरह दीप्तिमान महाबलवान, महावेगवान, महाविक्रमवान, महाबुद्धिमान महाउत्साही, महाकपि और महाभुज हनुमान जी को देख और उनसे डर कर वे सब राक्षस दूर ही दूर खड़े हुए ॥ १८ ॥ १९ ॥

तैस्तैः प्रहरणैर्भीमैरभिपेतुस्ततस्ततः।
तस्य पञ्चायसास्तीक्ष्णाः शिताः पीतमुखाः शराः ॥२०॥

चारों ओर से भयङ्कर अस्त्र शस्त्र चलाने लगे। लोहे के बने हुए पैने, पीले रंग के पाँच बाण ॥ २० ॥

शिरस्युत्पलपत्राभा दुर्धरेण निपातिताः।
स तैः पञ्चभिराविद्धः शरैः शिरसि वानरः ॥ २१ ॥

जो कमलपुष्प के आकार के थे, दुर्धर नामक राक्षस ने हनुमान जी के मारे। वे पाँच बाण हनुमान जी के मस्तक में जा कर लगे ॥ २१ ॥

उत्पपात नदन्व्योम्नि दिशो दश विनादयन्।
ततस्तु दुर्धरो वीरः सरथः सज्यकार्मुकः ॥ २२ ॥

तब तो हनुमान जी सिंहनाद करते और उस सिंहनाद से दसों दिशाओं को प्रतिध्वनित करते, आकाश में छलांग मार कर पहुँच गये। यह देख रथ में बैठे हुए दुर्धर ने अपने धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥ २२ ॥

किरञ्शरशतैस्तीक्ष्णैरभिपेदे महाबलः ।
स कपिर्वारयामास तं व्योम्नि शरवर्षिणम् ॥ २३ ॥

और सैकड़ों बाण छोड़ता हनुमान जी का पीछा करने लगा। उस बाणवृष्टि करने वाले राक्षस के चलाये बाणों को आकाश में रह कर हनुमान जी ने वैसे ही रोका ॥ २३ ॥

वृष्टिमन्तं पयोदान्ते पयोदमिव मारुतः ।
अर्द्यमानस्ततस्तेन दुर्धरेणानिलात्मजः ॥ २४ ॥

जैसे शरद्ऋतु में पवन, बादलों को जल बर्षाने से रोकता है। किन्तु जब दुर्धर राक्षस बाणवृष्टि से हनुमान जी को सताने लगा ॥ २४ ॥

चकार निनदं भूयो व्यवर्धत च वेगवान् ।
स दूरं सहसोत्पत्य दुर्धरस्य रथे हरिः ॥ २५ ॥

तब वेगवान् हनुमान जी पुनः गर्जे और उन्होंने अपने शरीर को बढ़ाया। तदनन्तर वे एक साथ बहुत दूर से उछल कर दुर्धर के रथ पर कूद पड़े ॥ २५ ॥

निपपात महावेगो विद्युद्राशिर्गिराविव ।
ततः स मथिताष्टाश्वं रथं भग्नाक्षकूबरम् ॥ २६ ॥

वे ऐसे ज़ोर से रथ पर गिरे, जैसे बिजली पहाड़ पर गिरती है। उनके गिरते ही आठा घोड़ों सहित वह रथ मय धुरे और कूबर के चकना चूर हो गया ॥ २६ ॥

विहाय न्यपतद्भूमौ दुर्धरस्त्यक्तजीवितः ।
तं विरूपाक्षयूपाक्षौ दृष्ट्वा निपतितं भुवि ॥ २७ ॥

और दुर्धर राक्षस रथ से पृथिवी पर गिर कर मर गया। तब दुर्धर को पृथिवी पर मरा हुआ पड़ा देख, विरूपाक्ष और यूपाक्ष ॥ २७ ॥

सञ्जातरोषौ दुर्धर्षावुत्पेततुररिन्दमौ ।
स ताभ्यां सहसोत्पत्य विष्ठितो विमलेऽम्बरे ॥ २८ ॥

दोनों राक्षस महाक्रुद्ध हो उछले और हनुमान जी को विमल आकाश में जा घेर लिया ॥ २८ ॥

मुद्गराभ्यां महाबाहुर्वक्षस्यभिहतः कपिः ।
तयोर्वेगवतोर्वेगं विनिहत्य महाबलः ॥ २९ ॥

और उन दोनों ने मुद्गरों से हनुमान जी की छाती पर प्रहार किया। तब हनुमान जी ने उनके प्रहार को सह कर और उन वेगवालों के घात को बचा कर ॥ २९ ॥

निपपात पुनर्भूमौ सुपर्णसमविक्रमः ।
स सालवृक्षमासाद्य तमुत्पाट्य च वानरः ॥ ३० ॥

गरुड़ की समान वेग के साथ वे पृथिवी पर आये। तदनन्तर उन्होंने एक साखू के पेड़ को पकड़ कर उखाड़ लिया ॥ ३० ॥

तावुभौ राक्षसौ वीरौ जघान पवनात्मजः ।
ततस्तांस्त्रीन्हताञ्ज्ञात्वा वानरेण तरस्विना ॥ ३१ ॥

फिर उसी पेड़ के आघात से उन्होंने उन दोनों राक्षसों को मार डाला। बलवान् हनुमान जी द्वारा उन तीनों को मरा हुआ जान, ॥ ३१ ॥

अभिपेदे महावेगः प्रहस्य प्रघसो हरिम् ।
भासकर्णश्च संक्रुद्धः शूलमादाय वीर्यवान् ॥ ३२ ॥

महावेगवान् प्रघस नामक राक्षससेनापति अट्टहास करता हुआ, हनुमान जी के निकट गया और बलशाली भासकर्ण भी शूल हाथ में ले और अत्यन्त क्रुद्ध हो ॥ ३२ ॥

एकतः कपिशार्दूलं यशस्विनमवस्थितम् ।
पट्टसेन शिताग्रेण प्रघसः प्रत्ययोधयत् ॥ ३३ ॥

यशस्वी हनुमान जी के एक ओर जाकर उपस्थित हुआ । तब प्रघस पट्टे से युक्त हनुमान जी से लड़ने लगा ॥ ३३ ॥

भासकर्णश्च शूलेन राक्षसः कपिसत्तमम् ।
स ताभ्यां विक्षतैर्गात्रैरसृग्दिग्धतनूरुहः ॥ ३४ ॥

राक्षस भासकर्ण ने हाथ में त्रिशूल ले हनुमान जी पर आक्रमण किया । उन दोनों के संयुक्त प्रहार से हनुमान जी के सब शरीर में घाव हो गये और उनसे रुधिर बहने लगा ॥ ३४ ॥

अभवद्वानरः क्रुद्धो बालसूर्यसमप्रभः ।
समुत्पाट्य गिरेः शृङ्गं समृगव्यालपादपम् ॥ ३५ ॥

तब प्रातःकालीन सूर्य के समान कान्ति वाले हनुमान जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए । मृग, सांप और पेड़ों सहित एक पहाड़ के शिखर को उखाड़ कर ॥ ३५ ॥

जघान हनुमान्वीरो राक्षसौ कपिकुञ्जरः ।
ततस्तेष्ववसन्नेषु सेनापतिषु पञ्चसु ॥ ३६ ॥

उससे वीर कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने उन दोनों को भी मार डाला । उन पांचों राक्षस सेनापतियों को मार ॥ ३६ ॥

बलं तदवशेषं च नाशयामास वानरः।
अश्वैरश्वान्गजैर्नागान्योधैर्योधान्रथै रथान्॥ ३७॥

हनुमान जी ने बची हुई राक्षससेना का संहार किया। (उनके, मारने के लिये उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता न पड़ी।) उन्होंने घोड़े से घोड़े को, हाथी से हाथी को, सैनिक से सैनिक को और रथ से रथ को (मार मार कर) नष्ट कर डाला॥ ३७॥

स कपिर्नाशयामास सहस्राक्ष इवासुरान्।
हतैर्नागैस्तुरङ्गैश्च भग्नाक्षैश्च महारथैः।
हतैश्च राक्षसैर्भूमी रुद्धमार्गा समन्ततः॥ ३८॥

उन्होंने इन राक्षसों का वैसे ही संहार किया; जैसे इन्द्र असुरों का करते हैं। उन मरे हुए हाथियों, घोड़ों, टूटे हुए बड़े बड़े रथों से तथा मरे हुए राक्षसों से वह रणक्षेत्र हर ओर से बंद हो गया॥३८॥

ततः कपिस्तान्ध्वजिनीपतीन्रणे
निहत्य वीरान्सबलान्सवाहनान्।
तदेव वीरः परिगृह्य तोरणं
कृतक्षणः काल इव प्रजाक्षये॥ ३९॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः॥

पांच वीर सेनापतियों को उनकी सेना तथा वाहनों सहित युद्ध में मार कर और अवसर पा, वीर हनुमान प्रलयकालीन प्रजाक्षय-कारी काल की तरह, पुनः उसी फाटक के ऊपर चढ़ कर जा बैठे॥ ३९॥

सुन्दरकाण्ड का छियालिसवां सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

सेनापतीन्पञ्च स तु प्रमापितान्
हनूमता सानुचरान्सवाहनान्।
समीक्ष्य राजा समरोद्धतोन्मुखं
कुमारमक्षं प्रसमैक्षताग्रतः ॥ १ ॥

राक्षसराज रावण ने, जब जाना कि, हनुमान जी ने उन पाँच सेनापतियों को उनकी सेना तथा वाहनों सहित नष्ट कर डाला है, तब उसने लड़ने के लिये उद्यत और अपने सामने बैठे हुए अक्षयकुमार की ओर देखा ॥ १ ॥

स तस्य दृष्ट्यर्पणसंप्रचोदितः
प्रतापवान्काञ्चनचित्रकार्मुकः।
समुत्पपाताथ सदस्युदीरितो
द्विजातिमुख्यैर्हविषेव पावकः ॥ २ ॥

रावण के ताकने भर की देर थी कि, प्रतापी और अद्भुत सुवर्णभूषित धनुषधारी अक्षयकुमार तुरन्त ऐसे उठ खड़ा हुआ, जैसे ब्राह्मणों द्वारा आहुति पड़ने पर अग्नि की शिखा उठती है ॥ २ ॥

ततो महद्बालदिवाकरप्रभं
प्रतप्तजाम्बूनदजालसन्ततम्।
रथं समास्थाय ययौ स वीर्यवान्
महाहरिं तं प्रति नैर्ऋतर्षभः ॥ ३ ॥

वह राक्षस श्रेष्ठ महाबली। रावणकुमार, सूर्य के समान दीप्तिमान, सुवर्णभूषित रथ पर सवार हो, हनुमान जी से लड़ने को रवाना हुआ ॥ ३ ॥

ततस्तपःसंग्रहसञ्चयार्जितं
प्रतप्तजाम्बूनदजालशोभितम् ।
पताकिनं रत्नविभूषितध्वजं
मनोजवाष्टाश्ववरैः सुयोजितम् ॥ ४ ॥

यह रथ बड़ी तपस्या के द्वारा प्राप्त हुआ था और रत्नजड़ित ध्वजा पताकाओं से भली भाँति सुसज्जित था। मन के समान तेज़ चलने वाले आठ घोड़े उसमें जुते हुए थे ॥ ४ ॥

सुरासुराधृष्यमसङ्गचारि
रविप्रभं व्योमचरं समाहितम् ।
सतूणमष्टासिनिबद्धबन्धुरं
यथाक्रमावेशितचारुतोमरम् ॥ ५ ॥

देवता और असुरों से अजेय, बिना किसी के सहारे चलने वाला, सूर्य की तरह चमकीला, आकाश में उड़ने की शक्ति रखने वाला, तीरों से भरे हुए तरकसों सहित, आठ खड्गों से युक्त, जिसमें यथोचित स्थानों पर पैनी पैनी शक्तियाँ और तोमर रखे हुए थे ॥ ५ ॥

विराजमानं प्रतिपूर्णवस्तुना
सहेमदाम्ना शशिसूर्यवर्चसा ।
दिवाकराभं रथमास्थितस्ततः
स निर्जगामामरतुल्यविक्रमः ॥ ६ ॥

जो समस्त संग्राम की सामग्री से युक्त, सोने की डोरियों से कसा हुआ एवं चन्द्रमा और सूर्य की तरह चमचमाता था। इस प्रकार के सूर्य के समान चमकीले रथ पर सवार हो, देवताओं के समान पराक्रमी अक्षयकुमार, बाहर निकला ॥ ६ ॥

स पूरयन्खं च महीं च साचलां
तुरङ्गमातङ्गमहारथस्वनैः ।
बलैः समेतैः स हि तोरणस्थितं
समर्थमासीनमुपागमत्कपिम् ॥ ७ ॥

सेना के घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघार और रथों के चलने की गड़गड़ाहट से आकाश, पृथिवी और पर्वतों को प्रतिध्वनित करता हुआ, अक्षयकुमार सेना को साथ लिये हुए, फाटक पर बैठे हुए अति समर्थवान् हनुमान जी के निकट आ पहुँचा ॥ ७ ॥

स तं समासाद्य हरिं हरीक्षणो
युगान्तकालाग्निमिव प्रजाक्षये ।
अवस्थितं विस्मितजातसंभ्रमः
समैक्षताक्षो बहुमानचक्षुषा ॥ ८ ॥

सिंह समान क्रूर दृष्टि वाला अक्षयकुमार, विस्मित हो कर प्रलयकालीन प्रजाक्षयकारी अग्निदेव के तुल्य हनुमान जी को बड़े आदर से देखने लगा ॥ ८ ॥

स तस्य वेगं च कपेर्महात्मनः
पराक्रमं चारिषु पार्थिवात्मजः ।

विचारयन्स्वं च बलं महाबलो
हिमक्षये सूर्य इवाभिवर्धते ॥ ९ ॥

महाबलवान् अक्षय, धैर्यवान् हनुमान जी का बल और शत्रु के प्रति उनके पराक्रम तथा अपना बलाबल विचार कर, ग्रीष्मकालीन सूर्य की तरह अपनी उग्रता बढ़ाने लगा ॥ ९ ॥

स जातमन्युः प्रसमीक्ष्य विक्रमं
स्थिरं स्थितः संयति दुर्निवारणम् ।
समाहितात्मा हनुमन्तमाहवे
प्रचोदयामास शरैस्त्रिभिः शितैः ॥ १० ॥

हनुमान द्वारा राक्षसों का विध्वंस सोच और संग्राम के लिये उद्यत और दुर्निवार्य हनुमान जी के ऊपर एकाग्रचित्त अक्षय ने तीन पैने बाण चला कर, उनको युद्ध करने के लिये ललकारा ॥ १० ॥

ततः कपिं तं प्रसमीक्ष्य गर्वितं
जितश्रमं शत्रुपराजयोर्जितम् ।
अवैक्षताक्षः समुदीर्णमानसः
स बाणपाणिः प्रगृहीतकार्मुकः ॥ ११ ॥

तदनन्तर हनुमान जी को उन बाणों से अविचलित देख, शत्रु को पराजित करने के योग्य, . से गर्वित और युद्ध के लिये उत्साहित देख, फुर्तीले अक्षय ने बाण सहित धनुष को हाथ में लिया ॥ ११ ॥

स हेमनिष्काङ्गदचारुकुण्डलः
समाससादाशुपराक्रमः कपिम् ।

तयोर्बभूवाप्रतिमः समागमः
सुरासुराणामपि संभ्रमप्रदः ॥ १२ ॥

सुवर्ण के बने बाजू और सुन्दर कुण्डल धारण किये, फुर्तीले और पराक्रमी अक्षय ने हनुमान जी पर आक्रमण किया। उन दोनों का यह अनुपम युद्धसमागम, देव और दैत्यों को भी भयप्रद था ॥ ॥ १२ ॥

ररास भूमिर्न ततापे भानुमान्
ववौ न वायुः प्रचचाल चाचलः।
कपेः कुमारस्य च वीक्ष्य संयुगं
ननाद च द्यौरुदधिश्च चुक्षुभे ॥ १३ ॥

हनुमान जी और अक्षय की लड़ाई देख, भूमि से एक प्रकार का शब्द हुआ, सूर्य की गर्मी मन्द पड़ गयी, वायु का चलना बन्द हो गया, पहाड़ काँप उठे, आकाश गूँजने लगा और समुद्र खलबलाने लगा ॥ १३ ॥

ततः स वीरः सुमुखान्पतत्रिणः
सुवर्णपुङ्खान्सविषानिवोरगान्।
समाधिसंयोगविमोक्षतत्त्ववित्
शरानथ त्रीन्कपिमूर्ध्न्यपातयत् ॥ १४ ॥

निशाना वेधने, बाण का सन्धान करने और बाणों के चलाने में कुशल वीर अक्षयकुमार ने सुवर्णमय, सुन्दर पुंखयुक्त एवं विषैले सर्पों के तुल्य तीन बाण हनुमान जी के सिर में मारे ॥ १४ ॥

स तैः शरैर्मूर्ध्नि समं निपातितैः
क्षरन्नसृग्दिग्धविवृत्तलोचनः ।
नवोदितादित्यनिभः शरांशुमान्
व्यरोचतादित्य इवांशुमालिकः ॥ १५ ॥

एक साथ तीन बाणों के लगने से हनुमान जी के सिर से खून की धार बह निकली, उनके नेत्रों के सामने घुमरी आने लगी। किन्तु उस समय हनुमान जी ऐसे शोभायमान हुए, जैसे उदय-कालीन सूर्य शोभायमान होते हैं। मस्तक में बिंधे हुए बाण किरणों की तरह शोभा देने लगे ॥ १५ ॥

ततः स पिङ्गाधिपमन्त्रिसत्तमः
समीक्ष्य तं राजवरात्मजं रणे ।
उदग्रचित्रायुधचित्रकार्मुकं
जहर्ष चापूर्यत चाहवोन्मुखः ॥ १६ ॥

तब सुग्रीव के मंत्रिप्रवर, श्रीहनुमान जी उस राक्षसराज के पुत्र अक्षयकुमार को, जो अत्युत्तम और अद्भुत आयुधों और धनुष को ले लड़ रहा था, देख कर, प्रसन्न हुए और अपना शरीर बढ़ाया तथा उससे युद्ध करने को उद्यत हुए ॥ १६ ॥

स मन्दराग्रस्थ इवांशुमालिको
विवृद्धकोपो बलवीर्यसंयुतः ।
कुमारमक्षं सबलं सवाहनं
ददाह नेत्राग्निमरीचिभिस्तदा ॥ १७ ॥

वे मन्दराचल पर स्थित सूर्य की तरह, कान्तिमान्, बल और विक्रम से युक्त हनुमान जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और नेत्राग्नि से सेना सहित अक्षयकुमार को भस्म करने लगे ॥ १७ ॥

ततः स बाणासनचित्रकार्मुकः
शरप्रवर्षो युधि राक्षसाम्बुदः ।
शरान्मुमोचाशु हरीश्वराचले
वलाहको वृष्टिमिवाचलोत्तमे ॥ १८ ॥

जिस प्रकार मेघ पर्वतों पर जल की वृष्टि किया करते हैं; उसी प्रकार उस युद्ध में अक्षयकुमार रूपी बादल, हनुमान रूपी पर्वत पर, अपने अद्भुत धनुष से बाणरूपी जल की वृष्टि करने लगा ॥ १८ ॥

ततः कपिस्तं रणचण्डविक्रमं
विवृद्धतेजोबलवीर्यसंयुतम् ।
कुमारमक्षं प्रसमीक्ष्य संयुगे
ननाद हर्षाद्घनतुल्यनिःस्वनः ॥ १९ ॥

जब हनुमान जी ने देखा कि, अक्षयकुमार बड़ा प्रचण्ड पराक्रमी है और बड़ी तेज़ी से तथा पराक्रम के साथ बाण चलाता हुआ युद्ध कर रहा है; तब वे प्रसन्न हो मेघ की तरह गर्जे ॥ १९ ॥

स बालभावाद्युधि वीर्यदर्पितः
प्रवृद्धमन्युः क्षतजोपमेक्षणः ।
समाससादाप्रतिमं कपिं रणे
गजो महाकूपमिवावृतं तृणैः ॥ २० ॥

कमउम्र होने के कारण अक्षयकुमार अपने बल पराक्रम का बड़ा गर्व रखता था और मारे क्रोध के उसके दोनों नेत्र सुर्ख हो गये थे। जिस प्रकार हाथी घास फूस से ढके हुए अंधे कुएँ में चला जाता है; उसी प्रकार वह हनुमान जी के पास युद्ध करता हुआ चला जाता था ॥ २० ॥

स तेन बाणैः प्रसभं निपातितैः
चकार नादं घननादनिःस्वनः ।
समुत्पपाताशु नभः स मारुतिः
भुजोरुविक्षेपणघोरदर्शनः ॥ २१ ॥

बहुत बाणों के लगने से हनुमान जी गर्जते हुए आकाश की ओर उड़े। उस समय उनकी भुजाओं और जाँघों के हिलने से उनका रूप देख बड़ा डर लगता था ॥ २१ ॥

समुत्पतन्तं समभिद्रवद्बली
स राक्षसानां प्रवरः प्रतापवान् ।
रथी रथिश्रेष्ठतमः किरञ्शरैः
पयोधरः शैलमिवाश्मवृष्टिभिः ॥ २२ ॥

जब हनुमान जी उड़ कर आकाश में पहुँचे तब राक्षस-श्रेष्ठ, शूरप्रवर, प्रतापी एवं बलवान् अक्षयकुमार उन पर बाणों की वर्षा वैसे ही करने लगा; जैसे मेघ पर्वत पर ओलों की वर्षा करते हैं ॥ २२ ॥

स ताञ्शरांस्तस्य विमोक्षयन्कपिः
चचार वीरः पथि वायुसेविते ।

शरान्तरे मारुतवद्विनिष्पतन्
मनोजवः संयति चण्डविक्रमः ॥ २३ ॥

युद्ध में भयङ्कर विक्रम दिखाने वाले और मन से भी अधिक वेगगामी वीर पवननन्दन हनुमान जी, पवनदेव की तरह बाणों की घात को बचाते बाणों के बीच में घूम रहे थे ॥ २३ ॥

तमात्तबाणासनमाहवोन्मुखं
खमास्तृणन्तं विशिखैः शरोत्तमैः ।
अवैक्षताक्षं बहुमानचक्षुषा
जगाम चिन्तां च स मारुतात्मजः ॥ २४ ॥

जब हनुमान जी ने देखा कि, अक्षय ने तो विविध प्रकार के बाणों से आकाश ही को ढक दिया, तब तो हनुमान जी अक्षय को बहुत सम्मान की दृष्टि से देख कर, मन ही मन सोचने लगे ॥२४॥

ततः शरैर्भिन्नभुजान्तरः कपिः
कुमारवीर्येण महात्मना नदन् ।
महाभुजः कर्मविशेषतत्त्ववित्
विचिन्तयामास रणे पराक्रमम् ॥ २५ ॥

इतने में जब वीर अक्षयकुमार ने हनुमान जी की छाती में अनेक बाण मारे, जिनसे उनका वक्षःस्थल क्षत विक्षत हो गया; तब कार्यपटु, महाबाहु हनुमान जी गर्जे और अक्षय के युद्ध सम्बन्धी पराक्रम के विषय में विचारने लगे ॥ २५ ॥

अबालवद्बालदिवाकरप्रभः
करोत्ययं कर्म महन्महाबलः ।

न चास्य सर्वाहवकर्मशोभिनः
प्रमापणे मे मतिरत्र जायते ॥ २६ ॥

और मन ही मन कहने लगे कि, प्रातःकालीन सूर्य की तरह कान्तिमान, महाबली एवं धैर्यशाली अक्षय ने वीर पुरुष की तरह कार्य किया है। युद्ध के समस्त कर्मों में यह कुशल है। अतः ऐसे रणकुशल वीर्य का वध करने की इस समय मेरी इच्छा नहीं होती ॥ २६ ॥

अयं महात्मा च महांश्च वीर्यतः
समाहितश्चातिसहश्च संयुगे ।
असंशयं कर्मगुणोदयादयं
सनागयक्षैर्मुनिभिश्च पूजितः ॥ २७ ॥

यह धैर्य सम्पन्न अक्षय, बड़ा बलवान है, युद्ध करने को तत्पर है और अतिशय क्लेशसहिष्णु है तथा कार्यकुशल है। कार्यकुशल और गुणवान होने के कारण, नाग, यक्ष, और ऋषियों द्वारा यह सत्कार किये जाने योग्य है ॥ २७ ॥

पराक्रमोत्साहविवृद्धमानसः
समीक्षते मां प्रमुखागतः स्थितः ।
पराक्रमो ह्यस्य मनांसि कम्पयेत्
सुरासुराणामपि शीघ्रगामिनः ॥ २८ ॥

देखो, पराक्रम और उत्साह से इसके मन का उत्साह कैसा चढ़ा बढ़ा हुआ है। यह मेरे सामने खड़ा मेरी ओर देख रहा है, इस फुर्तीले और रणबांकुरे का पराक्रम देवताओं और दैत्यों के भी मन को भयभीत करने वाला है ॥ २८ ॥

न खल्वयं नाभिभवेदुपेक्षितः
पराक्रमो ह्यस्य रणे विवर्धते ।
प्रमापणं त्वेव ममास्य रोचते
न वर्धमानोऽग्निरुपेक्षितुं क्षमः ॥ २९ ॥

युद्ध में इसका जैसा उत्तरोत्तर पराक्रम बढ़ता जा रहा है, उस पर ध्यान दे।कर, यदि मैं अब इसकी उपेक्षा करूँ, तो यह निस्सन्देह मुझे पराजित करेगा। अतः इसका घात करना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है ; क्योंकि बढ़ती हुई आग की उपेक्षा करनी ठीक नहीं॥ २९ ॥

इति प्रवेगं तु परस्य तर्कयन्
स्वकर्मयोगं च विधाय वीर्यवान् ।
चकार वेगं तु महाबलस्तदा
मतिं च चक्रेऽस्य वधे महाकपिः ॥ ३० ॥

इस प्रकार महाबली हनुमान जी शत्रु के पराक्रम को विचार कर और अपना कर्त्तव्य स्थिर कर बड़ी शीघ्रता से उसके वध में तत्पर हुए ॥ ३० ॥

स तस्य तानष्ट हयान्महाजवान्
समाहितान्भारसहान्विवर्तने ।
जघान वीरः पथि वायुसेविते
तलप्रहारैः पवनात्मजः कपिः ॥ ३१ ॥

ऐसा निश्चय कर, पवननन्दन महाबली हनुमान जी ने आकाश-गामी और बड़े भार को ढोने वाले तथा अनेक प्रकार के चक्कर

काटने में कुशल, अक्षय के रथ के आठो घोड़ों को आकाश ही में थप्पड़ मार मार कर मार डाला ॥ ३१ ॥

ततस्तलेनाभिहतो महारथः
स तस्य पिङ्गाधिपमन्त्रिनिर्जितः ।
प्रभग्ननीडः[1] परिमुक्तकूबरः[2]
पपात भूमौ हतवाजिरम्बरात् ॥ ३२ ॥

सुग्रीव के आमात्य हनुमान जी के चपेटों से उस बड़े रथ के घोड़े मारे गये और उसके रथ की बैठक टूट गयी और युगंधर (रथ का वह भाग जिसमें जुआँ जुड़ा रहता है) खुल जाने के कारण, रथ आकाश से गिरा ॥ ३२ ॥

स तं परित्यज्य महारथो रथं
सकार्मुकः खड्गधरः खमुत्पतन् ।
तपोभियोगादृषिरुग्रवीर्यवान्
विहाय देहं मरुतामिवालयम् ॥ ३३ ॥

महाबलवान अक्षय उस रथ को छोड़, हाथ में तलवार और धनुष लेकर, फिर आकाश में वैसे ही जा पहुँचा, जैसे तपः-प्रभाव से उग्रतपस्वी ऋषि, देह त्याग कर स्वर्ग में पहुँच जाते हैं ॥ ३३ ॥

ततः कपिस्तं विचरन्तमम्बरे
पतत्रिराजानिलसिद्धसेविते ।

---

१ नीडं—रथिस्थानम् । (शि०) २ कूबरः—युगन्धरः । (गो०)

समेत्य तं मारुततुल्यविक्रमः
क्रमेण जग्राह स पादयोर्दृढम् ॥ ३४ ॥

तब पवनतुल्य पराक्रमी हनुमान जी ने, आकाश में घूमते फिरते और युद्ध करते हुए अक्षयकुमार के दोनों पैरों को बड़ी दृढ़ता से पकड़ा ॥ ३४ ॥

स तं समाविध्य सहस्रशः कपिः
महोरगं गृह्य इवाण्डजेश्वरः ।
मुमोच वेगात्पितृतुल्यविक्रमो
महीतले संयति वानरोत्तमः ॥ ३५ ॥

जैसे गरुड़ किसी बड़े साँप को पकड़ झकझोर डालते हैं, उसी प्रकार अक्षय को सहस्रों बार झकझोर और घुमा कर, अपने पिता पवन के समान पराक्रमशाली हनुमान ने संग्रामभूमि में दे पटका ॥ ३५ ॥

स भग्नबाहूरुकटीशिरोधरः
क्षरन्नसृङ् निर्मथितास्थिलोचनः ।
प्रभिन्नसन्धिः प्रविकीर्णबन्धनो
हतः क्षितौ वायुसुतेन राक्षसः ॥ ३६ ॥

उस पटकी से अक्षय की बाँहें, जाँघें, कमर, सिर और अधर चूर चूर हो गये। हड्डी और आँखें भी निकल पड़ीं। सब जोड़ खुल गये। शरीर के जोड़ों के बंधन भी बिखर गये। इस प्रकार पवननन्दन हनुमान जी ने उस राक्षस को मार डाला ॥ ३६ ॥

महाकपिर्भूमितले निपीड्य तं
चकार रक्षोधिपतेर्महद्भयम् ।

महर्षिभिश्चक्रचरैर्महाव्रतैः
समेत्य भूतैश्च सयक्षपन्नगैः ॥ ३७ ॥
सुरैश्च सेन्द्रैर्भृशजातविस्मयैः
हते कुमारे स कपिर्निरीक्षतः ॥ ३८ ॥

हनुमान जी उसी पर कूद पड़े और इस प्रकार उन्होंने रावण के मन में महाभय उत्पन्न कर दिया। अक्षयकुमार के मारे जाने पर महर्षि, ग्रह, यक्ष और पन्नग तथा इन्द्र सहित समस्त देवगण वहाँ जा विस्मित हो, हनुमान जी को निहारने लगे ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

निहत्य तं वज्रिसुतोपमं रणे
कुमारमक्षं क्षतजोपमेक्षणम्।
तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणं
कृतक्षणः काल इव प्रजाक्षये ॥ ३९ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

युद्ध में वज्र के समान दृढ़ और लाल नेत्र वाले अक्षयकुमार का वध कर और युद्ध से अवकाश पा, वीर हनुमान, प्रलयकालीन काल की तरह, फाटक के ऊपर पुनः जा बैठे ॥ ३९ ॥

सुन्दरकाण्ड का सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—※—

ततस्तु रक्षोधिपतिर्महात्मा
हनूमताऽक्षे निहते कुमारे ।
मनः समाधाय तदेन्द्रकल्पं
समादिदेशेन्द्रजितं स रोषात् ॥ १ ॥

तदनन्तर हनुमान जी द्वारा अक्षयकुमार के मारे जाने पर, राक्षसराज रावण ने धैर्य धारण कर, तथा कुपित हो, इन्द्र के समान पराक्रमी इन्द्रजीत मेघनाद को युद्ध में जाने की आज्ञा दी ॥ १ ॥

त्वमस्त्र[1] विच्छस्त्रविदां वरिष्ठः
सुरासुराणामपि शोकदाता ।
सुरेषु सेन्द्रेषु च दृष्टकर्मा
पितामहाराधनसञ्चितास्त्रः ॥ २ ॥

आज्ञा देते हुए उसने मेघनाद से कहा—तुम ब्रह्मास्त्र का चलाना जानने वाले, शस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ और सुर एवं असुरों को भी शोक के देने वाले हो। इन्द्रादि समस्त देवता तुम्हारे युद्धविक्रम को देख चुके हैं और ब्रह्मा जी का आराधन कर तुमने अस्त्रों को पाया है ॥ २ ॥

तवास्त्रबलमासाद्य नासुरा न मरुद्गणाः ।
न शेकुः समरे स्थातुं सुरेश्वरसमाश्रिताः ॥ ३ ॥

---

१ अस्त्रवित्—ब्रह्मास्त्रवित् । (गो०)

तुम्हारे अस्त्रों के सामने, उनचास पवनों सहित देवगण, इन्द्र का सहारा पाकर भी, युद्ध में खड़े नहीं रह सकते॥ ३ ॥

न कश्चित्त्रिषु लोकेषु संयुगे न गतश्रमः ।
भुजवीर्याभिगुप्तश्च तपसा चाभिरक्षितः ।
देशकालविभागज्ञस्त्वमेव मतिसत्तमः ॥ ४ ॥

त्रिलोकी में मुझे ऐसा कोई नहीं देख पड़ता, जो युद्ध में तुमसे परास्त न हुआ हो। तुम अपने भुजबल और तपोबल से सब प्रकार से सुरक्षित हो। तुम देश और काल के जानने वाले और बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हो॥ ४ ॥

न तेऽस्त्यशक्यं समरेषु कर्मणा
न तेऽस्त्यकार्यं मतिपूर्वमन्त्रणे ।
न सोऽस्ति कश्चित्त्रिषु संग्रहेषु[1] वै
न वेद यस्तेऽस्त्रबलं बलं च ते ॥ ५ ॥

युद्धकला में कोई ऐसा कार्य नहीं, जिसे तुम न कर सकते हो। विवेक पूर्वक विचार करने पर तुमसे कोई बात अविदित नहीं रह सकती। त्रिलोकी में ऐसा कोई नहीं है, जो तुम्हारे अस्त्रबल और शारीरिक बल को न जानता हो॥ ५ ॥

ममानुरूपं तपसो बलं च ते
पराक्रमश्चास्त्रबलं च संयुगे ।

---

१ संग्रहाः—लोकाः । (गो०)

न त्वां समासाद्य[1] [2]रणावमर्दे
मनः[3] श्रमं गच्छति निश्चितार्थम् ॥ ६ ॥

तपोबल, शारीरिक बल, पराक्रम अस्त्रबल और युद्धकला में तुम मेरे समान हो। रणसङ्कट के समय मुझे जब तुम्हारा स्मरण हो आता है, तब मुझे अपने विजय का निश्चय हो जाता है और तब मेरे मन की समस्त चिन्ताएँ और विषाद दूर हो जाते हैं ॥ ६ ॥

निहताः किङ्कराः सर्वे जम्बुमाली च राक्षसः ।
अमात्यपुत्रा वीराश्च पञ्च सेनाग्रयायिनः ॥ ७ ॥

देखो, अस्सी हज़ार किङ्कर, राक्षस जम्बुमाली, मन्त्रिपुत्र और वीर पाँच सेनापति, हाथी, घोड़े और रथों सहित बड़ी बलवान सेना—ये सब मारे जा चुके हैं ॥ ७ ॥

बलानि सुसमृद्धानि साश्वनागरथानि च ।
सहोदरस्ते दयितः कुमारोऽक्षश्च सूदितः ।
न हि तेष्वेव मे सारो यस्त्वय्यरिनिषूदन ॥ ८ ॥

तुम्हारा प्यारा सगा भाई अक्षयकुमार भी मारा जा चुका है। हे शत्रुनिषूदन ! मैं उन सब में तुम्हारे समान बल का होना नहीं मानता, तुम उन सब से बढ़ कर बलवान हो ॥ ८ ॥

इदं हि दृष्ट्वा मतिमन्महद्बलं
कपेः प्रभावं च पराक्रमं च ।

---

१ आसाद्य—विचिन्त्य । (गो०) २ रणावमर्दे—रणसङ्कटे । (गो०) ३ मे मनः श्रमं न गच्छति—विषादं न गच्छति । (गो०)

त्वमात्मनश्चापि समीक्ष्य सारं
कुरुष्व वेगं स्वबलानुरूपम् ॥ ९ ॥

अतः अब तुम उस बन्दर की अन्तःशक्ति और पुरुषार्थ तथा अपना बल विचार कर, सामर्थ्यानुसार अपना बल दिखलाओ ॥९॥

बलावमर्दस्त्वयि सन्निकृष्टे
यथागते शाम्यति शान्तशत्रौ ।
तथा समीक्ष्यात्मबलं परं च
समारभस्वास्त्रविदां वरिष्ठ ॥ १० ॥

हे अस्त्रविदों में श्रेष्ठ! ऐसा करो जिससे तुम्हारे युद्धक्षेत्र में जाते ही मेरी सेना का नाश होना बंद हो जाय। अतः तुम अपना और वानर का बल विचार कर, कार्य आरम्भ करना ॥ १० ॥

न वीर सेना गणशोच्यवन्ति
न वज्रमादाय विशालसारम् ।
न मारुतस्यास्य गतेः प्रमाणं
न चाग्निकल्पः करणेन हन्तुम् ॥ ११ ॥

हे वीर! अपने साथ सेना ले जाने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह बलवान शत्रु के सामने नहीं ठहरती। हनुमान के लिये बड़ा भारी वज्र भी निष्फल है। क्योंकि वह वायु का पुत्र है और वायु की गति का ठीक ही क्या है? अतः वज्र उसका कुछ नहीं कर सकता। फिर यदि कहो कि, जब समीप वह आवे तब उसे मुक्कों और थपेड़ों से मारे, तो यह भी ठीक नहीं—क्योंकि वह अग्नि तुल्य है। उसके ऊपर घूँसों थपेड़ों का असर ही क्या हो सकता है? ॥ ११ ॥

तमेवमर्थं प्रसमीक्ष्य सम्यक्
स्वकर्मसाम्याद्धि समाहितात्मा ।
स्मरंश्च दिव्यं धनुषोऽस्त्रवीर्यं
व्रजाक्षतं कर्म समारभस्व ॥ १२ ॥

अतएव पूर्वकथित बातों को ध्यान में रख, अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये, अन्यूनातिरिक्त एकाग्रचित्त हो और धनुष सम्बन्धी अस्त्रबल का सहारा लेकर, तुम गमन करो और निर्विघ्न अपना कार्य आरम्भ करो अर्थात् बिना मन्त्राभिषिक्त अस्त्रप्रयोग के तुम हनुमान को नहीं पकड़ सकोगे। अतः अस्त्रों के मन्त्रों को याद कर, तुम जाओ ॥ १२ ॥

न खल्वियं मतिः श्रेष्ठा यत्त्वां संप्रेषयाम्यहम् ।
इयं च राजधर्माणां क्षत्रस्य च मतिर्मता ॥ १३ ॥

तुमको युद्ध में भेजना निश्चय ही ठीक नहीं है, परन्तु किया क्या जाय। राजधर्म का विधान और क्षत्रियोचित कर्त्तव्यपालन इसके लिये मुझे विवश करता है ॥ १३ ॥

नानाशस्त्रैश्च संग्रामे वैशारद्यमरिन्दम ।
अवश्यमेव बोद्धव्यं [1]काम्येश्च विजयो रणे ॥ १४ ॥

जो हो, हे शत्रुहन्ता! युद्ध में विविध अस्त्रों के प्रहार की विधि को अवश्य जान लेना चाहिये और विजयप्राप्ति के लिये प्रार्थी होना चाहिये अर्थात् जयप्राप्ति के लिये सब अस्त्रों के प्रयोग जान लेने चाहिए ॥ १४ ॥

---

१ काम्यः—प्रार्थनीयः। (गो०)

ततः पितुस्तद्वचनं निशम्य
प्रदक्षिणं [1]दक्षसुतप्रभावः।
चकार भर्तारमतित्वरेण
रणाय वीरः प्रतिपन्नबुद्धिः॥ १५॥

अपने पिता के ऐसे वचन सुन, देवों के समान प्रभाव वाला मेघनाद, रावण की परिक्रमा कर और युद्ध करने का निश्चय कर, विना क्षण भर की देर किये, वहाँ से चल दिया॥ १५॥

ततस्तैः स्वगणैरिष्टैरिन्द्रजित्प्रतिपूजितः।
युद्धोद्धतः कृतोत्साहः संग्रामं प्रत्यपद्यत॥ १६॥

इन्द्रजीत अपने इष्टमित्रों द्वारा सम्मानित हुआ। तदनन्तर वह युद्ध के लिये उत्साहित हो, रणक्षेत्र में जा पहुँचा॥ १६॥

श्रीमान्पद्मपलाशाक्षो राक्षसाधिपतेः सुतः।
निर्जगाम महातेजाः समुद्र इव पर्वसु॥ १७॥

उस समय वह रावण का पुत्र, कमलदल के समान बड़े बड़े नेत्रों वाला, परमतेजस्वी इन्द्रजीत युद्ध के उत्साह से पूर्ण हो, युद्ध के लिये वैसे ही आगे बढ़ा; जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र बढ़ता है॥ १७॥

स पक्षिराजानिलतुल्यवेगैः
[2]व्यालैश्चतुर्भिः सिततीक्ष्णदंष्ट्रैः।

---

१ दक्षसुतप्रभावः—देवाः। (गो०) २ व्यालैः हिंस्रपशुभिः—सिंहैरिति यावत्। (गो०)

रथं समायुक्तमसङ्गवेगं
समारुरोहेन्द्रजिदिन्द्रकल्पः ॥ १८ ॥

इन्द्र के समान इन्द्रजीत, गरुड़ की तरह शीघ्रगामी और पैने दाँतों वाले चार सिंहों से जुते रथ पर सवार हुआ ॥ १८ ॥

स रथी धन्विनां श्रेष्ठः शस्त्रज्ञोऽस्त्रविदां वरः ।
रथेनाभि ययौ क्षिप्रं हनूमान्यत्र सोऽभवत् ॥ १९ ॥

समस्त धनुषधारियों और समस्त अस्त्र जानने वालों में श्रेष्ठ, अस्त्र चलाने के ज्ञान से सम्पन्न और युद्धविद्या में पटु इन्द्रजीत, तुरन्त रथ पर सवार हो, वहाँ जा पहुँचा, जहाँ हनुमान जी थे ॥ १९ ॥

स तस्य रथनिर्घोषं ज्यास्वनं कार्मुकस्य च ।
निशम्य हरिवीरोऽसौ संप्रहृष्टतरोऽभवत् ॥ २० ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान जी उसके रथ के चलने की गड़गड़ाहट, और धनुष के रोदे की टङ्कार का शब्द सुन, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २० ॥

स महच्चापमादाय शितशल्यांश्च सायकान् ।
हनुमन्तमभिप्रेत्य जगाम रणपण्डितः ॥ २१ ॥

रणपण्डित मेघनाद धनुष और तेज फर लगे हुए शर ले, हनुमान जी के सामने जा पहुँचा ॥ २१ ॥

तस्मिंस्ततः संयति जातहर्षे
रणाय निर्गच्छति बाणपाणौ ।

दिशश्च सर्वाः कलुषा बभूवुः
मृगाश्च रौद्रा बहुधा विनेदुः ॥ २२ ॥

जिस समय मेघनाद हर्षित हो, हाथ में तीर ले कर निकला, उस समय दशों दिशाएँ मलीन हो गयीं, शृगाल आदि जन्तु बराबर भयङ्कर चीत्कार करने लगे ॥ २२ ॥

समागतास्तत्र तु नागयक्षा
महर्षयश्चक्रचराश्च¹ सिद्धाः ।
नभः समावृत्य च पक्षिसंघा
विनेदुरुच्चैः परमप्रहृष्टाः ॥ २३ ॥

उस संग्राम को देखने के लिये नाग, यक्ष, महर्षि, ग्रह तथा सिद्धों के दल के दल तथा विविध प्रकार के पक्षिगण भी अत्यन्त प्रसन्न हो, ज़ोर से चिल्लाते हुए और आकाश को आच्छादित करते हुए वहाँ जा उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

आयान्तं सरथं दृष्ट्वा तूर्णमिन्द्रजितं कपिः ।
विननाद महानादं व्यवर्धत च वेगवान् ॥ २४ ॥

इन्द्रजीत को रथ में बैठ, बड़ी शीघ्रता से आते देख, अति वेग से गम्भीर गर्जन करते हुए, हनुमान जी ने अपना शरीर बढ़ाया ॥ २४ ॥

इन्द्रजित्तु रथं दिव्यमास्थितश्चित्रकार्मुकः ।
धनुर्विस्फारयामास तडिदूर्जितनिःस्वनम् ॥ २५ ॥

---

¹ चक्रचराः—सञ्चारिणः । (गो०)

दिव्य रथ पर चढ़ और विचित्र धनुष हाथ में ले, इन्द्रजीत ने अपने धनुष को, जिसकी चमक बिजली के समान थी और जिससे बड़ा शब्द होता था, रोदा चढ़ा कर तैयार किया ॥ २५ ॥

ततः समेतावतितीक्ष्णवेगौ
महाबलौ तौ रणनिर्विशङ्कौ ।
कपिश्च रक्षोधिपतेश्च पुत्रः
सुरासुरेन्द्राविव बद्धवैरौ ॥ २६ ॥

अब ये दोनों अति वेगवान् महाबली हनुमान जी और रावण-कुमार इन्द्रजीत, जो निर्भय हो युद्ध करते थे और जिनका देव दैत्यों की तरह वैर बंध गया था, एकत्र हुए ॥ २६ ॥

स तस्य वीरस्य महारथस्य
धनुष्मतः संयति संमतस्य ।
शरप्रवेगं व्यहनत्प्रवृद्धः
चचार मार्गे पितुरप्रमेयः ॥ २७ ॥

उस महारथी वीर इन्द्रजीत के धनुष से छूटे हुए तीरों की मार को पिता के समान अप्रमेय बलशाली हनुमान जी आकाश में घूमते हुए पैतरे बदल, बचाने लगे ॥ २७ ॥

ततः शरानायततीक्ष्णशल्यान्
सुपत्रिणः काञ्चनचित्रपुङ्खान् ।
मुमोच वीरः परवीरहन्ता
सुसन्नतान्वज्रनिपातवेगान् ॥ २८ ॥

यह देख शत्रुहन्ता इन्द्रजीत ने बहुत से ऐसे बड़े बड़े बाण छोड़े, जिनकी फालें बड़ी तेज़ थीं और जो पुँखयुक्त, सुवर्ण से चित्रित और वज्र के समान वेगवान थे ॥ २८ ॥

स तस्य तत्स्यन्दननिःस्वनं च
मृदङ्गभेरीपटहस्वनं च ।
विकृष्यमाणस्य च कार्मुकस्य
निशम्य घोषं पुनरुत्पपात ॥ २९ ॥

हनुमान जी उसके रथ, मृदङ्ग, भेरी और नगाड़े के शब्द को तथा अति भयङ्कर उस धनुष के टंकारशब्द को सुन, फिर आकाश में उछल कर पहुँच गये ॥ २६ ॥

शराणामन्तरेष्वाशु व्यवर्तत महाकपिः ।
हरिस्तस्याभिलक्ष्यस्य मोघयँल्लक्ष्यसंग्रहम् ॥ ३० ॥

वे उसके बाणों की वर्षा में पैतरा बदलते और उसके निशाने को बचाते, घूम रहे थे ॥ ३० ॥

शराणामग्रतस्तस्य पुनः समभिवर्तत ।
प्रसार्य हस्तौ हनुमानुत्पपातानिलात्मजः ॥ ३१ ॥

बीच बीच में वे बाणों के सामने आ जाते और फिर वहाँ से हट जाते थे । वे दोनों हाथों को पसारे आकाश में उड़ रहे थे ॥ ३१ ॥

तावुभौ वेगसंपन्नौ रणकर्मविशारदौ ।
सर्वभूतमनोग्राहि चक्रतुर्युद्धमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

वे दोनों ही वेगवान और रणपण्डित थे। वे दोनों ही सब प्राणियों के मन को हरने वाला उत्तम युद्ध करते थे॥ ३२॥

हनूमतो वेद न राक्षसोऽन्तरं
न मारुतिस्तस्य महात्मनोऽन्तरम्।
परस्परं निर्विषहौ बभूवतुः
समेत्य तौ देवसमानविक्रमौ॥ ३३॥

न तो हनुमान जी को मेघनाद का छिद्र मालूम हुआ और न मेघनाद को हनुमान जी का छिद्र कहीं जान पड़ा। दोनों ही समान पराक्रमशाली थे। अतएव दोनों आपस में असह्य पराक्रमी हो गये॥ ३३॥

ततस्तु लक्ष्ये स विहन्यमाने
शरेष्वमोघेषु च संपतत्सु।
जगाम चिन्तां महतीं महात्मा
समाधिसंयोगसमाहितात्मा॥ ३४॥

तदनन्तर धैर्यवान राक्षसराज का पुत्र मेघनाद अनेक अमोघ बाण चला कर भी जब हनुमान को विद्ध न कर पाया, तब समाधि योग करने वाले की तरह एकाग्रचित्त हो, मेघनाद विचारने लगा॥ ३४॥

ततो मतिं राक्षसराजसूनुः
चकार तस्मिन्हरिवीरमुख्ये।
अवध्यतां तस्य कपेः समीक्ष्य
कथं निगच्छेदिति निग्रहार्थम्॥ ३५॥

हनुमान जी को अवध्य जान कर, इनको पकड़ने का क्या उपाय करना चाहिये, यही मेघनाद एकाग्रचित्त हो सोचने लगा ॥ ३५ ॥

ततः पैतामहं वीरः सोऽस्त्रमस्त्रविदां वरः ।
सन्दधे सुमहातेजास्तं हरिप्रवरं प्रति ॥ ३६ ॥

अस्त्र जानने वालों में श्रेष्ठ मेघनाद ने पितामह ब्रह्मा जी के दिये हुए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग हनुमान जी के ऊपर किया ॥ ३६ ॥

अवध्योऽयमिति ज्ञात्वा तमस्त्रेणास्त्रतत्त्ववित् ।
निजग्राह महाबाहुर्मारुतात्मजमिन्द्रजित् ॥ ३७ ॥

उस अस्त्र के मर्म-वेत्ता मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र से भी हनुमान जी को अवध्य जान हनुमान जी को ब्रह्मास्त्र से बाँध लिया ॥ ३७ ॥

तेन बद्धस्ततोऽस्त्रेण राक्षसेन स वानरः ।
अभवन्निर्विचेष्टश्च पपात च महीतले ॥ ३८ ॥

तब ब्रह्मास्त्र से इन्द्रजीत द्वारा बाँधे जाने पर, हनुमान जी निश्चेष्ट हो पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३८ ॥

ततोऽथ बुद्ध्वा स तदस्त्रबन्धं
प्रभोः प्रभावाद्विगतात्मवेगः ।
पितामहानुग्रहमात्मनश्च
विचिन्तयामास हरिप्रवीरः ॥ ३९ ॥

जब हनुमान जी को यह जान पड़ा कि, वह ब्रह्मास्त्र से बाँधे गये हैं और जब उन्होंने उस अस्त्र का प्रभाव आज़माया ; तब उन्होंने समझा कि, यह स्वामी का प्रताप है इसीसे मेरा वेग कम नष्ट हुआ

है। यह देख हनुमान जी ने अपने ऊपर ब्रह्मा जी का अनुग्रह समझा ॥ ३९ ॥

ततः स्वायंभुवैर्मन्त्रैर्ब्रह्मास्त्रमभिमन्त्रितम् ।
हनूमांश्चिन्तयामास वरदानं पितामहात् ॥ ४० ॥

वह अस्त्र स्वयंभू ब्रह्मा जी के मंत्र से अभिमंत्रित था, अतः हनुमान जी ने उस वरदान का स्मरण किया, जो उन्हें ब्रह्मा जी से मिला था ॥ ४० ॥

न मेऽस्य बन्धस्य च शक्तिरस्ति
विमोक्षणे लोकगुरोः प्रभावात् ।
इत्येव मत्वा विहितोऽस्त्रबन्धो
मयाऽऽत्मयोनेरनुवर्तितव्यः ॥ ४१ ॥

वे मन ही मन कहने लगे कि, लोकगुरु ब्रह्मा जी के प्रभाव से इस अस्त्र के बन्धन से मुक्त होने की शक्ति मुझमें नहीं है, अतः मुहूर्त्त भर तक मुझे इसमें बँधा रहना चाहिये। यह विचार हनुमान जी उस अस्त्र के बंधन में बंध गये ॥ ४१ ॥

स वीर्यमस्त्रस्य कपिर्विचार्य
पितामहानुग्रहमात्मनश्च ।
विमोक्षशक्तिं परिचिन्तयित्वा
पितामहाज्ञामनुवर्तते स्म ॥ ४२ ॥

हनुमान जी उस ब्रह्मास्त्र के बल को तथा ब्रह्मा जी के वरदान को और इस अस्त्र से छूटने की अपनी शक्ति को भली भाँति सोच विचार कर, ब्रह्मा जी की आज्ञा का पालन करते रहे ॥ ४२ ॥

अस्त्रेणापि हि वद्धस्य भयं मम न जायते ।
पितामहमहेन्द्राभ्यां रक्षितस्यानिलेन च ॥ ४३ ॥

उन्होंने यह भी विचारा कि, यद्यपि मैं इस ब्रह्मास्त्र से बन्ध गया हूँ; तथापि मुझको इससे भय नहीं लगता। क्योंकि, ब्रह्मा, इन्द्र और पवन मेरी रक्षा कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

ग्रहणे वापि रक्षोभिर्महान्मे गुणदर्शनः ।
राक्षसेन्द्रेण संवादस्तस्माद्गृह्णन्तु मां परे ॥ ४४ ॥

इन राक्षसों द्वारा अपने पकड़े जाने से, मुझे तो बड़ा लाभ जान पड़ता है। क्योंकि जब ये लोग मुझे पकड़ कर राक्षसराज के पास ले जायगे; तब मेरी और रावण की बातचीत हो सकेगी। अतः भले ही ये मुझे पकड़ लें ॥ ४४ ॥

स निश्चितार्थः परवीरहन्ता
समीक्ष्यकारी विनिवृत्तचेष्टः ।
परैः प्रसह्याभिगतैर्निगृह्य
ननाद तैस्तैः परिभर्त्स्यमानः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अपने लाभ की बात सोच, समझ बूझ कर काम करने वाले एवं शत्रुहन्ता हनुमान जी निश्चेष्ट हो; जहाँ के तहाँ पड़े रहे और जब राक्षस पास आ बरजोरी पकड़ कर डपटने और कटु-वचन कहने लगे; तब उनको सहते हुए, वे उच्चस्वर से सिंहनाद करने लगे ॥ ४५ ॥

ततस्तं राक्षसा दृष्ट्वा निर्विचेष्टमरिन्दमम् ।
बबन्धुः शणवल्कैश्च द्रुमचीरैश्च संहतैः ॥ ४६ ॥

शत्रुहन्ता हनुमान जी को निश्चेष्ट पड़ा देख, राक्षस लोग उनको सन के और पेड़ों की छालों के बने रस्सों से कस कर बाँधने लगे ॥ ४६ ॥

स रोचयामास परैश्च बन्धनं
प्रसह्य वीरैरभिनिग्रहं च ।
कौतूहलान्मां यदि राक्षसेन्द्रो
द्रष्टुं व्यवस्येदिति निश्चितार्थः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार अपना बाँधा जाना और शत्रुओं की गालियाँ खाना अथवा उनके वश में होना, हनुमान जी ने इस लिये पसंद किया कि, कदाचित् रावण कौतुहलवश मुझे बुलवावे तो उसके साथ बातचीत भी हो ही जायगी ॥ ४७ ॥

स बद्धस्तेन वल्केन विमुक्तोऽस्त्रेण वीर्यवान् ।
अस्त्रबन्धः स चान्यं हि न बन्धमनुवर्तते ॥ ४८ ॥

जब बलवान हनुमान जी को राक्षसों ने रस्सों से बाँधा, तब वे अस्त्रबन्धन से छूट गये। क्योंकि अस्त्रबन्धन, अन्य रस्सी आदि के बन्धन को नहीं मानता ॥ ४८ ॥

अथेन्द्रजित्तु द्रुमचीरबद्धं
विचार्य वीरः कपिसत्तमं तम् ।
विमुक्तमस्त्रेण जगाम चिन्तां
नान्येन बद्धो ह्यनुवर्ततेऽस्त्रम् ॥ ४९ ॥

जब इन्द्रजीत ने देखा कि, कपिश्रेष्ठ को राक्षस रस्सों से बाँध रहे हैं और यह अस्त्रबन्धन से निर्मुक्त हो गये, तब उसे बड़ी चिन्ता

हुई और वह सोचने लगा कि, अन्य बन्धन से ब्रह्मास्त्र का बन्धन तो विफल हो गया ॥ ४९ ॥

अहो महत्कर्म कृतं निरर्थकं
न राक्षसैर्मन्त्रगतिर्विमृष्टा ।
पुनश्च नास्त्रे विहतेऽस्त्रमन्यत्
प्रवर्तते संशयिताः स्म सर्वे ॥ ५० ॥

वह पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा—हा ! राक्षसों ने शस्त्र की शक्ति को जाने बिना ही मेरा बना बनाया यह बड़ा भारी काम मिट्टी में मिला दिया । क्योंकि एक बार ब्रह्मास्त्र के विफल होने से अब पुनः इसका प्रयोग भी तो नहीं किया जा सकता । अतः हम लोग फिर इस वानर के सङ्कट में फँस गये ॥ ५० ॥

अस्त्रेण हनुमान्मुक्तो नात्मानमवबुध्यत ।
कृष्यमाणस्तु रक्षोभिस्तैश्च बन्धैर्निपीडितः ॥ ५१ ॥

हनुमान जी ने ब्रह्मास्त्र के बन्धन से मुक्त हो कर भी कुछ नहीं किया । राक्षस लोग उनको खींच रहे थे और पीड़ा पहुँचा रहे थे ॥ ५१ ॥

हन्यमानस्ततः क्रूरै राक्षसैः काष्ठमुष्टिभिः ।
समीपं राक्षसेन्द्रस्य प्राकृष्यत स वानरः ॥ ५२ ॥

वे राक्षस हनुमान जी को लकड़ी और घूँसों से मार रहे थे और उनको खींच कर रावण के पास लिये जा रहे थे ॥ ५२ ॥

अथेन्द्रजित्तं प्रसमीक्ष्य मुक्तम्
अस्त्रेण बद्धं द्रुमचीरसूत्रैः ।

व्यदर्शयत्तत्र महाबलं तं
हरिप्रवीरं सगणाय राज्ञे ॥ ५३ ॥

मेघनाद ने महाबली कपिश्रेष्ठ हनुमान जी को ब्रह्मास्त्र के बँधन से मुक्त और रस्सों से बँधा देख, उनको ले जा कर मन्त्रियों सहित बैठे हुए रावण के सामने उपस्थित कर दिया ॥ ५३ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं बद्धं कपिवरोत्तमम् ।
राक्षसा राक्षसेन्द्राय रावणाय न्यवेदयन् ॥ ५४ ॥

राक्षस लोगों ने मत्त हाथी की तरह बँधे हुए हनुमान जी को राक्षसराज रावण के सामने उपस्थित कर दिया ॥ ५४ ॥

कोऽयं कस्य कुतो वात्र किं कार्यं को व्यपाश्रयः ।
इति राक्षसवीराणां तत्र संजज्ञिरे कथाः ॥ ५५ ॥

यह कौन है ? किसका भेजा हुआ है ? कहाँ से आया है ? क्यों आया है ? इसके सहायक कौन कौन हैं ? बस इन्हीं सब प्रश्नों के ऊपर वे राक्षस आपस में बातचीत करते थे ॥ ५५ ॥

हन्यतां दह्यतां वापि भक्ष्यतामिति चापरे ।
राक्षसास्तत्र संक्रुद्धाः परस्परमथाब्रुवन् ॥ ५६ ॥

अन्य राक्षस जो वहाँ थे, वे कुपित हो आपस में कह रहे थे कि, इसको अभी मार डालो, इसको जला दो। अथवा आओ हम मार कर इसे खा डालें ॥ ५६ ॥

अतीत्य मार्गं सहसा महात्मा
स तत्र रक्षोधिपपादमूले ।

दृदर्श राज्ञः [1]परिचारवृद्धान्
गृहं महारत्नविभूषितं च ॥ ५७ ॥

धैर्यवान् हनुमान जी ने कुछ दूर चल कर सहसा, महामूल्यवान् रत्नों से शोभित राजमन्दिर में, राक्षसराज रावण के चरणों के समीप बूढ़े बूढ़े मन्त्रियों को बैठा हुआ देखा ॥ ५७ ॥

स ददर्श महातेजा रावणः कपिसत्तमम् ।
रक्षोभिर्विकृताकारैः कृष्यमाणमितस्ततः ॥ ५८ ॥

प्रबल प्रतापी रावण ने देखा कि, विकटाकार राक्षस लोग हनुमान जी को पकड़ कर खैंचते हुए चले आ रहे हैं ॥ ५८ ॥

राक्षसाधिपतिं चापि ददर्श कपिसत्तमः ।
तेजोबलसमायुक्तं तपन्तमिव भास्करम् ॥ ५९ ॥

हनुमान जी ने भी देखा कि, राक्षसराज रावण तेज और बल से सम्पन्न सूर्य की तरह तप रहा है ॥ ५९ ॥

स रोषसंवर्तितताम्रदृष्टिः
दशाननस्तं कपिमन्ववेक्ष्य ।
अथोपविष्टान्कुलशीलवृद्धान्
समादिशत्तं प्रति मन्त्रिमुख्यान् ॥ ६० ॥

हनुमान को देखते ही रावण की त्योरी चढ़ गयी। उसने क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर, कुलवान एवं शीलसम्पन्न तथा वृद्ध अपने मुख्य मन्त्रियों को वानर का हाल पूँछने के लिये आज्ञा दी ॥ ६० ॥

---

[1] परिचारवृद्धान्—अमात्यवृद्धान् । (गो०)

यथाक्रमं तैः स कपिर्विपृष्टः
कार्यार्थमर्थस्य च मूलमादौ।
निवेदयामास हरीश्वरस्य
दूतः सकाशादहमागतोऽस्मि ॥ ६१ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

जब उन मन्त्रियों ने हनुमान जी से पूँछा कि, तुम यहाँ क्यों और किस लिये आये हो? तब उत्तर में हनुमान जी ने कहा कि, मैं कपिराज सुग्रीव के पास से आया हूँ और मैं उनका दूत हूँ ॥ ६१ ॥

सुन्दरकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—※—

ततः स कर्मणा तस्य विस्मितो भीमविक्रमः।
हनुमान्रोषताम्राक्षो रक्षोधिपमवैक्षत ॥ १ ॥

भयङ्कार विक्रम सम्पन्न हनुमान जी, मेघनाद के उस बन्धन रूप कर्म से विस्मित हो, क्रोध से लाल नेत्र कर, रावण को देखने लगे ॥ १ ॥

भ्राजमानं महार्हेण काञ्चनेन विराजता।
मुक्ताजालावृतेनाथ मकुटेन महाद्युतिम् ॥ २

उस समय महातेजस्वी रावण बड़ा मूल्यवान् और मोतियों से जड़ा हुआ चमचमाता मुकुट धारण किये हुए था ॥ २ ॥

वज्रसंयोगसंयुक्तैर्महार्हमणिविग्रहैः ।
हैमैराभरणैश्चित्रैर्मनसेव प्रकल्पितैः ॥ ३ ॥

उस समय रावण शरीर को जिन अद्‌भुत भूषणों से भूषित किये हुए था ; वे सब सुवर्ण के थे और उनमें हीरे तथा बड़ी मूल्यवान मणियाँ जड़ी हुई थीं। वे ऐसे सुन्दर थे मानों मन लगा कर बनाये गये थे ॥ ३ ॥

महार्हक्षौमसंवीतं रक्तचन्दनरूषितम् ।
स्वनुलिप्तं विचित्राभिर्विविधाभिश्च [1]भक्तिभिः ॥ ४ ॥

रावण मूल्यवान् रेशमी वस्त्र पहिने हुए था तथा उसके शरीर में लाल चन्दन लगा हुआ था। वह विविध प्रकार के सुगन्धि युक्त कस्तूरी केसरादि पदार्थ शरीर में लगाये हुए था ॥ ४ ॥

विपुलैर्दर्शनीयैश्च रक्ताक्षैर्भीमदर्शनैः ।
दीप्ततीक्ष्णमहादंष्ट्रैः प्रलम्बदशनच्छदैः ॥ ५ ॥

उस समय वह अत्यन्त दर्शनीय हो रहा था। उसके भय उपजाने वाले लाल लाल नेत्र थे। उसके पैने और बड़े बड़े दाँत साफ होने के कारण चमचमा रहे थे। उसके ओंठ लंबे थे ॥ ५ ॥

शिरोभिर्दशभिर्वीरं भ्राजमानं महौजसम् ।
नानाव्यालसमाकीर्णैः शिखरैरिव मन्दरम् ॥ ६ ॥

---

१ भक्तिभिः—सेवनीयकस्तूर्यादिभिः । (शि०)

परम तेजस्वी वीर रावण, अनेक सर्पों से युक्त मन्दराचल के शिखर की तरह, अपने दस सिरों से शोभायमान हो रहा था ॥ ६ ॥

नीलाञ्जनचयप्रख्यं हारेणोरसि राजता ।
पूर्णचन्द्राभवक्त्रेण सबलाकमिवाम्बुदम् ॥ ७ ॥

उसके शरीर का रङ्ग नीले अंजन की तरह था और छाती के ऊपर हार झूल रहा था । उसका मुखमण्डल पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान था । उस समय वह, प्रातःकालीन सूर्य को ढके मेघ की तरह जान पड़ता था ॥ ७ ॥

बाहुभिर्बद्धकेयूरैश्चन्दनोत्तमरूषितैः ।
भ्राजमानाङ्गदैः पीनैः पञ्चशीर्षैरिवोरगैः ॥ ८ ॥

उसकी मोटी मोटी भुजाएँ, जिन पर चन्दन लगा हुआ था और जो केयूरों तथा बाजूबंदों से भूषित थीं, पांच मुख वाले भयङ्कर सर्प की तरह जान पड़ती थीं ॥ ८ ॥

महति स्फाटिके चित्रे रत्नसंयोगसंस्कृते ।
उत्तमास्तरणास्तीर्णे सूपविष्टं वरासने ॥ ९ ॥

रावण स्फटिक पत्थर की बनी एक ऐसी बड़ी और उत्तम बैठकी पर बैठा हुआ था, जिसमें जगह जगह रत्न जड़े हुए थे और जिसके ऊपर उत्तम बिछौना बिछा हुआ था ॥ ९ ॥

अलंकृताभिरत्यर्थं प्रमदाभिः समन्ततः ।
वालव्यजनहस्ताभिरारात्समुपसेवितम् ॥ १० ॥

अनेक आभूषणों से सुसज्जित स्त्रियाँ चमर और बिजन हाथ में लिये उसके चारों ओर खड़ी हुईं; उसकी सेवा कर रही थीं ॥ १० ॥

दुर्धरेण प्रहस्तेन महापार्श्वेन रक्षसा ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञैर्निकुम्भेन च मन्त्रिणा ॥ ११ ॥

वहाँ पर परामर्श देने में निपुण चार मन्त्री थे, जिनके नाम दुर्धर, प्रहस्त महापार्श्व और निकुंभ थे ॥ ११ ॥

उपोपविष्टं रक्षोभिश्चतुर्भिर्बलदर्पितैः ।
कृत्स्नः परिवृतो लोकश्चतुर्भिरिव सागरैः ॥ १२ ॥

और जो बड़े बलवान थे, उसके समीप बैठे थे । उन चार मंत्रियों के बीच बैठा हुआ रावण, चार समुद्रों से घिरी पृथिवी की तरह जान पड़ता था ॥ १२ ॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञैरन्यैश्च शुभबुद्धिभिः ।
अन्वास्यमानं सचिवैः सुरैरिव सुरेश्वरम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार मन्त्रकुशल मन्त्रियों तथा अन्य हितैषियों से सेवित रावण देवताओं से सेवित इन्द्र की तरह जान पड़ता था ॥ १३ ॥

अपश्यद्राक्षसपतिं हनुमानतितेजसम् ।
विष्ठितं मेरुशिखरे सतोयमिव तोयदम् ॥ १४ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, महातेजस्वी रावण की उस समय शोभा हो रही है, जैसी मेरुशिखर पर, जल से पूर्ण मेघ की शोभा होती है ॥ १४ ॥

स तैः संपीड्यमानोऽपि रक्षोभिर्भीमविक्रमैः ।
विस्मयं परमं गत्वा रक्षोधिपमवैक्षत ॥ १५ ॥

यद्यपि भयङ्कर विक्रम सम्पन्न राक्षस हनुमान जी को उत्पीड़ित कर रहे थे, तथापि हनुमान जी राक्षसराज रावण को देख बड़े विस्मित हुए ॥ १५ ॥

भ्राजमानं ततो दृष्ट्वा हनुमान्राक्षसेश्वरम् ।
मनसा चिन्तयामास तेजसा तस्य मोहितः ॥ १६ ॥

राक्षसराज रावण को इस प्रकार सुशोभित देख, हनुमान जी उसके प्रताप और प्रभाव से मोहित हो, मन ही मन विचार कर कहने लगे—॥ १६ ॥

अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः ।
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता ॥ १७ ॥

वाह इस राक्षसराज का कैसा सुन्दर रूप है, कैसा धैर्य है ? कैसा पराक्रम है और कैसी कान्ति है ? वाह ! यह समस्त शुभ लक्षणों से भी सम्पन्न है ॥ १७ ॥

यद्यधर्मो न बलवान्स्यादयं राक्षसेश्वरः ।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥ १८ ॥

हा ! यदि यह कहीं ऐसा पापाचारी न होता, तो यह राक्षसराज इन्द्र सहित देवताओं का भी रक्षक हो सकता था ॥ १८ ॥

अस्य क्रूरैर्नृशंसैश्च कर्मभिर्लोककुत्सितैः ।
तेन बिभ्यति खल्वस्माल्लोकाः सामरदानवाः ॥ १९ ॥

किन्तु इसके दुष्ट, नृशंस और लोकगर्हित कर्मों से निश्चय ही दैत्य, दानव और देवगण आदि सब भयभीत रहा करते हैं ॥ १९ ॥

अयं ह्युत्सहते क्रुद्धः कर्तुमेकार्णवं जगत् ।
इति चिन्तां बहुविधामकरोन्मतिमान्कपिः ।
दृष्ट्वा राक्षसराजस्य प्रभावममितौजसः ॥ २० ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

क्रुद्ध होने पर यह समस्त संसार को एक समुद्रमय कर सकता है, अर्थात् सारी पृथिवी को जल के भीतर डुबो कर नष्ट कर सकता है। बुद्धिमान हनुमान जी अत्यन्त पराक्रमी रावण का प्रताप देख, इस प्रकार की विविध चिन्ताएँ करने लगे ॥ २० ॥

सुन्दरकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चाशः सर्गः

—※—

तमुद्वीक्ष्य महाबाहुः पिङ्गाक्षं पुरतः स्थितम्।
रोषेण महताविष्टो रावणो लोकरावणः ॥ १ ॥

लंबी भुजाओं वाला तथा लोकों को रुलाने वाला रावण पीले नेत्रों वाले हनुमान जी को अपने सामने खड़ा देख, अत्यन्त कुपित हुआ ॥ १ ॥

[1]शङ्काहतात्मा दध्यौ स कपीन्द्रं तेजसावृतम्।
किमेष भगवान्नन्दी भवेत्साक्षादिहागतः ॥ २ ॥

वह हनुमान जी का तेजःपुञ्ज शरीर देख मन ही मन शङ्कित हो सोचने लगा कि, कहीं ये साक्षात् भगवान् नन्दी तो यहाँ नहीं आ गये ॥ २ ॥

येन शप्तोऽस्मि कैलासे मया सञ्चालिते पुरा।
सोऽयं वानरमूर्तिः स्यात्किं स्विद्बाणोऽपि वासुरः ॥ ३ ॥

---

१ शङ्काहतात्मा—शङ्काव्याहतचित्तः। (शि०)

जिन्होंने पहिले मुझे कैलास पर, उसे हिलाने के लिये शाप दिया था ; जान पड़ता है वे ही वानर का रूप धर कर यहाँ आये हैं ; अथवा यह बाणासुर इस रूप में आया है ॥ ३ ॥

स राजा रोषताम्राक्षः प्रहस्तं मन्त्रिसत्तमम् ।
कालयुक्तमुवाचेदं वचो विपुलमर्थवत् ॥ ४ ॥

इस प्रकार सोचता विचारता राक्षसराज रावण क्रोध के मारे लाल आँखें कर समयोपयुक्त और अर्थयुक्त वचन अपने प्रधान मन्त्री प्रहस्त से बोला ॥ ४ ॥

दुरात्मापृच्छ्यतामेष कुतः किं वास्य कारणम् ।
वनभङ्गे च कोऽस्यार्थो राक्षसानां च तर्जने ॥ ५ ॥

इस दुष्ट से पूँछो कि, यह कहाँ से आया है ? क्यों आया है ? अशोक वन उजाड़ने से इसका क्या अर्थ है ? और राक्षसों के तर्जन से इसे क्या लाभ हुआ ? ॥ ५ ॥

मत्पुरीमप्रधृष्यां वागमने किं प्रयोजनम् ।
आयोधने वा किं कार्यं पृच्छ्यतामेष दुर्मतिः ॥ ६ ॥

इस दुष्ट से पूँछो कि, मेरी इस अगम्यपुरी में किस लिये आया है और यह हमारे नौकरों से क्यों लड़ा ? ॥ ६ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा प्रहस्तो वाक्यमब्रवीत् ।
समाश्वसिहि भद्रं ते न भीः कार्या त्वया कपे ॥ ७ ॥

रावण के वचन सुन, प्रहस्त ने हनुमान जी से कहा—हे कपे ! तुम सावधान हो जाओ और डरो मत ॥ ७ ॥

यदि तावत्त्वमिन्द्रेण प्रेषितो रावणालयम् ।
तत्त्वमाख्याहि मा भूत्ते भयं वानर मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

अगर इन्द्र ने तुमको लङ्कापुरी में भेजा हो, तो ठीक ठीक बतला दो, तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं—क्योंकि हे वानर! तुम छुड़वा दिये जाओगे ॥ ८ ॥

यदि वैश्रवणस्य त्वं यमस्य वरुणस्य वा ।
चारुरूपमिदं कृत्वा प्रविष्टो नः पुरीमिमाम् ॥ ९ ॥

अथवा यदि तुम कुबेर के, यम के या वरुण के दूत हो और यह सुन्दर रूप धर कर, तुम हमारी इस पुरी में आये हो, तो भी ठीक ठीक बतला दो ॥ ९ ॥

विष्णुना प्रेषितो वापि दूतो विजयकाङ्क्षिणा ।
न हि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम् ॥ १० ॥

अथवा यदि विजयाकांक्षी विष्णु के दूत बन कर तुम यहाँ आये हो, तो भी ठीक ठीक कह दो। क्योंकि तुम रूप से तो वानर जान पड़ते हो; किन्तु तुम्हारा विक्रम वानरों जैसा नहीं है ॥ १० ॥

तत्त्वतः कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे ।
अनृतं वदतश्चापि दुर्लभं तव जीवितम् ॥ ११ ॥

हे वानर! यदि तुम सब हाल ठीक ठीक कह दोगे, तो तुम अभी छुड़वा दिये जाओगे और यदि झूठ बोले तो जान से मार डाले जाओगे ॥ ११ ॥

अथवा यन्निमित्तस्ते प्रवेशो रावणालये ।
एवमुक्तो हरिवरस्तदा रक्षोगणेश्वरम् ॥ १२ ॥

तुम ठीक ठीक रावण की इस पुरी में आने का कारण बतला दो। जब प्रहस्त ने इस प्रकार कपिश्रेष्ठ से कहा ॥ १२ ॥

अब्रवीन्नास्मि शक्रस्य यमस्य वरुणस्य वा ।
धनदेन न मे सख्यं विष्णुना नास्मि चोदितः ॥ १३ ॥

तब हनुमान जी ने कहा—मैं न तो इन्द्र का और न यम का दूत हूँ। न कुबेर के साथ मेरा मेल है और न मैं विष्णु की प्रेरणा से यहाँ आया हूँ ॥ १३ ॥

जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः ।
दर्शने राक्षसेन्द्रस्य दुर्लभे तदिदं मया ॥ १४ ॥

वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थे विनाशितम् ।
ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १५ ॥

मैं सचमुच वानर हूँ। साधारणतः राक्षसराज से भेंट करना कठिन था। सो मैंने यह अशोकवन, राक्षसराज से भेंट करने के लिये ही उजाड़ा है। बड़े बड़े बली राक्षस जो लड़ने के लिये मेरे पास आये, ॥ १४ ॥ १५ ॥

रक्षणार्थं तु देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे ।
अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि ॥ १६ ॥

मैं उनसे अपने शरीर की रक्षा के लिये लड़ा। मुझे क्या देवता और क्या असुर, कोई भी अस्त्रपाश से नहीं बाँध सकता ॥ १६ ॥

पितामहादेव वरो ममाप्येषोऽभ्युपागतः ।
राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम् ॥ १७ ॥

स्वयं पितामह ब्रह्मा जी से ही मुझको यह वर मिला है। सो मैं अपनी इच्छा से, राक्षसराज से भेंटने के लिये ब्रह्मास्त्र से बँध गया ॥ १७ ॥

विमुक्तो ह्यहमस्त्रेण राक्षसैस्त्वभिपीडितः ।
केनचिद्राजकार्येण संप्राप्तोऽस्मि तवान्तिकम् ॥ १८ ॥

फिर अस्त्रबन्धन से छूट कर भी मैंने राक्षसों की मार इसलिये सही कि, श्रीरामचन्द्र जी के किसी कार्य के लिये मुझे तुम्हारे पास आना था ॥ १८ ॥

दूतोऽहमिति विज्ञेयो राघवस्यामितौजसः ।
श्रूयतां चापि वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो ॥ १९ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

हे प्रभो! तुम मुझे अमित पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी का दूत जानो और मैं जो हित वचन कहूँ, उन्हें सुनो ॥ १९ ॥

सुन्दरकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकपञ्चाशः सर्गः

—*—

तं समीक्ष्य महासत्त्वं सत्त्ववान्हरिसत्तमः ।
वाक्यमर्थवदव्यग्रस्तमुवाच दशाननम् ॥ १ ॥

बलवान् हनुमान जी, महाबली दशानन को देख, बिना घबड़ाये उससे अपने मतलब की बातें कहने लगे ॥ १ ॥

अहं सुग्रीवसंदेशादिह प्राप्तस्तवालयम् ।
राक्षसेन्द्र हरीशस्त्वां भ्राता कुशलमब्रवीत् ॥ २ ॥

मैं सुग्रीव की आज्ञा से यहाँ तुम्हारी पुरी में आया हूँ। हे राक्षसराज! वानरराज सुग्रीव ने भाईचारे के विचार से तुमको कुशल कही है ॥ २ ॥

भ्रातुः शृणु समादेशं सुग्रीवस्य महात्मनः ।
धर्मार्थोपहितं वाक्यमिह चामुत्र च क्षमम् ॥ ३ ॥

भाई महात्मा सुग्रीव का सन्देसा सुनो। उनका सन्देसा धर्म और अर्थ से युक्त होने के कारण इसलोक और परलोक के लिये हितकारी है ॥ ३ ॥

राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान् ।
पितेव बन्धुर्लोकस्य सुरेश्वरसमद्युतिः ॥ ४ ॥

अनेक रथों, हाथियों और घोड़ों के अधिपति और इन्द्र की तरह द्युतिमान् महाराज दशरथ अपनी प्रजा के वैसे ही हितैषी थे जैसे पिता अपने पुत्रों का हितैषी होता है ॥ ४ ॥

ज्येष्ठस्तस्य महाबाहुः पुत्रः प्रियकरः प्रभुः ।
पितुर्निदेशान्निष्क्रान्तः प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ५ ॥

उनके प्यारे ज्येष्ठ पुत्र महाबाहु श्रीरामचन्द्र पिता की आज्ञा से घर से निकल दण्डक वन में आये ॥ ५ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया चापि भार्यया ।
रामो नाम महातेजा धर्म्यं पन्थानमाश्रितः ॥ ६ ॥

उनके साथ उनके भाई लक्ष्मण और उनकी स्त्री सीता भी वन में आयीं। राजा श्रीरामचन्द्र जी महातेजस्वी और धर्मपथारूढ हैं ॥ ६ ॥

तस्य भार्या वने नष्टा सीता पतिमनुव्रता ।
वैदेहस्य सुता राज्ञो जनकस्य महात्मनः ॥ ७ ॥

उनकी पतिव्रता भार्या सीता को, जो महात्मा राजा विदेह जनक की बेटी हैं, वन में किसी ने हर लिया ॥ ७ ॥

स मार्गमाणस्तां देवीं राजपुत्रः सहानुजः ।
ऋश्यमूकमनुप्राप्तः सुग्रीवेण च सङ्गतः ॥ ८ ॥

अपने छोटे भाई लक्ष्मण सहित वे राजकुमार सीता देवी को ढूँढ़ते हुए, ऋष्यमूक के समीप पहुँचे और वहाँ सुग्रीव से उनका समागम हुआ ॥ ८ ॥

तस्य तेन प्रतिज्ञातं सीतायाः परिमार्गणम् ।
सुग्रीवस्यापि रामेण हरिराज्यं निवेदितम् ॥ ९ ॥

सुग्रीव ने सीता का पता लगाने की श्रीरामचन्द्र जी से प्रतिज्ञा की और श्रीरामचन्द्र जी ने भी सुग्रीव को राज्य दिलाने का वचन दिया ॥ ९ ॥

ततस्तेन मृधे हत्वा राजपुत्रेण वालिनम् ।
सुग्रीवः स्थापितो राज्ये हर्यृक्षाणां गणेश्वरः ॥ १० ॥

तदनन्तर राजकुमार ने युद्ध में वालि का वध कर, सुग्रीव को राजसिंहासन पर विठा, उन्हें वानरों का राजा वना दिया ॥ १० ॥

त्वया विज्ञातपूर्वश्च वाली वानरपुङ्गवः ।
रामेण निहतः संख्ये शरेणैकेन वानरः ॥ ११ ॥

तुम तो वानरश्रेष्ठ वालि के वलपराक्रम को भली भाँति पहिले से जानते ही हो। उस वालि को श्रीराम ने युद्ध में एक ही वाण से मार डाला ॥ ११ ॥

स सीतामार्गणे व्यग्रः सुग्रीवः सत्यसङ्गरः ।
हरीन्संप्रेषयामास दिशः सर्वा हरीश्वरः ॥ १२ ॥

तां हरीणां सहस्राणि शतानि नियुतानि च ।
दिक्षु सर्वासु मार्गन्ते ह्यधश्चोपरि चाम्बरे ॥ १३ ॥

सत्यप्रतिज्ञ कपिराज सुग्रीव ने सीता का पता लगाने के लिये व्यग्र हो, समस्त दिशाओं में वानरों को भेजा। लाखों करोड़ों वानर सव दिशाओं ही में नहीं वल्कि आकाश पाताल में भी सीता का पता लगाने को घूम रहे हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥

वैनतेयसमाः केचित्केचित्तत्रानिलोपमाः ।
असङ्गगतयः शीघ्रा हरिवीरा महाबलाः ॥ १४ ॥

जो वानर सीता का पता लगाने को भेजे गये हैं, उनमें वहुत से गरुड़ के समान और वहुत से पवन के समान हैं। वे महाबली वानर वेरोकटोक शीघ्रगामी हैं ॥ १४ ॥

अहं तु हनुमान्नाम मारुतस्यौरसः सुतः ।
सीतायास्तु कृते तूर्णं शतयोजनमायतम् ॥ १५ ॥

समुद्रं लङ्घयित्वैव तां दिदृक्षुरिहागतः ।
भ्रमता च मया दृष्टा गृहे ते जनकात्मजा ॥ १६ ॥

मैं पवनदेव का औरस पुत्र हूँ और मेरा नाम हनुमान है । मैं सीता की खोज में तुरन्त सौ योजन समुद्र को लाँघ तुमको देखने के लिये यहाँ आया हूँ । लङ्का में घूमते फिरते मुझे तुम्हारे घर में सीता देख पड़ी है ॥ १५ ॥ १६ ॥

तद्भवान्दृष्टधर्मार्थस्तपः कृतपरिग्रहः ।
परदारान्महाप्राज्ञ नोपरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥

हे महाप्राज्ञ ! तुम धर्म और अर्थ को भली भाँति जानते हो, और तपःप्रभाव से तुमने यह ऐश्वर्य सम्पादन किया है । अतः तुमको पराई स्त्री को अपने घर में बंद कर रखना उचित नहीं ॥ १७ ॥

न हि धर्मविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ १८ ॥

आप जैसे बुद्धिमान को ऐसे धर्मविरुद्ध अनर्थकारी तथा जड़ से नाश करने वाले कामों के करने में, आसक्त होना उचित नहीं ॥ १८ ॥

कश्च लक्ष्मणमुक्तानां रामकोपानुवर्तिनाम् ।
शराणामग्रतः स्थातुं शक्तो देवासुरेष्वपि ॥ १९ ॥

देखिये, देवताओं अथवा असुरों में ऐसा कौन है जो लक्ष्मण के छोड़े हुए और क्रुद्ध हो श्रीरामचन्द्र जी के फेंके हुए बाणों के सामने टिक सके ॥ १९ ॥

न चापि त्रिषु लोकेषु राजन्विद्येत कश्चन ।
राघवस्य व्यलीकं यः कृत्वा सुखमवाप्नुयात् ॥ २० ॥

हे राजन्! तीनों लोकों में ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जो श्रीरामचन्द्र के साथ विगाड़ कर, सुखी रह सके ॥ २० ॥

तत्त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुबन्धि च ।
मन्यस्व नरदेवाय जानकी प्रतिदीयताम् ॥ २१ ॥

अतः हे रावण! मैंने जो कुछ कहा है वह भूत, भविष्यद् और वर्तमान तीनों कालों में हितकर, धर्मयुक्त और शास्त्रसम्मत है, अतः मेरा कहना मान कर, नरेन्द्र श्रीराम जी को जानकी लौटा दो ॥ २१ ॥

दृष्टा हीयं मया देवी लब्धं यदिह दुर्लभम् ।
उत्तरं कर्म यच्छेषं निमित्तं तत्र राघवः ॥ २२ ॥

और मैंने तो सीता को देख ही लिया। मुझे तो दुर्लभ वस्तु का लाभ हो चुका। अब रहा इसके आगे का कर्त्तव्य अर्थात् जानकी जी का ले जाना सो श्रीरामचन्द्र जी जानें ॥ २२ ॥

लक्षितेयं मया सीता तथा शोकपरायणा ।
गृह्य यां नाभिजानासि पञ्चास्यामिव पन्नगीम् ॥ २३ ॥

जिस सीता को तुमने अपने घर में बंद कर रखा है, उसे मैंने यहाँ बहुत दुःखी पाया है। सो यह मत समझना कि, यह तुम्हारे वश में हो गयी! किन्तु इसे तुम पाँच फनों वाली साँपिन की तरह अपना काल जानना ॥ २३ ॥

नेयं जरयितुं शक्या सासुरैरमरैरपि ।
विषसंसृष्टमत्यर्थं भुक्तमन्नमिवौजसा ॥ २४ ॥

क्या दैत्य और क्या देवता, कोई भी ऐसा नहीं जो इसे पचा जाय, जैसे विष मिले अन्न को पचाने की शक्ति किसी में नहीं है ॥ २४ ॥

तपः[1]सन्तापलब्धस्ते योऽयं धर्मपरिग्रहः ।
न स नाशयितुं न्याय्य आत्मप्राणपरिग्रहः ॥ २५ ॥

तुमने कठोर तप कर जिस धर्म फल स्वरूप ऐश्वर्य और दीर्घ कालीन जीवन को पाया है, उसे धर्मविरुद्ध कार्य कर नष्ट करना उचित नहीं ॥ २५ ॥

अवध्यतां तपोभिर्यां भवान्समनुपश्यति ।
आत्मनः सासुरैर्देवैर्हेतुस्तत्राप्ययं महान् ॥ २६ ॥

आप समझ रहे हैं कि, मैं तपःप्रभाव से प्राप्त वरदान द्वारा देवताओं और दैत्यों से अवध्य हूँ—सो इसमें भी एक बड़ा कारण है ॥ २६ ॥

सुग्रीवो न हि देवोऽयं नासुरो न च राक्षसः ।
न दानवो न गन्धर्वो न यक्षो न च पन्नगः ॥ २७ ॥

वह यह कि, सुग्रीव न तो देवता हैं, न राक्षस हैं, न दानव हैं, न गन्धर्व हैं, न यक्ष हैं और न पन्नग ही हैं ॥ २७ ॥

तस्मात्प्राणपरित्राणं कथं राजन्करिष्यसि ।
न तु धर्मोपसंहारमधर्मफलसंहितम् ॥ २८ ॥
तदेव फलमन्वेति धर्मश्चाधर्मनाशनः ।
प्राप्तं धर्मफलं तावद्भवता नात्र संशयः ॥ २९ ॥

---

1 सन्तापः—तपश्चर्या ।

सो हे राजन् ! सुग्रीव से तुम अपने प्राणों की रक्षा क्योंकर कर सकोगे ? यह ठीक है कि, धर्म द्वारा अधर्म का नाश होता है, किन्तु जिसके अधर्म के विपाक का समय उपस्थित होने वाला है, उसे धर्म का फल कभी प्राप्त नहीं होता अर्थात् तुम्हारे धर्म से तुम्हारा अधर्म बलवान है। हे राजन् ! धर्म का फल तो तुमने निस्सन्देह पाया ही है ॥ २८ ॥ २९ ॥

फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे ।
जनस्थानवधं बुद्ध्वा बुद्ध्वा वालिवधं तथा ॥ ३० ॥
रामसुग्रीवसख्यं च बुध्यस्व हितमात्मनः ।
कामं खल्वहमप्येकः सवाजिरथकुञ्जराम् ॥ ३१ ॥

किन्तु सीताहरण रूपी इस अधर्म का फल भी तुमको अब शीघ्र मिलेगा। अब तुम जनस्थानवाली चौदह हज़ार राक्षसों के तथा वालि के वध का स्मरण कर तथा श्रीराम और सुग्रीव की मैत्री का स्मरण कर, अपना हित जिसमें होता हो सो, विचारो। यदि चाहूँ तो निश्चय मैं अकेला ही, घोड़ों और हाथियों सहित ॥ ३० ॥ ३१ ॥

लङ्कां नाशयितुं शक्तस्तस्यैष तु न निश्चयः ।
रामेण हि प्रतिज्ञातं हर्यृक्षगणसन्निधैा ॥ ३२ ॥

तुम्हारी लङ्का को नष्ट कर सकता हूँ ; पर श्रीरामचन्द्र जी ने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी—क्योंकि उन्होंने वानर और रीछों के सामने प्रतिज्ञा की है कि, ॥ ३२ ॥

उत्सादनममित्राणां सीता यैस्तु प्रधर्षिता ।
अपकुर्वन्हि रामस्य साक्षादपि पुरन्दरः ॥ ३३ ॥

जिसने सीता को हरा है उसको मैं उच्छिन्न करूँगा अर्थात् नाश करूँगा। फिर यदि इन्द्र ही क्यों न हों और श्रीरामचन्द्र जी का अपकार करें तो ॥ ३३ ॥

न सुखं प्राप्नुयादन्यः किं पुनस्त्वद्विधो जनः ।
यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते वशे ॥ ३४ ॥

वे भी कभी सुखी नहीं रह सकते। फिर तुम जैसे लोगों की तो बात ही क्या है। हे रावण! जिसे तुम सीता समझ रहे हो और जो इस समय तुम्हारे यहाँ तुम्हारे पंजे में फँसी हुई है ॥ ३४ ॥

कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम् ।
तदलं कालपाशेन सीताविग्रहरूपिणा ॥ ३५ ॥

उसे तुम सारी लङ्का का नाश करने वाली कालरात्रि समझो। सो तुम सीता रूपी काल की फाँसी को ॥ ३५ ॥

स्वयं स्कन्धावसक्तेन क्षेममात्मनि चिन्त्यताम् ।
सीतायास्तेजसा दग्धां रामकोपप्रपीडिताम् ॥ ३६ ॥

अपने हाथ से अपने गले में फाँसी डालने के समय तुम अपना क्षेम कुशल तो विचार लो। सीता के तेज से दग्ध और श्रीरामचन्द्र जी के कोप से ॥ ३६ ॥

दह्यमानामिमां पश्य पुरीं साट्टप्रतोलिकाम् ।
स्वानि मित्राणि मन्त्रींश्च ज्ञातीन्भ्रातॄन्सुतान्हितान् ॥३७॥

पीड़ित हो, तुम इस लंका को अटा अटारियों सहित भस्म हुआ देखोगे। अतः तुम अपने मित्रों, मंत्रियों, जातिबिरादरी, भाइयों, पुत्रों और हितैषियों का ॥ ३७ ॥

भोगान्दारांश्च लङ्कां च मा विनाशमुपानय ।
सत्यं राक्षसराजेन्द्र शृणुष्व वचनं मम ॥ ३८ ॥
रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषतः ।
सर्वाँल्लोकान्सुसंहृत्य सभूतान्सचराचरान् ॥ ३९ ॥

तथा ऐश्वर्य के भोग का, अपनी स्त्रियों का तथा लङ्का का नाश मत करवाओ। हे राक्षसेन्द्र ! मैं तो श्रीरामचन्द्र जी का दूत और विशेष कर वानर ही हूँ, किन्तु मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह सत्य है, अतः तुम उस पर कान दो। चर अचर समस्त प्राणियों सहित समस्त लोकों का संहार कर ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः ।
देवासुरनरेन्द्रेषु यक्षरक्षोगणेषु च ॥ ४० ॥
विद्याधरेषु सर्वेषु गन्धर्वेषूरगेषु च ।
सिद्धेषु किन्नरेन्द्रेषु पतत्रिषु च सर्वतः ॥ ४१ ॥
सर्वभूतेषु सर्वत्र सर्वकालेषु नास्ति सः ।
यो रामं प्रतियुध्येत विष्णुतुल्यपराक्रमम् ॥ ४२ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र पुनः उनकी सृष्टि करने की शक्ति रखते हैं। फिर देव, असुर, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, गन्धर्व, उरग, सिद्ध, किन्नर, पक्षी—इन सब प्राणियों में सर्वत्र और सदैव ऐसा कोई नहीं है, जो विष्णु के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी का युद्ध में सामना कर सके ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

सर्वलोकेश्वरस्यैवं कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।
रामस्य राजसिंहस्य दुर्लभं तव जीवितम् ॥ ४३ ॥

अतः सर्वलोकेश्वर एवं राजसिंह श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार बिगाड़ कर, तुम जीवित नहीं रह सकते ॥ ४३ ॥

देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र
गन्धर्वविद्याधरनागयक्षाः ।
रामस्य लोकत्रयनायकस्य
स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे ॥ ४४ ॥

हे निशाचरेन्द्र ! देव, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग और यक्ष— इनमें से कोई भी युद्ध में त्रिलोकीनाथ श्रीरामचन्द्र जी के सामने खड़े रहने को समर्थ नहीं ॥ ४४ ॥

ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा
रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा ।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा
त्रातुं न शक्ता युधि रामवध्यम् ॥ ४५ ॥

स्वयंभू चतुरानन ब्रह्मा, अथवा त्रिपुरासुर को मारने वाले त्रिलोचन रुद्र, अथवा देवताओं के राजा महेन्द्र इन्द्र ही क्यों न हों; श्रीरामचन्द्र जी के सामने वे युद्ध में नहीं ठहर सकते ॥ ४५ ॥

स सौष्ठवोपेतमदीनवादिनः
कपेर्निशम्याप्रतिमोऽप्रियं वचः ।
दशाननः कोपविवृत्तलोचनः
समादिशत्तस्य वधं महाकपेः ॥ ४६ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

जब हनुमान जी ने, ऐसे सुन्दर, अदैन्य एवं अनुपम वचन कहे; तब रावण को वे बहुत बुरे लगे। मारे क्रोध के उसके नेत्र लाल हो गये और उसने हनुमान के वध की आज्ञा दी॥ ४६॥

सुन्दरकाण्ड का एक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—※—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वानरस्य महात्मनः।
आज्ञापयत्तस्य वधं रावणः क्रोधमूर्छितः॥ १॥

धैर्यवान् हनुमान जी के, उन वचनों को सुन, रावण ने क्रुद्ध हो, उनके मारे जाने की आज्ञा दी॥ १॥

वधे तस्य समाज्ञप्ते रावणेन दुरात्मना।
[1]निवेदितवतो दौत्यं [2]नानुमेने विभीषणः॥ २॥

जब दुष्ट रावण ने हनुमान जी को मार डालने की आज्ञा सुना दी; तब दूतधर्मानुसार वचन कहने वाले हनुमान के मारे जाने के सम्बन्ध में, रावण की दी हुई आज्ञा, विभीषण को मान्य नहीं हुई॥ २॥

तं च रक्षोधिपं क्रुद्धं [3]तच्च कार्यमुपस्थितम्।
विदित्वा चिन्तयामास कार्यं [4]कार्यविधौ स्थितः॥३॥

---

१ निवेदितवतो दौत्यं—स्वनिष्ठदूतधर्मं निवेदितवतो हनूमतः। (शि०) २ नानुमेने—वधमित्यनुवर्तनीयं। (गो०) ३ तच्चकार्यं—दूतवधरूपकार्यं। (गो०) ४ कार्यविधौस्थितः—यथोचितकृत्य सम्पादने स्थितः रावणेन संस्थापितः। (गो०)

रावण को क्रुद्ध हुआ जान और उसकी हनुमान के वध की आज्ञा को, कार्यरूप में परिणत होने की तैयारियां देख, रावण द्वारा यथोचित कृत्य पूरा कराने के लिये नियुक्त विभीषण, अपने कर्त्तव्य के विषय में विचार करने लगे ॥ ३ ॥

निश्चितार्थस्ततः साम्नापूज्य शत्रुजिदग्रजम् ।
उवाच हितमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

शत्रु को जीतने वाले तथा वचन बोलने वालों में चतुर विभीषण ने अपना कर्त्तव्य स्थिर कर और अपने बड़े भाई का सम्मान कर, अत्यन्त हितकर वचन, साम नीति का अवलंबन कर रावण से कहना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

क्षमस्व रोषं त्यज राक्षसेन्द्र
प्रसीद मद्वाक्यमिदं शृणुष्व ।
वधं न कुर्वन्ति परावरज्ञा
दूतस्य सन्तो वसुधाधिपेन्द्राः ॥ ५ ॥

हे राक्षसेन्द्र ! क्रोध को शान्त कर और क्षमा को ग्रहण कर, प्रसन्न चित्त से आप मेरी इन बातों को सुनिये। हे राजन् ! पूर्वापर का विवेक रखने वाले राजा लोग दूत को कदापि नहीं मारते ॥ ५ ॥

राजधर्मविरुद्धं च लोकवृत्तेश्च गर्हितम् ।
तव चासदृशं वीर कपेरस्य प्रमापणम्[1] ॥ ६ ॥

हे वीर ! इस दूत वानर का वध करना, केवल राजधर्मविरुद्ध ही नहीं है, किन्तु लोकाचार से निन्द्य भी है। यह कार्य तुम्हारे स्वरूप के विरुद्ध भी है ॥ ६ ॥

---

१ प्रमापणम्—मारणं । (गो०)

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च राजधर्मविशारदः ।
परावरज्ञो भूतानां त्वमेव परमार्थवित् ॥ ७ ॥

आप धर्मज्ञ, कृतज्ञ, राजनीतिविशारद पूर्वापर के जानने वाले और प्राणियों में सब से अधिक परमार्थतत्व के ज्ञाता हो ॥ ७ ॥

गृह्यन्ते यदि रोषेण त्वादृशोऽपि विपश्चितः ।
ततः शास्त्रविपश्चित्त्वं श्रम एव हि केवलम् ॥ ८ ॥

यदि तुम जैसे पण्डित भी क्रोध के वशवर्ती हो जाय और ऐसे अनुचित कार्य कर बैठे ; तब तो शास्त्र पढ़ना केवल श्रम उठाना ही ठहरा ॥ ८ ॥

तस्मात्प्रसीद शत्रुघ्न राक्षसेन्द्र दुरासद ।
युक्तायुक्तं विनिश्चित्य दूते दण्डो विधीयताम् ॥ ९ ॥

अतएव हे शत्रुघ्न एवं दुरासद राक्षसेन्द्र ! प्रसन्न होकर, पहले तुम योग्यायोग्य का विचार कर लो, तब दूत को प्राणदण्ड देना ॥ ९ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
रोषेण महताविष्टो वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ १० ॥

राक्षसेश्वर रावण, विभीषण के वचन सुन कर और भी अधिक क्रुद्ध हुआ और उनकी बातों के उत्तर देता हुआ कहने लगा ॥ १० ॥

न पापानां वधे पापं विद्यते शत्रुसूदन ।
तस्मादेनं वधिष्यामि वानरं पापकारिणम् ॥ ११ ॥

हे शत्रुसूदन ! पापी को मारने से पाप नहीं लगता । अतएव मैं इस पापकर्म करने वाले वानर का वध करवाता हूँ ॥ ११ ॥

अधर्ममूलं बहुदोषयुक्तम्
अनार्यजुष्टं वचनं निशम्य ।
उवाच वाक्यं परमार्थतत्त्वम्
विभीषणो बुद्धिमतां वरिष्ठः ॥ १२ ॥

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ विभीषण, रावण के अधर्ममूलक, अनेक दोषों से युक्त और अभद्रोचित वचनों को सुन, परमार्थतत्वयुक्त वचन बोले ॥ १२ ॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र
धर्मार्थयुक्तं वचनं शृणुष्व ।
दूतानवध्यान्समयेषु राजन्
[1]सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः ॥ १३ ॥

हे लङ्केश्वर ! हे राक्षसेन्द्र ! तुम प्रसन्न हो और मेरे धर्म एवं अर्थ युक्त वचनों को सुनो । हे राजन् ! सब जातियों के समस्त सन्त जनों का सर्वत्र यही कथन पाया जाता है कि, दूत को किसी भी समय न मारना चाहिये ॥ १३ ॥

असंशयं शत्रुरयं प्रवृद्धः
कृतं ह्यनेनाप्रियमप्रमेयम् ।
न दूतवध्यां प्रवदन्ति सन्तो
दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः ॥ १४ ॥

यद्यपि यह बड़ा शत्रु है और इसने अपराध भी बड़ा भारी किया है ; तथापि साधुमतानुसार दूत होने के कारण इसका वध

१ सर्वेषु—सर्वजातिषु । (गो०)

करवाना अनुचित है। हाँ इसका वध न करा कर इसे, दूत को देने योग्य अनेक अन्य दण्डों में से कोई दण्ड दिया जा सकता है॥ १४॥

वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो
मौण्ड्यं तथा [1]लक्षणसन्निपातः।
एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान्
वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽपि ॥ १५ ॥

दूत के लिये ये दण्ड भी बतलाये हैं, दूत का अङ्ग भङ्ग कर देना, दूत के चाबुक लगवाना, दूत का सिर मुड़वा देना, दूत के शरीर में कोई चिन्ह दगवा देना। किन्तु दूत का वध करवाना तो मैंने कभी नहीं सुना ॥ १५ ॥

कथं च धर्मार्थविनीतबुद्धिः[2]
[3]परावरप्रत्ययनिश्चितार्थः।
भवद्विधः कोपवशे हि तिष्ठेत्
कोपं नियच्छन्ति हि सत्त्ववन्तः[4] ॥ १६ ॥

फिर आप जैसे धर्मार्थ-शिक्षित बुद्धि वाले तथा अच्छे बुरे को जान कर निर्णय करने वाले लोग भला किस प्रकार क्रोध के वश होते हैं। व्यवसायवन्तों को तो क्रोध अवश्य अपने वश में रखना ही चाहिये ॥ १६ ॥

---

१ लक्षणसन्निपातः—दूतयोग्याङ्कन सम्बन्धः। (गो०) २ धर्मार्थविनीतबुद्धिः—धर्मार्थयोःशिक्षित बुद्धिः। (गो०) ३ परावरप्रत्ययनिश्चितार्थः—उत्कृष्टापकृष्टपरिज्ञाननिश्चितार्थः। (गो०) ४ सत्त्ववन्तः—व्यवसायवन्तः। (गो०)

न धर्मवादे न च लोकवृत्ते
न शास्त्रबुद्धिग्रहणेषु चापि ।
विद्येत कश्चित्तव वीर तुल्यः
त्वं ह्युत्तमः सर्वसुरासुराणाम् ॥ १७ ॥

हे वीर! धर्मशास्त्र के ज्ञान में लोकाचार में, और शास्त्र के विचार में तुम्हारी टक्कर का कोई भी तो नहीं देख पड़ता। इस समय तो इन विषयों में तुम सुर और असुर सब ही में सर्वोत्तम हो ॥ १७ ॥

पराक्रमोत्साहमनस्विनां च
सुरासुराणामपि दुर्जयेन ।
त्वयाऽप्रमेयेन सुरेन्द्रसंघा
जिताश्च युद्धेष्वसकृन्नरेन्द्राः ॥ १८ ॥

अधिक कहां तक कहूँ—पराक्रम, उत्साह और शौर्यवान जो देवता और असुर हैं, उन सब से तुम दुर्जेय हो। अनेक बार तुम इनको तथा अनेक राजाओं को जीत चुके हो ॥ १८ ॥

इत्थंविधस्यामरदैत्यशत्रोः
शूरस्य वीरस्य तवाजितस्य ।
कुर्वन्ति मूढा मनसो व्यलीकं
प्राणैर्वियुक्ता ननु ये पुरा ते ॥ १९ ॥

जो मूढ़ पुरुष मन से भी तुम जैसे शूर वीर अजेय और देव दानवों के शत्रु का अनिष्ट अथवा कोई अपराध करते हैं, तो उनका नाश ऐसे करवा डाला जाता है ; मानों वे पहिले कभी थे ही नहीं ॥ १९ ॥

न चाप्यस्य कपेर्घाते कंचित्पश्याम्यहं गुणम् ।
तेष्वयं पात्यतां दण्डो यैरयं प्रेषितः कपिः ॥ २० ॥

मुझे तो इस वानर के मरवा डालने में कुछ भी अच्छाई नहीं देख पड़ती। बल्कि यह दण्ड तो उसे देना चाहिये जिसका भेजा यह यहाँ आया है ॥ २० ॥

साधुर्वा यदि वाऽसाधुः परैरेष समर्पितः ।
ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति ॥ २१ ॥

यह स्वयं अच्छा है या बुरा, यह प्रश्न ही नहीं, परन्तु भेजा तो यह दूसरे का है और दूसरे ही का संदेस कहता है। अतएव इस परवश दूत का मारना ठीक नहीं है ॥ २१ ॥

अपि चास्मिन्हते राजन्नान्यं पश्यामि खेचरम् ।
इह यः पुनरागच्छेत्परं पारं महोदधेः ॥ २२ ॥

(इसके अतिरिक्त एक और विचारणीय बात है।) हे राजन्! इसके मारे जाने पर, मुझे दूसरा ऐसा आकाशचारी देख भी तो नहीं पड़ता, जो समुद्र पार कर फिर यहाँ आ सके ॥ २२ ॥

तस्मान्नास्य वधे यत्नः कार्यः परपुरञ्जय ।
भवान्सेन्द्रेषु देवेषु यत्नमास्थातुमर्हति ॥ २३ ॥

हे शत्रुपुरजयी! अतएव इसके वध के लिये यत्न न करना चाहिये। बल्कि यदि वध करने ही की इच्छा है, तो देवताओं पर चढ़ाई करने की तैयारियाँ कीजिये ॥ २३ ॥

अस्मिन्विनष्टे न हि दूतमन्यं
पश्यामि यस्तौ नरराजपुत्रौ ।

युद्धाय युद्धप्रिय दुर्विनीता-
वुद्योजयेद्दीर्घपथावरुद्धौ ॥ २४ ॥

हे युद्धप्रिय! यदि यह दूत मार डाला गया तो फिर ऐसा दूसरा दूत न मिलेगा, जो इतनी दूर और ऐसे अवरुद्ध मार्ग से आकर, उन दोनों दुर्विनीत और तुम्हारे वैरी राजकुमारों को लड़ने के लिये उत्साहित करे ॥ २४ ॥

अस्मिन्हते वानरयूथमुख्ये
सर्वापवादं प्रवदन्ति सर्वे ।
न हि प्रपश्यामि गुणान्यशो वा
लोकापवादो भवति प्रसिद्धः ॥ २५ ॥

इस वानरयूथपति के मार डालने से सब लोग तुम्हारी सर्वत्र निन्दा करेंगे। ऐसा करने से मुझे तो इसमें न तो तुम्हारे लिये यश की और न कोई भलाई की बात ही देख पड़ती है। प्रत्युत इससे तो संसार में तुम्हारी निन्दा फैल जायगी ॥ २५ ॥

पराक्रमोत्साहमनस्विनां च
सुरासुराणामपि दुर्जयेन ।
त्वया मनोनन्दन नैर्ऋतानां
युद्धायतिर्नाशयितुं न युक्ता ॥ २६ ॥

हे राक्षस-मनोनन्दन! बड़े बड़े पराक्रमी और उत्साही देवता और दैत्य भी तुमको नहीं जीत सकते। अतः राक्षसों के मन की युद्ध सम्बन्धी उल्लोल को भङ्ग करना तुमको उचित नहीं ॥ २६ ॥

हिताश्च शूराश्च समाहिताश्च
कुलेषु जाताश्च महागुणेषु ।
मनस्विनः शस्त्रभृतां वरिष्ठाः
कोट्यग्रतस्ते सुभृताश्च योधाः ॥ २७ ॥

क्योंकि ये सब योद्धा लोग तुम्हारे हितैषी हैं, बड़े शूर वीर हैं, सावधान रहने वाले हैं, कुलीन हैं, मनस्वी हैं और शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ हैं। इनकी संख्या भी करोड़ों पर ही है ॥ २७ ॥

तदेकदेशेन बलस्य तावत्
केचित्तवादेशकृतोऽभियान्तु ।
तौ राजपुत्रौ विनिगृह्य मूढौ
परेषु ते भावयितुं प्रभावम् ॥ २८ ॥

मेरी सम्मति से तो इस समय तुम्हारी कुछ सेना वहाँ जाय और उन दोनों मूढ़ राजकुमारों को पकड़ लावे, जिससे कि तुम्हारा प्रभाव उनको मालूम हो जाय ॥ २८ ॥

[तस्यानुजस्याधिकमर्थतत्त्वं
विभीषणस्योत्तमवाक्यमिष्टम् ।
जग्राह बुद्ध्या सुरलोकशत्रुः
महाबलो राक्षसराजमुख्यः ॥ २९ ॥

देवताओं के शत्रु राक्षसेन्द्र महाबली रावण ने अच्छी तरह समझ बूझ कर, विभीषण के कहे हुए उत्तम वचनों को, अपने काम का जान, मान लिया ॥ २९ ॥

क्रोधं च जातं हृदये निरुध्य
विभीषणोक्तं वचनं सुपूज्य ।
उवाच रक्षोधिपतिर्महात्मा
विभीषणं शस्त्रभृतां वरिष्ठम् ॥ ३० ॥]

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

उत्पन्न हुए क्रोध को अपने हृदय में रोक और विभीषण के कहे हुए वचनों का भली भाँति आदर कर, धैर्यवान राक्षसराज रावण, शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ विभीषण से बोला ॥ ३० ॥

सुन्दरकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—※—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दशग्रीवो *महात्मनः ।
देशकालहितं वाक्यं भ्रातुरुत्तरमब्रवीत् ॥ १ ॥

महाबली रावण, महात्मा विभीषण के देशकालोचित वचनों को सुन कर, अपने भाई से कहने लगा ॥ १ ॥

सम्यगुक्तं हि भवता दूतवध्या विगर्हिता ।
अवश्यं तु वधादन्यः क्रियतामस्य निग्रहः ॥ २ ॥

आपका कहना ठीक है, सचमुच दूत का वध करना निन्द्य कर्म है । अतः वध के अतिरिक्त इसे कोई अन्य दण्ड तो अवश्य ही दिया जायगा ॥ २ ॥

---

* पाठान्तरे—" महाबलः । "

कपीनां किल लाङ्गूलमिष्टं भवति भूषणम् ।
तदस्य दीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु ॥ ३ ॥

वानरों की पूँछ उनका अतिप्यारा भूषण है, सो इसकी पूँछ जला दी जाय और यह जली पूँछ ले कर यहाँ से जाय ॥ ३ ॥

ततः पश्यन्त्विमं दीनमङ्गवैरूप्यकर्शितम् ।
समित्रज्ञातयः सर्वे बान्धवाः ससुहृज्जनाः ॥ ४ ॥

जिससे इसके सब इष्टमित्र, भाईबन्धु और हितैषी, इसको अङ्ग-भङ्ग होने के कारण दीन दुःखी देखें ॥ ४ ॥

आज्ञापयद्राक्षसेन्द्रः पुरं सर्वं सचत्वरम् ।
लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन रक्षोभिः परिणीयताम् ॥ ५ ॥

रावण ने आज्ञा दी कि, राक्षस लोग इसकी पूँछ में आग लगा, इसको चौराहों सहित सारे नगर में घुमावें ॥ ५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसाः *कोपकर्कशाः ।
वेष्टयन्ति स्म लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासकैः पटैः ॥ ६ ॥

रावण की यह आज्ञा सुन वे महाक्रोधी राक्षस, हनुमान जी की पूँछ में पुराने सूती कपड़े लपेटने लगे ॥ ६ ॥

संवेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः ।
शुष्कमिन्धनमासाद्य वनेष्विव हुताशनः ॥ ७ ॥

ज्यों ज्यों हनुमान जी की पूँछ में कपड़े लपेटे जाते, त्यों त्यों हनुमान जी वैसे ही बढ़ते जाते थे, जैसे सूखे ईंधन को पा, वन में आग बढ़ती है ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" कोपकर्शिताः । "

तैलेन परिषिच्याथ तेऽग्निं तत्रावपातयन्।
लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन राक्षसांस्तानपातयत् ॥ ८ ॥

कपड़े लपेटने के बाद उसे तेल से तर कर, पूँछ में आग लगा दी। तब तो वे उस जलती हुई पूँछ से उन राक्षसों को मार मार कर गिराने लगे ॥ ८ ॥

*स तु रोषपरीतात्मा बालसूर्यसमाननः।
लाङ्गूलं संप्रदीप्तं तु दृष्ट्वा तस्य हनूमतः ॥ ९ ॥

जब पूँछ की आग धकधक कर जलने लगी, तब क्रोध में भरे हनुमान जी का मुख, प्रातःकालीन सूर्य की तरह लाल देख पड़ने लगा ॥ ९ ॥

सहस्त्रीबालवृद्धाश्च जग्मुः †प्रीतिं निशाचराः।
स भूयः सङ्गतैः क्रूरै राक्षसैर्हरिसत्तमः ॥ १० ॥

हनुमान जी की पूँछ को जलते देख स्त्रियाँ, बालक और बूढ़े राक्षस बहुत प्रसन्न हुए और बहुत से क्रूर स्वभाव राक्षस (उनको खिजाने के लिये) उनके साथ हो लिये ॥ १० ॥

निबद्धः कृतवान्वीरस्तत्कालसदृशीं मतिम्।
कामं खलु न मे शक्ता निबद्धस्यापि राक्षसाः ॥ ११ ॥

बंधे हुए हनुमान जी ने उस समय के अनुरूप यह विचार स्थिर किया कि, निश्चय ही मुझ बंधे हुए का भी, ये राक्षस कुछ बिगाड़ना चाहें, तो नहीं बिगाड़ सकते ॥ ११ ॥

छित्त्वा पाशान्समुत्पत्य हन्यामहमिमान्पुनः।
यदि भर्तृहितार्थाय चरन्तं भर्तृशासनात् ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—" रोषामर्षपरीतात्मा।" † पाठान्तरे—" प्रीता।"

वध्नन्त्येते दुरात्मानो न तु मे निष्कृतिः कृता ।
सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि ॥ १३ ॥

मैं इन बंधनों को तोड़ कर और उछल कूद कर इन राक्षसों का नाश कर सकता हूँ। इस समय मैं श्रीरामचन्द्र जी के हितसाधन के लिये यहाँ आया हूँ। ऐसी दशा में यदि इन दुष्टों ने, रावण की आज्ञा से मुझको बाँध लिया; तो जितनी हानि मैं पहिले इनकी कर चुका हूँ, उसका यथार्थ बदला मुझसे ये अभी तक नहीं ले पाये। मैं तो अकेला ही इन सब राक्षसों से लड़ने के लिये पर्याप्त हूँ ॥ १२ ॥ १३ ॥

किंतु रामस्य प्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमीदृशम् ।
लङ्का चारयितव्या वै पुनरेव भवेदिति ॥ १४ ॥

तथापि श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता के लिये मैं इस प्रकार के अनादर को भी सहलूँगा। ये लोग मुझे लङ्का में घुमावें तो। इससे अच्छा ही होगा ॥ १४ ॥

रात्रौ न हि सुदृष्टा मे दुर्गकर्मविधानतः ।
अवश्यमेव द्रष्टव्या मया लङ्का निशाक्षये ॥ १५ ॥

क्योंकि, रात में मैं अच्छी तरह से लङ्का के गुप्त स्थानों को नहीं देख सका। सो दिन में मुझे इस लङ्कापुरी को भली भाँति देख लेना चाहिये ॥ १५ ॥

कामं बद्धश्च मे भूयः पुच्छस्योद्दीपनेन च ।
पीडां कुर्वन्तु रक्षांसि न मेऽस्ति मनसः श्रमः ॥ १६ ॥

ये चाहें तो मुझे फिर बाँध लें। इसकी मुझे कुछ चिन्ता नहीं। पूँछ जला कर मुझे ये लोग जो पीड़ा पहुँचा रहे हैं; इससे भी मेरा मन दुःखी नहीं होता॥ १६॥

ततस्ते [१]संवृताकारं सत्त्ववन्तं महाकपिम्।
परिगृह्य ययुर्हृष्टा राक्षसाः कपिकुञ्जरम्॥ १७॥
शङ्खभेरीनिनादैस्तं घोषयन्तः स्वकर्मभिः।
राक्षसाः क्रूरकर्माणश्चारयन्ति स्म तां पुरीम्॥ १८॥

क्रूरस्वभाव राक्षस लोगों ने गूढ़स्वभाव, महाबली और वानरश्रेष्ठ हनुमान जी को पकड़ और शङ्ख और भेरी बजा बजा कर, हनुमान जी का अपराध लोगों को सुनाते हुए, उनको नगर में घुमाया॥ १७॥ १८॥

अन्वीयमानो रक्षोभिर्ययौ सुखमरिन्दमः।
हनूमांश्चारयामास[२] राक्षसानां महापुरीम्॥ १९॥

राक्षसों के साथ शत्रुओं का दमन करने वाले हनुमान जी सुख से चले जाते थे। इस प्रकार हनुमान जी ने राक्षसों की उस महापुरी को भली भाँति देखा॥ १९॥

अथापश्यद्विमानानि विचित्राणि महाकपिः।
संवृतान्भूमिभागांश्च सुविभक्तांश्च [३]चत्वरान्॥ २०॥
वीथीश्च गृहसंबाधा अपि [४]शृङ्गाटकानि च।
तथा रथ्योपरथ्याश्च तथैव [५]गृहकान्तरान्॥ २१॥

१ संवृताकारं—गूढस्वभावं। (गो०) २ चारयामास—शोधयामास। (गो०) ३ चत्वरान्—गृहबहिरङ्गणानि। (गो०) ४ शृङ्गाटकानि—चतुष्पथानि। (गो०) ५ गृहकान्तरान्—प्रच्छन्नद्वाराणि।

गृहांश्च मेघसङ्काशान्ददर्श पवनात्मजः ।
चत्वरेषु चतुष्केषु राजमार्गे तथैव च ॥ २२ ॥

हनुमान जी ने वहाँ घूम फिर कर रंग बिरंगी अटारियाँ, गुप्त-स्थान, अनेक प्रकार के बने चबूतरे, बड़ी बड़ी गलियाँ, सघन घरों के मोहल्ले, चौराहे, छोटी बड़ी गलियाँ, घरों के छिपे हुए द्वार और बादलों के समान बड़ी ऊँची ऊँची हवेलियाँ देखीं। चौराहे, चौबारे और सड़कों पर ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

घोषयन्ति कपिं सर्वे चारीक इति राक्षसाः ।
स्त्रीबालवृद्धा निर्जग्मुस्तत्र तत्र कुतूहलात् ॥ २३ ॥

तं प्रदीपितलाङ्गूलं हनुमन्तं दिदृक्षवः ।
दीप्यमाने ततस्तस्य लाङ्गूलाग्रे हनूमतः ॥ २४ ॥

हनुमान जी को जासूस (भेदिया) बतला कर, राक्षस लोग घोषणा करते जाते थे। घोषणा सुन और कुतूहलवश हो स्त्रियाँ, बालक और बूढ़े, जलती हुई पूँछ सहित हनुमान जी को देखने के लिये, घरों के बाहर निकल आते थे। हनुमान जी की पूँछ के जलाये जाने पर ॥ २३ ॥ २४ ॥

राक्षस्यस्ता विरूपाक्ष्यः शंसुर्देव्यास्तदप्रियम् ।
यस्त्वया कृतसंवादः सीते ताम्रमुखः कपिः ॥ २५ ॥

लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन स एष परिणीयते ।
श्रुत्वा तद्वचनं क्रूरमात्मापहरणोपमम् ॥ २६ ॥

तब भयङ्कर नेत्रों वाली राक्षसियों ने सीता जी को यह अप्रिय संवाद सुनाया—हे सीते! जिस लालमुहे वानर ने तुमसे बात-

चीत की थी, उसकी पूँछ जला कर, वह नगरी में घुमाया जा रहा है। उनके ऐसे क्रूर और प्राणों का नाश करने वाले (जान निकाल लेने वाले) वचन सुन ॥ २५ ॥ २६ ॥

वैदेही शोकसन्तप्ता हुताशनमुपागमत् ।
मङ्गलाभिमुखी तस्य सा तदाऽऽसीन्महाकपेः ॥ २७ ॥

सीता जी शोक से सन्तप्त हो, अग्नि की स्तुति करके कहने लगीं और हनुमान जी के मङ्गल की कामना से ॥ २७ ॥

उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम् ।
यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः ॥ २८ ॥
यदि चास्त्येकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः ।
यदि *कश्चिदनुक्रोशस्तस्य मय्यस्ति धीमतः ॥ २९ ॥
यदि वा भाग्यशेषो मे शीतो भव हनूमतः ।
यदि मां वृत्तसंपन्नां तत्समागमलालसाम् ॥ ३० ॥
स विजानाति धर्मात्मा शीतो भव हनूमतः ।
यदि मां तारयेदार्यः सुग्रीवः सत्यसङ्गरः ॥ ३१ ॥

विशालाक्षी सीता पवित्र हो अग्नि की उपासना करती हुई बोलीं। हे अग्निदेव! यदि मैंने पति की शुश्रूषा सच्चे मन से की हो, यदि कुछ भी तपस्या की हो, यदि मैं पतिव्रता होऊँ; तो तुम हनुमान जी के लिये शीतल हो जाओ। यदि उन धीमान् श्रीरामचन्द्र जी की मेरे ऊपर कुछ भी कृपा हो, अथवा मेरा सौभाग्य अभी कुछ भी शेष हो, यदि मुझ चरित्रवती की, श्रीरामचन्द्र जी के समागम की लालसा को, वे धर्मात्मा जानते हों, तो तुम हनु-

---

* पाठान्तरे—"किञ्चिदनुक्रोशः ।"

मान जी के लिये शीतल हो जाओ। यदि सत्यप्रतिज्ञ श्रेष्ठ सुग्रीव मुझे ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधाच्छीतो भव हनूमतः ।
ततस्तीक्ष्णार्चिरव्यग्रः प्रदक्षिणशिखोनलः ॥ ३२ ॥
जज्वाल मृगशावाक्ष्याः शंसन्निव शिवं कपेः ।
हनुमज्जनकश्चापि पुच्छानलयुतोऽनिलः ॥ ३३ ॥

इस दुःखसागर से पार कर, इस कैद से छुड़ाने वाले हों, तो हे अग्निदेव ! तुम हनुमान जी के लिये शीतल बन जाओ। सीता जी की इस स्तुति से, वह अग्नि जो धपधप कर बड़ी तेज़ी से जल रहा था, दक्षिणावर्तशिखा को घुमा, जानकी के सम्मुख ही मानों हनुमान जी का शुभ संवाद देने के लिये प्रज्वलित हो उठा। इसी बीच में जलती हुई पूँछ वाले हनुमान जी के पिता पवन देव भी ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

ववौ [1]स्वास्थ्यकरो देव्याः प्रालेयानिलशीतलः ।
दह्यमाने च लाङ्गूले चिन्तयामास वानरः ॥ ३४ ॥

बर्फ की तरह शीतल हो सीता जी के लिये सुखप्रद हो गये। उधर पूँछ को जलती हुई देख कर हनुमान जी सोचने लगे कि, ॥ ३४ ॥

प्रदीप्तोऽग्निरयं कस्मान्न मां दहति सर्वतः ।
दृश्यते च महाज्वालः न करोति च मे रुजम् ॥ ३५ ॥

क्या कारण है जो चारों ओर से जलने पर भी यह अग्नि मुझे नहीं जलाता। मैं देख रहा हूँ कि, आग धपधप कर बड़ी ज्वाला से जल रही है। किन्तु मुझे तो भी कुछ कष्ट नहीं हो रहा है ॥ ३५ ॥

---

१ स्वास्थ्यकरः—सुखकरः। (गो०)

शिशिरस्येव सम्पातो लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितः।
अथवा तदिदं व्यक्तं यदृष्टं प्लवता मया ॥ ३६ ॥
रामप्रभावादाश्चर्यं पर्वतः सरितां पतौ।
यदि तावत्समुद्रस्य मैनाकस्य च धीमतः ॥ ३७ ॥
रामार्थं संभ्रमस्तादृक्किमग्निर्न करिष्यति।
सीतायाश्चानृशंस्येन तेजसा राघवस्य च ॥ ३८ ॥

मुझे तो ऐसा ज्ञान पड़ता है, मानों मेरा पूँछ पर बर्फ रखो हो! अथवा श्रीरामचन्द्र जी के प्रभाव से समुद्र पार करते समय समुद्र में जैसा मैंने पर्वतरूप आश्चर्य देखा था; वैसा ही उन्होंके प्रताप से यह भी हो रहा है। जब बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी के विषय में मैनाक का ऐसा आदर है, तब क्या अग्नि श्रीरामचन्द्र जी का कुछ भी विचार न करेगा। मुझे तो निश्चय है कि, सीता जी की कृपा से और श्रीरामचन्द्र जी के प्रताप से ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः।
भूयः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ॥ ३९ ॥

और मेरे पिता के साथ मैत्री होने के कारण, अग्निदेव मुझे नहीं जलाते। फिर हनुमान जी ने मुहूर्त्त भर कुछ विचारा ॥ ३९ ॥

उत्पपाताथ वेगेन ननाद च महाकपिः।
पुरद्वारं ततः श्रीमाञ्शैलशृङ्गमिवोन्नतम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर वे उछले और बड़ी ज़ोर से गर्जे। फिर वे पर्वत शिखर के समान ऊँचे नगर के फाटक पर ॥ ४० ॥

विभक्तरक्षःसंबाधमाससादानिलात्मजः।
स भूत्वा शैलसङ्काशः क्षणेन पुनरात्मवान् ॥ ४१ ॥

जहाँ राक्षसों की भीड़ भाड़ न थी, पर्वताकार हो जा चढ़े। क्षण ही भर बाद उन्होंने पुनः अपने ॥ ४१ ॥

ह्रस्वतां परमां प्राप्तो बन्धनान्यवशातयत् ।
विमुक्तश्चाभवच्छ्रीमान्पुनः पर्वतसन्निभः ।
वीक्षमाणश्च ददृशे परिघं तोरणाश्रितम् ॥ ४२ ॥

शरीर को बहुत छोटा कर लिया और अपने सब बंधन काट गिराये। बंधन से छूट उन्होंने पुनः पर्वताकार रूप धारण कर लिया। फिर इधर उधर देखने पर उनको उस फाटक का बेंड़ा दिखलाई पड़ा ॥ ४२ ॥

स तं गृह्य महाबाहुः कालायसपरिष्कृतम् ।
रक्षिणस्तान्पुनः सर्वान्सूदयामास मारुतिः ॥ ४३ ॥

महाबाहु हनुमान जी ने उस लोहे के चमचमाते बेंड़े को ले, पुनः राक्षसों को उससे मार गिराया ॥ ४३ ॥

स तान्निहत्वा रणचण्डविक्रमः
समीक्षमाणः पुनरेव लङ्काम् ।
प्रदीप्तलाङ्गूलकृतार्चिमाली
प्रकाशतादित्य इवार्चिमाली ॥ ४४ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

युद्ध में प्रचण्ड विक्रम प्रदर्शन करने वाले हनुमान जी रखवालों को मार लङ्का को देखने लगे। उस समय उनकी पूँछ से जो अग्नि की लपटें निकल रही थीं, उनसे उस समय उनकी ऐसी शोभा हो रही थी; जैसी कि, किरणों द्वारा प्रकाशित मध्यान्हकालीन सूर्य की होती है ॥ ४४ ॥

सुन्दरकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—※—

वीक्षमाणस्ततो लङ्कां कपिः कृतमनोरथः ।
वर्धमानसमुत्साहः कार्यशेषमचिन्तयत् ॥ १ ॥

मनोरथ सिद्ध हो जाने से हनुमान जी उत्साहित हुए। वह लङ्का की ओर देख, मन ही मन शेष कर्त्तव्य को विचारने लगे ॥ १ ॥

किं नु खल्ववशिष्टं मे कर्तव्यमिह साम्प्रतम् ।
यदेषां रक्षसां भूयः सन्तापजननं भवेत् ॥ २ ॥

कपि ने विचारा कि, मैं अब क्या करूँ, जिससे राक्षसों के मन में और अधिक सन्ताप उत्पन्न हो ॥ २ ॥

वनं तावत्प्रमथितं प्रकृष्टा राक्षसा हताः ।
बलैकदेशः क्षपितः शेषं दुर्गविनाशनम् ॥ ३ ॥

इस बीच में, मैंने रावण का प्रमदावन उजाड़ डाला, बड़े बड़े नामी वीर राक्षसों को मार डाला, सेना का एक बड़ा भाग भी नष्ट कर डाला; अब तो मुझे रावण के दुर्ग का नाश करना और बाक़ी रह गया है ॥ ३ ॥

दुर्गे विनाशिते कर्म [1]भवेत्सुखपरिश्रमम् ।
अल्पयत्नेन कार्येऽस्मिन्मम स्यात्सफलः श्रमः ॥ ४ ॥

---

१ सुखपरिश्रमं—सफलायासं । (गो०)

(अतः) दुर्ग के नाश करने से मेरा परिश्रम सफल हो जायगा और इसे उजाड़ने में मुझे बहुत सा श्रम भी न उठाना पड़ेगा। थोड़े ही परिश्रम से यह काम भी पूरा हो जायगा ॥ ४ ॥

यो ह्ययं मम लाङ्गूले दीप्यते हव्यवाहनः ।
अस्य सन्तर्पणं न्याय्यं कर्तुमेभिर्गृहोत्तमैः ॥ ५ ॥

मेरी पूँछ में अग्निदेव जल रहे हैं और मुझे शीतल जान पड़ते हैं, सो इनको भली भांति तृप्त करना भी तो उचित है। अतः इन बढ़िया भवनों को भस्म कर, मैं इनको तृप्त करता हूँ ॥ ५ ॥

ततः प्रदीप्तलाङ्गूलः सविद्युदिव तोयदः ।
भवनाग्रेषु लङ्कायां विचचार महाकपिः ॥ ६ ॥

इस प्रकार निश्चय कर दामिनीयुक्त मेघ की तरह, जलती हुई पूँछ को लिये हुए, हनुमान जी भवनों की अटारियों पर (या छज्जों पर) घूमने लगे ॥ ६ ॥

गृहाद्गृहं राक्षसानामुद्यानानि च वानरः ।
वीक्षमाणो ह्यसन्त्रस्तः प्रसादांश्च चचार सः ॥ ७ ॥

हनुमान जी राक्षसों के एक घर से दूसरे घर पर और दूसरे से तीसरे घर पर चढ़ जाते और निर्भय हो, वहां के उद्यानों को देखते थे ॥ ७ ॥

अवप्लुत्य महावेगः प्रहस्तस्य निवेशनम् ।
अग्निं तत्र स निक्षिप्य श्वसनेन समो बली ॥ ८ ॥

पवन के समान वेगवान् हनुमान जी घूमते फिरते प्रहस्त के घर पर जा चढ़े। प्रहस्त के घर में आग लगा ॥ ८ ॥

ततोऽन्यत्पुप्लुवे वेश्म महापार्श्वस्य वीर्यवान् ।
मुमोच हनुमानग्निं कालानलशिखोपमम् ॥ ९ ॥

फिर वे बलवान् महापार्श्व के मकान पर कूद पड़े और कालाग्नि के तुल्य अग्नि उस भवन में लगा ॥ ९ ॥

वज्रदंष्ट्रस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ।
शुकस्य च महातेजाः सारणस्य च धीमतः ॥ १० ॥

वे वज्रदंष्ट्र के भवन पर कूद पड़े और उसमें भी आग लगा, उन्होंने महातेजस्वी शुक और बुद्धिमान सारण के घर जलाये ॥ १० ॥

तथा चेन्द्रजितो वेश्म ददाह हरियूथपः ।
जम्बुमालेः सुमालेश्च ददाह भवनं ततः ॥ ११ ॥

वहाँ से मेघनाद के भवन पर कूद, उन्होंने उसको फूँका । फिर जम्बुमाली और सुमाली के घरों को जलाया ॥ ११ ॥

रश्मिकेतोश्च भवनं सूर्यशत्रोस्तथैव च ।
ह्रस्वकर्णस्य दंष्ट्रस्य रोमशस्य च रक्षसः ॥ १२ ॥

युद्धोन्मत्तस्य मत्तस्य ध्वजग्रीवस्य रक्षसः ।
विद्युज्जिह्वस्य घोरस्य तथा हस्तिमुखस्य च ॥ १३ ॥

करालस्य पिशाचस्य शोणिताक्षस्य चैव हि ।
कुम्भकर्णस्य भवनं मकराक्षस्य चैव हि ॥ १४ ॥

यज्ञशत्रोश्च भवनं ब्रह्मशत्रोस्तथैव च ।
नरान्तकस्य कुम्भस्य निकुम्भस्य दुरात्मनः ॥ १५ ॥

तदनन्तर उन्होंने रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु, ह्रस्वकर्ण, युद्धोन्मत्त, ध्वजग्रीव, भयङ्कर विद्युज्जिह्व, हस्तिमुख, कराल, पिशाच, शोणिताक्ष, कुम्भकर्ण, मकराक्ष, यज्ञशत्रु, ब्रह्मशत्रु, नरान्तक, कुम्भ और दुरात्मा निकुम्भ नामक राक्षसों के घर फूँके ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

वर्जयित्वा महातेजा विभीषणगृहं प्रति ।
क्रममाणः क्रमेणैव ददाह हरिपुङ्गवः ॥ १६ ॥

हनुमान जी ने और राक्षसों के घर तो क्रम से जलाये, किन्तु अकेले विभीषण का घर छोड़ दिया ॥ १६ ॥

तेषु तेषु महार्हेषु भवनेषु महायशाः ।
गृहेष्वृद्धिमतामृद्धिं ददाह स महाकपिः ॥ १७ ॥

लङ्कापुरी निवासी धनी राक्षसों के घरों में जो जो मूल्यवान अन्न, वस्त्र, द्रव्य आदि सामग्री थी, हनुमान जी ने उस सब को भस्म कर डाला ॥ १७ ॥

सर्वेषां समतिक्रम्य राक्षसेन्द्रस्य वीर्यवान् ।
आससादाथ लक्ष्मीवान्रावणस्य निवेशनम् ॥ १८ ॥

इन सब भवनों को जला कर, हनुमान जी बलवान राक्षसराज रावण के घर पर कूद गये ॥ १८ ॥

ततस्तस्मिन्गृहे मुख्ये नानारत्नविभूषिते ।
मेरुमन्दरसङ्काशे [1]सर्वमङ्गलशोभिते ॥ १९ ॥

रावण के मेरुपर्वत के समान विशाल मुख्य भवन में, जो विविध प्रकार के रत्नों से भूषित था और समस्त माङ्गलिक द्रव्यों से परिपूर्ण था, ॥ १९ ॥

---

१ सर्वमङ्गलशोभिते—सर्वमङ्गलद्रव्ययुक्ते । (गो०)

प्रदीप्तमग्निमुत्सृज्य लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितम् ।
ननाद हनुमान्वीरो *युगान्तजलदो यथा ॥ २० ॥

अपनी पूँछ से आग लगा, हनुमान जी ऐसे ज़ोर से गर्जे, जैसे प्रलयकालीन मेघ गरजते हैं ॥ २० ॥

श्वसनेन च संयोगादतिवेगो महाबलः ।
कालाग्निरिव† सन्दीप्तः प्रावर्धत हुताशनः ॥ २१ ॥

हवा की सहायता पा, अति वेगवान् अग्नि, कालाग्नि की तरह धधधध कर बढ़ने लगा ॥ २१ ॥

‡प्रवृद्धमग्निं पवनस्तेषु वेश्मस्वचारयत् ।
अभूच्छ्वसनसंयोगादतिवेगो हुताशनः ॥ २२ ॥

उस प्रज्वलित आग को, पवनदेव अत्यन्त प्रचण्ड कर, एक घर से दूसरे घर में पहुँचा देते थे ॥ २२ ॥

तानि काञ्चनजालानि मुक्तामणिमयानि च ।
भवनान्यवशीर्यन्त रत्नवन्ति महान्ति च ॥ २३ ॥

सोने के झरोखों से युक्त, रत्न-राशि-विभूषित, बड़े बड़े मुक्ता-मणि-खचित जो भवन थे ॥ २३ ॥

तानि भग्नविमानानि निपेतुर्धरणीतले§ ।
भवनानीव सिद्धानामम्बरात्पुण्यसंक्षये ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे—" युगान्ते जलदो । " † पाठान्तरे—" ज्वाल । "
‡ पाठान्तरे—" प्रदीप्तमग्निं । " § पाठान्तरे—" वसुधातले ।"

उनकी अटारियाँ टूट टूट कर नीचे ज़मीन पर गिर पड़ीं। वे भवन टूट टूट कर इस प्रकार भहराये, जिस प्रकार सिद्धों के भवन पुण्यक्षीण होने पर, आकाश से टूट कर गिरते हैं ॥ २४ ॥

संजज्ञे तुमुलः शब्दो राक्षसानां प्रधावताम् ।
स्वगृहस्य परित्राणे भग्नोत्साहोर्जितश्रियाम् ॥ २५ ॥

दौड़ते हुए उन राक्षसों का, जो अपने घरों की रक्षा करने के लिये, उद्योग कर, हतोत्साह और नष्टश्री हो रहे थे, बड़ा कोलाहल मचा ॥ २५ ॥

नूनमेषोऽग्निरायातः कपिरूपेण हा इति ।
क्रन्दन्त्यः सहसा पेतुः[1] स्तनन्धयधराः स्त्रियः ॥२६॥

वे लोग चिल्ला चिल्ला कर कह रहे थे कि, हाय निश्चय ही कपि का रूप धर यह अग्निदेव ही आये हैं। छोटे छोटे दुधमुहे बच्चों को गोद में लिये और रोती हुई स्त्रियां, आग में सहसा गिर पड़ती थीं ॥ २६ ॥

काश्चिदग्निपरीतेभ्यो हर्म्येभ्यो मुक्तमूर्धजाः ।
पतन्त्यो रेजिरेऽभ्रेभ्यः सौदामिन्य इवाम्बरात् ॥ २७ ॥

बहुत सी स्त्रियां चारों ओर से अग्नि से घिर कर, सिर के बाल खोले अटारियों पर से नीचे कूद पड़ती थीं, मानों मेघ से दामिनी निकल कर पृथिवी पर आ गिरी हो ॥ २७ ॥

वज्रविद्रुमवैडूर्यमुक्तारजतसंहितान् ।
विचित्रान्भवनान्धातून्स्यन्दमानान्ददर्श सः ॥ २८ ॥

---

१ पेतुरग्नावितिशेषः । (रा०)

हीरा, मूँगा, पन्ना, मोती, और चांदी आदि अनेक धातुएँ अग्नि के ताप से पिघल कर, बहती हुई हनुमान जी ने देखीं ॥ २८ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां तृणानां *च यथा तथा ।
हनूमान्राक्षसेन्द्राणां वधे किञ्चिन्न तृप्यति ॥ २९ ॥

जिस प्रकार अग्निदेव, काठ और घास फूस को जलाते जलाते नहीं अघाते, उसी प्रकार हनुमान जी प्रधान राक्षसों को मारते मारते नहीं अघाते ॥ २९ ॥

न हनूमद्विशस्तानां राक्षसानां वसुन्धरा ।
क्वचित्किंशुकसङ्काशाः क्वचिच्छाल्मलिसन्निभाः ।
क्वचित्कुङ्कुमसङ्काशाः शिखा वह्नेश्चकाशिरे ॥ ३० ॥

और न हनुमान जी के मारे हुए राक्षसों के वध से वसुन्धरा ही अघाती थी। कहीं पर तो आग की लौ की रंगत किंशुक के फूल जैसी, कहीं शाल्मली के फूल जैसी और कहीं कुङ्कुम के रंग जैसी देख पड़ती थी ॥ ३० ॥

हनूमता वेगवता वानरेण महात्मना ।
लङ्कापुरं प्रदग्धं तद्रुद्रेण त्रिपुरं यथा ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार महादेव जी ने त्रिपुरासुर को भस्म किया था, उसी प्रकार महाबली वानरश्रेष्ठ हनुमान जी ने लङ्कापुरी को जला कर भस्म कर डाला ॥ ३१ ॥

ततस्तु लङ्कापुरपर्वताग्रे
समुत्थितो भीमपराक्रमोऽग्निः ।

* पाठान्तरे—" हरियूथपः "।

प्रसार्य चूडावलयं प्रदीप्तो
हनूमता वेगवता विसृष्टः ॥ ३२ ॥

भयङ्कर पराक्रमी हनुमान जी की लगायी हुई आग, अपने ज्वालामण्डल को फैला कर, लङ्कापुरी के पर्वत तक प्रज्वलित हो गयी ॥ ३२ ॥

युगान्तकालानलतुल्यवेगः
समारुतोऽग्निर्ववृधे दिविस्पृक् ।
विधूमरश्मिर्भवनेषु सक्तो
रक्षःशरीराज्यसमर्पितार्चिः ॥ ३३ ॥

फिर वह अग्नि पवन की सहायता पा कर, प्रलयकालीन अग्नि की तरह, आकाश को स्पर्श करता हुआ, बढ़ने लगा। लङ्का के घरों में राक्षसों के शरीररूपी घी को पा कर, धूमरहित अग्नि चारों ओर प्रकाश फैलाने लगा ॥ ३३ ॥

आदित्यकोटीसदृशः सुतेजा
लङ्कां समस्तां परिवार्य तिष्ठन् ।
शब्दैरनेकैरशनिप्ररूढैः
भिन्दन्निवाण्डं प्रबभौ महाग्निः ॥ ३४ ॥

उस समय करोड़ों सूर्यों की तरह चमचमाता अग्नि, समस्त लङ्कापुरी को घेर कर, वज्रपात के समान घोर नाद से ब्रह्माण्ड को फोड़ता हुआ, शोभायमान हुआ ॥ ३४ ॥

तत्राम्बरादग्निरतिप्रवृद्धो
रूक्षप्रभः किंशुकपुष्पचूडः ।

निर्वाणधूमाकुलराजयश्च
नीलोत्पलाभाः प्रचकाशिरेऽभ्राः ॥२५॥

बढ़ते बढ़ते वह अग्नि आकाश तक व्याप्त हो गया और अपनी रूखी प्रभा से ऐसा जान पड़ता, मानों पलाशवन में पलाशपुष्प फूले हुए हों। जब अग्नि नीचे से भभक कर धुआं निकालता, तब वह आकाश में जा नीलकमल के तुल्य मेघमण्डल जैसा जान पड़ता था॥ ३५ ॥

वज्री महेन्द्रस्त्रिदशेश्वरो वा
साक्षाद्यमो वा वरुणोनिलो वा।
रुद्रोऽग्निरर्को धनदश्च सोमो
न वानरोऽयं स्वयमेव कालः॥ ३६ ॥

उस समय लङ्कापुरीनिवासी अनेक राक्षस एकत्र हो, कह रहे थे—या तो यह वानर वज्रधारी स्वर्ग का राजा इन्द्र है, अथवा साक्षात् यम है, अथवा वरुण है, अथवा पवन है, अथवा रुद्र है, अथवा अग्नि है, अथवा सूर्य है, अथवा कुबेर है, अथवा सोम है; यह वानर नहीं है, प्रत्युत साक्षात् काल है॥ ३६ ॥

किं ब्रह्मणः सर्वपितामहस्य
सर्वस्य धातुश्चतुराननस्य।
इहागतो वानररूपधारी
रक्षोपसंहारकरः प्रकोपः॥ ३७ ॥

हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि, लोकसृष्टिकर्त्ता, सब के बाबा, लोकों के धारण करने वाले और चार मुख वाले ब्रह्मा जी का

क्रोध, वानर का रूप धर कर, राक्षसों का नाश करने के लिये यहाँ आया है ॥ ३७ ॥

किं वैष्णवं वा कपिरूपमेत्य
रक्षोविनाशाय परं सुतेजः ।
अनन्तमव्यक्तमचिन्त्यमेकं
स्वमायया सांप्रतमागतं वा ॥ ३८ ॥

अथवा अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त और अद्वितीय विष्णु भगवान का यह महातेज है जो राक्षसकुल का संहार करने के लिये, इस समय अपनी माया के बल से कपि का रूप धारण कर यहाँ आया है ॥ ३८ ॥

इत्येवमूचुर्बहवो विशिष्टा[1]
रक्षोगणास्तत्र समेत्य सर्वे ।
सप्राणिसंघां सगृहां सवृक्षां
दग्धां पुरीं तां सहसा समीक्ष्य ॥ ३९ ॥

प्राणियों, घरों और वृक्षों सहित लङ्कापुरी को सहसा भस्म हुई देख, वहाँ के समझदार राक्षसनेता एकत्र हो इस प्रकार कल्पनाएँ कर रहे थे ॥ ३९ ॥

ततस्तु लङ्का सहसा प्रदग्धा
सराक्षसा साश्वरथा सनागा ।
सपक्षिसंघा समृगा सवृक्षा
रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम् ॥ ४० ॥

---

१ विशिष्टाः—ज्ञानाधिकाः (गो०)

राक्षसों, घोड़ों, रथों, हाथियों, पक्षियों, मृगों, वृक्षों सहित जब लङ्का सहसा भस्म हो गयी ; तब वहाँ के बचे हुए निवासी राक्षस विकल हो रोते थे और चिल्लाते थे ॥ ४० ॥

हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र
हा जीवितं भोगयुतं सुपुण्यम् ।
रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः
शब्दः कृतो घोरतरः सुभीमः ॥ ४१ ॥

हा तात ! हा पुत्र ! हा कान्त ! हा मित्र ! हा प्राणनाथ ! हमारे अतिकष्ट से उपार्जित समस्त पुण्य क्षीण हो गये । इस प्रकार बहुधा वार्तालाप करते अनेक राक्षसों ने वहाँ बड़ा भयङ्कर कोलाहल मचाया ॥ ४१ ॥

हुताशनज्वालसमावृता सा
हतप्रवीरा परिवृत्तयोधा ।
हनूमतः क्रोधबलाभिभूता
बभूव शापोपहतेव लङ्का ॥ ४२ ॥

उस समय अग्नि की ज्वाला से घिरी हुई, बड़े बड़े शूरवीरों के युद्ध में मारे जाने के कारण उनसे हीन, तथा उद्विग्न चित्त योद्धाओं से युक्त और हनुमान जी के क्रोध और बल से पराजित, वह लङ्का शापहत की तरह जान पड़ने लगी ॥ ४२ ॥

स संभ्रमत्रस्तविषण्णराक्षसां
समुज्ज्वलज्ज्वालहुताशनाङ्किताम् ।

ददर्श लङ्कां हनुमान्महामनाः
स्वयंभुकोपोपहतामिवावनिम् ॥ ४३ ॥

उस समय बचे हुए लङ्कावासी राक्षस घबड़ाये हुए और विषाद युक्त थे। अत्यन्त प्रज्वलित आग में धप धप कर जलती हुई लङ्का महामनस्वी हनुमान जी को वैसी ही जान पड़ी, जैसी कि, शिवजी के कोप से दग्ध पृथिवी जान पड़ती है ॥ ४३ ॥

भङ्क्त्वा वनं पादपरत्नसङ्कुलं
हत्वा तु रक्षांसि महान्ति संयुगे।
दग्ध्वा पुरीं तां गृहरत्नमालिनीं
तस्थौ हनूमान्पवनात्मजः कपिः ॥ ४४ ॥

श्रेष्ठ वृक्षों से परिपूर्ण अशोकवन को उजाड़, युद्ध में बड़े बड़े राक्षस वीरों को मार, गृहों और रत्नों से परिपूर्ण लङ्का को जला कर, पवननन्दन कपि हनुमान जी शान्त हुए ॥ ४४ ॥

त्रिकूटशृङ्गाग्रतले विचित्रे
प्रतिष्ठितो वानरराजसिंहः।
प्रदीप्तलाङ्गूलकृतार्चिमाली
व्यराजतादित्य इवांशुमाली ॥ ४५ ॥

वानरराजसिंह हनुमान जी त्रिकूटपर्वत के शिखर पर जा बैठे। उस समय उनकी जलती हुई पूँछ से जो लपटें निकल रही थीं, उनकी ऐसी शोभा हुई, जैसी कि, किरणों द्वारा प्रकाशित मध्यान्ह-कालीन सूर्य की होती है ॥ ४५ ॥

स राक्षसांस्तान्सुबहूंश्च हत्वा
वनं च भङ्क्त्वा बहुपादपं तत्।

विसृज्य रक्षोभवनेषु चाग्निं
जगाम रामं मनसा महात्मा ॥ ४६ ॥

वे महाबली हनुमान जी बहुत से राक्षसों का संहार कर, बहुत से वृक्षों से युक्त अशोकवन को उजाड़ और राक्षसों के घर फूँक, मन द्वारा श्रीरामचन्द्र जी के पास पहुँच गये ॥ ४६ ॥

ततस्तु तं वानरवीरमुख्यं
महाबलं मारुततुल्यवेगम् ।
महामतिं वायुसुतं वरिष्ठं
प्रतुष्टुवुर्देवगणाश्च सर्वे ॥ ४७ ॥

तब तो उन वानराग्रगण्य, महाबली पवन तुल्य पराक्रमी, महाबुद्धिमान्, पवननन्दन और श्रेष्ठ हनुमान जी की सब देवता स्तुति करने लगे ॥ ४७ ॥

भङ्क्त्वा वनं महातेजा हत्वा रक्षांसि संयुगे ।
दग्ध्वा लङ्कापुरीं रम्यां रराज स महाकपिः ॥ ४८ ॥

अशोकवन को उजाड़, युद्ध में राक्षसों को मार और रमणीक लङ्कापुरी को फूँक, महातेजस्वी महाकपि हनुमान जी शोभा को प्राप्त हुए ॥ ४८ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
दृष्ट्वा लङ्कां प्रदग्धां तां विस्मयं परमं गताः ॥ ४९ ॥

वहाँ पर उपस्थित देवता, गन्धर्व, सिद्ध और देवर्षि, उस लङ्कापुरी को भस्म हुई देख, अत्यन्त विस्मित हुए ॥ ४९ ॥

तं दृष्ट्वा वानरश्रेष्ठं हनुमन्तं महाकपिम् ।
कालाग्निरिति संचिन्त्य सर्वभूतानि तत्रसुः ॥ ५० ॥

वहाँ पर जितने लोग थे, वे सब उन महाकपि वानरश्रेष्ठ हनुमान जी को देख यही समझते थे कि, यह साक्षात् कालाग्नि हैं ॥ ५० ॥

देवाश्च सर्वे मुनिपुङ्गवाश्च
गन्धर्वविद्याधरकिन्नराश्च ।
भूतानि सर्वाणि महान्ति तत्र
जग्मुः परां प्रीतिमतुल्यरूपाम् ॥ ५१ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

समस्त देवता, मुनिश्रेष्ठ, गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर आदि जितने बड़े बड़े लोग वहाँ उपस्थित थे, वे सब के सब अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ५१ ॥

सुन्दरकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—※—

लङ्कां समस्तां सन्दीप्य लाङ्गूलाग्निं महाबलः ।
निर्वापयामास तदा समुद्रे हरिसत्तमः ॥ १ ॥

जब अपनी पूँछ की आँच से महाबली कपिश्रेष्ठ हनुमान जी समस्त लङ्का में आग लगा चुके, तब उन्होंने समुद्र के जल से अपनी पूँछ की आग बुझायी ॥ १ ॥

सन्दीप्यमानां विध्वस्तां त्रस्तरक्षोगणां पुरीम् ।
अवेक्ष्य हनुमाँल्लङ्कां चिन्तयामास वानरः ॥ २ ॥

जलती हुई और विध्वस्त लङ्का को तथा भयभीत राक्षसों को देख, हनुमान जी सोचने लगे ॥ २ ॥

तस्याभूत्सुमहांस्त्रासः कुत्सा चात्मन्यजायत ।
लङ्कां प्रदहता कर्म किं स्वित्कृतमिदं मया ॥ ३ ॥

सोचते सोचते उनके मन में बड़ा भय उत्पन्न हो गया और वे अपनी निन्दा कर कहने लगे कि. यह मैंने क्या किया जो लङ्का को फूँक दिया ॥ ३ ॥

धन्यास्ते पुरुषश्रेष्ठा ये बुद्ध्या कोपमुत्थितम् ।
निरुन्धन्ति महात्मानो दीप्तमग्निमिवाम्भसा ॥ ४ ॥

वे पुरुषश्रेष्ठ धन्य हैं, जो समझ बूझ कर उपजे हुए क्रोध को उसी प्रकार ठंडा कर डालते हैं; जिस प्रकार जल दहकती हुई आग को ॥ ४ ॥

क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ॥ ५ ॥

क्रोध के वशवर्ती लोग क्या नहीं कर डालते । क्रोध के आवेश में लोग अपने पूज्यों को भी मार डालते हैं और क्रोध में भर लोग, सज्जनों को भी कुवाच्य कह बैठते हैं ॥ ५ ॥

वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् ॥ ६ ॥

क्रुद्ध होने पर मनुष्य को कहनी अनकहनी बात का विवेक नहीं रहता। क्रोधी के लिये न तो कोई अनकरना काम ही है और न अनकहनी कोई बात ही है ॥ ६ ॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयैव निरस्यति ।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥ ७ ॥

किन्तु जो आदमी क्रोध आने पर उसको क्षमा द्वारा वैसे ही निकाल बाहर करता है; जैसे सर्प पुरानी केंचुल को, वही आदमी, आदमी कहलाने योग्य है ॥ ७ ॥

धिगस्तु मां सुदुर्बुद्धिं निर्लज्जं पापकृत्तमम् ।
अचिन्तयित्वा तां सीतामग्निदं स्वामिघातकम् ॥ ८ ॥

धिक्कार है मुझ बड़े भारी दुर्बुद्धि, निर्लज्ज और पापी को, जिसने, सीता की ओर ध्यान न दे, लङ्का जला डाली और उसके साथ ही अपने स्वामी को भी नष्ट कर डाला अथवा स्वामी का बना बनाया काम बिगाड़ डाला ॥ ८ ॥

यदि दग्धा त्वियं लङ्का नूनमार्यापि जानकी ।
दग्धा तेन मया भर्तुर्हतं कार्यमजानता ॥ ९ ॥

क्योंकि, यदि यह सारी की सारी लङ्का जल गयी तो सती सीता जी भी अवश्य ही भस्म हो गयी होंगी। मैंने अज्ञानतावश स्वामी का काम ही बिगाड़ डाला ॥ ९ ॥

यदर्थमयमारम्भस्तत्कार्यमवसादितम् ।
मया हि दहता लङ्कां न सीता परिरक्षिता ॥ १० ॥

जिस काम के लिये इतना श्रम उठाया वही नष्ट हो गया। हा ! लङ्का जलाते समय मैंने सीता की रक्षा न की ॥ १० ॥

ईषत्कार्यमिदं कार्यं कृतमासीन्न संशयः ।
तस्य क्रोधाभिभूतेन मया मूलक्षयः कृतः ॥ ११ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि, लङ्का का जलाना एक मामूली काम था, किन्तु मैंने तो क्रोधान्ध हो कर मूल ही का नाश कर डाला ॥ ११ ॥

विनष्टा जानकी नूनं न ह्यदग्धः प्रदृश्यते ।
लङ्कायां कश्चिदुद्देशः सर्वा भस्मीकृता पुरी ॥ १२ ॥

जब लङ्का का कोई भी स्थान अनजला नहीं देख पड़ता और समस्त लङ्कापुरी भस्म हो गयी ; तब निश्चय ही जानकी जी भी भस्म हो गयी ॥ १२ ॥

यदि तद्विहतं कार्यं मम प्रज्ञाविपर्ययात् ।
इहैव प्राणसंन्यासो ममापि ह्यद्य रोचते ॥ १३ ॥

यदि मैंने अपनी नासमझी से कार्य नष्ट कर डाला है, तो मुझे यहीं पर अपना प्राण त्याग करना ठीक जान पड़ता है ॥ १३ ॥

किमग्नौ निपताम्यद्य अहोस्विद्वडवामुखे ।
शरीरमाहो सत्त्वानां दद्मि सागरवासिनाम् ॥ १४ ॥

क्या मैं अग्नि में गिर कर भस्म हो जाऊँ, अथवा समुद्र के वड़वानल में कूद पड़ूँ, अथवा समुद्रवासी जलचरों को अपना शरीर दे डालूँ ॥ १४ ॥

कथं हि जीवता शक्यो मया द्रष्टुं हरीश्वरः ।
तौ वा पुरुषशार्दूलौ कार्यसर्वस्वघातिना ॥ १५ ॥

समस्त कार्यों को नाश कर, मैं क्यों कर जीता जागता कपिराज सुग्रीव और उन दोनों पुरुषसिंहों के सामने जा सकता हूँ ॥ १५ ॥

मया खलु तदेवेदं रोषदोषात्प्रदर्शितम् ।
प्रथितं त्रिषु लोकेषु कपित्वमनवस्थितम् ॥ १६ ॥

तीनों लोकों में यह बात प्रसिद्ध है कि, वानर के स्वभाव का क्या ठीक—सो मैंने क्रोध के आवेश में आ, इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर के दिखला दिया ॥ १६ ॥

धिगस्तु राजसम्भावमनीशमनवस्थितम् ।
[1]ईश्वरेणापि यद्रागान्मया सीता न रक्षिता ॥ १७ ॥

राजसिकभाव अर्थात् रजोगुण को धिक्कार है, जो लोगों को मनमुखी और अव्यवस्थित बना देता है। मैंने सामर्थ्य रहते भी रजोगुण से प्रेरित हो, सीता की रक्षा न की ॥ १७ ॥

विनष्टायां तु सीतायां तावुभौ विनशिष्यतः ।
तयोर्विनाशे सुग्रीवः सबन्धुर्विनशिष्यति ॥ १८ ॥

सीता के नष्ट होने से वे दोनों राजकुमार भी मर जांयगे। उनके मरने से बन्धुबान्धव सहित सुग्रीव भी मर जांयगे ॥ १८ ॥

एतदेव वचः श्रुत्वा भरतो भ्रातृवत्सलः ।
धर्मात्मा सहशत्रुघ्नः कथं शक्ष्यति जीवितुम् ॥ १९ ॥

फिर इस बात को सुन भ्रातृवत्सल भरत जी, धर्मात्मा शत्रुघ्न सहित क्यों कर जीवित रह सकेंगे ॥ १९ ॥

इक्ष्वाकुवंशे धर्मिष्ठे गते नाशमसंशयम् ।
भविष्यन्ति प्रजाः सर्वा शोकसन्तापपीडिताः ॥ २० ॥

---

१ ईश्वरेणापि—रक्षणसमर्थेनापि । (गो०)

धर्मिष्ठ इक्ष्वाकुवंश का नाश हो जाने पर निस्सन्देह सारी प्रजा शोकसन्ताप से पीड़ित हो जायगी ॥ २० ॥

तदहं भाग्यरहितो लुप्तधर्मार्थसंग्रहः ।
रोषदोषपरीतात्मा व्यक्तं लोकविनाशनः ॥ २१ ॥

अतः निश्चय ही मैं जो हतभागी हूँ और रोष के दोष से भरा हुआ हूँ, इस लोक का नाशक ठहरा। मेरा जो कुछ उपार्जित धर्मार्थ था वह भी लुप्त हो गया ॥ २१ ॥

इति चिन्तयतस्तस्य निमित्तान्युपपेदिरे ।
पूर्वमप्युपलब्धानि साक्षात्पुनरचिन्तयत् ॥ २२ ॥

इस प्रकार हनुमान जी चिन्ता में मग्न थे कि, इतने में उनको विविध प्रकार के शुभ शकुन जो पहिले भी देख पड़े थे, देख पड़े; तब तो वे पुनः सोचने लगे ॥ २२ ॥

अथवा चारुसर्वाङ्गी रक्षिता स्वेन तेजसा ।
न नशिष्यति कल्याणी नाग्निरग्नौ प्रवर्तते ॥ २३ ॥

कि, यह भी हो सकता है कि, सर्वाङ्गशोभना और सौभाग्यवती जानकी अपने पातिव्रतधर्म-पालन के प्रभाव से सदैव सुरक्षित है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकती। क्योंकि अग्नि, भला अग्नि को क्या जलावेगा ॥ २३ ॥

न हि धर्मात्मनस्तस्य भार्याममिततेजसः ।
स्वचारित्राभिगुप्तां तां स्प्रष्टुमर्हति पावकः ॥ २४ ॥

फिर अतुल तेजस्वी धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी को जो अपने पातिव्रतधर्म से सुरक्षित है, अग्निस्पर्श नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

नूनं रामप्रभावेन वैदेह्याः सुकृतेन च ।
यन्मां दहनकर्माऽयं नादहद्धव्यवाहनः ॥ २५ ॥

तभी तो श्रीरामचन्द्र जी के प्रताप और सीता जी के पुण्य-प्रभाव से जलाने वाले अग्नि ने मुझे नहीं जलाया—यह निश्चय बात है ॥ २५ ॥

त्रयाणां भरतादीनां भ्रातृणां देवता च या ।
रामस्य च मनःकान्ता सा कथं विनशिष्यति ॥ २६ ॥

जो भरतादि तीनों भाइयों की देवता है और श्रीरामचन्द्र जी की प्राणवल्लभा है, भला वह कैसे नष्ट होगी ॥ २६ ॥

यद्वा दहनकर्माऽयं सर्वत्र प्रभुरव्ययः ।
न मे दहति लाङ्गूलं कथमार्यां प्रधक्ष्यति ॥ २७ ॥

अथवा सब वस्तुओं को जलाने की सामर्थ्य रखने वाले और नाशरहित अग्नि ने, जब मेरी पूँछ ही को नहीं जलाया, तब वे सती सीता को किस प्रकार भस्म करेंगे ॥ २७ ॥

पुनश्चाचिन्तयत्तत्र हनुमान्विस्मितस्तदा ।
हिरण्यनाभस्य गिरेर्जलमध्ये प्रदर्शनम् ॥ २८ ॥

तदुपरान्त सोच विचार कर फिर हनुमान जी श्रीसीता जी के प्रभाव से, समुद्र के बीच हिरण्यनाभ मैनाकपर्वत के निकल आने की सुधि कर, विस्मित हो गये और मन ही मन कहने लगे ॥ २८ ॥

तपसा सत्यवाक्येन अनन्यत्वाच्च भर्तरि ।
अपि सा निर्दहेदग्निं न तामग्निः प्रधक्ष्यति ॥ २९ ॥

सीता जी अपने तपःप्रभाव, सत्यभाषण तथा अपने पति में अनन्य भक्ति रखने के प्रभाव से अग्नि को स्वयं भले ही भस्म कर दें, किन्तु अग्नि उनको नहीं जला सकता ॥ २९ ॥

स तथा चिन्तयंस्तत्र देव्या धर्मपरिग्रहम् ।
शुश्राव हनुमान्वाक्यं चारणानां महात्मनाम् ॥ ३० ॥

हनुमान जी इस प्रकार सीता जी की धर्मनिष्ठा को सोच रहे थे कि, इतने में हनुमान जी को महात्मा चारणों के ये वचन सुन पड़े ॥ ३० ॥

अहो खलु कृतं कर्म दुष्करं हि हनूमता ।
अग्निं विसृजताऽभीक्ष्णं भीमं राक्षससद्मनि ॥ ३१ ॥

आहा निश्चय ही हनुमान जी ने बड़ा ही दुष्कर काम कर डाला कि, राक्षसों के घरों में भयङ्कर आग लगा दी ॥ ३१ ॥

प्रपलायितरक्षःस्त्रीबालवृद्धसमाकुला ।
जनकोलाहलाध्माता क्रन्दन्तीवाद्रिकन्दरे ॥ ३२ ॥

जिससे राक्षसों की स्त्रियां, बालक, बूढ़े, सब घबड़ा कर भाग खड़े हुए और बड़ा कोलाहल मचा और लङ्कापुरी पर्वत की कन्दरा की तरह कोलाहल से प्रतिध्वनित हो गयी ॥ ३२ ॥

दग्धेयं नगरी सर्वा साट्टप्राकारतोरणा ।
जानकी न च दग्धेति विस्मयोऽद्भुत एव नः ॥ ३३ ॥

अटारियों, प्राकारों और तोरणद्वारों सहित, सारी की सारी लङ्का भस्म कर दी, किन्तु हमको यह बड़ा आश्चर्य जान पड़ता है कि, जानकी न जली ॥ ३३ ॥

स निमित्तैश्च दृष्टार्थैः कारणैश्च महागुणैः ।
ऋषिवाक्यैश्च हनुमानभवत्प्रीतमानसः ॥ ३४ ॥

हनुमान जी पूर्व में अनुभूत शुभफलप्रद शुभशकुनों को देख और ऋषियों (चारणों) के उपर्युक्त वाक्यों को सुन, मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३४ ॥

ततः कपिः प्राप्तमनोरथार्थः
तामक्षतां राजसुतां विदित्वा ।
प्रत्यक्षतस्तां पुनरेव दृष्ट्वा
प्रतिप्रयाणाय मतिं चकार ॥ ३५ ॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

चारण लोगों के वचनों से सीता जी के शरीर को कुशल जान, हनुमान जी का मनोरथ पूरा हुआ । फिर सीता जी को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष (सकुशल) देख, हनुमान जी ने लङ्का से लौटने का निश्चय किया ॥ ३५ ॥

सुन्दरकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—*—

*ततस्तां शिंशुपामूले जानकीं पर्यवस्थिताम् ।
अभिवाद्याब्रवीद्दिष्ट्या पश्यामि त्वामिहाक्षताम् ॥ १ ॥

---

* पाठान्तरे—" ततस्तु । "

तदनन्तर वे शिंशपा वृक्ष के नीचे बैठी हुई जानकी जी को प्रणाम कर बोले कि, हे देवी! मैं तुमको सौभाग्यवश ही अक्षत देख रहा हूँ ॥ १ ॥

ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः ।
भर्तृस्नेहान्वितं वाक्यं हनूमन्तमभाषत ॥ २ ॥

तदनन्तर सीता जी ने जाने के लिये तैयार हनुमान जी को बार बार देख, पति के स्नेह से युक्त हो, ये वचन कहे ॥ २ ॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने ।
पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते बलोदयः ॥ ३ ॥

हे शत्रुघातिन्! इस कार्य के साधन में अकेले तुम्हीं काफी (पर्याप्त) हो, क्योंकि, तुम्हारे बल का उदय मुझे बड़ा यशोयुक्त देख पड़ता है ॥ ३ ॥

शरैः सुसङ्कुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः ।
मां नयेद्यदि काकुत्स्थस्तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥ ४ ॥

किन्तु यदि श्रीरामचन्द्र जी अपने बाणों से लङ्कापुरी को परिपूर्ण कर, मुझे यहाँ से ले जाँय, तो यह कार्य उनके योग्य होगा ॥ ४ ॥

तद्यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः ।
*भवेदाहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय ॥ ५ ॥

अतएव उन धैर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी का विक्रमयुक्त और उनके योग्य यह कार्य सिद्ध हो, अतः तुमको वैसा ही उपाय करना चाहिये ॥ ५ ॥

* पाठान्तरे—"भवत्याहवशूरस्य ।"

तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्रितं हेतुसंहितम् ।
निशम्य हनुमांस्तस्या वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ ६ ॥

सीता जी के अर्थयुक्त तथा युक्तियुक्त स्नेहसने वचन सुन वीर हनुमान जी उत्तर देते हुए कहने लगे ॥ ६ ॥

क्षिप्रमेष्यति काकुत्स्थो हर्यृक्षप्रवरैर्वृतः ।
यस्ते युधि विजित्यारीञ्शोकं व्यपनयिष्यति ॥ ७ ॥

हे देवी ! श्रीरामचन्द्र जी वानर और वानरों की सेना ले कर शीघ्र ही यहाँ आवेंगे और युद्ध में शत्रु को परास्त कर तुम्हारे शोक को दूर करेंगे ॥ ७ ॥

एवमाश्वास्य वैदेहीं हनुमान्मारुतात्मजः ।
गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीमभ्यवादयत् ॥ ८ ॥

इस प्रकार पवननन्दन हनुमान जी ने, सीता को धीरज बँधा और वहाँ से प्रस्थानित होने का विचार कर, जनकनन्दिनी को प्रणाम किया ॥ ८ ॥

ततः स कपिशार्दूलः स्वामिसन्दर्शनोत्सुकः ।
आरुरोह गिरिश्रेष्ठमरिष्टमरिमर्दनः ॥ ९ ॥

तदनन्तर स्वामी के देखने के लिये उत्सुक हो कपिशार्दूल और शत्रु को मर्दन करने वाले हनुमान जी, अरिष्टनामक श्रेष्ठ पर्वत पर चढ़ गये ॥ ९ ॥

तुङ्गपद्मकजुष्टाभिर्नीलाभिर्वनराजिभिः ।
सोत्तरीयमिवाम्भोदैः शृङ्गान्तरविलम्बिभिः ॥ १० ॥

बोध्यमानमिव प्रीत्या दिवाकरकरैः शुभैः ।
उन्मिषन्तमिवोद्धूतैर्लोचनैरिव धातुभिः ॥ ११ ॥

उस पर्वत पर बड़े बड़े भोजपत्र के वृक्ष शोभित थे। वन में हरियाली छायी हुई थी। उसके शिखरों के ऊपर लटकते हुए मेघ दुपट्टे की तरह जान पड़ते थे। उस पर सूर्य की किरणें गिर कर, मानों प्रेमपूर्वक उसको नींद से जगा रही थीं। विविध भाँति की धातुओं से मण्डित मानों वह पर्वत अपने नेत्र खोले हुए देख रहा था ॥ १० ॥ ११ ॥

तोयौघनिःस्वनैर्मन्द्रैः प्राधीतमिव *सर्वतः ।
प्रगीतमिव विस्पष्टैर्नानाप्रस्रवणस्वनैः ॥ १२ ॥

झरनों की जलधार के गिरने से ऐसा शब्द हो रहा था, मानों पर्वत अध्ययन कर रहा हो और जो नदियाँ वह रही थीं; उनका कलकल शब्द ऐसा जान पड़ता था; मानों पर्वत गान कर रहा हो ॥ १२ ॥

देवदारुभिरत्युच्चैरूर्ध्वबाहुमिव स्थितम् ।
प्रपातजलनिर्घोषैः प्राक्रुष्टमिव सर्वतः ॥ १३ ॥

उसके ऊपर जो बड़े बड़े देवदारु के पेड़ थे, वे ऐसे जान पड़ते थे; मानों पर्वत ऊपर को भुजा उठाये हुए खड़ा हो। सर्वत्र जलप्रपात का शब्द होने से ऐसा जान पड़ता था मानों पर्वत पुकार रहा हो ॥ १३ ॥

वेपमानमिव श्यामैः कम्पमानैः शरद्घनैः ।
वेणुभिर्मारुतोद्धूतैः कूजन्तमिव कीचकैः ॥ १४ ॥

* पाठान्तरे—" पर्वतः । "

वायु से डोलते हुए शरत्कालीन हरे हरे वृक्षों द्वारा वह पर्वत काँपता हुआ सा जान पड़ता था। पोले वाँसों में जब वायु भरता था, तब उनसे ऐसा शब्द निकलता, मानों पर्वत बाँसुरी बजा रहा हो॥ १४॥

निःश्वसन्तमिवामर्षाद्घोरैराशीविषोत्तमैः।
नीहारकृतगम्भीरैर्ध्यायन्तमिव गह्वरैः॥ १५॥

वहाँ बड़े बड़े ज़हरीले साँप, जो क्रोध में भर फुँसकार रहे थे, ऐसा जान पड़ता था, मानों पर्वत साँस ले रहा हो। छाये हुए अत्यन्त अन्धकारमय कुहरे से तथा अपनी गहरी गुफाओं से, ऐसा जान पड़ता था मानों पर्वत ध्यानावस्थित हो॥ १५॥

मेघपादनिभैः पादैः प्रक्रान्तमिव सर्वतः।
जृम्भमाणमिवाकाशे शिखरैरभ्रशालिभिः॥ १६॥

मेघ के टुकड़ों की तरह अपने खगडपर्वतरूप पैरों से ऐसा जान पड़ता था, मानों पर्वत चलना चाहता हो। अपने आकाशस्पर्शी टेढ़ेमेढ़े शिखरों से मानों वह पर्वत अपने शरीर को टेढ़ामेढ़ा कर, जभा (या जँभाई ले) रहा हो॥ १६॥

कूटैश्च बहुधाकीर्णैः शोभितं बहुकन्दरैः।
सालतालाश्वकर्णैश्च वंशैश्च बहुभिर्वृतम्॥ १७॥

लतावितानैर्विततैः पुष्पवद्भिरलंकृतम्।
नानामृगगणाकीर्णं धातुनिष्यन्दभूषितम्॥ १८॥

बड़े बड़े शिखरों, बड़ी बड़ी कन्दराओं से तथा साखू, ताड़, अश्वकर्ण, बसवारी एवं विविध प्रकार की फूली हुई लताओं से

वह पर्वत पूर्ण और भूषित था। उस पर बहुत से मृग थे और धातुओं के झरने से वह शोभित था ॥ १७ ॥ १८ ॥

बहुप्रस्रवणोपेतं शिलासञ्चयसङ्कटम् ।
महर्षियक्षगन्धर्वकिन्नरोरगसेवितम् ॥ १९ ॥

उस पर्वत पर अनेक जल के झरने झर रहे थे। शिलाओं की चट्टाने पड़ी थीं। महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और उरग उस पहाड़ पर रहते थे ॥ १९ ॥

लतापादपसम्बाधं सिंहाध्युषितकन्दरम् ।
व्याघ्रसङ्घसमाकीर्णं स्वादुमूलफलोदकम् ॥ २० ॥

वह पर्वत, लता वृक्षों से परिपूर्ण था और उसकी कन्दराओं में सिंह रहते थे। व्याघ्रों के झुंड के झुंड वहाँ भरे पड़े थे तथा उस पर के फल फूल और जल बड़े स्वादिष्ट थे ॥ २० ॥

तमारुरोह हनुमान्पर्वतं *प्लवगोत्तमः ।
रामदर्शनशीघ्रेण प्रहर्षेणाभिचोदितः ॥ २१ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान जी ऐसे उस अरिष्ट नामक पर्वत के ऊपर चढ़ गये। क्योंकि, श्रीरामचन्द्र जी से मिलने की उनको जल्दी थी और कार्यसिद्ध होने के कारण वे बहुत प्रसन्न थे ॥ २१ ॥

तेन पादतलाक्रान्ता रम्येषु गिरिसानुषु ।
सघोषाः समशीर्यन्त शिलाश्चूर्णीकृतास्ततः ॥ २२ ॥

उस रमणीक पर्वत के शिखर की शिलाएँ हनुमान जी के पैरों के आघात से टूट कर चूर चूर हो गयीं और शब्द करती हुईं नीचे गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—"पवनात्मजः ।"

स तमारुह्य शैलेन्द्रं व्यवर्धत महाकपिः ।
दक्षिणादुत्तरं पारं प्रार्थयँल्लवणाम्भसः ॥ २३ ॥

उस पर्वतराज पर चढ़ कर हनुमान जी ने अपना शरीर बढ़ाया और वे समुद्र के दक्षिणतट से उत्तरतट की ओर जाने को तैयार हुए ॥ २३ ॥

अधिरुह्य ततो वीरः पर्वतं पवनात्मजः ।
ददर्श सागरं भीमं मीनोरगनिषेवितम् ॥ २४ ॥

उस पर्वत पर चढ़ वीर पवननन्दन ने मछलियों और सांपों से भरा भयङ्कर समुद्र देखा ॥ २४ ॥

स मारुत इवाकाशं मारुतस्यात्मसम्भवः ।
प्रपेदे हरिशार्दूलो दक्षिणादुत्तरां दिशम् ॥ २५ ॥

पवननन्दन हनुमान जी, आकाशचारी पवन की तरह, अति शीघ्र दक्षिणतट से उत्तरतट की ओर उड़ चले ॥ २५ ॥

स तदा पीडितस्तेन कपिना पर्वतोत्तमः ।
ररास सह तैर्भूतैः प्रविशन्वसुधातलम् ॥ २६ ॥

हनुमान जी के पैर के बोझ से दब जाने के कारण अनेक प्राणियों के चीत्कार के साथ गम्भीर शब्द करता हुआ वह पर्वत पृथिवी में समा गया ॥ २६ ॥

कम्पमानैश्च शिखरैः पतद्भिरपि च द्रुमैः ।
तस्योरुवेगोन्मथिताः पादपाः पुष्पशालिनः ॥ २७ ॥

उसके समस्त शिखर और वृक्ष कांपते हुए नीचे गिर पड़े। हनुमान जी की जंघाओं के वेग से उखड़ उखड़ कर, विविध प्रकार के फूले हुए पेड़ ॥ २७ ॥

निपेतुर्भूतले रुग्णाः शक्रायुधहता इव ।
कन्दरोदरसंस्थानां पीडितानां महौजसाम् ॥ २८ ॥

टूट टूट कर पृथिवी पर गिर पड़े, मानों इन्द्र के वज्र से तोड़े गये हों। उसकी कन्दराओं के भीतर रहने वाले, महाबलवान् किन्तु पीड़ित ॥ २८ ॥

सिंहानां निनदो भीमो नभो भिन्दन्सशुश्रुवे ।
स्रस्तव्याविद्धवसना व्याकुलीकृतभूषणाः ॥ २९ ॥
विद्याधर्यः समुत्पेतुः सहसा धरणीधरात् ।
अतिप्रमाणा बलिनो दीप्तजिह्वा महाविषाः ॥ ३० ॥

सिंहों ने भयङ्कर नाद किया, जिससे जान पड़ा, मानों आकाश फट जायगा। उस पर्वत पर विहार करने वाली विद्याधारियों के मारे डर के शरीर के वस्त्र खसक पड़े। आभूषण उलटे सीधे हो गये। वे सहसा पर्वत को छोड़, उड़ कर आकाश में जा पहुँची। बड़े बड़े लंबे, बलवान, प्रज्वलित जिह्वा वाले, और महाविषैले ॥ २९ ॥ ३० ॥

निपीडितशिरोग्रीवा व्यवेष्टन्त[1] महाहयः[2] ।
किन्नरोरगगन्धर्वयक्षविद्याधरास्तदा ॥ ३१ ॥

बड़े बड़े सर्प, फनों और गरदनों के दब जाने से कुण्डलियाँ मारे हुए थे। वहाँ के किन्नर, उरग, गन्धर्व, यक्ष, तथा विद्याधर ॥ ३१ ॥

---

१ व्यवेष्टन्त—कुण्डलीकृतदेहा अभवन् । (शि०) २ महाहयः—महोरगाः । (शि०)

पीडितं तं नगवरं त्यक्त्वा गगनमास्थिताः ।
स च भूमिधरः श्रीमान्बलिना तेन पीडितः ॥ ३२ ॥

सवृक्षशिखरोदग्रः प्रविवेश रसातलम् ।
दशयोजनविस्तारस्त्रिंशद्योजनमुच्छ्रितः ॥ ३३ ॥

उस पर्वतश्रेष्ठ को पीड़ित देख और उसे छोड़ कर, आकाश में चले गये। हनुमान जी द्वारा पीड़ित हो वह शोभायमान पर्वत अपने शिखरों और पेड़ों सहित रसातल में चला गया। वह पर्वत दस योजन लंबा और तीस योजन ऊँचा था। सो वह पर्वत पृथिवी में समा गया ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

धरण्यां समतां यातः स बभूव धराधरः ।
स लिलङ्घयिषुर्भीमं सलीलं लवणार्णवम् ।
कल्लोलास्फालवेलान्तमुत्पपात नभो हरिः ॥ ३४ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

और जहाँ वह पहिले था वहाँ की भूमि बराबर हो गयी। बड़ी बड़ी लहरों से लहराते हुए, तटों से युक्त, खारी भयङ्कर महासागर को खिलवाड़ की तरह, लाँघने के लिये, हनुमान जी कूद कर आकाश में चले गये ॥ ३४ ॥

सुन्दरकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—※—

[आप्लुत्य च महावेगः पक्षवानिव पर्वतः ।]

सचन्द्रकुमुदं रम्यं सार्ककारण्डवं शुभम् ।

तिष्यश्रवणकादम्बमभ्रशैवालशाद्वलम् ॥ १ ॥

बड़े बलवान हनुमान जी पक्षधारी पर्वत की तरह आकाश रूपी समुद्र में उड़ कर चले। चन्द्रमा मानों आकाश रूपी समुद्र का कुमुद है। सूर्य मानों जलमुर्ग है, पुष्य और श्रवण नक्षत्र मानों हंस की तरह शोभायमान हैं और मेघसमूह मानों सिवार है ॥ १ ॥

पुनर्वसुमहामीनं लोहिताङ्गमहाग्रहम् ।

ऐरावतमहाद्वीपं स्वातीहंसविलोलितम् ॥ २ ॥

पुनर्वसु नक्षत्र मानों बड़ा भारी मत्स्य है और मंगल मानों बड़ा मगर (नक्र) है। ऐरावत मानों उस समुद्र का महाद्वीप है, स्वाती नक्षत्र मानों हंस उसमें तैर रहा है ॥ २ ॥

वातसङ्घातजातोर्मि चन्द्रांशुशिशिराम्बुमत् ।

भुजङ्गयक्षगन्धर्वप्रबुद्धकमलोत्पलम् ॥ ३ ॥

वायु मानों तरंगे हैं और चन्द्रमा की किरण रूपी शीतल जल से वह पूर्ण है भुजङ्ग, यक्ष, और गन्धर्व मानों फूले हुए कमल के फूल हैं ॥ ३ ॥

हनुमान्मारुतगतिर्महानौरिव सागरम् ।

अपारमपरिश्रान्तः पुप्लुवे गगनार्णवम् ॥ ४ ॥

हनुमान जी बड़े वेग से उसी प्रकार चले, जैसे सागर में नाव चलती है और बिना थके वे उस अपार आकाशरूपी सागर में चले जाते थे ॥ ४ ॥

ग्रसमान इवाकाशं ताराधिपमिवोल्लिखन्[1] ।
हरन्निव[2] सनक्षत्रं गगनं सार्कमण्डलम् ॥ ५ ॥

जाते हुए हनुमान जी ऐसे जान पड़ते थे, मानों आकाश को ग्रसे ही लेते हों और अपने नखों से मानों आकाश में चन्द्रमा बनाते जाते हों और नक्षत्रों तथा सूर्य सहित आकाशमण्डल को वे मानों पकड़े लेते हों ॥ ५ ॥

मारुतस्यात्मजः श्रीमान्कपिर्व्योमचरो महान् ।
हनुमान्मेघजालानि विकर्षन्निव गच्छति ॥ ६ ॥

महाकपुधारी पवननन्दन श्रीमान हनुमान जी मेघसमूहों को खींचते हुए, अपार आकाश में चले जाते थे ॥ ६ ॥

पाण्डरारुणवर्णानि नीलमाञ्जिष्ठकानि च ।
हरितारुणवर्णानि महाभ्राणि चकाशिरे ॥ ७ ॥

उस समय सफेद, लाल, नीले, मजीठ रंग के और हरे रंग के बड़े बड़े बादल आकाश में शोभायमान हो रहे थे ॥ ७ ॥

प्रविशन्नभ्रजालानि निष्क्रामंश्च पुनः पुनः ।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव लक्ष्यते ॥ ८ ॥

---

१ ताराधिपमिवोल्लिखन्नुद्वमनखैरितिशेषः । (रा०) २ हरन्निव—गृह्णन्निव । (रा०)

हनुमान जी उसी प्रकार बार बार मेघों में घुसते और निकलते देख पड़ते थे, जिस प्रकार चन्द्रमा कभी बादल में छिपता और कभी निकल आता देख पड़ता है ॥ ८ ॥

विविधाभ्रघनापन्नगोचरो धवलाम्बरः ।
दृश्यादृश्यतनुर्वीरस्तदा चन्द्रायतेऽम्बरे ॥ ९ ॥

सफेद कपड़े पहिने हुए वीर हनुमान जी विविध प्रकार के बादलों के भीतर कभी प्रकट कभी अप्रकट हो, आकाश में चन्द्रमा की तरह जान पड़ते थे ॥ ९ ॥

ताक्ष्यायमाणो गगने बभासे वायुनन्दनः ।
दारयन्मेघबृन्दानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ॥ १० ॥

आकाश में गरुड़ की तरह बादलों को चीरते फाड़ते और बार बार उनके भीतर बाहर बैठते एवं निकलते हनुमान जी शोभायमान हो रहे थे ॥ १० ॥

नदन्नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः ।
प्रवरान्राक्षसान्हत्वा नाम विश्राव्य चात्मनः ॥ ११ ॥
आकुलां नगरीं कृत्वा व्यथयित्वा च रावणम् ।
अर्दयित्वा बलं घोरं वैदेहीमभिवाद्य च ॥ १२ ॥

हनुमान जी इस प्रकार मुख्य मुख्य राक्षसों को मार, अपना नाम सब को सुना, मेघ की तरह महानाद कर के गर्जते, लङ्का को विकल कर, रावण को पीड़ा दे, राक्षसों की भयङ्कर सेना को मर्द और सीता जी को प्रणाम कर, ॥ ११ ॥ १२ ॥

आजगाम महातेजाः पुनर्मध्येन सागरम् ।
पर्वतेन्द्रं सुनाभं च समुपस्पृश्य वीर्यवान् ॥ १३ ॥

ज्यामुक्त इव नाराचो महावेगोऽभ्युपागतः ।
स किञ्चिदनुसम्प्राप्तः समालोक्य महागिरिम् ॥ १४ ॥

महेन्द्रं मेघसङ्काशं ननाद हरिपुङ्गवः ।
स पूरयामास कपिर्दिशो दश समन्ततः ॥ १५ ॥

समुद्र के बीचों बीच पहुँचे । महातेजस्वी और बली हनुमान जी, पर्वतराज मैनाक का स्पर्श द्वारा सम्मान कर, धनुष के रोदे से छूटे हुए तीर की तरह बड़े वेग से गमन करने लगे । जब उत्तर-तटवर्ती मेघ की तरह विशाल महेन्द्रपर्वत कुछ ही दूर रह गया ; तब उसे देख हनुमान जी बड़े ज़ोर से गर्जे । उनका वह सिंहनाद समस्त दिशाओं में प्रतिध्वनित हुआ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

नदन्नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः ।
स तं देशमनुप्राप्तः सुहृद्दर्शनलालसः ॥ १६ ॥

वे मेघ की तरह बड़े ज़ोर से गर्जते हुए, उत्तरतट पर, अपने हितैषियों से मिलने के लिये लालयित हो, जा पहुँचे ॥ १६ ॥

ननाद हरिशार्दूलो लाङ्गूलं चाप्यकम्पयत् ।
तस्य नानद्यमानस्य सुपर्णचरिते पथि ॥ १७ ॥

हनुमान जी गर्जते थे और अपनी पूँछ भी हिला रहे थे । आकाश में गरुड़ जी के मार्ग का अवलम्बन किये हुए हनुमान जी के घोर गर्जन से ॥ १७ ॥

फलतीवास्य घोषेण गगनं सार्कमण्डलम् ।
ये तु तत्रोत्तरे तीरे समुद्रस्य महाबलाः ॥ १८ ॥

सूर्यमण्डल सहित आकाशमण्डल मानों फटा पड़ता था। महासागर के उत्तरतीर पर जो महाबली ॥ १८ ॥

पूर्वं संविष्ठिताः शूरा वायुपुत्रदिदृक्षवः ।
महतो वायुनुन्नस्य तोयदस्येव गर्जितम् ॥ १९ ॥

रीछ तथा वानर पहिले से वीर हनुमान जी के लौटने की प्रतीक्षा करते हुए बैठे थे। उन्होंने वायु द्वारा टक्कर दिये हुए बड़े बड़े मेघों की गर्जन की तरह ॥ १९ ॥

शुश्रुवुस्ते तदा घोषमूरुवेगं हनूमतः ।
ते दीनवदनाः सर्वे शुश्रुवुः काननौकसः ॥ २० ॥
वानरेन्द्रस्य निर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ।
निशम्य नदतो नादं वानरास्ते समन्ततः ॥ २१ ॥
बभूवुरुत्सुकाः सर्वे सुहृद्दर्शनकाङ्क्षिणः ।
जाम्बवांस्तु हरिश्रेष्ठः प्रीतिसंहृष्टमानसः ॥ २२ ॥

उन वानरों ने हनुमान जी का गर्जन और उनकी जंघा के वेग से निकला शब्द सुना। उन सब दुखियारे वानरों ने बादल की गर्जन की तरह, हनुमान जी की गर्जन का घोष सुना। नाद करते हुए हनुमान जीका शब्द सुन कर, वे सब वानर अपने बन्धु का दर्शन करने को उत्सुक हो उठे। भालुओं में सर्वश्रेष्ठ जाम्बवान ने अत्यन्त प्रसन्न हो ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

उपामन्त्र्य हरीन्सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ।
सर्वथा कृतकार्योऽसौ हनूमान्नात्र संशयः ॥ २३ ॥

सब वानरों को अपने पास बुला यह कहा—इसमें सन्देह नहीं कि, हनुमान जी सब प्रकार से अपना काम पूरा कर आये ॥ २३ ॥

न ह्यस्याकृतकार्यस्य नाद एवंविधो भवेत् ।
तस्य बाहूरुवेगं च निनादं च महात्मनः ॥ २४ ॥

यदि वे अपने कार्य में सफल न हुए होते तो इस प्रकार की गर्जना न करते। हनुमान जी की भुजाओं और जाघों से निकले हुए सनसनाहट तथा गर्जन का शब्द ॥ २४ ॥

निशम्य हरयो हृष्टाः समुत्पेतुस्ततस्ततः ।
ते नगाग्रान्नागाग्राणि शिखराच्छिखराणि च ॥ २५ ॥

सुन कर, सब वानर प्रसन्न हुए और पर्वत के एक शिखर से दूसरे शिखर पर कूद कूद कर चढ़ने लगे ॥ २५ ॥

प्रहृष्टाः समपद्यन्त हनूमन्तं दिदृक्षवः ।
ते प्रीताः पादपाग्रेषु गृह्य शाखाः *सुपुष्पिताः ॥ २६ ॥

वे हनुमान जी को देखने के लिये अत्यन्त प्रसन्न हो और अच्छी प्रकार फूली हुई वृक्षों की डालों को हाथ में ले, वृक्षों की फुनगियों पर चढ़ गये ॥ २६ ॥

वासांसीव प्रशाखाश्च समाविध्यन्त वानराः ।
गिरिगह्वरसंलीनो यथा गर्जति मारुतः ॥ २७ ॥

कपड़े की तरह उन शाखाओं को हिला रहे थे। जिस प्रकार पहाड़ी गुफाओं में रुकी हुई हवा शब्द करती है ॥ २७ ॥

एवं जगर्ज बलवान्हनूमान्मारुतात्मजः ।
तमभ्रघनसङ्काशमापतन्तं महाकपिम् ॥ २८ ॥

---

* पाठान्तरे—" सुविष्ठिताः । "

उसी प्रकार बलवान पवननन्दन हनुमान जी गर्जे और उन वानरों ने देखा कि, एक बड़े बादल की तरह हनुमान जी आकाश मार्ग से चले आ रहे हैं ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा ते वानराः सर्वे तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ।
ततस्तु वेगवांस्तस्य गिरेर्गिरिनिभः कपिः ॥ २९ ॥

हनुमान जी को देखते ही वे सब वानर हाथ जोड़े हुए खड़े हो गये। तब पर्वताकार और वेगवान हनुमान जी ॥ २९ ॥

निपपात महेन्द्रस्य शिखरे पादपाकुले ।
हर्षेणापूर्यमाणोऽसौ रम्ये पर्वतनिर्झरे ॥ ३० ॥

छिन्नपक्ष इवाकाशात्पपात धरणीधरः ।
ततस्ते प्रीतमनसः सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥ ३१ ॥

उसी महेन्द्राचल के शिखर पर, जिस पर बहुत से पेड़ लगे हुए थे, आकर कूद पड़े। हनुमान जी हर्षित हो, आकाश से, पंख कटे पर्वत की तरह रमणीक पर्वत के उस स्थान पर कूदे, जहाँ पानी का झरना झर रहा था। तब प्रीतिपूर्णहृदय से समस्त वानरपुङ्गव ॥ ३० ॥ ३१ ॥

हनूमन्तं महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ।
परिवार्य च ते सर्वे परां प्रीतिमुपागताः ॥ ३२ ॥

महात्मा हनुमान जी को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये। हनुमान जी को घेर कर वे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३२ ॥

प्रहृष्टवदनाः सर्वे तमरोगमुपागतम् ।
उपायनानि चादाय मूलानि च फलानि च ॥ ३३ ॥

हनुमान जी को कुशलपूर्वक आया हुआ देख, वे सब के सब बहुत प्रसन्न हुए और फलों और फूलों की भेंट ला कर, ॥ ३३ ॥

प्रत्यर्चयन्हरिश्रेष्ठं हरयो मारुतात्मजम् ।
हनूमांस्तु गुरून्वृद्धाञ्जाम्बवत्प्रमुखांस्तदा ॥ ३४ ॥

कपिश्रेष्ठ पवननन्दन हनुमान जी का पूजन करने लगे। तब हनुमान जी ने पूज्य और वृद्ध जाम्बवान प्रमुख वानरों और भालुओं को ॥ ३४ ॥

कुमारमङ्गदं चैव सोऽवन्दत महाकपिः ।
स ताभ्यां पूजितः पूज्यः कपिभिश्च प्रसादितः ॥ ३५ ॥

तथा युवराज अङ्गद को प्रणाम किया। उन दोनों ने हनुमान जी की प्रशंसा की तथा अन्य वानरों ने भी उनको प्रसन्न किया ॥ ३५ ॥

दृष्टा सीतेति विक्रान्तः संक्षेपेण न्यवेदयत् ।
निषसाद च हस्तेन गृहीत्वा वालिनः सुतम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर हनुमान जी ने उन सब से सीता जी के देखने का वृतान्त संक्षेप से कहा। तदनन्तर हनुमान जी वालिपुत्र अङ्गद का हाथ पकड़ ॥ ३६ ॥

रमणीये वनोद्देशे महेन्द्रस्य गिरेस्तदा ।
हनुमानब्रवीत्पृष्टस्तदा तान्वानरर्षभान् ॥ ३७ ॥

महेन्द्राचल की रमणीक वनभूमि में जा बैठे और जब वानरों ने उनसे पूँछा; तब वे उन वानरश्रेष्ठों से कहने लगे ॥ ३७ ॥

अशोकवनिकासंस्था दृष्टा सा जनकात्मजा।
रक्ष्यमाणा सुघोराभी राक्षसीभिरनिन्दिता ॥ ३८ ॥

मैंने अशोकवाटिका में बैठी हुई सुन्दरी सीता को देखा। उसकी रखवाली करने को बड़ी भयङ्कर राक्षसियाँ नियुक्त थीं ॥ ३८ ॥

एकवेणीधरा *दीना रामदर्शनलालसा।
उपवासपरिश्रान्ता जटिला मलिना कृशा ॥ ३९ ॥

वे एक वेणी धारण किये हुए हैं। बड़ी दुःखी हैं और श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन के लिये उत्कण्ठित हैं। उपवास करते करते वे थक गयी हैं और उनका शरीर बिल्कुल दुबला हो गया है। वे मैली कुचैली बनी रहती हैं। उनके केशों की जटा बन गयी हैं ॥ ३९ ॥

ततो दृष्टेति वचनं महार्थममृतोपमम्।
निशम्य मारुतेः सर्वे मुदिता वानरा भवन् ॥ ४० ॥

"मैंने सीता को देखा"—अमृत के तुल्य और महाअर्थयुक्त (अर्थात् कार्यसाधक) वचन हनुमान जी के मुख से निकलते ही समस्त वानरमण्डली आनन्दित हो गयी ॥ ४० ॥

क्ष्वेलन्त्यन्ये[1] नदन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये महाबलाः।
चक्रुः किलिकिलामन्ये प्रतिगर्जन्ति चापरे ॥ ४१ ॥

उनमें से कोई वानर सिंहनाद करने लगे, कोई बलवान वानर गर्जने लगे, कोई किलकिलाने लगे और कोई दूसरे को गर्जते देख कर गर्जने लगे ॥ ४१ ॥

---

१ क्ष्वेलन्ति—सिंहनादं कुर्वन्ति। (गो०) * पाठान्तरे—"बाला"।

केचिदुच्छ्रितलाङ्गूलाः प्रहृष्टाः कपिकुञ्जराः ।
अञ्चितायतदीर्घाणि लाङ्गूलानि प्रविव्यधुः ॥ ४२ ॥

कोई कोई कपिकुञ्जर पूँछों को खड़ी कर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। कोई कोई अपनी लंबी पूँछों को बार बार फटकारने लगे ॥ ४२ ॥

अपरे च हनूमन्तं वानरा वारणोपमम् ।
आप्लुत्य गिरिशृङ्गेभ्यः संस्पृशन्ति स्म हर्षिताः ॥४३॥

हाथी के समान डीलडौल के अन्य वानर, हर्षित हो और पर्वतशिखर से कूद हनुमान जी को छूने लगे ॥ ४३ ॥

उक्तवाक्यं हनूमन्तमङ्गदस्तमथाब्रवीत् ।
सर्वेषां हरिवीराणां मध्ये *वाचमनुत्तमाम् ॥ ४४ ॥

हनुमान जी के बोल चुकने पर, अङ्गद ने कहा। अर्थात् सब वीर वानरों के बीच बैठे हुए अङ्गद ने हनुमान जी से ये उत्तम वचन कहे ॥ ४४ ॥

सत्त्वे वीर्ये न ते कश्चित्समो वानर विद्यते ।
यदवप्लुत्य विस्तीर्णं सागरं पुनरागतः ॥ ४५ ॥

हे हनुमान्! बल और पराक्रम में तुम्हारे समान और कोई नहीं है; जो तुम इतने चौड़े समुद्र को लाँघ गये और फिर लाँघ कर लौट आये ॥ ४५ ॥

अहो स्वामिनि ते भक्तिरहो वीर्यमहो धृतिः ।
दिष्ट्या दृष्टा त्वया देवी रामपत्नी यशस्विनी ॥ ४६ ॥

---

* पाठान्तरे—"वचनमुत्तमम्।"

वाह ! तुम्हारी स्वामि सम्बन्धिनी भक्ति का क्या कहना है। वाह ! तुम्हारा बल और वाह तुम्हारा धैर्य ! भाग्य ही से तुम यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को देख आये हो ॥ ४६ ॥

दिष्ट्या त्यक्ष्यति काकुत्स्थः शोकं सीतावियोगजम् ।
ततोऽङ्गदं हनूमन्तं जाम्बवन्तं च वानराः ॥ ४७ ॥

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि, सीता के वियोग से उत्पन्न श्रीरामचन्द्र जी का शोक अब दूर हो जायगा। तदनन्तर वानर, अङ्गद, हनुमान और जाम्बवान को ॥ ४७ ॥

परिवार्य प्रमुदिता भेजिरे विपुलाः शिलाः ।
श्रोतुकामाः समुद्रस्य लङ्घनं वानरोत्तमाः ॥ ४८ ॥
दर्शनं चापि लङ्कायाः सीताया रावणस्य च ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे हनुमद्वदनोन्मुखाः ॥ ४९ ॥

चारों ओर से घेर और हर्ष में भर, उनके बैठने के लिये बड़ी बड़ी शिलाएँ उठा लाये। वे सब वानर हनुमान जी के मुख से उनके समुद्र लाँघने का तथा लङ्का, सीता और रावण के देखने का वृत्तान्त सुनना चाहते थे। अतः वे सब हाथ जोड़े हनुमान जी की ओर मुख कर बैठ गये ॥ ४८ ॥ ४६ ॥

तस्थौ तत्राङ्गदः श्रीमान्वानरैर्बहुभिर्वृतः ।
उपास्यमानो विबुधैर्दिवि देवपतिर्यथा ॥ ५० ॥

सुरराज इन्द्र जिस प्रकार देवताओं के बीच बैठते हैं, वैसे ही श्रीमान् अङ्गद जी बहुत से वानरों के बीच बैठे थे ॥ ५० ॥

हनूमता कीर्त्तिमता यशस्विना
तथाङ्गदेनाङ्गदबद्धबाहुना ।
मुदा तदाध्यासितमुन्नतं महन्
महीधराग्रं ज्वलितं श्रियाऽभवत् ॥ ५१ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

कीर्तिशाली हनुमान जी और यशस्वी अङ्गद जी जिनकी दोनों भुजाएँ बाजूबंदों से सुशोभित थीं, हर्ष में भरे ऐसे बैठे हुए थे कि, उनके वहाँ बैठने से उस बहुत ऊँचे पर्वत का शिखर अत्यन्त शोभायमान जान पड़ने लगा ॥ ५१ ॥

सुन्दरकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—※—

ततस्तस्य गिरेः शृङ्गे महेन्द्रस्य महाबलाः ।
हनुमत्प्रमुखाः प्रीतिं हरयो जग्मुरुत्तमाम् ॥ १ ॥

उस समय हनुमान आदि महाबली वानरगण, महेन्द्राचल पर्वत के शिखर पर बैठे हुए अत्यन्त हर्षित हो रहे थे ॥ १ ॥

तं ततः प्रीतिसंहृष्टः प्रीतिमन्तं महाकपिम् ।
जाम्बवान्कार्यवृत्तान्तमपृच्छदनिलात्मजम् ॥ २ ॥

तब हनुमान जी को प्रसन्न देख, जाम्बवान ने पवननन्द हनुमान जी से उनकी यात्रा का वृत्तान्त पूँछा ॥ २ ॥

कथं दृष्टा त्वया देवी कथं वा तत्र वर्तते ।
तस्यां वा स कथंवृत्तः क्रूरकर्मा दशाननः ॥ ३ ॥

उन्होंने पूँछा कि, हे हनुमान! यह तो बतलाओ कि, तुमने सीता जी को कैसे देखा और वे वहाँ किस तरह रहती हैं, क्रूरकर्मा रावण उनके साथ कैसा वर्ताव करता है ॥ ३ ॥

तत्त्वतः सर्वमेतन्नः प्रब्रूहि त्वं महाकपे ।
श्रुतार्थाश्चिन्तयिष्यामो भूयः कार्यविनिश्चयम् ॥ ४ ॥

हे हनुमान्! तुम यह समस्त वृत्तान्त भली भाँति यथावत् कहो जिससे उसे सुनने के बाद, हम आगे का कर्त्तव्य निश्चय कर सकें ॥ ४ ॥

यश्चार्थस्तत्र वक्तव्यो गतैरस्माभिरात्मवान् ।
रक्षितव्यं[1] च यत्तत्र तद्भवान्व्याकरोतु नः ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के पास चलने पर जो बात उनसे कहनी होगी और जो छिपानी होगी सो आप सब ही हम से कहें ॥ ५ ॥

स नियुक्तस्ततस्तेन सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
प्रणम्य शिरसा देव्यै सीतायै प्रत्यभाषत ॥ ६ ॥

जाम्बवान जी के ऐसे वचन सुन, हनुमान जी के रोंगटे खड़े हो गये। वे सीता देवी को सीस नवा कर प्रणाम कर, कहने लगे ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षमेव भवतां महेन्द्राग्रात्खमाप्लुतः ।
उदधेर्दक्षिणं पारं काङ्क्षमाणः समाहितः ॥ ७ ॥

---

१ रक्षितव्यं—गोप्तव्यं । (गो०)

यह तो आप लोगों के सामने ही की बात है कि, मैं इस महेन्द्राचल के शिखर से, समुद्र के दक्षिण तट पर जाने की इच्छा से, बड़ी सावधानी से उड़ा था ॥ ७ ॥

गच्छतश्च हि मे घोरं विघ्नरूपमिवाभवत् ।
काञ्चनं शिखरं दिव्यं पश्यामि सुमनोहरम् ॥ ८ ॥

जाते जाते रास्ते में एक बड़ा विघ्न सा उपस्थित हुआ। मुझे एक अत्यन्त सुन्दर और काञ्चनमय शिखरयुक्त एक पर्वत देख पड़ा ॥ ८ ॥

स्थितं पन्थानमावृत्य मेने विघ्नं च तं नगम् ।
उपसंगम्य तं दिव्यं काञ्चनं नगसत्तमम् ॥ ९ ॥

उस पहाड़ को रास्ता रोक कर खड़े देख, मैंने उसे विघ्नरूप समझा। फिर उस सुवर्णमय पर्वतश्रेष्ठ के समीप जा ॥ ९ ॥

कृता मे मनसा बुद्धिर्भेत्तव्योऽयं मयेति च ।
प्रहतं च मया तस्य लाङ्गूलेन महागिरेः ॥ १० ॥

शिखरं सूर्यसङ्काशं व्यशीर्यत सहस्रधा ।
व्यवसायं च तं बुद्ध्वा स होवाच महागिरिः ॥ ११ ॥

पुत्रेति मधुरां वाणीं मनः प्रह्लादयन्निव ।
पितृव्यं चापि मां विद्धि सखायं मातरिश्वनः ॥ १२ ॥

मैंने अपने मन में विचारा कि, मैं उस पर्वत को तोड़ डालूँ और मैंने ऐसा ही किया। मैंने अपनी पूँछ उस पर ऐसे ज़ोर से मारी कि, उसका सूर्य के समान प्रकाशमान शिखर, हज़ार टुकड़े हो

कर गिर पड़ा। अपने शिखर के टुकड़े टुकड़े हुए देख, वह महागिरि मधुरवाणी से मुझको प्रसन्न करता हुआ बोला—हे पुत्र! मैं तुम्हारा चाचा हूँ, क्योंकि तुम्हारे पिता पवनदेव मेरे मित्र हैं॥ १०॥ ११॥ १२॥

मैनाक इति विख्यातं निवसन्तं महोदधौ।
पक्षवन्तः पुरा पुत्र बभूवुः पर्वतोत्तमाः॥ १३॥

मैं मैनाक पर्वत के नाम से प्रसिद्ध हूँ और इस महासागर के भीतर रहता हूँ। हे पुत्र! पूर्वकाल में पर्वतों के पङ्ख हुआ करते थे॥ १३॥

छन्दतः पृथिवीं चेरुर्बाधमानाः समन्ततः।
श्रुत्वा नगानां चरितं महेन्द्रः पाकशासनः॥ १४॥

वे इच्छानुसार समस्त पृथिवी पर घूम फिर कर प्रजाओं को कष्ट दिया करते थे। जब यह बात इन्द्र को मालूम पड़ी॥ १४॥

चिच्छेद भगवान्पक्षान्वज्रेणैषां सहस्रशः।
अहं तु मोक्षितस्तस्मात्तव पित्रा महात्मना॥ १५॥

तब उन्होंने वज्र से हज़ारों पर्वतों के पङ्ख काट डाले, किन्तु इस विपत्ति से तुम्हारे महात्मा पिता पवनदेव ने मुझे बचा लिया॥ १५॥

मारुतेन तदा वत्स प्रक्षिप्तोऽस्मि महार्णवे।
रामस्य च मया साह्ये वर्तितव्यमरिन्दम॥ १६॥

हे वत्स! उस समय पवनदेव ने मुझे इस महासागर में ढकेल दिया। हे अरिन्दम! सो मैं श्रीरामचन्द्र जी का साहाय्य करने को तैयार हूँ॥ १६॥

रामो धर्मभृतां श्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः ।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य मैनाकस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

क्योंकि, श्रीरामचन्द्र जी धर्मात्माओं में श्रेष्ठ हैं और इन्द्र के समान पराक्रमी हैं। उस महात्मा मैनाक के ये वचन सुन ॥ १७ ॥

कार्यमावेद्य तु गिरेरुद्यतं च मनो मम ।
तेन चाहमनुज्ञातो मैनाकेन महात्मना ॥ १८ ॥

मैंने अपने मन का अभिप्राय उसको बतलाया। तब महात्मा मैनाक ने मुझे जाने की अनुमति दी ॥ १८ ॥

स चाप्यन्तर्हितः शैलो मानुषेण वपुष्मता ।
शरीरेण महाशैलः शैलेन च महोदधौ ॥ १९ ॥

और वह पर्वत जिस मनुष्यशरीर को धारण कर मुझसे बात-चीत करता था, उसे उसने छिपा लिया और वह विशाल पर्वत समुद्र के जल के भीतर डूब गया ॥ १९ ॥

उत्तमं जवमास्थाय शेषं पन्थानमास्थितः ।
ततोऽहं सुचिरं कालं वेगेनाभ्यगमं पथि ॥ २० ॥

तब मैं बड़ी तेज़ी से शेष मार्ग पूरा करने के लिये आगे चला और बहुत देर तक उसी चाल से रास्ता तै करता रहा ॥ २० ॥

ततः पश्याम्यहं देवीं सुरसां नागमातरम् ।
समुद्रमध्ये सा देवी वचनं मामभाषत ॥ २१ ॥

तदनन्तर मैंने नागमाता सुरसा को देखा। समुद्र के बीच खड़ी हुई सुरसा मुझसे ये वचन कहने लगी ॥ २१ ॥

मम भक्षः प्रदिष्टस्त्वममरैर्हरिसत्तम ।
अतस्त्वां भक्षयिष्यामि विहितस्त्वं *हि मे सुरैः ॥२२॥

हे कपिश्रेष्ठ ! तुम, तो मेरे भक्ष्य बन कर यहाँ आ गये हो। तुम्हारा पता मुझे देवताओं ने दिया है। अतः मैं तुमको खा जाऊँगी ॥ २२ ॥

एवमुक्तः सुरसया प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ।
विवर्णवदनो भूत्वा वाक्यं चेदमुदीरयन् ॥ २३ ॥

सुरसा के ऐसे वचन सुन, मैं अत्यन्त विनीत हो और हाथ जोड़ कर तथा मुख फीका कर, उसके सामने खड़ा हो गया और उससे बोला ॥ २३ ॥

रामो दाशरथिः श्रीमान्प्रविष्टो दण्डकावनम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च परन्तपः ॥ २४ ॥

कि, महाराज दशरथ के पुत्र परन्तप श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण और सीता को साथ ले, दण्डक वन में आये थे ॥ २४ ॥

तस्य सीता हृता भार्या रावणेन दुरात्मना ।
तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात् ॥ २५ ॥

उनकी भार्या सीता को दुष्ट रावण हर ले गया है। सो मैं श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से सीता के पास उनका दूत बन कर जाऊँगा ॥ २५ ॥

कर्तुमर्हसि रामस्य साहाय्यं विषये सति ।
अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—" चिरस्य मे । "

तू भी तो उन्हींके राज्य में रहती है, अतः तू भी इसमें कुछ सहायता दे। अथवा सीता को देख और उनका हाल अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी से मैं कह आऊँ ॥ २६ ॥

आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिश्रृणोमि ते।
एवमुक्ता मया सा तु सुरसा कामरूपिणी ॥ २७ ॥
अब्रवीन्नातिवर्तेत कश्चिदेष वरो मम।
एवमुक्तः सुरसया दशयोजनमायतः ॥ २८ ॥

तब मैं तेरे मुख में चला आऊँगा (अर्थात् तू मुझको खा डालना) मैं तुझसे यह सत्य सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ। जब मैंने इस प्रकार उससे कहा; तब वह कामरूपिणी सुरसा कहने लगी, मुझे उल्लंघन कर कोई नहीं निकल सकता। क्योंकि, मुझे ऐसा ही वर मिला हुआ है। उसके यह कहने पर मैं दस योजन का हो गया ॥ २७ ॥ २८ ॥

ततोऽर्धगुणविस्तारो बभूवाहं क्षणेन तु।
मत्प्रमाणाधिकं चैव व्यादितं तु मुखं तया ॥ २९ ॥

फिर क्षणभर ही में मैं पन्द्रह योजन का हो गया। परन्तु सुरसा ने मेरे शरीर की लंबाई से अपना मुख और भी अधिक फैलाया ॥ २९ ॥

तद्दृष्ट्वा व्यादितं चास्यं ह्रस्वं ह्यकरवं वपुः।
तस्मिन्मुहूर्ते च पुनर्बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः ॥ ३० ॥

तब मैंने उसको बड़ा भारी मुख खोले हुए देख, अपना शरीर बहुत छोटा कर लिया। यहाँ तक कि, उस समय मैंने अपना शरीर अंगूठे के बराबर कर लिया ॥ ३० ॥

अभिपत्याशु तद्वक्त्रं निर्गतोऽहं ततः क्षणात् ।
अब्रवीत्सुरसा देवी स्वेन रूपेण मां पुनः ॥ ३१ ॥

और उसके मुख में प्रवेश कर मैं उसी क्षण बाहिर निकल आया। तब सुरसा ने अपना पूर्ववत् रूप धारण कर मुझसे कहा ॥ ३१ ॥

अर्थसिद्ध्यै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम् ।
समानय च वैदेहीं राघवेण महात्मना ॥ ३२ ॥

हे सौम्य! तुम सुखपूर्वक जाओ और अपना काम पूरा करो तथा महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से सीता जी को मिलाओ ॥ ३२ ॥

सुखी भव महाबाहो प्रीताऽस्मि तव वानर ।
ततोऽहं साधु साध्वीति सर्वभूतैः प्रशंसितः ॥ ३३ ॥

हे महाबाहो! तुम सुखी हो। मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। उस समय सब प्राणियों ने वाह! वाह! कह कर मेरी प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

ततोऽन्तरिक्षं विपुलं प्लुतोऽहं गरुडो यथा ।
छाया मे निगृहीता च न च पश्यामि किञ्चन ॥ ३४ ॥

तदनन्तर मैं गरुड़ जी की तरह बड़ी तेज़ी से रास्ता तै करने लगा। इसी बीच में मेरी छाया को किसी ने पकड़ लिया, किन्तु जब मुझे छाया पकड़ने वाला कोई न देख पड़ा ॥ ३४ ॥

सोऽहं विगतवेगस्तु दिशो दश विलोकयन् ।
न किञ्चित्तत्र पश्यामि येन मेऽपहृता गतिः ॥ ३५ ॥

तब गति रुक जाने से मैं चारों ओर देखने लगा। किन्तु मेरी चाल को रोकने वाला मुझे कोई न देख पड़ा ॥ ३५ ॥

ततो मे बुद्धिरुत्पन्ना किं नाम *गमने मम ।
ईदृशो विघ्न उत्पन्नो रूपं यत्र न दृश्यते ॥ ३६ ॥

तब मैं यह सोचने लगा कि, जिसने मेरे गमन में इस प्रकार का विघ्न डाला है और जिसका रूप भी नहीं दिखलाई देता, उसका क्या नाम है या वह कौन है ॥ ३६ ॥

अधोभागेन मे दृष्टिः शोचता पातिता मया ।
ततोऽद्राक्षमहं भीमां राक्षसीं सलिलेशयाम् ॥ ३७ ॥

यह मैं सोच ही रहा था कि, इतने में मेरी दृष्टि नीचे की ओर गयी और मैंने देखा कि, एक भयङ्कर राक्षसी समुद्र के जल में खड़ी है ॥ ३७ ॥

प्रहस्य च महानादमुक्तोऽहं भीमया तया ।
अवस्थितमसंभ्रान्तमिदं वाक्यमशोभनम् ॥ ३८ ॥

उस भयङ्कर राक्षसी ने अट्टहास कर तथा गर्ज कर और निर्भीक हो यह अनुचित वचन मुझसे कहा ॥ ३८ ॥

क्वासि गन्ता महाकाय क्षुधिताया ममेप्सितः ।
भक्षः प्रीणय मे देहं चिरमाहारवर्जितम् ॥ ३९ ॥

हे महाकाय! तुम मेरे ईप्सित् भक्ष्य हो कर अब कहाँ जा सकते हो। मैं बहुत दिनों से भूँखी हूँ, सो तुम मेरा भक्ष्य बन कर मेरे शरीर को तृप्त अर्थात् पुष्ट करो ॥ ३९ ॥

---

* पाठान्तरे—" गगनं । "

बाढमित्येव तां वाणीं प्रत्यगृह्णामहं ततः ।
आस्यप्रमाणादधिकं तस्याः कायमपूरयम् ॥ ४० ॥

तब मैंने "बहुत अच्छा" कह कर उसकी बात मान ली और उसके मुख की लंबाई चौड़ाई से कहीं अधिक मैंने अपना शरीर लंबा चौड़ा कर लिया ; जिससे मेरा शरीर उसके मुख ही में न धसे ॥ ४० ॥

तस्याश्चास्यं महद्भीमं वर्धते मम भक्षणे ।
न च मां *सा तु बुबुधे मम वा निकृतं कृतम् ॥ ४१ ॥

उसने अपना भयङ्कर मुख मुझे खा जाने के लिये बढ़ाया। किन्तु न तो वह मेरे सामर्थ्य को जान पायी और न मेरी चतुराई ही को ॥ ४१ ॥

ततोऽहं विपुलं रूपं संक्षिप्य निमिषान्तरात् ।
तस्या हृदयमादाय प्रपतामि नभःस्थलम् ॥ ४२ ॥

मैंने पलक मारते अपने विशाल शरीर को छोटा बना लिया और झपट कर उसका कलेजा निकाल मैं पुनः आकाश में चला आया ॥ ४२ ॥

सा विसृष्टभुजा भीमा पपात लवणाम्भसि ।
मया पर्वतसङ्काशा निकृत्तहृदया सती ॥ ४३ ॥

वह पर्वताकार दुष्टा राक्षसी हृदय के फट जाने से दोनों हाथों को फैला, खारी समुद्र में डूब गयी ॥ ४३ ॥

शृणोमि खगतानां च सिद्धानां चारणैः सह ।
राक्षसी सिंहिका भीमा क्षिप्रं हनुमता हता ॥ ४४ ॥

---

* पाठान्तरे—"साधु ।"

तब मैंने आकाशचारी सिद्धों और चरणों को यह कहते सुना कि, हनुमान जी ने भयङ्कर सिंहिका राक्षसी को बात की बात में मार डाला ॥ ४४ ॥

तां हत्वा पुनरेवाहं कृत्यमात्ययिकं स्मरन् ।
गत्वा चाहं महाध्वानं पश्यामि नगमण्डितम् ॥ ४५ ॥
दक्षिणं तीरमुदधेर्लङ्का यत्र च सा पुरी ।
अस्तं दिनकरे याते रक्षसां निलयं पुरम् ॥ ४६ ॥

उसको मार मुझे विलंब हो जाने का स्मरण हो आया । तब बहुत दूर चलने के बाद मुझे पर्वतयुक्त समुद्र का वह दक्षिणतट जिस पर वह लङ्कापुरी बसी हुई थी, देख पड़ा । जब सूर्य छिप गये, तब मैं राक्षसों के रहने को पुरी लङ्का में ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

प्रविष्टोऽहमविज्ञातो रक्षोभिर्भीमविक्रमैः ।
तत्र प्रविशतश्चापि कल्पान्तघनसन्निभा ॥ ४७ ॥

उन भयङ्कर पराक्रमी राक्षसों को बिना जनाये, घुसा । किन्तु उस पुरी में घुसने के समय प्रलयकालीन मेघ की तरह ॥ ४७ ॥

अट्टहासं विमुञ्चन्ती नारी काऽप्युत्थिता पुरः ।
जिघांसन्तीं ततस्तां तु ज्वलदग्निशिरोरुहाम् ॥ ४८ ॥

शरीर वाली एक कोई स्त्री अट्टहास करती हुई मेरे सामने आ खड़ी हुई । वह मुझे मार डालना चाहती थी । उसके सिर के केश प्रज्वलित अग्नि की तरह चमचमा रहे थे ॥ ४८ ॥

सव्यमुष्टिप्रहारेण पराजित्य सुभैरवाम् ।
प्रदोषकाले प्रविशंभीतयाऽहं तयोदितः ॥ ४९ ॥

उस महाभयङ्कर राक्षसी को वाम हाथ के घूँसे से परास्त कर, मैं सन्ध्या समय पुरी में आगे बढ़ा। उस समय उसने भयभीत हो मुझसे कहा ॥ ४६ ॥

अहं लङ्कापुरी वीर निर्जिता विक्रमेण ते।
यस्मात्तस्माद्विजेतासि सर्वरक्षांस्यशेषतः ॥ ५० ॥

हे वीर! मैं इस लङ्कापुरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ। तुमने अपने पराक्रम से मुझे जो हराया है, सो मानों तुमने समस्त राक्षसों को जीत लिया। अर्थात् तुम अब समस्त लङ्कापुरीवासी राक्षसों को जीत लोगे ॥ ५० ॥

तत्राहं सर्वरात्रं तु विचिन्वञ्जनकात्मजाम्।
रावणान्तःपुरगतो न चापश्यं सुमध्यमाम् ॥ ५१ ॥

मैं वहाँ जानकी जी की खोज में सारी रात घूमता फिरता ही रहा। मैं रावण के रनवास में भी गया; किन्तु वहाँ भी उस सुन्दरी सीता को न पाया ॥ ५१ ॥

ततः सीतामपश्यंस्तु रावणस्य निवेशने।
शोकसागरमासाद्य न पारमुपलक्षये ॥ ५२ ॥

तब तो रावण के अन्तःपुर में सीता जी को न पाकर मैं शोकसागर में ऐसा डूबा कि, मुझे उसका आर पार न देख पड़ा ॥ ५२ ॥

शोचता च मया दृष्टं प्राकारेण समावृतम्।
काञ्चनेन विकृष्टेन गृहोपवनमुत्तमम् ॥ ५३ ॥

सोचते सोचते मुझे सोने के परकोटे से घिरा एक सुन्दर गृहोद्यान देख पड़ा ॥ ५३ ॥

तं प्रकारमवप्लुत्य पश्यामि बहुपादपम् ।
अशोकवनिकामध्ये शिंशुपापादपो महान् ॥ ५४ ॥

उस परकोटे को नांघने पर मुझे बहुत से वृक्ष देख पड़े। उस अशोक-उपवन में एक बड़ा शीशम का वृक्ष था ॥ ५४ ॥

तमारुह्य च पश्यामि काञ्चनं कदलीवनम् ।
अदूरे शिंशुपावृक्षात्पश्यामि वरवर्णिनीम् ॥ ५५ ॥

उस पर चढ़ कर मैंने उसके निकट ही काञ्चनवर्ण कदली वन तथा सुन्दरी सीता को देखा ॥ ५५ ॥

श्यामां कमलपत्राक्षीमुपवासकृशाननम् ।
तदेकवासःसंवीतां रजोध्वस्तशिरोरुहाम् ॥ ५६ ॥

उपवास करते करते कमलदल जैसे नेत्रों वाली उस श्यामा सीता का मुख उतर गया है। वह केवल एक वस्त्र पहिने हुए है और उसके सिर के बालों में धूल भरी हुई है ॥ ५६ ॥

शोकसन्तापदीनाङ्गीं सीतां भर्तृहिते स्थिताम् ।
राक्षसीभिर्विरूपाभिः क्रूराभिरभिसंवृताम् ॥ ५७ ॥

वह शोकसन्ताप से दीन, पति की हितकामना में तत्पर है। बड़ी बड़ी विकृत रूपवाली और क्रूरस्वभाव की राक्षसियां उसे वैसे ही घेरे रहती हैं ॥ ५७ ॥

मांसशोणितभक्षाभिर्व्याघ्रीभिर्हरिणीमिव ।
सा मया राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ ५८ ॥

जैसे मांस खाने वाली और रक्त पीने वाली बाघिनें हिरनी को घेर लेती हैं। राक्षसियों के बीच बैठी हुई और बार बार उनके द्वारा डाटी डपटी जाती हुई सीता को मैंने देखा ॥ ५८ ॥

एकवेणीधरा दीना भर्तृचिन्तापरायणा ।
भूमिशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे ॥ ५९ ॥

शीतकाल में जिस प्रकार कमलिनी का रूप रंग फीका पड़ जाता है, वैसे ही जानकी जी का शरीर भी श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता में फीका पड़ गया है। वह एक वेणी धारण किये हुए है। अत्यन्त दीनभावयुक्त है और ज़मीन में सोया करती है ॥ ५९ ॥

रावणाद्विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया ।
कथंचिन्मृगशावाक्षी तूर्णमासादिता मया ॥ ६० ॥

वह रावण से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न रखती हुई, प्राण दे देने का निश्चय किये हुए है। ऐसी मृगनयनी सीता को मैंने किसी तरह शीघ्र पाया ॥ ६० ॥

तां दृष्ट्वा तादृशीं नारीं रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
तत्रैव शिंशुपावृक्षे पश्यन्नहमवस्थितः ॥ ६१ ॥

उन श्रीरामचन्द्र जी की यशस्विनी सीता जी की ऐसी दशा देखता हुआ मैं उसी शीशम के पेड़ पर बैठा हुआ था ॥ ६१ ॥

ततो हलहलाशब्दं काञ्चीनूपुरमिश्रितम् ।
शृणोम्यधिकगम्भीरं रावणस्य निवेशने ॥ ६२ ॥

कि, इतने में पायजेब और बिछुओं की झंकार से मिश्रित गम्भीर शब्द रावण के आवस-स्थान के निकट मुझे सुनाई पड़ा ॥ ६२ ॥

ततोऽहं परमोद्विग्नः स्वं रूपं प्रतिसंहरन् ।
अहं तु शिंशुपावृक्षे पक्षीव गहने स्थितः ॥ ६३ ॥

तब तो मैं घबड़ाया और अपना शरीर छोटा कर पक्षी की तरह सघन पत्तों में छिप कर बैठ गया ॥ ६३ ॥

ततो रावणदाराश्च रावणश्च महाबलः ।
तं देशं समनुप्राप्ता यत्र सीताऽभवत्स्थिता ॥ ६४ ॥

इतने में महाबली रावण और रावण की स्त्रियां वहां आ पहुँचीं जहां सीता जी बैठी हुई थीं ॥ ६४ ॥

तद्दृष्ट्वाऽथ वरारोहा सीता रक्षोमहाबलम् ।
सङ्कुच्योरू स्तनौ पीनौ बाहुभ्यां परिरभ्य च ॥ ६५ ॥

उस महाबली राक्षस रावण को देख सीता जी ने अपने दोनों गोड़ समेट लिये और दोनों बड़े बड़े स्तनों को बांहों से ढक लिया ॥ ६५ ॥

वित्रस्तां परमोद्विग्नां वीक्षमाणां ततस्ततः ।
त्राणं किञ्चिदपश्यन्तीं वेपमानां तपस्विनीम् ॥ ६६ ॥

अत्यन्त डर के मारे उसका मन बहुत उद्विग्न हो गया और वह इधर उधर ताकने लगी ; किन्तु जब उसे अपनी रक्षा के लिये कुछ भी सहारा न देख पड़ा ; तब वह दुःखियारी डर के मारे कांपने लगी ॥ ६६ ॥

तामुवाच दशग्रीवः सीतां परमदुःखिताम् ।
अवाक्शिराः प्रपतितो बहु मन्यस्व मामिति ॥ ६७ ॥

उस अत्यन्त दुखियारी सीता जी से दशानन ने कहा—मैं सिर झुका कर तुझे प्रणाम करता हूँ, तू मुझे भली भांति मान ॥ ६७ ॥

यदि चेत्त्वं तु दर्पान्मां नाभिनन्दसि गर्विते ।
द्वौ मासावन्तरं सीते पास्यामि रुधिरं तव ॥ ६८ ॥

हे गर्वीली ! यदि तू अभिमानवश मेरा अभिनन्दन न करेगी ; तो दो महीने बाद मैं तेरा लोहू पीऊँगा ॥ ६८ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
उवाच परमक्रुद्धा सीता वचनमुत्तमम् ॥ ६९ ॥

दुरात्मा रावण के ये वचन सुन, सीता ने अत्यन्त कुपित हो, उस समय के उपयुक्त ये वचन कहे ॥ ६९ ॥

राक्षसाधम रामस्य भार्याममिततेजसः ।
इक्ष्वाकुकुलनाथस्य स्नुषां दशरथस्य च ॥ ७० ॥

हे राक्षसाधम ! अमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी और इक्ष्वाकु-कुल-नाथ महाराज दशरथ की बहू से ॥ ७० ॥

अवाच्यं वदतो जिह्वा कथं न पतिता तव ।
किञ्चिद्वीर्यं तवानार्य यो मां भर्तुरसन्निधौ ॥ ७१ ॥

तू ऐसे दुर्वचन कहता है, सो तेरी जिह्वा क्यों गिर नहीं पड़ती, अरे बर्बर ! क्या यही तेरा बल पराक्रम है कि, तू मुझे मेरे पति के पास से ॥ ७१ ॥

अपहृत्यागतः पाप तेनादृष्टो महात्मना ।
न त्वं रामस्य सदृशो दास्येऽप्यस्य न युज्यसे ॥ ७२ ॥

उनकी अनुपस्थिति में हर लाया । अरे पापी ! तू श्रीराम की बराबरी तो कर ही क्या सकता है, तू उनका टहलुआ बनने योग्य भी तो नहीं है ॥ ७२ ॥

*अजेयः सत्यवाक्शूरो रणश्लाघी च राघवः ।
जानक्या परुषं वाक्यमेवमुक्तो दशाननः ॥ ७३ ॥

क्योंकि, श्रीरामचन्द्र जी अजेय, सत्यवादी, शूर और रणकला में बड़े कुशल हैं। सीता जी के ऐसे कठोर वचन सुन कर, दशानन रावण ॥ ७३ ॥

जज्वाल सहसा कोपाच्चितास्थ इव पावकः ।
विवृत्य नयने क्रूरे मुष्टिमुद्यम्य दक्षिणम् ॥ ७४ ॥

क्रोध के मारे जल उठा, जैसे चिता की आग धधक उठती है। वह आँखे तरेर और दहिना घूँसा तान, ॥ ७४ ॥

मैथिलीं हन्तुमारब्धः स्त्रीभिर्हाहाकृतं तदा ।
स्त्रीणां मध्यात्समुत्पत्य तस्य भार्या दुरात्मनः ॥ ७५ ॥

जब सीता जी को मारने के लिये; तैयार हुआ, तब उसके साथ जो स्त्रियां थीं, वे हैं! हैं!! हैं!!! कह कर चिल्ला उठीं। उस समय उन्हीं स्त्रियों में उस दुरात्मा की पत्नी ने; ॥ ७५ ॥

वरा मन्दोदरी नाम तया स प्रतिषेधितः ।
उक्तश्च मधुरां वाणीं तया स मदनार्दितः ॥ ७६ ॥

जिसका नाम मन्दोदरी था और जो बड़ी सुन्दरी थी, उसे मना किया और मीठे वचन कह कह कर, उस कामातुर को समझाया ॥ ७६ ॥

सीतया तव किं कार्यं महेन्द्रसमविक्रम ।
देवगन्धर्वकन्याभिर्यक्षकन्याभिरेव च ॥ ७७ ॥

---

* पाठान्तरे—"यज्ञीयः सत्यवादी च ।"

वह कहने लगी—हे इन्द्र के समान पराक्रमी! सीता जी से तुम्हें क्या करना है। तुम्हारे यहाँ तो देवकन्याएँ और गन्धर्व-कन्याएँ मौजूद हैं॥ ७७॥

सार्धं प्रभो रमस्वेह सीतया किं करिष्यसि।
ततस्ताभिः समेताभिर्नारीभिः स महाबलः॥ ७८॥

सो हे स्वामी! तुम मेरे साथ और इनके साथ विहार करो, सीता को लेकर क्या करोगे? तदनन्तर वे सब स्त्रियाँ मिल कर महाबली रावण को॥ ७८॥

प्रसाद्य सहसा नीतो भवनं स्वं निशाचरः।
याते तस्मिन्दशग्रीवे राक्षस्यो विकृताननाः॥ ७९॥

इस प्रकार प्रसन्न कर, सहसा उसको घर ले गयीं। जब दशानन रावण वहाँ से चला गया, तब विकट रूप वाली राक्षसियाँ॥ ७९॥

सीतां निर्भर्त्सयामासुर्वाक्यैः क्रूरैः सुदारुणैः।
तृणवद्भाषितं तासां गणयामास जानकी॥ ८०॥

बड़े कठोर और क्रूर वचन कह कर, सीता जी को डराने धमकाने लगीं। किन्तु जानकी जी ने उनके धमकाने को तिनके के बराबर भी परवाह न की॥ ८०॥

तर्जितं च तदा तासां सीतां प्राप्य निरर्थकम्।
वृथागर्जितनिश्चेष्टा राक्षस्यः पिशिताशनाः॥ ८१॥

अतः उनका सीता जी को डराना धमकाना सब व्यर्थ हुआ। मांस खाने वाली राक्षसियों का डराना धमकाना तथा अन्य सब प्रयत्न (लोभ आदि दिखाना) विफल गये॥ ८१॥

रावणाय शशंसुस्ताः सीताव्यवसितं महत्[1] ।
ततस्ताः सहिताः सर्वा विहताशा निरुद्यमाः ॥ ८२ ॥

परिक्षिप्य समन्तात्तां निद्रावशमुपागताः ।
तासु चैव प्रसुप्तासु सीता भर्तृहितेरता ॥ ८३ ॥

तब रावण के निकट जा उन्होंने कहा कि, सीता को मरना कबूल है, किन्तु आपका कहना कबूल नहीं। तदनन्तर वे सब की सब हतोत्साह और हतोद्योग हो एवं बहुत थक कर सीता जी के चारों ओर पड़ कर सो गयीं। जब वे सो गयीं, तब श्रीरामचन्द्र जी के हित में रत सीता जी ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

विलप्य करुणं दीना प्रशुशोच सुदुःखिता ।
तासां मध्यात्समुत्थाय त्रिजटा वाक्यमब्रवीत् ॥ ८४ ॥

दीनतापूर्वक अत्यन्त दुःखी हो और करुणापूर्ण विलाप कर, अत्यन्त चिन्तित हुई। एक राक्षसी जिसका नाम त्रिजटा था, उठ बैठी और बोली ॥ ८४ ॥

आत्मानां खादत क्षिप्रं न सीता विनशिष्यति ।
जनकस्यात्मजा साध्वी स्नुषा दशरथस्य च ॥ ८५ ॥

तुम सब अपने आपको भले ही खा डालो; किन्तु सती सीता जी को, जो राजा जनक की बेटी और महाराज दशरथ की पुत्रवधू है न खा सकोगी ॥ ८५ ॥

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः ।
रक्षसां च विनाशाय भर्तुरस्या जयाय च ॥ ८६ ॥

---

1 सीताव्यवसितंमहत्—मर्तव्यंनतुत्वमङ्गीकर्तव्य इत्येतद्रूपं। (रा०)

आज मैंने एक बड़ा भयङ्कर स्वप्न देखा है। उसके देखने से मेरे रोंगटे खड़े हो गये। उस स्वप्न का फल यह है कि, राक्षसों का नाश और इसके (सीता के) पति की जीत ॥ ८६ ॥

अलमस्मात्परित्रातुं राघवाद्राक्षसीगणम् ।
अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते ॥ ८७ ॥

सो मुझे तो अब यह अच्छा जान पड़ता है कि, श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से बचने के लिये, हम सीता से प्रार्थना करें। अतः अब उसे डरवाओ धमकाओ मत ॥ ८७ ॥

यस्या ह्येवंविधः स्वप्नो दुःखितायाः प्रदृश्यते ।
सा दुःखैर्विविधैर्मुक्ता सुखमाप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ८८ ॥

क्योंकि, इस प्रकार का स्वप्न जिस दुःखियारी स्त्री के विषय में देख पड़ता है, वह विविध प्रकार के दुःखों से छूट कर, उत्तम सुख पाती है ॥ ८८ ॥

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ।
ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता ॥ ८९ ॥

हम लोगों की साष्टाङ्ग प्रणाम से सीता जी निश्चय ही हम पर प्रसन्न हो जायगीं। यह सुन वह लजीली बाला सीता अपने पति के विजय की बात सुन हर्षित हुई ॥ ८९ ॥

अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः ।
तां चाहं तादृशीं दृष्ट्वा सीताया दारुणां दशाम् ॥ ९० ॥

और बोली कि, यदि त्रिजटा का कहना सत्य निकला तो मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी। हनुमान जी कहने लगे हे वानरो! सीता जी की ऐसी दारुण दशा देख, ॥ ९० ॥

चिन्तयामास विश्रान्तो न च मे निर्वृतं मनः ।
संभाषणार्थं च मया जानक्याश्चिन्तितो विधिः ॥ ९१ ॥

कुछ देर तक मैं सोचता रहा, किन्तु मेरे मन का दुःख किसी प्रकार दूर न हुआ। मैं सोच रहा था कि, सीता जी से किस प्रकार वार्तालाप करूँ ॥ ९१ ॥

इक्ष्वाकूणां हि वंशस्तु ततो मम पुरस्कृतः ।
श्रुत्वा तु गदितां वाचं राजर्षिगणपूजिताम् ॥ ९२ ॥

अन्त में मैंने इक्ष्वाकुवंशियों की प्रशंसा की। उन राजर्षियों की विरुदावली को सुन, ॥ ९२ ॥

प्रत्यभाषत मां देवी बाष्पैः पिहितलोचना ।
कस्त्वं केन कथं चेह प्राप्तो वानरपुङ्गव ॥ ९३ ॥

आंखों में आँसू भर सीता देवी ने मुझसे कहा—हे वानरश्रेष्ठ ! तुम कौन हो ? किसके भेजे आये हो और कैसे यहाँ आये हो ? ॥ ९३ ॥

का च रामेण ते प्रीतिस्तन्मे शंसितुमर्हसि ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा ह्यहमप्यब्रवं वचः ॥ ९४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी से तुम्हारी कैसी प्रीति है ? सो सब मुझसे कहो। सीता जी के ये वचन सुन, मैंने भी कहा ॥ ९४ ॥

देवि रामस्य भर्तुस्ते सहायो भीमविक्रमः ।
सुग्रीवो नाम विक्रान्तो वानरेन्द्रो महाबलः ॥ ९५ ॥

हे देवी ! तुम्हारे भर्ता श्रीरामचन्द्र जी के सहायक, महाबली, भीम पराक्रमी सुग्रीव नामक वानरों के राजा हैं ॥ ९५ ॥

तस्य मां विद्धि भृत्यं त्वं हनुमन्तमिहागतम् ।
भर्त्राहं प्रेषितस्तुभ्यं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ९६ ॥

तुम मुझे उन्हींका सेवक समझो। मेरा नाम हनुमान है और मैं तुम्हारे पति, अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी का भेजा हुआ तुम्हारे पास यहां आया हूँ ॥ ९६ ॥

इदं च पुरुषव्याघ्रः श्रीमान्दाशरथिः स्वयम् ।
अङ्गुलीयमभिज्ञानमदात्तुभ्यं यशस्विनि ॥ ९७ ॥

हे यशस्विनी ! पुरुषसिंह श्रीमान् दशरथनन्दन ने स्वयं तुमको यह अपनी अंगूठी चिन्हानी के लिये भेजी है ॥ ९७ ॥

तदिच्छामि त्वयाऽऽज्ञप्तं देवि किं करवाण्यहम् ।
रामलक्ष्मणयोः पार्श्वं नयामि त्वां किमुत्तरम् ॥ ९८ ॥

सो हे देवी ! अब मुझे आज्ञा दो कि, मैं क्या करूँ। क्या मैं तुमको श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण के पास ले चलूँ ? सो तुम मेरी इन बातों का क्या उत्तर देती हो ? ॥ ९८ ॥

एतच्छ्रुत्वा विदित्वा च सीता जनकनन्दिनी ।
आह रावणमुत्साद्य राघवो मां नयत्विति ॥ ९९ ॥

यह सुन कर और सब हाल जान कर, जनकनन्दिनी सीता जी कहने लगीं श्रीरामचन्द्र जी रावण को मार मुझे यहां से ले जांय ॥ ९९ ॥

प्रणम्य शिरसा देवीमहमार्यामनिन्दिताम् ।
राघवस्य मनोह्लादमभिज्ञानमयाचिषम् ॥ १०० ॥

हनुमान जी बोले—हे वानरों! तब मैंने अनिन्दिता सती सीता जी को सिर झुका कर प्रणाम किया और श्रीरामचन्द्र जी को आनन्दित करने वाली कोई चिन्हानी माँगी ॥ १०० ॥

अथ मामब्रवीत्सीता गृह्यतामयमुत्तमः ।
मणिर्येन महाबाहू रामस्त्वां बहु मन्यते ॥ १०१ ॥

तब सीता ने मुझसे कहा—तुम इस उत्तम चूड़ामणि को लो, इससे महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी तुमको बहुत मानेंगे ॥ १०१ ॥

इत्युक्त्वा तु वरारोहा मणिप्रवरमद्भुतम् ।
प्रायच्छत्परमोद्विग्ना वाचा मां सन्दिदेश ह ॥ १०२ ॥

यह कह कर सुन्दरी सीता जी ने वह अद्भुत उत्तम मणि मुझे दी और अत्यन्त उद्विग्न हो मुझसे श्रीरामचन्द्र जी के लिये यह सँदेसा कहा ॥ १०२ ॥

ततस्तस्यै प्रणम्याहं राजपुत्र्यै समाहितः ।
प्रदक्षिणं परिक्रामिहाभ्युद्गतमानसः ॥ १०३ ॥

तब मैंने सावधानतापूर्वक राजपुत्री सीता जी को प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा कर, यहाँ आने को मैं तैयार हुआ ॥ १०३ ॥

उक्तोऽहं पुनरेवेदं निश्चित्य मनसा तया ।
हनुमन्मम वृत्तान्तं वक्तुमर्हसि राघवे ॥ १०४ ॥

तब सीता जी ने अपने मन में कोई बात स्थिर कर, पुनः मुझसे कहा—हे हनुमान! तुम मेरा हाल श्रीरामचन्द्र जी से कहना ॥ १०४ ॥

यथा श्रुत्वैव न चिरात्तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
सुग्रीवसहितौ वीरावुपेयातां तथा कुरु ॥ १०५ ॥

और ऐसा करना जिससे वे दोनों वीर राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण अपने साथ सुग्रीव को ले, शीघ्र ही यहाँ आ पहुँचे ॥ १०५ ॥

यद्यन्यथा भवेदेतद्द्वौ मासौ जीवितं मम ।
न मां द्रक्ष्यति काकुत्स्थो म्रिये साऽहमनाथवत् ॥१०६॥

यदि वे शीघ्र न आये तो जान लो मेरे जीवन की अवधि केवल दो मास की है। दो मास बाद मैं अनाथिनी की तरह मर जाऊँगी और फिर श्रीरामचन्द्र जी मुझे न देख पावेंगे ॥ १०६ ॥

तच्छ्रुत्वा करुणं वाक्यं क्रोधो मामभ्यवर्तत ।
उत्तरं च मया दृष्टं कार्यशेषमनन्तरम् ॥ १०७ ॥

सीता के ऐसे करुणवचन सुन मुझको बड़ा क्रोध उपजा और इस काम के आगे का अपना कर्त्तव्य मैंने सोचा ॥ १०७ ॥

ततोऽवर्धत मे कायस्तदा पर्वतसन्निभः ।
युद्धकाङ्क्षी वनं तच्च विनाशयितुमारभे ॥ १०८ ॥

मेरा शरीर पर्वताकार हो गया। युद्ध की अभिलाषा से मैंने रावण के उस वन को नष्ट करना आरम्भ किया ॥ १०८ ॥

तद्भग्नं वनषण्डं तु भ्रान्तत्रस्तमृगद्विजम् ।
प्रतिबुद्धा निरीक्षन्ते राक्षस्यो विकृताननाः ॥ १०९ ॥

उस वनप्रदेश को नष्ट करने से वहाँ जो मृग और जो पक्षी थे ; वे डर के मारे व्याकुल हो गये और जरमुँही राक्षसियाँ जाग गयीं तथा वे उस भग्न वन की दुर्दशा निहारने लगीं ॥ १०९ ॥

मां च दृष्ट्वा वने तस्मिन्समागम्य ततस्ततः ।
ताः समभ्यागताः क्षिप्रं रावणायाचचक्षिरे ॥ ११० ॥

मुझे वहाँ देख, वे सब इधर उधर मिल कर भाग गयीं और रावण के पास गयीं और उससे तुरन्त सारा हाल कहा ॥ ११० ॥

राजन्वनमिदं दुर्गं तव भग्नं दुरात्मना ।
वानरेण ह्यविज्ञाय तव वीर्यं महाबलः ॥ १११ ॥

रावण से उन्होंने कहा—"हे रावण ! तुम्हारे बलवीर्य को न जानकर, एक दुरात्मा वानर ने तुम्हारा दुर्गम वन नष्ट कर डाला है ॥ १११ ॥

दुर्बुद्धेस्तस्य राजेन्द्र तव विप्रियकारिणः ।
वधमाज्ञापय क्षिप्रं यथाऽसौ विलयं व्रजेत् ॥ ११२ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम्हारा अप्रियकार्य करने वाले वानर की यह बड़ी दुर्बुद्धि है । तुम उसके वध की शीघ्र आज्ञा दें, जिससे वह यहाँ से भाग न जाय ॥ ११२ ॥

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रेण विसृष्टा भृशदुर्जयाः ।
राक्षसाः किङ्करा नाम रावणस्य मनोनुगाः ॥ ११३ ॥

यह सुन राक्षसराज रावण ने अत्यन्त दुर्जेय और उसकी इच्छानुसार कार्य करने वाले किङ्कर नाम धारी राक्षसों को आज्ञा दी ॥ ११३ ॥

तेषामशीतिसाहस्रं शूलमुद्गरपाणिनाम् ।
मया तस्मिन्वनोद्देशे परिघेण निषूदितम् ॥ ११४ ॥

उनकी संख्या अस्सी हज़ार थी और उनके हाथों में त्रिशूल तथा मुगदर थे। मैंने उस अशोक वन ही में एक परिघ (बेड़े) से उनको मार डाला ॥ ११४ ॥

तेषां तु हतशेषा ये ते गत्वा लघुविक्रमाः ।
निहतं च महत्सैन्यं रावणायाचचक्षिरे ॥ ११५ ॥

उनमें से जो मारे जाने से बच गये थे, उन्होंने भाग कर रावण को उस महती सेना के नष्ट किये जाने का संवाद सुनाया ॥ ११५ ॥

ततो मे बुद्धिरुत्पन्ना चैत्यप्रासादमाक्रमम् ।
तत्रस्थान्राक्षसान्हत्वा शतं स्तम्भेन वै पुनः ॥ ११६ ॥

इतने में मुझे मण्डपाकार भवन को नष्ट करने की सूझ पड़ी। सो मैंने उसे उजाड़ कर उसीके एक खंभे से उस भवन के सौ राक्षस रक्षकों को मार डाला ॥ ११६ ॥

ललामभूतो लङ्कायाः स च विध्वंसितो मया ।
ततः प्रहस्तस्य सुतं जम्बुमालिनमादिशत् ॥ ११७ ॥

वह मण्डपाकार भवन लङ्का का एक भूषण था, उसे मैंने उजाड़ दिया। तब रावण ने प्रहस्तपुत्र जम्बुमाली को भेजा ॥ ११७ ॥

राक्षसैर्बहुभिः सार्धं घोररूपैर्भयानकैः ।
तमहं बलसंपन्नं राक्षसं रणकोविदम् ॥ ११८ ॥

वह बड़े कड़े भयङ्कर रूपधारी बहुत से राक्षसों को साथ ले आया। मैंने बड़ी सेना लेकर आये हुए रणचतुर राक्षस को ॥ ११८ ॥

परिघेणातिघोरेण सूदयामि सहानुगम् ।
तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्तु मन्त्रिपुत्रान्महाबलान् ॥ ११९ ॥
पदातिबलसंपन्नान्प्रेषयामास रावणः ।
परिघेणैव तान्सर्वान्नयामि यमसादनम् ॥ १२० ॥

उसकी सेना सहित अति घोर परिघ (बैंड़े) से मार गिराया। जम्बुमाली के मारे जाने का संवाद सुन, राक्षसराज रावण ने महाबली (सात) मंत्रिपुत्रों को पैदल राक्षसों की सेना के साथ भेजा। मैंने उसी बैंड़े से उन सब को भी यमालय भेज दिया ॥ ११९ ॥ १२० ॥

मन्त्रिपुत्रान्हतान्श्रुत्वा समरे लघुविक्रमान् ।
पञ्च सेनाग्रगाञ्शूरान्प्रेषयामास रावणः ॥ १२१ ॥

मंत्रिपुत्रों के मारे जाने का वृत्तान्त सुन रावण ने, पांच शूरवीर सेनापतियों को, जो रणविद्या में बड़े चतुर और फुर्तीले थे, भेजा ॥ १२१ ॥

तानहं सहसैन्यान्वै सर्वानेवाभ्यसूदयम् ।
ततः पुनर्दशग्रीवः पुत्रमक्षं महाबलम् ॥ १२२ ॥
बहुभी राक्षसैः सार्धं प्रेषयामास रावणः ।
तं तु मन्दोदरीपुत्रं कुमारं रणपण्डितम् ॥ १२३ ॥

सहसा खं समुत्क्रान्तं पादयोश्च गृहीतवान् ।
चर्मासिनं शतगुणं भ्रामयित्वा व्यपेषयम् ॥ १२४ ॥

मैंने उन पाँचों को उनकी समस्त सेना सहित मार डाला । तब दशानन रावण ने अपने महाबली पुत्र अक्षयकुमार को, बहुत से राक्षसों के साथ भेजा । मैंने सहसा आकाश में जा, ढाल तलवार लिये हुए मन्दोदरी के रणपण्डित कुमार को, पैर पकड़ कर सैकड़ों बार घुमाया और ज़मीन पर दे मारा ॥ १२२ ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

तमक्षमागतं भग्नं निशम्य स दशाननः ।
तत इन्द्रजितं नाम द्वितीयं रावणः सुतम् ॥ १२५ ॥

अक्षयकुमार के मारे जाने का वृत्तान्त सुन, रावण ने अपने दूसरे पुत्र इन्द्रजीत को, ॥ १२५ ॥

व्यादिदेश सुसंक्रुद्धो बलिनं युद्धदुर्मदम् ।
तच्चाप्यहं बलं सर्वं तं च राक्षसपुङ्गवम् ॥ १२६ ॥
नष्टौजसं रणे कृत्वा परं हर्षमुपागमम् ।
महता हि महाबाहुः प्रत्ययेन महाबलः ॥ १२७ ॥
प्रेषितो रावणेनैव सह वीरैर्मदोत्कटैः ।
सोऽविषह्यं हि मां बुद्ध्वा स्वसैन्यं चावमर्दितम् ॥१२८॥

जो बड़ा बलवान और रणदुर्मद था अत्यन्त क्रुद्ध हो, आज्ञा दी । सेना सहित उस राक्षसश्रेष्ठ का भी पराक्रम नष्ट कर, मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । महाबाहु महाबली मेघनाद पर पूर्ण विश्वास कर रावण ने, उसे लड़ने के लिये भेजा था और उसके

साथ वड़े वड़े वीर कर दिये थे। किन्तु इन्द्रजीत ने अपनी सेना को मर्दित देख और मुझे अपने मान का न ज्ञान ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

ब्राह्मेणास्त्रेण स तु मां प्राबध्नाच्चातिवेगितः ।
रज्जुभिश्चाभिवध्नन्ति ततो मां तत्र राक्षसाः ॥ १२९ ॥

बड़ी शीघ्रता से ब्रह्मास्त्र से मुझे बांध लिया। तदनन्तर राक्षस लोगों ने मुझे रस्सों से जकड़ कर बांधा ॥ १२६ ॥

रावणस्य समीपं च गृहीत्वा मामुपानयन् ।
दृष्ट्वा सम्भाषितश्चाहं रावणेन दुरात्मना ॥ १३० ॥

और मुझे पकड़ कर रावण के पास ले गये। वहां मैंने दुरात्मा रावण को देखा और उससे वातचीत भी की ॥ १३० ॥

पृष्टश्च लङ्कागमनं राक्षसानां च तं वधम् ।
तत्सर्वं च मया तत्र सीतार्थमिति जल्पितम् ॥ १३१ ॥

रावण ने मुझसे लङ्का में आने का तथा राक्षसों के मारने का कारण पूँछा। तब मैंने यही कहा कि, ये सब मैंने सीता के लिये ही किया है ॥ १३१ ॥

अस्याहं दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तस्त्वद्भवनं विभो ।
मारुतस्यौरसः पुत्रो वानरो हनुमानहम् १३२ ॥

हे महाराज! मैं उसीको देखने तुम्हारे भवन में आया हूँ। मैं पवनदेव का औरस पुत्र हूँ और हनुमान मेरा नाम है ॥ १३२ ॥

रामदूतं च मां विद्धि सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
सोऽहं दूत्येन रामस्य त्वत्सकाशमिहागतः ॥ १३३ ॥

मुझको तुम श्रीरामचन्द्र जी का दूत और सुग्रीव का मंत्री जानो। मैं श्रीरामचन्द्र जी का दूत बन कर तुम्हारे पास आया हूँ॥ १३३॥

सुग्रीवश्च महातेजाः स त्वां कुशलमब्रवीत्।
धर्मार्थकामसहितं हितं पथ्यमुवाच च ॥ १३४॥

महातेजस्वी सुग्रीव ने तुमसे कुशल कहा है और धर्म, अर्थ और काम से युक्त तथा हितकर और उचित यह संदेस भी तुम्हारे लिये भेजा है॥ १३४॥

वसतो ऋश्यमूके मे पर्वते विपुलद्रुमे।
राघवो रणविक्रान्तो मित्रत्वं समुपागतः॥ १३५॥

विपुल वृक्षों से युक्त ऋष्यमूक पर्वत पर रहते समय, मेरी मित्रता, रणपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से हो गयी है॥ १३५॥

तेन मे कथितं राज्ञा भार्या मे रक्षसा हृता।
तत्र साहाय्यमस्माकं कार्यं सर्वात्मना त्वया॥ १३६॥

उन्होंने मुझसे कहा मेरी स्त्री को राक्षस हर कर ले गया है। सो तुमको इस काम में सब प्रकार से हमारी सहायता करनी चाहिये॥ १३६॥

मया च कथितं तस्मै वालिनश्च वधं प्रति।
तत्र साहाय्यहेतोर्मे समयं कर्तुमर्हसि॥ १३७॥

तब मैंने वालि के वध के लिये उनसे कहा और कहा कि, इस कार्य में मेरी सहायता करने का समय नियत कर दो॥ १३७॥

वलिना हृतराज्येन सुग्रीवेण सह प्रभुः ।
चक्रेऽग्निसाक्षिकं सख्यं राघवः सहलक्ष्मणः ॥ १३८ ॥

वालि द्वारा हरे हुए राज्य वाले सुग्रीव के साथ, अग्नि के सामने श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण के साथ मेरी मैत्री हो गयी ॥ १३८ ॥

तेन वालिनमुत्पात्य शरेणैकेन संयुगे ।
वानराणां महाराजः कृतः स प्लवतां प्रभुः ॥ १३९ ॥

तदनन्तर युद्ध में एक ही बाण चला कर, श्रीरामचन्द्र जी ने वालि को मार डाला और सुग्रीव को वानरों का राजा बनाया ॥ १३९ ॥

तस्य साहाय्यमस्माभिः कार्यं सर्वात्मना त्विह ।
तेन प्रस्थापितस्तुभ्यं समीपमिह धर्मतः ॥ १४० ॥

अब उनकी सब प्रकार से सहायता करना हमको उचित है अतः उन्होंने मित्रधर्म को निवाहते हुए, धर्मपूर्वक मुझे दूत बना कर, तुम्हारे पास भेजा है ॥ १४० ॥

क्षिप्रमानीयतां सीता दीयतां राघवाय च ।
यावन्न हरयो वीरा विधमन्ति बलं तव ॥ १४१ ॥

वीर वानरों द्वारा अपनी सेना का नाश होने के पूर्व ही तुम सीता को लाकर तुरन्त श्रीरामचन्द्र जी को देदो ॥ १४१ ॥

वानराणां प्रभावो हि न केन विदितः पुरा ।
देवतानां सकाशं च ये गच्छन्ति निमन्त्रिताः ॥ १४२ ॥

अब तक, वानरों का प्रभाव किसी से छिपा नहीं है । वे देवताओं से निमंत्रण पा कर उनके पास (उनके साहाय्य के लिये) जाते हैं ॥ १४२ ॥

इति वानरराजस्त्वामाहेत्यभिहितो मया ।
मामैक्षत ततः क्रुद्धश्चक्षुषा प्रदहन्निव ॥ १४३ ॥

हे रावण ! इस प्रकार वानरराज ने तुमसे संदेस कहलाया है; सो मैंने तुमसे कह दिया। (हनुमान जी ने वानरों से कहा कि, यह सुन) रावण ने क्रोध में भर मेरी ओर ऐसे घूर कर देखा, मानों मुझे वह भस्म कर डालेगा ॥ १४३ ॥

तेन वध्योऽहमाज्ञप्तो रक्षसा रौद्रकर्मणा ।
मत्प्रभावमविज्ञाय रावणेन दुरात्मना ॥ १४४ ॥

भयङ्कर कर्म करने वाले उस राक्षस ने मेरे वध की आज्ञा दी। क्योंकि, वह दुरात्मा रावण मेरा प्रभाव तो जानता ही न था ॥ १४४ ॥

ततो विभीषणो नाम तस्य भ्राता महामतिः ।
तेन राक्षसराजोऽसौ याचितो मम कारणात् ॥ १४५ ॥

तदनन्तर उसके एक बड़े समझदार भाई ने, जिसका नाम विभीषण है, मुझे बचाने के लिये रावण से प्रार्थना की ॥ १४५ ॥

नैवं राक्षसशार्दूल त्यज्यतामेष निश्चयः ।
राजशास्त्रव्यपेतो हि मार्गः संसेव्यते त्वया ॥ १४६ ॥

और कहा कि, हे राक्षसशार्दूल ! आप इस निश्चय को त्याग दीजिये। क्योंकि, यह तुम्हारा निश्चय राजनीति-शास्त्र के विरुद्ध है अथवा तुम राजनीति के विरुद्ध मार्ग पर चलते हो ॥ १४६ ॥

दूतवध्या न दृष्टा हि राजशास्त्रेषु राक्षस ।
दूतेन वेदितव्यं च यथार्थं हितवादिना ॥ १४७ ॥

हे राक्षस! राजनीति के किसी भी शास्त्र में दूत का वध नहीं देख पड़ता। हितवादी दूत को अपने स्वामी का ज्यों का त्यों संदेस कहना ही पड़ता है॥ १४७॥

सुमहत्यपराधेऽपि दूतस्यातुलविक्रम।
विरूपकरणं दृष्टं न वधोऽस्तीह शास्त्रतः॥ १४८॥

हे अतुल पराक्रमी! भले ही दूत बड़े से बड़ा अपराध ही क्यों न कर डाले, तो भी शास्त्रानुसार उसका वध उचित नहीं। हाँ, उसकी नाक या कान काट कर उसको विरूप करने की व्यवस्था तो है॥ १४८॥

विभीषणेनैवमुक्तो रावणः सन्दिदेश तान्।
राक्षसानेतदेवास्य लाङ्गूलं दह्यतामिति॥ १४९॥

जब विभीषण ने इस प्रकार समझाया, तब रावण ने राक्षसों को आज्ञा दी कि, उसकी पूँछ जला दो॥ १४९॥

ततस्तस्य वचः श्रुत्वा मम पुच्छं समन्ततः।
वेष्टितं शणवल्कैश्च जीर्णैः कार्पासजैः पटैः॥ १५०॥

रावण की आज्ञा सुन राक्षसों ने मेरी पूँछ में सन के कपड़े, पुराने सूती कपड़े लपेट दिये॥ १५०॥

राक्षसाः सिद्धसन्नाहास्ततस्ते चण्डविक्रमाः।
तदादहन्त मे पुच्छं निघ्नन्तः काष्ठमुष्टिभिः॥ १५१॥

कवच शस्त्रादि धारण किये हुए प्रचण्ड विक्रमी राक्षसों ने मुझे लकड़ी के डंडों और मूकों से मारा और मेरी पूँछ में आग लगा दी॥ १५१॥

बद्धस्य बहुभिः पाशैर्यन्त्रितस्य च राक्षसैः ।
ततस्ते राक्षसाः शूरा बद्धं माममिसंवृतम् ॥ १५२ ॥

राक्षसों ने मुझे खूब जकड़ कर बहुत सी रस्सियों से बाँधा और उन्होंने मुझे पीड़ा भी बहुत दी, तथा मुझ बँधे हुए की पूँछ में आग लगा दी ॥ १५२ ॥

अघोषयन्राजमार्गे नगरद्वारमागतः ।
ततोऽहं सुमहद्रूपं संक्षिप्य पुनरात्मनः ॥ १५३ ॥

समस्त नगरी के राजमार्गों में मुझे घुमा कर मेरे अपराध की घोषणा की । जब मैं नगरी के द्वार पर पहुँचा ; तब मैंने अपने उस बड़े विशाल शरीर को छोटा कर लिया ॥ १५३ ॥

विमोचयित्वा तं बन्धं प्रकृतिस्थः स्थितः पुनः ।
आयसं परिघं गृह्य तानि रक्षांस्यसूदयम् ॥ १५४ ॥

इससे मेरे बन्धन अपने आप ढीले पड़ कर गिर पड़े । तब मैंने अपने को ज्यों का त्यों बना लिया और लोहे का एक बेंडा उठा, उन राक्षसों को (जिन्होंने मुझे बांध कर पुरी में घुमाया था) मार डाला ॥ १५४ ॥

ततस्तन्नगरद्वारं वेगेनाप्लुतवानहम् ।
पुच्छेन च प्रदीप्तेन तां पुरीं साट्टगोपुराम् ॥ १५५ ॥

नगरद्वार को वेग से लांघ कर मैंने अपनी पूँछ की आग से, भवनों और फाटकों सहित उस पुरी को ॥ १५५ ॥

दहाम्यहमसम्भ्रान्तो युगान्ताग्निरिव प्रजाः ।
ततो मे ह्यभवत्त्रासो लङ्कां दग्ध्वासमीक्ष्य तु ॥ १५६ ॥

उसी तरह जला दिया, जिस तरह प्रलयकालीन अग्नि प्रजाओं को जलाता है। लङ्का को जली हुई देख, मेरे मन में बड़ा भय उत्पन्न हुआ ॥ १५६ ॥

विनष्टा जानकी व्यक्तं न ह्यदग्धः प्रदृश्यते ।
लङ्कायां कश्चिदुद्देशः सर्वा भस्मीकृता पुरी ॥ १५७ ॥

मैंने विचारा कि, लङ्का में ऐसा कोई स्थान नहीं जो भस्म न हुआ हो, सो स्पष्ट है कि, इसके साथ सीता भी भस्म हो गयी ॥ १५७ ॥

दहता च मया लङ्कां दग्धा सीतां न संशयः ।
रामस्य हि महत्कार्यं मयेदं वितथीकृतम् ॥ १५८ ॥

लङ्का को भस्म कर मैंने सीता को भी जला डाला इसमें सन्देह नहीं। ऐसा कर के मैंने श्रीरामचन्द्र जी का काम बिगाड़ डाला ॥ १५८ ॥

इति शोकसमाविष्टश्चिन्तामहमुपागतः ।
अथाहं वाचमश्रौषं चारणानां शुभाक्षराम् ॥ १५९ ॥

इस प्रकार मैं चिन्तित हो रहा था कि, इतने में मैंने चारणों के शुभ वचन सुने ॥ १५९ ॥

जानकी न च दग्धेति विस्मयोदन्तभाषिणाम् ।
ततो मे बुद्धिरुत्पन्ना श्रुत्वा तामद्भुतां गिरम् ॥ १६० ॥
अदग्धा जानकीत्येव निमित्तैश्चोपलक्षिता ।
दीप्यमाने तु लाङ्गूले न मां दहति पावकः ॥ १६१ ॥

वे कह रहे थे कि, देखो, इस वानर ने कैसा अद्भुत कार्य किया कि, इस आग से जानकी जी नहीं जलीं। उस समय ऐसी अद्भुत बात सुन तथा अन्य शुभ शकुनों को देख, मैंने जाना कि, जानकी जी दग्ध नहीं हुई। पहिले भी एक अद्भुत बात हुई थी कि, जब मेरी पूँछ जलने लगी, तब मैं नहीं जला ॥ १६० ॥ १६१ ॥

हृदयं च प्रहृष्टं मे वाताः सुरभिगन्धिनः ।
तैर्निमित्तैश्च दृष्टार्थैः कारणैश्च महागुणैः ॥ १६२ ॥

मेरा मन प्रसन्न था, पवन भी सुगन्धयुक्त चल रहा था। इन शुभशकुनों और महाफलप्रद कारणों से ॥ १६२ ॥

ऋषिवाक्यैश्च सिद्धार्थैरभवं हृष्टमानसः ।
पुनर्दृष्ट्वा च वैदेहीं विसृष्टश्च तया पुनः ॥ १६३ ॥

और सफल ऋषिवाक्यों से मेरा मन प्रसन्न हो गया। किन्तु मैंने पुनः जा कर जानकी जी को अपनी आँखों से देखा और उनसे विदा हुआ ॥ १६३ ॥

ततः पर्वतमासाद्य तत्रारिष्टमहं पुनः ।
प्रतिप्लवनमारेभे युष्मद्दर्शनकाङ्क्षया ॥ १६४ ॥

तदनन्तर मैं पुनः उसी अरिष्ट नामक पर्वत पर पहुँचा और तुम सब लोगों को देखने की आकांक्षा से मैंने वहाँ से उड़ान भरना आरम्भ किया ॥ १६४ ॥

ततः पवनचन्द्रार्कसिद्धगन्धर्वसेवितम् ।
पन्थानमहमाक्रम्य भवतो दृष्टवानिह ॥ १६५ ॥

तदुपरान्त मैं पवन, चन्द्र, सूर्य, सिद्ध और गन्धर्वों से सेवित आकाशमार्ग से चला और यहाँ आकर आप लोगों के दर्शन किये ॥ १६५ ॥

राघवस्य प्रभावेण भवतां चैव तेजसा ।
सुग्रीवस्य च कार्यार्थं मया सर्वमनुष्ठितम् ॥ १६६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की कृपा और आप लोगों के प्रताप से, सुग्रीव के काम को पूरा करने के लिये मैंने ये सब किया ॥ १६६ ॥

एतत्सर्वं मया तत्र यथावदुपपादितम् ।
अत्र यन्न कृतं शेषं तत्सर्वं क्रियतामिति ॥१६७॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

लङ्का में जो कुछ मैंने किया था वह सब ज्यों का त्यों मैंने आप लोगों के सामने वर्णन किया, अब जो और कोई कमी यहाँ रह गयी हो, उसे आप लोग पूरा कर लें ॥ १६७ ॥

सुन्दरकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—*—

एतदाख्याय तत्सर्वं हनुमान्मारुतात्मजः ।
भूयः समुपचक्राम वचनं वक्तुमुत्तरम् ॥ १ ॥

इस प्रकार समस्त वृत्तान्त कह, पवननन्दन हनुमान जी फिर और आगे कहने लगे ॥ १ ॥

सफलो राघवोद्योगः सुग्रीवस्य च सम्भ्रमः[1] ।
शीलमासाद्य सीताया मम च प्रीणतं मनः ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का उद्योग और सुग्रीव का उत्साह सफल हुआ। श्रीरामचन्द्र जी में सीता की निष्ठा देख, मेरा मन प्रसन्न हो गया ॥ २ ॥

तपसा धारयेल्लोकान्क्रुद्धो वा निर्दहेदपि ।
सर्वथातिप्रवृद्धोऽसौ रावणो राक्षसाधिपः ॥ ३ ॥

सीता अपने तपोबल से समस्त लोकों को धारण कर सकती हैं और यदि वे क्रुद्ध हो जायँ, तो वे समस्त लोकों को जला कर भस्म भी कर सकती हैं। राक्षसराज रावण भी तपोबल में सब प्रकार से चढ़ा बढ़ा है ॥ ३ ॥

तस्य तां स्पृशतो गात्रं तपसा न विनाशितम् ।
न तदग्निशिखा कुर्यात्संस्पृष्टा पाणिना सती ॥ ४ ॥
जनकस्यात्मजा कुर्याद्यत्क्रोधकलुषीकृता ।
जाम्बवत्प्रमुखान्सर्वाननुज्ञाप्य महाहरीन् ॥ ५ ॥

इसीसे तो सीता का शरीर स्पर्श करते समय अपने तपोबल से नाश को प्राप्त नहीं हुआ। पतिव्रता जानकी क्रोध में भर जो कुछ कर सकती है वह हाथ से छूने पर भी अग्नि की ज्वाला नहीं कर सकती। जाम्बवान इत्यादि मुख्य मुख्य कपियों की आज्ञा ले ॥ ४ ॥ ५ ॥

अस्मिन्नेवंगते कार्ये भवतां च निवेदिते ।
न्याय्यं स्म सह वैदेह्या द्रष्टुं तौ पार्थिवात्मजौ ॥ ६ ॥

---

१ सम्भ्रमः—उत्साह इत्यर्थः। (रा०)

इस प्रकार के कार्य में, जो मैं अभी आप लोगों के सामने निवेदन कर चुका हूँ, उचित तो यही जान पड़ता है कि, हम लोग सीता को लेकर उन दोनों राजकुमारों से मिलें ॥ ६ ॥

अहमेकोऽपि पर्याप्तः सराक्षसगणां पुरीम् ।
तां लङ्कां तरसा हन्तुं रावणं च महाबलम् ॥ ७ ॥

मैं अकेला ही राक्षसों सहित सारी लङ्कापुरी तथा रावण को नष्ट कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

किं पुनः सहितो वीरैर्बलवद्भिः कृतात्मभिः ।
कृतास्त्रैः प्लवगैः शूरैर्भवद्भिर्विजयैषिभिः ॥ ८ ॥

तिस पर यदि आप जैसे अस्त्र-सञ्चालन-विद्या में कुशल और बलवान् विजय की अभिलाषा रखने वाले समर्थ वीर मेरे साथ लङ्का में चले चलें ॥ ८ ॥

अहं तु रावणं युद्धे ससैन्यं सपुरःसरम् ।
सहपुत्रं वधिष्यामि सहोदरयुतं युधि ॥ ९ ॥

तो मैं रावण को युद्ध में सेना, पुत्र, भाईबन्धु, नौकर चाकर और प्रजा सहित मार डालूँगा ॥ ९ ॥

ब्राह्ममैन्द्रं च रौद्रं च वायव्यं वारुणं तथा ।
यदि शक्रजितोऽस्त्राणि दुर्निरीक्षाणि संयुगे ॥ १० ॥
तान्यहं विधमिष्यामि निहनिष्यामि राक्षसान् ।
भवतामभ्यनुज्ञातो विक्रमो मे रुणद्धि तम् ॥ ११ ॥

ब्रह्मास्त्र, इन्द्रास्त्र रौद्रास्त्र, वायव्यास्त्र तथा वारुणास्त्र एवं युद्ध में अन्य दुर्निरीक्ष्य अस्त्र शस्त्र भी यदि इन्द्रजीत मेघनाद चलावेगा;

तो मैं उन सब को नष्ट कर, समस्त राक्षसों को मार डालूँगा। किन्तु आप लोगों की स्वीकृति के बिना मैं रुक गया हूँ ॥१०॥११॥

मयातुला विसृष्टा हि शैलवृष्टिर्निरन्तरा।
देवानपि रणे हन्यात्किं पुनस्तान्निशाचरान् ॥ १२ ॥

मेरी फेंकी हुई लगातार पत्थरों की वर्षा देवताओं का भी नाश कर सकती है, फिर उन राक्षसों की हकीकत ही क्या है ॥ १२ ॥

सागरोऽप्यतियाद्वेलां मन्दरः प्रचलेदपि।
न जाम्बवन्तं समरे कम्पयेदरिवाहिनी ॥ १३ ॥

सागर भले ही अपनी सीमा को लाँघ जाय, मन्दराचल भले ही डिग जाय, किन्तु युद्ध में जाम्बवान को शत्रु की सेना नहीं डुला सकती ॥ १३ ॥

सर्वराक्षससंघानां राक्षसा ये च पूर्वकाः।
अलमेको विनाशाय वीरो वालिसुतः कपिः ॥ १४ ॥

फिर समस्त राक्षसदलों को तथा उनके नेताओं को मारने के लिये तो वालितनय वीर अङ्गद ही पर्याप्त हैं ॥ १४ ॥

पनसस्योरुवेगेन नीलस्य च महात्मनः।
मन्दरोऽपि विशीर्येत किं पुनर्युधि राक्षसाः ॥ १५ ॥

पनस और महात्मा नील की जाँघों के वेग से जब मन्दराचल भी फट सकता है; तब युद्ध में राक्षसों की बात ही क्या है ॥ १५ ॥

सदेवासुरयक्षेषु गन्धर्वोरगपक्षिषु।
मैन्दस्य प्रतियोद्धारं शंसत द्विविदस्य वा ॥ १६ ॥

देव, गन्धर्व, दैत्य, यक्ष, नाग और पक्षियों में भी मैन्द द्विविद का युद्ध में सामना करने वाला कौन है, सो आप लोग बतलावें न ? ॥ १६ ॥

अश्विपुत्रौ महाभागावेतौ प्लवगसत्तमौ ।
एतयोः प्रतियोद्धारं न पश्यामि रणाजिरे ॥ १७ ॥

अश्विनीकुमारों के इन दो वानरश्रेष्ठ वीर पुत्रों का युद्ध में सामना करने वाला भी मुझे कोई नहीं देख पड़ता ॥ १७ ॥

पितामहवरोत्सेकात्परमं दर्पमास्थितौ ।
अमृतप्राशिनावेतौ सर्ववानरसत्तमौ ॥ १८ ॥

ये दोनों पितामह ब्रह्मा जी के वरदान से दर्पित तथा अमृत पान करने वाले, एवं सब वानरों में श्रेष्ठ हैं ॥ १८ ॥

अश्विनोर्माननार्थं हि सर्वलोकपितामहः ।
सर्वावध्यत्वमतुलमनयोर्दत्तवान्पुरा ॥ १९ ॥

अश्विनीकुमारों के सम्मानार्थ सर्वलोकपितामह ब्रह्मा जी ने, पूर्वकाल में इन दोनों को अतुल बल पराक्रम और सब प्राणियों से अवध्य होने का वरदान दिया है ॥ १९ ॥

वरोत्सेकेन मत्तौ च प्रमथ्य महतीं चमूम् ।
सुराणाममृतं वीरौ पीतवन्तौ प्लवङ्गमौ ॥ २० ॥

ब्रह्मा जी के वर से मतवाले हो, इन दोनों वानरश्रेष्ठों ने देवताओं की सेना को व्याकुल कर, अमृत पिया था ॥ २० ॥

एतावेव हि संक्रुद्धौ सवाजिरथकुञ्जराम् ।
लङ्कां नाशयितुं शक्तौ सर्वे तिष्ठन्तु वानराः ॥ २१ ॥

यदि ये क्रुद्ध हो जांय तो वानरों के देखते देखते, (अकेले) ये दोनों ही घोड़ों, रथों और हाथियों सहित लङ्का को नष्ट कर डालने की शक्ति रखते हैं ॥ २१ ॥

मयैव निहता लङ्का दग्धा भस्मीकृता पुनः ।
राजमार्गेषु सर्वत्र नाम विश्रावितं मया ॥ २२ ॥

मैंने ही बहुत से राक्षस मार डाले और लङ्का फूँक दी तथा लङ्का की सड़कों पर सर्वत्र अपना सब को नाम इस प्रकार सुना दिया ॥ २२ ॥

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की जै, महाबली लक्ष्मण जी की जै, श्रीरामचन्द्र रक्षित वानरराज सुग्रीव की जै ॥ २३ ॥

अहं कोसलराजस्य दासः पवनसम्भवः ।
हनुमानिति सर्वत्र नाम विश्रावितं मया ॥ २४ ॥

मैं कोशलाधीश श्रीरामचन्द्र जी का दास हूँ और पवन का पुत्र हूँ। मेरा नाम हनुमान है। ये बातें मैंने लङ्का में सर्वत्र सब को सुना दीं ॥ २४ ॥

अशोकवनिकामध्ये रावणस्य दुरात्मनः ।
अधस्ताच्छिंशुपावृक्षे साध्वी करुणमास्थिता ॥ २५ ॥

दुष्ट रावण के अशोकवन में शीशम के पेड़ के नीचे पतिव्रता सीता, अत्यन्त दुखी हो बैठी है ॥ २५ ॥

राक्षसीभिः परिवृता शोकसन्तापकर्शिता ।
मेघलेखापरिवृता चन्द्रलेखेव निष्प्रभा ॥ २६ ॥

उसे चारों ओर से राक्षसियाँ घेरे हुए हैं और वह शोक एवं सन्ताप से पीड़ित है। मेघपंक्ति से घिरी हुई चन्द्ररेखा जैसी निष्प्रभ देख पड़ती है, वैसे ही उन राक्षसियों से घिरी हुई सीता प्रभाहीन देख पड़ती है ॥ २६ ॥

अचिन्तयन्ती वैदेही रावणं बलदर्पितम् ।
पतिव्रता च सुश्रोणी अवष्टब्धा च जानकी ॥ २७ ॥

तिस पर भी बल से दर्पित उस रावण की, सीता कुछ भी परवाह नहीं करती। ऐसी पतिव्रता और सुन्दरी सीता को रावण ने अपने यहाँ बन्द कर रखा है ॥ २७ ॥

अनुरक्ता हि वैदेही रामं सर्वात्मना शुभा ।
अनन्यचित्ता रामे च पौलोमीव पुरन्दरे ॥ २८ ॥

वह शोभना सीता, उसी प्रकार सदा सर्वदा अनन्यचित्त से श्रीरामचन्द्र जी के ध्यान में मग्न रहती है, जिस प्रकार शची इन्द्र के ध्यान में रहती हैं ॥ २८ ॥

तदेकवासःसंवीता रजोध्वस्ता तथैव च ।
शोकसन्तापदीनाङ्गी सीता भर्तृहिते रता ॥ २९ ॥

उसके शरीर पर केवल एक वस्त्र है और उसके शरीर में धूल लपटी हुई है। शोक और सन्ताप से उसके समस्त अंग दीनभाव को धारण किये हुए हैं। सीता की ऐसी दुर्दशा तो है, किन्तु इस पर भी वह अपने पति की हितकामना में सदा रत रहती है ॥ २९ ॥

सा मया राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ।
राक्षसीभिर्विरूपाभिर्दृष्टा हि प्रमदावने ॥ ३० ॥

मैंने अपनी आँखों से देखा है कि, अशोकवन में बेचारी सीता, मुहंजरी राक्षसियों के बीच में बैठी हुई थी और वे राक्षसियाँ उसे बार बार डरा धमका रहीं थीं ॥ ३० ॥

एकवेणीधरा दीना भर्तृचिन्तापरायणा ।
अधःशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे ॥ ३१ ॥

वह एक वेणी धारण किये दीनभाव को प्राप्त हो, पति की चिन्ता में मग्न रहती है। वह ज़मीन पर सोती है। उसके शरीर की कान्ति फीकी पड़ गयी है जैसी कि, हेमन्तऋतु में कमलिनी फीकी पड़ जाती है ॥ ३१ ॥

रावणाद्विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया ।
कथञ्चिन्मृगशावाक्षी विश्वासमुपपादिता ॥ ३२ ॥

रावण की ओर से वह विरक्त है और अपने मरने का निश्चय किये हुए है। मैंने ते। बड़ी कठिनाई के साथ उस मृगशावकनयनी का विश्वास अपने ऊपर जमा पाया था ॥ ३२ ॥

ततः सम्भाषिता चैव सर्वमर्थं च दर्शिता ।
रामसुग्रीवसख्यं च श्रुत्वा प्रीतिमुपागता ॥ ३३ ॥

तदनन्तर मैंने उससे बातचीत की और सब बातें उसको दर्सा दीं। वह श्रीरामचन्द्र जी और सुग्रीव की मैत्री का वृत्तान्त सुन प्रसन्न हुई ॥ ३३ ॥

नियतः समुदाचारो भक्तिर्भर्तरि चोत्तमा ।
यन्न हन्ति दशग्रीवं स महात्मा कृतागसम् ॥ ३४ ॥

वह बड़ी चरित्रवती है और श्रीरामचन्द्र जी में उसकी पूर्ण भक्ति है। रावण जो अभी तक नहीं मरा सो इसका मुख्य कारण ब्रह्मा जी का दिया हुआ उसको वरदान है ॥ ३४ ॥

निमित्तमात्रं रामस्तु वधे तस्य भविष्यति ।
सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी तद्वियोगाच्च कर्शिता ॥ ३५ ॥

रावण के वध में श्रीरामचन्द्र जी तो केवल निमित्त मात्र होंगे। सीता वैसे ही लटी दुबली थी, तिस पर उसे श्रीरामचन्द्र जी के विरह से उत्पन्न शोक सहना पड़ा ॥ ३५ ॥

प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता ॥ ३६ ॥

इससे वह ऐसी क्षीण हो रही है, जैसी कि, प्रतिपदा के दिन पढ़ने वाले की विद्या क्षीण हुआ करती है ॥ ३६ ॥

एवमास्ते महाभागा सीता शोकपरायणा ।
यदत्र प्रतिकर्तव्यं तत्सर्वमुपपद्यताम् ॥ ३७ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

जनककुमारी सीता शोक में मग्न हो इस प्रकार वहाँ रह रही है। अब आप लोगों से जो बन आवे, सो आप लोग करें ॥ ३७ ॥

सुन्दरकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

षष्टितमः सर्गः

—*—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वालिसूनुरभाषत ।
अयुक्तं तु विना देवीं दृष्टवद्भिश्च वानराः ॥ १ ॥
समीपं गन्तुमस्माभी राघवस्य महात्मनः ।
दृष्टा देवी न चानीता इति तत्र निवेदनम् ॥ २ ॥

हनुमान जी के ये वचन सुन वालितनय अंगद बोले—सीता को देख लेने पर भी, बिना सीता को साथ लिये हम लोगों का महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर यह कहना कि, हम जानकी को देख तो आये किन्तु लाये नहीं ॥ १ ॥ २ ॥

अयुक्तमिव पश्यामि भवद्भिः ख्यातविक्रमैः ।
न हि नः प्लवने कश्चिन्नापि कश्चित्पराक्रमे ॥ ३ ॥

मेरी समझ में तो आप जैसे प्रसिद्ध पराक्रमी वानरों के स्वरूपानुरूप यह काम नहीं है। न तो कूदने उछलने में और न पराक्रम ही में ॥ ३ ॥

तुल्यः सामरदैत्येषु लोकेषु हरिसत्तमाः ।
तेष्वेवं हतवीरेषु राक्षसेषु हनूमता ।
किमन्यदत्र कर्तव्यं गृहीत्वा याम जानकीम् ॥ ४ ॥

इन वानरश्रेष्ठों का सामना करने वाला न तो मुझे कोई दैत्यों ही में देख पड़ता है और न अन्य लोकों ही में। फिर हनुमान जी बहुत से राक्षसों को मार ही चुके हैं, अब बचे बचाये राक्षसों को मार कर, जानकी को ले आने के सिवाय और कौन सा काम हमें करने को रह गया है ॥ ४ ॥

तमेवं कृतसङ्कल्पं जाम्बवान्हरिसत्तमः ।
उवाच परमप्रीतो *वाक्यमर्थवदङ्गदम् ॥ ५ ॥

अङ्गद जी को ऐसा निश्चय किये हुए जान, वानरश्रेष्ठ जाम्बवान् परम प्रसन्न हो उनसे अर्थ भरे वचन बोले ॥ ५ ॥

---

* पाठान्तरे—"वाक्यमर्थवदर्थवित् ।"

नानेतुं कपिराजेन नैव रामेण धीमता ।
कथंचिन्निर्जितां सीतामस्माभिर्नाभि रोचयेत् ॥ ६ ॥

सीता जी को साथ लाने को न तो कपिराज सुग्रीव ने और न बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी ने ही हम लोगों को आज्ञा दो है ॥ ६ ॥

राघवो नृपशार्दूलः कुलं व्यपदिशन्स्वकम् ।
प्रतिज्ञाय स्वयं राजा सीता विजयमग्रतः ॥ ७ ॥

क्योंकि, श्रीरामचन्द्र जी राजाओं में शार्दूल हैं और उन्हें अपने विशाल कुल का भी गर्व है। वे शत्रु को जीत कर सीता को स्वयं लाने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं ॥ ७ ॥

सर्वेषां कपिमुख्यानां कथं मिथ्या करिष्यति ॥ ८ ॥

सो मुख्य मुख्य वानरों के सामने की हुई उस अपनी प्रतिज्ञा को वे क्यों कर अन्यथा करेंगे ॥ ८ ॥

विफलं कर्म च कृतं भवेत्तुष्टिर्न तस्य च ।
वृथा च दर्शितं वीर्यं भवेद्वानरपुङ्गवाः ॥ ९ ॥

हमारा किया कराया सब व्यर्थ जायगा और जिनके लिये हम इतना परिश्रम करेंगे वे भी सन्तुष्ट न होंगे। अतः हे वानरश्रेष्ठों! हम लोगों का बल पराक्रम दिखलाना व्यर्थ ही होगा ॥ ९ ॥

तस्माद्गच्छाम वै सर्वे यत्र रामः सलक्ष्मणः ।
सुग्रीवश्च महातेजाः कार्यस्यास्य निवेदने ॥ १० ॥

अतएव आओ भाइयो, हम सब लोग वहाँ चलें, जहाँ लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी तथा महातेजस्वी सुग्रीव हैं और उनसे समस्त वृत्तान्त निवेदन करें ॥ १० ॥

न तावदेषां मतिरक्षमा नो
यथा भवान्पश्यति राजपुत्र ।
यथा तु रामस्य मतिर्निविष्टा
तथा भवान्पश्यतु कार्यसिद्धिम् ॥ ११ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

हे राजपुत्र ! आपके विचार अयुक्त नहीं प्रत्युत ठीक ही हैं, किन्तु हम लोगों को तो श्रीरामचन्द्र जी की मनोगति के अनुसार ही उनके कार्य को पूर्ण हुआ देखना उचित है। अर्थात् वे जो कहें वही करना चाहिये ॥ ११ ॥

सुन्दरकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकषष्टितमः सर्गः

—※—

ततो जाम्बवतो वाक्यमगृह्णन्त वनौकसः ।
अङ्गदप्रमुखा वीरा हनूमांश्च महाकपिः ॥ १ ॥

तदनन्तर अङ्गदादि वीर वानरों ने तथा महाकपि हनुमान जी ने जाम्बवान की बात मान ली ॥ १ ॥

प्रीतिमन्तस्ततः सर्वे वायुपुत्रपुरःसराः ।
*महेन्द्राद्रिं परित्यज्य पुप्लुवुः प्लवगर्षभाः ॥ २ ॥

* पाठान्तरे—"महेन्द्राग्रं ।"

और पवननन्दन हनुमान जी को आगे कर प्रसन्न होते हुए समस्त वानर महेन्द्राचल को छोड़, उछलते कूदते चल दिये ॥ २ ॥

मेरुमन्दरसङ्काशा मत्ता इव महागजाः ।
छादयन्त इवाकाशं महाकाया महाबलाः ॥ ३ ॥

मेरुपर्वत की तरह महाकाय, महाबली वानरों ने मतवाले हाथियों की तरह मानों आकाश को ढक लिया ॥ ३ ॥

[1]सभाज्यमानं [2]भूतैस्तमात्मवन्तं महाबलम् ।
हनुमन्तं महावेगं वहन्त इव दृष्टिभिः ॥ ४ ॥

ये सब, सिद्ध पुरुषों से भली भाँति प्रशंसित, आत्मज्ञ महावेगवान और महाबलवान पवननन्दन ही को ओर टकटकी लगाये चले जाते थे। मानों वे हनुमान जी को दृष्टि के बल उड़ाये लिये जाते हों ॥ ४ ॥

राघवे [3]चार्थनिर्वृत्तिं कर्तुं च परमं यशः ।
समाधय [4]समृद्धार्थाः [5]कर्मसिद्धिभिरुन्नताः[6] ॥ ५ ॥

उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि, वे श्रीरामचन्द्र जी का कार्य पूरा करके अब सफलमनोरथ हो चुके हैं और इससे उनको यश भी प्राप्त हो चुका है। अतः वे कपि कार्य पूरा करने के कारण अपने को अन्य वानरों से उत्कृष्ट समझ रहे थे ॥ ५ ॥

---

१ सभाज्यमानं—सम्पूज्यमानं । (गो०) २ भूतैः—सिद्धैः । (रा०) ३ अर्थनिर्वृत्तिं—अर्थसिद्धिं । (गो०) ४ समृद्धार्थाः—सिद्धकार्याः । (गो०) ५ कर्मसिद्धिभिः—कार्यसिद्धिभिः । (गो०) ६ उन्नताः—इतरेभ्य उत्कृष्टाः । (गो०)

प्रियाख्यानोन्मुखाः सर्वे सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ।
सर्वे रामप्रतीकारे निश्चितार्था मनस्विनः ॥ ६ ॥

सब ही वानर श्रीरामचन्द्र जी को यह सुख संवाद सुनाने को उत्सुक हो रहे थे, सब लोग युद्ध का अभिनन्दन करने को तत्पर थे। वे मनस्वी वानर श्रीरामचन्द्र जी का बदला लेने की दृढ़ सङ्कल्प किये हुए थे ॥ ६ ॥

प्लवमानाः खमुत्पत्य ततस्ते काननौकसः ।
नन्दनोपममासेदुर्वनं द्रुमलतायुतम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार वह मनस्वी वानरदल, आकाश में उछलता कूदता इन्द्र के नन्दनवन की तरह वृक्षों और लताओं से युक्त उपवन के समीप पहुँचा ॥ ७ ॥

यत्तन्मधुवनं नाम सुग्रीवस्याभिरक्षितम् ।
अधृष्यं सर्वभूतानां सर्वभूतमनोहरम् ॥ ८ ॥

उस उपवन का नाम मधुवन था और सुग्रीव उसके मालिक थे। उसमें कोई भी वानर जाने नहीं पाता था, किन्तु वह उपवन अपनी शोभा से मन सभी का हर लिया करता था ॥ ८ ॥

यद्रक्षति महावीर्यः सदा दधिमुखः कपिः ।
मातुलः कपिमुख्यस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ९ ॥

उस उपवन की रखवाली महाबली दधिमुख नामक वानर सदा किया करता था। वह दधिमुख, महात्मा वानरराज सुग्रीव का मामा था ॥ ९ ॥

ते तद्वनमुपागम्य बभूवुः परमोत्कटाः[1] ।
वानरा वानरेन्द्रस्य मनःकान्ततमं महत् ॥ १० ॥

वे वानर वानरेन्द्र सुग्रीव के अत्यन्त प्यारे उस महावन के समीप पहुँच, उस वन के फल खाने के लिये बड़े उत्सुक हो गये ॥ १० ॥

ततस्ते वानरा हृष्टा दृष्ट्वा मधुवनं महत् ।
कुमारमभ्ययाचन्त मधूनि मधुपिङ्गलाः ॥ ११ ॥

उस बड़े लंबे चौड़े मधुवन को देख कर, मधु की तरह पीले रंग वाले वे वानर प्रसन्न हो गये और उन मधुफलों का मधु पीने के लिये उन्होंने अङ्गद से प्रार्थना की ॥ ११ ॥

ततः कुमारस्तान्वृद्धाञ्जाम्बवत्प्रमुखान्कपीन् ।
अनुमान्य ददौ तेषां निसर्गं[2] मधुभक्षणे ॥ १२ ॥

तब अङ्गद ने जाम्बवान आदि बूढ़े बड़े कपियों से सलाह ले, वानरों को मधुवन में जाने की तथा वहाँ मधुफल खाने की आज्ञा दी ॥ १२ ॥

ततश्चानुमताः सर्वे सम्प्रहृष्टा वनौकसः ।
मुदिताः प्रेरिताश्चापि प्रनृत्यन्ति ततस्ततः ॥ १३ ॥

आज्ञा पाते ही सब वानर अत्यन्त हर्षित हो गये और मुदित हो मधुवन में जा कर इधर उधर नाचने कूदने लगे ॥ १३ ॥

गायन्ति केचित्प्रणमन्ति केचित्
नृत्यन्ति केचित्प्रहसन्ति केचित् ।

---

१ परमोत्कटाः—परमोत्सुकाः । (गो०) २ निसर्गं—विसर्जनं । (गो०)

पतन्ति केचिद्विचरन्ति केचित्
प्लवन्ति केचित्प्रलपन्ति केचित् ॥ १४ ॥

उस समय उन वानरों में से कोई कोई तो गाना गा रहे थे, कोई कोई आपस में प्रणाम कर रहे थे। कोई कोई नाच रहे थे, कोई कोई बड़ी ज़ोर से हँस रहे थे, कोई कोई गिर गिर पड़ते थे, कोई कोई मधुवन में इधर उधर घूम फिर रहे थे, कोई कोई उछल कूद रहे थे, और कोई कोई व्यर्थ की बकवाद कर रहे थे ॥ १४ ॥

परस्परं केचिदुपाश्रयन्ते
परस्परं केचिदुपाक्रमन्ते ।
परस्परं केचिदुपब्रुवन्ते
परस्परं केचिदुपारमन्ते ॥ १५ ॥

कोई कोई आपस में लिपट रहे थे, कोई कोई आपस में भिड़ रहे थे, किसी किसी में आपस में कहासुनी हो रही थी और कोई कोई आराम कर रहे थे ॥ १५ ॥

द्रुमाद्द्रुमं केचिदभिद्रवन्ते
क्षितौ नगाग्रान्निपतन्ति केचित् ।
महीतलात्केचिदुदीर्णवेगा
महाद्रुमाग्राण्यभिसम्पतन्ति ॥ १६ ॥

कोई कोई वृक्षों ही वृक्षों दौड़ते फिरते थे, कोई कोई पेड़ पर चढ़ कर ज़मीन पर कूदते थे और कोई कोई पृथिवी से उछल कर, बड़ी तेज़ी से बड़े ऊँचे ऊँचे वृक्षों की फुनगी पर चढ़ जाते थे ॥ १६ ॥

गायन्तमन्यः प्रहसन्नुपैति
हसन्तमन्यः प्ररुदन्नुपैति ।
रुदन्तमन्यः प्रणदन्नुपैति
नदन्तमन्यः प्रणुदन्नुपैति ॥ १७ ॥

उनमें से कोई गाता था तो कोई हँसता हुआ उसके पास पहुँचता था। कोई हँसता था तो दूसरा रोता हुआ उसके पास जाता था। एक रोता था तो दूसरा उसके रोने की नकल करता हुआ उसके पास जाता था। जब एक चिल्लाता था, तब दूसरा उससे भी अधिक चिल्लाता हुआ उसके पास जाता था॥ १७ ॥

समाकुलं तत्कपिसैन्यमासी-
न्मधुप्रपानोत्कटसत्त्वचेष्टम् ।
न चात्र कश्चिन्न बभूव मत्तो
न चात्र कश्चिन्न बभूव तृप्तः ॥ १८ ॥

उस कपिवाहिनी में उस समय इस प्रकार तुमुल शब्द हो रहा था। उस सेना में ऐसा कोई वानर न था, जिसने पेट भर उत्सुकता पूर्वक मधु न पिया हो और जो मधुपान कर मतवाला न हो गया हो और न कोई ऐसा ही था, जो मधुपान करके तृप्त न हुआ हो॥ १८ ॥

ततो वनं तैः परिभक्ष्यमाणं
द्रुमांश्च विध्वंसितपत्रपुष्पान् ।
समीक्ष्य कोपाद्दधिवक्त्रनामा
निवारयामास कपिः कपींस्तान् ॥ १९ ॥

मधुवन के समस्त फलों को वानरों ने खा डाला था और पेड़ों के पत्तों और फूलों को नष्ट कर डाला था। यह देख दधिमुख नामक वानर कुपित हुआ और उसने उन वानरों को वर्जा ॥ १९ ॥

स तैः प्रवृद्धैः परिभर्त्स्यमानो
वनस्य गोप्ता हरिवीरवृद्धः ।
चकार भूयो मतिमुग्रतेजा
वनस्य रक्षां प्रति वानरेभ्यः ॥ २० ॥

किन्तु वे वानर भला कब मानने लगे। उन्होंने उस बूढ़े दधिमुख ही को डपटा। तब तो वह तेजस्वी वानर भी उन वानरों से, वन को बचाने के लिये उपाय करने लगा ॥ २० ॥

उवाच कांश्चित्परुषाणि धृष्टम्
असक्तमन्यांश्च तलैर्जघान ।
समेत्य कैश्चित्कलहं चकार
तथैव साम्नोपजगाम कांश्चित् ॥ २१ ॥

किसी को उसने गालियाँ दीं, अपने से निर्बल किसी के थप्पड़ जमा दिये, किसी से कहासुनी करने लगा और किसी को समझाने बुझाने लगा ॥ २१ ॥

स तैर्मदात्सम्परिवार्य वाक्यैः
बलाच्च तेन प्रतिवार्यमाणैः ।
प्रधर्षितस्त्यक्तभयैः समेत्य
प्रकृष्यते चाप्यनवेक्ष्य दोषम् ॥ २२ ॥

किन्तु नशे में चूर होने के कारण भला वे क्या किसी के रोके, रुकने वाले थे। इन वानरों को सीता का संवाद लाने के कारण, भय तो किसी का था ही नहीं, सो वे अपने अपराध पर ध्यान न दे और इकट्ठे हो, दधिमुख को पकड़ खींचने लगे ॥ २२ ॥

नखैस्तुदन्तो दशनैर्दशन्तः
तलैश्च पादैश्च समापयन्तः।
मदात्कपिं तं कपयः समग्रा
महावनं निर्विषयं च चक्रुः ॥ २३ ॥

इति एकषष्टितमः सर्गः ॥

साथ ही मतवालेपन से वे उसे नखों से खसोटते, दाँतों से काटते, थप्पड़ जमाते और लातें मारते थे। अन्त में मारते मारते दधिमुख को उन लोगों ने मृतप्राय कर मूर्छित कर दिया और उस विशाल मधुवन को तो बिलकुल चौपट ही कर डाला ॥ २३ ॥

सुन्दरकाण्ड का इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विषष्टितमः सर्गः

—※—

तानुवाच हरिश्रेष्ठो हनुमान्वानरर्षभः।
अव्यग्रमनसो यूयं मधु सेवत वानराः ॥ १ ॥

अहमावारयिष्यामि युष्माकं परिपन्थिनः।
श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं हरीणां प्रवरोऽङ्गदः ॥ २ ॥

इस पर वानरोत्तम हनुमान जी ने उनकी पीठ ठोंक दी और कहा तुम खूब मन भर कर मधुफल खाओ। ज़रा भी मत घबड़ाओ! तुम्हारे मधुफलभक्षण में जो बाधा डालेंगे, उन्हें मैं स्वयं रोकूँगा। हनुमान जी के ये वचन सुन वानरों में श्रेष्ठ अङ्गद जी ॥ १ ॥ २ ॥

प्रत्युवाच प्रसन्नात्मा पिबन्तु हरयो मधु।
अवश्यं कृतकार्यस्य वाक्यं हनुमतो मया ॥ ३ ॥

ने प्रसन्न हो (हनुमान जी की बात का समर्थन करते हुए) कहा—वानर लोग अवश्य मधुपान करें। क्योंकि हनुमान जी काम पूरा करके आये हैं ॥ ३ ॥

अकार्यमपि कर्तव्यं किमङ्ग पुनरीदृशम्।
अङ्गदस्य मुखाच्छ्रुत्वा वचनं वानरर्षभाः ॥ ४ ॥

यदि यह कोई अनुचित काम भी करने को कहें, तो भी हम लोगों को उसे करना चाहिये और उनकी इस प्रकार की कही हुई उचित बात की तो कोई बात ही नहीं है। बड़े बड़े वानरों ने अङ्गद के मुख से ये वचन सुन, ॥ ४ ॥

साधु साध्विति संहृष्टा वानराः प्रत्यपूजयन्।
पूजयित्वाऽङ्गदं सर्वे वानरा वानरर्षभम् ॥ ५ ॥

अत्यन्त प्रसन्न हो और "वाह वाह" कह कर, अङ्गद के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। तदनन्तर वानरश्रेष्ठ अङ्गद के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर, सब बड़े बड़े वानर ॥ ५ ॥

जग्मुर्मधुवनं यत्र नदीवेगा इव द्रुतम्।
ते प्रविष्टा मधुवनं पालानाक्रम्य वीर्यतः ॥ ६ ॥

नदी की वेगवान धार की तरह, उस मधुवन में बड़े वेग से घुस गये और बलपूर्वक वहाँ के रक्षकों पर आक्रमण किया। अथवा वनरक्षक वानरों को पकड़ा ॥ ६ ॥

अतिसर्गाच्च पटवो दृष्ट्वा श्रुत्वा च मैथिलीम् ।
पपुः सर्वे मधु तदा रसवत्फलमाददुः ॥ ७ ॥

अङ्गद जी की आज्ञा पाने, जानकी जी को देखने और उनका संदेसा पाने से वे वानर अत्यन्त उद्दण्ड हो, मधु पीने लगे और रसीले फल खाने लगे ॥ ७ ॥

उत्पत्य च ततः सर्वे वनपालान्समागतान् ।
ताडयन्ति स्म शतशः सक्तान्मधुवने तदा ॥ ८ ॥

जो सैकड़ों वनरक्षक उन्हें आकर वर्जते, उन्हें वे सब के सब उछल उछल कर मारते थे ॥ ८ ॥

मधूनि [1]द्रोणमात्राणि बाहुभिः परिगृह्य ते ।
पिबन्ति सहिताः सर्वे निघ्नन्ति स्म तथापरे ॥ ९ ॥

वे लोग आढ़क (तोल विशेष) परिमाण मधु हाथों की अंजुलि बना पी जाते थे और सब इकट्ठे हो कर वनरक्षकों को मारते भी थे ॥९॥

केचित्पीत्वाऽपविध्यन्ति मधूनि मधुपिङ्गलाः ।
[2]मधूच्छिष्टेन केचिच्च जघ्नुरन्योन्यमुत्कटाः[3] ॥ १० ॥

मधु के समान पीले रङ्ग के वे वानर मधु पीते भी थे और फेंकते भी थे। और कोई कोई मदमस्त हो छत्ते का मोम उठा कर दूसरे वानरों को मारते थे ॥ १० ॥

---

१ द्रोणमात्राणि—आढकप्रमाणानि । (गो०) २ मधूच्छिष्टेन—सिक्थेन । (गो०) ३ उत्कटाः—मत्ताः । (गो०)

अपरे वृक्षमूले तु शाखां गृह्य व्यवस्थिताः ।
अत्यर्थं च मदग्लानाः पर्णान्यास्तीर्य शेरते ॥ ११ ॥

उनमें से कोई कोई पेड़ की जड़ों में वृक्षों की शाखाएँ पकड़ कर खड़े हुए थे और कोई कोई नशे से बेहोश हो पत्तों के बिछा कर सो रहे थे ॥ ११ ॥

उन्मत्तभूताः प्लवगा मधुमत्ताश्च हृष्टवत् ।
क्षिपन्ति[1] च तदान्योन्यं स्खलन्ति च तथापरे ॥१२॥

मधुपान करने से, ये वानर उन्मत्त से हो रहे थे और प्रसन्न देख पड़ते थे। उनमें से कोई कोई तो दूसरे वानरों को उठा उठा कर पटक रहा था, कोई लड़खड़ा कर स्वयं ही गिर पड़ता था ॥ १२ ॥

केचित्क्ष्वेलां[2] प्रकुर्वन्ति केचित्कूजन्ति हृष्टवत् ।
हरयो मधुना मत्ताः केचित्सुप्ता महीतले ॥ १३ ॥

कोई तो प्रसन्न हो सिंहनाद कर रहा था, कोई पक्षियों की तरह कूज रहा था। अनेकों वानर मतवाले हो पृथिवी पर पड़े सो रहे थे ॥ १३ ॥

कृत्वा किञ्चिद्धसन्त्यन्ये केचित्कुर्वन्ति चेतरत् ।
कृत्वा किञ्चिद्वदन्त्यन्ये केचिद्बुध्यन्ति चेतरत् ॥ १४ ॥

कोई कोई गँवारपन कर हँस रहे थे, कोई कोई तरह तरह की चेष्टाएँ कर रहे थे, कोई कुछ बकते और कोई उसका अर्थ ही और का और लगाते थे ॥ १४ ॥

---

१ क्षिपन्ति—उत्क्षिप्य पातयन्ति । (गो०) २ "क्ष्वेला तु सिंहनादः स्यात्" इत्यमरः ।

येऽप्यत्र मधुपालाः स्युः प्रेष्या दधिमुखस्य तु ।
तेऽपि तैर्वानरैर्भीमैः प्रतिषिद्धा दिशो गताः ॥ १५ ॥

वहाँ पर दधिमुख के नीचे काम करने वाले जो मधुवनरक्षक थे, वे भी इन भयङ्कर वानरों की मार से भाग गये थे ॥ १५ ॥

जानुभिस्तु प्रकृष्टाश्च देवमार्गं च दर्शिताः ।
अब्रुवन्परमोद्विग्ना गत्वा दधिमुखं वचः ॥ १६ ॥

अनेक रक्षकों को तो घुटनों से रगड़ रगड़ कर इन वानरों ने यमालय भेज दिया था । जो भाग कर बच गये थे ; उन्होंने जाकर दधिमुख से कहा ॥ १६ ॥

हनूमता दत्तवरैर्हतं मधुवनं बलात् ।
वयं च जानुभिः कृष्टाः देवमार्गं च दर्शिताः ॥ १७ ॥

हनुमान जी द्वारा अभयदान पाकर वानरों ने मधुवन को उजाड़ डाला है । हम लोगों ने जब उनको रोका तब हममें से बहुतों को घुटनों से रगड़ रगड़ कर उन लोगों ने यमालय भेज दिया ॥ १७ ॥

ततो दधिमुखः क्रुद्धो वनपस्तत्र वानरः ।
हतं मधुवनं श्रुत्वा सान्त्वयामास तान्हरीन् ॥ १८ ॥

दधिमुख ने उन वनरक्षक वानरों के वचन सुन और मधुवन को नष्ट हुआ देख, क्रुद्ध हो उन रखवालों को धीरज बँधाया ॥ १८ ॥

इहागच्छत गच्छामो वानरान्बलदर्पितान् ।
बलेन वारयिष्यामो मधु भक्षयतो वयम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर कहा—यहाँ आओ, चलो उन बलदर्पित वानरों को हम बलपूर्वक रोकें और देखें कि, वे कैसे मधुपान करते हैं ॥ १९ ॥

श्रुत्वा दधिमुखस्येदं वचनं वानरर्षभाः ।
पुनर्वीरा मधुवनं तेनैव सहिता ययुः ॥ २० ॥

दधिमुख के ये वचन सुन, वे वानरश्रेष्ठ उस वीर के साथ पुनः मधुवन में गये ॥ २० ॥

मध्ये चैषां दधिमुखः प्रगृह्य तरसा तरुम् ।
समभ्यधावद्वेगेन ते च सर्वे प्लवङ्गमाः ॥ २१ ॥

उनके बीच में जाते हुए दधिमुख ने एक बड़ा वृक्ष उखाड़ और उसे ले उन वानरों पर आक्रमण किया। दधिमुख के साथ उसके साथी वानर भी दौड़े ॥ २१ ॥

ते शिलाः पादपांश्चापि पर्वतांश्चापि वानराः ।
गृहीत्वाभ्यगमन्क्रुद्धा यत्र ते कपिकुञ्जराः ॥ २२ ॥

उनमें से बहुतों ने शिलाओं, बहुतों ने वृक्षों और बहुतों ने बड़े बड़े पत्थरों को हाथ में ले लिया और क्रोध में भरे हुए वे उन हनुमानादि वानरों के समीप जा पहुँचे ॥ २२ ॥

ते स्वामिवचनं वीरा हृदयेष्ववसज्य तत् ।
त्वरया ह्यभ्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥ २३ ॥

वे अपने स्वामी दधिमुख की आज्ञा से उत्साहित हो, बड़ी शीघ्रता से सालवृक्षों तालवृक्षों तथा शिलारूपी आयुधों को ले बड़े वेग से दौड़े ॥ २३ ॥

वृक्षस्थांश्च तलस्थांश्च वानरान्वलदर्पितान् ।
अभ्यक्रामंस्ततो वीराः पालास्तत्र सहस्रशः ॥ २४ ॥

हज़ारों वनरक्षक वीर वानरों ने उन वृक्षों पर चढ़े हुए तथा वृक्षों के नीचे बैठे हुए वानरों पर आक्रमण किया ॥ २४ ॥

अथ दृष्ट्वा दधिमुखं क्रुद्धं वानरपुङ्गवाः ।
अभ्यधावन्त वेगेन हनुमत्प्रमुखास्तदा ॥ २५ ॥

वानरश्रेष्ठ दधिमुख को क्रुद्ध देख, हनुमानादि बड़े बड़े वानर उस पर दौड़ पड़े ॥ २५ ॥

तं सवृक्षं महाबाहुमापतन्तं महाबलम् ।
आर्यकं प्राहरत्तत्र बाहुभ्यां कुपितोऽङ्गदः ॥ २६ ॥

इतने में दधिमुख ने बड़े ज़ोर से वह वृक्ष फैंका । अपने चचा के मामा के चलाये हुए उस वृक्ष को क्रुद्ध अङ्गद ने बीच ही में अपने दोनों हाथों से पकड़ लिया ॥ २६ ॥

मदान्धश्च न वेदैनमार्यकोऽयं ममेति सः ।
अथैनं निष्पिपेषाशु वेगवद्वसुधातले ॥ २७ ॥

उस समय अङ्गद ऐसे मदान्ध हो रहे थे कि, उन्होंने अपने चचा सुग्रीव के मामा का भी कुछ विचार न किया । उन्होंने झट दधिमुख को पकड़ कर, बड़े ज़ोर से ज़मीन पर पटक दिया ॥ २७ ॥

स भग्नबाहूरुभुजो विह्वलः शोणितोक्षितः ।
मुमोह सहसा वीरो मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ॥ २८ ॥

उस पटकी के लगने से दधिमुख की बाहें, जाँघें और मुख में चोट लग गयी । तब वह लोहूलुहान तथा विकल हो, मुहूर्त भर मूर्च्छित हो पड़ा रहा ॥ २८ ॥

स कथञ्चिद्विमुक्तस्तैर्वानरैर्वानरर्षभः ।
उवाचैकान्तमाश्रित्य भृत्यान्स्वान्समुपागतान् ॥ २९ ॥

किसी प्रकार उन वानरों से छूट और एकान्त में जा, वह अपने साथ आये हुए अनुचरों से बोला कि, ॥ २९ ॥

एते तिष्ठन्तु गच्छामो भर्ता नो यत्र वानरः ।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः सह रामेण तिष्ठति ॥ ३० ॥

इनको यहाँ का यहीं छोड़ दो और आओ हम लोग वहाँ चलें जहाँ हमारे राजा विपुलग्रीव सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी सहित विराजमान हैं ॥ ३० ॥

सर्वं चैवाङ्गदे दोषं श्रावयिष्यामि पार्थिवे ।
अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान् ॥ ३१ ॥

हम लोग चल कर अपने राजा से अङ्गद की शिकायत करेंगे । राजा क्रोधी स्वभाव के हैं ही । सो शिकायत सुन अवश्य ही इन वानरों को मार डालेंगे ॥ ३१ ॥

इष्टं मधुवनं ह्येतत्सुग्रीवस्य महात्मनः ।
पितृपैतामहं दिव्यं देवैरपि दुरासदम् ॥ ३२ ॥

क्योंकि यह मधुवन सुग्रीव को अत्यन्त प्यारा है । अधिकता यह है कि, यह उनके बाप दादा के समय का है और बड़ा सुन्दर है । देवता लोग भी इसके भीतर नहीं जा सकते ॥ ३२ ॥

स वानरानिमान्सर्वान्मधुलुब्धान्गतायुषः ।
*पातयिष्यति दण्डेन सुग्रीवः ससुहृज्जनान् ॥ ३३ ॥

---

* पाठान्तरे—“ घातयिष्यति । ”

सो ये कपिराज इन मधुलोलुपों और मरणासन्न वानरों को दण्ड देकर बन्धुबान्धवों सहित मार डालेंगे ॥ ३३ ॥

वध्या ह्येते दुरात्मानो नृपाज्ञापरिभाविनः ।
अमर्षप्रभवो रोषः सफलो नो भविष्यति ॥ ३४ ॥

ये सब दुष्ट, जो राजा की अवज्ञा करने वाले हैं, मार डालने ही योग्य हैं। जब ये मार डाले जांयगे ; तभी हम लोगों का यह असमाजन्य क्रोध सार्थक होगा ॥ ३४ ॥

एवमुक्त्वा दधिमुखो वनपालान्महाबलः ।
जगाम सहसोत्पत्य वनपालैः समन्वितः ॥ ३५ ॥

मधुवन के रखवालों से महाबली दधिमुख इस प्रकार कह उन अनुचरों को लिये हुए सहसा उड़ा ॥ ३५ ॥

निमेषान्तरमात्रेण स हि प्राप्तो वनालयः[1] ।
सहस्रांशुसुतो धीमान्सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ ३६ ॥

और एक निमेष में, वहां जा पहुँचा जहां पर सूर्य के पुत्र बुद्धिमान वानर सुग्रीव थे ॥ ३६ ॥

रामं च लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा सुग्रीवमेव च ।
[2]समप्रतिष्ठां जगतीमाकाशान्निपपात ह ॥ ३७ ॥

वहां उसने श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सुग्रीव को बैठा देखा। फिर समतल भूमि देख वह आकाश से उस भूमि पर उतरा ॥ ३७ ॥

सन्निपत्य महावीर्यः सर्वैस्तैः परिवारितः ।
हरिर्दधिमुखः पालैः पालानां परमेश्वरः ॥ ३८ ॥

---

१ वनालयः—वानरः । (गो०) २ समप्रतिष्ठां—समतलां । (गो०)

उन वानरों के साथ भूमि पर उतर, वह मधुवन के रखवालों का स्वामी महाबली दधिमुख वानर ॥ ३८ ॥

स दीनवदनो भूत्वा कृत्वा शिरसि चाञ्जलिम् ।
सुग्रीवस्य शुभौ मूर्ध्ना चरणौ प्रत्यपीडयत् ॥ ३९ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

दीन मुख हो और जोड़े हुए दोनों हाथों को सिर पर रख, वह सुग्रीव के चरणों में गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

सुन्दरकाण्ड का बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—※—

ततो मूर्ध्ना निपतितं वानरं वानरर्षभः ।
दृष्ट्वैवोद्विग्नहृदयो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

सिर के बल दधिमुख को चरणों पर पड़ा देख, सुग्रीव उद्विग्न हो बोले ॥ १ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कस्मात्त्वं पादयोः पतितो मम ।
अभयं ते* भयं वीर सर्वमेवाभिधीयताम् ॥ २ ॥

उठो उठो, तुम क्यों मेरे पैरों पर पड़े हुए हो । मैं तुम्हें अभय करता हूँ, अब जो हाल हो सो सब मुझसे कह दो ॥ २ ॥

स तु विश्वासितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना ।
उत्थाय सुमहाप्राज्ञो वाक्यं दधिमुखोऽब्रवीत् ॥ ३ ॥

* पाठान्तरे—"भवेद्वीर ।"

जब महात्मा सुग्रीव ने इस प्रकार धीरज बँधाया, तब बड़ा बुद्धिमान दधिमुख पैरों से सिर उठा, कहने लगा ॥ ३ ॥

नैवर्क्षरजसा राजन्न त्वया नापि वालिना ।
वनं [1]निसृष्टपूर्वं हि भक्षितं तत्तु वानरैः ॥ ४ ॥

हे राजन्! आपने या वालि ने या ऋक्षराज ने पहिले जिस मधुवन को कभी इच्छानुसार भोग करने नहीं दिया—उस वन के फलों को वानरों ने खा डाला ॥ ४ ॥

एभिः प्रधर्षिताश्चैव *वारिता वनरक्षिभिः ।
मधून्यचिन्तयित्वेमान्भक्षयन्ति पिबन्ति च ॥ ५ ॥

जब मैंने अपने अनुचरों के साथ उनको रोका, तब उन लोगों ने मेरा तिरस्कार कर इच्छानुसार मधुफल खाये और मधुपान किया ॥ ५ ॥

[2]शिष्टमत्रापविध्यन्ति[3] भक्षयन्ति तथा परे ।
निवार्यमाणास्ते सर्वे भ्रुवौ[4] वै दर्शयन्ति हि ॥ ६ ॥

यही नहीं, प्रत्युत जो फल खाने से बच रहे हैं, उन्हें वे नष्ट कर रहे हैं और जब मेरे अनुचर उन्हें मना करते हैं; तब वे भौंहें टेढ़ी कर आँखें दिखाते हैं ॥ ६ ॥

इमे हि [5]संरब्धतरास्तथा तैः सम्प्रधर्षिताः ।
वारयन्तो वनात्तस्मात्क्रुद्धैर्वानरपुङ्गवैः ॥ ७ ॥

---

१ निसृष्टपूर्वं—यथेच्छभोगाय न दत्तपूर्वं । (गो०) २ शिष्टं—अवशिष्टं । (गो०) ३ अपविध्यन्ति—ध्वंसयन्ति । (गो०) ४ भ्रुवौ—वक्रे भ्रुवौ । (रा०) ५ संरब्धतराः—निवारणार्थतियत्नवन्तः । (रा०)

* पाठान्तरे—" वानरा । "

जब मेरे अनुचर उनको रोकने लगे, तब उन वानरपुङ्गवों ने इनको डराया धमकाया और उस वन से इनको निकाल दिया ॥ ७ ॥

ततस्तैर्बहुभिर्वीरैर्वानरैर्वानरर्षभ ।
संरक्तनयनैः क्रोधाद्धरयः प्रविचालिताः ॥ ८ ॥

तदनन्तर बहुत से बड़े बड़े वानरों ने क्रोध में भर और नेत्र लाल लाल कर, हमारे अनुचरों को मार कर भगा दिया ॥ ८ ॥

पाणिभिर्निहताः केचित्केचिज्जानुभिराहताः ।
प्रकृष्टाश्च यथाकामं देवमार्गं च दर्शिताः ॥ ९ ॥

किसी को थप्पड़ों से और किसी को लातों से मारा तथा किसी को खींच कर आकाश में लुका दिया ॥ ९ ॥

एवमेते हताः शूरास्त्वयि तिष्ठति भर्तरि ।
कृत्स्नं मधुवनं चैव प्रकामं तैः प्रभक्ष्यते ॥ १० ॥

हे राजन्! आप जैसे मालिक के रहते, ये सब मेरे वीर अनुचर इस प्रकार मारे पीटे गये और अब भी सब वानर मधुवन में मनमानी कर खा पी रहे हैं ॥ १० ॥

एवं विज्ञाप्यमानं तु सुग्रीवं वानरर्षभम् ।
अपृच्छत्तं महाप्राज्ञो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ११ ॥

जिस समय दधिमुख वानर कपिश्रेष्ठ सुग्रीव जी से निवेदन कर रहा था, उस समय शत्रुहन्ता एवं महाप्राज्ञ लक्ष्मण ने पूँछा ॥ ११ ॥

किमयं *वनपो राजन्भवन्तं प्रत्युपस्थितः ।
कं चार्थमभिनिर्दिश्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

* पाठान्तरे—"वानरो ।"

हे राजन्! यह वनपाल वानर किस लिये आपके पास आया है और दुखी हो आपसे क्या कह रहा है? ॥ १२ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना ।
लक्ष्मणं प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १३ ॥

जब महात्मा लक्ष्मण ने इस प्रकार पूँछा, तब वाक्यविशारद सुग्रीव ने लक्ष्मण के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा ॥ १३ ॥

आर्य लक्ष्मण संप्राह वीरो दधिमुखः कपिः ।
अङ्गदप्रमुखैर्वीरैर्भक्षितं मधु वानरैः ॥ १४ ॥

हे आर्य! यह वीर दधिमुख वानर कह रहा है कि, अङ्गद आदि वीर वानरों ने मधुवन के मधुफलों को खा डाला है ॥ १४ ॥

विचित्य दक्षिणामाशामागतैर्हरिपुङ्गवैः ।
नैषामकृतकृत्यानामीदृशः स्यादुपक्रमः ॥ १५ ॥

इससे जान पड़ता है कि, दक्षिण दिशा में सीता जी को ढूँढ़ कर, वे वानरश्रेष्ठ आ गये हैं और पता लगा लाये हैं। क्योंकि विना कार्य पूरा किये, वे ऐसी ढिठाई नहीं कर सकते थे ॥ १५ ॥

आगतैश्च प्रमथितं यथा मधुवनं हि तैः ।
धर्षितं च वनं कृत्स्नमुपयुक्तं[1] च वानरैः ॥ १६ ॥

आकर समस्त वन का नष्ट करना और मना करने पर मना करने वालों को मारना पीटना तथा मधुफलों को खाना—यह सब वे तभी कर सकते हैं, जब वे अपने कार्य को पूरा कर चुके हों ॥ १६ ॥

---

१ उपयुक्तं—भुक्तं। (रा०)

वनं यदाऽभिपन्नास्ते साधितं कर्म वानरैः।
दृष्टा देवी न सन्देहो न चान्येन हनूमता ॥ १७ ॥

यदि उन वानरों ने वन में आकर उपद्रव किया है, तो निश्चय ही वे लोग और विशेष कर हनुमान सीता को देख आये हैं ॥ १७ ॥

न ह्यन्यः साधने हेतुः कर्मणोऽस्य हनूमतः।
कार्यसिद्धिर्मतिश्चैव तस्मिन्वानरपुङ्गवे ॥ १८ ॥

क्योंकि हनुमान को छोड़, यह काम दूसरा नहीं कर सकता। हनुमान जी में कार्य पूरे करने की बुद्धि है ॥ १८ ॥

व्यवसायश्च वीर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम्।
जाम्बवान्यत्र नेता स्यादङ्गदश्च महाबलः ॥ १९ ॥

वे उद्योगी हैं बलवान हैं और पण्डित हैं। फिर जहाँ जाम्बवान और अङ्गद नेता हों ॥ १९ ॥

हनुमांश्चाप्यधिष्ठाता न तस्य गतिरन्यथा।
अङ्गदप्रमुखैर्वीरैर्हतं मधुवनं किल ॥ २० ॥

और जिस काम के हनुमान जी अधिष्ठाता हों, वहाँ पर कोई कार्य अधूरा या अपूर्ण नहीं रह सकता। इसीसे अङ्गदप्रमुख वीर वानरों ने मधुवन को नष्ट कर डाला है ॥ २० ॥

वारयन्तश्च सहितास्तथा जानुभिराहताः।
एतदर्थमयं प्राप्तो वक्तुं मधुरवागिह ॥ २१ ॥

और मना करने पर मना करने वालों को लातों से मारा है। ये ही बातें कहने के लिये यह मधुरभाषी वानर मेरे पास आया है ॥ २१ ॥

नाम्ना दधिमुखो नाम हरिः प्रख्यातविक्रमः ।
दृष्टा सीता महाबाहो सौमित्रे पश्य तत्त्वतः ॥ २२ ॥

इसका नाम दधिमुख वानर है और यह एक प्रसिद्ध पराक्रमी है। हे महाबाहु लक्ष्मण! देखो, वास्तव बात यह है कि, उन लोगों ने सीता का पता लगा लिया है ॥ २२ ॥

अभिगम्य तथा सर्वे पिबन्ति मधु वानराः ।
न चाप्यदृष्ट्वा वैदेहीं विश्रुताः पुरुषर्षभ ॥ २३ ॥

तभी तो वे सब वानर आकर मधुपान कर रहे हैं। हे पुरुष-श्रेष्ठ! बिना सीता को देखे वे विख्यात वानर लोग ॥ २३ ॥

वनं [1]दत्तवरं दिव्यं धर्षयेयुर्वनौकसः ।
ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा लक्ष्मणः सहराघवः ॥ २४ ॥

देवताओं के द्वारा प्राप्त दिव्य मधुवन को कभी उजाड़ नहीं सकते थे। तब तो धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी, बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

श्रुत्वा कर्णसुखां वाणीं सुग्रीववदनाच्च्युताम् ।
प्राहृष्यत भृशं रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ २५ ॥

सुग्रीव के मुख से इस सुखसंवाद को सुन महाबलवान श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी बहुत प्रसन्न हुए ॥ २५ ॥

श्रुत्वा दधिमुखस्येदं सुग्रीवस्तु प्रहृष्य च ।
वनपालं पुनर्वाक्यं सुग्रीवः प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥

---

१ दत्तवरं—अक्षरजसे ब्रह्मणा दत्तमित्यवगम्यते । (गो०)

दधिमुख के मुख से इस संवाद को सुन सुग्रीव प्रसन्न होकर उस वनरक्षक दधिमुख से बोले ॥ २६ ॥

प्रीतोऽस्मि सोऽहं यद्भुक्तं वनं तैः कृतकर्मभिः ।
मर्षितं मर्षणीयं च चेष्टितं कृतकर्मणाम् ॥ २७ ॥

मैं उन कृतकर्मा वानरों द्वारा मधुफलों के खाये जाने से प्रसन्न हूँ। क्योंकि उन्होंने बड़ा भारी काम किया है। अतः उन्होंने जो धृष्टता अथवा उत्पात किये हैं वे सहलेने योग्य हैं ॥ २७ ॥

इच्छामि शीघ्रं हनुमत्प्रधाना-
ञ्शाखामृगांस्तान्मृगराजदर्पान् ।
द्रष्टुं कृतार्थान्सह राघवाभ्यां
श्रोतुं च सीताधिगमे प्रयत्नम् ॥ २८ ॥

उन सिंह समान पराक्रमी तथा कृतकर्मा हनुमानादि वानरों को मैं शीघ्र देखना चाहता हूँ और श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण सहित मैं सीता जी के पास उनके पहुँचने का वृत्तान्त सुना चाहता हूँ २८ ॥

प्रीतिस्फीताक्षौ[1] सम्प्रहृष्टौ कुमारौ
दृष्ट्वा सिद्धार्थौ वानराणां च राजा ।
अङ्गैः संहृष्टैः कर्मसिद्धिं विदित्वा
[2]बाह्वोरासन्नां सोऽतिमात्रं ननन्द ॥२९॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

---

१ स्फीताक्षौ—विकसितनेत्रौ । (रा०) २ बाह्वोरासन्नां—हस्तप्राप्ता-मिव । (रा०)

यह संवाद सुनने से श्रीरामचन्द्र जी व लक्ष्मण जी पुलकित हो गये और मारे प्रसन्नता के उनके दोनों नेत्र विकसित हो गये। इन शुभ लक्षणों को देख सुग्रीव को ऐसा जान पड़ा, मानों कार्य की सफलता हाथ में आगयी हो और यह जान, वे अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २९ ॥

सुन्दरकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—※—

सुग्रीवेणैवमुक्तस्तु हृष्टो दधिमुखः कपिः।
राघवं लक्ष्मणं चैव सुग्रीवं चाभ्यवादयत् ॥ १ ॥

जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा; तब दधिमुख प्रसन्न हुआ और श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण तथा सुग्रीव को प्रणाम किया ॥ १ ॥

स प्रणम्य च सुग्रीवं राघवौ च महाबलौ।
वानरैः सह तैः शूरैर्दिवमेवोत्पपात ह ॥ २ ॥

वह सुग्रीव तथा महाबली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को प्रणाम कर और अपने अनुचरों को साथ ले आकाशमार्ग से चला गया ॥ २ ॥

स यथैवागतः पूर्वं तथैव त्वरितो गतः।
निपत्य गगनाद्भूमौ तद्वनं प्रविवेश ह ॥ ३ ॥

पूर्व में जैसी शीघ्रता से वह आया था वैसी ही शीघ्रता से वह लौट गया और आकाश से भूमि पर उतर; मधुवन में गया ॥ ३ ॥

स प्रविष्टो मधुवनं ददर्श हरियूथपान् ।
विमतानुत्थितान्सर्वान्मेहमानान्मधूदकम् ॥ ४ ॥

उसने वन में जाकर उन वानरयूथपतियों को देखा कि, वे मतवाले और उद्धत हो, मधु के समान मूत्र मूत रहे हैं ॥ ४ ॥

स तानुपागमद्वीरो बद्ध्वा करपुटाञ्जलिम् ।
उवाच वचनं श्लक्ष्णमिदं हृष्टवदङ्गदम् ॥ ५ ॥

वीर दधिमुख हाथ जोड़े हुए उन वानरों के पास गया और प्रसन्न हो अङ्गद से ये मधुर वचन बोला ॥ ५ ॥

सौम्य रोषो न कर्तव्यो यदेभिरभिवारितः ।
अज्ञानाद्रक्षिभिः क्रोधाद्भवन्तः प्रतिषेधिताः ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! जो इन लोगों ने आपको रोका, इसके लिये आप क्रुद्ध न हों ; क्योंकि इनको असली बात मालूम न थी ! इसीसे इन लोगों ने क्रोध में भर रोका था ॥ ६ ॥

युवराजस्त्वमीशश्च वनस्यास्य महाबल ।
मौर्ख्यात्पूर्वं कृतो दोषस्तं भवन्क्षन्तुमर्हति ॥ ७ ॥

हे महाबली ! आप युवराज होने के कारण स्वयं ही इस मधुवन के मालिक हैं । पूर्व में मूर्खतावश हम लोगों से जो अपराध बन पड़ा है—उसे आप क्षमा करें ॥ ७ ॥

आख्यातं हि मया गत्वा पितृव्यस्य तवानघ ।
इहोपयातं सर्वेषामेतेषां वनचारिणाम् ॥ ८ ॥

हे अनघ ! मैंने आपके चचा के पास जाकर, इन सब वानरों के मधुवन में आने का वृत्तान्त कहा ॥ ८ ॥

स त्वदागमनं श्रुत्वा सहैभिर्हरियूथपैः ।
प्रहृष्टो न तु रुष्टोऽसौ वनं श्रुत्वा प्रधर्षितम् ॥ ९ ॥

वे सब वानरों सहित, आपका आगमन और इस मधुवन के उजाड़े जाने का संवाद सुन, बहुत प्रसन्न हुए, अप्रसन्न नहीं ॥ ६ ॥

प्रहृष्टो मां पितृव्यस्ते सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
शीघ्रं प्रेषय सर्वांस्तानिति होवाच पार्थिवः ॥ १० ॥

आपके चाचा कपिराज सुग्रीव ने "अत्यन्त प्रसन्न हो मुझसे कहा है कि,—समस्त वानरों को शीघ्र मेरे पास भेज दो" ॥ १० ॥

श्रुत्वा दधिमुखस्यैतद्वचनं श्लक्ष्णमङ्गदः ।
अब्रवीत्तान्हरिश्रेष्ठो वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ११ ॥

वचन बोलने में चतुर अङ्गद, दधिमुख के ये मधुर वचन सुन उन सब वानरों से बोले ॥ ११ ॥

शङ्के[1] श्रुतोऽयं वृत्तान्तो रामेण हरियूथपाः ।
*तत्क्षमं नेह नः स्थातुं कृते कार्ये परन्तपाः ॥ १२ ॥

हे वानर यूथपतियों! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि, हमारे आने का वृत्तान्त श्रीरामचन्द्र जी को विदित हो चुका है। सो हे परन्तप! यहाँ अब अधिक समय तक टिकना उचित नहीं है; क्योंकि यहाँ जो काम करना था सो तो हो ही चुका ॥ १२ ॥

पीत्वा मधु यथाकामं विश्रान्ता वनचारिणः ।
किं शेषं गमनं तत्र सुग्रीवो यत्र मे गुरुः ॥ १३ ॥

---

१ शङ्के—अनुमिनोमि । (शि०) * पाठान्तरे—"तत्क्षणं ।"

आप सब लोग पेट भर कर मधु पी चुके और थकावट भी मिटा चुके, अब कौन काम बाकी रह गया है। अतः मेरी समझ में जहाँ मेरे पूज्य पितृव्य सुग्रीव हैं; वहाँ अब चलना चाहिये ॥ १३ ॥

सर्वे यथा मां वक्ष्यन्ति समेत्य हरियूथपाः ।
तथाऽस्मि कर्ता कर्तव्ये [1]भवद्भिः परवानहम् ॥ १४ ॥

अब आप सब वानरश्रेष्ठ मिल कर जैसा मुझसे कहें मैं वैसा ही करूँ। क्योंकि मैं आप ही लोगों के अधीन हूँ ॥ १४ ॥

नाज्ञापयितुमीशोऽहं[2] युवराजोऽस्मि यद्यपि ।
अयुक्तं [3]कृतकर्माणो यूयं धर्षयितुं मया ॥ १५ ॥

यद्यपि मैं युवराज हूँ और स्वतंत्र हूँ; तथापि मैं आप लोगों को कोई आज्ञा नहीं दे सकता। क्योंकि उपकार करने वालों को परतंत्र बनाना मेरे लिये ठीक नहीं ॥ १५ ॥

ब्रुवतश्चाङ्गदस्यैवं श्रुत्वा वचनमुत्तमम् ।
प्रहृष्टमनसो वाक्यमिदमूचुर्वनौकसः ॥ १६ ॥

वनवासी वानर लोग अङ्गद के ऐसे विनम्र वचन सुन कर और हर्षित हो, यह बोले ॥ १६ ॥

एवं वक्ष्यति को राजन्प्रभुः सन्वानरर्षभ ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि [4]सर्वोऽहमिति मन्यते ॥ १७ ॥

---

१ भवद्भिः परवानहम्—भवदधीनइत्यर्थः । (रा०) २ ईशः स्वतंत्रः । (गो०) ३ कृतकर्माणः—कृतोपकाराः । (गो०) ४ अहमितिमन्यते—गर्विष्ठोभवतीति । (गो०)

हे राजन्! स्वामी होकर ऐसे वचन कौन कहैगा? क्योंकि ऐश्वर्य का मद ऐसा है जो सब को गर्वीला अथवा अहङ्कारी बना देता है ॥ १७ ॥

तव चेदं सुसदृशं वाक्यं नान्यस्य कस्यचित् ।
[1]सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभभाग्यताम् ॥ १८ ॥

ये वचन आप ही के स्वरूपानुरूप हैं, आप जैसा उच्च पदवी वाला अन्य कोई जन ऐसे वचन नहीं कहता। आपमें जैसी विनम्रता और विनय है, उससे जान पड़ता है कि, आगे आपका भाग्योदय होने वाला है ॥ १८ ॥

सर्वे वयमपि प्राप्तास्तत्र गन्तुं कृतक्षणाः[2] ।
स यत्र हरिवीराणां सुग्रीवः पतिरव्ययः ॥ १९ ॥

इस समय वीर वानरों के राजा जहाँ विराजमान हैं, वहाँ चलने के लिये हम सब उत्कण्ठित हैं ॥ १९ ॥

त्वया ह्यनुक्तैर्हरिभिर्नैव शक्यं पदात्पदम् ।
क्वचिद्गन्तुं हरिश्रेष्ठ ब्रूमः सत्यमिदं तु ते ॥ २० ॥

हम लोग आपसे सत्य ही सत्य कहते हैं कि, विना आपकी आज्ञा के वानर लोग कहीं भी जाने के लिये एक पग भी आगे नहीं बढ़ा सकते ॥ २० ॥

एवं तु वदतां तेषामङ्गदः प्रत्यभाषत ।
बाढं गच्छाम इत्युक्त्वा उत्पपात महीतलात् ॥ २१ ॥

---

१ सन्नतिः—विनयः। (गो०) २ कृतक्षणाः—कृतोत्साहाः। (रा०)

जब उन वानरों ने इस प्रकार कहा, तब उनको उत्तर देते हुए अङ्गद कहने लगे बहुत अच्छा—आओ अब चलें—यह कह वे सब वानर पृथिवी से उछल कर आकाश में पहुँचे ॥ २१ ॥

उत्पतन्तमनूत्पेतुः सर्वे ते हरियूथपाः ।
कृत्वाऽऽकाशं निराकाशं यन्त्रोत्क्षिप्ता इवाचलाः ॥ २२ ॥

अङ्गदादि वानरों को उछल कर आकाश में जाते देख अन्य, सब वानरों ने भी कल से फैंके हुए पत्थरों की तरह आकाश में जा आकाश को छा लिया ॥ २२ ॥

तेऽम्बरं सहसोत्पत्य वेगवन्तः प्लवङ्गमाः ।
विनदन्तो महानादं घना वातेरिता यथा ॥ २३ ॥

वे वेगवन्त वानर सहसा आकाश में जा, वायु की तरह महानाद करते हुए चले ॥ २३ ॥

अङ्गदे ह्यमनुप्राप्ते सुग्रीवो वानराधिपः ।
उवाच शोकोपहतं रामं कमललोचनम् ॥ २४ ॥

अङ्गद को आते देख, वानरराज सुग्रीव ने शोकसन्तप्त एवं कमललोचन श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २४ ॥

समाश्वसिहि भद्रं ते दृष्टा देवी न संशयः ।
नागन्तुमिह शक्यं तैरतीते समये हि नः ॥ २५ ॥

आपका मङ्गल हो! आप अब धीरज धरें। सीता का पता लग गया। क्योंकि यदि सीता का पता न लगा होता, तो अवधि बीत जाने पर वे यहाँ कभी नहीं आ सकते थे ॥ २५ ॥

न मत्सकाशमागच्छेत्कृत्ये हि विनिपातिते ।
युवराजो महाबाहुः प्लवतां प्रवरोऽङ्गदः ॥ २६ ॥

वानरों में श्रेष्ठ और महाबाहु युवराज अङ्गद यदि काम पूरा न होता तो मेरे समीप कभी न आते ॥ २६ ॥

यद्यप्यकृतकृत्यानामीदृशः स्यादुपक्रमः ।
भवेत्स दीनवदनो भ्रान्तविप्लुतमानसः ॥ २७ ॥

यदि काम पूरा न कर सकते तो (ये लोग) इस तरह मधुवन विध्वंस न करते और यदि हमारे सामने आते, तो वे (अङ्गद) उदास होते और उनका मन मलिन और भ्रान्त होता ॥ २७ ॥

पितृपैतामहं चैतत्पूर्वकैरभिरक्षितम् ।
न मे मधुवनं हन्यादहृष्टः प्लवगेश्वरः[1] ॥ २८ ॥

जानकी जी को देखे बिना, हमारे पिता पितामहादि पुरखों का और उनके द्वारा रक्षित मधुवन को अँगद कभी न उजाड़ते ॥ २८ ॥

कौसल्या सुप्रजा राम समाश्वसिहि सुव्रत ।
दृष्टा देवी न सन्देहो न चान्येन हनूमता ॥ २९ ॥

हे सुव्रत ! हे श्रीराम ! कौशल्या जी आपको उत्पन्न कर सत्पुत्रवती हुई हैं। अब आप सावधान हो जाँय । ये सीता को अवश्य देख कर आये हैं । सो भी उनमें से किसी अन्य ने नहीं, किन्तु हनुमान ने सीता को देखा है ॥ २९ ॥

न ह्यन्यः साधने हेतुः साधनेऽस्य हनूमतः ।
हनूमति हि सिद्धिश्च मतिश्च मतिसत्तम ॥ ३० ॥

---

१ प्लवगेश्वरः—अङ्गदः । (गो०)

क्योंकि यदि हनुमान ने सीता को न देखा होता, तो परमोत्तम बुद्धिसम्पन्न हनुमान, वाटिका विध्वंस रूप कार्य को कभी होने न देते। अतः मेरी समझ में तो श्रेष्ठ-बुद्धि-सम्पन्न हनुमान ने ही इस काम को सिद्ध किया है (शि०) ॥ ३० ॥

व्यवसायश्च वीर्यं च सूर्ये तेज इव ध्रुवम् ।
जाम्बवान्यत्र नेता स्यादङ्गदश्च बलेश्वरः[1] ॥ ३१ ॥

क्योंकि निश्चय ही हनुमान जी में अध्यवसाय है, बल है और वे सूर्य की तरह तेजस्वी हैं। फिर जिसमें जाम्बवान नेता हों, अङ्गद सेनापति हों ॥ ३१ ॥

हनुमांश्चाप्यधिष्ठाता[2] न तस्य गतिरन्यथा ।
मा भूश्चिन्तासमायुक्तः सम्प्रत्यमितविक्रम ॥ ३२ ॥

और हनुमान संरक्षक हों, उस काम में कभी विफलता हो ही नहीं सकती। हे अमितपराक्रमी ! अब आप चिन्ता न करें ॥ ३२ ॥

ततः किलकिलाशब्दं शुश्रावासन्नमम्बरे ।
हनुमत्कर्मदृप्तानां नर्दतां काननौकसाम् ॥ ३३ ॥

इतने ही में आकाशमार्ग से आते हुए वानरों की किलकारियाँ सुन पड़ीं। वे वानर, हनुमान जी द्वारा कार्य पूरा होने से, गर्वित हो गर्ज रहे थे ॥ ३३ ॥

किष्किन्धामुपयातानां सिद्धिं कथयतामिव ।
ततः श्रुत्वा निनादं तं कपीनां कपिसत्तमः ॥ ३४ ॥

---

१ बलेश्वरः—सेनापतिः । (गो०) २ अधिष्ठाता—संरक्षक इत्यर्थः । (गो०)

किष्किन्धा की ओर आते हुए उन वानरों का उस समय का गर्जना, मानों कार्यसिद्धि को सूचित कर रहा था। तदनन्तर उन कपियों का गर्जना सुन, कपियों में श्रेष्ठ सुग्रीव ने ॥ ३४ ॥

आयताञ्चितलाङ्गूलः सोऽभवद्धृष्टमानसः।
आजग्मुस्तेऽपि हरयो रामदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ३५ ॥

अपनी पूँछ ऊँची फैला कर, फिर उसे चक्करदार कर समेट ली और वे बहुत ही प्रसन्नचित्त हो गये। इतने में वे कपि भी, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की आकांक्षा से, वहाँ आ पहुँचे ॥ ३५ ॥

अङ्गदं पुरतः कृत्वा हनूमन्तं च वानरम्।
तेऽङ्गदप्रमुखा वीराः प्रहृष्टाश्च मुदान्विताः ॥ ३६ ॥

वे सब वानर अङ्गद और हनुमान जी को आगे कर आये। वे अङ्गदादि वीर वानरगण मारे हर्ष के पुलकित हो रहे थे ॥ ३६ ॥

निपेतुर्हरिराजस्य समीपे राघवस्य च।
हनुमांश्च महाबाहुः प्रणम्य शिरसा ततः ॥ ३७ ॥

वे वानरगण आकाश से उस जगह भूमि पर उतरे, जिस जगह कपिराज सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी बैठे हुए थे। तदनन्तर सब से पहिले महाबाहु हनुमान जी ने सीस नवाकर प्रणाम किया ॥ ३७ ॥

[1]नियतामक्षतां[2] देवीं राघवाय न्यवेदयत्।
निश्चितार्थस्ततस्तस्मिन्सुग्रीवः पवनात्मजे।
लक्ष्मणः प्रीतिमान्प्रीतं बहुमानादवैक्षत ॥ ३८ ॥

---

१ नियतां—पातिव्रत्यसम्पन्नां। (रा०) २ अक्षतां—शरीरेण कुशलनीम्। (रा०)

और श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन किया कि सीता जी शरीर से कुशल हैं और पातिव्रतधर्म पर दृढ़ हैं। हनुमान जी में सीता जी को देखने का निश्चय रखने वाले सुग्रीव को, प्रीतिमान लक्ष्मण जी ने बड़ी प्रीति और सम्मान के साथ देखा ॥ ३८ ॥

प्रीत्या च रममाणोऽथ राघवः परवीरहा ।
बहुमानेन महता हनुमन्तमवैक्षत ॥ ३९ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

परवीरहन्ता श्रीरामचन्द्र जी भी अत्यन्त प्रीति और आदर के साथ कपिश्रेष्ठ हनुमान जी को देखने लगे ॥ ३९ ॥

सुन्दरकाण्ड का चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—※—

ततः प्रस्रवणं शैलं ते गत्वा चित्रकाननम् ।
प्रणम्य शिरसा रामं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ १ ॥

तदनन्तर हनुमानादि वानरों ने उस रंग बिरंगे पुष्पों से शोभित काननयुक्त प्रस्रवण पर्वत पर जा, महाबली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को सिर नवा कर प्रणाम किया ॥ १ ॥

युवराजं पुरस्कृत्य सुग्रीवमभिवाद्य च ।
प्रवृत्तिमथ सीतायाः प्रवक्तुमुपचक्रमुः ॥ २ ॥

फिर युवराज अङ्गद को आगे कर और सुग्रीव को प्रणाम कर वे सीता का वृत्तान्त कहने लगे ॥ २ ॥

रावणान्तःपुरे रोधं राक्षसीभिश्च तर्जनम् ।
रामे समनुरागं च यश्चायं समयः कृतः ॥ ३ ॥

सीता का रावण के रनवास में रोक रखा जाना, राक्षसियों द्वारा डराया धमकाया जाना, श्रीरामचन्द्र जी में सीता का अनुराग और रावण द्वारा सीता के मारे जाने की अवधि नियत किया जाना ॥ ३ ॥

एतदाख्यान्ति ते सर्वे हरयो रामसन्निधौ ।
वैदेहीमक्षतां श्रुत्वा रामस्तूत्तरमब्रवीत् ॥ ४ ॥

यह समस्त वृत्तान्त श्रीरामचन्द्र जी से उन वानरों ने कहा। सीता जी की राजीखुशी का संवाद सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा ॥ ४ ॥

क्व सीता वर्तते देवी कथं च मयि वर्तते ।
एतन्मे सर्वमाख्यात वैदेहीं प्रति वानराः ॥ ५ ॥

हे वानरो! सीता देवी कहाँ हैं और मेरे विषय में उनका मन कैसा है? सो तुम यह सब सीता का वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ ५ ॥

रामस्य गदितं श्रुत्वा हरयो रामसन्निधौ ।
चोदयन्ति हनूमन्तं सीतावृत्तान्तकोविदम् ॥ ६ ॥

वानरों ने श्रीरामचन्द्र जी का यह कथन सुन, सीता का समस्त वृत्तान्त जानने वाले हनुमान जी से, वृत्तान्त सुनाने को कहा ॥ ६ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां हनुमान्मारुतात्मजः ।
प्रणम्य शिरसा देव्यै सीतायै तां दिशं प्रति ॥ ७ ॥

उन वानरों के वचन सुन, पवननन्दन हनुमान जी ने दक्षिण दिशा की ओर मुख कर और सीस नवा कर जानकी माता को प्रणाम किया ॥ ७ ॥

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः सीताया दर्शनं यथा ।
समुद्रं लङ्घयित्वाऽहं शतयोजनमायतम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर बातचीत करने में चतुर हनुमान जी ने वह सारा वृत्तान्त कहा, जिस प्रकार उन्होंने सीता जी को देखा था। वे बोले हे राघव! मैं शतयोजन समुद्र को लाँघ कर ॥ ८ ॥

अगच्छं जानकीं सीतां मार्गमाणो दिदृक्षया ।
तत्र लङ्केति नगरी रावणस्य दुरात्मनः ॥ ९ ॥

सीता को देखने की इच्छा से समुद्र के पार गया। वहीं पर उस दुरात्मा रावण की लङ्का नाम की पुरी है ॥ ९ ॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य तीरे वसति दक्षिणे ।
तत्र दृष्टा मया सीता रावणान्तःपुरे सती ॥ १० ॥

दक्षिण-समुद्र के दक्षिणी तट पर वह लङ्का नगरी बसी हुई है। उस नगरी में रावण के अन्तःपुर में मैंने पतिव्रता जानकी को देखा ॥ १० ॥

संन्यस्य त्वयि जीवन्ती रामा[1] राम मनोरथम् ।
दृष्टा मे राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ ११ ॥

---

[1] रामा—सीता। (गो०)

हे श्रीरामचन्द्र जी! सीता केवल तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा से जीवित है। मैंने उसे राक्षसियों के बीच बैठा हुआ देखा। राक्षसियाँ बार बार उसे डरा धमका रही थीं ॥ ११ ॥

राक्षसीभिर्विरूपाभी रक्षिता प्रमदावने ।
दुःखमापद्यते देवी त्वादुःखोचिता सती ॥ १२ ॥

प्रमदावन में मुँहजली राक्षसियाँ उसकी रखवाली किया करती हैं। सीता जी सदा से सुख भोगती रही हैं; किन्तु इस समय वे तुम्हारे विरह में अत्यन्त दुःखी हो रही हैं ॥ १२ ॥

रावणान्तःपुरे रुद्धा राक्षसीभिः सुरक्षिता ।
एकवेणीधरा दीना त्वयि चिन्तापरायणा ॥ १३ ॥

एक तो वे रावण के रनवास में कैद हैं, दूसरे राक्षसियाँ उनकी बड़ी सावधानी से चौकसी करती रहती हैं। वे सिर के केशों को बाँध उन सब की एक चोटी बनाये हुए हैं (अर्थात् शृङ्गाररहित हैं)। वे सदा उदास रहती हैं और तुम्हारा ही ध्यान किया करती हैं ॥ १३ ॥

अधःशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे ।
रावणाद्विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया ॥ १४ ॥

वे पृथिवी पर पड़ी रहती हैं, उनका रंग वैसा ही फीका पड़ गया है जैसा कि, हेमन्तऋतु में कमलिनी का फीका पड़ जाता है। रावण से कुछ भी सरोकार न रख, वे जान देने का निश्चय किये हुए हैं ॥ १४ ॥

देवी कथञ्चित्काकुत्स्थ त्वन्मना मार्गिता मया ।
इक्ष्वाकुवंशविख्यातिं शनैः कीर्तयताऽनघ ॥ १५ ॥

हे काकुत्स्थ ! बड़े परिश्रम से किसी न किसी तरह मैंने सीता को ढूढ़ पाया और हे अनघ ! इक्ष्वाकुवंश की कीर्ति को बखान कर, ॥ १५ ॥

सा मया नरशार्दूल विश्वासमुपपादिता ।
ततः सम्भाषिता देवी सर्वमर्थं च दर्शिता ॥ १६ ॥

हे नरशार्दूल ! मैंने उनका विश्वास अपने ऊपर जमा पाया । तदनन्तर उन देवी के साथ बातचीत कर, उनको सब हाल कह सुनाया ॥ १६ ॥

रामसुग्रीवसख्यं च श्रुत्वा प्रीतिमुपागता ।
नियतः समुदाचारो भक्तिश्चास्यास्तथा त्वयि ॥ १७ ॥

वे तुम्हारी और सुग्रीव की मैत्री का वृत्तान्त सुन प्रसन्न हुईं । तुममें उनकी अनन्य भक्ति है और उनका पातिव्रत भी अटल अचल बना हुआ है ॥ १७ ॥

एवं मया महाभाग दृष्टा जनकनन्दिनी ।
उग्रेण तपसा युक्ता त्वद्भक्त्या पुरुषर्षभ ॥ १८ ॥

हे महाभाग ! ऐसी दशा में मैंने जानकी को देखा है । हे पुरुषोत्तम ! तुममें उनकी बड़ी प्रीति है और वे कठोर तपस्या कर रही हैं—अर्थात् बड़े कष्ट सह रही हैं ॥ १८ ॥

अभिज्ञानं च मे दत्तं यथा वृत्तं तवान्तिके ।
चित्रकूटे महाप्राज्ञ वायसं प्रति राघव ॥ १९ ॥

हे राघव ! हे महाप्राज्ञ ! चित्रकूट में कौए के प्रति जो चरित्र तुमने किया था, वह सब मुझे चिन्हानी स्वरूप, आपसे निवेदन करने को बतलाया है ॥ १९ ॥

विज्ञाप्यश्च नरव्याघ्रो रामो वायुसुत त्वया ।
अखिलेनेह यद्दृष्टमिति मामाह जानकी ॥ २० ॥

और हे नरव्याघ्र ! मुझसे यह भी कहा है कि, जैसा तुम यहाँ देखे जाते हो, वैसा ज्यों का त्यों तुम श्रीरामचन्द्र जी के आगे कह देना ॥ २० ॥

अयं चास्मै प्रदातव्यो यत्नात्सुपरिरक्षितः ।
ब्रुवता वचनान्येवं सुग्रीवस्योपशृण्वतः ॥ २१ ॥

एष चूडामणिः श्रीमान्मया सुपरिरक्षितः ।
मनःशिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः ॥ २२ ॥

त्वया प्रनष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि ।
एष निर्यातितः श्रीमान्मया ते वारिसम्भवः ॥ २३ ॥

और इस चूड़ामणि को, जिसे मैंने बड़े यत्न से बचा पाया है; श्रीरामचन्द्र जी को सुग्रीव के सामने देना और यह कहना कि, मैंने इस चूड़ामणि को बड़े प्रयत्न से सुरक्षित रखा है और उनसे कहना कि, तिलक मिट जाने पर तुमने जो मेरे गण्डपार्श्व में मनसिल का तिलक लगाया था, उसका स्मरण तो तुमको अवश्य ही होगा। मैं अंगूठी के बदले तुमको जलोत्पन्न चूड़ामणि भेजती हूँ ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

एतं दृष्ट्वा प्रमोदिष्ये व्यसने त्वामिवानघ ।
जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ॥ २४ ॥

हे अनघ ! इसको देखने से तुमको हर्ष और विषाद दोनों ही होंगे। हे दशरथनन्दन ! मैं एक मास तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती हुई जीवित रहूँगी ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं रक्षसां वशमागता।
इति मामब्रवीत्सीता कृशाङ्गी वरवर्णिनी ॥ २५ ॥

एक मास बीतने पर मैं जान दे दूँगी क्योंकि, मैं इन राक्षसों के पंजे में आ फँसी हूँ। हे राघव! उन कृशाङ्गी और वरवर्णिनी (श्रेष्ठ रंग वाली) सीता ने इस प्रकार के वचन मुझसे कहे हैं ॥ २५ ॥

रावणान्तःपुरे रुद्धा मृगीवोत्फुल्ललोचना।
एतदेव मयाख्यातं सर्वं राघव यद्यथा।
सर्वथा सागरजले सन्तारः प्रविधीयताम् ॥ २६ ॥

हिरनी के समान प्रफुल्लित नेत्रवाली जानकी रावण के रनवास में कैद हैं। हे राघव! जो वृत्तान्त था वह सब मैंने तुमसे कहा। अब तुम जैसे हो वैसे समुद्र के पार होने का यत्न करो ॥ २६ ॥

तौ जाताश्वासौ राजपुत्रौ विदित्वा
तच्चाभिज्ञानं राघवाय प्रदाय।
देव्या चाख्यातं सर्वमेवानुपूर्व्या-
द्वाचा सम्पूर्णं वायुपुत्रः शशंस ॥ २७ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

यह कह चुकने पर जब हनुमान जी ने देखा कि, दोनों राज कुमारों को मेरी बातों पर विश्वास हो गया है, तब उन्होंने सीता जी की भेजी हुई चूड़ामणि श्रीरामचन्द्र जी को देदी और सीता जी का कहा हुआ सारा संदेसा भी श्रीरामचन्द्र जी को कह सुनाया ॥ २७ ॥

सुन्दरकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

षट्षष्टितमः सर्गः

—※—

एवमुक्तो हनुमता रामो दशरथात्मजः ।
तं मणिं हृदये कृत्वा प्ररुरोद सलक्ष्मणः ॥ १ ॥

जब हनुमान जी ने इस प्रकार कहा, तब दशरथनन्द श्रीरामचन्द्र जी उस चूड़ामणि को छाती से लगा, लक्ष्मण सहित रोने लगे ॥ १ ॥

तं तु दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं राघवः शोककर्शितः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

उस मणि को देख श्रीरामचन्द्र जी दुःखी हुए और दोनों नेत्रों में आँसू भर सुग्रीव से बोले ॥ २ ॥

यथैव धेनुः स्रवति स्नेहाद्वत्सस्य वत्सला ।
तथा ममापि हृदयं मणिरत्नस्य दर्शनात् ॥ ३ ॥

जैसे वत्सला गाय के स्तनों से बछड़े को देखने से अपने आप दूध टपकने लगता है, वैसे ही इस मणिश्रेष्ठ को देखने से मेरा मन भी द्रवीभूत हो गया है ॥ ३ ॥

मणिरत्नमिदं दत्तं वैदेह्याः श्वशुरेण मे ।
वधूकाले यथाबद्धमधिकं मूर्ध्नि शोभते ॥ ४ ॥

मेरे ससुर विदेहराज ने विवाह के समय यह चूड़ामणि सीता जी को दी थी और मस्तक पर धारण करने से यह बड़ी शोभा देती थी ॥ ४ ॥

अयं हि जलसम्भूतो मणिः [1]प्रवरपूजितः ।
यज्ञे परमतुष्टेन दत्तः शक्रेण धीमता ॥ ५ ॥

यह मणि जल से निकाली गयी थी और यह देवपूजित है। बुद्धिमान इन्द्र ने यज्ञ में सन्तुष्ट हो यह जनक जी को दी थी ॥ ५ ॥

इमं दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं यथा तातस्य दर्शनम् ।
अद्यास्म्यवगतः सौम्य वैदेहस्य तथा विभोः ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! इस मणि को देखने से मुझे अपने पिता का और महाराज जनक का स्मरण हो आया है ॥ ६ ॥

अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूर्ध्नि मे मणिः ।
अद्यास्य दर्शनेनाहं प्राप्तां तामिव चिन्तये ॥ ७ ॥

यह मणि मेरी प्यारी सीता के मस्तक पर शोभा पाती थी। आज इस मणि को देखने से मुझे ऐसा जान पड़ रहा है; मानों मुझे सीता ही मिल गयी हो ॥ ७ ॥

किमाह सीता वैदेही ब्रूहि सौम्य पुनः पुनः ।
पिपासुमिव तोयेन सिञ्चन्ती वाक्यवारिणा ॥ ८ ॥

हे सौम्य ! सीता ने क्या कहा ? उसकी कहीं बातें तुम मुझसे बार बार कहो, उसने तो मानों मुझ प्यासे को अपने वचन रूपी जल से तृप्त किया है ॥ ८ ॥

इतस्तु किं दुःखतरं यदिमं वारिसम्भवम् ।
मणिं पश्यामि सौमित्रे वैदेहीमागतां विना ॥ ९ ॥

---

1 प्रवरैः—श्रेष्ठैः देवैः । (रा०)

हे लक्ष्मण! इससे बढ़ कर मेरे लिये और कौनसी दुःख की बात होगी कि, बिना सीता के मैं इस जलोत्पन्न चूड़ामणि को देख रहा हूँ ॥ ६ ॥

चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति ।
न जीवेयं क्षणमपि विना तामसितेक्षणाम् ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण! यदि जानकी एक मास जीवित रही तो वह अवश्य बहुत काल जीती रहेगी। मैं तो उस कृष्णनयनी के विना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता ॥ १० ॥

नय मामपि तं देशं यत्र दृष्टा मम प्रिया ।
न तिष्ठेयं क्षणमपि प्रवृत्तिमुपलभ्य च ॥ ११ ॥

हे हनुमन्! तुम मुझे भी वहीं ले चलो, जहाँ तुम मेरी प्यारी सीता को देख आये हो। उसका पता पा कर तो मैं अब एक क्षण भर भी (अन्यत्र) नहीं ठहर सकता ॥ ११ ॥

कथं सा मम सुश्रोणी भीरुभीरुः सती सदा ।
भयावहानां घोराणां मध्ये तिष्ठति रक्षसाम् ॥ १२ ॥

हे हनुमन्! यह तो बतलाओ कि, मेरी वह सुन्दरी पतिव्रता और अत्यन्त भीरु (डरने वाली) सीता, किस प्रकार उन अत्यन्त भयङ्कर राक्षसों के बीच रहती है ॥ १२ ॥

शारदस्तिमिरोन्मुक्तो नूनं चन्द्र इवाम्बुदैः ।
आवृतं वदनं तस्या न विराजति राक्षसैः ॥ १३ ॥

अन्धकार से मुक्त शरद ऋतु का चन्द्रमा मेघ से ढक कर जैसे प्रकाशित नहीं होता, वैसे ही राक्षसों द्वारा घिरी हुई होने के कारण सीता जी का मुखमण्डल भी शोभायमान न होता होगा ॥ १३ ॥

किमाह सीता हनुमंस्तत्त्वतः कथयाद्य मे।
एतेन खलु जीविष्ये भेषजेनातुरो यथा ॥ १४ ॥

हे हनुमन्! अब तुम ठीक ठीक मुझे बतलाओ कि, जानकी ने तुमसे क्या कहा है? जैसे रोगी दवा से जीता है, वैसे ही मैं, सीता जी के कथन को सुन निश्चय ही जीता रहूँगा ॥ १४ ॥

मधुरा मधुरालापा किमाह मम भामिनी।
मद्विहीना वरारोहा हनुमन्कथयस्व मे ॥ १५ ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

हे हनुमन्! सौम्यमूर्ति एवं मधुरभाषिणी जानकी ने मेरे वियोग में दुःखी हो मुझे क्या संदेसा भेजा है? सो तुम कहो ॥ १५ ॥

सुन्दरकाण्ड का छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—※—

एवमुक्तस्तु हनुमान्राघवेण महात्मना।
सीताया भाषितं सर्वं न्यवेदयत राघवे ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने हनुमान जी से इस प्रकार कहा, तब हनुमान जी ने सीता जी का सारा कथन श्रीरामचन्द्र जी को कह सुनाया ॥ १ ॥

इदमुक्तवती देवी जानकी पुरुषर्षभ ।
पूर्ववृत्तमभिज्ञानं चित्रकूटे यथातथम् ॥ २ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पहिले चित्रकूट पर्वत पर जो घटना हुई थी, देवी जानकी ने उसका वृत्तान्त चिन्हानी के रूप में आद्यन्त वर्णन किया ॥ २ ॥

सुखसुप्ता त्वया सार्धं जानकी पूर्वमुत्थिता ।
वायसः सहसोत्पत्य विरराद स्तनान्तरे ॥ ३ ॥

हे राम ! आप और जानकी सुख से पड़े सो रहे थे । किन्तु जानकी आपसे पूर्व ही उठ बैठी कि, इसी बीच में अचानक एक कौए ने उड़ कर उनकी छाती में घाव कर दिया ॥ ३ ॥

पर्यायेण च सुप्तस्त्वं देव्यङ्के भरताग्रज ।
पुनश्च किल पक्षी स देव्या जनयति व्यथाम् ॥ ४ ॥

हे राम ! आप फिर पारी से देवी की गोद में सो गये, सो उस काक ने पुनः आ कर जानकी जी को पीड़ा दी ॥ ४ ॥

पुनः पुनरुपागम्य विरराद भृशं किल ।
ततस्त्वं बोधितस्तस्याः शोणितेन समुक्षितः ॥ ५ ॥

उसने बारंबार आ कर बड़ा घाव कर दिया । उस घाव से रक्त निकलने के कारण वह रक्त आपके शरीर पर गिरा और आप जाग गये ॥ ५ ॥

वायसेन च तेनैव सततं बाध्यमानया ।
बोधितः किल देव्या त्वं सुखसुप्तः परन्तप ॥ ६ ॥

हे शत्रुहन्ता ! जब कौए ने जानकी को लगातार तंग किया तब सुख से सोये हुए आपको जानकी जी ने जगाया ॥ ६ ॥

तां तु दृष्ट्वा महाबाहो दारितां च स्तनान्तरे ।
आशीविष इव क्रुद्धो निःश्वसन्नभ्यभाषथाः ॥ ७ ॥

हे महाबाहो ! जानकी जी की छाती में घाव देख कर आप साँप की तरह क्रुद्ध हो फुँसकारते हुए बोले ॥ ७ ॥

नखाग्रैः केन ते भीरु दारितं तु स्तनान्तरम् ।
कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना ॥ ८ ॥

हे भीरु ! पंजों से तेरी छाती में किसने घाव कर दिया है ? क्रुद्ध पाँच फन वाले साँप के साथ कौन खेल रहा है ? ॥ ८ ॥

निरीक्षमाणः सहसा वायसं समवैक्षथाः ।
नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैस्तामेवाभिमुखं स्थितम् ॥ ९ ॥

ऐसा कह जब आप देखने लगे; तब वह काक आपको देख पड़ा, जिसके पैने नख रुधिर में भीगे थे और जो जानकी जी की ओर मुख किये खड़ा था ॥ ९ ॥

सुतः किल स शक्रस्य वायसः पततां वरः ।
धरान्तरचरः शीघ्रं पवनस्य गतौ समः ॥ १० ॥

पक्षियों में श्रेष्ठ वह काक निश्चय ही इन्द्र का पुत्र था । वह पवन की तरह बड़ी तेज़ी से पृथिवी के नीचे (पाताल में) जा छिपा ॥ १० ॥

ततस्तस्मिन्महाबाहो कोपसंवर्तितेक्षणः ।
वायसे त्वं कृथाः क्रूरां मतिं मतिमतां वर ॥ ११ ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! हे महाबाहो! तब मारे क्रोध के आपकी आंखें तिरछी हो गयीं। आपको उस कौए पर बड़ा क्रोध आया॥ ११॥

स दर्भं संस्तराद्गृह्य ब्रह्मस्त्रेण ह्ययोजयः।
स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखः खगम्॥ १२॥

आपने नीचे बिछी हुई कुश की चटाई से एक कुश और निकाला और उसे ब्रह्मास्त्र के मंत्र से मंत्रित किया। वह कालाग्नि की तरह प्रदीप्त हो उस पक्षी की ओर चला॥ १२॥

क्षिप्तवांस्त्वं प्रदीप्तं हि दर्भं तं वायसं प्रति।
ततस्तु वायसं दीप्तः स दर्भोऽनुजगाम ह॥ १३॥

जब आपने उस दहकते हुए कुश को उस कौए पर चलाया, तब वह कौए के पीछे दौड़ा॥ १३॥

स पित्रा च परित्यक्तः सुरैश्च समहर्षिभिः।
त्रीँल्लोकान्सम्परिक्रम्य त्रातारं नाधिगच्छति॥ १४॥

उस समय न तो उसके पिता ने और न अन्य किसी देवता ने और न देवर्षियों ने ही उस ब्रह्मास्त्र से उसकी रक्षा की। वह तीनों लोकों में घूमा फिरा; किन्तु उसे कोई रक्षक न मिला॥ १४॥

पुनरेवागतस्त्रस्तस्त्वत्सकाशमरिन्दम।
स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम्॥ १५॥

हे अरिन्दम! वह भयभीत हो फिर आपके पास आया। हे शरणदाता! वह पृथिवी पर गिर आपके शरण हुआ॥ १५॥

वधार्हमपि काकुत्स्थ कृपया पर्यपालयः ।
मोघमस्त्रं न शक्यं तु कर्तुमित्येव राघव ॥ १६ ॥

हे काकुत्स्थ ! वह मार डालने योग्य था, तथापि शरण में आने के कारण आपने उसकी रक्षा की । हे राघव ! वह अस्त्र अमोघ था अतः आपने उसे व्यर्थ करना उचित न समझा ॥ १६ ॥

भवांस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम् ।
राम त्वां स नमस्कृत्य राज्ञे दशरथाय च ॥ १७ ॥

और आपने उसकी दहिनी आँख उससे फोड़ दी । हे राम ! तब वह काक आपको और महाराज दशरथ को प्रणाम कर ॥ १७ ॥

विसृष्टस्तु तदा काकः प्रतिपेदे स्वमालयम् ।
एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्त्ववाञ्शीलवानपि ॥ १८ ॥

और आपसे विदा हो, अपने घर को चला गया । आप इस प्रकार के अस्त्रों के जानने वाले, पराक्रमी और शीलवान् होकर भी ॥ १८ ॥

किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयति राघवः ।
न नागा नापि गन्धर्वा नासुरा न मरुद्गणाः ॥ १९ ॥

हे राघव ! आप राक्षसों पर उन अस्त्रों का प्रयोग क्यों नहीं करते ? न नागों, न गन्धर्वों, न दैत्यों और न मरुद्गण में से ॥१६॥

तव राम रणे शक्तास्तथा प्रतिसमासितुं ।
तस्य वीर्यवतः कश्चिद्यद्यस्ति मयि सम्भ्रमः ॥ २० ॥

किसी में भी आपके सामने युद्ध में खड़े रहने की शक्ति नहीं है। अतः आप बड़े बलवान हैं। सो यदि मुझको आप आदर की दृष्टि से देखते हों ॥ २० ॥

क्षिप्रं सुनिशितैर्बाणैर्हन्यतां युधि रावणः ।
भ्रातुरादेशमाज्ञाय लक्ष्मणो वा परन्तपः ॥ २१ ॥

तो शीघ्र अपने पैने बाणों से युद्ध में रावण को मारिये अथवा भ्राता की आज्ञा ले शत्रुओं को तपाने वाले लक्ष्मण जी ही ॥ २१ ॥

स किमर्थं नरवरो न मां रक्षति राघवः ।
शक्तौ तौ पुरुषव्याघ्रौ वाय्वग्निसमतेजसौ ॥ २२ ॥

जो नरों में श्रेष्ठ हैं, हे राघव! वे मुझे क्यों नहीं बचाते। वे दोनों पुरुषसिंह वायु और अग्नि की तरह तेजस्वी और शक्तिमान् ॥ २२ ॥

सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं मामुपेक्षतः ।
ममैव दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः ॥ २३ ॥

तथा देवताओं द्वारा भी अजेय हो कर, किस लिये मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। इससे तो जान पड़ता है कि, निस्संशय मेरा ही कोई बड़ा अपराध अथवा पाप है ॥ २३ ॥

समर्थावपि तौ यन्मां नावेक्षेते परन्तपौ ।
वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रु भाषितम् ॥ २४ ॥

(इसी से तो) वे परन्तप दोनों भाई समर्थवान् होकर भी मेरी रक्षा नहीं करते। (हनुमान जी कहने लगे कि) हे प्रभो! सीता के रोकर कहे हुए करुणापूर्ण वचनों को सुन ॥ २४ ॥

पुनरप्यहमार्यां तामिदं वचनमब्रवम् ।
त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे ॥ २५ ॥

रामे दुःखाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते ।
कथञ्चिद्भवती दृष्टा न कालः परिशोचितुम् ॥ २६ ॥

मैंने उन सती साध्वी सीता से यह कहा—हे देवी ! मैं शपथ पूर्वक सत्य सत्य कहता हूँ कि, श्रीरामचन्द्र जी तुम्हारे विरहजन्य शोक से बड़े दुःखी हो रहे हैं और उनको दुःखी देख लक्ष्मण भी शोकसन्तप्त हो रहे हैं। हे देवी ! मैंने किसी प्रकार आपको देख तो लिया । अब यह समय शोक करने का नहीं है ॥ २५ ॥ २६ ॥

अस्मिन्मुहूर्ते दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि भामिनि ।
तावुभौ नरशार्दूलौ राजपुत्रावनिन्दितौ ॥ २७ ॥

हे सुन्दरी ! आप अब इसी समय से अपने दुःखों का अन्त हुआ जानिये । वे दोनों पुरुषसिंह एवं अनिन्दित राजकुमार ॥ २६ ॥

त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लङ्कां भस्मीकरिष्यतः ।
हत्वा च समरे रौद्रं रावणं सहबान्धवम् ॥ २८ ॥

तुम्हें देखने के लिये उत्कण्ठित हो, लङ्का को भस्म कर डालेंगे और युद्ध में भयङ्कर रावण को बन्धुबान्धव सहित मार ॥ २८ ॥

राघवस्त्वां वरारोहे स्वां पुरीं नयते ध्रुवम् ।
यत्तु रामो विजानीयादभिज्ञानमनिन्दिते ॥ २९ ॥

प्रीतिसञ्जननं तस्य प्रदातुं त्वमिहार्हसि ।
साऽभिवीक्ष्य दिशः सर्वा वेण्युद्ग्रथनमुत्तमम् ॥ ३० ॥

हे वरारोहे ! निश्चय ही तुम्हें अयोध्यापुरी को लिवा ले जायँगे। हे अनिन्दिते ! मुझे कोई ऐसी निन्हानी दो जिसको देख श्रीरामचन्द्र जी मेरे ऊपर विश्वास करें। तब उन्होंने इधर उधर देख सिर की चोटी में गूँथने की यह चूड़ामणि ॥ २९ ॥ ३० ॥

मुक्त्वा वस्त्राद्ददौ मह्यं मणिमेतं महाबल ।
प्रतिगृह्य मणिं दिव्यं तव हेतो रघूद्वह ॥ ३१ ॥

हे महाबली ! अपने आँचल से खोल मुझे दी। हे रघुनन्दन ! मैंने आपके लिये दिव्यमणि ले ली ॥ ३१ ॥

शिरसा तां प्रणम्यार्यामहमागमने त्वरे ।
गमने च कृतोत्साहमवेक्ष्य वरवर्णिनी ॥ ३२ ॥

सीता को प्रणाम कर मैं यहाँ आने के लिये जल्दी करने लगा। जब सुन्दरी सीता ने मुझे चलने के लिये उद्यत देख ॥ ३२ ॥

विवर्धमानं च हि मामुवाच जनकात्मजा ।
अश्रुपूर्णमुखी दीना बाष्पसन्दिग्धभाषिणी ॥ ३३ ॥

और मुझे अपना शरीर बढ़ाये हुए देख, तब जानकी जी मुझसे कहने लगी। वे आँखों में आँसू भर लायीं और उनका कण्ठ गद्गद् हो गया ॥ ३३ ॥

ममोत्पतनसम्भ्रान्ता शोकवेगवशंगता ।
हनुमन्सिंहसङ्काशौ तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
सुग्रीवं च सहामात्यं सर्वान्ब्रूया ह्यनामयम् ॥ ३४ ॥

क्योंकि मेरे वहाँ से चले आने की बात जान वे घबड़ायी हुई थीं और दुःखी हो रही थीं। वे कहने लगीं—हे हनुमान! सिंह के समान उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण से तथा मंत्रियों सहित सुग्रीवादि समस्त वानरों से मेरा कुशल समाचार कहना॥ ३४॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः।
अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधात्त्वं समाधातुमर्हसि॥ ३५॥

तुम ऐसा उद्योग करना जिससे वे महाबाहु श्रीरामचन्द्र मुझे इस शोकसागर से शीघ्र आकर उबारें॥ ३५॥

इमं च तीव्रं मम शोकवेगं
रक्षोभिरेभिः परिभर्त्सनं च।
ब्रूयास्तु रामस्य गतः समीपं
शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर॥ ३६॥

हे कपिश्रेष्ठ! मार्ग तुम्हारे लिये मङ्गलदायी हो। तुम श्रीरामचन्द्र जी के पास जाकर मेरे इस तीव्र शोक तथा इन राक्षसियों द्वारा मेरे डराये धमकाये जाने का समस्त वृतान्त कह देना॥३६॥

एतत्तवार्या नृपराजसिंह
सीता वचः प्राह विषादपूर्वम्।
एतच्च बुद्ध्वा गदितं मया त्वं
श्रद्धत्स्व सीतां कुशलां समग्राम्॥ ३७॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः॥

हे नृपराजसिंह! आपकी सती सीता ने दुःखी हो ये सब बातें कहीं हैं। मेरे कहे हुए उनके संदेसे पर विचार कर, समस्त पति-

व्रताओं में अग्रणी सीता जी के कुशलपूर्वक होने का विश्वास कीजिये ॥ ३७ ॥

सुन्दरकाण्ड का सड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—※—

अथाहमुत्तरं देव्या पुनरुक्तः ससम्भ्रमः ।
तव स्नेहान्नरव्याघ्र सौहार्दादनुमान्य वै ॥ १ ॥

हनुमान जी कहने लगे—हे नरव्याघ्र ! सीता जी ने यह जान कर कि, मुझ पर आपका स्नेह है, शेष कार्य के सम्बन्ध में आदर पूर्वक मुझसे कहा ॥ १ ॥

एवं बहुविधं वाच्यो रामो दाशरथिस्त्वया ।
यथा मामाप्नुयाच्छीघ्रं हत्वा रावणमाहवे ॥ २ ॥

हे कपे ! तुम विविध प्रकार से दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र से समझाना जिससे वे शीघ्र युद्ध में रावण को मार मुझे मिलें ॥ २ ॥

यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिन्दम ।
कस्मिंश्चित्संवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि ॥ ३ ॥

हे वीर ! यदि तुम चाहो तो किसी गुप्त स्थान में एक दिन और टिके रहो और अपनी थकावट मिटालो । फिर कल चले जाना ॥ ३ ॥

मम चाप्यल्पभाग्यायाः सान्निध्यात्तव वानर ।
अस्य शोकविपाकस्य मुहूर्तं स्याद्विमोक्षणम् ॥ ४ ॥

हे वानर! तुम्हारे मेरे समीप रहने से मैं अभागी कुछ देर के लिये तो इस शोक से छूट जाऊँगी ॥ ४॥

गते हि त्वयि विक्रान्ते पुनरागमनाय वै ।
प्राणानामपि सन्देहो मम स्यान्नात्र संशयः ॥ ५ ॥

तुम्हारे यहाँ से वहाँ जाने और वहाँ से यहाँ फिर आने तक, निश्चय ही मुझे अपने जीवित रहने में भी सन्देह है ॥ ५ ॥

तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत् ।
दुःखाद्दुःखपराभूतां दुर्गतां दुःखभागिनीम् ॥ ६ ॥

मैं इस दुर्दशा में पड़ी हूँ और दुःख पर दुःख सह रही हूँ। अतः मैं बड़ी अभागिनी हूँ। तुम्हारे चले जाने पर अथवा तुम्हारी अनुपस्थिति में मुझे फिर बड़ा भारी दुःख होगा ॥ ६ ॥

अयं च वीर सन्देहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः ।
सुमहांस्त्वत्सहायेषु हर्यृक्षेषु हरीश्वर ॥ ७ ॥

हे वीर! मुझे एक बात का बड़ा सन्देह है कि, तुम्हारे बड़े सहायक रीछों और वानरों में ॥ ७ ॥

कथं न खलु दुष्पारं तरिष्यन्ति महोदधिम् ।
तानि हर्यृक्षसैन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ ॥ ८ ॥

कौन किस प्रकार इस दुष्पार महासागर को पार कर सकेंगे। वह रीछ वानरों की सेना अथवा वे दोनों राजकुमार किस प्रकार समुद्र को पार करेंगे ॥ ८ ॥

त्रयाणामेव भूतानां सागरस्यास्य लङ्घने ।
शक्तिः स्याद्वैनतेयस्य वायोर्वा तव वानघ ॥ ९ ॥

हे अनघ! इस समुद्र को लांघने की शक्ति तीन ही जनों में हैं। या तो गरुड़ जी में या पवन में, या तुममें ॥ ९ ॥

तदस्मिन्कार्यनियोगे वीरैवं दुरतिक्रमे।
किं पश्यसि समाधानं त्वं हि कार्यविदां वरः ॥ १० ॥

अतः हे कार्य करने वालों में श्रेष्ठ! हे वीर! तुमने इस दुष्कर कार्य के करने का क्या उपाय स्थिर किया है ॥ १० ॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने।
पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते बलोदयः ॥ ११ ॥

हे शत्रुनिहन्ता! यद्यपि तुम अकेले ही सहज में इस काम को पूरा कर सकते हो, तथापि ऐसा करने से केवल तुम्हारे यश और बल का बखान होगा ॥ ११ ॥

बलैः समग्रैर्यदि मां हत्वा रावणमाहवे।
विजयी स्वां पुरीं रामो नयेत्तत्स्याद्यशस्करम् ॥ १२ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी रावण को उसकी सारी सेना के साथ मार, एवं विजय प्राप्त कर मुझे अयोध्या ले चलें, तो उनकी नामवरी हो ॥ १२ ॥

यथाहं तस्य वीरस्य वनादुपधिना हृता।
रक्षसा तद्भयादेव तथा नार्हति राघवः ॥ १३ ॥

जैसे रावण ने श्रीरामचन्द्र के आश्रम से, उनके भय से भीत हो मुझे छलबल से हरा; उस प्रकार से मेरा यहां से उद्धार करना श्रीरामचन्द्र जी के योग्य नहीं है ॥ १३ ॥

बलैस्तु सङ्कुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः ।
मां नयेद्यदि काकुत्स्थस्तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥ १४ ॥

यदि शत्रु-सैन्य विध्वंसकारी श्रीरामचन्द्र जी अपनी सेना लाकर लङ्का को पाट दें और मुझे ले जांय, तो यह कार्य उनके स्वरूपानुरूप हो ॥ १४ ॥

तद्यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः ।
भवत्याहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय ॥ १५ ॥

जो कार्य उन युद्धशूर महात्मा के योग्य हो और उनके पराक्रम को प्रकाशित करे, तुम वैसा ही उपाय करना ॥ १५ ॥

तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्रितं हेतुसंहितम् ।
निशम्याहं ततः शेषं वाक्यमुत्तरमब्रवम् ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! इस प्रकार से नम्रता और युक्तियुक्त सीता देवी के वचन सुन, मैंने पीछे से उत्तर देते हुए कहा ॥ १६ ॥

देवि हर्यृक्षसैन्यानामीश्वरः प्लवतां वरः ।
सुग्रीवः सत्त्वसंपन्नस्तवार्थे कृतनिश्चयः ॥ १७ ॥

हे देवी ! रीछ और वानरों के अधिपति वानरश्रेष्ठ सुग्रीव बड़े पराक्रमी हैं । वे आपके उद्धार का सङ्कल्प कर चुके हैं ॥ १७ ॥

तस्य विक्रमसपन्नाः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
मनःसङ्कल्पसम्पाता निदेशे हरयः स्थिताः ॥ १८ ॥

उन सुग्रीव की आज्ञा के वश में महापराक्रमी, वीर्यवान, महाबली और इच्छागामी अनेक वानर हैं ॥ १८ ॥

तेषां नोपरि नाधस्तान्न तिर्यक्सज्जते गतिः ।
न च कर्मसु सीदन्ति महत्स्वमिततेजसः ॥ १९ ॥

क्या ऊपर, क्या अगल बगल, किसी भी ओर जाने में वे नहीं रुक सकते। वे किसी भी बड़े से बड़े काम के करने में नहीं घबड़ाते। वे अमित तेजस्वी हैं॥ १९ ॥

असकृत्तैर्महाभागैर्वानरैर्बलसंयुतैः ।
प्रदक्षिणीकृता भूमिर्वायुमार्गानुसारिभिः ॥ २० ॥

उन महाबली महाभाग वानरों ने आकाशमार्ग से गमन कर कितनी ही बार पृथिवी की परिक्रमा की है॥ २० ॥

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः ।
मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसन्निधौ ॥ २१ ॥

मेरी बराबर और मुझसे भी अधिक बली और पराक्रमी वानर वहाँ हैं। मुझसे हीनपराक्रम वाला अर्थात् कम बलवाला एक भी वानर सुग्रीव के पास नहीं है॥ २१ ॥

अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः ।
न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ॥ २२ ॥

जब मैं हीं यहाँ आ गया, तब उन महाबलियों का तो पूँछना ही क्या है? देखो, दूत बना कर छोटे ही भेजे जाते हैं, बड़े नहीं॥ २२ ॥

तदलं परितापेन देवि मन्युर्व्यपैतु ते ।
एकोत्पातेन वै लङ्कामेष्यन्ति हरियूथपाः ॥ २३ ॥

हे देवी! अब तुम सन्तप्त न हो। दीनता त्याग दो। वानर एक ही छलांग में लङ्का में आ जायँगे॥ २३ ॥

मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।
त्वत्सकाशं महाभागे नृसिंहावागमिष्यतः ॥ २४ ॥

हे महाभागे! वे दोनों पुरुषसिंह मेरी पीठ पर सवार हो उदित हुए चन्द्र और सूर्य की तरह यहाँ आ जायँगे ॥ २४ ॥

अरिघ्नं सिंहसङ्काशं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ।
लक्ष्मणं च धनुष्पाणिं लङ्काद्वारमुपस्थितम् ॥ २५ ॥

हे देवी! शत्रुहन्ता और सिंह की तरह पराक्रमी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को तुम धनुष हाथ में लिये शीघ्र ही लंका के द्वार पर आया हुआ देखोगी ॥ २५ ॥

नखदंष्ट्रायुधान्वीरान्सिंहशार्दूलविक्रमान् ।
वानरान्वारणेन्द्राभान्क्षिप्रं द्रक्ष्यसि सङ्गतान् ॥ २६ ॥

तुम नख और दांतों को आयुध बनाये सिंह और शार्दूल की तरह पराक्रमी और गजराज तुल्य वानरों को शीघ्र ही लङ्का में इकट्ठा हुआ देखोगी ॥ २६ ॥

शैलाम्बुदनिकाशानां लङ्कामलयसानुषु ।
नर्दतां कपिमुख्यानामचिराच्छ्रोष्यसि स्वनम् ॥ २७ ॥

पर्वताकार, वानर वीरों का, लंका के मलयाचल के ऊँचे कँगूरों, सिंहनाद भी तुमको शीघ्र ही सुनाई पड़ेगा ॥ २७ ॥

निवृत्तवनवासं च त्वया सार्धमरिन्दमम् ।
अभिषिक्तमयोध्यायां क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ॥ २८ ॥

तुम शीघ्र ही देखोगी कि, वनवास की अवधि पूरी कर, शत्रुदमन कारी श्रीरामचन्द्र जी तुम्हारे साथ अयोध्या के राजसिंहासन पर आसीन हैं ॥ २८ ॥

ततो मया वाग्भिरदीनभाषिणा
शिवाभिरिष्टाभिरभिप्रसादिता ।
जगाम शान्तिं मम मैथिलात्मजा
तवापि शोकेन तदाभिपीडिता ॥ २९ ॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

हे रघुनन्दन! उस समय तुम्हारे शोक से पीड़ित सीता जी इस प्रकार के शुभ और प्यारे वचनों से प्रसन्न हुईं। उनकी दीनता दूर हुई और वे शान्त हुईं ॥ २९ ॥

सुन्दरकाण्ड का अड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्

सुन्दरकाण्डः समाप्तः ॥

—※—

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

युद्धकाण्ड पूर्वार्द्ध-७

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २,०००] [मूल्य २)

युद्धकाण्ड-पूर्व

की

विषयानुक्रमणिका

विभीषण का दरबार से उठ कर चला जाना और चलते समय फिर भी रावण को हितोपदेश करना।

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ १॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥ २॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥ ३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥ ४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥ ६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम्।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम्।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम्।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:※:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुलचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

१चन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाकरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

आनाय नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

युद्धकाण्डः

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं यथावदनुभाषितम् ।
रामः प्रीतिसमायुक्तो वाक्यमुत्तरम[1]ब्रवीत् ॥ १ ॥

हनुमान जी द्वारा यथावत् कहे हुए वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रिय संवाद सुनने के अनन्तर समयोचित यह वचन बोले ॥ १ ॥

कृतं हनुमता कार्यं सुमहद्भुवि दुष्करम् ।
मनसाऽपि यदन्येन न शक्यं धरणीतले ॥ २ ॥

देखो, हनुमान जी ने ऐसा बड़ा काम किया है, जिसे इस पृथिवीतल पर तो कोई कर नहीं सकता। करना तो जहाँ तहाँ, ऐसा काम करने की इस संसार में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता ॥ २ ॥

न हि तं परिपश्यामि यस्तरेत महोदधिम् ।
अन्यत्र गरुडाद्वायोरन्यत्र च हनूमतः ॥ ३ ॥

गरुड़ जी, पवन देव और हनुमान जी को छोड़, मुझे ऐसा और कोई नहीं देख पड़ता जो महासागर के पार जा सके ॥ ३ ॥

---

१ उत्तरं—प्रियश्रवणोत्तर कालयोग्यम् । (रा०)

देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
अप्रधृष्यां पुरीं लङ्कां रावणेन सुरक्षिताम् ॥ ४ ॥

देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, उरग और राक्षस भी जिस लङ्कापुरी में नहीं पहुँच सकते, रावण द्वारा रक्षित उसी लङ्कापुरी में ॥ ४ ॥

प्रविष्टः सत्त्वमाश्रित्य श्वसन्को नाम निष्क्रमेत् ॥ ५ ॥

पहुँच, जीता हुआ वहाँ से कौन लौट सकता है ? ॥ ५ ॥

को विशेत्सुदुराधर्षां राक्षसैश्च सुरक्षिताम् ।
यो वीर्यबलसम्पन्नो न समः स्याद्धनूमतः ॥ ६ ॥

हनुमान के समान बलवान और पराक्रमी मनुष्य को छोड़ कर, ऐसा कौन है जो अकेला, उस दुर्धर्ष नगरी में, घुस भी सके, जो राक्षसों द्वारा सुरक्षित है ॥ ६ ॥

भृत्यकार्यं हनुमता सुग्रीवस्य कृतं महत् ।
एवं विधाय स्वबलं सदृशं विक्रमस्य च ॥ ७ ॥

निश्चय ही इस प्रकार अपने विक्रम के योग्य बल प्रदर्शन कर, हनुमान जी ने सुग्रीव का बड़ा भारी भृत्यकार्य (चाकरी) किया है ॥ ७ ॥

यो हि भृत्यो नियुक्तः सन्भर्त्रा कर्मणि दुष्करे ।
कुर्यात्तदनुरागेण तमाहुः पुरुषोत्तमम् ॥ ८ ॥

जो भृत्य, अपने मालिक द्वारा किसी कठिन काम को करने के लिये नियुक्त किये जाने पर, उस काम को जी लगा कर, कर डालता है, वह सर्वोत्तम सेवक कहलाता है ॥ ८ ॥

नियुक्तो यः परं कार्यं न कुर्यान्नृपतेः प्रियम् ।
भृत्यो युक्तः समर्थश्च तमाहुर्मध्यमं नरम् ॥ ९ ॥

जो भृत्य किसी एक कार्य के लिये नियुक्त किये जाने पर, अपने प्रभु (राजा) के हितकर अन्य कार्यों के उपस्थित होने पर, अपनी सामर्थ्यानुसार उन्हें पूरा नहीं करता, वह मध्यमश्रेणी का भृत्य है ॥ ९ ॥

नियुक्तो नृपतेः कार्यं न कुर्याद्यः समाहितः ।
भृत्यो युक्तः समर्थश्च तमाहुः पुरुषाधमम् ॥ १० ॥

जो भृत्य सामर्थ्यवान होकर भी प्रभु (राजा) द्वारा निर्दिष्ट कार्य को यत्नपूर्वक पूरा नहीं करता, वह अधम सेवक कहलाता है ॥ १० ॥

तन्नियोगे नियुक्तेन कृतं कृत्यं हनूमता ।
न चात्मा लघुतां नीतः सुग्रीवश्चापि तोषितः ॥ ११ ॥

परन्तु हनुमान जी ने राज्याज्ञा में नियुक्त होकर अपना कर्तव्य कार्य यथावत् पूरा किया है । इनको कहीं भी नीचा नहीं देखना पड़ा और अतः इन्होंने सुग्रीव को भी सन्तुष्ट किया है ॥ ११ ॥

अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।
वैदेह्या दर्शनेनाद्य [1]धर्मतः परिरक्षिताः ॥ १२ ॥

हनुमान जी के जानकी को देख आने से मैं तथा बलवान् लक्ष्मण तथा अन्य रघुवंशियों का धर्म बच गया, (अथवा हम सब आत्मघात रूपी महाअधर्म से बच गये) ॥ १२ ॥

---

१ धर्मतः परिरक्षिताः—धर्मेस्थापिताः । (गो०)

इदं तु मम दीनस्य मनो भूयः प्रकर्षति[1] ।
यदिहास्य प्रियाख्यातुर्न कुर्मि सदृशं प्रियम् ॥ १३ ॥

इस घड़ी मुझ दीन को एक बात बहुत सता रही है। वह यह है कि, मैं इस प्रिय संवाद देने वाले हनुमान को इस कार्य के अनुरूप कुछ भी पारितोषिक नहीं दे सकता ॥ १३ ॥

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः ।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तश्चास्तु महात्मनः ॥ १४ ॥

जो हो, इस समय, मेरा यह सर्वस्वदान रूप आलिङ्गन ही महात्मा (महाबली) हनुमान जी के कार्य के योग्य पुरस्कार हो ॥१४॥

इत्युक्त्वा प्रीतिहृष्टाङ्गो रामस्तं परिषस्वजे ।
हनूमन्तं महात्मानं कृतकार्यमुपागतम् ॥ १५ ॥

महात्मा (महाबली) और काम पूरा कर के आये हुए हनुमान जी से यह कह कर और प्रीति-पुलकित शरीर से, श्रीरामचन्द्र जी ने हनुमान जी को अपने गले लगा लिया ॥ १५ ॥

ध्यात्वा पुनरुवाचेदं वचनं रघुसत्तमः ।
हरीणामीश्वरस्यैव सुग्रीवस्योपशृण्वतः ॥ १६ ॥

तदनन्तर रघुवंशियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी कुछ देर तक सोच कर, कपिराज सुग्रीव के सामने फिर यह वचन बोले ॥ १६ ॥

सर्वथा सुकृतं तावत्सीतायाः परिमार्गणम् ।
सागरं तु समासाद्य पुनर्नष्टं मनो मम ॥ १७ ॥

---

[1] प्रकर्षति—व्याकुलयति, सन्तापयति । (गो०)

सीता के ढूंढ़ने का कार्य यद्यपि सब प्रकार से पूरा हो चुका है, तथापि जब मैं समुद्र को देखता हूँ, तब मेरा मन हतोत्साह हो जाता है ॥ १७ ॥

कथं नाम समुद्रस्य दुष्पारस्य महाम्भसः ।
हरयो दक्षिणं पारं गमिष्यन्ति समाहिताः ॥ १८ ॥

बड़ी कठिनाई से पार होने योग्य महासागर के दक्षिण तट पर, ये वानरगण क्यों कर जा सकेंगे ॥ १८ ॥

यद्यप्येष तु वृत्तान्तो वैदेह्या गदितो मम ।
समुद्रपारगमने हरीणां किमिवोत्तरम् ॥ १९ ॥

यद्यपि सीता का सन्देस मुझे मिल गया, तथापि अब इसके आगे वानरों को समुद्र पार पहुँचाने का क्या उपाय किया जाय ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा शोकसंभ्रान्तो रामः शत्रुनिवर्हणः ।
हनुमन्तं महाबाहुस्ततो ध्यानमुपागमत् ॥ २० ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

शत्रुहन्ता एवं शोकसन्तप्त महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी हनुमान जी से इस प्रकार कह कर, फिर सोचने लगे ॥ २० ॥

युद्धकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्वितीयः सर्गः

—※—

तं तु [1]शोकपरिद्यूनं रामं दशरथात्मजम् ।
उवाच वचनं श्रीमान्सुग्रीवः शोकनाशनम् ॥ १ ॥

शोकसन्तप्त दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी से, श्रीमान् सुग्रीव ने, शोक को दूर करने वाले ये वचन कहे ॥ १ ॥

किं त्वं सन्तप्यसे वीर यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ।
मैवं भूस्त्यज सन्तापं कृतघ्न इव सौहृदम् ॥ २ ॥

हे वीर ! तुम एक क्षुद्र जन की तरह क्यों सन्तप्त होते हो। ऐसा मत करो और सन्ताप को वैसे ही छोड़ दो, जैसे कृतघ्नजन मैत्री त्याग देते हैं ॥ २ ॥

सन्तापस्य च ते स्थानं न हि पश्यामि राघव ।
प्रवृत्तावुपलब्धायां ज्ञाते च निलये रिपोः ॥ ३ ॥

हे राघव ! तुम्हारे सन्तप्त होने का कोई कारण मुझे नहीं देख पड़ता। क्योंकि सीता का हाल मिल गया और वैरी के निवासस्थान का भी पता चल गया ॥ ३ ॥

[2]मतिमाञ्शास्त्र[3]वित्प्राज्ञः पण्डितश्चासि राघव ।
त्यजेमां[4]पापिकां बुद्धिं [5]कृतात्मेवात्मदूषणीम्[6] ॥ ४ ॥

---

१ शोकपरिद्यूनं—शोकपरितप्तं । (गो०) २ मतिमान्—आगामिगोचर ज्ञानवान् । (गो०) ३ शास्त्रवित्—नीतिशास्त्रज्ञः (गो०) ४ पापिकां—अनुत्साहकारिणीम् (गो०) ५ कृतात्मा—योगी । (गो०) ६ आत्मदूषणीम्—मोक्षरूपपुरुषार्थनिवर्तिकां । (गो०)

हे रघुनन्दन ! तुम तो आगे होने वाली घटनाओं के जानने वाले, नीतिशास्त्रज्ञ और पण्डित हो। अतः आप इस अनुत्साह कारिणी बुद्धि को वैसे ही त्याग दो, जैसे योगी लोग मोक्ष में बाधा डालने वाली बुद्धि को त्याग देते हैं ॥ ४ ॥

समुद्रं लङ्घयित्वा तु महानक्रसमाकुलम् ।
लङ्कामारोहयिष्यामो हनिष्यामश्च ते रिपुम् ॥ ५ ॥

हे राम ! हम लोग बड़े बड़े मगरों से भरे हुए समुद्र को लाँघ और लङ्का पर चढ़ जायँगे और तुम्हारे शत्रु को मार डालेंगे ॥ ५ ॥

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ॥ ६ ॥

देखिये, उत्साहशून्य, दीन और शोक से विकल मनुष्य के समस्त कार्य नष्ट हो जाते हैं और इसलिये उसे बड़ा दुःख भोगना पड़ता है ॥ ६ ॥

इमे शूराः समर्थाश्च सर्वे नो हरियूथपाः ।
त्वत्प्रियार्थं कृतोत्साहाः प्रवेष्टुमपि पावकम् ॥ ७ ॥

ये समस्त वीर और समर्थ वानर यूथपति तुम्हारी प्रसन्नता के लिये आग में भी कूद पड़ने को भी उत्साहित हो रहे हैं ॥ ७ ॥

एषां हर्षेण जानामि तर्कश्चास्ति दृढो मम ।
विक्रमेण समानेष्ये सीतां हत्वा यथा रिपुम् ॥ ८ ॥

मैंने इन लोगों के प्रसन्नवदन का भाव तड़ कर, इस प्रकार का दृढ़ निश्चय किया है। मैं पराक्रम से शत्रुओं को मार कर, सीता को ले आऊँगा ॥ ८ ॥

रावणं पापकर्माणं तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।
सेतुरत्र यथा वध्येद्यथा पश्येम तां पुरीम् ॥ ९ ॥

तुम भी ऐसा करो जिससे समुद्र पर पुल बांधा जाय और जिससे हम लङ्का में पहुँच उस पापी रावण को देख लें ॥ ९ ॥

तस्य राक्षसराजस्य तथा त्वं कुरु राघव ।
दृष्ट्वा तां तु पुरीं लङ्कां त्रिकूटशिखरे स्थिताम् ॥ १० ॥

हे राघव ! तुम ऐसा करो जिससे त्रिकूटपर्वत के शिखर पर बसी हुई उस राक्षसराज की लङ्का हम देख सकें ॥ १० ॥

हतं च रावणं युद्धे दर्शनादुपधारय ।
अबद्ध्वा सागरे सेतुं घोरे तु वरुणालये ॥ ११ ॥

जहाँ हमने लङ्का देखी वहां तुम रावण को मरा ही समझ लेना । उस घोर वरुणालय समुद्र पर पुल बांधे बिना तो ॥ ११ ॥

लङ्का नो मर्दितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
सेतुर्बद्धः समुद्रे च यावल्लङ्कासमीपतः ॥ १२ ॥

इन्द्र सहित देवताओं अथवा दैत्यों के लिये भी लङ्का में पहुँचना असम्भव है । बस लङ्का तक पुल बंधने ही की देर है । पुल बंधते ॥ १२ ॥

सर्वं तीर्णं च मे सैन्यं जितमित्युपधार्यताम् ।
इमे हि समरा शूरा हरयः कामरूपिणः ॥ १३ ॥

ही, मेरी सेना तो तुरन्त ही पार हो जायगी और जब सेना पार होगयी, तब अपनी जीत भी निस्सन्देह ही समझ लेनी चाहिये ।

ये सब वानर युद्ध में बड़े शूर और इच्छानुसार रूप धारण करने वाले हैं ॥ १३ ॥

शक्ता लङ्कां समानेतुं समुत्पाट्य सराक्षसाम् ।
तदलं विक्लवा बुद्धी राजन्सर्वार्थनाशिनी ॥ १४ ॥

हे राजन् ! इन वानरों में इतनी सामर्थ्य है कि, ये लोग राक्षसों सहित लङ्का को उखाड़ कर यहाँ उठा ला सकते हैं। अतएव तुम समस्त अर्थों को नाश करने वाली कादर बुद्धि को त्याग दो ॥ १४ ॥

पुरुषस्य हि लोकेऽस्मिञ्शोकः शौर्यापकर्षणः ।
यत्तु कार्यं मनुष्येण शौण्डीर्यमवलम्बता ॥ १५ ॥

क्योंकि शोक मनुष्य के शौर्य को नष्ट कर डालता है और जो काम शूरता का अवलम्बन कर के किया जाता है, वह पूर्ण होता है ॥ १५ ॥

अस्मिन्काले महाप्राज्ञ सत्त्वमातिष्ठ तेजसा ।
शूराणां हि मनुष्याणां त्वद्विधानां महात्मनाम् ॥ १६ ॥
विनष्टे वा प्रनष्टे वा क्षमं न ह्यनुशोचितुम् ।
त्वं तु बुद्धिमतां श्रेष्ठः सर्वशास्त्रार्थकोविदः ॥ १७ ॥

अतः हे महाप्राज्ञ ! शूर लोगों को जो करना योग्य है इस समय तुम वही करो। तुम अपने तेज का सहारा लो। क्योंकि तुम जैसे धैर्यवान और शूर मनुष्य को तो, अभीष्ट वस्तु के नष्ट हो जाने अथवा विध्वंस हो जाने पर भी कभी चिन्तित अथवा शोकान्वित नहीं होना चाहिये। तुम बुद्धिमानों में श्रेष्ठ और सर्वशास्त्रकोविद हो ॥ १६ ॥ १७ ॥

मद्विधैः सचिवैः सार्धमरिं जेतुमिहार्हसि ।
न हि पश्याम्यहं कश्चित्त्रिषु लोकेषु राघव ॥ १८ ॥

फिर मुझ जैसे मंत्रियों की सहायता से तुम वैरी को नाश कर सकोगे। हे राम! मुझे तो त्रिलोकी में ऐसा कोई देख नहीं पड़ता ॥ १८ ॥

गृहीतधनुषो यस्ते तिष्ठेदभिमुखो रणे ।
वानरेषु समासक्तं न ते कार्यं विपत्स्यते ॥ १९ ॥

जो युद्धक्षेत्र में उस समय तुम्हारा सामना कर सके, जिस समय तुम हाथ में धनुष लेकर खड़े हो जाओ। फिर तुम जो काम वानरों को सौंपोगे वह कार्य कभी न बिगड़ने पायेगा ॥ १९ ॥

अचिराद्द्रक्ष्यसे सीतां तीर्त्वा सागरमक्षयम् ।
तदलं शोकमालम्ब्य क्रोधमालम्ब भूपते ॥ २० ॥

इस अनन्त-सागर के पार जा तुम शीघ्र ही सीता को देखोगे। अतः हे राजन्! अब तुम शोक त्याग कर क्रोध धारण करो अथवा यह समय शोक का नहीं बल्कि क्रोध करने का है ॥ २० ॥

निश्चेष्टाः क्षत्रिया मन्दाः सर्वे चण्डस्य बिभ्यति ।
लङ्घनार्थं च घोरस्य समुद्रस्य नदीपतेः ॥ २१ ॥

क्योंकि जो क्षत्रिय होकर उद्यमहीन होता है वह कभी सौभाग्यवान् नहीं हो सकता। फिर जो क्रोधी होता है, उससे सभी डरते हैं। सो तुम इस भयङ्कर नदियों के पति समुद्र को पार करने के लिये ॥ २१ ॥

सहास्माभिरिहोपेतः सूक्ष्मबुद्धिर्विचारय ।
सर्वं तीर्णं च मे सैन्यं जितमित्युपधारय ॥ २२ ॥

हम लोगों के साथ परामर्श कर सूक्ष्म बुद्धि से कोई उपाय सोचना चाहिये। यह आप निश्चय जान लें कि, ज्यों ही हमारी समस्त सेना उस पार पहुँची, त्योंही शत्रु परास्त हुआ ॥ २२ ॥

इमे हि समरे शूराः हरयः कामरूपिणः ।
तानरीन्विधमिष्यन्ति शिलापादपवृष्टिभिः ॥ २३ ॥

ये समस्त वानर, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले और युद्ध में बड़े शूरवीर हैं। ये पत्थरों और पेड़ों की वर्षा कर शत्रुओं को मार डालेंगे ॥ २३ ॥

कथञ्चित्सन्तरिष्यामस्ते वयं वरुणालयम् ।
हतमित्येव तं मन्ये युद्धे समितिनन्दन ॥ २४ ॥

हे रणप्रिय! मेरे मन में तो यह बात आती है कि, हम लोग किसी न किसी तरह समुद्र पार हो ही जायँगे और समुद्र पार होते ही शत्रु का नाश करते हमें देर भी न लगेगी ॥ २४ ॥

किमुक्त्वा बहुधा चापि सर्वथा विजयी भवान् ।
निमित्तानि च पश्यामि मनो मे संप्रहृष्यति ॥ २५ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे राम! अब मैं अधिक और क्या कहूँ। आप सब प्रकार से विजयी होंगे। क्योंकि इस समय मैं जो शुभ शकुन देख रहा हूँ इससे जान पड़ता है कि, आगे चल कर कोई हर्षोत्पादक कार्य होने वाला है अथवा इस समय शुभ शकुन हो रहे हैं और मेरा मन अत्यन्त हर्षित हो रहा है ॥ २५ ॥

युद्धकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ।

—*—

तृतीयः सर्गः

—※—

सुग्रीवस्य वचः श्रुत्वा हेतुमत्परमार्थवित् ।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

परमार्थ के जानने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव के युक्तियुक्त वचन सुन उन सब को अङ्गीकार किया और हनुमान जी से कहा ॥ १ ॥

तपसा सेतुबन्धेन सागरोच्छोषणेन वा ।
सर्वथा सुसमर्थोऽस्मि सागरस्यास्य लङ्घने ॥ २ ॥

हे हनुमन्! अपने तपोबल से, अथवा समुद्र पर पुल बांध कर अथवा समुद्र के जल को सुखा कर, मैं तो हर प्रकार से समुद्र के पार जाने में समर्थ हूँ ॥ २ ॥

कति दुर्गाणि [1]दुर्गाया लङ्काया ब्रूहि तानि मे ।
ज्ञातुमिच्छामि तत्सर्वं दर्शनादिव वानर ॥ ३ ॥

परन्तु अब तुम मुझे यह बतलाओ कि, लङ्का में दुर्गम दुर्ग कितने हैं। हे वानर! मैं उनका वर्णन ऐसा सुनना चाहता हूँ, मानों मैं उनको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। अथवा तुम उन दुर्गों का ऐसा वर्णन करो जिससे मुझे वे प्रत्यक्ष सरीखे देख पड़ें ॥ ३ ॥

बलस्य परिमाणं च द्वारदुर्गक्रियामपि ।
गुप्तिकर्म च लङ्कायां राक्षसां सदनानि च ॥ ४ ॥

---

१ दुर्गाया—दुष्प्रापायाः (गो०)

लङ्का में सेना कितनी है? लङ्का के दुर्गद्वार किस प्रकार के साधनों से सुरक्षित हैं? उनकी सुरक्षा के लिये जो परकोटे अथवा खाइयाँ बनी हैं वे कैसी हैं और राक्षसों के घर कैसे हैं? ॥ ४ ॥

[1]यथासुखं यथावच्च लङ्कायामसि दृष्टवान्।
सर्वमाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वथा कुशलो ह्यसि ॥ ५ ॥

तुम देखने और वर्णन करने में चतुर हो। अतएव लङ्का में जो कुछ तुम देख आये हो वह सब निर्भीक होकर मेरे सामने यथार्थ कहो ॥ ५ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं हनूमान्मारुतात्मजः।
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठो रामं पुनरथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

वाक्यविशारदों में श्रेष्ठ पवनतनय हनुमान जी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, उनसे फिर कहने लगे ॥ ६ ॥

श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये दुर्गकर्मविधानतः।
गुप्ता पुरी यथा लङ्का रक्षिता च यथा बलैः ॥ ७ ॥

हे राजन्! वह लङ्का जिस प्रकार परकोटे, खाइयों तथा राक्षस सेना से रक्षित है, वह सब मैं कहता हूँ, सुनिये ॥ ७ ॥

राक्षसाश्च यथा [2]स्निग्धा रावणस्य च तेजसा।
परां समृद्धिं लङ्कायाः सागरस्य च भीमताम् ॥ ८ ॥

विभागं च बलौघस्य [3]निर्देशं वाहनस्य च।
एवमुक्त्वा हरिश्रेष्ठः कथयामास तत्त्वतः ॥ ९ ॥

---

१ यथासुखं—निश्शङ्कं। (गो०) २ स्निग्धा—स्वामिनिभक्ताः। (गो०)
३ निर्देशः—संख्या तं। (गो०)

वहाँ के राक्षस जैसे स्वामि-भक्त हैं, राक्षसराज रावण का जैसा प्रताप है, लङ्का की जैसी समृद्धि है, समुद्र की जैसी भयङ्करता है, सेनाएँ विभक्त होकर, जिस प्रकार वे लङ्का की रक्षा कर रही हैं और वहाँ के वाहनों की जितनी संख्या है—सो सब मैं कहता हूँ। यह कह कर, हनुमान जी ने सब वृत्तान्त यथार्थरीत्या कह दिया ॥ ८ ॥ ९ ॥

[1]हृष्टा प्रमुदिता लङ्का मत्तद्विपसमाकुला ।
महती रथसम्पूर्णा रक्षोगणसमाकुला ॥ १० ॥

लङ्का अत्यन्त हर्षित जनों से भरी पूरी है। उसमें मतवाले हाथी भरे हुए हैं। बड़े बड़े रथों से भरी पूरी है और राक्षसों से परिपूर्ण है ॥ १० ॥

वाजिभिश्च सुसम्पूर्णा सा पुरी दुर्गमा परैः ।
दृढबद्धकवाटानि महापरिघवन्ति च ॥ ११ ॥

वह घोड़ों से भरी है और शत्रु के लिये दुर्गम है। उसके फाटकों में बड़े मज़बूत किवाड़ लगे हुए हैं और फाटक बंद करने को बड़े बड़े परिघ (बेंड़े) हैं ॥ ११ ॥

चत्वारि विपुलान्यस्या द्वाराणि सुमहन्ति च ।
[2]तत्रेषूपलयन्त्राणि बलवन्ति महान्ति च ॥ १२ ॥

उस पुरी में बहुत बड़े और विशाल चार द्वार हैं। उन द्वारों पर बड़े बलवान और बड़े बड़े इषूपल नामक यंत्र लगे हैं ॥ १२ ॥

[इषूपल नामक एक प्रकार की तोपें थीं। इन तोपों से गोले के बजाय शत्रु सैन्य पर तीरों और पत्थरों की वर्षा की जाती थी।]

---

१ हृष्टा प्रमुदिता—अत्यन्त हृष्टजना। (गो०) २ इषूपलयंत्राणि—शरशिला क्षेपक यंत्राणि। (गो०)

आगतं प्रतिसैन्यं तैस्तत्र प्रतिनिवार्यते ।
द्वारेषु संस्कृता भीमाः कालायसमयाः शिताः ॥ १३ ॥
शतशो रचिता वीरैः शतघ्न्यो रक्षसां गणैः ।
सौवर्णश्च महांस्तस्याः प्राकारो दुष्प्रधर्षणः ॥ १४ ॥

इनके द्वारा शत्रु की आक्रमणकारी सेना मार कर भगा दी जाती है। द्वारों पर पैनी और लोहे की बनी सैकड़ों शतघ्नी राक्षसों ने बना कर, सजा रक्खी हैं। उस लङ्का का परकोटा सुवर्णमय और बड़ा दुर्धर्ष है ॥ १३ ॥ १४ ॥

मणिविद्रुमवैडूर्यमुक्ताविरचितान्तरः ।
सर्वतश्च महाभीमाः शीततोयवहाः शुभाः ॥ १५ ॥

वह भीतर से मणियों, मूँगों, पन्नों और मोतियों से बनी हुई है। उसके चारों ओर बड़ी भयङ्कर और ठंढे स्वच्छ जल से युक्त ॥ १५ ॥

अगाधा ग्राहवत्यश्च परिखा मीनसेविताः ।
द्वारेषु तासां चत्वारः [1]संक्रमाः परमायताः ॥ १६ ॥

अगाध खाई हैं, जिनमें बड़े बड़े मगर और मछलियाँ रहा करती हैं। उसके चारों द्वारों पर चार बड़े लंबे चौड़े लकड़ी के पुल ॥ १६ ॥

यन्त्रैरुपेता बहुभिर्महद्भिर्गृहपङ्क्तिभिः ।
त्रायन्ते संक्रमास्तत्र परसैन्यागमे सति ॥ १७ ॥

जिनके ऊपर बड़ी बड़ी कलें लगी हुई हैं और उनके पास ही उन कलों को चलाने वाले राक्षस सैनिकों की बारकों की पंक्तियाँ हैं। इन्हींसे शत्रु सैन्य के आक्रमण से नगरी की रक्षा की जाती है ॥ १७ ॥

---

1 संक्रमाः—दारुफलक निर्मित सञ्चारमार्गाः। (गो०)

यन्त्रैस्तैरवकीर्यन्ते परिखासु समन्ततः ।
एकस्त्वकम्प्यो बलवान्संक्रमः सुमहान्दृढः ॥ १८ ॥

वहाँ जो कलें रखी हैं उनको घुमाते ही खाई का जल चारों ओर बढ़ने लगता है और इस जल की बाढ़ से शत्रु सेना डूब जाती है। इन चार पुलों में से एक पुल सब से अधिक मज़बूत है। वह ज़रा भी हिलता डुलता नहीं ॥ १८ ॥

काञ्चनैर्बहुभिः स्तम्भैर्वेदिकाभिश्च शोभितः ।
स्वयं [1]प्रकृतिसम्पन्नो युयुत्सू राम रावणः ॥ १९ ॥

उसके ऊपर बहुत से सोने के खंभे और चबूतरे बने हुए हैं। हे राम! रावण आज कल द्यूतादिव्यसनों से मुँह मोड़ कर, युद्ध के लिये कमर कसे तैयार है ॥ १९ ॥

उत्थितश्चाप्रमत्तश्च बलानामनुदर्शने ।
लङ्का पुनर्निरालम्बा देवदुर्गा भयावहा ॥ २० ॥

वह सदा जागरूक रहता है और बड़ी सावधानी से सेना की देख रेख किया करता है। लङ्का एक ऐसे पहाड़ के ऊपर है जो सीधा खड़ा हुआ है, अर्थात् उस पर चढ़ने का रास्ता नहीं है। वह देवताओं के दुर्ग की तरह नितान्त दुर्गम है ॥ २० ॥

नादेयं पार्वतं वान्यं कृत्रिमं च चतुर्विधम् ।
स्थिता पारे समुद्रस्य दूरपारस्य राघव ॥ २१ ॥

लङ्का में नदीदुर्ग, गिरिदुर्ग, वनदुर्ग और चौथे कृत्रिम दुर्ग हैं। हे राघव! समुद्र के उस पार बहुत दूर तक लङ्का बसी हुई है ॥ २१ ॥

---

१ प्रकृतिसम्पन्नः—द्यूतादिव्यसन रूप विचार रहितः । (गो०)

नौपथोऽपि च नास्त्यत्र निरादेशश्च सर्वतः ।
शैलाग्रे रचिता दुर्गा सा पूर्देवपुरोपमा ॥ २२ ॥

वहाँ न तो नाव की गति है और न वहाँ का हाल ही किसी को मिल सकता है। वह पर्वत के शिखर पर दुर्धर्ष बनी हुई है और इन्द्रपुरी की तरह शोभायमान है ॥ २२ ॥

वाजिवारणसम्पूर्णा लङ्का परमदुर्जया ।
परिखाश्च शतघ्न्यश्च यन्त्राणि विविधानि च ॥ २३ ॥

घोड़े हाथियों से भरी पूरी लङ्का परम दुर्जेय है। क्योंकि उसके चारों ओर खाई है और शतघ्नी तथा विविध प्रकार के यंत्रों ॥ २३ ॥

शोभयन्ति पुरीं लङ्कां रावणस्य दुरात्मनः ।
अयुतं रक्षसामत्र पूर्वद्वारं समाश्रितम् ॥ २४ ॥

से दुरात्मा रावण की लङ्का शोभित है। लङ्का के पूर्वद्वार पर दस हज़ार राक्षस रहते हैं ॥ २४ ॥

शूलहस्ता दुराधर्षाः सर्वे खड्गाग्रयोधिनः ।
नियुतं रक्षसामत्र दक्षिणद्वारमाश्रितम् ॥ २५ ॥

उन लोगों के हाथ में त्रिशूल रहता है। ये बड़े दुर्धर्ष हैं और सब के सब तलवारों से लड़ने वाले हैं। दक्षिणद्वार पर एक लाख राक्षस सैनिक रहते हैं ॥ २५ ॥

चतुरङ्गेण सैन्येन योधास्तत्राप्यनुत्तमाः ।
प्रयुतं रक्षसामत्र पश्चिमद्वारमाश्रितम् ॥ २६ ॥

इनके साथ चतुरङ्गिणी सेना रहती है और जो और सैनिक वहाँ हैं, वे भी बड़े प्रवीण लड़ने वाले हैं। दस लाख राक्षस पश्चिम द्वार पर रहते हैं ॥ २६ ॥

चर्मखड्गधराः सर्वे तथा सर्वास्त्रकोविदाः ।
न्यर्बुदं रक्षसामत्र उत्तरद्वारमाश्रितम् ॥ २७ ॥

ये सब ढाल तलवार धारी हैं और सब अस्त्रों के चलाने में प्रवीण हैं । एक अरब राक्षस उत्तर द्वार पर रहते हैं ॥ २७ ॥

रथिनश्चाश्ववाहाश्च [1]कुलपुत्राः सुपूजिताः ।
शतशोऽथ सहस्राणि [2]मध्यमं स्कन्धमाश्रिताः ॥ २८ ॥

इनमें वहुत से रथी, वहुत से घुड़सवार और कितने ही विश्वसनीय रावण के कृपापात्र नौकर हैं । नगर के वीच में सैकड़ों सहस्रों सैनिकों की छावनी है ॥ २८ ॥

यातुधाना दुराधर्षाः साग्रकोटिश्च रक्षसाम् ।
ते मया संक्रमा भग्नाः परिखाश्चावपूरिताः ॥ २९ ॥

उनमें से एक करोड़ से ऊपर वड़े दुर्धर्ष राक्षस सैनिक हैं । हे राम ! मैंने (खाई पार करने के) पुलों को तोड़ डाला है और खाई पाट दी है ॥ २९ ॥

दग्धा च नगरी लङ्का प्राकाराश्चावसादिताः ।
बलैकदेशः क्षपितो राक्षसानां [3]महात्मनाम् ॥ ३० ॥

मैंने लङ्का जला डाली है और लङ्का का परकोटा गिरा दिया है । मैंने महाकायवाले राक्षसों की एक चौथियायी सेना मार डाली है ॥ ३० ॥

---

१ कुलपुत्राः—विश्वसनीयाः । (गो०) २ मध्यमंस्कन्धम्—नगरमध्यमस्थानं । (गो०) ३ महात्मना—महाकायानां । (गो०)

येन केन च मार्गेण तराम वरुणालयम् ।
हतेति नगरी लङ्का वानरैरवधार्यताम् ॥ ३१ ॥

अब किसी प्रकार समुद्र को पार करना चाहिये और ज्यों ही समुद्र के पार पहुँचे कि, समझ लीजिये लङ्का वानरों द्वारा फतह हुई ॥ ३१ ॥

अङ्गदो द्विविदो मैन्दो जाम्बवान्पनसो नलः ।
नीलः सेनापतिश्चैव बलशेषेण किं तव ॥ ३२ ॥

अङ्गद, द्विविद, मैन्द, जाम्बवान, पनस, नल और सेनापति नील ही वहाँ के लिये पर्याप्त हैं और सैना का काम ही क्या है ॥ ३२ ॥

प्लवमाना हि गत्वा तां रावणस्य महापुरीम् ।
सपर्वतवनां भित्वा सखातां सप्रतोरणाम् ।
सप्राकारां सभवनामानयिष्यन्ति राघव ॥ ३३ ॥

ये सब समुद्र को लाँघ कर उस पार जा पहुँचेंगे तथा पर्वतों, वनों, खाइयों, तोरणद्वारों, परकोटों और भवनों को उजाड़ पुजाड़ कर, सीता को ले आवेंगे ॥ ३३ ॥

एवमाज्ञापय क्षिप्रं बलानां सर्वसंग्रहम् ।
मुहूर्तेन तु युक्तेन प्रस्थानमभिरोचय ॥ ३४ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

हे राम ! अब आप बड़े बड़े सेनापतियों को ऐसी आज्ञा दे कर, शीघ्र ही शुभ मुहूर्त में यात्रा कीजिये ॥ ३४ ॥

युद्धकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुर्थः सर्गः

—※—

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं यथावदनु[1]पूर्वशः ।
ततोऽब्रवीन्महातेजा[2] रामः [3]सत्यपराक्रमः ॥ १ ॥

अमोघ-विक्रम-सम्पन्न और महाबली श्रीरामचन्द्र जी हनुमान जी की क्रम-पूर्वक कही हुई बातों को सुन कर, बोले ॥ १ ॥

यां निवेदयसे लङ्कां पुरीं भीमस्य रक्षसः ।
क्षिप्रमेनां मथिष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २ ॥

हे हनुमन्! तुमने भयङ्कर राक्षस की जिस लङ्का का वृत्तान्त कहा है, मैं तुमसे सत्य सत्य कहता हूँ कि, उसको मैं शीघ्र ही नष्ट करूँगा ॥ २ ॥

अस्मिन्मुहूर्ते सुग्रीव प्रयाणमभिरोचये ।
युक्तो मुहूर्तो विजयः प्राप्तो मध्यं दिवाकरः ॥ ३ ॥

हे सुग्रीव! इसी मुहूर्त में युद्ध यात्रा करना मुझे अच्छा जान पड़ता है। क्योंकि सूर्य भगवान् मध्य आकाश में आगये हैं। इसलिये यह अभिजित् नामक विजय का मुहूर्त है ॥ ३ ॥

अस्मिन्मुहूर्ते विजये प्राप्ते मध्यं दिवाकरे ।
सीतां हृत्वा तु मे जातु क्वाऽसौ यास्यति यास्यतः ॥ ४ ॥

---

१ अनुपूर्वशः—अनुक्रमेण । (रा०) २ महातेजाः—महाबलः । (गो०)
३ सत्यपराक्रमः—अमोघविक्रमः । (गो०)

सूर्य भगवान् के मध्य आकाशवर्ती होने पर, अभिजित मुहूर्त में यात्रा कर, मैं उस राक्षस से सीता को छीन कर ले आऊँगा। वह राक्षस अब जा ही कहाँ सकता है ॥ ४ ॥

सीता श्रुत्वाऽभियानं मे आशामेष्यति जीविते ।
जीवितान्तेऽमृतं स्पृष्ट्वा पीत्वा विषमिवातुरः ॥ ५ ॥

हम लोगों की युद्धयात्रा का हाल सुन कर, सीता को अपने जीवन की वैसी ही आशा होगी, जैसी कि, विषपान किये और जीवन से निराश, किसी मरते हुए मनुष्य को, अमृत मिल जाने से होती है ॥ ५ ॥

उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते ।
अभिप्रयाम सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः ॥ ६ ॥

आज उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र है, कल हस्त नक्षत्र से इसका योग होगा। अतः हे सुग्रीव! चलो, हम सब सेना को साथ ले रवाना हो जाँय ॥ ६ ॥

निमित्तानि च धन्यानि यानि प्रादुर्भवन्ति च ।
निहत्य रावणं सीतामानयिष्यामि जानकीम् ॥ ७ ॥

जो शुभ शकुन वतलाये जाते हैं वे भी हो रहे हैं, जिससे प्रकट होता है कि, हम रावण को मार कर, जानकी को ले आवेंगे ॥ ७ ॥

उपरिष्टाद्धि नयनं स्फुरमाणमिदं मम ।
विजयं समनुप्राप्तं शंसतीव मनोरथम् ॥ ८ ॥

देखो मेरी दहिनी आँख के ऊपर का पलक बराबर फड़क कर मानों मुझसे कह रहा है कि, तुम्हारा विजय समीप है और तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होने वाला है ॥ ८ ॥

ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन च पूजितः[1]।
उवाच रामो धर्मात्मा पुनरप्यर्थकोविदः ॥ ९ ॥

यह सुन कपिराज सुग्रीव और लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र जी के इन युक्तियुक्त वचनों की प्रशंसा की। तदनन्तर नीति-शास्त्र-निपुण धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र फिर कहने लगे ॥ ९ ॥

अग्रे यातु बलस्यास्य नीलो मार्गमवेक्षितुम्।
वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ॥ १० ॥

मार्ग देखने के लिये सब से आगे नील जांय और इनके साथ एक लाख बलवान वानर जांय ॥ १० ॥

फलमूलवता नील शीतकाननवारिणा।
पथा मधुमता चाशु सेनां सेनापते नय ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने नील से कहा—हे नील! तुम ऐसे मार्ग से सेना ले चलो, जहाँ फल मूल मिलें, शीतल जल भरा हो और जहाँ मधु हो ॥ ११ ॥

दूषयेयुर्दुरात्मानः पथि मूलफलोदकम्।
राक्षसाः परिरक्षेथास्तेभ्यस्त्वं नित्यमुद्यतः ॥ १२ ॥

(एक बात से सावधान रहना वह यह कि,) कहीं दुष्ट राक्षस रास्ते के मूल, फल और जल को विष मिला कर दूषित न कर डालें। राक्षसों से सदा सावधान रहना ॥ १२ ॥

निम्नेषु गिरिदुर्गेषु वनेषु च वनौकसः।
अभिप्लुत्याभिपश्येयुः परेषां निहितं बलम् ॥ १३ ॥

---

1 पूजितः—युक्तमिति श्लाघितः। (गो०)

वानर छलांग मार कर टेकरों तथा वृक्षादि के ऊपर चढ़ कर भली भाँति देखें कि, कहीं गढ़ों में, गिरिदुर्गों में और वनों में शत्रु-सेना तो घात लगाये नहीं छिपी बैठी है ॥ १३ ॥

यच्च फल्गु वलं किञ्चित्तदत्रैवोपयुज्यताम् ।
एतद्धि कृत्यं घोरं नो विक्रमेण प्रयुध्यताम् ॥ १४ ॥

हमारी इस सेना में जो बालक बूढ़े हों, या कमज़ोर हों, उनको यहीं छोड़ दो, क्योंकि मेरी यह लङ्का की चढ़ाई बड़ी विकट होगी। अतः वहाँ ऐसे सैनिक जाने चाहिये, जो बलवान और पराक्रमी हों ॥ १४ ॥

सागरौघनिभं भीममग्रानीकं महावलाः ।
कपिसिंहाः प्रकर्षन्तु शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १५ ॥

ये सैकड़ों हज़ारों महाबलवान् कपिसिंह, समुद्र के समान विशाल और भयङ्कर सेना को साथ ले कर चलें ॥ १५ ॥

गजश्च गिरिसङ्काशो गवयश्च महावलः ।
गवाक्षश्चाग्रतो यान्तु वाहिन्या वानरर्षभाः ॥ १६ ॥

पर्वत के समान शरीर वाला गज, महाबली गवय और गवाक्ष सेना के आगे आगे चलें ॥ १६ ॥

यातु वानरवाहिन्या वानरः प्लवतांवरः ।
पालयन्दक्षिणं पार्श्वमृषभो वानरर्षभः ॥ १७ ॥

कूदने वालों में श्रेष्ठ और वानरश्रेष्ठ ऋषभ वानरी सेना के दक्षिण भाग की रक्षा करता हुआ, वानरी सेना के साथ चले ॥ १७ ॥

गन्धहस्तीव दुर्धर्षस्तरस्वी गन्धमादनः ।
यातु वानरवाहिन्याः सव्यं पार्श्वमधिष्ठितः ॥ १८ ॥

मतवाले हाथी की तरह दुर्जेय वेगवान् गन्धमादन सेना के बाएँ भाग की रक्षा करता हुआ वानरी सेना के साथ चले ॥ १८ ॥

यास्यामि बलमध्येऽहं बलौघमभिहर्षयन् ।
अधिरुह्य हनूमन्तमैरावतमिवेश्वरः ॥ १९ ॥

मैं हनुमान के कंधे पर सवार हो, ऐरावत हाथी पर चढ़े हुए इन्द्र की तरह, सेना के मध्यभाग में रह कर और सेना को हर्षित अथवा उत्साहित करता हुआ चलूँगा ॥ १९ ॥

अङ्गदेनैष संयातु लक्ष्मणश्चान्तकोपमः ।
सार्वभौमेन भूतेशो द्रविणाधिपतिर्यथा ॥ २० ॥

अङ्गद के कंधे पर सवार हो काल की तरह कोप किये हुए लक्ष्मण उसी प्रकार चलेंगे, जिस प्रकार अपने सार्वभौम दिग्गज पर चढ़ कर, कुवेर चलते हैं ॥ २० ॥

जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानरः ।
ऋक्षराजो महासत्त्वः कुक्षिं[1] रक्षन्तु ते त्रयः ॥ २१ ॥

महाबली ऋक्षराज जाम्बवान्, सुषेण और वेगदर्शी—ये तीन वानर यूथपति सेना के पिछले भाग की रक्षा करते हुए चलें ॥ २१ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाहिनीपतिः ।
व्यादिदेश महावीर्यान्वानरान्वानरर्षभः ॥ २२ ॥

---

१ कुक्षिं—पश्चात् भागं । (गो०)

वानरश्रेष्ठ महाबलवान और वाहिनीपति सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, महाबलवान वानरों को श्रीरामचन्द्र जी के आज्ञानुसार कार्य करने की आज्ञा दी ॥ २२ ॥

ते वानरगणाः सर्वे समुत्पत्य युयुत्सवः ।
गुहाभ्यः शिखरेभ्यश्च आशु पुप्लुविरे तदा ॥ २३ ॥

तब तो वे सब बलवान वानरगण जो लड़ने के लिये उत्सुक हो रहे थे, गुफाओं से निकल कर, शिखरों से कूद कूद कर आ पहुँचे ॥ २३ ॥

ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन च पूजितः ।
जगाम रामो धर्मात्मा ससैन्यो दक्षिणां दिशम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर वानरराज और लक्ष्मण द्वारा प्रशंसित धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सेना को साथ लिये हुए दक्षिण की ओर प्रस्थानित हो गये ॥ २४ ॥

शतैः शतसहस्रैश्च कोटीभिरयुतैरपि ।
वारणाभैश्च हरिभिर्ययौ परिवृतस्तदा ॥ २५ ॥

उस समय हज़ारों, लाखों और करोड़ों वानरों के दल के दल श्रीरामचन्द्र जी को घेर कर चल दिये ॥ २५ ॥

तं यान्तमनुयाति स्म महती हरिवाहिनी ।
*हृष्टाः प्रमुदिताः सर्वे सुग्रीवेणाभिपालिताः ॥ २६ ॥

उस समय हर्षित, प्रमुदित और सुग्रीव द्वारा रक्षित वह बड़ी भारी वानरी सेना श्रीरामचन्द्र जी के पीछे हो ली ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—" दृप्ताः "।

आप्लुवन्तः प्लुवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ।
क्ष्वेलन्तो *निनदन्तस्ते जग्मुर्वै दक्षिणां दिशम् ॥ २७ ॥

उस सेना के समस्त वानर कूदते फांदते, गरजते, सिंहनाद करते तथा किलकारियाँ मारते दक्षिण की ओर चले जाते थे ॥२७॥

भक्षयन्तः सुगन्धीनि मधूनि च फलानि च ।
उद्वहन्तो महावृक्षान्मञ्जरीपुञ्जधारिणः ॥ २८ ॥

रास्ते में वे सुगन्धित मधु पीते, फलों को खाते तथा ढेर की ढेर मञ्जरियों से युक्त बड़े बड़े वृक्षों को उखाड़ कर अपने कन्धों पर रखे हुए चले जाते थे ॥ २८ ॥

अन्योन्यं सहसा दृप्ता निर्वहन्ति क्षिपन्ति च ।
†पततश्चोत्पतन्त्यन्ये पातयन्त्यपरे परान् ॥ २९ ॥

उनमें से कोई कोई गर्वित हो दूसरों को उठा लेते और कुछ दूर चल कर गिरा देते थे । कोई स्वयं गिर कर दूसरे को गिरा देते थे और कोई कोई दूसरों को धक्का देकर गिरा देते थे ॥ २९ ॥

रावणो नो निहन्तव्यः सर्वे च रजनीचराः ।
इति गर्जन्ति हरयो राघवस्य समीपतः ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के सामने वे गर्ज गर्ज कर बारम्बार कह रहे थे कि, रावण तथा अन्य समस्त राक्षसों को हम मार डालेंगे ॥ ३० ॥

पुरस्तादृषभो वीरो नीलः कुमुद एव च ।
पन्थानं शोधयन्ति स्म वानरैर्बहुभिर्वृताः‡ ॥ ३१ ॥

---

* पाठान्तरे—"विनदन्तश्च" । † पाठान्तरे—"पततश्चाक्षिपन्त्यन्ये ।"
‡ पाठान्तरे—"सह ।"

महावीर ऋषभ, गन्धमादन और नील बहुत से वानरों को साथ लिये हुए, मार्ग को खोजते सेना के आगे आगे चले जाते थे ॥ ३१ ॥

मध्ये तु राजा सुग्रीवो रामो लक्ष्मण एव च ।
*बलिभिर्बहुभिः शूरैर्वृताः शत्रुनिवर्हणैः ॥ ३२ ॥

वानरी सेना के मध्य भाग में श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण और कपिराज सुग्रीव ; शत्रुओं के संहारकर्ता, बलवान् और शूर बहुत से वानरों के साथ चले जा रहे थे ॥ ३२ ॥

हरिः शतवलिर्वीरः कोटीभिर्दशभिर्वृतः ।
सर्वामेको ह्यवष्टभ्य ररक्ष हरिवाहिनीम् ॥ ३३ ॥

महाबलवान शतवलि दस करोड़ सेना को साथ लिये अकेला ही उस समस्त वानरी सेना की रक्षा कर रहा था ॥ ३३ ॥

कोटीशतपरीवारः केसरी पनसो गजः ।
ऋक्षश्चातिबलः पार्श्वमेकं तस्याभिरक्षति ॥ ३४ ॥

केसरी, पनस, गज और ये अतिबल वानरयूथपति, सौ करोड़ वानरों तथा रीछों को साथ लिये हुए, उस सेना के एक पार्श्व की रक्षा करते चले जाते थे ॥ ३४ ॥

सुषेणो जाम्बवांश्चैव ऋक्षश्च बहुभिर्वृतौ ।
सुग्रीवं पुरतः कृत्वा [१]जघनं संररक्षतुः ॥ ३५ ॥

सुषेण और जाम्बवान असंख्य रीछों की सेना साथ लिये, सेना के मध्यभाग में चलते हुए सुग्रीव को आगे कर, सेना के पिछले भाग की रक्षा करते जाते थे ॥ ३५ ॥

---

१ जघनं—पश्चाद्भागं । (गो०) * पाठान्तरे—" बहुभिर्बलिभिर्भीमैर्वृताः शत्रुनिबर्हणाः । "

तेषां सेनापतिर्वीरो नीलो वानरपुङ्गवः ।
सम्पतन्पततां श्रेष्ठस्तद्बलं पर्यपालयत् ॥ ३६ ॥

इन सब के सेनापति नील, मार्गशोधन के लिये आगे आगे जाते हुए भी, सेनापति होने के कारण समस्त सेना को देखभाल करते जाते थे ॥ ३६ ॥

दरीमुखः प्रजङ्घश्च रम्भोऽथ रभसः कपिः ।
सर्वतश्च ययुर्वीरास्त्वरयन्तः प्लवङ्गमान् ॥ ३७ ॥

दरीमुख, प्रजंघ, रम्भ, रभस ये सब वीर वानर, सेना को शीघ्र चलने के लिये उत्साहित करते जाते थे ॥ ३७ ॥

एवं ते हरिशार्दूला गच्छन्तो बलदर्पिताः ।
अपश्यंस्ते गिरिश्रेष्ठं सह्यं द्रुमलतायुतम् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उन कपिशार्दूल एवं बलदर्पित वानरश्रेष्ठों ने, चलते चलते, वृक्षों एवं लताओं से युक्त पर्वतोत्तम सह्य नामक पर्वत को देखा ॥ ३८ ॥

सरांसि च सुफुल्लानि तटाकानि महान्ति च ।
रामस्य शासनं ज्ञात्वा भीमकोपस्य भीतवत् ॥ ३९ ॥

खिले हुए कमल के फूलों से सुशोभित सरोवर और बड़े बड़े तड़ाग भी इस सेना ने देखे। किन्तु भयङ्कर कोप करने वाले श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा जान, मारे डर के ॥ ३९ ॥

वर्जयन्नगराभ्याशांस्तथा जनपदानपि ।
सागरौघनिभं भीमं तद्वानरबलं महत् ॥ ४० ॥

वह समुद्र की तरह भयावह बड़ी भारी वानरी सेना नगरों और जनपदों की सीमा को ॥ ४० ॥

*निःससर्प महाघोषं भीमघोष इवार्णवः ।
तस्य दाशरथेः पार्श्वे शूरास्ते कपिकुञ्जराः ॥ ४१ ॥

त्यागती हुई तथा समुद्र की तरह भयङ्कर महाघोष करती हुई चली जाती थी। श्रीरामचन्द्र जी के अगल बगल वे शूर कपि कुञ्जर ॥ ४१ ॥

तूर्णमापुप्लुवुः सर्वे सदश्वा इव चोदिताः ।
कपिभ्यामूह्यमानौ तौ शुशुभाते †नरर्षभौ ॥ ४२ ॥

कूदते फांदते ऐसे चले जाते थे, जैसे घुड़सवारों द्वारा चलाये हुए घोड़े। उस समय दो वानरों की पीठ पर सवार वे दोनों पुरुष-श्रेष्ठ ऐसे सुशोभित जान पड़ते थे ॥ ४२ ॥

महद्भ्यामिव संस्पृष्टौ ग्रहाभ्यां चन्द्रभास्करौ ।
ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन च पूजितः ॥ ४३ ॥

जैसे राहु और केतु नामक दो बड़े बड़े ग्रहों से छुए जाकर चन्द्र और सूर्य शोभा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सुग्रीव और लक्ष्मण से सम्मानित ॥ ४३ ॥

जगाम रामो धर्मात्मा ससैन्यो दक्षिणां दिशम् ।
तमङ्गदगतो रामं लक्ष्मणः शुभया गिरा ॥ ४४ ॥
उवाच परिपूर्णार्थः ‡वचनं प्रतिभानवान् ।
हृतामवाप्य वैदेहीं क्षिप्रं हत्वा च रावणम् ॥ ४५ ॥

* पाठान्तरे—"उत्ससर्प।" † पाठान्तरे—नरोत्तमौ।" ‡ पाठान्तरे—"स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।"

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सेना सहित दक्षिण दिशा की ओर गये। तदनन्तर अङ्गद के कन्धों पर सवार परिपूर्ण मनोरथ एवं प्रतिभाशाली लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र जी से शुभवाणी से कहा—हे राम! आप शीघ्र रावण को मार और हरी हुई सीता को प्राप्त कर॥ ४४॥ ४५॥

समृद्धार्थः समृद्धर्थामयोध्यां प्रति यास्यसि।
महान्ति च निमित्तानि दिवि भूमौ च राघव॥ ४६॥

तथा पूर्ण मनोरथ हो धन जन से पूर्ण अयोध्या को लौट जायँगे। क्योंकि हे राघव! आकाश और पृथिवी पर अनेक प्रकार के शकुन॥ ४६॥

शुभानि तव पश्यामि सर्वाण्येवार्थसिद्धये।
अनुवाति शुभो वायुः सेनां मृदुहितः सुखः॥ ४७॥

जो तुम्हारे लिये शुभ हैं, और तुम्हारी सर्वार्थसिद्धि के द्योतक हैं, देख पड़ते हैं। देखिये, शीतल मन्द, सुगन्धित अनुकूल पवन, सेना को सुख देने के लिये चल रहा है॥ ४७॥

पूर्णवल्गुस्वराश्चेमे प्रवदन्ति मृगद्विजाः।
प्रसन्नाश्च दिशः सर्वा विमलश्च दिवाकरः॥ ४८॥

समस्त मृग और पक्षी स्पष्ट और मधुर स्वर से बोल रहे हैं। समस्त दिशाएँ प्रसन्न सी जान पड़ती हैं और सूर्य भी विमल किरणों से प्रकाशित हो रहे हैं॥ ४८॥

उशनाश्च प्रसन्नार्चिरनु त्वां भार्गवो गतः।
ब्रह्मराशिर्विशुद्धश्च शुद्धाश्च परमर्षयः॥ ४९॥

अर्चिष्मन्तः प्रकाशन्ते ध्रुवं सर्वे प्रदक्षिणम् ।
त्रिशङ्कुर्विमलो भाति राजर्षिः सपुरोहितः[1] ॥ ५० ॥

शुभ किरण वाले सब वेदों को अध्ययन किये हुए और पाप ग्रहों से रहित शुक्र भी आपके पीछे हैं। निर्मल आकाश में प्रभा से युक्त सप्तर्षि उज्ज्वल ध्रुव की परिक्रमा सी कर रहे हैं। पुरोहित विश्वामित्र जी के साथ राजर्षि त्रिशङ्कु आकाश में कैसा निर्मल प्रकाश कर रहे हैं ॥ ४९ ॥ ५० ॥

पितामहवरोऽस्माकमिक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
विमले च प्रकाशेते विशाखे निरुपद्रवे ॥ ५१ ॥
नक्षत्रवरमस्माकमिक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
नैर्ऋतं नैर्ऋतानां च नक्षत्रमभिपीड्यते ॥ ५२ ॥
मूलो मूलवता स्पृष्टो धूप्यते धूमकेतुना ।
सर्वं चैतद्विनाशाय राक्षसानामुपस्थितम् ॥ ५३ ॥

त्रिशङ्कु जी इक्ष्वाकुवंशियों के मुख्य पितामह हैं। विशाखा नक्षत्र, जो इक्ष्वाकुवंश का नक्षत्र कहलाता है, उपद्रव रहित हो कैसा चमक रहा है और राक्षसों का यह नैर्ऋत दैवत मूल नामक नक्षत्र, धूमकेतु द्वारा, जो डंडे की तरह खड़ा है, अत्यन्त पीड़ित हो रहा है। ये सब इन राक्षसों के विनाश के सूचक हैं ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

काले कालगृहीतानां नक्षत्रं ग्रहपीडितम् ।
प्रसन्नाः सुरसाश्चापो वनानि फलवन्ति च ॥ ५४ ॥

---

१ पुरोहितः—विश्वामित्रः । (गो०).

क्योंकि जिसकी मृत्यु निकट आती है उसको ही नक्षत्र और ग्रहों की पीड़ा हुआ करती है। सरोवरों का जल मीठा और साफ हो रहा है, फलयुक्त वृक्षों से वन भरे हुए हैं॥ ५४॥

प्रवान्त्यभ्यधिकं गन्धान्यथर्तुकुसुमा द्रुमाः।
व्यूढानि कपिसैन्यानि प्रकाशन्तेऽधिकं प्रभो॥ ५५॥

समस्त वृक्षों के अकाल में पुष्पित होने से, उनकी सुगन्धि, ऋतु में फूले हुए पुष्पों से अधिक हो रही है। हे प्रभो! व्यूहाकार सुसज्जित ये वानरी सेना ऐसी शोभित हो रही है॥ ५५॥

देवानामिव सैन्यानि सङ्ग्रामे तारकामये।
एवमार्य समीक्ष्यैतान्प्रीतो भवितुमर्हसि॥ ५६॥

जैसे तारकासुर वाले संग्राम में देवताओं की सेना शोभित हुई थी। हे आर्य! इन सब शुभ शकुनों को देख आप प्रसन्न हूजिये॥५६॥

इति भ्रातरमाश्वास्य हृष्टः सौमित्रिरब्रवीत्।
अथावृत्य महीं कृत्स्नां जगाम महती चमूः॥ ५७॥

सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी ने इसप्रकार कह श्रीरामचन्द्र जी को ढाँढ़स बँधाया। समस्त पृथिवी को ढक कर वह बड़ी वानरी सेना चली॥ ५७॥

ऋक्षवानर[1]शार्दूलैर्नखदंष्ट्रायुधैर्वृता।
कराग्रैश्चरणाग्रैश्च वानरैरुत्थितं रजः॥ ५८॥

उस महती वानरी सेना में, नखों और दाँतों से लड़ने वाले बड़े बड़े रीछ और वानर ही देख पड़ते थे। उस समय उनके हाथों और पैरों से उड़ी हुई धूल ने॥ ५८॥

---

१ शार्दूल शब्दः श्रेष्ठवाची। (गो०)

भीममन्तर्दधे लोकं निवार्य सवितुः प्रभाम् ।
सपर्वतवनाकाशां दक्षिणां हरिवाहिनी ॥ ५९ ॥
छादयन्ती ययौ भीमा द्यामिवाम्बुदसन्ततिः ।
उत्तरन्त्यां च सेनायां सन्ततं बहुयोजनम् ॥ ६० ॥

सम्पूर्ण दिशाओं और सूर्य के प्रकाश को निविड़ अन्धकार से ढक दिया । वह भयङ्कर कपिसेना पर्वत, वन और आकाश सहित दक्षिणप्रान्त की भूमि को ढक ऐसी चली जाती थी, जैसे आकाश में मेघ की घटाएँ । इस वानरसेना की पंक्ति बराबर कितने ही योजन तक लंबी फैली हुई थी ॥ ५९ ॥ ६० ॥

नदीस्रोतांसि सर्वाणि सस्यन्दुर्विपरीतवत् ।
सरांसि विमलाम्भांसि द्रुमाकीर्णांश्च पर्वतान् ॥ ६१ ॥

रास्ते में नदियों को धार को पार कर, जब वानरी सेना चलती, तब इनके वेग से नदियों की धारें उलटी बहती सी जान पड़ती थीं । निर्मल जल से भरी झीलों, वृक्षों से सुशोभित पर्वतों, ॥ ६१ ॥

समान्भूमिप्रदेशांश्च वनानि फलवन्ति च ।
मध्येन च समन्ताच्च तिर्यक्चाधश्च साऽविशत् ॥ ६२ ॥
समावृत्य महीं कृत्स्नां जगाम महती चमूः ।
ते हृष्टमनसः सर्वे जग्मुर्मारुतरंहसः ॥ ६३ ॥

समतल भूभागों और फलों से भरे वनों में हो कर तथा चारों तरफ, पृथिवी और आकाश को, इस प्रकार समस्त पृथिवी को ढके हुए वह वानरी सेना चली थी । वे समस्त वानर प्रसन्न हो वायु की तरह वेग से चले जाते थे ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

हरयो राघवस्यार्थे [1]समारोपितविक्रमाः ।
हर्षवीर्यबलोद्रेकान्[2]दर्शयन्तः परस्परम् ॥ ६४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के कार्य को पूरा करने के लिये वानरों का विक्रम बढ़ रहा था अर्थात् वे वानर युद्ध के लिये कमर कसे हुए थे। वे वानर आपस में हर्ष, वीर्य और बल की उत्कृष्टता दिखलाते थे ॥ ६४ ॥

यौवनोत्सेकजान्दर्पान्विविधांश्चक्रुरध्वनि ।
तत्र केचिद्द्रुतं जग्मुरुत्पेतुश्च तथाऽपरे ॥ ६५ ॥

और वे यौवन के गर्व से गर्वित हो, तरह तरह की ध्वनि करते जाते थे। उनमें से कोई तो बड़ी तेज़ी के साथ चले जाते थे और कोई उछलते कूदते चले जाते थे ॥ ६५ ॥

केचित्किलकिलां चक्रुर्वानरा वनगोचराः ।
प्रास्फोटयंश्च पुच्छानि सन्निजघ्नुः पदान्यपि ॥ ६६ ॥

कोई कोई वानर किलकारियाँ मारते थे, कोई पूँछों को फटकारते, कोई भूमि पर पैरों को पटकते हुए चले जाते थे ॥ ६६ ॥

भुजान्विक्षिप्य[3] शैलांश्च द्रुमानन्ये बभञ्जिरे ।
आरोहन्तश्च शृङ्गाणि गिरीणां गिरिगोचराः[4] ॥ ६७ ॥

कोई कोई भुजाओं को फैला पेड़ों और पहाड़ों को उखाड़ते और तोड़ते जाते थे। पहाड़ों पर विचरने वाले वानर पर्वतशिखरों पर चढ़ जाते थे ॥ ६७ ॥

---

१ समारोपितविक्रमाः—अभिवृद्धविक्रमाः। (गो०) २ उद्रेकशब्दोतिशयवाची। (गो०) ३ विक्षिप्य—प्रसार्य। (गो०) ४ गिरिगोचराः—गिरिचराः। (गो०)

महानादान्विमुञ्चन्ति क्ष्वेलामन्ये प्रचक्रिरे ।
ऊरुवेगैश्च ममृदुर्लताजालान्यनेकशः ॥ ६८ ॥

कोई कोई महानाद करते और कोई कोई सिंहनाद करते थे । कोई अपनी जांघों से कोमल लताओं को कुचल डालते थे ॥ ६८ ॥

जृम्भमाणाश्च विक्रान्ता विचिक्रीडुः शिलाद्रुमैः ।
शतैः शतसहस्रैश्च कोटीभिश्च सहस्रशः ॥ ६९ ॥

वे विक्रमशाली वानर जमुहाते जाते थे और शिलाओं तथा वृक्षों से खेलते जाते थे । उस समय लाखों करोड़ों ॥ ६९ ॥

वानराणां सुघोराणां यूथैः परिवृता मही ।
सा स्म याति दिवारात्रं महती हरिवाहिनी ॥ ७० ॥
हृष्टा प्रमुदिता सेना सुग्रीवेणाभिरक्षिता ।
वानरास्त्वरितं यान्ति सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ॥ ७१ ॥

भयङ्कर वानरों से पृथिवी पूर्ण हो गयी । वह महती वानरी सेना हर्षित एवं प्रमुदित तथा सुग्रीव से रक्षित हो, रात दिन चली जाती थी । सब वानर युद्ध करने की इच्छा से बड़ी शीघ्रता से चले जाते थे ॥ ७० ॥ ७१ ॥

प्रमोक्षयिषवः सीतां मुहूर्तं क्वापि नासत ।
ततः पादपसम्बाधं नानामृगसमायुतम् ॥ ७२ ॥
सह्यपर्वतमासेदुर्मलयं च महीधरम् ।
काननानि विचित्राणि नदीप्रस्रवणानि च ॥ ७३ ॥
पश्यन्नभिययौ रामः सह्यस्य मलयस्य च ।
चम्पकांस्तिलकांश्चूतानशोकान्सिन्धुवारकान् ॥ ७४ ॥

सीता जी के छुड़ाने के लिये वे इतने उतावले हो रहे थे कि, एक क्षण के लिये भी वे कहीं विश्राम करने के नहीं ठहरते थे। तदनन्तर वे वानर विविध वृक्षों से शोभित तथा विविध मृगों से युक्त सह्य और मलय नामक पर्वतों के समीप पहुँचे। सह्य और मलय के चित्र विचित्र वनों, नदियों और झरनों को देखते हुए श्रीरामचन्द्र जी चले जाते थे। चम्पा, तिलक, आम, अशोक, सिन्धुवार ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

करवीरांश्च तिमिशान्भञ्जन्ति स्म प्लवङ्गमाः ।
अङ्कोलांश्च करञ्जांश्च प्लक्षन्यग्रोधतिन्दुकान् ॥ ७५ ॥

करवीर और तिमिश के पेड़ों को वानर लोग नष्ट करते हुए चले जाते थे। इसी प्रकार अङ्कोल, करञ्ज, पाकर, वट, तेंदू ॥ ७५ ॥

जम्बूकामलकान्नीपान्भञ्जन्ति स्म प्लवङ्गमाः ।
प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः ॥ ७६ ॥

जामुन, आवला, नागकेसर के पेड़ों को भी वानर उखाड़ उखाड़ कर फेंक देते थे। वहाँ रमणीय पत्थरों पर जमे हुए अनेक प्रकार के जंगली पेड़ ॥ ७६ ॥

वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति तान्* ।
मारुतः सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः ॥ ७७ ॥

वायु के वेग से चलायमान हो, फूलों को पृथिवी पर बखेर रहे थे। छूने से आनन्द देने वाला और चन्दन की तरह सुशीतल वायु चल रहा था ॥ ७७ ॥

---

* पाठान्तरे—"गां।"

षट्पदैरनुकूजद्भिर्वनेषु मधुगन्धिषु ।
अधिकं शैलराजस्तु धातुभिः सुविभूषितः ॥ ७८ ॥

वनों में भौरें गूँज रहे थे और वन में मधु की गन्ध आ रही थी। वह पर्वतराज धातुओं के द्वारा विशेष रूप से शोभायमान हो रहा था ॥ ७८ ॥

धातुभ्यः प्रसृतो रेणुर्वायुवेगविघट्टितः ।
सुमहद्वानरानीकं छादयामास सर्वतः ॥ ७९ ॥

उस समय वानरी सेना के चलने के वेग से उत्पन्न वायु के कारण उड़ी हुई उन धातुओं की रज ने महती वानरी सेना को चारों ओर से ढक लिया ॥ ७९ ॥

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु सर्वतः सम्प्रपुष्पिताः ।
केतक्यः सिन्धुवाराश्च वासन्त्यश्च मनोरमाः ॥ ८० ॥
माधव्यो गन्धपूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च पुष्पिताः ।
चिरिविल्वा मधूकाश्च वञ्जुला वकुलास्तथा ॥ ८१ ॥
रञ्जकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः ।
चूताः पाटलयश्चैव कोविदाराश्च पुष्पिताः ॥ ८२ ॥
मुचुलिन्दार्जुनाश्चैव शिंशुपाः कुटजास्तथा ।
धवाः शल्मलयश्चैव रक्ताः कुरवकास्तथा ॥ ८३ ॥
हिन्तालास्तिमिशाश्चैव चूर्णका नीपकास्तथा ।
नीलशोकाश्च सरला अङ्कोलाः पद्मकास्तथा ॥ ८४ ॥

उस पर्वत पर सब ओर से रमणीक और फूली हुई केतकी, सिन्धुवार, मनोहर वासन्ती, सुगन्धित माधवी, फूले हुए कुन्द के

गुच्छे, चिरविल्व, मधुक, वञ्जुल, वकुल, रञ्जक, तिलक, पुष्पित नागकेसर, आम, पाटली, फूले हुए कोविदार, मुचलिन्द, अर्जुन, शिंशपा, कुटज, ढाक, लाल शाल्मली, कुरवक, हिन्ताल, तिमिश, चूर्णक, नीपक, नील, अशोक, माखू, अङ्कोल, पद्मक आदि वृक्षों को ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

प्रीयमाणैः प्लवङ्गैस्तु सर्वे पर्याकुलीकृताः ।
वाप्यस्तस्मिन्गिरौ शीताः पल्वलानि तथैव च ॥ ८५ ॥

मारे आनन्द के वानरों ने उखाड़ कर तथा नोंच नोंच कर फेंक दिया। उस पर्वत पर शीतल जल की बावड़ी तथा छोटे छोटे जलकुण्ड थे ॥ ८५ ॥

चक्रवाकानुचरिताः कारण्डवनिषेविताः ।
प्लवैः क्रौञ्चैश्च सङ्कीर्णा वराहमृगसेविताः ॥ ८६ ॥
ऋक्षैस्तरक्षुभिः[1] सिंहैः शार्दूलैश्च भयावहैः ।
[2]व्यालैश्च बहुभिर्भीमैः सेव्यमानाः समन्ततः ॥ ८७ ॥

जिनमें चक्रवाक, कारण्डव, क्रौंच और पनडुब्बियाँ तैर रही थीं। उस पर्वत पर सुअर, हिरन, रीछ, छोटे भेड़िये, भयङ्कर सिंह, शार्दूल तथा बहुत से भयङ्कर दुष्ट हाथी चारों ओर घूम रहे थे ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

पद्मैः सौगन्धिकैः फुल्लैः कुमुदैश्चोत्पलैस्तथा ।
वारिजैर्विविधैः पुष्पै रम्यास्तत्र जलाशयाः ॥ ८८ ॥

---

१ तरक्षुभिः—मृगादनैः । (गो०) [छोटा भेड़िया ।] २ व्यालैः—दुष्टगजैः । (गो०)

लाल कमल, सुगन्धरा, कुई, सफेद कमल तथा अन्य जल में उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के फूल जलाशयों में फूले हुए थे ॥ ८८ ॥

तस्य सानुषु कूजन्ति नानाद्विजगणास्तथा ।
स्नात्वा पीत्वोदकान्यत्र जले क्रीडन्ति वानरः ॥ ८९ ॥

उस पर्वत के शिखरों पर विविध प्रकार के पक्षी कूज रहे थे। वहाँ ये सब वानर स्नान कर और जलपान कर, जल में क्रीड़ा करने लगे ॥ ८९ ॥

अन्योन्यं [1]प्लावयन्ति स्म शैलमारुह्य वानराः ।
फलान्यमृतगन्धीनि मूलानि कुसुमानि च ॥ ९० ॥

वे आपस में एक दूसरे को छिटियाते थे। फिर वे वानर पर्वत के ऊपर चढ़ कर अमृत समान मीठे फलों और मूलों को तथा फूलों को खाते थे ॥ ९० ॥

बभञ्जुर्वानरास्तत्र पादपानां बलोत्कटा ।
द्रोणमात्रप्रमाणानि लम्बमानानि वानराः ॥ ९१ ॥

बलोद्धत वानरों ने वहाँ के वृक्षों को उखाड़ डाला। अढ़ाई सेर वज़नी लटकते हुए ॥ ९१ ॥

ययुः पिबन्तो हृष्टास्ते मधूनि मधुपिङ्गलाः ।
पादपानवभञ्जन्तो विकर्षन्तस्तथा लताः ॥ ९२ ॥

शहद के छत्तों को तोड़ तोड़ कर तथा उनसे शहद निकाल, वे शहद की रंगत जैसे शरीर वाले वानर, पी लेते थे। फिर वृक्षों को उखाड़ते और लताओं को नोंचते ॥ ९२ ॥

---

१ प्लावयन्ति—सिञ्चन्ति। (गो०)

विधमन्तो गिरिवरान्प्रययुः प्लवगर्षभाः ।
वृक्षेभ्योऽन्ये तु कपयो नर्दन्तो मधुदर्पिताः ॥ ९३ ॥

और पर्वतों को ढहाते वे चले जाते थे। बहुतेरे वानर शहद पीते पीते अघा कर, वृक्षों पर चढ़े हुए गरज रहे थे ॥ ९३ ॥

अन्ये वृक्षान्प्रपद्यन्ते प्रपतन्त्यपि चापरे ।
बभूव वसुधा तैस्तु सम्पूर्णा हरियूथपैः ॥ ९४ ॥

कोई कोई कूद कूद कर वृक्षों पर चढ़ जाते थे और कोई कोई वृक्षों से पृथिवी पर धमाधम कूद रहे थे। उस समय वह स्थान वानरयूथों से वैसे ही परिपूर्ण हो गया था, ॥ ९४ ॥

यथा कमलकेदारैः पक्वैरिव वसुन्धरा ।
महेन्द्रमथ सम्प्राप्य रामो राजीवलोचनः ॥ ९५ ॥

जैसे पके हुए जड़हन (शाली) धान से खेत परिपूर्ण हो जाता है। तदनन्तर कमललोचन श्रीरामचन्द्र जी महेन्द्राचल पर पहुँचे ॥ ९५ ॥

अध्यारोहन्महाबाहुः शिखरं द्रुमभूषितम् ।
ततः शिखरमारुह्य रामो दशरथात्मजः ॥ ९६ ॥

और उस पर्वत के वृक्षों से शोभित शिखर पर चढ़े। तदनन्तर शिखर पर चढ़ दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ ९६ ॥

कूर्ममीनसमाकीर्णमपश्यत्सलिलाकरम् ।
ते सह्यं समतिक्रम्य मलयं च महागिरिम् ॥ ९७ ॥

वहाँ कछुओं और मछलियों से भरा एक तालाब देखा। वे पर्वतश्रेष्ठ सह्य और मलय को पार कर ॥ ९७ ॥

आसेदुरानुपूर्व्येण समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।
अवरुह्य जगामाशु वेलावनमनुत्तमम् ॥ ९८ ॥
रामो रमयतां श्रेष्ठः ससुग्रीवः सलक्ष्मणः ।
अथ धौतोपलतलां तोयौघैः सहसोत्थितैः ॥ ९९ ॥

क्रमानुसार भयङ्कर नाद करने वाले समुद्र के समीप जा निकले। तब रमण करने वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव और लक्ष्मण के साथ पहाड़ से उतर समुद्रतटवर्ती उत्तम वन में शीघ्रता पूर्वक पहुँच गये। वहाँ जाकर श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, समुद्र के तटवर्ती पहाड़ों की उपत्यका सदा समुद्र की लहरों के जल से धोई जाती है ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

वेलामासाद्य विपुलां रामो वचनमब्रवीत् ।
एते वयमनुप्राप्ताः सुग्रीव वरुणालयम् ॥ १०० ॥

समुद्र के लंबे चौड़े तट पर पहुँच श्रीरामचन्द्र जी बोले— हे सुग्रीव ! हम और ये सब वानरगण वरुणालय अर्थात् समुद्र पर पहुँच गये ॥ १०० ॥

इहेदानीं विचिन्ता सा या नः पूर्वं समुत्थिता ।
अतः परमतीरोऽयं सागरः सरितां पतिः ॥ १०१ ॥

यहाँ आने पर हम लोगों के मन में वही चिन्ता फिर उत्पन्न हो गयी जो पहले हुई थी। इस विशाल नदीपति समुद्र का दूसरा (अर्थात् दूसरी ओर का) तट दिखलाई ही नहीं पड़ता ॥ १०१ ॥

न चायमनुपायेन शक्यस्तरितुमर्णवः ।
तदिहैव निवेशोऽस्तु मन्त्रः प्रस्तूयतामिह ॥ १०२ ॥

सो बिना किसी श्रेष्ठ उपाय को विचारे, इस समुद्र के पार होना कठिन है। अतः यहीं ठहर कर विचार करना चाहिये ॥१०२॥

यथेदं वानरबलं परं पारमवाप्नुयात् ।
इतीव स महाबाहुः सीताहरणकर्शितः ॥ १०३ ॥

जिससे यह वानरी सेना उस पार जा सके। इस प्रकार महाबाहु और सीताहरण के शोक से विकल ॥ १०३ ॥

रामः सागरमासाद्य वासमाज्ञापयत्तदा ।
सर्वाः सेना निवेश्यन्तां वेलायां हरिपुङ्गव ॥ १०४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने समुद्रतट पर पहुँच सेना के वहाँ टिकने की आज्ञा दी। वे सुग्रीव से बोले—हे सुग्रीव! इसी तट पर समस्त सेना को टिका दो ॥ १०४ ॥

सम्प्राप्तो मन्त्रकालो नः सागरस्यास्य लङ्घने ।
स्वां स्वां सेनां समुत्सृज्य मा च कश्चित्कुतो व्रजेत् ॥१०५॥
गच्छन्तु वानराः शूराः ज्ञेयं छन्नं भयं च नः ।
रामस्य वचनं श्रुत्वा सुग्रीवः सहलक्ष्मणः ॥ १०६ ॥

क्योंकि समुद्र के पार होने के सम्बन्ध में परामर्श करने का समय आ पहुँचा है। अपनी अपनी सेना को छोड़ कर कोई भी सेनापति कहीं न जाय। बल्कि शूरवीर वानर इधर उधर घूम फिर कर छिपी हुई राक्षसी सेना का पता लगावें। श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण सहित सुग्रीव ने ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

सेनां न्यवेशयत्तीरे सागरस्य द्रुमायुते ।
विरराज समीपस्थं सागरस्य च तद्बलम् ॥ १०७ ॥

वृक्षों से सुशोभित उस समुद्रतट पर वानरी सेना को टिका दिया। उस समय समुद्रतट पर ठहरी हुई वह वानरी सेना ॥१०७॥

मधुपाण्डुजलः श्रीमान्द्वितीय इव सागरः ।
वेलावनमुपागम्य ततस्ते हरिपुङ्गवाः ॥ १०८ ॥
विनिविष्टाः परं पारं काङ्क्षमाणा महोदधेः ।
तेषां निविशमानानां सैन्यसन्नाहनिःस्वनः ॥ १०९ ॥
अन्तर्धाय महानादमर्णवस्य प्रशुश्रुवे ।
सा वानराणां ध्वजिनी सुग्रीवेणाभिपालिता ॥ ११० ॥

मधुपिङ्गलवर्ण (शहद जैसे पीले रंग के) जल से पूर्ण दूसरे महासागर के समान जान पड़ी। तदनन्तर वे वानरश्रेष्ठ समुद्रतट पर पहुँच, समुद्र के दूसरे तट पर जाने की अभिलाषा करने लगे। उस समय वानरी सेना की चिल्लाहट ने समुद्र के गर्जन को दबा दिया और (केवल) वानरों की चिल्लाहट ही सुन पड़ने लगी। वह सुग्रीवपालित वानरी सेना ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥

त्रिधा निविष्टा महती रामस्यार्थपराऽभवत् ।
सा महार्णवमासाद्य हृष्टा वानरवाहिनी ॥ १११ ॥

रीछ, वंदर और लंगूर—इस प्रकार तीन भागों में बँट कर श्रीरामचन्द्र जी का कार्यसिद्ध करने को यत्नवती हुई। हर्षित वानरी सेना ने महासागर के समीप पहुँच ॥ १११ ॥

वायुवेगसमाधूतं पश्यमाना महार्णवम् ।
दूरपारमसम्बाधं रक्षोगणनिषेवितम् ॥ ११२ ॥

वायु के वेग से लहराते हुए समुद्र को देखा। बड़ी कठिनाई से पार होने योग्य और राक्षससेवित ॥ ११२ ॥

पश्यन्तो वरुणावासं विषेदुर्हरियूथपाः ।
चण्डनक्रग्रहं घोरं [1]क्षपादौ दिवसक्षये ॥ ११३ ॥

वरुण के आवसस्थान अर्थात् समुद्र को देखते हुए, वानर यूथपति वहाँ बैठे हुए थे। समुद्र बड़े बड़े घड़ियालों से पूर्ण होने के कारण भयावह हो रहा था और सन्ध्या के समय ॥ ११३ ॥

हसन्तमिव फेनौघैर्नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः ।
चन्द्रोदयसमुद्भूतं प्रतिचन्द्रसमाकुलम् ॥ ११४ ॥

जब उसमें फेन आता था, तब ऐसा जान पड़ता था, मानों वह हँस रहा है और जब वह अपनी लहरों से लहराता था, तब ऐसा जान पड़ता था मानों वह नाच रहा है। समुद्र चन्द्रमा के उदय होने पर बढ़ता और चन्द्रमा के प्रतिबिंबों से भरा हुआ जान पड़ता था ॥ ११४ ॥

[पिनष्टीव तरङ्गाग्रैरर्णवः फेनचन्दनम् ।
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः ॥ ११५ ॥]

उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानों महासागर, तरङ्गोंरूपी हाथों से फेनरूपी चन्दन रगड़ रहा है और चन्द्रमा अपने किरण रूपी हाथों से दिशारूपी सुन्दरियों के अङ्गों में चन्दन का लेप कर रहा है ॥ ११५ ॥

चण्डानिलमहाग्राहैः कीर्णं तिमितिमिङ्गिलैः ।
[2]दीप्तभोगैरिवाकीर्णं भुजङ्गैर्भुजगालयम् ॥ ११६ ॥

---

१ दिवसक्षये क्षपादौ सन्ध्यायामित्यर्थः। (गो०) २ दीप्तभोगैरुज्ज्वल देहैः । (रा०

वह समुद्र प्रचण्ड वायु, बड़े बड़े घड़ियालों, तिमि और तिमिङ्गलों (एक प्रकार की बड़े आकार की मछलियों) से भरा हुआ देख पड़ता था। उज्ज्वल देहधारी सर्पों से भरा होने के कारण वह सर्पों का आलय अर्थात् पाताल जैसा जान पड़ता था ॥ ११६ ॥

अवगाढं महासत्त्वैर्नानाशैलसमाकुलम् ।
सुदुर्गं दुर्गमार्गं तमगाधमसुरालयम् ॥ ११७ ॥

बड़े बड़े जलचरों और पहाड़ों से समुद्र भरा हुआ होने के कारण, मार्गरहित, सब किसी के जाने के अयोग्य और असुरों के रहने का अगाध स्थान था ॥ ११७ ॥

मकरैर्नागभोगैश्च विगाढा वातलोलिताः ।
उत्पेतुश्च निपेतुश्च प्रवृद्धा जलराशयः ॥ ११८ ॥

उसकी लहरें घड़ियाल और सर्पों के चलने फिरने से तथा वायु के वेग से ऊपर को उछलतीं और बड़े ज़ोर से शब्द करती हुई नीचे गिरती थीं ॥ ११८ ॥

अग्निचूर्णमिवाविद्धं भास्वराम्बु महोरगम् ।
सुरारिविषयं[1] घोरं [2]पातालविषमं सदा ॥ ११९ ॥

समुद्र में मणिधारी सर्पों के रहने से, उनके फणों की मणियों की किरनें जब जल पर छिटकती थीं, तब ऐसा जान पड़ता था मानों जल के ऊपर अग्नि की चिनगारियाँ बिखरी हुई पड़ी हों। यह भयङ्कर समुद्र असुरों का आवासस्थान और पाताल की तरह गहरा है ॥ ११९ ॥

---

१ विषयं—आवासभूतं (गो०) २ पातालविषमं—पातालवत् गंभीर। (गो०)

सागरं चाम्बरप्रख्यमम्बरं सागरोपमम् ।
सागरं चाम्बरं चेति [1]निर्विशेषमदृश्यत ॥ १२० ॥

उस समय समुद्र तो आकाश जैसा और आकाश समुद्र जैसा देख पड़ता था। उन दोनों में कोई भी अन्तर नहीं देख पड़ता था ॥ १२० ॥

सम्पृक्तं नभसाऽप्यम्भः सम्पृक्तं च नभोऽम्भसा ।
तादृग्रूपे स्म दृश्येते तारारत्नसमाकुले ॥ १२१ ॥

उस समय ऐसा जान पड़ता था कि, आकाश से तो समुद्र का जल मिला हुआ और जल से आकाश। दोनों ही तुल्य रूप जान पड़ते थे। नक्षत्रदीप्ति (नक्षत्रों के प्रकाश) और रत्नज्योति (रत्नों की दमक) के कारण दोनों एक समान हो रहे थे ॥ १२१ ॥

समुत्पतितमेघस्य वीचिमालाकुलस्य च ।
विशेषो न द्वयोरासीत्सागरस्याम्बरस्य च ॥ १२२ ॥

मेघयुक्त आकाश और लहरों से युक्त समुद्र दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं जान पड़ता था ॥ १२२ ॥

अन्योन्यमाहताः सक्ताः सस्वनुर्भीमनिःस्वनाः ।
ऊर्मयः सिन्धुराजस्य महाभेर्य इवाहवे ॥ १२३ ॥

दोनों आपस में मिले हुए और आपस में टकरा कर महाघोर शब्द कर रहे थे। समुद्र की लहरें ऐसा शब्द कर रही थीं, मानों लड़ाई के नगाड़े बज रहे हों ॥ १२३ ॥

---

१ निर्विशेषं—परस्परातिरिक्तलक्षण रहितं। (रा०)

रत्नौघजलसन्नादं विषक्तमिव वायुना ।
उत्पतन्तमिव क्रुद्धं यादोगणसमाकुलम् ॥ १२४ ॥

रत्नों से और विविध प्रकार के जलजन्तुओं से पूर्ण, समुद्र का जल वायु के झोकों से ऐसा उछल रहा था, मानों क्रोध में भर उछल रहा हो ॥ १२४ ॥

ददृशुस्ते महोत्साहा वाताहतमपाम्पतिम्* ।
†अनिलोद्धतमाकाशे प्रवल्गन्तमिवोर्मिभिः ॥ १२५ ॥

उस समय उन वानरों ने इस तरह के समुद्र को ऐसा देखा, मानों वह लहरोंरूपी मुख से व्यर्थ की बक बक कर रहा हो ॥१२५॥

ततोविस्मयमापन्ना ददृशुर्हरयस्तदा ।
भ्रान्तोर्मिजलसन्नादं प्रलोलमिव सागरम् ॥ १२६ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

चक्कर खाती हुई बहुत सी तरङ्गों से युक्त और कल्लोलमय समुद्र को देख, वे वानरगण परम विस्मित हुए ॥ १२६ ॥

युद्धकाण्ड का चतुर्थ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चमः सर्गः

—*—

सा तु नीलेन [1]विधिवत्स्वारक्षा सुसमाहिता ।
सागरस्योत्तरे तीरे साधु सेना निवेशिता ॥ १ ॥

---

१ विधिवत्—नीतिशास्त्रोक्तरीत्या । (गो०) * पाठान्तरे—"वाताहतजलाशयम्" । † पाठान्तरे—"अनिलोद्भूतं" ।

सेनापति नील के अधिकार में वानरी सेना समुद्र के उत्तर तट पर भली भाँति टिका दी गयी और सैनिक नियमानुसार पहिरे आदि का प्रबन्ध किया गया ॥ १ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ तत्र वानरपुङ्गवौ ।
विचेरतुश्च तां सेनां रक्षार्थं सर्वतोदिशम् ॥ २ ॥

मैन्द और द्विविद नामक दो यूथपति रखवाली के लिये, सेना के चारों ओर घूम घूम कर पहरा देने लगे ॥ २ ॥

निविष्टायां तु सेनायां तीरे नदनदीपतेः ।
पार्श्वस्थं लक्ष्मणं दृष्ट्वा रामो वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

नदीपति समुद्र के तट पर सेना के टिक जाने पर, बगल में बैठे हुए लक्ष्मण से श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ ३ ॥

शोकश्च किल कालेन गच्छता ह्यपगच्छति ।
मम चापश्यतः कान्तामहन्यहनि वर्धते ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो समय जैसे जैसे बीतता जाता है, वैसे ही वैसे मनुष्य का शोक भी कम होता है। किन्तु सीता के न देखने से मेरा दुःख दिन दिन बढ़ता जाता है ॥ ४ ॥

न मे दुःखं प्रिया दूरे न मे दुःखं हृतेति वा ।
एतदेवानुशोचामि वयोऽस्या ह्यतिवर्तते ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मुझे अपनी प्यारी सीता के दूर होने का दुःख नहीं है और न उसके हरे जाने ही का दुःख है, मुझे तो धीरे धीरे उसकी आयु के क्षीण होते जाने का (अर्थात गतयौवना होने का) दुःख है ॥ ५ ॥

वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश ।
त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः ॥ ६ ॥

हे वायु ! तुम उधर ही को चलो जिधर मेरी प्यारी है और उसके शरीर को छू कर मेरे शरीर को छूओ। मेरे शरीर को, तुम्हारे छूने से वैसा ही सुख होगा, जैसा गर्मी से विकल मनुष्य, चन्द्रमा को देख कर, सुखी होता है ॥ ६ ॥

तन्मे दहति गात्राणि विषं पीतमिवाशये ।
हा नाथेति प्रिया सा मां ह्रियमाणा यदब्रवीत् ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! हरे जाने के समय मेरी प्रिया ने जो "हा नाथ" कहा था, वह मेरे शरीर को शरीरस्थित अथवा (पिये हुए) विष की तरह भस्म कर रहा है ॥ ७ ॥

तद्वियोगेन्धनवता तच्चिन्ताविपुलार्चिषा ।
रात्रिंदिवं शरीरं मे दह्यते मदनाग्निना ॥ ८ ॥

सीता के वियोग रूपी ईंधन से युक्त और उसकी चिन्ता रूपी ज्वाला से दहकता हुआ यह काम रूपी आग रात दिन मुझे भस्म कर रहा है ॥ ८ ॥

अवगाह्यार्णवं स्वप्स्ये सौमित्रे भवता विना ।
कथञ्चित्प्रज्वलन्कामः न मां सुप्तं जले दहेत् ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम यहीं रहो। मैं इस समुद्र में गोता मार कर सोऊँगा। क्योंकि यह दहकता हुआ काम मुझे जल में तो भस्म न करेगा ॥ ९ ॥

बह्वेतत्कामयानस्य शक्यमेतेन जीवितुम् ।
यदहं सा च वामोरूरेकां धरणिमाश्रितौ ॥ १० ॥

मुझ विरही को जीवित रखने के लिये इतना ही पर्याप्त है कि, मैं और वह सीता एक पृथिवी पर तो सोते हैं ॥ १० ॥

केदारस्येव केदारः सोदकस्य निरूदकः ।
उपस्नेहेन जीवामि जीवन्तीं यच्छृणोमि ताम् ॥ ११ ॥

जिस तरह पानी से पूर्ण क्यारी की समोपवर्तिनी सूखी क्यारी, जलपूर्ण क्यारी की ठंढक से अपने पौधों को सींचती है, उसी तरह सीता को जीती जागती सुन कर, मैं भी जीता हूँ ॥ ११ ॥

कदा नु खलु सुश्रोणीं शतपत्रायतेक्षणाम् ।
विजित्य शत्रून्द्रक्ष्यामि सीतां स्फीतामिव श्रियम् ॥१२॥

हे लक्ष्मण ! मैं शत्रु को मार कर, उस सुन्दरी और कमलनयनी सीता को, धनधान्य से भरी पूरी राज्यलक्ष्मी के तुल्य, कब देखूँगा ॥ १२ ॥

कदा नु चारुविम्बोष्ठं तस्याः पद्ममिवाननम् ।
ईषदुन्नम्य पास्यामि रसायनमिवातुरः ॥ १३ ॥

मैं उसके विम्बोष्ठ तथा कमल के तुल्य मुँह को अपने हाथों से ऊँचा कर, उसका अधरामृत पान वैसे ही कब करूँगा, जैसे रोगी रसायन को पीता है ? ॥ १३ ॥

तस्यास्तु संहतौ पीनौ स्तनौ तालफलोपमौ ।
कदा नु खलु सोत्कम्पौ श्लिष्यन्त्या मां भजिष्यतः ॥१४॥

उस हँसती हुई सीता के तालफल के समान काँपते हुए स्तन-युगल, मेरे शरीर का स्पर्श कब करेंगे ॥ १४ ॥

सा नूनमसितापाङ्गी रक्षोमध्यगता सती ।
मन्नाथा नाथहीनेव त्रातारं नाधिगच्छति ॥ १५ ॥

हाय ! वह श्याम नयनवाली जनककुमारी मेरे जैसे स्वामी के रहते राक्षसों के वश में हो, अनाथिनी की तरह, अपना रक्षक कोई नहीं पाती होगी ॥ १५ ॥

कथं जनकराजस्य दुहिता सा मम प्रिया ।
राक्षसीमध्यगा शेते स्नुषा दशरथस्य च ॥ १६ ॥

हा ! जनकराज की पुत्री, मेरी प्यारी और दशरथ की वह पुत्रवधू राक्षसियों के बीच कैसे सोती होगी ॥ १६ ॥

कदाऽविक्षोभ्यरक्षांसि सा विधूयोत्पतिष्यति ।
विधूय जलदान्नीलाञ्शशिरेखा शरत्स्विव ॥ १७ ॥

इन दुर्धर्ष राक्षसों का विध्वंस हो कर, उसका उद्धार वैसे कब होगा, जैसे शरत्काल की चन्द्ररेखा नील मेघों के तितिर बितिर हो जाने पर प्रकाशित होती है ॥ १७ ॥

स्वभावतनुका नूनं शोकेनानशनेन च ।
भूयस्तनुतरा सीता देशकालविपर्ययात् ॥ १८ ॥

हाय ! वह तो पहले ही बहुत लटी हुई थी और अब तो शोक और कड़ाके करते करते तथा देश और काल के विपर्यास से (स्थान और समय के परिवर्तन से) अत्यन्त ही लट गयी होगी ॥ १८ ॥

कदा नु राक्षसेन्द्रस्य निधायोरसि सायकान् ।
सीतां प्रत्याहरिष्यामि शोकमुत्सृज्य मानसम् ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! रावण की छाती को तीरों से चीर कर, मैं अपने मन का शोक दूर कर, सीता को कब फिर पाऊँगा १९ ॥

कदा नु खलु मां साध्वी सीता सुरसुतोपमा ।
सोत्कण्ठा कण्ठमालम्ब्य मोक्ष्यत्यानन्दजं पयः ॥ २० ॥

वह देवकन्या के समान पतिव्रता सीता, उत्कण्ठा पूर्वक मेरे गले में लिपट, आँखों से आनन्द के आँसू कब बहावेगी ? ॥ २० ॥

कदा शोकमिमं घोरं मैथिली विप्रयोगजम् ।
सहसा विप्रमोक्ष्यामि वासः शुक्लेतरं यथा ॥ २१ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सीता के विरह से उत्पन्न हुए, इस घोर शोक को, मलिन वस्त्र की तरह कब छोड़ूँगा ॥ २१ ॥

एवं विलपतस्तस्य तत्र रामस्य धीमतः ।
दिनक्षयान्मन्दरुचिर्भास्करोऽस्तमुपागमत् ॥ २२ ॥

बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी सीता के शोक में अधीर हो, इस प्रकार विलाप कर ही रहे थे कि, इतने में शाम हो गयी और भगवान् सूर्य कान्तिहीन हो, अस्ताचलगामी हुए ॥ २२ ॥

आश्वासितो लक्ष्मणेन रामः सन्ध्यामुपासत ।
स्मरन्कमलपत्राक्षीं सीतां शोकाकुलीकृतः ॥ २३ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र जी को समझाया—तब उन्होंने सन्ध्योपासन किया, किन्तु वे अपने मन में सीता का स्मरण करते हुए, शोक से विकल हो रहे थे ॥ २३ ॥

युद्धकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षष्ठः सर्गः

—※—

लङ्कायां तु कृतं कर्म घोरं दृष्ट्वा भयावहम् ।
राक्षसेन्द्रो हनुमता शक्रेणेव महात्मना ॥ १ ॥
अब्रवीद्राक्षसान्सर्वान्हिया किञ्चिदवाङ्मुखः ।
धर्षिता च प्रविष्टा च लङ्का दुष्प्रसहा पुरी ॥ २ ॥
तेन [1]वानरमात्रेण दृष्टा सीता च जानकी ।
प्रासादो धर्षितश्चैत्यः प्रवला राक्षसा हताः ॥ ३ ॥

उधर लङ्का में, राक्षसराज रावण, महाबली इन्द्र के समान हनुमान जी का किया हुआ घोर भयङ्कर कार्य देख, लज्जा के मारे उदास हो, राक्षसों से बोला । देखो—एक बन्दर ने अजेय लङ्का में आकर लङ्कापुरी की कैसी दुर्दशा की । उस बन्दर ने जनकनन्दिनी सीता से बातचीत की, महलों को नष्ट भ्रष्ट कर डाला और बड़े बड़े बलवान राक्षसों को मार डाला ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

आकुला च पुरी लङ्का सर्वा हनुमता कृता ।
किं करिष्यामि भद्रं वः किं वा युक्तमनन्तरम् ॥ ४ ॥

हनुमान ने तो सारी लङ्कापुरी में हलचल मचा दी । तुम्हारा भला हो—अब तुम सब यह तो बतलाओ कि, मुझे क्या करना चाहिये और क्या करना ठीक होगा ॥ ४ ॥

---

१ वानरमात्रेण—वानरजातीयेन । (गो०)

उच्यतां नः समर्थं यत्कृतं च सुकृतं भवेत् ।
मन्त्रमूलं हि विजयं प्राहुरार्या मनस्विनः ॥ ५ ॥

तुम लोग कोई ऐसा उपाय बतलाओ जिसके करने से अन्त में भलाई हो और जिसे हम लोग कर भी सकें। क्योंकि पण्डित लोग विजय की कुंजी विचार ही को बतलाते हैं ॥ ५ ॥

तस्माद्वै रोचये मन्त्रं रामं प्रति महाबलाः ।
त्रिविधाः पुरुषा लोके उत्तमाधममध्यमाः ॥ ६ ॥

हे राक्षसो! इस समय मुझे श्रीरामचन्द्र के विषय में परामर्श करना ठीक जान पड़ता है। संसार में उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के लोग हुआ करते हैं ॥ ६ ॥

तेषां तु समवेतानां गुणदोषौ वदाम्यहम् ।
मन्त्रिभिर्हितसंयुक्तैः समर्थैर्मन्त्रनिर्णये ॥ ७ ॥

सो मैं उन तीनों प्रकार के लोगों के गुण दोषों को कहता हूँ। जो मनुष्य हितैषी और सलाह देने की योग्यता रखने वालों ॥ ७ ॥

मित्रैर्वापि समानार्थैर्बान्धवैरपिवाधिकैः ।
सहितो मन्त्रयित्वा यः कर्मारम्भान्प्रवर्तयेत् ॥ ८ ॥

अथवा अपनी तरह दुःख सुख भोगने वाले मित्रों अथवा भाई बंदों अथवा अपने से अधिक योग्य व्यक्तियों के साथ सलाह कर कार्य आरम्भ करता है ॥ ८ ॥

[1]दैवे च कुरुते यत्नं तमाहुः पुरुषोत्तमम् ।
एकोऽर्थं विमृशेदेको धर्मे प्रकुरुते मनः ॥ ९ ॥

---

१ दैवे—दैवसहाये च। (रा०) दैवसमाश्रयणे। (गो०)

एकः कार्याणि कुरुते तमाहुर्मध्यमं नरम् ।
गुणदोषावनिश्चित्य त्यक्त्वा धर्मव्यपाश्रयम् ॥ १० ॥

और दैवबल के सहारे अथवा ईश्वर की सहायता पाने के लिये यत्न करता है, पण्डित लोग—ऐसे पुरुष को उत्तम पुरुष कहते हैं। जो मनुष्य अकेला ही अर्थ का विचार कर और धर्म में मन लगा स्वयं ही कार्य आरम्भ करता है, वह अधम पुरुष कहलाता है। जो गुण दोषों को भली भाँति विचारे विना और धर्म का सहारा त्याग कर ॥ ९ ॥ १० ॥

करिष्यामीति यः कार्यमुपेक्षेत्स नराधमः ।
यथेमे पुरुषा नित्यमुत्तमाधममध्यमाः ॥ ११ ॥

तथा मैं अकेला अथवा स्वयं ही इस कार्य को कर लूँगा—ऐसा सोच कर, फिर भी ढीला पड़ जाता है; वह मनुष्य अधम है। जिस प्रकार तीन प्रकार के उत्तम, मध्यम और अधम पुरुष होते हैं ॥ ११ ॥

एवं मन्त्रा हि विज्ञेया उत्तमाधममध्यमाः ।
ऐकमत्यमुपागम्य शास्त्रदृष्टेन चक्षुषा ॥ १२ ॥

मन्त्रिणो यत्र निरतास्तमाहुर्मन्त्रमुत्तमम् ।
बह्वयोऽपि मतयो भूत्वा मन्त्रिणामर्थनिर्णये ॥ १३ ॥

पुनर्यत्रैकतां प्राप्ताः स मन्त्रो मध्यमः स्मृतः ।
अन्योन्यं मतिमास्थाय यत्र सम्प्रतिभाष्यते ॥ १४ ॥

न चैकमत्ये श्रेयोऽस्ति मन्त्रः सोऽधम उच्यते ।
तस्मात्सुमन्त्रितं साधु भवन्तो मतिसत्तमाः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार मंत्र (सलाह) भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के जानने चाहिये। शास्त्रानुसार जहाँ एक मत होकर मंत्रिगण जो सलाह करते हैं, वह उत्तम सलाह कही जाती है। जिस विचार का निर्णय करने के लिये मंत्री अनेक मत होकर, फिर अन्त में एक मत हो जाँय, उस सलाह को पण्डित मध्यम सलाह बतलाते हैं और जिस मंत्र में सब मंत्रदाताओं का मत अलग अलग हो और सब एक मत न हों और एक मत होने पर भी जिसमें कल्याण होना सम्भव न देख पड़े, वह मंत्र अधम कहलाता है। अतएव हे मंत्रिश्रेष्ठो! आप लोग भली भाँति विचार करो—क्योंकि आप लोग बड़े बुद्धिमान हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

कार्यं सम्प्रतिपद्यन्तामेतत्कृत्यं मतं मम ।
वानराणां हि वीराणां सहस्रैः परिवारितः ॥ १६ ॥

जो कर्त्तव्य (और श्रेष्ठ) हो, उसे एक मत होकर निश्चित करो—बस, वही मेरा कर्त्तव्य होगा। देखो हज़ारों वीर वानरों को साथ ले कर ॥ १६ ॥

रामोऽभ्येति पुरीं लङ्कामस्माकमुपरोधकः ।
तरिष्यति च सुव्यक्तं राघवः सागरं सुखम् ॥ १७ ॥
[1]तरसा युक्तरूपेण सानुजः सबलानुगः ।
समुद्रमुच्छोषयति वीर्येणान्यत्करोति वा ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी लङ्कापुरी का अवरोध करने आ रहे हैं। यह भी निश्चित है कि, श्रीरामचन्द्र जी अपने नये बल अथवा दिव्य अस्त्रों के बल से, अनुज लक्ष्मण और समस्त वानरी सेना सहित समुद्र के इस पार आसानी से आ जाँयगे। चाहे वे समुद्र के जल

---

१ तरसा—बलेन। (रा०)

को सुखा कर आवें अथवा पराक्रम द्वारा कोई अन्य उपाय करें ॥ १७ ॥ १८ ॥

[1]अस्मिन्नेवं गते कार्ये विरुद्धे वानरैः सह ।
हितं पुरे च सैन्ये च सर्वं सम्मन्त्र्यतां मम ॥ १९ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

लङ्का पर चढ़ाई होने की और वानरों के साथ विरोध हो जाने की बात को ध्यान में रख, सब लोग मिल कर ऐसी सलाह करो, जिससे लङ्कापुरी और राक्षसी सेना की रक्षा हो ॥ १९ ॥

युद्धकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

सप्तमः सर्गः

—*—

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसास्ते महाबलाः ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ १ ॥

जब राक्षसेन्द्र ने यह कहा, तब वे सब महाबली राक्षस हाथ जोड़ कर राक्षसराज रावण से बोले ॥ १ ॥

द्विषत्पक्षमविज्ञाय नीतिबाह्यास्त्वबुद्धयः ॥ २ ॥

महाराज जब तक शत्रु का बलाबल न मालूम हो, तब तक परामर्श देना नीति विरुद्ध और निर्बुद्धियों का काम है ॥ २ ॥

राजन्परिघशक्त्यृष्टिशूलपट्टससङ्कुलम् ।
सुमहन्नो बलं कस्माद्विषादं भजते भवान् ॥ ३ ॥

---

१ अस्मिन्—लङ्कानिरोधनरूपे कार्ये । (गो०)

हे राजन्! हम लोगों के पास परिघ, शक्ति, यष्टि, शूल और पट्टाधारिणी एक महती सेना है। अतः आप विषाद क्यों करते हैं॥ ३॥

त्वया भोगवतीं गत्वा निर्जिताः पन्नगा युधि।
कैलासशिखरावासी यक्षैर्बहुभिरावृतः॥ ४॥

तुमने भोगवती में जाकर सर्पों को जीता है। कैलासवासी बहुत से यक्षों से युक्त, ॥ ४॥

सुमहत्कदनं[1] कृत्वा वश्यस्ते धनदः कृतः।
स महेश्वरसख्येन श्लाघमानस्त्वया विभो॥ ५॥

कुवेर से घोर युद्ध कर, उसे अपने वश में किया है। महादेव का मित्र कह कर, जो कुवेर स्वयं अपनी बड़ाई किया करते हैं॥ ५॥

निर्जितः समरे रोषाल्लोकपालो महाबलः।
विनिहत्य च यक्षौघान्विक्षोभ्य च विगृह्य च॥ ६॥

तुमने रोष में भर रणभूमि में उस लोकपाल को भी जीत लिया। दल के दल यक्षों के मार और क़ैद कर उनको क्षुब्ध कर दिया॥ ६॥

त्वया कैलासशिखराद्विमानमिदमाहृतम्।
मयेन दानवेन्द्रेण त्वद्भयात्सख्यमिच्छता॥ ७॥

तुम कैलासपर्वत से यह पुष्पक विमान ले आये। मय नामक दैत्यराज ने भयभीत हो तुमसे मैत्री करने के लिये॥ ७॥

दुहिता तव भार्यार्थे दत्ता राक्षसपुङ्गव।
दानवेन्द्रो मधुर्नाम वीर्योत्सिक्तो दुरासदः॥ ८॥

---

१ कदनं—युद्धं।

विगृह्य वशमानीतः कुम्भीनस्याः सुखावहः ।
निर्जितास्ते महाबाहो नागा गत्वा रसातलम् ॥ ९ ॥

हे राक्षसश्रेष्ठ ! अपनी कन्या भार्या बनाने को तुम को दे दी । कुम्भीनसी के प्यारे स्वामी, वीर्यवान, अजीत और दानवों के स्वामी मधुदैत्य के साथ युद्ध कर, तुमने उसको अपने वशीभूत कर लिया । फिर हे महाबाहो ! तुमने रसातल में जा नागों को परास्त किया ॥ ८ ॥ ६ ॥

वासुकिस्तक्षकः शङ्खो जटी च वशमाहृताः ।
अक्षया बलवन्तश्च शूरा लब्धवराः पुरा ॥ १० ॥

वासुकी, तक्षक, शङ्ख और जटी, इन प्रधान नागों को अपने वश में कर लिया । कभी न मरने वाले, बलवान, शूर और पूर्व में वर पाये हुए ॥ १० ॥

त्वया सम्वत्सरं युद्ध्वा समरे दानवा विभो ।
स्वबलं समुपाश्रित्य नीता वशमरिन्दम ॥ ११ ॥

दानवों को एक वर्ष तक युद्ध कर, हे अरिन्दम ! तुमने अपने बल से अपने काबू में कर लिया ॥ ११ ॥

मायाश्चाधिगतास्तत्र बहवो राक्षसाधिप ।
निर्जिताः समरे रोषाल्लोकपाला महाबलाः ॥ १२ ॥

हे राक्षसराज ! बहुत माया जानने वाले महाबली लोकपालों को तुमने युद्ध में जीता ॥ १२ ॥

देवलोकमितो गत्वा शक्रश्चापि विनिर्जितः ।
शूराश्च बलवन्तश्च वरुणस्य सुता रणे ॥ १३ ॥

फिर स्वर्ग तक में जा इन्द्र को परास्त किया। फिर युद्ध में वरुण के उन पुत्रों को जो बड़े शूर बलवान ॥ १३ ॥

निर्जितास्ते महाबाहो चतुर्विधबलानुगाः।
मृत्युदण्डमहाग्राहं शाल्मलिद्रुममण्डितम् ॥ १४ ॥

कालपाशमहावीचिं यमकिङ्करपन्नगम्।
अवगाह्य त्वया राजन्यमस्य बलसागरम् ॥ १५ ॥

जयश्च विपुलः प्राप्तो मृत्युश्च प्रतिषेधितः।
सुयुद्धेन च ते सर्वे लोकास्तत्र *सुतोषिताः ॥ १६ ॥

और चतुरंगिणी सेना से युक्त थे, तुमने जीता। हे राजन्! तुमने मृत्युदण्डरूप महानक्रों से युक्त, यातनारूपी शाल्मलीद्रुम-मण्डित, कालपाशरूपी महातरङ्ग से लहराते, यम के किङ्कररूपी सर्पों के कारण भयङ्कर और महाज्वर से दुर्धर्ष, यमलोकरूपी महासागर में डुबकी मार तुमने बड़ी भारी विजय प्राप्त की और तुमने मौत को भी रोक दिया। वहाँ पर घोर युद्ध कर आपने सब लोकों को भली भाँति सन्तुष्ट कर दिया ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

क्षत्रियैर्बहुभिर्वीरैः शक्रतुल्यपराक्रमैः।
आसीद्वसुमती पूर्णा महद्भिरिव पादपैः ॥ १७ ॥

इन्द्र के समान पराक्रमी बहुत से वीर क्षत्रियों से यह पृथिवी, बड़े बड़े वृक्षों की तरह, पूर्ण थी ॥ १७ ॥

तेषां वीर्यगुणोत्साहैर्न समो राघवो रणे।
प्रसह्य ते त्वया राजन्हताः परमदुर्जयाः ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"विलोलिताः।"

उनके पराक्रम, बल, उत्साह और गुण ऐसे थे कि, रामचन्द्र रण में उनका सामना कभी नहीं कर सकते; परन्तु हे राजन्! तुमने उन परम दुर्जेय क्षत्रियों को भी मार डाला ॥ १८ ॥

तिष्ठ वा किं महाराज श्रमेण तव वानरान्।
अयमेको महाबाहुरिन्द्रजित्क्षपयिष्यति ॥ १९ ॥

हे महाराज! आप बैठे भर रहें। आप ज़रा भी श्रम न करें। यह इन्द्रजीत अकेला ही सब वानरों को मार डालेगा ॥ १९ ॥

अनेन हि महाराज माहेश्वरमनुत्तमम्।
इष्ट्वा यज्ञं वरो लब्धो लोके परमदुर्लभः ॥ २० ॥

क्योंकि हे महाराज! इसने अत्युत्कृष्ट माहेश्वर यज्ञ कर, परम दुर्लभ वर प्राप्त किया है ॥ २० ॥

शक्तितोमरमीनं च विनिकीर्णान्त्रशैवलम्।
गजकच्छपसम्बाधमश्वमण्डूकसङ्कुलम् ॥ २१ ॥
रुद्रादित्यमहाग्राहं मरुद्वसुमहोरगम्।
रथाश्वगजतोयौघं पदातिपुलिनं महत् ॥ २२ ॥

युद्धरूपी महासागर में शक्तिरूपी मत्स्य, बिखरी हुई अंतड़ी रूपी सिवार, हाथीरूपी कछुवे, घोड़ेरूपी मेंढक, रुद्र आदित्य रूपी बड़े बड़े घड़ियाल, मरुतवसु रूपी बड़े बड़े साँप, रथ अश्वगज रूपी जल और पैदल सैनिक रूपी बड़े बड़े टापू थे ॥ २१ ॥ २२ ॥

अनेन हि समासाद्य देवानां बलसागरम्।
गृहीतो दैवतपतिर्लङ्कां चापि प्रवेशितः ॥ २३ ॥

इसने देवताओं के सैन्यरूपी महासागर में घुस कर, देवराज को पकड़ कर, लङ्का में बंदीगृह में डाल चुका है ॥ २३ ॥

पितामहनियोगाच्च मुक्तः शम्बरवृत्रहा ।
गतस्त्रिविष्टपं राजन्सर्वदेवनमस्कृतः ॥ २४ ॥

पितामह ब्रह्मा जी के कहने से शंबरासुर और वृत्रासुर का मारने वाला सर्वदेव नमस्कृत इन्द्र छोड़ दिया गया। तब वह स्वर्ग की राजधानी में गया था ॥ २४

तमेव त्वं महाराज विसृजेन्द्रजितं सुतम् ।
यावद्वानरसेनां तां सरामां नयति क्षयम् ॥ २५ ॥

हे महाराज! आप उसी अपने पुत्र इन्द्रजीत को आज्ञा दीजिये। वह समस्त वानरी सेना सहित राम को मार डालेगा ॥ २५ ॥

राजन्नापदयुक्तेयमागता प्राकृताज्जनात् ।
हृदि नैव त्वया कार्या त्वं वधिष्यसि राघवम् ॥ २६ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

हे राजन्! तुम नर वानर रूप नगण्य लोगों से, जो विपद् की शङ्का कर रहे हैं—सो, तुमको अपने मन में इसकी चिन्ता तो करनी ही नहीं चाहिये। तुम निश्चय ही रामचन्द्र को मारोगे ॥२६॥

युद्धकाण्ड का सप्तम सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टमः सर्गः

—※—

ततो नीलाम्बुदनिभः प्रहस्तो नाम राक्षसः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं शूरः सेनापतिस्तदा ॥ १ ॥

तदनन्तर काले बादलों जैसी रंगत वाला प्रहस्त नामक शूरवीर सेनापति राक्षस, हाथ जोड़ कर बोला ॥ १ ॥

देवदानवगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।
न त्वां धर्षयितुं शक्ताः किं पुनर्वानरा रणे ॥ २ ॥

हे राजन्! दो मनुष्यों और वानरों की तो बात ही क्या—हम लोग तो रणक्षेत्र में देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और नागों तक को परास्त कर सकते हैं ॥ २ ॥

सर्वे प्रमत्ता विश्वस्ता वञ्चिताः स्म हनूमता ।
न हि मे जीवतो गच्छेज्जीवन्स वनगोचरः ॥ ३ ॥

हम सब ने तो, असावधानी और विश्वास के कारण हनुमान से धोखा खाया। (अर्थात् हम लोग समझते रहे कि, यह वानर हमारा क्या कर सकता है) यदि हम लोग सावधान होते तो क्या वह वन का जीव वहाँ से जीता जागता लौट कर जा सकता था ॥ ३ ॥

सर्वां सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् ।
करोम्यवानरां भूमिमाज्ञापयतु मां भवान् ॥ ४ ॥

आप मुझे आज्ञा भर दे दीजिये। मैं सागर, पहाड़, वन, जंगल सहित इस पृथिवी को अभी वानरशून्य कर दूँ ॥ ४ ॥

रक्षां चैव विधास्यामि वानराद्रजनीचर ।
नागमिष्यति ते दुःखं किञ्चिदात्मापराधजम् ॥ ५ ॥

हे राजन्! मैं वानरों से राक्षसों की रक्षा करूँगा। सीताहरण करने से आपके ऊपर कोई विपत्ति न आने पावेगी ॥ ५ ॥

अब्रवीत्तु सुसंक्रुद्धो दुर्मुखो नाम राक्षसः ।
इदं न क्षमणीयं हि सर्वेषां नः प्रधर्षणम् ॥ ६ ॥

इसके बाद दुर्मुख नामक राक्षस अत्यन्त क्रोध कर के, बोला— हनुमान का काम इस योग्य नहीं कि, उसकी उपेक्षा की जा सके। क्योंकि उसने यहाँ आकर हमारा सब का ही अपमान किया है ॥६॥

अयं परिभवो भूयः पुरस्यान्तःपुरस्य च ।
श्रीमतो राक्षसेन्द्रस्य वानरेण प्रधर्षणम् ॥ ७ ॥

हम लोग अपना अपमान सह लेते पर नगरी और रनवास को दहन कर इस बन्दर ने राक्षसराज का अपमान किया है ॥ ७ ॥

अस्मिन्मुहूर्ते हत्वैको निवर्तिष्यामि वानरान् ।
प्रविष्टान्सागरं भीममम्बरं वा रसातलम् ॥ ८ ॥

अतः मैं अभी जाकर वानरों की इतिश्री कर दूँगा। वे वानर भले ही समुद्र में, आकाश में, रसातल में या अन्यत्र कहीं भी जा छिपें, मैं उनका नाश किये विना न मानूँगा ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीत्सुसंक्रुद्धो वज्रदंष्ट्रो महाबलः ।
प्रगृह्य परिघं घोरं मांसशोणितरूपितम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर माँस और रुधिर से सने हुए भयानक परिघ को उठा, वज्रदंष्ट्र क्रुद्ध हो कहने लगा—॥ ९ ॥

किं वो हनुमता कार्यं कृपणेन *दुरात्मना ।
रामे तिष्ठति दुर्धर्षे ससुग्रीवे सलक्ष्मणे ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरे—"तपस्विना"।

दुर्धर्ष राम लक्ष्मण और सुग्रीव के जीते रहते, उस दीन और दुष्ट हनुमान को मार डालने से हमें क्या लाभ होगा ॥ १० ॥

अद्य रामंससुग्रीवं परिघेण सलक्ष्मणम् ।
आगमिष्यामि हत्वैको विक्षोभ्य हरिवाहिनीम् ॥ ११ ॥

मैं आज अकेला ही उस वानरी सेना को विकल कर, इस परिघ से राम लक्ष्मण और सुग्रीव का नाश कर लौट आऊँगा ॥ ११ ॥

इदं ममापरं वाक्यं शृणु राजन्यदीच्छसि ।
उपायकुशलो ह्येवं जयेच्छत्रूनतन्द्रितः ॥ १२ ॥

हे राजन् ! यदि आप चाहें तो मेरी एक और बात सुन लें। वह यह कि, जो उपाय करने में कुशल और आलस्य रहित होता है, विजयलक्ष्मी उसीको प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

कामरूपधराः शूराः सुभीमा भीमदर्शनाः ।
राक्षसा वै सहस्राणि राक्षसाधिप निश्चिताः ॥ १३ ॥

काकुत्स्थमुपसङ्गम्य बिभ्रतो मानुषं वपुः ।
सर्वे ह्यसम्भ्रमा भूत्वा ब्रुवन्तु रघुसत्तमम् ॥ १४ ॥

प्रेषिता भरतेन स्म तव भ्रात्रा यवीयसा ।
[तवागमनमुद्दिश्य कृत्यमात्ययिकं त्विति] ॥ १५ ॥

अतः इस सम्बन्ध में यह उपाय करना उचित है, कामरूपी, शूर, भयङ्कर आकार वाले और राक्षसराज के अनुभूत एक हज़ार राक्षस मनुष्य का रूप धर और एक निश्चय कर रामचन्द्र के पास जाँय और निर्भीक हो सब यह कहें कि, हम लोगों को तुम्हारे छोटे भाई

भरत ने भेजा है और हमारे द्वारा यह सन्देस तुम्हारे लिये भेजा है कि, ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

स हि सेनां समुत्थाप्य क्षिप्रमेवोपयास्यति ।
ततो वयमितस्तूर्णं शूलशक्तिगदाधराः ॥ १६ ॥
चापबाणासिहस्ताश्च त्वरितास्तत्र यामहे ।
आकाशे गणशः स्थित्वा हत्वा तां हरिवाहिनीम् ॥१७॥
अश्मशस्त्रमहावृष्ट्या प्रापयामं यमक्षयम् ।
एवं चेदुपसर्पेतामनयं रामलक्ष्मणौ ॥ १८ ॥
अवश्यमपनीतेन जहतामेव जीवितम् ।
कौम्भकर्णिस्ततो वीरो निकुम्भो नाम वीर्यवान् ॥१९॥

सेना लेकर बहुत शीघ्र यहाँ हम आते हैं। इस बीच में हम लोग बड़ी फुर्ती से शूल, शक्ति, गदा, कमान, तीर, तलवार हाथों में लिये हुए वहाँ पहुँच जांय और आकाश में खड़े हुए पत्थरों और शस्त्रों की महावृष्टि कर वानरी सेना को यमलोक भेज दें। ऐसा करने पर राम और लक्ष्मण निश्चय ही हमारी इस अनीति भरी चाल में आ जांयगे। तदनन्तर जब वानरी सेना का नाश हो जायगा, तब यह दोनों जन स्वयं ही मर जांयगे। तदनन्तर कुम्भकर्ण का बेटा निकुम्भ जो बड़ा प्रतापी और बली था ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

अब्रवीत्परमक्रुद्धो रावणं लोकरावणम् ।
सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु महाराजेन सङ्गताः ॥ २० ॥

अति क्रुद्ध हो, लोकों के रुलाने वाले रावण से बोला—तुम सब लोग महाराज के साथ यहीं रहो ॥ २० ॥

अहमेको हनिष्यामि राघवं सहलक्ष्मणम् ।
सुग्रीवं च हनूमन्तं सर्वानेव च वानरान् ॥ २१ ॥

मैं अकेला ही राम लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमानादि समस्त वानरों को मार डालूँगा ॥ २१ ॥

ततो वज्रहनुर्नाम राक्षसः पर्वतोपमः ।
क्रुद्धः परिलिहन्वक्त्रं जिह्वया वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥

तदनन्तर पर्वत के समान लंबा तड़ंगा वज्रहनु नामक राक्षस मारे क्रोध के जीभ से अधरों को चाटता हुआ बोला कि, ॥ २२ ॥

स्वैरं कुर्वन्तु कार्याणि भवन्तो विगतज्वराः ।
एकोऽहं भक्षयिष्यामि तान्सर्वान्हरियूथपान् ॥ २३ ॥

आप लोग इस बात की चिन्ता न कर अपने अपने कामों में लगिये । मैं अकेला ही उन सब वानर यूथपतियों को खा डालूँगा ॥ २३ ॥

स्वस्थाः क्रीडन्तु निश्चिन्ताः पिबन्तो मधुवारुणीम् ।
अहमेको वधिष्यामि सुग्रीवं सहलक्ष्मणम् ।
साङ्गदं च हनूमन्तं रामं च रणकुञ्जरम् ॥ २४ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

आप सब लोग सावधान और निश्चिन्त हो कर खेलिये कूदिये तथा वारुणी और मधुपान कीजिये । मैं अकेला ही सुग्रीव, लक्ष्मण, अङ्गद, हनुमान सहित उस रणकुञ्जर राम को मार डालूँगा ॥२४॥

युद्धकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

नवमः सर्गः

—※—

ततो निकुम्भो रभसः सूर्यशत्रुर्महाबलः ।
सुप्तघ्नो यज्ञहा रक्षो महापार्श्वो महोदरः ॥ १ ॥
अग्निकेतुश्च दुर्धर्षो रश्मिकेतुश्च वीर्यवान्* ।
इन्द्रजिच्च महातेजा बलवान्रावणात्मजः ॥ २ ॥
प्रहस्तोऽथ विरूपाक्षो वज्रदंष्ट्रो महाबलः ।
धूम्राक्षश्चातिकायश्च दुर्मुखश्चैव राक्षसः ॥ ३ ॥

तदनन्तर निकुम्भ, रभस, सूर्यशत्रु, सुप्तघ्न, यज्ञहा, महापार्श्व, महोदर, दुर्धर्ष, अग्निकेतु, बलवान रश्मिकेतु, महातेजस्वी और बलवान रावणतनय इन्द्रजीत, प्रहस्त, विरूपाक्ष, बलवान वज्रदंष्ट्र, धूम्राक्ष, अतिकाय, दुर्मुख आदि राक्षसगण ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

परिघान्पट्टशान्प्रासाञ्शक्तिशूलपरश्वधान् ।
चापानि च सबाणानि खड्गांश्च विपुलाञ्शितान् ॥ ४ ॥

परिघ, पट्ट, प्रास, शक्ति, शूल, परशु, बाणों सहित धनुष और बड़ी पैनी पैनी तलवारें ॥ ४ ॥

प्रगृह्य परमक्रुद्धाः समुत्पत्य च राक्षसाः ।
अब्रुवन्रावणं सर्वे प्रदीप्ता इव तेजसा ॥ ५ ॥

ले ले कर और उठ उठ कर तथा क्रोध में भर और अग्नि की तरह लाल हो, सब रावण से बोले ॥ ५ ॥

---

* पाठान्तरे—" राक्षसः " ।

अद्य रामं वधिष्यामः सुग्रीवं च सलक्ष्मणम् ।
कृपणं च हनूमन्तं लङ्का येन प्रदीपिता* ॥ ६ ॥

हम लोग आज ही राम, सुग्रीव, लक्ष्मण तथा उस बापुरे हनुमान को, जो यहाँ आकर लङ्का जला गया था—मार डालेंगे ॥ ६ ॥

तान्गृहीतायुधान्सर्वान्वारयित्वा विभीषणः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं पुनः प्रत्युपवेश्य तान् ॥ ७ ॥

उन आयुध लिये हुए समस्त राक्षसों को वर्ज कर और बैठा कर विभीषण ने रावण से हाथ जोड़ कर विनती की ॥ ७ ॥

अप्युपायैस्त्रिभिस्तात योऽर्थः प्राप्तुं न शक्यते ।
तस्य विक्रमकालांस्तान्युक्तानाहुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥

हे तात ! पण्डितों का कथन है कि, जहाँ तीन उपायों से काम न चले वहाँ पराक्रम प्रदर्शित करना चाहिये ॥ ८ ॥

प्रमत्तेष्वभियुक्तेषु दैवेन प्रहृतेषु च ।
विक्रमास्तात सिध्यन्ति परीक्ष्य विधिना कृताः ॥ ९ ॥

हे तात ! जो प्रमत्त हैं, जो दूसरे दूसरे कामों में लगे हुए हैं और जो रोगादि तथा दैवी आपत्तियों से ग्रस्त हैं, उन्हीं पर बल प्रदर्शित करने से काम सिद्ध हो सकता है; सो भी तब, जब भली भाँति समझ बूझ कर काम किया जाय ॥ ९ ॥

अप्रमत्तं कथं तं तु विजिगीषं बले स्थितम् ।
जितरोषं दुराधर्षं प्रधर्षयितुमिच्छथ ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरे—"प्रधर्षिता ।"

परन्तु तुम लोग तो उन प्रमादरहित, जयेच्छु, देवसहाय्य प्राप्त, (अथवा सैनिक बल से युक्त) क्रोध को जीते हुए और अजेय रामचन्द्र को किस प्रकार जीतने की इच्छा करते हो ॥ १० ॥

समुद्रं लङ्घयित्वा तु घोरं नदनदीपतिम् ।
गतिं हनुमतो लोके को विद्यात्तर्कयेत वा ॥ ११ ॥

क्या पहिले किसी ने जान पाया था या किसी ने कल्पना भी की थी कि. हनुमान नदीपति भयङ्कर समुद्र को लांघ, (दो घड़ी में) यहाँ चला आवेगा ॥ ११ ॥

बलान्यपरिमेयानि वीर्याणि च निशाचराः ।
परेषां सहसाऽवज्ञा न कर्तव्या कथञ्चन ॥ १२ ॥

हे निशाचरों ! शत्रु की पराक्रमी अगणित भयङ्कर सेना है—सो ऐसे शत्रुओं की सहसा अवज्ञा करना कभी उचित नहीं ॥ १२ ॥

किं च राक्षसराजस्य रामेणापकृतं पुरा ।
आजहार जनस्थानाद्यस्य भार्यां यशस्विनीम् ॥ १३ ॥

आप लोग यह तो बतलावें कि, राम ने राक्षसराज का क्या बिगाड़ा था, जो इन्होंने उनकी यशस्विनी भार्या को जनस्थान से हर कर, यहाँ रख छोड़ा है ॥ १३ ॥

खरो यद्यतिवृत्तस्तु रामेण निहतो रणे ।
अवश्यं प्राणिनां प्राणा रक्षितव्या यथाबलम् ॥ १४ ॥

यदि राम ने खर को मारा तो क्या अनुचित किया । क्योंकि वह इनका अपमान करना चाहता था । इसीसे उन्होंने ऐसा किया । क्योंकि प्रत्येक जीवधारी को अपने बलानुरूप अपनी प्राण-रक्षा करनी ही चाहिये ॥ १४ ॥

अयशस्यमनायुष्यं परदाराभिमर्शनम् ।
अर्थक्षयकरं घोरं पापस्य च पुनर्भवम् ॥ १५ ॥

दूसरे की स्त्री को हर लेना केवल वदनामी का ही कारण नहीं है, वल्कि आयु को क्षीण करने वाला भी है। ऐसा करने से धन का नाश होता है और फिर बड़ा भारी पाप भी लगता है ॥ १५ ॥

एतन्निमित्तं वैदेही भयं नः सुमहद्भवेत् ।
आहृता सा परित्याज्या कलहार्थे कृतेन किम् ॥ १६ ॥

यह हर कर लायी हुई सीता हम लोगों के लिये बड़े भय की वस्तु है। सो हमें उचित है कि इसका परित्याग करें। व्यर्थ लड़ाई झगड़ा करने से लाभ ही क्या है ॥ १६ ॥

न नः क्षमं वीर्यवता तेन धर्मानुवर्तिना ।
वैरं निरर्थकं कर्तुं दीयतामस्य मैथिली ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बड़े पराक्रमी और धर्मात्मा हैं, अकारण उनके साथ वैर बाँधना अनावश्यक है। अतएव पहिले ही उनको सीता दे देनी चाहिये ॥ १७ ॥

यावन्न सगजां साश्वां वहुरत्नसमाकुलाम् ।
पुरीं दारयते वाणैर्दीयतामस्य मैथिली ॥ १८ ॥

घोड़ों, हाथियों तथा वहुत से रत्नों से भरी पूरी इस लङ्का को रामचन्द्र अपने वाणों से नष्ट भ्रष्ट करें, इसके पूर्व ही, उनको सीता दे देनी चाहिये ॥ १८ ॥

यावत्सुघोरा महती दुर्धर्षा हरिवाहिनी ।
नावस्कन्दति नो लङ्कां तावत्सीता प्रदीयताम् ॥ १९ ॥

उस महाभयङ्कर महती एवं दुर्जेय वानरी सेना का लङ्का पर आक्रमण हो, इसके पूर्व ही उनको सीता दे देनी चाहिये ॥ १९ ॥

विनश्येद्धि पुरी लङ्का शूराः सर्वे च राक्षसाः ।
रामस्य दयिता पत्नी स्वयं न यदि दीयते ॥ २० ॥

यदि आप राम की प्यारी भार्या सीता को न देंगे, तो यह लङ्का उजड़ जायगी और समस्त शूरवीर राक्षस भी मारे जायँगे ॥ २० ॥

प्रसादये त्वां बन्धुत्वात्कुरुष्व वचनं मम ।
हितं तथ्यमहं ब्रूमि दीयतामस्य मैथिली ॥ २१ ॥

हे राजन्! आप मेरे भाई हैं इसीसे मैं आपको मना रहा हूँ और आपसे हितकर तथा यथार्थ बातें कहता हूँ कि, आप सीता को अवश्य लौटा दें ॥ २१ ॥

पुरा शरत्सूर्यमरीचिसन्निभा-
न्नवान्सुपुङ्खान्सुदृढान्नृपात्मजः ।
सृजत्यमोघान्विशिखान्वधाय ते
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ २२ ॥

हे महाराज! राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी जब तक आप के वध के लिये, सूर्य की किरणों की तरह चमचमाते पंख लगे हुए बड़े मज़बूत और अमोघ बाण नहीं छोड़ते, उसके पूर्व ही आप उन्हें सीता दे दें ॥ २२ ॥

त्यजस्व कोपं सुखधर्मनाशनं
भजस्व धर्मं [1]रतिकीर्तिवर्धनम् ।
प्रसीद जीवेम सपुत्रबान्धवाः
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ २३ ॥

---

[1] रतिः—सुखं । (गो०)

आप उस क्रोध को, जो सुख और धर्म को नष्ट करने वाला है, त्याग दें और सुख तथा कीर्ति को बढ़ाने वाले धर्म का आश्रय लें। आप प्रसन्नता पूर्वक सीता श्रीरामचन्द्र को दे दें, जिससे हम लोग बाल बच्चों और भाई बन्धुओं सहित जीते बच जाँय ॥ २३ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
विसर्जयित्वा तान्सर्वान्प्रविवेश स्वकं गृहम् ॥ २४ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

विभीषण के इन वचनों को सुन, राक्षसेश्वर रावण ने उन सब राक्षसों को विदा किया और वह स्वयं अपने भवन में चला गया ॥ २४ ॥

युद्धकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

दशमः सर्गः

—*—

ततः प्रत्युषसि प्राप्ते प्राप्तधर्मार्थनिश्चयः ।
राक्षसाधिपतेर्वेश्म भीमकर्मा विभीषणः ॥ १ ॥

अगले दिन सवेरा होते ही, धर्म और अर्थ का विचार रखने वाले विभीषण, भीमकर्मा राक्षसराज रावण के भवन में गये ॥ १ ॥

शैलाग्रचयसङ्काशं शैलशृङ्गमिवोन्नतम् ।
सुविभक्तमहाकक्ष्यं [1]महाजनपरिग्रहम् ॥ २ ॥

---

१ महाजनैः—विद्वद्भिः । (गो०)

वह रावण का भवन, पर्वतशिखर के समूह के समान और पर्वतशिखर की तरह ऊँचा था। उसकी ड्योढ़ियाँ बड़ी अच्छी तरह बनायी गयी थीं। इस भवन में बड़े बड़े विद्वान् रहते थे ॥ २ ॥

मतिमद्भिर्महामात्रैरनुरक्तैरधिष्ठितम् ।
राक्षसैश्चाप्तपर्याप्तैः सर्वतः परिरक्षितम् ॥ ३ ॥

वह बुद्धिमान, अनुरागी, हितैषी और कार्यसाधन में समर्थ, मंत्रियों से सेवित और सब ओर से राक्षसों द्वारा रक्षित था ॥ ३ ॥

मत्तमातङ्गनिःश्वासैर्व्याकुलीकृतमारुतम् ।
शङ्खघोषमहाघोषं तूर्यनादानुनादितम् ॥ ४ ॥

वह मतवाले गजेन्द्रों के श्वास के वायु से पूर्ण रहता था तथा शङ्ख और नगाड़ों के शब्दों से प्रतिध्वनित हुआ करता था ॥ ४ ॥

प्रमदाजनसम्बाधं प्रजल्पितमहापथम् ।
तप्तकाञ्चननिर्यूहं[1] भूषणोत्तमभूषितम् ॥ ५ ॥

उसमें स्त्रियों के दल के दल रहा करते थे, राजमार्ग में लोगों की बातचीत से सदा चहल पहल रहा करती थी। उसमें सुवर्ण के द्वार बने हुए थे और वह उत्तम उत्तम सजावटी सामान से सजा हुआ था ॥ ५ ॥

गन्धर्वाणामिवावासमालयं मरुतामिव ।
रत्नसञ्चयसम्बाधं भवनं [2]भोगिनामिव ॥ ६ ॥

---

१ निर्यूहः शिखरे द्वारे इति विश्वः । (रा०) २ भोगिनां—सर्पाणां । (गो०)

वह गन्धर्वों तथा देवताओं की तरह उत्तम रत्नों से पूर्ण था। ऐसा जान पड़ता था मानों वह सर्पों का भवन हो (अर्थात् सर्पों के भवन में जैसे रत्नों का ढेर लगा रहता है वैसा ही रावण के भवन में भी था) ॥ ६ ॥

तं महाभ्रमिवादित्यस्तेजोविस्तृतरश्मिमान्।
अग्रजस्यालयं वीरः प्रविवेश महाद्युतिः ॥ ७ ॥

इस प्रकार के बड़े भाई के भवन में महाद्युतिमान वीर विभीषण वैसे ही घुसे जैसे बादलों में सूर्य घुसते हैं ॥ ७ ॥

पुण्यान्पुण्याहघोषांश्च वेदविद्भिरुदाहृतान्।
शुश्राव सुमहातेजा भ्रातुर्विजयसंश्रितान् ॥ ८ ॥

भवन के भीतर पहुँच, विभीषण ने वेदज्ञों द्वारा उच्चारित पुण्याहवाचन के मंत्रों का पवित्र घोष अपने भाई की विजय सूचकता में सुना ॥ ८ ॥

पूजितान्दधिपात्रैश्च सर्पिभिः सुमनोक्षतैः।
मन्त्रवेदविदो विप्रान्ददर्श सुमहाबलः ॥ ९ ॥

विभीषण ने वहाँ वेद मंत्र जानने वाले ब्राह्मणों को पुष्प, अक्षत, घी, दही आदि शुभ वस्तुओं से पूजित होते देखा ॥ ९ ॥

स पूज्यमानो रक्षोभिर्दीप्यमानः स्वतेजसा।
आसनस्थं महाबाहुर्ववन्दे धनदानुजम् ॥ १० ॥

राक्षसों से आदर पा, विभीषण ने रावण को, जो सिंहासन पर बैठा हुआ था और मारे तेज के चमचमा रहा था, जाते ही प्रणाम किया ॥ १० ॥

स राजदृष्टिसम्पन्नमासनं हेमभूषितम् ।
जगाम समुदाचारं प्रयुज्याचारकोविदः ॥ ११ ॥

शिष्टाचारज्ञ रावण ने भी शिष्टाचार के अनुसार विभीषण को आशीर्वाद दिया और आँख के सङ्केत से बैठने को कहा। तब विभीषण "जय हो" कह, सुवर्णभूषित आसन पर बैठ गये ॥ ११ ॥

स रावणं महात्मानं विजने मन्त्रिसन्निधौ ।
उवाच हितमत्यर्थं वचनं हेतुनिश्चितम् ॥ १२ ॥

उस समय मंत्रियों को छोड़ वहाँ और कोई न था। अतः विभीषण ने रावण से हितकर और युक्तियुक्त वचन कहे ॥ १२ ॥

प्रसाद्य भ्रातरं ज्येष्ठं सान्त्वेनोपस्थितक्रमः ।
देशकालार्थसंवादी दृष्टलोकपरावरः ॥ १३ ॥

बातचीत के ढंग को जानने वाले और ऊँच नीच समझने वाले विभीषण ने स्तुतिवचन कह, प्रथम तो रावण को प्रसन्न किया, तदनन्तर सान्त्वनापूर्वक समयानुसार और देश काल के अनुरूप वचन कहे ॥ १३ ॥

यदाप्रभृति वैदेही सम्प्राप्तेमां पुरीं तव ।
तदाप्रभृति दृश्यन्ते निमित्तान्यशुभानि नः ॥ १४ ॥

हे भैया ! जब से सीता तुम्हारी इस पुरी में आयी है, तब से हम सब को नित्य ही अपशकुन दिखलाई पड़ रहे हैं ॥ १४ ॥

सस्फुलिङ्गः सधूमार्चिः सधूमकलुषोदयः ।
मन्त्रसन्धुक्षितोऽप्यग्निर्न सम्यगभिवर्धते ॥ १५ ॥

मंत्रपूर्वक आहुति पाकर भी आग अच्छी तरह नहीं जलती। आग जलाते समय आग धुआं देती है, उसमें से चिनगारियाँ उड़ती हैं और आग की शिखा से बराबर धुआं निकलता रहता है ॥ १५ ॥

अग्निष्ठेष्वग्निशालासु तथा ब्रह्मस्थलीषु च ।
सरीसृपाणि दृश्यन्ते हव्येषु च पिपीलिकाः ॥ १६ ॥

रसोई घर, अग्निशालाओं और वेदाध्ययन शालाओं में नित्य साँप दिखलाई पड़ते हैं। होम की द्रव्य में चीटियां रेंगती हुई देख पड़ती हैं ॥ १६ ॥

गवां पयांसि स्कन्नानि विमदा वीरकुञ्जराः ।
दीनमश्वाः प्रहेषन्ते न च ग्रासाभिनन्दिनः ॥ १७ ॥

गौओं का दूध कम हो गया है, हाथियों का मद बहना बंद हो गया है। घोड़े दीनता सूचक हिनहिनाहट किया करते हैं और अपने चारे से तृप्त नहीं होते ॥ १७ ॥

खरोष्ट्राश्वतरा राजन्भिन्नरोमाः स्रवन्ति नः ।
न स्वभावेऽवतिष्ठन्ते विधानैरपि चिन्तिताः ॥ १८ ॥

हे राजन्! गधों, ऊँटों, खच्चरों के रोंगटे गिर पड़े हैं और वे आंसू बहाया करते हैं। चिकित्सा करने पर भी वे प्रकृतिस्थ नहीं होते ॥ १८ ॥

वायसाः सङ्घशः क्रूरा व्याहरन्ति समन्ततः ।
समवेताश्च दृश्यन्ते विमानाग्रेषु सङ्घशः ॥ १९ ॥

कौवे एकत्र हो चारों ओर काँव काँव करते हैं और अटारियों पर झुंड के झुंड एकत्र हो बैठे हुए देख पड़ते हैं ॥ १९ ॥

गृध्राश्च [1]परिलीयन्ते पुरीमुपरि [2]पिण्डिताः ।
उपपन्नाश्च सन्ध्ये द्वे व्याहरन्त्यशिवं शिवाः ॥ २० ॥

गीध इकट्ठे हो नगरी के ऊपर मँडराया करते हैं । सन्ध्या समय होने पर लुखरियाँ अमङ्गलसूचक चीत्कार किया करती हैं ॥ २० ॥

क्रव्यादानं मृगाणां च पुरद्वारेषु सङ्घशः ।
श्रूयन्ते विपुला घोषाः [3]सविस्फूर्जथुनिःस्वनाः ॥ २१ ॥

पुरी के द्वार पर व्याघ्रादि मांस खाने वाले जीवों के दहाड़ने का शब्द वैसा ही सुन पड़ता है, जैसा कि, बिजली गिरने का शब्द सुन पड़ता है ॥ २१ ॥

तदेवं प्रस्तुते कार्ये प्रायश्चित्तमिदं क्षमम् ।
रोचते यदि वैदेही राघवाय प्रदीयताम् ॥ २२ ॥

इन सब अपशकुनों का प्रायश्चित्त अथवा शान्तिविधान मुझे तो यही अच्छा लगता है कि, श्रीरामचन्द्र जी को सीता दे दी जाँय ॥ २२ ॥

इदं च यदि वा मोहाल्लोभाद्वा व्याहृतं मया ।
तत्रापि च महाराज न दोषं कर्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

हे महाराज ! यदि मैंने कोई बात लोभवश, या मोहवश कही हो, तो भी आप मेरा अपराध क्षमा कर दीजियेगा ॥ २३ ॥

---

१ परिलीयन्ते—श्लिष्यन्ते । (गो०) २ पिण्डिताः—मण्डलीभूता सन्तः । (गो०) ३ सविस्फूर्जथुनिःस्वनाः—अशनिघोषः । (गो०)

अयं च दोषः सर्वस्य जनस्यास्योपलक्ष्यते ।
रक्षसां राक्षसीनां च पुरस्यान्तःपुरस्य च ॥ २४ ॥

क्योंकि यह दोष तो इस नगर के समस्त निवासियों राक्षसों राक्षसियों तथा अन्तःपुर वालों का है ॥ २४ ॥

श्रावणे चास्य मन्त्रस्य निवृत्ताः सर्वमन्त्रिणः ।
अवश्यं च मया वाच्यं यद्दृष्टमपि वा श्रुतम् ॥ २५ ॥

आपके मंत्रियों ने ये समाचार नहीं पहुँचाये । किन्तु मैंने जो कुछ सुना और देखा है—सो सब आपकी सेवा में अवश्य निवेदन करना ही चाहिये ॥ २५ ॥

सम्प्रधार्य यथान्यायं तद्भवान्कर्तुमर्हति ।
इति स्म मन्त्रिणां मध्ये भ्राता भ्रातरमूचिवान् ।
रावणं राक्षसश्रेष्ठं पथ्यमेतद्विभीषणः ॥ २६ ॥

आप न्यायानुसार समझ बूझ कर जैसा उचित समझें वैसा करें । इस प्रकार मंत्रियों के बीच बैठे हुए राक्षसश्रेष्ठ रावण से विभीषण ने ये हितकर वचन कहे ॥ २६ ॥

हितं महार्थं मृदु हेतुसंहितं
व्यतीतकालायतिसम्प्रतिक्षमम् ।
निशम्य तद्वाक्यमुपस्थितज्वरः[1]
प्रसङ्गवानुत्तरमेतदब्रवीत् ॥ २७ ॥

विभीषण के हितकर, अर्थयुक्त, मृदु, युक्तियुक्त और तीनों कालों में लाभप्रद वचन सुन कर, रावण बहुत क्रुद्ध हो, बोला ॥२७॥

---

१ उपस्थितज्वरः—प्राप्तक्रोधः । (गो०)

भयं न पश्यामि कुतश्चिदप्यहं
न राघवः प्राप्स्यति जातु मैथिलीम्।
सुरैः सहेन्द्रैरपि सङ्गतः कथं
ममाग्रतः स्थास्यति लक्ष्मणाग्रजः ॥ २८॥

मुझे तो भय कहीं भी नहीं देख पड़ता, रामचन्द्र को जानकी किसी भी तरह नहीं मिल सकेगी। क्योंकि लक्ष्मण के बड़े भाई रामचन्द्र इन्द्रादि देवताओं के साथ मिल कर भी रणभूमि में मेरे सामने नहीं ठहर सकते॥ २८॥

इतीदमुक्त्वा सुरसैन्यनाशनो
महाबलः संयति चण्डविक्रमः।
दशाननो भ्रातरमाप्तवादिनं
विसर्जयामास तदा विभीषणम्॥ २९॥

इति दशमः सर्गः॥

महाबली, देवसेना के नाशक और संग्राम में घोर पराक्रम करने वाले रावण ने, यह कह कर युक्तियुक्त वचन कहने वाले विभीषण को बिदा किया॥ २९॥

युद्धकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकादशः सर्गः

—*—

स बभूव कृशो राजा मैथिलीकाममोहितः।
असम्मानाच्च सुहृदां पापः पापेन कर्मणा॥ १॥

सीता पर आसक्त, विभीषणादि सुहृदों का निरादर करने वाले और भार्याहरण का पापकर्म करने वाले रावण का शरीर दुबला होने लगा। क्योंकि पापी अपने पापकर्मों द्वारा ऐसी ही दशा को प्राप्त होता है॥ १॥

अतीतसमये काले तस्मिन्वै युधि रावणः।
अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च प्राप्तकालममन्यत॥ २॥

रावण ने असमय में मंत्रियों और मित्रों के साथ परामर्श कर श्रीरामचन्द्र जी के साथ युद्ध करना ही ठीक समझा॥ २॥

स हेमजालविततं मणिविद्रुमभूषितम्।
उपगम्य विनीताश्वमारुरोह महारथम्॥ ३॥

तदुपरान्त, सुवर्ण की जालियों से भूषित, मूँगों और मणियों से शोभित और शिक्षित घोड़ों से युक्त बड़े रथ पर रावण सवार हुआ॥ ३॥

तमास्थाय रथश्रेष्ठं महामेघसमस्वनम्।
प्रययौ राक्षसश्रेष्ठो दशग्रीवः सभां प्रति॥ ४॥

उस मेघ के समान शब्द करते हुए श्रेष्ठ रथ पर चढ़ कर, दशवदन राक्षसश्रेष्ठ रावण सभाभवन की ओर चला॥ ४॥

असिचर्मधरा योधाः सर्वायुधधरास्तथा।
राक्षसा राक्षसेन्द्रस्य पुरस्तात्सम्प्रतस्थिरे॥ ५॥

उस समय कुछ तो ढाल तलवारधारी तथा कुछ सब अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित योधा राक्षसराज रावण के आगे चले॥ ५॥

नानाविकृतवेषाश्च नानाभूषणभूषिताः ।
पार्श्वतः पृष्ठतश्चैनं परिवार्य ययुस्तदा ॥ ६ ॥

विकट वेशधारी अनेक भूषण पहने हुए अनेक राक्षस अगल बगल और पीछे रावण को घेर कर चले ॥ ६ ॥

रथैश्चातिरथाः शीघ्रं मत्तैश्च वरवारणैः ।
अनूत्पेतुर्दशग्रीवमाक्रीडद्भिश्च वाजिभिः ॥ ७ ॥

महारथी राक्षस शीघ्रता पूर्वक रथों और मतवाले हाथियों पर तथा खेल कूद करने वाले घोड़ों पर सवार हो रावण के साथ चले ॥ ७ ॥

गदापरिघहस्ताश्च शक्तितोमरपाणयः ।
परश्वधधराश्चान्ये तथाऽन्ये शूलपाणयः ॥ ८ ॥

वे लोग हाथों में गदा, परिघ, शक्ति, तोमर, परश्वध और शूल आदि हथियार लिये हुए थे ॥ ८ ॥

ततस्तूर्यसहस्राणां सञ्जज्ञे निस्वनो महान् ।
तुमुलः शङ्खशब्दश्च सभां गच्छति रावणे ॥ ९ ॥

उस समय सभाभवन की ओर रावण के जाने पर हज़ारों तुरहियों और महाघोर शङ्खों के शब्द हुए ॥ ९ ॥

स नेमिघोषेण *महान्महताभिविनादयन् ।
राजमार्गं श्रिया जुष्टं प्रतिपेदे महारथः ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरे—"महान्सहसाऽभिविनादयन् ।" अथवा "महान्दिशोदश-विलोकयन् ।"

तदनन्तर रथ के घर घर शब्द से व्याप्त रमणीय राजमार्ग पर रावण शीघ्रता पूर्वक जा पहुँचा ॥ १० ॥

विमलं चातपत्राणां प्रगृहीतमशोभत ।
पाण्डरं राक्षसेन्द्रस्य पूर्णस्ताराधिपो यथा ॥ ११ ॥

राक्षसराज रावण के मस्तक पर श्वेतवर्ण का प्रकाशमान छत्र, विमल पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह शोभायमान हो रहा था ॥ ११ ॥

हेममञ्जरिगर्भे च शुद्धस्फटिकविग्रहे ।
चामरव्यजने चास्य रेजतुः सव्यदक्षिणे ॥ १२ ॥

रावण के अगल बगल सोने के सूत्रों से भूषित और उज्वल डंडी से बने हुए दो चमर और पंखे डुलाये जा रहे थे ॥ १२ ॥

ते कृताञ्जलयः सर्वे रथस्थं पृथिवीस्थिताः ।
राक्षसा राक्षसश्रेष्ठं शिरोभिस्तं ववन्दिरे ॥ १३ ॥

रास्ते में बहुत से राक्षस हाथ जोड़े खड़े थे और जब रथ सामने आता तब वे रथ में सवार रावण को झुक झुक कर प्रणाम करते थे ॥ १३ ॥

राक्षसैः स्तूयमानः सञ्जयाशीर्भिररिन्दमः ।
आससाद महातेजाः सभां सुविहितां शुभाम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार राक्षसों द्वारा सम्मानित और विजय के लिये आशीर्वाद सुनता हुआ शत्रुदमनकारी एवं महातेजस्वी रावण सुन्दर बने हुए शुभ सभाभवन में पहुँचा ॥ १४ ॥

सुवर्णरजतस्थूणां विशुद्धस्फटिकान्तराम् ।
विराजमानो वपुषा रुक्मपट्टोत्तमच्छदाम् ॥ १५ ॥

तां पिशाचशतैः षड्भिरभिगुप्तां सदा शुभाम् ।
प्रविवेश महातेजाः सुकृतां विश्वकर्मणा ॥ १६ ॥

सभाभवन के फर्श का मध्यभाग स्फटिक पत्थर का बना हुआ था और उसके ऊपर सुनहले रुपहले काम का फर्श बिछा हुआ था । शरीर को सजाये हुए और छः सौ पिशाचों द्वारा रक्षित वह महातेजस्वी रावण विश्वकर्मा के बनाये सभाभवन में गया ॥ १५ ॥ १६ ॥

तस्यां तु वैडूर्यमयं प्रियकाजिनसंवृतम् ।
महत्सोपाश्रयं[1] भेजे रावणः परमासनम् ॥ १७ ॥

सभाभवन में पहुँच रावण पन्नों के जड़ाऊ सिंहासन पर, जिसके ऊपर प्रियक जाति के हिरन का कोमल चर्म बिछा हुआ था और मसनद लगा हुआ था—जा बैठा ॥ १७ ॥

ततः शशासेश्वरवद्दूतांल्लघुपराक्रमान् ।
समानयत मे क्षिप्रमिहैतान्राक्षसानिति ॥ १८ ॥

कृत्यमस्ति महज्जातं समर्थ्यमिह नो महत् ।
राक्षसास्तद्वचः श्रुत्वा लङ्कायां परिचक्रमुः ॥ १९ ॥

राजा की हैसियत से उसने दूतों को बुला कर आज्ञा दी—जाओ और शीघ्र ही लङ्कावासी राक्षसों को मेरे पास लिवा लाओ । क्योंकि शत्रु के साथ मुझे बड़ा काम आ पड़ा है । राक्षसराज रावण की ऐसी आज्ञा पा, वे दूत लङ्कापुरी में घूम घूम कर, ॥ १८ ॥ १९ ॥

---

१ सोपाश्रयं—सावष्टम्भं । (गो०)

अनुगेहमवस्थाय विहारशयनेषु च ।
उद्यानेषु च रक्षांसि चोदयन्तो ह्यभीतवत् ॥ २० ॥

विहार में रत, सोते हुए, उद्यानों में खेलते हुए, राक्षसों में राक्षसेश्वर की आज्ञा का प्रचार निर्भीक हो करने लगे ॥ २० ॥

ते रथान्रुचिरानेके दृप्तानेके पृथग्घयान् ।
नागानन्येऽधिरुरुहुर्जग्मुश्चैके पदातयः ॥ २१ ॥

राक्षसेश्वर की आज्ञा पाते ही उन राक्षसों में से कोई रथों पर, कोई अलग घोड़ों पर, कोई हाथियों पर और कोई पैदल ही चल दिये ॥ २१ ॥

सा पुरी परमाकीर्णा रथकुञ्जरवाजिभिः ।
सम्पतद्भिर्विरुरुचे गरुत्मद्भिरिवाम्बरम् ॥ २२ ॥

उस समय लङ्कापुरी रथ, हाथी और घोड़ों से ऐसी शोभा पा रही थी ; जैसे गरुड़ों से आकाश शोभायमान होता है ॥ २२ ॥

ते वाहनान्यवस्थाप्य यानानि विविधानि च ।
सभां पद्भिः प्रविविशुः सिंहा गिरिगुहामिव ॥ २३ ॥

वे राक्षस अपनी विविध प्रकार की सवारियों को सभाभवन के फाटक पर छोड़ पैदल ही सभाभवन के अंदर उसी प्रकार गये ; जैसे सिंह पहाड़ी गुफा में जाता है ॥ २३ ॥

राज्ञः पादौ गृहीत्वा तु राज्ञा ते प्रतिपूजिताः ।
पीठेष्वन्ये [1]बृसीष्वन्ये भूमौ केचिदुपाविशन् ॥ २४ ॥

---

[1] बृसीषु—दर्भमयासनेषु । (गो०)

सभाभवन में पहुँच राक्षसों ने राक्षसराज के चरणों में सीस नवाया। सम्मान पा उनमें से कोई कुरसी पर, कोई कुशासन पर और कोई ज़मीन पर ही बैठ गये ॥ २४ ॥

ते समेत्य सभायां वै राक्षसा राजशासनात् ।
यथार्हमुपतस्थुस्ते रावणं राक्षसाधिपम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार राक्षसराज की आज्ञा से वे सब वहाँ एकत्र हो यथाक्रम रावण के समीप बैठ गये ॥ २५ ॥

मन्त्रिणश्च यथा मुख्या निश्चितार्थेषु पण्डिताः ।
अमात्याश्च गुणोपेताः सर्वज्ञा बुद्धिदर्शनाः ॥ २६ ॥

अच्छे अच्छे मंत्री सब विषयों में निपुण और गुणज्ञ, सर्वज्ञ और अत्यन्त बुद्धिमान यथाक्रम उस सभा में बैठे हुए थे ॥ २६ ॥

समेयुस्तत्र शतशः शूराश्च बहवस्तदा ।
सभायां हेमवर्णायां सर्वार्थस्य [1]सुखाय वै ॥ २७ ॥

उस सुवर्णमय सभाभवन में कोई क्षेमकर विचार करने के लिये बहुत से वीर भी एकत्र हुए थे ॥ २७ ॥

रम्यायां राक्षसेन्द्रस्य समेयुस्तत्र सङ्घशः ।
[राक्षसा राक्षसश्रेष्ठं परिवार्योपतस्थिरे] ॥ २८ ॥

राक्षसेन्द्र के उस रमणीक सभाभवन में राक्षसों के दल के दल एकत्र हुए। वे राक्षस राक्षसराज रावण को घेर कर बैठ गये ॥ २८ ॥

---

१ सुखायवै—क्षेमुं विचारयितुं (गो०)

ततो महात्मा विपुलं सुयुग्यं
*वरार्हजाम्बूनदचित्रिताङ्गम् ।
†रथं समास्थाय ययौ यशस्वी
विभीषणः संसदमग्रजस्य ॥ २९ ॥

तदनन्तर यशस्वी महात्मा विभीषण, सुन्दर घोड़ों से युक्त, सुवर्णभूषित और मङ्गलचिन्हों से युक्त एक बड़े रथ पर सवार हो, अपने बड़े भाई के सभाभवन में पहुँचे ॥ २९ ॥

स पूर्वजायावरजः शशंस
नामाथ पश्चाच्चरणौ ववन्दे ।
शुकः प्रहस्तश्च तथैव तेभ्यो
ददौ यथार्हं पृथगासनानि ॥ ३० ॥

विभीषण ने सभाभवन में अपना नाम ले बड़े भाई के चरणों में प्रणाम किया। शुक और प्रहस्त सभा में समागत सभासदों को यथाक्रम अलग अलग आसनों पर बिठाते थे ॥ ३० ॥

सुवर्णनानामणिभूषणानां
सुवाससां संसदि राक्षसानाम् ।
तेषां परार्ध्यागरुचन्दनानां
स्रजश्च ‡गन्धाः प्रववुः समन्तात् ॥ ३१ ॥

उस समय वहाँ सोने के और अनेक प्रकार के मणि भूषणों को धारण किये हुए जो राक्षस बैठे थे, उनके शरीरों में अगर और

* पाठान्तरे—" वरं रथं हेमविचित्रताङ्गम् ।" † पाठान्तरे—" शुभं ।"
‡ पाठान्तरे—" गन्धाश्च वबुः ।"

चन्दन लगे हुए थे। उनसे निकली हुई तथा सुगन्धित पुष्प मालाओं से निकली हुई सुगन्धि, सभाभवन में चारों ओर फैल गयी ॥ ३१ ॥

न चुक्रुशुर्नानृतमाह कश्चि-
त्सभासदो नैव जजल्पुरुच्चैः ।
संसिद्धार्थाः सर्व एवोग्रवीर्या
भर्तुः सर्वे ददृशुश्चाननं ते ॥ ३२ ॥

वहाँ सभा में बैठे सब चुपचाप थे—न तो कोई कुछ कहता था और न कोई बकवाद ही करता था। किसी के मुख से उच्च स्वर से कोई बात नहीं निकलती थी। क्योंकि वे सब राक्षस सफल मनोरथ तेजस्वी और पराक्रमी थे। वे तो रावण के मुख को ताक रहे थे ॥ ३२ ॥

स रावणः शस्त्रभृतां मनस्विनां
महाबलानां समितौ मनस्वी ।
तस्यां सभायां प्रभया चकाशे
मध्ये वसूनामिव वज्रहस्तः ॥ ३३ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

उस सभा में विराजमान शस्त्रधारी और मनस्वी राक्षसों के बीच में बैठा हुआ चिन्ताशील रावण, सभा में बैठा हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था, जैसे आठ वसुओं के बीच में बैठे हुए इन्द्र की शोभा होती है ॥ ३३ ॥

युद्धकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

द्वादशः सर्गः

—※—

स तां परिषदं कृत्स्नां समीक्ष्य समितिञ्जयः ।
प्रचोदयामास तदा प्रहस्तं वाहिनीपतिम् ॥ १ ॥

रणविजयी रावण ने समस्त सभा को देख कर, सेनापति प्रहस्त को इस प्रकार आज्ञा दी ॥ १ ॥

सेनापते यथा ते स्युः कृतविद्याश्चतुर्विधाः ।
*योधा नगररक्षायां तथा व्यादेष्टुमर्हसि ॥ २ ॥

हे सेनापते! सेना में चार तरह के मनुष्य हैं, रथसवार, हाथी-सवार, घुड़सवार और पैदल। इन चारों तरह के सैनिकों को, नगर रक्षा के लिये तुम यथास्थान नियत कर दो ॥ २ ॥

स प्रहस्तः प्रणीतात्मा चिकीर्षन्राजशासनम् ।
विनिक्षिपद्बलं सर्वं बहिरन्तश्च मन्दिरे ॥ ३ ॥

ततो विनिक्षिप्य बलं पृथङ्नगरगुप्तये ।
प्रहस्तः प्रमुखे राज्ञो निषसाद जगाद च ॥ ४ ॥

तब सावधानचित्त प्रहस्त ने रावण के आज्ञानुसार यथाविधान सैनिकों को नियुक्त कर दिया। नगर की रक्षा के लिये अलग अलग सेना नियत कर, फिर आकर सभा में रावण के सामने बैठ गया और यह बोला ॥ ३ ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—"योधानधिकरक्षायां।"

निहितं वहिरन्तश्च वलं वलवतस्तव ।
कुरुष्वाविमनाः कृत्यं यदभिप्रेतमस्ति ते ॥ ५ ॥

मैंने आपके आज्ञानुसार नगर के वाहिर और भीतर वलवान् सेना नियत कर दी है। अब आपकी जो इच्छा हो सो आप स्वस्थ मन से करें ॥ ५ ॥

प्रहस्तस्य वचः श्रुत्वा राजा राज्यहिते रतः ।
सुखेप्सुः सुहृदां मध्ये व्याजहार स रावणः ॥ ६ ॥

प्रहस्त के ये वचन सुन रावण राज्य के हित में रत, सुहृदों के वीच, अपने सुख की चाहना से कहने लगा ॥ ६ ॥

प्रियाप्रिये सुखं दुःखं लाभालाभौ हिताहिते ।
धर्मकामार्थकृच्छ्रेषु यूयमर्हथ वेदितुम् ॥ ७ ॥

भाइयो ! विपत्ति में, प्रिय अप्रिय, सुख दुःख, हानि लाभ, हिताहित तथा धर्मार्थ काम की सव वातें तुम लोग जानते हो ॥ ७ ॥

सर्वकृत्यानि युष्माभिः समारब्धानि सर्वदा ।
मन्त्रकर्मनियुक्तानि न जातु विफलानि मे ॥ ८ ॥

तुम आपस में परामर्श कर और एकमत हो जो काम करते हो, वह कभी निष्फल नहीं होता। क्योंकि मैं भी कई काम तुम लोगों की सम्मति से पूरे कर चुका हूँ ॥ ८ ॥

ससोमग्रहनक्षत्रैर्मरुद्भिरिव वासवः ।
भवद्भिरहमत्यर्थं वृतः श्रियमवाप्नुयाम् ॥ ९ ॥

इन्द्र, जिस प्रकार चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और मरुद्गणों से सेवित हो कर, स्वर्गसुख भोगा करते हैं, उसी प्रकार मैं आप लोगों के साथ लङ्कापुरी का राज्य करता हूँ ॥ ९ ॥

अहं तु खलु सर्वान्वः [1]समर्थयितुमुद्यतः ।
कुम्भकर्णस्य तु स्वप्नान्नेसमर्थमचोदयम् ॥ १० ॥
अयं हि सुप्तः षण्मासान्कुम्भकर्णो महाबलः ।
सर्वशस्त्रभृतां मुख्यः स इदानीं समुत्थितः ॥ ११ ॥

मैं सब प्रकार के कार्यों को आप लोगों को सूचित कर देना चाहता था। परन्तु कुम्भकर्ण की निद्रा के कारण मैं इसे आप सब के सामने प्रकट करने का अवसर प्राप्त न कर सका। यह महाबली कुम्भकर्ण जो सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ है, छः मास बाद अब सो कर जागा है॥ १० ॥ ११ ॥

इयं च दण्डकारण्याद्रामस्य महिषी प्रिया ।
रक्षोभिश्चरिताद्देशादानीता जनकात्मजा ॥ १२ ॥

वह बात जो मैं आप लोगों के सामने प्रकट करना चाहता था, यह है कि, जनक की पुत्री और राम की प्यारी पटरानी सीता को मैं दण्डकवन में जनस्थान से ले आया था ॥ १२ ॥

[नोट—रावण सब के सामने यह स्पष्ट रूप से नहीं कहता कि, मैं दण्डक वन से सीता को बरजोरी हर लाया हूँ। वह कहता है "आनीता" अर्थात् ले आया हूँ।]

सा मे न शय्यामारोढुमिच्छत्यलसगामिनी[2] ।
त्रिषु लोकेषु चान्या मे न सीतासदृशी मता ॥ १३ ॥

किन्तु वह मन्दगामिनी मेरी सेज पर सोना नहीं चाहती। मेरी समझ में सीता के समान सुन्दरी स्त्री तीनों लोकों में नहीं है ॥१३॥

१ समर्थयितुं—ज्ञापयितुं। (गो०) २ अलसगामिनी—मन्दगामिनी। (गो०)

तनुमध्या पृथुश्रोणी शारदेन्दुनिभानना ।
हेमविम्वनिभा सौम्या मायेव मयनिर्मिता ॥ १४ ॥

क्योंकि उसकी पतली कमर है, मोटी जांघ हैं, शरदऋतु के चन्द्रमा जैसा उसका मुख है। सुवर्ण प्रतिमातुल्य, वह मय निर्मित माया की तरह (मन के मोहने वाला है) ॥ १४ ॥

सुलोहिततलौ श्लक्ष्णौ चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
दृष्ट्वा ताम्रनखौ तस्या दीप्यते मे शरीरजः ॥ १५ ॥

उसके पैरों के तलवे लाल, चिकने हैं और पैर बड़े सुडौल हैं। उसके लाल लाल नखों को देख कर मेरा शरीरस्थ काम उत्तेजित हो जाता है ॥ १५ ॥

हुताग्नेरर्चिसङ्काशामेनां सौरीमिव प्रभाम् ।
[दृष्ट्वा सीतां विशालाक्षीं कामस्य वशमेयिवान् ॥ १६ ॥

हवन की प्रज्वलित आग अथवा सूर्य की प्रभा की तरह विशाल नयनी सीता को देख, मैं काम के वश में हो गया हूँ ॥ १६ ॥

उन्नसं वदनं वल्गु विपुलं चारु लोचनम् ।
पश्यंस्तदाऽवशस्तस्याः कामस्य वशमेयिवान् ॥ १७ ॥

सीता की ऊँची नाक और उसके मनोहर नेत्रों से सुशोभित मुखमण्डल को देख, मैं काम के वशवर्ती हो, उस (सीता) के अधीन हो गया हूँ ॥ १७ ॥

*क्रोधहर्षसमानेन दुर्वर्णकरणेन च ।
शोकसन्तापनित्येन कामेन कलुषीकृतः ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"क्रोधहर्षसहायेन ।"

मेरे लिये क्रोध और हर्ष समान हो रहे हैं, मेरे शरीर का रंग भद्‌रंग हो रहा है। सदा शोक सन्तप्त रहने से, काम ने मुझे बहुत विकल रखा है ॥ १८ ॥

सा तु संवत्सरं कालं मामयाचत भामिनी ।
प्रतीक्षमाणा भर्तारं राममायतलोचना ॥ १९ ॥

अपने पति श्रीरामचन्द्र जी की प्रतीक्षा करने के लिये उस बड़े बड़े नेत्रों वाली भामिनी (सीता) ने, मुझसे एक वर्ष का समय माँगा है ॥ १६ ॥

तन्मया चारुनेत्रायाः प्रतिज्ञातं वचः शुभम् ।
श्रान्तोऽहं सततं कामाद्यातो हय इवाध्वनि ॥ २० ॥

सो उस सुन्दर नेत्र वाली से मैं सत्यप्रतिज्ञा कर चुका हूँ। किन्तु निरन्तर की कामपीड़ा से मैं वैसे ही शान्त हो गया हूँ जैसे—बहुत दूर चला हुआ घोड़ा थक जाता है ॥ २० ॥

कथं सागरमक्षोभ्यं *तरिष्यन्ति वनौकसः ।
बहुसत्त्वसमाकीर्णं तौ वा दशरथात्मजौ ॥ २१ ॥

मेरी समझ में यह बात भी नहीं आती कि, वे सब वानर और दशरथ के दोनों पुत्र बहुत से जलजीवों से पूर्ण एवं अक्षोभ्य सागर को, किस तरह पार करेंगे ॥ २१ ॥

अथवा कपिनैकेन कृतं नः कदनं महत् ।
दुर्ज्ञेयाः कार्यगतयो ब्रूत यस्य यथामति ॥ २२ ॥

साथ ही यह भी विचार उत्पन्न होता है कि, जब एक ही वानर ने इतना बड़ा मेरा अपमान और मेरी सेना का नाश कर डाला

---

* पाठान्तरे—" उत्तरन्ति ।"

तब उनके कार्यक्रम का जानना कठिन है। अच्छा अब आप लोग जैसा आपकी समझ में आवे, वैसा कहें ॥ २२ ॥

मानुषान्मे भयं नास्ति तथाऽपि तु विमृश्यताम् ।
तदा देवासुरे युद्धे युष्माभिः सहितोऽजयम् ॥ २३ ॥

यद्यपि हम लोगों को मनुष्य से डर नहीं है, तथापि विचार करना उचित है। मैंने पहिले देवासुरसंग्राम में तुम लोगों की सहायता से विजय ही पायी थी ॥ २३ ॥

ते मे भवन्तश्च तथा सुग्रीवप्रमुखान्हरीन् ।
परे पारे समुद्रस्य पुरस्कृत्य नृपात्मजौ ॥ २४ ॥

अतः अब उपस्थित कार्य में भी तुम लोग सहायता करो। यह भी समाचार मिला है कि, सुग्रीव आदि वानर और वे दोनों वीर राजकुमार समुद्र के उस पार आ पहुँचे हैं ॥ २४ ॥

सीतायाः पदवीं प्राप्तौ सम्प्राप्तौ वरुणालयम् ।
अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ ॥ २५ ॥

वे सीता के यहाँ होने का समाचार पा कर ही समुद्रतट पर आये हैं। सीता तो देना न पड़े और वे दोनों राजकुमार मारे जाँय ॥ २५ ॥

भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्रः [1]सुनीतिश्चाभिधीयताम् ।
न हि शक्तिं प्रपश्यामि जगत्यन्यस्य कस्यचित् ।
सागरं वानरैस्तीर्त्वा निश्चयेन जयो मम ॥ २६ ॥

इस विषय में आप लोग विचार लें और भली प्रकार से निश्चय कर निश्चित बात बतलावें। मैं तो इस संसार में दूसरे

---

१ सुनीत—सुनिश्चित। (रा०)

किसी में ऐसी शक्ति नहीं देखता कि, वानरों के साथ समुद्र के इस पार आ सके। फिर जीत तो मेरी निश्चित ही है॥ २६॥

तस्य कामपरीतस्य निशम्य परिदेवितम्।
कुम्भकर्णः प्रचुक्रोध वचनं चेदमब्रवीत्॥ २७॥

कामासक्त होने के कारण रावण की बुद्धि बिगड़ गयी थी—सो उसकी ये उल्टी पुल्टी बातें सुन कुम्भकर्ण को बड़ा क्रोध चढ़ आया और वह वैसी ही अटपटी बातें कहने लगा॥ २७॥

यदा तु रामस्य सलक्ष्मणस्य
प्रसह्य सीता खलु सा इहाहृता।
सकृत्समीक्ष्यैव सुनिश्चितं तदा
भजेत चित्तं यमुनेव यामुनम्॥ २८॥

हे राजन्! जब आप राम और लक्ष्मण के पास से बरजोरी सीता को हर लाये, उसके पूर्व एक बार भी इस विषय में भली भाँति विचार कर कुछ निश्चय किया था? जिस प्रकार यमुना पर्वत के नीचे उतरने के समय अपने कुण्डों के आश्रित रहती है वैसे ही तुमको भी काम करने के पूर्व हमारे मत के आश्रित रहना था। (अब जब इस कर्म के विपाक का समय उपस्थित है, तब हम लोगों की सम्मति से लाभ ही क्या है)?॥ २८॥

सर्वमेतन्महाराज कृतमप्रतिमं तव।
विधीयेत सहास्माभिरादावेवास्य कर्मणः॥ २९॥

हे महाराज! आपने ये सब काम अनुचित किये हैं। करने के पूर्व हम से सलाह ले लेनी थी?॥ २९॥

न्यायेन[1] राजा कार्याणि यः करोति दशानन ।
न स सन्तप्यते पश्चान्निश्चितार्थमतिर्नृपः ॥ ३० ॥

हे दशानन ! जो राजा विचारपूर्वक काम करता है, उसको पीछे कभी सन्ताप नहीं होता, क्योंकि शास्त्रानुसार वह अपनी बुद्धि से उसका निश्चय कर लेता है ॥ ३० ॥

अनुपायेन कर्माणि विपरीतानि यानि च ।
क्रियमाणानि दुष्यन्ति हवींष्यप्रयतेष्विव[2] ॥ ३१ ॥

परन्तु उपाय का अवलंबन किये विना जो काम मनमाने उल्टे सीधे किये जाते हैं, वे सब उसी प्रकार दूषित होते हैं, जिस प्रकार अपवित्र हव्य की आहुति ॥ ३१ ॥

यः पश्चात्पूर्वकार्याणि कुरुते बुद्धिमोहितः ।
पूर्वं चोत्तरकार्याणि न स वेद नयानयौ ॥ ३२ ॥

जो बुद्धि से मोहित राजा प्रथम करने योग्य कार्य को पीछे और पीछे करने योग्य कार्य को पहिले करता है, वह नीति और अनीति को कुछ भी नहीं जानता ॥ ३२ ॥

चपलस्य तु कृत्येषु प्रसमीक्ष्याधिकं बलम् ।
क्षिप्रमन्ये प्रपद्यन्ते क्रौञ्चस्य खमिव द्विजाः[3] ॥ ३३ ॥

जो चंचल स्वभाव के लोग होते हैं, उनके कामों में उनके शत्रु वैसे ही छिद्र ढूँढ़ा करते हैं, जैसे क्रौंच पर्वत के छिद्र, हंस ढूँढ़ते हैं ॥ ३३ ॥

---

१ न्यायेन—विचारेण । (गो०) २ अप्रयतेषु—अशुचिषु अपात्रेषु । (गो०) ३ द्विजाः—हंसाः । (गो०)

त्वयेदं महदारब्धं कार्यमप्रतिचिन्तितम् ।
दिष्ट्या त्वां नावधीद्रामो विषमिश्रमिवामिषम् ॥ ३४ ॥

तुमने विना सोचे विचारे यह वड़ा भारी काम छेड़ दिया है। यह वड़े सौभाग्य की वात है कि, राम ने अभी तक तुम्हें वैसे ही मार नहीं डाला, जैसे विष मिला हुआ माँस, खाने वाले को मार डालता है ॥ ३४ ॥

तस्मात्त्वया समारब्धं कर्म ह्यप्रतिमं परैः ।
अहं समीकरिष्यामि हत्वा शत्रूंस्तवानघ ॥ ३५ ॥

हे अनघ ! जव कि, तुमने इस अनुचित कार्य को कर रामचन्द्र जी के साथ शत्रुता कर ली है, तव मैं ही तुम्हारे शत्रुओं को मार कर, इसे ठीक करूँगा ॥ ३५ ॥

यदि शक्रविवस्वन्तौ यदि पावकमारुतौ ।
तावहं योधयिष्यामि कुवेरवरुणावपि ॥ ३६ ॥

यदि इन्द्र, यम, अग्नि, पवन, कुवेर, अथवा वरुण ही क्यों न आवें, मैं उनके साथ भी लड़ूँगा ॥ ३६ ॥

गिरिमात्रशरीरस्य शितशूलधरस्य च ।
नर्दतस्तीक्ष्णदंष्ट्रस्य विभियाद्वै पुरन्दरः ॥ ३७ ॥

मेरा पर्वताकार शरीर है, पैना त्रिशूल मेरा आयुध है। पैने पैने मेरे दाँत हैं। मैं जव रणक्षेत्र में खड़ा हो गर्जना करूँगा; तव इन्द्र भी भयभीत हो जाँयगे ॥ ३७ ॥

पुनर्मां स द्वितीयेन शरेण निहनिष्यति ।
ततोऽहं तस्य पास्यामि रुधिरं काममाश्वस ॥ ३८ ॥

यह निश्चित ही है कि, रामचन्द्र एक बाण छोड़ कर दूसरा बाण न छोड़ने पावेंगे। दूसरा बाण वे छोड़े ही छोड़ें तब तक मैं उनका खून पी लूँगा। तुम निश्चिन्त रहो ॥ ३८ ॥

वधेन ते दाशरथेः सुखावहं
जयं तवाहर्तुमहं यतिष्ये।
हत्वा च रामं सह लक्ष्मणेन
खादामि सर्वान्हरियूथमुख्यान् ॥ ३९ ॥

दशरथ के बेटे को मार कर, मैं तुम्हारे लिये सुखदायिनी जय सम्पादन करने का प्रयत्न करूँगा। लक्ष्मण सहित रामचन्द्र को मार कर, मैं सब वानर-यूथपतियों को खा डालूँगा ॥ ३९ ॥

रमस्व कामं पिब चाग्र्यवारुणीं
कुरुष्व कार्याणि हितानि विज्वरः।
मया तु रामे गमिते यमक्षयं
चिराय सीता वशगा भविष्यति ॥ ४० ॥

इति द्वादशः सर्गः ॥

मौज उड़ाओ, मनमानी शराब पीओ और निश्चिन्त हो ऐसे काम करो, जिनके करने से भलाई हो। जब मैं राम को यमालय भेज दूँगा, तब सीता सदा के लिये तुम्हारे वश हो जायगी ॥ ४० ॥

युद्धकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रयोदशः सर्गः

—※—

रावणं क्रुद्धमाज्ञाय महापार्श्वो महाबलः ।
मुहूर्तमनुसञ्चिन्त्य प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

रावण को क्रुद्ध देख, महाबली राक्षस महापार्श्व थोड़ी देर कुछ सोच विचार कर, हाथ जोड़े हुए बोला ॥ १ ॥

यः खल्वपि वनं प्राप्य मृगव्यालसमाकुलम् ।
न पिबेन्मधु सम्प्राप्तं स नरो बालिशो भवेत् ॥ २ ॥

जिस वन में व्याघ्र सिंहादि तथा बड़े बड़े अजगर रहते हैं, उस वन में जा कर भी जो मधुपान न करे वह मूर्ख है ॥ २ ॥

ईश्वरस्येश्वरः कोऽस्ति तव शत्रुनिबर्हण ।
रमस्व सह वैदेह्या शत्रूनाक्रम्य मूर्धसु ॥ ३ ॥

हे शत्रुनिबर्हण ! तुम सब के स्वयं नियन्ता हो, तुम्हारा नियन्ता कौन हो सकता है । तुम तो अपने वैरी के सीस पर पैर रख कर वैदेही के संग विहार करो ॥ ३ ॥

बलात्कुक्कुटवृत्तेन वर्तस्व सुमहाबल ।
*आक्रम्य सीतां वैदेहीं तथा भुङ्क्ष्व रमस्व च ॥ ४ ॥

हे महाबली ! यदि तुमसे सीता राज़ी न हो तो तुम मुर्गे की तरह बरजोरी उसके साथ बर्ताव करो और मज़े में भोगविलास करो ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—"आक्रम्याक्रम्य सीतां वै ।"

लब्धकामस्य ते पश्चादागमिष्यति यद्भयम् ।
प्राप्तमप्राप्तकालं वा सर्वं प्रतिसहिष्यसि ॥ ॥ ५ ॥

जब तुम्हारी मनोकामना पूरी हो जायगी, तब तुमको डर ही क्या रह जायगा और यदि पीछे सावधानी असावधानी की दशा में कुछ होगा ही तो उसे भी देख लेंगे ॥ ५ ॥

कुम्भकर्णः सहास्माभिरिन्द्रजिच्च महाबलः ।
प्रतिषेधयितुं शक्तौ सवज्रमपि वज्रिणम् ॥ ६ ॥

जब इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण मेरी सहायता को कमर कस कर खड़े हो जाँयगे, तब हम वज्रधारी इन्द्र का भी सामना कर सकते हैं ॥ ६ ॥

उपप्रदानं सान्त्वं वा भेदं वा कुशलैः कृतम् ।
समतिक्रम्य दण्डेन सिद्धिमर्थेषु रोचय ॥ ७ ॥

नीतिकुशलजनों ने शत्रु को मुट्ठी में करने के लिये साम, दान, भेद और दण्ड, ये चार उपाय बतलाये हैं, सो मुझे तो पिछला उपाय दण्ड ही पसन्द है ॥ ७ ॥

इह प्राप्तान्वयं सर्वाञ्शत्रूंस्तव महाबल ।
वशे शस्त्रप्रपातेन करिष्यामो न संशयः ॥ ८ ॥

हे महाबली ! मैं प्रथम के तीन उपायों को छोड़, केवल दण्ड द्वारा ही तुम्हारे समस्त शत्रुओं को निस्सन्देह वश में कर लूँगा ॥ ८ ॥

एवमुक्तस्तदा राजा महापार्श्वेन रावणः ।
तस्य सम्पूजयन्वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

महापार्श्व के ये वचन सुन कर, रावण ने उस कथन की प्रशंसा करते हुए, ये वचन कहे ॥ ९ ॥

महापार्श्व निबोध त्वं रहस्यं किञ्चिदात्मनः ।
चिरवृत्तं तदाख्यास्ये यदवाप्तं मया पुरा ॥ १० ॥

हे महापार्श्व ! मैं अपना कुछ पुराना रहस्ययुक्त वृत्तान्त तुमको सुनाता हूँ। उसे अभी तक कोई नहीं जानता। यह बहुत पुरानी घटना है ॥ १० ॥

पितामहस्य भवनं गच्छन्तीं पुञ्जिकस्थलाम् ।
चञ्चूर्यमाणामद्राक्षमाकाशेऽग्निशिखामिव ॥ ११ ॥

पुञ्जिकस्थली नाम की एक अप्सरा ब्रह्मलोक में ब्रह्मा जी को प्रणाम करने जा रही थी। वह भय के मारे आकाश में छिपी हुई जा रही थी और अग्निशिखा की तरह दमक रही थी ॥ ११ ॥

सा प्रसह्य मया भुक्ता कृता विवसना ततः ।
स्वयम्भूभवनं प्राप्ता लोलिता नलिनी यथा ॥ १२ ॥

मैंने बलपूर्वक उसे नंगी कर उसके साथ भोग किया। तदनन्तर वह ब्रह्मलोक में कमलिनी की तरह काँपती हुई पहुँची ॥ १२ ॥

तस्य तच्च तदा मन्ये ज्ञातमासीन्महात्मनः ।
अथ सङ्कुपितो देवो मामिदं वाक्यमब्रवीत् ॥ १३ ॥

मैं समझता हूँ कि, ब्रह्मा जी को यह हाल मालूम हो गया और उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध हो मुझको यह शाप दिया ॥१३॥

अद्यप्रभृति यामन्यां बलान्नारीं गमिष्यसि ।
तदा ते शतधा मूर्धा फलिष्यति न संशयः ॥ १४ ॥

यदि आज से तू किसी स्त्री के साथ वरजोरी भोग करेगा, तो तेरे सिर के निस्सन्देह सौ टुकड़े हो जाँयगे ॥ १४ ॥

इत्यहं तस्य शापस्य भीतः प्रसभमेव ताम् ।
नारोपये बलात्सीतां वैदेहीं शयने *स्वके ॥ १५ ॥

मैं उसी शाप से डर कर, सीता को अपनी उत्तम सेज पर वरजोरी चढ़ाने का प्रयत्न नहीं करता ॥ १५ ॥

सागरस्येव मे वेगो मारुतस्येव मे गतिः ।
नैतद्दाशरथिर्वेद ह्यासादयति तेन माम् ॥ १६ ॥

मेरा समुद्र के समान वेग है और पवन की तरह गति है। क्या वह दशरथ का बेटा यह बात नहीं जानता, जो मुझ पर चढ़ाई करता है ॥१६॥

†को हि सिंहमिवासीनं सुप्तं गिरिगुहाशये ।
क्रुद्धं मृत्युमिवासीनं प्रबोधयितुमिच्छति ॥ १७ ॥

गिरिगुहा में सोते हुए और मृत्यु के समान क्रुद्ध सिंह को कौन जगाना चाहता है ॥ १७ ॥

न मत्तो ‡निर्गतान्बाणान्द्विजिह्वानिव पन्नगान् ।
रामः पश्यति संग्रामे तेन मामभिगच्छति ॥ १८ ॥

रामचन्द्र ने संग्राम में दो जीभ वाले सर्पों के समान मेरे धनुष से छोड़े हुए बाण नहीं देखे, इसीसे वे मेरे ऊपर चढ़ाई करने आ रहे हैं ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—" शुभे ।" † पाठान्तरे—" यस्तु ।" ‡ पाठान्तरे—" निशितान् ।"

क्षिप्रं वज्रोपमैर्बाणैः शतधा कार्मुकच्युतैः ।
राममादीपयिष्यामि उल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥ १९ ॥

वज्र के तुल्य और धनुष से एक साथ सौ सौ बाण छोड़ कर, मैं राम को वैसे ही भगा दूँगा, जैसे हाथी मशाल दिखा कर भगा दिया जाता है ॥ १९ ॥

तच्चास्य बलमादास्ये बलेन महता वृतः ।
उदयन्सविताकाले नक्षत्राणामिव प्रभाम् ॥ २० ॥

मैं अपनी महती सेना से उनकी सेना को ऐसे दबा दूँगा जैसे सूर्य अपने प्रकाश से नक्षत्रों के प्रकाश को दबा देते हैं ॥२०॥

न वासवेनापि सहस्रचक्षुषा
युधाऽस्मि शक्यो वरुणेन वा पुनः ।
मया त्वियं बाहुबलेन निर्जिता
पुरी पुरा वैश्रवणेन पालिता ॥ २१ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

देखो, न तो मुझे सहस्र नेत्रवाला इन्द्र ही जीत सकता है और न वरुण ही मुझे हरा सकता है । पूर्वकाल में कुबेर द्वारा पालित यह लङ्कापुरी मैंने अपने बाहुबल से जीती है ॥ २१ ॥

युद्धकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुर्दशः सर्गः

—※—

निशाचरेन्द्रस्य निशम्य वाक्यं
स कुम्भकर्णस्य च गर्जितानि ।
विभीषणो राक्षसराजमुख्यम्
उवाच वाक्यं हितमर्थयुक्तम् ॥ १ ॥

राक्षसराज की डींगे और कुम्भकर्ण की निरर्थक बातें सुन, विभीषण ने रावण से कर्त्तव्यार्थबोधयुक्त वचन कहा ॥ १ ॥

वृतो हि बाह्वन्तरभोगराशि-
श्चिन्ताविषः सुस्मिततीक्ष्णदंष्ट्रः ।
पञ्चाङ्गुलीपञ्चशिरोतिकायः
सीतामहाहिस्तव केन राजन् ॥ २ ॥

हे महाराज ! वक्षस्थलरूप फनधारी, चिन्तारूपी विष से युक्त, हास्यरूपी तीक्ष्ण दाँतों वाले और पञ्चाङ्गुलिरूपी पाँच सिरों वाले सीतारूपी बड़े भारी सर्प को आप क्यों यहाँ ले आये हैं ? ॥ २ ॥

यावन्न लङ्कां समभिद्रवन्ति
वलीमुखाः पर्वतकूटमात्राः ।
दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ ३ ॥

हे राजन् ! जब तक पर्वतशिखर के समान, नखों और दांतों के आयुध वाले वानर, लङ्कापुरी पर घेरा नहीं डालते, इसके पूर्व ही आप श्रीरामचन्द्र जी को सीता दे दें ॥ ३ ॥

यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणा
रामेरिता राक्षसपुङ्गवानाम्।
वज्रोपमा वायुसमानवेगाः
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ ४ ॥

जब तक श्रीरामचन्द्र जी के वज्र के समान भयङ्कर और वायु के समान वेगवान् बाण राक्षसों के सिर नहीं काटते—उसके पूर्व ही श्रीरामचन्द्र जी को आप सीता दे दें ॥ ४ ॥

न कुम्भकर्णेन्द्रजितौ न राजा
तथा महापार्श्वमहोदरौ वा।
निकुम्भकुम्भौ च तथातिकायः
स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य ॥ ५ ॥

हे राजन्! क्या कुम्भकर्ण, क्या इन्द्रजीत्, क्या महापार्श्व, क्या महोदर, क्या कुम्भ, क्या निकुम्भ और क्या अतिकाय—इनमें से कोई भी रणक्षेत्र में श्रीरामचन्द्र जी के सामने नहीं खड़े रह सकते ॥ ५ ॥

जीवंस्तु रामस्य न मोक्ष्यसे त्वं
गुप्तः सवित्राऽप्यथ वा मरुद्भिः।
न वासवस्याङ्कगतो न *मृत्यो-
र्न खं न पातालमनुप्रविष्टः ॥ ६ ॥

तुम चाहो कि, हम जीते जी राम से बच जायँ, सो नहीं होने का। तुम्हें सूर्य और देवता भी यदि बचाना चाहे, तो भी तुम नहीं बच सकते। तुम भले ही इन्द्र की अथवा मृत्यु ही की गोद में

* पाठान्तरे—"मृत्योर्नभो न पातालमनुप्रवृष्टिः।"

क्यों न जा बैठो; अथवा आकाश या पाताल में कहीं जा छिपो, पर श्रीरामचन्द्र से तुम्हारा बचना असम्भव है ॥ ६ ॥

निशम्य वाक्यं तु विभीषणस्य
ततः प्रहस्तो वचनं बभाषे ।
न नो भयं विद्म न दैवतेभ्यो
न दानवेभ्यो ह्यथवा कुतश्चित् ॥ ७ ॥

विभीषण के ये वचन सुन, प्रहस्त कहने लगा, हमें देवताओं असुरों अथवा अन्य किसी से कुछ भी भय नहीं है ॥ ७ ॥

न यक्षगन्धर्वमहोरगेभ्यो
भयं न संख्ये पतगोत्तमेभ्यः ।
कथं तु रामाद्भविता भयं नो
नरेन्द्रपुत्रात्समरे कदाचित् ॥ ८ ॥

जब युद्ध में हम लोगों को यक्षों, गन्धर्वों, सर्पों और गरुड़ादि पक्षियों से कुछ भी भय नहीं है, तब एक राजकुमार रामचन्द्र से हमको भयभीत क्यों होना चाहिये ॥ ८ ॥

प्रहस्तवाक्यं त्वहितं निशम्य
विभीषणो राजहितानुकाङ्क्षी ।
ततो [1]महात्मा वचनं बभाषे
धर्मार्थकामेषु निविष्टबुद्धिः ॥ ९ ॥

प्रहस्त के इन अहितकर वचनों को सुन, रावण के हितैषी महाबुद्धिमान् और धर्मार्थ काम को भलीभांति समझने वाले विभीषण ने कहा ॥ ९ ॥

---

१ महात्मा—महाबुद्धिः । (गो०)

प्रहस्त राजा च महोदरश्च
त्वं कुम्भकर्णश्च *यदर्थजातम् ।
ब्रवीथ रामं प्रति तन्न शक्यं
यथा गतिः स्वर्गमधर्मबुद्धेः ॥ १० ॥

हे प्रहस्त ! देखो, रावण ने, महोदर ने, तुमने और कुम्भकर्ण ने रामचन्द्र के विषय में जो समझ रखा है सो ठीक नहीं है। तुम लोगों का कथन उसी प्रकार अलीक है; जिस प्रकार किसी पापी का स्वर्ग में जाना ॥ १० ॥

वधस्तु रामस्य मया त्वया वा
प्रहस्त सर्वैरपि राक्षसैर्वा ।
कथं भवेदर्थविशारदस्य[1]
महार्णवं तर्तुमिवाप्लवस्य ॥ ११ ॥

उन कार्यदक्ष राम को मैं या तुम अथवा समस्त राक्षस मिलकर भी भला कैसे मार सकते हैं ? तुम्हारा कथन तो ऐसा ही है, जैसा बिना नाव के कोई मनुष्य समुद्र पार जाने को तैयारी करता हो ॥११॥

धर्मप्रधानस्य महारथस्य
इक्ष्वाकुवंशप्रभवस्य राज्ञः ।
प्रहस्त देवाश्च तथाविधस्य
कृत्येषु शक्तस्य भवन्ति मूढाः ॥ १२ ॥

---

१ अर्थविशारदस्य—कार्यदक्षस्य । (गो०) * पाठान्तरे—" यथार्थजातम् ।"

हे प्रहस्त ! विशेष कर यह इक्ष्वाकुवंशोद्भव महारथी श्रीरामचन्द्र जी बड़े धर्मात्मा हैं। मेरी तो बिसात ही क्या है। ऐसे सब कार्यों को करने की शक्ति रखने वाले अथवा विराध कबन्ध वालि आदि को मारने वाले पुरुष के साथ युद्ध करते समय देवताओं की भी बुद्धि चकराने लगती है ॥ १२ ॥

[नोट—महारथी की परिभाषा यह है :—

" आत्मानं सारथिं चाश्वान्रक्षन्युध्येतयो नरः।
स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदः ॥ "

अर्थात् अपनी, अपने सारथी की तथा अपने रथ के घोड़ों की रक्षा करता हुआ जो वीर, शत्रु से लड़ सकता है : उसे रणनीतिविशारद "महारथी" कहते हैं।]

तीक्ष्णा नता यत्तव कङ्कपत्रा
दुरासदा राघवविप्रमुक्ताः।
भित्त्वा शरीरं प्रविशन्ति बाणाः
प्रहस्त तेनैव विकत्थसे त्वम् ॥ १३ ॥

हे प्रहस्त ! श्रीरामचन्द्र जी के पैने सीधे और पंखदार असह्य बाण जब तक तुम्हारे शरीर को विदीर्ण नहीं करते, तब तक तुम भले ही जो चाहो सो बढ़ बढ़ कर बातें कह लो ॥ १३ ॥

न रावणो नातिबलस्त्रिशीर्षो
न कुम्भकर्णस्य सुतो निकुम्भः।
न चेन्द्रजिद्दाशरथिं प्रसोढुं
त्वं वा रणे शक्रसमं समर्थाः ॥ १४ ॥

बलवान् रावण, त्रिशीर्ष, मेघनाद, तुम, कुम्भकर्ण, और उसका पुत्र निकुम्भ में से कोई भी रणक्षेत्र में इन्द्र के समान पराक्रमी

श्रीरामचन्द्र जी का पराक्रम सह नहीं सकता। अर्थात् उनके सामने इनमें से कोई भी खड़ा रह नहीं सकता ॥ १४ ॥

देवान्तको वाऽपि नरान्तको वा
तथाऽतिकायोऽतिरथो [1]महात्मा ।
अकम्पनश्चाद्रिसमानसारः
स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य ॥ १५ ॥

देवान्तक, नरान्तक, अतिकाय, बड़े शरीर वाला अतिरथ, और पहाड़ के समान बलवाला अकम्पन, इनमें से कोई भी राम के सामने युद्धक्षेत्र में खड़ा नहीं रह सकता ॥१५॥

अयं हि राजा व्यसनाभिभूतो
मित्रैरमित्रप्रतिमैर्भवद्भिः ।
अन्वास्यते राक्षसनाशनाय
तीक्ष्णः प्रकृत्या ह्यसमीक्ष्यकारी ॥ १६ ॥

ये राजा तो कामान्ध हो रहे हैं और आप लोग इनके साथ मित्र के रूप में शत्रुता कर रहे हैं अथवा आप लोग इनके मित्ररूपी शत्रु हैं। आप ही लोगों की सलाह से राक्षसजाति का नाश होगा। यह राजा उग्रप्रकृति का है और विना समझे बूझे काम कर बैठता है ॥ १६ ॥

अनन्तभोगेन सहस्रमूर्ध्ना
नागेन भीमेन महाबलेन ।
बलात्परिक्षिप्तमिमं भवन्तो
राजानमुत्क्षिप्य विमोचयन्तु ॥ १७ ॥

---

1 महात्मा—महाकायः । (गो०)

मैं तो आप सब से यही कहूँगा कि, अपरिच्छिन्न काया वाले, हज़ार फनों से युक्त भयङ्कर बलवाले श्रीरामचन्द्र रूपी सर्प के मुख में फँसे हुए, रावण को आप लोग किसी तरह बचाइये ॥१७॥

यावद्धि केशग्रहणं सुहृद्भिः
समेत्य सर्वैः परिपूर्णकामैः ।
निगृह्य राजा परिरक्षितव्यो
भूतैर्यथा भीमबलैर्गृहीतः ॥ १८ ॥

जिनके समस्त मनोरथ राजा द्वारा पूर्ण हो चुके हैं; वे राजा को शत्रु द्वारा चोटी पकड़ कर खींचे जाने से वैसे ही बचावें और मान अपमान का विचार न करें, जैसे भयानक भूत लगे हुए पुरुष को, उसके हितैषी बाल पकड़ कर या बरजोरी बाँध कर बचाते हैं। अगर यह डरते हों कि, राजा बलवान है, तो सब लोग मिल कर ऐसा करें ॥ १८ ॥

*[1]सुवारिणा राघवसागरेण
प्रच्छाद्यमानस्तरसा[2] भवद्भिः ।
युक्तस्त्वयं तारयितुं समेत्य
काकुत्स्थपातालमुखे पतन्सः ॥ १९ ॥

सच्चरित्ररूप जल से पूर्ण, श्रीरामचन्द्ररूपी सागर, रावण पर आक्रमण करना चाहता है अथवा श्रीरामचन्द्ररूपी पाताल में यह राक्षसराज गिरने ही वाला है। अतः आप लोगों को चाहिये कि, आप सब मिल कर, इसे बचावें ॥ १९ ॥

---

१ सुवारिणा—सुचरित्ररूप वारिमता। (रा०) २ तरसा—आरम्भकाल एव। (गो०) * पाठान्तरे—"संहारिणा।"

इदं पुरस्यास्य स राक्षसस्य
राज्ञश्च पथ्यं ससुहृज्जनस्य
सम्यग्घि वाक्यं *स्वमतं ब्रवीमि
नरेन्द्रपुत्राय ददाम पत्नीम् ॥ २० ॥

इस लङ्कापुरी के, राक्षसों के, रावण के और उसके हितैषियों के हित के लिये, मैं भलीभाँति सोच विचार कर अपनी यह सम्मति देता हूँ कि, राक्षसराज, श्रीरामचन्द्र जी को सीता दे डालें ॥ २० ॥

परस्य वीर्यं स्वबलं च बुद्ध्वा
स्थानं क्षयं चैव तथैव वृद्धिम् ।
तथा स्वपक्षेऽप्यनुमृश्य बुद्ध्या
वदेत्क्षमं स्वामिहितं च मन्त्री ॥ २१ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

यथार्थ मंत्री वही है, जो अपने और शत्रु के बल, स्थिति, अवनति और उन्नति को अच्छी तरह समझ बूझ कर, स्वामी के लिये हितकर सम्मति देता है ॥ २१ ॥

युद्धकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

* पाठान्तरे—" सततं ।"

पञ्चदशः सर्गः

—※—

बृहस्पतेस्तुल्यमतेर्वचस्त-
न्निशम्य यत्नेन विभीषणस्य ।
ततो महात्मा वचनं बभाषे
तत्रेन्द्रजिन्नैर्ऋतयोधमुख्यः ॥ १ ॥

बृहस्पति के समान बुद्धिसम्पन्न विभीषण की बातें बड़े ध्यान से सुन, निशाचर यूथपतियों में मुख्य महाबलवान् मेघनाद बोला ॥ १ ॥

किं नाम ते तात कनिष्ठवाक्य-
मनर्थकं चैव सुभीतवच्च ।
अस्मिन्कुले योऽपि भवेन्न जातः
सोऽपीदृशं नैव वदेन्न कुर्यात ॥ २ ॥

हे चाचा ! तुम भीरुजनों जैसी अनर्थ करने वाली ये बातें क्या कह रहे हो । जो पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न नहीं हुआ, वह भी ऐसी बातें न तो कहेगा और न तदनुसार काम ही करेगा ॥ २ ॥

सत्त्वेन वीर्येण पराक्रमेण
शौर्येण धैर्येण च तेजसा च ।
एकः कुलेऽस्मिन्पुरुषो विमुक्तो
विभीषणस्तात कनिष्ठ एषः ॥ ३ ॥

देखो महानुभावो! मेरे पिता के छोटे भाई यह अकेले विभीषण इस वंश में ऐसे उपजे जो बल, प्रभाव, पराक्रम, शौर्य, धैर्य और तेज से हीन हैं ॥ ३ ॥

किं नाम तौ राक्षस राजपुत्रा-
वस्माकमेकेन हि राक्षसेन ।
सुमाकृतेनापि *रणे निहन्तुं
शक्यौ कुतो भीषयसे स्म भीरो ॥ ४ ॥

अरे डरपोक विभीषण! उन दो मनुष्य राजपुत्रों की मजाल ही क्या है। उन दोनों को तो हमारे यहाँ का एक मामूली राक्षस युद्ध में मार डाल सकता है। तुम इतना क्यों डरा रहे हो? ॥ ४ ॥

त्रिलोकनाथो ननु देवराजः
शक्रो मया भूमितले निविष्टः ।
भयार्दिताश्चापि दिशः प्रपन्नाः
सर्वे तथा देवगणाः समग्राः ॥ ५ ॥

अरे जो तीनों लोकों का नाथ इन्द्र है, उसे तो मैं पकड़ कर पृथिवी पर ले आया था। क्या तुमको याद नहीं कि, उस समय सारे के सारे देवता मुझसे भयभीत हो इधर उधर भाग गये थे ॥ ५ ॥

ऐरावतो विस्वरमुन्नदन्स
निपातितो भूमितले मया तु ।
निकृष्य दन्तौ तु मया प्रसह्य
वित्रासिता देवगणाः समग्राः ॥ ६ ॥

* पाठान्तरे—" मृतौ ।"

ज़ोर से चिल्लाते हुए ऐरावत को मैंने उठा कर पटक दिया और दाँतों को उखाड़ कर, सब देवताओं को भी भयभीत कर दिया था ॥ ६ ॥

सोऽहं सुराणामपि दर्पहन्ता
दैत्योत्तमानामपि शोकदाता ।
कथं नरेन्द्रात्मजयोर्न शक्तो
मनुष्ययोः प्राकृतयोः सुवीर्यः ॥ ७ ॥

सो मैं वही देवताओं का दर्प दलन करने वाला, बड़े बड़े दैत्यों को शोकान्वित करने वाला हो कर भी, क्या उन राजकुमारों के साथ, जो मामूली आदमी हैं, युद्ध न कर सकूँगा ? ॥ ७ ॥

अथेन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महौजसस्तद्वचनं निशम्य ।
ततो महार्थं वचनं बभाषे
विभीषणः शस्त्रभृतां वरिष्ठः ॥ ८ ॥

इन्द्र के समान अजेय महातेजस्वी इन्द्रजीत के ये वचन सुन कर, धनुषधारियों में श्रेष्ठ विभीषण ने महाअर्थयुक्त ये वचन कहे ॥ ८ ॥

न तात मन्त्रे तव निश्चयोऽस्ति
बालस्त्वमद्याप्यविपक्वबुद्धिः ।
तस्मात्त्वया ह्यात्मविनाशनाय
वचोऽर्थहीनं बहु विप्रलप्तम् ॥ ९ ॥

हे बेटा! तुम करने अनकरने कामों का विचार करने में अत्यन्त अज्ञानी हो; क्योंकि अब तक तुम्हारी बालकों जैसी अपक बुद्धि है। इसीसे तुम अपना सत्यानाश करने के लिये, निष्प्रयोजन बकवाद कर रहे हो॥ ९॥

पुत्रप्रवादेन तु रावणस्य
त्वमिन्द्रजिन्मित्रमुखोऽसि शत्रुः।
यस्येदृशं राघवतो विनाशं
निशम्य मोहादनुमन्यसे त्वम्॥ १०॥

तुम रावण के पुत्र इन्द्रजीत अवश्य कहलाते हो, परन्तु हो तुम राक्षसराज के मित्ररूपी शत्रु। क्योंकि राक्षसराज को घोर विपत्ति में फँसे हुए देख कर भी, तुम मोहवश उनको नहीं रोकते॥ १०॥

त्वमेव वध्यश्च सुदुर्मतिश्च
स चापि वध्यो य इहानयत्त्वाम्।
बालं दृढं साहसिकं न योऽद्य
प्रावेशयन्मन्त्रकृतां समीपम्॥ ११॥

तुम बड़े कुबुद्धि हो और इसलिये मार डालने के योग्य हो और वह भी मार डालने के योग्य है, जिसने तुम जैसे बालक और अत्यन्त साहसी को लाकर इस मंत्रणा सभा में बैठाया॥ ११॥

मूढः प्रगल्भोऽविनयोपपन्न-
स्तीक्ष्णस्वभावोऽल्पमतिर्दुरात्मा।
मूर्खस्त्वमत्यन्तसुदुर्मतिश्च
त्वमिन्द्रजिद्बालतया ब्रवीषि॥ १२॥

तू बड़ा अविवेकी, ढीठ, अशिक्षित, क्रूरस्वभाव, कमअक्ल, दुरात्मा बिना समझे बूझे काम करने वाला और अत्यन्त कुबुद्धि है। तू लड़कों जैसी बातें करता है ॥ १२ ॥

को ब्रह्मदण्डप्रतिमप्रकाशा-
नर्चिष्मतः कालनिकाशरूपान् ।
सहेत बाणान्यमदण्डकल्पान्
समक्ष मुक्तान्युधि राघवेण ॥ १३ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी रणभूमि में समीप खड़े हो कर, ब्रह्मदण्ड अथवा कालाग्नि के समान चमकते हुए तीखे बाण छोड़ेंगे, तब उनको कौन सह सकेगा ॥ १३ ॥

धनानि रत्नानि विभूषणानि
वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान् ।
सीतां च रामाय निवेद्य देवीं
वसेम राजन्निह वीतशोकाः ॥ १४ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

हे राजन्! धन, रत्न, आभूषण, बढ़िया वस्त्र और रंग बिरंगी मणियों सहित तुम श्रीरामचन्द्र जी को सीता दे डालो जिससे हम लोग आनन्द पूर्वक इस पुरी में रह सकें ॥ १४ ॥

युद्धकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षोडशः सर्गः

—※—

सुनिविष्टं हितं वाक्यमुक्तवन्तं विभीषणम् ।

अब्रवीत्परुषं वाक्यं रावणः कालचोदितः ॥ १ ॥

जब धर्मात्मा विभीषण ने इस प्रकार के अर्थयुक्त हितकारी वचन कहे, तब रावण ने विभीषण से बड़े कठोर वचन कहे। क्योंकि उसके सिर पर तो काल खेल रहा था ॥ १ ॥

वसेत्सह सपत्नेन क्रुद्धेनाशीविषेण वा ।

न तु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना ॥ २ ॥

भले ही कोई शत्रु के अथवा ज़हरीले साँप के साथ रह ले, किन्तु शत्रु के पक्षपाती मित्ररूपी शत्रु के साथ कभी न रहे ॥ २ ॥

जानामि शीलं ज्ञातीनां सर्वलोकेषु राक्षस ।

हृष्यन्ति व्यसनेष्वेते ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा ॥ ३ ॥

मैं सब लोकों के जाति वालों का स्वभाव भली भाँति जानता हूँ कि, बिरादरी में जब एक पर विपत्ति पड़ती है, तब दूसरे प्रसन्न होते हैं ॥ ३ ॥

प्रधानं साधनं[1] वैद्यं[2] धर्मशीलं च राक्षस ।

ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च ॥ ४ ॥

जाति के मुखिया, कार्यसाधक, विद्वान् और धर्मात्मा का, कुटुम्ब वाले सदा अपमान ही किया करते हैं और उनमें जो शूरवीर होता है, उसका वे तिरस्कार करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

---

१ साधनं—कार्यसाधकं । (गो०) २ वैद्यं—विद्वांसं । (गो०)

नित्यमन्योन्यसंहृष्टा व्यसनेष्वाततायिनः ।
प्रच्छन्नहृदया घोरा ज्ञातयस्तु भयावहाः ॥ ५ ॥

जाति वाले बड़े निर्दयी होते हैं। क्योंकि नित्य भले ही वे आपस में हर्षित हो कर रहें, किन्तु विपत्ति पड़ने पर वे आततायी हो जाते हैं। वे अपने मन का भाव मन ही में छिपाये रखते हैं ॥ ५ ॥

श्रूयन्ते हस्तिभिर्गीताः श्लोकाः पद्मवने क्वचित् ।
पाशहस्तान्नरान्दृष्ट्वा शृणु तान्गदतो मम ॥ ६ ॥

सुना जाता है कि, पद्मवन के हाथियों ने उस समय एक बार कुछ श्लोक कहे थे, जिस समय बहुत से लोग उनको बाँधने के लिये रस्से लिये हुए चले आते थे। मैं कहता हूँ—तुम सुनो ॥ ६ ॥

नाग्निर्नान्यानि शस्त्राणि न नः पाशा भयावहाः ।
घोराः स्वार्थप्रयुक्तास्तु ज्ञातयो नो भयावहाः ॥ ७ ॥

हाथियों ने कहा था कि, अग्नि, शस्त्र और फन्दों से हम ज़रा भी नहीं डरते, हम तो स्वार्थपरायण एवं भयङ्कर अपने जाति वालों से डरते हैं ॥ ७ ॥

उपायमेते वक्ष्यन्ति ग्रहणे नात्र संशयः ।
कृत्स्नाद्भयाज्ज्ञातिभयं सुकष्टं विदितं च नः ॥ ८ ॥

क्योंकि पकड़ने का उपाय ये ही बतलाते हैं। मुझे यह बात भली भाँति मालूम है कि, सब भयों से बढ़ कर बिरादरी वालों का भय कष्टदायक है ॥ ८ ॥

विद्यते गोषु सम्पन्नं विद्यते ब्राह्मणे दमः ।
विद्यते स्त्रीषु चापल्यं विद्यते ज्ञातितो भयम् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार गौओं में हव्य कव्यादि के लिये दुग्ध, ब्राह्मणों में इन्द्रिय निग्रहत्व और स्त्रियों में चपलता विद्यमान रहती है, उसी प्रकार जातिवालों से भय सदा रहता है ॥ ९ ॥

ततो नेष्टमिदं सौम्य यदहं लोकसत्कृतः ।
ऐश्वर्येणाभिजातश्च रिपूणां मूर्ध्नि च स्थितः ॥ १० ॥

मैंने शत्रुओं को पराजित कर अतुलित यश प्राप्त किया है व तीनों लोक मेरा सम्मान करते हैं, सो हे सौम्य! मैं जान गया कि, मेरा यह सौभाग्य तुमको अच्छा नहीं लगता ॥ १० ॥

यथा पुष्करपर्णेषु पतितास्तोयबिन्दवः ।
न श्लेषमुपगच्छन्ति तथाऽनार्येषु सौहृदम् ॥ ११ ॥

जैसे कमल के पत्ते पर जल की बूंदें नहीं ठहर सकतीं, वैसे ही क्रूरस्वभाव वाले पुरुष के साथ मैत्री करने से, वह मैत्री उसके मन में किसी प्रकार भी नहीं ठहरती ॥ ११ ॥

[यथा मधुकरस्तर्षात्काशपुष्पं पिबन्नपि ।
रसमत्र न विन्देत तथाऽनार्येषु सौहृदम्] ॥ १२ ॥

जिस प्रकार भौंरे फूलों का रस भली भाँति पीकर भी वहाँ नहीं रहते—वैसे ही दुर्जनजन काम निकल जाने पर मैत्री का ख्याल नहीं रखते ॥ १२ ॥

यथा पूर्वं गजः स्नात्वा गृह्य हस्तेन वै रजः ।
दूषयत्यात्मनो देहं तथाऽनार्येषु सौहृदम् ॥ १३ ॥

जिस तरह हाथी जल में स्नान कर फिर सूँड़ में धूल भर उससे अपने शरीर को मलिन कर डालता है, उसी तरह दुर्जन के साथ की हुई मैत्री का परिणाम होता है ॥ १३ ॥

यथा *शारदि मेघानां सिञ्चतामपि गर्जताम् ।
न भवत्यम्बुसंक्लेदस्तथाऽनार्येषु सौहृदम् ॥ १४ ॥

जिस प्रकार शरदऋतु में बादलों के गरजने और बरसने से पृथिवी का कुछ भी उपकार नहीं होता उसी प्रकार दुर्जन के साथ मैत्री करने से कुछ भी लाभ नहीं होता ॥ १४ ॥

अन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद्वाक्यमेतन्निशाचर ।
अस्मिन्मुहूर्ते न भवेत्त्वां तु धिक्कुलपांसनम् ॥ १५ ॥

हे विभीषण ! तूने जैसी बातें अभी कही हैं, यदि वैसी बातें कोई दूसरा कहता तो तत्काल उसे मैं मरवा डालता, (पर तू भाई है, इसका विचार है) विभीषण ! तुझ कुलकलङ्क को धिक्कार है ॥१५॥

इत्युक्तः परुषं वाक्यं न्यायवादी विभीषणः ।
उत्पपात गदापाणिश्चतुर्भिः सह राक्षसैः ॥ १६ ॥

अब्रवीच्च तदा वाक्यं जातक्रोधो विभीषणः ।
अन्तरिक्षगतः श्रीमान्भ्रातरं राक्षसाधिपम् ॥ १७ ॥

जब न्यायवादी (ठीक ठीक कहने वाले) विभीषण को रावण ने इस प्रकार धिक्कारा ; तब वह चार राक्षसों के साथ हाथ में गदा लिये हुए उड़ कर आकाश में पहुँचा । आकाश में पहुँच और क्रोध में भर विभीषण ने अपने भाई राक्षसराज रावण से ये वचन कहे ॥ १६ ॥ १७ ॥

स त्वं भ्राताऽसि मे राजन्ब्रूहि मां यद्यदिच्छसि ।
ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मपथे स्थितः ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"शरदि ।"

हे राजन्! तुम मेरे भाई हो, इससे जो चाहो सो कह लो। बड़े भाई होने के कारण तुम पितृतुल्य और पूज्य हो; किन्तु तुम धर्मपथारूढ़ नहीं हो॥ १८॥

इदं तु परुषं वाक्यं न क्षमाम्यहितं* तव।
[1]सुनीतं हितकामेन वाक्यमुक्तं दशानन॥ १९॥

अतः मैं तुम्हारे इन कठोर और अप्रिय वचनों को न सहूँगा। हे दशानन! मैंने जो कहा था सो तुम्हारी भलाई के लिये ही कहा था और वह कहा था जो निश्चय ही आगे होने वाला है, किन्तु तुमने उन बातों पर ध्यान न दिया॥ १९॥

न गृह्णन्त्यकृतात्मानः कालस्य वशमागताः।
सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः॥ २०॥

तुम ध्यान देते भी क्यों? तुम्हारे सिर पर तो काल खेल रहा है। जो अनात्मज्ञ पुरुष होते हैं, वे ऐसी बातों पर ध्यान नहीं देते। हे राजन्! सदैव चिकनी चुपड़ी बातें कहने वाले मनुष्य बहुत मिलते हैं॥२०॥

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।
बद्धं कालस्य पाशेन सर्वभूतापहारिणा॥ २१॥

अप्रिय, किन्तु न्याययुक्त बातें कहने वाले और सुनने वाले मनुष्यों का मिलना कठिन है। सब प्राणियों को हरण करने वाले काल के पाश में तुमको फँसा हुआ॥ २१॥

न नश्यन्तमुपेक्षेयं प्रदीप्तं शरणं यथा।
दीप्तपावकसङ्काशैः शितैः काञ्चनभूषणैः॥ २२॥

---

१ सुनीतं—सुनिश्चितागामिफलबोधकंवाक्यं। (रा०) पाठान्तरे—
"क्षमाम्यनृतं।"

और नष्ट होते देख, मुझसे न रहा गया। भला घर को जलते देख कौन चुपचाप बैठा रह सकता है। प्रज्वलित अग्नि की तरह चमकते, पैने और सुवर्णभूषित ॥ २२ ॥

न त्वामिच्छाम्यहं द्रष्टुं रामेण निहतं शरैः।
शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे॥ २३ ॥
कालाभिपन्नाः सीदन्ति यथा वालुकसेतवः।
तन्मर्षयतु यच्चोक्तं गुरुत्वाद्धितमिच्छता ॥ २४ ॥

बाणों से, राम द्वारा तेरा मारा जाना मैं देखना नहीं चाहता। बड़े बड़े शूर, बलवान और अस्त्र चलाने में चतुर लोग भी काल के वशवर्ती हो, बालू की भीत की तरह, युद्ध में बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। हे भाई! जो कुछ भी हो, तुम पूज्य हो। अतः मैंने तुम्हारे हित की कामना से, जो कुछ कहा है उसे क्षमा करना ॥ २३ ॥ २४ ॥

आत्मानं सर्वथा रक्ष पुरीं चेमां सराक्षसाम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया विना ॥२५॥

अपनी और राक्षसों सहित इस लङ्कापुरी की रक्षा करना। तुम्हारा मङ्गल हो। मैं अब जाऊँगा। अब मेरे न रहने से तुम सुखी हो ॥ २५ ॥

नूनं न ते *राक्षस कश्चिदस्ति
रक्षोनिकायेषु सुहृत्सखा वा।
हितोपदेशस्य न मन्त्रवक्ता
यो वारयेत्त्वां स्वयमेव पापात् ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे –"रावण।"

हे निशाचर ! मुझे दुःख है कि, इस राक्षसपुरी में निश्चय ही तुम्हारा कोई ऐसा हितैषी अथवा मित्र नहीं है, जो तुमसे तुम्हारे हित की बातें कह तुम्हें सत्परामर्श देता हुआ, तुमको बुरे कामों के करने से रोकता ॥ २६ ॥

निवार्यमाणस्य मया हितैषिणा
न रोचते ते वचनं निशाचर ।
[1]परीतकाला हि गतायुषो नरा
हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥ २७ ॥

इति षोडशः सर्गः ॥

हे निशाचर ! मैं तो तुम्हें तुम्हारी भलाई के लिये ही रोकता था, किन्तु मेरी बात तुम्हें अच्छी ही नहीं लगी। ठीक है, जिन लोगों की आयु पूरी होने को होती है और जिनके सिर पर काल खेलता है, वे मित्रों की कही हुई हितकर बातों को नहीं मानते ॥ २७ ॥

युद्धकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तदशः सर्गः

—※—

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणं रावणानुजः ।
आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः ॥ १ ॥

रावण का छोटा भाई विभीषण, रावण से इस प्रकार कठोर वचन कह, एक मुहूर्त में वहाँ जा पहुँचा, जहाँ लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी थे ॥ १ ॥

१ परीतकालाः—परीतः प्रत्यासन्नः कालोयेषां ते तथोक्ताः । (रा०)

तं मेरुशिखराकारं दीप्तामिव शतह्रदाम् ।
गगनस्थं महीस्थास्ते ददृशुर्वानराधिपाः ॥ २ ॥

बिजली की तरह चमचमाते, सुमेरु पर्वत की चोटी की तरह आकाशस्थित विभीषण को, नीचे से वानर यूथपतियों ने देखा ॥२॥

स हि मेघाचलप्रख्यो वज्रायुधसमप्रभः ।
वरायुधधरो वीरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ३ ॥

मेघ अथवा पहाड़ की तरह विशालवपुधारी और इन्द्र के वज्र की तरह प्रभायुक्त, उत्तम आयुधों को लिये हुए और सुन्दर आभूषणों से शोभित वीर विभीषण को वानरों ने आकाश में देखा ॥ ३ ॥

ये चाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः ।
तेऽपि वर्मायुधोपेता भूषणैश्च विभूषिताः ॥ ४ ॥

विभीषण के जो भीम पराक्रमी चार अनुचर थे, वे भी कवच पहिने हुए थे, अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित थे और भूषणों से भूषित थे ॥ ४ ॥

तमात्मपञ्चमं दृष्ट्वा सुग्रीवो वानराधिपः ।
वानरैः सह दुर्धर्षश्चिन्तयामास बुद्धिमान् ॥ ५ ॥

दुर्धर्ष, बुद्धिमान् एवं वानरराज सुग्रीव इन पाँच व्यक्तियों को देख, अन्य वानरों सहित सोचने लगे ॥ ५ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु वानरांस्तानुवाच ह ।
हनुमत्प्रमुखान्सर्वानिदं वचनमुत्तमम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर एक मुहूर्त तक कुछ सोच विचार कर, हनुमानादि वानरों से सुग्रीव ने ये उत्तम वचन कहे ॥ ६ ॥

एष सर्वायुधोपेतश्चतुर्भिः सह राक्षसैः ।
राक्षसोऽभ्येति पश्यध्वमस्मान्हन्तुं न संशयः ॥ ७ ॥

देखो, यह कोई राक्षस है, जो सब आयुधों से लैस अपने चार साथियों के साथ, निस्सन्देह हम सब लोगों को मारने के लिये आ रहा है ॥ ७ ॥

सुग्रीवस्य वचः श्रुत्वा सर्वे ते वानरोत्तमाः ।
सालानुद्यम्य शैलांश्च इदं वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥

जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा, तब उन सब वानरश्रेष्ठों ने बड़े बड़े शालवृक्ष और शिलाएँ हाथों में ले सुग्रीव से यह कहा ॥ ८ ॥

शीघ्रं व्यादिश नो राजन्वधायैषां दुरात्मनाम् ।
निपतन्ति हता यावद्धरण्यामल्पतेजसः ॥ ९ ॥

हे राजन् ! इस दुरात्मा को मारने की हम लोगों को आप शीघ्र आज्ञा दें । हम इस अल्पबल वाले को मार कर अभी नीचे गिराये देते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सम्भाषमाणानामन्योन्यं स विभीषणः ।
उत्तरं तीरमासाद्य खस्थ एव व्यतिष्ठत ॥ १० ॥

इधर तो वानर इस प्रकार आपस में बातचीत कर रहे थे, उधर विभीषण समुद्र के उत्तरतट के ऊपर पहुँच आकाश ही में रुक गया ॥ १० ॥

उवाच च महाप्राज्ञः स्वरेण महता महान् ।
सुग्रीवं तांश्च सम्प्रेक्ष्य सर्वान्वानरयूथपान् ॥ ११ ॥

सुग्रीव तथा अन्य समस्त वानर यूथपतियों की ओर देख बुद्धिमान विभीषण ने बड़े उच्च स्वर से कहा ॥ ११ ॥

रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः ।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः ॥ १२ ॥

राक्षसों का राजा रावण नामक एक राक्षस है जो बड़ा दुराचारी है। मैं उसीका छोटा भाई हूँ और मेरा नाम विभीषण है ॥ १२ ॥

तेन सीता जनस्थानाद्धृता हत्वा जटायुषम् ।
रुद्धा च विवशा दीना राक्षसीभिः सुरक्षिता ॥ १३ ॥

वही जटायु को मार कर जनस्थान से सीता को हर लाया था। वह बेचारी सीता राक्षसियों के बीच विवश और दीन हो कैद में है ॥ १३ ॥

तमहं हेतुभिर्वाक्यैर्विविधैश्च न्यदर्शयम् ।
साधु निर्यात्यतां सीता रामायेति पुनः पुनः ॥ १४ ॥

मैंने रावण को कितनी ही युक्तियों से समझाया और कितनी ही बार कहा कि, अच्छा हो तू सीता रामचन्द्र को दे दे ॥ १४ ॥

स च न प्रतिजग्राह रावणः कालचोदितः ।
उच्यमानं हितं वाक्यं विपरीत इवौषधम् ॥ १५ ॥

किन्तु उसने मेरी बात न मानी, क्योंकि उसके सिर पर तो काल खेल रहा है। जिस प्रकार रोगी को दवा बुरी लगती है, उसी प्रकार रावण को मेरी कही हुई हितकर बातें उलटी लगीं ॥ १५ ॥

सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः ।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ॥ १६ ॥

उसने मुझसे बड़े कठोर वचन कहे और टहलुए की तरह मेरा अनादर किया। अतः अब मैं पुत्र कलत्रादि सब को त्याग श्रीरामचन्द्र जी की शरण में आया हूँ ॥ १६ ॥

सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने ।
निवेदयत मां क्षिप्रं विभीषणमुपस्थितम् ॥ १७ ॥

सब लोकों के रक्षक महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से आप लोग शीघ्र निवेदन कर दें कि, विभीषण आया है ॥ १७ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवो लघुविक्रमः[1] ।
लक्ष्मणस्याग्रतो रामं [2]संरब्धमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

विभीषण के ये वचन सुन, सुग्रीव शीघ्रता पूर्वक गये और लक्ष्मण के सामने श्रीरामचन्द्र जी से प्रेम में भर शीघ्रता पूर्वक कहने लगे ॥ १८ ॥

रावणस्यानुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः ।
चतुर्भिः सह रक्षोभिर्भवन्तं शरणं गतः ॥ १९ ॥

रावण का छोटा भाई जिसका नाम विभीषण है, चार राक्षसों को लेकर आपके शरण में आया है ॥ १९ ॥

मन्त्रे व्यूहे नये चारे युक्तो भवितुमर्हसि ।
वानराणां च भद्रं ते परेषां च परन्तप ॥ २० ॥

हे शत्रुतापन ! जिस प्रकार वानरों की भलाई हो, उस प्रकार आप करने अनकरने कामों का विचार करें, व्यूह रचना करवावें और शत्रुसैन्य का वृत्तान्त जानने को जासूस नियत कर, सावधान हो जाँय ॥ २० ॥

---

१ लघुविक्रमः—शीघ्रगमनः । (गो०) २ संरब्धं—प्रेमभरात्त्वरितोदिताक्षरं । (गो०)

[1]अन्तर्धानगता ह्येते राक्षसाः कामरूपिणः ।
शूराश्च निकृतिज्ञाश्च[2] तेषु जातु न विश्वसेत् ॥ २१ ॥

हे राघव ! ये राक्षस हैं । ये जब चाहें, तब इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं, ये अदृश्यचारी तथा बड़े वीर और बड़े कपटी हैं ॥ २१ ॥

[3]प्रणधीं राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य भवेदयम् ।
अनुप्रविश्य सोऽस्मासु भेदं कुर्यान्न संशयः ॥ २२ ॥

मुझे तो यह राक्षसराज रावण का जासूस जान पड़ता है। निश्चय ही यह हम लोगों से हिलमिल कर, हम लोगों ही में परस्पर भेदभाव उत्पन्न कर देगा ॥ २२ ॥

अथवा स्वयमेवैष छिद्रमासाद्य बुद्धिमान् ।
अनुप्रविश्य विश्वस्ते कदाचित्प्रहरेदपि ॥ २३ ॥

अथवा जब कभी हम इस पर विश्वास कर असावधान होंगे, तब यह अवसर पाते ही हम लोगों पर आक्रमण कर देगा—क्योंकि यह है बुद्धिमान् ॥ २३ ॥

मित्राटवीबलं चैव [4]मौलं भृत्यबलं तथा ।
सर्वमेतद्बलं ग्राह्यं वर्जयित्वा द्विषद्बलम् ॥ २४ ॥

मित्रों, वनवासियों, परंपरागत सैनिकों अथवा अपने अधीनस्थ राजाओं की तथा नौकर रखी हुई सेना – इन सब से काम ले ले, किन्तु शत्रुसैन्य पर सहायता के लिये कभी विश्वास न करे ॥ २४ ॥

---

१ अन्तर्धानगताः—अदृश्यचारिणः । (गो०) २ निकृतिज्ञाः—कपटोपायवेदिनः । (गो०) ३ प्रणिधिः—चारः । (गो०) ४ मौलं—परंपरागतं सैन्यं । (गो०)

प्रकृत्या राक्षसो ह्येषं भ्राताऽमित्रस्य वै प्रभो ।
आगतश्च रिपोः पक्षात्कायमस्मिन्हि विश्वसेत् ॥ २५ ॥

हे प्रभो ! एक तो यह स्वभाव ही से राक्षस ठहरा, दूसरे शत्रु का भाई है । तीसरे हाल ही में शत्रु के पास से चला आ रहा है । मैं इसका कैसे विश्वास करूँ ॥ २५ ॥

रावणेन प्रणिहितं तमवेहि विभीषणम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये क्षमं क्षमवतां वर ॥ २६ ॥

यह विभीषण, रावण ही का भेजा हुआ आया है । हे सर्व-समर्थ राघव ! मैं तो इसे दण्ड देना ही ठीक समझता हूँ ॥ २६ ॥

राक्षसो जिह्मया बुद्ध्या सन्दिष्टोऽयमुपस्थितः ।
प्रहर्तुं मायया च्छन्नो विश्वस्ते त्वयि राघव ॥ २७ ॥

हे राघव ! यह कपटी मायावी राक्षस प्रथम आपके मन में अपनी ओर से विश्वास उत्पन्न कर, अवसर हाथ लगने पर, आप के ऊपर प्रहार करने के लिये ही रावण का भेजा हुआ, यहाँ आया है ॥ २७ ॥

प्रविष्टः शत्रुसैन्यं हि प्राज्ञः शत्रुरतर्कितः ।
निहन्यादन्तरं लब्ध्वा उलूक इव वायसान् ॥ २८ ॥

हे प्राज्ञ ! यह शत्रुसैन्य में इसलिये घुसना चाहता है कि, जब अवसर हाथ लगने पर शत्रु को असावधान पावे, तब उनको उसी प्रकार मार डाले, जिस प्रकार एक घुग्घू बहुत से कौओं को मार डालता है ॥ २८ ॥

वध्यतामेष दण्डेन तीव्रेण सचिवैः सह ।
रावणस्य नृशंसस्य भ्राता ह्येष विभीषणः ॥ २९ ॥

अतएव इसे मय इसके मंत्रियों के कड़ी सज़ा दे कर मार डालना चाहिये। क्योंकि यह उस कसाई रावण का भाई है ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा तु तं रामं संरब्धो वाहिनीपतिः ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं ततो मौनमुपागतम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार कुपित हो वाक्यविशारद वानरराज सुग्रीव, वाक्य-कुशल श्रीरामचन्द्र जी से वचन कह, चुप हो गये ॥ ३० ॥

सुग्रीवस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा रामो महायशाः ।
समीपस्थानुवाचेदं हनुमत्प्रमुखान्हरीन् ॥ ३१ ॥

सुग्रीव के ये वचन सुन, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र, पास बैठे हुए हनुमानादि मुख्य मुख्य वानरों से बोले ॥ ३१ ॥

यदुक्तं कपिराजेन रावणावरजं प्रति ।
वाक्यं हेतुमदर्थ्यं च भवद्भिरपि तच्छ्रुतम् ॥ ३२ ॥

रावण के छोटे भाई के सम्बन्ध में कपिराज ने जो युक्तियुक्त मतलब की बातें कही हैं, वे सब आप लोगों ने भी सुनी ही हैं ॥३२॥

सुहृदा ह्यर्थकृच्छ्रेषु[1] युक्तं बुद्धिमता सता ।
समर्थेनापि सन्देष्टुं शाश्वतीं भूतिमिच्छता ॥ ३३ ॥

सदैव मङ्गलाभिलाषी बुद्धिमान, समर्थ और हितैषी को यही चाहिये कि, सुहृद को, कार्य करने में सन्देह उपस्थित होने पर या

---

१ अर्थकृच्छ्रेषु—सङ्कटेषु । (गो०)

सङ्कट पड़ने पर; इसी तरह सम्मति देनी चाहिये। अतः आप लोग भी अपनी अपनी राय दें ॥ ३३ ॥

इत्येवं परिपृष्टास्ते स्वं स्वं मतमतन्द्रिताः ।
[1]सोपचारं तदा राममूचुर्हितचिकीर्षवः ॥ ३४ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार पूँछा; तब बड़ी मुस्तैदी के साथ वानरों ने श्रीरामचन्द्र जी की भलाई की कामना से, प्रशंसा पूर्वक अपनी अपनी सम्मति दी ॥ ३४ ॥

अज्ञातं नास्ति ते किञ्चित्त्रिषु लोकेषु राघव ।
आत्मानं सूचयन्राम पृच्छस्यस्मान्सुहृत्तया ॥ ३५ ॥

हे राघव! तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो आपको मालूम न हो। आपने सुहृद्भाव से जो पूँछा है—यह केवल हम लोगों को आपने अपनाया है ॥ ३५ ॥

त्वं हि सत्यव्रतः शूरो धार्मिको दृढविक्रमः ।
परीक्ष्यकारी स्मृतिमान्निसृष्टात्मा सुहृत्सु च ॥ ३६ ॥

आप सत्यव्रतधारी, शूर, धार्मिक, दृढ़विक्रमी, भली भाँति जाँच पड़ताल कर काम करने वाले, स्मृतिमान्, इष्टमित्रों के प्रति विश्वास रखने वाले और हितैषी हैं ॥ ३६ ॥

तस्मादेकैकशस्तावद्ब्रुवन्तु सचिवास्तव ।
हेतुतो मतिसम्पन्नाः समर्थाश्च पुनः पुनः ॥ ३७ ॥

इस समय आपके समीप बुद्धिमान और समर्थ मंत्री हैं। वे अलग अलग युक्तिप्रदर्शन पूर्वक अपनी अपनी सम्मति प्रकट करें ॥ ३७ ॥

---

१ सोपचारं—प्रशंसावाक्यमेवाह। (गो०)

इत्युक्ते राघवायाथ मतिमानङ्गदोऽग्रतः ।
विभीषणपरीक्षार्थमुवाच वचनं हरिः ॥ ३८ ॥

वानरों ने श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार कहा तब बुद्धिमान् अंगद् ने सब से प्रथम विभीषण की परिस्थिति का विवेचन करते हुए, अपनी सम्मति दी ॥ ३८ ॥

शत्रोः सकाशात्सम्प्राप्तः सर्वथा शङ्क्य एव हि ।
विश्वासयोग्यः सहसा न कर्तव्यो विभीषणः ॥ ३९ ॥

विभीषण, शत्रु के पास से आ रहा है, अतः इसकी ओर से शङ्का उत्पन्न होना स्वाभाविक बात है। अतएव यह सहसा विश्वास करने योग्य नहीं है ॥ ३९ ॥

छादयित्वाऽऽत्मभावं हि चरन्ति शठबुद्धयः ।
प्रहरन्ति च रन्ध्रेषु सोऽनर्थः सुमहान्भवेत् ॥ ४० ॥

क्योंकि क्रूर स्वभाव वाले राक्षस सदा अपने मन का भाव छिपाये घूमा करते हैं और अवसर हाथ आते ही प्रहार कर बैठते हैं। जहाँ ऐसा होता है, वहाँ बड़ा भारी अनर्थ होता है ॥ ४० ॥

[1]अर्थानर्थौ विनिश्चित्य व्यवसायं[2] भजेत ह ।
गुणतः संग्रहं कुर्याद्दोषतस्तु *विसर्जयेत् ॥ ४१ ॥

अतएव गुण और दोषों को विचारपूर्वक निश्चित कर त्याग अथवा संग्रहोचित अध्यवसाय में प्रवृत्त होना चाहिये। यदि विभीषण में गुण हों तो उसको मिला लेना चाहिये और यदि दोष हों तो उसका त्याग कर देना ही अच्छा है ॥ ४१ ॥

---

१ अर्थानर्थौ—गुणदोषौ। (गो०) २ व्यवसायं—त्यागसंग्रहोचितां व्यवसायं। (गो०) * पाठान्तरे—"विवर्जयेत्।"

यदि दोषो महांस्तस्मिंस्त्यज्यतामविशङ्कितम् ।
गुणान्वाऽपि बहूञ्ज्ञात्वा सङ्ग्रहः क्रियतां नृप ॥४२॥

यदि विभीषण में कोई बड़ा दोष देख पड़े, तो बिना सङ्कोच के इसको त्याग देना चाहिये । हे राजन् ! यदि इसमें बहुत से गुण देख पड़ें, तो इसको अपने में मिला लेना चाहिये ॥ ४२ ॥

[नोट —किसी भी मनुष्य में गुण ही गुण या दोष ही दोष नहीं हुआ करते—प्रत्येक में गुण भी होते हैं और दोष भी । ऐसी दशा में तो विभीषण का त्याग व संग्रह का विचार दुरूह है । यह सोच कर ही अंगद ने ४२वें श्लोक में "बड़ा दोष" या "बड़ा गुण" कह कर अपनी पूर्वकथित बात का स्पष्टीकरण किया है ।]

शरभस्त्वथ निश्चित्य सार्थं वचनमब्रवीत् ।
क्षिप्रमस्मिन्नरव्याघ्र चारः प्रतिविधीयताम् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर शरभ ने कुछ सोच कर, यह सोपपत्तिक (ठिकाने की) बात कही । हे नरव्याघ्र ! लङ्का में जासूस भेज कर इसका रहस्य जानना चाहिये ॥ ४३ ॥

प्रणिधाय हि चारेण यथावत्सूक्ष्मबुद्धिना ।
परीक्ष्य च ततः कार्यो यथान्याय्यं परिग्रहः ॥ ४४ ॥

किसी कुशाग्रबुद्धि वाले भेदिया द्वारा इसका ठीक ठीक वृत्तान्त जानना चाहिये । तदनन्तर भली भाँति जान कर, नीति शास्त्रानुसार इसको मिलाना चाहिये ॥ ४४ ॥

जाम्बवांस्त्वथ सम्प्रेक्ष्य शास्त्रबुद्ध्या विचक्षणः ।
वाक्यं विज्ञापयामास गुणवद्दोषवर्जितम् ॥ ४५ ॥

तदनन्तर विचक्षण बुद्धिमान् जाम्बवान ने यथाशास्त्र विचार कर, युक्तियुक्त और दोषवर्जित यह बात प्रकट की ॥ ४५ ॥

बद्धवैराच्च पापाच्च राक्षसेन्द्राद्विभीषणः ।
अदेशकाले सम्प्राप्तः सर्वथा शङ्क्यतामयम् ॥ ४६ ॥

हमारे कट्टर शत्रु और पापी रावण के पास से विभीषण ऐसे समय में आया है, जिस समय उसे आना उचित न था, फिर यह स्थान भी इस कार्य के उपयुक्त नहीं है, अतएव इससे सर्वथा सशङ्कित रहना ही उचित है ॥ ४६ ॥

ततो मैन्दस्तु सम्प्रेक्ष्य नयापनयकोविदः ।
वाक्यं वचनसम्पन्नो बभाषे हेतुमत्तरम् ॥ ४७ ॥

नीति अनीति की विवेचना करने में दक्ष मैन्द ने भली भाँति सोच विचार कर अत्यन्त युक्तियुक्त वचन कहा ॥ ४७ ॥

वचनं नाम तस्यैष रावणस्य विभीषणः ।
पृच्छ्यतां मधुरेणायं शनैर्नरवरेश्वर ॥ ४८ ॥

हे नरवरेश्वर ! यह विभीषण रावण का छोटा भाई है, अतः इससे शिष्टता पूर्वक धीरे धीरे मधुर शब्दों में सब बातें पूछनी चाहिये ॥ ४८ ॥

भावमस्य तु विज्ञाय ततस्तत्त्वं करिष्यसि ।
यदि दुष्टो न दुष्टो वा बुद्धिपूर्वं नरर्षभ ॥ ४९ ॥

हे नरर्षभ ! फिर इसके मन की असली बात जान लेने के बाद, इसके दुष्ट अथवा साधु होने का विचार कर, जैसा ठीक जान पड़े वैसा आप करें ॥ ४९ ॥

अथ [1]संस्कारसम्पन्नो हनूमान्सचिवोत्तमः ।
उवाच वचनं श्लक्ष्णमर्थवन्मधुरं लघु ॥ ५० ॥

तदनन्तर सर्व-शास्त्र-विशारद, मंत्रिश्रेष्ठ हनुमान जी ने संक्षेप में, किन्तु स्पष्टार्थबोधक मधुर वचनों में कहा ॥ ५० ॥

न भवन्तं मतिश्रेष्ठं समर्थं वदतां वरम् ।
अतिशाययितुं शक्तो बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ॥ ५१ ॥

हे स्वामिन्! आप बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, समर्थ और बोलने वाले में सर्वोत्तम हैं। बृहस्पति भी आपके सामने बहुत नहीं बोल सकते ॥ ५१ ॥

न वादान्नापि सङ्घर्षान्नाधिक्यान्न च कामतः ।
वक्ष्यामि वचनं राजन्यथार्थं रामगौरवात् ॥ ५२ ॥

हे राम! मैं आपसे तर्ककौशल से, सचिवों की स्पर्धा के वशवर्ती हो, अपने को बड़ा बुद्धिमान वक्ता होने के अभिमान से, भाषण की इच्छा से अथवा विभीषण का पक्षपाती बन कर कुछ नहीं कहता, किन्तु मैं जो कुछ कहूँगा ठीक ही ठीक और आपके गौरव का ध्यान रख कर ही कहूँगा ॥ ५२ ॥

अर्थानर्थनिमित्तं हि यदुक्तं सचिवैस्तव ।
तत्र दोषं प्रपश्यामि क्रिया न ह्युपपद्यते ॥ ५३ ॥

देखिये गुणों और दोषों के विषय में आपके मंत्रियों ने जो कुछ कहा है, उसमें मुझे दोष देख पड़ते हैं; क्योंकि उससे कोई काम होता नहीं जान पड़ता ॥ ५३ ॥

---

१ संस्कारसम्पन्नः—शास्त्राभ्यासदृढतरसंस्कारयुक्तः। (गो०)

ऋते नियोगात्सामर्थ्यमवबोद्धुं न शक्यते ।
सहसा विनियोगो हि दोषवान्प्रतिभाति मा ॥ ५४ ॥

बिना कोई काम सौंपे तो किसी की हित अनहित भावना का पता चल नहीं सकता। साथ ही सहसा कोई काम सौंप देना भी मेरी समझ में ठीक नहीं है ॥ ५४ ॥

चारप्रणिहितं युक्तं यदुक्तं सचिवैस्तव ।
अर्थस्यासम्भवात्तत्र कारणं नोपपद्यते ॥ ५५ ॥

भेदिया या चर भेजने के सम्बन्ध में आपके मंत्रियों ने जो कुछ कहा है, सो बिना प्रयोजन चर भेजना भी मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ ५५ ॥

अदेशकाले सम्प्राप्त इत्ययं यद्विभीषणः ।
विवक्षा तत्र मेऽस्तीयं तां निबोध यथामति ॥ ५६ ॥

जाम्बवान ने कहा था कि, विभीषण ठीक समय और ठीक स्थान पर नहीं आया। इस विषय में मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ कहना चाहता हूँ, (आप लोग ध्यान देकर सुनें) ॥ ५६ ॥

स एष देशः कालश्च भवतीति यथातथा ।
पुरुषात्पुरुषं प्राप्य तथा दोषगुणावपि ॥ ५७ ॥

विभीषण के आने का यही (उपयुक्त) स्थान है और यही काल है। एक पुरुष के पास से दूसरे पुरुष के पास आने में जो बुराई भलाई हो सकती है—उसे मैं कहता हूँ ॥ ५७ ॥

दौरात्म्यं रावणे दृष्ट्वा विक्रमं च तथा त्वयि ।
युक्तमागमनं तस्य सदृशं तस्य बुद्धितः ॥ ५८ ॥

रावण में दुष्टता और आपमें पराक्रम देख, इसका यहाँ आना सर्वथा ठीक है और यह उसकी बुद्धिमानी को प्रकट करता है ॥ ५८ ॥

अज्ञातरूपैः पुरुषैः स राजन्पृच्छ्यतामिति ।
यदुक्तमत्र मे प्रेक्षा काचिदस्ति समीक्षिता ॥ ५९ ॥

अज्ञात कुलशील दूत के द्वारा विभीषण का हाल जानने के लिये मैन्द ने जो परामर्श दिया है, सो इस विषय में भी विचार कर मैं जिस परिणाम पर पहुँचा हूँ, उसे भी आप लोग सुनें ॥ ५९ ॥

पृच्छ्यमानो विशङ्केत सहसा बुद्धिमान्वचः ।
तत्र मित्रं प्रदुष्येत मिथ्या पृष्टं सुखागतम् ॥ ६० ॥

विभीषण बड़ा बुद्धिमान् है । अतः अज्ञातकुलशील किसी पुरुष के सहसा उनसे कुछ पूँछने पर, उसके मन में सन्देह उत्पन्न होगा और उत्तर न देगा । फिर सुखप्राप्ति की लालसा से वह आपसे मैत्री करने आया है—सो ऐसा करने से उस मैत्री में भेद पड़ जायगा ॥ ६० ॥

अशक्यः सहसा राजन्भावो वेत्तुं परस्य वै ।
अन्तःस्वभावैर्गीतैस्तैर्नैपुण्यं पश्यता भृशम् ॥ ६१ ॥

हे राजन् ! फिर किसी दूसरे के मन की बात सहसा जानी भी नहीं जा सकती, किन्तु चतुरजन कण्ठस्वर के भेद से और कण्ठ-ध्वनि से बोलने वाले का अभिप्राय ताड़ जाते हैं ॥ ६१ ॥

न त्वस्य ब्रुवतो जातु लक्ष्यते दुष्टभावता ।
प्रसन्नं वदनं चापि तस्मान्मे नास्ति संशयः ॥ ६२ ॥

हे राम! मुझे तो इसकी बोली से इसकी बुरी भावना नहीं जान पड़ती। इसकी मुखाकृति भी हर्षित देख पड़ती है। अतः मुझे तो इस पर कुछ भी सन्देह नहीं है॥ ६२॥

अशङ्कितमतिः स्वस्थो न शठः परिसर्पति।
न चास्य दुष्टा वाक्चापि तस्मान्नास्तीह संशयः॥ ६३॥

जो धूर्त होता है वह निर्भीक और स्थिर चित्त होकर नहीं आता। इसकी बोली में भी मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। अतएव मुझे तो इस पर कुछ भी सन्देह नहीं है॥ ६३॥

आकारश्छाद्यमानोऽपि न शक्यो विनिगूहितुम्।
बलाद्धि विवृणोत्येव भावमन्तर्गतं नृणाम्॥ ६४॥

आकार को कोई भले ही छिपावे पर वह छिप नहीं सकता, बल्कि मनुष्य के अन्तःकरण की दुष्टता अथवा साधुता वह बरजोरी प्रकट कर देता है॥ ६४॥

देशकालोपपन्नं च कार्यं कार्यविदां वर।
स्वफलं कुरुते क्षिप्रं प्रयोगेणाभिसंहितम्॥ ६५॥

हे कर्मज्ञों में श्रेष्ठ! काल और देश का भली भाँति विचार कर, उचित पुरुष द्वारा जो कार्य किया जाता है, वह शीघ्र फल देता है॥ ६५॥

उद्योगं तव सम्प्रेक्ष्य मिथ्यावृत्तं च रावणम्।
वालिनश्च वधं श्रुत्वा सुग्रीवं चाभिषेचितम्॥ ६६॥

विभीषण आपको उद्योगी और रावण को मिथ्या उद्योग में लगा हुआ देख और यह सुन कि, आपने वाली को मार डाला और सुग्रीव को राज्य दिला दिया है॥ ६६॥

राज्यं प्रार्थयमानश्च बुद्धिपूर्वमिहागतः ।
एतावत्तु पुरस्कृत्य युज्यते त्वस्य संग्रहः ॥ ६७ ॥

लङ्का का राज्य पाने के लोभ से, भली भांति समझ बूझ कर यहाँ आया है। इन बातों पर ध्यान देते हुए विभीषण का मिला लेना ही उचित है ॥ ६७ ॥

यथाशक्ति मयोक्तं तु राक्षसस्यार्जवं[1] प्रति ।
त्वं प्रमाणं तु शेषस्य श्रुत्वा बुद्धिमतां वर ॥ ६८ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! मैंने निज बुद्ध्यानुसार विभीषण के निर्दोषत्व के बारे में जो कुछ कहा—उसे आप सुन ही चुके, अब विभीषण को ग्रहण करना न करना आपकी इच्छा के ऊपर है ॥६८॥

युद्धकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

अष्टादशः सर्गः

—*—

अथ रामः प्रसन्नात्मा श्रुत्वा वायुसुतस्य ह ।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः [2]श्रुतवानात्मनि स्थितम् ॥ १ ॥

तदनन्तर सर्वशास्त्रवेत्ता, अजेय श्रीरामचन्द्र जी हनुमान जी की बातें सुन प्रसन्न हुए और स्वस्थ हो बोले ॥ १ ॥

---

१ आर्जवं—निर्दोषत्वं । (गो०) २ श्रुतवान्—सकलशास्त्रश्रवणवान् । (रा०)

ममापि तु विवक्षाऽस्ति काचित्प्रति विभीषणम् ।
श्रुतमिच्छामि तत्सर्वं भवद्भिः श्रेयसि स्थितैः ॥ २ ॥

हे वानरो ! विभीषण के विषय में मुझे भी कुछ वक्तव्य है । आप सब मेरे हितैषी हैं, अतः मैं आपकी बातें सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम् ॥ ३ ॥

यदि विभीषण मित्रभाव से आया हो तो मैं इसे कभी त्यागना नहीं चाहता । भले ही उसमें कोई दोष भी हो । क्योंकि शिष्टजनों का यही अनिन्दित कर्तव्य है ॥ ३ ॥

सुग्रीवस्त्वथ तद्वाक्यमाभाष्य च विमृश्य च ।
ततः शुभतरं वाक्यमुवाच हरिपुङ्गवः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीव, श्रीरामचन्द्र जी के वचनों की विवृत्ति कर और मन में समझबूझ कर अपनी पहिली बात का अनुमोदन करते हुए बोले ॥ ४ ॥

सुदुष्टो वाऽप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः ।
ईदृशं व्यसनं प्राप्तं भ्रातरं यः परित्यजेत् ॥ ५ ॥
को नाम स भवेत्तस्य यमेष न परित्यजेत् ।
वानराधिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा सर्वानुदीक्ष्य च ॥ ६ ॥

यह दुष्ट हो या साधु ; किन्तु है तो राक्षस ही । इसने ऐसी विपत्ति में पड़े हुए अपने भाई का साथ क्यों छोड़ा ? फिर जब इसने सङ्कट के समय अपने सगे भाई को ही छोड़ दिया तब यह किसका सगा हो सकता है । वानरराज के इन वचनों को सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने सब की ओर देखा ॥ ५ ॥ ६ ॥

ईषदुत्स्मयमानस्तु लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ।
इति होवाच काकुत्स्थो वाक्यं सत्यपराक्रमः ॥ ७ ॥

तदनन्तर मुसक्या कर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी ने शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण जी से यह कहा ॥ ७ ॥

अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च ।
न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः ॥ ८ ॥

वानरराज सुग्रीव ने जैसा कहा है वैसा कोई दूसरा विना शास्त्रों को पढ़े और विना वृद्धों की सेवा किये नहीं कह सकता ॥८॥

अस्ति सूक्ष्मतरं किंचिद्यदत्र प्रतिभाति मे ।
प्रत्यक्षं लौकिकं वाऽपि विद्यते सर्वराजसु ॥ ९ ॥

इसमें एक बड़ी सूक्ष्म विचार की बात मुझे जान पड़ती है। वह प्रत्यक्ष है, लोकसिद्ध है और सब राजाओं में भी पायी जाती है ॥ ९ ॥

अमित्रास्तत्कुलीनाश्च[1] प्रातिदेश्याश्च कीर्तितः ।
व्यसनेषु प्रहर्तारस्तस्मादयमिहागतः ॥ १० ॥

शत्रु दो प्रकार के हुआ करते हैं। एक तो अपनी जाति बिरादरी वाले, दूसरे आसपास के देशों में रहने वाले। ये दोनों ही प्रकार के शत्रु विपत्ति के समय आक्रमण करते हैं। अतः सम्भव है, यह विभीषण, रावण को सङ्कटापन्न देख उसका संहार कराने को यहाँ आया हो ॥ १० ॥

---

[1] कुलीनाः—ज्ञातयः। (गो०)

अपापास्तत्कुलीनाश्च मानयन्ति स्वकान्हितान् ।
एष प्रायो नरेन्द्राणां शङ्कनीयस्तु शोभनः[1] ॥ ११ ॥

जाति वाले लोग कितने ही निर्दोष और धर्मात्मा हों, किन्तु समय पड़ने पर वे सदा अपना स्वार्थ साधने के लिये यत्नवान होते हैं। अतः जाति वाले भले ही गुणवान् हों, राजा को उनसे सदा सशङ्कित रहना चाहिये ॥ ११ ॥

यस्तु दोषस्त्वया प्रोक्तो ह्यादानेऽरिबलस्य च ।
तत्र ते कीर्तयिष्यामि यथाशास्त्रमिदं शृणु ॥ १२ ॥

शत्रुपक्ष को मिलाने में आप लोगों ने जो दोष बतलाये हैं, उनका उत्तर मैं नीतिशास्त्रसम्मत देता हूँ, उसे आप लोग सुनें ॥ १२ ॥

न वयं तत्कुलीनाश्च राज्यकाङ्क्षी च राक्षसः ।
पण्डिता हि भविष्यन्ति तस्माद्ग्राह्यो विभीषणः ॥१३॥

हम लोग उसके जाति बिरादरी वाले नहीं, जो वह हमको नाश कर हमारा राज्य लेने को आया हो। किन्तु-अपने भाई का नाश करा और उसका राज्य लेने की लालसा से, हमारे पास विभीषण का आना सम्भव है। फिर विभीषण पण्डित भी है—अतएव मेरी समझ में तो उसको मिला लेना चाहिये ॥ १३ ॥

अव्यग्राश्च प्रहृष्टाश्च न भविष्यन्ति सङ्गताः ।
प्रणादश्च महानेष ततोऽस्य भयमागतम् ॥ १४ ॥

यह प्रसिद्ध है कि, भाई लोग आपस में मिल कर अनुकूलता पूर्वक और प्रसन्नमन से वास करते हैं, परन्तु इस समय जब युद्ध

---

१ शोभनो—गुणवानेष । (गो०)

का डंका बज रहा है, तब उनके मन में एक दूसरे की ओर भय उत्पन्न हुआ होगा ॥ १४ ॥

इति भेदं गमिष्यन्ति तस्माद्ग्राह्यो विभीषणः ।
न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः ॥ १५ ॥

मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः ।
एवमुक्तस्तु रामेण सुग्रीवः सहलक्ष्मणः ॥ १६ ॥

उत्थायेदं महाप्राज्ञः प्रणतो वाक्यमब्रवीत् ।
रावणेन प्रणिहितं तमवेहि विभीषणम् ॥ १७ ॥

और इससे इनके मन में भेद हो जाना भी सम्भव है। अतः विभीषण को मिला लेना ठीक है। हे तात! सब भाई, भरत जैसे और सब पुत्र मेरे समान पिता के आज्ञाकारी और सब मित्र आप लोगों जैसे नहीं हुआ करते। जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब लक्ष्मण सहित बड़े बुद्धिमान सुग्रीव उठे और प्रणाम कर बोले—हे राम! यह विभीषण, रावण का भेजा हुआ यहाँ आया है ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

तस्याहं निग्रहं मन्ये क्षमं क्षमवतां वर ।
राक्षसो जिह्मया बुद्ध्या सन्दिष्टोऽयमिहागतः ॥ १८ ॥

हे सर्व सामर्थ्यवान्! मैं तो इसे दण्ड देना ही उचित समझता हूँ। यह रावण का सिखलाया हुआ कपटबुद्धि से यहाँ आया है ॥ १८ ॥

प्रहर्तुं त्वयि विश्वस्ते प्रच्छन्नो मयि वाऽनघ ।
लक्ष्मणे वा महाबाहो स वध्यः सचिवैः सह ॥ १९ ॥

हे अनघ! जब यह हम लोगों का अपने ऊपर विश्वास जमा लेगा, तब अवसर पा छिपे छिपे आपके, अथवा लक्ष्मण के अथवा मेरे ऊपर प्रहार करेगा। अतः मंत्रियों सहित इसको मरवा डालना ही उचित है॥ १६॥

रावणस्य नृशंसस्य भ्राता ह्येष विभीषणः।
एवमुक्त्वा रघुश्रेष्ठं सुग्रीवो वाहिनीपतिः॥ २०॥

वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं ततो मौनमुपागमत्।
सुग्रीवस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा रामो विमृश्य च॥ २१॥

यह उस घातक रावण का भाई है। वचन बोलने में चतुर कपिसेनापति सुग्रीव, इस प्रकार रघुश्रेष्ठ एवं वाक्यविशारद श्रीरामचन्द्र जी से वचन कह कर, चुप हो गये। सुग्रीव के वचनों को सुन और उन पर विचार कर श्रीरामचन्द्र जी ने॥ २०॥ २१॥

ततः शुभतरं वाक्यमुवाच हरिपुङ्गवम्।
सुदुष्टो वाप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः॥ २२॥

सूक्ष्ममप्यहितं कर्तुं ममाशक्तः कथञ्चन।
पिशाचान्दानवान्यक्षान्पृथिव्यां चैव राक्षसान्॥ २३॥

कपिश्रेष्ठ सुग्रीव से ये शुभ वचन कहे। यह राक्षस दुष्ट हो या साधु, वह मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। क्योंकि इस पृथिवी पर जितने पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षस हैं॥ २२॥ २३॥

अङ्गुल्यग्रेण तान्हन्यामिच्छन्हरिगणेश्वर।
श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः॥ २४॥

हे कपिराज ! मैं चाहूँ तो अंगुली के पोरुए से मार डाल सकता हूँ। मैंने सुना है कि, शरण में आये हुए शत्रु को किसी कबूतर ने ॥ २४ ॥

अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ।
स हि तं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम् ॥ २५ ॥

यथाविधि सत्कार कर उसे अपने शरीर का मांस खिलाया था। यह अतिथि एक बहेलिया था, जिसने उसकी कबूतरी को पकड़ रखा था ॥ २५ ॥

कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधो जनः ।
ऋषेः कण्वस्य पुत्रेण कण्डुना परमर्षिणा ॥ २६ ॥
शृणु गाथां पुरा गीतां धर्मिष्ठां सत्यवादिनीम् ।
बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम् ॥ २७ ॥
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप ।
आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणागतः ॥ २८ ॥
अरिः प्राणान्परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ।
स चेद्भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वाऽपि न रक्षति ॥ २९ ॥
त्वया शक्त्या *यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम् ।
विनष्टः †पश्यतस्तस्यारक्षिणः शरणागतः ॥ ३० ॥

जब कबूतर ने शरण में आये हुए शत्रु का सत्कार किया, तब मुझ जैसा जन शरण में आये हुए विभीषण का परित्याग

* पाठान्तरे—"यथासत्त्वं ।" † पाठान्तरे—"पश्यतो यस्यारक्षितुः ।"

क्यों कर सकता है ? महर्षि कण्व के सत्यवादी एवं धर्मिष्ठ पुत्र कण्डु ऋषि ने प्राचीनकाल में जो बात कही है, उसे भी सुनो। हे परन्तप ! हाथ जोड़े, गिड़गिड़ाते हुए और दीन भाव से शरण में आये हुए शत्रु को भी, दयाधर्म की रक्षा करने के लिये न मारना चाहिये। दुखी हो अथवा अहंकारी, परन्तु अन्य शत्रु के भय से विकल हो कर, यदि शत्रु भी अपने शरण में आवे, तो उत्तम पुरुष को उचित है कि, अपने प्राणों को हथेली पर रख कर भी उसकी रक्षा करे। जो भय से, प्रमाद से अथवा अन्य किसी वासना से, शक्ति रहने पर भी, ऐसे की यथावत् रक्षा नहीं करता, वह पापी और लोकनिन्दित है। यदि रक्षक के सामने शरणागत मनुष्य मर जाय ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः ।
एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे ॥ ३१ ॥

तो वह रक्षक के समस्त पुण्यों को ले अरक्षित शरणागत व्यक्ति चला जाता है। अतएव शरण में आये हुए की रक्षा न करने से बड़ा भारी पाप लगता है ॥ ३१ ॥

अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ।
करिष्यामि यथार्थं तु कण्डोर्वचनमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

शरणागत की रक्षा न करने से स्वर्गप्राप्ति नहीं होती, बड़ी बदनामी होती है और बल एवं वीर्य का नाश होता है। अतः मैं कण्डु ऋषि के वचन का यथार्थ रीत्यापालन करूँगा ॥ ३२ ॥

धर्मिष्ठं च यशस्यं च स्वर्ग्यं स्यात्तु फलोदये ।
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ॥ ३३ ॥

क्योंकि कण्डु का वचन, फल देने का समय उपस्थित होने पर पुण्य का, यश का और स्वर्ग का देने वाला है। जो एक बार भी मेरे शरण में आ जाय और वाणी से कह दे कि, मैं तुम्हारा हूं ॥ ३३ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ॥ ३४ ॥

तो तत्काल उसको, वह कोई भी क्यों न हो, निर्भय कर देना मेरा व्रत है। हे कपिश्रेष्ठ ! तुम विभीषण को ले आओ। मैंने उसे अभय कर दिया ॥ ३४ ॥

विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ।
रामस्य तु वचः श्रुत्वा सुग्रीवः प्लवगेश्वरः ॥ ३५ ॥

हे सुग्रीव ! वह विभीषण हो चाहे स्वयं रावण ही क्यों न हो। श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन कपिराज सुग्रीव ॥ ३५ ॥

प्रत्यभाषत काकुत्स्थं *सौहार्देनाभिचोदितः ।
किमत्र चित्रं धर्मज्ञ लोकनाथ सुखावह ॥ ३६ ॥

सौहार्दभाव से प्रेरित हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले—हे सुखदाता लोकनाथ ! हे धर्मज्ञ ! आपके इस कथन में आश्चर्य की कौन सी बात है ॥ ३६ ॥

यत्त्वमार्यं[1] प्रभाषेथाः [2]सत्त्ववान्सत्पथे स्थितः ।
मम चाप्यन्तरात्माऽयं शुद्धं वेत्ति विभीषणम् ।
अनुमानाच्च भावाच्च सर्वतः सुपरीक्षितः ॥ ३७ ॥

---

१ आर्यं—समीचीनं। (गो०) २ सत्त्ववान्—प्रशस्त अध्यवसायवान्। (गो०) * पाठान्तरे—"सौहार्देन प्रचोदितः ॥" अथवा "सौहार्देनाभिपूरितः।"

आप जैसे प्रशस्त अध्यवसायवान्, धर्मसंस्थापनार्थ भूतल पर अवतीर्ण होने वाले को छोड़ और कौन इस तरह की उदारता दिखला सकता है। अनुमान से और भाव से तथा सब प्रकार से भलीभाँति परीक्षा लेकर मेरा अन्तःकरण भी विभीषण को अब शुद्ध ही समझ रहा है ॥ ३७ ॥

तस्मात्क्षिप्रं सहास्माभिस्तुल्यो भवतु राघव ।
विभीषणो महाप्राज्ञः सखित्वं चाभ्युपैतु नः ॥ ३८ ॥

अतएव हे राघव! महाबुद्धिमान् विभीषण शीघ्र ही हमारे समान हो और हम लोगों के साथ उसकी मैत्री हो ॥ ३८ ॥

ततस्तु सुग्रीववचो निशम्य
तद्धरीश्वरेणाभिहितं नरेश्वरः ।
विभीषणेनाशु जगाम सङ्गमं
पतत्रिराजेन यथा पुरन्दरः ॥ ३९ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

कपिराज के कथनानुसार श्रीरामचन्द्र जी ने विभीषण के साथ तुरन्त मैत्री कर ली, जैसे इन्द्र ने गरुड़ जी के साथ मैत्री की थी ॥३९॥

युद्धकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकोनविंशः सर्गः

—*—

राघवेणाभये दत्ते सन्नतो रावणानुजः ।
विभीषणो महाप्राज्ञो भूमिं समवलोकयन् ॥ १ ॥

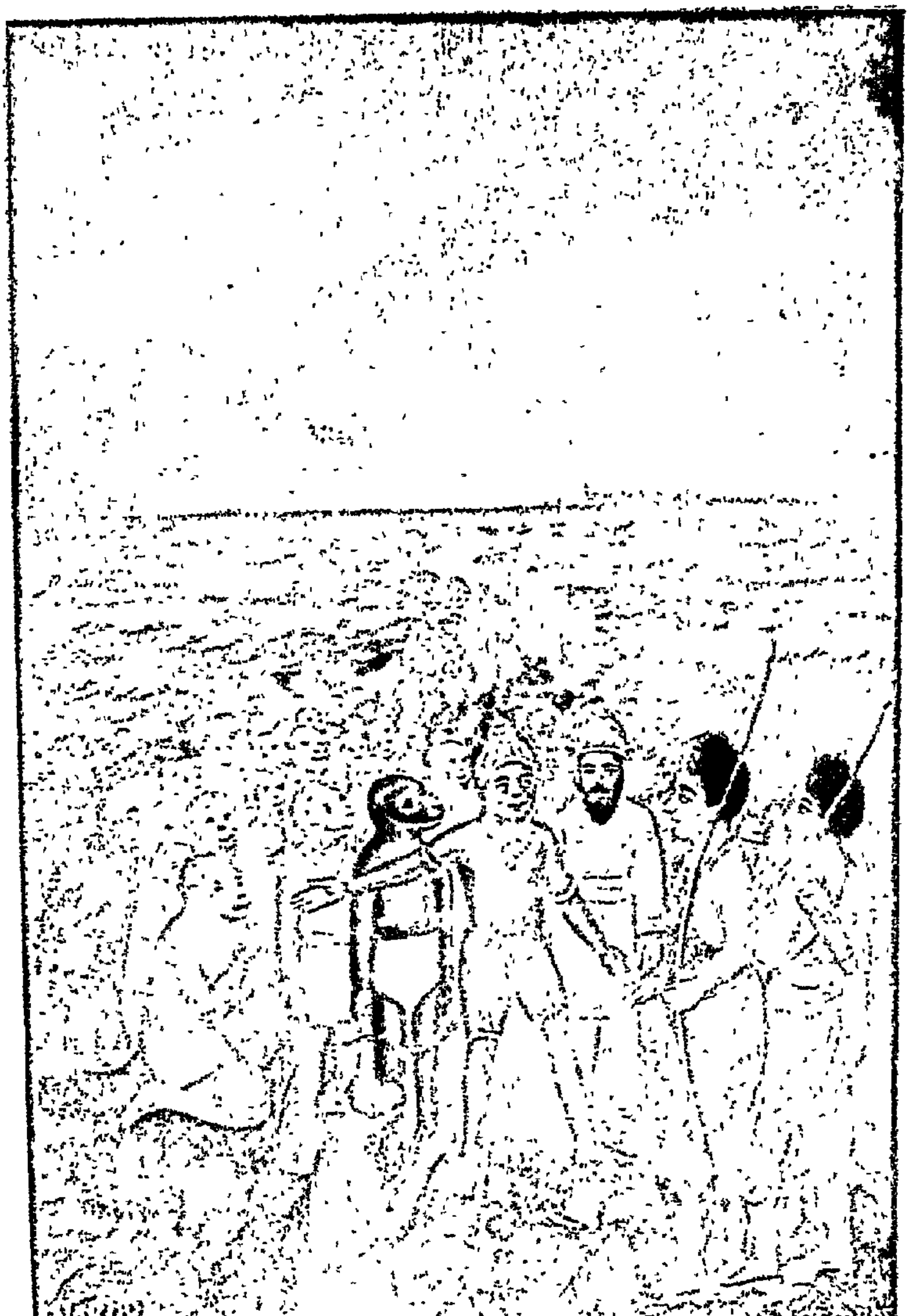

श्रीरामचन्द्र जी से विभीषण की भेंट

रघुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने जब इस तरह विभीषण को अभयदान दिया ; तब महाबुद्धिमान रावण के छोटे भाई विभीषण पृथिवी की ओर देखते हुए ॥ १ ॥

खात्पपातावनीं हृष्टो भक्तैरनुचरैः सह ।
स तु रामस्य धर्मात्मा निपपात विभीषणः ॥ २ ॥

आकाश से अपने भक्तिभाव रखने वाले चार मंत्रियों को लिये हुए, आनन्द युक्त हो पृथिवी पर आये और धर्मात्मा विभीषण श्रीरामचन्द्र जी के चरणों में गिर पड़े ॥ २ ॥

पादयोः शरणान्वेषी चतुर्भिः सह राक्षसैः ।
अब्रवीच्च तदा रामं वाक्यं तत्र विभीषणः ॥ ३ ॥

चारों राक्षसों सहित शरणान्वेषी विभीषण श्रीरामचन्द्र जी के चरणों में गिर, श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३ ॥

धर्मयुक्तं च युक्तं च साम्प्रतं सम्प्रहर्षणम् ।
अनुजो रावणस्याहं तेन चास्म्यवमानितः ॥ ४ ॥

विभीषण ने युक्तियुक्त, धर्मसङ्गत और तत्काल मन को अत्यन्त प्रसन्न करने वाले वचन श्रीरामचन्द्र जी से कहे । वे बोले—महाराज मैं रावण का छोटा भाई हूँ । उसने मेरा अनादर किया है ॥ ४ ॥

भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं *शरणं गतः ।
परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि वै ॥ ५ ॥

आप प्राणीमात्र के रक्षक हैं । अतः मैं लङ्का में मित्रों को और समस्त धन सम्पत्ति को त्याग कर, आपके शरण में आया हूँ ॥ ५ ॥

---

* पाठान्तरे—" शरणागतः ।"

भवद्गतं मे राज्यं च जीवितं च सुखानि च ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामो वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

अब तो मेरा राजपाट जीवन और सुखादि समस्त ही आपके अधीन है। विभीषण के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी ने कहा ॥ ६ ॥

वचसा सान्त्वयित्वैनं लोचनाभ्यां पिबन्निव ।
आख्याहि मम तत्त्वेन राक्षसानां बलाबलम् ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने वचनों द्वारा विभीषण को धीरज बँधा बड़े आदर के साथ उनको देखा। तदनन्तर वे बोले—हे विभीषण! अब तुम मुझे लङ्कावासी राक्षसों के बलाबल का ठीक ठीक वृत्तान्त सुनाओ ॥ ७ ॥

एवमुक्तं तदा रक्षो रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
रावणस्य बलं सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ८ ॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कहने पर, विभीषण ने रावण के सैनिक बल का वर्णन विस्तारपूर्वक करना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां *देवदानवरक्षसाम् ।
राजपुत्र दशग्रीवो वरदानात्स्वयंभुवः ॥ ९ ॥

हे राजकुमार! दशग्रीव रावण ब्रह्मा जी के वरदान से देवता दानव राक्षसादि समस्त प्राणियों से अवध्य है ॥ ९ ॥

रावणानन्तरो भ्राता मम ज्येष्ठश्च वीर्यवान् ।
कुम्भकर्णो महातेजाः शक्रप्रतिबलो युधि ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरं—"गन्धर्वासुररक्षसाम्।" अथवा "गन्धर्वोरगपक्षिणां।"

रावण से छोटा और मुझसे बड़ा मेरा मझला भाई कुम्भकर्ण बड़ा बलवान और तेजस्वी है और युद्ध में इन्द्र का सामना कर सकता है ॥ १० ॥

राम सेनापतिस्तस्य प्रहस्तो यदि वा श्रुतः ।
कैलासे येन संग्रामे मणिभद्रः पराजितः ॥ ११ ॥

हे राम ! कदाचित् आपने रावण के सेनापति प्रहस्त का नाम सुना हो । इसने कैलास पर्वत पर युद्ध में मणिभद्र को पराजित किया था ॥ ११ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणस्त्ववध्यकवचो युधि ।
धनुरादाय यस्तिष्ठन्नदृश्यो भवतीन्द्रजित् ॥ १२ ॥

गोह के चमड़े के दस्ताने पहन, कवच धारण कर और धनुष लेकर संग्राम करते करते अदृश्य हो जाने वाला इन्द्रजीत मेघनाद है ॥ १२ ॥

संग्रामे सुमहद्व्यूहे तर्पयित्वा हुताशनम् ।
अन्तर्धानगतः शत्रूनिन्द्रजिद्धन्ति राघव ॥ १३ ॥

हे राघव ! ये बड़ी बड़ी लड़ाइयों में जहाँ बड़े बड़े व्यूहों की रचना हुआ करती है, हवन द्वारा अग्निदेव को तृप्त कर, अन्तर्धान हो शत्रुओं को मारा करता है ॥ १३ ॥

महोदरमहापार्श्वौ राक्षसश्चाप्यकम्पनः ।
अनीकस्थास्तु तस्यैते लोकपालसमा युधि ॥ १४ ॥

इनके अतिरिक्त रावण के सेनापति महोदर, महापार्श्व, अकम्पन नामक राक्षस ऐसे हैं, जो युद्ध में लोकपालों जैसा पराक्रम प्रदर्शित किया करते हैं ॥ १४ ॥

दशकोटिसहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम् ।
मांसशोणितभक्षाणां लङ्कापुरनिवासिनाम् ॥ १५ ॥

लङ्कापुरी में दस हज़ार करोड़ राक्षस बसते हैं। ये कामरूपी राक्षस माँस खाते और रक्त पिया करते हैं ॥ १५ ॥

*स तैः परिवृतो राजा लोकपालानयोधयत् ।
सह देवैस्तु ते भग्ना रावणेन महात्मना ॥ १६ ॥

उन सब को साथ ले धैर्यवान् रावण ने लोकपालों से युद्ध किया था और देवताओं सहित उनको परास्त किया था ॥ १६ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रामो दृढपराक्रमः ।
अन्वीक्ष्य मनसा सर्वमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

दृढपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी, विभीषण की ये बातें सुन और मन ही मन इन सब बातों पर विचार कर, कहने लगे ॥ १७ ॥

यानि [1]कर्मापदानानि रावणस्य विभीषण ।
आख्यातानि च तत्त्वेन ह्यवगच्छामि तान्यहम् ॥ १८ ॥

हे विभीषण ! रावण के जिन जिन कर्मों का तुमने बखान किया, वे सब मुझको यथार्थरीत्या विदित हैं ॥ १८ ॥

अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं †सहात्मजम् ।
राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥

---

१ कर्मापदानानि—" अपदानं कर्मवृत्तं " इत्यमरः । (गो०)

* पाठान्तरे—" स तैस्तु सहितो ।" † पाठान्तरे—" सबान्धवम् ।" वा " सहात्मजं ।"

मैं सत्य सत्य तुमसे कहता हूँ कि, मैं प्रहस्त और कुम्भकर्ण सहित दशग्रीव रावण को मार कर, तुमको लङ्का का राजा बनाऊँगा ॥ १६ ॥

रसातलं वा प्रविशेत्पातालं वापि रावणः ।
पितामहसकाशं वा न मे जीवन्विमोक्ष्यते ॥ २० ॥

रावण प्राण बचाने को चाहे रसातल में जाय, चाहे पाताल में अथवा ब्रह्मा जी के पास ही क्यों न भाग कर चला जाय, पर वह अब जीता नहीं बच सकता ॥ २० ॥

अहत्वा रावणं संख्ये सपुत्रबलबान्धवम् ।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि त्रिभिस्तैर्भ्रातृभिः शपे ॥ २१ ॥

मैं अपने तीनों भाइयों की शपथ खाकर कहता हूँ कि, युद्ध में पुत्र, सेना और भाई बन्दों सहित रावण को मारे बिना, मैं अयोध्या में पैर न रक्खूँगा ॥ २१ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
शिरसाऽऽवन्द्य धर्मात्मा वक्तुमेवोपचक्रमे ॥ २२ ॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन और सीस झुका प्रणाम कर, धर्मात्मा विभीषण कहने लगे ॥ २२ ॥

राक्षसानां वधे साह्यं लङ्कायाश्च प्रधर्षणे ।
करिष्यामि [1]यथाप्राणं प्रवेक्ष्यामि च वाहिनीम् ॥२३॥

हे राघव ! रावण की आक्रमणकारी सेना के आते ही, मैं उसमें घुस राक्षस सैनिकों का वध करने में तथा लङ्का के

---

[1] यथाप्राण—यथाबल । (गो०)

उजाड़ने में, प्राणपण से अथवा यथाशक्ति आपकी सहायता करूँगा ॥ २३ ॥

इति ब्रुवाणं रामस्तु परिष्वज्य विभीषणम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणं प्रीतः समुद्राज्जलमानय ॥ २४ ॥

इस प्रकार वचन कहते हुए विभीषण को श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी छाती से लगा लिया और लक्ष्मण से कहा कि, जाओ समुद्र से जल ले आओ। मैं विभीषण से प्रसन्न हूँ ॥ २४ ॥

तेन चेमं महाप्राज्ञमभिषिञ्च विभीषणम् ।
राजानं रक्षसां क्षिप्रं प्रसन्ने मयि [1]मानद ॥ २५ ॥

समुद्रजल से इन महाबुद्धिमान् विभीषण को शीघ्र ही राक्षसों के राजसिंहासन पर अभिषिक्त करने का मेरा विचार है। मैं इनके व्यवहार से सन्तुष्ट हूँ और इनका बहुमान करूँगा ॥ २५ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिरभ्यषिञ्चद्विभीषणम् ।
मध्ये वानरमुख्यानां राजानं रामशासनात् ॥ २६ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब लक्ष्मण जी ने उस आज्ञा के अनुसार मुख्य मुख्य वानरों की उपस्थिति में विभीषण का राज्याभिषेक किया ॥ २६ ॥

तं प्रसादं तु रामस्य दृष्ट्वा सद्यः प्लवङ्गमाः ।
प्रचुक्रुशुर्महात्मानं साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता का इस प्रकार का तुरन्त फल मिला हुआ देख, वानरों ने हर्षनाद किया और वे "साधु साधु" कहने लगे ॥ २७ ॥

---

१ मानद—बहुमानप्रद । मत्प्रसादे सति फलप्रदस्त्वमिति भावः । (गो०)

अब्रवीच्च हनूमांश्च सुग्रीवश्च विभीषणम् ।
कथं सागरमक्षोभ्यं तराम वरुणालयम् ॥ २८ ॥
सैन्यैः परिवृताः सर्वे वानराणां महौजसाम् ।
उपायं नाधिगच्छामो यथा नदनदीपतिम् ॥ २९ ॥
तराम तरसा सर्वे ससैन्या वरुणालयम् ।
एवमुक्तस्तु धर्मज्ञः प्रत्युवाच विभीषणः ॥ ३० ॥

सुग्रीव और हनुमान ने विभीषण से कहा—मित्र ! अब यह तो बतलाओ कि, हम लोग इस अक्षोभ्य वरुणालय अर्थात् समुद्र के पार बड़े बड़े पराक्रमी वानरों की समस्त सेना सहित क्यों कर हों ? हमारी समझ में तो ऐसा कोई उपाय नहीं आ रहा जिससे हम समस्त सेना सहित समुद्र पार हो सकें। जब दोनों वानर-श्रेष्ठों ने इस प्रकार कहा, तब धर्मज्ञ विभीषण ने उत्तर देते हुए कहा ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति ।
खानितः सागरेणायमप्रमेयो महोदधिः ॥ ३१ ॥

महाराज श्रीरामचन्द्र, समुद्र के शरण में जाँय—यही उपाय है। श्रीरामचन्द्र जी के पूर्वपुरुष महाराज सगर द्वारा खुदवाये जाने के कारण ही इसका नाम सागर पड़ा है, सो यह अथाह जल वाला ॥ ३१ ॥

कर्तुमर्हति रामस्य *ज्ञातेः कार्यं महोदधिः ।
एवं विभीषणेनोक्तो राक्षसेन विपश्चिता ॥ ३२ ॥

* पाठान्तरे—"ज्ञात्वा कार्यं महामतिः ।"

समुद्र, अपने कुटुम्ब वाले का काम अवश्य करेगा। जब पण्डित राक्षस विभीषण ने इस प्रकार कहा ॥ ३२ ॥

आजगामाथ सुग्रीवो यत्र रामः सलक्ष्मणः ।
ततश्चाख्यातुमारेभे विभीषणवचः शुभम् ॥ ३३ ॥

तब सुग्रीव वहाँ गये जहाँ लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी थे और उन्होंने विभीषण के कहे हुए सुन्दर वचन कहे ॥ ३३ ॥

सुग्रीवो विपुलग्रीवः सागरस्योपवेशनम् ।
प्रकृत्या धर्मशीलस्य राघवस्याप्यरोचत ॥ ३४ ॥

मोटी गर्दनवाले सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी से समुद्र की उपासना करने को कहा। धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी को भी यह बात अच्छी जान पड़ी ॥ ३४ ॥

स लक्ष्मणं महातेजाः सुग्रीवं च हरीश्वरम् ।
[1]सत्क्रियार्थं [2]क्रियादक्षः *स्मितपूर्वमभाषत ॥ ३५ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं वह कार्य करने की शक्ति रखते हुए भी, विभीषण का बहुमान करने के लिये, मुसक्या कर लक्ष्मण और सुग्रीव से कहा ॥ ३५ ॥

विभीषणस्य मन्त्रोऽयं मम लक्ष्मण रोचते ।
ब्रूहि त्वं सहसुग्रीवस्तवापि यदि रोचते ॥ ३६ ॥
सुग्रीवः पण्डितो नित्यं भवान्मन्त्रविचक्षणः ।
उभाभ्यां सम्प्रधार्यार्थं रोचते यत्तदुच्यताम् ॥ ३७ ॥

---

१ सत्क्रियार्थं—विभीषणमंत्रबहुमानार्थं। (गो०) २ क्रियादक्षः—स्वयं कार्यकरणसमर्थोऽपि। (गो०) * पाठान्तरे—"स्मितपूर्वमुवाच ह।"

हे लक्ष्मण ! विभीषण की यह सलाह मैं भी पसन्द करता हूँ। सुग्रीव पण्डित हैं ही और तुम भी सम्मति देने में प्रवीण हो— अतः यदि सुग्रीव को और तुम्हें भी यह राय पसन्द हो, तो बतलाओ। तुम दोनों को जो अच्छा लगे सो विचार कर बतलाओ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

एवमुक्तौ तु तौ वीरावुभौ सुग्रीवलक्ष्मणौ ।
समुदाचारसंयुक्तमिदं वचनमूचतुः ॥ ३८ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने उन दोनों वीर सुग्रीव और लक्ष्मण से इस प्रकार पूँछा, तब हाथ जोड़ कर वे वचन बोले ॥ ३८ ॥

किमर्थं नौ नरव्याघ्र न रोचिष्यति राघव ।
विभीषणेन यच्चोक्तमस्मिन्काले सुखावहम् ॥ ३९ ॥

हे नरव्याघ्र ! विभीषण ने इस समय जो सुखसाध्य उपाय बतलाया है वह हम लोगों को क्यों न अच्छा लगेगा ? ॥ ३९ ॥

अबद्ध्वा सागरे सेतुं घोरेऽस्मिन्वरुणालये ।
लङ्का नासादितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ४० ॥

क्योंकि इस भयानक समुद्र पर पुल बाँधे बिना इन्द्र सहित सुर और असुर भी लङ्का में नहीं पहुँच सकते ॥ ४० ॥

विभीषणस्य [1]शूरस्य यथार्थं क्रियतां वचः ।
अलं कालात्ययं कृत्वा समुद्रोऽयं नियुज्यताम् ।
यथा सैन्येन गच्छामः पुरीं रावणपालिताम् ॥ ४१ ॥

---

१ शूरस्य—मंत्रशूरस्य । (गो०)

अब कुछ भी विलम्ब न कर शीघ्र मंत्रशूर विभीषण के कथनानुसार आप समुद्र के शरण में जाइये अथवा समुद्र की प्रार्थना करने में लग जाइये। जिससे हम सब लोग सेना सहित रावण द्वारा पालित लङ्का में पहुँच जाँय ॥ ४१ ॥

एवमुक्तः कुशास्तीर्णे तीरे नदनदीपतेः ।
संविवेश तदा रामो वेद्यामिव हुताशनः ॥ ४२ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार कहे जाने पर श्रीरामचन्द्र जी वेदी के बीच में स्थापित अग्नि की तरह समुद्र के तट पर कुश बिछा कर बैठ गये ॥ ४२ ॥

युद्धकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

विंशः सर्गः

—※—

ततो निविष्टां ध्वजिनीं सुग्रीवेणाभिपालिताम् ।
ददर्श राक्षसोऽभ्येत्य शार्दूलो नाम वीर्यवान् ॥ १ ॥

समुद्र तट पर टिकी हुई सुग्रीव की वानरी सेना को देखने के लिये या उसका भेद लेने के लिये, एक बलवान् राक्षस, जिसका नाम शार्दूल था, आया ॥ १ ॥

चारो राक्षसराजस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
तां दृष्ट्वा सर्वतो व्यग्रं प्रतिगम्य स राक्षसः ॥ २ ॥

यह शार्दूल दुष्ट राक्षसराज रावण का जासूस था और बड़ी सावधानी से यहाँ का सारा वृत्तान्त अपनी आँखों से देख, लौट गया ॥ २ ॥

प्रविश्य लङ्कां वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत् ।
एष वानरऋक्षौघो लङ्कां समभिवर्तते ॥ ३ ॥

लङ्का में बड़ी शीघ्रता से पहुँच उसने रावण से कहा—हे राजन् ! वानरों और भालुओं के दल लङ्का के समीप आ पहुँचे हैं ॥ ३ ॥

अगाधश्चाप्रमेयश्च द्वितीय इव सागरः ।
पुत्रौ दशरथस्येमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४ ॥

यह भालुओं और वानरों का दल, दुष्प्रवेश्य, और असंख्य और दूसरे समुद्र जैसा जान पड़ता है। दशरथ के पुत्र दोनों भाई राम और लक्ष्मण ॥ ४ ॥

उत्तमायुधसम्पन्नौ सीतायाः पदमागतौ ।
एतौ सागरमासाद्य सन्निविष्टौ महाद्युती ॥ ५ ॥

उत्तम आयुधों से सुसज्जित सीता का उद्धार करने के लिये आये हुए हैं। ये दोनों महाद्युतिमान् समुद्र के तट पर ठहरे हुए हैं ॥ ५ ॥

बलमाकाशमावृत्य[1] सर्वतो दशयोजनम् ।
तत्त्वभूतं महाराज क्षिप्रं वेदितुमर्हसि ॥ ६ ॥

इनकी सेना दस योजन के घेरे में ठहरी हुई है। मैंने सरासरी में जो कुछ देखा सो निवेदन किया—आप अब ठीक ठीक वृत्तान्त मँगवा लें ॥ ६ ॥

---

१ आकाशं—अवकाशं। (गो०)

तव दूता महाराज क्षिप्रमर्हन्त्यवेक्षितुम् ।
[1]उपप्रदानं सान्त्वं वा भेदो वात्र प्रयुज्यताम् ॥ ७ ॥

हे महाराज ! आपके दूत तुरन्त ही यह जान आवें कि, शत्रु को पराजित करने के लिये, साम, या भेद अथवा जानकी का देना, इनमें से कौन सा उपाय करना उचित है ॥ ७ ॥

शार्दूलस्य वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
उवाच सहसा व्यग्रः सम्प्रधार्यार्थमात्मनः ।
शुकं नाम तदा रक्षो वाक्यमर्थविदां वरम् ॥ ८ ॥

शार्दूल के ये वचन सुन, राक्षसेश्वर रावण सहसा व्यग्र हो उठा। फिर भलीभाँति सोच विचार कर, शुक नामक कार्यपटु राक्षस से बोला ॥ ८ ॥

सुग्रीवं ब्रूहि गत्वा त्वं राजानं वचनान्मम ।
यथा सन्देशमक्लीवं[2] श्लक्ष्णया परया[3] गिरा ॥ ९ ॥

हे शुक ! तू वानरराज सुग्रीव के समीप जा मेरी ओर से कठोरता रहित, सुनने योग्यवाणी से किन्तु निर्भीक हो, यह सन्देशा कहना ॥ ९ ॥

त्वं वै महाराज कुलप्रसूतो
महाबलश्चर्क्षरजःसुतश्च ।
न कश्चिदर्थस्तव नास्त्यनर्थः
तथा हि मे भ्रातृसमो हरीश ॥ १० ॥

---

१ उपप्रदानं—सीतायाः । (रा०) २ अक्लीवं—सधाष्टर्यमित्यर्थः । (गो०)
३ परया—श्राव्यया । (गो०)

महाराज ! आप कुलीन और महाबलवान् हैं। आप ऋक्षराज के पुत्र हैं। अतः आपको मेरे साथ निष्कारण वैर करना उचित नहीं। श्रीरामचन्द्र जी की सहायता करने से आपको कुछ लाभ नहीं होगा और यदि उनकी सहायता न करोगे तो तुम्हारी कुछ हानि भी नहीं होगी। फिर तुम ऋक्षराज के पुत्र और ब्रह्मा के पौत्र होने के कारण मेरे भाई के तुल्य हो ॥ १० ॥

अहं यद्यहरं भार्यां राजपुत्रस्य [1]धीमतः ।
किं तत्र तव सुग्रीव किष्किन्धां प्रति गम्यताम् ॥११॥

हे बुद्धिमान् सुग्रीव ! यदि मैं राजकुमार राम की स्त्री हर लाया तो इससे तुमको क्या ? अतः तुम अपनी राजधानी किष्किन्धा को लौट जाओ ॥ ११ ॥

न हीयं हरिभिर्लङ्का शक्या प्राप्तुं कथञ्चन ।
देवैरपि सगन्धर्वैः किं पुनर्नरवानरैः ॥ १२ ॥

क्योंकि जब इस लङ्का को देवता और गन्धर्व ही नहीं जीत सकते, तब मनुष्यों और वानरों की तो बिसात ही क्या है ॥ १२ ॥

स तथा राक्षसेन्द्रेण सन्दिष्टो रजनीचरः ।
शुको विहङ्गमो भूत्वा तूर्णमाप्लुत्य चाम्बरम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार रावण की आज्ञा पा कर, राक्षस शुक, पक्षी का रूप धारण कर, तुरन्त आकाश में उड़ा ॥ १३ ॥

स गत्वा दूरमध्वानमुपर्युपरि सागरम् ।
संस्थितो ह्यम्बरे वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

---

१ धीमतः—इति सुग्रीवस्य विशेषणं (गो०)

समुद्र के ऊपर ऊपर बहुत दूर तक आकाश में उड़ और वानरों की सेना के समीप पहुँच आकाश में खड़े ही खड़े शुक ने सुग्रीव से ॥ १४ ॥

सर्वमुक्तं यथादिष्टं रावणेन दुरात्मना ।
तं प्रापयन्तं वचनं तूर्णमाप्लुत्य वानराः ॥ १५ ॥
प्रापद्यन्त दिवं क्षिप्रं लोप्तुं हन्तुं च मुष्टिभिः ।
स तैः प्लवङ्गैः प्रसभं निगृहीतो निशाचरः ॥ १६ ॥
गगनाद्भूतले चाशु परिगृह्य निपातितः ।
वानरैः पीड्यमानस्तु शुको वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

वे सब बातें कहीं, जो दुरात्मा रावण ने कहलायी थीं। राक्षस शुक इस प्रकार रावण का सन्देसा सुना रहा था कि, वानरों ने उछल कर उसे पकड़ लिया और वे उसे घूँसों से मारने लगे। फिर बाँधकर वे उसे नीचे ले आये। जब वानरों ने शुक को बहुत मारा, तब उसने कहा ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

न दूतान्घ्नन्ति काकुत्स्थ वार्यन्तां साधु वानराः ।
यस्तु हित्वा मतं भर्तुः स्वमतं सम्प्रभाषते ॥ १८ ॥

हे साधु ! हे काकुत्स्थ ! दूत नहीं मारे जाते। अतः इन वानरों को रोकिये। जो दूत अपने मालिक का सन्देसा न कह कर, अपना मत प्रकाशित करता है ॥ १८ ॥

अनुक्तवादी दूतः सन्स दूतो वधमर्हति ।
शुकस्य वचनं श्रुत्वा रामस्तु परिदेवितम् ॥ १९ ॥

वह दूत अनुक्तवादी कहलाता है और वही मार डालने योग्य है। श्रीरामचन्द्र जी ने शुक के ये वचन और गिड़गिड़ाना सुन ॥ १९ ॥

उवाच मा वधिष्ठेति घ्नतः शाखामृगर्षभान् ।
स च पत्रलघुर्भूत्वा हरिभिर्दर्शिते भये ।
अन्तरिक्षस्थितो भूत्वा पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

उन मार डालने के लिये उद्यत वानरयूथपतियों से कहा, तुम लोग दूत के प्राण मत लो। तब राक्षस शुक वानरों के भय से भीत हो और छोटा रूप धारण कर, आकाश में खड़े खड़े पुनः कहने लगा ॥ २० ॥

सुग्रीव सत्त्वसम्पन्न महाबलपराक्रम ।
किं मया खलु वक्तव्यो रावणो लोकरावणः ॥ २१ ॥

हे महाबलवान्, पराक्रमी एवं सत्त्वसम्पन्न सुग्रीव ! लोकों को रुलानेवाले रावण के पास जाकर मैं क्या कहूँ ? ॥ २१ ॥

स एवमुक्तः प्लवगाधिपस्तदा
प्लवङ्गमानामृषभो महाबलः ।
उवाच वाक्यं रजनीचरस्य
चारं शुकं दीनमदीनसत्त्वः ॥ २२ ॥

जब शुक ने कपिराज से इस प्रकार कहा, तब महाबली एवं अदीन कपिश्रेष्ठ सुग्रीव ने रावण से कहने के लिये दीनता को प्राप्त राक्षसदूत शुक से यह कहा ॥ २२ ॥

न मेऽसि मित्रं न तथानुकम्प्यो
न चोपकर्ताऽसि न मे प्रियोऽसि ।
अरिश्च रामस्य सहानुबन्धः
स मेऽसि वालीव वधार्ह वध्यः ॥ २३ ॥

कि; तुम मेरी ओर से रावण से यह कह देना कि, न तो तुम मेरे मित्र हो, न तुम दयापात्र हो, न तुम मेरे उपकारकर्ता हो और न तुम मेरे प्रिय ही हो। अतः तुम मुझे अपने भाई के तुल्य क्यों समझते हो? प्रत्युत तुम तो श्रीरामचन्द्र जी के शत्रु होने के कारण मेरे शत्रु हो और सपरिवार, वाली की तरह मार डालने के योग्य हो ॥ २३ ॥

निहन्म्यहं त्वां ससुतं सबन्धुं
सज्ञातिवर्गं रजनीचरेश ।
लङ्कां च सर्वां महता बलेन
क्षिप्रं करिष्यामि समेत्य भस्म ॥ २४ ॥

हे रजनीचरेश! मैं तुमको पुत्र, बन्धु और कुटुम्बियों सहित मारूँगा। मैं बड़ी भारी सेना साथ ले कर आ रहा हूँ और शीघ्र ही तुम्हारी समस्त लङ्का को भस्म कर, छार छार कर डालूँगा ॥२४॥

न मोक्ष्यसे रावण राघवस्य
सुरैः सहेन्द्रैरपि मूढ गुप्तः ।
अन्तर्हितः सूर्यपथं गतो वा
नभो न पातालमनुप्रविष्टः ॥ २५ ॥

हे मूढ़ रावण! तू श्रीरामचन्द्र से बच न सकेगा। भले ही इन्द्र सहित समस्त देवता तेरी रक्षा के लिये कटिबद्ध हो जाँय, अथवा तू छिप जा अथवा तू सूर्यमार्ग में चला जा अथवा आकाश या पाताल ही में घुस जा ॥ २५ ॥

तस्य ते त्रिषु लोकेषु न पिशाचं न राक्षसम् ।
त्रातारमनुपश्यामि न गन्धर्वं न चासुरम् ॥ २६ ॥

मुझे तो तीनों लोकों में ऐसा कोई भी पिशाच, राक्षस, गन्धर्व या दैत्य नहीं देख पड़ता, जो तुमको बचा सके ॥ २६ ॥

अवधीर्यज्जराद्वृद्धं गृध्रराजानमक्षमम् ।
किं नु ते रामसान्निध्ये सकाशे लक्ष्मणस्य वा ॥२७॥

तूने उस बूढ़े जर्जर गृद्धराज जटायु को मार डाला सो अपने को बलवान समझ बल के घमण्ड में मत भूलना। यदि तुझे बलवान् होने का दावा था, तो तूने श्रीरामचन्द्र या लक्ष्मण के सामने सीता क्यों न हरी? ॥ २७ ॥

हृता सीता विशालाक्षी यां त्वं गृह्य न बुध्यसे ।
महाबलं महाप्राज्ञं दुर्धर्षममरैरपि ॥ २८ ॥

न बुध्यसे रघुश्रेष्ठं यस्ते प्राणान्हरिष्यति ।
ततोऽब्रवीद्वालिसुतस्त्वङ्गदो हरिसत्तमः ॥ २९ ॥

तू विशालाक्षी सीता को हरते समय यह न समझा कि, बड़े बली, धीरजधारी और देवताओं से भी अजेय रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र तेरे प्राण हर लेंगे। तदनन्तर कपिश्रेष्ठ वालिसुत अङ्गद ने कहा ॥ २८॥ २९॥

नायं दूतो महाराज चारिकः प्रतिभाति मे ।
तुलितं हि बलं सर्वमनेनात्रैव तिष्ठता ॥ ३० ॥

महाराज यह दूत नहीं, बल्कि जासूस (भेदिया) है। इसने यहाँ इतनी देर ठहर कर, हमारी समस्त सेना और व्यूह का रहस्य ताड़ लिया है ॥ ३० ॥

गृह्यतां मा गमल्लङ्कामेतद्धि मम रोचते ।
ततो राज्ञा समादिष्टाः समुत्प्लुत्य वलीमुखाः ॥ ३१ ॥

मुझको तो यह अच्छा जान पड़ता है कि, यह पकड़ लिया जाय और लङ्का न जाने पावे। यह सुन, कपिराज की आज्ञा से वानरों ने उछल कर, ॥ ३१ ॥

जगृहुस्तं ववन्धुश्च विलपन्तमनाथवत् ।
शुकस्तु वानरैश्चण्डैस्तत्र तैः सम्प्रपीडितः ॥ ३२ ॥

उसे पकड़ कर बाँध लिया। तब वह अनाथ की तरह विलाप करने लगा। जब राक्षस शुक को उन प्रचण्ड पराक्रमी वानरों ने बहुत सताया ॥ ३२ ॥

व्याक्रोशत महात्मानं रामं दशरथात्मजम् ।
लुप्येते मे बलात्पक्षौ भिद्येते च तथाऽक्षिणी ॥ ३३ ॥

तब वह दाशरथी श्रीरामचन्द्र जी का नाम लेकर चिल्लाने लगा और कहने लगा, देखिये देखिये ये वानर बरजोरी मेरे पङ्ख उखाड़े लेते हैं और आँखें फोड़े डालते हैं ॥ ३३ ॥

यां च रात्रिं मरिष्यामि जाये रात्रिं च यामहम् ।
एतस्मिन्नन्तरे काले यन्मया ह्यशुभं कृतं ।
सर्वं तदुपपद्येथा जह्यां चेद्यदि जीवितम् ॥ ३४ ॥

जिस दिन से मैं उत्पन्न हुआ हूँ और जिस दिन मैं मरूँगा, इस बीच में मैंने जो पाप किये हैं, महाराज! यदि मैं मर गया तो वे सब आपको लगेंगे ॥ ३४ ॥

नाघातयत्तदा रामः श्रुत्वा तत्परिदेवनम् ।
वानरानब्रवीद्रामो मुच्यतां दूत आगतः ॥ ३५ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

उस समय उसका ऐसा विलाप सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने उसकी रक्षा की और वानरों से कहा—यह दूत बन कर आया है। इसे छोड़ दो, मारो मत ॥ ३५ ॥

युद्धकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकविंशः सर्गः

—※—

ततः सागरवेलायां दर्भानास्तीर्य राघवः ।
अञ्जलिं प्राङ्मुखः कृत्वा प्रतिशिश्ये महोदधेः ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी समुद्र के तट पर कुश बिछा कर, समुद्र से वर की प्रार्थना करने के लिये पूर्वमुख हो और हाथ जोड़ कर लेट गये ॥ १ ॥

बाहुं [1]भुजगभोगाभमुपधायारिसूदनः ।
जातरूपमयैश्चैव भूषणैर्भूषितं पुरा ॥ २ ॥

अरिसूदन श्रीरामचन्द्र जी ने सर्प के समान अतिकोमल अपनी उस बाँह का तकिया लगाया, जो सोने के आभूषणों से भूषित हुआ करती थी ॥ २ ॥

वरकाञ्चनकेयूरमुक्तामवरभूषणैः ।
भुजैः परमनारीणामभिमृष्टमनेकधा ॥ ३ ॥

---

१ भुजगभोगाभं—अहिकायवत् अतिमृदुलं बाहुं। (गो०)

अयोध्या में रहते समय महाराज की जो भुजाएँ काञ्चन के उत्तम विजायठों और मोतियों के श्रेष्ठ भूषणों से भूषित होती थीं, जिनको अनेक बार परम रूपवती दासियों ने बालकपन में वारंवार दवाया या सहराया था, ॥ ३ ॥

चन्दनागरुभिश्चैव पुरस्तादधिवासितम् ।
बालसूर्यप्रतीकाशैश्चन्दनैरुपशोभितम् ॥ ४ ॥

जो चन्दन अगर आदि सुगन्धित लेपों से सुवासित हुआ करती थीं, जो प्रभातकालीन सूर्य की तरह लाल लाल चन्दन से शोभायमान हुआ करती थीं, ॥ ४ ॥

शयने चोत्तमाङ्गेन सीतायाः शोभितं पुरा ।
तक्षकस्येव सम्भोगं गङ्गाजलनिषेवितम् ॥ ५ ॥

जो किसी समय सीता के मस्तक के नीचे रखी हुई शोभा को प्राप्त होती थीं, जो गङ्गाजल निषेवित तक्षक के शरीर के समान लंबी थीं, ॥ ५ ॥

संयुगे [1]युगसङ्काशं शत्रूणां शोकवर्धनम् ।
सुहृदानन्दनं दीर्घं [2]सागरान्तव्यपाश्रयम्[3] ॥ ६ ॥

जो युद्ध में गोपुर के अर्गल की तरह जान पड़ती थीं जो शत्रुओं का शोक बढ़ाने वाली थीं और सुहृदों को आनन्द देने वालीं और जिसको अवलम्बन कर ससागरा पृथिवी टिकी हुई है, ॥ ६ ॥

---

१ युगसंकाशं—गोपुरार्गलवत् प्रतिभटनिवारकं । (गो०) २ सागरोन्ते-यस्यासौ सागरान्तः भूमण्डलं । (गो०) ३ व्यपाश्रयं—आलम्बनभूतं । (गो०)

अस्यता च पुनः सव्यं *ज्याघातविगतत्वचम् ।
दक्षिणो दक्षिणं बाहुं महापरिघसन्निभम् ॥ ७ ॥

और जो बाँया हाथ बाण छोड़ने के कारण प्रत्यञ्चा के आघात चिह्न से चिह्नित हो रहा है और जो दहिनी भुजा बड़े परिघ के समान है ॥ ७ ॥

गोसहस्रप्रदातारमुपधाय महद्भुजम् ।
अद्य मे [1]मरणं वाऽथ तरणं सागरस्य वा ॥ ८ ॥

और जिस दक्षिण भुजा के द्वारा हज़ारों गौओं का दान दिया जा चुका है, उसी उत्तम भुजा को अपने सिर के नीचे तकिये की जगह रख। और यह दृढ़ सङ्कल्प कर कि, आज या तो मैं समुद्र के पार हो जाऊँगा अथवा समुद्र का मरण ही होगा ॥ ८ ॥

इति रामो मतिं कृत्वा महाबाहुर्महोदधिम् ।
अधिशिश्ये च विधिवत्प्रयतो नियतो मुनिः ॥ ९ ॥

यह विचार कर, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी समुद्र पार करने का दृढ़ विश्वास कर और मौन हो, यथाविधि एवं यथानियम लेट गये ॥ ९ ॥

तस्य रामस्य सुप्तस्य कुशास्तीर्णे महीतले ।
नियमादप्रमत्तस्य †निशास्तिस्रो व्यतिक्रमुः ॥ १० ॥

सावधानी से नियमपूर्वक पृथिवी के ऊपर कुशों की चटाई पर लेटे लेटे श्रीरामचन्द्र जी ने तीन दिन और तीन रात बिता दीं ॥१०॥

---

१ मरणं—सभारस्य मरणं । (गो०) * पाठान्तरे—" ज्याघाताविद्धत्वचम् ।" वा " ज्याघातविहतत्वचम् " । † पाठान्तरे—" निशास्तिस्रोऽतिचक्रमुः । " वा " निशास्तिस्रोऽभिजग्मुतुः । "

स त्रिरात्रोषितस्तत्र नयज्ञो धर्मवत्सलः ।
उपासत तदा रामः सागरं सरितां पतिम् ॥ ११ ॥

नीतिकुशल एवं धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार तीन रात वास कर, नदीपति समुद्र की आराधना की ॥ ११ ॥

न च दर्शयते मन्दस्तदा रामस्य सागरः ।
प्रयतेनापि रामेण यथार्हमभिपूजितः ॥ १२ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी ने समुद्र का यथाविधि सत्कार कर उसको प्रसन्न करने का प्रयत्न किया, तथापि वह मूर्ख श्रीरामचन्द्र जी के सामने प्रकट न हुआ ॥ १२ ॥

समुद्रस्य ततः क्रुद्धो रामो रक्तान्तलोचनः ।
समीपस्थमुवाचेदं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ १३ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी को समुद्र की इस मूर्खता पर बड़ा क्रोध उपजा और मारे क्रोध के उनके नेत्र लाल हो गये। उन्होंने पास बैठे हुए और शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण से कहा ॥ १३ ॥

अवलेपः समुद्रस्य न दर्शयति यत्स्वयम् ।
प्रशमश्च क्षमा चैव आर्जवं प्रियवादिता ॥ १४ ॥

देखो समुद्र को इतना अभिमान है कि, वह स्वयं प्रकट नहीं होता। इसका कारण भी स्पष्ट ही है। वह यह कि, अक्रोधता. शान्ति, अपराध-सहिष्णुता, दूसरे के मन के अनुसार वर्ताव, अथवा सीधासाधा (कपट रहित) वर्त्ताव, प्यारा बोल, ॥ १४ ॥

असामर्थ्यं फलन्त्येते निर्गुणेषु सतां गुणाः ।
आत्मप्रशंसिनं दुष्टं धृष्टं विपरिधावकम् ॥ १५ ॥

सर्वत्रोत्सृष्टदण्डं च लोकः[1] सत्कुरुते नरम् ।
न साम्ना शक्यते कीर्तिर्न साम्ना शक्यते यशः ॥१६॥

ये सब शिष्ट सज्जनों के गुण हैं। ये, गुणहीन मनुष्यों के प्रति प्रयोग करने से, प्रयोगकर्त्ता की असमर्थता प्रकट करते हैं। जो अपनी बड़ाई आप करता है, जो वञ्चक और निर्दयी है, जो इधर उधर दौड़ा करता है, जो गुणी निर्गुणी सब से दण्ड द्वारा काम लेता है; उसका अज्ञजन सम्मान करते हैं। शान्त बने रहने से न नामवरी होती है और न यश ही प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ १६ ॥

प्राप्तुं लक्ष्मण लोकेऽस्मिञ्जयो वा रणमूर्धनि ।
अद्य मद्बाणनिर्भिन्नैर्मकरैर्मकरालयम् ॥ १७ ॥
निरुद्धतोऽयं सौमित्रे प्लवद्भिः पश्य सर्वतः ।
महाभोगानि मत्स्यानां करिणां च करानिह ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण ! शान्त बने रहने से युद्ध में जीत भी नहीं होती ; सो आज तुम मेरे बाणों से कटे हुए मगर मच्छों के जल के ऊपर उतराने से समुद्र के जल को सर्वत्र ढका हुआ देखोगे। बड़े बड़े साँपों के और मत्स्यों के कटे हुए शरीर जल के ऊपर तैरते हुए देख पड़ेंगे और जलहाथियों की सूंड़े कटी हुई दीखेगीं ॥ १७ ॥ १८ ॥

[2]भोगिनां पश्य नागानां मया छिन्नानि लक्ष्मण ।
सशङ्खशुक्तिकाजालं समीनमकरं शरैः ॥ १९ ॥

लक्ष्मण ! तुम देखोगे कि, बड़े बड़े सर्पों के छिन्नभिन्न शरीर और शङ्ख, सीप और मोतियों के ढेर के ढेर तथा मछलियों और मगरों के शरीर बाणों से विदीर्ण हो, जल के ऊपर उतरा रहे हैं ॥ १९ ॥

---

१ लोकः—अज्ञजनः। (गो०) २ भोगिनां—महाकायानां। (गो०)

अद्य युद्धेन महता समुद्रं परिशोषये ।
क्षमया हि समायुक्तं मामयं मकरालयः ॥ २० ॥
असमर्थं विजानाति धिक्क्षमामीदृशे जने ।
न दर्शयति साम्ना मे सागरो रूपमात्मनः ॥ २१ ॥

महायुद्ध कर आज ही मैं समुद्र के जल को सुखा डालूँगा, मुझको अपराधसहिष्णु न मान कर, यह समुद्र मुझे असमर्थ समझ रहा है। सो ऐसे के प्रति क्षमाप्रदर्शन को धिक्कार है। मैंने अभी तक जो सामनीति से काम लिया है, इसीसे सागर अभी तक मेरे सामने प्रकट नहीं हुआ ॥ २० ॥ २१ ॥

चापमानय सौमित्रे शरांश्चाशीविषोपमान् ।
सागरं शोषयिष्यामि पद्भ्यां यान्तु प्लवङ्गमाः ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण! तुम जाकर मेरा धनुष और सर्प समान विषवाले मेरे बाण तो उठा लाओ। मैं इस समुद्र का जल सुखा डालूँगा, जिससे मेरे वानर पैदल ही समुद्र पार जा सकेंगे ॥ २२ ॥

अद्याक्षोभ्यमपि क्रुद्धः क्षोभयिष्यामि सागरम् ।
वेलासु कृतमर्यादं सहसोर्मिसमाकुलम् ॥ २३ ॥

जो समुद्र सदा तटों की सीमा के भीतर बना रहता है और बड़ी बड़ी लहरों से परिपूर्ण और अक्षोभ्य है उसे मैं आज कुपित हो खलबला दूँगा ॥ २३ ॥

निर्मर्यादं करिष्यामि सायकैर्वरुणालयम् ।
महार्णवं क्षोभयिष्ये *महानक्रसमाकुलम् ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे—" महादानवसङ्कुलम् । "

मैं अपने बाणों से बड़े बड़े नक्रों से भरे हुए इस वरुणालय महासागर को निर्मर्याद कर क्षुब्ध कर डालूँगा ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा धनुष्पाणिः क्रोधविस्फारितेक्षणः ।
बभूव रामो दुर्धर्षो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ २५ ॥

इस प्रकार कह रघुनाथ जी ने धनुष हाथ में लिया । उस समय क्रोध के मारे उनकी त्योरी बदल गयी । उस समय वे प्रलयकालीन अग्नि की तरह प्रज्वलित हो दुर्धर्ष हो गये ॥ २५ ॥

संपीड्य च धनुर्घोरं कम्पयित्वा शरैर्जगत् ।
मुमोच विशिखानुग्रान्वज्रानिव शतक्रतुः ॥ २६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर रोदा चढ़ा, उसकी टङ्कार से समस्त जगत को कँपा दिया । वे उग्र बाणों को उसी प्रकार छोड़ने लगे, जिस प्रकार इन्द्र वज्र छोड़ते हैं ॥ २६ ॥

ते ज्वलन्तो महावेगास्तेजसा सायकोत्तमाः ।
प्रविशन्ति समुद्रस्य सलिलं त्रस्तपन्नगम् ॥ २७ ॥

वे तेज से प्रज्वलित तीर बड़े वेग से समुद्र के जल में घुसने लगे, जिनसे समुद्र के जल में रहने वाले सर्प त्रस्त हो गये ॥ २७ ॥

तोयवेगः समुद्रस्य सनक्रमकरो महान् ।
सम्बभूव महाघोरः समारुतरवस्तदा ॥ २८ ॥

उस समय मछली मकरादि प्राणियों से युक्त समुद्र का बड़ा भारी वेग, प्रचण्ड पवन के झोंकों से बड़ा भयङ्कर शब्द करने लगा ॥२८॥

महोर्मिजालविततः शङ्खशुक्तिसमावृतः ।
सधूमपरिवृत्तोर्मिः सहसाऽऽसीन्महोदधिः ॥ २९ ॥

समुद्र में चारों ओर से तरङ्गों के बड़े बड़े समूह उठे, व स्थान स्थान पर शङ्ख और सीपों के ढेर के ढेर छितराने लगे। सब तरफ से लहरों के साथ धुआँ सा उठता देख पड़ा। देखते ही देखते समुद्र का रूप विकराल हो गया ॥ २६ ॥

व्यथिताः पन्नगाश्चासन्दीप्तास्या दीप्तलोचनाः ।
दानवाश्च महावीर्याः पातालतलवासिनः ॥ ३० ॥

उसमें रहने वाले प्रदीप्त मुख वाले तथा प्रदीप्त नेत्र वाले साँप तथा पातालवासी महाबलवान् दानवगण व्यथित हुए ॥ ३० ॥

ऊर्मयः सिन्धुराजस्य सनक्रमकरास्तदा ।
विन्ध्यमन्दरसङ्काशाः समुत्पेतुः सहस्रशः ॥ ३१ ॥

सिन्धुराज की विन्ध्य और मन्दराचल के समान ऊँची ऊँची तथा नक्र मकरों से युक्त हज़ारों लहरें उठने लगीं ॥ ३१ ॥

आघूर्णिततरङ्गौघः सम्भ्रान्तोरगराक्षसः ।
उद्वर्तितमहाग्राहः *सघोषोवरुणालयः ॥ ३२ ॥

उस समय तरङ्गमाला तो घूमने लगी। नाग और राक्षस घबड़ा उठे। बड़े बड़े घड़ियाल उलट गये। समुद्र में बड़े बड़े शब्द सुन पड़ने लगे ॥ ३२ ॥

ततस्तु तं राघवमुग्रवेगं
प्रकर्षमाणं धनुरप्रमेयं ।
सौमित्रिरुत्पत्य समुच्छ्वसन्तं
मामेति चोक्त्वा धनुराललम्बे ॥ ३३ ॥

---

* पाठान्तरे—"संवृत्तः सलिलाशयः ।"

इस प्रकार धनुष के खींचते, बड़ी शीघ्रता पूर्वक बाणों को छोड़ते और ज़ोर से स्वास लेते हुए श्रीरामचन्द्र जी को देख, लक्ष्मण जी ने "ऐसा न कीजिये" कह कर धनुष को पकड़ लिया ॥ ३३ ॥

[एतद्विनापि ह्युदधेस्तवाद्य
सम्पत्स्यते वीरतमस्य कार्यम् ।
भवद्विधाः कोपवशं न यान्ति
दीर्घं भवान्पश्यतु साधुवृत्तम् ॥ ३४ ॥

और बोले—हे प्रभो! इस उपाय को काम में लाये बिना भी, दूसरे उपाय से आपका काम हो सकता है। देखिये, आप जैसे महापुरुष को क्रोध करना उचित नहीं। आप अपनी सदा की साधुवृत्ति की ओर देखिये ॥ ३४ ॥

अन्तर्हितैश्चैव तथाऽन्तरिक्षे
ब्रह्मर्षिभिश्चैव सुरर्षिभिश्च ।
शब्दः कृतः कष्टमिति ब्रुवद्भिः
मामेति चोक्त्वा महता स्वरेण ॥ ३५ ॥]

इति एकविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर आकाशचारी और अदृश्य ब्रह्मर्षियों तथा देवर्षियों ने भी दुःख प्रकट कर चिल्ला कर कहा, ऐसा न कीजिये ॥ ३५ ॥

युद्धकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

द्वाविंशः सर्गः

—※—

अथोवाच रघुश्रेष्ठः सागरं दारुणं वचः ।
अद्य त्वां शोषयिष्यामि सपातालं महार्णव ॥ १ ॥

रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी समुद्र को सम्बोधन कर यह दारुण वचन बोले कि, हे महार्णव! आज मैं तेरा पाताल तक का जल सुखा डालूँगा ॥ १ ॥

शरनिर्दग्धतोयस्य परिशुष्कस्य सागर ।
मया शोषितसत्त्वस्य पांसुरुत्पद्यते महान् ॥ २ ॥

हे सागर! मेरे बाणों द्वारा तेरा जल सूख जायगा। तेरे भीतर रहने वाले समस्त जलजन्तु मर जाँयगे। फिर खूब धूल उड़ने लगेगी ॥ २ ॥

मत्कार्मुकविसृष्टेन शरवर्षेण सागर ।
पारं तेऽद्य गमिष्यन्ति पद्भिरेव प्लवङ्गमाः ॥ ३ ॥

हे सागर! मेरे धनुष से छूटे हुए तीरों की वर्षा से, वानर उस पार पैदल ही चले जाँयगे ॥ ३ ॥

विचिन्वन्नाभिजानासि पौरुषं[1] वाऽपि विक्रमम् ।
दानवालय सन्तापं मत्तो नाधिगमिष्यसि ॥ ४ ॥

हे दानवालय! तू मेरे बल और पराक्रम को नहीं जानता और मत्त होने के कारण न तुझे आगे होने वाले अपने सन्ताप ही का कुछ ज्ञान है ॥ ४ ॥

---

१ पौरुषं—बलं। (गो०)

ब्राह्मेणास्त्रेण संयोज्य [1]ब्रह्मदण्डनिभं शरम् ।
संयोज्य धनुषि श्रेष्ठे विचकर्ष महाबलः ॥ ५ ॥

यह कह महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने ब्रह्मशाप की तरह अमोघ एक वाण ब्रह्मास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित कर, अपने श्रेष्ठ धनुष पर चढ़ा कर, बड़ी ज़ोर से खींचा ॥ ५ ॥

तस्मिन्विकृष्टे सहसा राघवेण शरासने ।
[2]रोदसी [3]सम्पफालेव पर्वताश्च चकम्पिरे ॥६॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने सहसा वह वाण चलाने को रोदा खींचा तब ऐसा जान पड़ा, मानों आकाश और पृथिवी फटी पड़ती है। उस समय पहाड़ काँपने लगे ॥ ६ ॥

तमश्च लोकमावव्रे दिशश्च न चकाशिरे ।
परिचुक्षुभिरे चाशु सरांसि सरितस्तथा ॥ ७ ॥

सर्वत्र अन्धकार छा गया, दिशाएँ प्रकाशशून्य हो गयीं। सरोवरें और नदियां खलबला उठीं ॥ ७ ॥

तिर्यक्च सह नक्षत्रैः सङ्गतौ चन्द्रभास्करौ ।
भास्करांशुभिरादीप्तं तमसा च समावृतम् ॥ ८ ॥

नक्षत्रों सहित सूर्य चन्द्र की गति तिरछी हो गयी। उस समय सूर्य के रहते भी आकाश में अन्धकार छाया हुआ था ॥ ८ ॥

प्रचकाशे तदाकाशमुल्काशतविदीपितम् ।
अन्तरिक्षाच्च निर्घाता निर्जग्मुरतुलस्वनाः ॥ ९ ॥

---

१ ब्रह्मदण्डः—ब्रह्मशापः तद्वदमघोमित्यर्थः। (गो०) २ रोदसी—द्यावापृथिव्यौ। (गो०) ३ सम्पफालेव—भिन्नेइव।

सैकड़ों प्रदीप्त उल्काओं से आकाश प्रदीप्त हो गया और बिजली की कड़क की तरह शब्द से बार बार नादित हो गया ॥ ९ ॥

पुस्फुरुश्च घना दिव्या दिवि मारुतपङ्क्तयः ।
बभञ्ज च तदा वृक्षाञ्जलदानुद्वहन्नपि ॥ १० ॥

आकाश में बड़े वेग से पवन चलने लगा, जिसने अनेक वृक्षों को उखाड़ डाला और वह आकाश में मेघों को इधर उधर उड़ाने भी लगा ॥ १० ॥

अरुजंश्चैव शैलाग्रान्शिखराणि प्रभञ्जनः ।
दिविस्पृशो महामेघाः सङ्गताः समहास्वनाः ॥ ११ ॥

बड़े बड़े पहाड़ों से टकरा कर पवन उनके शिखरों को गिराने लगा। आकाशस्पर्शी बड़े बड़े बादल आकाश में बड़े ज़ोर से गरजने लगे ॥ ११ ॥

मुमुचुर्वैद्युतानग्नींस्ते महाशनयस्तदा ।
यानि भूतानि दृश्यानि चक्रुशुश्चाशनेः समम् ॥ १२ ॥

आकाश से अग्निमय वज्रपात होने लगा। उस समय जितने जीवधारी दिखलाई पड़ते थे, वे सब के सब वज्र के समान महाभयङ्कर शब्द कर रहे थे ॥ १२ ॥

अदृश्यानि च भूतानि मुमुचुर्भैरवस्वनम् ।
शिश्यरे चापि भूतानि संत्रस्तान्युद्विजन्ति च ॥ १३ ॥

जो जीवधारी अदृश्य थे, वे सब भी बड़ा भयङ्कर शब्द करने लगे। बहुत से मारे डर के विकल हो, लेट गये ॥ १३ ॥

सम्प्रविव्यथिरे चापि न च पस्पन्दिरे भयात् ।
सह भूतैः सतोयोर्मिः सनागः सहराक्षसः ॥ १४ ॥

अनेक विकल हो गये और वहुत से दुःखी हुए। वहुत से मारे डर के हिल भी न सके; जहाँ के तहाँ निर्जीव से पड़े रहे। जलचर जन्तुओं, तरङ्गों, नागों और राक्षसों से युक्त समुद्र में वड़ी खलवली मच गयी ॥ १४ ॥

सहसाऽभूत्ततो वेगाद्भीमवेगो महोदधिः ।
योजनं व्यतिचक्राम वेलामन्यत्र सम्प्लवात् ॥ १५ ॥

उस समय सहसा समुद्र का वड़ा भयङ्कर वेग वढ़ गया। जिससे उसका जल उसके तट को नाँघ, एक योजन आगे वढ़ गया। ऐसा विना जलप्रलय के कभी नहीं होता ॥ १५ ॥

तं तदा समतिक्रान्तं नातिचक्राम राघवः ।
समुद्धतममित्रघ्नो रामो नदनदीपतिम् ॥ १६ ॥

शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र जी ने समुद्र को इस प्रकार पीछे हटते देख, उस पर शस्त्रप्रयोगरूपी आक्रमण न किया अर्थात् वाण न चलाया अथवा श्रीरामचन्द्र जी समुद्र को चलायमान होते देख कर भी, स्वयं विचलित न हुए और न अपना वाण ही रोदे से उतारा ॥ १६ ॥

ततो मध्यात्समुद्रस्य सागरः स्वयमुत्थितः ।
उदयन्हि महाशैलान्मेरोरिव दिवाकरः ॥ १७ ॥

तव समुद्र के जल में से स्वयं मूर्त्तिमान समुद्र ऐसे निकला, जैसे कि, मेरु नाम के वड़े पर्वत पर सूर्य निकलता है ॥ १७ ॥

पन्नगैः सह दीप्तास्यैः समुद्रः प्रत्यदृश्यत ।
स्निग्धवैडूर्यसङ्काशो जाम्बूनदविभूषितः ॥ १८ ॥

उसके साथ बड़े बड़े प्रदीप्त मुँह वाले साँप देख पड़े। समुद्र के शरीर का रंग पन्ने की तरह हरा और चमकीला था। वह सोने के आभूषणों से भूषित था ॥ १८ ॥

रक्तमाल्याम्बरधरः पद्मपत्रनिभेक्षणः ।
सर्वपुष्पमयीं दिव्यां शिरसा धारयन्स्रजम् ॥ १९ ॥

उसके कमलसदृश नेत्र थे और वह लाल फूलों की माला तथा लाल ही रंग के वस्त्र पहिने हुए था। उसके सिर पर सब प्रकार के पुष्पों की गुथी हुई दिव्य-पुष्प-माला लपटी हुई थी ॥ १९ ॥

जातरूपमयैश्चैव तपनीयविभूषितैः ।
आत्मजानां च रत्नानां भूषितो भूषणोत्तमैः ॥ २० ॥

उसके समस्त भूषण उत्तम सुवर्ण के बने हुए थे, उन भूषणों में वे ही रत्न जड़े हुए थे, जो समुद्र ही में उत्पन्न होते हैं ॥ २० ॥

धातुभिर्मण्डितः शैलो विविधैर्हिमवानिव ।
एकावलीमध्यगतं तरलं *पाटलप्रभम् ॥ २१ ॥

वह सुवर्ण के आभूषणों को धारण किये हुए ऐसा जान पड़ता था, मानों अनेक धातुओं से भूषित हिमाचल हो। वह मोतियों का ऐसा हार पहने हुए था, जिसके बीच में गुलाबी रंग का रत्न जड़ा हुआ था ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—"पाण्डरप्रभम्।"

विपुलेनोरसा बिभ्रत्कौस्तुभस्य सहोदरम् ।
आघूर्णिततरङ्गौघः कालिकानिलसङ्कुलः ॥ २२ ॥

उसके प्रशस्त वक्षःस्थल पर वह रत्न कौस्तुभमणि के सहोदर भाई की तरह शोभायमान थी। उस समय वह उठती हुई तरंगों, मेघों और तेज़ हवा से पूर्ण था ॥ २२ ॥

गङ्गासिन्धुप्रधानाभिरापगाभिः समावृतः ।
सागरः समुपक्रम्य [1]पूर्वमामन्त्र्य वीर्यवान् ॥ २३ ॥

गङ्गा सिन्धु आदि मुख्य मुख्य नदियाँ और नद उसके साथ थे। समुद्र ने श्रीरामचन्द्र जी को "हे राम!" कह कर प्रथम सम्बोधन किया ॥ २३ ॥

अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं राघवं शरपाणिनम् ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च राघव ॥ २४ ॥

तदनन्तर हाथ जोड़ कर, हाथ में धनुष बाण लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी से बोला। हे राघव! पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ॥ २४ ॥

स्वभावे सौम्य तिष्ठन्ति शाश्वतं मार्गमाश्रिताः ।
तत्स्वभावो ममाप्येष यदगाधोऽहमप्लवः ॥ २५ ॥

अनादिकाल से अपने स्वभाव के वश हो वर्तते हैं, अथवा अपनी अपनी मर्यादा के भीतर रहते हैं। मेरा भी यही स्वभाव है कि, मैं अगाध हूँ और इसलिये पार जाने के अयोग्य हूँ ॥ २५ ॥

विकारस्तु भवेद्गाध एतत्ते वेदयाम्यहम् ।
न कामान्न च लोभाद्वा न भयात्पार्थिवात्मज ॥ २६ ॥

---

1 पूर्वमामन्त्र्य—हे रामेति प्रथमं सम्बोध्य। (शि०)

हे राजकुमार! यदि मैं उथला हो जाऊँ तो मेरा अन्यथा भाव हो जाय अर्थात् मैं अपनी स्वाभाविकी सीमा से विचलित हो जाऊँ। यह जो मैं आपसे कह रहा हूँ सो अपने किसी लाभ लोभ या भय के वश हो नहीं कहता ॥ २६ ॥

ग्राहनक्राकुलजलं स्तम्भयेयं कथञ्चन।
विधास्ये राम येनापि विषहिष्ये ह्यहं तथा ॥ २७ ॥

मैं कभी भी नक्र और मत्स्यों से युक्त अपनी जलराशि को नहीं रोक सकता। हे राम! आपकी इच्छानुसार कार्य करने को मैं उद्यत हूँ और आप जो करेंगे, उसे सहूँगा। अथवा आप जिस मार्ग से जायँगे उसे बतलाऊँगा और उसका बोझ स्वयं सह लूँगा ॥२७॥

ग्राहा न प्रहरिष्यन्ति यावत्सेना तरिष्यति।
हरीणां तरणे राम करिष्यामि यथा स्थलम्[1] ॥ २८ ॥

हे राम! जब तक आपकी सेना पार न हो जायगी कोई भी मगर आदि जलजन्तु मार्ग में कुछ भी उपद्रव न करेंगे। मैं वानरों के उतरने के लिये पुल की योजना कर दूँगा ॥ २८ ॥

तमब्रवीत्तदा राम उद्यतो हि नदीपते।
अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन्देशे निपात्यताम् ॥ २९ ॥

रास्ता देने के लिये उद्यत समुद्र से श्रीरामचन्द्र जी बोले—अच्छी बात है, पर मेरा यह महाबाण अमोघ है (अर्थात् एक बार जब धनुष पर चढ़ा दिया तब उतारा नहीं जा सकता)। अतएव बतलाओ इसे मैं किस ओर चलाऊँ ॥ २९ ॥

---

१ यथास्थलं भवति—यथासेतुमार्गो भवति। (गो०)

रामस्य वचनं श्रुत्वा तं च दृष्ट्वा महाशरम् ।
महोदधिर्महातेजा राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३० ॥

उस बड़े शर को देख और श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, समुद्र महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी से बोला ॥ ३० ॥

उत्तरेणावकाशोऽस्ति कश्चित्पुण्यतमो मम ।
द्रुमकुल्य इति ख्यातो लोके ख्यातो यथा भवान् ॥३१॥

हे राम ! यहाँ से उत्तर की ओर अति पवित्र मेरा एक देश है। वह द्रुमकुल्य नाम से संसार में उसी प्रकार प्रसिद्ध है, जिस प्रकार आप प्रख्यात हैं ॥ ३१ ॥

उग्रदर्शनकर्माणो बहवस्तत्र दस्यवः ।
आभीरप्रमुखाः पापा पिबन्ति सलिलं मम ॥ ३२ ॥

वहाँ पर भयङ्कर रूप वाले तथा भयङ्कर कार्य करने वाले पापी अहीर आदि डाकू रहते हैं, जो मेरा जल पिया* करते हैं ॥ ३२ ॥

तैस्तु संस्पर्शनं प्राप्तैर्न सहे पापकर्मभिः ।
अमोघः क्रियतां राम तत्र तेषु शरोत्तमः ॥ ३३ ॥

हे राम ! मुझे उन पापियों का स्पर्श भी सह्य नहीं है। अतः आप अपने इस उत्तम बाण को वहीं गिरा कर सफल कीजिये ॥३३॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सागरस्य स राघवः ।
मुमोच तं शरं दीप्तं वीरः [1]सागरदर्शनात् ॥ ३४ ॥

---

१ सागरदर्शनात्—सागरमतेन । (गो०) * इससे जान पड़ता है उस समुद्र का जल खारी नहीं था ।

श्रीरामचन्द्र जी ने समुद्र के ये वचन सुन, उस प्रदीप्त बाण को समुद्र के बतलाये हुए स्थान पर गिरा दिया ॥ ३४ ॥

तेन तन्मरुकान्तारं पृथिव्यां खलु विश्रुतम् ।
निपातितः शरो यत्रः दीप्ताशनिसमप्रभः ॥ ३५ ॥

वह वज्र के समान प्रदीप्त बाण जहाँ पर गिरा, वह स्थान उसी दिन से मरुकान्तार (मारवाड़) के नाम से प्रसिद्ध हो गया ॥३५॥

ननाद च तदा तत्र वसुधा शल्यपीडिता ।
तस्माद्व्रणमुखात्तोयमुत्पपात रसातलात् ॥ ३६ ॥

जहाँ पर वह बाण गिरा, वहाँ की भूमि से बड़ा भयङ्कर शब्द हुआ और वहाँ एक बड़ा गहरा गढ़ा हो गया। उस गढ़े से रसातल का जल निकल आया ॥ ३६ ॥

स बभूव तदा कूपो व्रण इत्यभिविश्रुतः ।
सततं चोत्थितं तोयं समुद्रस्येव दृश्यते ॥ ३७ ॥

और वह एक कुआँ बन गया जिसका व्रण नाम प्रसिद्ध है। इसमें जो जल रहता है, वह सदैव समुद्र के जल की तरह उछलता हुआ देख पड़ता है ॥ ३७ ॥

अवदारणशब्दश्च दारुणः समपद्यत ।
तस्मात्तद्बाणपातेन त्वपः कुक्षिष्वशोषयत् ॥ ३८ ॥

बाण के गिरते समय पृथिवी फटने का भयङ्कर शब्द हुआ था और बाण जहाँ गिरा वहाँ की झीलों और तालावों का जल सूख गया ॥ ३८ ॥

विख्यातं त्रिषु लोकेषु मरुकान्तारमेव तत् ।
शोषयित्वा ततः कुक्षिं रामो दशरथात्मजः ॥ ३९ ॥

वरं तस्मै ददौ विद्वान्मरवेऽमरविक्रमः ।
पशव्यश्चाल्परोगश्च फलमूल[1]रसायुतः ॥ ४० ॥

वह स्थान तीनों लोकों में मरुकान्तार के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उस समुद्रमध्यगत स्थान का जल सुखा, अमर-विक्रमी दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने उसे यह वर दिया कि, यह देश पशुओं के लिये हितकारक, रोगरहित, फलों, मूलों और शहद से युक्त होगा ॥ ३९ ॥ ४० ॥

बहुस्नेहो[2] बहुक्षीरसुगन्धिर्विविधौषधः ।
एवमेतैर्गुणैर्युक्तो बहुभिः सततं मरुः ॥ ४१ ॥

इस देश में घी, दूध की बहुतायत होगी और विविध प्रकार की सुगन्धित औषधियाँ होगी । इस प्रकार बहुत से भोग्य पदार्थों से सदा युक्त वह मरुदेश हो गया ॥ ४१ ॥

रामस्य वरदानाच्च शिवः पन्था[3] बभूव ह ।
तस्मिन्दग्धे तदा कुक्षौ समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वरदान से वह शोभन प्रदेश हो गया । समुद्र के मध्यगत उस स्थान का जल दग्ध हो जाने पर नदीपति समुद्र ने ॥ ४२ ॥

राघवं सर्वशास्त्रज्ञमिदं वचनमब्रवीत् ।
अयं सौम्य नलो नाम तनुजो विश्वकर्मणः ॥ ४३ ॥

---

१ रसः—मधुः । (गो०) २ स्नेहः घृतः । (गो०) ३ शिवः पन्था—शोभनप्रदेश इत्यर्थः । (गो०)

सर्वशास्त्रज्ञ श्रीरामचन्द्र जी से यह वचन कहा। हे सौम्य! यह नल नामक वानर विश्वकर्मा का पुत्र है॥ ४३॥

पित्रा दत्तवरः श्रीमान्प्रतिमो विश्वकर्मणा।
एष सेतुं महोत्साहः करोति मयि वानरः॥ ४४॥

इसके पिता विश्वकर्मा ने इसको यह वर दिया है कि, तुम मेरे समान हो। सो, मेरे जल के ऊपर नल ही बड़े उत्साह के साथ पुल बांधे॥ ४४॥

तमहं धारयिष्यामि तथा ह्येष यथा पिता।
एवमुक्त्वोदधिर्नष्टः समुत्थाय नलस्तदा॥ ४५॥

मैं इसके बनाये पुल को धारण करूँगा क्योंकि जैसा इसका पिता है वैसा ही यह भी है। यह कह कर समुद्र अन्तर्द्धान हो गया। तब नल नामक वानर उठा॥ ४५॥

अब्रवीद्वानरश्रेष्ठो वाक्यं रामं महाबलः।
अहं सेतुं करिष्यामि विस्तीर्णे वरुणालये॥ ४६॥
[1]पितुः सामर्थ्यमास्थाय तत्त्वमाह महोदधिः।
दण्ड एव वरो लोके पुरुषस्येति मे मतिः॥ ४७॥

और उस वानरश्रेष्ठ महाबली वानर ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा। हे महाराज! समुद्र ने जो कुछ कहा सत्य है। मैं पिता के वरदान के प्रभाव से इस विस्तृत वरुणालय महासागर पर पुल बाँधूँगा। इस सम्बन्ध में मैं यह अवश्य कहूँगा कि, संसार में दण्ड ही सब से बढ़ कर काम बनाने वाला है॥ ४६॥ ४७॥

---

१ पितुः सामर्थ्यं—पित्रादत्तं सामर्थ्यं। (गो०)

धिक्क्षमामकृतज्ञेषु सान्त्वं दानमथापि वा ।
अयं हि सागरो भीमः सेतुकर्मदिदृक्षया ॥ ४८ ॥

ददौ दण्डभयाद्गाधं राघवाय महोदधिः ।
मम मातुर्वरो दत्तो मन्दरे विश्वकर्मणा ॥ ४९ ॥

उपकार न मानने वालों के प्रति क्षमा प्रदर्शित करना या उनको समझाना अथवा दान आदि से सन्तुष्ट करने का यत्न करना व्यर्थ है। यह भयङ्कर सागर दण्ड के भय ही से पुल बंधवाना स्वीकार कर, उथला हो गया है। इस समुद्र की बात सुन, मुझे याद आ गया कि, विश्वकर्मा ने मन्दराचल पर मेरी माता को यह वर दिया था ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

औरसस्तस्य पुत्रोऽहं सदृशो विश्वकर्मणा ।
[पित्रोः प्रसादात्काकुत्स्थ ततः सेतुं करोम्यहम्] ॥५०॥

कि—"मेरे समान तेरे पुत्र होगा।" सो मैं उसका औरस पुत्र होने से उसीके समान हूँ। हे रघुनन्दन! पिता जी के वरदान से मैं सेतु की रचना करता हूँ ॥ ५० ॥

न चाप्यहमनुक्तो वै प्रब्रूयामात्मनो गुणान् ॥ ५१ ॥

आपके पूँछे बिना मैंने अपने मुख से अपने गुणों का बखान करना उचित नहीं समझा ॥ ५१ ॥

समर्थश्चाप्यहं सेतुं कर्तुं वै वरुणालये ।
काममद्यैव बध्नन्तु सेतुं वानरपुङ्गवाः ॥ ५२ ॥

मैं निस्सन्देह समुद्र पर पुल बाँध सकूँगा सो अब इसी समय से वानरश्रेष्ठ पुल बाँधने में लगें ॥ ५२ ॥

[1]ततोतिसृष्टा रामेण सर्वतो हरियूथपाः ।
अभिपेतुर्महारण्यं हृष्टाः शतसहस्रशः ॥ ५३ ॥

यह सुनते ही श्रीरामचन्द्र जी ने वानरों को इस काम के लिये नियुक्त किया । तब तो लाखों वानर प्रसन्न हो वनों में घुस गये ॥ ५३ ॥

ते नगान्नगसङ्काशाः शाखामृगगणर्षभाः ।
बभञ्जुर्वानरास्तत्र [2]प्रचकर्षुश्च सागरम् ॥ ५४ ॥

फिर वे पर्वताकार वानर यूथपति पर्वतशिखरों और वृक्षों को उखाड़ उखाड़ कर समुद्रतट पर ला ला कर ढेर लगाने लगे ॥५४॥

ते सालैश्चाश्वकर्णैश्च धवैर्वंशैश्च वानराः ।
कुटजैरर्जुनैस्तालैस्तिलकैस्तिमिशैरपि ॥ ५५ ॥

उन लोगों ने साखू, अश्वकर्ण, धव, बांस, कोरैया, अर्जुन, ताल, तिलक, तिमिश ॥ ५५ ॥

विल्वैश्च सप्तपर्णैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ।
चूतैश्चाशोकवृक्षैश्च सागरं समपूरयन् ॥ ५६ ॥

बेल, सप्तवर्ण, फूले हुए कनैर, आम और अशोक के पेड़ों से समुद्र को पाट दिया ॥ ५६ ॥

समूलांश्च विमूलांश्च पादपान्हरिसत्तमाः ।
इन्द्रकेतूनिवोद्यम्य प्रजह्रुर्हरयस्तरून् ॥ ५७ ॥

वे वानरश्रेष्ठ, मूल सहित और विना मूलों के वृक्षों को, इन्द्र की ध्वजा की तरह उठा उठा कर लाने लगे ॥ ५७ ॥

---

१ अतिसृष्टाः—नियुक्ताः । (गो०) २ प्रचकर्षुः—आनयन्ति स्म । (गो०)

तालान्दाडिमगुल्मांश्च नारिकेलान्विभीतकान् ।
बकुलान्खदिरान्निम्बान्समाजह्नुः समन्ततः ॥ ५८ ॥

वे ताड़, अनार, नारियल, कत्था, बहेड़ा, मौलसिरी, खदिर और नीम के पेड़ों को इधर उधर से लाकर वहाँ डालने लगे ॥५८॥

हस्तिमात्रान्महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः ।
पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः[1] परिवहन्ति च ॥ ५९ ॥

हाथी के समान बड़े बड़े शरीर वाले और महाबलवान वानर बड़े बड़े पत्थरों को उखाड़ उखाड़ कर और गाड़ियों पर ढोकर वहाँ पहुँचाने लगे ॥ ५९ ॥

प्रक्षिप्यमाणैरचलैः सहसा जलमुद्धतम् ।
समुत्पतितमाकाशमुपासर्पत्ततस्ततः ॥ ६० ॥

उन पत्थरों के बड़े टुकड़ों को जल में डालने से समुद्र का जल इतना उछलता कि, आकाश को चला जाता और फिर नीचे गिर जाता था ॥ ६० ॥

समुद्रं क्षोभयामासुर्वानराश्च समन्ततः ।
सूत्राण्यन्ये प्रगृह्णन्ति ह्यायतं शतयोजनम् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार चारों ओर पेड़ों और पत्थरों को गिरा कर, वानरों ने समुद्र का जल खलबला दिया। कितने ही वानर सौ योजन लंबे सूत को थाम पुल की सिधाई ठीक करते थे ॥ ६१ ॥

नलश्चक्रे महासेतुं मध्ये नदनदीपतेः ।
स तथा क्रियते सेतुर्वानरैर्घोरकर्मभिः ॥ ६२ ॥

---

१ यन्त्रैः—शकटादिभिः । (गो०) सुखाहरणसाधनैः । (रा०)

इस प्रकार नल ने घोरकर्मा वानरों की सहायता से नदीपति समुद्र के ऊपर पुल बांधा ॥ ६२ ॥

[1]दण्डानन्ये प्रगृह्णन्ति विचिन्वन्ति तथा परे ।
वानराः शतशस्तत्र रामस्याज्ञापुरःसराः ॥ ६३ ॥

कोई कोई वानर हाथों में डंडे ले कर वानरों से काम जल्दी पूरा कराने के लिये खड़े थे, कोई इधर उधर घूम फिर कर वड़े वड़े पेड़ों को ढूढ़ रहे थे। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से सैकड़ों वानर ॥ ६३ ॥

मेघाभैः पर्वताग्रैश्च तृणैः काष्ठैर्ववन्धिरे ।
पुष्पिताग्रैश्च तरुभिः सेतुं वध्नन्ति वानराः ॥ ६४ ॥

जिनका शरीर पर्वत और मेघ की तरह विशाल था; तृण, काठ, पुष्पित वृक्षों तथा पत्थरों से पुल वांधने का काम कर रहे थे ॥ ६४ ॥

पाषाणांश्च गिरिप्रख्यान्गिरीणां शिखराणि च ।
दृश्यन्ते परिधावन्तो गृह्य वारणसन्निभाः ॥ ६५ ॥

हाथी के समान विशाल शरीर वाले वहुत से वानर, पर्वत के समान वड़े वड़े पत्थरों के टुकड़ों और पर्वतशिखरों को लिये हुए, हाथियों की तरह दौड़ते हुए जान पड़ते थे ॥ ६५ ॥

शिलानां क्षिप्यमाणानां शैलानां च निपात्यताम् ।
वभूव तुमुलः शब्दस्तदा तस्मिन्महोदधौ ॥ ६६ ॥

उस समुद्र में शिलाओं के डालने और पर्वतों के पटकने से वड़ा शब्द होता था ॥ ६६ ॥

---

1 दण्डान्—वानरत्वराकरणदण्डान् । (गो०)

कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश ।
प्रहृष्टैर्गजसङ्काशैस्त्वरमाणैः प्लवङ्गमैः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार गज के समान शरीर वाले और फुर्तीले वानरों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ प्रथम दिन चौदह योजन लंबा पुल बना डाला ॥ ६७ ॥

द्वितीयेन तथा चाह्ना योजनानि तु विंशतिः ।
कृतानि प्लवगैस्तूर्णं भीमकायैर्महाबलैः ॥ ६८ ॥

फिर भयङ्कर शरीर वाले महाबली वानरों ने फुर्ती से दूसरे दिन बीस योजन लंबा पुल बांध कर तैयार किया ॥ ६८ ॥

अह्ना तृतीयेन तथा योजनानि कृतानि तु ।
त्वरमाणैर्महाकायैरेकविंशतिरेव च ॥ ६९ ॥

उन महाकाय और शीघ्र कर्मकारी वानरों ने तीसरे दिन २१ योजन लंबा और पुल बांधा ॥ ६९ ॥

चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरथापि च ।
योजनानि महावेगैः कृतानि त्वरितैस्तु तैः ॥ ७० ॥

उन बड़े फुर्तीले वानरों ने चौथे दिवस बड़ी फुर्ती से २२ योजन लंबा पुल और बांधा ॥ ७० ॥

पञ्चमेन तथा चाह्ना प्लवगैः क्षिप्रकारिभिः ।
योजनानि त्रयोविंशत्सुवेलमधिकृत्य वै ॥ ७१ ॥

उन शीघ्र कर्मकारी वानरों ने पांचवें दिन २३ योजन लंबा और पुल बांध वे लङ्कास्थित सुवेल पर्वत पर पहुँच गये । अर्थात् पुल का काम नल ने पांच दिन में पूरा कर डाला ॥ ७१ ॥

स वानरवरः श्रीमान्विश्वकर्मात्मजो बली ।
बबन्ध सागरे सेतुं यथा चास्य पिता तथा ॥ ७२ ॥

इस प्रकार विश्वकर्मा के बलवान् और कपिश्रेष्ठ नल ने अपने पिता के समान पराक्रम दिखा, समुद्र के ऊपर सेतु बाँधा ॥ ७२ ॥

स नलेन कृतः सेतुः सागरे मकरालये ।
शुशुभे सुभगः श्रीमान्स्वातीपथ इवाम्बरे ॥ ७३ ॥

नल द्वारा बना हुआ वह पुल ऐसी शोभा दे रहा था, जैसी शोभा आकाश में छायापथ की होती है ॥ ७३ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
आगम्य गगने तस्थुर्द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ ७४ ॥

तब तो देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि लोग उस अद्भुत पुल की रचना देखने को, आकाश में आ खड़े हुए ॥ ७४ ॥

दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ।
ददृशुर्देवगन्धर्वा नलसेतुं सुदुष्करम् ॥ ७५ ॥

देवताओं और गन्धर्वों ने नल का बनाया हुआ, अत्यन्त दुष्कर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा पुल देखा ॥ ७५ ॥

आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ।
तदचिन्त्यमसह्यं च अद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७६ ॥

कार्य पूरा होने के आनन्द में भर वानर लोग कूदने फाँदने और गर्जने लगे । उस अचिन्तनीय, अद्भुत एवं रोमाञ्चकारी ॥ ७६ ॥

ददृशुः सर्वभूतानि सागरे सेतुबन्धनम् ।
तानिकोटिसहस्राणि वानराणां महौजसाम् ॥ ७७ ॥

सेतु की रचना को सब प्राणियों ने देखा। महाबलवान् लाखों करोड़ों वानर ॥ ७७ ॥

बध्नन्तः सागरे सेतुं जग्मुः पारं महोदधेः।
विशालः सुकृतः[१] [२]श्रीमान्सुभूमिः[३] सुसमाहितः[४] ॥७८॥

सेतु बाँध कर समुद्र के पार हो गये। नल ने जो पुल बाँधा था, वह बड़ा लंबा चौड़ा था, बड़ा मज़बूत था, सीधा था, नीचा ऊँचा न हो कर समान चौरस था और उसमें गड्ढे भी न थे ॥ ७८ ॥

अशोभत महासेतुः सीमन्त इव सागरे।
ततः पारे समुद्रस्य गदापाणिर्विभीषणः ॥ ७९ ॥
परेषामभिघातार्थमतिष्ठत्सचिवैः सह।
सुग्रीवस्तु ततः प्राह रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ८० ॥

वह सेतु समुद्र के बीच ऐसा शोभायमान हो रहा था, जैसे स्त्रियों के सिर की माँग। तदनन्तर हाथ में गदा ले विभीषण अपने मंत्रियों सहित समुद्र के उस पार शत्रुओं को मारने के लिये जा खड़े हुए। तब सुग्रीव ने सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ७९ ॥ ८० ॥

हनुमन्तं त्वमारोह अङ्गदं चापि लक्ष्मणः।
अयं हि विपुलो वीर सागरो मकरालयः ॥ ८१ ॥
वैहायसौ युवामेतौ वानरौ तारयिष्यतः।
अग्रतस्तस्य सैन्यस्य श्रीमान्रामः सलक्ष्मणः ॥ ८२ ॥

---

१ सुकृतः—दृढतयाकृतः। (गो०) २ श्रीमान्—ऋजुत्वेन कान्तिमान। (गो०) ३ सुभूमिः—निम्नोन्नतत्वरहितः। (गो०) सुसमाहितः—निर्विवरः। (गो०)

जगाम धन्वी धर्मात्मा सुग्रीवेण समन्वितः ।
अन्ये मध्येन गच्छन्ति पार्श्वतोऽन्ये प्लवङ्गमाः ॥ ८३ ॥

हे वीर! आप हनुमान जी पर और लक्ष्मण जी अङ्गद पर सवार हो लें। क्योंकि यह समुद्र मगर मच्छों का घर है और ये दोनों आकाशचारी वानर हैं, अतः आप दोनों को भलीभाँति समुद्र पार पहुँचा देंगे। तब उस वानरी सेना के आगे आगे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण हाथ में धनुष बाण ले धर्मात्मा सुग्रीव को अपने साथ लिये हुए चले। कोई कोई कपियूथपति बीच में और कोई अगल बगल और कोई पीछे हो लिये ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

सलिले प्रपतन्त्यन्ये मार्गमन्ये न लेभिरे ।
केचिद्वैहायसगताः सुपर्णा इव पुप्लुवुः ॥ ८४ ॥

वानरों की संख्या अत्यधिक और रास्ता सङ्कीर्ण होने के कारण बहुत से वानर पानी में गिर पड़े और बहुत से रास्ता न मिलने के कारण समुद्रतट पर इस पार ठहरे रहे। बहुत से गरुड़ की तरह उड़ कर आकाशमार्ग से गये ॥ ८४ ॥

घोषेण महता तस्य सिन्धोर्घोषं समुच्छ्रितम् ।
भीममन्तर्दधे भीमा तरन्ती हरिवाहिनी ॥ ८५ ॥

समुद्र पार होते समय वानरी सेना के तुमुल शब्द के नीचे समुद्र का सिंहनाद दब गया ॥ ८५ ॥

वानराणां हि सा तीर्णा वाहिनी नलसेतुना ।
तीरे निविविशे राज्ञो बहुमूलफलोदके ॥ ८६ ॥

इस प्रकार नल के बनाये हुए पुल से वह सेना समुद्र के पार हो गयी। उस पार पहुँच, सुग्रीव ने उनको अधिक फलमूलपूर्ण समुद्रतट पर ठहरा दिया ॥ ८६ ॥

तदद्भुतं राघवकर्म दुष्करं
समीक्ष्य देवाः सह सिद्धचारणैः ।
उपेत्य रामं सहसा महर्षिभिः
समभ्यषिञ्चन्सुशुभैर्जलैः[1] पृथक् ॥ ८७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस अद्भुत और दुष्कर कार्य को देख, देवता, सिद्ध, चारण और महर्षि सहसा वहाँ प्रकट हुए और समुद्र जल से अलग अलग श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक करने लगे ॥ ८७ ॥

जयस्व शत्रून्नरदेव मेदिनीं
ससागरां पालय शाश्वतीः समाः ।
इतीव रामं [2]नरदेवसत्कृतं
शुभैर्वचोभिर्विविधैरपूजयन् ॥ ८८ ॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

और स्तुति कर कहने लगे—हे नरदेव ! आप ब्राह्मणों द्वारा सत्कारित हो और शत्रुओं को पराजित कर दीर्घकाल तक इस ससागरा समस्त पृथिवी का पालन करें ॥ ८८ ॥

युद्धकाण्ड का वाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ शुभैर्जलैः—सागरनीरैः । (शि०) २ नरदेवाः—ब्राह्मणाः । (रा०)

त्रयोविंशः सर्गः

—※—

निमित्तानि निमित्तज्ञो दृष्ट्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
सौमित्रिं सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

शकुनों और अपशकुनों को जानने वाले लक्ष्मण के बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी उस समय के अपशकुनों को देख और लक्ष्मण जी को गले से लगा यह बोले ॥ १ ॥

परिगृह्योदकं शीतं वनानि फलवन्ति च ।
बलौघं संविभज्येमं व्यूह्य[1] तिष्ठेम लक्ष्मण ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! जिस जगह शीतल जल समीप हो और फल वाले वृक्ष हों, वहीं पर सेना को विभाजित कर और गरुड़ाकार व्यूह रच कर ठहरना उचित है ॥ २ ॥

लोकक्षयकरं भीमं भयं पश्याम्युपस्थितम् ।
निबर्हणं प्रवीराणामृक्षवानररक्षसाम् ॥ ३ ॥

क्योंकि मुझे लोकक्षयकारी भयङ्कर भयप्रद अपशकुन देख पड़ते हैं । इससे जान पड़ता है कि, रीछ, बन्दर और राक्षसों का बड़ा भारी नाश होगा ॥ ३ ॥

वाताश्च कलुषा[2] वान्ति कम्पते च वसुन्धरा ।
पर्वताग्राणि वेपन्ते पतन्ति च महीरुहाः ॥ ४ ॥

---

१ व्यूह्य—गरुड़रूपेण सन्निवेश्य । (गो०) २ कलुषा—रजोव्याप्ता ।

देखो, अन्धड़ चल रहा है, पृथिवी काँप रही है, पर्वतशिखर हिल रहे हैं और वृक्ष टूट टूट कर गिर रहे हैं ॥ ४ ॥

मेघाः क्रव्यादसङ्काशाः परुषाः परुषस्वनाः ।
क्रूराः क्रूरं प्रवर्षन्ति मिश्रं शोणितबिन्दुभिः ॥ ५ ॥

गीध, शृगाल, श्येनादि के समान धूसर वर्ण, बुरे रूपवाले मेघ, श्रुतकठोर शब्द कर रहे हैं और क्रूर रूप धारण कर, रुधिर की बूँदों से मिश्रित जल की वर्षा कर रहे हैं ॥ ५ ॥

रक्तचन्दनसङ्काशा सन्ध्या परमदारुणा ।
ज्वलतः प्रपतत्येतदादित्यादग्निमण्डलम् ॥ ६ ॥

लाल चन्दन की तरह इस सन्ध्या का रूप कैसा दारुण देख पड़ता है। सूर्यमण्डल से दहकते हुए उल्का समूह गिर रहे हैं ॥६॥

दीना दीनस्वराः क्रूराः सर्वतो मृगपक्षिणः ।
प्रत्यादित्यं विनर्दन्ति जनयन्तो[1] महद्भयम् ॥ ७ ॥

सूर्य की ओर मुख कर क्रूर स्वभाव वाले पशु पक्षी दीनभाव से करुणा भरे स्वर से वार वार चिल्ला रहे हैं। ये आने वाले बड़े भारी भय की सूचना दे रहे हैं ॥ ७ ॥

रजन्यामप्रकाशस्तु सन्तापयति चन्द्रमाः ।
कृष्णरक्तांशुपर्यन्तो लोकक्षय इवोदितः ॥ ८ ॥

रात में प्रकाशशून्य चन्द्रमा काले और लाल मण्डल के बीच उदय हो सन्तापित कर रहा है। ऐसा जान पड़ता है, मानों लोक का नाश करने को उदय हुआ हो ॥ ८ ॥

---

१ जनयन्तः—सूचयन्तः। (गो०)

ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेषः सुलोहितः ।
आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! निर्मल सूर्य के चारों ओर कैसा छोटा किन्तु चौड़ा और रूक्ष लाल लाल मण्डल छाया हुआ है । उसके बिम्ब में काला चिह्न देख पड़ता है ॥ ९ ॥

रजसा महता चापि नक्षत्राणि हतानि च ।
युगान्तमिव लोकानां पश्य शंसन्ति लक्ष्मण ॥१०॥

हे लक्ष्मण ! देखो आकाश में बहुत धूल छायी रहने के कारण नक्षत्र ढके हुए हैं और दिखलाई नहीं पड़ते । इनको देखने से जान पड़ता है कि, युगान्त का समय उपस्थित हुआ है ॥ १० ॥

काकाः श्येनास्तथा गृध्रा नीचैः परिपतन्ति च ।
शिवाश्चाप्यशिवान्नादान्नदन्ति सुमहाभयान् ॥ ११ ॥

काक, श्येन (बाज) और गीध सहसा ऊपर से नीचे गिरते हैं । गीदड़ियाँ अशुभ और महाभयङ्कर बोलियाँ बोल रही हैं ॥ ११ ॥

शैलैः शूलैश्च खड्गैश्च विसृष्टैः कपिराक्षसैः ।
भविष्यत्यावृता भूमिर्मांसशोणितकर्दमा ॥ १२ ॥

इन अपशकुनों को देख जान पड़ता है कि, पत्थरों, शूलों और तलवारों के आघात से वानरों और राक्षसों के मांस और रक्त की कीचड़ से पृथिवी पूर्ण हो जायगी ॥ १२ ॥

क्षिप्रमद्यैव दुर्धर्षां पुरीं रावणपालिताम् ।
अभियाम जवेनैव सर्वतो हरिभिर्वृताः ॥ १३ ॥

सो हम लोग अभी रावण द्वारा रक्षित दुर्धर्ष लङ्कापुरी पर चारों ओर से, बड़े वेग से वानरों को साथ ले चढ़ाई करें ॥ १३ ॥

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धन्वी संग्रामधर्षणः ।
प्रतस्थे पुरतो रामो लङ्कामभिमुखो विभुः ॥ १४ ॥

युद्ध में शत्रुओं का तिरस्कार करने वाले धर्मात्मा और धनुषधारी, बलवान् श्रीरामचन्द्र जी, यह कह कर सब के आगे लङ्का की ओर चले ॥ १४ ॥

सविभीषणसुग्रीवास्ततस्ते वानरर्षभाः ।
प्रतस्थिरे विनर्दन्तो निश्चिता द्विषतां वधे ॥ १५ ॥

विभीषण, सुग्रीव और दूसरे वानर भी सिंहनाद करते हुए श्रीरामचन्द्र जी के पीछे शत्रुकुल निर्मूल करने का निश्चय कर हो लिये ॥ १५ ॥

राघवस्य प्रियार्थं तु धृतानां वीर्यशालिनाम् ।
हरीणां कर्मचेष्टाभिस्तुतोष रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता के लिये धैर्यवान् और बलवान् वानरों को युद्ध के लिये कर्म और चेष्टा द्वारा तत्पर देख, (अर्थात् उन वानरों में युद्ध की उमङ्ग या चाव देख) रघुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी सन्तुष्ट हुए ॥ १६ ॥

युद्धकाण्ड का तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुर्विंशः सर्गः

—※—

सा [1]वीरसमिती राज्ञा विरराज व्यवस्थिता ।
शशिना शुभनक्षत्रा पौर्णमासीव शारदी ॥ १ ॥

समस्त वीर वानरों के दल, महाराज श्रीरामचन्द्र जी द्वारा गरुड़ाकार व्यूह में स्थापित हो, वैसे ही शोभित हुई जैसे नक्षत्र-राजि विराजित शारदीय पूर्णिमा की रात शोभित होती है ॥ १ ॥

प्रचचाल च वेगेन त्रस्ता चैव वसुन्धरा ।
पीड्यमाना बलौघेन तेन सागरवर्चसा ॥ २ ॥

समुद्र के समान विशाल वानर-वाहिनी के वेग से वहाँ की भूमि पीड़ित हुई और डर कर काँप उठी ॥ २ ॥

ततः शुश्रुवुराक्रुष्टं लङ्कायां काननौकसः ।
भेरीमृदङ्गसंघुष्टं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३ ॥

लङ्का में भेरी और मृदङ्ग के शब्द से मिश्रित भयङ्कर और रोमाञ्चकारी शब्द वानरों ने सुना ॥ ३ ॥

बभूवुस्तेन घोषेण संहृष्टा हरियूथपाः ।
अमृष्यमाणास्तं घोषं विनेदुर्घोषवत्तरम् ॥ ४ ॥

उस घोष को सुनने से कपियूथपति बहुत प्रसन्न हुए और उस शब्द को सहन न कर, ये वानर भी बड़े ज़ोर से चिल्लाने लगे ॥ ४ ॥

---

१ वीरसमितिः—वीरसङ्घः । (गो०)

राक्षसास्तु प्लवङ्गानां शुश्रुवुश्चापि गर्जितम् ।
नर्दतामिव दृप्तानां मेघानामम्बरे स्वनम् ॥ ५ ॥

लङ्कावासी राक्षसों ने उन गर्जते और सिंहनाद करते हुए वानरों का ऐसा शब्द सुना जैसा कि, आकाश में मेघों के गरजने से हुआ करता है ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा दाशरथिर्लङ्कां चित्रध्वजपताकिनीम् ।
जगाम मनसा सीतां दूयमानेन चेतसा ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी रंगबिरंगी, ध्वजा पताकाओं से शोभित लङ्का को देख, सीता का स्मरण कर, अत्यन्त दुःखित हुए ॥ ६ ॥

अत्र सा मृगशावाक्षी रावणेनोपरुध्यते ।
अभिभूता ग्रहेणेव लोहिताङ्गेन रोहिणी ॥ ७ ॥

और सोचने लगे कि, इस समय वह मृगलोचनी जानकी रावण के घर में क़ैद है। सो इस समय उसकी वही शोच्य दशा होगी, जो मङ्गलग्रह से ग्रसी हुई रोहिणी की होती है ॥ ७ ॥

दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य समुद्वीक्ष्य च लक्ष्मणम् ।
उवाच वचनं वीरस्तत्कालहितमात्मनः ॥ ८ ॥

लंबी और गर्म साँस ले तथा लक्ष्मण जी की ओर भलीभाँति निहार, महावीर श्रीरामचन्द्र युद्धयात्रा के समयानुरूप हितप्रद एवं शोक भुलाने वाले (तथा नगर का शोभावर्णनरूपी) वचन बोले ॥ ८ ॥

आलिखन्तीमिवाकाशमुत्थितां पश्य लक्ष्मण ।
मनसेव कृतां लङ्कां नगाग्रे विश्वकर्मणा ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो यह लङ्का मानों आकाश को छूना चाहती है। इसको विश्वकर्मा ने पर्वतशिखर के ऊपर बड़े मन से बनाया है ॥ ६ ॥

विमानैर्बहुभिर्लङ्का सङ्कीर्णा भुवि राजते ।
[1]विष्णोः [2]पदमिवाकाशं छादितं पाण्डुरैर्घनैः ॥ १० ॥

पृथिवी के ऊपर अनेक तलों के घरों से युक्त लङ्का ऐसी शोभायमान हो रही है जैसे सफेद बादलों से ढका हुआ आकाश ॥ १० ॥

पुष्पितैः शोभिता लङ्का वनैश्चैत्ररथोपमैः ।
नानापतङ्गसंघुष्टैः फलपुष्पोपगैः शुभैः ॥ ११ ॥

इसमें पुष्पित वृक्षों से युक्त अनेक वन, चित्ररथवन के तुल्य जान पड़ते हैं। इनमें तरह तरह के पक्षी बोल रहे हैं और विविध प्रकार के फलों और पुष्पों से वृक्ष लदे हुए हैं ॥ ११ ॥

पश्य मत्तविहङ्गानि प्रलीनभ्रमराणि च ।
कोकिलाकुलखण्डानि दोधवीति[3] शिवोऽनिलः ॥ १२ ॥

देखो, मतवाले पक्षी वृक्षों पर बैठे हैं, मधुपान के भूखे भौंरे गूंजते हुए फूलों में घुसे बैठे हैं। कोकिलाओं के झुंड के झुंड बैठे हैं। देखो, कैसी सुखावह हवा वह रही है, जो बार बार वृक्षों को हिला रही है ॥ १२ ॥

इति दाशरथी रामो लक्ष्मणं समभाषत ।
बलं च तद्वै [4]विभजञ्शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ १३ ॥

---

१ विष्णोः—आदित्यस्य। (गो०) २ पदं—स्थानं। आकाशमध्यमिति भावः। (गो०) ३ दोधवीति—पुनः पुनः कम्पयति। (गो०) ४ विभजन्—व्यूहयन्। (गो०)

इस प्रकार दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से कह कर, नीतिशास्त्रानुसार सेना से व्यूह रचना करवाने लगे ॥ १३ ॥

शशास कपिसेनाया बलमादाय वीर्यवान् ।
अङ्गदः सह नीलेन तिष्ठेदुरसि दुर्जयः ॥ १४ ॥

फिर वीर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी ने समस्त कपिसेना को व्यूह रचने की इस प्रकार आज्ञा दी। उन्होंने दुर्जेय नील सहित अङ्गद को गरुड़ व्यूह के वक्षःस्थल पर रहने की आज्ञा दी ॥ १४ ॥

तिष्ठेद्वानरवाहिन्या वानरौघसमावृतः ।
आश्रित्य दक्षिणं पार्श्वमृषभो वानरर्षभः ॥ १५ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी ने कहा) इस वानरसेना की दहिनी ओर कपिश्रेष्ठ ऋषभ अपनी अधीनस्थ सेना के साथ रहें ॥ १५ ॥

गन्धहस्तीव दुर्धर्षस्तरस्वी गन्धमादनः ।
तिष्ठेद्वानरवाहिन्याः सव्यं पार्श्वं समाश्रितः ॥ १६ ॥

मतवाले हाथी की तरह अजेय और वेगवान गन्धमादन वानरीसेना की बाईं ओर रहें ॥ १६ ॥

मूर्ध्नि स्थास्याम्यहं युक्तो लक्ष्मणेन समन्वितः ।
जाम्बवांश्च सुषेणश्च [1]वेगदर्शी च वानरः ॥ १७ ॥

ऋक्षमुख्या महात्मानः[2] कुक्षिं रक्षन्तु ते त्रयः ।
जघनं कपिसेनायाः कपिराजोऽभिरक्षतु ॥ १८ ॥

---

१ वेगदर्शी—विशेषणं । (गो०) २ महात्मनः—महाबुद्धयः । (गो०)

सेना के शिरोभाग में लक्ष्मण सहित मैं रहूँगा। रीछों की सेना के अध्यक्ष और महाबुद्धिमान जाम्बवान, और वेगवान वानर सुषेण सेना के कुक्षिस्थान की रक्षा करें। कपिसेना के जंघाभाग की रक्षा कपिराज सुग्रीव (वैसे ही) करें॥ १७॥ १८॥

[१]पश्चार्धमिव लोकस्य प्रचेतास्तेजसा वृतः।
सुविभक्तमहाव्यूहा महावानररक्षिता॥ १९॥

जैसे वरुण पश्चिम दिशा की रक्षा अपने तेज से करते हैं। इस प्रकार भलीभाँति गरुड़ाकार व्यूह की रचना से युक्त और वानरसेनापतियों द्वारा रक्षित॥ १९॥

अनीकिनी सा विबभौ यथा द्यौः साभ्रसम्प्लवा।
प्रगृह्य गिरिशृङ्गाणि महतश्च महीरुहान्॥ २०॥

उस समय वह वानरी सेना ऐसी शोभित हुई, जैसे आकाश मेघों से शोभित होता है। वानरगण गिरिशृङ्गों और बड़े बड़े वृक्षों को ले॥ २०॥

आसेदुर्वानरा लङ्कां विमर्दयिषवो रणे।
शिखरैर्विकिरामैनां लङ्कां मुष्टिभिरेव वा॥ २१॥
इति स्म दधिरे सर्वे मनांसि हरिसत्तमाः।
ततो रामो महातेजः सुग्रीवमिदमब्रवीत्॥ २२॥

लङ्का को ध्वस्त करने के लिये चढ़ाई करने की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। वे सब अपने अपने मनों में सोचने लगे कि, पर्वतशिखरों अथवा घूंसों से हम लङ्का को पीस डालेंगे। तब श्रीरामचन्द्र ने सुग्रीव से कहा॥ २१॥ २२॥

---

१ पश्चार्ध—पश्चिमांदिशमित्यर्थः। (गो०)

सुविभक्तानि सैन्यानि शुक एष विमुच्यताम् ।
रामस्य वचनं श्रुत्वा वानरेन्द्रो महाबलः ॥ २३ ॥

मित्र ! सेना तो यथास्थान टिक गयी। अब शुक को छोड़ देना चाहिये। श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन, महाबली कपिराज सुग्रीव ने ॥ २३ ॥

मोचयामास तं दूतं शुकं रामस्य शासनात् ।
मोचितो रामवाक्येन वानरैश्चाभिपीडितः ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से रावण के उस दूत शुक को छोड़ दिया। श्रीराम की आज्ञा से छूटा हुआ और वानरों द्वारा सताया हुआ ॥ २४ ॥

शुकः परमसंत्रस्तो रक्षोऽधिपमुपागमत् ।
रावणः प्रहसन्नेव शुकं वाक्यमभाषत ॥ २५ ॥

शुक, अत्यन्त डरा हुआ रावण के पास पहुँचा। रावण ने शुक को देख, मुसकुराते हुए पूँछा ॥ २५ ॥

किमिमौ ते सितौ पक्षौ लूनपक्षश्च दृश्यसे ।
कच्चिन्नानेकचित्तानां[1] तेषां त्वं वशमागतः ॥ २६ ॥

हे शुक ! तुम्हारे ये सफेद पंख नोंचे खसोटे क्यों देख पड़ते हैं। तुम कहीं उन चञ्चलमना वानरों के फंदे में तो नहीं फँस गये ॥२६॥

ततः स भयसंविग्नस्तथा राज्ञाभिचोदितः ।
वचनं प्रत्युवाचेदं राक्षसाधिपमुत्तमम् ॥ २७ ॥

---

१ अनेकचित्तानां—चंचलचित्तानाम् । (गो०)

वह भयभीत शुक, राक्षसराज द्वारा पूँछा जाकर, रावण को इस प्रकार उत्तर देता हुआ ॥ २७ ॥

सागरस्योत्तरे *तीरेऽब्रवं ते वचनं तथा ।
यथा सन्देशमक्लिष्टं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥२८॥

हे राजन्! समुद्र के उत्तरतट पर जा कर, मैंने आपका संदेशा जैसा कि, आपने कहा था, सुग्रीव को समझाने के लिये मधुर वाणी से कहना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

क्रुद्धैस्तैरहमुत्प्लुत्य दृष्टमात्रैः प्लवङ्गमैः ।
गृहीतोस्म्यपि चारब्धो हन्तुं लोप्तुं च मुष्टिभिः ॥२९॥

कि, इतने में मुझे देखते ही क्रुद्ध हो वानरों ने कूद कर मुझे पकड़ लिया और वे मुझे घूँसों की मार से मार डालने को उद्यत हो गये ॥ २६ ॥

नैव सम्भाषितुं शक्याः सम्प्रश्नोऽत्र न लभ्यते ।
प्रकृत्या कोपनास्तीक्ष्णा वानरा राक्षसाधिप ॥ ३० ॥

उन वानरों ने न तो मुझसे कोई बात कही और न मुझे ही कोई प्रश्न पूँछने दिया। हे राक्षसराज! वे सब वानर तो स्वभाव ही से बड़े उग्र और क्रोधी हैं ॥ ३० ॥

स च हन्ता विराधस्य कबन्धस्य खरस्य च ।
सुग्रीवसहितो रामः सीतायाः पदमागतः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् मैंने विराध, कबन्ध और खर को मारने वाले श्रीरामचन्द्र जी को देखा, जो सुग्रीव के साथ सीता के रहने के स्थान का पता पा कर, यहाँ आये हैं ॥ ३१ ॥

---

* पाठान्तरे—"तीरे ब्रुवंस्ते।"

स कृत्वा सागरे सेतुं तीर्त्वा च लवणोदधिम् ।
एष रक्षांसि [1]निर्धूय धन्वी तिष्ठति राघवः ॥ ३२ ॥

समुद्र का पुल बाँध, लवणसागर को पार कर और राक्षसों को तिनके के समान जान, हाथ में धनुष लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी आ पहुँचे हैं ॥ ३२ ॥

ऋक्षवानरमुख्यानामनीकानि सहस्रशः ।
गिरमेघनिकाशानां छादयन्ति वसुन्धराम् ॥ ३३ ॥

उनके साथ में बड़े बड़े रीछों और वानरों की हज़ारों सेनाएँ हैं। वे रीछ और वानर पर्वत अथवा मेघ की तरह विशालकाय हैं और उनकी संख्या इतनी अधिक है कि, वे पृथिवी को ढाँपे हुए हैं ॥ ३३ ॥

राक्षसानां बलौघस्य वानरेन्द्रबलस्य च ।
नैतयोर्विद्यते सन्धिर्देवदानवयोरिव ॥ ३४ ॥

राक्षसों की सेना और कपिराज की वानरी सेना के बीच मेल होना उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार देवता और दानवों में मेल होना सम्भव नहीं ॥ ३४ ॥

पुरा प्रकारामायान्ति क्षिप्रमेकतरं कुरु ।
सीतां वाऽस्मै प्रयच्छाशु सुयुद्धं वा प्रदीयताम् ॥ ३५ ॥

वे अब लङ्का पर चढ़ाई करना ही चाहते हैं, अतएव आप अति शीघ्र इन दो में से एक काम करो। या तो आप तुरन्त सीता को दे दें या भलीभाँति कमर कस उनसे लड़ें ॥ ३५ ॥

---

१ निर्धूय—तृणीकृत्य। (गो०)

शुकस्य वचनं श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
रोषसंरक्तनयनो निर्दहन्निव चक्षुषा ॥ ३६ ॥

शुक की इन बातों को सुन, रावण कहने लगा। उस समय मारे क्रोध के उसकी आँखें लाल हो रही थीं और ऐसा जान पड़ता था कि, मानों वह नेत्राग्नि से शुक को भस्म कर डालेगा ॥ ३६ ॥

यदि मां प्रति युद्ध्येरन्देवगन्धर्वदानवाः ।
नैव सीतां प्रयच्छामि सर्वलोकभयादपि ॥ ३७ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी के साथ मुझसे देवता, गन्धर्व और दानव भी लड़ने आवें अथवा समस्त प्राणी मिल कर मुझे भयभीत करें; तो भी मैं सीता को न दूँगा ॥ ३७ ॥

कदा नामाभिधावन्ति राघवं मामकाः शराः ।
वसन्ते पुष्पितं मत्ता भ्रमरा इव पादपम् ॥ ३८ ॥

वह समय कब आवेगा जब मेरे बाण श्रीराम की ओर वैसे ही दौड़ेंगे जैसे मतवाले भौंरे वसन्तऋतु में पुष्पित वृक्षों की ओर दौड़ते हैं ॥ ३८ ॥

कदा तूणीशयैर्दीप्तैर्गणशः कार्मुकच्युतैः ।
शरैरादीपयाम्येनमुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार जलता हुआ उल्का दिखाने से हाथी भागता है, उसी प्रकार मैं अपने तरकस से निकले हुए चमचमाते बाणों के समूह की मार से, रक्त में डूबे हुए श्रीराम को कब भगाऊँगा ॥ ३९ ॥

तच्चास्य बलमादास्ये बलेन महता वृतः ।
ज्योतिषामिव सर्वेषां प्रभामुद्यन्दिवाकरः ॥ ४० ॥

हे शुक! जिस प्रकार सूर्य उदय हो कर छोटे छोटे तारों का तेज नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार मैं अपनी महती सेना के साथ श्रीराम की सेना को दबा लूँगा ॥ ४० ॥

सागरस्येव मे वेगो मारुतस्येव मे गतिः ।
न हि दाशरथिर्वेद तेन मां योद्धुमिच्छति ॥ ४१ ॥

सागर की तरह मेरा वेग है और पवन की तरह मेरी गति है। यह बात श्रीराम नहीं जानता, इसीसे तो वह मुझसे लड़ना चाहता है ॥ ४१ ॥

न मे तूणीशयान्बाणान्सविषानिव पन्नगान् ।
रामः पश्यति संग्रामे तेन मां योद्धुमिच्छति ॥ ४२ ॥

तरकस में, विषधर साँपों की तरह पड़े हुए मेरे विषैले बाण, श्रीराम को नहीं देख पड़ते, इसीसे वह मेरे साथ लड़ना चाहता है ॥ ४२ ॥

न जानाति पुरा वीर्यं मम युद्धे स राघवः ।
मम चापमयीं वीणां शरकोणैः[1] प्रवादिताम् ॥ ४३ ॥
ज्याशब्दतुमुलां घोरामार्तभीतमहास्वनाम् ।
नाराचतलसन्नादां तां ममाहितवाहिनीम् ।
अवगाह्य महारङ्गं वादयिष्याम्यहं रणे ॥ ४४ ॥

श्रीरामचन्द्र ने मेरे साथ पहिले कभी युद्ध नहीं किया। इसीसे वह मेरा बल पराक्रम नहीं जानता। जिस समय मैं शत्रु की सेनारूपी नदी में डुबकी लगा, अपनी चापमयी वीणा, तीररूपी

---

१ कोणैः—वीणावादनदण्डैः। (गो०)

गज से बजाऊँगा और जब रोदे की टङ्कार होगी तथा घायलों और भयभीत हुए सैनिकों का हाहाकार सुन पड़ेगा और तीरों की सनसनाहट सुन पड़ेगी ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

न वासवेनापि सहस्रचक्षुषा
यथाऽस्मि शक्यो वरुणेन वा स्वयम् ।
यमेन वा धर्षयितुं शराग्निना
महाहवे वैश्रवणेन वा पुनः ॥ ४५ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

उस समय न तो सहस्राक्ष इन्द्र की अथवा स्वयं वरुण की अथवा यम की अथवा कुबेर की यह मजाल है कि, इनमें से कोई भी मेरे साथ महायुद्ध में, मेरे बाणाग्नि का सामना कर सके ॥४५॥

युद्धकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चविंशः सर्गः

—※—

सबले सागरं तीर्णे रामे दशरथात्मजे ।
अमात्यौ रावणः [1]श्रीमानब्रवीच्छुक सारणौ ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी वानरी सेना सहित समुद्र के इस पार आ गये ; तब प्रमत्त रावण ने शुक और सारण नामक अपने मंत्रियों से कहा ॥ १ ॥

---

१ श्रीमान् इति—मदातिशयोक्तिः । (गो०)

समग्रं सागरं तीर्णं दुस्तरं वानरं बलम् ।
अभूतपूर्वं रामेण सागरे सेतुबन्धनम् ॥ २ ॥

देखो, दुस्तर समस्त सागर को वानरी सेना पार कर आयी। श्रीराम का समुद्र के ऊपर पुल बाँधना भी एक ऐसा काम है, जो इसके पहिले कभी किसी ने नहीं कर पाया था ॥ २ ॥

सागरे सेतुबन्धं तु न [1]श्रद्दध्यां कथञ्चन ।
अवश्यं चापि संख्येयं तन्मया वानरं बलम् ॥ ३ ॥

यद्यपि सागर के ऊपर पुल बांध लेने से मुझे श्रीरामचन्द्र के ऊपर किसी प्रकार श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तथापि मुझे यह ज्ञान लेना आवश्यक है कि, श्रीरामचन्द्र के साथ कितनी सेना है ॥ ३ ॥

भवन्तौ वानरं सैन्यं प्रविश्यानुपलक्षितौ ।
परिमाणं च वीर्यं च ये च मुख्याः प्लवङ्गमाः ॥ ४ ॥

सो तुम छिप कर वानरी सेना में जाओ और वहाँ जा कर देख आओ कि, वानरी सेना कितनी है, उसकी कैसी शक्ति है। उनमें मुख्य मुख्य वानर कौन कौन हैं? ॥ ४ ॥

मन्त्रिणो ये च रामस्य सुग्रीवस्य च सम्मतः ।
ये पूर्वमभिवर्तन्ते ये च शूराः प्लवङ्गमाः ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र और सुग्रीव के कौन कौन मंत्री हैं, जिनकी बातें वे दोनों मानते हैं या जिनका वे दोनों आदर करते हैं। वे कौन शूर हैं, जो सेना के आगे रहते हैं और उनमें जो वास्तव में शूर वानर हैं उन सब का पता लगा लाओ ॥ ५ ॥

---

१ नश्रद्दध्या—मह्यं न रोचते। (शि०)

स च सेतुर्यथा बद्धः सागरे *सलिलाशये ।
निवेशं च यथा तेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ ६ ॥

उन लोगों ने सागर पर पुल कैसे बाँधा और वे धैर्यवान वानर किस प्रकार टिके हुए हैं। ये बातें भी जान लेना ॥ ६ ॥

रामस्य व्यवसायं[1] च वीर्यं प्रहरणानि च ।
लक्ष्मणस्य च वीरस्य तत्त्वतो ज्ञातुमर्हथः ॥ ७ ॥

तुम लोग इसका भी ठीक ठीक पता लगाना कि, राम और लक्ष्मण क्या करना चाहते हैं, उनमें बल कितना है, वे किन आयुधों से लड़ते हैं ॥ ७ ॥

कश्च सेनापतिस्तेषां वानराणां महौजसाम् ।
एतज्ज्ञात्वा यथातत्त्वं शीघ्रमागन्तुमर्हथः ॥ ८ ॥

उस बड़ी बलवती वानरी सेना का कौन सेनापति है। इन सब बातों का पता लगा तुम शीघ्र आ जाओ ॥ ८ ॥

इति प्रतिसमादिष्टौ राक्षसौ शुकसारणौ ।
हरिरूपधरौ वीरौ प्रविष्टौ वानरं बलम् ॥ ९ ॥

जब रावण ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब वे दोनों वीर शुक सारण राक्षस, वानर का रूप धर, वानरी सेना के शिविर में घुसे ॥ ९ ॥

ततस्तद्वानरं सैन्यमचिन्त्यं रोमहर्षणम् ।
संख्यातुं नाध्यगच्छेतां तदा तौ शुकसारणौ ॥ १० ॥

---

१ व्यवसायं—कर्त्तव्यविषयनिश्चयं । (गो०) * पाठान्तरे—" सलिलार्णवे । "

किन्तु वे शुक सारण उस असंख्य और भयावह होने के कारण रोमाञ्चकारी कपिसेना की संख्या न जान पाये ॥ १० ॥

संस्थितं पर्वताग्रेषु *निर्झरेषु गुहासु च ।
समुद्रस्य च तीरेषु वनेषूपवनेषु च ॥ ११ ॥

क्योंकि वह सेना (एक स्थान पर नहीं बल्कि) पर्वत शिखरों पर, झरनों के समीप, गिरिगुहाओं में, समुद्र के तट पर, वनों और उपवनों में फैली हुई पड़ी थी ॥ ११ ॥

तरमाणं च तीर्णं च तर्तुकामं च सर्वशः ।
निविष्टं निविशंश्चैव भीमनादं महाबलम् ॥ १२ ॥

सो भी बहुत सी तो पार हो चुकी थी और बहुत सी अभी पार हो रही थी और बहुत सी पार होने की तैयारी कर रही थी। अनेक वानरसैनिक उस समय डेरे डाल चुके थे और बहुत डेरे डालने के उद्योग में लगे हुए थे। वे सब के सब सिंह की तरह दहाड़ रहे थे और बड़े बलवान थे ॥ १२ ॥

तद्बलार्णवमक्षोभ्यं ददृशाते निशाचरौ ।
तौ ददर्श महातेजाः प्रच्छन्नौ च विभीषणः ॥ १३ ॥

वे दोनों राक्षस अपना असली रूप छिपाये, उस सेनारूपी अक्षोभ्य सागर को देख ही रहे थे कि, इतने में महातेजस्वी विभीषण ने उनको पहिचान लिया ॥ १३ ॥

आचचक्षेऽथ रामाय गृहीत्वा शुकसारणौ ।
तस्येमौ राक्षसेन्द्रस्य मन्त्रिणौ शुकसारणौ ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"निर्दरेषु।"

लङ्कायाः समनुप्राप्तौ चारौ परपुरञ्जय ।
तौ दृष्ट्वा व्यथितौ रामं निराशौ जीविते तदा ॥ १५ ॥

और उन दोनों शुक सारण को पकड़ कर, वे श्रीरामचन्द्र जी के पास ले गये और कहा—हे शत्रु को जीतने वाले ! ये दोनों राक्षस राजा रावण के मंत्री हैं। इनके नाम शुक और सारण हैं। ये लङ्का से यहाँ गुप्तचर बन कर आये हैं। वे श्रीरामचन्द्र जी को देख बहुत व्यथित हुए और जीवन की आशा से भी हाथ धो बैठे ॥ १४ ॥ १५ ॥

कृताञ्जलिपुटौ भीतौ वचनं चेदमूचतुः ।
आवामिहागतौ सौम्य रावणप्रहिताबुभौ ॥ १६ ॥

उन्होंने मारे डर के हाथ जोड़ कर यह कहा—हे सौम्य ! हम दोनों रावण के भेजे हुए यहाँ आये हैं ॥ १६ ॥

परिज्ञातुं बलं कृत्स्नं तवेदं रघुनन्दन ।
तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा रामो दशरथात्मजः ॥ १७ ॥

हे रघुनन्दन ! हम इसलिये भेजे गये हैं कि, हम तुम्हारी समस्त सेना की संख्या जान लें। दाशरथी श्रीरामचन्द्र जी ने उनके ये वचन सुने ॥ १७ ॥

अब्रवीत्प्रहसन्वाक्यं सर्वभूतहिते रतः ।
यदि दृष्टं बलं कृत्स्नं वयं वा सुपरीक्षिताः ॥ १८ ॥
यथोक्तं वा कृतं कार्यं छन्दतः प्रतिगम्यताम् ।
अथ किञ्चिददृष्टं वा भूयस्तद्द्रष्टुमर्हथः ॥ १९ ॥
विभीषणो वा कार्त्स्न्येन भूयः संदर्शयिष्यति ।
न चेदं ग्रहणं प्राप्य भेतव्यं जीवितं प्रति ॥ २० ॥

और मुसक्या कर सर्वप्राणिहितैषी श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे यह कहा—ठीक है, अगर तुम हमारी समस्त सेना की संख्या जान चुके हो और हम लोगों के बलवीर्य आदि की भलीभांति परीक्षा ले चुके हो और राक्षसराज की आज्ञा के अनुसार समस्त कार्य पूरा कर चुके हो तो, अब जहाँ तुम चाहो वहाँ चले जाओ। और यदि अभी कुछ देखना रह गया हो तो पुनः तुम देख सकते हो अथवा यदि तुम चाहोगे तो विभीषण ही तुमको भलीभांति दिखा देंगे। यद्यपि तुम इस समय गिरफ़ार कर लिये गये हो; तथापि तुम्हें अपने जीवन के लिये डरना न चाहिये। अर्थात् तुम मारे न जाओगे ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

न्यस्तशस्त्रौ गृहीतौ वा न दूतौ वधमर्हथः ।
प्रच्छन्नौ च विमुञ्चैतौ चारौ रात्रिचरावुभौ ॥ २१ ॥
शत्रुपक्षस्य सततं विभीषण विकर्षणौ ।
प्रविश्य नगरीं लङ्कां भवद्भयां धनदानुजः ॥ २२ ॥
वक्तव्यो रक्षसां राजा यथोक्तं वचनं मम ।
यद्बलं च समाश्रित्य सीता मे हृतवानसि ॥ २३ ॥

क्योंकि शस्त्ररहित पकड़े गये हो और दूत बन कर आये हो अतः तुम मार डालने योग्य नहीं हो। हे विभीषण! यद्यपि ये रूप बदल कर आये हैं, शत्रु के भेदिये हैं और सुग्रीवादि का भेद लेने आये हैं; तथापि इन दोनों रात्तसचरों को छोड़ दो। (विभीषण से यह कह श्रीरामचन्द्र पुनः उन गुप्तचरों से कहने लगे।) हे राक्षसचरो! लङ्का में जा कर आप लोग कुवेर के भाई राक्षसराज रावण से, मैं जो कहता हूँ सो ज्यों का त्यों कह देना। उससे कहना कि, जिस बलबूते पर तूने मेरी सीता हरी है ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

तद्दर्शय यथाकामं ससैन्यः सहबान्धवः ।
श्वः काल्ये नगरीं लङ्कां सप्रकारां सतोरणाम् ॥ २४ ॥
रक्षसां च बलं पश्य शरैर्विध्वंसितं मया ।
क्रोधं भीममहं मोक्ष्ये ससैन्ये त्वयि रावण ॥ २५ ॥
श्वः काल्ये वज्रवान्वज्रं दानवेष्विव वासवः ।
इति प्रतिसमादिष्टौ राक्षसौ शुकसारणौ ॥ २६ ॥

उस अपने बल को अपनी सेना और भाईबन्दों के सहित मुझे दिखला । तू कल सवेरे परकोटे और तोरण द्वारों सहित लङ्कापुरी को तथा समस्त राक्षसी सेना को मेरे बाणों से ध्वस्त हुआ देखेगा ! हे रावण ! कल सवेरे मैं सेना सहित तेरे ऊपर अपना भयङ्कर क्रोध वैसे ही प्रकट करूँगा जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवों के ऊपर वज्र छोड़ कर, अपना क्रोध प्रकट करते हैं। इस प्रकार जब श्रीरामचन्द्र जी ने उन दोनों शुक सारण राक्षसों को आज्ञा दी ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

जयेति प्रतिनन्द्यैतौ राघवं धर्मवत्सलम् ।
आगम्य नगरीं लङ्कामब्रूतां राक्षसाधिपम् ॥ २७ ॥

तब वे धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी की जयजयकार करते हुए लङ्का में जा, राक्षसराज रावण से बोले ॥ २७ ॥

विभीषणगृहीतौ तु वधार्हौ राक्षसेश्वर ।
दृष्ट्वा धर्मात्मना मुक्तौ रामेणामिततेजसा ॥ २८ ॥

हे राक्षसेश्वर ! हमें मार डालने के लिये विभीषण ने हमें पकड़ लिया था; किन्तु असीम तेजस्वी धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने हमको देखते ही छोड़ दिया ॥ २८ ॥

एकस्थानगता यत्र चत्वारः पुरुषर्षभाः ।
लोकपालोपमाः शूराः कृतास्त्रा दृढविक्रमाः ॥ २९ ॥
रामो दाशरथिः श्रीमाँल्लक्ष्मणश्च विभीषणः ।
सुग्रीवश्च महातेजा महेन्द्रसमविक्रमः ॥ ३० ॥

दाशरथी श्रीरामचन्द्र, शोभासम्पन्न लक्ष्मण, विभीषण और महातेजस्वी एवं इन्द्र के समान पराक्रमी सुग्रीव, ये चारों श्रेष्ठजन एक ही स्थान पर टिके हुए हैं। ये लोकपालों की तरह शूर हैं, शस्त्रविद्या में निपुण हैं और बड़े पराक्रमी हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

एते शक्ताः पुरीं लङ्कां सप्राकारां सतोरणाम् ।
उत्पाट्य [1]संक्रामयितुं सर्वे तिष्ठन्तु वानराः ॥ ३१ ॥

ये चार अकेले ही परकोटों और तोरणद्वारों सहित लङ्का को उखाड़ कर फेंक सकते हैं। अन्य समस्त वानर भले ही बैठे रहें ॥ ३१ ॥

यादृशं तस्य रामस्य रूपं प्रहरणानि च ।
वधिष्यति पुरीं लङ्कामेकस्तिष्ठन्तु ते त्रयः ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार का श्रीराम आदि का रूप है और जैसे उनके हथियार हैं; उनको देखते हुए कहा जा सकता है कि, श्रीराम अकेले ही लङ्का का नाश कर सकते हैं। लक्ष्मण सुग्रीव और विभीषण, इन तीनों की सहायता की भी उनको आवश्यकता नहीं है ॥ ३२ ॥

रामलक्ष्मणगुप्ता सा सुग्रीवेण च वाहिनी ।
बभूव दुर्धर्षतरा सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ३३ ॥

---

१ संक्रामयितुं—अन्यत्र क्षेप्तुं । (गो०)

श्रीराम लक्ष्मण और सुग्रीव से रक्षित वानरी सेना, इन्द्र सहित देवताओं और दानवों से भी अति अजेय हो गयी है ॥ ३३ ॥

प्रहृष्टरूपा ध्वजिनी वनौकसां
महात्मनां सम्प्रति योद्धुमिच्छताम् ।
अलं विरोधेन शमो विधीयतां
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ ३४ ॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

हे राजन्! वानरी सेना में प्रसन्नता छायी हुई है और वे सब दृढ़ मनस्क हैं और तुरन्त युद्ध करना चाहते हैं। अतएव आप अपना क्रोध शान्त कीजिये और दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र को जानकी दे कर, उनके साथ शत्रुता की इति श्री कर डालिये ॥ ३४ ॥

युद्धकाण्ड का पचीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षड्विंशः सर्गः

—※—

तद्वचः पथ्यमक्लीवं सारणेनाभिभाषितम् ।
निशम्य रावणो राजा प्रत्यभाषत सारणम् ॥ १ ॥

सारण के हितकर और अकातर वचन सुन, राक्षसराज रावण ने सारण को उत्तर देते हुए कहा ॥ १ ॥

यदि मामभियुञ्जीरन्देवगन्धर्वदानवः ।
नैव सीतां प्रदास्यामि सर्वलोकभयादपि ॥ २ ॥

यदि देवता, गन्धर्व और दानव मेरे ऊपर चढ़ाई करें, अथवा समस्त लोक ही मेरे विरुद्ध हो जाय, तो भी मैं भयभीत हो कभी सीता, श्रीरामचन्द्र को न दूँगा ॥ २ ॥

त्वं तु सौम्य परित्रस्तो हरिभिर्निर्जितो भृशम् ।
प्रतिप्रदानमद्यैव सीतायाः साधु मन्यसे ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! तुम तो वानरों से कष्ट पा कर डर गये हो । इसीसे तो तुम आज ही सीता को लौटा देना अच्छा समझते हो ॥ ३ ॥

को हि नाम [1]सपत्नो मां समरे जेतुमर्हति ।
इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ४ ॥

ऐसा कौन शत्रु है, जो मुझे युद्ध में जीत सके । राक्षसराज रावण, इस प्रकार के कठोर वचन कह ॥ ४ ॥

आरुरोह ततः श्रीमान्प्रसादं हिमपाण्डरम् ।
बहुतालसमुत्सेधं रावणोऽथ दिदृक्षया ॥ ५ ॥

बर्फ़ की तरह सफेद रंग की अटारी पर सेना देखने की इच्छा से चढ़ गया । वह अटारी कई तालवृक्षों के तर ऊपर रखने की ऊँचाई से भी कहीं बढ़ कर ऊँची थी ॥ ५ ॥

ताभ्यां चराभ्यां सहितो रावणः क्रोधमूर्छितः ।
पश्यमानः समुद्रं च पर्वतांश्च वनानि च ॥ ६ ॥
ददर्श पृथिवीदेशं[2] सुसम्पूर्णं प्लवङ्गमैः ।
तदपारमसङ्ख्येयं वानराणां महद्बलम् ॥ ७ ॥

---

१ सपत्नः—शत्रुः । (गो०) २ पृथ्वीदेशं—त्रिकूटाधः प्रदेशं । (गो०)

उस समय रावण बड़ा कुपित था और उसके साथ वे दोनों राक्षसदूत शुक और सारण भी थे। उस अटारी से उसने समुद्र वन, त्रिकूटाचल पर्वत की तराई और पहाड़ों पर बंदर ही बंदर देखे। उसने उस अपार असंख्य और बड़े बलवान वानरों की सेना को देखा॥ ६॥ ७॥

आलोक्य रावणो राजा परिपप्रच्छ सारणम्।
एषां वानरमुख्यानां के शूराः के महाबलाः॥ ८॥

उस सेना का अवलोकन कर, रावण सारण से पूँछने लगा। इन वानरों में कौन कौन मुख्य, कौन कौन वीर और बड़े बड़े बलवान् हैं?॥ ८॥

के पूर्वमभिवर्तन्ते महोत्साहाः समन्ततः।
केषां शृणोति सुग्रीवः के वा यूथपयूथपाः॥ ९॥

और कौन कौन वानर अत्यन्त उत्साहित हो चारों ओर से वानरी सेना की रक्षा करते हैं? सुग्रीव किसकी सुनते हैं, अर्थात् किसे अधिक मानते हैं? यूथपतियों के यूथपति कौन हैं॥ ९॥

सारणाचक्ष्व तत्त्वेन के प्रधानाः प्लवङ्गमा।
सारणो राक्षसेन्द्रस्य वचनं परिपृच्छतः॥ १०॥

हे सारण! तुम ठीक ठीक बतलाओ कि, इन वानरी सेना में प्रधान वानर कौन कौन हैं? राक्षसराज रावण के इन प्रश्नों को सुन॥ १०॥

आचचक्षेऽथ मुख्यज्ञो *मुख्यांस्तत्र वनौकसः।
एष योऽभिमुखो लङ्कां नर्दंस्तिष्ठति वानरः॥ ११॥

---

* पाठान्तरे—"मुख्यांस्तांस्तु।"

मुख्य अमुख्य वानर वीरों को जानने वाला सारण, मुख्य वानरों के नाम, धाम, बल, विक्रम का निरूपण करके कहने लगा। वह बोला—हे रावण! यह वानर जो लङ्का की ओर मुख कर गरज रहा है॥ ११॥

यूथपानां सहस्राणां शतेन परिवारितः।
यस्य घोषेण महता सप्राकारा सतोरणा॥ १२॥

सो इसके साथ एक लाख वानर यूथपति हैं। इसके सिंहनाद सेपरकोटे, तोरण द्वारों॥ १२॥

लङ्का प्रवेपते सर्वा सशैलवनकानना।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः॥ १३॥

पहाड़ों, वनों, और उपवनों सहित समस्त लङ्का काँप रही है और जो समस्त वानरों के राजा महाबुद्धिमान सुग्रीव॥ १३॥

बलाग्रे तिष्ठते वीरो नीलो नामैष यूथपः।
बाहू प्रगृह्य यः पद्भ्यां महीं गच्छति वीर्यवान्॥ १४॥

की सेना के आगे खड़ा है, इसका नाम नील है और यह बड़ा वीर और यूथपति है। जो बलवान वानर बाँहों को उठाय, पृथिवी पर टहल रहा है॥ १४॥

लङ्कामभिमुखः क्रोधादभीक्ष्णं च विजृम्भते।
गिरिशृङ्गप्रतीकाशः पद्मकिञ्जल्कसन्निभः॥ १५॥

और जो लङ्का की ओर मुख कर और क्रोध में भर तिरछी दृष्टि से देखता हुआ जँमुहाई ले रहा है, और जो पर्वतशिखर के समान विशाल शरीरधारी है तथा जिसके शरीर का रंग कमलरज की तरह पीला है॥ १५॥

स्फोटयत्यभिसंरब्धो लाङ्गूलं च पुनः पुनः ।
यस्य लाङ्गूलशब्देन स्वनन्ति प्रदिशो दश ॥ १६ ॥

और जो क्रोध में भर अपनी पूँछ बारंबार पृथिवी पर पटक रहा है और जिसकी पूँछ की फटकार के शब्द से दसों दिशाएँ प्रतिध्वनित हो रही हैं ॥ १६ ॥

एष वानरराजेन सुग्रीवेणाभिषेचितः ।
यौवराज्येऽङ्गदो नाम त्वामाह्वयति संयुगे ॥ १७ ॥

सो यह अङ्गद नाम का वानर है । इसे कपिराज सुग्रीव ने यौवराज्यपद पर अभिषिक्त किया है और यह तुमको युद्ध के लिये ललकार रहा है ॥ १७ ॥

वालिनः सदृशः पुत्रः सुग्रीवस्य सदा प्रियः ।
राघवार्थे पराक्रान्तः शक्रार्थे वरुणो यथा ॥ १८ ॥

यह वालि का पुत्र अङ्गद अपने पिता के समान बलवान और पराक्रमी है और सुग्रीव का सदा प्रियपात्र है । जिस प्रकार वरुण जी इन्द्र के लिये पराक्रम प्रदर्शित करने को उद्यत रहते हैं ; इसी प्रकार यह भी श्रीरामचन्द्र जी के लिये पराक्रम दिखाने को तत्पर रहता है ॥ १८ ॥

एतस्य सा मतिः सर्वा यद्दृष्टा जनकात्मजा ।
हनूमता वेगवता राघवस्य हितैषिणा ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र के हितैषी वेगवान हनुमान जी, जो लङ्का में आ जानकी को देख गये थे, सो उन्होंने ये समस्त कार्य इन्हीं अङ्गद की सम्मति से किये थे ॥ १९ ॥

वहूनि वानरेन्द्राणामेष यूथानि वीर्यवान् ।
परिगृह्याभियाति त्वां स्वेनानीकेन दुर्जयः ॥ २० ॥

बलवान अङ्गद असंख्य वानरयूथपतियों के साथ तुम्हारा मर्दन करने को आगे बढ़ा आता है। यह दुर्जेय है ॥ २० ॥

अनु वालिसुतस्यापि वलेन महतावृतः ।
वीरस्तिष्ठति संग्रामे [1]सेतुहेतुरयं नलः ॥ २१ ॥

जिस वीर ने समुद्र के ऊपर पुल बांधा है, वह नल नामक वीर वानर लड़ने की अभिलाषा करता हुआ बड़ी भारी सेना के साथ वालिसुत अङ्गद के पीछे खड़ा हुआ है ॥ २१ ॥

ये तु विष्टभ्य[2] गात्राणि क्ष्वेलयन्ति नदन्ति च ।
उत्थाय च विजृम्भन्ते क्रोधेन हरिपुङ्गवाः ॥ २२ ॥

ये जो कपिश्रेष्ठ अपने अङ्गों को मल मल कर, सिंहनाद करते हुए गरज रहे हैं तथा उचक उचक कर क्रोध में भर जंभुहाई ले रहे हैं ॥ २२ ॥

एते दुष्प्रसहा घोरश्चण्डाश्चण्डपराक्रमाः ।
अष्टौ शतसहस्राणि दशकोटिशतानि च ॥ २३ ॥

ये सब शत्रुओं के लिये असह्य और प्रचण्ड पराक्रमी हैं। इनकी संख्या एक खर्व आठ लाख है ॥ २३ ॥

य एनमनुगच्छन्ति वीराश्चन्दनवासिनः ।
एषैवाशंसते[3] लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम् ॥ २४ ॥

---

१ सेतुहेतुः—सेतुकर्ता। (गो०) २ विष्टभ्य—उन्नम्य। (गो०)
३ आशंसते—प्रार्थयते। (गो०)

उनके पीछे जो वीर वानर हैं, वे सब चन्दनवन निवासी हैं, ये अपनी सेना द्वारा लङ्का को ध्वस्त करने की आज्ञा पाने के लिये प्रार्थना करते हैं ॥ २४ ॥

श्वेतो रजतसङ्काशश्चपलो भीमविक्रमः ।
बुद्धिमान्वानरो वीरस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २५ ॥

श्वेत नामक वानर, जिसका रंग चाँदी की तरह सफेद है और जो बड़ा पराक्रमी बुद्धिमान और तीनों लोकों में एक प्रसिद्ध वीर समझा जाता है ॥ २५ ॥

तूर्णं सुग्रीवमागम्य पुनर्गच्छति सत्वरः ।
विभजन्वानरीं सेनामनीकानि प्रहर्षयन् ॥ २६ ॥

देखिये, कैसी शीघ्रता से सुग्रीव के पास जाता और लौट आता है। जो वानरी सेना को विभाजित कर रहा है, जो अपनी सेना को प्रसन्न कर रहा है ॥ २६ ॥

यः पुरा गोमतीतीरे रम्यं पर्येति[1] पर्वतम् ।
नाम्ना सङ्कोचनो नाम नानानगयुतो गिरिः ॥ २७ ॥
तत्र राज्यं प्रशास्त्येष कुमुदो नाम यूथपः ।
योऽसौ शतसहस्राणां सहस्रं परिकर्षति[2] ॥ २८ ॥

जो पहिले गोमती तटवर्ती रमणीक पर्वत के चारों ओर घूमा करता था, तथा अब अनेक पर्वतों से घिरे हुए सङ्कोचन नामक पर्वत पर राज्य करता है। इसका नाम कुमुद है और यह भी एक यूथपति है। यह एक लाख वानर लेकर आया हुआ है ॥२७॥२८॥

---

१ पर्येति—परितः सञ्चरति। (गो०) २ परिकर्षति—आनयति। (गो०)

यस्य वाला बहुव्यामा दीर्घा लाङ्गूलमाश्रिताः ।
ताम्राः पीताः सिताः श्वेताः प्रकीर्णा घोरकर्मणः ॥२९॥

जिसकी बड़ी भारी पूँछ के ऊपर अनेक बहुत लंबे लंबे बाल लटकते हैं और जिनमें कुछ लाल, कुछ पीले, कुछ भूरे, कुछ सफेद हैं और बड़े भयानक काम करते हैं ॥ २९ ॥

अदीनो रोषणश्चण्डः संग्राममभिकाङ्क्षति ।
एषोऽप्याशंसते लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम् ॥ ३० ॥

जो अदीन है और बड़ा क्रोधी है इसका नाम शरभ है। यह बड़ा संग्रामप्रिय है। यह भी अपनी सेना के साथ से लङ्का के ध्वस्त करने की आज्ञा पाने के लिये सुग्रीव से प्रार्थना करता है ॥ ३० ॥

यस्त्वेष सिंहसङ्काशः कपिलो *दीर्घकेसरः ।
निभृतः[1] प्रेक्षते लङ्कां दिधक्षन्निव चक्षुषा ॥ ३१ ॥

यह सिंह के समान पीले रंग का वानर, जिसकी गर्दन पर लंबे लंबे बाल हैं, जो लङ्का की ओर ऐसे घूर रहा है, मानों दृष्टि ही से लङ्का को भस्म कर डालेगा ॥ ३१ ॥

विन्ध्यं कृष्णगिरिं सह्यं पर्वतं च सुदर्शनम् ।
राजन्सततमध्यास्ते रम्भो नामैष यूथपः ॥ ३२ ॥

और जिसका विन्ध्य, कृष्णगिरि, सह्याद्रि तथा सुदर्शन नामक तीन पर्वतों पर रहने का स्थान है, हे राजन्! यह रम्भ नाम का यूथपति है ॥ ३२ ॥

---

१ निभृतः—एकाग्रः । (गो०)   * पाठान्तरे—"दीर्घकेशरः।"

शतं शतसहस्राणां त्रिंशच्च हरिपुङ्गवाः ।
यमेते वानराः शूराश्चण्डाश्चण्डपराक्रमाः ॥ ३३ ॥
परिवार्यानुगच्छन्ति लङ्कां मर्दितुमोजसा ।
यस्तु कर्णौ विवृणुते जृम्भते च पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

इसको एक करोड़ तीस प्रचण्ड शूरवीर और पराक्रमी वानर घेर कर चलते हैं। यह भी अपने पराक्रम से लङ्का को ध्वस्त करना चाहता है। देखो, यह जो अपने कानों को सकोड़ता और बार बार जँभाई लेता है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

न च संविजते मृत्योर्न च युद्धाद्विधावति ।
प्रकम्पते च रोषेण तिर्यक्च पुनरीक्षते ॥ ३५ ॥
पश्यँल्लाङ्गूलमपि च क्ष्वेलते च महाबलः ।
महाजवो वीतभयो रम्यं साल्वेयपर्वतम् ॥ ३६ ॥

यह न तो मरने से डरता है और न युद्ध से मुँह मोड़ता है। यह मारे क्रोध के थर थर काँप रहा है और तिरछी दृष्टि से देख रहा है। देखिये, पूँछ फटकार कर कैसा सिंहनाद कर रहा है तथा अपने बलविक्रम पर निर्भर रह कर, निर्भय हो साल्वेय नामक रमणीय पहाड़ पर रहता है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

राजन्सततमध्यास्ते शरभो नाम यूथपः ।
एतस्य बलिनः सर्वे विहारा नाम यूथपाः ॥ ३७ ॥

हे राजन्! यह शरभ नामक यूथपति है। इसके अधीनस्थ यूथप, विहार नाम से पुकारे जाते हैं ॥ ३७ ॥

राजञ्शतसहस्राणि चत्वारिंशत्तथैव च ।
यस्तु मेघ इवाकाशं महानावृत्य तिष्ठति ॥ ३८ ॥

हे राजन्! उनकी संख्या एक लाख चालीस हज़ार है। यह जो आकाश को बड़े मेघ की तरह ढके हुए ॥ ३८ ॥

मध्ये वानरवीराणां सुराणामिव वासवः ।
भेरीणामिव सन्नादो यस्यैष श्रूयते महान् ॥ ३९ ॥
घोषः शाखामृगेन्द्राणां संग्राममभिकाङ्क्षताम् ।
एष पर्वतमध्यास्ते पारियात्रमनुत्तमम् ॥ ४० ॥

वानरों के बीच वैसे ही बैठा है, जैसे देवताओं के बीच इन्द्र और जिसकी सेना के युद्धकांक्षी वानरों का महागर्जन नगाड़ों के शब्द की तरह सुनाई पड़ता है, उत्तम पारियात्र पर्वत पर रहता है ॥ ३६ ॥ ४० ॥

युद्धे दुष्प्रसहो नित्यं पनसो नाम यूथपः ।
एनं शतसहस्राणां शतार्धं पर्युपासते ॥ ४१ ॥

युद्ध में इसका वार सहना कठिन है। यह यूथपति है और इसका नाम पनस है। इसके अधीनस्थ डेढ़ लाख वानरवीर हैं ॥ ४१ ॥

यूथपा यूथपश्रेष्ठं येषां यूथानि भागशः ।
यस्तु भीमां प्रवलगन्तीं चमूं तिष्ठति शोभयन् ॥ ४२ ॥
स्थितां तीरे समुद्रस्य द्वितीय इव सागरः ।
एष दर्दरसङ्काशो विनतो नाम यूथपः ॥ ४३ ॥

इन वानर यूथपतियों के यूथ पृथक् पृथक् हैं। जो भयङ्कर रूप से खलबलाती और समुद्रतट पर स्थित तथा दूसरे समुद्र की तरह

शोभायमान सेना को शोभित कर रहा है और जो दर्दराचल की तरह बड़ा दिखलाई पड़ता है, यह विनत नामक यूथपति है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

पिबंश्चरति पर्णासां नदीनामुत्तमां नदीम् ।
षष्टिः शतसहस्राणि बलमस्य प्लवङ्गमाः ॥ ४४ ॥

यह घूमता फिरता रहता है और सदा नदियों में श्रेष्ठ पर्णासा (पनासा) नदी का पानी पिया करता है। इसकी सेना में साठ लाख वानर हैं ॥ ४४ ॥

त्वामाह्वयति युद्धाय क्रोधनो नाम यूथपः ।
विक्रान्ता बलवन्तश्च यथा यूथानि भागशः ॥ ४५ ॥

यह देखिये क्रोधन नामक यूथपति तुमको युद्ध करने के लिये ललकार रहा है। इसके अधीनस्थ सैनिक बड़े बलवान और पराक्रमी हैं और वे सैनिक यूथों में विभक्त हैं ॥ ४५ ॥

यस्तु गैरिकवर्णाभं वपुः [1]पुष्यति वानरः ।
अवमत्य सदा सर्वान्वानरान्बलदर्पितान् ॥ ४६ ॥

जिसके शरीर का रंग गेरू जैसा है और जो युद्ध करने की आशा से आनन्दित हो अपने शरीर को फुला रहा है और जो अपने बल के दर्प से दर्पित हो, अन्य वानरों को सदा तुच्छ समझा करता है; ॥ ४६ ॥

गवयो नाम तेजस्वी त्वां क्रोधादभिवर्तते ।
एनं शतसहस्राणि सप्ततिः पर्युपासते ।
एषैवाशंसते लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम् ॥ ४७ ॥

---

१ पुष्यति—युद्धहर्षादभिवर्धयति (गो०)

तेजस्वी गवय नामक यूथपति है। यह क्रोध में भरा हुआ आपका सामना करने की बाट जोह रहा है। इसके अधिकार में सत्तर लाख वीर वानर हैं। यह अकेला ही अपनी सेना के साथ लङ्का को ध्वस्त करना चाहता है ॥ ४७ ॥

एते दुष्प्रसहा घोरा बलिनः कामरूपिणः।
यूथपा यूथपश्रेष्ठा एषां यूथानि भागशः ॥ ४८ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

हे महाराज! ये सब के सब दुस्सह, भयङ्कर, बलवान् एवं कामरूपी वानरयूथ और यूथपश्रेष्ठ हैं। इनके अधीनस्थ यूथ, पृथक् पृथक् हैं ॥ ४८ ॥

युद्धकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तविंशः सर्गः

—※—

तांस्तु तेऽहं प्रवक्ष्यामि प्रेक्षमाणस्य यूथपान्।
राघवार्थे पराक्रान्ता ये न रक्षन्ति जीवितम् ॥ १ ॥

सारन बोला—हे राजन्! आप जिन पराक्रमी यूथपों को देख रहे हैं, वे अपनी जान को हथेली पर रखे हुए, श्रीरामचन्द्र जी के लिये बलविक्रम प्रकट करने को तत्पर हैं। मैं अब इन्हीं यूथपतियों का और भी वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

स्निग्धा यस्य बहुव्यामा *वाला लाङ्गूलमाश्रिताः।
ताम्राः पीताः सिताः श्वेताः प्रकीर्णा घोरकर्मणः ॥ २ ॥

* पाठान्तरे—"दीर्घ लाङ्गूलमाश्रिताः।"

जिसकी पूँछ के बाल चिकने लंबे और बड़े सघन हैं तथा जिनकी रंगत, लाल, पीली, धुमैली, सफेद है और जो पूँछ के इधर उधर छिटके हुए बड़े भयङ्कर जान पड़ते हैं ॥ २ ॥

प्रगृहीताः प्रकाशन्ते सूर्यस्येव मरीचयः ।
पृथिव्यां चानुकृष्यन्ते हरो नामैष यूथपः ॥ ३ ॥

और जो सूर्य की किरनों की तरह चमक रहे हैं और जो पूँछ फटकारने से खड़े हो जाते और जो चलते समय भूमि पर लथिरते जाते हैं, सो वही हर नाम का यूथपति है ॥ ३ ॥

यं पृष्ठतोऽनुगच्छन्ति शतशोथ सहस्रशः ।
द्रुमानुद्यम्य सहसा लङ्कारोहणतत्पराः ॥ ४ ॥

इसके ही पीछे सैकड़ों, हज़ारों वानरवीर चलते हैं, जो वृक्षों को लिये हुए, सहसा लङ्का पर चढ़ाई करने को तैयार हैं ॥ ४ ॥

एष कोटिसहस्रेण वानराणां महौजसाम् ।
आकाङ्क्षते त्वां संग्रामे जेतुं परपुरञ्जय ॥ ५ ॥

हे परपुरञ्जय ! ये सहस्र कोटि बड़े बलवान् वानर तुमको युद्ध में जीतने की आकांक्षा रखते हैं ॥ ५ ॥

यूथपा हरिराजस्य किङ्कराः समुपस्थिताः ।
नीलानिव महामेघांस्तिष्ठतो यांस्तु पश्यसि ॥ ६ ॥
असिताञ्जनसङ्काशान्युद्धे सत्यपराक्रमान् ।
असंख्येयाननिर्देश्यान्परं पारमिवोदधेः ॥ ७ ॥

कपिराज के ये सब किङ्कर यूथपति हैं (वेतनभोगी यूथपति) और युद्ध करने के लिये उपस्थित हुए हैं। हे रावण ! नील मेघ

की तरह आप जिनको खड़ा देखते हैं और काले अञ्जन की तरह जिनके शरीर का रंग है और जो युद्ध में यथार्थ पराक्रम प्रदर्शित किया करते हैं, असंख्य हैं, समुद्र के अपर पार की तरह इनकी संख्या नहीं बतलायी जा सकती ॥ ६ ॥ ७ ॥

पर्वतेषु च ये केचिद्विषमेषु नदीषु च ।
एते त्वामभिवर्तन्ते राजन्नृक्षाः सुदारुणाः ॥ ८ ॥

हे राजन् ! इनमें से बहुत से तो पहाड़ों पर, बहुत से ग्रटपट (ऊँची नीची) जगहों में और बहुत से नदियों के तटों पर रहा करते हैं। हे राजन् ! ये सब अत्यन्त दारुण रीछ आपका सामना करने को तैयार हैं ॥ ८ ॥

एषां मध्ये स्थितो राजन्भीमाक्षो भीमदर्शनः ।
पर्जन्य इव जीमूतैः समन्तात्परिवारितः ॥ ९ ॥
ऋक्षवन्तं गिरिश्रेष्ठमध्यास्ते नर्मदां पिबन् ।
सर्वर्क्षाणामधिपतिर्धूम्रो नामैष यूथपः ॥ १० ॥

हे राजन् ! इनके बीच में आप जिसे खड़ा देख रहे हैं, जिसके भयङ्कर नेत्र और भयङ्कर रूप है और जो मेघों से घिरा हुआ महामेघ की तरह रीछों से घिरा हुआ है, वह सब रीछों का राजा धूम्राक्ष नामक सेनापति है। यह ऋक्षवान पर्वत पर रहा करता है और नर्मदा नदी का पानी पिया करता है ॥ ९ ॥ १० ॥

यवीयानस्य तु भ्राता पश्यैनं पर्वतोपमम् ।
भ्रात्रा समानो रूपेण विशिष्टस्तु पराक्रमैः ॥ ११ ॥

इसको देखिये, यह इसका छोटा भाई, पर्वत की तरह विशाल शरीरधारी है और अपने बड़े भाई जैसा ही रूप वाला है। किन्तु पराक्रम में अपने भाई से बढ़ कर है ॥ ११ ॥

स एष जाम्बवान्नाम महायूथपयूथपः ।
*प्रक्रान्तो गुरुवर्ती च सम्प्रहारेष्वमर्षणः ॥ १२ ॥

उसीका नाम जाम्बवान है और वह यूथपतियों का भी यूथपति अर्थात् सरदार है। बड़ा पराक्रमी है, बड़ों का सम्मान करने वाला है और बड़े क्रोध में भर आक्रमण करता है ॥ १२ ॥

एतेन साह्यं सुमहत्कृतं शक्रस्य धीमता ।
देवासुरे जाम्बवता लब्धाश्च बहवो वराः ॥ १३ ॥

जब देवासुर-संग्राम हुआ था, तब उस बुद्धिमान ने देवराज की बड़ी सहायता की थी और उस सहायता के उपलक्ष्य में उसने बहुत से वरदान भी पाये थे ॥ १३ ॥

आरुह्य पर्वताग्रेभ्यो महाभ्रविपुलाः शिलाः ।
मुञ्चन्ति विपुलाकारा न मृत्योरुद्विजन्ति च ॥ १४ ॥

उसकी सेना के बड़े बड़े आकार के रीछ पर्वतशिखरों पर चढ़ कर, वहाँ से बड़ी भारी भारी शिलायें फेंकते हैं और मौत से भी नहीं डरते ॥ १४ ॥

राक्षसानां च सदृशाः पिशाचानां च लोमशाः ।
एतस्य सैन्या बहवो विचरन्त्यग्नितेजसः ॥ १५ ॥

उनके शरीर में बड़े बड़े बाल हैं, वे राक्षस और पिशाचों की तरह क्रूर स्वभाव हैं। जाम्बवान की अग्नि के समान तेजसम्पन्न बड़ी सैना है, जो इधर उधर विचरा करती है ॥ १५ ॥

यं त्वेनमभिसंरब्धं प्लवमानमिव स्थितम् ।
प्रेक्षन्ते वानराः सर्वे स्थिता यूथपयूथपम् ॥ १६ ॥

* पाठान्तरे—" प्रशान्तो । "

सब वानरगण जिसके कूदने का तमाशा देख रहे हैं, वह भी अनेक यूथपतियों के यूथों का नायक है ॥ १६ ॥

एष राजन्सहस्राक्षं पर्युपास्ते हरीश्वरः ।
बलेन बलसम्पन्नो दम्भो नामैष यूथपः ॥ १७ ॥

हे राजन्! यह वानरराज इन्द्र के पास रहने वाला है। देखिये बड़ी भारी सेना को साथ लिये हुए यह दम्भ नामक यूथप है ॥ १७ ॥

यः स्थितं योजने शैलं गच्छन्पार्श्वेन सेवते ।
ऊर्ध्वं तथैव कायेन गतः प्राप्नोति योजनम् ॥ १८ ॥

यह एक योजन के अन्तर पर स्थित पर्वत की बगल से कूद जाता है तथा उछल कर आकाशमार्ग से एक योजन तक चला जाता है। अथवा जिसके गमनकाल में एक एक कदम में एक एक योजन के पर्वत पार्श्वस्थ अर्थात् अत्यन्त निकटवर्ती हो जाते हैं और जो शरीर से उछलने पर एक कुलांच में एक योजन कूद जाता है। अर्थात् इसके शरीर की ऊँचाई एक योजन की है ॥ १८ ॥

यस्मान्न परमं रूपं चतुष्पादेषु विद्यते ।
श्रुतः सन्नादनो नाम वानराणां पितामहः ॥ १९ ॥

अतएव चौपायों में इसके समान शरीर वाला और कोई जन्तु नहीं है। सो यह सन्नादन नामक यूथपति वानरों का पितामह है ॥ १६ ॥

येन युद्धं पुरा दत्तं रणे शक्रस्य धीमता ।
पराजयश्च न प्राप्तः सोऽयं यूथपयूथपः ॥ २० ॥

इसने बुद्धिमान इन्द्र के साथ युद्ध किया, परन्तु हारा नहीं—सो यह भी यूथपतियों का सरदार है ॥ २० ॥

यस्य विक्रममाणस्य शक्रस्येव पराक्रमः ।
एष गन्धर्वकन्यायामुत्पन्नः कृष्णवर्त्मनः ॥ २१ ॥

यह पराक्रम में इन्द्र के समान है । यह गन्धर्वकन्या के गर्भ से अग्नि द्वारा उत्पन्न हुआ है ॥ २१ ॥

तदा दैवासुरे युद्धे साह्यार्थं त्रिदिवौकसाम् ।
यस्य वैश्रवणो राजा जम्बूमुपनिषेवते ॥ २२ ॥

यो राजा पर्वतेन्द्राणां बहुकिन्नरसेविनाम् ।
विहारसुखदो नित्यं भ्रातुस्ते राक्षसाधिप ॥ २३ ॥

तत्रैव वसति श्रीमान्बलवान्वानरर्षभः ।
युद्धेष्वकत्थनो नित्यं क्रथनो नाम यूथपः ॥ २४ ॥

देवासुर संग्राम में देवताओं की सहायता करने के लिये यह उत्पन्न किया गया था । यह बलवान वानरश्रेष्ठ उस पर्वत पर रहता है, जो पर्वतों का राजा है, जिसके ऊपर अनेक किन्नर रहा करते हैं और जिस पर तुम्हारे भाई राजा कुबेर को विहार करने में सदा आनन्द प्राप्त होता है, तथा जहां पर कुबेर जी जामुन के वृक्ष के नीचे बैठा करते हैं । इसका नाम क्रथन है और युद्ध में क्रियात्मक रूप से पराक्रम प्रदर्शन करता है, (वाणी से अपने पराक्रम की डींगे नहीं हांकता ।) यह भी एक यूथपति है ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

वृतः कोटिसहस्रेण हरीणां समुपस्थितः ।
एषैवाशंसते लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम् ॥ २५ ॥

सहस्र कोटि वानरों को साथ ले यह आया है। यह वीर भी केवल अपनी सेना ही से लङ्का को ध्वस्त करने की इच्छा रखता है ॥ २५ ॥

यो गङ्गामनु पर्येति त्रासयन्हस्तियूथपान्* ।
हस्तिनां वानराणां च पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ २६ ॥

जो हाथियों और वानरों के पूर्वकालीन पारस्परिक वैर का स्मरण कर, गजेन्द्रों के यूथपतियों को गङ्गा के निकट डराता है ॥ २६ ॥

एष यूथपतिर्नेता गच्छन्गिरिगुहाशयः ।
गजान्योधयते वन्यान्गिरींश्चैव महीरुहान् ॥ २७ ॥

सो यह यूथपतियों का सरदार है और घूमफिर कर अर्थात् ढूँढ़ ढूँढ़ कर गिरिगुहाओं में रहने वाले गजों, जंगली वृक्षों और पहाड़ों से लड़ाता है। अर्थात् गजों को उठा कर वृक्षों पर दे मारता है और वृक्षों को उखाड़ कर गजों पर पटक देता है। इसी प्रकार पर्वतों पर हाथियों को पटक देता है और पर्वत हाथियों पर ॥ २७ ॥

हरीणां वाहिनीमुख्यो नदीं हैमवतीमनु ।
उशीरबीजमाश्रित्य पर्वतं मन्दरोत्तमम्† ॥ २८ ॥
रमते वानरश्रेष्ठो दिवि शक्र इव स्वयम् ।
एनं शतसहस्राणां सहस्रमनुवर्तते ॥ २९ ॥

यह वानरों की सेना का मुखिया समझा जाता है, यह पर्वतोत्तम मन्दराचल के उशीरबीज नामक पर्वत पर, स्वर्ग में इन्द्र की तरह रहता है। इसके अधीन कई लाख वानर हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

---

* पाठान्तरे—"गजयूथपान् ।" † पाठान्तरे—"मन्दरोपमम् ।"

वीर्यविक्रमदृप्तानां नर्दतां बलशालिनाम् ।
स एष नेता चैतेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ ३० ॥

इसकी सेना के वीर अपने बलपराक्रम के अभिमान में चूर हो, गरजा करते हैं। यह वानर उन सब बलवान् वानरों का नायक है ॥ ३० ॥

स एष दुर्धरो राजन्प्रमाथी नाम यूथपः ।
वातेनेवोद्धतं मेघं यमेनमनुपश्यसि ॥ ३१ ॥

हे राजन्! इधर देखिये, वायु से प्रेरित मेघ की तरह जो दिखलाई दे रहा है, सो यह बड़ा दुर्धर्ष वानर है। इसका नाम प्रमाथी है और यह भी यूथपति है ॥ ३१ ॥

अनीकमपि संरब्धं वानराणां तरस्विनाम् ।
उद्धूतमरुणाभासं पवनेन समन्ततः ॥ ३२ ॥

इसकी सेना के वानर क्रोधी और बड़े फुर्तीले हैं। वहीं पर हवा से चारों ओर लाल रंग की ॥ ३२ ॥

विवर्तमानं बहुधा यत्रैतद्बहुलं रजः ।
एतेऽसितमुखा घोरा गोलाङ्गूला महाबलाः ॥ ३३ ॥

बहुत सी धूल का बंवडर वह रहा है। ये काले मुख के भयङ्कर महाबली गोलाङ्गूल ॥ ३३ ॥

शतं शतसहस्राणि दृष्ट्वा वै सेतुबन्धनम् ।
गोलाङ्गूलं महावेगं गवाक्षं नाम यूथपम् ॥ ३४ ॥

लाखों की संख्या में सेतु के ऊपर देख पड़ते हैं, उनका यूथपति गवाक्ष है, जो बड़ा वेगवान है ॥ ३४ ॥

परिवार्याभिवर्तन्ते लङ्कां मर्दितुमोजसा ।
भ्रमराचरिता यत्र *सर्वकालफलद्रुमाः ॥ ३५ ॥

इसी गवाक्ष यूथपति को घेरे हुए समस्त गोलाङ्गूल, लङ्का को अपने बल से ध्वस्त करना चाहते हैं। जहाँ पर भौंरे सदा मंडराया करते हैं और जहाँ वृक्षों में सदा फल लगे रहते हैं ॥ ३५ ॥

यं सूर्यस्तुल्यवर्णाभमनु पर्येति पर्वतम् ।
यस्य भासा सदा भान्ति तद्वर्णा मृगपक्षिणः ॥ ३६ ॥

सूर्य अपना वर्ण वाला समझ, जिस पर्वत की सदा परिक्रमा किया करते हैं और जहाँ की अरुण कान्ति से उस स्थानवासी समस्त मृग और पक्षी उसी रंग जैसे देख पड़ते हैं ॥ ३६ ॥

यस्य प्रस्थं महात्मानो न त्यजन्ति महर्षयः ।
सर्वकामफला वृक्षाः सदा फलसमन्विताः ॥ ३७ ॥

जिसके शिखर को महात्मा महर्षि कभी परित्याग नहीं करते, जहाँ पर सर्वकामना पूरी करने वाले वृक्ष सदा फला करते हैं ॥३७॥

मधूनि च महार्हाणि यस्मिन्पर्वतसत्तमे ।
तत्रैष रमते राजन्रम्ये काञ्चनपर्वते ॥ ३८ ॥

मुख्यो वानरमुख्यानां केसरी नाम यूथपः ।
षष्टिर्गिरिसहस्राणां रम्याः काञ्चनपर्वताः ॥ ३९ ॥

तेषां मध्ये गिरिवरस्त्वमिवानघ रक्षसाम् ।
तत्रैते कपिलाः श्वेतास्ताम्रास्या मधुपिङ्गलाः ॥ ४० ॥

---

* पाठान्तरे—"सर्वकामफलद्रुमाः ।"

और जिस पर्वतश्रेष्ठ पर बढ़िया मधु आदि मीठे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, हे राजन्! उसी रमणीय काञ्चनमय पर्वत पर, वानरश्रेष्ठों में मुख्य, केसरी नामक यूथपति रमता है। साठ हज़ार रमणीक काञ्चनमय पर्वतों के बीच, सौवर्णि नामक पर्वत है। यह पर्वत सब पर्वतों में वैसा ही श्रेष्ठ है जैसे कि, राक्षसों में आप पापरहित हैं। पीले, सफेद, मधुपिङ्गल (शहद की तरह पीले) रंग के लाल मुख वाले वानर ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

निवसन्त्युत्तमगिरौ तीक्ष्णदंष्ट्रा नखायुधाः ।
सिंहा इव चतुर्दंष्ट्रा व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥ ४१ ॥

उस पर्वतोत्तम पर रहते हैं। उनके शस्त्र हैं उनके पैने पैने दाँत और नख। सिंह की तरह इनके चौघड़े हैं और व्याघ्र की तरह ये दुर्धर्ष हैं ॥ ४१ ॥

सर्वे वैश्वानरसमा *ज्वलिताशीविषोपमाः ।
सुदीर्घाञ्चितलाङ्गूला मत्तमातङ्गसन्निभाः ॥ ४२ ॥

यह सब के सब अग्नि की तरह उग्र हैं और कुपित सर्प के विष की तरह महाभयङ्कर हैं। इनकी बड़ी लंबी और उमठवाँ पूँछ है और मतवाले हाथी की तरह ये चलते हैं ॥ ४२ ॥

महापर्वतसङ्काशा महाजीमूतनिःस्वनाः ।
वृत्तपिङ्गलरक्ताक्षा भीमभीमगतिस्वराः ॥ ४३ ॥

बड़े पर्वत की तरह लंबे तड़ंगे हैं और महामेघ की तरह गरजा करते हैं। उनकी गोल गोल पीली पीली आँखें हैं। वे बड़ी ही भयङ्कर गति वाले और डरावनी बोली बोलने वाले हैं ॥ ४३ ॥

---

* पाठान्तरे—"ज्वलदाशीविषोपमाः।"

मर्दयन्तीव ते सर्वे तस्थुर्लङ्कां समीक्ष्य ते ।
एष चैषामधिपतिर्मध्ये तिष्ठति वीर्यवान् ॥ ४४ ॥

वे सब लङ्का को ध्वस्त करने की अभिलाषा से लङ्का की ओर निगाह गड़ाये हुए हैं। इनके बीच में यह बलवान इनका अधिपति वानर खड़ा है ॥ ४४ ॥

जयार्थी नित्यमादित्यमुपतिष्ठति बुद्धिमान् ।
नाम्ना पृथिव्यां विख्यातो राजञ्शतवलीति यः ॥४५॥

यह बुद्धिमान वानर विजय प्राप्त की इच्छा से नित्य सूर्य की आराधना किया करता है और हे राजन्! इस संसार में यह शतवली के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ४५ ॥

एषैवाशंसते लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम् ।
विक्रान्तो बलवाञ्शूरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ ४६ ॥

यह भी अपनी सेना को साथ ले लङ्का को ध्वस्त करना चाहता है। यह बड़ा पराक्रमी और बलवान् और शूर है। इसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास है ॥ ४६ ॥

रामप्रियार्थं प्राणानां दयां न कुरुते हरिः ।
गजो गवाक्षो गवयो नलो नीलश्च वानरः ॥ ४७ ॥

यह श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता सम्पादन करने के लिये अपने प्राणों को तुच्छ समझता है। हे राजन्! गज, गवाक्ष, गवय, नल और नील नामक जो वानर हैं ॥ ४७ ॥

एकैक एव यूथानां कोटिभिर्दशभिर्वृतः ।
तथाऽन्ये वानरश्रेष्ठा विन्ध्यपर्वतवासिनः ।
न शक्यन्ते बहुत्वात्तु संख्यातुं लघुविक्रमाः ॥ ४८ ॥

इनमें से प्रत्येक दस दस करोड़ वानरों के यूथपति हैं। इस वानरी सेना के बहुत से वानरश्रेष्ठ विन्ध्याचलवासी हैं और ये फुर्तीले वानर संख्या में इतने अधिक हैं कि, इनको गिनना असम्भव है ॥ ४८ ॥

सर्वे महाराज महाप्रभावाः
सर्वे महाशैलनिकाशकायाः ।
सर्वे समर्थाः पृथिवीं क्षणेन
कर्तुं प्रविध्वस्तविकीर्णशैलाम् ॥ ४९ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

हे महाराज! इन सब वीर वानरश्रेष्ठों की देह बड़े पर्वतों की तरह विशाल है। सभी बड़े प्रभावशाली और सब ही शिलाएँ वर्षा कर क्षण भर में सारी पृथिवी को विध्वस्त कर सकते हैं। अथवा हे राक्षसराज! समस्त कपिश्रेष्ठ पर्वताकार शरीरधारी और प्रभाव वाले हैं। वे मन पर धरें तो पलक मारते पृथिवी के समस्त पर्वतों को उखाड़ कर फैंक सकते हैं ॥ ४९ ॥

युद्धकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टाविंशः सर्गः

—※—

सारणस्य वचः श्रुत्वा रावणं राक्षसाधिपम् ।
बलमादिश्य तत्सर्वं शुको वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

सारण के ये वचन सुन, समस्त वानरी सेना को पहिचनवाता हुआ शुक, राक्षसराज रावण से कहने लगा ॥ १ ॥

स्थितान्पश्यसि यानेतान्मत्तानिव महाद्विपान् ।
न्यग्रोधानिव गाङ्गेयान्सालान्हैमवतानिव ॥ २ ॥

हे राजन्! आप जिन वानरों को मतवाले गजराजों, गङ्गातटवर्ती वटवृक्षों, हिमालयस्थित शालवृक्षों की तरह खड़े हुए देख रहे हों ॥ २ ॥

एते दुष्प्रसहा राजन्बलिनः कामरूपिणः ।
दैत्यदानवसङ्काशा युद्धे देवपराक्रमाः ॥ ३ ॥

ये सब के सब दुर्धर्ष, बलवान् और इच्छा-रूपधारी हैं और दैत्यदानवों की तरह बलसम्पन्न तथा युद्ध में देवताओं की तरह पराक्रमी हैं ॥ ३ ॥

एषां कोटिसहस्राणि नव पञ्च च सप्त च ।
तथा शङ्खसहस्राणि तथा वृन्दशतानि च ॥ ४ ॥

ये संख्या में २१ हज़ार करोड़ तथा सहस्र शङ्ख एवं सौ वृन्द हैं ॥ ४ ॥

एते सुग्रीवसचिवाः[1] किष्किन्धानिलयाः सदा ।
हरयो देवगन्धर्वैरुत्पन्नाः कामरूपिणः ॥ ५ ॥

ये सब सुग्रीव के सहायक हैं और किष्किन्धा में रहा करते हैं। इन वानरों की उत्पत्ति, देवताओं और गन्धर्वों से है और ये इच्छानुसार रूपधारण करने वाले हैं ॥ ५ ॥

यौ तौ पश्यसि तिष्ठन्तौ [2]कुमारौ देवरूपिणौ ।
मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ ताभ्यां नास्ति समो युधि ॥६॥

---

१ सुग्रीवसचिवाः—सुग्रीवसहायाः । (गो०) २ कुमारौ—युवानौ । (गो०)

आप जिन देवताओं के समान रूपवान् दो युवकों को बैठा हुआ देख रहे हैं, वे दोनों मैन्द और द्विविद हैं। युद्ध में उन दोनों का सामना करने वाला कोई नहीं है ॥ ६ ॥

ब्रह्मणा समनुज्ञातावमृतमाशिनावुभौ ।
आशंसेते युधा लङ्कामेतौ मर्दितुमोजसा ॥ ७ ॥

क्योंकि ब्रह्मा की आज्ञा से इन दोनों ने अमृतपान किया है। ये दोनों अपने पराक्रम से लङ्का को ध्वस्त करना चाहते हैं ॥ ७ ॥

यावेतावेतयोः पार्श्वे स्थितौ पर्वतसन्निभौ ।
सुमुखोऽसुमुखश्चैव मृत्युपुत्रौ पितुःसमौ ॥ ८ ॥

जो दो वानर इन दोनों के पास पहाड़ की तरह खड़े हैं, वे दोनों मृत्यु के पुत्र अपने पिता के समान भयङ्कर हैं और इनके नाम सुमुख और असुमुख है ॥ ८ ॥

प्रेक्षन्तौ नगरीं लङ्कां कोटिभिर्दशभिर्वृतौ ।
यं तु पश्यसि तिष्ठन्तं प्रभिन्नमिव कुञ्जरम् ॥ ९ ॥
यो बलात्क्षोभयेत्क्रुद्धः समुद्रमपि वानरः ।
एषोभिगन्ता लङ्काया वैदेह्यास्तव च प्रभो ॥ १० ॥

ये अपने अधीनस्थ दस करोड़ वानरों सहित लङ्का की ओर ताक रहे हैं। मत्त गज की तरह जिस वानर को तुम खड़े देख रहे हो, और जो क्रुद्ध होने पर समुद्र को भी खलबला सकता है; हे प्रभो! यही सीता और तुम्हारी लङ्का का पता लगाने आया था ॥ ९ ॥ १० ॥

एनं पश्य पुरा दृष्टं वानरं पुनरागतम् ।
ज्येष्ठः केसरिणः पुत्रो वातात्मज इति श्रुतः ॥ ११ ॥

सो इसे आप पहिले देख ही चुके हैं, वही फिर आया है। यह केसरी का श्रेष्ठ पुत्र है और वातात्मज अर्थात् वायुपुत्र के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

हनुमानिति विख्यातो लङ्घितो येन सागरः ।
कामरूपी हरिश्रेष्ठो [1]बलरूपसमन्वितः ॥ १२ ॥

इसका हनुमान भी नाम है और इसीने समुद्र लाँघा था। यह इच्छानुसार रूप धारण कर लेता है, वानरों में श्रेष्ठ है और बड़ा बलवान है ॥ १२ ॥

अनिवार्यगतिश्चैव यथा [2]सततगः प्रभुः ।
उद्यन्तं भास्करं दृष्ट्वा बालः किल *बुभुक्षितः ॥१३॥

वायु की तरह इसकी गति कहीं भी नहीं रुकती, लड़कपन में एक दिन इसे भूख लगी। उस समय सूर्य उदय हो रहा था ॥ १३ ॥

त्रियोजनसहस्रं तु अध्वानमवतीर्य हि ।
आदित्यमाहरिष्यामि न मे क्षुत्प्रतियास्यति ॥ १४ ॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा पुरैष बलदर्पितः ।
अनाधृष्यतमं देवमपि देवर्षिदानवैः ॥ १५ ॥

उस समय इसने यह सोचा कि, जब तक मैं सूर्य को न खाऊँगा तब तक मेरी भूख न मिटेगी—सो यह विचार कर, यह बल से दर्पित सूर्य को पकड़ने के लिये तीन हज़ार योजन ऊपर उछल गया। किन्तु सूर्यदेव तो देवर्षियों और राक्षसों द्वारा तिरस्कार करने योग्य नहीं हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

---

१ बलरूप समन्वितः—प्रशस्तबलसमन्वितः। (गो०) २ सततगः—वायुः। (गो०) * पाठान्तरे—"पिपासितः।"

अनासाद्यैव पतितो भास्करोदयने गिरौ ।
पतितस्य कपेरस्य हनुरेका शिलातले ॥ १६ ॥

सो यह सूर्य को न पकड़ सका और उदयाचल पर गिर पड़ा। इतनी दूर से शिला के ऊपर गिरने के कारण, इसकी एक ओर की ठोड़ी ॥ १६ ॥

किञ्चिद्भिन्ना दृढहनोर्हनुमानेष तेन वै ।
सत्यमागमयोगेन ममैष विदितो हरिः ॥ १७ ॥

थोड़ी सी टूट गयी। क्योंकि ठोड़ी इसकी बड़ी मज़बूत थी, इसीसे इसका नाम हनुमान हुआ। वानरों के सहवास से यद्यपि मैंने इस वानर का यह हाल जान लिया है ॥ १७ ॥

नास्य शक्यं बलं रूपं प्रभावो वाऽपि भाषितुम् ।
एष आशंसते लङ्कामेको मर्दितुमोजसा ॥ १८ ॥

तथापि मैं इसका बल, रूप और प्रभाव वर्णन नहीं कर सकता। यह अकेला, अपने बल ही से लङ्का को ध्वस्त करना चाहता है ॥ १८ ॥

[येन *जाज्वल्यते सौम्य [1]धूमकेतुस्तवाद्य वै ।
लङ्कायां निहितश्चापि कथं न स्मरसे कपिम् ॥ १९ ॥]

हे सैाम्य ! जिस वानर ने तुम्हारी लङ्का को फूँका और इतने राक्षस मारे, उसे आप कैसे भूल गये ॥ १९ ॥

यश्चैषोऽनन्तरः शूरः श्यामः पद्मनिभेक्षणः ।
इक्ष्वाकूणामतिरथो लोके विख्यातपौरुषः ॥ २० ॥

---

१ धूमकेतुरग्निः । (रा०) * पाठान्तरे—"जाज्वल्यतेऽसौ वै ।"

हनुमान के पास ही जो शूर श्यामवर्ण, कमलनयन, इक्ष्वाकु कुल में अजेय योद्धा और संसार में विख्यात पराक्रमी हैं ॥ २० ॥

यस्मिन्न चलते धर्मो यो *धर्मान्नातिवर्तते ।
यो ब्राह्ममस्त्रं वेदांश्च वेद वेदविदां वरः ॥ २१ ॥

जो धर्म से न तो कभी डिगते हैं और न धर्म की मर्यादा को उल्लङ्घन ही करते हैं, जो ब्रह्मास्त्र का चलाना जानते हैं, जो वेदों को केवल जानते ही नहीं, वल्कि वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ माने जाते हैं, ॥ २१ ॥

यो भिन्द्याद्गगनं वाणैः पर्वतानपि दारयेत् ।
यस्य मृत्योरिव क्रोधः शक्रस्येव पराक्रमः ॥ २२ ॥

जो अपने वाणों से आकाश को छेद सकते हैं और पर्वतों को विदीर्ण कर सकते हैं, जिनका क्रोध, मृत्यु के समान और पराक्रम इन्द्र की तरह है ॥ २२ ॥

यस्य भार्या जनस्थानात्सीता चापहृता त्वया ।
स एष रामस्त्वां योद्धुं राजन्समभिवर्तते ॥ २३ ॥

और जिनकी स्त्री सीता को तुम जनस्थान से हर लाये हो, हे राजन्! वे ही श्रीरामचन्द्र तुमसे लड़ने के लिये यहाँ आये हैं ॥ २३ ॥

यस्यैष दक्षिणे पार्श्वे शुद्धजाम्बूनदप्रभः ।
विशालवक्षास्ताम्राक्षो नीलकुञ्चितमूर्धजः ॥ २४ ॥

उनकी दहिनी ओर विशुद्ध सुवर्ण वर्ण जैसे, चौड़ी छाती वाले, अरुणनयन तथा नीले रंग के और घुँघराले वालों से भूषित ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे – "धर्मं नातिवर्तते ।"

एषोऽस्य लक्ष्मणो नाम भ्राता प्राणसमः प्रियः ।
नये युद्धे च कुशलः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ २५ ॥

जिस पुरुष को तुम देख रहे हो, वह श्रीरामचन्द्र के प्राणसम प्यारे भाई लक्ष्मण हैं। क्या नीति, क्या युद्ध ये सब विषयों में निपुण हैं और शस्त्रधारियों में सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ २५ ॥

अमर्षी दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान्बली ।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं [1]प्राणो बहिश्चरः ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का अपचार इनसे नहीं सहा जाता, इनको रण में कोई जीत नहीं सकता। ये सब को जीतने वाले हैं, ये बड़े पराक्रमी, बुद्धिमान् और बलवान् हैं। ये श्रीरामचन्द्र जी की दहिनी बाँह और उनके प्राणों के संरक्षक हैं ॥ २६ ॥

न ह्येष राघवस्यार्थे जीवितं परिरक्षति ।
एषैवाशंसते युद्धे निहन्तुं सर्वराक्षसान् ॥ २७ ॥

ये श्रीरामचन्द्र जी की रक्षा के लिये अपने प्राणों को हथेली पर रखे हुए, सदा तैयार रहते हैं। युद्ध में ये अकेले ही समस्त राक्षसों को मार डालने का उत्साह रखते हैं ॥ २७ ॥

यस्तु सव्यमसौ पक्षं रामस्याश्रित्य तिष्ठति ।
रक्षोगणपरिक्षिप्तो राजा ह्येष विभीषणः ॥ २८ ॥

जो अपने चार मंत्री राक्षसों के बीच श्रीरामचन्द्र जी की दाईं ओर बैठे हैं—ये राजा विभीषण हैं ॥ २८ ॥

श्रीमता राजराजेन लङ्कायामभिषेचितः ।
त्वामेव प्रतिसंरब्धो युद्धायैषोऽभिवर्तते ॥ २९ ॥

---

१ प्राणोबहिश्चरः इत्यनेन प्राणसंरक्षकत्वमुच्यते । (गो०)

श्रीमान् राजाधिराज महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने लङ्का के राजसिंहासन पर इनको अभिषिक्त कर दिया है। यह तुम्हारे साथ युद्ध करने को क्रोध में भरा बैठा है ॥ २९ ॥

यं तु पश्यसि तिष्ठन्तं मध्ये गिरिमिवाचलम् ।
सर्वशाखामृगेन्द्राणां भर्तारमपराजितम् ॥ ३० ॥

जिनको आप एक अचल पर्वत की तरह श्रीरामचन्द्र और विभीषण के बीच में बैठा हुआ देखते हैं, वे ही समस्त वानरों के राजा हैं, इनको पराजित करना सहज नहीं है ॥ ३० ॥

तेजसा यशसा बुद्ध्या ज्ञानेनाभिजनेन च ।
यः कपीनतिबभ्राज हिमवानिव पर्वतान् ॥ ३१ ॥

तेजस्विता, यश, ऊहापोहरूपी ज्ञान, शास्त्रजन्य-ज्ञान, तथा कुल की विशिष्टता के कारण, पर्वतों में हिमाचल पर्वत की तरह, समस्त वानरों से यह अधिक शोभा पा रहा है ॥ ३१ ॥

किष्किन्धां यः समध्यास्ते गुहां सगहनद्रुमाम् ।
दुर्गां पर्वतदुर्गस्थां प्रधानैः सह यूथपैः ॥ ३२ ॥

हे राजन्! यह वानरराज, वानर यूथपतियों के साथ किष्किन्धा में एक ऐसी गिरिगुहा में रहते हैं, जो सघन वृक्षों से आच्छादित है और जहाँ पहुँचना बड़ा कठिन है ॥ ३२ ॥

यस्यैषा काञ्चनी माला शोभते शतपुष्करा ।
कान्ता देवमनुष्याणां यस्यां लक्ष्मीः प्रतिष्ठिता ॥३३॥

देवताओं और मनुष्यों की वाञ्छनीय लक्ष्मी जिसमें सदा वास करती है, वह शतपद्मा सोने की माला कपिराज के गले में कैसी शोभित हो रही है ॥ ३३ ॥

एतां च मालां तारां च कपिराज्यं च शाश्वतम्।
सुग्रीवो वालिनं हत्वा रामेण प्रतिपादितः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने यह माला, तारा और वानरों का सनातन (प्राचीन) राज्य वाली को मार कर इस सुग्रीव को दिलाया है ॥ ३४ ॥

शतं शतसहस्राणां कोटिमाहुर्मनीषिणः।
शतं कोटिसहस्राणां शङ्ख इत्यभिधीयते ॥ ३५ ॥

हे राजन्! सौ से गुणा करने पर सौ सहस्र को पण्डित लोग "कोटि" कहते हैं और सौ हज़ार कोटि का एक शङ्ख होता है ॥ ३५ ॥

शतं शङ्खसहस्राणां महाशङ्ख इति स्मृतः।
महाशङ्खसहस्राणां शतं बृन्दमिति स्मृतम् ॥ ३६ ॥

सौ हज़ार शङ्ख का एक महाशङ्ख होता है। सौ हज़ार महाशङ्ख का एक वृन्द होता है ॥ ३६ ॥

शतं बृन्दसहस्राणां महाबृन्दमिति स्मृतम्।
महावृन्दसहस्राणां शतं पद्ममिति स्मृतम् ॥ ३७ ॥

सौ हज़ार वृन्द का एक महावृन्द होता है। सौ हज़ार महावृन्द का एक पद्म होता है ॥ ३७ ॥

शतं पद्मसहस्राणां महापद्ममिति स्मृतम्।
महापद्मसहस्राणां शतं खर्वमिहोच्यते ॥ ३८ ॥

सौ हज़ार पद्म का एक महापद्म और सौ हज़ार महापद्म का एक खर्व होता है ॥ ३८ ॥

शतं खर्वसहस्राणां महाखर्वमिति स्मृतम् ।
महाखर्वसहस्राणां समुद्रमभिधीयते ॥ ३९ ॥

सौ हज़ार खर्व का एक महाखर्व और सौ हज़ार महाखर्व का एक समुद्र होता है ॥ ३६ ॥

शतं समुद्रसाहस्रमोघ इत्यभिधीयते ।
शतमोघसहस्राणां महौघ इति विश्रुतः ॥ ४० ॥

सौ हज़ार समुद्र का एक मोघ और सौ हज़ार मोघ का एक महौघ होता है ॥ ४० ॥

एवं कोटिसहस्रेण शङ्खानां च शतेन च ।
महाशङ्खसहस्रेण तथा वृन्दशतेन च ॥ ४१ ॥

हे राजन्! इस हिसाब से कोटिसहस्र, उसका सौ शङ्ख उसका हज़ार महाशङ्ख उसका सौ वृन्द ॥ ४१ ॥

महावृन्दसहस्रेण तथा पद्मशतेन च ।
महापद्मसहस्रेण तथा खर्वशतेन च ॥ ४२ ॥

उसका हज़ार महावृन्द, उसका सौ पद्म, उसका हज़ार महा पद्म, उसका सौ खर्व ॥ ४२ ॥

समुद्रेण शतेनैव महौघेन तथैव च ।
एष कोटिमहौघेन समुद्रसदृशेन च ॥ ४३ ॥

एक सौ समुद्र और एक सौ कोटि महौघ संख्यक वानरी सेना है, जो समुद्र की तरह देख पड़ती है ॥ ४३ ॥

विभीषणेन सचिवै राक्षसैः परिवारितः ।
सुग्रीवो वानरेन्द्रस्त्वां युद्धार्थमभिवर्तते ।
महाबलवृतो नित्यं महाबलपराक्रमः ॥ ४४ ॥

इतनी बड़ी वानरी सेना तथा सचिवों सहित विभीषण को साथ लिये हुए कपिराज सुग्रीव, आपसे लड़ने को उपस्थित हुए हैं। वानरेन्द्र के साथ बड़ी भारी सेना है; जो बड़ी बलवान् और पराक्रमी है॥ ४४॥

इमां महाराज समीक्ष्य वाहिनीम्
उपस्थितां प्रज्वलितग्रहोपमाम्।
ततः प्रयत्नः परमो विधीयतां
यथा जयः स्यान्न परैः पराजयः॥ ४५॥

इति अष्टाविंशः सर्गः॥

हे महाराज! जाज्वल्यमान ग्रह की तरह इस उपस्थित वानरी सेना को देख कर, आप ऐसा प्रयत्न करें, जिससे आपकी जीत हो और शत्रु से हार खानी न पड़े॥ ४५॥

युद्धकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—※—

शुकेन तु समाख्यातांस्तान्दृष्ट्वा हरियूथपान्।
समीपस्थं च रामस्य भ्रातरं स्वं विभीषणम्॥ १॥

इस प्रकार शुक के बतलाने पर रावण ने वानरयूथपतियों को तथा अपने भाई विभीषण को श्रीरामचन्द्र जी के समीप बैठा हुआ देखा॥ १॥

लक्ष्मणं च महावीर्यं भुजं रामस्य दक्षिणम् ।
सर्ववानरराजं च सुग्रीवं भीमविक्रमम् ॥ २ ॥

(इनको ही नहीं बल्कि) उसने महावीर्यवान् और श्रीरामचन्द्र की दक्षिण भुजा रूपी लक्ष्मण को, समस्त वानरयूथपतियों को, भीम पराक्रमी सुग्रीव को ॥ २ ॥

[गजं गवाक्षं गवयं मैन्दं द्विविदमेव च ।
अङ्गदं चैव बलिनं वज्रहस्तात्मजात्मजम् ॥ ३ ॥

गज, गवाक्ष, गवय, मैन्द, द्विविद, को; इन्द्रपुत्र वालि के आत्मज अङ्गद को ॥ ३ ॥

हनुमन्तं च विक्रान्तं जाम्बवन्तं च दुर्जयम् ।
सुषेणं कुमुदं नीलं नलं च प्लवगर्षभम् ॥ ४ ॥]

विक्रमी हनुमान को, दुर्जय जाम्बवान को और कपिश्रेष्ठ सुषेण, कुमुद, नील, नल को भी देखा ॥ ४ ॥

किञ्चिदाविग्नहृदयो[1] जातक्रोधश्च रावणः ।
भर्त्सयामास तौ वीरौ कथान्ते शुकसारणौ ॥ ५ ॥

इनको देख कर रावण मन ही मन कुछ कुछ उद्विग्न हुआ और जब शुक सारण ने अपना कथन समाप्त किया, तब उसने क्रोध में भर, उन दोनों वीर शुक सारण की भर्त्सना की अर्थात् डाँटा डपटा ॥ ५ ॥

अधोमुखौ तौ प्रणतावब्रवीच्छुकसारणौ ।
रोषगद्गदया वाचा संरब्धः परुषं वचः ॥ ६ ॥

---

१ आविग्नहृदयः—भीतहृदयः। (गो०)

शुक और सारण अत्यन्त नम्रतापूर्वक सिर झुकाये खड़े थे। परन्तु रावण क्रोध में भर उनसे बड़े कठोर वचन कहने लगा ॥ ६ ॥

न तावत्सदृशं नाम सचिवैरुपजीविभिः ।
विप्रियं नृपतेर्वक्तुं निग्रहप्रग्रहे प्रभोः ॥ ७ ॥

तुम लोगों ने मुझसे जैसे वचन कहे हैं, वैसे वचन क्या किसी वेतनभोगी सचिव को अपने उस स्वामी के सामने, जो निग्रह अनुग्रह करने में समर्थ है, कहना उचित है? ॥ ७ ॥

रिपूणां प्रतिकूलानां युद्धार्थमभिवर्तताम् ।
उभाभ्यां सदृशं नाम वक्तुमप्रस्तवे स्तवम् ॥ ८ ॥

युद्ध के लिये प्रस्तुत एवं अपने विरोधी शत्रुओं की इस प्रकार अनवसर प्रशंसा करना : क्या तुम दोनों को उचित था? ॥ ८ ॥

आचार्या गुरवो वृद्धा वृथा वां पर्युपासिताः ।
सारं यद्राजशास्त्राणामनुजीव्यं न गृह्यते ॥ ९ ॥

छिः! आज तक आचार्य, गुरु और वृद्धजनों के पास रह कर तुमने भाड़ ही झोंका। एक वेतनभोगी को जो समस्त राजनीति की मुख्य मुख्य बातें सीखनी उचित हैं—वे भी तुमने न सीखीं ॥ ९ ॥

गृहीतो वा न विज्ञातो भारो ज्ञानस्य वोह्यते ।
ईदृशैः सचिवैर्युक्तो मूर्खैर्दिष्ट्या धराम्यहम् ॥ १० ॥

यदि सीखीं भी तो उनका मर्म तुमने न जाना। तुम तो केवल अज्ञान का बोझ ढो रहे हो। अर्थात् तुम पल्लेसिरे के अज्ञानी हो। इसे मैं अपना सौभाग्य ही समझता हूँ कि, तुम जैसे मूर्ख मंत्रियों को, अपने पास रख कर भी, मैं आज तक राज्य कर रहा हूँ ॥१०॥

किन्तु मृत्योर्भयं नास्ति वक्तुं मां परुषं वचः ।
यस्य मे शासतो जिह्वा प्रयच्छति शुभाशुभम् ॥ ११ ॥

अरे ! क्या तुमको अपनी जान जाने का ज़रा भी भय नहीं, जो तुमने मुझसे ऐसे कठोर वचन कहे ! क्या तुम नहीं जानते कि, लोगों का मरना जीना मेरी जिह्वा के हिलने डुलने पर अर्थात् मेरी आज्ञा पर निर्भर है ? ॥ ११ ॥

अप्येव दहनं स्पृष्ट्वा वने तिष्ठन्ति पादपाः ।
राजदोषपरामृष्टास्तिष्ठन्ते नापराधिनः ॥ १२ ॥

यह तुम लोग भलीभाँति जान रखो कि, वन में आग लगने पर, उस वन के वृक्ष भले ही भस्म होने से बच जाँय, किन्तु राजद्रोह के अपराधी कभी नहीं बच सकते ॥ १२ ॥

हन्यामहं त्विमौ पापौ शत्रुपक्षप्रशंसकौ ।
यदि पूर्वोपकारैस्तु न क्रोधो मृदुतां व्रजेत् ॥ १३ ॥

शत्रुपक्ष की प्रशंसा करने वाले तुम दोनों को मैं अवश्य प्राणदण्ड देता, पर क्या करूँ, तुम्हारे पहिले के उपकारों का स्मरण आने से मेरा क्रोध नम्र हो जाता है ॥ १३ ॥

अपध्वंसत गच्छध्वं सन्निकर्षादितो मम ।
न हि वां हन्तुमिच्छामि स्मराम्युपकृतानि वाम् ॥१४॥

अब तुम मेरी आँखों के सामने से हट जाओ, ख़बरदार ! फिर मेरे सामने मत आना । मैं तुम्हें मारना नहीं चाहता । क्योंकि मुझे तुम्हारे उपकारों का स्मरण बना हुआ है ॥ १४ ॥

हतावेव कृतघ्नौ तौ मयि स्नेहपराङ्मुखौ ।
एवमुक्तौ तु सव्रीडौ तावुभौ शुकसारणौ ॥ १५ ॥

तुम लोग जैसे कृतघ्न और मेरे प्रति स्नेहशून्य हो रहे हो, इससे तो तुम निश्चय ही मार डालने योग्य हो। जब रावण ने उन दोनों शुक सारण से इस प्रकार कहा, तब वे बहुत लज्जित हुए ॥ १५ ॥

रावणं जयशब्देन प्रतिनन्द्याभिनिःसृतौ ।
अब्रवीत्तु दशग्रीवः समीपस्थं महोदरम् ॥ १६ ॥

और वे "जय जय" कह रावण को प्रणाम कर वहाँ से चले गये। तदनन्तर पास बैठे हुए महोदर से रावण ने कहा ॥ १६ ॥

उपस्थापय मे शीघ्रं चारान्नीतिविशारदान् ।
महोदरस्तथोक्तस्तु शीघ्रमाज्ञापयच्चरान् ॥ १७ ॥

तुम नीतिविशारद चरों को तुरन्त हाज़िर करो। इस पर महोदर ने "जो हुकुम" कह कर, तुरन्त चरों को उपस्थित होने की आज्ञा दी ॥ १७ ॥

ततश्चाराः सन्त्वरिताः प्राप्ताः पार्थिवशासनात् ।
उपस्थिताः प्राञ्जलयो वर्धयित्वा जयाशिषा ॥ १८ ॥

रावण की आज्ञा सुनते ही चर लोग तुरन्त ही उसके पास जा पहुँचे और "जय हो" ऐसा आशीर्वाद दे, हाथ जोड़े हुए खड़े हो गये ॥ १८ ॥

तानब्रवीत्ततो वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।
चारान्प्रत्यायिताञ्शूरान्भक्तान्विगतसाध्वसान्[1] ॥१९॥

तब राक्षसेश्वर रावण ने उनको विश्वस्त, शूर, अपने में भक्तिमान् और शत्रुभय से निर्भय जान कर कहा ॥१९॥

---

१ विगतसाध्वसान्—विगतशत्रुभयान् । (गो०)

इतो गच्छत रामस्य [1]व्यवसायं परीक्षथ ।
मन्त्रिष्वभ्यन्तरा येऽस्य प्रीत्या तेन समागताः ॥२०॥

तुम लोग यहाँ से श्रीरामचन्द्र के पास जाओ और पता लगाओ कि, उनका इरादा किस किस समय क्या क्या करने का है। उनके अन्तरंगमंत्री जो प्रीतिवश उनके साथ आये हैं, उनके कामों की भी टोह लगाना ॥ २० ॥

कथं स्वपिति जागर्ति किमन्यच्च करिष्यति ।
विज्ञाय निपुणं[2] सर्वमागन्तव्यमशेषतः ॥ २१ ॥

राम क्या अकेले सोते हैं अथवा वे सोते हैं और अन्य लोग सोने के समय जाग कर उनकी रखवाली करते हैं? आगे वे क्या करने वाले हैं—इन सब बातों का चुपके चुपके पता लगा कर, चले आना ॥ २१ ॥

चारेण विदितः शत्रुः पण्डितैर्वसुधाधिपैः ।
युद्धे स्वल्पेन यत्नेन समासाद्य निरस्यते ॥ २२ ॥

क्योंकि जो राजा चतुर होते हैं, वे दूतों ही के द्वारा अपने वैरी का सब हाल जान कर, रण में अल्पप्रयास ही से, शत्रु को भगा देते हैं ॥ २२ ॥

चारास्तु ते तथेत्युक्त्वा प्रहृष्टा राक्षसेश्वरम् ।
शार्दूलमग्रतः कृत्वा ततश्चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥ २३ ॥

चरों ने "जो आज्ञा" कह कर और शार्दूल नामक चर को अपना अगुआ बना कर तथा प्रसन्न हो कर राक्षसेश्वर की प्रदक्षिणा की ॥ २३ ॥

१—व्यवसायं—कर्तव्यनिश्चयं । २ निपुणं—प्रच्छन्नमिति । (गो०)

ततस्ते तं महात्मानं चारा राक्षससत्तमम्।
कृत्वा प्रदक्षिणं जग्मुर्यत्र रामः सलक्ष्मणम् ॥ २४ ॥

तब वे चर लोग राक्षसोत्तम रावण की परिक्रमा कर वहाँ गये जहाँ लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ठहरे हुए थे ॥ २४ ॥

ते सुवेलस्य शैलस्य समीपे रामलक्ष्मणौ।
प्रच्छन्ना ददृशुर्गत्वा ससुग्रीवविभीषणौ ॥ २५ ॥

वे सुवेल पर्वत के निकट पहुँच और अपना भेष बदल कर श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण को देखने लगे ॥ २५ ॥

प्रेक्षमाणाश्चमूं तां च बभूवुर्भयविक्लवाः।
ते तु धर्मात्मना दृष्टा राक्षसेन्द्रेण राक्षसाः ॥ २६ ॥
विभीषणेन तत्रस्था निगृहीता[1] यदृच्छया[2]।
शार्दूलो ग्राहितस्त्वेकः पापोऽयमिति राक्षसः ॥ २७ ॥

उस वानरी सेना को देख ये लोग मारे भय के घबड़ा गये। इतने में श्रीरामचन्द्र जी और उस समय वहाँ पर उपस्थित राक्षसेन्द्र विभीषण ने उन राक्षसचरों को पहिचान लिया और मनमाना उनको डाँटा डपटा। उनमें से उनके सरदार शार्दूल को पकड़वा लिया; क्योंकि वह बड़ा भारी दुष्ट था ॥ २६ ॥ २७ ॥

---

१ निगृहीताः—तर्जिताइत्यर्थः। (गो०) २ यदृच्छया—शार्दूलातिरिक्ताराक्षसाविभीषणेनदृष्टा अपियदृच्छया विभीषणान्तेवासिनैवगृहीताःशार्दूलस्तु अयमत्यन्तपापइतिकपिभिर्ग्राहितः। (रा०)

मोचितः सोऽपि रामेण वध्यमानः प्लवङ्गमैः ।
आनृशंस्येन रामस्य मोचिता राक्षसाः परे ॥ २८ ॥

वानर तो उसको मार डालना चाहते थे, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने उसे छुड़वा दिया। इसी प्रकार अन्य राक्षसचरों को भी श्रीरामचन्द्र जी की दया ने छुड़वा दिया ॥ २८ ॥

वानरैरर्दितास्ते तु विक्रान्तैर्लघुविक्रमैः ।
पुनर्लङ्कामनुप्राप्ताः श्वसन्तो नष्टचेतसः ॥ २९ ॥

उन पराक्रमी और फुर्तीले वानरों से पिट कुट कर वे राक्षसचर लंबी लंबी सांसे लेते और अधमरे से हो, किसी तरह लङ्का में लौट कर पहुँचे ॥ २९ ॥

ततो दशग्रीवमुपस्थितास्तु ते
चारा [1]बहिर्नित्यचरा निशाचराः ।
गिरेः सुवेलस्य समीपवासिनं
न्यवेदयन्भीमबलं महाबलाः ॥ ३० ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर, परराष्ट्रों का वृत्तान्त जानने के लिये सदा घूमने फिरने वाले उन राक्षसचरों ने, दशानन रावण के पास जा, सुवेल पर्वत के समीप छावनी डाले हुए पड़ी हुई भयङ्कर वानर वाहिनी का वृत्तान्त कहा ॥ ३० ॥

युद्धकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

१ बहिर्नित्यचराः—परराष्ट्रेषु वृत्तान्तज्ञानाय सदा संचारशीलाः । (गो०)

त्रिंशः सर्गः

—※—

ततस्तमक्षोभ्यबलं लङ्काधिपतये चराः ।
सुवेले राघवं शैले निविष्टं प्रत्यवेदयन् ॥ १ ॥

रावण के उन चरों ने, सुवेल पर्वत के समीप जा, श्रीरामचन्द्र जी की अक्षुब्ध सेना का जो कुछ हाल देखा था, वह सब रावण से कहा ॥ १ ॥

चाराणां रावणः श्रुत्वा प्राप्तं रामं महाबलम् ।
जातोद्वेगोऽभवत्किञ्चिच्छार्दूलं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

राक्षसराज रावण, चरों के मुख से महाबली श्रीरामचन्द्र जी का लङ्का में आना सुन, कुछ कुछ घबड़ाया और शार्दूल से कहने लगा ॥ २ ॥

अयथावच्च ते वर्णो दीनश्चासि निशाचर ।
नासि कच्चिदमित्राणां क्रुद्धानां वशमागतः ॥ ३ ॥

हे राक्षस ! तेरे मुख का बदला हुआ सा रंग हो रहा है, तू दीन की तरह देख पड़ता है, कहीं तू क्रुद्ध वैरियों के हाथों में तो नहीं पड़ गया ? ॥ ३ ॥

इति तेनानुशिष्टस्तु वाचं मन्दमुदीरयत् ।
तदा राक्षसशार्दूलं शार्दूलो भयविह्वलः ॥ ४ ॥

जब रावण ने इस प्रकार पूँछा, तब भय से विह्वल शार्दूल, राक्षसश्रेष्ठ (रावण) से धीरे धीरे कहने लगा ॥ ४ ॥

न ते चारयितुं शक्या राजन्वानरपुङ्गवाः ।
विक्रान्ता बलवन्तश्च राघवेण च रक्षिताः ॥ ५ ॥

हे राजन्! उस वानरी सेना में जासूसी नहीं हो सकती। क्योंकि उसमें बड़े बड़े पराक्रमी और बलवान् वानर हैं और श्रीरामचन्द्र सदा उनकी रक्षा किया करते हैं ॥ ५ ॥

नापि सम्भाषितुं शक्याः सम्प्रश्नोऽत्र न लभ्यते ।
सर्वतो रक्ष्यते पन्था वानरैः पर्वतोपमैः ॥ ६ ॥

उनसे न तो बातचीत ही हो सकती है और न कुछ पूँछपाँछ ही की जा सकती है। पर्वतों की तरह आकार वाले वानर, शिविर के रास्तों को चारों ओर रक्षा किया करते हैं। अर्थात् शिविर के मार्गों पर बड़े बड़े वानरों का विकट पहरा है ॥ ६ ॥

प्रविष्टमात्रे ज्ञातोऽहं बले तस्मिन्नचारिते ।
बलाद्गृहीतो रक्षोभिर्बहुधाऽस्मि विचालितः ॥ ७ ॥

मैं ज्योंही सैन्य शिविर में घुसा, त्योंहीं पहिचान लिया गया। विभीषण के साथी राक्षसों ने मुझे बरजोरी पकड़ लिया और पकड़ कर मुझे वहाँ खूब घुमाया फिराया ॥ ७ ॥

जानुभिर्मुष्टिभिर्दन्तैस्तलैश्चाभिहतो भृशम् ।
परिणीतोऽस्मि हरिभिर्बलवद्भिरमर्षणैः ॥ ८ ॥

बाँध कर ले जाने व घुमाने के समय क्रोधी वानरों ने मुझे घुटनों, मूँकों, दाँतों, थप्पड़ों से खूब मारा काटा ॥ ८ ॥

परिणीय च सर्वत्र नीतोऽहं रामसंसदम् ।
रुधिरादिग्धसर्वाङ्गो विह्वलश्चलितेन्द्रियः ॥ ९ ॥

इस प्रकार सैन्य शिविर में घुमा कर मैं श्रीरामचन्द्र जी की सभा में लाया गया। उस समय मेरे सारे शरीर से रुधिर बह रहा था और घबड़ाहट के कारण मैं विकल था ॥ ९ ॥

हरिभिर्वध्यमानश्च याचमानः कृताञ्जलिः ।
राघवेण परित्रातो जीवामीति यदृच्छया ॥ १० ॥

जब वानर मुझे मार डालने को तैयार हुए, तब मैंने हाथ जोड़ कर प्राणों की भिक्षा माँगी। तब श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी इच्छा से (किसी के अनुरोध से नहीं) मेरे प्राण बचाये ॥ १० ॥

एष शैलैः शिलाभिश्च पूरयित्वा महार्णवम् ।
द्वारमाश्रित्य लङ्कायाः रामस्तिष्ठति सायुधः ॥ ११ ॥

हे महाराज! श्रीरामचन्द्र पर्वतों और शिलाओं से महासागर पर पुल बाँध कर, लङ्का के द्वार पर हथियारों से सुसज्जित आ पहुँचे हैं ॥ ११ ॥

गारुडव्यूहमास्थाय सर्वतो हरिभिर्वृतः ।
मां विसृज्य महातेजा लङ्कामेवाभिवर्तते ॥ १२ ॥

उन्होंने अपनी सेना का गरुड़व्यूह बना कर वानरों को चारों ओर फैल फुट कर ठहराया है। मुझे तो उन महातेजस्वी ने छोड़ दिया, पर वे लङ्का की ओर निगाह गड़ाये हुए हैं ॥ १२ ॥

पुरा प्राकारमायाति क्षिप्रमेकतरं कुरु ।
सीतां वाऽस्मै प्रयच्छाशु सुयुद्धं वा प्रदीयताम् ॥ १३ ॥

वे आपकी राजधानी के परकोटे पर चढ़ाई करने ही वाले हैं, अतः आप शीघ्र ही दो में से एक काम कीजिये। अर्थात् या तो उनको सीता दे डालिये अथवा उनसे खूब डट कर युद्ध कीजिये ॥ १३ ॥

[1]मनसा तं तदा प्रेक्ष्य तच्छ्रुत्वा राक्षसाधिपः ।
शार्दूलं सुमहद्वाक्यमथोवाच स रावणः ॥ १४ ॥

राक्षसाधिप रावण ने शार्दूल की इन बातों को सुन और उन पर मन ही मन कुछ विचार कर, उससे कहा ॥ १४ ॥

यदि मां प्रति युध्येरन्देवगन्धर्वदानवाः ।
नैव सीतां प्रदास्यामि सर्वलोकभयादपि ॥ १५ ॥

यदि देवता, गन्धर्व और दानव भी मुझसे लड़ें अर्थात् त्रिलोकी भी मेरे विरुद्ध हो जाय, तो भी मैं डर कर सीता, श्रीरामचन्द्र को न दूँगा ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा रावणः पुनरब्रवीत् ।
चारिता भवता सेना केऽत्र शूराः प्लवङ्गमाः ॥ १६ ॥

यह कह कर महातेजस्वी रावण फिर कहने लगा—आप लोग तो वानरी सेना में घूम फिर आये हैं, सो यह तो बतलाइये कि, वानरों में शूर कौन कौन है ॥ १६ ॥

कीदृशा किंप्रभाः[2] सौम्या वानरा ये दुरासदाः ।
कस्य पुत्राश्च पौत्राश्च तत्त्वमाख्याहि राक्षस ॥ १७ ॥

हे राक्षस ! जो वानर दुर्धर्ष हैं, उनके आकार कैसे हैं, उनका प्रभाव कैसा है ; वे किसके पुत्र और पौत्र हैं ? सो आप मुझसे ठीक ठीक कहिये ॥१७॥

तथाऽत्र प्रतिपत्स्यामि ज्ञात्वा तेषां बलाबलम् ।
अवश्यं बलसंख्यानं कर्तव्यं युद्धमिच्छताम् ॥ १८ ॥

---

१ मनसाप्रेक्ष्य—आलोच्य । (गो०) ; विचार्य । (शि०) २ किंप्रभा—किंप्रभावाः । (गो०)

जिससे मैं उनके वलावल को जान कर तदनुसार प्रवन्ध करूँ। क्योंकि जो युद्ध करना चाहे, उसे पहिले शत्रु के वलावल का विचार और उसकी सेना के सैनिकों की गिनती अवश्य कर लेनी चाहिये ॥ १८ ॥

*अथैवमुक्तः शार्दूलो रावणेनोत्तमश्चरः ।
इदं वचनमारेभे वक्तुं रावणसन्निधौ ॥ १९ ॥

जब रावण ने दूतश्रेष्ठ शार्दूल से इस प्रकार पूँछा, तब उसने रावण से यह कहना आरम्भ किया ॥ १९ ॥

अथर्क्षरजसः पुत्रो युधि राजा सुदुर्जयः ।
गद्गदस्याथ पुत्रोऽत्र जाम्ववानिति विश्रुतः ॥ २० ॥

महाराज! ऋक्षराज का पुत्र (सुग्रीव) तो युद्ध में वड़ी कठिनाई से जीता जा सकता है और यही हाल गद्गद के पोष्यपुत्र का है, जो जाम्ववान के नाम से प्रख्यात है ॥२०॥

[नोट—जाम्ववान की उत्पत्ति इसके पूर्व ब्रह्मा की जँभुआई से कही जा चुकी है, यहाँ वह गद्गद का पुत्र वतलाया गया है। इस विरोध की मीमांसा में टीकाकारों ने जाम्ववान को गद्गद का पोष्यपुत्र वतलाया है।]

गद्गदस्यैव पुत्रोऽन्यो[1] गुरुपुत्रः शतक्रतोः ।
कदनं यस्य पुत्रेण कृतमेकेन रक्षसाम् ॥ २१ ॥

गद्गद का दूसरा पुत्र धूम्र भी यहाँ है। इन्द्र के गुरु वृहस्पति का पुत्र केसरी भी आया है। उसीके पुत्र हनुमान ने अकेले ही (लङ्का में) वहुत से राक्षसों का नाश किया था ॥ २१ ॥

---

१ अन्यःपुत्रो धूम्रः। (रा०) * पाठान्तरे—"तथैवमुक्तः।"

सुषेणश्चापि धर्मात्मा पुत्रो धर्मस्य वीर्यवान् ।
सौम्यः सोमात्मजश्चात्र राजन्दधिमुखः कपिः ॥ २२ ॥

धर्मपुत्र सुषेण बड़ा धर्मात्मा और पराक्रमी है। हे राजन्! चन्द्र का पुत्र दधिमुख वानर बड़ा सौम्य अर्थात् सरल स्वभाव का है ॥ २२ ॥

सुमुखो दुर्मुखश्चात्र वेगदर्शी च वानरः ।
मृत्युर्वानररूपेण नूनं सृष्टः स्वयंभुवा ॥ २३ ॥

सुमुख, दुर्मुख और वेगदर्शी वानर तो साक्षात् मृत्यु के अवतार ही हैं। मानों ब्रह्मा ने वानररूप में मृत्यु को रचा है ॥ २३ ॥

पुत्रो हुतवहस्याथ नीलः सेनापतिः स्वयम् ।
अनिलस्य च पुत्रोऽत्र हनुमानिति विश्रुतः ॥ २४ ॥

अग्निपुत्र नील वानरी सेना का सेनापति है। पवनपुत्र, जो हनुमान के नाम से प्रसिद्ध है, सेना में है ॥ २४ ॥

नप्ता शक्रस्य दुर्धर्षो बलवानङ्गदो युवा ।
मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ बलिनावश्विसम्भवौ ॥ २५ ॥

इन्द्र का पौत्र अङ्गद भी, जो बड़ा बलवान् युवा और दुर्धर्ष है, सेना में है। बलवान मैन्द और द्विविद अश्विनीकुमार के पुत्र हैं ॥ २५ ॥

पुत्रा वैवस्वतस्यात्र पञ्च कालान्तकोपमः ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ २६ ॥

गज, गवाक्ष, गवय, शरभ और गन्धमादन ; ये पाँच यमराज के पुत्र हैं, और ये उन्हींके तुल्य हैं। ये भी यहाँ आये हुए हैं ॥ २६ ॥

दश वानरकोट्यश्च शूराणां युद्धकाङ्क्षिणाम् ।
श्रीमतां देवपुत्राणां शेषं नाख्यातुमुत्सहे ॥ २७ ॥

हे राजन् ! इस सेना में दस करोड़ वानर तो देवताओं के सन्तान हैं। ये सब के सब बड़े शूरवीर, बलशाली एवं युद्धाभिलाषी हैं। अवशिष्ट वानरों के वर्णन की शक्ति मुझमें नहीं है ॥ २७ ॥

पुत्रो दशरथस्यैष सिंहसंहननो युवा ।
दूषणो निहतो येन खरश्च त्रिशिरास्तथा ॥ २८ ॥

ये दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र हैं, जिनकी सिंह की सी चाल है, जो अभी जवान हैं और जिन्होंने खर, दूषण और त्रिशिरा को अकेले ही मारा था ॥ २८ ॥

नास्ति रामस्य सदृशो विक्रमे भुवि कश्चन ।
विराधो निहतो येन कबन्धश्चान्तकोपमः ॥ २९ ॥

इस पृथिवी पर तो राम के समान पराक्रमी कोई दूसरा है नहीं, क्योंकि ये वे ही हैं, जिन्होंने यमराज के समान विराध और कबन्ध को मारा था ॥ २९ ॥

वक्तुं न शक्तो रामस्य नरः कश्चिद्गुणान्क्षितौ ।
जनस्थानगता येन यावन्तो राक्षसा हताः ॥ ३० ॥

इस पृथिवी तल पर ऐसा कोई नर नहीं है जो श्रीराम के गुणों का बखान कर सके। क्योंकि इन्होंने अकेले ही जनस्थानवासी समस्त (१४ हज़ार) राक्षसों को मार डाला था ॥ ३० ॥

लक्ष्मणश्चात्र धर्मात्मा [1]मातङ्गानामिवर्षभः ।
यस्य बाणपथं प्राप्य न जीवेदपि वासवः ॥ ३१ ॥

---

१ मातङ्गानामिवर्षभः— गजश्रेष्ठ इव स्थितः । (गो०)

धर्मात्मा लक्ष्मण भी एक श्रेष्ठगज के समान बलवान् हैं। इनके बाणों की मार के भीतर आ जाने पर इन्द्र भी जीता जागता नहीं बच सकता ॥ ३१ ॥

श्वेतो ज्योतिर्मुखश्चात्र भास्करस्यात्मसम्भवौ ।
वरुणस्य च पुत्रोऽन्यो हेमकूटः प्लवङ्गमः ॥ ३२ ॥

श्वेत और ज्योतिर्मुख नामक दोनों वानर, सूर्य के पुत्र हैं। वरुण का पुत्र हेमकूट नाम का वानर है ॥ ३२ ॥

विश्वकर्मसुतो वीरो नलः प्लवगसत्तमः ।
विक्रान्तो बलवानत्र वसुपुत्रः सुदुर्धरः ॥ ३३ ॥

विश्वकर्मा का पुत्र वानरश्रेष्ठ एवं वीर नल है। वसु का पुत्र सुदुर्धर है, जो बड़ा विक्रमी है और बलवान है ॥ ३३ ॥

राक्षसानां वरिष्ठश्च तव भ्राता विभीषणः ।
परिगृह्य पुरीं लङ्कां राघवस्य हिते रतः ॥ ३४ ॥

राक्षसों में श्रेष्ठ और तुम्हारा भाई विभीषण, राम से लङ्का का राज्य पा कर, श्रीरामचन्द्र जी का हितैषी बन गया है ॥ ३४ ॥

इति सर्वं समाख्यातं तवेदं वानरं बलम् ।
सुवेलेऽधिष्ठितं शैले शेषकार्ये भवान्गतिः ॥ ३५ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

मैंने सुवेलशैल पर ठहरी हुई वानरसेना का जो कुछ हाल जान पाया, वह आपको बतला दिया ; अब आगे जो कुछ करना हो, आप करें ॥ ३५ ॥

युद्धकाण्ड का तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकत्रिंशः सर्गः

—※—

ततस्तमक्षोभ्यबलं लङ्काधिपतये चराः ।
सुवेले राघवं शैले निविष्टं प्रत्यवेदयन् ॥ १ ॥

लङ्का में सुवेल पर्वत पर टिके हुए श्रीरामचन्द्र जी और उनकी अक्षोभ्यसेना का वृत्तान्त इस प्रकार रावण के चरों ने रावण को बतलाया ॥ १ ॥

चाराणां रावणः श्रुत्वा प्राप्तं रामं महाबलम् ।
जातोद्वेगोऽभवत्किञ्चित्सचिवानिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

चरों द्वारा महाबलवान श्रीरामचन्द्र का लङ्का में आना सुन कर, रावण कुछ घबड़ाया और अपने मंत्रियों से यह बोला ॥ २ ॥

मन्त्रिणः शीघ्रमायान्तु सर्वे वै [1]सुसमाहिताः ।
अयं नो मन्त्रकालो हि सम्प्राप्त इति राक्षसाः ॥ ३ ॥

हे राक्षसों ! मेरे समस्त नीतिकुशल दर्बारी या सलाहकार मेरे सामने तुरन्त उपस्थित हों—क्योंकि अब मंत्रणा करने का समय आ पहुँचा है ॥ ३ ॥

तस्य तच्छासनं श्रुत्वा मन्त्रिणोऽभ्यागमन्द्रुतम् ।
ततः स मन्त्रयामास सचिवैः राक्षसैः सह ॥ ४ ॥

रावण की यह आज्ञा पा, सब मंत्री तुरन्त आ कर उपस्थित हो गये । तब रावण उन राक्षस मंत्रियों के साथ परामर्श करने लगा ॥ ४ ॥

---

१ सुसमाहिताः—नीतिकुशला इत्यर्थः । (गो०)

मन्त्रयित्वा स दुर्धर्षः क्षमं यत्समनन्तरम् ।
विसर्जयित्वा सचिवान्प्रविवेश स्वमालयम् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के लङ्का के समीप आने के अनन्तर, रावण को जो करना उचित था, उसके सम्बन्ध में परामर्श कर चुकने के बाद, दुर्धर्ष रावण मंत्रियों को विदा कर, स्वयं भी अपने अन्तःपुर में चला गया ॥ ५ ॥

ततो राक्षसमाहूय विद्युज्जिह्वं महाबलम् ।
मायाविदं [1]महामायः प्राविशद्यत्र मैथिली ॥ ६ ॥

अन्तःपुर में पहुँच कर, रावण ने महाबली विद्युज्जिह्व राक्षस को बुलवाया और उस मायावी बाजीगर को अपने साथ ले वहाँ, जहाँ सीता रहती थीं, जाने की इच्छा प्रकट की ॥ ६ ॥

विद्युज्जिह्वं च मायाज्ञमब्रवीद्राक्षसाधिपः ।
मोहयिष्यावहे सीतां मायया जनकात्मजाम् ॥ ७ ॥

जाने के समय रावण भलीभाँति माया के जानने वाले विद्युज्जिह्व राक्षस से कहने लगा कि, हे निशाचर ! आओ हम दोनों माया की सहायता से अर्थात् बाजीगरी द्वारा सीता को धोखा दें ॥ ७ ॥

शिरो मायामयं गृह्य राघवस्य निशाचर ।
त्वं मां समुपतिष्ठस्व महच्च सशरं धनुः ॥ ८ ॥

अतः तुम श्रीरामचन्द्र जी का बनावटी सिर और बाण सहित एक बड़ा धनुष, उस समय लेकर मेरे पास आना (जिस समय मैं सीता के पास होऊँ) ॥ ८ ॥

---

१ महामायः—तादृशमाया प्रयोग कर्तारं । (रा०)

एवमुक्तस्तथेत्याह विद्युज्जिह्वो निशाचरः ।
तस्य तुष्टोऽभवद्राजा प्रददौ च विभूषणम् ॥ ९ ॥

तब मायावी विद्युज्जिह्व ने रावण की आज्ञा मान कर कहा बहुत अच्छा इस पर उसने (रावण ने) पारितोषिक में विद्युज्जिह्व को आभूषण दिया ॥ ९ ॥

अशोकवनिकायां तु सीतादर्शनलालसः ।
नैर्ऋतानामधिपतिः संविवेश महाबलः ॥ १० ॥

तदनन्तर महाबली राक्षसराज रावण सीता से मिलने की लालसा से अशोकवाटिका में गया ॥ १० ॥

ततो दीनामदैन्यार्हां ददर्श धनदानुजः ।
अधोमुखीं शोकपरामुपविष्टां महीतले ॥ ११ ॥

वहाँ कुबेर के छोटे भाई रावण ने उदास मन होने के अयोग्य होने पर भी, सीता को उदास मन हो, गर्दन झुकाये, शोक से विकल, ज़मीन पर बैठा हुआ देखा ॥ ११ ॥

भर्तारमेव ध्यायन्तीमशोकवनिकां गताम् ।
उपास्यमानां घोराभी राक्षसीभिरितस्ततः ॥ १२ ॥

सीता अशोकवाटिका में अपने पति श्रीरामचन्द्र जी के ध्यान में डूबी हुई थीं और भयङ्कर राक्षसियाँ उनके समीप इधर उधर बैठी हुई थीं ॥ १२ ॥

उपसृत्य ततः सीतां प्रहर्षं नाम कीर्तयन् ।
इदं च वचनं धृष्टमुवाच जनकात्मजाम् ॥ १३ ॥

रावण सीता के निकट गया और प्रसन्न हो अपना नाम सुना कर ढिठाई से जानकी जी से कहने लगा ॥ १३ ॥

सान्त्वमाना मया भद्रे यमुपाश्रित्य वल्गसे ।
खरहन्ता स ते भर्ता राघवः समरे हतः ॥ १४ ॥

हे भद्रे! मैंने तुझे बहुत समझाया, पर तू (आज तक) जिसके भरोसे मेरे वचनों का अनादर करती रही, खर का वध करने वाला तेरा वह पति राघव युद्ध में मारा गया ॥ १४ ॥

छिन्नं ते सर्वतो मूलं दर्पस्ते विहतो मया ।
[1]व्यसनेनात्मनः सीते मम भार्या भविष्यसि ॥ १५ ॥

अब तो मैंने तेरे सहारे की जड़ सब प्रकार से काट डाली और तेरा अभिमान चूर चूर कर डाला। अतएव अब तो तू अपने आप ही मेरी भार्या बनेहोगी अथवा अब तो तुझे मेरी पत्नी बनना ही पड़ेगा ॥ १५ ॥

विसृजेमां मतिं मूढे किं मृतेन करिष्यसि ।
भवस्व भद्रे भार्याणां सर्वासामीश्वरी मम ॥ १६ ॥

अब तू इन विचारों को त्याग दे। अरे मूर्खा! अब तू इस मरे हुए शरीर को ले कर क्या करेगी? हे भद्रे! अब तू मेरे साथ चल कर मेरी समस्त स्त्रियों की स्वामिनी बन ॥ १६ ॥

अल्पपुण्ये निवृत्तार्थे मूढे पण्डितमानिनि ।
शृणु भर्तृवधं सीते घोरं वृत्रवधं यथा ॥ १७ ॥

हे अल्पपुण्यवाली, हे नष्टार्थे! हे मूढे! हे पण्डितमानिनि! तू अब दारुण वृत्रासुर के वध की तरह अपने स्वामी के घोर वध का वृत्तान्त सुन ॥ १७ ॥

---

1 व्यसनेन—निमित्तेन। (गो०)

समायातः समुद्रान्तं मां हन्तुं किल राघवः ।
वानरेन्द्रप्रणीतेन[1] बलेन महता वृतः ॥ १८ ॥

सुग्रीव की एक बड़ी भारी वानरी सेना को साथ ले राम, मुझे मारने के लिये समुद्र के इस पार अवश्य आया था ॥ १८ ॥

सनिविष्टः समुद्रस्य पीड्य तीरमथोत्तरम् ।
बलेन महता रामो व्रजत्यस्तं दिवाकरे ॥ १९ ॥

जिस समय सूर्य अस्ताचलगामी हुए, उसी समय उसने समुद्र के उत्तरतट पर सेना को ला टिकाया और स्वयं भी वहीं टिका हुआ था ॥१९॥

अथाध्वनि परिश्रान्तमर्धरात्रे स्थितं बलम् ।
सुखसुप्तं समासाद्य चारितं प्रथमं चरैः ॥ २० ॥
तत्प्रहस्तप्रणीतेन बलेन महता मम ।
बलमस्य हतं रात्रौ यत्र रामः सलक्ष्मणः ॥ २१ ॥

मार्ग चलने की थकावट से आधीरात को सेना बेख़बर पड़ी सो रही थी। प्रथम से नियुक्त किये हुए जासूसों से जब यह हाल जाना गया, तब रात को बड़ी भारी सेना लेकर प्रहस्त ने वहाँ चढ़ाई की, जहाँ राम तथा लक्ष्मण थे और उनकी सेना को मार डाला ॥ २० ॥ २१ ॥

पट्टिशान्परिघांश्चक्रान्दण्डान्खड्गान्महायसान् ।
बाणजालानि शूलानि भास्वरान्कूटमुद्गरान् ॥ २२ ॥
यष्टीश्च तोमराञ्शक्तीश्चक्राणि मुसलानि च ।
उद्यम्योद्यम्य रक्षोभिर्वानरेषु निपातिताः ॥ २३ ॥

---

१ प्रणीतेन—आनीतेन । (गो०)

पट, परिघ, चक्र और ईसपात के बने डंडे, खड्ग, तीर, शूल, काँटेदार चमचमाते मुग्दर, लाठी, तोमर, शक्ति चन्द्राकार मुशलादि शस्त्रों को ले ले कर, राक्षसों ने वानरों को उनके अघात से मार गिराया ॥२२॥२३॥

अथ सुप्तस्य रामस्य प्रहस्तेन प्रमाथिना ।
असक्तं कृतहस्तेन शिरश्छिन्नं महासिना ॥ २४ ॥

तदनन्तर शत्रुसैन्य को मथन करने वाले प्रहस्त ने अपने हाथ की फुर्ती दिखला कर, एक बड़ी तलवार से झट श्रीरामचन्द्र का सिर काट डाला ॥ २४ ॥

विभीषणः समुत्पत्य निगृहीतो यदृच्छया ।
दिशः प्रव्राजितः सर्वैर्लक्ष्मणः प्लवगैः सह ॥ २५ ॥

विभीषण को जितना दण्ड देना चाहिये था, उतना दण्ड देने में कसर नहीं की गयी । तब लक्ष्मण बचे हुए, सब वानरों को साथ ले भाग गया ॥२५॥

सुग्रीवो ग्रीवया शेते भग्नया प्लवगाधिपः ।
निरस्तहनुकः शेते हनुमान्राक्षसैर्हतः ॥ २६ ॥

वानरराज सुग्रीव गरदन टूट जाने से रणभूमि में मरा पड़ा है । राक्षसों ने हनुमान की ठोड़ी तोड़ डाली और वह भी रणक्षेत्र में मरा पड़ा है ॥ २६ ॥

जाम्बवानथ जानुभ्यामुत्पतन्निहतो युधि ।
पट्टिशैर्बहुभिश्छिन्नो निकृत्तः पादपो यथा ॥ २७ ॥

जाम्बवान कूद कर भागना चाहता था, किन्तु राक्षसों ने पटों की मार से उसकी जांघे तोड़ दीं । वह भी कटे हुए पेड़ की तरह वहीं पर मरा पड़ा है ॥ २७ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ निहतौ वानरर्षभौ ।

निश्वसन्तौ रुदन्तौ च रुधिरेण परिप्लुतौ ॥ २८ ॥

वानरश्रेष्ठ मैन्द और द्विविद लंबी लंबी साँसे लेते और रोते हुए तथा रक्त से (न्हाये हुए) लथपथ हो, मारे गये ॥ २८ ॥

असिना [1]व्यायतौ छिन्नौ मध्ये[2] ह्यरिनिषूदनौ ।

अनुतिष्ठति मेदिन्यां पनसः पनसो यथा ॥ २९ ॥

इन बड़े डीलडौल वाले शत्रुहन्ता दोनों वानरों की कमरें तलवार से काट डाली गयी थीं । पनस नामक वानर पनस (कटहर के) पेड़ की तरह ज़मीन पर कटा हुआ पड़ा है ॥ २९ ॥

नाराचैर्बहुभिश्छिन्नः शेते दर्यां दरीमुखः ।

कुमुदस्तु महातेजा निष्कूजः सायकैः कृतः ॥ ३० ॥

दरीमुख अनेक बाणों के प्रहार से मरा हुआ, कन्दरा में पड़ा सो रहा है । महातेजस्वी कुमुद भी बाणों की मार से सदा के लिये निःशब्द (मूक-गूंगा) बना दिया गया है ॥ ३० ॥

अङ्गदो बहुभिश्छिन्नः शरैरासाद्य राक्षसैः ।

पतितो रुधिरोद्गारी क्षितौ निपतिताङ्गदः ॥ ३१ ॥

अङ्गद भी राक्षसों द्वारा चलाये हुए अनेक बाणों से क्षत विक्षत हो, मारा गया । उनका बाजू सहित बाहु भूमि पर पड़ा है और उसके सब अङ्गों से रुधिर बह रहा है । अथवा रक्त की वमन करता हुआ वह मरा है ॥ ३१ ॥

हरयो मथिता नागै रथजातैस्तथाऽपरे ।

शायिता मृदितास्चाश्वैर्वायुवेगैरिवाम्बुदाः ॥ ३२ ॥

---

1 व्यायतौ—दीर्घ शरीर । (गो०) 2 मध्ये—कटिस्थाने ।

अनेक वानर तो हाथियों के पैरों के नीचे कुचल कर मर गये। बहुत से रथों की चपेटों में आ कर मारे गये। बहुत से सोते हुए कुचल गये। जिस प्रकार हवा के वेग से बादल अदृश्य हो जाते हैं, उसी प्रकार राक्षसी सेना के आक्रमण से सब वानर अदृश्य हो गये हैं॥ ३२॥

प्रहृताश्चापरे त्रस्ता हन्यमाना [1]जघन्यतः।
अभिद्रुतास्तु रक्षोभिः सिंहैरिव महाद्विपाः॥ ३३॥

बहुत से वानर तो मारकाट के समय डर कर भागते समय पीछे से मारे गये। बहुत से राक्षसों से पिछियाये जा कर ऐसे भागे जैसे सिंह के झपटने पर बड़े बड़े हाथी भागते हैं॥ ३३॥

सागरे पतिताः केचित्केचिद्गगनमाश्रिताः।
ऋक्षा वृक्षानुपारूढा *वानरैर्व्यतिमिश्रिताः॥ ३४॥

कोई कोई तो समुद्र में कूद पड़े और कोई कोई आकाश में उड़ गये। रीछ वानरों के साथ वृक्षों पर चढ़ गये॥ ३४॥

सागरस्य च तीरेषु शैलेषु च वनेषु च।
[2]पिङ्गलास्ते [3]विरूपाक्षैर्बहुभिर्बहवो हताः॥ ३५॥

समुद्र के तट पर, पर्वतों और वनों में जिन वानरों ने आश्रय लिया था उनमें से बहुत से राक्षसों द्वारा मार डाले गये॥ ३५॥

एवं तव हतो भर्ता ससैन्यो मम सेनया।
क्षतजार्द्रं रजोध्वस्तमिदं चास्याहृतं शिरः॥ ३६॥

---

१ जघन्यतः पृष्ठतः। (गो०) २ पिङ्गलाः—वानराः। (गो०)
३ विरूपाक्षैः—वानरैः। (गो०) * पाठान्तरे—"वानरीं वृत्तिमाश्रिताः।"

इस प्रकार तेरा भर्ता ससैन्य मेरी सेना द्वारा मारा गया। उसका यह कटा हुआ सिर तुझे दिखलाने को लाया गया है। देख यह रक्त और धूल से सना है॥ ३६॥

तत: परमदुर्धर्षो रावणो राक्षसाधिपः।
सीतायामुपशृण्वन्त्यां राक्षसीमिदमब्रवीत्॥ ३७॥

तदनन्तर परम दुर्धर्ष राक्षसराज रावण सीता को सुना कर एक राक्षसी से यह बोला॥ ३७॥

राक्षसं क्रूरकर्माणं विद्युज्जिह्वं त्वमानय।
येन तद्राघवशिरः संग्रामात्स्वयमाहृतम्॥ ३८॥

तू जाकर उस क्रूरकर्मा विद्युज्जिह्व राक्षस को बुला ला, जो स्वयं रणक्षेत्र से उस राम का सिर लाया है॥ ३८॥

विद्युज्जिह्वस्ततो गृह्य शिरस्तत्सशरासनम्।
प्रणामं शिरसा कृत्वा रावणस्याग्रतः स्थितः॥ ३९॥

(राक्षसी द्वारा बुलाये जाने पर) विद्युज्जिह्व उस सिर को तथा धनुष को लिये हुए, रावण के सामने आ खड़ा हो गया और सिर नवा कर उसको प्रणाम किया॥ ३९॥

तमब्रवीत्ततो राजा रावणो राक्षसं स्थितम्।
विद्युज्जिह्वं महाजिह्वं समीपपरिवर्तिनम्॥ ४०॥

बड़ी जीभ वाले विद्युज्जिह्व को अपने निकट खड़ा देख, राजा रावण ने उससे कहा॥ ४०॥

अग्रतः कुरु सीतायाः शीघ्रं दाशरथेः शिरः।
[1]अवस्थां पश्चिमां भर्तुः कृपणा साधु पश्यतु॥ ४१॥

---

1 पश्चिमामवस्थां—मरणनिलयं। (गो०)

राम का कटा हुआ सिर तू सीता के सामने रख दे, जिससे यह बापुरी अपने मरे हुए राम को अच्छी तरह देख ले ॥ ४१ ॥

एवमुक्तं तु तद्रक्षः शिरस्तत्प्रियदर्शनम् ।
उप निक्षिप्य सीतायाः क्षिप्रमन्तरधीयत ॥ ४२ ॥

ज्योंही रावण ने विद्युज्जिह्व से यह कहा, त्योंही वह प्रियदर्शन राम का कटा हुआ सिर सीता के पास रख, स्वयं तुरन्त अन्तर्धान हो गया ॥ ४२ ॥

रावणश्चापि चिक्षेप भास्वरं कार्मुकं महत् ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं सीतामिदमुवाच च ॥ ४३ ॥

तब रावण ने भी उस चमचमाते और त्रिलोकी में प्रसिद्ध विशाल धनुष को सीता के सामने फेंक कर, यह कहा ॥ ४३ ॥

इदं तत्तव रामस्य कार्मुकं ज्यासमायुतम् ।
इह प्रहस्तेनानीतं हत्वा तं निशि मानुषम् ॥ ४४ ॥

यह तेरे राम का रोदा सहित धनुष है। रात में उस मनुष्य को मार, प्रहस्त इसे ले आया है ॥ ४४ ॥

स विद्युज्जिह्वेन सहैव तच्छिरो
धनुश्च भूमौ विनिकीर्य रावणः ।
विदेहराजस्य सुतां यशस्विनीं
ततोऽब्रवीत्तां भव मे वशानुगा ॥ ४५ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर रावण विद्युज्जिह्व का लाया हुआ वह कटा हुआ रामचन्द्र का मस्तक और धनुष पृथिवी पर सीता के आगे छितरा कर, यशस्विनी विदेहतनया सीता से बोला—अब तो तू मेरी वशवर्तिनी हो जा। अर्थात् मेरी पत्नी बन जा ॥ ४५ ॥

युद्धकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्वात्रिंशः सर्गः

—※—

सा सीता तच्छिरो दृष्ट्वा तच्च कार्मुकमुत्तमम्।
सुग्रीवप्रतिसंसर्गमाख्यातं च हनूमता ॥ १ ॥

सीता को उस कटे सिर और उस श्रेष्ठ कार्मुक को देख, हनुमान जी की बतलायी हुई सुग्रीव के साथ श्रीरामचन्द्र जी की मैत्री का स्मरण हो आया ॥ १ ॥

नयने मुखवर्णं च भर्तुस्तत्सदृशं मुखम्।
केशान्केशान्तदेशं[1] च तं च चूडामणिं शुभम् ॥ २ ॥

सीता ने देखा कि, उस कटे हुए मस्तक के दोनों नेत्र, चेहरे की रंगत और मुख हूबहू उनके पति श्रीरामचन्द्र जी जैसा है। उस कटे हुए सिर के बाल और ललाट भी ज्यों के त्यों वैसे ही हैं और वह श्रेष्ठ चूड़ामणि भी वही है ॥ २ ॥

एतैः सर्वैरभिज्ञानैरभिज्ञाय सुदुःखिता।
विजगर्हेऽत्र कैकेयीं क्रोशन्ती कुररी यथा ॥ ३ ॥

---

१ केशान्तदेशं—ललाटं। (गो०)

सीता जी और भी अनेक प्रकार की बातों से अपने पति का मारा जाना निश्चित जान, अत्यन्त दुखी हुई और कुररी की तरह शोक से विकल हो, कैकेई को उपालंभ देती हुई अथवा उसकी निन्दा कर विलाप करने लगी ॥ ३ ॥

सकामा भव कैकेयि, हतोऽयं कुलनन्दनः ।
कुलमुत्सादितं सर्वं त्वया कलहशीलया ॥ ४ ॥

हे कैकेयी ! अब तो तेरी साध पूरी हुई । देख, यह इक्ष्वाकुकुलनन्दन मारे गये । तुझ कलहप्रिया ने इस कुल की जड़ ही उखाड़ फेंकी ॥ ४ ॥

आर्येण किं ते कैकेयि कृतं रामेण विप्रियम् ।
तद्गृहाच्चीरवसनं दत्त्वा प्रव्राजितो वनम् ॥ ५ ॥

अरी कैकेयी ! आर्य राम ने तेरा क्या बिगाड़ा था, जो तूने उनको चीरवस्त्र पहिना कर, घर से वन में निकाला दिया था ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा तु वैदेही वेपमाना तपस्विनी ॥ ६ ॥

दुखियारी जानकी यह कह कर थरथर काँपने लगी ॥ ६ ॥

जगाम जगतीं बाला छिन्ना तु कदली यथा ।
सा मुहूर्तात्समाश्वास्य प्रतिलभ्य च चेतनाम् ॥ ७ ॥

और कटे हुए केले के पेड़ की तरह ज़मीन पर गिर पड़ीं । फिर थोड़ी देर बाद वे सावधान हो सचेत हुईं ॥ ७ ॥

तच्छिरः समुपाघ्राय विललापायतेक्षणा ।
हा हतास्मि महाबाहो वीरव्रतमनुव्रत ॥ ८ ॥

और उस सिर को भली भाँति सूँघ कर विशालनेत्र वाली सीता विलाप कर के कहने लगी—हे महाबाहो! हे वीरव्रतधारी! हाय मैं मर गयी ॥ ८ ॥

इमां ते पश्चिमावस्थां गताऽस्मि विधवा कृता ।
प्रथमं मरणं नार्या भर्तुर्वैगुण्यमुच्यते ॥ ९ ॥

तुम्हारे मरने से मैं तो विधवा हो गयी। स्त्री के रहते उसके पति का मरना स्त्री के दोष ही से होता है ॥ ९ ॥

सुवृत्त साधुवृत्तायाः संवृत्तस्त्वं ममाग्रतः ।
दुःखाद्दुःखं प्रपन्नाया मग्नाया शोकसागरे ॥ १० ॥

सो हे साधुवृत्त! सो आप मुझ धर्मचारिणी से पहिले ही परलोक को सिधार गये। मैं तो अत्यन्त दुखी हो, पहिले ही शोकसागर में डूबी हुई थी ॥ १० ॥

यो हि मामुद्यतस्त्रातुं सोऽपि त्वं विनिपातितः ।
सा श्वश्रूर्मम कौसल्या त्वया पुत्रेण राघव ॥ ११ ॥

आप मेरा उद्धार करने को उद्यत हुए थे, सो आप भी मारे गये। हे राघव! आप सरीखा पुत्र पा, मेरी सास कौशल्या पुत्रवत्सला कहलाती थी ॥ ११ ॥

वत्सेनेव यथा धेनुर्विवत्सा वत्सला कृता ।
आदिष्टं दीर्घमायुस्ते यैरचिन्त्यपराक्रम ॥ १२ ॥

सो वह भी बिना बछड़े की गौ की तरह निर्वत्सला हो गयी। ज्योतिषी ने तुम्हारा अचिन्त्य पराक्रम देख, तुमको दीर्घायु बतलाया था ॥ १२ ॥

अनृतं वचनं तेषामल्पायुरसि राघव ।
अथवा नश्यति प्रज्ञा प्राज्ञस्यापि सतस्तव ॥ १३ ॥

हे राघव ! (सो मेरे दुर्भाग्य से) तुम अल्पायु हुए और उनके वचन असत्य ठहरे । अथवा उनका वचन मिथ्या नहीं है अर्थात् वे असत्यवादी नहीं हैं, किन्तु तुम्हारे भाग्यविपर्यय से उनकी बुद्धि भी मारी गयी ॥ १३ ॥

पचत्येनं यथा कालो भूतानां प्रभवो ह्ययम् ।
अदृष्टं मृत्युमापन्नः कस्मात्त्वं नयशास्त्रवित् ॥ १४ ॥
व्यसनानामुपायज्ञः कुशलो ह्यसि वर्जने ।
तथा त्वं सम्परिष्वज्य रौद्रयातिनृशंसया ॥ १५ ॥
कालरात्र्या मयाच्छिद्य हृतः कमललोचन ।
उपशेषे महाबाहो मां विहाय तपस्विनीम् ॥ १६ ॥
प्रियामिव समाश्लिष्य पृथिवीं पुरुषर्षभ ।
अर्चितं सततं यत्तद्गन्धमाल्यैर्मया तव ॥ १७ ॥

काल की करतून ही ऐसी है । क्योंकि प्राणियों का कारणभूत वही है । हे राम ! तुम तो नीतिशास्त्रविशारद थे, उपाय करने में निपुण थे, विपदों के निवारण में समर्थ हो कर भी, तुम्हारी इस प्रकार अचानक मृत्यु कैसे हुई । हाय ! भयङ्कर निष्ठुर कालरात्रि ने तुम कमललोचन के मुझसे बरजोरी छीन लिया । हे महाबाहो ! मुझ दुखियारी के त्याग कर, प्यारी स्त्री की नाईं पृथिवी से लिपट कर तुम कहाँ पड़े हो ! मैं तुम्हारे साथ सुगन्धित द्रव्य और पुष्पमालाओं से सदा जिसका पूजन किया करती थी ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

इदं ते मत्प्रियं वीर धनुः काञ्चनभूषणम् ।
पित्रा दशरथेन त्वं श्वशुरेण ममानघ ॥ १८ ॥

और जो मुझे अत्यन्त प्यारा था; हे वीर! उसी तुम्हारे इस सुवर्णभूषित धनुष की यह क्या दशा है? हे पापरहित! तुम अपने पिता और मेरे पापरहित ससुर महाराज दशरथ ॥ १८ ॥

सर्वैश्च पितृभिः सार्धं नूनं स्वर्गे समागतः ।
[1]दिवि नक्षत्रभूतस्त्वं महत्कर्मकृतां प्रियम् ॥ १९ ॥

पुण्यं राजर्षिवंशं त्वमात्मनः समवेक्षसे ।
किं मां न प्रेक्षसे राजन्किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २० ॥

तथा अन्य सब पितरों से स्वर्ग में निश्चय ही मिले होगे। बड़े बड़े यज्ञानुष्ठान करने वाले और विमानों में स्थित, अपने पवित्र इक्ष्वाकादिराजर्षियों को तुम देखते होगे। हे राजन्! तुम मुझे क्यों नहीं देखते और मुझसे क्यों नहीं बोलते? ॥ १९ ॥ २० ॥

बालां बाल्येन सम्प्राप्तां भार्यां मां सहचारिणीम् ।
संश्रुतं गृह्णता पाणिं चरिष्यामीति यत्त्वया ॥ २१ ॥

हे राजन्! तुमने लड़कपने में ही मुझ बाला को अपनी सम-दुःख-सुख भोग करने वाली स्त्री कह कर अङ्गीकार किया था और पाणिग्रहण के समय तुमने प्रतिज्ञा की थी कि, मैं तेरे साथ रहूँगा ॥ २१ ॥

स्मर तन्मम काकुत्स्थ नय मामपि दुःखिताम् ।
कस्मान्मामपहाय त्वं गतो गतिमतां वर ॥ २२ ॥

---

१ दिवि नक्षत्रभूतः—विमानस्थःसन्। (गो०)

सो हे काकुत्स्थ! उसे याद करो और मुझ दुखिया को भी अपने साथ लेते चलो। हे भली गति को प्राप्त! तुम मुझे क्यों छोड़ कर चले गये? ॥ २२ ॥

अस्माल्लोकादमुं लोकं त्यक्त्वा मामपि दुःखिताम्।
कल्याणैरुचितं यत्तत्परिष्वक्तं मयैव तु ॥ २३ ॥

मुझ दुखिया को भी त्याग कर, तुम इस लोक से परलोक में क्यों चले गये? तुम्हारे आभूषणों से भूषित होने योग्य जिस शरीर का मैं आलिङ्गन किया करती थी ॥ २३ ॥

क्रव्यादैस्तच्छरीरं ते नूनं विपरिकृष्यते।
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टवानाप्तदक्षिणः ॥ २४ ॥
अग्निहोत्रेण संस्कारं केन त्वं तु न लप्स्यसे।
प्रव्रज्यामुपपन्नानां त्रयाणामेकमागतम् ॥ २५ ॥

उसको मांसभक्षी गिद्ध आदि निश्चय ही नोंचते खसोटते होंगे। वनवास की अवधि समाप्त होने पर तुमको तो पर्याप्त दक्षिणा प्रदान पूर्वक (प्रायश्चितात्मक) अग्न्याधान ग्रहण करना उचित था और जब तुम्हारी आयु शेष होती तब उसी अग्न्याधान के अग्नि से तुम्हारे शरीर का अग्निसंस्कार होना चाहिये था, परन्तु यह बीच ही में क्या का क्या हो गया। तुम्हारे मृतशरीर का अग्नि संस्कार क्यों नहीं हुआ। (गो०) हम तीन वनवासियों में से जब एक (लक्ष्मण) लौट कर अयोध्या में जायगा ॥ २४ ॥ २५ ॥

परिप्रक्ष्यति कौसल्या लक्ष्मणं शोकलालसा।
स तस्याः परिपृच्छन्त्या वधं मित्रबलस्य ते ॥ २६ ॥

तब शोकविह्वला कौशल्या लक्ष्मण से पूँछेगी। तब लक्ष्मण उसके पूँछने पर तुम्हारा और तुम्हारे मित्र की सैन्य के मारे जाने का वृत्तान्त कहेंगे ॥ २६ ॥

तव चाख्यास्यते नूनं निशायां राक्षसैर्वधम् ।
सा त्वां सुप्तं हतं श्रुत्वा मां च रक्षोगृहं गताम् ॥ २७ ॥

उस समय लक्ष्मण निश्चय ही कहेंगे कि, रात में सोते हुए तुम राक्षसों द्वारा मार डाले गये। तब कौशल्या सोते में तुम्हारा मारा जाना और मेरा राक्षस के घर में रुद्ध होना सुनेगी ॥ २७ ॥

हृदयेनावदीर्णेन न भविष्यति राघव ।
मम हेतोरनार्याया ह्यनर्हः पार्थिवात्मजः ॥ २८ ॥

हे राघव ! तब अवश्य ही उसका हृदय फट जायगा और वह मर जायगी। हे राजकुमार ! मुझ अभागिनी के कारण तुम्हारा इस प्रकार का सौप्तिकवध (सोते में वध) सर्वथा अयोग्य है ॥ २८ ॥

रामः सागरमुत्तीर्य सत्त्ववान्गोष्पदे हतः ।
अहं दाशरथेनोढा मोहात्स्वकुलपांसनी ॥ २९ ॥

हा ऐसे बलवान राम, सागर तो पार कर आये, किन्तु गौ के खुर भर पानी में डूब कर मर गये अर्थात् खर दूषण त्रिशिरा कबन्धादि दुर्दान्त राक्षसों के मारने वाले राम को एक क्षुद्र प्रहस्त ने मार डाला। हा ! मुझ कुलकलङ्किनी के साथ रामचन्द्र जी ने विवाह कर बड़ी भूल की ॥ २९ ॥

आर्यपुत्रस्य रामस्य भार्या मृत्युरजायत ।
नूनमन्यां मया जातिं वारितं [1]दानमुत्तमम् ॥ ३० ॥

---

१ दानमुत्तमम्—कन्यादानं । (गो०)

क्योंकि मैं उस राजकुमार की भार्या हो कर उसकी मृत्यु का कारण हुई। मैंने पूर्वजन्म में किसी के कन्यादान में अवश्य ही बाधा डाली होगी ॥ ३० ॥

याऽहमद्येह शोचामि भार्या [1]सर्वातिथेरपि ।
साधु पातय मां क्षिप्रं रामस्योपरि रावण ॥ ३१ ॥

इसीसे तो इस जन्म में सब की रक्षा करने वाले अथवा सब का आतिथ्य करने वाले श्रीरामचन्द्र की भार्या हो कर भी और सुखभोग का समय उपस्थित होने पर भी, मैं ऐसी दुर्दशा में पड़ी हुई हूँ। हे रावण! तू बड़ा अच्छा काम करे, जो मुझे भी शीघ्र मार कर, राम के ऊपर डाल दे ॥ ३१ ॥

समानय पतिं पत्न्या कुरु कल्याणमुत्तमम् ।
शिरसा मे शिरश्चास्य कायं कायेन योजय ॥ ३२ ॥

हे रावण! पति को पत्नी से मिला कर यह एक बड़ी भलाई का काम कर और राम के सिर से मेरा सिर और राम के शरीर से मेरा सिर मिला दे ॥ ३२ ॥

रावणानुगमिष्यामि गतिं भर्तुर्महात्मनः ।
[मुहूर्तमपि नेच्छामि जीवितुं पापजीविता ॥ ३३ ॥]

हे रावण! मैं अपने महात्मा पति की अनुगामिनी होऊँगी। मैं इस प्रकार का (पति विना) पापमय जीवन एक क्षण भी धारण करना नहीं चाहती ॥ ३३ ॥

इति सा दुःखसन्तप्ता विललापायतेक्षणा ।
भर्तुः शिरो धनुस्तत्र समीक्ष्य च पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

---

1 सर्वातिथेरपि—सर्वरक्षितुरित्यर्थः । सर्वातिथिपूजकस्येतिवाऽर्थः । (गो०)

एवं लालप्यमानायां सीतायां तत्र राक्षसः ।
अभिचक्राम भर्तारमनीकस्थः कृताञ्जलिः ॥ ३५ ॥

बड़े बड़े नेत्रवाली दुखिया जानकी पति के कटे सीस और धनुष को बार बार देख कर विलाप कर रही थी कि, इतने में रावण की सेना का एक राक्षस आया और रावण के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

विजयस्वार्यपुत्रेति सोऽभिवाद्य प्रसाद्य च ।
न्यवेदयदनुप्राप्तं प्रहस्तं वाहिनीपतिम् ॥ ३६ ॥

अमात्यैः सहितैः सर्वैः प्रहस्तः समुपस्थितः ।
तेन दर्शनकामेन वयं प्रस्थापिताः प्रभो ॥ ३७ ॥

"आर्यपुत्र की जय हो" कह कर उसने रावण को प्रणाम किया और रावण को प्रसन्न कर उसने यह समाचार दिया कि, सब मंत्रियों सहित सेनापति प्रहस्त उपस्थित हैं। हे प्रभो! आपसे मिलने की इच्छा से उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

नूनमस्ति महाराज राजभावात्क्षमान्वितम् ।
किञ्चिदात्ययिकं कार्यं तेषां त्वं दर्शनं कुरु ॥ ३८ ॥

हे महाराज! कोई ऐसा महत्वपूर्ण कार्य उपस्थित है, जो बिना आपकी आज्ञा नहीं किया जा सकता, अतएव आप उनको दर्शन दीजिये ॥ ३८ ॥

एतच्छ्रुत्वा दशग्रीवो राक्षसप्रतिवेदितम् ।
अशोकवनिकां त्यक्त्वा मन्त्रिणां दर्शनं ययौ ॥ ३९ ॥

उस राक्षस के इस प्रकार के वचन सुन, दशानन रावण अशोक-वाटिका त्याग, मंत्रियों से मिलने के लिये चल दिया ॥ ३९ ॥

स तु सर्वं समर्थ्यैव मन्त्रिभिः कृत्यमात्मनः ।
सभां प्रविश्य विदधे विदित्वा रामविक्रमम् ॥ ४० ॥

मंत्रियों के परामर्श से सब कार्यों का निश्चय कर, वह सभा में गया और वहाँ श्रीरामचन्द्र जी के बल विक्रम को भली भाँति समझ बूझ कर, उसने आवश्यक प्रबन्ध करवाया ॥ ४० ॥

अन्तर्धानं तु तच्छीर्षं तच्च कार्मुकमुत्तमम् ।
जगाम रावणस्यैव निर्याणसमनन्तरम् ॥ ४१ ॥

जिस समय रावण अशोकवाटिका से प्रस्थानित हुआ था; उसी समय श्रीरामचन्द्र जी का कटा हुआ वह बनावटी सिर और धनुष भी न जाने कहाँ ग़ायब हो गया था ॥ ४१ ॥

राक्षसेन्द्रस्तु तैः सार्धं मन्त्रिभिर्भीमविक्रमैः ।
समर्थयामास तदा रामकार्यविनिश्चयम् ॥ ४२ ॥

रावण ने उन भीम विक्रमी मंत्रियों के साथ श्रीरामचन्द्र जी के सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्य निश्चय किया ॥ ४२ ॥

अविदूरस्थितान्सर्वान्बलाध्यक्षान्हितैषिणः ।
अब्रवीत्कालसदृशं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ४३ ॥

फिर निकट ही खड़े हुए अपने हितैषी सेनापतियों से राक्षस-राज रावण ने समयानुकूल वचन कहे ॥ ४३ ॥

शीघ्रं भेरीनिनादेन स्फुटकोणाहतेन मे ।
समानयध्वं सैन्यानि वक्तव्यं च न कारणम् ॥ ४४ ॥

तुम अति शीघ्र नगाड़े पर चोव पड़वा कर मेरी सेना को बुला लाओ, किन्तु उनको बुलाने का कारण मत बतलाना ॥ ४४ ॥

ततस्तथेति प्रतिगृह्य तद्वचो
बलाधिपास्ते महदात्मनो बलम् ।
समानयंश्चैव समागमं च ते
न्यवेदयन्भर्तरि युद्धकाङ्क्षिणि ॥ ४५ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

रावण की आज्ञा मान और बहुत अच्छा कह, वे सेनापति अपनी महती एवं युद्धकाङ्क्षिणी सेना को लिवा लाये और सेना के आने की सूचना अपने स्वामी—रावण को दी ॥ ४५ ॥

युद्धकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—*—

सीतां तु मोहितां दृष्ट्वा सरमा नाम राक्षसी ।
आससादाथ वैदेहीं प्रियां प्रणयिनी सखीम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के विषय में सीता की विपरीत धारणा देख, अथवा सीता को धोखे में पड़ी देख, सीता जी की हितैषिणी प्यारी सरमा नाम की राक्षसी (विभीषण की पत्नी) जानकी जी के पास आ कर बैठ गयी ॥ १ ॥

मोहितां राक्षसेन्द्रेण सीतां परमदुःखिताम् ।
आश्वासयामास तदा सरमा मृदुभाषिणी ॥ २ ॥

राक्षसराज रावण द्वारा सीता को छली हुई और उसे अत्यन्त दुःखी देख, मधुरभाषिणी सरमा ने सीता को धीरज बँधाया ॥ २॥

सा हि तत्र कृता मित्रं सीतया रक्ष्यमाणया ।
रक्षन्ती रावणादिष्टा सानुक्रोशा दृढव्रता ॥ ३ ॥

रावण ने इस सरमा को दयावती और दृढ़प्रतिज्ञ देख, सीता की रखवाली के लिये रख दिया था। एक साथ रहते रहते इन दोनों में परस्पर मैत्री हो गयी थी ॥ ३ ॥

सा ददर्श ततः सीतां सरमा नष्टचेतनाम् ।
उपावृत्योत्थितां ध्वस्तां वडवामिव पांसुलाम् ॥ ४ ॥

सरमा ने देखा कि, सीता अत्यन्त व्याकुल हो और शोकाकुल हो भूमि पर धूल में लोटी हुई घोड़ी की तरह लोट रही है, उसके समस्त अंगों में धूल लगी हुई है और वह अपने आपेमें नहीं है ॥ ४ ॥

तां समाश्वासयामास सखीस्नेहेन सुव्रता ।
समाश्वसिहि वैदेहि माभूत्ते मनसो व्यथा ॥ ५ ॥

सखीस्नेह के वशवर्ती हो पतिव्रता सरमा ने सीता जी को धीरज बँधाया और कहा—तू अपने मन को दुखी मत कर ॥ ५ ॥

उक्ता यद्रावणेन त्वं [1]प्रत्युक्तं च स्वयं त्वया ।
सखीस्नेहेन तद्भीरु मया सर्वं प्रतिश्रुतम् ॥ ६ ॥

---

1 प्रत्युक्तं प्रलापरूपं । (गो०)

हे भीरु! रावण ने जो कुछ तुझ से कहा और उसे सुन तूने जो प्रलाप रूप से उत्तर दिया सो सब मैंने सखी भाव से सुना है ॥ ६ ॥

लीनया गगने शून्ये भयमुत्सृज्य रावणात् ।
तव हेतोर्विशालाक्षि न हि मे जीवितं प्रियम् ॥ ७ ॥

मैं रावण के भय से तुझको छोड़, अब तक अन्तरिक्ष में (आड़ में) छिपी हुई थी; किन्तु हे विशालाक्षी! मुझे तेरे सामने अपने प्राण भी प्रिय नहीं हैं ॥ ७ ॥

[नोट—जब रावण ने सरमा को स्वयं सीता जी के निकट रखा था; तब उसके छिपने की आवश्यकता ही क्या थी? आवश्यकता यह थी कि सरमा पतिव्रता थी—अतः वह अपने जेठ के सामने नहीं आ सकती थी।]

स सम्भ्रान्तश्च निष्क्रान्तो यत्कृते राक्षसाधिपः ।
तच्च मे विदितं सर्वमभिनिष्क्रम्य मैथिलि ॥ ८ ॥

हे मैथिली! राक्षसराज रावण जिस कारण घबड़ा कर यहाँ से गया था—वह समस्त कारण मैं बाहिर जा कर जान आयी हूँ ॥ ८ ॥

न शक्यं सौप्तिकं कर्तुं रामस्य विदितात्मनः ।
वधश्च पुरुषव्याघ्रे तस्मिन्नैवोपपद्यते ॥ ९ ॥

उन आत्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी का वध सोते में कोई नहीं कर सकता। वह पुरुषव्याघ्र किसी प्रकार मारा ही नहीं जा सकता ॥ ९ ॥

न त्वेव वानरा हन्तुं शक्याः पादपयोधिनः ।
सुरा देवर्षभेणेव रामेण हि सुरक्षिताः ॥ १० ॥

जिस प्रकार नारायण द्वारा सुरक्षित देवताओं को कोई नहीं मार सकता, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र द्वारा रक्षित और वृक्षों से लड़ने वाले वानरों को भी कोई मार नहीं सकता ॥ १० ॥

दीर्घवृत्तभुजः श्रीमान्महोरस्कः प्रतापवान् ।
धन्वी [1]संहननोपेतो धर्मात्मा भुवि विश्रुतः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की बड़ी बड़ी और गोल गोल भुजाएँ हैं, वे कान्तिमान हैं, उनकी छाती चौड़ी है, वे बड़े तेजस्वी हैं, वे धनुष चलाने में बड़े निपुण हैं और सुन्दर शारीरिक अवयवों से सम्पन्न हैं। वे बड़े धर्मात्मा हैं और पृथिवीतल पर प्रसिद्ध हैं ॥ ११ ॥

विक्रान्तो रक्षिता नित्यमात्मनश्च परस्य च ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा कुशली नयशास्त्रवित् ॥ १२ ॥

वे बड़े विक्रमी हैं और अपनी तथा दूसरों की सदा रक्षा करने वाले हैं। वे नीतिशास्त्र के ज्ञाता हैं और अपने भाई लक्ष्मण सहित युद्धकला में बड़े निपुण हैं ॥ १२ ॥

हन्ता परबलौघानामचिन्त्यबलपौरुषः ।
न हतो राघवः श्रीमान्सीते शत्रुनिवर्हणः ॥ १३ ॥

वे शत्रुसैन्य के मारने वाले हैं। उनका बल तथा पौरुष अचिन्त्य है। हे सीते! शत्रुहन्ता श्रीमान् रामचन्द्र जी मारे नहीं गये ॥ १३ ॥

[2]अयुक्तबुद्धिकृत्येन सर्वभूतविरोधिना ।
इयं प्रयुक्ता रौद्रेण माया मायाविदा त्वयि ॥ १४ ॥

रावण की बुद्धि और उसके कृत्य, दोनों ही ठीक नहीं हैं; वह प्राणीमात्र का विरोधी है। सो उस क्रूर स्वभाव रावण ने तुझे छला था ॥ १४ ॥

---

१ संहननोपेतः—शोभनावयवसंस्थानः । (गो०) २ अयुक्तबुद्धिः—अनुचिता बुद्धिः कृत्यं च यस्य । (रा०)

शोकस्ते विगतः सर्वः कल्याणं त्वामुपस्थितम् ।
ध्रुवं त्वां भजते लक्ष्मीः प्रियं प्रीतिकरं शृणु ॥ १५ ॥

हे सीते! तेरा शोक नष्ट हुआ। अब तो हर्ष का समय उपस्थित हुआ है। अब अवश्य ही विजयलक्ष्मी तुझे प्राप्त होगी। तू प्रीतिकर प्रियवचन को अब सुन ॥ १५ ॥

उत्तीर्य सागरं रामः सह वानरसेनया ।
सन्निविष्टः समुद्रस्य तीरमासाद्य दक्षिणम् ॥ १६ ॥

वानरी सेना सहित श्रीरामचन्द्र जी समुद्र को पार कर, समुद्र के दक्षिण तट पर ठहरे हुए हैं ॥ १६ ॥

दृष्टो मे परिपूर्णार्थः काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।
स हि तैः सागरान्तस्थैर्बलैस्तिष्ठति रक्षितः ॥ १७ ॥

मैंने स्वयं देखा है कि, परिपूर्ण मनोरथ श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित समुद्रतट पर ठहरे हुए हैं और उनकी सेना उन्हें घेरे हुए उनकी रक्षा कर रही है ॥ १७ ॥

अनेन प्रेषिता ये च राक्षसा लघुविक्रमाः ।
राघवस्तीर्ण इत्येव प्रवृत्तिस्तैरिहाहृता ॥ १८ ॥

रावण ने जिन फुर्तीले जासूसों को उनका भेद लेने के लिये भेजा था, उन्होंने लौट कर एतावन्मात्र कहा कि, श्रीरामचन्द्र समुद्र के इस पार आ गये हैं ॥ १८ ॥

स तां श्रुत्वा विशालाक्षि प्रवृत्तिं राक्षसाधिपः ।
एष मन्त्रयते सर्वैः सचिवैः सह रावणः ॥ १९ ॥

हे विशालाक्षी! यह समाचार पा कर, अब रावण अपने सब मंत्रियों से परामर्श कर रहा है ॥ १९ ॥

इति ब्रुवाणा सरमा राक्षसी सीतया सह ।
सर्वोद्योगेन सैन्यानां शब्दं शुश्राव भैरवम् ॥ २० ॥

सरमा जानकी से यह सब कह ही रही थी कि, इतने में सेना की तैयारी का बड़ा भारी कोलाहल सुन पड़ा ॥ २० ॥

दण्डनिर्घातवादिन्याः श्रुत्वा भेर्या महास्वनम् ।
उवाच सरमा सीतामिदं मधुरभाषिणी ॥ २१ ॥

नगाड़ों पर चोब के पड़ने और रणसिंहों के बजने का घोर शब्द सुन, मधुरभाषिणी सरमा सीता से यह बोली ॥ २१ ॥

सन्नाहजननी ह्येषा भैरवा भीरु भेरिका ।
भेरीनादं च गम्भीरं शृणु तोयदनिःस्वनम् ॥ २२ ॥

हे भीरु! सुन, युद्ध के लिये उत्साहित करने को, यह नगाड़े (मारू बाजे) का भयङ्कर शब्द हो रहा है, जो ठीक मेघगर्जन के तुल्य है ॥ २२ ॥

कल्प्यन्ते मत्तमातङ्गा युज्यन्ते रथवाजिनः ।
हृष्यन्ते तुरगारूढाः प्रासहस्ताः सहस्रशः ॥ २३ ॥

लड़ाई के लिये मतवाले हाथी तैयार किये जा रहे हैं, रथों में घोड़े जोते जा रहे हैं और हाथों में भाले लिये हुए, हज़ारों घुड़सवार हर्षनाद कर रहे हैं ॥ २३ ॥

तत्र तत्र च सन्नद्धाः [1]सम्पतन्ति पदातयः ।
आपूर्यन्ते राजमार्गाः सैन्यैरद्भुतदर्शनैः ॥ २४ ॥

---

1 सम्पतन्ति—सङ्घीभवन्ति । (गो०)

जहाँ तहाँ पैदल सिपाही जिरहबख़्तरों को पहिन कर इकट्ठे हो रहे हैं। उन अद्भुत सूरत शकल वाले सैनिकों से राजमार्ग, खचाखच वैसे ही भरे हुए हैं; ॥ २४ ॥

वेगवद्भिर्नदद्भिश्च तोयौघैरिव सागरः।
शस्त्राणां च [1]प्रसन्नानां चर्मणां वर्मणां तथा ॥ २५ ॥

जैसे कलकल करती हुई और बड़े वेग से बहती हुई जल की धार से समुद्र भर जाता है। देखो चमचमाते अस्त्र शस्त्रों, कवचों तथा ढालों से ॥ २५ ॥

रथवाजिगजानां च भूषितानां च रक्षसाम्।
प्रभां विसृजतां पश्य नानावर्णां समुत्थिताम् ॥ २६ ॥

तथा रथों, घोड़ों, हाथियों और रावण के सुसज्जित राक्षस योद्धाओं की सजावट से, रंग बिरंगी चमक या प्रभा वैसी ही निकल रही है, ॥ २६ ॥

वनं निर्दहतो घर्मे यथा रूपं विभावसोः।
घण्टानां शृणु निर्घोषं रथानां शृणु निःस्वनम् ॥ २७ ॥

जैसी ग्रीष्मकाल में वन जलाने वाले अग्नि की रंग बिरंगी चमक या प्रभा निकलती है। घंटों के बजने का शब्द और रथों के चलने की घरघराहट तो सुन ॥ २७ ॥

हयानां हेषमाणानां शृणु तूर्यध्वनिं तथा।
उद्यतायुधहस्तानां राक्षसेन्द्रानुयायिनाम् ॥ २८ ॥

---

1 प्रसन्नानां—निर्मलानां। (गो०)

घोड़ों की हिनहिनाहट और तुरही के बजने का शब्द तो ज़रा सुन। आयुधों को ऊपर उठाये हुए रावण के सैनिक ॥ २८ ॥

संभ्रमो रक्षसामेष तुमुलो रोमहर्षणः ।
श्रीस्त्वां भजति शोकघ्नी रक्षसां भयमागतम् ॥ २९ ॥

रामः कमलपत्राक्षोऽदैत्यानामिव वासवः ।
विनिर्जित्य जितक्रोधस्त्वामचिन्त्यपराक्रमः ॥ ३० ॥

रावणं समरे हत्वा भर्ता त्वाधिगमिष्यति ।
विक्रमिष्यति रक्षःसु भर्ता ते सहलक्ष्मणः ॥ ३१ ॥

राक्षसों का जो घबड़ाये हुए हैं यह तुमुल एवं रोमाञ्चकारी रव (शोर) है। हे देवि! तुझको अब शोक नाश करने वाली विजयश्री प्राप्त होने वाली है। कमलनयन श्रीरामचन्द्र से राक्षस उसी प्रकार डर रहे हैं; जिस प्रकार इन्द्र से दैत्य डरते हैं। जितक्रोध और अथाह पराक्रमी तेरे पति श्रीरामचन्द्र जी, युद्ध में रावण को मार कर, तुझको प्राप्त करेंगे। तेरे पति श्रीरामचन्द्र जी अपने छोटे भाई लक्ष्मण सहित राक्षसों पर वैसे ही विक्रम प्रकट करेंगे ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

यथा शत्रुषु शत्रुघ्नो विष्णुना सह वासवः ।
आगतस्य हि रामस्य क्षिप्रमङ्कगतां सतीम् ॥ ३२ ॥

अहं द्रक्ष्यामि सिद्धार्थां त्वां शत्रौ विनिपातिते ।
अश्रूण्यानन्दजानि त्वं वर्तयिष्यसि शोभने ॥ ३३ ॥

जैसे शत्रुहन्ता इन्द्र ने भगवान विष्णु की सहायता प्राप्त कर, अपने शत्रु दैत्यों पर प्रकट किया था। जब शत्रु का नाश हो जायगा

तब तेरा मनोरथ भी पूरा होगा और मैं तुझ पतिव्रता को यहाँ आये हुए श्रीरामचन्द्र जी की गोद में शीघ्र ही बैठी हुई देखूँगी। हे शोभने! उस समय तेरे नेत्र आनन्दाश्रुओं से शोभित होंगे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

समागम्य परिष्वज्य तस्योरसि महोरसः ।
अचिरान्मोक्ष्यते सीते देवि ते जघनं गताम् ॥ ३४ ॥

धृतामेतां बहूमासान्वेणीं रामो महाबलः ।
तस्य दृष्ट्वा मुखं देवि पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ॥ ३५ ॥

तू मिल कर चौड़ी छाती वाले श्रीरामचन्द्र जी की छाती से लिपटेगी। हे सीते! दीर्घकाल से सम्हाले न जाने के कारण तेरे बालों के उलझे हुए जूड़े को महाबली श्रीरामचन्द्र जी अति शीघ्र अपने हाथों से सुलझावेंगे। हे देवि! उदित हुए पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह उनके मुखमण्डल को देख, ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

मोक्ष्यसे शोकजं वारि निर्मोकमिव पन्नगी ।
रावणं समरे हत्वा न चिरादेव मैथिलि ।
त्वया समग्रः प्रियया सुखार्हो लप्स्यते सुखम् ॥ ३६ ॥

तू शोकाश्रु बहाना वैसे ही छोड़ देगी, जैसे नागिन केंचुली छोड़ देती है। हे मैथिली! समर में रावण को मार कर, सदा सुखी रहने योग्य श्रीरामचन्द्र जी शीघ्र ही तुझको प्राप्त कर, सुखी होंगे ॥ ३६ ॥

समागता त्वं वीर्येण मोदिष्यसि महात्मना ।
सुवर्षेण समायुक्ता यथा सस्येन मेदिनी ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार सुवृष्टि से धान्ययुक्त पृथिवी की शोभा होती है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी से समागम होने पर तू उनके प्रेम व्यवहार से हर्षित होगी ॥ ३७ ॥

गिरिवरमभितोऽनुवर्तमानो
हय इव मण्डलमाशु यः करोति ।
तमिह शरणमभ्युपेहि देवं
दिवसकरं प्रभवो ह्ययं प्रजानाम् ॥ ३८ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

हे सीते ! जो पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के चारों ओर घोड़े की तरह शीघ्र शीघ्र मण्डलाकार घूमा करते हैं, तू अब उन्हीं देव, तिर्यक्, मनुष्य तथा स्थावर जङ्गमादि की उत्पत्ति के कारणभूत दिनकर सूर्यभगवान् की शरणागति कर अर्थात् उनसे प्रार्थना कर ॥ ३८ ॥

युद्धकाण्ड का तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—*—

अथ तां जातसन्तापां तेन वाक्येन मोहिताम् ।
सरमा ह्लादयामास पृथिवीं द्यौरिवाम्भसा ॥ १ ॥

ग्रीष्मऋतु के ताप से तप्त पृथिवी, जिस प्रकार वर्षा के जल से शान्त होती है ; उसी प्रकार रावण के वचनों से सन्तप्त सीता के मन को सरमा ने इन मधुर वचनों से हर्षित (शान्त) कर दिया ॥ १ ॥

ततस्तस्या हितं सख्याश्चिकीर्षन्ती सखीवचः ।
उवाच काले कालज्ञा स्मितपूर्वाभिभाषिणी ॥ २ ॥

तदनन्तर समय का पहचानने वाली सरमा ने अपनी प्यारी सखी जानकी की हितकामना से मुसक्या कर, उस समय के अनुरूप वचन कहे ॥ २ ॥

उत्सहेयमहं गत्वा त्वद्वाक्यमसितेक्षणे ।
निवेद्य कुशलं रामे प्रतिच्छन्ना निवर्तितुम् ॥ ३ ॥

हे असित लोचने! मैं चाहती हूँ कि, मैं छिप कर श्रीरामचन्द्र के पास जाऊँ और तुम्हारा कुशल क्षेम उनसे कहूँ और उनका कुशल पूँछ कर यहाँ चली आऊँ ॥ ३ ॥

न हि मे क्रममाणाया निरालम्बे विहायसि ।
समर्थो गतिमन्वेतुं पवनो गरुडोऽपि वा ॥ ४ ॥

मेरे निरावलम्ब आकाशमार्ग से चलने पर, गरुड़ या वायु में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं, जो मुझे पकड़ ले या मेरा पीछा कर सके ॥ ४ ॥

एवं ब्रुवाणां तां सीता सरमां पुनरब्रवीत् ।
मधुरं श्लक्ष्णया वाचा पूर्वं [1]शोकाभिपन्नया ॥ ५ ॥

इस प्रकार कहती हुई सरमा से सीता जी ने अब प्रसन्न हो कोमल वाणी से फिर कहा—॥ ५ ॥

समर्था गगनं गन्तुमपि वा त्वं रसातलम् ।
अवगच्छाम्यकर्तव्यं कर्तव्यं ते मदन्तरे ॥ ६ ॥

---

१ शोकाभिपन्नया सम्प्रति हृष्टयेत्यर्थः । (गो०)

हे प्यारी! यह मैं जानती हूँ कि, आकाश ही नहीं; किन्तु तू रसातल में भी बड़ी आसानी से जा सकती है और ऐसा कोई कार्य भी नहीं, जो तू मेरे लिये न कर सके ॥ ६ ॥

मत्प्रियं यदि कर्तव्यं यदि बुद्धिः स्थिरा तव ।
ज्ञातुमिच्छामि तं गत्वा किं करोतीति रावणः ॥ ७ ॥

किन्तु; यदि तू मेरा कोई काम करना ही चाहती है और यदि तेरी बुद्धि स्थिर है; तो तू जा कर यह पता लगा ला कि, इस समय रावण क्या कर रहा है? क्योंकि इस समय मेरी इच्छा यही जानने की है ॥ ७ ॥

स हि मायाबलः क्रूरो रावणः शत्रुरावणः ।
मां मोहयति दुष्टात्मा [1]पीतमात्रेव वारुणी ॥ ८ ॥

शत्रुओं को रुलाने वाला रावण निष्ठुर है और माया का बड़ा बल रखता है। वह दुष्ट सद्य पीता वारुणी की तरह मुझको बेसुध किया करता है ॥ ८ ॥

तर्जापयति मां नित्यं भर्त्सापयति चासकृत् ।
राक्षसीभिः सुघोराभिर्या मां रक्षन्ति नित्यशः ॥ ९ ॥

वह इन भयङ्कर राक्षसियों द्वारा मुझे नित्य ही बार बार धमकाया करता है और मेरी विड्त कराया करता है। इन्हीं जलमुही राक्षसियों को उसने मेरी रक्षा के लिये भी नियत कर रखा है ॥ ९ ॥

उद्विग्ना शङ्किता चास्मि न स्वस्थं च मनो मम ।
तद्भयाच्चाहमुद्विग्ना अशोकवनिकां गता ॥ १० ॥

---

[1] पीतमात्रा—सद्यःपीता। (गो०)

इसीसे मैं सदा उद्विग्न और सशङ्कित रहा करती हूँ। मैं रावण के भय ही से अशोकवन में रहती हूँ, किन्तु एक घड़ी भर के लिये भी मेरे मन की विकलता दूर नहीं होती ॥ १० ॥

यदि नाम कथा तस्या निश्चितं वाऽपि यद्भवेत् ।
निवेदयेथाः सर्वं तत्परो मे स्यादनुग्रहः ॥ ११ ॥

रावण की सभा में मेरे छोड़ देने के सम्बन्ध में अथवा अन्य कोई परामर्श हो; उसे यदि तू मुझे बतला दे तो मैं अपने ऊपर तेरी बड़ी दया समझूँ ॥ ११ ॥

सा त्वेवं ब्रुवतीं सीतां सरमा वल्गुभाषिणी ।
उवाच वदनं तस्याः [1]स्पृशन्ती बाष्पविक्लवम् ॥ १२ ॥

मृदुवचन बोलने वाली सरमा ने सीता के ऐसे वचन सुन कर, अपने आँचल से सीता का आँसूयुक्त मुखमण्डल पोंछ कर कहा ॥ १२ ॥

एष ते यद्यभिप्रायस्तदा गच्छामि जानकि ।
गृह्य शत्रोरभिप्रायमुपावृत्तां च पश्य माम् ॥ १३ ॥

हे जानकी! यदि तेरी यही इच्छा है, तो ले मैं यह चली और तू देख मैं अभी तेरे शत्रु रावण का सब हाल जान कर यहाँ लौट आती हूँ ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा ततो गत्वा समीपं तस्य रक्षसः ।
शुश्राव कथितं तस्य रावणस्य समन्त्रिणः ॥ १४ ॥

इस प्रकार कह सरमा रावण के यहाँ गयी और मंत्रियों के साथ रावण की जो सलाह हो रही थी, वह समस्त उसने सुनी ॥ १४ ॥

---

१ स्पृशन्ती—परिमृजन्ती। (गो०)

सा श्रुत्वा निश्चयं तस्य निश्चयज्ञा दुरात्मनः ।
पुनरेवागमत्क्षिप्रमशोकवनिकां तदा ॥ १५ ॥

तदनन्तर सरमा निश्चय रूप से दुरात्मा रावण का भेद जान शीघ्र ही अशोकवाटिका में लौट आयी ॥ १५ ॥

सा प्रविष्टा पुनस्तत्र ददर्श जनकात्मजाम् ।
प्रतीक्षमाणां स्वामेव [1]भ्रष्टपद्मामिव श्रियम् ॥ १६ ॥

और अशोकवाटिका में आ वह फिर जानकी जी से मिली। सरमा ने जानकी को उस समय अपनी प्रतीक्षा में वैसे ही बैठे हुए देखा; मानों पद्मासनहीन लक्ष्मी बैठी हो ॥ १६ ॥

तां तु सीता पुनः प्राप्तां सरमां वल्गुभाषिणीम् ।
परिष्वज्य च सुस्निग्धं ददौ च स्वयमासनम् ॥ १७ ॥

मधुरभाषिणी सरमा को पुनः आते देख, सीता उससे उठ कर स्वयं भेंटीं और बैठने के लिये उसे आसन दिया ॥ १७ ॥

इहासीना सुखं सर्वमाख्याहि मम तत्त्वतः ।
क्रूरस्य निश्चयं तस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥ १८ ॥

फिर बोलीं, सुख से यहाँ बैठो और उस नृशंस दुरात्मा रावण ने जो कुछ निश्चय किया हो, वह मुझसे सब ठीक ठीक कहो ॥ १८ ॥

एवमुक्ता तु सरमा सीतया वेपमानया ।
कथितं सर्वमाचष्ट रावणस्य समन्त्रिणः ॥ १९ ॥

जब थरथर काँपती हुई सीता ने सरमा से इस प्रकार कहा, तब सरमा ने वे सब बातें कहीं, जो मंत्रियों के साथ रावण ने परामर्श कर निश्चित की थीं ॥ १९ ॥

---

1 भ्रष्टपद्मा—पद्मासनहीनामित्यर्थः । (गो०)

जनन्या राक्षसेन्द्रो वै त्वन्मोक्षार्थं वृहद्वचः ।
अविद्धेन च वैदेहि मन्त्रिवृद्धेन बोधितः ॥ २० ॥

उसने कहा—हे वैदेही ! बूढ़े मंत्री के द्वारा, रावण की माता कैकसी ने रावण को अनेक प्रकार से हितकारी बातें समझायी ॥२०॥

दीयतामभिसत्कृत्य मनुजेन्द्राय मैथिली ।
निदर्शनं ते पर्याप्तं जनस्थाने यदद्भुतम् ॥ २१ ॥

उसने कहलाया कि, मनुजेन्द्र श्रीरामचन्द्र को सत्कारपूर्वक सीता लौटा दो, क्योंकि जनस्थान में श्रीरामचन्द्र जी द्वारा जो विस्मयोत्पादक कार्य हुआ है वह उनके पराक्रमी होने का पर्याप्त नमूना है ॥ २१ ॥

लङ्घनं च समुद्रस्य दर्शनं च हनूमतः ।
वधं च रक्षसां युद्धे कः कुर्यान्मानुषो भुवि ॥ २२ ॥

फिर हनुमान जी का समुद्र फांद कर लङ्का में आ कर सीता को देखना, तथा युद्ध में राक्षसों का वध करना, भला कहो तो सही, क्या इस पृथिवी तल पर और भी कोई मनुष्य ऐसे काम कर सकता है ? ॥ २२ ॥

एवं स *मन्त्रिवृद्धेन मात्रा च बहु भाषितः ।
न त्वामुत्सहते मोक्तुमर्थमर्थपरो यथा ॥ २३ ॥

इस प्रकार उसके बूढ़े मंत्री तथा उसकी माता ने उसे बहुत समझाया ; परन्तु वह तुम्हें वैसे ही छोड़ना नहीं चाहता जैसे धन का लोभी धन को ॥ २३ ॥

---

* पाठान्तरे—" मन्त्रिवृद्धैश्चाविद्धेन ।"

नोत्सहत्यमृतो मोक्तुं युद्धे त्वामिति मैथिलि ।
सामात्यस्य नृशंसस्य निश्चयो ह्येष वर्तते ॥ २४ ॥

हे देवि ! युद्ध में मरे विना वह तुमको न छोड़ेगा । उस नृशंस का तथा उसके मंत्रियों का यही निश्चय है ॥ २४ ॥

तदेषा निश्चिता बुद्धिर्मृत्युलोभादुपस्थिता ।
भयान्न शक्तस्त्वां मोक्तुमनिरस्तस्तु संयुगे ॥ २५ ॥

हे देवि ! उसके सिर पर काल खेल रहा है, अतः उसने ऐसा निश्चय कर रखा है । जब तक वह युद्ध में मारा न जायगा, तब तक तुम उसके पंजे से नहीं छूट पावेगी डर कर तो वह कभी तुमको न छोड़ेगा ॥ २५ ॥

राक्षसानां च सर्वेषामात्मनश्च वधेन हि ।
निहत्य रावणं संख्ये सर्वथा निशितैः शरैः ।
प्रतिनेष्यति रामस्त्वामयोध्यामसितेक्षणे ॥ २६ ॥

हे श्यामनेत्रवाली ! रावण ने अपने तथा अन्य समस्त राक्षसों के वध के निमित्त ही ऐसा निश्चय किया है । श्रीरामचन्द्र जी युद्ध में अपने पैने बाणों से रावण को मार, तुम्हें अपनी राजधानी अयोध्या में ले जायगे ॥ २६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शब्दो भेरीशङ्खसमाकुलः ।
श्रुतो वानरसैन्यानां कम्पयन्धरणीतलम् ॥ २७ ॥

सरमा यह कह ही रही थी कि, इतने में वानरी सेनाओं का शङ्ख और तुरही का मिला हुआ शब्द, पृथिवी को कंपायमान करता हुआ, सुनाई पड़ा ॥ २७ ॥

[नोट—किष्किन्धाकाण्ड में वर्णन किया जा चुका है कि, वानरी सेना में भी तुरही और शङ्ख थे ।]

श्रुत्वा तु तद्वानरसैन्यशब्दं
लङ्कागता राक्षसराजभृत्याः ।
नष्टौजसो दैन्यपरीतचेष्टाः
श्रेयो न पश्यन्ति नृपस्य दोषैः ॥ २८ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

वानरी सेना का वह रणारम्भसूचक शब्द सुन, लङ्कावासी रावण के भृत्य राक्षस लोग अत्यन्त हीनपुरुषार्थ और दीन हो गये। उनको रावण की बुद्धि के दोष से अपनी भलाई न देख पड़ी ॥ २८ ॥

युद्धकाण्ड का चौंतीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—※—

तेन शङ्खविमिश्रेण भेरीशब्देन राघवः ।
उपयाति महाबाहू रामः परपुरञ्जयः ॥ १ ॥

शत्रु के पुर को जीतने वाले महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी शङ्ख और तुरही बजवाते हुए लङ्का पर चढ़ाई करने को तैयार हुए ॥ १ ॥

तं निनादं निशम्याथ रावणो राक्षसेश्वरः ।
मुहूर्तं ध्यानमास्थाय सचिवानभ्युदैक्षत ॥ २ ॥

राक्षसराज रावण ने उस घोर शब्द को सुना और कुछ देर तक कुछ विचार कर, वह मंत्रियों के मुखों को निहारने लगा ॥ २ ॥

अथ तान्सचिवांस्तत्र सर्वानाभाष्य रावणः ।
सभां सन्नादयन्सर्वामित्युवाच महाबलः ॥ ३ ॥

महाबलवान रावण अपने समस्त मंत्रियों को सम्बोधन कर और सभाभवन को गुंजाता हुआ कहने लगा ॥ ३ ॥

जगत्सन्तापनः क्रूरो गर्हयन्राक्षसेश्वरः ।
तरणं सागरस्यापि विक्रमं बलसञ्चयम् ॥ ४ ॥

यदुक्तवन्तो रामस्य भवन्तस्तन्मया श्रुतम् ।
भवतश्चाप्यहं वेद्मि युद्धे सत्यपराक्रमान् ॥ ५ ॥

तूष्णीकानीक्षतोऽन्योन्यं विदित्वा रामविक्रमम् ।
ततस्तु सुमहाप्राज्ञो माल्यवान्नाम राक्षसः ॥ ६ ॥

संसार भर को सन्तापित करने वाला नृशंस राक्षसराज रावण श्रीरामचन्द्र जी की निन्दा करता हुआ बोला—आप लोगों ने राम के पार उतरने, उनके पराक्रम तथा उनके सैन्यसंग्रह के सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वह सब मैंने सुना। मैं यह भी जानता हूँ कि, आप लोग युद्ध में सत्यपराक्रमी हैं; पर आश्चर्य है कि, इस समय आप लोग रामचन्द्र को महापराक्रमी समझ, चुपचाप आपस में एक दूसरे का मुख निहार रहे हैं। वहाँ पर उस समय एक बड़ा भारी पण्डित माल्यवान नामक राक्षस था ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा इति मातामहोऽब्रवीत् ।
विद्यास्वभिविनीतो[1] यो राजा राजन्नयानुगः[2] ॥ ७ ॥

स शास्ति चिरमैश्वर्यमरींश्च कुरुते वशे ।
सन्दधानो हि कालेन विगृह्णंश्चारिभिः सह ॥ ८ ॥

---

१ अभिविनीतः—अभितः शिक्षितः। (गो०) २ नयानुगः—नीतिशास्त्रानुसारी। (गो०)

स्वपक्षवर्धनं कुर्वन्महदैश्वर्यमश्नुते ।
हीयमानेन कर्तव्यो राज्ञा सन्धिः समेन च ॥ ९ ॥

वह रावण का नाना था—सो वह रावण के इन वचनों को सुन बोला—हे राजन् ! जो राजा शिक्षित हो, नीति शास्त्रानुसार कार्य करता है; वह बहुत दिनों तक प्रजा पर शासन करता हुआ ऐश्वर्य भोगता है, तथा अपने शत्रुओं को अपने वश में करता है। ऐसा राजा सब बातों का अनुसन्धान करता है और अवसर पाकर शत्रु से लड़ता है। जो राजा समय के अनुसार शत्रु के साथ सन्धि और विग्रह करके अपने पक्ष को दृढ़ करता है, वही बड़े भारी ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। राजा को उचित है कि, जब वह अपने को शत्रु से हीनबल या समानबल जाने; तब शत्रु से मेल कर ले ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

न शत्रुमवमन्येत ज्यायान्कुर्वीत विग्रहम् ।
तन्मह्यं रोचते सन्धिः सह रामेण रावण ॥ १० ॥

हे रावण ! शत्रु कैसा भी हो, उसे तुच्छ कभी न मानना चाहिये। यदि स्वयं शत्रु से बलवान हो तो शत्रु से युद्ध करे। इस समय (इस सिद्धान्तानुसार) मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है कि, राम के साथ तुम सन्धि (मेल) कर लो ॥ १० ॥

यदर्थमभियुक्ताः स्म सीता तस्मै प्रदीयताम् ।
यस्य देवर्षयः सर्वे गन्धर्वाश्च जयैषिणः ॥ ११ ॥

जिस सीता के लिये राम ने लङ्का पर चढ़ाई की है, उस सीता को तुम उन्हें लौटा दो। देखो, क्या देवता, क्या ऋषि और क्या गन्धर्व सब ही उनकी जीत चाहते हैं ॥ ११ ॥

विरोधं मा गमस्तेन सन्धिस्ते तेन रोचताम् ।
असृजद्भगवान्पक्षौ द्वावेव हि पितामहः ॥१२॥

अतः मुझे तो यही अच्छा लगता है कि, तुम उनसे युद्ध न कर के उनके साथ मेल कर लो। हे राक्षसराज! ब्रह्मा ने दो पक्ष बनाये हैं॥ १२ ॥

सुराणामसुराणां च धर्माधर्मौ तदाश्रयौ ।
धर्मो हि श्रूयते पक्षो ह्यमराणां महात्मनाम् ॥ १३ ॥

अर्थात् देवता और असुर। क्रमानुसार धर्म और अधर्म इन दोनों के आश्रय-भूत-पक्ष हैं। सुना जाता है, महात्मा देवताओं का धर्म का पक्ष है॥ १३ ॥

अधर्मो रक्षसां पक्षो ह्यसुराणां च रावण ।
धर्मो वै ग्रसतेऽधर्मं ततः कृतमभूद्युगम् ॥ १४ ॥

हे रावण! इसी प्रकार असुरों और राक्षसों का अधर्म का पक्ष है। जब धर्म, अधर्म को ग्रसता है, तब सत्ययुग होता है अथवा सत्ययुग में अधर्म को धर्म ग्रस लेता है॥ १४॥

अधर्मो ग्रसते धर्मं ततस्तिष्यः प्रवर्तते ।
तत्त्वया चरता लोकान्धर्मो विनिहतो महान् ॥ १५ ॥

और जब धर्म को अधर्म ग्रस लेता है, तब कलियुग प्रवृत्त होता है। तुमने संसार में अपने आचरणों से धर्म का बड़ा सत्यानाश कर॥ १५॥

अधर्मः प्रगृहीतश्च तेनास्मद्बलिनः परेः ।
स प्रमादाद्विवृद्धस्तेऽधर्मोऽभिग्रसते हि नः ॥ १६ ॥

अधर्म वटोरा है, इसीसे शत्रु हम लोगों से वलवान् हो गये हैं। तुम्हारे प्रमाद से अधर्म बढ़ कर, हम लोगों को ग्रास कर रहा है ॥ १६ ॥

विवर्धयति पक्षं च सुराणां [1]सुरभावनः ।
विषयेषु प्रसक्तेन यत्किञ्चित्कारिणा त्वया ॥ १७ ॥

धर्म, देवताओं के अनुकूल होने के कारण उनके पक्ष को बलवान् कर रहा है। विषयासक्त हो तुमने जो कुछ किया ॥ १७ ॥

ऋषीणामग्निकल्पानामुद्वेगो जनितो महान् ।
तेषां प्रभावो दुर्धर्षः प्रदीप्त इव पावकः ॥ १८ ॥

उससे अग्नितुल्य ऋषि वहुत दुःखी हुए। उन ऋषियों का प्रभाव प्रदीप्त अग्नि के समान अत्यन्त ही दुर्धर्ष है ॥ १८ ॥

तपसा भावितात्मनो धर्मस्यानुग्रहे रताः ।
मुख्यैर्यज्ञैर्यजन्त्येते नित्यं तैस्तैर्द्विजातयः ॥ १९ ॥

क्योंकि वे लोग तप द्वारा अपने आत्मा को निर्मूल कर, धर्म की अभिवृद्धि में सदा लगे रहते हैं। वे प्रधान प्रधान अग्निष्टोमादि यज्ञों को नित्य ही किया करते हैं ॥ १९ ॥

जुह्वत्यग्नींश्च विधिवद्वेदांश्चोच्चैरधीयते ।
अभिभूय च रक्षांसि ब्रह्मघोषानुदैरयन् ॥ २० ॥

वे विधिवत् हवन करते और वेद का पाठ किया करते हैं। उस वेदपाठ से राक्षसों का पराजय होता है ॥ २० ॥

---

1 सुरभावनः—सुरानुकूलः । (गो०)

दिशोऽपि विद्रुताः सर्वाः स्तनयित्नुरिवोष्णगे ।
ऋषीणामग्निकल्पानामग्निहोत्रसमुत्थितः ॥ २१ ॥

जैसे ग्रीष्मकाल में सूर्य के आतप से बादल इधर उधर भाग जाते हैं, वैसे ही वेदध्वनि को सुन राक्षस चारों ओर भाग जाते हैं। अग्निसमान तेजस्वी ऋषियों के अग्निहोत्र से निकला हुआ ॥ २१ ॥

आवृत्य रक्षसां तेजो धूमो व्याप्य दिशो दश ।
तेषु तेषु च देशेषु पुण्येष्वेव दृढव्रतैः ॥ २२ ॥
चर्यमाणं तपस्तीव्रं सन्तापयति राक्षसान् ।
देवदानवयक्षेभ्यो गृहीतश्च वरस्त्वया ॥ २३ ॥

धूम, दसों दिशाओं में व्याप्त हो कर राक्षसों के तेज को दबा देता है। ये दृढ़व्रतधारी ऋषिगण जिन जिन पुण्यप्रद देशों में, उग्र तप करते हैं, वह वहाँ के राक्षसों को दुःख देता है। हे रावण! तुमने ब्रह्मा से यही वर पाया है कि, देवता, दानव और यक्ष तुम्हें न मार पावें ॥ २२ ॥ २३ ॥

मानुषा वानरा ऋक्षा गोलाङ्गूला महाबलाः ।
बलवन्त इहागम्य गर्जन्ति दृढविक्रमाः ॥ २४ ॥

पर यहाँ तो महाबली मनुष्य, वानर, रीछ, गोलाङ्गूल आये हुए हैं और वे बलवान् और दृढ़पराक्रमी सिंहनाद कर रहे हैं ॥ २४ ॥

उत्पातान्विविधान्दृष्ट्वा घोरान्बहुविधांस्तथा ।
विनाशमनुपश्यामि सर्वेषां रक्षसामहम् ॥ २५ ॥

विविध प्रकार के और बहुत से भयङ्कर उत्पातों को देख, मुझे तो समस्त राक्षसों का नाश देख पड़ता है ॥ २५ ॥

खराभिस्तनिता घोरा मेघाः प्रतिभयङ्कराः ।
शोणितेनाभिवर्षन्ति लङ्कामुष्णेन सर्वतः ॥ २६ ॥

हे रावण ! गधे भयङ्कर आवाज़ से रेंकते हैं और बादल भयङ्कर गर्जना कर लङ्का में सर्वत्र गर्मागर्म लोहू बरसाते हैं ॥ २६ ॥

रुदतां वाहनानां च प्रपतन्त्यास्रबिन्दवः ।
ध्वजा ध्वस्ता विवर्णाश्च न प्रभान्ति यथा पुरा ॥ २७ ॥

सवारी के घोड़ों और हाथियों के रोने से उनकी आँखों से आँसू टपका करते हैं। ध्वजाएँ धूलधूसरित बदरंग हो रही हैं और उनमें अब पहिले जैसी चमक दमक नहीं देख पड़ती ॥ २७ ॥

व्याला गोमायवो गृध्रा वाशयन्ति च सुभैरवम् ।
प्रविश्य लङ्कामनिशं समवायांश्च कुर्वते ॥ २८ ॥

रात को लङ्कापुरी में घुस कर गीदड़, गीध, सर्प आदि दल बाँध कर, भयङ्कर चीत्कार करते हैं ॥ २८ ॥

कालिकाः पाण्डुरैर्दन्तैः प्रहसन्त्यग्रतः स्थिताः ।
स्त्रियः स्वप्नेषु मुष्णन्त्यो गृहाणि प्रतिभाष्य च ॥२९॥

स्वप्न में काली काली औरतें (पूतना प्रमुख) पीले दाँत चमकाती और हँसती हुई सामने आ खड़ी होती हैं। फिर वे घर की चीज़ों को देख, उल्टी सीधी बातें करती हैं ॥ २९ ॥

गृहाणां बलिकर्माणि श्वानः पर्युपभुञ्जते ।
खरा गोषु प्रजायन्ते मूषिका नकुलैः सह ॥ ३० ॥

घरों में जो बलिकर्म होता है, उसको कुत्ते खा जाते हैं। गौओं के साथ गधे और नेवलों के साथ मूषिका (चुहियाँ) देख पड़ती हैं ॥ ३० ॥

मार्जारा द्वीपिभिः सार्धं सूकराः शुनकैः सह ।
किंनरा राक्षसैश्चापि [1]समीयुर्मानुषैः सह ॥ ३१ ॥

व्याघ्रों के साथ बिलावों का, कुत्तों के साथ सुअरों का, राक्षसों और मनुष्यों के साथ किन्नरों का जोड़ा दिखाई देता है ॥ ३१ ॥

[नोट—अर्थात् इन स्वाभाविक परस्पर विरोधी जीवों का एकत्र रहना अमङ्गलकारक है ।]

पाण्डुरा रक्तपादाश्च विहङ्गाः कालचोदिताः ।
राक्षसानां विनाशाय कपोता विचरन्ति च ॥ ३२ ॥

पीले रंग के लाल पैरों वाले बहुत से कबूतर राक्षसों के नाश की सूचना देते हुए, मानों कालप्रेरित हो घरों में घूमते हैं ॥ ३२ ॥

वीचीकूचीति वाश्यन्त्यः शारिका वेश्मसु स्थिताः ।
पतन्ति ग्रथिताश्चापि निर्जिताः कलहैषिणः ॥ ३३ ॥

घरों में पालतू मैनाएँ आपस में लड़ती और मोठे बोल न बोल कर चींचीं चींचीं करती हैं और अन्य पक्षियों से गुथ कर एवं उनसे हार कर नीचे गिर पड़ती हैं ॥ ३३ ॥

पक्षिणश्च मृगाः सर्वे प्रत्यादित्यं रुदन्ति च ।
करालो विकटो मुण्डः परुषः कृष्णपिङ्गलः ॥ ३४ ॥
कालो गृहाणि सर्वेषां काले कालेऽन्ववेक्षते ।
एतान्यन्यानि दुष्टानि निमित्तान्युत्पतन्ति च ॥ ३५ ॥

---

1 समीयुः—मिथुनीभावं प्रापुः । (शि०)

पशु पक्षी सूर्य की ओर मुँह करके रोते हैं। भयङ्कर विकराल रूपधारी, सिर मुंड़ाये, काले पीले रंग का कालपुरुष, हम सब लोगों के घरों को ओर सुबह शाम, ताकता हुआ सा देख पड़ता है। हे राजन्! ये तथा इसी प्रकार के और भी अनेक बुरे शकुन दिखलाई पड़ते हैं ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

[विष्णुं मन्यामहे देवं मानुषं देहमास्थितम् ।
न हि मानुषमात्रोऽसौ राघवो दृढविक्रमः ।
येन बद्धः समुद्रस्य स सेतुः परमाद्भुतः ॥ ३६ ॥

मुझे तो जान पड़ता है कि, ये श्रीरामचन्द्र मनुष्य का रूप धारण किये हुए साक्षात् विष्णु भगवान हैं; जिन्होंने समुद्र के ऊपर कैसा अद्भुत पुल बाँधा है। ऐसे दृढ़पराक्रमी श्रीरामचन्द्र को केवल मनुष्य ही न समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

कुरुष्व नरराजेन सन्धिं रामेण रावण ।]
ज्ञात्वा प्रधार्य कार्याणि क्रियतामायतिक्षमम्[1] ॥ ३७ ॥

अतएव हे रावण! तुम अपने कल्याण का निश्चय कर तथा आगे के कर्त्तव्यकर्म का उचित विचार कर, नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी के साथ सन्धि कर लो ॥ ३७ ॥

इदं वचस्तत्र निगद्य माल्यवान्
परीक्ष्य रक्षोधिपतेर्मनः पुनः ।
अनुत्तमेषूत्तमपौरुषो बली
बभूव तूष्णीं समवेक्ष्य रावणम् ॥ ३८ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

---

१ आयतिक्षमं—उत्तरकालार्हं। (गो०)

उत्तम पुरुषार्थ वाला बलवान् माल्यवान् इस प्रकार राक्षसपति को, वचन सुना कर और रावण के मनोगत भावों को ताड़ कर, चुप हो गया ॥ ३८ ॥

युद्धकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्त्रिंशः सर्गः

—※—

तत्तु माल्यवतो वाक्यं हितमुक्तं दशाननः ।
न मर्षयति दुष्टात्मा कालस्य वशमागतः ॥ १ ॥

रावण के हित के लिये कही हुई माल्यवान की बातें, दुष्टात्मा रावण को भली न जान पड़ीं। अच्छी जान ही क्यों पड़तीं? उसके सिर पर तो मौत सवार थी ॥ १ ॥

स बद्ध्वा भ्रुकुटिं वक्त्रे क्रोधस्य वशमागतः ।
अमर्षात्परिवृत्ताक्षो माल्यवन्तमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

वह क्रोध में भर और भौंहें टेढ़ी कर तथा आँखें तरेर माल्यवान से बोला ॥ २ ॥

हितबुद्ध्या यदहितं वचः परुषमुच्यते ।
परपक्षं प्रविश्यैव नैतच्छ्रोत्रं गतं मम ॥ ३ ॥

शत्रु का पक्ष ले कर, मेरी हितकामना की बुद्धि से तुमने जैसे कठोर और अहितकारी वचन कहे हैं, उनका मेरे कानों पर कुछ भी असर नहीं पड़ा ॥ ३ ॥

मानुषं कृपणं राममेकं शाखामृगाश्रयम् ।
समर्थं मन्यसे केन त्यक्तं पित्रा वनालयम् ॥ ४ ॥

उस दुखिया राम को, तुम क्यों कर सामर्थ्यवान् समझ रहे हो? क्योंकि वह अकेला है, वानरों के अधीन है, पिता ने उसे घर से निकाल दिया है और वह वन में रहता है ॥ ४ ॥

रक्षसामीश्वरं मां च देवतानां भयङ्करम् ।
हीनं मां मन्यसे केन ह्यहीनं सर्वविक्रमैः ॥ ५ ॥

और मुझे जो राक्षसों का राजा हूँ, देवताओं का भयदाता हूँ और सब प्रकार से पराक्रमी हूँ, किस प्रकार हीन समझते हो? ॥ ५ ॥

वीरद्वेषेण वा शङ्के पक्षपातेन वा रिपोः ।
त्वयाऽहं परुषाण्युक्तः परप्रोत्साहनेन वा ॥ ६ ॥

मुझे तुम पर सन्देह हो रहा है कि, तुमने ऐसे कठोर वचन मुझसे क्यों कहे? क्या तुम्हें मेरी वीरता से द्वेष है अथवा शत्रु का पक्षपात करना इसका कारण है। अथवा मुझे उभाड़ने के लिये तुमने ऐसे कठोर वचन कहे हैं ॥ ६ ॥

प्रभवन्तं पदस्थं हि परुषं कोऽभिधास्यति ।
पण्डितः शास्त्रतत्त्वज्ञो विना प्रोत्साहनाद्रिपोः ॥ ७ ॥

जो पण्डित है और शास्त्रतत्त्वज्ञ है, वह प्रभावशाली और राज्यपदारूढ को, उत्साहित करने के सिवाय कठोर वचन नहीं कहता ॥ ७ ॥

आनीय च वनात्सीतां पद्महीनामिव श्रियम् ।
किमर्थं प्रतिदास्यामि राघवस्य भयादहम् ॥ ८ ॥

हे माल्यवान्! कमलहीन लक्ष्मी की तरह सीता को जनस्थान से ला कर, राम के भय से मैं उसे क्यों दूँ ॥ ८ ॥

वृतं वानरकोटीभिः ससुग्रीवं सलक्ष्मणम्।
पश्य कैश्चिदहोभिस्त्वं राघवं निहतं मया॥ ९॥

इन करोड़ों वानरों और सुग्रीव तथा लक्ष्मण सहित राम को मेरे हाथ से मरा हुआ तुम देखोगे ॥ ९ ॥

द्वन्द्वे यस्य न तिष्ठन्ति दैवतान्यपि संयुगे।
स कस्माद्रावणो युद्धे भयमाहारयिष्यति॥ १०॥

अरे जिसके द्वन्द्व-युद्ध में देवता भी खड़े नहीं रह सकते, वह रावण भला युद्ध में किससे भयभीत होगा ॥ १० ॥

द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्।
एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥ ११॥

मैं क्या करूँ—मेरा यह स्वाभाविक दोष है कि, भले ही मेरे दो टुकड़े हो जायँ, पर मैं किसी के सामने नवने वाला नहीं। स्वभाव होता ही दुरतिक्रम है ॥ ११ ॥

यदि तावत्समुद्रे तु सेतुर्बद्धो यदृच्छया।
रामेण विस्मयः कोऽत्र येन ते भयमागतम्॥ १२॥

यदि रामचन्द्र ने किसी प्रकार समुद्र पर पुल बाँध ही लिया, तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है, जिससे तुम डर गये ॥१२॥

स तु तीर्त्वार्णवं रामः सह वानरसेनया।
प्रतिजानामि ते सत्यं न जीवन्प्रतियास्यति॥ १३॥

समुद्र पर पुल बाँध, वानरी सेना सहित राम यदि इस पार आ गये हैं तो मैं तुमसे सत्य सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि, वे यहाँ से जीते जागते न लौट पावेंगे ॥ १३ ॥

एवं ब्रुवाणं संरब्धं रुष्टं विज्ञाय रावणम् ।
व्रीडितो माल्यवान्वाक्यं नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ १४ ॥

क्रोध में भर ऐसी बातें कहते हुए, रावण को रुष्ट हुआ जान, माल्यवान् अत्यन्त लज्जित हुआ और उसने फिर कुछ भी न कहा ॥ १४ ॥

[चिन्तयन्मनसा तस्य दुष्कर्मपरिपाकजम् ।
पापं नाशयति ह्येनं स्वस्य राष्ट्रस्य राक्षसैः ॥ १५ ॥]

उसने मन में निश्चय कर लिया कि, अब रावण के दुष्कर्मों का परिपाककाल समीप आ गया है। पाप इसको, इसके राज्य को और समस्त राक्षसों को नाश करने वाला है ॥ १५ ॥

जयाशिषा च राजानं वर्धयित्वा यथोचितम् ।
माल्यवानभ्यनुज्ञातो जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १६ ॥

"महाराज की जय हो" इस आशीर्वाद से रावण को बढ़ती मना, और उससे विदा माँग, माल्यवान अपने घर को चला गया ॥ १६ ॥

रावणस्तु सहामात्यो मन्त्रयित्वा विमृश्य च ।
लङ्कायामतुलां गुप्तिं कारयामास राक्षसः ॥ १७ ॥

रावण भी अपने मंत्रियों के साथ परामर्श और विचार कर, लङ्का की भली भाँति रक्षा का प्रबन्ध करता हुआ ॥ १७ ॥

स व्यादिदेश पूर्वस्यां प्रहस्तं द्वारि राक्षसम् ।
दक्षिणस्यां महावीर्यौ महापार्श्वमहोदरौ ॥ १८ ॥
व्यादिदेश महाकायौ राक्षसैर्बहुभिर्वृतौ ।
पश्चिमायामथो द्वारि पुत्रमिन्द्रजितं तथा ॥ १९ ॥
व्यादिदेश महामायं बहुभी राक्षसैर्वृतम् ।
उत्तरस्यां पुरद्वारि व्यादिश्य शुकसारणौ ॥ २० ॥

उसने लङ्का के पूर्वद्वार की रक्षा के लिये प्रहस्त को और दक्षिणद्वार की रक्षा के लिये महाबली महाकाय महापार्श्व और महोदर को बहुत से राक्षसों के साथ नियुक्त किया। इसी प्रकार पश्चिमद्वार की रक्षा करने के लिये बहुत सी राक्षसी सेना के साथ महामायावी इन्द्रजीत को आज्ञा दी। लङ्कापुरी के उत्तरद्वार की रक्षा का भार उसने शुक और सारण को सौंपा ॥१८॥१९॥२०॥

स्वयं चात्र भविष्यामि मन्त्रिणस्तानुवाच ह ।
राक्षसं तु विरूपाक्षं महावीर्यपराक्रमम् ॥ २१ ॥

उसने मंत्रियों से कहा कि, उत्तरद्वार पर मैं स्वयं जाऊँगा। बड़े बलवान और पराक्रमी विरूपाक्ष राक्षस को ॥ २१ ॥

मध्यमेऽस्थापयद्गुल्मे बहुभिः सह राक्षसैः ।
एवं विधानं लङ्कायाः कृत्वा राक्षसपुङ्गवः ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते कालचोदितः ॥ २२ ॥

उसने लङ्कापुरी के बीच बहुत से राक्षस सैनिकों सहित छावनी डाल कर रहने की आज्ञा दी। इस प्रकार लङ्का की रक्षा का राक्षसश्रेष्ठ रावण ने, जिसकी मौत निकट आई हुई थी, प्रबन्ध कर, अपने को कृत्यकृत्य माना ॥ २२ ॥

विसर्जयामास ततः स मन्त्रिणो
विधानमाज्ञाप्य पुरस्य पुष्कलम् ।
जयाशिषा मन्त्रिगणेन पूजितो
विवेश चान्तः पुरमृद्धिमन्महत् ॥ २३ ॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

रावण लङ्का की चौकसी का इस प्रकार भली भाँति प्रबन्ध कर तथा मंत्रियों को विदा कर और उनके जयसूचक आशीर्वाद से सम्मानित हो, धन-जन-पूर्ण अपने विशाल अन्तःपुर में चला गया ॥ २३ ॥

युद्धकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—※—

नरवानरराजौ तौ स च वायुसुतः कपिः ।
जाम्बवानृक्षराजश्च राक्षसश्च विभीषणः ॥ १ ॥
अङ्गदो वालिपुत्रश्च सौमित्रिः शरभः कपिः ।
सुषेणः [1]सहदायादो मैन्दो द्विविद एव च ॥ २ ॥
गजो गवाक्षः कुमुदो नलोऽथ पनसस्तथा ।
[2]अमित्रविषयं प्राप्ताः समवेताः समर्थयन्[3] ॥ ३ ॥

---

१ सहदायादः—सबान्धवः । (शि०) २ अमित्रविषयं—शत्रुदेशं । (गो०)
३ समर्थयन् – अमंत्रयन् । (गो०)

इधर नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र और वानरेन्द्र सुग्रीव, पवननन्दन हनुमान जी, ऋक्षराज जाम्बवान, राक्षस विभीषण, वालिपुत्र अङ्गद, सुमित्रानन्दन लक्ष्मण, शरभ वानर, बान्धवों सहित सुषेण, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, कुमुद, नल, पनस, अपने वैरी के देश में पहुँच और एकत्र हो परामर्श करने लगे ॥ १ ॥ - ॥ ३ ॥

इयं सा लक्ष्यते लङ्का पुरी रावणपालिता ।
सासुरोरगगन्धर्वैरमरैरपि दुर्जया ॥ ४ ॥

वे कहने लगे—देखो, रावण शासित वह लङ्का नगरी, दैत्यों नागों और गन्धर्वों से भी अजेय है ॥ ४ ॥

[1]कार्यसिद्धिं पुरस्कृत्य[2] मन्त्रयध्वं [3]विनिर्णये ।
नित्यं सन्निहितो ह्यत्र रावणो राक्षसाधिपः ॥ ५ ॥

राक्षसराज रावण यहाँ सदा सतर्क रहता है । अतः अब हम सब लोगों को प्रधानतः विजयप्राप्ति के लिये मिल कर, विचार करना चाहिये ॥ ५ ॥

तथा तेषु ब्रुवाणेषु रावणावरजोऽब्रवीत् ।
[4]वाक्यमग्राम्यपदवत्पुष्कलार्थं[5] विभीषणः ॥ ६ ॥

उन लोगों के इस प्रकार कहने पर रावण के छोटे भाई विभीषण ने, अपनी राक्षसी भाषा न बोल, ऐसी भाषा में, जिसे वे सब लोग साफ साफ समझ सकें—कहा । विभीषण ने जो शब्द कहे, वे थे तो थोड़े ही, किन्तु उनमें अभिप्राय बहुत सा भरा हुआ था ॥ ६ ॥

---

१ कार्यसिद्धिं—विजयसिद्धिं । (गो०) २ पुरस्कृत्य—प्रधानीकृत्य । (गो०) ३ विनिर्णये—निमित्ते मन्त्रयध्वं । (गो०) ४ अग्राम्यपदवत्—स्वदेशभाषा पदरहितमुक्तवान् । (गो०) ५ पुष्कलार्थं—बह्वार्थाल्पशब्दं । (रा०)

अनलः शरभश्चैव सम्पातिः प्रघसस्तथा ।
गत्वा लङ्कां ममामात्याः पुरीं पुनरिहागताः ॥ ७ ॥

अनल, शरभ, सम्पाति और प्रघस मेरे ये चार मंत्री लङ्का में गये थे और वहाँ से लौट कर आये हुए हैं ॥ ७ ॥

भूत्वा शकुनयः सर्वे प्रविष्टाश्च रिपोर्बलम् ।
विधानं विहितं यच्च तद्दृष्ट्वा समुपस्थिताः ॥ ८ ॥

वे सब पक्षी बन कर, शत्रुसैन्य में गये थे और वहाँ रावण ने जिस विधान से अपनी सेना को नगर की रक्षा के लिये नियुक्त किया है—सो सब देख आये हैं ॥ ८ ॥

संविधानं यदाहुस्ते रावणस्य दुरात्मनः ।
राम तद्ब्रुवतः सर्वं यथा तत्त्वेन मे शृणु ॥ ९ ॥

हे राम ! दुरात्मा रावण ने अपनी सेना को जिस प्रकार नगर-रक्षा के लिये नियुक्त किया है और जो मेरे मंत्रियों ने मुझे बतलाया है, सो सब मैं आपसे ठीक ठीक निवेदन करता हूँ, आप सुनिये ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रहस्तः सबलो द्वारमासाद्य तिष्ठति ।
दक्षिणं च महावीर्यौ महापार्श्वमहोदरौ ॥ १० ॥

लङ्का के पूर्वद्वार पर सेनापति प्रहस्त अपनी सेना सहित डेरा डाले हुए हैं, दक्षिणद्वार पर बड़े बलवान् महापार्श्व और महोदर हैं ॥ १० ॥

इन्द्रजित्पश्चिमद्वारं राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ।
पट्टिशासिधनुष्मद्भिः शूलमुद्गरपाणिभिः ॥ ११ ॥

राक्षसों की एक बड़ी भारी सेना के साथ इन्द्रजीत पश्चिमद्वार की रक्षा कर रहा है। उसकी सेना के सैनिकों के हाथों में पटा, तलवारें, कमानें, त्रिशूल, और मुगदर हैं ॥ ११ ॥

नानाप्रहरणैः शूरैरावृतो रावणात्मजः ।
राक्षसानां सहस्रैस्तु वहुभिः शस्त्रपाणिभिः ॥ १२ ॥

अनेक प्रकार के आयुध धारण किये शूरवीर योद्धा रावण के पुत्र के साथ हैं और हज़ारों हथियारवन्द राक्षससैनिकों को वह अपने साथ लिये हुए है ॥ १२ ॥

[नोट—"शूरवीर योद्धाओं" से अभिप्राय सेनानायकों से है और सैनिकों से अभिप्राय साधारण सिपाहियों से ।]

युक्तः परमसंविग्नो[1] राक्षसैर्वहुभिर्वृतः ।
उत्तरं नगरद्वारं रावणः स्वयमास्थितः ॥ १३ ॥

अकम्पित हृदय वहुत से प्रधान प्रधान योद्धाओं को अपने साथ लिये हुए रावण, स्वयं लङ्कापुरी के उत्तरद्वार की रक्षा कर रहा है ॥ १३ ॥

विरूपाक्षस्तु महता शूलखड्गधनुष्मता ।
वलेन राक्षसैः सार्धं मध्यमं गुल्ममास्थितः ॥ १४ ॥

बड़ा वलवान् विरूपाक्ष शूल, खड्ग और धनुष-धारिणी राक्षसी सेना को लिये हुए नगरी के बीचों बीच छावनी डाले हुए पड़ा है ॥ १४ ॥

एतानेवंविधान्गुल्माँल्लङ्कायां समुदीक्ष्य ते ।
मामकाः सचिवाः सर्वे पुनः शीघ्रमिहागताः ॥ १५ ॥

---

१ असंविग्नो—अकम्पित हृदयो । (गो०)

मेरे मंत्रिगण लङ्का के समस्त मोर्चों को इस प्रकार देख कर तुरन्त मेरे पास चले आये हैं ॥ १५ ॥

गजानां च सहस्रं च रथानामयुतं पुरे ।
हयानामयुते द्वे च साग्रकोटिश्च रक्षसाम् ॥ १६ ॥

लङ्का में दस हज़ार हाथीसवार, दस हज़ार रथसवार, बीस हज़ार घुड़सवार और एक करोड़ से कुछ अधिक पैदल राक्षस सैनिक हैं ॥ १६ ॥

विक्रान्ता बलवन्तश्च संयुगेष्वाततायिनः[1] ।
[2]इष्टा राक्षसराजस्य नित्यमेते निशाचराः ॥१७॥

रावण के ख़ास सैनिक बड़े पराक्रमी और बलवान हैं और युद्ध करने में बड़े क्रूर हैं। (इनके अतिरिक्त और भी सैनिक हैं) ॥ १७ ॥

एकैकस्यात्र युद्धार्थे राक्षसस्य विशांपते ।
परिवारः सहस्राणां सहस्रमुपतिष्ठते ॥ १८ ॥

हे विशाम्पते ! इनमें से प्रत्येक योद्धा की सहायता के लिये युद्ध में असंख्य लक्ष परिवार उपस्थित हो जाते हैं ॥ १८ ॥

एतां प्रवृत्तिं लङ्कायां मन्त्रिप्रोक्तां विभीषणः ।
एवमुक्त्वा महाबाहू राक्षसांस्तानदर्शयत् ॥ १९ ॥

महाबलवान् विभीषण ने अपने मंत्रियों से सुना हुआ यह लङ्का का वृत्तान्त सुना कर, अपने चारों राक्षस मंत्रियों को श्रीरामचन्द्र जी के सामने उपस्थित किया ॥ १९ ॥

---

१ आततायिनः—क्रूरा इत्यर्थः । गो० । २ रावणस्येष्टा—अन्तरङ्गाः । (गो०)

लङ्कायां सचिवैः* सर्वं रामाय प्रत्यवेदयत् ।
रामं कमलपत्राक्षमिदमुत्तरमब्रवीत् ॥ २० ॥

रावणावरजः श्रीमान्रामप्रियचिकीर्षया ।
कुबेरं तु यदा राम रावणः प्रत्ययुध्यत ॥ २१ ॥

उन चारों मंत्रियों ने श्रीरामचन्द्र जी से वह सब हाल कहा। तब कमलनेत्र श्रीरामचन्द्र जी से रावण के छोटे भाई विभीषण ने, उनकी प्रसन्नता के लिये आगे यह कहा। हे राम! रावण जब कुबेर से लड़ने गया था ॥ २० ॥ २१ ॥

षष्टिः शतसहस्राणि तदा निर्यान्ति राक्षसाः ।
पराक्रमेण वीर्येण तेजसा सत्त्वगौरवात् ॥ २२ ॥

सदृशा येऽत्र दर्पेण रावणस्य दुरात्मनः ।
अत्र [1]मन्युर्न कर्तव्यो रोषये[2] त्वां न भीषये ॥२३॥

तब उसके साथ साठ लाख राक्षस गये थे। वे पराक्रम, बल, तेज, साहस और गर्व में दुष्ट रावण ही के समान जान पड़ते थे। हे राम! आपको मेरी इन बातों को सुन न तो क्रुद्ध होना चाहिये और न डरना ही चाहिये; बल्कि मेरे इस प्रकार कथन का उद्देश्य आपको शत्रुनिरसन के लिये उत्तेजित करने का है ॥ २२ ॥ २३ ॥

समर्थो ह्यसि वीर्येण सुराणामपि निग्रहे ।
तद्भवांश्चतुरङ्गेण[3] बलेन महता वृतः ॥ २४ ॥

---

१ मन्युः—क्रोधः। (गो०) २ रोषये—शत्रुनिरसनाय रोषमुत्पादये। (गो०) ३ चतुरङ्गे—रावणसेनावच्चतुरवयवेन। (गो०) * पाठान्तरे—" सर्वां।

क्योंकि आप तो अकेले ही अपने बल पराक्रम से देवताओं को भी दण्ड दे सकते हैं। फिर आपके साथ यह बड़ी भारी रावण की तरह चतुरङ्गिणी सेना भी तो है॥ २४॥

व्यूह्येदं वानरानीकं निर्मथिष्यसि रावणम्।
रावणावरजे वाक्यमेवं ब्रुवति राघवः॥॥ २५॥
शत्रूणां[1] प्रतिघातार्थमिदं वचनमब्रवीत्।
पूर्वद्वारे तु लङ्काया नीलो वानरपुङ्गवः॥ २६॥
प्रहस्तप्रतियोद्धा स्याद्वानरैर्बहुभिर्वृतः।
अङ्गदो वालिपुत्रस्तु बलेन महता वृतः॥ २७॥

सो आप वानरी सेना की व्यूह रचना कर के रावण को भली भाँति नष्ट कर डालेंगे। यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रुओं का सामना करने के लिये विभीषण से कहा। लङ्का के पूर्वद्वार पर वानरश्रेष्ठ नील चढ़ाई कर प्रहस्त के साथ युद्ध करे और बहुत से वानर उसकी सहायता के लिये उसके साथ जाँय। वालिपुत्र अङ्गद एक बड़ी सेना को अपने साथ ले॥ २५॥ २६॥ २७॥

दक्षिणे बाधतां द्वारे महापार्श्वमहोदरौ।
हनुमान्पश्चिमद्वारं निपीड्य पवनात्मजः॥ २८॥
प्रविशत्वप्रमेयात्मा बहुभिः कपिभिर्वृतः।
दैत्यदानवसङ्घानामृषीणां च महात्मनाम्॥ २९॥

---

१ प्रतिघातार्थं—प्रतिक्रियार्थं। (गो०)

दक्षिणद्वार पर महापार्श्व और महोदर युद्ध करें। अमित बलशाली पवननन्दन हनुमान जी बहुत से वानरों को साथ ले, लङ्का के पश्चिमद्वार पर चढ़ाई करें। दैत्यों, दानवों और महात्मा ऋषियों को ॥ २८ ॥ २९ ॥

विप्रकारप्रियः क्षुद्रो वरदानबलान्वितः ।
परिक्रामति यः सर्वाल्लोकान्सन्तापयन्प्रजाः ॥ ३० ॥

सताने वाले, नीच, वरदान से बलवान, सब लोकों में घूमने वाले, समस्त प्रजाजनों को सन्तप्त करने वाले ॥ ३० ॥

तस्याहं राक्षसेन्द्रस्य स्वयमेव वधे धृतः ।
उत्तरं नगरद्वारमहं सौमित्रिणा सह ॥ ३१ ॥

उस राक्षसराज रावण का वध करने का निश्चय मैंने स्वयं किया है। सो लङ्का के उस उत्तरद्वार पर, लक्ष्मण को साथ ले, मैं ॥३१॥

निपीड्याभिप्रवेक्ष्यामि सबलो यत्र रावणः ।
वानरेन्द्रश्च बलवानृक्षराजश्च वीर्यवान् ॥ ३२ ॥

चढ़ाई करूँगा, जिस पर अपनी सेना सहित रावण है। बलवान् वानरराज सुग्रीव और पराक्रमी ऋक्षराज जाम्बवान् ॥३२॥

राक्षसेन्द्रानुजश्चैव गुल्मो भवतु मध्यमः ।
न चैव मानुषं रूपं कार्यं हरिभिराहवे ॥ ३३ ॥

और विभीषण ये सेनासमूह के बीच में रह कर, सेना का परिचालन करें। रणस्थल में कोई भी वानर मनुष्य का रूप धारण न करे। क्योंकि ऐसा करने से अपने पराये की पहिचान न हो सकेगी ॥ ३३ ॥

एषा भवतु संज्ञा[1] नो युद्धेऽस्मिन्वानरे बले।
वानरा एव नश्चिह्नं स्वजनेऽस्मिन्भविष्यति ॥ ३४ ॥

इस युद्ध में हमारी इस वानरी सेना का यही सङ्केत रहैगा। क्योंकि हमारी ओर के सैनिकों की पहिचान वानर ही होंगी ॥ ३४ ॥

वयं तु मानुषेणैव सप्त योत्स्यामहे परान्।
अहमेष सह भ्राता लक्ष्मणेन महौजसा ॥ ३५ ॥

हम सात जन मनुष्य का रूप धारण कर शत्रु से लड़ेंगे। मैं और महातेजस्वी मेरे छोटे भाई लक्ष्मण ॥ ३५ ॥

आत्मना पञ्चमश्चायं सखा मम विभीषणः।
स रामः कृत्यसिद्ध्यर्थमेवमुक्त्वा विभीषणम् ॥ ३६ ॥

तथा अपने चारों मंत्रियों सहित मेरे मित्र विभीषण। (ये सात जन मनुष्य रूप धारण कर लड़ेंगे।) कार्यसिद्धि के लिये श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार विभीषण से कहा ॥ ३६ ॥

सुवेलारोहणे बुद्धिं चकार मतिमान्मतिम्।
रमणीयतरं दृष्ट्वा सुवेलस्य गिरेस्तटम् ॥ ३७ ॥

फिर बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र जी ने सुवेलपर्वत पर चढ़ने की इच्छा की। क्योंकि उस समय सुवेलपर्वत बड़ा रमणीक दिखलायी पड़ता था। (अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी सुवेलपर्वत पर युद्ध करने के अभिप्राय से नहीं, किन्तु केवल उसकी रमणीकता देखने के लिये, उस पर चढ़े) ॥ ३७ ॥

---

१ संज्ञा—सङ्केतः। (गो०)

ततस्तु रामो महता बलेन
प्रच्छाद्य सर्वां [1]पृथिवीं [2]महात्मा ।
प्रहृष्टरूपोभिजगाम [3]लङ्कां
कृत्वा मतिं सोऽरिवधे महात्मा ॥ ३८ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

तब महाबुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी अपनी महती सेना से सुवेलपर्वत के मध्यभाग को ढक कर और अत्यन्त प्रसन्न हो कर, शत्रुवध की इच्छा से सुवेलपर्वत पर चढ़ गये ॥ ३८ ॥

युद्धकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टत्रिंशः सर्गः

—※—

स तु कृत्वा सुवेलस्य मतिमारोहणं प्रति ।
लक्ष्मणानुगतो रामः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
विभीषणं च धर्मज्ञमनुरक्तं निशाचरम् ।
मन्त्रज्ञं च विधिज्ञं[4] च श्लक्ष्णया परया गिरा ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित सुवेलपर्वत पर चढ़ने की इच्छा कर, धर्मज्ञ, अनुरक्त एवं उचित परामर्श देने वाले, तथा कार्य करने की रीति जानने वाले कपिराज सुग्रीव तथा राक्षस विभीषण से मधुर शब्दों में कहने लगे ॥ १ ॥ २ ॥

---

१ पृथिवीं—सुवेलकटकभूमिं । (गो०) २ महात्मा—महाबुद्धिः । (गो०)
३ लङ्कां—लङ्कैकदेशसुवेलं । (गो०) ४ विधिज्ञं—कार्यज्ञं । (गो०)

सुवेलं साधुशैलेन्द्रमिमं धातुशतैश्चितम् ।
अध्यारोहामहे सर्वे वत्स्यामोऽत्र निशामिमाम् ॥ ३ ॥

चलो हम सब, विविध प्रकार की धातुओं से भरे पूरे, इस सुन्दर पर्वतराज सुवेल पर चढ़ चलें और आज की रात वहीं बितावें ॥ ३ ॥

लङ्कां चालोकयिष्यामो निलयं तस्य रक्षसः ।
येन मे मरणान्ताय हृता भार्या दुरात्मना ॥ ४ ॥

उस पर चढ़ कर, हम लोग उस दुष्ट रावण की आवास-स्थली लङ्का को भी देखेंगे, जो अपनी जान खोने के लिये, मेरी स्त्री को हर लाया है ॥ ४ ॥

येन धर्मो न विज्ञातो न तद्वृत्तं कुलं तथा ।
राक्षस्या नीचया बुद्ध्या येन तद्गर्हितं कृतम् ॥ ५ ॥

ऐसा पापकृत्य करते समय उसने न तो धर्म की, न सच्चरित्रता की और न अपने श्रेष्ठकुल ही की कुछ परवाह की और अपनी नीच राक्षसी बुद्धि ही से यह गर्हित कर्म कर डाला ॥ ५ ॥

तस्मिन्मे वर्तते रोषः कीर्तिते राक्षसाधमे ।
यस्यापराधान्नीचस्य वधं द्रक्ष्यामि रक्षसाम् ॥ ६ ॥

अब तो मुझे उस राक्षसाधम का नाम लेते ही क्रोध आ जाता है। क्योंकि इसी नीच के अपराध से मुझे असंख्य राक्षसों का वध देखना पड़ेगा ॥ ६ ॥

एको हि कुरुते पापं कालपाशवशं गतः ।
नीचेनात्मापचारेण कुलं तेन विनश्यति ॥ ७ ॥

देखो, मृत्यु के पाश में फँस, एक जीव पाप करता है, किन्तु उस एक नीच के अपराध से उसके सारे कुल का नाश होता है ॥७॥

एवं [1]संमन्त्रयन्नेव सक्रोधो रावणं प्रति ।
रामः सुवेलं वासाय चित्रसानुमुपारुहत् ॥ ८ ॥

इस प्रकार वार्तालाप करते और रावण पर खीजते, श्रीरामचन्द्र जी सुवेलपर्वत पर वास करने के लिये उसके रंग विरंगे शृङ्गों पर चढ़ गये ॥ ८ ॥

पृष्ठतो लक्ष्मणश्चैनमन्वगच्छत्समाहितः ।
सशरं चापमुद्यम्य सुमहद्विक्रमे रतः ॥ ९ ॥

पराक्रमी लक्ष्मण जी भी बाण सहित बड़े धनुष को हाथ में लिये हुए, सावधानतापूर्वक श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले ॥९॥

तमन्वरोहत्सुग्रीवः सामात्यः सविभीषणः ।
हनुमानङ्गदो नीलो मैन्दो द्विविद एव च ॥ १० ॥
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
पनसः कुमुदश्चैव हरो रम्भश्च यूथपः ॥ ११ ॥
जाम्बवांश्च सुषेणश्च ऋषभश्च महामतिः ।
दुर्मुखश्च महातेजास्तथा शतवलिः कपिः ॥ १२ ॥
एते चान्ये च बहवो वानराः शीघ्रगामिनः ।
ते वायुवेगप्रवणास्तं गिरिं गिरिचारिणः ॥ १३ ॥
अध्यारोहन्त शतशः सुवेलं यत्र राघवः ।
ते त्वदीर्घेण कालेन गिरिमारुह्य सर्वतः ॥ १४ ॥

---

१ संमन्त्रयन्—वदन् । (गो०)

इनके पीछे सुग्रीव और मंत्रियों सहित विभीषण चले। फिर हनुमान जी, अङ्गद, नील, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, पनस, कुमुद, रम्भ, जाम्बवान, सुषेण, महाबुद्धिमान ऋषभ, महातेजस्वी दुर्मुख, तथा वानर शतबलि आदि तथा अन्य बहुत से तेज चलने वाले, तथा पर्वतों पर विचरने वाले वानर; वायुवेग से उस सुवेलपर्वत पर चढ़ कर, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे, वहाँ जा पहुँचे। उस पर्वत पर चढ़ने में उन समस्त वानरों को कुछ भी समय न लगा ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

ददृशुः शिखरं तस्य [1]विषक्तामिव खे पुरीम् ।
तां शुभां प्रवरद्वारां प्राकारपरिशोभिताम् ॥ १५ ॥

सुवेलपर्वत के शिखर पर चढ़, उन्होंने लङ्का को देखा, जो ऐसी जान पड़ती थी, मानों आकाश को छू रही हो। लङ्का अच्छे द्वारों और परकोटे से शोभित थी ॥ १५ ॥

लङ्कां राक्षससम्पूर्णां ददृशुर्हरियूथपाः ।
प्राकारचयसंस्थैश्च तदा नीलैर्निशाचरैः ॥ १६ ॥

ददृशुस्ते हरिश्रेष्ठाः प्राकारमपरं कृतम् ।
ते दृष्ट्वा वानराः सर्वे राक्षसान्युद्धकाङ्क्षिणः ।
मुमुचुर्विविधान्नादांस्तत्र रामस्य पश्यतः ॥ १७ ॥

वानरयूथपतियों ने देखा कि, लङ्का राक्षसों से खचाखच भरी हुई है। प्राकार की दीवालों तथा बुर्जों पर चढ़े हुए नीले रंग की पोशाक (वर्दी) पहिने हुए, निशाचरों की श्रेणी ऐसी जान पड़ती थी; मानों परकोटे की दीवाल के ऊपर दूसरे परकोटे की दीवाल

---

१ विषक्तां—आकाशे लग्नामिव स्थितां। (गो०)

खड़ी हो। उन सब वानरों ने यह भी देखा कि, वे सब राक्षस युद्ध करने को तैयार हैं। तब तो श्रीरामचन्द्र जी के सामने ही वे वानरश्रेष्ठ विविध प्रकार की बोलियाँ बोल कर, सिंहनाद करने लगे ॥ १६ ॥ १७ ॥

ततोऽस्तमगमत्सूर्यः सन्ध्यया प्रतिरञ्जितः ।
पूर्णचन्द्रप्रदीप्ता च क्षपा समभिवर्तते ॥ १८ ॥

तदनन्तर भगवान् सूर्य अस्ताचल गामी हुए और रक्तवर्ण सन्ध्या आ उपस्थित हुई। उस समय पूर्णमासी के चन्द्र से भूषित रात्रि का प्रादुर्भाव हुआ ॥ १८ ॥

ततः स रामो हरिवाहिनीपतिः
विभीषणेन प्रतिनन्द्यसत्कृतः ।
सलक्ष्मणो यूथपयूथसंवृतः
सुवेलपृष्ठे न्यवसद्यथासुखम् ॥ १९ ॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी कपिसेनापतियों और विभीषण से पूजित और सम्मानित हो कर, लक्ष्मण जी के साथ सुवेलपर्वत के शिखर पर सुख से बसे ॥ १९ ॥

युद्धकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—※—

तां रात्रिमुषितास्तत्र सुवेले हरिपुङ्गवाः ।
लङ्कायां ददृशुर्वीरा वनान्युपवनानि च ॥ १ ॥

वानरयूथपतियों ने सुवेलपर्वत के शिखर पर, उस रात को विता कर, लङ्कापुरी के समस्त वनों और उपवनों को देखा ॥ १ ॥

समसौम्यानि रम्याणि विशालान्यायतानि च ।
दृष्टिरम्याणि ते दृष्ट्वा बभूवुर्जातविस्मयाः ॥ २ ॥

वे वन उपवन चौरस, सुन्दर, रमणीक, विशाल, चौड़े तथा नेत्रों को सुख देने वाले थे। उनको देख, वे वानरयूथपति विस्मित हुए ॥ २ ॥

चम्पकाशोकपुन्नागसालतालसमाकुला ।
तमालवनसंछन्ना नागमालासमावृता ॥ ३ ॥

वे वन उपवन चम्पा, अशोक, मौलसिरी, साखू और ताड़ वृक्षों से परिपूर्ण थे और तमाल के वृक्षों के वन से व्याप्त और नागकेसर के पेड़ों से घिरे हुए थे ॥ ३ ॥

हिन्तालैरर्जुनैर्नीपैः सप्तपर्णैश्च पुष्पितैः ।
तिलकैः कर्णिकारैश्च पाटलैश्च समन्ततः ॥ ४ ॥

उनमें चारों ओर हिन्ताल, अर्जुन, कदंब, तिलन्द, कर्णिकार (कठचम्पा) व पाटल आदि के अच्छे फूले हुए वृक्ष लगे हुए थे ॥ ४ ॥

शुशुभे पुष्पिताग्रैश्च लतापरिगतैर्द्रुमैः ।
लङ्का बहुविधैर्दिव्यैर्यथेन्द्रस्यामरावती ॥ ५ ॥

लताओं से लिपटे हुए ये वृक्ष कलियों से सुशोभित थे। उनसे लङ्का की ऐसी शोभा हो रही थी, जैसी इन्द्र की अमरावती की हो ॥ ५ ॥

विचित्रकुसुमोपेतै रक्तकोमलपल्लवैः ।
शाद्वलैश्च तथा नीलैश्चित्राभिर्वनराजिभिः ॥ ६ ॥

रंगबिरंगे फूलों से, लाल लाल पत्तों से, मन हरने वाले वृक्षों से, हरी हरी दूब से और रंगबिरंगी वृक्षावली से, उस भूमि की अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ ६ ॥

गन्धाढ्यान्यभिरम्याणि पुष्पाणि च फलानि च ।
धारयन्त्यगमास्तत्र भूषणानीव मानवाः ॥ ७ ॥

जैसे मनुष्य भूषणों से भूषित या शोभायमान होते हैं, वैसे ही वहाँ के वृक्ष गन्धयुक्त सुन्दर फूलों और फलों को धारण किये हुए, शोभायमान जान पड़ते थे ॥ ७ ॥

तच्चैत्ररथसङ्काशं मनोज्ञं नन्दनोपमम् ।
वनं सर्वर्तुकं रम्यं शुशुभे षट्पदायुतम् ॥ ८ ॥

लङ्का के वे वन चैत्ररथ वन के तुल्य अथवा मनोहर नन्दन कानन की तरह सब ऋतुओं में रमणीक थे और भौंरों की मधुर गुंजार से मन को मोहित किया करते थे ॥ ८ ॥

नत्यूहकोयष्टिमकैर्नृत्यमानैश्च बर्हिभिः ।
रुतं परभृतानां च शुश्रुवुर्वननिर्झरे ॥ ९ ॥

उनमें झरनों के तटों पर चकई चकवा, जलमुर्ग, मोर, कोकिल आदि पक्षी नाच नाच कर विहक रहे थे ॥ ९ ॥

नित्यमत्तविहङ्गानि भ्रमराचरितानि च ।
कोकिलाकुलषण्डानि*[1] विहङ्गाभिरुतानि च ॥ १० ॥

सदा ही मतवाले पक्षियों से युक्त, भौंरों से परिपूर्ण, कोइलों से सेवित, वृक्षों से पूर्ण, तथा विविध प्रकार के पक्षियों में कूजित वे वन थे ॥१०॥

भृङ्गराजाभिगीतानि भ्रमरैः सेवितानि च ।
कोणालकविघुष्टानि सारसाभिरुतानि च ॥ ११ ॥

भृङ्गराज पक्षी उनमें मधुर गान और भौंरे गुंजार कर रहे थे। खञ्जन पक्षियों की बोली से वे सुहावने हो रहे थे। उनमें सारस पक्षी बोल रहे थे ॥ ११ ॥

विविशुस्ते ततस्तानि वनान्युपवनानि च ।
हृष्टाः प्रमुदिता वीरा हरयः कामरूपिणः ॥ १२ ॥

इस प्रकार के सुशोभित उन वनों और उपवनों में, कामरूपी वीर वानर, प्रसन्न हो कर, घुस गये ॥ १२ ॥

तेषां प्रविशतां तत्र वानराणां महौजसाम् ।
पुष्पसंसर्गसुरभिर्ववौ घ्राणसुखोऽनिलः ॥ १३ ॥

उन महातेजस्वी वानरों के घुसते समय, पुष्पों की सुगन्ध से युक्त और नाक को सुख देने वाली हवा बहने लगी ॥ १३ ॥

अन्ये तु हरिवीराणां यूथान्निष्क्रम्य यूथपाः ।
सुग्रीवेणाभ्यनुज्ञाता लङ्कां जग्मुः पताकिनीम् ॥ १४ ॥

---

*पाठान्तरे—" खण्डानि । " १ षण्डाः—वृक्षसमूहाः । (गो०)

वानरी सेना के कुछ यूथपति, सैन्यदल से निकल कर, कपिराज की आज्ञा के अनुसार, ध्वजा पताकाओं से सुशोभित लङ्का में घुस गये ॥ १४ ॥

वित्रासयन्तो विहगांस्त्रासयन्तो मृगद्विपान्।
कम्पयन्तश्च तां लङ्कां नादैस्ते नदतां वराः ॥ १५ ॥

वे गर्जने वालों में श्रेष्ठ वानरयूथपति पक्षियों, मृगों और हाथियों को त्रस्त करते तथा लङ्का को कम्पायमान करते हुए सिंहनाद करने लगे ॥ १५ ॥

कुर्वन्तस्ते महावेगा महीं चरणपीडिताम्।
रजश्च सहसैवोर्ध्वं जगाम चरणोत्थितम् ॥ १६ ॥

वे पृथिवी पर पैर पटकते हुए ऐसे ज़ोर से चले कि, धूल उड़ कर सहसा सारे आकाश में छा गयी ॥ १६ ॥

ऋक्षाः सिंहा वराहाश्च महिषा वारणा मृगाः।
तेन शब्देन वित्रस्ता जग्मुर्भीता दिशो दश ॥ १७ ॥

रीछ, सिंह, वराह, भैंसे, हाथी और हिरन उनके इस गर्जन तर्जन से भयभीत हो, चारों ओर भाग गये ॥ १७ ॥

शिखरं तत्त्रिकूटस्य प्रांशु चैकं दिविस्पृशम्।
समन्तात्पुष्पसंछन्नं महारजतसन्निभम् ॥ १८ ॥

त्रिकूटाचल पर्वत का एक शृङ्ग आकाशस्पर्शी था। उसके चारों ओर फूल लगे हुए थे। वह खरी चाँदी के समान दमक रहा था ॥ १८ ॥

शतयोजनविस्तीर्णं विमलं चारुदर्शनम्।
श्लक्ष्णं श्रीमन्महच्चैव दुष्प्रापं शकुनैरपि ॥ १९ ॥

वह सौ योजन तक फैला हुआ था। बड़ा स्वच्छ साफ था और देखने में बड़ा मनोहर था। वह सुन्दर शिखर इतना ऊँचा था कि, कोई पक्षी भी उड़ कर उसके ऊपर नहीं पहुँच पाता था ॥१९॥

मनसाऽपि दुरारोहं किं पुनः कर्मणा जनैः।
निविष्टा तत्र शिखरे लङ्का रावणपालिता ॥ २० ॥

उस पर जब कल्पना द्वारा भी चढ़ना सम्भव न था, तब क्रियात्मक रूप से उसके ऊपर कौन चढ़ सकता था। उसी शिखर के ऊपर रावण द्वारा पालित लङ्का बसाई गयी थी ॥ २० ॥

शतयोजनविस्तीर्णा त्रिंशद्योजनमायता।
सा पुरी गोपुरैरुच्चैः पाण्डुराम्बुदसन्निभैः ॥ २१ ॥

वह लङ्का सौ योजन लंबी और तीस योजन चौड़ी थी। उसके बड़े ऊँचे ऊँचे गोपुरद्वार सफेद बादलों की तरह जान पड़ते थे ॥२१॥

काञ्चनेन च सालेन[1] राजतेन च शोभिता।
प्रासादैश्च विमानैश्च लङ्का परमभूषिता ॥ २२ ॥

वह सुवर्ण और चाँदी के परकोटे से शोभित थी। बड़े बड़े भवनों और सतखनी हवेलियों से लङ्का की वैसी ही परम शोभा हो रही थी ; ॥ २२ ॥

घनैरिवातपापाये मध्यमं वैष्णवं पदम्[2]।
यस्यां स्तम्भसहस्रेण प्रासादः समलंकृतः ॥ २३ ॥

जैसी कि, ग्रीष्मऋतु के अन्त में, मेघों की घटाओं से आकाश की परम शोभा होती है। लङ्का में एक ऐसा भवन था, जिसकी शोभा एक सहस्र खम्भों से हो रही थी ॥ २३ ॥

---

१ सालेन—प्राकारेण। (गो०) २ आकाशं वैष्णवपदं। (गो०)

कैलासशिखराकारो दृश्यते खमिवोल्लिखन्।
चैत्यः स राक्षसेन्द्रस्य बभूव पुरभूषणम् ॥ २४ ॥

वह कैलासशिखर के आकार का या उसके समान ऊँचा था और आकाश को छूता हुआ सा जान पड़ता था। राक्षसराज रावण का वह भवन लङ्कापुरी का एक भूषण सा था ॥ २४ ॥

शतेन रक्षसां नित्यं यः समग्रेण रक्ष्यते।
मनोज्ञां काननवतीं पर्वतैरुपशोभिताम् ॥ २५ ॥
नानाधातुविचित्रैश्च उद्यानैरुपशोभिताम्।
नानाविहगसंघुष्टां नानामृगनिषेविताम् ॥ २६ ॥

उसकी रक्षा सैकड़ों राक्षस सदा किया करते थे। बाग बगीचों से लङ्कापुरी बड़ी मनोहर हो रही थी और रंगबिरंगी धातुओं से युक्त पर्वतों से वह शोभित थी। उसमें बीच बीच में रमने (उद्यान) बने हुए थे, जिनमें अनेक प्रकार के पक्षी बोला करते थे और मृग विचरा करते थे ॥ २५ ॥ २६ ॥

*नानाकुसुमसम्पन्नां नानाराक्षससेविताम्।
तां [1]समृद्धां [2]समृद्धार्थां लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः।
रावणस्य पुरीं रामो ददर्श सह वानरैः ॥ २७ ॥

उन उद्यानों में तरह तरह के फूल खिल रहे थे। अनेक राक्षसों से सेवित इस उन्नत और समस्त पदार्थों से भरी पूरी रावण की लङ्कापुरी को, लक्ष्मण के बड़े भाई एवं कान्तिवान् श्रीरामचन्द्र जी ने और वानरों ने देखा ॥ २७ ॥

---

१ समृद्धां—उन्नतां। (गो०) २ समृद्धार्थां—समृद्धद्रव्यां। (गो०)

* पाठान्तरे—"नाना काननसन्तानां," वा "नानागृहसमाकीर्णां।"

तां महागृहसम्बाधां दृष्ट्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
नगरीममरप्रख्यो विस्मयं प्राप वीर्यवान् ॥ २८ ॥

लक्ष्मण के बड़े भाई बलवान् श्रीरामचन्द्र, बड़े बड़े ऊँचे भवनों से युक्त एवं अमरावती सदृश उस लङ्कापुरी को देख, विस्मित हुए ॥ २८ ॥

तां [1]रत्नपूर्णां बहुसंविधानां[2]
प्रासादमालाभिरलंकृतां च ।
पुरीं महायन्त्रकवाटमुख्यां
ददर्श रामो महता बलेन ॥ २९ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने वानरों की महती सेना सहित सुवेल पर्वत पर बैठे ही बैठे, उस लङ्कापुरी को देखा, जो श्रेष्ठ वस्तुओं से भरी पूरी थी, जो पुरी की रक्षा के लिये नियत किये हुए सैनिकों से पूर्ण थी, जो ऊँचे ऊँचे भवनों की श्रेणियों से अलंकृत थी और जो बड़ी बड़ी कलों और फाटकों (किवाड़ों) से युक्त थी ॥ २९ ॥

युद्धकाण्ड का उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चत्वारिंशः सर्गः

—*—

ततो रामः सुवेलाग्रं योजनद्वयमण्डलम् ।
आरुरोह ससुग्रीवो हरियूथपसंवृतः ॥ १ ॥

---

१ रत्नानि—श्रेष्ठवस्तूनि । (गो०) २ संविधानं—रक्षणं । (गो०)

दो योजन के घेरे में व्याप्त उस सुवेलपर्वत के शिखर पर, सुग्रीव तथा वानरयूथपतियों को साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी चढ़ गये ॥ १ ॥

स्थित्वा मुहूर्तं तत्रैव दिशो दश विलोकयन् ।
त्रिकूटशिखरे रम्ये निर्मितां विश्वकर्मणा ॥ २ ॥

वहाँ एक घड़ी ठहर, चारों ओर दृष्टि डाल उन्होंने देखा। रमणीय त्रिकूटाचल के शृङ्ग पर विश्वकर्मा की बनाई हुई ॥ २ ॥

ददर्श लङ्कां सुन्यस्तां रम्यकाननशोभिताम् ।
तस्यां गोपुरशृङ्गस्थं राक्षसेन्द्रं दुरासदम् ॥ ३ ॥

लङ्का को, श्रीरामचन्द्र जी ने देखा। लङ्कापुरी बड़ी सुन्दर रीति से बसाई गयी थी और बड़े रमणीक काननों से वह सुशोभित थी। उसके फाटक के शिखर पर दुर्धर्ष रावण बैठा हुआ था ॥ ३ ॥

श्वेतचामरपर्यन्तं विजयच्छत्रशोभितम् ।
रक्तचन्दनसंलिप्तं रत्नाभरणभूषितम् ॥ ४ ॥

उसके माथे पर विजयसूचक छत्र तना हुआ था, उसके अगल बगल दो सफेद चँवर डुलाये जा रहे थे। उसके शरीर में लाल चन्दन लगा हुआ था और वह रत्नजटित आभूषण पहिने हुए था ॥ ४ ॥

नीलजीमूतसङ्काशं हेमसंछादिताम्बरम् ।
ऐरावतविषाणाग्रैरुत्कृष्टकिणवक्षसम् ॥ ५ ॥

नील मेघ की तरह उसके शरीर की कान्ति थी और वह ज़रदोज़ी (कलाबत्तू) के काम के कपड़े पहिने हुए था। उसकी छाती में ऐरावत हाथी के दाँत लगने का चिन्ह था ॥ ५ ॥

शशलोहितरागेण संवीतं रक्तवाससा ।
सन्ध्यातपेन संवीतं मेघराशिमिवाम्बरे ॥ ६ ॥

उसकी पोशाक ख़रगोश के रक्त की तरह लाल रंग की थी। इस सजावट से वह ऐसा जान पड़ता था, मानों सन्ध्याकालीन धूप से ढकी हुईं मेघघटाएँ ॥ ६ ॥

पश्यतां वानरेन्द्राणां राघवस्यापि पश्यतः ।
दर्शनाद्राक्षसेन्द्रस्य सुग्रीवः सहसोत्थितः ॥ ७ ॥

इस प्रकार के राक्षसराज रावण को सुग्रीव ने तथा श्रीरामचन्द्र जी ने भी देखा। किन्तु रावण को देख सुग्रीव से न रहा गया और वे सहसा उठ खड़े हुए ॥ ७ ॥

क्रोधवेगेन संयुक्तः सत्त्वेन च बलेन च ।
अचलाग्रादथोत्थाय पुप्लुवे गोपुरस्थले ॥ ८ ॥

सुग्रीव, क्रुद्ध हो तथा अपने बल पराक्रम से उत्साहित हो, पर्वत-शिखर से छलांग मार, उस फाटक के ऊपर जा बैठे (जहाँ रावण बैठा हुआ था) ॥ ८ ॥

स्थित्वा मुहूर्तं सम्प्रेक्ष्य निर्भयेनान्तरात्मना ।
तृणीकृत्य च तद्रक्षः सोऽब्रवीत्परुषं वचः ॥ ९ ॥

वहाँ पहुँच सुग्रीव कुछ देर तक निर्भय हो, रावण की ओर टकटकी बांध देखते रहे। फिर रावण को तिनके के समान समझ अर्थात् तिरस्कार पूर्वक उससे कठोर वचन कहने लगे ॥ ९ ॥

लोकनाथस्य रामस्य सखा दासोऽस्मि राक्षस ।
न मया मोक्ष्यसेऽद्य त्वं पार्थिवेन्द्रस्य तेजसा ॥ १० ॥

अरे राक्षस ! मैं त्रिलोकीनाथ श्रीरामचन्द्र का मित्र और दास भी हूँ। राजेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी के प्रताप से तुम आज मुझसे बच कर न जा पाओगे ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा सहसोत्पत्य पुप्लुवे तस्य चोपरि ।
आकृष्य मुकुटं चित्रं पातयित्वाऽपतद्भुवि ॥ ११ ॥

यह कह सुग्रीव सहसा छलांग मार रावण के ऊपर जा पहुँचे और रावण के सिर से उसका विचित्र मुकुट उतार कर, ज़मीन पर पटक दिया ॥ ११ ॥

समीक्ष्य तूर्णमायान्तमावभाषे निशाचरः ।
सुग्रीवस्त्वं परोक्षं मे हीनग्रीवो भविष्यसि ॥ १२ ॥

मुकुट गिरा कर उनको फिर भी फुर्ती के साथ अपने ऊपर झपटते देख, रावण ने कहा—सुग्रीव जब तक तू मेरे नेत्रों की आड़ में था तभी तक तू सुग्रीव था, पर अब तू हीनग्रीव हो जायगा ॥१२॥

इत्युक्त्वोत्थाय तं क्षिप्रं बाहुभ्यामाक्षिपत्तले ।
कन्दुवत् स समुत्थाय बाहुभ्यामाक्षिपद्धरिः ॥ १३ ॥

यह कह रावण उठा और हाथों से पकड़ सुग्रीव को ज़मीन पर दे पटका। सुग्रीव ने भी गेंद की तरह उछल कर और रावण को पकड़ कर, उसे ज़मीन पर पटक दिया ॥ १३ ॥

परस्परं स्वेदविदिग्धगात्रौ
परस्परं शोणितदिग्धदेहौ ।
परस्परं श्लिष्टनिरुद्धचेष्टौ
परस्परं शाल्मलिकिंशुकौ यथा ॥ १४ ॥

जब वे दोनों इस प्रकार एक दूसरे से लड़ने लगे; तब दोनों के शरीर पसीना व रुधिर से तर बतर हो गये। वे एक दूसरे से लिपट जाते थे और कुछ काल के लिये दोनों ही चेष्टारहित (भी) हो जाते थे। खून से लथपथ वे सेमर और ढाक के पेड़ की तरह देख पड़ते थे ॥ १४ ॥

मुष्टिप्रहारैश्च तलप्रहारै-
रत्निघातैश्च कराग्रघातैः ।
तौ चक्रतुर्युद्धमसह्यरूपं
महाबलौ वानरराक्षसेन्द्रौ ॥ १५ ॥

महाबली वानरराज और राक्षसराज एक दूसरे को घूँसों से, थप्पड़ों से और कोहनियों की मार से बेदम कर, युद्ध कर रहे थे ॥ १५ ॥

कृत्वा नियुद्धं भृशमुग्रवेगौ
कालं चिरं गोपुरवेदिमध्ये ।
उत्क्षिप्य चाक्षिप्य विनम्य देहौ
पादक्रमाद्गोपुरवेदिलग्नौ ॥ १६ ॥

फाटक की छत पर इस तरह वे दोनों उग्र पराक्रमी बहुत देर तक युद्ध करते रहे। हाथापाई करते करते यहाँ तक नौबत पहुँची कि, कभी रावण सुग्रीव को और कभी सुग्रीव रावण को पकड़ कर, ऊपर उछाल देता था। कभी कभी पैंतरे बदलते हुए दोनों, कुछ देर के लिये, एक दूसरे की घात में खड़े हो जाते थे ॥ १६ ॥

अन्योन्यमाविध्य विलग्नदेहौ
तौ पेततुः सालनिखातमध्ये ।

उत्पेततुर्भूतलमस्पृशन्तौ
स्थित्वा मुहूर्तं त्वभिनिश्वसन्तौ ॥ १७ ॥

दोनों लड़ते लड़ते एक दूसरे से लिपटे हुए परकोटे की खाँई में गिर पड़े। किन्तु खाँई की तली में पहुँचने के पूर्व वे दोनों उछल कर, पुनः ऊपर आये और ऊपर आ कर कुछ देर तक दम लेते हुए खड़े रहे ॥ १७ ॥

आलिङ्ग्य चावलग्य च बाहुयोक्त्रैः
संयोजयामासतुराहवे तौ ।
संरम्भशिक्षाबलसम्प्रयुक्तौ
सञ्चेरतुः सम्प्रति युद्धमार्गैः ॥ १८ ॥

तदनन्तर फिर उन दोनों की भिड़न्त हुई और दोनों में हाथापाई होने लगी। आवेश में भर वे अपने अपने (मल्लयुद्ध के) अभ्यास और (शारीरिक) शक्ति को दिखाते हुए एक दूसरे को पकड़ने की घात में लगे हुए घूम रहे थे ॥ १८ ॥

शार्दूलसिंहाविव जातदर्पौ
गजेन्द्रपोताविव सम्प्रयुक्तौ ।
संहत्य चापीड्य च तावुरोभ्यां
निपेततुर्वै युगपद्धरण्याम् ॥ १९ ॥

शार्दूल और सिंह की तरह वे बल से दर्पित हो रहे थे। हाथी के पाठों की तरह वे दोनों भिड़ जाते थे और घुटनों की ठोकरें एक दूसरे के जमाते हुए, दोनों ही पृथिवी पर गिर जाते थे ॥ १९ ॥

उद्यम्य चान्योन्यमधिक्षिपन्तौ
सञ्चक्रमाते बहुयुद्धमार्गैः ।

व्यायामशिक्षावलसम्प्रयुक्तौ
क्रमं न तौ जग्मतुराशु वीरौ ॥ २० ॥

एक दूसरे को उठा उठा कर पटक देते थे और दोनों ही उठ उठ कर वहाँ चक्कर लगाने लगते थे। क्योंकि दोनों ही मल्लयुद्ध-विद्या में अभ्यस्त होने के कारण पर्याप्त बलसम्पन्न थे। इसीसे वे दोनों वीर शीघ्र थके भी नहीं थे ॥ २० ॥

बाहूत्तमैर्वारणवारणाभैः
निवारयन्तौ वरवारणाभौ।
चिरेण कालेन तु सम्प्रयुक्तो
सञ्चेरतुर्मण्डलमार्गमाशु ॥ २१ ॥

मतवाले हाथियों की सूँड़ों की तरह अपने हाथों से एक दूसरे को रोकते हुए, वे बहुत देर तक कुश्ती लड़ कर, मण्डलाकार हो, लड़ने लगे ॥ २१ ॥

तौ परस्परमासाद्य यत्तावन्योन्यसूदने।
मार्जाराविव भक्षार्थे वितस्थाते मुहुर्मुहुः ॥ २२ ॥

किसी खाद्य पदार्थ के लिये लड़ने वाले दो बिलारों की तरह, वे दोनों आपस में एक दूसरे की ओर निश्चल भाव से खड़े घूरते हुए, चक्कर लगाते थे ॥ २२ ॥

मण्डलानि विचित्राणि स्थानानि विविधानि च।
गोमूत्रिकाणि चित्राणि गतप्रत्यागतानि च ॥ २३ ॥

तिरश्चीनगतान्येव तथा वक्रगतानि च।
परिमोक्षं प्रहाराणां वर्जनं परिधावनम् ॥ २४ ॥

अभिद्रवणमाप्लावमास्थानं च सविग्रहम् ।
परावृत्तमपावृत्तमवद्रुतमवप्लुतम् ॥ २५ ॥
उपन्यस्तमपन्यस्तं युद्धमार्गविशारदौ ।
तौ सञ्चेरतुरन्योन्यं वानरेन्द्रश्च रावणः ॥ २६ ॥

वे कभी विचित्र रीति से चक्कर काट, कभी पैरों को तिरछे रख, कभी टेढ़ी मेढ़ी चाल से, कभी वेंड़े हो कर, कभी चक्कर काट कर, कभी वार बचा कर, कभी दौड़ कर, कभी उछल कर, कभी घात लगा कर खड़े रह कर, कभी पीछे देखते हुए चल कर, कभी घुटनों के बल परस्पर समीप खड़े रह कर, कभी लात मारने के लिये उछल कर, कभी बाहों की पकड़ बचाने को छाती फुला कर और आगे कर के, कभी श[त्रु] की भुजाओं को पकड़ने के लिये हाथों को फैला कर, वे दोनों मल्लयुद्धविशारद वानरराज और राक्षसराज, घूम घूम कर लड़ रहे थे ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रक्षो मायाबलमथात्मनः ।
आरब्धुमुपसम्पेदे ज्ञात्वा तं वानराधिपः ॥ २७ ॥

इतने में रावण ने अपना कुछ मायाजाल रचना चाहा, जिसे वानरराज सुग्रीव तुरन्त ताड़ गये ॥ २७ ॥

उत्पपात तदाकाशं [1]जितकाशी जितक्लमः ।
रावणः स्थित एवात्र हरिराजेन वञ्चितः ॥ २८ ॥

तब तो पूरी दम रखने वाले एवं विजयी सुग्रीव ने वहाँ से ऊपर को छलांग मारी। रावण भौंचक सा खड़ा देखता ही रह गया। कपिराज ने उसे खूब छकाया ॥ २८ ॥

---

१ जितकाशी—जितश्वासः। (रा०)

अथ हरिवरनाथः प्राप्य संग्रामकीर्तिः
निशिचरपतिमाजौ योजयित्वा श्रमेण ।
गगनमतिविशालं लङ्घयित्वाऽर्कसूनुः
हरिवरगणमध्ये रामपार्श्वं जगाम ॥ २९ ॥

इस प्रकार वानरराज सुग्रीव ने वल लगा कर, राक्षसराज रावण को थका डाला और इस प्रकार विजय रूपी कीर्ति प्राप्त कर, फिर सूर्यपुत्र सुग्रीव विशाल आकाश को लांघ कर, वानरों के बीच बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी के पास आ पहुँचे ॥ २९ ॥

इति स सवितृसूनुस्तत्र तत्कर्म कृत्वा
पवनगतिरनीकं प्राविशत्सम्प्रहृष्टः ।
रघुवरनृपसूनोर्वर्धयन्युद्धहर्षं
तरुमृगगणमुख्यैः पूज्यमानो हरीन्द्रः ॥३०॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार सूर्यपुत्र सुग्रीव ने लङ्का में जा, वहाँ यह करनी कर, हर्षित हो पवनवेग से लौट और वानरयूथपतियों से सम्मानित हो, राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी को इस मल्लयुद्ध का वृत्तान्त सुना, उनको हर्षित किया ॥ ३० ॥

युद्धकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—※—

अथ तस्मिन्निमित्तानि दृष्ट्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
सुग्रीवं सम्परिष्वज्य तदा वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मण के ज्येष्ठभ्राता श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव के शरीर पर युद्ध के चिन्ह अर्थात् घाव देख और उन्हें अपने गले से लगा कर उनसे कहा ॥ १ ॥

असम्मन्त्र्य मया सार्धं तदिदं साहसं कृतम् ।
एवं साहसकर्माणि न कुर्वन्ति जनेश्वराः ॥ २ ॥

हे मित्र ! तुमने मुझसे परामर्श किये बिना ही जैसे दुस्साहस का यह काम किया है, वैसा दुस्साहस का काम राजा लोगों को करना उचित नहीं ॥ २ ॥

संशये स्थाप्य मां चेदं बलं च सविभीषणम् ।
कष्टं कृतमिदं वीर साहसं साहसप्रिय ॥ ३ ॥

हे साहसप्रिये ! हे वीर ! मुझे, विभीषण को तथा समस्त वानरी सेना को चिन्ता में डाल, तुमने यह जोखों का काम किया है ॥ ३ ॥

इदानीं मा कृथा वीर एवंविधमचिन्तितम् ।
त्वयि किञ्चित्समापन्ने किं कार्यं सीतया मम ॥ ४ ॥

'हे वीर ! इस प्रकार बिना समझे बूझे फिर कोई काम मत करना । कहीं तुम्हारा कुछ भी अनभल हो जाता तो, मैं सीता को ले कर ही क्या करता ? ॥ ४ ॥

भरतेन महाबाहो लक्ष्मणेन यवीयसा ।
शत्रुघ्नेन च शत्रुघ्न स्वशरीरेण वा पुनः ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! यदि तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति आ जाती, तो भरत से, लक्ष्मण से तथा शत्रुहन्ता लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न से और अपने शरीर ही से मैं रक्षा करता ॥ ५ ॥

त्वयि चानागते पूर्वमिति मे निश्चिता मतिः ।
जानतश्चापि ते वीर्यं महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ ६ ॥
हत्वाऽहं रावणं युद्धे सपुत्रबलवाहनम् ।
अभिषिच्य च लङ्कायां विभीषणमथापि च ॥ ७ ॥
भरते राज्यमावेश्य त्यक्ष्ये देहं महाबल ।
तमेवंवादिनं रामं सुग्रीवः प्रत्यभाषत ॥ ८ ॥

यद्यपि मैं जानता हूँ कि, तुममें इन्द्र और वरुण के समान पराक्रम है, तथापि जब तक तुम नहीं लौटे थे, तब तक मैंने यही अपने मन में निश्चय कर रखा था कि, युद्ध में पुत्र, सेना और वाहनों सहित रावण को मार कर, मैं विभीषण को लङ्का के राजसिंहासन पर बैठाऊँगा । हे महाबली ! तदनन्तर अयोध्या में जा और वहाँ के राजसिंहासन पर भरत जी को बैठा, मैं अपना शरीर त्याग दूँगा । इस प्रकार कहते हुए श्रीरामचन्द्र जी से सुग्रीव बोले ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

तव भार्यापहर्तारं दृष्ट्वा राघव रावणम् ।
मर्षयामि कथं वीर जानन्पौरुषमात्मनः ॥ ९ ॥

हे राघव ! तुम्हारी स्त्री को हरने वाले रावण को सूरत देख, और अपना पौरुष जान कर, मैं कैसे रह सकता था ॥ ९ ॥

इत्येवंवादिनं वीरमभिनन्द्य स राघवः ।
लक्ष्मणं लक्ष्मिसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

सुग्रीव के ऐसा कहने पर, उनकी बड़ाई करते हुए श्रीरामचन्द्र जी कान्तिवान लक्ष्मण जी से बोले ॥ १० ॥

परिगृह्योदकं शीतं वनानि फलवन्ति च ।
बलौघं संविभज्येमं व्यूह्य तिष्ठेम लक्ष्मण ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण ! जहाँ सुन्दर शीतल जल हो और जहाँ पर फलों से भरे पूरे वन हों, वहाँ पर हम सेना को ठहरा कर व्यूह रचना चाहिये ॥ ११ ॥

लोकक्षयकरं भीमं भयं पश्याम्युपस्थितम् ।
निबर्हणं प्रवीराणामृक्षवानररक्षसाम् ॥ १२ ॥

मुझे जान पड़ता है कि, लोकक्षयकारी बड़ा भयङ्कर युद्ध होने वाला है । अब भालुओं, वानरों और राक्षसों का बड़ा नाश होगा ॥ १२ ॥

वाताश्च परुषा वान्ति कम्पते च वसुन्धरा ।
पर्वताग्राणि वेपन्ते पतन्ति धरणीरुहाः ॥ १३ ॥

देखो, हवा वेग से चल रही है, पृथिवी हिल रही है, पर्वत-शिखर काँप रहे हैं और पहाड़ टूट टूट कर गिर रहे हैं ॥ १३ ॥

मेघाः क्रव्यादसङ्काशाः परुषा परुषस्वनाः ।
क्रूराः क्रूरं प्रवर्षन्ति मिश्रं शोणितबिन्दुभिः ॥ १४ ॥

आकाश में मेघ, हिंसक जन्तुओं के तरह कठोर शब्द कर रहे हैं और क्रूर मेघ, रक्तमिश्रित जलबिन्दुओं की भयङ्कर वर्षा कर रहे हैं ॥ १४ ॥

रक्तचन्दनसङ्काशा सन्ध्या परमदारुणा ।
ज्वलच्च निपतत्येतदादित्यादग्निमण्डलम् ॥ १५ ॥

लाल चन्दन की तरह सन्ध्या ने अत्यन्त दारुण लाल रूप धारण किया है और आदित्यमण्डल से जलते हुए उल्का गिरते हैं ॥ १५ ॥

आदित्यमभिवाश्यन्ति जनयन्तो महद्भयम् ।
दीना दीनस्वरा घोरा अप्रशस्ता मृगद्विजाः ॥ १६ ॥

ये भयङ्कर रूप वाले एवं अमङ्गलरूपी मृग तथा पक्षी, बड़ा भय दिखलाते हुए, दीन हो और सूर्य की ओर मुख कर, रो रहे हैं ॥१६॥

रजन्यामप्रकाशश्च सन्तापयति चन्द्रमाः ।
कृष्णरक्तांशुपर्यन्तो यथा लोकस्य संक्षये ॥ १७ ॥

रात में धुँधला चन्द्रमा निकलता है, जो जीवधारियों को सन्तप्त करता है और प्रलयकाल जैसा उसके चारों ओर काला और लाल रंग का घेरा दिखलाई पड़ता है ॥ १७ ॥

ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेषः सुलोहितः ।
आदित्यमण्डले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण ! सूर्य के चारों ओर छोटा, रूखा और अमङ्गल रूप लाल कोर का काला घेरा देख पड़ता है ॥ १८ ॥

दृश्यन्ते न यथावच्च नक्षत्राण्यभिवर्तते ।
युगान्तमिव लोकस्य पश्य लक्ष्मण शंसति ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, आकाश में उपस्थित होते हुए भी नक्षत्र ठीक ठीक नहीं देख पड़ते । यह होने वाले जीवधारियों के नाश की सूचना दे रहे हैं ॥ १९ ॥

काकाः श्येनास्तथा गृध्रा नीचैः परिपतन्ति च ।
शिवाश्चाप्यशिवा वाचः प्रवदन्ति महास्वनाः ॥ २० ॥

काक, बाज और गीध बार बार नीचे पृथिवी की ओर गिर गिर पड़ते हैं। शृगालियाँ (लोमड़ियाँ) उच्चस्वर से अशुभसूचक शब्द बोल रही हैं ॥ २० ॥

क्षिप्रमद्य दुराधर्षां लङ्कां रावणपालिताम् ।
अभियाम जवेनैव सर्वतो हरिभिर्वृताः ॥ २१ ॥

अतः चलो हम सब वानरी सेना को साथ ले रावण की दुर्धर्ष लङ्का पर तुरन्त आज ही बड़े वेग से चढ़ाई करें ॥ २१ ॥

इत्येवं संवदन्वीरो लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः ।
तस्मादवातरच्छीघ्रं पर्वताग्रान्महाबलः ॥ २२ ॥

वीरवर बलवान् श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण से इस प्रकार कह कर सुवेलपर्वत के शिखर से तुरन्त नीचे उतरे ॥ २२ ॥

अवतीर्य च धर्मात्मा तस्माच्छैलात्स राघवः ।
परैः परमदुर्धर्षं ददर्श बलमात्मनः ॥ २३ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने उस पर्वत से नीचे उतर शत्रु से कभी परास्त न होने वाली अपनी सेना देखी ॥ २३ ॥

[1]सन्नह्य तु स सुग्रीवः [2]कपिराजबलं महत् ।
कालज्ञो राघवः काले संयुगायाभ्यचोदयत् ॥ २४ ॥

---

1 संनह्य—प्रोत्साह्य । (गो०) 2 कपिराजबलं—कपिश्रेष्ठानांबलं । (गो०)

इसके बाद सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी ने कपिश्रेष्ठों की उस सेना को उत्साहित कर और युद्ध का उचित समय जान, युद्ध करने के लिये आज्ञा दी ॥ २४ ॥

ततः काले महाबाहुर्बलेन महता वृतः ।
प्रस्थितः पुरतो धन्वी लङ्कामभिमुखः पुरीम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी विजयमुहूर्त्त में महती वानरी सेना को साथ ले आगे आगे हाथ में धनुष लिये हुए लङ्कापुरी की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २५ ॥

तं विभीषणसुग्रीवौ हनुमाञ्जाम्बवान्नलः ।
ऋक्षराजस्तथा नीलो लक्ष्मणश्चान्वयुस्तदा ॥ २६ ॥

उनके पीछे पीछे विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान, नल, ऋक्षराज, नील और लक्ष्मण चले ॥ २६ ॥

ततः पश्चात्सुमहती पृतनर्क्षवनौकसाम् ।
प्रच्छाद्य महतीं भूमिमनुयाति स्म राघवम् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे रीछ और वानरों की महती सेना पृथिवी के एक लंबे चौड़े भाग को ढँक कर चली ॥ २७ ॥

शैलशृङ्गाणि शतशः प्रवृद्धांश्च महीरुहान् ।
जगृहुः कुञ्जरप्रख्या वानराः परवारणाः ॥ २८ ॥

शत्रु की गति को रोकने वाले और हाथियों के समान डील डौल वाले वानर, युद्धयात्रा के समय सैकड़ों बड़े बड़े वृक्ष और पर्वतशिखर हाथों में लिये हुए थे ॥ २८ ॥

तौ तु दीर्घेण कालेन भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
रावणस्य पुरीं लङ्कामासेदतुररिन्दमौ ॥ २९ ॥

इस प्रकार शत्रुहन्ता दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण चलते चलते बहुत देर बाद रावण की लङ्कापुरी के समीप पहुँच गये ॥२९॥

पताकमालिनीं रम्यामुद्यानवनशोभिताम् ।
[1]चित्रवप्रां सुदुष्प्रापामुच्चैःप्राकारतोरणाम् ॥ ३० ॥

लङ्कापुरी अनेक ध्वजा पताकाओं से सुशोभित थी—उद्यानों और उपवनों से शोभित होने के कारण बड़ी रमणीक जान पड़ती थी। चित्र समूहों से उसकी दीवारें व द्वार अलंकृत थे। उसके परकोटे की दीवालें और द्वार बड़े बड़े ऊँचे होने के कारण, उन तक पहुँचना अत्यन्त कठिन था ॥ ३० ॥

तां सुरैरपि दुर्धर्षां रामवाक्यप्रचोदिताः ।
यथानिवेशं सम्पीड्य न्यविशन्त वनौकसः ॥ ३१ ॥

देवताओं के लिये भी दुष्प्रवेश्य, लङ्कापुरी पर श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से वानर यथायोग्य स्थानों का अधिकृत कर खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

लङ्कायास्तूत्तरद्वारं शैलशृङ्गमिवोन्नतम् ।
रामः सहानुजो धन्वी जुगोप च रुरोध च ॥ ३२ ॥

लङ्का के उत्तरद्वार को जो पर्वतशिखर की तरह ऊँचा था रोक कर श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित, धनुषबाण ले वानरी सेना की रक्षा करने लगे ॥ ३२ ॥

---

1 चित्रवप्रां—चित्रचयां । (गो०).

लङ्कामुपनिविष्टश्च रामो दशरथात्मजः ।
लक्ष्मणानुचरो वीरः पुरीं रावणपालिताम् ॥ ३३ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने वीर लक्ष्मण सहित रावण से रक्षित लङ्कापुरी को घेरा ॥ ३३ ॥

उत्तरद्वारमासाद्य यत्र तिष्ठति रावणः ।
नान्यो रामाद्धि तद्द्वारं समर्थः परिरक्षितुम् ॥ ३४ ॥

लङ्का के उत्तर द्वार को, जिसकी रक्षा स्वयं रावण कर रहा था, श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं थी, जो उसे घेरता ॥ ३४ ॥

रावणाधिष्ठितं भीमं वरुणेनेव सागरम् ।
सायुधै राक्षसैर्भीमैरभिगुप्तं समन्ततः ॥ ३५ ॥

आयुधधारी भयङ्कर राक्षसों को साथ लिये हुए रावण चारों ओर से उस द्वार की रक्षा उसी तरह कर रहा था; जिस तरह समुद्र की रक्षा वरुण जी करते हैं ॥ ३५ ॥

[1]लघूनां त्रासजननं पातालमिव दानवैः ।
विन्यस्तानि च योधानां बहूनि विविधानि च ॥ ३६ ॥

लङ्का का उत्तरद्वार, रावण के वहाँ रहने से ऐसा भयङ्कर जान पड़ता था, जैसा विविध और बहुत से अल्पवीर्यवान् दानवों द्वारा रक्षित पाताल भयङ्कर जान पड़ता है ॥ ३६ ॥

ददर्शायुधजालानि तत्रैव कवचानि च ।
पूर्वं तु द्वारमासाद्य नीलो हरिचमूपतिः ॥ ३७ ॥

---

१ लघूनां—अल्पसाराणाम् । (गो०)

वानरों ने उस द्वार पर अस्त्रों का तथा कवचों के ढेर देखे। वानरसेनापति नील लङ्का के पूर्वद्वार पर ॥ ३७ ॥

अतिष्ठत्सह मैन्देन द्विविदेन च वीर्यवान्।
अङ्गदो दक्षिणद्वारं जग्राह सुमहाबलः ॥ ३८ ॥

वीर्यवान मैन्द और द्विविद को साथ ले जा खड़ा हुआ। महाबली अंगद ने दक्षिण द्वार को जा घेरा ॥ ३८ ॥

ऋषभेण गवाक्षेण गजेन गवयेन च।
हनुमान्पश्चिमद्वारं ररक्ष बलवान्कपिः ॥ ३९ ॥

इनके सहायक ऋषभ, गवाक्ष, गज, गवय नामक वानर थे। बलवान वानर हनुमान जी ने पश्चिमद्वार जा घेरा ॥ ३९ ॥

प्रमाथिप्रघसाभ्यां च वीरैरन्यैश्च सङ्गतः।
मध्यमे च स्वयं गुल्मे सुग्रीवः समतिष्ठत ॥ ४० ॥

इनके साथ प्रमाथि, प्रघस, प्रमुख अन्य वीर वानर थे। बीच में वानरराज सुग्रीव स्वयं खड़े हुए थे ॥ ४० ॥

सह सर्वैर्हरिश्रेष्ठैः सुपर्णश्वसनोपमैः।
वानराणां तु षट्त्रिंशत्कोट्यः प्रख्यातयूथपाः ॥४१॥

वहाँ उनके साथ गरुड़ और वायु की तरह सब बड़े बड़े पराक्रमी वानरश्रेष्ठ थे। छत्तीस करोड़ प्रसिद्ध वानरयूथपति ॥ ४१ ॥

निपीड्योपनिविष्टाश्च सुग्रीवो यत्र वानरः।
शासनेन तु रामस्य लक्ष्मणः सविभीषणः ॥ ४२ ॥

द्वारेद्वारे हरीणां तु कोटिं कोटिं न्यवेशयत् ।
[1]पश्चिमेन तु रामस्य सुग्रीवः सहजाम्बवान् ॥ ४३ ॥
अदूरान्मध्यमे गुल्मे तस्थौ बहुबलानुगः ।
ते तु वानरशार्दूलाः शार्दूला इव दंष्ट्रिणः ॥ ४४ ॥

भी उस स्थान को, जहां सुग्रीव थे, घेर कर युद्ध के लिये तैयार खड़े हुए थे। (अर्थात् ३६ करोड़ वानरी सेना (Reserve) थी और उस सेना के अतिरिक्त थी जो लङ्का के चारों द्वारों को घेरे हुए खड़ी थी।) तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से विभीषण सहित लक्ष्मण ने लङ्का के हरेक द्वार पर एक एक करोड़ वानर और नियत कर दिये थे। श्रीरामचन्द्र जी के पीछे और बीच के मोर्चे के समीप जाम्बवान सहित सुग्रीव, बहुत सी सेना लिये खड़े हुए थे। शार्दूल के समान पैनी पैनी दाढ़ों वाले वे सब वानरश्रेष्ठ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

गृहीत्वा द्रुमशैलाग्रान् हृष्टा युद्धाय तस्थिरे ।
सर्वे [2]विकृतलाङ्गूलाः सर्वे दंष्ट्रानखायुधाः ॥ ४५ ॥

वृक्षों तथा पर्वतशिखरों को हाथों में ले और प्रसन्न हो युद्ध की प्रतीक्षा करने लगे। वे सब के सब अपनी पूँछे ऊपर को उठाये हुए थे। वे सब के सब दांतों और नखों से लड़ने वाले थे। अर्थात् उन सब के आयुध नख और दांत थे ॥ ४५ ॥

सर्वे विकृतचित्राङ्गाः सर्वे च [3]विकृताननाः ।
दशनागबलाः केचित्केचिद्दशगुणोत्तराः ॥ ४६ ॥

---

१ पश्चिमेन—आत्मपृष्ठभागावष्टंभेन । (रा०) २ विकृतलाङ्गूलाः—ऊर्ध्वप्रसारितपुच्छाः । (गो०) ३ विकृताननाः—राक्षसविडम्बनाय कुटिलित-मुखाः । (गो०)

मारे क्रोध के उन सब के मुख और नेत्र लाल लाल हो रहे थे और राक्षसों को चिढ़ाने के लिये वे उनको घिरा रहे थे। उनमें से किसी किसी के शरीर में दस हाथियों का और किसी किसी के शरीर में सौ हाथियों का बल था ॥ ४६ ॥

केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यविक्रमाः ।
सन्ति चौघबलाः केचित्केचिच्छतगुणोत्तराः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार कोई कोई ऐसे भी वानर थे, जिनके शरीर में हज़ार हाथियों जितना बल पराक्रम था। किसी किसी में ओघसंख्यक हाथियों का बल था और किसी किसी में सौ ओघसंख्यक हाथियों जितना बल था ॥ ४७ ॥

अप्रमेयबलाश्चान्ये तत्रासन्हरियूथपाः ।
अद्भुतश्च विचित्रश्च तेषामासीत्समागमः ॥ ४८ ॥
तत्र वानरसैन्यानां सलभानामिवोद्यमः ।
परिपूर्णमिवाकाशं संछन्नेव च मेदिनी ॥ ४९ ॥
लङ्कामुपनिविष्टैश्च सम्पतद्भिश्च वानरैः ।
शतं शतसहस्राणां पृथगृक्षवनौकसाम् ॥ ५० ॥
लङ्काद्वाराण्युपाजग्मुरन्ये योद्धुं समन्ततः ।
आवृतः स गिरिः सर्वैस्तैः समन्तात्प्लवङ्गमैः ॥ ५१ ॥

कोई कोई वानरयूथपति ऐसे भी थे, जिनके शरीरों में अमित बल पराक्रम था। टिड्डीदल की तरह उस वानरी सेना का अद्भुत और विचित्र समागम था। लङ्का पर धावा बोलने वाले वानरों और रीछों से वहाँ की पृथ्वी और कूदते फाँदते हुए वानरों

से वहाँ का आकाश भर गया था। इनके अतिरिक्त युद्ध की अभिलाषा किये हुए असंख्य वानर और रीछ लङ्का के द्वारों पर चारों ओर से आ आ कर जमाव करने लगे। उस समय त्रिकूटाचल पर्वत को वानरों ने चारों ओर से घेर लिया ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

अयुतानां सहस्रं च पुरीं तामभ्यवर्तत।
वानरैर्बलवद्भिश्च बभूव द्रुमपाणिभिः ॥ ५२ ॥

लाखों करोड़ों वानर और भालू लङ्का में जा उपस्थित हुए। बलवान वानर हाथों में बड़े बड़े वृक्ष लेकर, ॥ ५२ ॥

संवृता सर्वतो लङ्का दुष्प्रवेशापि वायुना।
राक्षसा विस्मयं जग्मुः सहसाऽभिनिपीडिताः[1] ॥ ५३ ॥
वानरैर्मेघसङ्काशैः शक्रतुल्यपराक्रमैः।
महाञ्शब्दोऽभवत्तत्र बलौघस्याभिवर्ततः ॥ ५४ ॥

उस लङ्का को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये, जिसमें घुसने की शक्ति वायु में भी न थी। मेघों के समान विशाल वपुधारी और इन्द्र के समान पराक्रमी वानरों द्वारा सहसा लङ्का के घेरे जाने से राक्षस विस्मित हुए। वहाँ पर वानरी सेना के एकत्रित होने से ऐसा भयङ्कर शब्द हुआ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

सागरस्येव [2]भिन्नस्य यथा स्यात्सलिलस्वनः।
तेन शब्देन महता सप्राकारा सतोरणा ॥ ५५ ॥
लङ्का प्रचलिता सर्वा सशैलवनकानना।
रामलक्ष्मणगुप्ता सा सुग्रीवेण च वाहिनी ॥ ५६ ॥

---

१ अभिनिपीडिताः—उपरुद्धाः। (गो०) २ भिन्नस्य—भिन्नमर्यादस्य। (गो०)

जैसा कि, मर्यादा तोड़ने वाले समुद्र के पानी का होता है। उस भयङ्कर शब्द से परकोटा, तोरणद्वार, पर्वत, वन और उपवन सहित सारी लङ्का काँप उठी। उस समय श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सुग्रीव द्वारा रक्षित वह कपिसेना ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

बभूव दुर्धर्षतरा सर्वैरपि सुरासुरैः।
राघवः सन्निवेश्यैव सैन्यं स्वं रक्षसां वधे ॥ ५७ ॥

समस्त सुरों और असुरों से भी अत्यन्त दुर्धर्ष हो गयी। श्रीरामचन्द्र जी राक्षसों का वध करने के लिये इस प्रकार सेना स्थापित कर ॥ ५७ ॥

[1]सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिः सार्धं [2]निश्चित्य च पुनः पुनः।
[3]आनन्तर्यमभिप्रेप्सुः[4] क्रमयोगार्थतत्त्ववित् ॥ ५८ ॥

साम दानादि उपायों का जानने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने आगे कर्त्तव्य के सम्बन्ध में कुछ निर्णय करने की अभिलाषा से मंत्रियों से परामर्श किया और रावण के पास दूत भेजने का विचार कर अङ्गद को भेजना निश्चित किया ॥ ५८ ॥

विभीषणस्यानुमते राजधर्ममनुस्मरन्।
अङ्गदं वालितनयं समाहूयेदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

फिर युद्ध आरम्भ करने के पूर्व शत्रु को दूत द्वारा युद्ध के लिये आमंत्रित करना उचित है—इस राजधर्मानुसार तथा विभीषण की सम्मत्यानुसार वालितनय अङ्गद को बुला कर श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे यह कहा ॥ ५९ ॥

---

१ संमन्त्र्य—दूतः प्रेषणीय इति विचार्य। (गो०) २ निश्चित्य—अंगद एव प्रेषणीय इति निर्धार्य। (गो०) ३ आनन्तर्यं—अनन्तरकर्त्तव्यं। (गो०) ४ अभिप्रेप्सुः—प्राप्तमिच्छुः। (गो०)

गत्वा सौम्य दशग्रीवं ब्रूहि मद्वचनात्कपे ।
लङ्घयित्वा पुरीं लङ्कां भयं त्यक्त्वा [1]गतव्यथः ॥६०॥

हे सौम्य! तुम लङ्का के परकोटे को नांघ कर, निरुपद्रव जाओ और मेरी ओर से दशानन रावण से निर्भय हो कहो कि, ॥ ६० ॥

भ्रष्टश्रीक गतैश्वर्य मुमूर्षो नष्टचेतन ।
ऋषीणां देवतानां च गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ ६१ ॥

नागानामथ यक्षाणां राज्ञां च रजनीचर ।
यच्च पापं कृतं मोहादवलिप्तेन राक्षस ॥ ६२ ॥

नूनमद्य गतो दर्पः स्वयंभूवरदानजः ।
यस्य दण्डधरस्तेऽहं दाराहरणकर्शितः ॥ ६३ ॥

दण्डं धारयमाणस्तु लङ्काद्वारे व्यवस्थितः ।
[2]पदवीं देवतानां च महर्षीणां च राक्षस ॥ ६४ ॥

राजर्षीणां च सर्वेषां गमिष्यसि मया हतः ।
बलेन येन वै सीतां मायया राक्षसाधम ॥ ६५ ॥

हे लक्ष्यरहित! हे ऐश्वर्यहीन! हे मुमुर्षो! हे अचेत राक्षस! ऋषि, देवता, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प, यक्ष और राजाओं पर तूने जो अत्याचार, ब्रह्मा जी के जिस वरदान के बल के गर्व से गर्वित हो अज्ञानवश किये हैं—उस वरदान का दर्प आज निश्चय ही प्रायः दूर हो चुका है। तूने मेरी स्त्री को हरन कर, जो अपराध किया है, उसका उचित दण्ड देने के लिये, साक्षात् काल की तरह मैं,

---

१ गतव्यथो निरुपद्रवः। (रा०) २ पदवीं—लोकं। (गो०)

लङ्का के द्वार पर आ पहुँचा हूँ। तू मेरे हाथ से मारे जाने पर, तुझे वही लोक प्राप्त होगा, जो देवताओं, महर्षियों और राजर्षियों को प्राप्त होता है। अरे राक्षसाधम! जिस बल बूते पर तूने सीता को, मुझे धोखा दे ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

मामतिक्रामयित्वा त्वं हृतवांस्तद्विदर्शय।
अराक्षसमिमं लोकं कर्ताऽस्मि निशितैः शरैः ॥ ६६ ॥

कर, आश्रम से हटा कर, हरा था; उस बल को अब मुझे दिखला तो। मैं अपने पैने पैने बाणों से इस लोक को राक्षसशून्य करता हूँ ॥ ६६ ॥

न चेच्छरणमभ्येषि मामुपादाय मैथिलीम्।
धर्मात्मा रक्षसां श्रेष्ठः सम्प्राप्तोऽयं विभीषणः ॥ ६७ ॥

यदि मेरे शरण में आ, मुझे सीता को न दे देगा, तो यह धर्मात्मा और राक्षसश्रेष्ठ विभीषण, जो मेरे शरण में आ चुका है ॥ ६७ ॥

लङ्कैश्वर्यं ध्रुवं श्रीमानयं प्राप्नोत्यकण्टकम्।
न हि राज्यमधर्मेण भोक्तुं क्षणमपि त्वया ॥ ६८ ॥
शक्यं मूर्खसहायेन [1]पापेनाविदितात्मना[2]।
युध्यस्व वा धृतिं कृत्वा शौर्यमालम्ब्य राक्षस ॥६९॥

निश्चय ही लङ्का का अकराटक ऐश्वर्य पावेगा और यही लङ्का का राजा होगा। तू अधर्मी और पापी है, तेरे सहायक मूर्ख हैं। तू अपनी बुद्धि से नहीं, दूसरों की बुद्धि से काम करने वाला है,

---

१ पापेन—पापिष्टेन। (गो०) २ अविदितात्मना:—अस्वाधीनमनस्केन। (गो०)

अतः तू अब एक क्षण भी राज्य नहीं कर सकता। मेरे साथ अब तू धैर्य और शूरता का सहारा ले लड़॥ ६८॥ ६९॥

मच्छरैस्त्वं रणे शान्तस्ततः पूतो भविष्यसि।
यद्वा विशसि लोकांस्त्रीन्पक्षिभूतो मनोजवः॥ ७०॥
मम चक्षुष्पथं प्राप्य न जीवन्प्रतियास्यसि।
ब्रवीमि त्वां हितं वाक्यं क्रियतामौर्ध्वदैहिकम्॥ ७१॥

क्योंकि, जब तू मेरे बाणों से मारा जायगा तभी तू अब तक के किये पापों से छूट कर पवित्र होगा। अब तू पक्षी का रूप धर कर तीनों लोकों में भी छिपता फिरेगा; तो भी तू मुझसे न तो छिप ही सकेगा और न अपनी जान ही बचा सकेगा। अतः मैं तुझसे अब तेरे हित के लिये यह कहता हूँ कि तू अपना जीवच्छ्राद्ध कर ले; (क्योंकि पीछे तुझे चिल्लू भर पानी देने वाला कोई भी राक्षस न रह जायगा)॥ ७०॥ ७१॥

सुदृष्टा क्रियतां लङ्का जीवितं ते मयि स्थितम्।
इत्युक्तः स तु तारेयो रामेणाक्लिष्टकर्मणा॥ ७२॥

और लङ्का को जी भर अन्तिम बार देख ले, क्योंकि तेरा जीवन अब मेरे हाथ है। अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी ने जब इस प्रकार तारातनय अंगद से कहा—॥ ७२॥

जगामाकाशमाविश्य मूर्तिमानिव हव्यवाट्।
सोऽतिपत्य मुहूर्तेन श्रीमान्रावणमन्दिरम्॥ ७३॥

तब वह मूर्तिमान अग्नि की तरह (अङ्गद) आकाशमार्ग से उड़ कर चल दिया और थोड़ी ही देर में रावण के भवन में जा पहुँचा॥ ७३॥

ददर्शासीनमव्यग्रं रावणं सचिवैः सह ।
ततस्तस्याविदूरे स निपत्य हरिपुङ्गवः ॥ ७४ ॥

वहाँ अङ्गद ने देखा कि, रावण अपने मंत्रियों सहित सावधान हो बैठा है। अङ्गद उसके सिंहासन के समीप ही आकाश से उतर पड़ा ॥ ७४ ॥

दीप्ताग्निसदृशस्तस्थावङ्गदः कनकाङ्गदः ।
तद्रामवचनं सर्वमन्यूनाधिकमुत्तमम् ॥ ७५ ॥
सामात्यं श्रावयामास निवेद्यात्मानमात्मना ।
दूतोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ७६ ॥

सोने का बाजूबंद पहिने हुए अग्नि के समान प्रभावान् अङ्गद रावण के निकट जा खड़ा हुआ और श्रीरामचन्द्र जी का हितकर सन्देसा ज्यों का त्यों रावण को तथा उसके मंत्रियों को सुना दिया। फिर अङ्गद ने अपना नाम बतला कर कहा कि, मैं अक्लिष्टकर्मा कोशलाधीश श्रीरामचन्द्र का दूत हूँ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

वालिपुत्रोऽङ्गदो नाम यदि ते श्रोत्रमागतः ।
आह त्वां राघवो रामः कौसल्यानन्दवर्धनः ॥ ७७ ॥

मैं वालि का पुत्र हूँ और अङ्गद मेरा नाम है। कदाचित् मेरा नाम तुम्हारे कानों तक पहुँच चुका हो। कौशल्या जी के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने तुमसे कहा है कि, ॥ ७७ ॥

निष्पत्य प्रतियुध्यस्व नृशंस पुरुषो भव ।
हन्तास्मि त्वां सहामात्यं सपुत्रज्ञातिवान्धवम् ॥ ७८ ॥

अरे नृशंस! अब घर के बाहिर आकर युद्ध कर और मर्द बन जा। मैं तुझे मंत्रियों, पुत्रों, जाति बिरादरी वालों तथा भाईबन्दों सहित मारने के लिये आया हूँ ॥ ७८ ॥

निरुद्विग्नास्त्रयो लोका भविष्यन्ति हते त्वयि ।
देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ॥ ७९ ॥

क्योंकि तेरे मारे जाने पर तीनों लोक निर्भय हो जांयगे। तू देवताओं, दानवों, यक्षों, गन्धर्वों, सर्पों और राक्षसों के ॥ ७९ ॥

शत्रुमद्योद्धरिष्यामि त्वमृषीणां च कण्टकम् ।
विभीषणस्य चैश्वर्यं भविष्यति हते त्वयि ॥ ८० ॥

शत्रु और ऋषियों के कण्टक रूप तुझको, मैं मार डालूँगा। तेरे मारे जाने पर लङ्का का ऐश्वर्य विभीषण को मिलेगा ॥ ८० ॥

न चेत्सत्कृत्य वैदेहीं प्रणिपत्य प्रदास्यसि ।
इत्येवं परुषं वाक्यं ब्रुवाणे हरिपुङ्गवे ॥ ८१ ॥
अमर्षवशमापन्नो निशाचरगणेश्वरः ।
ततः स रोषताम्राक्षः शशास सचिवांस्तदा ॥ ८२ ॥

ये सब बातें तभी होंगी जब तू सम्मानपूर्वक सीता मुझे न देगा। जब अङ्गद ने इस प्रकार के कठोर वचन कहे, तब राक्षसराज अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और क्रोध से नेत्र लाल लाल कर अपने मंत्रियों से बोला ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

गृह्यतामेष दुर्मेधा वध्यतामिति चासकृत् ।
रावणस्य वचः श्रुत्वा दीप्ताग्निसमतेजसः ॥ ८३ ॥

इस दुर्बुद्धि वानर को पकड़ कर मार डालो। दहकते हुए अग्नि के समान तेजस्वी रावण के इस वचन को सुन ॥ ८३ ॥

जगृहुस्तं ततो घोराश्चत्वारो रजनीचराः।
ग्राहयामास तारेयः स्वयमात्मानमात्मवान् ॥ ८४ ॥
बलं दर्शयितुं वीरो यातुधानगणे तदा।
स तान्बाहुद्वये सक्तानादाय पतगानिव ॥ ८५ ॥

चार भयङ्कर राक्षसों ने उठ कर अङ्गद को पकड़ लिया। उस समय राक्षसों को अपना बल दिखलाने के लिये अङ्गद ने उन्हें पकड लेने दिया। उन चार राक्षसों ने अङ्गद को पकड़ा ही था कि, अङ्गद ने उन चारों को पक्षी की तरह अपनी दोनों भुजाओं में लटका लिया ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

प्रासादं शैलसङ्काशमुत्पपाताङ्गदस्तदा।
तेऽन्तरिक्षाद्विनिर्धूतास्तस्य वेगेन राक्षसाः ॥ ८६ ॥

तदनन्तर अङ्गद एक ऐसी ऊँची अटारी के ऊपर छलाँग मार कर चढ़ गया जो पर्वतशिखर की तरह ऊँची थी। उसके छलांग मारने के झटके से चारो राक्षस ॥ ८६ ॥

भूमौ निपतिताः सर्वे राक्षसेन्द्रस्य पश्यतः।
ततः प्रासादशिखरं शैलशृङ्गमिवोन्नतम् ॥ ८७ ॥
ददर्श राक्षसेन्द्रस्य वालिपुत्रः प्रतापवान्।
तत्पफाल पदाक्रान्तं दशग्रीवस्य पश्यतः ॥ ८८ ॥

रावण की आखों के सामने ही, भूमि पर गिर पड़े। रावण की वह पर्वतशिखर के समान ऊँचे भवन की अटारी को प्रतापी

वालितनय अङ्गद ने देख कर, रावण की आँखों के सामने उसमें एक ऐसी लात मारी कि, वह उसी प्रकार फट गयी ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

पुरा हिमवतः शृङ्गं वज्रिणेव विदारितम् ।
भङ्क्त्वा प्रासादशिखरं नाम विश्राव्य चात्मनः ॥८९॥

जिस प्रकार प्राचीनकाल में कभी वज्र से हिमाचल का शिखर फटा था। उस राजभवन की अटारी को विध्वंस कर और लङ्का में सब को अपना नाम सुना ॥ ८९ ॥

विनद्य सुमहानादमुत्पपात विहायसम् ।
व्यथयन्राक्षसान्सर्वान्हर्षयंश्चापि वानरान् ॥ ९० ॥

आकाशमार्ग में पहुँच बड़ी ज़ोर से अङ्गद ने सिंहगर्जना की जिसको सुन सारे राक्षस व्यथित हुए और वानर प्रसन्न हुए ॥९०॥

स वानराणां मध्ये तु रामपार्श्वमुपागतः ।
रावणस्तु परं चक्रे क्रोधं प्रासादधर्षणात् ॥ ९१ ॥

तदनन्तर अङ्गद वानरों के बीच बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी के पास पहुँच गये। उधर अङ्गद के चले आने पर राजभवन की अटारी को ध्वस्त हुआ देख, रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ ९१ ॥

विनाशं चात्मनः पश्यन्निश्वासपरमोऽभवत् ।
रामस्तु बहुभिर्हृष्टैर्निनदद्भिः प्लवङ्गमैः ॥ ९२ ॥
वृतो रिपुवधाकाङ्क्षी युद्धायैवाभ्यवर्तत ।
सुषेणस्तु महावीर्यो गिरिकूटोपमो हरिः ॥ ९३ ॥

और अपने मरने का समय निकट आया हुआ देख, रावण बार बार लंबी साँसे लेने लगा। इस ओर श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त

प्रसन्न हुए और सिंहगर्जन करते हुए वानरों के बीच स्थित हो, शत्रु का वध करने की अभिलाषा से युद्ध के लिये तैयार हुए। महापराक्रमी और पर्वताकार सुषेण नामक वानर ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

बहुभिः संवृतस्तत्र वानरैः कामरूपिभिः ।
चतुर्द्वाराणि सर्वाणि सुग्रीववचनात्कपिः ॥ ९४ ॥

बहुत से कामरूपी वानरों को साथ ले, सुग्रीव की आज्ञा से लङ्का के समस्त चारों द्वारों को ॥ ९४ ॥

पर्यक्रामत दुर्धर्षो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ।
तेषामक्षौहिणिशतं समवेक्ष्य वनौकसाम् ॥ ९५ ॥
लङ्कामुपनिविष्टानां सागरं चाभिवर्तताम् ।
राक्षसा विस्मयं जग्मुस्त्रासं जग्मुस्तथा परे ॥ ९६ ॥

घेर कर दुर्धर्ष सुषेण इस प्रकार घूम रहा था, जिस तरह नक्षत्रों सहित चन्द्रमा घूमता है। समुद्र के पास ठहरी हुई और लङ्का को चारों ओर से घेरे हुए वानरों की सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाओं को देख, कोई कोई राक्षस तो विस्मित हुए और कोई कोई भयभीत हो गये ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

अपरे समरोद्धर्षाद्धर्षमेव प्रपेदिरे ।
कृत्स्नं हि कपिभिर्व्याप्तं प्राकारपरिखान्तरम् ॥ ९७ ॥

इनमें से बहुत से ऐसे भी थे जो युद्ध का अवसर मिलने के कारण प्रसन्न हो रहे थे। लङ्का के समस्त परकोटे और खाइयाँ वानरों से भर गयी थीं ॥ ९७ ॥

ददृशू राक्षसा दीनाः प्राकारं वानरीकृतम् ।
हाहाकारं प्रकुर्वन्ति राक्षसा भयमोहिताः ॥ ९८ ॥

उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानों वानरों की एक दूसरे परकोटे की दीवाल खड़ी है। राक्षस दीन हो यह सब देख रहे थे और भयभीत हो हाय हाय कह कर चिल्ला रहे थे ॥ ६८ ॥

तस्मिन्महाभीषणके प्रवृत्ते
कोलाहले राक्षसराज्यधान्याम् ।
प्रगृह्य रक्षांसि महायुधानि
युगान्तवाता इव संविचेरुः ॥ ९९ ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

उस समय रावण की राजधानी लङ्का में बड़ा भारी कोलाहल हुआ। और राक्षस बड़े बड़े हथियारों को ले ऐसे घूमने लगे जैसे प्रलय कालीन पवन चलता है ॥ ९९ ॥

युद्धकाण्ड का एकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—※—

ततस्ते राक्षसास्तत्र गत्वा रावणमन्दिरम् ।
न्यवेदयन्पुरीं रुद्धां रामेण सह वानरैः ॥ १ ॥

तदनन्तर राक्षसगण रावण के भवन में जा कर कहने लगे कि, वानरों को साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र ने लङ्कापुरी को चारों ओर से घेर लिया है ॥ १ ॥

रुद्धां तु नगरीं श्रुत्वा जातक्रोधो निशाचरः ।
विधानं द्विगुणं कृत्वा प्रासादं सोऽध्यरोहत ॥ २ ॥

लङ्कानगरी को घिरा हुआ सुन, रावण बड़ा क्रुद्ध हुआ और मोर्चों पर दूनी सेना नियत कर स्वयं अटारी पर चढ़ गया ॥ २ ॥

स ददर्शावृतां लङ्कां सशैलवनकाननाम् ।
असंख्येयैर्हरिगणैः सर्वतो युद्धकाङ्क्षिभिः ॥ ३ ॥

वहाँ से उसने देखा कि, पर्वतों, वनों और उपवनों सहित लङ्का को युद्धाभिलाषी असंख्य वानरों ने घेर लिया है ॥ ३ ॥

स दृष्ट्वा वानरैः सर्वां वसुधां कवलीकृताम् ।
कथं क्षपयितव्याः स्युरिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ४ ॥

लङ्का के चारों ओर की भूमि को वानरों द्वारा अधिकृत हुई देख, वह इस चिन्ता में पड़ गया कि, वह इन वानरों को क्यों कर वहाँ से हटावे ॥ ४ ॥

स चिन्तयित्वा सुचिरं धैर्यमालम्ब्य रावणः ।
राघवं हरियूथांश्च ददर्शायतलोचनः ॥ ५ ॥

बहुत देर तक सोच विचार कर और धैर्य धर कर रावण ने आँख फैला कर, देखा तो उसे श्रीरामचन्द्र और वानरों के दल ही दल देख पड़े ॥ ५ ॥

राघवः सह सैन्येन मुदितो नाम [1]पुप्लुवे ।
लङ्कां ददर्श गुप्तां वै सर्वतो राक्षसैर्वृताम् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने लङ्का के परकोटे के पास जा कर देखा कि, राक्षस लोग चारों ओर से लङ्का की रक्षा कर रहे हैं ॥ ६ ॥

---

१ पुप्लुवेनाम—पूर्वस्थानात् प्राकारसन्निकृष्टं प्रदेशं प्राप्त इत्यर्थः । (गो०)

दृष्ट्वा दाशरथिर्लङ्कां चित्रध्वजपताकिनीम् ।
जगाम सहसा सीतां [1]दूयमानेन चेतसा ॥ ७ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी रंगबिरंगी ध्वजा पताकाओं से शोभित लङ्का को देख और सीता का स्मरण कर, सहसा दुखी हो गये ॥ ७ ॥

अत्र सा मृगशावाक्षी मत्कृते जनकात्मजा ।
पीड्यते शोकसन्तप्ता कृशा स्थण्डिलशायिनी ॥ ८ ॥

वे मन ही मन कहने लगे कि, इसी लङ्का में वह मृगनयनी सीता, मेरे पीछे शोक से विकल हो, भूमि पर पड़ी हुई दुःख पा रही है ॥ ८ ॥

पीड्यमानां स धर्मात्मा वैदेहीमनुचिन्तयन् ।
क्षिप्रमाज्ञापयामास वानरान्द्विषतां वधे ॥ ९ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता के कष्टों का स्मरण कर, दुःखी हुए और तुरन्त ही राक्षसों को मारने के लिये वानरों को आज्ञा दी ॥ ९ ॥

एवमुक्ते तु वचने रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
सङ्घर्षमाणः प्लवगाः सिंहनादैरनादयन् ॥ १० ॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के मुख से शत्रुओं से लड़ने की आज्ञा निकलते ही वानरों ने क्रोध में भर ऐसा सिंहनाद किया कि, जिससे सारी लङ्कापुरी प्रतिध्वनित हो उठी ॥ १० ॥

शिखरैर्विकिरामैनां लङ्कां मुष्टिभिरेव वा ।
इति स्म दधिरे सर्वे मनांसि हरियूथपाः ॥ ११ ॥

---

१ दूयमानेन—सीतां स्मृत्वा दुःखितोऽभूदित्यर्थः । (गो०)

उस समय वानरयूथपतियों के मन में इतना उत्साह बढ़ा हुआ था कि, वे पर्वतशिखरों से या घूंसे मार मार कर, लङ्का को चूर चूर कर डाले ॥ ११ ॥

उद्यम्य गिरिशृङ्गाणि शिखराणि महन्ति च ।
तरूंश्चोत्पाट्य विविधांस्तिष्ठन्ति हरियूथपाः ॥ १२ ॥

वीर वानरयूथति बड़े बड़े गिरिशृङ्गों और बड़ी बड़ी शिलाओं को उठा तथा विविध वृक्षों को उखाड़ कर और उनको हाथों में लिये हुए, खड़े हो गये ॥ १२ ॥

प्रेक्षतो राक्षसेन्द्रस्य तान्यनीकानि भागशः ।
राघवप्रियकामार्थं लङ्कामारुरुहुस्तदा ॥ १३ ॥

रावण की आँखों के सामने वानरी सेनाएँ, टोलियाँ बाँध बाँध कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता के लिये, लङ्का के परकोटे की दीवालों पर चढ़ गयीं ॥ १३ ॥

ते ताम्रवक्त्रा हेमाभा रामार्थे त्यक्तजीविताः ।
लङ्कामेवाभ्यवर्तन्त सालतालशिलायुधाः ॥ १४ ॥

सुनहली रंग की देह वाले, लालमुँहे वानर, साखू के पेड़ और पहाड़ों को ले ले कर, लङ्का पर जा डटे। ये श्रीरामचन्द्र जी का काम पूरा करने के लिये अपनी जानें हथेली पर रखे हुए थे ॥ १४ ॥

ते द्रुमैः पर्वताग्रैश्च मुष्टिभिश्च प्लवङ्गमाः ।
प्राकाराग्राण्यरण्यानि ममन्थुस्तोरणानि च ॥ १५ ॥

वे पेड़ों, पर्वतशिखरों और घूंसों के प्रहार से परकोटे की दीवालों, उद्यानों और वहिर्द्वारों को ध्वस्त करने लगे ॥ १५ ॥

परिखाः पूरयन्ति स्म प्रसन्नसलिलायुताः ।
पांसुभिः पर्वताग्रैश्च तृणैः काष्ठैश्च वानराः ॥ १६ ॥

उन खाइयों को, जिनमें स्वच्छ निर्मल जल भरा हुआ था, वानरों ने मिट्टी, पत्थर, घास फूस और काठकठंगर भर कर पाट दिया ॥ १६ ॥

ततः सहस्रयूथाश्च कोटियूथाश्च वानराः ।
कोटीशतयुताश्चान्ये लङ्कामारुरुहुस्तदा ॥ १७ ॥

तदनन्तर हज़ार यूथों के स्वामी, करोड़ यूथों के स्वामी, सौ करोड़ यूथों के स्वामी अर्थात् यूथपतिवानर लङ्का के ऊपर जा चढ़े ॥ १७ ॥

काञ्चनानि प्रमृद्नन्तस्तोरणानि प्लवङ्गमाः ।
कैलासशिखराभाणि गोपुराणि प्रमथ्य च ॥ १८ ॥

वानरों ने सोने के बने तोरण द्वारों को चूर चूर कर दिया और कैलासशिखर की तरह ऊँचे फाटकों को तोड़ फोड़ डाला ॥ १८ ॥

आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ।
लङ्कां तामभिधावन्ति महावारणसन्निभाः ॥ १९ ॥

गजेन्द्र के समान डीलडौल वाले वानर, कूद कूद और उछल उछल कर, गर्जते हुए लङ्का के चारों ओर दौड़ने लगे ॥ १९ ॥

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ २० ॥

और यह कहने लगे बलवान् श्रीरामचन्द्र की जय, महाबली लक्ष्मण की जय, श्रीरामचन्द्र द्वारा रक्षित महाराज सुग्रीव की जय ॥ २० ॥

इत्येवं घोषयन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ।
अभ्यधावन्त लङ्कायाः प्राकारं कामरूपिणः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीव की जय जयकार करते और सिंहनाद करते हुए कामरूपी वानर, लङ्का के परकोटों पर दौड़ने लगे ॥ २१ ॥

वीरबाहुः सुबाहुश्च नलश्च वनगोचरः ।
निपीड्योपनिविष्टास्ते प्राकारं हरियूथपाः ॥ २२ ॥

वीरबाहु, सुबाहु, नल और पनस ये वानरयूथपति, लङ्का के परकोटे को तोड़ कर पुरी के भीतर घुस गये ॥ २२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चक्रुः [1]स्कन्धावारनिवेशनम्[2] ।
पूर्वद्वारं तु कुमुदः कोटीभिर्दशभिर्वृतः ॥ २३ ॥

और इसी अवसर में वहां उन लोगों ने सेना के विश्राम के लिये शिविरों (छावनी) की रचना की। कुमुद लङ्का के पूर्वद्वार को, दस करोड़ ॥ २३ ॥

आवृत्य बलवांस्तस्थौ हरिभिर्जितकाशिभिः ।
साहाय्यार्थं तु तस्यैव निविष्टः प्रघसो हरिः ॥ २४ ॥

विजयाभिलाषी वानरों सहित घेरे हुए खड़ा था और कुमुद की सहायता के लिये कपि प्रघस वहां उपस्थित था ॥ २४ ॥

पनसश्च महाबाहुर्वानरैर्बहुभिर्वृतः ।
दक्षिणं द्वारमागम्य वीरः शतबलिः कपिः ॥ २५ ॥

---

१ स्कन्धवार—शिविरस्य। (गो०) २ निवेशनं—निर्माणं। (गो०)

तथा महावलवान् पनस भी, बहुत से वानरों को लिये हुए वहाँ मौजूद था। वीर शतवली वानर दक्षिण द्वार पर ॥ २५ ॥

आवृत्य बलवांस्तस्थौ विंशत्या कोटिभिर्वृतः ।
सुषेणः पश्चिमद्वारं गतस्ताराापिता हरिः ॥ २६ ॥

वीस करोड़ वानरी सेना ले कर खड़ा हुआ था। पश्चिमद्वार पर तारा के पिता सुषेण ॥ २६ ॥

आवृत्य बलवांस्तस्थौ षष्टिकोटिभिरावृतः ।
उत्तरं द्वारमासाद्य रामः सौमित्रिणा सह ॥ २७ ॥

साठ करोड़ वानरों को लिये हुए खड़ा था। उत्तरद्वार पर लक्ष्मण को अपने साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी स्वयं उपस्थित थे ॥ २७ ॥

आवृत्य बलवांस्तस्थौ सुग्रीवश्च हरीश्वरः ।
गोलाङ्गूलो महाकायो गवाक्षो भीमदर्शनः ॥ २८ ॥

उनके समीप ही कपिराज सुग्रीव भी थे। महाकाय और भयङ्कर गोलाङ्गूल गवाक्ष ॥ २८ ॥

वृतः कोट्या महावीर्यस्तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ।
ऋक्षाणां भीमवेगानां धूम्रः शत्रुनिवर्हणः ॥ २९ ॥

एक करोड़ महावली वानरों को साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी की बगल में खड़ा हुआ था। बड़े भयङ्कर वेगवान रीछों के अधिपति और शत्रुहन्ता धूम्र भी ॥ २९ ॥

वृतः कोट्या महावीर्यस्तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ।
सन्नद्धस्तु महावीर्यो गदापाणिर्विभीषणः ॥ ३० ॥

वृतो यत्तैस्तु सचिवैस्तस्थौ तत्र महाबलः ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ ३१ ॥
समन्तात्परिधावन्तो ररक्षुर्हरिवाहिनीम् ।
ततः कोपपरीतात्मा रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ३२ ॥

महाबली एक करोड़ रीछों को साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी की बगल में खड़ा था। कवच धारण किये और हाथ में गदा लिये हुए विभीषण अपने चारों राक्षस मंत्रियों से घिरे हुए खड़े थे। वीर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ और गन्धमादन चारों ओर दौड़ दौड़ कर, वानरी सेना की देखभाल कर रहे थे। ये देख राक्षसराज रावण ने क्रुद्ध हो ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

निर्याणं सर्वसैन्यानां द्रुतमाज्ञापयत्तदा ।
एतच्छ्रुत्वा ततो वाक्यं रावणस्य मुखोद्गतम् ॥ ३३ ॥
सहसा भीमनिर्घोषमुद्घुष्टं रजनीचरैः ।
ततः प्रचोदिता भेर्यश्चन्द्रपाण्डुरपुष्कराः[1] ॥ ३४ ॥

अपनी समस्त सेना को तुरन्त बाहिर निकाल उसको युद्ध करने की आज्ञा दी। रावण के मुख से युद्ध की आज्ञा सुन कर ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

हेमकोणाहता भीमा राक्षसानां समन्ततः ।
विनेदुश्च महाघोषाः शङ्खाः शतसहस्रशः ॥ ३५ ॥

राक्षसों ने सहसा बड़े ज़ोर से गर्जना की और नगाड़ों को चन्द्रमा के समान चमचमाते सोने की चोवों से बजाया तथा चारों ओर सैकड़ों हज़ारों शङ्खों का नाद होने लगा ॥ ३५ ॥

---

१ चन्द्रपाण्डुरपुष्कराः—चन्द्रशुभ्रमुखाः । (गो०)

राक्षसानः सुघोराणां मुखमारुतपूरिताः ।
ते बभुः शुभनीलाङ्गा[1]: सशङ्खा रजनीचराः ॥ ३६ ॥

विद्युन्मण्डलसन्नद्धाः सबलाका इवाम्बुदाः ।
निष्पतन्ति ततः सैन्या हृष्टा रावणचोदिताः ॥ ३७ ॥

समये पूर्यमाणस्य वेगा इव महोदधेः ।
ततो वानरसैन्येन मुक्तो नादः समन्ततः ॥ ३८ ॥

सोने के आभरणों से भूषित नील अङ्गवाले राक्षस मुख की फूँक से बजाते हुए शङ्खों सहित ऐसे शोभायमान जान पड़ते थे ; जैसे बिजली और बकपंक्ति युक्त मेघों की शोभा होती है । रावण की आज्ञा पाते ही योद्धा राक्षस प्रसन्न होते हुए, पूर्णमासी के समुद्र के वेग की तरह उमड़ कर, शत्रुसैन्य पर टूट पड़े । उस समय चारों ओर वानर वीर भी ऐसे गर्जे ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

मलयः पूरितो येन ससानुप्रस्थकन्दरः ।
शङ्खदुन्दुभिसंघुष्टः सिंहनादस्तरस्विनाम् ॥ ३९ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च सागरं चैव नादयन् ।
गजानां बृंहितैः सार्धं हयानां हेषितैरपि ॥ ४० ॥

कि, जिससे मलयाचल के शिखर और कन्दराएँ प्रतिध्वनित हो उठीं । शङ्खों और नगाड़ों के शब्द और वीरों का सिंहनाद, पृथिवी आकाश और सागर में भर गया । इनके साथ ही हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों की हिनहिनाहट ॥ ३९ ॥ ४० ॥

---

१ शुभनीलाङ्गाः—आभरणप्रभाभिः शोभमानानि नीलानि चाङ्गानि येषां ते । (गो०)

रथानां नेमिघोषैश्च रक्षसां *पादनिस्वनैः ।
एतस्मिन्नन्तरे घोरः संग्रामः समवर्तत ॥ ४१ ॥
रक्षसां वानराणां च यथा देवासुरे पुरा ।
ते गदाभिः प्रदीप्ताभिः शक्तिशूलपरश्वधैः ॥ ४२ ॥

रथों की गड़गड़ाहट, और राक्षसों के पैरों की धपधप से बड़ा भारी शब्द हुआ। इतने ही में राक्षसों और वानरों का ऐसा बड़ा भारी युद्ध हुआ जैसा कि, पहिले ज़माने में देवताओं और असुरों का हो चुका था। एक ओर राक्षस चमचमाती गदाओं, शक्तियों, शूलों और परशों से ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

निजघ्नुर्वानरान्घोराः कथयन्तः स्वविक्रमान् ।
[वानराश्च महावीर्या राक्षसाञ्जघ्नुराहवे ॥ ४३ ॥

वानरों पर प्रहार करते हुए अपने पराक्रम का बखान कर रहे थे। दूसरी ओर बड़े बलवान् वानर युद्धक्षेत्र में राक्षसों का संहार कर रहे थे, और ॥ ४३ ॥

जयत्यतिबलो रामः लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीव इति शब्दो महानभूत् ॥ ४४ ॥

उच्च स्वर से बलवान श्रीरामचन्द्र की जै, महाबली लक्ष्मण जी की जै और कपिराज सुग्रीव की जै कहते हुए, वे वानर घोर शब्द कर रहे थे ॥ ४४ ॥

राजञ्जय जयेत्युक्त्वा स्वस्वनामकथान्ततः ।
तथा वृक्षैर्महाकायाः पर्वताग्रैश्च वानराः ॥ ४५ ॥]

---

* पाठान्तरे—" वदनस्वनः "।

राक्षस रावणराज की जै जैकार कर अपने अपने नाम ले कर वानरों पर प्रहार कर रहे थे। बड़े भारी भारी डीलडौल के वानर गण वृक्षों और पर्वतशिखरों से ॥ ४५ ॥

निजघ्नुस्तानि रक्षांसि नखैर्दन्तैश्च वेगिताः।
राक्षसास्त्वपरे भीमाः प्राकारस्था महीगतान् ॥ ४६ ॥

नखों और दांतों से बड़े वेग से राक्षसों को मार रहे थे। परकोटे की दीवालों के ऊपर खड़े हुए भयङ्कर राक्षस, नीचे ज़मीन पर खड़े हुए ॥ ४६ ॥

[1]भिन्दिपालैश्च खड्गैश्च शूलैश्चैव व्यदारयन्।
वानराश्चापि संक्रुद्धाः प्राकारस्थान्महीगताः।
राक्षसान्पातयामासुः समाप्लुत्य प्लवङ्गमाः ॥ ४७ ॥

वानरों को गदाओं, तलवारों और शूलों से विदीर्ण कर रहे थे। ज़मीन पर खड़े हुए वानर भी अत्यन्त क्रुद्ध हो, परकोटे की दीवालों पर खड़े हुए राक्षसों के पास छलांगें मार कर पहुँच जाते और पकड़ पकड़ कर वहाँ से उनको नीचे पटक देते थे ॥ ४७ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलो मांसशोणितकर्दमः।
रक्षसां वानराणां च सम्बभूवाद्भुतोपमः ॥ ४८ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

राक्षसों और वानरों का बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। इस युद्ध में मांस और रुधिर की कीच हो गयी। यह युद्ध बड़ा ही अद्भुत हुआ ॥ ४८ ॥

युद्धकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

1 भिन्दिपालैः—गदाभेदैः। (गो०)

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—※—

युद्ध्यतां तु ततस्तेषां वानराणां महात्मनाम् ।
रक्षसां संबभूवाथ बलकोपः सुदारुणः ॥ १ ॥

परस्पर युद्ध करते हुए बड़े बलवान वानरों और राक्षसों की सेनाएँ अत्यन्त क्रुद्ध हो गयीं ॥ १ ॥

ते हयैः [1]काञ्चनापीडैर्ध्वजैश्चाग्निशिखोपमैः ।
रथैश्चादित्यसङ्काशैः कवचैश्च मनोरमैः ॥ २ ॥

राक्षस सुवर्ण की अग्निशिखा के समान चमचमाती कलङ्गियों से भूषित घोड़ों से युक्त सूर्य की तरह दीप्तमान रथों पर सवार हो सुन्दर कवच पहिन ॥ २ ॥

निर्ययू राक्षसव्याघ्रा नादयन्तो दिशो दश ।
राक्षसा भीमकर्माणो रावणस्य जयैषिणः ॥ ३ ॥

वे भयङ्कर कर्मकारी राक्षसश्रेष्ठ, सिंहनाद कर, दसों दिशाओं को गुंजाते हुए, रावण की विजयकामना से युद्ध के लिये निकले ॥ ३ ॥

वानराणामपि चमूर्बृहती जयमिच्छताम् ।
अभ्यधावत् तां सेनां रक्षसां कामरूपिणाम् ॥ ४ ॥

वानरों की महती सेना भी जो श्रीरामचन्द्र की जै चाहती थी, उन कामरूपी राक्षसों के ऊपर टूट पड़ी ॥ ४ ॥

---

[1] काञ्चनापीडैः—स्वर्णमयशेखरैः । (गो०)

एतस्मिन्नन्तरे तेषामन्योन्यमभिधावताम् ।
रक्षसां वानराणां च द्वन्द्वयुद्धमवर्तत ॥ ५ ॥

इतने ही में दोनों ओर से परस्पर आक्रमण करने वाली राक्षसों और वानरों की सेनाओं में परस्पर घोर युद्ध होने लगा ॥ ५ ॥

अङ्गदेनेन्द्रजित्सार्धं वालिपुत्रेण राक्षसः ।
अयुध्यत महातेजास्त्र्यम्बकेण यथान्तकः ॥ ६ ॥

वालिपुत्र अङ्गद के साथ महातेजस्वी इन्द्रजीत का युद्ध वैसा ही हुआ; जैसा कि, महादेव का युद्ध अन्तकासुर से हुआ था ॥ ६ ॥

प्रजङ्घेन च सम्पातिर्नित्यं दुर्मर्षणो रणे ।
जम्बुमालिनमारब्धो हनुमानपि वानरः ॥ ७ ॥

समर में अति दुर्धर्ष सम्पाति वानर प्रजङ्घ राक्षस से भिड़ गया और हनुमान जम्बुमाली राक्षस से लड़ने लगे ॥ ७ ॥

सङ्गतः सुमहाक्रोधो राक्षसो रावणानुजः ।
समरे तीक्ष्णवेगेन मित्रघ्नेन विभीषणः ॥ ८ ॥

रावण के छोटे भाई विभीषण अत्यन्त कुपित हो अति तीक्ष्ण वेग से मित्रघ्न नामक राक्षस से लड़ने लगे ॥ ८ ॥

तपनेन गजः सार्धं राक्षसेन महाबलः ।
निकुम्भेन महातेजा नीलोऽपि समयुध्यत ॥ ९ ॥

महाबली गज, तपन नामक राक्षस के साथ और महातेजस्वी नील, निकुम्भ राक्षस के साथ युद्ध करने लगे ॥ ९ ॥

वानरेन्द्रस्तु सुग्रीवः प्रघसेन समागतः
सङ्गतः समरे श्रीमान्विरूपाक्षेण लक्ष्मणः ॥ १० ॥

वानरराज सुग्रीव की और प्रघसेन की भिडन्त हुई और श्रीमान् लक्ष्मण जी विरूपाक्ष से भिड़ गये ॥ १० ॥

अग्निकेतुश्च दुर्धर्षो रश्मिकेतुश्च राक्षसः ।
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च रामेण सह सङ्गताः ॥ ११ ॥

दुर्धर्ष अग्निकेतु का रश्मिकेतु राक्षस के साथ और सुप्तघ्न तथा यज्ञकोप नामी राक्षसों का श्रीरामचन्द्र जी के साथ युद्ध होने लगा ॥ ११ ॥

वज्रमुष्टिस्तु मैन्देन द्विविदेनाशनिप्रभः ।
राक्षसाभ्यां सुघोराभ्यां कपिमुख्यौ समागतौ ॥ १२ ॥

भयङ्कर राक्षस वज्रमुष्टि और अशनिप्रभ का युद्ध वानरश्रेष्ठ मैन्द और द्विवद के साथ हुआ ॥ १२ ॥

वीरः प्रतपनो घोरो राक्षसो रणदुर्धरः ।
समरे तीक्ष्णवेगेन नलेन समयुध्यत ॥ १३ ॥

रणदुर्धर वीर और भयङ्कर राक्षस प्रतपन ने, युद्ध में तीक्ष्ण वेग वाले नल के साथ युद्ध किया ॥ १३ ॥

धर्मस्य पुत्रो बलवान्सुषेण इति विश्रुतः ।
स विद्युन्मालिना सार्धमयुध्यत महाकपिः ॥ १४ ॥

धर्मपुत्र बलवान महाकपि सुषेण के साथ विद्युन्माली का युद्ध हुआ ॥ १४ ॥

वानराश्चापरे भीमा राक्षसैरपरैः सह ।
द्वन्द्वं समीयुर्बहुधा युद्धाय बहुभिः सह ॥ १५ ॥

अन्य बहुत से भयङ्कर वानर अन्य बहुत से राक्षसों से द्वन्द्वयुद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

तत्रासीत्सुमहद्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ।
रक्षसां वानराणां च वीराणां जयमिच्छताम् ॥ १६ ॥

एक दूसरे को जीतने की इच्छा रखने वाले वीर राक्षसों और वानरों का यह तुमुल महान् युद्ध रोमाञ्चकारी था ॥ १६ ॥

हरिराक्षसदेहेभ्यः प्रभूताः केशशाद्वलाः ।
शरीरसङ्घाटवहाः[1] प्रसुस्रुः शोणितापगाः ॥ १७ ॥

वानरों और राक्षसों के शरीरों से रक्त की नदियाँ बह रही थीं, जिनमें वीरों के बाल सिवार घास की तरह, और शरीर काष्ठसमूह की तरह देख पड़ते थे ॥ १७ ॥

आजघानेन्द्रजित्क्रुद्धो वज्रेणेव शतक्रतुः ।
अङ्गदं गदया वीरं शत्रुसैन्यविदारणम् ॥ १८ ॥

इन्द्रजीत ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, शत्रु-सैन्य-संहारकारी वीर अङ्गद के वैसे ही एक गदा मारी ; जैसे इन्द्र दैत्य के वज्र मारते हैं ॥ १८ ॥

तस्य काञ्चनचित्राङ्गं रथं साश्वं ससारथिम् ।
जघान समरे श्रीमानङ्गदो वेगवान्कपिः ॥ १९ ॥

तदनन्तर महावेगवान् अङ्गद ने भी गदा से मेघनाद के घोड़ों और सारथी सहित सुवर्ण-भूपित रथ को नष्ट कर डाला ॥ १६ ॥

सम्पातिस्तु त्रिभिर्बाणैः प्रजङ्घेन समाहतः ।
निजघानाश्वकर्णेन प्रजङ्घं रणमूर्धनि ॥ २० ॥

---

१ संघाटः—काष्टसञ्चयः । (गो०)

उधर प्रजङ्घ ने सम्पाति के जब तीन बाण मारे, तब सम्पाति ने अश्वकर्ण वृत्त के आघात से प्रजङ्घ को जान से मार डाला ॥ २० ॥

जम्बुमाली रथस्थस्तु [1]रथशक्त्या महाबलः ।
बिभेद समरे क्रुद्धो हनूमन्तं स्तनान्तरे ॥ २१ ॥

रथ में बैठे हुए महाबलवान् जम्बुमाली ने क्रुद्ध हो रथ में सदा रखी रहने वाली एक शक्ति (सांग) चला हनुमान जी की छाती घायल कर दी ॥ २१ ॥

तस्य तं रथमास्थाय हनूमान्मारुतात्मजः ।
प्रममाथ तलेनाशु सह तेनैव रक्षसा ॥ २२ ॥

तब पवननन्दन हनुमान जी उसके रथ पर चढ़ गये और मारे थप्पड़ों के उसे तुरन्त जान से मार कर, उसके रथ को भी चूर चूर कर डाला ॥ २२ ॥

नदन्प्रतपनो घोरो नलं सोऽप्यन्वधावत ।
नलः प्रतपनस्याशु पातयामास चक्षुषी ॥ २३ ॥

राक्षस प्रतपन गर्जता हुआ जब नल की ओर दौड़ा ; तब नल ने दौड़ कर उसके नेत्र निकाल लिये और उसे मार कर गिरा दिया ॥ २३ ॥

भिन्नगात्रः शरैस्तीक्ष्णैः क्षिप्रहस्तेन रक्षसा ।
ग्रसन्तमिव सैन्यानि प्रघसं वानराधिपः ॥ २४ ॥

प्रघस नामक राक्षस शीघ्रतापूर्वक पैने पैने बाणों से सुग्रीव को घायल कर रहा था और वानरी सेना को निगल जाना चाहता था ॥ २४ ॥

---

१ रथशक्त्या—रथएव सदा वर्तमान या शक्त्या । (गो०)

सुग्रीवः सप्तपर्णेन निर्बिभेद जघान च ।
[प्रपीड्य शरवर्षेण राक्षसं भीमदर्शनम् ॥ २५ ॥
निजघान विरूपाक्षं शरेणैकेन लक्ष्मणः ।]
अग्निकेतुश्च दुर्धर्षो रश्मिकेतुश्च राक्षसः ॥ २६ ॥
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च रामं निर्बिभिदुः शरैः ।
तेषां चतुर्णां रामस्तु शिरांसि निशितैः शरैः ॥ २७ ॥
क्रुद्धश्चतुर्भिश्चिच्छेद घोरैरग्निशिखोपमैः ।
वज्रमुष्टिस्तु मैन्देन मुष्टिना निहतो रणे ॥ २८ ॥

उसको वानरराज ने छितिउन के एक पेड़ से बड़ी तेज़ी के साथ घायल कर, जान से मार डाला । लक्ष्मण जी ने भयङ्कर राक्षस विरूपाक्ष के ऊपर बाणों की वर्षा कर, अन्त में उसके एक ऐसा बाण मारा कि, वह मर गया । दुर्धर्ष अग्निकेतु, रश्मिकेतु, सुप्तघ्न और यज्ञकोप नामक चार राक्षस, श्रीरामचन्द्र जी के बाण मार रहे थे । श्रीरामचन्द्र जी ने कुपित हो अग्निशिखा के तुल्य भयङ्कर चार पैने बाणों से इन चारों के सिर काट डाले । मैन्द ने मूँके मार मार कर वज्रमुष्टि की जान ले ली ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

पपात सरथः साश्वः [1]सुराट्ट* इव भूतले ।
[मित्रघ्नमरिदर्पघ्न आपतन्तं विभीषणः ॥ २९ ॥
आसाद्य गदया गुर्व्या जघान रणमूर्धनि ।
भिन्नगात्रः शरैस्तीक्ष्णैः क्षिप्रहस्तेन रक्षसा ॥ ३० ॥

वज्रमुष्टि अपने रथ और घोड़ों सहित भूमि पर उसी प्रकार गिर पड़ा ; जिस प्रकार देवविमान भूमि पर गिरता है । विभीषण

१ सुराट्ट—देवविमानमिव । (रा०) * पाठान्तरे—" पुराट्ट "

ने अरिदर्पघ्न और आक्रमणकारी फुर्तीले मित्रघ्न को, जिसने विभीषण के शरीर को पैने पैने तीरों से छेद डाला था, अपनी भारी गदा के प्रहार से मार डाला ॥ २९ ॥ ३० ॥

निकुम्भस्तु रणे नीलं नीलाञ्जनचयप्रभम् ।]
निर्बिभेद शरैस्तीक्ष्णैः करैर्मेघमिवांशुमान् ॥ ३१ ॥

युद्ध में निकुम्भ ने, काले सुरमे के ढेर की तरह शरीर वाले नील वानर को पैने पैने बाणों से ऐसा छिन्न भिन्न कर डाला; जैसे सूर्य अपनी किरणों से मेघ को छिन्न भिन्न कर डालते हैं ॥ ३१ ॥

पुनः शरशतेनाथ क्षिप्रहस्तो निशाचरः ।
बिभेद समरे नीलं निकुम्भः प्रजहास च ॥ ३२ ॥

फुर्तीले राक्षस निकुम्भ ने युद्ध में नील वानर के फिर सौ बाण मारे और बाण मार कर वह खूब हँसा ॥ ३२ ॥

तस्यैव रथचक्रेण नीलो विष्णुरिवाहवे ।
शिरश्चिच्छेद समरे निकुम्भस्य च सारथेः ॥ ३३ ॥

तब तो नील ने निकुम्भ के रथ के पहिये से, निकुम्भ का तथा उसके सारथी का सिर उसी तरह काट डाला; जिस प्रकार विष्णु दैत्यों का सिर अपने सुदर्शन चक्र से काटते हैं ॥ ३३ ॥

वज्राशनिसमस्पर्शो द्विविदोऽप्यशनिप्रभम् ।
जघान गिरिशृङ्गेण मिषतां सर्वरक्षसाम् ॥ ३४ ॥

वज्र के तुल्य घूँसा मारने वाले द्विविद ने सब राक्षसों के सामने अशनिप्रभ राक्षस के पर्वत का शिखर मारा ॥ ३४ ॥

द्विविदं वानरेन्द्रं तु नगयोधिनमाहवे ।
शरैरशनिसङ्काशैः स विव्याधाशनिप्रभः ॥ ३५ ॥

तब समर में पेड़ों से लड़ने वाले द्विविद को अशनिप्रभ ने भी वज्रतुल्य बाणों से मारा ॥ ३५ ॥

स शरैरतिविद्धाङ्गो द्विविदः क्रोधमूर्छितः ।
सालेन सरथं साश्वं निजघानाशनिप्रभम् ॥ ३६ ॥

बाणों से घायल होने पर द्विविद ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, एक साखू का पेड़ उखाड़ कर, घोड़े और रथ सहित अशनिप्रभ को मार डाला ॥ ३६ ॥

[नदन्प्रपतनो घोरो नलं सोऽप्यन्वधावत ।
नलः प्रतपनस्याशु पातयामास चक्षुषी ॥ ३७ ॥]

गरजता हुआ भयङ्कर राक्षस प्रपतन ज्योंहीं नल के ऊपर दौड़ा; त्योंहीं नल ने झटपट उसकी आँखें निकाल लीं ॥ ३७ ॥

विद्युन्माली रथस्थस्तु शरैः काञ्चनभूषणैः ।
सुषेणं ताडयामास ननाद च मुहुर्मुहुः ॥ ३८ ॥

रथ पर सवार विद्युन्माली सुवर्णभूषित बाणों से सुषेण को मार कर, बार बार गर्ज रहा था ॥ ३८ ॥

तं रथस्थमथो दृष्ट्वा सुषेणो वानरोत्तमः ।
गिरिशृङ्गेण महता रथमाशु न्यपातयत् ॥ ३९ ॥

तब कपिश्रेष्ठ सुषेण ने उसको रथ पर सवार देख, झट एक बड़ा पर्वतशिखर खींच कर उसके रथ पर मारा ॥ ३९ ॥

लाघवेन तु संयुक्तो विद्युन्माली निशाचरः ।
अपक्रम्य रथात्तूर्णं गदापाणिः क्षितौ स्थितः ॥ ४० ॥

किन्तु विद्युन्माली निशाचर बड़ी फुर्ती के साथ हाथ में गदा ले, रथ से कूद कर, ज़मीन पर जा खड़ा हुआ ॥ ४० ॥

ततः क्रोधसमाविष्टः सुषेणो हरिपुङ्गवः ।
शिलां सुमहतीं गृह्य निशाचरमभिद्रवत् ॥ ४१ ॥

यह देख कपिश्रेष्ठ सुषेण क्रुद्ध हुआ और एक बड़ी भारी शिला ले कर, विद्युन्माली की ओर झपटा ॥ ४१ ॥

तमापतन्तं गदया विद्युन्माली निशाचरः ।
वक्षस्यभिजघानाशु सुषेणं हरिसत्तमम् ॥ ४२ ॥

सुषेण को अपनी ओर आते देख, राक्षस विद्युन्माली ने बड़ी फुर्ती से वानरोत्तम सुषेण की छाती में गदा का प्रहार किया ॥४२॥

गदाप्रहारं तं घोरमचिन्त्य प्लवगोत्तमः ।
तां शिलां पातयामास तस्योरसि महामृधे ॥ ४३ ॥

कपिश्रेष्ठ सुषेण ने उस गदा के प्रहार की कुछ भी परवाह न की और उस महती शिला को विद्युन्माली की छाती पर दे पटका ॥ ४३ ॥

शिलाप्रहाराभिहतो विद्युन्माली निशाचरः ।
निष्पिष्टहृदयो भूमौ गतासुर्निपपात ह ॥ ४४ ॥

उसकी चोट से विद्युन्माली का हृदय चूर्ण हो गया और वह निर्जीव हो पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ४४ ॥

एवं तैर्वानरैः शूरैः शूरास्ते रजनीचराः ।
द्वन्द्वे विमृदितास्तत्र दैत्या इव दिवौकसैः ॥ ४५ ॥

इसी प्रकार शूर वानरों ने उन वीर राक्षसों को द्वन्द्वयुद्ध में वैसे ही हराया; जैसे देवताओं ने दैत्यों को हराया था ॥ ४५ ॥

अश्वैः खड्गैर्गदाभिश्च *शक्तितोमरपट्टसैः ।
अपविद्धैश्च भिन्नैश्च रथैः सांग्रामिकैर्हयैः ॥ ४६ ॥
निहतैः कुञ्जरैर्मत्तैस्तथा वानरराक्षसैः ।
चक्राक्षयुगदण्डैश्च भग्नैर्धरणिसंश्रितैः ।
बभूवायोधनं घोरं गोमायुगणसङ्कुलम् ॥ ४७ ॥

भालों, गदाओं, शक्तियों, तोमरों और तीरों से टूटे रथों और घोड़ों, मतवाले हाथियों तथा मरे हुए राक्षसों और वानरों से, टूटे रथ के पहियों, धुरियों और जुओं से रणभूमि भर गयी थी अथवा जिधर देखो उधर रणभूमि में ये ही चीज़ें पड़ी हुई देख पड़ती थीं। इनसे तथा शृगालों से भरी हुई वह रणभूमि, बड़ी भयङ्कर जान पड़ती थी ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

कबन्धानि समुत्पेतुर्दिक्षु वानररक्षसाम् ।
विमर्दे तुमुले तस्मिन्देवासुररणोपमे ॥ ४८ ॥

वानरों और राक्षसों के सिरहीन धड़ अर्थात् कबन्ध; वैसे ही देख पड़ते थे जैसे कि, दैत्यों और देवताओं के भयङ्कर युद्ध में दिखलाई पड़ते थे ॥ ४८ ॥

विदार्यमाणा हरिपुङ्गवैस्तदा
निशाचराः शोणितदिग्धगात्राः ।
पुनः सुयुद्धं तरसा समास्थिता
दिवाकरस्यास्तमयाभिकाङ्क्षिणः ॥ ४९ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

---

* पाठान्तरे—"शक्तितोमरपट्टिशैः।"

वानरश्रेष्ठों द्वारा क्षतविक्षत राक्षसों के शरीरों से रुधिर बहने लगा। तिस पर भी वे युद्ध करने के लिये सूर्यास्त होने पर, रात की प्रतीक्षा करने लगे ॥ ४६ ॥

युद्धकाण्ड का तेतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—*—

युद्धयतामेव तेषां तु तदा वानररक्षसाम्।
रविरस्तं गतो रात्रिः प्रवृत्ता प्राणहारिणी ॥ १ ॥

वानरों और राक्षसों को इस प्रकार युद्ध करते करते सूरज डूब गया और राक्षस तथा वानरों की प्राणसंहारकारिणी रात आ उपस्थित हुई ॥ १ ॥

अन्योन्यं बद्धवैराणां घोराणां जयमिच्छताम्।
संप्रवृत्तं निशायुद्धं तदा वानररक्षसाम् ॥ २ ॥

परस्पर वैर बाँधे हुए और एक दूसरे को परास्त करने की इच्छा रखने वाले भयङ्कर वानरों और राक्षसों का रात में युद्ध होने लगा ॥ २ ॥

राक्षसोऽसीति हरयो हरिश्चासीति राक्षसाः।
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तस्मिंस्तमसि दारुणे ॥ ३ ॥

वानर कहते "तू राक्षस है" और राक्षस कहते "तू वानर है"—इस प्रकार एक दूसरे से कह कर, रात के उस घोर अंधकार में वे एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे ॥ ३ ॥

जहि दारय चैहीति कथं विद्रवसीति च ।
एवं सुतुमुलः शब्दस्तस्मिंस्तमसि शुश्रुवे ॥ ४ ॥

'मारो मारो', 'काटो काटो', 'क्यों भागता है' आदि बातें कहते हुए उन लोगों का बड़ा कोलाहल सुनाई पड़ता था ॥ ४ ॥

कालाः काञ्चनसन्नाहास्तस्मिंस्तमसि राक्षसाः ।
संप्रादृश्यन्त शैलेन्द्रा दीप्तौषधिवना इव ॥ ५ ॥

सुवर्ण कवचधारी काले काले रंग के राक्षस, उस अन्धकार में ऐसे जान पड़ते थे ; मानों प्रकाशमान जड़ी बूटियों के वन से भरे हुए बड़े बड़े पहाड़ हों ॥ ५ ॥

तस्मिंस्तमसि दुष्पारे राक्षसाः क्रोधमूर्छिताः ।
परिपेतुर्महावेगा भक्षयन्तः प्लवङ्गमान् ॥ ६ ॥

उस निबिड़ अन्धकार में राक्षस अत्यन्त क्रुद्ध हो कर, बड़े वेग से वानरों की सेना में कूद पड़े और वानरों को खाने लगे ॥ ६ ॥

ते हयान्काञ्चनापीडान्ध्वजांश्चाग्निशिखोपमान् ।
आप्लुत्य दशनैस्तीक्ष्णैर्भीमकोपा व्यदारयन् ॥ ७ ॥

सुवर्ण की कलगियों से भूषित घोड़ों से युक्त और अग्निशिखा के समान चमचमाती रथों की ध्वजाओं को, वानर भी छलांग मार मार कर अपने पैने पैने दाँतों से अत्यन्त क्रुद्ध हो, चीरे फाड़े डालते थे ॥७॥

वानरा बलिनो युद्धेऽक्षोभयन्राक्षसीं चमूम् ।
कुञ्जरान्कुञ्जरारोहान्पताकाध्वजिनो रथान् ॥ ८ ॥
चकर्षुश्च ददंशुश्च दशनैः क्रोधमूर्छिताः ।
लक्ष्मणश्चापि रामश्च शरैराशीविषोपमैः ॥ ९ ॥

समर में बलवान वानर राक्षसी सेना को दुःख देते तथा गजों और महावतों तथा ध्वजाओं से शोभित रथों को पकड़ पकड़ कर खींच लेते और क्रुद्ध हो उनको दांतों से फाड़ डालते थे। लक्ष्मण और श्रीरामचन्द्र सर्पाकार तीरों से ॥ ८ ॥ ९ ॥

दृश्यादृश्यानि रक्षांसि प्रवराणि निजघ्नतुः ।
तुरङ्गखुरविध्वस्तं रथनेमिसमुत्थितम् ॥ १० ॥

उन राक्षसों को, जो सामने थे और जो छिपे हुए थे, मार रहे थे। घोड़ों के खुरों से और रथ के पहियों से उड़ी हुई ॥ १० ॥

रुरोध कर्णनेत्राणि युद्ध्यतां धरणीरजः ।
वर्तमाने महाघोरे संग्रामे रोमहर्षणे ॥ ११ ॥

धूल, लड़ने वालों के कानों और आंखों में भर गयी। उस महाभयङ्कर रोमाञ्चकारी उपस्थित युद्ध में ॥ ११ ॥

रुधिरोदा महाघोरा नद्यस्तत्र प्रसुस्रुवुः ।
ततो भेरीमृदङ्गानां पणवानां च निःस्वनः ॥ १२ ॥

शङ्खवेणुस्वनोन्मिश्रः सम्बभूवाद्भुतोपमः ।
हतानां स्तनमानानां राक्षसानां च निःस्वनः ॥ १३ ॥

लोहू की बड़ी भयङ्कर नदियां बहने लगीं। अब नगाड़ों, मृदंगों और ढोलों के शब्द, शङ्खों और वेणु बाजों के शब्द से मिल कर, बड़ा अद्भुत सुन पड़ता था; घायल राक्षसों के कराहने तथा चिल्लाने का ॥ १२ ॥ १३ ॥

शस्तानां वानराणां च सम्बभूवातिदारुणः ।
हतैर्वानरवीरैश्च शक्तिशूलपरश्वधैः ॥ १४ ॥

और प्रहार करते हुए वानरों के चीत्कार का बड़ा घोर शब्द सुन पड़ता था। मरे हुए वीर वानरों की लोथों से, शक्ति, शूल, फरसा आदि आयुधों से, ॥ १४ ॥

निहतैः पर्वताग्रैश्च राक्षसैः कामरूपिभिः ।
शस्त्रपुष्पोपहारा च तत्रासीद्युद्धमेदिनी ॥ १५ ॥

मरे हुए कामरूपी पर्वतशिखराकार राक्षसों से तथा शस्त्ररूपी फूलों से रणभूमि ढकी हुई थी ॥ १५ ॥

दुर्ज्ञेया दुर्निवेशा च शोणितास्रावकर्दमा ।
सा बभूव निशा घोरा हरिराक्षसहारिणी ॥ १६ ॥

रणभूमि के स्थान न तो सहज में पहिचाने जाते थे और न वहां पैर रखने के लिये जगह ही थी। जिधर देखो उधर लोहू और मांस की कीचड़ ही कीचड़ देख पड़ती थी। वानरों और राक्षसों के प्राणों को लेवा वह रात, बड़ी भयङ्कर थी ॥ १६ ॥

कालरात्रीव भूतानां सर्वेषां दुरतिक्रमा ।
ततस्ते राक्षसास्तत्र तस्मिंस्तमसि दारुणे ॥ १७ ॥

और समस्त जीवों की दुस्तर कालरात्रि की तरह वह जान पड़ती थी। वहां पर समस्त राक्षस उस दारुण अन्धकार में ॥ १७ ॥

राममेवाभ्यवर्तन्त [1]संसृष्टाः शरवृष्टिभिः ।
तेषामापततां शब्दः क्रुद्धानामपि गर्जताम् ॥ १८ ॥

एकत्र हो श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर बाणों की वर्षा करने लगे। राक्षसों के दौड़ने तथा क्रुद्ध हो गर्जने का शब्द ॥ १८ ॥

---

१ संसृष्टाः—संमिलिताः। (गो०)

[1]उद्वृत्त इव सप्तानां समुद्राणां प्रशुश्रुवे ।
तेषां रामः शरैः षड्भिः षट् जघान निशाचरान् ॥१९॥
निमेषान्तरमात्रेण शितैरग्निशिखोपमैः ।
यमशत्रुश्च दुर्धर्षो महापार्श्वमहोदरौ ॥ २० ॥
वज्रदंष्ट्रो महाकायस्तौ चोभौ शुकसारणौ ।
ते तु रामेण बाणौघैः सर्वे मर्मसु ताडिताः ॥ २१ ॥

वैसा ही सुन पड़ा ; जैसा कि. प्रलयकाल में सातों समुद्रों का सुन पड़ता है । श्रीरामचन्द्र जी ने उन राक्षसों में से छः राक्षसों को अग्निशिखा तुल्य छः प्रदीप्त बाणों से पल भर में मार डाला । उन छः दुर्धर्ष राक्षसों के नाम थे. यमशत्रु, महापार्श्व, महोदर, वज्रदंष्ट्र और बड़े डीलडौल के शुक तथा सारण । इन छः के मर्मस्थल श्रीरामचन्द्र जो के बाणों से चुटोले हो गये थे ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

युद्धादपसृतास्तत्र सावशेपायुषोऽभवन् ।
तत्र काञ्चनचित्राङ्गैः शरैरग्निशिखोपमैः ॥ २२ ॥

मर्मस्थल घायल होने के कारण वे लड़ाई छोड़ भागे, किन्तु भाग कर भी बहुत देर तक जीते न रह सके । तदनन्तर काञ्चनभूषित अग्निशिखा के समान प्रदीप्त बाणों से श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ २२ ॥

दिशश्चकार विमलाः प्रदिशश्च महाबलः ।
[रामनामाङ्कितैर्बाणैर्व्याप्तं तद्रणमण्डलम्] ॥ २३ ॥

समस्त दिशाओं और विदिशाओं को साफ कर दिया । श्रीराम नामाङ्कित बाणों से वहाँ का रणक्षेत्र व्याप्त हो गया ॥ २३ ॥

---

१ उद्वृत्ते--प्रलये । (गो०)

ये त्वन्ये राक्षसा भीमा रामस्याभिमुखे स्थिताः ।
तेऽपि नष्टाः समासाद्य पतङ्गा इव पावकम् ॥ २४ ॥

और भी जो कोई वीर राक्षस उनके सामने पड़े, वे भी उसी प्रकार नष्ट हो गये, जिस प्रकार पतंगे अग्नि के सामने पड़ने से नष्ट हो जाते हैं ॥ २४ ॥

सुवर्णपुङ्खैर्विशिखैः सम्पतद्भिः सहस्रशः ।
बभूव रजनी चित्रा खद्योतैरिव शारदी ॥ २५ ॥

चारों ओर सुनहले पुंख के बाणों के चलने से वह रात ऐसी जान पड़ती थी, जैसी जुगुनुओं से शरदृऋतु की रात मालूम पड़ती है ॥ २५ ॥

राक्षसानां च निनदैर्हरीणां चापि निःस्वनैः ।
सा बभूव निशा घोरा भूयो घोरतरा तदा ॥ २६ ॥

राक्षसों के नाद से और वानरों के गर्जन से वह भयङ्कर रात और भी अधिक भयङ्कर हो गयी थी ॥ २६ ॥

तेन शब्देन महता प्रवृद्धेन समन्ततः ।
त्रिकूटः कन्दराकीर्णः प्रव्याहरदिवाचलः ॥ २७ ॥

चारों ओर उस महान् कोलाहल के होने से त्रिकूटपर्वत की कन्दराएँ ऐसी प्रतिध्वनित हुईं, मानों वे बोल रही हों ॥ २७ ॥

गोलाङ्गूला महाकायास्तमसा तुल्यवर्चसः ।
संपरिष्वज्य बाहुभ्यां भक्षयन्रजनीचरान् ॥ २८ ॥

बड़े भारी डीलडौल के तथा काले रंग के गोलाङ्गूल जाति के वानर दोनों भुजाओं से राक्षसों को दबा दबा कर, उनको खा रहे थे ॥ २८ ॥

अङ्गदस्तु रणे शत्रुं निहन्तुं समुपस्थितः ।
रावणिं निजघानाशु सारथिं च हयानपि ॥ २९ ॥

उधर अङ्गद युद्धक्षेत्र में अपने शत्रुओं को मार रहे थे। उन्होंने मेघनाद पर वार करते हुए उसके रथ के सारथि और घोड़ों को बड़ी फुर्ती से मार डाला ॥ २६ ॥

वर्तमाने तदा घोरे संग्रामे भृशदारुणे ।
इन्द्रजित्तु रथं त्यक्त्वा हताश्वो हतसारथिः ॥ ३० ॥

अङ्गदेन महाकायस्तत्रैवान्तरधीयत ।
तत्कर्म वालिपुत्रस्य सर्वे देवा महर्षिभिः ॥ ३१ ॥

तुष्टुवुः पूजनार्हस्य तौ चोभौ रामलक्ष्मणौ ।
प्रभावं सर्वभूतानि विदुरिन्द्रजितो युधि ॥ ३२ ॥

तब उस अति दारुण एवं भयङ्कर युद्ध में अङ्गद द्वारा अपने सारथि और घोड़ों के मारे जाने पर, इन्द्रजीत रथ को त्याग कर वहीं अन्तर्धान हो गया। प्रशंसनीय वालितनय अङ्गद की इस वीरता को देख, समस्त देवता ऋषिगण तथा दोनों राजकुमार श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण भी सन्तुष्ट हुए। क्योंकि युद्ध में इन्द्रजीत कैसा बलवान था—यह बात सब लोग जानते थे ॥ ३०॥ ३१ ॥ ३२॥

अदृश्यः सर्वभूतानां योऽभवद्युधि दुर्जयः ।
तेन ते तं [1]महात्मानं तुष्टा दृष्ट्वा प्रधर्षितम् ॥ ३३ ॥

इन्द्रजीत प्राणिमात्र से युद्ध में दुर्जेय था। उसको महाधैर्यवान् अङ्गद द्वारा पराजित देख, सब बड़े सन्तुष्ट हुए ॥ ३३ ॥

---

1 महात्मानं—महाधैर्यं । (गो०)

ततः प्रहृष्टाः कपयः ससुग्रीवविभीषणाः ।
साधुसाध्विति नेदुश्च दृष्ट्वा शत्रुं प्रधर्षितम् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर शत्रु को पराजित देख, सब वानरों ने और सुग्रीव सहित विभीषण ने प्रसन्न हो, अङ्गद की "वाह वाह" कह कर, बड़ाई की ॥ ३४ ॥

इन्द्रजित्तु तदा तेन निर्जितो भीमकर्मणा ।
संयुगे वालिपुत्रेण क्रोधं चक्रे सुदारुणम् ॥ ३५ ॥

उस युद्ध में भीमकर्मा वालितनय अङ्गद द्वारा पराजित होने से इन्द्रजीत अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ ३५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रामो वानरान्वाक्यमब्रवीत् ।
सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु कपिराजेन सङ्गताः ॥ ३६ ॥

इसी बीच में श्रीरामचन्द्र जी ने वानरों को यह आज्ञा दी कि, आप सब लोग सुग्रीव के पास ठहरे रहें ॥ ३६ ॥

स ब्रह्मणा दत्तवरस्त्रैलोक्यं बाधते भृशम् ।
भवतामर्थसिद्ध्यर्थं कालेन स समागतः ॥ ३७ ॥

अद्यैव क्षमितव्यं मे भवन्तो विगतज्वराः ।
सोऽन्तर्धानगतः पापो रावणी रणकर्कशः ॥ ३८ ॥

(और वानरों से कहा) वह ब्रह्मा जी के वरदान से बलवान हो, तीनों लोकों को बहुत सताता है । आपका काम बनाने के लिये अब ठीक समय आ गया है । आप लोग उसे मेरे लिये छोड़ कर निश्चिन्त हो जाँय । (इतने में) रणकर्कश और पापी रावणपुत्र मेघनाद अन्तर्धान हो गया ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

अदृश्यो निशितान्बाणान्मुमोचाशनिवर्चसः ।
स रामं लक्ष्मणं चैव घोरैर्नागमयैः शरैः ॥ ३९ ॥

और छिपे छिपे वज्र के समान चमचमाते पैने बाण छोड़ने लगा। भयङ्कर सर्पमय बाणों से श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ॥ ३९ ॥

विभेद समरे क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राक्षसः ।
मायया संवृतस्तत्र मोहयन्राघवौ युधि ॥ ४० ॥

के समस्त शरीर को, क्रुद्ध हो, युद्ध में, उस राक्षस ने क्षतविक्षत कर डाला। उस समय वह माया द्वारा अन्तर्धान हो, युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी को मोहित करता हुआ ॥ ४० ॥

अदृश्यः सर्वभूतानां कूटयोधी निशाचरः ।
बबन्ध शरबन्धेन भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४१ ॥

उस कपटयोद्धा इन्द्रजीत ने सब की आँख बचा, बाणों के बंधनों से दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण को बाँध लिया ॥ ४१ ॥

तौ तेन पुरुषव्याघ्रौ क्रुद्धेनाशीविषैः शरैः ।
सहसा निहतौ वीरौ तदा प्रैक्षन्त वानराः ॥ ४२ ॥

उस समय दोनों वीर भाई विषधर सर्प तुल्य बाणों से सब वानरों के देखते देखते सहसा बँध गये ॥ ४२ ॥

प्रकाशरूपस्तु यदा न शक्तः
तौ बाधितुं राक्षसराजपुत्रः ।
मायां प्रयोक्तुं समुपाजगाम
बबन्ध तौ राजसुतौ *दुरात्मा ॥ ४३ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

---

* पाठान्तरे—"महात्मा।" "महात्मा" अर्थात् बुद्धिमान् ।

जब रावणपुत्र मेघनाद प्रत्यक्ष हो कर, श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण को न बाँध सका, तब उस दुरात्मा ने उन दोनों राजकुमारों को (माया का प्रयोग कर अर्थात्) कपट चाल से बांधा ॥ ४३ ॥

युद्धकाण्ड का चवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—※—

स तस्य गतिमन्विच्छन्राजपुत्रः प्रतापवान्।
दिदेशातिबलो रामो दश वानरयूथपान् ॥ १ ॥

प्रतापी एवं अतिबलवान राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी ने मेघनाद को ढूँढ़ने के लिये दस वानरयूथपतियों को आज्ञा दी ॥ १ ॥

द्वौ सुषेणस्य दायादौ[1] नीलं च प्लवगर्षभम्।
अङ्गदं वालिपुत्रं च शरभं च तरस्विनम् ॥ २ ॥

विनतं जाम्बवन्तं च सानुप्रस्थं महाबलम्।
ऋषभं चर्षभस्कन्धमादिदेश परन्तपः ॥ ३ ॥

उन दस वानरयूथपतियों में दोनों सुषेण के पुत्र थे, कपिश्रेष्ठ नील, वालिपुत्र अङ्गद, बलवान शरभ, विनत, जाम्बवान, महाबली सानुप्रस्थ, ऋषभ और ऋषभस्कन्ध थे। इनको परन्तप श्रीरामचन्द्र जी ने आज्ञा दी ॥ २ ॥ ३ ॥

---

1 दायादौ—पुत्रौ। (गो०)

ते सम्प्रहृष्टा हरयो भीमानुद्यम्य पादपान् ।
आकाशं विविशुः सर्वे मार्गमाणा दिशो दश ॥ ४ ॥

ये सब के सब प्रसन्न हो बड़े बड़े भयङ्कर आकार वाले वृक्षों को हाथों में ले, आकाशमण्डल में पहुँचे और चारों ओर घूम फिर कर, इन्द्रजीत को ढूढ़ा ॥ ४ ॥

तेषां वेगवतां वेगमिषुभिर्वेगवत्तरैः ।
अस्त्रवित्परमास्त्रैस्तु वारयामास रावणिः ॥ ५ ॥

तं भीमवेगा हरयो नाराचैः क्षतविग्रहाः ।
अन्धकारे न ददृशुर्मेघैः सूर्यमिवावृतम् ॥ ६ ॥

अस्त्रविद्यावेत्ता रावणपुत्र मेघनाद ने इन वेगवान् वानरों के वेग को परमास्त्रों से रोका । वे भयङ्कर वेगवाले वानर बाणों की चोट खा कर, क्षतविक्षत हो गये और अन्धकार में मेघनाद को वैसे ही न देख सके, जैसे मेघों से आच्छादित सूर्य को कोई नहीं देख सकता ॥ ५ ॥ ६ ॥

रामलक्ष्मणयोरेव सर्वदेहभिदः शरान् ।
भृशमावेशयामास रावणिः समितिञ्जयः ॥ ७ ॥

समरविजयी मेघनाद ने शरीर को भेदन करने वाले बाणों से छेद छेद कर, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के शरीरों को चलनी कर डाला ॥ ७ ॥

[1]निरन्तरशरीरौ तौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
क्रुद्धेनेन्द्रजिता वीरौ पन्नगैः शरतां गतैः ॥ ८ ॥

---

१ निरन्तरशरीरौ इपरिभागेभन्तररहित देहौ कृतौ (रा०)

क्रुद्ध हो वीर इन्द्रजीत ने दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण के शरीरों में इतने बाण मारे कि, शरीर में तिल रखने को भी जगह न रह गयी। उसके वे बाण नाग हो जाते थे ॥ ८ ॥

तयोः क्षतजमार्गेण सुस्राव रुधिरं बहु ।
तावुभौ च प्रकाशेते पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ९ ॥

दोनों वीर भाइयों के शरीरों के घावों से बहुत सा खून बह रहा था और वे दोनों फूले हुए टेसू के पेड़ की तरह देख पड़ते थे ॥ ९ ॥

ततः पर्यन्तरक्ताक्षो भिन्नाञ्जनचयोपमः ।
रावणिर्भ्रातरौ वाक्यमन्तर्धानगतोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

लाल लाल नेत्र किये अंजन के पहाड़ की तरह काला मेघनाद, छिपे छिपे ही दोनों भाइयों से बोला ॥ १० ॥

युद्ध्यमानमनालक्ष्यं शक्रोऽपि त्रिदशेश्वरः ।
द्रष्टुमासादितुं वाऽपि न शक्तः किं पुनर्युवाम् ॥ ११ ॥

अलक्षित युद्ध करते हुए मुझको जब देवराज इन्द्र ही नहीं देख सके और न मुझे मार ही सके, तब तुम दोनों की क्या गिनती है ॥ ११ ॥

प्रावृताविषुजालेन राघवौ कङ्कपत्रिणा ।
एष रोषपरीतात्मा नयामि यमसादनम् ॥ १२ ॥

बाणजाल में फँसे हुए तुम दोनों रघुनन्दनों को मैं क्रुद्ध हो, इन कङ्कपत्रयुक्त बाणों से अभी (मार डाल कर) यमपुरी भेजे देता हूँ ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा तु धर्मज्ञौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
निर्बिभेद शितैर्बाणैः प्रजहर्ष ननाद च ॥ १३ ॥

इस प्रकार कह, वह दोनों धर्मज्ञ भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को पैने पैने बाणों से क्षतविक्षत कर और अत्यन्त प्रसन्न हो नाद करने लगा ॥ १३ ॥

भिन्नाञ्जनचयश्यामो विस्फार्य विपुलं धनुः ।
भूयो भूयः शरान्घोरान्विससर्ज महामृधे ॥ १४ ॥

काजल के समान काला मेघनाद अपने विशाल धनुष को टंकारता हुआ, उस महारण में बार बार भयङ्कर बाणों को छोड़ने लगा ॥ १४ ॥

ततो मर्मसु मर्मज्ञो मज्जयन्निशिताञ्शरान् ।
रामलक्ष्मणयोर्वीरो ननाद च मुहुर्मुहुः ॥ १५ ॥

मर्मस्थलों को जानने वाला मेघनाद, श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी के सब सुकुमार अंगों में पैने पैने बाण मार कर, बारंबार गर्जने लगा ॥ १५ ॥

बद्धौ तु शरबन्धेन तावुभौ रणमूर्धनि ।
निमेषान्तरमात्रेण न शेकतुरुदीक्षितुम् ॥ १६ ॥

इस लड़ाई में बाणजाल में बंधे हुए, वे दोनों एक पल के लिये भी मेघनाद को न देख सके ॥ १६ ॥

ततो विभिन्नसर्वाङ्गौ शरशल्याचितावुभौ ।
ध्वजाविव महेन्द्रस्य रज्जुमुक्तौ प्रकम्पितौ ॥ १७ ॥

तब सर्वाङ्ग छिन्नभिन्न, बाणजाल में बंधे हुए दोनों भाई, रस्सी से रहित अर्थात् खुली हुई इन्द्र की ध्वजा की तरह काँपने लगे ॥ १७ ॥

तौ संप्रचलितौ वीरौ मर्मभेदेन कर्शितौ ।
निपेततुर्महेष्वासौ जगत्यां जगतीपती ॥ १८ ॥

मर्मस्थलों के विध जाने से व्याकुल महाधनुर्धारी जगत्पति श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १८ ॥

तौ वीरशयने वीरौ शयानौ रुधिरोक्षितौ ।
शरवेष्टितसर्वाङ्गावार्तौ परमपीडितौ ॥ १९ ॥

उनके शरीर रुधिर से तर बतर थे। वे दोनों वीरोचित शय्या पर पड़े हुए थे। सारे शरीर में बाण ही बाण गड़े हुए थे। अतः वे परम पीड़ित और विकल हो रहे थे ॥ १६ ॥

न ह्यविद्धं तयोर्गात्रे बभूवाङ्गुलमन्तरम् ।
नानिर्भिन्नं न चास्तब्धमाकराग्रादजिह्मगैः ॥ २० ॥

उन दोनों के शरीरों में एक अंगुल भी ऐसी जगह न थी, जहाँ बाण न गड़े हों। हाथों की अंगुलियों तक में बाण विधे हुए थे ॥ २० ॥

तौ तु क्रूरेण निहतौ रक्षसा कामरूपिणा ।
असृक् सुस्रुवतुस्तीव्रं जलं प्रस्रवणाविव ॥ २१ ॥

क्रूर स्वेच्छाचारी मेघनाद ने उन दोनों को ऐसा मारा कि, दोनों भाइयों के अंगों से, झरने से जल झरने की तरह, रुधिर झर रहा था ॥ २१ ॥

पपात प्रथमं रामो विद्धो मर्मसु मार्गणैः ।
क्रोधादिन्द्रजिता येन पुरा शक्रो विनिर्जितः ॥ २२ ॥

जिस मेघनाद ने पूर्वकाल में इन्द्र को जीता था; उसके क्रोध में भर चलाये हुए बाणों से मर्मविद्ध हो, श्रीरामचन्द्र जी पहिले भूमि पर गिर पड़े ॥ २२ ॥

रुक्मपुङ्खैः प्रसन्नाग्रैरधोगतिभिराशुगैः ।
नाराचैरर्धनाराचैर्भल्लैरञ्जलिकैरपि ॥ २३ ॥
विव्याध वत्सदन्तैश्च सिंहदंष्ट्रैः क्षुरैस्तथा ।
स वीरशयने शिश्ये विज्यमादाय कार्मुकम् ॥ २४ ॥

सुवर्ण पुंख वाले, पैनी नोंक के, ऊपर से नीचे की ओर बड़ी तेज़ी से आने वाले, सीधी नोंकों के, झुकी हुई नोंकों वाले, भाले जैसे, अङ्गुलि के आकार की नोंकों वाले, बछड़े के दांत जैसी नोंक वाले, सिंह की ढाढ़ें जैसी नोंक वाले और छुरा जैसी नोंक वाले बाणों से क्षतविक्षत हो, श्रीरामचन्द्र जी अपना प्रत्यञ्चारहित धनुष पटक, वीरशय्या पर सो गये ॥ २३ ॥ २४॥

भिन्नमुष्टिपरीणाहं त्रिणतं रत्नभूषितम् ।
बाणपातान्तरे रामं पतितं पुरुषर्षभम् ॥ २५ ॥

तीन स्थानों से झुके हुए और रत्नभूषित धनुष की मुठिया उनके हाथ से छूट गयी। तदनन्तर पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र को बाणशय्या पर पड़ा हुआ ॥ २५ ॥

स तत्र लक्ष्मणो दृष्ट्वा निराशो जीवितेऽभवत् ।
रामं कमलपत्राक्षं शरबन्धपरिक्षतम् ॥ २६ ॥
शुशोच भ्रातरं दृष्ट्वा पतितं धरणीतले ।
हरयश्चापि तं दृष्ट्वा सन्तापं परमं गताः ॥ २७ ॥

देख, लक्ष्मण जी उनके जीवन से निराश हो गये। कमलनेत्र, शरबन्धन में फँसे और घायल भाई श्रीरामचन्द्र को ज़मीन पर गिरा हुआ देख, लक्ष्मण जी शोकान्वित हो गये। वानर भी श्रीरामचन्द्र जी की यह दशा देख परम सन्तप्त हुए ॥ २६ ॥ २७ ॥

वद्धौ तु वीरौ पतितौ शयानौ
तौ वानराः सम्परिवार्य तस्थुः ।
समागता वायुसुतप्रमुख्या
विषादमार्ताः परमं च जग्मुः ॥ २८ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

दोनों वीर भाइयों को ज़मीन पर पड़ा हुआ देख, वानर लोग उन दोनों को घेर कर बैठ गये। फिर वायुपुत्र हनुमानादि प्रमुख वीर वानर, उन दोनों के समीप जा परम विषादित हुए ॥ २८ ॥

युद्धकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

ततो [1]द्यां पृथिवीं चैव वीक्षमाणा वनौकसः ।
ददृशुः [2]सन्ततौ बाणैर्भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १ ॥

दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को बाणों से व्याप्त देख, वानर ज़मीन आसमान ताकने लगे ॥ १ ॥

वृष्ट्वेवोपरते देवे कृतकर्मणि राक्षसे ।
आजगामाथ तं देशं ससुग्रीवो विभीषणः ॥ २ ॥

जैसे इन्द्र वर्षा कर चुकते हैं, वैसे ही जब इन्द्रजीत बाणों की वर्षा कर चुका, तब वहाँ सुग्रीव सहित विभीषण पहुँचे ॥ २ ॥

---

१ द्यां—आकाशं । (गो०) २ सन्ततौ—व्याप्तौ । (गो०)

नीलद्विविदमैन्दाश्च सुषेणकुमुदाङ्गदाः ।
तूर्णं हनुमता सार्धमन्वशोचन्त राघवौ ॥ ३ ॥

नील, द्विविद, मैन्द, सुषेण, कुमुद और अङ्गद ; हनुमान के साथ मिल कर, दोनों भाइयों के विषय में शोकान्वित हुए ॥ ३ ॥

अचेष्टौ मन्दनिश्वासौ शोणितौघपरिप्लुतौ ।
शरजालाचितौ स्तब्धौ शयानौ शरतल्पयोः ॥ ४ ॥

दोनों भाई निश्चेष्ट, मन्द-श्वास-युक्त, रुधिर से तराबोर, बाणों से बिधे, शरशय्या पर सो रहे थे ॥ ४ ॥

निःश्वसन्तौ यथा सर्पौ निश्चेष्टौ मन्दविक्रमौ ।
रुधिरस्रावदिग्धाङ्गौ तापनीयाविव ध्वजौ ॥ ५ ॥

और सर्प की तरह साँस ले रहे थे, उनके शरीर चेष्टाहीन हो रहे थे, उनका पराक्रम मन्द पड़ गया था। उनके शरीर लोहू में सने हुए थे। वे दोनों सुवर्ण की दो ध्वजाओं की तरह भूमि पर पड़े हुए थे ॥ ५ ॥

तौ वीरशयने वीरौ शयानौ मन्दचेष्टितौ ।
यूथपैस्तैः परिवृतौ बाष्पव्याकुललोचनैः ॥ ६ ॥

वे दोनों वीर शय्या पर लेटे हुए, मन्द-चेष्टा-युक्त हो रहे थे। उन दोनों को वानरयूथपति घेरे हुए थे। उनके नेत्रों से आँसुओं की धारें बह रही थीं ॥ ६ ॥

राघवौ पतितौ दृष्ट्वा शरजालसमावृतौ ।
बभूवुर्व्यथिताः सर्वे वानराः सविभीषणाः ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को शरजाल में फँसा हुआ देख, विभीषण सहित समस्त वानर व्यथित हुए ॥ ७ ॥

अन्तरिक्षं निरीक्षन्तो दिशः सर्वाश्च वानराः ।
न चैनं मायया च्छन्नं ददृशू रावणिं रणे ॥ ८ ॥

आकाश तथा समस्त दिशाओं की ओर देखते हुए भी, उन वानरों को माया के बल से छिपा हुआ मेघनाद युद्धक्षेत्र में कहीं भी न देख पड़ा ॥ ८ ॥

तं तु मायाप्रतिच्छन्नं माययैव विभीषणः ।
वीक्षमाणो ददर्शाथ भ्रातुः पुत्रमवस्थितम् ॥ ९ ॥

किन्तु माया के बल से छिपे हुए अपने भतीजे को, माया के बल से देखते हुए विभीषण ने देखा कि, वह (पास ही) खड़ा है ॥ ९ ॥

तमप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्वमाहवे ।
ददर्शान्तर्हितं वीरं वरदानाद्विभीषणः ॥ १० ॥
तेजसा यशसा चैव विक्रमेण च संयुतम् ।
इन्द्रजित्त्वात्मनः कर्म तौ शयानौ समीक्ष्य च ॥ ११ ॥

और जाना कि, युद्ध में इसके समान योद्धा दूसरा नहीं है। विभीषण ने देखा कि, वरदान के प्रभाव से छिपा हुआ मेघनाद तेज, यश और विक्रम से युक्त है। इन्द्रजीत अपनी करतूत से उन दोनों को पड़ा हुआ देख ॥ १० ॥ ११ ॥

उवाच परमप्रीतो हर्षयन्सर्वनैर्ऋतान् ।
दूषणस्य च हन्तारौ खरस्य च महाबलौ ॥ १२ ॥

स्वयं परम प्रसन्न हो और अन्य राक्षसों को हर्षित करता हुआ उनसे कहने लगा—देखो, खरदूषण के मारने वाले, दोनों महाबली ॥ १२ ॥

सादितौ मामकैर्बाणैर्भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
नेमौ मोक्षयितुं शक्यावेतस्मादिषुबन्धनात् ॥ १३ ॥
सर्वैरपि समागम्य सर्षिसङ्घैः सुरासुरैः ।
यत्कृते चिन्तयानस्य शोकार्तस्य पितुर्मम ॥ १४ ॥

ये दोनों भाई राम और लक्ष्मण मेरे बाणों से मारे गये। भले ही समस्त देवता ऋषि और दैत्य मिल कर आवें, पर इनको अब कोई भी इस बाणबन्धन से छुड़ा नहीं सकता। जिनके लिये सोच विचार करते करते और शोक से विकल मेरे पिता ॥ १३ ॥ १४ ॥

अस्पृष्ट्वा शयनं गात्रैस्त्रियामा याति शर्वरी ।
कृत्स्नेयं यत्कृते लङ्का नदी वर्षास्विवाकुला ॥ १५ ॥

चार पहर रात खाट पर लेटे बिना ही बिता देते थे और जिसके कारण यह सारी की सारी लङ्का वर्षाकालीन नदी की तरह विकल हो रही थी ॥ १५ ॥

सोऽयं मूलहरोऽनर्थः सर्वेषां[1] निहतो मया ।
रामस्य लक्ष्मणस्यापि सर्वेषां च वनौकसाम् ॥ १६ ॥
विक्रमा निष्फलाः सर्वे यथा शरदि तोयदाः ।
एवमुक्त्वा तु तान्सर्वान्राक्षसान्परिपार्श्वतः ॥ १७ ॥

और जो हमारी सब की जड़ नाश करने वाला और अनर्थकारी था ; उस राम को मैंने आज मार डाला। देखो, अब राम, लक्ष्मण और सब वानरों का समस्त पराक्रम वैसे ही व्यर्थ हो गया है, जैसे शरद्कालीन मेघ। अपने समीप खड़े हुए सब राक्षसों से यह कह कर, ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ सर्वेषां अस्माकं मूलहरः। (गो०)

यूथपानपि तान्सर्वांस्ताडयामास रावणिः ।
नीलं नवभिराहत्य मैन्दं च द्विविदं तथा ॥ १८ ॥

मेघनाद ने समस्त वानरयूथपतियों को भी बाणों से घायल किया। नील के नौ और मैन्द तथा द्विविद के ॥ १८ ॥

त्रिभिस्त्रिभिरमित्रघ्नस्तताप प्रवरेषुभिः ।
जाम्बवन्तं महेष्वासो विद्ध्वा बाणेन वक्षसि ॥ १९ ॥

तीन तीन बड़े पैने पैने बाण शत्रुओं के नाश करने वाले मेघनाद ने मारे। बड़ा धनुष लिये हुए मेघनाद ने जाम्बवान की छाती में एक बाण मारा ॥ १९ ॥

हनूमतो वेगवतो विससर्ज शरान्दश ।
गवाक्षं शरभं चैव द्वावप्यमिततेजसौ ॥ २० ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां महावेगो विव्याध युधि रावणिः ।
गोलाङ्गूलेश्वरं चैव वालिपुत्रमथाङ्गदम् ॥ २१ ॥
विव्याध बहुभिर्बाणैस्त्वरमाणोऽथ रावणिः ।
तान्वानरवरान्भित्त्वा शरैरग्निशिखोपमैः ॥ २२ ॥

फिर वेगवान हनुमान जी के दस बाण मार, अमित तेजस्वी गवाक्ष और शरभ के महावेगवान मेघनाद ने दो दो बाण मारे। गोलाङ्गूलों के अध्यक्ष अर्थात् गवाक्ष तथा वालिपुत्र अङ्गद के उस फुर्तीले मेघनाद ने बहुत से बाण मारे। उन वानरश्रेष्ठों को अग्निशिखा सदृश दमकते हुए बाणों से घायल कर ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

ननाद बलवांस्तत्र महासत्त्वः स रावणिः ।
तानर्दयित्वा बाणौघैस्त्रासयित्वा च वानरान् ॥ २३ ॥

वह महावली मेघनाद बड़ी ज़ोर से गर्जा। वानरों को वाणों से घायल कर और उनको डराता हुआ॥ २३॥

प्रजहास महाबाहुर्वचनं चेदमब्रवीत्।
शरबन्धेन घोरेण मया बद्धौ [1]चमूमुखे॥ २४॥
सहितौ भ्रातरावेतौ निशामयत राक्षसाः।
एवमुक्तास्तु ते सर्वे राक्षसाः कूटयोधिनः॥ २५॥

महावली इन्द्रजीत, अट्टहास कर यह बोला—हे राक्षसो! देखो मैंने युद्ध में वाणबन्धन से इन दोनों भाइयों सहित वानरी सेना को बाँध लिया है। उसके यह वचन सुन, कपट युद्ध करने वाले वे समस्त राक्षस,॥ २४॥ २५॥

परं विस्मयमाजग्मुः कर्मणा तेन हर्षिताः।
विनेदुश्च महानादान्सर्वतो जलदोपमाः॥ २६॥

परम विस्मित हुए और उसकी उस वीरता से हर्षित हुए। वे बादलों की तरह बड़े ज़ोर से गर्जने लगे॥ २६॥

हतो राम इति ज्ञात्वा रावणिं समपूजयन्।
निष्पन्दौ तु तदा दृष्ट्वा तावुभौ रामलक्ष्मणौ॥ २७॥
वसुधायां निरुच्छ्वासौ हतावित्यन्वमन्यत।
हर्षेण तु समाविष्ट इन्द्रजित्समितिञ्जयः॥ २८॥

"श्रीरामचन्द्र मारे गये" यह निश्चय कर, वे मेघनाद की प्रशंसा करने लगे। दोनों भाइयों की साँस चलती न देख और उनको निश्चेष्ट पृथिवी पर पड़ा देख, लोगों ने दोनों को मरा

१ चमूमुखे—संग्राममध्ये। (गो०)

हुआ मान लिया। शत्रुविजयी इन्द्रजीत इससे स्वयं प्रसन्न होता हुआ ॥ २७ ॥ २८ ॥

प्रविवेश पुरीं लङ्कां हर्षयन्सर्वराक्षसान् ।
रामलक्ष्मणयोर्दृष्ट्वा शरीरे सायकैश्चिते ॥ २९ ॥

सर्वाणि चाङ्गोपाङ्गानि सुग्रीवं भयमाविशत् ।
तमुवाच परित्रस्तं वानरेन्द्रं विभीषणः ॥ ३० ॥

सबाष्पवदनं दीनं शोकव्याकुललोचनम् ।
अलं त्रासेन सुग्रीव बाष्पवेगो निगृह्यताम् ॥ ३१ ॥

तथा समस्त राक्षसों को हर्षित करता हुआ, लङ्का में गया। इधर श्रीरामचन्द्र जी एवं लक्ष्मण के समस्त अङ्गों और प्रत्यङ्गों को बाणों से विद्ध देख, सुग्रीव बहुत डरे। सुग्रीव को त्रस्त तथा शोक से विकल हो, दीन भाव से रोते देख, विभीषण ने उनसे कहा—हे सुग्रीव! इस समय डरने से काम न चलेगा। अतः आँसुओं के वेग को रोको अर्थात् अब रोना बन्द करो ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

एवं प्रायाणि[1] युद्धानि विजयो नास्ति नैष्ठिकः ।
सशेषभाग्यताऽस्माकं यदि वीर भविष्यति ॥ ३२ ॥

क्योंकि इस प्रकार के युद्धों में विजय किसी एक ही के लिये नियत नहीं है। हे वीर! यदि हम लोगों का कुछ भी सौभाग्य शेष होगा ॥ ३२ ॥

मोहमेतौ प्रहास्येते महात्मानौ महाबलौ ।
पर्यवस्थापयात्मानमनाथं मां च वानर ॥ ३३ ॥

---

1 एवंप्रायाणि—एवंविधानि। (गो०)

तो ये दोनों महाबलवान् महात्मा मूर्च्छा त्याग कर उठ बैठेंगे। हे वानर! अतः हे वानरराज! तुम स्वयं धीरज धारण करो और मुझ अनाथ को धीरज बँधाओ ॥ ३३ ॥

सत्यधर्माभिरक्तानां नास्ति [1]मृत्युकृतं भयम्।
एवमुक्त्वा ततस्तस्य जलक्लिन्नेन पाणिना ॥ ३४ ॥
सुग्रीवस्य शुभे नेत्रे प्रममार्ज विभीषणः।
ततः सलिलमादाय विद्यया परिजप्य च ॥ ३५ ॥
सुग्रीवनेत्रे धर्मात्मा स ममार्ज विभीषणः।
प्रमृज्य वदनं तस्य कपिराजस्य धीमतः ॥ ३६ ॥
अब्रवीत्कालसम्प्राप्तमसम्भ्रममिदं वचः।
न कालः कपिराजेन्द्र वैक्लव्यमनुवर्तितुम् ॥ ३७ ॥
अतिस्नेहोऽप्यकालेऽस्मिन्मरणायोपकल्पते।
तस्मादुत्सृज्य वैक्लव्यं सर्वकार्यविनाशनम् ॥ ३८ ॥

क्योंकि सत्यधर्म में स्थित जनों को अपमृत्यु का भय नहीं होता। यह कह कर धर्मात्मा विभीषण ने अपने हाथ में जल ले कर अमङ्गल की निवृत्ति और भ्रान्ति दूर करने के लिये, मंत्र से उसे अभिमंत्रित कर, उससे सुग्रीव की आँखें धोयीं। बुद्धिमान् वानरराज के नेत्र जल से पोंछ कर, विभीषण व्याकुलता निवारक, समयानुसार वचन बोले। हे वानरराज! यह समय कायरता दिखलाने का नहीं है। इस समय अति प्रेम भी घातक है। अतः तुम सब कार्यों को नष्ट करने वाली कायरता को त्याग दो ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

1 मृत्युकृतं—अपमृत्युकृतं। (गो०)

हितं [1]रामपुरोगाणां सैन्यानामनुचिन्त्यताम् ।
अथवा रक्ष्यतां रामो यावत्संज्ञाविपर्ययः ॥ ३९ ॥

श्रीरामचन्द्र प्रभृति सैनिकों के हित की चिन्ता करो। अथवा जब तक ये सचेत नहीं होते, तब तक इन्हींकी रक्षा करो ॥ ३९ ॥

लब्धसंज्ञौ हि काकुत्स्थौ भयं नो व्यपनेष्यतः ।
नैतत्किञ्चन रामस्य न च रामो मुमूर्षति ॥ ४० ॥

जब ये सचेत हो जाँयगे, तब ये ही हम लोगों को निर्भय कर देंगे। श्रीरामचन्द्र के लिये ये शरबन्धन कुछ भी नहीं है और न वे मरे ही हैं ॥ ४० ॥

न ह्येनं हास्यते लक्ष्मीर्दुर्लभा या गतायुषाम् ।
तस्मादाश्वासयात्मानं बलं चाश्वासय स्वकम् ॥ ४१ ॥

क्योंकि गतायु लोगों के लिये जो मुख की कान्ति दुर्लभ है, वह इनके मुखमण्डल पर अब भी विराजमान है। अतः तुम स्वयं धीरज धारण करो और अपने सैनिकों को धीरज बँधाओ ॥ ४१ ॥

यावत्कार्याणि सर्वाणि पुनः संस्थापयाम्यहम् ।
एते हि फुल्लनयनास्त्रासादागतसाध्वसाः ॥ ४२ ॥

जब तक मैं अन्य सब बातों की फिर से सुव्यवस्था करूँ; तब तक तुम सब सैनिकों को धीरज बँधा शान्त करो। वानरों की आँखें प्रसन्न देख पड़ती हैं। केवल डर से त्रस्त हो, ॥ ४२ ॥

कर्णे कर्णे [2]प्रकथिता हरयो हरिसत्तम ।
मां तु दृष्ट्वा प्रधावन्तमनीकं सम्प्रहर्षितुम् ॥ ४३ ॥

---

१ रामपुरोगाणां—रामप्रभृतीनां। (गो०) २ प्रकथिताः—पलायनार्थं प्रवृत्तकथा। (गो०)

हे कपिप्रवर! ये लोग आपस में कानाफूंसी कर भागने की सलाह कर रहे हैं। जब मैं सेना के बीच हर्षित हो इधर उधर दौड़ूँगा और ये लोग मुझे देखेंगे ॥ ४३ ॥

त्यजन्तु हरयस्त्रासं भुक्तपूर्वामिव स्रजम् ।
समाश्वास्य तु सुग्रीवं राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥ ४४ ॥

तब ये वानर उस प्रकार भय को त्याग देंगे, जिस प्रकार कुम्हलाई हुई पुष्पमाला त्याग दी जाती है। राक्षसेन्द्र विभीषण इस प्रकार वानरराज सुग्रीव को समझा ॥ ४४ ॥

विद्रुतं वानरानीकं तत्समाश्वासयत्पुनः ।
इन्द्रजित्तु महामायः सर्वसैन्यसमावृतः ॥ ४५ ॥

भागती हुई या भागने के लिये उद्यत वानरी सेना को समझाने लगे। उधर बड़ा मायावी इन्द्रजीत, अपनी समस्त राक्षसी सेना को साथ ले ॥ ४५ ॥

विवेश नगरीं लङ्कां पितरं चाभ्युपागमत् ।
तत्र रावणमासीनमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ४६ ॥

लङ्का में जा, अपने पिता के पास पहुँचा। वहाँ सिंहासन पर विराजमान रावण को प्रणाम कर, मेघनाद ने हाथ जोड़ कर ॥४६॥

आचचक्षे प्रियं पित्रे निहतौ रामलक्ष्मणौ ।
उत्पपात ततो हृष्टः पुत्रं च परिषस्वजे ॥ ४७ ॥

पिता को रामलक्ष्मण के मारे जाने का प्रियसंवाद सुनाया। इस प्रियसंवाद को सुन कर, रावण उछल पड़ा और उसने हर्षित हो, पुत्र को अपनी छाती से लगा लिया ॥ ४७ ॥

रावणो रक्षसां मध्ये श्रुत्वा शत्रू निपातितौ ।
उपाघ्राय स मूर्ध्न्येनं पप्रच्छ प्रीतमानसः ॥ ४८ ॥

राक्षसों के बीच में बैठे हुए रावण ने अपने शत्रुओं के मारे जाने का समाचार सुन, इन्द्रजीत का माथा सूंघा और प्रसन्न हो उससे सब वृत्तान्त पूँछा ॥ ४८ ॥

पृच्छते च यथावृत्त पित्रे सर्वं न्यवेदयत् ।
यथा तौ शरबन्धेन निश्चेष्टौ निष्प्रभा कृतौ ॥ ४९ ॥

पिता के पूँछने पर उसने उनसे वह समस्त वृत्तान्त कहा जिस प्रकार उसने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को शरबन्धन में बाँध कर, निश्चेष्ट और निष्प्रभ कर दिया था ॥ ४९ ॥

स हर्षवेगानुगतान्तरात्मा
श्रुत्वा वचस्तस्य महारथस्य ।
जहौ ज्वरं दाशरथेः समुत्थितं
प्रहृष्य वाचाऽभिननन्द पुत्रम् ॥ ५० ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

महारथी मेघनाद के वचन सुन, रावण अत्यन्त हर्षित हुआ और श्रीरामचन्द्र के भय से उसके मन में जो सन्ताप उत्पन्न हो गया था, वह दूर हो गया। वह प्रसन्न हो पुत्र की बड़ाई करने लगा ॥५०॥

युद्धकाण्ड का छियालीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—※—

प्रतिप्रविष्टे लङ्कां तु कृतार्थे रावणात्मजे ।
राघवं परिवार्यार्ता ररक्षुर्वानरर्षभाः ॥ १ ॥

जब विजयी हो मेघनाद लङ्का में चला गया; तब प्रधान प्रधान वानर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को घेर कर उनकी रक्षा करने लगे ॥ १ ॥

हनुमानङ्गदो नीलः सुषेणः कुमुदो नलः ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ २ ॥

उनमें हनुमान, अङ्गद, नील, सुषेण, कुमुद, नल, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन ॥ २ ॥

जाम्बवानृषभः स्कन्धो रम्भः शतवलिः पृथुः ।
व्यूढानीकाश्च यत्ताश्च द्रुमानादाय सर्वतः ॥ ३ ॥
वीक्षमाणा दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च वानराः ।
तृणेष्वपि च चेष्टत्सु राक्षसा इति मेनिरे ॥ ४ ॥

जाम्बवान, स्कन्ध, रम्भ, शतवलि, पृथु, ये सब अपनी अपनी सेनाओं के व्यूह बना कर तथा हाथों में बड़े बड़े पेड़ों को ले कर, ऊपर नीचे और चारों दिशाओं को ओर देखते हुए खड़े हो गये। उस समय उनकी ऐसी दशा हो रही थी कि, यदि वे तिनका भी हिलता देखते, तो वे वहाँ राक्षस का होना निश्चित कर लेते थे ॥ ३ ॥ ४ ॥

रावणश्चापि संहृष्टो विसृज्येन्द्रजितं सुतम् ।
आजुहाव: ततः सीतारक्षिणी राक्षसीस्तदा ॥ ५ ॥

रावण ने प्रसन्न हो अपने पुत्र इन्द्रजीत को विदा किया और सीता जी की रक्षा करने वाली राक्षसियों को अपने पास बुलवाया ॥ ५ ॥

राक्षस्यस्त्रिजटा चैव शासनात्समुपस्थिताः ।
ता उवाच ततो हृष्टो राक्षसी राक्षसाधिपः ॥ ६ ॥

उसकी आज्ञा पाते ही त्रिजटा सहित सब राक्षसी उसके समीप आईं। तब राक्षसराज अत्यन्त हर्षित हो, उन राक्षसियों से कहने लगा ॥ ६ ॥

हताविन्द्रजिताऽऽख्यात वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
पुष्पकं च समारोप्य दर्शयध्वं हतौ रणे ॥ ७ ॥

तुम जा कर सीता से कहो कि, इन्द्रजीत ने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को मार डाला। फिर उसको पुष्पकविमान में बिठा कर समरभूमि में उन दोनों मरे हुए को दिखलाओ ॥ ७ ॥

यदाश्रयादवष्टब्धा नेयं मामुपतिष्ठति ।
सोऽस्या भर्ता सह भ्रात्रा निरस्तो रणमूर्धनि ॥ ८ ॥

जिसके बल के गर्व से गर्वित हो वह मुझको कुछ नहीं समझती थी, वही उसका पति अपने भाई सहित युद्ध में मारा गया ॥ ८ ॥

निर्विशङ्का निरुद्विग्ना निरपेक्षा च मैथिली ।
मामुपस्थास्यते सीता सर्वाभरणभूषिता ॥ ९ ॥

अब कुछ भी सोच विचार न कर और शोक त्याग कर तथा श्रीरामचन्द्र के मिलने की आशा छोड़ कर और सब आभूषणों से भूषित हो कर, जानकी मेरे पास चली आवेगी ॥ ९ ॥

अद्य कालवशं प्राप्तं रणे रामं सलक्ष्मणम् ।
अवेक्ष्य विनिवृत्ताशा नान्यां गतिमपश्यती ॥ १० ॥

अब वह उन दोनों को मरा हुआ देख कर, निराश हो जायगी और अपनी रक्षा का अन्य उपाय न देख, ॥ १० ॥

निरपेक्षा विशालाक्षी मामुपस्थास्यते स्वयम् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रावणस्य दुरात्मनः ॥ ११ ॥

और निरपेक्ष हो वह विशालनयनी स्वयं मेरे पास चली आवेगी। दुष्ट रावण के इन वचनों को सुन, ॥ ११ ॥

राक्षस्यस्तास्तथेत्युक्त्वा जग्मुर्वै यत्र पुष्पकम् ।
ततः पुष्पकमादाय राक्षस्यो रावणाज्ञया ॥ १२ ॥

और "बहुत अच्छा" कह, वे राक्षसी वहाँ गयीं, जहाँ पुष्पक विमान रखा था। वे राक्षसी रावण की आज्ञा से उस पुष्पक विमान को ले ॥ १२ ॥

अशोकवनिकास्थां तां मैथिलीं समुपानयन् ।
तामादाय तु राक्षस्यो भर्तृशोकपराजिताम् ॥ १३ ॥

और अशोकवाटिका में बैठी हुई जानकी जी के पास पहुँची। राक्षसियों ने पति के शोक से दुर्बल, ॥ १३ ॥

सीतामारोपयामासुर्विमानं पुष्पकं तदा ।
ततः पुष्पकमारोप्य सीतां त्रिजटया सह ॥ १४ ॥

सीता को ले कर पुष्पकविमान पर सवार कराया। तदनन्तर त्रिजटा सहित सीता को पुष्पकविमान में बैठा ॥ १४ ॥

जग्मुर्दर्शयितुं तस्यै राक्षस्यो रामलक्ष्मणौ ।
रावणोऽकारयल्लङ्कां पताकाध्वजमालिनीम् ॥ १५ ॥

वे राक्षसी श्रीराम लक्ष्मण को दिखाने के लिये उसे (सीता को) ले गयीं। उधर रावण ने पताका और ध्वजाओं से लङ्का को सजवा दिया ॥ १५ ॥

आघोषयत हृष्टश्च लङ्कायां राक्षसेश्वरः ।
राघवो लक्ष्मणश्चैव हताविन्द्रजिता रणे ॥ १६ ॥

और सारे नगर में उस राक्षसराज ने प्रसन्न हो यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि, समर में इन्द्रजीत ने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को मार डाला ॥ १६ ॥

विमानेनापि सीता तु गत्वा त्रिजटया सह ।
ददर्श वानराणां तु सर्वं सैन्यं निपातितम् ॥ १७ ॥

उधर त्रिजटा सहित पुष्पकविमान में बैठी हुई सीता ने रणक्षेत्र में जा कर देखा कि, (प्रायः) समस्त अथवा बहुत सी वानरी सेना मरी हुई पड़ी है ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमनसश्चापि ददर्श पिशिताशनान् ।
वानरांश्चापि दुःखार्तान्रामलक्ष्मणपार्श्वतः ॥ १८ ॥

सीता ने माँसभक्षी राक्षसों को अत्यन्त हर्षित देखा और (कुद्ध) दुखी वानरों को, श्रीरामचन्द्र के अगल बगल खड़े हुए देखा ॥ १८ ॥

ततः सीता ददर्शोभौ शयानौ शरतल्पयोः ।
लक्ष्मणं चापि रामं च विसंज्ञौ शरपीडितौ ॥१९॥

तदनन्तर सीता ने दोनों राजकुमारों को शरशय्या पर सोते हुए देखा। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण बाणों की व्यथा से व्यथित और मूर्छित पड़े थे ॥ १९ ॥

विध्वस्तकवचौ वीरौ विप्रविद्धशरासनौ।
सायकैश्छिन्नसर्वाङ्गौ शरस्तम्बमयौ क्षितौ ॥ २० ॥

उन दोनों वीरों के कवच टूट फूट गये थे तथा उनके धनुष अलग पड़े हुए थे। शरीरों के समस्त अङ्गप्रत्यङ्ग बाणों से विद्ध थे। वे ऐसे जान पड़ते थे, मानों बाणों के खम्भे पृथिवी पर पड़े हों ॥ २० ॥

तौ दृष्ट्वा भ्रातरौ तत्र वीरौ सा पुरुषर्षभौ।
शयानौ पुण्डरीकाक्षौ कुमाराविव पावकी ॥ २१ ॥

पुरुषश्रेष्ठ, शूरवीर, कमलनयन दोनों भाइयों को सीता जी ने वहाँ अग्नि के पुत्रों की तरह सोते हुए पाया ॥२१॥

शरतल्पगतौ वीरौ तथा भूतौ नरर्षभौ।
दुःखार्ता सुभृशं सीता सुचिरं विललाप ह ॥ २२ ॥

ऐसे वीर दोनों भाइयों को बाणशय्या पर शयन करते देख, अत्यन्त दुःखी हो, सीता अति करुणापूर्वक विलाप करने लगी ॥ २२ ॥

भर्तारमनवद्याङ्गी लक्ष्मणं चासितेक्षणा।
प्रेक्ष्य पांसुषु वेष्टन्तौ रुरोद जनकात्मजा ॥ २३ ॥

अपने भर्त्ता और लक्ष्मण को धूल में लोटते देख, सर्वाङ्ग-सुन्दरी और काले नेत्रों वाली सीता रोने लगी ॥ २३ ॥

सा बाष्पशोकाभिहता समीक्ष्य
तौ भ्रातरौ देवसमप्रभावौ।

वितर्कयन्ती निधनं तयोः सा
दुःखान्विता वाक्यमिदं जगाद ॥ २४ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

देवताओं के समान प्रभाव वाले उन दोनों भाइयों को इस दशा में देख, सीता मारे शोक के रोने लगी और उनके मरने के विषय में तर्क वितर्क करती हुई, तथा दुःखी हो यह बोली ॥ २४ ॥

युद्धकाण्ड का सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—※—

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा लक्ष्मणं च महाबलम् ।
विललाप भृशं सीता करुणं शोककर्शिता ॥ १ ॥

अपने पति श्रीरामचन्द्र और महाबली लक्ष्मण को युद्ध में मरा हुआ देख, शोक से विकल सीता, करुणस्वर से बहुत विलाप करने लगी ॥ १ ॥

ऊचुर्लक्षणिनो ये मां पुत्रिण्यविधवेति च ।
तेऽद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृतवादिनः ॥ २ ॥

जो सामुद्रिक-शास्त्र-ज्ञाता मुझे पुत्रवती होने तथा सदा सौभाग्यवती बनी रहने की भविष्यद्वाणी कहते थे, वे सब सामुद्रिक-शास्त्र-वेत्ता आज श्रीरामचन्द्र जी के मारे जाने से मिथ्यावादी ठहरे अथवा उनकी भविष्यद्वाणी मिथ्या सिद्ध हुई ॥ २ ॥

यज्वनो महिषीं ये मामूचुः पत्नीं च सत्रिणः ।
तेऽद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृतवादिनः ॥ ३ ॥

जिन सामुद्रिक शास्त्रवेत्ताओं ने मुझे बहुकाल व्यापी अश्वमेधादि यज्ञ करने वाले की पत्नी होने की बात बतलायी थी, वे सब आज युद्ध में श्रीरामचन्द्र के मारे जाने से झूठे हो गये ॥ ३ ॥

ऊचुः संश्रवणे ये मां द्विजाः कार्तान्तिकाः शुभाम् ।
तेऽद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृतवादिनः ॥ ४ ॥

जिन भविष्यद्वक्ताओं ने मेरे सम्मुख मुझे शुभलक्षणों वाली सधवा बतलाया था, वे सब आज श्रीरामचन्द्र जी के मारे जाने से झूठे पड़ गये ॥ ४ ॥

वीरपार्थिवपत्नी त्वं ये धन्येति च मां विदुः ।
तेऽद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृतवादिनः ॥ ५ ॥

जिन्होंने मुझको वीर राजाओं को रानियों की पूज्या (अर्थात् चक्रवर्ती की पत्नी) और सौभाग्यवती बतलाया था, वे सब भविष्यद्वक्ता आज श्रीरामचन्द्र जी के मारे जाने से झूठे पड़ गये ॥५॥

इमानि खलु पद्मानि पादयोर्यैः किल स्त्रियः ।
आधिराज्येऽभिषिच्यन्ते नरेन्द्रैः पतिभिः सह ॥ ६ ॥

जिन शुभचिन्हों के होने से कुलवती स्त्रियाँ अपने नरेन्द्रपतियों के साथ राजसिंहासन पर अभिषिक्त होती हैं; वे कमल के चिन्ह मेरे चरणों में होते हुए भी, आज मैं उस चिन्ह के फल से वञ्चित हो गयी ॥ ६ ॥

वैधव्यं यान्ति यैर्नार्यो लक्षणैर्भाग्यदुर्लभाः ।
नात्मनस्तानि पश्यामि पश्यन्ती हतलक्षणा ॥ ७ ॥

जिन बुरे लक्षणों के होने से स्त्रियाँ विधवा हो, भाग्यहीन हो जाती हैं, उन लक्षणों में से कोई भी लक्षण मुझे अपने में नहीं देख पड़ता, तो भी मैं इस समय अपने को हतभाग्य पाती हूँ ॥ ७ ॥

सत्यनामानि पद्मानि स्त्रीणामुक्तानि लक्षणैः ।
तान्यद्य निहते रामे वितथानि भवन्ति मे ॥ ८ ॥

पण्डित लोग, जिन कमल आदि चिन्हों को, स्त्रियों के अङ्गों में होने से अमोघ फल देने वाले बतलाते हैं; उन सब चिन्हों का फल मेरे लिये झूठा हुआ जाता है ॥ ८ ॥

केशाः सूक्ष्माः समा नीला भ्रुवौ चासङ्गते मम ।
वृत्ते चारोमशे जङ्घे दन्ताश्चाविरला मम ॥ ९ ॥

देखो मेरे बाल महीन, बराबर और नीले हैं; मेरी भौंहें मिली हुई नहीं—अलग अलग हैं, मेरी जांघे गोल और रोमरहित हैं, दाँत अलग अलग है ॥ ९ ॥

शङ्खे नेत्रे करौ पादौ गुल्फावूरू च मे चितौ ।
अनुवृत्तनखाः स्निग्धाः समाश्चाङ्गुलयो मम ॥ १० ॥

मेरे दोनों नेत्रों के कोये शङ्खाकार हैं, मेरे हाथ पैर, घुटने, ऊरु सुडौल हैं। नख गोल और चिकने हैं और उंगलियाँ बराबर हैं ॥ १० ॥

स्तनौ चाविरलौ पीनौ ममेमौ मग्नचूचुकौ ।
मग्ना चोत्सङ्गिनी नाभिः पार्श्वोरस्काश्च मे चिताः ॥११॥

मेरी छातियाँ एक दूसरे से मिली हुईं और मोटी हैं। उनके अग्रभाग उभड़े हुए नहीं बल्कि गहरे हैं। मेरी नाभि गहरी है तथा कोख और छाती उभड़ी हुई हैं ॥ ११ ॥

मम वर्णो मणिनिभो मृदून्यङ्गरुहाणि च ।
प्रतिष्ठितां द्वादशभिर्मामूचुः शुभलक्षणाम् ॥ १२ ॥

मेरे शरीर का रंग मणि की तरह चमकीला है, मेरे रोंगटे कोमल हैं, दसों उङ्गलियों सहित दोनों पैरों के तलवे भूमि पर ठीक ठीक पड़ते हैं। इन सब चिन्हों से मुझको सब शुभलक्षणयुक्त बतलाते हैं ॥ १२ ॥

समग्रयवमच्छिद्रं पाणिपादं च वर्णवत्[1] ।
मन्दस्मितेत्येव च मां कन्यालक्षणिनो*विदुः ॥ १३ ॥

मेरी सब अंगुलियों के पोरुओं पर जौ के चिन्ह हैं, इन चिन्हों की रेखाएं खण्डित नहीं हैं। हाथ पैर की अंगुलियाँ घनी हैं, हाथ और पैर के तलवों का गुलाबी रंग है। शारीरिक लक्षण पहचानने वाले पण्डितों ने बतलाया था कि, यह कन्या मधुरहासिनी है ॥१३॥

आधिराज्येऽभिषेको मे ब्राह्मणैः पतिना सह ।
कृतान्तकुशलैरुक्तं तत्सर्वं वितथीकृतम् ॥ १४ ॥

मुझे देख ज्योतिषियों ने कहा था कि, पति के साथ इसका राज्याभिषेक होगा, किन्तु उनका यह कथन अब मिथ्या हो गया ॥ १४ ॥

शोधयित्वा जनस्थानं प्रवृत्तिमुपलभ्य च ।
तीर्त्वा सागरमक्षोभ्यं भ्रातरौ गोष्पदे[2] हतौ ॥ १५ ॥

देखो ये दोनों भाई जनस्थान में मुझे ढूंढ़ कर और हनुमान से मेरा वृत्तान्त जान कर तथा अक्षोभ्य सागर को पार कर, यहाँ तक

---

१ वर्णवत्—अरुणवर्णं। (गो०) २ गोष्पदे—इन्द्रजिन्मायामात्र इति भावः। (गो०) * पाठान्तरे—" द्विजाः।"

आ गये थे ; किन्तु गाय के खुर के समान गढ़े भर जल में डूब गये अर्थात् इन्द्रजीत की तुच्छ माया से दोनों मारे गये ॥ १५ ॥

नतु वारुणमाग्नेयमैन्द्रं वायव्यमेव च ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव राघवौ प्रत्यपद्यताम् ॥ १६ ॥

ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण वारुण, आग्नेय, ऐन्द्र, वायव्य और ब्रह्मशिरस आदि अस्त्रों का चलाना जानने वाले थे ॥ १६ ॥

अदृश्यमानेन रणे मायया वासवोपमौ ।
मम नाथावनाथाया निहतौ रामलक्ष्मणौ ॥ १७ ॥

किन्तु हा ! माया से लुक छिप कर मारने वाले इन्द्रजीत ने मुझ अनाथिनी के इन्द्र के समान श्रीराम और लक्ष्मण दोनों रक्षकों को मार डाला ॥ १७ ॥

न हि दृष्टिपथं प्राप्य राघवस्य रणे रिपुः ।
जीवन्प्रति निवर्तेत यद्यपि स्यान्मनोजवः ॥ १८ ॥

जब कोई वैरी श्रीरामचन्द्र के सामने आ जाय ; तब फिर वह जीता जागता नहीं जा सकता । भले ही वह मन के समान वेगवान् क्यों न हो ॥ १८ ॥

न कालस्यातिभारोऽस्ति कृतान्तश्च सुदुर्जयः ।
यत्र रामः सह भ्राता शेते युधि निपातितः ॥ १९ ॥

हाय ! काल के लिये न तो कोई बड़ा भारी बोझ है और न कोई काल को जीत ही सकता है । तभी तो भाई सहित श्रीरामचन्द्र जी समरभूमि में मरे हुए पड़े हैं ॥ १६ ॥

न शोचामि तथा रामं लक्ष्मणं च महाबलम् ।
नात्मानं जननीं वाऽपि तथा श्वश्रूं तपस्विनीम् ॥ २० ॥

मुझे उतनी चिन्ता और उतना दुःख न तो महाबलवान श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण का है, न अपना और न अपनी माता का है, जितनी चिन्ता और जितना दुःख मुझे अपनी उस बापुरी सास का है ; ॥ २० ॥

साऽनुचिन्तयते नित्यं समाप्तव्रतमागतम् ।
कदा द्रक्ष्यामि सीतां च लक्ष्मणं च सराघवम् ॥ २१ ॥

जो नित्य यही सोचती हुई बैठी होगी कि, श्रीराम, लक्ष्मण और सीता वनवास की अवधि समाप्त कर, कब लौट घर आवेंगे और कब मैं उनको देखूँगी ॥ २१ ॥

परिदेवयमानां तां राक्षसी त्रिजटाब्रवीत् ।
मा विषादं कृथा देवि भर्ताऽयं तव जीवति ॥ २२ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई सीता जी से त्रिजटा बोली— तुम दुःखी मत हो । ये तुम्हारे पति मरे नहीं, जीवित हैं ॥ २२ ॥

कारणानि च वक्ष्यामि [1]महान्ति [2]सदृशानि च ।
यथेमौ जीवतो देवि भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ २३ ॥

हे देवि ! मैं तुमसे अपने कथन के समर्थन में स्पष्ट और पहिले के अनुभूत जैसे कारण कहती हूँ, जिनसे तुमको निश्चय हो जायगा कि, ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण जीवित हैं ॥ २३ ॥

न हि कोपपरीतानि हर्षपर्युत्सुकानि च ।
भवन्ति युधि योधानां मुखानि निहते पतौ ॥ २४ ॥

हे वैदेही ! जब सेना का मालिक मर जाता है, तब उस सेना के योद्धाओं के मुखमण्डल पर न तो क्रोध ही झलकता है और न वे हर्ष से उत्कण्ठित ही देख पड़ते हैं ॥ २४ ॥

---

१ महान्ति—स्फुटानि । (गो०) २ सदृशानि—पूर्वानुभूततुल्यानि । (गो०)

इदं विमानं वैदेहि पुष्पकं नाम नामतः ।
दिव्यं त्वां धारयेन्नैवं यद्येतौ गतजीवितौ ॥ २५ ॥

हे वैदेही ! यदि ये दोनों भाई मर गये होते, तो यह पुष्पक नामक दिव्य विमान, जिसमें तुम बैठी हो, कभी तुमको बैठा कर न उड़ता। (क्योंकि ये विधवाओं को अपने ऊपर नहीं चढ़ाता) ॥ २५ ॥

हतवीरप्रधाना हि हतोत्साहा निरुद्यमा ।
सेना भ्रमति संख्येषु हतकर्णेव नौर्जले ॥ २६ ॥

सेना के मालिक के मारे जाने पर सैनिकों का उत्साह जाता रहता है। वे कभी काम नहीं कर सकते, बल्कि वे मल्लाह रहित जल में पड़ी नाव की तरह डगमगाने लगते हैं ॥ २६ ॥

इयं पुनरसंभ्रान्ता निरुद्विग्ना *तपस्विनी ।
सेना रक्षति काकुत्स्थौ मया प्रीत्या निवेदितौ ॥ २७ ॥

हे तपस्विनी ! देखो, यह वानरी सेना उद्वेग रहित और सावधान हो, अपने दोनों मालिकों की रखवाली कर रही है। इसीसे मैंने तुमसे प्रीतिपूर्वक यह कहा कि, ये दोनों जीवित हैं ॥ २७ ॥

सा त्वं भव सुविस्रब्धा अनुमानैः सुखोदयैः ।
अहतौ पश्य काकुत्स्थौ स्नेहादेतद्ब्रवीमि ते ॥ २८ ॥

अतः तुम इन सुखसूचक चिन्हों के द्वारा इन दोनों के जीवित होने का विश्वास करो। मैं स्नेहवश तुमसे यह कह रही हूँ॥ २८ ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।
चारित्रसुखशीलत्वात्प्रविष्टासि मनो मम ॥ २९ ॥

---

* पाठान्तरे—" तरस्विनी । "

हे सीते! मैंने न कभी तुमसे झूठ कहा और न कहूँगी। क्योंकि तुमने अपने शुभाचरणों के प्रभाव से मेरे मन में अपने लिये स्थान बना लिया है ॥ २९ ॥

नेमौ शक्यौ रणे जेतुं सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।
तादृशं दर्शनं दृष्ट्वा मया चावेदितं तव ॥ ३० ॥

इन दोनों को युद्ध में इन्द्रादि देवता तथा असुर भी नहीं हरा सकते। मैंने भली भाँति सोच विचार तथा इनको देख कर, तुमसे ऐसा कहा है ॥ ३० ॥

इदं च सुमहच्चिह्नं [1]शनैः पश्यस्व मैथिलि।
निःसंज्ञावप्युभावेतौ नैव लक्ष्मीर्वियुज्यते ॥ ३१ ॥

हे सीते! सावधानतापूर्वक ज़रा इस चमत्कार को तो देख। यद्यपि ये दोनों बाणों की चोट से मूर्छित हो पड़े हुए हैं, तथापि इनके मुखमण्डल की कान्ति ज्यों की त्यों बनी हुई है ॥ ३१ ॥

प्रायेण गतसत्त्वानां पुरुषाणां गतायुषाम्।
दृश्यमानेषु वक्त्रेषु परं भवति वैकृतम् ॥ ३२ ॥

बहुधा शक्तिरहित अथवा प्राणरहित और गतायु पुरुषों के मुखमण्डल पर मुर्दनी सी छा जाया करती है ॥ ३२ ॥

त्यज शोकं च मोहं च दुःखं च जनकात्मजे।
रामलक्ष्मणयोरर्थे नाद्य शक्यमजीवितुम् ॥ ३३ ॥

हे जनकनन्दिनी! तुम शोक को, इस अपनी उल्टी समझ को, और मनोव्यथा को त्याग दो। क्योंकि ये दोनों वीर श्रीराम और लक्ष्मण जीवित हैं, ये मर नहीं सकते ॥ ३३ ॥

---

१ शनैः—सावधानेन। (गो०)

श्रुत्वा तु वचनं तस्याः सीता सुरसुतोपमा ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमेवमस्त्विति मैथिली ॥ ३४ ॥

देवकन्या के समान सीता त्रिजटा की इन बातों को सुन, हाथ जोड़ कर बोली ; हे त्रिजटे ! तुम्हारा वचन सत्य हो ॥ ३४ ॥

विमानं पुष्पकं तत्तु सन्निवर्त्य मनोजवम् ।
दीना त्रिजटया सीता लङ्कामेव प्रवेशिता ॥ ३५ ॥

तदनन्तर त्रिजटा मन के समान तेज चलने वाले पुष्पकविमान को लौटा कर, दुखियारी सीता को लङ्का में ले गयी ॥ ३५ ॥

ततस्त्रिजटया सार्धं पुष्पकादवरुह्य सा ।
अशोकवनिकामेव राक्षसीभिः प्रवेशिता ॥ ३६ ॥

त्रिजटा के साथ विमान से उतर सीता राक्षसियों सहित अशोकवाटिका में आयी ॥ ३६ ॥

प्रविश्य सीता बहुवृक्षषण्डां
तां राक्षसेन्द्रस्य विहारभूमिम् ।
सम्प्रेक्ष्य सञ्चिन्त्य च राजपुत्रौ
परं विषादं समुपाजगाम ॥ ३७ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

सीता ने नाना वृक्षों से युक्त राक्षसराज की उस विहारस्थली में प्रवेश किया और श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण का चिन्तवन कर वह बहुत दुःखी हुई ॥ ३७ ॥

युद्धकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—※—

घोरेण शरबन्धेन बद्धौ दशरथात्मजौ ।
निःश्वसन्तौ यथा नागौ शयानौ रुधिरोक्षितौ ॥ १ ॥

घोर बाणबन्धन में बँधे हुए और सर्प की तरह फुफकारते हुए, दोनों दशरथकुमार रुधिर से तरबतर पड़े हुए थे ॥ १ ॥

सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः ससुग्रीवा महाबलाः ।
परिवार्य महात्मानौ तस्थुः शोकपरिप्लुताः ॥ २ ॥

महाबली सुग्रीव प्रमुख समस्त वानरश्रेष्ठ उन दोनों वीरों को चारों ओर से घेर कर उनकी रक्षा कर रहे थे और शोक में डूबे हुए थे ॥ २ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रामः प्रत्यबुध्यत वीर्यवान् ।
स्थिरत्वात्सत्त्वयोगाच्च शरैः सन्दानितोऽपि सन् ॥ ३ ॥

इतने में वीर्यवान् तथा पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी नागपाश से जकड़े हुए होने पर भी, सचेत हुए। मानों सो कर जागे हों ॥ ३ ॥

ततो दृष्ट्वा सरुधिरं विषण्णं गाढमर्पितम् ।
भ्रातरं दीनवदनं पर्यदेवयदातुरः ॥ ४ ॥

(और उठते ही) रुधिर से तर, दीनवदन और अति विषण्ण भाई लक्ष्मण को देख, वे आतुर हो, रोने लगे ॥ ४ ॥

किंनु मे सीतया कार्यं किं कार्यं जीवितेन वा ।
शयानं योऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम् ॥ ५ ॥

जब मैं अपने भाई को युद्ध में पराजित हो अचेत पड़ा देख रहा हूँ. तब मैं सीता को ले कर ही और स्वयं जीवित रह कर ही क्या करूँगा ॥ ५ ॥

शक्या सीतासमा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता ।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः [1]साम्परायिकः ॥ ६ ॥

इस संसार में खोजने पर सीता के समान स्त्री भले ही मिल जाय, किन्तु लक्ष्मण के समान भाई, सहायक और चतुर योद्धा नहीं मिल सकता ॥ ६ ॥

परित्यक्ष्याम्यहं *प्राणान्वानराणां तु पश्यताम् ।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ७ ॥

यदि कहीं सुमित्रानन्दन मर गये, तो मैं इन वानरों के सामने ही अपनी जान दे दूँगा ॥ ७ ॥

किंनु वक्ष्यामि कौसल्यां मातरं किंनु कैकयीम् ।
कथमम्बां सुमित्रां च पुत्रदर्शनलालसाम् ॥ ८ ॥

क्योंकि अयोध्या में जाकर पुत्रदर्शनाभिलाषिणी माता सुमित्रा से और अपनी माता कौशल्या तथा कैकेयी से मैं क्या कहूँगा ॥ ८ ॥

विवत्सां वेपमानां च क्रोशन्तीं कुररीमिव ।
कथमाश्वासयिष्यामि यदि यास्यामि तं विना ॥ ९ ॥

यदि मैं लक्ष्मणरहित अयोध्या जाऊँ, तो विना बछड़े की गौ की तरह काँपती और कुररी की तरह विलाप करती हुई सुमित्रा माता को मैं क्या कह कर धीरज बँधाऊँगा ॥ ९ ॥

---

१ साम्परायिकः—युद्धे साधुः । (गो०) * पाठान्तरे—"प्राणं ।"

कथं वक्ष्यामि शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम् ।
मया सह वनं यातो विना तेन गतः पुनः ॥ १० ॥

लक्ष्मण को साथ ले मैं वन में आया और उनके विना अब अयोध्या में जा कर, मैं यशस्वी भरत और शत्रुघ्न से क्या कहूँगा ॥ १० ॥

उपालम्भं न शक्ष्यामि सोढुं वत सुमित्रया ।
इहैव देहं त्यक्ष्यामि न हि जीवितुमुत्सहे ॥ ११ ॥

माता सुमित्रा का उलहना मुझसे सह्य न होगा । अतएव यहीं पर शरीर त्यागना ठीक है—मैं अब जीवित नहीं रहना चाहता ॥ ११ ॥

धिङ् मां दुष्कृतकर्माणमनार्यं यत्कृते ह्यसौ ।
लक्ष्मणः पतितः शेते शरतल्पे गतासुवत् ॥ १२ ॥

मुझ पापी अनार्य को धिक्कार है, जिसके लिये लक्ष्मण, मृतक समान शरशय्या पर पड़े सो रहे हैं ॥ १२ ॥

त्वं नित्यं स विषण्णं मामाश्वासयसि लक्ष्मण ।
गतासुर्नाद्य शक्नोषि मामार्तमभिभाषितुम् ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! जब मैं घबड़ाता था, तब तुम मुझे धीरज बँधाते थे । पर अब जब मैं अत्यन्त दुःखी हो रहा हूँ, तब तुम निर्जीव के समान होने के कारण मुझसे बातचीत नहीं कर सकते ॥ १३ ॥

येनाद्य निहता युद्धे राक्षसा विनिपातिताः ।
तस्यामेव क्षितौ वीरः स शेते निहतः परैः ॥ १४ ॥

हे वीर ! तुमने जिस संग्रामभूमि पर बहुत से राक्षस मार कर सुला दिये थे, इसी भूमि पर तुम शत्रु द्वारा बाणों से घायल हो स्वयं पड़े सो रहे हो ॥ १४ ॥

शयानः शरतल्पेऽस्मिन्स्वशोणितपरिप्लुतः ।
शरजालैश्चितो भाति भास्करोऽस्तमिव व्रजन् ॥ १५ ॥

इस बाणशय्या पर पड़े हुए और अपने रक्त से तर तुम्हारे शरीर में बाण ही बाण देख पड़ते हैं। इस समय तुम अस्ताचलगामी सूर्य की तरह जान पड़ते हो ॥ १५ ॥

बाणाभिहतमर्मत्वान्न शक्नोत्यभिभाषितुम् ।
रुजा चाब्रुवतोऽप्यस्य दृष्टिरागेण सूच्यते ॥ १६ ॥

तुम्हारे मर्मस्थल बाणों से विधे हुए हैं, इसीसे तुम बोल नहीं सकते ; पर तुम्हारे नेत्रों की लालिमा देखने से जान पड़ता है कि, तुम अत्यन्त पीड़ित हो रहे हो ॥ १६ ॥

यथैव मां वनं यान्तमनुयातो महाद्युतिः ।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम् ॥ १७ ॥

हे महाद्युति ! जिस प्रकार वन में आने के समय तुम मेरे पीछे पीछे आये थे ; उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे यमालय को चलूँगा ॥ १७ ॥

इष्टबन्धुजनो नित्यं मां च नित्यमनुव्रतः ।
इमामद्य गतोऽवस्थां ममानार्यस्य दुर्नयैः ॥ १८ ॥

यद्यपि इनको सभी भाइयों से प्रेम है ; तथापि यह सदा मेरे ही साथ रहते थे। सो मुझ दुष्ट की दुर्नीति के कारण ही आज यह इस दशा को प्राप्त हुए हैं ॥ १८ ॥

सुरुष्टेनापि वीरेण लक्ष्मणेन न संस्मरे ।
परुषं विप्रियं वाऽपि श्रावितं न कदाचन ॥ १९ ॥

मुझे स्मरण नहीं आता कि, शूरवीर लक्ष्मण ने क्रुद्ध होने पर भी कभी मुझसे कठोर या अप्रिय वचन कहे हों ॥ १६ ॥

विससर्जैकवेगेन पञ्चबाणशतानि यः ।
इष्वस्त्रेष्वधिकस्तस्मात्कार्तवीर्याच्च लक्ष्मणः ॥ २० ॥

ये लक्ष्मण पाँच पाँच सौ बाण एक बार छोड़ते थे; अतः बाण चलाने की क्रिया में ये कार्तवीर्यार्जुन से भी बढ़ कर निपुण थे ॥२०॥

अस्त्रैरस्त्राणि यो हन्याच्छक्रस्यापि महात्मनः ।
सोऽयमुर्व्यां हतः शेते महार्हशयनोचितः ॥ २१ ॥

इन्द्र के चलाये अस्त्रों को अपने अस्त्रों से नष्ट करने की जिन महाबली में शक्ति थी और जो बड़ी बढ़िया सेजों पर सोने योग्य थे, सो आज भूमि पर मरे हुए पड़े हैं ॥ २१ ॥

तच्च मिथ्या प्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः ।
यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः ॥ २२ ॥

देखो राक्षसों का राज्य मैंने विभीषण को देने के लिये कहा था किन्तु मैं उसे दे नहीं पाया । सो यह मिथ्याभाषण ही मुझे निस्सन्देह भस्म कर डालेगा ॥ २२ ॥

अस्मिन्मुहूर्ते सुग्रीव प्रतियातुमितोऽर्हसि ।
मत्वा हीनं मया राजन्रावणोऽभिद्रवेद्बली ॥ २३ ॥

हे सुग्रीव ! अब तुम यहाँ से इसी समय किष्किन्धा को लौट जाओ । क्योंकि मैं अब बलहीन हो गया हूँ । अतएव रावण तुमको असहाय पा कर, तुम्हारा तिरस्कार करेगा ॥ २३ ॥

अङ्गदं तु पुरस्कृत्य ससैन्यः ससुहृज्जनः ।
सागरं तर सुग्रीव नीलेन च नलेन च ॥ २४ ॥

अब तुम अङ्गद को आगे कर, नल और नील सहित सारी सेना को साथ ले समुद्र के पार चले जाओ ॥ २४ ॥

कृतं हनुमता कार्यं यदन्यैर्दुष्करं रणे ।
ऋक्षराजेन तुष्यामि गोलाङ्गूलाधिपेन च ॥ २५ ॥

हनुमान ने युद्ध में जैसी वहादुरी दिखाई है, वह दूसरों के लिये दुष्कर है। मैं जाम्बवान् और ऋषभ के कार्यों से भी सन्तुष्ट हूँ ॥ २५ ॥

अङ्गदेन कृतं कर्म मैन्देन द्विविदेन च ।
युद्धं केसरिणा संख्ये घोरं सम्पातिना कृतम् ॥ २६ ॥

अङ्गद, मैन्द, द्विविद, केसरी तथा सम्पाति ने भी युद्ध में वड़ी वहादुरी दिखलाई है ॥ २६ ॥

गवयेन गवाक्षेण शरभेण गजेन च ।
अन्यैश्च हरिभिर्युद्धं मदर्थे त्यक्तजीवितैः ॥ २७ ॥

गवय, गवाक्ष, शरभ, गज तथा अन्य वानरों ने भी अपनी अपनी जानों को हथेली पर रख, मेरे लिये युद्ध में बड़े बड़े वहादुरी के कार्य किये हैं ॥ २७ ॥

न चातिक्रमितुं शक्यं दैवं सुग्रीव मानुषैः ।
यत्तु शक्यं वयस्येन सुहृदा च परन्तप ॥ २८ ॥

हे सुग्रीव ! मनुष्य में यह शक्ति नहीं कि, वह भाग्य की रेख पर मेख मार दे। तो भी मित्र को मित्र के लिये और सुहृद को सुहृद के लिये जो करना चाहिये ॥ २८ ॥

कृतं सुग्रीव तत्सर्वं भवता धर्मभीरुणा ।
मित्रकार्यं कृतमिदं भवद्भिर्वानरर्पभाः ॥ २९ ॥

हे कपिश्रेष्ठ सुग्रीव ! अधर्म से डरने वाले आपने सब मित्रोचित कार्य मेरे लिये किया ॥ २६ ॥

अनुज्ञाता मया सर्वे यथेष्टं गन्तुमर्हथ ।
सुश्रुवुस्तस्य ते सर्वे वानराः परिदेवनम् ॥३०॥
वर्तयाश्चक्रुरश्रूणि नेत्रैः [1]कृष्णेतरेक्षणाः ।
ततः सर्वाण्यनीकानि स्थापयित्वा विभीषणः ॥३१॥

अब मैं सब को विदा करता हूँ, अब जिसकी जहाँ जाने की इच्छा हो चला जाय। श्रीरामचन्द्र जी का इस प्रकार विलाप सुन, वानर रो पड़े। उनके नेत्र रोते रोते लाल हो गये। इतने में विभीषण सब सेना को यथास्थान स्थापित कर ॥ ३० ॥ ३१ ॥

आजगाम गदापाणिस्त्वरितो यत्र राघवः ।
तं दृष्ट्वा त्वरितं यान्तं नीलाञ्जनचयोपमम् ।
वानरा दुद्रुवुः सर्वे मन्यमानास्तु रावणिम् ॥३२॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

और हाथ में गदा लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी के पास आ पहुँचे। काजल की तरह काले रंग के विभीषण को त्वरापूर्वक आते देख और उनको मेघनाद समझ सब वानर भागने लगे ॥ ३२ ॥

युद्धकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

---

1 कृष्णेतरेक्षणाः—रक्तेक्षणा इत्यर्थः। (गो०)

पञ्चाशः सर्गः

—※—

अथोवाच महातेजा हरिराजो महाबलः ।
किमियं व्यथिता सेना मूढवातेव नौर्जले ॥ १ ॥

महातेजस्वी एवं महाबली कपिराज सुग्रीव जी बोले कि, यह सेना क्यों उसी तरह डाँवाडोल हो रही है, जैसे प्रचण्ड पवन के लगने से जल में नाव डगमगाने लगती है ॥ १ ॥

सुग्रीवस्य वचः श्रुत्वा वालिपुत्रोऽङ्गदोऽब्रवीत् ।
न त्वं पश्यसि रामं च लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥

शरजालाचितौ वीरावुभौ दशरथात्मजौ ।
शरतल्पे महात्मानौ शयानौ रुधिरोक्षितौ ॥ ३ ॥

सुग्रीव के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वालिपुत्र अङ्गद ने कहा—क्या आप नहीं देखते कि, ये दोनों बलवान दशरथनन्दन वीर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण बाणों से विधे हुए और लोहू में सने शरशय्या पर पड़े हुए हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

अथाब्रवीद्वानरेन्द्रः सुग्रीवः पुत्रमङ्गदम् ।
नानिमित्तमिदं मन्ये भवितव्यं भयेन तु ॥ ४ ॥

इस पर वानरराज सुग्रीव ने अपने पुत्र अङ्गद से कहा—इनके भयभीत होने का केवल यही एक कारण नहीं है, किन्तु मेरी समझ में कुछ और भी है ॥ ४ ॥

विषण्णवदना ह्येते त्यक्तप्रहरणा दिशः ।
प्रपलायन्ति हरयस्त्रासादुत्फुल्ललोचनाः ॥ ५ ॥

देखो, इन वानरों के चेहरों पर उदासी छायी हुई है, ये वृत्त और शिला रूपी अपने आयुधों को पटक पटक कर भाग रहे हैं। डर के मारे इनके नेत्र चञ्चल हो रहे हैं ॥ ५ ॥

अन्योन्यस्य न लज्जन्ते न निरीक्षन्ति पृष्ठतः ।
विप्रकर्षन्ति चान्योन्यं पतितं लङ्घयन्ति च ॥ ६ ॥

भागते समय न तो एक दूसरे से लजाते हैं और न मुड़ कर पीछे की ओर ही देखते हैं। ये एक दूसरे को घसीटते हुए भाग रहे हैं और जो बीच में गिर पड़ता है, उसकी कुछ भी परवाह न कर उसे लांघ कर भागते चले जाते हैं ॥ ६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो गदापाणिर्विभीषणः ।
सुग्रीवं वर्धयामास राघवं च *जयाशिषा ॥ ७ ॥

इतने में हाथ में गदा लिये हुए वीरवर विभीषण आ पहुँचे। उन्होंने सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र को "जय हो" "जय हो" कह कर, आशीर्वाद दिया ॥ ७ ॥

विभीषणं तं सुग्रीवो दृष्ट्वा वानरभीषणम् ।
ऋक्षराजं समीपस्थं जाम्बवन्तमुवाच ह ॥ ८ ॥

वानरों के भय का कारण विभीषण को जान, सुग्रीव ने समीप बैठे हुए रीछों के राजा जाम्बवान से कहा ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—" निरैक्षत ।"

विभीषणोऽयं सम्प्राप्तो यं दृष्ट्वा वानरर्षभाः ।
विद्रवन्ति परित्रस्ता रावणात्मजशङ्कया ॥ ९ ॥

देखो, यह विभीषण आये हैं, जिनको समस्त वानरश्रेष्ठ, मेघनाद समझ और भयभीत हो भाग रहे हैं ॥ ९ ॥

शीघ्रमेतान्सुसन्त्रस्तान्बहुधा विप्रधावितान् ।
पर्यवस्थापयाख्याहि विभीषणमुपस्थितम् ॥ १० ॥

सो तुम शीघ्र जाओ और उन त्रस्त और भागते हुए वानरों को यह समझा कर कि, यह मेघनाद नहीं है, विभीषण हैं, रोको ॥१०॥

सुग्रीवेणैवमुक्तस्तु जाम्बवानृक्षपार्थिवः ।
वानरान्सान्त्वयामास सन्निरुध्य प्रधावतः ॥ ११ ॥

जब सुग्रीव ने यह कहा, तब रीछों के राजा जाम्बवान ने वानरों को समझा कर, उन भागते हुए वानरों को, भागने से रोका ॥ ११ ॥

ते निवृत्ताः पुनः सर्वे वानरास्त्यक्तसम्भ्रमाः ।
ऋक्षराजवचः श्रुत्वा तं च दृष्ट्वा विभीषणम् ॥ १२ ॥

जाम्बवान की बातें सुन और विभीषण को देख, समस्त वानरों का भ्रम दूर हो गया और वे लौट आये ॥ १२ ॥

विभीषणस्तु रामस्य दृष्ट्वा गात्रं शरैश्चितम् ।
लक्ष्मणस्य च धर्मात्मा बभूव व्यथितेन्द्रियः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी के शरीरों को बाणों से बिधा हुआ देख, धर्मात्मा विभीषण बहुत विकल हुए ॥ १३ ॥

जलक्लिन्नेन हस्तेन तयोर्नेत्रे प्रमृज्य च ।
शोकसम्पीडितमना रुरोद विललाप च ॥ १४ ॥

हाथ में जल ले उन दोनों वीर राजकुमारों की आँखें धो कर, विभीषण शोकाकुल हो रोने लगे और विलाप करने लगे ॥ १४ ॥

इमौ तौ सत्त्वसम्पन्नौ विक्रान्तौ प्रियसंयुगौ ।
इमामवस्थां गमितौ राक्षसैः कूटयोधिभिः ॥ १५ ॥

वे विलाप कर कहने लगे—देखो, इन बलवान, पराक्रमी और युद्धप्रिय दोनों भाइयों को, कपटयुद्ध करने वाले राक्षसों ने यह क्या गति बना डाली है ॥ १५ ॥

भ्रातुः पुत्रेण मे तेन दुष्पुत्रेण दुरात्मना ।
राक्षस्या जिह्मया बुद्ध्या वञ्चितावृजुविक्रमौ ॥ १६ ॥

मेरे भाई के दुष्ट कुपुत्र ने, राक्षसी कपटबुद्धि से, इन सीधेसादे पराक्रमी लोगों को धोखा दिया है ॥ १६ ॥

शरैरिमावलं विद्धौ रुधिरेण समुक्षितौ ।
वसुधायामिमौ सुप्तौ दृश्येते [1]शल्यकाविवौ ॥ १७ ॥

देखो, ये दोनों भाई बाणों से विधे और लोहू में भींगे हुए, दो सेही जानवरों की तरह दिखलाई पड़ रहे हैं ॥ १७ ॥

ययोर्वीर्यमुपाश्रित्य प्रतिष्ठा काङ्क्षिता मया ।
तावुभौ देहनाशाय प्रसुप्तौ पुरुषर्षभौ ॥ १८ ॥

हा! जिनके बलबूते पर मैंने अपनी मानप्रतिष्ठा प्राप्त करने की आशा की थी, वे दोनों पुरुषश्रेष्ठ अपने शरीर का नाश करने के लिये पृथिवी पर पड़े सो रहे हैं ॥ १८ ॥

---

१ शल्यकौ—कण्टकिवराहौ । (गो०)

जीवन्नद्य विपन्नोऽस्मि नष्टराज्यमनोरथः ।
प्राप्तप्रतिज्ञश्च रिपुः सकामो रावणः कृतः ॥ १९ ॥

आज मैं जीता हुआ मर गया । मन में राज्य प्राप्त करने की जो आशा लगी हुई थी, वह भी नष्ट हो गयी । अब तो वैरी रावण ही की प्रतिज्ञा पूरी हुई और उसका मनोरथ ही सफल हुआ ॥ १९ ॥

एवं विलपमानं तं परिष्वज्य विभीषणम् ।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नो हरिराजोऽब्रवीदिदम् ॥ २० ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए विभीषण को गले लगा, बलवान सुग्रीव ने यह कहा ॥ २० ॥

राज्यं प्राप्स्यसि धर्मज्ञ लङ्कायां नात्र संशयः ।
रावणः सह पुत्रेण सकामं नेह लप्स्यते ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञ ! तुमको लङ्का का राज्य निश्चय ही मिलेगा और रावण तथा उसके पुत्र इन्द्रजीत का मनोरथ कभी पूरा न होगा ॥ २१ ॥

न रुजा पीडितावेतावुभौ राघवलक्ष्मणौ ।
त्यक्त्वा मोहं वधिष्येते सगणं रावणं रणे ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण इन दोनों को यह चोट विशेष हानिकारक न होगी । दोनों मूर्छा से जाग कर, सपरिवार रावण को मारेंगे ॥ २२ ॥

तमेनं सान्त्वयित्वा तु समाश्वास्य च राक्षसम् ।
सुषेणं श्वशुरं पार्श्वे सुग्रीवस्तमुवाच ह ॥ २३ ॥

कपिराज सुग्रीव इस प्रकार विभीषण को समझा, पास खड़े हुए अपने ससुर सुषेण नामक वानर से बोले—॥ २३ ॥

सह शूरैर्हरिगणैर्लब्धसंज्ञावरिन्दमौ ।
गच्छ त्वं भ्रातरौ गृह्य किष्किन्धां रामलक्ष्मणौ ॥२४॥

जब ये दोनों भाई अर्थात् श्रीराम और लक्ष्मण सचेत हो जाँय, तब तुम शूर वानरों सहित इनको अपने साथ ले, किष्किन्धा को चले जाओ ॥ २४ ॥

अहं तु रावणं हत्वा सपुत्रं सहबान्धवम् ।
मैथिलीमानयिष्यामि शक्रो नष्टामिव श्रियम् ॥ २५ ॥

रहा मैं, सो मैं तो पुत्रों तथा भाई बंदों सहित रावण को मार कर, सीता को उसी प्रकार छुड़ा कर और ले कर आऊँगा, जिस प्रकार इन्द्र नष्टहुई राज लक्ष्मी को लाये थे ॥ २५ ॥

श्रुत्वैतद्वानरेन्द्रस्य सुषेणो वाक्यमब्रवीत् ।
दैवासुरं महद्युद्धमनुभूतं[1] सुदारुणम् ॥ २६ ॥

कपिराज सुग्रीव के इन वचनों को सुन, सुषेण बोले—देवताओं और असुरों का जो बड़ा घोर संग्राम हुआ था, उसका मुझको हाल मालूम है ॥ २६ ॥

तदा स्म दानवा देवाञ्शरसंस्पर्शकोविदाः ।
निजघ्नुः शस्त्रविदुषश्छादयन्तो मुहुर्मुहुः ॥ २७ ॥

उस युद्ध में भी बाण चलाने की विद्या में निपुण दैत्यगण छिपे छिपे, इसी तरह शस्त्रविद्या में कुशल देवताओं के बार बार बाणों से तोप देते थे ॥ २७ ॥

तानार्तान्नष्टसंज्ञांश्च परासूंश्च बृहस्पतिः ।
विद्याभिर्मन्त्रयुक्ताभिरोषधीभिश्चिकित्सति ॥ २८ ॥

---

१ अनुभूतं—मया ज्ञातं । (गो०)

जब देवता पीड़ित, मूर्छित और प्राणहीन हो जाते, तब वृहस्पति जी मंत्रों के प्रयोग से तथा श्रौषधियों के उपचार से उनको पुनः जीवित कर देते थे ॥ २८ ॥

तान्यौषधान्यानयितुं क्षीरोदं यान्तु सागरम् ।
जवेन वानराः शीघ्रं सम्पातिपनसादयः ॥ २९ ॥

उन जड़ी बूटियों के लाने के लिये सम्पाति, पनस आदि वानर शीघ्र ही क्षीरसमुद्र के तट पर जांय ॥ २९ ॥

हरयस्तु विजानन्ति पार्वतीस्ता महौषधीः ।
सञ्जीवकरणीं दिव्यां विशल्यां देवनिर्मिताम् ॥ ३० ॥

क्योंकि ये वानर उस पर्वतस्थित उन दोनों बूटियों को भली भांति जानते हैं। उनमें से एक तो दिव्य *सञ्जीवनी है और दूसरी देवताओं की बनाई हुई †विशल्या है ॥ ३० ॥

चन्द्रश्च नाम द्रोणश्च क्षीरोदे सागरोत्तमे ।
अमृतं यत्र मथितं तत्र ते परमौषधी ॥ ३१ ॥

जहाँ श्रेष्ठ क्षीरसागर मथा गया था, वहाँ चन्द्र और द्रोण नाम के दो पर्वत हैं। उन्हीं पर बड़े काम की ये दोनों बूटियाँ मिलती हैं ॥ ३१ ॥

ते तत्र निहिते देवैः पर्वते परमौषधी ।
अयं वायुसुतो राजन्हनुमांस्तत्र गच्छतु ॥ ३२ ॥

ये दोनों बूटियाँ उन्हीं दोनों पर्वतों में देवताओं द्वारा छिपायी गयी हैं। हे राजन्! उनको लाने के लिये हनुमान वहाँ जांय ॥३२॥

---

* सञ्जीवनी से मृतप्राय रोगी जीवित होते हैं और † विशल्या के प्रयोग से घाव की पीड़ा दूर होती है और घाव भी पुर जाता है।

एतस्मिन्नन्तरे वायुर्मेघाश्चापि सविद्युतः ।
पर्यस्यन्सागरे तोयं कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ३३ ॥

इसी बीच में प्रचण्ड पवन चलने लगा, बादलों में बिजली कड़कने लगी, समुद्र का जल हिलोरने लगा और ज़मीन काँपने लगी ॥ ३३ ॥

महता पक्षवातेन सर्वद्वीपमहाद्रुमाः ।
निपेतुर्भग्नविटपाः समूला लवणाम्भसि ॥ ३४ ॥

बड़े बड़े पंखों के हिलने से उत्पन्न वायु से सब टापुओं के बड़े बड़े पेड़, पत्तों और शाखाओं से रहित हो उखड़ उखड़ कर समुद्र में जा गिरे ॥ ३४ ॥

अभवन्पन्नगास्त्रस्ता [1]भोगिनस्तत्रवासिनः ।
शीघ्रं सर्वाणि [2]यादांसि जग्मुश्च लवणार्णवम् ॥ ३५ ॥

लङ्काद्वीप में रहने वाले समस्त बड़े बड़े सर्प और जलजन्तु मारे डर के शीघ्रतापूर्वक खारी समुद्र के जल में जा छिपे ॥ ३५ ॥

ततो मुहूर्ताद्गरुडं वैनतेयं महाबलम् ।
वानरा ददृशुः सर्वे ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ३६ ॥

इस उत्पात के एक मुहूर्त बाद जलते हुए अग्नि के समान प्रदीप्त विनतातनय गरुड़ को वानरों ने वहाँ देखा ॥ ३६ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य नागास्ते विप्रदुद्रुवुः ।
यैस्तौ सत्पुरुषौ बद्धौ शरभूतैर्महाबलौ ॥ ३७ ॥

---

१ भोगिनः—प्रशस्तकायाः । (गो०) २ यादांसि—जलजन्तवश्च । (गो०)

गरुड़ जी को आते देख, वे साँप भागे जिन्होंने बाण रूप से उन दोनों महाबली सत्पुरुषों को बाँध लिया था ॥ ३७ ॥

ततः सुपर्णः काकुत्स्थौ दृष्ट्वा प्रत्यभिनन्दितः ।
विममर्श च पाणिभ्यां मुखे चन्द्रसमप्रभे ॥ ३८ ॥

तदनन्तर गरुड़ जी ने उन दोनों राजकुमारों को देख और उनका अभिनन्दन कर, उनके अंगों को अपने हाथ से स्पर्श कर दोनों के चन्द्रतुल्य मुखों को सुहराया ॥ ३८ ॥

वैनतेयेन संस्पृष्टास्तयोः संरुरुहुर्व्रणाः ।
सुवर्णे च तनू स्निग्धे तयोराशु बभूवतुः ॥ ३९ ॥

गरुड़ जी के छूते ही दोनों के घाव भर गये । उन दोनों वीरों के शरीर पहिले के समान सुन्दर रंग वाले और चिकने हो गये ॥ ३९ ॥

तेजो वीर्यं बलं चौज उत्साहश्च महागुणः ।
प्रदर्शनं च बुद्धिश्च स्मृतिश्च द्विगुणं तयोः ॥ ४० ॥

उन दोनों का तेज, पराक्रम, बल, कान्ति, उत्साह, सूक्ष्मार्थ परिज्ञान, विवेक, स्मृतिशक्ति आदि गरुड जी के करस्पर्श से पूर्व की अपेक्षा अब दुगुने अर्थात् बहुत अधिक हो गये ॥ ४० ॥

तावुत्थाप्य महावीर्यौ गरुडो वासवोपमौ ।
उभौ तौ सस्वजे हृष्टो रामश्चैनमुवाच ह ॥ ४१ ॥

इन्द्र के समान महाबलवान दोनों भाइयों को उठा कर और परम प्रसन्न हो कर, गरुड़ जी ने अपने गले लगाया । तब श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा ॥ ४१ ॥

भवत्प्रसादाद्व्यसनं रावणिप्रभवं महत् ।
आवामिह व्यतिक्रान्तौ पूर्ववद्बलिनौ कृतौ ॥ ४२ ॥

आपके अनुग्रह से हम इन्द्रजीत की उत्पन्न की हुई घोर विपत्ति से छूट गये और आपके किये प्रयत्न से हमारे शरीरों में पहिले जैसा बल पराक्रम आ गया है ॥ ४२ ॥

यथा तातं दशरथं यथाऽजं च पितामहम् ।
तथा भवन्तमासाद्य हृदयं मे प्रसीदति ॥ ४३ ॥

इस समय आपको देख मुझे वैसी ही प्रसन्नता हो रही है, जैसी कि, पितामह महाराज अज और पिता महाराज दशरथ के मिलने से प्राप्त होती ॥ ४३ ॥

को भवान्रूपसम्पन्नो दिव्यस्रगनुलेपनः ।
वसानो विरजे वस्त्रे दिव्याभरणभूषितः ॥ ४४ ॥

आप रूपवान हैं, दिव्य-पुष्प-माला पहिने हुए तथा सुगन्धित चन्दनादि लगाये हुए हैं। आप निर्मल वस्त्र धारण किये हुए हैं और अच्छे अच्छे आभूषणों से भूषित हैं। यह तो बतलाइये, आप हैं कौन ? ॥ ४४ ॥

तामुवाच महातेजा वैनतेयो महाबलः ।
पतत्रिराजः प्रीतात्मा हर्षपर्याकुलेक्षणः ॥ ४५ ॥

इस पर महातेजस्वी और महाबलवान विनतानन्दन पक्षिराज गरुड़ जी आनन्द से उत्फुल्लनयन हो प्रसन्नतापूर्वक बोले ॥ ४५ ॥

अहं सखा ते काकुत्स्थ प्रियः प्राणो बहिश्चरः ।
गरुत्मानिह सम्प्राप्तो युवाभ्यां साह्यकारणात् ॥ ४६ ॥

हे काकुत्स्थ ! मैं बाहिर घूमने वाला, तुम्हारा प्राणों के समान प्यारा मित्र हूँ। मेरा नाम गरुड़ है और मैं आपकी सहायता करने को यहाँ आया हूँ ॥ ४६ ॥

असुरा वा महावीर्या दानवा वा महाबलाः ।
सुराश्चापि सगन्धर्वाः पुरस्कृत्य शतक्रतुम् ॥ ४७ ॥
नेमं मोक्षयितुं शक्ताः शरबन्धं सुदारुणम् ।
मायाबलादिन्द्रजिता निर्मितं क्रूरकर्मणा ॥ ४८ ॥

बड़े बड़े पराक्रमी असुर अथवा महाबली इन्द्र को आगे कर, गन्धर्वों सहित देवता भी यदि चाहते कि, तुमको इस अत्यन्त कठिन बाणबंधन से छुड़ा लें, तो वे भी नहीं छुड़ा सकते थे। क्योंकि क्रूरकर्मा इन्द्रजीत ने ये बन्धन माया के बल से बनाये हैं ॥४७॥४८॥

एते नागाः काद्रवेयास्तीक्ष्णदंष्ट्रा विषोल्बणाः ।
रक्षोमायाप्रभावेन शरा भूत्वा त्वदाश्रिताः ॥ ४९ ॥

हे रघुनन्दन ! ये नाग कद्रू के पुत्र हैं, इनके बड़े पैने दाँत हैं और ये बड़े ही विषैले हैं। परन्तु मेघनाद की माया के प्रभाव से ये सर्प, बाण रूप हो कर, आपको आ आ कर काटते थे ॥ ४९ ॥

सभाग्यश्चासि धर्मज्ञ राम सत्यपराक्रम ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा समरे रिपुघातिना ॥ ५० ॥

हे सत्यपराक्रम धर्मज्ञ राम ! तुम समर में शत्रुओं को मारने वाले अपने भाई लक्ष्मण सहित, बड़े भाग्यवान हो ॥ ५० ॥

इमं श्रुत्वा तु वृत्तान्तं त्वरमाणोऽहमागतः ।
सहसा युवयोः स्नेहात्सखित्वमनुपालयन् ॥ ५१ ॥

मैं इस वृत्तान्त को सुनते ही, आप दोनों के प्रति स्नेह होने के कारण, मित्रधर्म का पालन करने को, दौड़ा हुआ, यहाँ आया हूँ (अर्थात् आप दोनों इस लिये भाग्यवान् हैं जो मुझे आपकी इस विपत्ति की सूचना शीघ्र मिल गयी) ॥ ५१ ॥

मोक्षितौ च महाघोरादस्मात्सायकवन्धनात् ।
अप्रमादश्च कर्तव्यो युवाभ्यां नित्यमेव हि ॥ ५२ ॥

इस महादारुण बाणबंधन से मैंने आपको मुक्त कर दिया, अब आप लोगों को प्रमाद छोड़ कर, बड़ी सावधानी से युद्ध सम्बन्धी कार्य सदा करने चाहिये ॥ ५२ ॥

प्रकृत्या राक्षसाः सर्वे संग्रामे कूटयोधिनः ।
शूराणां शुद्धभावानां भवतामार्जवं वलम् ॥ ५३ ॥

क्योंकि राक्षस लोग स्वभाव ही से संग्राम करने में बड़े धोखेबाज़ होते हैं और शूरवीर होने के कारण आप लोग शुद्धभाव ही को श्रेष्ठबल समझते हैं ॥ ५३ ॥

तन्न विश्वसितव्यं वो राक्षसानां रणाजिरे ।
एतेनैवोपमानेन नित्यं जिह्मा हि राक्षसाः ॥ ५४ ॥

अतः युद्ध में इन दुष्ट राक्षसों का आप विश्वास न करें और राक्षसों के कपटयुद्ध करने के विषय में, आप मेघनाद ही का उदाहरण ले लें ॥ ५४ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामं सुपर्णः सुमहाबलः ।
परिष्वज्य सुहृत्स्निग्धमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ ५५ ॥

महाबली गरुड़ जी, इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी से कह और उनसे बड़ी प्रीति के साथ मिल भेंट कर, मधुर वाणी से बोले ॥ ५५ ॥

सखे राघव धर्मज्ञ रिपूणामपि वत्सल ।
अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि गमिष्यामि यथागतम् ॥ ५६ ॥

हे धर्मज्ञ मित्र राघव! आप तो शत्रु पर भी दया दिखलाने वाले हैं। अब यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं जहाँ से आया हूँ, वहाँ लौट कर चला जाऊँ ॥ ५६ ॥

न च कौतूहलं कार्यं सखित्वं प्रति राघव ।
कृतकर्मा रणे वीर सखित्वमनुवेत्स्यसि ॥ ५७ ॥

हे राघव! इस मैत्री के बारे में आप कुछ भी विस्मय न करें। हे वीर! जब आप इस युद्ध से निश्चिन्त हो चुकेंगे, तब आपको इस मैत्री का ठीक ठीक वृत्तान्त मालूम हो जायगा ॥ ५७ ॥

बालवृद्धावशेषां तु लङ्कां कृत्वा शरोर्मिभिः ।
रावणं च रिपुं हत्वा सीतां समुपलप्स्यसे ॥ ५८ ॥

आप अपने बाणों की लहरों से इस लङ्का को ऐसा कर देंगे कि, बूढ़े और बालकों को छोड़ और कोई न रह जायगा और आप अपने वैरी रावण को मार कर सीता को भी पावेंगे ॥ ५८ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं सुपर्णः शीघ्रविक्रमः ।
रामं च विरुजं कृत्वा मध्ये तेषां वनौकसाम् ॥ ५९ ॥

यह कह कर और श्रीरामचन्द्र जी को आरोग्य कर बड़े फुर्तीले गरुड़ जी ने वानरों के बीच बैठे हुए ॥ ५९ ॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा परिष्वज्य च वीर्यवान् ।
जगामाकाशमाविश्य सुपर्णः पवनो यथा ॥ ६० ॥

उन महाबली श्रीरामचन्द्र जी को गले लगाया और उनकी परिक्रमा की। तदनन्तर गरुड़ जी आकाशमार्ग से उसी प्रकार तेज़ी से चले गये; जिस प्रकार पवन चलता है ॥ ६० ॥

*विरुजौ राघवौ दृष्ट्वा ततो वानरयूथपाः ।
सिंहनादांस्तदा नेदुर्लाङ्गूलान्दुधुवुस्तदा ॥ ६१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को नीरोग देख, वानरयूथपति पूँछें फटकार फटकार कर, सिंहनाद करने लगे ॥ ६१ ॥

ततो भेरीः समाजघ्नुर्मृदङ्गांश्चाप्यनादयन् ।
दध्मुः शङ्खान्संप्रहृष्टाः क्ष्वेलन्त्यपि यथापुरम् ॥ ६२ ॥

उन लोगों ने भेरी मृदङ्ग बजाये तथा अत्यन्त हर्षित हो शङ्ख-ध्वनि की तथा पहिले की तरह सिंहनाद किया ॥ ६२ ॥

आस्फोट्यास्फोट्य विक्रान्ता वानरा नगयोधिनः ।
द्रुमानुत्पाट्य विविधांस्तस्थुः शतसहस्रशः ॥ ६३ ॥

वृक्षों से लड़ने वाले सैकड़ों हज़ारों वीर वानर, उछल कूद मचाते, वृक्षों को उखाड़ और हाथों में ले, राक्षसों से लड़ने के लिये खड़े हो गये ॥ ६३ ॥

विसृजन्तो महानादांस्त्रासयन्तो निशाचरान् ।
लङ्काद्वाराण्युपाजग्मुर्योद्धुकामाः प्लवङ्गमाः ॥ ६४ ॥

वे वानर बड़े ज़ोर से गरजते और राक्षसों को भयभीत करते हुए, लड़ने के लिये लङ्का के द्वारों पर जा डटे ॥ ६४ ॥

---

* पाठान्तरे—"निरुजौ।"

ततस्तु भीमस्तुमुलो निनादो
बभूव शाखामृगयूथपानाम् ।
क्षये निदाघस्य यथा घनानां
नादः सुभीमो नदतां निशीथे ॥ ६५ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

ग्रीष्म के अन्त में अर्थात् वर्षा के आरम्भ में, जिस प्रकार बादलों की गर्जना हुआ करती है; उसी प्रकार आधीरात को वानरों की सेना के गर्जने का अत्यन्त भयङ्कर शब्द हुआ ॥ ६५ ॥

युद्धकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकपञ्चाशः सर्गः

—※—

तेषां सुतुमुलं शब्दं वानराणां तरस्विनाम् ।
नर्दतां राक्षसैः सार्धं तदा शुश्राव रावणः ॥ १ ॥

महापराक्रमी उन गर्जते हुए वानरों का तुमुल शब्द, राक्षसों सहित रावण ने सुना ॥ १ ॥

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषं श्रुत्वा स निनदं भृशम् ।
सचिवानां ततस्तेषां मध्ये वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

उस स्पष्ट और गम्भीर ध्वनि को बारंबार सुन, मंत्रियों के बीच बैठा हुआ रावण कहने लगा ॥ २ ॥

यथाऽसौ सम्प्रहृष्टानां वानराणां समुत्थितः ।
बहूनां सुमहानादो मेघानामिव गर्जताम् ॥ ३ ॥

यह तो बादलों की गर्जन की तरह बहुत से वानरों का हर्षनाद सा सुन पड़ता है ॥ ३ ॥

व्यक्तं सुमहती प्रीतिरेतेषां नात्र संशयः ।
तथा हि विपुलैर्नादैश्चुक्षुभे वरुणालयः ॥ ४ ॥

इसमें अब कुछ भी सन्देह नहीं कि, वहाँ कोई बड़ी भारी खुशी की बात हुई है। क्योंकि इनके गर्जन से समुद्र क्षुब्ध हो उठा है ॥४॥

तौ तु बद्धौ शरैस्तीक्ष्णैर्भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
अयं च सुमहान्नादः शङ्कां जनयतीव मे ॥ ५ ॥

वे दोनों भाई राम और लक्ष्मण तो पैने तीरों के बंधन से जकड़ दिये गये थे। सो अब इस महानाद को सुन, मेरे मन में शङ्का उत्पन्न हो गयी है ॥ ५ ॥

एतत्तु वचनं चोक्त्वा मन्त्रिणो राक्षसेश्वरः ।
उवाच नैर्ऋतांस्तत्र समीपपरिवर्तिनः ॥ ६ ॥

राक्षसेश्वर रावण मंत्रियों से इस प्रकार कह, पास बैठे हुए राक्षसों से बोला ॥ ६ ॥

ज्ञायतां तूर्णमेतेषां सर्वेषां वनचारिणाम् ।
शोककाले समुत्पन्ने हर्षकारणमुत्थितम् ॥ ७ ॥

तुम लोग जाओ और तुरन्त पता लगाओ कि, ऐसे शोक के समय में वानरों के इस प्रकार प्रसन्न होने का कारण क्या है ॥ ७ ॥

तथोक्तास्तेन संभ्रान्ताः प्राकारमधिरुह्य ते ।
ददृशुः पालितां सेनां सुग्रीवेण महात्मना ॥ ८ ॥

इस प्रकार रावण की आज्ञा पा वे घबड़ाये हुए राक्षस परकोटे की दीवाल पर चढ़ गये। वहाँ से उन्होंने सुग्रीव रक्षित वानरी सेना को देखा ॥ ८ ॥

तौ च मुक्तौ सुघोरेण शरबन्धेन राघवौ ।
समुत्थितौ महावेगौ विषेदुः प्रेक्ष्य राक्षसाः ॥ ९ ॥

और (देखा कि), वे महावेगवान दोनों रघुनन्दन उस अत्यन्त दारुण शरबन्धन से मुक्त हो कर उठ बैठे हैं । ये देख वे राक्षस दुःखी हुए ॥ ९ ॥

सन्त्रस्तहृदयाः सर्वे प्राकारादवरुह्य ते ।
विषण्णवदना घोरा राक्षसेन्द्रमुपस्थिताः ॥ १० ॥

और भयभीत हो परकोटे की दीवाल से नीचे उतर आये और अत्यन्त उदास हो रावण के पास गये ॥ १० ॥

तदप्रियं दीनमुखा रावणस्य निशाचराः ।
कृत्स्नं निवेदयामासुर्यथावद्वाक्यकोविदाः ॥ ११ ॥

उन वाक्यकोविद निशाचरों ने उदास हो कर, रावण को वहाँ का समस्त अप्रिय संवाद यथावत् सुनाया ॥ ११ ॥

यौ ताविन्द्रजिता युद्धे भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
निबद्धौ शरबन्धेन निष्प्रकम्पभुजौ कृतौ ॥ १२ ॥

उन्होंने कहा—महाराज ! जिन दोनों भाइयों को मेघनाद ने बाणबंधन से ऐसा जकड़ दिया था कि, वे दोनों अपनी भुजाओं को हिला डुला भी नहीं सकते थे ॥ १२ ॥

विमुक्तौ शरवन्धेन तौ दृश्येते रणाजिरे ।
पाशानिव गजौ छित्त्वा गजेन्द्रसमविक्रमौ ॥ १३ ॥

वे गजेन्द्र-सम-विक्रमी दोनों भाई समरभूमि में इस समय शर-वंधन से ऐसे मुक्त देख पड़ते हैं, जैसे जालवंधन को काटे हुए हाथी ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तेषां राक्षसेन्द्रो महावलः ।
चिन्ताशोकसमाक्रान्तो विषण्णवदनोऽब्रवीत् ॥ १४ ॥

महावली राक्षसराज उनके ये वचन सुन, अत्यन्त चिन्तित हो शोकान्वित हो गया और उसका चेहरा फीका पड़ गया। वह कहने लगा ॥ १४ ॥

घोरैर्दत्तवरैर्बद्धौ शरैराशीविषोपमैः ।
अमोघैः सूर्यसङ्काशैः प्रमथ्येन्द्रजिता युधि ॥ १५ ॥

देखो, मेघनाद ने जिन वाणों से वलपूर्वक युद्ध में उन दोनों को वांधा था, वे वाण विषधर सर्प की तरह भयङ्कर थे, वरदान से उसे वे प्राप्त हुए थे। वे वाण कभी निष्फल जाने वाले न थे और सूर्य की तरह चमचमाते थे ॥ १५ ॥

तदस्त्रवन्धमासाद्य यदि मुक्तौ रिपू मम ।
संशयस्थमिदं सर्वमनुपश्याम्यहं वलम् ॥ १६ ॥

यदि मेरे वे दोनों शत्रु उन शरवन्धनों में वंध कर भी मुक्त हो गये, तो मुझे अब अपनी समस्त राक्षसी सेना के जीवित रहने में सन्देह है ॥ १६ ॥

निष्फलाः खलु संवृत्ताः शरा पावकतेजसः ।
आदत्तं यैस्तु संग्रामे रिपूणां मम जीवितम् ॥ १७ ॥

बड़े अचंभे की बात है कि, जिन सब अस्त्रों ने रणक्षेत्र में बारंबार शत्रुओं का संहार किया था, आज वे ही अग्नि के समान तेजस्वी अस्त्र मेरे दुर्भाग्य से निष्फल हो गये और उन बाणों ने शत्रु को जीवनदान दे दिया ॥ १७ ॥

एवमुक्त्वा तु संक्रुद्धो निःश्वसन्नुरगो यथा ।
अब्रवीद्रक्षसां मध्ये धूम्राक्षं नाम राक्षसम् ॥ १८ ॥

यह कहता हुआ रावण बहुत क्रुद्ध हुआ और साँप की तरह फुसकारने लगा। फिर वह राक्षसों के बीच बैठा हुआ धूम्राक्ष नामक राक्षस से बोला ॥ १८ ॥

बलेन महता युक्तो रक्षसां भीमविक्रम ।
त्वं वधायाभिनिर्याहि रामस्य सह वानरैः ॥ १९ ॥

तुम भयङ्कर पराक्रमी राक्षसों की बड़ी सेना लेकर समस्त वानरों सहित राम को मार डालने के लिये शीघ्र जाओ ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु धूम्राक्षो राक्षसेन्द्रेण धीमता ।
कृत्वा प्रणामं संहृष्टो निर्जगाम नृपालयात् ॥ २० ॥

जब बुद्धिमान रावण ने धूम्राक्ष से इस प्रकार कहा, तब वह राक्षसराज को प्रणाम कर, प्रसन्न होता हुआ राजभवन से निकला ॥ २० ॥

अभिनिष्क्रम्य तद्द्वारं बलाध्यक्षमुवाच ह ।
त्वरयस्व बलं तूर्णं किं चिरेण युयुत्सतः ॥ २१ ॥

राजभवन के द्वार पर आ उसने सेनापति से कहा बहुत जल्द सेना तैयार करो, क्योंकि लड़ने वाले के लिये विलंब करने से लाभ ही क्या ॥ २१ ॥

धूम्राक्षवचनं श्रुत्वा बलाध्यक्षो बलानुगः।
बलमुद्योजयामास रावणस्याज्ञया द्रुतम् ॥ २२ ॥

धूम्राक्ष के वचन सुन और रावण से आज्ञा ले, सेनापति ने तुरन्त सेना सजा दी ॥ २२ ॥

ते [1]बद्धघण्टा बलिनो घोररूपा निशाचराः।
विगर्जमानाः संहृष्टा धूम्राक्षं पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

अपनी शूरवीरता प्रदर्शित करने को कमर में घंटा बाँधे हुए भयङ्कर रूप वाले राक्षस योद्धा, अत्यन्त गर्जते हुए और प्रसन्न होते हुए धूम्राक्ष को घेर कर आ खड़े हुए ॥ २३ ॥

विविधायुधहस्ताश्च शूलमुद्गरपाणयः।
गदाभिः पट्टिशैर्दण्डैरायसैर्मुसलैर्भृशम् ॥ २४ ॥

परिघैर्भिन्दिपालैश्च भल्लैः प्रासैः परश्वधैः।
निर्ययू राक्षसा दिग्भ्यो नर्दन्तो जलदा यथा ॥ २५ ॥

उनके हाथों में विविध प्रकार के शूल, मुद्गर, गदा, पट्ट, डंडे, तलवारें, मूसल, परिघ, भिन्दिपाल (गदा विशेष), भाले, फरसे और कुल्हाड़ियाँ थीं। वे लोग बादलों की तरह चारों ओर से गर्जते हुए वहाँ से चले ॥ २४ ॥ २५ ॥

रथैः कवचिनस्त्वन्ये ध्वजैश्च समलंकृतैः।
सुवर्णजालविहितैः खरैश्च विविधाननैः ॥ २६ ॥

बहुत से राक्षस कवच पहिने हुए थे और रथों पर सवार थे। रथों के ऊपर ध्वजाएँ फहरा रही थीं। सोने के जाल (ज़रदोज़ी

---

१ बद्धघण्टाः—शूरत्वज्ञापनाय कटिबद्धघण्टा इत्यर्थः। (गो०)

के काम की पर्दा-उघार) उन रथों पर पड़े हुए थे और उन रथों में विविध मुखाकृति के खच्चर जुते हुए थे ॥ २६ ॥

हयैः परमशीघ्रैश्च गजेन्द्रैश्च मदोत्कटैः ।
निर्ययू राक्षसव्याघ्रा व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥ २७ ॥

बहुत से राक्षस सिपाही बहुत तेज़ चलने वाले घोड़ों पर सवार थे और बहुत से मतवाले हाथियों पर चढ़े हुए थे । वे राक्षसव्याघ्र दुर्धर्ष व्याघ्र की तरह चले ॥ २७ ॥

वृकसिंहमुखैर्युक्तं खरैः कनकभूषणैः ।
आरुरोह रथं दिव्यं धूम्राक्षः खरनिःस्वनः ॥ २८ ॥

भेड़िये और सिंह के मुख की आकृति के खच्चरों से जुते हुए सुवर्णभूषित दिव्य रथ में बैठा, गधे की तरह रेंकता हुआ, धूम्राक्ष वहाँ से चला ॥ २८ ॥

स निर्यातो महावीर्यो धूम्राक्षो राक्षसैर्वृतः ।
प्रहसन्पश्चिमद्वारं हनूमान्यत्र यूथपः ॥ २९ ॥

महाबली धूम्राक्ष, राक्षसों से घिरा हुआ और अट्टहास करता हुआ, लङ्का के पश्चिमद्वार से वहाँ जा निकला, जहाँ वानरी सेना का परिचालन हनुमान जी कर रहे थे ॥ २९ ॥

रथप्रवरमास्थाय खरयुक्तं खरस्वनम् ।
प्रयान्तं तु महाघोरं राक्षसं भीमविक्रमम् ॥ ३० ॥

खच्चर जुते हुए उत्कृष्ट रथ में बैठे और गधे की तरह रेंकते हुए महाभयङ्कर रूप वाले और महापराक्रमी राक्षस धूम्राक्ष को, युद्ध-यात्रा करते हुए, ॥ ३० ॥

अन्तरिक्षगता घोराः शकुनाः प्रत्यवारयन् ।
रथशीर्षे महान्भीमो गृध्रश्च निपपात ह ॥ ३१ ॥

आकाश में होते हुए बड़े बड़े बुरे शकुनों ने रोका । यथा—उसके रथ के ऊपर एक बड़ा भारी गिद्ध गिरा ॥ ३१ ॥

ध्वजाग्रे [1]ग्रथिताश्चैव निपेतुः [2]कुणपाशनाः ।
रुधिरार्द्रो महाञ्श्वेतः कबन्धः पतितो भुवि ॥ ३२ ॥

विस्वरं चोत्सृजन्नादं धूम्राक्षस्य समीपतः ।
ववर्ष रुधिरं देवः सञ्चचाल च मेदिनी ॥ ३३ ॥

मुर्दे खाने वाले गीधों की टोली इस राक्षस के रथ की ध्वजा के ऊपर गिरती थी । फिर सफेद रंग का, रक्त से तर, अमङ्गल शब्द करता हुआ एक कबन्ध, धूम्राक्ष के पास भूमि पर धड़ाम से गिरा । बादलों ने खून की वर्षा की ; ज़मीन काँपने लगी ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

प्रतिलोमं ववौ वायुर्निर्घातसमनिःस्वनः ।
तिमिरौघावृतास्तत्र दिशश्च न चकाशिरे ॥ ३४ ॥

स तूत्पातांस्तदा दृष्ट्वा राक्षसानां भयावहान् ।
प्रादुर्भूतान्सुघोरांश्च धूम्राक्षो व्यथितोऽभवत् ।
मुमुहू राक्षसाः सर्वे धूम्राक्षस्य पुरःसराः ॥ ३५ ॥

बिजली गिरने के समान शब्द करती हुई हवा सामने से चलने लगी । चारों ओर अंधकार ही अंधकार छा गया । दिशाएँ प्रकाश शून्य हो गयीं । राक्षसों के लिये भयोत्पादक इन महाभयङ्कर

---

१ ग्रथिताः—मिलिताः । (गो०) २ कुणपाशनाः—गृध्राः । (गो०)

उत्पातों को होते हुए देख, धूम्राक्ष बहुत व्यथित हुआ और उसके आगे चलने वाले राक्षस घबड़ा गये ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

ततः सुभीमो बहुभिर्निशाचरै-
र्वृतोऽभिनिष्क्रम्य रणोत्सुको बली ।
ददर्श तां राघवबाहुपालितां
महौघकल्पां बहुवानरीं चमूम् ॥ ३६ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

रणोत्सुक एवं महाबलवान धूम्राक्ष, बड़े बड़े भयङ्कर राक्षसों से घिरा हुआ, लङ्कापुरी के बाहिर गया और वहाँ उसने श्रीरामचन्द्र जी के भुजबल से रक्षित, सागर के समान बड़ी भारी वानरी सेना देखी ॥ ३६ ॥

युद्धकाण्ड का इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—*—

धूम्राक्षं प्रेक्ष्य निर्यान्तं राक्षसं भीमविक्रमम् ।
विनेदुर्वानराः सर्वे प्रहृष्टा युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १ ॥

भीम पराक्रमी धूम्राक्ष को आते देख, युद्धाभिलाषी सब वानर अत्यन्त प्रसन्न हुए और नाद करने लगे ॥ १ ॥

तेषां सुतुमुलं युद्धं सञ्जज्ञे हरिरक्षसाम् ।
अन्योन्यं पादपैर्घोरं निघ्नतां शूलमुद्गरैः ॥ २ ॥

वानरों और राक्षसों का घोर युद्ध हुआ। वानर वृक्षों से और राक्षस शूल मुद्गरों से एक दूसरे के ऊपर प्रहार करने लगे॥ २॥

घोरैश्च परिघैश्चित्रैस्त्रिशूलैश्चापि संहतैः।
राक्षसैर्वानरा घोरैर्विनिकृत्ताः समन्ततः॥ ३॥

बड़े बड़े त्रिशूलों और परिघों से एक साथ प्रहार कर, भयङ्कर राक्षसों ने (रणभूमि में) चारों ओर वानरों को मार कर डाल दिया॥ ३॥

वानरै राक्षसाश्चापि द्रुमैर्भूमौ [1]समीकृताः।
राक्षसाश्चापि संक्रुद्धा वानरान्निशितैः शरैः॥ ४॥

विव्यधुर्घोरसङ्काशैः कङ्कपत्रैरजिह्मगैः।
ते गदाभिश्च भीमाभिः पट्टिशैः कूटमुद्गरैः॥ ५॥

घोरैश्च परिघैश्चित्रैस्त्रिशूलैश्चापि *संश्रितैः।
विदार्यमाणा रक्षोभिर्वानरास्ते महाबलाः॥ ६॥

वानरों ने राक्षसों को पेड़ों से मार मार कर ज़मीन में सुला दिया। तब राक्षसों ने भी क्रुद्ध हो वानरों को घोर कालाग्नि तुल्य कंकपत्र लगे हुए और सीधे जाने वाले, पैने बाणों से बेध डाला। भयङ्कर गदाओं, शूल, पटों, काँटेदार मुगदरों, भयङ्कर परिघों, रंग बिरंगे त्रिशूलों से राक्षसों द्वारा विदारित होता वे महाबली वानर॥ ४॥ ५॥ ६॥

अमर्षाज्जनितोद्धर्षाश्चक्रुः कर्माण्यभीतवत्।
शरनिर्भिन्नगात्रास्ते शूलनिर्भिन्नदेहिनः॥ ७॥

---

1 समीकृताः—पातिताः। (गो०) * पाठान्तरे—"संशितैः।"

न सह सके और निर्भय तथा प्रसन्न हो लड़ने लगे। जब उनके शरीर बिध गये और त्रिशूलों से विदीर्ण हो गये ॥ ७ ॥

जगृहुस्ते द्रुमांस्तत्र शिलांश्च हरियूथपाः ।
ते भीमवेगा हरयो नर्दमानास्ततस्ततः ॥ ८ ॥

तब सब वानरयूथपतियों ने वृक्ष और शिलाएँ हाथों में ले लीं। फिर वे भयङ्कर वेग वाले वानर चारों ओर गर्जते हुए ॥ ८ ॥

ममन्थू राक्षसान्भीमान्नामानि च वभाषिरे ।
तद्बभूवाद्भुतं घोरं युद्धं वानररक्षसाम् ॥ ९ ॥
शिलाभिर्विविधाभिश्च बहुभिश्चैव पादपैः ।
राक्षसा मथिताः केचिद्वानरैर्जितकाशिभिः[1] ॥ १० ॥

तथा अपने नाम कह कह कर राक्षस वीरों को मथने लगे। यह वानर और राक्षसों का युद्ध विविध शिलाओं और बहुत से वृक्षों से भयङ्कर और अद्भुत हुआ। किसी किसी वानर ने दम साध कर अथवा निर्भय हो राक्षसों का भली भांति संहार किया ॥ ९ ॥ १० ॥

ववमू रुधिरं केचिन्मुखै रुधिरभोजनाः ।
पार्श्वेषु दारिताः केचित्केचिद्राशीकृता द्रुमैः ॥ ११ ॥

अनेक रुधिर भोजी राक्षस रुधिर उगलने लगे। किसी किसी की पसलियाँ टूट गयीं तथा कोई कोई वृक्षों की मार से ढेर हो गये ॥ ११ ॥

शिलाभिश्चूर्णिताः केचित्केचिद्दन्तैर्विदारिताः ।
ध्वजैर्विमथितैर्भग्नैः खरैश्च विनिपातितैः ॥ १२ ॥

---

१ जितकाशिभिः—जितभयैः, जितश्वासैर्वा। (रा०)

किसी किसी राक्षस को शिलाओं के प्रहार से चूर कर दिया और किसी किसी को दाँतों से चीथ डाला। किसी किसी के रथ की ध्वजा तोड़ फोड़ कर नष्ट कर डाली और किसी किसी के रथ में जुते हुए खच्चर मार कर ज़मीन पर डाल दिये ॥ १२ ॥

*रथैर्विध्वंसिताः केचिद्व्यथिता रजनीचराः ।
गजेन्द्रैः पर्वताकारैः पर्वताग्रैर्वनौकसाम् ॥ १३ ॥

मथितैर्वाजिभिः कीर्णं सारोहैर्वसुधातलम् ।
वानरैर्भीमविक्रान्तैराप्लुत्याप्लुत्य वेगितैः ॥ १४ ॥

राक्षसाः करजैस्तीक्ष्णैर्मुखेषु विनिकर्तिताः ।
विवर्णवदना भूयो विप्रकीर्णशिरोरुहाः ॥ १५ ॥

कोई कोई राक्षस रथों से कुचले जाकर व्यथित हुए। पर्वत-शिखर के समान वानरों की चलायी हुई शिलाओं के प्रहार से मरे हुए पर्वताकार हाथियों तथा सवारों सहित मरे हुए घोड़ों से रणभूमि पूर्ण हो गयी थी। भयङ्कर विक्रमशाली वेगवान वानरों ने वारंबार उछलकूद कर अपने नखों से राक्षसों के मुख नोच डाले थे। सिरों के बाल नुच जाने से राक्षसों के मुख बदरंग हो गये थे ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

मूढाः शोणितगन्धेन निपेतुर्धरणीतले ।
अन्ये परमसंक्रुद्धा राक्षसा भीमनिःस्वनाः ॥ १६ ॥

रुधिरगन्ध से मूर्छित हो राक्षसगण भूमि पर गिर पड़े। अन्य भयङ्कर गर्जन करने वाले राक्षस अत्यन्त कुपित हुए ॥ १६ ॥

---

* पाठान्तरे—"रथैर्विध्वंसितैश्चापि पतितै रजनीचरैः।"

तलैरेवाभिधावन्ति वज्रस्पर्शसमैर्हरीन् ।
वानरैरापतन्तस्ते वेगिता वेगवत्तरैः ॥ १७ ॥

और वज्र के समान थप्पड़ तान वानरों की ओर दौड़े। किन्तु वेगवान वानर, उन आते हुए राक्षसों को बड़ी फुर्ती से ॥ १७ ॥

मुष्टिभिश्चरणैर्दन्तैः पादपैश्चावपोथिताः ।
वानरैर्हन्यमानास्ते राक्षसा विप्रदुद्रुवुः ॥ १८ ॥

घूँसों, लातों,, दाँतों और वृक्षों से मार गिराते थे। वानरों की मार से वे राक्षस युद्धभूमि छोड़ कर भाग खड़े हुए ॥ १८ ॥

सैन्यं तु विद्रुतं दृष्ट्वा धूम्राक्षो राक्षसर्षभः ।
क्रोधेन कदनं चक्रे वानराणां युयुत्सताम् ॥ १९ ॥

राक्षसश्रेष्ठ धूम्राक्ष ने अपनी सेना को तितिर बितिर होते देख, युद्ध करते हुए उन वानरों का नाश करना आरम्भ किया ॥ १९ ॥

प्रासैः प्रमथिताः केचिद्वानराः शोणितस्रवाः ।
मुद्गरैराहताः केचित्पतिता धरणीतले ॥ २० ॥

उसने किसी किसी के परिघ मारा, जिससे उनके शरीरों से रक्त बहने लगा। अनेक वानर मुद्गरों की मार से पृथिवी पर गिर पड़े ॥ २० ॥

परिघैर्मथिताः केचिद्भिन्दिपालैर्विदारिताः ।
पट्टिशैराहताः केचिद्विह्वलन्तो गतासवः ॥ २१ ॥

धूम्राक्ष ने किसी को परिघ से मारा, किसी को गदा विशेष से विदीर्ण कर डाला। बहुत से वानर तो पट्टिशों की मार से घबड़ा-कर पृथिवी पर गिर कर मर गये ॥ २१ ॥

केचिद्विनिहताः शूलै रुधिरार्द्रा वनौकसः ।
केचिद्विद्राविता नष्टाः संक्रुद्धै राक्षसैर्युधि ॥ २२ ॥

कितने ही वानर त्रिशूलों के लगने से रक्त से तरबतर हो गये । क्रुद्ध राक्षसों द्वारा खदेड़े जा कर अनेक वानर युद्ध में मारे गये ॥ २२ ॥

विभिन्नहृदयाः केचिदेकपार्श्वेन दारिताः ।
विदारितास्त्रिशूलैश्च केचिदान्त्रैर्विनिःसृताः ॥ २३ ॥

अनेक वानरों के कलेजे चीर डाले गये, किसी किसी की एक कोख ही चीर डाली गयी । किसी किसी वानर की, त्रिशूल लगने से आँतें निकल पड़ीं ॥ २३ ॥

तत्सुभीमं महायुद्धं हरिराक्षससङ्कुलम् ।
प्रबभौ शब्दबहुलं शिलापादपसङ्कुलम् ॥ २४ ॥

वानरों और राक्षसों का बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ । उस समय युद्धभूमि लड़ते हुए राक्षसों और वानरों के तर्जन गर्जन से तथा शिलाओं और वृक्षों से भर गयी ॥ २४ ॥

धनुर्ज्यातन्त्रिमधुरं हिक्कातालसमन्वितम् ।
मन्दस्तनितसङ्गीतं युद्धगान्धर्वमावभौ ॥ २५ ॥

उस समय इस युद्ध ने सङ्गीत का रूप धारण किया था । धनुष के रोदे तो मानों मधुर वीणा थे, वीरों के गिरने के समय की हिचकियाँ मानों ताल के समान थीं । अशक्तों का धीरे से बोलना, मानों मन्द मधुर गायन था ॥ २५ ॥

धूम्राक्षस्तु धनुष्पाणिर्वानरान्रणमूर्धनि ।
हसन्विद्रावयामास दिशस्तु शरवृष्टिभिः ॥ २६ ॥

इस प्रकार राक्षस धूम्राक्ष ने संग्रामभूमि में धनुष धारण कर सब दिशाओं को बाण की वृष्टि से ढक दिया और हँसते हँसते सब वानरों को मार भगाया ॥ २६ ॥

धूम्राक्षेणार्दितं सैन्यं व्यथितं वीक्ष्य मारुतिः ।
अभ्यवर्तत संक्रुद्धः प्रगृह्य विपुलां शिलाम् ॥ २७ ॥

धूम्राक्ष द्वारा वानरी सेना को नष्ट और पीड़ित होते देख, हनुमान जी अत्यन्त कुपित हुए। उन्होंने एक बड़ी भारी शिला उठा ली और उसे ले वे आगे बढ़े ॥ २७ ॥

क्रोधाद्द्विगुणताम्राक्षः पितृतुल्यपराक्रमः ।
शिलां तां पातयामास धूम्राक्षस्य रथं प्रति ॥ २८ ॥

अपने पिता पवन के समान पराक्रमी हनुमान जी ने, क्रोध से अपनी आँखे दुगुनी लाल कर, वह शिला धूम्राक्ष के रथ के ऊपर फैंकी ॥ २८ ॥

आपतन्तीं शिलां दृष्ट्वा गदामुद्यम्य सम्भ्रमात् ।
रथादाप्लुत्य वेगेन वसुधायां व्यतिष्ठत ॥ २९ ॥

उस शिला को अपने रथ की ओर आते देख, धूम्राक्ष घबड़ाया और हाथ में गदा ले, वह रथ से तुरन्त पृथिवी पर कूद पड़ा ॥ २९ ॥

सा प्रमथ्य रथं तस्य निपपात शिला भुवि ।
सचक्रकूबरं साश्वं सध्वजं सशरासनम् ॥ ३० ॥

वह शिला उस रथ को नष्ट कर ज़मीन पर जा गिरी। पहिये, धुरी, घोड़े, ध्वजा और धनुष सहित ॥ ३० ॥

स भङ्क्त्वा तु रथं तस्य हनुमान्मारुतात्मजः ।
रक्षसां कदनं चक्रे सस्कन्धविटपैर्द्रुमैः ॥ ३१ ॥

धूम्राक्ष के रथ को नष्ट कर, पवननन्दन हनुमान जी ने डालियों सहित बड़े बड़े वृक्षों से राक्षसों का नाश करना आरम्भ किया ॥३१॥

विभिन्नशिरसो भूत्वा राक्षसाः शोणितोक्षिताः ।
द्रुमैः प्रव्यथिताश्चान्ये निपेतुर्धरणी तले ॥ ३२ ॥

वृक्षों के प्रहार से राक्षसों के सिर फटने लगे । खून से तर बतर हो वृक्षों की मार से राक्षस मर मर कर ज़मीन पर गिरने लगे ॥३२॥

विद्राव्य राक्षसं सैन्यं हनुमान्मारुतात्मजः ।
गिरेः शिखरमादाय धूम्राक्षमभिदुद्रुवे ॥ ३३ ॥

पवननन्दन हनुमान जी इस प्रकार राक्षसी सेना को तितर बितर कर, एक पर्वतशिखर उखाड़ धूम्राक्ष की ओर दौड़े ॥ ३३ ॥

तमापतन्तं धूम्राक्षो गदामुद्यम्य वीर्यवान् ।
विनर्दमानः सहसा हनुमन्तमभिद्रवत् ॥ ३४ ॥

हनुमान जी को शिला लिये अपनी ओर आते देख, वीर्यवान धूम्राक्ष भी सहसा हाथ में गदा ले गर्जता हुआ हनुमान जी की ओर झपटा ॥ ३४ ॥

ततः क्रुद्धस्तु वेगेन गदां तां बहुकण्टकाम् ।
पातयामास धूम्राक्षो मस्तके तु हनूमतः ॥ ३५ ॥

धूम्राक्ष ने क्रोध में भर बड़े ज़ोर से बहुत से काँटों से युक्त एक गदा हनुमान जी के सिर को ताक कर मारी ॥ ३५ ॥

ताडितः स तया तत्र गदया भीमरूपया ।
स कपिर्मारुतबलस्तं प्रहारमचिन्तयन् ॥ ३६ ॥

उस भयङ्कर गदा के लगने पर पवन के समान बलवान हनुमान जी ने, उस गदा के प्रहार की कुछ भी परवाह न की ॥ ३६ ॥

धूम्राक्षस्य शिरोमध्ये गिरिशृङ्गमपातयत् ।
स विह्वलितसर्वाङ्गो गिरिशृङ्गेण ताडितः ॥ ३७ ॥

और धूम्राक्ष के सिर पर वह पर्वतशिखर पटक दिया। उस पर्वतशिखर के लगने से धूम्राक्ष के समस्त अङ्ग बेकाम हो गये और वह टूटे फूटे एक पर्वत की तरह अचानक ज़मीन पर गिर पड़ा ॥३७॥

पपात सहसा भूमौ विकीर्ण इव पर्वतः ।
धूम्राक्षं निहतं दृष्ट्वा हतशेषा निशाचराः ।
त्रस्ताः प्रविविशुर्लङ्कां वध्यमानाः प्लवङ्गमैः ॥ ३८ ॥

धूम्राक्ष को मरा हुआ देख, मरने से बचे हुए राक्षस, वानरों की मार से डर कर लङ्का में भाग गये ॥ ३८ ॥

स तु पवनसुतो निहत्य शत्रुं
क्षतजवहाः सरितश्च सन्निकीर्य ।
रिपुवधजनितश्रमो महात्मा
मुदमगमत्कपिभिश्च पूज्यमानः ॥ ३९ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

महात्मा पवननन्दन हनुमान जी इस प्रकार शत्रुओं को मार और रणभूमि में खून की नदी बहा, शत्रु-संहार-जनित श्रम से थके हुए होने पर भी, वानरों से सम्मानित हो, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥३९॥

युद्धकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—※—

धूम्राक्षं निहतं श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
क्रोधेन महताऽऽविष्टो निःश्वसन्नुरगो यथा ॥ १ ॥

राक्षसेश्वर रावण धूम्राक्ष के मारे जाने का संवाद सुन, बहुत क्रुद्ध हुआ और मारे क्रोध के सांप की तरह फुंसकारने लगा ॥ १ ॥

दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य क्रोधेन कलुषीकृतः ।
अब्रवीद्राक्षसं शूरं वज्रदंष्ट्रं महाबलम् ॥ २ ॥

वह क्रोध से अधीर हो और गर्म गर्म सांस ले, महाबली एवं शूर वज्रदंष्ट्र राक्षस से बोला ॥ २ ॥

गच्छ त्वं वीर निर्याहि राक्षसैः परिवारितः ।
जहि दाशरथिं रामं सुग्रीवं वानरैः सह ॥ ३ ॥

हे वीर ! तुम अपने साथ राक्षसों की सेना ले कर जाओ और दशरथनन्दन राम का तथा वानरी सेना सहित सुग्रीव का नाश कर आओ ॥ ३ ॥

तथेत्युक्त्वा द्रुततरं मायावी राक्षसेश्वरः ।
निर्जगाम बलैः सार्धं बहुभिः परिवारितः ॥ ४ ॥

राक्षसेश्वर की यह आज्ञा पा, वह मायावी सेनापति बहुत सी राक्षसी सेना साथ ले, युद्ध के लिये निकला ॥ ४ ॥

नागैरश्वैः खरैरुष्ट्रैः संयुक्तः सुसमाहितः ।
पताकाध्वजचित्रैश्च रथैश्च समलंकृतः ॥ ५ ॥

उसके साथ हाथी, घोड़े, खच्चर और ऊँट तथा ध्वजा पताकाओं से सजे हुए रथ थे ॥ ५ ॥

ततो विचित्रकेयूरमुकुटैश्च विभूषितः ।
तनुत्राणि च संरुध्य सधनुर्निर्ययौ द्रुतम् ॥ ६ ॥

बढ़िया बाजू बांधे और सिर पर मुकुट धारण किये तथा कवच पहिन तथा हाथ में धनुष ले वज्रदंष्ट्र शीघ्रता पूर्वक बाहिर निकला ॥ ६ ॥

पताकालंकृतं दीप्तं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
रथं प्रदक्षिणं कृत्वा समारोहच्चमूपतिः ॥ ७ ॥

पताकाओं से अलङ्कृत, चमचमाते तथा सुवर्णभूषित रथ की प्रदक्षिणा कर, सेनापति वज्रदंष्ट्र उस पर सवार हुआ ॥ ७ ॥

यष्टिभिस्तोमरैश्चित्रैः शूलैश्च मुसलैरपि ।
भिन्दिपालैश्च पाशैश्च शक्तिभिः पट्टिशैरपि ॥ ८ ॥
खड्गैश्चक्रैर्गदाभिश्च निशितैश्च परश्वधैः ।
पदातयश्च निर्यान्ति विविधाः शस्त्रपाणयः ॥ ९ ॥

डंडे, रंगविरंगे तोमर, शूल, मूसल, गदाविशेष, पाश, पट्ट, खड्ग, चक्र, गदा और तेज़ परसे आदि विविध आयुधों को हाथों में लिये हुए पैदल सैनिक निकले ॥ ८ ॥ ९ ॥

विचित्रवाससः सर्वे दीप्ता राक्षसपुङ्गवाः ।
गजा मदोत्कटाः शूराश्चलन्त इव पर्वताः ॥ १० ॥

वे सब राक्षसश्रेष्ठ सैनिक रंगविरंगी पोशाकें पहिने हुए थे और (उन बहुमूल्य पोशाकों से) प्रदीप्त हो (दमक) रहे थे। मत्त और

युद्धविद्या में शिक्षित हाथी ऐसे जान पड़ते थे, मानों चलते फिरते पहाड़ हों ॥ १० ॥

ते युद्धकुशलै रूढास्तोमराङ्कुशपाणिभिः ।
अन्ये [1]लक्षणसंयुक्ताः शूरा रूढा महाबलाः ॥ ११ ॥

वे सब युद्ध में निपुण थे और उनके ऊपर भाले और अङ्कुश हाथों में लिये हुए सैनिक सवार थे। इनके अतिरिक्त और भी महाबली वीर राक्षस घोड़ों पर सवार थे ॥ ११ ॥

तद्राक्षसबलं घोरं विप्रस्थितमशोभत ।
प्रावृट्काले यथा मेघा नर्दमानाः सविद्युतः ॥ १२ ॥

वर्षाऋतु में बिजली की कड़कड़ाहट के साथ गरजते हुए बादलों की जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार युद्ध करने के लिये जाती हुई राक्षसी सेना शोभायमान हो रही थी ॥ १२ ॥

निःसृता दक्षिणद्वारादङ्गदो यत्र यूथपः ।
तेषां निष्क्रममाणानामशुभं समजायत ॥ १३ ॥

यह सेना लङ्का के दक्षिणी फाटक से निकली, जहां पर वानर-यूथ-पति अङ्गद थे। जिस समय यह राक्षसी सेना युद्ध करने के लिये निकली, उस समय बड़े बड़े असगुन हुए ॥ १३ ॥

आकाशाद्विघनात्तीव्रा उल्काश्चाभ्यपतंस्तदा ।
वमन्त्यः पावकज्वालाः शिवा घोरं ववाशिरे ॥ १४ ॥

बिना मेघ के ही आकाश से तीव्र बिजली और उल्का गिरने लगी। गीदड़ियाँ अपने मुखों से अग्नि की लपटें निकालती हुईं, भयङ्कर चीत्कार करने लगीं ॥ १४ ॥

---

१ लक्षणसंयुक्तोअन्येअश्वाश्च शूरारूढा निर्याताः । (रा०)

व्याहरन्ति मृगा घोरा रक्षसां निधनं तदा ।
समापतन्तो योधास्तु प्रास्खलन्भयमोहिताः ॥ १५ ॥

उस समय जानवर ऐसी बोलियाँ बोल रहे थे, जिनसे मालूम पड़ता था कि, मानों वे राक्षसों के नाश की सूचना दे रहे थे । अतः भय से मोहित हो, राक्षसवीर फिसल फिसल पड़ते थे ॥ १५ ॥

एतानौत्पातिकान्दृष्ट्वा वज्रदंष्ट्रो महाबलः ।
धैर्यमालम्ब्य तेजस्वी निर्जगाम रणोत्सुकः ॥ १६ ॥

किन्तु रणोत्सुक, महाबली एवं तेजस्वी वज्रदंष्ट्र, इन उत्पातों को देख कर भी, धैर्य धारण कर चला ही जाता था ॥ १६ ॥

तांस्तु निष्क्रमतो दृष्ट्वा वानरा जितकाशिनः ।
प्रणेदुः सुमहानादान्पूरयंश्च दिशो दश ॥ १७ ॥

उस ओर विजयी वानर उन राक्षसों को लङ्का के बाहिर निकलते देख, इतनी ज़ोर से गर्जे कि, उनके गर्जने के शब्द से दसों दिशाएँ प्रतिध्वनित होने लगीं ॥ १७ ॥

ततः प्रवृत्तं तुमुलं हरीणां राक्षसैः सह ।
घोराणां भीमरूपाणामन्योन्यवधकाङ्क्षिणाम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक दूसरे को मार डालने के आकांक्षी, भयङ्कर एवं बलवान वानरों और राक्षसों की घमासान लड़ाई हुई ॥ १८ ॥

निष्पतन्तो महोत्साहा भिन्नदेहशिरोधराः ।
रुधिरोक्षितसर्वाङ्गा न्यपतञ्जगतीतले ॥ १९ ॥

(देखते ही देखते) अति उत्साह पूर्वक लड़ने वाले राक्षस योद्धाओं के रक्त में सने धड़, ज़मीन पर पड़े हुए दिखलाई पड़ने लगे ॥ १९ ॥

केचिदन्योन्यमासाद्य शूराः परिघपाणयः ।
चिक्षिपुर्विविधं शस्त्रं समरेष्वनिवर्तिनः ॥ २० ॥

लड़ाई के मैदान में शत्रु का कभी पीठ न दिखलाने वाले वीर राक्षस, हाथ में परिघ लिये हुए, वानरों के ऊपर विविध प्रकार के शस्त्र चला रहे थे ॥ २० ॥

द्रुमाणां च शिलानां च शस्त्राणां चापि निःस्वनः ।
श्रूयते सुमहांस्तत्र घोरो हृदयभेदनः ॥ २१ ॥

इस युद्ध में पेड़ों, पत्थरों और शस्त्रों के प्रहारों का ऐसा भयानक शब्द हो रहा था, जिससे सुनने से हृदय दहला जाता था ॥ २१ ॥

रथनेमिस्वनस्तत्र धनुषश्चापि निःस्वनः ।
शङ्खभेरीमृदङ्गानां बभूव तुमुलः स्वनः ॥ २२ ॥

रथों के पहियों की घरघराहट का, धनुष की टंकार का और शङ्ख भेरी तथा मृदङ्गों के बजने का बड़ा भारी शब्द हो रहा था ॥ २२ ॥

केचिदस्त्राणि संसृज्य बाहुयुद्धमकुर्वत ।
तलैश्च चरणैश्चापि मुष्टिभिश्च द्रुमैरपि ॥ २३ ॥

अनेक राक्षस तो हथियारों को फेंक, वानरों से मल्लयुद्ध कर रहे थे । कितने ही थप्पड़ों, लातों, घूँसों और पेड़ों से लड़ रहे थे ॥ २३ ॥

जानुभिश्च हताः केचिद्भिन्नदेहाश्च राक्षसाः ।
शिलाभिश्चूर्णिताः केचिद्वानरैर्युद्धदुर्मदैः ॥ २४ ॥

युद्धदुर्मद वानरों ने अनेक राक्षसों को घुटनों की मार से चूर चूर कर डाला और कितने ही वानरों के फेंके हुए पत्थरों की मार से पिस गये ॥ २४ ॥

वज्रदंष्ट्रो भृशं बाणै रणे वित्रासयन्हरीन् ।
चचार लोकसंहारे पाशहस्त इवान्तकः ॥ २५ ॥

अपनी सेना की यह दुर्दशा देख, वज्रदंष्ट्र ने युद्ध में बहुत से बाण चला, वानरों को त्रस्त कर डाला और वह वानरों का संहार करने के लिये पाशधारी यम की तरह रणभूमि में घूमने लगा ॥ २५ ॥

बलवन्तोऽस्त्रविदुषो नानाप्रहरणा रणे ।
जघ्नुर्वानरसैन्यानि राक्षसाः क्रोधमूर्छिताः ॥ २६ ॥

अन्य बलवान राक्षस भी अत्यन्त क्रुद्ध हो, युद्ध करने के समय शस्त्रों का प्रयोग कर, वानरी सेना का नाश कर रहे थे ॥ २६ ॥

निघ्नतो राक्षसान्दृष्ट्वा सर्वान्वालिसुतो रणे ।
क्रोधेन द्विगुणाविष्टः संवर्तक इवानलः ॥ २७ ॥

वानरों को नष्ट करते हुए राक्षसों को देख, अङ्गद दूने क्रुद्ध हुए। उनका क्रोध प्रलयकालीन अग्नि की तरह धधक उठा ॥ २७ ॥

तान्राक्षसगणान्सर्वान्वृक्षमुद्यम्य वीर्यवान् ।
अङ्गदः क्रोधताम्राक्षः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ २८ ॥

मारे क्रोध के अङ्गद के नेत्र लाल हो गये। तब वीर्यवान अङ्गद एक वृक्ष उखाड़ उससे राक्षसों को वैसे ही मारने लगे, जैसे सिंह क्षुद्र मृगों को मारता है ॥ २८ ॥

चकार कदनं घोरं शक्रतुल्यपराक्रमः ।
अङ्गदाभिहतास्तत्र राक्षसा भीमविक्रमाः ॥ २९ ॥
विभिन्नशिरसः पेतुर्विकृत्ता इव पादपाः ।
रथैरश्वैर्ध्वजैश्चित्रैः शरीरैर्हरिरक्षसाम् ॥ ३० ॥
रुधिरेण च संछन्ना भूमिर्भयकरी तदा ।
हारकेयूरवस्त्रैश्च *शस्त्रैश्च समलंकृता ।
भूमिर्भाति रणे तत्र शारदीव यथा निशा ॥ ३१ ॥

इन्द्र समान पराक्रमी अङ्गद ने बहुत से राक्षसों को मार डाला। अङ्गद द्वारा मारे गये उन भयङ्कर पराक्रमी राक्षसों के सिर फूट गये और वे कटे हुए वृक्ष की तरह भूमि पर गिर गये। रथों, घोड़ों, रंगबिरंगी ध्वजाओं, मरे हुए राक्षसों और वानरों की लोथों तथा रुधिर से रणभूमि ढक गयी और बड़ी भयङ्कर जान पड़ने लगी। हार, बिजायठ, वस्त्र और आयुधों से अलङ्कृत रणभूमि ऐसी शोभायमान हुई, जैसी शरदृऋतु की रात ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

अङ्गदस्य च वेगेन तद्राक्षसबलं महत् ।
प्राकम्पत तदा तत्र पवनेनाम्बुदो यथा ॥ ३२ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

जिस प्रकार पवन के वेग से मेघों की घटाएँ तितर बितर हो जाती हैं, उसी प्रकार अङ्गद की मार से, वह राक्षसों की महती सेना तितर बितर हो गयी ॥ ३२ ॥

युद्धकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

---

* पाठान्तरे—"छत्रैश्च।"

चतुःपञ्चाशः सर्गः

बलस्य च निघातेन अङ्गदस्य जयेन च ।
राक्षसः क्रोधमाविष्टो वज्रदंष्ट्रो महाबलः ॥ १ ॥

राक्षसी सैन्य का मारा जाना और अङ्गद की जीत को देख, महाबली राक्षस वज्रदंष्ट्र कुपित हुआ ॥ १ ॥

स विस्फार्य धनुर्घोरं शक्राशनिसमस्वनम् ।
वानराणामनीकानि प्राकिरच्छरवृष्टिभिः ॥ २ ॥

उसने अपने इन्द्र के वज्र के समान भयङ्कर धनुष को टंकोरा और बाणों की वृष्टि से वानरी सेना को छितरा दिया ॥ २ ॥

राक्षसाश्चापि मुख्यास्ते रथेषु समवस्थिताः ।
नानाप्रहरणाः शूराः प्रायुध्यन्त तदा रणे ॥ ३ ॥

यह देख रथों पर सवार तथा विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्र धारण किये हुए अन्य मुख्य मुख्य राक्षस वीर भी युद्ध करने लगे ॥ ३ ॥

वानराणां तु शूरा ये सर्वे ते प्लवगर्षभाः ।
आयुध्यन्त शिलाहस्ताः समवेताः समन्ततः ॥ ४ ॥

वानरों में जो वीर थे, वे सब भी एकत्र हो हाथों में शिला उठा उठा चारों ओर से उन पर टूट पड़े ॥ ४ ॥

तत्रायुधसहस्राणि तस्मिन्नायोधने भृशम् ।
राक्षसा कपिमुख्येषु पातयांश्चक्रिरे तदा ॥ ५ ॥

इस महायुद्ध में राक्षसों ने हज़ारों हथियार चला, वानर सेनापतियों पर आक्रमण किया ॥ ५ ॥

वानराश्चापि रक्षस्सु गिरीन्वृक्षान्महाशिलाः ।
प्रवीराः पातयामासुर्मत्तवारणसन्निभाः ॥ ६ ॥

उधर मस्त गजेन्द्र के समान विशाल वपुधारी बड़े शूरवीर वानरों ने भी, पहाड़ों, वृक्षों और शिलाओं से राक्षसों पर आक्रमण किया ॥ ६ ॥

शूराणां युध्यमानानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ।
तद्राक्षसगणानां च सुयुद्धं समवर्तत ॥ ७ ॥

युद्ध से मुख न मोड़ने वाले और समराभिलाषी वीर वानरों और वीर राक्षसों में बड़ी घमासान लड़ाई हुई ॥ ७ ॥

प्रभिन्नशिरसः केचिच्छिन्नैः पादैश्च बाहुभिः ।
शस्त्रैरर्पितदेहास्तु रुधिरेण समुक्षिताः ॥ ८ ॥

इस युद्ध में किसी का सिर कटा था, किसी के पैर कटे थे और किसी की भुजाएँ कटी थीं। किसी का सारा शरीर शस्त्र से टुकड़े टुकड़े हो जाने के कारण ख़ून से तरबतर भूमि पर पड़ा था ॥ ८ ॥

हरयो राक्षसाश्चैव शेरते गां समाश्रिताः ।
कङ्कगृध्र[1]बलैराढ्या गोमायुगणसङ्कुलाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार क्षतविक्षत बहुत से राक्षस और वानर, युद्धभूमि में मरे हुए पड़े थे। उनकी लोथों पर कङ्क, गीध, श्येन और शृगाल लिपटे हुए थे ॥ ९ ॥

---

[1] बलः—श्येन विशेषः। (गो०)

कबन्धानि समुत्पेतुर्भीरूणां भीषणानि वै ।
भुजपाणिशिरश्छिन्नाश्छिन्नकायाश्च भूतले ॥ १० ॥
वानरा राक्षसाश्चापि निपेतुस्तत्र वै रणे ।
ततो वानरसैन्येन हन्यमानं निशाचरम् ॥ ११ ॥

कायरों को डराते हुए योद्धाओं के सिररहित धड़, उठ खड़े होते थे। उस रणभूमि में अनेक वानर और राक्षस भूमि पर गिरे पड़े देख पड़ते थे। इनमें से किसी की बाँहें, किसी के हाथ, किसी का सिर और किसी के शरीर के अन्य अवयव कट गये थे। राक्षसों को मारती हुई वानरी सेना ने ॥ १० ॥ ११ ॥

प्राभज्यत[1] बलं सर्वं वज्रदंष्ट्रस्य पश्यतः ।
राक्षसान्भयवित्रस्तान्हन्यमानान्प्लवङ्गमैः ॥ १२ ॥

वज्रदंष्ट्र के सामने ही समस्त राक्षसी सेना को भग्न (तितिर बितिर) कर डाला। भयभीत राक्षसों को वानरों द्वारा मारे जाते हुए ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा स रोषताम्राक्षो वज्रदंष्ट्रः प्रतापवान् ।
प्रविवेश धनुष्पाणिस्त्रासयन्हरिवाहिनीम् ॥ १३ ॥

देख, प्रतापी वज्रदंष्ट्र के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये। वह हाथ में धनुष ले वानरी सेना में घुस पड़ा और उसने वानरों को त्रस्त कर डाला ॥ १३ ॥

शरैर्विदारयामास कङ्कपत्रैरजिह्मगैः ।
बिभेद वानरांस्तत्र सप्ताष्टौ नव पञ्च च ॥ १४ ॥

---

१ प्राभज्यत—भग्नभूत् । (रा०)

विव्याध परमक्रुद्धो वज्रदंष्ट्रः प्रतापवान् ।
त्रस्ताः सर्वे हरिगणाः शरैः संकृत्तदेहिनः ॥ १५ ॥

वह सीधे कङ्कपत्र युक्त बाणों से वानरों के शरीरों को विदीर्ण करने लगा। वह प्रतापी वज्रदंष्ट्र अत्यन्त क्रुद्ध हो, इस तरह बाण छोड़ता था कि, एक बार में एक ही बाण से कभी पाँच, कभी सात और कभी नौ तक वानर बिंध जाते थे। बाणों से शरीरों के बिंधने पर समस्त वानर भयभीत हो गये ॥ १४ ॥ १५ ॥

अङ्गदं सम्प्रधावन्ति प्रजापतिमिव प्रजाः ।
ततो हरिगणान्भग्नान्दृष्ट्वा वालिसुतस्तदा ॥ १६ ॥
क्रोधेन वज्रदंष्ट्रं तमुदीक्षन्तमुदैक्षत ।
वज्रदंष्ट्रोऽङ्गदश्चोभौ सङ्गतौ हरिराक्षसौ ॥ १७ ॥

और वे अङ्गद के पास वैसे ही दौड़ कर गये; जैसे सतायी हुई प्रजा, प्रजापति (ब्रह्मा) के पास जाती है। तब वालितनय अङ्गद ने वानरों को छिन्न भिन्न होते देख, अपनी ओर घूरते हुए वज्रदंष्ट्र को क्रोध में भर कर देखा। फिर अङ्गद और वज्रदंष्ट्र दोनों ही आपस में भिड़ गये ॥ १६ ॥ १७ ॥

चेरतुः परमक्रुद्धौ हरिमत्तगजाविव ।
ततः शरसहस्रेण वालिपुत्रं महाबलः ॥ १८ ॥
जघान मर्मदेशेषु शरैरग्निशिखोपमैः ।
रुधिरोक्षितसर्वाङ्गो वालिसूनुर्महाबलः ॥ १९ ॥

वे दोनों परमक्रुद्ध हो सिंह और मतवाले गज की तरह युद्ध-क्षेत्र में पैतरे बदलते हुए घूमने लगे। इतने में महाबली वज्रदंष्ट्र ने

अग्निशिखा के समान एक सहस्र बाण अङ्गद के मर्मस्थलों में मारे। इनकी चोट से महाबली अङ्गद का सारा शरीर रक्त से तर बतर हो गया ॥ १८ ॥ १९ ॥

चिक्षेप वज्रदंष्ट्राय वृक्षं भीमपराक्रमः ।
दृष्ट्वा पतन्तं तं वृक्षमसम्भ्रान्तश्च राक्षसः ॥ २० ॥

तब भीम पराक्रमी अङ्गद ने एक पेड़ उखाड़ कर वज्रदंष्ट्र के ऊपर फेंका। उस वृक्ष को अपने ऊपर आते देख, वज्रदंष्ट्र ज़रा भी न घबड़ाया और उसने ॥ २० ॥

चिच्छेद बहुधा सोऽपि निकृत्तः पतितो भुवि ।
तं दृष्ट्वा वज्रदंष्ट्रस्य विक्रमं प्लवगर्षभः ॥ २१ ॥

बाणों से उसके भी अनेक टुकड़े कर डारे। वह वृक्ष टुकड़े टुकड़े हो कर भूमि पर गिर पड़ा। अङ्गद ने वज्रदंष्ट्र का यह विक्रम देख, ॥ २१ ॥

प्रगृह्य विपुलं शैलं चिक्षेप च ननाद च ।
समापतन्तं तं दृष्ट्वा रथादाप्लुत्य वीर्यवान् ॥ २२ ॥

एक बड़ी भारी शिला उठा कर उसके ऊपर फैंकी और वे बड़ी ज़ोर से गर्जे। उस शिला को आते देख, बहादुर वज्रदंष्ट्र रथ से कूद पड़ा ॥ २२ ॥

गदापाणिरसम्भ्रान्तः पृथिव्यां समतिष्ठत ।
*अङ्गदेन †शिलाक्षिप्ता गत्वा तु रणमूर्धनि ॥ २३ ॥

और हाथ में गदा ले बड़ी सावधानी से भूमि पर जा खड़ा हुआ। अङ्गद की फैंकी हुई शिला ने रणभूमि में जा ॥ २३ ॥

* पाठान्तरे—"साङ्गदेन।" † पाठान्तरे—"गदाऽऽक्षिप्ता।"

स चक्रकूबरं साश्वं प्रममाथ रथं तदा ।
ततोऽन्यं गिरिमाक्षिप्य विपुलं द्रुमभूषितम् ॥ २४ ॥

पहिये हुए और घोड़ों सहित रथ को चूर चूर कर डाला। तदनन्तर अङ्गद ने एक दूसरी बड़ी शिला मय वृक्षों के उखाड़ी और वज्रदंष्ट्र को लक्ष्य कर फेंकी ॥ २४ ॥

वज्रदंष्ट्रस्य शिरसि पातयामास सोऽङ्गदः ।
अभवच्छोणितोद्गारी वज्रदंष्ट्रः स मूर्छितः ॥ २५ ॥

(अङ्गद की फेंकी हुई वह शिला जा कर) वज्रदंष्ट्र के सिर पर गिरी। उसके गिरते ही रक्त की वमन कर, वज्रदंष्ट्र मूर्छित हो गया ॥ २५ ॥

मुहूर्तमभवन्मूढो गदामालिङ्गय निःश्वसन् ।
स लब्धसंज्ञो गदया वालिपुत्रमवस्थितम् ॥ २६ ॥

वह एक मुहूर्त तक मूर्छित रह, अपनी गदा को छाती से चिपटाये हुए लंबी लंबी साँसे लेता रहा। जब वह सचेत हुआ और अङ्गद को अपने सामने खड़ा देखा, तब गदा से ॥ २६ ॥

जघान परमक्रुद्धो वक्षोदेशे निशाचरः ।
गदां त्यक्त्वा ततस्तत्र मुष्टियुद्धमवर्तत ॥ २७ ॥

उसने अत्यन्त क्रुद्ध हो अङ्गद की छाती में प्रहार किया। फिर गदा को पटक, वह अङ्गद के साथ मूँकों से लड़ने लगा ॥ २७ ॥

अन्योन्यं जघ्नतुस्तत्र तावुभौ हरिराक्षसौ ।
रुधिरोद्गारिणौ तौ तु प्रहारैर्जनितश्रमौ ॥ २८ ॥

दोनों वानर और राक्षस एक दूसरे के मारते हुए .खून की वमन करने लगे और एक दूसरे पर प्रहार करते करते थक गये ॥ २८ ॥

बभूवतुः सुविक्रान्तावङ्गारकबुधाविव ।
ततः परमतेजस्वी अङ्गदः कपिकुञ्जरः ॥ २९ ॥

उस समय वे दोनों महापराक्रमी वीर, मङ्गल और बुध की तरह जान पड़ते थे। तदनन्तर परमतेजस्वी कपिकुञ्जर अङ्गद ॥ २९ ॥

उत्पाट्य वृक्षं स्थितवान्बहुपुष्पफलान्वितम्* ।
जग्राह [1]चार्षभं चर्म खड्गं च विपुलं शुभम् ॥ ३० ॥

फूलों और पुष्पों से लदे हुए वृक्ष को उखाड़ और उसे हाथ में ले खड़े हो गये। यह देख वज्रदंष्ट्र ने भालू के चर्म की बनी ढाल ली और एक लंबी तथा पैनी तलवार ॥ ३० ॥

किङ्किणीजालसंछन्नं [2]चर्मणा च परिष्कृतम् ।
विचित्रांश्चेरतुर्मार्गान्रुषितौ कपिराक्षसौ ॥ ३१ ॥

म्यान से खींच ली। इस तलवार की मूँठ में बहुत सी फुनफुनियां लगीं हुई थीं। अङ्गद और वज्रदंष्ट्र क्रुद्ध हो विचित्र ढंग से पैतरे बदलते हुए एक दूसरे के ऊपर चोट करने का अवसर ढूढ़ने लगे ॥ ३१ ॥

जघ्नतुश्च तदाऽन्योन्यं निर्दयं जयकाङ्क्षिणौ ।
व्रणैः सास्रैरशोभेतां पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३२ ॥

---

१ आर्षभं चर्म—ऋषभ चर्मविनद्धं फलकं। (गो०) २ चर्मणा—खड्गकोशेन। (गो०) * पाठान्तरे—"फलान्वितम्।"

वे दोनों जय की अभिलाषा से दया छोड़, एक दूसरे पर वार करने लगे। चोट के कारण उन दोनों के शरीरों में घाव हो गये थे, जिनसे रक्त वह रहा था। उस समय वे दोनों फूले हुए टेसू के पेड़ की तरह देख पड़ते थे ॥ ३२ ॥

युध्यमानौ परिश्रान्तौ जानुभ्यामवनीं गतौ ।
निमेषान्तरमात्रेण अङ्गदः कपिकुञ्जरः ॥ ३३ ॥

उदतिष्ठत दीप्ताक्षो दण्डाहत इवोरगः ।
निर्मलेन सुधौतेन खड्गेनास्य[1] महच्छिरः ॥ ३४ ॥

जघान वज्रदंष्ट्रस्य वालिसूनुर्महाबलः ।
रुधिरोक्षितगात्रस्य बभूव पतितं द्विधा ॥ ३५ ॥

लड़ते लड़ते वे दोनों थक कर घुटने टेक कर, भूमि पर बैठ गये। पल भर में कपिश्रेष्ठ अङ्गद लाठी से कुचले हुए सर्प की तरह लाल लाल नेत्र कर, उठ खड़े हुए। फिर वज्रदंष्ट्र की पैनी और चमचमाती हुई तलवार से, वालितनय अङ्गद ने वज्रदंष्ट्र का बड़ा भारी सिर धड़ से काट डाला। लोहू लुहान हो, वज्रदंष्ट्र की देह दो टूक हो, भूमि पर गिर पड़ी ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

स रोषपरिवृत्ताक्षं शुभ्रं खड्गहतं शिरः ।
वज्रदंष्ट्रं हतं दृष्ट्वा राक्षसा भयमोहिताः ॥ ३६ ॥

उसके दोनों नेत्र उलट गये और पैनी तलवार से कटा हुआ उसका सिर गिर पड़ा। वज्रदंष्ट्र को मरा हुआ देख कर, उसके साथ के राक्षस सैनिक बहुत डर गये ॥ ३६ ॥

---

1 अस्य वज्रदंष्ट्रस्य। (गो०)

त्रस्ताः प्रत्यपतँल्लङ्कां वध्यमानाः प्लवङ्गमैः ।
विषण्णवदना दीना ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखाः ॥ ३७ ॥

और वानरों की मार खाते हुए लङ्का में भाग गये। उस समय वे सब केवल उदास ही नहीं थे, किन्तु लज्जा के मारे अपने सिर नीचे किये हुए थे ॥ ३७ ॥

निहत्य तं वज्रधरप्रभावः
स वालिसूनुः कपिसैन्यमध्ये ।
जगाम हर्षं [1]महितो महाबलः
सहस्रनेत्रस्त्रिदशैरिवावृतः ॥ ३८ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

इन्द्र के समान प्रभाव वाले महाबली वालितनय अङ्गद, वज्रदंष्ट्र को मार कर और वानरों के बीच सराहे जा कर, उसी प्रकार प्रसन्न हुए; जिस प्रकार देवताओं से घिरे हुए इन्द्र प्रसन्न होते हैं ॥ ३८ ॥

युद्धकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—*—

वज्रदंष्ट्रं हतं श्रुत्वा वालिपुत्रेण रावणः ।
बलाध्यक्षमुवाचेदं कृताञ्जलिमवस्थितम् ॥ १ ॥

---

१ महितः—प्रशंसितः ।

अङ्गद के हाथ से वज्रदंष्ट्र का मारा जाना सुन, हाथ जोड़े खड़े हुए सेनाध्यक्ष से रावण ने कहा ॥ १ ॥

शीघ्रं निर्यान्तु दुर्धर्षा राक्षसा भीमविक्रमाः ।
अकम्पनं पुरस्कृत्य सर्वशस्त्रास्त्रकोविदम् ॥ २ ॥

भीम पराक्रमी दुर्धर्ष राक्षस, तुरन्त सर्वअस्त्रशस्त्र चलाने में प्रवीण अकम्पन को आगे कर, लड़ने को बाहिर निकले ॥ २ ॥

एष शास्ता च गोप्ता च नेता च युधि सम्मतः[1] ।
भूतिकामश्च मे नित्यं नित्यं च समरप्रियः ॥ ३ ॥

क्योंकि अकम्पन शत्रुसैन्य को मारने वाला, अपनी सेना को बचाने वाला और प्रसिद्ध योद्धा सेनापति है। यह मेरा सदा हितकारी बन्धु है और युद्धकार्य में इसकी बड़ी रुचि है ॥ ३ ॥

एष जेष्यति काकुत्स्थौ सुग्रीवं च महाबलम् ।
वानरांश्चापरान्घोरान्हनिष्यति परन्तपः ॥ ४ ॥

यह, महाबलवान् सुग्रीव सहित श्रीराम और लक्ष्मण को युद्ध में पराजित करेगा और यही शत्रुहन्ता अन्य भयङ्कर वानरों को भी मार डालेगा ॥ ४ ॥

परिगृह्य स तामाज्ञां रावणस्य महाबलः ।
बलं सन्त्वरयामास तदा लघुपराक्रमः ॥ ५ ॥

रावण की आज्ञा पा कर महाबली और पराक्रम दिखलाने में फुर्तीले सेनाध्यक्ष ने सेना को तुरन्त तैयार होने की आज्ञा दी ॥ ५ ॥

---

१ सम्मतः—प्रसिद्धः । (गो०)

ततो नानाप्रहरणा भीमाक्षा भीमदर्शनाः ।
निष्पेतू रक्षसां मुख्या बलाध्यक्षप्रचोदिताः ॥ ६ ॥

सेनाध्यक्ष की आज्ञा पाते ही, भयङ्कर नेत्रों वाले और भयङ्कर सूरत शक्ल के मुख्य मुख्य राक्षस विविध प्रकार के शस्त्र लेकर निकले ॥ ६ ॥

रथमास्थाय विपुलं तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
मेघाभो मेघवर्णश्च मेघस्वनमहास्वनः ॥ ७ ॥

राक्षसैः संवृतो भीमैस्तदा निर्यात्यकम्पनः ।
न हि कम्पयितुं शक्यः सुरैरपि महामृधे ॥ ८ ॥

मेघ के समान बड़े डीलडौल का और मेघ ही की तरह काले रंग का तथा मेघ ही की तरह गर्जने वाला और कानों में सोने के कुण्डल पहिने हुए अकम्पन, एक बड़े रथ में बैठ तथा भयङ्कर राक्षसों को साथ ले, बाहिर निकला। बड़े बड़े युद्धों में देवता भी इसको युद्ध में नहीं डिगा सके थे ॥ ७ ॥ ८ ॥

अकम्पनस्ततस्तेषामादित्य इव तेजसा ।
तस्य निर्धावमानस्य संरब्धस्य युयुत्सया ॥ ९ ॥

इसीसे इसका अकम्पन नाम पड़ा था। यह तेजस्वी अकम्पन अपनी सेना के बीच सूर्य की तरह चमचमा रहा था। युद्ध करने की इच्छा से क्रुद्ध हो, दौड़ते हुए अकम्पन के ॥ ९ ॥

अकस्माद्दैन्यमागच्छद्धयानां रथवाहिनाम् ।
व्यस्फुरन्नयनं चास्य सव्यं युद्धाभिनन्दिनः ॥ १० ॥

रथ में जुते घोड़े अकस्मात् उदास हो गये। युद्ध का सदा अभिनन्दन करने वाले अकम्पन का बाँया नेत्र फड़कने लगा ॥१०॥

विवर्णो मुखवर्णश्च गद्गदश्चाभवत्स्वनः ।
अभवत्सुदिने चापि [1]दुर्दिनं रूक्षमारुतम् ॥११॥

उसका चेहरा फीका पड़ गया और कण्ठस्वर गद्गद हो गया। सुदिन होने पर भी उसके लिये वह दुर्दिन हो गया अर्थात् सूर्य बादल में छिप गये और रूखी हवा चलने लगी ॥ ११ ॥

ऊचुः खगा मृगाः सर्वे वाचः क्रूरा भयावहाः ।
स सिंहोपचितस्कन्धः शार्दूलसमविक्रमः ॥१२॥

समस्त पशुपक्षी क्रूर और भयावनी बोलियाँ बोलने लगे। सिंह समान ऊँचे कन्धों वाला और शार्दूल के समान विक्रमी अकम्पन, ॥१२॥

तानुत्पातानचिन्त्यैव निर्जगाम रणाजिरम् ।
तदा निर्गच्छतस्तस्य रक्षसः सह राक्षसैः ॥१३॥

इन उत्पातों की कुछ भी परवाह न कर, संग्राम भूमि में गया। सेना सहित उसके जाते ही ॥ १३ ॥

बभूव सुमहान्नादः क्षोभयन्निव सागरम् ।
तेन शब्देन वित्रस्ता वानराणां महाचमूः ॥१४॥

बड़ा भारी शब्द हुआ, जिसने मानों समुद्र को भी खलबला दिया। उस शब्द से वह वानरों की बड़ी सेना भी डर गयी ॥ १४ ॥

द्रुमशैलप्रहरणा योद्धुं समवतिष्ठत ।
तेषां युद्धं महारौद्रं संजज्ञे हरिरक्षसाम् ॥१५॥

---

१ दुर्दिनं—मेघच्छन्नदिनं। (गो०)

लड़ने के लिये पेड़ों और शिलाओं को लिये हुए खड़े वानरों और राक्षसों में महाभयङ्कर युद्ध हुआ ॥ १५ ॥

रामरावणयोरर्थे समभित्यक्तजीविनाम् ।
सर्वे ह्यतिवलाः शूराः सर्वे पर्वतसन्निभाः ॥१६॥

ये वानर और राक्षस यथाक्रम श्रीरामचन्द्र और रावण के लिये अपनी अपनी जानें हथेली पर रखे हुए थे। ये सब ही बड़े बली और बहादुर थे और सब के शरीर पर्वतों की तरह विशाल थे ॥ १६ ॥

हरयो राक्षसश्चैव परस्परजिघांसवः ।
तेषां विनर्दतां शब्दः संयुगेऽतितरस्विनाम् ॥१७॥

वानर और राक्षस एक दूसरे की जान लेने को तुले हुए थे। इस युद्ध में अति वेग वाले योद्धाओं के गर्जने का शब्द ॥ १७ ॥

शुश्रुवे सुमहान्क्रोधादन्योन्यमभिगर्जताम् ।
रजश्चारुणवर्णाभं सुभीममभवद्भृशम् ॥१८॥

उद्भूतं हरिरक्षोभिः संरुरोध दिशो दश ।
अन्योन्यं रजसा तेन कौशेयोद्धूतपाण्डुना ॥१९॥

संवृतानि च भूतानि ददृशुर्न रणाजिरे ।
न ध्वजा न पताका वा *वर्म वा तुरगोऽपि वा ॥२०॥

आयुधं स्यन्दनं वाऽपि ददृशे तेन रेणुना ।
शब्दश्च सुमहांस्तेषां नर्दतामभिधावताम् ॥२१॥

---

* पाठान्तरे—"चर्म"।

सुनाई पड़ने लगा। उभय दलों के क्रुद्ध हो गर्जन तर्जन का बड़ा भयानक शब्द हुआ। राक्षसों और वानरों की सेनाओं के सञ्चार से बहुत सी लाल रंग की बड़ी भयङ्कर धूल उड़ी, जो दसों दिशाओं में छा गयी। क्या ध्वजा, क्या पताका, क्या कवच, क्या घोड़ा, क्या आयुध, क्या रथ—कोई भी वस्तु उस धूल के कारण नहीं देख पड़ती थी। तब हाँ, वानरों और राक्षसों के गर्जने और दौड़ने का बडा भारी कोलाहल ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

श्रूयते तुमुले युद्धे न रूपाणि चकाशिरे।
हरीनेव सुसंक्रुद्धा हरयो जघ्नुराहवे ॥२२॥

उस तुमुल युद्ध में अवश्य सुनाई पड़ता था, किन्तु उनका रूप नहीं देख पड़ता था। उस भयङ्कर अन्धकार में अत्यन्त क्रुद्ध हो वानरों के साथ वानर ही युद्ध करते हुए मार रहे थे ॥ २२ ॥

राक्षसाश्चापि रक्षांसि निजघ्नुस्तिमिरे तदा।
परांश्चैव विनिघ्नन्तः स्वांश्च वानरराक्षसाः ॥२३॥

इसी प्रकार उस अन्धकार में राक्षस भी राक्षसों को मार रहे थे। अर्थात् उस अन्धकार में अपने पराये की पहिचान नहीं हो सकती थी। वानर और राक्षस दोनों अपने अपने शत्रुओं के साथ ही साथ अपने पक्ष वालों को भी मार रहे थे ॥ २३ ॥

रुधिरार्द्रां तदा चक्रुर्महीं पङ्कानुलेपनाम्।
ततस्तु रुधिरौघेण सिक्तं व्यपगतं रजः ॥२४॥

यह युद्ध ऐसा भयङ्कर हुआ कि, युद्धभूमि में रक्त की कीच हो गयी। रुधिर की धार बहने से वहाँ की धूल दब गयी ॥ २४ ॥

शरीरशवसङ्कीर्णा बभूव च वसुन्धरा ।
द्रुमशक्तिशिलाप्रासैर्गदापरिघतोमरैः ॥२५॥

रणभूमि लोथों से ढक गयी । पेड़ों, शक्तियों, शिलाओं, प्रासों, गदाओं, परिघों और तोमरों से ॥ २५ ॥

हरयो राक्षसाश्चैव जघ्नुरन्योन्यमोजसा ।
बाहुभिः परिघाकारैर्युध्यन्तः पर्वतोपमाः ॥२६॥

वानर और राक्षस एक दूसरे पर बलपूर्वक प्रहार कर रहे थे । परिघाकार भुजाओं से युद्ध करते हुए पर्वत की समान ॥ २६ ॥

हरयो भीमकर्माणो राक्षसाञ्जघ्नुराहवे ।
राक्षसास्त्वपि संक्रुद्धाः प्रासतोमरपाणयः ॥२७॥
कपीन्निजघ्निरे तत्र शस्त्रैः परमदारुणैः ।
अकम्पनः सुसंक्रुद्धो राक्षसानां चमूपतिः ॥२८॥

इधर से तो भयङ्कर कर्मकारी वानर राक्षसों को मार रहे थे और उधर से राक्षस भी क्रुद्ध हो, हाथ में प्रास और तोमर आदि अत्यन्त दारुण शस्त्र ले, उनसे वानरों को मार रहे थे । साथ ही राक्षसी सेना का सेनापति अकम्पन अत्यन्त क्रुद्ध हो, ॥ २७ ॥ २८ ॥

[1]संहर्षयति तान्सर्वान्राक्षसान्भीमविक्रमान् ।
हरयस्त्वपि रक्षांसि महाद्रुममहाश्मभिः ॥२९॥

उन भीम विक्रमी समस्त राक्षसों को उत्साहित कर रहा था । वानर भी बड़े बड़े पेड़ों और बड़ी बड़ी शिलाओं से राक्षसों को ॥ २९ ॥

---

१ संहर्षयति—उत्साहयति । (गो०)

विदारयन्त्यभिक्रम्य[1] शस्त्राण्याच्छिद्य[2] वीर्यतः ।
एतस्मिन्नन्तरे वीरा हरयः कुमुदो नलः ॥३०॥
मैन्दश्च द्विविदः क्रुद्धाश्चक्रुर्वेगमनुत्तमम् ।
ते तु वृक्षैर्महावेगा राक्षसानां [3]चमूमुखे ॥३१॥
कदनं सुमहच्चक्रुर्लीलया[4] हरियूथपाः ।
ममन्थू राक्षसान्सर्वे वानरा गणशो भृशम् ॥३२॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

उनसे उनके शस्त्रों को बलपूर्वक छीन छीन कर, सामना करते थे । इतने में वीर वानर कुमुद, नल, मैन्द और द्विविद क्रुद्ध हो कर बड़े वेग से लड़ने लगे । युद्ध में वे बड़े वेगवान वानरयूथपति बड़े बड़े पेड़ों से अनायास बड़े बड़े राक्षसों को मार कर गिराने लगे । इन वानरों ने बहुत से राक्षसों को मथ डाला ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

युद्धकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—※—

तद्दृष्ट्वा सुमहत्कर्म कृतं वानरसत्तमैः ।
क्रोधमाहारयामास युधि तीव्रमकम्पनः ॥ १ ॥

समर में वानरश्रेष्ठों की बहादुरी देख, अकम्पन बहुत क्रुद्ध हुआ ॥ १ ॥

---

१ अभिक्रम्य—अभिमुखी भूय । (गो०) २ आच्छिद्य—अपहृत्य । (गो०)—
३ चमूमुखे—रणमध्ये । (गो० । ४ लीलया—अनायासेन । (गो०)

क्रोधमूर्छितरूपस्तु धून्वन्परमकार्मुकम् ।
दृष्ट्वा तु कर्म शत्रूणां सारथिं वाक्यमब्रवीम् ॥ २ ॥

उसने क्रुद्ध हो अपने धनुष का रोदा टंकोरा और शत्रुओं की वीरता देख, वह अपने सारथी से कहने लगा ॥ २ ॥

तत्रैव तावत्त्वरितं रथं प्रापय सारथे ।
यत्रैते बहवो घ्नन्ति सुबहून्राक्षसान्रणे ॥ ३ ॥

हे सारथे ! तुम तुरन्त मेरा रथ उस जगह पहुँचा दो, जहाँ पर युद्ध में बहुत से वानरगण बहुत बहुत से राक्षसों को मार रहे हैं ॥ ३ ॥

एतेऽत्र बलवन्तो हि भीमकायश्च वानराः ।
द्रुमशैलप्रहरणास्तिष्ठन्ति [1]प्रमुखे मम ॥ ४ ॥

जो विपुल-शरीर-धारी वानर वृक्षों और शिलाओं को लिये हुए, समर की अभिलाषा से मेरे सामने खड़े हैं, बड़े बलवान हैं ॥ ४ ॥

एतान्निहन्तुमिच्छामि समरश्लाघिनो ह्यहम् ।
एतैः प्रमथितं सर्वं दृश्यते राक्षसं बलम् ॥ ५ ॥

अतः समर में बड़ाई चाहने वाला, मैं इन बलवान वानरों को मारना चाहता हूँ । क्योंकि इन्हीं लोगों द्वारा समस्त राक्षसी सेना का नाश होता हुआ देख पड़ता है ॥ ५ ॥

ततः [2]प्रजवनाश्वेन रथेन रथिनांवरः ।
हरीनभ्यहनत्क्रोधाच्छरजालैरकम्पनः ॥ ६ ॥

---

१ प्रमुखे—अग्रे । (गो०) २ प्रजवनाश्वेन —वेगवदश्वेन । (गो०)

रथियों (वीरों) में श्रेष्ठ अकम्पन, अत्यन्त तेज़ चलने वाले घोड़ों के रथ में वैठा हुआ और क्रोध में भर, वहुत से वाण छोड़ता हुआ, वानरों को मारने लगा ॥ ६ ॥

न स्थातुं वानराः शेकुः किं पुनर्योद्धुमाहवे ।
अकम्पनशरैर्भग्नाः सर्व एव विदुद्रुवुः ॥ ७ ॥

अकम्पन ने उस समय ऐसी मारकाट मचायी कि, उसके वाणों की मार से सव वानर भाग खड़े हुए, उससे युद्ध करना तो एक ओर रहा, उसके सामने भी कोई न खड़ा रह सका ॥ ७ ॥

तान्मृत्युवशमापन्नानकम्पनवशं गतान् ।
समीक्ष्य हनुमाञ्ज्ञातीनुपतस्थे महावलः ॥ ८ ॥

परन्तु महावली हनुमान जी अपनी जाति वाले (वानरों) को अकम्पन के वाणों से विवश और मृत्यु के मुख में जाते देख, अकम्पन का सामना करने को आगे वढ़े ॥ ८ ॥

तं महाप्लवगं दृष्ट्वा सर्वे प्लवगयूथपाः ।
समेत्य समरे वीराः संहृष्टाः पर्यवारयन् ॥ ९ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी को अकम्पन का सामना करने को आगे वढ़ते देख, अन्य वानरश्रेष्ठ फिर जुड़वटुर कर एकत्र हो गये और प्रसन्न हो हनुमान जी की सहायता के लिये उनके साथ हो लिये ॥ ९ ॥

अवस्थितं हनूमन्तं ते दृष्ट्वा हरियूथपाः ।
वभूवुर्वलवन्तो हि वलवन्तं समाश्रिताः ॥ १० ॥

बलवान हनुमान जी को अकम्पन का सामना करने को खड़ा होते देख, और उनका सहारा पा, उन भागे हुए वानर यूथपतियों का उत्साह बढ़ा ॥ १० ॥

अकम्पनस्तु शैलाभं हनूमन्तमवस्थितम् ।
महेन्द्र इव धाराभिः शरैरभिववर्ष ह ॥११॥

अपने सामने पर्वत की तरह अटल अचल हनुमान जी को खड़ा देख, अकम्पन ने उन पर उसी प्रकार बाणवृष्टि की; जिस प्रकार इन्द्र जल की वृष्टि करते हैं ॥ ११ ॥

अचिन्तयित्वा बाणौघाञ्शरीरे पतिताञ्शितान् ।
अकम्पनवधार्थाय मनो दध्रे महाबलः ॥१२॥

अपने शरीर में पैने पैने असंख्य बाणों के लगने की ओर कुछ भी ध्यान न दे, महाबली हनुमान जी ने अकम्पन के मारने का उपाय सोचा ॥ १२ ॥

स प्रहस्य महातेजा हनूमान्मारुतात्मजः ।
अभिदुद्राव तद्रक्षः कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥१३॥

वे महातेजस्वी पवननन्दन हनुमान जी पृथ्वी को कंपाते और अट्टहास करते हुए, अकम्पन पर झपटे ॥ १३ ॥

तस्याभिनर्दमानस्य दीप्यमानस्य तेजसा ।
बभूव रूपं दुर्धर्षं दीप्तस्येव विभावसोः ॥१४॥

उस समय सिंहनाद करते हुए और तेज से दीप्यमान पवन-नन्दन ऐसे जान पड़े, मानों दहकती हुई आग हो। उस समय उनका रूप दुर्धर्ष हो गया ॥ १४ ॥

आत्मानमप्रहरणं ज्ञात्वा क्रोधसमन्वितः ।
शैलमुत्पाटयास वेगेन हरिपुङ्गवः ॥१५॥

अपने पास कोई आयुध न जान, कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने क्रोध में भर, बड़े वेग से एक पर्वत उखाड़ लिया ॥ १५ ॥

तं गृहीत्वा महाशैलं पाणिनैकेन मारुतिः ।
स विनद्य महानादं भ्रामयामास वीर्यवान् ॥१६॥

बलवान पवननन्दन ने उस पर्वत को एक हाथ से उठा लिया और उसे घुमाते हुए वे बड़ी ज़ोर से गरजे ॥ १६ ॥

ततस्तमभिदुद्राव राक्षसेन्द्रमकम्पनम् ।
पुरा हि नमुचिं संख्ये वज्रेणेव पुरन्दरः ॥१७॥

उस पर्वत को लिये हुए हनुमान जी उस राक्षसश्रेष्ठ अकम्पन की ओर वैसे ही दौड़े, जैसे पहिले किसी समय इन्द्र वज्र लिये हुए नमुचि की ओर दौड़े थे ॥ १७ ॥

अकम्पनस्तु तद्दृष्ट्वा गिरिशृङ्गं समुद्यतम् ।
दूरादेव महाबाणैरर्धचन्द्रैर्व्यदारयत् ॥१८॥

हनुमान जी को हाथ में पर्वत लिए मारने को तैयार देख, अकम्पन ने दूर ही से अर्धचन्द्राकार बड़े बड़े बाण मार कर, पर्वत के टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ १८ ॥

तत्पर्वताग्रमाकाशे रक्षोबाणविदारितम् ।
विशीर्णं पतितं दृष्ट्वा हनुमान्क्रोधमूर्छितः ॥१९॥

आकाश ही में (अर्थात् मारने के लिये हाथ में ऊपर किये हुए) उस पर्वतशृङ्ग को अकम्पन के बाणों से चूर चूर हो कर नीचे गिरते देख, हनुमान जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ १९ ॥

सोऽश्वकर्णं समासाद्य रोषदर्पान्वितो हरिः ।
तूर्णमुत्पाटयामास महागिरिमिवोच्छ्रितम् ॥२०॥

रोष में भरे हुए हनुमान जी ने अश्वकर्ण (एक प्रकार का शालवृक्ष) वृक्ष के समीप जा, तुरन्त उसे उखाड़ लिया। वह अश्वकर्ण वृक्ष एक बड़े पहाड़ की तरह लंबा था॥ २०॥

तं गृहीत्वा महास्कन्धं सोऽश्वकर्णं महाद्युतिः ।
प्रहस्य परया प्रीत्या भ्रामयामास संयुगे ॥२१॥

महाद्युतिमान हनुमान जी ने युद्धक्षेत्र में उस मोटे तने के अश्वकर्ण को ले कर, परम प्रसन्न हो और अट्टहास करते हुए, उसे घुमाया॥ २१॥

प्रधावन्नुरुवेगेन प्रभञ्जंस्तरसा द्रुमान् ।
हनुमान्परमक्रुद्धश्चरणैर्दारयन्क्षितिम् ॥२२॥

क्रोध और दर्प में भर हनुमान जी ऐसे ज़ोर से दौड़े कि, उनकी जाँघों की रगड़ से, कितने ही पेड़ टूट टूट कर गिर पड़े और उनके पैरों की धमक से पृथिवी धसने लगी॥ २२॥

गजांश्च सगजारोहान्सरथान्रथिनस्तथा ।
जघान हनुमान्धीमान्राक्षसांश्च पदातिगान् ॥२३॥

बुद्धिमान् हनुमान जी ने उस वृक्ष से कितने ही महावतों सहित हाथियों को, रथियों सहित रथों को तथा अनेक पैदल राक्षस सिपाहियों को नष्ट कर डाला॥ २३॥

तमन्तकमिव क्रुद्धं समरे प्राणहारिणम् ।
हनुमन्तमभिप्रेक्ष्य राक्षसा विप्रदुद्रुवुः ॥२४॥

काल की तरह क्रुद्ध और युद्ध में प्राणनाश करने वाले हनुमान जी को देख, राक्षस योद्धा युद्ध छोड़ भाग खड़े हुए ॥२४॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं राक्षसानां भयावहम् ।
ददर्शाकम्पनो वीरश्चुक्रोध च ननाद च ॥२५॥

राक्षस सेनापति वीर अकम्पन, राक्षसों को भय उपजाने वाले हनुमान जी को, अत्यन्त क्रुद्ध हो आक्रमण करते देख, अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और गर्जा ॥ २५ ॥

स चतुर्दशभिर्बाणैः शितैर्देहविदारणैः ।
निर्बिभेद हनुमन्तं महावीर्यमकम्पनः ॥२६॥

उस महाबली अकम्पन ने पैने और शरीर को विदीर्ण करने वाले १४ बाण हनुमान जी के मार कर, उनको घायल कर दिया ॥ २६ ॥

स तदा प्रतिविद्धस्तु बह्वीभिः शरवृष्टिभिः ।
हनुमान्ददृशे वीरः [1]प्ररूढ इव सानुमान् ॥२७॥

बहुत से बाणों की वृष्टि से घायल होने पर, वीर हनुमान जी वृक्षों से युक्त एक गिरिशृङ्ग की तरह देख पड़ते थे ॥ २७ ॥

विरराज महाकायो महावीर्यो महामनाः ।
पुष्पिताशोकसङ्काशो विधूम इव पावकः ॥२८॥

महाकाय, महाबलवान् और महामना हनुमान जी उस समय ऐसे शोभायमान हो रहे थे, जैसे फूला हुआ अशोक का वृक्ष अथवा बिना धुए की (धधकती हुई) आग ॥ २८ ॥

---

१ प्ररूढः—प्ररूढवृक्षः । (गो०)

ततोऽन्यं वृक्षमुत्पाट्य कृत्वा वेगमनुत्तमम् ।
शिरस्यभिजघानाशु राक्षसेन्द्रमकम्पनम् ॥२९॥

अब हनुमान जी ने एक दूसरा पेड़ उखाड़ लिया और बड़े ज़ोर से उसे तुरन्त राक्षसश्रेष्ठ अकम्पन के सिर पर दे मारा ॥ २९ ॥

स वृक्षेण हतस्तेन सक्रोधेन महात्मना ।
राक्षसो वानरेन्द्रेण पपात च ममार च ॥३०॥

क्रोध से पूर्ण, महाबली एवं वानरश्रेष्ठ हनुमान जी द्वारा वृक्ष के प्रहार से घायल हो, वह राक्षस उसी क्षण पृथिवी पर गिर कर मर गया ॥३०॥

तं दृष्ट्वा निहतं भूमौ राक्षसेन्द्रमकम्पनम् ।
व्यथिता राक्षसाः सर्वे क्षितिकम्प इव द्रुमाः ॥३१॥

राक्षसश्रेष्ठ अकम्पन को ज़मीन पर मरा हुआ पड़ा देख, उसकी सेना के अन्य राक्षस योद्धा वैसे ही व्यथित हो थर्रा उठे, जैसे भूकम्प होने पर वृक्ष थर्रा उठते हैं ॥ ३१ ॥

त्यक्तप्रहरणाः सर्वे राक्षसास्ते पराजिताः ।
लङ्कामभिययुस्त्रस्ता वानरैस्तैरभिद्रुताः ॥३२॥

उन पराजित राक्षसों ने अपने अपने हथियार पटक दिये और वानरों द्वारा खदेड़े जा कर, वे भयभीत हो लङ्का की ओर भाग गये ॥३२॥

ते मुक्तकेशाः सम्भ्रान्ता भग्नमानाः पराजिताः ।
स्रवच्छ्रमजलैरङ्गैः श्वसन्तो विप्रदुद्रुवुः ॥३३॥

इस प्रकार भागते समय उन राक्षसों की बड़ी दुर्गति हो रही थी। उनके सिर के बाल बिखर गये थे। उस समय घबड़ाये हुए

होने के कारण और हार जाने के कारण उनका मान भङ्ग हो चुका था। उनके शरीरों से पसीना टपक रहा था और वे हांफते हुए भागे जा रहे थे ॥३३॥

अन्योन्यं प्रममन्थुस्ते विविशुर्नगरं भयात्।
पृष्ठतस्ते *हनूमन्तं प्रेक्षमाणा मुहुर्मुहुः ॥३४॥

वे मारे डर के आपस में एक दूसरे से लटपटाते किसी तरह लङ्का में पहुँचे। किन्तु भागते समय भी वे बार बार फिर फिर कर अपने पीछे हनुमान जी को देखते जाते थे ॥३४॥

तेषु लङ्कां प्रविष्टेषु राक्षसेषु महाबलाः।
समेत्य हरयः सर्वे हनुमन्तमपूजयन् ॥३५॥

उन महाबली राक्षसों के भाग कर लङ्का में घुस जाने पर, सब वानरों ने एकत्र हो (अर्थात् एक स्वर से) हनुमान जी की प्रशंसा की ॥३५॥

सोऽपि प्रहृष्टस्तान्सर्वान्हरीन्प्रत्यभ्यपूजयत्[1]।
हनुमान्सत्त्वसम्पन्नो यथार्हमनुकूलतः ॥३६॥

बलवान हनुमान जी ने भी परम प्रसन्न हो, उन सब वानरों से कहा कि, आप ही लोगों की सहायता से मैंने यह विजय पायी है। फिर उन्होंने वानरों को गले लगा और उनके साथ यथायोग्य बातचीत कर, उनको उत्साहित किया ॥३६॥

[नोट—यहाँ पर आदिकवि ने, एक विजयी वीर द्वारा, अपनी विजयिनी सेना के योद्धाओं के प्रति, विजय के पीछे, विजयी सेनापति के कर्त्तव्य का पालन करवाया है।]

---

१ प्रत्यभ्य पूजयत्—भवत्साहाय्येनेव मया जितमित्येवमिति भावः। (गो०)

* पाठान्तरे—" सुसंमूढः "।

विनेदुश्च यथाप्राणं हरयो जितकाशिनः ।
चकर्षुश्च पुनस्तत्र सप्राणानपि राक्षसान् ॥३७॥

अब विजयी वानर बड़े ज़ोर से गर्जे और अधमरे राक्षसों को भी घसीटने लगे ॥ ३७ ॥

स वीरशोभामभजन्महाकपिः
समेत्य रक्षांसि निहत्य मारुतिः ।
महासुरं भीममित्रनाशनं
यथैव विष्णुर्बलिनं चमूमुखे ॥३८॥

जिस प्रकार भगवान् विष्णु, महाभयङ्कर एवं शत्रुहन्ता (मधु कैटभादि) बड़े बड़े असुरों को मार कर, शोभायमान हुए थे, उसी प्रकार पवननन्दन हनुमान जी राक्षसों को मार वीरोचित शोभा से शोभायमान हुए ॥ ३८ ॥

अपूजयन्देवगणास्तदा कपिं
स्वयं च रामोऽतिबलश्च लक्ष्मणः ।
तथैव सुग्रीवमुखाः प्लवङ्गमा
विभीषणश्चैव महाबलस्तथा ॥३९॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर देवताओं ने, स्वयं अति बलवान् श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी ने, तथा सुग्रीवादि प्रमुख वानरों ने और महा बलवान् विभीषण ने हनुमान जी की प्रशंसा की ॥ ३९ ॥

युद्धकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—※—

अकम्पनवधं श्रुत्वा क्रुद्धो वै राक्षसेश्वरः ।
किञ्चिद्दीनमुखश्चापि सचिवांस्तानुदैक्षत ॥ १ ॥

अकंपन के मारे जाने का संवाद सुन, राक्षसराज रावण क्रुद्ध हुआ और उदास हो, अपने मंत्रियों की ओर निहारने लगा ॥ १ ॥

स तु ध्यात्वा मुहूर्तं तु मन्त्रिभिः संविचार्य च ।
ततस्तु रावणः [1]पूर्वदिवसे राक्षसाधिपः ॥ २ ॥

उसने थोड़ी देर तक कुछ सोचा और तदनन्तर मंत्रियों से परामर्श किया । फिर राक्षसराज रावण दोपहर के होने के पूर्व ही ॥ २ ॥

पुरीं परिययौ लङ्कां सर्वान्गुल्मानवेक्षितुम् ।
तां राक्षसगणैर्गुप्तां गुल्मैर्बहुभिरावृताम् ॥ ३ ॥

ददर्श नगरीं लङ्कां पताकाध्वजमालिनीम् ।
रुद्धां तु नगरीं दृष्ट्वा रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ४ ॥

उस पुरी की मोर्चेबंदी देखने को लङ्कापुरी में चारों ओर घूमा । राक्षसों से रक्षित, अनेक मोर्चेबंदियों से युक्त तथा ध्वजापताकाओं एवं मालाओं से सुसज्जित लङ्कापुरी को तथा वानरों द्वारा डाले हुए पुरी के घेरों को देख, राक्षसराज रावण ने, ॥ ३ ॥ ४ ॥

*उवाचात्महितं काले प्रहस्तं युद्धकोविदम् ।
पुरस्योपनिविष्टस्य सहसा पीडितस्य च ॥ ५ ॥

---

१ पूर्वदिवसे—दिवसस्य पूर्वभागे । (गो०) * पाठान्तरे—" उवाचामर्षतः ।"

नान्यं युद्धात्प्रपश्यामि मोक्षं युद्धविशारद ।
अहं वा कुम्भकर्णो वा त्वं वा सेनापतिर्मम ॥ ६ ॥

और विपत्तिकाल में अपने हितैषी एवं युद्धविशारद प्रहस्त से कहा—हे युद्धविशारद ! शत्रु की सेना लङ्कापुरी को चारों ओर से घेर कर पुरवासियों को जिस प्रकार तंग कर रही है, उससे तो युद्ध करने के सिवाय, इन लोगों से छुटकारा पाने का, अन्य कोई उपाय मुझे नहीं देख पड़ता ; किन्तु स्वयं मैं, अथवा कुम्भकर्ण अथवा मेरे सेनापति तुम, ॥ ५ ॥ ६ ॥

इन्द्रजिद्वा निकुम्भो वा वहेयुर्भारमीदृशम् ।
स त्वं बलमतः शीघ्रमादाय परिगृह्य[1] च ॥ ७ ॥
विजयायाभिनिर्याहि यत्र सर्वे वनौकसः ।
निर्याणादेव ते नूनं [2]चपला हरिवाहिनी ॥ ८ ॥

अथवा इन्द्रजीत, अथवा निकुम्भ—ये ही इस भार को उठा सकते हैं । अतएव तुम सेना को साथ ले कर तथा रथ में सवार हो कर, विजयप्राप्ति के लिये, वहाँ शीघ्र जाओ, जहाँ वे सब वानर ठहरे हुए हैं । तुम्हारे जाते ही वानरी सेना घबड़ा जायगी ॥ ७ ॥ ८ ॥

नर्दतां राक्षसेन्द्राणां श्रुत्वा नादं द्रविष्यति ।
चपला ह्यविनीताश्च चलचित्ताश्च वानराः ॥ ९ ॥

राक्षसश्रेष्ठों का गर्जन सुन वानर इधर उधर भाग जाँयगे । क्योंकि वानर चपल, अशिक्षित और चञ्चलचित्त होते हैं ॥ ९ ॥

---

१ परिगृह्य—रथमास्थितः त्वं । (शि०) २ चपला—धैर्यरहिता । (गो०)

न सहिष्यन्ति ते नादं सिंहनादमिव द्विपाः ।
विद्रुते च बले तस्मिन्रामः सौमित्रिणा सह ॥ १० ॥

वे तुम्हारा गर्जन तर्जन वैसे ही न सह सकेंगे, जैसे हाथी सिंह का गर्जन नहीं सह सकता। जब वानरी सेना भाग जायगी, तब लक्ष्मण सहित रामचन्द्र ॥ १० ॥

[1]अवशस्ते निरालम्बः प्रहस्त वशमेष्यति ।
[2]आपत्संशयिता [3]श्रेयो न तु निःसंशयीकृता ॥ ११ ॥

प्रभुत्वरहित और निरालंब हो, तुम्हारे अधीन हो जायगे। हे प्रहस्त ! इस समय सन्देह तो हार ही में है, हमारे विजय में तो ज़रा भी संशय नहीं है। अथवा हे प्रहस्त ! इस समय यह नहीं कहा जा सकता कि, कौन मारा जायगा; किन्तु हम लोगों की जीत निस्संशय है ॥ ११ ॥

प्रतिलोमानुलोमं वा यद्वा नो मन्यसे हितम् ।
रावणेनैवमुक्तस्तु प्रहस्तो वाहिनीपतिः ॥ १२ ॥

ऐसी दशा में मेरे इस कथन के प्रतिकूल या अनुकूल, जिसमें मेरा हित तुम समझो, वही करो। जब रावण ने इस प्रकार कहा; तब सेनापति प्रहस्त ॥ १२ ॥

राक्षसेन्द्रमुवाचेदमसुरेन्द्रमिवोशना ।
राजन्मन्त्रितपूर्वं नः कुशलैः सह मन्त्रिभिः ॥ १३ ॥

रावण से वैसे ही बोला, जैसे दैत्यराज से शुक्राचार्य बोलते हैं। हे राजन् ! हम लोगों ने कुशल मंत्रियों के साथ इस सम्बन्ध में परामर्श किया था ॥ १३ ॥

---

१ अवशः—प्रभुत्वरहितः। (गो०) २ आपत्—मृतिः परभवभवद्दुःखं वा। (रा०) ३ श्रेयो—विजयस्तु। (रा०)

विवादश्चापि नो वृत्तः समवेक्ष्य परस्परम् ।
प्रदानेन तु सीतायाः श्रेयो व्यवसितं मया ॥ १४ ॥

परन्तु उस समय आपस में विवाद उठ खड़ा हुआ और सब की एक सम्मति न हो पायी। (किन्तु) मैंने आपको सीता के दे डालने का परामर्श दिया था और इसीमें भलाई समझी थी॥ १४॥

अप्रदाने पुनर्युद्धं दृष्टमेतत्तथैव नः ।
सोऽहं [1]दानैश्च [2]मानैश्च सततं पूजितस्त्वया[3] ॥१५॥

उस समय मैंने यह भी कह दिया था कि, यदि सीता न दी गयी, तो युद्ध करना ही पड़ेगा। सो वही युद्ध करने का समय प्राप्त हुआ है। हे राक्षसराज! समय पर भूषणादि प्रदान कर तथा मुझसे प्रिय भाषण (मेरा जीवन तुम्हारे ही अधीन है आदि बातें कह) कर, तुमने सदा मुझे सम्मानित किया अथवा मेरा उत्कर्ष बढ़ाया है॥ १५॥

सान्त्वैश्च विविधैः काले किं न कुर्यां प्रियं तव ।
न हि मे जीवितं रक्ष्यं पुत्रदारधनानि वा ॥ १६ ॥

और विविध प्रकार से समझा बुझा कर धैर्य बंधाया है। अतः इस विपत्तिकाल में, मैं तुम्हारे हितसाधन का काम क्यों न करूँगा? अब मुझे न तो अपने प्राणों की रक्षा की चिन्ता है और न पुत्र स्त्री तथा धनधान्य की कुछ ममता ही है॥ १६॥

त्वं पश्य मां जुहूषन्तं त्वदर्थे जीवितं युधि ।
एवमुक्त्वा तु भर्तारं रावणं वाहिनीपतिः ॥ १७ ॥

---

१ दानैः—भूषणादिप्रदानैः। (गो०) २ मानैः—त्वदधीनं जीवितमित्यादि प्रियभाषणैः। (गो०) ३ पूजितः—उत्कर्षनापादितः। (गो०)

उवाचेदं बलाध्यक्षान्प्रहस्तः पुरतः स्थितान् ।
समानयत मे शीघ्रं राक्षसानां महद्बलम् ॥ १८ ॥

तुम देखो कि, मैं किस प्रकार तुम्हारे लिये इस युद्ध में अपने प्राणों की आहुति देता हूँ। इस प्रकार अपने स्वामी रावण से कह कर, सेनापति प्रहस्त ने सामने खड़े हुए सेनाध्यक्षों से कहा। मेरी राक्षसों की महती सेना सजा कर तुरन्त ले आओ ॥ १७ ॥ १८ ॥

मद्बाणाशनिवेगेन हतानां च रणाजिरे ।
अद्य तृप्यन्तु मांसादाः पक्षिणः काननौकसाम् ॥ १९ ॥

आज इस युद्धभूमि में मेरे बाणों की मार से मरे हुए वानरों के मांस से मांसभक्षी पक्षी तृप्त होंगे ॥ १९ ॥

इत्युक्तास्ते प्रहस्तेन बलाध्यक्षाः कृतत्वराः ।
बलमुद्योजयामासुस्तस्मिन्राक्षसमन्दिरे ॥ २० ॥

इस प्रकार जब प्रहस्त ने कहा, तब वे सेनाध्यक्ष शीघ्रतापूर्वक प्रहस्त के घर ही पर सेना एकत्र करने लगे ॥ २० ॥

सा बभूव मुहूर्तेन तिग्मनानाविधायुधैः ।
लङ्का राक्षसवीरैस्तैर्गजैरिव समाकुला ॥ २१ ॥

थोड़ी ही देर में विविध प्रकार के आयुधधारी भयङ्कर वीर राक्षसों से, गजों की तरह लङ्कापुरी भर गयी ॥ २१ ॥

हुताशनं तर्पयतां ब्राह्मणांश्च नमस्यताम् ।
आज्यगन्धप्रतिवहः सुरभिर्मारुतो ववौ ॥ २२ ॥

मङ्गलकामना के लिये अनेक राक्षस हवन करने लगे। बहुतों ने ब्राह्मणों की वन्दना की। होम किये हुए घी की सुगन्धि मिलने के कारण सुगन्धित हवा चलने लगी ॥ २२ ॥

स्रजश्च विविधाकारा जगृहुस्त्वभिमन्त्रिताः ।
संग्रामसज्जाः संहृष्टा धारयन्राक्षसास्तदा ॥ २३ ॥

युद्ध में जाने के लिये उद्यत अनेक राक्षस, मंत्र से अभिमंत्रित विविध प्रकार के फूलों की मालायें ले और उनको धारण कर बड़े प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

सधनुष्काः कवचिनो वेगादाप्लुत्य राक्षसाः ।
[1]रावणं प्रेक्ष्य राजानं प्रहस्तं पर्यवारयन् ॥ २४ ॥

धनुष लिये और कवच पहिने हुए राक्षसों ने सवारियों से नीचे उतर अपने राजा रावण को प्रणाम किया और प्रहस्त के पास जा और उसे घेर कर वे खड़े हो गये ॥ २४ ॥

अथामन्त्र्य च राजानं भेरीमाहत्य भैरवाम् ।
आरुरोह रथं दिव्यं प्रहस्तः सज्जकल्पितम् ॥ २५ ॥

फिर अति घोर भेरी बजवा और रावण से आज्ञा ले, प्रहस्त सजे हुए एक दिव्य रथ पर चढ़ा ॥ २५ ॥

हयैर्महाजवैर्युक्तं सम्यक्सूतसुसंयतम् ।
महाजलदनिर्घोषं साक्षाच्चन्द्रार्कभास्वरम् ॥ २६ ॥

उस रथ में बड़े शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए थे और बड़ा चतुर रथवान उसको हाँकता था । जब वह रथ चलता था, तब बादलों की गड़गड़ाहट जैसा शब्द होता था । वह चन्द्र सूर्य की तरह प्रकाशमान् था ॥ २६ ॥

उरगध्वजदुर्धर्षं सुवरूथं स्वपस्करम् ।
सुवर्णजालसंयुक्तं प्रहसन्तमिव श्रिया ॥ २७ ॥

---

१ रावणंप्रेक्ष्य:—स्वामितया प्रधानंरावणं अभिवन्द्येत्यर्थः । (गो०)

उसके ऊपर सर्पाकार ध्वजा फहरा रही थी, उसके ऊपर के कलस सुन्दर थे। वह सुवर्ण से भूषित था अथवा उसमें सोने की जाली लगी हुई थी। वह अपने को देख अपनी सुन्दरता की शोभा से मानों आप ही हँस रहा था ॥ २७ ॥

ततस्तं रथमास्थाय रावणार्पितशासनः ।
लङ्काया निर्ययौ तूर्णं बलेन महताऽऽवृतः ॥ २८ ॥

ऐसे दिव्य रथ पर सवार हो और रावण की आज्ञा ले प्रहस्त, बड़ी भारी राक्षसी सेना सहित तुरन्त लङ्का से निकला ॥ २८ ॥

ततो दुन्दुभिनिर्घोषः पर्जन्यनिनदोपमः ।
वादित्राणां च निनदः पूरयन्निव *मेदिनीम् ॥ २९ ॥

उस समय मेघगर्जन की तरह नगाड़े बजे और अन्य बाजों के बजने से सब पृथिवी भर गयी ॥ २९ ॥

शुश्रुवे शङ्खशब्दश्च प्रयाते वाहिनीपतौ ।
निनदन्तः स्वरान्घोरान्राक्षसा जग्मुरग्रतः ॥ ३० ॥

जिस समय प्रहस्त चला, उस समय शङ्ख की ध्वनि सुन पड़ी। उसके आगे आगे गर्जते हुए राक्षस चले ॥ ३० ॥

भीमरूपा महाकायाः प्रहस्तस्य पुरःसराः ।
नरान्तकः कुम्भहनुर्महानादः समुन्नतः ॥ ३१ ॥

भयङ्कर रूपधारी बड़े बड़े डीलडौल के राक्षस प्रहस्त के आगे आगे चलते थे। नरान्तक कुम्भहनु, महानाद, समुन्नत ॥ ३१ ॥

---

* पाठान्तरे—"सागरम्।"

प्रहस्तसचिवा ह्येते निर्ययुः परिवार्य तम् ।
व्यूहेनैव सुघोरेण पूर्वद्वारात्स निर्ययौ ॥ ३२ ॥

ये प्रहस्त के सचिव थे और ये सब उसको चारों ओर से घेर कर जा रहे थे । घोर व्यूह की रचना कर, प्रहस्त लङ्का के पूर्वद्वार से वाहिर निकला ॥ ३२ ॥

गजयूथनिकाशेन बलेन महता वृतः ।
सागरप्रतिमौघेन वृतस्तेन बलेन सः ॥ ३३ ॥

उस समय उसके साथ हाथियों के झुंड की तरह एक बड़ी भारी सेना थी । वह सागर की तरह अपार सेना से घिरा हुआ जा रहा था ॥ ३३ ॥

प्रहस्तो निर्ययौ तूर्णं कालान्तकयमोपमः ।
तस्य निर्याणघोषेण राक्षसानां च नर्दताम् ॥ ३४ ॥

कालान्तक यम की तरह प्रहस्त बड़ी शीघ्रता से लङ्का के वाहिर निकला । उस समय उसके रथ के चलने की गड़गड़ाहट से तथा राक्षसों के गर्जने से ॥ ३४ ॥

लङ्कायां सर्वभूतानि विनेदुर्विकृतैः स्वरैः ।
व्यभ्रमाकाशमाविश्य मांसशोणितभोजनाः ॥ ३५ ॥

समस्त लङ्कावासी जीव विकट स्वर से चिल्लाने लगे । मेघशून्य आकाश में उड़ते हुए रुधिर और मांसभोजी ॥ ३५ ॥

मण्डलान्यपसव्यानि खमाश्चक्रू रथं प्रति ।
वमन्त्यः पावकज्वालाः शिवा घोरा ववाशिरे ॥ ३६ ॥

पक्षी रथ की बाईं ओर चक्कर काटने लगे। गीदड़ियाँ मुखों से आग की लपटें निकाल निकाल, चिल्लाने लगीं ॥ ३६ ॥

अन्तरिक्षात्पपातोल्का वायुश्च परुषो ववौ।
अन्योन्यमभिसंरब्धा ग्रहाश्च न चकाशिरे ॥ ३७ ॥

आकाश से उल्कापात होने लगा—रूखी हवा भी चलने लगी। क्रुद्ध हो आपस में ग्रहों का युद्ध होने लगा। अतः समस्त ग्रह प्रभाहीन हो गये ॥ ३७ ॥

मेघाश्च खरनिर्घोषा रथस्योपरि रक्षसः।
ववृषू रुधिरं चास्य सिषिचुश्च पुरःसरान् ॥ ३८ ॥

मेघ कठोर शब्द कर, प्रहस्त के रथ के ऊपर रुधिर की वर्षा कर, रथ के आगे चलने वालों को रुधिर से तर करने लगे ॥ ३८ ॥

केतुमूर्धनि गृध्रोऽस्य निलीनो दक्षिणामुखः।
तदनुभयतः पार्श्वं समग्रामहरत्प्रभाम् ॥ ३९ ॥

प्रहस्त की सेना के झंडे के ऊपर दक्षिण को मुँह कर गीध आ बैठा और अपने दोनों पंखों को चोंच से खुजलाने लगा। उसने प्रहस्त की सारी शोभा हर ली ॥ ३९ ॥

सारथेर्बहुशश्चास्य *संग्राममभिवर्तिनः।
[1]प्रतोदो न्यपतद्धस्तात्सूतस्य हयसादिनः ॥ ४० ॥

रणभूमि में अनेक बार गये हुए, अनेक युद्धों में सम्मिलित हो चुकने वाले, सूतकुल में उत्पन्न रथ हाँकने वाले रथवान के हाथ से बार बार चाबुक गिरा ॥ ४० ॥

---

१ प्रतोदः—तोत्रंन्यपतत्। (शि०) * पाठान्तरे—"संग्राममवगाहतः।"

निर्याणश्रीश्च यास्यासीद्भास्वरा [1]वसुदुर्लभा ।
सा ननाश मुहूर्तेन समे च स्खलिता हयाः ॥ ४१ ॥

युद्धयात्रा करते समय प्रकाशमान और अष्टवसुओं के लिये भी दुर्लभ जो श्री प्रहस्त की थी, वह थोड़ी ही देर में नष्ट हो गयी और समतल भूमि में दौड़ते हुए घोड़े गिर पड़े ॥ ४१ ॥

प्रहस्तं त्वभिनिर्यान्तं प्रख्यातबलपौरुषम् ।
युधि नानाप्रहरणा कपिसेनाऽभ्यवर्तत ॥ ४२ ॥

प्रसिद्ध बल पौरुष वाले प्रहस्त को निकलते देख, रणभूमि में वानरगण वृक्ष शिला आदि विविध प्रकार के आयुध ले, उससे लड़ने को तैयार हो गये ॥ ४२ ॥

अथ घोषः सुतुमुलो हरीणां समजायत ।
वृक्षानारुजतां[2] चैव गुर्वीरागृह्णतां शिलाः ॥ ४३ ॥

कपिसेना में बड़ा भारी हल्ला मचा। वे बड़े बड़े वृक्षों को उखाड़ने और बड़ी भारी भारी शिलाओं को तोड़ने लगे ॥ ४३ ॥

नदतां राक्षसानां च वानराणां च गर्जताम् ।
उभे प्रमुदिते सैन्ये रक्षोगणवनौकसाम् ॥ ४४ ॥

एक ओर राक्षस नाद कर रहे थे दूसरी ओर वानर गर्ज रहे थे। राक्षसी और वानरी दोनों सेनाओं में हर्ष छाया हुआ था ॥४४॥

वेगितानां समर्थानामन्योन्यवधकाङ्क्षिणाम् ।
परस्परं चाह्वयतां निनादः श्रूयते महान् ॥ ४५ ॥

---

१ वसुदुर्लभा—अष्टवसुदुर्लभा। (गो०) २ आरुजतां—उन्मूलयतां। (गो०)

ये बलवान राक्षस और वेगवान वानर दोनों ही एक दूसरे का नाश करने के लिये फुर्तीले और युद्ध करने में समर्थ तथा एक दूसरे का नाश करने की अभिलाषा रखने वाले योद्धा युद्ध के लिये एक दूसरे को ललकार रहे थे। अतः बड़ा भारी होहल्ला सुन पड़ता था ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्तः कपिराजवाहिनीम्
अभिप्रतस्थे विजयाय दुर्मतिः ।
विवृद्धवेगां च विवेश तां चमूं
यथा मुमूर्षुः शलभो विभावसुम् ॥ ४६ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर राक्षसी सेना का सेनापति खोटी बुद्धि वाला प्रहस्त, युद्ध में विजय प्राप्त करने की इच्छा से, अत्यन्त वेग से वानरों की सेना पर वैसे ही झपटा, जैसे अपने प्राण गँवाने के लिये पतंग दहकते हुए अग्नि पर झपटता है ॥ ४६ ॥

युद्धकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—*—

ततः प्रहस्तं निर्यान्तं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ।
उवाच सस्मितं रामो विभीषणमरिन्दमः ॥ १ ॥

भीम पराक्रमी प्रहस्त को लङ्का से बाहिर निकलते देख, शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र जी ने मुसक्या कर विभीषण से कहा ॥ १ ॥

क एष सुमहाकायो बलेन महता वृतः ।
*आचक्ष्व मे महाबाहो वीर्यवन्तं निशाचरम् ॥ २ ॥

हे महाबाहो ! मुझे बतलाओ यह वीर्यवान और बड़े डीलडौल वाला कौन निशाचर है, जिसके साथ बड़ी भारी सेना है ॥ २ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच विभीषणः ।
एष सेनापतिस्तस्य प्रहस्तो नाम राक्षसः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन उत्तर में विभीषण ने कहा—यह रावण का सेनापति है । इस राक्षस का नाम प्रहस्त है ॥ ३ ॥

लङ्कायां राक्षसेन्द्रस्य त्रिभागबलसंवृतः ।
वीर्यवानस्त्रविच्छूरः प्रख्यातश्च पराक्रमे ॥ ४ ॥

लङ्का में रावण के अधीन जितनी सेना है, उसमें से एक तिहाई सेना इसके अधीन है । यह अस्त्रों का चलाना जानता है और एक प्रसिद्ध पराक्रमी है ॥ ४ ॥

ततः प्रहस्तं निर्यान्तं भीमं भीमपराक्रमम् ।
गर्जन्तं सुमहाकायं राक्षसैरभिसंवृतम् ॥ ५ ॥

भीम पराक्रमी और विशालकाय प्रहस्त, राक्षसी सेना के साथ गर्जता हुआ लङ्का के बाहिर आया ॥ ५ ॥

ददर्श महती सेना वानराणां बलीयसाम् ।
अतिसञ्जातरोषाणां प्रहस्तमभिगर्जताम् ॥ ६ ॥

उसने वानरों की बड़ी बलवान सेना को देखा, जो उसे (प्रहस्त को) देख अत्यन्त कुपित हो गर्ज रही थी ॥ ६ ॥

---

* एक संस्करण में इसके पूर्व यह और है—" आगच्छति महावेगः किंरूपबलपौरुषः ।"

खड्गशक्त्यृष्टिबाणाश्च शूलानि मुसलानि च ।
गदाश्च परिघाः प्रासा विविधाश्च परश्वधाः ॥ ७ ॥
धनूंषि च विचित्राणि राक्षसानां जयैषिणाम् ।
प्रगृहीतान्यशोभन्त वानरानभिधावताम् ॥ ८ ॥

जीतने की इच्छा किये हुए राक्षस, तलवार, शक्ति, डंडे, बाण, शूल, मूसल, गदा, बेंडा (या मुगदर) प्रास तथा विविध प्रकार के परश्वध तथा विचित्र धनुषों का हाथ में लेकर, वानरों पर आक्रमण करते हुए उनके अस्त्रशस्त्र शोभायमान होते थे ॥ ७ ॥ ८ ॥

जगृहुः पादपांश्चापि पुष्पितान्वानरर्षभाः ।
शिलाश्च विपुला दीर्घा योद्धुकामाः प्लवङ्गमाः ॥ ९ ॥

दूसरी ओर वानरश्रेष्ठों ने भी पुष्पित पेड़ और बड़ी लंबी चौड़ी शिलाएँ, राक्षसों से लड़ने के लिये हाथों में ले ली थीं ॥ ६ ॥

तेषामन्योन्यमासाद्य संग्रामः सुमहानभूत् ।
बहूनामश्मवृष्टिं च शरवृष्टिं च वर्षताम् ॥ १० ॥

परस्पर दोनों सेनाएँ जब भिड़ गयीं ; तब बड़ा विकट युद्ध हुआ । दोनों ही ओर के योद्धा, एक दूसरे के ऊपर शिलाओं और बाणों की वर्षा करने लगे ॥ १० ॥

बहवो राक्षसा युद्धे बहून्वानरयूथपान् ।
वानरा राक्षसांश्चापि निजघ्नुर्बहवो बहून् ॥ ११ ॥

इस लड़ाई में बहुत से राक्षसों ने बहुत से वानर यूथपतियों को और बहुत से वानरों ने बहुत से राक्षसों को मार डाला ॥ ११ ॥

शूलैः प्रमथिताः केचित्केचिच्च परमायुधैः[1] ।
परिघैराहताः केचित्केचिच्छिन्नाः परश्वधैः ॥ १२ ॥

कोई कोई वानर शूलों से, कोई कोई चक्रों से, कोई कोई परिघों से मारे गये और कोई कोई फरसों से काट डाले गये ॥ १२ ॥

निरुच्छ्वासाः कृताः केचित्पतिता धरणीतले ।
विभिन्नहृदयाः केचिदिषुसन्धानसन्दिताः ॥ १३ ॥

कोई कोई तो बेदम हो भूमि पर गिर पड़े, किसी का कलेजा चीर डाला गया, किसी के शरीर बाणों से विध गये ॥ १३ ॥

केचिद्द्विधा कृताः खड्गैः स्फुरन्तः पतिता भुवि ।
वानरा राक्षसैः शूलैः पार्श्वतश्च विदारिताः ॥ १४ ॥

कोई कोई तलवार से दो टुकड़े किये जाकर ज़मीन पर पड़े छटपटा रहे थे। वीर राक्षसों ने वानरों की कोखें शूलों से फाड़ डालीं ॥ १४ ॥

वानरैश्चापि संक्रुद्धैः राक्षसौघाः समन्ततः ।
पादपैर्गिरिशृङ्गैश्च सम्पिष्टा वसुधातले ॥ १५ ॥

वानरों ने भी क्रुद्ध हो चारों ओर रणभूमि में पेड़ों और शिलाओं के प्रहार से राक्षसों के दल के दल चूर्ण कर, पृथिवी पर गिरा दिये ॥ १५ ॥

वज्रस्पर्शतलैर्हस्तैर्मुष्टिभिश्च हता भृशम् ।
वेमुः शोणितमास्येभ्यो विशीर्णदशनेक्षणाः ॥ १६ ॥

वानरों के वज्र समान थप्पड़ों और मूँकों की मार से मारे जा कर, राक्षस मुँह से ख़ून गिराने लगे। बहुत से राक्षसों के दाँतों

---

१ परमायुधैः—चक्रैः। (गो०)

को वानरों ने तोड़ डाला, बहुत से राक्षसों की आँखें निकाल लीं ॥ १६ ॥

आर्तस्वनं च स्वनतां सिंहनादं च नर्दताम् ।
बभूव तुमुलः शब्दो हरीणां रक्षसां युधि ॥ १७ ॥

उस समय वानरों और राक्षसों की लड़ाई में घायलों के आर्तनाद का और वीरों के सिंहनाद का बड़ा भारी शब्द हुआ ॥ १७ ॥

वानरा राक्षसाः क्रुद्धा [1]वीरमार्गमनुव्रताः ।
विवृत्तनयनाः क्रूराश्चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ॥ १८ ॥

क्रोध में भर अपना अपना युद्धकौशल दिखलाते हुए वानर और राक्षस, नेत्र टेढ़े कर कर और निडर हो, बड़ी निष्ठुरता से युद्ध कर रहे थे ॥ १८ ॥

नरान्तकः कुम्भहनुर्महानादः समुन्नतः ।
एते प्रहस्तसचिवाः सर्वे जघ्नुर्वनौकसः ॥ १९ ॥

प्रहस्त के ये सब दीवान नरान्तक, कुम्भहनु, महानाद और समुन्नत वानरों को मार रहे थे ॥ १९ ॥

तेषामापततां शीघ्रं निघ्नतां चापि वानरान् ।
द्विविदो गिरिशृङ्गेण जघानैकं नरान्तकम् ॥ २० ॥

वे चारों खदेड़ खदेड़ कर वानरों को मार रहे थे कि, द्विविद ने पर्वत के एक शिखर से नरान्तक को मार डाला ॥ २० ॥

दुर्मुखः *पुनरुत्पाट्य कपिः स विपुलद्रुमम् ।
राक्षसं क्षिप्रहस्तस्तु समुन्नतमपोथयत् ॥ २१ ॥

---

१ वीरमार्गं—युद्धकौशलं । (गो०)   * पाठान्तरे—"पुनरुत्थाय ।"

कपिश्रेष्ठ दुर्मुख ने एक विशाल वृक्ष उखाड़ कर फुर्ती के साथ लड़ते लड़ते समुन्नत को पीस डाला ॥ २१ ॥

जाम्बवांस्तु सुसंक्रुद्धः प्रगृह्य महतीं शिलाम् ।
पातयामास तेजस्वी महानादस्य वक्षसि ॥ २२ ॥

तेजस्वी जाम्बवान् ने क्रोध में भर एक बड़ी भारी शिला उठा कर, महानाद की छाती में दे मारी ॥ २२ ॥

अथ कुम्भहनुस्तत्र तारेणासाद्य वीर्यवान् ।
वृक्षेणाभिहतो मूर्ध्नि प्राणान्सन्त्याजयद्रणे ॥ २३ ॥

कपिवर वीर्यवान् तार ने एक बड़े पेड़ के प्रहार से कुम्भहनु के सिर को चकनाचूर कर दिया । इस प्रहार से कुम्भहनु ने भी युद्ध करते हुए अपने प्राण त्याग दिये ॥ २३ ॥

अमृष्यमाणस्तत्कर्म प्रहस्तो रथमास्थितः ।
चकार कदनं घोरं धनुष्पाणिर्वनौकसाम् ॥ २४ ॥

वानरों द्वारा इस प्रकार राक्षसों का संहार प्रहस्त को असह्य हुआ । वह रथ में बैठा हुआ और धनुष बाण ले वानरों का नाश करने लगा ॥ २४ ॥

आवर्त इव सञ्जज्ञे उभयोः सेनयोस्तदा ।
क्षुभितस्याप्रमेयस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ २५ ॥

उस समय दोनों ओर की सेना वेग से जल के भँवर की तरह चक्कर खाने लगी और खलभलाते हुए अपार समुद्र की तरह सेनाओं में शब्द होने लगा ॥ २५ ॥

महता हि शरौघेण प्रहस्तो युद्धकोविदः ।
अर्दयामास संक्रुद्धो वानरान्परमाहवे ॥२६॥

युद्धविशारद प्रहस्त क्रुद्ध हो, बड़े बड़े बाणों की वृष्टि कर वानरों को मार रहा था ॥ २६ ॥

वानराणां शरीरैश्च राक्षसानां च मेदिनी ।
बभूव निचिता घोरा पतितैरिव पर्वतैः ॥२७॥

उस समय मरे हुए वानरों और राक्षसों की लोथों से पटी हुई रणभूमि, ऐसी जान पड़ती थी ; मानों पर्वतों से भरी हुई पृथिवी हो ॥ २७ ॥

सा मही रुधिरौघेण प्रच्छन्ना सम्प्रकाशते ।
संछन्ना माधवे मासि पलाशैरिव पुष्पितैः ॥२८॥

युद्धक्षेत्र की वह रक्त-रञ्जित-भूमि ऐसी शोभा दे रही थी, जैसी वसन्तऋतु में टेसुओं के फूलों से ढकी हुई भूमि शोभायमान हुआ करती है ॥ २८ ॥

हतवीरौघवप्रां तु भग्नायुधमहाद्रुमाम् ।
शोणितौघमहातोयां यमसागरगामिनीम् ॥२९॥

उस रणरूपी नदी में वीरों की लोथें तो नदी के उभय तट थे, टूटे हुए शस्त्र बड़े बड़े वृक्ष थे, उसमें रुधिर ही जल था। ऐसी वह नदी यमरूपी महासागर में जाकर गिरती थी ॥ २९ ॥

यकृत्प्लीहमहापङ्कां विनिकीर्णान्त्रशैवलाम् ।
भिन्नकायशिरोमीनामङ्गावयवशाद्वलाम्[1] ॥३०॥

---

1 शाद्वल—भूजन्यतृणानि यस्यांस्तां । (गो०)

इस नदी में यकृत (दहिनी कोख का मांस) और प्लीहा (पिलही—बाईं कोख का मांस) रूपी कीचड़ था, इधर उधर बिखरी हुई आँते रूपी इसमें सिवार (जल में उत्पन्न होने वाली घास विशेष) थी। कटे हुए शरीर और सिर रूपी उसमें मछलियाँ थीं। कटे हुए हाथ पैर कान नाक आदि शरीर के अवयव रूपी घास फूस, उस नदी में उतरा रहा था ॥ ३० ॥

गृध्रहंसगणाकीर्णां कङ्कसारससेविताम् ।
मेदःफेनसमाकीर्णामार्तस्तनितनिःस्वनाम् ॥३१॥

उस नदी के तट पर गोध, हंस, कंक, सारस, बैठे हुए थे। वीरों का चर्बीरूपी फेन नदी में उतरा रहा था। घायल वीरों का आर्त्तस्वर मानों उस नदी के जल का कलकल शब्द था ॥३१॥

तां कापुरुषदुस्तारां युद्धभूमिमयीं नदीम् ।
नदीमिव घनापाये हंससारससेविताम् ॥३२॥

वह युद्धभूमिमयी नदी, कायरों के लिये दुस्तर थी। जैसे शरदऋतु में नदियाँ हंस, सारस आदि जलतटवासी पक्षियों से सेवित होती हैं ॥ ३२ ॥

राक्षसाः कपिमुख्याश्च तेरुस्तां दुस्तरां नदीम् ।
यथा पद्मरजोध्वस्तां नलिनीं गजयूथपाः ॥३३॥

और कमलपराग से वर्णान्तर को प्राप्त नदी को पार कर गजेन्द्र, जैसे लाल रंग के हो जाते हैं, वैसे ही इस दुस्तर रणरूपी नदी को पार कर, वानरश्रेष्ठों और वीर राक्षसों के शरीर लाल रंग के हो गये ॥ (गो०) ॥ ३३ ॥

ततः सृजन्तं बाणौघान्प्रहस्तं स्यन्दने स्थितम् ।
ददर्श तरसा नीलो विनिघ्नन्तं प्लवङ्गमान् ॥३४॥

प्रहस्त को रथ पर सवार हो बड़े वेग से बाणों की वर्षा द्वारा वानरों का संहार करते हुए वानरसेनापति नील ने देखा ॥ ३४ ॥

उद्धूत इव वायुः खे महदभ्रबलं बलात् ।
समीक्ष्याभिद्रुतं युद्धे प्रहस्तो वाहिनीपतिः ॥३५॥

और पवन के वेग से आकाश में उड़ते हुए बड़े बड़े बादलों के समान सेनापति प्रहस्त ने अपनी सेना को युद्ध से भागते देखा ॥३५॥

रथेनादित्यवर्णेन नीलमेवाभिदुद्रुवे ।
स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठो विकृष्य परमाहवे ॥३६॥
नीलाय व्यसृजद्बाणान्प्रहस्तो वाहिनीपतिः ।
ते प्राप्य विशिखा नीलं विनिर्भिद्य समाहिताः ॥३७॥

सूर्य सम प्रकाशित रथ को बढ़वा, प्रहस्त, नील के सामने गया। फिर धनुर्धारियों में श्रेष्ठ सेनापति प्रहस्त ने अपने बड़े धनुष को खैंच कर नील के ऊपर बाण छोड़े। वे बाण नील के शरीर को वेध कर, ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

महीं जग्मुर्महावेगा रुषिता इव पन्नगाः ।
नीलः शरैरभिहतो निशितैर्ज्वलनोपमैः ॥३८॥
स तं परमदुर्धर्षमापतन्तं महाकपिः ।
प्रहस्तं ताडयामास वृक्षमुत्पाट्य वीर्यवान् ॥३९॥

बड़े वेग से वैसे ही ज़मीन में घुस गये; जैसे क्रुद्ध सर्प बड़ी फुर्ती से अपने बिल में घुस जाता है। अग्नि के समान चमचमाते पैने बाणों से घायल हो कर भी बलवान नील ने, उस परम दुर्धर्ष प्रहस्त को अपने ऊपर आक्रमण करते देख, एक पेड़ उखाड़ कर उसके मारा ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

स तेनाभिहतः क्रुद्धो नदन्राक्षसपुङ्गवः ।
ववर्ष शरवर्षाणि प्लवङ्गानां चमूपतौ ॥४०॥

उस वृक्ष के लगने पर क्रुद्ध हो गर्जते हुए राक्षसश्रेष्ठ प्रहस्त ने वानरों के सेनापति नील के ऊपर बाणों की वर्षा की ॥ ४० ॥

तस्य बाणगणान्घोरान्राक्षसस्तस्य महाबलः ।
अपारयन्वारयितुं प्रत्यगृह्णान्निमीलितः ॥४१॥

उस महाबली प्रहस्त के भयङ्कर बाणों को रोकने में असमर्थ हो नील ने नेत्र बन्द कर उन्हें वैसे ही सहन किया ॥ ४१ ॥

यथैव गोवृषो वर्षं शारदं शीघ्रमागतम् ।
एवमेव प्रहस्तस्य शरवर्षं दुरासदम् ॥४२॥

निमीलिताक्षः सहसा नीलः सेहे सुदारुणम् ।
रोषितः शरवर्षेण सालेन महता महान् ॥४३॥

जैसे शरदऋतु की शीघ्र होने वाली वर्षा को वृषभ सहन कर लेता है। इस प्रकार प्रहस्त को दुस्सह और सुदारुण बाणवृष्टि को नील ने नेत्र बन्द कर सहन कर लिया। फिर उस शरवृष्टि से अत्यन्त क्रुद्ध हो और साल का एक बड़ा पेड़ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

प्रजघान हयान्नीलः प्रहस्तस्य मनोजवान् ।
ततः स चापमुद्गृह्य प्रहस्तस्य महाबलः ॥४४॥

उखाड़, नील ने उससे प्रहस्त के रथ के, मन के समान शीघ्रगामी घोड़ों को मार डाला। तदनन्तर प्रहस्त के हाथ से उसका धनुष छीन कर महाबली ॥ ४४ ॥

बभञ्ज तरसा नीलो ननाद च पुनः पुनः ।
विधनुस्तु कृतस्तेन प्रहस्तो वाहिनीपतिः ॥४५॥

नील ने बलपूर्वक तोड़ डाला और फिर बार बार गरज गर्जा। धनुष रहित किये जाने पर सेनापति प्रहस्त, ॥ ४५ ॥

प्रगृह्य मुसलं घोरं स्यन्दनादवपुप्लुवे ।
तावुभौ वाहिनीमुख्यौ जातवैरौ तरस्विनौ ॥४६॥

एक मुसल ले रथ के नीचे कूद पड़ा। अन्त में दोनों बलवान सेनापति एक दूसरे के महाशत्रु हो गये थे ॥ ४६ ॥

स्थितौ क्षतजदिग्धाङ्गौ [1]प्रभिन्नाविव कुञ्जरौ ।
उल्लिखन्तौ सुतीक्ष्णाग्रैर्दंष्ट्राभिरितरेतरम् ॥४७॥

मतवाले हाथियों के समान लड़ते लड़ते वे दोनों लोहूलुहान हो गये थे। दोनों ही एक दूसरे को अपने पैने पैने दाँतों से चींथ रहे थे ॥ ४७ ॥

सिंहशार्दूलसदृशौ सिंहशार्दूलचेष्टितौ ।
विक्रान्तविजयौ वीरौ समरेष्वनिवर्तिनौ ॥४८॥

वे दोनों पराक्रम में सिंह और शार्दूल के समान थे और सिंह और शार्दूल ही की तरह लड़ भी रहे थे। वे दोनों बड़े पराक्रमी, तथा विजयी वीर थे और युद्ध में कभी पीठ फेरने वाले न थे ॥४८॥

काङ्क्षमाणौ यशः प्राप्तुं वृत्रवासवयोः समौ ।
आजघान तदा नीलं ललाटे मुसलेन सः ॥४९॥

---

१ प्रभिन्नौ—मत्तौ । (गो०)

प्रहस्तः परमायत्तस्तस्य सुस्राव शोणितम् ।
ततः शोणितदिग्धाङ्गः प्रगृह्य सुमहातरुम् ॥५०॥

वे दोनों ही वीर वृत्रासुर और इन्द्र की तरह लड़ते हुए यशप्रार्थी थे। अर्थात् बड़ाई अथवा नामवरी चाहते थे। लड़ते लड़ते प्रहस्त ने नील के ललाट में बड़ी ज़ोर से मूसल मारा, जिससे उसके सिर से रुधिर की धार बहने लगी। तब रुधिर से तरबतर नील ने एक बड़ा भारी पेड़ उखाड़ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

प्रहस्तस्योरसि क्रुद्धो विससर्ज महाकपिः ।
तमचिन्त्यप्रहारं स प्रगृह्य मुसलं महत् ॥५१॥

और बड़े क्रोध के साथ उसे प्रहस्थ की छाती में मारा। किन्तु प्रहस्त ने उस वृक्ष के प्रहार को कुछ भी न समझा। बड़ा भारी मूसल ले ॥ ५१ ॥

अभिदुद्राव वलिनं वलान्नीलं प्लवङ्गमम् ।
तमुग्रवेगं संरब्धमापतन्तं महाकपिः ॥५२॥

वह बड़े ज़ोर से बलवान नील के ऊपर झपटा। कपिश्रेष्ठ महा वेगवान नील ने उस उग्र वेगवान् राक्षस को क्रोध में भर अपनी ओर आते देख, ॥ ५२ ॥

ततः सम्प्रेक्ष्य जग्राह महावेगो महाशिलाम् ।
तस्य युद्धाभिकामस्य मृधे मुसलयोधिनः ॥५३॥

एक बड़ी शिला उठा ली और उस युद्धाभिलाषी और मूसल से लड़ने वाले प्रहस्त के सिर पर तुरन्त पटक दी ॥ ५३ ॥

प्रहस्तस्य शिलां नीलो मूर्ध्नि तूर्णमपातयत् ।
सा तेन कपिमुख्येन विमुक्ता महती शिला ॥५४॥

विभेद बहुधा घोरा प्रहस्तस्य शिरस्तदा ।
स गतासुर्गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः ॥५५॥

कपिश्रेष्ठ नील की फैंकी हुई उस शिला के प्रहार से प्रहस्त का सिर चकनाचूर हो गया अथवा शिला लगने से प्रहस्थ के सिर के बहुत से टुकड़े हो गये। नील की फैंकी हुई उस शिला के प्रहार से प्रहस्त निर्जीव, कान्तिहीन, बलहीन और निश्चेष्ट हो कर ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

पपात सहसा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ।
प्रभिन्नशिरसस्तस्य बहु सुस्राव शोणितम् ॥५६॥

वैसे ही सहसा पृथ्वी पर गिर पड़ा; जैसे कटा हुआ पेड़ गिर पड़ता है। प्रहस्त के कटे हुए सिर से बहुत सा रक्त बहा ॥ ५६ ॥

शरीरादपि सुस्राव गिरेः प्रस्रवणं यथा ।
हते प्रहस्ते नीलेन तदकम्प्यं महद्बलम् ॥५७॥

सिर ही से नहीं बल्कि उसके सारे शरीर से वैसे ही रक्त झरा जैसे पहाड़ से जल झरता है। नील द्वारा प्रहस्त के मारे जाने पर प्रहस्त की कभी विचलित न होने वाली महती सेना के ॥ ५७ ॥

राक्षसामप्रहृष्टानां लङ्कामभिजगाम ह ।
न शेकुः समरे स्थातुं निहते वाहिनीपतौ ॥५८॥

राक्षस लोग उदास हो लङ्कापुरी में चले गये। क्योंकि अपने सेनापति के मारे जाने पर वे युद्ध में वैसे ही न टिक सके ॥ ५८ ॥

सेतुबन्धं समासाद्य विकीर्णं सलिलं यथा ।
हते तस्मिंश्चमूमुख्ये राक्षसास्ते निरुद्यमाः ॥५९॥

जैसे बाँध टूट जाने पर पानी नहीं टिक सकता । प्रहस्त के मारे जाने पर वे समस्त राक्षस निरुद्यम हो ॥ ५९ ॥

रक्षःपतिगृहं गत्वा ध्यानमूकत्वमास्थिताः ।
प्राप्ताः शोकार्णवं तीव्रं निःसंज्ञा इव तेऽभवन् ॥६०॥

राक्षसराज रावण के भवन में गये और चुपचाप ध्यान लगाये हुए खड़े हो गये । वे राक्षस तीव्रशोकरूपी समुद्र में निमग्न हो, अचेत से हो गये थे ॥ ६० ॥

ततस्तु नीलो विजयी महाबलः
प्रशस्यमानः स्वकृतेन कर्मणा ।
समेत्य रामेण सलक्ष्मणेन च
प्रहृष्टरूपस्तु बभूव यूथपः ॥६१॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

महाबली वानरयूथपति नील विजयी हो, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के पास गये और अपनी बहादुरी के लिये उनसे अपनी प्रशंसा सुन, वे अत्यन्त हर्षित हुए ॥ ६१ ॥

युद्धकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—※—

तस्मिहन्ते राक्षससैन्यपाले
प्लवङ्गमानामृषभेण युद्धे ।
भीमायुधं सागरतुल्यवेगं
विदुद्रुवे राक्षसराज सैन्यम् ॥ १ ॥

जब नील ने सेनापति प्रहस्त को मार डाला, तब भयङ्कर आयुध धारण किये राक्षसराज रावण की सेना, समुद्र के वेग की तरह, ज़ोर से भाग खड़ी हुई ॥ १ ॥

गत्वाथ रक्षोधिपतेः शशंसुः
सेनापतिं पावकसूनुशस्तम् ।
तच्चापि तेषां वचनं निशम्य
रक्षोधिपः क्रोधवशं जगाम ॥ २ ॥

और राक्षसपति के पास जा कर अग्निनन्दन नील द्वारा प्रहस्त का मारा जाना निवेदन किया। उन लोगों के वचन सुन रावण भी अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ २ ॥

संख्ये प्रहस्तं निहतं निशम्य
शोकार्दितः क्रोधपरीतचेताः ।
उवाच तान्नैर्ऋतयोधमुख्या-
निन्द्रो यथा चामरयोधमुख्यान् ॥ ३ ॥

युद्ध में प्रहस्त का मारा जाना सुन, शोकाकुल और क्रुद्ध हो रावण, अन्य सेनापतियों से वैसे ही बोला, जैसे इन्द्र अपने मुख्य मुख्य योद्धा देवताओं से बोलते हैं ॥ ३ ॥

नावज्ञा रिपवे कार्या यैरिन्द्रबलसूदनः ।
सूदितः सैन्यपालो मे सानुयात्रः सकुञ्जरः ॥ ४ ॥

हे राक्षसों ! जिन शत्रुओं ने, इन्द्र का मान भङ्ग करने वाले सेनापति प्रहस्त को, उसके अनुयायी योद्धाओं तथा हाथियों सहित मार डाला, उन शत्रुओं को तुच्छ न समझना चाहिये ॥ ४ ॥

सोऽहं रिपुविनाशाय विजयायाविचारयन् ।
स्वयमेव गमिष्यामि रणशीर्षं तदद्भुतम्[1] ॥ ५ ॥

अब मैं स्वयं उस अद्भुत रणक्षेत्र में उन शत्रुओं को मारने तथा विजय प्राप्त करने के लिये जाऊँगा ॥ ५ ॥

अद्य तद्वानरानीकं रामं च सह लक्ष्मणम् ।
निर्दहिष्यामि बाणौघैर्वनं दीप्तैरिवाग्निभिः ॥ ६ ॥
[अद्य सन्तर्पयिष्यामि पृथिवीं कपिशोणितैः ।
रामं च लक्ष्मणं चैव प्रेषयिष्ये यमक्षयम् ॥]

आज मैं उस वानरी सेना को तथा लक्ष्मण सहित श्रीराम को अपने बाणों से उसी प्रकार दग्ध कर दूँगा ; जैसे दहकती हुई आग वन को भस्म कर देती है। आज मैं वानरों के रक्त से मेदिनी की प्यास बुझा दूँगा और राम लक्ष्मण को यमालय भेज दूँगा ॥ ६ ॥

स एवमुक्त्वा ज्वलनप्रकाशं
रथं तुरङ्गोत्तमराजयुक्तम् ।

---

१ अद्भुतं—दुर्बलैः प्रबलविनाशानादाश्चर्यं । (गो०)

[1]प्रकाशमानं वपुषा[2] ज्वलन्तं
समारुरोहामरराजशत्रुः ॥ ७ ॥

अलङ्कारों की जगमगाहट से चमचमाता तथा स्वरूपतः दीप्तमान इन्द्र का शत्रु रावण, उत्तम घोड़ों से युक्त तथा अग्नि के समान चमचमाते रथ पर सवार हुआ ॥ ७ ॥

स शङ्खभेरीपणवप्रणादै-
रास्फोटितक्ष्वेलितसिंहनादैः ।
[3]पुण्यैः स्तवैश्चाप्यभिपूज्यमान-
स्तदा ययौ राक्षसराजमुख्यः ॥ ८ ॥

उस समय तुरही, शङ्ख और ढोल बजने लगे। वीरों ने ताल ठोंके और अपनी बड़ाई कर कर उन्होंने सिंहनाद किया। सुन्दर स्तुतियों द्वारा प्रशंसित हो, रावण ने युद्धयात्रा की ॥ ८ ॥

स शैलजीमूतनिकाशरूपै-
र्मांसादनैः पावकदीप्तनेत्रैः ।
बभौ वृतो राक्षसराजमुख्यो
भूतैर्वृतो रुद्र *इवामरेशः ॥ ९ ॥

पहाड़ों की तरह तथा बादल की तरह बड़े डीलडौल के, अग्नि की तरह चमकते नेत्रों वाले, तथा मांसभक्षी राक्षसों के साथ रावण; उसी प्रकार शोभायमान हुआ, जिस प्रकार महादेव जी, भूतों के बीच शोभित होते हैं ॥ ९ ॥

---

१ प्रकाशमानं—अलङ्कारैर्भासमानं। (गो०) २ वपुषा ज्वलन्तं—स्वरूपत एव प्रकाशमानं। (गो०) ३ पुण्यैः—चारुभिः। (गो०) * पाठान्तरे—"इवासुरेशः।"

ततो नगर्याः सहसा *महौजसा
निष्क्रम्य तद्वानरसैन्यमुग्रम् ।
महार्णवाभ्रस्तनितं ददर्श
समुद्यतं पादपशैलहस्तम् ॥१०॥

तदनन्तर उस महातेजस्वी रावण ने सेना सहित लङ्कापुरी के बाहिर जा, महासागर एवं महामेघ के समान गर्जते हुए तथा युद्ध करने को हाथ में शिलाएँ तथा पेड़ लिये हुए उग्ररूप वाले वानरों की सेना को देखा ॥१०॥

तद्राक्षसानीकमतिप्रचण्डम्
आलोक्य रामो भुजगेन्द्रबाहुः[1] ।
विभीषणं [2]शस्त्रभृतां वरिष्ठ-
मुवाच [3]सेनानुगतः पृथुश्रीः ॥११॥

राक्षसों की उस प्रचण्ड सेना को देख, युद्ध के लिये उत्सुक हो बाहुयुगल पसारे हुए तथा विजयश्री से कान्तिमान तथा अपने स्वामी की रक्षा के लिये चारों ओर स्थित वानरी सेना से घिरे हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने वीरभटों के तारतम्य अर्थात् बलाबल को जानने वाले विभीषण से कहा ॥११॥

नानापताकाध्वजछत्रजुष्टं
प्रासासिशूलायुधशस्त्रजुष्टम् ।

---

१ भुजगेन्द्रबाहुः—युद्धौत्सुक्येन प्रवर्धमानबाहुः । (गो०) २ शस्त्रभृतां-वरिष्ठं वीरभटतारतम्यज्ञमिति भावः । (रा०) ३ सेनानुगतः—स्वामिसंरक्षणाय सर्वतः समवेत सेनापरिवृतः । (गो०) * पाठान्तरे—" महौजा । "

सैन्यं गजेन्द्रोपमनागजुष्टं
कस्येदमक्षोभ्यमभीरुजुष्टम् ॥१२॥

नाना प्रकार की ध्वजाओं तथा छत्र से युक्त; प्रास, शूल, धनुषादि आयुधों को धारण किये हुए, निडर और अचल राक्षसों से युक्त एवं ऐरावत हाथी के समान हाथियों से सेवित यह सेना किसकी है ॥१२॥

ततस्तु रामस्य निशम्य वाक्यं
विभीषणः शक्रसमानवीर्यः ।
शशंस रामस्य बलप्रवेकं
महात्मनां राक्षसपुङ्गवानाम् ॥१३॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, इन्द्र के समान पराक्रमी विभीषण उन महाधैर्यवान राक्षसश्रेष्ठों की सैन्यप्रवर का परिचय देते हुए कहने लगे ॥१३॥

योऽसौ गजस्कन्धगतो महात्मा
नवोदितार्कोपमताम्रवक्त्रः ।
प्रकम्पयन्नागशिरोऽभ्युपैति
ह्यकम्पनं त्वेनमवेहि राजन् ॥१४॥

हे राजन्! जो धैर्यवान् और प्रातःकालीन सूर्य की तरह लाल मुख वाला वीर हाथी के ऊपर बैठा हुआ हाथी का सिर कम्पाता चला आता है यह (दूसरा) अकम्पन है ॥ १४ ॥

योऽसौ रथस्थो मृगराजकेतुः
धून्वन्धनुः शक्रधनुःप्रकाशम् ।

करीव भात्युग्रविवृत्तदंष्ट्रः
स इन्द्रजिन्नाम वरप्रधानः ॥१५॥

जो सिंह की ध्वजा से युक्त रथ पर चढ़, इन्द्र के धनुष के समान अपने धनुष को बार बार टङ्कोरता हुआ, बड़े बड़े दाँत निकाले हुए हाथी की तरह शोभित चला आता है; यह वरदान प्राप्त किये हुए राक्षसश्रेष्ठ इन्द्रजीत है ॥१५॥

यश्चैष विन्ध्यास्तमहेन्द्रकल्पो
धन्वी रथस्थोऽतिरथोऽतिवीरः[1] ।
विस्फारयंश्चापमतुल्यमानं
नाम्नातिकायोऽतिविवृद्धकायः ॥१६॥

जो विन्ध्याचल, अस्ताचल और महेन्द्राचल के समान ऊँचा, तेजस्वी और अचल धनुष बाण लिये, हज़ार घोड़ों से युक्त रथ में सवार, बड़ा शूरवीर, बड़े भारी धनुष को टङ्कोरता हुआ चला आता है; वह बड़े भारी शरीर वाला अतिकाय नाम का राक्षस है ॥ १६ ॥

योऽसौ नवार्कोदितताम्रचक्षुः
आरुह्य घण्टानिनदप्रणादम् ।
गजं खरं गर्जति वै महात्मा
महोदरो नाम स एष वीरः ॥१७॥

यह जो प्रातःकालीन सूर्य के समान लाल लाल नेत्र वाला, घंटा बजाते हुए हाथी पर सवार हो, बड़ा कठोर शब्द करता हुआ चला आता है, यह महाधैर्यवान् महोदर नामक वीर है ॥ १७ ॥

---

१ अतिरथः—सहस्राश्वयुक्तत्वेनातिशयित रथः । (गो०)

योऽसौ हयं काञ्चनचित्रभाण्डम्
आरुह्य सन्ध्याभ्रगिरिप्रकाशम् ।
प्रासं समुद्यम्य मरीचिनद्धं
पिशाच एषोऽशनितुल्यवेगः ॥१८॥

जो विविध प्रकार के सुवर्ण भूषणों से भूषित, सन्ध्याकालीन मेघ अथवा पर्वत के समान ऊँचे घोड़े पर सवार हो, किरनों की झालरदार प्रास उठाये चला आता है, इस वज्र के समान वेगवान वीर का नाम पिशाच है ॥ १८ ॥

यश्चैष शूलं निशितं प्रगृह्य
विद्युत्प्रभं किङ्करवज्रवेगम् ।
वृषेन्द्रमास्थाय गिरिप्रकाशम्
आयाति योऽसौ त्रिशिरा यशस्वी ॥१९॥

सो हाथ में, वज्र से भी अधिक वेगवान और बिजली की तरह चमचमाता पैना त्रिशूल लिये हुए, पहाड़ के समान ऊँचे वृषभश्रेष्ठ पर चढ़ा हुआ आ रहा है, यह यशस्वी त्रिशिरा है ॥ १९ ॥

असौ च जीमूतनिकाशरूपः
कुम्भः पृथुव्यूढसुजातवक्षाः ।
समाहितः पन्नगराजकेतुः
विस्फारयन्भाति धनुर्विधून्वन् ॥२०॥

यह जो मेघ के समान रूपवाला है, जिसकी छाती मांसल, विशाल और सुन्दर है, तथा जो सावधान होकर नागराज की ध्वजा फहराता हुआ, तथा धनुष को टङ्कोरता हुआ चला आता है, कुम्भ है ॥ २० ॥

यश्चैष जाम्बूनदवज्रजुष्टं
दीप्तं [1]सधूमं परिघं प्रगृह्य ।
आयाति रक्षोबलकेतुभूत-
स्त्वसौ निकुम्भोऽद्भुतघोरकर्मा ॥२१॥

यह जो सुवर्ण का बना और हीरा जटित सधूमअग्नि की तरह प्रदीप्त परिघ (लोहे का मुग्दर) लिये हुए है, राक्षसी सेना का पताका रूप अर्थात् राक्षसी सेना में प्रधान बना हुआ चला आता है, यह अद्भुत रणकर्म करने वाला निकुम्भ है ॥ २१ ॥

यश्चैष चापासिशरौघजुष्टं
पताकिनं पावकदीप्तरूपम् ।
रथं समास्थाय विभात्युदग्रो
नरान्तकोऽसौ नगशृङ्गयोधी ॥२२॥

जो धनुष, तलवार, बाणों के समूह से युक्त, पताका सहित, अग्नि की तरह चमचमाते रथ पर चढ़ा हुआ, बहुत लंबा दिखलाई पड़ता है, यह नरान्तक है। जब इसे अपने साथ कोई युद्ध करने योग्य नहीं मिलता; तब यह अपनी भुजाओं की खुजली मिटाने को पहाड़ों के शिखरों से लड़ा करता है ॥ २२ ॥

यश्चैष नानाविधघोररूपैः
व्याघ्रोष्ट्रनागेन्द्रमृगाश्ववक्त्रैः ।
भूतैर्वृतो भाति विवृत्तनेत्रैः
सोऽसौ सुराणामपि दर्पहन्ता ॥२३॥

---

१ सधूमं—सधूममिवस्थितं । (गो०)

यह जो व्याघ्र, ऊँट, हाथी, मृग, घोड़ा आदि विविध प्रकार के भयङ्कर मुखाकृति वाले तथा घूर्णित नेत्रों वाले भूतों को साथ लिये हुए बैठा है, तथा जो देवताओं के भी दर्प को दलन करने वाला है, ॥ २३ ॥

यत्रैतदिन्द्रप्रतिमं विभाति
छत्रं सितं सूक्ष्मशलाकमग्र्यम् ।
अत्रैष रक्षोधिपतिर्महात्मा
भूतैर्वृतो रुद्र इवावभाति ॥ २४ ॥

जिसके ऊपर इन्द्र की तरह सफेद तथा पतली कमानियों का छाता तना हुआ है, वही राक्षसराज रावण है और वह भूतों से घिरे हुए महादेव जी की तरह शोभित हो रहा है ॥ २४ ॥

असौ किरीटी चलकुण्डलास्यो
नगेन्द्रविन्ध्योपमभीमकायः ।
महेन्द्रवैवस्वतदर्पहन्ता
रक्षोधिपः सूर्य इवावभाति ॥ २५ ॥

जो मुकुट धारण किये हुए है तथा जिसका मुखमण्डल झलमलाते हुए कुण्डलों से अलङ्कृत है, जिसका शरीर हिमालय अथवा विन्ध्याचल की तरह भयङ्कर है और जो इन्द्र तथा यम के अभिमान को भी चूर चूर करने वाला है और जो सूर्य की तरह प्रदीप्त जान पड़ता है; वही राक्षसों का राजा अर्थात् रावण है ॥ २५ ॥

प्रत्युवाच ततो रामो विभीषणमरिन्दमम् ।
अहो दीप्तो[1] महातेजा[2] रावणो राक्षसेश्वरः ॥ २६ ॥

---

१ दीप्तः—कान्तिमान् । (गो०) २ महातेजाः—महाप्रतापः । (गो०)

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रुहन्ता विभीषण से कहा, वाह! सचमुच राक्षसराज रावण बड़ा कान्तिमान और बड़ा प्रतापी है ॥ २६ ॥

आदित्य इव दुष्प्रेक्षो रश्मिभिर्भाति रावणः ।
*न व्यक्तं लक्षये ह्यस्य रूपं तेजः समावृतम् ॥ २७ ॥

किरणों से चमकने वाले सूर्य की तरह इसको और कोई नहीं ताक सकता। मारे तेज के रावण का रूप भी स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़ता ॥ २७ ॥

देवदानववीराणां वपुर्नैवंविधं भवेत् ।
यादृशं राक्षसेन्द्रस्य वपुरेतत्प्रकाशते ॥ २८ ॥

राक्षसराज रावण का जैसा रूप दिखलाई पड़ रहा है, वैसा रूप तो किसी भी शूरवीर देवता अथवा दानव का नहीं है ॥ २८ ॥

सर्वे पर्वतसङ्काशाः सर्वे पर्वतयोधिनः ।
सर्वे दीप्तायुधधरा योधाश्चास्य महौजसः ॥ २९ ॥

इस महाबली के साथ जो योद्धा हैं, वे भी तो सब के सब पर्वत के समान विशाल शरीरधारी, पर्वतों से लड़ने वाले तथा चमचमाते आयुध लिये हुए हैं ॥ २९ ॥

भाति राक्षसराजोऽसौ प्रदीप्तैर्भीमविक्रमैः ।
भूतैः परिवृतस्तीक्ष्णैर्देहवद्भिरिवान्तकः ॥ ३० ॥

इन योद्धाओं के बीच राक्षसराज रावण, वैसे ही शोभित हो रहा है; जैसे उग्र एवं प्रशस्त शरीर वाले तथा भूतों से घिरे हुए साक्षात् यमराज ॥ ३० ॥

---

* पाठान्तरे—"सुव्यक्तं।"

दिष्ट्याऽयमद्य पापात्मा मम दृष्टिपथं गतः ।
अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि सीताहरणसम्भवम् ॥ ३१ ॥

मेरे सौभाग्य से यह दुष्टात्मा आज मेरे सामने आ गया है। आज मैं सीताहरण का क्रोध इस पर छोड़ूँगा ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामो धनुरादाय वीर्यवान् ।
लक्ष्मणानुचरस्तस्थौ समुद्धृत्य शरोत्तमम् ॥ ३२ ॥

यह कह वीर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी धनुष ले और अच्छा बाण निकाल तथा लक्ष्मण को पीछे कर खड़े हो गये ॥ ३२ ॥

ततः स रक्षोधिपतिर्महात्मा
रक्षांसि तान्याह महाबलानि ।
द्वारेषु चर्यागृहगोपुरेषु
सुनिर्वृतास्तिष्ठत निर्विशङ्काः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर महाधैर्यवान रावण ने अपने बड़े बलवान राक्षसों को आज्ञा दी कि, तुम लोग रनवास के फाटकों पर, राजमार्ग पर, विशाल भवनों के द्वारों पर, तथा लङ्का के बाहिरी फाटकों पर जाकर चैन से निडर हो खड़े हो जाओ ॥ ३३ ॥

इहागतं मां सहितं भवद्भिः
वनौकसश्छिद्रमिदं विदित्वा ।
शून्यां पुरीं दुष्प्रसहां प्रमथ्य
प्रधर्षयेयुः सहसा समेताः ॥ ३४ ॥

नहीं तो यदि कहीं इन चञ्चल वानरों को हम लोगों की यह कमज़ोरी मालूम हो गयी कि, आप सब लोग मेरे साथ रणभूमि

में चले आये हैं और लङ्कापुरी सूनी पड़ी है, तो ये दुष्प्रवेश्य पुरी में घुस पुरी को ध्वंस्त कर डालेंगे ॥ ३४ ॥

विसर्जयित्वा सहितांस्ततस्तान्
गतेषु रक्षःसु यथानियोगम् ।
व्यदारयद्वानरसागरौघं
महाझषः पूर्णमिवार्णवौघम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार समझा कर, जब उसने राक्षसों को विदा कर दिया, तब वह स्वयं वानरों के सागररूपी जल को वैसे ही खलबलाने लगा; जैसे कोई बड़ा भारी मत्स्य महासागर के जल में खलबली पैदा कर देता है ॥ ३५ ॥

तमापतन्तं सहसा समीक्ष्य
दीप्तेषुचापं युधि राक्षसेन्द्रम् ।
महत्समुत्पाट्य महीधराग्रं
दुद्राव रक्षोधिपतिं हरीशः ॥ ३६ ॥

रावण को वानरी सेना पर आक्रमण कर, आग के समान तीक्ष्ण बाणों को चलाते देख, कपिराज सुग्रीव पर्वत के एक भारी शिखर को ले उसकी ओर झपटे ॥ ३६ ॥

तच्छैलशृङ्गं बहुवृक्षसानुं
प्रगृह्य चिक्षेप निशाचराय ।
तमापतन्तं सहसा समीक्ष्य
बिभेद बाणैस्तपनीयपुङ्खैः ॥ ३७ ॥

जब अनेक वृक्षों और शृङ्गों से युक्त उस पर्वतशिखर को सुग्रीव ने रावण के ऊपर फैंका, तब सहसा उसको अपने ऊपर गिरते देख, रावण ने अपने सुवर्ण की फोंक वाले बाणों से चूर चूर कर डाला ॥ ३७ ॥

तस्मिन्प्रवृद्धोत्तमसानुवृक्षे
शृङ्गे विकीर्णे पतिते पृथिव्याम् ।
महाहिकल्पं शरमन्तकाभं
समाददे राक्षसलोकनाथः ॥ ३८ ॥

जब वह बड़े बड़े वृक्षों और शृङ्गों से युक्त बड़ा भारी पर्वत-शिखर टूक टूक हो कर ज़मीन पर गिर पड़ा; तब राक्षसराज रावण ने सांप के आकार का, काल के समान एक बाण अपने धनुष पर रखा ॥ ३८ ॥

स तं गृहीत्वाऽनिलतुल्यवेगं
सविस्फुलिङ्गज्वलनप्रकाशम् ।
बाणं महेन्द्राशनितुल्यवेगं
चिक्षेप सुग्रीववधाय रुष्टः ॥ ३९ ॥

रावण ने पवन के तथा इन्द्र के वज्र के समान वेग वाले और चिनगारियां निकलते हुए अग्नि की तरह चमचमाते उस बाण को ले और क्रोध कर, सुग्रीव के ऊपर उसका वध करने के लिये छोड़ा ॥ ३९ ॥

स सायको रावणबाहुमुक्तः
शक्राशनिप्रख्यवपुः शिताग्रः ।

सुग्रीवमासाद्य बिभेद वेगात्
[1]गुहेरिता क्रौञ्चमिवोग्रशक्तिः ॥ ४० ॥

रावण के हाथ से छूटे हुए पैने बाण ने इन्द्र के वज्र की तरह दृढ़ सुग्रीव के शरीर को बड़े ज़ोर से वैसे ही वेधा ; जैसे स्कन्ध ने अपनी शक्ति से क्रौंच पर्वत को वेधा था ॥ ४० ॥

स सायकार्तो विपरीतचेताः
कूजन्पृथिव्यां निपपात वीरः ।
तं प्रेक्ष्य भूमौ पतितं विसंज्ञं
नेदुः प्रहृष्टा युधि यातुधानाः ॥ ४१ ॥

उस बाण के आघात से कपिराज सुग्रीव विकल हो आर्तनाद करते हुए धड़ाम से धरती पर गिर पड़े। उनको धरती पर मूर्छित पड़ा देख, परमप्रसन्न हो राक्षसों की सेना ने गर्जना की ॥ ४१ ॥

ततो गवाक्षो गवयः सुदंष्ट्र-
स्तथर्षभो ज्योतिमुखो *नलश्च ।
शैलान्समुद्यम्य विवृद्धकायाः
प्रदुद्रुवुस्तं प्रति राक्षसेन्द्रम् ॥ ४२ ॥

तब बड़े बड़े शरीर वाले गवाक्ष, गवय, सुदंष्ट्र, ऋषभ, ज्योतिर्मुख, नल, बड़ी बड़ी शिलाएँ ले रावण के ऊपर दौड़े ॥ ४२ ॥

तेषां प्रहारान्स चकार मोघान्
रक्षोधिपो बाणगणैः शितागैः ।

---

[1] गुहः—स्कन्धः । (गो०) * पाठान्तरे—"नभश्च ।"

तान्वानरेन्द्रानपि बाणजालैः
विभेद जाम्बूनदचित्रपुङ्खैः ॥ ४३ ॥

किन्तु राक्षसराज रावण ने उन समस्त फैंकी हुई शिलाओं को पैने बाणों से टुकड़े टुकड़े कर व्यर्थ कर डाला। तदनन्तर उन वानरों को भी उसने सुवर्ण के पुँखों वाले बाणों से बेध डाला ॥ ४३ ॥

ते वानरेन्द्रास्त्रिदशारिबाणैः
भिन्ना निपेतुर्भुवि भीमकायाः।
ततस्तु तद्वानरसैन्यमुग्रं
प्रच्छादयामास स बाणजालैः ॥ ४४ ॥

वे भीमकाय प्रसिद्ध वानर रावण के मारे हुए बाणों से घायल हो धरती पर गिर पड़े। तदनन्तर रावण ने बाणसमूह से समस्त वानरी सेना को ढक दिया ॥ ४४ ॥

ते वध्यमानाः पतिताः प्रवीरा
नानद्यमाना भयशल्यविद्धाः।
शाखामृगा रावणसायकार्ता
जग्मुः शरण्यं शरणं स्म रामम् ॥ ४५ ॥

रावण के बाणों की चोट से घायल हो बहुत से प्रसिद्ध वीर वानर धरती पर लोट गये। बहुत से रावण के भय तथा बाणों की चोट के कारण दुःख भरे स्वर से चिल्लाने लगे। रावण के बाणों की चोट से सताये हुए बहुत से वानर शरणागतवत्सल श्रीरामचन्द्रजी के शरण में गये ॥ ४५ ॥

ततो [1]महात्मा स धनुर्धनुष्मा-
नादाय रामः सहसा जगाम ।
तं लक्ष्मणः प्राञ्जलिरभ्युपेत्य
उवाच वाक्यं परमार्थयुक्तम् ॥ ४६ ॥

तब शरण आये हुए की रक्षा करने वाले, प्रशस्त धनुषधारी अर्थात् धनुष से युद्ध करने में समर्थ, श्रीरामचन्द्र जी धनुष उठा तुरन्त चल दिये । उस समय हाथ जोड़ कर लक्ष्मण जी ने परमार्थ युक्त अर्थात् परम प्रयोजनीय ये वचन कहे ॥ ४६ ॥

काममार्यः सुपर्याप्तो वधायास्य दुरात्मनः ।
विधमिष्याम्यहं नीचमनुजानीहि मां प्रभो ॥ ४७ ॥

हे आर्य ! यद्यपि आप इस पराई स्त्री को हरने वाले पापी को मारने में सर्वदा समर्थ हैं, तथापि हे प्रभो ! इस नीच को तो मैं ही मारूँगा । अतः मुझे ही आज्ञा दीजिये ॥ ४७ ॥

तमब्रवीन्महातेजा रामः सत्यपराक्रमः ।
गच्छ यत्नपरश्चापि भव लक्ष्मण संयुगे ॥ ४८ ॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, सत्यपराक्रमी, महातेजस्वी, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा कि, हे लक्ष्मण ! जाओ ; किन्तु युद्ध में सावधानी से काम करना ॥ ४८ ॥

रावणो हि महावीर्यो रणेऽद्भुतपराक्रमः ।
त्रैलोक्येनापि संक्रुद्धो दुष्प्रसह्यो न संशयः ॥ ४९ ॥

---

१ महात्मा—शरणागत तारतम्य सः । (गो०)

क्योंकि, रावण महाबलवान है और युद्ध में अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित करने वाला है। यदि यह क्रुद्ध हो जाय, तो समस्त त्रैलोक्य-वासी भी इसके पराक्रम को नहीं सम्हाल सकते। यह निस्सन्देह बात है ॥ ४६ ॥

तस्य च्छिद्राणि मार्गस्व स्वच्छिद्राणि च लक्षय।
चक्षुषा धनुषा यत्नाद्रक्षात्मानं समाहितः ॥ ५० ॥

अपने ऊपर उसका वार बचा कर, उसके ऊपर वार करने की ताक में रहना। साथ ही सावधान रह कर धनुष द्वारा यत्नपूर्वक अपनी रक्षा करते रहना ॥ ५० ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा परिष्वज्याभिपूज्य[1] च।
अभिवाद्य ततो रामं ययौ सौमित्रिराहवम् ॥ ५१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन और उनके गले लग, एवं उनकी प्रदक्षिणा कर तथा उनको प्रणाम कर, लक्ष्मण जी प्रस्थानित हुए ॥ ५१ ॥

स रावणं वारणहस्तबाहुः
ददर्श दीप्तोद्यतभीमचापम्।
प्रच्छादयन्तं शरवृष्टिजालै-
स्तान्वानरान्भिन्नविकीर्णदेहान् ॥ ५२ ॥

रणभूमि में जा लक्ष्मण जी ने देखा कि, रावण की भुजाएँ हाथी की सूँड़ की तरह उतार चढ़ाव की है। वह चमचमाते भयङ्कर धनुष को हाथ में लिये घायल वानरों के ऊपर बाणों की वर्षा कर उनको तोपे दे रहा है ॥ ५२ ॥

---

१ अभिपूज्य—प्रदक्षिणी कृत्येत्यर्थः। (गो०)

तमालोक्य महातेजा हनुमान्मारुतात्मजः ।
निवार्य शरजालानि प्रदुद्राव स रावणम् ॥ ५३ ॥

महातेजस्वी पवननन्दन हनुमान जी उस रावण को देख, तथा उसके चलाये हुए बाणों को हटा, उसके ऊपर टूट पड़े ॥ ५३ ॥

रथं तस्य समासाद्य भुजमुद्यम्य दक्षिणम् ।
त्रासयन्रावणं धीमान्हनुमान्वाक्यमब्रवीत् ॥ ५४ ॥

बुद्धिमान हनुमान जी, रावण के रथ पर चढ़ गये और दहिना हाथ उठा उसको धमकाते हुए यह वचन बोले ॥ ५४ ॥

देवदानवगन्धर्वैर्यक्षैश्च सह राक्षसैः ।
अवध्यत्वं त्वया प्राप्तं वानरेभ्यस्तु ते भयम् ॥ ५५ ॥

यद्यपि तू देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष और राक्षसों के हाथ से न मारे जाने का वर प्राप्त कर चुका है, तथापि वानरों से तो तुझे अपने मारे जाने का भय बना ही हुआ है ॥ ५५ ॥

एष मे दक्षिणो बाहुः पञ्चशाखः समुद्यतः ।
विधमिष्यति ते देहाद्भूतात्मानं चिरोषितम् ॥ ५६ ॥

देख, पाँच अँगुलियों वाला यह मेरा दहिना हाथ उठा हुआ है। यह तेरे शरीर में बहुत दिनों से रहने वाले प्राण को बाहिर निकाल देगा ॥ ५६ ॥

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं रावणो भीमविक्रमः ।
संरक्तनयनः क्रोधादिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

भयङ्कर पराक्रमी रावण हनुमान जी के इन वचनों को सुन, मारे क्रोध के लाल लाल नेत्र कर उनसे बोला ॥ ५७ ॥

क्षिप्रं प्रहर निःशङ्कं स्थिरां कीर्तिमवाप्नुहि ।
ततस्त्वां ज्ञातविक्रान्तं नाशयिष्यामि वानर ॥ ५८ ॥

हे वानर ! निःशङ्क हो तुम मुझ पर वार करो ; जिससे चिरस्थायिनी कीर्ति तुम्हें प्राप्त हो । पीछे से मैं भी तुम्हारा पराक्रम जान कर, तुम्हें मार डालूँगा ॥ ५८ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा वायुसूनुर्वचोऽब्रवीत् ।
प्रहृतं हि मया पूर्वमक्षं स्मर सुतं तव ॥ ५९ ॥

रावण के ये वचन सुन, पवननन्दन हनुमान जी ने कहा—मेरा पराक्रम जानने के लिये अपने पुत्र अक्षकुमार के मेरे हाथ से मारे जाने का स्मरण कर ले ॥ ५९ ॥

एवमुक्तो महातेजा रावणो राक्षसेश्वरः ।
आजघानानिलसुतं तलेनोरसि वीर्यवान् ॥ ६० ॥

यह कठोर वचन सुन, महातेजस्वी राक्षसराज रावण ने पवननन्दन हनुमान जी की छाती में एक चपेटा मारा ॥ ६० ॥

स तलाभिहतस्तेन चचाल च मुहुर्मुहुः ।
स्थित्वा मुहूर्तं तेजस्वी स्थैर्यं कृत्वा महामतिः ॥ ६१ ॥

उस तलप्रहार से हनुमान जी बार बार चक्कर खाने लगे। थोड़ी देर बाद तेजस्वी एवं महाबुद्धिमान् हनुमान जी ने सावधान हो कर ॥ ६१ ॥

आजघानाभिसंक्रुद्धस्तलेनैवामरद्विषम् ।
ततस्तलेनाभिहतो वानरेण महात्मना ॥ ६२ ॥

उस देवताओं के शत्रु रावण के अत्यन्त कुपित हो एक थप्पड़ जमाया। धैर्यवान् हनुमान जी के थप्पड़ के आघात से ॥ ६२ ॥

दशग्रीवः समाधूतो यथा भूमिचलेऽचलः ।
संग्रामे तं तथा दृष्ट्वा रावणं तलताडितम् ॥ ६३ ॥

रावण उसी प्रकार चलायमान हो गया, जिस प्रकार पृथिवी के कंपायमान होने पर पहाड़ चलायमान हो जाते हैं। युद्ध में रावण को थप्पड़ से पिटा हुआ देख, ॥ ६३ ॥

ऋषयो वानराः सिद्धा नेदुर्देवाः सहासुरैः ।
अथाश्वास्य महातेजा रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६४ ॥

ऋषि, वानर, सिद्ध, देवता दानव सभी हर्षनाद करने लगे। थोड़ी देर बाद सावधान हो महातेजस्वी रावण कहने लगा ॥६४॥

साधु वानर वीर्येण श्लाघनीयोऽसि मे रिपुः ।
रावणेनैवमुक्तस्तु मारुतिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ६५ ॥

हे वानर! वाह तू मेरा शत्रु होने पर भी, तेरा बलवीर्य प्रशंसनीय है। रावण के इस प्रकार कहने पर, पवननन्दन हनुमान जी बोले ॥ ६५ ॥

धिगस्तु मम वीर्येण यस्त्वं जीवसि रावण ।
सकृत्तु प्रहरेदानीं दुर्बुद्धे किं विकत्थसे ॥ ६६ ॥

अरे रावण! धिक्कार है मेरे बलवीर्य को, जो तू मेरा थपेड़ा खा कर भी अभी जीवित है। अरे प्रहार के तारतम्य को न जानने वाले दुर्बुद्धे! तू क्यों वृथा बड़ाई करता है। अब एक बार फिर तू मेरे ऊपर चोट कर ॥ ६६ ॥

ततस्त्वां मामिका मुष्टिर्नयिष्यति यमक्षयम् ।
ततो मारुतवाक्येन क्रोधस्तस्य तदाऽऽज्वलत् ॥ ६७ ॥

तदनन्तर मेरा यह मूँका तुझे यमराज के पास पहुँचावेगा। हनुमान जी के इन जले कटे वचनों को सुन रावण का क्रोध भड़का ॥ ६७ ॥

संरक्तनयनो यत्नान्मुष्टिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
पातयामास वेगेन वानरोरसि वीर्यवान् ॥ ६८ ॥

उस बलवान ने लाल लाल नेत्र कर दहिने हाथ का घूँसा बड़ी ज़ोर से हनुमान जी की छाती में मारा ॥ ६८ ॥

हनुमान्वक्षसि व्यूढे[1] सञ्चचाल पुनः पुनः ।
[2]विह्वलं तु तदा दृष्ट्वा हनुमन्तं महाबलम् ॥ ६९ ॥

हनुमान जी की विशाल छाती में घूँसे की चोट लगने से वे बार बार हिलने लगे। तब महाबली हनुमान को मूर्छित देख ॥६९॥

रथेनातिरथः शीघ्रं नीलं प्रति समभ्यगात् ।
राक्षसानामधिपतिर्दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ ७० ॥

अतिरथ रावण अपना रथ नील के पास ले गया। राक्षसों के अधिपति प्रतापी दशग्रीव रावण ने ॥ ७० ॥

पन्नगप्रतिमैर्भीमैः परमर्मातिभेदिभिः ।
शरैरादीपयामास[3] नीलं हरिचमूपतिम् ॥ ७१ ॥

---

१ व्यूढे—विशाले। (गो०) २ विह्वलं—मूर्छितं। (गो०) ३ आदीपयामास—आसमन्ताज्ज्वालयामास। (गो०)

नागों की तरह भयङ्कर और शत्रु के मर्म को बेधने वाले बाणों से कपिसेनापति नील के समस्त शरीर को दाग डाला अर्थात् घायल कर दिया ॥ ७१ ॥

स शरौघसमायस्तो नीलः कपिचमूपतिः ।
करेणैकेन शैलाग्रं रक्षोधिपतयेऽसृजत् ॥ ७२ ॥

बहुत से बाण लगने पर भी सेनापति नील ने एक हाथ से एक पर्वतशृङ्ग रावण के ऊपर फेंका ॥ ७२ ॥

हनुमानपि तेजस्वी समाश्वस्तो महामनाः ।
विप्रेक्षमाणो युद्धेप्सुः सरोषमिदमब्रवीत् ॥ ७३ ॥
नीलेन सह संयुक्तं रावणं राक्षसेश्वरम् ।
अन्येन युध्यमानस्य न युक्तमभिधावनम् ॥ ७४ ॥

इतने में उधर महामना हनुमान जी भी सावधान हो गये और युद्ध करने की इच्छा से रावण को खोजने लगे। जब उन्होंने देखा कि, राक्षसराज रावण नील के साथ लड़ रहा है, तब क्रुद्ध हो उससे वे बोले। हे रावण! तुम दूसरे के साथ युद्ध कर रहे हो, अतः इस समय तुम्हारे ऊपर आक्रमण करना मुझे उचित नहीं ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

रावणोऽपि महातेजास्तच्छृङ्गं सप्तभिः शरैः ।
आजघान सुतीक्ष्णाग्रैस्तद्विकीर्णं पपात ह ॥ ७५ ॥

महातेजस्वी रावण ने भी नील के फेंके पर्वतशृङ्ग को, सात पैने बाण मार कर, टुकड़े टुकड़े कर दिया और वह पर्वतशृङ्ग चूर चूर हो पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ७५ ॥

तद्विकीर्णं गिरेः शृङ्गं दृष्ट्वा हरिचमूपतिः ।
कालाग्निरिव जज्वाल क्रोधेन परवीरहा ॥ ७६ ॥

उस पर्वतशृङ्ग को चूर हुआ देख, शत्रुहन्ता सेनापति नील क्रोध के मारे कालाग्नि की तरह प्रज्वलित हो उठे ॥ ७६ ॥

सोऽश्वकर्णान्धवान्सालांश्चूतांश्चापि सुपुष्पितान् ।
अन्यांश्च विविधान्वृक्षान्नीलश्चिक्षेप संयुगे ॥ ७७ ॥

नील ने फूलों से लदे अश्वकर्ण, ढाक, साल, आम तथा अन्य विविध प्रकार के वृक्षों को उखाड़ उखाड़ कर, रावण के ऊपर फेंका ॥ ७७ ॥

स तान्वृक्षान्समासाद्य प्रतिचिच्छेद रावणः ।
अभ्यवर्षत्सुघोरेण शरवर्षेण पावकिम् ॥ ७८ ॥

रावण ने नील के फेंके उन समस्त वृक्षों को बाणों से काट कर ज़मीन पर डाल दिया और नील के ऊपर बड़े बड़े भयङ्कर बाणों की वर्षा की ॥ ७८ ॥

अभिवृष्टः शरौघेण मेघेनेव महाचलः ।
ह्रस्वं कृत्वा तदा रूपं ध्वजाग्रे निपपात ह ॥ ७९ ॥

पहाड़ पर जिस प्रकार मेघवृष्टि होती है, उसी प्रकार नील पर बाणों की वर्षा होने पर, नील अपना छोटा रूप बना, रावण के रथ की ध्वजा पर कूद पड़े ॥ ७९ ॥

पावकात्मजमालोक्य ध्वजाग्रे समुपस्थितम् ।
जज्वाल रावणः क्रोधात्ततो नीलो ननाद च ॥ ८० ॥

नील को ध्वजा के ऊपर बैठा हुआ देख, जब रावण क्रोध से जलने लगा ; तब नील ने घोर सिंहनाद किया ॥ ८० ॥

ध्वजाग्रे धनुषश्चाग्रे किरीटाग्रे च तं हरिम् ।
लक्ष्मणोऽथ हनूमांश्च दृष्ट्वा रामश्च विस्मिताः ॥ ८१ ॥

कभी रावण की ध्वजा के ऊपर, कभी उसके धनुष के ऊपर और कभी उसके मुकुट के ऊपर नील को कूदते देख, श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण तथा हनुमान को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ८१ ॥

रावणोऽपि महातेजाः कपिलाघवविस्मितः ।
अस्त्रमाहारयामास दीप्तमाग्नेयमद्भुतम् ॥ ८२ ॥

महातेजस्वी रावण भी नील की इस फुर्ती को देख, विस्मित हुआ और उसने नील को मारने के लिये एक चमचमाते अद्भुत बाण को अग्नि के मंत्र से अभिमंत्रित कर, नील के ऊपर छोड़ा ॥ ८२ ॥

ततस्ते चक्रुशुर्हृष्टा लब्धलक्षाः[1] प्लवङ्गमाः ।
नीललाघवसम्भ्रान्तं दृष्ट्वा रावणमाहवे ॥ ८३ ॥

दूसरी ओर वानरगण, नील और रावण के युद्ध में, नील की फुर्ती से रावण को विकल देख और इसे एक आनन्दप्रद कौतुक जान, परम हर्षित हो गर्ज रहे थे ॥ ८३ ॥

वानराणां च नादेन संरब्धो रावणस्तदा ।
सम्भ्रमाविष्टहृदयो न किञ्चित्प्रत्यपद्यत ॥ ८४ ॥

वानरों का हर्षनाद सुन रावण खिसिया गया, पर वह उस समय ऐसा घबड़ाया हुआ था कि, उससे कुछ भी करते धरते न बन पड़ा ॥ ८४ ॥

---

१ लब्धलक्षाः—लब्धहर्षविषयाः । (गो०)

आग्नेयेनाथ संयुक्तं गृहीत्वा रावणः शरम् ।
ध्वजशीर्षस्थितं नीलमुदैक्षत निशाचरः ॥ ८५ ॥

हाथ में अग्नि के मंत्र से अभिमंत्रित बाण ले और ध्वजा के ऊपर बैठे हुए नील की ओर रावण ने देखा ॥८५॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रावणो राक्षसेश्वरः ।
कपे लाघवयुक्तोऽसि [1]मायया परयाऽनया ॥ ८६ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी राक्षसराज रावण ने नील से कहा—अरे वानर ! तुम धोखा देने में बड़े फुर्तीले हो ॥८६॥

जीवितं खलु रक्षस्व यदि शक्तोऽसि वानर ।
तानि तान्यात्मरूपाणि सृजसि त्वमनेकशः ॥ ८७ ॥

किन्तु हे वानर ! यदि तुममें शक्ति हो तो अब अपने प्राण बचाओ । यद्यपि तुम अपने अनेक रूप बना लेते हो ॥ ८७ ॥

तथापि त्वां मया *मुक्तः सायकोऽस्त्रप्रयोजितः ।
जीवितं परिरक्षन्तं जीविताद्भ्रंशयिष्यति ॥८८॥

तथापि मेरा चलाया हुआ यह अभिमंत्रित बाण, लाख बचाव करने पर भी, तुम्हें नष्ट कर ही डालेगा ॥ ८८ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहू रावणो राक्षसेश्वरः ।
सन्धाय बाणमस्त्रेण चमूपतिमताडयत् ॥ ८९ ॥

महाबाहु राक्षसराज रावण ने यह कह कर, मंत्र से अभिमंत्रित कर वह बाण सेनापति नील के ऊपर छोड़ा ॥ ८९ ॥

---

१ मायया—वञ्चनया । (रा०) * पाठान्तरे—"युक्तः ।"

सोऽस्त्रयुक्तेन बाणेन नीलो वक्षसि ताडितः ।
निर्दह्यमानः सहसा निपपात महीतले ॥९०॥

वह अभिमंत्रित बाण नील की छाती में लगा। उस अस्त्र के मारे नील का सारा शरीर जल उठा और वे सहसा नीचे धरती पर गिर पड़े ॥ ९० ॥

पितृमाहात्म्यसंयोगादात्मनश्चापि तेजसा ।
जानुभ्यामपतद्भूमौ न च प्राणैर्व्ययुज्यत ॥ ९१ ॥

नील एक तो अग्नि के पुत्र ही थे, दूसरे स्वयं भी बड़े तेजस्वी थे, अतः घुटने के बल ज़मीन पर गिर कर भी वे निर्जीव नहीं हुए ॥९१॥

विसंज्ञं वानरं दृष्ट्वा दशग्रीवो रणोत्सुकः ।
रथेनाम्बुदनादेन सौमित्रिमभिदुद्रुवे ॥ ९२ ॥

रावण ने नील को मूर्छित देख, युद्ध की कामना से, मेघ की तरह गड़गड़ाते हुए रथ को हँकवा, लक्ष्मण जी पर आक्रमण किया ॥ ९२ ॥

आसाद्य रणमध्ये तु वारयित्वा स्थितो ज्वलन् ।
धनुर्विस्फारयामास कम्पयन्निव मेदनीम् ॥ ९३ ॥

रणक्षेत्र में पहुँच अपने तेज से प्रदीप्त रावण, वानरों को हटा और अपने धनुष को टङ्कोर पृथिवी को कम्पायमान सा करने लगा ॥९३॥

तमाह सौमित्रिरदीनसत्त्वो
विस्फारयन्तं धनुरप्रमेयम् ।
अभ्येहि मामेव निशाचरेन्द्र
न वानरांस्त्वं प्रतियोद्धुमर्हः ॥ ९४ ॥

तब प्रबल प्रतापी लक्ष्मण रावण को अपना विशाल धनुष टङ्कोरते देख, उससे बोले—हे राक्षसेन्द्र! मेरे पास आओ और मुझसे लड़ो, क्योंकि तुम उन वानरों से लड़ने योग्य नहीं हो ॥९४॥

स तस्य वाक्यं प्रतिपूर्णघोषं
ज्याशब्दमुग्रं च निशम्य राजा।
आसाद्य सौमित्रिमवस्थितं तं
कोपान्वितो वाक्यमुवाच रक्षः ॥ ९५ ॥

रावण, लक्ष्मण का वचन और घोषपरिपूर्ण उनकी प्रत्यञ्चा का शब्द सुन, समीप खड़े हुए लक्ष्मण जी से रोषयुक्त वचन बोला— ॥ ९५ ॥

दिष्ट्यासि मे राघव दृष्टिमार्गं
प्राप्तोऽन्तगामी विपरीतबुद्धिः।
अस्मिन्क्षणे यास्यसि मृत्युदेशं
संसाद्यमानो मम बाणजालैः ॥ ९६ ॥

हे लक्ष्मण! मरने के समय विपरीत बुद्धि हो जाने के कारण ही तुम सौभाग्य वश मेरे सामने आये हो। अब तुम इसी क्षण मेरे बाणों की चोट से यमपुर सिधारोगे ॥ ९६ ॥

तमाह सौमित्रिरविस्मयानो
गर्जन्तमुद्वृत्तशिताग्रदंष्ट्रम्।
राजन्न गर्जन्ति महाप्रभावा
विकत्थसे पापकृतां वरिष्ठ ॥ ९७ ॥

रावण के इन वचनों को सुन और उनकी तृणवत् भी परवाह न कर, लक्ष्मण जी बोले। हे रावण! तू पापियों का अगुआ है,

इसीसे तू अपने बड़े बड़े उजले दांत बाहर निकाल, अपना बखान कर रहा है। किन्तु जो वास्तव में प्रतापी लोग होते हैं, वे इस प्रकार गर्जते नहीं ॥ ९७ ॥

जानामि वीर्यं तव राक्षसेन्द्र
बलं प्रतापं च पराक्रमं च ।
अवस्थितोऽहं शरचापपाणि:
आगच्छ किं मोघविकत्थनेन ॥ ९८ ॥

हे राक्षसेन्द्र! मैं तेरे वीर्य, बल, प्रताप और पराक्रम को जानता हूँ। मैं तो धनुष बाण लिये तेरे पास ही तो खड़ा हूँ। आ और मुझसे लड़। व्यर्थ की बक बक करने से लाभ ही क्या है ॥९८॥

स एवमुक्तः कुपितः ससर्ज
रक्षोऽधिपः सप्त शरान्सुपुङ्खान् ।
तांल्लक्ष्मणः काञ्चनचित्रपुङ्खैः
चिच्छेद बाणैर्निशिताग्रधारैः ॥ ९९ ॥

लक्ष्मण की इस फटकार को सुन राक्षसराज रावण ने सात सुन्दर पुङ्ख लगे बाण छोड़े। उन सातों बाणों को लक्ष्मण जी ने, सुवर्णभूषित फोंक लगे हुए और अत्यन्त पैनी धार वाले बाणों से काट डाला ॥ ९९ ॥

तान्प्रेक्षमाणः सहसा निकृत्तान्
निकृत्तभोगानिव पन्नगेन्द्रान् ।
लङ्केश्वरः क्रोधवशं जगाम
ससर्ज चान्यान्निशितान्पृषत्कान् ॥१००॥

लंकेश्वर रावण ने, अपने बाणों को शरीर कटे सर्पों की तरह सहसा टुकड़े टुकड़े हुए देख, अत्यन्त क्रुद्ध हो, लक्ष्मण जी पर अन्य पैने बाण छोड़े ॥ १०० ॥

स बाणवर्षं तु ववर्ष तीव्रं
रामानुजः कार्मुकसम्प्रयुक्तम् ।
क्षुरार्धचन्द्रोत्तमकर्णिभल्लैः
शरांश्च चिच्छेद न चुक्षुभे च ॥१०१॥

परन्तु श्री लक्ष्मण जी ने उन पैने बाणों की वर्षा से विचलित न हो, अपने धनुष पर रख रावण के ऊपर बाणों की वर्षा की और छुरे, अर्द्धचन्द्र, कर्णि और भाले के आकार के बाणों से रावण के छोड़े समस्त बाणों को काट कर टुकड़े टुकड़े कर डाला ॥१०१॥

स बाणजालान्यथ तानि तानि
मोघानि पश्यंस्त्रिदशारिराजः ।
विसिष्मिये लक्ष्मणलाघवेन
पुनश्च बाणान्निशितान्मुमोच ॥१०२॥

इन्द्रशत्रु राजा रावण अपने अमोघ बाणों को व्यर्थ जाते देख तथा लक्ष्मण जी की फुर्ती देख, बड़ा चकित हुआ और उसने फिर पैने पैने बाण छोड़े ॥ १०२ ॥

स लक्ष्मणश्चाशु शरान्शिताग्रान्
महेन्द्रवज्राशनितुल्यवेगान् ।
सन्धाय चापे ज्वलनप्रकाशान्
ससर्ज रक्षोधिपतेर्वधाय ॥१०३॥

तब लक्ष्मण जी ने भी धनुष को चढ़ा इन्द्र के वज्र के समान वेगवान् और अग्नि के समान चमचमाते बाण रावण का वध करने के लिये छोड़े ॥ १०३ ॥

स तान्प्रचिच्छेद हि राक्षसेन्द्रः
छित्त्वा च तांल्लक्ष्मणमाजघान ।
शरेण कालाग्निसमप्रभेण
स्वयंभुदत्तेन ललाटदेशे ॥१०४॥

किन्तु राक्षसराज रावण ने उन समस्त बाणों को काट कर ब्रह्मप्रदत्त एवं प्रलयाग्नि तुल्य प्रचण्ड बाण लक्ष्मण जी के माथे में मारा ॥ १०४ ॥

स लक्ष्मणो रावणसायकार्तः
चचाल चापं शिथिलं प्रगृह्य ।
पुनश्च संज्ञां प्रतिलभ्य कृच्छ्रात्
चिच्छेद चापं त्रिदशेन्द्रशत्रोः ॥१०५॥

उस बाण के लगने से लक्ष्मण विचलित हुए, धनुष जिस हाथ से पकड़े थे, वह कुछ ढीला पड़ गया, किन्तु कुछ ही देर बाद स्वस्थ होकर, उन्होंने इन्द्रशत्रु रावण का धनुष काट डाला ॥१०५॥

निकृत्तचापं त्रिभिराजघान
बाणैस्तदा दाशरथिः शिताग्रैः ।
स सायकार्तो विचचाल राजा
कृच्छ्राच्च संज्ञां पुनराससाद ॥१०६॥

उसका धनुष काट कर लक्ष्मण जी ने तीन पैने पैने बाण उसके ऐसे मारे, जिनके आघात से विचलित हो वह मूर्च्छित हो गया। फिर वह बड़ी कठिनाई से सचेत हुआ ॥ १०६ ॥

स कृत्तचापः शरताडितश्च
मेदार्द्रगात्रो रुधिरावसिक्तः ।
जग्राह शक्तिं समुदग्रशक्तिः
स्वयंभुदत्तां युधि देवशत्रुः ॥१०७॥

धनुष कट जाने और लक्ष्मण जी के छोड़े बाणों के आघात के कारण चर्बी मिले रक्त से उसका सारा शरीर तरबतर हो गया। अन्त में प्राण बचने का अन्य उपाय न देख, उस देवशत्रु रावण ने, ब्रह्मा की दी हुई, लड़ाई में कभी निष्फल न जाने वाली शक्ति उठायी ॥१०७॥

स तां विधूमानलसन्निकाशां
वित्रासिनीं वानरवाहिनीनाम् ।
चिक्षेप शक्तिं तरसा ज्वलन्तीं
सौमित्रये राक्षसराष्ट्रनाथः ॥१०८॥

राक्षसों के राजा रावण ने, लक्ष्मण जी को लक्ष्य कर, वानरी सेना को भयभीत करने वाली और धूम सहित अग्नि की तरह धप धप कर जलती हुई शक्ति छोड़ी ॥ १०८ ॥

तामापतन्तीं भरतानुजोऽस्त्रैः
जघान बाणैश्च हुताग्निकल्पैः ।
तथापि सा तस्य विवेश शक्तिः
[1]बाह्वन्तरं दाशरथेर्विशालम् ॥१०९॥

---

1 बाह्वान्तरंवक्षः । (गो०)

उस शक्ति के अपने ऊपर आते देख यद्यपि लक्ष्मण जी ने बहुत से अग्नि के समान बाण चला उसे काट कर गिरा देना चाहा, तथापि वह लक्ष्मण जी की विशाल छाती में लगी ॥१०९॥

स शक्तिमाञ्शक्तिसमाहतः सन्
मुहुः प्रजज्वाल रघुप्रवीरः ।
तं विह्वलन्तं सहसाभ्युपेत्य
जग्राह राजा तरसा भुजाभ्याम् ॥११०॥

तब वे शक्तिमान लक्ष्मण जी उस शक्ति के लगने से घायल हो भूमि पर गिर पड़े। उनको मूर्च्छित हो पृथिवी पर गिरा देख, रावण झपटा और दोनों भुजाओं में दबा उसने चाहा कि, उनको उठा कर ले जाऊँ ॥ ११० ॥

हिमवान्मन्दरो मेरुस्त्रैलोक्यं वा सहामरैः ।
शक्यं भुजाभ्यामुद्धर्तुं न संख्ये भरतानुजः ॥१११॥

परन्तु जो रावण हिमालय, मन्दराचल और सुमेरु पर्वत अथवा देवताओं सहित तीनों लोकों को अपनी भुजाओं में दबा कर उठा सकता था, वह रणक्षेत्र में पड़े लक्ष्मण को न उठा सका ॥ १११ ॥

शक्त्या ब्राह्मयापि सौमित्रिस्ताडितस्तु स्तनान्तरे ।
विष्णोरचिन्त्यं स्वं भागमात्मानं प्रत्यनुस्मरन् ॥११२॥

यद्यपि उस काल लक्ष्मण की छाती में ब्रह्मा की दी हुई शक्ति लगी थी, तथापि अपने आपको विष्णु का अचिन्त्य अंश होने का स्मरण कर, वे इतने भारी हो गये थे कि, रावण जैसा बली व्यक्ति भी उनको न उठा सका ॥११२॥

[नोट—अचिन्त्य अंश से अभिप्राय "मानवी-कल्पना से परे" है]

ततो दानवदर्पघ्नं सौमित्रिं देवकण्टकः ।
तं पीडयित्वा [1]बाहुभ्यामप्रभुर्लङ्घनेऽभवत् ॥११३॥

देवताओं के कण्टक रावण ने, दानवदर्पापहारी लक्ष्मण को दोनों भुजाओं में दवा कर उठाना चाहा; किन्तु वह उठा न सका ॥११३॥

अथैवं वैष्णवं भागं मानुषं देहमास्थितम् ।
अथ वायुसुतः क्रुद्धो रावणं समभिद्रवत् ॥११४॥

इसका कारण यही था कि, लक्ष्मण जी विष्णु भगवान का अंशावतार थे और मनुष्य रूप में अवतीर्ण हुए थे। लक्ष्मण को गिरते तथा रावण को उन्हें उठाने का प्रयत्न करते देख, हनुमान जी बड़े क्रुद्ध हुए और झट वहाँ जा पहुँचे जहाँ रावण लक्ष्मण जी को पकड़ कर उठाने का प्रयत्न कर रहा था ॥ ११४ ॥

आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना ।
तेन मुष्टिप्रहारेण रावणो राक्षसेश्वरः ॥११५॥

और पहुँचते ही क्रोध में भर वज्र के समान एक मूँका रावण की छाती में मारा। उस मूँके की चोट से राक्षसराज रावण ने ॥ ११५ ॥

जानुभ्यामवतद्भूमौ चचाल च पपात च ।
आस्यैः सनेत्रश्रवणैर्ववाम रुधिरं वहु ॥११६॥

घुटने टेक दिये और घुमरी खा कर भूमि पर गिर पड़ा। उसके मुख, आँखों और कानों से वहुत सा रक्त वहने लगा ॥११६॥

---

१ अप्रभुः असमर्थः। (गो०) २ लङ्घने—उद्धरणे। (गो०)

विघूर्णमानो निश्चेष्टो रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसंज्ञो मूर्छितश्चासीन्न च स्थानं समालभत् ॥११७॥

कुछ देर बाद जब वह उठा तब भी उसको घुमरी आने लगी। वह निश्चेष्ट हो अपने रथ में जा लुढ़क पड़ा। उस समय भी उसे होश नहीं था; वह मूर्च्छित था। फिर होश में आने पर भी उसे यह ज्ञान न था कि उस समय वह कहाँ है॥ ११७॥

विसंज्ञं रावणं दृष्ट्वा समरे भीमविक्रमम् ।
ऋषयो वानराः सर्वे नेदुर्देवाः सवासवाः ॥११८॥

भयङ्कर विक्रमवान् रावण को युद्ध में मूर्च्छित देख, ऋषि, वानर और इन्द्र सहित समस्त देवतागण हर्षनाद करने लगे॥११८॥

हनुमानपि तेजस्वी लक्ष्मणं रावणार्दितम् ।
अनयद्राघवाभ्याशं बाहुभ्यां परिगृह्य तम् ॥११९॥

उधर तेजस्वी हनुमान जी रावण द्वारा घायल किये गये लक्ष्मण को, अपनी दोनों भुजाओं में दबा श्रीरामचन्द्र जी के पास ले आये॥ ११९॥

वायुसूनोः सुहृत्त्वेन भक्त्या परमया च सः ।
शत्रूणामप्रकम्प्योऽपि लघुत्वमगमत्कपेः ॥१२०॥

यद्यपि लक्ष्मण जी को शत्रु रावण तिल भर भी नहीं डुला सका था, तथापि हनुमान जी के सौहार्द्र और अपने में भक्ति का विचार कर, हनुमान जी के लिये लक्ष्मण जी हलके हो गये थे॥१२०॥

तं समुत्सृज्य सा शक्तिः सौमित्रिं युधि दुर्जयम् ।
रावणस्य रथे तस्मिन्स्थानं पुनरुपागता ॥१२१॥

समर में दुर्जेय लक्ष्मण को त्याग वह शक्ति फिर रावण के रथ में जा पहुँची ॥ १२१ ॥

[1]आश्वस्तश्च [2]विशल्यश्च लक्ष्मणः शत्रुसूदनः ।
[3]विष्णोर्भागममीमांस्यमात्मानं प्रत्यनुस्मरन् ॥१२२॥

शत्रुहन्ता लक्ष्मण, जो अपने को अचिन्त्य विष्णु भगवान का अंश समझ सचेत हुए । उनकी छाती का घाव पुर गया ॥१२२॥

रावणोऽपि महातेजाः प्राप्य संज्ञां महाहवे ।
आददे निशितान्बाणाञ्जग्राह च महद्धनुः ॥१२३॥

महातेजस्वी रावण ने भी उस महायुद्ध में सचेत हो फिर अपना विशाल धनुष उठाया और पैने पैने बाण छोड़े ॥१२३॥

निपातितमहावीरां द्रवन्तीं वानरीं चमूम् ।
राघवस्तु रणे दृष्ट्वा रावणं समभिद्रवत् ॥१२४॥

रावण के हाथ से अनेक वीर वानरों का मारा जाना तथा वानरी सेना को भागते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने रावण पर आक्रमण किया ॥१२४॥

अथैनमुपसंगम्य हनुमान्वाक्यमब्रवीत् ।
मम पृष्ठं समारुह्य राक्षसं शास्तुमर्हसि ॥१२५॥

श्रीरामचन्द्र जी को रावण पर आक्रमण करते देख, हनुमान जी ने उनके समीप जा कर प्रार्थना की कि, आप मेरी पीठ पर वैसे ही सवार होकर रावण का वध कीजिये ॥१२५॥

---

1 आश्वस्तः—लब्धसंज्ञः (गो०) 2 विशल्यः—प्ररूढव्रणमुखः । (गो०)
3 अमीमांस्यं—अचिन्त्यं । (गो०

विष्णुर्यथा गरुत्मन्तं बलवन्तं समाहितः ।
तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं वायुपुत्रेण भाषितम् ॥१२६॥
आरुरोह महाशूरो बलवन्तं महाकपिम् ।
रथस्थं रावणं संख्ये ददर्श मनुजाधिपः ॥१२७॥

जैसे विष्णु भगवान गरुड़ की पीठ पर सवार हो दैत्य से लड़े थे। हनुमान जी के कहे हुए इन वचनों को सुन, बड़े शूरवीर श्रीरामचन्द्र जी महाबलवान हनुमान जी की पीठ पर सवार हो गये। नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी ने समरभूमि में रावण को रथ में बैठा हुआ देखा ॥ १२६ ॥ १२७ ॥

तमालोक्य महातेजाः प्रदुद्राव स राघवः ।
वैरोचनिमिव क्रुद्धो विष्णुरभ्युद्यतायुधः ॥१२८॥

उसे देख वे उस पर वैसे ही लपके जैसे विष्णु भगवान शस्त्र उठा बलि पर लपके थे ॥१२८॥

ज्याशब्दमकरोत्तीव्रं वज्रनिष्पेषनिःस्वनम् ।
गिरा गम्भीरया रामो राक्षसेन्द्रमुवाच ह ॥१२९॥

वहाँ जा उन्होंने अपने धनुष के रोदे का वज्र के समान भयङ्कर शब्द किया। फिर गम्भीर वाणी से श्रीरामचन्द्र जी ने राक्षसराज से कहा ॥१२९॥

तिष्ठतिष्ठ मम त्वं हि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।
क्व नु राक्षसशार्दूल गतो मोक्षमवाप्स्यसि ॥१३०॥

अरे राक्षसशार्दूल ! खड़ा रह ! खड़ा रह !! तू इस प्रकार मेरा अप्रिय कार्य कर अथवा मुझे चिढ़ा कर कहाँ जा कर, मुझसे बच सकता है ॥१३०॥

यदीन्द्रवैवस्वतभास्करान्वा
स्वयंभुवैश्वानरशङ्करान्वा ।
गमिष्यसि त्वं दश वा दिशोऽथवा
तथापि मे नाद्य गतो विमोक्ष्यसे ॥१३१॥

यदि तू इन्द्र, यम, सूर्य, शिव, अग्नि और ब्रह्मा के भी शरण में जायगा या दसों दिशाओं में भी भाग कर जायगा, तो भी तू मुझसे नहीं बच सकता ॥ १३१ ॥

यश्चैव शक्त्याभिहतस्त्वयाऽद्य
इच्छन्विषादं सहसाभ्युपेतः ।
स एव रक्षोगणराज मृत्युः
सपुत्रपौत्रस्य तवाद्य युद्धे ॥१३२॥

जिनको (लक्ष्मण को तूने आज) शक्ति से मार मुझे जो दुःख दिया है, उसको शान्त करने के लिये, मैं तेरे तथा तेरे पुत्र पौत्रों के मारने की प्रतिज्ञा कर, आज समरभूमि में आया हूँ ॥१३२॥

एतेन चाप्यद्भुतदर्शनानि
शरैर्जनस्थानकृतालयानि ।
चतुर्दशान्यात्तवरायुधानि
रक्षस्सहस्राणि निषूदितानि ॥१३३॥

मैंने ही अपने बाणों से जनस्थानवासी श्रेष्ठ अस्त्रशस्त्र धारण किये हुए, विलक्षण सूरत शक्ल के चौदह हज़ार राक्षसों को मार गिराया था ॥१३३॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो महाकपिम्।
वायुपुत्रं महावीर्यं वहन्तं राघवं रणे।
आजघान शरैस्तीक्ष्णैः कालानलशिखोपमैः ॥१३४॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन राक्षसराज रावण ने कपिश्रेष्ठ महाबलवान पवननन्दन के, जो समरभूमि में श्रीरामचन्द्र जी को अपनी पीठ पर चढ़ाये हुए थे (हनुमान जी के घूँसे के आघात को स्मरण कर) कालाग्नि के समान पैने पैने बाण मारे ॥ १३४ ॥

राक्षसेनाहवे तस्य ताडितस्यापि सायकैः।
स्वभावतेजोयुक्तस्य भूयस्तेजोऽभ्यवर्धत ॥१३५॥

इस लड़ाई में रावण के छोड़े बाण हनुमान जी के लगे, किन्तु स्वभाव से तेजस्वी होने के कारण उनका तेज और भी अधिक बढ़ा ॥१३५॥

ततो रामो महातेजा रावणेन कृतव्रणम्।
दृष्ट्वा प्लवगशार्दूलं कोपस्य वशमेयिवान् ॥१३६॥

तब महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र, कपिश्रेष्ठ हनुमान जी के शरीर में रावण के किये हुए घावों को देख, अत्यन्त कुपित हुए ॥१३६॥

तस्याभिचङ्क्रम्य रथं सचक्रं
साश्वध्वजच्छत्रमहापताकम्।
ससारथिं साशनिशूलखड्गं
रामः प्रचिच्छेद शरैः सुपुङ्खैः ॥१३७॥

और सुन्दर फर वाले बाणों से रावण के रथ के पहिये, ध्वजा, छत्र, बड़ी पताका, वज्र, शूल, तलवार के टूँक टूँक कर डाले और उसने रथ के घोड़ों तथा सारथि को मार डाला ॥१३७॥

अथेन्द्रशत्रुं तरसा जघान
बाणेन वज्राशनिसन्निभेन ।
भुजान्तरे व्यूढसुजातरूपे
वज्रेण मेरुं भगवानिवेन्द्रः ॥१३८॥

जैसे बलवान इन्द्र ने सुमेरु पर्वत को चूर्ण कर डाला था; वैसे ही वज्र के समान बाण को श्रीरामचन्द्र जी ने रावण की सुन्दर विशाल छाती में मारा ॥१३८॥

यो वज्रपाताशनिसन्निपातान्
न चुक्षुभे नापि चचाल राजा ।
स रामबाणाभिहतो भृशार्तः
चचाल चापं च मुमोच वीरः ॥१३९॥

जो वीर रावण बड़े बड़े वज्रों के आघात से कभी न तो घबड़ाया था और न विचलित हुआ था, वही आज श्रीरामचन्द्र के बाण की चोट से अत्यन्त पीड़ित हो, विचलित हो गया और उसके हाथ से धनुष भी गिर पड़ा ॥ १३९ ॥

तं विह्वलन्तं प्रसमीक्ष्य रामः
समाददे दीप्तमथार्धचन्द्रम् ।
तेनार्कवर्णं सहसा किरीटं
चिच्छेद रक्षोधिपतेर्महात्मा ॥१४०॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने राक्षसराज रावण को मूर्च्छित देखा, तब उन्होंने चमचमाता एक अर्धचन्द्राकार बाण छोड़, उसके सूर्य के समान चमचमाते मुकुट को काट गिराया ॥१४०॥

तं निर्विषाशीविषसन्निकाशं
शान्तार्चिषं सूर्यमिवाप्रकाशम् ।
गतश्रियं कृत्तकिरीटकूटम्
उवाच रामो युधि राक्षसेन्द्रम् ॥१४१॥

उस समय रावण की दशा ठीक वैसी ही थी जैसी विषहीन सर्प की अथवा शान्त हुई किरणों से युक्त प्रकाशरहित सूर्य की होती है। उस समय वह कान्तिहीन हो गया था। उसके समस्त किरीट कट गये थे। ऐसे रावण से समरभूमि में श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ १४१ ॥

कृतं त्वया कर्म महत्सुभीमं
हतप्रवीरश्च कृतस्त्वयाहम् ।
तस्मात्परिश्रान्त इव व्यवस्य
न त्वां शरैर्मृत्युवशं नयामि ॥१४२॥

देख तूने मेरे प्रधान वीरों को मार बड़ा भयङ्कर काम किया है। इस समय मैं तुझे थका हुआ जान, अपने बाणों से तुझे जान से नहीं मारता ॥१४२॥

गच्छानुजानामि [1]रणार्दितस्त्वं
प्रविश्य रात्रिंचरराज लङ्काम् ।
आश्वास्य निर्याहि रथी च धन्वी
तदा बलं द्रक्ष्यसि मे रथस्थः ॥१४३॥

---

१ रणार्दित—युद्धे श्रान्तः । (गो०)

अब तू चला जा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि, तू लड़ते लड़ते श्रान्त हो गया है। हे निशाचर! अब तू लङ्का में जाकर अपनी थकावट दूर कर और दूसरे रथ में बैठ तथा दूसरा धनुष ले कर आ जा। तब मेरा बल देखना॥ १४३॥

स एवमुक्तो हतदर्पहर्षो
निकृत्तचापः स हताश्वसूतः।
शरार्दितः कृत्तमहाकिरीटो
विवेश लङ्कां सहसा स राजा॥ १४४॥

इस प्रकार श्रीराम जी द्वारा दुत्कारा हुआ रावण तुरन्त लङ्का में चला गया। श्रीराम जी ने उसका धनुष तोड़ डाला था। उसके रथ के घोड़े व उसके सारथी को मार डाला था। उसके मुकुटों को काट कर गिरा दिया था। वह स्वयं भी बाणों की चोट से विकल हो रहा था। उसका दर्प और हर्ष नष्ट हो चुका था॥ १४४॥

तस्मिन्प्रविष्टे रजनीचरेन्द्रे
महाबले दानवदेवशत्रौ।
हरीन्विशल्यान्सह लक्ष्मणेन
चकार रामः परमाहवाग्रे॥ १४५॥

देवता और दानवों का शत्रु महाबली राक्षसराज रावण जब लङ्का में घुस गया, तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी के तथा उन समस्त वानरों के, जो समरभूमि में घायल हुए पड़े थे, लगे हुए बाण निकाल डाले और औषधोपचार से सब की व्यथा दूर की॥ १४५॥

तस्मिन्प्रभिन्ने[1] त्रिदशेन्द्रशत्रौ
सुरासुरा भूतगणा दिशश्च[2] ।
[3]ससागराः सर्षिमहोरगाश्च
तथैव भूम्यम्बु[4]चराश्च हृष्टाः ॥ १४६ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

इन्द्रशत्रु रावण को रण में इस प्रकार पराजित हुआ देख, देवता, दानव, भूत, दिक्पाल, समुद्रवासी, ऋषि, महोरग तथा पृथिवीचारी एवं जलचारी समस्त जीवधारी प्रसन्न हुए ॥ १४६ ॥

युद्धकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षष्टितमः सर्गः

—※—

स प्रविश्य पुरीं लङ्कां रामबाणभयार्दितः ।
भग्नदर्पस्तदा राजा बभूव [5]व्यथितेन्द्रियः ॥ १ ॥

रावण लङ्का में चला गया, किन्तु वहाँ श्रीरामचन्द्र जी के बाणों के भय से वह दुःखी हुआ । उसका गर्व दूर हो गया और उसका मन बहुत दुःखी हुआ ॥ १ ॥

---

१ प्रभिन्ने—पराजिते । (गो०) २ दिशः—दिक्पालाः । (गो०) ३ सागराः—सागरवासिनः । (गो०) ४ अम्बुचराः—सागरभिन्न अम्बुचराः । (गो०) ५ व्यथितेन्द्रियः—दुःखितमनस्कः । (गो०)

मातङ्ग इव सिंहेन गरुडेनेव पन्नगः ।
अभिभूतोऽभवद्राजा राघवेण महात्मना ॥ २ ॥

जिस तरह सिंह से हाथी और गरुड़ से सांप पीड़ित हो विकल होता है, उसी प्रकार महाबलवान श्रीरामचन्द्र जी से पराजित होने पर रावण विकल हुआ ॥ २ ॥

[1]ब्रह्मदण्डप्रकाशानां विद्युत्सदृशवर्चसाम् ।
स्मरन्राघवबाणानां विव्यथे राक्षसेश्वरः ॥ ३ ॥

वशिष्ठ जी के ब्रह्मदण्ड के समान समस्त अस्त्र शस्त्रों को ग्रसने वाले और बिजुली की तरह चमचमाते बाणों का स्मरण कर, राक्षसेश्वर रावण व्यथित हो रहा था ॥ ३ ॥

स काञ्चनमयं दिव्यमाश्रित्य परमासनम् ।
विप्रेक्षमाणो रक्षांसि रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

रावण सोने के बढ़िया सिंहासन पर बैठ और राक्षसों की ओर निहार कर कहने लगा ॥ ४ ॥

सर्वं तत्खलु मे मोघं यत्तप्तं परमं तपः ।
यत्समानो महेन्द्रेण मानुषेणास्मि निर्जितः ॥ ५ ॥

देखो मैंने जो तप किया था वह सब आज निश्चय ही व्यर्थ हो गया। क्योंकि इन्द्र के तुल्य मुझ पराक्रमी को एक मनुष्य ने हरा दिया ॥ ५ ॥

इदं तद्ब्रह्मणो घोरं वाक्यं मामभ्युपस्थितम् ।
मानुषेभ्यो विजानीहि भयं त्वमिति तत्तथा ॥ ६ ॥

---

१ ब्रह्मदण्ड—सर्वास्त्रनिगारणक्षमो वशिष्ठदण्डो वा ब्रह्मास्त्रं वा । (गो०)

ब्रह्मा का यह भयङ्कर कथन कि, तुझे मनुष्यों से भय होगा—आज मेरे सामने उपस्थित है ॥ ६ ॥

देवदानवगन्धर्वैर्यक्षराक्षसपन्नगैः ।
अवध्यत्वं मया प्राप्तं मानुषेभ्यो न याचितम् ॥ ७ ॥

हा ! मैंने ब्रह्मा जी से देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग द्वारा न मारे जाने का वरदान तो मांगा; किन्तु मनुष्यों द्वारा न मारे जाने का वर न माँगा ॥ ७ ॥

तमिमं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ।
इक्ष्वाकुकुलनाथेन अनरण्येन यत्पुरा ॥ ८ ॥

अतः दशरथ के इस पुत्र को मैं वही मनुष्य समझता हूँ जिसके विषय में इक्ष्वाकुकुल सम्भूत अनरण्य ने मुझे शाप दिया था अथवा मुझसे भविष्यद्वाणी कही थी ॥ ८ ॥

उत्पत्स्यते हि मद्वंशे पुरुषो राक्षसाधम ।
यस्त्वां सपुत्रं सामात्यं सबलं साश्वसारथिम् ॥ ९ ॥
निहनिष्यति संग्रामे त्वां कुलाधम दुर्मते ।
शप्तोऽहं वेदवत्या च यदा सा धर्षिता पुरा ॥ १० ॥

उन्होंने कहा था कि, हे राक्षसाधम ! मेरे वंश में एक ऐसा पुरुष उत्पन्न होगा, जो तुझ कुलाधम दुष्ट को, तेरे पुत्रों को, मंत्रियों को, सैनिकों को और अश्वों सहित तेरे सारथी को युद्ध में मारेगा। मैंने जब बरजोरी वेदवती को पकड़ा था (अर्थात् उसके साथ बलात्कार किया था) तब उसने भी मुझे शाप दिया था ॥ ९ ॥ १० ॥

सेयं सीता महाभागा जाता जनकनन्दिनी ।
उमा नन्दीश्वरश्चापि रम्भा वरुणकन्यका ॥ ११ ॥

जान पड़ता है वही वेदवती अब यह महाभागा सीता के रूप में जन्मी है। इसके अतिरिक्त उमा, नन्दीश्वर, रम्भा और वरुण की कन्या (पुञ्जिकस्थली) ने॥ ११॥

यथोक्तास्तपसा प्राप्तं न मिथ्या ऋषिभाषितम्।
एतदेवाभ्युपागम्य[1] यत्नं कर्तुमिहार्हथ॥ १२॥

तपप्रभाव से जो कुछ कहा था वह मेरे सामने है। भला ऋषियों का कथन भी कहीं मिथ्या हो सकता है। अब तुम लोग यह सब जान कर शत्रु को पराजित करने के लिये उचित उपाय करो॥ १२॥

राक्षसाश्चापि तिष्ठन्तु [2]चर्यागोपुरमूर्धसु।
स चाप्रतिमगम्भीरो देवदानवदर्पहा॥ १३॥

वह उपाय यह कि, प्रथम तो गोपुरों की बगल के उन रास्तों के ऊपर, जो पहरेदार सैनिकों के घूमने के लिये बने हुए हैं, तथा नगरों के बाहिर जाने वाले फाटकों के ऊपर राक्षस पहरा दें। फिर अतुलित गंभीरतायुक्त और देव दानवों के दर्प को दूर करने वाले॥ १३॥

ब्रह्मशापाभिभूतस्तु कुम्भकर्णो विबोध्यताम्।
स पराजितमात्मानं प्रहस्तं च निषूदितम्॥ १४॥
ज्ञात्वा रक्षोबलं भीममादिदेश महाबलः।
द्वारेषु यत्नः क्रियतां प्राकारश्चाधिरुह्यताम्॥ १५॥

कुम्भकर्ण को, जो ब्रह्मा जी के शाप से सो रहा है, जगाना चाहिये। महाबली रावण ने अपना पराजय और प्रहस्त का

---

१ अभ्युपागम्य:—ज्ञात्वा। (गो०) २ चर्या:गोपुरपार्श्वस्थभटसंचारप्रदेशा:। (गो०)

मारा जाना देख कर ही भयङ्करी राक्षसी सेना को आज्ञा दी कि, (वानर नगर में न घुस आवे) अतः राक्षस, नगर के द्वारों पर पहिरा दें और परकोटों की दीवालों पर चढ़ कर नगरी की रक्षा करें ॥ १४ ॥ १५ ॥

निद्रावशसमाविष्टः कुम्भकर्णो विबोध्यताम् ।
सुखं स्वपिति निश्चिन्तः कामोपहतचेतनः ॥ १६ ॥

गहरी नींद में पड़े सोते हुए कुम्भकर्ण को जगाओ । क्योंकि काम के वशवर्ती होने के कारण उसकी बुद्धि मारी गयी है, इसीसे वह मज़े में बेखटके सोया करता है ॥ १६ ॥

नव षट् सप्त चाष्टौ च मासान्स्वपिति राक्षसः ।
मन्त्रयित्वा प्रसुप्तोऽयमितस्तु नवमेऽहनि ॥ १७ ॥

सो भी एक दो दिन नहीं, कभी नौ, कभी छः, कभी सात और कभी आठ महीने तक वह पड़ा सोया ही करता है । अन्तिम बार वह मुझसे परामर्श कर नौ दिन हुए तब जा कर सोया है ॥ १७॥

तं तु बोधयत क्षिप्रं कुम्भकर्णं महाबलम् ।
स तु संख्ये महाबाहुः ककुदः सर्वरक्षसाम् ॥ १८ ॥

उस महाबली कुम्भकर्ण को शीघ्र जगाओ । वह महाबलवान युद्ध करने में सब राक्षसों से श्रेष्ठ है ॥ १८ ॥

वानरान्राजपुत्रौ च क्षिप्रमेव वधिष्यति ।
एष केतुः[1] परः संख्ये मुख्यो वै सर्वरक्षसाम् ॥ १९ ॥

---

१ परःकेतुः—केतुवत् सर्वोन्नतः भविष्यतीति शेषः । (शि०) परंकेतुः—अतिप्रकाशवीर्य इत्यर्थः । (रा०)

वह शीघ्र ही दोनों राजकुमारों को और समस्त वानरों को मार डालेगा। वह सब राक्षसों में मुख्य है और युद्धक्षेत्र में वह झंडे की तरह सब से ऊँचा देख पड़ेगा ॥ १९ ॥

कुम्भकर्णः सदा शेते मूढो ग्राम्यसुखे रतः।
रामेण हि निरस्तस्य संग्रामेऽस्मिन्सुदारुणे ॥ २० ॥

किन्तु मूढ़ कुम्भकर्ण ग्राम्यसुख (स्त्री पुत्रादिकों के सुख) में अनुरागी रह कर सदा सोया ही करता है। इस दारुण संग्राम में मैं जो राम से हार गया हूँ ॥ २० ॥

भविष्यति न मे शोकः कुम्भकर्णे विबोधिते।
किं करिष्याम्यहं तेन शक्रतुल्यबलेन हि ॥ २१ ॥
ईदृशे व्यसने प्राप्ते यो न साह्याय कल्पते।
ते तु तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः ॥ २२ ॥

सो जब कुम्भकर्ण जागेगा तब इस हार का मेरा शोक दूर हो जायगा। यदि ऐसी आफत विपत्ति में भी इन्द्र के समान पराक्रमी कुम्भकर्ण मेरी कुछ भी सहायता न करेगा; तो मैं उसे लेकर क्या करूँगा। राक्षसराज रावण के इन वचनों को सुन वे राक्षस ॥ २१ ॥ २२ ॥

जग्मुः [1]परमसम्भ्रान्ताः कुम्भकर्णनिवेशनम्।
ते रावण समादिष्टा मांसशोणितभोजनाः ॥ २३ ॥
गन्धमाल्यांस्तथा भक्ष्यानादाय सहसा ययुः।
तां प्रविश्य महाद्वारां सर्वतो योजनायताम् ॥ २४ ॥

---

१ परमसम्भ्रान्ताः—कथमेनं अकाले प्रबोधयिष्याम इति व्याकुलाः। (गो०)

इस विचार से कि, हम क्यों कर कुसमय में कुम्भकर्ण को जगावें, विकल होते हुए, कुम्भकर्ण के घर को गये। वे रक्त-मांस-भोजी राक्षस, रावण की आज्ञा के अनुसार कुम्भकर्ण के लिये सुगन्धित पुष्पों की फूल मालाएँ तथा बहुत सी खाने की वस्तुएँ अपने साथ ले तुरन्त चल दिये। वे कुम्भकर्ण की गुफा में घुस गये। गुफा का द्वार बड़ा ऊँचा था और वह योजन भर लंबी चौड़ी थी ॥ २३ ॥ २४ ॥

कुम्भकर्णगुहां रम्यां सर्वगन्धप्रवाहिनीम् ।
कुम्भकर्णस्य निःश्वासादवधूता महाबलाः ॥ २५ ॥

कुम्भकर्ण की गुफा के भीतर फूलों की सुगन्धि आ रही थी और वह बड़ी रमणीक थी। किन्तु कुम्भकर्ण ऐसे ज़ोर से सांस खींचता और छोड़ता था कि, वे महाबली राक्षस उसके भीतर घुस नहीं पाते थे ॥ २५ ॥

प्रतिष्ठमानः कृच्छ्रेण यत्नात्प्रविविशुर्गुहाम् ।
तां प्रविश्य गुहां रम्यां शुभां काञ्चनकुट्टिमाम् ॥ २६ ॥

बड़ी कठिनता से गुफा में वे ठड़े रह सके और बड़ा प्रयत्न करने पर उसके भीतर जा सके। उस रमणीक गुफा का फ़र्श सोने का बना हुआ था ॥ २६ ॥

ददृशुर्नैर्ऋतव्याघ्रं शयानं भीमदर्शनम् ।
ते तु तं विकृतं सुप्तं विकीर्णमिव पर्वतम् ॥ २७ ॥

उन राक्षसों ने देखा कि, भयङ्कर सूरतशक्ल का राक्षसव्याघ्र अर्थात् कुम्भकर्ण पड़ा सो रहा है। उन्होंने उसे एक गिरे हुए पहाड़ की तरह बुरी तरह सोते हुए पाया ॥ २७ ॥

कुम्भकर्णं महानिद्रं सहिताः प्रत्यबोधयन् ।
ऊर्ध्वरोमाञ्चिततनुं श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ २८ ॥

तब उन सब राक्षसों ने मिल कर प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुए कुम्भकर्ण को जगाया। उस समय कुम्भकर्ण के सब रोंगटे खड़े थे और वह सर्प की तरह फुसकारें छोड़ रहा था ॥ २८ ॥

त्रासयन्तं महाश्वासैः शयानं भीमदर्शनम् ।
भीमनासापुटं तं तु पातालविपुलाननम् ॥ २९ ॥

भयङ्कर सूरतवाला और सोता हुआ कुम्भकर्ण अपनी इन लंबी लंबी साँसों से उन राक्षसों को त्रस्त कर रहा था। उसकी नाक के दोनों छिद्र बड़े भयङ्कर थे और मुख तो पाताल की तरह बड़ा जान पड़ता था ॥ २९ ॥

शय्यायां न्यस्तसर्वाङ्गं मेदोरुधिरगन्धिनम् ।
काञ्चनाङ्गदनद्धाङ्गं किरीटिनमरिन्दमम् ॥ ३० ॥

वह बिछौने पर लेटा हुआ था और वहाँ चर्बी और लोहू की दुर्गन्धि आ रही थी। उसकी भुजाओं पर दो बाजूबंद बँधे हुए थे। शत्रुहन्ता कुम्भकर्ण सिर पर किरीट धारण किये हुए था ॥ ३० ॥

ददृशुर्नैर्ऋतव्याघ्रं कुम्भकर्णं महाबलम् ।
ततश्चक्रुर्महात्मानः कुम्भकर्णाग्रतस्तदा ॥ ३१ ॥
मांसानां मेरुसङ्काशं राशिं परमतर्पणम् ।
मृगाणां महिषाणां च वराहाणां च सञ्चयान् ॥ ३२ ॥

उन राक्षसों ने महाबली राक्षसव्याघ्र कुम्भकर्ण की यह दशा देखी, तदनन्तर उन लोगों ने कुम्भकर्ण के समीप, अत्यन्त तृप्तकर

मांस के पहाड़ की तरह एक ऊँचा ढेर लगा दिया। (मरे हुए) मृगों, भैसों और सुअरों के वहाँ ढेर लगाये गये ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

चक्रुर्नैर्ऋतशार्दूला राशिमन्नस्य चाद्भुतम् ।
ततः शोणितकुम्भांश्च मद्यानि विविधानि च ॥ ३३ ॥

फिर उन राक्षसश्रेष्ठों ने अन्न का विस्मयकारी एक बड़ा ढेर लगा दिया। फिर रक्त से भरे बहुत से कलसे तथा विविध प्रकार की मदिराएँ ॥ ३३ ॥

पुरस्तात्कुम्भकर्णस्य चक्रुस्त्रिदशशत्रवः ।
लिलिपुश्च परार्घ्येन चन्दनेन परन्तपम् ॥ ३४ ॥

उन राक्षसों ने कुम्भकर्ण के सामने (पास) रख दीं। फिर उत्तम सुगन्धित चन्दन से उसका शरीर पोता गया ॥ ३४ ॥

दिव्यैराच्छादयामासुर्माल्यैर्गन्धैः सुगन्धिभिः ।
धूपं सुगन्धं ससृजुस्तुष्टुवुश्च परन्तपम् ॥ ३५ ॥

अच्छी अच्छी सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ उसे पहनायी गयीं, तथा सुगन्धित द्रव्य उसे सुँघायी गयीं। राक्षस उस शत्रुहन्ता कुम्भकर्ण के सामने उग्रगन्ध वाली धूप आदि सुगन्धित वस्तुएँ रख, उसकी स्तुति करने लगे ॥ ३५ ॥

जलदा इव चोन्नेदुर्यातुधानास्ततस्ततः ।
शङ्खानापूरयामासुः शशाङ्कसदृशप्रभान् ॥ ३६ ॥

बादलों की गर्जन के समान बड़े ज़ोर से वे सब राक्षस उसके चारों ओर खड़े हो कर चिल्लाने लगे। उन्होंने चन्द्र समान सफेद शङ्ख बजाये ॥ ३६ ॥

तुमुलं युगपच्चापि विनेदुश्चाप्य मर्पिताः ।
नेदुरा[1]स्फोटयामासु[2]श्चिक्षिपुस्ते निशाचराः ।
कुम्भकर्णविबोधार्थं चक्रुस्ते विपुलं स्वनम् ॥ ३७ ॥

इस पर भी जब कुम्भकर्ण न जागा, तब कुपित हो सब राक्षसों ने एक साथ घोर शब्द किया। तिस पर भी जब उसकी नींद न टूटी, तब बड़ी ज़ोर से चिल्ला कर उसके शरीर पर वे प्रहार करने लगे तथा उसके शरीर को पकड़ कर हिलाने लगे। कुम्भकर्ण को जगाने के लिये वे बड़ी ज़ोर से चिल्लाये ॥ ३७ ॥

सशङ्खभेरीपणवप्रणाद-
मास्फोटितक्ष्वेलितसिंहनादम् ।
दिशो द्रवन्तस्त्रिदिवं किरन्तः
श्रुत्वा विहङ्गाः सहसा निपेतुः ॥ ३८ ॥

उस समय उस गुफा में शङ्ख, तुरही, ढोल आदि बाजों के बजने का शब्द तथा राक्षसों के ताल ठोकने का, गर्जने का तथा सिंहनाद करने का शब्द मिल कर, एक ऐसा होहल्ला मचा कि, उसे सुन पक्षी इधर उधर भागे, किन्तु आकाश में पहुँच कर भी जब उनका भय दूर न हुआ, तब वे धड़ाम धड़ाम भूमि पर गिरने लगे ॥ ३८ ॥

यदा भृशं तैर्निनदैर्महात्मा[3]
न कुम्भकर्णो बुबुधे प्रसुप्तः ।

---

१ आस्फोटयामासुः—ताडयामासुः । (गो०) २ चिक्षिपुः—शरीरं कंपयामासुः । (गो०) ३ महात्मा—महाशरीरः । (गो०)

ततो [1]भुशुण्डीर्मुसलानि सर्वे
रक्षोगणास्ते जगृहुर्गदाश्च ॥ ३९ ॥

इतना होहल्ला करने पर भी जब वह महाकाय न जागा, तब उन सब ने मिल कर मुगदर, मूसल और गदाएँ उठायीं ॥ ३९ ॥

तं शैलशृङ्गैर्मुसलैर्गदाभि-
र्वृक्षैस्तलैर्मुद्गरमुष्टिभिश्च ।
सुखप्रसुप्तं भुवि कुम्भकर्णं
रक्षांस्युदग्राणि तदा निजघ्नुः ॥ ४० ॥

और पर्वतशिखरों, मूसलों, गदाओं, वृक्षों, थप्पड़ों, मुगदरों और मूँकों से, भूमि पर सुख से सोते हुए कुम्भकर्ण की छाती में वे राक्षस प्रहार करने लगे ॥ ४० ॥

तस्य निःश्वासवातेन कुम्भकर्णस्य रक्षसः ।
राक्षसा बलवन्तोऽपि स्थातुं नाशक्नुवन्पुरः ॥ ४१ ॥

उस समय कुम्भकर्ण की साँस ऐसे ज़ोर से चल रही थी कि, उसकी साँस के पवन के कारण वे राक्षस बलवान होने पर भी उसके सामने खड़े भी नहीं रह सकते थे ॥ ४१ ॥

ततः [2]परिहिता गाढं राक्षसा भीमविक्रमाः ।
मृदङ्गपणवान्भेरीः शङ्खकुम्भगणांस्तदा ॥ ४२ ॥
दशराक्षससाहस्रा युगपत्पर्यवादयन् ।
नीलाञ्जनचयाकारास्ते तु तं प्रत्यबोधयन् ॥ ४३ ॥

---

१ भुशुण्डी—मुद्गरविशेषः । (गो०) २ परिहिताः—दृढीकृतपरिधानाः । (गो०)

इतने पर भी जब कुम्भकर्ण न जागा, तब वे लोग कमर कस कर तैयार हुए और मृदङ्ग, ढोल, तुरही, शङ्ख आदि बाजे ले, कुम्भकर्ण को जगाने के लिये, काजल के ढेर के समान काले दस हज़ार राक्षसों ने मिल कर, एक साथ बजाये ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अभिघ्नन्तो नदन्तश्च नैव संविविदे तु सः ।
यदा चैनं न शेकुस्ते प्रतिबोधयितुं तदा ॥ ४४ ॥

फिर वे राक्षस बाजे बजा कर अनेक प्रकार के प्रहार भी करते जाते थे। वे केवल बाजे ही नहीं बजाते थे, बल्कि गर्ज भी रहे थे। किन्तु जब वे इन उपायों से भी उसको न जगा सके ॥ ४४ ॥

ततो गुरुतरं यत्नं दारुणं समुपाक्रमन् ।
अश्वानुष्ट्रान्खरान्नागाञ्जघ्नुर्दण्डकशाङ्कुशैः ॥ ४५ ॥

तब उन्होंने इससे भी अधिक कठोर और गुरुतर उपायों को काम में लाने का विचार निश्चय किया। वह यह कि, कुम्भकर्ण को रुंधवाने के लिये वे घोड़ों, ऊँटों, गधों, हाथियों को डंडों, चाबुकों और अंकुशों से मार मार कर उसके ऊपर चलाने लगे ॥ ४५ ॥

भेरीशङ्खमृदङ्गांश्च सर्वप्राणैरवादयन् ।
निजघ्नुश्चास्य गात्राणि महाकाष्ठकटङ्करैः ॥ ४६ ॥

फिर वे सब एकत्र हो भेरियों, शङ्खों और मृदङ्गों को अपना समस्त बल लगा बजाने लगे। साथ ही वे कुम्भकर्ण के शरीर पर, बड़े भारी लट्ठ, जिनमें लोहे की काँटेदार कीलें जड़ी थीं, मारने लगे ॥ ४६ ॥

मुद्गरैर्मुसलैश्चैव सर्वप्राणसमुद्यतैः ।
तेन शब्देन महता लङ्का समभिपूरिता ॥ ४७ ॥

सपर्वतवना सर्वा सोऽपि नैव प्रबुध्यते ।
ततः सहस्रं भेरीणां युगपत्समहन्यत ॥ ४८ ॥

अकेले लट्ठ ही नहीं—बल्कि मुगदरों और मूसलों से भी अपना सारा बल लगा वे उसके शरीर को पीटने लगे। बाजों के बजने, राक्षसों के चिल्लाने और लट्ठ, मूसल आदि के प्रहार से उत्पन्न हुए शब्द से, पर्वतों तथा समस्त वनों सहित लङ्का गूँज उठी, किन्तु कुम्भकर्ण की नींद तो भी न टूटी। तब एक साथ एक हज़ार नगाड़े ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

मृष्टकाञ्चनकोणानामसक्तानां समन्ततः ।
एवमप्यतिनिद्रस्तु यदा नैव प्रबुध्यते ॥ ४९ ॥
शापस्य वशमापन्नस्ततः क्रुद्धा निशाचराः ।
महाक्रोधसमाविष्टाः सर्वे भीमपराक्रमाः ॥ ५० ॥

सोने की चोबों से उसके चारों ओर बजाये गये। जब कि, कुम्भकर्ण शापग्रस्त होने के कारण इन सब उपायों के कर चुकने पर भी न जागा, तब वे सब राक्षस क्रुद्ध हुए। तदनन्तर अत्यन्त क्रोध में भर वे समस्त भयङ्कर पराक्रमी राक्षस ॥ ४९ ॥ ५० ॥

तद्रक्षो बोधयिष्यन्तश्चक्रुरन्ये पराक्रमम् ।
अन्ये भेरीः समाजघ्नुरन्ये चक्रुर्महास्वनम् ॥ ५१ ॥

कुम्भकर्ण को जगाने के लिये अपना अपना पराक्रम दिखलाने लगे। कोई कोई तो नगाड़े बजाने लगे और कोई कोई बड़े ज़ोर से चिल्लाने लगे ॥ ५१ ॥

केशानन्ये प्रलुलुपुः कर्णावन्ये दशन्ति च ।
उदकुम्भशतान्यन्ये समसिञ्चन्त कर्णयोः ॥ ५२ ॥

किसी किसी ने कुम्भकर्ण के सिर के बाल पकड़ कर खींचे, किसी किसी ने दाँतों से उसके कान काटे। किसी किसी ने सैकड़ों पानी से भरे घड़े उसके कानों में उड़ेल दिये ॥ ५२ ॥

न कुम्भकर्णः पस्पन्दे महानिद्रावशं गतः ।
अन्ये च बलिनस्तस्य कूटमुद्गरपाणयः ॥ ५३ ॥

तिस पर भी नींद में मस्त कुम्भकर्ण टस से मस न हुआ। अन्य बलवान राक्षसों ने हाथों में काँटे जड़े मुगदर उठा लिये ॥५३॥

मूर्ध्नि वक्षसि गात्रेषु पातयन्कूटमुद्गरान् ।
रज्जुबन्धनबद्धाभिः शतघ्नीभिश्च सर्वतः ॥ ५४ ॥

और उन काँटेदार मुगदरों से वे कुम्भकर्ण के सिर, छाती तथा उसके शरीर के अन्य अवयवों पर प्रहार करने लगे। रस्सों से बाँध कर शतघ्नियों से उसके समस्त ॥ ५४ ॥

वध्यमानो महाकायो न प्राबुध्यत राक्षसः ।
वारणानां सहस्रं तु शरीरेऽस्य प्रधावितम् ।
कुम्भकर्णस्ततो बुद्धः स्पर्शं परमबुध्यत ॥ ५५ ॥

शरीर को पीटने पर भी, वह महाकाय राक्षस न जागा। अन्त में जब राक्षसों ने उसके ऊपर हज़ारों हाथियों को दौड़ाया, तब उसको इतना ज्ञान पड़ा कि, उसके शरीर को कोई कीट पतंग छू रहा है। (अस्तु राम राम कर के किसी प्रकार कुम्भकर्ण जागा) ॥ ५५ ॥

स पात्यमानैर्गिरिशृङ्गवृक्षैः
अचिन्तयन्स्तान्विपुलान्प्रहारान् ।

निद्राक्षयात्क्षुद्भयपीडितश्च
विजृम्भमाणः सहसोत्पपात ॥ ५६ ॥

उसने उन पर्वतशृङ्गों और वृक्षों के विपुल प्रहार की कुछ भी परवाह न की। किन्तु नींद टूटने पर भूख के डर से दुःखी हो वह जँभाई लेता हुआ सहसा उठ बैठा ॥ ५६ ॥

स नागभोगाचलशृङ्गकल्पौ
विक्षिप्य बाहू गिरिशृङ्गसारौ।
विवृत्य वक्त्रं बडवामुखाभं
निशाचरोऽसौ विकृतं जजृम्भे ॥ ५७ ॥

कुम्भकर्ण नागभोग (फन फैलाये हुए सर्प) की तरह लंबी और पर्वतशिखर की तरह कठोर और वलिष्ट भुजाओं को फैला कर, वड़वानल की तरह भयङ्कर मुख को फैला कर जँभाई लेने लगा ॥ ५७ ॥

तस्य जाजृम्भमाणस्य वक्त्रं पातालसन्निभम्।
ददृशे मेरुशृङ्गाग्रे दिवाकर इवोदितः ॥ ५८ ॥

जँभाई लेने के समय उसका मुख पाताल की तरह गहरा और मुखमण्डल, सुमेरुपर्वत पर उदय हुए सूर्य की तरह प्रकाशमान देख पड़ा ॥ ५८ ॥

स जृम्भमाणोऽतिवलः प्रतिबुद्धो निशाचरः।
निःश्वासश्चास्य सञ्जज्ञे पर्वतादिव मारुतः ॥ ५९ ॥

वह अति वलवान निशाचर जब जँभाई लेता हुआ जागा, तब उसके मुख से वैसे ही हवा निकली; जैसे पर्वत से निकल कर आँधी चलती है ॥ ५९ ॥

रूपमुत्तिष्ठतस्तस्य कुम्भकर्णस्य तद्बभौ ।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव दिधक्षतः ॥ ६० ॥

जब कुम्भकर्ण जाग कर उठा, तब उसका रूप संसार को भक्षण करने वाले प्रलयकालीन काल की तरह, जान पड़ने लगा ॥ ६० ॥

तस्य दीप्ताग्निसदृशे विद्युत्सदृशवर्चसी ।
ददृशाते महानेत्रे दीप्ताविव महाग्रहौ ॥ ६१ ॥

दहकती हुई आग की तरह, अथवा बिजुली की तरह चमकीले उसके दोनों नेत्र ऐसे जान पड़े, मानों देदीप्यमान दो नक्षत्र हों ॥६१॥

ततस्त्वदर्शयन्सर्वान्भक्ष्यांश्च विविधान्बहून् ।
वराहान्महिषांश्चैव स बभक्ष महाबलः ॥ ६२ ॥

उन राक्षसों ने उसे सब सुअर भैंसे आदि अनेक प्रकार के बहुत से खाद्य पदार्थ दिखलाये । तब वह महाबली उन सब को खाने लगा ॥ ६२ ॥

अदन्बुभुक्षितो मांसं शोणितं तृषितः पिबन् ।
मेदः कुम्भांश्च मद्यं च पपौ शक्ररिपुस्तदा ॥ ६३ ॥

भूख मिटाने को उसने मांस खाया और प्यास बुझाने के लिये उसने रक्त पिया । तदनन्तर इन्द्र के शत्रु कुम्भकर्ण ने चर्बी और मद्य से भरे घड़े उठा उठा कर पिये ॥ ६३ ॥

ततस्तृप्त इति ज्ञात्वा समुत्पेतुर्निशाचराः ।
शिरोभिश्च प्रणम्यैनं सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ६४ ॥

कुम्भकर्ण के डर के मारे जो राक्षस अभी तक छिपे हुए थे उन्होंने जब जाना कि, उसका पेट भर गया तब वे निकल कर उसके सामने आये। फिर उसको सीस झुका प्रणाम कर उसे घेर कर खड़े हो गये ॥ ६४ ॥

निद्राविशदनेत्रस्तु कलुषीकृतलोचनः ।
चारयन्सर्वतो दृष्टिं तान्ददर्श निशाचरान् ॥ ६५ ॥

निद्रावश होने के कारण उसकी आँखें कुछ कुछ खुली थीं और लाल हो रही थीं, उसने चारों ओर दृष्टि फैला कर उन राक्षसों को देखा ॥ ६५ ॥

स सर्वान्सान्त्वयामास नैर्ऋतान्नैर्ऋतर्षभः ।
बोधनाद्विस्मितश्चापि राक्षसानिदमब्रवीत् ॥ ६६ ॥

राक्षसश्रेष्ठ कुम्भकर्ण ने उन सब राक्षसों को धीरज बँधाया। उसे असमय अपने जगाये जाने का आश्चर्य हुआ, अतः उसने उन राक्षसों से कहा ॥ ६६ ॥

किमर्थमहमादृत्य भवद्भिः प्रतिबोधितः ।
कच्चित्सुकुशलं राज्ञो भयवानेष वा न किम् ॥ ६७ ॥

हे राक्षसों! तुम लोगों ने मुझे बड़े आदर के साथ क्यों जगाया है। राक्षसराज रावण तो प्रसन्न है? कहीं कोई भय तो आकर उपस्थित नहीं हुआ? ॥ ६७ ॥

अथवा ध्रुवमन्येभ्यो भयं परमुपस्थितम् ।
यदर्थमेवं त्वरितैर्भवद्भिः प्रतिबोधितः ॥ ६८ ॥

अथवा इस प्रश्न की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि जब आप लोगों ने मुझको इतनी जल्दी जगा दिया है, तब अवश्य ही कोई भय की बात हुई है ॥ ६८ ॥

अद्य राक्षसराजस्य भयमुत्पाटयाम्यहम् ।
पातयिष्ये महेन्द्रं वा शातयिष्ये तथाऽनलम् ॥ ६९ ॥

मैं आज ही राक्षसराज के भय को उखाड़ कर फेंक दूँगा। यदि इन्द्र होगा तो उसे नष्ट कर डालूँगा और अग्नि होगा तो उसे ठंडा कर दूँगा। अथवा महेन्द्राचल भी होगा तो उसे धूल में मिला दूँगा और अग्नि होगा तो उसे बुझा दूँगा॥ ६९॥

न ह्यल्पकारणे सुप्तं बोधयिष्यति मां गुरुः ।
तदाख्यातार्थतत्त्वेन मत्प्रबोधनकारणम् ॥ ७० ॥

मेरा बड़ा पूज्य भाई मामूली बात के लिये मुझे कभी नहीं जगाता। सो तुम मुझ जैसे वीर के जगाने का कारण ठीक ठीक बतलाओ॥ ७०॥

एवं ब्रुवाणं संरब्धं कुम्भकर्णं महाबलम् ।
यूपाक्षः सचिवो राज्ञः कृताञ्जलिरुवाच ह ॥ ७१ ॥

महाबली कुम्भकर्ण ने जब इस प्रकार क्रोध में भर कर कहा, तब रावण के दीवान यूपाक्ष ने हाथ जोड़ कर कहा—॥ ७१॥

न नो देवकृतं किञ्चिद्भयमस्ति कदाचन ।
मानुषान्नो भयं राजंस्तुमुलं सम्प्रबाधते ॥ ७२ ॥

हे राजन्! हम लोगों को देवताओं का तो कभी रत्ती भर भी भय नहीं है। किन्तु इस समय मनुष्यों का बड़ा भारी भय उपस्थित हुआ है॥ ७२॥

न दैत्यदानवेभ्यो वा भयमस्ति हि तादृशम् ।
यादृशं मानुषं राजन्भयमस्मानुपस्थितम् ॥ ७३ ॥

हे राजन्! हम लोगों को इस समय जैसा भय मनुष्यों से उत्पन्न हुआ है, वैसा तो देवता और दानवों से भी कभी नहीं हुआ था ॥ ७३ ॥

वानरैः पर्वताकारैर्लङ्केयं परिवारिता ।
सीताहरणसन्तप्ताद्रामान्नस्तुमुलं भयम् ॥ ७४ ॥

सीता के हरण से सन्तप्त राम, हम लोगों के इस बड़े भारी भय के मुख्य कारण हैं। उन्हींकी सेना के पर्वताकार वानरों ने लङ्कापुरी को घेर लिया है ॥ ७४ ॥

एकेन वानरेणेयं पूर्वं दग्धा महापुरी ।
कुमारो निहतश्चाक्षः सानुयात्रः सकुञ्जरः ॥ ७५ ॥

पहिले एक ही वानर ने आकर लङ्का जलाई थी और अपने साथियों तथा हाथियों की सैन्य सहित राजकुमार अक्ष उसके हाथ से मारा गया था। (अब तो उस जैसे असंख्य वानर लङ्का को घेरे हुए हैं) ॥ ७५ ॥

स्वयं रक्षोधिपश्चापि पौलस्त्यो देवकण्टकः ।
[1]मृतेति संयुगे मुक्तो रामेणादित्यतेजसा ॥ ७६ ॥

औरों की बात क्या कहूँ—देवताओं के शत्रु, स्वयं पुलस्त्यनन्दन राक्षसराज रावण भी सूर्य के समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के सामने से मरते मरते बच कर भाग आये हैं, सो भी उस समय जब राम ने दया कर उनसे कहा—"अरे मुर्दे! भाग जा। इस समय मैं तुझे छोड़े देता हूँ" ॥ ७६ ॥

---

१ मृतेति—हे मृतेत्युक्त्वा। (गो०)

यन्न देवैः कृतो राजा नापि दैत्यैर्न दानवैः ।
कृतः स इह रामेण विमुक्तः प्राणसंशयात् ॥ ७७ ॥

जैसा राक्षसराज का अपमान आज तक किसी देवता, दैत्य अथवा दानव के द्वारा नहीं हुआ था वैसा अपमान इस राम ने उनका किया। अर्थात् रावण को मारते मारते छोड़ दिया ॥ ७७ ॥

स यूपाक्षवचः श्रुत्वा भ्रातुर्युधि पराजयम् ।
कुम्भकर्णो विवृत्ताक्षो यूपाक्षमिदमब्रवीत् ॥ ७८ ॥

अपने भाई रावण की हार का इस प्रकार का वृत्तान्त यूपाक्ष के मुख से सुन, कुम्भकर्ण ने त्योरी बदल कर, यूपाक्ष से यह कहा—॥ ७८ ॥

सर्वमद्यैव यूपाक्ष हरिसैन्यं सलक्ष्मणम् ।
राघवं च रणे हत्वा पश्चाद्द्रक्ष्यामि रावणम् ॥ ७९ ॥

हे यूपाक्ष! मैं आज युद्धक्षेत्र में, श्रीरामचन्द्र को तथा लक्ष्मण सहित समस्त वानरी सेना को पहिले मार कर, पीछे रावण से भेंट करूँगा ॥ ७९ ॥

राक्षसांस्तर्पयिष्यामि हरीणां मांसशोणितैः ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि स्वयं पास्यामि शोणितम् ॥ ८० ॥

मैं वानरों के मांस और रुधिर से राक्षसों को अघा दूँगा और श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण का रुधिर मैं स्वयं पीऊँगा ॥ ८० ॥

तत्तस्य वाक्यं ब्रुवतो निशम्य
सगर्वितं रोषविवृद्धदोषम् ।
महोदरो नैर्ऋतयोधमुख्यः
कृताञ्जलिर्वाक्यमिदं बभाषे ॥ ८१ ॥

कुम्भकर्ण के इस प्रकार गर्वयुक्त और क्रोधपूर्ण वचन सुन कर, राक्षस योद्धाओं में प्रधान योद्धा महोदर हाथ जोड़ कर यह बोला ॥ ८१ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा गुणदोषौ विमृश्य च ।
पश्चादपि महाबाहो शत्रून्युधि विजेष्यसि ॥ ८२ ॥

हे महाबाहो ! पहिले आप रावण की बातें सुन लें और उनके कथन में जो गुण अथवा दोष हों उन पर भलीभांति विचार कर लें, तदनन्तर शत्रु से लड़ कर उसे पराजित करें ॥ ८२ ॥

महोदरवचः श्रुत्वा राक्षसैः परिवारितः ।
कुम्भकर्णो महातेजाः [1]सम्प्रतस्थे महाबलः ॥ ८३ ॥

महोदर के इन वचनों को सुन महातेजस्वी एवं महाबली कुम्भकर्ण, उन राक्षसों को साथ लिये हुए वहाँ से चलने को तैयार हुआ ॥ ८३ ॥

सुप्तमुत्थाप्य भीमाक्षं भीमरूपपराक्रमम् ।
राक्षसास्त्वरिता जग्मुर्दशग्रीवनिवेशनम् ॥ ८४ ॥

उस भयङ्कर नेत्रों वाले एवं भयङ्कर रूप वाले तथा भीम पराक्रम वाले कुम्भकर्ण को सोते से जगा, उनमें से कुछ राक्षस तुरन्त रावण के भवन में गये ॥ ८४ ॥

ततो गत्वा दशग्रीवमासीनं परमासने ।
ऊचुर्बद्धाञ्जलिपुटाः सर्व एव निशाचराः ॥ ८५ ॥

वहाँ पहुँच कर बढ़िया सिंहासन पर बैठे हुए रावण से वे सब राक्षस हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥ ८५ ॥

---

१ सम्प्रतस्थे—प्रस्थातुमुपचक्रमे । (गो०)

प्रबुद्धः कुम्भकर्णोऽयं भ्राता ते राक्षसर्षभ।
कथं तत्रैव निर्यातु द्रक्ष्यस्येनमिहागतम् ॥ ८६ ॥

हे राक्षसश्रेष्ठ! आपके भाई कुम्भकर्ण जाग गये। क्या वे सीधे उधर के उधर ही समरभूमि में जाँय अथवा आप पहिले उनसे यहां मिलना चाहते हैं॥ ८६ ॥

रावणस्त्वब्रवीद्धृष्टो राक्षसांस्तानुपस्थितान्।
द्रष्टुमेनमिहेच्छामि यथान्यायं च पूज्यताम् ॥ ८७ ॥

रावण ने उन आये हुए राक्षसों से प्रसन्न होकर कहा। मैं कुम्भकर्ण से यहीं मिलना चाहता हूँ—सो तुम लोग बड़े आदर के साथ उन्हें मेरे पास यहाँ लिवा लाओ॥ ८७ ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे पुनरागम्य राक्षसाः।
कुम्भकर्णमिदं वाक्यमूचू रावणचोदिताः ॥ ८८ ॥

रावण से "बहुत अच्छा" कह और उसके आज्ञानुसार वे सब राक्षस कुम्भकर्ण के पास लौट गये और कुम्भकर्ण से यह बोले॥ ८८ ॥

द्रष्टुं त्वां काङ्क्षते राजा सर्वराक्षसपुङ्गवः।
गमने क्रियतां बुद्धिर्भ्रातरं सम्प्रहर्षय ॥ ८९ ॥

हे समस्त राक्षसों में श्रेष्ठ! आपसे राक्षसराज रावण मिलना चाहते हैं सो आप अब वहाँ चल कर अपने बड़े भाई को हर्षित करें॥ ८९ ॥

कुम्भकर्णस्तु दुर्धर्षो भ्रातुराज्ञाय शासनम्।
तथेत्युक्त्वा महाबाहुः शयनादुत्पपात ह ॥ ९० ॥

महावली एवं दुर्धर्ष कुम्भकर्ण, भाई की आज्ञा सुन और "वहुत अच्छा" कह विस्तर से उठ वैठा ॥ ९० ॥

प्रक्षाल्य वदनं हृष्टः स्नातः परमभूषितः ।
पिपासुस्त्वरयामास पानं [1]वलसमीरणम् ॥ ९१ ॥

उसने मुँह धोकर, फिर स्नान किये। तदनन्तर वस्त्राभूषण से भूषित हो, वह परम प्रसन्न हुआ और उसने उन राक्षसों से वल-वर्धक मदिरा तुरन्त देने के लिये कहा ॥ ९१ ॥

ततस्ते त्वरितास्तस्य राक्षसा रावणाज्ञया ।
मद्यकुम्भांश्च विविधान्क्षिप्रमेवोपहारयन् ॥ ९२ ॥

तुरन्त लाने के लिये कहे जाने पर, उन राक्षसों ने रावण की आज्ञा से तुरन्त विविध प्रकार की मदिराओं के घड़े लाकर कुम्भकर्ण के सामने रख दिये ॥ ९२ ॥

पीत्वा घटसहस्रे द्वे गमनायोपचक्रमे ।
ईषत्समुत्कटो मत्तस्तेजोवलसमन्वितः ॥ ९३ ॥

कुम्भकर्ण दो हज़ार शराव से भरे घड़ों को पी कर, चलने को तैयार हुआ। अभी उसे उस मद्यपान से थोड़ा ही नशा हुआ था; किन्तु वह तो स्वभाव ही से मतवाला तथा तेजस्वी एवं वलवान ॥ ९३ ॥

कुम्भकर्णो वभौ हृष्टः कालान्तकयमोपमः ।
भ्रातुः स भवनं गच्छन्रक्षोगणसमन्वितः ।
कुम्भकर्णः पदन्यासैरकम्पयत मेदिनीम् ॥ ९४ ॥

---

१ वलसमीरणं—वलवर्धनं । (गो०)

कुम्भकर्ण हर्षित हो कालान्तक यम की तरह देख पड़ने लगा। जब वह राक्षसों को साथ ले राज्यभवन को रवाना हुआ, तब उसके पैर की धमक से पृथिवी काँप सी रही थी ॥ ९४ ॥

स राजमार्गं [1]वपुषा प्रकाशयन्
सहस्ररश्मिर्धरणीमिवांशुभिः ।
जगाम तत्राञ्जलिमालया वृतः
शतक्रतुर्गेहमिव स्वयंभुवः ॥ ९५ ॥

वह चलते चलते अपनी कान्ति से राजमार्ग को वैसे ही प्रकाशित कर रहा था, जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी को प्रकाशमान करते हैं। हाथ जोड़े हुए नगरवासी उसको चारों ओर से घेरे हुए उसके साथ चले जाते थे। वह राजभवन की ओर वैसे ही जा रहा था, जैसे ब्रह्मा जी इन्द्रभवन की ओर जाते हैं ॥ ९५ ॥

तं राजमार्गस्थममित्रघातिनं
वनौकसस्ते सहसा बहिः स्थिताः ।
दृष्ट्वाप्रमेयं गिरिशृङ्गकल्पं
वितत्रसुस्ते हरियूथपालाः ॥ ९६ ॥

जब वह पर्वतशृङ्ग के समान लंबा, तगड़ा, शत्रुहन्ता, अतुलित वीर कुम्भकर्ण राजमार्ग पर चला जाता था, तब लङ्का के बाहिर ठहरे हुए वानर अपने नाना यूथपतियों सहित उसको देखते ही भयभीत हो गये ॥ ९६ ॥

---

१ वपुषा—देहकान्त्या। (रा०)

केचिच्छरण्यं शरणं स्म रामं
व्रजन्ति केचिद्व्यथिताः पतन्ति ।
केचिद्दिशः स्म व्यथिताः प्रयान्ति
केचिद्भयार्ता भुवि शेरते स्म ॥ ९७ ॥

(कुम्भकर्ण को देखते ही वानरों को मारे डर के बड़ी बुरी दशा हो गयी) कोई तो सर्वलोकशरण्य श्रीरामचन्द्र जी की शरण में गये । कोई समरभूमि छोड़ भाग खड़े हुए, कोई व्यथित हो गिर पड़े, कोई व्यथित हो इधर उधर भाग गये और कोई भयभीत हो पृथिवी पर लेट गये ॥ ९७ ॥

तमद्रिशृङ्गप्रतिमं किरीटिनं
स्पृशन्तमादित्यमिवात्मतेजसा ।
वनौकसः प्रेक्ष्य विवृद्धमद्भुतं
भयार्दिता दुद्रुविरे ततस्ततः ॥ ९८ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

उस पर्वतशृङ्ग के समान लंबे, मुकुटधारी, शरीर की कान्ति से सूर्य की बराबरी करने वाले. उस विशाल वपुधारी अद्भुत रूप वाले कुम्भकर्ण को देख, वानरगण बहुत ही डरे और डर के मारे इधर उधर भाग निकले ॥ ९८ ॥

युद्धकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकषष्टितमः सर्गः

—※—

ततो रामो महातेजा धनुरादाय वीर्यवान् ।
किरीटिनं महाकायं कुम्भकर्णं ददर्श ह ॥ १ ॥

तेजस्वी, बलवान श्रीरामचन्द्र जी ने मुकुटधारी और विशाल शरीरधारी कुम्भकर्ण को देखा और हाथ में धनुष ले लिया ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा राक्षसश्रेष्ठं पर्वताकारदर्शनम् ।
क्रममाणमिवाकाशं पुरा नारायणं प्रभुम् ॥ २ ॥

उस समय वह पर्वताकार राक्षसश्रेष्ठ कुम्भकर्ण ऐसा दिखलाई पड़ता था, जैसे आकाश को नापते समय पूर्वकाल में वामनावतार धारी भगवान् विष्णु देख पड़े थे ॥ २ ॥

सतोयाम्बुदसङ्काशं काञ्चनाङ्गदभूषणम् ।
दृष्ट्वा पुनः प्रदुद्राव वानराणां महाचमूः ॥ ३ ॥

सजल जलद की तरह विशाल शरीरधारी एवं सुवर्ण के बाजूबन्द पहिने हुए कुम्भकर्ण को पुनः देख, वानरों की बड़ी सेना भाग खड़ी हुई ॥ ३ ॥

विद्रुतां वाहिनीं दृष्ट्वा वर्धमानं च राक्षसम् ।
सविस्मयमिदं रामो विभीषणमुवाच ह ॥ ४ ॥

इच्छानुसार अपने शरीर को बढ़ाते हुए कुम्भकर्ण को देख और अपनी सेना को भागते देख, श्रीरामचन्द्र जी विस्मित हुए और विभीषण से बोले ॥ ४ ॥

कोऽसौ पर्वतसङ्काशः किरीटी [1]हरिलोचनः ।
लङ्कायां दृश्यते वीर सविद्युदिव तोयदः ॥ ५ ॥

लङ्का के भीतर पर्वत के समान लंबा, मुकुटधारी, पीले नेत्रों वाला और दामिनीयुक्त मेघ की तरह यह कौन वीर देख पड़ता है? ॥ ५ ॥

पृथिव्याः केतुभूतोऽसौ महानेकोऽत्र दृश्यते ।
यं दृष्ट्वा वानराः सर्वे विद्रवन्ति ततस्ततः ॥ ६ ॥

यह अकेला ही पृथिवी की पताका की तरह जान पड़ता है, क्योंकि इसको देख कर समस्त वानर डर कर चारों ओर भाग रहे हैं ॥ ६ ॥

आचक्ष्व मे महान्कोऽसौ रक्षो वा यदि वाऽसुरः ।
न मयैवंविधं भूतं दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ ७ ॥

यह विशाल शरीरधारी कोई राक्षस है अथवा असुर, मैंने तो इस प्रकार का जीव इसके पूर्व कभी देखा ही नहीं ॥ ७ ॥

स पृष्टो राजपुत्रेण रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
विभीषणो महाप्राज्ञः काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

जब अक्लिष्टकर्मा राजपुत्र रघुनाथ जी ने विभीषण से इस प्रकार पूँछा, तब महाबुद्धिमान् विभीषण ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥८॥

येन वैवस्वतो युद्धे वासवश्च पराजितः ।
सैष विश्रवसः पुत्रः कुम्भकर्णः प्रतापवान् ।
अस्य [2]प्रमाणात्सदृशो राक्षसोऽन्यो न विद्यते ॥ ९ ॥

---

१ हरिलोचनः—कपिलेक्षणः । (गो०) २ प्रमाणं—स्थौल्यौन्नत्ये । (गो०)

जिसने युद्ध में यमराज और इन्द्र को भी परास्त कर दिया, वही विश्रवा मुनि का पुत्र यह प्रतापी कुम्भकर्ण है। इसके बराबर लंबा और मोटा दूसरा कोई राक्षस नहीं है ॥ ९ ॥

एतेन देवा युधि दानवाश्च
यक्षा भुजङ्गा पिशिताशनाश्च ।
गन्धर्वविद्याधरकिन्नराश्च
सहस्रशो राघव सम्प्रभग्नाः ॥ १० ॥

हे राघव! इसने युद्ध में कितनी ही बार हज़ारों देवताओं, मांसभक्षी दानवों, यक्षों, भुजङ्गों, गन्धर्वों, विद्याधरों और किन्नरों को पीस डाला है ॥ १० ॥

शूलपाणिं विरूपाक्षं कुम्भकर्णं महाबलम् ।
हन्तुं न शेकुस्त्रिदशाः कालोऽयमिति मोहिताः ॥ ११॥

जब यह महाबली कुम्भकर्ण हाथ में शूल ले आँखें बदलता है या टेढ़ी करता है, तब इसे देवता भी नहीं मार सकते, बल्कि इसको काल की तरह समझ वे सब मोहित अर्थात् मूर्च्छित हो जाते हैं ॥ ११ ॥

प्रकृत्या ह्येष तेजस्वी कुम्भकर्णो महाबलः ।
अन्येषां राक्षसेन्द्राणां वरदानकृतं बलम् ॥ १२ ॥

दूसरे राक्षसों को तो वरदान का बल है, किन्तु यह महाबली कुम्भकर्ण तो स्वभाव ही से तेजस्वी है ॥ १२ ॥

एतेन जातमात्रेण क्षुधार्तेन महात्मना ।
भक्षितानि सहस्राणि सत्त्वानां सुबहून्यपि ॥ १३ ॥

इस महाबलवान ने उत्पन्न होते ही भूख से विकल हो, बहुत से हज़ारों जीवों को खा डाला था ॥ १३ ॥

तेषु सम्भक्ष्यमाणेषु प्रजा भयनिपीडिताः ।
यान्तिस्म शरणं शक्रं तमप्यर्थं न्यवेदयन् ॥ १४ ॥

उसके इस प्रजाभक्षण कृत्य से प्रजा बहुत डरी और विकल हुई। फिर वह इन्द्र के पास गयी और सारा वृत्तान्त उनसे कहा ॥ १४ ॥

स कुम्भकर्णं कुपितो महेन्द्रो
जघान वज्रेण शितेन वज्री ।
स शक्रवज्राभिहतो महात्मा
चचाल कोपाच्च भृशं ननाद ॥ १५ ॥

तब वज्रधारी इन्द्र ने कुपित हो अपना पैना वज्र कुम्भकर्ण पर चलाया। यह बलवान वज्र लगने पर कुछ विचलित तो हुआ किन्तु क्रोध में भर बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ १५ ॥

तस्य नानद्यमानस्य कुम्भकर्णस्य धीमतः ।
श्रुत्वाऽतिनादं वित्रस्ता भूयो भूमिर्वितत्रसे ॥ १६ ॥

तब बुद्धिमान कुम्भकर्ण के गर्जने से और उसे सुन, प्रजा और भी अधिक भयभीत हुई ॥ १६ ॥

ततः कोपान्महेन्द्रस्य कुम्भकर्णो महाबलः ।
विकृष्यैरावताद्दन्तं जघानोरसि वासवम् ॥ १७ ॥

उधर महाबली कुम्भकर्ण ने कुपित हो इन्द्र के ऐरावत हाथी का दाँत उखाड़, इन्द्र ही की छाती में मारा ॥ १७ ॥

कुम्भकर्णप्रहारार्तो [1]विजज्वाल स वासवः ।
ततो विषेदुः सहसा देवब्रह्मर्षिदानवाः ॥ १८ ॥

कुम्भकर्ण के प्रहार से पीड़ित हो इन्द्र अत्यन्त कुपित हुए। इन्द्र को घायल देख अन्य देवता, ब्रह्मर्षि और दानव सब बहुत दुःखी हुए ॥ १८ ॥

प्रजाभिः सह शक्रश्च ययौ स्थानं स्वयंभुवः ।
कुम्भकर्णस्य दौरात्म्यं शशंसुस्ते प्रजापतेः ॥ १९ ॥

और इन्द्र सहित समस्त प्रजा को साथ ले, वे ब्रह्मलोक में गये और वहाँ जा कुम्भकर्ण की सारी दुष्टता ब्रह्मा जी को सुनाई ॥१९॥

प्रजानां भक्षणं चापि देवानां चापि धर्षणम् ।
आश्रमध्वंसनं चापि परस्त्रीहरणं भृशम् ॥ २० ॥

कुम्भकर्ण द्वारा प्रजाओं का भक्षण किया जाना, देवताओं का सताया जाना, तपस्वियों के आश्रमों का उजाड़ा जाना और परस्त्री-हरण आदि कुम्भकर्ण की समस्त दुष्टताएँ कहीं ॥ २० ॥

एवं प्रजा यदि त्वेष भक्षयिष्यति नित्यशः ।
अचिरेणैव कालेन शून्यो लोको भविष्यति ॥ २१ ॥

और अन्त में यह भी कहा कि, यदि वह इसी तरह नित्य प्रजाओं का भक्षण करता रहा तो थोड़े ही दिनों में संसार सूना हो जायगा ॥ २१ ॥

वासवस्य वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ।
रक्षांस्यावाहयामास कुम्भकर्णं ददर्श ह ॥ २२ ॥

---

१ विजज्वाल—चुकोपेति यावत् । (गो०)

समस्त लोकों के पितामह ब्रह्मा जी ने, इन्द्र के ये वचन सुन, राक्षसों को बुलवा कर, कुम्भकर्ण को देखा ॥ २२ ॥

कुम्भकर्णं समीक्ष्यैव वितत्रास प्रजापतिः ।
दृष्ट्वा [1]विश्वास्य चैवेदं स्वयंभूरिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

कुम्भकर्ण को देख ब्रह्मा बाबा भी डर गये । फिर कुम्भकर्ण को देख और उसे लुभा कर ब्रह्मा जी ने उससे यह कहा ॥ २३ ॥

ध्रुवं लोकविनाशाय पौलस्त्येनासि निर्मितः ।
तस्मात्त्वमद्यप्रभृति मृतकल्पः शयिष्यसे ॥ २४ ॥

हे कुम्भकर्ण ! निश्चय ही संसार का नाश करने के लिये ही विश्रवा मुनि ने तुझे उत्पन्न किया है। अतएव आज से मुर्दे की तरह पड़ा सोया करेगा ॥ २४ ॥

ब्रह्मशापाभिभूतोऽथ निपपाताग्रतः प्रभोः ।
ततः परमसम्भ्रान्तो रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥

इस प्रकार ब्रह्मा का शाप होते ही वह उन्हींके सामने गिर पड़ा। यह देख रावण ने घबड़ा कर कहा ॥ २५ ॥

विवृद्धः [2]काञ्चनो वृक्षः [3]फलकाले निकृत्यते ।
न नप्तारं स्वकं न्याय्यं शप्तुमेवं प्रजापते ॥ २६ ॥

हे प्रजापते ! यह चम्पा का वृक्ष बढ़ कर जब फूलने योग्य हुआ, तब आपने इसे काट डाला। महाराज यह तो आप ही का पौत्र है। इसको इस प्रकार शाप देना उचित नहीं ॥ २६ ॥

---

१ विश्वास्य—प्रलोभ्य। (गो०) २ काञ्चनः—चम्पकवृक्षः। (गो०)
३ फलकाले—पुष्पकाले। (गो०)

न मिथ्यावचनश्च त्वं स्वप्स्यत्येष न संशयः ।
कालस्तु क्रियतामस्य शयने जागरे तथा ॥ २७ ॥

आपका वचन तो कभी मिथ्या हो नहीं सकता और निःसंशय यह उसी प्रकार सोवेगा भी। किन्तु आप इसके सोने और जागने का समय नियत कर दें ॥ २७ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा स्वयम्भूरिदमब्रवीत् ।
शयिता ह्येष षण्मासानेकाहं जागरिष्यति ॥ २८ ॥

रावण के इन वचनों को सुन, ब्रह्मा जी बोले—यह छः मास सोवेगा और एक दिन जागेगा ॥ २८ ॥

एकेनाह्ना त्वसौ वीरश्चरन्भूमिं बुभुक्षितः ।
व्यात्तास्यो भक्षयेल्लोकान्संक्रुद्ध इव पावकः ॥ २९ ॥

उसी एक दिन में यह वीर भूख के मारे विकल हो, पृथिवी पर घूमेगा और प्रदीप्त अग्नि की तरह मुख फैला कर अनेक लोगों को खाया करेगा ॥ २९ ॥

सोऽसौ व्यसनमापन्नः कुम्भकर्णमबोधयत् ।
त्वत्पराक्रमभीतश्च राजा सम्प्रति रावणः ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! तुम्हारे पराक्रम से भीत हो और विपत्ति में पड़, राक्षसराज रावण ने इस समय इस कुम्भकर्ण को जगवाया है ॥३०॥

स एष निर्गतो वीरः [1]शिबिराद्भीमविक्रमः ।
वानरान्भृशसंक्रुद्धो [2]भक्षयन्परिधावति ॥ ३१ ॥

१ भक्षयन्परिधावति—भक्षणहेतोः परिधाविष्यति। (गो०) २ शिबिरात्—स्वनिलयात्। (गो०)

सो यह भीम पराक्रमी वीर अपने घर से निकल और अत्यन्त क्रुद्ध हो वानरों के खाने के लिये दौड़ेगा ॥ ३१ ॥

कुम्भकर्णं समीक्ष्यैव हरयोऽद्य प्रविद्रुताः ।
कथमेनं रणे क्रुद्धं वारयिष्यन्ति वानराः ॥ ३२ ॥

जब ये वानर कुम्भकर्ण के देखते ही भाग रहे हैं, तब जब यह क्रुद्ध हो समरक्षेत्र में आ कर खड़ा होगा, तब वानर इसको कैसे रोकेंगे ॥ ३२ ॥

उच्यन्तां वानराः सर्वे [1]यन्त्रमेतत्समुच्छ्रितम् ।
इति विज्ञाय हरयो भविष्यन्तीह निर्भयाः ॥ ३३ ॥

मेरी समझ में वानरों को रोकने के लिये उनसे यह कह देना ठीक होगा कि, यह एक बड़ा ऊँचा वानरों के डराने के लिये हौआ है । इसको यंत्र जान सब वानर निर्भय हो जायगे ॥ ३३ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा हेतुमत्सुमुखेरितम्[2] ।
उवाच राघवो वाक्यं नीलं सेनापतिं तदा ॥ ३४ ॥

विभीषण के ये प्रसन्न करने वाले और युक्तियुक्त वचनों को सुन, श्रीरामचन्द्र जी सेनापति नील से बोले ॥ ३४ ॥

गच्छ सैन्यानि सर्वाणि व्यूह्य तिष्ठस्व पावके ।
द्वाराण्यादाय लङ्कायाश्चर्याश्चाप्यथ संक्रमान् ॥ ३५ ॥

हे नील ! तुम जाओ और समस्त सेना का व्यूह बना कर तैयार रहो और लङ्का के पुरद्वार, राजमार्ग तथा अन्य मोर्चे घेर लो ॥ ३५ ॥

---

१ यंत्रं—विभीषिका । (गो०) २ सुमुखेरितं—सुमुखं यथा भवति तथा उक्तं । (गो०)

शैलशृङ्गाणि वृक्षांश्च शिलाश्चाप्युपसंहर ।
तिष्ठन्तु वानराः सर्वे सायुधाः शैलपाणयः ॥ ३६ ॥

सब वानर शैलशृङ्गों, वृक्षों, शिलाओं के। पकड़ कर लें और हाथों में शिलाएँ आयुधों को ले तैयार खड़े हो जाँय ॥ ३६ ॥

राघवेण समादिष्टो नीलो हरिचमूपतिः ।
शशास वानरानीकं यथावत्कपिकुञ्जरः ॥ ३७ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार वाहिनीपति नील को आज्ञा दी; तब नील ने वानरी सेना की तदनुसार व्यवस्था कर दी ॥ ३७ ॥

ततो गवाक्षः शरभो हनुमानङ्गदस्तदा ।
शैलशृङ्गाणि शैलाभा गृहीत्वा द्वारमभ्ययुः ॥ ३८ ॥

तब पर्वताकार गवाक्ष, शरभ, हनुमान और अङ्गद शिलाएँ ले ले कर लङ्का के फाटकों पर जा पहुँचे ॥ ३८ ॥

रामवाक्यमुपश्रुत्य हरयो जितकाशिनः ।
पादपैरर्दयन्वीरा वानराः [1]परवाहिनीम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार विजयी वानरगण, श्रीरामचन्द्र जी के मुख से यह बात निकलते ही वृक्षों से, शत्रु की उस सेना को, जो नगर की रक्षा के लिये नगर के बाहिर नियुक्त थी, मारने लगे ॥ ३९ ॥

ततो हरीणां तदनीकमुग्रं
रराज शैलोद्यतदीप्तहस्तम् ।

---

१ परवाहिनीम्—नगररक्षार्थं बहिश्चरन्तीं वाहिनीं । (गो०)

गिरेः समीपानुगतं यथैव
महन्महाम्भोधरजालमुग्रम् ॥ ४० ॥

इति एकषष्टितमः सर्गः ॥

शिलाएँ और पेड़ों को लिये हुए प्रचण्ड वानरी सेना लङ्का के द्वारों पर खड़ी हुई उस समय ऐसी शोभित होती थी जैसे पर्वतों के निकट मेघमाला शोभित होती है ॥ ४० ॥

युद्धकाण्ड का एकसठवां सर्ग पूरा हुआ।

—*—

द्विषष्टितमः सर्गः

—*—

स तु राक्षसशार्दूलो निद्रामदसमाकुलः ।
राजमार्गं श्रिया जुष्टं ययौ विपुलविक्रमः ॥ १ ॥

कच्ची नींद से जगाया हुआ और नशे में चूर बड़ा विक्रमी वह राक्षसश्रेष्ठ कुम्भकर्ण, शोभायमान राजमार्ग से चला जाता था ॥ १ ॥

राक्षसानां सहस्रैश्च वृतः परमदुर्जयः ।
गृहेभ्यः पुष्पवर्षेण कीर्यमाणस्तदा ययौ ॥ २ ॥

और हज़ारों राक्षस उस परम दुर्जेय कुम्भकर्ण को घेरे हुए चले जाते थे । राजमार्ग के दोनों तरफ़ खड़े हुए मकानों के ऊपर चढ़े पुरवासी रास्ते भर उसके ऊपर फूलों की वर्षा कर रहे थे ॥ २ ॥

स हेमजालविततं भानुभास्वरदर्शनम् ।
ददर्श विपुलं रम्यं राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ॥ ३ ॥

आगे चल कुम्भकर्ण ने रम्य, विशाल एवं सुवर्ण समूह से सूर्यवत् प्रकाशित, राक्षसेन्द्र रावण का भवन देखा ॥ ३ ॥

स तत्तदा सूर्य इवाभ्रजालं
प्रविश्य रक्षोऽधिपतेर्निवेशम् ।
ददर्श दूरेऽग्रजमासनस्थं
स्वयंभुवं शक्र इवासनस्थम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार सूर्य भगवान् मेघों के भीतर प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उस वीर ने राक्षसराज के भवन में प्रवेश किया और दूर ही से उसने अपने बड़े भाई को सिंहासन पर वैसे ही बैठे हुए देखा, जैसे सिंहासनासीन ब्रह्मा जी को इन्द्र देखते हैं ॥ ४ ॥

भ्रातुः स भवनं गच्छन्रक्षोगणसमन्वितम् ।
कुम्भकर्णः पदन्यासैरकम्पयत मेदिनीम् ॥ ५ ॥

राक्षसों के साथ कुम्भकर्ण जिस समय अपने भाई के भवन में जा रहा था, उस समय उसके पैर की धमक से धरती काँप रही थी ॥ ५ ॥

सोऽभिगम्य गृहं भ्रातुः कक्ष्यामभिविगाह्य च ।
ददर्शोद्विग्नमासीनं विमाने पुष्पके[1] गुरुम् ॥ ६ ॥

---

1 पुष्पके—उन्नत पुष्पकवत् । (गो०)

उसने भाई के भवन में प्रवेश कर और राजभवन की ड्योढ़ी नाँघ कर देखा कि, उसका बड़ा भाई उद्विग्न हो पुष्पक विमानवत् ऊँची एक सेज पर बैठा हुआ है ॥ ६ ॥

अथ दृष्ट्वा दशग्रीवः कुम्भकर्णमुपस्थितम् ।
तूर्णमुत्थाय संहृष्टः सन्निकर्षमुपानयत् ॥ ७ ॥

जब रावण ने देखा कि, कुम्भकर्ण आ गया है; तब वह तुरन्त प्रसन्न हो कर उठा और कुम्भकर्ण को अपने समीप लिवा लाया ॥७॥

अथासीनस्य पर्यङ्के कुम्भकर्णो महाबलः ।
भ्रातुर्ववन्दे चरणौ किं कृत्यमिति चाब्रवीत् ॥ ८ ॥

कुम्भकर्ण ने सेज पर बैठे हुए भाई के चरणों में सीस नवाया और बोला, कहिये मुझे क्या आज्ञा है ॥ ८ ॥

उत्पत्य चैनं मुदितो रावणः परिषस्वजे ।
स भ्रात्रा सम्परिष्वक्तो यथावच्चाभिनन्दितः ॥ ९ ॥

यह सुन प्रसन्न हो रावण उठा और भाई को गले लगाया। भाई द्वारा गले लगाये जाने पर तथा यथाविधि अभिनन्दित होने पर ॥ ९ ॥

कुम्भकर्णः शुभं दिव्यं प्रतिपेदे वरासनम् ।
स तदासनमाश्रित्य कुम्भकर्णो महाबलः ॥ १० ॥

कुम्भकर्ण को बैठने के लिये एक शुभ और दिव्य एवं उत्तम आसन मिला। महाबली कुम्भकर्ण उस आसन पर बैठ ॥ १० ॥

संरक्तनयनः कोपाद्रावणं वाक्यमब्रवीत् ।
किमर्थमहमादृत्य त्वया राजन्विबोधितः ॥ ११ ॥

और क्रोध में भरने के कारण लाल लाल नेत्र कर रावण से बोला। हे राजन्! तुमने आदर पूर्वक मुझे क्यों जगवाया है? ॥ ११ ॥

शंस कस्माद्भयं तेऽस्ति कोऽद्य प्रेतो भविष्यति।
भ्रातरं रावणः क्रुद्धं कुम्भकर्णमवस्थितम् ॥ १२ ॥

बतलाओ तो तुमको किसके भय का सन्देह उपस्थित हुआ है, आज किस के सिर पर मौत आ कर सवार होगी? कुपित बैठे हुए कुम्भकर्ण से रावण ॥ १२ ॥

ईषत्तु परिवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां वाक्यमब्रवीत्।
अद्य ते सुमहान्कालः शयानस्य महाबल ॥ १३ ॥
सुखितस्त्वं न जानीषे मम रामकृतं भयम्।
एष दाशरथी रामः सुग्रीवसहितो बली ॥ १४ ॥

कुछ कुछ कुपित हो और आँखें तरेर कर बोला। हे महाबलवान्! आज तुमको सुख से सोते सोते बहुत दिन हो गये। इसीसे तुमको यह नहीं मालूम कि, मुझे रामचन्द्र से भय उत्पन्न हुआ है। यह दशरथ का पुत्र बलवान राम, सुग्रीव को साथ ले ॥ १३ ॥ १४ ॥

समुद्रं सबलस्तीर्त्वा मूलं नः परिकृन्तति।
हन्त पश्यस्व लङ्कायां वनान्युपवनानि च ॥ १५ ॥
सेतुना सुखमागम्य वानरैकार्णवीकृतम्।
ये रक्षसां मुख्यतमा हतास्ते वानरैर्युधि ॥ १६ ॥

वानरी सेना सहित समुद्र को पार कर, लङ्का में आ पहुँचा है और हमारे कुल का नाश कर रहा है। समुद्र के उस पार से पुल

बाँध कर मजे में वे सब लङ्का में पहुँच गये हैं और देखो, यहाँ के वन और उपवनों को उजाड़ डाला है और उन उजाड़े हुए स्थानों में अपनी छावनी डाल कर वे ऐसे पड़े हुए हैं, मानों वानरों का समुद्र लहरा रहा हो। जो बड़े बड़े और राक्षस थे उनको वानरों ने युद्ध में मार डाला है ॥ १५ ॥ १६ ॥

वानराणां क्षयं युद्धे न पश्यामि कदाचन ।
न चापि वानरा युद्धे जितपूर्वाः कदाचन ॥ १७ ॥

किन्तु लड़ाई में वानरों का नाश होता हुआ मुझे किसी प्रकार भी नहीं देख पड़ता और न अब तक के युद्धों में कभी राक्षसों ने वानरों को जीता ही है ॥ १७ ॥

तदेतद्भयमुत्पन्नं त्रायस्वेमां महाबल ।
नाशय त्वमिमानद्य तदर्थं बोधितो भवान् ॥ १८ ॥

यही भय उपस्थित हुआ है। हे महाबली! तुम अब इस भय से मुझे बचाओ और इन वानरों का नाश करो। इसीके लिये आप जगवाये गये हैं ॥ १८ ॥

सर्वक्षपितकोशं च स त्वमभ्यवपद्य माम् ।
त्रायस्वेमां पुरीं लङ्कां बालवृद्धावशेषिताम् ॥ १९ ॥

मेरा समस्त ऐश्वर्य नष्ट हो चुका है, सो तुम अनुग्रह पूर्वक मेरी रक्षा करो। साथ ही इस लङ्कापुरी को भी, जिसमें अब केवल बूढ़े और बारे ही बच रहे हैं, नाश होने से बचाओ ॥ १९ ॥

भ्रातुरर्थे महाबाहो कुरु कर्म सुदुष्करम् ।
मयैवं नोक्तपूर्वो हि कश्चिद्भ्रातः परन्तप ॥ २० ॥

हे महाबाहो! अपने भाई के लिये तुम इस अत्यन्त कठिन काम को करो। हे परन्तप! मैं आज तक इस प्रकार कभी किसी भाई के सामने नहीं गिड़गिड़ाया ॥ २० ॥

त्वय्यस्ति तु मम स्नेहः परा [1]सम्भावना च मे ।
दैवासुरेषु युद्धेषु बहुशो राक्षसर्षभ ।
त्वया देवाः [2]प्रतिव्यूह्य निर्जिताश्चासुरा युधि ॥ २१ ॥

किन्तु तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह है और मेरी दृष्टि में तुम्हारा बड़ा आदर भी है। हे राक्षसश्रेष्ठ! देवासुर संग्राम में बहुत बार देवता और असुरों को विभाजित कर, तुमने असुरों तक को जीता है ॥ २१ ॥

तदेतत्सर्वमातिष्ठ वीर्यं भीमपराक्रम ।
न हि ते सर्वभूतेषु दृश्यते सदृशो बली ॥ २२ ॥

हे भीमपराक्रमी! अतः तुम पुनः उसी बल का आश्रय ग्रहण करो। क्योंकि मुझे तो समस्त जीवधारियों में तुम्हारे समान बलवान कोई दूसरा देख नहीं पड़ता ॥ २२ ॥

कुरुष्व मे प्रियहितमेतदुत्तमं
यथाप्रियं प्रियरण बान्धवप्रिय ।
स्वतेजसा विधम सपत्नवाहिनीं
शरद्घनं पवन इवोद्यतो महान् ॥ २३ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

---

1 सम्भावना—आदरः। (गो०) 2 प्रतिव्यूह्य—विभज्य। (गो०)

प्रचण्ड वायु जिस प्रकार शरद्कालीन मेघमाला को उड़ा देता है; उसी प्रकार तुम अपने तेज से शत्रुसैन्य को नष्ट कर भगा दो। हे रणप्रिय बान्धव! अपनी उत्तम प्रीति का परिचय देते हुए तुम मेरे हितार्थ यह उत्तम काम पूरा कर डालो॥ २३॥

युद्धकाण्ड का बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—※—

तस्य राक्षसराजस्य निशम्य परिदेवितम्।
कुम्भकर्णो बभाषेऽथ वचनं प्रजहास च॥ १॥

उस राक्षसराज रावण के इस विलाप को सुन, कुम्भकर्ण अट्टहास करता हुआ बोला॥ १॥

दृष्टो दोषो हि योऽस्माभिः पुरा मन्त्रविनिर्णये।
हितेष्वनभिरक्तेन सोऽयमासादितस्त्वया॥ २॥

हे राजन्! प्रथम बार परामर्श करते समय हम लोगों को जो दोष दीख पड़े थे, वे ही अब तुम्हारे सामने आ उपस्थित हुए हैं। क्योंकि उस समय तुमने अपने हितैषियों की उन बातों को पसन्द नहीं किया था॥ २॥

शीघ्रं खल्वभ्युपेतं त्वां फलं पापस्य कर्मणः।
निरयेष्वेव पतनं यथा दुष्कृतकर्मणः॥ ३॥

जिस प्रकार महापातकियों को शीघ्र नरक में गिरना पड़ता है; उसी प्रकार सीताहरणरूपी पापकर्म का फल तुम्हें शीघ्र मिल गया॥ ३॥

प्रथमं वै महाराजा कृत्यमेतदचिन्तितम् ।
केवलं वीर्यदर्पेण नानुबन्धो विचारितः ॥ ४ ॥

महाराज! इस पापकर्म को करने के पूर्व तुमने भली भाँति विचार नहीं किया। केवल अपने बल के अहङ्कार से तुमने इस कुकर्म के दुष्परिणाम की ओर ध्यान ही न दिया ॥ ४ ॥

यः पश्चात्पूर्वकार्याणि कुर्यादैश्वर्यमास्थितः ।
पूर्वं चोत्तरकार्याणि न स वेद नयानयौ ॥ ५ ॥

जो ऐश्वर्यवान् राजा प्रथम करने योग्य कार्य को पीछे और पीछे करने योग्य कार्य को प्रथम करता है, वह नीति अनीति जानने वाला नहीं कहलाता ॥ ५ ॥

देशकालविहीनानि कर्माणि विपरीतवत् ।
क्रियमाणानि दुष्यन्ति हवींष्यप्रयतेष्विव ॥ ६ ॥

देश और काल का विचार कर जो काम किये जाते हैं, वे समस्त कार्य दूषित होने के कारण विपरीत फल देने वाले होते हैं। अर्थात् वे कार्य उसी प्रकार इष्टफलदायी नहीं होते, जिस प्रकार मंत्र से संस्कारित न किये हुए अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ इष्टफलदात्री नहीं होतीं ॥ ६ ॥

[1]त्रयाणां [2]पञ्चधा योगं कर्मणां यः प्रपश्यति ।
सचिवैः [3]समयं कृत्वा स [4]सभ्ये वर्तते पथि ॥ ७ ॥

---

१ त्रयाणां—उत्तममध्यमाधमकर्मणां। (गो०) २ पञ्चधा—(क) कर्मणामारम्भोपायः। (ख) पुरुषद्रव्यसंपत्। (ग) देशकालविभाग। (घ) विनिपातप्रतीकारः। (ङ) कार्यसिद्धिः। (गो०) ३ समयं—निश्चयरूपं सिद्धान्तं कृत्वा। (गो०) ४ सभ्ये—समाजिके। (गो०)

जो राजा (उत्तम, मध्यम और अधम) कार्यों को करने के पूर्व कार्य आरम्भ करने के उपाय, अपने जनबल और धनबल, देश और काल, आपत्ति की रोक और कार्य की सफलता के विषय में मंत्रियों से सलाह कर, सिद्धान्त निश्चित कर लेता है, वही समाज में श्रेष्ठ और नीतिमार्ग पर चलने वाला माना जाता है ॥ ७ ॥

यथागमं च यो राजा समयं विचिकीर्षति ।
बुध्यते सचिवान्बुद्ध्य सुहृदश्चानुपश्यति ॥ ८ ॥

जो राजा नीतिशास्त्र का उल्लङ्घन न कर और मंत्रियों के साथ सलाह कर तथा अपने हितैषी मित्रों के साथ विचार कर, किसी कार्य के करने न करने का निश्चय करता है, वही राजा नीतिवान कहलाता है ॥ ८ ॥

धर्ममर्थं च कामं च सर्वान्वा रक्षसां पते ।
भजेत पुरुषः काले त्रीणि द्वन्द्वानि वा पुनः ॥ ९ ॥

हे राक्षसराज ! या तो धर्म, अर्थ और काम को पृथक पृथक अथवा इन तीनों में से दो दो को (धर्मार्थ अर्थधर्म कामार्थ) अथवा सब को यथा समय करता है अर्थात् जो काम प्रातःकाल करने का है उसे प्रातःकाल, मध्यान्ह में करने योग्य कार्य को मध्यान्हकाल में, इसी प्रकार सायङ्काल में करने योग्य कार्य को सायङ्काल में करता है, वही राजा नीतिवान् कहा जाता है ॥ ९ ॥

त्रिषु चैतेषु यच्छ्रेष्ठं श्रुत्वा तन्नावबुध्यते ।
राजा वा राजमात्रो वा व्यर्थं तस्य बहुश्रुतम् ॥ १० ॥

धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों में जो श्रेष्ठ है (अर्थात् धर्म को) उसको जान कर भी जो धर्मानुसार आचरण नहीं करता—

वह चाहे राजा हो अथवा राजा के सदृश कोई बड़ा आदमी हो—उसका बहुत सा शास्त्र सुनना व्यर्थ है ॥ १० ॥

[नोट—धर्म, अर्थ और काम में धर्म श्रेष्ठ माना गया है ।]

[1]उपप्रदानं [2]सान्त्वं वा [3]भेदं काले च [4]विक्रमम् ।
योगं च रक्षसांश्रेष्ठ तावुभौ च नयानयौ ॥ ११ ॥

समय के अनुसार वैरी को जा कर द्रव्य देना, वैरी के साथ समीचीन भाषण करना, वैरी मित्रों में फूट डाल देना और वैरी को दण्ड देना; पहिले कहे हुए पांच योग और दोनों नीति अनीति ॥ ११ ॥

काले धर्मार्थकामान्यः सम्मन्त्र्य सचिवैः सह ।
निषेवेतात्मवाँल्लोके न स व्यसनमाप्नुयात् ॥ १२ ॥

और धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी कार्यों की मंत्रणा मंत्रियों के साथ उचित समय पर जो जितेन्द्रिय राजा किया करते हैं, उनको संसार में कभी दुःख प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

हितानुबन्धमालोच्य कार्याकार्यमिहात्मनः ।
राजा सहार्थतत्त्वज्ञैः सचिवैः स हि जीवति ॥ १३ ॥

राजा को उचित है कि; अर्थतत्वज्ञ (सब बातों का ऊँच नीच समझने वाले) मंत्रियों से अपने हित के कार्यों के सम्बन्ध में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार कर निश्चय करे । जो राजा ऐसा करता है, वही इस संसार में टिक सकता है ॥ १३ ॥

---

१ उपप्रदानं—प्रतिपक्षिणः समीपं गत्वा द्रविणप्रदानं । (गो०)
२ सान्त्वं—समीचीनभाषणं । (गो०) ३ भेदं—मित्रादिवर्गस्य द्वैधीकरणं । (गो०) ४ विक्रमं—दण्डं । (गो०)

अनभिज्ञाय शास्त्रार्थान्पुरुषाः पशुबुद्धयः ।
प्रागल्भ्याद्वक्तुमिच्छन्ति मन्त्रेष्वभ्यन्तरीकृताः ॥ १४ ॥

जो मंत्री कहला कर, गुरुमुख से नीतिशास्त्रों का अध्ययन किये बिना, केवल ढिठाई से श्रौर का श्रौर बक दिया करते हैं, वे देखने भर के मनुष्य हैं, किन्तु वास्तव में श्राहार निद्रादि में रत पशु के समान हैं ॥ १४ ॥

अशास्त्रविदुषां तेषां न कार्यमहितं वचः ।
अर्थशास्त्रानभिज्ञानां विपुलां श्रियमिच्छताम् ॥ १५ ॥

जिस राजा को विपुल राजैश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा हो, उसे ऐसे नीतिशास्त्रानभिज्ञ मूर्ख श्रौर श्रभिप्राय न समझने वाले मंत्रियों की काम को बिगाड़ने वाली बातों पर कभी ध्यान न देना चाहिये ॥ १५ ॥

अहितं च हिताकारं धाष्टर्याज्जल्पन्ति ये नराः ।
अवेक्ष्य मन्त्रबाह्यास्ते कर्तव्याः कृत्यदूषणाः ॥ १६ ॥

जो मंत्री केवल ढिठाई से श्रहित को हित बना कर कहते हैं, वे काम के बिगाड़ने वाले होते हैं, उनको विचारसभा से निकाल देना चाहिये ॥ १६ ॥

विनाशयन्तो भर्तारं सहिता शत्रुभिर्बुधैः ।
विपरीतानि कृत्यानि कारयन्तीह मन्त्रिणः ॥ १७ ॥

बुरे मंत्री उपायज्ञ शत्रु से मिल जाते हैं श्रौर शत्रु की प्रेरणा से उल्टे पुल्टे काम कर के अपने मालिक का काम चौपट कर डालते हैं ॥ १७ ॥

तान्भर्ता मित्रसङ्काशानमित्रान्मन्त्रनिर्णये ।
व्यवहारेण जानीयात्सचिवानुपसंहितान् ॥ १८ ॥

जो मंत्री मित्र बन कर मंत्रणा के समय शत्रु जैसी सम्मति देते हों, राजा को उचित है कि, व्यवहार द्वारा ऐसे घूँसखोर मंत्रियों का असली रूप जान कर उनको निकाल दे ॥ १८ ॥

चपलस्येह कृत्यानि सहसाऽनुप्रधावतः ।
छिद्रमन्ये प्रपद्यन्ते क्रौञ्चस्य खमिव द्विजाः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार पक्षीगण स्वामिकार्तिक द्वारा विदारित क्रौंच पर्वत के छिद्रों में घुस जाते हैं, उसी प्रकार शत्रु भी झटपट काम में हाथ डालने वाले और बुरे मंत्रियों की सलाह में चलने वाले राजा के ऊपर आक्रमण कर बैठते हैं ॥ १९ ॥

यो हि शत्रुमभिज्ञाय नात्मानमभिरक्षति ।
अवाप्नोति हि सोऽनर्थान्स्थानाच्च व्यवरोप्यते ॥ २० ॥

जो राजा शत्रु को तुच्छ समझ कर अपनी रक्षा नहीं करता, वह बड़े भारी अनर्थ को प्राप्त कर, स्थानभ्रष्ट भी हो जाता है ॥ २० ॥

यदुक्तमिह ते पूर्वं प्रियया मेऽनुजेन च ।
तदेव नो हितं कार्यं यदिच्छसि च तत्कुरु ॥ २१ ॥

हे रावण ! तुम्हारी स्त्री मंदोदरी ने और मेरे छोटे भाई विभीषण ने पहिले जो सलाह दी थी, वही हम लोगों के लिये श्रेयस्कर थी। जब उसको तुमने नहीं माना; तब अब तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो ॥ २१ ॥

तत्तु श्रुत्वा दशग्रीवः कुम्भकर्णस्य भाषितम् ।
भ्रुकुटिं चैव सञ्चक्रे क्रुद्धश्चैनमभाषत ॥ २२ ॥

कुम्भकर्ण के इस भाषण को सुन, रावण ने भौंहें टेढ़ी कीं और क्रोध में भर बोला ॥ २२ ॥

मान्यो गुरुरिवाचार्यः किं मां त्वमनुशाससि ।
किमेवं वाक्छ्रमं कृत्वा काले युक्तं विधीयताम् ॥ २३ ॥

हे कुम्भकर्ण ! देख मैं तेरा ज्येष्ठ भ्राता आचार्य के तुल्य मान्य हूँ । तू मुझे क्या सिखलाता है ? क्यों तू बोलने का इतना श्रम उठाता है । इस समय तो समयानुरूप कार्य करना चाहिये ॥ २३ ॥

विभ्रमाच्चित्तमोहाद्वा बलवीर्याश्रयेण वा ।
नाभिपन्नमिदानीं यद्व्यर्थास्तस्य पुनः कथाः ॥ २४ ॥

मैंने चित्तविभ्रम से, अज्ञानवश अथवा अपने बलवीर्य के अहङ्कार से जो कार्य नहीं किया उसको अब बारंबार कहना व्यर्थ है ॥ २४ ॥

अस्मिन्काले तु यद्युक्तं तदिदानीं विधीयताम् ।
गतं तु नानुशोचन्ति गतं तु गतमेव हि ॥ २५ ॥

अब तो इस समय जो करना उचित है, उसे करो । जो बात बीत गयी वह तो बीत ही गयी उसके लिये पछताना व्यर्थ है ॥२५॥

ममापनयजं दोषं विक्रमेण समीकुरु ।
यदि खल्वस्ति मे स्नेहो विक्रमं वावगच्छसि ॥ २६ ॥
यदि वा कार्यमेतत्ते हृदि कार्यमतं मतम् ।
स सुहृद्यो विपन्नार्थं दीनमभ्यवपद्यते ॥ २७ ॥

स बन्धुर्योऽपनीतेषु साहाय्यायोपकल्पते ।
तमथैवं ब्रुवाणं तु वचनं धीरदारुणम् ॥ २८ ॥

हे कुम्भकर्ण ! यदि मेरे ऊपर तुम्हारा प्रेम है और तुम्हें अपने पराक्रम का भरोसा है और यदि मेरा यह कार्य तुम्हें आवश्यक जान पड़े तो मुझसे जो भूल बन पड़ी है, उसे तुम सम्हाल लो। देखो हितैषी मित्र वही है जो दुखिया पर दया करे और भाई वही है जो कुमार्गगामी बन्धु की भी सहायता करे। रावण के इन धीर और निष्ठुर वचनों को सुन ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

रुष्टोऽयमिति विज्ञाय शनैः श्लक्ष्णमुवाच ह ।
अतीव हि समालक्ष्य भ्रातरं क्षुभितेन्द्रियम् ॥ २९ ॥

कुम्भकर्ण ने समझा कि, रावण रूठ गया है, तब कुम्भकर्ण ने धीरे धीरे ये मधुर वचन कहे। कुम्भकर्ण ने जब देखा कि, रावण पुरानी भूल की याद दिलाने से क्षुब्ध हो गया है ॥ २६ ॥

कुम्भकर्णः शनैर्वाक्यं बभाषे परिसान्त्वयन् ।
अलं राक्षसराजेन्द्र सन्तापमुपपद्यते ॥ ३० ॥

तब कुम्भकर्ण ने रावण को धीरज बँधाते हुए धीरे से कहा—हे राक्षसराज ! इस समय अब इस प्रकार सन्तप्त होने की आवश्यकता नहीं है ॥ ३० ॥

रोषं च सम्परित्यज्य स्वस्थो भवितुमर्हसि ।
नैतन्मनसि कर्तव्यं मयि जीवति पार्थिव ॥ ३१ ॥

अब तुम क्रोध को शान्त कर स्वस्थ हो जाओ। हे राजन् ! मेरे जीते तुमको अपने मन में कभी ऐसा विचार न लाना चाहिये ॥ ३१ ॥

तमहं नाशयिष्यामि यत्कृते परितप्यसे ।
अवश्यं तु हितं वाच्यं सर्वावस्थं मया तव ॥ ३२ ॥

जिसके लिये तुम इतना सन्तप्त हो रहे हो उसे मैं मार डालूँगा। मुझे तो सदैव ही तुम्हारी हित की बात कहनी चाहिये ॥ ३२ ॥

बन्धुभावादभिहितं भ्रातृस्नेहाच्च पार्थिव ।
सदृशं यत्तु कालेऽस्मिन्कर्तुं स्निग्धेन बन्धुना ॥३३॥

हे राजन् ! इसीसे मैंने बन्धुभाव और भ्रातृस्नेह से प्रेरित हो वे सब बातें तुमसे कहीं। इस समय एक हितैषी भाई का जो कर्त्तव्य है वह मैं करूँगा ॥ ३३ ॥

शत्रूणां कदनं पश्य क्रियमाणं मया रणे ।
अद्य पश्य महाबाहो मया समरमूर्धनि ॥ ३४ ॥

हते रामे सह भ्रात्रा द्रवन्तीं हरिवाहिनीम् ।
अद्य रामस्य तद्दृष्ट्वा मयाऽऽनीतं रणाच्छिरः ॥ ३५ ॥

तुम देखना कि, आज मैं रणक्षेत्र में तुम्हारे शत्रुओं का कैसा नाश करता हूँ। हे महाबाहो! आज जब मैं युद्धभूमि में लक्ष्मण सहित राम को मार डालूँगा, तब तुम देखना वानरी सेना कैसी भागती है। आज तुम मेरा लाया हुआ राम का कटा सिर देख कर ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

सुखी भव महाबाहो सीता भवतु दुःखिता ।
अद्य रामस्य पश्यन्तु निधनं सुमहत्प्रियम् ॥ ३६ ॥
लङ्कायां राक्षसाः सर्वे ये ते निहतबान्धवाः ।
अद्य शोकपरीतानां स्वबन्धुवधकारणात् ॥ ३७ ॥

शत्रोर्युधि विनाशेन करोम्यास्रप्रमार्जनम् ।
अद्य पर्वतसङ्काशं ससूर्यमिव तोयदम् ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो! तुम हर्षित होना और सीता दुःखी हो। राक्षसों को राम का नाश बड़ा प्रिय है, वे आज उसको देखें। लङ्कावासी जो समस्त राक्षस अपने बन्धु बान्धवों के मारे जाने से दुःखी हो रहे हैं, आज मैं उनके दुःख के आँसू शत्रु का युद्ध में विनाश कर पोंछूँगा। आज पर्वताकार और सूर्ययुक्त मेघ के समान ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

विकीर्णं पश्य समरे सुग्रीवं प्लवगोत्तमम् ।
कथं त्वं राक्षसैरेभिर्मया च परिसान्त्वितः ॥३९ ॥
जिघांसुभिर्दाशरथिं व्यथसे त्वं सदा नघ ।
अथ पूर्वं हते तेन मयि त्वां हन्ति राघवः ॥ ४० ॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीव को समर में गिरा हुआ देखना। हे अनघ! श्रीरामचन्द्र को नाश करने की अभिलाषा रखते हुए ये समस्त राक्षसगण तथा मैं आपको धीरज बँधा रहे हैं, तो भी आप क्यों ऐसे व्यथित हो रहे हैं। देखो, जब राम पहिले मुझे मार लेंगे तभी तो तुमको मारेंगे ॥ ३६ ॥ ४० ॥

नाहमात्मनि सन्तापं गच्छेयं राक्षसाधिप ।
कामं त्विदानीमपि मां व्यादिश त्वं परन्तप ॥ ४१ ॥

हे राक्षसराज! सो मैं तो अपने मन में ज़रा भी सन्तप्त नहीं होता, तब तुम क्यों दुःखी होते हो। हे परन्तप! इस समय तुम जो चाहते हो सो बतलाओ या तदनुसार आज्ञा दो ॥ ४१ ॥

न परः प्रेषणीयस्ते युद्धायातुलविक्रम ।
अहमुत्सादयिष्यामि शत्रूंस्तव महाबल ॥ ४२ ॥

हे अतुल विक्रमी! समरभूमि में अन्य किसी को भेजने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मैं अकेला ही तुम्हारे बलवान शत्रु को मार डालूँगा ॥ ४२ ॥

यदि शक्रो यदि यमो यदि पावकमारुतौ ।
तानहं योधयिष्यामि कुवेरवरुणावपि ॥ ४३ ॥

मेरे सामने यदि इन्द्र, यम, अग्नि, पवन, कुवेर अथवा वरुण ही क्यों न आवें, तो मैं उनके साथ भी युद्ध करूँगा ॥ ४३ ॥

गिरिमात्रशरीरस्य शितशूलधरस्य मे ।
नर्दतस्तीक्ष्णदंष्ट्रस्य बिभीयाच्च पुरन्दरः ॥ ४४ ॥

जब मैं पैना त्रिशूल हाथ में ले, अपने पर्वताकार शरीर से, पैने पैने दाँत दिखलाता हुआ गर्जूँगा, तब इन मनुष्यों की तो बिसात ही क्या; इन्द्र भी भयभीत हो जाँयगे ॥ ४४ ॥

अथवा त्यक्तशस्त्रस्य मृद्गतस्तरसा रिपून् ।
न मे प्रतिमुखे स्थातुं कश्चिच्छक्तो जिजीविषुः ॥ ४५ ॥

अथवा मैं अस्त्रत्याग खाली हाथ भी शत्रुओं को कुचलने लगूँ तो जिसे जीने की साध होगी, वह कभी मेरे सामने न आवेगा ॥ ४५ ॥

नैव शक्त्या न गदया नासिना निशितैः शरैः ।
हस्ताभ्यामेव संरब्धो हनिष्यामपि वज्रिणम् ॥ ४६ ॥

हे राक्षसराज ! मुझे न तो शक्ति की, न गदा की, न पैनी तलवार की और पैने तीरों ही की आवश्यकता है। मैं तो अपने दोनों हाथों ही से क्रुद्ध होने पर, यदि इन्द्र भी हो तो उसको भी मार डालूँगा ॥ ४६ ॥

यदि मे मुष्टिवेगं स राघवोऽद्य सहिष्यते ।
ततः पास्यन्ति बाणौघा रुधिरं राघवस्य तु ॥ ४७ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र ने मेरे घूँसे का प्रहार सह लिया तो मेरे बाण उसका ख़ून पियेंगे ॥ ४७ ॥

चिन्तया बाध्यसे राजन्किमर्थं मयि तिष्ठति ।
सोऽहं शत्रुविनाशाय तव निर्यातुमुद्यतः ॥ ४८ ॥

हे राजन् ! मेरे रहते तुम क्यों चिन्तित होते हो ! मैं तुम्हारे शत्रु का नाश करने के लिये समरभूमि में जाने को तैयार हूँ ॥ ४८ ॥

मुञ्च रामाद्भयं राजन्हनिष्यामीह संयुगे ।
राघवं लक्ष्मणं चैव सुग्रीवं च महाबलं ॥ ४९ ॥

हे राजन् ! तुम राम के भय को त्याग दो। मैं समर में राम, लक्ष्मण और महाबली सुग्रीव को मार डालूँगा ॥ ४९ ॥

हनुमन्तं च रक्षोघ्नं लङ्का येन प्रदीपिता ।
हरींश्चापि हनिष्यामि संयुगे समवस्थितान् ॥ ५० ॥

राक्षसों का वध करने वाले हनुमान को जिसने लङ्का जलायी थी तथा अन्य समस्त वानरों को भी जो लड़ने आये हैं— मैं मार डालूँगा ॥ ५० ॥

असाधारणमिच्छामि तव दातुं महद्यशः ।
यदि चेन्द्राद्भयं राजन्यदि वाऽपि स्वयंभुवः ॥ ५१ ॥

मैं तुम्हारे लिये असाधारण बड़ा यश सम्पादन करूँगा । यदि तुमको इनसे या ब्रह्मा से भी भय हुआ, तो मैं उनको भी मार डालूँगा ॥ ५१ ॥

अपि देवाः शयिष्यन्ते क्रुद्धे मयि महीतले ।
यमं च शमयिष्यामि भक्षयिष्यामि पावकम् ॥ ५२ ॥

मैं जब क्रुद्ध हो जाऊँगा, तब देवता भूमि पर लोटते हुए देख पड़ेंगे । मैं यम को शान्त कर दूँगा और अग्नि को खा डालूँगा ॥५२॥

आदित्यं पातयिष्यामि सनक्षत्रं महीतले ।
शतक्रतुं वधिष्यामि पास्यामि वरुणालयम् ॥ ५३ ॥

मैं समस्त नक्षत्रों सहित सूर्य को धरती पर गिरा दूँगा । इन्द्र को मार डालूँगा और समुद्र को पी डालूँगा ॥ ५३ ॥

पर्वतांश्चूर्णयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम् ।
दीर्घकालं प्रसुप्तस्य कुम्भकर्णस्य विक्रमम् ॥ ५४ ॥

पहाड़ों के टुकड़े टुकड़े कर डालूँगा पृथिवी को विदीर्ण कर डालूँगा । बहुत दिनों से सोते हुए कुम्भकर्ण का पराक्रम ॥ ५४ ॥

अद्य पश्यन्तु भूतानि भक्ष्यमाणानि सर्वशः ।
नन्विदं त्रिदिवं सर्वमाहारस्य न पूर्यते ॥ ५५ ॥

आज वे समस्त जीव देखे, जिनको मैं खाऊँगा । ये त्रिलोकी भी मेरा पेट भरने के लिये पर्याप्त न होगी ॥ ५५ ॥

वधेन ते दाशरथेः सुखार्हं
सुखं समाहर्तुमहं व्रजामि ।
निकृत्य रामं सह लक्ष्मणेन
खादामि सर्वान्हरियूथमुख्यान् ॥ ५६ ॥

हे राक्षसराज ! दशरथनन्दन राम को मारने के लिये और उनके मारे जाने से तुमको सुखी करने के लिये, मैं जाता हूँ। मैं लक्ष्मण सहित राम को मार कर समस्त वानरयूथपतियों को खा डालूँगा ॥ ५६ ॥

रमस्व कामं पिब चाग्र्यवारुणीं
कुरुष्व कृत्यानि विनीयतां ज्वरः ।
मयाद्य रामे गमितेयमक्षयं
चिराय सीता वशगा भविष्यति ॥ ५७ ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

अब हे राजन् ! तुम खूब मदिरा पान कर स्त्रियों के साथ विहार करो और चिन्ता त्याग कर आवश्यक कृत्य करो। आज मेरे हाथ से राम के यमालय जाने पर सीता सदैव के लिये तुम्हारी हो जायगी ॥ ५७ ॥

युद्धकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—※—

तदुक्तमतिकायस्य बलिनो [1]बाहुशालिनः ।
कुम्भकर्णस्य वचनं श्रुत्वोवाच महोदरः ॥ १ ॥

चलायमान भुजाओं वाले, विशाल शरीरधारी एवं बलवान कुम्भकर्ण के ऐसे वचन सुन, राक्षस महोदर कहने लगा ॥ १ ॥

कुम्भकर्ण कुले जातो धृष्टः प्राकृतदर्शनः ।
अवलिप्तो न शक्तोपि कृत्यं सर्वत्र वेदितुम् ॥ २ ॥

हे कुम्भकर्ण! तुम प्रशस्त कुल में उत्पन्न हुए हो, इसीसे तुमको बड़ा अभिमान होने के कारण तुममें इतनी ढिठाई है और इसीसे तुम्हारी गँवारों जैसी शक्ल है। तुम सब बातों को जान नहीं सकते ॥ २ ॥

न हि राजा न जानीते कुम्भकर्ण नयानयौ ।
त्वं तु कैशोरकाद्धृष्टः केवलं वक्तुमिच्छसि ॥ ३ ॥

हे कुम्भकर्ण! वाह हमारे राजा नीति अनीति नहीं जानते! तुम लड़कपन ही से ढीठ हो रहे हो, इसीसे तुम ऐसी बातें कह दिया करते हो ॥ ३ ॥

स्थानं वृद्धिं च हानिं च देशकालविभागवित् ।
आत्मनश्च परेषां च बुध्यते [2]राक्षसर्षभः ॥ ४ ॥

---

१ बाहुशालिनः—चलायमानबाहोः। (शि०) २ राक्षसर्षभः—रावणः गो०)

रावण देशकालोचित कर्त्तव्यों को जानते हैं, वे अपनी और शत्रु की स्थिति को भलीभाँति परख सकते हैं, उनको यह भी मालूम है कि, किस काम के करने में उनका लाभ है और किसमें हानि है ॥ ४ ॥

यत्त्वशक्यं बलवता कर्तुं प्राकृतबुद्धिना ।
अनुपासितवृद्धेन कः कुर्यात्तादृशं बुधः ॥ ५ ॥

जिसने कभी बड़े बूढ़ों को सोहबत नहीं उठाई, ऐसे गँवार, जो काम अपने बल के गर्व में भर, कर डाला करते हैं, क्या बुद्धिमान जन वैसे कार्य को कभी कर सकते हैं? ॥ ५ ॥

यांस्तु धर्मार्थकामांस्त्वं ब्रवीषि पृथगाश्रयान् ।
अनुबोद्धुं [1]स्वभावेन तान्नहि [2]लक्षणमस्ति ते ॥ ६ ॥

जिन अर्थ, धर्म और काम को, तुमने परस्पर विरोधी होने के कारण एकजन द्वारा अनुष्ठान करने के अयोग्य बतलाया है, उन अर्थ, धर्म और काम सम्बन्धी कर्त्तव्यों को, तत्वतः समझने की तुममें स्वयं सामर्थ्य ही नहीं है ॥ ६ ॥

कर्म चैव हि सर्वेषां कारणानां प्रयोजकम् ।
श्रेयः पापीयसां चात्र फलं भवति कर्मणाम् ॥ ७ ॥

सुख के जो साधन हैं—अर्थात् धर्म, अर्थ और काम, इन सब का प्रयोजक अर्थात् उत्पादक कर्म है अर्थात् कर्म ही से इनकी उत्पत्ति होती है। एक ही कर्त्ता को पुण्य और पाप दोनों ही के शुभाशुभ फल भोगने पड़ते हैं ॥ ७ ॥

निःश्रेयसफलावेव धर्मार्थावितरावपि ।
अधर्मानर्थयोः प्राप्तिः फलं च प्रत्यवायिकम् ॥ ८ ॥

---

1 स्वभावेन—तत्वतो । (शि०) 2 लक्षणं—सामर्थ्यं । (शि०)

धर्म और अर्थ चित्त की शुद्धि करने वाले होने के कारण मोक्ष के साधन माने जाते हैं। अर्थात् धर्म और अर्थ से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इन्हींकी साधना से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। किन्तु कभी कभी इनके करने से जो अधर्म एवं अनर्थ हुआ करता है, सो शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान यथाविधि न करने के कारण हुआ करता है ॥ ८ ॥

ऐहलौकिकपारत्रं कर्म पुंभिर्निषेव्यते ।
कर्माण्यपि तु कल्यानि लभते काममास्थितः ॥ ९ ॥

लोग इस लोक और परलोक के लिये कार्य करते हैं और उनको उसका फल भी मिलता है। इसी प्रकार यथेच्छाचारी कर्मों से भी शुभ फल प्राप्त होता है। अतएव केवल शास्त्रविहित कर्म ही शुभफलप्रद हैं, शास्त्रनिषिद्ध कर्म नहीं, इसका कोई नियम नहीं है ॥ ९ ॥

तत्र क्लृप्तमिदं राज्ञा हृदि कार्यं मतं च नः ।
शत्रौ हि साहसं यत्स्यात्किमिवात्रापनीयताम् ॥ १० ॥

राक्षसराज ने जो कुछ किया है वह भलीभाँति सोच विचार कर और हम लोगों की सम्मति से किया है। फिर शत्रुओं के प्रति बल प्रकट करना अथवा उनसे युद्ध करना नीतिविरुद्ध कार्य नहीं अतः इसके लिये रोकना भी उचित नहीं ॥ १० ॥

एकस्यैवाभियाने तु हेतुर्यः कथितस्त्वया ।
तत्राप्यनुपपन्नं ते वक्ष्यामि यदसाधु च ॥ ११ ॥

तुम्हारे अहङ्कार पूर्वक इस कथन में कि, मैं अकेला ही शत्रुओं को जीत लूँगा, जो अनौचित्य और असाधुपन है, सो भी मैं बतलाये देता हूँ ॥ ११ ॥

येन पूर्वं जनस्थाने बहवोऽतिबला हताः ।
राक्षसा राघवं तं त्वं कथमेको जयिष्यसि ॥ १२ ॥

जिन राम ने अकेले ही जनस्थान में बहुत से अति बलवान राक्षसों को मार डाला, उन श्रीरामचन्द्र को तुम अकेले क्यों कर जीत लोगे ? ॥ १२ ॥

ये पुरा निर्जितास्तेन जनस्थाने महौजसः ।
राक्षसांस्तान्पुरे सर्वान्भीतानद्यापि पश्यसि ॥ १३ ॥

जो पराक्रमी राक्षस जनस्थान में श्रीरामचन्द्र जी द्वारा हराये गये थे, उन सब भयभीत राक्षसों को तुम अब भी देख सकते हो ॥ १३ ॥

तं सिंहमेवं संक्रुद्धं रामं दशरथात्मजम् ।
सर्पं सुप्तमिवाबुध्य प्रबोधयितुमिच्छसि ॥ १४ ॥
ज्वलन्तं तेजसा नित्यं क्रोधेन च दुरासदम् ।
कस्तं मृत्युमिवासह्यमासादयितुमर्हति ॥ १५ ॥

आश्चर्य है ! तुम जानबूझ कर सोये हुए क्रुद्ध सिंह अथवा सर्प की तरह राम को जगाना चाहते हो। जो राम अपने तेज से प्रदीप्त है और क्रुद्ध होने पर दुर्धर्ष है तथा मृत्यु की तरह असह्य है उसे कौन भयभीत कर सकता है । अथवा उसका सामना कौन कर सकता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

संशयस्थमिदं सर्वं शत्रोः प्रतिसमासने ।
एकस्य गमनं तत्र न हि मे रोचते भृशम् ॥ १६ ॥

ये समस्त राक्षस एकत्र होकर यदि राम का सामना करें तो जब इनके जीवित रहने में शङ्का है, तब तुम्हारा अकेले उनसे लड़ने के लिये जाना मुझे तो उचित नहीं जान पड़ता ॥ १६ ॥

हीनार्थः सुसमृद्धार्थं को रिपुं प्राकृतं यथा ।
निश्चित्य जीवितत्यागे वशमानेतुमिच्छति ॥ १७ ॥

क्योंकि ऐसा कौन मनुष्य होगा जो स्वयं साहाय्यरहित होकर साहाय्ययुक्त शत्रु को, तुच्छ समझ पराजित करना चाहेगा। हाँ, जिसे अपनी जान भार होगी, वह तो ऐसा अवश्य कर सकता है ॥ १७ ॥

यस्य नास्ति मनुष्येषु सदृशो राक्षसोत्तम ।
कथमाशंससे योद्धुं तुल्येनेन्द्रविवस्वतोः ॥ १८ ॥

हे राक्षसश्रेष्ठ! जिसके समान कोई भी मनुष्य नहीं है और जो इन्द्र और यम की तरह पराक्रमी है, उसके साथ तुम अकेले किस तरह युद्ध करना चाहते हो? ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तु संरब्धं कुम्भकर्णं महोदरः ।
उवाच रक्षसां मध्ये रावणं लोकरावणम् ॥ १९ ॥

क्रुद्ध हो इस प्रकार महोदर ने कुम्भकर्ण को फटकार कर, राक्षसों के बीच बैठे हुए और लोकों को रुलाने वाले रावण से कहा ॥ १६ ॥

लब्ध्वा पुनस्त्वं वैदेहीं किमर्थं सम्प्रजल्पसि ।
यदीच्छसि तदा सीता वशगा ते भविष्यति ॥ २० ॥

जब सीता को तुम हथिया चुके हो तब कहा सुनी की आवश्यकता ही क्या है? तुम जब चाहोगे तभी वह तुम्हारे वश में हो जायगी ॥ २० ॥

दृष्टः कश्चिदुपायो मे सीतोपस्थानकारकः ।
रुचिरश्चेत्त्वया बुद्ध्या राक्षसेश्वर तं शृणु ॥ २१ ॥

हे राक्षसेश्वर ! मैंने सीता को वश में करने का एक उपाय सोचा है, उसे सुनिये। सम्भव है आप भी उसे पसन्द कर लें ॥ २१ ॥

अहं द्विजिह्वः संह्रादी कुम्भकर्णो वितर्दनः ।
पञ्च रामवधायैते निर्यान्त्वित्यवघोषय ॥ २२ ॥

वह यह है कि मैं, द्विजिह्व, संह्रादी, कुम्भकर्ण, वितर्दन, ये पाँच जन श्रीरामचन्द्र जी का वध करने को जा रहे हैं। नगर भर में आप इस बात की घोषणा करवा दें ॥ २२ ॥

ततो गत्वा वयं युद्धं दास्यामस्तस्य यत्नतः ।
जेष्यामो यदि ते शत्रून्नोपायैः कृत्यमस्ति नः ॥ २३ ॥

फिर हम पाँचों जन जा कर सावधानता पूर्वक युद्ध करें। यदि हम जीत गये तब तो किसी दूसरे उपाय की आवश्यकता है ही नहीं ॥ २३ ॥

अथ जीवति नः शत्रुर्वयं च कृतसंयुगाः ।
ततस्तदभिपत्स्यामो मनसा यत्समीक्षितम् ॥ २४ ॥

और यदि हम लोगों के घोर युद्ध करने पर भी आपका शत्रु जीता बच जाय तो हमने जो उपाय सोचा है वही काम में लाया जाय ॥ २४ ॥

वयं युद्धादिहैष्यामो रुधिरेण समुक्षिताः ।
विदार्य स्वतनुं बाणै रामनामाङ्कितैः शितैः ॥ २५ ॥

वह यह कि, हम लोग रामनामाङ्कित तीक्ष्ण बाणों से अपनी देहों को क्षतविक्षत करा, और अङ्गों से रुधिर बहाते हुए, यहाँ आवेंगे ॥ २५ ॥

भक्षितो राघवोऽस्माभिर्लक्ष्मणश्चेति वादिनः ।
तव पादौ ग्रहीष्यामस्त्वं नः कामं प्रपूरय ॥ २६ ॥

और यह कहते हुए कि, हम लोगों ने राम लक्ष्मण को खा डाला, तुम्हारे दोनों चरण पकड़ लेंगे। तब तुम अपनी प्रसन्नता प्रकट करने को हम लोगों को पुरस्कारादि से पुरस्कृत करना ॥२६॥

ततोऽवघोषय पुरे गजस्कन्धेन पार्थिव ।
हतो रामः सह भ्राता ससैन्य इति सर्वतः ॥ २७ ॥

हे राजन्! तदनन्तर तुम हाथी की पीठ पर चढ़ सारे नगर में यह घोषणा करना कि, समस्त वानरी सेना सहित राम और लक्ष्मण मारे गये ॥ २७ ॥

प्रीतो नाम ततो भूत्वा भृत्यानां त्वमरिन्दम ।
भोगांश्च परिवारांश्च कामांश्च वसु दापय ॥ २८ ॥

हे अरिन्दम! तदनन्तर आप अपनी प्रसन्नता प्रकट करने को नौकर चाकरों को मुँहमाँगे (इनाम इकराम) पदार्थ सोना आदि दिलवा देना ॥ २८ ॥

ततो माल्यानि वासांसि वीराणामनुलेपनम् ।
पेयं च बहु योधेभ्यः स्वयं च मुदितः पिब ॥ २९ ॥

सैनिकों को मालाएँ, वस्त्र, भूषण, अङ्गों में लगाने के सुगन्धित पदार्थ और पीने के लिये मदिरा दिलवाना और स्वयं भी प्रसन्न हो पीना ॥ २९ ॥

ततोऽस्मिन्बहुलीभूते [1]कौलीने सर्वतो गते ।
भक्षितः सपुहृद्रामो राक्षसैरिति विश्रुते ॥ ३० ॥
अभिसृत्याश्वास्य चापि त्वं सीतां रहसि सान्त्वय ।
धनधान्यैश्च कामैश्च रत्नैश्चैनां प्रलोभय ॥ ३१ ॥

जब यह बात सारे नगर में घर घर में प्रचारित हो जाय। और जब सीता भी यह सुन ले कि, राम को उसके सहायकों सहित राक्षसों ने खा डाला—तब तुम अशोकवाटिका में जा एकान्त में सीता को धीरज बंधा कर समझाना और उसे धनधान्य रत्न तथा अन्य अभीष्ट वस्तुएं देने का प्रलोभन देना ॥ ३० ॥ ३१ ॥

अनयोपधया राजन्भयशोकानुबन्धया ।
अकामा त्वद्वशं सीता नष्टनाथा गमिष्यति ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! यद्यपि अपने पति के मारे जाने का संवाद सुन वह सीता भयभीत और शोकान्वित होगी, तथापि अनाथा सीता इच्छा न रहते भी इस कपटचाल से वश में हो जायगी ॥३२॥

रञ्जनीयं हि भर्तारं विनष्टमवगम्य सा ।
नैराश्यात्स्त्रीलघुत्वाच्च[2] त्वद्वशं प्रतिपत्स्यते ॥ ३३ ॥

सीता अपने प्यारे पति को नष्ट हुआ देख, सब प्रकार से निराश हो स्त्रीस्वभावसुलभ चपलतावश तुम्हारे वश में हो जायगी ॥३३॥

सा पुरा सुखसंवृद्धा सुखार्हा दुःखकर्शिता ।
त्वय्यधीनं सुखं ज्ञात्वा सर्वथोपगमिष्यति ॥ ३४ ॥

सीता पहिले सुख ही में पल कर बड़ी हुई है। वह सदा सुख पाने योग्य सीता अब दुःख से विकल है। सो जब उसे यह बात

---

१ कौलीने—लोकवादे। (गो०) २ स्त्रीलघुत्वाच—स्त्रीचापलात्। (गो०)

मालूम होगी कि, तुम्हारे अधीन होने से उसे सुख मिलेगा, तो सब प्रकार से तुम्हारे वश में हो जायगा ॥ ३४ ॥

एतत्सुनीतं मम दर्शनेन
रामं हि दृष्ट्वैव भवेदनर्थः ।
इहैव ते सेत्स्यति मोत्सुकोभूः
महानयुद्धेन सुखस्य लाभः ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! मैंने अच्छी तरह विचार लिया है कि, यदि तुम श्रीरामचन्द्र के सामने गये तो अनर्थ हो जायगा । तुम्हारा मनोरथ तो मेरे बतलाये हुए उपाय से घर बैठे पूरा होगा । युद्ध के लिये उत्कण्ठित मत हो । क्योंकि युद्ध करने से सुख न मिलकर दुःख ही मिलेगा ॥ ३५ ॥

अनष्टसैन्यो ह्यनवाप्तसंशयो
रिपूनयुद्धेन जयन्नराधिपः ।
यशश्च पुण्यं च महन्महीपते
श्रियं च कीर्त्तिं च चिरं समश्नुते ॥ ३६ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

हे राजन् ! जो राजा अपने आप संशय में न पड़ कर और सेना को नष्ट न करा कर, विना लड़े ही, शत्रु को जीत लेता है, वह विपुल यश, सुख, सम्पत्ति और चिरस्थायिनी कीर्ति सम्पादन करता है ॥३६॥

युद्धकाण्ड का चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—※—

स तथोक्तस्तु निर्भर्त्स्य कुम्भकर्णो महोदरम् ।
अब्रवीद्राक्षसश्रेष्ठं भ्रातरं रावणं ततः ॥ १ ॥

जब महोदर ने यह कहा, तब महाबलवान कुम्भकर्ण ने उसको डपट कर, राक्षसश्रेष्ठ अपने भाई रावण से कहा ॥ १ ॥

सोऽहं तव भयं घोरं वधात्तस्य दुरात्मनः ।
रामस्याद्य प्रमार्जामि निर्वैरो हि सुखी भव ॥ २ ॥

बस दुरात्मा राम को आज मैं मार कर तुम्हारा घोर भय दूर कर दूँगा। जब तुम्हारा वैरी न रहैगा तब तुम सुखी होना ॥ २ ॥

गर्जन्ति न वृथा शूरा निर्जला इव तोयदाः ।
पश्य सम्पाद्यमानं तु गर्जितं युधि कर्मणा ॥ ३ ॥

जो वीर होते हैं वे जलशून्य बादलों की तरह वृथा नहीं गरजते। मैंने जो गर्जन किया है, सो आप समर में मुझको अपनी गर्जना के अनुसार कार्य करते हुए देखना ॥ ३ ॥

न मर्षयति चात्मानं सम्भावयति नात्मना ।
अदर्शयित्वा शूरास्तु कर्म कुर्वन्ति दुष्करम् ॥ ४ ॥

जो शूर होते हैं वे दूसरे की अपमानजनक बातों का सुनना कभी सहन नहीं कर सकते और न वे अपनी प्रतिष्ठा ही के भूखे होते हैं। किन्तु शूर लोग कोई भी दुष्कर कर्म करने के पूर्व प्रकट न कर उसको कर के दिखला देते हैं ॥ ४ ॥

विक्लवानामबुद्धीनां राज्ञां पण्डितमानिनाम् ।
शृण्वता सादितमिदं त्वद्विधानां महोदर ॥ ५ ॥

हे महोदर! कादर और अपने को पण्डित मानने वाले, किन्तु वास्तव में निर्बुद्धि राजा ही, तुम्हारी कही हुई जैसी बातें सुनना पसन्द करते हैं। अथवा तुम्हारा यह परामर्श उन्हें अच्छा लगता है ॥ ५ ॥

युद्धे कापुरुषैर्नित्यं भवद्भिः प्रियवादिभिः ।
राजानमनुगच्छद्भिः कृत्यमेतद्धि सादितम् ॥ ६ ॥

आप जैसे चापलूस और रणभीरु राजा को हाँ में हाँ मिलाने वाले लोगों ही ने तो यह सारा काम चौपट किया है ॥ ६ ॥

राजशेषा कृता लङ्का क्षीणः कोशो बलं हतम् ।
राजानमिममासाद्य सुहृच्चिह्नममित्रकम् ॥ ७ ॥

तुम्हारे समान बनावटी मित्रों ने इन (निर्बुद्धि) राजा को पा कर, सारा राजकोश बरबाद कर डाला, समस्त सेना मरवा डाली और लङ्का को निर्बल कर डाला। अब तो अकेले राजा ही शेष रह गये हैं ॥ ७ ॥

एष निर्याम्यहं युद्धमुद्यतः शत्रुनिर्जये ।
दुर्नयं भवतामद्य समीकर्तुमिहाहवे ॥ ८ ॥

तुम्हारी इस दुर्नीति को शान्त करने तथा शत्रु को युद्ध में परास्त करने के लिये मैं लड़ने को तैयार हूँ और अब मैं समरभूमि में जाता हूँ ॥ ८ ॥

एवमुक्तवतो वाक्यं कुम्भकर्णस्य धीमतः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं प्रहसन्राक्षसाधिपः ॥ ९ ॥

बुद्धिमान कुम्भकर्ण के इस प्रकार कहने पर रावण अट्टहास करता हुआ बोला ॥ ९ ॥

महोदरोऽयं रामात्तु परित्रस्तो न संशयः ।
न हि रोचयते तात युद्धं युद्धविशारद ॥ १० ॥

हे कुम्भकर्ण ! निश्चय ही यह महोदर राम से डरा हुआ है। हे तात ! हे युद्धविशारद ! इसीसे इसको राम के साथ लड़ना पसन्द नहीं है ॥ १० ॥

कश्चिन्मे त्वत्समो नास्ति सौहृदेन बलेन च ।
गच्छ शत्रुवधाय त्वं कुम्भकर्ण जयाय च ॥ ११ ॥

हे कुम्भकर्ण ! मेरे हितसाधन में और बल विक्रम में तुम्हारे समान मेरा शुभचिन्तक दूसरा कोई नहीं है। सो तुम अब शत्रु को मारने और विजयश्री प्राप्त करने के लिये यात्रा करो ॥ ११ ॥

तस्मात्तु भयनाशार्थं भवान्संम्बोधितो मया ।
अयं हि कालः सुहृदां राक्षसानामरिन्दम ॥ १२ ॥

इस भय को मिटाने के लिये ही मैंने आपको जगवाया है। हे अरिन्दम ! मेरे हितैषी मित्र राक्षसों के लिये शत्रु से लड़ने का यही तो समय है ॥ १२ ॥

तद्गच्छ शूलमादाय पाशहस्त इवान्तकः ।
वानरान्राजपुत्रौ च भक्षयादित्यतेजसौ ॥ १३ ॥

सो तुम अब हाथ में त्रिशूल ले, पाशधारी यम की तरह यात्रा करो और समरभूमि में जा उन समस्त वानरों और सूर्य के समान तेजस्वी उन दोनों राजपुत्रों को खा डालो ॥ १३ ॥

समालोक्य तु ते रूपं विद्रविष्यन्ति वानराः ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि हृदये प्रस्फुटिष्यतः ॥ १४ ॥

तुम्हारी शक्ल देखते ही वानर भाग खड़े होंगे और राम लक्ष्मण का कलेजा भी दहल जायगा अर्थात् फट जायगा ॥ १४ ॥

एवमुक्त्वा महाराजः कुम्भकर्णं महाबलम् ।
पुनर्जातमिवात्मानं मेने राक्षसपुङ्गवः ॥ १५ ॥

इस प्रकार राक्षसश्रेष्ठ रावण ने कुम्भकर्ण से कह कर, अपना पुनर्जन्म हुआ सा माना; अर्थात् उसको अपने विजय का अब पूर्ण विश्वास हो गया ॥ १५ ॥

कुम्भकर्णबलाभिज्ञो जानंस्तस्य पराक्रमम् ।
बभूव मुदितो राजा शशाङ्क इव निर्मलः ॥ १६ ॥

क्योंकि रावण, कुम्भकर्ण के बल पराक्रम को भली भाँति जानता था । सो वह मारे हर्ष के इस प्रकार खिल उठा जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमा खिल उठता है ॥ १६ ॥

इत्येवमुक्तः संहृष्टो निर्जगाम महाबलः ।
राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा कुम्भकर्णः समुद्यतः ॥ १७ ॥

महाबली कुम्भकर्ण राजा के ऐसे वचन सुन, हर्षित हो राजाज्ञा से युद्धयात्रा करने को तैयार हो गया ॥ १७ ॥

आददे निशितं शूलं वेगाच्छत्रुनिबर्हणम् ।
सर्वकालायसं दीप्तं तप्तकाञ्चनभूषणम् ॥ १८ ॥

उसने शत्रुसंहारकारी पैना और चमचमाता हुआ शूल उठाया, जो काले लोहे का बना हुआ था और जो विशुद्ध सुवर्ण के बंदों से विभूषित था ॥ १८ ॥

इन्द्राशनिसमं भीमं वज्रप्रतिमगौरवम् ।
देवदानवगन्धर्वयक्षकिन्नरसूदनम् ॥ १९ ॥

वह शूल इन्द्र के वज्र के समान भयङ्कर और भारी था तथा, देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरों का नाश करने वाला था ॥१९॥

रक्तमाल्यं महाधाम[1] स्वतश्चोद्गतपावकम् ।
आदाय निशितं शूलं शत्रुशोणितरञ्जितम् ॥ २० ॥

उसके ऊपर लाल फूलों की मालाएँ पड़ी हुई थीं और वह बड़ा तेजयुक्त (चमचमाता हुआ) था। क्योंकि उसमें से आप ही आप आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं। शत्रु के रक्त से सना हुआ होने के कारण वह रक्त ही जैसे रंग का हो रहा था। उस पैने शूल को ले ॥ २० ॥

कुम्भकर्णो महातेजा रावणं वाक्यमब्रवीत् ।
गमिष्याम्यहमेकाकी तिष्ठत्विह बलं महत् ॥ २१ ॥

महातेजस्वी कुम्भकर्ण रावण से बोला—मैं अकेला ही जाऊँगा। तुम अपनी बड़ी सेना को यहीं रहने दो ॥ २१ ॥

अद्य तान्क्षुभितान्क्रुद्धो भक्षयिष्यामि वानरान् ।
कुम्भकर्णवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥

मैं आज उन चंचल वानरों को क्रोध में भर खा डालूँगा। कुम्भकर्ण के ये वचन सुन, रावण ने उससे कहा—॥ २२ ॥

सैन्यैः परिवृतो गच्छ शूलमुद्गरपाणिभिः ।
वानरा हि [2]महात्मानः शीघ्राः [3]सुव्यवसायिनः ॥२३॥

---

1 महाधाम—महातेजः । (गो०) 2 महात्मानः—महाबुद्धयः । (गो०)
3 सुव्यवसायिनः—दृढनिश्चयाः । (गो०)

देखो, कहा मानो, अपने साथ सेना को और हाथ में शूल ले कर जाओ। क्योंकि वानर बड़े बुद्धिमान, वेगवान और दृढ़निश्चय वाले हैं अर्थात् वे जो विचार लेते हैं, उसे पूरा किये विना नहीं रहते॥ २३॥

एकाकिनं प्रमत्तं वा नयेयुर्दशनैः क्षयम्।
तस्मात्परमदुर्धर्षैः सैन्यैः परिवृतो व्रज॥ २४॥

कहीं ऐसा न हो कि, तुमको अकेला पा और मदमस्त देख, वे तुमको दाँतों से काट काट कर नष्ट कर डालें। अतः तुम परम दुर्धर्ष सेना को साथ लेकर जाओ॥ २४॥

रक्षसामहितं सर्वं शत्रुपक्षं निषूदय।
अथासनात्समुत्पत्य स्रजं मणिकृतान्तराम्॥ २५॥
आबबन्ध महातेजाः कुम्भकर्णस्य रावणः।
अङ्गदान्यङ्गुलीवेष्ठान्वराण्याभरणानि च॥ २६॥

और राक्षसों के अहितकारी समस्त शत्रुओं को मार डालो। यह कह महातेजस्वी रावण ने अपने आसन से उठ कर मणि की माला कुम्भकर्ण के गले में पहिना दी। फिर बाजू, अँगूठी आदि बढ़िया बढ़िया गहने॥ २५॥ २६॥

हारं च शशिसङ्काशमाबबन्ध महात्मनः।
दिव्यानि च सुगन्धीनि माल्यदामानि रावणः॥ २७॥

तथा चन्द्रमा के समान उज्ज्वल मणिहार, कुम्भकर्ण को पहिनाये। फिर रावण ने दिव्य और सुगन्धित फूलों के गजरे पहिनाये॥ २७॥

श्रोत्रे चासञ्जयामास श्रीमती चास्य कुण्डले ।
काञ्चनाङ्गदकेयूरनिष्काभरणभूषितः ।
कुम्भकर्णो बृहत्कर्णः सुहुतोऽग्निरिवावभौ ॥ २८ ॥

कानों में उसके सुन्दर कुण्डल पहिनाये। सोने के बाजूबंदों और गले के आभूषणों से भूषित बड़े बड़े कानों वाला कुम्भकर्ण हवन की हुई अग्नि की तरह देख पड़ने लगा ॥ २८ ॥

श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन व्यराजत ।
अमृतोत्पादने नद्धो भुजङ्गेनेव मन्दरः ॥ २९ ॥

उसकी कमर में करधनी का काला डोरा ऐसा जान पड़ता था, मानों समुद्रमन्थन के लिये उद्यत वासुकी से लिपटा हुआ मन्दराचलपर्वत हो ॥ २९ ॥

स काञ्चनं भारसहं निवातं
विद्युत्प्रभं दीप्तमिवात्मभासा[१] ।
आवध्यमानः कवचं रराज
सन्ध्याभ्रसंवीत इवाद्रिराजः ॥ ३० ॥

बड़े बड़े आयुधों के प्रहार से भी कभी न टूटने वाला तथा जिसमें हवा तक न जा सके—ऐसे कवच को कुम्भकर्ण ने धारण किया। वह कवच अपनी कान्ति से बिजली की तरह चमकता था। उस कवच को पहिन कुम्भकर्ण ऐसा जान पड़ता था, मानों सन्ध्यासमय के बादलों के रंग से रंगा हिमालय पर्वत हो ॥ ३० ॥

---

१ आत्मभासा—कवचकान्त्या। (गो०)

सर्वाभरणनद्धाङ्गः शूलपाणिः स राक्षसः ।
त्रिविक्रमकृतोत्साहो नारायण इवाबभौ ॥ ३१ ॥

समस्त अंगों में आभूषण धारण किये हुए तथा हाथ में शूल लिये हुए वह राक्षस वैसा ही देख पड़ता था जैसे कि, तीन पग पृथिवी नापते के समय नारायण देख पड़े थे ॥ ३१ ॥

भ्रातरं सम्परिष्वज्य कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
प्रणम्य शिरसा तस्मै सम्प्रतस्थे महाबलः ॥ ३२ ॥

महाबली कुम्भकर्ण भाई को गले लगा और उसकी प्रदक्षिणा कर तथा सिर झुका प्रणाम कर वहाँ से चला ॥ ३२ ॥

निष्पतन्तं महाकायं महानादं महाबलम् ।
तमाशीर्भिः प्रशस्ताभिः प्रेषयामास रावणः ॥ ३३ ॥

उस विशाल शरीरधारी, महाबलवान एवं महानाद करने वाले कुम्भकर्ण को रावण ने अनेक मङ्गलसूचक आशीर्वाद दे विदा किया ॥ ३३ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः सैन्यैश्चापि वरायुधैः ।
तं गजैश्च तुरङ्गैश्च स्यन्दनैश्चाम्बुदस्वनैः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं रथिनो रथिनां वरम् ॥ ३४ ॥

रथियों में श्रेष्ठ रथी कुम्भकर्ण के पीछे पीछे शङ्ख, दुन्दुभी बजाती हुई तथा श्रेष्ठ आयुधों को लिये हुए सेना गयी। बड़े बड़े राक्षस हाथियों, घोड़ों और मेघ की तरह गड़गड़ाहट कर के चलने वाले रथों में बैठ कर, उसके पीछे हो लिये ॥ ३४ ॥

सर्पैरुष्ट्रैः खरैरश्वैः सिंहद्विपमृगद्विजैः ।
अनुजग्मुश्च तं घोरं कुम्भकर्णं महाबलम् ॥ ३५ ॥

बहुत से राक्षस सर्पों, ऊँटों, खच्चरों, घोड़ों, सिंहों, हाथियों, मृगों, हंसादि पक्षियों पर सवार हो, उस भयङ्कर एवं महाबली कुम्भकर्ण के पीछे हो लिये ॥ ३५ ॥

स पुष्पवर्षैरवकीर्यमाणो
धृतातपत्रः शितशूलपाणिः ।
मदोत्कटः शोणितगन्धमत्तो
विनिर्ययौ दानवदेवशत्रुः ॥ ३६ ॥

उस समय उसके ऊपर फूल बरसाये गये। सिर पर छत्र ताना गया। हाथ में बड़ा पैना शूल लिये स्वाभाविक मद से मत्त तथा महाविकट रुधिर की गन्ध से मस्त, देव और दानवों का वैरी कुम्भकर्ण चला ॥ ३६ ॥

पदातयश्च बहवो महानादा महाबलाः ।
अन्वयू राक्षसा भीमा भीमाक्षाः शस्त्रपाणयः ॥ ३७ ॥

उसके साथ बहुत से पैदल सैनिक भी हो लिये थे। वे बड़ी ज़ोर से गरजने वाले महाबलवान भयङ्कर एवं भयङ्कर नेत्र वाले राक्षस हाथों में शस्त्र लिये हुए थे ॥ ३७ ॥

रक्ताक्षाः सुमहाकाया नीलाञ्जनचयोपमाः ।
शूलानुद्यम्य खड्गांश्च निशितांश्च परश्वधान् ॥ ३८ ॥

उन बड़े डीलडौल के राक्षसों के नेत्र लाल लाल थे और वे सब काजल के ढेर के समान जान पड़ते थे। वे शूल, तलवार, परश्वध, उठाये हुए जा रहे थे ॥ ३८ ॥

भिन्दिपालांश्च परिघान्गदाश्च मुसलानि च ।
तालस्कन्धांश्च विपुलान्क्षेपणीयान्दुरासदान् ॥ ३९ ॥

भिन्दिपाल, परिघ, गदा, मूसल, तालस्कन्ध (ताल वृक्ष की डालियां) तथा बड़े बड़े अस्त्र फैंकने के दुर्धर्ष आयुधविशेषों को वे लिये हुए थे ॥ ३९ ॥

अथान्यद्वपुरादाय दारुणं रोमहर्षणम् ।
निष्पपात महातेजाः कुम्भकर्णो महाबलः ॥ ४० ॥

महातेजस्वी एवं महाबलवान कुम्भकर्ण इस समस्त सेना को साथ ले तथा बड़ा भयङ्कर रोमाञ्चकारी रूप बना कर चला ॥ ४० ॥

धनुःशतपरीणाहः स षट्शतसमुच्छ्रितः ।
रौद्रः शकटचक्राक्षो महापर्वतसन्निभः ॥ ४१ ॥

उस समय उसके शरीर की चौड़ाई सौ धनुष, ऊँचाई छः सौ धनुष थी। उसकी भयङ्कर आँखें छकड़े के पहिये के समान थीं। वह एक बड़े ऊँचे पर्वत के समान जान पड़ता था ॥ ४१ ॥

[1]सन्निपत्य च रक्षांसि दग्धशैलोपमो महान् ।
कुम्भकर्णो महावक्त्रः प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

साथ चलने वाले सैनिकों के पास जा; जले हुए पर्वत की तरह और विशाल मुख वाला कुम्भकर्ण, हँस कर कहने लगा ॥ ४२ ॥

अद्य वानरमुख्यानां तानि यूथानि भागशः ।
निर्दहिष्यामि संक्रुद्धः शलभानिव पावकः ॥ ४३ ॥

---

1 सन्निपत्य—स्वानुगमनायोद्युक्तानां राक्षसानां समीपं गत्वा । (गो०)

आज मैं कुपित हो वानरी सेनाओं और उनके यूथपतियों को वैसे ही भस्म कर डालूँगा, जैसे आग पतंगों को भस्म कर देती है ॥ ४३ ॥

नापराध्यन्ति मे कामं वानरा वनचारिणः ।
जातिरस्मद्विधानां सा पुरोद्यानविभूषणम् ॥ ४४ ॥

अथवा वे वनवासी वानर अपने मन से तो मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ते । बल्कि वे तो हम जैसे लोगों के नगरों और फुलवाड़ियों की एक प्रकार की शोभा हैं ॥ ४४ ॥

पुररोधस्य मूलं तु राघवः सहलक्ष्मणः ।
हते तस्मिन्हतं सर्वं तं वधिष्यामि संयुगे ॥ ४५ ॥

हमारी पुरी को घेरने वाले तो असल में राम और लक्ष्मण हैं । उनके मारे जाने से अन्य सब मरे समान ही हैं—अतः मैं युद्ध में उन्हीं दोनों को मारूँगा ॥ ४५ ॥

एवं तस्य ब्रुवाणस्य कुम्भकर्णस्य राक्षसाः ।
नादं चक्रुर्महाघोरं कम्पयन्त इवार्णवम् ॥ ४६ ॥

जब कुम्भकर्ण ने उन राक्षसों से इस प्रकार कहा, तब वे राक्षस मानों समुद्र को क्षुब्ध करते हुए, बड़े ज़ोर से नाद करने लगे ॥ ४६ ॥

तस्य निष्पततस्तूर्णं कुम्भकर्णस्य धीमतः ।
बभूवुर्घोररूपाणि निमित्तानि समन्ततः ॥ ४७ ॥

बुद्धिमान कुम्भकर्ण के चलने के समय चारों ओर बड़े भयङ्कर अशकुन हुए ॥ ४७ ॥

उल्काशनियुता मेघा बभूवुर्गर्दभारुणाः[१] ।
ससागरवना चैव वसुधा समकम्पत ॥ ४८ ॥

गधे के रंग की तरह धुमैले रंग के बादलों से उल्कापात और वज्रपात हुआ। सागर और वनों सहित धरती काँप उठी ॥ ४८ ॥

घोररूपाः शिवा नेदुः सज्वालकवलैर्मुखैः ।
मण्डलान्यपसव्यानि बबन्धुश्च विहङ्गमाः ॥ ४९ ॥

मुख में अंगार रखे हुए भयङ्कर रूप वाली गीदड़ियाँ चिल्लाने लगीं। पक्षी दहिनी ओर चक्कर काटने लगे ॥ ४९ ॥

निष्पपात च गृध्रोऽस्य शूले वै पथि गच्छतः ।
प्रास्फुरन्नयनं चास्य सव्यो बाहुश्च कम्पते ॥ ५० ॥

मार्ग में जाते हुए कुम्भकर्ण के शूल पर एक गीध आ गिरा। कुम्भकर्ण का वाम नेत्र और वाम भुजा फड़कने लगी ॥ ५० ॥

निपपात तदा चोल्का ज्वलन्ती भीमनिःस्वना ।
आदित्यो निष्प्रभश्चासीन्न प्रवाति सुखोऽनिलः ॥५१॥

भयङ्कर शब्द के साथ दहकती हुई उल्का आकाश से कुम्भकर्ण के सामने आ गिरी। उस समय सूर्य की चमक लुप्त हो गयी और सुखदायी पवन का चलना भी बंद हो गया ॥ ५१ ॥

अचिन्तयन्महोत्पातानुत्थितान्रोमहर्षणान् ।
निर्ययौ कुम्भकर्णस्तु कृतान्तबलचोदितः ॥ ५२ ॥

इन रोमाञ्चकारी अशकुनों के होने की तिल बराबर भी परवाह न कर, कुम्भकर्ण मृत्यु की प्रेरणा से चला ही गया ॥ ५२ ॥

---

[१] गर्दभारुणाः—गर्धभवदव्यक्तरागाः। (गो०) गर्दभधूम्राः। (रा०)

स लङ्घयित्वा प्राकारं पद्भ्यां पर्वतसन्निभः ।
ददर्शाभ्रघनप्रख्यं वानरानीकमद्भुतम् ॥ ५३ ॥

पैदल जाते हुए पर्वताकार कुम्भकर्ण ने, पुरी के परकोटे की दीवार नांघी (अर्थात् फाटक से नहीं निकला) और लङ्का के वाहिर जा उसने मेघमण्डल के समान वानरों की अद्भुत सेना देखी ॥ ५३ ॥

ते दृष्ट्वा राक्षसश्रेष्ठं वानराः पर्वतोपमम् ।
वायुनुन्ना इव घना ययुः सर्वा दिशस्तदा ॥ ५४ ॥

पर्वत के समान लंबे कुम्भकर्ण को देख, वे वानर चारों ओर वैसे ही भागे जैसे हवा से उड़ाये बादल भागते हैं ॥ ५४ ॥

तद्वानरानीकमतिप्रचण्डं
दिशो द्रवद्भिन्नमिवाभ्रजालम् ।
स कुम्भकर्णः समवेक्ष्य हर्षान्
ननाद भूयो घनवद्घनाभः ॥ ५५ ॥

उस प्रचण्ड वानरी सेना को चारों ओर फटे बादलों की तरह तितर बितर होते देख, कुम्भकर्ण हर्ष के मारे मेघ की तरह गंभीर शब्द से गर्जा ॥ ५५ ॥

ते तस्य घोरं निनदं निशम्य
यथा निनादं दिवि वारिदस्य ।
पेतुर्धरण्यां बहवः प्लवङ्गा
निकृत्तमूला इव सालवृक्षाः ॥ ५६ ॥

आकाश में गर्जते हुए, मेघों की गर्जना के समान कुम्भकर्ण की भयङ्कर गर्जना सुन, बहुत से वानर भूमि पर वैसे ही गिर पड़े जैसे जड़ से कटा हुआ साल का पेड़ गिर पड़ता है ॥ ५६ ॥

विपुलपरिघवान्स कुम्भकर्णो
रिपुनिधनाय विनिःसृतो महात्मा ।
कपिगणभयमाददत्सुभीमं
[1]प्रभुरिव किङ्करदण्डवान्युगान्ते ॥ ५७ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

शत्रु का विनाश करने के लिये हाथ में विशाल शूल लिये महाबलवान कुम्भकर्ण को आते देख, वानरगण उसी प्रकार महात्रस्त हुए, जिस प्रकार प्रलयकाल में दूतों सहित आये हुए दण्डधारी यम को देख प्रजाजन त्रस्त होते हैं ॥ ५७ ॥

युद्धकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षट्षष्टितमः सर्गः

—※—

स लङ्घयित्वा प्राकारं गिरिकूटोपमो महान् ।
निर्ययौ नगरात्तूर्णं कुम्भकर्णो महाबलः ॥ १ ॥

पर्वताकार महावीर कुम्भकर्ण लङ्का के परकोटे की दीवाल को लाँघ, बड़ी शीघ्रता से लङ्का के बाहिर निकला ॥ १ ॥

---

१ प्रभुः—अन्तकः । (गो०) कालाग्निरुद्र इव । (रा०)

स ननाद महानादं समुद्रमभिनादयन् ।
जनयन्निव [1]निर्घातान्विधमन्निव पर्वतान् ॥ २ ॥

कुम्भकर्ण वज्रपात के शब्द की तरह बड़े ज़ोर से गर्ज कर, समुद्र को खलबलाने और पहाड़ों को ढहाने लगा ॥ २ ॥

तमवध्यं मघवता यमेन वरुणेन वा ।
प्रेक्ष्य भीमाक्षमायान्तं वानरा विप्रदुद्रुवुः ॥ ३ ॥

इन्द्र, यम, और वरुण से अवध्य भयङ्कर नेत्रों वाले कुम्भकर्ण को आते देख, वानर लोग भागने लगे ॥ ३ ॥

तांस्तु विप्रद्रुतान्दृष्ट्वा वालिपुत्रोऽङ्गदोऽब्रवीत् ।
नलं नीलं गवाक्षं च कुमुदं च महाबलम् ॥ ४ ॥

वानरों को भागते देख, वालिपुत्र अङ्गद ने नल, नील, गवाक्ष और महाबलवान कुमुद से कहा ॥ ४ ॥

आत्मानमत्र विस्मृत्य वीर्याण्यभिजनानि च ।
क्व गच्छत भयत्रस्ताः प्राकृता हरयो यथा ॥ ५ ॥

हे वानरो ! तुम लोग अपने पराक्रम को और अपने उच्च कुलों को भूल कर और भयभीत हो, साधारण वानर की तरह कहाँ भागे जाते हो ! ॥ ५ ॥

साधु सौम्या निवर्तध्वं किं प्राणान्परिरक्षथ ।
नालं युद्धाय वै रक्षो महतीयं [2]विभीषिका ॥ ६ ॥

---

१ निर्घातान्—अशनिघोषान् । (रा०) २ विभीषिका—भयजनकः कृत्रिमपुरुषवेषः । (गो०)

हे सौम्य-स्वभाव-वालो ! वाह ! वाह !! लौटो ! लौटो !! क्या अपने प्राण बचाना चाहते हो ? यह कोई लड़ने वाला राक्षस नहीं है, बल्कि तुम लोगों को डराने के लिये यह एक बड़ा भारी बनावटी पुरुष खड़ा किया गया है ॥ ६ ॥

महतीमुत्थितामेनां राक्षसानां विभीषिकाम् ।
विक्रमाद्विधमिष्यामो निवर्तध्वं प्लवङ्गमाः ॥ ७ ॥

राक्षसों के इस खड़े हुए बड़े भारी बनावटी पुरुष को हम लोग अपने पराक्रम से अभी नष्ट किये डालते हैं। तुम सब वानर लौट आओ ॥ ७ ॥

कृच्छ्रेण तु समाश्वस्य संगम्य च ततस्ततः ।
वृक्षाद्रिहस्ता हरयः सम्प्रतस्थू रणाजिरम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार बड़ी कठिनाई से जब अङ्गद ने उनके पास जा उनको धीरज बँधाया; तब वे वानर इधर उधर से पेड़ों और शिलाओं को हाथों में ले लड़ने के लिये समरभूमि में गये ॥ ८ ॥

ते निवृत्य तु संक्रुद्धाः कुम्भकर्णं वनौकसः ।
निजघ्नुः परमक्रुद्धाः समदा इव कुञ्जराः ॥ ९ ॥

वे वानर कुम्भकर्ण के ऊपर वैसे ही प्रहार करने लगे जैसे अत्यन्त क्रुद्ध हो पागल हाथी चोट करता है ॥ ९ ॥

प्रांशुभिर्गिरिशृङ्गैश्च शिलाभिश्च महाबलः ।
पादपैः पुष्पिताग्रैश्च हन्यमानो न कम्पते ॥ १० ॥

उस समय वानर महाबली कुम्भकर्ण को बड़े पर्वत शिखरों, शिलाओं और फूले हुए वृक्षों से मार रहे थे, किन्तु वह तिल भर भी विचलित नहीं होता था ॥ १० ॥

तस्य गात्रेषु पतिता भिद्यन्ते शतशः शिलाः ।
पादपाः पुष्पिताग्राश्च भग्नाः पेतुर्महीतले ॥ ११ ॥

प्रत्युत उसके शरीर में टकरा कर सैकड़ों शिलाएँ चूर चूर हो जाती थीं और फूले हुए वृक्ष टूट कर पृथिवी पर गिर पड़ते थे ॥ ११ ॥

सोऽपि सैन्यानि संक्रुद्धो वानराणां महौजसाम् ।
ममन्थ परमायत्तो वनान्यग्निरिवोत्थितः ॥ १२ ॥

कुम्भकर्ण भी अत्यन्त क्रुद्ध हो बड़े बड़े बलवान वानरों की सेना को वैसे ही नष्ट कर रहा था, जैसे वन में लगी हुई आग वन को नष्ट करती है ॥ १२ ॥

लोहितार्द्रास्तु बहवः शेरते वानरर्षभाः ।
निरस्ताः पतिता भूमौ ताम्रपुष्पा इव द्रुमाः ॥ १३ ॥

बहुत से वानरश्रेष्ठ रक्त में भींग कर समरभूमि में पड़े ऐसे जान पड़ते थे, मानों लाल फूलों से लदे और कटे हुए वृक्ष पड़े हों ॥ १३ ॥

लङ्घयन्तः प्रधावन्तो वानरा नावलोकयन् ।
केचित्समुद्रे पतिताः केचिद्गगनमाश्रिताः ॥ १४ ॥

उसकी मार को न सह कर वानर इधर उधर न देख भाग रहे थे। उनमें से बहुत से तो समुद्र में गिर पड़े, बहुत से उड़ कर आकाश में चले गये ॥ १४ ॥

वध्यमानास्तु ते वीरा राक्षसेन बलीयसा ।
सागरं येन ते तीर्णाः पथा तेन प्रदुद्रुवुः ॥ १५ ॥

उस वलवान कुम्भकर्ण द्वारा मारे गये वीर वानर उसी पुल पर से भागे जाते थे, जिस पर से उन लोगों ने समुद्र पार किया था ॥ १५ ॥

ते स्थलानि तथा निम्नं विषण्णवदनाभयात् ।
ऋक्षा वृक्षान्समारूढाः केचित्पर्वतमाश्रिताः ॥ १६ ॥

वे उदास मुख और भयीत वानर गढ़ों में तथा जहाँ जा सके वहाँ भाग कर चले गये । रीछों में से वहुत से पेड़ों पर चढ़ गये और कोई कोई पहाड़ों पर भाग गये ॥ १६ ॥

ममज्जुरर्णवे केचिद्गुहाः केचित्समाश्रिताः ।
*निपेतुः प्लवगाः केचित्केचिन्नैवावतस्थिरे ॥ १७ ॥

कोई कोई समुद्र में डूब गये, कोई कोई पहाड़ की गुफाओं में जा छिपे । कोई कोई वानर गिर पड़े और कोई कोई तो वहाँ खड़े भी न रह सके ॥ १७ ॥

[केचिद्भूमौ निपतिताः केचित्सुप्ता मृता इव ।]
तान्समीक्ष्याङ्गदो भग्नान्वानरानिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

कोई कोई भूमि पर गिर पड़े और कोई मुर्दे की तरह लेट रहे । तव उन भागते हुए वानरों से अङ्गद यह वोले ॥ १८ ॥

अवतिष्ठत युध्यामो निवर्तध्वं प्लवङ्गमाः ।
भग्नानां वो न पश्यामि परिगम्य महीमिमाम् ॥ १९ ॥

हे वानरों ! अच्छा अव तुम ठहरो, हम लड़ेंगे । तुम लोग लौट आओ । तुम लोग भाग कर जा ही कहाँ सकते हो ? सारी पृथिवी की परिक्रमा लगाने पर भी तुम्हें रक्षित स्थान मिलना कठिन है ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—" निपेदुः । "

स्थानं सर्वे निवर्तध्वं किं प्राणान्परिरक्षथ ।
निरायुधानां द्रवतामसङ्गगतिपौरुषाः ॥ २० ॥

अपनी अपनी जगहों पर लौट आओ। इस प्रकार प्राण बचाने से क्या होगा? हे अप्रतिम-गतवान-पुरुषार्थ-युक्त वानरो! तुम यदि अपने आयुधों को पटक कर, इस तरह भाग अपने प्राण बचाओगे ॥ २० ॥

दारा ह्युपहसिष्यन्ति स वै घातस्तु जीविनाम् ।
कुलेषु जाताः सर्वे स्म विस्तीर्णेषु महत्सु च ॥ २१ ॥

तो तुम्हारी स्त्रियाँ तुम्हारी इस कादरता पर हँसेंगी और उनका वह हँसना ही तुम्हारे लिये मरने के समान होगा। फिर तुम लोग तो ऐसे कुल में उत्पन्न हुए हो, जो बहुत बड़ा और विस्तृत कहलाता है ॥ २१ ॥

क्व गच्छथ भयत्रस्ता हरयः प्राकृता यथा ।
अनार्याः खलु यद्भीतास्त्यक्त्वा वीर्यं प्रधावत ॥ २२ ॥

हे वानरों! तुम भयभीत हो साधारण वानरों की तरह कहाँ भागे जाते हो? तुम लोग अपना विपुल पराक्रम भूल कर त्रस्त हो गये हो। अतः तुम निश्चय ही बड़े नीच हो ॥ २२ ॥

विकत्थनानि वो यानि तदा वै जनसंसदि ।
तानि वः क्व नु यातानि सोदग्राणि महान्ति च ॥२३॥

लोगों के सामने उस समय तुमने अपनी उग्रता दिखलाते हुए जो बड़ी डींगे हाँकी थीं, वे सब इस समय कहाँ चली गयीं? ॥२३॥

भीरुप्रवादाः श्रूयन्ते यस्तु जीवति धिक्कृतः ।
मार्गः सत्पुरुषैर्जुष्टः सेव्यतां त्यज्यतां भयम् ॥ २४ ॥

लड़ाई में डरपोंक योद्धा की बड़ी निन्दा सुनी जाती है। युद्धक्षेत्र से जो वीर भाग कर अपने प्राण बचाता है, उसके जीने को धिक्कार है। अतएव तुम भी भय त्याग कर, उस मार्ग का अनुसरण करो, जिसका शूर लोग अनुसरण करते हैं ॥ २४ ॥

शयामहेऽथ निहताः पृथिव्यामल्पजीविताः ।
दुष्प्रापं ब्रह्मलोकं वा प्राप्नुमो युधि सूदिताः ॥ २५ ॥

हम लोग भाग कर प्राण बचावें तो कितने दिनों को, जीवन तो थोड़े ही दिनों का है। सो यदि हम लड़ाई में मारे ही गये तो हमारा शरीर तो भूमि पर पड़ा पड़ा सोया करेगा और हमारा आत्मा उस ब्रह्मलोक में जायगा, जो हरेक को मिलना दुर्लभ है ॥२५॥

सम्प्राप्नुयामः कीर्तिं वा निहत्वा शत्रुमाहवे ।
जीवितं वीरलोकस्य* भोक्ष्यामो वसु वानराः ॥ २६ ॥

हे वानरो! यदि हम शत्रु को मारेंगे, तो संसार में हम लोगों का नाम होगा और यदि स्वयं मारे गये तो वीरों को प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य को भोगेंगे ॥ २६ ॥

न कुम्भकर्णः काकुत्स्थं दृष्ट्वा जीवन्गमिष्यति ।
दीप्यमानमिवासाद्य पतङ्गो ज्वलनं यथा ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की दृष्टि के सामने पड़, यह कुम्भकर्ण जीता जागता न लौट पावेगा। यह श्रीरामचन्द्र जी के सामने, पड़ उसी प्रकार नष्ट होगा, जिस प्रकार जलती हुई आग को पाकर पतङ्ग नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥

पलायनेन चोद्दिष्टाः प्राणान्रक्षामहे वयम् ।
एकेन बहवो भग्ना यशो नाशं गमिष्यति ॥२८॥

---

* पाठान्तरे—"मोक्ष्यामो।"

यदि हम लोग भाग कर प्राण बचावें, तो लोग कहेंगे कि, अकेले कुम्भकर्ण ने ऐसे ऐसे बहुत से बलवानों को भगा दिया। इससे हमारी नामवरी पर धब्बा लग जायगा ॥ २८ ॥

एवं ब्रुवाणं तं शूरमङ्गदं कनकाङ्गदम्।
द्रवमाणास्ततो वाक्यमूचुः शूरविगर्हितम् ॥ २९ ॥

सोने के बाजू धारण किये हुए शूरश्रेष्ठ अङ्गद के इन वचनों को सुन, भागते हुए वानरों ने ऐसे वचन कहे, जिनकी शूर लोग निन्दा करते हैं या शूर लोग जिनका कहना बुरा समझते हैं ॥२९॥

कृतं नः कदनं घोरं कुम्भकर्णेन रक्षसा।
न स्थानकालो गच्छामो दयितं जीवितं हि नः ॥३०॥

राक्षस कुम्भकर्ण युद्ध कर रहा है, इस समय हम लोग उसके सामने किसी प्रकार नहीं ठहर सकते। हम तो जांयगे। क्योंकि हमको अपने प्राण प्यारे हैं ॥ ३० ॥

एतावदुक्त्वा वचनं सर्वे ते भेजिरे दिशः।
भीमं भीमाक्षमायान्तं दृष्ट्वा वानरयूथपाः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार के वचन कह और भयङ्कर रूप और भयङ्कर आँखों वाले कुम्भकर्ण को अपना पीछा करते देख, वे सब वानरयूथपति चारों ओर भागे ॥३१॥

द्रवमाणास्तु ते वीरा अङ्गदेन वलीमुखाः।
सान्त्वैश्चैवानुमानैश्च[1] ततः सर्वे निवर्तिताः ॥ ३२ ॥

---

१ अनुमानैर्नागपाशमुक्तिपक्षताकभेदरूपैर्जयानुतापकैः। (रा०)

किन्तु अङ्गद ने तिस पर भी श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम और शक्ति का बखान कर (नागपाश से मुक्त होना, सात ताल वृक्षों को वेधना) समस्त वानरों को समझा बुझा कर लौटाया ॥ ३२ ॥

प्रहर्षमुपनीताश्च वालिपुत्रेण धीमता ।
आज्ञाप्रतीक्षास्तस्थुश्च सर्वे वानरयूथपाः ॥ ३३ ॥

बुद्धिमान अङ्गद ने उन सब को उत्साहित किया, जिससे वे सब वानरयूथपति वालिपुत्र की आज्ञा की प्रतीक्षा करते हुए ठहरे रहे ॥३३॥

ऋषभशरभमैन्दधूम्रनीलाः
कुमुदसुषेणगवाक्षरम्भताराः ।
द्विविदपनसवायुपुत्रमुख्याः
त्वरिततराभिमुखं रणं प्रयाताः ॥ ३४ ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

तदनन्तर ऋषभ, शरभ, मैन्द, धूम्र, नील, कुमुद, सुषेण, गवाक्ष, रम्भ, तार, द्विविद, पनस, हनुमानादि प्रमुख वानरयूथपति अति शीघ्रता से रणक्षेत्र की ओर चले ॥ ३४ ॥

युद्धकाण्ड का छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—※—

ते निवृत्ता महाकायाः श्रुत्वाङ्गदवचस्तदा ।
[1]नैष्ठिकीं बुद्धिमासाद्य सर्वे संग्रामकाङ्क्षिणः ॥ १ ॥

वे विशाल शरीरधारी वानर, अङ्गद की बातें सुन लौट आये और "कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयं" का दृढ़ निश्चय कर, लड़ने की अभिलाषा करने लगे ॥ १ ॥

समुदीरितवीर्याश्च समारोपितविक्रमाः ।
पर्यवस्थापिता वाक्यैरङ्गदेन वलीमुखाः ॥ २ ॥

तदनन्तर अङ्गद के कहने से वे वानर लड़ने के लिये तैयार हो गये और पुनः पराक्रम का आश्रय ले, अपने अपने बल और पराक्रम का बखान करने लगे ॥ २ ॥

प्रयाताश्च गता हर्षं मरणे कृतनिश्चयाः ।
चक्रुः सुतुमुलं युद्धं वानरास्त्यक्तजीविताः ॥ ३ ॥

वे सब वानर हथेली पर अपनी जानों को रख, प्रसन्न होते हुए आगे बढ़े। वे अपने बचने की आशा त्याग घोर युद्ध करने लगे ॥ ३ ॥

अथ वृक्षान्महाकायाः सानूनि सुमहान्ति च ।
वानरास्तूर्णमुद्यम्य कुम्भकर्णमभिद्रुताः ॥ ४ ॥

---

१ नैष्ठिकीं—मरणव्यवसायिनीमित्यर्थः । । (गो०)

बड़े बड़े वृक्ष और पर्वतशिखरों को बड़ी तेज़ी से उखाड़ तथा ले ले कर, वे कुम्भकर्ण की ओर दौड़े ॥ ४ ॥

स कुम्भकर्णः संक्रुद्धो गदामुद्यम्य वीर्यवान् ।
अर्दयन्सुमहाकायः समन्ताद्व्याक्षिपद्रिपून् ॥ ५ ॥

उधर बलवान विशालकाय कुम्भकर्ण भी अत्यन्त क्रुद्ध हो और हाथ में गदा उठा कर, शत्रुओं को मार कर चारों ओर छितराने लगा ॥ ५ ॥

शतानि सप्त चाष्टौ च सहस्राणि च वानराः ।
[1]प्रकीर्णाः शेरते भूमौ कुम्भकर्णेन [2]पोथिताः ॥ ६ ॥

कुम्भकर्ण की मार से एक एक बार में सात सात, आठ आठ, सौ सौ और हज़ार हज़ार वानरों के दल बेकाम हो धराशायी होने लगे ॥ ६ ॥

षोडशाष्टौ च दश च विंशत्त्रिंशत्तथैव च ।
परिक्षिप्य च बाहुभ्यां खादन्विपरिधावति ॥ ७ ॥

फिर वह आठ आठ, दस दस, सोलह सोलह, बीस बीस और तीस तीस वानरों को हाथों से पकड़ पकड़ कर और दौड़ दौड़ कर खाने लगा ॥ ७ ॥

भक्षयन्भृशसंक्रुद्धो गरुडः पन्नगानिव ।
कृच्छ्रेण च समाश्वस्ताः सङ्गम्य च ततस्ततः ॥ ८ ॥

वह अत्यन्त क्रुद्ध हो वानरों को वैसे ही खा रहा था, जैसे गरुड़ साँपों को खाते हैं। अब तो वानर बड़ी कठिनता से धैर्य धारण कर एकत्र हुए ॥ ८ ॥

---

१ प्रकीर्णाः—शिथिलावयवाः । (गो०) २ पोथिता—हिंसिता । (गो०)

वृक्षाद्रिहस्ता हरयस्तस्थुः संग्राममूर्धनि ।
ततः पर्वतमुत्पाट्य द्विविदः प्लवगर्षभः ॥ ९ ॥

दुद्राव गिरिशृङ्गाभं विलम्ब इव तोयदः ।
तं समुत्पत्य चिक्षेप कुम्भकर्णस्य वानरः ॥ १० ॥

और हाथों में पेड़ों और पहाड़ों का ले ले कर, समरभूमि में आ डटे । तदनन्तर लटकते हुए बादल की तरह वानरश्रेष्ठ द्विविद् एक पहाड़ उखाड़ और उसे लिये हुए दौड़े और बड़े ज़ोर से उसे कुम्भकर्ण पर दे पटका ॥ ९ ॥ १० ॥

तमप्राप्तो महाकायं तस्य सैन्येऽपतत्तदा ।
ममर्दाश्वागजांश्चापि रथांश्चैव नगोत्तमः ॥ ११ ॥

वह पर्वत उस महाकाय कुम्भकर्ण तक न पहुँच कर बीच ही में राक्षसी सेना के ऊपर गिरा । उसके गिरने से कितने ही घोड़े, हाथी, रथ और बड़े बड़े वृक्ष चकनाचूर हो गये ॥ ११ ॥

तानि चान्यानि रक्षांसि पुनश्चान्यद्गिरेः शिरः ।
तच्छैलशृङ्गाभिहतं हताश्वं हतसारथि ॥ १२ ॥

तदनन्तर द्विविद् ने एक दूसरा पर्वतशिखर राक्षसी सेना पर फेंका । उस शैलशृङ्ग की चोट से राक्षसी सेना के कितने ही रथ, सारथियों सहित नष्ट हो गये ॥ १२ ॥

रक्षसां रुधिरक्लिन्नं बभूवायोधनं महत् ।
रथिनो वानरेन्द्राणां शरैः कालान्तकोपमैः ॥ १३ ॥

रणभूमि मरे हुए राक्षसों और जानवरों के रक्त से तर हो गयी । रथ में सवार राक्षस योद्धा काल के समान बाणों से ॥ १३ ॥

शिरांसि नदतां जहुः सहसा भीमनिःस्वनाः ।
वानराश्च महात्मनः समुत्पाट्य महाद्रुमान् ॥ १४ ॥

वानरों का नाश करके, भयङ्कर सिंहनाद करते थे । महाबलवान वानर भी बड़े बड़े वृक्ष उखाड़ उखाड़ कर, ॥ १४ ॥

रथानश्वान्गजानुष्ट्रान्राक्षसानभ्यसूदयन् ।
हनुमाञ्शैलशृङ्गाणि वृक्षांश्च विविधान्बहून् ।
ववर्ष कुम्भकर्णस्य शिरस्यम्बरमास्थितः ॥ १५ ॥

उनसे रथों, घोड़ों, हाथियों, ऊँटों और राक्षसों का नाश करते थे । उधर हनुमान जी भी आकाश में स्थित हो कुम्भकर्ण के सिर के ऊपर बहुत से और विविध प्रकार के वृक्ष तथा पर्वतशिखर बरसा रहे थे ॥ १५ ॥

तानि पर्वतशृङ्गाणि शूलेन स बिभेद ह ।
बभञ्ज वृक्षवर्षं च कुम्भकर्णो महाबलः ॥ १६ ॥

कुम्भकर्ण, हनुमान जी के फेंके हुए पर्वतशिखरों और वृक्षों को अपने शूल से चूर चूर कर डालता ॥ १६ ॥

ततो हरीणां तदनीकमुग्रं
दुद्राव शूलं निशितं प्रगृह्य ।
तस्थौ ततोऽस्यापततः पुरस्तान्
महीधराग्रं हनुमान्प्रगृह्य ॥ १७ ॥

तदनन्तर कुम्भकर्ण अपना प्रचण्ड और पैना शूल उठा कर वानरी सेना पर झपटा । यह देख, हनुमान जी ने एक बड़ा भारी पर्वत ले उसका सामना किया ॥ १७ ॥

स कुम्भकर्णं कुपितो जघान
वेगेन शैलोत्तमभीमकायम् ।
स चुक्षुभे तेन तदाऽभिभूतो
मेदार्द्रगात्रो रुधिरावसिक्तः ॥ १८ ॥

और क्रुद्ध हो वह पर्वतशृङ्ग खींच कर भीमकाय कुम्भकर्ण के मारा। उसकी चोट से वह घबड़ा गया और ख़ून और चर्बी से नहा उठा ॥ १८ ॥

स शूलमाविध्य तडित्प्रकाशं
गिरिं यथा प्रज्वलिताग्रशृङ्गम् ।
बाह्वन्तरे मारुतिमाजघान
गुहोऽचलं क्रौञ्चमिवोग्रशक्त्या ॥ १९ ॥

इस पर कुम्भकर्ण ने आग से जलते हुए पर्वत की तरह अथवा बिजली की तरह चमचमाता शूल घुमा कर, हनुमान जी की छाती में वैसे ही मारा; जैसे स्वामिकार्तिक ने अपनी शक्ति घुमा कर, क्रौंच पर्वत के मारी थी ॥ १९ ॥

स शूलनिर्भिन्नमहाभुजान्तरः
प्रविह्वलः शोणित मुद्वमन्मुखात् ।
ननाद भीमं हनुमान्महाहवे
युगान्तमेघस्तनितस्वनोपमम् ॥ २० ॥

विशाल छाती में उस शूल के लगने से हनुमान जी बहुत विह्वल हो गये। मुख से लोहू निकल पड़ा; किन्तु तिस पर भी वे उस महासमर में प्रलयकालीन मेघ की गर्जन की तरह भयङ्कर गर्जना करने लगे ॥ २० ॥

ततो विनेदुः सहसा प्रहृष्टा
रक्षोगणास्तं व्यथितं समीक्ष्य ।
प्लवङ्गमास्तु व्यथिता भयार्ताः
प्रदुद्रुवुः संयति कुम्भकर्णात् ॥ २१ ॥

हनुमान जी को अचानक व्यथित देख, राक्षस हर्षित हो हर्षनाद करने लगे और वानर भय से दुःखी हो, समरभूमि में कुम्भकर्ण के पास से भागने लगे ॥ २१ ॥

ततस्तु नीलो बलवान्पर्यवस्थापयन्बलम् ।
प्रविचिक्षेप शैलाग्रं कुम्भकर्णाय धीमते ॥ २२ ॥

तब बलवान नील ने वानरी सेना को थामा और बुद्धिमान कुम्भकर्ण के ऊपर एक पर्वतशिखर फैंका ॥ २२ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मुष्टिनाभिजघान ह ।
मुष्टिप्रहाराभिहतं तच्छैलाग्रं व्यशीर्यत ॥ २३ ॥

उस पर्वतशिखर को अपने ऊपर आते देख, कुम्भकर्ण ने उसमें मूँका मारा। वह पर्वतशिखर घूँसे के प्रहार से चूर चूर हो गया ॥ २३ ॥

सविस्फुलिङ्गं सज्वालं निपपात महीतले ।
ऋषभः शरभो नीलो गवाक्षो गन्धमादनः ॥ २४ ॥
पञ्च वानरशार्दूलाः कुम्भकर्णमुपाद्रवन् ।
शैलैर्वृक्षैस्तलैः पादैर्मुष्टिभिश्च महाबलाः ॥ २५ ॥

उसमें से चिनगारियाँ और ज्वाला निकली और वह भूमि पर गिर गया। तदनन्तर ऋषभ, शरभ, नील, गवाक्ष, गन्धमादन ने ॥ २४ ॥ २५ ॥

कुम्भकर्णं महाकायं सर्वतोऽभिप्रदुद्रुवुः ।
[1]स्पर्शानिव प्रहारांस्तान्वेदयानो न विव्यथे ॥ २६ ॥

महाकाय कुम्भकर्ण पर चारों ओर से आक्रमण किया; किन्तु इन पाँचों के प्रहारों से उसे वैसा ही सुख हुआ जैसा कि, वदन दवाने से होता है। उसे उनके प्रहारों से तिल भर भी पीड़ा न हुई ॥ २६ ॥

ऋषभं तु महावेगं बाहुभ्यां परिषस्वजे ।
कुम्भकर्णभुजाभ्यां तु पीडितो वानरर्षभः ॥ २७ ॥

कुम्भकर्ण ने ऋषभ को अपनी दोनों भुजाओं में पकड़ कर दवाया। कुम्भकर्ण द्वारा भुजाओं में दवाये जाने पर ऋषभ पीड़ित हुआ ॥ २७ ॥

निपपातर्षभो भीमः प्रमुखाद्वान्तशोणितः ।
मुष्टिना शरभं हत्वा जानुना नीलमाहवे ॥ २८ ॥

और उसी समय ऋषभ भूमि पर गिर पड़ा और उसके मुख से रुधिर की धार वहने लगी। इस युद्ध में मूँके से शरभ को और घुटने से नील को मार, ॥ २८ ॥

आजघान गवाक्षं तु तलेनेन्द्ररिपुस्तदा ।
पादेनाभ्यहनत्क्रुद्धस्तरसा गन्धमादनम् ॥ २९ ॥

इन्द्रशत्रु कुम्भकर्ण ने थप्पड़ से गवाक्ष को मारा। फिर उसने बड़े ज़ोर से लातों से गन्धमादन को मारा ॥ २९ ॥

---

1 स्पर्शानिव—सुखस्पर्शानिव। (गो०)

दत्तप्रहारव्यथिता मुमुहुः शोणितोक्षिताः ।
निपेतुस्ते तु मेदिन्यां निकृत्ता इव किंशुकाः ॥ ३० ॥

इन चोटों को खा कर वे पाँचों के पाँचों मूर्च्छित हो गये और उनके शरीरों से रक्त बहने लगा। वे पृथिवी पर वैसे ही पड़े हुए थे जैसे कटे हुए टेसू के (पुष्पित) वृक्ष पड़े हों ॥ ३० ॥

तेषु वानरमुख्येषु पतितेषु महात्मसु ।
वानराणां सहस्राणि कुम्भकर्णं प्रदुद्रुवुः ॥ ३१ ॥

इन महाबलवान वानरयूथपतियों के गिरने पर, हज़ारों वानर कुम्भकर्ण पर टूट पड़े ॥ ३१ ॥

तं शैलमिव शैलाभाः सर्वे ते प्लवगर्षभाः ।
समारुह्य समुत्पत्य ददंशुश्च महाबलाः ॥ ३२ ॥

पर्वताकार वानरश्रेष्ठ उछल उछल कर पर्वताकार शरीर वाले कुम्भकर्ण के शरीर पर चढ़, दाँतों से उसको काटने लगे ॥ ३२ ॥

तं नखैर्दशनैश्चापि मुष्टिभिर्जानुभिस्तथा ।
कुम्भकर्णं महाकायं ते जघ्नुः प्लवगर्षभाः ॥ ३३ ॥

वे वानरश्रेष्ठ विशाल शरीरधारी कुम्भकर्ण को नखों से नोंचते थे, दाँतों से काटते थे तथा घूँसों और घुटनों से मारते थे ॥३३॥

स वानरसहस्रैस्तैराचितः[1] पर्वतोपमः ।
रराज राक्षसव्याघ्रो गिरिरात्मरुहैरिव[2] ॥ ३४ ॥

उस समय पर्वताकार राक्षसश्रेष्ठ कुम्भकर्ण असंख्य वानरों के लिपट जाने से उसी प्रकार शोभायमान होने लगा, जिस प्रकार वृक्षों से पर्वत शोभायमान होता है ॥ ३४ ॥

---

१ आचितः—व्याप्तः । (गो०) २ आत्मरुहैः—वृक्षैः । (गो०)

बाहुभ्यां वानरान्सर्वान्प्रगृह्य सुमहाबलः ।
भक्षयामास संक्रुद्धो गरुडः पन्नगानिव ॥ ३५ ॥

अत्यन्त बलवान कुम्भकर्ण उन सब वानरों को भुजाओं से पकड़ पकड़ कर, उसी प्रकार खाने लगा, जिस प्रकार क्रुद्ध हुए गरुड़ जी साँपों को खाते हैं ॥ ३५ ॥

प्रक्षिप्ताः कुम्भकर्णेन वक्त्रे पातालसन्निभे ।
नासापुटाभ्यां निर्जग्मुः कर्णाभ्यां चैव वानराः ॥३६॥

पाताल की तरह कुम्भकर्ण के मुख में फेंके जाने पर वे वानर कुम्भकर्ण के नथनों और कानों में हो कर निकल आते थे ॥ ३६ ॥

भक्षयन्भृशसंक्रुद्धो हरीन्पर्वतसन्निभः ।
बभञ्ज वानरान्सर्वान्संक्रुद्धो राक्षसोत्तमः ॥ ३७ ॥

वह पर्वताकार राक्षसश्रेष्ठ अत्यन्त क्रुद्ध हो वानरों को भक्षण करता हुआ, समस्त वानरी सेना को नष्ट करने लगा ॥ ३७ ॥

मांसशोणितसंक्लेदां भूमिं कुर्वन्स राक्षसः ।
चचार हरिसैन्येषु कालाग्निरिव मूर्छितः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार राक्षस कुम्भकर्ण रणभूमि में माँस और रक्त की कीचड़ करता हुआ; प्रज्वलित कालाग्नि की तरह वानरी सेना में घूमने लगा ॥ ३८ ॥

वज्रहस्तो यथा शक्रः पाशहस्त इवान्तकः ।
शूलहस्तो बभौ संख्ये कुम्भकर्णो महाबलः ॥ ३९ ॥

जैसे हाथ में वज्र लिये इन्द्र और हाथ में फाँसी लिये यमराज देख पड़ें; वैसे ही समरभूमि में हाथ में शूल लिये हुए महाबली कुम्भकर्ण जान पड़ता था ॥ ३९ ॥

यथा शुष्कान्यरण्यानि ग्रीष्मे दहति पावकः ।
तथा वानरसैन्यानि कुम्भकर्णो विनिर्दहत् ॥ ४० ॥

ततस्ते वध्यमानास्तु हतयूथा [1]विनायकाः ।
वानरा भयसंविग्ना विनेदुर्विस्वरं भृशम् ॥ ४१ ॥

जब कुम्भकर्ण ने वानरों के अनेक यूथपतियों को मार डाला। तब विना नायक के कुम्भकर्ण द्वारा मारे जाते हुए, वे सब वानर भयभीत हो बड़ी ज़ोर से चिल्लाने लगे ॥ ४० ॥ ४१ ॥

अनेकशो वध्यमानाः कुम्भकर्णेन वानराः ।
राघवं शरणं जग्मुर्व्यथिताः खिन्नचेतसः ॥ ४२ ॥

कुम्भकर्ण ने जब बहुत से वानर मार डाले, तब बचे हुए वानर व्यथित और खिन्नमन हो श्रीरामचन्द्र जी के पास जा उनकी दुहाई देने लगे ॥ ४२ ॥

प्रभग्नान्वानरान्दृष्ट्वा वज्रहस्तसुतात्मजः ।
अभ्यधावत वेगेन कुम्भकर्णं महाहवे ॥ ४३ ॥

वानरों को भागते देख वालिपुत्र अङ्गद, उस महासमर में कुम्भकर्ण पर, बड़ी ज़ोर से दौड़े ॥४३॥

शैलशृङ्गं महद्गृह्य विनदंश्च मुहुर्मुहुः ।
त्रासयन्राक्षसान्सर्वान्कुम्भकर्णपदानुगान् ॥ ४४ ॥

---

१ विनायकाः—विगतनायकाः। (गो०)

उनके हाथ में एक पर्वतशिखर था और वे बार बार सिंहनाद कर, कुम्भकर्ण के साथ आयी हुई राक्षसों की समस्त पैदल सेना को त्रस्त कर रहे थे ॥ ४४ ॥

चिक्षेप शैलशिखरं कुम्भकर्णस्य मूर्धनि ।
स तेनाभिहतोऽत्यर्थं गिरिशृङ्गेण मूर्धनि ॥ ४५ ॥

अङ्गद ने वह पर्वतशिखर खींच कर कुम्भकर्ण के सिर में मारा। उस पर्वतशिखर के सिर में लगने से कुम्भकर्ण के सिर में बड़ी चोट लगी और ॥ ४५ ॥

कुम्भकर्णः प्रजज्वाल कोपेन महता तदा ।
सोऽभ्यधावत वेगेन वालिपुत्रममर्षणः ॥ ४६ ॥

तब कुम्भकर्ण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उस चोट को न सह, वह बड़े वेग से अङ्गद पर लपका ॥ ४६ ॥

कुम्भकर्णो महानादस्त्रासयन्सर्ववानरान् ।
शूलं ससर्ज वै रोषादङ्गदे स महाबलः ॥ ४७ ॥

महाबली कुम्भकर्ण ने बड़े ज़ोर से चिल्ला कर, समस्त वानरों को भयभीत कर दिया और रोष में भर अपने हाथ का शूल अङ्गद पर चलाया ॥ ४७ ॥

तमापतन्तं बुद्ध्वा तु युद्धमार्गविशारदः ।
लाघवान्मोचयामास बलवान्वानरर्षभः ॥ ४८ ॥

युद्धविद्या में निपुण, बलवान वानरश्रेष्ठ अङ्गद, उस शूल को अपने ऊपर आते देख, फुर्ती के साथ वहाँ से हट शूल का निशाना बचा गये ॥ ४८ ॥

उत्पत्य चैनं सहसा तलेनोरस्यताडयत् ।
स तेनाभिहतः कोपात्प्रमुमोहाचलोपमः ॥ ४९ ॥

और उछल कर एक लात कुम्भकर्ण की छाती में जमायी। उस लात के आघात से वह पर्वताकार शरीर वाला कुम्भकर्ण मूर्छित हो गया ॥ ४६ ॥

स लब्धसंज्ञो बलवान्मुष्टिमावर्त्य राक्षसः ।
*अपहस्तेन चिक्षेप विसंज्ञः स पपात ह ॥ ५० ॥

फिर कुछ देर बाद जब वह बलवान राक्षस सचेत हुआ, तब उसने बायें हाथ को मुट्ठी बांध, एक घूँसा अङ्गद के ऐसा मारा कि, वे मूर्छित हो गिर पड़े ॥ ५० ॥

तस्मिन्प्लवगशार्दूले विसंज्ञे पतिते भुवि ।
तच्छूलं समुपादाय सुग्रीवमभिदुद्रुवे ॥ ५१ ॥

अङ्गद के मूर्छित हो कर पृथिवी पर गिर जाने पर कुम्भकर्ण अपने शूल को उठा सुग्रीव के ऊपर लपका ॥ ५१ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य कुम्भकर्णं महाबलम् ।
उत्पपात तदा वीरः सुग्रीवो वानराधिपः ॥ ५२ ॥

महाबली कुम्भकर्ण को अपने ऊपर लपकते देख, वीर वानरराज सुग्रीव उछले ॥ ५२ ॥

पर्वताग्रं समुत्क्षिप्य समाविध्य महाकपिः ।
अभिदुद्राव वेगेन कुम्भकर्णं महाबलम् ॥ ५३ ॥

---

* पाठान्तरे—" अपहासेन ।"

और एक पर्वतशिखर उखाड़, सुग्रीव बड़े वेग से महाबली कुम्भकर्ण की ओर दौड़े ॥ ५३ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य कुम्भकर्णः प्लवङ्गमम् ।
तस्थौ विकृतसर्वाङ्गो वानरेन्द्रसमुन्मुखः[1] ॥ ५४ ॥

कुम्भकर्ण ने जब सुग्रीव को अपने ऊपर आक्रमण करने के लिये आते देखा, तब वह अकड़ कर, सुग्रीव के सामने खड़ा हो गया ॥ ५४ ॥

कपिशोणितदिग्धाङ्गं भक्षयन्तं प्लवङ्गमान् ।
कुम्भकर्णं स्थितं दृष्ट्वा सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५५ ॥

वानरों के लोहू से भींगे और वानरों को भक्षण करते हुए कुम्भकर्ण को अपने सामने खड़ा देख, सुग्रीव बोले ॥ ५५ ॥

पातिताश्च त्वया वीराः कृतं कर्म सुदुष्करम् ।
भक्षितानि च सैन्यानि प्राप्तं ते परमं यशः ॥ ५६ ॥

तूने मेरी सेना के बड़े बड़े वीरों को युद्ध में धराशायी कर वह काम किया है, जो दूसरा नहीं कर सकता और मेरी सेना के वानरों को खा कर, तूने बड़ी नामवरी पायी है ॥ ५६ ॥

त्यज तद्वानरानीकं प्राकृतैः किं करिष्यसि ।
सहस्वैकनिपातं मे पर्वतस्यास्य राक्षस ॥ ५७ ॥

सो अब तू युद्धविद्या में अनिपुण साधारण वानरों की सेना से युद्ध करना त्याग दे। क्योंकि उनके साथ लड़ कर तू क्या करेगा? हे राक्षस! अब तू मेरे इस पर्वत के प्रहार को सहने के लिये तैयार हो जा ॥ ५७ ॥

---

१ समुन्मुखः—अभिमुखः। (गो०)

तद्वाक्यं हरिराजस्य सत्त्वधैर्यसमन्वितम् ।
श्रुत्वा राक्षसशार्दूलः कुम्भकर्णोऽब्रवीद्वचः ॥ ५८ ॥

वानरराज सुग्रीव के इन वीरता एवं धैर्यतायुक्त वचनों को सुन, राक्षसश्रेष्ठ कुम्भकर्ण उत्तर देते हुए कहने लगा ॥ ५८ ॥

प्रजापतेस्तु पौत्रस्त्वं तथैवर्क्षरजःसुतः ।
श्रुतपौरुषसम्पन्नः तस्माद्गर्जसि वानर ॥ ५९ ॥

अरे वानर ! तू प्रजापति का पौत्र और ऋक्षराजा का पुत्र है । तू एक प्रसिद्ध पुरुषार्थी है, इसीसे तो तू गरज रहा है ॥ ५९ ॥

स कुम्भकर्णस्य वचो निशम्य
व्याविध्य शैलं सहसा मुमोच ।
तेनाजघानोरसि कुम्भकर्णं
शैलेन वज्राशनिसन्निभेन ॥ ६० ॥

कुम्भकर्ण के इन वचनों को सुन, सुग्रीव ने वह पर्वतशिखर घुमा कर अचानचक छोड़ दिया । वज्र के समान पर्वतशिखर कुम्भकर्ण की छाती में लगा ॥ ६० ॥

तच्छैलशृङ्गं सहसा *विकीर्णं
भुजान्तरे तस्य तदा विशाले ।
ततो विषेदुः सहसा प्लवङ्गा
रक्षोगणाश्चापि मुदा विनेदुः ॥ ६१ ॥

कुम्भकर्ण की विशाल छाती से टकरा, उस पर्वत शिखर के टुकड़े टुकड़े हो कर छितरा गये । यह देख वानरों को दुःख हुआ और राक्षस लोग प्रसन्न हो हर्षनाद करने लगे ॥ ६१ ॥

---

* पाठान्तरे—"विशीर्णम् ।"

स शैलशृङ्गाभिहतश्चुकोप
ननाद कोपाच्च विवृत्य वक्त्रम् ।
व्याविध्य शूलं च तडित्प्रकाशं
चिक्षेप हर्यृक्षपतेर्वधाय ॥ ६२ ॥

कुम्भकर्ण पर्वत के आघात से कुपित हुआ और कुपित हो वह मुँह बाये हुए गरजा। फिर उसने वानरराज सुग्रीव को मार डालने के लिये बिजली की तरह चमचमाता शूल घुमा कर उनके ऊपर छोड़ा ॥ ६२ ॥

तत्कुम्भकर्णस्य भुजप्रविद्धं
शूलं शितं *काञ्चनदामजुष्टम् ।
क्षिप्रं समुत्पत्य निगृह्य दोर्भ्यां
बभञ्ज वेगेन सुतोऽनिलस्य ॥ ६३ ॥

कुम्भकर्ण के हाथों से फेंके हुए उस पैने और सुवर्णभूषित शूल को हनुमान जी ने उछल कर बीच ही में पकड़ लिया और तोड़ डाला ॥ ६३ ॥

कृतं भारसहस्रस्य शूलं कालायसं महत् ।
बभञ्ज जानुन्यारोप्य प्रहृष्टः प्लवगर्षभः ॥ ६४ ॥

उस हज़ार मन भारी लोहे के बने हुए बड़े शूल को हनुमान जी ने अपने घुटने पर रख तोड़ डाला और उसे तोड़ वे परम प्रसन्न हुए ॥ ६४ ॥

शूलं भग्नं हनुमता दृष्ट्वा वानरवाहिनी ।
हृष्टा ननाद बहुशः सर्वतश्चापि दुद्रुवे ॥ ६५ ॥

---

* पाठान्तरे—"काञ्चनधामजुष्टम् ।"

हनुमान द्वारा उस शूल का तोड़ा जाना देख, वानरी सेना ने प्रसन्न हो, बड़ा हर्षनाद किया और वह चारों ओर से आगे बढ़ी ॥ ६५ ॥

[बभूवाथ परित्रस्तो राक्षसो विमुखोऽभवत् ।]
सिंहनादं च ते चक्रुः प्रहृष्टा वनगोचराः ।
मारुतिं पूजयाञ्चक्रुर्दृष्ट्वा शूलं तथागतम् ॥ ६६ ॥

और राक्षसों की सेना डर कर युद्ध छोड़ भागी। तब तो अत्यन्त प्रसन्न हो वानरों ने सिंहनाद किया और शूल को टूटा हुआ देख, उन सब ने पवननन्दन हनुमान जी की बड़ी प्रशंसा की ॥ ६६ ॥

स तत्तदा भग्नमवेक्ष्य शूलं
चुकोप रक्षोधिपतिर्महात्मा ।
उत्पाट्य लङ्कामलयात्स शृङ्गं
जघान सुग्रीवमुपेत्य तेन ॥ ६७ ॥

तदनन्तर महाबलवान राक्षसश्रेष्ठ वह कुम्भकर्ण अपने शूल को टूटा हुआ देख, बड़ा कुपित हुआ और लङ्का के समीप खड़े मलयाचल का एक शृङ्ग उखाड़ और सुग्रीव के समीप जा, वह शृङ्ग सुग्रीव के मारा ॥ ६७ ॥

स शैलशृङ्गाभिहतो विसंज्ञः
पपात भूमौ युधि वानरेन्द्रः ।
तं प्रेक्ष्य भूमौ पतितं विसंज्ञं
नेदुः प्रहृष्टास्त्वथ यातुधानाः ॥ ६८ ॥

उस लड़ाई में उस शैलशृङ्ग की चोट से मूर्छित हो वानरराज सुग्रीव पृथिवी पर गिर पड़े। उनको मूर्छित हो पृथिवी पर गिरा हुआ देख, राक्षस हर्षित हो हर्षनाद करने लगे ॥ ६८ ॥

तमभ्युपेत्याद्भुतघोरवीर्यं
स कुम्भकर्णो युधि वानरेन्द्रम् ।
जहार सुग्रीवमभिप्रगृह्य
यथानिलो मेघमतिप्रचण्डः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार अद्भुत और भयङ्कर बल वाले वानरराज सुग्रीव को युद्ध में परास्त कर, उसने फिर उन्हें दोनों हाथों से उठा लिया। जब कुम्भकर्ण सुग्रीव को उठा कर चला, तब ऐसा जान पड़ा, मानों प्रचण्ड पवन बादलों को उड़ाये लिये जाता हो ॥ ६९ ॥

स तं महामेघनिकाशरूपम्
उत्पाट्य गच्छन्युधि कुम्भकर्णः ।
रराज मेरुप्रतिमानरूपो
मेरुर्यथाभ्युच्छ्रितघोरशृङ्गः ॥ ७० ॥

उस समय सुमेरु पर्वत के समान शरीर वाला कुम्भकर्ण, एक बड़े भारी मेघ के समान सुग्रीव को पकड़ कर, बड़े ऊँचे शिखरों से युक्त एवं चलते हुए मेरुपर्वत की तरह शोभायमान होने लगा ॥७०॥

ततस्तमुत्पाट्य जगाम वीरः
संस्तूयमानो युधि राक्षसेन्द्रैः ।
शृण्वन्निनादं त्रिदशालयानां
प्लवङ्गराजग्रहविस्मितानाम् ॥ ७१ ॥

वानरराज सुग्रीव को उठा कर, वीर कुम्भकर्ण समरभूमि में राक्षसों द्वारा प्रशंसित हो, तथा वानरराज के पकड़े जाने से विस्मित देवताओं का हाहाकार सुनता हुआ, लङ्का की ओर चला ॥ ७१ ॥

ततस्तमादाय तदा स मेने
हरीन्द्रमिन्द्रोपममिन्द्रवीर्यः ।
अस्मिन्हृते सर्वमिदं हृतं स्यात्
सराघवं सैन्यमितीन्द्रशत्रुः ॥ ७२ ॥

इन्द्रशत्रु कुम्भकर्ण, इन्द्र के समान पराक्रमी सुग्रीव को लिये हुए अपने मन में समझ रहा था कि, सुग्रीव के मारे जाने से श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण एवं साथी वानरों सहित मरे हुओं के समान हैं ॥ ७२ ॥

विद्रुतां वाहिनीं दृष्ट्वा वानराणां ततस्ततः ।
कुम्भकर्णेन सुग्रीवं गृहीतं चापि वानरम् ॥ ७३ ॥

वानरों की सेना को इधर उधर भागते हुए तथा वानरराज सुग्रीव को कुम्भकर्ण द्वारा पकड़ा हुआ देख, ॥ ७३ ॥

हनुमांश्चिन्तयामास मतिमान्मारुतात्मजः ।
एवं गृहीते सुग्रीवे किं कर्तव्यं मया भवेत् ॥ ७४ ॥

बुद्धिमान पवननन्दन हनुमान जी ने विचारा कि, इस प्रकार सुग्रीव के पकड़े जाने पर मुझे अब क्या करना चाहिये ॥ ७४ ॥

यद्वै न्याय्यं मया कर्तुं तत्करिष्यामि सर्वथा ।
भूत्वा पर्वतसङ्काशो नाशयिष्यामि राक्षसम् ॥ ७५ ॥

इस समय जो कुछ मुझे करना उचित है, उसे मैं निश्चय ही करूँगा। मैं पर्वताकार शरीर धारण कर, इस राक्षस कुम्भकर्ण का वध करूँगा ॥ ७५ ॥

मया हते संयति कुम्भकर्णे
महाबले मुष्टिविकीर्णदेहे ।
विमोचिते वानरपार्थिवे च
भवन्तु हृष्टाः प्लवगाः समस्ताः ॥ ७६ ॥

मैं जब युद्ध में कुम्भकर्ण को मूँके मार मार गिरा दूँगा, तब यह अपने आप ही वानरराज सुग्रीव को छोड़ देगा और सुग्रीव को छुटा हुआ देख, समस्त वानर अत्यन्त हर्षित हो जायँगे ॥ ७६ ॥

अथवा स्वयमप्येष मोक्षं प्राप्स्यति पार्थिवः ।
गृहीतोऽयं यदि भवेत्त्रिदशैः सासुरोरगैः ॥ ७७ ॥

अथवा मैं सुग्रीव को छुड़ाने के लिये प्रयत्न क्यों करूँ? वानर-राज सुग्रीव स्वयं ही छूट कर चले आवेंगे। चाहे वे देवताओं, दैत्यों अथवा नागों ही से क्यों न पकड़े जांय ॥ ७७ ॥

मन्ये न तावदात्मानं बुध्यते वानराधिपः ।
शैलप्रहाराभिहतः कुम्भकर्णेन संयुगे ॥ ७८ ॥

तो भी वे सचेत होने पर अपने को अपने आप छुड़ा लेंगे। ऐसा जान पड़ता है कि, युद्ध में कुम्भकर्ण के प्रहार से वे बहुत चोटिल हो कर, मूर्च्छित हो गये हैं ॥ ७८ ॥

अयं मुहूर्तात्सुग्रीवो लब्धसंज्ञो महाहवे ।
आत्मनो वानराणां च यत्पथ्यं तत्करिष्यति ॥ ७९ ॥

सो कुछ देर बाद जब वे सचेत हो जाँयगे, तब वे अपनी तथा वानरों की भलाई के लिये जो उचित समझेंगे वह स्वयं करेंगे ॥७९॥

मया तु मोक्षितस्यास्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
अप्रीतिश्च भवेत्कष्टा कीर्तिनाशश्च शाश्वतः ॥ ८० ॥

यदि मैं उन महाबलवान सुग्रीव के छुड़ा लूँगा, तो यह बात उनको केवल बुरी ही न लगेगी, किन्तु इससे उनको बड़ा कष्ट होगा और उनकी कीर्ति भी सदा के लिये नष्ट हो जायगी ॥ ८० ॥

तस्मान्मुहूर्तं काङ्क्षिष्ये विक्रमं पार्थिवस्य नः ।
भिन्नं च वानरानीकं तावदाश्वासयाम्यहम् ॥ ८१ ॥

अतएव हम लोगों को कुछ देर तक प्रतीक्षा कर, वानरराज के पराक्रम का चमत्कार देख लेना उचित है। इतने में मैं तितिर बितिर हुई वानरी सेना के धीरज बँधाऊँ ॥ ८१ ॥

इत्येवं चिन्तयित्वा तु हनुमान्मारुतात्मजः ।
भूयः संस्तम्भयामास वानराणां महाचमूम् ॥ ८२ ॥

यह विचार पवननन्दन हनुमान जी ने महती वानरी सेना को धैर्य बँधा, पुनः रोका ॥ ८२ ॥

स कुम्भकर्णोऽथ विवेश लङ्कां
स्फुरन्तमादाय महाकपिं तम् ।
विमानचर्यागृहगोपुरस्थैः
[1]पुष्पाग्र्यवर्षैरवकीर्यमाणः ॥ ८३ ॥

---

१ पुष्पाग्र्यवर्षैः—श्लाघ्यपुष्पवृष्टिभिः । (गो०)

उधर कुम्भकर्ण तड़फड़ाते सुग्रीव को पकड़े हुए लङ्का में पहुँचा। वहाँ अटारियों के राजमार्गों के दोनों ओर के मकानों में रहने वाले तथा फाटकों पर रहने वाले राक्षसों ने कुम्भकर्ण के ऊपर अच्छे अच्छे पुष्पों की वर्षा की ॥ ८३ ॥

लाजगन्धोदवर्षैस्तु सिच्यमानः शनैः शनैः।
राजमार्गस्य शीतत्वात्संज्ञामाप महाबलः ॥ ८४ ॥

अक्षत चन्दन युक्त जल की मन्द मन्द फुहार से तथा जल से सींचे हुए राजमार्ग की तरावट पहुँचने पर, महाबली सुग्रीव की मूर्छा भङ्ग हुई ॥ ८४ ॥

ततः स संज्ञामुपलभ्य कृच्छ्राद्
बलीयसस्तस्य भुजान्तरस्थः।
अवेक्षमाणः पुरराजमार्गं
विचिन्तयामास मुहुर्महात्मा ॥ ८५ ॥

इस प्रकार महाबलवान सुग्रीव, अत्यन्त कष्ट से सचेत हो और अपने को लङ्का के राजमार्ग पर महाबलवान कुम्भकर्ण की काँख में दबा हुआ पा कर, बार बार विचारने लगे ॥ ८५ ॥

एवं गृहीतेन कथं नु नाम
शक्यं मया सम्प्रतिकर्तुमद्य।
तथा करिष्यामि यथा हरीणां
भविष्यतीष्टं च हितं च कार्यम् ॥ ८६ ॥

इसने मुझे पकड़ रखा है सो इस समय मुझे क्या उपाय करना चाहिये, जिसके करने से मेरा इष्ट साधन हो और वानरों की भलाई हो ॥ ८६ ॥

ततः कराग्रैः सहसा समेत्य
राजा हरीणाममरेन्द्रशत्रुम् ।
खरैश्च कर्णौ दशनैश्च नासां
ददंश पार्श्वेषु च कुम्भकर्णम् ॥ ८७ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीव ने देवताओं के शत्रु कुम्भकर्ण की काँख से निकल, झटपट अपने पैने नखों और दाँतों से कुम्भकर्ण की नाक और कान काट डाले और दाँतों से उसकी दोनों कोखें चीर डालीं ॥ ८७ ॥

स कुम्भकर्णो हृतकर्णनासो
विदारितस्तेन विमर्दितश्च ।
रोषाभिभूतः क्षतजार्द्रगात्रः
सुग्रीवमाविध्य पिपेष भूमौ ॥ ८८ ॥

उस समय नाक और कानों के कट जाने से, नखों तथा दाँतों से विदीर्ण होने के कारण पीड़ित होने से, तथा सारा अंग रक्त से तर हो जाने से, कुम्भकर्ण ने अत्यन्त क्रोध में भर, सुग्रीव को घुमा कर भूमि पर पटक दिया और उनको रगड़ा ॥ ८८ ॥

स भूतले भीमबलाभिपिष्टः
सुरारिभिस्तैरभिहन्यमानः ।
जगाम खं वेगवदभ्युपेत्य
पुनश्च रामेण समाजगाम ॥ ८९ ॥

भूमि के ऊपर कुम्भकर्ण द्वारा बड़े ज़ोर से रगड़े जाने पर और असुरशत्रु राक्षसों द्वारा मारे जाने पर भी, सुग्रीव बड़े वेग से उछल

कर ऊपर आकाश में जा पहुँचे और वहाँ से वे फिर श्रीरामचन्द्र जी के पास चले गये ॥ ८६ ॥

कर्णनासाविहीनस्तु कुम्भकर्णो महाबलः ।
रराज शोणितैः सिक्तो गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ९० ॥

उस समय नकटे और बूचे कुम्भकर्ण के शरीर से वैसे ही खून बह रहा था; जैसे पहाड़ से पानी का झरना बहता है ॥ ६० ॥

शोणितार्द्रो महाकायो राक्षसो भीमविक्रमः ।
युद्धायाभिमुखो भूयो मनश्चक्रे महाबलः ॥ ९१ ॥

वह महाबलवान भीमपराक्रमी और महाकाय कुम्भकर्ण रुधिर से तर होने पर भी, समरभूमि में जाने को फिर तैयार हुआ ॥६१॥

अमर्षाच्छोणितोद्गारी शुशुभे रावणानुजः ।
नीलाञ्जनचयप्रख्यः ससन्ध्य इव तोयदः ॥ ९२ ॥

डाही और रक्त उगलता हुआ रावण का छोटा भाई कुम्भकर्ण उस समय ऐसा शोभायमान हुआ जैसा काजल का ढेर अथवा सन्ध्याकालीन मेघ शोभित होता है ॥ ६२ ॥

गते तु तस्मिन्सुरराजशत्रुः
क्रोधात्प्रदुद्राव रणाय भूयः ।
अनायुधोऽस्मीति विचिन्त्य रौद्रो
घोरं तदा मुद्गरमाससाद ॥ ९३ ॥

वानरराज सुग्रीव के चले जाने पर इन्द्रशत्रु भयङ्कर मूर्ति वाला कुम्भकर्ण, क्रोध में भर पुनः समरभूमि की ओर दौड़ा और अपने हाथ में कोई शस्त्र न देख, उसने एक बड़ा भयङ्कर मुगद्र ले लिये ॥६३॥

ततः स पुर्याः सहसा महौजा
निष्क्रम्य तद्वानरसैन्यमुग्रम् ।
[तेनैव रूपेण बभञ्ज रुष्टः
प्रहारमुष्ट्या च पदेन सद्यः] ॥ ९४ ॥

वह महाबलवान कुम्भकर्ण सहसा लङ्कापुरी के बाहिर जा और क्रोध में भर तुरन्त वानरी सेना को पहिले की तरह घूँसों और लातों के प्रहार से नष्ट करने लगा ॥ ९४ ॥

बभक्ष रक्षो युधि कुम्भकर्णः
प्रजा युगान्ताग्निरिव प्रदीप्तः ।
बुभुक्षितः शोणितमांसगृध्नुः
प्रविश्य तद्वानरसैन्यमुग्रम् ॥ ९५ ॥

जिस प्रकार प्रलय का प्रदीप्त अग्नि प्रजाजनों को जला कर भस्म कर डालता है, उसी प्रकार माँस रुधिर का भूखा राक्षस कुम्भकर्ण समरभूमि में जा और प्रचण्ड वानरी सेना में घुस वानरों का नाश करने लगा ॥ ९५ ॥

चखाद रक्षांसि हरीन्पिशाचान्
ऋक्षांश्च मोहाद्युधि कुम्भकर्णः ।
यथैव मृत्युर्हरते युगान्ते
स भक्षयामास हरींश्च मुख्यान् ॥ ९६ ॥

उस समय कुम्भकर्ण क्रोध से ऐसा मतवाला हो रहा था कि, उसे अपना पराया नहीं सूझ पड़ता था । इसीसे उसने केवल वानरों ही को नहीं; प्रत्युत राक्षस, पिशाच, भालू, जो कोई समरभूमि

में उसके सामने पड़ता उसीको पकड़ कर खा जाता था। जिस प्रकार युग के अन्त में प्रलयकाल उपस्थित होने पर, मृत्युदेव प्रजा का नाश करते हैं, उसी प्रकार वह बड़े बड़े वानरों को खाने लगा ॥९६॥

एकं *द्वौ त्रीन्बहून्क्रुद्धो वानरान्सह राक्षसैः।
समादायैकहस्तेन प्रचिक्षेप त्वरन्मुखे ॥ ९७ ॥

वह एक, दो, तीन अथवा बहुत से वानरों और राक्षसों को (जो सामने पड़ते) एक हाथ में पकड़, एक साथ जल्दी से मुँह में छोड़ लेता था ॥ ९७ ॥

[1]संप्रस्रवंस्तदा मेदः शोणितं च महाबलः।
वध्यमानो नगेन्द्राग्रैर्भक्षयामास वानरान् ॥ ९८ ॥

खाये हुए वानरों और राक्षसों आदि की चर्बी और रुधिर को वह बीच बीच में उगलता जाता था। उधर वीर वानर बड़े बड़े शिखरों और पेड़ों से उसे मार रहे थे। तो भी वह खाता ही जाता था ॥ ९८ ॥

ते भक्ष्यमाणा हरयो रामं जग्मुस्तदा [2]गतिम्।
कुम्भकर्णो भृशं क्रुद्धः कपीन्खादन्प्रधावति ॥ ९९ ॥

जब वह वानरों को इस प्रकार खाने लगा; तब वानर श्रीरामचन्द्र के शरण में गये और बोले—महाराज! कुम्भकर्ण अत्यन्त कुपित हो वानरों को खाता हुआ रणभूमि में दौड़ रहा है ॥ ९९ ॥

शतानि सप्त चाष्टौ च विंशत्त्रिंशत्तथैव च।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां खादन्विपरिधावति ॥ १०० ॥

---

१ संप्रस्रवन—तालुभ्यां बहिर्गमन। (गो०) २ गतिम्—शरणं। (गो०)
* पाठान्तरे—"द्वे।"

वह सात, आठ, बीस, तीस और कभी कभी सौ वानरों को हाथों से पकड़ पकड़ कर खा जाता है और समरभूमि में दौड़ता फिरता है ॥ १०० ॥

[मेदोवसाशोणितदिग्धगात्रः
कर्णावसक्तग्रथितान्त्रमालः ।
ववर्ष शूलानि सतीक्ष्णदंष्ट्रः
कालो युगान्ताग्निरिव प्रवृद्धः] ॥ १०१ ॥

वह चर्बी और रुधिर से नहा उठा है। उसके कानों पर अँत-ड़ियाँ लटक रही हैं। तो भी तीक्ष्ण दाँतों वाला कुम्भकर्ण वानरों को शूल की मार से उसी तरह नाश कर रहा है, जिस तरह युग के अन्त में प्रलय का समय उपस्थित होने पर, प्रज्वलित अथवा बढ़ा हुआ अग्नि प्रजा का नाश करता है ॥ १०१ ॥

तस्मिन्काले सुमित्रायाः पुत्रः परबलार्दनः ।
चकार लक्ष्मणः क्रुद्धो युद्धं परपुरञ्जयः ॥ १०२ ॥

तब तो गोह के चर्म के बने दस्ताने पहिन शत्रु की सेना को मर्दन तथा शत्रु के पुर को जीतने वाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण, कुपित हो युद्ध करने लगे ॥ १०२ ॥

स कुम्भकर्णस्य शराञ्शरीरे सप्त वीर्यवान् ।
निचखानाददे बाणान्विससर्ज च लक्ष्मणः ॥ १०३ ॥
[पीड्यमानस्तदस्त्रं तु विशेषं तत्स राक्षसः ।
ततश्चुकोप बलवान्सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ १०४ ॥

बलवान लक्ष्मण ने कुम्भकर्ण के सात बाण मार कर और भी बाण निकाल उसके ऊपर छोड़े उन शस्त्रों के प्रहार से कुम्भकर्ण

पीड़ित हुआ और उन बाणों को हाथों से खींच तथा तोड़ कर फेंक दिया। तब तो बलवान सुमित्रानन्दन अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥१०३॥१०४॥

अथास्य कवचं शुभ्रं जाम्बूनदमयं शुभम्।
प्रच्छादयामास शरैः सन्ध्याभ्रैरिव मारुतः ॥१०५॥

और उसके सोने के बने और चमचमाते कवच को बाणों से ऐसे ढक दिया; जैसे सन्ध्याकालीन मेघ को पवन घेर लेता है ॥१०५॥

नीलाञ्जनचयप्रख्यैः शरैः काञ्चनभूषणैः।
आपीड्यमानः शुशुभे मेघैः सूर्य इवांशुमान् ॥१०६॥

काजल के ढेर की तरह कुम्भकर्ण के काले शरीर में ऊपर से नीचे तक भिदे हुए सुवर्णभूषित तीर वैसे ही शोभित जान पड़ते थे, जैसे बादलों से ढके सूर्य ॥ १०६ ॥

ततः स राक्षसो भीमः सुमित्रानन्दवर्धनम्।
सावज्ञमेवं प्रोवाच वाक्यं मेघौघनिःस्वनम् ॥१०७॥

तब वह भयङ्कर राक्षस कुम्भकर्ण सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी से, उनका तिरस्कार करता हुआ, मेघ के समान गर्ज कर बोला ॥१०७॥

अन्तकस्यापि क्रुद्धस्य भयदातारमाहवे।
युध्यता मामभीतेन ख्यापिता वीरता त्वया ॥१०८॥

युद्ध में क्रुद्ध काल तक को भयभीत करने वाले मुझ निर्भीक के साथ युद्ध कर, तुमने अपनी वीरता प्रसिद्ध कर दी ॥ १०८ ॥

प्रगृहीतायुधस्येव मृत्योरिव महामृधे।
तिष्ठन्नप्यग्रतः पूज्यः को मे युद्धप्रदायकः ॥१०९॥

जब मैं आयुध हाथ में ले साक्षात् काल की तरह समरभूमि में आता हूँ, तब मेरे सामने जो खड़ा भी रहे, वह भी प्रशंसा का पात्र है, मेरे साथ लड़ने वाले की तो बात ही क्या है ॥ १०९ ॥

ऐरावतगजारूढो वृतः सर्वामरैः प्रभुः ।
नैव शक्रोऽपि समरे स्थितपूर्वः कदाचन ॥११०॥

ऐरावत गज पर चढ़े और समस्त देवताओं को साथ लिये महाराज इन्द्र भी आज तक कभी युद्ध में मेरे सामने खड़े नहीं रह सके ॥ ११० ॥

अद्य त्वयाऽहं सौमित्रे बालेनापि पराक्रमैः ॥१११॥

पर, हे सुमित्रानन्दन ! तुमने बालक होने पर भी आज अपने बल एवं पराक्रम से ॥ १११ ॥

तोषितो गन्तुमिच्छामि त्वामनुज्ञाप्य राघवम् ।
सत्वधैर्यबलोत्साहैस्तोषितोऽहं रणे त्वया ॥११२॥

मुझे सन्तुष्ट कर दिया है । अतः मैं तुम्हारी अनुमति ले कर, रामचन्द्र जी के पास जाना चाहता हूँ । समर में तुमने मुझे अपने वीर्य, धैर्य, बल और उत्साह से सन्तुष्ट कर दिया ॥ ११२ ॥

राममेवैकमिच्छामि हन्तुं यस्मिन्हते हतम् ।
रामे मया चेन्निहते येऽन्ये स्थास्यन्ति संयुगे ॥११३॥

मैं तो अब अकेले रामचन्द्र ही को मारना चाहता हूँ—क्योंकि उनके मारे जाने पर आप ही सब मरे हुए के समान हो जाँयगे। यदि मैंने राम को मार डाला, तो और जो कोई युद्ध में मेरा सामना करेंगे ॥ ११३ ॥

तानहं योधयिष्यामि स्वबलेन प्रमाथिना ।
इत्युक्तवाक्यं तद्रक्षः प्रोवाच स्तुतिसंहितम् ॥११४॥
मृधे घोरतरं वाक्यं सौमित्रिः प्रहसन्निव ।
यस्त्वं शक्रादिभिर्देवैरसह्यं प्राह पौरुषम् ॥११५॥
तत्सत्यं नान्यथा वीर दृष्टस्तेऽद्य पराक्रमः ।
एष दाशरथी रामस्तिष्ठत्यद्रिरिवापरः ॥११६॥

उनको मैं शत्रु को मथन करने वाली अपनी सेना के साथ लड़वाऊँगा। जब कुम्भकर्ण ने प्रशंसायुक्त ये चुभती हुई बातें कहीं; तब लक्ष्मण जी ने मुसक्या कर उत्तर देते हुए कहा—हे वीर! तुम्हारा यह कथन कि, तुममें ऐसा पुरुषार्थ है कि, समस्त देवताओं सहित इन्द्र भी तुम्हारा सामना नहीं कर सकते—सत्य है, झूठ नहीं है। क्योंकि आज मैंने स्वयं तुम्हारा पराक्रम देखा है। देखो, एक दूसरे पर्वत की तरह अचल अटल दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी खड़े हैं ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

मनोरथो रात्रिचर तत्समीपे भविष्यति ।
इति श्रुत्वा ह्यनादृत्य लक्ष्मणं स निशाचरः] ॥११७॥
अतिक्रम्य च सौमित्रिं कुम्भकर्णो महाबलः ।
राममेवाभिदुद्राव दारयन्निव मेदिनीम् ॥११८॥

हे निशाचर! तुम्हारा मनोरथ उनके द्वारा पूर्ण हो जायगा। यह सुन और लक्ष्मण को अनादर पूर्वक वहीं छोड़, महाबली कुम्भकर्ण श्रीरामचन्द्र जी की ओर धरती को कँपाता हुआ दौड़ा ॥ ११७ ॥ ११८ ॥

अथ दाशरथी रामो रौद्रमस्त्रं प्रयोजयन् ।
कुम्भकर्णस्य हृदये ससर्ज निशिताञ्शरान् ॥११९॥

तव श्रीरामचन्द्र जी ने कुम्भकर्ण पर रौद्रास्त्र का प्रयोग कर, उसके हृदय में बड़े पैने पैने बाण मारे ॥ ११९ ॥

तस्य रामेण विद्धस्य सहसाभिप्रधावतः ।
अङ्गारमिश्राः क्रुद्धस्य मुखान्निश्चेरुरर्चिषः ॥१२०॥

श्रीरामचन्द्र जी के द्वारा बाणों से वेधा जा कर भी कुम्भकर्ण उनकी ओर बड़े वेग से आया। उस समय मारे क्रोध के उसके मुख से चिनगारियाँ निकल रही थीं ॥ १२० ॥

रामास्त्रविद्धो घोरं वै नदन्राक्षसपुङ्गवः ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो हरीन्विद्रावयन्रणे ॥१२१॥

श्रीराम जी के चलाये रौद्रास्त्र के लगने पर, कुम्भकर्ण ने भयङ्कर चीत्कार किया और वह अत्यन्त क्रुद्ध हो वानरों को खदेड़ता हुआ रणक्षेत्र में दौड़ने लगा ॥ १२१ ॥

तस्योरसि निमग्नाश्च शरा बर्हिणवाससः ।
[रेजुर्नीलाद्रिकटके नृत्यन्त इव बर्हिणः] ॥१२२॥

मोर के पंख युक्त बाण उसकी छाती में विधे हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों नीलाद्रि (नीलगिरि) पर्वत पर मोर नाच रहे हों ॥ १२२ ॥

हस्ताच्चापि परिभ्रष्टा पपातोर्व्यां महागदा ।
आयुधानि च सर्वाणि विप्राकीर्यन्त भूतले ॥१२३॥

उन बाणों की चोट से कुम्भकर्ण ऐसा व्यथित हुआ कि, उसके हाथ से उसकी बड़ी भारी गदा छूट कर पृथिवी पर गिर पड़ी। गदा के अतिरिक्त उसके हाथ में और जो आयुध (हथियार) थे, वे सब भी पृथिवी पर बिखर गये ॥ १२३ ॥

स निरायुधमात्मानं यदा मेने महाबलः ।
मुष्टिभ्यां चरणाभ्यां च चकार कदनं महत् ॥१२४॥

जब उस महाबली ने अपने को निरायुध देखा, तब उसने घूँसों और लातों से वानरी सेना का संहार करना आरम्भ किया ॥१२४॥

स बाणैरतिविद्धाङ्गः क्षतजेन समुक्षितः ।
रुधिरं प्रतिसुस्राव गिरिः प्रस्रवणं यथा ॥१२५॥

श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से उसका सारा शरीर बिध कर क्षत-विक्षत हो गया। उसके शरीर से लोहू वैसे ही टपकने लगा, जैसे पहाड़ से जल चूता है ॥ १२५ ॥

स तीव्रेण च कोपेन रुधिरेण च मूर्छितः ।
वानरान्राक्षसानृक्षान्खादन्विपरिधावति ॥१२६॥

शरीर से बहुत सा रक्त बह जाने के कारण तथा अत्यन्त क्रुद्ध होने से वह अपने होश में न था —अतः वह वानरों, राक्षसों और रीछों को भक्षण करता हुआ, रणभूमि में दौड़ रहा था ॥ १२६ ॥

अथ शृङ्गं समाविध्य भीमं भीमपराक्रमः ।
चिक्षेप राममुद्दिश्य बलवानन्तकोपमः ॥१२७॥

उस बलवान भीमपराक्रमी और काल के समान कुम्भकर्ण ने एक बड़ा भारी पर्वतशृङ्ग श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्य कर फेंका ॥१२७॥

अप्राप्तमन्तरा रामः सप्तभिस्तैरजिह्मगैः ।
शरैः काञ्चनचित्राङ्गैश्चिच्छेद पुरुषर्षभः ॥१२८॥

पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी के पास वह पर्वतशिखर पहुँचने भी न पाया था कि, उन्होंने बीच ही में सीधे जाने वाले और सुवर्ण-भूषित बाणों से उस पर्वतशृङ्ग को चूर चूर कर डाला ॥ १२८ ॥

तन्मेरुशिखराकारं द्योतमानमिव श्रिया ।
द्वे शते वानरेन्द्राणां पतमानमपातयत् ॥१२९॥

अपनी कान्ति से मेरु पर्वत की तरह प्रकाशमान वह पर्वतशृङ्ग चूर चूर होकर नीचे गिरा तो; किन्तु उसकी चूर से दब कर दो सौ बड़े बड़े वानर मर गये ॥ १२९ ॥

तस्मिन्काले स धर्मात्मा लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
कुम्भकर्णवधे युक्तो [1]योगान्परिमृशन्बहून् ॥१३०॥

उस समय कुम्भकर्ण के वध के लिये अनेक उपायों को विचारते हुए लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १३० ॥

नैवायं वानरान्राजन्नापि जानाति राक्षसान् ।
मत्तः शोणितगन्धेन स्वान्परांश्चैव खादति ॥१३१॥

हे राजन्! रक्त की गन्ध से कुम्भकर्ण अपने आपे में न होने के कारण, अपने बिराने को नहीं चीन्हता। इसीसे वह वानरों और राक्षसों को—जो उसके सामने पड़ जाते हैं, खा डालता है ॥१३१॥

साध्वेनमधिरोहन्तु सर्वे ते वानरर्षभाः ।
यूथपाश्च यथा मुख्यास्तिष्ठन्त्वस्य समन्ततः ॥१३२॥

---

1 योगान् परिमृशन्—उपायान् विचारयन्। (गो०)

सो यदि इसके ऊपर भारी भारी वानर चढ़ जाँय और वानर यूथपति इसे चारों ओर से घेर कर खड़े हो जाँय ॥ १३२ ॥

अप्ययं दुर्मतिः काले गुरुभारप्रपीडितः ।
प्रपतन्राक्षसो भूमौ नान्यान्हन्यात्प्लवङ्गमान् ॥१३३॥

तो यह दुष्ट राक्षस वानरों के बोझ को न सह कर, पृथिवी पर गिर पड़ेगा और तब यह वानरों का संहार भी न कर पावेगा ॥ १३३ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।
ते समारुरुहुर्हृष्टाः कुम्भकर्णं प्लवङ्गमाः ॥१३४॥

बुद्धिमान राजपुत्र लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, वानरगण प्रसन्न हो कुम्भकर्ण के ऊपर चढ़ गये ॥ १३४ ॥

कुम्भकर्णस्तु संक्रुद्धः समारूढः प्लवङ्गमैः ।
व्यधूनयत्तान्वेगेन दुष्टहस्तीव हस्तिपान् ॥१३५॥

जब वानर कुम्भकर्ण के ऊपर चढ़ गये, तब उसने क्रोध में भर अपना शरीर ऐसे ज़ोर से हिलाया कि, वे सब वानर वैसे ही नीचे गिर पड़े, जैसे दुष्ट हाथी अपनी गरदन हिला कर, हथवान को गिरा देता है ॥ १३५ ॥

तान्दृष्ट्वा निर्धुतान्रामो दुष्टोऽयमिति राक्षसः ।
समुत्पपात वेगेन धनुरुत्तममाददे ॥१३६॥

वानरों को गिरा हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी ने निश्चय कर लिया कि, यह राक्षस बड़ा दुष्ट है और वे हाथ में एक श्रेष्ठ धनुष ले सहसा उठ खड़े हुए ॥ १३६ ॥

क्रोधताम्रेक्षणो वीरो निर्दहन्निव चक्षुषा ।
राघवो राक्षसं रोषादभिदुद्राव वेगितः ।
यूथपान्हर्षयन्सर्वान्कुम्भकर्णभयार्दितान् ॥१३७॥

उस समय क्रोध के मारे उनके नेत्र लाल हो गये और ऐसा जान पड़ता था मानों वे नेत्राग्नि ही से कुम्भकर्ण को भस्म कर डालेंगे। वे बड़े वेग से कुम्भकर्ण पर झपटे। उनको कुम्भकर्ण पर आक्रमण करते देख, कुम्भकर्ण के भय से पीड़ित समस्त वानर-यूथपति हर्षित हुए ॥ १३७ ॥

स चापमादाय भुजङ्गकल्पं
दृढज्यमुग्रं तपनीयचित्रम् ।
हरीन्समाश्वास्य समुत्पपात
रामो निबद्धोत्तमतूणबाणः ॥१३८॥

सोने की मीनाकारी के धनुष को जिस पर साँप की तरह मज़बूत प्रत्यञ्चा (डोरी) बँधी हुई थी, हाथ में ले और वानरों को ढाढ़स बँधा तथा बाणों से भरे तरकस को अपनी पीठ पर बाँध, श्रीरामचन्द्र जी उस राक्षस पर झपटे ॥ १३८ ॥

स वानरगणैस्तैस्तु वृतः परमदुर्जयः ।
लक्ष्मणानुचरो रामः सम्प्रतस्थे महाबलः ॥१३९॥

उस समय परम दुर्जेय वानर महाबलवान श्रीरामचन्द्र जी को घेर कर, उनके साथ हो लिये और लक्ष्मण जी भी उनके पीछे पीछे चले ॥ १३९ ॥

स ददर्श महात्मानं किरीटिनमरिन्दमम् ।
शोणिताप्लुतसर्वाङ्गं कुम्भकर्णं महाबलम् ॥१४०॥

श्रीरामचन्द्र जी ने मुकुट धारण किये हुए शत्रुहन्ता महाबलवान कुम्भकर्ण का सारा शरीर लोहूलुहान देखा ॥ १४० ॥

सर्वान्समभिधावन्तं यथा रुष्टं दिशागजम् ।
मार्गमाणं हरीन्क्रुद्धं राक्षसैः परिवारितम् ॥१४१॥

वह क्रुद्ध दिग्गज की तरह सब वानरों को खदेड़ रहा था। उसको अनेक राक्षस घेरे हुए थे और क्रोध में भर, वह वानरों को ढूँढ़ता फिरता था ॥ १४१ ॥

विन्ध्यमन्दरसङ्काशं काञ्चनाङ्गदभूषणम् ।
स्रवन्तं रुधिरं वक्त्राद्वर्षमेघमिवोत्थितम् ॥१४२॥

उसका आकार विन्ध्याचल अथवा मन्दराचल पर्वत जैसा था। वह सोने के बाजू पहिने हुए था। जल बरसाने वाले बादलों की तरह वह अपने मुख से रक्त उगल रहा था ॥ १४२ ॥

जिह्वया परिलिह्यन्तं सृक्किणी शोणिते क्षिते ।
मृद्गन्तं वानरानीकं कालान्तकयमोपमम् ॥१४३॥

वह रुधिर से सने हुए अपने दोनों गलफड़े जीभ से चाट रहा था और कालान्तक यमराज की तरह वानरी सेना का संहार कर रहा था ॥ १४३ ॥

तं दृष्ट्वा राक्षसश्रेष्ठं प्रदीप्तानलवर्चसम् ।
विस्फारयामास तदा कार्मुकं पुरुषर्षभः ॥१४४॥

प्रज्ज्वलित अग्नि की तरह उस राक्षसश्रेष्ठ को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष के रोदे को खींच टंकारा ॥ १४४ ॥

स तस्य चापनिर्घोषात्कुपितो राक्षसर्षभः ।
अमृष्यमाणस्तं घोषमभिदुद्राव राघवम् ॥१४५॥

धनुष की टंकार के शब्द को सुन कुम्भकर्ण से न रहा गया। वह अत्यन्त कुपित हुआ और श्रीरामचन्द्र जी की ओर लपका ॥ १४५ ॥

पुरस्ताद्राघवस्यार्थे गदायुक्तो विभीषणः ।
अभिदुद्राव वेगेन भ्राता भ्रातरमाहवे ॥१४६॥

श्रीरामचन्द्र जी की ओर से लड़ने के लिये, उनके आगे हाथ में गदा लिये विभीषण अपने भाई से लड़ने के लिये दौड़े ॥१४६॥

विभीषणं पुरो दृष्ट्वा कुम्भकर्णोऽब्रवीदिदम् ।
प्रहरस्व रणे शीघ्रं क्षत्रधर्मे स्थिरो भव ॥१४७॥

विभीषण को सामने देख, कुम्भकर्ण ने उनसे यह कहा—तुम मेरे ऊपर प्रहार कर क्षात्रकर्म का पालन करो ॥ १४७ ॥

भ्रातृस्नेहं परित्यज्य राघवस्य प्रियं कुरु ।
अस्मत्कार्यं कृतं वत्स यस्त्वं राममुपागतः ॥१४८॥

और इस समय भ्रातृस्नेह को त्याग कर श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने वाला कार्य करो। हे वत्स! तुम जो श्रीरामचन्द्र जी के पास चले गये सो तुमने हमारा कार्य बना दिया ॥ १४८ ॥

त्वमेको रक्षसां लोके सत्यधर्माभिरक्षिता ।
नास्तिधर्माभिरक्तस्य व्यसनं तु कदाचन ।
सन्तानार्थं त्वमेवैकः कुलस्यास्य भविष्यसि ॥१४९॥

समस्त राक्षसों में तुम्हीं अकेले ने सत्य और धर्म की रक्षा की है। जो धर्म में रत हैं, उन्हें कभी दुःख नहीं भोगना पड़ता। सन्तानोत्पत्ति कर इस कुल का नाम रखने को एक तुम्हीं जीवित रहोगे और सब मारे जांयगे ॥ १४९ ॥

राघवस्य प्रसादात्त्वं रक्षसां राज्यमाप्स्यसि ।
प्रकृत्या मम दुर्धर्ष शीघ्रं मार्गादपक्रम ॥१५०॥

श्रीरामचन्द्र जी के अनुग्रह से तुम राक्षसों के राजा होगे। इस समय मेरा स्वभाव दुर्धर्ष हो रहा है, अतः तुम तुरन्त रास्ता छोड़ दो ॥ १५० ॥

न स्थातव्यं पुरस्तान्मे संभ्रमान्नष्टचेतसः ।
न वेद्मि संयुगे शक्तः स्वान्परान्वा निशाचर ॥१५१॥

क्योंकि इस समय मारे क्रोध के मैं अपने आपे में नहीं हूँ—अतः तुम मेरे सामने खड़े मत हो। हे विभीषण ! इस समय मैं युद्ध में आसक्त हो रहा हूँ। इस समय मुझे अपने बिराने का ज्ञान नहीं है ॥ १५१ ॥

रक्षणीयोऽसि मे वत्स सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
एवमुक्तो वचस्तेन कुम्भकर्णेन धीमता ॥१५२॥
विभीषणो महाबाहुः कुम्भकर्णमुवाच ह ।
गदितं मे कुलस्यास्य रक्षणार्थमरिन्दम ॥१५३॥

किन्तु हे भाई ! मैं चाहता हूँ कि, तुम बचे रहो अर्थात् न मारे जाओ। यह मैं तुम से मुँह देखी बात नहीं कहता, बल्कि सच्ची बात कह रहा हूँ। जब बुद्धिमान कुम्भकर्ण ने इस प्रकार के वचन कहे, तब महाबलवान विभीषण ने कुम्भकर्ण से कहा—हे अरिन्दम ! मैंने तो इस कुल की रक्षा के लिये ही सब को बहुत समझाया था ॥ १५२ ॥ १५३ ॥

न श्रुतं सर्वरक्षोभिस्ततोऽहं राममागतः ।
कृतं तु तन्महाभाग सुकृतं दुष्कृतं तु वा ॥१५४॥

किन्तु किसी भी राक्षस ने जब मेरी बात पर ध्यान न दिया; तब मैं लाचार हो श्रीरामचन्द्र जी के पास चला आया। हे महाभाग! इसे आप चाहे मेरा अच्छा काम समझिये चाहे बुरा ॥१५४॥

एवमुक्त्वाश्रुपूर्णाक्षः गदापाणिर्विभीषणः ।
एकान्तमाश्रितो भूत्वा चिन्तयामास सुस्थितः ॥१५५॥

आँखों में आँसू भर गदापाणि विभीषण यह कह कर, एकान्त में चले गये और वहाँ स्वस्थ हो विचार करने लगे ॥ १५५ ॥

ततस्तु वातोद्धतमेघकल्पं
भुजङ्गराजोत्तमभोगबाहुम् ।
तमापतन्तं धरणीधराभम्
उवाच रामो युधि कुम्भकर्णम् ॥१५६॥

तदनन्तर नागराज सदृश बाहुयुगलशाली श्रीरामचन्द्र जी पर्वत के समान कुम्भकर्ण को पवन के झोंके से उड़ते हुए मेघ की तरह अपनी ओर आते देख, समरभूमि में उससे बोले ॥ १५६ ॥

आगच्छ रक्षोऽधिप मा विषादम्
अवस्थितोऽहं प्रगृहीतचापः ।
अवेहि मां राक्षसवंशनाशनं
यस्त्वं मुहूर्ताद्भविता विचेताः ॥१५७॥

हे राक्षसपति! तुम विषादित मन हो और चले आओ। मैं हाथ में धनुष लिये हुए खड़ा हूँ। मुझको तुम राक्षसों के वंश का नाश करने वाला जानो। मैं थोड़ी देर में तुम्हें भी अचेत कर दूँगा ॥ १५७ ॥

रामोऽयमिति विज्ञाय जहास विकृतस्वनम्।
अभ्यधावत संक्रुद्धो हरीन्विद्रावयन्रणे ॥१५८॥

इन वचनों के द्वारा यह जान कर कि, यह राम है, कुम्भकर्ण बड़े ज़ोर से हँसा और क्रोध में भर, वानरों को खदेड़ता हुआ श्रीरामचन्द्र जी की ओर दौड़ा ॥ १५८ ॥

पातयन्निव सर्वेषां हृदयानि वनौकसाम्।
प्रहस्य विकृतं भीमं स मेघस्तनितोपमम् ॥१५९॥

वह वानरों के हृदयों को दहलाता हुआ मेघ की गर्जन की तरह विकट स्वर से अट्टहास करता हुआ ॥ १५९ ॥

कुम्भकर्णो महातेजा राघवं वाक्यमब्रवीत्।
नाहं विराधो विज्ञेयो न कवन्धः खरो न च ॥१६०॥

न वाली न च मारीचः कुम्भकर्णोऽहमागतः।
पश्य मे मुद्‌गरं घोरं सर्वकालायसं महत् ॥१६१॥

महातेजस्वी कुम्भकर्ण, श्रीरामचन्द्र जी से बोला—हे राम! तुम मुझे विराध कहीं मत समझ लेना। मैं न तो कवन्ध हूँ, न खर, न वाली और न मारीच ही हूँ। मैं हूँ कुम्भकर्ण। इस मेरे विशाल मुगदर को ज़रा देख लो। यह लोहे का बना हुआ है ॥१६०॥१६१॥

अनेन निर्जिता देवा दानवाश्च पुरा मया।
विकर्णनास इति मां नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥१६२॥

पूर्वकाल में इसीसे मैंने देवताओं और दानवों को परास्त किया था। मुझे नकटा बूचा देख कहीं मेरा तिरस्कार मत कर बैठना ॥ १६२ ॥

स्वल्पाऽपि हि न मे पीडा कर्णनासाविनाशनात् ।
दर्शयेक्ष्वाकुशार्दूल वीर्यं गात्रेषु मेऽनघ ।
ततस्त्वां भक्षयिष्यामि दृष्टपौरुषविक्रमम् ॥१६३॥

नाक और कानों के कट जाने से मुझे तिल भर भी कष्ट नहीं हो रहा है। हे इक्ष्वाकुशार्दूल ! हे अनघ ! पहिले तुम्हीं मेरे ऊपर वार कर के अपना बल आज़मा लो। तुम्हारा पुरुषार्थ और पराक्रम देख चुकने के बाद मैं तुमको खाऊँगा ॥ १६३ ॥

स कुम्भकर्णस्य वचो निशम्य
रामः सुपुङ्खान्विससर्ज बाणान् ।
तैराहतो वज्रसमप्रवेगैः
न चुक्षुभे न व्यथते सुरारिः ॥१६४॥

कुम्भकर्ण के इन वचनों को सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने अच्छी फोकों वाले बाण उसके ऊपर छोड़े। किन्तु उन वज्र के समान वेगवान् बाणों के प्रहार से भी वह देवताओं का शत्रु कुम्भकर्ण न तो विचलित हुआ, न व्यथित ही हुआ ॥ १६४ ॥

यैः सायकैः सालवरा निकृत्ता
वाली हतो वानरपुङ्गवश्च ।
ते कुम्भकर्णस्य तदा शरीरे
वज्रोपमा न व्यथयांप्रचक्रुः ॥१६५॥

जिन बाणों से श्रीरामचन्द्र जी ने साल के वृत्त वेधे थे और वानरश्रेष्ठ वाली को मारा था, उन वज्र के समान बाणों के प्रहार से कुम्भकर्ण के शरीर में कुछ भी पीड़ा न हुई ॥ १६५ ॥

स वारिधारा इव सायकांस्तान्
पिबञ्शरीरेण महेन्द्रशत्रुः ।
जघान रामस्य शरप्रवेगं
व्याविध्य तं मुद्गरमुग्रवेगम् ॥१६६॥

इन्द्रशत्रु कुम्भकर्ण ने, पानी की वृष्टि की तरह उस बाणवृष्टि को अपने शरीर में सोख लिया। वह अपना मुगद्र घुमा घुमा कर, श्रीरामचन्द्र जी के चलाये हुए बाणों के वेग को रोक रहा था ॥ १६६ ॥

ततस्तु रक्षः क्षतजानुलिप्तं
वित्रासनं देवमहाचमूनाम् ।
विव्याध तं मुद्गरमुग्रवेगं
विद्रावयामास चमूं हरीणाम् ॥१६७॥

तदनन्तर कुम्भकर्ण, खून से सने और देवताओं की सेना को भयभीत करने वाले अपने प्रचण्ड मुगद्र को घुमा कर और उसके प्रहार से वानरों की महती सेना को भगाने लगा ॥ १६७ ॥

वायव्यमादाय ततो वरास्त्रं
रामः प्रचिक्षेप निशाचराय ।
समुद्गरं तेन जघान बाहुं
स कृत्तबाहुस्तुमुलं ननाद ॥१६८॥

तब अस्त्रों में श्रेष्ठ वायव्यास्त्र को ले श्रीरामचन्द्र जी ने कुम्भकर्ण के ऊपर छोड़ा। वह अस्त्र कुम्भकर्ण की उस भुजा में लगा, जिसमें

मुगदर था और उस भुजा को काट गिराया। भुजा के कटते ही कुम्भकर्ण बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ १६८ ॥

स तस्य बाहुर्गिरिशृङ्गकल्पः
समुद्गरो राघवबाणकृत्तः ।
पपात तस्मिन्हरिराजसैन्ये
जघान तां वानरवाहिनीं च ॥१६९॥

पर्वतशिखर के समान कुम्भकर्ण की मुगदर सहित भुजा, श्रीरामचन्द्र जी के चलाये बाण से कट कर, वानरी सेना के बीच जा गिरी, उसके गिरने से बहुत सी वानरी सेना दब कर मर गयी ॥ १६९ ॥

ते वानरा भग्नहतावशेषाः
पर्यन्तमाश्रित्य तदा विषण्णाः ।
प्रवेपिताङ्गं ददृशुः सुघोरं
नरेन्द्ररक्षोधिपसन्निपातम् ॥१७०॥

भागे हुए तथा जो वानर उसके नीचे दब कर भी मरने से बच गये थे, वे अत्यन्त पीड़ित हो एक ओर हट कर, श्रीरामचन्द्र जी और कुम्भकर्ण का युद्ध देखने लगे ॥ १७० ॥

स कुम्भकर्णोऽस्त्रनिकृत्तबाहुः
महेन्द्रकृत्ताग्र इवाचलेन्द्रः ।
उत्पाटयामास करेण वृक्षं
ततोऽभिदुद्राव रणे नरेन्द्रम् ॥१७१॥

बाहु कटा हुआ कुम्भकर्ण उस समय ऐसा देख पड़ता था; मानों इन्द्र द्वारा शृङ्ग कटा हुआ पर्वतराज हो। कुम्भकर्ण ने बचे हुए हाथ से एक वृक्ष उखाड़ा और वह उसे लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी पर झपटा॥ १७१॥

स तस्य बाहुं सहसालवृक्षं
समुद्यतं पन्नगभोगकल्पम्।
ऐन्द्रास्त्रयुक्तेन जघान रामो
बाणेन जाम्बूनदचित्रितेन॥ १७२॥

परन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने सुवर्ण चित्रित एक बाण को ऐन्द्रास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित कर, उससे उसकी उस भुजा को भी काट डाला, जिसमें वह साल का वृक्ष लिये हुए था और जो एक बड़े फनधारी सर्प की तरह जान पड़ती थी॥ १७२॥

स कुम्भकर्णस्य भुजो निकृत्तः
पपात भूमौ गिरिसन्निकाशः।
विचेष्टमानोऽभिजघान वृक्षान्
शैलाञ्छिला वानरराक्षसांश्च॥ १७३॥

कुम्भकर्ण की वह पर्वत के समान विशाल भुजा बाण से कट कर और भूमि पर गिर, छटपटाने लगी। उसके गिरने से वृक्ष, पर्वत की शिलाएँ, वानर और राक्षस दब कर पिस गये॥ १७३॥

तं छिन्नबाहुं समवेक्ष्य रामः
समापतन्तं सहसा नदन्तम्।
द्वावर्धचन्द्रौ निशितौ प्रगृह्य
चिच्छेद पादौ युधि राक्षसस्य॥१७४॥

इस पर जब श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, दोनों भुजाओं के कट जाने पर भी वह राक्षस गर्जता हुआ चला ही आ रहा है; तब उन्होंने दो अर्धचन्द्राकार पैने बाणों को निकाल, उनसे युद्ध करते हुए उस राक्षस के दोनों पैर काट डाले ॥ १७४ ॥

तौ तस्य पादौ प्रदिशो दिशश्च
गिरीन्गुहाश्चैव महार्णवं च ।
लङ्कां च सेनां कपिराक्षसानां
विनादयन्तौ विनिपेततुश्च ॥ १७५ ॥

उसके कटे हुए दोनों पैर दिशाओं, विदिशाओं, गुफाओं, समुद्र और लङ्कापुरी को गुँजाते तथा वानर एवं राक्षसी सेना को मसलते हुए धम्म से गिरे ॥ १७५ ॥

निकृत्तबाहुर्विनिकृत्तपादो
विदार्य वक्त्रं वडवामुखाभम् ।
दुद्राव रामं सहसाभिगर्जन्
राहुर्यथा चन्द्रमिवान्तरिक्षे ॥ १७६ ॥

जब उस राक्षस की दोनों भुजाएँ और दोनों पैर कट गये, तब वह बड़वानल के समान अपना मुख बाये हुए और सहसा गर्जता हुआ, बड़े वेग से श्रीराम जी के ऊपर वैसे ही झपटा; जैसे राहु चन्द्रमा पर झपटता है ॥ १७६ ॥

अपूरयत्तस्य मुखं शिताग्रै
रामः शरैर्हेमपिनद्धपुङ्खैः ।
स पूर्णवक्त्रो न शशाक वक्तुं
चुकूज कृच्छ्रेण मुमोह चापि ॥ १७७ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने सुवर्ण की फोंक वाले पैने बाणों से उसके मुख को भर दिया। तब बाणों से मुख भर जाने के कारण वह कुछ बोल भी न सका। कुछ अस्पष्ट शब्द करता हुआ मूर्छित हो गया ॥ १७७ ॥

अथाददे सूर्यमरीचिकल्पं
स ब्रह्मदण्डान्तककालकल्पम्।
अरिष्टमैन्द्रं निशितं सुपुङ्खं
रामः शरं मारुततुल्यवेगम् ॥ १७८ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने सूर्य की किरणों के समान चमचमाता, ब्रह्मदण्ड और कालदण्ड की तरह भयङ्कर, शत्रुनाशकारी, अत्यन्त पैना और सुन्दर फोंक लगा हुआ, प्रचण्ड पवन के वेग की तरह वेगवान् ऐन्द्रास्त्र निकाला ॥ १७८ ॥

तं वज्रजाम्बूनदचारुपुङ्खं
प्रदीप्तसूर्यज्वलनप्रकाशम्।
महेन्द्रवज्राशनितुल्यवेगं
रामः प्रचिक्षेप निशाचराय ॥ १७९ ॥

उसमें हीरे और सोने की फोंक लगी थी, वह चमचमाते हुए सूर्य और प्रज्वलित अग्नि की तरह चमचमा रहा था। वह इन्द्र के वज्र के समान वेग वाला था। उसे श्रीरामचन्द्र जी ने कुम्भकर्ण के ऊपर छोड़ा ॥ १७६ ॥

स सायको राघवबाहुचोदितो
दिशः स्वभासा दश संप्रकाशयन्।

सधूमवैश्वानरदीप्तदर्शनो
जगाम शक्राशनिवीर्यविक्रमः ॥ १८० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से छूटा हुआ वह बाण दसों दिशाओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता हुआ, धूमरहित अग्नि की तरह दिखलाई देता हुआ, इन्द्रवज्र के समान बल विक्रमशाली उस राक्षस की ओर चला ॥ १८० ॥

स तन्महापर्वतकूटसन्निभं
निवृत्तदंष्ट्रं चलचारुकुण्डलम् ।
चकर्त रक्षोऽधिपतेः शिरस्तथा
यथैव वृत्रस्य पुरा पुरन्दरः ॥ १८१ ॥

उस बाण ने कुम्भकर्ण का पर्वतशिखर के तुल्य बड़ा, दाँत वाये और दो हिलते हुए कुण्डलों से सुशोभित मस्तक उसी तरह काट डाला, जिस प्रकार वृत्रासुर का सिर इन्द्र के वज्र ने काट डाला था ॥ १८१ ॥

कुम्भकर्णशिरो भाति कुण्डलालङ्कृतं महत् ।
आदित्येऽभ्युदिते [1]ऽरात्रौ मध्यस्थ इव चन्द्रमाः ॥१८२॥

कुण्डलों से युक्त कुम्भकर्ण का वह कटा हुआ सिर, ऐसा जान पड़ता था, जैसा कि, प्रातःकाल में सूर्योदय होने पर आकाशस्थित चन्द्रमा ॥ १८२ ॥

तद्रामबाणाभिहतं पपात
रक्षःशिरः पर्वतसन्निकाशम् ।

---

१ अरात्रौ—प्रातःकाले । (रा०)

बभञ्ज चर्यागृहगोपुराणि
प्राकारमुच्चं तमपातयच्च ॥ १८३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के बाण के आघात से पर्वत के समान राक्षस का बड़ा सिर कट कर गिरा और उसकी धमक से राजमार्ग पर बने हुए अनेक घर, लङ्का के बाहिरी फाटक और परकोटे की ऊँची दीवार भी गिर पड़ी ॥ १८३ ॥

न्यपतत्कुम्भकर्णोऽथ स्वकायेन निपातयन् ।
प्लवङ्गमानां कोटीश्च परितः संप्रधावताम् ॥ १८४ ॥

कुम्भकर्ण के धड़ के गिरने से समरभूमि में चारों ओर दौड़ते हुए एक करोड़ वानर दब गये ॥ १८४ ॥

तच्चातिकायं हिमवत्प्रकाशं
रक्षस्ततस्तोयनिधौ पपात ।
ग्राहान्वरान्मीनवरान्भुजङ्गान्
ममर्द भूमिं च तदा विवेश ॥ १८५ ॥

हिमालय के समान बड़े आकार वाले उस राक्षस का धड़ जा कर जब समुद्र में गिरा; तब बड़े बड़े मगर, बड़े बड़े मत्स्य और बड़े बड़े साँपों को कुचलता हुआ वह समुद्र की तली में घुस गया ॥ १८५ ॥

तस्मिन्हते ब्राह्मणदेवशत्रौ
महाबले संयति कुम्भकर्णे ।
चचाल भूर्भूमिधराश्च सर्वे
हर्षाच्च देवास्तुमुलं प्रणेदुः ॥ १८६ ॥

उस ब्राह्मण एवं देवताओं के शत्रु महाबली कुम्भकर्ण के युद्ध में मारे जाने पर समस्त पर्वतों सहित भूमि काँप उठी और देवता लोग हर्षनाद करने लगे ॥ ॥ १८६ ॥

ततस्तु देवर्षिमहर्षिपन्नगाः
सुराश्च भूतानि सुपर्णगुह्यकाः ।
सयक्षगन्धर्वगणा नभोगताः
प्रहर्षिता रामपराक्रमेण ॥ १८७ ॥

तदनन्तर आकाशस्थित देवर्षि, महर्षि, पन्नग, देवता, भूत, सुपर्ण, गुह्यक, यक्ष और गन्धर्व, श्रीरामचन्द्र जी का पराक्रम देख, परम हर्षित हुए ॥ १८७ ॥

ततस्तु ते तस्य वधेन भूरिणा
मनस्विनो नैर्ऋतराजबान्धवाः ।
विनेदुरुच्चैर्व्यथिता रघूत्तमं
हरिं समीक्ष्यैव यथा मतङ्गजाः ॥ १८८ ॥

राक्षसराज रावण के मनस्वी बन्धु बान्धव, कुम्भकर्ण के इस दारुण वध से अत्यन्त दुःखी हो तथा श्रीरामचन्द्र जी को देख, वैसे ही चिल्ला कर भागे ; जैसे सिंह को देख, हाथी भागते हैं ॥ १८८ ॥

स देवलोकस्य तमो निहत्य
सूर्यो यथा राहुमुखाद्विमुक्तः ।
तथा व्यभासीद्भुवि वानरौघे
निहत्य रामो युधि कुम्भकर्णम् ॥ १८९ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी स्वर्ग के अन्धकार रूपी कुम्भकर्ण का संग्रामभूमि में नाश कर और अपनी सेना के बीच में बैठे हुए

वैसे ही सुशोभित हुए, जैसे राहु के मुख से निकले हुए सूर्य की शोभा होती है ॥ १८९ ॥

प्रहर्षमीयुर्बहवस्तु वानराः
प्रबुद्धपद्मप्रतिमैरिवाननैः ।
अपूजयन्राघवमिष्टभागिनं
हते रिपौ भीमबले दुरासदे ॥ १९० ॥

उस भयङ्कर बलवान शत्रु के मारे जाने पर समस्त वानर वीरों के मुख खिले हुए कमल की तरह प्रसन्न हो गये। उस समय वाञ्छित विजय को प्राप्त करने वाले श्रीरामचन्द्र जी की वे स्तुति करने लगे ॥ १९० ॥

स कुम्भकर्णं सुरसङ्घमर्दनं
महत्सु युद्धेषु पराजितश्रमम् ।
ननन्द हत्वा भरताग्रजो रणे
महासुरं वृत्रमिवामराधिपः ॥ १९१ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

इन्द्र जिस तरह वृत्रासुर को मार कर प्रसन्न हुए थे, उसी तरह श्रीरामचन्द्र जी उस कुम्भकर्ण को, जो कभी किसी युद्ध में किसी से हारा ही न था और देवताओं की सेना को मर्दन कर चुका था, मार कर अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १९१ ॥

युद्धकाण्ड का सड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

युद्धकाण्ड उत्तरार्द्ध-८

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २,०००] [मूल्य २)

युद्धकाण्ड-उत्तरार्द्ध

की

विषयानुक्रमणिका

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ १॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥ २॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥ ३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥ ४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥ ६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूपारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाकरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जहुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक् पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

युद्धकाण्डः

उत्तरार्द्धम्

अष्टषष्टितमः सर्गः

कुम्भकर्णं हतं दृष्ट्वा राघवेण महात्मना।
राक्षसा राक्षसेन्द्राय रावणाय न्यवेदयन्॥ १॥

महाबली श्रीरामचन्द्र के हाथ से कुम्भकर्ण को मरा हुआ देख, (बचे हुए) राक्षसों ने यह वृत्तान्त जा कर, राक्षसराज रावण से कहा॥ १॥

राजन्स कालसङ्काशः संयुक्तः [1]कालकर्मणा।
विद्राव्य वानरीं सेनां भक्षयित्वा च वानरान्॥ २॥

वे बोले—हे राजन्! काल के समान, आपका भाई कुम्भकर्ण वानरों का भक्षण कर, तथा वानरी सेना को तितर बितर कर, मारा गया॥ २॥

१ कालकर्मणा—मृत्युना संयुक्तोभवत्। (शि०)

प्रतपित्वा मुहूर्तं च प्रशान्तो रामतेजसा ।
कायेनार्धप्रविष्टेन समुद्रं भीमदर्शनम् ॥ ३ ॥

उसने कुछ देर तक तो वानरी सेना को अपने पराक्रम से तंग कर दिया था । अन्त में वह श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से मारा गया । उसका आधा शरीर भयङ्कर समुद्र में जा गिरा ॥ ३ ॥

निकृत्तकण्ठोरुभुजो विक्षरन्रुधिरं बहु ।
रुद्ध्वा द्वारं [1]शरीरेण लङ्कायाः पर्वतोपमः ॥ ४ ॥

उसकी भुजाओं और गरदन के कट जाने से उसके शरीर से बहुत सा रुधिर निकला था । उसका पर्वत के समान मस्तक लङ्का के द्वार को रोके हुए अब भी पड़ा है ॥ ४ ॥

कुम्भकर्णस्तव भ्राता काकुत्स्थशरपीडितः ।
[2]लगण्डभूतो विकृतो दावदग्ध इव द्रुमः ॥ ५ ॥

हे राजन् ! तुम्हारे भाई कुम्भकर्ण को, श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से पीड़ित और पिण्डाकार (हाथ पैर सिर रहित) होने के कारण, सूरत शक्ल भयङ्कर हो गयी थी । जैसे वन की आग से जले हुए वृक्ष की दशा होती है, वैसी ही दशा उसकी हो गयी थी ॥ ५ ॥

तं श्रुत्वा निहतं संख्ये कुम्भकर्णं महाबलम् ॥ ६ ॥

महाबली कुम्भकर्ण का युद्ध में इस प्रकार मारे जाने का वृत्तान्त सुन, ॥ ६ ॥

रावणः शोकसन्तप्तो मुमोह च पपात च ।
पितृव्यं निहतं श्रुत्वा देवान्तकनरान्तकौ ॥ ७ ॥

१ शरीरेण—उत्तमाङ्गेन । (गो०) २ लगण्डभूतः—पिण्डीभूतः । (गो०)

रावण शोकसन्तप्त हो मूर्छित हो गया और भूमि पर गिर पड़ा। अपने चाचा कुम्भकर्ण के मारे जाने का वृत्तान्त सुन, देवान्तक और नरान्तक ॥ ७ ॥

त्रिशिरश्चातिकायश्च रुरुदुः शोकपीडिताः ।
भ्रातरं निहतं श्रुत्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ८ ॥

त्रिशिरा और अतिकाय शोक से पीड़ित हो रोने लगे। अक्लिष्टकर्मा श्रीराम जी द्वारा अपने भाई कुम्भकर्ण का मारा जाना सुन, ॥८॥

महोदरमहापार्श्वौ शोकाक्रान्तौ बभूवतुः ।
ततः कृच्छ्रात्समासाद्य संज्ञां राक्षसपुङ्गवः ॥ ९ ॥

महोदर और महापार्श्व भी अत्यन्त शोकसन्तप्त हुए। तदनन्तर बड़ी कठिनता से सचेत हो राक्षसश्रेष्ठ ॥ ६ ॥

कुम्भकर्णवधाद्दीनो विललाप स रावणः ।
हा वीर रिपुदर्पघ्न कुम्भकर्ण महाबल ॥ १० ॥

रावण, कुम्भकर्ण के मारे जाने से उदास हो, विलाप करने लगा। (वह रो रो कर कहने लगा, हे वीर! हे शत्रुओं के दर्प को नाश करने वाले महाबली कुम्भकर्ण! ॥ १० ॥

त्वं मां विहाय वै दैवाद्यातोऽसि यमसादनम् ।
मम शल्यमनुद्धृत्य बान्धवानां महाबल ॥ ११ ॥

हे महाबली! तुम मुझको छोड़ और मेरा तथा अपने भाई बंदों का काँटा निकाले बिना ही अचानक यमालय को चल दिये ॥११॥

शत्रुसैन्यं प्रताप्यैकः क्व मां सन्त्यज्य गच्छसि ।
इदानीं खल्वहं नास्मि यस्य मे दक्षिणो भुजः ॥१२॥

तुम शत्रुसैन्य को पीड़ित कर और मुझे छोड़ कहाँ जाते हो? हे वीर! निश्चय ही मैं इस समय नहीं सा हो गया। क्योंकि मेरी वह दहिनी भुजा॥ १२॥

पतितो यं समाश्रित्य न बिभेमि सुरासुरात्।
कथमेवंविधो वीरो देवदानवदर्पहा॥ १३॥

काट कर गिरा दी गयी, जिसके बल के भरोसे मैं देवता और दैत्यों से तिल भर भी नहीं डरता था। हा! ऐसे वीर और देव दानवों के दर्प को नष्ट करने वाले,॥ १३॥

कालाग्निरुद्रप्रतिमो रणे रामेण वै हतः।
यस्य ते वज्रनिष्पेषो न कुर्याद्व्यसनं सदा॥ १४॥

तथा कालाग्नि की तरह भयङ्कर मेरे भाई को राम ने युद्ध में मार डाला। अरे भाई! वज्र के प्रहार को तो तुम कुछ समझते ही न थे। (अर्थात् वज्र के प्रहार से तुमको ज़रा भी पीड़ा नहीं होती थी)॥ १४॥

स कथं रामबाणार्तः प्रसुप्तोऽसि महीतले।
एते देवगणाः सार्धमृषिभिर्गगने स्थिताः॥ १५॥
निहतं त्वां रणे दृष्ट्वा निनदन्ति प्रहर्षिताः।
ध्रुवमद्यैव संहृष्टा [1]लब्धलक्षाः प्लवङ्गमा॥ १६॥

सो आश्चर्य है कि, तुम राम के बाण से पीड़ित हो, भूमि पर पड़े सो रहे हो! देखो, आकाश में खड़े हुए ये देवता और महर्षि

1 लब्धलक्षाः—लब्धावसराः। (गो०)

तुमको मरा देख, अत्यन्त हर्षित हो कैसा हर्षनाद कर रहे हैं। निश्चय ही वानरों के आनन्द की सीमा नहीं है ॥ १५ ॥ १६ ॥

आरोक्ष्यन्ति हि दुर्गाणि लङ्काद्वाराणि सर्वशः ।
राज्येन नास्ति मे कार्यं किं करिष्यामि सीतया ॥१७॥

और वे सब अवसर पा कर निश्चय ही आज लङ्का के द्वारों और दुर्ग पर चारों ओर से चढ़ाई करेंगे। अब मुझे राज्य से कुछ भी प्रयोजन नहीं। मैं अब सीता ही को लेकर क्या करूँगा ॥ १७ ॥

कुम्भकर्णविहीनस्य जीविते नास्ति मे रतिः ।
यद्यहं भ्रातृहन्तारं न हन्मि युधि राघवम् ॥ १८ ॥

कुम्भकर्ण के बिना जीवित रहने में मुझे ज़रा भी आनन्द नहीं। यदि मैं अपने भाई के मारने वाले उस राम को संग्राम में नहीं मार सकता ॥ १८ ॥

ननु मे मरणं श्रेयो न चेदं व्यर्थजीवितम् ।
अद्यैव तं गमिष्यामि देशं यत्रानुजो मम ॥ १९ ॥

तो निश्चय ही मेरा जीना व्यर्थ है। अतः अब मुझे मर जाना ही उचित है और मैं आज उसी स्थान को जाऊँगा; जहां मेरा छोटा भाई कुम्भकर्ण गया है ॥ १९ ॥

न हि भ्रातृन्समुत्सृज्य क्षणं जीवितुमुत्सहे ।
देवा हि मां हसिष्यन्ति दृष्ट्वा पूर्वापकारिणम् ॥ २० ॥

क्योंकि भाई का साथ छोड़ मैं जीना नहीं चाहता। जिन देवताओं के साथ पहिले मैं अपकार कर चुका हूँ, वे अब मुझे देख, मेरी हँसी करेंगे ॥ २० ॥

कथमिन्द्रं जयिष्यामि कुम्भकर्ण हते त्वयि ।
तदिदं मामनुप्राप्तं विभीषणवचः शुभम् ॥ २१ ॥

हे कुम्भकर्ण ! तेरे मारे जाने पर अब मैं इन्द्र को कैसे जीत सकूँगा । विभीषण ने उस समय बड़ी अच्छी राय दी थी ॥२१॥

यदज्ञानान्मया तस्य न गृहीतं महात्मनः ।
विभीषणवचो यावत्कुम्भकर्णप्रहस्तयोः ।
विनाशोऽयं समुत्पन्नो मां व्रीडयति दारुणः ॥ २२ ॥

किन्तु मैंने अज्ञानवश उस महात्मा का कहना उस समय न माना । जब से कुम्भकर्ण और प्रहस्त के मारे जाने का संवाद सुना है ; तब से विभीषण की बातों को स्मरण कर, मुझको अब बड़ी लज्जा जान पड़ती है ॥ २२ ॥

तस्यायं कर्मणः प्राप्तो विपाको मम शोकदः ।
यन्मया धार्मिकः श्रीमान्स निरस्तो विभीषणः ॥ २३ ।

हा ! (मैंने जो धर्मात्मा विभीषण का कहना नहीं माना और उसे अपमान पूर्वक निकाल दिया सो) आज उसी दारुण कर्म का फल स्वरूप यह शोकप्रद परिणाम मेरे सामने आया है अथवा मुझे देखना पड़ा है ॥ २३ ॥

इति बहुविधमाकुलान्तरात्मा
कृपणमतीव विलप्य कुम्भकर्णम् ।
न्यपतदथ दशाननो भृशार्तः
तमनुजमिन्द्ररिपुं हतं विदित्वा ॥ २४ ॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

इस प्रकार अति विकल हो और कुम्भकर्ण के लिये बहुत सा विलाप कर, तथा इन्द्रशत्रु अपने छोटे भाई को मरा जान शोक से पीड़ित हो, रावण पुनः मूर्छित हो पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

युद्धकाण्ड का अड़सठवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—※—

एवं विलपमानस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
श्रुत्वा शोकाभितप्तस्य त्रिशिरा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

उस दुरात्मा और शोकसन्तप्त रावण का इस प्रकार का विलाप सुन, त्रिशिरा बोला ॥ १ ॥

एवमेव महावीर्यो हतो नस्तातमध्यमः ।
न तु सत्पुरुषा राजन्विलपन्ति यथा भवान् ॥ २ ॥

हा ! इस प्रकार मेरे महाबलवान मझले चाचा के मारे जाने का (मुझे भी बड़ा भारी शोक है) किन्तु हे राजन् ! शूर लोग इस प्रकार विलाप नहीं करते जिस प्रकार आप कर रहे हैं ॥ २ ॥

नूनं त्रिभुवनस्यापि पर्याप्तस्त्वमसि प्रभो ।
स कस्मात्प्राकृत इव शोचस्यात्मानमीदृशम् ॥ ३ ॥

हे प्रभो ! तुममें इतनी शक्ति है कि, यदि चाहो तो तीनों लोकों को भी नष्ट कर सकते हो । तब तुम क्यों एक साधारण जन की तरह अपने आप ही इस प्रकार शोक से सन्तप्त हो रहे हो ॥ ३ ॥

ब्रह्मदत्तास्ति ते शक्तिः कवचः सायको धनुः ।
सहस्रखरसंयुक्तो रथो मेघस्वनो महान् ॥ ४ ॥

तुम्हारे पास ब्रह्मा की दी हुई शक्ति, कवच, बाण, धनुष और हज़ार खच्चरों से जोता जाने वाला वह रथ है, जिसके चलते समय मेघ की तरह शब्द होता है ॥ ४ ॥

त्वयाऽसकृद्विशस्त्रेण[1] विशस्ता देवदानवाः ।
स सर्वायुधसंपन्नो राघवं शास्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

तुम जब खाली हाथों ही (अस्त्र न ले कर) कितनी ही वार देवताओं और दानवों को हरा चुके हो, तब समस्त आयुधों से सज्जित हो युद्ध करने पर तुम रामचन्द्र को (अवश्य ही) परास्त कर सकते हो ॥ ५ ॥

कामं तिष्ठ महाराज निर्गमिष्याम्यहं रणम् ।
उद्धरिष्यामि ते शत्रून्गरुडः पन्नगानिव ॥ ६ ॥

अथवा हे महाराज ! तुम अभी सुखपूर्वक यहीं रहो, मैं समर-भूमि में जाऊँगा और तुम्हारे शत्रुओं को उसी प्रकार नष्ट करूँगा; जिस प्रकार गरुड़ सर्पों का नाश करते हैं ॥ ७ ॥

शम्बरो देवराजेन नरको विष्णुना यथा ।
तथाद्य शयिता रामो मया युधि निपातितः ॥ ७ ॥

जैसे इन्द्र ने शम्बरासुर को और विष्णु ने नरकासुर को मार कर भूमि पर डाल दिया था; वैसे ही मैं भी राम को समर में मार, पृथिवी पर गिरा दूँगा ॥ ७ ॥

---

१ विशस्त्रेण—निरायुधेन । (गो०)

श्रुत्वा त्रिशिरसो वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।
पुनर्जातमिवात्मानं मन्यते कालचोदितः ॥ ८ ॥

राक्षसराज रावण ने त्रिशिरा के ऐसे (उत्साहवर्द्धक) वचन सुन, अपना पुनर्जन्म हुआ माना। क्योंकि उसके सिर पर तो काल खेल रहा था ॥ ८ ॥

श्रुत्वा त्रिशिरसो वाक्यं देवान्तकनरान्तकौ ।
अतिकायश्च तेजस्वी बभूवुर्युद्धहर्षिता ॥ ९ ॥

त्रिशिरा के इन वचनों के सुन, देवान्तक, नरान्तक और तेजस्वी अतिकाय भी युद्ध के लिये हर्ष प्रकट करने लगे ॥ ९ ॥

ततोऽहमहमित्येव गर्जन्तो नैर्ऋतर्षभाः ।
रावणस्य सुता वीराः शक्रतुल्यपराक्रमाः ॥ १० ॥

रावण के वे इन्द्र के समान पराक्रमशाली और वीर राक्षसश्रेष्ठ पुत्र, "आगे हम" "आगे हम" (लड़ने जांयगे) कह कर, गर्जने लगे ॥ १० ॥

अन्तरिक्षगताः सर्वे सर्वे मायाविशारदाः ।
सर्वे त्रिदशदर्पघ्नाः सर्वे च रणदुर्जयाः ॥ ११ ॥

वे सब के सब आकाशचारी, मायावी, रण में दुर्जेय और देवताओं का दर्प चूर करने वाले थे ॥ ११ ॥

सर्वे सुबलसम्पन्नाः सर्वे विस्तीर्णकीर्तयः ।
सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्ते पराजिताः ।
देवैरपि सगन्धर्वैः सकिन्नरमहोरगैः ॥ १२ ॥

उन सब के पास बड़ी बड़ी सेनायें थीं, सब बड़े कीर्तिवान थे, देवताओं, गन्धर्वों, किन्नरों और महोरगों से किसी भी युद्ध में उनका पराजित होना कभी नहीं सुना गया था ॥ १२ ॥

सर्वेऽस्त्रविदुषो वीराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे [1]प्रवरविज्ञानाः सर्वे लब्धवरास्तथा ॥ १३ ॥

क्योंकि वे सब वीर सब प्रकार के अस्त्र चलाने की विद्या में निपुण और युद्धविशारद थे। वे सब उत्कृष्ट शास्त्रज्ञ थे और वरदान पाये हुए थे ॥ १३ ॥

स तैस्तदा भास्करतुल्यवर्चसैः
सुतैर्वृतः शत्रुबलप्रमर्दनैः ।
रराज राजा मघवान्यथामरैः
वृतो महादानवदर्पनाशनैः ॥ १४ ॥

उस समय सूर्य के समान कान्तिमान्, शत्रुसैन्य को नष्ट करने वाले और दानवों के दर्प को खर्व करने वाले अपने पुत्रों से घिरा हुआ रावण, ऐसा शोभायमान जान पड़ता था; जैसे देवताओं से घिरे हुए इन्द्र ॥ १४ ॥

स पुत्रान्संपरिष्वज्य भूषयित्वा च भूषणैः ।
आशीर्भिश्च प्रशस्ताभिः प्रेषयामास संयुगे ॥ १५ ॥

रावण ने अपने उन पुत्रों को छाती से लगा और आभूषणों से भूषित कर, तथा बड़े बड़े आशीर्वाद दे, उनको संग्रामभूमि में भेजा ॥ १५ ॥

---

१ प्रवरविज्ञानाः—उत्कृष्टशास्त्रज्ञानाः । (गो०)

[1]युद्धोन्मत्तं च मत्तं च भ्रातरौ चापि रावणः ।
रक्षणार्थं कुमाराणां प्रेषयामास संयुगे ॥ १६ ॥

उन कुमारों की रक्षा के लिये रावण ने महोदर और महापार्श्व नामक अपने दो भाइयों को भी उनके साथ समरभूमि में भेजा ॥ १६ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं रावणं रिपुरावणम् ।
कृत्वा प्रदक्षिणं चैव महाकायाः प्रतस्थिरे ॥ १७ ॥

शत्रु को रुलाने वाले महाबलवान रावण को प्रणाम कर, तथा उसकी परिक्रमा कर, वे महाबलवान् विशालकाय राक्षस समरक्षेत्र के लिये प्रस्थानित हुए ॥ १७ ॥

सर्वौषधीभिर्गन्धैश्च समालभ्य महाबलाः ।
निर्जग्मुर्नैर्ऋतश्रेष्ठाः षडेते युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १८ ॥

ये छः श्रेष्ठ राक्षसश्रेष्ठ घाव भरने वाली जड़ी बूटियों सहित सुगन्धित द्रव्यों को शरीर में लगा और इस प्रकार बल प्राप्त कर, युद्ध में विजय प्राप्त करने की कामना से चले ॥ १८ ॥

त्रिशिराश्चातिकायश्च देवान्तकनरान्तकौ ।
महोदरमहापार्श्वौ निर्जग्मुः कालचोदिताः ॥ १९ ॥

त्रिशिरा, अतिकाय, देवान्तक, नरान्तक, महोदर और महापार्श्व ये छः राक्षस लड़ने के लिये चले । क्योंकि इनके सिर पर काल खेल रहा था ॥ १९ ॥

---

१ युद्धोन्मत्तं च मत्तं—महोदरमहापार्श्वपर्यायनामानौ रावणभ्रातरौ । (गो०)

ततः सुदर्शनं नाम नीलजीमूतसन्निभम् ।
ऐरावतकुले जातमारुरोह महोदरः ॥ २० ॥

काले मेघ के समान, ऐरावत हाथी की नस्ल के सुदर्शन नामक हाथी पर महोदर सवार हुआ ॥ २० ॥

सर्वायुधसमायुक्तं तूणीभिश्च स्वलङ्कृतम् ।
रराज गजमास्थाय सवितेवास्तमूर्धनि ॥ २१ ॥

सारे आयुधों को धारण किये और तरकसों से भूषित महोदर हाथी की पीठ पर बैठा हुआ ऐसा शोभित जान पड़ता था, मानों अस्ताचल पर सूर्य विराजमान हों ॥ २१ ॥

हयोत्तमसमायुक्तं सर्वायुधसमाकुलम् ।
आरुरोह रथश्रेष्ठं त्रिशिरा रावणात्मजः ॥ २२ ॥

सब प्रकार के आयुधों से भरे हुए और उत्तम घोड़ों से जुते हुए एक उत्तम रथ पर रावण का बेटा त्रिशिरा सवार हुआ ॥ २२ ॥

त्रिशिरा रथमास्थाय विरराज धनुर्धरः ।
सविद्युदुल्कः शैलाग्रे सेन्द्रचाप इवाम्बुदः ॥ २३ ॥

हाथ में धनुष लिये हुए उस समय त्रिशिरा ऐसा शोभायुक्त जान पड़ता था, मानों बिजली सहित उल्कापिण्ड पर्वतशिखर पर हो अथवा इन्द्रधनुष सहित बादल हो ॥ २३ ॥

त्रिभिः किरीटैः शुशुभे त्रिशिराः स रथोत्तमे ।
हिमवानिव शैलेन्द्रस्त्रिभिः काञ्चनपर्वतैः ॥ २४ ॥

उस समय उत्तम रथ पर बैठा हुआ और तीन मुकुट लगाये त्रिशिरा की ऐसी शोभा हुई, जैसी सुवर्णमय तीन शिखरों से हिमालय की होती है ॥ २४ ॥

अतिकायोऽपि तेजस्वी राक्षसेन्द्रसुतस्तदा ।
आरुरोह रथश्रेष्ठं श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ २५ ॥

समस्त धनुषधारियों में श्रेष्ठ एवं राक्षसराज का पुत्र तेजस्वी अतिकाय भी एक उत्तम रथ पर सवार हुआ ॥ २५ ॥

सुचक्राक्षं [1]सुसंयुक्तं [2]स्वनुकर्षं सुकूवरम् ।
तूणीबाणासनैर्दीप्तं प्रासासिपरिघाकुलम् ॥ २६ ॥

इस रथ के धुरे और पहिये बड़े मज़बूत थे । इसमें अनुकर्ष और कूवर दो विशेष अंग थे । इसमें चमचमाते पैने तीरों से भरे तरकस, तलवारें, प्रास, परिघ आदि आयुध रखे हुए थे ॥ २६ ॥

स काञ्चनविचित्रेण मकुटेन विराजता ।
भूषणैश्च बभौ मेरुः किरणैरिव *भास्वतः ॥ २७ ॥

अतिकाय के सीस पर सोने का बड़ा सुन्दर मुकुट लगा हुआ था । वह अनेक प्रकार के आभूषणों से भूषित था । जैसे सुमेरुपर्वत अपनी प्रभा से प्रकाशित रहता है; वैसे ही अतिकाय भी अपनी कान्ति से कान्तिसम्पन्न देख पड़ता था ॥ २७ ॥

स रराज रथे तस्मिन्राजसूनुर्महाबलः ।
वृतो नैर्ऋतशार्दूलैर्वज्रपाणिरिवामरैः ॥ २८ ॥

वह महाबली राजकुमार उस रथ में जब बैठा और जब राक्षसश्रेष्ठ उसे चारों ओर से घेर कर चले; तब ऐसा देख पड़ा; देवताओं से घिरे हुए इन्द्र चले जाते हों ॥ २८ ॥

---

१ सुसंयुक्तं—सुदृढं । (गो०) २ "अनुकर्षो दार्वधस्थं" । (अमरको०) रथ के नीचे रहने वाली वह लकड़ी जिसके सहारे पहिये रहते हैं
* पाठान्तरे—" भासयन् ।"

हयमुच्चैःश्रवःप्रख्यं श्वेतं कनकभूषणम् ।
मनोजवं महाकायमारुरोह नरान्तकः ॥ २८ ॥

उच्चैःश्रवा की तरह सफेद भूषणों से भूषित, मन की तरह शीघ्रगामी और बड़े ऊँचे डीलडौल के घोड़े पर नरान्तक सवार हुआ ॥ २९ ॥

गृहीत्वा प्रासमुल्काभं विरराज नरान्तकः ।
शक्तिमासाद्य तेजस्वी गुहः शिखिगतो यथा ॥ ३० ॥

उल्कापिण्ड की तरह चमचमाता प्रास हाथ में ले नरान्तक ऐसा शोभायमान हो रहा था, जैसे हाथ में शक्ति लिये हुए और मोर पर सवार स्वामिकार्तिक सुशोभित होते हैं ॥ ३० ॥

देवान्तकः समादाय परिघं वज्रभूषणम् ।
परिगृह्य गिरिं दोर्भ्यां वपुर्विष्णोर्विडम्बयन् ॥ ३१ ॥

हीरों से जड़े हुए परिघ को हाथ में ले, देवान्तक समुद्रमंथन के समय दोनों हाथों से मन्दराचल को थामे हुए विष्णु की विडंबना करता हुआ सा देख पड़ता था ॥ ३१ ॥

महापार्श्वो महाकायो गदामादाय वीर्यवान् ।
विरराज गदापाणिः कुवेर इव संयुगे ॥ ३२ ॥

विशाल शरीरधारी बलवान महापार्श्व हाथ में गदा लिये हुए ऐसा शोभायमान हो रहा था; जैसे युद्ध में हाथ में गदा लिये हुए कुवेर देख पड़ते हैं ॥ ३२ ॥

प्रतस्थिरे महात्मानो बलैरप्रतिमैर्वृताः ।
सुरा इवामरावत्या बलैरप्रतिमैर्वृताः ॥ ३३ ॥

वे महाबलवान् राक्षस अतुलित सेना को साथ ले वैसे ही लङ्का से चले; जैसे अतुलित देवसैन्य से घिरे हुए देवता अमरावती से युद्ध यात्रा करते हैं ॥ ३३ ॥

तान्गजैश्च तुरङ्गैश्च रथैश्चाम्बुदनिस्वनैः ।
अनुजग्मुर्महात्मानो राक्षसाः प्रवरायुधाः ॥ ३४ ॥

उन वीर योद्धा राक्षसों के पीछे पीछे अनेक हाथी घोड़े एवं बादलों की तरह गड़गड़ाते रथों पर अच्छे अच्छे आयुधों को लिये हुए महाबली राक्षस सवार हो चले ॥ ३४ ॥

ते विरेजुर्महात्मानः कुमाराः सूर्यवर्चसः ।
किरीटिनः श्रिया जुष्टा ग्रहा दीप्ता इवाम्बरे ॥ ३५ ॥

सूर्य के समान कान्तिवान् एवं महाबली राजकुमार किरीट धारण किये हुए शोभा से ऐसे दमक रहे थे, जैसे आकाश में तारागण दमकते हैं ॥ ३५ ॥

प्रगृहीता बभौ तेषां *छत्राणामावलिः सिता ।
शारदाभ्रप्रतीकाशा हंसावलिरिवाम्बरे ॥ ३६ ॥

उनके ऊपर तने हुए सफेद छत्रों की पंक्ति ऐसी सुन्दर जान पड़ती थी; जैसे आकाश में शरत्कालीन मेघों की सी सफेद हँसों की पंक्ति सुन्दर जान पड़ती है ॥ ३६ ॥

मरणं वापि निश्चित्य शत्रूणां वा पराजयम् ।
इति कृत्वा मतिं वीरा निर्जग्मुः संयुगार्थिनः ॥ ३७ ॥

या तो शत्रु के हाथ से मारे जायँगे अथवा शत्रु को परास्त ही करेंगे—अपने अपने मनों में यह निश्चय कर, वे वीर युद्ध करने के लिये चले ॥ ३७ ॥

---

* पाठान्तरे—"शास्त्राणामावलिः ।", अथवा "वस्त्राणामावलिः ।"

[1]जगर्जुश्च [2]प्रणेदुश्च [3]चिक्षिपुश्चापि सायकान् ।
जगृहुश्चापि ते वीरा निर्यान्तो युद्धदुर्मदाः ॥ ३८ ॥

वे युद्धदुर्मद घोर मेघ की तरह गर्जते, सिंहनाद करते तथा मार मार कह कर, बाणों को तरकसों से निकालते हुए चले ॥ ३८ ॥

क्ष्वेलितास्फोटनिनदैश्चचाल च वसुन्धरा ।
रक्षसां सिंहनादैश्च पुस्फोटेव तदाम्बरम् ॥ ३९ ॥

उनकी इस मेघगर्जना एवं सिंहनाद से मानों पृथिवी काँप उठती थी। राक्षसों के सिंहनाद से तो ऐसा जान पड़ता था, मानों आकाश फटा जाता था ॥ ३९ ॥

तेऽभिनिष्क्रम्य मुदिता राक्षसेन्द्र महाबलाः ।
ददृशुर्वानरानीकं समुद्यतशिलानगम् ॥ ४० ॥

वे महाबली राक्षसश्रेष्ठ प्रसन्न होते हुए लङ्का के बाहिर निकले और उन्होंने वानरी सेना को हाथों में शिलाएँ और पेड़ लिये हुए लड़ने के लिये तैयार पाया ॥ ४० ॥

हरयोऽपि महात्मानो ददृशुर्नैर्ऋतं बलम् ।
हस्त्यश्वरथसम्बाधं किङ्किणीशतनादितम् ॥ ४१ ॥

वानरों ने भी राक्षसों की सेना को देखा कि, उसमें बहुत से हाथी, घोड़े और रथ हैं; जिनके चलने पर सैकड़ों घंटियों के बजने का शब्द सुनाई पड़ता है ॥ ४१ ॥

---

१ जगर्जुः—मेघध्वनिं चक्रुः । (गो०) २ प्रणेदुः—सिंहनादं चक्रुः । (गो०) ३ चिक्षिपुः—क्षेपवचनान्यूचुः । (गो०)

नीलजीमूतसङ्काशं समुद्यतमहायुधम् ।
दीप्तानलरविप्रख्यैः सर्वतो नैर्ऋतैर्वृतम् ।
तद्दृष्ट्वा बलमायान्तं लब्धलक्षाः प्लवङ्गमाः ॥ ४२ ॥

राक्षसी सेना काले मेघ के समान जान पड़ती थी और सैनिकों के हाथ में अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र थे। जलती हुई आग और सूर्य के समान तेजस्वी असंख्य राक्षस उसमें थे ॥ ४२ ॥

समुद्यतमहाशैलाः संप्रणेदुर्महाबलाः ।
अमृष्यमाणा रक्षांसि प्रतिनर्दन्ति वानराः ॥ ४३ ॥

राक्षसी सेना को आते देख, वानरों ने अवसर पा, बड़ी बड़ी शिलाएँ हाथों में ले लीं और वे महाबली वानर सिंहनाद करने लगे। क्योंकि वानरगण राक्षसों की गर्जना सह नहीं सकते थे ॥४३॥

ततः समुद्घुष्टरवं निशम्य
रक्षोगणा वानरयूथपानाम् ।
अमृष्यमाणः परहर्षमुग्रं
महाबला भीमतरं विनेदुः ॥ ४४ ॥

वानरों की सिंहगर्जना को सुन, महाबली राक्षस लोग उस सिंहगर्जना को न सह कर और भी अधिक भयङ्कर गर्जना करने लगे ॥ ४४ ॥

ते राक्षसबलं घोरं प्रविश्य हरियूथपाः ।
विचेरुरुद्यतैः शैलैर्नगाः शिखरिणो यथा ॥ ४५ ॥

उस भयङ्कर राक्षसी सेना में घुस, वानरयूथपति हाथों में शिलाएँ लिये और घूमते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानों शिखरधारी पर्वत घूमते फिरते हों ॥ ४५ ॥

केचिदाकाशमाविश्य केचिदुर्व्यां प्लवङ्गमाः ।
रक्षःसैन्येषु संक्रुद्धाश्चेरुर्द्रुमशिलायुधाः ॥ ४६ ॥

उन वानरों में से कितने ही तो उछल कर आकाश में चले गये और बहुत से पृथिवी पर ही रह कर और अत्यन्त क्रुद्ध हो राक्षसी सेना पर पेड़ों और शिलाओं से आक्रमण करने लगे ॥ ४६ ॥

द्रुमांश्च विपुलस्कन्धान्गृह्य वानरपुङ्गवाः ।
तद्युद्धमभवद्घोरं रक्षोवानरसङ्कुलम् ॥ ४७ ॥

वानरश्रेष्ठ बड़े बड़े गुद्दों वाले वृक्षों को ले राक्षसों से भिड़ गये राक्षसों और वानरों का घमासान युद्ध आरम्भ हुआ ॥ ४७ ॥

ते पादपशिलाशैलैश्चक्रुर्वृष्टिमनूपमाम् ।
बाणौघैर्वार्यमाणाश्च हरयो भीमविक्रमाः ॥ ४८ ॥

जब वानरों ने राक्षसों के ऊपर पेड़ों, पहाड़ों और शिलाओं ः अनुपम वृष्टि की, तब भीमपराक्रमी राक्षसों ने वानरों पर बाणा की वर्षा की और बाणों ही से वानरों के वार बचाये ॥ ४८ ॥

सिंहनादान्विनेदुश्च रणे वानरराक्षसाः ।
शिलाभिश्चूर्णयामासुर्यातुधानान्प्लवङ्गमाः ॥ ४९ ॥

वानर और राक्षस लड़ते जाते थे और सिंहनाद करते जाते थे। वानरों ने शिलाओं की वर्षा कर, राक्षसों की बहुत सी सेना पीस डाली ॥ ४९ ॥

निजघ्नुः संयुगे क्रुद्धाः कवचाभरणावृतान् ।
केचिद्रथगतान्वीरान्गजवाजिगतानपि ॥ ५० ॥

कवच धारण किये और भूषणों से भूषित तथा रथों, घोड़ों एवं हाथियों पर सवार राक्षसों को कुछ वानरों ने उस युद्ध में मार डाला ॥ ५० ॥

निजघ्नुः सहसाप्लुत्य यातुधानान्प्लवङ्गमाः ।
शैलशृङ्गाचिताङ्गाश्च मुष्टिभिर्वान्तलोचनाः ॥ ५१ ॥

अचानक उछल उछल कर वानरों ने राक्षसों को मूँकों और पर्वतशृङ्गों से ऐसा मारा कि राक्षसों की आँखें निकल पड़ीं ॥ ५१ ॥

चेलुः पेतुश्च नेदुश्च तत्र राक्षसपुङ्गवाः ।
राक्षसाश्च शरैस्तीक्ष्णैर्विभिदुः कपिकुञ्जरान् ॥ ५२ ॥

समरभूमि में राक्षसश्रेष्ठ चलायमान हो गये, गिर पड़े और भय से चिल्लाने लगे। उधर राक्षस भी पैने पैने बाण मार कपिश्रेष्ठों को बेध रहे थे ॥ ५२ ॥

शूलमुद्गरखड्गैश्च जघ्नुः प्रासैश्च शक्तिभिः ।
अन्योन्यं पातयामासुः परस्परजयैषिणः ॥ ५३ ॥

एक दूसरे को जीत लेने की इच्छा से दोनों दलों वाले शूल, मुगदर, खड्ग, प्रास और शक्ति चला, एक दूसरे को मार मार कर गिरा रहे थे ॥ ५३ ॥

रिपुशोणितदिग्धाङ्गास्तत्र वानरराक्षसाः ।
ततः शैलैश्च खड्गैश्च विसृष्टैर्हरिराक्षसैः ॥ ५४ ॥

और क्या वानर और क्या राक्षस—सभी शत्रुओं के रक्त से अपने शरीरों को लाल लाल कर रहे थे। वानर और राक्षसों के चलाये पत्थरों और खड्गों से ॥ ५४ ॥

मुहूर्तेनावृता भूमिरभवच्छोणिताप्लुता ।
विकीर्णपर्वताकारै रक्षोभिररिमर्दनैः ॥ ५५ ॥
आसीद्वसुमती पूर्णा तदा युद्धमदान्वितैः ।
आक्षिप्ताः क्षिप्यमाणाश्च भग्नशैलाश्च वानरैः ॥ ५६ ॥

मुहूर्त्त ही भर में समरभूमि ढक गयी और वहाँ लोहू की कीच हो गयी। युद्ध में मतवाले वानरों द्वारा मारे हुए बड़े बड़े पर्वताकार शरीरधारी राक्षसों से रणभूमि परिपूर्ण हो गयी। जब मारते मारते और चलाते चलाते वानरों के पर्वत वृक्षादि टूट गये ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

पुनरङ्गैस्तथा चक्रुरासन्ना युद्धमद्भुतम् ।
वानरान्वानरैरेव जघ्नुस्ते रजनीचराः ॥ ५७ ॥
राक्षसान्राक्षसैरेव जघ्नुस्ते वानरा अपि ।
आक्षिप्य च शिलास्तेषां निजघ्नू राक्षसा हरीन् ॥५८॥

तब वानर लोग घूँसों और लातों से अद्भुत युद्ध करने लगे। राक्षस, वानरों को वानरों के ऊपर और वानर, राक्षसों को राक्षसों के ऊपर पटक पटक कर मार रहे थे। राक्षस लोग वानरों के हाथों से पत्थरों और वृक्षों को छीन छीन कर उन्हींसे उनको मार रहे थे ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

तेषां चाच्छिद्य शस्त्राणि जघ्नू रक्षांसि वानराः ।
निजघ्नुः शैलशूलास्त्रैर्बिभिदुश्च परस्परम् ॥ ५९ ॥

वानर भी राक्षसों के हाथों से शस्त्र छीन कर उनसे राक्षसों का नाश करने लगे। इस प्रकार वानर और राक्षस एक दूसरे पर शिलाओं और शूलों से वार कर, एक दूसरे को नष्ट करने लगे ॥ ५९ ॥

सिंहनादान्विनेदुश्च रणे वानरराक्षसाः ।
१छिन्नवर्मतनुत्राणा राक्षसा वानरैर्हताः ॥ ६० ॥

रणभूमि में वानर और राक्षस सिंहनाद कर रहे थे। वानरों ने उन राक्षसों को मार डाला जिनके शरीररक्षक कवच लड़ते लड़ते टूट फूट गये थे ॥ ६० ॥

रुधिरं प्रस्रुतास्तत्र रससारमिव द्रुमाः ।
रथेन च रथं चापि वारणेनैव वारणम् ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार वृक्षों से गोंद बहता है, वैसे ही राक्षसों के शरीर से रुधिर बह रहा था। वानर रथ उठा कर रथ के ऊपर दे मारते थे और हाथी को उठा हाथी के ऊपर दे मारते थे ॥ ६१ ॥

हयेन च हयं केचिन्निजघ्नुर्वानरा रणे ।
प्रहृष्टमनसः सर्वे *प्रगृहीतमहाशिलाः ॥ ६२ ॥

कोई कोई वानर इस युद्ध में घोड़ों को उठा घोड़ों के ऊपर पटक मार डालते थे। सब वानर बड़े प्रसन्न थे और हाथों में बड़ी बड़ी शिलाएँ लिये हुए थे ॥ ६२ ॥

हरयो राक्षसाञ्जघ्नुर्द्रुमैश्च बहुशाखिभिः ।
तद्युद्धमभवद्घोरं रक्षोवानरसङ्कुलम् ॥ ६३ ॥

वानर लोग राक्षसों को बहुत सी डालियों वाले पेड़ों के प्रहार से मार रहे थे। यह वानरों और राक्षसों की लड़ाई बड़ी विकट हो रही थी ॥ ६३ ॥

---

१ छिन्नवर्मतनुत्राणाः—छिन्नवर्मरूपतनुत्राणाः। (गो०) * पाठान्तरे—"प्रगृहीतमनःशिलाः"

क्षुरप्रैरर्धचन्द्रैश्च भल्लैश्च निशितैः शरैः।
राक्षसा वानरेन्द्राणां चिच्छिदुः पादपाञ्शिलाः ॥६४॥

वानर जो शिलाएँ और वृक्ष राक्षसों के ऊपर फेंकते थे, उनको राक्षस छुरे के आकार के, अर्द्धचन्द्र आकार के तेज़ बाणों तथा भालों से काट डालते थे ॥ ६४ ॥

विकीर्णैः पर्वताग्रैश्च द्रुमैश्छिन्नैश्च संयुगे।
हतैश्च कपिरक्षोभिर्दुर्गमा वसुधाऽभवत् ॥ ६५ ॥

टूटे हुए शैलशृङ्गों तथा कटे हुए वृक्षों एवं मरे हुए वानरों और राक्षसों की लोथें रणक्षेत्र में इतनी पड़ी थीं की, वहाँ की भूमि दुर्गम हो गयी थी ॥ ६५ ॥

ते वानरा गर्वितहृष्टचेष्टाः
संग्राममासाद्य भयं विमुच्य।
युद्धं तु सर्वे सह राक्षसैस्तैः
नानायुधाश्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ६६ ॥

वे वानर, जो गर्वित और हर्षित हो रहे थे, संग्राम में निर्भय हो अनेक प्रकार के आयुधों को राक्षसों से छीन छीन कर, उनसे उन राक्षसों से लड़ रहे थे ॥ ६६ ॥

तस्मिन्प्रवृत्ते तुमुले विमर्दे[1]
प्रहृष्यमाणेषु वलीमुखेषु।
निपात्यमानेषु च राक्षसेषु
महर्षयो देवगणाश्च नेदुः ॥ ६७ ॥

---

[1] विमर्दे—युद्धे। (गो०)

उस तुमुल युद्ध में जहाँ वानरगण अत्यन्त हर्षित हो राक्षसों को मार मार कर गिरा रहे थे, वहाँ पर (उस घोर युद्ध का तमाशा देख देख) महर्षि और देवतागण हर्षनाद कर रहे थे ॥ ६७ ॥

ततो हयं मारुततुल्यवेगम्
आरुह्य शक्तिं निशितां प्रगृह्य ।
नारान्तको वानरराजसैन्यं
महार्णवं मीन इवाविवेश ॥ ६८ ॥

वायु के समान शीघ्रगामी घोड़े पर सवार हो और हाथ में पैना भाला ले, नरान्तक वानरी सेना में वैसे ही घुस गया; जैसे मच्छ महासागर में घुस जाता है ॥ ६८ ॥

स वानरान्सप्तशतानि वीरः
प्रासेन दीप्तेन विनिर्बिभेद ।
एकक्षणेनेन्द्ररिपुर्महात्मा
जघान सैन्यं हरिपुङ्गवानाम् ॥ ६९ ॥

नरान्तक ने अपने चमचमाते प्रास से देखते देखते क्षण भर में सात सौ वानरों को मार डाला । तदनन्तर वह महाबली इन्द्रशत्रु नरान्तक वानरश्रेष्ठों की सेना के अन्य वीरों को मारने लगा ॥ ६९ ॥

ददृशुश्च महात्मानं हयपृष्ठे प्रतिष्ठितम् ।
चरन्तं हरिसैन्येषु विद्याधरमहर्षयः ॥ ७० ॥

विद्याधरों और महर्षियों ने महाबली नरान्तक को घोड़े पर सवार, वानरी सेना में घूमते हुए देखा ॥ ७० ॥

स तस्य ददृशे मार्गो मांसशोणितकर्दमः ।
पतितैः पर्वताकारैर्वानरैरभिसंवृतः ॥ ७१ ॥

जिस ओर से वह निकल जाता उस ओर का मार्ग पर्वताकार वानरों की लोथों और उनके रुधिर मांस के कीच के कारण चलने फिरने योग्य फिर नहीं रह जाता था ॥ ७१ ॥

यावद्विक्रमितुं बुद्धिं चक्रुः प्लवगपुङ्गवाः ।
तावदेतानतिक्रम्य निर्बिभेद नरान्तकः ॥ ७२ ॥

नरान्तक ऐसी फुर्ती से युद्ध कर रहा था कि बड़े बड़े वीर वानर उस पर वार करने की जब तक इच्छा ही करते थे, तब तक वह उन्हें मार कर गिरा देता था ॥ ७२ ॥

[ततो यतः सुसंक्रुद्धः प्रासपाणिर्नरान्तकः ।
ततस्ततस्ते मन्यन्ते कालोऽयमिति वानराः] ॥ ७३ ॥

हाथ में पैना भाला लिये अत्यन्त क्रोध में भरा नरान्तक जिधर जा पहुँचता था, उधर के वानर समझते कि, यह हमारा काल आ पहुँचा ॥ ७३ ॥

ज्वलन्तं प्रासमुद्यम्य संग्रामाग्रे नरान्तकः ।
ददाह हरिसैन्यानि वनानीव विभावसुः ॥ ७४ ॥

चमचमाता भाला (प्रास) लिये नरान्तक रणभूमि में वानरों की सेना को मार कर, उसी प्रकार नष्ट कर रहा था; जिस प्रकार वन को आग जला कर नष्ट कर डालती है ॥ ७४ ॥

यावदुत्पाटयामासुर्वृक्षाञ्शैलान्वनौकसः ।
तावत्प्रासहताः पेतुर्वज्रकृत्ता इवाचलाः ॥ ७५ ॥

जब तक वानर लोग पेड़ों और पहाड़ों को उखाड़ें ही उखाड़ें; तब तक नरान्तक उनको भाले से छेद कर वैसे ही भूमि पर गिरा देता था, जैसे वज्र के प्रहार से टूटा हुआ पर्वत भूमि पर गिर पड़ता है ॥ ७५ ॥

दिक्षु सर्वासु बलवान्विचचार नरान्तकः ।
प्रमृद्गन्सर्वतो युद्धे प्रावृट्काले यथाऽनिलः ॥७६॥

इस प्रकार बलवान् नरान्तक रणभूमि में चारों ओर वर्षाकाल के पवन की तरह व्याप्त हो, वानरों का मर्दन कर रहा था ॥ ७६ ॥

न शेकुर्धावितुं वीरा न स्थातुं स्पन्दितुं भयात् ।
उत्पतन्तं स्थितं यान्तं सर्वान्विव्याध वीर्यवान् ॥७७॥

वानर योद्धा न तो भाग कर ही बच पाते थे और न उसका सामना ही कर सकते थे। उनका कलेजा मारे भय के धक धक कर रहा था। क्योंकि वह बलवान नरान्तक तो उन सब वानरों को, जो उछल कर भागना चाहते, और जो खड़े हो उसका सामना करते थे एवं जो रण छोड़ चले जाते थे, अपने भाले से वेध डालता था ॥ ७७ ॥

एकेनान्तककल्पेन प्रासेनादित्यतेजसा ।
भिन्नानि हरिसैन्यानि निपेतुर्धरणीतले ॥ ७८ ॥

उस अकेले मृत्यु के समान नरान्तक के सूर्य के समान चमचमाते भाले से क्षतविक्षत हो, बहुत सी वानरी सेना धराशायिनी हो गयी ॥ ७८ ॥

वज्रनिष्पेषसदृशं प्रासस्याभिनिपातनम् ।
न शेकुर्वानराः सोढुं ते विनेदुर्महास्वनम् ॥ ७९ ॥

वज्रप्रहार के समान उस भाले का प्रहार वानरों से न सहा गया। अतः वे बड़े ज़ोर से आर्तनाद करने लगे ॥ ७९ ॥

पततां हरिवीराणां रूपाणि प्रचकाशिरे ।
वज्रभिन्नाग्रकूटानां शैलानां पततामिव ॥ ८० ॥

भाले के प्रहार से गिरे हुए (पर्वताकार) वानरों की लोथें ऐसी जान पड़ती थीं, मानों वज्रप्रहार से टूटे हुए शिखर वाले पर्वत पड़े हों ॥ ८० ॥

ये तु पूर्वं महात्मानः कुम्भकर्णेन पातिताः ।
ते स्वस्था वानरश्रेष्ठाः सुग्रीवमुपतस्थिरे ॥ ८१ ॥

जिन महाबली वानरों को पहिले कुम्भकर्ण ने मार कर मूर्छित कर दिया था, वे नल नीलादि वानरश्रेष्ठ अब स्वस्थ हो कर, सुग्रीव के पास गये ॥ ८१ ॥

विप्रेक्षमाणः सुग्रीवो ददर्श हरिवाहिनीम् ।
नरान्तकभयत्रस्तां विद्रवन्तीमितस्ततः ॥ ८२ ॥

वानरी सेना की दशा देखते हुए सुग्रीव ने देखा कि, वह नरान्तक के भय से त्रस्त हो इधर उधर भाग रही है ॥ ८२ ॥

विद्रुतां वाहिनीं दृष्ट्वा स ददर्श नरान्तकम् ।
गृहीतप्रासमायान्तं हयपृष्ठे प्रतिष्ठितम् ॥ ८३ ॥

भागती हुई सेना को देखते हुए सुग्रीव ने नरान्तक को भी देखा। वह घोड़े की पीठ पर चढ़ा हुआ और हाथ में भाला लिये आ रहा था ॥ ८३ ॥

अथोवाच महातेजाः सुग्रीवो वानराधिपः ।
कुमारमङ्गदं वीरं शक्रतुल्यपराक्रमम् ॥ ८४ ॥

महातेजस्वी वानरराज सुग्रीव ने इन्द्र समान पराक्रमी वीर राजकुमार अङ्गद से कहा ॥ ८४ ॥

गच्छ त्वं राक्षसं वीरं योऽसौ तुरगमास्थितः ।
क्षोभयन्तं हरिबलं क्षिप्रं प्राणैर्वियोजय ॥ ८५ ॥

हे युवराज ! तुम जा कर घोड़े पर चढ़े हुए उस वीर राक्षस का शीघ्र वध करो, जो वानरी सेना को क्षुब्ध कर रहा है ॥ ८५ ॥

स भर्तुर्वचनं श्रुत्वा निष्पपाताङ्गदस्ततः ।
अनीकान्मेघसङ्काशान्मेघानीकादिवांशुमान् ॥ ८६ ॥

वानरराज के ये वचन सुन, अङ्गद अपनी मेघमाला जैसी सेना से वैसे ही निकल कर चले ; जैसे सूर्य मेघघटाओं से निकल कर बाहिर आता है ॥ ८६ ॥

[1]शैलसङ्घातसङ्काशो हरीणामुत्तमोऽङ्गदः ।
रराजाङ्गदसन्नद्धः सधातुरिव पर्वतः ॥ ८७ ॥

निविड़ कृष्ण पर्वत की तरह आकार वाले वानरश्रेष्ठ अङ्गद भुजाओं पर बाजूबन्द बाँधे हुए, धातुमय पर्वत की तरह शोभायमान होने लगे ॥ ८७ ॥

निरायुधो महातेजाः केवलं नखदंष्ट्रवान् ।
नरान्तकमभिक्रम्य वालिपुत्रोऽब्रवीद्वचः ॥ ८८ ॥

---

१ संघातः——निविडसंवेशः । (गो०)

उस समय उनके हाथ में कोई आयुध न था। उनको केवल अपने दाँतों और नखों ही का सहारा था। वे नरान्तक के पास जा उससे बोले ॥ ८८ ॥

तिष्ठ किं प्राकृतैरेभिर्हरिभिस्त्वं करिष्यसि ।
अस्मिन्वज्रसमस्पर्शं प्रासं क्षिप ममोरसि ॥ ८९ ॥

खड़ा रह! इन तुच्छ वानरों के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ होगा। वज्रप्रहार के समान प्रहार करने वाले अपने भाले की चोट मेरी छाती पर कर ॥ ८९ ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा प्रचुक्रोध नरान्तकः ।
संदश्य दशनैरोष्ठं विनिश्वस्य भुजङ्गवत् ।
अभिगम्याङ्गदं क्रुद्धो वालिपुत्रं नरान्तकः ॥ ९० ॥

अङ्गद के वचन सुन, नरान्तक बहुत क्रुद्ध हुआ और मारे क्रोध के दाँतों से अपने ओंठ चबाता हुआ साँप की तरह फुंसकारने लगा। नरान्तक क्रुद्ध हो अङ्गद के पास गया ॥ ९० ॥

प्रासं समाविध्य तदाऽङ्गदाय
समुज्ज्वलन्तं सहसोत्ससर्ज ।
स वालिपुत्रोरसि वज्रकल्पे
बभूव भग्नो न्यपतच्च भूमौ ॥ ९१ ॥

फिर उसने अपना चमचमाता भाला उठा कर, अङ्गद के ऊपर चलाया; किन्तु वह भाला अङ्गद की वज्र समान छाती में लग और टुकड़े टुकड़े हो, भूमि पर गिर पड़ा ॥ ९१ ॥

तं प्रासमालोक्य तदा विभग्नं
सुपर्णकृत्तोरगभोगकल्पम् ।
तलं समुद्यम्य स वालिपुत्रः
तुरङ्गमं तस्य जघान मूर्ध्नि ॥ ९२ ॥

गरुड़ जी जैसे बड़े बड़े साँपों के टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं, वैसे ही नरान्तक के प्रास के टुकड़े टुकड़े हुए देख, अङ्गद ने कूद कर उसके घोड़े के सिर में एक लात मारी ॥ ९२ ॥

निमग्नतालुः स्फुटिताक्षिताधरो
निष्क्रान्तजिह्वोऽचलसन्निकाशः ।
स तस्य वाजी निपपात भूमौ
तलप्रहारेण विशीर्णमूर्धा ॥ ९३ ॥

उस दारुण प्रहार से उस पर्वताकार घोड़े का तालू फट गया, उसकी आँखें निकल पड़ीं ओंठ लटक पड़े, जीभ निकल आयी और उसका सिर फट गया। वह (मर गया और) भूमि पर गिर पड़ा ॥ ९३ ॥

नरान्तकः क्रोधवशं जगाम
हतं तुरङ्गं पतितं निरीक्ष्य ।
स मुष्टिमुद्यम्य महाप्रभावो
जघान शीर्षे युधि वालिपुत्रम् ॥ ९४ ॥

अपने घोड़े को इस प्रकार मर कर भूमि पर गिरा हुआ देख, नरान्तक क्रुद्ध हुआ और उस महाबली ने घूँसा तान कर, वालिपुत्र अङ्गद के सिर पर मारा ॥ ९४ ॥

अथाङ्गदो मुष्टिविभिन्नमूर्धा
सुस्राव तीव्रं रुधिरं भृशोष्णम् ।
मुहुर्विजज्वाल मुमोह चापि
संज्ञां समासाद्य विसिष्मिये च ॥ ९५ ॥

उस मूँके के लगने से अङ्गद के सिर में घाव हो गया और उस घाव से गर्म गर्म बहुत सा रुधिर निकल कर, बहने लगा। कुछ समय के लिये वे अचेत से हो गये। तदनन्तर जब वे सचेत हुए; तब वे (नरान्तक के बल को देख) विस्मित हुए॥ ९५ ॥

अथाङ्गदो वज्रसमानवेगं
संवर्त्य मुष्टिं गिरिशृङ्गकल्पम् ।
निपातयामास तदा महात्मा
नरान्तकस्योरसि वालिपुत्रः ॥ ९६ ॥

वालिपुत्र अङ्गद ने भी वज्र समान वेग से, शैलशृङ्ग के समान मूँका तान कर, महाबली नरान्तक की छाती में मारा ॥ ९६ ॥

स मुष्टिनिष्पिष्टविभिन्नवक्षा
ज्वालावमच्छोणितदिग्धगात्रः ।
नरान्तको भूमितले पपात
यथाऽचलो वज्रनिपातभग्नः ॥ ९७ ॥

उस मुष्टिप्रहार से नरान्तक का कलेजा फट गया। मुख से रुधिर निकलने से उसका सारा शरीर रक्त से तर हो गया। नरान्तक मुख से ज्वाला फेंकता भूमि पर वैसे ही गिर पड़ा; जैसे वज्र के प्रहार से पहाड़ टूट कर; पृथिवी पर गिर पड़ता है ॥ ९७ ॥

अथान्तरिक्षे त्रिदशोत्तमानां
वनौकसां चैव महाप्रणादः ।
बभूव तस्मिन्निहतेऽग्र्यवीरे
नरान्तके वालिसुतेन संख्ये ॥ ९८ ॥

युद्ध में वालितनय अङ्गद द्वारा वीराग्रणी नरान्तक का मारा जाना देख, आकाशस्थित देवतागण और (सुग्रीव की सेना के) वानरगण हर्षनाद करने लगे ॥ ९८ ॥

अथाङ्गदो राममनः प्रहर्षणं
सुदुष्करं तत्कृतवान्हि विक्रमम् ।
विसिष्मिये सोऽप्यतिवीर्यविक्रमः
पुनश्च युद्धे स बभूव हर्षितः ॥ ९९ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

अङ्गद के इस अति दुष्कर वीर कृत्य को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने विस्मित हो प्रसन्नता प्रकट की। इससे अति बलवान और पराक्रमी अङ्गद हर्षित हो, पुनः युद्ध करने लगे ॥ ९९ ॥

युद्धकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्ततितमः सर्गः

—※—

नरान्तकं हतं दृष्ट्वा [1]चुक्रुशुर्नैर्ऋतर्षभाः ।
देवान्तकस्त्रिमूर्धा च पौलस्त्यश्च[2] महोदरः ॥ १ ॥

नरान्तक को मरा हुआ देख, राक्षसश्रेष्ठ देवान्तक, पुलस्त्यवंशी त्रिशिरा और महोदर रो पड़े ॥ १ ॥

आरूढो मेघसङ्काशं वारणेन्द्रं महोदरः ।
वालिपुत्रं महावीर्यमभिदुद्राव वीर्यवान् ॥ २ ॥

मेघ के समान एक बड़े ऊँचे हाथी पर चढ़ा हुआ वीर्यवान् महोदर, महापराक्रमी अङ्गद पर दौड़ा ॥ २ ॥

भ्रातृव्यसनसन्तप्तस्तथा देवान्तको बली ।
आदाय परिघं दीप्तमङ्गदं समभिद्रवत् ॥ ३ ॥

भाई के मर जाने के दुःख से दुःखी बलवान देवान्तक भी एक चमचमाता परिघ लिये हुए अङ्गद पर झपटा ॥ ३ ॥

रथमादित्यसङ्काशं युक्तं परमवाजिभिः ।
आस्थाय त्रिशिरा वीरो वालिपुत्रमथाभ्ययात् ॥ ४ ॥

उत्तम घोड़ों से युक्त सूर्य के समान चमचमाते रथ पर बैठे हुए वीर त्रिशिरा ने भी अङ्गद के ऊपर आक्रमण किया ॥ ४ ॥

---

१ चुक्रुशुः—रुरुदुः । (शि०) २ पौलस्त्यइतित्रिमूर्धविशेषणं न तु महोदरस्य । (गो०)

स त्रिभिर्देवदर्पघ्नैर्नैर्ऋतेन्द्रैरभिद्रुतः ।
वृक्षमुत्पाटयामास महाविटपमङ्गदः ॥ ५ ॥

देवताओं के दर्प को नष्ट करने वाले इन तीन राक्षसश्रेष्ठों द्वारा आक्रमण किये जाने पर (भी), अङ्गद (न घबड़ाये) ने एक बड़ा भारी वृक्ष उखाड़ लिया ॥ ५ ॥

देवान्तकाय तं वीरश्चिक्षेप सहसाङ्गदः ।
महावृक्षं महाशाखं शक्रो दीप्तमिवाशनिम् ॥ ६ ॥

देवराज इन्द्र जैसे वज्र चलाते हैं, वैसे ही अङ्गद ने देवान्तक को लक्ष्य कर वह बड़ी बड़ी डालियों से युक्त वृक्ष उसके ऊपर फेंका ॥ ६ ॥

त्रिशिरास्तं प्रचिच्छेद शरैराशीविषोपमैः ।
स वृक्षं कृत्तमालोक्य उत्पपात तदाऽङ्गदः ॥ ७ ॥

किन्तु त्रिशिरा ने विषधर सर्प के समान तेज़ बाणों से उस वृक्ष को काट गिराया । वृक्ष को कटा हुआ देख, अङ्गद उछले ॥७॥

स ववर्ष ततो वृक्षाञ्शैलांश्च कपिकुञ्जरः ।
तान्प्रचिच्छेद संक्रुद्धस्त्रिशिरा निशितैः शरैः ॥ ८ ॥

और आकाश में जा अङ्गद ने त्रिशिरा पर पेड़ों और शिलाओं की वर्षा की । किन्तु क्रोध में भरे हुए त्रिशिरा ने उन सब को पैने बाणों से काट डाला ॥ ८ ॥

परिघाग्रेण तान्वृक्षान्बभञ्ज च सुरान्तकः ।
त्रिशिराश्चाङ्गदं वीरमभिदुद्राव सायकैः ॥ ९ ॥

महोदर ने भी अपने परिघ से अङ्गद के फेंके हुए बहुत से वृक्षों के टुकड़े टुकड़े कर डाले। इतने में त्रिशिरा अङ्गद के ऊपर बाण वर्षाता हुआ उनके ऊपर दौड़ा ॥ ९ ॥

गजेन समभिद्रुत्य वालिपुत्रं महोदरः ।
जघानोरसि संक्रुद्धस्तोमरैर्वज्रसन्निभैः ॥ १० ॥

हाथी पर सवार महोदर भी अङ्गद पर दौड़ा और अङ्गद की छाती में अत्यन्त क्रुद्ध हो, वज्र के समान तोमर का प्रहार किया ॥ १० ॥

देवान्तकश्च संक्रुद्धः परिघेण तदाऽङ्गदम् ।
उपगम्याभिहत्याशु व्यपचक्राम वेगवान् ॥ ११ ॥

क्रुद्ध हो देवान्तक भी अङ्गद की ओर बड़े वेग से झपटा और अङ्गद की छाती में परिघ मार कर भागा ॥ ११ ॥

स त्रिभिर्नैर्ऋतश्रेष्ठैर्युगपत्समभिद्रुतः ।
न विव्यथे महातेजा वालिपुत्रः प्रतापवान् ॥ १२ ॥

यद्यपि इन तीनों राक्षसश्रेष्ठों ने मिल कर, एक साथ आक्रमण कर अङ्गद पर प्रहार किये, तथापि महातेजस्वी एवं प्रतापी अङ्गद तिल भर भी व्यथित न हुए ॥ १२ ॥

स वेगवान्महावेगं कृत्वा परमदुर्जयः ।
तलेन भृशमुत्पत्य जघानास्य महागजम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर परम दुर्जेय वानरश्रेष्ठ अङ्गद ने बड़ी फुर्ती से उछल कर, उस महागज के मस्तक पर एक लात जमायी, जिस पर महोदर सवार था ॥ १३ ॥

तस्य तेन प्रहारेण नागराजस्य संयुगे ।
पेततुर्लोचने तस्य विननाद स वारणः ॥ १४ ॥

उस युद्ध में अङ्गद की लात के प्रहार से उस गजराज की आँखें निकल पड़ीं और वह हाथी बड़े ज़ोर से चिंघारने लगा ॥ १४ ॥

विषाणं चास्य निष्कृष्य वालिपुत्रो महाबलः ।
देवान्तकमभिप्लुत्य ताडयामास संयुगे ॥ १५ ॥

इतने में अङ्गद ने उस गजराज के दोनों दाँत उखाड़ लिये और दौड़ कर उन दाँतों से देवान्तक को मारा ॥ १५ ॥

स विह्वलितसर्वाङ्गो वातोद्धूत इव द्रुमः ।
लाक्षारससवर्णं च सुस्राव रुधिरं मुखात् ॥ १६ ॥

उस प्रहार से देवान्तक हवा के झकोरे हुए पेड़ की तरह हिल उठा । उसके शरीर के समस्त अङ्ग शिथिल पड़ गये । उसके मुख से लाख के रंग जैसा बहुत सा रुधिर निकलने लगा ॥ १६ ॥

अथाश्वास्य महातेजाः कृच्छ्राद्देवान्तको बली ।
आविध्य परिघं घोरमाजघान तदाऽङ्गदम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी वीर देवान्तक ने अति कष्ट से सचेत हो, भयङ्कर परिघ के प्रहार से अङ्गद को घायल किया ॥ १७ ॥

परिघाभिहतश्चापि वानरेन्द्रात्मजस्तदा ।
जानुभ्यां पतितो भूमौ पुनरेवोत्पपात ह ॥ १८ ॥

उस परिघ के प्रहार से वालितनय अङ्गद घुटुओं के बल ज़मीन पर गिर पड़े ; किन्तु कुछ ही क्षणों बाद सावधान हो, वे उठ बैठे ॥ १८ ॥

तमुत्पतन्तं त्रिशिरास्त्रिभिर्बाणैरजिह्मगैः ।
घोरैर्हरिपतेः पुत्रं ललाटेऽभिजघान ह ॥ १९ ॥

अङ्गद को उठते देख, त्रिशिरा ने उनके सिर में तीन सीधे जाने वाले बाण मारे ॥ १९ ॥

ततोऽङ्गदं परिक्षिप्तं त्रिभिर्नैर्ऋतपुङ्गवैः ।
हनुमानपि विज्ञाय नीलश्चापि प्रतस्थतुः ॥ २० ॥

इतने में अङ्गद को तीन वीरश्रेष्ठ राक्षसों द्वारा घेर कर मारे जाते देख, हनुमान और नील दौड़े ॥ २० ॥

ततश्चिक्षेप शैलाग्रं नीलस्त्रिशिरसे तदा ।
तद्रावणसुतो धीमान्बिभेद निशितैः शरैः ॥ २१ ॥

नील ने एक शैलशृङ्ग खींच कर त्रिशिरा के सिर पर फेंका। किन्तु वीरवर रावणतनय त्रिशिरा ने, उस शैलशृङ्ग के, पैने तीरों से टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ २१ ॥

तद्बाणशतनिर्भिन्नं विदारितशिलातलम् ।
सविस्फुलिङ्गं सज्वालं निपपात गिरेः शिरः ॥ २२ ॥

उस शैलशृङ्ग को सौ बाण चला जब त्रिशिरा ने चूर चूर कर डाला; तब आग की चिनगारियों और ज्वाला से युक्त वह पर्वत पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २२ ॥

[नोट—बाण लोहे के थे । अतः ज़ोर से टकराने से पर्वत से आग निकलने लगी थी ।]

ततो [1]जृम्भितमालोक्य हर्षाद्देवान्तकस्तदा ।
परिघेणाभिदुद्राव मारुतात्मजमाहवे ॥ २३ ॥

उस शैलशृङ्ग को चूर चूर हो कर पृथिवी पर गिरा हुआ देख, देवान्तक हर्षित हुआ और हाथ में परिघ ले वह लड़ने के लिये हनुमान के ऊपर झपटा ॥ २३ ॥

तमापतन्तमुत्प्लुत्य हनुमान्मारुतात्मजः ।
आजघान तदा मूर्ध्नि वज्रकल्पेन मुष्टिना ॥ २४ ॥

परन्तु उसके आते ही हनुमान जी ने उछल कर, वज्र के समान एक घूँसा उसके सिर में मारा ॥ २४ ॥

शिरसि प्रहरन्वीरस्तदा वायुसुतो बली ।
नादेनाकम्पयच्चैव राक्षसान्स महाकपिः ॥ २५ ॥

कपिश्रेष्ठ वीर हनुमान जी उसके सिर में घूँसा मार कर, ऐसे ज़ोर से गर्जे कि, राक्षस दहल गये ॥ २५ ॥

स मुष्टिनिष्पिष्टविकीर्णमूर्धा
निर्वान्तदन्ताक्षिविलम्बिजिह्वः ।
देवान्तको राक्षसराजसूनुः
गतासुरुर्व्यां सहसा पपात ॥ २६ ॥

उस घूँसे की चोट से राक्षसराज रावण के पुत्र देवान्तक का मस्तक चूर चूर हो गया, दाँत और नेत्र निकल पड़े, जीभ लंबी हो कर मुख के बाहिर आ पड़ी। वह निर्जीव हो धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा ॥ २६ ॥

---

1 जृम्भितं—भग्नं। (गो०)

तस्मिन्हते राक्षसयोधमुख्ये
महाबले संयति देवशत्रौ ।
क्रुद्धस्त्रिमूर्धा निशिताग्रमुग्रं
ववर्ष नीलोरसि बाणवर्षम् ॥ २७ ॥

युद्ध में उस देवशत्रु एवं महाबली मुख्य राक्षस योद्धा देवान्तक के मारे जाने पर, त्रिशिरा अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने बड़े उग्र एवं पैने बाणों की, नील की छाती के ऊपर वर्षा की ॥ २७ ॥

महोदरस्तु संक्रुद्धः कुञ्जरं पर्वतोपमम् ।
भूयः समधिरुह्याशु मन्दरं रश्मिवानिव ॥ २८ ॥

इतने में महोदर भी अत्यन्त कुपित हो शीघ्रतापूर्वक एक दूसरे पर्वत के समान ऊँचे हाथी पर सवार हुआ । उस समय वह वैसा ही जान पड़ा, जैसा (अस्त होने वाला) सूर्य, मन्दराचल पर स्थित होने पर जान पड़ता है ॥ २८ ॥

ततो बाणमयं वर्षं नीलस्योरस्यपातयत् ।
गिरौ वर्षं तडिच्चक्रचापवानिव तोयदः ॥ २९ ॥

उसने भी नील की छाती पर बाणों की वर्षा की । उस समय ऐसा जान पड़ा ; मानों इन्द्रधनुष और बिजलीयुक्त मेघ, पर्वत पर जल की वर्षा करता हो ॥ २९ ॥

ततः शरौघैरभिवर्ष्यमाणो
विभिन्नगात्रः कपिसैन्यपालः ।

नीलो बभूवाथ [1]निसृष्टगात्रो
[2]विष्टम्भितस्तेन महाबलेन ॥ ३० ॥

कपिवाहिनी के सेनापति नील का सारा शरीर उस बाणवृष्टि से क्षतविक्षत हो गया। उसके शरीर के सारे अङ्ग शिथिल पड़ गये। महाबली महोदर ने नील को स्तब्ध अर्थात् मूर्च्छित कर दिया ॥ ३० ॥

ततस्तु नीलः प्रतिलभ्य संज्ञां
शैलं समुत्पाट्य सवृक्षषण्डम्।
ततः समुत्पत्य भृशोग्रवेगो
महोदरं तेन जघान मूर्ध्नि ॥ ३१ ॥

कुछ देर पीछे जब नील सचेत हुए, तब उन्होंने पेड़ों सहित एक शैल को उखाड़ लिया और बड़े वेग से उछल कर, उस शैल से महोदर के सिर में प्रहार किया ॥ ३१ ॥

ततः स शैलेन्द्रनिपातभग्नो
महोदरस्तेन महाद्विपेन।
विपोथितो भूमितले गतासुः
पपात वज्राभिहतो यथाद्रिः ॥ ३२ ॥

महोदर उस शैल के प्रहार से अपने उस महागज सहित चकनाचूर हो गया और निर्जीव हो भूमि पर वैसे ही गिर पड़ा; जैसे वज्र के प्रहार से टूट कर पर्वत भूमि पर गिरता है ॥३२॥

---

१ निसृष्टगात्रः—शिथिलगात्रः। (गो०) २ विष्टम्भितः—स्तब्धी कृतः। (गो०)

पितृव्यं निहतं दृष्ट्वा त्रिशिराश्चापमाददे ।
हनुमन्तं च संक्रुद्धो विव्याध निशितैः शरैः ॥ ३३ ॥

अपने चचा महोदर को मरा हुआ देख, त्रिशिरा अत्यन्त कुपित हुआ और हनुमान जी को पैने पैने बाणों से घायल करने लगा ॥ ३३ ॥

स वायुसूनुः कुपितश्चिक्षेप शिखरं गिरेः ।
त्रिशिरास्तच्छरैस्तीक्ष्णैर्बिभेद बहुधा बली ॥ ३४ ॥

पवननन्दन हनुमान ने कोप कर एक शैलशृङ्ग उसके ऊपर फेंका, किन्तु बलवान त्रिशिरा ने पैने बाणों से उसके टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ ३४ ॥

तद्व्यर्थं शिखरं दृष्ट्वा द्रुमवर्षं महाकपिः ।
विससर्ज रणे तस्मिन्रावणस्य सुतं प्रति ॥ ३५ ॥

उस युद्ध में शैलशृङ्ग को निष्फल हुआ देख, हनुमान जी रावणतनय त्रिशिरा को लक्ष्य बना, उसके ऊपर वृक्षों की वर्षा करने लगे ॥ ३५ ॥

तमापतन्तमाकाशे द्रुमवर्षं प्रतापवान् ।
त्रिशिरा निशितैर्बाणैश्चिच्छेद च ननाद च ॥ ३६ ॥

किन्तु प्रतापी त्रिशिरा उन सब वृक्षों को अपने ऊपर आते देख बीच ही में पैने तीर मार और उनके टुकड़े टुकड़े कर, उन सब को भूमि पर गिरा देता था और गर्जता था ॥ ३६ ॥

ततो हनूमानुत्प्लुत्य हयांस्त्रिशिरसस्तदा ।
विददार नखैः क्रुद्धो गजेन्द्रं मृगराडिव ॥ ३७ ॥

तब हनुमान जी उछल कर त्रिशिरा के घोड़ों को अपने नखों से ऐसे फाड़ने लगे; जैसे सिंह हाथी को चीर डालता है॥ ३७॥

अथ शक्तिं समादाय कालरात्रिमिवान्तकः।
चिक्षेपानिलपुत्राय त्रिशिरा रावणात्मजः॥ ३८॥

(यह देख) रावणतनय त्रिशिरा ने कालरात्रि में यमराज की तरह भयङ्कर एक शक्ति हाथ में ले, हनुमान जी के ऊपर फेंकी॥३८॥

दिवः क्षिप्तामिवोल्कां तां शक्तिं क्षिप्तामसङ्गताम्।
गृहीत्वा हरिशार्दूलो बभञ्ज च ननाद च॥ ३९॥

आकाश से छूटे हुए उल्का की तरह उस बड़ी साँग को अपने ऊपर आते देख, हनुमान जी ने बीच ही में उसे पकड़ लिया और उसको तोड़ मरोड़ कर फेंक दिया॥ ३९॥

तां दृष्ट्वा [1]घोरसङ्काशां शक्तिं भग्नां हनूमता।
प्रहृष्टा वानरगणा विनेदुर्जलदा इव॥ ४०॥

उस भयङ्कर प्रकाश वाली साँग को हनुमान द्वारा टूटा हुआ देख, वानरगण अत्यन्त प्रसन्न हो बादलों की तरह गर्जने लगे॥४०॥

ततः खड्गं समुद्यम्य त्रिशिरा राक्षसोत्तमः।
निजघान तदा [2]व्यूढे वायुपुत्रस्य वक्षसि॥ ४१॥

तब राक्षसश्रेष्ठ त्रिशिरा ने तलवार उठा कर, वायुपुत्र की विशाल छाती में मारी॥ ४१॥

खड्गप्रहाराभिहतो हनूमान्मारुतात्मजः।
आजघान त्रिशिरसं तलेनोरसि वीर्यवान्॥ ४२॥

---

१ घोरसंकाशां—भयंकरप्रकाशां। (गो०) २ व्यूढे—विशाले। (गो०)

उस खड्ग के प्रहार से घायल हो, पवननन्दन हनुमान जी ने उसकी छाती में एक थपेड़ मारी ॥ ४२ ॥

स तलाभिहतस्तेन स्रस्तहस्तायुधो भुवि ।
निपपात महातेजास्त्रिशिरास्त्यक्तचेतनः ॥ ४३ ॥

उस थप्पड़ की चोट से महातेजस्वी त्रिशिरा के हाथ से आयुध छूट पड़ा और वह स्वयं भी मूर्छित हो, भूमि पर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥

स तस्य पततः खड्गं समाच्छिद्य महाकपिः ।
ननाद गिरिसङ्काशस्त्रासयन्सर्वनैर्ऋतान् ॥ ४४ ॥

जब वह मूर्छित हो पृथिवी पर गिर पड़ा, तब हनुमान जी ने उसके हाथ से तलवार छीन ली। तदनन्तर पर्वत के समान विशाल शरीरधारी हनुमान जी, समस्त राक्षसों को त्रस्त करते हुए सिंहनाद करने लगे ॥ ४४ ॥

अमृष्यमाणस्तं घोषमुत्पपात निशाचरः ।
उत्पत्य च हनूमन्तं ताडयामास मुष्टिना ॥ ४५ ॥

उस सिंहनाद को सहन न कर, वह निशाचर उठ खड़ा हुआ और उठ कर उसने एक मूँका हनुमान जी के मारा ॥ ४५ ॥

तेन मुष्टिप्रहारेण संचुकोप महाकपिः ।
कुपितश्च निजग्राह किरीटे राक्षसर्षभम् ।
[हनुमान्रोषताम्राक्षो राक्षसं परवीरहा ॥ ४६ ॥]

उस मुष्टिप्रहार से हनुमान जी को बड़ा क्रोध उपजा और क्रुद्ध हो उन्होंने उसका किरीट पकड़ लिया ॥ ४६ ॥

स तस्य शीर्षाण्यसिना शितेन
किरीटजुष्टानि सकुण्डलानि ।
क्रुद्धः प्रचिच्छेद सुतोऽनिलस्य
[1]त्वष्टुः सुतस्येव शिरांसि शक्रः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर उसीकी पैनी तलवार से, पवननन्दन ने त्रिशिरा के, कुण्डलों से अलङ्कृत और मुकुट से भूषित तीनों सिर, वैसे ही काट डाले; जैसे इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के सिर काटे थे ॥४७॥

तान्यायताक्षाण्यगसन्निभानि
प्रदीप्तवैश्वानरलोचनानि ।
पेतुः शिरांसीन्द्ररिपोर्धरण्यां
ज्योतींषि मुक्तानि यथाऽर्कमार्गात् ॥ ४८ ॥

जैसे आकाश से नक्षत्र गिरा करते हैं, वैसे ही उस इन्द्रशत्रु निशाचर त्रिशिरा के प्रदीप्त अग्नि की तरह चमकते हुए नेत्रों से युक्त, वे तीनों पर्वताकार सिर पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ४८ ॥

तस्मिन्हते देवरिपौ त्रिशीर्षे
हनूमता शक्रपराक्रमेण ।
नेदुः प्लवङ्गाः प्रचचाल भूमी
रक्षांस्यथो दुद्रुविरे समन्तात् ॥ ४९ ॥

इन्द्र समान पराक्रमी हनुमान जी ने जब त्रिशिरा को मार डाला, तब वानर बड़े हर्षित हुए, एक बार पृथिवी हिल गयी, और बचे हुए राक्षस चारों ओर भाग गये ॥ ४९ ॥

---

१ त्वष्टुःसुतः—विश्वरूपः । (गो०)

हतं त्रिशिरसं दृष्ट्वा तथैव च महोदरम् ।
हतौ प्रेक्ष्य दुराधर्षौ देवान्तकनरान्तकौ ॥ ५० ॥

त्रिशिरा, महोदर और दुर्धर्ष देवान्तक एवं नरान्तक को मरा हुआ देख, ॥५०॥

चुकोप परमामर्षी [1]मत्तो राक्षसपुङ्गवः ।
जग्राहार्चिष्मतीं घोरां गदां सर्वायसीं शुभाम् ॥ ५१ ॥

अत्यन्त असहिष्णु राक्षसश्रेष्ठ महापार्श्व अत्यन्त क्रुद्ध हुआ उसने लोहे की बनी अपनी चमचमाती भयङ्कर और अमोघ गदा उठाई ॥ ५१ ॥

हेमपट्टपरिक्षिप्तां मांसशोणितफेनिलाम्[2] ।
विराजमानां वपुषा शत्रुशोणितरञ्जिताम् ॥ ५२ ॥

उस गदा में सोने के बन्द लगे हुए थे और वह युद्ध में काल-रूपिणी थी तथा शत्रुओं के रक्त से रंगी हुई थी ॥ ५२ ॥

तेजसा सम्प्रदीप्ताग्रां रक्तमाल्यविभूषिताम् ।
ऐरावतमहापद्मसार्वभौमभयावहाम् ॥ ५३ ॥

उसका अग्रभाग (अर्थात् गदका) चमचमा रहा था, उसके ऊपर लाल फूलों की माला पड़ी हुई थी । ऐरावत, महापद्म एवं, सार्वभौम महादिग्गजों को भी इस गदा से डर लगता था ॥ ५३ ॥

गदामादाय संक्रुद्धो मत्तो राक्षसपुङ्गवः ।
हरीन्समभिदुद्राव युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ५४ ॥

---

१ मत्तः—महापार्श्वः । मत्त इति महापार्श्वस्य नामान्तरं । (गो०)
२ मांसशोणितफेनिलाम—युद्धकालिक रूपं । (गो०)

राक्षसश्रेष्ठ महापार्श्व क्रुद्ध हो और उस गदा को ले प्रलय-कालीन अग्नि की तरह जलता हुआ वानरों के पीछे दौड़ा ॥५४॥

अथर्षभः समुत्पत्य वानरो रावणानुजम् ।
मत्तानीकमुपागम्य तस्थौ तस्याग्रतो बली ॥ ५५ ॥

तब बलवान् ऋषभ नामक वानरयूथपति कूद कर रावण के छोटे भाई महापार्श्व के पास जा, उसके सामने खड़ा हुआ ॥ ५५ ॥

तं पुरस्तात्स्थितं दृष्ट्वा वानरं पर्वतोपमम् ।
आजघानोरसि क्रुद्धो गदया वज्रकल्पया ॥ ५६ ॥

पर्वताकार ऋषभ वानर को अपने सामने खड़ा देख, वज्र के समान उस गदा से महापार्श्व ने क्रोध में भर ऋषभ की छाती में प्रहार किया ॥५६॥

स तयाऽभिहतस्तेन गदया वानरर्षभः ।
भिन्नवक्षाः समाधूतः सुस्राव रुधिरं बहु ॥ ५७ ॥

उस गदा के लगने से कपिश्रेष्ठ ऋषभ की छाती विदीर्ण हो गयी। उसका शरीर काँप उठा और छाती से बहुत सा रक्त निकल गया ॥ ५७ ॥

स सम्प्राप्य चिरात्संज्ञामृषभो वानरर्षभः ।
अभिजग्राह वेगेन गदां तस्य महात्मनः ॥ ५८ ॥

बहुत देर बाद जब कपिश्रेष्ठ ऋषभ को चेत हुआ तब उसने झपट कर महापार्श्व के हाथ से गदा छीन ली ॥५८॥

गृहीत्वा तां गदां भीमामाविध्य च पुनः पुनः ।
मत्तानीकं महात्मानं जघान रणमूर्धनि ॥ ५९ ॥

उस भयङ्कर गदा को छीन और उसे बार बार घुमा, ऋषभ ने उससे महाबली महापार्श्व के सिर में प्रहार किया ॥ ५६ ॥

स स्वया गदया भग्नो विशीर्णदशनेक्षणः ।
निपपात ततो मत्तो वज्राहत इवाचलः ॥ ६० ॥
विशीर्णनयने भूमौ गतसत्त्वे गतायुषि ।
पतिते राक्षसे तस्मिन्विद्रुतं राक्षसं बलम् ॥ ६१ ॥

उस अपनी ही गदा के प्रहार से महापार्श्व के दाँत चूर चूर हो गये और आँखें निकल पड़ीं । वज्राहत पर्वत की तरह महापार्श्व गिर पड़ा, उसके नेत्र निकल कर बिखर गये, वह गतायु राक्षस निर्जीव हो धरती पर गिर पड़ा । महापार्श्व के गिरते ही बची हुई राक्षसी सेना भाग गयी ॥ ६० ॥ ६१ ॥

[उन्मत्तस्तु तदा दृष्ट्वा गतासुं भ्रातरं रणे ।
चुकोप परमक्रुद्धः प्रलयाग्निसमद्युतिः ॥ ६२ ॥

युद्ध में अपने भाई महापार्श्व को मरा देख, उन्मत्त नामक राक्षस बहुत क्रुद्ध हुआ और क्रोध में भर वह प्रलयाग्नि के समान दमकने लगा ॥ ६२ ॥

ततः समादाय गदां स वीरः
वित्रासयन्वानरसैन्यमुग्रम् ।
दुद्राव वेगेन तु सैन्यमध्ये
दहन्यथा वह्निरतिप्रचण्डः ॥ ६३ ॥

प्रचण्ड गदा को हाथ में ले वह वीर उससे वानरी सेना को हटाने लगा । जिस प्रकार वन में अति प्रचण्ड अग्नि लपक लपक

कर वन को भस्म करता है; उसी प्रकार उन्मत्त राक्षस वानरी सेना में लपक लपक कर वानरों का संहार करने लगा ॥ ६३ ॥

आपतन्तं तदा दृष्ट्वा राक्षसं भीमविक्रमम् ।
शैलमादाय दुद्राव गवाक्षः पर्वतोपमः ॥ ६४ ॥

उस भीम पराक्रमी राक्षस को आक्रमण करते देख, पर्वताकार शरीरधारी वानरयूथपति गवाक्ष एक पर्वत उठा उस पर दौड़ा ॥ ६४ ॥

जिघांसू राक्षसं भामं तं शैलेन महाबलः ।
आपतन्तं तदा दृष्ट्वा उन्मत्तोऽपि महागिरिम् ॥ ६५ ॥

और उस भयङ्कर राक्षस का वध करने की इच्छा से वह पर्वत उसके ऊपर फेंका। उस विशाल पर्वत को अपने ऊपर आते देख, उन्मत्त ने भी ॥ ६५ ॥

चिच्छेद गदया वीरः शतधा तत्र संयुगे ।
चूर्णीकृतं गिरिं दृष्ट्वा रक्षसा कपिकुञ्जरः ॥ ६६ ॥

अपनी गदा के प्रहार से उस विशाल पर्वत को तोड़ कर, उसके सौ टुकड़े कर डाले। जब कपिश्रेष्ठ गवाक्ष ने देखा कि, उस राक्षसश्रेष्ठ ने उस पर्वत के टुकड़े टुकड़े कर डाले हैं ॥ ६६ ॥

विस्मितोऽभून्महाबाहुर्जगर्ज च मुहुर्मुहुः ।
उन्मत्तस्तु सुसंक्रुद्धो ज्वलन्तीं राक्षसोत्तमः ॥ ६७ ॥

तब वीर गवाक्ष को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह बार बार गर्जने लगा। इससे राक्षसश्रेष्ठ उन्मत्त अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने चमचमाती ॥ ६७ ॥

गदामादाय वेगेन कपेर्वक्षस्यताडयत् ।
स तया गदया वीरस्ताडितः कपिकुञ्जरः ॥ ६८ ॥

गदा उठा कर बड़े ज़ोर से गवाक्ष की छाती में मारी । उस गदा के प्रहार से कपिश्रेष्ठ गवाक्ष ॥ ६८ ॥

पपात भूमौ निःसंज्ञः सुस्राव रुधिरं बहु ।
पुनः संज्ञामथासाद्य वानरः स समुत्थितः ॥ ६९ ॥

मूर्च्छित हो पृथिवी पर गिर पड़ा और उसकी छाती से बहुत सा रक्त भी निकल गया । कुछ देर बाद वह पुनः सचेत हुआ और उठ बैठा ॥ ६९ ॥

तलेन ताडयामास ततस्तस्य शिरः कपिः ।
तेन प्रताडितो वीरः राक्षसः पर्वतोपमः ॥ ७० ॥

उठ कर गवाक्ष ने उसके सिर में एक चपत जमायी । चपत की चोट से पर्वताकार वीर राक्षस उन्मत्त के ॥ ७० ॥

विस्रस्तदन्तनयनः निपपात महीतले ।
सुस्राव रुधिरं सोष्णं गतासुश्च ततोऽभवत् ॥ ७१ ॥]

दाँत टूट गये और आँखें निकल पड़ीं । उसके शरीर से गर्म लोहू बहने लगा और वह निर्जीव हो पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ७१ ॥

तस्मिन्हते भ्रातरि रावणस्य
तन्नैर्ऋतानां बलमर्णवाभम् ।
त्यक्तायुधं केवलजीवितार्थं
दुद्राव भिन्नार्णवसन्निकाशम् ॥ ७२ ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार रावण के भाई उन्मत्त के मारे जाने पर, वह समुद्र के समान राक्षसी सेना, अस्त्र शस्त्र त्याग केवल अपने प्राण बचाने को, खलबलाते हुए समुद्र की तरह चारों ओर भाग गयी ॥ ७२ ॥

[नोट—६१ वें श्लोक से लेकर ७१ वें श्लोक तक का वर्णन कई संस्करणों में नहीं पाया जाता ।]

युद्धकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकसप्ततितमः सर्गः

—※—

स्वबलं व्यथितं दृष्ट्वा तुमुलं रोमहर्षणम् ।
भ्रातॄंश्च निहतान्दृष्ट्वा शक्रतुल्यपराक्रमान् ॥ १ ॥

अति,भयङ्कर रोमाञ्चकारी अपनी सेना को व्यथित देख तथा अपने इन्द्र के समान पराक्रमी भाइयों का मारा जाना देख ॥ १ ॥

पितृव्यौ चापि संदृश्य समरे सन्निषूदितौ ।
युद्धोन्मत्तं च मत्तं च भ्रातरौ राक्षसर्षभौ ॥ २ ॥

तथा अपने दोनों चाचों का युद्ध में नाश हुआ देख, एवं युद्धोन्मत्त एवं मत्त नामक अपने दोनों भाइयों का मारा जाना देख, ॥ २ ॥

चुकोप च महातेजा ब्रह्मदत्तवरो युधि ।
अतिकायोऽद्रिसङ्काशो देवदानवदर्पहा ॥ ३ ॥

पर्वत के समान विशाल शरीरधारी महातेजस्वी एवं ब्रह्मा से युद्ध में सदा विजयी होने का वर पाये हुए, तथा देवता और दानवों का दर्प दलन करने वाला अतिकाय बड़ा क्रुद्ध हुआ ॥ ३ ॥

स भास्करसहस्रस्य सङ्घातमिव भास्वरम् ।
रथमास्थाय शक्रारिरभिदुद्राव वानरान् ॥ ४ ॥

वह इन्द्रशत्रु अतिकाय हज़ार सूर्य के समान चमकीले रथ पर सवार हो वानरों पर दौड़ा ॥ ४ ॥

स विस्फार्य महच्चापं किरीटी मृष्टकुण्डलः ।
नाम विश्रावयामास ननाद च महास्वनम् ॥ ५ ॥

कानों में कुण्डल पहिने और सिर पर मुकुट धारण किये हुए अतिकाय ने अपना धनुष टङ्कोर कर, सब को अपना नाम सुनाया और वह बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ ५ ॥

तेन सिंहप्रणादेन नामविश्रावणेन च ।
ज्याशब्देन च भीमेन त्रासयामास वानरान् ॥ ६ ॥

उसके सिंहगर्जन से तथा उच्चस्वर से अपना नामोच्चारण करने से एवं उसके भयङ्कर रोदे की टङ्कार से वानर भयभीत हो गये ॥ ६ ॥

ते दृष्ट्वा देहमाहात्म्यं कुम्भकर्णोऽयमुत्थितः ।
भयार्ता वानराः सर्वे संश्रयन्ते परस्परम् ॥ ७ ॥

उसके शरीर की विशालता देख वानरों ने समझा कि, मरा मराया कुम्भकर्ण फिर जी उठा है। सो वे वानर भय से पीड़ित हो आपस में एक दूसरे का सहारा लेने लगे ॥ ७ ॥

ते तस्य रूपमालोक्य यथा विष्णोस्त्रिविक्रमे ।
भयाद्वानरयूथास्ते विद्रवन्ति ततस्ततः ॥ ८ ॥

विष्णु के त्रिविक्रमावतार की तरह उसका रूप देख, वे वानर, यूथपति इधर उधर भागने लगे ॥ ८ ॥

तेऽतिकायं समासाद्य वानरा मूढचेतसः ।
शरण्यं शरणं जग्मुर्लक्ष्मणाग्रजमाहवे ॥ ९ ॥

वे मूढ़ वानर, अतिकाय को रणभूमि में आते देख, सर्वलोक-शरण्य श्रीरामचन्द्र जी के शरण में गये ॥ ९ ॥

ततोऽतिकायं काकुत्स्थो रथस्थं पर्वतोपमम् ।
ददर्श धन्विनं दूराद्गर्जन्तं कालमेघवत् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वताकार अतिकाय को रथ पर सवार, हाथ में धनुष लिये हुए और दूर ही से प्रलयकालीन मेघ की तरह गर्जते हुए देखा ॥ १० ॥

स तं दृष्ट्वा महात्मानं राघवस्तु विसिष्मिये ।
वानरान्सान्त्वयित्वाऽथ विभीषणमुवाच ह ॥ ११ ॥

उस महाकाय राक्षस को देख श्रीरामचन्द्र जी को भी आश्चर्य हुआ और वानरों को धीरज बँधा, वे विभीषण से बोले ॥ ११ ॥

कोऽसौ पर्वतसङ्काशो धनुष्मान्हरिलोचनः[1] ।
युक्ते हयसहस्रेण विशाले स्यन्दने स्थितः ॥ १२ ॥

---

[1] हरिलोचनः—सिंहदृष्टिः । (गो०)

यह कौन है जो पर्वत के समान विशाल शरीर धारण किये हुए और सिंह की तरह देखता हुआ, हज़ार घोड़ों के विशाल रथ पर बैठा हुआ है ? ॥ १२ ॥

य एष निशितैः शूलैः सुतीक्ष्णैः प्रासतोमरैः ।
अर्चिष्मद्भिर्वृतो भाति भूतैरिव महेश्वरः ॥ १३ ॥

अत्यन्त पैने और चमचमाते शूलों, प्रासों, और तोमरों को लिये हुए यह ऐसा जान पड़ता है, मानों भूतों से घिरे हुए शिव जी हों ॥ १३ ॥

कालजिह्वाप्रकाशाभिर्य एषोऽतिविराजते ।
आवृतो [1]रथशक्तीभिर्विद्युद्भिरिव तोयदः ॥ १४ ॥

रथ में रखी हुई और काल की जीभों की तरह चमचमाती साँगों से यह ऐसा शोभित हो रहा है जैसे बिजली से बादल शोभित होता है ॥ १४ ॥

धनूंषि चास्य सज्यानि हेमपृष्ठानि सर्वशः ।
शोभयन्ति रथश्रेष्ठं शक्रचाप इवाम्बरम् ॥ १५ ॥

सोने के बन्दों से भूषित और रोदा चढ़ा हुआ इसका धनुष इसके उत्तम रथ को, उसी प्रकार शोभायमान कर रहा है, जिस प्रकार इन्द्र-धनुष आकाश को शोभित करता है ॥ १५ ॥

क एष रक्षःशार्दूलो रणभूमिं विराजयन् ।
अभ्येति रथिनां श्रेष्ठो रथेनादित्यतेजसा ॥ १६ ॥

सूर्य की समान चमचमाते रथ में बैठा एवं रथियों में श्रेष्ठ यह कौन राक्षसशार्दूल रणभूमि में चला आ रहा है ॥ १६ ॥

---

१ रथशक्तीभिः रथस्थिताभिः शक्तिभिः । (गो०)

ध्वजशृङ्गप्रतिष्ठेन राहुणाभिविराजते ।
सूर्यरश्मिनिभैर्बाणैर्दिशो दश विराजयन् ॥ १७ ॥

इसके रथ की ध्वजा पर राहु की मूर्ति है। सूर्य किरणों के समान चमचमाते इसके बाण भी दसों दिशाओं को कैसा प्रकाशित कर रहे हैं ॥ १७ ॥

त्रिणतं मेघनिर्ह्रादं हेमपृष्ठमलंकृतम् ।
शतक्रतुधनुःप्रख्यं धनुश्चास्य विराजते ॥ १८ ॥

तीन जगहों में झुका हुआ, बादल के समान शब्दायमान, सुवर्ण की पीठ से शोभित इसका धनुष, इन्द्रधनुष की तरह कैसा शोभित हो रहा है ॥ १८ ॥

सध्वजः सपताकश्च सानुकर्षो[1] महारथः ।
चतुःसादिसमायुक्तो मेघस्तनितनिस्वनः ॥ १९ ॥

इसका विशाल रथ ध्वजा पताका से सजा हुआ है और अनुकर्ष से युक्त है। चार सारथि उसको हाँक रहे हैं और उससे मेघ की तरह गड़गड़ाहट का शब्द हो रहा है ॥ १९ ॥

विंशतिर्दश चाष्टौ च तूणोऽस्य रथमास्थिताः ।
कार्मुकानि च भीमानि ज्याश्च काञ्चनपिङ्गलाः ॥२०॥

इसके रथ पर अड़तीस तरकस, भयङ्कर अड़तीस धनुष और सुनहले (पीले) रंग के अड़तीस ही रोदे (धनुष की डोरी) रखे हुए हैं ॥ २० ॥

---

१ अनुकर्षः—रथाधःस्थदारु । (गो०)

द्वौ च खड्गौ रथगतौ पार्श्वस्थौ पार्श्वशोभितौ ।
चतुर्हस्तत्सरुयुतौ व्यक्तहस्तदशायतौ ॥ २१ ॥

रथ के भीतर अगल बगल रखे हुए दो खड्ग दोनों ओर कैसे सुन्दर जान पड़ते हैं। इन खड्गों की मूँठे चार चार हाथ की हैं और ये दस हाथ लंबे हैं ॥ २१ ॥

रक्तकण्ठगुणो धीरो महापर्वतसन्निभः ।
कालःकालमहावक्त्रो मेघस्थ इव भास्करः ॥ २२ ॥

लाल रंग की माला पहिने हुए, धैर्यशाली, एक बड़े पहाड़ के समान लंबा, काला कलूटा काल की तरह मुँह बाये, यह राक्षस ऐसा जान पड़ता है, मानों मेघ के ऊपर सूर्य सवार हो ॥ २२ ॥

काञ्चनाङ्गदनद्धाभ्यां भुजाभ्यामेष शोभते ।
शृङ्गाभ्यामिव तुङ्गाभ्यां हिमवान्पर्वतोत्तमः ॥ २३ ॥

इसकी दोनों भुजाएं बाजूबन्दों से शोभायमान हो ऐसी जान पड़ती हैं, मानों ऊँचे ऊँचे दो शिखरों से विशाल हिमालय पर्वत शोभित हो रहा हो ॥ २३ ॥

कुण्डलाभ्यां तु यस्यैतद्भाति वक्त्रं शुभेक्षणम् ।
पुनर्वस्वन्तरगतं पूर्णं बिम्बमिवैन्दवम् ॥ २४ ॥

सुन्दर नेत्रों से युक्त इसका मुखमण्डल दो कुण्डलों से भूषित हो ऐसा जान पड़ता है, जैसा कि, पुनर्वसु नक्षत्र के बीच में पूर्ण बिम्बवाला चन्द्रमा हो ॥ २४ ॥

आचक्ष्व मे महाबाहो त्वमेनं राक्षसोत्तमम् ।
यं दृष्ट्वा वानराः सर्वे भयार्ता विद्रुता दिशः ॥ २५ ॥

हे महाबाहो ! तुम मुझे बतलाओ कि, यह कौन राक्षस है, जिसको देखकर समस्त वानर भयभीत हो भागे जा रहे हैं ॥ २५ ॥

स पृष्टो राजपुत्रेण रामेणामिततेजसा ।
आचचक्षे महातेजा राघवाय विभीषणः ॥ २६ ॥

अमित तेज सम्पन्न राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी ने जब इस प्रकार पूँछा; तब महातेजस्वी विभीषण ने श्रीरामचन्द्र जी को उत्तर देते हुए उनसे कहा ॥ २६ ॥

दशग्रीवो महातेजा राजा वैश्रवणानुजः ।
भीमकर्मा महोत्साहो रावणो राक्षसाधिपः ॥ २७ ॥

दस सिर वाला, महातेजस्वी, राजा कुबेर का छोटा भाई; भयङ्कर कृत्य करने वाला बड़ा उत्साही और महाबली जो राक्षसराज रावण है ॥ २७ ॥

तस्यासीद्वीर्यवान्पुत्रो रावणप्रतिमो रणे ।
वृद्धसेवी श्रुतिधरः सर्वास्त्रविदुषां वरः ॥ २८ ॥

उसीका यह पराक्रमी पुत्र है और रावण ही की तरह युद्ध करने में निपुण है । यह वृद्धों की सेवा करने वाला है, बहुश्रुत है, सब शस्त्रधारियों में अग्रणी है ॥ २८ ॥

अश्वपृष्ठे रथेनागे खड्गे धनुषि कर्षणे ।
भेदे सान्त्वे च दाने च नये मन्त्रे च सम्मतः ॥ २९ ॥

यह घोड़ा, रथ, और हाथी पर सवार होने में दक्ष तथा तलवार चलाने और धनुष पर बाण रख कर चलाने में चतुर है । यह साम, दान, भेदादि राजनीति में कुशल है । यह परामर्श देने में भी निपुण है । रावण का यह कृपापात्र है ॥ २९ ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य लङ्का वसति निर्भया ।
तनयं धान्यमालिन्या अतिकायमिमं विदुः ॥ ३० ॥

इसके बाहुबल के सहारे लङ्कावासी निर्भय रहते हैं। यह धान्यमालिनी (मन्दोदरी) के गर्भ से उत्पन्न हुआ है और इसका नाम अतिकाय है ॥ ३० ॥

एतेनाराधितो ब्रह्मा तपसा भावितात्मना ।
अस्त्राणि चाप्यवाप्तानि रिपवश्च पराजिताः ॥ ३१ ॥

इसने तपस्या द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न कर अस्त्र पाये हैं और उनसे अपने वैरियों को परास्त किया है ॥ ३१ ॥

सुरासुरैरवध्यत्वं दत्तमस्मै स्वयंभुवा ।
एतच्च कवच दिव्यं रथश्चैषोऽर्कभास्वरः ॥ ३२ ॥

ब्रह्मा ने इसे सुरों और असुरों से अवध्य होने का वर दिया है, अर्थात् देवताओं और दैत्यों के हाथ से यह मर नहीं सकता। इसे दिव्य कवच और सूर्य के समान चमकीला रथ भी (तप प्रभाव से) प्राप्त हुआ है ॥ ३२ ॥

एतेन शतशो देवा दानवाश्च पराजिताः ।
रक्षितानि च रक्षांसि यक्षाश्चापि निषूदिताः ॥ ३३ ॥

इसने सैकड़ों देवताओं और दानवों को पराजित कर राक्षसों की रक्षा की है और यक्षों का संहार किया है ॥ ३३ ॥

वज्रं विष्टम्भितं येन बाणैरिन्द्रस्य धीमतः ।
पाशः सलिलराजस्य रणे प्रतिहतस्तथा ॥ ३४ ॥

इस रणकुशल ने अपने बाणों से इन्द्र के वज्र की गति स्तम्भित कर दी थी तथा वरुण के पाश को व्यर्थ कर दिया था ॥ ३४ ॥

एषेऽतिकायो बलवान्राक्षसानामथर्षभः ।
रावणस्य सुतो धीमान्देवदानवदर्पहा ॥ ३५ ॥

देवता और दानवों के दर्प का नाश करने वाला यह वही रावण का बुद्धिमान पुत्र राक्षसश्रेष्ठ बलवान अतिकाय है ॥ ३५ ॥

तदस्मिन्क्रियतां यत्नः क्षिप्रं पुरुषपुङ्गव ।
पुरा वानरसैन्यानि क्षयं नयति सायकैः ॥ ३६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सो इसके रोकने का कोई उपाय शीघ्र करना चाहिये । क्योंकि यह सब से पहिले, मारे बाणों के वानरों ही का संहार कर रहा है ॥ ३६ ॥

ततोऽतिकायो बलवान्प्रविश्य हरिवाहिनीम् ।
विस्फारयामास धनुर्ननाद च पुनः पुनः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर बलवान् अतिकाय वानरी सेना में घुस, धनुष को टंकारता हुआ, बारंबार सिंहनाद करने लगा ॥ ३७ ॥

तं भीमवपुषं दृष्ट्वा रथस्थं रथिनां वरम् ।
अभिपेतुर्महात्मानो ये प्रधाना वनौकसः ॥ ३८ ॥

रथियों में श्रेष्ठ उस भयङ्कर शरीर वाले अतिकाय को रथ में बैठा हुआ देख, बलवान् वानरयूथपति उसका सामना करने के लिये दौड़े ॥ ३८ ॥

कुमुदो द्विविदो मैन्दो नीलः शरभ एव च ।
पादपैर्गिरिशृङ्गैश्च युगपत्समभिद्रवन् ॥ ३९ ॥

कुमुद, द्विविद, नील, शरभ हाथों में वृक्ष और पर्वतशिखर ले ले कर, एक साथ उसके ऊपर दौड़े ॥ ३९ ॥

तेषां वृक्षांश्च शैलांश्च शरैः काञ्चनभूषणैः ।
अतिकायो महातेजाश्चिच्छेदास्त्रविदां वरः ॥ ४० ॥

अस्त्रविद्या में निपुण महातेजस्वी अतिकाय ने सुवर्णभूषित बाणों से उन वानर यूथपतियों के फेंके हुए उन पेड़ों और पर्वतों के टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ ४० ॥

तांश्चैव सर्वान्स हरीञ्शरैः सर्वायसैर्बली ।
विव्याधाभिमुखान् संख्ये भीमकायो निशाचरः ॥४१॥

तदनन्तर उस भीमकाय बली राक्षस ने अपने ऊपर आक्रमण करने वाले उन समस्त वानरयूथपतियों से युद्ध करते हुए, उनको लोहे के बाणों से घायल कर डाला ॥ ४१ ॥

तेऽर्दिता बाणवर्षेण भग्नगात्राः प्लवङ्गमाः ।
न शेकुरतिकायस्य प्रतिकर्तुं महारणे ॥ ४२ ॥

अतिकाय की बाणवर्षा से उन वानरों के शरीर क्षतविक्षत हो गये और वे पीड़ित हुए। वे उस महायुद्ध में अतिकाय को न रोक सके ॥ ४२ ॥

तत्सैन्यं हरिवीराणां त्रासयामास राक्षसः ।
मृगयूथमिव क्रुद्धो हरिर्यौवनदर्पितः ॥ ४३ ॥

वानर वीरों की उस सेना को उस राक्षस ने त्रस्त कर डाला। वह जवानी के मद में चूर राक्षस, क्रुद्ध हो वानरों को वैसे ही डराने लगा, जैसे सिंह मृगों के झुंड को डराता है ॥ ४३ ॥

स राक्षसेन्द्रो हरिसैन्यमध्ये
नायुध्यमानं निजघान कञ्चित् ।

उपेत्य रामं सधनुः कलापी[1]
सगर्वितं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ४४ ॥

उस राक्षसेन्द्र अतिकाय ने वानरी सेना में से ऐसे एक भी वंदर को न मारा, जो उसके साथ लड़ने नहीं गया। वीरवर अतिकाय तरकस बाँधे और धनुष लिये हुए श्रीराम जी के सामने जा, उनसे गर्व सहित यह बोला ॥ ४४ ॥

रथे स्थितोऽहं शरचापपाणिः
न प्राकृतं कञ्चन योधयामि।
यश्चास्ति कश्चिद्व्यवसाय[2]युक्तो
ददातु मे क्षिप्रमिहाद्य युद्धम् ॥ ४५ ॥

देखो, मैं रथ पर सवार हूँ और मेरे हाथ में धनुष और बाण है। मैं किसी साधारण योद्धा से लड़ना नहीं चाहता। यदि किसी में मेरे साथ लड़ने की हिम्मत हो तो, वह शीघ्र आकर मुझसे लड़े ॥ ४५ ॥

तत्तस्य वाक्यं ब्रुवतो निशम्य
चुकोप सौमित्रिरमित्रहन्ता।
अमृष्यमाणश्च समुत्पपात
जग्राह चापं च ततः स्मयित्वा ॥ ४६ ॥

राक्षस अतिकाय की इस गर्वितोक्ति को सुन, शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी से न रहा गया। वह मुसकाते हुए, किन्तु क्रोध में भरे धनुष बाण हाथ में ले, उठ खड़े हुए ॥४६॥

---

१ कलापी—तूणीरवान्। (गो०) २ व्यवसायः—उत्साहः। (गो०)

क्रुद्धः सौमित्रिरुत्पत्य तूणादाक्षिप्य सायकम् ।
पुरस्तादतिकायस्य विचकर्ष महद्धनुः ॥ ४७ ॥

क्रोध में भरे लक्ष्मण जी ने खड़े होते ही तरकस से बाण खींच लिया और अतिकाय के सामने ही अपने विशाल धनुष को टंकोरा ॥ ४७ ॥

[नोट—जैसे पहलवान लोग कुश्ती लड़ते समय ताल ठोंक कर अपने प्रतिद्वन्द्वी को उत्तेजित करते हैं, वैसे ही धनुर्धारियों के युद्ध में, धनुर्धारी वीर शत्रु को उत्तेजित कर धनुष की प्रत्यंचा को खींच कर उसे ख़ाली छोड़ देते थे। ऐसा करने से उसमें से शब्द होता था। उसीको टंकोर कहते हैं।]

पूरयन्स महीं शैलानाकाशं सागरं दिशः ।
ज्याशब्दो लक्ष्मणस्योग्रस्त्रासयन्रजनीचरान् ॥ ४८ ॥

उस टंकोर के शब्द से सारी पृथिवी, पहाड़, आकाश, सागर और दसों दिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठीं। लक्ष्मण जी की प्रचण्ड धनुष टंकार से समस्त राक्षस भयभीत हो गये ॥ ४८ ॥

सौमित्रेश्चापनिर्घोषं श्रुत्वा [1]प्रतिभयं तदा ।
विसिष्मिये महातेजा राक्षसेन्द्रात्मजो बली ॥ ४९ ॥

लक्ष्मण जी के धनुष की भयङ्कर टङ्कार को सुन, महातेजस्वी एवं वीर रावणपुत्र अतिकाय को आश्चर्य हुआ ॥ ४९ ॥

अथातिकायः कुपितो दृष्ट्वा लक्ष्मणमुत्थितम् ।
आदाय निशितं बाणमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५० ॥

अतिकाय ने लक्ष्मण जी को युद्ध के लिये खड़े होते देख, क्रुद्ध हो, पैने बाण (तरकस से) निकाल, (उनसे) कहा ॥ ५० ॥

---

१ प्रतिभयं—भयङ्करं । (गो०)

वालस्त्वमसि सौमित्रे विक्रमेष्वविचक्षणः ।
गच्छ किं कालसदृशं मां योधयितुमिच्छसि ॥ ५१ ॥

हे सौमित्रे ! तुम अभी वालक हो । तू युद्धविद्या में निपुण नहीं है । मुझ काल सदृश के साथ तू क्यों लड़ना चाहता है ! ॥ ५१ ॥

न हि मद्बाहुसृष्टानामस्त्राणां हिमवानपि ।
सोढुमुत्सहते वेगमन्तरिक्षमथो मही ॥ ५२ ॥

मेरे छोड़े हुए बाणों के वेग को हिमालय पर्वत, आकाश और पृथिवी—कोई भी नहीं सह सकता ॥ ५२ ॥

सुखप्रसुप्तं कालाग्निं निबोधयितुमिच्छसि ।
न्यस्य चापं निवर्तस्व मा प्राणाञ्जहि मद्गतः ॥ ५३ ॥

सो तू सुख से सोई हुई प्रलयकालीन आग को क्यों भड़काता है ? धनुष त्याग कर लौट जा, मुझसे भिड़ कर अपने प्राण मत खो ॥ ५३ ॥

अथवा त्वं [1]प्रतिष्टब्धो न निवर्तितुमिच्छसि ।
तिष्ठ प्राणान्परित्यज्य गमिष्यसि यमक्षयम् ॥ ५४ ॥

अथवा यदि तू मेरा सामना ही करना चाहता है और लौट कर जाना नहीं चाहता, तो खड़ा रह । तू शीघ्र ही प्राण त्याग कर यमालय को जायगा ॥ ५४ ॥

पश्य मे निशितान्बाणानरिदर्पनिषूदनान् ।
[2]ईश्वरायुधसङ्काशांस्तप्तकाञ्चनभूषणान् ॥ ५५ ॥

---

१ प्रतिष्टब्धः—प्रतिमुखंस्थितः । (गो०) २ ईश्वरायुधं—त्रिशूलं । (गो०)

ज़रा मेरे इन शत्रुहन्ता और शत्रु-दर्प-दलन-कारी पैने बाणों को देख ले, जो शिव जी के त्रिशूल के समान भयङ्कर हैं और सुवर्ण से भूषित हैं ॥ ५५ ॥

एष ते सर्पसङ्काशो बाणः पास्यति शोणितम् ।
मृगराज इव क्रुद्धो नागराजस्य शोणितम् ।
इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धः शरं धनुषि सन्दधे ॥ ५६ ॥

मेरा यह साँप के समान बाण तेरा रक्त उसी प्रकार पीवेगा, जिस प्रकार क्रुद्ध सिंह, गजेन्द्र का रक्त पीता है। यह कह कर, उसने वह बाण अपने धनुष पर रखा ॥ ५६ ॥

श्रुत्वाऽतिकायस्य वचः सरोषं
सगर्वितं संयति राजपुत्रः ।
स सञ्चुकोपातिबलो बृहच्छ्रीः
उवाच वाक्यं च ततो महार्थम् ॥ ५७ ॥

युद्धभूमि में अतिकाय के रोष भरे और गर्वीले इन वचनों को सुन, अति बलवान एवं अत्यन्त कान्तिवान् राजकुमार लक्ष्मण ने रोष में भर, उससे अर्थयुक्त ये वचन कहे ॥ ५७ ॥

न वाक्यमात्रेण भवान्प्रधानो
न [1]कत्थनात्सत्पुरुषा[2] भवन्ति ।
मयि स्थिते धन्विनि बाणपाणौ
निदर्शय स्वात्मबलं दुरात्मन् ॥ ५८ ॥

---

१ कत्थनात्—आत्मश्लाघनात् । (गो०) २ सत्पुरुषाः—शूरपुरुषाः । (गो०)

अरे दुष्ट ! न तो तू केवल कह देने से बड़ा हो सकता है और न आत्मश्लाघा करने से कोई शूरवीर ही कहला सकता है। मैं धनुष और बाण लिये तेरे सामने खड़ा हूँ। अब तू अपना पराक्रम दिखलाता क्यों नहीं ॥ ५८ ॥

कर्मणा सूचयात्मानं न विकत्थितुमर्हसि ।
पौरुषेण तु यो युक्तः स तु शूर इति स्मृतः ॥ ५९ ॥

बहुत सी अपनी बड़ाई न कर के कुछ कर के अपना बल पौरुष दिखला। क्योंकि जो पुरुषार्थी होता है वही शूरवीर कहलाता है ॥ ५९ ॥

सर्वायुधसमायुक्तो धन्वी त्वं रथमास्थितः ।
शरैर्वा यदि वाऽप्यस्त्रैर्दर्शयस्व पराक्रमम् ॥ ६० ॥

तेरे पास सब प्रकार के आयुध हैं, तू धनुर्धर भी है और रथ पर सवार है। सो चाहे धनुष बाण से अथवा अन्य किसी आयुध से (जिसमें तू दक्ष हो) अपना बल पराक्रम दिखला ॥ ६० ॥

ततः शिरस्ते निशितैः पातयिष्याम्यहं शरैः ।
मारुतः कालसंपक्वं [1]वृन्तात्तालफलं यथा ॥ ६१ ॥

पीछे से तो मैं अपने पैने बाणों से तेरा सिर काट कर वैसे गिराऊँगा ही, जैसे हवा पके हुए ताल फल को गुच्छे से गिराती है ॥ ६१ ॥

अद्य ते मामका बाणास्तप्तकाञ्चनभूषणाः ।
पास्यन्ति रुधिरं गात्राद्बाणशल्यान्तरोत्थितम् ॥ ६२ ॥

---

१ वृन्तात्—प्रसवबन्धनात् । (गो०)

आज मेरे सुवर्णभूषित बाण तेरे शरीर को भेद कर, घावों से लोहू निकाल कर पीयेंगे ॥ ६२ ॥

बालोऽयमिति विज्ञाय न माऽवज्ञातुमर्हसि ।
बालो वा यदि वा वृद्धो मृत्युं जानीहि संयुगे ॥ ६३ ॥

लड़का जान कहीं मुझे तुच्छ मत समझ लेना । मुझे चाहे तू बालक समझ या बूढ़ा, किन्तु तू आज मारा मेरे ही हाथ से जायगा ॥ ६३ ॥

बालेन विष्णुना लोकास्त्रयः क्रान्तास्त्रिभिः क्रमैः ।
इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धः शरान्धनुषि सन्दधे ॥ ६४ ॥

देख, विष्णु, बालक ही थे, जिन्होंने तीन पैर से तीनों लोक नांप डाले थे । यह कह क्रोध में भर लक्ष्मण जी ने कुपित हो अपने धनुष पर बाण रखे ॥ ६४ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा हेतुमत्परमार्थवत् ।
अतिकायः प्रचुक्रोध बाणं चोत्तममाददे ॥ ६५ ॥

उधर लक्ष्मण जी के युक्तियुक्त और अर्थपूरित वचनों को सुन, अतिकाय मारे क्रोध के आगबबूला हो गया और एक सर्वोत्तम बाण निकाला ॥ ६५ ॥

ततो विद्याधरा भूता देवा दैत्या महर्षयः ।
गुह्यकाश्च महात्मानस्तद्युद्धं द्रष्टुमागमन् ॥ ६६ ॥

इतने में विद्याधर, भूत, देवता, दैत्य, महर्षि, गुह्यक तथा महात्मा लोग, लक्ष्मण और अतिकाय के उस युद्ध को देखने के लिये (वहाँ) इकट्ठे हो गये ॥ ६६ ॥

ततोऽतिकायः कुपितश्चापमारोप्य सायकम् ।
लक्ष्मणाय प्रचिक्षेप संक्षिपन्निव चाम्बरम् ॥ ६७ ॥

इधर अतिकाय ने क्रुद्ध हो अपने धनुष पर वह बाण रख ऐसे वेग से छोड़ा, मानों अपने और लक्ष्मण के बीच के अन्तर को छोटा कर डाला हो । (अर्थात् दूरी होने पर भी, तेज़ी के कारण, उस बाण को लक्ष्मण तक पहुँचने में देर न लगी) ॥ ६७ ॥

तमापतन्तं निशितं शरमाशीविषोपमम् ।
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ६८ ॥

पर शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी ने विषधर सर्प की तरह उस भयङ्कर बाण को अर्धचन्द्राकार बाण से काट गिराया ॥ ६८ ॥

तं निकृत्तं शरं दृष्ट्वा कृत्तभोगमिवोरगम् ।
अतिकायो भृशं क्रुद्धः पञ्च बाणान्समाददे ॥ ६९ ॥

जिस तरह गरुड़ किसी विशाल सर्प के टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं, उसी तरह अपने उस बाण को टूँक टूँक हुआ देख, अतिकाय बड़ा कुपित हुआ और इस बार उसने एक साथ पांच बाण छोड़े ॥ ६९ ॥

तान्शरान्संप्रचिक्षेप लक्ष्मणाय निशाचरः ।
तानप्राप्ताञ्शरैस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद भरतानुजः ॥ ७० ॥

जब अतिकाय ने लक्ष्मण के ऊपर वे पांच बाण छोड़े, तब वे लक्ष्मण जी के पास तक पहुँचने भी न पाये कि, उन्होंने बीच ही में उन पाँचों को काट काट कर गिरा दिया ॥ ७० ॥

स ताञ्छित्त्वा शरैस्तीक्ष्णैर्लक्ष्मणः परवीरहा ।
आददे निशितं बाणं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ७१ ॥

शत्रुघाती लक्ष्मण ने अपने पैने बाणों से उन समस्त बाणों को काट कर, एक अत्यन्त पैना और अग्नि की तरह चमचमाता हुआ बाण निकाला ॥ ७१ ॥

तमादाय धनुःश्रेष्ठे योजयामास लक्ष्मणः ।
विचकर्ष च वेगेन विससर्ज च वीर्यवान् ॥ ७२ ॥

फिर उसे महाबली लक्ष्मण जी ने अपने श्रेष्ठ धनुष पर रख और धनुष की डोरी को कान तक खींच उसे छोड़ा ॥ ७२ ॥

पूर्णायतविसृष्टेन शरेण नतपर्वणा ।
ललाटे राक्षसश्रेष्ठमाजघान स वीर्यवान् ॥ ७३ ॥

पूरी तरह तान कर छोड़ा हुआ और झुकी हुई गांठों वाला वह बाण, लक्ष्मण जी ने उसके माथे में मारा ॥ ७३ ॥

स ललाटे शरो मग्नस्तस्य भीमस्य रक्षसः ।
ददृशे शोणितेनाक्तः पन्नगेन्द्र इवाचले ॥ ७४ ॥

वह बाण उस भीमपराक्रमी राक्षस के मस्तक में घुस गया। उस समय वह बाण ऐसा जान पड़ा, मानों रुधिर में सना साँप पर्वत में घुसा हो ॥ ७४ ॥

राक्षसः प्रचकम्पे च लक्ष्मणेषुप्रपोडितः ।
रुद्रबाणहतं घोरं यथा त्रिपुरगोपुरम् ॥ ७५ ॥

जैसे पूर्वकाल में शिव जी के भयङ्कर बाण से त्रिपुरासुर के पुर का बाहिरी फाटक काँप उठा था, वैसे ही लक्ष्मण जी के बाण से अतिकाय अत्यन्त पीड़ित हो काँप उठा ॥ ७५ ॥

चिन्तयामास चाश्वास्य विमृश्य च महाबलः ।
साधु बाणनिपातेन श्लाघनीयोऽसि मे रिपुः ॥ ७६ ॥

तदनन्तर महाबलवान अतिकाय क्षण भर में सावधान हो मन ही मन कुछ सोच कर और आगे का अपना कर्त्तव्य निश्चित कर, बोला—शावाश ! बाण मारे तो ऐसा । लक्ष्मण ! तू मेरा शत्रु होने पर भी सराहने योग्य है ॥ ७६ ॥

विधायैवं विनम्यास्यं नियम्य च भुजावुभौ ।
स रथोपस्थमास्थाय रथेन प्रचचार ह ॥ ७७ ॥

लक्ष्मण जी की इस प्रकार प्रशंसा कर और मुँह बाय तथा दोनों भुजाओं को झुका कर, अपने रथ पर सवार वह समरभूमि में घूमने लगा ॥ ७७ ॥

एकं त्रीन्पञ्च सप्तेति सायकान्राक्षसर्षभः ।
आददे सन्दधे चापि विचकर्षोत्ससर्ज च ॥ ७८ ॥

फिर अतिकाय एक, तीन, पाँच और सात बाणों को एक साथ धनुष पर रख और धनुष के रोदे को कान तक खींच, उन बाणों को छोड़ने लगा ॥ ७८ ॥

ते बाणाः कालसङ्काशा राक्षसेन्द्रधनुश्च्युताः ।
हेमपुङ्खा रविप्रख्याश्चक्रुर्दीप्तमिवाम्बरम् ॥ ७९ ॥

राक्षसेन्द्र अतिकाय के धनुष से छूटे हुए काल के समान, सुवर्ण पुङ्ख वाले वे बाण, सूर्य की तरह आकाश को प्रकाशित सा करते हुए चले ॥ ७९ ॥

ततस्तान्राक्षसोत्सृष्टाञ्शरौघान्राघवानुजः ।
असंभ्रान्तः प्रचिच्छेद निशितैर्बहुभिः शरैः ॥ ८० ॥

तब अतिकाय के छोड़े उन बाणों को देख कर, लक्ष्मण जी ज़रा भी न घबड़ाये और बहुत से पैने बाण छोड़ कर, उन सब को काट डाला ॥ ८० ॥

ताञ्शरान्युधि संप्रेक्ष्य निकृत्तान्रावणात्मजः ।
चुकोप त्रिदशेन्द्रारिर्जग्राह निशितं शरम् ॥ ८१ ॥

रावणपुत्र अतिकाय ने अपने उन बाणों को युद्धभूमि में कटा हुआ देख, बड़ा क्रोध किया और उस इन्द्रशत्रु ने एक बड़ा पैना बाण निकाला ॥ ८१ ॥

स सन्धाय महातेजास्तं बाणं सहसोत्सृजत् ।
ततः सौमित्रिमायान्तमाजघान स्तनान्तरे ॥ ८२ ॥

उस महातेजस्वी राक्षस ने उस बाण को धनुष पर रख, अचानक छोड़ दिया। वह बाण आकर लक्ष्मण जी की छाती में लगा ॥ ८२ ॥

अतिकायेन सौमित्रिस्ताडितो युधि वक्षसि ।
सुस्राव रुधिरं तीव्रं मदं मत्त इव द्विपः ॥ ८३ ॥

इस लड़ाई में अतिकाय के चलाये उस बाण के लक्ष्मण जी की छाती में लगने से, वैसे ही रक्त बहने लगा, जैसे मतवाले हाथी के मस्तक से मद बहता है ॥ ८३ ॥

स चकार तदाऽऽत्मानं विशल्यं सहसा विभुः ।
जग्राह च शरं तीक्ष्णम्[1]अस्त्रेणापि च सन्दधे ॥ ८४ ॥

---

१ अस्त्रेण—अस्त्रमंत्रेण । (गो०)

लक्ष्मण जी ने वह बाण छाती से तुरन्त खींच कर फेंक दिया। तदनन्तर एक तीक्ष्ण बाण निकाल और मंत्र पढ़ उसे धनुष पर रखा ॥ ८४ ॥

आग्नेयेन तदाऽऽस्त्रेण योजयामास सायकम् ।
स जज्वाल तदा बाणो धनुष्यस्य महात्मनः ॥ ८५ ॥

उस बाण को आग्नेयास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित कर और उसे धनुष पर रख छोड़ा। जिस समय उन्होंने वह बाण छोड़ा, उस समय बाण और धनुष दोनों से प्रज्ज्वलित अग्नि की लपटें निकलीं ॥ ८५ ॥

अतिकायोऽपि तेजस्वी सौरमस्त्रं समादधे ।
तेन बाणं भुजङ्गाभं हेमपुङ्खमयोजयत् ॥ ८६ ॥

आग्नेयास्त्र को आते देख, अतिकाय ने सुवर्णपुङ्ख वाला सर्पाकार बाण निकाल और उसे सौर्यास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित कर छोड़ा ॥ ८६ ॥

तदस्त्रं ज्वलितं घोरं लक्ष्मणः शरमाहितम् ।
अतिकायाय चिक्षेप कालदण्डमिवान्तकः ॥ ८७ ॥

जिस प्रकार यमराज कालदण्ड को चलाते हैं, उसी प्रकार लक्ष्मण जी ने दिव्यास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित कर, वह बाण अतिकाय पर चलाया ॥ ८७ ॥

आग्नेयेनाभिसंयुक्तं दृष्ट्वा बाणं निशाचरः ।
उत्ससर्ज तदा बाणं दीप्तं सूर्यास्त्रयोजितम् ॥ ८८ ॥

आग्नेयास्त्र को अपने ऊपर आते देख, अतिकाय ने चमचमाता सूर्यास्त्र छोड़ा ॥ ८८ ॥

तावुभावम्बरे बाणावन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
तेजसा संप्रदीप्ताग्रौ क्रुद्धाविव भुजङ्गमौ ॥ ८९ ॥

वे दोनों दिव्यास्त्र आकाश में जा आपस में ऐसे भिड़ गये, मानों दो क्रुद्ध सर्प आपस में लड़ रहे हों। दोनों ही बाण तेज के प्रभाव से प्रदीप्त थे और बड़े उग्र थे ॥ ८९ ॥

तावन्योन्यं विनिर्दह्य पेततुः पृथिवीतले ।
निरर्चिषौ भस्मकृतौ न भ्राजेते शरोत्तमौ ॥ ९० ॥

वे दोनों ही बाण एक दूसरे को भस्म कर, पृथिवी पर गि पड़े। जल जाने के कारण उन दोनों श्रेष्ठ बाणों की तेज़ी और चमक जाती रही ॥ ९० ॥

ततोऽतिकायः संक्रुद्धस्त्वस्त्रमैषीकमुत्सृजत् ।
तत्प्रचिच्छेद सौमित्रिरस्त्रेणैन्द्रेण वीर्यवान् ॥ ९१ ॥

तब अतिकाय ने क्रुद्ध हो त्वाष्ट्रऐषिकास्त्र चलाया। इसको बलवान लक्ष्मण जी ने ऐन्द्रास्त्र चला कर काट डाला ॥ ९१ ॥

ऐषीकं निहतं दृष्ट्वा रुषितो रावणात्मजः ।
याम्येनास्त्रेण संक्रुद्धो योजयामास सायकम् ॥ ९२ ॥

ऐषीक को नष्ट हुआ देख, अतिकाय रोष में भर गया और उसने एक बाण निकाल, उसे यमास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित किया ॥ ९२ ॥

ततस्तदस्त्रं चिक्षेप लक्ष्मणाय निशाचरः ।
वायव्येन तदस्त्रेण निजघान स लक्ष्मणः ॥ ९३ ॥

फिर राक्षस ने उस अस्त्र को लक्ष्मण जी के ऊपर छोड़ा। उस यमास्त्र को लक्ष्मण जी ने वायव्यास्त्र से नष्ट कर डाला ॥ ९३ ॥

अथैनं शरधाराभिर्धाराभिरिव तोयदः ।
अभ्यवर्षत्सुसंक्रुद्धो लक्ष्मणो रावणात्मजम् ॥ ९४ ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने क्रोध में भर अतिकाय के ऊपर उसी प्रकार बाण बरसाये, जिस प्रकार मेघ जल बरसाते हैं ॥ ६४ ॥

तेऽतिकायं समासाद्य कवचे वज्रभूषिते ।
भग्नाग्रशल्याः सहसा पेतुर्बाणा महीतले ॥ ९५ ॥

किन्तु अतिकाय के हीरों के जड़ाऊ कवच पर टकरा टकरा कर, उन बाणों की नोंकें टूट गयीं और वे भूमि पर गिर पड़े ॥ ६५ ॥

तान्मोघानभिसंप्रेक्ष्य लक्ष्मणः परवीरहा ।
अभ्यवर्षन्महेषूणां सहस्रेण महायशाः ॥ ९६ ॥

शत्रुहन्ता एवं महायशस्वी लक्ष्मण जी ने उन समस्त बाणों को निष्फल हुआ देख, एक साथ एक हज़ार बड़े बड़े बाण अतिकाय पर छोड़े ॥ ६६ ॥

स वृष्यमाणो बाणौघैरतिकायो महाबलः ।
अवध्यकवचः संख्ये राक्षसो नैव विव्यथे ॥ ९७ ॥

किन्तु अभेद्य कवच पहिने रहने के कारण महाबली अतिकाय युद्ध में उस बाणवृष्टि से ज़रा भी व्यथित न हुआ ॥ ६७ ॥

शरं चाशीविषाकारं लक्ष्मणाय व्यपासृजत् ।
स तेन विद्धः सौमित्रिः मर्मदेशे शरेण ह ॥ ९८ ॥

बल्कि उसने विषधर सर्प की तरह लक्ष्मण जी पर बाण छोड़े; जिनसे लक्ष्मण जी के मर्मस्थल विध गये ॥ ६८ ॥

मुहूर्तमात्रं निःसंज्ञोऽभवच्छत्रुतापनः ।
ततः संज्ञामुपालभ्य चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ९९ ॥

एक मुहूर्त भर के लिये शत्रु को सन्तप्त करने वाले लक्ष्मण जी मूर्छित हो गये । तदनन्तर सचेत हो, चार उत्तम बाण चला ॥९९॥

निजघान हयान्संख्ये सारथिं च महाबलः ।
ध्वजस्योन्मथनं कृत्वा शरवर्षैररिन्दमः ॥ १०० ॥

महाबली लक्ष्मण जी ने उस युद्ध में अतिकाय के रथ के घोड़े को और उसके सारथी को मार डाला । शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी ने बाणों की वर्षा कर उसके रथ की ध्वजा के टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ १०० ॥

असंभ्रान्तः स सौमित्रिः तान्शरानभिलक्षितान् ।
मुमोच लक्ष्मणो बाणान्वधार्थं तस्य राक्षसः ॥१०१॥

लक्ष्मण जी अतिकाय का वध करने के लिये बड़ी सावधानी से निशाना ताक ताक कर बाण छोड़ रहे थे ॥ १०१ ॥

न शशाक रुजं कर्तुं युधि तस्य नरोत्तमः ।
अथैनमभ्युपागम्य वायुर्वाक्यमुवाच ह ॥ १०२ ॥

किन्तु लक्ष्मण जी इस बाणवर्षा से जब अतिकाय का बाल भी बाँका न कर सके ; तब पवन देवता ने उनके पास जा कर कहा ॥ १०२ ॥

ब्रह्मदत्तवरो ह्येष अवध्यकवचावृतः ।
ब्रह्मेणास्त्रेण भिन्ध्येनमेष वध्यो हि नान्यथा ।
अवध्य एष ह्यन्येषामस्त्राणां कवची बली ॥ १०३ ॥

इसको ब्रह्मा जी का वरदान है और यह अमोघ कवच पहिने हुए है। अतः तुम ब्रह्मास्त्र से इसका वध करो। अन्य किसी अस्त्र से तुम इसे नहीं मार सकोगे। क्योंकि यह अमोघ कवच पहिने हुए है और बड़ा बलवान भी है ॥ १०३ ॥

ततस्तु वायोर्वचनं निशम्य
सौमित्रिरिन्द्रप्रतिमानवीर्यः ।
समाददे बाणममोघवेगं
तद्ब्राह्ममस्त्रं सहसा नियोज्य ॥१०४॥

इन्द्र के समान बल पराक्रम से युक्त लक्ष्मण जी ने पवनदेव के वचन सुन, एक बाण निकाल उसे ब्रह्मास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित किया और उस अमोघ वेगवान बाण को धनुष पर रखा ॥१०४॥

तस्मिन्महास्त्रे तु नियुज्यमाने
सौमित्रिणा बाणवरे शिताग्रे ।
दिशश्च चन्द्रार्कमहाग्रहाश्च
नभश्च तत्रास चचाल चोर्वी ॥१०५॥

जब लक्ष्मण ने उस श्रेष्ठ और तीखे महास्त्र बाण को धनुष पर रखा, तब समस्त दिशाएँ, चन्द्र, सूर्य, बड़े बड़े ग्रह और पृथिवी हिल गयी ॥ १०५ ॥

तं ब्रह्मणोऽस्त्रेण नियोज्य चापे
शरं सुपुङ्खं यमदूतकल्पम् ।
सौमित्रिरिन्द्रारिसुतस्य तस्य
ससर्ज बाणं युधि वज्रकल्पम् ॥१०६॥

लक्ष्मण जी ने यमदूत और वज्र के समान वह पैनी फोंक वाला बाण ब्रह्मास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित कर, इन्द्रशत्रु रावणात्मज अतिकाय के ऊपर छोड़ा ॥ १०६ ॥

तं लक्ष्मणोत्सृष्टममोघवेगं
समापतन्तं ज्वलनप्रकाशम् ।
सुवर्णवज्रोत्तमचित्रपुङ्खं
तदातिकायः समरे ददर्श ॥१०७॥

सुवर्णमय, हीरे की नोंकवाला और पवन के समान वेगवान् उस अस्त्र को जिसे लक्ष्मण जी ने छोड़ा था, समरभूमि में अतिकाय ने अपने ऊपर आते हुए देखा ॥१०७॥

तं प्रेक्षमाणः सहसाऽतिकायो
जघान बाणैर्निशितैरनेकैः ।
स सायकस्तस्य सुपर्णवेगः
तदातिकायस्य जगाम पार्श्वम् ॥१०८॥

उसको अपनी ओर आते देख, अतिकाय ने वड़े वड़े पैने अनेक तीरों से उसको काट कर नष्ट करना चाहा, किन्तु वह अस्त्र नष्ट न होकर गरुड़ की तरह वड़े वेग से अतिकाय के समीप जा पहुँचा ॥ १०८ ॥

तमागतं प्रेक्ष्य तदाऽऽतिकायो
बाणं प्रदीप्तान्तककालकल्पम् ।
जघान शक्त्यृष्टिगदाकुठारैः
शूलैर्हलैश्चाप्यविपन्नचेताः ॥ १०९ ॥

तब तो अतिकाय मृत्यु समान, प्रदीप्त बाण को अपने निकट आया देख, शक्ति, लोहे के डंडे, गदा, कुठार, शूल और बाणों से उसे नष्ट करने का यत्न करने लगा, किन्तु उसके सब प्रयत्न वृथा हुए ॥१०९॥

तान्यायुधान्यद्भुतविग्रहाणि
मोघानि कृत्वा स शरोऽग्निदीप्तः ।
प्रगृह्य तस्यैव किरीटजुष्टं
ततोऽतिकायस्य शिरो जहार ॥११०॥

परन्तु उस अग्नि के समान प्रदीप्त बाण ने उन समस्त अद्भुत आयुधों को विफल कर के, अतिकाय का किरीटशोभित मस्तक काट डाला ॥११०॥

तच्छिरः सशिरस्त्राणं लक्ष्मणेषुप्रपीडितम् ।
पपात सहसा भूमौ शृङ्गं हिमवतो यथा ॥१११॥

लक्ष्मण जी के बाण चलाने से कटा हुआ उसका सिर मय पगड़ी के सहसा ज़मीन पर गिर पड़ा, मानों हिमाचल का शृङ्ग टूट कर गिरा हो ॥१११॥

तं तु भूमौ निपतितं दृष्ट्वा विक्षिप्तभूषणम् ।
बभूवुर्व्यथिताः सर्वे हतशेषा निशाचराः ॥११२॥

मरने से बचे हुए समस्त राक्षस उस वीर अतिकाय को पृथिवी पर गिरा हुआ देख, तथा उसके आभूषणों को बिखरे हुए देख अत्यन्त दुःखी हुए ॥११२॥

ते विषण्णमुखा दीनाः प्रहारजनितश्रमाः ।
विनेदुरुच्चैर्बहवः सहसा विस्वरैः स्वरैः ॥११३॥

वानरों के प्रहार से शिथिल, उदासमुख और दीन हो वे राक्षस सहसा उच्च स्वर से विकट चीत्कार कर चिल्लाने लगे ॥११३॥

ततस्ते त्वरितं याता निरपेक्षा[1] निशाचराः ।
पुरीमभिमुखा भीता द्रवन्तो नायके हते ॥११४॥

अपने सेनानायक के मारे जाने पर वे राक्षस युद्ध छोड़ कर भयभीत हो, शीघ्रतापूर्वक लङ्का की ओर भागे ॥ ११४ ॥

प्रहर्षयुक्ता बहवस्तु वानराः
प्रबुद्धपद्मप्रतिमाननास्तदा ।
अपूजयँल्लक्ष्मणमिष्टभागिनं[2]
हते रिपौ भीमबले दुरासदे ॥११५॥

भयङ्कर और दुर्धर्ष राक्षस के मारे जाने पर वानर लोगों के हर्ष की सीमा न रही। उनके मुखमण्डल कमल की तरह प्रसन्नता से खिल उठे। अतिकाय के मारने के लिये, उन्होंने लक्ष्मण की बड़ी प्रशंसा की ॥ ११५ ॥

[अतिबलमतिकायमभ्रकल्पं
युधि विनिपात्य स लक्ष्मणः प्रहृष्टः ।
त्वरितमथ तदा स रामपार्श्वं
कपिनिवहैश्च सुपूजितो जगाम ॥११६॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

---

१ निरपेक्षाः—युद्धानपेक्षाः । (गो०) २ इष्टभागिनं—इष्टमतिकायवधं प्राप्तं । (रा०)

मेघ के समान विशालकाय एवं अमितबलशाली अतिकाय को युद्ध में परास्त कर, लक्ष्मण जी अत्यन्त प्रसन्न हुए और कपिवाहिनी द्वारा प्रशंसित हो, वे तुरन्त श्रीराम जी के पास चले गये ॥ ११६ ॥

युद्धकाण्ड का एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—※—

अतिकायं हतं श्रुत्वा लक्ष्मणेन महौजसा ।
उद्वेगमगमद्राजा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

महाबलवान लक्ष्मण जी के हाथ से अतिकाय का मारा जाना सुन, राक्षसराज रावण विकल हुआ और यह बोला ॥ १ ॥

धूम्राक्षः परमामर्षी धन्वी शस्त्रभृतां वरः ।
अकम्पनः प्रहस्तश्च कुम्भकर्णस्तथैव च ॥ २ ॥

धूम्राक्ष शत्रु के प्रहार को कभी सहने वाला न था और शस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ था; अकम्पन, प्रहस्त और कुम्भकर्ण ॥ २ ॥

एते महाबला वीरा राक्षसा युद्धकाङ्क्षिणः ।
जेतारः परसैन्यानां परैर्नित्यापराजिताः ॥ ३ ॥

ये समस्त ही बड़े बलवान, वीर, और सदा शत्रु से लड़ने की आकांक्षा रखने वाले राक्षस थे। ये शत्रुसेना को जीतने वाले थे किन्तु शत्रु से कभी परास्त होने वाले न थे ॥ ३ ॥

निहतास्ते महावीर्या रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
राक्षसाः सुमहाकाया नानाशस्त्रविशारदाः ॥ ४ ॥

किन्तु महावीर्यवान ये सब के सब अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से मार डाले गये। बड़े बड़े डीलडौल के राक्षस जो विविध प्रकार के शस्त्र चलाने में निपुण थे ॥ ४ ॥

अन्ये च बहवः शूरा महात्मानो निपातिताः ।
प्रख्यातबलवीर्येण पुत्रेणेन्द्रजिता मम ॥ ५ ॥

तथा अन्य बहुत से शूरवीर राक्षसों को भी महाबलवान श्रीरामचन्द्र ने मारकर गिरा दिया। प्रसिद्ध बलवान और वीर्यवान् मेरे पुत्र इन्द्रजीत ने ॥ ५ ॥

यौ हि तौ भ्रातरौ वीरौ बद्धौ दत्तवरैः शरैः ।
यन्न शक्यं सुरैः सर्वैरसुरैर्वा महाबलैः ॥ ६ ॥
मोक्तुं तद्बन्धनं घोरं यक्षगन्धर्वकिन्नरैः ।
तन्न जाने [1]प्रभावैर्वा [2]मायया [3]मोहनेन वा ॥ ७ ॥

उन दोनों वीर भाइयों को, वरदान में प्राप्त भयङ्कर बाणपाश में बांध लिया था। उन बाणों के भयङ्कर बन्धन से सारे देवताओं और असुरों में से, तथा यक्षों, गन्धर्वों और किन्नरों में से कोई भी उन्हें नहीं छुड़ा सकता था, किन्तु समझ में नहीं आता, किस शक्ति से, अथवा जादू से अथवा किस औषधोपचार से ॥ ६ ॥ ७ ॥

---

१ प्रभावः—सामर्थ्यं। (गो०) २ माया—व्यामोहकारिणी विद्या। (गो०) ३ मोहनं—औषधादिकं। (गो०)

शरबन्धाद्विमुक्तौ तौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
ये योधा निर्गताः शूरा राक्षसा मम शासनात् ॥ ८ ॥

वे दोनों भाई राम और लक्ष्मण उस शरबन्धन से मुक्त होगये। मेरी आज्ञा से जो जो वीर योद्धा युद्धभूमि में गये ॥ ८ ॥

ते सर्वे निहता युद्धे वानरैः सुमहाबलैः।
तं न पश्याम्यहं युद्धे योऽद्य रामं सलक्ष्मणम् ॥ ९ ॥

वे सब के सब अत्यन्त बलवान वानरों द्वारा लड़ाई में मार डाले गये। (अपने यहाँ) अब मैं ऐसा किसी को नहीं पाता जो युद्ध में राम और लक्ष्मण को ॥ ९ ॥

शासयेत्सबलं वीरं ससुग्रीवविभीषणम्।
अहो नु बलवान्रामो महदस्त्रबलं च वै ॥ १० ॥

सारी वानरी सेना और वीर सुग्रीव एवं विभीषण सहित परास्त करें या मार डाले। वाह! (सचमुच) श्रीरामचन्द्र बड़े बलवान हैं और उनका अस्त्र बल भी अति प्रबल है ॥ १० ॥

यस्य विक्रममासाद्य राक्षसा निधनं गताः।
तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम् ॥ ११ ॥

क्योंकि उनके उसी पराक्रम के सहारे तो इतने राक्षस मारे जा चुके हैं। अतएव मैं उन वीर श्रीरामचन्द्र जी को षड्विकार रहित साक्षात् नारायण ही समझता हूँ ॥ ११ ॥

तद्भयाद्धि पुरी लङ्का पिहितद्वारतोरणा।
अप्रमत्तैश्च सर्वत्र गुप्तै रक्ष्या पुरी त्वियम् ॥ १२ ॥

उनके भय से इस पुरी के समस्त फाटक वन्द हैं। (अर्थात् शत्रुसैन्य घेरा डाले पड़ी है) इस समय सर्वत्र इस पुरी की रक्षा बड़ी सावधानी से करनी चाहिये ॥ १२ ॥

अशोकवनिकायां च यत्र सीताऽभिरक्ष्यते ।
[1]निष्क्रामो वा प्रवेशो वा ज्ञातव्यः सर्वथैव नः ॥ १३ ॥

जहाँ पर सीता है, वहाँ उस अशोकवाटिका की भी भलीभाँति रक्षा करनी चाहिये। वहाँ मेरी आज्ञा विना न तो किसी को जाने दो और न वहाँ से किसी को निकलने दो ॥ १३ ॥

यत्र यत्र भवेद्गुल्मस्तत्र तत्र पुनः पुनः ।
सर्वतश्चापि तिष्ठध्वं स्वैः स्वैः परिवृता बलैः ॥ १४ ॥

जहाँ जहाँ मेरे गुल्म (चौकियाँ) अथवा दुर्ग हैं वहाँ वहाँ की देखभाल बार बार करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त नगरी के चारों ओर तुम लोग अपनी अपनी अधीनस्थ सेना लेकर सदा लड़ने के लिये तैयार खड़े रहो ॥ १४ ॥

[नोट—गुल्म, प्रधान पुरुषों से युक्त रक्षकों का दल, जिसमें ९ हाथी, ९ रथ, २७ घोड़े, ४५ पैदल हों। गुल्म का अर्थ दुर्ग का बुर्ज भी है।]

द्रष्टव्यं च पदं तेषां वानराणां निशाचराः ।
प्रदोषे वार्धरात्रे वा प्रत्यूषे वाऽपि सर्वतः ॥ १५ ॥

चाहे शाम हो, चाहे आधी रात हो, चाहे सवेरा हो, राक्षसों को सर्वदा वानरों के ठहरने के स्थान पर निगाह रखनी चाहिये ॥ १५ ॥

---

१ निष्क्रामो···नः—मदनुज्ञां विना न कोपि जनो निर्गमयितव्यो नापि प्रवेष्टव्य इत्यर्थः। (गो०)

नावज्ञा तत्र कर्तव्या वानरेषु कदाचन ।
द्विषतां बलमुद्युक्तमापतत्किंस्थितं सदा ॥ १६ ॥

उन वानरों को तुच्छ कभी मत समझना। सदैव देखते रहो कि, शत्रुसैन्य लड़ने को तैयार है, खड़ी है अथवा क्या कर रही है ॥१६॥

ततस्ते राक्षसाः सर्वे श्रुत्वा लङ्काधिपस्य तत् ।
वचनं सर्वमातिष्ठन्यथावत्तु महाबलाः ॥ १७ ॥

इस प्रकार लङ्कापति रावण के वचन सुन, वे सब महाबलवान राक्षस रावण के कथनानुसार कार्य करने लगे ॥ १७ ॥

स तान्सर्वान्समादिश्य रावणो राक्षसाधिपः ।
मन्युशल्यं वहन्दीनः प्रविवेश स्वमालयम् ॥१८ ॥

राक्षसराज रावण उनको आज्ञा देकर छाती में प्रदीप्त क्रोध रूप तीर सा चुभो कर, अपने घर में चला गया ॥ १८ ॥

ततः स सन्दीपितकोपवह्निः
निशाचराणामधिपो महाबलः ।
तदेव पुत्रव्यसनं विचिन्तयन्
मुहुर्मुहुश्चैव तदा व्यनिःश्वसत् ॥ १९ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

महाबली राक्षसेश्वर क्रोधानल से जलता हुआ और पुत्र के मारे जाने की व्यथा को स्मरण कर, बार बार लंबी साँसे लेने लगा ॥ १९ ॥

युद्धकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—※—

ततो हतान्राक्षसपुङ्गवांस्तान्
देवान्तकादित्रिशिरोऽतिकायान् ।
रक्षोगणास्तत्र हतावशिष्टा-
स्ते रावणाय त्वरितं शशंसुः ॥ १ ॥

तदनन्तर मरने से बचे बचाये राक्षसों ने, राक्षसश्रेष्ठ देवान्तक, अतिकाय और त्रिशिरादि के मारे जाने का वृत्तान्त बड़ी फुर्ती से जाकर रावण से कहा ॥ १ ॥

[नोट—इसके पूर्व रावण ने केवल इन लोगों के मारे जाने का समाचार सुना था; किन्तु इस बार उनके मारे जाने का विस्तृत वृत्तान्त लड़ाई में शरीक अर्थात् प्रत्यक्षदर्शी राक्षसों से सुन कर, रावण बहुत दुःखी हुआ ।]

ततो हतांस्तान्सहसा निशम्य
राजा मुमोहाश्रुपरिप्लुताक्षः ।
पुत्रक्षयं भ्रातृवधं च घोरं
विचिन्त्य राजा विपुलं[1] प्रदध्यौ ॥ २ ॥

तब रावण उन राक्षसों के मुख से यह अशुभ संवाद सुन रोते रोते मोह को प्राप्त हो गया । तदनन्तर पुत्रवध और भ्रातृवध के लिये घोर चिन्तित हो, वह बड़े सोच विचार में पड़ गया ॥ २ ॥

---

१ विपुलं प्रदध्यौ—अत्यन्तं विचारयामास । (शि०)

ततस्तु राजानमुदीक्ष्य दीनं
शोकार्णवे सम्परिपुप्लुवानम् ।
रथर्षभो राक्षसराजसूनुः
तमिन्द्रजिद्वाक्यमिदं बभाषे ॥ ३ ॥

रावण को उदास और शोकसागर में डूबा हुआ देख, राक्षसराज का वीरश्रेष्ठ पुत्र इन्द्रजीत बोला ॥ ३ ॥

न तात मोहं प्रतिगन्तुमर्हसि
यत्रेन्द्रजिज्जीवति राक्षसेन्द्र ।
[मद्बाणनिर्भिन्नविकीर्णदेहाः
प्राणैर्वियुक्ताः समरे पतन्ति] ॥ ४ ॥

हे तात ! हे राक्षसेन्द्र ! जब इन्द्रजीत जीवित है, तब आप इतने दुःखी क्यों होते हैं ? आप देखना आपके शत्रु मेरे छोड़े हुए बाणों से क्षतविक्षत शरीर हो और मर कर युद्धभूमि में गिरेंगे ॥ ४ ॥

नेन्द्रारिबाणाभिहतो हि कश्चित्
प्राणान्समर्थः समरेऽभिपातुम् ।
पश्याद्य रामं सह लक्ष्मणेन
मद्बाणनिर्भिन्नविकीर्णदेहम् ॥ ५ ॥

ऐसा कोई नहीं है जो युद्ध में इन्द्रशत्रु के बाणों से अपने प्राण बचा सके । आप देखना कि, आज ही लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र के समस्त अङ्ग क्षतविक्षत हो जायँगे ॥ ५ ॥

गतायुषं भूमितले शयानं
शितैः शरैराचितसर्वगात्रम् ।
इमां प्रतिज्ञां शृणु शक्रशत्रोः
सुनिश्चितां पौरुषदैवयुक्ताम् ॥ ६ ॥

हे इन्द्रशत्रु! आप सुनिये, मैं दैवबल और अपने पुरुषार्थ बल के सहारे यह निश्चित प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं आज ही उन दोनों, गतायुष राजकुमारों को बाणों से घायल कर मार डालूँगा और उन दोनों को सदा के लिये धरती पर सुला दूँगा ॥ ६ ॥

अद्यैव रामं सह लक्ष्मणेन
[1]सन्तर्पयिष्यामि शरैरमोघैः ।
अद्येन्द्रवैवस्वतविष्णुमित्र-
साध्याश्विवैश्वानरचन्द्रसूर्याः ॥ ७ ॥

मैं अपने अमोघ (कभी निशाना न चूकने वाले) बाणों से आज ही राम और लक्ष्मण के सारे शरीर को चलनी कर डालूँगा। इन्द्र, यम, विष्णु रुद्र, साध्य, अग्नि, चन्द्र और सूर्य ॥ ७ ॥

द्रक्ष्यन्तु मे विक्रममप्रमेयं
विष्णोरिवोग्रं बलियज्ञवाटे ।
स एवमुक्त्वा त्रिदशेन्द्रशत्रु-
रापृच्छ्य राजानमदीनसत्त्वः ॥ ८ ॥

---

१ सन्तर्पयिष्यामि—पूरयिष्यामि । (गो०)

मेरे वैसे अचिन्त्य पराक्रम को देखे, जैसा कि, वामन ने वलि के यज्ञ में प्रदर्शित किया था। यह बहादुर और निर्भीक मेघनाद इस प्रकार कह और रावण से विदा माँग ॥ ८ ॥

समारुरोहानिलतुल्यवेगं ।
रथं खरश्रेष्ठसमाधियुक्तम्[1] ॥ ९ ॥

वायु के समान तेज़ चलने वाले रथ पर सवार हुआ। इस में बड़ी सावधानी से उत्तम उत्तम खच्चर जोते जाते थे ॥ ९ ॥

तमास्थाय महातेजा रथं [2]हरिरथोपमम् ।
जगाम सहसा तत्र यत्र युद्धमरिन्दमः ॥ १० ॥

वह महातेजस्वी, रावणपुत्र सूर्य के समान रथ पर सवार हो सहसा वहाँ जा पहुँचा, जहाँ शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र जी थे ॥ १० ॥

तं प्रस्थितं महात्मानमनुजग्मुर्महाबलाः ।
संहर्षमाणा बहवो धनुष्प्रवरपाणयः ॥ ११ ॥

उस महाबलवान को युद्धभूमि में जाते देख, श्रेष्ठ धनुषधारी एवं बड़े बड़े बलवान राक्षस प्रसन्न होते हुए उसके पीछे हो लिये ॥ ११ ॥

गजस्कन्धगताः केचित् केचित्प्रवरवाजिभिः ।
[व्याघ्रवृश्चिकमार्जारैः खरोष्ट्रैश्च भुजङ्गमैः ॥ १२ ॥
वराहश्वापदैः सिंहैः जम्बुकैः पर्वतोपमैः ।
शशहंसमयूरैश्च राक्षसा भीमविक्रमाः] ॥ १३ ॥

---

१ समाधियुक्तं—समाधानेनयुक्तं। (गो०) २ हरिरथः—सूर्यरथः। (रा०)

उनमें से कोई भीम पराक्रमी राक्षस हाथियों पर, कोई कोई उत्तम घोड़ों पर, कोई कोई व्याघ्र, विच्छू, (विच्छू के आकार के बने हुए रथादि वाहन) कोई विलावों पर, कोई गधों पर कोई ऊँटों पर और कोई साँपों पर, कोई कोई सूअरों पर. कोई चीतों पर, कोई सिंहों पर, कोई शृगालों पर, कोई कोई पर्वत के समान विशाल शरीरधारी खरहों, हंसों और भौंरों पर सवार होकर चले ॥ १२ ॥ १३ ॥

प्रासमुद्गरनिस्त्रिंशपरश्वधगदाधराः ।
सशङ्खनिनदैः पूर्णैर्भेरीणां चापि निःस्वनैः ॥ १४ ॥

वे हाथों में प्रास, मुद्गर, खाँड़ा, फरसा और गदा लिये हुए थे। उनकी रणयात्रा के समय शङ्ख और तुरही जोर से बजायी गयी थीं ॥ १४ ॥

जगाम त्रिदशेन्द्रारिः स्तूयमानो निशाचरैः ।
सशङ्खशशिवर्णेन छत्रेण रिपुसूदनः ॥ १५ ॥

राक्षस लोग जाते जाते इन्द्रजीत की प्रशंसा करते (अर्थात् उसका उत्साह बढ़ाते) जाते थे। उसके ऊपर शङ्ख अथवा चन्द्रमा के समान सफेद रङ्ग का छत्र तना हुआ था ॥ १५ ॥

रराज प्रतिपूर्णेन नभश्चन्द्रमसा यथा ।
अवीज्यत ततो वीरो हैमैर्हेमविभूषितैः ॥ १६ ॥
चारुचामरमुख्यैश्च मुख्यः सर्वधनुष्मताम् ।
[स तु दृष्ट्वा विनिर्यान्तं बलेन महता वृतम् ॥ १७ ॥

जो वैसा ही शोभित हो रहा था, जैसा कि पूर्णिमा के चन्द्रमा से आकाश शोभित होता है। धनुषधारियों में श्रेष्ठ उस वीर

प्रधान के ऊपर सोने की डंडी के सुन्दर चँवर डुलाये जा रहे थे। उसको बड़ी भारी सेना के सहित जाते देख ॥ १६ ॥ १७ ॥

राक्षसाधिपतिः श्रीमान्रावणः पुत्रमब्रवीत् ।]
त्वमप्रतिरथः पुत्र त्वया वै वासवो जितः ॥ १८ ॥

राक्षसराज श्रीमान् रावण ने उस अपने पुत्र से कहा। हे बेटा! तुम बड़े शूर हो, तुम इन्द्र तक को परास्त कर चुके हो ॥ १८ ॥

किं पुनर्मानुषं धृष्यं विहनिष्यसि राघवम् ।
तथोक्तो राक्षसेन्द्रेण प्रत्यगृह्णान्महाशिषः ॥ १९ ॥

फिर इस ढीठ मनुष्य राम की तो हकीकत ही क्या है, तुम उसे (अवश्य) मारोगे। इस प्रकार रावण द्वारा उत्साहित हो, इन्द्रजीत ने अपने पिता से आशीर्वाद लिया ॥ १९ ॥

ततस्त्विन्द्रजिता लङ्का सूर्यप्रतिमतेजसा ।
रराजाप्रतिवीरेण द्यौरिवार्केण भास्वता ॥ २० ॥

उस समय सूर्य के समान तेजस्वी अमित पराक्रमी मेघनाद से लङ्का नगरी की ऐसी शोभा हुई, जैसी चन्द्रमा से आकाश की होती है ॥ २० ॥

स सम्प्राप्य महातेजा युद्धभूमिमरिन्दमः ।
स्थापयामास रक्षांसि रथं प्रति समन्ततः ॥ २१ ॥

शत्रुविजयी मेघनाद ने रणभूमि में पहुँच कर, अपने रथ के चारों ओर राक्षसों को खड़ा किया ॥ २१ ॥

ततस्तु हुतभोक्तारं हुतभुक्सदृशप्रभः ।
जुहाव राक्षसश्रेष्ठो मन्त्रवद्विधिवत्तदा ॥ २२ ॥

अनन्तर अग्नि के समान तेजस्वी राक्षसश्रेष्ठ इन्द्रजीत क्रमानुसार मंत्रों से आग जला कर उसमें हवन करने लगा ॥ २२ ॥

स हविर्लाजसंस्कारैः[1] माल्यगन्धपुरस्कृतैः ।
जुहुवे पावकं दीप्तं राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ २३ ॥

साफ किये हुए हवि, लावा, फूलों की माला तथा सुगन्धित पदार्थों से, प्रतापी राक्षसेन्द्र मेघनाद ने दहकते हुए अग्नि में हवन किया ॥२३॥

शस्त्राणि शरपत्राणि समिधोऽथ विभीतकाः ।
लोहितानि च वासांसि स्रुवं कार्ष्णायसं तथा ॥ २४ ॥

जहाँ पर सरपत बिछाने चाहिये, वहाँ उसने सब शस्त्र बिछाये, बहेरे की लकड़ियों की समिधाएँ बनायीं, लाल वस्त्र धारण किये और लोहे का श्रुवा लिया ॥ २४ ॥

स तत्राग्निं समास्तीर्य शरपत्रैः सतोमरैः ।
छागस्य कृष्णवर्णस्य गलं जग्राह जीवतः ॥ २५ ॥

सकृदेव समिद्धस्य विधूमस्य महार्चिषः ।
बभूवुस्तानि लिङ्गानि विजयं यान्यदर्शयन् ॥ २६ ॥

तोमर और सरपत बिछाकर उनके ऊपर उसने अग्नि रखी, फिर काले रंग के जीवित बकरे का गला पकड़ उसे जलती आग में एक बार ही छोड़ दिया । उस छाग की जैसे ही आहुति दी गयी वैसे ही आग धूमरहित हो प्रज्वलित हो उठी । जयसूचक जो शकुन होने चाहिये थे, वे सब उस समय प्रकट हुए ॥ २५ ॥ २६ ॥

---

1 हविर्लाजसंस्कारैः—संस्कृतहविर्लाजैः । (गो०)

प्रदक्षिणावर्तशिखस्तप्तकाञ्चनभूषणः ।
हविस्तत्प्रतिजग्राह पावकः स्वयमुत्थितः ॥ २७ ॥

विशुद्ध सुवर्ण के समान अग्निदेव ने दहिनी ओर घूमती हुई ज्वाला के साथ, अग्निकुण्ड में प्रकट हो, मेघनाद की दी हुई आहुति स्वयं ग्रहण की ॥ २७ ॥

सोऽस्त्रमाहारयामास[1] ब्राह्ममिन्द्ररिपुस्तदा ।
धनुश्चात्मरथं चैव सर्वं तत्राभ्यमन्त्रयत् ॥ २८ ॥

तदनन्तर इन्द्रजीत ने ब्रह्मास्त्र के मंत्र से हवन किया और अपने धनुषादि अस्त्रों को तथा रथ और कवच को भी मंत्रों से अभिमंत्रित किया ॥ २८ ॥

तस्मिन्नाहूयमानेऽस्त्रे हूयमाने च पावके ।
सार्कग्रहेन्दुनक्षत्रं वितत्रास नभस्थलम् ॥ २९ ॥

जब इन्द्रजीत ने ब्रह्मास्त्र का आह्वान कर, अग्नि में आहुति देनी आरम्भ की, तब सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रों के साथ आकाशमण्डल वासी भयभीत हो गये ॥ २९ ॥

स पावकं पावकदीप्ततेजा
हुत्वा महेन्द्रप्रतिमप्रभावः ।
सचापबाणासिरथाश्वसूतः
खेऽन्तर्दधेत्मानमचिन्त्यरूपः ॥ ३० ॥

---

१ आहारयामास—आजुहाव । (गो०)

इन्द्र के समान अमित पराक्रमी और अग्नि के समान तेजस्वी तथा अचिन्त्य रूपवाला इन्द्रजीत अग्नि में आहुति दे, धनुष बाण खड्ग रथ, अश्व और सारथि सहित आकाश में छिप गया ॥३०॥

ततो हयरथाकीर्णं पताकाध्वजशोभितम् ।
निर्ययौ राक्षसबलं नर्दमानं युयुत्सया ॥ ३१ ॥

तदनन्तर घोड़ों, हाथियों, रथों, ध्वजाओं तथा पताकाओं से सुशोभित राक्षसी सेना सिंहनाद करती हुई लड़ने के लिये बाहिर निकली ॥ ३१ ॥

ते शरैर्बहुभिश्चित्रैः तीक्ष्णवेगैरलंकृतैः ।
तोमरैरंकुशैश्चापि वानराञ्जघ्नुराहवे ॥ ३२ ॥

वे राक्षस, वानरों के साथ युद्ध करते हुए, वानरों को विविध प्रकार के अद्भुत बाणों, पैने पैने और वेगवान् सुन्दर तोमरों तथा अङ्कुशों से मारने लगे ॥ ३२ ॥

रावणिस्तु ततः क्रुद्धः तान्निरीक्ष्य निशाचरान् ।
हृष्टा भवन्तो युध्यन्तु वानराणां जिघांसया ॥३३॥

मेघनाद अपनी सेना को लड़ते देख क्रोध में भर कहने लगा कि, तुम सब लोग वानरों का संहार करने के लिये हर्षित होकर उनसे खूब लड़ो ॥ ३३ ॥

ततस्ते राक्षसाः सर्वे नर्दन्तो जयकाङ्क्षिणः ।
अभ्यवर्षंस्ततो घोरान्वानराञ्शरवृष्टिभिः ॥ ३४ ॥

विजय पाने की आशा किये हुए राक्षस यह सुनते ही वानरों के ऊपर घोर बाणवृष्टि करने लगे ॥ ३४ ॥

स तु नालीकनाराचैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
रक्षोभिःसंवृतः संख्ये वानरान्विचकर्त ह ॥३५॥

वह इन्द्रजीत भी (ऊपर से) नालीक, नाराच, गदा, मूसल आदि शस्त्रों की वृष्टि कर, राक्षसों से घेरे हुए वानरों को घायल करने लगा ॥ ३५ ॥

ते वध्यमानाः समरे वानराः पादपायुधाः ।
अभ्यद्रवन्त सहिता रावणिं रणकर्कशम् ॥ ३६ ॥

समर में मारे जाते हुए वानर भी हाथों में वृक्ष लेकर रणकर्कश मेघनाद की राक्षसी सेना के ऊपर आक्रमण कर रहे थे ॥ ३६ ॥

इन्द्रजित्तु ततः क्रुद्धो महातेजा महाबलः ।
वानराणां शरीराणि व्यधमद्रावणात्मजः ॥ ३७ ॥

उस समय महातेजस्वी और महाबली रावणात्मज इन्द्रजीत क्रुद्ध हो वानरों के शरीर को बाणों से छिन्नभिन्न करने लगा ॥३७॥

शरेणैकेन च हरीन्नव पञ्च च सप्त च ।
चिच्छेद समरे क्रुद्धो राक्षसान्संप्रहर्षयन् ॥ ३८ ॥

वह क्रुद्ध हो युद्ध करता हुआ एक ही बाण से कभी पाँच, कभी सात और कभी नौ नौ वानरों को वेध कर, राक्षसों को हर्षित करता था ॥ ३८ ॥

स शरैः सूर्यसङ्काशैः शातकुम्भविभूषितैः ।
वानरान्समरे वीरः प्रममाथ सुदुर्जयः ॥ ३९ ॥

उस दुर्जेय वीर इन्द्रजीत ने सूर्य समान चमचमाते सुवर्णमय बाणों से वानरों का खूब संहार किया ॥ ३९ ॥

ते भिन्नगात्राः समरे वानराः शरपीडिताः ।
पेतुर्मथितसङ्कल्पाः सुरैरिव महासुराः ॥ ४० ॥

उस युद्ध में वानर शर के आघात से घायल और पीड़ित हो रहे थे। इस समय राक्षसों द्वारा वानरों की वैसी ही दुर्दशा होरही थी, जैसी कि असुरों के नाश करने का संकल्प किये हुए देवताओं द्वारा असुरों की हुई थी ॥ ४० ॥

तं तपन्तमिवादित्यं घोरैर्बाणगभस्तिभिः ।
अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः संयुगे वानरर्षभाः ॥४१॥

बड़े बड़े वीर वानरयूथपति बाणरूपी किरणों से सन्तप्त करने वाले इन्द्रजीतरूपी सूर्य के ऊपर क्रोध में भर कर दौड़े ॥ ४१ ॥

ततस्तु वानराः सर्वे भिन्नदेहा विचेतसः ।
व्यथिता विद्रवन्ति स्म रुधिरेण समुक्षिताः ॥ ४२ ।

परन्तु बाणों की चोट से पीड़ित हो और रक्त से समस्त शरीर तर कर और होशहवाश गँवा कर वानर भागे ॥ ४२ ॥

रामस्यार्थे पराक्रम्य वानरास्त्यक्तजीविताः ।
नर्दन्तस्तेऽभिवृत्तास्तु समरे सशिलायुधाः ॥ ४३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के लिये अपना अपना पराक्रम दिखला बहुत से वानर अपने प्राणों से हाथ धो बैठे। तिस पर भी बहुत से वानर हाथों में शिलाएँ लिये हुए और गर्जते हुए युद्धभूमि में डटे रहे ॥ ४३ ॥

ते द्रुमैः पर्वताग्रैश्च शिलाभिश्च प्लवङ्गमाः ।
अभ्यवर्षन्त समरे रावणिं पर्यवस्थिताः ॥ ४४ ॥

ये मेघनाद के ऊपर चारों ओर से पेड़ों, पर्वतशृङ्गों और शिलाओं की वर्षा कर लड़ने लगे ॥ ४४ ॥

तद्द्रुमाणां शिलानां च वर्षं प्राणहरं महत् ।
व्यपोहत महातेजा रावणिः समितिञ्जयः ॥ ४५ ॥

किन्तु समरविजयी रावणात्मज मेघनाद ने वानरों के फेंके हुए प्राणहारी पेड़ों, शिलाओं और पर्वतों को अपने बाणों से विफल कर दिया ॥ ४५ ॥

ततः पावकसङ्काशैः शरैराशीविषोपमैः ।
वानराणामनीकानि बिभेद समरे प्रभुः ॥ ४६ ॥

इन्द्रजीत ने अग्नि की तरह दहकते और विषधर सर्प की तरह भयङ्कर बाणों से रणभूमि में वानरी सेना को वेध डाला ॥ ४६ ॥

अष्टादशशरैस्तीक्ष्णैः स विद्ध्वा गन्धमादनम् ।
विव्याध नवभिश्चैव नलं दूरादवस्थितम् ॥ ४७ ॥

उसने १८ बाण गन्धमादन के मारे। नौ बाण उसने दूर पर खड़े नल के मारे ॥ ४७ ॥

सप्तभिस्तु महावीर्यो मैन्दं मर्मविदारणैः ।
पञ्चभिर्विशिखैश्चैव गजं विव्याध संयुगे ॥ ४८॥

सात बाण मैन्द के मार उसके मर्मस्थलों को विदीर्ण कर डाला। इसी प्रकार इस लड़ाई में उस बली ने पाँच पैने बाण गज नामक वानर के मार उसको घायल कर डाला ॥ ४८ ॥

जाम्बवन्तं तु दशभिः नीलं त्रिंशद्भिरेव च ।
सुग्रीवमृषभं चैव सोऽङ्गदं द्विविदं तथा ॥ ४९ ॥

उसने दस बाण जाम्बवान के मारे और तीस बाण नील के मारे। सुग्रीव, ऋषभ, अङ्गद और द्विविद को ॥ ४६ ॥

घोरैर्दत्तवरैस्तीक्ष्णैः निष्प्राणानकरोत्तदा।
अन्यानपि तथा मुख्यान्वानरान्बहुभिः शरैः ॥ ५० ॥

तो उसने वरदान में प्राप्त भयङ्कर पैने बाणों से मृतप्राय कर डाला। अन्य और जो प्रधान वानरयूथपति थे, उनके भी उसने बहुत से बाण मार कर ॥ ५० ॥

अर्दयामास संक्रुद्धः कालाग्निरिव मूर्छितः।
स शरैः सूर्यसङ्काशैः सुमुक्तैः शीघ्रगामिभिः ॥ ५१ ॥

उनको विकल कर डाला। वह अत्यन्त कुपित हो कालाग्नि की तरह हो रहा था। उसने सूर्य की तरह चमचमाते, शीघ्रगामी तथा कान तक खींच कर छोड़े हुए बाणों से ॥ ५१ ॥

वानराणामनीकानि निर्ममन्थ महारणे।
आकुलां वानरीं सेनां शरजालेन मोहिताम् ॥ ५२ ॥

वानरी सेनाओं को इस महायुद्ध में मथ डाला। वानरी सेना को विकल और शरों की वृष्टि से मूर्छित ॥ ५२ ॥

हृष्टः स परया प्रीत्या ददर्श क्षतजोक्षिताम्।
पुनरेव महातेजा राक्षसेन्द्रात्मजो बली ॥ ५३ ॥

एवं क्षतविक्षत देख परम प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ। वीर एवं महातेजस्वी रावणतनय इन्द्रजीत ने पुनः ॥ ५३ ॥

संसृज्य बाणवर्षं च शस्त्रवर्षं च दारुणम्।
ममर्द वानरानीकं इन्द्रजित्त्वरितो बली ॥ ५४ ॥

पुनः बाणों और शस्त्रों की दारुण वर्षा की। वीर इन्द्रजीत ने इस प्रकार वानरी सेना को रगड़ डाला ॥ ५४ ॥

स्वसैन्यमुत्सृज्य समेत्य तूर्णं
महारणे वानरवाहिनीषु ।
अदृश्यमानः शरजालमुग्रं
ववर्ष नीलाम्बुधरो यथाऽम्बु ॥ ५५ ॥

इन्द्रजीत ने अपनी सेना को तो पीछे ही छोड़ दिया और वह स्वयं शीघ्रतापूर्वक वानरी सेना में घुस गया और छिप कर वह वानरों के ऊपर प्रचण्ड बाणों की वर्षा वैसे ही करने लगा जैसे बादल जल की वृष्टि करते हैं ॥ ५५ ॥

ते शक्रजिद्बाणविशीर्णदेहा
मायाहता विस्वरमुन्नदन्तः ।
रणे निपेतुर्हरयोऽद्रिकल्पा
यथेन्द्रवज्राभिहता नगेन्द्राः ॥ ५६ ॥

इन्द्रजीत की माया से मोहित हो पर्वताकार वानरों के शरीर उसके बाणों से बहुत घायल हो गये। वे समरभूमि में दाँत निकाल और आर्तनाद करते हुए वैसे ही गिर पड़े जैसे इन्द्र के वज्र के प्रहार से पर्वत पङ्ख कट जाने पर गिरे थे ॥ ५६ ॥

ते केवलं संददृशुः शिताग्रान्
बाणान्रणे वानरवाहिनीषु ।
मायानिगूढं तु सुरेन्द्रशत्रुं
न चात्र तं राक्षसमभ्यपश्यन् ॥ ५७ ॥

उन वानरों को वानरी सेना में केवल बाण आते हुए ही देख पड़ते थे। किन्तु माया से अपने को छिपाये हुए इन्द्रशत्रु मेघनाद उनको नहीं देख पड़ता था॥ ५७॥

ततः स रक्षोधिपतिर्महात्मा
सर्वा दिशो बाणगणैः शिताग्रैः।
प्रच्छादयामास रविप्रकाशैः
विषादयामास च वानरेन्द्रान्॥ ५८॥

उस महाबलवान राक्षसाधिपति ने इतने बाण चलाये कि, उन तीक्ष्ण बाणों से सारी दिशाएँ पूर्ण हो गयीं। सूर्य ढक गये और बड़े बड़े नामी वानरयूथपति भी घबड़ा गये॥ ५८॥

स शूलनिस्त्रिंशपरश्वधानि
व्याविध्य दीप्तानलसन्निभानि।
सविस्फुलिङ्गोज्ज्वलपावकानि
ववर्ष तीव्रं प्लवगेन्द्रसैन्ये॥ ५९॥

उसने दहकते हुए अङ्गारे की तरह चमचमाते, शूल, खाँड़े, परसा आदि शस्त्रों के प्रहार से वानरों को विदीर्ण कर डाला। उसने जलती हुई आग की तरह चमचमाते और चिनगारियाँ निकलते हुए तीव्र बाण सुग्रीव की सेना के ऊपर बरसाये॥ ५९॥

ततो ज्वलनसङ्काशैः शितैर्वानरयूथपाः।
ताडिताः शक्रजिद्बाणैः प्रफुल्ला इव किंशुकाः॥ ६०॥

दहकती हुई आग की तरह चमीकले और पैने इन्द्रजीत के उन बाणों की चोट से घायल वानर ऐसे जान पड़ते थे, जैसे फूले हुए टेसू के पेड़॥ ६०॥

तेऽन्योन्यमभिसर्पन्तो निनदन्तश्च विस्वरम् ।
राक्षसेन्द्रास्त्रनिर्भिन्ना निपेतुर्वानरर्षभाः ॥ ६१ ॥

वे वानरश्रेष्ठ एक दूसरे से सटे हुए बुरी तरह चिल्ला रहे थे और इन्द्रजीत के अस्त्रों से घायल हो पृथिवी पर गिरते जाते थे ॥ ६१ ॥

उदीक्षमाणा गगनं केचिन्नेत्रेषु ताडिताः ।
शरैर्विविशुरन्योन्यं पेतुश्च जगतीतले ॥ ६२ ॥

यदि कोई वानर ऊपर ताकता तो ताकते ही उसकी आँख में बाण लगता था। उस पीड़ा से पीड़ित हो वे एक दूसरे को थामते और अन्त में ज़मीन पर गिर जाते थे ॥ ६२ ॥

हनूमन्तं च सुग्रीवमङ्गदं गन्धमादनम् ।
जाम्बवन्तं सुषेणं च वेगदर्शिनमेव च ॥ ६३ ॥

मैन्दं च द्विविदं नीलं गवाक्षं गजगोमुखौ ।
केसरिं हरिलोमानं विद्युद्दंष्ट्रं च वानरम् ॥ ६४ ॥

सूर्याननं ज्योतिमुखं तथा दधिमुखं हरिम् ।
पावकाक्षं नलं चैव कुमुदं चैव वानरम् ॥ ६५ ॥

प्रासैः शूलैः शितैर्बाणैरिन्द्रजिन्मन्त्रसंहितैः ।
विव्याध हरिशार्दूलान्सर्वांस्तान्राक्षसोत्तमः ॥ ६६ ॥

हनूमान, सुग्रीव, अङ्गद, गन्धमादन, जाम्बवान, सुषेण, वेगदर्शी मैन्द, द्विविद, नील, गवाक्ष, गजमुख, गोमुख, केसरी, हरिलोमा,

विद्युद्दंष्ट्र, सूर्यानन, ज्योतिर्मुख, दधिमुख, पावकाक्ष, नल और कुमुद इन मुख्य मुख्य वानरों को इन्द्रजीत प्रासों शूलों और पैने बाणों से बेधता था। ये बाण मंत्रविशेषों से अभिमंत्रित किये हुए होते थे। ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

स वै गदाभिर्हरियूथमुख्यान्
निर्भिद्य बाणैस्तपनीयपुंखैः ।
ववर्ष रामं शरवृष्टिजालैः
सलक्ष्मणं भास्कररश्मिकल्पैः ॥ ६७ ॥

उसने वानरयूथपतियों को गदाओं के प्रहार से चोटिल कर उनके शरीर को सुवर्णमय पुङ्खों से युक्त बाणों से विदीर्ण किया। तदनन्तर उसने सूर्य की किरणों की तरह चमकते हुए बाणों की वृष्टि श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के ऊपर की ॥ ६७ ॥

स बाणवर्षैरभिवर्ष्यमाणो
धारानिपातानिव तान्विचिन्त्य ।
समीक्षमाणः परमाद्भुतश्री
रामस्तदा लक्ष्मणमित्युवाच ॥ ६८ ॥

अद्भुत धैर्यसम्पन्न श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर जब वह बाणवृष्टि हुई; तब उन्होंने उस बाणवृष्टि को जलवृष्टि ही के समान तुच्छ समझा और वे लक्ष्मण की ओर देख कर बोले ॥ ६८ ॥

असौ पुनर्लक्ष्मणराक्षसेन्द्रा
ब्रह्मास्त्रमाश्रित्य सुरेन्द्रशत्रुः ।

निपातयित्वा हरिसैन्यमुग्र-
मस्मिञ्शरैरर्दयति प्रसक्तः ॥ ६९ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो यह इन्द्रशत्रु राक्षसेन्द्र फिर ब्रह्मास्त्र का सहारा ले, प्रचण्ड वानरी सेना को बाणों से घायल कर और गिरा कर, अब हम पर वार कर रहा है ॥ ६९ ॥

स्वयंभुवा दत्तवरो महात्मा
खमास्थितोऽन्तर्हितभीमकायः ।
कथं नु शक्यो युधि [1]नष्टदेहो
निहन्तुमद्येन्द्रजिदुद्यतास्त्रः ॥ ७० ॥

यह भीमकाय महाबली इन्द्रजीत, ब्रह्मा के वरदान के प्रभाव से आकाश में छिपा हुआ है। इस प्रकार अदृश्य होकर युद्ध करने वाला यह इन्द्रजीत समर में कैसे मारा जा सकेगा ? ॥ ७० ॥

मन्ये स्वयंभूर्भगवानचिन्त्यो
यस्यैतदस्त्रं प्रभवश्च योऽस्य ।
बाणावपातांस्त्वमिहाद्य धीमन्
मया सहाव्यग्रमनाः सहस्व ॥ ७१ ॥

हे बुद्धिमान् ! जो इस मनुवंश की उत्पत्ति के कारण हैं, उन ब्रह्मा जी की बात किसी प्रकार हेटी की जाय, इसका तो विचार तक मन में लाना ठीक नहीं। सो ये अस्त्र उन्हीं ब्रह्मा जी के दिये हुए हैं। अतः मेरे साथ तुम भी इन बाणों की चोट को अव्यग्र मन

---

1 नष्टदेहो—अदृश्यो देहो। (शि०)

से सहो। मैं तो इस समय यही उचित समझता हूँ। (अर्थात् यद्यपि हम में इन्द्रजीत की माया नष्ट करने की पूर्ण शक्ति है, तथापि ब्रह्मा जी का गौरव कर हमें इसको सह लेना ही उचित है। शिरोमणि टीकाकार के अभिप्रायानुसार यह अर्थ है ॥ ७१ ॥

प्रच्छादयत्येष हि राक्षसेन्द्रः
सर्वा दिशः सायकवृष्टिजालैः ।
एतच्च सर्वं पतिताग्र्यशूरं
न भ्राजते वानरराजसैन्यम् ॥ ७२ ॥

देखो इस राक्षसेन्द्र ने बाणवृष्टि कर सब दिशाओं को ढक दिया है। देखो ये सब वानरयूथपति गिरे पड़े हैं, अतएव अब सुग्रीव की इस वानरी सेना की कुछ भी शोभा नहीं रह गयी ॥ ७२ ॥

अहं तु दृष्ट्वा पतितौ विसंज्ञौ
निवृत्तयुद्धौ गतरोषहर्षौ ।
ध्रुवं प्रवेक्ष्यत्यमरारिवास-
मसौ समादाय रणाग्रलक्ष्मीम् ॥ ७३ ॥

हम दोनों को रोषहर्ष रहित युद्ध से निवृत्त और मूर्छित हो पृथिवी पर पड़ा हुआ देख, समर में अपनी जीत समझ, यह इन्द्रजीत निश्चय ही राक्षसों की आवासभूमि लङ्का को लौट जायगा ॥७३॥

ततस्तु ताविन्द्रजिदस्त्रजालैः
बभूवतुस्तत्र तथा विशस्तौ ।
स चापि तौ तत्र विदर्शयित्वा
ननाद हर्षाद्युधि राक्षसेन्द्रः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार का विचार निश्चित कर दोनों भाई इन्द्रजीत के बाणों से मृतक समान हो गये। दोनों राजकुमारों को ऐसा देख इन्द्रजीत ने हर्षित हो समरभूमि में सिंहनाद किया ॥ ७४ ॥

स तत्तदा वानरसैन्यमेवं
रामं च संख्ये सह लक्ष्मणेन ।
विषादयित्वा सहसा विवेश
पुरीं दशग्रीवभुजाभिगुप्ताम् ॥ ७५ ॥

॥ त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

उस दिन की लड़ाई में श्रीराम, लक्ष्मण एवं वानरी सेना को परास्त कर मेघनाद, रावणरक्षित लङ्का में सहसा चला गया ॥ ७५ ॥

युद्धकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—※—

तयोस्तदा सादितयो रणाग्रे
मुमोह सैन्यं हरिपुङ्गवानाम् ।
सुग्रीवनीलाङ्गदजाम्बवन्तः
न चापि किञ्चित्प्रतिपेदिरे ते ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के इस प्रकार मूर्छित होने पर, वानर-यूथपतियों की सेना मोहित हो गयी। सुग्रीव, नील, अङ्गद,

जाम्बवान जैसे प्रधान प्रधान वानरों से भी कुछ करते न बन पड़ा ॥ १ ॥

ततो विषण्णं समवेक्ष्य सैन्यं
विभीषणो बुद्धिमतां वरिष्ठः ।
उवाच शाखामृगराजवीरा-
नाश्वासयन्नप्रतिमैर्वचोभिः ॥ २ ॥

तदनन्तर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ विभीषण ने, वानरी सेना को विषादित देख, वानरराज सुग्रीव से उपमारहित वचन कह कर, उनको धीरज धराया ॥ २ ॥

मा भैष्ट नास्त्यत्र विषादकालो
यदार्यपुत्रौ ह्यवशौ विषण्णौ ।
स्वयंभुवो वाक्यमथोद्वहन्तौ
यत्सादिताविन्द्रजिदस्त्रजालैः ॥ ३ ॥

(विभीषण कहने लगे) भाइयो डरो मत । यह समय दुःखी होने का नहीं है । ये जो दोनों राजकुमार मूर्छित हो रहे हैं, (सो वास्तव में शस्त्राघात से मूर्छित नहीं हैं बल्कि) ब्रह्मा जी के वरदान का बड़प्पन मान स्वयं ही मेघनाद के अस्त्रजाल में फँस गये हैं ॥ ३ ॥

तस्मै तु दत्तं परमास्त्रमेतत् ।
स्वयंभुवा ब्राह्मममोघवेगम् ।
तन्मानयन्तौ युधि राजपुत्रौ
निपातितौ कोऽत्र विषादकालः ॥ ४ ॥

स्वयंभू ब्रह्मा ने इन्द्रजीत को यह बड़ा भारी अमोघ वीर्य वाला ब्रह्मास्त्र दिया है। इसी अस्त्र की मर्यादारक्षा के लिये ये दोनों राजपुत्र मूर्छित हो गिर पड़े हैं। इसमें दुःखी होने अथवा घबड़ाने की कौन सी बात है॥ ४॥

ब्राह्ममस्त्रं ततो धीमान्मानयित्वा तु मारुतिः।
विभीषणवचः श्रुत्वा हनुमांस्तमथाब्रवीत्॥ ५॥

बुद्धिमान पवननन्दन हनुमान जी, ब्रह्मास्त्र की मर्यादा को कुछ देर तक मान और विभीषण के वचन सुन, कहने लगे॥ ५॥

एतस्मिन्निहते सैन्ये वानराणां तरस्विनाम्।
यो यो धारयते प्राणांस्तं तमाश्वासयावहै॥ ६॥

बलवान वानरों को इस गिरी हुई सेना में जो जो वानर अभी जीवित हैं, आओ हम लोग चल कर उनको धीरज बँधावें॥ ६॥

तावुभौ युगपद्वीरौ हनुमद्राक्षसोत्तमौ।
उल्काहस्तौ तदा रात्रौ रणशीर्षे विचेरतुः॥ ७॥

तदनन्तर वे दोनों वीर अर्थात् हनुमान जी और विभीषण मिल कर उस रात को हाथों में मसाले लिये हुए समरभूमि में घूमने लगे॥ ७॥

भिन्नलाङ्गूलहस्तोरुपादाङ्गुलिशिरोधरैः।
स्रवद्भिः क्षतजं गात्रैः प्रस्रवद्भिस्ततस्ततः॥ ८॥

वहाँ उन दोनों ने देखा कि, किसी की पूँछ कट गयी है, किसी का हाथ कट गया है, किसी की जाँघ कट गयी है, किसी के पैर कटे हुए हैं किसी की उँगलियाँ कट गयी हैं, किसी का सिर

कट गया है और किसी के ओठ कट गये हैं। चारों ओर से उनके घावों में से रुधिर की धारा वह रही है ॥ ८ ॥

पतितैः पर्वताकारैर्वानरैरभिसंकुलाम् ।
शस्त्रैश्च पतितैर्दीप्तैर्ददृशाते वसुन्धराम् ॥ ९ ॥

बड़े बड़े पर्वताकार वानर पड़े हुए हैं। चमकीले अस्त्र भी जिधर देखो उधर पड़े हुए हैं। समरभूमि में कहीं पैर तक रखने को जगह नहीं है ॥ ९ ॥

सुग्रीवमङ्गदं नीलं शरभं गन्धमादनम् ।
गवाक्षं च सुषेणं च वेगदर्शिनमाहुकम् ॥ १० ॥
मैन्दं नलं ज्योतिर्मुखं द्विविदं पनसं तथा ।
एतांश्चान्यांस्ततो वीरौ ददृशाते [1]हतान्रणे ॥ ११ ॥

तदनन्तर उन दोनों ने देखा कि, सुग्रीव, अङ्गद, नील, शरभ, गन्धमादन, गवाक्ष, सुषेण, वेगदर्शी, आहुक, मैन्द, नल, ज्योतिर्मुख, द्विविद, पनस, ये सब तथा अन्य बहुत से रणभूमि में मरे हुए से पड़े हैं ॥ १० ॥ ११ ॥

सप्तषष्टिर्हताः कोट्यो वानराणां तरस्विनाम् ।
अह्नः पञ्चमशेषेण [2]वल्लभेन स्वयंभुवः ॥ १२ ॥

ब्रह्मास्त्र ने अथवा इन्द्रजीत ने बारह घड़ी में सरसठ करोड़ बड़े बड़े वीर वानरों को मार गिराया ॥ १२ ॥

---

१ हतान्—हतप्रायान् । (गो०) २ स्वयंभुवोवल्लभेन—इन्द्रजिता-ब्रह्मास्त्रेण वा । (गो०)

सागरौघनिभं भीमं दृष्ट्वा बाणार्दितं बलम् ।
मार्गते जाम्बवन्तं स्म हनुमान्सविभीषणः ॥ १३ ॥

समुद्र के समान अपार वानरी सेना को बाणों से मथित देख, विभीषण और हनुमान दोनों जन, अब जाम्बवान को ढूढ़ने लगे ॥ १३ ॥

स्वभावजरया युक्तं वृद्धं शरशतैश्चितम् ।
प्रजापतिसुतं वीरं शाम्यन्तमिव पावकम् ॥ १४ ॥

बहुत ढूढ़ने के बाद प्रजापति के पुत्र वीर जाम्बवान इन दोनों को देख पड़े । ये बूढ़े तो थे ही, तिस पर वे सैकड़ों बाणों की चोट खा कर, बुझी हुई आग की तरह भूमि पर पड़े थे ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा तमुपसङ्क्रम्य पौलस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ।
कच्चिदार्यशरैस्तीक्ष्णैः प्राणा न ध्वंसितास्तव ॥ १५ ॥

उन्हें पड़ा देख और उनके पास जा, विभीषण ने कहा—हे आर्य ! इस दारुण बाणवर्षा से तुम्हारे प्राणों का तो संहार नहीं हुआ ? ॥ १५ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा जाम्बवानृक्षपुङ्गवः ।
कृच्छ्रादभ्युद्गिरन् वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

भालुओं में श्रेष्ठ जाम्बवान, विभीषण के वचन सुन, बड़ी कठिनाई से और कराहते हुए, यह बोले ॥ १६ ॥

नैर्ऋतेन्द्र महावीर्य स्वरेण त्वाऽभिलक्षये ।
पीड्यमानः शितैर्बाणैः न त्वां पश्यामि चक्षुष ॥१७॥

हे राक्षसेन्द्र! हे महाबली! मैं तुम्हें तुम्हारे कण्ठस्वर से पहिचान सका हूँ, मैंने बाणों से मेरा शरीर ऐसा बिंधा हुआ है कि, आँखों से मैं तुम्हें नहीं देख सकता ॥ १७ ॥

अञ्जना सुप्रजा येन मातरिश्वा च नैर्ऋत ।
हनुमान्वानरश्रेष्ठः प्राणान्धारयते क्वचित् ॥ १८ ॥

हे सुव्रत! जिनको प्राप्त कर अञ्जना सुपुत्रवती हुई हैं, और पवनदेव सुपुत्रवान् हुए हैं, वे वानरश्रेष्ठ हनुमान जी तो जीवित हैं? ॥ १८ ॥

श्रुत्वा जाम्बवतो वाक्यमुवाचेदं विभीषणः ।
आर्यपुत्रावतिक्रम्य कस्मात्पृच्छसि मारुतिम् ॥ १९ ॥

जाम्बवान का यह प्रश्न सुन विभीषण कहने लगे—राजकुमारों की कुशल न पूँछ कर, हनुमान जी के जीवित रहने की बात सब से प्रथम आपने पूँछी—इसका क्या कारण है? ॥ १९ ॥

नैव राजनि सुग्रीवे नाङ्गदे नापि राघवे ।
आर्य सन्दर्शितः स्नेहः यथा वायुसुते परः ॥ २० ॥

यह प्रश्न कर आपने न तो कपिराज सुग्रीव, न अङ्गद और न श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण के प्रति वैसा स्नेह प्रकट किया; जैसा कि, आपने हनुमान जी के प्रति प्रकट किया है ॥ २० ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा जाम्बवान्वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु नैर्ऋतशार्दूल यस्मात्पृच्छामि मारुतिम् ॥ २१ ॥

विभीषण के वचन सुन जाम्बवान कहने लगे—हे राक्षसराज! मैंने सब से प्रथम हनुमान जी की कुशल क्यों पूँछी—इसका कारण कहता हूँ, सुनो ॥ २१ ॥

तस्मिन्जीवति वीरे तु हतमप्यहतं बलम् ।
हनुमत्युज्झितप्राणे जीवन्तोऽपि वयं हताः ॥ २२ ॥

यदि हनुमान जीवित हैं तो सारी सेना के मारे जाने पर भी वह अभी जीवित है, मरी नहीं; और यदि कहीं हनुमान जी मर गये तो समझ लो कि, हम सब जीते हुए भी मरे हुओं के बराबर हैं ॥ २२ ॥

धरते मारुतिस्तात मारुतप्रतिमो यदि ।
वैश्वानरसमो वीर्ये जीविताशा ततो भवेत् ॥ २३ ॥

यदि पवन के समान वेगवान और अग्नि के समान बलवान हनुमान जी जीवित हैं, तो मुझे (मरे हुओं के) जीवित होने की भी आशा है ॥ २३ ॥

ततो वृद्धमुपागम्य नियमेनाभ्यवादयत् ।
गृह्य जाम्बवतः पादौ हनुमान्मारुतात्मजः ॥ २४ ॥

तब पवननन्दन हनुमान जी बूढ़े जाम्बवान के समीप गये और उनके दोनों चरण पकड़ कर, नियमानुसार (अपना नाम लेकर) उनको प्रणाम किया ॥ २४ ॥

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं तथापि व्यथितेन्द्रियः ।
पुनर्जातमिवात्मानं मन्यते स्मर्क्षपुङ्गवः ॥ २५ ॥

घावों की पीड़ा से अत्यन्त विकल होने पर भी, भालुओं में श्रेष्ठ जाम्बवान ने हनुमान जी की आवाज़ सुन, अपना पुनर्जन्म माना ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा हनुमन्तं स जाम्बवान् ।
आगच्छ हरिशार्दूल वानरांस्त्रातुमर्हसि ॥ २६ ॥

तदनन्तर परम तेजस्वी जाम्बवान ने हनुमान जी से कहा— हे वानरशार्दूल! आओ और वानरों के प्राण बचाओ ॥ २६ ॥

नान्यो विक्रमपर्याप्तस्त्वमेषां परमः सखा ।
त्वत्पराक्रमकालोऽयं नान्यं पश्यामि कञ्चन ॥ २७ ॥

हे वीर! एक तो तुम इन सब के परम मित्र हो, दूसरे तुममें पराक्रम भी इतना है कि, तुम इनके प्राणों की रक्षा कर सकते हो। यह समय भी ऐसा है कि, तुम्हे अपने पराक्रम से काम लेना, चाहिये। अथवा यह समय तुम्हारे ही पराक्रम करने का है। क्योंकि ऐसा दूसरा तो मुझे कोई यहाँ देख नहीं पड़ता ॥ २७ ॥

ऋक्षवानरवीराणामनीकानि प्रहर्षय ।
विशल्यौ कुरु चाप्येतौ सादितौ रामलक्ष्मणौ ॥ २८ ॥

सो तुम रीछों और वानरों की सेना को आनन्दित करो और घायल पड़े हुए श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण की बाणपीड़ा को दूर करो ॥ २८ ॥

गत्वा परममध्वानमुपर्युपरि सागरम् ।
हिमवन्तं नगश्रेष्ठं हनुमान्गन्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

हे हनुमन्! तुम समुद्र के ऊपर ऊपर बहुत दूर तक जाकर पर्वतश्रेष्ठ हिमालय पर चले जाओ ॥ २९ ॥

ततः काञ्चनमत्युच्चमृषभं पर्वतोत्तमम् ।
कैलासशिखरं चापि द्रक्ष्यस्यरिनिषूदन ॥ ३० ॥

उसके आगे तुम्हें सुवर्णमय और बड़ा ऊँचा ऋषभ नामक एक पर्वतश्रेष्ठ मिलेगा। हे शत्रुहन्ता! वहीं से तुम्हें कैलास पर्वत की चोटी भी देख पड़ेगी ॥ ३० ॥

तयोः शिखरयोर्मध्ये प्रदीप्तमतुलप्रभम् ।
सर्वौषधियुतं वीर द्रक्ष्यस्योषधिपर्वतम् ॥ ३१ ॥

हे वीर ! इन्हीं दोनों पर्वतशिखरों के बीच तुम अत्यन्त तेजस्वी चमकीले तथा सब जड़ी बूटियों से भरे हुए औषध-पर्वत को देखोगे ॥ ३१ ॥

तस्य वानरशार्दूल चतस्रो मूर्ध्नि सम्भवाः ।
द्रक्ष्यस्योषधयो दीप्ता दीपयन्त्यो दिशो दश ॥ ३२ ॥

उस पर्वतशिखर पर तुमको चार बूटियाँ मिलेंगी। वे बड़ी चमकीली हैं—यहाँ तक कि, उनकी चमक से दसों दिशाएँ प्रकाशित रहती हैं ॥ ३२ ॥

मृतसञ्जीवनीं चैव विशल्यकरणीमपि ।
सावर्ण्यकरणीं चैव सन्धानकरणीं तथा ॥ ३३ ॥

(उन चारों के नाम हैं)—[1]मृतसञ्जीवनी, [2]विशल्यकरणी, [3]सावर्ण्यकरणी और [4]सन्धानकरणी ॥ ३३ ॥

ताः सर्वा हनुमन्गृह्य क्षिप्रमागन्तुमर्हसि ।
आश्वासय हरीन्प्राणैर्योज्य गन्धवहात्मज ॥ ३४ ॥

हे हनुमान् ! इन चारों को ले कर तुम शीघ्र यहाँ लौट आओ। हे पवननन्दन ! तुम उन ओषधियों को तुरन्त ला कर वानरों को जिला दो ॥ ३४ ॥

---

१ मृतसञ्जीवनी—मरे को जिलाने वाली। २ विशल्यकरणी—घावों को पूरनेवाली। ३ सावर्णकरणी—घाव की गूत का रंग बदल कर पूर्ववत् कर देने वाली। ४ सन्धानकरणी—घाव भरने पर खाल को जोड़कर, एक सा कर देने वाली।

श्रुत्वा जाम्बवतो वाक्यं हनुमान्हरिपुङ्गवः ।
आपूर्यत बलोद्धर्षैस्तोयवेगैरिवार्णवः ॥ ३५ ॥

जाम्बवान के इन वचनों को सुन, वानरश्रेष्ठ हनुमान जी, बल और हर्ष से ऐसे फूल उठे, जैसे जल के वेग से समुद्र भर जाता है ॥ ३५ ॥

स पर्वततटाग्रस्थः पीडयन्पर्वतोत्तमम् ।
हनुमान्दृश्यते वीरो द्वितीय इव पर्वतः ॥ ३६ ॥

जब वीरवर हनुमान जी कूदने के लिये त्रिकूटपर्वत के शिखर को पैरों से दबा कर उसके ऊपर खड़े हुए, तब वे एक दूसरे पर्वत के समान जान पड़े ॥ ३६ ॥

हरिपादविनिर्भग्नो निषसाद स पर्वतः ।
न शशाक तदाऽऽत्मानं सोढुं भृशनिपीडितः ॥ ३७ ॥

हनुमान जी के पैरों से दब कर वह पर्वत घबड़ा गया। वह अपने को सम्हाल न सका। क्योंकि वह हनुमान जी के बोझ से बहुत दब गया था ॥ ३७ ॥

तस्य पेतुर्नगा भूमौ हरिवेगाच्च जज्वलुः ।
शृङ्गाणि च व्यशीर्यन्त पीडितस्य हनूमता ॥ ३८ ॥

हनुमान जी के वेग से उसके ऊपर के वृक्ष गिर पड़े। उसके समस्त शिखर कट गये और उसमें से आग निकलने लगी ॥३८॥

तस्मिन्सम्पीड्यमाने तु भग्नद्रुमशिलातले ।
न शेकुर्वानराः स्थातुं घूर्णमाने नगोत्तमे ॥ ३९ ॥

इस प्रकार हनुमान जी के बोझ से दब कर पर्वतश्रेष्ठ त्रिकूटाचल के सब वृक्ष टूट पड़े, शिलाएँ चूर हो गयीं। उस पर्वत के हिलने पर जो वानर उसके ऊपर थे, वे सब भी स्थिर न रह सके ॥ ३९ ॥

सा घूर्णितमहाद्वारा प्रभग्नगृहगोपुरा।
लङ्का त्रासाकुला रात्रौ प्रनृत्तेवाभवत्तदा ॥ ४० ॥

उसके उस हिस्से के हिलने से लङ्का के उस भाग के बड़े बड़े फाटक, बड़े बड़े दरवाज़े और घर गिर पड़े। लङ्कावासी जन भयभीत हो गये। उस समय ऐसा जान पड़ा, मानों राक्षसों की लङ्का नाच रही हो ॥ ४० ॥

पृथिवीधरसङ्काशो निपीड्य धरणीधरम्।
पृथिवीं क्षोभयामास सार्णवां मारुतात्मजः ॥ ४१ ॥

पर्वताकार वानरवीर पवनकुमार ने पर्वत को पीड़ित कर, समस्त पृथिवी को समुद्र सहित क्षुब्ध कर डाला ॥ ४१ ॥

आरुरोह तदा तस्माद्धरिर्मलयपर्वतम्।
मेरुमन्दरसङ्काशं नानाप्रस्रवणाकुलम् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर हनुमान जी त्रिकूटपर्वत से मलयाचलपर्वत पर चढ़े, जो मेरुपर्वत की तरह ऊँचा था और जिसमें जगह जगह जल के झरने झर रहे थे ॥ ४२ ॥

नानाद्रुमलताकीर्णं विकासिकमलोत्पलम्।
सेवितं देवगन्धर्वैः षष्टियोजनमुच्छ्रितम् ॥ ४३ ॥

उसके ऊपर अनेक वृक्ष लगे हुए थे और लताएँ फैली हुई थीं और कमल खिले हुए थे। उस पर्वत पर देवता और गन्धर्वों का वास था और वह ६० योजन ऊँचा था ॥ ४३ ॥

विद्याधरैर्मुनिगणैरप्सरोभिर्निषेवितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं बहुकन्दरशोभितम् ॥ ४४ ॥

उसके ऊपर विद्याधर, मुनि और अप्सराएँ वास करती थीं। विविध प्रकार के जीवजन्तु घूमा करते थे तथा बहुत सी कन्दराओं से वह सुशोभित था ॥ ४४ ॥

सर्वानाकुलयंस्तत्र यक्षगन्धर्वकिन्नरान् ।
हनुमान्मेघसङ्काशो ववृधे मारुतात्मजः ॥ ४५ ॥

मेघ के समान विशाल वपुधारी पवननन्दन हनुमान जी ने मलयाचलवासी समस्त प्राणियों को आकुल कर अपने शरीर को बढ़ाया ॥ ४५ ॥

पद्भ्यां तु शैलमापीड्य वडवामुखवन्मुखम् ।
विवृत्योऽग्रं ननादोच्चैः त्रासयन्निव राक्षसान् ॥ ४६ ॥

पैर से मलयाचल को दबा कर, और वड़वानल के समान अपने उग्र मुख को फैला कर, हनुमान जी ऐसे ज़ोर से गर्जे कि, राक्षस भयभीत हो गये ॥ ४६ ॥

तस्य नानद्यमानस्य श्रुत्वा निनदमद्भुतम् ।
लङ्कास्था राक्षसाः सर्वे न शेकुः स्पन्दितुं भयात् ॥४७॥

उनके सिंहनाद करने पर, उस अद्भुत सिंहगर्जन को सुन, लङ्कावासी समस्त राक्षस मारे डर के अपनी जगहों से हिल तक न सके ॥ ४७ ॥

नमस्कृत्वाऽथ रामाय मारुतिर्भीमविक्रमः ।
राघवार्थे परं कर्म समीहत परन्तपः ॥ ४८ ॥

शत्रुओं के मारने वाले, भीम पराक्रमी हनुमान जी, श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर, अपने स्वामी श्रीराम जी के लिये बड़ा भारी काम करने को उद्यत हुए ॥ ४८ ॥

स पुच्छमुद्यम्य भुजङ्गकल्पं
विनम्य पृष्ठं श्रवणे निकुञ्च्य ।
विवृत्य वक्त्रं वडवामुखाभम्
आपुप्लुवे व्योमनि चण्डवेगः ॥ ४९ ॥

अपनी सर्प जैसी पूँछ को ऊपर उठा, दोनों कान चिपका, कमर झुका और बड़वानल जैसा अपना मुख फैला हनुमान जी अति प्रचण्ड वेग से आकाश में उड़े ॥ ४९ ॥

स वृक्षपण्डांस्तरसाऽऽजहार
शैलाञ्शिलाः प्राकृतवानरांश्च ।
बाहूरुवेगोद्धतसम्प्रणुन्नाः
ते क्षीणवेगाः सलिले निपेतुः ॥ ५० ॥

हनुमान जी के उछलने के समय उनकी भुजाओं और जाँघों के वेग से वृक्ष, पर्वत, शिला और साधारण वानर भी कुछ दूर तक उनके पीछे पीछे उड़े । पीछे जब वेग कम हुआ, तब वे सब समुद्र के जल में गिर पड़े ॥ ५० ॥

स तौ प्रसार्योरगभोगकल्पौ
भुजौ भुजङ्गारिनिकाशवीर्यः ।
जगाम *शैलं नगराजमग्र्यं
दिशः प्रकर्षन्निव वायुसूनुः ॥ ५१ ॥

* पाठान्तरे—" मेरुं । "

गरुड़ जी के समान पराक्रमी पवननन्दन हनुमान जी, अपनी सर्पाकार दोनों भुजाओं को ऐसे फैलाए हुए थे, मानों दिशाओं को अपनी ओर खींच लेना चाहते हैं। सो वे उस पर्वतराज के शिखर की ओर प्रस्थानित हुए ॥ ५१ ॥

स सागरं घूर्णितवीचिमालं
तदा भृशं भ्रामितसर्वसत्त्वम् ।
समीक्षमाणः सहसा जगाम
चक्रं यथा विष्णुकराग्रमुक्तम् ॥ ५२ ॥

हनुमान जी लहराते हुए समुद्र में विविध प्रकार के जलजीवों को देखते हुए, विष्णु के हाथ से छूटे हुए चक्र की तरह, बड़ी तेज़ी के साथ चले जाते थे ॥ ५२ ॥

स पर्वतान्वृक्षगणान्सरांसि
नदीस्तटाकानि पुरोत्तमानि ।
स्फीताञ्जनान्तानपि सम्प्रवीक्ष्य
जगाम वेगात्पितृतुल्यवेगः ॥ ५३ ॥

वे हनुमान जी अपने पिता पवन की तरह तेज़ी के साथ, उड़ते हुए अनेक पहाड़ों, वृक्षों, सरोवरों, नदियों, तलावों, उत्तम उत्तम पुरों तथा भरे पूरे जनपदों को देखते हुए चले जाते थे ॥ ५३ ॥

आदित्यपथमाश्रित्य जगाम स गतक्लमः ।
हनुमांस्त्वरितो वीरः पितृतुल्यपराक्रमः ॥ ५४ ॥

अपने पिता पवन के समान पराक्रमी एवं वीर हनुमान जी, सूर्यपथ (आकाशमार्ग) से बड़ी शीघ्रता के साथ गये ॥ ५४ ॥

जवेन महता युक्तो मारुतिर्मारुतो यथा ।
जगाम हरिशार्दूलो दिशः शब्देन पूरयन् ॥ ५५ ॥

पवननन्दन हनुमान जी पवन की तरह बड़ी तेज़ी के साथ गमन करते हुए और अपने सिंहनाद से समस्त दिशाओं को प्रतिध्वनित करते जाते थे ॥ ५५ ॥

स्मरञ्जाम्बवतो वाक्यं मारुतिर्वातरंहसा ।
ददर्श सहसा चापि हिमवन्तं महाकपिः ॥ ५६ ॥

पवन की तरह गमनशील पवननन्दन जाम्बवान के वचन स्मरण करते हुए, थोड़ी ही देर में हिमालय के निकट जा पहुँचे । अथवा जाम्बवान के बतलाये स्थान पर सहसा हिमालय को देखा ॥ ५६ ॥

नानाप्रस्रवणोपेतं बहुकन्दरनिर्झरम् ।
श्वेताभ्रचयसङ्काशैः शिखरैश्चारुदर्शनैः ।
शोभितं विविधैर्वृक्षैरगमत्पर्वतोत्तमम् ॥ ५७ ॥

हिमालय में अनेक जल के सोते वह रहे थे और बहुत सी कन्दराएँ और बहुत से झरने भी थे । उसके (हिममण्डित) शिखर सफेद बादलों की तरह बड़े सुन्दर देख पड़ते थे । विविध जाति के वृक्षों से सुशोभित उस हिमालय पर श्री हनुमान जी पहुँचे ॥ ५७ ॥

स तं समासाद्य महानगेन्द्रम्
अतिप्रवृद्धोत्तमघोरश्रृङ्गम् ।
ददर्श पुण्यानि महाश्रमाणि
सुरर्षिसङ्घोत्तमसेवितानि ॥ ५८ ॥

अत्यन्त उच्च और भयङ्कर शिखरों से युक्त पर्वतराज हिमालय पर पहुँच कर, हनुमान जी ने अनेक बड़े बड़े एवं पवित्र आश्रमों को देखा, जिनमें देवर्षियों के समुदाय निवास करते थे ॥ ५८ ॥

स ब्रह्मकोशं[1] रजतालयं[2] च
शक्रालयं रुद्रशरप्रमोक्षम् ।
[3]हयाननं ब्रह्मशिरश्च दीप्तं
ददर्श वैवस्वतकिङ्करांश्च ॥ ५९ ॥

उस हिमालय पर्वत के ऊपर हनुमान जी ने ब्रह्मा जी का भवन, कैलास, इन्द्र का भवन, रुद्रशरप्रमोक्ष स्थान (वह स्थान जहाँ से शिव जी ने त्रिपुरासुर के बाण मारा था), भगवान् हयग्रीव के आराधन का स्थान, प्रकाशमान ब्रह्मशिरःस्थान (वह स्थान जहाँ रुद्र ने ब्रह्मा का सिर काट कर फैंका था) तथा यमराज के दूतों को देखा ॥ ५९ ॥

[4]वज्रालयं वैश्रवणालयं च
सूर्यप्रभं सूर्यनिबन्धनं[5] च ।
ब्रह्मासनं शङ्करकार्मुकं च
ददर्श [6]नाभिं च वसुन्धरायाः ॥ ६० ॥

---

१ कोशो—गृहं । (गो०) २ रजतालयं—कैलासं । (गो०) ३ हयाननं—हयग्रीवाराधनस्थानं । (गो०) ४ वज्रालयं—इन्द्राय ब्रह्मणा वज्रप्रदानस्थानं । (गो०) ५ सूर्यनिबन्धनं—छायादेवीप्रीतये विश्वकर्मणा शाणारोपणाय सूर्यनिबन्धनस्थानं । (गो०) ६ नाभिं—पातालप्रवेशरन्ध्रं । (गो०)

इनके अतिरिक्त हनुमान जी ने, वज्रालय (वह स्थान जहाँ ब्रह्मा ने इन्द्र को वज्र प्रदान किया था), सूर्य के समान प्रभावान् कुबेर जी का स्थान, सूर्यनिबन्धन स्थान (वह स्थान जहाँ विश्वकर्मा ने सूर्यपत्नी छायादेवी की प्रसन्नता सम्पादन करने के लिये सनिया कपड़ा तान कर छाया की थी), ब्रह्मासन (वह स्थान जहाँ पर ब्रह्मा जी का सिंहासन है जिस पर बैठ कर वे देवताओं को दर्शन दिया करते हैं), शङ्कर-कार्मुक-स्थान (वह स्थान जहाँ महादेव जी का धनुष रखा गया था) और पाताल में जाने के मार्ग को भी देखा ॥ ६० ॥

कैलासमग्र्यं हिमवच्छिलां च
तथर्षभं काञ्चनशैलमग्र्यम् ।
सन्दीप्तसर्वौषधिसम्प्रदीप्तं
ददर्श सर्वौषधिपर्वतेन्द्रम् ॥ ६१ ॥

फिर हनुमान जी ने कैलास शिखर को, उसके समीप हिमवच्छिला नामक स्थान को, ऋषभपर्वत को, सुवर्णमय शृङ्ग युक्त पर्वत अर्थात् सुमेरु को तथा ओषधियों के प्रकाश से प्रकाशमान पर्वतराज ओषधिपर्वत को देखा ॥ ६१ ॥

स तं समीक्ष्यानलरश्मिदीप्तं
विसिष्मिये [1]वासवदूतसूनुः ।
आप्लुत्य तं चौषधिपर्वतेन्द्रं
तत्रौषधीनां विचयं चकार ॥ ६२ ॥

---

[1] वासवदूतः—वायुः । (गो०)

पवनकुमार हनुमान जी अग्नि के ढेर के समान प्रदीप्त उस ओषधिपर्वत को देख, विस्मित हुए और उस पर चढ़ कर उन जड़ी बूटियों को ढूँढ़ने लगे ॥ ६२ ॥

स योजनसहस्राणि समतीत्य महाकपिः ।
दिव्यौषधिधरं शैलं व्यचरन्मारुतात्मजः ॥ ६३ ॥

पवननन्दन हनुमान जी एक हज़ार योजन का मार्ग तै कर, ओषधियुक्त उस पर्वत पर पहुँच कर, चारों ओर उन जड़ी बूटियों की खोज में घूमने लगे ॥ ६३ ॥

महौषध्यस्ततः सर्वास्तस्मिन्पर्वतसत्तमे ।
विज्ञायार्थिनमायान्तं ततो जग्मुरदर्शनम् ॥ ६४ ॥

किन्तु उस पर्वतश्रेष्ठ पर जो महौषधियाँ थीं—वे यह समझ कर कि, हमको लेने के लिये कोई आया है, छिप गयीं ॥ ६४ ॥

स ता महात्मा हनुमानपश्यं-
श्चुकोप कोपाच्च भृशं ननाद ।
अमृष्यमाणोऽग्निनिकाशचक्षुः
महीधरेन्द्रं तमुवाच वाक्यम् ॥ ६५ ॥

उनको वहाँ न देख कर, महाबलवान हनुमान जी अति कुपित हुए और बड़े जोर से गरजे। उन जड़ी बूटियों के इस प्रकार के अनुचित व्यवहार को न सह सकने के कारण, उनके दोनों नेत्र दहकती हुई आग की तरह लाल हो गये और उन्होंने उस पर्वत से कहा ॥ ६५ ॥

किमेतदेवं सुविनिश्चितं ते
यद्राघवेनासि कृतानुकम्पः ।
पश्याद्य मद्बाहुबलाभिभूतो
विशीर्णमात्मानमथो नगेन्द्र ॥ ६६ ॥

हे नगेन्द्र ! तुम जो श्रीरामचन्द्र के साथ ऐसा निष्ठुर व्यवहार कर रहे हो, (सो क्या यह ठीक है ?) क्या तुमने (अपने मन में) यही ठान ठाना है ? (यदि ऐसा ही है तो) तुम अभी मेरे भुजाओं के बल से अपने आपको विध्वंस हुआ देखोगे ॥ ६६ ॥

स तस्य शृङ्गं सनगं सनागं
सकाञ्चनं धातुसहस्रजुष्टम् ।
विकीर्णकूटज्वलिताग्रसानुं
प्रगृह्य वेगात्सहसोन्ममाथ[1] ॥ ६७ ॥

(यह कह कर) हनुमान जी ने उस पर्वत के अनेक वृक्षों और हाथियों से युक्त, तथा हज़ारों धातुओं की खानों से शोभित, एवं प्रदीप्त शिखर को, ऐसे ज़ोर से झटका दे कर उखाड़ा कि, वह पर्वत छितरा गया ॥ ६७ ॥

स तं समुत्पाट्य खमुत्पपात
वित्रास्य लोकान्ससुरासुरेन्द्रान् ।
संस्तूयमानः खचरैरनेकैः
जगाम वेगाद्गरुडोग्रवेगः ॥ ६८ ॥

---

१ उन्ममाथ—उत्पाटयामास । (शि०)

उस पर्वत को उखाड़ कर, हनुमान जी आकाश में जा पहुँचे। (उनके इस कृत्य को देख) समस्त इन्द्रादि प्रमुख देवता लोग भयभीत हो गये। अनेक आकाशचारियों से अपनी प्रशंसा सुनते हुए हनुमान जी वहाँ से ऐसी तेज़ी के साथ (लङ्का की ओर) उड़े जैसे गरुड़ जी उड़ते हैं॥ ६८॥

स भास्कराध्वानमनुप्रपन्नः
तं भास्कराभं शिखरं प्रगृह्य।
बभौ तदा भास्करसन्निकाशो
रवेः समीपे प्रतिभास्कराभः॥ ६९॥

सूर्य के समान चमकीले उस पर्वत को लिये हुए हनुमान जी आकाश में उस मार्ग पर पहुँचे जिस मार्ग पर सूर्य चला करते हैं। उस समय सूर्य के समान प्रदीप्त हनुमान जी की ऐसी शोभा हुई मानों एक सूर्य के पास दूसरा सूर्य स्थित हो॥ ६९॥

स तेन शैलेन भृशं रराज
शैलोपमो गन्धवहात्मजस्तु।
सहस्रधारेण सपावकेन
चक्रेण खे विष्णुरिवार्पितेन॥ ७०॥

पर्वताकार पवननन्दन हनुमान जी उस पहाड़ को लिये हुए; अग्नि के समान उग्र सहस्र धारों वाला चक्र धारण किये भगवान् विष्णु की तरह शोभायमान हुए॥ ७०॥

तं वानराः प्रेक्ष्य विनेदुरुच्चैः
स तानपि प्रेक्ष्य मुदा ननाद।

तेषां समुद्घुष्टरवं निशम्य
१लङ्कालया भीमतरं विनेदुः ॥ ७१ ॥

हनुमान जी के लङ्का में पहुँचने पर उनको देख कर वानरों ने बड़े ज़ोर से किलकारियाँ लगायीं और उन वानरों की किलकारी का शब्द सुन, हनुमान जी ने भी हर्षित हो सिंहनाद किया। इन दोनों के मिश्रित नाद को सुन, राक्षसों ने इन दोनों से भी अधिक भयङ्कर सिंहनाद किया ॥ ७१ ॥

ततो महात्मा निपपात तस्मिन्
शैलोत्तमे वानरसैन्यमध्ये ।
हर्युत्तमेभ्यः शिरसाऽभिवाद्य
विभीषणं तत्र स सस्वजे च ॥ ७२ ॥

तदनन्तर महाबलवान हनुमान जी उस शैल को लिये हुए वानरों के बीच आकाश से नीचे उतर आये। फिर उन्होंने बड़े बूढ़े वानरों को सिर झुका कर प्रणाम किया और विभीषण को गले लगाया ॥ ७२ ॥

तावप्युभौ मानुषराजपुत्रौ
तं गन्धमाघ्राय महौषधीनाम् ।
बभूवतुस्तत्र तदा विशल्या-
वुत्तस्थुरन्ये च हरिप्रवीराः ॥ ७३ ॥

उन दिव्य ओषधियों की गन्ध को सूंघने ही से दोनों राजकुमार श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के घाव पुर गये तथा अन्य घायल वीर वानरों के भी घाव अच्छे हो गये और वे उठ बैठे ॥ ७३ ॥

---

१ लङ्कालया—राक्षसाः। (शि०)

सर्वे विशल्या विरुजः क्षणेन
हरिप्रवीरा निहताश्च ये स्युः ।
गन्धेन तासां प्रवरौषधीनां
सुप्ता निशान्तेष्विव संप्रबुद्धाः ॥ ७४ ॥

एक क्षण में सब के घाव भर गये और सब चंगे हो गये। उन उत्कृष्ट जड़ी बूटियों की महक ही से, वे वानर वीर भी जो मर गये थे, जीवित हो, ऐसे उठ बैठे; जैसे सोता हुआ आदमी रात बीतने पर उठ बैठता है ॥ ७४ ॥

[नोट—इन जड़ी बूटियों के गन्ध का प्रभाव मरे हुए और घायल राक्षसों के ऊपर क्यों न हुआ ? इस शङ्का का समाधान करते हुए आदि काव्यकार ने लिखा है :—]

यदाप्रभृति लङ्कायां युध्यन्ते कपिराक्षसः ।
तदाप्रभृति [1]मानार्थमाज्ञया रावणस्य च ॥ ७५ ॥
ये हन्यते रणे तत्र राक्षसाः कपिकुञ्जरैः ।
[2]हताहतास्तु क्षिप्यन्ते सर्व एव तु सागरे ॥ ७६ ॥

जब से लङ्का में वानरों और राक्षसों की लड़ाई आरम्भ हुई, तभी से लड़ाई में जो राक्षस वानरों के हाथ से मारे जाते थे या घायल होते थे, वे सब के सब, रावण के आज्ञानुसार उठा कर समुद्र में पटक दिये जाते थे। इसलिये कि, शत्रुओं को मरे हुए राक्षसों की संख्या का पता न लगने पावे ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

---

१ मानार्थं—हतानां राक्षसानां इयत्तया अपरिज्ञानार्थं । (गो०)
२ हताहताः—मुमूर्षावस्थाः । (गो०)

ततो हरिर्गन्धवहात्मजस्तु
तमोषधीशैलमुदग्रवीर्यः ।
निनाय वेगाद्धिमवन्तमेव
पुनश्च रामेण समाजगाम ॥ ७७ ॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

तदनन्तर जब समस्त वानर जी उठे, तब अत्यन्त वेगसम्पन्न पवननन्दन हनुमान जी उस ओषध-पर्वत को उठा कर, जहाँ का तहाँ रख कर, पुनः श्रीरामचन्द्र जी के पास आ गये ॥ ७७ ॥

युद्धकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—*—

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सुग्रीवो वानराधिपः ।
[1]अर्थ्यं विज्ञापयंश्चापि हनुमन्तमिदं वचः ॥ १ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी वानरराज सुग्रीव ने (वानरी सेना के लिये) आगे के कर्त्तव्य को बतलाते हुए, हनुमान जी से यह कहा ॥ १ ॥

यतो हतः कुम्भकर्णः कुमाराश्च निषूदिताः ।
नेदानीमुपनिर्हारं[2] रावणो दातुमर्हति ॥ २ ॥

---

१ अर्थ्यं—अर्थादनपेतं । औत्तरकालिककर्त्तव्यं बोधयन् । (शि०)
२ उपनिर्हारं—स्वपुररक्षांदातुं सम्पादयितुमर्हति । (शि०)

जब से कुम्भकर्ण और राजकुमार युद्ध में मारे गये हैं, तब से रावण लङ्कापुरी की रक्षा करने में असमर्थ है ॥ २ ॥

ये ये महाबलाः सन्ति लघवश्च[1] प्लवङ्गमाः ।
लङ्कामभ्युत्पतन्त्वाशु गृह्योल्काः प्लवगर्षभाः ॥ ३ ॥

अतएव वानरी सेना में जो महाबलवान और फुर्तीले वानर हों; वे सब शीघ्र ही मसालें हाथों में ले लेकर, लङ्कापुरी में जा पड़ें ॥ ३ ॥

ततोऽस्तंगत आदित्ये रौद्रे[3] तस्मिन्निशामुखे[2] ।
लङ्कामभिमुखाः सोल्का जग्मुस्ते प्लवगर्षभाः ॥ ४ ॥

जब सूरज डूब गया और एक पहर रात हो जाने पर घना अन्धकार फैल गया, तब वानरगण हाथों में जलती मसालें लिये हुए लङ्का की ओर चले ॥ ४ ॥

उल्काहस्तैर्हरिगणैः सर्वतः समभिद्रुताः ।
आरक्षस्था[4] विरूपाक्षाः[5] सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥ ५ ॥

जब हाथों में मशालें लिये हुए वानरगण चारों ओर से लङ्का के ऊपर दौड़े, तब वे राक्षस जो लङ्का के दुर्गों की रक्षा करने को नियुक्त किये गये थे, सहसा भाग खड़े हुए ॥ ५ ॥

गोपुराट्टप्रतोलीषु चर्यासु[6] विविधासु च ।
प्रासादेषु च संहृष्टाः ससृजुस्ते हुताशनम् ॥ ६ ॥

---

१ लघवः—वेगवन्तः । (गो०) २ निशामुखे—रात्रे प्रथमयाम उच्यते । (गो०) ३ रौद्र इति विशेषणात् यामान्तत्वेन गाढान्धकारत्वमुच्यते । (गो०)
४ आरक्षस्थाः—गुल्मस्थाः । (गो०) ५ विरूपाक्षाः—राक्षसाः । (गो०)
६ चर्याः—अवान्तरवीथ्यः । (गो०)

तब वानर लोग हर्षित हो लङ्कापुरी के फाटकों में, परकोटे के ऊपर बने बुर्जों में, गलियों में, गलियों के भीतर की अनेक गलियों में, हवेलियों में आग लगाने लगे ॥ ६ ॥

तेषां गृहसहस्राणि ददाह हुतभुक्तदा ।
प्रसादाः पर्वताकाराः पतन्ति धरणीतले ॥ ७ ॥

लङ्का के हज़ारों घरों को अग्निदेव ने जला कर भस्म कर डाला, पहाड़ों की तरह बड़े ऊँचे ऊँचे महल भस्म हो कर पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ७ ॥

अगरुर्दह्यते तत्र वरं च हरिचन्दनम् ।
मौक्तिका मणयः स्निग्धा वज्रं चापि प्रवालकम् ॥ ८ ॥

कहीं पर अगर जल रहा था, कहीं पर बढ़िया चन्दन की लकड़ियाँ जल रही थीं। बढ़िया बढ़िया मोती, मणियाँ, हीरे, मूंगे, तथा सुन्दर रेशमी वस्त्र और बनावटी रेशम के वस्त्र भस्म हो गये ॥ ८ ॥

क्षौमं च दह्यते तत्र कौशेयं चापि शोभनम् ।
आविकं विविधं चौर्णं काञ्चनं भाण्डमायुधम् ॥ ९ ॥
[1]नानाविकृतसंस्थानं वाजिभाण्डपरिच्छदौ ।
गजग्रैवेयकक्ष्याश्च रथभाण्डाश्च संस्कृताः ॥ १० ॥

विविध प्रकार के पशमीने और कंबल और सोने के कलसे, भगोने तथा हथियार भी जल कर राख हो गये। तरह तरह के भोज्यपदार्थ रखने के कोठे, घोड़ों के ज़ेवर व ज़ीनकाठियाँ, हाथियों के गले के कठुले, तथा पीठ पर कसने की डोरियाँ, रथों की सजावट

१ नाना विकृतसंस्थानं—नाना विकृतानाम् अन्नादि पाकानां स्थलं। (शि०)

के लिये गहने आदि जो कुछ वस्तुएँ वहाँ बड़ी सम्हाल के साथ अथवा झाड़ी पोंछी हुई रखी थीं वे सब जल कर भस्म हो गयीं ॥ ९ ॥ १० ॥

तनुत्राणि च योधानां हस्त्यश्वानां च वर्म च ।
खड्गा धनूंषि ज्यावाणास्तोमराङ्कुशशक्तयः ॥ ११ ॥

कहीं सिपाहियों के कवच, कहीं हाथियों और घोड़ों के कवच, कहीं तलवारें, कहीं धनुष, कहीं धनुष के रोदे, कहीं वाण, कहीं तोमर, कहीं अङ्कुश और कहीं शक्तियों के ढेर के ढेर जल कर भस्म हो रहे थे ॥ ११ ॥

रोमजं वालजं चर्म व्याघ्रजं चाण्डजं वहु ।
मुक्तामणिविचित्रांश्च प्रासादांश्च समन्ततः ॥ १२ ॥

कहीं कंवल, कहीं चँवर, कहीं ढालें, कहीं व्याघ्रों के चर्म, कहीं कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ, रंगविरंगी मणियाँ और मोती जल रहे थे। लङ्का में जिधर देखो उधर ही वड़े वड़े भवनों में आग लगी हुई थी ॥ १२ ॥

विविधानस्त्रसंयोगानग्निर्दहति तत्र वै ।
नानाविधान्गृहच्छन्दान्ददाह हुतभुक्तदा ॥ १३ ॥

विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्रों के संयोग से अग्नि ने और भी प्रचण्ड हो कर तथा विविध प्रकार के रूप धारण कर के, राक्षसों के गृहों और वैठकों को जला कर भस्म कर डाला ॥ १३ ॥

आवासान्राक्षसानां च सर्वेषां [1]गृहगर्धिनाम् ।
हेमचित्रतनुत्राणां स्रग्दामाम्वरधारिणाम् ॥ १४ ॥

---

१ गृहगर्धिनां—गृहस्थानां । (गो०)

सुवर्णखचित कवच एवं पुष्पमाला तथा हार पहिनने वाले समस्त गृहस्थ राक्षसों के घरों को भी वानरों ने अग्नि से जला कर भस्म कर डाला ॥ १४ ॥

शीधुपानचलाक्षाणां मदविह्वलगामिनाम् ।
[1]कान्तालम्बितवस्त्राणां शत्रुसञ्जातमन्युनाम् ॥ १५ ॥

गदाशूलासिहस्तानां खादतां पिबतामपि ।
शयनेषु महार्हेषु प्रसुप्तानां प्रियैः सह ॥ १६ ॥

त्रस्तानां गच्छतां तूर्णं पुत्रानादाय सर्वतः ।
तेषां शतसहस्राणि तदा लङ्कानिवासिनाम् ॥ १७ ॥

अदहत्पावकस्तत्र जज्वाल च पुनः पुनः ।
[2]सारवन्ति महार्हाणि [3]गम्भीरगुणवन्ति[4] च ॥ १८ ॥

मदिरापान के कारण चञ्चल नेत्र वाले, पोशाकें पहिने हुए, नशे में मतवाले हो अटपट चाल चलने वाले, रतिपरायण और शत्रुओं पर क्रुद्ध हो, हाथों में गदा, शूल, तलवार लिये हुए, भोजन करते हुए तथा शराब पीते हुए तथा बढ़िया सेजों पर अपनी प्यारियों के साथ सोते हुए, तथा भयभीत हो पुत्रों को लिये हुए चारों ओर शीघ्रतापूर्वक भागते हुए सैकड़ों हज़ारों लङ्कावासी राक्षसों को आग ने जला कर भस्म कर डाला। इस पर भी वह आग धपधप कर बार बार जल रही थी। विपुल धन से युक्त, बड़े मूल्यवान, कई खनों के, बड़े सुन्दर ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

१ कान्तालम्बितवस्त्राणां—रतिपरायणानामिति यावत् । (गो०)
२ सारवन्ति—श्रेष्ठधनवन्ति । (गो०) ३ गम्भीराणि—महातलयवन्ति । (गो०)
४ गुणवन्ति—सौन्दर्यवन्ति । (गो०)

हेमचन्द्रार्धचन्द्राणि चन्द्रशालोन्नतानि च ।
रत्नचित्रगवाक्षाणि [1]साधिष्ठानानि सर्वशः ॥ १९ ॥

सुवर्ण के बने चन्द्राकार और अर्द्धचन्द्राकार भवन तथा उनके ऊपर बनी हुई अत्युच्च अटारियाँ, जिनमें रत्नखचित रंगबिरंगे झरोखे बने हुए थे, इन सब को सेजों और बैठकों सहित अग्निदेव ने जला कर भस्म कर डाला ॥ १९ ॥

मणिविद्रुमचित्राणि स्पृशन्तीव दिवाकरम् ।
क्रौञ्चबर्हिणवीणानां भूषणानां च निःस्वनैः ॥ २० ॥

इनमें ऐसे ऐसे राजभवन थे, जिनमें मणियों और मूँगों की पच्चीकारी के काम बने हुए थे और जो इतने ऊँचे थे कि, सूर्यपथ को स्पर्श करते हुए से जान पड़ते थे। इन भवनों (के गृहोद्यानों) में क्रौंच और मोर पक्षी बोला करते थे और उनमें भूषणों की झनकार और वीणा की मधुर ध्वनि सदा हुआ करती थी ॥ २० ॥

नादितान्यचलाभानि वेश्मान्यग्निर्ददाह सः ।
ज्वलनेन परीतानि तोरणानि चकाशिरे ॥ २१ ॥

जो एक दूसरे पर्वत की तरह देख पड़ते थे—उन सुन्दर सुन्दर भवनों को आग जला कर भस्म कर रही थी। वहाँ आग से भस्म होते हुए तोरण द्वार ऐसे जान पड़ते थे ॥ २१ ॥

विद्युद्भिरिव नद्धानि मेघजालानि घर्मगे ।
ज्वलनेन परीतानि निपेतुर्भवनान्यथ ॥ २२ ॥

---

१ साधिष्ठानानि—शय्यासनादिसहितानि । (गो०)

जैसे ग्रीष्मकाल में बिजली से युक्त मेघों की घटाएँ। आग से जलते हुए राक्षसों के घर ऐसे गिर रहे थे ॥ २२ ॥

वज्रिवज्रहतानीव शिखराणि महागिरेः ।
विमानेषु प्रसुप्ताश्च दह्यमाना वराङ्गनाः ॥ २३ ॥

जैसे इन्द्र के वज्र के प्रहार से टूट कर गिरे हुए बड़े बड़े पर्वतों के शिखर। अटारियों में सोती हुई सुन्दरियाँ घर में आग लगने पर ॥ २३ ॥

त्यक्ताभरणसर्वाङ्गा हा हेत्युच्चैर्विचुक्रुशः ।
तानि निर्दह्यमानानि दूरतः प्रचकाशिरे ॥ २४ ॥

आभूषण फेंक फेंक कर "हाय हाय" कह कर चिल्ला रही थीं। उनके जलते हुए भवन दूर से ऐसे जान पड़ते थे ॥ २४ ॥

हिमवच्छिखराणीव दीप्तौषधिवनानि च ।
हर्म्याग्रैर्दह्यमानैश्च ज्वालाप्रज्वलितैरपि ॥ २५ ॥

मानों हिमालय के शिखर पर चमकती हुई जड़ी बूटियों से युक्त वन हों। बड़े बड़े भवनों की अटारियों पर बड़ी बड़ी लपटों के साथ आग दहक रही थी ॥ २५ ॥

रात्रौ सा दृश्यते लङ्का पुष्पितैरिव किंशुकैः ।
हस्त्यध्यक्षैर्गजैर्मुक्तैर्मुक्तैश्च तुरगैरपि ॥ २६ ॥

उस समय रात में लङ्का ऐसी जान पड़ती थी, मानों फूले हुए टेसू के पेड़ों का वन हो। कहीं महावत, कहीं छूटे हुए हाथी और घोड़े इधर उधर भाग रहे थे ॥ २६ ॥

बभूव लङ्का लोकान्ते भ्रान्तग्राह इवार्णवः ।
अश्वं मुक्तं गजो दृष्ट्वा क्वचिद्भीतोऽपसर्पति ॥ २७ ॥

उस समय लङ्का की वैसी ही दशा हो रही थी, जैसी प्रलयकाल में विकल मगर मच्छों से समुद्र की हुआ करती है। कहीं तो किसी छूटे हुए घोड़े को देख मारे डर के कोई हाथी भाग रहा था ॥ २७ ॥

भीतो भीतं गजं दृष्ट्वा क्वचिदश्वो निवर्तते ।
लङ्कायां दह्यमानायां शुशुभे स महार्णवः ॥ २८ ॥
छायासंसक्तसलिलो लोहितोद इवार्णवः ।
सा बभूव मुहूर्तेन हरिभिर्दीपिता पुरी ॥ २९ ॥

और कहीं किसी छूटे हुए और डरे हुए हाथी को देख, कोई घोड़ा भाग रहा था। लङ्का में आग लगने से और आग की छाया समुद्र में पड़ने से, समुद्र ऐसा जान पड़ता था, मानों उसमें लाल जल भरा हो। वानरों के द्वारा आग लगायी जाने से मुहूर्त्त भर में वह लङ्का ऐसी (भयङ्कर) हो गयी ॥ २८ ॥ २९ ॥

लोकस्यास्य क्षये घोरे प्रदीप्तेव वसुन्धरा ।
नारी जनस्य धूमेन व्याप्तस्योच्चैर्विनेदुषः ॥ ३० ॥

जैसी लोकक्षय (प्रलय) के समय जल कर, पृथिवी भयङ्कर हो जाती है। धुएं से दम घुटने पर विकल हो स्त्रियां उच्च स्वर से चिल्ला रही थीं ॥ ३० ॥

स्वनो ज्वलनतप्तस्य शुश्रुवे दशयोजनम् ।
प्रदग्धकायानपरान्राक्षसान्निर्गतान्बहिः ॥ ३१ ॥

इस अग्निकाण्ड का (चटपट का और मकानों के गिरने का धड़ामधड़ाम का तथा लोगों के हाहाकार का) शब्द दस योजन दूरी तक सुनाई पड़ता था। जिन राक्षसों के शरीर झुलस जाते थे वे जब घर के बाहिर निकलते थे ॥ ३१ ॥

सहसाऽभ्युत्पतन्ति स्म हरयोऽथ युयुत्सवः ।
उद्घुष्टं वानराणां च राक्षसानां च निस्वनः ॥ ३२ ॥

तब वानर भी उनसे लड़ने के लिये कूद कर उनके पास पहुँच जाते थे। उस समय वानरों और राक्षसों के चिल्लाने का शब्द ॥ ३२ ॥

दिशो दश समुद्रं च पृथिवीं चान्वनादयत् ।
विशल्यौ तु महात्मानौ तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ३३ ॥

दसों दिशाओं में, समुद्र में और पृथिवी पर। प्रतिध्वनित होता था। उधर बाणों के घावों के पुर जाने से दोनों बलवान भाई श्रीराम और लक्ष्मण ने ॥ ३३ ॥

असंभ्रान्तौ जगृहतुस्ते उभे धनुषी वरे ।
ततो विष्फारयानस्य रामस्य धनुरुत्तमम् ॥ ३४ ॥

सावधान हो, अपने अपने श्रेष्ठ धनुषों को उठाया। तदनन्तर जब श्रीरामचन्द्र जी ने अपने श्रेष्ठ धनुष का रोदा तान कर टङ्कारा ॥ ३४ ॥

बभूव तुमुलः शब्दो राक्षसानां भयावहः ।
अशोभत तदा रामो धनुर्विष्फारयन्महत् ॥ ३५ ॥

तब उस टङ्कार का ऐसा भयङ्कर शब्द हुआ कि, राक्षस डर गये। उस समय धनुष को टङ्कारते हुए श्रीरामचन्द्र जी की वैसी ही शोभा हुई ॥ ३५ ॥

भगवानिव संक्रुद्धो भवो वेदमयं धनुः ।
उद्घुष्टं वानराणां च राक्षसानां च निस्वनम् ॥ ३६ ॥

जैसी (शोभा) अत्यन्त क्रुद्ध भगवान शिव की वेदमय (धनुर्वेदोक्तलक्षणयुक्त) धनुष हाथ में लेने से हुई थी। वानरों और राक्षसों के सिंहनाद को ॥ ३६ ॥

ज्याशब्दस्तावुभौ शब्दावतिरामस्य शुश्रुवे ।
वानरोद्घुष्टघोषश्च राक्षसानां च निस्वनः ॥ ३७ ॥

दबा कर, श्रीरामचन्द्र जी के धनुष के रोदे का शब्द सुनाई पड़ा। वानरों की किलकारियाँ और राक्षसों की गर्जन का शब्द ॥ ३७ ॥

ज्याशब्दश्चापि रामस्य त्रयं व्याप्तं दिशो दश ।
तस्य कार्मुकमुक्तैश्च शरैस्तत्पुरगोपुरम् ॥ ३८ ॥

तथा श्रीरामचन्द्र जी के धनुष की टङ्कार का शब्द—ये तीनों शब्द दसों दिशाओं में व्याप्त हो गये। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के धनुष से छूटे हुए तीरों से लङ्का के परकोटे के फाटक ॥ ३८ ॥

कैलासशृङ्गप्रतिमं विकीर्णमपतद्भुवि ।
ततो रामशरान्दृष्ट्वा विमानेषु गृहेषु च ॥ ३९ ॥

कैलास पर्वत के शिखर की तरह टूट टूट कर ज़मीन पर गिरने लगे। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के बाणों को उच्च भवनों और साधारण घरों में देख ॥ ३९ ॥

सन्नाहो राक्षसेन्द्राणां तुमुलः समपद्यत ।
तेषां सन्नह्यमानानां सिंहनादं च कुर्वताम् ॥ ४० ॥

प्रधान प्रधान राक्षसों में भी भयङ्कर युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। उनके तैयार होने के कोलाहल से तथा उनके सिंहगर्जन से ॥ ४० ॥

शर्वरी राक्षसेन्द्राणां रौद्रीव समपद्यत ॥
आदिष्टा वानरेन्द्रास्तु सुग्रीवेण महात्मना ॥ ४१ ॥

वह रात उन प्रधान राक्षसों के लिये कालरात्रि के समान हो गयी। इसी अवसर में महाबलवान् सुग्रीव ने प्रधान प्रधान वानरों को आज्ञा दी कि, ॥ ४१ ॥

आसन्नद्वारमासाद्य युध्यध्वं प्लवगर्षभाः ।
यश्च वो वितथं कुर्यात्तत्र तत्र ह्युपस्थितः ॥ ४२ ॥

हे वानरों! तुममें से जो वानर जिस द्वार पर हो, वह उसी द्वार पर युद्ध करे। जो वानर मोर्चे पर रह कर मेरी इस आज्ञा के विरुद्ध कार्य करेगा ॥ ४२ ॥

स हन्तव्यो हि संप्लुत्य राजशासनदूषकः ।
तेषु वानरमुख्येषु दीप्तोल्कोज्ज्वलपाणिषु ॥ ४३ ॥

वह वानर राजाज्ञा की अवहेला करने के अपराध में पकड़ कर मार डाला जायगा। प्रधान प्रधान वानरों को हाथों में जलती हुई मशालें लिये हुए ॥ ४३ ॥

स्थितेषु द्वारमासाद्य रावणं मन्युराविशत् ।
तस्य जृम्भितविक्षेपाद्व्यामिश्रा[1] वै दिशो[2] दश ॥४४॥

---

[1] व्यामिश्रा—व्याकुलाः। (गो०) [2] दिशः—दिक्स्थिताः। (गो०)

पुरी के द्वारों पर खड़ा देख, रावण अत्यन्त कुपित हुआ और जँभुआई ली। उसके जँभुआई लेने से दसों दिशाओं के लोग घवड़ा गये ॥ ४४ ॥

रूपवानिव रुद्रस्य मन्युर्गात्रेष्वदृश्यत ।
स निकुम्भं च कुम्भं च कुम्भकर्णात्मजावुभौ ॥ ४५ ॥

रुद्र के शरीर में जो शरीरधारी की तरह क्रोध विराजता है, वही क्रोध रावण के शरीर में देख पड़ा। उसने कुम्भकर्ण के दोनों पुत्र निकुम्भ और कुम्भ को ॥ ४५ ॥

प्रेषयामास संक्रुद्धो राक्षसैर्बहुभिः सह ।
यूपाक्षः शोणिताक्षश्च प्रजङ्घः कम्पनस्तथा ॥ ४६ ॥

क्रोध में भर, बहुत से राक्षसों के साथ (वानरों से लड़ने के लिये) भेजा। यूपाक्ष, शोणिताक्ष, प्रजङ्घ और कम्पन ॥ ४६ ॥

निर्ययुः कौम्भकर्णिभ्यां सह रावणशासनात् ।
शशास चैव तान्सर्वान्राक्षसान्सुमहाबलान् ॥ ४७ ॥

नादयन्गच्छताऽत्रैव जयध्वं शीघ्रमेव च ।
ततस्तु चोदितास्तेन राक्षसा ज्वलितायुधाः ॥ ४८ ॥

लङ्काया निर्ययुर्वीराः प्रणदन्तः पुनः पुनः ।
रक्षसां भूषणस्थाभिर्भाभिः स्वाभिश्च सर्वशः ॥ ४९ ॥

रावण की आज्ञा से कुम्भकर्ण के दोनों पुत्रों के साथ चले। चलते समय रावण ने उन सब अत्यन्त महाबलवान राक्षसों से कहा—हे राक्षसो! तुम लोग सिंहनाद करते हुए तुरन्त जाओ। रावण की ऐसी आज्ञा पाकर, राक्षस लोग बार बार सिंहनाद

करते हुए तथा विविध प्रकार के दमकते हुए आयुधों को लेकर, लङ्का से निकले। चारों ओर राक्षसों के भूषणों की दमक से ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

चक्रुस्ते सप्रभं व्योम हरयश्चाग्निभिः सह ।
तत्र ताराधिपस्याभा ताराणां च तथैव च ॥ ५० ॥

और वानरों की मशालों के प्रकाश से आकाश प्रकाशित हो गया। (उस समय केवल इन्हींका प्रकाश न था, प्रत्युत) चन्द्रमा तथा अन्य नक्षत्रों का भी प्रकाश सम्मिलित था ॥ ५० ॥

तयोराभरणस्था च बलयोर्द्यामभासयन् ।
चन्द्राभा भूषहाभा च गृणाणां ज्वलतां च भा ॥ ५१ ॥

चन्द्रमा की चाँदनी, भूषणों की आभा, जलते हुए गृहों के आग के प्रकाश से और उन दोनों राक्षसी एवं वानरी सेनाओं के सैनिकों के भूषणों की दमक से, आकाश में प्रकाश हो प्रकाश देख पड़ने लगा ॥ ५१ ॥

हरिराक्षससैन्यानि भ्राजयामास सर्वतः ।
तत्र चोर्ध्वं प्रदीप्तानां गृहाणां सागरः पुनः ॥ ५२ ॥

भाभिः संसक्तपातालश्चलोर्मिः शुशुभेऽधिकम् ।
पताकाध्वजसंसक्तमुत्तमासिपरश्वधम् ॥ ५३ ॥

और राक्षसों और वानरों की सेनाएँ शोभायमान देख पड़ने लगीं। घरों के ऊपरी हिस्सों के जलने के प्रकाश से चञ्चल तरङ्ग मालायुक्त समुद्र पाताल तक और भी अधिक शोभायमान हुआ। राक्षसी सेना ध्वजा पताकाओं से युक्त तथा बढ़िया बढ़िया तलवारों और परश्वधों को लिये हुए ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

भीमाश्वरथमातङ्गं [1]नानापत्तिसमाकुलम् ।
दीप्तशूलगदाखड्गप्रासतोमरकार्मुकम् ॥ ५४ ॥

और भयङ्कर अश्व, रथों और हाथियों पर सैनिक सवार थे। उस सेना में पैदल योद्धा भी बहुत थे। चमचमाते शूल, गदा, खड्ग, प्रास, तोमर, धनुषादि लिये हुए ॥ ५४ ॥

तद्राक्षसबलं घोरं भीमविक्रमपौरुषम् ।
ददृशे ज्वलितप्रासं किङ्किणीशतनादितम् ॥ ५५ ॥

राक्षसी सेना के सैनिक बड़े भयङ्कर, और पराक्रमी एवं पुरुषार्थी थे। उन योद्धाओं में से किसी किसी के पास ऐसा भी प्रास था, जिसमें सैकड़ों घुंघरू बजते जाते थे ॥ ५५ ॥

हेमजालाचितभुजं *व्यावेष्टितपरश्वधम् ।
व्याघूर्णितमहाशस्त्रं बाणसंसक्तकार्मुकम् ॥ ५६ ॥

सुवर्ण के आभूषणों से भूषित भुजाओं से राक्षस योद्धा फरसा तथा अन्य आयुध घुमा रहे थे। वे बड़े बड़े अस्त्रों को घुमा रहे थे तथा कमानों पर तीर रखे हुए थे ॥ ५६ ॥

गन्धमाल्यमधूत्सेकसम्मोदितमहानिलम् ।
घोरं शूरजनाकीर्णं महाम्बुधरनिस्वनम् ॥ ५७ ॥

कहीं पुष्पमालाओं की सुगन्धि से और कहीं शराब की महक से युक्त प्रचण्ड पवन चल रहा था। शूर योद्धाओं से युक्त बड़ी बड़ी मेघ घटाओं के समान गर्जन करती हुई ॥ ५७ ॥

---

१ पत्तयः—पदातयः। (गो०) * पाठान्तरे—"व्यामिश्रित परश्वधम्।"

तद्दृष्ट्वा बलमायान्तं राक्षसानां सुदारुणम् ।
सञ्चचाल प्लवङ्गानां बलमुच्चैर्ननाद च ॥ ५८ ॥

उस दारुण राक्षसी सेना को आते देख, वानरी सेना विचलित हो, उच्चस्वर से गर्जी ॥ ५८ ॥

जवेनाप्लुत्य च पुनस्तद्बलं रक्षसां महत् ।
अभ्ययात्प्रत्यरिबलं पतङ्गा इव पावकम् ॥ ५९ ॥

उधर बड़ी भारी वह राक्षसी सेना वानरों की सेना पर वैसे ही टूटी ; जैसे पतंगों का दल दीपक पर गिरता है ॥ ५९ ॥

तेषां भुजपरामर्शव्यामृष्टपरिघाशनि ।
राक्षसानां बलं श्रेष्ठं भूयस्तरमशोभत ॥ ६० ॥

उन राक्षसों की भुजाओं से परिचालित परिघ और वज्राकार शस्त्र उस श्रेष्ठ राक्षसी सेना की और भी अधिक शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ६० ॥

तत्रोन्मत्ता इवोपेतुर्हरयोऽथ युयुत्सवः ।
तरुशैलैरभिघ्नन्तो मुष्टिभिश्च निशाचरान् ॥ ६१ ॥

लड़ने के लिये तैयार वानर योद्धा राक्षसी सेना पर उन्मत्त की तरह टूट पड़े और पेड़ों पत्थरों और मूँकों से राक्षसों को मारने लगे ॥ ६१ ॥

तथैवापततां तेषां कपीनामसिभिः शितैः ।
शिरांसि सहसा जह्रू राक्षसा भीमदर्शनाः ॥ ६२ ॥

तब वे भयङ्कर राक्षस पैनी पैनी तलवारों से उन आक्रमण-कारी वानरों के सिर काटने लगे ॥ ६२ ॥

दशनैर्हृतकर्णाश्च मुष्टिनिष्कीर्णमस्तकाः ।
शिलाप्रहारभग्नाङ्गा विचेरुस्तत्र राक्षसाः ॥ ६३ ॥

वानरों द्वारा दाँतों से कटे हुए कानों वाले, मूँके से कटे हुए सिरों वाले, शिलाओं के प्रहार से अङ्गभङ्ग राक्षस; रणभूमि में इधर उधर विचर रहे थे ॥ ६३ ॥

तथैवाप्यपरे तेषां कपीनामभिलक्षिताः[1] ।
प्रवीरानभितो जघ्नू राक्षसानां तरस्विनाम् ॥ ६४ ॥

अन्य प्रसिद्ध वीर वानर भी चुन चुन कर, बलवान राक्षसों का संहार कर रहे थे ॥ ६४ ॥

तथैवाप्यपरे तेषां कपीनामसिभिः शितैः ।
हरिवीरान्निजघ्नुश्च घोररूपा निशाचराः ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार वे घोर राक्षस पैनी तलवारों से वीर वानरों को नष्ट कर रहे थे ॥ ६५ ॥

घ्नन्तमन्यं जघानान्यः पातयन्तमपातयत् ।
गर्हमाणं जगर्हेऽन्यो दशन्तमपरोऽदशत् ॥ ६६ ॥

ज्यों ही एक दूसरे वीर को मारने के लिये तैयार हुआ कि, त्योंही एक तीसरे वीर ने आकर उस मारने वाले को मार डाला। इसी प्रकार ज्यों ही एक वीर दूसरे को गिराना चाहता ही था कि,

१ कपीनां अभिलक्षिताः—प्रसिद्धाः। कपिप्रवरा इत्यर्थः। (गो०)

त्यों ही तीसरे ने जाकर उसको गिरा दिया। इसी प्रकार ज्योंही एक वीर दूसरे वीर को धिक्कारने लगा त्यों ही तीसरा जाकर उस धिक्कारने वाले वीर को धिक्कारने लगा और जो वीर किसी दूसरे को काटना चाहता था उसे तीसरा जाकर काट देता था। अथवा जिस प्रकार एक वीर दूसरे को मारता उसी प्रकार दूसरा भी उसे मारता था, जिस प्रकार एक दूसरे को गिराता वैसे ही वह भी उसे गिराता था। जैसे कोई किसी को डपटता तो वह भी उसे वैसे ही डपटता था। कोई किसी को काटता तो वह भी उसे वैसे ही काटता था ॥ ६६ ॥

देहीत्यन्यो ददात्यन्यो ददामीत्यपरः पुनः।
किं क्लेशयसि तिष्ठेति तत्रान्योन्यं बभाषिरे ॥ ६७ ॥

जब किसी वीर के चाहने पर दूसरा वीर, उससे युद्ध करने लगता; तब इसी बीच में और कोई वीर आकर कहता—मैं लड़ूँगा तुम अपने आपको क्यों कष्ट देते हो, ठहरो। इसी प्रकार वह भी (जिससे यह कहा जाता) उससे (कहने वाले से) कहता था ॥ ६७ ॥

विप्रलम्बितवस्त्रं च विमुक्तकवचायुधम्।
समुद्यतमहाप्रासं यष्टिशूलासिसङ्कुलम् ॥ ६८ ॥
प्रावर्तत महारौद्रं युद्धं वानररक्षसाम्।
वानरान्दश सप्तेति राक्षसा जघ्नुराहवे ॥ ६९ ॥

धीरे धीरे वानरों और राक्षसों के युद्ध की भीषणता बढ़ने लगी। लड़ते लड़ते योद्धाओं के वस्त्र ढीले पड़ गये थे। हथियार छुट पड़े थे। बड़े बड़े फरसे, डंडे, शूल और तलवारों से युक्त भुजाएँ

(प्रहार करने के लिये) राक्षस लोग उठाये हुए थे। इस युद्ध में राक्षस योद्धा एक एक वार में दस दस और सात सात वानरों को मार गिराते थे ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

राक्षसान्दश सप्तेति वानराश्चाभ्यपातयन्।
विस्रस्तकेशवसनं विध्वस्तकवचध्वजम् ॥ ७० ॥

और इसी प्रकार एक एक प्रहार से वानर भी दस दस और सात सात राक्षसों को मार कर गिरा देते थे। उस राक्षसी सेना के योद्धाओं के सिर के बाल बिखर गये थे, कपड़े खुल पड़े थे, कवच चूर चूर हो गये थे और ध्वजाओं के टुकड़े टुकड़े हो गये थे ॥ ७० ॥

बलं राक्षसमालम्ब्य[1] वानराः पर्यवारयन् ॥ ७१ ॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥

उस राक्षसी सेना को वानर वीर बड़े ज़ोर से दौड़ दौड़ कर रोकते थे और उसे घेरे हुए थे ॥ ७१ ॥

युद्धकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

१ आलम्ब्य—वेगेन धावमानं प्रतिष्टभ्य। (गो०)

षट्सप्ततितमः सर्गः

—※—

प्रवृत्ते सङ्कुले[1] तस्मिन्घोरे वीरजनक्षये ।
अङ्गदः कम्पनं वीरमाससाद रणोत्सुकः ॥ १ ॥

जब वह घोर और वीरों का नाश करने वाला युद्ध निरन्तर हो रहा था, तब लड़ने के लिये उत्सुक अङ्गद ने कम्पन का सामना किया ॥ १ ॥

आहूय सोऽङ्गदं कोपात्ताडयामास वेगितः ।
गदया कम्पनः पूर्वं स चचाल भृशाहतः ॥ २ ॥

अकम्पन ने अङ्गद को ललकार कर बड़े ज़ोर से अङ्गद के एक गदा मारी, जिसके प्रहार से अङ्गद डगमगाने लगे ॥ २ ॥

स संज्ञां प्राप्य तेजस्वी चिक्षेप शिखरं गिरेः ।
अर्दितश्च प्रहारेण कम्पनः पतितो भुवि ॥ ३ ॥

तेजस्वी अङ्गद ने सावधान होने पर कम्पन के ऊपर एक गिरि-श्रृङ्ग फेंका, जिसकी चोट से कम्पन मर कर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ३ ॥

ततस्तु कम्पनं दृष्ट्वा शोणिताक्षो हतं रणे ।
रथेनाभ्यपतत्क्षिप्रं तत्राङ्गदमभीतवत् ॥ ४ ॥

उस कम्पन को युद्ध में मरा हुआ देख, शोणिताक्ष ने निर्भय हो अपना रथ बड़ी शीघ्रता से अङ्गद की ओर हँकवाया ॥ ४ ॥

---

१ संकुले—निरन्तरे ।

सोऽङ्गदं निशितैर्बाणैस्तदा विव्याध वेगितः ।
शरीरदारणैस्तीक्ष्णैः [1]कालाग्निसमविग्रहैः ॥ ५ ॥

और वह बड़ी फुर्ती से अङ्गद को पैने पैने बाणों से वेधने लगा। उन कालाग्नि सदृश आकार वाले पैने बाणों से अङ्गद का शरीर क्षतविक्षत हो गया ॥ ५ ॥

क्षुरक्षुरप्रनाराचैर्वत्सदन्तैः शिलीमुखैः ।
कर्णिशल्यविपाठैश्च बहुभिर्निशितैः शरैः ॥ ६ ॥

अङ्गदः प्रतिविद्धाङ्गो वालिपुत्रः प्रतापवान् ।
धनुरुग्रं रथं बाणान्ममर्द तरसा बली ॥ ७ ॥

अङ्गद ने क्षुर, क्षुरप्र, नाराच, वत्सदन्त, शिलीमुख, कर्णि, शल्य और विपाठ (ये सब बाणों के भेद हैं) नामक बहुत से पैने तीरों की चोट खाई, किन्तु पीछे से बलवान एवं प्रतापी वालिपुत्र अङ्गद ने उस राक्षस का उग्र धनुष, बाण और रथ बड़े वेग से तोड़ मरोड़ डाले ॥ ६ ॥ ७ ॥

शोणिताक्षस्ततः क्षिप्रमसिचर्म समाददे ।
उत्पपात तदा क्रुद्धो वेगवानविचारयन् ॥ ८ ॥

तब शोणिताक्ष क्रुद्ध हो तुरन्त ढाल तलवार ले बड़ी तेज़ी से बिना विचारे रथ से कूद पड़ा ॥ ८ ॥

तं क्षिप्रतरमाप्लुत्य [2]परामृश्याङ्गदो बली ।
करेण तस्य तं खड्गं समाच्छिद्य ननाद च ॥ ९ ॥

---

१ कालाग्निसमविग्रहैः—कालाग्नितुल्याकारैः । (गो०) २ परामृश्य—प्रगृह्य । (गो०)

तब विपुल बलशाली अङ्गद ने फुर्ती से झपट कर उस राक्षस को पकड़ लिया और उसके हाथ से तलवार छीन वे सिंहनाद करने लगे ॥ ९ ॥

तस्यांसफलके[1] खड्गं निजघान ततोऽङ्गदः ।
यज्ञोपवीतवच्चैनं चिच्छेद कपिकुञ्जरः ॥ १० ॥

फिर जैसे बाँये कन्धे से दहिनी कोख तक यज्ञोपवीत पड़ा रहता है, वैसे ही बाँए कन्धे से दहिनी कोख तक तलवार से शोणिताक्ष के शरीर को अङ्गद ने काट डाला ॥ १० ॥

तं प्रगृह्य महाखड्गं विनद्य च पुनः पुनः ।
वालिपुत्रोऽभिदुद्राव रणशीर्षे परानरीन् ॥ ११ ॥

फिर अङ्गद उस बड़े खड्ग को हाथ में लिये और बार बार गर्जते हुए समरभूमि में अन्य शत्रुओं पर आक्रमण करने लगे ॥११॥

आयसीं तु गदां वीरः प्रगृह्य कनकाङ्गदः ।
शोणिताक्षः *समाश्वस्य तमेवानु पपात ह ॥ १२ ॥

इतने में सुवर्ण के बाजू से शोभित वीर शोणिताक्ष सावधान हो और एक लोहे की गदा लेकर, अङ्गद के ऊपर झपटा ॥ १२ ॥

प्रजङ्घसहितो वीरो यूपाक्षस्तु ततो बली ।
रथेनाभिययौ क्रुद्धो वालिपुत्रं महाबलम् ॥ १३ ॥

प्रजङ्घ के साथ बलवान यूपाक्ष भी क्रुद्ध हो और रथ पर सवार हो, महाबलवान अङ्गद का सामना करने को पहुँचा ॥ १३ ॥

---

१ अंसरूपेफलके—यज्ञोपवीतवदेन शोणिताक्षं । (रा०) * पाठान्तरे—" समाविध्य ।'

तयोर्मध्ये कपिश्रेष्ठः शोणिताक्षप्रजङ्घयोः ।
विशाखयोर्मध्यगतः पूर्णचन्द्र इवाभवत् ॥ १४ ॥

उस समय अङ्गद शोणिताक्ष और प्रजङ्घ के बीच ऐसे शोभित हो रहे थे; जैसे दो विशाख नक्षत्रों के बीच पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभित होता है ॥ १४ ॥

अङ्गदं परिरक्षन्तो *मैन्दो द्विविद एव च ।
तस्य तस्थतुरभ्याशे परस्परदिदृक्षया ॥ १५ ॥

मैन्द और द्विविद नामक दो वीर वानर जो अङ्गद के पार्श्व-रक्षक थे, अपने साथ लड़ने योग्य वीर की तलाश में अङ्गद के समीप खड़े थे ॥ १५ ॥

अभिपेतुर्महाकायाः प्रतियत्ता[1] महाबलाः ।
राक्षसा वानरान्रोषादसिचर्मगदाधराः ॥ १६ ॥

महाबलवान् महाकाय राक्षस खड्ग, ढाल, और गदा लेकर और क्रोध में भर सावधानतापूर्वक वानरों पर झपटा ॥ १६ ॥

त्रयाणां वानरेन्द्राणां त्रिभी राक्षसपुङ्गवैः ।
संसक्तानां महद्युद्धमभवद्रोमहर्षणम् ॥ १७ ॥

उस समय परस्पर युद्ध करते हुए, मैन्द, द्विविद और अङ्गद, इन तीन वानरश्रेष्ठों के साथ प्रजङ्घ, यूपाक्ष और शोणिताक्ष इन तीन राक्षसश्रेष्ठों का बड़ा भारी रोमहर्षणकारी संग्राम होने लगा ॥१७॥

ते तु वृक्षान्समादाय सम्प्रचिक्षिपुराहवे ।
खड्गेन प्रतिचिच्छेद तान्प्रजङ्घो महाबलः ॥ १८ ॥

---

[1] प्रतियत्ताः—प्रतियत्नवन्तः । (गो०) * पाठान्तरे—" मैन्दौ । "

वानर लड़ते हुए, राक्षसों पर पेड़ों को उखाड़ उखाड़ कर फेंकते थे। किन्तु महाबली प्रजङ्घ उन सब को तलवार से काट कर फेंक देता था ॥ १८ ॥

रथानश्वान्द्रुमैः शैलैस्ते प्रचिक्षिपुराहवे ।
शरौघैः प्रतिचिच्छेद तान्यूपाक्षो निशाचरः ॥ १९ ॥

तदनन्तर वानर उठा उठा कर रथों, घोड़ों पेड़ों और शिलाओं को राक्षसों पर फेंकने लगे। उन सब को यूपाक्ष, बाणों से काट डालता था ॥ १९ ॥

सृष्टान्द्विविदमैन्दाभ्यां द्रुमानुत्पाट्य वीर्यवान् ।
बभञ्ज गदया मध्ये शोणिताक्षः प्रतापवान् ॥ २० ॥

द्विविद और मैन्द उखाड़ उखाड़ कर जो पेड़ फेंकते, उनको प्रतापी शोणिताक्ष बीच ही में गदा से टुकड़े टुकड़े कर डालता था ॥ २० ॥

उद्यम्य विपुलं खड्गं परमर्मनिकृन्तनम् ।
प्रजङ्घो वालिपुत्राय अभिदुद्राव वेगितः ॥ २१ ॥

तदनन्तर शत्रु के मर्म को चीरने वाली बड़ी तलवार को उठा कर, प्रजङ्घ वालिपुत्र अङ्गद के ऊपर बड़ी तेज़ी से झपटा ॥ २१ ॥

तमभ्याशगतं दृष्ट्वा वानरेन्द्रो महाबलः ।
आजघानाश्वकर्णेन द्रुमेणातिबलस्तदा ॥ २२ ॥

उसको अपने ऊपर आक्रमण करते देख, महाबली अङ्गद ने एक अश्वकर्ण का पेड़ बड़े ज़ोर से उसके मारा ॥ २२ ॥

बाहुं चास्य सनिस्त्रिंशमाजघान स मुष्टिना ।
वालिपुत्रस्य घातेन स पपात क्षितावसिः ॥ २३ ॥

और एक घूँसा भी उसकी उस बाँह में मारा, जिसमें वह तलवार पकड़े हुए था। उस घूँसे की चोट से उसकी हाथ की तलवार छूट कर ज़मीन पर गिर पड़ी ॥ २३ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ खड्गमुत्पलसन्निभम्[1] ।
मुष्टिं संवर्तयामास वज्रकल्पं महाबलः ॥ २४ ॥

नीलकमल के समान कान्ति वाली उस तलवार को पृथिवी पर गिरी हुई देख, उस महाबली ने वज्र के समान भीषण घूँसा ताना ॥ २४ ॥

ललाटे स महावीर्यं अङ्गदं वानरर्षभम् ।
आजघान महातेजाः स मुहूर्तं चचाल ह ॥ २५ ॥

उस महातेजस्वी ने कपिश्रेष्ठ अङ्गद के ललाट में घूँसा मारा, जिसकी चोट से कुछ देर के लिये अङ्गद का शरीर घुमरी खाने लगा ॥ २५ ॥

स संज्ञां प्राप्य तेजस्वी वालिपुत्रः प्रतापवान् ।
प्रजङ्घस्य शिरः कायात्खड्गेनापातयत्क्षितौ ॥२६॥

तदनन्तर तेजस्वी एवं प्रतापी वालिपुत्र अङ्गद ने सावधान हो प्रजङ्घ का सिर तलवार से काट कर पृथिवी पर गिरा दिया ॥२६॥

स यूपाक्षोऽश्रुपूर्णाक्षः पितृव्ये निहते रणे ।
अवरुह्य रथात्क्षिप्रं क्षीणेषुः खड्गमाददे ॥ २७ ॥

---

१ उत्पलसन्निभम्—नीलोत्पलसमानकान्तिमित्यर्थः। (गो०)

अपने चचा प्रजङ्घ को युद्ध में मरा हुआ देख, यूपाक्ष की आँखों से आँसू निकल पड़े और वह हाथ में तलवार ले रथ से तुरन्त उतर पड़ा ॥ २७ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य यूपाक्षं द्विविदस्त्वरन् ।
आजघानोरसि क्रुद्धो जग्राह च बलाद्बली ॥ २८ ॥

परन्तु महाबलवान् वीर द्विविद ने यूपाक्ष को आते देख, क्रोध में भर उसकी छाती में प्रहार कर उसे पकड़ लिया ॥ २८ ॥

गृहीतं भ्रातरं दृष्ट्वा शोणिताक्षो महाबलः ।
आजघान गदाग्रेण वक्षसि द्विविदं ततः ॥ २९ ॥

महाबली शोणिताक्ष ने अपने भाई यूपाक्ष का पकड़ा जाना देख, द्विविद की छाती में गदा मारी ॥ २९ ॥

स गदाभिहतस्तेन चचाल च महाबलः ।
उद्यतां च पुनस्तस्य जहार द्विविदो गदाम् ॥ ३० ॥

उस गदा के प्रहार से महाबली द्विविद को गन्नेटा आ गया; किन्तु सावधान होने पर और दूसरी बार गदाप्रहार के लिये उसे उद्यत देख, द्विविद ने उसके हाथ से गदा छीन ली ॥ ३० ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो मैन्दो वानरयूथपः ।
यूपाक्षं ताडयामास तलेनोरसि वीर्यवान ॥ ३१ ॥

इस बीच में बलवान् वानरयूथपति मैन्द ने वहाँ पहुँच कर यूपाक्ष की छाती में एक चपेटा जमाया ॥ ३१ ॥

तौ शोणिताक्षयूपाक्षौ प्लवङ्गाभ्यां तरस्विनौ ।
चक्रतुः समरे तीव्रमाकर्षोत्पाटनं भृशम् ॥ ३२ ॥

अब तो शोणिताक्ष और यूपाक्ष राक्षसों का वेगवान् मैन्द और द्विविद वानरों के साथ युद्ध होने लगा और एक दूसरे की खींचा-तानी और झकझोरा झकझोरी करने लगे ॥ ३२ ॥

द्विविदः शोणिताक्षं तु विददार नखैर्मुखे ।
निष्पिपेष च वेगेन क्षितावाविध्य वीर्यवान् ॥ ३३ ॥

द्विविद ने अपने पैने नाखूनों से यूपाक्ष का मुख भकोट लिया और पृथिवी पर पटक कर, उसे खूब रगड़ा ॥ ३३ ॥

यूपाक्षमपि संक्रुद्धो मैन्दो वानरयूथपः ।
पीडयामास बाहुभ्यां स पपात हतः क्षितौ ॥ ३४ ॥

उधर वानरयूथपति मैन्द ने भी क्रोध में भर यूपाक्ष को अपनी भुजाओं से ऐसा दवाया कि, वह मर कर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ३४ ॥

हतप्रवीरा व्यथिता राक्षसेन्द्रचमूस्तदा ।
जगामाभिमुखी सा तु कुम्भकर्णसुतो यतः ॥ ३५ ॥

इन राक्षस वीरों के मारे जाने पर रावण की सेना व्यथित हो उस ओर गयी जिस ओर कुम्भकर्ण का बेटा था ॥ ३५ ॥

आपतन्तीं च वेगेन कुम्भस्तां सान्त्वयच्चमूम् ।
अथोत्कृष्टं महावीर्यैर्लब्धलक्षैः[1] प्लवङ्गमैः ॥ ३६ ॥
निपातित महावीरां दृष्ट्वा रक्षश्चमूं ततः ।
कुम्भः प्रचक्रे तेजस्वी रणे कर्म सुदुष्करम् ॥ ३७ ॥

---

१ लब्धलक्षैः—अप्रतिद्वन्द्विभिः। (गो०)

अपनी सेना को बड़े ज़ोर से भागते देख, कुम्भ ने सैनिकों को धीरज बँधाया। फिर अति उत्कृष्ट एवं महाबलवान् वानरी सेना के मुकाबले अपनी सेना को न पाकर और वानरों द्वारा अपने सेना के बड़े बड़े वीर योद्धाओं का मारा जाना देख, तेजस्वी कुम्भ ने ऐसी वीरता दिखायी, जो दूसरों के लिये दुष्कर थी ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः प्रगृह्य सुसमाहितः ।
मुमोचाशीविषप्रख्याञ्शरान्देहविदारणान् ॥ ३८ ॥

धनुषधारियों में श्रेष्ठ उस कुम्भ ने अपना धनुष उठा सावधानतापूर्वक विषधर सर्पों की तरह भयङ्कर एवं शरीर को विदीर्ण करने वाले बाण छोड़े ॥ ३८ ॥

तस्य तच्छुशुभे भूयः सशरं धनुरुत्तमम् ।
विद्युदैरावतार्चिष्मद्द्वितीयेन्द्रधनुर्यथा ॥ ३९ ॥

उस समय उसका बाणों सहित धनुष ऐसा शोभायमान हुआ जैसा कि, बिजली सहित ऐरावत नामक इन्द्र का धनुष शोभायमान होता है ॥ ३९ ॥

[नोट—यहाँ कुम्भ के धनुष के रोदे की उपमा बिजली से और उसके धनुष की उपमा इन्द्र के ऐरावत नामक धनुष से दी गयी है। ऐरावत इन्द्र के एक बड़े धनुष का नाम है।]

आकर्णाकृष्टमुक्तेन जघान द्विविदं तदा ।
तेन [1]हाटकपुङ्खेन पत्रिणा[2] पत्रवाससा[3] ॥ ४० ॥

कुम्भ ने सोने की फोंक के और पंखों से भूषित बाण, कान तक रोदे को खींच कर, द्विविद के मारे ॥ ४० ॥

---

१ हाटकं—स्वर्णं। (गो०) २ पत्रिणा—बाणेन। (गो०) ३ पत्रवाससा—वासः स्थानीयकङ्कपत्रेण। (गो०)

सहसाऽभिहतस्तेन [1]विप्रमुक्तपदः [2]स्फुरन् ।
निपपाताद्रिकूटाभो विह्वलः[3] प्लवगोत्तमः ॥ ४१ ॥

सहसा उन बाणों के लगने से द्विविद् के पैर लड़खड़ाने लगे। वह अपने को न सम्हाल सका और पर्वतशिखर की तरह गिर पड़ा ॥ ४१ ॥

मैन्दस्तु भ्रातरं दृष्ट्वा भग्नं तत्र महाहवे ।
अभिदुद्राव वेगेन प्रगृह्य महतीं शिलाम् ॥ ४२ ॥

अपने भाई द्विविद् को युद्ध में घायल हुआ देख, मैन्द एक बड़ी भारी शिला उठा बड़े ज़ोर से कुम्भ पर दौड़ा ॥ ४२ ॥

तां शिलां तु प्रचिक्षेप राक्षसाय महाबलः ।
बिभेद तां शिलां कुम्भः प्रसन्नैः[4] पञ्चभिः शरैः ॥४३॥

और उस महाबलवान मैन्द ने वह शिला कुम्भ के ऊपर फेंकी, किन्तु कुम्भ ने उस शिला का बीच ही में पाँच चमचमाते बाणों से काट कर गिरा दिया ॥ ४३ ॥

सन्धाय चान्यं सुमुखं शरमाशीविषोपमम् ।
आजघान महातेजा वक्षसि द्विविदाग्रजम् ॥ ४४ ॥

और विषधर सर्प की तरह एक और पैना बाण धनुष पर रख, महातेजस्वी कुम्भ ने द्विविद के ज्येष्ठ भ्राता मैन्द की छाती में मारा ॥ ४४ ॥

स तु तेन प्रहारेण मैन्दो वानरयूथपः ।
मर्मण्यभिहतस्तेन पपात भुवि मूर्छितः ॥ ४५ ॥

---

१ विप्रमुक्तपदः—शिथिलपदन्यासः । (गो०) २ स्फुरन्—चलन् । (गो०)
३ विह्वलः—विवशः सन् । (गो०) ४ प्रसन्नैः—भासमानैः । (शि०)

उस बाण के मर्मस्थल में लगने से वानरयूथपति मैन्द मूर्छित हो पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ४५ ॥

अङ्गदो मातुलौ दृष्ट्वा पतितौ तु महाबलौ ।
अभिदुद्राव वेगेन कुम्भमुद्यतकार्मुकम् ॥ ४६ ॥

अपने दोनों महाबली मामाओं (मैन्द और द्विविद) को गिरा या देख, अङ्गद, धनुष लिये हुए कुम्भ की ओर बड़ी तेज़ी से झपटे ॥ ४६ ॥

तमापतन्तं विव्याध कुम्भः पञ्चभिरायसैः ।
त्रिभिश्चान्यैः शितैर्बाणैर्मातङ्गमिव तोमरैः ॥ ४७ ॥

अङ्गद को अपने ऊपर आक्रमण करते देख, कुम्भ ने पाँच लोहे के बाण मार अङ्गद को घायल किया । तदनन्तर तीन बाण दूसरी तरह के अङ्गद के वैसे ही मारे ; जैसे हाथी के अङ्कुश मारा जाता है ॥ ४७ ॥

सोऽङ्गदं विविधैर्बाणैः कुम्भो विव्याध वीर्यवान् ।
[1]अकुण्ठधारैः[2]निशितैस्तीक्ष्णैः[3] कनकभूषणैः ॥ ४८ ॥

इनके अतिरिक्त बलवान कुम्भ ने विविध प्रकार के लोहे की नोंक के उत्कृष्ट एवं सोने के बन्दों से भूषित बाण मार कर अङ्गद को घायल किया ॥ ४८ ॥

अङ्गदः प्रतिविद्धाङ्गो वालिपुत्रो न कम्पते ।
शिलापादपवर्षाणि तस्य मूर्ध्नि ववर्ष ह ॥ ४९ ॥

---

१ अकुण्ठधारैः—अभग्नाग्रैः । (गो०) २ निशितैः—अकुण्ठैः । (गो०)
३ तीक्ष्णैः—अयोमयैः । (गो०)

किन्तु बहुत से बाणों की चोट से घायल होने पर भी अङ्गद ज़रा भी विचलित न हुए और वे कुम्भ के सिर पर शिलाओं और वृक्षों की वर्षा करने लगे ॥ ४९ ॥

स प्रचिच्छेद तान्सर्वान्बिभेद च पुनः शिलाः ।
कुम्भकर्णात्मजः श्रीमान्वालिपुत्रसमीरितान् ॥ ५० ॥

किन्तु कुम्भकर्ण का पुत्र कुम्भ बाण चला कर बीच ही में कान्तिमान् वालितनय अङ्गद के फेंके हुए वृक्षों को काट कर गिरा देता था और शिलाओं को चूर चूर कर डालता था ॥ ५० ॥

आपतन्तं च सम्प्रेक्ष्य कुम्भो वानरयूथपम् ।
भ्रुवोर्विव्याध बाणाभ्यामुल्काभ्यामिव कुञ्जरम् ॥५१॥

वानरयूथपति अङ्गद को अपने ऊपर आक्रमण करते देख, कुम्भ ने अङ्गद की भौंहों के बीच में दो बाण वैसे ही मारे, जैसे कोई लुकों से हाथी को मारे ॥ ५१ ॥

तस्य सुस्राव रुधिरं पिहिते चास्य लोचने ।
अङ्गदः पाणिना नेत्रे पिधाय रुधिरोक्षिते ॥ ५२ ॥

उन बाणों से घायल होने के कारण भौंहों से रुधिर बहने लगा जिससे अङ्गद के नेत्र मुँद गये। किन्तु अङ्गद ने उस समय एक हाथ से रुधिर से तर नेत्रों को बन्द कर, ॥ ५२ ॥

सालमासन्नमेयेत परिजग्राह पाणिना ।
[1]सम्पीड्य चोरसि [2]स्कन्धं करेणाभिनिवेश्य च ॥५३॥

---

१ संपीड्य—पत्रादिरहितं कृत्वा। (शि०) २ स्कन्ध—सस्कन्धशाखासहितं। (शि०)

किञ्चिदभ्यवनम्यैनमुन्ममाथ यथा गजः ।
तमिन्द्रकेतुप्रतिमं वृक्षं मन्दरसन्निभम् ॥ ५४ ॥

दूसरे हाथ से पास ही लगा हुआ एक साल का पेड़ उखाड़ लिया। किन्तु एक हाथ से उसे उखाड़ना असम्भव काम था। अतः उन्होंने तने और शाखाओं सहित उस वृक्ष को छाती से दबा, हाथ से उसके पत्ते टहनी आदि उसी प्रकार नोच डाले; जिस प्रकार हाथी वृक्ष की छोटी छोटी टहनियाँ और पत्ते नोंच डालता है। उस मन्दराचल अथवा इन्द्रध्वजा की तरह विशाल साल वृक्ष को ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

समुत्सृजन्तं वेगेन पश्यतां सर्वरक्षसाम् ।
स चिभेद शितैर्बाणैः सप्तभिः कायभेदनैः ॥ ५५ ॥

सब राक्षसों के सामने अत्यन्त वेग से कुम्भ के ऊपर फैंका। किन्तु कुम्भ ने शरीर को विदीर्ण करने वाले सात पैने बाण मार कर, उसे काट गिराया ॥ ५५ ॥

अङ्गदो विव्यथेऽभीक्ष्णं पपात च मुमोह च ।
अङ्गदं पतितं दृष्ट्वा सीदन्तमिव सागरे ॥ ५६ ॥

तदनन्तर उसने एक बाण मार कर अङ्गद को बुरी तरह घायल किया। वे उसकी चोट से मूर्छित हो गिर पड़े। अङ्गद को पीड़ा रूपी समुद्र में गोता खाते देख ॥ ५६ ॥

दुरासदं हरिश्रेष्ठं रामायान्ये न्यवेदयन् ।
रामस्तु व्यथितं श्रुत्वा वालिपुत्रं रणाजिरे ॥ ५७ ॥
व्यादिदेश हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवत्प्रमुखांस्ततः ।
ते तु वानरशार्दूलाः श्रुत्वा रामस्य शासनम् ॥ ५८ ॥

बड़े बड़े वानर वीरों ने जा कर यह हाल श्रीरामचन्द्र जी से कहा। समर में अङ्गद के घायल होने का हाल सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने जाम्बवानादि प्रधान प्रधान वीर वानरों को जा कर अङ्गद की सहायता करने की आज्ञा दी। वे वानरशार्दूल श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पा, ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

अभिपेतुः सुसंक्रुद्धाः कुम्भमुद्यतकार्मुकम् ।
ततो द्रुमशिलाहस्ताः कोपसंरक्तलोचनाः ॥ ५९ ॥

क्रुद्ध हो, धनुष लिये हुए कुम्भ के पास पहुँचे। उस समय उन सब के हाथों में पेड़ और पर्वत थे और मारे क्रोध के उनकी आँखें लाल लाल हो रही थीं ॥ ५९ ॥

[1]रिरक्षिषन्तोऽभ्यपतन्नङ्गदं वानरर्षभाः ।
जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानरः ॥ ६० ॥

ये वानरश्रेष्ठ अङ्गद के जीवन की रक्षा करने की अभिलाषा से आगे बढ़े। जाम्बवान्, सुषेण, और वेगदर्शी नामक वानरों ने ॥ ६० ॥

कुम्भकर्णात्मजं वीरं क्रुद्धाः समभिदुद्रुवुः ।
समीक्ष्यापततस्तांस्तु वानरेन्द्रान्महाबलान् ॥ ६१ ॥

क्रोध में भर, कुम्भकर्ण के वीर पुत्र कुम्भ पर बड़ी तेज़ी से आक्रमण किया। उन महाबलवान् प्रधान वानरों को अपने ऊपर आक्रमण करते देख, ॥ ६१ ॥

आववार शरौघेण नगेनेव जलाशयम् ।
तस्य बाणपथं प्राप्य न शेकुरतिवर्तितुम् ॥ ६२ ॥

---

1 रिरक्षिषन्तः—रक्षितुमिच्छन्तः। (गो०)

कुम्भ ने बाणों की वर्षा कर उनको आगे बढ़ने से उसी प्रकार रोका ; जिस प्रकार पर्वत जलाशय के जल को रोक देते हैं। उसके बाणों के सामने पड़ कर, उन वानरों में से कोई भी फिर उसकी ओर वैसे ही आगे न बढ़ सका ॥ ६२ ॥

वानरेन्द्रा महात्मानो वेलामिव महोदधिः ।
तांस्तु दृष्ट्वा हरिगणाञ्शरवृष्टिभिरर्दितान् ॥ ६३ ॥

जैसे महासागर का जल (वेलाभूमि) तट को नहीं लाँघ सकता। उन प्रधान महाबली वानरों को कुम्भ की बाणवृष्टि से घायल हुआ देख, ॥ ६३ ॥

अङ्गदं पृष्ठतः कृत्वा भ्रातृजं प्लवगेश्वरः ।
अभिदुद्राव वेगेन सुग्रीवः कुम्भमाहवे ॥ ६४ ॥

वानरराज सुग्रीव, अपने भतीजे अङ्गद को अपनी पीठ के पीछे कर (अर्थात् अङ्गद के आगे जा) समरभूमि में कुम्भ के ऊपर बड़े वेग से वैसे ही दौड़े ॥ ६४ ॥

शैलसानुचरं नागं वेगवानिव केसरी ।
उत्पाट्य च महाशैलानश्वकर्णान्धवान्बहून् ॥ ६५ ॥

अन्यांश्च विविधान्वृक्षांश्चिक्षेप च महाबलः ।
तां छादयन्तीमाकाशं वृक्षवृष्टिं दुरासदाम् ॥ ६६ ॥

जैसे पर्वत पर विचरने वाले हाथी के ऊपर वेगवान सिंह लपकता है। बड़े बड़े शैल, अश्वकर्ण, ढाक आदि विविध प्रकार के अन्य वृक्ष उखाड़ उखाड़ कर, महाबली सुग्रीव ने कुम्भ के ऊपर फैंके। किन्तु आकाश को छा लेने वाली उस दुर्धर्ष वृक्ष-वृष्टि को ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

कुम्भकर्णात्मजः शीघ्रं चिच्छेद निशितैः शरैः ॥ ६७ ॥

कुम्भकर्ण के पुत्र कुम्भ ने पैने बाणों से काट कर तुरन्त नष्ट कर डाला ॥ ६७ ॥

अर्दितास्ते द्रुमा रेजुर्यथा घोराः शतघ्नयः ।
द्रुमवर्षं तु तच्छिन्नं दृष्ट्वा कुम्भेन वीर्यवान् ॥ ६८ ॥

उस समय वे कटे हुए और टूटे पेड़ ऐसे जान पड़ते थे, जैसी भयङ्कर शतघ्नियाँ। बलवान कुम्भ द्वारा उस वृक्षवृष्टि को व्यर्थ हुआ देख ॥ ६८ ॥

वानराधिपतिः श्रीमन्महासत्त्वो न विव्यथे ।
निर्भिद्यमानः सहसा सहमानश्च ताञ्शरान् ॥ ६९ ॥

बड़े बलवान श्रीमान् वानरराज सुग्रीव घबड़ाये नहीं। वे कुम्भ के बाणों से घायल हो कर भी उस बाणपीड़ा को सह गये ॥ ६९ ॥

कुम्भस्य धनुराक्षिप्य बभञ्जेन्द्रधनुष्प्रभम् ।
अवप्लुत्य ततः शीघ्रं कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ ७० ॥

और इन्द्रधनुष की तरह कुम्भ के धनुष को उसके हाथ से छीन कर तोड़ डाला। फिर वे इस अत्यन्त दुष्कर कृत्य को कर उछल कर वहाँ से हट आये ॥ ७० ॥

अब्रवीत्कुपितः कुम्भं भग्नशृङ्गमिव द्विपम् ।
निकुम्भाग्रज वीर्यं ते बाणवेगवदद्भुतम् ॥ ७१ ॥

और दाँत टूटे हुए हाथी की तरह कुम्भ से कुपित हो सुग्रीव ने कहा—हे निकुम्भ के बड़े भाई कुम्भ! तेरा बल पराक्रम और बाण चलाने की फुर्ती बड़ी अद्भुत है ॥ ७१ ॥

सन्नतिश्च[1] प्रभावश्च तव वा[2] रावणस्य वा ।
प्रह्लादबलिवृत्रघ्नकुबेरवरुणोपम ॥ ७२ ॥

तुझमें रावण अथवा प्रह्लाद, बलि, इन्द्र, कुबेर, अथवा वरुण की तरह स्वजनों के प्रति विनय है और इन लोगों के समान ही तेरा प्रभाव भी है ॥ ७२ ॥

एकस्त्वमनुजातोऽसि पितरं बलवृत्ततः[3] ।
त्वामेवैकं महाबाहुं चापहस्तमरिन्दमम् ॥ ७३ ॥
त्रिदशा नातिवर्तन्ते जितेन्द्रियमिवाधयः ।
विक्रमस्व महाबुद्धे कर्माणि मम पश्यतः ॥ ७४ ॥

एक तू ही अपने पिता कुम्भकर्ण के समान बलवान है अथवा तू सब प्रकार से अपने पिता कुम्भकर्ण के अनुरूप है। हे अरिन्दम! (शत्रुहन्ता) हे महाबाहो! जब तू अकेले ही हाथ में धनुष बाण ले कर खड़ा हो जाय, तब देवता भी तेरे सामने वैसे ही खड़े नहीं रह सकते, जैसे इन्द्रियों के जीतने वाले के सामने मनःपीड़ा नहीं ठहर सकती। हे महाबुद्धिमान! अब तू अपना बलविक्रम आज़मा ले, पीछे मेरा भी पराक्रम देखना ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

वरदानात्पितृव्यस्ते सहते देवदानवान् ।
कुम्भकर्णस्तु वीर्येण सहते च सुरासुरान् ॥ ७५ ॥

---

१ सन्नतिः—राक्षसेषु विनयः राक्षसप्रावण्यं वा । (गो०) २ तव वा रावणस्य वा—रावणतुल्या तव सन्नितिरित्यर्थः । (गो०) ३ बलवृत्ततः—बलव्यापारेण । (गो०)

तेरे चचा रावण तो वरदान के बल देवता और दानवों को जीतते हैं, किन्तु कुम्भकर्ण ने अपने शारीरिक बल से देवताओं और दानवों को जीता ॥ ७५ ॥

धनुषीन्द्रजितस्तुल्यः प्रतापे रावणस्य च ।
त्वमद्य रक्षसां लोके श्रेष्ठोसि बलवीर्यतः ॥ ७६ ॥

तू धनुषविद्या में अपने भाई इन्द्रजीत के समान और प्रताप में अपने चचा रावण के समान है। तुम राक्षससंसार में इस समय सब राक्षसों से बलविक्रम में श्रेष्ठ है ॥ ७६ ॥

महाविमर्द[1] समरे मया सह तवाद्भुतम् ।
अद्य भूतानि पश्यन्तु शक्रशम्बरयोरिव ॥ ७७ ॥

आज मेरे साथ तेरा वैसा ही युद्ध होगा; जैसा कि, इन्द्र के साथ शम्बरासुर का हुआ था और इस अद्भुत युद्ध को समस्त प्राणी देखेंगे ॥ ७७ ॥

कृतमप्रतिमं कर्म दर्शितं चास्त्रकौशलम् ।
पातिता हरिवीराश्च त्वया वै भीमविक्रमाः ॥ ७८ ॥

तूने अपनी असाधारण वीरता और अपना अस्त्रकौशल दिखलाया है। क्योंकि तूने इन भीम पराक्रमी जाम्बवानादि वानर यूथपतियों को मार और मूर्च्छित कर ज़मीन पर गिरा दिया है ॥ ७८ ॥

उपालम्भभयाच्चापि नासि वीर मया हतः ।
कृतकर्मा परिश्रान्तो विश्रान्तः पश्य मे बलम् ॥ ७९ ॥

---

1 महाविमर्दं—महाप्रहारं । (गो०)

केवल उलहने के भय से मैंने तुझको अभी तक मार नहीं डाला है। अब तू लड़ते लड़ते थक गया होगा सो कुछ देर आराम कर ले पीछे मेरा बल देखना॥ ७६॥

तेन सुग्रीववाक्येन सावमानेन मानितः।
अग्नेराज्याहुतस्येव तेजस्तस्याभ्यवर्धत॥ ८०॥

सुग्रीव की इस प्रशंसा को उसने व्याजस्तुति (झूठी अपमानकारिणी प्रशंसा) समझी और अग्नि में आहुति पड़ने से अग्नि का तेज जैसा उत्तेजित होता है, वैसा ही सुग्रीव के इन वचनों से कुम्भ उत्तेजित हुआ अथवा भड़क उठा॥ ८०॥

ततः कुम्भस्तु सुग्रीवं बाहुभ्यां जगृहे तदा।
गजाविवाहितमदौ निश्वसन्तौ मुहुर्मुहुः॥ ८१॥

तदनन्तर उसने सुग्रीव को अपनी दोनों भुजाओं से पकड़ लिया। वे दोनों मस्त हाथियों की तरह लड़ते लड़ते हाँफ उठे॥ ८१॥

अन्योन्यगात्रग्रथितौ कर्षन्तावितरेतरम्।
सधूमां मुखतो ज्वालां विसृजन्तौ परिश्रमात्॥ ८२॥

वे दोनों एक दूसरे को पकड़ कर खींचातानी कर रहे थे। उस समय मारे परिश्रम के दोनों ही के मुखों से धुएँ सहित ज्वाला निकल रही थी॥ ८२॥

तयोः पादाभिघाताच्च निमग्ना चाभवन्मही।
व्याघूर्णिततरङ्गश्च चुक्षुभे वरुणालयः॥ ८३॥

उन दोनों के पैरों की धमक से उस जगह की ज़मीन धसक गयी थी; समुद्र क्षुब्ध हो बड़ी बड़ी लहरों से लहराने लगा था॥ ८३॥

ततः कुम्भं समुत्क्षिप्य सुग्रीवो लवणाम्भसि ।
पातयामास वेगेन दर्शयन्नुदधेस्तलम् ॥ ८४ ॥

इसी बीच में सुग्रीव ने कुम्भ को उठा कर ऐसे ज़ोर से समुद्र में फैंका कि, वह सीधा समुद्र की तली में चला गया ॥ ८४ ॥

ततः कुम्भनिपातेन जलराशिः समुत्थितः ।
विन्ध्यमन्दरसङ्काशो विससर्प समन्ततः ॥ ८५ ॥

समुद्र में कुम्भ के गिरने से समुद्र का जल चारों ओर उफना। उस समय समुद्र के उफने हुए जल की राशि विन्ध्याचल और मन्दराचल की तरह (विशाल) दिखलाई दी ॥ ८५ ॥

ततः कुम्भः समुत्पत्य सुग्रीवमभिपत्य च ।
आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रवेगेन मुष्टिना ॥ ८६ ॥

कुछ ही देर के बाद कुम्भ ने समुद्र से निकल और सुग्रीव के निकट जा, सुग्रीव की छाती में तान कर एक घूँसा मारा ॥ ८६ ॥

तस्य चर्म च पुस्फोट बहु सुस्राव शोणितम् ।
स च मुष्टिर्महावेगः प्रतिजघ्नेऽस्थिमण्डले ॥ ८७ ॥

उस घूँसे की चोट से छाती की खाल फट गयी और बहुत सा लोहू बह गया। तान कर मारे हुए उस घूँसे की चोट, सुग्रीव की छाती की हड्डियों तक पहुँची ॥ ८७ ॥

तदा वेगेन तत्रासीत्तेजः प्रज्वलितं मुहुः ।
वज्रनिष्पेषसञ्जाता ज्वाला मेरौ यथा गिरौ ॥ ८८ ॥

जिस तरह वज्र के प्रहार से सुमेरुपर्वत से आग निकली थी उसी तरह उस घूँसे की चोट से सुग्रीव की छाती की हड्डियों से अग्नि की ज्वाला निकली ॥ ८८ ॥

स तत्राभिहतस्तेन सुग्रीवो वानरर्षभः ।
मुष्टिं संवर्तयामास वज्रकल्पं महाबलः ॥ ८९ ॥

महाबली वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने इस प्रकार घायल हो, वज्र के समान अपना घूँसा ताना ॥ ८९ ॥

अर्चिः सहस्रविकचं रविमण्डलसप्रभम् ।
स मुष्टिं पातयामास कुम्भस्योरसि वीर्यवान् ॥ ९० ॥

हज़ार किरणों से चमकते हुए सूर्य की तरह वह घूँसा बड़े ज़ोर से वीर्यवान सुग्रीव ने कुम्भ की छाती में मारा ॥ ९० ॥

स तु तेन प्रहारेण विह्वलो भृशताडितः ।
निपपात तदा कुम्भो गतार्चिरिव पावकः ॥ ९१ ॥

उस घूँसे की चोट से कुम्भ बहुत घायल हो मूर्छित हो गया और बुझी हुई आग की तरह वह भूमि पर गिर पड़ा ॥ ९१ ॥

मुष्टिनाऽभिहतस्तेन निपपाताशु राक्षसः ।
लोहिताङ्ग इवाकाशाद्दीप्तरश्मिर्यदृच्छया ॥ ९२ ॥

मूँके की चोट खा कुम्भ राक्षस तुरन्त भूमि पर ऐसे गिरा; मानों चमचमाता मंगल का तारा अपने आप पृथिवी पर गिर पड़ा हो ॥ ९२ ॥

कुम्भस्य पततो रूपं भग्नस्योरसि मुष्टिना ।
बभौ रुद्राभिपन्नस्य यथा रूपं गवां पतेः ॥ ९३ ॥

घूँसे की चोट से फटी हुई छाती वाले कुम्भ का रूप उस समय ऐसा देख पड़ा, जैसा कि, रुद्र के मारे हुए सूर्य का रूप देख पड़ा था ॥ ९३ ॥

तस्मिन्हते भीमपराक्रमेण
प्लवङ्गमानामृषभेण युद्धे ।
मही सशैला सवना चचाल
भयं च रक्षांस्यधिकं विवेश ॥ ९४ ॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार भयङ्कर पराक्रमी वानरपति सुग्रीव के हाथ से समरभूमि में कुम्भ के मारे जाने पर, समस्त वनों और पर्वतों सहित पृथिवी हिल उठी और राक्षस और भी अधिक भयभीत हुए ॥ ९४ ॥

युद्धकाण्ड का छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

निकुम्भो भ्रातरं दृष्ट्वा सुग्रीवेण निपातितम् ।
प्रदहन्निव कोपेन वानरेन्द्रमवैक्षत ॥ १ ॥

सुग्रीव द्वारा अपने भाई कुम्भ का मारा जाना देख, कुम्भ का भाई निकुम्भ क्रोध से जलता हुआ सा वानरराज को घूरने लगा ॥ १ ॥

ततः स्रग्दामसन्नद्धं दत्तपञ्चाङ्गुलं[1] शुभम् ।
आददे परिघं वीरो नगेन्द्रशिखरोपमम् ॥ २ ॥

तदनन्तर उस वीर ने हाथ में एक परिघ लिया। उस परिघ के ऊपर पुष्प की मालाएँ पड़ी हुई थीं और चन्दन कुङ्कुम से हाथ के थापे लगे हुए थे तथा वह पर्वतराज के शिखर के समान विशाल था ॥ २ ॥

हेमपट्टपरिक्षिप्तं वज्रविद्रुमभूषितम् ।
यमदण्डोपमं भीमं रक्षसां भयनाशनम् ॥ ३ ॥

उस पर सोने के पत्र मढ़े हुए थे और हीरा और मूँगे जड़े हुए थे। वह यमराज के डंडे की तरह भयङ्कर था और राक्षसों का भय दूर करने वाला था ॥ ३ ॥

तमाविध्य महातेजाः शक्रध्वजसमं तदा ।
विननाद विवृत्तास्यो निकुम्भो भीमविक्रमः ॥ ४ ॥

उस इन्द्रध्वजा की तरह परिघ को घुमा महातेजस्वी और भीम पराक्रमी निकुम्भ मुँह फाड़ कर बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ ४ ॥

उरोगतेन निष्केण[2] भुजस्थैरङ्गदैरपि ।
कुण्डलाभ्यां च चित्राभ्यां मालया च विचित्रया ॥५॥

उसकी छाती के ऊपर हारफूल रहा था और उसकी भुजाओं पर बाजूबंद शोभित हो रहे थे। उसके कानों में विचित्र कुण्डल थे और वह गले में विचित्र अर्थात् बहुत बढ़िया माला पहिने हुए था ॥ ५ ॥

---

१ दत्तपञ्चाङ्गुलं—चन्दनकुङ्कुमादिना अर्पितपञ्चाङ्गुलमुद्रामुद्रितं । (गो०)

२ निष्कमुरोभूषणम् । (रा०)

निकुम्भो भूषणैर्भाति तेन स्म परिघेण च ।
यथेन्द्रधनुषा मेघः सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ॥ ६ ॥

उस समय वह निकुम्भ उन आभूषणों और उस परिघ से ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसे, कड़कती हुई बिजली और इन्द्रधनुष सहित गड़गड़ाता हुआ बादल ॥ ६ ॥

परिघाग्रेण पुस्फोट [1]वातग्रन्थिर्महात्मनः ।
प्रजज्वाल सघोषश्च विधूम इव पावकः ॥ ७ ॥

निकुम्भ का वह परिघ इतना लंबा था कि, वह जब उसे ऊपर उठाता था ; तब उसकी ऊपर की नोंक से टकरा कर आवाह प्रवाह आदि पवन की सातों गाँठें खुल जाती थीं और बिना धुएँ की आग भभक उठती थी अर्थात् उससे आग की लपटें निकलने लगती थीं ॥ ७ ॥

नगर्या विटपावत्या गन्धर्वभवनोत्तमैः ।
सह चैवामरावत्या सर्वैश्च भवनैः सह ॥ ८ ॥

[2]सतार[3]ग्रहनक्षत्रं[4] सचन्द्रं समहाग्रहम्[5] ।
निकुम्भपरिघाघूर्णं भ्रमतीव नभःस्थलम् ॥ ९ ॥

उस वीर निकुम्भ ने जब उस परिघ को घुमाया ; तब ऐसा जान पड़ा, मानों विटपावती नगरी के गन्धर्वों के रहने के घरों समेत तथा अमरावतीवासी देवताओं के समस्त भवनों सहित,

---

१ वातग्रन्थि—आवाहादिपवनवातस्कन्धः । (गो०) २ ताराः—अश्विन्यादयः । (गो०) ३ ग्रहाः—बुधादयः । (गो०) ४ नक्षत्राणि—अश्विन्यादिभिन्नानि । (गो०) ५ महाग्रहाः—शुक्रादयः । (गो०)

तथा तारागण, ग्रहमण्डल, नक्षत्रमण्डल, चन्द्रमा एवं शुक्रादि बड़े बड़े ग्रहों समेत आकाशमण्डल घूम रहा हो ॥ ८ ॥ ९ ॥

[नोट—नक्षत्र, तारा, ग्रह, चन्द्र आदि का नाम लेकर भी सूर्य का नाम यहाँ इसलिये नहीं लिया गया कि, जिस समय की यह घटना है—उस समय रात का समय था ।]

दुरासदश्च संजज्ञे परिघाभरणप्रभः ।
कपीनां स निकुम्भाग्निर्युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥ १० ॥

उस समय वह राक्षस परिघ और आभूषणों की चमक से ऐसा दुर्धर्ष जान पड़ता था मानों क्रोधरूपी ईंधन से भभकता हुआ प्रलयकालीन अग्नि हो ॥ १० ॥

राक्षसा वानराश्चापि न शेकुः स्पन्दितुं भयात् ।
हनुमांस्तु विवृत्योरस्तस्थौ तस्याग्रतो वली ॥ ११ ॥

उस समय न तो राक्षस और न वानर ही (अपनी जगहों से) हिल सकता था । किन्तु बलवान हनुमान जी अपनी छाती फुला कर उसके सामने जा खड़े हुए ॥ ११ ॥

परिघोपमवाहुस्तु परिघं भास्करप्रभम् ।
वली बलवतस्तस्य पातयामास वक्षसि ॥ १२ ॥

परिघ के तुल्य बाहु वाले बलवान् वीर कुम्भ ने सूर्य समान प्रभावाले परिघ को हनुमान जी को छाती में मारा ॥ १२ ॥

स्थिरे तस्योरसि व्यूढे परिघः शतधा कृतः ।
विशीर्यमाणः सहसा उल्काशतमिवाम्बरे ॥ १३ ॥

हनुमान जी की विशाल छाती से टकरा कर उस परिघ के सौ टुकड़े हो गये और वे पृथिवी पर ऐसे बिखर गये, मानों सौ उल्का आकाश से टूट कर गिरे हों ॥ १३ ॥

स तु तेन प्रहारेण न चचाल महाकपिः ।
परिघेण समाधूतो यथा भूमिचलेऽचलः ॥ १४ ॥

भूडोल होने पर जैसे पर्वत अचल रहता है, वैसे ही हनुमान जी परिघ के प्रहार से भी अटल अचल खड़े रहे ॥ १४ ॥

स तदाऽभिहतस्तेन हनुमान्प्लवगोत्तमः ।
मुष्टिं संवर्तयामास बलेनातिमहाबलः ॥ १५ ॥

महाबलवान वानरोत्तम हनुमान जी ने उस परिघ के प्रहार को सह कर, तान कर मुट्ठी बांधी ॥ १५ ॥

तमुद्यम्य महातेजा निकुम्भोरसि वीर्यवान् ।
अभिचिक्षेप वेगेन वेगवान्वायुविक्रमः ॥ १६ ॥

फिर पवन के समान वेगवान हनुमान जी ने बलवान और तेजस्वी निकुम्भ की छाती में बड़े ज़ोर से एक घूँसा मारा ॥ १६ ॥

ततः पुस्फोट चर्मास्य प्रसुस्राव च शोणितम् ।
मुष्टिना तेन संजज्ञे ज्वाला विद्युदिवोत्थिता ॥ १७ ॥

जिसकी चोट से उसकी खाल फट गयी और लोहू बहने लगा तथा एक ज्वाला ऐसे भभकी, जैसे बादल में बिजली कौंधती हो ॥ १७ ॥

स तु तेन प्रहारेण निकुम्भो विचचाल ह ।
स्वस्थश्चापि निजग्राह हनुमन्तं महाबलम् ॥ १८ ॥

उस मूँके की चोट से निकुम्भ काँप उठा; किन्तु कुछ ही देर बाद सावधान होने पर उसने महाबली हनुमान जी को पकड़ कर उठा लिया ॥ १८ ॥

विचुक्रुशुस्तदा संख्ये भीमं लङ्कानिवासिनः ।
निकुम्भेनोद्यतं[1] दृष्ट्वा हनुमन्तं महाबलम् ॥ १९ ॥

उस समय उस युद्ध में हनुमान जैसे अत्यन्त बलवान को निकुम्भ द्वारा पकड़ा जाना देख, लङ्कावासी राक्षस (प्रसन्न हो) कोलाहल करने लगे ॥ १९ ॥

स तदा ह्रियमाणोऽपि कुम्भकर्णात्मजेन ह ।
आजघानानिलसुतो वज्रकल्पेन मुष्टिना ॥ २० ॥

जिस समय निकुम्भ हनुमान जी को उठा कर ले चला, उस समय हनुमान जी ने उसके वज्र के समान एक घूँसा मारा ॥ २० ॥

आत्मानं मोचयित्वाऽथ क्षितावभ्यवपद्यत ।
हनुमानुन्ममाथाशु निकुम्भं मारुतात्मजः ॥ २१ ॥

पवननन्दन हनुमान जी उसी समय अपने को राक्षस के हाथ से छुटा और कूद कर पृथिवी पर जा खड़े हुए और फिर निकुम्भ को (अपने काबू में कर) खूब रगड़ा ॥ २१ ॥

निक्षिप्य परमायत्तो[2] निकुम्भं निष्पिपेष ह ।
उत्पत्य[3] चास्य वेगेन पपातोरसि वीर्यवान् ॥ २२ ॥

---

१ उद्यतं—गृहीतं । (गो०) २ परमायत्तो—अतिप्रयासयुक्तो । (गो०)
३ उत्पत्य— ऊर्ध्वमुद्गत्य । (गो०)

उन्होंने निकुम्भ को धरती पर पटक अच्छी तरह मीसा। फिर आकाश की ओर उछल वे उसकी छाती पर बड़े ज़ोर से कूद पड़े ॥ २२ ॥

परिगृह्य च बाहुभ्यां परिवृत्य शिरोधराम् ।
उत्पाटयामास शिरो भैरवं नदतो महत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर अपने दोनों हाथ से उसका सिर खूब मरोड़ा। यहाँ तक कि, उसका सिर मरोड़ते मरोड़ते धड़ से अलग कर दिया। उस समय निकुम्भ बड़े ज़ोर से चिल्लाया ॥ २३ ॥

अथ विनदति सादिते निकुम्भे
पवनसुतेन रणे बभूव युद्धम् ।
दशरथसुतराक्षसेन्द्रसून्वोः
भृशतरमागतरोषयोः सुभीमम् ॥ २४ ॥

इस तरह जब हनुमान जी ने उस चिल्लाते हुए निकुम्भ को मार डाला, तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी और खरपुत्र मकराक्ष का अत्यन्त क्रोध में भर, बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ ॥ २४ ॥

व्यपेते तु जीवे निकुम्भस्य हृष्टा
निनेदुः प्लवङ्गा दिशः सस्वनुश्च ।
चचालेव चोर्वी पफालेव च द्यौः
भयं राक्षसानां बलं चाविवेश ॥ २५ ॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

निकुम्भ के मारे जाने पर वानर लोगों के आनन्दनाद से दसों दिशाएँ शब्दायमान हो उठीं, पृथिवी काँप उठी और ऐसा

आन पड़ने लगा मानों; आकाश टूट कर धरती पर गिरना ही चाहता है। (ये सब देख कर) राक्षसी सेना डर गयी ॥ २५ ॥

युद्धकाण्ड का सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❊—

अष्टसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

निकुम्भं च हतं श्रुत्वा कुम्भं च विनिपातितम् ।
रावणः परमामर्षी प्रजज्वालानलो यथा ॥ १ ॥

कुम्भ और निकुम्भ के मारे जाने का वृत्तान्त सुन, रावण अत्यन्त क्रुद्ध हो, अग्नि की तरह भभक उठा ॥ १ ॥

नैऋतः क्रोधशोकाभ्यां द्वाभ्यां तु परिमूर्छितः[1] ।
खरपुत्रं विशालाक्षं मकराक्षमचोदयत् ॥ २ ॥

रावण क्रोध और शोक से व्याप्त हो (अर्थात् क्रुद्ध और शोकान्वित हो) बड़ी बड़ी आँखों वाले खर के पुत्र मकराक्ष से बोला ॥ २ ॥

गच्छ पुत्र मयाऽऽज्ञप्तो बलेनाभिसमन्वितः ।
राघवं लक्ष्मणं चैव जहि तांश्च वनौकसः ॥ ३ ॥

बेटा ! तुम मेरा कहना मान अपने साथ सेना ले कर जाओ और राम लक्ष्मण और समस्त वानरों को मार डालो ॥ ३ ॥

---

[1] परिमूर्छितः—व्याप्तः । (गो०)

रावणस्य वचः श्रुत्वा शूरमानी खरात्मजः ।
बाढमित्यब्रवीद्धृष्टो मकराक्षो निशाचरः ॥ ४ ॥

रावण के ये वचन सुन शूर और अभिमानी खर के पुत्र मकराक्ष राक्षस ने प्रसन्न हो कहा—"बहुत अच्छा" ॥ ४ ॥

सोऽभिवाद्य दशग्रीवं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
निर्जगाम गृहाच्छुभ्राद्रावणस्याज्ञया बली ॥ ५ ॥

वह बलवान मकराक्ष रावण को प्रणाम कर तथा उसकी प्रदक्षिणा कर उसकी आज्ञानुसार उस शुभ्र (सफेद रंग के) भवन से निकला ॥ ५ ॥

समीपस्थं बलाध्यक्षं खरपुत्रोऽब्रवीदिदम् ।
रथश्चानीयतां शीघ्रं सैन्यं चाहूयतां त्वरात् ॥ ६ ॥

पास खड़े हुए सेनाध्यक्ष से खर के पुत्र मकराक्ष ने कहा—सेना को और मेरे रथ को ले आओ ॥ ६ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा बलाध्यक्षो निशाचरः ।
स्यन्दनं च बलं चैव समीपं प्रत्यपादयत् ॥ ७ ॥

प्रदक्षिणं रथं कृत्वा आरुरोह निशाचरः ।
सूतं संचोदयामास शीघ्रं मे रथमावह ॥ ८ ॥

(जब रथ आ गया तब) मकराक्ष रथ की प्रदक्षिणा कर उस पर सवार हो गया और अपने सारथी से बोला कि, मेरा रथ शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ाओ ॥ ७ ॥ ८ ॥

अथ तान्राक्षसान्सर्वान्मकराक्षोऽब्रवीदिदम् ।
यूयं सर्वे प्रयुध्यध्वं पुरस्तान्मम राक्षसाः ॥ ९ ॥

फिर मकराक्ष ने अपने साथ चलनेवाली सेना के सैनिक राक्षसों से यह कहा कि, हे राक्षसों! तुम मेरे आगे रह कर (वानरों से) लड़ना ॥ ६ ॥

अहं राक्षसराजेन रावणेन महात्मना ।
आज्ञप्तः समरे हन्तुं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ १० ॥

क्योंकि मुझे तो महाबलवान राक्षसराज रावण ने उन दोनों राजकुमार राम और लक्ष्मण से लड़ कर उनको वध करने की आज्ञा दी है ॥ १० ॥

अद्य रामं वधिष्यामि लक्ष्मणं च निशाचराः ।
शाखामृगं च सुग्रीवं वानरांश्च शरोत्तमैः ॥ ११ ॥

हे निशाचरों! मैं आज अपने पैने बाणों से राम लक्ष्मण सहित वानर सुग्रीव तथा अन्य वानरों का संहार कर डालूँगा ॥ ११ ॥

अद्य शूलनिपातैश्च वानराणां महाचमूम् ।
प्रदहिष्यामि सम्प्राप्तः शुष्केन्धनमिवानलः ॥ १२ ॥

मैं आज उस बड़ी भारी वानरी सेना में पहुँच कर उसे अपने शूल के प्रहार से उसी तरह जला कर भस्म कर डालूँगा; जिस तरह आग सूखे ईंधन को जला कर राख कर डालती है ॥ १२ ॥

मकराक्षस्य तच्छ्रुत्वा वचनं ते निशाचराः ।
सर्वे नानायुधोपेता बलवन्तः *समाहिताः ॥ १३ ॥

---

* पाठान्तरे—"समागताः ।"

मकराक्ष के इन वचनों के सुन, वे राक्षस लड़ने को तैयार हो गये। उनके हाथों में विविध प्रकार के आयुध थे और वे बड़े बलवान और सावधानतापूर्वक लड़ने वाले थे ॥ १३ ॥

ते कामरूपिणः सर्वे दंष्ट्रिणः पिङ्गलेक्षणाः ।
मातङ्गा इव नर्दन्तो ध्वस्तकेशा भयानकाः ॥ १४ ॥

वे सब के सब इच्छानुरूप अपने रूप बदलने वाले बड़े बड़े दाँतों वाले थे। उनकी आँखें पीली पीली थीं। उनके सिरों पर बाल न थे। वे बड़े भयङ्कर थे और हाथी की तरह चिंघाड़ते जाते थे ॥ १४ ॥

परिवार्य महाकाया महाकायं खरात्मजम् ।
अभिजग्मुस्ततो हृष्टाश्चालयन्तो वसुन्धराम् ॥ १५ ॥

वे विशाल शरीरधारी प्रसन्न होते हुए, विशाल वपुधारी मकराक्ष को घेर कर और पृथिवी को कँपाते हुए, चले ॥ १५ ॥

शङ्खभेरीसहस्राणामाहतानां समन्ततः ।
क्ष्वेलितास्फोटितानां च ततः शब्दो महानभूत् ॥१६॥

चारों ओर हज़ारों शङ्ख और तुरही बज रही थीं। राक्षस सिंहनाद कर ताल ठोंक रहे थे। इन सब कारणों से उस समय बड़ा शोर हुआ ॥ १६ ॥

प्रभ्रष्टोऽथ करात्तस्य प्रतोदः सारथेस्तदा ।
पपात सहसा चैव ध्वजस्तस्य च रक्षसः ॥ १७ ॥

परन्तु मकराक्ष के सारथी के हाथ से अचानक चाबुक छूट पड़ा और उसके रथ की ध्वजा ज़मीन पर गिर पड़ी ॥ १७ ॥

तस्य ते रथयुक्ताश्च हया विक्रमवर्जिताः ।
चरणैराकुलैर्गत्वा दीनाः सास्रमुखा ययुः ॥ १८ ॥

मकराक्ष के रथ में जो घोड़े जुते हुए थे, उनके शरीर में बल न रहा। वे लड़खड़ाती हुई चाल से दीन हो, आँसू टपकाते हुए चलने लगे॥ १८॥

प्रवाति पवनस्तस्मिन्सपांसुः खरदारुणः ।
निर्याणे तस्य रौद्रस्य मकराक्षस्य दुर्मतेः ॥ १९ ॥

दुष्ट बुद्धि एवं भयङ्कर मकराक्ष की यात्रा के समय धूल उड़ी और रूखी तथा भयङ्कर हवा चलने लगी॥ १९॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि राक्षसा वीर्यवत्तमाः ।
अचिन्त्य निर्गताः सर्वे यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥२०॥

इन असगुनों को देख कर भी, वे बलवान समस्त राक्षस उनकी ओर ध्यान न देते हुए, चलते चलते वहाँ जा पहुँचे जहाँ श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी थे॥ २०॥

घनगजमहिषाङ्गतुल्यवर्णाः
समरमुखेष्वसकृद्गदासिभिन्नाः ।
अहमहमिति युद्धकौशलास्ते
रजनिचराः परितः समुन्नदन्तः ॥ २१ ॥

इति अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥

उन राक्षसों के शरीर का रंग मेघों, गजों और भैंसों के शरीर के रंग की तरह काला था। उनके शरीरों पर गदा तलवार तथा

अन्य अस्त्रों के घावों की मूर्ते थीं। वे सब के सब युद्धविद्या में चतुर थे। "पहिले मैं लड़ूँगा, पहिले मैं लड़ूँगा" कह कह कर सिंहनाद करते हुए वे (समरभूमि में) चारों ओर घूमने लगे ॥ २१ ॥

युद्धकाण्ड का अठहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकोनाशीतितमः सर्गः

—:o:—

निर्गतं मकराक्षं ते दृष्ट्वा वानरयूथपाः।
आप्लुत्य सहसा सर्वे योद्धुकामा व्यवस्थिताः ॥ १ ॥

मकराक्ष को लङ्का से निकलते हुए देख, समस्त वानरयूथपति उछलते कूदते उससे लड़ने के लिये तुरन्त तैयार हो गये ॥ १ ॥

ततः प्रवृत्तं सुमहत्तद्युद्धं रोमहर्षणम्।
निशाचरैः प्लवङ्गानां देवानां दानवैरिव ॥ २ ॥

तब देवता और दानवों की तरह राक्षसों और वानरों का बड़ा भयङ्कर और रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ २ ॥

वृक्षशूलनिपातैश्च शिलापरिघपातनैः।
अन्योन्यं मर्दयन्ति स्म तदा कपिनिशाचराः ॥ ३ ॥

वे वानर और राक्षस पेड़ों, शूलों, शिलाओं और परिघों से एक दूसरे को मारने लगे ॥ ३ ॥

शक्तिखड्गगदाकुन्तैस्तोमरैश्च निशाचराः।
पट्टिशैर्भिन्दिपालैश्च निर्घातैश्च समन्ततः ॥ ४ ॥

कोई कोई राक्षस तो शक्ति, तलवार, गदा, बर्छी, तोमर, पट्टा और भिन्दिपाल से चारों ओर से वानरों पर वार कर रहे थे ॥ ४ ॥

पाशमुद्गरदण्डैश्च निखातैश्चापरे तदा ।
कदनं कपिवीराणां चक्रुस्ते रजनीचराः ॥ ५ ॥

और कोई कोई राक्षस लोग पाश, मुगदर, दण्ड और निखात (आयुध विशेष) से वानरों का वध कर रहे थे ॥ ५ ॥

बाणौघैरर्दिताश्चापि खरपुत्रेण वानराः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे दुद्रुवुर्भयपीडिताः ॥ ६ ॥

उधर मकराक्ष वानरों पर बाणों की वर्षा कर रहा था। इससे वे सब वानर घबड़ा कर और भयभीत हो भागने लगे ॥ ६ ॥

तान्दृष्ट्वा राक्षसाः सर्वे द्रवमाणान्वलीमुखान् ।
नेदुस्ते सिंहवद्धृष्टा राक्षसा जितकाशिनः ॥ ७ ॥

वे सब राक्षस वानरों को भागते देख, और अपनी जीत समझ, प्रसन्न हुए और सिंह की तरह गर्जने लगे ॥ ७ ॥

विद्रवत्सु तदा तेषु वानरेषु समन्ततः ।
रामस्तान्वारयामास शरवर्षेण राक्षसान् ॥ ८ ॥

जब वानर चारों ओर भाग खड़े हुए तब श्रीरामचन्द्र जी ने उन राक्षसों को, उन पर बाणों की वर्षा कर रोका (जो वानरों को खदेड़ रहे थे) ॥ ८ ॥

वारितान्राक्षसान्दृष्ट्वा मकराक्षो निशाचरः ।
क्रोधानलसमाविष्टो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

(बाणवर्षा द्वारा) राक्षसों का रोका जाना देख, मकराक्ष राक्षस अत्यन्त कुपित हो मन ही मन यह बोला ॥ ९ ॥

क्वासौ रामः सुदुर्बुद्धिर्येन मे निहतः पिताः ।
जनस्थानगतः पूर्वं सानुगः सपरिच्छदः ॥ १० ॥

जनस्थानवासी मेरे पिता को उसकी सेना और सगे संगातियों सहित मारने वाला दुष्टात्मा राम क्या यही है? ॥ १० ॥

अद्य गन्तास्मि वैरस्य पारं वै रजनीचराः ।
सुहृदां चैव सर्वेषां निहतानां रणाजिरे ॥ ११ ॥

हत्वा रामं सुदुर्बुद्धिं लक्ष्मणं च सवानरम् ।
तेषां शोणितनिष्यन्दैः करिष्ये सलिलक्रियाम् ॥१२॥

जो राक्षस सैनिक और मेरे सुहृद अभी तक युद्ध में मारे गये हैं, इन सब के वैर का बदला, समस्त वानरों और लक्ष्मण सहित इस अत्यन्त दुष्ट राम को मार कर और इनके शरीर से निकले हुए रक्त से (मृत राक्षसों का) तर्पण कर, मैं आज चुकाता हूँ ॥ ११ ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्युद्धे स रजनीचरः ।
व्यलोकयत तत्सर्वं बलं रामदिदृक्षया ॥ १३ ॥

यह कह कर वह महाबली मकराक्ष श्रीरामचन्द्र जी को ढूँढ़ता हुआ उस समस्त वानरी सेना को ध्यान से देखने लगा ॥ १३ ॥

आहूयमानः कपिभिर्बहुभिर्बलशालिभिः ।
युद्धाय स महातेजा रामादन्यं न चेच्छति ॥ १४ ॥

बड़े बड़े बलवान वानरों ने उसको अपने साथ लड़ने के लिये ललकारा भी ; किन्तु उस महातेजस्वी ने श्रीराम को छोड़ अन्य किसी के साथ लड़ना पसन्द ही न किया ॥ १४ ॥

मार्गमाणस्तदा रामं बलवान्रजनीचरः ।
रथेनाम्बुदघोषेण व्यचरत्तामनीकिनीम् ॥ १५ ॥

वह बलवान राक्षस श्रीरामचन्द्र को ढूँढ़ता हुआ, मेघ की तरह घरघराहट करते हुए रथ में बैठा, वानरी सेना में विचरने लगा ॥ १५ ॥

दृष्ट्वा राममदूरस्थं लक्ष्मणं च महारथम् ।
सघोषं पाणिनाहूय ततो वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

अन्त में महारथी श्रीराम और लक्ष्मण के समीप पहुँच, उसने बड़े ज़ोर से चिल्ला कर और हाथ के इशारे से श्रीराम को अपने निकट बुला कर यह कहा ॥ १६ ॥

[नोट—१० से १६ तक की संख्या के श्लोक केवल वाणीविलास प्रेस के संस्करण ही में पाये गये ।]

तिष्ठ राम मया सार्धं द्वन्द्वयुद्धं ददामि ते ।
त्याजयिष्यामि ते प्राणान्धनुर्मुक्तैः शितैः शरैः ॥१७॥

हे राम ! खड़ा रह ! मैं तेरे साथ द्वन्द्वयुद्ध करूँगा । मैं अपने धनुष से पैने पैने बाण छोड़ कर, तेरे प्राण तेरे शरीर से अलग करूँगा ॥ १७ ॥

यत्तदा दण्डकारण्ये पितरं हतवान्मम ।
मदग्रतः [1] स्वकर्मस्थं दृष्ट्वा रोषोऽभिवर्धते ॥ १८ ॥

---

१ स्वकर्मस्थं—क्षात्रधर्मकर्मानुतिष्ठन्तमित्यर्थः । (गो०)

तू दण्डकवन में मेरे पिता को मार चुका है। सो तुझको क्षात्रधर्म पालने के लिये अर्थात् लड़ने के लिये अपने सामने खड़ा देख, मेरा क्रोध भड़क रहा है ॥ १८ ॥

दह्यन्ते भृशमङ्गानि दुरात्मन्मम राघव ।
यन्मयासि न दृष्टस्त्वं तस्मिन्काले महावने ॥ १९ ॥

हे दुरात्मन् राम ! मेरे अंग मारे क्रोध के जले जा रहे हैं क्या करूँ उस समय दण्डकवन में मैं न हुआ ॥ १९ ॥

दिष्ट्याऽसि दर्शनं राम मम त्वं प्राप्तवानिह ।
काङ्क्षितोऽसि क्षुधार्तस्य सिंहस्येवेतरो मृगः ॥ २० ॥

हे राम ! मेरे सौभाग्य से आज तू मुझे देख पड़ा है। मैं चाहता भी यही था। जैसे भूखा सिंह हिरन की खोज में रहता है वैसे ही मैं भी तेरी खोज में था ॥ २० ॥

अद्य मद्बाणवेगेन प्रेतराड्विषयं गतः ।
ये त्वया निहता वीराः सह तैश्च समेष्यति ॥ २१ ॥

आज तू मेरे बाणों के आघात से प्रेतराज (यमराज) की पुरी में पहुँच कर, उन वीरों से मिलेगा; जिनको तूने मार डाला है ॥ २१ ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन शृणु राम वचो मम ।
पश्यन्तु सकला लोकास्त्वां मां चैव रणाजिरे ॥२२॥

हे राम ! इस समय बहुत कहने सुनने की आवश्यकता नहीं। आज सब लोग मेरा और तेरा युद्ध देखें ॥ २२ ॥

अस्त्रैर्वा गदया वापि बाहुभ्यां वा [1]महाहवे ।
अभ्यस्तं येन वा राम तेनैव युधि वर्तताम् ॥ २३ ॥

चाहे अस्त्र से, चाहे गदा से, चाहे हाथापाई से, जिसमें तुझे लड़ने का अभ्यास हो उसीसे लड़ ॥ २३ ॥

मकराक्षवचः श्रुत्वा रामो दशरथात्मजः ।
अब्रवीत्प्रहसन्वाक्यमुत्तरोत्तरवादिनम्[2] ॥ २४ ॥

मकराक्ष की बातें सुन दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने मुसका कर उस बकी से कहा ॥ २४ ॥

कत्थसे किं वृथा रक्षो बहून्यसदृशानि तु ।
न रणे शक्यते जेतुं विना युद्धेन वाग्बलात् ॥ २५ ॥

अरे निशाचर ! क्यों तू बहुत सी अनुचित बकबक कर रहा तू लड़े बिना युद्ध में इस बकबक के बल से तो जीत नहीं सकता ॥ २५ ॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां त्वत्पिता च यः ।
त्रिशिरा दूषणश्चैव दण्डके निहता मया ॥ २६ ॥

मैं अकेले तेरे बाप खर को, त्रिशिरा को, दूषण को और उनके साथी चौदह हज़ार राक्षसों को दण्डकवन में मार चुका ॥ २६ ॥

स्वाशितास्तव मांसेन गृध्रगोमायुवायसाः ।
भविष्यन्त्यद्य वै पाप तीक्ष्णतुण्डनखाङ्कुराः ॥२७॥

---

1 महाहवे—निमित्ते । (गो०) 2 उत्तरोत्तरवादिनम्—बहुप्रलापिन् । (गो०)

रे पापी! आज तू भी मारा जायगा और तेरे मांस से पैनी चोंचों और पैने नखों से युक्त पंजे वाले गीध, शृगाल और कौए अघा जांयगे ॥ २७ ॥

[रुधिरार्द्रमुखा हृष्टा रक्तपक्षाः खगाश्च ये ।
खे* तथा वसुधायां च भ्रमिष्यन्ति समन्ततः] ॥२८॥

लाल पंखों वाले आकाश में उड़ने वाले जो पक्षी हैं, वे अपनी चोंचों को तेरे रक्त में तर कर प्रसन्न हो, पृथिवी पर चारों ओर घूमेंगे ॥ २८ ॥

राघवेणैवमुक्तस्तु खरपुत्रो निशाचरः ।
बाणौघानमुचत्तस्मै राघवाय रणाजिरे ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर खर का बेटा मकराक्ष राक्षस समरभूमि में श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर बाणों की वर्षा करने लगा ॥ २९ ॥

ताञ्शराञ्शरवर्षेण रामश्चिच्छेद नैकधा ।
निपेतुर्भुवि ते छिन्ना रुक्मपुङ्खाः सहस्रशः ॥ ३० ॥

उसके चलाये बाणों को श्रीरामचन्द्र जी टुकड़े टुकड़े करके काटने लगे। वे सुवर्ण की फोंक लगे हज़ारों बाण कट कर भूमि पर गिरने लगे ॥ ३० ॥

तद्युद्धमभवत्तत्र समेत्यान्योन्यमोजसा ।
रक्षसः खरपुत्रस्य सूनोर्दशरथस्य च ॥ ३१ ॥

इस प्रकार से खर का पुत्र मकराक्ष और दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी की दोनों ओर से बड़े ज़ोरों की लड़ाई आरम्भ हुई ॥ ३१ ॥

---

* पाठान्तरे—"गता"।

जीमूतयोरिवाकाशे शब्दो ज्यातलयोस्तदा ।
धनुर्मुक्तः स्वनोत्कृष्टः श्रूयते च रणाजिरे ॥ ३२ ॥

उन दोनों के धनुषों के रोदे की टंकार और बाणों के छूटने का ऐसा शब्द होता था, मानों आकाश में बादल गर्ज रहे हों ॥३२॥

देवदानवगन्धर्वाः किन्नराश्च महोरगाः ।
अन्तरिक्षगताः सर्वे द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ ३३ ॥

उस अद्भुत युद्ध को देखने के लिये आकाश में देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर और महोरग जमा हो गये थे ॥ ३३ ॥

विद्धमन्योन्यगात्रेषु द्विगुणं वर्धते परम् ।
कृतप्रतिकृतान्योन्यं कुरुतां तौ रणाजिरे ॥ ३४ ॥

जैसे जैसे वे दोनों योद्धा एक दूसरे के चलाये बाणों से घायल होते थे ; वैसे ही वैसे उन दोनों का दूना दूना बल बढ़ता जाता था । वे दोनों लड़ते हुए शत्रु की मार से अपने को बचाते और शत्रु पर चोट करते थे । अथवा जब एक योद्धा दूसरे के किसी अंग विशेष में बाण मारता, तब दूसरा योद्धा भी उसके उत्तर में उसके उसी अंग को घायल करता था ॥ ३४ ॥

राममुक्तांस्तु बाणौघान्राक्षसस्त्वच्छिनद्रणे ।
रक्षोमुक्तांस्तु रामो वै नैकधा प्राच्छिनच्छरैः ॥ ३५ ॥

श्रीराम के छोड़े बाण मकराक्ष काट डालता था और मकराक्ष के छोड़े बाणों को श्रीरामचन्द्र जी टुकड़े टुकड़े कर के काट डाला करते थे ॥ ३५ ॥

बाणौघैर्विततः सर्वा दिशश्च प्रदिशस्तथा ।
संछन्ना वसुधा *द्यौश्च समन्तान्न प्रकाशते ॥ ३६ ॥

उस बाण जाल से दिशा और विदिशाएँ ढक गयीं । आकाश और पृथिवी ऐसी छिप गयी कि, किधर भी कुछ सूझ नहीं पड़ता था ॥ ३६ ॥

ततः क्रुद्धो महाबाहुर्धनुश्चिच्छेद रक्षसः ।
अष्टाभिरथ नाराचैः सूतं विव्याध राघवः ॥ ३७ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर मकराक्ष का धनुष काट डाला और आठ नाराच (तीर विशेष) चला कर मकराक्ष के रथ एवं सारथी को बेकाम कर दिया ॥ ३७ ॥

भित्त्वा शरै रथं रामो रथाश्वान्समपातयत् ।
विरथो वसुधां तिष्ठन्मकराक्षो निशाचरः ॥ ३८ ॥

रथ को तोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी ने मकराक्ष के रथ के घोड़ों को मार कर गिरा दिया । तब रथ टूट जाने पर राक्षस मकराक्ष धरती पर खड़ा हो गया ॥ ३८ ॥

तत्तिष्ठद्वसुधां रक्षः शूलं जग्राह पाणिना ।
त्रासनं सर्वभूतानां युगान्ताग्निसमप्रभम् ॥ ३९ ॥

उसने धरती पर खड़े हो कर हाथ में शूल ले लिया । वह प्रलयकालाग्नि की तरह चमचमाता था और प्राणिमात्र को डराने वाला था ॥ ३९ ॥

विभ्राम्य तु महच्छूलं प्रज्वलन्तं निशाचरः ।
स क्रोधात्प्राहिणोत्तस्मै राघवाय महाहवे ॥ ४० ॥

* पाठान्तरे—" चैव ।"

मकराक्ष ने उस विशाल और चमचमाते शूल को घुमाया और क्रोध में भर उसे श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर फेंका ॥ ४० ॥

तमापतन्तं ज्वलितं खरपुत्र कराच्च्युतम् ।
बाणैस्तु त्रिभिराकाशे शूलं चिच्छेद राघवः ॥४१॥

मकराक्ष के हाथ से छूटे हुए और चमचमाते शूल को अपने ऊपर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने आकाश ही में तीन बाण मार, उसको काट गिराया ॥ ४१ ॥

स च्छिन्नो नैकधा शूलो दिव्यहाटकमण्डितः ।
व्यशीर्यत महोल्केव रामबाणार्दितो भुवि ॥ ४२ ॥

उस दिव्य और सुवर्णभूषित शूल के कितने ही टुकड़े हो गये। श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कटा हुआ वह शूल, पृथिवी पर गिर कर, एक बड़े उल्कापिण्ड की तरह बिखर गया ॥ ४२ ॥

तच्छूलं निहतं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
साधु साध्विति भूतानि व्याहरन्ति नभोगता ॥४३॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उस शूल को कटा हुआ देख, आकाशस्थित समस्त जीव "वाह वाह" कहने लगे ॥ ४३ ॥

तं दृष्ट्वा निहतं शूलं मकराक्षो निशाचरः ।
मुष्टिमुद्यम्य काकुत्स्थं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥४४॥

राक्षस मकराक्ष अपने चलाये उस शूल को नष्ट हुआ देख, घूँसा तान कर, श्रीरामचन्द्र जी की ओर यह कहता हुआ दौड़ा कि, खड़ा रह ! खड़ा रह !! ॥ ४४ ॥

स तं दृष्ट्वा पतन्तं वै प्रहस्य रघुनन्दनः ।
पावकास्त्रं ततो रामः सन्दधे तु शरासने ॥ ४५ ॥

उसको अपने ऊपर इस प्रकार आक्रमण करते देख, श्रीरामचन्द्र जी ज़ोर से हँस पड़े और अपने धनुष पर पावकास्त्र नामक बाण चढ़ाया ॥ ४५ ॥

तेनास्त्रेण हतं रक्षः काकुत्स्थेन तदा रणे ।
संछिन्न हृदयं तत्र पपात च ममार च ॥ ४६ ॥

उस समर में श्रीरामचन्द्र जी के चलाये पावकास्त्र के लगने पर मकराक्ष का कलेजा फट गया और वह पृथिवी पर गिर कर मर गया ॥ ४६ ॥

दृष्ट्वा ते राक्षसाः सर्वे मकराक्षस्य पातनम् ।
लङ्कामेवाभ्यधावन्त रामबाणार्दितास्तदा ॥ ४७ ॥

मकराक्ष का मारा जाना देख, उसके साथी समस्त राक्षस श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से पीड़ित हो कर, लङ्का की ओर भाग गये ॥ ४७ ॥

दशरथनृपपुत्रबाणवेगै
रजनिचरं निहतं खरात्मजं तम् ।
ददृशुरथ सुरा भृशं प्रहृष्टा
गिरिमिव वज्रहतं यथा विकीर्णम् ॥ ४८

इति एकोनाशीतितमः सर्गः

महाराज दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी के बाणप्रहार से मरे हुए उस खरपुत्र मकराक्ष को, वज्र से टूटे हुए पर्वत की तरह

पृथिवी पर बिखरा पड़ा देख, देवता लोग बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ४८ ॥

युद्धकाण्ड का उनासीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

अशीतितमः सर्गः

—*—

मकराक्षं हतं श्रुत्वा रावणः समितिञ्जयः ।
क्रोधेन महताऽऽविष्टो दन्तान्कटकटापयन् ॥ १ ॥

जब समरविजयी रावण ने मकराक्ष के मारे जाने का संवाद सुना; तब वह अत्यन्त कुपित हुआ और दाँत पीसने लगा ॥ १ ॥

कुपितश्च तदा तत्र किं कार्यमिति चिन्तयन् ।
आदिदेशाथ संक्रुद्धो रणायेन्द्रजितं सुतम् ॥ २ ॥

क्रुद्ध हो वह यह सोचने लगा कि, अब क्या करना चाहिये। अन्त में उसने अत्यन्त क्रुद्ध हो, लड़ने के लिये अपने पुत्र इन्द्रजीत को आज्ञा दी ॥ २ ॥

जहि वीर महावीर्यौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
अदृश्यो दृश्यमानो वा सर्वथा त्वं बलाधिकः ॥ ३ ॥

हे वीर! छिप कर या प्रत्यक्ष होकर, जैसे बने वैसे तुम उन दोनों महाबलवान भाई राम और लक्ष्मण का वध करो। क्योंकि तुम सब प्रकार से उन दोनों से अधिक बलवान हो ॥ ३ ॥

त्वमप्रतिमकर्माणमिन्द्रं जयसि संयुगे ।
किं पुनर्मानुषौ दृष्ट्वा न वधिष्यति संयुगे ॥ ४ ॥

तुम लड़ाई में अनुपम वीरता प्रदर्शित करने वाले इन्द्र को जीत चुके हो, फिर भला उन दो मनुष्यों को क्या तुम देखते ही न मार डालोगे अथवा तुम्हारे लिये, दो मनुष्यों का मारना कौन बड़ी बात है ॥ ४ ॥

तथोक्तो राक्षसेन्द्रेण प्रतिगृह्य पितुर्वचः ।
यज्ञभूमौ स विधिवत्पावकं जुहुवेन्द्रजित् ॥ ५ ॥

इस प्रकार रावण के कहने पर इन्द्रजीत ने लड़ने के लिये जाना स्वीकार किया और यज्ञशाला में जा वह विधिवत् हवन करने लगा ॥ ५ ॥

जुह्वतश्चापि तत्राग्निं रक्तोष्णीषधराः[1] स्त्रियः ।
आजग्मुस्तत्र संभ्रान्ता[2] राक्षस्यो यत्र रावणिः ॥ ६ ॥

जब वह अग्नि में होम करने को तैयार था, तब वहाँ पर, जहाँ मेघनाद बैठा था, ऋत्विजों के लगाने के लिये लाल रंग की पगड़ियां लिये हुए और हड़बड़ाती हुई राक्षसियां आयीं ॥ ६ ॥

[नोट—ये राक्षसियाँ होम परिचारिकाएं थीं । रामाभिरामी टीकाकार ने लिखा है, " स्त्रियआजग्मुः " होमपरिचारिका इतिशेषः "]

शस्त्राणि शरपत्राणि समिधोऽथ विभीतिकाः ।
लोहितानि च वासांसि स्रुवं कार्ष्णायसं तथा ॥ ७ ॥

---

१ रक्तोष्णीषधराः—ऋत्विग्धारणार्थं रक्तोष्णीषाण्यानयन्त्य इत्यर्थः । "लोहितोष्णीषाऋत्विजः प्रचरन्ति" इतिश्रुतेः । (गो०) २ सम्भ्रान्ताः—त्वरावत्यः समयातिक्रमो मा भूदिति उष्णीषाण्यानिन्युरित्यर्थः । (गो०)

सरपतों की जगह शस्त्र थे और होम की समिधाएँ बहेड़े की लकड़ी की थीं। इस होम में (होम करने वाले के) लाल रंग के वस्त्र थे और स्रुवा लोहे का था॥ ७॥

सर्वतोऽग्निं समास्तीर्य शरपत्रैः सतोमरैः।
छागस्य कृष्णवर्णस्य गलं जग्राह जीवतः॥ ८॥
सकृदेव समिद्धस्य विधूमस्य महार्चिषः।
बभूवुस्तानि लिङ्गानि विजयं दर्शयन्ति च॥ ९॥

सरपत और तोमर बिछा कर, उनके ऊपर अग्नि स्थापित की गयी। फिर उसने काले रंग के एक जीते बकरे को गरदन से पकड़ा और उसको होम दिया। उसके होमते ही अग्नि से धुआँ का निकलना बन्द हो गया और प्रदीप्त अग्निशिखा निकलने लगी। ये सब चिन्ह विजयसूचक थे॥ ८॥ ९॥

प्रदक्षिणावर्तशिखस्तप्तहाटकसन्निभः।
हविस्तत्प्रतिजग्राह पावकः स्वयमुत्थितः॥ १०॥

दक्षिणावर्ती अग्नि की शिखा थी जो सोने के समान दमक रही थी। अग्निदेव ने स्वयं उपस्थित हो, हवि ग्रहण किया था॥ १०॥

हुत्वाऽग्निं तर्पयित्वा च देवदानवराक्षसान्।
आरुरोह रथश्रेष्ठमन्तर्धानगतं शुभम्॥ ११॥

अग्नि में हवन कर और देवता, दानवों और राक्षसों को तृप्त कर उसने छिप जाने वाला रथ पाया। उस पर वह सवार हुआ॥ ११॥

स वाजिभिश्चतुर्भिश्च बाणैश्च निशितैर्युतः।
आरोपितमहाचापः शुशुभे स्यन्दनोत्तमः॥ १२॥

उस रथ में चार घोड़े जुते हुए थे और उसमें बड़े पैने पैने बाण भरे हुए थे तथा रोदा चढ़ा चढ़ाया एक बड़ा धनुष भी रखा हुआ था और वह रथ देखने में भी बड़ा सुन्दर था ॥ १२ ॥

जाज्वल्यमानो वपुषा तपनीयपरिच्छदः ।
मृगैश्चन्द्रार्धचन्द्रैश्च सरथः समलङ्कृतः ॥ १३ ॥

वह रथ चमचमा रहा था और उसका उघार सुनहला था। उस रथ को सुन्दर बनाने अथवा सजाने के लिये जगह जगह हिरन, पूरे चन्द्रमा और आधे चन्द्रमा की मूर्त्तियाँ बनाई गई थीं ॥ १३ ॥

जाम्बूनदमहाकम्बुर्दीप्तपावकसन्निभः ।
बभूवेन्द्रजितः केतुर्वैडूर्यसमलङ्कृतः ॥ १४ ॥

इन्द्रजीत का अग्नि के समान चमचमाता सुवर्ण का शङ्ख था और ध्वजा वैदूर्य मणि से भलीभाँति अलङ्कृत थी ॥ १४ ॥

तेन चादित्यकल्पेन ब्रह्मास्त्रेण च पालितः ।
स बभूव दुराधर्षो रावणिः सुमहाबलः ॥ १५ ॥

सूर्य के समान प्रकाशित ब्रह्मास्त्र से रक्षित अत्यन्त बलवान मेघनाद दुर्धर्ष हो गया ॥ १५ ॥

सोऽभिनिर्याय नगरादिन्द्रजित्समितिञ्जयः ।
हुत्वाऽग्निं [1]राक्षसैर्मन्त्रैरन्तर्धानगतोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥

वह समरविजयी इन्द्रजीत राक्षसों के देवताओं के मंत्रों से हवन कर, नगरी से निकला और अन्तर्धान होने की शक्ति प्राप्त कर कहने लगा ॥ १६ ॥

---

१ राक्षसैः—निर्ऋतदेवताकैः । (गो०) २ अन्तर्धानगतः—अन्तर्धान-शक्तिं प्राप्तः । (गो०)

अद्य हत्वा रणे यौ तौ मिथ्या प्रव्राजितौ वने ।
जयं पित्रे प्रदास्यामि रावणाय रणार्जितम् ॥ १७ ॥

झूठमूठ वन में घूमने वाले अथवा बने हुए तपस्वी उन दोनों भाइयों को मार कर, आज मैं अपने पिता को जयलाभ कराऊँगा ॥ १७ ॥

अद्य निर्वानरामुर्वीं हत्वा रामं सलक्ष्मणम् ।
करिष्ये परमप्रीतिमित्युक्त्वाऽन्तरधीयत ॥ १८ ॥

आज मैं वानरहीन पृथिवी कर तथा रामलक्ष्मण को मार कर अपने पिता को अत्यानन्दित करूँगा। यह कह कर वह अन्तर्धान हो गया ॥ १८ ॥

आपपाताथ संक्रुद्धो दशग्रीवेण चोदितः ।
तीक्ष्णकार्मुकनाराचैस्तीक्ष्णैस्त्विन्द्ररिपू रणे ॥ १९ ॥

तदनन्तर मेघनाद, राक्षसराज रावण की प्रेरणा से क्रुद्ध हो समरभूमि में पहुँचा। इन्द्रजीत, प्रचण्ड धनुष और पैने बाणों को लेकर और भी अधिक प्रचण्ड हो गया ॥ १९ ॥

स ददर्श महावीर्यौ नागौ त्रिशिरसाविव ।
सृजन्ताविषुजालानि वीरौ वानरमध्यगौ ॥ २० ॥

इन्द्रजीत ने देखा कि, वानरों के बीच, तीन फन वाले सर्प की तरह श्रीराम और लक्ष्मण खड़े हैं (इनकी पीठ पर दो दो तरकस बँधे हुए थे, अतः मस्तकों सहित दोनों भाई तीन फन वाले सर्प जैसे देख पड़ते थे) और वे दोनों वीर राक्षसों का नाश करने के लिये बाण चला रहे हैं ॥ २० ॥

इमौ ताविति सञ्चिन्त्य सज्यं कृत्वा च कार्मुकम् ।
सन्ततानेषुधाराभिः पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ २१ ॥

उन दोनों को पहिचान कर उसने अपने धनुष पर रोदा चढ़ाया और वह उन दोनों पर वैसे ही बाणों की वर्षा करने लगा; जैसे मेघ जल की वर्षा करते हैं ॥ २१ ॥

स तु वैहायसं[1] प्राप्य सरथो रामलक्ष्मणौ ।
अचक्षुर्विषये तिष्ठन्विव्याध निशितैः शरैः ॥ २२ ॥

इन्द्रजीत आकाशचारी रथ में बैठा हुआ, अदृश्य हो, बड़े पैने बाणों से श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को घायल करने लगा ॥ २२ ॥

तौ तस्य शरवेगेन[2] परीतौ रामलक्ष्मणौ ।
धनुषी सशरे कृत्वा दिव्यमस्त्रं[3] प्रचक्रतुः ॥ २३ ॥

जब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण का सारा शरीर बाणों से विध गया, तब उन्होंने मंत्रों से अभिमंत्रित कर बाणों को धनुष पर रख छोड़ना आरम्भ किया ॥ २३ ॥

प्रच्छादयन्तौ गगनं शरजालैर्महाबलौ ।
तमस्त्रैः सूर्यसङ्काशैर्नैव पस्पृशतुः शरैः ॥ २४ ॥

यद्यपि उन दोनों महाबलवान भाइयों ने इतने बाण छोड़े कि, आकाश ढक गया; तथापि सूर्य की तरह वे अस्त्र मेघनाद के शरीर को छू तक नहीं सके ॥ २४ ॥

---

१ वैहायसंस्थः—आकाशगामीरथो यस्य सः । (रा०) २ परीतौ—व्याप्तौ । (रा०) ३ अस्त्रै—शस्त्रमन्त्राभिमंत्रितैः शरैः । (रा०)

स हि धूमान्धकारं च चक्रे प्रच्छादयन्नभः ।
दिशश्चान्तर्दधे श्रीमान्नीहारतमसावृताः ॥ २५ ॥

मायावी इन्द्रजीत ने माया के बल से धुआँ प्रकट कर आकाश अन्धकारमय कर रखा था । उस समय समस्त दिशाएँ ऐसी जान पड़ती थीं; मानों उनमें कुहरा छाया हुआ हो ॥ २५ ॥

नैवज्यातलनिर्घोषो न च नेमिखुरस्वनः ।
शुश्रुवे चरतस्तस्य न च रूपं प्रकाशते ॥ २६ ॥

न तो इन्द्रजीत की प्रत्यञ्चा का शब्द सुनाई पड़ता और न रथ के पहियों का और न घोड़ों की टाप का और न उसके घूमने फिरने ही का शब्द सुन पड़ता था और न उसकी शक्ल ही देख पड़ती थी ॥ २६ ॥

घनान्धकारे तिमिरे शिलावर्षमिवाद्भुतम् ।
स ववर्ष महाबाहुर्नाराचशरवृष्टिभिः ॥ २७ ॥

उस निविड़ अन्धकार में अद्भुत ओलों की वर्षा की तरह, वह महाबली इन्द्रजीत नाराचों और बाणों की वर्षा कर रहा था ॥ २७ ॥

स रामं सूर्यसङ्काशैः शरैर्दत्तवरो भृशम् ।
विव्याध समरे क्रुद्धः सर्वगात्रेषु रावणिः ॥ २८ ॥

इस युद्ध में मेघनाद ने क्रुद्ध हो वरदान में प्राप्त सूर्य के समान चमकते हुए बाणों से श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के शरीरों के समस्त अङ्गप्रत्यङ्ग घायल कर डाले ॥ २८ ॥

तौ हन्यमानौ नाराचैर्धाराभिरिव पर्वतौ ।
हेमपुङ्खान्नरव्याघ्रौ तिग्मान्मुमुचतुः शरान् ॥ २९ ॥

जिस तरह पहाड़ जलवृष्टि को सहते हैं, उसी तरह दोनों भाई मेघनाद के चलाये बाणों को चोट को सहन करते हुए सुवर्ण फोंको वाले पैने पैने बाण छोड़ रहे थे ॥ २९ ॥

अन्तरिक्षे समासाद्य रावणिं कङ्कपत्रिणः ।
निकृत्य पतगा भूमौ पेतुस्ते शोणितोक्षिताः ॥ ३० ॥

वे समस्त कङ्कपत्रयुक्त बाण आकाश में जा और मेघनाद के शरीर को घायल कर, रुधिर में भींगी हुई भूमि पर गिर रहे थे ॥ ३० ॥

अतिमात्रं शरौघेण पीड्यमानौ नरोत्तमौ ।
तानिषून्पततो भल्लैरनेकैर्निचकृन्ततुः ॥ ३१ ॥

बहुत से बाणों की चोट से व्यथित वे दोनों पुरुषसिंह, उन ऊपर से आते हुए बाणों को भाले के आकार के बाणों से काटते जाते थे ॥ ३१ ॥

यतो हि ददृशाते तौ शरान्निपततः शितान् ।
ततस्तु तौ दाशरथी ससृजातेऽस्त्रमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

यद्यपि श्रीराम और लक्ष्मण इन्द्रजीत को देख नहीं पाते थे, तथापि वे दोनों जन उस ओर ही पैने बाण छोड़ते थे जिस ओर से उसके बाण आते हुए देख पड़ते थे ॥ ३२ ॥

रावणिस्तु दिशः सर्वा रथेनातिरथः पतन् ।
विव्याध तौ दाशरथी लघ्वस्त्रो[1] निशितैः शरैः ॥३३॥

---

1 लघूनि—अल्पकालेन बहुदूरं प्रचलनशीलानि अस्त्राणि । (गो०)

इस पर अतिरथ इन्द्रजीत रथ में बैठा हुआ चारों ओर से घूम घूम कर श्रीराम और लक्ष्मण के छोटे किन्तु बहुत दूर जाने वाले बाण मार मार कर घायल कर रहा था ॥ ३३ ॥

तेनातिविद्धौ तौ वीरौ रुक्मपुङ्खैः सुसंहितैः[1] ।
बभूवतुर्दाशरथी पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३४ ॥

उन सुवर्ण की फोंक वाले और अच्छी तरह बने हुए बाणों की चोट से बहुत घायल होने के कारण और शरीर से रुधिर बहने के कारण; वे दोनों भाई फूले हुए दो ढाक के वृत्तों की तरह जान पड़ते थे ॥ ३४ ॥

नास्य वेद गतिं कश्चिन्न च रूपं धनुः शरान् ।
न चान्यद्विदितं किञ्चित्सूर्यस्येवाभ्रसंप्लवे ॥ ३५ ॥

मेघों में छिपे हुए सूर्य की तरह मेघनाद की चाल, उसका रूप, उसका धनुष और बाण कुछ भी तो दिखलाई नहीं पड़ता था ॥३५॥

तेन विद्धाश्च हरयो निहताश्च गतासवः ।
बभूवुः शतशस्तत्र पतिता धरणीतले ॥ ३६ ॥

उसके घायल किये सैकड़ों वानर पीड़ित होने के कारण अचेत हो, भूमि पर लोट गये ॥ ३६ ॥

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो भ्रातरं वाक्यमब्रवीत् ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम् ॥ ३७ ॥

---

१ सुसंहितैः—सुष्ठु निर्मितैः । (गो०)

तब लक्ष्मण जी ने अत्यन्त कुपित हो, श्रीरामचन्द्र जी से कहा, भाई मैं तो अब समस्त राक्षसों का संहार करने के लिये ब्रह्मास्त्र छोड़ता हूँ ॥ ३७ ॥

तमुवाच ततो रामो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
नैकस्य हेतो रक्षांसि पृथिव्यां हन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

इस पर सुन्दर लक्षणों से युक्त लक्ष्मण जी से श्रीरामचन्द्र जी बोले—एक राक्षस के पीछे पृथिवी पर के समस्त राक्षसों का नाश करना उचित नहीं ॥ ३८ ॥

अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम् ।
पलायन्तं प्रमत्तं वा नत्वं हन्तुमिहार्हसि ॥ ३९ ॥

अपने साथ न लड़ने वाले, युद्ध के डर से छिपे हुए, हाथ जोड़ शरण में आये हुए, रण छोड़ कर भागे हुए अथवा उन्मत्त को मारना उचित नहीं ॥ ३९ ॥

अस्यैव तु वधे यत्नं करिष्यावो महाबल ।
आदेक्ष्यावो महावेगानस्त्रानाशीविषोपमान् ॥ ४० ॥

हे महाबली ! अतः हम आज इसीके मारने के लिये यत्नवान होकर विषधर सर्प जैसे बाण अति वेग से छोड़ेंगे ॥ ४० ॥

तमेनं मायिनं क्षुद्रमन्तर्हितरथं बलात् ।
राक्षसं निहनिष्यन्ति दृष्ट्वा वानरयूथपाः ॥ ४१ ॥

रथ गुप्त किये हुए उस क्षुद्र एवं मायावी के सामने आने पर तो वानर ही उसे मार डालेंगे ॥ ४१ ॥

यद्येष भूमिं विशते दिवं वा
रसातलं वाऽपि नभःस्थलं वा ।
एवं निगूढोऽपि ममास्त्रदग्धः
पतिष्यते भूमितले गतासुः ॥ ४२ ॥

यह दुष्ट भूमि, स्वर्ग, रसातल, आकाशादि स्थानों में कहीं भी क्यों न छिपे, तो भी हमारे अस्त्रों से भस्म हो मरा हुआ यह पृथिवी पर अवश्य गिरेगा ॥ ४२ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
रघुप्रवीरः प्लवगर्षभैर्वृतः ।
वधाय रौद्रस्य नृशंसकर्मणः
तदा महात्मा त्वरितं निरीक्षते[1] ॥ ४३ ॥

अशीतितमः सर्गः ॥

इस प्रकार कह महात्मा श्रीरामचन्द्र वानरों सहित खड़े हुए; उस दुष्ट, मूर्ख एवं क्रूरकर्मा मेघनाद के वध का उपाय हरएक पहलू से सोचने लगे ॥ ४३ ॥

युद्धकाण्ड का अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

---

१ निरीक्षते—चिन्तयति । (गो०)

एकाशीतितमः सर्गः

—※—

विज्ञाय तु मनस्तस्य राघवस्य महात्मनः ।
सन्निवृत्त्याहवात्तस्मात्संविवेश पुरं ततः ॥ १ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र के मन की बात ताड़ कर, (अर्थात् अब तो श्रीरामचन्द्र मेरे मारने के लिये कोई न कोई अमोघ अस्त्र छोड़ेंगे) मेघनाद झटपट युद्ध बन्द कर लङ्का में घुस गया ॥ १ ॥

सोऽनुस्मृत्य वधं तेषां राक्षसानां तरस्विनाम् ।
क्रोधताम्रेक्षणः शूरो निर्जगाम महाद्युतिः ॥ २ ॥

किन्तु थोड़ी ही देर बाद उसने यह विचारा कि, रणभूमि से मेरे चले आने पर बेचारे राक्षस मार डाले जाँयगे, अतः क्रोध से लाल लाल नेत्र कर वह महाद्युतिमान शूर फिर निकला ॥ २ ॥

स पश्चिमेन द्वारेण निर्ययौ राक्षसैर्वृतः ।
इन्द्रजित्तु महावीर्यः पौलस्त्यो देवकण्टकः ॥ ३ ॥

महाबलवान रावण का पुत्र, देवताओं के लिये काँटा वह इन्द्रजीत राक्षसों को साथ लिये हुए पश्चिम द्वार से निकला ॥ ३ ॥

इन्द्रजित्तु ततो दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
रणायाभ्युद्यतौ वीरौ मायां प्रादुष्करोत्तदा ॥ ४ ॥

जब इन्द्रजीत ने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को लड़ने के लिये उद्यत देखा तब (यह समझ कि प्रत्यक्ष लड़ कर इनसे जीतना कठिन है) उसने माया रची अर्थात् एक चाल चली ॥ ४ ॥

इन्द्रजित्तु रथे स्थाप्य सीतां मायामयीं ततः ।
बलेन महताऽऽवृत्य तस्या वधमरोचयत् ॥ ५ ॥

उसने एक बनावटी सीता को रथ में बिठाया और उस रथ को राक्षसी सेना से घिरवा कर, उस बनावटी सीता को मारने के लिये वह तैयार हुआ ॥ ५ ॥

मोहनार्थं तु सर्वेषां बुद्धिं कृत्वा सुदुर्मतिः ।
हन्तुं सीतां व्यवसितो वानराभिमुखो ययौ ॥ ६ ॥

उस बड़े भारी दुष्ट ने यह कपटचाल इसलिये चली थी कि, जिससे सब की बुद्धि मोहित हो जाय। अतः वह उस मायामयी सीता का वध करने के लिये वानरों के सामने पहुँचा ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा त्वभिनिर्यान्तं नगर्याः काननौकसः ।
उत्पेतुरभिसंक्रुद्धाः शिलाहस्ता युयुत्सवः ॥ ७ ॥

उसे लङ्का के बाहिर निकला हुआ देख अथवा उसे अपने ने प्रत्यक्ष खड़ा देख, क्रोध में भर उससे लड़ने के लिये वानरगण हाथों में शिलाएँ ले ले कर कूदते हुए आगे बढ़े ॥ ७ ॥

हनुमान्पुरतस्तेषां जगाम कपिकुञ्जरः ।
प्रगृह्य सुमहच्छृङ्गं पर्वतस्य दुरासदम् ॥ ८ ॥

उन सब वानरों के आगे दुर्धर्ष हनुमान जी थे। वे एक बड़ा भारी पहाड़ का शिखर हाथ में लिये हुए थे ॥ ८ ॥

स ददर्श हतानन्दां सीतामिन्द्रजितो रथे ।
एकवेणीधरां दीनामुपवासकृशाननाम् ॥ ९ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, इन्द्रजीत के रथ पर आनन्दरहित अर्थात् उदास सीता बैठी हुई है। वह सिर के सब बाल एकत्र कर, एक जूड़ा बाँधे हुए है। उपवास करते करते उसका मुखमण्डल उतर गया है और वह दीनभाव से रथ पर बैठी हुई है ॥ ९ ॥

परिक्लिष्टैकवसनाममृजां[1] राघवप्रियाम् ।
रजोमलाभ्यामालिप्तैः सर्वगात्रैर्वरस्त्रियम् ॥ १० ॥

वह राम की प्यारी सीता केवल एक मैला कपड़ा पहिने हुए है। सुन्दरी होने पर भी उबटन न लगाने से शरीर चीकट हो रहा है और धूल और मैल सारे शरीर में चिपटा हुआ है ॥ १० ॥

तां निरीक्ष्य मुहूर्तं तु मैथिलीत्यध्यवस्य[2] तु ।
बभूवाचिरदृष्टा हि तेन सा जनकात्मजा ॥ ११ ॥

थोड़े ही दिनों पहिले हनुमान जी जानकी जी को देख चुके थे, अतः कुछ ही देर देखने से उन्होंने जान लिया कि, यह सीता है ॥ ११ ॥

तां दीनां मलदिग्धाङ्गीं रथस्थां दृश्य मैथिलीम् ।
बाष्पपर्याकुलमुखो हनुमान्व्यथितोऽभवत् ॥ १२ ॥

मैले कुचैले शरीर वाली जानकी को उदास हो रथ में बैठी हुई देख, हनुमान जी व्यथित हो गये और उनके नेत्रों से आँसू गिरने लगे, जिनसे उनका मुखमण्डल तर हो गया ॥ १२ ॥

अब्रवीत्तां तु शोकार्ता निरानन्दां तपस्विनीम् ।
सीतां रथस्थितां दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रसुताश्रिताम् ॥ १३ ॥

---

१ अमृजां—अनुद्वर्तनां । (गो०) २ अध्यवस्य—निश्चित्य । (शि०)

उस शोकविह्वला, आनन्दहीना, दुखियारी, सीता को रथ पर बैठी हुई और रावणात्मज मेघनाद के वस में पड़ी हुई देख, हनुमान जी (अपने साथी वानरों से) कहने लगे ॥ १३ ॥

किं समर्थितमस्येति चिन्तयन्स महाकपिः ।
सह तैर्वानरश्रेष्ठैरभ्यधावत रावणिम् ॥ १४ ॥

इस दुष्ट इन्द्रजीत की अब मंशा (अभिप्राय) क्या है ? उस समय वे तरह तरह की बातें विचार कर, उन श्रेष्ठ वानरों को अपने साथ ले मेघनाद के ऊपर दौड़े ॥ १४ ॥

तद्वानरबलं दृष्ट्वा रावणिः क्रोधमूर्छितः ।
कृत्वा विकोशं निस्त्रिंशं मूर्ध्नि सीतां परामृशत् ॥ १५ ॥

वानरी सेना को अपने ऊपर आक्रमण करते देख, मेघनाद क्रोध के मारे विह्वल हो गया। वह म्यान से तलवार खींच कर सीता का सिर काटने को तैयार हुआ ॥ १५ ॥

तां स्त्रियं पश्यतां तेषां ताडयामस रावणिः ।
क्रोशन्तीं राम रामेति मायया योजितां रथे ॥ १६ ॥

वानरों की आँखों के सामने ही वह हा राम ! हा राम ! कह कर चिल्लाती हुई और रथ पर बैठी हुई बनावटी सीता को मारने लगा ॥ १६ ॥

गृहीतमूर्धजां दृष्ट्वा हनुमान्दैन्यमागतः ।
शोकजं वारि नेत्राभ्यामसृजन्मारुतात्मजः ॥ १७ ॥

जब मेघनाद ने सीता का जूड़ा पकड़ा, तब तो हनुमान जी उदास हुए और पवनन्दन के दोनों नेत्रों से शोकाश्रु निकलने लगे ॥ १७ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं क्रोधाद्रक्षोधिपात्मजम् ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी भार्या उस सर्वाङ्गसुन्दरी सीता की ऐसी दुर्दशा होते देख, हनुमान जी क्रोध में भर रावणात्मज मेघनाद से कठोर वचन बोले ॥ १८ ॥

दुरात्मन्नात्मनाशाय केशपक्षे[1] परामृशः[2] ।
ब्रह्मर्षीणां कुले जातो राक्षसीं योनिमाश्रितः ॥ १९
धिक्त्वां पापसमाचारं यस्य ते मतिरीदृशी ।
नृशंसानार्य दुर्वृत्त क्षुद्र पापपराक्रम ॥ २० ॥

अरे दुष्ट ! तूने जो यह सीता की चोटी पकड़ी है, इससे तेरा सत्यानाश हो जायगा अथवा तू अपने नाश के लिये सीता की चोटी खींच रहा है । तू ब्रह्मर्षिकुल में उत्पन्न होकर भी राक्षसयोनि में उत्पन्न हुओं जैसा काम करता है । तुझको, जिसकी ऐसी बुद्धि है, धिक्कार है । अरे निर्दयी, दुष्ट, दुराचारी, अल्पबुद्धि वाले और पाप करने में बहादुरी दिखाने वाले ! ॥ १९ ॥ २० ॥

अनार्यस्येदृशं कर्म घृणा[3] ते नास्ति निर्घृण ।
च्युता गृहाच्च राज्याच्च रामहस्ताच्च मैथिली ॥ २१ ॥

अरे निर्दयी ! ऐसे असज्जनोचित्त कर्म को करने में क्या तुझे अपनी निन्दा का डर नहीं लगता ? देख, यह सीता तो अपना घर छूटने एवं राज्यरहित और श्रीराम के वियोग से वैसे ही दुःखी है ॥ २१ ॥

---

१ केशपक्षे—केशसमूहे । (गो०) २ परामृशः—अस्पृशः । ३ घृणा—जुगुप्सा । (गो०)

किं तवैषापराद्धा हि यदेनां हन्तुमिच्छसि ।
सीतां च हत्वा न चिरं जीविष्यसि कथञ्चन ॥ २२ ॥

इसने तेरा क्या बिगाड़ा है जो तू इसको मारना चाहता है। याद रख, सीता को मार कर तू भी किसी तरह भी बहुत दिनों तक जीता जागता न रह सकेगा ॥ २२ ॥

वधार्हकर्मणाऽनेन मम हस्तगतो ह्यसि ।
ये च स्त्रीघातिनां लोका लोकवध्येषु कुत्सिताः ॥२३॥

इह जीवितमुत्सृज्य प्रेत्य तान्प्रतिपत्स्यसे ।
इति ब्रुवाणो हनुमान्सायुधैर्हरिभिर्वृतः ॥ २४ ॥

हे वधार्ह (मार डालने योग्य)! तू इस काम को कर, कभी जी नहीं सकता। (क्योंकि अब तो तू मेरे दृष्टिपथ में पड़ चुका है।) हे लोकवध्य! इन चौदहों लोकों में स्त्रीघातियों को जो कुत्सित लोक प्राप्त होता है, तू उसी लोक में इस शरीर को त्याग और यातना शरीर प्राप्त कर, जायगा। हनुमान जी यह कह आयुधधारी वानरों को साथ लिये हुए ॥ २३ ॥ २४ ॥

अभ्यधावत संक्रुद्धो राक्षसेन्द्रसुतं प्रति ।
आपतन्तं महावीर्यं तदनीकं वनौकसाम् ॥ २५ ॥

क्रोध में भर इन्द्रजीत की ओर झपटे। उस महाबली वानरी सेना को अपने ऊपर आक्रमण करते देख ॥ २५ ॥

रक्षसां भीमवेगानामनीकं तु न्यवारयत् ।
स तां वाणसहस्रेण विक्षोभ्य हरिवाहिनीम् ॥ २६ ॥

अपनी भयङ्कर वेगवती राक्षसी सेना द्वारा उनको रोक दिया और वह स्वयं भी हज़ारों बाणों से वानरी सेना को क्षुब्ध कर ॥२६॥

हनूमन्तं हरिश्रेष्ठमिन्द्रजित्प्रत्युवाच ह ।
सुग्रीवस्त्वं च रामश्च यन्निमित्तमिहागताः ॥ २७ ॥

इन्द्रजीत ने कपिश्रेष्ठ हनुमान जी से कहा रामचन्द्र, सुग्रीव और तू जिसके लिये यहाँ आया है ॥ २७ ॥

तां हनिष्यामि वैदेहीमद्यैव तव पश्यतः ।
इमां हत्वा ततो रामं लक्ष्मणं त्वां च वानर ॥ २८ ॥

उस सीता का, मैं आज तेरे सामने ही वध करूँगा । हे वानर ! इसका वध करने के बाद मैं राम और लक्ष्मण का, तेरा और अन्य सब वानरों का वध करूँगा ॥ २८ ॥

सुग्रीवं च वधिष्यामि तं चानार्यं विभीषणम् ।
न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति यद्ब्रवीषि प्लवङ्गम ॥ २९ ।

मैं सुग्रीव को और उस दुर्जन विभीषण को भी जान से मारूँगा । अरे वानर ! तू जो यह कहता है कि, स्त्रीवध न करना चाहिये ॥ २९ ॥

पीडाकरममित्राणां यत्स्यात्कर्तव्यमेव तत् ।*
तमेवमुक्त्वा रुदतीं सीतां मायामयीं तदा ॥ ३० ॥

---

* किसी किसी संस्करण में यह श्लोक भी पाया जाता है

ताटकाया वधं रामः किमर्थं कृतवान्पुरा ।
तदहं हन्मि रामस्य महिषीं जनकात्मजाम् ॥

तो फिर राम ने ताटका का वध क्यों किया था इसलिये मैं राम की पटरानी सीता को मारे डालता हूँ ।

सो यही क्यों, जिस किसी काम के करने से शत्रु को पीड़ा पहुँचे, वही काम अवश्य करना चाहिये। तदनन्तर यह कह कर रोती हुई मायामयी सीता को, ॥ ३० ॥

¹शितधारेण खड्गेन निजघानेन्द्रजित्स्वयम् ।
यज्ञोपवीतमार्गेण भिन्ना तेन तपस्विनी ॥ ३१ ॥

इन्द्रजीत ने स्वयं तेज़ तलवार से काट डाला। उसने सीता के शरीर में तलवार बाएँ कंधे से दहिनी काख तक, जिस प्रकार जनेऊ पहिना जाता है, मारी ॥ ३१ ॥

सा पृथिव्यां पृथुश्रोणी पपात प्रियदर्शना ।
तामिन्द्रजित्स्वयं हत्वा हनुमन्तमुवाच ह ॥ ३२ ॥

वह बड़ी नितम्बवाली सुन्दरी सीता पृथिवी पर गिर पड़ी। इस प्रकार सीता को अपने हाथ से मार कर, इन्द्रजीत हनुमान जी से कहने लगा ॥ ३२ ॥

मया रामस्य पश्येमां प्रियां शस्त्रनिषूदिताम् ।
एषा विशस्ता वैदेही विफलो वः परिश्रमः ॥ ३३ ॥

देख, मैंने राम की प्यारी को तलवार से काट डाला। अब जब सीता ही नहीं रही; तब फिर तुम लोगों का अब परिश्रम करना व्यर्थ है ॥ ३३ ॥

ततः खड्गेन महता हत्वा तामिन्द्रजित्स्वयम् ।
हृष्टः स रथमास्थाय विननाद महास्वनम् ॥ ३४ ॥

अपने विशाल खड्ग से उस बनावटी सीता का स्वयं वध कर, इन्द्रजीत प्रसन्न हो रथ पर सवार हुआ और बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ ३४ ॥

---

१ मार्गशब्दः प्रकारवचनः । यज्ञोपवीतधारणप्रकारेण । (गो०)

वानराः शुश्रुवुः शब्दमदूरे प्रत्यवस्थिताः ।
व्यादितास्यस्य नदतस्तद्दुर्ग[1] संश्रितस्य च ॥ ३५ ॥

उसके समीप खड़े हुए वानरों ने मुख फैलाये गर्जते हुए और राक्षसी सेना के व्यूह में स्थित मेघनाद के गर्जने का शब्द सुना ॥ ३५ ॥

तथा तु सीतां विनिहत्य दुर्मतिः
प्रहृष्टचेताः स बभूव रावणिः ।
तं हृष्टरूपं समुदीक्ष्य वानरा
विषण्णरूपाः सहसा प्रदुद्रुवुः ॥ ३६ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः ॥

दुष्टमति मेघनाद (बनावटी) सीता का इस प्रकार वध कर अत्यन्त आनन्दित हुआ । उसको हर्षित देख, वानरगण अत्यन्त दुःखी हो, सहसा भाग खड़े हुए ॥ ३६ ॥

युद्धकाण्ड का एकासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

द्व्यशीतितमः सर्गः

—:०:—

श्रुत्वा तु भीमनिर्ह्रादं शक्राशनिसमस्वनम् ।
वीक्षमाणा दिशः सर्वा दुद्रुवुर्वानरर्षभाः ॥ १ ॥

इन्द्र के वज्र के शब्द के समान मेघनाद का भयङ्कर सिंहनाद सुन, चारों ओर देखते हुए वे वानरश्रेष्ठ भागने लगे ॥ १ ॥

१ दुर्ग—व्यूहीकृत राक्षस परिवेष्टन रूपं । (गो०)

तानुवाच ततः सर्वान्हनुमान्मारुतात्मजः ।
विषण्णवदनान्दीनांस्त्रस्तान्विद्रवतः पृथक् ॥ २ ॥

तब उन तितर बितर हो भागते हुए, दुःखित तथा उदासीन मुख वानरों से पवननन्दन हनुमान जी बोले ॥ २ ॥

कस्माद्विषण्णवदना विद्रवध्वे प्लवङ्गमाः ।
त्यक्तयुद्धसमुत्साहाः शूरत्वं क्व नु वो गतम् ॥ ३ ॥

हे वानरों! तुम दुखी हो क्यों भागे जाते हो? तुम तो शूर हो, फिर युद्ध को छोड़ तुम लोग कहाँ जा रहे हो अथवा तुम युद्धोत्साह क्यों त्यागते हो? तुम्हारी वह शूरता कहाँ चली गयी? ॥ ३ ॥

पृष्ठतोऽनुव्रजध्वं मामग्रतो यान्तमाहवे ।
शूरैरभिजनोपेतैरयुक्तं हि निवर्तितुम् ॥ ४ ॥

अच्छा मैं लड़ने के लिये आगे बढ़ता हूँ। तुम सब मेरे पीछे पीछे चले आओ। शूरों और कुलीनों का यह काम नहीं है, कि युद्ध से मुख मोड़ें ॥ ४ ॥

एवमुक्ताः सुसंक्रुद्धा वायुपुत्रेण वानराः ।
शैलशृङ्गाण्यगांश्चैव जगृहुर्हृष्टमानसाः ॥ ५ ॥

इस प्रकार जब पवननन्दन हनुमान जी ने उन सब को उत्साहित किया, तब उन सब वानरों ने उत्साहित हो और रोष में भर हाथों में शिलाओं और पेड़ों को ले लिया ॥ ५ ॥

अभिपेतुश्च गर्जन्तो राक्षसान्वानरर्षभाः ।
परिवार्य हनूमन्तमन्वयुश्च महाहवे ॥ ६ ॥

तदनन्तर वे समस्त वानरश्रेष्ठ हनुमान जी को घेरे हुए और गर्जते हुए उस महासमर में अग्रसर हुए ॥ ६ ॥

स तैर्वानरमुख्यैश्च हनुमानसर्वतो वृतः ।
हुताशन इवार्चिष्मानदहच्छत्रुवाहिनीम् ॥ ७ ॥

हनुमान जी प्रधान प्रधान वानरों के साथ वैसे ही शोभायमान होकर, जैसे अग्नि अपनी शिखाओं से शोभित होता है, शत्रु की सेना को भस्म करने लगे ॥ ७ ॥

स राक्षसानां कदनं चकार सुमहाकपिः ।
वृतो वानरसैन्येन कालान्तकयमोपमः ॥ ८ ॥

कालान्तक यमराज की तरह कपिश्रेष्ठ हनुमानजी ने, वानर सेना की सहायता से बहुत से, राक्षसों को मार गिराया ॥ ८ ॥

स तु कोपेन चाविष्टः शोकेन च महाकपिः ।
हनुमान्रावणिरथेऽपातयन्महतीं शिलाम् ॥ ९ ॥

हनुमान जी ने रोष में भर और शोकाकुल हो, एक बड़ी भारी शिला इन्द्रजीत के रथ के ऊपर फैंकी ॥ ९ ॥

तामापतन्तीं दृष्ट्वैव रथः सारथिना तदा ।
विधेयाश्वसमायुक्तः* सुदूरमपवाहितः ॥ १० ॥

किन्तु उस शिला को रथ के ऊपर आते देख, सारथी के सङ्केत से रथ में जुते शिक्षित घोड़े रथ को खींच कर बहुत दूर ले गये ॥ १० ॥

तमिन्द्रजितमप्राप्य रथस्थं सहसारथिम् ।
विवेश धरणीं भित्त्वा सा शिला व्यर्थमुद्यता ॥११॥

---

* पाठान्तरे—" विदूरमपवाहितः । "

अतः हनुमान जी की फेंकी हुई वह बड़ी भारी शिला सारथी सहित रथ पर सवार इन्द्रजीत के ऊपर न गिर कर और विफल होकर पृथिवी के ऊपर गिर कर धरती में समा गयी ॥ ११ ॥

पातितायां शिलायां तु रक्षसां व्यथिता चमूः ।
निपतन्त्या च शिलया राक्षसा मथिता भृशम् ॥ १२ ॥

उस शिला के गिरने से राक्षसी सेना व्यथित हुई और उसके गिरने पर उससे बहुत से राक्षस दब कर मर गये ॥ १२ ॥

तमभ्यधावञ्छतशो नदन्तः काननौकसः ।
ते द्रुमांश्च महावीर्या गिरिशृङ्गाणि चोद्यताः ॥ १३ ॥

उस समय बड़े बड़े बलवान सैकड़ों वानर पर्वतशिखरों और वृक्षों को लिये हुए और गर्जते हुए ॥ १३ ॥

क्षिपन्तीन्द्रजितः संख्ये वानरा भीमविक्रमाः ।
वृक्षशैलमहावर्षं विसृजन्तः प्लवङ्गमाः ॥ १४ ॥

इन्द्रजीत के ऊपर टूट पड़े और उन भीम विक्रमी वानरों ने मेघनाद की सेना पर शिलाओं और वृक्षों की वर्षा की ॥ १४ ॥

शत्रूणां कदनं चक्रुर्नेदुश्च विविधैः स्वरैः ।
वानरैस्तैर्महावीर्यैर्घोररूपा निशाचराः ॥ १५ ॥

विविध प्रकार से सिंहनाद करते हुए भयङ्कर आकार वाले और महाबलवान् वानरों ने भयङ्कर रूपवाले शत्रु राक्षसों का खूब नाश किया ॥ १५ ॥

वीर्यादभिहता वृक्षैर्व्यवेष्टन्त रणाजिरे ।
स्वसैन्यमभिवीक्ष्याथ वानरार्दितमिन्द्रजित् ॥ १६ ॥

उन वीर वानरों के वृक्षों के प्रहार से समरभूमि में राक्षस छटपटाने लगे। इन्द्रजीत ने अपनी सेना का इस प्रकार वानरों द्वारा नाश किया जाना देख, ॥ १६ ॥

प्रगृहीतायुधः क्रुद्धः परानभिमुखो ययौ।
स शरौघानवसृजन्स्वसैन्येनाभिसंवृतः ॥ १७ ॥

वह रोष में भर गया और अपना धनुष उठा शत्रुवानरों का सामना करने को आगे बढ़ा। वह अपनी राक्षसी सेना से घिरा हुआ, असंख्य बाण छोड़ने लगा ॥ १७ ॥

जघान कपिशार्दूलान्सुबहून्दृढविक्रमः।
शूलैरशनिभिः खड्गैः पट्टिशैः कूटमुद्गरैः ॥ १८ ॥

इस बार के युद्ध में इन्द्रजीत ने प्रधान प्रधान वानरों को शूल, वज्र, तलवार, पटा और काँटेदार मुगदरों से मारा ॥ १८ ॥

ते चाप्यनुचरास्तस्य वानराञ्जघ्नुरोजसा।
सस्कन्धविटपैः सालैः शिलाभिश्च महाबलः ॥ १९ ॥

हनुमान्कदनं चक्रे रक्षसां भीमकर्मणाम्।
स निवार्य परानीकमब्रवीत्तान्वनौकसः ॥ २० ॥

हनुमान्सन्निवर्तध्वं न नः साध्यमिदं बलम्।
त्यक्त्वा प्राणान्विचेष्टन्तो रामप्रियचिकीर्षवः ॥ २१

वानरों ने भी उसके साथी राक्षसों को मारा। महाबलवान् हनुमान जी ने भी स्कन्ध और शाखायुक्त शालवृक्ष और शिलाओं के प्रहार से क्रूरकर्मा राक्षसों का नाश किया। फिर शत्रुसैन्य को भगा कर हनुमान जी ने वानरों से कहा, चलो अब लौट चलें,

क्योंकि यह सेना हमारे मान की नहीं है। हम लोग तो अपनी जानों को हथेलियों पर रख श्रीरामचन्द्र जी का काम करते थे ॥ १६ ॥ २० ॥ २१ ॥

यन्निमित्तं हि युध्यामो हता सा जनकात्मजा।
इममर्थं हि विज्ञाप्य रामं सुग्रीवमेव च ॥ २२ ॥

किन्तु जिनके लिये हम लड़ते थे वह जनकनन्दिनी तो मारी गयी। चलो अब यह संवाद श्रीरामचन्द्र और सुग्रीव को सुनावें ॥ २२ ॥

तौ यत्प्रतिविधास्येते तत्करिष्यामहे वयम्।
इत्युक्त्वा वानरश्रेष्ठो वारयन्सर्ववानरान् ॥ २३ ॥

फिर जैसा वे कहेंगे वैसा किया जायगा। यह कह कर हनुमान जी ने समस्त वानरों को लौटाया ॥ २३ ॥

शनैः शनैरसंत्रस्तः सबलः सन्न्यवर्तत।
ततः प्रेक्ष्य हनूमन्तं व्रजन्तं यत्र राघवः ॥ २४ ॥

वे धीरे धीरे निर्भय हो सेना सहित लौट पड़े। हनुमान जी को श्रीरामचन्द्र जी के पास जाते देखे ॥ २४ ॥

स होतुकामो दुष्टात्मा गतश्चैत्यनिकुम्भिलाम्।
निकुम्भिलामधिष्ठाय पावकं जुहवेन्द्रजित् ॥ २५ ॥

वह दुष्टात्मा इन्द्रजीत होम करने के लिये निकुम्भलादेवी के मन्दिर में पहुँचा और वहाँ पहुँच वह अग्नि में होम करने लगा ॥ २५ ॥

यज्ञभूम्यां तु विधिवत्पावकस्तेन रक्षसा।
हूयमानः प्रजज्वाल मांसशोणितभुक्तदा ॥ २६ ॥

उसने विधिपूर्वक जब यज्ञशाला में जा अग्नि में हवन किया ; तब मांस और रुधिर की आहुति पा आग भभक उठी ॥ २६ ॥

सोऽर्चिःपिनद्धो ददृशे होमशोणिततर्पितः ।
सन्ध्यागत इवादित्यः सुतीव्रोऽग्निसमुत्थितः ॥ २७ ॥

ज्वाला से युक्त एवं रक्त की आहुति से तृप्त हुआ वह अग्नि, सन्ध्याकालीन सूर्य की तरह ढका हुआ सा देख पड़ने लगा ॥२७॥

अथेन्द्रजिद्राक्षसभूतये तु
जुहाव हव्यं विधिना विधानवित् ।
दृष्ट्वा व्यतिष्ठन्त च राक्षसास्ते
महासमूहेषु नयानयज्ञाः ॥ २८ ॥

इति द्व्यशीतितमः सर्गः ॥

हवन की विधि जानने वाले मेघनाद ने फिर राक्षसों व ऐश्वर्यवृद्धि के लिये विधिवत् होम किया। उसको हवन करते देख, शास्त्रीय विधि को जानने वाले राक्षस भी वहाँ खड़े रहे ॥२८॥

युद्धकाण्ड का बयासीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्र्यशीतितमः सर्गः

—:०:—

राघवश्चापि विपुलं तं राक्षसवनौकसाम् ।
श्रुत्वा संग्रामनिर्घोषं जाम्बवन्तमुवाच ह ॥ १ ॥

उस ओर श्रीरामचन्द्र जी वानरों और राक्षसों का समर का बड़ा भारी कोलाहल सुन कर जाम्बवान से बोले ॥ १ ॥

सौम्य नूनं हनुमता क्रियते कर्म दुष्करम् ।
श्रूयते हि यथा भीमः सुमहानायुधस्वनः ॥ २ ॥

हे जाम्बवान ! मैं समझता हूँ कि, हनुमान ने युद्ध में कोई बड़ा भारी कठिन कार्य किया है । क्योंकि यहाँ तक हथियारों की भयङ्कर झनकार सुन पड़ती है ॥ २ ॥

तद्गच्छ कुरु साहाय्यं स्वबलेनाभिसंवृतः ।
क्षिप्रमृक्षपते तस्य कपिश्रेष्ठस्य युध्यतः ॥ ३ ॥

अतः हे ऋक्षपते ! तुम भी अपनी सेना सहित शीघ्र जा कर हनुमान जी की सहायता करो ॥ ३ ॥

ऋक्षराजस्तथोक्तस्तु स्वेनानीकेन संवृतः ।
आगच्छत्पश्चिमं द्वारं हनुमान्यत्र वानरः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जब इस प्रकार आज्ञा दी; तब जाम्बवान बहुत अच्छा कह कर अपनी सेना लिये हुए लङ्का के पश्चिम द्वार की ओर जहाँ हनुमान जी थे चल दिये ॥ ४ ॥

अथायान्तं हनूमन्तं ददर्शर्क्षपतिः पथि ।
वानरैः कृतसंग्रामैः श्वसद्भिरभिसंवृतम् ॥ ५ ॥

जाम्बवान को रास्ते ही में हनुमान जी मिल गये । हनुमान जी के साथ जो वानरी सेना थी वह लड़ते लड़ते थक जाने के कारण हाँफ रही थी ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा पथि हनूमांश्च तदृक्षबलमुद्यतम् ।
नीलमेघनिभं भीमं सन्निवार्य न्यवर्तत ॥ ६ ॥

रास्ते में हनुमान जी ने नीले बादल की तरह भयावनी रीछों की सेना को देख उसे युद्ध करने का निषेध कर लौट चलने को कहा ॥ ६ ॥

स तेन हरिसैन्येन सन्निकर्षं महायशाः ।
शीघ्रमागम्य रामाय दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

महायशस्वी हनुमान जी रीछों व वानरों की समस्त सेना को लिये हुए तुरन्त श्रीरामचन्द्र जी के पास गये और दुःखी हो कहने लगे ॥ ७ ॥

समरे युद्ध्यमानानामस्माकं प्रेक्षतां पुरः ।
जघान रुदतीं सीतामिन्द्रजिद्रावणात्मजः ॥ ८ ॥

महाराज! समरभूमि में लड़ते समय, हम लोगों की आँखों के सामने रावण के पुत्र इन्द्रजीत ने रुदन करती हुई सीता को तलवार से मार डाला ॥ ८ ॥

उद्भ्रान्तचित्तस्तां दृष्ट्वा विषण्णोऽहमरिन्दम ।
तदहं भवतो वृत्तं विज्ञापयितुमागतः ॥ ९ ॥

हे अरिन्दम! उस कार्य को देख मेरा चित्त विकल हो गया है और मैं दुःखी हो, उस वृत्तान्त को आपकी सेवा में निवेदन करने आया हूँ ॥ ९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवः शोकमूर्छितः ।
निपपात तदा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १० ॥

हनुमान जी के मुख से सीता जी के मारे जाने का वाक्य निकलते ही, श्रीरामचन्द्र जी शोक से मूर्च्छित हो, जड़ से कटे हुए वृक्ष की तरह धरती पर गिर पड़े ॥ १० ॥

तं भूमौ देवसङ्काशं पतितं प्रेक्ष्य राघवम् ।
अभिपेतुः समुत्पत्य सर्वतः कपिसत्तमाः ॥ ११ ॥

देवतुल्य श्रीरामचन्द्र जी को धरती पर गिरते देख, प्रधान प्रधान वानर चारों ओर से उन्हें घेर कर खड़े हो गये ॥ ११ ॥

असिञ्चन्सलिलैश्चैनं पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ।
प्रदहन्तमनासाद्यं सहसाग्निमिवोच्छिखम् ॥ १२ ॥

वे कमलों के फूलों की गन्धि से सुवासित जल को उनके शरीर पर वैसे ही छिड़कने लगे, जैसे बुझने के अयोग्य अचानक भड़की हुई आग की लौ को जलद्वारा बुझाते हैं ॥ १२ ॥

तं लक्ष्मणोऽथ बाहुभ्यां परिष्वज्य सुदुःखितः ।
उवाच राममस्वस्थं वाक्यं हेत्वर्थसंयुतम् ॥ १३ ॥

अत्यन्त दुःखी हो लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र जी को दोनों भुजाओं से थाम कर गले लगा लिया और शोक से पीड़ित श्रीरामचन्द्र जी से वह युक्तियुक्त यह वचन बोले ॥ १३ ॥

शुभे वर्त्मनि तिष्ठन्तं त्वामार्य विजितेन्द्रियम् ।
अनर्थेभ्यो न शक्नोति त्रातुं धर्मो निरर्थकः ॥ १४ ॥

हे भाई ! मुझको तो धर्म केवल एक ढकोसला ही जान पड़ता है। क्योंकि आपने इन्द्रियों को जीत, राज्य के ऐश्वर्य को तृणवत् त्याग, पिता की आज्ञा पालनरूपी धर्म का अनुसरण किया। फिर भी यह धर्म ऐसे ऐसे अनर्थों से आपकी रक्षा न कर सका! ॥ १४ ॥

भूतानां स्थावराणां च जङ्गमानां च दर्शनम् ।
यथास्ति न तथा धर्मस्तेन नास्तीति मे मतिः ॥१५॥

अचल और चल पदार्थ जिस प्रकार हमको (मूर्तिमान) दिखलाई पड़ते हैं, उस प्रकार धर्म अधर्म हमको मूर्तिमान नहीं देख पड़ते। फिर फल द्वारा भी उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, अतः मेरी समझ में तो धर्म कोई चीज़ ही नहीं है ॥ १५ ॥

यथैव स्थावरं व्यक्तं जङ्गमं च तथाविधम् ।
नायमर्थस्तथा युक्तस्त्वद्विधो न विपद्यते ॥ १६ ॥

जिस प्रकार स्थावर पदार्थ हमारी आँखों के सामने मौजूद हैं वैसे ही जङ्गम भी प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं, उस प्रकार धर्म का फल प्रत्यक्ष नहीं देख पड़ता। अतएव धर्म कोई चीज़ नहीं। यदि धर्म नाम की कोई चीज़ वास्तव में होती, तो आप जैसे धर्मात्मा के ऊपर ऐसी विपत्तियाँ क्यों पड़तीं? ॥ १६ ॥

यद्यधर्मो भवेद्भूतो रावणो नरकं व्रजेत् ।
भवांश्च धर्मयुक्तो वै नैवं व्यसनमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

यदि यह नियम ठीक होता कि, अधर्म का करने वाला दुःखी और धर्म का करने वाला सुखी होता है, तो अधर्मी रावण को नरक में जाना चाहिये था और आप जैसे धर्मात्मा पर कभी कोई विपत्ति आनी ही न चाहिये थी ॥ १७ ॥

तस्य च व्यसनाभावाद्व्यसनं च गते त्वयि ।
धर्मो भवत्यधर्मश्च परस्परविरोधिनौ ॥ १८ ॥

किन्तु जब रावण को कुछ भी कष्ट नहीं (और वह सर्वथा सुखी है) और आप कष्ट ही कष्ट भोग रहे हैं, तब तो कहना

पड़ेगा कि, परस्पर विरोधी धर्म और अधर्म श्रुतिविरुद्ध फल देने वाले हैं ॥ १८ ॥

धर्मेणोपलभेद्धर्ममधर्मं चाप्यधर्मतः ।
यद्यधर्मेण युज्येयुर्येष्वधर्मं प्रतिष्ठितिः ॥ १९ ॥

यदि धर्म करने से सुख और अधर्म करने से दुःख मिलता होता, तो धर्म करने वालों को सुखी और अधर्मियों को दुःखी होना चाहिये। अतएव रावणादिकों को, जो बड़े भारी पापिष्ट हैं, दुःखी होना चाहिये था ॥ १९ ॥

यदि धर्मेण युज्येरन्न धर्मरुचयो जनः ।
धर्मेण चरतां धर्मस्तथा चैषां फलं भवेत् ॥ २० ॥

जिनमें अधर्म की रुचि का अभाव है, उनको तो कभी सुख से अलग होना ही न चाहिये। धर्माचरण में निरत रहने के कारण उनको तो सुखरूपफल की प्राप्ति अवश्य ही होनी चाहिये ॥ २० ॥

यस्मादर्था विवर्धन्ते येष्वधर्मः प्रतिष्ठितः ।
क्लिश्यन्ते धर्मशीलाश्च तस्मादेतौ निरर्थकौ ॥ २१ ॥

परन्तु ऐसा होता हुआ देख नहीं पड़ता। क्योंकि जो सोलहो आने अधर्मी हैं, उनकी बढ़ती देख पड़ती है, वे धन धान्य से भरे पूरे देख पड़ते हैं, किन्तु जो धर्मपरायण हैं, वे कष्ट भोगते हैं, अतएव धर्म अधर्म कोरा ढकोसला है ॥ २१ ॥

वध्यन्ते पापकर्माणो यद्यधर्मेण राघव ।
वधकर्महतोऽधर्मः स हतः कं वधिष्यति ॥ २२ ॥

हे राघव! यदि यह कहा जाय कि, अधर्मी अपने अधर्माचरण ही से मारे जाते हैं, तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि कोई भी

कर्म हो उसका अस्तित्व तभी तक है; जब तक वह किया जाता है। जब उस कर्म की क्रिया पूरी हो चुकी, तब वह कर्म अपने आप ही नष्ट हो जाता है। जब वह कर्म स्वयं ही नष्ट हो चुका, तब फिर वह मारेगा किसको? ॥ २२ ॥

अथवा विहितेनायं हन्यते हन्ति वा परम् ।
विधिरालिप्यते तेन न स पापेन कर्मणा ॥ २३ ॥

यदि कोई मारणादि प्रयोग से किसी दूसरे को मारता है, तो हत्यारूपीफल प्रयोग को लगना चाहिये, न कि प्रयोगकर्त्ता को। इसका सारांश यह है कि, यदि सत्कर्मों से प्रसन्न अथवा असत्कर्मों से अप्रसन्न होने वाला ईश्वर ही धर्माधर्म शब्दवाची मान लिया जाय, तो वही प्रेरक होने के कारण सुख दुःख भोगने वाला हुआ, धर्माधर्म करने वाला जीव इसके लिये उत्तरदायी नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

अदृष्टप्रतिकारेण त्वव्यक्तेनासता सता ।
कथं शक्यं परं प्राप्तुं धर्मेणारिविकर्शन ॥ २४ ॥

हे अरिविकर्शन! अपनी शक्ति से अननुभवजन्य और असत् कल्पना युक्त, अदृष्ट धर्म स्वयं जड़ है, अतः वह अपने कर्त्तव्य को अर्थात् शत्रुप्रतिकारादि कर्म को, स्वयं कुछ भी नहीं जानता। फिर उससे कल्याण या भलाई क्यों कर प्राप्त हो सकती है? ॥ २४ ॥

यदि सत्स्यात्सतां मुख्य नासत्स्यात्तव किञ्चन ।
त्वया यदीदृशं प्राप्तं तस्मात्तन्नोपपद्यते ॥ २५ ॥

यदि सचमुच धर्म होता तो आपको तिल भर भी दुःख नहीं होना चाहिये था। किन्तु यह बात नहीं हो रही। अतः जब आप

जैसे धर्मपरायण पुरुष ऐसा भारी दुःख पा रहे हैं, तब यह सिद्ध होता है कि, धर्म का अस्तित्व है ही नहीं ॥ २५ ॥

अथवा दुर्बलः क्लीबो बलं धर्मोऽनुवर्तते ।
दुर्बलो हृतमर्यादो न सेव्य इति मे मतिः ॥ २६ ॥

अथवा यदि उसका कुछ अस्तित्व है भी तो वह बड़ा दुर्बल और मन्द पुरुषार्थी है और वह अपने बलानुरूप वर्तता है। मेरी समझ में तो ऐसे दुर्बल और मर्यादाहीन का सेवन कभी करना ही न चाहिये ॥ २६ ॥

बलस्य यदि चेद्धर्मो गुणभूतः पराक्रमे ।
धर्ममुत्सृज्य वर्तस्व यथा धर्मे तथा बले ॥ २७ ॥

यदि यह माना जाय कि, धर्म तो बल ही का एक अंश है, तो अंशरूपी बल को त्याग कर अंशीरूपी बल और पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण कीजिये। क्योंकि अंश-अंशी-भाव से जैसा धर्म वैसा बल है ॥ २७ ॥

अथ चेत्सत्यवचनं धर्मः किल परन्तप ।
अनृतस्त्वय्यकरुणः किं न बद्धस्त्वया पिता ॥२८॥

हे परन्तप ! यदि सत्य-वचन-पालन ही सचमुच धर्म है, तब यह बतलाइये कि, महाराज दशरथ ने जब आपको युवराज पद देने को वचन दिया और आपने युवराज होना स्वीकार भी कर लिया, किन्तु पीछे आपने अपनी युवराज-पद-ग्रहण करने की प्रतिज्ञा को मिथ्या कर वनवास करना अंगीकार किया, तब इस मिथ्या प्रतिज्ञा के लिये आप अधर्म के भागी क्यों नहीं हुए, ॥ २८ ॥

यदि धर्मो भवेद्भतो अधर्मो वा परन्तप ।
न स्म हत्वा मुनिं वज्री कुर्यादिज्यां शतक्रतुः ॥२९॥

हे परन्तप ! धर्म और अधर्म के अस्तित्व को मान लेने पर भी राजा के लिये यह उचित नहीं कि, वह सदा इनमें से एक ही के भरोसे रहे । यदि ऐसा होता तो विश्वरूप मुनि को मार कर इन्द्र पीछे से यज्ञ क्यों करते ? ॥ २९ ॥

अधर्मसंश्रितो धर्मो विनाशयति राघव ।
सर्वमेतद्यथाकामं काकुत्स्थ कुरुते नरः ॥ ३० ॥

हे राघव ! इससे तो यह सिद्ध होता है कि, अधर्म मिला हुआ धर्म शत्रु का नाश करता है । हे काकुत्स्थ ! इसीसे लोग समय समय पर अपनी रुचि और आवश्यकतानुसार ऐसा करते भी हैं ॥ ३० ॥

मम चेदं मतं तात धर्मोऽयमिति राघव ।
धर्ममूलं त्वया छिन्नं राज्यमुत्सृजता तदा ॥ ३१ ॥

हे राघव ! हे तात ! मेरी समझ में भी वही धर्म है । आपने राज्य का त्याग नहीं किया ; बल्कि धर्म को जड़ से काट डाला । (अर्थात् धर्मक्रियाओं का आधारभूत धन है, विना धन के कोई धर्मक्रिया हो नहीं सकती । राज्यत्याग से जब धर्म के आधार-भूत धन की आय ही नष्ट हो गयी ; तब धर्म तो जड़ से कट ही गया) ॥ ३१ ॥

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ ३२ ॥

जब इधर उधर से जोड़ बटोर कर धन सम्पत्ति एकत्र की जाती है और जब वह बढ़ती है, तभी उसके द्वारा धर्म कर्म वैसे ही पैदा होते हैं (अर्थात् हो सकते हैं) जैसे पर्वत से नदियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ ३२ ॥

अर्थेन हि वियुक्तस्य पुरुषस्याल्पतेजसः ।
व्युच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे [1]कुसरितो यथा ॥३३॥

जिसके पास धन नहीं रहता, उस मनुष्य का तेज बहुत घट जाता है। उस समय उसके सभी काम वैसे ही नष्ट हो (बिगड़) जाते हैं; जैसे ग्रीष्मऋतु में थोड़े जल वाली नदियाँ सूख जाती हैं ॥ ३३ ॥

सोऽयमर्थं परित्यज्य सुखकामः सुखैधितः ।
पापमारभते कर्तुं ततो दोषः प्रवर्तते ॥ ३४ ॥

जो मनुष्य आरम्भ से सुख में पलता है, वह जब धनत्याग कर सुख चाहता है, तब (धनाभाव के कारण सुख की प्राप्ति न होने से, विवश हो उस सुख की प्राप्ति के लिये) उसे पाप करने के लिये उद्यत होना पड़ता है। तभी तरह तरह की बुराइयाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं ॥ ३४ ॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥३५॥

जिसके पास धन है, उसीके मित्र और उसीके बन्धु भी होते हैं। इस संसार में धनी पुरुष ही पुरुषार्थी माना जाता है और धनी पुरुष ही पण्डित भी समझा जाता है ॥ ३५ ॥

---

१ कुसरितः—अल्पतोयः । (गो०)

यस्यार्थाः स च विक्रान्तो यस्यार्थाः स च बुद्धिमान् ।
यस्यार्थाः स महाभागो यस्यार्थाः स महागुणः ॥३६॥

जिसके पास धन है वही पराक्रमी है, वही बुद्धिमान है। जिसके पास धन है वही बड़ा भाग्यवान् है और वही बड़ा गुणवान् है ॥ ३६ ॥

अर्थस्यैते परित्यागे दोषाः प्रव्याहृता मया ।
राज्यमुत्सृजता वीर येन बुद्धिस्त्वया कृता ॥ ३७ ॥

हे वीर! धन त्याग में जो दोष थे वे मैंने कहे। किन्तु मेरी समझ में नहीं आता कि, क्या समझ कर आपने राज्य त्याग दिया ॥ ३७ ॥

यस्यार्था धर्मकामार्थास्तस्य सर्वं प्रदक्षिणम् ।
अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विचिन्वता ॥ ३८ ॥

जिसके पास धर्म और काम के लिये धन है, उसके लिये सभी बातें अनुकूल हैं। किन्तु जो धनहीन होकर कोई काम करना चाहता है, वह कोई भी काम पूरा नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

हर्षः कामश्च दर्पश्च धर्मः क्रोधः शमो दमः ।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप ॥ ३९ ॥

हे राजन्! हर्ष, काम, दर्प, धर्म, क्रोध, शम, दम इन सब की प्रवृत्ति धन ही से होती है अर्थात् ये सब धन ही से चरितार्थ होते हैं ॥ ३९ ॥

येषां नश्यत्ययं लोकश्चरतां धर्मचारिणाम् ।
तेऽर्थास्त्वयि न दृश्यन्ते दुर्दिनेषु यथा ग्रहाः ॥४०॥

धन का अनादर कर केवल धर्माचरण में तत्पर होने वालों का सांसारिक पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है, वह धन तुम्हारे पास वैसे ही नहीं देख पड़ता, जैसे बदली में सूर्यचन्द्रादि ग्रह ॥ ४० ॥

त्वयि प्रव्राजिते वीर गुरोश्च वचने स्थिते ।
रक्षसाऽपहृता भार्या प्राणैः प्रियतरा तव ॥ ४१ ॥

हे वीर! पिता की आज्ञा मान वन में आने से तुम्हारी प्राणों भी अधिक बढ़ कर पत्नी को रावण ने हरा ॥ ४१ ॥

तदद्य विपुलं वीर दुःखमिन्द्रजिता कृतम् ।
कर्मणा व्यपनेष्यामि तस्मादुत्तिष्ठ राघव ॥ ४२ ॥

हे वीर! उससे भी बढ़ कर बहुत अधिक दुःखदायी काम इन्द्रजीत ने कर डाला है। किन्तु मैं अपने पुरुषार्थ से इस दुःख को दूर कर दूँगा। इसलिये हे राघव! अब आप उठ बैठिये ॥ ४२ ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल दीर्घबाहो दृढव्रत ।
किमात्मानं[1] महात्मान[2]मात्मानं[3] नावबुध्यसे* ॥ ४३ ॥

हे नरशार्दूल, हे महाबाहो, हे दृढव्रत आप उठें! हे महात्मन्! आप अपने सर्वप्रवर्त्तक रूप को क्यों भूले हुए हैं; अर्थात् आप सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा होकर इस प्रकार क्यों पड़े हैं ॥ ४३ ॥

अयमनघ तवोदितः प्रियार्थं
जनकसुतानिधनं निरीक्ष्य रुष्टः ।

---

१ आत्मानं—स्वं । (गो०) २. महात्मानं—महाबुद्धिं । (गो०)
३. आत्मानं—परमात्मानं । (गो०)

* हे महात्मन् सर्वप्रवर्तकं स्वस्वरूपं कुतोवानावबुध्यसे ? (शि०)

सहयगजरथां सराक्षसेन्द्रां
भृशमिषुभिर्विनिपातयामि लङ्काम् ॥ ४४ ॥

इति त्र्यशीतितमः सर्गः ॥

हे पापरहित ! सीता जी के मारे जाने का संवाद सुन और रोष में भर जाने के कारण आपकी हितकामना के उद्देश्य से मैंने यह बातें कहीं हैं। मैं रथों हाथियों और घोड़ों (की सेनाओं) रावण-प्रमुख राक्षसों सहित लङ्कापुरी को बहुत से बाणों की मार से उजाड़ दूँगा ॥ ४४ ॥

युद्धकाण्ड का तिरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुरशीतितमः सर्गः

—:०:—

राममाश्वासयाने तु लक्ष्मणे भ्रातृवत्सले।
निक्षिप्य गुल्मान्स्वस्थाने तत्रागच्छद्विभीषणः ॥ १ ॥

भ्रातृस्नेहवश हो लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी को समझा ही रहे थे कि, इतने में विभीषण सेना को मोर्चों पर अपने अपने कामों पर नियत कर वहाँ आ पहुँचे ॥ १ ॥

नाना प्रहरणैर्वीरैश्चतुर्भिः सचिवैर्वृतः।
नीलाञ्जनचयाकारैर्मातङ्गैरिव यूथपः ॥ २ ॥

जिस प्रकार हाथियों से घिरे हुए यूथपति हाथी की शोभा होती है, उसी प्रकार नीले बादलों जैसे, विविध प्रकार के आयुध-धारी चार राक्षस मंत्रियों के बीच में उनकी शोभा हो रही थी ॥२॥

सोऽभिगम्य महात्मनं राघवं[1] शोकलालसम् ।
वानरांश्चैव ददृशे बाष्पपर्याकुलेक्षणान् ॥ ३ ॥

उन्होंने वहाँ जा कर देखा कि, लक्ष्मण तो शोकग्रस्त हैं और वानर खड़े खड़े रो रहे हैं ॥ ३ ॥

राघवं च महात्मानमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ।
ददर्श मोहमापन्नं लक्ष्मणस्याङ्कमाश्रितम् ॥ ४ ॥

और इक्ष्वाकुकुलनन्दन महात्मा श्रीरामचन्द्र मूर्च्छित हो लक्ष्मण की गोद में पड़े हुए हैं ॥ ४ ॥

व्रीडितं शोकसन्तप्तं दृष्ट्वा रामं विभीषणः ।
अन्तर्दुःखेन दीनात्मा किमेतदिति सोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को लज्जित और शोकसन्तप्त देख, मन ही मन दुःखी (किन्तु प्रकट न कर) और उदास हो विभीषण बोले—यह क्या है ? ॥ ५ ॥

विभीषणमुखं दृष्ट्वा सुग्रीवं तांश्च वानरान् ।
लक्ष्मणोवाच [2]मन्दार्थमिदं बाष्पपरिप्लुतः ॥ ६ ॥

तब लक्ष्मण जी ने विभीषण, सुग्रीव तथा अन्य वानरों की ओर देख कर और आँखों में आँसू भर थोड़े शब्दों में कहा ॥ ६ ॥

हतामिन्द्रजिता सीतामिह श्रुत्वैव राघवः ।
हनुमद्वचनात्सौम्य ततो मोहमुपागतः ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! हनुमान जी के मुख से इन्द्रजीत द्वारा सीता का वध सुन कर ही श्रीरामचन्द्र जी मूर्च्छित हो गये हैं ॥ ७ ॥

---

१ राघवं—राघवपदं लक्ष्मणपरं । २ मन्दार्थं—अल्पार्थं । (गो०)

कथयन्तं तु सौमित्रिं सन्निवार्य विभीषणः ।
[1]पुष्कलार्थमिदं वाक्यं विसंज्ञं राममब्रवीत् ॥ ८ ॥

जब लक्ष्मण जी इस प्रकार से कह रहे थे तब विभीषण उनको रोक कर, (रोका इसलिये कि उन्हें असली बात मालूम हो चुकी थी) चेतनाशून्य श्रीरामचन्द्र जी से यह पक्की बातें कहने लगे ॥८॥

मनुजेन्द्रार्तरूपेण यदुक्तं च हनूमता ।
तदयुक्तमहं मन्ये सागरस्येव शोषणम् ॥ ९ ॥

हे नरेन्द्र ! दुःखी हो कर हनुमान जी ने आपसे जो बात कही है, उसे मैं उसी प्रकार अनहोनी मानता हूँ जिस प्रकार कोई कहे कि, समुद्र सूख गया ॥ ९ ॥

अभिप्रायं तु जानामि रावणस्य दुरात्मनः ।
सीतां प्रति महाबाहो न च घातं करिष्यति ॥ १० ॥

मैं उस दुष्ट रावण का जो अभिप्राय सीता के विषय में है, अच्छी तरह जानता हूँ । हे महाबाहो ! वह सीता का वध कभी न करेगा (और न वह किसी दूसरे को करने ही देगा) ॥ १० ॥

याच्यमानस्तु बहुशो मया हितचिकीर्षुणा ।
वैदेहीमुत्सृजस्वेति न च तत्कृतवान्वचः ॥ ११ ॥

क्योंकि मैंने रावण की ही भलाई के लिये बहुत प्रार्थना की कि, सीता को छोड़ दें, किन्तु उसने मेरी बात नहीं मानी ॥ ११ ॥

नैव साम्ना न दानेन न भेदेन कुतो युधा ।
सा द्रष्टुमपि शक्येत नैव चान्येन केनचित् ॥ १२ ॥

[1] पुष्कलो—दृढो । (शि०)

हे राम ! सीता को न तो कोई खुशामद बरामद से देख सकता है, न लालच दे कर ही कोई देख सकता है, न कोई वहाँ आपस में भेदभाव डाल कर ही सीता को देख सकता है और न कोई युद्ध कर के या डरा धमका कर ही सीता को देख सकता है ॥१२॥

वानरान्मोहयित्वा तु प्रतियातः स राक्षसः ।
चैत्यं निकुम्भिलां नाम यत्र होमं करिष्यति ॥ १३ ॥

(तब इन्द्रजीत ने क्यों कर सीता को मारा ? इस शङ्का का समाधान करते हुए विभीषण कहते हैं) वह वानरों को धोखा दे कर (अर्थात् बनावटी सीता का सिर काट कर) लौट गया है। वह निकुम्भला देवी के मन्दिर में बैठ कर होम करेगा। (ऐसा उसने क्यों किया ? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि लङ्का में रावण और इन्द्रजीत को छोड़, श्रीरामचन्द्र से लड़ने को अब कोई राक्षस वीर रह ही नहीं गया था) ॥ १३ ॥

हुतवानुपयातो हि देवैरपि सवासवैः ।
दुराधर्षो भवत्येव संग्रामे रावणात्मजः ॥ १४ ॥

जब वह होम करके लड़ने आता है, तब युद्ध में इन्द्रादि देवताओं से भी वह दुर्जेय हो जाता है ॥ १४ ॥

तेन मोहयता नूनमेषा माया प्रयोजिता ।
विघ्नमन्विच्छता[२] तत्र वानराणां पराक्रमे ॥ १५ ॥

उसने निश्चय ही वानरों को धोखा देने के लिये यह माया रची है। क्योंकि उसने विचारा कि, ऐसा करने से वानरों का

२ अन्विच्छता—चिन्तयता। (गो०)

पराक्रम हीन हो जायगा। (अर्थात् वानर हताश बैठ रहेंगे और मेरे हवन में विघ्न न डाल सकेंगे ॥ १५ ॥

ससैन्यास्तत्र गच्छामो यावत्तन्न समाप्यते ।
त्यजैनं नरशार्दूल मिथ्यासन्तापमागतम् ॥ १६ ॥

उसका हवन समाप्त होने के पूर्व ही ससैन्य हमको वहाँ पहुँच जाना है। हे नरशार्दूल ! आप वृथा सन्ताप मत कीजिये ॥ १६ ॥

सीदते हि बलं सर्वं दृष्ट्वा त्वां शोककर्शितम् ।
इह त्वं स्वस्थहृदयस्तिष्ठ [1]सत्वसमुच्छ्रितः ॥ १७ ॥

क्योंकि आपको दुखी देख समस्त वानरी सेना के हाथ पैर ढीले पड़ गये हैं। अतः आप तो धीरज धर और सावधान हो यहीं विराजें ॥ १७ ॥

लक्ष्मणं प्रेषयास्माभिः सह [2]सैन्यानुकर्षिभिः ।
एष तं नरशार्दूलो रावणिं निशितैः शरैः ।
त्याजयिष्यति तत्कर्म ततो वध्यो भविष्यति ॥१८॥

किन्तु वानर सेनापतियों सहित लक्ष्मण जी को हम लोगों के साथ भेज दें। यह पुरुषसिंह लक्ष्मण पैने पैने बाण चला कर उसके हवनकार्य में विघ्न डाल देंगे और वह हवनकर्म को अधूरा छोड़ जब उठ खड़ा होगा; तभी वह मारने योग्य हो जायगा ॥ १८ ॥

तस्यैते निशितास्तीक्ष्णाः पत्रिपत्राङ्गवाजिनः ।
पतत्रिण इवासौम्याः शराः पास्यन्ति शोणितम् ॥१९॥

---

१ सत्वसमुच्छ्रितः—सत्वेन धैर्यबलेन प्रवृद्धः। (शि०) २ सैन्यानुकर्षिभिः—सैन्यपालैः। (शि०)

लक्ष्मण के पैने और बड़े वेग से जाने वाले बाण, पक्षी की तरह उड़ कर, उसका रक्त पी लेंगे ॥ १९ ॥

तं सन्दिश महाबाहो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
राक्षसस्य विनाशाय वज्रं वज्रधरो यथा ॥ २० ॥

हे महाबाहो ! अतः आप शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मण जी को, इन्द्रजीत का नाश वैसे ही करने की आज्ञा दीजिये, जैसे इन्द्र अपने वज्र को दैत्यों का नाश करने की आज्ञा देते हैं ॥ २० ॥

मनुजवर न कालविप्रकर्षो
रिपुनिधनं प्रति यत्क्षमोऽद्य कर्तुम् ।
त्वमतिसृज रिपोर्वधाय वाणीम्
अमररिपोर्मथने यथा महेन्द्रः ॥ २१ ॥

हे मनुजश्रेष्ठ ! शत्रु को मारने में अब विलम्ब करना ठीक नहीं । अतः जिस प्रकार इन्द्र दैत्यों के वध के लिये वज्र को भेजते हैं, उसी प्रकार आप लक्ष्मण जी को आज्ञा दीजिये ॥ २१ ॥

समाप्तकर्मा हि स राक्षसाधिपो
भवत्यदृश्यः समरे सुरासुरैः ।
युयुत्सता तेन समाप्तकर्मणा
भवेत्सुराणामपि संशयो महान् ॥२२॥

इति चतुरशीतितमः सर्गः ॥

यदि जाने में विलम्ब हुआ और कहीं उसका हवन निर्विघ्न समाप्त हो गया ; तो फिर वह अदृश्य हो जायगा और उसे क्या

देवता और क्या असुर ; कोई भी नहीं देख पावेगा। जब वह होम पूरा कर लड़ने आता है, तब देवताओं को भी जीवित रहने में सन्देह उत्पन्न हो जाता है ॥ २२ ॥

युद्धकाण्ड का चौरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चाशीतितमः सर्गः

—:o:—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवः शोककर्शितः ।
नोपधारयते व्यक्तं यदुक्तं तेन रक्षसा ॥ १ ॥

विभीषण के इन वचनों को सुन शोक से विकल होने के कारण श्रीरामचन्द्र जी के गले में विभीषण की यह यथार्थ बातें उतरीं ॥ १ ॥

ततो धैर्यमवष्टभ्य रामः परपुरञ्जयः ।
विभीषणमुपासीनमुवाच कपिसन्निधौ ॥ २ ॥

शत्रुनाशकारी श्रीरामचन्द्र जी धीरज धारण कर वानरों के समीप बैठे हुए विभीषण से बोले ॥ २ ॥

नैर्ऋताधिपते वाक्यं यदुक्तं ते विभीषण ।
भूयस्तच्छ्रोतुमिच्छामि ब्रूहि यत्ते विवक्षितम् ॥ ३ ॥

हे राक्षसराज विभीषण ! तुमने अभी जो कुछ मुझसे कहा— उसे ज़रा फिर से तो कहो, मैं उसे पुनः सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा वाक्यं वाक्यविशारदः ।
यत्तत्पुनरिदं वाक्यं बभाषे स विभीषणः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन वाक्यविशारद विभीषण ने फिर वही कहा ; जो वह अभी अभी कह चुके थे ॥ ४ ॥

यथाज्ञप्तं महाबाहो त्वया गुल्मनिवेशनम् ।
तत्तथाऽनुष्ठितं वीर त्वद्वाक्यसमनन्तरम् ॥ ५ ॥

हे महावीर ! आपने जिस प्रकार मोरचों पर सेना नियुक्त करने की आज्ञा दी थी, उसी प्रकार मैंने सेना नियत कर दी ॥५॥

तान्यनीकानि सर्वाणि विभक्तानि समन्ततः ।
विन्यस्ता यूथपाश्चैव यथान्यायं विभागशः ॥ ६ ॥

मैंने समस्त सेना के कई दल करके उन्हें चारों ओर नियत कर दिया है। फिर उन सैन्य दलों के ऊपर अलग अलग (युद्धविद्या के नियमानुसार) यथायोग्य सेनापति भी नियुक्त कर दिये हैं ॥ ६ ॥

भूयस्तु मम विज्ञाप्यं तच्छृणुष्व महायशः ।
त्वय्यकारणसन्तप्ते सन्तप्तहृदया वयम् ॥ ७ ॥

हे महायशस्वी ! मुझे आपसे (इसके अतिरिक्त) और भी कुछ कहना है। उसे भी सुन लीजिये। आपको सन्तप्त देख, हम लोगों का हृदय भी बड़ा सन्तप्त हो रहा है ॥ ७ ॥

त्यज राजन्निमं शोकं मिथ्यासन्तापमागतम् ।
तदियं त्यज्यतां चिन्ता शत्रुहर्षविवर्धिनी ॥ ८ ॥

हे राजन्! यह आपका व्यर्थ का सन्ताप है। अतः आप इसे त्याग दें। यह आपकी चिन्ता आपके शत्रुओं का हर्ष बढ़ाने वाली है, अतः आप इसे त्याग दें॥ ८॥

उद्यमः क्रियतां वीर हर्षः समुपसेव्यताम्।
प्राप्तव्या यदि ते सीता हन्तव्याश्च निशाचराः॥९॥

हे वीर! शत्रुवध के लिये उद्योग करना चाहिये और (विषाद को त्याग कर) हर्षित हो जाना चाहिये। यदि आपको सन्... शत्रु राक्षसों को मार कर सीता का उद्धार करना है॥ ९॥

रघुनन्दन वक्ष्यामि श्रूयतां मे हितं वचः।
साध्वयं यातु सौमित्रिर्बलेन महता वृतः॥ १०॥

तो हे रघुनन्दन! जो कुछ मैं आपकी भलाई के लिये कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये। वह यह कि, लक्ष्मण जी ... बड़ी वानरों की फौज लेकर चलें॥ १०॥

निकुम्भिलायां संप्राप्य हन्तुं रावणिमाहवे।
धनुर्मण्डलनिर्मुक्तैराशीविषविषोपमैः॥ ११॥

शरैर्हन्तुं महेष्वासो रावणिं समितिञ्जयः।
तेन वीरेण तपसा वरदानात्स्वयंभुवः॥ १२॥

और निकुम्भिला देवी के स्थान पर पहुँच उसको मारें। अपने धनुष से विषधारी सर्पों की तरह फनफनाते बाणों को छोड़, समर-विजयी लक्ष्मण युद्ध में उस विशाल छाती वाले इन्द्रजीत को मारें; क्योंकि उस वीर ने घोर तपस्या द्वारा ब्रह्मा जी से वरदान में॥ ११॥ १२॥

अस्त्रं ब्रह्मशिरः प्राप्तं कामगाश्च तुरङ्गमाः ।
स एष सह सैन्येन प्राप्तः किल निकुम्भिलाम् ॥१३॥

ब्रह्मशिर नामक अस्त्र और इच्छाचारी घोड़े प्राप्त किये हैं। इस समय निश्चय ही वह अपनी सेना सहित निकुम्भिला देवी के स्थान पर है ॥ १३ ॥

यद्युत्तिष्ठेत्कृतं कर्म हतान्सर्वांश्च विद्धि नः ।
निकुम्भिलामसम्प्राप्तमहुताग्निं च यो रिपुः ॥ १४ ॥
त्वामाततायिनं हन्यादिन्द्रशत्रोः स ते वधः ।
वरो दत्तो महाबाहो सर्वलोकेश्वरेण वै ॥ १५ ॥

हे महाबाहो ! यदि कहीं वह हवन समाप्त कर उठ बैठा, तो आप हम सब को मरा हुआ ही जानिये। क्योंकि सर्वलोकेश्वर ब्रह्मा जी ने उसे वर देते समय उससे कहा था कि, हे इन्द्रशत्रो ! जिस समय तुम निकुम्भिला के स्थान में न पहुँच पाओगे, अथवा हवन समाप्त न कर सकोगे, उस समय जो शत्रु तुम्हारे ऊपर आक्रमण करेगा, वही तुमको मार सकेगा ॥ १४ ॥ १५ ॥

इत्येवं विहितो राजन्वधस्तस्यैष धीमतः ।
वधायेन्द्रजितो राम सन्दिशस्व महाबल ॥ १६ ॥

हे राजन् ! अतः उस बुद्धिमान को इसी प्रकार मारना चाहिये। अथवा इस प्रकार उसका मारा जाना निश्चित है। अतः हे राम ! महाबली लक्ष्मण को उसके मारने की आज्ञा दीजिये ॥ १६ ॥

हते तस्मिन्हतं विद्धि रावणं ससुहृज्जनम्
विभीषणवचः श्रुत्वा राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

यदि मेघनाद मार डाला गया तो समझ लीजिये रावण भी अपने सुहृदों के साथ मारा जा चुका है। विभीषण की इन बातों को सुन श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ १७ ॥

जानामि तस्य रौद्रस्य मायां सत्यपराक्रम ।
स हि ब्रह्मास्त्रवित्प्राज्ञो महामायो महाबलः ॥ १८ ॥

हे सत्यपराक्रमी! मैं उस घोर निशाचर की माया को भली भाँति जानता हूँ। वह ब्रह्मास्त्र का चलाना जानता है। वह बलवान है और बड़ा मायावी है ॥ १८ ॥

करोत्यसंज्ञां संग्रामे देवान्सवरुणानपि ।
तस्यान्तरिक्षे चरतो रथस्थस्य महायशः ॥ १९ ॥

न गतिर्ज्ञायते तस्य सूर्यस्येवाभ्रसंप्लवे ।
राघवस्तु रिपोर्ज्ञात्वा मायावीर्यं दुरात्मनः ॥ २० ॥

जब वह युद्ध करता है, तब वह सब देवताओं और वरुण तक को मूर्च्छित कर डालता है। हे महायशस्वी! जिस प्रकार मेघ के पीछे छिपे हुए सूर्य की गति नहीं जान पड़ती, वैसे ही जब वह वीर रथ पर सवार हो, आकाश में घूमता है; तब उसकी चाल का भी पता नहीं चलता। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी भी उस दुरात्मा राक्षस की माया और पराक्रम का विचार कर ॥१९॥२०॥

लक्ष्मणं कीर्तिसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ।
यद्वानरेन्द्रस्य बलं तेन सर्वेण संवृतः ॥ २१ ॥

हनुमत्प्रमुखैश्चैव यूथपैः सह लक्ष्मण ।
जाम्बवेनर्क्षपतिना सह सैन्येन संवृतः ॥ २२ ॥

कीर्तिमान लक्ष्मण जी से बोले। तुम कपिराज की समस्त सेना को तथा हनुमानादि प्रमुख यूथपतियों को और भालुओं की सेना सहित जाम्बवान को अपने साथ ले कर जाओ ॥ २१ ॥ २२ ॥

जहि तं राक्षससुतं मायाबलविशारदम् ।
अयं त्वां सचिवैः सार्धं महात्मा रजनीचरः ॥२३॥

अभिज्ञस्तस्य देशस्य पृष्ठतोऽनुगमिष्यति ।
राघवस्य वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः सविभीषणः ॥ २४ ॥

और उस मायावी रावणात्मज इन्द्रजीत को मारो। अपने चारों मन्त्रियों को लिये हुए यह महात्मा विभीषण, जो उस स्थान को (निकुम्भिला) जानते हैं, तुम्हारे पीछे पीछे जायँगे। श्रीराम-चन्द्र जी की इन बातों को सुन, लक्ष्मण जी विभीषण के साथ गये ॥ २३ ॥ २४ ॥

जग्राह कार्मुकश्रेष्ठमत्यद्भुतपराक्रमः ।
[1]सन्नद्धः कवची खड्गी सशरो वामचापधृत् ॥ २५ ॥

जाने के पहिले अद्भुत पराक्रमी लक्ष्मण ने युद्ध की सामग्री ली। एक मज़बूत धनुष तो बाएं हाथ में लिया। कवच धारण किया। कमर में तलवार बांधी और पीठ पर तीरों से भरा तरकस कसा ॥ २५ ॥

रामपादावुपस्पृश्य हृष्टः सौमित्रिरब्रवीत् ।
अद्य मत्कार्मुकोन्मुक्ताः शरा निर्भिद्य रावणिम् ॥२६॥

1—संनद्धः—गृहीतयुक्त सामग्रीकः। (शि०)

लङ्कामभिपतिष्यन्ति हंसाः पुष्करिणीमिव ।
अद्यैव तस्य रौद्रस्य शरीरं मामकाः शराः ॥२७॥

विधमिष्यन्ति भित्त्वा तं महाचापगुणच्युताः ।
स एवमुक्त्वा द्युतिमान्वचनं भ्रातुरग्रतः ॥ २८ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के चरणों को छूकर वे हर्षित हो बोले आज मेरे धनुष से छूटे हुए वाण रावणतनय इन्द्रजीत के शरीर को फोड़ कर, लङ्का में वैसे ही जा जाकर गिरेंगे ; जैसे हंस पुष्करिणी में जाते हैं। आज ही उस भयानक राक्षस के शरीर को, मेरे विशाल धनुष के रोदे से छूटे हुए वाण फोड़ कर ध्वस्त कर डालेंगे। अपने बड़े भाई से इस प्रकार के वचन कह कर, कान्तिमान ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

स रावणिवधाकाङ्क्षी लक्ष्मणस्त्वरितो ययौ ।
सोऽभिवाद्य गुरोः पादौ कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥२९॥

और इन्द्रजीत के वध करने की अभिलाषा रखने वाले लक्ष्मण जी तुरन्त चल दिये। (चलने के पूर्व) उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर, उनकी प्रदक्षिणा की ॥ २९ ॥

निकुम्भिलामभिययौ चैत्यं रावणिपालितम् ।
विभीषणेन सहितो राजपुत्रः प्रतापवान् ॥ ३० ॥

तदनन्तर प्रतापी राजकुमार लक्ष्मण, विभीषण के साथ उस निकुम्भिला के स्थान को ओर, जिसकी रक्षा इन्द्रजीत करता था, गये ॥ ३० ॥

कृतस्वस्त्ययनो भ्राता लक्ष्मणस्त्वरितो ययौ ।
वानराणां सहस्रैस्तु हनुमान्बहुभिर्वृतः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण का स्वस्त्यवाचन (वैदिक मंत्रों से मङ्गलाभिषेक किया) और वे शीघ्र चल दिये। उनके साथ कई हज़ार वानरों सहित हनुमान ॥ ३१ ॥

विभीषणश्च सामात्यस्तदा लक्ष्मणमन्वगात् ।
महता हरिसैन्येन स वेगमभिसंवृतः ॥ ३२ ॥

और अपने मंत्रियों के साथ विभीषण चले। (सारांश यह कि) अपने साथ वानरों की एक बड़ी भारी सेना ले जाते हुए लक्ष्मण जी ने ॥ ३२ ॥

ऋक्षराजबलं चैव ददर्श पथि विष्ठितम्[1] ।
स गत्वा दूरमध्वानं सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ॥ ३३ ॥

रास्ते में तैयार खड़ी जाम्बवान की सेना को भी देखा। शत्रु को सन्तापित करने वाले लक्ष्मण जी ने बहुत दूर जाने के बाद ॥३३॥

राक्षसेन्द्रबलं दूरादपश्यद्व्यूहमस्थितम् ।
स तं प्राप्य धनुष्पाणिर्मायायोगमरिन्दमः ।
तस्थौ ब्रह्मविधानेन[3] विजेतुं रघुनन्दनः ॥ ३४ ॥

विभीषणेन सहितो राजपुत्रः प्रतापवान् ।
अङ्गदेन च वीरेण तथानिलसुतेन च ॥ ३५ ॥

---

१ विष्ठितम्—संस्थितम्। (शि०) २ मायायोगं—मायारूपोपायं। (गो०)
३ ब्रह्म विधानेन—ब्रह्मवरदानप्रकारेण। (गो०)

दूर ही से इन्द्रजीत को, अपनी सेना का व्यूह बनाये खड़ा हुआ देखा। फिर शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी उसे देख और हाथ में धनुष ले, ब्रह्मा के वरदानानुसार मायारूपी उपाय से वध करने के लिये वहीं खड़े हुए ठहरे रहे। प्रतापी राजकुमार लक्ष्मण के साथ महावीर, अङ्गद, पवननन्दन हनुमान और राक्षसराज विभीषण भी ठहर गये ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

विविधममलशस्त्रभास्वरं
तद्ध्वजगहनं विपुलं महारथैश्च ।
[1]प्रतिभयतममप्रमेयवेगं
तिमिरमिव द्विषतां बलं विवेश ॥ ३६ ॥

इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

राक्षसों की सेना विविध प्रकार के चमचमाते शस्त्र लिये हुए शोभायमान हो रही थी। वह सेना रथों और ध्वजदण्डों से बहुल बड़ी और दुर्गम हो रही थी। उसका बड़ा ही भयङ्कर वेग था। लोग जिस प्रकार निविड़ अन्धकार में घुसते हैं, उसी प्रकार महावीर लक्ष्मण जी ने उस सेना में प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

युद्धकाण्ड का पचासीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

१ प्रतिभयतमं—अतिशयेन भयङ्करं। (गो०)

षडशीतितमः सर्गः

—※—

अथ तस्यामवस्थायां लक्ष्मणं रावणानुजः ।
परेषामहितं वाक्यमर्थसाधकमब्रवीत् ॥ १ ॥

जिस समय लक्ष्मण जी ने शत्रुसैन्य में प्रवेश किया, उस समय विभीषण ने लक्ष्मण जी से कुछ ऐसी बातें कहीं, जो शत्रुपक्ष के लिये अहित कर और अपने पक्ष के लिये हितकर थीं ॥ १ ॥

यदेतद्राक्षसानीकं मेघश्यामं विलोक्यते ।
एतदायोध्यतां शीघ्रं कपिभिः पादपायुधैः ॥ २ ॥

मेघ के समान काली यह जो राक्षसी सेना देख पड़ती है इसके साथ वानरों को पेड़ ले लेकर शीघ्र भिड़ जाना चाहिये ॥२॥

अस्यानीकस्य महतो भेदने यत लक्ष्मण ।
राक्षसेन्द्रसुतोऽप्यत्र भिन्ने दृश्यो भविष्यति ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम भी इसीको तितर बितर करने का यत्न करो। जब यह सेना तितर बितर हो जायगी; तभी इन्द्रजीत तुमको दिखलाई पड़ेगा ॥ ३ ॥

स त्वमिन्द्राशनिप्रख्यैः शरैरवकिरन्परान् ।
अभिद्रवाशु यावद्वै नैतत्कर्म समाप्यते ॥ ४ ॥

तुम इन्द्र के वज्र के समान और सूर्य की किरणों की तरह चमचमाते तीरों से मार कर इस सेना को, इन्द्रजीत का होम पूर्ण होने के पूर्व ही, शीघ्र तितर बितर कर डालो ॥ ४ ॥

जहि वीर दुरात्मानं मायापरमधार्मिकम् ।
रावणिं क्रूरकर्माणं सर्वलोकभयावहम् ॥ ५ ॥

हे वीर! इस दुरात्मा, मायावी, परम अधार्मिक, निष्ठुर कर्म करने वाले और समस्त लोकों को भय देने वाले इन्द्रजीत को मारो ॥ ५ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
ववर्ष शरवर्षाणि राक्षसेन्द्रसुतं प्रति ॥ ६ ॥

शुभ लक्षणयुक्त अङ्गों से युक्त लक्ष्मण जी ने विभीषण के वचन सुन कर, इन्द्रजीत की ओर बाणों की वर्षा करनी आरम्भ की ॥६॥

ऋक्षाः शाखामृगाश्चापि द्रुमाद्रिनखयोधिनः ।
अभ्यधावन्त सहितास्तदनीकमवस्थितम् ॥ ७ ॥

साथ ही पेड़ों, पत्थरों और नखों से लड़ने वाले रीछों और वानरों ने उस खड़ी हुई राक्षसी सेना पर धावा किया ॥ ७ ॥

राक्षसाश्च शितैर्बाणैरसिभिः शक्तितोमरैः ।
उद्यतैः समवर्तन्त कपिसैन्यजिघांसवः ॥ ८ ॥

तब राक्षसों ने भी पैने बाणों, तलवारों, शक्तियों और तोमरों से वानरी सेना को नष्ट करने की अभिलाषा से शत्रुसैन्य का सामना किया ॥ ८ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः संजज्ञे कपिरक्षसाम् ।
शब्देन महता लङ्कां नादयन्वै समन्ततः ॥ ९ ॥

अब वानरों और राक्षसों का ऐसा घोर समर आरम्भ हुआ कि, इस युद्ध का कोलाहल लङ्कापुरी में चारों ओर व्याप्त हो गया ॥९॥

शस्त्रैश्च बहुधाकारैः शितैर्बाणैश्च पादपैः ।
उद्यतैर्गिरिशृङ्गैश्च घोरैराकाशमावृतम् ॥ १० ॥

तरह तरह के शस्त्रों, पैने पैने तीरों, बड़े बड़े वृक्षों और पर्वत-शृङ्गों से आकाशमण्डल ढक गया ॥ १० ॥

ते राक्षसा वानरेषु विकृताननबाहवः ।
निवेशयन्तः शस्त्राणि चक्रुस्ते सुमहद्भयम् ॥ ११ ॥

विकटाकार मुखवाले राक्षस, वानरश्रेष्ठों के शरीरों में शस्त्रों का प्रहार कर, उनको दारुणभय उपजाने लगे—अर्थात् डराने लगे ॥११॥

तथैव सकलैर्वृक्षैर्गिरिशृङ्गैश्च वानराः ।
अभिजघ्नुर्निजघ्नुश्च समरे राक्षसर्षभान् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार वानर भी उस समर में उन सब वृक्षों और पर्वत-शिखरों के प्रहार से, उन प्रधान राक्षसों को, जो उनको मार रहे थे, मारने लगे ॥ १२ ॥

ऋक्षवानरमुख्यैश्च महाकायैर्महाबलैः ।
रक्षसां वध्यमानानां महद्भयमजायत ॥ १३ ॥

जब बड़े बड़े शरीरधारी एवं महाबली प्रधान प्रधान रीछों और वानरों ने राक्षसों का वध करना आरम्भ किया तब राक्षस भी बहुत डरे ॥ १३ ॥

स्वमनीकं विषण्णं तु श्रुत्वा शत्रुभिरर्दितम् ।
उदतिष्ठत दुर्धर्षस्तत्कर्मण्यननुष्ठिते ॥ १४ ॥

जब मेघनाद ने वानरों द्वारा अपनी सेना का ध्वस्त होना सुना, तब वह दुर्धर्ष उस हवनकर्म को अधूरा ही छोड़ उठ खड़ा हुआ ॥ १४ ॥

वृक्षान्धकारान्निर्गत्य जातक्रोधः स रावणिः ।
आरुरोह रथं सज्जं पूर्वयुक्तं स राक्षसः ॥ १५ ॥

क्रोध में भरा हुआ इन्द्रजीत वृक्षों की झुरमुट से बाहिर निकला और पहिले से अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित और जुते हुए रथ पर सवार हुआ ॥ १५ ॥

स भीमकार्मुकधरः कालमेघसमप्रभः ।
रक्तास्यनयनः क्रुद्धो बभौ मृत्युरिवान्तकः ॥ १६ ॥

उस समय वह बड़ा भयानक धनुष हाथ में लिये हुए, प्रलयकालीन मेघ की तरह और क्रोध में भर लाल लाल आँखें किये हुए दूसरे संहारकारी मृत्यु जैसा जान पड़ता था ॥ १६ ॥

दृष्ट्वैव तु रथस्थं तं [1]पर्यवर्तत तद्बलम् ।
रक्षसां भीमवेगानां लक्ष्मणेन युयुत्सताम् ॥ १७ ॥

मेघनाद को रथ पर सवार हुआ देख, लक्ष्मण के साथ लड़ती हुई भयङ्कर वेगवाली राक्षसी सेना मेघनाद के रथ के चारों ओर हो गयी अर्थात् मेघनाद की रक्षा के लिये उसके रथ को घेर लिया ॥ १७ ॥

तस्मिन्काले तु हनुमानुद्यम्य सुदुरासदम् ।
धरणीधरसङ्काशो महावृक्षमरिन्दमः ॥ १८ ॥

उस समय शत्रुहन्ता एवं पर्वत के समान शरीरधारी हनुमान जी एक बड़ा भारी अत्यन्त दुर्धर्ष पेड़ उखाड़ कर ॥ १८ ॥

---

१ पर्यवर्तत—परितोतिष्ठत् । (गो०)

स राक्षसानां तत्सैन्यं कालाग्निरिव निर्दहन् ।
चकारबहुभिर्वृक्षैर्निःसंज्ञं युधि वानरः ॥ १९ ॥

उस राक्षसी सेना को कालाग्नि की तरह जलाते हुए उस समर में बहुत से वृक्षों के प्रहार से मूर्छित करने लगे ॥ १९ ॥

विध्वंसयन्तं तरसा दृष्ट्वैव पवनात्मजम् ।
राक्षसानां सहस्राणि हनुमन्तमवाकिरन् ॥ २० ॥

पवननन्दन हनुमान जी को राक्षसी सेना का इस प्रकार नाश करते देख, हज़ारों राक्षस मिल कर हनुमान जी के ऊपर आक्रमण करने लगे ॥ २० ॥

शितशूलधराः शूलैरसिभिश्चासिपाणयः ।
शक्तिभिः शक्तिहस्ताश्च पट्टिशैः पट्टिशायुधाः ॥ २१ ॥

पैने पैने शूलों को धारण करने वाले राक्षस शूलों से, तलवारधारी राक्षस तलवारों से, शक्तिधारी राक्षस शक्तियों से, पटाधारी राक्षस पटों से ॥ २१ ॥

परिघैश्च गदाभिश्च चक्रैश्च शुभदर्शनैः ।
शतशश्च शतघ्नीभिरायसैरपि मुद्गरैः ॥ २२ ॥

तथा अन्य राक्षस परिघ, गदा और पैने पैने चक्रों से, सैकड़ों तोपों से और लोहे के मुगदरों से ॥ २२ ॥

घोरैः परश्वधैश्चैव भिन्दिपालैश्च राक्षसाः ।
मुष्टिभिर्वज्रकल्पैश्च तलैरशनिसन्निभैः ॥ २३ ॥

भयङ्कर फरसों से, भिन्दिपालों से, वज्र के समान घूँसों से, बिजली के समान चपेटों से ॥ २३ ॥

अभिजघ्नुः समासाद्य समन्तात्पर्वतोपमम् ।
तेषामपि च संक्रुद्धश्चकारकदनं महत् ॥ २४ ॥

पर्वत के समान विशाल शरीरधारी हनुमान जी के ऊपर, उन्हें चारों ओर से घेर कर प्रहार करने लगे। हनुमान जी भी अत्यन्त क्रोध में भर उन राक्षसों का भली भाँति संहार करने लगे ॥ २४ ॥

स ददर्श कपिश्रेष्ठमचलोपममिन्द्रजित् ।
सूदयन्तममित्रघ्नममित्रान्पवनात्मजम् ॥ २५ ॥

इन्द्रजीत ने देखा कि, पर्वताकार शत्रुदमनकारी पवननन्दन हनुमान तो अपने समस्त शत्रुओं का अर्थात् राक्षसों का नाश ही किये डालता है ॥ २५ ॥

स सारथिमुवाचेदं याहि यत्रैष वानरः ।
क्षयमेष हि नः कुर्याद्राक्षसानामुपेक्षितः ॥ २६ ॥

तब उसने अपने सारथि को आज्ञा दी कि, मेरा रथ वहाँ ले चलो जहाँ वानर राक्षसों का नाश कर रहे हैं। यदि थोड़ी देर और मैं उसकी उपेक्षा करूँगा, तो वह मेरे सब राक्षसों को मार डालेगा ॥ २६ ॥

इत्युक्तः सारथिस्तेन ययौ यत्र स मारुतिः ।
वहन्परमदुर्धर्षं स्थितमिन्द्रजितं रथे ॥ २७ ॥

इन्द्रजीत के यह कहते ही सारथि ने वह रथ, जिसमें परमदुर्धर्ष इन्द्रजीत बैठा हुआ था, हाँक कर वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ हनुमान जी लड़ रहे थे ॥ २७ ॥

सोऽभ्युपेत्य शरान्खड्गान्पट्टिशांश्च परश्वधान् ।
अभ्यवर्षत दुर्धर्षः कपिमूर्ध्नि स राक्षसः ॥ २८ ॥

वहाँ पहुँच कर उस दुर्धर्ष राक्षस इन्द्रजीत ने हनुमान जी के सिर पर तलवार, पट्टों, फरसों और वाणों की वर्षा की ॥ २८ ॥

तानि शस्त्राणि घोराणि प्रतिगृह्य स मारुतिः ।
रोषेण महताऽऽविष्टो वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ २९ ॥

हनुमान जी उसके उन भयङ्कर शस्त्रों के प्रहार को सह कर और अत्यन्त रोष में भर उससे यह बोले ॥ २९ ॥

युध्यस्व यदि शूरोऽसि रावणात्मज दुर्मते ।
वायुपुत्रं समासाद्य जीवन्न प्रतियास्यसि ॥ ३० ॥

अरे दुर्बुद्धी रावण के पुत्र ! अगर वहादुरी का कुछ दावा हो तो आ लड़ । अब तू पवननन्दन के सामने पड़ कर जीता हुआ लौट कर नहीं जाने पावेगा ॥ ३० ॥

बाहुभ्यां प्रतियुध्यस्व यदि मे द्वन्द्वमाहवे ।
वेगं सहस्व दुर्बुद्धे ततस्त्वं रक्षसां वरः ॥ ३१ ॥

यदि तेरे शरीर में बल हो तो आ कर मुझसे कुश्ती लड़ । यदि तू मेरे बल को सह गया तो मैं तुझे बड़ा बलवान राक्षस समझूँगा ॥ ३१ ॥

हनुमन्तं जिघांसन्तं समुद्यतशरासनम् ।
रावणात्मजमाचष्टे लक्ष्मणाय विभीषणः ॥ ३२ ॥
यः स वासवनिर्जेता रावणस्यात्मसम्भवः ।
स एष रथमास्थाय हनुमन्तं जिघांसति ॥ ३३ ॥

हनुमान को मारने के लिये इन्द्रजीत को धनुष उठाये देख कर, लक्ष्मण से विभीषण बोले—हे लक्ष्मण ! देखो, जिस रावणपुत्र ने इन्द्र को परास्त किया है; वही रथ में चढ़ा हुआ, हनुमान को मारना चाहता है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

[1]तमप्रतिमसंस्थानैः शरैः शत्रुविदारणैः ।
जीवितान्तकरैर्घोरैः सौमित्रे रावणिं जहि ॥ ३४ ॥

अतः हे लक्ष्मण ! अब तुम कनैर वृक्ष के पत्तों के आकार वाले, शत्रुविदीर्णकारी और शत्रुनाशकारी भयङ्कर बाणों से इन्द्रजीत का वध करो ॥ ३४ ॥

इत्येवमुक्तस्तु तदा महात्मा
विभीषणेनारिविभीषणेन ।
ददर्श तं पर्वतसन्निकाशं
रणे स्थितं भीमबलं नदन्तम् ॥ ३५ ॥

इति षडशीतितमः सर्गः ॥

जब शत्रु को भयभीत करने वाले विभीषण ने लक्ष्मण जी से यह कहा; तब उन्होंने पर्वत की तरह विशाल शरीरधारी महा बलवान इन्द्रजीत को समरभूमि में रथ में बैठ कर, सिंहनाद करते हुए देखा ॥ ३५ ॥

युद्धकाण्ड का छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ अप्रतिम संस्थानैः—करवीरपत्राद्याकारैः । (गो०)

सप्ताशीतितमः सर्गः

—※—

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं जातहर्षो विभीषणः ।
धनुष्पाणिनमादाय त्वरमाणो जगाम ह ॥ १ ॥

तदनन्तर हर्षित होकर विभीषण जी धनुषधारी लक्ष्मण जी को लिये हुए अति शीघ्रता से आगे बढ़े ॥ १ ॥

अविदूरं ततो गत्वा प्रविश्य च महद्वनम् ।
दर्शयामास [1]तत्कर्म लक्ष्मणाय विभीषणः ॥ २ ॥

थोड़ी ही दूर चल कर विभीषण ने उस वन में घुस कर लक्ष्मण को, मेघनाद के होमकर्म करने का स्थान दिखलाया ॥ २ ॥

नीलजीमूतसङ्काशं न्यग्रोधं भीमदर्शनम् ।
तेजस्वी रावणभ्राता लक्ष्मणाय न्यवेदयत् ॥ ३ ॥

उस स्थान पर काली मेघघटा जैसा बड़ का एक विशाल भयङ्कराकार वृक्ष था। उसे दिखा कर तेजस्वी विभीषण ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ३ ॥

[2]इहोपहारं भूतानां बलवान्रावणात्मजः ।
[3]उपहृत्य ततः पश्चात्संग्राममभिवर्तते ॥ ४ ॥

वह बली रावणतनय इन्द्रजीत यहीं पर पशुओं का बलिदान करके, पीछे लड़ने को जाता है ॥ ४ ॥

---

१ तत्कर्म—होमकर्मस्थानं । २ उपहारं—बलिं । (गो०) ३ उपहृत्य—कृत्वा । (गो०)

अदृश्यः सर्वभूतानां ततो भवति राक्षसः ।
निहन्ति समरे शत्रून्बध्नाति च शरोत्तमैः ॥ ५ ॥

और फिर ऐसा छिप जाता है कि, उसे कोई भी नहीं देख सकता। वह पैने पैने बाणों से शत्रुओं को (बाण-पाश से) बाँध लेता और मार भी डालता है ॥ ५ ॥

तमप्रविष्टन्यग्रोधं बलिनं रावणात्मजम् ।
विध्वंसय शरैस्तीक्ष्णैः सरथं साश्वसारथिम् ॥ ६

हे लक्ष्मण ! जब तक इन्द्रजीत बरगद के पेड़ के नीचे नहीं पहुँचता उससे पूर्व ही घोड़ों, सारथी और रथ सहित उसको अपने चमचमाते पैने बाणों से मार डालो ॥ ६ ॥

तथेत्युक्त्वा महातेजाः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।
बभूवावस्थितस्तत्र चित्रं विस्फारयन्धनुः ॥ ७ ॥

मित्रों को हर्षित करने वाले महातेजस्वी लक्ष्मण जी ने कहा—बहुत अच्छा। तदनन्तर वे अपने अद्भुत धनुष को टङ्कार कर, वहाँ खड़े हो गये ॥ ७ ॥

स रथेनाग्निवर्णेन बलवान्रावणात्मजः ।
इन्द्रजितकवची धन्वी सध्वजः प्रत्यदृश्यत ॥ ८ ॥

इतने में अग्नि की तरह ध्वजा से युक्त चमचमाते रथ पर सवार, कवच पहिने हुए बलवान रावणतनय इन्द्रजीत देख पड़ा ॥ ८ ॥

तमुवाच महातेजाः पौलस्त्यमपराजितम् ।
समाह्वये त्वां समरे सम्यग्युद्धं प्रयच्छ मे ॥ ९ ॥

उसे देख तेजस्वी लक्ष्मण जी उस अजेय रावणात्मज इन्द्रजीत से बोले—हे राक्षस ! मैं तुझे युद्ध के लिये आमंत्रित करता हूँ । आओ, मेरे साथ सम्हल कर लड़ो ॥ ६ ॥

एवमुक्तो महातेजा [1]मनस्वी रावणात्मजः ।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं तत्र दृष्ट्वा विभीषणम् ॥ १० ॥

महातेजस्वी और दृढ़ मन वाला इन्द्रजीत, लक्ष्मण के वचन सुन और उनके साथ विभीषण को देख, विभीषण से कठोर वचन कहने लगा ॥ १० ॥

इह त्वं जातसंवृद्धः साक्षाद्भ्राता पितुर्मम ।
कथं द्रुह्यसि पुत्रस्य पितृव्यो मम राक्षस ॥ ११ ॥

अरे विभीषण ! तुम इसी कुल में जन्मे । तुम मेरे बड़े और मेरे पिता के भाई हो । तुम मेरे चचा हो कर अपने पुत्र के तुल्य भतीजे से (ऐसा) वैर क्यों कर रहे हो ॥ ११ ॥

न ज्ञातित्वं न सौहार्दं न जातिस्तव दुर्मते ।
प्रमाणं न च सौदर्यं न धर्मो धर्मदूषण ॥ १२ ॥

अरे दुर्मते ! और धर्म को दूषित करने वाले ! ज़रा देख तो, न तो तू इन लोगों की बिरादरी का है, न इनका मित्र है, न जाति वाला है, न इनका साथ देने से तेरी मर्यादा ही की रक्षा होती है और न तू और यह एक माँ के पेट ही से उत्पन्न हुए हैं । इनका साथ देने में और अपने सहोदर के साथ बैरभाव करने से कोई धर्म का कार्य भी तो नहीं होता है ॥ १२ ॥

शोच्यस्त्वमसि दुर्बुद्धे निन्दनीयश्च साधुभिः ।
यस्त्वं स्वजनमुत्सृज्य परभृत्यत्वमागतः ॥ १३ ॥

---

१ मनस्वी—दृढमनस्कः । (गो०)

हे दुर्बुद्धे ! तुम्हीं बतलाओ, फिर तूने अपने लोगों को त्याग कर अपने सहोदर के शत्रु की गुलामी अङ्गीकार की है सो क्यों ? साधु लोग तेरे इस कृत्य की निन्दा करते हैं। तेरी समझ पर और तेरे इस कृत्य पर मुझे बड़ा शोक है ॥ १३ ॥

नैतच्छिथिलया बुद्धया त्वं वेत्सि महदन्तरम् ।
क्व च स्वजनसंवासः क्व च नीचपराश्रयः ॥ १४ ॥

कहाँ तो अपने लोगों के बीच रहना और कहाँ यह नीचों का सहारा ! (किन्तु किया क्या जाय) तेरी बुद्धि पर तो पत्थर पड़े हैं। इसीसे तो तुझे इन बातों में कुछ भी तारतम्य नहीं सूझ पड़ता ॥ १४ ॥

गुणवान्वा परजनः स्वजनो निर्गुणोऽपि वा ।
निर्गुणः स्वजनः श्रेयान्यः परः पर एव सः ॥ १५ ॥

भले ही परजन में गुण ही गुण क्यों न हों और स्वजन में दोष ही दोष क्यों न हों, किन्तु गुणवान परजन की अपेक्षा निर्गुण स्वजन ही श्रेयस्कर है। आखिर अपना अपना ही है और पराया पराया ही है ॥ १५ ॥

यः स्वपक्षं परित्यज्य परपक्षं निषेवते ।
स स्वपक्षे क्षयं प्राप्ते पश्चात्तैरेव हन्यते ॥ १६ ॥

जो आत्मीयजनों का पक्ष त्याग कर शत्रुपक्ष ग्रहण करता वह अपने पक्ष के अर्थात् आत्मीयजनों के नाश होने पर भी स्वयं भी मारा जाता है ॥ १६ ॥

निरनुक्रोशता चेयं यादृशी ते निशाचर ।
स्वजनेन त्वया शक्यं परुषं रावणानुज ॥ १७ ॥

अरे राक्षस! तू रावण का सगा छोटा भाई हो कर जैसा निर्दयीपन कर रहा है, वैसा निर्दयीपन कोई भी सगा जन नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

इत्युक्तो भ्रातृपुत्रेण प्रत्युवाच विभीषणः ।
अजानन्निव मच्छीलं किं राक्षस विकत्थसे ॥ १८ ॥

जब भतीजे ने इस प्रकार कहा, तब उसकी बातों का उत्तर देते हुए विभीषण ने कहा—अरे राक्षस! जब तू मेरे स्वभाव को ही नहीं जानता, तब तू क्यों बकबक कर रहा है ॥ १८ ॥

राक्षसेन्द्रसुतासाधो पारुष्यं त्यज गौरवात्[1] ।
कुले यद्यप्यहं जातो रक्षसां क्रूरकर्मणाम् ॥ १९ ॥

हे असाधु राक्षसपुत्र! तू यदि मुझको चचा कह कर मेरा गौरव करता है, तो ऐसे कठोर वचन मत कहा कर। यद्यपि मैं क्रूरकर्मा राक्षसों के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ ॥ १९ ॥

गुणोऽयं प्रथमो नृणां तन्मे शीलमराक्षसम् ।
न रमे दारुणेनाहं न चाधर्मेण वै रमे ॥ २० ॥

तथापि पुरुषों में जो सर्वप्रधानगुण (अर्थात् प्राणिमात्र में दया) होना चाहिये और जो राक्षसों में नहीं होता, वही मुझमें है, अर्थात् न तो मुझे कोई निष्ठुर कार्य करना पसंद है अथवा न मेरे निष्ठुर कर्म करने वालों का साथ करना मुझे अच्छा लगता है और न अधर्म ही में मेरी रुचि है ॥ २० ॥

भ्रात्रा विषमशीलेन कथं भ्राता निरस्यते ।
धर्मात्प्रच्युतशीलं हि पुरुषं पापनिश्चयम् ॥ २१ ॥

---

१ गौरवात्—पितृव्यत्वादि । (गो०)

भले ही भाई दुष्टस्वभाव हो का क्यों न हो क्या कोई सगा भाई अपने उस सगे भाई को घर से निकाल देता है? हे इन्द्रजीत! जो धर्म से पतित है वह निश्चय ही पापी है॥ २१॥

त्यक्त्वा सुखमवाप्नोति हस्तादाशीविषं यथा।
हिंसापरस्वहरणे परदाराभिमर्शनम्॥ २२॥

ऐसे को त्यागने से वैसा ही सुख प्राप्त होता है, जैसे हाथ से विषधर सर्प को छोड़ देने से प्राण बचते हैं। जो हिंसा करता हो, दूसरों का धन छीनता हो और पराई स्त्री को हरता हो॥ २२॥

त्याज्यमाहुर्दुराचारं वेश्म प्रज्वलितं यथा।
परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम्॥ २३॥

उस दुराचारी को जलते हुए घर की तरह त्याग देना ही बुद्धिमान् नीतिज्ञों का मत है। दूसरे का धन छीनना, पराई पर हाथ डालना॥ २३॥

सुहृदामतिशङ्का च त्रयो दोषाः क्षयावहाः।
महर्षीणां वधो घोरः सर्वदेवैश्च विग्रहः॥ २४॥

और मित्रों के ऊपर सन्देह करना; ये तीनों पापकर्म नाश करने वाले हैं। महर्षियों का घोर वधकर्म, समस्त देवताओं से बिगाड़॥ २४॥

अभिमानश्च कोपश्च वैरित्वं प्रतिकूलता।
एते दोषा मम भ्रातुर्जीवितैश्वर्यनाशनाः॥ २५॥

अभिमान, क्रोध, वैर और दूसरे की भलाई के काम में बाधा डालना, ये समस्त दोष मेरे बड़े भाई अर्थात् तुम्हारे पिता में हैं

श्रौर ये समस्त दोष जो ते जो उसके ऐश्वर्य को नष्ट करने वाले हैं ॥ २५ ॥

गुणान्प्रच्छादयामासुः पर्वतानिव तोयदाः ।
दोषैरेतैः परित्यक्तो मया भ्राता पिता तव ॥ २६ ॥

जैसे मेघ पर्वत को ढक लेते हैं, वैसे ही इन दोषों ने उसके गुणों को छिपा दिया है। इन्हीं बुराइयों के कारण मैंने अपने भाई और तुम्हारे पिता का त्याग किया है ॥ २६ ॥

नेयमस्ति पुरी लङ्का न च त्वं न च ते पिता ।
अतिमानी च बालश्च दुर्विनीतश्च राक्षस ॥ २७ ॥

हे इन्द्रजीत! अब न तो यह लङ्का ही रहेगी, न तू रहेगा और न तेरा पिता ही बच पावेगा। हे राक्षस! तू अभी छोकड़ा है, इसीसे गर्वित होने के कारण तू अत्यन्त दुर्विनीत अर्थात् निपट असभ्य है ॥ २७ ॥

बद्धस्त्वं कालपाशेन ब्रूहि मां यद्यदिच्छसि ।
अद्य ते व्यसनं प्राप्तं किं मां त्वमिह वक्ष्यसि ॥२८॥

तेरे सिर पर तो अब काल खेल रहा है। सो जो तू चाहे सो मुझसे कह ले। एक बार तूने मुझसे जो कठोर वचन कहे थे उसके कारण तो तुझ पर यह विपत्ति पड़ रही है, फिर भी तू क्यों मुझसे कठोर वचन कहता है ॥ २८ ॥

प्रवेष्टुं न त्वया शक्यो न्यग्रोधो राक्षसाधम ।
धर्षयित्वा च काकुत्स्थौ न शक्यं जीवितुं त्वया ॥२९॥

अरे राक्षसाधम ! अब तू उस बरगद के वृक्ष के नीचे जो नहीं सकता ! श्रीरामचन्द्र जी का तिरस्कार कर, तू जीता नहीं रह सकता ॥ २९ ॥

युध्यस्व नरदेवेन लक्ष्मणेन रणे सह ।
हतस्त्वं देवताकार्यं[1] करिष्यसि यमक्षये ॥ ३० ॥

अब तू नरदेव लक्ष्मण के साथ लड़ और जब तू मारा जाय तब यमलोक में जा कर तू देवताओं को सन्तुष्ट करना ॥ ३० ॥

निदर्शय स्वात्मबलं समुद्यतं
कुरुष्व सर्वायुधसायकव्ययम् ।
न लक्ष्मणस्यैत्य हि बाणगोचरं
त्वमद्य जीवन्सबलो गमिष्यसि ॥ ३१ ॥

इति सप्ताशीतितमः सर्गः ॥

हे इन्द्रजीत ! तू अपने समस्त धनुषादि आयुधों को आज़मा कर, अपना बल दिखला । क्योंकि अब तू लक्ष्मण जी के बाणों के निशाने के भीतर आ कर, सेना सहित जीता जागता घर लौट कर, न जाने, पावेगा ॥ ३१ ॥

युद्धकाण्ड का सत्तासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ देवताकार्यं—सन्तोषं । (शि०)

अष्टाशीतितमः सर्गः

—:०:—

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणिः क्रोधमूर्छितः ।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं वेगेनाभ्युत्पपात[1] ह ॥ १ ॥

विभीषण के वचन सुन, इन्द्रजीत अत्यन्त कुपित हुआ और बड़ी तेज़ी से उनके सामने जा कठोर वचन कहने लगा ॥ १ ॥

उद्यतायुधनिस्त्रिंशो रथे सुसमलंकृते ।
कालाश्वयुक्ते महति स्थितः कालान्तकोपमः ॥ २ ॥

फिर वह तलवार उठाये हुए और काले घोड़े जुते हुए और सजे सजाये एक विशाल रथ पर बैठा हुआ, सर्वप्राणिनाशक काल के समान जान पड़ता था ॥ २ ॥

[2]महाप्रमाणमुद्यम्य विपुलं वेगवद्दृढम् ।
धनुर्भीमं परामृश्य शरांश्चामित्रशातनान् ॥ ३ ॥

उस समय उसके हाथ में बड़ा लंबा और मज़बूत और बड़ी तेज़ी के साथ बाण फेंकने वाला, बड़ा भयङ्कर धनुष था तथा शत्रुनाशकारी बाण थे ॥ ३ ॥

तं ददर्श महेष्वासो रथे सुसमलंकृतः ।
अलंकृतममित्रघ्नं राघवस्यानुजं बली ॥ ४ ॥

---

१ अभ्युत्पपात—अभिमुखमुज्जगाम । (रा०) २ महाप्रमाणं—महादीर्घम् । (गो०)

भली भाँति अलंकृत रथ पर सवार, बड़ा धनुष लिये हुए बलवान इन्द्रजीत ने भूषणों से अलंकृत और शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई अर्थात् लक्ष्मण जी को देखा ॥ ४ ॥

हनुमत्पृष्ठमासीनमुदयस्थरविप्रभम् ।
उवाचैनं समारब्धः सौमित्रिं सविभीषणम् ॥ ५ ॥
तांश्च वानरशार्दूलान्पश्यध्वं मे पराक्रमम् ।
अद्य मत्कार्मुकोत्सृष्टं शरवर्षं दुरासदम् ॥ ६ ॥

लक्ष्मण जी हनुमान जी की पीठ पर सवार थे और उदय-कालीन सूर्य की तरह वे प्रभावान् थे। उनको और उनके पास खड़े हुए विभीषण को तथा अन्य वानरश्रेष्ठों से इन्द्रजीत ने कहा कि, तुम लोग आज मेरे पराक्रम को और मेरे धनुष से छूटे हुए बाणों की दुर्धर्ष बाणवृष्टि को देखना ॥ ५ ॥ ६ ॥

मुक्तं वर्षमिवाकाशे वारयिष्यथ संयुगे ।
अद्य वो मामका बाणा महाकार्मुकनिःसृताः ॥ ७ ॥
विधमिष्यन्ति गात्राणि तूलराशिमिवानलः ।
तीक्ष्णसायकनिर्भिन्नाञ्शूलशक्त्यृष्टितोमरैः ॥ ८ ॥

जो आकाश से गिरती हुई जलधारा के समान, दिखलाई पड़ेगी। रणक्षेत्र में उसको ज़रा तुम लोग रोक कर देखना। आज मेरे विशाल धनुष से छूटे हुए बाण, तुम लोगों के शरीरों को रुई की तरह धुनकेंगे। पैने बाणों से, शूल, शक्ति, ऋष्टि तथा पटा से ॥ ७ ॥ ८ ॥

अद्य वो गमयिष्यामि सर्वानेव यमक्षयम् ।
क्षिपतः शरवर्षाणि क्षिप्रहस्तस्य मे युधि ॥ ९ ॥

घायल कर तुम सब को यमराज के यहाँ भेज दूँगा। जब मैं संग्राम में फुर्ती के साथ वाणों की वर्षा करूँगा ॥ ९ ॥

जीमूतस्येव नदतः कः स्थास्यति ममाग्रतः ।
रात्रियुद्धे मया पूर्वं वज्राशनिसमैः शरैः ॥ १० ॥
शायितौ स्थो मया भूमौ विसंज्ञौ सपुरःसरौ ।
स्मृतिर्न तेऽस्ति वा मन्ये व्यक्तं वा यमसादनम् ॥११॥

और बादल की तरह गर्जूंगा, तब तुममें ऐसा कौन है, जो मेरे सामने खड़ा रह सके। यह तो तुमको मालूम ही है कि, उस दिन रात की लड़ाई में मैंने वज्र के समान तीरों से समस्त वानरी सेना सहित तुम दोनों भाइयों को मूर्छित कर भूमि पर सुला दिया था। मैं समझता हूँ उसको तुम भूल गये। भूल क्यों न जाओगे, क्योंकि तुम सब तो अब यमपुर में महमान होने वाले ॥ १० ॥ ११ ॥

आशीविषमिव क्रुद्धं यन्मां योद्धुं व्यवस्थितः ।
तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य गर्जितं लक्ष्मणस्तदा ॥ १२ ॥

और तभी तुम लोग क्रुद्ध हुए विषधर के समान मुझसे लड़ने को आये हो। इन्द्रजीत की इस प्रकार की डींगे सुन, लक्ष्मण जी ने ॥ १२ ॥

अभीतवदनः क्रुद्धो रावणिं वाक्यमब्रवीत् ।
उक्तश्च [1]दुर्गमः पारः[2] कार्याणां राक्षस त्वया ॥१३॥
कार्याणां कर्मणा पारं यो गच्छति स बुद्धिमान् ।
स त्वमर्थस्य हीनार्थो दुरवापस्य केनचित् ॥ १४ ॥

---

१ दुर्गमः—दुर्लभः। (गो०) २ पारः—निर्वाहः। (गो०)

क्रोध में भर और निर्भीक हो इन्द्रजीत से कहा—हे राक्षस! किसी दुर्लभ कार्य को न कर ज़बान हिला कर कह देना एक बात है और उसे करके दिखाना दूसरी बात है। बुद्धिमान वही है जो काम करने की एक बार बात कह कर, उस काम को करके दिखा दे। तू तो निषिद्ध वक्ता और निर्बुद्धि है। तू कुछ नहीं कर सकता। जिस काम को (अर्थात् हम लोगों को परास्त करने के काम को) कोई कर नहीं सकता ॥ १३ ॥ १४ ॥

वचो व्याहृत्य जानीषे कृतार्थोऽस्मीति दुर्मते।
अन्तर्धानगतेनाजौ यस्त्वयाऽऽचरितस्तदा ॥ १५ ॥
तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः।
यथा बाणपथं प्राप्य स्थितोऽहं तव राक्षस ॥ १६ ॥
दर्शयस्वाद्य तत्तेजो वाचा त्वं किं विकत्थसे।
एवमुक्तो धनुर्भीमं परामृश्य महाबलः ॥ १७ ॥

उसे तू बाणी से कह कर, अपने को कृतार्थ मानता है। अरे दुर्बुद्धे! उस दिन रात की लड़ाई में तूने छिप कर जो करतूत की थी, वह करतूत चोरों जैसी है। जो वीरलोग होते हैं, वे ऐसी करतूतें नहीं किया करते अथवा ऐसे पथ पर पदार्पण नहीं करते। हे राक्षस! जैसे मैं तेरे बाणों की मार के भीतर तेरे सामने खड़ा हूँ; वैसे ही तू भी मेरे सामने खड़ा रह कर, अपना पराक्रम दिखा, वृथा डींगे मारने से क्या लाभ? लक्ष्मण जी की इन बातों को सुन, उस महाबली इन्द्रजीत ने अपना भयानक धनुष उठाया ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

ससर्ज निशितान्बाणानिन्द्रजित्समितिञ्जयः।
ते निसृष्टा महावेगाः शराः सर्पविषोपमाः ॥ १८ ॥

और वह समरविजयी इन्द्रजीत पैने पैने बाण छोड़ने लगा। वे बड़े वेगवान और सर्प के विष की तरह बाण ॥ १८ ॥

सम्प्राप्य लक्ष्मणं पेतुः श्वसन्त इव पन्नगाः।
शरैरतिमहावेगैर्वेगवान्रावणात्मजः ॥ १९ ॥

सौमित्रिमिन्द्रजिद्युद्धे विव्याध शुभलक्षणम्।
स शरैरतिविद्धाङ्गो रुधिरेण समुक्षितः ॥ २० ॥

लक्ष्मण जी के शरीर पर गिरते ही साँपों की तरह फुँसकारते हुए भूमि पर गिरने लगे। इस प्रकार इस युद्ध में वह फुर्तीला इन्द्रजीत महावेगवाले बाणों से शुभलक्षणों युक्त अँगों वाले लक्ष्मण जी को घायल करने लगा। बाणों के लगने से लक्ष्मण जी घायल हो गये। उनके शरीर से रक्त बहने लगा ॥ १९ ॥ २० ॥

शुशुभे लक्ष्मणः श्रीमान्विधूम इव पावकः।
इन्द्रजित्त्वात्मनः कर्म प्रसमीक्ष्याधिगम्य[1] च ॥ २१ ॥

तिस पर भी कान्तिवान लक्ष्मण जी बिना धूएँ की आग की तरह शोभित हो रहे थे। कुछ देर बाद इन्द्रजीत अपने पुरुषार्थ का फल देख, ॥ २१ ॥

विनद्य सुमहानादमिदं वचनमब्रवीत्।
पत्रिणः शितधारास्ते शरा मत्कार्मुकच्युताः ॥ २२ ॥

आदास्यन्तेऽद्य सौमित्रे जीवितं जीवितान्तगाः।
अद्य गोमायुसङ्घाश्च श्येनसङ्घाश्च लक्ष्मण ॥ २३ ॥

---

१ अधिगम्य—फलवत्वेन दृष्ट्वा। (गो०)

गृध्राश्च निपतन्तु त्वां गतासुं निहतं मया ।
अद्य यास्यति सौमित्रे कर्णगोचरतां तव ॥ २४ ॥
तर्जनं यमदूतानां सर्वभूतभयावहम् ।
क्षत्रबन्धुः सदानार्यो रामः परमदुर्मतिः ॥ २५ ॥

बड़े ज़ोर से गर्ज कर यह वचन बोला—हे लक्ष्मण! आज मेरे धनुष से छूटे हुए बड़े पैने बाण, जो तेरा वध करने वाले हैं, तेरे जीवन को समाप्त कर देंगे। हे लक्ष्मण! आज गीदड़, बाज़ों और गिद्धों के झुंड के झुंड मेरे द्वारा तेरे मारे जाने पर तेरी लोथ के ऊपर टूटेंगे। हे लक्ष्मण! आज तुझको सब प्राणियों को डराने वाला यमदूतों का तर्जन गर्जन सुनाई पड़ेगा। परम दुर्मति, क्षत्रिया-धम और नीच राम ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

भक्तं भ्रातरमद्यैव त्वां द्रक्ष्यति मया हतम् ।
विशस्तकवचं भूमौ व्यपविद्धशरासनम् ॥ २६ ॥
हृतोत्तमाङ्गं सौमित्रे त्वामद्य निहतं मया ।
इति ब्रुवाणं संरब्धं परुषं रावणात्मजम् ॥ २७ ॥

आज ही तुझ सरीखे अपने भाई को मेरे हाथ से मरा हुआ देखेगा। आज जब मैं तेरा वध करूँगा, तब तेरा यह कवच टूट फूट कर भूमि पर गिर पड़ेगा और टूक टूक हो जायगा, तथा सिर कट अलग गिर जायगा। क्रोध में भर इस प्रकार कठोर वचन कहते हुए रावणात्मज इन्द्रजीत से ॥ २६ ॥ २७ ॥

हेतुमद्वाक्यमत्यर्थं लक्ष्मणः प्रत्युवाच ह ।
वाग्बलं त्यज दुर्बुद्धे क्रूरकर्मासि राक्षस ॥ २८ ॥

लक्ष्मण जी ने युक्तियुक्त एवं सारगर्भित वचन कहे—अरे निशाचर, अरे दुर्बुद्धे! तू बहुत सी बकवाद मत कर। मैं जानता हूँ तू निष्ठुर कर्म करने वाला है अर्थात् निर्दयी है॥ २८॥

अथ कस्माद्वदस्येतत्सम्पाद्य सुकर्मणा।
अकृत्वा कत्थसे कर्म किमर्थमिह राक्षस॥ २९॥

इतनी बकवाद करने से लाभ ही क्या। जो कुछ कहता है भली भाँति करके दिखला दे। अरे राक्षस! बिना कुछ किये हा क्यों बकबक कर रहा है?॥ २९॥

कुरु तत्कर्म येनाहं श्रद्दध्यां तव कत्थनम्।
अनुक्त्वा परुषं वाक्यं किञ्चिदप्यनवक्षिपन्॥ ३०॥

अरे कुछ करके दिखा, जिससे मुझे तेरे कथन पर विश्वास हो। मैं न तो तुझसे कठोर वचन कहूँगा, न ज़रा भी तुझे धिक्कारूँगा॥ ३०॥

अविकत्थन्वधिष्यामि त्वां पश्य पुरुषाधम।
इत्युक्त्वा पञ्च नाराचानाकर्णापूरिताञ्शितान्॥३१॥

और न तो अपनी बड़ाई ही करूँगा। किन्तु हे पुरुषाधम! देखना मैं तेरा वध करूँगा। यह कह कर और पाँच पैने नाराचों को धनुष पर रख और रोदे को कान तक खींच,॥ ३१॥

निजघान महावेगाँल्लक्ष्मणो राक्षसोरसि।
सुपत्रवाजिता बाणा ज्वलिता इव पन्नगाः॥ ३२॥

नैर्ऋतोरस्यभासन्त सवितू रश्मयो यथा।
स शरैराहतस्तेन सरोषो रावणात्मजः॥ ३३॥

लक्ष्मण ने बड़े ज़ोर से इन्द्रजीत की छाती में मारे। अच्छे परों से युक्त बड़े वेग से जाने वाले, चमचमाते और सर्प की तरह वे बाण इन्द्रजीत की छाती में चुभे हुए ऐसे शोभित हुए, जैसे सूर्य की किरणें। उन बाणों की चोट से क्रोध में भर इन्द्रजीत ने ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

सुप्रयुक्तैस्त्रिभिर्बाणैः प्रतिविव्याध लक्ष्मणम् ।
स बभूव तदा भीमो नरराक्षससिंहयोः ॥ ३४ ॥

भी बड़ी सावधानी से तीन बाण चला लक्ष्मण जी को घायल किया। तब तो इन दोनों नरसिंह और राक्षससिंह का बड़ा भयानक युद्ध होने लगा ॥ ३४ ॥

विमर्दस्तुमुलो युद्धे परस्परजयैषिणोः ।
उभौ हि बलसंपन्नावुभौ विक्रमशालिनौ ॥ ३५ ॥

दोनों ही एक दूसरे को जीतना चाहते थे और बड़ा तुमुल युद्ध कर रहे थे। दोनों ही बड़े बलवान थे और दोनों ही विक्रमशाली थे ॥३५॥

उभावपि सुविक्रान्तौ सर्वशस्त्रास्त्रकोविदौ ।
उभौ परमदुर्जेयावतुल्यबलतेजसौ ॥ ३६ ॥

दोनों ही बड़े पराक्रमी थे और दोनों ही सब प्रकार के अस्त्रों और शस्त्रों को चलाने और रोकने में निपुण थे । दोनों ही परम दुर्जेय और अतुलित बलवान एवं तेजस्वी थे ॥ ३६ ॥

युयुधाते तदा वीरौ ग्रहाविव नभोगतौ ।
[1]बलवृत्राविवाभीतौ युधि तौ दुष्प्रधर्षणौ ॥३७॥

१ बलशब्दो बलशत्रुरिन्द्रपरः । (गो०)

वे दोनों ऐसे लड़ रहे थे, जैसे दो ग्रह आकाश में लड़ रहे हों, वे दोनों दुर्धर्ष योद्धा निर्भीक हो, इन्द्र और वृत्रासुर की तरह लड़ रहे थे ॥ ३७ ॥

युयुधाते महात्मानौ तदा केसरिणाविव ।
बहूनवसृजन्तौ हि मार्गणौघानवस्थितौ ।
नरराक्षससिंहौ तौ प्रहृष्टावभ्युयुध्यताम् ॥ ३८ ॥

दो सिंहों की तरह युद्ध करते हुए वे दोनों बलवान लड़ रहे थे। वे दोनों अर्थात् नरश्रेष्ठ लक्ष्मण और राक्षसश्रेष्ठ इन्द्रजीत, अत्यन्त उत्साहित हो, युद्ध करते हुए, एक दूसरे पर असंख्य बाणों की वृष्टि वैसे ही कर रहे थे; जैसे बादल जल की वृष्टि करते हैं ॥३८॥

सुसंप्रहृष्टौ नरराक्षसोत्तमौ
जयैषिणौ मार्गणचापधारिणौ ।
परस्परं तौ प्रववर्षतुर्भृशं
शरौघवर्षेण बलाहकाविव ॥ ३९ ॥

वे दोनों अत्यन्त उत्साही और जयाभिलाषी नरश्रेष्ठ वीर हाथों में धनुष लिये हुए एक दूसरे के वध का अवसर ढूँढ़ते हुए एक दूसरे के ऊपर वैसे ही असंख्य बाणों की वर्षा कर रहे थे; जैसे मेघ जल की वर्षा किया करते हैं ॥ ३९ ॥

अभिप्रवृद्धौ युधि युद्धकोविदौ
शरासिचण्डौ शितशस्त्रधारिणौ ।
अभीक्ष्णमाविव्यधतुर्महाबलौ
महाहवे शम्बरवासवाविव ॥ ४० ॥

इति अष्टाशीतितमः सर्गः ॥

दोनों ही युद्धविद्या में निपुण थे। अतः दोनों ही बड़े ज़ोरों से लड़ रहे थे। दोनों ही के पास बड़े बड़े प्रचण्ड बाण, खड्ग और पैने पैने शस्त्र थे। वे दोनों महाबली एक दूसरे को घायल करते हुए वैसे ही लड़ रहे थे, जैसे शम्बरासुर और इन्द्र लड़े थे ॥ ४० ॥

युद्धकाण्ड का अट्ठासीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकोननवतितमः सर्गः

—:o:—

तत: शरं दाशरथिः सन्धायामित्रकर्शनः ।
ससर्ज राक्षसेन्द्राय क्रुद्धः सर्प इव श्वसन् ॥ १ ॥

तदनन्तर शत्रुहन्ता दशरथनन्दन लक्ष्मण जी ने क्रुद्ध सर्प की तरह फुँफकारते हुए धनुष पर बाण रख कर, मेघनाद के ऊपर छोड़े ॥ १ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं स श्रुत्वा रावणात्मजः ।
विवर्णवदनो भूत्वा लक्ष्मणं समुदैक्षत ॥ २ ॥

लक्ष्मण के धनुष के रोदे की टंकार को सुन, इन्द्रजीत के मुख-मण्डल की रंगत बदल गयी और वह लक्ष्मण जी के मुख को ताकने लगा ॥ २ ॥

तं विवर्णं मुखं दृष्ट्वा राक्षसं रावणात्मजम् ।
सौमित्रिं युद्धसंयुक्तं प्रत्युवाच विभीषणः ॥ ३ ॥

रावणपुत्र इन्द्रजीत के मुख की रंगत बदली हुई देख, युद्ध में उद्यत लक्ष्मण से विभीषण कहने लगे ॥ ३ ॥

निमित्तान्यनुपश्यामि यान्यस्मिन्रावणात्मजे ।
त्वर तेन महाबाहो भग्न एष न संशयः ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! इस समय इन्द्रजीत के मुख की रंगत का बदलना आदि जैसे बुरे लक्षण मुझे उसमें देख पड़ रहे हैं, उससे तो हे बलवान ! मुझे जान पड़ता है कि, वह निस्संशय मारा जायगा। अतः इसका आप शीघ्र वध कीजिये ॥ ४ ॥

ततः सन्धाय सौमित्रिर्बाणानग्निशिखोपमान् ।
मुमोच निशितांस्तस्मिन्सर्पानिव महाविषान् ॥ ५ ॥

तब तो लक्ष्मण जी ने अग्निशिखा के समान दीप्तमान बाण निकाल कर धनुष पर रखे और महाविषधर सर्प की तरह उन भयङ्कर बाणों को छोड़ा ॥ ५ ॥

शक्राशनिसमस्पर्शैर्लक्ष्मणेनाहतः शरैः ।
मुहूर्तमभवन्मूढः सर्वसंक्षुभितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

लक्ष्मण के छोड़े हुए बाण, इन्द्रजीत के शरीर में इन्द्र के वज्र की तरह लगने से, इन्द्रजीत एक मुहूर्त तक मूर्छित रहा और उसकी समस्त इन्द्रियाँ विकल हो गयीं ॥ ६ ॥

उपलभ्य मुहूर्तेन संज्ञां प्रत्यागतेन्द्रियः ।
ददर्शावस्थितं वीरं वीरो दशरथात्मजम् ॥ ७ ॥

एक मुहूर्त बाद ही सचेत और सावधान हो उस वीर ने देखा कि, वीरश्रेष्ठ दशरथनन्दन लक्ष्मण उसके सामने खड़े हैं ॥ ७ ॥

सोऽभिचक्राम सौमित्रिं रोषात्संरक्तलोचनः ।
अब्रवीच्चैनमासाद्य पुनः स परुषं वचः ॥ ८ ॥

तब वह क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर और लक्ष्मण जी के निकट जा फिर कठोर वचन कहने लगा ॥ ८ ॥

किं न स्मरसि तद्युद्धे प्रथमे मत्पराक्रमम् ।
निबद्धस्त्वं सह भ्रात्रा यदा भुवि विचेष्टसे ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम मेरे उस दिन के पराक्रम को क्यों याद नहीं करते ; जब मैंने तुमको और रामचन्द्र को नागफाँस में बाँधा था और तुम दोनों पृथिवी पर पड़े छटपटा रहे थे ॥ ९ ॥

युवां खलु महायुद्धे शक्राशनिसमैः शरैः ।
शायितौ प्रथमं भूमौ विसंज्ञौ सपुरःसरौ ॥ १० ॥

पहिली ही बार मैंने वज्रतुल्य बाणों से उस महासमर में तुम दोनों भाइयों को व तुम्हारी सेना को ऐसा मारा था कि, तुम सब के सब मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़े थे ॥ १० ॥

स्मृतिर्वा नास्ति ते मन्ये [1]व्यक्तं वा यमसादनम् ।
गन्तुमिच्छसि यस्मात्त्वं मां धर्षयितुमिच्छसि ॥ ११ ॥

जान पड़ता है इसे तुम भूल गये । (क्यों न भूलोगे) क्योंकि तुम तो निश्चय ही यमराज के मेहमान होने वाले हो । तभी तो (तुमको अब इतना साहस हो गया है कि,) मुझको परास्त करना चाहते हो ॥ ११ ॥

---

१ व्यक्तं—नूनं । (गो०)

यदि ते प्रथमे युद्धे न दृष्टो मत्पराक्रमः ।
अद्य ते दर्शयिष्यामि तिष्ठेदानीं व्यवस्थितः ॥१२॥

अगर तूने प्रथमबार के युद्ध में मेरा पराक्रम नहीं देखा तो खड़ा रह, अब मैं तुझे अपना पराक्रम दिखलाये देता हूँ ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वा सप्तभिर्बाणैरभिविव्याध लक्ष्मणम् ।
दशभिस्तु हनूमन्तं तीक्ष्णधारैः शरोत्तमैः ॥ १३ ॥

यह कह कर उसने सात बाण मार कर लक्ष्मण को और बड़े पैने और श्रेष्ठ दस बाण मार कर हनुमान को घायल किया ॥ १३ ॥

ततः शरशतेनैव सुप्रयुक्तेन वीर्यवान् ।
क्रोधाद्द्विगुणसंरब्धो निर्बिभेद विभीषणम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर उस पराक्रमी ने दूना क्रोध कर और कान तक खींच कर, सौ बाण मार कर विभीषण को घायल किया ॥ १४ ॥

तद्दृष्ट्वेन्द्रजिता कर्म कृतं रामानुजस्तदा ।
अचिन्तयित्वा प्रहसन्नैतत्किञ्चिदिति ब्रुवन् ॥ १५ ॥

इन्द्रजीत की इस बहादुरी को देख और उसकी कुछ भी परवाह न कर, हँसते हुए लक्ष्मण जी ने इन्द्रजीत से कहा—"यह तो कुछ भी नहीं है ।" ॥ १५ ॥

मुमोच स शारान्घोरान्संगृह्य नरपुङ्गवः ।
अभीतवदनः क्रुद्धो रावणिं लक्ष्मणो युधि ॥ १६ ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने क्रोध में भर और निर्भय हो, बड़े बड़े भयानक बाण निकाल कर, उस युद्ध में इन्द्रजीत के ऊपर छोड़े ॥ १६ ॥

नैवं रणगताः शूराः प्रहरन्ते निशाचर ।
लघवश्चाल्पवीर्याश्च सुखा हीमे शरास्तव: ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन्होंने कहा—अरे राक्षस! समरभूमि में जा कर जो शूर होते हैं, वे इस प्रकार का प्रहार नहीं करते। तेरे बाण तो हल्के, अल्पशक्ति वाले हैं। मुझे तो तेरे इन बाणों से कुछ भी पीड़ा नहीं जान पड़ी. बल्कि इनका प्रहार तो सहज में सहा जा सकता है ॥ १७ ॥

नैवं शूरास्तु युध्यन्ते समरे जयकाङ्क्षिणः ।
इत्येवं तं ब्रुवाणस्तु शरवर्षैरवाकिरत् ॥ १८ ॥

जयाभिलाषी शूर इस प्रकार का हीन युद्ध नहीं लड़ते। जीत से यह कह कर लक्ष्मण जी पुनः उसके ऊपर बाणों की करने लगे ॥ १८ ॥

तस्य बाणैः सुविध्वस्तं कवचं हेमभूषितम् ।
व्यशीर्यत रथोपस्थे ताराजालमिवाम्बरात् ॥ १९ ॥

लक्ष्मण जी की बाणवर्षा से इन्द्रजीत का कवच टुकड़े टुकड़े हो, रथ के ऊपर गिर कर ऐसे बिखर गया, जैसे आकाश से च्युत हो बहुत से तारागण भूमि पर आ गिरें ॥ १९ ॥

विधूतवर्मा नाराचैर्बभूव स कृतव्रणः ।
इन्द्रजित्समरे वीरः प्रत्यूषे भानुमान् इव ॥ २० ॥

इन्द्रजीत का कवच नष्ट हो जाने पर बाणों के आघात से उसका सारा शरीर घायल हो ऐसा देख पड़ा, मानों प्रातःकालीन सूर्य हो ॥ २० ॥

ततः शरसहस्रेण संक्रुद्धो रावणात्मजः।
बिभेद समरे वीरं लक्ष्मणं भीमविक्रमः॥ २१॥

तदनन्तर इस समर में भीम-विक्रमी रावणात्मज ने भी क्रोध में भर, वीर लक्ष्मण के ऊपर एक हज़ार बाण चला कर, उनको घायल किया॥ २१॥

व्यशीर्यत महादिव्यं कवचं लक्ष्मणस्य च।
कृतप्रतिकृतान्योन्यं बभूवतुरभिद्रुतौ॥ २२॥

इससे लक्ष्मण जी का भी कवच टूट गया। इस प्रकार वे दोनों एक दूसरे की मार का बदला लेते देते हुए॥ २२॥

अभीक्ष्णं निःश्वसन्तौ तौ युध्येतां तुमुलं युधि।
शरसंकृत्तसर्वाङ्गौ सर्वतो रुधिरोक्षितौ॥ २३॥

और बार बार हाँफते हुए दोनों वीर तुमुल युद्ध कर रहे थे। दोनों के शरीरों में बाणों के घाव हो गये थे और दोनों ही रक्त से नहा गये थे॥ २३॥

सुदीर्घकालं तौ वीरावन्योन्यं निशितैः शरैः।
ततक्षतुर्महात्मानौ रणकर्मविशारदौ॥ २४॥

बहुत देर तक ये दोनों बलवान रणविद्या में निपुण वीर एक दूसरे के ऊपर पैने पैने बाण चला एक दूसरे को घायल करते रहे॥ २४॥

बभूवतुश्चात्मजये यत्तौ भीमपराक्रमौ।
तौ शरौघैस्तदा कीर्णौ निकृत्तकवचध्वजौ॥ २५॥

दोनों ही जयाभिलाषी और भयानक पराक्रमी थे। वे एक दूसरे के बाणों से घायल हो गये थे। उनके शरीरों के कवच और उनकी ध्वजाएँ नष्ट हो चुकी थीं ॥ २५ ॥

स्रवन्तौ रुधिरं चोष्णं जलं प्रस्रवणाविव ।
शरवर्षं ततो घोरं मुञ्चतोर्भीमनिःस्वनम् ॥ २६ ॥

उनके घावों से गर्म गर्म लोहू वैसे ही बह रहा था जैसे झरनों से जल। वे भयङ्कर सिंहनाद करते हुए भयङ्कर शरवर्षा कर थे ॥ २६ ॥

[1]सासारयोरिवाकाशे नीलयोः कालमेघयोः ।
तयोरथ महान्कालो व्यत्ययाद्युध्यमानयोः ॥ २७ ॥

आकाश में वर्षा करते हुए नीले रंग के काले दो बादलों की तरह एक दूसरे पर बाणों की वृष्टि करते हुए और लड़ते लड़ते, उन दोनों वीरों का बहुत सा समय व्यतीत हो गया ॥ २७ ॥

न च तौ युद्धवैमुख्यं श्रमं वाप्युपजग्मतुः ।
अस्त्राण्यस्त्रविदां श्रेष्ठौ दर्शयन्तौ पुनः पुनः ॥ २८

तो भी न तो किसी ने पीठ दिखाई और न कोई थका। अस्त्रविद्या जानने वालों में श्रेष्ठ दोनों ही वीर, बारंबार अपने अपने शरों की उत्कृष्टता दिखला रहे थे ॥ २८ ॥

शरानुच्चावचाकारानन्तरिक्षे ववन्धतुः ।
[2]व्यपेतदोषमस्यन्तौ[3] लघु चित्रं च सुष्ठु च ॥ २९ ॥

---

१ सासारयोः—सधारापातयोः। (गो०) २ व्यपेतदोषं—व्यपगतमोहत्वदोषं। (गो०) ३ अस्यन्तौ—बाणान्क्षिपन्तौ। (गो०)

यहाँ तक कि, दोनों ने मारे बाणों के आकाश ढक दिया। वे दोनों दोषरहित, बड़ी फुर्ती व सुन्दरता से बाण चला रहे थे अथवा युद्ध कर रहे थे ॥ २६ ॥

उभौ तौ तुमुलं घोरं चक्रतुर्नरराक्षसौ।

तयोः पृथक् पृथक् भीमः शुश्रुवे तुमुलस्वनः ॥३०॥

दोनों लक्ष्मण और इन्द्रजीत तुमुल युद्ध कर रहे थे। ...रों के भयङ्कर सिंहनाद का शब्द अलग अलग सुन पड़ता ...। ॥ ३० ॥

अकम्पयज्जनं घोरो निर्घात इव दारुणः।

स तयोर्भ्राजते शब्दस्तदा समरसक्तयोः ॥ ३१ ॥

सुघोरयोर्निष्टनतोर्गगने मेघयोर्यथा।

सुवर्णपुङ्खैर्नाराचैर्बलवन्तौ कृतव्रणौ ॥ ३२ ॥

वज्रपात की तरह उस घोर दारुण सिंहनाद को सुन, सुनने वालों के हृदय काँप उठे। उन रणोन्मत्त दोनों वीरों के गर्जन का शब्द, ऐसा जान पड़ता था, मानों आकाश में बड़े ज़ोर से बादलों की भयङ्कर गड़गड़ाहट हो रही हो। सुवर्ण पुँख वाले नाराचों से दोनों बलवानों के शरीर घायल हो जाने ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

प्रसुस्रुवाते रुधिरं कीर्तिमन्तौ जये धृतौ।

ते गात्रयोर्निपतिता रुक्मपुङ्खाः शरा युधि ॥ ३३ ॥

विजय और कीर्ति पाने के लिये यत्न करते हुए उन दोनों बलशालियों के घावों से रुधिर की धाराएँ बह रही थीं।

उस समय सुवर्णपुँख वाले बाण उन दोनों के शरीर का भेदन कर ॥ ३३ ॥

असृङ्नद्धा विनिष्पत्य विविशुर्धरणीतलम् ।
अन्ये सुनिशितैः शस्त्रैराकाशे संजघट्टिरे ॥ ३४ ॥

रुधिर से तर हो, धरती में घुस जाते थे। दोनों वीरों के चलाये हुए बहुत पैने पैने शस्त्र आकाश में एक दूसरे से टकरा रहा कर ॥ ३४ ॥

बभञ्जुश्चिच्छिदुश्चान्ये तयोर्बाणाः सहस्रशः ।
स बभूव रणो घोरस्तयोर्बाणमयश्चयः ॥ ३५ ॥

टूट जाते थे और उनके हज़ारों टुकड़े हो जाते थे। उस युद्ध में बड़े बड़े भयङ्कर बाणों का ऐसा ढेर लग गया ॥ ३५ ॥

अग्निभ्यामिव दीप्ताभ्यां सत्रे कुशमयश्चयः ।
तयोः कृतव्रणौ देहौ शुशुभाते महात्मनोः ॥ ३६ ॥

जैसा कि किसी यज्ञ में प्रज्वलित दो अग्नियों के बीच में कुशों का ढेर लग जाता है। उन दोनों बलवानों के शरीर घायल हो कर ऐसे शोभायमान हो रहे थे ॥ ३६ ॥

सपुष्पाविव निष्पत्रौ वने शाल्मलिकिंशुकौ ।
चक्रतुस्तुमुलं घोरं सन्निपातं मुहुर्मुहुः ॥ ३७ ॥

जैसे बिना पत्र के और फूले हुए टेसू और सेंमर के वृक्ष किसी वन में खड़े हों। बार बार एक दूसरे के बाण मारते हुए वे दोनों तुमुल युद्ध कर रहे थे ॥ ३७ ॥

इन्द्रजिल्लक्ष्मणश्चैव परस्परवधैषिणौ ।
लक्ष्मणो रावणिं युद्धे रावणिश्चापि लक्ष्मणम् ॥३८॥

इन्द्रजीत और लक्ष्मण दोनों ही एक दूसरे का वध करना चाहते थे। इस युद्ध में लक्ष्मण इन्द्रजीत के ऊपर और इन्द्रजीत, लक्ष्मण के ऊपर ॥ ३८ ॥

अन्योन्यं तावभिघ्नन्तौ न श्रमं प्रत्यपद्यताम् ।
वाणजालैः शरीरस्थैरवगाढैस्तरस्विनौ ॥ ३९ ॥
शुशुभाते महावीर्यौ प्ररूढाविव पर्वतौ ।
तयो रुधिरसिक्तानि संवृतानि शरैर्भृशम् ॥ ४० ॥

परस्पर प्रहार कर रहे थे, किन्तु दो में से एक भी थकता न था। अंगों में गड़े हुए वाणों से उन दोनों बलवान वीरों की वैसी शोभा हो रही थी, जैसी वृक्षों से युक्त दो पर्वतों की शोभा होती है। वे दोनों रक्त से नहाए हुए थे और वाणों से उनके शरीर ढके हुए थे ॥ ३९ ॥ ४० ॥

वभ्राजुः सर्वगात्राणि ज्वलन्त इव पावकाः ।
तयोरथ महान्कालो व्यत्ययाद्युध्यमानयोः ।
न च तौ युद्धवैमुख्यं श्रमं वाप्युपजग्मतुः ॥ ४१ ॥

दोनों ऐसे जान पड़ते थे, मानों जलती हुई आग हों। इस प्रकार लड़ते लड़ते उन दोनों को बहुत देर हो गयी। किन्तु दो में से न तो कोई थका और न कोई हारा ही ॥ ४१ ॥

अथ समरपरिश्रमं निहन्तुं
समरमुखेष्वजितस्य लक्ष्मणस्य ।

प्रियहितमुपपादयन्महौजाः
समरमुपेत्य विभीषणोऽवतस्थे ॥ ४२ ॥

इति एकोननवतितमः सर्गः ॥

इतने में महात्मा विभीषण, युद्ध में अपराजित लक्ष्मण जी के रणश्रम को दूर करने के लिये, तथा उनका प्रिय और हितसाधन करने के उद्देश्य से उनके पास जा खड़े हुए ॥ ४२ ॥

युद्धकाण्ड का नवासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

नवतितमः सर्गः

—:०:—

युध्यमानौ तु तौ दृष्ट्वा प्रसक्तौ नरराक्षसौ ।
प्रभिन्नाविव मातङ्गौ परस्परवधैषिणौ ॥ १ ॥

परस्पर वध करने की इच्छा किये मद से अँधे दो हाथियों के समान भिड़े हुए लक्ष्मण जी और इन्द्रजीत को देख ॥ १ ॥

तौ द्रष्टुकामः संग्रामे परस्परगतौ बली ।
शूरः स रावणभ्राता तस्थौ संग्राममूर्धनि ॥ २ ॥

उन दोनों का युद्ध देखने के लिये, रावण के भाई शूर विभीषण समरभूमि में जा खड़े हुए ॥ २ ॥

ततो विस्फारयामास महद्धनुरवस्थितः ।
उत्ससर्ज च तीक्ष्णाग्रान्राक्षसेषु महाशरान् ॥ ३ ॥

तदनन्तर अपने विशाल धनुष को टंकोर कर, वे राक्षसों के ऊपर पैने पैने और बड़े बड़े तीर छोड़ने लगे ॥ ३ ॥

ते शराः शिखिसङ्काशा निपतन्तः समाहिताः ।
राक्षसान्दारयामासुर्वज्राणीव महागिरीन् ॥ ४ ॥

जैसे वज्र पहाड़ को चूर चूर कर डालता है; वैसे ही अग्नि के समान उन बाणों ने निशाने पर लग, राक्षसों के शरीरों को छिन्न भिन्न कर डाला ॥ ४ ॥

विभीषणस्यानुचरास्तेऽपि शूलासिपट्टिशैः ।
चिच्छिदुः समरे वीरान्राक्षसान्राक्षसोत्तमाः ॥ ५ ॥

विभीषण के चारों राक्षसश्रेष्ठ मंत्री भी शूल और पट्टों से बड़े बड़े वीर राक्षसों का संहार कर रहे थे ॥ ५ ॥

राक्षसैस्तैः परिवृतः स तदा तु विभीषणः ।
बभौ मध्ये प्रहृष्टानां कलभानामिव द्विपः ॥ ६ ॥

उस समय विभीषण उन अपने चारों मंत्रियों के बीच शोभायमान हो रहे थे, मानों हाथियों के चार बच्चों के बीच में गजराज शोभित हो रहा हो ॥ ६ ॥

ततः सञ्चोदयानो वै हरीन्रक्षो रणप्रियान् ।
उवाच वचनं काले कालज्ञो रक्षसां वरः ॥ ७ ॥

उचित समय को पहिचानने वाले राक्षसश्रेष्ठ विभीषण रणप्रिय वानरों को उत्साहित करते हुए उस समय के अनुरूप यह वचन बोले ॥ ७ ॥

एकोऽयं राक्षसेन्द्रस्य [1]परायणमिव स्थितः ।
एतच्छेषं बलं तस्य किं तिष्ठत हरीश्वराः ॥ ८ ॥

---

१ परायणं—गतिः । (गो०)

हे वानरों! यह इन्द्रजीत ही रावण का अब एकमात्र सहारा रह गया है और अब यही थोड़ी सी सेना बच रही है। सो तुम खड़े खड़े क्या करते हो? ॥ ८ ॥

अस्मिन्विनिहते पापे राक्षसे रणमूर्धनि ।
रावणं वर्जयित्वा तु शेषमस्य हतं बलम् ॥ ९ ॥

युद्ध में इस पापी राक्षस इन्द्रजीत के मारे जाते ही फिर रावण को छोड़ और कोई लड़ने वाला नहीं रह जायगा। (सो इन सब को मार गिराओ जिससे बच कर एक भी लौट कर लङ्का में न जाने पावे) ॥ ९ ॥

प्रहस्तो निहतो वीरो निकुम्भश्च महाबलः ।
कुम्भकर्णश्च कुम्भश्च धूम्राक्षश्च निशाचरः ॥ १० ॥

जम्बुमाली महामाली तीक्ष्णवेगोऽशनिप्रभः ।
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च वज्रदंष्ट्रश्च राक्षसः ॥ ११ ॥

संह्रादी विकटो निघ्नस्तपनो दम एव च ।
प्रघासः प्रघसश्चैव प्रजङ्घो जङ्घ एव च ॥ १२ ॥

अग्निकेतुश्च दुर्धर्षो रश्मिकेतुश्च वीर्यवान् ।
विद्युज्जिह्वो द्विजिह्वश्च सूर्यशत्रुश्च राक्षसः ॥ १३ ॥

अकम्पनः सुपार्श्वश्च चक्रमाली च राक्षसः ।
कम्पनः सत्त्ववन्तौ तौ देवान्तकनरान्तकौ ॥ १४ ॥

एतान्निहत्यातिबलान्बहून्राक्षससत्तमान् ।
बाहुभ्यां सागरं तीर्त्वा लङ्घ्यतां गोष्पदं लघु ॥ १५ ॥

देखो घोर प्रहस्त, बलवान निकुम्भ, कुम्भकर्ण, कुम्भ, धूम्राक्ष, अंशुमाली, महामाली, तीक्ष्णवेग, अशनिप्रभ, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, वज्रदंष्ट्र, संहादी, विकट, निघ्न, तपन, दम, प्रघास, प्रघस, प्रजंघ, जंघ, अग्निकेतु, पराक्रमी रश्मिकेतु, विद्युज्जिह्व, द्विजिह्व, सूर्यशत्रु, अकम्पन, सुपार्श्व, चक्रमाली, कम्पन, बलवान देवान्तक नरान्तक आदि इन अत्यन्त बलवान एवं बहुत से राक्षसों को मार कर; तुम सारा समुद्र पैर चुके हो, सो इस गाय के खुर समान छोटे जल के गड्ढे को नांघना तुम्हारे लिये कौन बड़ी बात है॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

एतावदेव शेषं वो जेतव्यमिह वानराः ।
हताः सर्वे समागम्य राक्षसा बलदर्पिताः ॥ १६ ॥

बस अब इतने ही तो बच रहे हैं, सो हे वानरों! इनको भी मार कर डालो। समरभूमि में जो बल के अहंकारी राक्षसगण आये; उनमें से एक भी जीता जागता लौट कर नहीं जा सका अर्थात् मारा गया॥ १६ ॥

अयुक्तं निधनं कर्तुं पुत्रस्य [1]जनितुर्मम ।
घृणामपास्य रामार्थे निहन्यां भ्रातुरात्मजम् ॥ १७ ॥

यद्यपि मेरे लिये यह उचित नहीं है कि, मैं चचा हो कर पुत्र स्थानीय अपने भतीजे का वध करूँ; तथापि मैं श्रीरामचन्द्र जी के लिये (इस निन्द्य कार्य को कर) निन्दा की कुछ भी परवाह न कर, अपने बड़े भाई के पुत्र अर्थात् अपने भतीजे को मारता हूँ॥ १७ ॥

---

1 जनितुः जनयितुः—पितृव्यस्येत्यर्थः। (गो०)

हन्तुकामस्य मे बाष्पं चक्षुश्चैव निरुध्यति ।
तमेवैष महाबाहुर्लक्ष्मणः शमयिष्यति ॥ १८ ॥

क्या करूँ मैं जब इसे मारना चाहता हूँ; तब मेरी आँखों में आँसू भर आते हैं। सो इसको, महाबलवान लक्ष्मण जी ही शान्त करेंगे अर्थात् इन्द्रजीत का वध करेंगे ॥ १८ ॥

वानरा घ्नत सम्भूय भृत्यानस्य समीपगान् ।
इति तेनातियशसा राक्षसेनाभिचोदिताः ॥ १९ ॥

हे वानरों! तुम लोग आगे बढ़ कर, इन्द्रजीत के समीप खड़े हुए राक्षसों को मार डालो। जब इस प्रकार यशस्वी विभीषण ने उन वानरों को उत्साहित अथवा उत्तेजित किया ॥ १९ ॥

वानरेन्द्रा जहृषिरे लाङ्गूलानि च विव्यधुः ।
ततस्ते कपिशार्दूलाः क्ष्वेलन्तश्च मुहुर्मुहुः ॥ २० ॥

तब वानर यूथपति हर्षित हो पूँछे फटकारने लगे और वे कपि-शार्दूल बार बार सिंहनाद करने लगे ॥ २० ॥

मुमुचुर्विविधान्नादान्मेघान्दृष्ट्वेव बर्हिणः ।
जाम्बवानपि तैः सर्वैः स्वयूथैरपि संवृतः ॥ २१ ॥

वे वानर वीर उसी प्रकार विविध प्रकार की बोलियाँ बोल रहे थे, जिस प्रकार मोर बादलों को देख बोला करते हैं। उन वानरों के साथ अपनी भालुओं की सेना लिये हुए जाम्बवान भी आ मिले ॥ २१ ॥

अश्मभिस्ताडयामास नखैर्दन्तैश्च राक्षसान् ।
निघ्नन्तमृक्षाधिपतिं राक्षसास्ते महाबलाः ॥ २२ ॥

परिवव्रुर्भयं त्यक्त्वा तमनेकविधायुधाः ।
शरैः परशुभिस्तीक्ष्णैः पट्टिशैर्यष्टितोमरैः ॥ २३ ॥

वे रीछ भालुओं सहित पत्थरों नखों और दाँतों से राक्षसों का संहार करने लगे। महाबली राक्षसों ने भी पैने पैने बाणों, फरसों, पटाओं, यष्टियों और तोमरादि विविध प्रकार के आयुधों से निर्भय हो, ॥ २२ ॥ २३ ॥

जाम्बवन्तं मृधे जघ्नुर्निघ्नन्तं राक्षसीं चमूम् ।
स सम्प्रहारस्तुमुलः संजज्ञे कपिरक्षसाम् ॥ २४ ॥

युद्ध में इस राक्षसी सेना का संहार करते हुए जाम्बवान पर प्रहार किया। वानरों और राक्षसों का भयानक युद्ध हुआ ॥ २४ ॥

देवासुराणां क्रुद्धानां यथा भीमो महास्वनः ।
हनुमानपि संक्रुद्धः सालमुत्पाट्य वीर्यवान् ॥ २५ ॥

इन युद्ध करते हुए राक्षस और वानरों का वैसा ही सिंहनाद हो रहा था; जैसा कि, क्रुद्ध हो कर लड़ने वाले देवताओं और असुरों के युद्ध में हुआ था। उधर बलवान हनुमान जी ने भी (लक्ष्मण को अपनी पीठ से नीचे उतार) अत्यन्त कुपित हो, एक साल का पेड़ उखाड़ लिया ॥ २५ ॥

रक्षसां कदनं चक्रे समासाद्य सहस्रशः ।
स दत्त्वा तुमुलं युद्धं पितृव्यस्येन्द्रजिद्युधि ॥ २६ ॥

और उससे उन्होंने हज़ारों राक्षसों को मार डाला। उधर इन्द्रजीत अपने चचा विभीषण के साथ कुछ समय तक युद्ध कर, ॥ २६ ॥

लक्ष्मणं परवीरघ्नं पुनरेवाभ्यधावत ।
तौ प्रयुद्धौ तदा वीरौ मृधे लक्ष्मणराक्षसौ ॥ २७ ॥

फिर शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी की ओर मुड़ा। उस संग्राम में युद्ध करते हुए दोनों वीर इन्द्रजीत और लक्ष्मण ॥ २७ ॥

शरौघानभिवर्षन्तौ जघ्नतुस्तौ परस्परम् ।
अभीक्ष्णमन्तर्दधतुः शरजालैर्महाबलौ ॥ २८ ॥

एक दूसरे पर बाणवर्षा कर प्रहार करने लगे। वे दोनों महाबली योद्धा कभी कभी शरजाल से ऐसे ढक जाते थे ॥ २८ ॥

चन्द्रादित्याविवोष्णान्ते यथा मेघैस्तरस्विनौ ।
न ह्यादानं न सन्धानं धनुषो वा परिग्रहः ॥ २९ ॥

न विप्रमोक्षो बाणानां न विकर्षो न विग्रहः ।
न मुष्टिप्रतिसन्धानं न लक्ष्यप्रतिपादनम् ॥ ३० ॥

अदृश्यत तयोस्तत्र युध्यतोः पाणिलाघवात् ।
चापवेगविनिर्मुक्तबाणजालैः समन्ततः ॥ ३१ ॥

जैसे वर्षाकाल में शीघ्रगामी सूर्य और चन्द्र मेघजाल में छिप जाते हैं। वे दोनों ऐसी फुर्ती से बाण चला रहे थे कि, यह नहीं देख पड़ता था कि, कब उन्होंने बाण तरकस से निकाला, कब उसे रोदे पर रखा, कब दहिने बाएं हाथ में (घूमा फिरा कर) धनुष पकड़ा, कब कान तक रोदा तान कर बाण छोड़ा, कब धनुष टूटने पर दूसरा धनुष लिया। कब वे मुट्ठी बाँधते हैं और कब निशाना बेधते हैं। इस प्रकार वे अदृश्य रह कर अपनी अपनी

हस्तलाघवता दिखा जब दोनों ओर लड़ रहे थे, तब उनके धनुष से बड़े वेग से छूटे हुए बाणों से चारों ओर ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

अन्तरिक्षे हि संछन्ने न रूपाणि चकाशिरे ।
लक्ष्मणो रावणिं प्राप्य रावणिश्चापि लक्ष्मणम् ॥३२॥

आकाश ढक गया था जिससे कोई भी वस्तु देख नहीं पड़ती थी। केवल लक्ष्मण जी इन्द्रजीत को और इन्द्रजीत लक्ष्मण को ताक कर बाण चला रहे थे ॥ ३२ ॥

अव्यवस्था भवत्युग्रा ताभ्यामन्योन्यविग्रहे ।
ताभ्यामुभाभ्यां तरसा विसृष्टैर्विशिखैः शितैः ॥३३॥

उन दोनों की लड़ाई में ऐसी गड़बड़ी हुई कि, यह अपनी ओर का है और यह शत्रु की ओर का है—यह जानने की व्यवस्था न रह सकी। ये दोनों वीर योद्धा बड़े वेग से पैने पैने बाण छोड़ रहे थे ॥ ३३ ॥

निरन्तरमिवाकाशं बभूव तमसावृतम् ।
तैः पतद्भिश्च बहुभिस्तयोः शरशतैः शितैः ॥ ३४ ॥

उन बाणों के चलने से आकाश बिल्कुल ढक गया और अँधेरा छा गया। उन दोनों के चलाये हुए सैकड़ों हज़ारों पैने बाणों से ॥ ३४ ॥

दिशश्च प्रदिशश्चैव बभूवुः शरसङ्कुलाः ।
तमसा संवृतं सर्वमासीद्भीमतरं महत् ॥ ३५ ॥

समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ बाणमयी हो गयीं। चारों ओर अन्धकार छा कर बड़ा भयङ्कर जान पड़ने लगा ॥ ३५ ॥

अस्तं गते सहस्रांशौ संवृतं तमसेव हि ।
रुधिरौघमहानद्यः प्रावर्तन्त सहस्रशः ॥ ३६ ॥

थोड़ी ही देर बाद सूर्य के अस्त होने पर और भी अँधेरी छा गयी। हज़ारों प्रवाहों से लोहू की नदियाँ बह निकलीं ॥ ३६ ॥

क्रव्यादा दारुणा वाग्भिश्चिक्षिपुर्भीमनिःस्वनम् ।
न तदानीं ववौ वायुर्न च जज्वाल पावकः ॥ ३७ ॥

मांसाहारी क्रूर पक्षीगण चारों ओर विकट चीत्कार कर उठे। न तो उस समय हवा चल रही थी और न आग ही जलती थी ॥ ३७ ॥

स्वस्त्यस्तु लोकेभ्य इति जजल्पुश्च महर्षयः ।
सम्पेतुश्चात्र सम्प्राप्ता गन्धर्वाः सह चारणैः ॥ ३८ ॥

यह देख कर (युद्ध देखने के लिये आये हुए आकाशस्थित) महर्षि, यह कह ही रहे थे कि, सब लोगों का मङ्गल हो कि, इसी बीच में चारणों सहित गन्धर्व भी वहाँ आ गये ॥ ३८ ॥

अथ राक्षससिंहस्य कृष्णान्कनकभूषणान् ।
शरैश्चतुर्भिः सौमित्रिर्विव्याध चतुरो हयान् ॥ ३९ ॥

इतने में लक्ष्मण जी ने चार बाण चला कर, इन्द्रजीत के रथ के काले रंग के और सुवर्ण के आभूषणों से भूषित, चारों घोड़ों को वेध डाला ॥ ३९ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन शितेन निशितेन च ।
सम्पूर्णायतमुक्तेन सुपत्रेण सुवर्चसा ॥ ४० ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने पीले रंग के, पैने, कान तक खींच कर छोड़े हुए, सुन्दर पुंखों से युक्त और चमचमाते भल्लक बाण से ॥ ४० ॥

महेन्द्राशनिकल्पेन सूतस्य विचरिष्यतः ।
स तेन बाणाशनिना तलशब्दानुनादिना ॥ ४१ ॥

जो इन्द्र के वज्र के समान था और जिसके रोदे से छोड़ते समय, वज्रपात के समान शब्द हुआ, लक्ष्मण जी ने समरभूमि में रथ पर घूमते हुए इन्द्रजीत के सारथी का ॥ ४१ ॥

लाघवाद्राघवः श्रीमाञ्शिरः कायादपाहरत् ।
स यन्तरि महातेजा हते मन्दोदरीसुतः ॥ ४२ ॥

सिर, बड़ी सफाई से धड़ से काट डाला । सारथी के मारे जाने पर महातेजस्वी मन्दोदरी का पुत्र इन्द्रजीत ॥ ४२ ॥

स्वयं सारथ्यमकरोत्पुनश्च धनुरस्पृशत् ।
तदद्भुतमभूत्तत्र सामर्थ्यं पश्यतां युधि ॥ ४३ ॥

स्वयं ही रथ हाँकता था और धनुष भी चलाता था । इस युद्ध में उसका सारथीपन का काम (और साथ ही साथ बाण चलाने का काम) देख कर, लोगों को उसकी सामर्थ्य पर बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४३ ॥

हयेषु व्यग्रहस्तं तं विव्याध निशितैः शरैः ।
धनुष्यथ पुनर्व्यग्रे हयेषु मुमुचे शरान् ॥ ४४ ॥

जब मेघनाद रथ हाँकता, तब लक्ष्मण उसके ऊपर बाणों की वर्षा करते और जब वह फिर घबड़ा कर धनुष बाण लेता ; तब वे घोड़ों के बाण मारते थे ॥ ४४ ॥

छिद्रेषु तेषु बाणेषु सौमित्रिः शीघ्रविक्रमः ।
अर्दयामास बाणौघैर्विचरन्तमभीतवत् ॥ ४५ ॥

वार करने का अवसर पा, फुर्तीले लक्ष्मण जी उसे बाणों की वर्षा से भलीभाँति घायल कर रहे थे। तो भी वह निर्भय हो समरभूमि में विचर रहा था ॥ ४५ ॥

निहतं सारथिं दृष्ट्वा समरे रावणात्मजः ।
प्रजहौ समरोद्धर्षं विषण्णः स बभूव ह ॥ ४६ ॥

लड़ाई में सारथी को मरा हुआ देख, इन्द्रजीत हतोत्साह हो गया और विषाद ने उसे आ घेरा ॥ ४६ ॥

विषण्णवदनं दृष्ट्वा राक्षसं हरियूथपाः ।
ततः परमसंहृष्टा लक्ष्मणं चाभ्यपूजयन् ॥ ४७ ॥

इन्द्रजीत को विषादयुक्त देख, वानरयूथपति परम हर्षित हो, लक्ष्मण जी की प्रशंसा करने लगे ॥ ४७ ॥

ततः प्रमाथी शरभो रभसो गन्धमादनः ।
अमृष्यमाणाश्चत्वारश्चक्रुर्वेगं हरीश्वराः ॥ ४८ ॥

तदनन्तर प्रमाथो, शरभ, रभस और गन्धमादन ये चार वानरयूथपति, इन्द्रजीत का वीरत्व सह्य न कर बड़े ज़ोर से ॥ ४८

ते चास्य हयमुख्येषु तूर्णमुत्प्लुत्य वानराः ।
चतुर्षु सुमहावीर्या निपेतुर्भीमविक्रमाः ॥ ४९ ॥

ऊपर को उछल कर, फुर्ती के साथ इन्द्रजीत के चारों घोड़ों पर अपना सम्पूर्ण बल लगा अति भयङ्कर विक्रम से कूदे ॥ ४९ ॥

तेषामधिष्ठितानां तैर्वानरैः पर्वतोपमैः ।
मुखेभ्यो रुधिरं रक्तं हयानां समवर्तत ॥ ५० ॥

उन पर्वताकार वानरों के, घोड़ों की पीठ पर कूदने से चारों घोड़ों के मुख से रक्त बहने लगा ॥ ५० ॥

ते हया मथिता भग्ना व्यसवो धरणीं गताः ।
ते निहत्य हयांस्तस्य प्रमथ्य च महारथम् ।
पुनरुत्पत्य वेगेन तस्थुर्लक्ष्मणपार्श्वतः ॥ ५१ ॥

वे घोड़े पिस गये. उनके शरीर चूर हो गये और वे निर्जीव हो, भूमि पर गिर पड़े । वे वानर उन घोड़ों को इस प्रकार मार और रथ को चकनाचूर कर, पुनः उछल कर बड़ी तेज़ी से लक्ष्मण जी के पास जा खड़े हुए ॥ ५१ ॥

स हताश्वादवप्लुत्य रथान्मथितसारथेः ।
शरवर्षेण सामित्रिमभ्यधावत रावणिः ॥ ५२ ॥

घोड़ों और सारथी के मारे जाने पर इन्द्रजीत रथ से कूद पड़ा और बाणों की वर्षा करता हुआ लक्ष्मण जी के ऊपर दौड़ा ॥५२॥

ततो महेन्द्रप्रतिमः स लक्ष्मणः
पदातिनं तं निशितैः शरोत्तमैः ।
सृजन्तमाजौ निशिताञ्शरोत्तमान्
भृशं तदा बाणगणैर्न्यवारयत् ॥ ५३ ॥

इति नवतितमः सर्गः ॥

यह देख, इन्द्र की समान लक्ष्मण जी ने पैदल दौड़ते हुए और पैने और चोखे बाणों को छोड़ते हुए इन्द्रजीत को बहुत से पैने और चोखे बाण वर्षा कर रोक दिया ॥ ५३ ॥

युद्धकाण्ड का नव्वेवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकनवतितमः सर्गः

—*—

स हताश्वो महातेजा भूमौ तिष्ठन्निशाचरः ।
इन्द्रजित्परमक्रुद्धः सम्प्रजज्वाल तेजसा ॥ १ ॥

घोड़ों के मारे जाने से महातेजस्वी इन्द्रजीत धरती पर खड़ा हुआ अत्यन्त कुपित था और तेज से प्रज्वलित हो रहा था ॥ १ ॥

तौ धन्विनौ जिघांसन्तावन्योन्यमिषुभिर्भृशम् ।
विजयेनाभिनिष्क्रान्तौ वने [1]गजवृषाविव ॥ २ ॥

वन में युद्ध करते हुए, दो श्रेष्ठ हाथियों की तरह वे दो धनुषधारियों में श्रेष्ठ योद्धा, एक दूसरे का संहार करने के उद्देश्य से, एक दूसरे पर बाणों की वर्षा कर रहे थे ॥ २ ॥

निबर्हयन्तश्चान्योन्यं ते राक्षसवनौकसः ।
भर्तारं न जहुर्युद्धे [2]सम्पतन्तस्ततस्ततः ॥ ३ ॥

वानर और निशाचर भी अपने अपने स्वामियों को न त्याग कर अपने अपने स्वामियों के चारों ओर घूम फिर रहे थे ॥ ३ ॥

---

१ गजवृषाविव—गजश्रेष्ठाविव । (गो०) २ सम्पतन्तस्ततः—परितः सञ्चरन्तः । (गो०)

ततस्तान्राक्षसान्सर्वान्हर्षयन्रावणात्मजः ।
[1]स्तुवानो हर्षमाणश्च इदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तब इन्द्रजीत उन सब राक्षसों को उत्साहित करने के लिये, हर्षित हो उनकी बड़ाई कर यह बोला ॥ ४ ॥

तमसा बहुलेनेमाः संसक्ताः सर्वतो दिशः ।
नेह विज्ञायते स्वो वा परो वा राक्षसोत्तमाः ॥ ५ ॥

हे राक्षसश्रेष्ठो ! रात हो जाने के कारण सब ओर अन्धकार ही अन्धकार छाया हुआ है । अतः इस समय अपना और पराया नहीं जान पड़ता ॥ ५ ॥

धृष्टं भवन्तो युध्यन्तु हरीणां मोहनाय वै ।
अहं तु रथमास्थाय आगमिष्यामि संयुगम् ॥ ६ ॥

अतः वानरों को धोखा देने के लिये आप लोग ढिठाई के साथ ...र्वात् दृढ़तापूर्वक लड़ें । मैं दूसरे रथ में बैठ कर अभी समरभूमि में लौट कर आता हूँ ॥ ६ ॥

तथा भवन्तः कुर्वन्तु यथेमे काननौकसः ।
न युध्येयुर्दुरात्मानः प्रविष्टे नगरं मयि ॥ ७ ॥

आप लोग तब तक कोई ऐसा उपाय करना कि, मेरे नगरी में जाने पर ये दुष्ट वानर युद्ध ही न करें ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा रावणसुतो वञ्चयित्वा वनौकसः ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां रथहेतोरमित्रहा ॥ ८ ॥

---

१ स्तुवानः—स्तुवन् । आर्षः शानच् । (गो०)

यह कह कर और वानरों को धोखा देकर शत्रुहन्ता इन्द्रजीत दूसरा रथ लाने के लिये लङ्कापुरी में चला गया ॥ ८ ॥

स रथं भूषयित्वा तु रुचिरं हेमभूषितम् ।
प्रासासिशरसम्पूर्णं युक्तं परमवाजिभिः ॥ ९ ॥

लङ्का में जा उसने सुवर्णभूषित एक सुन्दर रथ सजवाया । उस रथ में बहुत से प्रास, तलवारें और बाण रखे हुए थे और अच्छे घोड़े जुते हुए थे ॥ ९ ॥

अधिष्ठितं [1]हयज्ञेन सूतेनाप्तोपदेशिना[2] ।
आरुरोह महातेजा रावणिः समितिञ्जयः ॥ १० ॥

उस रथ का चलाने वाला जो सारथी था वह घोड़ों के मन की बात जानने वाला एवं भली सलाह बतलाने वाला था । समरविजयी महातेजस्वी इन्द्रजीत उस रथ पर सवार हुआ ॥ १० ॥

स राक्षसगणैर्मुख्यैर्वृतो मन्दोदरीसुतः ।
निर्ययौ नगरात्तूर्णं कृतान्तबलचोदितः ॥ ११ ॥

इस बार मन्दोदरीपुत्र इन्द्रजीत के साथ प्रधान प्रधान राक्षस और हो लिये । मौत का भेजा हुआ इन्द्रजीत फिर तुरन्त ही नगरी के बाहिर निकला ॥ ११ ॥

सोऽभिनिष्क्रम्य नगरादिन्द्रजित्परवीरहा ।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैर्लक्ष्मणं सविभीषणम् ॥ १२ ॥

---

१ हयज्ञेन—अश्वहृदयज्ञेन । (रा०) २ आप्तोपदेशिना—हितमुपदेष्टुं-शीलमस्त्यस्यतेन (रा०) ।

शत्रुहन्ता इन्द्रजीत नगरी के बाहिर पहुँच, बड़ी तेज़ी से चलने वाले घोड़ों को हँकवा वहाँ गया; जहाँ विभीषण सहित लक्ष्मण जी थे ॥ १२ ॥

ततो रथस्थमालोक्य सौमित्री रावणात्मजम् ।
वानराश्च महावीर्या राक्षसश्च विभीषणः ॥ १३ ॥

तब लक्ष्मण, विभीषण तथा अन्य वानरगण इन्द्रजीत को दूसरे रथ में बैठा हुआ देख, ॥ १३ ॥

विस्मयं परमं जग्मुर्लाघवात्तस्य धीमतः ।
रावणिश्चापि संक्रुद्धो रणे वानरयूथपान् ॥ १४ ॥
पातयामास बाणौघैः शतशोऽथ सहस्रशः ।
स मण्डलीकृतधनू रावणिः समितिञ्जयः ॥ १५ ॥

उस बुद्धिमान इन्द्रजीत की फुर्ती पर बड़े विस्मित हुए। अब तो इन्द्रजीत क्रोध में भर युद्ध करता हुआ सैकड़ों हज़ारों वानरयूथपतियों को बाण मार कर गिराने लगा। समरविजयी इन्द्रजीत ऐसी फुर्ती से लड़ रहा था कि, उसका धनुष सदा मण्डलाकार ही देख पड़ता था ॥ १४ ॥ १५ ॥

हरीनभ्यहनत्क्रुद्धः परं लाघवमास्थितः ।
ते वध्यमाना हरयो नाराचैर्भीमविक्रमाः ॥ १६ ॥

वह क्रोध में भर बड़ी फुर्ती के साथ वानरों को मार रहा था। उस भीमविक्रमी इन्द्रजीत के नाराचों से मारे जाने पर, वानरगण ॥ १६ ॥

सौमित्रिं शरणं प्राप्ताः प्रजापतिमिव प्रजाः ।
ततः समरकोपेन ज्वलितो रघुनन्दनः ॥ १७ ॥

लक्ष्मण जी के शरण में वैसे ही गये ; जैसे प्रजा, प्रजापति (ब्रह्मा) के शरण में जाती है। तब तो समरकोप से प्रज्वलित हो लक्ष्मण जी ने ॥ १७ ॥

चिच्छेद कार्मुकं तस्य दर्शयन्पाणिलाघवम् ।
सोऽन्यत्कार्मुकमादाय सज्यं चक्रे त्वरन्निव ॥ १८ ॥

अपने हाथ की सफाई दिखलाते हुए इन्द्रजीत का धनुष काट डाला। इन्द्रजीत ने दूसरा धनुष लिया और बहुत जल्दी से उस पर रोदा चढ़ाया ॥ १८ ॥

तदप्यस्य त्रिभिर्बाणैर्लक्ष्मणो निरकृन्तत ।
अथैनं छिन्नधन्वानमाशीविषविषोपमैः ॥ १९ ॥

उस धनुष को भी लक्ष्मण जी ने तीन बाण चला कर काट डाला। इस प्रकार इन्द्रजीत का दूसरा धनुष काट, तब लक्ष्मण जी ने विषधर सर्प की तरह विषैले ॥ १९ ॥

विव्याधोरसि सौमित्री रावणिं पञ्चभिः शरैः ।
ते तस्य कायं निर्भिद्य महाकार्मुकनिःसृताः ॥ २० ॥

पाँच बाण इन्द्रजीत की छाती में मार कर उसे घायल किया। लक्ष्मण जी के विशाल धनुष से छूटे हुए वे पाँचों बाण मेघनाद के शरीर को फोड़ कर ॥ २० ॥

निपेतुर्धरणीं बाणा रक्ता इव महोरगाः ।
स भिन्नवर्मा रुधिरं वमन्वक्त्रेण रावणिः ॥ २१ ॥

रक्त में सने हुए लाल रंग के साँपों की तरह पृथिवी पर जा गिरे। इन्द्रजीत का कवच टूट गया और उसके मुख से खून निकलने लगा ॥ २१ ॥

जग्राह कार्मुकश्रेष्ठं दृढज्यं बलवत्तरम् ।
स लक्ष्मणं समुद्दिश्य परं लाघवमास्थितः ॥ २२ ॥

तब उसने बड़ी मज़बूत प्रत्यञ्चा वाला एक उत्तम धनुष ले, बड़ी सफाई के साथ लक्ष्मण को निशाना बना ॥ २२ ॥

ववर्ष शरवर्षाणि वर्षाणीव पुरन्दरः ।
मुक्तमिन्द्रजिता तत्तु शरवर्षमरिन्दमः ॥ २३ ॥
अवारयदसम्भ्रान्तो लक्ष्मणः सुदुरासदम् ।
दर्शयामास[1] च तदा रावणिं रघुनन्दनः ॥ २४ ॥

उनके ऊपर वैसे ही बाणवृष्टि की जैसे इन्द्र जलवृष्टि करते हैं। इन्द्रजीत के चलाये बाणों की वृष्टि को जिसे कोई दूसरा नहीं रोक सकता था, शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी सहज में रोक कर, मेघनाद को अपना पराक्रम दिखला रहे थे ॥ २३ ॥ २४ ॥

असम्भ्रान्तो महातेजास्तदद्भुतमिवाभवत् ।
ततस्तान्राक्षसान्सर्वांस्त्रिभिरेकैकमाहवे ॥ २५ ॥
अविध्यत्परमक्रुद्धः शीघ्रास्त्रं[2] सम्प्रदर्शयन् ।
राक्षसेन्द्रसुतं चापि बाणौघैः समताडयत् ॥ २६ ॥

उस समय महातेजस्वी और धैर्ययुक्त लक्ष्मण जी का पराक्रम देख, सब लोग विस्मित हुए। इस युद्ध में अपनी, शीघ्र बाण चलाने की सामर्थ्य दिखला कर, वहाँ जितने राक्षस थे, उन सब के (लक्ष्मण जी ने) तीन तीन बाण मारे और मेघनाद को भी मारे बाणों के ध्वस्त कर दिया ॥ २५ ॥ २६ ॥

---

१ दर्शयामास—पराक्रममिति शेषः । (गो०) २ शीघ्रास्त्रं—अस्त्रविषयक-शीघ्रप्रयोग सामर्थ्यं । (रा०).

सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुघातिना ।
[1]असक्तं प्रेषयामास लक्ष्मणाय बहूञ्शरान् ॥ २७ ॥

रावणपुत्र मेघनाद भी शत्रुघाती शत्रु द्वारा अत्यन्त घायल हो लक्ष्मण जी पर अविरल बाणवृष्टि करने लगा ॥ २७ ॥

तानप्राप्ताञ्शितैर्बाणैश्चिच्छेद रघुनन्दनः ।
सारथेरस्य च रणे रथिनो [2]रथसत्तमः ॥ २८ ॥

शिरो जहार धर्मात्मा भल्लेनानतपर्वणा ।
असूतास्ते हयास्तत्र रथमूहुरविक्लवाः[3] ॥ २९ ॥

मण्डलान्यभिधावन्तस्तदद्भुतमिवाभवत् ।
अमर्षवशमापन्नः सौमित्रिर्दृढविक्रमः ॥ ३० ॥

किन्तु लक्ष्मण जी उसके चलाये समस्त बाणों को बीच ही में अपने पैने बाणों से काट डालते थे। इतने में रथियों में श्रेष्ठ रथी धर्मात्मा लक्ष्मण जी ने इन्द्रजीत के सारथी का सिर एक पैने और सीधे पोरुओं वाले भल्लक बाण से काट डाला। सारथी के न रहने पर भी घोड़े शिक्षित होने के कारण भड़के नहीं और रथ लेकर भागते हुए चक्कर काटने लगे। यह भी एक आश्चर्य ही की बात थी। ऐसा होना भी उचित न जान, दृढ़पराक्रमी लक्ष्मण जी ने ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

---

१ असक्तं—अव्यासक्तं, अविलम्बितं वा। (गो०) २ रथसत्तमो—लक्ष्मण। (रा०) ३ अविक्लवाः—अनाकुलाः। शिक्षापाटवातिशयादिति मन्तव्यं। (गो०)

प्रत्यविद्ध्यद्धयांस्तस्य शरैर्विन्रासयन्रणे ।
असृप्यमाणस्तत्कर्म रावणस्य सुतो बली ॥ ३१ ॥

उसके घोड़ों के बाण मार कर उनको समरभूमि में भड़का दिया । रावण के पुत्र बलवान इन्द्रजीत को यह सहन न हुआ ॥३१॥

विव्याध दशभिर्बाणैः सौमित्रिं तममर्षणम् ।
ते तस्य वज्रप्रतिमाः शराः सर्पविषोपमाः ॥ ३२ ॥

विलयं जग्मुराहत्य कवचं काञ्चनप्रभम् ।
अभेद्यकवचं मत्वा लक्ष्मणं रावणात्मजः ॥ ३३ ॥

उसने असहनशील लक्ष्मण के दस बाण मार कर, उन्हें घायल किया । उसके चलाये वे वज्र के समान विषधर सर्प की तरह बाण, लक्ष्मण जी के सुवर्ण की तरह चमचमाते कवच से टकरा कर नष्ट हो गये । तब इन्द्रजीत ने यह जानकर कि, लक्ष्मण का कवच अभेद्य है, ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

ललाटे लक्ष्मणं बाणैः सुपुङ्खैस्त्रिभिरिन्द्रजित् ।
अविध्यत्परमक्रुद्धः शीघ्रास्त्रं च प्रदर्शयन् ॥ ३४ ॥

इन्द्रजीत ने सुन्दर फोंक से युक्त तीन बाण लक्ष्मण जी के माथे में मारे । इस प्रकार इन्द्रजीत ने क्रुद्ध हो, शीघ्र बाण चलाने की अपनी सामर्थ्य प्रकट की ॥ ३४ ॥

तैः पृषत्कैर्ललाटस्थैः शुशुभे रघुनन्दनः ।
रणाग्रे [1]समरश्लाघी त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ३५ ॥

---

[1] समरश्लाघी—समरप्रिय । (गो०)

माथे में चुभे हुए उन तीन बाणों से समरप्रिय लक्ष्मण जी की समरभूमि में वैसी ही शोभा हुई ; जैसी शोभा तीन शृङ्गवाले पर्वत की हो ॥ ३५ ॥

स तथा ह्यर्दितो बाणै राक्षसेन महामृधे ।
तमाशु प्रतिविव्याध लक्ष्मणः पञ्चभिः शरैः ॥ ३६ ॥

उस महायुद्ध में इन्द्रजीत द्वारा उन बाणों से घायल हो लक्ष्मण जी ने भी उसके पाँच बाण मार कर उसको घायल कर दिया ॥ ३६ ॥

विकृष्येन्द्रजितो युद्धे वदने शुभकुण्डले ।
लक्ष्मणेन्द्रजितौ वीरौ महाबलशरासनौ ॥ ३७ ॥

अन्योन्यं जघ्नतुर्बाणैर्विशिखैर्भीमविक्रमौ ।
ततः शोणितदिग्धाङ्गौ लक्ष्मणेन्द्रजितावुभौ ॥ ३८ ॥

ये बाण, सुन्दर कुण्डलों से शोभित इन्द्रजीत के मुखमण्डल में लगे। इस प्रकार भयङ्कर विक्रमकारी महाबलवान एवं विशाल धनुषधारी वीर लक्ष्मण और इन्द्रजीत, बड़े पैने पैने बाणों से एक दूसरे को घायल करने लगे। इससे लक्ष्मण और इन्द्रजीत दोनों ही लोहू से नहा गये ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

रणे तौ रेजतुर्वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ।
तौ परस्परमभ्येत्य सर्वगात्रेषु धन्विनौ ॥ ३९ ॥

घोरैर्विव्यधनुर्बाणैः कृतभावावुभौ जये ।
ततः समरकोपेन संयुक्तो रावणात्मजः ॥ ४० ॥

उस समय समरभूमि में वे दोनों ऐसे जान पड़े जैसे फूले हुए टेसू के दो वृक्ष। वे दोनों धनुषधारी एक दूसरे से भिड़ कर, विजय प्राप्त करने की अभिलाषा कर के एक दूसरे को बाणों से घायल करने लगे। समरकोप से युक्त हो, रावणपुत्र इन्द्रजीत ने ॥ ३६ ॥ ४० ॥

विभीषणं त्रिभिर्बाणैर्विव्याध वदने शुभे ।
अयोमुखैस्त्रिभिर्विद्ध्वा राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ॥ ४१ ॥

तीन बाण विभीषण के मुख पर मारे। लोहे की नोंकों वाले तीन बाणों से राक्षसेन्द्र विभीषण को घायल कर ॥ ४१ ॥

एकैकेनाभिविव्याध तान्सर्वान्हरियूथपान् ।
तस्मै दृढतरं क्रुद्धो जघान गदया हयान् ॥ ४२ ॥

विभीषणो महातेजा रावणेः स दुरात्मनः ।
स हताश्वादवप्लुत्य रथान्निहतसारथेः ॥ ४३ ॥

समस्त वानरयूथपतियों के एक एक बाण मार कर उनको घायल किया। इससे और भी अधिक क्रुद्ध हो महातेजस्वी विभीषण ने उस दुरात्मा इन्द्रजीत के घोड़ों को गदा के प्रहार से मार डाला। रथ का सारथी तो पहिले ही मारा जा चुका था, अब घोड़ों के भी मारे जाने पर इन्द्रजीत रथ से कूद पड़ा ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अथशक्तिं महातेजाः पितृव्याय मुमोच ह ।
तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ४४ ॥

अब उस महातेजस्वी इन्द्रजीत ने एक शक्ति विभीषण के ऊपर फैंकी। उसको आते हुए देख लक्ष्मण जी ने ॥ ४४ ॥

चिच्छेद निशितैर्बाणैर्दशधा साऽपतद्भुवि ।
तस्मै दृढधनुः क्रुद्धो हताश्वाय विभीषणः ॥ ४५ ॥
वज्रस्पर्शसमान्पञ्च ससर्जोरसि मार्गणान् ।
ते तस्य कायं निर्भिद्य रुक्मपुङ्खा [1]निमित्तगाः ॥ ४६ ॥

पैने बाणों से काट डाला । उसके दस टूँक हो गये और वह भूमि पर गिर पड़ी । धनुषधारियों में श्रेष्ठ विभीषण ने भी क्रोध भर अश्वविहीन उस इन्द्रजीत की छाती में वज्र के समान पाँच बाण मारे । वे सुवर्ण पुङ्ख वाले लक्ष्यवेधी बाण इन्द्रजीत के शरीर को फोड़ कर ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

बभूवुर्लोहिता दिग्धा रक्ता इव महोरगाः ।
स पितृव्याय संक्रुद्ध इन्द्रजिच्छरमाददे ॥ ४७ ॥
उत्तमं रक्षसां मध्ये यमदत्तं महाबलः ।
तं समीक्ष्य महातेजा महेषुं तेन संहितम् ॥ ४८ ॥

लाल रंग के सर्पों की तरह, रक्त में तर हो गये । तब महाबली इन्द्रजीत ने क्रोध में भर राक्षसों में श्रेष्ठ अपने चचा विभीषण के ऊपर यम का दिया हुआ एक बाण चलाया । उस महाबाण को चलाते देख, महातेजस्वी ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

लक्ष्मणोऽप्याददे बाणमन्यं भीमपराक्रमः ।
कुबेरेण स्वयं स्वप्ने स्वस्मै दत्तं महात्मना ॥ ४९ ॥

और भीमपराक्रमी लक्ष्मण जी ने भी एक बाण धनुष पर रखा । यह बाण स्वप्न में महात्मा कुबेर जी ने स्वयं लक्ष्मण जी को दिया था ॥ ४९ ॥

१ निमित्तगाः—लक्ष्यगाः । (गो०)

दुर्जयं दुर्विषहं च सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
तयोस्ते धनुषी श्रेष्ठे बाहुभिः परिघोपमैः ॥ ५० ॥

यह बाण जैसा दुर्जेय था वैसा ही सुरों और असुरों में से किसी के सहने योग्य नहीं था—अथवा इसके प्रहार को कोई सह नहीं सकता था जब उन दोनों ने अपनी अपनी परिघ समान भुजाओं से अपने अपने बाण अपने अपने धनुषों पर रख, ॥ ५० ॥

विकृष्यमाणे बलवत्क्रौञ्चाविव चुकूजतुः ।
ताभ्यां तौ धनुषी श्रेष्ठे संहितौ सायकोत्तमौ ॥ ५१ ॥

बड़े ज़ोर से, धनुषों के रोदों को कान तक खींचा, तब वे दोनों धनुष क्रौञ्च पत्ती की तरह शब्द करने लगे। धनुषों पर रखे हुए उन उत्तम बाणों को ॥ ५१ ॥

विकृष्यमाणौ वीराभ्यां भृशं जज्वलतुः श्रिया ।
तौ भासयन्तावाकाशं धनुर्भ्यां विशिखौ च्युतौ ॥५२॥

मुखेन मुखमाहत्य सन्निपेततुरोजसा ।
सन्निपातस्तयोरासीच्छरयोर्घोररूपयोः ॥ ५३ ॥

(छोड़ने के लिये रोदे को) जब उन दोनों वीरों ने कान तक खींचा, तब वे अग्नि से प्रज्वलित हो गये। धनुषों से छूट कर वे दोनों आकाश में जा और प्रकाश करते हुए, आपस में टकरा कर बड़े ज़ोर से धरती पर गिर पड़े। उन भयङ्कर बाणों के आपस में टकरा कर भूमि पर गिरने से ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

सधूमविस्फुलिङ्गश्च तज्जोऽग्निर्दारुणोऽभवत् ।
तौ महाग्रहसङ्काशावन्योन्यं सन्निपत्य च ॥ ५४ ॥

धुर के साथ साथ चिनगारियाँ निकलीं। फिर उनसे बड़ी भयानक आग प्रकट हुई। वे दोनों दो महाग्रहों की तरह आपस में टकरा कर ॥ ५४ ॥

संग्रामे शतधा यान्तौ मेदिन्यां विनिपेततुः ।
शरौ प्रतिहतौ दृष्ट्वा तावुभौ रणमूर्धनि ॥ ५५ ॥

उस समरभूमि में वे सौ सौ टुकड़े होकर धरती पर गिर पड़े। समरभूमि में आपस में टकरा कर उन दोनों शरों को व्यर्थ जाते देख ॥ ५५ ॥

व्रीडितौ जातरोषौ च लक्ष्मणेन्द्रजितौ तदा ।
सुसंरब्धस्तु सौमित्रिरस्त्रं वारुणमाददे ॥ ५६ ॥

लक्ष्मण और इन्द्रजीत केवल लज्जित ही नहीं हुए; बल्कि वे दोनों बहुत क्रुद्ध भी हुए। तब लक्ष्मण ने कुपित हो इन्द्रजीत के ऊपर वरुणास्त्र चलाया ॥ ५६ ॥

रौद्रं महेन्द्रजिद्युद्धे व्यसृजद्युधि निष्ठितः ।
तेन तद्विहतं त्वस्त्रं वारुणं परमाद्भुतम् ॥ ५७ ॥

तब समरप्रिय इन्द्रजीत ने रौद्रास्त्र चलाया। तब परमाद्भुत-वरुणास्त्र द्वारा रौद्रास्त्र के नष्ट होने पर ॥ ५७ ॥

ततः क्रुद्धो महातेजा इन्द्रजित्समितिञ्जयः ।
आग्नेयं सन्दधे दीप्तं स लोकं संक्षिपन्निव[1] ॥ ५८ ॥

समरविजयी एवं महातेजस्वी इन्द्रजीत ने क्रोध में भर मानों लोकों का संहार करने के लिये दीप्तमान् आग्नेयास्त्र चलाया ॥५८॥

---

१ संक्षिपन्निव—संहरन्निव। (रा०)

सौरेणास्त्रेण तद्वीरो लक्ष्मणः प्रत्यवारयत् ।
अस्त्रं निवारितं दृष्ट्वा रावणिः क्रोधमूर्छितः ॥ ५९ ॥

इस आग्नेयास्त्र को वीर लक्ष्मण ने सूर्यास्त्र से रोक दिया। आग्नेयास्त्र का रोका जाना देख, इन्द्रजीत अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥५९॥

आसुरं शत्रुनाशाय घोरमस्त्रं समाददे ।
तस्माच्चापाद्विनिष्पेतुर्भास्वराः कूटमुद्गराः ॥ ६० ॥
शूलानि च भुशुण्ड्यश्च गदाः खड्गाः परश्वधाः ।
तद्दृष्ट्वा लक्ष्मणः संख्ये घोरमस्त्रमथासुरम् ॥ ६१ ॥
अवार्यं सर्वभूतानां सर्वशत्रुविनाशनम् ।
माहेश्वरेण द्युतिमांस्तदस्त्रं प्रत्यवारयत् ॥ ६२ ॥

और शत्रु को नष्ट करने के लिये उसने भयङ्कर आसुरास्त्र को धनुष पर रखा। उसे धनुष पर रखते ही उससे चमचमाते काँटेदार मुद्गर, शूल, भुशुण्डी, गदा, खड्ग और फरसे निकलने लगे। जब समर में प्रवृत्त लक्ष्मण जी ने उस भयङ्कर आसुरास्त्र को, जो किसी प्राणी से रोका नहीं जा सकता था और समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला था, देखा; तब उन कान्तिवान् लक्ष्मण जी ने उस आसुरास्त्र को माहेश्वरास्त्र से व्यर्थ कर दिया॥ ६० ॥६१॥ ६२ ॥

तयोः सुतुमुलं युद्धं संबभूवाद्भुतोपमम् ।
गगनस्थानि भूतानि लक्ष्मणं पर्यवारयन्[1] ॥ ६३ ॥

इस प्रकार जब उन दोनों का अभूतपूर्व युद्ध हुआ; तब आकाशस्थित प्राणियों ने अपनी अपनी रक्षा के लिये लक्ष्मण जी को घेर लिया॥ ६३ ॥

---

1 पर्यवारयन्—स्वस्वरक्षार्थं तत्रतस्थुः। (शि०)

भैरवाभिरुते भीमे युद्धे वानररक्षसाम् ।
भूतैर्बहुभिराकाशं विस्मितैरावृतं बभौ ॥ ६४ ॥

उस समय वानरों और राक्षसों का बड़े भयङ्कर शब्द के साथ भयानक युद्ध होने पर आकाशस्थित बहुत से प्राणी चकित हो गये ॥ ६४ ॥

ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वा गरुडोरगाः ।
शतक्रतुं पुरस्कृत्य ररक्षुर्लक्ष्मणं रणे ॥ ६५ ॥

उस समय समरभूमि में, ऋषि, पितर, देवता, गन्धर्व, गरुड़, सर्प, इन्द्र की अध्यक्षता में, लक्ष्मण की रक्षा करने लगे ॥ ६५ ॥

अथान्यं मार्गणश्रेष्ठं सन्दधे राघवानुजः ।
हुताशनसमस्पर्शं रावणात्मजदारणम् ॥ ६६ ॥

सुपत्रमनुवृत्ताङ्गं सुपर्वाणं सुसंस्थितम् ।
सुवर्णविकृतं वीरः शरीरान्तकरं शरम् ॥ ६७ ॥

दुरावारं दुर्विषहं राक्षसानां भयावहम् ।
आशीविषविषप्रख्यं देवसङ्घैः समर्चितम् ॥ ६८ ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने एक ऐसा उत्तम बाण धनुष पर चढ़ाया, जो छूने पर अग्नि की तरह जलाने वाला, इन्द्रजीत का नाश करने वाला, अच्छे पुङ्खों से युक्त, वर्तुलस्वरूप, अच्छी तरह बना हुआ, अच्छी गाँसियों वाला, सुवर्णभूषित, शरीर को नष्ट करने वाला अथवा मृत्युदायी, कठिनता से रोका जाने वाला, दुस्सह, राक्षसों को डराने वाला, महाविषधर सर्प के विष के समान विषैला और देवताओं द्वारा पूजित था ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

येन शक्रो महातेजा दानवानजयत्प्रभुः ।
पुरा दैवासुरे युद्धे वीर्यवान्हरिवाहनः ॥ ६९ ॥

पूर्वकाल में वीर्यवान् हरिवाहन इन्द्र ने देवासुर-युद्ध में इसी बाण से दानवों को जीता था ॥ ६९ ॥

तदैन्द्रमस्त्रं सौमित्रिः संयुगेष्वपराजितम् ।
शरश्रेष्ठं धनुःश्रेष्ठे नरश्रेष्ठोऽभिसन्दधे ॥ ७० ॥

युद्ध में कभी व्यर्थ न जाने वाले उसी ऐन्द्राख नामक उत्तम बाण को, नरों में श्रेष्ठ लक्ष्मण जी ने अपने श्रेष्ठ धनुष पर रखा ॥ ७० ॥

सन्धायामित्रदलनं विचकर्ष शरासनम् ।
सज्यमायम्य दुर्धर्षं कालो[1] लोकक्षये यथा ॥ ७१ ॥

लक्ष्मण जी ने उस दुर्धर्ष शत्रुदलनकारी एवं लोकक्षयकारी यम के समान बाण को धनुष पर रखा ॥ ७१ ॥

[नोट—उत्तरभारत के संस्करणों में यह श्लोक नहीं पाया जाता ।]

सन्धाय धनुषि श्रेष्ठे विकर्षन्निदमब्रवीत् ।
लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणो वाक्यमर्थसाधकमात्मनः ॥ ७२ ॥

अपने श्रेष्ठ धनुष पर उस बाण को रख और रोदे को खींच कान्तिवान् लक्ष्मण जी ने, अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये, यह कहा ॥ ७२ ॥

धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि ।
पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वः शरैनं जहि रावणिम् ॥ ७३ ॥

---

1 कालः—यमः । (गो०)

यदि दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र धर्मात्मा और सत्यवादी एवं अद्वितीय पराक्रमी हों, तो यह बाण इन्द्रजीत का वध करे ॥ ७३ ॥

इत्युक्त्वा बाणमाकर्णं विकृष्य तमजिह्मगम् ।
लक्ष्मणः समरे वीरः ससर्जेन्द्रजितं प्रति ॥ ७४ ॥

यह कह कर समर में वीरता दिखाने वाले लक्ष्मण जी ने उस सीधे जाने वाले बाण (युक्त रौद्र) को कान तक खींच उसे इन्द्रजीत पर छोड़ा ॥ ७४ ॥

ऐन्द्रास्त्रेण समायोज्य लक्ष्मणः परवीरहा ।
सशिरः सशिरस्त्राणं श्रीमज्ज्वलितकुण्डलम् ॥ ७५ ॥

शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी ने उस बाण को छोड़ते समय, उसे ऐन्द्रास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित कर दिया था। उसने पगड़ी और कुण्डलों से भूषित—॥ ७५ ॥

प्रमथ्येन्द्रजितः कायात्पातयामास भूतले ।
तद्राक्षसतनूजस्य छिन्नस्कन्धं शिरो महत् ॥ ७६ ॥

इन्द्रजीत का सिर शरीर से काट कर धरती पर गिरा दिया। उस राक्षसपुत्र का धड़ से कटा हुआ बड़ा भारी सिर ॥ ७६ ॥

तपनीयनिभं भूमौ ददृशे रुधिरोक्षितम् ।
हतस्तु निपपाताशु धरण्यां रावणात्मजः ॥ ७७ ॥

कवची सशिरस्त्राणो विध्वस्तः सशरासनः ।
चुक्रुशुस्ते ततः सर्वे वानराः सविभीषणाः ॥ ७८ ॥

भूमि पर पड़ा हुआ और रक्त से सना हुआ होने के कारण, सोने की तरह देख पड़ता था। इस प्रकार से कवच, पगड़ी और

धनुषधारी रावणपुत्र इन्द्रजीत के मारे जाने और झट धरती पर गिर पड़ने पर, विभीषण सहित समस्त वानर चिल्ला उठे। (अर्थात् हर्षनाद करने लगे) ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

हृष्यन्तो निहते तस्मिन्देवा वृत्रवधे यथा ।
अथान्तरिक्षे देवानामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ७९ ॥
जज्ञेऽथ जय सन्नादो गन्धर्वाप्सरसामपि ।
पतितं तमभिज्ञाय राक्षसी सा महाचमूः ॥ ८० ॥

इन्द्रजीत के मारे जाने पर वे सब वैसे ही हर्षित हुए, जैसे वृत्रासुर के मारे जाने पर देवता प्रसन्न हुए थे। उधर आकाश में देवताओं, ऋषियों, महात्माओं, गन्धर्वों और अप्सराओं का जय जयकार का शब्द हो उठा। इस प्रकार इन्द्रजीत को मरा हुआ जान, राक्षसों की महती सेना ॥ ७९ ॥ ८० ॥

वध्यमाना दिशो भेजे हरिभिर्जितकाशिभिः ।
वानरैर्वध्यमानास्ते शस्त्राण्युत्सृज्य राक्षसाः ॥ ८१ ॥

विजयी वानरों द्वारा मृतप्रायः हो चारों ओर भाग खड़ी हुई। वानरों द्वारा मार खाते हुए राक्षस, हथियार पटक पटक कर ॥ ८१ ॥

लङ्कामभिमुखाः सस्रुर्नष्टसंज्ञाः प्रधाविताः ।
दुद्रुवुर्बहुधा भीता राक्षसाः शतशो दिशः ॥ ८२ ॥

और होशहवास गँवा लङ्का की ओर भाग गये। वानरों से यभीत हो सैकड़ों राक्षस इधर उधर भाग गये ॥ ८२ ॥

त्यक्त्वा प्रहरणान्सर्वे पट्टिशासिपरश्वधान् ।
केचिल्लङ्कां परित्रस्ताः प्रविष्टा वानरार्दिताः ॥ ८३ ॥

वे पटा, तलवार, फरसा आदि हथियारों को छोड़ छोड़ कर भागे। उनमें से कोई कोई तो वानरों से पीड़ित और भयभीत हो लङ्का में घुस गये, ॥ ८३ ॥

समुद्रे पतिताः केचित्केचित्पर्वतमाश्रिताः ।
हतमिन्द्रजितं दृष्ट्वा शयानं समरक्षितौ ॥ ८४ ॥

कोई कोई समुद्र में गिर पड़े और कोई कोई पर्वतों के ऊपर चढ़ गये। समरभूमि में इन्द्रजीत को मरा पड़ा देख ॥ ८४ ॥

राक्षसानां सहस्रेषु न कश्चित्प्रत्यदृश्यत ।
यथास्तंगत आदित्ये नावतिष्ठन्ति रश्मयः ॥ ८५ ॥

हज़ारों राक्षसों में से किसी ने भी समरभूमि की ओर एक बार भी मुड़कर न देखा। जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर उसकी किरणें नहीं ठहरतीं ; ॥ ८५ ॥

तथा तस्मिन्निपतिते राक्षसास्ते गता दिशः ।
शान्तरश्मिरिवादित्यो निर्वाण इव पावकः ॥ ८६ ॥

स बभूव महातेजा [1]व्यपास्तगतजीवितः ।
प्रशान्तपीडाबहुलो विनष्टारिः प्रहर्षवान् ॥ ८७ ॥

उसी प्रकार इन्द्रजीत के लड़ाई में गिरते ही राक्षस भी समरभूमि में न ठहर सके और चारो ओर भाग गये। जैसे बिना

---

१ व्यपास्तगतजीवितः—विक्षिप्ताङ्गोगतजीवितश्च। (गो०)

किरणों का सूर्य और बुझी हुई आग दिखलाई पड़ती है उसी प्रकार मरा हुआ इन्द्रजीत जिसके कटे हुए अङ्ग प्रत्यङ्ग बिखरे पड़े थे, देख पड़ता था। जिनको वह दुःख देता था, उनकी पीड़ा दूर हो गयी और अपने शत्रु के मारे जाने से वे सब अत्यन्त प्रसन्न हुए॥ ८६॥ ८७॥

बभूव लोकः पतिते राक्षसेन्द्रसुते तदा।
हर्षं च शक्रो भगवान्सह सर्वैः सुरर्षभैः॥ ८८॥

जगाम निहते तस्मिन्राक्षसे पापकर्मणि।
आकाशे चापि देवानां शुश्रुवे दुन्दुभिस्वनः॥ ८९॥

राक्षसेन्द्र रावण के इस पुत्र के मारे जाने से लोकपाल भी प्रसन्न हुए। महर्षियों सहित भगवान् इन्द्र को तो इस पापी राक्षस के मारे जाने से बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। आकाश में देवताओं के बजाये हुए नगाड़ों की ध्वनि सुन पड़ी॥ ८८॥ ८९॥

नृत्यद्भिरप्सरोभिश्च गन्धर्वैश्च महात्मभिः।
ववृषुः पुष्पवर्षाणि तदद्भुतमभूत्तदा॥ ९०॥

तथा अप्सराएँ नाचने लगीं और बड़े बड़े गन्धर्व गाने लगे। आकाश से पुष्पों की वृष्टि हुई। ये सभी काम विस्मयकारी थे॥ ९०॥

प्रशशंसुर्हते तस्मिन्राक्षसे क्रूरकर्मणि।
शुद्धा आपो दिशश्चैव जहृषुर्दैत्यदानवाः॥ ९१॥

उस निष्ठुर कर्म करने वाले राक्षस के मारे जाने पर देवताओं ने लक्ष्मण जी के पराक्रम की बड़ी प्रशंसा की। जल और दिशाएँ

निर्मल हो गयीं। समस्त दैत्यों और दानवों ने प्रसन्नता प्रकट की ॥ ९१ ॥

आजग्मुः पतिते तस्मिन्सर्वलोकभयावहे ।
ऊचुश्च सहिताः सर्वे देवगन्धर्वदानवाः ॥ ९२ ॥

समस्त लोकों को भयभीत करने वाले उस इन्द्रजीत के मारे जाने पर, समस्त देवता गन्धर्व और दानव वहाँ आये और वे सब मिल कर बोले ॥ ९२ ॥

विज्वराः शान्तकलुषा ब्राह्मणा विचरन्त्विति ।
ततोऽभ्यनन्दन्संहृष्टाः समरे हरियूथपाः ॥ ९३ ॥

तमप्रतिबलं दृष्ट्वा हतं नैर्ऋतपुङ्गवम् ।
विभीषणो हनूमांश्च जाम्बवांश्चर्क्षयूथपः ॥ ९४ ॥

इन्द्रजीत के मारे जाने से मानों (शरीरधारी) पाप ही दूर हो गया। अब ब्राह्मण लोग निश्चिन्त अर्थात् निर्भय हो विचरेंगे अथवा अब अत्याचारों और पापों से रहित हो ब्राह्मण विचरेंगे। वानरयूथपति, उस अनुपम बल वाले राक्षसश्रेष्ठ को मरा हुआ देख, हर्षित हो, लक्ष्मण जी की प्रशंसा करने लगे। विभीषण, हनुमान और भालुओं की सेना के यूथपति जाम्बवान ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

विजयेनाभिनन्दन्तस्तुष्टुवुश्चापि लक्ष्मणम् ।
क्ष्वेलन्तश्च नदन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ॥ ९५ ॥

जयजयकार कह कह कर लक्ष्मण जी की प्रशंसा कर रहे थे। वानर सिंहनाद करते थे, उच्च स्वर से चिल्लाते थे और गर्जते थे ॥ ९५ ॥

[1]लब्धलक्षा रघुसुतं परिवार्योपतस्थिरे ।
लाङ्गूलानि प्रविध्यन्तः स्फोटयन्तश्च वानराः ॥९६॥
लक्ष्मणो जयतीत्येवं वाक्यं विश्रावयंस्तदा ।
अन्योन्यं च समाश्लिष्य कपयो हृष्टमानसाः ।
चक्रुरुच्चावचगुणा राघवाश्रयजाः कथाः ॥ ९७ ॥

यह हर्ष का अवसर प्राप्त कर वे सब वानर लक्ष्मण जी को घेरे हुए खड़े थे और अपनी पूँछों को घुमाते और फटकारते थे। वे सब लक्ष्मण जी की जय, लक्ष्मण जी की जय—उच्च स्वर से कह कर, सब को सुना रहे थे। हर्षित हो वे वानर एक दूसरे के गले लग कर परस्पर मिल भेंट रहे थे और लक्ष्मण जी की बहादुरी की चर्चा उन सब की जिह्वा पर थी अथवा वे उच्चस्वर से लक्ष्मण जी का गुणगान कर रहे थे ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

तद[2]सुकरमथाभिवीक्ष्य हृष्टाः
प्रियसुहृदो युधि लक्ष्मणस्य कर्म ।
परममुपलभन्मनःप्रहर्षं
विनिहतमिन्द्ररिपुं निशम्य देवाः ॥ ९८ ॥

इति एकनवतितमः सर्गः ॥

इस युद्ध में सर्वप्रिय एवं सर्वहितैषी लक्ष्मण के हाथ से इन्द्रजीत के मारे जाने का दुष्कर कर्म देख, समस्त देवता अपने मनों में अत्यन्त हर्षित हुए ॥ ९८ ॥

युद्धकाण्ड का एक्यानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ लब्धलक्षाः—प्राप्तहर्षावसराः । (रा०) २ असुकरं—दुष्करं । (गो०)

द्विनवतितमः सर्गः

—:o:—

रुधिरक्लिन्नगात्रस्तु लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
बभूव हृष्टस्तं हत्वा शक्रजेतारमाहवे ॥ १ ॥

इस युद्ध में घायल होने के कारण शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण का सारा शरीर रक्तरञ्जित हो गया था । युद्ध में उस इन्द्रजीत का वध कर वे प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

ततः स जाम्बवन्तं च हनुमन्तं च वीर्यवान् ।
*सन्निवर्त्य महातेजास्तांश्च सर्वान्वनौकसः ॥ २ ॥

तदनन्तर वे जाम्बवान और बलवान हनुमान तथा समस्त वानरों को लौटा कर, महातेजस्वी लक्ष्मण जी (युद्ध में घायल हो जाने के कारण) ॥ २ ॥

आजगाम ततस्तीव्रं यत्र सुग्रीवराघवौ ।
विभीषणमवष्टभ्य हनूमन्तं च लक्ष्मणः ॥ ३ ॥

हनुमान और विभीषण का सहारा ले वहाँ पहुँचे, जहाँ सुग्रीव सहित श्रीरामचन्द्र जी थे ॥ ३ ॥

ततो राममभिक्रम्य सौमित्रिरभिवाद्य च ।
तस्थौ भ्रातृसमीपस्थ †शक्रस्येन्द्रानुजो यथा ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के समीप पहुँच लक्ष्मण जी ने उनको प्रणाम किया और वे श्रीरामचन्द्र जी के पास खड़े हो गये, मानों इन्द्र के पास उनके छोटे भाई खड़े हों ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—"सन्निहत्य ।" † पाठान्तरे—"इन्द्रस्येव बृहस्पतिः ।"

निघ्ननभिव चागम्य राघवाय महात्मने ।
आचचक्षे तदा वीरो घोरमिन्द्रजितो वधम् ॥ ५ ॥

रावणेस्तु शिरश्छिन्नं लक्ष्मणेन महात्मना ।
न्यवेदयत रामाय तदा हृष्टो विभीषणः ॥ ६ ॥

तदनन्तर हर्षित हो वीर विभीषण ने, इन्द्रजीत के मारे जाने का संवाद कहा । वे बोले—महाराज ! महाबलवान लक्ष्मण जी ने इन्द्रजीत का सिर काट कर गिरा दिया ॥ ५ ॥ ६ ॥

श्रुत्वैतत्तु महावीर्यो लक्ष्मणेनेन्द्रजिद्वधम् ।
प्रहर्षमतुलं लेभे रामो वाक्यमुवाच ह ॥ ७ ॥

महापराक्रमी श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण द्वारा मेघनाद का मारा जाना सुन, अत्यन्त हर्षित हो, लक्ष्मण जी से बोले ॥ ७ ॥

साधु लक्ष्मण तुष्टोऽस्मि कर्मणा सुकृतं कृतम् ।
रावणेर्हि विनाशेन जितमित्युपधारय ॥ ८ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम धन्य हो ! तुम्हारे इस उत्तम कर्म को देख मैं बड़ा सन्तुष्ट हुआ हूँ । क्योंकि जब इन्द्रजीत मारा जा चुका , तब अपनी जीत ही समझनी चाहिये ॥ ८ ॥

स तं शिरस्युपाघ्राय लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ।
लज्जमानं बलात्स्नेहादङ्कमारोप्य वीर्यवान् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने यह कह कर शोभा बढ़ाने वाले श्रीलक्ष्मण जी का सिर सूँघा और लज्जित होते हुए लक्ष्मण को उन्होंने बरजोरी अपनी गोदी में बैठा लिया ॥ ९ ॥

उपवेश्य तमुत्सङ्गे परिष्वज्यावपीडितम् ।
भ्रातरं लक्ष्मणं स्निग्धं पुनःपुनरुदैक्षत ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी को गोदी में बैठा, उनको ज़ोर से अपने छाती से लिपटाया तथा बारंबार उनको स्नेहभरी दृष्टि से निहारा ॥ १० ॥

शल्यसम्पीडितं शस्तं निःश्वसन्तं तु लक्ष्मणम् ।
रामस्तु दुःखसन्तप्तस्तदा निःश्वसितो भृशम् ॥ ११

बाणों की चोट से पीड़ित, घाव खाये हुए और हाँफते हुए लक्ष्मण को देख, श्रीरामचन्द्र जी दुःखी और सन्तापित हुए तथा बार बार उसाँसे लेने लगे ॥ ११ ॥

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय भूयः संस्पृश्य च त्वरन् ।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यमाश्वास्य पुरुषर्षभः ॥ १२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने पुनः लक्ष्मण का सिर सूँघा और उनके शरीर पर हाथ फेरते हुए उनको ढाढ़स बँधा, उनसे कहने लगे ॥ १२ ॥

कृतं परमकल्याणं कर्म दुष्करकर्मणा ।
अद्य मन्ये हते पुत्रे रावणं निहतं युधि ॥ १३ ॥

इस दुष्करकर्म को कर, तुमने परम कल्याणकारी कर्म किया है। इन्द्रजीत के मारे जाने से मैं तो समझता हूँ कि, आज युद्ध में रावण ही मारा गया। अथवा पुत्र के मारे जाने से रावण को भी मरा हुआ ही मैं समझता हूँ ॥ १३ ॥

अद्याहं विजयी शत्रौ हते तस्मिन्दुरात्मनि ।
रावणस्य नृशंसस्य दिष्ट्या वीर त्वया रणे ॥ १४ ॥

आज उस दुष्ट वैरी के मारे जाने से मैं अपने को समरविजयी समझता हूँ। हे वीर! यह सौभाग्य की बात है कि, तुमने आज युद्ध में उस निष्ठुर रावण की ॥ १४ ॥

छिन्नो हि दक्षिणो बाहुः स हि तस्य [1]व्यपाश्रयः ।
विभीषणहनूमद्भ्यां कृतं कर्म महद्रणे ॥ १५ ॥

दहिनी भुजा, जो उसका बड़ा सहारा थी, काट डाली। विभीषण और हनुमान ने भी इस लड़ाई में बड़ा काम किया ॥१५॥

अहोरात्रैस्त्रिभिर्वीरः कथञ्चिद्विनिपातितः ।
निरमित्रः कृतोऽस्म्यद्य निर्यास्यति हि रावणः ॥१६॥
बलव्यूहेन महता श्रुत्वा पुत्रं निपातितम् ।
तं पुत्रवधसन्तप्तं निर्यान्तं राक्षसाधिपम् ॥ १७ ॥
बलेनावृत्य महता निहनिष्यामि दुर्जयम् ।
त्वया लक्ष्मण नाथेन सीता च पृथिवी च मे ॥१८॥

तीन दिन और तीन रात में वह किसी तरह मारा गया। इस समय मैं वैरीहीन हो गया। अपने पुत्र का मारा जाना सुन, बड़ी भारी सेना को साथ ले, रावण अब निकलेगा। पुत्र-वध से सन्तप्त साथ में बड़ी सेना लिये हुए राक्षसराज रावण के बाहिर निकलने पर, उस दुर्जय का मैं वध करूँगा। हे लक्ष्मण! तुम्हारी सहायता से सीता और क्या (इस समूची) पृथिवी का राज्य ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

न दुष्प्रापा हते त्वद्य शक्रजेतरि चाहवे ।
स तं भ्रातरमाश्वास्य परिष्वज्य च राघवः ॥१९॥

---

1 व्यपाश्रयः—आलम्बनं । (गो०)

मेरे लिये अब दुष्प्राप्य नहीं है। क्योंकि लड़ाई में इन्द्रजीत आज तुम्हारे हाथ से मारा ही जा चुका है। इस प्रकार लक्ष्मण को ढाँढ़स बधाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने, पुनः उनको अपने हृदय से लगाया ॥ १६ ॥

रामः सुषेणं मुदितः [1]समाभाष्येदमब्रवीत् ।
सशल्योऽयं महाप्राज्ञ सौमित्रिर्मित्रवत्सलः ॥ २० ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्न हो और सुषेण को बुला कर उनसे कहा—हे महाप्राज्ञ! मित्रवत्सल लक्ष्मण जी बाणों की चोट से पीड़ित हैं ॥ २० ॥

[नोट—सुषेण श्रीरामचन्द्र जी की सेना के एक वानरयूथपति थे। वह लङ्का के राजवैद्य न थे।]

यथा भवति सुस्वस्थस्तथा त्वं [2]समुपाचर ।
विशल्यः क्रियतां क्षिप्रं सौमित्रिः सविभीषणः ॥२१॥

सो तुम ऐसी कोई चिकित्सा करो, जिससे इनकी पीड़ा दूर हो कर यह स्वस्थ हो जायँ। लक्ष्मण और विभीषण की बाण, पीड़ा तुरन्त दूर हो जानी चाहिये ॥ २१ ॥

ऋक्षवानरसैन्यानां शूराणां द्रुमयोधिनाम् ।
ये चाप्यन्येऽत्र युध्यन्ति सशल्या व्रणिनस्तथा ॥२२॥

रीछों और वानरों की सेनाओं के पेड़ों से लड़ने वाले, जो वीर तथा अन्य योद्धा तीरों से घायल हो गये हैं ॥ २२ ॥

---

१ समाभाष्य—आमन्त्र्य। (गो०) २ समुपाचर—चिकित्सांकुरु। (गो०)

तेऽपि सर्वे प्रयत्नेन क्रियन्तां सुखिनस्त्वया ।
एवमुक्तस्तु रामेण महात्मा हरियूथपः ॥ २३ ॥

उन सब को भी यत्नपूर्वक तुम चंगा कर दो। जब महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वानरयूथपति सुषेण से इस प्रकार कहा ॥ २३ ॥

लक्ष्मणाय ददौ नस्तः[1] सुषेणः परमौषधिम् ।
स तस्या गन्धमाघ्राय विशल्यः समपद्यत ॥ २४ ॥

तब सुषेण ने लक्ष्मण को एक उत्तम औषधि का नास दिया। इसको सूँघते ही लक्ष्मण जी के घावों में जो बाणों की नोंके गड़ी हुई थीं, वे अपने आप बाहिर निकल पड़ीं ॥ २४ ॥

तथा निर्वेदनश्चैव संरूढव्रण एव च ।
विभीषणमुखानां च सुहृदां राघवाज्ञया ।
सर्ववानरमुख्यानां चिकित्सां स तदाकरोत् ॥ २५ ॥

सारे घाव पुर गये और पीड़ा भी दूर हो गयी। तदनन्तर सुषेण ने श्रीरामचन्द्र जी के आज्ञानुसार विभीषण प्रमुख, हितैषियों का तथा समस्त मुख्य मुख्य वानरों की भी चिकित्सा की ॥ २५ ॥

ततः प्रकृतिमापन्नो हृतशल्यो गतव्यथः ।
सौमित्रिर्मुदितस्तत्र क्षणेन विगतज्वरः ॥ २६ ॥

उस चिकित्सा से उन सब के शरीरों में धँसे हुए बाण निकल गये, घाव पुर गये और पीड़ा दूर हो गयी। वे सब स्वस्थ हो

1 नस्तः—नासिकायाँ। (गो०)

गये। क्षण भर में सारी वेदना दूर हो जाने से लक्ष्मण जी हर्षित हुए ॥ २६ ॥

तथैव रामः प्लवगाधिपस्तदा
विभीषणश्चर्क्षपतिश्च जाम्बवान्।
अवेक्ष्य सौमित्रिमरोगमुत्थितं
मुदाससैन्याः सुचिरं जहर्षिरे ॥ २७ ॥

लक्ष्मण जी को चंगे हो कर उठ बैठते देख, समस्त वानरी सेना सहित श्रीरामचन्द्र जी, वानरराज सुग्रीव, राक्षसराज विभीषण और ऋक्षपति जाम्बवान बहुत देर तक आनन्द मनाते रहे ॥ २७ ॥

अपूजयत्कर्म स लक्ष्मणस्य
सुदुष्करं दाशरथिर्महात्मा।
हृष्टा बभूवुर्युधि यूथपेन्द्रा
निपातितं शक्रजितं निशम्य ॥ २८ ॥

इति द्विनवतितमः सर्गः ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने, लक्ष्मण जी के उस अत्यन्त दुष्कर कर्म की बहुत प्रशंसा की और वानरयूथपतियों के राजा सुग्रीव, लड़ाई में इन्द्रजीत का मारा जाना सुन, हर्षित हुए ॥ २८ ॥

[नोट—तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में सुषेण को रावण का गृहचिकित्सक (Family-Doctor) बतलाया है, किन्तु इस आदिकाव्य से उनके इस कथन का मिलान नहीं होता। क्योंकि २१ वें श्लोक में सुषेण

का विशेषण "हरियूथपः" आया है। इससे स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि, सुषेण वानरी सेना के एक सेनापति थे और वे युद्ध सम्बन्धी घावों की चिकित्सा करने में बड़े निपुण थे। महात्मा तुलसीदास जी की इतिहासविरुद्ध वक्त कल्पना किस आधार पर अवलम्बित है—यह बतलाना कठिन है।]

युद्धकाण्ड का बानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिणवतितमः सर्गः

—:०:—

ततः पौलस्त्यसचिवाः श्रुत्वा चेन्द्रजितं हतम्।
आचचक्षुरवज्ञाय[1] दशग्रीवाय सत्वराः ॥ १ ॥

(युद्ध छोड़ कर भागे हुए राक्षसों से) इन्द्रजीत के मारे जाने का वृत्तान्त सुन, रावण के मंत्रियों ने समस्त सत्पुरुषों का अनादर करने वाले दशग्रीव को, तुरन्त वह समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १ ॥

युद्धे हतो महाराज लक्ष्मणेन तवात्मजः।
विभीषणसहायेन [2]मिषतां नो महाद्युतिः ॥ २ ॥

महाराज! लक्ष्मण ने लड़ाई में, विभीषण की सहायता से हम लोगों के देखते देखते आपके महाद्युतिमान इन्द्रजीत को मार डाला ॥ २ ॥

---

१ अवज्ञाय—सर्वसत्पुरुषानादरकर्त्रे दशग्रीवाय। (शि०) २ मिषतां नः—अस्मासु पश्यत्सु। (गो०)

शूरः शूरेण संगम्य संयुगेष्वपराजितः ।
लक्ष्मणेन हता शूरः पुत्रस्ते [1]विबुधेन्द्रजित् ॥ ३ ॥

हे राजन् ! जो वीर रणभूमि में कभी किसी से नहीं हारा था, आपका वही शूर इन्द्रजीत पुत्र, वीर लक्ष्मण के साथ लड़ कर, लक्ष्मण द्वारा मार डाला गया ॥ ३ ॥

गतः स परमाँल्लोकाञ्शरैः सन्तर्प्य लक्ष्मणम् ।
स तं [2]प्रतिभयं श्रुत्वा वधं पुत्रस्य दारुणम् ॥ ४ ॥
[3]घोरमिन्द्रजितः संख्ये कश्मलं[4] चाविशन्महत् ।
उपलभ्य चिरात्संज्ञां राजा राक्षसपुङ्गवः ॥ ५ ॥

लक्ष्मण को बाणों से तृप्त कर, वह उत्कृष्ट लोकों में चला गया। युद्ध में इस प्रकार अपने पुत्र इन्द्रजीत के मारे जाने का दारुण और अति भयङ्कर वृत्तान्त सुन, रावण को एक साथ बड़ी भारी मूर्च्छा आ गयी। तदनन्तर बहुत देर बाद, जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई, तब राक्षसों में श्रेष्ठ राजा रावण ॥ ४ ॥ ५ ॥

पुत्रशोकार्दितो दीनो विललापाकुलेन्द्रियः ।
हा राक्षसचमूमुख्य मम वत्स महारथ ॥ ६ ॥

पुत्रशोक से विकल, व्यथित और दुःखी हो विलाप कर, कहने लगा—हा राक्षससेना के सेनापति ! हा मेरे पुत्र ! हे महारथी ! ॥ ६ ॥

जित्वेन्द्रं कथमद्य त्वं लक्ष्मणस्य वशं गतः ।
ननु त्वमिषुभिः क्रुद्धो भिन्द्याः कालान्तकावपि ॥ ७ ॥

---

१ विबुधेन्द्रजित—देवेन्द्रजित् । (गो०) २ प्रतिभयं—अतिभयङ्करम् । (रा०) ३ घोरं—तीक्ष्णं । (गो०) ४ कश्मलं—मूर्च्छा । (गो०)

तू तो इन्द्र तक को जीतने वाला था, सो तू आज क्यों कर लक्ष्मण के फंदे में फँस गया। बेटा! तू तो क्रुद्ध होने पर चाहता तो बाणों से काल को भी छिन्न भिन्न कर सकता था॥ ७॥

मन्दरस्यापि शृङ्गाणि किं पुनर्लक्ष्मणं युधि।
अद्य वैवस्वतो राजा भूयो बहुमतो मम॥ ८॥

तू तो मन्दराचल के शिखरों को भी ध्वस्त कर सकता था। फिर लड़ाई में तेरे सामने लक्ष्मण की हक़ीक़त ही क्या थी? मैंने आज उन यमराज का अतिशय महत्त्व समझा॥ ८॥

येनाद्य त्वं महाबाहो संयुक्तः कालधर्मणा।
एष पन्थाः सुयोधानां सर्वामरगणेष्वपि॥ ९॥

जिन्होंने आज तुझ जैसे महाबलवान को भी मार डाला। न बड़े बड़े वीर नर, राक्षस, दानवादि योद्धाओं ही के लिये नहीं; प्रत्युत समस्त देवताओं के लिये भी यही मार्ग है॥ ९॥

[नोट—अर्थात् देवता तक यही अभिलाषा रखते हैं कि, हम युद्ध में वीरगति को प्राप्त हों, अतः मुझे तेरी वीरगतिप्राप्ति के लिये दुःख नहीं है। (रा०)]

यः कृते हन्यते भर्तुः स पुमान्स्वर्गमृच्छति।
अद्य देवगणाः सर्वे लोकपालास्तथर्षयः॥ १०॥
हतमिन्द्रजितं श्रुत्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयाः।
अद्य लोकास्त्रयः कृत्स्ना पृथिवी च सकानना॥ ११॥

जो अपने मालिक के लिये प्राण गँवाता है, उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। हा! आज समस्त देवता, लोकपाल और महर्षिगण,

इन्द्रजीत का बध सुन, निर्भय हो सुख से सोवेंगे। आज तीनों लोक और वनों सहित सारी पृथिवी ॥ १० ॥ ११ ॥

एकेनेन्द्रजिता हीना शून्येव प्रतिभाति मे ।
अद्य नैर्ऋतकन्यानां श्रोष्याम्यन्तःपुरे रवम् ॥१२॥

एक इन्द्रजीत के विना मुझे सूनी सी जान पड़ती है। हा! आज मैं लङ्का के अन्तःपुर (रनवास) में राक्षसकन्याओं का वैसा ही विलाप सुनूँगा ॥ १२ ॥

करेणुसङ्घस्य यथा निनादं गिरिगह्वरे ।
यौवराज्यं च लङ्कां च रक्षांसि च परन्तप ॥ १३ ॥

मातरं मां च भार्यां च क्व गतोऽसि विहाय नः ।
मम नाम त्वया वीर गतस्य यमसादनम् ॥ १४ ॥

जैसा कि, हथनियों का चीत्कार पर्वतकन्दरा में सुनाई पड़ता है। हे शत्रुदमनकारी! युवराज पद को, लङ्का को, राक्षसों को, अपनी माता को, मुझको, अपनी भार्या को तथा हम सभी को छोड़, तू कहाँ चला गया? हे वीर! तेरे लिये तो यही उचित था कि, मेरे मरने पर ॥ १३ ॥ १४ ॥

प्रेतकार्याणि कार्याणि विपरीते हि वर्तसे ।
स त्वं जीवति सुग्रीवे लक्ष्मणे च सराघवे ॥ १५

मम शल्यमनुद्धृत्य क्व गतोऽसि विहाय नः ।
एवमादिविलापार्तं रावणं राक्षसाधिपम् ॥ १६ ॥

तू मेरा और्ध्वदेहिक कृत्य करता; किन्तु यहाँ तो उलटी ही बात हो रही है। अर्थात् मुझे तेरा और्ध्वदेहिक कृत्य करना पड़ता

है। हा! सुग्रीव, लक्ष्मण, और राम—इन तीनों को जीवित छोड़ और मेरे कांटे को बिना निकाले, हम सब को छोड़ तू कहाँ चला गया? राक्षसराज रावण इस प्रकार विलाप कर रहा था ॥ १५ ॥ १६ ॥

आविवेश महान्कोपः पुत्रव्यसनसम्भवः।
प्रकृत्या कोपनं ह्येनं पुत्रस्य पुनराधयः¹ ॥ १७ ॥

फिर, पुत्र के मारे जाने के कारण वह अत्यन्त कुपित हुआ। एक तो वह स्वभाव ही से क्रोधी था, तिस पर पुत्रवध का शोक ॥ १७ ॥

दीप्तं सन्दीपयामासुर्घर्मेऽर्कमिव रश्मयः।
ललाटे भ्रुकुटीभिश्च सङ्गताभिर्व्यरोचत ॥ १८ ॥

सो क्रोध ने उसे वैसे ही प्रज्वलित कर दिया, जैसे गर्मी की ऋतु में सूर्य को उसकी किरणें प्रज्वलित कर देती हैं। (क्रोध के कारण) ललाट में उसकी मिली हुई भौंहें, वैसे ही शोभायमान हुईं ॥ १८ ॥

युगान्ते सह नक्रैस्तु महोर्मिभिरिवोदधिः।
कोपाद्विजृम्भमाणस्य वक्त्राद्व्यक्तमभिज्वलन् ॥ १९ ॥
उत्पपात स धूमोऽग्निर्वृत्रस्य वदनादिव।
स पुत्रवधसन्तप्तः शूरः क्रोधवशं गतः ॥ २० ॥

जैसे प्रलयकाल में नाकों और लहरों से महासागर शोभायमान होता है। क्रोध से जब उसने जँभाई ली, तब उसके मुख से धूम सहित आग की लपट वैसे ही निकली; जैसे वृत्रासुर के मुख से

¹ आधयः—शोकाः। (गो०)

निकली थी। वह शूर रावण, पुत्र के मारे जाने से सन्तप्त हो क्रोध के वशवर्ती हो गया ॥ १९ ॥ २० ॥

समीक्ष्य रावणो बुद्ध्या वैदेह्या रोचयद्वधम् ।
तस्य प्रकृत्या रक्ते च रक्ते क्रोधाग्निनाऽपि च ॥ २१ ॥

(उस समय उस क्रोधावेश में उससे और तो कुछ करते धरते बन न पड़ा; किन्तु) बहुत सोच विचार के बाद उसे जानकी जी का वध करना पसंद आया। उसके नेत्र वैसे ही स्वभाव से लाल थे, तिस पर इस समय मारे क्रोध के और भी लाल हो रहे थे ॥ २१ ॥

रावणस्य महाघोरे दीप्ते नेत्रे बभूवतुः ।
घोरं प्रकृत्या रूपं तत्तस्य क्रोधाग्निमूर्च्छितम् ॥ २२ ॥
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव दुरासदम् ।
तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नस्रबिन्दवः ॥ २३ ॥

रावण की आँखें आग के समान चमकती हुई भयङ्कर जान पड़ने लगीं। अतएव क्रुद्ध रावण का स्वभावतः भयङ्कर रूप, रुद्र की तरह दुर्धर्ष हो गया। उस क्रोधी रावण के नेत्रों से आँसू की बूँदे वैसे ही टपकीं ॥ २२ ॥ २३ ॥

दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः ।
दन्तान्विदशतस्तस्य श्रूयते दशनस्वनः ॥ २४ ॥

जैसे जलते हुए दीपकों से चिनगारियों के साथ तेल की बूँदे टपक पड़ती हैं। दाँतों पीसते हुए उसकी दाँतों पीसने का शब्द ऐसा सुन पड़ा ॥ २४ ॥

[1]यन्त्रस्यावेष्ट्यमानस्य[2] महतो दानवैरिव[3] ।
कालाग्निरिव संक्रुद्धो यां यां दिशमवैक्षत ॥ २५ ॥

जैसा कि, दानवी बल से घूमते हुए कोल्हू का शब्द होता है। प्रलयकाल के अग्नि की तरह अत्यन्त क्रुद्ध रावण जिस जिस ओर देखने लगता ॥ २५ ॥

तस्यां तस्यां भयत्रस्ता राक्षसाः संविलिल्यिरे ।
तमन्तकमिव क्रुद्धं चराचरचिखादिषुम् ॥ २६ ॥

उस उस ओर बैठे या खड़े हुए राक्षसों में सन्नाटा छा जाता था। उस समय मृत्यु की तरह क्रोध में भर, मानों चराचर को भक्षण करने की इच्छा रखता हुआ रावण ॥ २६ ॥

वीक्षमाणं दिशः सर्वा राक्षसा नोपचक्रमुः ।
ततः परमसंक्रुद्धो रावणो राक्षसाधिपः ॥ २७ ॥

जब इधर उधर देखने लगता था, तब उसके समीप जाने का किसी भी राक्षस को साहस नहीं होता था। तदनन्तर अत्यन्त कोप में भरे राक्षसराज रावण ने ॥ २७ ॥

अब्रवीद्रक्षसां मध्ये [4]संस्तम्भयिषुराहवे ।
मया वर्षसहस्राणि चरित्वा दुश्चरं तपः ॥ २८ ॥

राक्षसों के बीच, युद्ध से डरे हुए राक्षसों को युद्ध में पुनः प्रवृत्त करने की कामना से, कहा। मैंने एक एक हजार वर्ष तक

---

१ यन्त्रस्य—तिलपीडनयन्त्रस्य। (गो०) २ आवेष्ट्यमानस्य—भ्राम्यमाणस्य। (गो०) ३ दानवैर्बलवद्भिरित्यर्थः। (गो०) ४ संस्तम्भयिषुराहवे—युद्धभीतान् राक्षसान् युद्धे स्थापयितुकामः। (गो०)

ऐसा कठोर तप किया है कि, जिसे कोई दूसरा सहज में नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

तेषु तेष्ववकाशेषु[1] स्वयंभूः परितोषितः ।
तस्यैव तपसो व्युष्ट्या[2] प्रसादाच्च स्वयंभुवः ॥२९॥

और एक एक हज़ार वर्ष बाद तप की समाप्ति के समय मैंने ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया है॥ उसी तपस्या के फल से और ब्रह्मा जी के अनुग्रह से ॥ २६ ॥

नासुरेभ्यो न देवेभ्यो भयं मम कदाचन ।
कवचं ब्रह्मदत्तं मे यदादित्यसमप्रभम् ॥ ३० ॥

मुझे न तो कभी असुरों से और न कभी सुरों से भय उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा जी ने सूर्य की तरह चमचमाता जो कवच मुझे दिया है ॥ ३० ॥

देवासुरविमर्देषु न भिन्नं वज्रशक्तिभिः ।
तेन मामद्य संयुक्तं रथस्थमिह संयुगे ॥ ३१ ॥

वह कवच वज्र से भी उस समय भी नहीं टूटा ; जिस समय कि ; मुझसे और देवताओं से युद्ध हुआ था । उसी कवच को पहिन और रथ पर सवार हो, मैं जब युद्धभूमि में जाऊँगा ॥ ३१ ॥

प्रतीयात्कोऽद्य मामाजौ साक्षादपि पुरन्दरः ।
यत्तदाऽभिप्रसन्नेन सशरं कार्मुकं महत् ॥ ३२ ॥

---

१ अवकाशेषु—तपःसमाप्तिषु । (गो०) २ व्युष्ट्या—समृद्ध्या । (गो०)

देवासुरविमर्देषु मम दत्तं स्वयंभुवा ।
अद्य तूर्यशतैर्भीमं धनुरुत्थाप्यतां मम ॥ ३३ ॥

रामलक्ष्मणयोरेव वधाय परमाहवे ।
स पुत्रवधसन्तप्तः शूरः क्रोधवशं गतः ॥ ३४ ॥

तब किसमें इतनी शक्ति है जो मेरा सामना करे। और की तो बात ही क्या; स्वयं इन्द्र भी मेरा सामना नहीं कर सकता। देवासुरसंग्राम के समय ब्रह्मा ने प्रसन्न हो जो बाणों सहित विशाल धनुष मुझे दिया है, महायुद्ध में राम और लक्ष्मण के वध के लिये, आज सैकड़ों तुरही बजाते हुए, हे राक्षसों! तुम उस मेरे भयङ्कर धनुष को उठा लाओ। इस प्रकार पुत्रवध के शोक से सन्तप्त, वह शूर रावण, क्रोध के वशवर्ती हो गया ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

समीक्ष्य रावणो बुद्ध्या सीतां हन्तुं व्यवस्यत ।
प्रत्यवेक्ष्य तु ताम्राक्षः सुघोरो[1] घोरदर्शनः ॥ ३५ ॥

बहुत सोच विचार कर रावण, सीता का वध करने को उद्यत हुआ। भयङ्कर स्वभाव वाला और भयानक शक्लवाला रावण, लाल लाल नेत्रों से राक्षसों की ओर देख, ॥ ३५ ॥

दीनो दीनस्वरान्सर्वांस्तानुवाच निशाचरान् ।
मायया मम वत्सेन वञ्चनार्थं वनौकसाम् ॥ ३६ ॥

किञ्चिदेव हतं तत्र सीतेयमिति दर्शितम् ।
तदिदं तथ्यमेवाहं करिष्ये प्रियमात्मनः ॥ ३७ ॥

---

१ सुघोरः—सुघोरप्रकृतिः । (गो०)

दीन दुःखी हो, दीनस्वर से बोलने वाले उन सब राक्षसों से बोला। हे राक्षसों! मेरे प्रियपुत्र ने (वानरों को धोका देने के लिये) किसी वस्तु पर खड्ग का प्रहार कर वानरों को सीता के मारे जाने का निश्चय कराया था। मैं उसे इस समय सत्य करूँगा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

वैदेहीं नाशयिष्यामि क्षत्रबन्धुमनुव्रताम् ।
इत्येवमुक्त्वा सचिवान्खड्गमाशु परामृशत् ॥ ३८ ॥
उद्धृत्य [1]गुणसम्पन्नं [2]विमलाम्बरवर्चसम् ।
निष्पपात स वेगेन सभार्यः सचिवैर्वृतः ॥ ३९ ॥

क्षत्रियाधम राम की अनुगामिनी वैदेही को मैं नष्ट कर डालूँगा। यह कह कर रावण ने पुष्पमाला से अलंकृत निर्मल आकाश की तरह चमचमाती तलवार तुरन्त उठा ली। फिर वह अपनी पत्नियों और मंत्रियों को साथ ले बड़ी फुर्ती से राजभवन से निकला ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

रावणः पुत्रशोकेन भृशमाकुलचेतनः ।
संक्रुद्धः खड्गमादाय सहसा यत्र मैथिली ॥ ४० ॥

उस समय रावण पुत्रवध के शोक से विकल हो रहा था और तिस पर क्रोध में भरा हुआ था। सो वह नंगी तलवार लिये हुए अचानक वहाँ जा पहुँचा जहाँ सीता जी थीं ॥ ४० ॥

व्रजन्तं राक्षसं प्रेक्ष्य सिंहनादं प्रचुक्रुशुः ।
ऊचुश्चान्योन्यमाश्लिष्य संक्रुद्धं प्रेक्ष्य राक्षसाः ॥४१॥

---

१ गुणसम्पन्नं—माल्यालङ्कृतम् । (गो०) २ विमलाम्बरवर्चसम्—विमलाकाश सदृशं । (गो०)

उसे झपट कर जाते देख, राक्षसों ने सिंहनाद किया। फिर रावण को क्रुद्ध देख, वे परस्पर एक दूसरे को गले लगा कहने लगे॥ ४१॥

अद्यैनं तावुभौ दृष्ट्वा भ्रातरौ प्रव्यथिष्यतः।
लोकपाला हि चत्वारः क्रुद्धेनानेन निर्जिताः ॥४२॥

आज इसे देख ये दोनों भाई राम और लक्ष्मण अवश्य ही व्यथित होंगे। क्योंकि क्रोध में भर ये चारों लोकपालों को जीत चुका है॥ ४२॥

बहवः शत्रवश्चापि संयुगेषु निपातिताः।
त्रिषु लोकेषु रत्नानि भुङ्क्ते चाहृत्य रावणः॥ ४३॥

इनके अतिरिक्त रावण अन्य बहुत से शत्रुओं को भी मार कर संग्रामभूमि में लुटा चुका है। यह तीनों लोकों की श्रेष्ठ वस्तुओं को हरण कर उनका भोग करता है॥ ४३॥

विक्रमे च बले चैव नास्त्यस्य सदृशो भुवि।
तेषां सञ्जल्पमानानामशोकवनिकां गताम्॥ ४४॥

इस पृथिवीतल पर तो इसके समान बलवान् और पराक्रमी कोई है नहीं। वे लोग इस प्रकार आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि, रावण अशोकवाटिका में जा पहुँचा॥ ४४॥

अभिदुद्राव वैदेहीं रावणः क्रोधमूर्च्छितः।
वार्यमाणः सुसंक्रुद्धः सुहृद्भिर्हितबुद्धिभिः॥ ४५॥

यद्यपि अत्यन्त क्रुद्ध रावण के हितैषी मित्रों और भला चाहने वालों ने उसे बहुत मना किया; तथापि रावण क्रोध में भर सीता जी की ओर झपटा॥ ४५॥

अभ्यधावत संक्रुद्धः खे ग्रहो[1] रोहिणीमिव ।
मैथिली रक्ष्यमाणा तु राक्षसीभिरनिन्दिता ॥४६॥

क्रोध में भर रावण, सीता जी पर वैसे ही लपका ; जैसे आकाश में मंगलग्रह रोहिणी के ऊपर लपकता है। उस समय भी राक्षसियाँ जानकी जी की रखवाली कर रही थीं। अनिन्दिता (अर्थात् सर्वाङ्गसुन्दरी) सीता जी ने ॥ ४६ ॥

ददर्श राक्षसं क्रुद्धं निस्त्रिंशवरधारिणम् ।
तं निशाम्य सनिस्त्रिंशं व्यथिता जनकात्मजा ॥४७॥

देखा कि, रावण क्रोध में भरा हाथ में तलवार लिये उनकी ओर लपका आ रहा है। उसको नंगी तलवार हाथ में लिये आते देख, सीता जी व्यथित हुईं ॥ ४७ ॥

निवार्यमाणं बहुशः सुहृद्भिरनुवर्तिनम् ।
सीता दुःखसमाविष्टा विलपन्तीदमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

रावण के साथ उसके जो बहुत से हितैषी मित्र गये थे ; उन्होंने रावण को बहुत हटका ; किन्तु जब वह न माना, तब सीता जी अत्यन्त दुःखी हो तथा विलाप करती हुई यह बोलीं ॥ ४८ ॥

यथाऽयं मामभिक्रुद्धः समभिद्रवति स्वयम् ।
वधिष्यति सनाथां मामनाथामिव दुर्मतिः ॥ ४९ ॥

जब कि यह दुष्ट क्रोध में भरा स्वयं मेरी ओर दौड़ा चला आ रहा है, तब यह अवश्य ही मुझ सनाथिनी को अनाथिनी की तरह मार डालेगा ॥ ४९ ॥

---

[1] ग्रहः—अङ्गारकः । (गो०)

बहुशश्चोदयामास भर्तारं मामनुव्रताम् ।
भार्या भव रमस्वेति प्रत्याख्यातो ध्रुवं मया ॥ ५० ॥

क्योंकि इसने मुझ पतिव्रता से कई बार कहा कि, तू मेरी स्त्री बन जा; किन्तु मैंने सदा इसका निश्चय ही तिरस्कार किया है ॥ ५० ॥

सोऽयं ममानुपस्थाने[1] व्यक्तं नैराश्यमागतः ।
क्रोधमोहसमाविष्टो निहन्तुं मां समुद्यतः ॥ ५१ ॥

सो जान पड़ता है कि, इसका कहना न मानने के कारण अब यह मेरी ओर से हताश हो गया है और क्रोध एवं मोह के वश हो, मुझे मार डालने को तैयार हुआ है ॥ ५१ ॥

अथवा तौ नरव्याघ्रौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
मन्निमित्तमनार्येण समरेऽद्य निपातितौ ॥ ५२ ॥

अथवा इस दुष्ट ने मेरे पीछे उन पुरुषसिंह दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण को युद्ध में मार डाला है ॥ ५२ ॥

अहो धिङ्मन्निमित्तोऽयं विनाशो राजपुत्रयोः ।
अथवा पुत्रशोकेन अहत्वा रामलक्ष्मणौ ॥ ५३ ॥

हा ! मुझे धिक्कार है । मेरे ही पीछे दोनों राजपुत्र मारे गये । अथवा केवल पुत्रवधजन्यशोक के कारण, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को न मार सक कर, ॥ ५३ ॥

---

1 अनुपस्थानेसति—अनङ्गीकारेसति । (रा०)

विधमिष्यति मां रौद्रो राक्षसः पापनिश्चयः।
हनूमतोऽपि यद्वाक्यं न कृतं क्षुद्रया[1] मया ॥ ५४ ॥

यह पापी भयङ्कर राक्षस मुझे ही मारने के लिये आता है। क्या कहूँ उस समय मुझ अल्प बुद्धि वाली की बुद्धि पर ऐसे पत्थर पड़े कि, मैंने हनुमान जी की बात न मानी ॥ ५४ ॥

यद्यहं तस्य पृष्ठेन तदा यायामनिन्दिता।
नाद्यैवमनुशोचेयं भर्तुरङ्कगता सती ॥ ५५ ॥

यदि उस समय, निष्कलङ्किनी मैं हनुमान जी की पीठ पर बैठ चली गयी होती, तो आज मैं अपने पति की गोद में बैठी होती और इस प्रकार मुझे शोक न करना पड़ता ॥ ५५ ॥

मन्ये तु हृदयं तस्याः कौसल्यायाः फलिष्यति[2]।
एकपुत्रा यदा पुत्रं विनष्टं श्रोष्यते युधि ॥ ५६ ॥

एक पुत्र वाली कौशल्या जब सुनेगी कि, मेरा पुत्र युद्ध में मारा गया, तब मैं समझती हूँ कि, उसका कलेजा दरक जायगा ॥ ५६ ॥

सा हि जन्म च बाल्यं च यौवनं च महात्मनः।
धर्मकार्यानुरूपं च रुदन्ती संस्मरिष्यति ॥ ५७ ॥

हा, वह रोते रोते महात्मा श्रीरामचन्द्र के जन्मकाल के, बाल्यकाल के, यौवनावस्था के और उनके धर्मकृत्यों को अथवा उनके धर्मात्मा-पन को स्मरण करेगी ॥ ५७ ॥

---

१ क्षुद्रया—विचारमूढया। (गो०) २ फलिष्यति—विपरिष्यति। (शि०)

निराशा निहते पुत्रे दत्त्वा श्राद्धमचेतना ।
अग्निमारोक्ष्यते नूनमपो वापि प्रवेक्ष्यति ॥ ५८ ॥

पुत्र के मारे जाने पर वह हताश हो और श्राद्धादिक कर्म कर, या तो मूर्च्छित हो निश्चय ही आग में जल मरेगी अथवा पानी में डूब कर मर जायगी ॥ ५८ ॥

धिगस्तु कुब्जामसतीं मन्थरां पापनिश्चयाम् ।
यन्निमित्तमिदं दुःखं कौसल्या प्रतिपत्स्यते ॥५९॥

धिक्कार है उस कुल्टा, पापिनी और कुबड़ी मन्थरा को, जिसके कारण महारानी कौशल्या को ये दुःख झेलने पड़ेंगे ॥ ५९ ॥

इत्येवं मैथिलीं दृष्ट्वा विलपन्तीं तपस्विनीम् ।
रोहिणीमिव चन्द्रेण विना ग्रहवशं गताम् ॥ ६० ॥

चन्द्रमा की अनुपस्थिति में मङ्गलग्रह के फंदे में फसी रोहिणी की तरह दुखियारी सीता जी को इस प्रकार विलाप करते देख ॥ ६० ॥

एतस्मिन्नन्तरे तस्य अमात्यो बुद्धिमाञ्शुचिः ।
सुपार्श्वो नाम मेधावी राक्षसो राक्षसेश्वरम् ॥ ६१ ॥

इसी बीच में रावण के बुद्धिमान शुद्धचरित्र और मेधावी मंत्री सुपार्श्व ने रावण को ॥ ६१ ॥

निवार्यमाणं सचिवैरिदं वचनमब्रवीत् ।
कथं नाम दशग्रीव साक्षाद्वैश्रवणानुज ॥ ६२ ॥

वर्जते हुए उससे यह कहा—हे दशग्रीव ! आप साक्षात् कुबेर के छोटे भाई हो कर भी ॥ ६२ ॥

हन्तुमिच्छसि वैदेहीं क्रोधाद्धर्ममपास्य हि ।
वेदविद्या व्रतस्नातः स्वकर्मनिरतः सदा ॥ ६३ ॥

क्रोध के वशवर्ती हो और धर्म को त्याग कर, सीता का वध करना चाहते हैं । आपने यथाविधि वेदाध्ययन किया है और तदनुसार अग्निहोत्रादि अपने कर्त्तव्यकर्मों में आप सदा निरत रहते हैं ॥ ६३ ॥

स्त्रियाः कस्माद्वधं वीर मन्यसे राक्षसेश्वर ।
मैथिलीं रूपसम्पन्नां प्रत्यवेक्षस्व पार्थिव ॥ ६४ ॥

तो भी हे वीर ! आप स्त्रीवध को क्योंकर उचित समझते हैं । हे पृथिवीपाल ! आप इस सुन्दरी मैथिली को क्षमा कीजिये ॥ ६४ ॥

त्वमेव तु सहास्माभी राघवे क्रोधमुत्सृज ।
अभ्युत्थानं[1] त्वमद्यैव कृष्णपक्षचतुर्दशीम् ।
कृत्वा निर्याह्यमावास्यां विजयाय बलैर्वृतः ॥६५॥

और अपना यह क्रोध हम लोगों के साथ चल कर, राम के ऊपर उतारिये । आज कृष्णपक्ष की चतुर्दशी है । सो आज ही युद्ध की तैयारी कर अर्थात् सेना आदि सजा कर और, कल अमावास्या को विजययात्रा कीजिये ॥ ६५ ॥

शूरो धीमान्रथी खड्गी रथप्रवरमास्थितः ।
हत्वा दाशरथिं राम भवान्प्राप्स्यति मैथिलीम् ॥६६॥

---

१ अभ्युत्थानं—युद्धनिर्माण प्रारंभं । (गो०)

आप शूर हैं, बुद्धिमान हैं और महारथी हैं। (कल) उत्तम रथ पर सवार हो और हाथ में तलवार ले आप युद्धभूमि में चलिये और वहाँ दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी को मारिये। तब आपको सीता (अपने आप) मिल जायगी ॥ ६६ ॥

स तद्दुरात्मा सुहृदा निवेदितं
वचः सुधर्म्यं प्रतिगृह्य रावणः।
गृहं जगामाथ ततश्च वीर्यवान्
पुनः सभां च प्रययौ सुहृद्वृतः ॥६७॥

इति त्रिणवतितमः सर्गः ॥

इस पर दुरात्मा एवं बलवान रावण अपने मंत्री सुपार्श्व के इन धर्मयुक्त वचनों को मान अपने भवन को लौट गया और वहाँ से फिर वह अपने हितैषियों के साथ सभाभवन में गया ॥ ६७ ॥

युद्धकाण्ड का तिरानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुर्नवतितमः सर्गः

—※—

स प्रविश्य सभां राजा दीनः परमदुःखितः।
निषसादासने मुख्ये सिंहः क्रुद्ध इव श्वसन् ॥ १ ॥

उदास और परम दुःखी रावण सभाभवन में जा और सिंहासन पर बैठ, क्रुद्धसिंह की तरह उसाँसे लेने लगा ॥ १ ॥

अब्रवीच्च स तान्सर्वान्बलमुख्यान्महाबलः ।
रावणः प्राञ्जलिर्वाक्यं पुत्रव्यसनकर्शितः ॥ २ ॥

तदनन्तर उस महाबलवान रावण ने पुत्रशोक से विकल होने के कारण हाथ जोड़ कर, उन समस्त राक्षससेनापतियों से कहा ॥ २ ॥

सर्वे भवन्तः सर्वेण हस्त्यश्वेन समावृताः ।
निर्यान्तु रथसङ्घैश्च पादातैश्चोपशोभिताः ॥ ३ ॥

आप सब लोग हाथियों पर चढ़ कर लड़ने वाले सैनिकों को, घुड़सवार सेना को तथा रथ में बैठ कर लड़ने वाले सैनिकों को एवं पैदल योद्धाओं को साथ ले, लड़ने के लिये निकलिये ॥ ३ ॥

एकं रामं परिक्षिप्य समरे हन्तुमर्हथ ।
वर्षन्तः शरवर्षेण प्रावृट्काल इवाम्बुदाः ॥ ४ ॥

अकेले राम को घेर कर, वर्षाकाल के मेघों की तरह, उनके ऊपर बाणवृष्टि कर, उसे मार डालने का प्रयत्न कीजिये ॥ ४ ॥

अथवाऽहं शरैस्तीक्ष्णैर्भिन्नगात्रं महारणे ।
भवद्भिः श्वो निहन्तास्मि रामं लोकस्य पश्यतः ॥ ५ ॥

अथवा मैं ही कल आप लोगों के साथ चल कर, अपने बाणों से उसके शरीर को चलनी बना, सब के सामने उसे मारूँगा ॥ ५ ॥

इत्येतद्राक्षसेन्द्रस्य वाक्यमादाय राक्षसाः ।
निर्ययुस्ते रथैः शीघ्रैर्नानानीकैः सुसंवृताः ॥ ६ ॥

रावण की इस आज्ञा को मान, वे राक्षसगण तुरन्त विविध प्रकार की रथादि चतुरङ्गिनी सेना को साथ ले, निकले ॥ ६ ॥

परिघान्पट्टिशांश्चैव शरखड्गपरश्वधान् ।
शरीरान्तकरान्सर्वे चिक्षिपुर्वानरान्प्रति ॥ ७ ॥

युद्धक्षेत्र में पहुँच वे, शरीरों को नष्ट कर डालने वाले परिघों, पट्टों, बाणों, तलवारों और परश्वधों को वानरों के ऊपर चलाने लगे ॥ ७ ॥

वानराश्च द्रुमाञ्शैलान्राक्षसान्प्रति चिक्षिपुः ।
स संग्रामो महान्भीमः सूर्यस्योदयनं प्रति ॥ ८ ॥

इसके उत्तर में वानरों ने उन राक्षसों के ऊपर वृक्ष और शिलाएँ फेंकी। सूर्योदय होते ही युद्ध आरम्भ हुआ और यह युद्ध बड़ा भयङ्कर हुआ ॥ ८ ॥

रक्षसां वानराणां च तुमुलः समपद्यत ।
ते गदाभिर्विचित्राभिः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः ॥ ९ ॥

राक्षसों और वानरों का तुमुल युद्ध हुआ। चित्रविचित्र गदाओं प्रासों, खड्गों और परश्वधों से ॥ ९ ॥

अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तदा वानरराक्षसाः ।
एवं प्रवृत्ते संग्रामे ह्युद्भूतं सुमहद्रजः ॥ १० ॥

लड़ते हुए वानर और राक्षस, एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। इस प्रकार युद्ध होने पर समरभूमि में बड़ी धूल उड़ी ॥ १० ॥

रक्षसां वानराणां च शान्तं शोणितविस्रवैः ।
मातङ्गरथकूलाश्च वाजिमत्स्या ध्वजद्रुमाः ॥ ११ ॥

किन्तु (मरे और घायल हुए) वानरों के ख़ून के बहने से वह धूल दब गई। इस युद्ध में इतना रक्त बहा कि, नदियाँ बह निकलीं। इन नदियों के, हाथी और रथ तो करारे थे, घोड़े मत्स्य थे और ध्वजाएं नदीतटवर्ती वृत्त थीं ॥ ११ ॥

शरीरसङ्घाटवहाः प्रसस्रुः शोणितापगाः ।
ततस्ते वानराः सर्वे शोणितौघपरिप्लुताः ॥ १२ ॥
ध्वजवर्मरथानश्वान्नानाप्रहरणानि च ।
आप्लुत्याप्लुत्य समरे राक्षसानां बभञ्जिरे ॥ १३ ॥

इन रक्त की नदियों में लोथें घरनई के समान उतरा रही थीं। रुधिर में तराबोर वे समस्त वानर उछल उछल कर राक्षसों की ध्वजाओं, कवचों, रथों, घोड़ों तथा विविध प्रकार के आयुधों को तोड़ फोड़ रहे थे ॥ १२ ॥ १३ ॥

केशान्कर्णललाटांश्च नासिकाश्च प्लवङ्गमाः ।
रक्षसां दशनैस्तीक्ष्णैर्नखैश्चापि न्यकर्तयन् ॥ १४ ॥

वानर लोग, राक्षसों के सिर के बालों, कानों, ललाटों और नाकों को अपने पैने पैने दाँतों और नखों से बकोट रहे थे ॥ १४ ॥

एकैकं राक्षसं संख्ये शतं वानरपुङ्गवाः ।
अभ्यधावन्त फलिनं वृक्षं शकुनयो यथा ॥ १५ ॥

जिस प्रकार किसी फले हुए वृक्ष के ऊपर सैकड़ों पक्षी टूटते हैं उसी प्रकार कहीं कहीं एक एक राक्षस के ऊपर सौ सौ वानर टूट पड़ते थे ॥ १५ ॥

तथा गदाभिर्गुर्वीभिः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः ।
निजघ्नुर्वानरान्घोरान्राक्षसाः पर्वतोपमाः ॥ १६ ॥

तब पर्वताकार राक्षसों ने भारी भारी गदाओं, प्रासों, खड्गों और परश्वधों से बड़े बड़े वानरों को मारा ॥ १६ ॥

राक्षसैर्युध्यमानानां वानराणां महाचमूः ।
शरण्यं शरणं याता रामं दशरथात्मजम् ॥ १७ ॥

तब राक्षसों से युद्ध करती हुई वानरों की महती सेना सर्वलोक शरण्य दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी के शरण में गयी ॥ १७ ॥

ततो रामो महातेजा धनुरादाय वीर्यवान् ।
प्रविश्य राक्षसं सैन्यं शरवर्षं ववर्ष ह ॥ १८ ॥

तब महातेजस्वी बलवान श्रीरामचन्द्र जी हाथ में धनुष ले राक्षसी सेना में घुस गये और राक्षसों के ऊपर बाणवृष्टि करने लगे ॥ १८ ॥

प्रविष्टं तु तदा रामं मेघाः सूर्यमिवाम्बरे ।
नाधिजग्मुर्महाघोरं निर्दहन्तं शराग्निना ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी राक्षसी सेना में वैसे ही घुसे; जैसे सूर्य मेघमण्डल में घुस जाते हैं। बाणों की आग से जलाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी के सामने राक्षस लोग नहीं ठहर सके ॥ १९ ॥

कृतान्येव सुघोराणि रामेण रजनीचराः ।
रणे रामस्य ददृशुः कर्माण्यसुकराणि च ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जी इस युद्ध में बड़े बड़े भयङ्कर कर्म कर रहे थे। वे ऐसे कर्म थे, जिन्हें अन्य कोई वीर नहीं कर सकता था। राक्षस लोग अपनी सेना का नाश होना देखते थे, (किन्तु नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र जी किस कर्म द्वारा अथवा किस प्रकार नाश कर रहे थे; यह उनको नहीं दिखलाई पड़ता था। अर्थात् बड़ी फुर्ती से श्रीरामचन्द्र जी बाणवृष्टि कर रहे थे।) ॥ २० ॥

चालयन्तं महानीकं विधमन्तं महारथान् ।
ददृशुस्ते न वै रामं वातं वनगतं यथा ॥ २१ ॥

जिस प्रकार शरीर में लगने से वन का पवन जाना जाता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी भी राक्षसी सेना को चलायमान और महारथियों को दलन करते हुए अनुमान द्वारा जान लिये जाते थे, परन्तु कोई भी राक्षस उनको देख नहीं पाता था। (अर्थात् जिस प्रकार पवन का कार्य वृक्षादि के पत्तों का हिलना दिखलाई पड़ता है, स्वयं पवन नहीं देख पड़ता, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र स्वयं तो नहीं देख पड़ते थे, किन्तु राक्षससंहारादि उनके कार्य सब को दिखलाई पड़ते थे।)॥ २१ ॥

[1]छिन्नं [2]भिन्नं शरैर्दग्धं [3]प्रभग्नं शस्त्रपीडितम् ।
बलं रामेण ददृशुर्न रामं शीघ्रकारिणम् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा खण्डित, विदीर्ण, शराग्नि से दग्ध, टुकड़े टुकड़े हुई तथा बाणों से पीड़ित राक्षसी सेना तो देख पड़ती थी; किन्तु फुर्तीले श्रीरामचन्द्र जी नहीं देख पड़ते थे ॥ २२ ॥

प्रहरन्तं शरीरेषु न ते पश्यन्ति राघवम् ।
इन्द्रियार्थेषु तिष्ठन्तं [4]भूतात्मानमिव प्रजाः ॥ २३ ॥

जिन राक्षसों के शरीरों में चोट लगती थी, वे भी श्रीरामचन्द्र जी को वैसे ही नहीं देख पाते थे, जैसे इन्द्रियों के सुखभोग में फँसे प्राणी जीवात्मा को नहीं देख पाते ॥ २३ ॥

---

१ छिन्नं—खण्डितं। (गो०) २ भिन्नं—विदारितं। (गो०)
३ प्रभग्नं—शकलीकृतं। (गो०) ४ भूतात्मनं—जीवात्मानं। (गो०)

एष हन्ति गजानीकमेष हन्ति महारथान्।
एष हन्ति शरैस्तीक्ष्णैः पदातीन्वाजिभिः सह ॥ २४ ॥

यह देखो राम हाथियों की सेना का संहार कर रहा है। यह देखो राम हाथियों को नष्ट किये डालता है। यह देखो, पैने पैने तीरों से राम घुड़सवारों और पैदलराक्षस योद्धाओं को मारे डालता है ॥ २४ ॥

इति ते राक्षसाः सर्वे रामस्य सदृशान्रणे।
अन्योन्यं कुपिता जघ्नुः सादृश्याद्राघवस्य ते ॥ २५ ॥

इस प्रकार बकझक करते राक्षस आपस में एक दूसरे को श्रीरामचन्द्र जान क्रोध में भर आपस ही में लड़ कर, कटने मरने लगे ॥ २५ ॥

न ते ददृशिरे रामं दहन्तमरिवाहिनीम्।
मोहिताः परमास्त्रेण गान्धर्वेण महात्मनः ॥ २६ ॥

शत्रुसैन्य को भस्म करते हुए श्रीरामचन्द्र जी को वे राक्षस नहीं देख सके। क्योंकि महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने परमास्त्र गान्धर्वास्त्र से उन सब को मोहित कर दिया था ॥ २६ ॥

ते तु रामसहस्राणि रणे पश्यन्ति राक्षसाः।
पुनः पश्यन्ति काकुत्स्थमेकमेव महाहवे ॥ २७ ॥

कभी तो उन राक्षसों को युद्धभूमि में हजारों श्रीरामचन्द्र दिखलाई पड़ते और कभी वे एक ही श्रीरामचन्द्र जी को देखते थे ॥ २७ ॥

भ्रमन्तीं काञ्चनीं कोटिं कार्मुकस्य महात्मनः।
अलातचक्रप्रतिमां ददृशुस्ते न राघवम् ॥ २८ ॥

वे राक्षस लोग, महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी के सुवर्णमय धनुष का अग्रभाग, अधजली और घूमती हुई, बनैटी की तरह सदा मण्डलाकार ही देखते थे; किन्तु उन्हें श्रीरामचन्द्र जी नहीं देख पड़ते थे ॥ २८ ॥

[अब आगे श्रीरामचन्द्र जी के धनुष की उपमा सर्वशत्रुनाशकारी सुदर्शनचक्र से दे कर आदिकाव्यकार लिखते हैं—]

शरीरनाभि सत्त्वार्चिः शरारं नेमिकार्मुकम् ।
ज्याघोषतलनिर्घोषं तेजोबुद्धि गुणप्रभम्[1] ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का शरीर ही मानों उस धनुषरूपी चक्र का नाभि (मध्यप्रदेश) है । उनका बल उस धनुषरूपी चक्र की ज्वाला है, बाण उसके आरे हैं और धनुष नेमी है । प्रत्यञ्चा और तल का शब्द ही उसका (धनुषरूपी चक्र का) शब्द है, पराक्रम और ज्ञान ही उसकी धुरी (नेमि) है । श्रीरामचन्द्र जी के शरीर की कान्ति उस धनुषरूपी चक्र की प्रभा है ॥ २९ ॥

दिव्यास्त्रगुणपर्यन्तं निघ्नन्तं युधि राक्षसान् ।
ददृशू रामचक्रं तत्कालचक्रमिव प्रजाः ॥ ३० ॥

उस दिव्यास्त्र की शक्तिरूपी पैनी धार है । इस प्रकार के रण में घूमते हुए श्रीरामचन्द्र जी के धनुषरूपी चक्र को उस समय काल-चक्र की तरह योद्धाओं ने देखा ॥ ३० ॥

अनीकं दशसाहस्रं रथानां वातरंहसाम् ।
अष्टादशसहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ३१ ॥
चतुर्दशसहस्राणि सारोहाणां च वाजिनाम् ।
पूर्णे शतसहस्रे द्वे राक्षसानां पदातिनाम् ॥ ३२ ॥

---

1 गुणः—शरीरकान्तिः सएव प्रभा यस्य तत्तथोक्तं । (गो०)

दिवसस्याष्टमे भागे शरैरग्निशिखोपमैः ।
हतान्येकेन रामेण रक्षसां कामरूपिणाम् ॥ ३३ ॥

वायु के वेग की तरह वेग से चलने वाले दस हज़ार रथों (और उनमें बैठे योद्धाओं) को, अठारह हज़ार वेगवान् हाथियों (और उन पर बैठ कर लड़ने वाले योद्धाओं) को, चौदह हज़ार घोड़ों और उन पर सवार योद्धाओं को और पूरे दो लाख पैदल कामरूपी राक्षस सैनिकों को, अकेले श्रीरामचन्द्र जी ने पौने चार घड़ियों में अपने अग्निशिखा के समान चमकते हुए बाणों से मार डाला ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

ते हताश्वा हतरथाः शान्ता विमथितध्वजाः ।
अभिपेतुः पुरीं लङ्कां हतशेषा निशाचराः ॥ ३४ ॥

लड़ने के लिये आयी हुई उस राक्षसी सेना में थोड़े ही राक्षस बच गये थे, उनमें कितनों ही के तो घोड़े मारे गये थे और कितनों ही के रथ टुकड़े टुकड़े हो गये थे; ध्वजाएँ कट गयी थीं। उनका रणोत्साह एकदम शान्त हो गया था। मरने से बचे हुए ऐसे राक्षस लङ्कापुरी में पहुँचे ॥ ३४ ॥

हतैर्गजपदात्यश्वैस्तद्बभूव रणाजिरम् ।
आक्रीडमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्य सुमहात्मनः ॥ ३५ ॥

मरे हुए हाथियों, पैदल सैनिकों और घोड़ों से पट कर, रणभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानों कुपित महाबलवान भगवान् रुद्र की क्रीडास्थली हो ॥ ३५ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
साधु साध्विति रामस्य तत्कर्म समपूजयन् ॥ ३६ ॥

देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि श्रीरामचन्द्र जी के इस पराक्रम को देख, और "धन्य धन्य" कह कर, उनकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे ॥ ३६ ॥

अब्रवीच्च तदा रामः सुग्रीवं [1]प्रत्यनन्तरम् ।
विभीषणं च धर्मात्मा हनूमन्तं च वानरम् ॥ ३७ ॥

जामवन्तं हरिश्रेष्ठं मैन्दं द्विविदमेव च ।
एतदस्त्रबलं दिव्यं मम वा त्र्यम्बकस्य वा ॥ ३८ ॥

तब पास खड़े हुए सुग्रीव से विभीषण, हनुमान, जाम्बवान्, कपिश्रेष्ठ मैन्द और द्विविद से धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—इस प्रकार की अस्त्रप्रयोगशक्ति तो मुझमें है या शिव जी में है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

निहत्य तां राक्षसवाहिनीं तु
रामस्तदा शक्रसमो महात्मा ।
अस्त्रेषु शस्त्रेषु जितक्लमश्च
संस्तूयते दैवगणैः प्रहृष्टैः ॥ ३९ ॥

इति चतुर्नवतितमः सर्गः ॥

अस्त्रशस्त्र के चलाने में कभी न थकने वाले, इन्द्र के समान बलवान श्रीरामचन्द्र जी, जब उस राक्षसी सेना का संहार कर चुके, तब देवता लोगों ने अत्यन्त हर्षित हो उनकी स्तुति की ॥ ३९ ॥

युद्धकाण्ड का चौरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

1 प्रत्यनन्तरं—समीपस्थं । (गो॰)

पञ्चनवतितमः सर्गः

—※—

तानि नाग सहस्राणि सारोहाणां च वाजिनाम् ।
रथानां त्वग्निवर्णानां सध्वजानां सहस्रशः ॥ १ ॥

राक्षसानां सहस्राणि गदापरिघयोधिनाम् ।
काञ्चनध्वजचित्राणां शूराणां कामरूपिणाम् ॥ २ ॥

निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तप्तकाञ्चनभूषणैः ।
रावणेन प्रयुक्तानि रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ३ ॥

रावण के भेजे हुए सवारों सहित हज़ारों हाथियों, घोड़ों और हज़ारों ही अग्नि की तरह चमचमाते और ध्वजाओं से शोभित रथों [और] उनमें बैठ कर गदा एवं परिघ से लड़ने वाले हज़ारों राक्षसों को तथा सुवर्णमयी चित्रविचित्र ध्वजाओं से युक्त कामरूपी वीर योद्धा राक्षसों को अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी ने सुवर्णभूषित पैने बाणों से नष्ट कर डाला ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा श्रुत्वा च सम्भ्रान्ता हतशेषा निशाचराः ।
राक्षसीश्च समागम्य दीनाश्चिन्तापरिप्लुताः ॥ ४ ॥

[इ]न सब राक्षसों को मरा हुआ देख व सुन कर, मारे जाने से बचे हुए राक्षस बहुत ही घबड़ा गये। उनकी राक्षसियाँ दुःख और चिन्ता में डूब वहाँ जमा हो गयीं ॥ ४ ॥

विधवा हतपुत्राश्च क्रोशन्त्यो हतबान्धवाः ।
राक्षस्यः सह सङ्गम्य दुःखार्ताः पर्यदेवयन् ॥ ५ ॥

उन एकत्रित हुई राक्षसियों में बहुत सी तो विधवाएँ थीं और बहुत स्त्रियों के पुत्र और बन्धुवान्धव लड़ाई में मारे गये थे। वे सब राक्षसियाँ दुःखी हो और मिल कर तथा चिल्ला चिल्ला कर, विलाप करने लगीं ॥ ५ ॥

कथं शूर्पणखा वृद्धा कराला निर्णतोदरी।
आससाद वने रामं कन्दर्पमिव रूपिणम् ॥ ६ ॥

वे विलाप करती हुई कह रही थीं कि, विकट वदना, बूढ़ी और थलथलाती थोंद वाली सूपनखा की न मालूम किस कुघड़ी में कामदेव के समान रूपवान श्रीरामचन्द्र जी से वन में भेंट हुई थी ॥ ६ ॥

सुकुमारं महासत्त्वं सर्वभूतहिते रतम्।
तं दृष्ट्वा *लोकवध्या सा हीनरूपा [1]प्रकामिता ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तो सुकुमार होने पर भी महावलवान हैं और महावलवान होने पर भी प्राणिमात्र की भलाई में तत्पर रहने वाले हैं। वह लोकवध्या (लोगों से मार डालने योग्य) जलमुँही सूर्पनखा उनको देखते ही उनको चाहने लगी ॥ ७ ॥

कथं सर्वगुणैर्हीना गुणवन्तं महौजसम्।
सुमुखं दुर्मुखी रामं कामयामास राक्षसी ॥ ८ ॥

सब गुणों से रहित और जलमुँही सूपनखा ने ऐसे गुणवन्त, महावलवान और सुमुख श्रीरामचन्द्र जी को क्यों चाहा? अर्थात् उनसे प्रेम करना चाहा ॥ ८ ॥

जनस्यास्याल्पभाग्यत्वाद्वलिनी श्वेतमूर्धजा।
अकार्यमपहास्यं च सर्वलोकविगर्हितम् ॥ ९ ॥

---

१ प्रकामिता—कामयामास। (गो०) * पाठान्तरे—"लोकनिन्द्या"।

हाय! राक्षसों के दुर्भाग्यवश उस पके बालों वाली, जराजीर्ण (बुड्ढी) सूपनखा ने यह बड़ा भारी कुकर्म किया, जिससे सब लोगों ने उसकी निन्दा की और उसकी जगहँसाई हुई ॥ ९ ॥

राक्षसानां विनाशाय दूषणस्य खरस्य च ।
चकाराप्रतिरूपा सा राघवस्य प्रधर्षणम् ॥ १० ॥

खरदूषण का तथा अन्य समस्त राक्षसों का नाश कराने के लिये ही, सूर्पनखा ने ऐसा ऊटपटांग काम कर, श्रीरामचन्द्र जी का तिरस्कार किया था ॥ १० ॥

तन्निमित्तमिदं वैरं रावणेन कृतं महत् ।
वधाय सीता सानीता दशग्रीवेण रक्षसा ॥ ११ ॥

इसी कारण रावण ने यह बड़ा भारी वैर बांधा और अपने [वध] के लिये राक्षस रावण सीता को हर लाया ॥ ११ ॥

न च सीतां दशग्रीवः प्राप्नोति जनकात्मजाम् ।
बद्धं बलवता वैरमक्षयं राघवेण च ॥ १२ ॥

किन्तु दशग्रीव जनकात्मजा सीता को कभी न पावेगा। बड़े बलवान श्रीरामचन्द्र जी के साथ रावण ने घोर वैर कर लिया है ॥ १२ ॥

वैदेहीं प्रार्थयानं तं विराधं प्रेक्ष्य राक्षसम् ।
हतमेकेन रामेण पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १३ ॥

देखो, विराध ने भी तो सीता को लेना चाहा था, परन्तु उसे भी अकेले राम ही ने मार डाला। यही एक दृष्टान्त श्रीरामचन्द्र जी के बलवान होने का भरपूर दृष्टान्त या प्रमाण है ॥ १३ ॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
निहतानि जनस्थाने शरैरग्निशिखोपमैः ॥ १४ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने अग्निशिखा के समान चमचमाते बाणों से जनस्थान में भयानक कर्म करने वाले चौदह हज़ार राक्षसों को मार डाला ॥ १४ ॥

खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ।
शरैरादित्यसङ्काशैः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १५ ॥

फिर लड़ाई में सूर्य की तरह चमचमाते बाणों से खरदूषण और त्रिशिरा का मारा जाना भी श्रीरामचन्द्र के बलवान होने का पर्याप्त दृष्टान्त है ॥ १५ ॥

हतो योजनबाहुश्च कवन्धो रुधिराशनः ।
क्रोधान्नादं नदन्सोऽथ पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १६ ॥

फिर, श्रीरामचन्द्र जी द्वारा योजन योजन लंबी भुजाओं वाले, रुधिरपान करने वाले और क्रोध से गरजते हुए कवन्ध का मारा जाना, श्रीरामचन्द्र जी की वीरता का पर्याप्त दृष्टान्त है ॥ १६ ॥

जघान वलिनं रामः सहस्रनयनात्मजम् ।
वालिनं मेरुसङ्काशं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १७ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से मेरुपर्वत की तरह विशाल शरीरधारी इन्द्रपुत्र महाबलवान वालि का मारा जाना ही श्रीरामचन्द्र जी के अमित बलशाली होने का पर्याप्त उदाहरण है ॥ १७ ॥

ऋष्यमूके वसञ्शैले दीनो भग्नमनोरथः ।
सुग्रीवः स्थापितो राज्ये पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १८ ॥

फिर ऋष्यमूक पर्वत पर टिके हुए, दीनभावापन्न और भग्न-मनोरथ होने पर भी श्रीरामचन्द्र जी द्वारा सुग्रीव का वानरराज्य के राजसिंहासन पर स्थापित किया जाना भी उनके अक्षय्यबल-सम्पन्न होने का भरपूर उदाहरण है ॥ १८ ॥

[एको वायुसुतः प्राप्य लङ्कां हत्वा च राक्षसान् ।
दग्ध्वा तां च पुनर्यातः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १९ ॥

फिर, अकेले पवननन्दन का लङ्का में आकर राक्षसों का मारना, फिर लङ्का को फूँकना, श्रीरामचन्द्र जी के अटल प्रताप का पर्याप्त दृष्टान्त है ॥ १९ ॥

निगृह्य सागरं तस्मिन्सेतुं बध्वा प्लवङ्गमैः ।
वृतोऽतरत्तं यद्रामः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २० ॥]

फिर समुद्र को अपने वश कर और उसके ऊपर पुल बाँध समस्त वानरी सेना सहित समुद्र पार कर लङ्का में आना श्रीरामचन्द्र जी के असाधारण पुरुष होने का पर्याप्त दृष्टान्त है ॥ २० ॥

धर्मार्थसहितं वाक्यं सर्वेषां रक्षसां हितम् ।
युक्तं विभीषणेनोक्तं मोहात्तस्य न रोचते ॥ २१ ॥

धर्म अर्थ सहित और समस्त राक्षसों के हित से युक्त बातें, विभीषण ने रावण से कही थीं, किन्तु हाय ! मोहवश विभीषण की बातें रावण को पसन्द ही न आयीं ॥ २१ ॥

विभीषणवचः कुर्याद्यदि स्म धनदानुजः ।
श्मशानभूता दुःखार्ता नेयं लङ्का पुरी भवेत् ॥ २२ ॥

यदि कहीं कुबेर का छोटा भाई रावण, विभीषण के कथनानुसार चलता तो, यह लङ्का दुःख से विकल हो, श्मशान की तरह आज कभी न हुई होती ॥ २२ ॥

कुम्भकर्णं हतं श्रुत्वा राघवेण महाबलम् ।
अतिकायं च दुर्धर्षं लक्ष्मणेन हतं पुनः ॥ २३ ॥

प्रियं चेन्द्रजितं पुत्रं रावणो नावबुध्यते ।
मम पुत्रो मम भ्राता मम भर्ता रणे हतः ॥ २४ ॥

देखो, महाबलवान कुम्भकर्ण को श्रीरामचन्द्र जी ने मारा, दुर्धर्ष अतिकाय को तथा रावण के प्यारे पुत्र इन्द्रजीत को लक्ष्मण मारा, तिस पर भी रावण को चेत न हुआ अर्थात् रावण ने श्रीरामचन्द्र जी का प्रभाव न जान पाया। (उन एकत्र हुई राक्षसियों में से) कोई कहती थी हाय मेरा पुत्र मारा गया कोई कहती थी हाय मेरा भाई मारा गया, कोई कहती थी, हाय मेरा पति मारा गया ॥ २३ ॥ २४ ॥

इत्येवं श्रूयते शब्दो राक्षसानां कुले कुले[1] ।
रथाश्चाश्वाश्च नागाश्च हताः शतसहस्रशः ॥ २५ ॥

रणे रामेण शूरेण राक्षसाश्च पदातयः ।
रुद्रो वा यदि वा विष्णुर्महेन्द्रो वा शतक्रतुः ॥ २६ ॥

---

१ कुले कुले—गृहे गृहे । (गो०)

हन्ति नो रामरूपेण यदि वा स्वयमन्तकः ।
हतप्रवीरा रामेण निराशा जीविते वयम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार का हाहाकार लङ्कावासी राक्षसों के घर घर में सुनाई पड़ता था। राक्षसियाँ कहने लगीं देखो, शूरवीर राम ने सैकड़ों सहस्रों हाथियों, घोड़ों (ज़ीनसवारी के घोड़ों) रथों (रथ में जुते हुए घोड़ों) और पैदल सेना को काट डाला। जान पड़ता है रुद्र, विष्णु, इन्द्र अथवा स्वयं यमराज, रामरूप धर कर हम लोगों का नाश कर रहे हैं। बड़े बड़े वीर राक्षसों के राम द्वारा मारे जाने से अब तो हमें अपने जीवन की भी आशा नहीं रही ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

अपश्यन्तो भयस्यान्तमनाथा विलपामहे ।
रामहस्ताद्दशग्रीवः शूरो दत्तमहावरः ॥ २८ ॥

इदं भयं महाघोरमुत्पन्नं नावबुध्यते ।
न देवा न च गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ॥२९॥

[1]उपसृष्टं परित्रातुं शक्ता रामेण संयुगे ।
उत्पाताश्चापि दृश्यन्ते रावणस्य रणे रणे ॥ ३० ॥

(बिना हम सब का नाश हुए) अब इस उपस्थित भय का अन्त होता हुआ हमें नहीं देख पड़ता। इसीसे हम सब विलाप कर रही हैं। दशग्रीव रावण अपनी शूरवीरता और महावर-प्राप्ति के अभिमान में चूर हो रहा है। उसे यह नहीं सूझता कि, राम के हाथ से यह महाभयानक भय उपस्थित हुआ है। (जब

१ उपसृष्टं—हन्तु आरब्धम्। (रा०)

कि राम) युद्ध में रावण के मारने का निश्चय कर चुके हैं ; तब न तो देवता, न गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस ही उसकी रक्षा कर सकते हैं। प्रत्येक युद्ध में रावण के लिये अपशकुन ही होते हुए देखे जाते हैं॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

कथयिष्यन्ति रामेण रावणस्य निवर्हणम् ।
पितामहेन प्रीतेन देवदानवराक्षसैः ॥ ३१ ॥

रावणस्याभयं दत्तं मानुषेभ्यो न याचितम् ।
तदिदं मानुषं मन्ये प्राप्तं निःसंशयं भयम् ॥ ३२ ॥

उन उत्पातों से यह बात जान पड़ती है कि, रावण, श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से मारा जायगा। (रावण के माँगने पर) ब्रह्मा जी ने प्रसन्न हो रावण को देवता, दानव और राक्षसों से तो अभय होने का वर दिया ; किन्तु रावण ने मनुष्यों की ओर से अभय होने का वर ही ब्रह्मा जी से न माँगा। सो जान पड़ता है कि, निस्सन्देह अब यह मनुष्यभय राक्षसों के लिये उपस्थित हुआ है॥ ३१ ॥ ३२ ॥

जीवीतान्तकरं घोरं रक्षसां रावणस्य च ।
पीड्यमानास्तु बलिना वरदानेन रक्षसा ॥ ३३ ॥

दीप्तैस्तपोभिर्विबुधाः पितामहमपूजयन् ।
देवतानां हितार्थाय महात्मा वै पितामहः ॥ ३४

इस भय से रावण और राक्षसों का नाश होगा। जब वरदान से बली हो रावण ने देवताओं को सताया ; तब देवताओं ने घोर तप कर ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया। तब देवताओं के हित के लिये सर्वलोकपितामह महात्मा ब्रह्मा जी ने ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

उवाच देवताः सर्वा इदं तुष्टो महद्वचः ।
अद्यप्रभृति लोकांस्त्रीन्सर्वे दानवराक्षसाः ॥ ३५ ॥

भयेन प्रावृता नित्यं विचरिष्यन्ति शाश्वतम् ।
दैवतैस्तु समागम्य सर्वैश्चेन्द्रपुरोगमैः ॥ ३६ ॥

वृषभध्वजस्त्रिपुरहा महादेवः प्रसादितः ।
प्रसन्नस्तु महादेवो देवानेतद्वचोऽब्रवीत् ॥ ३७ ॥

समस्त देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिये यह गौरवयुक्त वचन कहा—आज से समस्त दानव और राक्षस भय से विह्वल हो, त्रिभुवन में सदा घूमा फिरा करेंगे। तदनन्तर इन्द्रादि देवताओं ने मिल कर वृषभध्वज, त्रिपुरान्तकारी महादेव जी को प्रसन्न किया। तब महादेव जी ने प्रसन्न हो देवताओं से यह कहा ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

उत्पत्स्यति हितार्थं वो नारी रक्षःक्षयावहा ।
एषा देवैः प्रयुक्ता तु क्षुद्यथा दानवान्पुरा ॥ ३८ ॥
भक्षयिष्यति नः सीता राक्षसघ्नी सरावणान् ।
रावणस्यापनीतेन दुर्विनीतस्य दुर्मतेः ॥ ३९ ॥

तुम्हारा हितसाधन करने को तथा राक्षसों का नाश करने के लिये एक स्त्री उत्पन्न होगी। सो वह सीता देवताओं की भेजी आयी है। जैसे पूर्वकाल में देवताओं की भेजी क्षुधा ने दानवों को खा डाला था; वैसे ही राक्षसों का नाश करने वाली वह सीता भी रावण और उसके परिवार सहित, हम सब को खा डालेगी। इस दुर्विनीत और दुर्मति रावण के अन्याय ही से ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

अयं [1]निष्ठानको घोरः शोकेन समभिप्लुतः ।
तं नः पश्यामहे लोके यो नः शरणदो भवेत् ॥४०॥

यह घोर शोक युक्त विनाश उपस्थित हुआ है। इस समय हमें कोई भी ऐसा नहीं देख पड़ता, जो हमको इस सङ्कट से बचा ले ॥ ४० ॥

राघवेणोपसृष्टानां कालेनेव युगक्षये ।
नास्ति नः शरणं कश्चिद्भये महति तिष्ठताम् ॥ ४१ ॥

जैसे प्रलयकाल में मृत्यु के पंजे से प्राणियों की कोई रक्षा नहीं कर सकता, वैसे ही इस बड़े भारी सङ्कट में फँसी हुई हम सब की राम के त्रास से कोई रक्षा नहीं कर सकता ॥ ४१ ॥

दवाग्निवेष्टितानां हि करेणूनां यथा वने ॥ ४२ ॥

इस समय हमारी वही दशा है, जो हथनियों की वन में दावानल से घिर जाने पर होती है ॥ ४२ ॥

प्राप्तकालं कृतं तेन पौलस्त्येन महात्मना ।
यत एव भयं दृष्टं तमेव शरणं गतः ॥ ४३ ॥

पुलस्त्यवंशोद्भव महात्मा विभीषण तो जिससे भय की आशङ्का थी, उसीके शरण में यथासमय चले गये ॥ ४३ ॥

इतीव सर्वा रजनीचरस्त्रियः
परस्परं सम्परिरभ्य बाहुभिः ।

---

१ निष्ठानकः—नाश इत्याहुः । (गो०)

विषेदुरार्ता भयभारपीडिता
विनेदुरुच्चैश्च तदा सुदारुणम् ॥ ४४ ॥

इति पञ्चनवतितमः सर्गः ॥

इस प्रकार समस्त राक्षसों की स्त्रियाँ एक दूसरे को कौरियाँ कर (बाहों में दबा कर) भयभीत और दुःखी हो, उच्चस्वर से अत्यन्त दारुण विलाप करने लगीं ॥ ४४ ॥

युद्धकाण्ड का पञ्चानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षण्णवतितमः सर्गः

—:०:—

आर्तानां राक्षसीनां तु लङ्कायां वै कुले कुले ।
रावणः करुणं शब्दं शुश्राव परिदेवितम्[1] ॥ १ ॥

रावण ने लङ्का के प्रत्येक घर में दुखियारी राक्षसियों का करुणाक्रन्दन सुना ॥ १ ॥

स तु दीर्घं विनिःश्वस्य मुहूर्तं ध्यानमास्थितः ।
बभूव परमक्रुद्धो रावणो भीमदर्शनः ॥ २ ॥

उसे सुन वह लंबी साँसें ले कुछ देर तक तो कुछ सोचता विचारता रहा; फिर क्रोध के मारे उसकी शक्ल बड़ी भयानक जान पड़ने लगी ॥ २ ॥

---

१ परिदेवितम्—उच्चारितं । (शि०)

सन्दश्य दशनैरोष्ठं क्रोधसंरक्तलोचनः ।
राक्षसैरपि दुर्दर्शः कालाग्निरिव [1]मूर्च्छितः ॥ ३ ॥

वह दाँतों से अपने ओठ चबाने लगा और मारे क्रोध के उसके नेत्र लाल लाल हो गये। वह उस समय कालाग्नि की तरह (क्रोध से) धधक रहा था। और तो और उसके पास जो राक्षस सदा रहते थे, उनसे भी मारे डर के उसकी ओर नहीं निहारा जाता था ॥ ३ ॥

उवाच च समीपस्थान्राक्षसान्राक्षसेश्वरः ।
*क्रोधाव्यक्तकथस्तत्र निर्दहन्निव चक्षुषा ॥ ४ ॥

राक्षसराज रावण पास खड़े हुए राक्षसों से बोला। यद्यपि उस समय क्रोध के आवेश में होने के कारण उसके मुख से साफ साफ बात नहीं निकलती थी; तथापि वह अपने नेत्रों से मानों भस्म करता हुआ सा बोला ॥ ४ ॥

महोदरमहापार्श्वौ विरूपाक्षं च राक्षसम् ।
शीघ्रं वदत सैन्यानि निर्यातेति ममाज्ञया ॥ ५ ॥

महोदर, महापार्श्व और विरूपाक्ष से कह दो कि, मेरी आज्ञा से वे राक्षस सैनिकों से कह दें कि, सब लोग तैयार हो कर शीघ्र निकलें ॥ ५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते भयार्दिताः ।
चोदयामासुरव्यग्रान्राक्षसांस्तान्नृपाज्ञया ॥ ६ ॥

---

१ मूर्च्छितः—अभिवृद्धः । (गो०) * पाठान्तरे—" भया "।

रावण के ये वचन सुन भयपीड़ित राक्षसों ने उसकी आज्ञानुसार निर्भय राक्षस सैनिकों को शीघ्र तैयार होने के लिये कहा ॥ ६ ॥

ते तु सर्वे तथेत्युक्त्वा राक्षसा घोरदर्शनाः ।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे रणायाभिमुखा ययुः ॥ ७ ॥

भयङ्कर राक्षस सैनिक भी "बहुत अच्छा" कह कर तथा विविध प्रकार के मङ्गलाचार कर, समरभूमि की ओर जाने को तैयार हुए ॥ ७ ॥

प्रतिपूज्य यथान्यायं रावणं ते निशाचराः ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे भर्तुर्विजयकाङ्क्षिणः ॥ ८ ॥

फिर उन निशाचरों ने रावण के पास जा, यथाविधि उसका पूजन किया और उसका विजय मना, वे सब हाथ जोड़ कर, उसके सामने खड़े हो गये ॥ ८ ॥

अथोवाच प्रहस्यैतान्रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
महोदरमहापार्श्वौ विरूपाक्षं च राक्षसम् ॥ ९ ॥

तब क्रोध में भरा हुआ रावण, अट्टहास करता हुआ, महोदर, महापार्श्व और विरूपाक्ष से बोला ॥ ९ ॥

अद्य बाणैर्धनुर्मुक्तैर्युगान्तादित्यसन्निभैः ।
राघवं लक्ष्मणं चैव नेष्यामि यमसादनम् ॥ १० ॥

आज मैं अपने धनुष से प्रलयकालीन सूर्य की तरह चमचमाते बाणों को छोड़ कर, रामचन्द्र और लक्ष्मण को यमालय पहुँचा दूँगा ॥ १० ॥

खरस्य कुम्भकर्णस्य प्रहस्तेन्द्रजितोस्तथा ।
करिष्यामि प्रतीकारमद्य शत्रुवधादहम् ॥ ११ ॥

आज मैं अपने शत्रु का वध कर ; खर, कुम्भकर्ण, प्रहस्त तथा इन्द्रजीत के वध का बदला लूँगा ॥ ११ ॥

नैवान्तरिक्षं न दिशो न नद्यो नापि सागराः ।
प्रकाशत्वं गमिष्यन्ति मद्बाणजलदावृताः ॥ १२ ॥

मेरे चलाये हुए बाणरूपी बादलों से आकाश, दिशाएँ, नदियाँ और सागर ढक जायंगे और दिखलाई न पड़ेंगे ॥ १२ ॥

अद्य वानरमुख्यानां तानि यूथानि भागशः ।
धनुषा शरजालेन विधमिष्यामि पत्रिणा ॥ १३ ॥

आज मैं प्रधान प्रधान वानरों तथा वानरी सेनाओं के यूथपतियों को विभक्त कर अपने धनुष और बाणों से नष्ट कर डालूँगा ॥ १३ ॥

अद्य वानरसैन्यानि रथेन पवनौजसा ।
धनुःसमुद्रादुद्भूतैर्मथिष्यामि शरोर्मिभिः ॥ १४ ॥

आज पवन के समान वेग से चलने वाले रथ पर सवार हो, धनुषरूपी समुद्र से उत्पन्न हुई, बाणरूपी लहरों द्वारा वानरी सेना को मथ डालूँगा ॥ १४ ॥

आकोशपद्मवक्त्राणि पद्मकेसरवर्चसाम् ।
अद्य यूथतटाकानि गजवत्प्रमथाम्यहम् ॥ १५ ॥

जिन वानरों के शरीरों का रंग कमल-केसर जैसा है और जिनके मुख खिले हुए कमल जैसे हैं उन वानरों के यूथरूपी तालावों को आज मैं हाथी की तरह मथ डालूँगा ॥ १५ ॥

सशरैरद्य वदनैः संख्ये वानरयूथपाः ।
मण्डयिष्यन्ति वसुधां सनालैरिव पङ्कजैः ॥ १६ ॥

समरभूमि में आज वानरी सेना के यूथपति मेरे बाणों से बिधे एं अपने मुखों से सनाल (डंडी सहित) कमलपुष्प की तरह भूमि को भूषित करेंगे ॥ १६ ॥

अद्य युद्धप्रचण्डानां हरीणां द्रुमयोधिनाम् ।
मुक्तेनैकेषुणा युद्धे भेत्स्यामि च शतं शतम् ॥१७॥

युद्ध करने में प्रचण्ड और पेड़ रूपी आयुधों से लड़ने वाले सौ वानरों को मैं एक एक बाण से बेध डालूँगा ॥ १७ ॥

हतो हर्ता हतो भ्राता यासां च तनया हताः ।
वधेनाद्य रिपोस्तासां करोम्यस्रप्रमार्जनम् ॥ १८ ॥

जिन राक्षसियों के पति और पुत्र युद्ध में मारे गये हैं, आज उनके शत्रु को मार कर, मैं उनके आँसुओं को पोंछूँगा ॥ १८ ॥

अद्य मद्बाणनिर्भिन्नैः प्रकीर्णैर्गतचेतनैः ।
करोमि वानरैर्युद्धे यत्नावेक्ष्यतलां महीम् ॥ १९ ॥

आज अपने बाणों से छिन्नभिन्न और छितरे हुए मरे वानरों से मैं समरभूमि को ऐसा ढक दूँगा कि, तिल रखने को भी स्थान खाली न रह जायगा ॥ १९ ॥

---

१ यत्नावेक्ष्यतलां—नैरन्तर्येण भूमौ वानरान्पातयिष्यामि । (गो०)

अद्यगोमायवो गृध्रा ये च मांसाशिनोऽपरे ।
सर्वांस्तांस्तर्पयिष्यामि शत्रुमांसैः शरार्पितैः ॥ २० ॥

आज शृगाल, गिद्ध तथा अन्य जो मांसभक्षी पशु पक्षी हैं, उन सब को बाणों से मारे हुए शत्रुओं के मांस से अघा दूँगा ॥२०॥

कल्प्यतां मे रथः शीघ्रं क्षिप्रमानीयतां धनुः ।
अनुप्रयान्तु मां सर्वे येऽवशिष्टा निशाचराः ॥ २१ ॥

अब शीघ्र मेरा रथ तैयार करो और तुरन्त मेरा धनुष ले आओ। जो राक्षस बचे हुए हैं, वे सब मेरे पीछे पीछे चलें ॥ २१ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा महापार्श्वोऽब्रवीद्वचः ।
बलाध्यक्षान्स्थितांस्तत्र बलं सन्त्वर्यतामिति ॥ २२ ।

रावण की इन बातों को सुन, महापार्श्व ने वहाँ उपस्थित सेनापतियों से कहा—सेना को शीघ्र तैयार होने को कहो ॥ २२ ॥

बलाध्यक्षास्तु संरब्धा राक्षसांस्तान्गृहाद्गृहात् ।
चोदयन्तः परिययुर्लङ्कां लघुपराक्रमाः ॥ २३ ॥

उन फुर्तीले सेनापतियों ने सारी लङ्कापुरी में घूम फिर कर और क्रोध में भर (इसलिये कि बहुत से राक्षस डर के मारे बुलाने पर भी घर से नहीं निकलते थे) घर घर में जा कर और राक्षसों को राजाज्ञा सुना कर शीघ्र तैयार हो कर निकलने को कहा ॥ २३ ॥

ततो मुहूर्तान्निष्पेतू राक्षसा भीमदर्शनाः ।
नदन्तो भीमवदना नानाप्रहरणैर्भुजैः ॥ २४ ॥

तब एक मुहूर्त भर में बड़े बड़े भयानक आकृति वाले और भयङ्कर शरीरधारी राक्षस हाथों में विविध प्रकार के हथियार ले तथा सिंहनाद करते हुए अपने अपने घरों से निकले ॥ २४ ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिर्मुसलैर्हुलैः[1] ।
शक्तिभिस्तीक्ष्णधाराभिर्महद्भिः कूटमुद्गरैः ॥ २५ ॥

यष्टिभिर्विमलैश्चक्रैर्निशितैश्च परश्वधैः ।
भिन्दिपालैः शतघ्नीभिरन्यैश्चापि वरायुधैः ॥ २६ ॥

तलवारों, पट्टों, शूलों, गदाओं, मूसलों, दुधारा खाड़ों, पैनी धारों वाली शक्तियों, काँटेदार मुगदरों, लोहे के डंडों, चमचमाते चक्रों, पैने पैने परश्वधों, भिन्दिपालों (गदा विशेष), शतघ्नियों तथा अन्य श्रेष्ठ श्रेष्ठ आयुधों से युद्ध करने वाले राक्षस योद्धाओं को ॥ २५ ॥ २६ ॥

अथानयद्बलाध्यक्षाः सत्वरा रावणाज्ञया ॥ २७ ॥

रावण की आज्ञानुसार सेनापति तुरन्त बुला लाये ॥ २७ ॥

द्रुतं सूतसमायुक्तं युक्ताष्टतुरगं रथम् ।
आरुरोह रथं भीमो दीप्यमानं स्वतेजसा २८ ॥

आठ घोड़े जुते हुए सारथी सहित रथ पर भयङ्कर रावण तुरन्त सवार हुआ । वह रथ अपनी चमक से दमक रहा था ॥ २८ ॥

ततः प्रयातः सहसा राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ।
रावणः [2]सत्त्वगाम्भीर्याद्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ २९ ॥

---

1 हुलैः—द्विफलपत्रामायुधविशेषैः । (गो०) 2 सत्त्वगाम्भीर्यात्—बलातिशयात् । (गो०)

तदनन्तर बहुत से राक्षसों को साथ लिये हुए रावण अपने महाबल से भूमि को विदीर्ण करता हुआ चला ॥ २९ ॥

रावणेनाभ्यनुज्ञातौ महापार्श्वमहोदरौ ।
विरूपाक्षश्च दुर्धर्षो रथानारुरुहुस्तदा ॥ ३० ॥

रावण द्वारा आज्ञा पा कर महापार्श्व महोदर विरूपाक्ष और दुर्धर्ष भी अपने अपने रथों पर सवार हो कर चले ॥ ३० ॥

ते तु हृष्टा विनर्दन्तो भिन्दन्त इव मेदिनीम् ।
नादं घोरं विमुञ्चन्तो निर्ययुर्जयकाङ्क्षिणः ३१ ॥

वे सब के सब हर्षित हो ऐसे गर्ज रहे थे, मानों भूमि को विदीर्ण कर डालेंगे। वे सब भयङ्कर सिंहनाद करते हुए जयप्राप्ति की आकांक्षा रखे हुए लङ्का से निकले ॥ ३१ ॥

ततो युद्धाय तेजस्वी रक्षोगणबलैर्वृतः ।
निर्ययावुद्यतधनुः कालान्तकयमोपमः ॥ ३२ ॥

सर्वभूतक्षयकारी कालान्तक यमराज की तरह तेजस्वी रावण राक्षसों की सेना साथ लिए तथा हाथ में रोदा चढ़ा चढ़ाया (तैयार) धनुष लिये हुए निकला ॥ ३२ ॥

ततः प्रजवनाश्वेन रथेन स महारथः ।
द्वारेण निर्ययौ तेन यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ ३३ ॥

बड़े वेगवान घोड़ों के रथ पर सवार वह महारथी रावण लङ्का के उसी द्वार से निकला जहाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण थे ॥ ३३ ॥

ततो नष्टप्रभः सूर्यो दिशश्च तिमिरावृताः ।
द्विजाश्च नेदुर्घोराश्च सञ्चचालेव मेदिनी ॥ ३४ ॥

उस समय सूर्य का प्रकाश मंद पड़ गया। दिशाओं में अन्धकार छा गया। पक्षीगण भयङ्कर बोलियाँ बोलने लगे। ज़मीन कांप उठी ॥ ३४ ॥

ववर्ष रुधिरं देवश्चस्खलुस्तुरगाः पथि ।
ध्वजाग्रे न्यपतद्गृध्रो विनेदुश्चाशिवं शिवाः ॥ ३५ ॥

देव ने आकाश से रक्त की वर्षा की। रास्ते में रावण के रथ के घोड़े लड़खड़ा कर गिर पड़े। रथ की ध्वजा के ऊपर गीध आ कर बैठ गया और सियारिनें रोने लगीं ॥ ३५ ॥

नयनं चास्फुरद्वामं सव्यो बाहुरकम्पत ।
विवर्णं वदनं चासीत्किञ्चिदभ्रश्यत स्वरः ॥ ३६ ॥

रावण की बाँयी आँख और बाँयी भुजा फड़कने लगी। उसके चेहरे का रंग फीका पड़ गया और कण्ठस्वर भी कुछ कुछ बिगड़ गया ॥ ३६ ॥

ततो निष्पततो युद्धे दशग्रीवस्य रक्षसः ।
रणे निधनशंसीनि रूपाण्येतानि जज्ञिरे ॥ ३७ ॥

दशग्रीव रावण की इस युद्धयात्रा के समय ये समस्त असगुन देख पड़े जो उसका युद्ध में मारा जाना प्रकट कर रहे थे ॥ ३७ ॥

अन्तरिक्षात्पपातोल्का निर्घातसमनिःस्वना ।
विनेदुरशिवा गृध्रा वायसैरनुनादिताः ॥ ३८ ॥

आकाश से उल्कापात हुआ, जिसके गिरते समय वज्र गहराने जैसा भयङ्कर शब्द हुआ। कौए के साथ स्वर मिला कर, गीध अमङ्गल-सूचक, बोलियाँ बोलने लगे ॥ ३८ ॥

एतानचिन्तयन्घोरानुत्पातान्समुपस्थितान् ।
निर्ययौ रावणो मोहाद्वधार्थी कालचोदितः ॥ ३९ ॥

सामने उपस्थित इन समस्त असगुनों अथवा उत्पातों की ज़रा भी परवाह न कर, मृत्यु का भेजा हुआ रावण, शत्रु के वध के लिये भ्रमवश लङ्का से निकला ॥ ३९ ॥

तेषां तु रथघोषेण राक्षसानां महात्मनाम् ।
वानराणामपि चमूर्युद्धायैवाभ्यवर्तत ॥ ४० ॥

इतने में राक्षसी सेना के रथों की गड़गड़ाहट सुन कर, वानरी सेना भी लड़ने के लिये तैयार हो गयी ॥ ४० ॥

तेषां तु तुमुलं युद्धं बभूव कपिरक्षसाम् ।
अन्योन्यमाह्वयानानां क्रुद्धानां जयमिच्छताम् ॥ ४१ ॥

फिर तो वानरों और राक्षसों का घमासान युद्ध होने लगा। दोनों ओर के योद्धा क्रोध में भर एक दूसरे को ललकारने लगे और दोनों ही दलों के सैनिक अपनी अपनी जीत के लिये लालायित हुए ॥ ४१ ॥

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः शरैः काञ्चनभूषणैः ।
वानराणामनीकेषु चकार कदनं महत् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर क्रोध में भर रावण ने अपने सुवर्णभूषित शरों से वानरी सेना का बड़ा नाश किया ॥ ४२ ॥

निकृत्तशिरसः केचिद्रावणेन वलीमुखाः ।
केचिद्विच्छिन्नहृदयाः केचिच्छ्रोत्रविवर्जिताः ॥४३॥

रावण के चलाये बाणों से किसी किसी वानर के तो सिर कट कर धड़ से अलग जा गिरे, किसी किसी का हृदय विदीर्ण हो गया और किसी किसी के दोनों कान ही कट गये ॥ ४३ ॥

निरुच्छ्वासा हताः केचित्केचित्पार्श्वेषु दारिताः ।
केचिद्विभिन्नशिरसः केचिच्चक्षुर्विवर्जिताः ॥ ४४ ॥

कोई कोई साँस बंद हो जाने के कारण गिर कर मर गये। किसी किसी की काँखें विदीर्ण हो गयीं, किसी किसी के सिर और किसी किसी की आँखें ही फूट गयीं ॥ ४४ ॥

दशाननः क्रोधविवृत्तनेत्रो
यतो यतोऽभ्येति रथेन संख्ये ।
ततस्ततस्तस्य शरप्रवेगं
सोढुं न शेकुर्हरिपुङ्गवास्ते ॥ ४५ ॥

इति षरणवतितमः सर्गः ॥

क्रोध में भर तिरछी आँखें किये हुए और रथ पर सवार रावण संग्रामभूमि में जिस ओर जा निकलता था, उस ओर के मोर्चे पर खड़ी वानरी सेना के कपिश्रेष्ठ उसके तीरों की मार को नहीं सह सकते थे अर्थात् मोर्चा छोड़ भाग जाते थे ॥ ४५ ॥

युद्धकाण्ड का छियानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

सप्तनवतितमः सर्गः

—:०:—

तथा तैः कृत्तगात्रैस्तु दशग्रीवेण मार्गणैः ।
बभूव वसुधा तत्र प्रकीर्णा हरिभिस्तदा ॥ १ ॥

इस प्रकार रावण द्वारा चलाये हुए बाणों के आघात से मरे और घायल हो कर गिरे हुए वानरों से समरभूमि परिपूर्ण हो गयी ॥ १ ॥

रावणस्याप्रसह्यं तं शरसम्पातमेकतः ।
न शेकुः सहितं दीप्तं पतङ्गा ज्वलनं यथा ॥ २ ॥

जैसे पतंगे जलती हुई आग की लपट को नहीं सह सकते, वैसे ही रणभूमि में किसी भी मोर्चे के वानर रावण की असह्य बाणवर्षा के सामने नहीं ठहर सकते थे ॥ २ ॥

तेऽर्दिता निशितैर्बाणैः क्रोशन्तो विप्रदुद्रुवुः ।
पावकार्चिःसमाविष्टा दह्यमाना यथा गजाः ॥ ३ ॥

वानरगण पैने पैने बाणों से घायल हो कर चिल्लाते हुए भागने लगे। जैसे जलती हुई आग में भूल से घुस जाने पर हाथी चिल्ला कर भागने लगते हैं ॥ ३ ॥

प्लवङ्गानामनीकानि महाभ्राणीव मारुतः ।
स ययौ समरे तस्मिन्विधमन्रावणः शरैः ॥ ४ ॥

उस युद्ध में रावण उन वानरों को बाणों से ऐसे विध्वस्त कर रहा था, जैसे मेघों की घटाओं को पवन (उड़ा कर) विध्वस्त कर डालता है ॥ ४ ॥

कदनं तरसा कृत्वा राक्षसेन्द्रो वनौकसाम्।
आससाद ततो युद्धे राघवं त्वरितस्तदा ॥ ५ ॥

राक्षसराज रावण बड़ी तेज़ी से वानरों की सेना को नष्ट करता हुआ, तुरन्त समरभूमि में वहाँ पहुँचा, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे ॥ ५ ॥

सुग्रीवस्तान्कपीन्दृष्ट्वा भग्नान्विद्रवतो रणे।
[1]गुल्मे सुषेणं निक्षिप्य चक्रे युद्धेऽद्भुतं मनः ॥ ६ ॥

उधर जब सुग्रीव ने देखा कि, वानर लोग, व्यूह भङ्ग कर रणभूमि से भाग रहे हैं, तब वे सुषेण को (वानरों की रक्षा के लिये) सैन्यशिविर में नियत कर, स्वयं लड़ने को तैयार हुए ॥ ६ ॥

आत्मनः सदृशं वीरः स तं निक्षिप्य वानरम्।
सुग्रीवोऽभिमुखः शत्रुं प्रतस्थे पादपायुधः ॥ ७ ॥

अपने समान शूरवीर सुषेण को शिविर में नियत कर, सुग्रीव हाथ में वृक्ष ले कर, रावण का सामना करने को चल दिये ॥ ७ ॥

पार्श्वतः पृष्ठतश्चास्य सर्वे यूथाधिपाः स्वयम्।
अनुजह्रुर्महाशैलान्विविधांश्च महाद्रुमान् ॥ ८ ॥

अन्य वानरयूथपति बड़े भारी भारी पत्थरों और बड़े बड़े वृक्षों को ले ले कर, सुग्रीव के बगल बगल और पीछे हो लिये ॥ ८ ॥

स नर्दयन्युधि सुग्रीवः स्वरेण महता महान्।
पातयन्विविधांश्चान्याञ्जगामोत्तमराक्षसान् ॥ ९ ॥

---

१ गुल्मे—सेनासन्निवेशे। (रा०)

सुग्रीव समरभूमि में बड़े ज़ोर से गर्जते हुए तथा बड़े बड़े प्रधान राक्षसों को मार कर गिराते हुए चले जाते थे ॥ ६ ॥

ममन्थ च महाकायो राक्षसान्वानरेश्वरः ।
युगान्तसमये वायुः प्रवृद्धानगमानिव ॥ १० ॥

वानरराज सुग्रीव ने विशाल शरीरधारी राक्षसों को वैसे ही मर्दन किया, जैसे प्रलयकालीन पवन, बड़े बड़े पर्वतों को चूर चूर कर डालता है ॥ १० ॥

राक्षसानामनीकेषु शैलवर्षं ववर्ष ह ।
अश्मवर्षं यथा मेघः पक्षिसङ्घेषु कानने ॥ ११ ॥

जिस प्रकार वन में पक्षियों के ऊपर आकाश से ओले बरसें, उसी प्रकार वे राक्षसी सेना के ऊपर पत्थर बरसाने लगे ॥ ११ ॥

कपिराजविमुक्तैस्तैः शैलवर्षैस्तु राक्षसाः ।
विकीर्णशिरसः पेतुर्निकृत्ता इव पर्वताः ॥ १२ ॥

उस समय कपिराज सुग्रीव के फैंके हुए वृक्षों और पत्थरों से शत्रुराक्षसों के सिर चकनाचूर हो जाते थे और वे वैसे ही ज़मीन पर गिर पड़ते थे, जैसे टूटे हुए पर्वत ॥ १२ ॥

अथ संक्षीयमाणेषु राक्षसेषु समन्ततः ।
सुग्रीवेण प्रभग्नेषु पतत्सु निनदत्सु च ॥ १३ ॥

सुग्रीव के प्रहार से चारों ओर राक्षसों की सेना का नाश होने लगा। वे चिल्ला चिल्ला कर ज़मीन पर गिरने लगे ॥ १३ ॥

विरूपाक्षः स्वकं नाम धन्वी विश्राव्य राक्षसः ।
रथादाप्लुत्य दुर्धर्षो गजस्कन्धमुपारुहत् ॥ १४ ॥

यह देख धनुषधारी दुर्धर्ष विरूपाक्ष अपना नाम सुना कर और रथ से उतर, हाथी की पीठ पर सवार हुआ ॥ १४ ॥

स तं द्विरदमारुह्य विरूपाक्षो महारथः ।
विनदन्भीमनिर्ह्रादं वानरानभ्यधावत ॥ १५ ॥

महारथी विरूपाक्ष हाथी के ऊपर सवार हो, भयङ्कर सिंहनाद करता हुआ वानरों के ऊपर दौड़ा ॥ १५ ॥

सुग्रीवे स शरान्घोरान्विससर्ज चमूमुखे ।
स्थापयामास चोद्विग्नान्राक्षसान्संप्रहर्षयन् ॥ १६ ॥

उसने वानरी सेना के सामने जा, सुग्रीव के ऊपर बाणवृष्टि कर और घबराये हुए राक्षसों को हर्षित कर, उन्हें पुनः युद्ध में प्रवृत्त किया ॥ १६ ॥

स तु विद्धः शितैर्बाणैः कपीन्द्रस्तेन रक्षसा ।
चुक्रोध स महाक्रोधो वधे चास्य मनो दधे ॥ १७ ॥

विरूपाक्ष द्वारा पैने बाणों से घायल हो, महाक्रोधी सुग्रीव क्रुद्ध हुए और उन्होंने उस राक्षस को मार डालने की अपने मन में ठानी ॥ १७ ॥

ततः पादपमुद्धृत्य शूरः [1]सम्प्रधनो हरिः ।
अभिपत्य जघानास्य प्रमुखे तु महागजम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर शूरवीर सुग्रीव ने एक पेड़ उखाड़ कर और झपट कर उस हाथी के सिर पर मारा, जिस पर विरूपाक्ष सवार था ॥ १८ ॥

---

[1] सम्प्रधनः—प्रवृत्तसर्धः । (गो०)

स तु प्रहाराभिहतः सुग्रीवेण महागजः ।
अपासर्पद्धनुर्मात्रं निषसाद ननाद च ॥ १९ ॥

सुग्रीव के वृत्तप्रहार की चोट से वह गजराज एक धनुष (अर्थात् चार हाथ) पीछे हट गया और चिंघाड़ता हुआ बैठ गया ॥ १६ ॥

गजात्तु मथितात्तूर्णमपक्रम्य स वीर्यवान् ।
राक्षसोऽभिमुखः शत्रुं प्रत्युद्गम्य ततः कपिम् ॥२०॥

तब गज को बेकाम हुआ जान, बलवान विरूपाक्ष उस हाथी से तुरत नीचे कूद पड़ा और अपने शत्रु वानरराज सुग्रीव के सामने हुआ ॥ २० ॥

आर्षभं चर्म खड्गं च प्रगृह्य लघुविक्रमः ।
भर्त्सयन्निव सुग्रीवमाससाद व्यवस्थितम् ॥ २१ ॥

बैल के चमड़े की ढाल और तलवार ले कर, विरूपाक्ष सामने खड़े हुए सुग्रीव को ललकारता हुआ उनके ऊपर लपका ॥ २१ ॥

स हि तस्याभिसंक्रुद्धः प्रगृह्य विपुलां शिलाम् ।
विरूपाक्षाय चिक्षेप सुग्रीवो जलदोपमाम् ॥ २२ ॥

इस पर सुग्रीव ने भी क्रोध में भर एक बड़ी भारी शिला उठायी और उस बादल के समान बड़ी शिला को विरूपाक्ष के ऊपर फेंका ॥ २२ ॥

स तां शिलामापतन्तीं दृष्ट्वा राक्षसपुङ्गवः ।
अपक्रम्य सुविक्रान्तः खड्गेन प्राहरत्तदा ॥ २३ ॥

जब राक्षसश्रेष्ठ विरूपाक्ष ने उस शिला को अपनी ओर आते देखा; तब अत्यन्त पराक्रमी विरूपाक्ष पैतरे बदल, उस शिला के वार को बचा गया और उसने सुग्रीव के ऊपर तलवार चलायी ॥ २३ ॥

तेन खड्गप्रहारेण रक्षसा बलिना हतः ।
मुहूर्तमभवद्वीरो विसंज्ञ इव वानरः ॥ २४ ॥

उस बलवान राक्षस विरूपाक्ष के खड्ग की चोट खा कर, सुग्रीव मुहूर्त भर के लिये कुछ कुछ मूर्च्छित से हो गये ॥ २४ ॥

स तदा सहसोत्पत्य राक्षसस्य महाहवे ।
मुष्टिं संवर्त्य वेगेन पातयामास वक्षसि ॥ २५ ॥

जब वे सावधान हुए, तब उन्होंने इस महायुद्ध में सहसा उछल और मुट्ठी बांध, एक घूँसा बड़े ज़ोर से विरूपाक्ष की छाती में मारा ॥ २५ ॥

मुष्टिप्रहाराभिहतो विरूपाक्षो निशाचरः ।
तेन खड्गेन संक्रुद्धः सुग्रीवस्य चमूमुखे ॥ २६ ॥

राक्षस विरूपाक्ष, घूँसे के प्रहार को सह और क्रोध में भर, सेना के आगे खड़े सुग्रीव के ऊपर पुनः खड्ग का प्रहार कर, ॥ २६ ॥

कवचं पातयामास [1]पद्भ्यामभिहतोऽपतत् ।
स समुत्थाय पतितः कपिस्तस्य व्यसर्जयत् ॥ २७ ॥

तलप्रहारमशनेः समानं भीमनिःस्वनम् ।
तलप्रहारं तद्रक्षः सुग्रीवेण समुद्यतम् ॥ २८ ॥

---

१ पद्भ्यामभिहतोऽपतत्—आकुञ्चितजानुरभवदित्यर्थः । (रा०)

उनका कवच काट कर गिरा दिया। उस खड्गप्रहार से सुग्रीव ने ज़मीन पर घुटने टेक दिये। घुटने टेके हुए सुग्रीव ने सहसा उठ कर और भयङ्कर नाद करते हुए, वज्र के समान एक चपेटा उसके मारना चाहा; ॥ २७ ॥ २८ ॥

नैपुण्यान्मोचयित्वैनं मुष्टिनोरस्यताडयत् ।
ततस्तु संक्रुद्धतरः सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ २९ ॥
मोक्षितं चात्मनो दृष्ट्वा प्रहारं तेन रक्षसा ।
स ददर्शान्तरं तस्य विरूपाक्षस्य वानरः ॥ ३० ॥

किन्तु वह शत्रु पर वार करने और शत्रु का वार बचाने में बड़ा निपुण था। अतः वह उस प्रहार को बचा गया और फिर उसने सुग्रीव के एक घूँसा मारा। अपने प्रहार का व्यर्थ जाते देख (और उसके प्रहार से पीड़ित होने के कारण) वानरराज सुग्रीव और भी अधिक क्रुद्ध हुए और विरूपाक्ष पर प्रहार करने की घात में रहे ॥ २९ ॥ ३० ॥

ततो न्यपातयत्क्रोधाच्छङ्खदेशे महत्तलम् ।
महेन्द्राशनिकल्पेन तलेनाभिहतः क्षितौ ॥ ३१ ॥
पपात रुधिरक्लिन्नः शोणितं च समुद्वमन् ।
स्रोतोभ्यस्तु विरूपाक्षो जलं प्रस्रवणादिव ॥ ३२ ॥

(अवसर पा) उन्होंने एक चपेटा उसके माथे में मारा। उस वज्रसमान चपेटे की चोट से वह धरती पर गिर लोटपोट हो गया। वह ख़ून से नहा उठा और उसने रक्त की वमन की।

१ स्रोतोभ्यः—नासादिनवद्वारेभ्यः। (गो०)

उसकी नाक, कान आदि शरीर के नव द्वारों से रक्त उसी प्रकार बहने लगा; जिस प्रकार पर्वत के झरने से जल बहता है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

विवृत्तनयनं क्रोधात्सफेनं रुधिराप्लुतम् ।
ददृशुस्ते विरूपाक्षं विरूपाक्षतरं कृतम् ॥ ३३ ॥

वानरों ने क्रोध में भर आँखें घुमाते हुए और झागों सहित रुधिर से सने विरूपाक्ष को, जो उस समय सचमुच अपने "विरूपाक्ष" नाम को चरितार्थ कर रहा था, देखा ॥ ३३ ॥

स्फुरन्तं परिवर्तन्तं पार्श्वेन रुधिरोक्षितम् ।
करुणं च विनर्दन्तं ददृशुः कपयो रिपुम् ॥ ३४ ॥

उस समय वह धरती पर छटपटाता हुआ करवटें बदल रहा था और रक्त से सराबोर था। वानरों ने उसके निकट जा देखा कि, उनका शत्रु विरूपाक्ष करुणास्वर से आर्तनाद कर रहा है ॥ ३४ ॥

तथा तु तौ संयति संप्रयुक्तौ
तरस्विनौ वानरराक्षसानाम् ।
बलार्णवौ सस्वनतुः सुभीमं
महार्णवौ द्वाविव भिन्नवेलौ ॥ ३५ ॥

उस समय वेगवान और युद्ध में नियुक्त वानरों और राक्षसों की समुद्ररूपी दोनों सेनाएँ वैसा ही अत्यन्त भयानक गर्जन शब्द करने लगीं; जैसे तटों के टूटने पर दो समुद्रों के गर्जन का शब्द होता है ॥ ३५ ॥

विनाशितं प्रेक्ष्य विरूपनेत्रं
महाबलं तं हरिपार्थिवेन ।

बलं समस्तं कपिराक्षसानाम्
[1]उन्मत्तगङ्गाप्रतिमं बभूव ॥ ३६ ॥

इति सप्तनवतितमः सर्गः ॥

सुग्रीव द्वारा महाबली विरूपाक्ष का मारा जाना देख, वानरों और राक्षसों की दोनों सेनाएँ (यथाक्रम) हर्ष और विषाद से गङ्गा की तरह तरङ्गित हो उठीं ॥ ३६ ॥

युद्धकाण्ड का सत्तानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टनवतितमः सर्गः

—:०:—

हन्यमाने बले तूर्णमन्योन्यं ते महामृधे ।
सरसीव महाघर्मे सूपक्षीणे बभूवतुः ॥ १ ॥

उस समय उस घोर संग्राम में परस्पर प्रहार से मारे गये सैनिकों के कारण दोनों ओर की सेनाएँ वैसे ही क्षीण हो गयीं, जैसे ग्रीष्मऋतु में छोटी छोटी तलैयाँ हो जाती हैं ॥ १ ॥

स्वबलस्य विघातेन विरूपाक्षवधेन च ।
बभूव द्विगुणं क्रुद्धो रावणो राक्षसाधिपः ॥ २ ॥

अपनी सेना का नाश और विरूपाक्ष का मारा जाना देख, राक्षसराज रावण दूना क्रुद्ध हुआ ॥ २ ॥

---

१ उन्मत्त—उद्वेल । (गो०)

प्रक्षीणं तु बलं दृष्ट्वा वध्यमानं वलीमुखैः ।
बभूवास्य व्यथा युद्धे प्रेक्ष्य दैवविपर्ययम् ॥ ३ ॥

वानरों द्वारा वध किये जाने के कारण अपनी सेना को अत्यन्त क्षीण हुआ देख, रावण ने समझा कि, इस समय मेरा भाग्य ही लौट गया है, अतः समरभूमि में स्थित रावण व्यथित हुआ ॥ ३ ॥

उवाच च समीपस्थं महोदरमरिन्दमम् ।
अस्मिन्काले महाबाहो जयाशा त्वयि मे स्थिता ॥४॥

उसने पास खड़े हुए शत्रुनाशकारी महोदर से कहा—हे महा बलवान् ! इस समय मेरे विजय की आशा तुम्हारे ऊपर ही निर्भर करती है ॥ ४ ॥

जहि शत्रुचमूं वीर दर्शयाद्य पराक्रमम् ।
[1]भर्तृपिण्डस्य कालोऽयं निर्देष्टुं साधु युध्यताम् ॥५॥

हे वीर ! तुम शत्रुसैन्य को नाश कर आज अपना पराक्रम दिखला दो । स्वामी का खाया हुआ निमक हलाल कर के दिखाने का यही अवसर है । अतः तुम भलीभांति युद्ध करो ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा राक्षसेन्द्रो महोदरः ।
प्रविवेशारिसेनां तां पतङ्ग इव पावकम् ॥ ६ ॥

रावण के यह कहने पर महोदर ने उससे कहा "बहुत अच्छा" और वह शत्रुसेना में उसी प्रकार कूद पड़ा, जैसे पतंगा आग में कूद पड़ता है ॥ ६ ॥

---

१ भर्तृपिण्डस्य—स्वामिकृतान्नादिप्रदानोपकारस्य । (रा०)

ततः स कदनं चक्रे वनराणां महाबलः ।
भर्तृवाक्येन तेजस्वी स्वेन वीर्येण चोदितः ॥ ७ ॥

रावण के कहने से तथा अपने बल का आश्रय ग्रहण कर, महाबली एवं तेजस्वी महोदर ने वानरी सेना में घुस बड़ी मार काट मचायी ॥ ७ ॥

वानराश्च महासत्त्वाः प्रगृह्य विपुलाः शिलाः ।
प्रविश्यारिबलं भीमं जघ्नुस्ते रजनीचरान् ॥ ८ ॥

बड़े बड़े बलवान वानरों ने भी बड़ी बड़ी शिलाएँ ले और शत्रुओं (राक्षसों) की भयङ्कर सेना में घुस, राक्षसों का संहार किया ॥ ८ ॥

महोदरस्तु संक्रुद्धः शरैः काञ्चनभूषणैः ।
चिच्छेद पाणिपादोरून्वानराणां महाहवे ॥ ९ ॥

महोदर ने क्रोध में भर सुवर्णभूषित बाणों से उस महासमर में, अनेक वानरों के हाथ पैर काट डाले ॥ ९ ॥

ततस्ते वानराः सर्वे राक्षसैरर्दिता भृशम् ।
दिशो दश द्रुताः केचित्केचित्सुग्रीवमाश्रिताः ॥१०॥

महोदर की मार से समस्त वानर अत्यन्त पीड़ित हुए और उनमें से कुछ तो इधर उधर भाग गये और कुछ ने जा सुग्रीव का आश्रय ग्रहण किया ॥ १० ॥

प्रभग्नां समरे दृष्ट्वा वानराणां महाचमूम् ।
अभिदुद्राव सुग्रीवो महोदरमनन्तरम्[1] ॥ ११ ॥

---

१ अनन्तरं—समीपस्थं । (गो०)

महती वानरी सेना को मोर्चाबंदी को छिन्नभिन्न हुआ देख, सुग्रीव समीपस्थ महोदर के ऊपर झपटे ॥ ११ ॥

प्रगृह्य विपुलां घोरां महीधरसमां शिलाम् ।
चिक्षेप च महातेजास्तद्वधाय हरीश्वरः ॥ १२ ॥

महातेजस्वी कपिराज सुग्रीव ने, पर्वत के समान एक बड़ी भारी शिला उठा, महोदर के वध के लिये फैंकी ॥ १२ ॥

तामापतन्तीं सहसा शिलां दृष्ट्वा महोदरः ।
असम्भ्रान्तस्ततो बाणैर्निर्बिभेद दुरासदाम् ॥ १३ ॥

अचानक उस शिला को अपने ऊपर आते हुए देख, महोदर घबड़ाया नहीं और उसने बाणों से उस दुर्धर्ष शिला के टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ १३ ॥

रक्षसा तेन बाणौघैर्निकृत्ता सा सहस्रधा ।
निपपात शिला भूमौ [1]गृध्रचक्रमिवाकुलम् ॥ १४ ॥

महोदर ने बाणों से उस विशाल शिला के हज़ारों टुकड़े कर डाले और उस शिला के टुकड़े भूमि पर ऐसे गिरे, मानों गिद्धों का झुंड पृथिवी पर गिरा हो ॥ १४ ॥

तां तु भिन्नां शिलां दृष्ट्वा सुग्रीवः क्रोधमूर्च्छितः ।
सालमुत्पाट्य चिक्षेप राक्षसे रणमूर्धनि ॥ १५ ॥

शिला का वार ख़ाली जाते देख, सुग्रीव अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने समरभूमि में से एक साखू का पेड़ उखाड़, उसे महोदर के ऊपर फैंका ॥ १५ ॥

---

१ गृध्रचक्रं—गृध्रसमूहः । (गो०)

शरैश्च विददारैनं शूरः परपुरञ्जयः ।
स ददर्श ततः क्रुद्धः परिघं पतितं भुवि ॥ १६ ॥

उस शूरवीर और शत्रुओं के पुरों को फतह करने वाले महोदर ने बाणों से उस पेड़ को भी काट डाला। यह देख सुग्रीव क्रुद्ध हुए। उन्हें उस समय पृथिवी पर पड़ा एक परिघ देख पड़ा ॥ १६ ॥

आविध्य तु स तं दीप्तं परिघं तस्य दर्शयन् ।
परिघाग्रेण वेगेन जघानास्य हयोत्तमान् ॥ १७ ॥

उन्होंने उस चमचमाते परिघ को खूब घुमा और उस राक्षस को दिखाया। तदनन्तर बड़े ज़ोर से उसके अग्रभाग से महोदर के घोड़ों को मार डाला ॥ १७ ॥

तस्माद्धतहयाद्वीरः सोऽवप्लुत्य महारथात् ।
गदां जग्राह संक्रुद्धो राक्षसोऽथमहोदरः ॥ १८ ॥

घोड़ों के मारे जाने पर वीर महोदर अपने विशाल रथ से कूद पड़ा और क्रोध में भर उसने एक गदा उठा ली ॥ १८ ॥

गदापरिघहस्तौ तौ युधि वीरौ समीयतुः ।
नर्दन्तौ गोवृषप्रख्यौ घनानिव सविद्युतौ ॥ १९ ॥

सुग्रीव परिघ ले और महोदर गदा ले लड़ने के लिये आमने सामने हुए। दो साँड़ों की तरह वे आपस में भिड़ गये। बिजली सहित बादलों की तरह गर्जते हुए दोनों लड़ने लगे ॥ १९ ॥

ततः क्रुद्धो गदां तस्मै चिक्षेप रजनीचरः ।
ज्वलन्तीं भास्कराभासां सुग्रीवाय महोदरः ॥ २० ॥

राक्षस महोदर ने क्रोध में भर सूर्य की तरह चमचमाती गदा सुग्रीव के ऊपर चलायी ॥ २० ॥

गदां तां सुमहाघोरामापतन्तीं महाबलः ।
सुग्रीवो रोषताम्राक्षः समुद्यम्य महाहवे ॥ २१ ॥

क्रोध में भरे हुए लाल लाल नेत्र किये महाबली वानरराज सुग्रीव ने गदा को अपने ऊपर आते देख, उस महासमर में परिघ उठा ॥ २१ ॥

आजघान गदां तस्य परिघेण हरीश्वरः ।
पपात स गदोद्भिन्नः परिघस्तस्य भूतले ॥ २२ ॥

कपिराज ने उस गदा में मारा । किन्तु वह परिघ उस गदा से टकरा कर और टूट कर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २२ ॥

ततो जग्राह तेजस्वी सुग्रीवो वसुधातलात् ।
आयसं मुसलं घोरं सर्वतो हेमभूषितम् ॥ २३ ॥

..व तेजस्वी सुग्रीव ने पृथिवी पर पड़ा एक लोहे का बड़ा भयङ्कर मूसल, जो सोने के बंदों से चारों ओर भूषित था ॥ २३ ॥

स तमुद्यम्य चिक्षेप सोऽप्यन्यां व्याक्षिपद्गदाम् ।
भिन्नावन्योन्यमासाद्य पेततुर्धरणीतले ॥ २४ ॥

उसे उठा कर उन्होंने उस गदा के ऊपर चलाया । तब वह मूसल और गदा आपस में टकरा दोनों ही टूट कर ज़मीन पर गिर पड़े ॥ २४ ॥

ततो भग्नप्रहरणौ मुष्टिभ्यां तौ समीयतुः ।
तेजोबलसमाविष्टौ दीप्ताविव हुताशनौ ॥ २५ ॥

जब वे दोनों आयुध टूट गये तब दोनों योद्धाओं में घुसंघुस्सा होने लगा। वे अपने अपने तेज और बल से प्रदीप्त आग की तरह जान पड़ते थे॥ २५॥

जघ्नतुस्तौ तदाऽन्योन्यं नेदतुश्च पुनः पुनः।
तलैश्चान्योन्यमाहत्य पेततुर्धरणीतले॥ २६॥

वे एक दूसरे पर प्रहार करते थे और बार बार सिंहनाद करते थे। फिर थपेड़ों से एक दूसरे को मार कर दोनों धरती पर गिर पड़ते थे॥ २६॥

उत्पेततुस्ततस्तूर्णं जघ्नतुश्च परस्परम्।
भुजैश्चिक्षिपतुर्वीरावन्योन्यमपराजितौ॥ २७॥

फिर तुरन्त ही दोनों उठ खड़े होते और एक दूसरे पर प्रहार करने लगते थे। अपने भुजबल से वे एक दूसरे को उठा उठा कर पटकी दे रहे थे। अब तक उन दोनों में से हारा एक भी न था॥ २७॥

जग्मतुस्तौ श्रमं वीरौ बाहुयुद्धे परन्तपौ।
आजहार ततः खड्गमदूरपरिवर्तिनम्॥ २८॥

राक्षसश्चर्मणा सार्धं महावेगो महोदरः।
तथैव च महाखड्गं चर्मणा पतितं सह॥ २९॥

शत्रुघाती दोनों ही वीर इस प्रकार बहुत देर तक बाहुयुद्ध करते करते थक गये। उन्होंने तब बाहुयुद्ध बन्द कर दिया। अत्यन्त फुर्तीले महोदर ने वहाँ पड़ी हुई ढालों तलवारों में से एक ढाल और एक तलवार उठा ली॥ २८॥ २९॥

जग्राह वानरश्रेष्ठः सुग्रीवो वेगवत्तरः ।
तौ तु रोषपरीताङ्गौ नर्दन्तावभ्यधावताम् ॥ ३० ॥

तब महोदर से भी बढ़ कर फुर्तीले वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने भी एक ढाल और एक तलवार उठा ली। वे दोनों क्रोध में भर गर्जते हुए एक दूसरे के ऊपर दौड़े ॥ ३० ॥

उद्यतासी रणे हृष्टौ युधि शस्त्रविशारदौ ।
दक्षिणं मण्डलं चोभौ सुतूर्णं सम्परीयतुः ॥ ३१ ॥

तलवार उठाये और शस्त्र चलाने में चतुराई दिखलाते हुए, वे दोनों योद्धा दक्षिणावर्तो मण्डलाकार पैतरा बदलते हुए कावा काट रहे थे ॥ ३१ ॥

अन्योन्यमभिसंक्रुद्धौ जये प्रणिहितावुभौ ।
स तु शूरो महावेगो वीर्यश्लाघी महोदरः ॥ ३२ ॥
महाचर्मणि तं खड्गं पातयामास दुर्मतिः ।
लग्नमुत्कर्षतः खड्गं खड्गेन कपिकुञ्जरः ॥ ३३ ॥

और एक दूसरे पर क्रोध करते हुए जीतने के अभिलाषी हो रहे थे। इतने में बड़ाई चाहने वाले, शूरवीर दुष्ट महोदर ने बड़े ज़ोर से सुग्रीव की बड़ी ढाल पर खड्ग का प्रहार किया। किन्तु उसकी तलवार, जब वह उसे खींचने लगा, तब उस ढाल में उलझ गयी। तब कपिश्रेष्ठ सुग्रीव ने अपने हाथ की तलवार से ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

जहार सशिरस्त्राणं कुण्डलोपहितं शिरः ।
निकृत्तशिरसस्तस्य पतितस्य महीतले ॥ ३४ ॥

महोदर के सिर को, जो टोप (या पगड़ी) तथा कुण्डलों से शोभित था, काट डाला। उसके कटे हुए सिर को धरती पर पड़ा हुआ देख ॥ ३४ ॥

तद्बलं राक्षसेन्द्रस्य दृष्ट्वा तत्र न तिष्ठते।
हत्वा तं वानरैः सार्धं ननाद मुदितो हरिः ॥ ३५ ॥

रावण की वह सेना, वहाँ खड़ी न रह सकी। महोदर मार सुग्रीव समस्त वानरों सहित गर्जे ॥ ३५ ॥

चुक्रोध च दशग्रीवो बभौ हृष्टश्च राघवः।
विषण्णवदनाः सर्वे राक्षसा दीनचेतसः।
विद्रवन्ति ततः सर्वे भयवित्रस्तचेतसः ॥ ३६ ॥

यह देख रावण तो क्रुद्ध हुआ, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी हर्षित हुए। समस्त राक्षसों के चेहरों पर उदासी छा गयी और वे मन में बड़े दुःखी हुए। समस्त राक्षस मन में भयभीत हो वहाँ से भाग गये ॥ ३६ ॥

महोदरं तं विनिपात्य भूमौ
महागिरेः कीर्णमिवैकदेशम्।
सूर्यात्मजस्तत्र रराज लक्ष्म्या
सूर्यः स्वतेजोभिरिवाप्रधृष्यः ॥ ३७

इस प्रकार महापर्वत के विदीर्ण हुए एक भाग की तरह महोदर को पृथिवी पर गिरा, सूर्यपुत्र सुग्रीव की, विजयलक्ष्मी से वैसी ही शोभा हुई; जैसी कि, दुर्धर्ष सूर्य की अपने तेज से होती है ॥ ३७ ॥

अथ विजयमवाप्य वानरेन्द्रः
समरमुखे सुरयक्षसिद्धसङ्घैः ।
अवनितलगतैश्च भूतसङ्घैः
*हरूपसमाकुलितैः स्तुतो महात्मा ॥ ३८ ॥

इति अष्टनवतितमः सर्गः ॥

वानरराज सुग्रीव के इस प्रकार इस युद्ध में विजयलक्ष्मी प्राप्त करने पर, आकाशस्थित देवता, यक्ष, सिद्ध तथा पृथिवी पर स्थित समस्त प्राणी हर्षित हो सुग्रीव की प्रशंसा करने लगे ॥ ३८ ॥

युद्धकाण्ड का अट्ठानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनशततमः सर्गः

—※—

महोदरे तु निहते महापार्श्वो महाबलः ।
सुग्रीवेण समीक्ष्याथ क्रोधात्संरक्तलोचनः ॥ १ ॥

महोदर के मारे जाने पर, महाबलवान राक्षस महापार्श्व, क्रोध में भर और लाल लाल नेत्र कर सुग्रीव को घूरने लगे ॥ १ ॥

अङ्गदस्य चमूं भीमां क्षोभयामास सायकैः ।
स वानराणां मुख्यानामुत्तमाङ्गानि सर्वशः ॥ २ ॥

* हर्षपदस्थाने हरूपेतिपाठश्छन्दोनुरोधात् । (तीर्थी०)

पातयामास कायेभ्यः फलं [1]वृन्तादिवानिलः ।
केषांचिदिषुभिर्बाहून्स्कन्धांश्चिच्छेद राक्षसः ॥ ३ ॥

और अङ्गद की बड़ी भयङ्कर वानरी सेना को बाणों से क्षुब्ध करने लगा। वह मुख्य मुख्य वानरों के शरीरों से उनके सिरों को बाण से काट काट कर, उसी प्रकार गिरा रहा था, जिस प्रकार हवा डालियों से फलों को गिराती है। बाणों से वह किसी किसी की बाँहे और किसी किसी के कंधों को छिन्न भिन्न कर रहा था ॥३॥

वानराणां सुसंक्रुद्धः पार्श्वं केषां व्यदारयत् ।
तेऽर्दिता बाणवर्षेण महापार्श्वेन वानराः ॥ ४ ॥

अत्यन्त क्रुद्ध हो वह अनेक वानरों की कोखों को विदीर्ण कर रहा था। महापार्श्व की बाणवर्षा से वानर लोग पीड़ित हुए ॥ ४ ॥

विषादविमुखाः सर्वे बभूवुर्गतचेतसः ।
निरीक्ष्य बलमुद्विग्नमङ्गदो राक्षसार्दितम् ॥ ५ ॥

वानर लोग विषादित हो युद्ध से विमुख हो गये। उनके होश-हवास दुरुस्त न रहे। तब महापार्श्व द्वारा वानरी सेना को पीड़ित देख अङ्गद ने ॥ ५ ॥

वेगं चक्रे महाबाहुः समुद्र इव पर्वणि ।
आयसं परिघं गृह्य सूर्यरश्मिसमप्रभम् ॥ ६ ॥

पूर्णमासी के समुद्र की तरह वेग धारण कर, सूर्य किरणों की तरह चमचमाते एक लोहे के परिघ को उठा लिया ॥ ६ ॥

---

1 वृन्तात्—प्रसवबंधनात्। (शि०)

समरे वानरश्रेष्ठो महापार्श्वे न्यपातयत् ।
स तु तेन प्रहारेण महापार्श्वो विचेतनः ॥ ७ ॥

फिर उस समरभूमि में वानरश्रेष्ठ अङ्गद ने उसे महापार्श्व के ऊपर चलाया। उस परिघ के प्रहार से महापार्श्व मूर्च्छित हो ॥७॥

ससूतः स्यन्दनात्तस्माद्विसंज्ञः प्रापतद्भुवि ।
सर्क्षराजस्तु तेजस्वी नीलाञ्जनचयोपमः ॥ ८ ॥

निष्पत्य सुमहावीर्यः स्वयूथान्मेघसन्निभात् ।
प्रगृह्य गिरिशृङ्गाभां क्रुद्धः सुविपुलां शिलाम् ॥ ९ ॥

सारथी सहित पृथिवी पर गिर पड़ा। इतने में काजल के ढेर की तरह महाबलवान तेजस्वी ऋक्षपति जाम्बवान् मेघ की तरह अपने दल से उछल कर झपटे। उन्होंने क्रोध में भर पर्वत के शृङ्ग की तरह एक बड़ी भारी शिला ले ली ॥ ८ ॥ ९ ॥

अश्वाञ्जघान तरसा स्यन्दनं च बभञ्ज तम् ।
मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु महापार्श्वो महाबलः ॥ १० ॥

उससे जाम्बवान ने बड़े वेग से महापार्श्व के घोड़ों को मार रथ को चूर चूर कर डाला। एक मुहूर्त्त भर मूर्च्छित रह कर महाबली महापार्श्व सचेत हुआ ॥ १० ॥

अङ्गदं बहुभिर्बाणैर्भूयस्तं प्रत्यविध्यत ।
जाम्बवन्तं त्रिभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ॥ ११ ॥

ऋक्षराजं गवाक्षं च जघान बहुभिः शरैः ।
जाम्बवन्तं गवाक्षं च स दृष्ट्वा शरपीडितौ ॥ १२ ॥

तब उसने बहुत से बाण मार कर अङ्गद को घायल किया। ऋक्षराज जाम्बवान की छाती में उसने तीन बाण मारे और गवाक्ष के बहुत से बाण मारे। जाम्बवान और गवाक्ष को बाणपीड़ा से व्यथित देख ॥ ११ ॥ १२ ॥

जग्राह परिघं घोरमङ्गदः क्रोधमूर्च्छितः।
तस्याङ्गदः प्रकुपितो राक्षसस्य तमायसम् ॥ १३ ॥

अङ्गद ने क्रोध से अधीर हो एक परिघ उठाया। अङ्गद ने क्रोध में भर उस लोहे के परिघ को उस राक्षस के ऊपर फैंका ॥ १३ ॥

दूरस्थितस्य परिघं रविरश्मिसमप्रभम्।
द्वाभ्यां भुजाभ्यां संगृह्य भ्रामयित्वा च वेगवान् ॥ १४ ॥
महापार्श्वस्य चिक्षेप वधार्थं वालिनः सुतः।
स तु क्षिप्तो बलवता परिघस्तस्य रक्षसः ॥ १५ ॥
धनुश्च सशरं हस्ताच्छिरस्त्रं चाप्यपातयत्।
तं समासाद्य वेगेन वालिपुत्रः प्रतापवान् ॥ १६ ॥

वेगवान अङ्गद ने एक परिघ उठा लिया वह परिघ सूर्य की किरणों की तरह चमकीला था। वालितनय ने उसे दोनों हाथों से पकड़ और ज़ोर से घुमा, दूरस्थित महापार्श्व के वध के लिये उसके ऊपर फैंका। बड़े ज़ोर से और वेग से छूटे हुए उस परिघ ने उस राक्षस के हाथ से बाण सहित उसका धनुष गिरा दिया और उसके सिर की टोपी भी गिरा दी। तदनन्तर प्रतापी अङ्गद ने झपट कर उसके समीप जा ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

तलेनाभ्यहनत्क्रुद्धः कर्णमूले सकुण्डले ।
स तु क्रुद्धो महावेगो महापार्श्वो महाद्युतिः ॥ १७ ॥

उसकी कनपुटी में, जहाँ कुण्डल लटक रहा था, एक थप्पड़ जमाया । इस पर महाद्युतिमान् एवं महावेगवान् महापार्श्व ने क्रोध में भर ॥ १७ ॥

करेणैकेन जग्राह सुमहान्तं परश्वधम् ।
तं तैलधौतं विमलं शैलसारमयं दृढम् ॥ १८ ॥

एक हाथ से फरसा उठाया । वह फरसा तेल से साफ किया हुआ निर्मल था और पर्वत के समान मज़बूत था ॥ १८ ॥

राक्षसः परमः क्रुद्धो वालिपुत्रे न्यपातयत् ।
तेन वामांसफलके भृशं प्रत्यपपादितम् ॥ १९ ॥
अङ्गदो मोक्षयामास सरोषः स परश्वधम् ।
स वीरो वज्रसङ्काशमङ्गदो मुष्टिमात्मनः ॥ २० ॥
संवर्तयत्सुसंक्रुद्धः पितुस्तुल्यपराक्रमः ।
राक्षसस्य स्तनाभ्यासे मर्मज्ञो हृदयं प्रति ॥ २१ ॥

महापार्श्व ने क्रोध में भर वह फरसा अङ्गद के खींच कर मारा । किन्तु अङ्गद ने उस राक्षस द्वारा अपने बाँये कंधे पर किये गये फरसे के प्रहार को क्रोध में भर व्यर्थ कर दिया । तदनन्तर पिता के समान पराक्रमी वीर अङ्गद ने क्रोध में भर, वज्र की तरह अपनी मुट्ठी बाँधी । फिर मर्मस्थलों को पहिचानने वाले अङ्गद ने उसकी छाती में ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शं स मुष्टिं विन्यपातयत् ।
तेन तस्य निपातेन राक्षसस्य महामृधे ॥ २२ ॥

अपना वह इन्द्र के समान कठोर घूँसा तान कर मारा। उस घूँसे के प्रहार से इस महायुद्ध में उस राक्षस का ॥ २२ ॥

पफाल हृदयं चाशु स पपात हतो भुवि ।
तस्मिन्निपतिते भूमौ तत्सैन्यं संप्रचुक्षुभे ॥ २३ ॥

कलेजा फट गया और वह तुरन्त निर्जीव हो धरती पर गिर पड़ा। उसके पृथिवी पर गिरते ही उसकी सेना भाग गयी ॥ २३ ॥

अभवच्च महान्क्रोधः समरे रावणस्य तु ।
वानराणां च हृष्टानां सिंहनादश्च पुष्कलः ॥ २४ ॥
स्फोटयन्निव शब्देन लङ्कां साट्टालगोपुराम् ।
महेन्द्रेणेव देवानां नादः समभवन्महान् ॥ २५ ॥

तब तो समर में रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ; किन्तु वानरों का हर्षनाद तो ऐसा तुमुल हुआ मानों अटा अटारियों और नगरी के मुख्य द्वारों सहित लङ्कापुरी फटी जाती हो। वह हर्षनाद वैसा ही था जैसा कि, इन्द्र के जीतने पर देवताओं ने किया था ॥ २४ ॥ २५ ॥

अथेन्द्रशत्रुस्त्रिदिवालयानां
वनौकसां चैव महाप्रणादम् ।
श्रुत्वा सरोषं युधि राक्षसेन्द्रः
पुनश्च युद्धाभिमुखोऽवतस्थे ॥ २६ ॥

इति एकोनशततमः सर्गः ॥

इन्द्रशत्रु राक्षसेन्द्र रावण, वानरों और देवताओं का बड़ा भारी हर्षनाद सुन क्रुद्ध हो, पुनः युद्ध करने को उद्यत हुआ ॥ २६ ॥

युद्धकाण्ड का निन्नानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ।

शततमः सर्गः

—*—

महोदरमहापार्श्वौ हतौ दृष्ट्वा तु राक्षसौ ।
तस्मिंश्च निहते वीरे विरूपाक्षे महाबले ॥ १ ॥

महोदर और महापार्श्व नामक दोनों राक्षसों को मरा हुआ देख, तथा महाबली वीर विरूपाक्ष को मरा हुआ देख ॥ १ ॥

आविवेश महान्क्रोधो रावणं तं महामृधे ।
सूतं सञ्चोदयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ २ ॥

उस महासमर में रावण अत्यन्त कुपित हुआ । तदनन्तर उसने अपने सारथि को प्रेरणा करते हुए यह कहा ॥ २ ॥

निहतानाममात्यानां रुद्धस्य नगरस्य च ।
दुःखमेषोऽपनेष्यामि हत्वा तौ रामलक्ष्मणौ ॥ ३ ॥

आज मैं उन दोनों राम और लक्ष्मण को मार कर, अपने मारे गये मंत्रियों का और लङ्कापुरी के घेरे जाने (अवरोध) का दुःख दूर करूँगा ॥ ३ ॥

रामवृक्षं रणे हन्मि सीतापुष्पफलप्रदम् ।
प्रशाखा यस्य सुग्रीवो जाम्बवान्कुमुदो नलः ॥ ४ ॥
मैन्दश्च द्विविदश्चैव ह्यङ्गदो गन्धमादनः ।
हनूमांश्च सुषेणश्च सर्वे च हरियूथपाः ॥ ५ ॥

मैं आज रामरूपी वृक्ष को काट गिराता हूँ जिसमें सीतारूपी फल फला है और जिसके सुग्रीव, जाम्बवान, कुमुद, नल, मैन्द,

द्विविद, अङ्गद, गन्धमादन, हनुमान, एवं सुषेणादि समस्त वानर यूथपति डालियाँ और गुद्दे हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

स दिशो दश घोषेण रथस्यातिरथो महान् ।
नादयन्प्रययौ तूर्णं राघवं चाभ्यवर्तत ॥ ६ ॥

महारथी रावण रथ में सवार हो और रथ की घरघराहट से दसों दिशाओं को प्रतिध्वनित करता हुआ तथा गर्जता हुआ बड़ी शीघ्रता से श्रीरामचन्द्र जी के सामने जा पहुँचा ॥ ६ ॥

पूरिता तेन शब्देन सनदीगिरिकानना ।
सञ्चचाल मही सर्वा सवराहमृगद्विपा ॥ ७ ॥

उसके सिंहनाद के शब्द से नदियों, पहाड़ों और वनों एवं वहाँ के शूकरों, मृगों और हाथियों सहित पृथिवी प्रतिध्वनित हो, काँप उठी ॥ ७ ॥

तामसं स महाघोरं चकारास्त्रं सुदारुणम् ।
निर्ददाह कपीन्सर्वांस्ते प्रपेतुः समन्ततः ॥ ८ ॥

उस समय उसने महाभयङ्कर और अत्यन्त दारुण तामस अस्त्र का प्रयोग कर, समस्त वानरों को दग्ध कर डाला। वे वानरगण दग्ध होकर रणभूमि में चारों ओर गिरने लगे ॥ ८ ॥

उत्पपात रजो घोरं तैर्भग्नैः सम्प्रधावितैः ।
न हि तत्सहितुं शेकुर्ब्रह्मणा निर्मितं स्वयम् ॥ ९

जब वानर लोग मोर्चे भग्न कर भागने लगे, तब उनके भागने से बड़ी भयङ्कर धूल उड़ी। स्वयं ब्रह्मा जी के बनाये हुए तामसास्त्र के सामने कोई न ठहर सका ॥ ९ ॥

तान्यनीकान्यनेकानि रावणस्य शरोत्तमैः ।
दृष्ट्वा भग्नानि शतशो राघवः पर्यवस्थितः ॥ १० ॥

तब वानरी सेना के अनेकों वानरों के, रावण के श्रेष्ठ बाणों द्वारा घायल होने पर तथा सैकड़ों वानरों के रणभूमि से भागने पर, श्रीरामचन्द्र जी रावण से लड़ने को आगे बढ़े ॥ १० ॥

ततो राक्षसशार्दूलो विद्राव्य हरिवाहिनीम् ।
स ददर्श ततो रामं तिष्ठन्तमपराजितम् ॥ ११ ॥

तब राक्षसश्रेष्ठ रावण ने, कपिसेना को भगा कर, देखा कि, किसी से कभी परास्त न होने वाले श्रीरामचन्द्र जी उससे लड़ने के लिये तैयार खड़े हैं ॥ ११ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्राता विष्णुना वासवं यथा ।
आलिखन्तमिवाकाशमवष्टभ्य महद्धनुः ॥ १२ ॥

उनके पास उनके भाई लक्ष्मण वैसे ही खड़े हैं, जैसे विष्णु के साथ इन्द्र । (उस समय) वे अपने विशाल धनुष को उठाये मानों आकाश को स्पर्श कर रहे थे ॥ १२ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षं दीर्घबाहुमरिन्दमम् ।
ततो रामो महातेजाः सौमित्रिसहितो बली ॥ १३ ॥

रावण ने कमलदल समान विशालनयन, आँधों तक लटकती हुई लंबी भुजा वाले और शत्रुसूदन श्रीरामचन्द्र जी को देखा। तदनन्तर लक्ष्मण सहित महाबलवान और महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ १३ ॥

वानरांश्च रणे भग्नानापतन्तं च रावणम् ।
समीक्ष्य राघवो हृष्टो मध्ये जग्राह कार्मुकम् ॥ १४ ॥

वानरों को रण में घायल हो भागते और रावण को आते देख, हर्षित हो धनुष को बीच में पकड़ा ॥ १४ ॥

विस्फारयितुमारेभे ततः स धनुरुत्तमम् ।
महावेगं महानादं निर्भिन्दन्निव मेदिनीम् ॥ १५ ॥

फिर वे उस धनुषश्रेष्ठ को टंकोरने लगे । वह महावेगवान और महाशब्दकारी धनुष ऐसे ज़ोर का शब्द करने लगा; मानों पृथिवी को फाड़ ही डालेगा ॥ १५ ॥

रावणस्य च बाणौघै रामविस्फारितेन च ।
शब्देन राक्षसास्ते च पेतुश्च शतशस्तदा ॥ १६ ॥

रावण के चलाये बाणों से तथा श्रीरामचन्द्र जी के धनुष की टंकोर से सैकड़ों राक्षस गिर पड़े ॥ १६ ॥

तयोः शरपथं प्राप्तो रावणो राजपुत्रयोः ।
स बभौ च यथा राहुः समीपे शशिसूर्ययोः ॥ १७ ॥

उन दोनों राजकुमारों के बाणों के निशाने के भीतर स्थित रावण ऐसा शोभित हुआ, मानों चन्द्रमा और सूर्य के समीपस्थित राहु शोभित हो रहा हो ॥ १७ ॥

तमिच्छन्प्रथमं योद्धुं लक्ष्मणो निशितैः शरैः ।
मुमोच धनुरायम्य शरानग्निशिखोपमान् ॥ १८ ॥

प्रथम लक्ष्मण ने रावण के साथ पैने पैने बाणों से लड़ना चाहा और अग्निशिखा के समान बाण धनुष पर रख कर छोड़े ॥ १८ ॥

तान्मुक्तमात्रानाकाशे लक्ष्मणेन धनुष्मता ।
बाणान्बाणैर्महातेजा रावणः प्रत्यवारयत् ॥ १९ ॥

धनुषधारी लक्ष्मण के चलाये बाणों को, रावण ने छूटते ही अपने बाणों से आकाश ही में रोक दिया ॥ १६ ॥

एकमेकेन बाणेन त्रिभिस्त्रीन्दशभिर्दश ।
लक्ष्मणस्य प्रचिच्छेद दर्शयन्पाणिलाघवम् ॥ २० ॥

अपने हाथ की सफाई दिखलाते हुए रावण ने, लक्ष्मण के चलाये एक बाण को एक बाण से, तीन बाणों को तीन बाणों से और दस बाणों को दस बाणों से काट गिराया ॥ २० ॥

अभ्यतिक्रम्य सौमित्रिं रावणः समितिञ्जयः ।
आससाद ततो रामं स्थितं शैलमिवाचलम् ॥ २१ ॥

फिर समरविजयी रावण, लक्ष्मण के साथ युद्ध करना छोड़, पर्वत की तरह अटल अचल खड़े हुए श्रीरामचन्द्र जी के सामने गया ॥ २१ ॥

स संख्ये राममासाद्य क्रोधसंरक्तलोचनः ।
व्यसृजच्छरवर्षाणि रावणो राघवोपरि ॥ २२ ॥

युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी को पा कर, रावण के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये और वह श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर बाण वृष्टि करने लगा ॥ २२ ॥

शरधारास्ततो रामो रावणस्य धनुश्च्युताः ।
दृष्ट्वैवापततः शीघ्रं भल्लाञ्जग्राह सत्वरम् ॥ २३ ॥

रावण के धनुष से होती हुई बाणवृष्टि के अपने ऊपर बड़ी शीघ्रता से आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने बड़ी फुर्ती से भल्लाकार बाण निकाले ॥ २३ ॥

ताञ्शरौघांस्ततो भल्लैस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद राघवः ।
दीप्यमानान्महाघोरान्क्रुद्धानाशीविषानिव ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने रावण के उन बड़े चमकीले, महाभयानक, और क्रुद्ध विषधर सर्प की तरह विकराल बाणों के अपने पैने भल्लाकार बाणों से काट गिराया ॥ २४ ॥

राघवो रावणं तूर्णं रावणो राघवं तदा ।
अन्योन्यं विविधैस्तीक्ष्णैः शरैरभिववर्षतुः ॥ २५ ॥

बड़ी फुर्ती से परस्पर श्रीरामचन्द्र जी रावण के ऊपर और रावण श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर विविध प्रकार के पैने पैने बाणों की वर्षा करने लगे ॥ २५ ॥

चेरतुश्च चिरं चित्रं मण्डलं सव्यदक्षिणम् ।
बाणवेगान्समुत्क्षिप्तावन्योन्यमपराजितौ ॥ २६ ॥

एक दूसरे पर बड़े वेग से बाणों के छोड़ते हुए तथा किसी से कोई न हारता हुआ, वे दोनों दाँये बाँये पैतरे बदलते हुए, चित्र विचित्र कावे काट रहे थे ॥ २६ ॥

तयोर्भूतानि वित्रेसुर्युगपत्सम्प्रयुध्यतोः ।
रौद्रयोः सायकमुचोर्यमान्तकनिकाशयोः ॥ २७ ॥

जब यमराज और मृत्यु की तरह भयङ्कर मूर्ति धारण कर, दोनों आपस में बाणवृष्टि करने लगे, तब उनकी उन भयानक मूर्तियों के देख, समस्त जीवधारी त्रस्त हो घबड़ा उठे ॥ २७ ॥

सन्ततं विविधैर्बाणैर्बभूव गगनं तदा ।
घनैरिवातपापाये विद्युन्मालासमाकुलैः ॥ २८ ॥

उस समय वर्षा ऋतु में बिजली सहित मेघों की तरह इन दोनों वीरों के चलाये हुए विविध प्रकार के बाणों से आकाश-मण्डल ढक गया ॥ २८ ॥

गवाक्षितमिवाकाशं बभूव शरवृष्टिभिः ।
महावेगैः सुतीक्ष्णाग्रैर्गृध्रपत्रैः [1]सुवाजितैः ॥ २९ ॥

शरान्धकारमाकाशं चक्रतुः *परमं तदा ।
गतेऽस्तं तपने चापि महामेघाविवोत्थितौ ॥ ३० ॥

उन दोनों की शरवृष्टि से आकाश में झरोखे से बन गये । उनके महावेगवान, अत्यन्त पैने और गीध के पंख लगे होने के कारण सुन्दर पङ्ख वाले बाणों से सूर्यास्त होने के पूर्व ही उठे हुए दो महामेघों के समान श्रीराम रावण के बाणों से आकाश ढक गया और बड़ा अन्धकार छा गया ॥ २९ ॥ ३० ॥

बभूव तुमुलं युद्धमन्योन्यवधकाङ्क्षिणोः ।
अनासाद्यमचिन्त्यं च वृत्रवासवयोरिव ॥ ३१ ॥

परस्पर वध करने की अभिलाषा रखने वाले उन दोनों योद्धाओं का वैसा ही तुमुलयुद्ध हुआ जैसा कि, वृत्रासुर और इन्द्र का हुआ था ॥ ३१ ॥

उभौ हि परमेष्वासावुभौ शस्त्रविशारदौ ।
उभावस्त्रविदां मुख्यावुभौ युद्धे विचेरतुः ॥३२॥

---

१ सुवाजितैः—सञ्जातशोभनपक्षैः । (गो०) * पाठान्तरे—" समरं । "

क्योंकि, वे दोनों ही बड़े धनुर्धारी और दोनों ही शस्त्र चलाने और शस्त्र रोकने की विद्या में निपुण थे। दोनों ही अस्त्रों की विद्या के जानने वालों में प्रधान थे और समरभूमि में दांव पेंच करते व बचाते विचर रहे थे॥ ३२॥

[नोट—" शस्त्र " व " अस्त्र " में यह अन्तर है कि, शस्त्र जो हाथ से चलाया जाय जैसे, तलवार, भाला, बर्छी, कटार, खाँडा, मूसल, परिघ, फरसा आदि। " अस्त्र " जो मंत्रप्रयोग से चलाये जाते थे। जैसे ब्रह्मास्त्र नारायणास्त्र, रौद्रास्त्रादि।]

उभौ हि येन व्रजतस्तेन तेन शरोर्मयः।
ऊर्मयो वायुना विद्धा जग्मुः सागरयोरिव॥ ३३॥

जिधर जिधर हो कर वे निकलते थे उधर उधर पवन के वेग से लहराती हुई समुद्र की तरङ्गों की तरह, बाणरूपी लहरें लहराने लगती थीं॥ ३३॥

ततः [1]संसक्तहस्तस्तु रावणो लोकरावणः।
नाराचमालां रामस्य ललाटे प्रत्यमुञ्चत॥ ३४॥

तदनन्तर बाण चलाने में लगे हुए और लोकों को रुलाने वाले रावण ने श्रीरामचन्द्र जी के माथे को ताक कर नाराच (लोहे के बाणों) की माला छोड़ी॥ ३४॥

रौद्रचापप्रयुक्तां तां नीलोत्पलदलप्रभाम्।
शिरसा धारयन्रामो न व्यथां प्रत्यपद्यत॥ ३५॥

परन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने नीले कमल के समान प्रभायुक्त और रावण के विशाल धनुष से छूटे हुए उन बाणों की माला को अपने मस्तक पर धारण कर लिया और वे उससे ज़रा भी व्यथित न हुए॥ ३५॥

---

१. संसक्तहस्त—बाणप्रयोगासक्तहस्तः। (गो०)

अथ मन्त्रानभिजपन्रौद्रमस्त्रमुदीरयन् ।
शरान्भूयः समादाय रामः क्रोधसमन्वितः ॥ ३६ ॥

इस पर श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर रौद्रास्त्र का प्रयोग करने के लिये बहुत से बाण निकाले ॥ ३६ ॥

मुमोच च महातेजाश्चापमायम्य वीर्यवान् ।
ते महामेघसङ्काशे कवचे पतिताः शराः ॥ ३७ ॥

महातेजस्वी एवं बलवान श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष पर रख उनको छोड़ा । महामेघ के समान रावण के कवच पर वे बाण जा टकराते थे ॥ ३७ ॥

[1]अवध्ये राक्षसेन्द्रस्य न व्यथां जनयंस्तदा ।
पुनरेवाथ तं रामो रथस्थं राक्षसाधिपम् ॥ ३८ ॥
ललाटे परमास्त्रेण सर्वास्त्रकुशलो रणे ।
ते भित्त्वा बाणरूपाणि पञ्चशीर्षा इवोरगाः ॥ ३९ ॥
श्वसन्तो विविशुर्भूमिं रावणप्रतिकूलिताः ।
निहत्य राघवस्यास्त्रं रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४० ॥

उनसे रावण ज़रा भी पीड़ित न हुआ । क्योंकि, रावण का वह कवच अभेद्य था । तब युद्ध में समस्त अस्त्रप्रयोग में कुशल श्रीरामचन्द्र जी ने रथ पर सवार राक्षसराज रावण के ललाट में परमास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित कर बाण मारा । उस बाण से निकले हुए बाणों को रावण ने ऐसा रोका कि, वे पाँच सिर वाले साँपों की तरह फुफकारते हुए भूमि को फोड़ कर घुस गये । श्रीरामचन्द्र जी के अस्त्र को इस प्रकार निष्फल कर रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

---

1 अवध्ये—अभेद्ये । (गो०)

आसुरं सुमहाघोरमस्त्रं प्रादुश्चकार ह ।
सिंहव्याघ्रमुखांश्चान्यान्कङ्ककाकमुखानपि ॥ ४१ ॥
गृध्रश्येनमुखांश्चाऽपि शृगालवदनांस्तथा ।
ईहामृगमुखांश्चान्यान्व्यादितास्यान्भयानकान् ॥ ४२ ॥

और उसने अत्यन्त भयानक आसुरास्त्र निकाला और छोड़ा। उस आसुरास्त्र से सिंहमुख, व्याघ्रमुख, कङ्कमुख, काकमुख, गृध्रमुख, बाजमुख, शृगालमुख और भेड़ियामुख वाले तथा अन्य प्रकार के बाण निकले। ये अनेक पशुपक्षियों के मुख वाले बाण अपने भयानक मुखों को फैलाये हुए थे ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पञ्चास्याँल्लेलिहानांश्च[1] ससर्ज निशितान्शरान् ।
शरान्खरमुखांश्चान्यन्वराहमुखसंस्थितान् ॥ ४३ ॥
श्वानकुक्कुटवक्त्रांश्च मकराशीविषाननान् ।
एतानन्यांश्च मायावी ससर्ज निशितान्शरान् ॥४४॥
रामं प्रति महातेजाः क्रुद्धः सर्प इव श्वसन् ।
आसुरेण समाविष्टः सोऽस्त्रेण रघुनन्दनः ॥ ४५ ॥

उसने बहुत से पांच मुख वाले सर्पों की तरह पैने बाण भी छोड़े। इनके अतिरिक्त उसने खरमुख, शूकरमुख, श्वानमुख, कुक्कुरमुख, मगरमुख, सर्पमुख तथा इसी प्रकार और भी मुख वाले अनेक ऐसे ही पैने बाणों को उस मायावी महातेजस्वी रावण ने छोड़ा। वे बाण क्रुद्ध सर्प की तरह फुँसकारते श्रीरामचन्द्र जी की ओर चले। जब इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर वह आसुरास्त्र प्राप्त हुआ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

१ लेलिहानान्—सर्पान्। (गो०)

ससर्जास्त्रं महोत्साहः पावकं पावकोपमः।
अग्निदीप्तमुखान्बाणांस्तथा सूर्य्यमुखानपि॥ ४६॥

तब उन महाउत्साही श्रीरामचन्द्र जी ने अग्नितुल्य अग्न्यास्त्र चलाया। तदनन्तर उन्होंने अग्नि की तरह प्रज्वलित मुखवाले तथा सूर्यमुख वाले बाण भी चलाये॥ ४६॥

चन्द्रार्धचन्द्रवक्त्रांश्च धूमकेतुमुखानपि।
ग्रहनक्षत्रवक्त्रांश्च महोल्कामुखसंस्थितान्॥ ४७॥
विद्युज्जिह्वोपमांश्चान्यान्ससर्ज निशिताञ्शरान्।
ते रावणशरा घोरा राघवास्त्रसमाहताः॥ ४८॥

इनके अतिरिक्त श्रीरामचन्द्र जी ने—चन्द्रमुखी, महोल्कामुखी और बिजली के समान जीभ लपलपाते पैने बाण छोड़े। श्रीरामचन्द्र जी के इन बाणों से रावण के भयानक॥ ४७॥ ४८॥

विलयं जग्मुराकाशे जग्मुश्चैव [1]सहस्रशः।
तदस्त्रं निहतं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा॥ ४९॥

आकाश में टकरा कर यद्यपि नष्टभ्रष्ट हो गये थे; तथापि उनसे हज़ारों वानर मारे गये थे। अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी द्वारा रावण के उस अस्त्र को नष्ट हुआ देख॥ ४९॥

हृष्टा नेदुस्ततः सर्वे कपयः कामरूपिणः।
सुग्रीवप्रमुखा वीराः परिवार्य तु राघवम्॥ ५०॥

---

१ विलयं जग्मुः तथापि सहस्रशोवानरान् जघ्नुः (रा०)

समस्त कामरूपी वानरगण हर्षित हो हर्षनाद कर उठे और सुग्रीव प्रमुख वीर वानरश्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी को घेर कर खड़े हो गये ॥ ५० ॥

ततस्तदस्त्रं विनिहत्य राघवः
प्रसह्य तद्रावणबाहुनिःसृतम् ।
मुदान्वितो दाशरथिर्महाहवे
विनेदुरुच्चैर्मुदिताः कपीश्वराः ॥ ५१ ॥

इति शततमः सर्गः ॥

रावण के हाथ से छूटे हुए उस अस्त्र को नष्ट कर, उस महासमर में दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी हर्षित हुए और प्रधान प्रधान वानरों ने हर्षित हो, उच्चस्वर से हर्षनाद किया ॥ ५१ ॥

युद्धकाण्ड का सौवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तस्मिन्प्रतिहतेऽस्त्रे तु रावणो राक्षसाधिपः ।
क्रोधं च द्विगुणं चक्रे क्रोधाच्चास्त्रमनन्तरम् ॥ १ ॥
मयेन विहितं रौद्रमन्यदस्त्रं महाद्युतिः ।
उत्स्रष्टुं रावणो घोरं राघवाय प्रचक्रमे ॥ २ ॥

राक्षसराज रावण ने अपने उस अस्त्र को निष्फल हुआ देख, दुगना क्रोध किया । तदनन्तर मारे क्रोध के, मयदानव का बनाया

बहुत चमकदार एक दूसरा भयानक अस्त्र, जिसका नाम रौद्रास्त्र था, रावण ने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर छोड़ा ॥ १ ॥ २ ॥

ततः शूलानि निश्चेरुर्गदाश्च मुसलानि च ।
कार्मुकाद्दीप्यमानानि वज्रसाराणि सर्वशः ॥ ३ ॥

रावण के उस अस्त्र से चमचमाते और वज्र के समान दारुण, शूल, गदा, मूसल, निकलने लगे ॥ ३ ॥

मुद्गराः कूटपाशाश्च दीप्ताश्चाशनयस्तथा ।
निष्पेतुर्विविधास्तीक्ष्णा वाता इव युगक्षये ॥ ४ ॥

फिर मुगदर, कपटपाश, तथा चमकते हुए वज्रादि विविध तीक्ष्ण शस्त्र वैसे ही वेग से निकले ; जैसे वेग से प्रलयकालीन पवन चलता है ॥ ४ ॥

तदस्त्रं राघवः श्रीमानुत्तमास्त्रविदां वरः ।
जघान परमास्त्रेण गान्धर्वेण महाद्युतिः ॥ ५ ॥

किन्तु उत्तमास्त्रों के जानने वालों में श्रेष्ठ महाकान्तियुक्त श्रीरामचन्द्र जी ने रावण के रौद्रास्त्र को नष्ट करने के लिये परमास्त्र गान्धर्वास्त्र चलाया ॥ ५ ॥

तस्मिन्प्रतिहतेऽस्त्रे तु राघवेण महात्मना ।
रावणः क्रोधताम्राक्षः सौरमस्त्रमुदैरयत् ॥ ६ ॥

महाबलवान श्रीरामचन्द्र जी ने जब रावण के रौद्रास्त्र को गान्धर्वास्त्र से नष्ट कर डाला, तब रावण ने क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर, सौरास्त्र छोड़ा ॥ ६ ॥

ततश्चक्राणि निष्पेतुर्भास्वराणि महान्ति च ।
कार्मुकाद्भीमवेगस्य दशग्रीवस्य धीमतः ॥ ७ ॥

तब तो उस बुद्धिमान एवं भीम वेगवान् रावण के धनुष से चमचमाते और बड़े बड़े चक्र निकलने लगे ॥ ७ ॥

तैरासीद्गगनं दीप्तं सम्पतद्भिरितस्ततः ।
पतद्भिश्च दिशो दीप्ताश्चन्द्रसूर्यग्रहैरिव ॥ ८ ॥

उन चमचमाते चक्रों से सारा आकाश वैसे ही प्रकाशित हो गया; जैसे गिरते हुए सूर्य चन्द्रादि ग्रहों से समस्त दिशाएँ प्रकाशित हो जाती हैं ॥ ८ ॥

तानि चिच्छेद बाणौघैश्चक्राणि स तु राघवः ।
आयुधानि च चित्राणि रावणस्य चमूमुखे ॥ ९ ॥

दोनों ओर की सेनाओं के सामने हो श्रीरामचन्द्र जी ने अपने बाणों से उन समस्त चक्रों को तथा रावण के चलाये अन्य विचित्र आयुधों को भी काट डाला ॥ ९ ॥

तदस्त्रं तु हतं दृष्ट्वा रावणो राक्षसाधिपः ।
विव्याध दशभिर्बाणै रामं सर्वेषु मर्मसु ॥ १० ॥

जब राक्षसराज रावण ने उस अस्त्र को भी व्यर्थ जाते देख तब उसने दस बाण मार कर, श्रीरामचन्द्र जी के शरीर के समस्त मर्मस्थलों को वेध डाला ॥ १० ॥

स विद्धो दशभिर्बाणैर्महाकार्मुकनिःसृतैः ।
रावणेन महातेजा न प्राकम्पत राघवः ॥ ११ ॥

महातेजस्वी रावण के विशाल धनुष से छूटे हुए, उन दस बाणों से विद्ध हो कर भी, श्रीरामचन्द्र जी ज़रा भी कम्पित (विचलित) न हुए ॥ ११ ॥

ततो विव्याध गात्रेषु सर्वेषु समितिञ्जयः ।
राघवस्तु सुसंक्रुद्धो रावणं बहुभिः शरैः ॥ १२ ॥

समरविजयी श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो बहुत से बाण मार कर, रावण के सारे शरीर को छेद डाला ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धो राघवस्यानुजो बली ।
लक्ष्मणः सायकान्सप्त जग्राह परवीरहा ॥ १३ ॥

इस बीच में शत्रुविनाशी बलवान लक्ष्मण जी ने क्रोध में भर सात बाण हाथ में लिये ॥ १३ ॥

तैः सायकैर्महावेगै रावणस्य महाद्युतिः ।
ध्वजं मनुष्यशीर्षं[१] तु तस्य चिच्छेद नैकधा ॥१४॥

और उन बाणों को चला महाकान्ति-सम्पन्न लक्ष्मण जी ने रावण की मनुष्य-शिर-चिन्हित ध्वजा के अनेक टुकड़े कर डाले ॥ १४ ॥

सारथेश्चापि बाणेन शिरो ज्वलितकुण्डलम् ।
जहार लक्ष्मणः श्रीमान्नैर्ऋतस्य महाबलः ॥ १५ ॥

फिर महाबलवान एवं श्रीसम्पन्न लक्ष्मण जी ने राक्षसराज रावण के सारथी का चमचमाते कुण्डलों से भूषित सिर काट डाला ॥ १५ ॥

---

१ मनुष्यशीर्षं—मनुष्यशिरोविशिष्टं रावणस्यध्वजं (शि०)।

तस्य बाणैश्च चिच्छेद धनुर्गज करोपमम ।
लक्ष्मणो राक्षसेन्द्रस्य पञ्चभिर्निशितैः शरैः ॥१६॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने हाथी की सूँड की तरह आकारवाला राक्षसराज रावण का धनुष भी पाँच पैने बाण छोड़ कर, काट डाला ॥ १६ ॥

नीलमेघनिभांश्चास्य सदश्वान्पर्वतोपमान् ।
जघानाप्लुत्य गदया रावणस्य विभीषणः ॥१७॥

इतने में विभीषण ने कूद कर गदा से रावण के नीलमेघ के समान नीले रंग के और पर्वत के समान विशालकाय घोड़ों को मार डाला ॥ १७ ॥

हताश्वाद्वेगवान्वेगादवप्लुत्य महारथात् ।
क्रोधमाहारयत्तीव्रं भ्रातरं प्रति रावणः ॥ १८ ॥

तब मरे हुए घोड़ों के विशाल रथ से बड़ी फुर्ती से कूद कर, फुर्तीले रावण ने अपने भाई विभीषण पर बड़ा क्रोध किया ॥ १८ ॥

ततः शक्तिं महाशक्तिर्दीप्तां दीप्ताशनीमिव ।
विभीषणाय चिक्षेप राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ १९ ॥

और उस प्रतापी राक्षसेन्द्र रावण ने प्रदीप्त वज्र के समान चमचमाती बड़ी शक्तिवाली एक बर्छी विभीषण के ऊपर फेंकी ॥ १९ ॥

अप्राप्तामेव तां बाणैस्त्रिभिश्चिच्छेद लक्ष्मणः ।
अथोदतिष्ठत्सन्नादो वानराणां तदा रणे ॥ २० ॥

किन्तु उस बर्छी को बीच ही में लक्ष्मण जी ने तीन बाण चला कर काट डाला। यह देख समरभूमि में वानरों ने बड़ा हर्षनाद किया ॥ २० ॥

सा पपात त्रिधा च्छिन्ना शक्तिः काञ्चनमालिनी।
सविस्फुलिङ्गा ज्वलिता महोल्केव दिवश्च्युता ॥२१॥

सुवर्णमाला से शोभित वह शक्ति चिनगारियाँ निकालती और जलती हुई तीन टुकड़े हो वैसे ही गिरी; जैसे आकाश से कोई बड़ा उल्का गिरे ॥ २१ ॥

ततः सम्भाविततरां[1] कालेनापि दुरासदाम्।
जग्राह विपुलां शक्तिं दीप्यमानां स्वतेजसा ॥२२॥

तब तो रावण ने पुनः एक बड़ी भारी शक्ति (बर्छी) ली। वह शक्ति चन्दनादि से पूजा की हुई थी और काल के लिये भी दुर्धर्ष थी। वह अपनी चमक से खूब चमक रही थी ॥ २२ ॥

सा वेगिता बलवता रावणेन दुरासदा।
जज्वाल सुमहाघोरा शक्राशनिसमप्रभा ॥ २३ ॥

महाबलवान एवं दुरात्मा रावण ने बड़े ज़ोर से उसे (विभीषण के ऊपर) चलाना चाहा। वह शक्ति इन्द्र के वज्र के समान चमक रही थी ॥ २३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो लक्ष्मणस्तं विभीषणम्।
प्राणसंशयमापन्नं तूर्णमभ्यवपद्यत[2] ॥ २४ ॥

---

१ संभाविततरां—चन्दादिभिरर्चितां (गो०) २ अभ्यवपद्यत तस्माच्छाय स्वयमतिष्ठदित्यर्थः। (गो०)

तं विमोक्षयितुं वीरश्चापमायम्य लक्ष्मणः ।
रावणं शक्तिहस्तं वै शरवर्षैरवाकिरत् ॥ २५ ॥

इतने में उस शक्ति द्वारा विभीषण के प्राण सङ्कट में देख, लक्ष्मण उनको बचाने के लिये स्वयं विभीषण के सामने जा खड़े हुए (जिससे विभीषण के शक्ति न लगे) और धनुष पर बाण चढ़ा कर शक्ति लिये हुए रावण के ऊपर बाणों की वर्षा करने लगे ॥ २४ ॥ २५ ॥

कीर्यमाणः शरौघेण विसृष्टेन महात्मना ।
न प्रहर्तुं मनश्चक्रे विमुखीकृतविक्रमः[१] ॥ २६ ॥

महाबलवान लक्ष्मण जी के बाणों की मार से रावण ऐसा घबड़ाया कि, उसने अपने भाई विभीषण के वध की इच्छा त्याग दी ॥ २६ ॥

मोक्षितं भ्रातरं दृष्ट्वा लक्ष्मणेन स रावणः ।
लक्ष्मणाभिमुखस्तिष्ठन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

जब रावण ने देखा कि, लक्ष्मण ने विभीषण को बचा लिया है, तब वह लक्ष्मण के सामने जा उनसे यह बोला ॥ २७ ॥

मोक्षितस्ते बलश्लाघिन्यस्मादेवं विभीषणः ।
विमुच्य राक्षसं शक्तिस्त्वयीयं विनिपात्यते ॥२८॥

हे सराहनीय बलशाली लक्ष्मण! तूने इस शक्ति से विभीषण को तो बचा दिया अतएव मैं भी उसे छोड़ कर, अब इस शक्ति को तेरे ऊपर छोड़ता हूँ ॥ २८ ॥

---

१ विमुखीकृतविक्रमः—विमुखीकृतविभीषणविषयपराक्रमः । (गो०)

एषा ते हृदयं भित्त्वा शक्तिर्लोहितलक्षणा[1] ।
मद्बाहुपरिघोत्सृष्टा प्राणानादाय यास्यति ॥२९॥

मेरे हाथ से छूटी हुई यह रक्तचिन्हित (खून से सनी हुई) शक्ति तेरे कलेजे को चीर कर, तेरे प्राण निकाल ले जायगी ॥२९॥

इत्येवमुक्त्वा तां शक्तिमष्टघण्टां महास्वनाम् ।
मयेन मायाविहिताममोघां शत्रुघातिनीम् ॥ ३० ॥

लक्ष्मणाय समुद्दिश्य ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
रावणः परमक्रुद्धश्चिक्षेप च ननाद च ॥ ३१ ॥

यह कह कर, उस शक्ति को, जो मयदानव की बनायी हुई थी तथा जो अमोघ (कभी ख़ाली न जाने वाली) थी, एवं जिसमें आठ घंटे घनघना रहे थे और जो शत्रुघातिनी थी और अपनी चमक से आग की तरह धधक रही थी, लक्ष्मण जी को ताक कर, रावण ने अत्यन्त क्रोध में भर, फेंकी और वह बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

सा क्षिप्ता भीमवेगेन शक्राशनिसमस्वना ।
शक्तिरभ्यपतद्वेगाल्लक्ष्मणं रणमूर्धनि ॥ ३२ ॥

भयङ्कर वेग से फेंकी हुई और वज्र के समान सनसनाती वह शक्ति बड़े ज़ोर से रणक्षेत्र में खड़े हुए लक्ष्मण के लगी ॥ ३२ ॥

तामनुव्याहरच्छक्तिमापन्तीं स राघवः ।
स्वस्त्यस्तु लक्ष्मणायेति मोघा भव हतोद्यमा ।

1 लोहितलक्षणा—रुधिरचिन्हा । (गो०)

उस समय उस शक्ति को लक्ष्मण जी के ऊपर गिरते देख श्रीरामचन्द्र जी बोले—लक्ष्मण का मङ्गल हो। यह शक्ति निष्फल और हतोद्यम (नष्टहननद्योग) हो जाय ॥ ३३ ॥

रावणेन रणे शक्तिः क्रुद्धेनाशीविषोपमा ।
मुक्ताऽऽशूरस्यभीतस्य लक्ष्मणस्य ममज्ज सा ॥३४॥

इस युद्ध में क्रुद्ध सर्प की तरह वह शक्ति छूट कर, शूरवीर और निर्भय खड़े हुए लक्ष्मण की छाती में घुस गयी ॥ ३४ ॥

न्यपतत्सा महावेगा लक्ष्मणस्य महोरसि ।
जिह्वेवोरगराजस्य दीप्यमाना महाद्युतिः ॥ ३५ ॥

सर्पराज वासुकी की जिह्वा की तरह लपलपाती वह भयङ्कर शक्ति महाकान्तिवान लक्ष्मण के हृदय में घुस गयी ॥ ३५ ॥

ततो रावणवेगेन सुदूरनवगाढया ।
शक्त्या निर्भिन्नहृदयः पपात भुवि लक्ष्मणः ॥ ३६

बहुत दूर से बलपूर्वक फैंकी हुई रावण की उस शक्ति के लगने से लक्ष्मण का कलेजा फट गया और वे पृथिवी पर गिर पड़े ॥३६॥

तदवस्थं समीपस्थो लक्ष्मणं प्रेक्ष्य राघवः ।
भ्रातृस्नेहान्महातेजा विषण्णहृदयोऽभवत् ॥ ३७ ॥

इस दशा को प्राप्त लक्ष्मण को देख, पास खड़े हुए महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भ्रातृस्नेहवश बहुत उदास हो गये ॥ ३७ ॥

स मुहूर्तमनुध्याय[1] वाष्पव्याकुललोचनः ।
बभूव संरब्धतरो युगान्त इव पावकः ॥ ३८ ॥

---

१ अनुध्याय—तत्कालकर्त्तव्यं चिन्तयित्वा । (गो०)

कुछ देर तक तो वे आँखों में आँसू भरे हुए सोचते रहे कि, अब क्या करना चाहिये। फिर तो वे युगान्तकालीन अग्नि की तरह क्रोध से भभक उठे ॥ ३८ ॥

न विषादस्य कालोऽयमिति सञ्चिन्त्य राघवः ।
चक्रे सुतुमुलं युद्धं रावणस्य वधे धृतः ॥ ३९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने विचारा कि, यह समय विषाद करने का नहीं है। यह विचार कर रावण के वध की बात मन में ठान, वे बड़ा भयानक युद्ध करने को उद्यत हुए ॥ ३९ ॥

सर्वयत्नेन महता लक्ष्मणं सन्निरीक्ष्य च ।
स ददर्श ततो रामः शक्त्या भिन्नं महाहवे ॥ ४० ॥

उन्होंने बड़े ध्यान से लक्ष्मण को देखा। उन्होंने देखा कि (उनका शरीर) उस महासमर में शक्ति से विदीर्ण हो गया है ॥ ४० ॥

लक्ष्मणं रुधिरादिग्धं सपन्नगमिवाचलम् ।
तामपि प्रहितां शक्तिं रावणेन बलीयसा ॥ ४१ ॥

वे रक्त से तराबोर हो रहे हैं और सर्प लपटे हुए पर्वत की तरह बिना हिले डुले पड़े हैं। क्योंकि रावण ने ऐसे ज़ोर से उनके शक्ति मारी कि, वह भीतर घुस गयी थी ॥ ४१ ॥

यत्नतस्ते हरिश्रेष्ठा न शेकुरवमर्दितुम् ।
अर्दिताश्चैव बाणौघैः क्षिप्रहस्तेन रक्षसा ॥ ४२ ॥

बड़े बड़े वानर उस शक्ति को खींच कर निकालने के यत्न में लगे हुए थे, किन्तु वह किसी से नहीं निकल सकी। इसका कारण

एक यह भी था कि, रावण बड़ी फुर्ती के साथ वानरों को बाण-वर्षा कर पीड़ित कर रहा था ॥ ४२ ॥

सौमित्रिं सा विनिर्भिद्य प्रविष्टा धरणीतलम् ।
तां कराभ्यां परामृश्य रामः शक्तिं भयावहाम् ॥४३॥

बभञ्ज समरे क्रुद्धो बलवान्विचकर्ष च ।
तस्य निष्कर्षतः शक्तिं रावणेन बलीयसा ॥ ४४

वह शक्ति इतने ज़ोर से चलायी गयी थी कि, लक्ष्मण जी के शरीर को फोड़ कर वह पृथिवी में घुस गयी थी। उस भयानक शक्ति को बलवान श्रीरामचन्द्र जी ने दोनों हाथों से पकड़ कर खींच लिया और क्रोध में भर उसको तोड़ कर फैंक दिया। जिस समय श्रीरामचन्द्र जी उस शक्ति को खींच कर निकाल रहे थे उसी बीच में बलवान रावण ने ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

शराः सर्वेषु गात्रेषु पातिता मर्मभेदिनः ।
अचिन्तयित्वा तान्बाणान्समाश्लिष्य च लक्ष्मणम् ॥४५॥

श्रीरामचन्द्र जी के शरीर के समस्त मर्मस्थलों को बाणों से बेध डाला। उन बाणों के प्रहार की कुछ भी परवाह न कर और लक्ष्मण को गले लगा कर ; ॥ ४५ ॥

अब्रवीच्च हनूमन्तं सुग्रीवं चैव राघवः ।
लक्ष्मणं परिवार्येह तिष्ठध्वं वानरोत्तमाः ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव और हनुमान को सम्बोधन कर कहा—हे वानरश्रेष्ठों ! तुम सब लक्ष्मण को घेर कर खड़े रहो ॥४६॥

पराक्रमस्य कालोऽयं सम्प्राप्तो मे चिरेप्सितः ।
पापात्मायं दशग्रीवो वध्यतां पापनिश्चयः ॥ ४७ ॥

क्योंकि बहुत दिनों पीछे मुझे अपना इस पराक्रम दिखाने का अवसर हाथ लगा है। इस पापात्मा और निश्चय पापी का वध अवश्य ही करना है ॥ ४७ ॥

काङ्क्षतः स्तोककस्येव घर्मान्ते मेघदर्शनम् ।
अस्मिन्मुहूर्ते न चिरात्सत्यं प्रतिशृणोमि वः ॥ ४८ ॥

अरावणमरामं वा जगद्द्रक्ष्यथ वानराः ।
राज्यनाशं वने वासं दण्डके परिधावनम् ॥ ४९ ॥

मैं बहुत दिनों से इसकी खोज में वैसे ही था जैसे वर्षाकाल में चातक मेघ की खोज में रहते हैं। हे वानरों! मैं तुम लोगों के सामने प्रतिज्ञापूर्वक सत्य सत्य कहता हूँ कि, बहुत देर में नहीं प्रत्युत इसी समय तुम लोग इस संसार को या तो विना रावण के या विना राम के देखोगे। देखो, राज्य का नाश, वन का वास और दण्डकवन में मारे मारे फिरना ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

वैदेह्याश्च परामर्शं रक्षोभिश्च समागमम् ।
प्राप्तं दुःखं महद्घोरं क्लेशं च निरयोपमम् ॥ ५० ॥

सीता का हरण राक्षसों का समागम—इन सब से मुझे बड़ा दुःख और नरक के समान क्लेश हुआ है ॥ ५० ॥

अद्य सर्वमहं त्यक्ष्ये निहत्वा रावणं रणे ।
यदर्थं वानरं सैन्यं समानीतमिदं मया ॥ ५१ ॥

आज मैं युद्ध में रावण को मार कर उन सब क्लेशों से मुक्त हो जाऊँगा; जिनके लिये मैं यह वानरी सेना यहाँ लाया हूँ ॥५१॥

सुग्रीवश्च कृतो राज्ये निहत्वा वालिनं रणे ।
यदर्थं सागरः क्रान्तः सेतुर्बद्धश्च सागरे ॥ ५२ ॥

जिसके लिये मैंने वाली को मार सुग्रीव को राजा बनाया, जिसके लिये समुद्र पर पुल बाँध कर समुद्र को पार किया ॥ ५२ ॥

सोऽयमद्य रणे पापश्चक्षुर्विषयमागतः ।
चक्षुर्विषयमागम्य नायं जीवितुमर्हति ॥ ५३ ॥

वह पापी आज रणक्षेत्र में मेरी आँखों के सामने आया है। अब मेरे सामने से यह जीता नहीं बच सकता ॥ ५३ ॥

दृष्टिं दृष्टिविषस्येव सर्पस्य मम रावणः ।
स्वस्थाः पश्यत दुर्धर्षा युद्धं वानरपुङ्गवाः ॥ ५४ ॥
आसीनाः पर्वताग्रेषु ममेदं रावणस्य च ।
अद्य रामस्य [1]रामत्वं पश्यन्तु मम संयुगे ॥ ५५ ॥
त्रयो लोकाः सगन्धर्वाः सदेवाः सर्षिचारणाः ।
अद्य कर्म करिष्यामि यल्लोकाः सचराचराः ॥५६॥
सदेवाः कथयिष्यन्ति यावद्भूमिर्धरिष्यति ॥ ५७ ॥

जिस तरह दृष्टि-विष वाले साँप की आँखों के सामने पड़ने पर कोई जीता नहीं बच सकता, वैसे ही मेरी आँखों के सामने आ रावण भी जीता नहीं बच सकता। हे दुर्धर्ष वानरश्रेष्ठों !

---

1 रामत्वं—जगदेकवीरत्वं । (गो०)

तुम लोग स्वस्थ होकर पर्वतशिखर पर बैठे बैठे मेरी और रावण की लड़ाई देखो। आज मेरे इस युद्ध में, गन्धर्वों, सिद्धों, ऋषियों और चारणों सहित तीनों लोक मेरा अद्वितीय (बेजोड़) वीरत्व देखें। आज मैं वह काम करूँगा कि, जब तक यह संसार रहेगा, तब तब देवताओं सहित चर और अचर जीव उसका बखान करते रहेंगे ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

एवमुक्त्वा शितैर्बाणैस्तप्तकाञ्चनभूषणैः ।
आजघान दशग्रीवं रणे रामः समाहितः ॥ ५८ ॥

यह कह कर युद्ध में खरे सुवर्ण से भूषित सात पैने बाण, श्रीरामचन्द्र जी ने सावधान होकर रावण के मारे ॥ ५८ ॥

अथ प्रदीप्तैर्नाराचैर्मुसलैश्चापि रावणः ।
अभ्यवर्षत्तदा रामं धाराभिरिव तोयदः ॥ ५९ ॥

तब तो रावण ने भी श्रीराम जी के ऊपर चमचमाते नाराच (बाण विशेष) और मूसलों की वृष्टि वैसे ही की; जैसे बादल धारा प्रवाह रूप से जल की वर्षा करते हैं ॥ ५८ ॥

रामरावणमुक्तानामन्योन्यमभिनिघ्नताम् ।
शराणां च शराणां च बभूव तुमुलः स्वनः ॥ ६० ॥

श्रीरामचन्द्र और रावण के चलाये हुए और आकाश में आपस में टकराते हुए बाणों का बड़ा ज़ोर का शब्द हुआ ॥ ६० ॥

ते भिन्नाश्च विकीर्णाश्च रामरावणयोः शराः ।
अन्तरिक्षात्प्रदीप्ताग्रा निपेतुर्धरणीतले ॥ ६१ ॥

श्रीरामचन्द्र और रावण के वे बाण आकाश में (परस्पर) टकरा कर टूट जाते थे और ज़मीन पर गिरते समय उनकी नोंकों से चिनगारियाँ निकलती थीं ॥ ६१ ॥

तयोर्ज्यातलनिर्घोषो रामरावणयोर्महान् ।
त्रासनः सर्वभूतानां संबभूवाद्भुतोपमः ॥ ६२ ॥

श्रीराम और रावण के धनुषों के रोदों के टंकार का ज़ोर का और अद्भुत शब्द हो रहा था, जिसे सुन समस्त प्राणी भयभीत हो रहे थे ॥ ६२ ॥

स कीर्यमाणः शरजालवृष्टिभिः
महात्मना दीप्तधनुष्मताऽर्दितः ।
भयात्प्रदुद्राव समेत्य रावणो
यथाऽनिलेनाभिहतो बलाहकः ॥ ६३ ॥

इति एकोत्तरशततमः सर्गः ॥

महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी के धनुष से छूटे हुए बाणों से पीड़ित हो भय के मारे रावण उसी प्रकार भागा, जिस प्रकार बादल पवन के वेग से भागते हैं ॥ ६३ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौएकवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्व्युत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

शक्त्या विनिहतं दृष्ट्वा रावणेन बलीयसा ।
लक्ष्मणं समरे शूरं रुधिरौघपरिप्लुतम् ॥ १ ॥

स दत्त्वा तुमुलं युद्धं रावणस्य दुरात्मनः ।
विसृजन्नेव बाणौघान्सुषेणं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

बलवान रावण द्वारा युद्ध में शक्ति के प्रहार से गिरे हुए शूरवीर लक्ष्मण जी को रुधिर में सराबोर देख कर भी, दुरात्मा रावण के साथ घोर संग्राम कर और बाणों को छोड़ते हुए, श्रीरामचन्द्र जी सुषेण (वानरयूथपति) से बोले ॥ १ ॥ २ ॥

एष रावणवीर्येण लक्ष्मणः पतितः क्षितौ ।
सर्पवद्वेष्टते वीरो मम शोकमुदीरयन् ॥ ३ ॥

लक्ष्मण का, इस रावण की शक्ति के आघात से पृथिवी पर गिरना और साँप की तरह लोटना देख मुझको शोकान्वित करता है ॥ ३ ॥

शोणितार्द्रमिमं वीरं प्राणैरिष्टतमं मम ।
पश्यतो मम का शक्तिर्योद्धुं पर्याकुलात्मनः ॥ ४ ॥

लक्ष्मण मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं। ये लोहू में नहाये हुए हैं। इनको इस दशा में देख मैं घबड़ा गया हूँ। अब मुझ में क्या शक्ति है, जो मैं वैरी से लड़ सकूँ ॥ ४ ॥

अयं स समरश्लाघी भ्राता मे शुभलक्षणः ।
यदि पञ्चत्वमापन्नः प्राणैर्मे किं सुखेन च ॥ ५ ॥

यदि शुभ लक्षणों से युक्त यह मेरा समरश्लाघी भाई कहीं मर गया, तो फिर सुखभोगने से मुझे लाभ ही क्या है ? ॥ ५ ॥

लज्जतीव हि मे वीर्यं भ्रश्यतीव कराद्धनुः ।
सायका व्यवसीदन्ति दृष्टिर्बाष्पवशं गता ॥ ६ ॥

इनकी यह दशा देख मुझे अपने बल-पराक्रम पर लज्जा आती है। हाथ से धनुष छूटा पड़ता है। बाण ढीले पड़ गये हैं और आँखों में बराबर आँसुओं के उमड़ने से मुझे कुछ दिखलाई भी नहीं पड़ता ॥ ६ ॥

अवसीदन्ति गात्राणि [1]स्वप्नयाने नृणामिव ।
चिन्ता मे वर्धते तीव्रा [2]मुमूर्षा चोपजायते ।
भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा रावणेन दुरात्मना ॥ ७ ॥

दुरात्मा रावण द्वारा भाई को मारा गया देख, स्वप्न में गमन करने वाले मनुष्य की तरह मेरे पैर आगे न पड़ कर पीछे को पड़ते हैं। मेरी चिन्ता उग्ररूप धारण कर उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है और जी चाहता है कि, इस लोक ही को त्याग दूँ (अर्थात् मर जाऊँ) ॥ ७ ॥

[3]विनिष्टनन्तं दुःखार्तं मर्मण्यभिहतं भृशम् ॥ ८ ॥

मर्मस्थल के अत्यन्त विदीर्ण हो जाने के कारण पीड़ित हो बुरी तरह कराहते हुए ॥ ८ ॥

राघवो भ्रातरं दृष्ट्वा प्रियं प्राणं बहिश्चरम् ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो ध्यानशोकपरायणः ॥ ९ ॥

प्यारे और बाहिर घूमने वाले अपने दूसरे प्राण की तरह भाई को देख, श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त दुःखी हो चिन्तित हो गये और शोक से व्याकुल हुए ॥ ९ ॥

---

१ स्वप्नयाने—स्वप्नगमने। स्वप्ने हि गच्छतां पुरुषाणां पादाः पश्चादाकृष्टा भवन्ति। (गो०) २ मुमूर्षा—एतल्लोकत्यागेच्छा। (शि०) ३ विनिष्टनन्तं—विकृतशब्दं कुर्वंते। (रा०)

परं विषादमापन्नो विललापाकुलेन्द्रियः ।
न हि युद्धेन मे कार्यं नैव प्राणैर्न सीतया ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त दुःखी और विकल हो विलाप करने लगे। वे कहने लगे—मुझे न तो अब युद्ध ही से कुछ काम है और न सीता ही से और न मुझे अब अधिक जीने ही का कुछ प्रयोजन है॥ १० ॥

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा लक्ष्मणं [1]रणपांसुषु ।
किं मे राज्येन किं प्राणैर्युद्धे कार्यं न विद्यते ॥ ११ ॥

मरे हुए लक्ष्मण को समरभूमि में धूल में पड़ा देख, मैं अब अयोध्या का राज्य लेकर और जी कर ही क्या करूँगा? मुझे अब रावण से लड़ने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है ॥ ११ ॥

यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः ।
देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ॥ १२ ॥

क्योंकि, लक्ष्मण तो समरक्षेत्र में अब सदा के लिये सो ही गये हैं। देखो स्त्रियाँ और भाई बन्धु तो सब जगह मिल सकते हैं, ॥ १२ ॥

तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ।
इत्येवं विलपन्तं तं शोकविह्वलितेन्द्रियम् ॥ १३ ॥

परन्तु मुझे ऐसी कोई जगह नहीं देख पड़ती; जहाँ सहोदर भाई मिल सके। इस प्रकार विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्र जी शोक से विह्वल हो घबड़ा गये ॥ १३ ॥

---

१ रणपांसुषु · लुंठतइतिशेषः । (रा०)

[नोट—यद्यपि लक्ष्मण और श्रीरामचन्द्र जी एक जननी की कोख से उत्पन्न नहीं हुए थे; तथापि उनका जन्म उस पायस के भाग से हुआ था; जो कौशल्या ने स्वयं अपने हाथ से सुमित्रा को दी थी। अथवा यहाँ पर "सहोदर" कहने से आदिकवि का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि, "सहोदर के समान" भाई।]

विवेष्टमानं करुणमुच्छ्वसन्तं पुनः पुनः।
राममाश्वासयन्वीरः सुषेणो वाक्यमब्रवीत् ॥ १४ ॥

इस प्रकार करुणस्वर से विलाप करते और बार बार लंबी साँसें लेते देख, श्रीरामचन्द्र जी के धीरज बँधाते हुए सुषेण कहने लगे ॥ १४ ॥

न मृतोऽयं महाबाहो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः।
न चास्य विकृतं वक्त्रं नापि [1]श्यावं न निष्प्रभम् ॥ १५ ॥

हे महाबाहो! यह शोभा बढ़ाने वाले लक्ष्मण मरे नहीं हैं। क्योंकि, न तो इनके मुख की आकृति ही बिगड़ी है और न इनके चेहरे का रङ्ग काला ही पड़ा है। जैसा कि, मुर्दे का पड़ जाता है ॥ १५ ॥

सुप्रभं च प्रसन्नं च मुखमस्याभिलक्ष्यते।
पद्मरक्ततलौ हस्तौ सुप्रसन्ने च लोचने ॥ १६ ॥

इनका चेहरा तो हर्षित और भलीभाँति दमक रहा है। इनकी दोनों हथेलियाँ कमल-पुष्प की तरह लाल और दोनों आँखें सुन्दर बनी हुई हैं ॥ १६ ॥

---

१ श्यावं—कपिशं विवर्णमिति यावत्। (गो०)

एवं न विद्यते रूपं गतासूनां विशांपते ।
दीर्घायुषस्तु ये मर्त्यास्तेषां तु मुखमीदृशम् ॥ १७ ॥

हे प्रजापालक! प्राणहीन लोगों के ऐसे लक्षण नहीं होते। जो मनुष्य दीर्घायु होते हैं, उन्हींका मुख ऐसा हुआ करता है ॥१७॥

नायं प्रेतत्वमापन्नो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ।
मा विषादं कृथा वीर सप्राणोऽयमरिन्दमः ॥ १८ ॥

शोभा बढ़ाने वाले लक्ष्मण मरे नहीं हैं। हे वीर! आप दुःखी न हों। यह शत्रुहन्ता लक्ष्मण अभी जीवित हैं ॥ १८ ॥

आख्यास्यते प्रसुप्तस्य स्रस्तगात्रस्य भूतले ।
सोच्छ्वासं हृदयं वीर कम्पमानं मुहुर्मुहुः ॥ १९ ॥

क्योंकि, शिथिल अङ्ग किये और पृथिवी पर सोते हुए लक्ष्मण जी की साँस बार बार चल रही है। उनका हृदय बार बार साँस लेने से हिल रहा है ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा तु वाक्यज्ञः सुषेणो राघवं वचः ।
हनुमन्तमुवाचेदं हनुमन्तमभित्वरन् ॥ २० ॥

वाक्यज्ञ सुषेण श्रीरामचन्द्र जी से ये वचन कह कर, हनुमान जी को जल्दियाते हुए, हनुमान जी से बोले ॥ २० ॥

सौम्य शीघ्रमितो गत्वा शैलमोषधिपर्वतम् ।
पूर्वं ते कथितो योऽसौ वीर जाम्बवता शुभः ॥ २१ ॥

हे सौम्य! यहाँ से तुम शीघ्र जाओ और जाम्बवान ने जिस पर्वत का पता तुम्हें पहिले बतलाया था, उस ओषधिपर्वत पर जा कर ॥ २१ ॥

दक्षिणे शिखरे तस्य जातमोषधिमानय ।
विशल्यकरणीं नाम विशल्यकरणीं शुभाम् ॥ २२ ॥

उस पर्वत के दक्षिणशिखर पर लगी हुई बूटियों को ले आओ। उन बूटियों में से एक तो घाव में चुभे हुए बाण आदि को निकालने वाली विशल्यकरणी नाम की बूटी है ॥ २२ ॥

सवर्णकरणीं चापि तथा सञ्जीवनीमपि ।
सन्धानकरणीं चापि गत्वा शीघ्रमिहानय ॥ २३ ।

दूसरी सवर्णकरणी (घाव को पूरा कर घाव की गूत को चमड़े से मिला कर, गूत के चमड़े को एकरङ्ग का करने वाली) है; तीसरी का नाम संजीवनी (मुर्दे को जिलाने वाली) है और चौथी का नाम सन्धानकरणी (घाव को पूरने वाली) है। सो तुम जा कर चारों को तुरन्त ले आओ ॥ २३ ॥

सञ्जीवनार्थं वीरस्य लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
इत्येवमुक्तो हनुमान्गत्वा चौषधिपर्वतम् ॥ २४ ॥

जिससे महाबलवान् एवं वीर लक्ष्मण पुनः जीवित हो जांय। यह सुन हनुमान जी उस ओषधिपर्वत पर गये ॥ २४ ॥

चिन्तामभ्यगमच्छ्रीमानजानंस्तां महौषधिम् ।
तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना मारुतेरमितौजसः ॥ २५ ॥

किन्तु वहां जा कर उन बूटियों को न पहचान सकने के कारण वे चिन्तित हुए। तब अमितबलशाली पवननन्दन ने मन ही मन यह निश्चित किया कि, ॥ २५ ॥

इदमेव गमिष्यामि गृहीत्वा शिखरं गिरेः ।
अस्मिन्हि शिखरे जातामोषधीं तां सुखावहाम् ॥२६॥

इसी पर्वतशिखर को उखाड़ कर ले चलें क्योंकि, वे सुख-दायिनी बूटियाँ इसी पर तो कहीं लगी हुई हैं ॥ २६ ॥

प्रतर्केणावगच्छामि सुषेणोऽप्येवमब्रवीत् ।
अगृह्य यदि गच्छामि विशल्यकरणीमहम् ॥ २७ ॥

मेरा यह पक्का अनुभव है कि, सुषेण ने इसी शिखर का नाम बतलाया था। यदि मैं विशल्यकरणी आदि बूटियों को लिये विना ही लौट चलूँ तो ॥ २७ ॥

कालात्ययेन दोषः स्याद्वैक्लव्यं च महद्भवेत् ।
इति सञ्चिन्त्य हनुमान् गत्वा क्षिप्रं महाबलः ॥ २८ ॥

समय निकल जाने से बड़ी हानि होगी और मेरा पुरुषार्थ हीनत्व (कादरता) पाया जायगा। यह विचार हनुमान जी तुरन्त उस शिखर पर गये ॥ २८ ॥

आसाद्य पर्वतश्रेष्ठं त्रिः *प्रकम्प्य गिरेः शिरः ।
फुल्लनानातरुगणं समुत्पाट्य महाबलः ॥ २९ ॥

और उस पर्वतश्रेष्ठ पर पहुँच कर उस पर्वत के शिखर को तीन वार मचमचाया और विविध प्रकार के पुष्पित वृक्षों सहित उस पर्वतशिखर को हनुमान जी ने उखाड़ लिया ॥ २९ ॥

गृहीत्वा हरिशार्दूलो हस्ताभ्यां [1]समतोलयत् ।
स नीलमिव जीमूतं तोयपूर्णं नभःस्थलात् ॥ ३० ॥

---

१ समतोलयत्—उत्क्षिप्तवान्। (गो०)। * पाठान्तरं—" प्रक्रम्य।"

फिर वानरश्रेष्ठ हनुमान जी ने उसे (गेंद की तरह उछाल कर गुपका) दोनों हाथों से उठा ऊपर को उछाला। फिर जल से भरे काले बादल की तरह उस पर्वत के शिखर को ले, हनुमान जी आकाशमार्ग में पहुँचे ॥ ३० ॥

आपपात गृहीत्वा तु हनुमाञ्शिखरं गिरेः ।
समागम्य महावेगः संन्यस्य शिखरं गिरेः ॥ ३१ ॥

फिर उस पर्वतशिखर को लिये हुए वे वहाँ से बड़े वेग से उड़े और उस पर्वतशिखर को ले जा कर लङ्का में पहुँचा दिया ॥ ३१ ॥

विश्रम्य किञ्चिद्धनुमान्सुषेणमिदमब्रवीत् ।
ओषधीं नावगच्छामि तामहं हरिपुङ्गव ॥ ३२ ॥

फिर कुछ देर तक दम ले कर हनुमान जी ने सुषेण से यह कहा—हे कपिश्रेष्ठ! आपकी बतलायी जड़ीबूटियों को तो मैं पहिचान नहीं सका ॥ ३२ ॥

तदिदं शिखरं कृत्स्नं गिरेस्तस्याहृतं मया ।
एवं कथयमानं तं प्रशस्य पवनात्मजम् ॥ ३३ ॥

अतः मैं उस पर्वत के इस समूचे गिरिशिखर को ले आया हूँ। जब हनुमान जी ने इस प्रकार कहा, तब सुषेण ने उनकी प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

सुषेणो वानरश्रेष्ठो जग्राहोत्पाट्य चौषधीम् ।
विस्मितास्तु बभूवुस्ते रणे वानरराक्षसाः ॥ ३४ ॥
दृष्ट्वा हनुमतः कर्म सुरैरपि सुदुष्करम् ।
ततः संक्षोदयित्वा तामोषधीं वानरोत्तमः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर कपिश्रेष्ठ सुषेण ने उन जड़ीबूटियों को उखाड़ लिया। जो काम देवता भी न कर सके, उस काम को हनुमान द्वारा होते देख, समरभूमि में उपस्थित क्या वानर और क्या राक्षस सभी विस्मित हुए। तदनन्तर कपिश्रेष्ठ सुषेण ने उन जड़ीबूटियों को पीसा ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणस्य ददौ नस्तः सुषेणः सुमहाद्युतेः ।
सशल्यस्तां समाघ्राय लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ३६ ॥

फिर सुषेण ने उन दवाइयों को लक्ष्मण जी को सुघाया। शत्रुघाती लक्ष्मण उन दवाइयों को सूंघते ही ॥ ३६ ॥

विशल्यो विरुजः शीघ्रमुदतिष्ठन्महीतलात् ।
तमुत्थितं ते हरयो भूतलात्प्रेक्ष्य लक्ष्मणम् ॥ ३७ ॥

शल्यपीड़ा से रहित हो तुरन्त पृथिवी पर से उठ खड़े हुए। लक्ष्मण जी को पृथिवी पर से उठा देख, वे सब वानर ॥ ३७ ॥

साधु साध्विति सुप्रीताः सुषेणं प्रत्यपूजयन् ।
एह्येहीत्यब्रवीद्रामो लक्ष्मणं परवीरहा ॥ ३८ ॥
सस्वजे स्नेहगाढं च बाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
अब्रवीच्च परिष्वज्य सौमित्रिं राघवस्तदा ॥ ३९ ॥

धन्य ! धन्य ! कह कर सुषेण की सराहना करने लगे। तब शत्रु-घाती श्रीरामचन्द्र जी ने आओ आओ कह कर, और आँखों में आँसू भर कर, अत्यन्त स्नेह के साथ लक्ष्मण जी को अपनी छाती से लगाया। लक्ष्मण जी को अपनी छाती से लगाने के बाद श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

दिष्ट्या त्वां वीर पश्यामि मरणात्पुनरागतम् ।
न हि मे जीवितेनार्थः सीतया चापि लक्ष्मण ॥ ४० ॥
को हि मे विजयेनार्थस्त्वयि पञ्चत्वमागते ।
इत्येवं वदतस्तस्य राघवस्य महात्मनः ॥ ४१ ॥

हे वीर! मैं बड़े भाग्य से पुनः तुमको देख रहा हूँ। मैं तो तुम्हारा पुनर्जन्म हुआ मानता हूँ। हे लक्ष्मण! यदि कहीं तुम मर जाते तो मुझे अपने जीने से, न सीता से और न रावण को जीतने ही से कुछ काम था। जब महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥ ४१ ॥

खिन्नः शिथिलया वाचा लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
[1]तां प्रतिज्ञां प्रतिज्ञाय पुरा सत्यपराक्रम ॥ ४२ ॥

तब उदास लक्ष्मण ने धीमे स्वर से ये वचन कहे— हे सत्य-पराक्रमी! पहिले एक प्रतिज्ञा कर, (अर्थात् रावण का वध कर विभीषण को लङ्का का राज्य देने की प्रतिज्ञा कर) ॥ ४२ ॥

लघुः कश्चिदिवासत्त्वो नैवं वक्तुमिहार्हसि ।
न हि प्रतिज्ञां कुर्वन्ति वितथां साधवोऽनघ ॥ ४३ ॥

पुरुषार्थहीन ओछे लोगों की तरह ऐसी बात कहना उचित नहीं। हे अनघ! श्रेष्ठजन जो प्रतिज्ञा एक बार कर लेते हैं, उसे वे कभी भङ्ग नहीं करते ॥ ४३ ॥

लक्षणं हि महत्त्वस्य प्रतिज्ञापरिपालनम् ।
नैराश्यमुपगन्तुं ते तदलं मत्कृतेऽनघ ॥ ४४ ॥

---

१ तां प्रतिज्ञां—रावणं हत्वा विभीषणमभिषेक्ष्यामि एवंरूपां प्रतिज्ञां। (गो०)

हे राघव ! महत्त्व इसीमें है कि, जो प्रतिज्ञा की जाय वह पूरी की जाय। अन्यथा बड़ाई की पहिचान यही है कि, प्रतिज्ञा का पालन किया जाय। मेरे पीछे या मेरे लिये आपको निराश हो जाना उचित न था ॥ ४४ ॥

वधेन रावणस्याद्य प्रतिज्ञामनुपालय ।
न जीवन्यास्यते शत्रुस्तव बाणपथं गतः ॥ ४५ ॥

आज आप रावण का वध कर, अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। आपके बाणों के निशान के भीतर आ कर, शत्रु वैसे ही जीवित नहीं रह सकता ॥ ४५ ॥

नर्दतस्तीक्ष्णदंष्ट्रस्य सिंहस्येव महागजः ।
अहं तु वधमिच्छामि शीघ्रमस्य दुरात्मनः ।
यावदस्तं न यात्येष [1]कृतकर्मा दिवाकरः ॥ ४६ ॥

जैसे पैने दाँतों वाले दहाड़ते हुए सिंह के सामने पड़ कर गजराज जीता नहीं बच सकता। मैं तो यह चाहता हूँ कि, (पृथिवी की परिक्रमा कर) सूर्य के अस्ताचलगामी होने के पूर्व ही यह दुरात्मा रावण शीघ्र मार लिया जाय ॥ ४६ ॥

यदि वधमिच्छसि रावणस्य संख्ये
यदि च कृतां त्वमिहेच्छसि प्रतिज्ञाम् ।
यदि तव राजवरात्मजाभिलाषः
कुरु च वचो मम शीघ्रमद्य वीर ॥ ४७ ॥

इति द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥

---

१ कृतकर्मा—कृतसञ्चारः। (गो०)

हे वीर ! यदि युद्ध में आप रावण का वध करना चाहते हों, यदि आप अपने को सत्य-प्रतिज्ञ कहलाना चाहते हों, यदि आप राजनन्दिनी जानकी का उद्धार करना चाहते हों तो, आप मेरे कथनानुसार शीघ्र कार्य कीजिये ॥ ४७ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौ दूसरा सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्र्युत्तरशततमः सर्गः

—※—

लक्ष्मणेन तु तद्वाक्यमुक्तं श्रुत्वा स राघवः ।
सन्दधे परवीरघ्नो धनुरादाय वीर्यवान् ॥ १ ॥

लक्ष्मण के कहे हुए वचनों को सुन शत्रुघाती एवं पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष हाथ में ले उसके ऊपर बाण चढ़ाया ॥ १ ॥

रावणाय शरान्घोरान्विससर्ज चमूमुखे ।
अथान्यं रथमारुह्य रावणो राक्षसाधिपः ॥ २ ॥

और समस्त सेना के सामने ही वे रावण के ऊपर घोर बाण-वृष्टि करने लगे। इस बीच में राक्षसराज रावण दूसरे रथ पर सवार हो ॥ २ ॥

अभ्यद्रवत काकुत्स्थं स्वर्भानुरिव भास्करम् ।
दशग्रीवो रथस्थस्तु रामं वज्रोपमैः शरैः ॥ ३ ॥
आजघान महाघोरैर्धाराभिरिव तोयदः ।
दीप्तपावकसङ्काशैः शरैः काञ्चनभूषणैः ॥ ४ ॥

वह श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर वैसे ही दौड़ा, जैसे राहु सूर्य के ऊपर दौड़ता है। रथ में बैठा हुआ रावण, श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर वज्रसमान एवं महाभयानक बाणों से वैसे ही बाण बरसाने लगा, जैसे मेघ जल बरसाते हैं। सुवर्णभूषित एवं प्रज्वलित अग्नि की तरह चमचमाते तीरों से ॥ ३ ॥ ४ ॥

निर्बिभेद रणे रामो दशग्रीवं समाहितम् ।
भूमौ स्थितस्य रामस्य रथस्थस्य च रक्षसः ॥ ५ ॥

इस लड़ाई में श्रीरामचन्द्र जी ने बड़ी सावधानी से दशग्रीव रावण को घायल किया। किन्तु ज़मीन पर खड़े श्रीरामचन्द्र जी का और रथ में सवार रावण का ॥ ५ ॥

न समं युद्धमित्याहुर्देवगन्धर्वदानवाः ।
ततः काञ्चनचित्राङ्गः किङ्किणीशतभूषितः ॥ ६ ॥

युद्ध, (आकाशस्थित) देवता गन्धर्व और दानवों के कथनानुसार बराबरी का नहीं था। तब तो सुवर्ण से चित्रित (सोने का पानी चढ़ा हुआ) और सैकड़ों झुनझुनियों से सजा हुआ ॥ ६ ॥

तरुणादित्यसङ्काशो वैडूर्यमयकूबरः ।
सदश्वैः [1]काञ्चनापीडैर्युक्तः [2]श्वेतप्रकीर्णकैः ॥ ७ ॥

प्रातःकालीन सूर्य की तरह जगमगाता, पन्नों के जड़ाऊ जुएँ से युक्त, सुवर्ण के भूषणों से भूषित, उत्तम घोड़ों से युक्त, सफेद चमरों से अलङ्कृत ॥ ७ ॥

---

१ काञ्चनापीडैः—काञ्चनालङ्कारैः। (गो०) २ श्वेतप्रकीर्णकैः—श्वेतचामरैः। (गो०)

¹हरिभिः सूर्यसङ्काशैर्हेमजालविभूषितैः ।
रुक्मवेणुध्वजः श्रीमान्देवराजरथो वरः ॥ ८ ॥

सूर्य के समान चमचमाते हरे रंग के घोड़ों से जुता हुआ, सोने की जालियों से भूषित, सोने के बांस में फहराती हुई ध्वजा से युक्त, इन्द्र के श्रेष्ठ रथ को ॥ ८ ॥

देवराजेन सन्दिष्टो रथमारुह्य मातलिः ।
अभ्यवर्तत काकुत्स्थमवतीर्य त्रिविष्टपात् ॥ ९ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी के लिये ले जाने की स्वयं इन्द्र ने अपने रथवान मातलि को आज्ञा दी, तब मातलि उस पर सवार हो स्वर्ग से नीचे उतर श्रीरामचन्द्र जी के समीप आया ॥ ९ ॥

अब्रवीच्च तदा रामं सप्रतोदो रथे स्थितः ।
प्राञ्जलिर्मातलिर्वाक्यं सहस्राक्षस्य सारथिः ॥ १० ॥

हाथ में चाबुक लिये, रथ पर सवार इन्द्र के सारथी मातलि ने हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १० ॥

सहस्राक्षेण काकुत्स्थ रथोऽयं विजयाय ते ।
दत्तस्तव महासत्त्व श्रीमञ्शत्रुनिबर्हण ॥ ११ ॥

हे काकुत्स्थ ! हे महापराक्रमी महाराज ! हे शत्रुदमनकारिन् ! देवराज इन्द्र ने, आपकी विजयप्राप्ति के लिये यह रथ भेजा है ॥ ११ ॥

इदमैन्द्रं महच्चापं कवचं चाग्निसन्निभम् ।
शराश्चादित्यसङ्काशाः शक्तिश्च विमला शिता ॥ १२ ॥

---

१ हरिभिः—हरितवर्णैः । (रा०)

यह इन्द्र का बड़ा धनुष है, यह अग्नि के समान दमकता हुआ कवच है, सूर्य की तरह चमचमाते ये बाण हैं और यह चमचमाती और अत्यन्त पैनी बर्छी (शक्ति) है ॥ १२ ॥

आरुह्येमं रथं वीर राक्षसं जहि रावणम् ।
मया सारथिना राजन्महेन्द्र इव दानवान् ॥ १३ ॥

हे वीर ! मेरी रथवानी की चातुरी से देवराज इन्द्र जिस प्रकार दानवों का नाश करते हैं, उसी प्रकार आप भी इस रथ पर सवार हो कर, निशाचर रावण का विनाश कीजिये ॥ १३ ॥

इत्युक्तः सम्परिक्रम्य रथं समभिवाद्य च ।
आरुरोह तदा रामो [1]लोकाँल्लक्ष्म्या विराजयन् ॥१४॥

मातलि के इस प्रकार कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस रथ की परिक्रमा की और भली भाँति उसे प्रणाम कर, उस पर वे सवार हुए। उस समय श्रीरामचन्द्र जी अपनी कान्ति से चन्द्रमा की तरह समस्त लोकों को प्रकाशित करने लगे ॥ १४ ॥

तद्बभूवाद्भुतं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ।
रामस्य च महाबाहो रावणस्य च रक्षसः ॥ १५ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी और राक्षस रावण का ऐसा महाभयङ्कर और अद्भुत युद्ध हुआ कि, उसे देखने वालों के रोंगटे खड़े हो गये ॥ १५ ॥

स गान्धर्वेण गान्धर्वं दैवं दैवेन राघवः ।
अस्त्रं राक्षसराजस्य जघान परमास्त्रवित् ॥ १६ ॥

---

१ लोकान्लक्ष्म्या विराजयन्—चन्द्रप्रभवमेव स्वकान्त्या सर्वलोकान् प्रकाशयन् । (गो०)

बड़े बड़े अस्त्रों का चलाना और रोकना जानने वाले श्रीराम-चन्द्र जी ने रावण के चलाये गान्धर्वास्त्र को गान्धर्वास्त्र से और दैवास्त्र को दैवास्त्र से काट डाला ॥ १६ ॥

अस्त्रं तु परमं घोरं राक्षसं राक्षसाधिपः ।
ससर्ज परमक्रुद्धः पुनरेव निशाचरः ॥ १७ ॥

तब राक्षसराज रावण ने अत्यन्त क्रोध में भर, फिर महाभयङ्कर राक्षसास्त्र छोड़ा ॥ १७ ॥

ते रावणधनुर्मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः ।
अभ्यवर्तन्त काकुत्स्थं सर्पा भूत्वा महाविषाः ॥ १८ ॥

उस समय सुवर्णभूषित जो बाण रावण के धनुष से छूटते थे, वे महाविषधर सर्प हो कर श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर गिरते थे ॥ १८ ॥

ते दीप्तवदना दीप्तं वमन्तो ज्वलनं मुखैः ।
राममेवाभ्यवर्तन्त व्यादितास्या भयानकाः ॥ १९ ॥

वे (बाणरूपी) प्रज्वलित एवं भयानक मुख वाले सर्प, मुख से आग उगलते हुए, श्रीरामचन्द्र जी के शरीर पर गिरते थे ॥ १९ ॥

तैर्वासुकिसमस्पर्शैर्दीप्त[1]भोगैर्महाविषैः ।
दिशश्च सन्तताः सर्वाः प्रदिशश्च समावृताः ॥ २० ॥

प्रदीप्त फणों से युक्त महाविषधर वासुकी सर्प के तुल्य स्पर्श कारी बाणों से समस्त दिशाएँ भर गयीं ॥ २० ॥

---

१ दीप्तभोगैः—दीप्तफणैः । (गो०)

तान्दृष्ट्वा पन्नगान्रामः समापतत आहवे ।
अस्त्रं गारुत्मकं घोरं प्रादुश्चक्रे भयावहम् ॥ २१ ॥

इस लड़ाई में उन पन्नग रूपी बाणों को अपने ऊपर गिरते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सर्पों को भयभीत करने वाले भयानक गरुड़ास्त्र का प्रयोग किया ॥ २१ ॥

ते राघवशरा मुक्ता रुक्मपुङ्खाः शिखिप्रभाः ।
सुपर्णाः काञ्चना भूत्वा विचेरुः सर्पशत्रवः ॥ २२ ॥

अब तो श्रीरामचन्द्र जी के धनुष से अग्निशिखा के समान प्रभावाले सुवर्णपुङ्ख युक्त, सोने के जो बाण छूटते, वे सर्पशत्रु गरुड़ बन कर सर्पों को खा लेते थे ॥ २२ ॥

ते तान्सर्वाञ्शराञ्जघ्नुः सर्परूपान्महाजवान् ।
सुपर्णरूपा रामस्य विशिखाः कामरूपिणः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के गरुड़रूपधारी बाण, रावण के महावेगवान् सर्प रूपी बाणों को काटने लगे ॥ २३ ॥

अस्त्रे प्रतिहते क्रुद्धो रावणो राक्षसाधिपः ।
अभ्यवर्षत्तदा रामं घोराभिः शरवृष्टिभिः ॥ २४ ॥

अपने अस्त्र को इस प्रकार विफल हुआ देख, राक्षसराज रावण ने क्रोध में भर श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर बड़े भयङ्कर बाणों की वर्षा की ॥ २४ ॥

ततः शरसहस्रेण राममक्लिष्टकारिणम् ।
अर्दयित्वा शरौघेण मातलिं प्रत्यविध्यत ॥ २५ ॥

उसने एक हज़ार बाण चला अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी को घायल कर, रथवान मातलि को भी घायल किया ॥ २५ ॥

चिच्छेद केतुमुद्दिश्य शरेणैकेन रावणः ।
पातयित्वा रथोपस्थे रथात्केतुं च काञ्चनम् ॥ २६ ॥

फिर इन्द्ररथ की ध्वजा को निशाना बना उसने एक बाण छोड़ा, जिससे उसने रथ पर फहराती हुई सुवर्णमयी ध्वजा को काट कर रथ से गिरा दिया ॥ २६ ॥

ऐन्द्रानपि जघानाश्वाञ्शरजालेन रावणः ।
तद्दृष्ट्वा सुमहत्कर्म रावणस्य दुरात्मनः ॥ २७ ॥

फिर रावण ने बाण समूह से इन्द्र के रथ के घोड़ों को भी घायल किया । दुरात्मा रावण की हाथ की सफाई का यह महत्कृत्य देख ॥ २७ ॥

विषेदुर्देवगन्धर्वा दानवाश्चारणैः सह ।
राममार्तं तदा दृष्ट्वा सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ २८ ॥

दानवों और चारणों सहित देवता और गन्धर्व उदास हुए । श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित देख; सिद्ध, देवर्षि, ॥ २८ ॥

व्यथिता वानरेन्द्राश्च बभूवुः सविभीषणाः ।
रामचन्द्रमसं दृष्ट्वा ग्रस्तं रावणराहुणा ॥ २९ ॥

समस्त वानर और विभीषण व्यथित हुए । श्रीरामचन्द्ररूपी चन्द्रमा को रावणरूपी राहु से ग्रसा हुआ देख ॥ २९ ॥

प्राजापत्यं च नक्षत्रं रोहिणीं शशिनः प्रियाम् ।
समाक्रम्य बुधस्तस्थौ प्रजानामशुभावहः ॥ ३० ॥

चन्द्रमा की प्यारी प्रजापति दैवत रोहिणी पर बुध ने आक्रमण किया, जो प्रजाजनों के लिये अशुभसूचक था। (अर्थात् यह एक प्रकार की उत्पातसूचक घटना थी) ॥ ३० ॥

सधूमपरिवृत्तोर्मिः प्रज्वलन्निव सागरः ।
उत्पपात तदा क्रुद्धः स्पृशन्निव दिवाकरम् ॥ ३१ ॥

धूमसहित लहरों से प्रज्वलित सा होता हुआ समुद्र क्रोध में ऐसा उमड़ा, मानों वह सूर्य ही को छू लेगा ॥ ३१ ॥

[1]शस्त्रवर्णः सुपरुषो मन्दरश्मिर्दिवाकरः ।
अदृश्यत [2]कबन्धाङ्कः संसक्तो धूमकेतुना ॥ ३२ ॥

सूर्य का रङ्ग काला पड़ गया, उनकी किरण मन्द पड़ गयीं। सूर्य, राक्षस राहु की गोद में धूमकेतु के साथ देख पड़े ॥ ३२ ॥

कोसलानां च नक्षत्रं व्यक्तमिन्द्राग्निदैवतम् ।
आक्रम्याङ्गारकस्तस्थौ विशाखामपि चाम्बरे ॥ ३३ ॥

सूर्यवंशियों का विशाखा नक्षत्र है, जिसके देवता इन्द्र और अग्नि हैं। इस विशाखा नक्षत्र पर आकाश में आक्रमण कर मङ्गल जा बैठा ॥ ३३ ॥

दशास्यो विंशतिभुजः प्रगृहीतशरासनः ।
अदृश्यत दशग्रीवो मैनाक इव पर्वतः ॥ ३४ ॥

दसमुख और बीस भुजा वाले रावण ने हाथ में धनुष ले लिया। उस समय वह दशग्रीव ऐसा देख पड़ा, मानों मैनाक पर्वत हो ॥ ३४ ॥

---

१ शस्त्रवर्णः—असिवर्णः। (रा०) २ कबन्धः—राहुः। (रा०)

निरस्यमानो रामस्तु दशग्रीवेण रक्षसा ।
नाशक्नोदभिसन्धातुं सायकान्रणमूर्धनि ॥ ३५ ॥

समरभूमि में (रावण के प्राप्त वरदान की मर्यादा रखने के लिये) श्रीरामचन्द्र जी रावण द्वारा खदेड़े जाने पर भी ऐसे शिथिल पड़ गये कि, उनसे धनुष पर बाण भी रखा न जा सका ॥ ३५ ॥

स कृत्वा भ्रुकुटिं क्रुद्धः किञ्चित्संरक्तलोचनः ।
जगाम सुमहाक्रोधं निर्दहन्निव चक्षुषा ॥ ३६ ॥

इति त्र्युत्तरशततमः सर्गः ॥

किन्तु कुछ ही देर बाद रघुनाथ जी भौंहें टेढ़ी कर और कुछ कुछ आँखें लाल कर अत्यन्त कुपित हुए और ऐसा जान पड़ा; मानों वे नेत्राग्नि से (रावण को) भस्म कर डालेंगे ॥ ३६ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौतीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुरुत्तरशततमः सर्गः

—※—

तस्य क्रुद्धस्य वदनं दृष्ट्वा रामस्य धीमतः ।
सर्वभूतानि वित्रेसुः प्राकम्पत च मेदिनी ॥ १ ॥

बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र जी का कुपित मुखमण्डल देख, समस्त प्राणी भयभीत हो गये और पृथिवी काँपने लगी ॥ १ ॥

सिंहशार्दूलवाञ्शैलः सञ्चचाल चलद्रुमः ।
बभूव चातिक्षुभितः समुद्रः सरितां पतिः ॥ २ ॥

सिंह एवं शार्दूल सेवित पहाड़ हिल उठे, पेड़ काँपने लगे। नदीसमुद्र खलबला उठे ॥ २ ॥

खराश्च खरनिर्घोषा गगने परुषा घनाः ।
औत्पातिकानि नर्दन्तः समन्तात्परिचक्रमुः ॥ ३ ॥

गधे बड़ी बुरी तरह रेंकने लगे। आकाश में रूखे बादल, उत्पातसूचक गर्जन करते हुए चारों ओर घूमने लगे ॥ ३ ॥

रामं दृष्ट्वा सुसंक्रुद्धमुत्पातांश्च सुदारुणान् ।
वित्रेसुः सर्वभूतानि रावणस्याभवद्भयम् ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को क्रुद्ध और इन सुदारुण उत्पातों को देख, समस्त प्राणी त्रस्त हो गये और रावण के मन में भी भय का सञ्चार हुआ ॥ ४ ॥

विमानस्थास्तदा देवा गन्धर्वाश्च महोरगाः ।
ऋषिदानवदैत्याश्च गरुत्मन्तश्च खेचराः ॥ ५ ॥

आकाश में विमान में बैठे हुए देवता, गन्धर्व, महोरग, ऋषि, दानव, दैत्य, गरुड़ तथा अन्य आकाशचारी जीव ॥ ५ ॥

ददृशुस्ते महायुद्धं लोकसंवर्तसंस्थितम् ।
नानाप्रहरणैर्भीमैः शूरयोः सम्प्रयुध्यतोः ॥ ६ ॥

विविध प्रकार के भयङ्कर अस्त्र-शस्त्रों से लड़ने वाले उन दोनों शूरवीरों के उस लोक प्रलयकारी महायुद्ध को देख रहे थे ॥ ६ ॥

ऊचुः सुरासुराः सर्वे तदा [1]विग्रहमागताः ।
प्रेक्षमाणा महद्युद्धं वाक्यं भक्त्या प्रहृष्टवत् ॥ ७ ॥

---

[1] विग्रहमागताः—विग्रहयुद्धं द्रष्टुमागताः । (गो०)

जो देवता और दैत्य श्रीरामचन्द्र और रावण का युद्ध देखने आये थे वे उस महायुद्ध को देख, बड़े अनुराग और हर्ष से जयजयकार बोलते थे ॥ ७ ॥

दशग्रीवं जयेत्याहुरसुराः समवस्थिताः ।
देवा राममथोचुस्ते त्वं जयेति पुनः पुनः ॥ ८ ॥

जो दैत्य वहाँ आये हुए थे वे रावण का जयजयकार बोल रहे थे, और जो देवता वहाँ थे वे बार बार "श्रीरामचन्द्र जी की जय" "श्रीरामचन्द्र जी की जय" पुकार रहे थे ॥ ८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रोधाद्राघवस्य स रावणः ।
प्रहर्तुकामो दुष्टात्मा स्पृशन्प्रहरणं महत् ॥ ९ ॥

इसी बीच में दुष्ट रावण ने श्रीरामचन्द्र जी को वध करने की कामना से एक बड़ा शूल उठाया ॥ ९ ॥

वज्रसारं महानादं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
शैलशृङ्गनिभैः कूटैश्चितं दृष्टिभयावहम् ॥ १० ॥

वह हथियार वज्र की तरह कठोर बड़ा भारी शब्द करने वाला और पर्वत के समान था, जिसे देखने से मन में भय उत्पन्न हो जाता था ॥ १० ॥

सधूममिव तीक्ष्णाग्रं युगान्ताग्निचयोपमम् ।
अतिरौद्रमनासाद्यं कालेनापि दुरासदम् ॥ ११ ॥

वह प्रलयकालीन सधूम आग के ढेर की तरह जान पड़ता था। वह बड़ा पैना और बड़ा भयङ्कर था। उसका प्रहार कोई सह नहीं सकता था। यहाँ तक कि, काल के लिये भी वह दुर्धर्ष था ॥ ११ ॥

त्रासनं सर्वभूतानां दारणं भेदनं तदा ।
प्रदीप्तमिव रोषेण शूलं जग्राह रावणः ॥ १२ ॥

और सब जीवधारियों को त्रस्त एवं विदीर्ण करने वाला और छेदने वाला था। रावण ने रोष से भभक उस शूल को उठाया ॥१२॥

तच्छूलं परमक्रुद्धो मध्ये जग्राह वीर्यवान् ।
अनेकैः समरे शूरै राक्षसैः परिवारितः ॥ १३ ॥

परम क्रोध में भर बलवान रावण ने उस शूल को बीच में पकड़ा। उस समय समरभूमि में रावण के पास बहुत से शूरवीर राक्षस आ कर इकट्ठे हो गये ॥ १३ ॥

समुद्यम्य महाकायो ननाद युधि भैरवम् ।
संरक्तनयनो रोषात्स्वसैन्यमभिहर्षयन् ॥ १४ ॥

महाकाय रावण क्रोध में भर और लाल लाल नेत्र कर उस शूल को उठा समरभूमि में बड़े ज़ोर से गरजा, जिससे उसकी सेना बहुत प्रसन्न हुई ॥ १४ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिशश्च प्रदिशस्तथा ।
प्राकम्पयत्तदा शब्दो राक्षसेन्द्रस्य दारुणः ॥ १५ ॥

राक्षसेन्द्र रावण के उस भयङ्कर सिंहनाद से पृथिवी, आकाश, दिशाएँ और विदिशाएँ काँप उठीं ॥ १५ ॥

अतिनादस्य नादेन तेन तस्य दुरात्मनः ।
सर्वभूतानि वित्रेसुः सागरश्च प्रचुक्षुभे ॥ १६ ॥

अति गर्जनशील दुरात्मा रावण के उस भयङ्कर गर्जन से समस्त जीवधारी डर गये और सागर भी खलबला उठा ॥ १६ ॥

स गृहीत्वा महावीर्यः शूलं तद्रावणो महत् ।
विनद्य सुमहानादं रामं परुषमब्रवीत् ॥ १७ ॥

महाबलवान् रावण उस विशाल शूल को ले और बड़े ज़ोर से गर्ज कर श्रीरामचन्द्र जी से कठोर वचन कहने लगा ॥ १७ ॥

शूलोऽयं वज्रसारस्ते राम रोषान्मयोद्यतः ।
तव भ्रातृसहायस्य सद्यः प्राणान्हरिष्यति १८ ॥

हे राम ! देख, यह मेरा वज्र के समान कठोर शूल है । क्रोध में भर मैं इसे तेरे ऊपर चलाता हूँ । यह शूल भ्राता सहित तेरे प्राणों को हरण करेगा ॥ १८ ॥

रक्षसामद्य शूराणां निहतानां चमूमुखे ।
त्वां निहत्य रणश्लाघिन्करोमि तरसा [1]समम् ॥ १९ ॥

युद्ध में वाहवाही चाहने वाले हे राम ! आज तक युद्ध में जितने शूर राक्षस तेरे हाथ से मारे गये हैं, आज तुझे मार कर मैं तुझे उन्हींके समान कर दूँगा ॥ १९ ॥

तिष्ठेदानीं निहन्मि त्वामेष शूलेन राघव ।
एवमुक्त्वा स चिक्षेप तच्छूलं राक्षसाधिपः ॥ २० ॥

हे राम ! खड़ा रह अब मैं तुझे इस शूल से मारता हूँ । यह कह कर रावण ने वह शूल छोड़ा ॥ २० ॥

---

१ समं—सदृशं । (शि०)

तद्रावण करान्मुक्तं विद्युज्ज्वालासमाकुलम् ।
अष्टघण्टं महानादं वियद्‌गतमशोभत ॥ २१ ॥

रावण के हाथ से छूटा हुआ वह शूल आठ घंटों सहित घनघनाता हुआ आकाश में बिजली की तरह शोभित होने लगा ॥ २१ ॥

तच्छूलं राघवो दृष्ट्वा ज्वलन्तं घोरदर्शनम् ।
ससर्ज विशिखान्रामश्चापमायम्य वीर्यवान् ॥ २२ ॥

उस ज्वलन्त और भयङ्कर शूल को देख महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर रख बड़े पैने पैने बाण छोड़े ॥ २२ ॥

आपतन्तं शरौघेण वारयामास राघवः ।
उत्पतन्तं युगान्ताग्निं जलौघैरिव वासवः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस शूल को बाण चला कर, उसी प्रकार रोकना चाहा, जिस प्रकार इन्द्र जलवर्षा कर धधकती हुई प्रलय की आग को बुझाते हैं ॥ २३ ॥

निर्ददाह स तान्बाणान्रामकार्मुकनिःसृतान् ।
रावणस्य महाशूलः पतङ्गानिव पावकः ॥ २४ ॥

किन्तु रावण के उस विशाल शूल ने श्रीरामचन्द्र जी के चलाये हुए बाणों को उसी तरह जला कर भस्म कर डाला, जिस प्रकार आग पतङ्गों को भस्म कर डालती है ॥ २४ ॥

तान्दृष्ट्वा भस्मसाद्भूताञ्शूलसंस्पर्शचूर्णितान् ।
सायकानन्तरिक्षस्थान्राघवः क्रोधमाहरत् ॥ २५ ॥

यह देख कर कि, मेरे चलाये और आकाश में गये हुए समस्त बाण उस शूल से टकरा कर टुकड़े टुकड़े हो गये, श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ २५ ॥

स तां मातलिनाऽऽनीतां शक्तिं वासवनिर्मिताम् ।
जग्राह परमक्रुद्धो राघवो रघुनन्दनः ॥ २६ ॥

तब तो रघुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो इन्द्र की बनाई और मातलि की लाई हुई शक्ति (बर्छी) उठायी ॥ २६ ॥

सा तोलिता बलवता शक्तिर्घण्टाकृतस्वना ।
नभः प्रज्वालयामास युगान्तोल्केव सप्रभा ॥ २७ ॥

जब बलवान श्रीरामचन्द्र जी ने उसे हाथ में ले आज़माया, तब उसमें लगी हुई घंटियाँ बड़े ज़ोर से बजीं और उससे प्रलयकालीन उल्का के प्रकाश की तरह आकाश में उजियाला हो गया । अर्थात् शक्ति में इतनी चमक थी ॥ २७ ॥

सा क्षिप्ता राक्षसेन्द्रस्य तस्मिञ्शूले पपात ह ।
भिन्नः शक्त्या महाञ्शूलो निपपात हतद्युतिः ॥ २८ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने उसे चलाया; तब वह उस शूल पर गिरी । शक्ति के प्रहार से रावण का विशाल शूल टूट कर नीचे गिर पड़ा और उसकी चमक भी नष्ट हो गयी ॥ २८ ॥

निर्बिभेद ततो बाणैर्हयानस्य महाजवान् ।
रामस्तीक्ष्णैर्महावेगैर्वज्रकल्पैः शितैः शरैः ॥ २९ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने बड़ी तेज़ चाल चलने वाले रावण के रथ के घोड़ों को अपने तीक्ष्ण महावेगवान् और वज्र के समान पैने तीरों से वेधा ॥ २९ ॥

निर्बिभेदोरसि ततो रावणं निशितैः शरैः ।
राघवः परमायत्तो ललाटे पत्रिभिस्त्रिभिः ॥ ३० ॥

फिर पैने तीर चला रावण की छाती विदीर्ण की। तदनन्तर बड़े ज़ोर से तीन बाण उसके ललाट में मारे ॥ ३० ॥

स शरैर्भिन्नसर्वाङ्गो गात्रप्रस्रुतशोणितः ।
राक्षसेन्द्रः समूहस्थः[1] फुल्लाशोक इवाबभौ ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के तीरों की मार से रावण का सारा शरीर घायल हो गया और उसके समस्त अङ्गों से रुधिर बहने लगा। युद्धभूमि में स्थित राक्षसेन्द्र रावण उस समय पुष्पित अशोक वृक्ष की तरह देख पड़ने लगा ॥ ३१ ॥

स रामबाणैरभिविद्धगात्रो
निशाचरेन्द्रः क्षतजार्द्रगात्रः ।
जगाम खेदं च [2]समाजमध्ये
क्रोधं च चक्रे सुभृशं तदानीम् ॥ ३२ ॥

इति चतुरुत्तरशततमः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से विद्ध हो राक्षसेन्द्र रावण खून से नहा उठा। उस समय वह उस लड़ाई से बहुत दुःखी हुआ और (अपनी उस दशा को देख) वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ ३२ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौचौथा सर्ग पूरा हुआ।

—*—

१ समूहस्थः—युद्धस्थः। (गो०) २ समाजे—युद्धे। (गो०)

पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

—*—

स तेन तु तथा क्रोधात्काकुत्स्थेनार्दितो रणे।
रावणः समरश्लाघी महाक्रोधमुपागमत् ॥ १ ॥

इस युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी द्वारा चोट खा कर, समरश्लाघी रावण बड़ा कुपित हुआ ॥ १ ॥

स दीप्तनयनो रोषाच्चापमायम्य वीर्यवान्।
अभ्यर्दयत्सुसंक्रुद्धो राघवं परमाहवे ॥ २ ॥

बलवान रावण के दोनों नेत्र क्रोध के मारे धधक उठे और वह धनुष ले उस महासमर में क्रोध में भरा हुआ श्रीरामचन्द्र पर दौड़ा ॥ २ ॥

बाणधारासहस्रैस्तैः सतोयद इवाम्बरात्।
राघवं रावणो बाणैस्तटाकमिव पूरयत् ॥ ३ ॥

मेघ जिस तरह आकाश से जलधारा वर्षा कर तालाबों को भर देते हैं, उसी तरह हज़ारों बाणों की वर्षा से रावण ने श्रीरामचन्द्र जी के शरीर को (बाणों से) पूर्ण कर दिया ॥ ३ ॥

पूरितः शरजालेन धनुर्मुक्तेन संयुगे।
महागिरिरिवाकम्प्यः काकुत्स्थो न प्रकम्पते ॥ ४ ॥

वीर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी रण में रावण के धनुष से छूटे हुए बाणों से पूरित होकर भी, महागिरि की तरह अचल अटल बने रहे ॥ ४ ॥

स शरैः शरजालानि वारयन्समरे स्थितः ।
गभस्तीनिव सूर्यस्य प्रतिजग्राह वीर्यवान् ॥ ५ ॥

बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ने समरभूमि में खड़े, रावण के चलाये बहुत से बाणों को तो अपने बाणों से रोका और कुछ बाणों को वे वैसे ही सहन कर लेते थे; जैसे सूर्य की किरणें लोग सहन कर लेते हैं ॥ ५ ॥

ततः शरसहस्राणि क्षिप्रहस्तो निशाचरः ।
निजघानोरसि क्रुद्धो राघवस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

फुर्तीले रावण ने क्रोध में भर महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी की छाती में एक हज़ार बाण मारे ॥ ६ ॥

स शोणितसमादिग्धः समरे लक्ष्मणाग्रजः ।
दृष्टः फुल्ल इवारण्ये सुमहान्किंशुकद्रुमः ॥ ७ ॥

उस समय उस लड़ाई में लक्ष्मण के बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी रक्त से नहाये हुए ऐसे जान पड़े; मानों वन में फूला हुआ टेसू का एक बड़ा वृक्ष खड़ा हो ॥ ७ ॥

शराभिघातसंरब्धः सोऽपि जग्राह सायकान् ।
काकुत्स्थः सुमहातेजा युगान्तादित्यतेजसः ॥ ८ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने भी रावण के बाणों की चोट से क्रोध में भर कर, प्रलयकालीन सूर्य की तरह चमचमाते बाण निकाले ॥ ८ ॥

ततोऽन्योन्यं सुसंरब्धावुभौ तौ रामरावणौ ।
शरान्धकारे समरे नोपालक्षयतां तदा ॥ ९ ॥

दोनों वीर श्रीराम और रावण क्रोध में भर, परस्पर एक दूसरे के ऊपर इस प्रकार की बाणवर्षा करने लगे कि, उन बाणों के छा जाने से समरभूमि में व्याप्त अन्धकार में, वे दोनों एक दूसरे को नहीं देख पाते थे ॥ ९ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टो रामो दशरथात्मजः ।
उवाच रावणं वीरः प्रहस्य परुषं वचः ॥ १० ॥

दशरथनन्दन शूरवीर श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर अट्टहास कर रावण से कठोर वचन कहे ॥ १० ॥

मम भार्या जनस्थानादज्ञानाद्राक्षसाधम ।
हृता ते विवशा यस्मात्तस्मात्त्वं नासि वीर्यवान् ॥ ११ ॥

अरे राक्षसाधम ! हम लोगों के अनजाने विवशा स्त्री को तू जनस्थान से हर लाया । अतएव तू शूरवीर नहीं है ॥ ११ ॥

मया विरहितां दीनां वर्तमानां महावने ।
वैदेहीं प्रसभं हृत्वा शूरोऽहमिति मन्यसे ॥ १२ ॥

जंगल में अकेली और दीन बेचारी वैदेही को बरजोरी हर ला कर तू अपने को बहादुर लगाता है ॥ १२ ॥

स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराभिमर्शक ।
कृत्वा कापुरुषं कर्म शूरोऽहमिति मन्यसे ॥ १३ ॥

अरे पराई स्त्रियों पर हाथ डालने वाले ! अरे अनाथा स्त्रियों के सामने अपनी बहादुरी दिखाने वाले ! कापुरुषों का काम कर के भी तू अपने को बहादुर मानता है ॥ १३ ॥

भिन्नमर्याद निर्लज्ज चारित्रेष्वनवस्थित ।
दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्यसे ॥ १४ ॥

अरे मर्यादा तोड़ने वाले ! अरे निर्लज्ज ! अरे दुश्चरित्र ! शेखी में आ तू अपनी मौत अपने हाथ से ला कर भी तू अपने को शूरवीर लगाता है ! ॥ १४ ॥

शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च ।
श्लाघनीयं यशस्यं च कृतं कर्म महत्त्वया ॥ १५ ॥

वाह ! शूरश्रेष्ठ बलवान् और कुबेर का छोटा भाई होकर भी, तैंने यह काम तो सराहनोय और बड़ा भारी किया ! इससे तेरी यशपताका खूब फहरायगी !! (यह व्यङ्ग्य है) ॥ १५ ॥

[1]उत्सेकेनाभिपन्नस्य गर्हितस्याहितस्य च ।
कर्मणः प्राप्नुहीदानीं तस्याद्य सुमहत्फलम् ॥ १६ ॥

अभिमान में चूर होकर तूने जो निन्दित और अहितकर कर्म किया है, अब उसका फल भी तुझको बहुत बड़ा मिलेगा ॥ १६ ॥

शूरोऽहमिति चात्मानमवगच्छसि दुर्मते ।
नैव लज्जास्ति ते सीतां चोरवद्व्यपकर्षतः ॥ १७ ॥

अरे दुर्मते ! तू चोर की तरह सीता को हरण करके अपने को शूर समझ रहा है, इससे क्या तुझको लाज नहीं आती ? ॥ १७ ॥

यदि मत्सन्निधौ सीता धर्षिता स्यात्त्वया बलात् ।
भ्रातरं तु खरं पश्येस्तदा मत्सायकैर्हतः ॥ १८ ॥

यदि मेरी उपस्थिति में बरजोरी सीता हरता तो तू कभी का मेरे बाणों से मारा जाकर अपने भाई खर के पास पहुँच गया होता ॥ १८ ॥

---

1 उत्सेकेन—गर्वेण । (गो०)

दिष्ट्याऽसि मम दुष्टात्मंश्चक्षुर्विषयमागतः ।
अद्य त्वां सायकैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ॥ १९ ॥

आज सौभाग्यवश तू मुझे दिखलाई पड़ा है, सो आज ही मैं पैने पैने बाणों से मार, तुझे यमालय भेजे देता हूँ ॥ १९ ॥

अद्य ते मच्छरैश्छिन्नं शिरो ज्वलितकुण्डलम् ।
क्रव्यादा व्यपकर्षन्तु विकीर्णं रणपांसुषु ॥ २० ॥

आज कुण्डलों से झलमलाता तेरा सिर मेरे बाणों से कट कर, समरभूमि की धूल में लोटेगा और मांसाहारी जीव उसको चीथेंगे ॥ २० ॥

निपत्योरसि गृध्रास्ते क्षितौ क्षिप्तस्य रावण ।
पिबन्तु रुधिरं तर्षाच्छरशल्यान्तरोत्थितम् ॥ २१

जब मैं तेरी छाती में बाण मार कर तुझे पृथिवी पर गिरा दूँगा, तब तेरी छाती के ऊपर गीध बैठ कर चुभे हुए बाणों के घावों से बहते हुए रक्त को पीवेंगे ॥ २१ ॥

अद्य मद्बाणभिन्नस्य गतासोः पतितस्य ते ।
कर्षन्त्वान्त्राणि पतगा गरुत्मन्त इवोरगान् ॥ २२ ॥

आज मेरे बाणों की चोट से मर कर जब तू ज़मीन पर गिरेगा, तब मांसभक्षी गीध आदि पक्षी तेरी अतड़ियों को वैसे ही झकझोर झकझोर खींचेंगे, जैसे गरुड़ सर्पों को झकझोर झकझोर कर खींचते हैं ॥ २२ ॥

इत्येवं संवदन्वीरो रामः शत्रुनिबर्हणः ।
राक्षसेन्द्रं समीपस्थं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ २३ ॥

इस प्रकार शत्रुनाशक, शूरवीर श्रीरामचन्द्र जी पास खड़े रावण से (कठोरवचन) कह कर, उसके ऊपर बाणों की वर्षा करने लगे ॥ २३ ॥

बभूव द्विगुणं वीर्यं बलं हर्षश्च संयुगे ।
रामस्यास्त्रबलं चैव शत्रोर्निधनकाङ्क्षिणः ॥ २४ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में रावण के वध करने की अभिलाषा की, तब उनके शरीर का बल, अस्त्रबल, पराक्रम और मन की प्रसन्नता दूनी हो गयी ॥ २४ ॥

[1]प्रादुर्बभूवुरस्त्राणि सर्वाणि विदितात्मनः ।
प्रहर्षाच्च महातेजाः शीघ्रहस्ततरोऽभवत् ॥ २५ ॥

उस समय महातेजा एवं प्रख्यात श्रीरामचन्द्र जी के सामने समस्त अस्त्रों के अधिष्ठाता देवता प्रकट हुए। इस पर श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त हर्षित हुए और उनमें और भी अधिक फुर्ती आ गयी ॥ २५ ॥

शुभान्येतानि चिह्नानि विज्ञायात्मगतानि सः ।
भूय एवार्दयद्रामो रावणं राक्षसान्तकृत् ॥ २६ ॥

तब राक्षसों के मारने वाले श्रीरघुनाथ जी अपने में इन शुभ लक्षणों को देख कर, फिर रावण को बाणों से पीड़ित करने लगे ॥ २६ ॥

हरीणां चाश्मनिकरैः शरवर्षैश्च राघवात् ।
हन्यमानो दशग्रीवो विघूर्णहृदयोऽभवत् ॥ २७ ॥

---

१ अस्त्राणिप्रादुर्बभूवुः—अस्त्रदेवताः सन्निहिता अभूवनाप्रहर्षादस्त्रदेवता सन्निधिजात् । (रा०)

फिर वानरों की पत्थरवर्षा तथा श्रीरामचन्द्र जी की बाणवर्षा के प्रहार से रावण बड़ा घबड़ाया ॥ २७ ॥

यदा च शस्त्रं नारेभे न व्यकर्षच्छरासनम् ।
नास्य[1] प्रत्यकरोद्वीर्यं विक्लवेनान्तरात्मना ॥ २८ ॥

उस समय मारे घबड़ाहट के न तो वह कोई शस्त्र ही चला सकता था और न धनुष तान कर बाण ही छोड़ सकता था। यह देख वीर श्रीरामचन्द्र जी ने उसके वध के लिये अपना पराक्रम प्रकट न किया अर्थात् उस पर अस्त्र न छोड़े ॥ २८ ॥

क्षिप्ताश्चापि शरास्तेन शस्त्राणि विविधानि च ।
[2]न रणार्थाय वर्तन्ते मृत्युकालेऽभिवर्ततः ॥ २९ ॥

जो बाण और विविध प्रकार के शस्त्र उसने चलाये, उनका भी कुछ फल न हुआ अर्थात् उनसे कोई न तो घायल हुआ न कोई मरा। क्योंकि रावण का अन्तसमय अब उपस्थित था ॥ २९ ॥

सूतस्तु रथनेतास्य तदवस्थं समीक्ष्य तम् ।
शनैर्युद्धादसम्भ्रान्तो रथं तस्यापवाहयत् ॥ ३० ॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥

तब रावण के रथ को हांकने वाला सारथी, उसकी यह दशा देख, बड़ी सावधानी से धीरे धीरे रथ हांक कर, समरभूमि के बाहिर ले गया ॥ ३० ॥

युद्धकाण्ड का एकसौपाचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

१ प्रत्यकरोद्वीर्यं—रामो संहाराय न तिष्ठदितिभावः । (रा०) २ न रणार्थाय वर्तन्ते—छेदनभेदनादिरणप्रयोजनं कर्तुं यदा नाशक्नुवन् । (गो०)

षडुत्तरशततमः सर्गः

—※—

स तु [1]मोहात्सुसंक्रुद्धः कृतान्तबलचोदितः ।
क्रोधसंरक्तनयनो रावणः सूतमब्रवीत् ॥ १ ॥

मृत्यु से प्रेरित रावण अविवेकता के कारण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। क्रोध के मारे नेत्र लाल कर, वह सारथी से बोला ॥ १ ॥

हीनवीर्यमिवाशक्तं पौरुषेण विवर्जितम् ।
भीरुं लघुमिवासत्त्वं विहीनमिव तेजसा ॥ २ ॥

क्या तूने मुझे वीर्यहीन जैसा, अशक्त जैसा, पुरुषार्थहीन जैसा, डरपोंक जैसा, निर्बल जैसा, तेजहीन जैसा समझा? ॥ २ ॥

विमुक्तमिव मायाभिरस्त्रैरिव बहिष्कृतम् ।
मामवज्ञाय दुर्बुद्धे स्वया बुद्ध्या विचेष्टसे ॥ ३ ॥

क्या तूने मुझे राक्षसी माया से हीन जैसा और अस्त्रों से बहिष्कृत जैसा समझा? अरे दुर्बुद्धे! तू मेरा अनादर कर, मनमाना काम करता है अथवा अपनी बुद्धि से काम लेता है ॥ ३ ॥

किमर्थं मामवज्ञाय मच्छन्दमनवेक्ष्य च ।
त्वया शत्रोः समक्षं मे रथोऽयमपवाहितः ॥ ४ ॥

मेरा अनादर कर और मेरा अभिप्राय जाने विना ही शत्रु के सामने से मेरा रथ तू क्यों हटा लाया? ॥ ४ ॥

---

1 मोहात्—अविवेकात् । (गो०)

त्वयाऽद्य हि ममानार्य चिरकालसमार्जितम् ।
यशो वीर्यं च तेजश्च प्रत्ययश्च विनाशितः ॥ ५ ॥

अरे नीच ! तूने आज मेरा बहुत दिनों का कमाया हुआ यश, पराक्रम, तेज और विश्वास (लोगों का विश्वास कि, रावण रण में कभी पीठ नहीं दिखाता) सभी नष्ट कर डाले ॥ ५ ॥

शत्रोः प्रख्यातवीर्यस्य रञ्जनीयस्य विक्रमैः ।
पश्यतो युद्धलुब्धोऽहं कृतः कापुरुषस्त्वया ॥ ६ ॥

क्योंकि पराक्रम से प्रसन्न करने योग्य एक प्रसिद्ध पराक्रमी शत्रु के सामने से, मुझे, जो सदा युद्ध की अभिलाषा ही किये फिरता था, हटा कर, कायर बना डाला ॥ ६ ॥

यस्त्वं रथमिमं मोहान्न चोद्वहसि दुर्मते ।
सत्योऽयं प्रतितर्को मे परेण त्वमुपस्कृतः ॥ ७ ॥

अरे दुर्मते ! (जब तू मोहवश संग्राम से मुझे यहाँ ले आया और) अब (मेरे कहने पर भी) तू मेरा रथ वहाँ नहीं ले चल रहा, तब मुझे अपना यह अनुमान कि, तूने शत्रु से घूँस खायी है; ठीक ही जान पड़ता है ॥ ७ ॥

न हि तद्विद्यते कर्म सुहृदो हितकाङ्क्षिणः ।
रिपूणां सदृशं चैतन्न त्वयैतत्स्वनुष्ठितम् ॥ ८ ॥

जैसा वर्ताव तूने आज मेरे साथ किया है; वैसा कोई हितैषी सुहृद कभी नहीं करता । यह वर्ताव तो शत्रुओं जैसा है । तुझको मेरे साथ ऐसा सलूक करना नहीं चाहिये था ॥ ८ ॥

निवर्तय रथं शीघ्रं यावन्नोपैति मे रिपुः ।
यदि वाऽध्युषितो[1] वाऽसि स्मर्यन्ते यदि वा गुणाः[2] ॥९॥

यदि तू मेरा (सखा) सुहृद हो और तुझे अपने ऊपर किये हुए मेरे अनुग्रहों (पुरस्कारादि प्रदान) का स्मरण हो ; तो अब मेरा रथ शीघ्र लौटा, जिससे शत्रु मेरा पीछा करता हुआ यहाँ (तक) न आ पहुँचे ॥ ९ ॥

एवं परुषमुक्तस्तु हितबुद्धिरबुद्धिना ।
अब्रवीद्रावणं सूतो हितं सानुनयं वचः ॥ १० ॥

जब इस प्रकार बुद्धिहीन रावण ने अपने हितैषी सारथि को डांटा डपटा, तब सूत ने बड़ी नम्रता के साथ ये हितकर वचन कहे ॥ १० ॥

न भीतोऽस्मि न मूढोऽस्मि नोपजप्तोऽस्मि शत्रुभिः ।
न प्रमत्तो न निःस्नेहो विस्मृता न च सत्क्रिया ॥ ११ ॥

हे महाराज ! न तो मैं भयभीत हुआ हूँ, न मेरी बुद्धि ही मारी गयी है, न शत्रुओं से मैंने घूंस ही खायी है, न मैं पागल हूँ, न मैं स्नेहशून्य हूँ और न मैं आपके सत्कारों ही को भूला हूँ ११ ॥

मया तु हितकामेन यशश्च परिरक्षता ।
स्नेहप्रस्कन्नमनसा प्रियमित्यप्रियं कृतम् ॥ १२ ॥

मैंने तो आपके हित के लिये और आपके यश की रक्षा के लिये स्नेहयुक्त मन से अच्छा ही काम किया है, किन्तु (यह मेरा दुर्भाग्य

---

१ अध्युषितः—सहवासी सुहृदिति । (गो०) २ गुणाः—सत्काराः । (गो०)

है कि, इस अच्छे काम को भी) आप इसे बुरा समझते हैं ॥ १२ ॥

नास्मिन्नर्थे महाराज त्वं मां प्रियहिते रतम् ।
कश्चिल्लघुरिवानार्यो दोषतो गन्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

हे महाराज! इसके लिये आप एक नीच और अधम जन की तरह, आपके प्रिय एवं हित-कार्य-साधन में तत्पर मुझ पर दोष मत लगाइये ॥ १३ ॥

श्रूयतां त्वभिधास्यामि यन्निमित्तं मया रथः ।
नदीवेग [1]इवाभोगे संयुगे विनिवर्तितः ॥ १४ ॥

ऊँची जगह से गिरने वाली नदी के वेग की तरह आपके रथ को रणभूमि से यहाँ ले आने का कारण मैं बतलाता हूँ। आप सुनिये ॥ १४ ॥

श्रमं तवावगच्छामि महता रणकर्मणा ।
न हि ते वीर [2]सौमुख्यं प्रहर्षं वोपधारये ॥ १५ ॥

रथोद्वहनखिन्नाश्च त इमे रथवाजिनः ।
दीना घर्मपरिश्रान्ता गावो वर्षहता इव ॥ १६ ॥

हे वीर! जब मैंने देखा कि, घोर युद्ध करते करते आप थक गये हैं, मुख के ऊपर प्रसन्नता लाने वाला हर्ष आपके भीतर विदा हो चुका है और रथ को खींचते खींचते घोड़े भी थक कर वैसे ही सुस्त पड़ गये हैं और पसीने से सराबोर हो रहे हैं; जैसे वर्षा के मारे बैल; तब मैंने यहाँ चला आना ही ठीक समझा ॥१५॥१६॥

---

१ आभोगे—उन्नतप्रदेशे। (गो०) २ सौमुख्यं—सुमुखत्वं। (गो०)

निमित्तानि च भूयिष्ठं यानि प्रादुर्भवन्ति नः ।
तेषु तेष्वभिपन्नेषु लक्षयाम्यप्रदक्षिणम् ॥ १७ ॥

फिर, रणक्षेत्र में जैसी घटनाएँ घट रही थीं, वे सब अमङ्गल-सूचक असगुन थे ॥ १७ ॥

देशकालौ च विज्ञेयौ [1]लक्षणानीङ्गितानि[2] च ।
[3]दैन्यं खेदश्च हर्षश्च रथिनश्च बलाबलम् ॥ १८ ॥

स्थलनिम्नानि भूमेश्च समानि विषमाणि च ।
युद्धकालश्च विज्ञेयः परस्यान्तरदर्शनम् ॥ १९ ॥

[4]उपयानापयाने[5] च स्थानं प्रत्यपसर्पणम् ।
सर्वमेतद्रथस्थेन ज्ञेयं [6]रथकुटुम्बिना ॥ २० ॥

(यदि आप कहें मुझे सगुन असगुन से क्या काम था ? इसके उत्तर में सारथि ने कहा ।)

युद्धकाल में सारथि को रथ में बैठ कर लड़ने वाले के सम्बन्ध में इन सब बातों पर ध्यान रखना पड़ता है । स्थान और समय, सगुन असगुन ; लड़ने वाले के मुख पर झलकने वाले हर्ष विषादादि ; लड़ने वाले का अनुत्साह (और उत्साह), विषाद हर्ष और लड़ने वाले का बलाबल, रणभूमि की निचाई, वहाँ की भूमि की समानता असमानता (हमवार और ऊबड़खाबड़पन) युद्ध का (उपयुक्त अनुपयुक्त) समय, शत्रु की निर्बलता, शत्रु के समीप गमन,

---

१ लक्षणानि—शुभाशुभनिमित्तानि । (गो०) २ इङ्गितानि—मुखप्रसाद-वैगुण्यादीनि । (गो०) ३ दैन्यं—अनुत्साहः । (गो०) ४ उपयानं—समीप गमनं । (गो०) ५ अपयानं—पार्श्वतोगमनं । (गो०) ६ रथकुटुम्बिना—सारथिना । (गो०)

पार्श्वगमन, स्थिर होकर स्थित होना (कहीं पर डट कर खड़ा होना), शत्रु के सामने से शत्रु के पीछे भागना। (इन सब बातों को रथ पर बैठे हुए सारथि को युद्ध काल में देखना पड़ता है क्योंकि लड़ने वाले को इन बातों का ध्यान नहीं रहता। अतः सारथि को इन पर दृष्टि रखनी पड़ती है।) ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

तव विश्रमहेतोश्च तथैषां रथवाजिनाम्।
रौद्रं[1] वर्जयता[2] खेदं क्षमं[3] कृतमिदं मया ॥ २१ ॥

आपकी तथा घोड़ों की दुःसह थकावट मिटाने के लिये रथ का वहाँ से हटाना उचित समझा ॥ २१ ॥

न मया स्वेच्छया वीर रथोऽयमपवाहितः।
भर्तृस्नेहपरीतेन मयेदं यत्कृतं विभो ॥ २२ ॥

हे वीर! मैं अपने मन से समरभूमि से रथ को नहीं लाया। मैंने तो यह काम अपने मालिक के स्नेहवश हो कर ही किया है ॥ २२ ॥

आज्ञापय यथातत्त्वं वक्ष्यस्यरिनिषूदन।
तत्करिष्याम्यहं वीर गतानृण्येन चेतसा ॥ २३ ॥

हे वीर! हे अरिनाशन! अब आप जो आज्ञा देंगे मैं ठीक ठीक तदनुसार ही करूँगा; जिससे मैं आपके ऋण से उद्धार हो जाऊँ ॥ २३ ॥

सन्तुष्टस्तेन वाक्येन रावणस्तस्य सारथेः।
प्रशस्यैनं बहुविधं युद्धलुब्धोऽब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥

---

१ रौद्रं—दुस्सहं। (गो०) २ क्षमं—युक्तं। (गो०) ३ वर्जयता—अपनयता। (गो०)

सारथि के इस उत्तर (कैफ़ियत) से सन्तुष्ट हो कर, रावण ने उसकी प्रशंसा की और युद्ध की वासना से उससे यह बोला ॥ २४ ॥

रथं शीघ्रमिमं सूत राघवाभिमुखं कुरु ।
नाहत्वा समरे शत्रून्निवर्तिष्यति रावणः ॥ २५ ॥

हे सूत! तुम मेरा यह रथ शीघ्र राम के सामने ले चल; क्योंकि शत्रु को मारे बिना रावण कभी समरभूमि से नहीं लौटेगा ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा ततस्तुष्टो रावणो राक्षसेश्वरः ।
ददौ तस्मै शुभं ह्येकं हस्ताभरणमुत्तमम् ।
श्रुत्वा रावणवाक्यं तु सारथिः संन्यवर्तत ॥ २६ ॥

यह कह कर राक्षसेश्वर रावण सारथि पर प्रसन्न हुआ और एक बढ़िया हाथ में पहिनने का आभूषण दिया। रावण की आज्ञा मान सारथि ने भी रथ लौटाया ॥ २६ ॥

ततो द्रुतं रावणवाक्यचोदितः
प्रचोदयामास हयान्स सारथिः ।
स राक्षसेन्द्रस्य ततो महारथः
क्षणेन रामस्य रणाग्रतोऽभवत् ॥ २७ ॥

इति षडुत्तरशततमः सर्गः ॥

रावण के कथनानुसार उस सारथि ने बड़ी तेज़ी से घोड़ों को हाँका। अतः क्षण भर में रावण का रथ समरभूमि में खड़े हुए श्रीराम जी के सामने पहुँच गया ॥ २७ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

सप्तोत्तरशततमः सर्गः

—※—

(आदित्यहृदयम्)

ततो युद्धपरिश्रान्तं समरे चिन्तया स्थितम् ।
रावणं चाग्रतो दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम् ॥ १ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी को युद्ध में श्रान्त और *चिन्तित तथा रावण को युद्ध करने के लिये सामने खड़ा देख, ॥ १ ॥

दैवतैश्च समागम्य द्रष्टुमभ्यागतो रणम् ।
उपागम्याब्रवीद्राममगस्त्यो भगवानृषिः ॥ २ ॥

देवताओं सहित उस युद्ध को देखने के लिये आये हुए ऋषि-श्रेष्ठ भगवान् अगस्त्य जी, श्रीरामचन्द्र जी के निकट जा कर बोले ॥ २ ॥

रामराम महाबाहो शृणु गुह्यं [1]सनातनम् ।
येन सर्वानरीन्वत्स समरे विजयिष्यसि ॥ ३ ॥

हे वत्स ! हे महाबाहो ! हे राम ! जिस स्तोत्र के पाठ करने से तुम युद्ध में समस्त अपने शत्रुओं को जीत सको उस वेदवत्, नित्य और गोपनीय आदित्यहृदय स्तोत्र को (मैं बतलाता हूँ) तुम सुनो ॥ ३ ॥

---

१ सनातनं—वेदवन्नित्यं । (गो०)

* (कथं रावणं परत्वप्रकटनं विना जेष्यामि इति चिन्तया स्थितं) चिन्ता इस बात की कि, मैं अपना परत्व (ईश्वरत्व) प्रगट किये बिना किस प्रकार रावण का वध करूँ ।

आदित्यहृदयं पुण्यं सर्वशत्रुविनाशनम् ।
जयावहं जपेन्नित्यमक्षय्यं[1] [2]परमं शिवम् ॥ ४ ॥

आदित्यहृदय स्तोत्र वेद की तरह नित्य (सदा रहने वाला) है, इसका पाठ करने से यह पाठ करने वाले के पुण्य को बढ़ाने वाला है, समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला है, विजयप्रद है, नित्य पाठ करने से यह पाठ करने वाले को अक्षय्य फल देने वाला और परम कल्याण करने वाला है अथवा परम पवित्र है ॥ ४ ॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
चिन्ताशोकप्रशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥ ५ ॥

यह सर्वमङ्गलों का भी मङ्गल करने वाला और समस्त पापों का नाश करने वाला है । यह चिन्ता और शोक अथवा आधिव्याधि को मिटाने वाला और दीर्घायु करने वाला है अर्थात् निर्दिष्ट आयु को बढ़ाने वाला है और पाठ करने योग्य स्तोत्रों में यह सर्वश्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

[नोट—इसके आगे अगस्त्य जी स्तोतव्य देवता का रूप बतलाते हैं ।]

रश्मिमन्तं समुद्यन्तं देवासुरनमस्कृतम् ।
पूजयस्व विवस्वन्तं भास्करं भुवनेश्वरम् ॥ ६ ॥

तुम सुवर्ण की तरह श्रेष्ठ किरणों वाले, पूर्ण बिम्ब से सदा उदय होने वाले (चन्द्रमा की तरह घटने बढ़ने वाले नहीं), सुर असुर से पूज्य, अपने प्रकाश से समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले, (विवस्वन्तं) भुवनेश्वर (वर्षा और गर्मी में समस्त भुवनों

1 अक्षय्यं—अक्षय्यफलकं । (गो०) 2 परमंशिवं—परमपावनं । (गो०)

के नियन्ता) भास्कर अर्थात् सूर्य भगवान् को तुम आदित्यहृदय स्तोत्र के पाठ से प्रसन्न करो ॥ ६ ॥

[नोट—देवतान्तर के पूजन का अनुरोध करने का कारण बतलाते हुए अगस्त्य जी कहते हैं]

सर्वदेवात्मको ह्येष तेजस्वी रश्मिभावनः ।
एष देवासुरगणाँल्लोकान्पाति गभस्तिभिः ॥ ७ ॥

क्योंकि सूर्य भगवान् समस्त देवताओं के आत्मा रूप ("सूर्य आत्मा जगतस्तुषश्च" इति श्रुतेः) बड़े तेजस्वी हैं और अपनी किरणों से रक्षा करते हैं। ये देवासुर (स्वभाव के लोगों) की तथा लोकों की अपनी किरणों द्वारा रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

[नोट—अगस्त्य जी अगले श्लोक में सूर्य का सर्वदेवात्मकत्व अर्थात् समस्त देवताओं के आत्मरूप होने का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं ।]

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः ।
महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपांपतिः ॥ ८ ॥

ये ही ब्रह्मा हैं, ये ही विष्णु हैं, ये ही शिव हैं, ये ही स्कन्द हैं, ये ही प्रजापति हैं, ये ही इन्द्र हैं, ये ही कुवेर हैं, ये ही मृत्यु हैं, ये ही यम हैं, ये ही चन्द्रमा हैं और ये ही वरुण हैं ॥ ८ ॥

पितरो वसवः साध्या ह्यश्विनौ मरुतो मनुः ।
वायुर्वह्निः प्रजाप्राण ऋतुकर्ता प्रभाकरः ॥ ९ ॥

ये ही पितर, ये ही वसु, ये ही साध्य, ये ही अश्विनीकुमार, ये ही मरुत, ये ही मनु, ये ही वायु, ये ही अग्नि और ये ही शरीरस्थ प्राणवायु हैं । ये सूर्य ही ऋतुओं के उपादान कारण होने से ऋतुकर्त्ता भी हैं ॥ ९ ॥

[नोट—इसके आगे आदित्यहृदय आरम्भ होता है]

सूर्य की नामावली।

आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान्।
सुवर्णसदृशो भानुर्हिरण्यरेता दिवाकरः ॥ १० ॥

आदित्य, सविता, सूर्य, खग, पूषा, गभस्तिमान, सुवर्णसदृश, भानु, हिरण्यरेता, दिवाकर ॥ १० ॥

हरिदश्वः सहस्रार्चिः सप्तसप्तिर्मरीचिमान्।
तिमिरोन्मथनः शंभुस्त्वष्टा मार्तण्ड अंशुमान् ॥ ११ ॥

हरिदश्व, सहस्रार्चि, सप्तसप्ति, मरीचिमान्, तिमिरोन्मथन, शंभु, त्वष्टा, मार्तण्ड, अंशुमान ॥ ११ ॥

हिरण्यगर्भः शिशिरस्तपनो भास्करो रविः।
अग्निगर्भोऽदितेः पुत्रः शङ्खः शिशिरनाशनः ॥ १२ ॥

हिरण्यगर्भ, शिशिरस्तपन, भास्कर, रवि, अग्निगर्भ, अदिति-पुत्र, शङ्ख, शिशिरनाशन ॥ १२ ॥

व्योमनाथस्तमोभेदी ऋग्यजुःसामपारगः।
घनवृष्टिरपां मित्रो विन्ध्यवीथी प्लवङ्गमः ॥ १३ ॥

व्योमनाथ, तमोभेदी, ऋग-यजु-साम-पारग, घनवृष्टि, अपांमित्र, विन्ध्यवीथी, प्लवङ्गम ॥ १३ ॥

आतपी मण्डली मृत्युः पिङ्गलः सर्वतापनः।
कविर्विश्वो महातेजा रक्तः सर्वभवोद्भवः ॥ १४ ॥

आतपी, मण्डली, मृत्यु, पिङ्गल, सर्वतापन, कवि, विश्व, महा-तेजा, रक्त, सर्वभवोद्भव ॥ १४ ॥

नक्षत्रग्रहताराणामधिपो विश्वभावनः ।
तेजसामपि तेजस्वी द्वादशात्मन्नमोऽस्तु ते ॥ १५ ॥

नक्षत्रग्रहताराधिप, विश्वभावन, तेजों में सब से बढ़ कर तेजस्वी ॥

[नोट—इस नामावली के बाद सूर्य के नमस्कार का प्रकरण आरम्भ होता है]

हे द्वादशात्म ! आपको नमस्कार है ॥ १५ ॥

नमः पूर्वाय गिरये पश्चिमे गिरये नमः ।
ज्योतिर्गणानां पतये दिनाधिपतये नमः ॥ १६ ॥

हे उदयाचल और अस्ताचलवर्त्ती ! आपको प्रणाम है । हे ग्रह-नक्षत्रों के स्वामी ! और हे दिनाधिप (दिन के स्वामी) ! आपको प्रणाम है ॥ १६ ॥

जयाय जयभद्राय हर्यश्वाय नमोनमः ।
नमोनमः सहस्रांशो आदित्याय नमोनमः ॥ १७ ॥

हे जय ! हे जयभद्र ! हे हर्यश्व ! आपको प्रणाम है । हे सहस्रांश ! आपको प्रणाम है । हे आदित्य ! आपको प्रणाम है ॥ १७ ॥

नम उग्राय वीराय सारङ्गाय नमोनमः ।
नमः पद्मप्रबोधाय मार्तण्डाय नमोनमः ॥ १८ ॥

हे उग्र ! हे वीर ! हे सारङ्ग ! आपको प्रणाम है । हे पद्मप्रबोध ! हे मार्तण्ड ! आपको प्रणाम है ॥ १८ ॥

ब्रह्मेशानाच्युतेशाय सूर्यायादित्यवर्चसे ।
भास्वते सर्वभक्षाय रौद्राय वपुषे नमः ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मन्! हे ईशान! हे अच्युत! हे ईश! हे सूर्य! हे आदित्य-वर्चस! हे भास्वन! हे सर्वभक्ष! हे रौद्रवपु! आपको प्रणाम है॥ १९॥

तमोघ्नाय हिमघ्नाय शत्रुघ्नायामितात्मने।
कृतघ्नघ्नाय देवाय ज्योतिषां पतये नमः॥ २०॥

हे तमोघ्न! हे हिमघ्न! हे शत्रुघ्न! हे अमितात्मन्! हे कृतघ्न! देव! हे ज्योतिषपते! आपको प्रणाम है॥ २०॥

तप्तचामीकराभाय हरये विश्वकर्मणे।
नमस्तमोभिनिघ्नाय रुचये लोकसाक्षिणे॥ २१॥

हे तप्तचामीकराभ! हे हरे! हे विश्वकर्मन्! हे तमोभिनिघ्न! हे रुचे! हे लोकसाक्षिन्! आपको प्रणाम है॥ २१॥

[नोट—प्रणाम समाप्त कर पुनः]

नाशयत्येष वै भूतं तदेव सृजति प्रभुः।
पायत्येष तपत्येष वर्षत्येष गभस्तिभिः॥ २२॥

(हे राम!) यह प्रभु दिवाकर ही समस्त प्राणियों को उत्पन्न, पालन और नाश किया करते हैं। सूर्य भगवान ही अपनी किरणों से शोषण करते, तपाते हैं और वर्षा करते हैं॥ २२॥

एष सुप्तेषु जागर्ति भूतेषु परिनिष्ठितः।
एष एवाग्निहोत्रं च फलं चैवाग्निहोत्रिणाम्॥ २३॥

ये ही समस्त प्राणियों के सोने पर जागा करते हैं। ये ही सब प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से रहते हैं। ये ही अग्निहोत्र और ये ही अग्निहोत्रियों का फल देने वाले हैं अथवा अग्निहोत्र का फल स्वरूप ये ही हैं॥ २३॥

देवाश्च क्रतवश्चैव क्रतूनां फलमेव च ।
यानि कृत्यानि लोकेषु सर्व एष रविः प्रभुः[1] ॥ २४ ॥

ये ही समस्त यज्ञों के अधिष्ठाता देवता और ये ही यज्ञों के फल स्वरूप भी हैं। लोकों में जितने काम होते हैं, उन सब के ये सूर्य ही नियन्ता हैं ॥ २४ ॥

[नोट—इसके आगे स्तोत्र की फलस्तुति कही गयी है ।]

एनमापत्सु कृच्छ्रेषु कान्तारेषु भयेषु च ।
कीर्तयन्पुरुषः कश्चिन्नावसीदति राघव ॥ २५ ॥

हे राघव ! कोई बड़े सङ्कट में फँसा हुआ हो, विकट वन में भटक गया हो अथवा किसी बड़े भय से पीड़ित हो, वह भी यदि इस स्तोत्र का पाठ करे तो उसे भी किसी प्रकार का क्लेश नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

पूजयस्वैनमेकाग्रो देवदेवं जगत्पतिम् ।
एतत्त्रिगुणितं जप्त्वा युद्धेषु विजयिष्यसि ॥ २६ ॥

अतएव हे राघव ! तुम एकाग्र मन से इन देवदेव एवं जगत्पति सूर्य नारायण का पूजन कर, इस आदित्यहृदय स्तोत्र के तीन पाठ करो तो युद्ध में निश्चय ही तुम्हारी जीत होगी ॥ २६ ॥

अस्मिन्क्षणे महाबाहो रावणं त्वं वधिष्यसि ।
एवमुक्त्वा तदाऽगस्त्यो जगाम च यथागतम् ॥ २७ ॥

हे महाबाहो ! तुम इसी क्षण रावण का वध करोगे । इस प्रकार उपदेश दे, भगवान् अगस्त्य जहाँ से आये थे वहीं लौट कर चले गये ॥ २७ ॥

---

१ प्रभुः—नियन्ता । (गो०)

एतच्छ्रुत्वा महातेजा नष्टशोकोऽभवत्तदा ।
[1]धारयामास सुप्रीतो राघवः प्रयतात्मवान् ॥ २८ ॥

अगस्त्य मुनि के इस स्त्रोत के उपदेश से महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी का शोक नष्ट हो गया । प्रयत्नवान् श्रीरामचन्द्र जी ने श्रद्धाभक्तिपूर्वक आदित्यहृदयस्त्रोत्र का पाठ किया ॥ २८ ॥

आदित्यं प्रेक्ष्य जप्त्वा तु परं हर्षमवाप्तवान् ।
त्रिराचम्य शुचिर्भूत्वा धनुरादाय वीर्यवान् ॥ २९ ॥

श्रीसूर्य भगवान की ओर देखते हुए (अर्थात् पूर्वाभिमुख हो कर) इस स्त्रोत्र का पाठ करने से श्रीरामचन्द्र जी परम हर्षित हुए । पाठ करने के बाद तीन बार आचमन कर एवं पवित्र हो और धनुष ले वीर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ २९ ॥

रावणं प्रेक्ष्य हृष्टात्मा युद्धाय समुपागमत् ।
सर्वयत्नेन महता वधे तस्य धृतोऽभवत् ॥ ३० ॥

राक्षसराज रावण को लड़ने के लिये आया हुआ देख, श्रीराम जी ने हर्षित मन से, उसका वध करने को, सब प्रकार से बड़े बड़े प्रयत्नों से काम लिया ॥ ३० ॥

अथ [2]रविरवदन्निरीक्ष्य रामं
मुदितमनाः परमं प्रहृष्यमाणः ।

---

१ धारयामास—जप्त्वेत्र आदित्यहृदयमिति शेषः । (गो०) २ रविः आत्मानं स्तुवन्तं रामं निरीक्ष्य स्त्रोत्रेण सन्तुष्टमनाः सन् रावणवधं प्रति त्वरस्वेति वचोवदत् । (गो०)

निशिचरपतिसंक्षयं विदित्वा
सुरगणमध्यगतो वचस्त्वरेति ॥ ३१ ॥

इति सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥

सूर्य भगवान्, श्रीरामचन्द्र जी को अपनी स्तुति करते हुए देख कर, सन्तुष्ट हो परम प्रसन्न हुए और देवताओं के बीच स्थित हो बोले कि, हे वत्स! रावण के वध में अब शीघ्रता करो अर्थात् रावण का वध शीघ्र करो ॥ ३१ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौसातवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

स रथं सारथिर्हृष्टः परसैन्यप्रधर्षणम्।
गन्धर्वनगराकारं समुच्छ्रितपताकिनम् ॥ १ ॥

उधर रावण का सारथि हर्षितमन से शत्रुसैन्य को त्रस्त करने वाला रथ हाँक कर वहाँ पहुँचा। यह रथ देखने में गन्धर्व नगरी के तुल्य था और उसके ऊपर बहुत ऊँची (लंबी) पताका फहरा रही थी ॥ १ ॥

युक्तं परमसम्पन्नैर्वाजिभिर्हेममालिभिः।
युद्धोपकरणैः पूर्णं पताकाध्वजमालिनम् ॥ २ ॥

उस रथ में सुवर्ण के भूषणों से भूषित बढ़िया घोड़े जुते हुए थे। वह रथ सुवर्ण की मालाओं से सजाया गया था। वह युद्ध

की सारी सामग्री से पूर्ण था तथा वह ध्वजा और पताका से सुशोभित हो रहा था ॥ २ ॥

ग्रसन्तमिव चाकाशं नादयन्तं वसुन्धराम् ।
प्रणाशं परसैन्यानां स्वसैन्यानां प्रहर्षणम् ॥ ३ ॥

वह रथ इतना ऊँचा था कि, जान पड़ता था कि, वह आकाश को ग्रस लेना चाहता है और भारी इतना था कि, चलते समय पृथिवी को नादित करता था। वह शत्रुसैन्य का नाश करने वाला और अपनी सेना को हर्षित करने वाला था ॥ ३ ॥

रावणस्य रथं क्षिप्रं चोदयामास सारथिः ।
तमापतन्तं सहसा स्वनवन्तं महास्वनम् ॥ ४ ॥

रथं राक्षसराजस्य नरराजो ददर्श ह ।
कृष्णवाजिसमायुक्तं युक्तं रौद्रेण[1] वर्चसा ॥ ५ ॥

सारथि ने ऐसे रावण के उस रथ को हाँक कर शीघ्र ही समर भूमि में पहुँचाया। राक्षसराज के उस रथ को बड़ा भारी घर घर शब्द करते हुए, नरराज श्रीरामचन्द्र जी ने देखा। उन्होंने देखा कि, उसमें काले घोड़े जुते हुए हैं और वह भयङ्कर तेज से युक्त है ॥ ४ ॥ ५ ॥

तडित्पताकागहनं दर्शितेन्द्रायुधायुधम् ।
शरधारा विमुञ्चन्तं धारासारमिवाम्बुदम् ॥ ६ ॥

वह रथ मेघ के सदृश था, जिसमें पताका रूपी बिजलियाँ थीं, आयुधरूपी इन्द्र-धनुष था और उस रथ से जो शरवृष्टि होती

१ रौद्रेण वर्चसा—भयङ्करेण तेजसा। (शि०)

थी वही मानों जल की धारा उस बादल रूपी रथ से गिरती थी ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा मेघसङ्काशमापतन्तं रथं रिपोः ।
गिरेर्वज्राभिमृष्टस्य दीर्यतः सदृशस्वनम् ॥ ७ ॥

शत्रु के उस मेघ समान रथ को जो वज्र के प्रहार से फटते हुए पर्वत की तरह शब्द कर रहा था अपनी ओर आते देख ।

विस्फारयन्वै वेगेन बालचन्द्रनतं धनुः ।
उवाच मातलिं रामः सहस्राक्षस्य सारथिम् ॥ ८ ॥

श्रीराम जी ने अपना धनुष, जो द्वितीया के चन्द्रमा की तरह झुका हुआ था, बड़े ज़ोर से टंकारा । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने इन्द्र के सारथि मातलि से कहा ॥ ८ ॥

मातले पश्य [1]संरब्धमापतन्तं र ' रिपोः ।
यथापसव्यं पतता वेगेन महता पुनः ॥ ९ ॥

हे मातलि ! देखो शत्रु का वेगवान रथ कैसे झपाटे से दौड़ा चला आता है और बाईं ओर को झुका हुआ है ॥ ६ ॥

समरे हन्तुमात्मानं तथा तेन कृता मतिः ।
तदप्रमादमातिष्ठन्प्रत्युद्गच्छ रथं रिपोः ॥ १० ॥

वह चाहता है कि, युद्ध में वह मुझे मारे । अतः तुम अब सावधान हो जाओ और मेरा रथ शत्रु के रथ के सामने ले चलो ॥ १० ॥

---

१ संरब्धं—वेगवन्तं । (गो०)

विध्वंसयितुमिच्छामि वायुर्मेघमिवोत्थितम् ।
[1]अविक्लवम[2]सम्भ्रान्तमव्यग्रहृदयेक्षणम् ॥ ११ ॥

मैं रावण को उसी प्रकार नष्ट कर डालना चाहता हूँ, जिस प्रकार आकाश में उमड़ी हुई मेघ घटाओं को पवन विध्वस्त कर डालता है। तुम अदीन और सावधान हो जाओ और मन तथा दृष्टि को स्थिर कर ॥ ११ ॥

रश्मिसञ्चारनियतं [3]प्रचोदय रथं द्रुतम् ।
कामं न त्वं समाधेयः पुरन्दररथोचितः ॥ १२ ॥

युयुत्सुरहमेकाग्रः स्मारये त्वां न शिक्षये ।
परितुष्टः स रामस्य तेन वाक्येन मातलिः ॥ १३ ॥

घोड़ों की रासों को खींचने और ढीली करने में सावधानी रखते हुए शीघ्रता पूर्वक रथ हाँको। यद्यपि तुम इन्द्र के सारथि हो अतः तुम्हें शिक्षा देना उचित नहीं—क्योंकि तुम ये सब बातें जानते ही हो, तथापि मैं एकाग्र मन से (यदि सारथि को समय समय पर रथ चलाने के सम्बन्ध में निर्देश देने पड़े तो युद्ध में योद्धा की एकाग्रता नहीं रह सकती) युद्ध करना चाहता हूँ। अतः तुमको स्मरणमात्र मैंने कराया है, मैं तुम्हें शिक्षा नहीं देता। श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन मातलि प्रसन्न हुआ ॥ १२ ॥ १३ ॥

प्रचोदयामास रथं सुरसारथिसत्तमः ।
अपसव्यं ततः कुर्वन्रावणस्य महारथम् ॥ १४ ॥

---

१ अविक्लवं—अदीनं । (गो०) २ असम्भ्रान्तं—अप्रमादं । (गो०)
३ नियतं—रश्मीनां सञ्चारे आकुञ्चन प्रसारणे नियतं यथा भवति तथा रथं प्रचोदय । (शि०)

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों के। सुन देवताओं के सारथियों में सर्वश्रेष्ठ मातलि ने सन्तुष्ट हो, अपना रथ ऐसे हांका कि, रावण का रथ बाईं ओर पड़ गया ॥ १४ ॥

चक्रोत्क्षिप्तेन रजसा रावणं व्यवधानयत् ।
ततः क्रुद्धो दशग्रीवस्ताम्रविस्फारितेक्षणः ॥ १५ ॥

और इन्द्ररथ के पहियों से उड़ी हुई धूल से रावण ढक गया। तब तो रावण ने क्रोध में भर और लाल लाल नेत्र कर ॥ १५

रथप्रतिमुखं रामं सायकैरवधूनयत्[1] ।
धर्षणामर्षितो रामो[2] धैर्यं रोषेण लम्भयन् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के रथ पर बाणों के प्रहार किये। रावण की इस धृष्टता के। न सह कर मारे क्रोध के श्रीराम जी अधैर्य हो गये ॥ १६ ॥

जग्राह सुमहावेगमैन्द्रं युधि शरासनम् ।
शरांश्च सुमहातेजाः सूर्यरश्मिसमप्रभान् ॥ १७ ॥

और समर में उन्होंने अत्यन्त वेगवान् इन्द्र का धनुष उठा सूर्य की किरणों के समान चमचमाते बाण निकाले ॥ १७ ॥

तदोपोढं[3] महद्युद्धमन्योऽन्यवधकाङ्क्षिणोः ।
परस्पराभिमुखयोर्दृप्तयोरिव सिंहयोः १८ ॥

एक दूसरे को मारने की इच्छा रखने वाले वे दोनों योद्धा आमने सामने खड़े होकर, गर्वित सिंह की तरह घोर युद्ध करने लगे ॥ १८ ॥

---

१ अवधूनयत्—प्राहरत्। (गो०) २ धैर्यं रोषेणलम्भयन्—रोषेण निवृत्तधैर्यं। (गो०) ३ उपोढं—प्रवृत्तं। (गो०)

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
समेयुर्द्वैरथं[1] द्रष्टुं रावणक्षयकाङ्क्षिणः ॥ १९ ॥

रावण के नाश की कांक्षा रखने वाले देवता, गन्धर्व, सिद्ध और देवर्षि युद्ध में प्रवृत्त उन दोनों रथियों का युद्ध देखने को वहाँ आ उपस्थित हुए ॥ १९ ॥

समुत्पेतुरथोत्पाता दारुणा रोमहर्षणाः ।
रावणस्य विनाशाय राघवस्य जयाय च ॥ २० ॥

उसी समय रावण के नाश और श्रीरामचन्द्र जी के विजय के लिये ऐसे ऐसे दारुण अशकुन हुए, जिन्हें देखकर रोंगटे खड़े होते थे ॥ २० ॥

ववर्ष रुधिरं देवो रावणस्य रथोपरि ।
वाता मण्डलिनस्तीक्ष्णा ह्यपसव्यं प्रचक्रमुः ॥ २१ ॥

देवताओं ने रावण के रथ के ऊपर खून की वर्षा की । रावण की बाईं ओर चक्करदार ववंडर के आकार का वायु चलने लगा ॥ २१ ॥

महद्गृध्रकुलं चास्य भ्रममाणं नभःस्थले ।
येनयेन रथो याति तेनतेन प्रधावति ॥ २२ ॥

समरभूमि में जिधर जिधर रावण का रथ जाता था, उधर ही उधर गृध्रों के झुंड के झुंड आकाश में उसके रथ के ऊपर मड़राते थे ॥ २२ ॥

---

१ द्वैरथ—द्वाभ्यां रथाभ्यां प्रवर्तितं युद्धं । (गो॰)

सन्ध्यया चावृता लङ्का जपापुष्पनिकाशया ।
दृश्यते सम्प्रदीप्तेव दिवसेऽपि वसुन्धरा ॥ २३ ॥

दुपहिरिया के फूल की तरह लाल रंग की सन्ध्या का प्रकाश रहते भी लाल प्रभा लङ्का पर छा गयी। उस समय दिन रहते भी वहाँ की भूमि अग्नि से जलती हुई सी देख पड़ी ॥ २३ ॥

सनिर्घाता महोल्काश्च सम्प्रचेरुर्महास्वनाः ।
विषादयंस्ते रक्षांसि रावणस्य तदाऽहिताः ॥ २४ ॥

कड़क के साथ आकाश से बड़े बड़े उल्कापिण्ड (रावण के रथ के सामने) गिरने लगे । वे समस्त अपशकुन राक्षसों को चिन्तित करते और रावण के नाश की सूचना देते थे ॥ २४ ॥

रावणश्च यतस्तत्र सञ्चचाल वसुन्धरा ।
रक्षसां च प्रहरतां गृहीता इव बाहवः ॥ २५ ॥

जिधर रावण का रथ था उधर की ज़मीन थरथराने लगी । प्रहार करते हुए राक्षसों की मानों किसी ने बाँहें पकड़ लीं ॥ २५ ॥

ताम्राः पीताः सिताः श्वेताः पतिताः सूर्यरश्मयः ।
दृश्यन्ते रावणस्याङ्गे पर्वतस्येव धातवः ॥ २६ ॥

सूर्य की किरणें लाल, पीली, काली तथा सफेद रंग की हो कर रावण के अंगों पर पड़ कर वैसे ही विविध प्रकार की दिखलाई देने लगीं; जैसे पर्वतों की धातुएँ देख पड़ती हैं ॥ २६ ॥

गृध्रैरनुगताश्चास्य वमन्त्यो ज्वलनं मुखैः ।
प्रणेदुर्मुखमीक्षन्त्यः संरब्धमशिवं शिवाः ॥ २७ ॥

पीछे पीछे गीध और आगे आगे लोमड़ियाँ मुखों से ज्वाला निकालती हुई रावण के मुख की ओर देख देख कर अमङ्गल सूचक शब्द बोलने लगीं ॥ २७ ॥

प्रतिकूलं ववौ वायू रणे पांसून्समाकिरन् ।
तस्य राक्षसराजस्य कुर्वन्दृष्टिविलोपनम् ॥ २८ ॥

समरभूमि में रावण के सामने से हवा चलने लगी और धूल उड़ने लगी। इससे राक्षसराज रावण के नेत्र मुँद गये ॥ २८ ॥

निपेतुरिन्द्राशनयः सैन्ये चास्य समन्ततः ।
दुर्विषह्यस्वना घोरा विना जलधरस्वनम् ॥ २९ ॥

राक्षसराज रावण की सेना के ऊपर भयङ्कर और असह्य बिजली गिरने लगी, बिना बादल ही आकाश से बादल गर्जने का शब्द सुन पड़ने लगा ॥ २९ ॥

दिशश्च प्रदिशः सर्वा बभूवुस्तिमिरावृताः ।
पांसुवर्षेण महता दुर्दर्शं च नभोऽभवत् ॥ ३० ॥

समस्त दिशाओं और विदिशाओं में अंधेरा छा गया। बड़ी भारी धूल उड़ने से आकाश अदृश्य सा हो गया ॥ ३० ॥

कुर्वन्त्यः कलहं घोरं शारिकास्तद्रथं प्रति ।
निपेतुः शतशस्तत्र दारुणं दारुणारुताः ॥ ३१ ॥

भयङ्कर शब्द करतीं और ज़ोर से लड़ती हुई सैकड़ों मैनाओं के झुंड, रावण के रथ पर गिरे ॥ ३१ ॥

जघनेभ्यः स्फुलिङ्गाश्च नेत्रेभ्योऽश्रूणि सन्ततम् ।
मुमुचुस्तस्य तुरगास्तुल्यमग्निं च वारि च ॥ ३२ ॥

रावण के रथ के घोड़ों की जाँघों से चिनगारियाँ और नेत्रों से अग्नि की तरह गर्म आँसू निरन्तर बहने लगे ॥ ३२ ॥

एवंप्रकारा बहवः समुत्पाता भयावहाः ।
रावणस्य विनाशाय दारुणाः सम्प्रजज्ञिरे ॥ ३३ ॥

रावण के विनाश के लिये इस प्रकार के बहुत से दारुण अपशकुन अथवा उत्पात हुए, जिनको देख कर देखने वाले भयभीत हो गये ॥ ३३ ॥

रामस्यापि निमित्तानि सौम्यानि च शुभानि च ।
बभूवुर्जयशंसीनि प्रादुर्भूतानि सर्वशः ॥ ३४ ॥

उधर श्रीरामचन्द्र जी के लिये सब कल्याणकारक और शुभशकुन हुए जो श्रीरामचन्द्र जी के विजय के सूचक थे ॥ ३४ ॥

निमित्तानि च सौम्यानि राघवः स्वजयाय च ।
दृष्ट्वा परमसंहृष्टो हतं मेने च रावणम् ॥ ३५ ॥

निज जयसूचक इस प्रकार के शुभशकुनों को देख, श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त हर्षित हुए और रावण को मरा हुआ समझा ॥ ३५ ॥

ततो निरीक्ष्यात्मगतानि राघवो
रणे निमित्तानि निमित्तकोविदः ।
जगाम हर्षं च परां च निर्वृत्तिं[1]
चकार युद्धे ह्यधिकं च विक्रमम् ॥ ३६ ॥

इति अष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥

---

[1] निर्वृतिं—सुखं । (गो०)

शकुन एवं अपशकुनों के शुभाशुभफलों के ज्ञाता श्रीरामचन्द्र जी अपने लिये शुभशकुनों को देख कर हर्षित हुए और फिर वे दूने पराक्रम (उत्साह) के साथ युद्ध करने लगे ॥ ३६ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौ आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

नवोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

ततः प्रवृत्तं सुक्रूरं रामरावणयोस्तदा ।
सुमहद्द्वैरथं युद्धं सर्वलोकभयावहम् ॥ १ ॥

तदनन्तर फिर उन दोनों महारथियों अर्थात् श्रीरामचन्द्र और रावण का समस्त जीवधारियों को भय देने वाला अत्यन्त क्रूर संग्राम आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

ततो राक्षससैन्यं च हरीणां च महद्बलम् ।
प्रगृहीतप्रहरणं निश्चेष्टं समतिष्ठत ॥ २ ॥

उस समय राक्षसों की सेना और वानरों की महती सेना अपने अपने आयुधों को लिये हुए निश्चेष्ट हो खड़ी थीं ॥ २ ॥

संप्रयुद्धौ ततो दृष्ट्वा बलवन्नरराक्षसौ ।
१व्याक्षिप्तहृदयाः सर्वे परं विस्मयमागताः ॥ ३ ॥

बलवान श्रीराम और रावण को घोर युद्ध में प्रवृत्त देख, युद्ध देखने में व्यग्र सब लोग विस्मित हो गये ॥ ३ ॥

---

१ व्याक्षिप्तहृदयाः—युद्धदर्शनसक्तचित्ताः । (गो०)

नानाप्रहरणैर्व्यग्रैर्भुजैर्विस्मितबुद्धयः ।
तस्थुः प्रेक्ष्य च संग्रामं नाभिजघ्नुः परस्परम् ॥ ४ ॥

दोनों ओर की सेनाओं के सैनिक हाथों में विविध प्रकार के आयुधों को लिये विस्मित हो, खड़े हुए श्रीराम और रावण का युद्ध देख रहे थे और आपस में एक दूसरे पर प्रहार नहीं करते थे ॥ ४ ॥

रक्षसां रावणं चापि वानराणां च राघवम् ।
पश्यतां विस्मिताक्षाणां सैन्यं चित्रमिवावभौ ॥ ५

उस समय रावण को देखते हुए राक्षस और श्रीरामचन्द्र जी को देखते हुए वानर विस्मित हो, चित्र लिखे से खड़े थे ॥ ५ ॥

तौ तु तत्र निमित्तानि दृष्ट्वा रावणराघवौ ।
[1]कृतबुद्धी स्थिरामर्षौ युयुधाते ह्यभीतवत् ॥ ६ ॥

पूर्व में देखे हुए शुभ अशुभ शकुनों को श्रीरामचन्द्र और रावण स्मरण कर, निश्चितबुद्धि से लड़े हुए, और क्रोध में भरे, निर्भीक हो आपस में लड़ रहे थे ॥ ६ ॥

[नोट—उन दोनों की "निश्चितबुद्धि" क्या थी—सो आगे कहते हैं ।]

जेतव्यमिति काकुत्स्थो मर्तव्यमिति रावणः ।
धृतौ[2] स्ववीर्यसर्वस्वं युद्धेऽदर्शयतां तदा ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने तो शुभ शकुनों से अपनी जीत निश्चित कर रखी थी और अशुभ शकुनों से रावण ने अपना मरना

१ कृतबुद्धी—निश्चितबुद्धी । (गो०) २ धृतौ—धैर्यवन्तौ । (गो०)

निश्चित ज्ञान रखता था। अतः वे दोनों धैर्यवान युद्ध में अपना समस्त रणपराक्रम दिखला रहे थे ॥ ७ ॥

ततः क्रोधाद्दशग्रीवः शरान्सन्धाय वीर्यवान् ।
मुमोच ध्वजमुद्दिश्य राघवस्य रथे स्थितम् ॥ ८ ॥

बलवान रावण ने श्रीरामचन्द्र जी के रथ की ध्वजा को लक्ष्य बना कर बहुत से बाण चलाये ॥ ८ ॥

ते शरास्तपनासाद्य पुरन्दररथध्वजम् ।
रथशक्तिं परामृश्य निपेतुर्धरणीतले ॥ ९ ॥

पर वे बाण इन्द्र के अद्भुत शक्ति वाले रथ का कुछ भी बिगाड़ न कर, निष्फल हो पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ९ ॥

ततो रामोऽभिसंक्रुद्धश्चापमायम्य वीर्यवान् ।
कृतप्रतिकृतं कर्तुं मनसा सम्प्रचक्रमे ॥ १० ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने भी क्रोध में भर बदला लेने के लिये अपने धनुष पर बाण चढ़ाया ॥ १० ॥

रावणध्वजमुद्दिश्य मुमोच निशितं शरम् ।
महासर्पमिवासह्यं ज्वलन्तं स्वेन तेजसा ॥ ११ ॥

और रावण के रथ की ध्वजा को लक्ष्य बना, एक तेज़ बाण छोड़ा। वह महाविषधर सर्प की तरह असह्य था और अपनी दमक से चमक रहा था ॥ ११ ॥

जगाम स महीं छित्त्वा दशग्रीवध्वजं शरः ।
स निकृत्तोऽपतद्भूमौ रावणस्य रथध्वजः ॥ १२ ॥

वह बाण रावण के रथ की ध्वजा को काट कर पृथिवी में घुस गया। रावण के रथ की ध्वजा कट कर ज़मीन पर गिर पड़ी॥ १२॥

ध्वजस्योन्मथनं दृष्ट्वा रावणः सुमहाबलः।
सम्प्रदीप्तोऽभवत्क्रोधादमर्षात्प्रदहन्निव॥ १३॥

ध्वजा को कटा हुआ देख, अत्यन्त बलवान रावण क्रोध से, और असहनशीलतावश, अग्नि की तरह भभक उठा॥ १३॥

स रोषवशमापन्नः शरवर्षं महद्वमन्।
रामस्य तुरगान्दीप्तैः शरैर्विव्याध रावणः॥ १४॥

वह क्रोध के वशवर्ती हो बहुत से बाणों की वर्षा करने लगा। उसने चमचमाते बाणों से श्रीरामचन्द्र के रथ में जुते हुए घोड़ों को घायल किया॥ १४॥

ते विद्धा हरयस्तत्र नास्खलन्नापि बभ्रमुः।
बभूवुः स्वस्थहृदयाः पद्मनालैरिवाहताः॥ १५॥

वे हरे रंग के घोड़े उन बाणों की चोट से न तो ज़मीन पर गिरे ही और न भड़के ही। वे स्वस्थ हृदय बने रहे। उन बाणों की चोट उनको ऐसी जान पड़ी मानों कमल की डंडी शरीर में स्पर्श कर गयी हो॥ १५॥

तेषामसम्भ्रमं दृष्ट्वा वाजिनां रावणस्तदा।
भूय एव सुसंक्रुद्धः शरवर्षं मुमोच ह॥ १६॥

जब रावण ने देखा कि, रथ से घोड़े भड़के तक नहीं; तब अत्यन्त कुपित हो वह पुनः बाणवर्षा करने लगा॥ १६॥

गदाश्च परिघाश्चैव चक्राणि मुसलानि च ।
गिरिशृङ्गाणि वृक्षांश्च तथा शूलपरश्वधान् ॥ १७ ॥
[1]मायाविहितमेतत्तु शस्त्रवर्षमपातयत् ।
[2]तुमुलं त्रासजननं भीमं भीमप्रतिस्वनम् ॥ १८ ॥
तद्वर्षमभवद्युद्धे [3]नैकशस्त्रमयं महत् ।
विमुच्य राघवरथं समन्ताद्वानरे बले ॥ १९ ॥

उसने उन बाणों के अतिरिक्त गदा, परिघ, चक्र, मूस पत्थर, पेड़, शूल, परश्वधादि शस्त्रों की भी वर्षा की । ये सब श आश्चर्यकर शक्ति से बनाये गये थे । विविध प्रकार के, भय उत करने वाले, भयङ्कर और भयानक शब्द करने वाले बहुत से शस्त्रा की वर्षा हुई । बड़ा घमासान युद्ध हुआ । रावण ने श्रीरामचन्द्र जी के रथ को छोड़, चारों ओर वानरों की सेना के ऊपर ॥१७॥१८॥१९॥

सायकैरन्तरिक्षं च चकाराशु निरन्तरम् ।
सहस्रशस्ततो बाणानश्रान्तहृदयोद्यमः ॥ २० ॥
मुमोच च दशग्रीवो निःसङ्गेनान्तरात्मना ।
[4]व्यायच्छमानं तं दृष्ट्वा तत्परं रावणं रणे ॥ २१ ॥

बाणों की वर्षा कर, आकाश को ऐसा ढका कि, तिल रखने को भी ख़ाली जगह न रह गयी । उसने उमड़ते हुए उत्साह

---

१ मायाविहितं—आश्चर्यकरशक्तिकृतं । (गो०) २ तुमुलं—नानाविध मित्यर्थः । (गो०) ३ नैकशस्त्रं—अनेकशस्त्रप्रचुरं । (गो०) ४ व्यायच्छमानं—प्रवर्तयन्तम् । (शि०)

से उत्साहित हो हज़ारों बाण, बड़ी सावधानी से छोड़े। युद्ध में प्रवृत्त हो इस प्रकार रावण को तत्परता दिखलाते हुए देख ॥ २० ॥ २१ ॥

प्रहसन्निव काकुत्स्थः सन्दधे सायकाञ्शितान् ।
स मुमोच ततो बाणान्रणे शतसहस्रशः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने हँसते हँसते बड़े पैने बाण धनुष पर रखे और ऐसे सहस्रों बाण उस लड़ाई में उन्होंने छोड़े ॥ २२ ॥

तान्दृष्ट्वा रावणश्चक्रे स्वशरैः खं निरन्तरम् ।
ततस्ताभ्यां प्रमुक्तेन शरवर्षेण भास्वता ॥ २३ ॥

उन बाणों को छूटते देख, रावण ने अपने बाणों से आकाश को पूर्ण कर दिया। तब तो उन दोनों के छोड़े हुए बाणों की वृष्टि से ॥ २३ ॥

शरबद्धमिवाभाति द्वितीयं भास्वदम्बरम् ।
[1]नानिमित्तोऽभवद्बाणो [2]नातिभेत्ता न निष्फलः[3] ॥२४॥

बाणों से गठा हुआ एक दूसरा आकाश दिखाई देने लगा। दोनों योद्धाओं के छोड़े हुए बाणों में कोई भी बाण न तो लक्ष्य-भ्रष्ट हुआ, न अपेक्षित प्रमाण से किसी बाण ने अधिक भेदन किया और न कोई निष्फल ही गया ॥ २४ ॥

अन्योऽन्यमभिसंहत्य निपेतुर्धरणीतले ।
तथा विसृजतोर्बाणान्रामरावणयोर्मृधे ॥ २५ ॥

---

१ अनिमित्तः—लक्ष्यविशेषोद्देशरहितः। (गो०) २ अतिभेत्ता—अपेक्षित प्रमाणात्अधिकभेत्ता। (गो०) ३ निष्फलः—लक्ष्यपतितोपिप्रयोजनाकारी। (गो०)

वे एक दूसरे से टकरा कर और टूट कर ज़मीन पर गिर पड़ते थे। इस प्रकार समर में बाण छोड़ते हुए श्रीरामचन्द्र जी और रावण के ॥ २५ ॥

आयुध्यतामविच्छिन्नमस्यन्तौ सव्यदक्षिणम् ।
चक्रतुश्च शरौघैस्तौ निरुच्छ्वासमिवाम्बरम् ॥ २६ ॥

निरन्तर बायें दहिने ऐसे बाण चले कि, (उन्होंने आकाश को [illegible] दिया और तब) ऐसा जान पड़ा ; मानों आकाश का स्वांस [illegible]ना ही बंद हो गया ॥ २६ ॥

रावणस्य हयान्रामो हयान्रामस्य रावणः ।
जघ्नतुस्तौ तथाऽन्योन्यं कृतानुकृतकारिणौ ॥ २७ ॥

रावण के घोड़ों को श्रीरामचन्द्र जी और श्रीरामचन्द्र जी के घोड़ों को रावण घायल करके एक दूसरे से बदला ले रहे थे ॥ २७ ॥

एवं तु तौ सुसंक्रुद्धौ चक्रतुर्युद्धमद्भुतम् ।
मुहूर्तमभवद्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार उन दोनों महाक्रुद्ध योद्धाओं का बड़ा ही अद्भुत युद्ध हुआ। एक मुहूर्त्त भर तो ऐसा भयानक युद्ध हुआ कि, देखने वालों के रोंगटे खड़े हो गये ॥ २८ ॥

प्रयुध्यमानौ समरे महाबलौ
शितैः शरै रावणलक्ष्मणाग्रजौ ।
ध्वजावपातेन स राक्षसाधिपो
भृशं प्रचुक्रोध तदा रघूत्तमे ॥ २९ ॥

इति नवोत्तरशततमः सर्गः ॥

इस प्रकार पैने पैने वाणों से महाबलवान श्रीराम और रावण का घोर युद्ध हुआ। रावण के रथ की ध्वजा कट जाने पर उसने श्रीरामचन्द्र जी पर बड़ा क्रोध किया॥ २६॥

युद्धकाण्ड का एकसौनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

दशोत्तरशततमः सर्गः

—*—

तौ तदा युध्यमानौ तु समरे रामरावणौ।
ददृशुः सर्वभूतानि विस्मितेनान्तरात्मना॥ १॥

इस प्रकार समरभूमि में श्रीराम और रावण को युद्ध करते देख, समस्त प्राणी विस्मित हुए॥ १॥

अर्दयन्तौ तु समरे तयोस्तौ स्यन्दनोत्तमौ।
परस्परमभिक्रुद्धौ परस्परमभिद्रुतौ॥ २॥

अपने अपने रथों पर सवार दोनों एक दूसरे के ऊपर बड़ा क्रोध प्रकट करते एक दूसरे को खदेड़ते थे॥ २॥

परस्परवधे युक्तौ घोररूपौ बभूवतुः।
मण्डलानि च [1]वीथीश्च गतप्रत्यागतानि च॥ ३॥
दर्शयन्तौ बहुविधां सूतसारथ्यजां गतिम्।
अर्दयन्रावणं रामो राघवं चापि रावणः॥ ४॥
गतिवेगं समापन्नौ प्रवर्तननिवर्तने।
क्षिपतोः शरजालानि तयोस्तौ स्यन्दनोत्तमौ॥ ५॥

---

१ वीथीः—प्रसिद्ध मार्ग द्वारागतीश्च। (रा०)

वे एक दूसरे को मार डालने के लिये तत्पर हो, बड़ी भयङ्कर आकृति वाले देख पड़ते थे। उनके सारथि भी रथों को मण्डलाकर चला और फिर कभी सड़क पर आगे पीछे चला कर रथ चलाने की विविध प्रकार की क्षमता दिखला रहे थे। वे दोनों बड़े वेगवान थे तथा आवश्यकतानुसार आगे बढ़ने और पीछे हटने में कुशल थे। ऐसे श्रीरामचन्द्र जी रावण पर और रावण श्रीरामचन्द्र पर आक्रमण करते थे। वे एक दूसरे के उत्तम रथों पर बाणों की वृष्टि कर रहे थे॥ ३॥ ४॥ ५॥

चेरतुः संयुगमहीं सासारौ जलदौ यथा।
दर्शयित्वा तथा तां तु गतिं बहुविधां रणे॥ ६॥

समरभूमि में विचरते और बाणों को छोड़ते हुए दोनों के रथ, जल बरसाने वाले बादलों की तरह देख पड़ते थे। दोनों रथ रणभूमि में विविध प्रकार की चालें दिखा॥ ६॥

परस्परस्याभिमुखौ पुनरेवावतस्थतुः।
धुरं धुरेण रथयोर्वक्त्रं वक्त्रेण वाजिनाम्॥ ७॥

एक दूसरे के सामने हो फिर ऐसे खड़े हो गये कि, (एक के रथ की) धुरी (दूसरे के रथ की) धुरी से, घोड़ों के मुख घोड़ों के मुख से॥ ७॥

पताकाश्च पताकाभिः समेयुः स्थितयोस्तदा।
रावणस्य ततो रामो धनुर्मुक्तैः शितैः शरैः॥ ८॥
चतुर्भिश्चतुरो दीप्तैर्हयान्प्रत्यपसर्पयत्।
स क्रोधवशमापन्नो हयानामपसर्पणे॥ ९॥

और पताकाएँ पताकाओं से छुट गयीं। तब श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष से पैने और चमचमाते चार बाणों को छोड़ कर, रावण के घोड़ों को ऐसा मारा कि, घोड़े पीछे हट गये। घोड़ों के पीछे हटने से रावण क्रुद्ध हुआ ॥ ८ ॥ ९ ॥

मुमोच निशितान्बाणान्राघवाय निशाचरः।
सोऽतिविद्धो बलवता दशग्रीवेण राघवः ॥ १० ।

और उस राक्षस ने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर पैने पैने बाण छोड़े। रावण द्वारा घायल किये जाने पर बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ॥ १० ॥

जगाम न [1]विकारं च न चापि व्यथितोऽभवत्।
चिक्षेप च पुनर्बाणान्वज्रपातसमस्वनान् ॥ ११ ॥

के मुख पर न तो वेदनासूचक सकुड़न ही पड़ी और न उनके शरीर में कुछ भी व्यथा ही हुई। तब रावण ने वज्रपात की तरह घोर शब्द करने वाले फिर बाण चलाये ॥ ११ ॥

सारथिं वज्रहस्तस्य समुद्दिश्य निशाचर।
मातलेस्तु महावेगाः शरीरे पतिताः शराः ॥ १२ ॥

रावण ने इन्द्र के सारथि मातलि को लक्ष्य कर बाण चलाये। यद्यपि वे बाण बड़े वेग से मातलि के शरीर में लगे ॥ १२ ॥

न सूक्ष्ममपि संमोहं व्यथां वा प्रददुर्युधि।
तया धर्षणया क्रुद्धो मातलेर्न तथाऽऽत्मनः ॥ १३ ॥

---

१ विकारं—वेदनासूचकमुखविकारं। (गो०)

तथापि उन बाणों के लगने से मातलि को ज़रा सी भी पीड़ा न हुई। किन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने अपने शरीर में बाणों के लगने से भी अधिक क्रोध, मातलि के शरीर में बाणों के लगने पर किया। अथवा अपने शरीर में बाणों के लगने से श्रीरामचन्द्र जी उतने क्रुद्ध नहीं हुए थे, जितने ये क्रुद्ध मातलि के बाणों के लगने से हुए ॥ १३ ॥

चकार शरजालेन राघवो विमुखं रिपुम् ।
विंशतं त्रिंशतं षष्टिं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥

(क्रोध में भर) श्रीरामचन्द्र जी ने रावण के ऊपर इतने बाण बरसाये कि, उसे कुछ देर के लिये युद्ध से मुख मोड़ना पड़ा। एक एक बार में बीस बीस, तीस तीस, साठ साठ, सौ सौ और हज़ार हज़ार ॥ १४ ॥

मुमोच राघवो वीरः सायकान्स्यन्दने रिपोः ।
रावणोऽपि ततः क्रुद्धो रथस्थो राक्षसेश्वरः ॥ १५ ॥

बाण वीर श्रीरामचन्द्र जी ने रावण के रथ पर फेंके। तब तो रथ में बैठा हुआ राक्षसराज रावण भी क्रुद्ध हुआ ॥ १५ ॥

गदामुसलवर्षेण रामं प्रत्यर्दयद्रणे ।
तत्प्रवृत्तं महद्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

और उसने समर में गदाओं और मूसलों की वर्षा की। तब तो दोनों योद्धाओं में बड़ा भयानक और देखने वालों के रोंगटे खड़े करने वाला युद्ध हुआ ॥ १६ ॥

गदानां मुसलानां च परिघाणां च निस्वनैः ।
शराणां पुङ्खपातैश्च क्षुभिताः सप्त सागराः ॥ १७ ॥

गदा, मूसल और परिघों के प्रहार के पटापट शब्द से तथा पंख-दार बाणों की सरसराहट से सातों समुद्र खलबला उठे ॥ १७ ॥

क्षुब्धानां सागराणां च पातालतलवासिनः ।
व्यथिताः पन्नगाः सर्वे दानवाश्च सहस्रशः ॥ १८ ॥

समुद्रों के खलबला उठने पर पातालवासी समस्त पन्नग (नाग) और हज़ारों दानव व्यथित हुए ॥ १८ ॥

चकम्पे मेदिनी कृत्स्ना सशैलवनकानना ।
भास्करो निष्प्रभश्चासीन्न ववौ चापि मारुतः ॥ १९ ॥

पर्वतों और वनों समेत सम्पूर्ण पृथिवी कांपने लगी । सूर्य का प्रकाश धुँधला पड़ गया और पवन का चलना बन्द हो गया ॥ १९ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
चिन्तामापेदिरे सर्वे सकिन्नरमहोरगाः ॥ २० ॥

तब तो समस्त देवता, गन्धर्व, सिद्ध, देवर्षि, किन्नर और महोरग अत्यन्त चिन्तित हुए ॥ २० ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्यस्तु लोकास्तिष्ठन्तु शाश्वताः ।
जयतां राघवः संख्ये रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ २१ ॥

गौ ब्राह्मणों का मङ्गल हो, सब लोग निरन्तर अपने अपने स्थानों पर स्थिर रहें और युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी रावण को परास्त करें ॥ २१ ॥

एवं जपन्तोऽपश्यंस्ते देवाः सर्षिगणास्तदा ।
रामरावणयोर्युद्धं सुघोरं रोमहर्षणम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार बार बार कहते हुए देवता तथा ऋषिगण श्रीराम और रावण का अत्यन्त भयङ्कर और रोमाञ्चकारी युद्ध देखने लगे ॥ २२ ॥

गन्धर्वाप्सरसां सङ्घा दृष्ट्वा युद्धमनूपमम् ।
गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः[1] ॥ २३ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओं की टोलियाँ उस अनुपम युद्ध को देख, कह उठीं कि, जिस प्रकार आकाश की उपमा आकाश ही है और सागर की उपमा स्वयं सागर ही है ॥ २३ ॥

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।
एवं ब्रुवन्तो ददृशुस्तद्युद्धं रामरावणम् ॥ २४ ॥

उसी प्रकार श्रीराम-रावण के युद्ध की उपमा श्रीराम-रावण ही का युद्ध है। इस प्रकार कहते हुए वे सब (गन्धर्व अप्सराएँ) श्रीरामचन्द्र और रावण का युद्ध देख रहे थे ॥ २४ ॥

ततः क्रुद्धो महाबाहू रघूणां कीर्तिवर्धनः ।
सन्धाय धनुषा रामः क्षुरमाशीविषोपमम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर रघुवंश की कीर्ति बढ़ाने वाले महाबलवान श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर, छुरा की धार की तरह पैना और सर्पाकार एक बाण अपने धनुष पर रख कर छोड़ा ॥ २५ ॥

रावणस्य शिरोच्छिन्दच्छ्रीमज्ज्वलितकुण्डलम् ।
तच्छिरः पतितं भूमौ दृष्टं लोकैस्त्रिभिस्तदा ॥ २६ ॥

---

1 यथा गगनसागरयोःसदृशवस्त्वन्तराभावः तथा रामरावणयुद्धस्य सदृशं युद्धं किञ्चिन्नास्तीत्यर्थः । (गो०)

उस बाण के लगने से रावण का चमचमाते कुण्डलों से शोभायमान सीस कट कर पृथिवी पर गिर पड़ा। पृथिवी पर पड़े उस सिर को तीनों लोकों के निवासियों ने देखा ॥ २६ ॥

तस्यैव सदृशं चान्यद्रावणस्योत्थितं शिरः ।
तत्क्षिप्रं क्षिप्रहस्तेन रामेण क्षिप्रकारिणा ॥ २७ ॥

ठीक उस कटे हुए सिर की तरह दूसरा सिर रावण के कन्धों पर निकल आया, तब फुर्तीले श्रीरामचन्द्र जी ने बड़ी फुर्ती के साथ तुरन्त ॥ २७ ॥

द्वितीयं रावणशिरश्छिन्नं संयति सायकैः ।
छिन्नमात्रं तु तच्छीर्षं पुनरन्यत्स्म दृश्यते ॥ २८ ॥

उस युद्ध में रावण के दूसरे सिर को भी बाण से काट डाला। जैसे ही वह दूसरा सिर कट कर नीचे गिरा, वैसे ही तीसरा नया सिर (कटे हुए सिर की जगह) निकला हुआ देख पड़ा ॥ २८

तदप्यशनिसङ्काशैश्छिन्नं रामेण सायकैः ।
एकमेकशतं छिन्नं शिरसां [1]तुल्यवर्चसाम् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अपने वज्र के समान बाणों से उसे भी काट डाला। इस प्रकार श्रीराम जी ने रावण के एक ही आकार प्रकार के सौ सिर काट डाले ॥ २९ ॥

न चैव रावणस्यान्तो दृश्यते जीवितक्षये ।
ततः सर्वास्त्रविद्वीरः कौसल्यानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥

किन्तु तब भी रावण के सिरों का न अन्त ही हुआ और न वह मरा ही। तब तो शूरवीर तथा कौशल्या माता का आनन्द बढ़ाने वाले एवं समस्त अस्त्र शस्त्रों के जानने वाले ॥ ३० ॥

---

१ तुल्यवर्चसाम्—तुल्याकाराणाम् । (रा०)

मार्गणैर्बहुभिर्युक्तश्चिन्तयामास राघवः ।
मारीचो निहतो यैस्तु खरो यैस्तु सदूषणः ॥ ३१ ॥

और बहुत से बाणों को रखने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने सोचा कि, मैंने जिन बाणों से मारीच को मारा, जिन बाणों से मैंने खर और दूषण को मारा ॥ ३१ ॥

क्रौञ्चारण्ये विराधस्तु कबन्धो दण्डकावने ।
त इमे सायकाः सर्वे युद्धे प्रात्ययिका[1] मम ॥ ३२ ॥

क्रौञ्चारण्य में विराध को और दण्डक वन में कबन्ध को मारा था, ये ही मेरे सब बाण युद्ध में कई बार परीक्षा किये (आज़माये) हुए हैं अर्थात् इन पर मुझे पूरा विश्वास है ॥ ३२ ॥

किंनु तत्कारणं येन रावणे मन्दतेजसः ।
इति चिन्तापरश्चासीदप्रमत्तश्चसंयुगे ॥ ३३ ॥

किन्तु समझ में नहीं आता कि, रावण के लिये ये क्यों भौथरे हो गये हैं । इस प्रकार सोचते हुए युद्ध में सावधान ॥ ३३ ॥

ववर्ष शरवर्षाणि राघवो रावणोरसि ।
रावणोऽपि ततः क्रुद्धो रथस्थो राक्षसेश्वरः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने रावण की छाती पर बाणवृष्टि की । तब तो रथ पर सवार राक्षसराज रावण भी क्रुद्ध हुआ ॥ ३४ ॥

गदामुसलवर्षेण रामं प्रत्यर्दयद्रणे ।
तत्प्रवृत्तं महद्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३५ ॥

1 प्रात्ययिकाः—विश्वस्ताः । (गो०)

और उसने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर युद्ध में गदा और मूसल के प्रहार किये। तब तो फिर बड़ी घमासान और रोंगटे खड़े करने वाली लड़ाई होने लगी ॥ ३५ ॥

अन्तरिक्षे च भूमौ च पुनश्च गिरिमूर्धनि ।
देवदानवयक्षाणां पिशाचोरगरक्षसाम् ।
पश्यतां तन्महद्युद्धं [1]सर्वरात्रमवर्तत ॥ ३६ ॥

यह लड़ाई केवल समरभूमि ही में नहीं, किन्तु कभी आकाश में, कभी भूमि पर और कभी पर्वतशिखर पर होती थी। उस महायुद्ध को देखते देखते देवताओं, दानवों, यक्षों, पिशाचों, उरगों और राक्षसों को एक पूरा दिन और एक पूरी रात बीत गयी ॥ ३६ ॥

नैव रात्रं न दिवसं न मुहूर्तं न च क्षणम् ।
रामरावणयोर्युद्धं विराममुपगच्छति ॥ ३७ ॥

रात या दिन में एक मुहूर्त्त अथवा एक क्षण के लिये भी श्रीराम जी और रावण का यह युद्ध बन्द न हुआ ॥ ३७ ॥

दशरथसुतराक्षसेन्द्रयोः
जयमनवेक्ष्य रणे स राघवस्य ।
सुरवररथसारथिर्महान्[2]
रणगतमेनमुवाच वाक्यमाशु ॥ ३८ ॥

इति दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी और राक्षसेन्द्र रावण के युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी की जीत न देख, इन्द्र का सारथि मातलि, जो बड़ा

---

१ सर्वरात्रं—अहोरात्रमित्यर्थः । (गो०) २ महान्—महाबुद्धिरित्यर्थः । (गो०)

बुद्धिमान था, संग्राम करते हुए श्रीरामचन्द्र जी से तुरन्त यह वचन बोला ॥ ३८ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौदसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकादशोत्तरशततमः सर्गः

—※—

अथ संस्मारयामास राघवं मातलिस्तदा।
अजानन्निव किं वीर त्वमेनमनुवर्तसे ॥ १ ॥

इन्द्र का सारथि मातलि, श्रीरामचन्द्र जी को स्मरण दिलाता हुआ, कहने लगा—हे वीर! अनजान की तरह इसके साथ आप ऐसा युद्ध क्यों कर रहे हैं ॥ १ ॥

विसृजास्मै वधाय त्वमस्त्रं पैतामहं प्रभो।
विनाशकालः कथितो यः सुरैः सोऽद्य वर्तते ॥ २ ॥

हे प्रभो! आप इसके ऊपर ब्रह्मास्त्र छोड़िये। देवताओं ने इसके वध का जो दिन बतलाया था वह आज ही है ॥ २ ॥

ततः संस्मारितो रामस्तेन वाक्येन मातलेः।
जग्राह सशरं दीप्तं निःश्वसन्तमिवोरगम् ॥ ३ ॥

जब मातलि ने श्रीरामचन्द्र जी को इस प्रकार याद दिलायी; तब उन्होंने एक चमचमाता बाण निकाला जिसमें से साँप के फुँसकारने जैसा शब्द हो रहा था ॥ ३ ॥

यमस्मै प्रथमं प्रादादगस्त्यो भगवानृषिः ।
ब्रह्मदत्तं महाबाणममोघं युधि वीर्यवान् ॥ ४ ॥

यह बाण पूर्वकाल में भगवान् अगस्त्य जी ने वीर्यवान श्रीरामचन्द्र जी को दिया था। यह अगस्त्य जी को ब्रह्मा से मिला था और यह महाबाण युद्ध में कभी निष्फल जाने वाला न था ॥ ४ ॥

ब्रह्मणा निर्मितं पूर्वमिन्द्रार्थममितौजसा ।
दत्तं सुरपतेः पूर्वं त्रिलोकजयकाङ्क्षिणः ॥ ५ ॥

पूर्वकाल में अमित तेजस्वी ब्रह्मा जी ने त्रिलोकविजयाभिलाषी इन्द्र के लिये इसे बना कर उनको दिया था ॥ ५ ॥

यस्य वाजेषु पवनः फले पावकभास्करौ ।
शरीरमाकाशमयं गौरवे मेरुमन्दिरौ ॥ ६ ॥

उस बाण के पुङ्खों में पवन, फल (नोंक) में अग्नि और सूर्य थे। उसका शरीर आकाशमय था, (अर्थात् पोला था तथापि) भारीपन में वह मेरु पहाड़ की तरह था ॥ ६ ॥

जाज्वल्यमानं वपुषा सुपुङ्खं हेमभूषितम् ।
तेजसा[1] सर्वभूतानां कृतं भास्करवर्चसम् ॥ ७ ॥

वह खूब चमकीला था, पुङ्खदार था और सुवर्णभूषित था। वह सब भूतों का अंश निकाल कर बनाया गया था और सूर्य की तरह चमकदार था ॥ ७ ॥

सधूममिव कालाग्निं दीप्तं आशीविषं यथा ।
परनागाश्ववृन्दानां भेदनं क्षिप्रकारिणम् ॥ ८ ॥

---

1 तेजसा—सारांशेन । (गो०)

वह धूम सहित कालाग्नि की तरह और विषधर सर्प की तरह प्रदीप्त था। शत्रुओं के हाथियों और घोड़ों के समूहों का नाश करने वाला और बड़ी फुर्ती से काम करने वाला था ॥ ८ ॥

द्वाराणां[1] परिघाणां च गिरीणामपि भेदनम् ।
नानारुधिरसिक्ताङ्गं मेदोदिग्धं सुदारुणम् ॥ ९ ॥

शत्रु के नगरों के द्वारों को, परिघों को और पर्वतों तक को तोड़ने फोड़ने वाला था उसमें अनेक असुरों का रक्त और उनकी चर्बी सनी हुई थी और वह अत्यन्त भयङ्कर था ॥ ९ ॥

वज्रसारं[2] महानादं नानासमितिदारणम्[3] ।
सर्ववित्रासनं भीमं श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ १० ॥

वह वज्र की तरह मज़बूत और कपट युद्धों में भी सफलतापूर्वक काम आने वाला, सब को भयभीत करने वाला, महाभयानक, और साँप की तरह फुँसकार छोड़ने वाला था ॥ १० ॥

कङ्कगृध्रबलानां च गोमायुगणरक्षसाम् ।
नित्यं भक्ष्यप्रदं युद्धे यमरूपं भयावहम् ॥ ११ ॥

वह युद्धों में कङ्कों, गीधों, बगलों, शृगालों और राक्षसों को सदैव युद्ध में भोजन देने वाला था। वह यमरूपी बाण, बड़ा भयङ्कर था ॥ ११ ॥

नन्दनं वानरेन्द्राणां रक्षसामवसादनम् ।
वाजितं विविधैर्वाजैश्चारुचित्रैर्गरुत्मतः ॥ १२ ॥

---

१ द्वाराणां—रिपुगोपुराणां । (गो०) २ वज्रसारं—वज्रतुल्यदार्ढ्यं । (गो०) ३ नानासमितिदारणं—नानाकपटयुद्धस्यापि निर्वतकं । (गो०)

वह वानरों को प्रसन्न करने वाला और राक्षसों का नाश करने वाला था। गरुड़ जी के विविध सुन्दर पङ्ख उसमें लगे हुए थे ॥ १२ ॥

तमुत्तमेषुं लोकानामिक्ष्वाकुभयनाशनम् ।
द्विषतां कीर्तिहरणं प्रहर्षकरमात्मनः ॥ १३ ॥

वह समस्त लोकों के बाणों में श्रेष्ठ, इक्ष्वाकुकुल के भय को नाश करने वाला, शत्रु की (विजय) कीर्ति का नाशक, और अपने को (जो उसे चलाता उसे) हर्ष देने वाला था ॥ १३ ॥

अभिमन्त्र्य ततो रामस्तं महेषुं महाबलः ।
वेदप्रोक्तेन विधिना सन्दधे कार्मुके बली ॥ १४ ॥

महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने उस महाबाण को (अथर्वण) वेद की विधि से (ब्रह्मास्त्र के मंत्र से) अभिमंत्रित कर, धनुष पर चढ़ाया ॥ १४ ॥

तस्मिन्सन्धीयमाने तु राघवेण शरोत्तमे ।
सर्वभूतानि वित्रेसुश्चचाल च वसुन्धरा ॥ १५ ॥

उस शरोत्तम का धनुष पर सन्धान करते ही समस्त प्राणी भयभीत हो गये और पृथिवी काँपने लगी ॥ १५ ॥

स रावणाय संक्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ।
चिक्षेप परमायत्तस्तं शरं मर्मघातिनम् ॥ १६ ।

अत्यन्त क्रुद्ध हो श्रीरामचन्द्र जी ने रावण के वध के लिये धनुष तान कर बड़े ज़ोर से, समस्त मर्मस्थलों को विदारण करने वाला, वह बाण चलाया ॥ १६ ॥

स वज्र इव दुर्धर्षो वज्रिबाहुविसर्जितः ।
कृतान्त इव चावार्यो न्यपतद्रावणोरसि ॥ १७ ॥

इन्द्र के हाथ से चलाये हुए वज्र की तरह दुर्धर्ष और यमराज के समान किसी के न रोकने योग्य वह बाण, जा कर रावण की छाती में लगा ॥ १७ ॥

स विसृष्टो महावेगः शरीरान्तकरः शरः ।
बिभेद हृदयं तस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥ १८ ॥

महावेग से छूटते हुए और शरीर का नाश करने वाले उस बाण ने, दुरात्मा रावण का हृदय चीर डाला ॥ १८ ॥

रुधिराक्तः स वेगेन जीवितान्तकरः शरः ।
रावणस्य हरन्प्राणान्विवेश धरणीतलम् ॥ १९ ॥

रुधिर में सना और वेग से प्राण का संहार करने वाला वह बाण, रावण का वध कर, ज़मीन में घुस गया ॥ १९ ॥

स शरो रावणं हत्वा रुधिरार्द्रीकृतच्छविः ।
कृतकर्मा [1]निभृतवत्स्वतूणीं पुनरागमत् ॥ २० ॥

पीछे वह रुधिर लगने से शोभायमान बाण अपना काम पूरा कर, विनम्र की तरह श्रीरामचन्द्र जी के तरकस में घुस गया ॥ २० ॥

तस्य हस्ताद्धतस्याशु कार्मुकं तत्ससायकम् ।
निपपात सह प्राणैर्भ्रश्यमानस्य जीवितात् ॥ २१ ॥

---

१ निभृतवत्—विनीतवत् । (गो०)

अस्त्राघात से रावण का जीवन शेष हो जाने पर प्राण छूटने के साथ ही साथ बाण सहित धनुष भी हाथ से छूट कर नीचे गिर पड़ा ॥ २१ ॥

गतासुर्भीमवेगस्तु नैर्ऋतेन्द्रो महाद्युतिः ।
पपात स्यन्दनाद्भूमौ वृत्रो वज्रहतो यथा ॥ २२ ॥

महाकान्तिमान राक्षसराज रावण प्राणरहित हो, वज्र के प्रहार से गिरे हुए वृत्रासुर की तरह बड़े ज़ोर से, रथ से पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २२ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ हतशेषा निशाचराः ।
हतनाथा भयत्रस्ताः सर्वतः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ २३ ॥

रावण को पृथिवी पर पड़ा देख वे राक्षस जो युद्ध में मारे जाने से बच रहे थे, रक्षक के मारे जाने से भयभीत हो, चारों ओर भाग गये ॥ २३ ॥

नर्दन्तश्चाभिपेतुस्तान्वानरा द्रुमयोधिनः ।
दशग्रीववधं दृष्ट्वा विजयं राघवस्य च ॥ २४ ॥

गर्जते गर्जते वानरों ने हाथों में वृक्ष लिये हुए उनका पीछा किया। रावण का वध और श्रीरामचन्द्र जी की जीत देख, ॥ २४ ॥

अर्दिता वानरैर्हृष्टैर्लङ्कामभ्यपतन्भयात् ।
गताश्रयत्वात्करुणैर्बाष्पप्रस्रवणैर्मुखैः ॥ २५ ॥

हर्षित वानरों द्वारा पीड़ित और भयभीत हो करुणा पूर्वक रोते हुए वे लङ्का में घुस गये। क्योंकि, वे अब विना सहारे के हो गये थे ॥ २५ ॥

ततो विनेदुः संहृष्टा वानरा जितकाशिनः ।
वदन्तो राघवजयं रावणस्य च तद्वधम् ॥ २६ ॥

तब विजयी वानरों ने अत्यन्त हर्षित हो हर्षनाद किया। वे श्रीरामचन्द्र जी की जीत और रावण का वध पुकार पुकार कर कह रहे थे ॥ २६ ॥

अथान्तरिक्षे व्यनदत्सौम्यस्त्रिदशदुन्दुभिः ।
दिव्यगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखं ववौ ॥ २७ ॥

आकाश में देवताओं के मङ्गलसूचक नगाड़े बजने लगे। दिव्य सुगन्धि से युक्त सुखदायी हवा चलने लगी ॥ २७ ॥

निपपातान्तरिक्षाच्च पुष्पवृष्टिस्तदा भुवि ।
किरन्ती राघवरथं दुरवापा मनोरमा ॥ २८ ॥

आकाश से दुर्लभ और मनोहर पुष्पराशि श्रीरामचन्द्र जी के रथ के ऊपर बरस कर पृथिवी पर गिरने लगी ॥ २८ ॥

राघवस्तवसंयुक्ता गगनेऽपि च शुश्रुवे ।
साधु साध्विति वागग्र्या देवतानां महात्मनाम् ॥ २९ ॥

आकाश में देवताओं और महात्माओं की, श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति से युक्त वाह वाह की वाणी सुन पड़ी ॥ २९ ॥

आविवेश महाहर्षो देवानां चारणैः सह ।
रावणे निहते रौद्रे सर्वलोकभयङ्करे ॥ ३० ॥

सब लोकों को भय देने वाले, भयङ्कर एवं दुष्टात्मा रावण के मारे जाने पर देवगण और चारण बड़े हर्षित हुए ॥ ३० ॥

ततः सकामं सुग्रीवमङ्गदं च महाबलम् ।
चकार राघवः प्रीतो हत्वा राक्षसपुङ्गवम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सर्वप्रधान राक्षस रावण को मार कर प्रसन्न हुए और महाबलवान् सुग्रीव एवं अङ्गद की मनोकामना पूरी हुई ॥ ३१ ॥

ततः प्रजग्मुः [1]प्रशमं [2]मरुद्गणा
दिशः प्रसेदुर्विमलं नभोऽभवत् ।
मही चकम्पे न हि मारुतो ववौ
स्थिरप्रभश्चाप्यभवद्दिवाकरः ॥ ३२ ॥

उस समय देवता प्रसन्न हुए। समस्त दिशाएँ निर्मल हो गयीं। आकाश विमल हो गया। पृथिवी कम्पायमान न होकर स्थिर हुई। सुखदपवन चलने लगा। सूर्य पहिले की तरह चमकने लगे अथवा प्रभायुक्त हो गये ॥ ३२ ॥

ततस्तु सुग्रीवविभीषणादयः
सुहृद्विशेषाः सहलक्ष्मणास्तदा ।
समेत्य हृष्टा विजयेन राघवं
रणेऽभिरामं [3]विधिना ह्यपूजनम् ॥ ३३ ॥

तब लक्ष्मण सहित सुग्रीव, विभीषणादि सुहृद्विशेष (हनुमान जाम्बवानादि) एकत्र हो, श्रीरामचन्द्र जी की इस जीत के लिये आनन्द मनाने लगे और समर में दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी को क्रम से स्तुति करने लगे। (यहाँ स्तुति शब्द से अभिप्राय बधाई देने से है) ॥ ३३ ॥

---

१ प्रशमं—प्रसादं। (गो०) २ मरुद्गणाः—देवगणाः। (गो०)
३ विधिना—क्रमेण। (गो०)

स तु निहतरिपुः स्थिरप्रतिज्ञः
स्वजनबलाभिवृतो रणे रराज ।
रघुकुलनृपनन्दनो महौजा-
स्त्रिदशगणैरभिसंवृतो यथेन्द्रः ॥ ३४ ॥

इति एकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

शत्रु को मार कर दृढ़प्रतिज्ञ एवं महाप्रतापी रघुकुल-नृप-नन्दन श्रीरामचन्द्र जी समरभूमि में सुहृदों के बीच वैसे ही शोभायमान हुए; जैसे देवताओं के बीच में इन्द्र शोभायमान होते हैं ॥ ३४ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्वादशोत्तरशततमः सर्गः

—※—

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा शयानं रामनिर्जितम् ।
शोकवेगपरीतात्मा विललाप विभीषणः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी से परास्त अपने भाई रावण को मृतक हो, भूमि पर अनन्त निद्रा में सोते देख, शोक से विकल विभीषण विलाप कर (कहने) लगे ॥ १ ॥

वीर विक्रान्तविख्यात [1]विनीत नयकोविद ।
महार्हशयनोपेत किं शेषेऽद्य हतो भुवि ॥ २ ॥

---

१ विनीत—विद्यासुशिक्षित । (गो०)

हे वीर ! हे विख्यात पराक्रमी ! हे सुशिक्षित ! हे नीतिचतुर ! तुम बढ़िया सेजों पर सोने वाले हो कर, आज मृतक हो पृथिवी पर पड़े क्यों सो रहे हो ? ॥ २ ॥

विक्षिप्य दीर्घौ निश्चेष्टौ भुजावङ्गदभूषितौ ।
मुकुटेनापवृत्तेन भास्कराकारवर्चसा ॥ ३ ॥

बाजूबन्दों से शोभित तुम्हारी लंबी दोनों भुजाएँ चेष्टाहीन हो फैली हुई हैं और सूर्य की तरह चमकीला मुकुट अलग पड़ा है ॥ ३ ॥

[नोट—"दीर्घौ" "निश्चेष्टौ" इन द्विवचनात्मक भुजाओं के विशेषणों से जान पड़ता है कि, मरने के समय रावण के दो ही भुजाएं रह गयी थीं ।]

तदिदं वीर सम्प्राप्तं मया पूर्वं समीरितम् ।
काममोहपरीतस्य यत्ते न रुचितं वचः ॥ ४ ॥

हे वीर ! मैंने तो तुमसे पहिले ही कहा था, पर उस समय तुम काम और मोह में फँसे हुए थे । अतः मेरी बात तुमको रुची ही नहीं । अन्त में मेरी कही बातें सामने आयीं ॥ ४ ॥

यन्न दर्पात्प्रहस्तो वा नेन्द्रजिन्नापरे जनाः ।
न कुम्भकर्णोऽतिरथो[1] नातिकायो नरान्तकः ॥ ५ ॥

अहङ्कार में चूर होने के कारण न तो प्रहस्त ने, न इन्द्रजीत ने, न अन्य लोगों ने, न कुम्भकर्ण ने, न महारथी अतिकाय ने, न नरान्तक ने ॥ ५ ॥

न स्वयं त्वममन्येथास्तस्योदर्कोऽयमागतः ।
गतः सेतुः सुनीतानां गतो धर्मस्य विग्रहः[2] ॥ ६ ॥

---

१ अतिरथ—इत्यतिकायविशेषणं । (गो०) २ विग्रहः—विरोधः । (गो०)

न स्वयं तुमने ही मेरा कहना माना। यह उसीका परिणाम है जो तुम इस दशा को प्राप्त हुए। हा! आज तुम्हारे मरने से सुनीतिज्ञों की मर्यादा नष्ट हो गयी, धर्म का विरोधी जाता रहा। अथवा शरीरधारी धर्म का नाश हो गया (रावण अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मकाण्ड में सदा निरत रहता था—घोर तपस्या भी कर चुका था अतः इस अर्थ में भी कोई विशेष बाधा नहीं पड़ सकती।) ॥ ६ ॥

गतः [1]सत्त्वस्य संक्षेपः सुहृत्तानां[2] गतिर्गता।
आदित्यः पतितो भूमौ मग्नस्तमसि चन्द्रमाः ॥ ७ ॥

चित्रभानुः[3] प्रशान्तार्चिर्व्यवसायो निरुद्यमः।
अस्मिन्निपतिते भूमौ वीरे शस्त्रभृतां वरे ॥ ८ ॥

हे वीर! तुम्हारे मरने से आज बल (सेना) का संग्रह नष्ट हो गया (अर्थात् एक विख्यात बलवान् पुरुष उठ गया) और वीरों की गति (आश्रय) जाती रही। तुम्हारे जैसे शस्त्रधारियों में श्रेष्ठवीर के वीरगति को प्राप्त होने से सूर्य पृथिवी पर गिर पड़ा, चन्द्रमा अन्धकार में डूब गया। अग्नि की ज्वाला शान्त हो गयी। उत्साह निराधार हो गया ॥ ७ ॥ ८ ॥

किं शेषमिव लोकस्य हतवीरस्य साम्प्रतम्।
रणे राक्षसशार्दूले प्रसुप्त इव पांसुषु ॥ ९ ॥

हे राक्षसशार्दूल! रण में तुम्हारे मारे जाने व धूल में लोटने से, इस लङ्का में अब रह ही क्या गया? ॥ ९ ॥

---

१ सत्त्वस्य संक्षेपः—बलस्य संग्रहः। (गो०) २ सुहृत्तानां—वीराणां। (रा०) ३ चित्रभानुः—वन्हिः। (गो०)

धृतिप्रवालः प्रसहाग्र्यपुष्पः
तपोबलः शौर्यनिबद्धमूलः ।
रणे महान्राक्षसराजवृक्षः
संमर्दितो राघवमारुतेन ॥ १० ॥

हा ! धैर्यरूपी पत्तों, सहनशीलतारूपी फूलों, तपस्यारूपी फलों और शूरतारूपी दृढ़मूल वाले रावणरूपी वृक्ष को, श्रीरामचन्द्ररूपी पवन ने उखाड़ कर फेंक दिया ! ॥ १० ॥

तेजोविषाणः कुलवंशवंशः[1]
कोपप्रसादापरगात्रहस्तः ।
इक्ष्वाकुसिंहावगृहीतदेहः
सुप्तः क्षितौ रावणगन्धहस्ती ॥ ११

तेजरूपी दाँतों वाला, कुलवंशरूपी पीठ की हड्डी वाला, क्रोध और प्रसन्नतारूपी सूँड़ वाला रावणरूपी मदमत्त हाथी, इक्ष्वाकुकुलोद्भव श्रीरामचन्द्ररूपी सिंह के वश में हो, अब पृथिवी पर पड़ा सो रहा है ॥ ११ ॥

पराक्रमोत्साहविजृम्भितार्चिः
निश्वासधूमः स्वबलप्रतापः ।
प्रतापवान्संयति राक्षसाग्निः
निर्वापितो रामपयोधरेण ॥ १२ ॥

पराक्रम और उत्साहरूपी प्रकाशमान ज्वाला वाले, बलरूपी धुआँ से युक्त और महाप्रतापरूपी अग्नि वाले रावणरूपी अग्नि

1 " वंशो वेणौ कुले वर्गे पृष्ठस्यावयवेऽपि च "—इति विश्वः ।

को, श्रीरामचन्द्ररूपी मेघ ने (बाणरूपी जलवर्षा कर) बुझा दिया ॥ १२ ॥

सिंहर्क्षलाङ्गूलककुद्विषाणः
परामिजिद्गन्धनगन्धहस्ती ।
रक्षोवृषश्चापलकर्णचक्षुः
क्षितीश्वरव्याघ्रहतोऽवसन्नः ॥ १३ ॥

जिसके राक्षसरूपी पूँछ, कंधा और सींग थे, शत्रुओं को जीतना ही जिसका मत्त हाथियों की तरह मद था. विषयलोलुपता ही जिसके कान और आँखें थीं; ऐसे रावणरूपी साँड़ को, श्रीरामरूपी शार्दूल ने मार गिराया ॥ १३ ॥

वदन्तं हेतुमद्वाक्यं [1]परिदृष्टार्थनिश्चयम् ।
रामः शोकसमाविष्टमित्युवाच विभीषणम् ॥ १४ ॥

विभीषण जब इस प्रकार के युक्तियुक्त स्पष्टार्थ-बोधक वचनों से युक्त विलाप कर रहे थे, तब शोक से विकल विभीषण से श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ १४ ॥

नायं विनष्टो निश्चेष्टः समरे चण्डविक्रमः ।
अत्युन्नतमहोत्साहः पतितोऽयमशङ्कितः[2] ॥ १५ ॥

यह प्रचण्डपराक्रमी राक्षसराज रावण समर में निश्चेष्ट या सामर्थ्यहीन होकर नहीं मारा गया है । इसका युद्धोत्साह तो बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ था, अर्थात् यह अत्यन्त बलशाली था और इसे मौत का भी डर न था यह तो (दैववश) मर कर गिर गया है ॥ १५ ॥

---

१ परिदृष्टार्थनिश्चयम्—स्पष्टं प्रकाशितार्थनिश्चयो यस्मात् । (शि०)

२ अशङ्कितः पतितः—विनष्टः । (गो०)

नैवं विनष्टाः शोच्यन्ते क्षत्रधर्ममवस्थिताः ।
वृद्धिमाशंसमाना ये निपतन्ति रणाजिरे ॥ १६ ॥

जो अपने लिये परलोक की वृद्धि की आकांक्षा रखते हुए समरभूमि में मारे जाते हैं, ऐसे वीरों के लिये वीरोचित धर्म में स्थित जन शोक नहीं किया करते ॥ १६ ॥

येन सेन्द्रास्त्रयो लोकास्त्रासिता युधि धीमता ।
तस्मिन्कालसमायुक्ते न कालः परिशोचितुम् ॥ १७ ॥

जिस बुद्धिमान रावण ने इन्द्रसहित तीनों लोकों को युद्ध में त्रस्त कर रखा था, उस रावण के वीरगति को प्राप्त होने पर, उसके लिये शोकान्वित होने का यह अवसर नहीं है ॥ १७ ॥

नैकान्तविजयो युद्धे भूतपूर्वः कदाचन ।
परैर्वा हन्यते वीरः परान्वा हन्ति संयुगे ॥ १८ ॥

सदा किसी की जीत नहीं हुआ करती । वीर समरभूमि में पहुँच कर या तो अपने प्रतिद्वन्द्वी को मार डालता है, अथवा स्वयं उसके हाथ से मारा जाता है ॥ १८ ॥

इयं हि [1]पूर्वैः सन्दिष्टा गतिः [2]क्षत्रियसम्मता ।
क्षत्रियो निहतः संख्ये न शोच्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

इस प्रकार समर में मारे जाने की प्रशंसा मन्वादि करते चले आते हैं और वीर लोग भी इसको सराहते आते हैं । जो वीर युद्ध में मारा जाता है, वह निश्चय ही शोच्य नहीं है; अर्थात् शोक करने योग्य नहीं होता ॥ १९ ॥

---

१ पूर्वैः—मन्वादिभिः । (रा०) २ क्षत्रियः—शूरः । (गो०)

[नोट—इस श्लोक में "क्षत्रिय" शब्द आया है रावण जाति का क्षत्रिय न था, अतएव टीकाकारों ने "क्षत्रिय" शब्द का अर्थ वीर किया है, जो निर्विवाद है।]

तदेवं निश्चयं [1]दृष्ट्वा [2]तत्त्वमास्थाय विज्वरः।
यदिहानन्तरं कार्यं कल्प्यं तदनु चिन्तय ॥ २० ॥

हे विभीषण! जो जन्मा है सो एक दिन अवश्य मरेगा, यह निश्चय जान कर अब शोक त्याग दो और आगे जो करना है उसे करो ॥ २० ॥

तमुक्तवाक्यं विक्रान्तं राजपुत्रं विभीषणः।
उवाच शोकसन्तप्तो भ्रातुर्हितमनन्तरम् ॥ २१ ॥

जब पराक्रमी राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी ने विभीषण को समझाया, तब शोकसन्तप्त विभीषण अपने भाई के पक्ष में हित कर वचन बोले ॥ २१ ॥

योऽयं विमर्देषु न भग्नपूर्वः
सुरैः समेतैः सह वासवेन।
भवन्तमासाद्य रणे विभग्नो
वेलामिवासाद्य यथा समुद्रः ॥ २२ ॥

हे राम! जो रावण आज तक कभी किसी युद्ध में नहीं हारा था, अन्य तो अन्य समस्त देवताओं सहित इन्द्र भी जिसे नहीं हरा सके थे; वह आपके हाथ से इस प्रकार नाश को प्राप्त हुआ; जिस प्रकार समुद्र का जल अपनी मर्यादा पर पहुँच फिर अपने स्थान को लौट जाता है ॥ २२ ॥

---

१ दृष्ट्वा—ज्ञात्वा। (गो०) २ तत्त्वमास्थाय परमार्थबुद्धिमवलम्ब्य जनिमतावश्यं मृत्युं ज्ञात्वेत्यर्थः। (गो०)

अनेन दत्तानि [1]सुपूजितानि
भुक्ताश्च भोगा [2]निभृताश्च भृत्याः ।
धनानि मित्रेषु समर्पितानि
वैराण्यमित्रेषु च यापितानि ॥ २३ ॥

हे राघव! इसने बड़े बड़े दान दिये। इसने अपने इष्टदेव तथा गुरुजनों का भली भाँति पूजन (सत्कार) किया। भोगने योग्य पदार्थों को भलीभाँति भोगा; अपने नौकर चाकरों का अच्छी तरह पालन पोषण किया, अपने मित्रों को धनादि देकर सन्तुष्ट किया और शत्रुओं को भली भाँति झुकाया अथवा उनसे पूरा पूरा बदला लिया ॥ २३ ॥

एषो हिताग्निश्च महातपाश्च
वेदान्तगः [3]कर्मसु चाग्र्यवीर्यः ।
एतस्य यत्प्रेतगतस्य कृत्यं
तत्कर्तुमिच्छामि तव प्रसादात् ॥ २४ ॥

यह आहिताग्नि था (विधिवत् नित्य अग्निहोत्र किया करता था) बड़ीतपस्या करने वाला था। वेदान्तशास्त्र का ज्ञाता था, (अथवा इसने वेदों का आद्यन्त अध्ययन किया था)। बड़ा कर्मशूर अथवा कर्मठ था। अतः आपके अनुग्रह से अब मैं इसके मृतककर्म करना चाहता हूँ। (क्योंकि अब मृतककर्म करने वाला इसका कोई पुत्र तो रहा नहीं। पुत्र के अभाव में भाई ही को मृतककर्म करने का अधिकार है।) ॥ २४ ॥

---

१ गुरुदेवतानीतिशेषः। (गो०) २ निभृताः—नितरांभृताः। (गो०)
३ कर्मसु चाग्र्यवीर्यः—कर्मशूर इत्यर्थः। (गो०)

स तस्य वाक्यैः करुणैर्महात्मा
सम्बोधितः साधु विभीषणेन ।
आज्ञापयामास नरेन्द्रसूनुः
स्वर्गीय[1]माधानमदीनसत्त्वः ॥ २५ ॥

साधुश्रेष्ठ विभीषण के इन अत्यन्त दुःखपूरित वचनों को सुन, राजकुमार महाबुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र जी ने रावण के स्वर्ग जाने के लिये उसके मृतक कर्म करने की आज्ञा दी ॥ २५ ॥

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥ २६ ॥

इति द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

(श्रीरामचन्द्र जी ने यह भी कहा कि) मरने तक ही वैर रहता है, परन्तु अब जब मेरा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, तब वैर नहीं करना चाहिये। अब तो यह जैसा तुम्हारा भाई था वैसा ही मेरा है, अतएव इसका यायजूकोचित संस्कार करो ॥ २६ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौबारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः

—※—

रावणं निहतं श्रुत्वा राघवेण महात्मना ।
अन्तःपुराद्विनिष्पेतू राक्षस्यः शोककर्शिताः ॥ १ ॥

---

१ आधानं—अन्त्येष्टि संज्ञक कर्म। (गो०)

महाबलवान श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से रावण का मारा जाना सुन, शोक से पीड़ित रावण की स्त्रियां रनवास से निकलीं ॥ १ ॥

वार्यमाणाः सुबहुशो वेष्टन्त्यः क्षितिपांसुषु ।
विमुक्तकेश्यो दुःखार्ता गावो वत्सहता इव ॥ २ ॥

वे सब वारंवार रोकी जाने पर भी, मृतवत्सा गाय की तरह शोकपीड़ित हो, सिर के बाल खोले, ज़मीन पर धूल में लोटती हुई ॥ २ ॥

उत्तरेण विनिष्क्रम्य द्वारेण सह राक्षसैः ।
प्रविश्यायोधनं घोरं विचिन्वत्यो हतं पतिम् ॥ ३ ॥

लङ्का के उत्तर फाटक से राक्षसों (नौकर राक्षसों) के साथ निकलीं और भयङ्कर समरभूमि में जा अपने मृतपति को ढूँढ़ने लगीं ॥ ३ ॥

राजपुत्रेतिवादिन्यो हा नाथेति च सर्वशः ।
परिपेतुः कवन्धाङ्कां महीं शोणितकर्दमाम् ॥ ४ ॥

वे सब, "हा आर्यपुत्र"! (यह पति के लिये सम्बोधन) हा नाथ! कह कर चिल्लातीं, रक्त की कीच से भरी और बिना सिर के धड़ों से परिपूर्ण समरभूमि में जाकर गिर पड़ीं ॥ ४ ॥

ता बाष्पपरिपूर्णाक्ष्यो भर्तृशोकपराजिताः ।
करेण्व इव नर्दन्त्यो विनेदुर्हतयूथपाः ॥ ५ ॥

वे आंखों में आंसू भर, पतिशोक से विकल, गजपति के मरने से हथिनियों की नाईं चिंघारती थीं ॥ ५ ॥

दहशुस्तं महावीर्यं महाकायं महाद्युतिम् ।
रावणं निहतं भूमौ नीलाञ्जनचयोपमम् ॥ ६ ॥

ढूँढ़ते ढूँढ़ते उन्होंने विशालकाय, महापराक्रमी, महाकान्तिमान् और नील कज्जल के ढेर की तरह रावण के (मृतक शरीर) को देखा ॥ ६ ॥

ताः पतिं सहसा दृष्ट्वा शयानं रणपांसुषु ।
निपेतुस्तस्य गात्रेषु च्छिन्ना वनलता इव ॥ ७ ॥

अपने पति को रणभूमि पर धूल में पड़ा देख, वे उसके शरीर पर वैसे ही धड़ाम से गिर पड़ीं; जैसे कटी हुई वनलता धड़ाम से गिर पड़ती है ॥ ७ ॥

बहुमानात्परिष्वज्य काचिदेनं रुरोद ह ।
चरणौ काचिदालिङ्ग्य काचित्कण्ठेऽवलम्ब्य च ॥८॥

उनमें से कोई तो बड़े आदर के साथ उससे लिपट गयीं, कोई उसके पैरों से लिपट कर और कोई उसके कण्ठ को पकड़ कर रोने लगीं ॥ ८ ॥

उद्धृत्य च भुजौ काचिद्भूमौ स्म परिवर्तते ।
हतस्य वदनं दृष्ट्वा काचिन्मोहमुपागमत् ॥ ९ ॥

कोई अपनी दोनों भुजाएँ फैला ज़मीन पर लोटने लगी और कोई उसका मुख देख मूर्च्छित हो गयी ॥ ९ ॥

काचिदङ्के शिरः कृत्वा रुरोद मुखमीक्षती ।
स्नापयन्ती मुखं बाष्पैस्तुषारैरिव पङ्कजम् ॥ १० ॥

कोई कोई उसके सिर को अपनी गोद में रख और उसके मुख को देख देख कर रोने लगीं और आंसुओं की बूँदों से उसका मुख ऐसे भिगोने लगीं जैसे तुषार की बूँदें कमल को भिगोती हैं ॥१०॥

एवमार्ताः पतिं दृष्ट्वा रावणं निहतं भुवि ।
चुक्रुशुर्बहुधा शोकाद्भूयस्ताः पर्यदेवयन् ॥ ११ ॥

वे अपने पति को ज़मीन पर मरा हुआ पड़ा देख, बड़े ज़ोर से चिल्ला कर रोने लगीं और बहुत विलाप करने लगीं ॥ ११ ॥

येन वित्रासितः शक्रो येन वित्रासितो यमः ।
येन वैश्रवणो राजा पुष्पकेण वियोजितः ॥ १२ ॥

(विलाप करती हुई वे कहने लगीं) जिसने इन्द्र और यम को युद्ध में भयभीत कर दिया, जिसने कुबेर से पुष्पक विमान छीन लिया ॥ १२ ॥

गन्धर्वाणामृषीणां च सुराणां च महात्मनाम् ।
भयं येन महद्दत्तं सोऽयं शेते रणे हतः ॥ १३ ॥

जिसने गन्धर्वों, ऋषियों और बड़े बड़े देवताओं को अत्यन्त भयभीत कर दिया, वही युद्ध में मारा जा कर, लड़ाई के मैदान में सो रहा है ॥ १३ ॥

असुरेभ्यः सुरेभ्यो वा पन्नगेभ्योऽपि वा तथा ।
न भयं यो विजानाति तस्येदं मानुषाद्भयम् ॥ १४ ॥

हाय! जो आज तक न तो कभी देवताओं से, न असुरों से और न नागों से भयभीत हुआ था; उसे आज मनुष्यों से भयभीत होना पड़ा है ॥ १४ ॥

अवध्यो देवतानां यस्तथा दानवरक्षसाम् ।
हतः सोऽयं रणे शेते मानुषेण पदातिना ॥ १५ ॥

जो देवताओं, दानवों और राक्षसों से अवध्य था; वह आज एक पैदल मनुष्य के हाथ से मारा जा कर लड़ाई के मैदान में सो रहा है ॥ १५ ॥

यो न शक्यः सुरैर्हन्तुं न यक्षैर्नासुरैस्तथा ।
सोऽयं कश्चिदिवासत्त्वो मृत्युं मर्त्येन लम्भितः ॥१६॥

जिसे आज तक देवता, यक्ष और दैत्य नहीं मार सके थे वह एक साधारण प्राणी की तरह एक मनुष्य के हाथ से मारा गया ॥ १६ ॥

एवं वदन्त्यो बहुधा रुरुदुस्तस्य ताः स्त्रियः ।
भूय एव च दुःखार्ता विलेपुश्च पुनः पुनः ॥ १७ ॥

इस प्रकार विविध प्रकार से विलाप करती हुई वे राक्षसियाँ अत्यन्त दुखी हो रो रही थीं। फिर वे दुःख से पीड़ित हो विलाप करती हुई कहने लगीं ॥ १७ ॥

अशृण्वता च सुहृदां सततं हितवादिनाम् ।
मरणायाहृता सीता घातिताश्च निशाचराः ॥ १८ ॥

(यह सदैव हित चाहने वाले सुहृदों के कथन पर कान न देकर, स्वयं मरने और राक्षसों को मरवाने के लिये, सीता को हर लाया ॥ १८ ॥

एताः सममिदानीं ते वयमात्मा च पातिताः ।
ब्रुवाणोपि हितं वाक्यमिष्टो भ्राता विभीषणः ॥ १९ ॥

इसीसे सब तुम्हारे पक्ष वाले राक्षस तुम्हारी तरह मारे गये और हम सब भी मारी पड़ीं। तुम्हारे प्यारे भाई विभीषण ने तुम्हारे हित ही की बात कही थी ॥ १६ ॥

धृष्टं परुषितो मोहात्त्वयाऽऽत्मवधकाङ्क्षिणा ।
यदि निर्यातिता ते स्यात्सीता रामाय मैथिली ॥ २० ॥

पर तुमने भ्रम में पड़, मरने के लिये ही उससे कठोर वचन कह उसे निकाल दिया। यदि विभीषण के कथनानुसार तुमने राम को सीता लौटा दी होती ॥ २० ॥

न नः स्याद्व्यसनं घोरमिदं मूलहरं महत् ।
[1]वृत्तकामो भवेद्भ्राता रामो मित्रकुलं भवेत् ॥ २१ ॥

तो हमें जड़ से नष्ट करने वाली यह घोर विपत्ति हमारे ऊपर क्यों पड़ती! (प्रत्युत उसके कथनानुसार चलने से) तुम्हारे भाई का कहना भी रह जाता और श्रीरामचन्द्र भी तुम्हारे मित्र हो जाते ॥ २१ ॥

वयं चाविधवाः सर्वा सकामा न च शत्रवः ।
त्वया पुनर्नृशंसेन सीतां संरुन्धता बलात् ॥ २२ ॥

तथा न हम सब विधवाएँ होतीं और न शत्रुओं का मनोरथ ही पूरा होता। किन्तु तुमने तो निष्ठुरतापूर्वक ज़बरदस्ती सीता को अपने घर में बंद रक्खा ॥ २२ ॥

राक्षसा वयमात्मा च त्रयं तुल्यं निपातितम् ।
न कामकारः कामं वा तव राक्षसपुङ्गव ॥ २३ ॥

---

१ वृत्तकामः—निष्पन्न मनोरथः। (गो०)

इससे तुमने एक ही बार में अपना, हमारा और अन्य समस्त राक्षसों का—इन तीनों का सर्वनाश कर डाला। अथवा हे राक्षस-श्रेष्ठ! ये सब तुमने अपनी इच्छा के अनुसार नहीं किया ॥ २३ ॥

दैवं चेष्टयते सर्वं हतं दैवेन हन्यते ।
वानराणां विनाशोऽयं रक्षसां च महाहवे ॥ २४ ॥

तव चैव महाबाहो दैवयोगादुपागतः ।
नवार्थेन न कामेन विक्रमेण न चाज्ञया ।
शक्या दैवगतिर्लोके निवर्तयितुमुद्यता ॥ २५ ॥

ये सब दैव की करतूत है। दैव भी मरे हुए को मारता है। हे महाबाहो! इस महासमर में वानरों का, राक्षसों का और तुम्हारा सर्वनाश दैवयोग ही से हुआ है। क्योंकि दैवगति ऐसी है कि वह धन से, चाहने से, पुरुषार्थ से अथवा आज्ञा से किसी के टाले नहीं टल सकती ॥ २४ ॥ २५ ॥

विलेपुरेवं दीनास्ता रक्षसाधिपयोषितः ।
कुरर्य इव दुःखार्ता बाष्पपर्याकुलेक्षणाः ॥ २६ ॥

इति त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

वे राक्षसराज की रानियां दुःख से पीड़ित हो, दीनभाव से आंखों में आंसू भर कर कुररी पक्षियों की तरह रोने लगीं ॥ २६ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौ तेरवां सर्ग पूरा हुआ।

—०—

चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

तासां विलपमानानां तथा राक्षसयोषिताम् ।

ज्येष्ठा पत्नी प्रिया दीना[1] भर्तारं समुदैक्षत ॥ १ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई रावण की स्त्रियों में सब से जेठी, प्यारी व सती मन्दोदरी अपने पति की उस दशा को देखती हुई ॥ १ ॥

दशग्रीवं हतं दृष्ट्वा रामेणाचिन्त्यकर्मणा ।

पतिं मन्दोदरी* तत्र कृपणा पर्यदेवयत् ॥ २ ॥

अनहोनी बातें करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से अपने पति रावण को मरा हुआ देख, पटरानी मन्दोदरी दुःखी हो विलाप करने लगी ॥ २ ॥

ननु नाम महाभाग तव वैश्रवणानुज ।

क्रुद्धस्य प्रमुखे स्थातुं त्रस्यत्यपि पुरन्दरः ॥ ३ ॥

हे महाभाग ! कुबेर के छोटे भाई ! हे जगद्विख्यात ! जब तुम क्रोध करते थे; तब इन्द्र भी तुम्हारे सामने खड़े नहीं रह सकते थे ॥ ३ ॥

ऋषयश्च महीदेवा गन्धर्वाश्च यशस्विनः ।

ननु नाम तवोद्वेगाच्चारणाश्च दिशो गताः ॥ ४ ॥

हे जगद्विख्यात ! ऋषि, ब्राह्मण, नामी नामी गन्धर्व लोग और बड़े बड़े चारण तुम्हारे क्रुद्ध होने पर दसों दिशाओं में भाग जाते थे ॥ ४ ॥

---

१ दीना—सती । (गो०) * पाठान्तरे—" मण्डोदरी " ।

स त्वं मानुषमात्रेण रामेण युधि निर्जितः ।
न व्यपत्रपसे राजन्किमिदं राक्षसर्षभ ॥ ५ ॥

सो वही तुम आज केवल राम नामक एक मनुष्य के हाथ से समर में पराजित होकर नहीं लजाते। हे राजन्! हे राक्षसश्रेष्ठ! इसका कारण क्या है ॥ ५ ॥

कथं त्रैलोक्यमाक्रम्य श्रिया वीर्येण चान्वितम् ।
अविषह्यं जघान त्वां मानुषो वनगोचरः ॥ ६ ॥

तीनों लोकों के जीतने वाले बड़े धनवान, दबंग और असह्य (जिसके क्रोध या बल को दूसरे न सह सके) को एक जंगली मनुष्य ने मार डाला! (क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है) ॥ ६ ॥

मानुषाणामविषये[1] चरतः कामरूपिणः ।
विनाशस्तव रामेण संयुगे नोपपद्यते ॥ ७ ॥

तुम तो ऐसी जगह में रहते थे जहाँ कोई भी मनुष्य आ नहीं सकता था। इतना ही नहीं तुम इच्छारूपी भी थे। अतः राम के हाथ से रण में तुम्हारा मारा जाना सर्वथा असम्भव है ॥ ७ ॥

न चैतत्कर्म रामस्य श्रद्दधामि चमूमुखे ।
[2]सर्वतः समुपेतस्य तव तेनाभिमर्शनम् ॥ ८ ॥

मुझे राम के इस कार्य पर विश्वास नहीं होता कि, सर्वत्र विजयी तुमको अथवा युद्ध की समस्त सामग्री रहते हुए भी तुमको, उन्होंने समर में मार डाला। (इसका तात्पर्य यह है

---

१ अविषये—अगम्यदेशे। (गो०) २ सर्वतः समुपेतस्य—सर्वतः जयोपेतस्य। (रा०) अथवा निखिल युद्धोपकरणैः समुपेतस्य। (शि०)

कि मंदोदरी श्रीरामचन्द्र जी के मनुष्य होने में विश्वास नहीं करती। (आगे यही बात स्पष्टरूप से मन्दोदरी कहती है) ॥ ८ ॥

यदैव च जनस्थाने राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ।
खरस्तव हतो भ्राता तदैवासौ न मानुषः ॥ ९ ॥

जब जनस्थान में बहुत से राक्षसों के साथ तुम्हारे भाई खर को श्रीरामचन्द्र जी ने मारा था, तभी मुझे विश्वास हो गया था कि, यह श्रीरामचन्द्र मनुष्य नहीं हैं ॥ ९ ॥

यदैव नगरीं लङ्कां दुष्प्रवेशां सुरैरपि ।
प्रविष्टो हनुमान्वीर्यात्तदैव व्यथिता वयम् ॥ १० ॥

फिर जब इस (अगम्य) लङ्कापुरी में जिसमें देवता भी नहीं फटक सकते, बलपूर्वक हनुमान घुस आया; तभी हम लोगों को बड़ी व्यथा हुई थी ॥ १० ॥

यदैव वानरैर्घोरैर्बद्धः सेतुर्महार्णवे ।
तदैव हृदयेनाहं शङ्के राममानुषम् ॥ ११ ॥

जब बड़े बड़े भयङ्कर वानरों ने समुद्र के ऊपर पुल बांधा; तभी मेरे मन में श्रीरामचन्द्र जी के मनुष्य होने में सन्देह उत्पन्न हो गया था ॥ ११ ॥

अथवा रामरूपेण कृतान्तः स्वयमागतः ।
मायां तव विनाशाय विधायाप्रतितर्किताम् ॥ १२ ॥

(१) (हाँ ऐसा हो कि) तुम्हारी अप्रतितर्कित माया का विनाश करने को श्रीरामचन्द्र का रूप धारण कर काल स्वयं आया हो। (२) (अथवा हाँ कदाचित्) श्रीराम जी का रूप धारण कर स्वयं यमराज आये हों, जिन्होंने तुम्हारे विनाश के लिये यह अप्रतितर्कित माया फैलायी हो ॥ १२ ॥

अथवा वासवेन त्वं धर्षितोऽसि महाबल ।
वासवस्य कुतः शक्तिस्त्वां द्रष्टुमपि संयुगे ॥ १३ ॥

अथवा हे महाबली ! इन्द्र ने तुम्हारा वध किया हो । (किन्तु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती ; क्योंकि) इन्द्र में यह शक्ति नहीं है कि, रण में तुम्हारी ओर आँख उठा कर देख भी सके ॥ १३ ॥

व्यक्तमेष [1]महायोगी [2]परमात्मा सनातनः ।
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान् ॥ १४ ॥

[3]तमसः परमो धाता शङ्खचक्रगदाधरः ।
[4]श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः ॥१५॥

मानुषं वपुरास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः ।
सर्वैः परिवृतो देवैर्वानरत्वमुपागतैः ॥ १६ ॥

[5]सर्वलोकेश्वरः साक्षाल्लोकानां हितकाम्यया ।
सराक्षसपरीवारं हतवांस्त्वां महाद्युतिः ॥ १७ ॥

अतः यह स्पष्ट है कि, यह श्रीरामचन्द्र जी निश्चय ही समस्त प्राणियों की रक्षा की चिन्ता करने वाले, समस्त जीवों में उत्कृष्ट, सनातन, जन्म-वृद्धि-विनाश-रहित और महान् से भी महान् हैं ।

---

१ महायोगी—महानयोगः लोकरक्षणोपायचिन्ता यस्यास्तीति महायोगी । (गो०) २ परमात्मा—परमश्चासावात्मा च परमात्मा । सर्वजीवात्मभ्य उत्कृष्ट इत्यर्थः । (गो०) ३ तमसः—प्राकृतमण्डलस्य परमः परस्तादप्राकृते वैकुण्ठे विद्यमानः । (गो०) ४ श्रीवत्सवक्षा—रक्तवर्णो मत्स्यविशेषः सः वक्षसि दक्षिणे यस्य स श्रीवत्सवक्षाः (गो०) ५ सर्वलोकेश्वरः—सर्वलोकानां नियन्ता, अनिष्टनिवृत्तीष्टप्रापणयोः कर्त्ता । (गो०)

वैकुण्ठवासी, समस्त जीवों के परम पोषक, शङ्ख-चक्र-गदा-धारी, वक्षःस्थल के दक्षिण भाग में लाल रंग का मत्स्य चिन्ह धारण करने वाले, अनपायनी श्री से युक्त, अजेय, शाश्वत और सत्य पराक्रमी विष्णु भगवान् मनुष्य का रूप धारण कर के आये हैं। सब देवता वानरों का रूप धारण करके उनके साथ आये हैं। उन्हीं सब लोकों के स्वामी महाद्युतिमान साक्षात् विष्णु ने प्राणि-मात्र की हितकामना के लिये, सपरिवार तुमको नष्ट कर डाला है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

[नोट—श्लोक १४ से १७ तक भगवान् वाल्मीकि ने मन्दोदरी के मुख से यह बात प्रतिपादित करवायी है कि, महायोगित्वादिगुणविशिष्ट विष्णु ही श्रीरामचन्द्र जी का रूप धर कर अवतरे हैं और भगवान् अन्य समस्त देवताओं की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं।]

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया ।
स्मरद्भिरिव तद्वैरमिन्द्रियैरेव निर्जितः ॥ १८ ॥

तुमने प्रथम अपनी इन्द्रियों को जीता, तदनन्तर तीनों भुवनों को जीता था। सो तुम्हारी इन्द्रियों ने उस वैर को स्मरण कर अब उन्होंने ही तुम्हें परास्त किया है ॥ १८ ॥

क्रियतामविरोधश्च राघवेणेति यन्मया ।
उच्यमानो न गृह्णासि तस्येयं [1]व्युष्टिरागता ॥ १९

मैंने तुमसे कहा था कि, तुम रघुनाथ जी से बैर मत करो। किन्तु मेरे कहने पर भी तुमने मेरा कहना न माना। उसीका यह फल मिला है ॥ १९ ॥

---

१ व्युष्टिः—फलं। (गो०)

[1]अकस्माच्चाभिकामोऽसि सीतां राक्षसपुङ्गव ।
ऐश्वर्यस्य विनाशाय देहस्य स्वजनस्य च ॥ २० ॥

हे राक्षसश्रेष्ठ ! तुमने अपने ऐश्वर्य, शरीर और स्वजनों के विनाश के लिये ही अकारण सीता की चाहना की ॥ २० ॥

अरुन्धत्या विशिष्टां तां रोहिण्याश्चापि दुर्मते ।
सीतां धर्षयता मान्यां त्वया ह्यसदृशं कृतम् ॥ २१ ॥

अरे दुर्मते ! अरुन्धती और रोहिणी से बढ़ कर मान्य सीता को तुमने हरा सो तुमने बड़ा ही अनुचित काम किया ॥ २१ ॥

[नोट—जब सीता अरुन्धती और रोहिणी से भी बढ़ कर सतीत्व में थीं; तब यह स्वाभाविक शङ्का होती है कि, सतीत्व के प्रभाव से हरते समय सीता ने रावण को दग्ध क्यों नहीं कर डाला; इस शङ्का की निवृत्ति के लिये आदिकवि मंदोदरी ही से कहला देते हैं कि—]

वसुधायाश्च वसुधां श्रियः श्रीं भर्तृवत्सलाम् ।
सीतां सर्वानवद्याङ्गीमरण्ये विजने शुभाम् ॥ २२ ॥

आनयित्वा तु तां दीनां छद्मनात्मस्वदूषण ।
अप्राप्य चैव तं कामं मैथिलीसङ्गमे कृतम् ॥ २३ ॥

सीता पृथिवी से भी बढ़ कर क्षमाशील, समस्त सम्पदाओं की अधिष्ठात्री और देवी पतिव्रता है । अथवा पति से अत्यधिक प्यार करने वाली एवं सर्वाङ्गसुन्दरी, सौभाग्यवती और दीन सीता को उस वन में से तुम कपटपूर्वक हर लाये और अपना नाश किया ।

---

1 अकस्मात्—निर्हेतुकं । (गो०)

फिर जिस विचार से सीता को तुम लाये थे वह भी तो पूरा न हुआ ॥ २२ ॥ २३ ॥

पतिव्रतायास्तपसा नूनं दग्धोऽसि मे प्रभो ।
तदैव यन्न दग्धस्त्वं धर्षयंस्तनुमध्यमाम् ॥ २४ ॥

हे प्रभो! प्रत्युत निश्चय ही तुम उस पतिव्रता के तप रूप अग्नि से भस्म हो गये। तुमने जिस समय उस पतली कमर वाली जानकी को हरा था, उसी समय तुम भस्म हो जाते ॥ २४ ॥

देवा बिभ्यति ते सर्वे सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः ॥ २५ ॥
घोरं पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः ।
शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापमश्नुते ॥ २६ ॥

परन्तु इन्द्र, अग्नि आदि समस्त देवता तुमसे डरते थे, (इसीसे उस समय बच गये); किन्तु तुरन्त मिले अथवा कुछ समय बाद मिले—कर्ता को घोर पाप का फल परिपाक के समय अवश्य मिलता है। इसमें सन्देह नहीं। पुण्यप्रद कर्म करने वाला आनन्द भोगता है और पापकर्म करने वाला दुःख पाता है ॥ २५ ॥ ॥ २६ ॥

विभीषणः सुखं प्राप्तस्त्वं प्राप्तः पापमीदृशम्[1] ।
सन्त्यन्याः प्रमदास्तुभ्यं रूपेणाभ्यधिकास्ततः ॥२७॥

(प्रत्यक्ष देख लो) विभीषण को सुख मिला और तुमको यह दुःख मिला। तुम्हारे अन्तःपुर में तो सीता से कहीं बढ़ कर रूपवती स्त्रियाँ थीं ॥ २७ ॥

---

१ पापं—दुःखं । (गो॰)

अनङ्गवशमापन्नस्त्वं तु मोहान्न बुध्यसे ।
न कुलेन न रूपेण न दाक्षिण्येन[1] मैथिली ॥ २८ ॥

मयाधिका वा तुल्या वा त्वं तु मोहान्न बुध्यसे ।
सर्वथा सर्वभूतानां नास्ति मृत्युरलक्षणः ॥ २९ ॥

परन्तु कामासक्त हो कर तुमने अज्ञानवश यह बात न सोची । जानकी कुल में, विद्या में और चातुरी में मुझसे बढ़ कर तो क्या—मेरे समान भी तो नहीं है । पर अज्ञानवश तुमने इस बात पर ध्यान ही न दिया । बिना कारण के कोई मरता नहीं ॥ २८ ॥२९॥

तव तावदयं मृत्युर्मैथिलीकृतलक्षणः ।
सीतानिमित्तजो मृत्युस्त्वया दूरादुपाहृतः ॥ ३० ॥

सो सीता तुम्हारे मरने का हेतु हुई है । तुम स्वयं ही सीता रूपी मृत्युनिमित्त को दूर से हर लाये ॥ ३० ॥

मैथिली सह रामेण विशोका विहरिष्यति ।
अल्पपुण्या त्वहं घोरे पतिता शोकसागरे ॥ ३१ ॥

सीता तो अब श्रीरामचन्द्र जी के साथ आनन्द से विहार करेगी । मैं थोड़े पुण्यवाली होने के कारण अब घोर शोकसागर में गिर गयी ॥ ३१ ॥

कैलासे मन्दरे मेरौ तथा चैत्ररथे वने ।
देवोद्यानेषु सर्वेषु विहृत्य सहिता त्वया ॥ ३२ ॥

मैं तुम्हारे साथ कैलास, मन्दराचल, मेरु, चैत्ररथवन और देवताओं के अन्य समस्त उद्यानों में घूमा फिरा करती थी ॥३२॥

---

१ दाक्षिण्येन—विद्यासामर्थ्येन । (गो०)

विमानेनानुरूपेण या याम्यतुलया श्रिया ।
पश्यन्ती विविधान्देशांस्तांस्तांश्चित्रस्रगम्बरा ॥३३॥

मैं अतुल शोभायुक्त बढ़िया विमान में बैठ अनेक प्रकार की रंग बिरंगी मालाओं और वस्त्रों से भूषित हो विविध देशों को देखती थी ॥ ३३ ॥

भ्रंशिता कामभोगेभ्यः सास्मि वीर वधात्तव ।
सैवान्येवास्मि संवृत्ता धिग्राज्ञां चञ्चलाः श्रियः ॥३४॥

हे वीर! वही मैं, तुम्हारे न रहने से आज उन समस्त भोगों से वञ्चित हो गयी। वही आज दूसरी हो गयी। धिक्कार है चंचला राजलक्ष्मी को ॥ ३४ ॥

हा राजन्सुकुमारं ते सुभ्रु सुत्वक् समुन्नसम् ।
कान्तिश्रीद्युतिभिस्तुल्यमिन्दुपद्मदिवाकरैः ॥ ३'

हे राजन्! जो चेहरा अति सुकुमार, सुन्दर भौंहवाला, सुन्दर त्वचायुक्त, ऊँची नासिकावाला; प्रभा, सौन्दर्य और तेज में चन्द्रमा, कमल और सूर्य के समान था ॥ ३५ ॥

किरीटकूटोज्ज्वलितं ताम्रास्यं दीप्तकुण्डलम् ।
मदव्याकुललोलाक्षं भूत्वा यत्पानभूमिषु ॥ ३६ ॥

तथा जो किरीट से शोभित, ताँबे की तरह अरुण तथा झलमल करते कुण्डलों से भूषित रहता था; मद-पान-भूमि में मदपान के कारण जिसके नेत्र चंचल रहते थे ॥ ३६ ॥

विविधस्रग्धरं चारु वल्गुस्मितकथं शुभम् ।
तदेवाद्य तवेदं हि वक्त्रं न भ्राजते प्रभो ॥ ३७ ॥

जो मनोहर चेहरा, विविध प्रकार की पुष्पमालाएँ धारण कर मुस्कुराता हुआ वर्तालाप किया करता था; हे प्रभो! वही आपका चेहरा आज यहाँ अच्छा नहीं लगता ॥ ३७ ॥

रामसायकनिर्भिन्नं सिक्तं रुधिरविस्रवैः ।
विशीर्णमेदोमस्तिष्कं रूक्षं स्यन्दनरेणुभिः ॥ ३८ ॥

क्योंकि यह श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से विदीर्ण, रुधिरप्रवाह से सराबोर, मस्तिष्क की चर्बी में सना हुआ और रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल के लिपट जाने से रूखा हो रहा है ॥ ३८ ॥

हा पश्चिमा मे सम्प्राप्ता दशा वैधव्यकारिणी ।
या मयाऽऽसीन्न संबुद्धा कदाचिदपि मन्दया ॥३९॥

हाय! आज मुझे यह सब से पिछली वैधव्य देने वाली दशा प्राप्त हुई है जिसकी कि, मुझ मन्दबुद्धिवाली ने कभी कल्पना भी नहीं की थी ॥ ३९ ॥

पिता दानवराजो मे भर्ता मे राक्षसेश्वरः ।
पुत्रो मे शक्रनिर्जेता इत्येवं गर्विता भृशम् ॥ ४० ॥

क्योंकि, दानवराज तो मेरे पिता, राक्षसराज मेरे पति, इन्द्र को जीतने वाला मेरा पुत्र था—बारंबार यही विचार कर, मैं अभी तक इसी महाभिमान में चूर रहा करती थी ॥ ४० ॥

दृप्तारिमर्दनाः शूराः प्रख्यातबलपौरुषाः ।
अकुतश्चिद्भया नाथा ममेत्यासीन्मतिर्दृढा ॥ ४१ ॥

मेरे पति बड़े बड़े गर्वीले शत्रुओं को ध्वस्त करने वाले हैं। वे शूरवीर और प्रसिद्ध बलवान एवं पुरुषार्थी होने के कारण सब से निडर हैं। यह मेरी दृढ़ धारणा थी ॥ ४१ ॥

तेषामेवंप्रभावानां युष्माकं राक्षसर्षभ ।
कथं भयमसंबुद्धं मानुषादिदमागतम् ॥ ४२ ॥

ऐसे प्रतापी होकर भी हे राक्षसश्रेष्ठ ! अकस्मात् तुमको यह मनुष्यभय क्योंकर प्राप्त हो गया ? ॥ ४२ ॥

स्निग्धेन्द्रनीलनीलं तु प्रांशुशैलोपमं महत् ।
केयूराङ्गदवैडूर्यमुक्तादामस्रगुज्ज्वलम् ॥ ४३ ॥

तुम्हारा शरीर चिकने इन्द्रनीलमणि के समान नीला और ऊँचे पर्वत की तरह विशाल था । यह कड़े, बाजूबंद, पन्ना, मुक्ताहार और मालाओं से भूषित हुआ करता था ॥ ४३ ॥

कान्तं विहारेष्वधिकं दीप्तं संग्रामभूमिषु ।
भात्याभरणभाभिर्यद्विद्युद्भिरिव तोयदः ॥ ४४ ॥

तुम्हारा यह शरीर विहार करते समय अत्यधिक शोभित होता था और समर में आभूषणों की चमक से बिजली से युक्त मेघ की तरह शोभा पाता था ॥ ४४ ॥

तदेवाद्य शरीरं ते तीक्ष्णैर्नैकैः शरैश्चितम् ।
पुनर्दुर्लभसंस्पर्शं परिष्वक्तुं न शक्यते ॥ ४५ ॥

आज वही तुम्हारा शरीर अनेक बाणों से बिंधा हुआ पड़ा है । अब यह आलिङ्गन करने के योग्य तो क्या, छूने के योग्य भी नहीं रह गया है ॥ ४५ ॥

श्वाविधः शललैर्यद्वद्बाणैर्लग्नैर्निरन्तरम् ।
स्वर्पितैर्मर्मसु भृशं सञ्छिन्नस्नायुबन्धनम् ॥ ४६ ॥

तुम्हारे इस शरीर में इतने बाण चुभे हुए हैं कि, वह सेही की तरह देख पड़ता है। तुम्हारे मर्मस्थलों में तीर ऐसे वेग से लगे हैं कि, नसों के बन्धन तक कट कर बिखर गये हैं ॥ ४६ ॥

क्षितौ निपतितं राजञ्श्यामं रुधिरसच्छवि ।
वज्रप्रहाराभिहतो विकीर्ण इव पर्वतः ॥ ४७ ॥

हे राजन्! श्याम रंग का, किन्तु रुधिर में डूबा हुआ तुम्हारा शरीर पृथिवी पर पड़ा हुआ ऐसा जान पड़ता है; मानों वज्र के प्रहार से टूटा पड़ा पर्वत हो ॥ ४७ ॥

हा स्वप्नः सत्यमेवेदं त्वं रामेण कथं हतः ।
त्वं मृत्योरपि मृत्युः स्याः कथं मृत्युवशं गतः ॥४८॥

हाय! क्या यह स्वप्न है; अथवा सत्य घटना है? यदि (स्वप्न नहीं) यह सत्य है, तो तुम राम के हाथ से क्योंकर मारे गये? क्योंकि तुम तो मृत्यु के लिये भी मृत्यु थे ॥ ४८ ॥

त्रैलोक्यवसुभोक्तारं त्रैलोक्योद्वेगदं महत् ।
जेतारं लोकपालानां क्षेप्तारं शङ्करस्य च ॥ ४९ ॥

तुम तीनों लोकों की सम्पत्ति के भोग करने वाले थे, तुमसे तीनों लोक घबड़ाते थे। तुमने समस्त लोकपालों को जीत लिया था। कैलास पर्वत को हिला कर तुमने श्रीमहादेव जी को भी डुला दिया था ॥ ४९ ॥

दृप्तानां निगृहीतारमाविष्कृतपराक्रमम् ।
लोकक्षोभयितारं च नादैर्भूतविराविणम् ॥५० ॥

तुम अभिमानियों के गर्व को खर्व करने वाले (युद्ध में अप्रतिम) पराक्रम प्रकट करने वाले, प्राणिमात्र को क्षुब्ध करनेवाले और सिंहनाद कर समस्त स्त्रियों को डराने वाले थे ॥ ५० ॥

ओजसा दृप्तवाक्यानां वक्तारं रिपुसन्निधौ ।
स्वयूथभृत्यवर्गाणां गोप्तारं भीमविक्रमम्* ॥ ५१ ॥

पराक्रम से पूर्ण हो शत्रुओं के सामने अहङ्कारपूर्ण वचन कहने वाले, अपने दल के लोगों और नौकर चाकरों के रक्षक और बड़े भारी पराक्रमी थे ॥ ५१ ॥

हन्तारं दानवेन्द्राणांयक्षाणां च सहस्रशः ।
निवातकवचानां च निग्रहीतारमाहवे ॥ ५२ ॥

हज़ारों दानवेन्द्रों और यक्षों के मारने वाले थे । तुमने निवातकवचों को युद्ध में जीता था ॥ ५२ ॥

नैकयज्ञविलोप्तारं त्रातारं स्वजनस्य च ।
[1]धर्मव्यवस्थाभेत्तारं मायास्रष्टारमाहवे ॥ ५३ ॥

तुम अनेक यज्ञों के लोप करने वाले थे और अपने जनों के रक्षक थे । तुम आचार की मर्यादा तोड़ने वाले और युद्ध में विविध प्रकार की माया रचने वाले थे ॥ ५३ ॥

देवासुरनृकन्यानामाहर्तारं ततस्ततः ।
शत्रुस्त्रीशोकदातारं नेतारं निज सैनिकान् ॥ ५४ ॥

अनेक स्थानों से देवकन्याओं, असुरकन्याओं और मनुष्यकन्याओं को बलात् हरने वाले थे । शत्रुओं की स्त्रियों को शोक देने वाले और अपनी सेना का सञ्चालन करने वाले थे ॥ ५४ ॥

---

१ धर्मव्यवस्था—आचारव्यवस्था । (गो०) * पाठान्तरे—"भीमकर्मणां" ।

लङ्काद्वीपस्य गोप्तारं कर्तारं भीमकर्मणाम् ।
अस्माकं कामभोगानां दातारं रथिनां वरम् ॥५५॥

तुम अपने लङ्का द्वीप की रक्षा करने वाले और बड़े बड़े भयङ्कर कर्मों के करने वाले थे । हम लोगों को हमारी इच्छानुसार भोगों को देने वाले और रथियों में (योद्धाओं में) श्रेष्ठ थे ॥५५॥

एवंप्रभावं भर्तारं दृष्ट्वा रामेण पातितम् ।
स्थिराऽस्मि या देहमिमं धारयामि हतप्रिया ॥ ५६ ॥

ऐसे प्रभाव वाले अपने प्यारे पति को श्रीराम जी के हाथ से निहत और पतित हुआ देख कर भी (जो) मैं यह शरीर धारण कर रही हूँ (सो मैं बड़ी निष्ठुर हृदय वाली हूँ) ॥ ५६ ॥

शयनेषु महार्हेषु शयित्वा राक्षसेश्वर ।
इह कस्मात्प्रसुप्तोऽसि धरण्यां रेणुपाटलः ॥ ५७ ॥

हे राक्षसेश्वर ! बड़े बड़े मूल्यवान् बिछौने पर सोने वाले होकर, तुम आज यहाँ धूल में सने हुए, पृथिवी पर क्यों सो रहे हो ॥ ५७ ॥

यदा मे तनयः शस्तो लक्ष्मणेनेन्द्रजिद्युधि ।
तदास्म्यभिहिता तीव्रमद्य त्वस्मिन्निपातिता ॥ ५८ ॥

जब लक्ष्मण के हाथ से लड़ाई में मेरा लाड़ला (इन्द्रजीत) मारा गया था, तब मेरे हृदय पर भारी आघात (ही) लगा था ( ) आज तो तुम्हारे मारे जाने से मैं मर ही गयी ॥ ५८ ॥

[1]नाहं बन्धुजनैर्हीना हीना नाथेन तु त्वया ।
विहीना कामभोगैश्च शोचिष्ये शाश्वतीः समाः ॥५९॥

---

1 बन्धुजनैः—हीनानाहंशोचिष्ये । (गो०)

बन्धुजनों के मारे जाने का मुझे सोच नहीं है। किन्तु मुझे तो सोच तुम्हारे मारे जाने का है, जिनके मारे जाने से मैं काम-भोग से वञ्चित हो गयी। तुम्हारे न रहने का शोक तो मुझे अनन्त काल तक भोगना ही पड़ेगा ॥ ५६ ॥

प्रपन्नो दीर्घमध्वानं राजन्नद्य सुदुर्गमम् ।
नय मामपि दुःखार्तां न जीविष्ये त्वया विना ॥६०॥

हे प्यारे! तुमने तो आज बड़ी लंबी और दुर्गम यात्रा का मार्ग पकड़ा है सो मुझ दुखियारी को भी अपने साथ ही लिये चलो। क्योंकि तुहारे विना मैं जीवित नहीं रह सकती ॥ ६० ॥

कस्मात्त्वं मां विहायेह कृपणां गन्तुमिच्छसि ।
दीनां विलपितैर्मन्दां किंवा मां नाभिभाषसे ॥६१॥

मुझ दुःखियारी को छोड़ कर क्यों जाते हो? अरे मुझ दीन, विलपती और मन्दभागिनी से बोलते क्यों नहीं॥ ६

दृष्ट्वा न खल्वसि क्रुद्धो मामिहानवगुण्ठिताम् ।
निर्गतां नगरद्वारात्पद्भ्यामेवागतां प्रभो ॥ ६२ ॥

हे स्वामी! मैं घूँघट काढ़े विना नगर के फाटक से निकल कर पांव प्यादे यहाँ चली आयी हूँ। सो तुम इसके लिये मुझसे क्रुद्ध क्यों नहीं होते ॥ ६२ ॥

पश्येष्टदार दारांस्ते भ्रष्टलज्जावगुण्ठनान्* ।
बहिर्निष्पतितान्सर्वान्कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि ॥ ६३ ॥

देखो, मैं ही अकेली नहीं, बल्कि तुम्हारी सभी प्यारी पत्नियां लज्जा त्याग और घूँघट खोले अन्तःपुर के बाहिर निकल आयी हैं—सो इन्हें इस दशा में देख तुमको क्रोध क्यों नहीं आता ॥६३॥

* पाठान्तरे—"गुण्ठितान्"।

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, रामायणकाल में भी आर्यों ही में नहीं, किन्तु अनार्यों के समाज में भी, घूंघट काढ़ने की प्रथा प्रचलित थी। सो लोगों का यह अनुमान कि, "पर्दासिस्टम" मुसलमानी शासनकाल से इन लोगों की देखादेखी इस देश में चला है—यथार्थ नहीं जान पड़ता।]

अयं क्रीडासहायस्तेऽनाथो लालप्यते जनः ।
न चैनमाश्वासयसे किंवा न बहुमन्यसे ॥ ६४ ॥

क्रीड़ा के समय तुम्हारे साथ क्रीड़ा करने वाली हम सब अनाथिनी हो, विलाप कर रही हैं। सो तुम हमारा सब का यदि सम्मान न करो, तो कम से कम हम सबको ढाढ़स तो बँधाओ ॥ ६४ ॥

यास्त्वया विधवा राजन्कृता नैकाः कुलस्त्रियः ।
पतिव्रता धर्मपरा गुरुशुश्रूषणे रताः ॥ ६५ ॥
ताभिः शोकाभितप्ताभिः शप्तः परवशं गतः ।
त्वया विप्रकृताभिर्यत्तदा शप्तं तदागतम् ॥ ६६ ॥

राजन्! तुमने जो अनेक पतिव्रताओं, पतिव्रतधर्म परायणा और पतिसेवा में रत कुलकामिनियों को विधवा कर डाला, सो क्या कहीं उन्हीं स्त्रियों ने शोकसन्तप्त हो कर तुम्हें शाप तो नहीं दिया, जो तुम शत्रु के वश में पड़ गये। जान पड़ता है, तुमसे दुःख पा कर उन स्त्रियों ने जो शाप दिया था, उसीका यह फल मिला है ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

प्रवादः सत्य एवायं त्वां प्रति प्रायशो नृप ।
पतिव्रतानां नाकस्मात्पतन्त्यश्रूणि भूतले ॥ ६७ ॥

हे राजन्! तुम्हारे विषय में लोग इस प्रकार जो प्रवाद प्रायः किया करते थे, वह सत्य ही है। क्योंकि, पतिव्रताओं के आँसू ज़मीन पर हठात् नहीं गिरते ॥ ६७ ॥

कथं च नाम ते राजँल्लोकानाक्रम्य तेजसा ।
नारीचौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौण्डीर्यमानिना ॥ ६८ ॥

हे राजन्! तुम तो अपने को बड़ा बहादुर लगाते थे और तुमने अपने बलपराक्रम से समस्त लोकों को दबा भी रखा था। फिर तुमने यह स्त्री की चोरी जैसा नीचकर्म क्यों किया? ॥ ६८ ॥

अपनीयाश्रमाद्रामं यन्मृगच्छद्मना त्वया ।
आनीता रामपत्नी सा तत्ते कातर्यलक्षणम् ॥ ६९ ॥

कपटमृग द्वारा श्रीरामचन्द्र को आश्रम से दूर हटा कर, जो तुम उनकी स्त्री को हर लाये, इससे तो तुम्हारा कादरपन ही प्रकट होता है ॥ ६९ ॥

कातर्यं च न ते युद्धे कदाचित्संस्मराम्यहम् ।
तत्तु भाग्यविपर्यासान्नूनं ते [1]पक्वलक्षणम् ॥ ७० ॥

मुझे याद नहीं पड़ता कि, इसके पहिले कभी किसी युद्ध में तुमने ऐसा डरपोंकपन दिखलाया हो। किन्तु सीता की चोरी में तुमने डरपोंकपन दिखलाया उसे मैं भाग्य का उलटफेर और विनाशसूचक तथा एक बड़ा नीच काम समझती हूँ ॥ ७० ॥

अतीतानागतार्थज्ञो वर्तमानविचक्षणः ।
मैथिलीमाहृतां दृष्ट्वा ध्यात्वा निश्वस्य चायतम् ॥७१॥

सत्यवाक् स महाभागो देवरो मे यदब्रवीत् ।
सोऽयं राक्षसमुख्यानां विनाशः पर्युपस्थितः ॥ ७२ ।

---

१ पक्वलक्षणम्—पक्वत्वलक्षणम् विनाशज्ञापकमिति यावत् । महतो हीनकृत्यं हानिकरमिति लोकप्रवादामिति भावः । (गो०)

कामक्रोधसमुत्थेन व्यसनेन प्रसङ्गिना ।
निर्वृत्तस्त्वत्कृतेऽनर्थः सोऽयं मूलहरो महान् ॥ ७३ ॥

भूत, भविष्यत्, वर्तमान् जानने वाले सत्यवादी मेरे महाभाग देवर विभीषण ने, हर कर जानकी यहाँ लायी हुई देख, बहुत देरलों लंबी स्वाँसे ले और चिन्तित हो जो कहा था कि, काम और क्रोध से अकस्मात् उत्पन्न हुए व्यसन के प्रसङ्ग से तुम यह जो दुराचार कर बैठे हो, सो यह मानों तुमने प्रधान प्रधान राक्षसों के विनाश की नींव डाल दी है। सो तुम्हारे उसी अनर्थ ने तुम्हारो जड़ तक खोद बहा दी है ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

त्वया कृतमिदं सर्वमनाथं रक्षसां कुलम् ।
न हि त्वं शोचितव्यो मे प्रख्यातबलपौरुषः ॥ ७४ ॥

तुमने राक्षसवंश को अनाथ कर डाला! तुम तो एक प्रसिद्ध बलवान और पराक्रमी पुरुष थे—अतः मुझे तुम्हारे लिये तो शोक करना उचित नहीं है ॥ ७४ ॥

स्त्रीस्वभावात्तु मे बुद्धिः कारुण्ये परिवर्तते ।
सुकृतं दुष्कृतं च त्वं गृहीत्वा स्वां गतिं गतः ॥ ७५ ॥

पर क्या करूँ, स्त्रीस्वभाव के कारण मेरा मन दुःखी हो रहा है। तुम तो अपने पाप पुण्य को ले अपनी गति को पहुँच गये ॥ ७५ ॥

आत्मानमनुशोचामि त्वद्वियोगेन दुःखिता ।
सुहृदां हितकामानां न श्रुतं वचनं त्वया ॥ ७६ ॥

मैं अब अपने लिये चिन्तित हो रही हूँ और तुम्हारे वियोग से दुःखी हो रही हूँ। हाय! तुमने अपने हितैषी सुहृदों की बातों पर ध्यान ही न दिया ॥ ७६ ॥

भ्रातृणां चापि कात्स्न्र्येन हितमुक्तं त्वयाऽनघ ।
हेत्वर्थयुक्तं विधिवच्छ्रेयस्करमदारुणम् ॥ ७७ ॥

विभीषणेनाभिहितं न कृतं हेतुमत्त्वया ।
मारीचकुम्भकर्णाभ्यां वाक्यं मम पितुस्तदा ॥ ७८ ॥

हे अनघ! तुमसे तुम्हारे भाइयों ने समस्त बातें तुम्हारे भले के लिये ही कही थीं। हेतु और प्रयोजन से युक्त, शास्त्रानुमोदित, कल्याणकारी और मधुरस्वर में जो बातें विभीषण ने कहीं थीं, उनको तुमने न माना। मारीच, कुम्भकर्ण और मेरे पिता की भी ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

न श्रुतं वीर्यमत्तेन तस्येदं फलमीदृशम् ।
नीलजीमूतसङ्काश पीताम्बर शुभाङ्गद ॥ ७९ ॥
स्वगात्राणि विनिक्षिप्य किं शेषे रुधिराप्लुतः ।
प्रसुप्त इव शोकार्ता किं मां न प्रतिभाषसे ॥ ८० ॥

बातें जो तुमने अपने बल के अहंकार में आ, न सुनी; उसीका यह फल तुमको प्राप्त हुआ है। नीले बादल के समान, पीले वस्त्र और सुन्दर बाजूबंद पहिने हुए अपने अंगों को फैलाये और रुधिर से नहाये हुए तुम क्यों सोते हो? और प्रगाढ़ निद्रा में निद्रित पुरुष की तरह मेरी बातों का उत्तर क्यों नहीं देते? ॥ ७९ ॥ ८० ॥

महावीर्यस्य दक्षस्य संयुगेष्वपलायिनः ।
यातुधानस्य दौहित्रि किं च मां नाभ्युदीक्षसे ॥ ८१ ॥

मैं भी पराक्रमी, चतुर और युद्धक्षेत्र में कभी पीठ न दिखाने वाले सुमाली राक्षस की धोहिती (लड़की की लड़की) हूँ। सो तुम मेरी ओर क्यों नहीं देखते ॥ ८१ ॥

इत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे प्राप्ते परिभवे नवे ।
अद्य वै निर्भया लङ्कां प्रविष्टाः सूर्यरश्मयः ॥ ८२ ॥

इस नये निरादर से लज्जित हो क्यों सोते हो? उठो! उठो!! देखो आज निर्भय हो सूर्य की किरणें लङ्का में घुस रही हैं ॥ ८२ ॥

येन सूदयसे शत्रून्समरे सूर्यवर्चसा ।
वज्रो वज्रधरस्येव सोऽयं ते सततार्चितः ॥ ८३ ॥

सूर्य समान चमचमाते जिस परिघ से तुम शत्रुओं का नाश करते थे, जो इन्द्र के वज्र के समान सदैव तुमसे आदर पाता था ॥ ८३ ॥

रणे शत्रुप्रहरणो हेमजालपरिष्कृतः ।
परिघो व्यवकीर्णस्ते बाणैश्छिन्नः सहस्रधा ॥ ८४ ॥

जो युद्ध में शत्रुओं पर प्रहार करने वाला और जो सोने से मढ़ा हुआ था, वह तुम्हारा परिघ, श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से हज़ारों टुकड़े हो कर पृथिवी पर टूटा पड़ा है ॥ ८४ ॥

प्रियामिवोपगुह्य त्वं शेषे समरमेदिनीम् ।
अप्रियामिव कस्माच्च मां नेच्छस्यभिभाषितुम् ॥ ८५ ॥

अपनी प्यारी स्त्री की तरह तुम समरभूमि से लिपट कर पड़े हुए हो और मुझे कुप्यारी स्त्री की तरह जान, मुझसे बोलते तक नहीं ॥ ८५ ॥

धिगस्तु हृदयं यस्या ममेदं न सहस्रधा ।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने फलते[1] शोकपीडितम् ॥ ८६ ॥

---

१ फलते—स्फुटति । (गो०)

जो हृदय तुम्हारे मरने पर भी शोक से पीड़ित हो फट कर हज़ारों टुकड़े नहीं हो जाता; उस मेरे हृदय को धिक्कार है ॥ ८६ ॥

इत्येवं विलपन्त्येव बाष्पव्याकुललोचना ।
स्नेहावस्कन्नहृदया[1] देवी मोहमुपागमत् ॥ ८७ ॥

इस प्रकार विलाप करती और आँखों से आँसू बहाती हुई मन्दोदरी देवी स्नेह के कारण घबरा कर मूर्च्छित हो गयी ॥ ८७ ॥

कश्मलाभिहता सन्ना बभौ सा रावणोरसि ।
सन्ध्यानुरक्ते जलदे दीप्ता विद्युदिवासिते ॥ ८८ ॥

दुःख की सतायी और मूर्च्छित हो रावण की छाती पर पड़ी हुई मन्दोदरी, उस समय ऐसी शोभायमान जान पड़ती थी, जैसी सन्ध्याकालीन मेघों में बिजली शोभायमान जान पड़ती है ॥ ८८ ॥

तथागतां समुत्पत्य सपत्न्यस्ता भृशातुराः ।
पर्यवस्थापयामासू रुदन्त्यो रुदतीं भृशम् ॥ ८९ ॥

तब रुदन करती हुई मन्दोदरी को अति दुःखित तथा रोती हुई उसकी सौतों ने पकड़ कर उठाया और सावधान करने के लिये उससे कहा ॥ ८९ ॥

न ते सुविदिता देवि लोकानां स्थितिरध्रुवा ।
दशाविभागपर्याये राज्ञां चञ्चलया श्रिया ॥ ९० ॥

हे देवि! क्या यह तुमको नहीं मालूम कि, प्राणीमात्र की दशा, अवस्थानुसार (बाल्य, कौमार्य, यौवन, वार्धक्य के अनुसार) सदा बदला करती है और दशा के उलटफेर से राजश्री भी स्थिर नहीं रहती ॥ ९० ॥

---

[1] अवस्कन्नहृदया—विलीनहृदया । (गो०)

इत्येवमुच्यमाना सा सशब्दं प्ररुरोद ह ।
स्नापयन्ती त्वभिमुखौ स्तनावस्राम्बुविस्रवैः ॥ ९१ ॥

जब इस प्रकार अन्य रानियों ने मन्दोदरी को समझाया, तब अश्रुधारा से अपने स्तनों को भिगोती हुई मन्दोदरी ज़ोर से रोने लगी ॥ ९१ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रामो विभीषणमुवाच ह ।
संस्कारः क्रियतां भ्रातुः स्त्रियश्चैता निवर्तय ॥ ९२ ॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी ने विभीषण से कहा—अब तुम अपने भाई की अन्त्येष्टि क्रिया करो और स्त्रियों को समझा बुझा कर लङ्का में भेज दो ॥ ९२ ॥

तं प्रश्रितस्ततो रामं श्रुतवाक्यो विभीषणः ।
विमृश्य बुद्ध्या धर्मज्ञो धर्मार्थसहितं वचः ॥ ९३ ॥
रामस्यैवानुवृत्त्यर्थमुत्तरं[1] प्रत्यभाषत ।
त्यक्तधर्मव्रतं क्रूरं नृशंसमनृतं तथा ॥ ९४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन, धर्मात्मा विभीषण ने श्रीरामचन्द्र जी का मन टटोलने के लिये कुछ देर सोच, नम्रता-पूर्वक और धर्मार्थयुक्त ये वचन कहे—महाराज ! अपने धर्मव्रत को त्यागने वाले, निष्ठुर, घातक तथा मिथ्यावादी ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

नाहमर्होऽस्मि संस्कर्तुं परदाराभिमर्शिनम् ।
भ्रातृरूपो हि मे शत्रुरेष सर्वाहिते रतः ॥ ९५ ॥

---

१ रामस्यैवानुवृत्त्यर्थं—रामस्यअभिप्राय विज्ञानार्थं । (गो०)

और परस्त्री के हरने वाले इस रावण का संस्कार करना मुझे उचित नहीं। यह मेरा भाई तो था; किन्तु साथ ही शत्रु रूपी भाई था और सदैव सब की बुराई करने ही में लगा रहता था ॥ ९५ ॥

रावणो नार्हते पूजां पूज्योऽपि गुरुगौरवात् ।
नृशंस इति मां कामं वक्ष्यन्ति मनुजा भुवि ॥ ९६ ॥

रावण बड़ा होने के कारण पूज्य होने पर भी, इस योग्य नहीं कि, मैं इसका अन्तिम संस्कार करूँ। जो लोग अपने भाई अन्तिम संस्कार न करने के कारण प्रथम मुझे निष्ठुरहृदय बतलावेंगे ॥ ९६ ॥

श्रुत्वा तस्यागुणान्सर्वे वक्ष्यन्ति सुकृतं पुनः ।
तच्छ्रुत्वा परमप्रीतो रामो धर्मभृतां वरः ॥ ९७ ॥

वे ही लोग पीछे इस रावण के बड़े बड़े दुर्गुणों को सुन, इस कार्य को भला बतलावेंगे। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी विभीषण के इन वचनों को सुन परम प्रसन्न हुए ॥ ९७ ॥

विभीषणमुवाचेदं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ।
तवापि मे प्रियं कार्यं त्वत्प्रभावाच्च मे जितम् ॥ ९८ ॥

वाक्यविशारद श्रीरामचन्द्र जी ने वाक्यकोविद विभीषण से कहा—हे विभीषण! तुम्हारे साहाय्य से मैंने रावण को पराजित किया है। अतः मुझे भी तुम्हारा प्रियकार्य करना (अर्थात् राज-सिंहासन पर बैठाना) है ॥ ९८ ॥

अवश्यं तु क्षमं वाच्यो मया त्वं राक्षसेश्वर ।
अधर्मानृतसंयुक्तः कामं त्वेष निशाचरः ॥ ९९ ॥

हे राक्षसेश्वर! मैं राज्य तो तुमको दिलाऊँगा ही; साथ ही जो तुम्हारे लिये हितकर और उचित कर्त्तव्य होगा, वह भी मैं तुमसे कहूँगा। यद्यपि यह रावण पापी और मिथ्यावादी था॥ ९९॥

तेजस्वी बलवाञ्शूरो संयुगेषु च नित्यशः।
शतक्रतुमुखैर्देवैः श्रूयते न पराजितः॥ १००॥

तथापि यह तेजस्वी, बलवान्, शूरवीर और युद्ध में सदा विजय प्राप्त करता था। सुना जाता है कि, यह इन्द्रादि देवताओं से भी कभी नहीं हारा था॥ १००॥

महात्मा बलसम्पन्नो रावणो लोकरावणः।
मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्॥ १०१॥

रावण महात्मा (महाबुद्धिमान्) था, बलवान था और लोकों को रुलाने वाला अर्थात् सताने वाला था। वैर मरने तक ही रहता है, सो वैर की अवधि तो पूरी हो चुकी और मेरा प्रयोजन भी पूरा हो चुका १०१॥

क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।
त्वत्सकाशाद्दशग्रीवः संस्कारं विधिपूर्वकम्॥ १०२॥
प्राप्तुमर्हति धर्मज्ञ त्वं यशोभाग्भविष्यसि।
राघवस्य वचः श्रुत्वा त्वरमाणो विभीषणः॥ १०३॥
संस्कारेणानुरूपेण योजयामास रावणम्।
चितां चन्दनकाष्ठानां पद्मकोशीरसंवृताम्॥ १०४॥

अब यह जैसा तुम्हारा भाई है वैसा ही मेरा भी है। अतः अब तुम इसका संस्कार करो। तुम्हारे हाथ से रावण का विधि

पूर्वक संस्कार होने से, हे धर्मज्ञ ! तुम यश के भागी होगे । श्रीरामचन्द्र जी के इन (उदार) वचनों को सुन विभीषण शीघ्रता पूर्वक, अपने भाई की पदमर्यादा के अनुरूप अन्तिम संस्कार की तैयारियाँ करने में लग गये और चन्दन, पद्मक, खस आदि सुगन्धित लकड़ियों की चिता बनवायी ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

> ब्राह्मया[1] संवेशयांचक्रू राङ्कवास्तरणावृताम्[2] ।
> वर्तते वेदविहितो राज्ञो वै पश्चिमः[3] क्रतुः ॥ १०५ ॥

तदनन्तर वेदविधि से रङ्कु जाति के (काले) मृग का चर्म चिता पर बिछा कर, रावण का (मृतक शरीर रख) अन्त्येष्टि कर्म वैदिक विधि से किया गया ॥ १०५ ॥

> प्रचक्रू राक्षसेन्द्रस्य पितृमेधमनुक्रमम् ।
> वेदिं च दक्षिणप्राच्यां यथास्थानं च पावकम् ॥ १०६ ॥

विभीषण ने राक्षसेन्द्र रावण का पितृमेध यथाक्रम किया । चिता के आग्नेय (दक्षिण-पूर्व) कोण में वेदी बनायी गयी और यथास्थान अग्नि (त्रेताग्नि) रखा ॥ १०६ ॥

> पृषदाज्येन संपूर्णं स्रुवं स्कन्धे प्रतिक्षिपुः ।
> पादयोः शकटं[4] प्रादुरन्तरूर्वोरुलूखलम् ॥ १०७ ॥

फिर दही मिले हुए घी से भरा श्रुवा कांधे पर छोड़ा, पावों पर शकट (यज्ञीयपात्र विशेष) तथा जांघों पर उलूखल रखा ॥ १०७ ॥

---

१ ब्राह्मया—वैदोक्तप्रक्रिया । (गो०) २ राङ्कुः, रङ्कुः मृगविशेषः तत्सम्बन्धि चर्म राङ्कवं । (गो०) ३ पश्चिमः क्रतुः अन्त्येष्टिः । (गो०) ४ शकटं—सोमराजानयनशकटम् । (गो०)

दारुपात्राणि सर्वाणि अरणिं चोत्तरारणिम्
दत्त्वा तु मुसलं चान्यद्यथास्थानं विचक्षणाः ॥१०८॥

समस्त काठ के (यज्ञहोत्र के वर्तन) पात्र अरणी और उत्तरारणी और मूसल यथास्थान जैसा कि कर्मकाण्ड-विशेषज्ञों का मत है, रखे ॥ १०८ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च ।
तत्र [1]मेध्यं पशुं हत्वा राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः ॥ १०९ ॥

फिर धर्मशास्त्र की विधि से और महर्षियों की वतलायी विधि से चिता के समीप रावण के अर्थ बकरे का बलिदान दिया गया ॥ १०९ ॥

परिस्तरणिकां राज्ञो घृताक्तां समवेशयन् ।
गन्धैर्माल्यैरलङ्कृत्य रावणं दीनमानसाः ॥ ११० ॥
विभीषणसहायास्ते वस्त्रैश्च विविधैरपि ।
लाजैश्चावकिरन्ति स्म बाष्पपूर्णमुखास्तदा ॥ १११ ॥

फिर उस बकरे की खाल को ले और उसे घी से लपेट कर उसे रावण के मुख पर रखा। तदनन्तर उन दुःखी मन राक्षसों ने, जो विभीषण को इस काम में सहायता दे रहे थे, रावण के मृतक शरीर को सुगन्धित द्रव्यों और पुष्पमालाओं से अलंकृत कर और विविध वस्त्र पहिना कर, आँखों में आँसू बहाते हुए, चिता पर लावों की वर्षा की ॥ ११० ॥ १११ ॥

ददौ च पावकं तस्य विधियुक्तं विभीषणः ।
स्नात्वा चैवार्द्रवस्त्रेण तिलान्दूर्वाभिमिश्रितान् ॥ ११२ ॥

---

१ मेध्यं—पवित्रं पशुं छागं। (गो०)

उदकेन च संमिश्रान्प्रदाय विधिपूर्वकम् ।
प्रदाय चोदकं तस्मै मूर्ध्ना चैनं नमस्य च ॥ ११३ ॥

तदनन्तर विधिपूर्वक चिता में आग लगायी। फिर स्वयं नहा कर गीले कपड़े पहिने हुए, दूर्वा (कई संस्करणों में दूर्वा की जगह दर्भ-कुश लिखा पाया गया है और मृतक संस्कार में कुश ही लिये भी जाते हैं) सहित तिलमिश्रित जल से विधिपूर्वक तिलाञ्जलि दी। इस प्रकार जलाञ्जलि दे और सिर नवा कर प्रणाम कर ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

ताः स्त्रियोऽनुनयामास सान्त्वमुक्त्वा पुनः पुनः ।
गम्यतामिति ताः सर्वा विविशुर्नगरं तदा ॥ ११४ ॥

उन रावण की स्त्रियों को बारंबार समझाया और कहा अब तुम सब नगर को जाओ; तब वे सब लङ्का में गयीं ॥ ११४ ॥

प्रविष्टासु च सर्वासु राक्षसीषु विभीषणः ।
रामपार्श्वमुपागम्य तदा तिष्ठद्विनीतवत् ॥ ११५ ॥

जब वे सब रावण की स्त्रियां लङ्का में चली गयीं, तब विभीषण, श्रीरामचन्द्र जी के निकट जा विनीत भाव से (चुपचाप) खड़े हो गये ॥ ११५ ॥

रामोऽपि सह सैन्येन ससुग्रीवः सलक्ष्मणः ।
हर्षं लेभे रिपुं हत्वा यथा वृत्रं शतक्रतुः ॥ ११६ ॥

इति चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

जैसे इन्द्र, वृत्रासुर का वध कर, हर्षित हुए थे ; वैसे ही सुग्रीव, लक्ष्मण तथा अन्य समस्त वानरी सेना सहित श्रीरामचन्द्र जी भी रावण का वध कर हर्षित हुए ॥ ११६ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौचौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः

—※—

ते रावणवधं दृष्ट्वा देवगन्धर्वदानवाः ।
जग्मुः स्वैः स्वैर्विमानैस्ते कथयन्तः शुभाः कथाः ॥ १ ॥

रावण का वध देख, देवता, गन्धर्व और दानव अपने अपने विमानों में बैठ, आपस में रावण के वध की चर्चा करते हुए अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ १ ॥

रावणस्य वधं घोरं राघवस्य पराक्रमम् ।
सुयुद्धं वानराणां च सुग्रीवस्य च मन्त्रितम् ॥ २ ॥
अनुरागं च वीर्यं च मारुतेर्लक्ष्मणस्य च ।
कथयन्तो महाभागा जग्मुर्हृष्टा यथागतम् ॥ ३ ॥

रावण का भयङ्कर वध, श्रीरामचन्द्र जी का पराक्रम, वानरों का भली भाँति लड़ना, सुग्रीव की मंत्रणा, श्रीरामचन्द्र जी के प्रति लक्ष्मण और हनुमान जी का अनुराग और इन दोनों के बल पराक्रम की कथा कहते तथा आनन्दित होते हुए वे समस्त महाभाग जहाँ से आये थे वहाँ चले गये ॥ २ ॥ ३ ॥

राघवस्तु रथं दिव्यमिन्द्रदत्तं शिखिप्रभम् ।
अनुज्ञाय महाभागो मातलिं प्रत्यपूजयत् ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने, इन्द्र के भेजे हुए दिव्य और अग्नि के समान चमचमाते रथ को लौटा कर ले जाने के लिये मातलि को आज्ञा दी और उसका सत्कार भी किया ॥ ४ ॥

राघवेणाभ्यनुज्ञातो मातलिः शक्रसारथिः ।
दिव्यं तं रथमास्थाय दिवमेवारुरोह सः ॥ ५ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इन्द्र के सारथि मातलि को रथ लौटा कर ले जाने की आज्ञा दी, तब वह उस दिव्य रथ पर सवार हो स्वर्ग को चला गया ॥ ५ ॥

तस्मिंस्तु दिवमारूढे सुरसारथिसत्तमे ।
राघवः परमप्रीतः सुग्रीवं परिषस्वजे ॥ ६ ॥

देवताओं के सारथिश्रेष्ठ मातलि के स्वर्गचले जाने के बाद, श्रीरामचन्द्र जी ने परमप्रसन्न हो सुग्रीव को अपनी छाती से लगाया ॥ ६ ॥

परिष्वज्य च सुग्रीवं लक्ष्मणेन प्रचोदितः ।
पूज्यमानो हरिश्रेष्ठैराजगाम बलालयम् ॥ ७ ॥

सुग्रीव को गले लगा, श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण जी के कहने से, वहाँ गये जहाँ वानरी सेना छावनी डाले पड़ी थी ॥ ७ ॥

अब्रवीच्च तदा रामः समीपपरिवर्तिनम् ।
सौमित्रिं सत्त्वसम्पन्नं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ पहुँच अपने पार्श्ववर्ती सुमित्रानन्दन, बलवान् और तेज से दीप्तमान् लक्ष्मण से कहा ॥ ८ ॥

विभीषणमिमं सौम्य लङ्कायामभिषेचय ।
अनुरक्तं च भक्तं च मम चैवोपकारिणम् ॥ ९ ॥

हे सौम्य! अब तुम इन विभीषण को लङ्का के राजसिंहासन पर अभिषिक्त करो। क्योंकि यह मेरे अनुरागी हैं, भक्त हैं और उपकार करने वाले हैं ॥ ९ ॥

एष मे परमः कामो यदीमं रावणानुजम् ।
लङ्कायां सौम्य पश्येयमभिषिक्तं विभीषणम् ॥ १० ॥

हे सौम्य! यह मेरी बड़ी साध है कि, मैं इन विभीषण को लङ्का के राजसिंहासन पर बैठा हुआ देखूँ ॥ १० ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्री राघवेण महात्मना ।
तथेत्युक्त्वा तु संहृष्टः सौवर्णं घटमाददे ॥ ११ ॥

जब महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब लक्ष्मण जी ने कहा—"बहुत अच्छा" और एक सुवर्णकलश उठा लिया ॥ ११ ॥

तं घटं वानरेन्द्राणां हस्ते दत्त्वा मनोजवान् ।
आदिदेश महासत्त्वान्समुद्रसलिलानये[1] ॥ १२ ॥

उस सुवर्ण कलश को मन के समान शीघ्र चलने वाले वानरेन्द्रों को देकर उनसे कहा कि, चारों समुद्रों का जल ले आओ ॥ १२ ॥

---

1 समुद्राच्चतुः—समुद्रेभ्यइत्यर्थः । (रा०)

अतिशीघ्रं ततो गत्वा वानरास्ते महाबलाः ।
आगतास्तज्जलं गृह्य समुद्राद्वानरोत्तमाः ॥ १३ ॥

वे महाबली वानर अत्यन्त शीघ्र गये और वे वानरश्रेष्ठ समुद्र-जल ले कर (तुरन्त) लौट भी आये ॥ १३ ॥

ततस्त्वेकं घटं गृह्य संस्थाप्य परमासने ।
घटेन तेन सौमित्रिरभ्यषिञ्चद्विभीषणम् ॥ १४ ॥

तब लक्ष्मण जी ने विभीषण को राजसिंहासन पर बिठा और समुद्रों के जल से भरे हुए कलसों में से एक कलसे के जल से विभीषण का अभिषेक किया ॥ १४ ॥

[नोट—११ और १२वें श्लोकों में एक वचन में " घट " का प्रयोग होने पर भी ११वें श्लोक में " वानरेन्द्राणां " और १४वें श्लोक में " ततस्त्वेकं " को देख, समुद्र जल लाने के लिये कई घड़ों का वानरों को दिया जाना सिद्ध होता है ।]

लङ्कायां रक्षसां मध्ये राजानं रामशासनात् ।
विधिना मन्त्रदृष्टेन सुहृद्गणसमावृतम् ॥ १५ ॥

अभ्यषिञ्चत्स धर्मात्मा शुद्धात्मानं विभीषणम् ।
तस्यामात्या जहृषिरे भक्ता ये चास्य राक्षसाः ॥ १६ ॥

दृष्ट्वाभिषिक्तं लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।
स तद्राज्यं महत्प्राप्य रामदत्तं विभीषणः ॥ १७ ॥

तदनन्तर लङ्का में, वहाँ के राक्षसों की उपस्थिति में, श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से धर्मात्मा लक्ष्मण जी ने सुहृदों से घिरे हुए शुद्धात्मा विभीषण के विधिपूर्वक वैदिक मंत्रों से राजतिलक

किया। राक्षसेन्द्र विभीषण का लङ्का के राज्यासन पर अभिषेक हुआ देख, विभीषण के मंत्री तथा उनके पक्षपाती या भक्त राक्षस लोग बड़े प्रसन्न हुए। श्रीरामचन्द्र के दिये हुए इस महत् राज्य को पाकर विभीषण ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

प्रकृतीः सान्त्वयित्वा च ततो राममुपागमत् ।
अक्षतान्मोदकाँल्लाजान्दिव्याः सुमनसस्तदा ॥ १८ ॥

जब लङ्का की प्रजा को ढाँढस बँधा (लक्ष्मण को साथ लिये ए) श्रीरामचन्द्र जी के समीप आये; तब अक्षत, लड्डू, धान की खीलें (लावा) तथा दिव्यपुष्पों को ले कर ॥ १८ ॥

आजह्रुरथ संहृष्टाः पौरास्तस्मै निशाचराः ।
स तान्गृहीत्वा दुर्धर्षो राघवाय न्यवेदयत् ॥ १९ ॥

मङ्गल्यं मङ्गलं सर्वं लक्ष्मणाय च वीर्यवान् ।
कृतकार्यं समृद्धार्थं दृष्ट्वा रामो विभीषणम् ॥ २० ॥

लङ्कानिवासी राक्षस, हर्षित अन्तःकरण से, विभीषण के सामने लाने लगे और भेंट करने लगे। दुर्धर्ष विभीषण ने उन सब मङ्गलकारी माङ्गलिक वस्तुओं को लेकर, वीर्यवान श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी के सामने रख दिया। श्रीरामचन्द्र जी ने विभीषण को समृद्धशाली और सफलमनोरथ देख कर ॥ १९ ॥ २० ॥

प्रतिजग्राह तत्सर्वं तस्यैव प्रियकाम्यया ।
ततः शैलोपमं वीरं प्राञ्जलिं पार्श्वतः स्थितम् ॥ २१ ॥

और उनको प्रसन्न करने के लिये उन सब द्रव्यों को ग्रहण कर लिया। तदनन्तर पर्वत के समान बगल में खड़े हुए वीर ॥ २१ ॥

अब्रवीद्राघवो वाक्यं हनुमन्तं प्लवङ्गमम् ।
अनुमान्य महाराजमिमंसौम्य विभीषणम् ॥ २२ ॥

गच्छ सौम्य पुरीं लङ्कामनुज्ञाप्य यथाविधि ।
प्रविश्य रावणगृहं विजयेनाभिनन्द्य च ॥ २३ ॥

वानर हनुमान जी से श्रीरामचन्द्र जी बोले; हे सौम्य! तुम महाराज विभीषण से आज्ञा माँग कर लङ्का में जाओ और रावण के घर में घुस कर तुम मेरे विजय का संवाद सुना कर, सीता को आनन्दित करो ॥ २२ ॥ २३ ॥

वैदेह्यै मां कुशलिनं ससुग्रीवं सलक्ष्मणम् ।
आचक्ष्व वदतांश्रेष्ठ रावणं च मया हतम् ॥ २४ ॥

हे बोलने वालों में श्रेष्ठ! फिर मेरा, लक्ष्मण का और सुग्रीव का कुशलसमाचार सुना कर, सीता जी से यह भी कह देना कि, मैंने रावण को मार डाला ॥ २४ ॥

प्रियमेतदुदाहृत्य मैथिल्यास्त्वं हरीश्वर ।
प्रतिगृह्य च सन्देशमुपावर्तितुमर्हसि ॥ २५ ॥

इति पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे हरीश्वर! तुम सीता जी को यह प्रियसंवाद सुना और उनका सन्देसा ले यहाँ लौट आओ ॥ २५ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौपन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षोडशोत्तरशततमः सर्गः

इति प्रतिसमादिष्टो हनुमान्मारुतात्मजः ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां पूज्यमानो निशाचरैः ॥ १ ॥

पवननन्दन हनुमान जी इस प्रकार से आज्ञा पा, जब लङ्का में गये; तब वहाँ के रहने वाले राक्षसों ने उनका बड़ा आदर सत्कार किया ॥ १ ॥

प्रविश्य च महातेजा रावणस्य निवेशनम् ।
ददर्श मृजया हीनां सातङ्कामिव रोहिणीम् ॥ २ ॥

वृक्षमूले निरानन्दां राक्षसीभिः समावृताम् ।
निभृतः प्रणतः प्रह्वः सोभिगम्याभिवाद्य च ॥ ३ ॥

महातेजस्वी हनुमान जी ने रावण के घर में प्रवेश कर देखा कि, मैली कुचैली और भयभीत रोहिणी की तरह, उदास और राक्षसियों से घिरी हुई सीता माता अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई हैं। यह देख हनुमान जी चुपचाप उनके समीप गये और सीस नवा, विनम्र हो प्रणाम कर, खड़े हो गये ॥ २ ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा तमागतं देवी हनुमन्तं महाबलम् ।
तूष्णीमास्त तदा दृष्ट्वा स्मृत्वा प्रमुदिताऽभवत् ॥ ४ ॥

महाबली हनुमान जी को आया हुआ देख और (तुरन्त उन्हें न पहचान कर) सीता जी कुछ देर तक चुपचाप रहीं। तदनन्तर उनको पहचान वे प्रसन्न हो गयीं ॥ ४ ॥

सौम्यं दृष्ट्वा मुखं तस्या हनुमान्प्लवगोत्तमः ।
रामस्य वचनं सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी जानकी का सौम्यमुख देख, श्रीरामचन्द्र जी का समस्त सन्देसा सुनाने लगे ॥ ५ ॥

वैदेहि कुशली रामः सहसुग्रीवलक्ष्मणः ।
विभीषणसहायश्च हरीणां सहितो बलैः ॥ ६ ॥
कुशलं चाह सिद्धार्थो हतशत्रुररिन्दमः ।
विभीषणसहायेन रामेण हरिभिः सह ॥ ७ ॥

हे वैदेही ! सुग्रीव और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी सकुशल हैं। अपने सहायक विभीषण और वानरों सहित शत्रुहन्ता एवं सफलमनोरथ श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रु को मार कर तुमसे कुशलसंवाद कहा है। श्रीरामचन्द्र जी ने, विभीषण की सहायता से वानरों को साथ ले ॥ ६ ॥ ७ ॥

निहतो रावणो देवि लक्ष्मणस्य नयेन च ।
पृष्ट्वा तु कुशलं रामो वीरस्त्वां रघुनन्दनः ॥ ८ ॥
अब्रवीत्परमप्रीतः कृतार्थेनान्तरात्मना ।
प्रियमाख्यामि ते देवि त्वां तु भूयः [1]सभाजये ॥ ९ ॥

और लक्ष्मण के नीतिचातुर्य से, हे देवि ! रावण को मार डाला। वीर श्रीरामचन्द्र जी ने तुम्हारा कुशलसंवाद पूँछा है। सफलमनोरथ श्रीरामचन्द्र जी ने परमप्रसन्न हो जो सन्देशा तुमसे मेरे द्वारा कहलाया है, उस प्रिय सन्देसों को तुम्हे सुना कर, मैं पुनः तुम्हें आनन्दित करता हूँ ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ सभाजये—प्रीणये । (गो०)

दिष्ट्या जीवसि धर्मज्ञे जयेन मम संयुगे।
लब्धोनो विजयः सीते स्वस्था भव गतव्यथा ॥ १० ॥

(श्रीरामचन्द्र जी ने कहा है) हे धर्मज्ञे! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि, तुम जीवित हो। युद्ध में अब हम लोग विजयी हुए हैं सो तुम अब हमारे इस विजय से अपने मन की व्यथा दूर कर, सावधान हो जाओ ॥ १० ॥

रावणश्च हतः शत्रुर्लङ्का चेयं वशीकृता* ।
मया ह्यलब्धनिद्रेण [1]दृढेन तव [2]निर्जये ॥ ११ ॥

रावणरूपी शत्रु को मैंने मार डाला और इस लङ्का को फतह कर लिया। शत्रु के हाथ से तुम्हारा उद्धार करने के लिये मैंने सोना छोड़ और एकाग्र मन हो ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञैषा विनिस्तीर्णा बद्ध्वा सेतुं महोदधौ।
सम्भ्रमश्च न गन्तव्यो वर्तन्त्या रावणालये ॥ १२ ॥

और समुद्र का पुल बांध, मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। यद्यपि अभी तक तुम रावण के घर में हो, तथापि तुम घबड़ाओ मत ॥१२॥

विभीषणविधेयं हि लङ्कैश्वर्यमिदं कृतम्।
तदाश्वसिहि विश्वस्ता स्वगृहे परिवर्तसे ॥ १३ ॥

क्योंकि लङ्का का समस्त ऐश्वर्य अर्थात् राज्य विभीषण के हाथ आ गया है। अतः तुम निश्चिन्त हो जाओ और समझो कि अपने घर ही में हो ॥ १३ ॥

---

१ दृढेन—एकाग्रचित्तेन। (गो०) २ निर्जये—शत्रुहस्तात्तव विमोचने। (गो०) * पाठान्तरे—"वशेस्थिता"।

अयं चाभ्येति संहृष्टस्त्वद्दर्शनसमुत्सुकः ।
एवमुक्ता समुत्पत्य सीता शशिनिभानना ॥ १४ ॥
प्रहर्षेणावरुद्धा सा व्याजहार न किञ्चन ।
अब्रवीच्च हरिश्रेष्ठः सीतामप्रतिजल्पतीम् ॥ १५ ॥

विभीषण तुम्हारे दर्शन करने के लिये हर्षित हो आना चाहते हैं। हनुमान जी के इस प्रकार के वचनों को सुन, चन्द्रमुखी सीता कुछ भी न बोल सकीं। क्योंकि मारे आनन्द के उनका गला भर आया। तब सीता जी को कुछ बोलते न देख, कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने कहा ॥ १४ ॥ १५ ॥

किंनु चिन्तयसे देवि किंनु मां नाभिभाषसे ।
एवमुक्ता हनुमता सीता धर्मे व्यवस्थिता ॥ १६ ॥

हे देवि! आप किस बात के लिये चिन्तित हो रही हैं और मुझसे क्यों सम्भाषण नहीं करतीं? जब हनुमान जी ने इस प्रकार कहा; तब पातिव्रत धर्म में स्थित सीता ने ॥ १६ ॥

अब्रवीत्परमप्रीता हर्षगद्गदया गिरा ।
प्रियमेतदुपश्रुत्य भर्तुर्विजयसंश्रितम् ॥ १७ ॥
प्रहर्षवशमापन्ना निर्वाक्यास्मि क्षणान्तरम् ।
न हि पश्यामि सदृशं चिन्तयन्ती प्लवङ्गम ॥ १८ ॥

हर्ष के मारे गद्गद वाणी से परम हर्षित हो कहा—हे वानर! पति के विजय का संवाद सुन, आनन्द के मारे क्षण भर तक मुझसे कुछ बोला नहीं जाता था। अब मैं यह सोच रही हूँ कि, इस मङ्गलसंवाद के अनुरूप तुम्हें क्या पारितोषिक दूँ। क्योंकि मुझे इसके लिये तुम्हें देने योग्य कोई वस्तु नहीं देख पड़ती ॥ १७ ॥ १८ ॥

मत्प्रियाख्यानकस्येह तव प्रत्यभिनन्दनम् ।
न हि पश्यामि तत्सौम्य पृथिव्यामपि वानर ॥ १९ ॥
सदृशं मत्प्रियाख्याने तव दातुं भवेत्समम् ।
[1]हिरण्यं वा सुवर्णं वा रत्नानि विविधानि च ॥ २० ॥
राज्यं वा त्रिषु लोकेषु नैतदर्हति भाषितुम् ।
एवमुक्तस्तु वैदेह्या प्रत्युवाच प्लवङ्गमः ॥ २१ ॥

मुझे सारी पृथिवी पर ऐसी कोई वस्तु नहीं देख पड़ती, जो तुम्हारे समान प्रियसंवाद सुनाने वाले को दी जा सके। यदि मैं, चाँदी, सोना, विविध प्रकार के रत्न अथवा त्रिलोकी का राज्य भी तुम्हें दे डालूँ, तो भी तुम्हारे लिये यह सब इस सुखदसंवाद सुनाने के बदले में उचित पुरस्कार नहीं हो सकता। जब सीता जी ने इस प्रकार कहा, तब उत्तर में हनुमान जी ने ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

गृहीतप्राञ्जलिर्वाक्यं सीतायाः प्रमुखे स्थितः ।
भर्तुः प्रियहिते युक्ते भर्तुर्विजयकाङ्क्षिणि ॥ २२ ॥

हाथ जोड़ और सीता जी के सामने खड़े होकर कहा—हे पति के प्रिय हित में तत्पर रहने वाली! हे पति का विजय चाहने वाली! ॥ २२ ॥

स्निग्धमेवंविधं वाक्यं त्वमेवार्हसि भाषितुम् ।
तवैतद्वचनं सौम्ये सारवत्स्निग्धमेव च ॥ २३ ॥

हे सौम्ये! इस प्रकार के मनोहर वचन तुम्हीं कह सकती हो। तुम्हारे यह सारयुक्त, मनोहर और स्नेहसने वचन ॥ २३ ॥

---

1 हिरण्यं—रजतं। (गो०)

रत्नौघाद्विविधाच्चापि देवराज्याद्विशिष्यते ।
अर्थतश्च मया प्राप्ता देवराज्यादयो गुणाः ॥ २४ ॥

केवल विविध प्रकार के रत्नों ही से नहीं, बल्कि स्वर्ग के राज्य से भी कहीं अधिक चढ़बढ़ कर मूल्यवान हैं। उनके सुनने ही से मुझे तो स्वर्ग का राज्य आदि बहुमूल्य पदार्थ प्राप्त हो चुके ॥ २४ ॥

हतशत्रुं विजयिनं रामं पश्यामि सुस्थितम् ।
तस्यतद्वचनं श्रुत्वा मैथिली जनकात्मजा ॥ २५ ॥

क्योंकि मैं शत्रुहन्ता एवं विजयी श्रीरामचन्द्र जी को अब शान्तचित्त पाता हूँ। (अर्थात् पूर्ववत् वे अब शत्रु के लिये न तो चिन्तित हैं और न तुम्हारे वियोग में क्षुब्ध हैं।) हनुमान जी के वचन सुन कर, जनकनन्दिनी मैथिली ने ॥ २५ ॥

ततः शुभतरं वाक्यमुवाच पवनात्मजम् ।
अतिलक्षणसम्पन्नं माधुर्यगुणभूषितम् ॥ २६ ॥

बुद्धया ह्यष्टाङ्गया युक्तं त्वमेवार्हसि भाषितुम् ।
श्लाघनीयोऽनिलस्य त्वं पुत्रः परमधार्मिकः ॥ २७ ॥

पहिले से भी अधिक सुन्दर वचन हनुमान जी से कहे—हे हनुमन्! साधुत्वसम्पन्न और मधुरतागुण से भूषित, अष्टाङ्गबुद्धि से पूर्ण ऐसे वचनों को तुम्हीं कह सकते हो। हे पवननन्दन! तुम बड़े धार्मिक हो और सराहने योग्य हो ॥ २६ ॥ २७ ॥

[नोट—अष्टाङ्गबुद्धि से पूर्ण वचनों का विवरण यह है :—

ग्रहणं, धारणं चैव स्मरणं प्रतिपादनम् ।
ऊहापोहोर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥ १ ॥

अर्थात् सुनने की उत्कण्ठा या चाह, सुनी हुई बात को धारण करना, समय पर उसे याद रखना, बात को प्रतिपादन करना, उसमें तर्क वितर्क करना, उसका शोक न करना, उसका यथार्थ अभिप्राय जान लेना, उसमें से तत्त्व निकाल लेना—ये बुद्धि के आठ अंग हैं।]

बलं शौर्यं श्रुतं सत्त्वं विक्रमो दाक्ष्यमुत्तमम् ।
तेजः क्षमा धृतिर्धैर्यं विनीतत्वं न संशयः ॥ २८ ॥

प्रयासासहिष्णुत्व, युद्धोत्साह, शास्त्रज्ञान, शारीरिक बल, पराक्रम, सामर्थ्य, शत्रु का पराभव करने की शक्ति, अपराध सहिष्णुता, प्रभाव, धैर्य, विनम्रता अथवा नीति का विशेष ज्ञान तुममें सब से श्रेष्ठ है—इसमें सन्देह नहीं ॥ २८ ॥

एते चान्ये च बहवो गुणास्त्वय्येव शोभनाः ।
अथोवाच पुनः सीतामसम्भ्रान्तो विनीतवत् ॥ २९ ॥

ये सब गुण तो तुममें हैं ही, इनके अतिरिक्त भी बहुत से अच्छे गुण तुममें पाये जाते हैं। यह सुनकर हनुमान जी कुछ भी विचलित न हो कर, पुनः बड़ी नम्रता के साथ सीता जी से कहने लगे ॥२९॥

प्रगृहीताञ्जलिर्हर्षात्सीतायाः प्रमुखे स्थितः ।
इमास्तु खलु राक्षस्यो यदि त्वमनुमन्यसे ॥ ३० ॥
हन्तुमिच्छाम्यहं सर्वा याभिस्त्वं तर्जिता पुरा ।
क्लिश्यन्तीं पतिदेवां त्वामशोकवनिकां गताम् ॥ ३१ ॥

हाथ जोड़ कर सीता जी के सामने खड़े होकर और हर्षित हो बोले—हे देवि ! यदि तुम आज्ञा दो तो मैं इन सब राक्षसियों को, जो पहिले तुमको डराती धमकाती थीं मार डालूँ। तुम तो पति की चिन्ता में दुःखी अशोकवाटिका में रहती थीं ॥ ३० ॥ ३१ ॥

घोररूपसमाचाराः क्रूराः क्रूरतरेक्षणाः ।
राक्षस्यो दारुणकथा वरमेतत्प्रयच्छ मे ॥ ३२ ॥
मुष्टिभिः पाणिभिः सर्वाश्चरणैश्चैव शोभने ।
इच्छामि विविधैर्घातैर्हन्तुमेताः सुदारुणाः ॥ ३३ ॥

और ये सब भयङ्कर रूपवाली और बुरे आचरणों वाली, क्रूर और टेढ़ी मेढ़ी आँखों वाली राक्षसियाँ तुमसे बुरी बुरी बातें कहती थीं। सो हे शोभने! अब मुझे यह वर दो। मूँकों, थप्पड़ों और लातों से तथा विविध प्रकार की मार से इन कठोर हृदय वालियों को मारने के लिये मेरा जी चाहता है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

घातैर्जानुप्रहारैश्च दशनानां च पातनैः ।
भक्षणैः कर्णनासानां केशानां लुञ्चनैस्तथा ॥ ३४

मैं इनको घुटनों से मारना चाहता हूँ। दाँतों से इनके कान काटना चाहता हूँ। इनके बालों को नोंच नोंच कर उखाड़ डालना चाहता हूँ। इन्हें पटक पटक कर मारना चाहता हूँ और इनको (ज़िन्दा ही) खा जाना चाहता हूँ ॥ ३४ ॥

नखैः शुष्कमुखीभिश्च दारणैर्लङ्घनैर्हतैः ।
निपात्य हन्तुमिच्छामि तव विप्रियकारिणीः ॥ ३५ ॥

तुमको सताने वाली इन सूखे मुख वाली राक्षसियों को नखों से विदीर्ण कर और ऊपर उछाल उछाल कर तथा ज़मीन पर पटक पटक कर मैं मार डालना चाहता हूँ ॥ ३५ ॥

एवंप्रकारैर्बहुभिर्विप्रकारैर्यशस्विनि ।
हन्तुमिच्छाम्यहं देवि तवेमाः कृतकिल्बिषाः ॥ ३६ ॥

हे यशस्विनी! मैं तुम्हें सताने वाली इन सब पापिनियों को अनेक प्रकार के आघातों से मारना चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

एवमुक्ता हनुमता वैदेही जनकात्मजा ।
उवाच धर्मसहितं हनुमन्तं यशस्विनी ॥ ३७ ॥

जब हनुमान जी ने जनकनन्दिनी से इस प्रकार कहा, तब यशस्विनी सीता जी ने धर्मसहित वचन हनुमान जी से कहे ॥३७॥

राजसंश्रयवश्यानां कुर्वन्तीनां पराज्ञया ।
विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद्वानरोत्तम ॥ ३८ ॥

ये दासियाँ हैं और रावण की आश्रिता थीं और उसकी आज्ञा का पालन करती थीं। सो हे वानरश्रेष्ठ! तुम इन पर कुपित क्यों होते हो ॥ ३८ ॥

भाग्यवैषम्ययोगेन पुरा दुश्चरितेन च ।
मयैतत्प्राप्यते सर्वं स्वकृतं ह्युपभुज्यते ॥ ३९ ॥

मैं अपने ही भाग्यदोष से और अपने पूर्वकृत दुष्कृतों के द्वारा ये समस्त दुःख पाती हूँ और अपना भोगमान भोग रही हूँ ॥३९॥

प्राप्तव्यं तु दशायोगान्मयैतदिति निश्चितम् ।
दासीनां रावणस्याहं मर्षयामीह दुर्बला ॥ ४० ॥

मुझे यही वदा था कि, मैं ऐसी दशा में पड़ यह भोगूँ। मैंने तो यही निश्चय कर रखा है। मुझ दुर्बला ने इसीसे रावण की इन दासियों का क्रोध सह लिया ॥ ४० ॥

आज्ञप्ता रावणेनैता राक्षस्यो मामतर्जयन् ।
हते तस्मिन्न कुर्युर्हि तर्जनं वानरोत्तम ॥ ४१ ॥

हे वानरोत्तम! इन राक्षसियों ने रावण की आज्ञा से ही मुझे सताया था। क्योंकि अब जब रावण मर चुका है तब तो यह मुझे अब नहीं डाँटती डपटतीं॥ ४१॥

अयं व्याघ्रसमीपे तु पुराणो धर्मसंस्थितः।
ऋक्षेण गीतः श्लोको मे तन्निबोध प्लवङ्गम॥ ४२॥

हे कपे! पुराणान्तर्गत कहीं एक यह कथा है कि, एक समय एक शिकारी व्याघ्र के डर से एक ऐसे पेड़ पर चढ़ गया जिसके ऊपर रीछ पहिले ही से बैठा था। उस समय भालू ने व्याघ्र को जो श्लोक सुनाया था, उसे सुनो॥ ४२॥

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्।
[1]समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः॥ ४३।

अपकारी को अपकार द्वारा बदला देना उचित नहीं। अथवा दूसरे के बुरे काम देख कर वैसा ही बुरा वर्ताव करना उचित नहीं। प्रत्येक जन को अपने आचार की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि आचार रक्षा ही साधुजनोचित भूषण है॥ ४३॥

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवङ्गम।
कार्यं करुणमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥ ४४॥

हे वानर! भले ही कोई पापी हो या धर्मात्मा, अथवा वध करने योग्य ही क्यों न हो, किन्तु श्रेष्ठजनों को उस पर दया ही करनी चाहिये। क्योंकि ऐसा कोई है ही नहीं, जो अपराध न करता हो; कुछ न कुछ अपराध तो सभी से हुआ करता है॥ ४४॥

---

१ समयः—आचारः। (गो०)

लोकहिंसाविहाराणां रक्षसां कामरूपिणाम् ।
कुर्वतामपि पापानि नैव कार्यमशोभनम् ॥ ४५ ॥

मेरी समझ में तो यथेच्छ रूपधारी वे राक्षस जो जीवहिंसा करना एक खेल समझते हैं, उनका भी अनिष्ट करना अच्छी बात नहीं ॥ ४५ ॥

एवमुक्तस्तु हनुमान्सीतया वाक्यकोविदः ।
प्रत्युवाच ततः सीतां रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ४६ ॥

जब सीता जी ने इस प्रकार कहा, तब वाक्यकोविद हनुमान जी ने उत्तर में यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता जी से कहा ॥ ४६ ॥

युक्ता रामस्य भवती धर्मपत्नी यशस्विनी ।
प्रतिसन्दिश मां देवि गमिष्ये यत्र राघवः ॥ ४७ ॥

हे देवि ! क्यों न हो ! तुम हो तो श्रीरामचन्द्र जी ही की यशस्विनी धर्मपत्नी । अब तुम जो सन्देसा श्रीरामचन्द्र जी के लिये मुझसे कहना चाहती हो वह कहो । क्योंकि अब मैं श्रीरामचन्द्र जी के पास जाना चाहता हूँ ॥ ४७ ॥

एवमुक्ता हनुमता वैदेही जनकात्मजा ।
अब्रवीद्द्रष्टुमिच्छामि भर्तारं वानरोत्तम ॥ ४८ ॥

जब हनुमान जी ने यह कहा; तब जनकनन्दिनी ने हनुमान जी से कहा—हे वानरोत्तम ! मैं तो अपने पति के दर्शन करना चाहती हूँ ॥ ४८ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनुमान्मारुतात्मजः ।
हर्षयन्मैथिलीं वाक्यमुवाचेदं महाद्युतिः ॥ ४९ ॥

सीता जी का यह कथन सुन, पवननन्दन महाकान्तिमान् हनुमान जी ने मैथिली को हर्षित करते हुए यह कहा ॥ ४९ ॥

पूर्णचन्द्राननं रामं द्रक्ष्यस्यार्ये सलक्ष्मणम् ।
स्थिरमित्रं हतामित्रं शचीव त्रिदशेश्वरम् ॥ ५० ॥

हे आर्ये! लक्ष्मण तथा मित्रों सहित उन चन्द्रवदन और हतशत्रु श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन तुम उसी प्रकार (आज) करोगी, जिस प्रकार शची अपने पति इन्द्र के करती हैं ॥ ५० ॥

तामेवमुक्त्वा राजन्तीं सीतां साक्षादिव श्रियम् ।
आजगाम महावेगो हनुमान्यत्र राघवः ॥ ५१ ॥

इति षोडशोत्तरशततमः सर्गः ॥

साक्षात् लक्ष्मी जी की तरह शोभायमान् जानकी जी से कह वचन कह, महावेगवान् हनुमान जी श्रीरामचन्द्र जी के पास चले आये ॥ ५१ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौसोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः

—※—

स उवाच महाप्राज्ञमभिगम्य प्लवङ्गमः ।
रामं वचनमर्थज्ञो वरं सर्वधनुष्मताम् ॥ १ ॥

महापण्डित हनुमान जी धनुषधारियों में श्रेष्ठ एवं वचनार्थज्ञ श्रीरामचन्द्र जी के समीप जा कर बोले ॥ १ ॥

यन्निमित्तोऽयमारम्भः कर्मणां च फलोदयः ।
तां देवीं शोकसन्तप्तां मैथिलीं द्रष्टुमर्हसि ॥ २ ॥

हे प्रभो ! जिनके लिये यह इतना भारी आयोजन किया गया (अर्थात् समुद्र पर पुल बाँधा गया और जान पर खेल कर युद्ध किया गया) और जो इस समस्त आयोजन का फल स्वरूप है, उन शोकपीड़ित सीता देवी को अब दर्शन देना आपको उचित है ॥ २ ॥

सा हि शोकसमाविष्टा बाष्पपर्याकुलेक्षणा ।
मैथिली विजयं श्रुत्वा तत्र हर्षमुपागमत् ॥ ३ ॥

क्योंकि शोक से विकल रोती हुई जानकी आपके विजय का संवाद सुनते ही हर्षित हो गयीं ॥ ३ ॥

पूर्वकात्प्रत्ययाच्चाहमुक्तो विश्वस्तया तया ।
भर्तारं द्रष्टुमिच्छामि कृतार्थं सहलक्ष्मणम् ॥ ४ ॥

पूर्वकालीन परिचय होने के कारण सीता जी ने मुझ पर विश्वास किया और यही कहा कि, मैं उन पूर्णकाम (पूर्ण मनोरथ) अपने पति को लक्ष्मण सहित देखना चाहती हूँ ॥ ४ ॥

एवमुक्तो हनुमता रामो धर्मभृतां वरः ।
अगच्छत्सहसा ध्यानमीषद्बाष्पपरिप्लुतः ॥ ५ ॥

जब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से हनुमान जी ने यह कहा; तब वे कुछ कुछ आँखों में आँसू भर सोचने लगे ॥ ५ ॥

दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मेदिनीमवलोकयन् ।
उवाच मेघसङ्काशं विभीषणमुपस्थितम् ॥ ६ ॥

फिर लंबी साँस ले वे पृथिवी को निहार कर मेघ के समान विशालकाय विभीषण से, जो वहाँ उपस्थित थे, बोले ॥ ६ ॥

दिव्याङ्गरागां वैदेहीं दिव्याभरणभूषिताम् ।
इह सीतां शिरःस्नातामुपस्थापय मा चिरम् ॥ ७ ॥

अच्छी तरह उपटन करा और सिर से स्नान करा कर तथा दिव्य भूषणों से भूषित कर सीता को शीघ्र यहाँ ले आओ ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण त्वरमाणो विभीषणः ।
प्रविश्यान्तःपुरं सीतां स्वाभिः स्त्रीभिरचोदयत् ॥ ८ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब विभीषण तुरन्त अपने अन्तःपुर में गये और अपनी स्त्रियों द्वारा सीता जी से यह सन्देसा कहलाया (और फिर स्वयं उनके पास जा बोले) ॥ ८ ॥

दिव्याङ्गरागा वैदेहि दिव्याभरणभूषिता ।
यानमारोह भद्रं ते भर्ता त्वां द्रष्टुमिच्छति ॥ ९ ॥

हे देवि ! तुम्हारा मङ्गल हो । तुम्हारे पति तुमको देखना चाहते हैं । अतः तुम उपटन लगवा नहा डालो और दिव्य भूषणों से भूषित हो पालकी पर सवार हो लो ॥ ९ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही प्रत्युवाच विभीषणम् ।
अस्नाता द्रष्टुमिच्छामि भर्तारं राक्षसाधिप ॥ १० ॥

विभीषण के इस प्रकार कहने पर सीता जी ने उत्तर दिया— हे राक्षसेश्वर ! मैं तो विना स्नान किये ही अपने स्वामी को देखना चाहती हूँ ॥ १० ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विभीषणः ।
यदाह राजा भर्ता ते तत्तथा कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

सीता जी के इस कथन को सुन विभीषण ने कहा—(मेरी समझ में तो) जैसा आपके स्वामी महाराज ने आज्ञा दी है आपको तदनुसार ही करना चाहिये ॥ ११ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मैथिली भर्तृदेवता ।
भर्तृभक्तिव्रता साध्वी तथेति प्रत्यभाषत ॥ १२ ॥

विभीषण के ये वचन सुन, पति ही को अपना आराध्य देव समझ, पतिव्रता सती सीता ने पतिभक्तिवश उत्तर दिया—"बहुत अच्छा" ॥ १२ ॥

ततः सीतां शिरः स्नातां युवतीभिरलङ्कृताम् ।
महार्हाभरणोपेतां महार्हाम्बरधारिणीम् ॥ १३ ॥

तब विभीषण ने अपनी स्त्रियों द्वारा सीता जी को सिर से स्नान करवाये और भूषणों से भूषित करवाया। बहुमूल्य गहने धारण किये हुए तथा बहुमूल्य वस्त्र पहिने हुए जानकी को (विभीषण ने) ॥ १३ ॥

आरोप्य शिबिकां दीप्तां परार्ध्याम्बरसंवृताम् ।
रक्षोभिर्बहुभिर्गुप्तामाजहार विभीषणः ॥ १४ ॥

एक चमचमाती पालकी में जिस पर बड़ा बढ़िया उघार पड़ा हुआ था, सवार करवाया। फिर उस पालकी की रक्षा के लिये बहुत से राक्षसों को नियुक्त कर, वे पालकी श्रीरामचन्द्र जी के निकट लिवा ले चले ॥ १४ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं ज्ञात्वाऽपि ध्यानमास्थितम् ।
प्रणतश्च प्रहृष्टश्च प्राप्तां सीतां न्यवेदयत् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को ध्यानमग्न जान कर भी विभीषण ने अत्यन्त हर्षित हो और प्रणाम कर सीता जी के आगमन की उनको सूचना दी ॥ १५ ॥

तामागतामुपश्रुत्य रक्षोगृहचिरोषिताम् ।
हर्षो दैन्यं च रोषश्च त्रयं राघवमाविशत् ॥ १६ ॥

रावण के घर में बहुत काल तक बसी हुई सीता जी आगमन का संवाद सुन, श्रीरामचन्द्र जी के मन में कुछ क्रोध, कुछ हर्ष और कुछ कुछ दीनता उत्पन्न हो गयी ॥ १६ ॥

ततः पार्श्वगतं दृष्ट्वा सविमर्शं विचारयन् ।
विभीषणमिदं वाक्यमहृष्टं राघवोऽब्रवीत् ॥ १७

निकट आयी हुई सीता को देख, उनके विषय में सोच कर, विभीषण से श्रीरामचन्द्र जी ने अप्रसन्न हो यह कहा ॥१७॥

राक्षसाधिपते सौम्य नित्यं मद्विजये रत ।
वैदेही सन्निकर्षं मे शीघ्रं समुपगच्छतु ॥ १८ ॥

हे राक्षसेश्वर ! हे सौम्य ! सदा हमारे विजय की कामना में रत रहने वाले मित्र ! जानकी शीघ्र मेरे पास आवें ॥ १८ ॥

स तद्वचनमाज्ञाय राघवस्य विभीषणः ।
तूर्णमुत्सारणे यत्नं कारयामास सर्वतः ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह कथन सुन कर, धर्मात्मा विभीषण जी ने वहाँ से सब किसी को हटाने का प्रयत्न किया ॥ १९ ॥

[1]कञ्चुकोष्णीषिणस्तत्र वेत्रझर्झरपाणयः।
उत्सारयन्तः पुरुषाः समन्तात्परिचक्रमुः॥ २०॥

जामा पगड़ी पहिने हुए खोजे, जो हाथों में बेत लिये हुए थे, चारों ओर घूम घूम कर पुरुषों को हटाने लगे॥ २०॥

ऋक्षाणां वानराणां च राक्षसानां च सर्वशः।
वृन्दान्युत्सार्यमाणानि दूरमुत्तस्थुस्तदा॥ २१॥

तब रीछों वानरों और राक्षसों के समस्त दल वहाँ से हटाये जाने पर, दूर जा खड़े हुए॥ २१॥

तेषामुत्सार्यमाणानां सर्वेषां ध्वनिरुत्थितः।
वायुनोद्धर्तमानस्य सागरस्येव निःस्वनः॥ २२॥

उन सब के हटाने में वैसा ही बड़ा होहल्ला मचा; जैसा कि वायु के वेग से समुद्र का शब्द होता है॥ २२॥

उत्सार्यमाणांस्तान्दृष्ट्वा समन्ताज्जातसम्भ्रमान्।
[2]दाक्षिण्यात्तदमर्षाच्च[3] वारयामास राघवः॥ २३॥

इस प्रकार उन समस्त रीछों, वानरों और राक्षसों का बल पूर्वक वहाँ से हटाया जाना देख, तथा उन सब को घबड़ाया हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी के मन में उनके प्रति दया उत्पन्न हुई। विभीषण ने यह काम श्रीरामचन्द्र जी से आज्ञा लिये बिना ही किया था, अतएव श्रीरामचन्द्र जी को उनका यह काम पसन्द न आया। श्रीरामचन्द्र जी ने विभीषण को ऐसा करने से बर्जा॥ २३॥

---

१ कञ्चुकं—वारबाणं। (गो०) २ दाक्षिण्यात्—कृपाविशेषात्। (रा०)
३ अमर्षात्—मदाज्ञांविनोत्सारयतीति विभीषणेऽमर्षः। (रा०)

संरब्धश्चाब्रवीद्रामश्चक्षुषा प्रदहन्निव ।
विभीषणं महाप्राज्ञं सोपालम्भमिदं वचः ॥ २४ ॥

मारे क्रोध के ऐसी लाल लाल आँखें कर, मानों नेत्राग्नि से वे जला ही डालेंगे, श्रीरामचन्द्र जी ने महाप्राज्ञ विभीषण को उलहना दिया और कहा ॥ २४ ॥

किमर्थं मामनादृत्य क्लिश्यतेऽयं त्वया जनः ।
निवर्तयैनमुद्योगं जनोऽयं स्वजनो मम ॥ २५ ॥

तुम मेरा अनादर कर (विना मेरी आज्ञा पाये) मेरे जनों को क्यों सता रहे हो? अपने लोगों को मना कर दो कि, वे लोग इन लोगों को न सतावें। क्योंकि ये सब तो मेरे स्वजन ही हैं। अर्थात् ये सब तो मेरे घर के लोगों जैसे हैं ॥ २५ ॥

न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारास्तिरस्क्रियाः[1] ।
नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियाः ॥ २६ ॥

स्त्रियों के लिये न घर, न चादर का घूँघट, न क़नात आदि की चहारदीवारी, न चिक आदि परदा और न इस प्रकार का राजसत्कार ही आड़ (ओट) करने वाला है (जैसा कि तुम कर रहे हो) ॥ २६ ॥

[2]व्यसनेषु न [3]कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे ।
न क्रतौ न विवाहे च दर्शनं दुष्यति स्त्रियाः ॥ २७ ॥

---

१ तिरस्क्रिया—आवरणं। (रा०) २ व्यसनेषु—इष्टजन वियोगेषु। (गो०, ३ कृच्छ्रेषु—राज्यक्षोभादिषु। (गो०)

इष्टजनों का वियोग होने पर, राजविप्लव के समय, समरभूमि में, स्वयंवरसभा में, यज्ञशाला में, विवाह में स्त्रियों का जनसमाज के सम्मुख बिना परदे के या बिना घूँघट काढ़े आना दूषित नहीं है। (अर्थात् इन दशाविशेषों के अतिरिक्त दशाओं में उनका पर्दा छोड़ और बिना घूँघट के जनसमाज में आना दूषित है) ॥ २७ ॥

[नोट—इस कथन से रामायणकाल में परदासिस्टम का आर्यों में ...चित होना स्पष्ट सिद्ध होता है।]

सैषा युद्धगता चैव कृच्छ्रे च महति स्थिता ।
दर्शनेऽस्या न दोषः स्यान्मत्समीपे विशेषतः ॥२८॥

सीता जी भी इस समय बड़ी भारी विपत्ति में पड़ी हैं और पीड़ित हैं। अतएव ऐसे समय, विशेष कर मेरे सामने, इनका बिना ... के आना, कोई भी दोष की बात नहीं है ॥ २८ ॥

तदानय समीपं मे शीघ्रमेनां विभीषण ।
सीता पश्यतु मामेषा सुहृद्गणवृतं स्थितम् ॥ २९ ॥

सो हे विभीषण! तुम शीघ्र (बिना पर्दा के ही) सीता को मेरे पास ले आओ, जिससे ये सब मेरे सुहृद्गण सीता को देख सकें ॥ २९ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण सविमर्शो विभीषणः ।
रामस्योपानयत्सीतां सन्निकर्षं विनीतवत् ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, विभीषण जी मन में कुछ सोचते विचारते, नम्रतापूर्वक सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी के पास ले आये ॥ ३० ॥

ततो लक्ष्मणसुग्रीवौ हनुमांश्च प्लवङ्गमः ।
निशम्य वाक्यं रामस्य बभूवुर्व्यथिता भृशम् ॥३१॥

किन्तु श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ३१ ॥

कलत्रनिरपेक्षैश्च इङ्गितैरस्य दारुणैः ।
अप्रीतमिव सीतायां तर्कयन्ति स्म राघवम् ॥ ३२ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने सीता की ओर देखा, तब उनकी (क्रोध भरी) कठोर चितवन को देख, लक्ष्मणादि ने जाना कि श्रीरामचन्द्र जी सीता पर अप्रसन्न हैं ॥ ३२ ॥

लज्जया त्ववलीयन्ती स्वेषु गात्रेषु मैथिली ।
विभीषणेनानुगता भर्तारं साऽभ्यवर्तत ॥ ३३ ॥

उस समय जानकी जी लाज के मारे सिकुड़ती हुई मानों अपने अङ्गों ही में घुसी जाती थीं और विभीषण उनके पीछे पीछे आ रहे थे । इस प्रकार सीता श्रीरामचन्द्र जी के निकट पहुँची ॥३३॥

सा वस्त्रसंरुद्धमुखी लज्जया जनसंसदि ।
रुरोदासाद्य भर्तारमार्यपुत्रेति भाषिणी ॥ ३४ ॥

उस जनसमाज में लज्जावश सीता अपना मुख ढके हुए थीं अर्थात् घूँघट काढ़े हुए थीं । सीता अपने पति के समीप पहुँच कर "हे आर्य पुत्र" कह कर रो पड़ीं ॥ ३४ ॥

विस्मयाच्च प्रहर्षाच्च स्नेहाच्च पतिदेवता ।
उदैक्षत मुखं भर्तुः सौम्यं सौम्यतरानना ॥ ३५ ॥

सुन्दरमुखवाली, पति ही को अपना आराध्य देव मानने वाली श्रीजानकी जी विस्मय, हर्ष और प्रेम के वश हो, बहुत देर तक अपने पति का सुन्दर मुख देखती रहीं ॥ ३५ ॥

अथ समपनुदन्मनःक्लमं सा
सुचिरमदृष्टमुदीक्ष्य वै प्रियस्य ।
वदनमुदितपूर्णचन्द्रकान्तं[1]
[2]विमलशशाङ्कनिभानना तदानीम् ॥३६॥

इति सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

मन की ग्लानि को त्याग कर, बहुत दिनों से न देखे हुए, अपने पति के उदय होते हुए चन्द्रमा की तरह लाल मुख (क्रोध के कारण) को देख, सीता का मुखमण्डल निर्मल चन्द्रमा के समान हो गया ॥ ३६ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौसत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

तां तु पार्श्वस्थितां [3]प्रह्वां रामः सम्प्रेक्ष्य मैथिलीम् ।
हृदयान्तर्गतक्रोधो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

---

१ उदितपूर्णचन्द्रकान्तं—इत्यनेनकोपरक्तत्वमुक्तं । (गो॰) २ विमल शशाङ्केत्यनेन उत्तरकालिकक्षयः सूच्यते । (गो॰) ३ प्रह्वां—लज्जया नम्रां । (गो॰)

लज्जा के मारे सिर झुकाये सीता को अपनी बग़ल में खड़ा देख, श्रीरामचन्द्र जी ने उस अपने क्रोध को, जो अभी तक उनके हृदय में छिपा हुआ था, प्रकट करना आरम्भ किया ॥ १ ॥

एषाऽसि निर्जिता भद्रे शत्रुं जित्वा मया रणे ।
पौरुषाद्यदनुष्ठेयं तदेतदुपपादितम् ॥ २ ॥

वे कहने लगे—हे भद्रे ! मैंने युद्ध में शत्रु को परास्त कर तुमको पुनः प्राप्त कर लिया । पुरुषार्थ जो किया जा सकता था, वह मैंने कर दिखाया ॥ २ ॥

गतोऽस्म्यन्तममर्षस्य धर्षणा सम्प्रमार्जिता ।
अवमानश्च शत्रुश्च मया युगपदुद्धृतौ ॥ ३ ॥

अब मेरा क्रोध नष्ट हुआ । रावण ने तुमको हर कर मेरा जो अनादर किया था उस अनादर का बदला भी पूरा हो चुका । शत्रु ने जो अनादर की बातें कहीं थीं, उस अनादर के बदले मैंने युद्ध में शत्रु का वध कर डाला । अथवा युद्ध में उस अनादर को और अनादर करनेवाले शत्रु को साथ ही नष्ट कर डाला ॥ ३ ॥

अद्य मे पौरुषं दृष्टमद्य मे सफलः श्रमः ।
अद्य तीर्णप्रतिज्ञत्वात्प्रभवामीह[1] चात्मनः ॥ ४ ॥

आज लोगों ने मेरा पुरुषार्थ देख लिया । आज मेरा सारा परिश्रम सफल हुआ । आज मैं अपनी प्रतिज्ञा से पार हुआ और आज मैं स्वतन्त्र हो गया ॥ ४ ॥

---

१ आत्मनः प्रभवामि—स्वतन्त्रो भवामि । (गो०)

या त्वं विरहिता नीता चलचित्तेन रक्षसा ।
दैवसम्पादितो दोषो[1] मानुषेण मया जितः ॥ ५ ॥

मेरी अनुपस्थिति में चञ्चलमना रावण जो तुमको (पञ्चवटी से) हर कर (यहाँ) ले आया था, वह दैवकृत दोष अर्थात् अपमान था। उस अपमान को मुझ जैसे मनुष्य ने दूर कर दिया ॥ ५ ॥

सम्प्राप्तमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति ।
कस्तस्य पुरुषार्थोऽस्ति पुरुषस्याल्पतेजसः ॥ ६ ॥

जो मनुष्य अपने निरादर को अपने बल विक्रम से दूर नहीं कर सका ; उसका पुरुषार्थ ही किस काम का। ऐसा मनुष्य तो अल्पबल और अल्पविक्रम वाला समझा जाता है ॥ ६ ॥

लङ्घनं च समुद्रस्य लङ्कायाश्चावमर्दनम् ।
सफलं तस्य तच्छ्लाघ्यं महत्कर्म हनूमतः ॥ ७ ॥

समुद्र का नाँघना, लङ्का विध्वस्त करना आदि हनुमान जी ने जो बड़े बड़े सराहने योग्य कार्य किये, वे सब आज सफल हो गये ॥ ७ ॥

युद्धे विक्रमतश्चैव हितं मन्त्रयतश्च मे ।
सुग्रीवस्य ससैन्यस्य सफलोऽद्य परिश्रमः ॥ ८ ॥

युद्ध में पराक्रम प्रदर्शित करने वाले और सदा हितयुक्त सलाह देने वाले सुग्रीव का तथा उनकी सेना का भी सारा परिश्रम आज सफल हुआ ॥ ८ ॥

---

1 दोषः—अवमानः । (गो०)

निर्गुणं भ्रातरं त्यक्त्वा यो मां स्वयमुपस्थितः ।
विभीषणस्य भक्तस्य सफलोऽद्य परिश्रमः ॥ ९ ॥

गुणहीन भाई का साथ छोड़ जो स्वयं मेरे पास आकर उपस्थित हुए, उन मेरे भक्त विभीषण का भी परिश्रम आज सफल हुआ ॥ ६ ॥

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य सीता रामस्य तद्वचः ।
मृगीवोत्फुल्लनयना बभूवाश्रुपरिप्लुता ॥ १० ॥

(बहुत दिनों बाद श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन पाने से) सीता जी के नेत्र हिरनी की तरह प्रफुल्लित हो गये थे, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन उन नेत्रों में आंसू भर आये ॥ १० ॥

पश्यतस्तां तु रामस्य भूयः क्रोधो व्यवर्धत ।
प्रभूताज्यावसिक्तस्य पावकस्येव दीप्यतः ॥ ११ ॥

उस समय सीता को देख कर, श्रीरामचन्द्र जी का क्रोध पुनः उसी प्रकार भड़का, जिस प्रकार घी डालने से अग्नि धधक उठता है ॥ ११ ॥

स बद्ध्वा भ्रुकुटीं वक्त्रे तिर्यक्प्रेक्षितलोचनः ।
अब्रवीत्परुषं सीतां मध्ये वानररक्षसाम् ॥ १२ ॥

उनकी भौंहें चढ़ गयीं। उन्होंने टेढ़ी निगाह से सीता को देख, वानरों और राक्षसों के सामने, सीता जी से ये कठोर वचन कहे ॥ १२ ॥

यत्कर्तव्यं मनुष्येण धर्षणां परिमार्जता ।
तत्कृतं सकलं सीते शत्रुहस्तादमर्षणात् ॥ १३ ॥

निर्जिता जीवलोकस्य तपसा भावितात्मना ।
अगस्त्येन दुराधर्षा मुनिना दक्षिणेव दिक् ॥ १४ ॥

हे सीते ! देखो, अपना अपमान दूर करने के लिये मनुष्य को जो कुछ करना उचित है, वह मैंने (रावण को मार कर) दिखलाया। मैंने क्रोध कर शत्रु के हाथ से तुम्हारा उद्धार वैसे ही किया ; जैसे आत्मस्वरूप को जानने वाले अगस्त्य ने दुर्धर्ष दक्षिण दिशा के राक्षसों के हाथ से उद्धार किया था ॥ १३ ॥ १४ ॥

विदितश्चास्तु ते भद्रे योऽयं रणपरिश्रमः ।
स तीर्णः सुहृदां वीर्यान्न त्वदर्थं मया कृतः ॥ १५ ॥

हे भद्रे ! तुमको यह भी जान लेना चाहिये कि, इन मित्रों ही के बल पराक्रम से मैं संग्राम के परिश्रम से पार हुआ हूँ। किन्तु मैंने ये सब परिश्रम (केवल) तुम्हारे लिये नहीं उठाया ॥ १५ ॥

रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वशः ।
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य [1]न्यङ्गं च परिरक्षता ॥ १६ ॥

किन्तु (रावण को मार कर) मैंने अपने चरित्र की रक्षा की है और अपनी बदनामी को बचाया है तथा अपने विख्यात वंश के अपयश को धो बहाया है ॥ १६ ॥

प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढम् ॥ १७ ॥

१ न्यङ्गं—अयशस्यं । गो०)

हे सीते ! तुम्हारे चरित्र में सन्देह उत्पन्न हो गया है। अतः तुम मेरे सामने खड़ी हुई मेरे लिये उसी प्रकार असह्य हो रही हो, जिस प्रकार नेत्ररोग से पीड़ित मनुष्य को सामने रखा हुआ दीपक असह्य जान पड़ता है ॥ १७ ॥

तद्गच्छ ह्यभ्यनुज्ञाता यथेष्टं जनकात्मजे ।
एता दश दिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया ॥ १

सो हे जनकात्मजे ! ये दसो दिशाएँ तुम्हारे लिये खुली पड़ी हैं। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि, जिधर तुम्हारी इच्छा हो उधर चली जाओ। मुझे तुमसे अब कुछ भी प्रयोजन नहीं ॥ १८ ॥

कः पुमान्हि कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम् ।
तेजस्वी पुनरादद्यात्सुहृल्लेख्येन चेतसा ॥ १९ ॥

क्योंकि ऐसा कौन तेजस्वी पुरुष होगा, जो स्वयं उच्चकुल में उत्पन्न होकर, दूसरे के घर में रही हुई स्त्री को सुहृद् समझ कर (अपनी समझ कर) फिर अङ्गीकार कर लेगा ॥ १६ ॥

रावणाङ्कपरिभ्रष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं [1]व्यपदिशन्महत् ॥ २० ॥

अतः रावण की गोद में बैठी हुई, उसकी कुदृष्टि से देखी हुई तुझको, इतने बड़े कुल में उत्पन्न होकर मैं भला अब क्यों कर ग्रहण करूँ ॥ २० ॥

तदर्थं निर्जिता मे त्वं यशः प्रत्याहृतं मया ।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामितः ॥ २१ ॥

---

१ व्यपदिशन्—कीर्तयन् । (गो०)

जिस कीर्ति के लिये मैंने तुम्हारा उद्धार किया वह मुझे मिल चुकी। अब मुझे तुमसे कोई मतलब नहीं। अब तुम जहाँ चाहो वहाँ जा सकती हो ॥ २१ ॥

इति मन्याहृतं भद्रे मयैतत्कृतबुद्धिना ।
लक्ष्मणे भरते वा त्वं कुरु बुद्धिं यथासुखम् ॥ २२ ॥

सुग्रीवे वानरेन्द्रे वा राक्षसेन्द्रे विभीषणे ।
निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः ॥ २३ ॥

हे भद्रे ! मैंने निश्चय करके तुमसे यह कहा है। लक्ष्मण, भरत, वानरेन्द्र सुग्रीव अथवा राक्षसेन्द्र विभीषण में से जिसके यहाँ तुम रहना पसन्द करो या जहाँ तुम्हें सुख मिलने की आशा हो, वहाँ तुम रह सकती हो ॥ २२ ॥ २३ ॥

न हि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे परिवर्तिनीम् ॥ २४ ॥

हे सीते ! तुम्हारा दिव्य और मनोहर रूप देख रावण ने जो चाहा होगा सो किया होगा, क्योंकि तुम उसके घर में बहुत दिनों से रहती ही थीं ॥ २४ ॥

ततः प्रियार्हश्रवणा तदप्रियं
प्रियादुपश्रुत्य चिरस्य मैथिली ।
मुमोच बाष्पं सुभृशं प्रवेपिता
गजेन्द्रहस्ताभिहतेव [1]सल्लकी ॥ २५ ॥

इति अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

---

1 सल्लकी—गजभक्ष्यलता विशेषः। (गो०)

बहुत दिनों से प्यारे वचन सुनने की आशा लगाये हुए सीता, श्रीरामचन्द्र जी के मुख से इस प्रकार के अप्रियवचन सुन कर, गजेन्द्र द्वारा झकझोरी हुई लता की तरह थरथर काँपने लगी और नेत्रों से अश्रुबिन्दु टपकाने लगी ॥ २५ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौअठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

एवमुक्ता तु वैदेही परुषं रोमहर्षणम्।
राघवेण सरोषेण भृशं प्रव्यथिताऽभवत् ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर इस प्रकार के कठोर और रोमाञ्चकारी वचन कहे, तब सीता जी बहुत व्यथित हुई ॥ १ ॥

सा तदश्रुतपूर्वं हि जने महति मैथिली।
श्रुत्वा भर्तृवचो रूक्षं लज्जया व्रीडिताभवत् ॥ २ ॥

सब लोगों के सामने पहिले कभी न सुने हुए ऐसे रूखे वचनों को सुन कर, सीता जी ने लज्जित हो सिर नीचा कर लिया ॥ २ ॥

प्रविशन्तीव गात्राणि स्वान्येव जनकात्मजा।
वाक्शल्यैस्तैः सशल्येव भृशंप्रव्यथिताऽभवत् ॥ ३

ततो बाष्पपरिक्लिष्टं प्रमार्जन्ती स्वमाननम्।
शनैर्गद्‌गदया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय ऐसा जान पड़ा, मानों जनकनन्दिनी सिकुड़ कर अपने अङ्गों ही में समा जायगी। सीता जी, (श्रीरामचन्द्र जी के) वचन रूपी बाणों की गांसी हृदय में चुभने से अत्यन्त पीड़ित हुई और आँसुओं से भरे अपने मुँह को पोंछती हुई, गद्गद वाणी से धीरे धीरे अपने पति से यह बोलीं ॥ ३ ॥ ४ ॥

किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम्।
रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव ॥ ५ ॥

हे वीर! तुम ऐसी अनुचित, कर्णकटु और रूखी बातें उस तरह क्यों कहते हो, जिस तरह गँवार आदमी अपनी गँवार स्त्री से कहा करते हैं ॥ ५ ॥

न तथाऽस्मि महाबाहो यथा त्वमवगच्छसि।
प्रत्ययं गच्छ मे येन चारित्रेणैव ते शपे ॥ ६ ॥

हे महाबाहो! तुमने मुझे जैसा समझ रखा है, मैं वैसी नहीं हूँ। इस विषय में तुम मेरे ऊपर विश्वास रखो। मैं अपने पातिव्रत धर्म की शपथ खा कर यह बात तुमसे कहती हूँ ॥ ६ ॥

[1]पृथक्स्त्रीणां प्रचारेण जातिं तां परिशङ्कसे।
परित्यजेमां शङ्कां तु यदि तेऽहं परीक्षिता[2] ॥ ७ ॥

गँवार स्त्रियों के चरित्र से सारी की सारी स्त्रीजाति के ऊपर सन्देह करना उचित नहीं। यदि तुम मेरे स्वभाव से परिचित हो, तो मेरे चरित के सम्बन्ध में (तुम्हारे मन में) जो सन्देह उठ खड़ा हुआ है, उसे तुम (अपने मन से) दूर कर डालो ॥ ७ ॥

---

1 पृथक्—प्राकृत। (गो०) 2 परीक्षिता—ज्ञातस्वभावा। (गो०)

यद्यहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो।
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति ॥ ८ ॥

हे प्रभो! जब रावण ने मुझे पकड़ा; तब उसने मेरा शरीर (अवश्य) स्पर्श किया था, किन्तु उस समय मैं विवश थी। मेरी इच्छा से उसने मेरा शरीर नहीं छुआ था। इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं, इसके लिये तो दैव (भाग्य) ही अपराधी है ॥ ८ ॥

मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा[1] ॥ ९ ॥

मेरे अधीन जो मेरा मन है, वह तुम्हीं में लगा रहता। (उसे कोई नहीं छू सका) किन्तु मेरा शरीर पराधीन था। सो मैं ऐसी अस्वतंत्रा कर ही क्या सकती हूँ ॥ ९ ॥

सह संवृद्धभावाच्च संसर्गेण च मानद।
यद्यहं ते न विज्ञाता हता तेनास्मि शाश्वतम् ॥ १० ॥

हे मानद! (इतने दिनों तक साथ साथ रहने पर) साथ ही साथ पले पोसे मेरे भावों को, यदि तुम न जान पाये, तो मैं तो सदा ही के लिये मार डाली गयी ॥ १० ॥

प्रेषितस्ते यदा वीरो हनुमानवलोककः।
लङ्कास्थाऽहं त्वया वीर किं तदा न विसर्जिता ॥ ११ ॥

जब तुमने मुझे देखने के लिये हनुमान जी को लङ्का में भेजा था, तब उन्हींके द्वारा मेरे परित्याग की बात मुझसे क्यों तुमने न कहला भेजी? ॥ ११ ॥

---

१ अनीश्वरा—अस्वतंत्रा। (गो०)

प्रत्यक्षं वानरेन्द्रस्य त्वद्वाक्यसमनन्तरम् ।
त्वया संत्यक्तया वीर त्यक्तं स्याज्जीवितं मया ॥ १२ ॥

यदि उस समय यह बात मुझे मालूम हो जाती तो तुम्हारे भेजे हुए हनुमान के सामने ही तुम्हारी त्यागी हुई मैं, अपने प्राण त्याग देती ॥ १२ ॥

न वृथा ते श्रमोऽयं स्यात्संशये न्यस्य जीवितम् ।
सुहृज्जनपरिक्लेशो न चायं निष्फलस्तव ॥ १३ ॥

ऐसा करने से न तो तुमको व्यर्थ इतना श्रम उठाना पड़ता और न अपने प्राणों को सन्देह में डालना पड़ता तथा न इन अपने हितैषी मित्रों को ही वृथा कष्ट देना पड़ता ॥ १३ ॥

त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता ।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्[१] ॥ १४ ॥

हे नरशार्दूल! तुमने तो ओछे मनुष्यों की तरह क्रोध के वशवर्ती हो साधारण स्त्रियों की तरह मुझको भी समझ लिया ॥ १४ ॥

अपदेशेन जनकान्नोत्पत्तिर्वसुधातलात् ।
मम वृत्तं च वृत्तज्ञ बहु तेन पुरस्कृतम् ॥ १५ ॥

हे मेरा समस्त वृत्तान्त जानने वाले! (वृत्तज्ञ!) मैं जनक की लड़की हूँ। इस विचार से तुमने न तो मेरी पृथिवी से उत्पत्ति ही की ओर ध्यान दिया और न मेरे (लोकोत्तर) चरित्र ही का कुछ विचार किया ॥ १५ ॥

---

१ पुरस्कृतं—चिन्तिता। (शि०)

न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः ।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम् ॥ १६ ॥

बाल्यावस्था में (विवाह के समय) तुमने जो मेरा हाथ पकड़ा था इसका भी तुमने प्रमाण न माना । अपने प्रति मेरी भक्ति और मेरे शील की ओर से भी तुमने मुँह फेर लिया ॥ १६ ॥

एवं ब्रुवाणा रुदती बाष्पगद्गदभाषिणी ।
अब्रवील्लक्ष्मणं सीता दीनं ध्यानपरं स्थितम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार कह कर रोती, आँसू बहाती तथा गद्गद हो कर सीता, लक्ष्मण जी से, जो उस समय उदास हो एकाग्र मन से कुछ सोच रहे थे, बोलीं ॥ १७ ॥

चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम् ।
मिथ्योपघातोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण ! इस मिथ्यापवाद से पीड़ित हो मैं अब जीना नहीं चाहती । अतः तुम अब मेरे लिये चिता बना दो । क्योंकि, ऐसे रोग की एकमात्र यही औषध है ॥ १८ ॥

अप्रीतस्य गुणैर्भर्तुस्त्यक्ताया जनसंसदि ।
या क्षमा मे गतिर्गन्तुं प्रवक्ष्ये हव्यवाहनम् ॥ १९ ॥

मेरे गुणों से अप्रसन्न हो कर सब लोगों के सामने मेरे पति ने मुझे त्यागा है । अतः मेरे लिये अब यही उचित है कि, मैं आग में प्रवेश करूँ ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या लक्ष्मणः परवीरहा ।
अमर्षवशमापन्नो राघवाननमैक्षत ॥ २० ॥

जब शत्रुघाती लक्ष्मण से जानकी जी ने इस प्रकार कहा, तब लक्ष्मण जी ने क्रोध में भर श्रीरामचन्द्र जी की ओर (इस विषय में उनका आन्तरिकभाव जानने के लिये) देखा ॥ २० ॥

स विज्ञाय ततश्छन्दं रामस्याकारसूचितम् ।
चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान् ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की मुखाकृति से लक्ष्मण ने जान लिया कि, वे भी यही चाहते हैं। अतः वीर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी के मतानुसार उन्होंने चिता बनाकर तैयार कर दी ॥ २१ ॥

अधोमुखं तदा रामं शनैः कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
उपासर्पत वैदेही दीप्यमानं हुताशनम् ॥ २२ ॥

नीचे की ओर मुख किये धीरे धीरे श्रीरामचन्द्र जी की परिक्रमा कर वैदेही दहकती हुई आग के निकट गयी ॥ २२ ॥

प्रणम्य देवताभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली ।
बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥ २३ ॥

मैथिली ने देवताओं और ब्राह्मणों को प्रणाम कर, अग्नि के पास खड़े हो कर तथा हाथ जोड़ कर यह कहा ॥ २३ ॥

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् ।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥ २४ ॥

जिस प्रकार मेरा मन श्रीरामचन्द्र जी की ओर से कभी चलायमान नहीं हुआ, उसी प्रकार सब लोकों के साक्षी अग्निदेव सब प्रकार से मेरी रक्षा करें ॥ २४ ॥

यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः ।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥ २५ ॥

मेरा चरित्र शुद्ध होने पर भी जैसे श्रीरामचन्द्र जी मुझको दुष्ट चरित्र वाली समझते हैं, वैसे ही लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब प्रकार से रक्षा करें ॥ २५ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम् ।
राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः ॥ २६ ॥

कर्म, वचन और मन से यदि मैं सर्वधर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ दूसरे को न जानती होऊँ, तो अग्निदेव मेरी रक्षा करें ॥ २६ ॥

आदित्यो भगवान्वायुर्दिशश्चन्द्रस्तथैव च ।
अहश्चापि तथा संध्ये रात्रिश्च पृथिवी तथा ॥ २७
यथान्येऽपि विजानन्ति तथा चारित्रसंयुताम् ।
एवमुक्त्वा तु वैदेही परिक्रम्य हुताशनम् ॥ २८ ॥

सूर्य, भगवान पवन, दिशाएँ, चन्द्रमा, दिवस, सन्ध्या, रात्रि, पृथिवी तथा अन्य सब लोग जिस प्रकार मुझको चरित्रवती जानते हैं, (उसी प्रकार हे पावक! तुम मेरी रक्षा करो) यह कह कर वैदेही ने अग्निदेव की परिक्रमा की ॥ २७ ॥ २८ ॥

विवेश ज्वलनं दीप्तं [1]निस्सङ्गेनान्तरात्मना ।
जनः स सुमहांस्त्रस्तो बालवृद्धसमाकुलः ॥ २९ ॥

---

१ निःसङ्गेन—शरीरे निरभिलाषेण । (गो०)

और अपने शरीर की कुछ भी परवाह न कर सीता जी धधकती हुई आग में घुस गयीं। वहाँ बालक बूढ़े जितने लोग उपस्थित थे, वे सब यह देख कर भयभीत हुए ॥ २६ ॥

ददर्श मैथिलीं तत्र प्रविशन्तीं हुताशनम् ।
सा तप्तनवहेमाभा तप्तकाञ्चनभूषणा ॥ ३० ॥

उन सब लोगों ने सीता को अग्नि में घुसते हुए देखा। सोने के ...न कान्ति वाली और सुवर्ण-भूषणों से भूषित ॥ ३० ॥

पपात ज्वलनं दीप्तं सर्वलोकस्य सन्निधौ ।
ददृशुस्तां महाभागां प्रविशन्तीं हुताशनम् ॥ ३१ ॥

सीता सब के सामने आग में घुस गयी। उन महाभागा सीता को अग्नि में घुसते सब ने देखा ॥ ३१ ॥

सीतां कृत्स्नास्त्रयो लोकाः *पूर्णामाज्याहुतीमिव ।
प्रचुक्रुशुः स्त्रियः सर्वास्तां दृष्ट्वा हव्यवाहने ॥ ३२ ॥

अखिल तीनों लोकों ने देखा कि, घी की पूर्णाहुति की तरह सीता देवी आग में गिर पड़ीं। तब वहाँ उस समय जितनी स्त्रियाँ थीं, वे सब हाय! हाय!! कह कर चिल्लाने लगीं ॥ ३२ ॥

पतन्तीं संस्कृतां मन्त्रैर्वसोर्धारामिवाध्वरे ।
ददृशुस्तां त्रयोलोका देवगन्धर्वदानवाः ।
शप्तां पतन्तीं निरये त्रिदिवाद्देवतामिव ॥ ३३ ॥

मंत्राभिषिक्त वसोर्धारा के समान अग्नि में गिरती हुई सीता जी को, तीनों लोकों तथा देवता, गन्धर्व और दानवों ने वैसे ही देखा, जैसे शापित देवी स्वर्ग से नरक में गिरती है ॥ ३३ ॥

---

* पाठान्तरे—"पुण्यामाज्याहुतीमिव।"

तस्यामग्निं विशन्त्यां तु हाहेति विपुलः स्वनः ।
रक्षसां वानराणां च संबभूवाद्भुतोपमः ॥ ३४ ॥

इति एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

सीता के अग्नि में घुसने पर, राक्षसों और वानरों का बड़ाभारी और अद्भुत हाहाकारयुक्त कोलाहल हुआ ॥ ३४ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौउन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

विंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—※—

ततो हि दुर्मना रामः श्रुत्वैव वदतां गिरः ।
[1]दध्यौ मुहूर्तं धर्मात्मा बाष्पव्याकुललोचनः ॥ १ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी उन सब का ऐसा हाहाकार सुन बहुत उदास हो गये । वे आँखों में आँसू भर कर कुछ देर तक मन ही मन कुछ सोचते विचारते रहे ॥ १ ॥

ततो वैश्रवणो राजा यमश्चामित्रकर्शनः ।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च वरुणश्च *जलेश्वरः ॥ २ ॥
[2]षडर्धनयनः श्रीमान्महादेवो वृषध्वजः ।
कर्ता सर्वस्य लोकस्य ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ॥ ३ ॥

१ दध्यौ—मनसाधनं कृतवान् । (गो०) २ षडर्धनयनः—त्रिनेत्र इत्यर्थः । (रा०) * पाठान्तरे—" परन्तपः । "

एते सर्वे समागम्य विमानैः सूर्यसन्निभैः ।
आगम्य नगरीं लङ्कामभिजग्मुश्च राघवम् ॥ ॥ ४ ॥

इतने ही में यक्षों के राजा कुबेर, शत्रुकर्शनकारी यम, सहस्राक्ष इन्द्र, जल के राजा वरुण, वृषध्वज त्रिलोचन महादेव, वेदवादियों में श्रेष्ठ एवं समस्त सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा जी—ये सब देवता सूर्य के समान विमानों में बैठ बैठ कर आये और लङ्का में पहुँच वे श्रीरामचन्द्र जी के निकट गये ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

ततः सहस्ताभरणान्प्रगृह्य विपुलान्भुजान् ।
अब्रुवंस्त्रिदशश्रेष्ठाः प्राञ्जलिं राघवं स्थितम् ॥ ५ ॥

उन सब देवताओं को आया हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़ कर खड़े हो गये । तब भूषणों से भूषित देवता गण अपनी अपनी विशाल भुजाओं को उठा कर बोले ॥ ५ ॥

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानवतां वरः ।
उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने ॥ ६ ॥

तुम समस्त लोकों के रचने वाले, सब देवताओं में श्रेष्ठ और ज्ञानियों के शिरोमुकुट हो । ऐसे हो कर भी अग्नि में गिरती हुई जानकी जी को तुम क्यों उपेक्षा करते हो ? ॥ ६ ॥

कथं देवगणश्रेष्ठमात्मानं नावबुध्यसे ।
[1]ऋतधामा वसुः पूर्वं वसूनां त्वं प्रजापतिः ॥ ७ ॥

---

१ ऋतुधामाख्यो वसुः । (गो॰)

हे देवताओं में श्रेष्ठ ! क्या तुम अपने को नहीं जानते ? अथवा तुम देवताओं में श्रेष्ठ होने पर भी किस कारणवश अपने को भूले हुए हो ? तुम (प्रथम कल्प में) अष्टवसुओं में से प्रजापति ऋतुधामा नाम के वसु थे ॥ ७ ॥

त्रयाणां त्वं हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः ।
रुद्राणामष्टमो रुद्रः साध्यानामसि पञ्चमः ॥ ८ ॥

तुम तीनों लोकों के आदिरचयिता, स्वयंप्रभु, रुद्रों में आठवें रुद्र और साध्यों में पांचवें साध्य हो ॥ ८ ॥

अश्विनौ चापि ते कर्णौ चन्द्रसूर्यौ च चक्षुषी ।
अन्ते चादौ च लोकानां दृश्यसे त्वं परन्तप ॥ ९ ॥

हे परन्तप ! अश्विनीकुमार तुम्हारे कान, सूर्य और चन्द्र तुम्हारे नेत्र हैं। प्रलय के समय और सृष्टि की आदि में तुम ही देख पड़ते हो ॥ ९ ॥

उपेक्षसे च वैदेहीं मानुषः प्राकृतो यथा ।
इत्युक्तो लोकपालैस्तैः स्वामी लोकस्य राघवः ॥ १० ॥
अब्रवीत्त्रिदशश्रेष्ठान्रामो धर्मभृतां वरः ।
आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ॥ ११ ॥

(ऐसे हो कर भी) तुम संसारी मनुष्य की तरह वैदेही की उपेक्षा करते हो ! जब इन लोकपालों ने इस प्रकार कहा तब लोकनाथ एवं धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने उन श्रेष्ठ देवताओं से कहा, मैं तो अपने को महाराज दशरथ का पुत्र राम नाम का एक मनुष्य जानता हूँ ॥ १० ॥ ११ ॥

योऽहं[1] यस्य[2] [3]यतश्चाहं भगवांस्तद्ब्रवीतु मे ।
इति ब्रुवन्तं काकुत्स्थं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ॥ १२ ॥

परन्तु मेरा जो स्वरूप है, जिससे मेरा सम्बन्ध है और मेरा जो प्रयोजन है, उसे आप स्पष्ट रूप से प्रकट करें। जब श्रीरामचन्द्र जी ने ये पूँछा, तब ब्रह्मवादियों में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी ने उत्तर देते हुए ॥ १२ ॥

अब्रवीच्छृणु मे राम सत्यं सत्यपराक्रम ।
भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधो विभुः[4] ॥ १३ ॥

कहा कि, हे सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ! मैं जो सत्य सत्य बातें कहता हूँ, उन्हें तुम सुनो। आप ही जल में शयन करने वाले श्रीमान् चक्रधारी सर्वव्यापी श्रीमन्नारायण हैं ॥ १३ ॥

एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव ॥ १४ ॥

हे राघव ! प्रलयकाल में जल में डूबी हुई पृथिवी का उद्धार करने वाले एकशृङ्गधारी वराह तुम ही हो। (श्रुति भी कहती है—"उद्धृतासि वराहेण")। तुम मधुकैटभादि भूतकालीन शत्रुओं के तथा आगे उत्पन्न होने वाले शिशुपालादि शत्रुओं के नाश करने वाले हो। तुम ही अक्षय्य (कभी नाश न होने वाले) सत्य-ब्रह्म हो। तुम सृष्टि के मध्य और अन्त में वर्तमान रहने वाले भी तुम्हीं हो ॥ १४ ॥

---

१ योऽहमितिस्वरूपप्रश्नः। (गो०) २ यस्येति सम्बन्धप्रश्नः। (गो०) ३ यतइति प्रयोजनप्रश्नः। (गो०) ४ विभुः—व्यापक इत्यर्थः। (गो०)

लोकानां त्वं परो धर्मो[1] विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ।
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

सब लोकों के तुम सिद्ध रूप धर्म हो। विष्वक्सेन और चतुर्भुज तुम्ही हो। तुम्ही *शार्ङ्गधन्वा, †हृषीकेश, पुरुष और पुरुषोत्तम हो ॥ १५ ॥

अजितः खड्गधृद्विष्णुः [2]कृष्णश्चैव बृहद्बलः ।
सेनानीर्ग्रामणीश्च त्वं बुद्धिः सत्त्वं क्षमा दमः ॥ १६ ॥

तुम अजित् हो, नन्दन नामक खड्गधारी तुम्ही हो, तुम्ही विष्णु हो, तुम्ही कृष्ण हो, तुम्ही बृहद्बल हो। तुम्ही सेनानी हो। तुम्ही ग्रामणी (ग्रामं नयतीति ग्रामणीः) हो, तुम्ही निश्चयात्मक बुद्धि वाले हो, तुम्ही सत्त्व, तुम्ही क्षमा, तुम्ही दम हो ॥ १६ ॥

प्रभवश्चाप्ययश्च त्वमुपेन्द्रो मधुसूदनः ।
इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वं पद्मनाभो रणान्तकृत् ॥ १७ ॥

तुम्ही समस्त सृष्टि के रचयिता और तुम्ही समस्त ... के लय करने वाले हो। तुम्ही उपेन्द्र और मधुसूदन हो। तुम्ही इन्द्रकर्मा, तुम्ही महेन्द्र, तुम्ही पद्मनाभ और तुम्ही रणान्तक हो ॥ १७ ॥

शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः ।
सहस्रशृङ्गो वेदात्मा शतजिह्वो महर्षभः ॥ १८ ॥

---

१ परोधर्मः—सिद्धरूपो धर्मः । (गो०) २ कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । (गो०)

* शार्ङ्ग नामक धनुष वाले । † हृषीकेश इन्द्रियों के स्वामी ।

दिव्य महर्षिगण तुम्हीं को शरणागतवत्सल और रक्षणोपाय बतलाते हैं। तुम्हीं सहस्रशृङ्गधारी, वेदों के आत्मा, शतजिह्वा और वृषभ रूप हो ॥ १८ ॥

त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः ।
सिद्धानामपि साध्यनामाश्रयश्चासि पूर्वजः ॥ १९ ॥

तुम्हीं तीनों लोकों के आदिकर्त्ता और स्वयंप्रभु हो। तुम्हीं सिद्धों और साध्यों के आश्रयदाता और पूर्वज हो ॥ १६ ॥

त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारः परन्तपः ।
प्रभवं निधनं वा ते न विदुः को भवानिति ॥ २० ॥

तुम्हीं यज्ञ, तुम्हीं वषट्कार, तुम्हीं ओंकार, और तुम्हीं उत्कृष्ट तप हो। तुम्हारी उत्पत्ति और लय का हाल किसी को नहीं मालूम। यह भी कोई नहीं जानता कि, तुम हो कौन? ॥ २० ॥

दृश्यसे सर्वभूतेषु ब्राह्मणेषु च गोषु च ।
दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु वनेषु च ॥ २१ ॥

तुम्हीं समस्त प्राणियों में, समस्त ब्राह्मणों में, समस्त गौओं में, समस्त दिशाओं में, आकाश में, पर्वतों में, और वनों में दिखलायी देते हो ॥ २१ ॥

सहस्रचरणः श्रीमाञ्शतशीर्षः सहस्रदृक् ।
त्वं धारयसि भूतानि वसुधां च सपर्वताम् ॥ २२ ॥

तुम सहस्रचरण (हज़ार पैरों वाले), तुम श्रीमान् (शोभा सम्पन्न), शतशीर्ष (हज़ार सिर वाले) और सहस्रदृक् (हज़ार

नेत्रों वाले) हो। तुम समस्त पर्वतों सहित इस पृथिवी को तथा समस्त प्राणियों को धारण करने वाले हो ॥ २२ ॥

अन्ते [1]पृथिव्याः सलिले दृश्यसे त्वं महोरगः ।
त्रींल्लोकान्धारयन्राम देवगन्धर्वदानवान् ॥ २३ ॥

पृथिवी के विनाशकाल में जल में तुम शेषशायी रूप धारण करते हो। हे राम! तुम देवता, गन्धर्व और दानवों सहित तीनों लोकों को धारण करने वाले हो ॥ २३ ॥

अहं ते हृदयं राम जिह्वा देवी सरस्वती ।
देवा गात्रेषु रोमाणि निर्मिता ब्रह्मणः प्रभो ॥ २४ ॥

हे राम! मैं तुम्हारा हृदय और सरस्वती देवी तुम्हारी जिह्वा है। हे प्रभो! मेरे रचे हुए समस्त देवता तुम्हारे शरीर के रोम हैं ॥ २४ ॥

निमेषस्ते भवेद्रात्रिरुन्मेषस्ते भवेद्दिवा ।
[2]संस्कारास्तेऽभवन्वेदा न तदस्ति त्वया विना ॥ २५ ॥

तुम्हारे पलक झपकाने से रात और पलक खोलने से दिन होता है। तुम्हारे संस्कार ही से संसार की प्रवृत्ति और निवृत्ति व्यवहार जनाने वाले वेदों की उत्पत्ति हुई है। अतः संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें अन्तर्यामी रूप से तुम वर्तमान न हो ॥ २५ ॥

जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम् ।
अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षण ॥ २६ ॥

---

१ पृथिव्याअन्ते—विनाशे। (गो०) २ संस्काराइति संस्काराः प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहारबोधकास्ते वेदा अभवन्। (शि०)

ये सारा जगत् तुम्हारा शरीर है, और पृथिवी में समस्त प्राणियों को धारण करने की जो शक्ति है, वह शक्ति भी तुम्हारी ही है। हे श्रीवत्सलक्षण! अग्नि में जो ताप (दहन शक्ति है) वह तुम्हारा कोप है और चन्द्रमा में जो शीतलत्व है, वह तुम्हारी प्रसन्नता है ॥ २६ ॥

त्वया लोकास्त्रयः क्रान्ताः पुराणे विक्रमैस्त्रिभिः ।
महेन्द्रश्च कृतो राजा बलिं बद्ध्वा महासुरम् ॥ २७ ॥

पूर्वकाल में तीन पग से तीनों लोकों को नापने वाले तुम्हीं हो और दानवराज बलि को बांध कर इन्द्र को राजा बनाने वाले भी तुम्हीं हो ॥ २७ ॥

[नोट—श्रीरामचन्द्र जी के, बारहवें श्लोक में किये हुए स्वरूप सम्बन्धी तथा जगत् से सम्बन्ध रूपी प्रश्नों का उत्तर यहाँ तक दे, ब्रह्मा जी इसके आगे इनके पृथिवीतल पर आगमन सम्बन्धी प्रयोजन को इस प्रकार बतलाते हैं:—]

सीता लक्ष्मीर्भवान्विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ।
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम् ॥ २८ ॥

यह सीता देवी भगवती लक्ष्मी हैं और तुम विष्णु, कृष्ण तथा प्रजापति देव हो। इस रावण को मारने के लिये ही तुम मनुष्य रूप में धराधाम पर अवतीर्ण हुए हो ॥ २८ ॥

तदिदं न कृतं कार्यं त्वया धर्मभृतां वर ।
निहतो रावणो राम प्रहृष्टो दिवमाक्रम ॥ ॥ २९ ॥

हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ! इस हमारे काम को तुमने पूरा कर दिया। हे राम! तुम रावण को मार ही चुके। अब तुम सुप्रसन्न हो कर, स्वर्ग को पधारो ॥ २९ ॥

अमोघ बलवीर्यं ते अमोघास्ते पराक्रमः ।

अमोघं दर्शनं राम न च मोघः स्तवस्तवः ॥ ३० ॥

तुम्हारा बलवीर्य और पराक्रम अमोघ है (अर्थात् कभी निष्फल जाने वाला नहीं अतः तुम्हारा कोई सामना नहीं कर सकता ।) हे राम ! तुम्हरा दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता और तुम्हारी स्तुति भी कभी निष्फल नहीं होती ॥ ३० ॥

अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तश्च ये नराः ।

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम् ॥ ३१ ॥

प्राप्नुवन्ति सदा कामानिह लोके परत्र च ॥ ३२ ॥

जो लोग भक्तिपूर्वक तुम्हारा आराधन करेंगे उनका आराधन भी कभी निष्फल नहीं होगा । जो लोग पुराणपुरुषोत्तम अर्थात् तुम्हारे दृढ़ भक्त अथवा अनन्य भक्त होंगे, वे इस लोक और परलोक में सदा अपने अभीष्ट को पावेंगे । अर्थात् सदा उनकी मनोकामनाएँ पूरी होंगीं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

इममार्षं स्तवं नित्यमितिहासं पुरातनम् ।

ये नराः कीर्तयिष्यन्ति नास्ति तेषां पराभवः[1] ॥ ३३ ॥

इति विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

जो लोग ऋषिप्रोक्त इतिहासान्तर्गत इस प्राचीन स्तव को पढ़ेंगे, उनको पुनः संसार में आना न पड़ेगा ॥ ३३ ॥

युद्धकाण्ड का एकसैावीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ पराभवः—पुनरावृत्तिः । (गो०)

एकविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—※—

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं पितामहसमीरितम् ।
अङ्कनादाय वैदेहीमुत्पपात विभावसुः[1] ॥ १ ॥

पितामह ब्रह्मा जी के कहे हुए इन शुभ वचनों को सुन कर, अग्निदेव सीता जी को गोद में लेकर (उस चिता से) प्रकट हुए ॥ १ ॥

स विधूय[2] चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः ।
उत्तस्थौ [3]मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम् ॥ २ ॥

चिता की आग ठंडी पड़ गयी । तब अग्निदेव, मनुष्य जैसा शरीर धारण कर, जनकनन्दिनी वैदेही को लिये हुए शीघ्रता पूर्वक निकले ॥ २ ॥

तरुणादित्यसङ्काशां तप्तकाञ्चनभूषणाम् ।
रक्ताम्बरधरां बालां नीलकुञ्चितमूर्धजाम् ॥ ३ ॥

अक्लिष्टमाल्याभरणां तथारूपां मनस्विनीम्[4] ।
ददौ रामाय वैदेहीमङ्के कृत्वा विभावसुः ॥ ४ ॥

उस समय सीता, तरुण (मध्यान्हकालीन) सूर्य की तरह, सुवर्ण के भूषणों से भूषित, लाल कपड़े पहिने, काले और घुँघराले

---

१ विभावसुः अग्निः । (गो०) २ विधूय—चितां शिथिली कृत्य । (गो०) ३ मूर्तिमान्—मनुष्यविग्रहवान् (गो०) ४ मनस्विनीम्—प्रसन्नमनस्कामित्यर्थः । (गो०)

बालों से शोभित, खिले हुए फूलों की माला तथा आभूषण पहिने, एवं पहिला ही रूप धारण किये हुए थीं। उस समय उनका मन प्रसन्न हो रहा था। (अग्निपरीक्षा द्वारा निर्दोष सिद्ध होने के कारण।) ऐसी जनकनन्दिनी को गोद में ले कर अग्नि देव ने श्रीरामचन्द्र जी को समर्पण किया ॥ ३ ॥ ४ ॥

अब्रवीच्च तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः ।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥ ५ ॥
नैव वाचा न मनसा नैवबुद्ध्या न चक्षुसा ।
सुवृत्ता वृत्तशौण्डीर न त्वामतिचचार ह ॥ ६ ॥

तदनन्तर सब लोकों के साक्षी अग्निदेव ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राम ! यह तुम्हारी सीतादेवी हैं। इनमें किसी प्रकार का पाप नहीं है। हे धर्मशील ! मन, वचन, बुद्धि और नेत्रों से आपको छोड़, ये दूसरे की ओर कभी नहीं फिरीं। यह सब प्रकार से सदा-चारिणी हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा ।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जनाद्वनात् ॥ ७ ॥

उस समय बल के घमण्डी रावण ने तुम्हारी अनुपस्थिति में अकेली पाकर इस बेचारी को निर्जनवन से हर लिया था। उस समय यह बेचारी कर ही क्या सकती थी ॥ ७ ॥

रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा ।
रक्षिता राक्षसीसङ्घैर्विकृतैर्घोरदर्शनैः ॥ ८ ॥

यद्यपि उसने इनको लङ्का में लाकर अपने अन्तःपुर में पहिरे के भीतर रखा, तथापि इनका मन आपही में लगा हुआ था। उस

समय वदशक्ल और भयङ्कर रूप वाली राक्षसियाँ इनकी रखवाली किया करती थीं ॥ ८ ॥

प्रलोभ्यमाना विविधं भर्त्स्यमाना च मैथिली ।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना ॥ ९ ॥

वे इसको लोभ दिखलाती थीं। तथा डाँटती डपटती भी थीं। किन्तु इसका मन आपमें लगे रहने के कारण इसने रावण की ओर कुछ भी ध्यान न दिया ॥ ९ ॥

विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व राघव ।
न किंचदभिधातव्यमहमाज्ञापयामि ते ॥ १० ॥

हे राघव! इस विशुद्ध हृदय वाली पापरहित सीता को तुम अङ्गीकार करो। मैं तुमको आज्ञा देता हूँ कि, अब तुम इस विषय में इससे कुछ न कहो ॥ १० ॥

ततः प्रीतमना रामः श्रुत्वैतद्वदतां वरः ।
दध्यौ मुहूर्तं धर्मात्मा बाष्पव्याकुललोचनः ॥ ११ ॥

अग्निदेव के इन वचनों को सुन, बोलने वालों में श्रेष्ठ धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हो गये और कुछ देर तक वे सोचते रहे तथा उनके नेत्रों में आँसू उमड़ आये ॥ ११ ॥

एवमुक्तो महातेजा द्युतिमान्दृढविक्रमः ।
अब्रवीत्त्रिदशश्रेष्ठं रामो धर्मभृतां वरः ॥ १२ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी, कान्तिमान्, दृढ़पराक्रमी, एवं धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी देवश्रेष्ठ अग्निदेव से बोले ॥ १२ ॥

अवश्यं त्रिषु लोकेषु न सीता पापमर्हति ।
दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तःपुरे शुभा ॥ १३ ॥

निश्चय ही तीनों लोकों के बीच जानकी पवित्र है। किन्तु यह सौभाग्यवती बहुत दिनों तक रावण के रनवास में रही है ॥ १३ ॥

वालिशः खलु कामात्मा रामो दशरथात्मजः ।
इति वक्ष्यन्ति मां सन्तो जानकीमविशोध्य हि ॥ १४ ॥

यदि मैं जानकी की शुद्धता की परीक्षा न कर इसे शुद्ध सिद्ध न करवाता तो सब लोग यही कहते कि, महाराज दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्र बड़े कामी और अनाड़ी हैं ॥ १४ ॥

अनन्यहृदयां भक्तां मच्चित्तपरिवर्तिनीम् ।
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ १५ ॥

यह मुझे मालूम है कि, सीता मुझे छोड़ अपने मन में अन्य किसी को स्थान नहीं दे सकती अर्थात् वह मुझमें अनन्य अनुरागवती है ॥ १५ ॥

[नोट—जब श्रीरामचन्द्र जी सीता के चरित्र के विषय में ऐसा दृढ़ विश्वास रखते थे, तब उन्हें अग्निप्रवेश से रोका क्यों नहीं? इस शङ्का के समाधान में वे कहते हैं:—]

प्रत्ययार्थं तु लोकानां त्रयाणां सत्यसंश्रयः ।
उपेक्षे चापि वैदेहीं प्रविशन्तीं हुताशनम् ॥ १६ ॥

मैंने सत्य का आश्रय लेते हुए अग्नि में प्रवेश करते समय सीता को इसलिये नहीं रोका और इनकी उपेक्षा की, जिससे तीनों लोकों को इनकी विशुद्ध चरित्रता का विश्वास हो जाय ॥ १६ ॥

इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा ।
रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधिः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार समुद्र कभी अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता उसी प्रकार रावण भी, अपने पातिव्रत धर्म से अपनी रक्षा करने वाली, इन विशालनयना सीता का अनादर नहीं कर सकता था ॥ १७ ॥

न हि शक्तः स दुष्टात्मा मनसाऽपि हि मैथिलीम् ।
प्रधर्षयितुमप्राप्तां दीप्तामग्निशिखामिव ॥ १८ ॥

दुष्ट रावण की क्या मजाल थी जो सीता पर मन भी चलाता। क्योंकि प्रज्वलित आग की तरह यह उसके हाथ लगने वाली वस्तु न थी ॥ १८ ॥

नेयमर्हति चैश्वर्यं रावणान्तःपुरे शुभा ।
अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा ॥ १९ ॥

रावण के बढ़िया रनवास में रह कर भी सीता उसके ऐश्वर्य की चाहना नहीं कर सकती थी—अर्थात् लोभ में नहीं फँस सकती थी। क्योंकि सीता तो मुझमें वैसे ही अनन्यरूप से अनुरागवती है अर्थात् मुझसे अभिन्न है जैसे प्रभा सूर्य से ॥ १९ ॥

विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा ।
न हि हातुमियं शक्या कीर्तिरात्मवता यथा ॥ २० ॥

अब तो (अग्निपरीक्षा द्वारा भी) जनकनन्दिनी मैथिली विशुद्ध हो चुकी। मैं इसे वैसे ही नहीं त्याग सकता जैसे प्रसिद्ध या कीर्तिमान् पुरुष, कीर्ति को नहीं त्याग सकता ॥ २० ॥

अवश्यं तु मया कार्यं सर्वेषां वो वचः शुभम् ।
स्निग्धानां *लोकनाथानामेवं च ब्रुवतां हितम् ॥ २१ ॥

आपने तथा मेरे हितैषी समस्त लोकपालों ने स्नेह सहित जो हितकर वचन मुझसे कहे हैं, उनके अनुसार कार्य करना मेरा कर्त्तव्य है ॥ २१ ॥

इतीदमुक्त्वा विजयी महाबलः
प्रशस्यमानः †स्वकृतेन कर्मणा ।
समेत्य रामः प्रियया महायशाः
सुखं सुखार्होऽनुबभूव राघवः ॥ २२ ॥

इति एकविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

विजयी, महाबली, महायशस्वी और सुख भोगने योग्य श्रीरामचन्द्र जी, अपने कर्मों द्वारा लोकपालों से प्रशंसित हो, सीता जी को अपने समीप बिठा कर अत्यन्त हर्षित हुए ॥ २२ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौइक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

द्वाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—*—

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं राघवेण सुभाषितम् ।
इदं शुभतरं वाक्यं व्याजहार महेश्वरः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे शुभ वचनों को सुन कर, महादेव जी यह शुभतर वचन बोले ॥ १ ॥

---

* पाठान्तरे—"लोकमान्यानामेवं ।" † पाठान्तरे—"विदितं ।"

[1]पुष्कराक्ष महाबाहो महावक्षः परन्तप ।
दिष्ट्या कृतमिदं कर्म त्वया शस्त्रभृतां वरः ॥ २ ॥

हे कमलनयन! हे महाबाहो! हे महावक्षःस्थल वाले! हे परन्तप! हे शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ! आपने यह काम बहुत ही अच्छा किया ॥ २ ॥

दिष्ट्या सर्वस्य लोकस्य प्रवृद्धं दारुणं तमः ।
अपावृत्तं त्वया संख्ये राम रावणजं भयम् ॥ ३ ॥

हे राम! यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि, जो रण में (रावण का वध कर) आपने तीनों लोकों के दारुण अन्धकार रूपी रावण का भय दूर कर दिया ॥ ३ ॥

आश्वास्य भरतं दीनं कौसल्यां च यशस्विनीम् ।
कैकेयीं च सुमित्रां च दृष्ट्वा लक्ष्मणमातरम् ॥ ४ ॥

अब आप दुःखित भरत, यशस्विनी कौसल्या, कैकेयी, तथा लक्ष्मण की माता सुमित्रा से मिलिये और उनको समझा बुझा कर ॥ ४ ॥

प्राप्य राज्यमयोध्यायां नन्दयित्वा सुहृज्जनम् ।
इक्ष्वाकूणां कुले वंशं स्थापयित्वा महाबल ॥ ५ ॥

हे महाबल! तथा अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठ, सुहृदों को हर्षित करते हुए इक्ष्वाकुकुल की परम्परा को बनाये रखिये ॥ ५ ॥

---

१ पुष्कराक्ष—पुण्डरीकाक्ष । अनेन तस्य "यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी, पुरुषः पुण्डरीकाक्ष" इति श्रुतिभ्यामुदीरितस्य परब्रह्मासाधारणचिन्हस्य रामे सद्भाव प्रतिपादनाद्रामत्वेनावतीर्णो विष्णुरेव वेदान्तवेद्यं परब्रह्मेत्युक्तं । (गो०)

इष्ट्वातुरगमेधेन प्राप्य चानुत्तमं यशः ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा त्रिदिवं गन्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

फिर अश्वमेध यज्ञ करके और उत्तम यश प्राप्त कर तथा ब्राह्मणों को धन देकर तुम परमधाम को सिधारो ॥ ६ ॥

एष राजा विमानस्थः पिता दशरथस्तव ।
काकुत्स्थ मानुषे लोके गुरुस्तव महायशाः ॥ ७ ॥

देखो यह तुम्हारे पिता महाराज दशरथ विमान में बैठे हुए हैं। हे काकुत्स्थ ! ये मनुष्यलोक में तुम्हारे पूज्य थे ॥ ७ ॥

इन्द्रलोकं गतः श्रीमांस्त्वया पुत्रेण तारितः ।
लक्ष्मणेन सह भ्राता त्वमेनमभिवादय ॥ ८ ॥

पुत्ररूपी तुम्हारे द्वारा तारे जाकर और अत्यन्त शोभित हो इनको इन्द्रलोक प्राप्त हुआ है। सो अपने भाई लक्ष्मण सहित तुम इनको प्रणाम करो ॥ ८ ॥

महादेववचः श्रुत्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।
विमानशिखरस्थस्य प्रणाममकरोत्पितुः ॥ ९ ॥

महादेव जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित, विमान के शिखर पर स्थित पिता को प्रणाम किया ॥ ९ ॥

दीप्यमानं स्वया लक्ष्म्या विरजोम्बरधारिणम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्राता ददर्श पितरं विभुः ॥ १० ॥

अपनी कान्ति से दीप्तमान, निर्मल वस्त्र पहिने हुए, अपने भाई लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने पिता के दर्शन किये ॥ १० ॥

हर्षेण महताऽऽविष्टो विमानस्थो महीपतिः ।
प्राणैः प्रियतरं दृष्ट्वा [1]पुत्रं दशरथस्तदा ॥ ११ ॥

विमान में बैठे हुए महाराज दशरथ प्राणों से भी अधिक प्यारे अपने पुत्र श्रीरामचन्द्र को देख प्रसन्न हुए ॥ ११ ॥

आरोप्याङ्कं महाबाहुर्वरासनगतः प्रभुः ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य ततो वाक्यं समाददे ॥ १२ ॥

उन्होंने श्रीरामचन्द्र को दोनों हाथों से पकड़ कर उठा लिया। फिर उन्हें गले से लगा और अपनी गोद में बिठा कर वे कहने लगे ॥ १२ ॥

न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षिभिः ।
त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते ॥ १३ ॥

हे राम ! मैं तुमसे सत्य सत्य कहता हूँ कि, तुम्हारे वियोग से युक्त मुझको स्वर्ग में रहना जिसे देवर्षि बड़ी वस्तु समझते हैं, तुम्हारे सहवास के समान सुखदायी नहीं मालूम पड़ता ॥ १३ ॥

कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर ।
तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम ॥ १४ ॥

हे वचन बोलने वालों में श्रेष्ठ ! तुमको वनवास देने के लिये कैकेयी ने जो जो बातें मुझसे कही थीं; वे अभी तक मेरे मन में ज्यों की त्यों बनी हुई हैं ॥ १४ ॥

त्वां तु दृष्ट्वा कुशलिनं परिष्वज्य सलक्ष्मणम् ।
अद्य दुःखाद्विमुक्तोऽस्मि नीराहादिव भास्करः ॥ १५ ॥

---

1 पुत्रं—रामं । (गो०)

तुमको और लक्ष्मण को सकुशल देख और अपने गले लगा कर आज मेरा दुःख उसी प्रकार दूर हो गया जैसे सूर्य कुहरे से छूट जाते हैं ॥ १५ ॥

तारितोऽहं त्वया पुत्र सुपुत्रेण महात्मना ।
अष्टावक्रेण धर्मात्मा तारितो ब्राह्मणो यथा ॥ १६ ॥

हे बेटा! जैसे धर्मात्मा अष्टावक्र ने अपने पिता कहोल को तारा था, वैसे ही तुम महात्मा सुपुत्र ने मुझे तार दिया ॥ १६ ॥

इदानीं तु विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः ।
वधार्थं रावणस्येदं विहितं [२]पुरुषोत्तम ॥ १७ ॥

हे सौम्य! इस समय मैंने जाना है कि, इन्द्र ने तुम्हारे अभिषेक में विघ्न क्यों डाला था। तुम पुराण पुरुषोत्तम भगवान विष्णु हो और रावण के वध के लिये तुमने मनुष्य रूप धारण किया है ॥ १७ ॥

[१]सिद्धार्था खलु कौसल्या या त्वां राम गृहं गतम् ।
वनान्निवृत्तं संहृष्टा द्रक्ष्यत्यरिनिषूदन ॥ १८ ॥

हे शत्रुसूदन! कौशल्या की भी साध पूरेगी। क्योंकि वन से लौटे हुए तुमको घर में आया हुआ देख, वह अत्यन्त हर्षित होगी ॥ १८ ॥

सिद्धार्थाः खलु ते राम नरा ये त्वां पुरीं गतम् ।
जलार्द्रमभिषिक्तं च द्रक्ष्यन्ति वसुधाधिपम् ॥ १९ ॥

---

२ पुरुषोत्तम—भवान विष्णुरेव रावणवधार्थं मनुष्यत्वंगत इत्युच्यते। (गो०) १ सिद्धार्था—कृतार्था। (गो०)

हे राम! सचमुच उन अयोध्यावासियों की अभिलाषा पूर्ण हो जायगी, जो देखेंगे कि, तुम वन से लौट कर नगर में आ गये हो और राजसिंहासन पर जल से अभिषिक्त किये जाकर राजा हो गये हो॥ १६॥

अनुरक्तेन बलिना शुचिना धर्मचारिणा।
इच्छामि त्वामहं द्रष्टुं भरतेन समागतम्॥ २०॥

हे राम! अनुरागी, बलवान्, पवित्र, धर्मात्मा भरत के साथ तुम्हारा समागम मैं देखना चाहता हूँ॥ २०॥

चतुर्दश समाः सौम्य वने निर्यापितास्त्वया।
वसता सीतया सार्धं लक्ष्मणेन च धीमता॥ २१॥

हे राम! तुमने (मेरी प्रसन्नता के लिये) पूरे चौदह वर्ष वन में सीता और बुद्धिमान लक्ष्मण के साथ रह कर बिता दिये॥ २१॥

निवृत्तवनवासोऽपि प्रतिज्ञा सफला कृता।
रावणं च रणे हत्वा देवास्ते परितोषिताः॥ २२॥

अब तुम्हारे वनवास की अवधि भी पूरी होने को हुई। तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दिखलायी। इसके अतिरिक्त युद्ध में रावण को मार तुमने देवताओं को भी सन्तुष्ट किया॥ २२॥

कृतं कर्म यशः श्लाघ्यं प्राप्तं ते शत्रुसूदन।
भ्रातृभिः सह राज्यस्थो दीर्घमायुरवाप्नुहि॥ २३॥

हे शत्रुसूदन! तुमने बड़ी भारी प्रशंसा पाने योग्य यश प्राप्त किया है। अब तुम भाइयों सहित राज्यासन पर बैठ कर दीर्घजीवी हो॥ २३॥

इति ब्रुवाणं राजानं रामः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च ॥ २४ ॥

इस प्रकार कहते हुए महाराज दशरथ से श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर कहा—हे धर्मज्ञ ! आप कैकेयी और भरत के ऊपर प्रसन्न हूजिये ॥ २४ ॥

सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया ।
स शापः केकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत्प्रभो ॥ २५

हे प्रभो ! आपने कैकेयी से जो यह कहा था कि "मैं पुत्र सहित तेरा त्याग करता हूँ" सो आपका यह शाप (क्रोध में भर कर कहा हुआ वचन) माता कैकेयी और भरत के लिये यथार्थ न हो। अर्थात् आपका और भरत सहित कैकेयी का पूर्ववत् सम्बन्ध बना रहे ॥ २५ ॥

स तथेति महाराजो राममुक्त्वा कृताञ्जलिम् ।
लक्ष्मणं च परिष्वज्य पुनर्वाक्यमुवाच ह ॥ २६ ॥

हाथ जोड़े हुए श्रीरामचन्द्र जी से महाराज दशरथ ने कहा— "ऐसा ही होगा"। फिर लक्ष्मण को छाती से लगा महाराज दशरथ कहने लगे ॥ २६ ॥

रामं शुश्रूषता भक्त्या वैदेह्या सह सीतया ।
कृता मम महाप्रीतिः प्राप्तं धर्मफलं च ते ॥ २७ ॥

बेटा ! तुम राम की तथा वैदेही सीता की बड़ी भक्ति के साथ सेवा शुश्रूषा किया करते हो। इससे मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ और तुम्हें इससे पुण्य भी प्राप्त हुआ है ॥ २७ ॥

धर्मं प्राप्स्यसि धर्मज्ञ यशश्च विपुलं भुवि ।
रामे प्रसन्ने स्वर्गं च महिमानं तथैव च ॥ २८ ॥

हे धर्मज्ञ ! श्रीरामचन्द्र को अपने ऊपर प्रसन्न रखने से, इस संसार में तुमको बड़ा पुण्य और यश प्राप्त होगा और अन्त में स्वर्ग की प्राप्त होगी ॥ २८ ॥

रामं शुश्रूष भद्रं ते सुमित्रानन्दवर्धन ।
रामः सर्वस्य लोकस्य शुभेष्वभिरतः सदा ॥ २९ ॥

हे सुमित्रानन्दवर्धन ! श्रीरामचन्द्र समस्त लोकों का हित करने में सदा तत्पर रहते हैं। अतएव इनकी सेवा शुश्रूषा तुम सदा करते रहना। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा ॥ २९ ॥

[1]एते सेन्द्रास्त्रयो लोकाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अभिगम्य महात्मानमर्चन्ति पुरुषोत्तमम् ॥ ३० ॥

देखो ये इन्द्र सहित तीनों लोक, सिद्ध और महर्षि सभी श्रीरामचन्द्र की वन्दना और पूजा करते हैं। क्योंकि यह पुरुषोत्तम हैं ॥ ३० ॥

एतत्तदुक्तमव्यक्तमक्षरं ब्रह्मनिर्मितम् ।
देवानां हृदयं सौम्य गुह्यं रामः परन्तपः ॥ ३१ ॥

(वेद में) जिस अव्यक्त अक्षय्यब्रह्म को देवताओं का अन्तर्यामी ...र गुह्यतत्व बतलाया गया है, शत्रुविनाशी राम वही हैं ॥ ३१ ॥

अवाप्तं धर्मचरणं यशश्च विपुलं त्वया ।
रामं शुश्रूषता भक्त्या वैदेह्या सह सीतया ॥ ३२ ॥

---

१ एत—इति हस्तनिर्देशेन रुद्रोप्यन्तर्गतः। (गो०)

वैदेही सहित इन श्रीरामचन्द्र की भक्तिपूर्वक सेवा करते हुए तुमने बड़ा पुण्य और बड़ा यश पाया है ॥ ३२ ॥

स तथोक्त्वा महाबाहुर्लक्ष्मणं प्राञ्जलिं स्थितम् ।
उवाच राजा धर्मात्मा वैदेहीं वचनं शुभम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार महाबाहु लक्ष्मण से कह कर धर्मात्मा महाराज दशरथ ने हाथ जोड़े खड़ी हुई सीता जी से ये सुन्दर वचन कहे ॥ ३३ ॥

कर्तव्यो न तु वैदेहि मन्युस्त्यागमिमं प्रति ।
रामेण त्वद्विशुद्ध्यर्थं कृतमेतद्धितैषिणा ॥ ३४ ॥

हे वैदेही ! श्रीरामचन्द्र द्वारा इस प्रकार अपना त्याग किये जाने का, तुम बुरा मत मानना । क्योंकि श्रीरामचन्द्र ने तुम्हारा हित सोच कर ही तुम्हें विशुद्ध सिद्ध करने के लिये यह सब किया था ॥ ३४ ॥

न त्वं सुभ्रु [1]समाधेया पतिशुश्रूषणं प्रति ।
अवश्यं तु मया वाच्यमेष ते दैवतं परम् ॥ ३५ ॥

हे सुभ्रु ! तुम्हें पतिसेवा के लिये उपदेश देने की मुझे आवश्यकता नहीं है, किन्तु इतना मैं तुमसे अवश्य कहूँगा कि, यह (श्रीरामचन्द्र) तुम्हारे लिए तुम्हारे परम देवता (पूज्य एवं श्रद्धेय) हैं ॥ ३५ ॥

इति प्रतिसमादिश्य पुत्रौ सीतां तथा स्नुषाम् ।
इन्द्रलोकं विमानेन ययौ दशरथो नृपः* ॥ ३६ ॥

इति द्वाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

---

1 न समाधेया—नोपदेष्टव्या । (गो०) * पाठान्तरे—"ज्वलन् ।"

इस प्रकार महाराज दशरथ अपने दोनों पुत्रों को तथा अपनी बहू सीता को उपदेश देकर विदा हुए और विमान में बैठ इन्द्रलोक (स्वर्ग) को चले गये ॥ ३६ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौबाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रयोविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—※—

प्रतियाते तु काकुत्स्थे महेन्द्रःपाकशासनः ।
अब्रवीत्परमप्रीतो राघवं प्राञ्जलिं स्थितम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ के चले जाने पर, देवराज इन्द्र परम प्रसन्न हो श्रीरामचन्द्र जी से, जो हाथ जोड़े खड़े थे, बोले ॥ १ ॥

अमोघं दर्शनं राम तवास्माकं परन्तप ।
प्रीतियुक्ताः स्म तेन त्वं [1]ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ॥ २ ॥

हे राम! हम लोगों को तुम्हारा दर्शन निष्फल नहीं होना चाहिये, हम लोग तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं। अतः तुम जो कुछ प्रत्युपकार रूप में चाहते हो सो आज्ञा करो ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु काकुत्स्थः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह भार्यया ॥ ३ ॥

जब इन्द्र ने इस प्रकार कहा, तब भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता सहित हाथ जोड़े खड़े हुए श्रीरामचन्द्र जी ने इन्द्र से कहा ॥ ३ ॥

---

१ ब्रूहि—आज्ञापय । (शि०)

यदि प्रीतिः समुत्पन्ना मयि सर्वसुरेश्वर ।
वक्ष्यामि कुरु ते सत्यं वचनं वदतां वर ॥ ४ ॥

हे वाक्पटु ! हे सर्वसुरेश्वर ! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हुए हो तो जो मैं कहता हूँ उसे सत्य अर्थात् पूरा करो ॥ ४ ॥

मम हेतोः पराक्रान्ता ये गता यमसादनम् ।
ते सर्वे जीवितं प्राप्य समुत्तिष्ठन्तु वानराः ॥ ५ ॥

जो वानर मेरे लिये युद्ध करते हुए मारे गये हैं, वे सब वानर जीवित हो उठ खड़े हों ॥ ५ ॥

मत्कृते विप्रयुक्ता ये पुत्रैर्दारैश्च वानराः ।
मत्प्रियेष्वभियुक्ताश्च न मृत्युं गणयन्ति च ॥ ६ ॥

जो वानर अपने बाल बच्चों और स्त्री कलत्रादि से बिछुड़ कर, मुझे प्रसन्न करने के लिये मृत्यु को कुछ भी न समझते हुए जूझ मरे हैं ॥ ६ ॥

त्वत्प्रसादात्समेयुस्ते[1] वरमेतदहं वृणे ।
नीरुजो निर्व्रणांश्चैव सम्पन्नबलपौरुषान् ॥ ७ ॥

गोलाङ्गूलांस्तथैवर्क्षान्द्रष्टुमिच्छामि मानद ।
अकाले चापि मुख्यानि मूलानि च फलानि च ॥ ८ ॥

नद्यश्च विमलास्तत्र स्तिष्ठेयुर्यत्र वानराः ।
श्रुत्वा तु वचनं तस्य राघवस्य महात्मनः ॥ ९ ॥

---

१ समेयुः पुत्रादिभिः—सहसङ्गता भवेयुः । (शि०)

वे तुम्हारे अनुग्रह से अपने बाल बच्चों से जा मिलें। हे मानद! मैं तुमसे यह वर माँगता हूँ कि, मैं अपने वानरों और भालुओं को पीड़ा से रहित, घावशून्य एवं बलपौरुष से सम्पन्न देखूँ। इसके अतिरिक्त मैं यह भी चाहता हूँ कि, जहाँ ये वानर रहें, वहाँ दुर्भिक्ष में भी अथवा ऋतु न होने पर भी खाने के लिये मुख्य मुख्य कन्द और फल इनको मिलें और वहाँ की नदियाँ भी निमल जल से परिपूर्ण रहें। महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

महेन्द्रः प्रत्युवाचेदं वचनं प्रीतिलक्षणम्[1]।
महानयं वरस्तात त्वयोक्तो रघुनन्दन ॥ १० ॥

उत्तर में इन्द्र ने प्रसन्नतासूचक यह वचन कहा—हे रघुनन्दन! तुमने जो वर माँगा वह असाधारण तो है ॥ १० ॥

[2]द्विर्मया नोक्तपूर्वं हि तस्मादेतद्भविष्यति।
समुत्थास्यन्ति हरयो ये हता युधि राक्षसैः ॥ ११ ॥

किन्तु मैं कह कर मुकरता नहीं, अथवा मैं वर देने को प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, इससे तुम जैसा कहते हो वैसा ही होगा। युद्ध में राक्षसों द्वारा जो वानर मारे गये हैं, वे जीवित हो उठ खड़े होंगे ॥ ११ ॥

ऋक्षाश्च सहगोपुच्छा निकृत्ताननबाहवः।
नीरुजो निर्व्रणाश्चैव सम्पन्नबलपौरुषाः ॥ १२ ॥

लड़ाई में जिन रीछों और वानरों की भुजाएँ कट गयी हैं या मुँह फट गया है; वे सब पीड़ा और घावों से रहित तथा बल एवं पुरुषार्थ से सम्पन्न हो जायँगे ॥ १२ ॥

---

१ प्रीतिलक्षणं—प्रीतिव्यञ्जकम्। (गो०) २ द्विः—विरुद्धवचनद्वयं। (शि०)

समुत्थास्यन्ति हरयः सुप्ता निद्राक्षये यथा ।
सुहृद्भिर्बान्धवैश्चैव ज्ञातिभिः स्वजनैरपि ॥ १३ ॥

सर्व एव समेष्यन्ति संयुक्ताः परया मुदा ।
अकाले [1]पुष्पशबलाः फलवन्तश्च पादपाः ॥ १४ ॥

और वे सब वानर सो कर जागे हुए मनुष्य की तरह उठ खड़े होंगे। वे सब अपने अपने सुहृदों, बन्धुबान्धवों, कुटुम्बियों और अपने घर वालों के साथ परम हर्षित हो अपने अपने घरों पर जाकर मिलेंगे। अकाल में भी वृक्ष विविध प्रकार के रंग बिरंगे फूलों और फलों से लदे रहेंगे ॥ १३ ॥ १४ ॥

भविष्यन्ति महेष्वास नद्यश्च सलिलायुताः ।
सव्रणैः प्रथमं गात्रैः संवृत्तैर्निर्व्रणैः पुनः ॥ १५ ॥

हे महेष्वास! (विशालधनुर्धारी!) (जहाँ कहीं भी ये वानर रहेंगे वहाँ की) नदियों में सदैव (विमल) जल भरा रहेगा। इन्द्र के वरप्रदान के पूर्व जो वानर घायल हो पड़े थे, वरप्रदान के बाद उन सब के शरीरों के घाव अच्छे हो गये ॥ १५ ॥

ततः समुत्थिताः सर्वे सुप्त्वेव हरिपुङ्गवाः ।
बभूवुर्वानराः सर्वे किमेतदिति विस्मिताः ॥ १६

और वे सब कपिश्रेष्ठ सोते हुए मनुष्य की तरह जाग कर उठ खड़े हुए। वहाँ जो वानर उपस्थित थे, उनको यह देख बड़ा विस्मय हुआ और वे आपस में कहने लगे—यह क्या हुआ! यह क्या हुआ! ॥ १६ ॥

---

1 पुष्पशबलाः—पुष्पैर्नानावर्णाः। (गो०)

ते सर्वे वानरास्तस्मै राघवायाभ्यवादयन् ।
काकुत्स्थं परिपूर्णार्थं दृष्ट्वा सर्वे सुरोत्तमाः ॥ १७ ॥

उन सब वानरों ने श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम किया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी की मनोकामना को पूर्ण हुई देख, समस्त देवता गण ॥ १७ ॥

ऊचुस्ते प्रथमं स्तुत्वा स्तवार्हं सहलक्ष्मणम् ।
गच्छायोध्यामितो वीर विसर्जय च वानरान् ॥ १८ ॥

स्तव करने योग्य श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की प्रथम स्तुति कर पीछे उनसे बोले कि, हे वीर ! अब तुम इन समस्त वानरों को विदा कर यहाँ से अयोध्या को जाओ ॥ १८ ॥

मैथिलीं सान्त्वयस्वैनामनुरक्तां तपस्विनीम् ।
शत्रुघ्नं च महात्मानं मातृः सर्वाः परन्तपः ॥ १९ ॥

हे परन्तप ! इस बेचारी और तुममें अनुराग रखने वाली जानकी को धीरज बँधाओ तथा महात्मा शत्रुघ्न को, समस्त माताओं को ॥ १९ ॥

भ्रातरं पश्य भरतं त्वच्छोकाद्व्रतधारिणम् ।
अभिषेचय चात्मानं पौरान्गत्वा प्रहर्षय ॥ २० ॥

तथा अपने भाई भरत को, जो तुम्हारे वियोग-जन्य शोक से व्रत धारण किये हुए हैं, जाकर देखो। फिर अपना राज्याभिषेक करा कर अयोध्यावासियों को आनन्दित करो ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा तमामन्त्र्य रामं सौमित्रिणा सह ।
विमानैः सूर्यसङ्काशैर्हृष्टा जग्मुः सुरा दिवम् ॥२१॥

यह कह और श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण से विदा माँग, देवता लोग सूर्य के समान चमचमाते विमानों में बैठ बैठ कर, स्वर्ग को चले गये ॥ २१ ॥

अभिवाद्य च काकुत्स्थः सर्वास्तांस्त्रिदशोत्तमान् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वासमाज्ञापयत्तदा ॥ २२ ॥

लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने उन समस्त देवताओं के हाथ जोड़े और सेना को टिकाने की आज्ञा दी ॥ २२ ॥

ततस्तु सा लक्ष्मणरामपालिता
महाचमूर्हृष्टजना यशस्विनी ।
श्रिया ज्वलन्ती विरराज सर्वतो
निशा [1]प्रणीतेव हि शीतरश्मिना ॥ २३ ॥

इति त्रयोविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी द्वारा रक्षित वह यशस्विनी महती वानरी सेना अत्यन्त प्रसन्न हो ऐसी कान्तिमान जान पड़ी; जैसे चन्द्रमा की ठंडी चाँदनी से रात्रि कान्तिमती जान पड़ती है ॥ २३ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौतेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुर्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

तां रात्रिमुषितं रामं सुखोत्थितमरिन्दमम् ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं जयं पृष्ट्वा विभीषणः ॥ १ ॥

---

१ प्रणीता—प्रकाशिता । (गो०)

जब वह रात बीत गयी और सवेरा हुआ ; तब शत्रुघाती श्रीरामचन्द्र जी सुखपूर्वक उठे। उस समय विभीषण हाथ जोड़ और "तुम्हारी जय हो" कह कर, बोले ॥ १ ॥

स्नानानि चाङ्गरागाणि वस्त्राण्याभरणानि च ।
चन्दनानि च दिव्यानि माल्यानि विविधानि च ॥ २ ॥

तुम्हारे नहाने के लिये अच्छे अच्छे अंगराग (उबटनें), विविध प्रकार के वस्त्र, आभूषण, विविध प्रकार के दिव्य चन्दन तथा भाँति भाँति की पुष्पमालाएँ आयी हैं ॥ २ ॥

अलङ्कारविदश्चेमा नार्यः पद्मनिभेक्षणाः ।
उपस्थितास्त्वां विधिवत्स्नापयिष्यन्ति राघव ॥ ३ ॥

हे राघव ! शृङ्गार करने वाली कमलनयनी स्त्रियाँ भी उपस्थित हैं, जो तुमको विधिवत् स्नान करावेंगी ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्णीष्व तत्सर्वं मदनुग्रहकाम्यया ।
एवमुक्तस्तु काकुत्स्थः प्रत्युवाच विभीषणम् ॥ ४ ॥

तुम मेरे ऊपर कृपा करके इन सब वस्तुओं को अङ्गीकार करो। जब विभीषण ने इस प्रकार कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी विभीषण से यह बोले—॥ ४ ॥

हरीन्सुग्रीवमुख्यांस्त्वं स्नानेनाभिनिमन्त्रय ।
स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः ॥५॥

सुकुमारो महाबाहुः कुमारः सत्यसंश्रवः ।
तं विना कैकेयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम् ॥ ६ ॥

तुम सुग्रीवादि प्रधान प्रधान वानरों को स्नान कराने के लिये बुलवाओ। हे मित्र! सुख पाने के योग्य, धर्मात्मा, सुकुमार महाबाहु, सत्यवक्ता राजकुमार (भरत), मेरे पीछे (श्रीअयोध्या में) कष्ट पा रहा है। मैं उस धर्मात्मा कैकेयीनन्दन भरत को देखे बिना॥ ५॥ ६॥

न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च ।
*एतत्पश्य यथा क्षिप्रं प्रतिगच्छामि तां पुरीम् ॥ ७॥

स्नान करना, वस्त्र और अलङ्कार धारण करना मुझे अच्छा नहीं लगता। सो कोई ऐसा उपाय देख भाल कर बतलाओ, जिससे मैं तुरन्त श्रीअयोध्यापुरी में पहुँच जाऊँ॥ ७॥

अयोध्यामागतो ह्येष पन्थाः परमदुर्गमः ।
एवमुक्तस्तु काकुत्स्थं प्रत्युवाच विभीषणः ॥ ८ ॥

जिस रास्ते से हम लोग श्रीअयोध्या से आये हैं वह रास्ता तो बड़ा दुर्गम है। श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कहने पर विभीषण ने उत्तर दिया॥ ८॥

अह्ना त्वां प्रापयिष्यामि तां पुरीं पार्थिवात्मज ।
पुष्पकं नाम भद्रं ते विमानं सूर्यसन्निभम् ॥ ९ ॥

हे राजकुमार! मैं तुमको एक दिन में अयोध्या पहुँचवा दूँगा। आपका मङ्गल हो। सूर्य की समान चमचमाते जिस पुष्पक नामक विमान को॥ ९॥

---

* पाठान्तरे—"इत एव यथा"।

मम भ्रातुः कुबेरस्य रावणेनाहृतं बलात् ।
हृतं निर्जित्य संग्रामे कामगं दिव्यमुत्तमम् ॥ १० ॥

मेरे भाई कुबेर को युद्ध में जीत रावण बरजोरी छीन लाया था ; वह विमान ऐसा है कि, जिधर चाहो उधर उसे ले जा सकते हो तथा वह दिव्य और उत्तम है ॥ ११ ॥

त्वदर्थं पालितं चैतत्तिष्ठत्यतुलविक्रम ।
तदिदं मेघसङ्काशं विमानमिह तिष्ठति ॥ ११ ॥

हे अतुलविक्रम ! वह तुम्हारे लिये तैयार है। सो तुम मेघ के समान उस विशाल विमान में सवार हो जाना ॥ ११ ॥

तेन यास्यसि यानेन त्वमयोध्यां गतज्वरः ।
अहं ते यद्यनुग्राह्यो यदि स्मरसि मे गुणान् ॥१२॥

इस विमान में बैठ कर तुम बिना किसी प्रकार के कष्ट के अयोध्या जी पहुँच जाओगे । यदि आपका मेरे ऊपर अनुग्रह हो और यदि मेरे भक्त्यादि गुण (उपकार) तुमको स्मरण हों ॥१२॥

[1]वस तावदिह प्राज्ञ यद्यस्ति मयि सौहृदम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया ॥ १३ ॥

और यदि तुम्हारा मेरे ऊपर सौहार्द हो तो ; हे प्राज्ञ ! तुम अपने भाई लक्ष्मण और भार्या सीता सहित यहाँ एक दिन वास करो ॥ १३ ॥

अर्चितः [2]सर्वकामैस्त्वं ततो राम गमिष्यसि ।
प्रीतियुक्तस्य मे राम ससैन्यः ससुहृद्गणः ॥ १४ ॥

---

१ वस तावदिहेति एकदिवसमितिशेषः । (रा०) २ सर्वकामैः—भूषणादिभिः । (गो०)

(मेरे द्वारा) भूषणादि से समस्त सैन्य और सुहृदों सहित तुम सत्कारित हो और मुझ पर प्रसन्न हो, हे राम! तुम श्रीअयोध्या जी को चले जाना ॥ १४ ॥

सत्क्रिया विहितां तावद्गृहाण त्वं मयोद्यताम् ।
प्रणयाद्बहुमानाच्च सौहृदेन च राघव ॥ १५ ॥

हे राघव! मैं प्रीतिपूर्वक, बहुमान पुरस्सर एवं सौहार्द्रवश और विधिवत् तुम्हारा सत्कार करना चाहता हूँ। सो तुम उस सत्कार की एकत्र की हुई सामग्री को ग्रहण करो ॥ १५ ॥

प्रसादयामि प्रेष्योऽहं न खल्वाज्ञापयामि ते ।
एवमुक्तस्ततो रामः प्रत्युवाच विभीषणम् ॥ १६ ॥
रक्षसां वानराणां च सर्वेषां चोपशृण्वताम् ।
पूजितोऽहं त्वया सौम्य साचिव्येन[1] परन्तप ॥ १७
सर्वात्मना च [2]चेष्टाभिः सौहृदेनोत्तमेन च ।
न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर ॥ १८ ॥

मेरी तो यह प्रार्थना है। क्योंकि मैं तो तुम्हारा दास हूँ। मैं निश्चय ही तुमको आज्ञा नहीं दे सकता। जब विभीषण ने इस प्रकार कहा; तब श्रीरामचन्द्र जी वहाँ उपस्थित वानरों और राक्षसों को सुनाते हुए बोले। हे सौम्य! हे परन्तप! तुम्हारी सहायता ही से मेरा (यथेष्ट) सत्कार हो चुका। इसके अतिरिक्त तुम्हारे पौरुष और उत्तम सौहार्द्रयुक्त व्यवहार से भी तुमने मेरा सब प्रकार से बड़ा सत्कार किया है। हे राक्षसेश्वर! इस समय निश्चय ही मैं तुम्हारा कहना नहीं मान सकता ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

---

१ साचिव्येन—साहाय्येन। (गो०) २ चेष्टाभिः—पौरुषैः। (गो०)

तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः ।
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः ॥ १९ ॥

क्योंकि भाई भरत से मिलने के लिये मेरा मन आतुर हो रहा है। यह मेरा भाई भरत मुझे लौटाने के लिये चित्रकूट में आया था ॥ १९ ॥

शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया ।
कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च यशस्विनीम् ॥२०॥
गुरूंश्च सुहृदश्चैव पौरांश्च तनयैः[1] सह ।
उपस्थापय मे क्षिप्रं विमानं राक्षसेश्वर ॥ २१ ॥

और चरणों में सीस रख मुझसे लौटने के लिये प्रार्थना की थी; किन्तु मैंने उसका कहना न माना। अतएव कौशल्या, सुमित्रा और यशस्विनी कैकेयी को वशिष्ठादि गुरुओं को तथा गुह आदि सुहृदों को तथा पुत्रवत् अपनी पुरी की प्रजा को देखने के लिये मेरा मन आतुर हो रहा है। सो हे राक्षसेश्वर! अब तुम शीघ्र विमान को यहाँ मँगवा दो ॥ २० ॥ २१ ॥

कृतकार्यस्य मे वासः कथं स्विदिह सम्मतः ।
अनुजानीहि मां सौम्य पूजितोऽस्मि विभीषण ॥२२॥

जब मैं यहाँ का सारा काम पूरा कर चुका हूँ अथवा जब मैं वनवास की अवधि पूरी कर चुका हूँ, तब मेरा यहाँ रहना क्योंकर सम्भव है। सो हे सौम्य! अब तुम मुझे जाने की आज्ञा दो। हे विभीषण! मैं तुमसे सत्कारित हो चुका ॥ २२ ॥

---

१ तनयैः—सहेत्यत्र पौरैरेव तनयशब्दोऽन्वेति । (गो०)

[1]मन्युर्न खलु कर्तव्यस्त्वरितं त्वानुमानये[2] ।
राघवस्य वचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥ २३ ॥

मेरे इस प्रकार जल्दियाने के लिये तुम दुःखी या क्रुद्ध मत हो और मुझे जाने की अनुमति दो। श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन विभीषण ॥ २३ ॥

तं विमानं समादाय तूर्णं प्रतिनिर्ववतत ।
ततः काञ्चनचित्राङ्गं वैडूर्यमयवेदिकम् ॥ २४ ॥

लङ्का में गये और तुरन्त विमान ले कर लौट आये। वह विमान सोने से चित्र विचित्र बना हुआ था और उसमें जो वेदियाँ (बैठने के लिये बैठकीं) थीं, उनमें पन्ने जड़े हुए थे ॥ २४ ॥

[3]कूटागारैः [4]परिक्षिप्तं सर्वतो [5]रजतप्रभम् ।
पाण्डुराभिः पताकाभिर्ध्वजैश्च समलङ्कृतम् ॥ २५ ॥

उसमें बड़े लंबे चौड़े अनेक मण्डप बने हुए थे और सफेद ध्वजा पताकाओं से वह सजा हुआ था ॥ २५ ॥

शोभितं काञ्चनैर्हर्म्यैर्हेमपद्मविभूषितम् ।
प्रकीर्णं किङ्किणीजालैर्मुक्तामणिगवाक्षितम् ॥ २६ ॥

उसमें सोने की अटारियाँ थीं जिनमें सोने के बने कमल शोभा के लिये लटक रहे थे। जगह जगह बहुत सी घंटियाँ लटक रही थीं और मोती और मणिओं के झरोखे बने हुए थे ॥ २६ ॥

---

१ मन्युः—दैन्यं कोपो वा । (गो०) २ अनुमानये—अनुमतिं कारये । (गो०) ३ कूटागारैः—मण्डपैः । (गो०) ४ परिक्षिप्तं—व्याप्तं । (गो०) ५ रजतप्रभं—रजतशब्देनात्र विशदत्वमुच्यते । (गो०)

घण्टाजालैः परिक्षिप्तं सर्वतो मधुरस्वनम् ।
यन्मेरुशिखराकारं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २७ ॥

उसमें जो चारो ओर अनेक घंटे लटक रहे थे; उनसे बड़ी मधुर आवाज़ होती थी । यह विमान जो मेरुपर्वत की तरह विशाल था विश्वकर्मा का बनाया हुआ था ॥ २७ ॥

बहुभिर्भूषितं हर्म्यैर्मुक्ता रजतसन्निभैः[1] ।
तलैः [2]स्फाटिकचित्राङ्गैर्वैडूर्यैश्च वरासनैः ।
महार्हास्तरणोपेतैरुपपन्नं [3]महाधनैः ॥ २८ ॥

उसमें बहुत सी अटारियाँ थीं जो, मोती और चाँदी की तरह स्वच्छ थीं । उनके जो फर्श थे उन पर स्फटिक के चित्र बने हुए थे और उसमें जो उत्तम बैठकी थीं वे पन्नों की थीं । उसमें बहु मूल्य बिछौने बिछे हुए थे ॥ २८ ॥

उपस्थितमनाधृष्यं तद्विमानं मनोजवम् ।
निवेदयित्वा रामाय तस्थौ तत्र विभीषणः ॥ २९ ॥

इति चतुर्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

उस विमान पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता था और चाल उसकी मन के तुल्य तेज़ थी । ऐसे विमान को वहाँ उपस्थित कर तथा उसे श्रीरामचन्द्र जी को सौंप, विभीषण वहाँ खड़े रहे ॥ २९ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौचौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ सन्निभैः—तद्वन्निर्मलैः । (गो०) २ स्फाटिकचित्राङ्गैः—स्फटिकमय चित्रावयवैः । (गो०) ३ महाधनैः—महामूल्यैः । (गो०)

पञ्चविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

उपस्थितं तु तं दृष्ट्वा पुष्पकं पुष्पभूषितम् ।
अविदूरस्थितो रामं प्रत्युवाच विभीषणः ॥ १ ॥

पुष्पों से सजे हुए पुष्पक विमान को आया हुआ देख, पा॰ ही खड़े विभीषण श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ १ ॥

स तु बद्धाञ्जलिः प्रह्वो विनीतो राक्षसेश्वरः ।
अब्रवीत्त्वरयोपेतः किं करोमीति राघवम् ॥ २ ॥

राक्षसेश्वर विभीषण ने हाथ जोड़ कर और विनीतभाव से बड़ी शीघ्रता से कहा—हे राघव ! आज्ञा दीजिये कि अब मैं क्या करूँ ॥ २ ॥

तमब्रवीन्महातेजा [1]लक्ष्मणस्योपशृण्वतः ।
विमृश्य राघवो वाक्यमिदं स्नेहपुरस्कृतम् ॥ ३ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी कुछ सोच कर और लक्ष्मण जी के साथ परामर्श करके स्नेहपूर्वक विभीषण से यह बोले ॥ ३ ॥

कृतप्रयत्नकर्माणो विभीषण वनौकसः ।
रत्नैरर्थैश्च विविधैर्भूषणैश्चापि पूजय ॥ ४ ॥

हे विभीषण ! इन वानरों ने युद्ध में बहादुरी दिखलाई है - सो (इसके बदले में) इनको पुरस्कार में बहुत रत्न, धन और विविध प्रकार के आभूषण देने चाहिये ॥ ४ ॥

---

१ लक्ष्मणस्योपशृण्वतः—लक्ष्मणसम्मति पूर्वकम् । (गो॰)

सहैभिरजिता लङ्का निर्जिता राक्षसेश्वर ।
हृष्टैः प्राणभयं त्यक्त्वा संग्रामे ष्वनिवर्तिभिः ॥ ५ ॥

हे राक्षसनाथ! इन सब ने अपनी जानों के हथेलियों पर रख, हर्षित अन्तःकरण से युद्ध किया। इन लोगों ने रण में कभी पीठ नहीं दिखलायी। इन्हीं लोगों की सहायता से मैं इस दुर्धर्ष अजेय लङ्का के फतह कर सका हूँ ॥ ५ ॥

त इमे कृतकर्माणः पूज्यन्तां सर्ववानराः ।
धनरत्नप्रदानेन कर्मैषां सफलं कुरु ॥ ६ ॥

अतएव इन कार्यसिद्ध किये हुए समस्त वानरों और रीछों के धन और रत्न द्वारा पुरस्कृत कर, इनका परिश्रम सफल करना चाहिये ॥ ६ ॥

एवं संमानिताश्चैते मानार्हा मानद त्वया ।
भविष्यन्ति कृतज्ञेन [1]निर्वृता हरियूथपाः ॥ ७ ॥

हे मानद! तुम कृतज्ञ हो, सो यदि पुरस्कृत करने योग्य इन वानरों और रीछों का इस प्रकार तुम सम्मान कर दोगे तो ये समस्त वानर यूथपति प्रसन्न हो जाँयगे ॥ ७ ॥

त्यागिनं [2]संग्रहीतारं सानुक्रोशं यशस्विनम् ।
सर्वे त्वामवगच्छन्ति ततः सम्बोधयाम्यहम् ॥ ८ ॥

ये सब तुमको दानी और धनदान द्वारा मित्रसंग्रहीता, दयालु और यशस्वी समझते हैं। इसीसे मैं तुमको स्मरण दिलाता हूँ ॥ ८ ॥

---

१ निर्वृताः—सुखिताः । (गो०) २ संग्रहीतारं—धनप्रदानेन मित्र संग्रहकारिणिमित्यर्थः । (गो०)

हीनं रतिगुणैः सर्वैरभिहन्तारमाहवे ।
त्यजन्ति नृपतिं सैन्याः संविग्नास्तं नरेश्वरम् ॥ ९ ॥

हे विभीषण ! जो राजा सेना को दान, मानादि से उत्साहित नहीं करता और सैनिकों को केवल युद्ध में कटवाना ही जानता है, ऐसे राजा का, उसकी सेना उदास हो, युद्ध में साथ नहीं देती ॥९॥

एवमुक्तस्तु रामेण वानरांस्तान्विभीषणः ।
रत्नार्थैः संविभागेन सर्वानेवाभ्यपूजयत् ॥ १० ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने विभीषण से इस प्रकार कहा—तब विभीषण ने उन समस्त वानरों और वानर यूथपतियों को उनके पद के अनुसार हिस्सा लगा, रत्न और धन दे कर सन्तुष्ट किया ॥ १० ॥

ततस्तान्पूजितान्दृष्ट्वा रत्नैरर्थैश्च यूथपान् ।
आरुरोह ततो रामस्तद्विमानमनुत्तमम् ॥ ११ ॥

वानरयूथपतियों का रत्नों और धन से यथोचित सत्कार हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी उस श्रेष्ठ विमान पर सवार हुए ॥ ११ ॥

अङ्केनादाय वैदेहीं लज्जमानां यशस्विनीम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विक्रान्तेन धनुष्मता ॥ १२ ॥

फिर लजीली एवं यशस्विनी सीता जी को गोद में उठा, भाई लक्ष्मण के सहित धनुषधारी एवं पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी उस विमान में जा बैठे ॥ १२ ॥

अब्रवीच्च विमानस्थः पूजयन्सर्ववानरान् ।
सुग्रीवं च महावीर्यं काकुत्स्थः सविभीषणम् ॥ १३ ॥

विमान में बैठ चुकने के बाद श्रीरामचन्द्र जी आदरपूर्वक समस्त वानरों, महाबली सुग्रीव और राक्षसेश्वर विभीषण से बोले ॥ १३ ॥

मित्रकार्यं कृतमिदं भवद्भिर्वानरोत्तमाः ।
अनुज्ञाता मया सर्वे यथेष्टं प्रतिगच्छत ॥ १४ ॥

हे वानरोत्तम ! आप सब ने अपने मित्र का यह कार्य पूरा करके दिखला दिया । अब मैं आप सब को आज्ञा देता हूँ कि, जहाँ आप लोग चाहें वहाँ चले जाँय ॥ १४ ॥

यत्तु कार्यं वयस्येन *स्निग्धेन च हितेन च ।
कृतं सुग्रीव तत्सर्वं भवताऽधर्मभीरुणा ॥ १५ ॥

हे सुग्रीव ! एक स्नेही और हितैषी मित्र को जैसा बर्ताव करना उचित था वैसा ही आपने धर्म से डर कर, किया ॥ १५ ॥

किष्किन्धां प्रति याह्याशु स्वसैन्येनाभिसंवृतः ।
स्वराज्ये वस लङ्कायां मया दत्ते विभीषण ॥ १६ ॥

अब आप अपनी सेना को अपने साथ ले यहाँ से शीघ्र किष्किन्धा को लौट जाइये । हे विभीषण ! आप भी मेरे दिये हुए लङ्का के राज्य में रहिये ॥ १६ ॥

न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः ।
अयोध्यां प्रतियास्यामि राजधानीं पितुर्मम ॥ १७ ॥

इन्द्र सहित समस्त देवताओं की यह मजाल नहीं कि, वे आपको टेढ़ी दृष्टि से देखें । अब मैं अपनी पिता की राजधानी श्रीअयोध्यापुरी की ओर प्रस्थानित होता हूँ ॥ १७ ॥

---

* पाठान्तरे—"सुहृदा वा परन्तप" ।

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि सर्वांश्चामन्त्रयामि वः ।
एवमुक्तास्तु रामेण वानरास्ते महाबलाः ॥ १८ ॥
ऊचुः प्राञ्जलयो रामं राक्षसश्च विभीषणः ।
अयोध्यां गन्तुमिच्छामः सर्वान्नयतु नो भवान् ॥१९॥

अब मैं आप सब लोगों से आज्ञा ले यहाँ से विदा होना चाहता हूँ। जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा तब उन समस्त महाबलवान वानरों ने और राक्षसेश्वर विभीषण ने हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, हम सब लोगों की इच्छा आप के साथ अयोध्या चलने की है। सो आप हम लोगों को भी अपने साथ लेते चलिये ॥१८॥१९॥

[1]उद्युक्ता विचरिष्यामो वनानि नगराणि च ।
दृष्ट्वा त्वामभिषेकार्द्रं कौसल्यामभिवाद्य च ॥ २० ॥

हम वहाँ किसी को सताये बिना बड़ी सावधानी से वनों और नगरों में घूमे फिरेंगे। फिर आपका राज्याभिषेक देख, तथा माता कौशल्या को प्रणाम कर ॥ २० ॥

अचिरेणागमिष्यामः स्वान्गृहान्नृपतेः सुत ।
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा वानरैः सविभीषणैः ॥ २१ ॥
अब्रवीद्राघवः श्रीमान्ससुग्रीवविभीषणान् ।
प्रियात्प्रियतरं लब्धं यदहं ससुहृज्जनः ॥ २२ ॥
सर्वैर्भवद्भिः सहितः प्रीतिं लप्स्ये पुरीं गतः ।
क्षिप्रमारोह सुग्रीव विमानं वानरैः सह ॥ २३ ॥

हे राजकुमार ! हम तुरन्त अपने अपने घरों को लौट आवेंगे। (अतः आप हम सब को भी अपने साथ लेते चलिये।) जब सब

1 उद्युक्ताः—सावधानाः। जनपदपीडामकुर्वन्त इत्यर्थः। (गो०)

वानरों और विभीषण ने इस प्रकार कहा, तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव और विभीषण से कहा—यदि मैं तुम जैसे अपने सुहृदों के साथ अयोध्या में जा कर हर्षित हो सकूँ, तो मेरे लिये यह सब से बढ़ कर आनन्द की बात होगी। हे सुग्रीव! अब आप अपनी वानरी सेना सहित तुरन्त इस विमान पर सवार हो जाइये ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

त्वमध्यारोह सामात्यो राक्षसेन्द्र विभीषण ।
ततस्तत्पुष्पकं दिव्यं सुग्रीवः सह सेनया ॥ २४ ॥

हे राक्षसेन्द्र विभीषण! तुम भी अपने अमात्यों को साथ ले विमान में बैठ जाओ। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी की अनुमति से वानरों सहित सुग्रीव ॥ २४ ॥

*आरुरोहमुदायुक्तः सामात्यश्च विभीषणः ।
तेष्वारूढेषु सर्वेषु कौवेरं [1]परमासनम् ॥ २५ ॥

और अमात्यों सहित विभीषण हर्षित हो पुष्पक विमान में जा बैठे। उन सब के सवार हो जाने पर कुबेर का वह उत्तम वाहन ॥२५॥

राघवेणाभ्यनुज्ञातमुत्पपात विहायसम् ।
ययौ तेन विमानेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥ २६ ॥
प्रहृष्टश्च [2]प्रतीतश्च बभौ रामः कुवेरवत् ।
ते सर्वे वानरा हृष्टा राक्षसाश्च महाबलाः ।
यथासुखमसम्बाधं दिव्ये तस्मिन्नुपाविशन् ॥ २७ ॥

इति पञ्चविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ।

1 आसनं—वाहनं । (गो०) 2 प्रतीतश्च—श्लाघतश्च । (गो०)
* पाठान्तरे—" अध्यारोहत्वरञ्शीघ्रं " ।

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पा, आकाश में उड़ चला। उस प्रकाशमान और हंसों से युक्त विमान पर सवार, हर्षित और प्रशंसित श्रीरामचन्द्र जी, कुबेर की तरह जान पड़ने लगे। इस प्रकार वे महाबली वानर और राक्षस उस दिव्य विमान पर सुख सहित बिना क्लेश के बैठे ॥ २६ ॥ २७ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौतेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

[नोट—विमान में जीवित हंस पक्षी नहीं नधे थे, बल्कि हंसों की काठ की मूर्तियाँ बनी हुई थीं; जिनको देखने से ऐसा जान पड़ता था, मानों सचमुच हंस ही उस विमान को अपनी पीठों पर धरे उड़ाये लिये जाते हैं।]

—o—

षड्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

अनुज्ञातं तु रामेण तद्विमानमनुत्तमम् ।
*हंसयुक्तं महानादमुत्पपात विहायसम् ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने हंसों से युक्त उस उत्तम विमान को चलने की आज्ञा दी, तब वह विमान बड़े ज़ोर से आवाज़ करता हुआ उड़ कर आकाश में पहुँचा ॥ १ ॥

पातयित्वाततश्चक्षुः सर्वतो रघुनन्दनः ।
अब्रवीन्मैथिलीं सीतां रामः शशिनिभाननाम् ॥ २ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने चारों ओर निगाह डाल कर, चन्द्रमुखी मैथिली सीता से कहा ॥ २ ॥

---

* पाठान्तरे—"उत्पपात महामेघः श्वसेननोद्धतो यथा"।

कैलासशिखराकारे त्रिकूटशिखरे स्थिताम् ।
लङ्कामीक्षस्व वैदेहि निर्मितां विश्वकर्मणा ॥ ३ ॥

हे वैदेहि ! कैलास पर्वत की तरह ऊँचे त्रिकूट पर्वत पर, विश्वकर्मा द्वारा बनायी गयी इस लङ्कापुरी को देखो ॥ ३ ॥

एतदायोधनं पश्य मांसशोणितकर्दमम् ।
हरीणां राक्षसानां च सीते विशसनं महत् ॥ ४ ॥

देखो यह समरभूमि है जहाँ पर असंख्य राक्षसों और वानरों का वध हुआ है और जहाँ पर माँस और रक्त की कीचड़ हो रही है ॥ ४ ॥

अत्र दत्तवरः [1]शेते [2]प्रमाथी राक्षसेश्वरः ।
तव हेतोर्विशालाक्षि रावणो निहतो मया ॥ ५ ॥

हे विशालाक्षी ! यह देखो उस वरप्राप्त एवं हिंसक रावण की भस्म पड़ी है, जिसे मैंने तुम्हारे पीछे युद्ध में मारा था ॥ ५ ॥

कुम्भकर्णोऽत्र निहतः प्रहस्तश्च निशाचरः ।
धूम्राक्षश्चात्र निहतो वानरेण हनूमता ॥ ६ ॥

देखो यहाँ पर कुम्भकर्ण और प्रहस्त मारे गये थे । धूम्राक्ष को हनुमान ने यहीं मारा था ॥ ६ ॥

विद्युन्माली हतश्चात्र सुषेणेन महात्मना ।
लक्ष्मणेनेन्द्रजिच्चात्र रावणिर्निहतो रणे ॥ ७ ॥

यहीं पर महाबली सुषेण ने विद्युन्माली को मारा था और यहीं पर लक्ष्मण जी ने युद्ध में इन्द्रजीत का वध किया था ॥ ७ ॥

---

1 शेते—भस्मस्वरूपेणेत्यर्थः । 2 (गो०) प्रमाथी—हिंसकः । (गो०)

अङ्गदेनात्र निहतो विकटो नाम राक्षसः ।
विरूपाक्षश्च दुर्धर्षो महापार्श्वमहोदरौ ॥ ८ ॥

यहीं पर अंगद ने विकट नामक राक्षस को मारा था। यहीं पर दुर्धर्ष विरूपाक्ष, महापार्श्व और महोदर मारे गये थे ॥ ८ ॥

अकम्पनश्च निहतो बलिनोऽन्ये च राक्षसाः ।
अत्र मन्दोदरी नाम भार्या तं पर्यदेवयत् ॥ ९ ॥

सपत्नीनां सहस्रेण [1]साग्रेण परिवारिता ।
एतत्तु दृश्यते [2]तीर्थं समुद्रस्य वरानने ॥ १० ॥

यहीं पर अकम्पनादि और भी बड़े बड़े बलवान राक्षस मारे गये थे और यहीं पर रावण की पटरानी मन्दोदरी ने अपनी सौतों के साथ, जिनकी संख्या एक हज़ार से ऊपर थी, अपने मरे हुए पति के लिये विलाप (स्यापा) किया था। हे वरानने ! यह समुद्र का घाट या उतारा दिखलायी देता है ॥ ९ ॥ ॥ १० ॥

यत्र सागरमुत्तीर्य तां रात्रिमुषिता वयम् ।
एष सेतुर्मया बद्धः सागरे सलिलार्णवे ॥ ११ ॥

जहाँ हम लोग समुद्र के इस पार आकर, उस रात को ... थे। खारी जल से पूर्ण इस समुद्र के ऊपर देखो यह पुल मैंने ... वाया था ॥ ११ ॥

तव हेतोर्विशालाक्षि नलसेतुः सुदुष्करः ।
पश्य सागरमक्षोभ्यं वैदेही वरुणालयम् ॥ १२ ॥

---

१ साग्रेण—सहस्रादप्यधिकयुक्तेन (रा०) २ तीर्थं—उत्तरणस्थानं । (गो०)

हे विशालनयनी! तुम्हारे लिये ही यह बड़ा दुष्कर कर्म अर्थात् सेतु बांधना, नल ने किया था। हे वैदेही! इस अक्षोभ्य वरुणालय समुद्र को देखो ॥ १२ ॥

[1]अपारमभिगर्जन्तं शङ्खशुक्तिनिषेवितम् ।
हिरण्यनाभं शैलेन्द्रं काञ्चनं पश्य मैथिलि ॥ १३ ॥

देखो यह कैसा भयानक शब्द कर के गर्ज रहा है। इसके बीच में कोई द्वीप-टापू भी नहीं है। यह सीपियों और शङ्खों से भरा हुआ है। हे मैथिली! यह देखो काञ्चनमय हिरण्यनाभ नामक पर्वतराज खड़ा है ॥ १३ ॥

विश्रमार्थं हनुमतो भित्त्वा सागरमुत्थितम् ।
एतत्कुक्षौ[2] समुद्रस्य [3]स्कन्धावारनिवेशनम् ॥ १४ ॥

हनुमान जी की प्रथम लङ्कायात्रा के समय यह उनकी थकावट मिटाने के लिये समुद्र के जल को चीर कर ऊपर निकला था। यह समुद्र के बीच में मानों सेना की छावनी का स्थान सा देख पड़ता है ॥ १४ ॥

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्येनाभिपूजितम् ॥ १५ ॥

हनुमान् यह देखो यह समुद्र का (उत्तर तट का) घाट दिखलायी पड़ता है। यह सेतुबन्ध नाम से प्रसिद्ध है और तीनों लोकों से पूजित है ॥ १५ ॥

---

१ अपारं—मध्ये द्वीपभूतपाररहितं । (गो०) २ कुक्षौ—मध्ये । ३ स्कन्धावारनिवेशनम्—स्कन्धावारनिवेशनरूप स्थानं । स्कन्धावारः—शिबिरं (गो०)

[नोट—१०वें श्लोक में समुद्र के दक्षिणतट का घाट बतलाया था। १५वें श्लोक में समुद्र के उत्तरतट का घाट दिखलाया गया है।]

एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम्[1] ।
अत्र पूर्वं [2]महादेवः [3]प्रसादमकरोत्प्रभुः[4] * ॥ १६ ॥

यह बड़ा पवित्र स्थान माना जायगा और इसका दर्शन और यहाँ का स्नान बड़े बड़े पापों का नाश करने वाला होगा। यहीं पर लङ्का जाने के समय जब मैंने क्रोध में भर समुद्र को सोखना चाहा था, तब समुद्रराज के जल के अधिष्ठाता देवता ने मुझे प्रसन्न किया था ॥ १६ ॥

[नोट—आदिकाव्य के कईएक टीकाकारों ने "अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोत्प्रभुः" का अर्थ किया है "इसी स्थान में सेतु बाँधने के लिये महादेव हमारे ऊपर प्रसन्न हुए थे।" अथवा यहीं पर पुल बाँधने के पहिले शिव ने मेरे ऊपर कृपा की थी। समुद्र से और महादेव से कुछ संबन्ध नहीं। फिर लङ्का जाते समय जो जो घटनाएँ हुई थीं—अथवा जो जो कार्य किये गये थे, उनके वर्णन के पूर्वप्रसङ्गों में भी "महादेव के प्रसन्न" होने की चर्चा न पायी जाने के कारण, प्रत्युत समुद्रजल के अधिष्ठाता देवता का प्रसन्न हो कर सेतु बाँधने की सलाह देने का वर्णन पाये जाने के कारण, भूषण-टीकाकार का किया हुआ अर्थ जो उक्त श्लोक के नीचे दिया गया है युक्तियुक्त एवं प्रसङ्गानुकूल जान पड़ता है। क्योंकि, समुद्र पर पुल बाँधने के पूर्व

---

१ नाशनंभविष्यतीतिशेषः । (गो०) २ महादेव—इति समुद्रराज उच्यते। (गो०) ३ प्रसादमकरोत्—सागरं शोषयिष्यामीति कुपितस्यमे प्रसन्नत्वमकरोत्। (गो०) ४ प्रभुः समुद्रजलाधिष्ठता देवता। (गो०)

* दक्षिण के संस्करणों में "प्रभु" और उत्तर भारतीय संस्करणों में "विभुः" पाठ है।

शिव जी ने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर क्या कृपा की थी, इसका कुछ भी उल्लेख युद्धकाण्ड में नहीं पाया जाता।]

अत्र राक्षसराजोऽयमाजगाम विभीषणः।
एषा सा दृश्यते सीते किष्किन्धा चित्रकानना॥ १७॥

यहीं पर राक्षसेश्वर विभीषण मुझसे आ कर मिले थे। हे सीते! वह देखो चित्रविचित्र उद्यानों से युक्त किष्किन्धापुरी॥ १७॥

सुग्रीवस्य पुरी रम्या यत्र वाली मया हतः।
अथ दृष्ट्वा पुरीं सीता किष्किन्धां वालिपालिताम्॥१८॥

यह रमणीकपुरी सुग्रीव की राजधानी है। यहीं पर मैंने वालि को मारा था। वालि की पालित किष्किन्धापुरी को देख सीता जी ने॥ १८॥

अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं रामं प्रणयसाध्वसा।
सुग्रीवप्रियभार्याभिस्ताराप्रमुखतो नृप॥ १९॥

अन्येषां वानरेन्द्राणां स्त्रीभिः परिवृता ह्यहम्।
गन्तुमिच्छे सहायोध्यां राजधानीं त्वयाऽनघ॥ २०॥

विनीत भाव से प्रीति एवं आदर पूर्वक श्रीरामचन्द्र जी से कहा। हे राजन्! हे अनघ! मेरी इच्छा है कि, सुग्रीव की [प्या]री तारा आदि स्त्रियों के साथ तथा अन्य वानरश्रेष्ठों की स्त्रियों [के] साथ मैं आपकी राजधानी श्रीअयोध्या में प्रवेश करूँ॥१९॥२०॥

एवमुक्तोऽथ वैदेह्या राघवः प्रत्युवाच ताम्।
एवमस्त्विति किष्किन्धां प्राप्य संस्थाप्य राघवः॥२१॥

जब जानकी जी ने यह कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे उत्तर में कहा "बहुत अच्छा"। और जब विमान किष्किन्धा में पहुँचा तब वहाँ उसे रोक दिया ॥ २१ ॥

विमानं प्रेक्ष्य सुग्रीवं वाक्यमेतदुवाच ह ।
ब्रूहि वानरशार्दूल सर्वान्वानरपुङ्गवान् ॥ २२ ॥

विमान को ठहरा श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव की ओर देख, उन से यह कहा—हे वानरराज! तुम समस्त वानरश्रेष्ठों से कह दो ॥ २२ ॥

स्वदारसहिताः सर्वे ह्ययोध्यां यान्तु सीतया ।
तथा त्वमपि सर्वाभिः स्त्रीभिः सह महाबल ॥ २३ ॥

कि, वे सब अपनी अपनी स्त्रियों को साथ लेकर अयोध्या चलें। क्योंकि, सीता की इच्छा है कि, वानरों की स्त्रियाँ भी उनके साथ अयोध्या चलें। हे महाबली! तुम भी अपनी समस्त स्त्रियों को साथ लेकर अयोध्या चलो ॥ २३ ॥

अभित्वरस्व सुग्रीव गच्छामः प्लवगेश्वर ।
एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणामिततेजसा ॥ २४ ॥

हे वानरराज सुग्रीव! इस कार्य को झटपट कर डालो—क्योंकि, अभी हमको (बहुत दूर) जाना है अथवा हमको अभी यहाँ से चल देना है। अमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से जब यह कहा ॥ २४ ॥

वानराधिपतिः श्रीमांस्तैश्च सर्वैः समावृतः ।
प्रविश्यान्तःपुरं शीघ्रं तारामुद्वीक्ष्य भाषत ॥ २५ ॥

तब वानरराज श्रीमान् सुग्रीव सब वानरों सहित अपने अन्तः-पुर में गये और तारा को देख उससे बोले ॥ २५ ॥

प्रिये त्वं सह नारीभिर्वानराणां महात्मनाम् ।
राघवेणाभ्यनुज्ञाता मैथिलीप्रियकाम्यया ॥ २६ ॥

त्वर त्वमभिगच्छामो गृह्य वानरयोषितः ।
अयोध्यां दर्शयिष्यामः सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ २७ ॥

हे प्रिये! श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से और सीता जी की प्रसन्नता के लिये तुम अन्य वानरपत्नियों को साथ लेकर, हमारे साथ तुरन्त चलो। हम तुम्हें श्रीअयोध्यापुरी और महाराज दशरथ की समस्त रानियों को दिखला लावेंगे ॥ २६ ॥ २७ ॥

सुग्रीवस्य वचः श्रुत्वा तारा सर्वाङ्गशोभना ।
आहूय चाब्रवीत्सर्वा वानराणां तु योषितः ॥ २८ ॥

सर्वाङ्गसुन्दरी तारा ने सुग्रीव के इन वचनों को सुन, समस्त वानर-स्त्रियों को बुला कर उनसे कहा ॥ २८ ॥

सुग्रीवेणाभ्यनुज्ञाता गन्तुं सर्वैश्च वानरैः ।
मम चापि प्रियं कार्यमयोध्यादर्शनेन च ॥ २९ ॥

महाराज सुग्रीव की आज्ञा से यदि तुम सब मेरे साथ अयोध्या-पुरी को देखने के लिये चलोगी, तो ऐसा करने से मानों तुम मेरा बड़ा प्रिय कार्य करोगी ॥ २९ ॥

प्रवेशं चापि रामस्य पौरजानपदैः सह ।
विभूतिं चैव सर्वासां स्त्रीणां दशरथस्य च ॥ ३० ॥

वहाँ सब पुरवासियों तथा जनपदवासियों के साथ श्रीरामचन्द्र जी की राजधानी में प्रवेश कर, हम सब महाराज दशरथ की रानियों का ऐश्वर्य देखेंगी ॥ ३० ॥

तारया चाभ्यनुज्ञाता सर्वा वानरयोषितः ।
[1]नेपथ्यं विधिपूर्वेण कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥ ३१ ॥

तारा की आज्ञा पाकर वे सब वस्त्रालङ्कार से यथाविधि सज धज कर आ गयीं। फिर विमान की परिक्रमा कर ॥ ३१ ॥

अध्यारोहन्विमानं तत्सीतादर्शनकाङ्क्षया ।
ताभिः सहोत्थितं शीघ्रं विमानं प्रेक्ष्य राघवः ॥ ३२ ॥

वे सीता के दर्शन की इच्छा से झटपट विमान पर चढ़ गयीं। तब तारा आदि वानर-स्त्रियों को ले कर, उस विमान को आकाश में उड़ता देख ॥ ३२ ॥

ऋश्यमूकसमीपे तु वैदेहीं पुनरब्रवीत् ।
दृश्यतेऽसौ महान्सीते सविद्युदिव तोयदः ॥ ३३ ॥

और ऋष्यमूक पर्वत के समीप पहुँच, श्रीरामचन्द्र जी ने जानकी से फिर (मार्ग की जगहों को दिखा कर उनका) वर्णन करना आरम्भ किया। हे सीते! यह जो बिजुली सहित एक बड़े मेघ की तरह बड़ा भारी पहाड़ देख पड़ता है ॥ ३३ ॥

ऋश्यमूको गिरिश्रेष्ठः काञ्चनैर्धातुभिर्वृतः ।
अत्राहं वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण समागतः ॥ ३४ ॥

सो यही ऋष्यमूक पर्वत है। इसमें सुवर्ण आदि अनेक धातुएं पायी जाती हैं। यहीं पर सुग्रीव के साथ मेरा समागम हुआ था ॥ ३४ ॥

---

१ नेपथ्यं—अलङ्कारं। (गो०)

समयश्च[1] कृतः सीते वधार्थं वालिनो मया ।
एषा सा दृश्यते पम्पा नलिनी चित्रकानना ॥ ३५ ॥

और यहीं मैंने वालि के मारने का सङ्केत किया था अर्थात् प्रतिज्ञा की थी। यह रंग विरंगे फूलों से लदे वृक्षों से पूर्ण वनों के बीच पम्पासरोवर देख पड़ती है ॥ ३५ ॥

त्वया विहीनो यत्राहं विललाप सुदुःखितः ।
अस्यास्तीरे मया दृष्टा शवरी धर्मचारिणी ॥ ३६ ॥

यहीं पर मैंने तुम्हारे वियोग से अत्यन्त दुःखित हो, विलाप किया था और इसीके तट पर धर्मचारिणी शवरी से मेरी भेंट हुई थी ॥ ३६ ॥

अत्र योजनबाहुश्च कबन्धो निहतो मया ।
दृश्यते च जनस्थाने सीते श्रीमान्[2]वनस्पतिः ॥ ३७ ॥

यहाँ पर मैंने एक योजन लंबी भुजाओं वाले कवन्ध को मारा था। देखो यह जनस्थान देख पड़ता है। हे सीते! यह देखो, यह वह शोभायमान वटवृक्ष है, जिस पर जटायु रहा करते थे ॥ ३७ ॥

यत्र युद्धं महद्वृत्तं तव हेतोर्विलासिनि ।
रावणस्य नृशंसस्य जटायोश्च महात्मनः ॥ ३८ ॥

यहीं पर तुम्हारे लिये महातेजस्वी जटायु के साथ निष्ठुर रावण का घोर युद्ध हुआ था ॥ ३८ ॥

---

१ समयः—सङ्केतः । (गो०) । २ श्रीमान् वनस्पतिः—जटायु निवासभूतोवटः । तस्य श्रीमत्त्वं महात्मना जटायुषाधिष्ठितत्वात् । (गो०)

खरश्च निहतो यत्र दूषणश्च निपातितः ।
त्रिशिराश्च महावीर्यो मया बाणैरजिह्मगैः ॥ ३९ ॥

यह वही स्थान है, जहाँ पर मैंने अपने सीधे जाने वाले बाणों से खर का वध किया था, दूषण को मार गिराया था और महाबली त्रिशिरा को मारा था ॥ ३९ ॥

एतत्तदाश्रमपदमस्माकं वरवर्णिनि ।
पर्णशाला तथा चित्रा दृश्यते शुभदर्शना ॥ ४० ॥

हे सुन्दरी ! यह हम लोगों का वही आश्रम है और यह वही हम लोगों की पर्णकुटी है । हे शुभदर्शना ! यह पर्णकुटी (अब भी पूर्ववत्) सुन्दर बनी हुई है ॥ ४० ॥

यत्र त्वं राक्षसेन्द्रेण रावणेन हृता बलात् ।
एषा गोदावरी रम्या प्रसन्नसलिला शिवा ॥ ४१ ॥

यहीं पर रावण ने बरजोरी तुमको हरा था । यह वही रमणीक, शुभ और निर्मल जल वाली गोदावरी नदी है ॥ ४१ ॥

अगस्त्यस्याश्रमो ह्येष दृश्यते पश्य मैथिलि ।
दीप्तश्चैवाश्रमो ह्येष सुतीक्ष्णस्य महात्मनः ॥ ४२ ॥

हे मैथिली ! यह अगस्त्य का आश्रम देख पड़ता है और यह चमचमाता महात्मा सुतीक्ष्ण का आश्रम है ॥ ४२ ॥

वैदेहि दृश्यते चात्र शरभङ्गाश्रमो महान् ।
उपयातः सहस्राक्षो यत्र शक्रः पुरन्दरः ॥ ४३ ॥

हे वैदेहि ! यहाँ पर शरभङ्ग का बड़ा भारी आश्रम देख पड़ता है । (जिस समय हम लोग यहाँ आये थे, उस समय) सहस्राक्ष देवराज इन्द्र भी यहाँ आये हुए थे ॥ ४३ ॥

अस्मिन्देशे महाकायो विराधो निहतो मया ।
एते हि तापसावासा दृश्यन्ते तनुमध्यमे ॥ ४४ ॥

इस जगह मैंने विशाल शरीरधारी विराध नामक राक्षस को मारा था । हे तनुमध्यमे ! (पतली कमर वाली) ये तपस्वियों के आश्रम देख पड़ते हैं ॥ ४४ ॥

अत्रिः कुलपतिर्यत्र सूर्यवैश्वानरप्रभः ।
अत्र सीते त्वया दृष्टा तापसी धर्मचारिणी ॥ ४५ ॥

जहाँ सूर्य अथवा अग्नि के समान तेजस्वी कुलपति अत्रि रहते हैं । हे सीते ! यहीं पर तुम्हारी धर्मचारिणी और तपस्विनी अनुसूया जी से भेंट हुई थी ॥ ४५ ॥

[नोट—कुलपति वह अध्यापक कहलाता था, जो दसहज़ार विद्यार्थियों भरणपोषण करता हुआ, उनको शिक्षा देता था ।]

असौ सुतनु शैलेन्द्रश्चित्रकूटः प्रकाशते ।
यत्र मां कैकयीपुत्रः प्रसादयितुमागतः ॥ ४६ ॥

हे सुन्दर शरीर वाली ! देखो, यह पर्वतराज चित्रकूट शोभायमान हो रहे हैं, जहाँ पर मुझे मनाने के लिये कैकेयीपुत्र भरत जी आये थे ॥ ४६ ॥

एषा सा यमुना दूराद्दृश्यते चित्रकानना ।
भरद्वाजाश्रमो यत्र श्रीमानेष प्रकाशते ॥ ४७ ॥

रंगविरंगे फूलों से युक्त वृक्षों से भरे वनों के बीच बहती हुई दूर से यमुना नदी देख पड़ती है । जिसके समीप ही भरद्वाज जी का शोभायमान आश्रम भी देख पड़ता है ॥ ४७ ॥

एषा त्रिपथगा गङ्गा दृश्यते वरवर्णिनि ।
नानाद्विजगणाकीर्णा संप्रपुष्पितकानना ॥ ४८ ॥

हे वरवर्णिनी ! यह त्रिपथगामिनी गङ्गा हैं ; जिनके उभयतट पर विविध प्रकार के पक्षियों से युक्त और पुष्पित वृक्षों से परिपूर्ण वन शोभायमान हो रहे हैं ॥ ४८ ॥

शृङ्गिबेरपुरं चैतद्गुहो यत्र समागतः ।
एषा सा दृश्यते सीते सरयूर्यूपमालिनी ॥ ४९ ॥

आगे देखो वह शृङ्गवेरपुर है । यहीं पर गुह से मेरा समागम हुआ था । हे सीते ! यह देखो, यह सरयू नदी है ; जिसके तट पर इक्ष्वाकुकुलोद्भव राजाओं के किये हुए यज्ञों के स्मारकस्वरूप पत्थर के खंभों की पाँति की पाँति खड़ी है ॥ ४९ ॥

नानातरुशताकीर्णा संप्रपुष्पितकानना ।
एषा सा दृश्यतेऽयोध्या राजधानी पितुर्मम ॥ ५० ॥

विविध प्रकार के सैकड़ों पुष्पित वृक्षों से युक्त उद्यानों से शोभित, यह मेरे पिता की राजधानी श्रीअयोध्यापुरी देख पड़ती है ॥ ५० ॥

अयोध्यां कुरु वैदेहि प्रणामं पुनरागता ।
ततस्ते वानराः सर्वे राक्षसश्च विभीषणः ।
उत्पत्योत्पत्य ददृशुस्तां पुरीं शुभदर्शनाम् ॥ ५१ ॥

तुम यहाँ लौट कर आयी हो, सो तुम इसे प्रणाम करो । श्रीरामचन्द्र जी के मुख से श्रीअयोध्या का नाम सुनते ही समस्त वानर

---

१ यूपमालिनी—इक्ष्वाकुभिस्तीरेयागानन्तरं कीर्त्यर्थं शिलाभिः कृतयूपवतीत्यर्थः । (गो०)

और विभीषण उचक उचक कर उस सुन्दर श्रीअयोध्यापुरी को देखने लगे ॥ ५१ ॥

ततस्तु तां पाण्डुरहर्म्यमालिनीं
विशालकक्ष्यां गजवाजिसङ्कुलाम् ।
पुरीमयोध्यां ददृशुः प्लवङ्गमाः
पुरीं महेन्द्रस्य यथाऽमरावतीम् ॥ ५२ ॥

इति षड्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

इन्द्र की अमरावतीपुरी के तुल्य, सफेद अटा अटारियों वाली, चौड़ी चौड़ी सड़कों वाली और हाथी घोड़ों से भरी पूरी श्रीअयोध्या को वानर लोग देखने लगे ॥ ५२ ॥

[नोट—श्रीरामचन्द्र जी अभी श्रीअयोध्या में नहीं पहुँचे; किन्तु आकाश में बड़ी ऊँचाई पर उड़ते हुए विमान में बैठ कर, उन्होंने बहुत दूर से श्रीअयोध्या को देखा था। दूर होने के कारण ही वानरों का अयोध्या को उचक उचक कर "उत्पत्योत्पत्य" देखना १५वें श्लोक में लिखा है।]

युद्धकाण्ड का एकसौछब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—※—

पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पञ्चम्यां लक्ष्मणाग्रजः ।
भरद्वाजाश्रमं प्राप्य ववन्दे नियतो मुनिम् ॥ १ ॥

---

१ विशालकक्ष्यां—विशालरथ्यां । (रा०)

वनवास के चौदहवर्ष पूरे हो जाने पर, पञ्चमी के दिन, श्रीरामचन्द्र जी भरद्वाजमुनि के आश्रम में पहुँचे, उनको यथाविधि प्रणाम किया ॥ १ ॥

सोऽपृच्छदभिवाद्यैनं भरद्वाजं तपोधनम् ।
शृणोषि कच्चिद्भगवन्सुभिक्षानामयं पुरे ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने तपोधन भरद्वाज मुनि को प्रणाम कर पूँछा कि—हे भगवन्! श्रीअयोध्यापुरी में सब कुशल पूर्वक तो हैं! दुर्भिक्षादि से वहाँ किसी को कुछ कष्ट तो नहीं मिला ॥ २ ॥

कच्चिच युक्तो भरतो जीवन्त्यपि च मातरः ।
एवमुक्तस्तु रामेण भरद्वाजो महामुनिः ॥ ३ ॥
प्रत्युवाच रघुश्रेष्ठं स्मितपूर्वं प्रहृष्टवत् ।
पङ्कदिग्धस्तु भरतो जटिलस्त्वां प्रतीक्षते ॥ ४ ॥
पादुके ते पुरस्कृत्य सर्वं च कुशलं गृहे ।
त्वां पुरा चीरवसनं प्रविशन्तं महावनम् ॥ ५ ॥
स्त्रीतृतीयं च्युतं राज्याद्धर्मकामं च केवलम् ।
पदातिं त्यक्तसर्वस्वं पितुर्वचनकारिणम् ॥ ६ ॥

भरत, प्रजा का पालन तो भली भाँति करते हैं? मेरी सब मातायें तो जीवित हैं? श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार पूँछने पर, महामुनि भरद्वाज उनसे अत्यन्त प्रसन्न हो मुसक्याते हुए बोले, यथाविधि स्नान न करने के कारण शरीर में मैल लपेटे, जटा रखाये और तुम्हारी खड़ाउओं को अपने आगे रखे हुए, भरत तुम्हारे लौटने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। तुम्हारे घर में सब कुशलपूर्वक हैं। हे रघुनन्दन! जब तुम महावन को जा रहे थे; तब मैंने देखा था कि,

तुम पुराने चीर वसन पहिने हुए हो, स्त्री तुम्हारे साथ है, राज्य से पृथक हो चुके हो—केवल धर्म में मन लगाये हुए हो। पैदल चल रहे हो, सर्वस्व त्याग कर पिता की आज्ञा पालन में निरत हो ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

सर्वभोगैः परित्यक्तं स्वर्गच्युतमिवामरम् ।
दृष्ट्वा तु करुणा पूर्वं ममासीत्समितिञ्जय ॥ ७ ॥

कैकेयीवचने युक्तं वन्यमूलफलाशिनम् ।
सांप्रतं सुसमृद्धार्थं समित्रगणबान्धवम् ॥ ८ ॥

समीक्ष्य विजितारिं त्वां मम प्रीतिरनुत्तमा ।
सर्वं च सुखदुःखं ते विदितं मम राघव ॥ ९ ॥

यत्त्वया विपुलं प्राप्तं जनस्थानवधादिकम् ।
[1]ब्राह्मणार्थे नियुक्तस्य[2] रक्षितुः सर्वतापसान् ॥ १० ॥

सब भोग्य पदार्थों को त्यागे हुए हो और स्वर्गच्युत देवता की तरह जान पड़ते हो। कैकेयी के कथनानुसार तुम फलफूल खाने का सङ्कल्प कर चुके हो। हे समरविजयी! तुम्हारी उस समय की दशा देख मेरा मन बड़ा दुःखी हुआ था। किन्तु इस समय तुमको सब प्रकार से भरापूरा और इष्टमित्रों और स्वजनों के साथ शत्रु को जीत कर लौटा हुआ देख, मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। हे राघव! जनस्थान में रह कर जो तुमने बहुत से सुख दुःख भोगे, तपस्वियों के प्रार्थना करने पर, ऋषियों की रक्षा के लिये, जनस्थान-

---

१ ब्रह्मणार्थे ऋषिजनरक्षणार्थे। (गो०) २ नियुक्तस्य—तैर्याचितस्य। (गो०)

वासी राक्षसों का वध कर, तुमने सब तपस्वियों की रक्षा की—ये सब बातें मुझे मालूम हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

रावणेन हृता[1] भार्या बभूवेमनिन्दिता ।
मारीचदर्शनं चैव सीतोन्मथनमेव च ॥ ११ ॥

जैसे रावण ने तुम्हारी अनिन्दित भार्या सीता को हरना चाहा था तथा पीछे उसे हरा था और जिस प्रकार मारीच कपटी हिरन का रूप धर कर सामने आया था। सो भी मुझे विदित है ॥ ११ ॥

कबन्धदर्शनं चैव पम्पाभिगमनं तथा ।
सुग्रीवेण च ते सख्यं यच्च वाली हतस्त्वया ॥ १२ ॥

फिर कबन्ध का मिलना और उसका वध, तथा पम्पा की ओर तुम्हारा जाना और वहाँ तुम्हारे साथ सुग्रीव की मैत्री का होना, और तुम्हारे हाथ से वालि का मारा जाना भी मुझे मालूम है ॥ १२ ॥

मार्गणं चैव वैदेह्याः कर्म वातात्मजस्य च ।
विदितायां च वैदेह्यां नलसेतुर्यथा कृतः ॥ १३ ॥

तदनन्तर सीता जी की खोज करवाना, हनुमान जी द्वारा सीता का पता लगाया जाना। नल द्वारा समुद्र पर पुल का बाँधा जाना भी मुझे मालूम है ॥ १३ ॥

यथा वा दीपिता लङ्का प्रहृष्टैर्हरियूथपैः ।
सपुत्रबान्धवामात्यः सबलः सहवाहनः ॥ १४ ॥

---

१ हृता—हर्तुमीप्सिता । (गो०)

यथा विनिहतः संख्ये रावणो देवकण्टकः ।

समागमश्च त्रिदशैर्यथा दत्तश्च ते वरः ॥ १५ ॥

फिर वानरयूथपतियों द्वारा लङ्का का फूँका जाना तथा पुत्र, भाई बन्धु, मंत्री, दीवान्, फौज फाटा, हाथी, घोड़े और रथों सहित देवकण्टक रावण का लड़ाई में मारा जाना, तदनन्तर देवताओं का तुम्हारे सामने आना और उनसे तुमको वरदान का मिलना मुझे मालूम है ॥ १४ ॥ १५ ॥

सर्वं ममैतद्विदितं तपसा धर्मवत्सल ।

अहमप्यत्र ते दद्मि वरं शस्त्रभृतां वर ॥ १६ ॥

हे धर्मवत्सल ! ये सब बातें मुझे अपने तपोबल से समय समय पर मालूम होती रही हैं । हे शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ ! मैं भी तुमको वर देता हूँ ॥ १६ ॥

[1]अर्घ्यमद्य गृहाणेदमयोध्यां श्वो गमिष्यसि ।

तस्य तच्छिरसा वाक्यं प्रतिगृह्य नृपात्मजः ॥ १७ ॥

आज मेरा आतिथ्य स्वीकार कर, कल तुम श्री अयोध्या को चले जाना । राजनन्दन रघुनन्दन ने भरद्वाज जी की आज्ञा को शिरोधार्य कर ॥ १७ ॥

बाढमित्येव संहृष्टो धीमान्वरमयाचत ।

अकाले फलिनो वृक्षाः सर्वे चापि मधुस्रवाः ॥ १८ ॥

फलान्यमृतकल्पानि बहूनि विविधानि च ।

भवन्तु मार्गे भगवन्नयोध्यां प्रति गच्छतः ॥ १९ ॥

और अत्यन्त आनन्दित हो कहा बहुत अच्छा । तदनन्तर बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी ने यह वर माँगा कि, हे मुनि ! आपके वरदान

---

१ अर्घ्यं—पूजां । (गो०)

से मैं यह चाहता हूँ कि, यहाँ से लेकर अयोध्या तक, फलने की फसल न होने पर भी समस्त वृक्षों में फल लगें और उनमें मधु टपका करे। उनमें लगे हुए फल अमृत के समान मीठे, बहुत और विविध प्रकार के हों ॥ १८ ॥ १९ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाते वचनात्समनन्तरम् ।
अभवन्पादपास्तत्र स्वर्गपादपसन्निभाः ॥ २० ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यह वर माँगा, तब भरद्वाज ने कहा "तथास्तु"—ऐसा ही होगा। तदनुसार प्रयाग और अयोध्या के बीच लगे हुए वृक्ष स्वर्ग में लगे हुए वृक्षों के समान हो गये ॥ २० ॥

निष्फलाः फलिनश्चासन्विपुष्पाः पुष्पशालिनः ।
शुष्काः समग्रपत्रास्ते नगाश्चैव मधुस्रवाः ।
सर्वतो योजना त्रीणि गच्छतामभवंस्तदा ॥ २१ ॥

जो वृक्ष पहिले कभी फलते और फूलते न थे, वे भी फलने और फूलने लगे। जो सूख गये थे, उनमें हरे हरे पत्ते निकल आये। वृक्षों से मधु टपकने लगा। प्रयाग से लेकर अयोध्या तक के मार्ग के दोनों ओर बारह बारह कोस के समस्त वृक्ष इस प्रकार के हो गये ॥ २१ ॥

ततः प्रहृष्टाः प्लवगर्षभास्ते
बहूनि दिव्यानि फलानि चैव ।
कामादुपाश्नन्ति सहस्रशस्ते
मुदान्विताः [1]स्वर्गजितो यथैव ॥ २२ ॥

इति सप्तविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

---

१ स्वर्गजितो—स्वर्गिणइव । (गो०)

हजारों वानरश्रेष्ठ, अत्यन्त प्रसन्न होते हुए बहुत से फलों को भर पेट खा खा कर, इस प्रकार हर्षित हो घूमने लगे जिस प्रकार स्वर्गीयजन (स्वर्ग में रहने वाले) हर्षित हो घूमा करते हैं ॥ २२ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौसत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—※—

अयोध्यां तु समालोक्य चिन्तयामास राघवः।
चिन्तयित्वा हनूमन्तमुवाच प्लवगोत्तमम् ॥ १ ॥

अब श्रीअयोध्या जाने की चिन्ता करते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने (मन ही मन) विचार कर, कपिश्रेष्ठ हनुमान जी से कहा ॥१॥

जानीहि कच्चित्कुशली जनो नृपतिमन्दिरे।
शृङ्गिवेरपुरं प्राप्य गुहं गहनगोचरम् ॥ २ ॥

तुम शीघ्र श्रीअयोध्या में जाकर देख आओ कि, राजमन्दिर में सब कुशलपूर्वक तो हैं। जाते हुए जब तुम शृङ्गबेरपुर में पहुँचो, तब वनवासी गुह से, ॥ २ ॥

निषादाधिपतिं ब्रूहि कुशलं वचनान्मम।
श्रुत्वा तु मां कुशलिनमरोगं विगतज्वरम् ॥ ३ ॥

जो निषादों का राजा है, मेरी ओर से, कुशलसंवाद कहना। जब वह मेरा कुशलसंवाद सुनेगा और जानेगा कि, मैं आरोग्य हूँ और मेरी चिन्ता दूर हो गयी है ॥ ३ ॥

भविष्यति गुहः प्रीतः स [1]ममात्मसमः सखा ।
अयोध्यायाश्च ते मार्गं [2]प्रवृत्तिं भरतस्य च ॥ ४ ॥
निवेदयिष्यति प्रीतो निषादाधिपतिर्गुहः ।
भरतस्तु त्वया वाच्यः कुशलं वचनान्मम ॥ ५ ॥

तब गुह प्रसन्न होगा। क्योंकि वह मेरा मित्र है और हीनजाति का होने पर भी मैं उसे अपने समान ही समझता हूँ। निषादाधिपति गुह तुमको श्रीअयोध्या का मार्ग और भरत का समस्त वृत्तान्त हर्षित मन से बतला देगा। मेरी ओर से तुम भरत जी से मेरे कुशल समाचार कहना ॥ ४ ॥ ५ ॥

[3]सिद्धार्थं शंस मां तस्मै सभार्यं सहलक्ष्मणम् ।
हरणं चापि वैदेह्या रावणेन बलीयसा ॥ ६ ॥
सुग्रीवेण च संसर्गं वालिनश्च वधं रणे ।
मैथिल्यन्वेषणं चैव यथा चाधिगता त्वया ॥ ७ ॥
लङ्घयित्वा महातोयमापगापतिमव्ययम् ।
उपायानं समुद्रस्य सागरस्य च दर्शनम् ॥ ८ ॥

और कहना कि, मैं पिता की आज्ञा का पालन कर सीता और लक्ष्मण सहित आता हूँ। सीता का बलवान रावण द्वारा हरा जाना, सुग्रीव के साथ मैत्री का होना, युद्ध में मेरे हाथ से वालि का मारा जाना, सीता का खोजा जाना और तुम्हारे द्वारा सीता का पता लगना, अपार समुद्र लाँघ कर तुम्हारा उसके पार जाना,

---

१ आत्मसमः—हीनजातिमनवेक्ष्य प्रेमातिशयेन गुहमिक्ष्वाकुकुलीनममन्यत। (गो०) २ प्रवृत्ति—वृत्तान्तं। (गो०) ३ सिद्धार्थं—निर्व्यूढपितृवचनपरिपालनरूपप्रयोजनं। (गो०)

लङ्का में तुम्हारा सीता का पता पाना, समुद्र के तीर वानरों का पहुँचना, समुद्र का दर्शन ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

यथा च कारितः सेतू रावणश्च यथा हतः ।
वरदानं महेन्द्रेण ब्रह्मणा वरुणेन च ॥ ९ ॥

समुद्र पर सेतु का बाँधा जाना, मेरे हाथ से रावण का वध, इन्द्र ब्रह्मा और वरुण का वरदान ॥ ९ ॥

महादेवप्रसादाच्च पित्रा मम समागमम् ।
उपयान्तं च मां सौम्य[1] भरतस्य निवेदय ॥ १० ॥

सह राक्षसराजेन हरीणां प्रवरेण च ।
एतच्छ्रुत्वा यमाकारं[2] भजते भरतस्तदा ॥ ११ ॥

महादेव जी के अनुग्रह से महाराज दशरथ के आत्मा के साथ मेरी भेंट और फिर कपिराज सुग्रीव और राक्षसराज विभीषण सहित मेरा (लौट कर) श्रीअयोध्या के समीप आना आदि समस्त वृत्तान्त धीरे धीरे तुम भरत जी से कहना । इन सब बातों को सुन भरत के चेहरे का रंग कैसा होता है अर्थात् उनके मुख की आकृति से (हर्ष या शोक) क्या प्रकट होता है ॥ १० ॥ ११ ॥

स च ते वेदितव्यः स्यात्सर्वं यच्चापि मां प्रति ।
जित्वा शत्रुगणान्रामः प्राप्य चानुत्तमं यशः ॥ १२ ॥

उपयाति समृद्धार्थः सह मित्रैर्महाबलैः ।
ज्ञेयाश्च सर्वे वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च ॥ १३ ॥

---

१ सौम्येत्यनेन मन्दं मन्दं कथय । अन्यथा हठान्मदागमनश्रवणे हर्षोऽस्य उन्मत्तको भवेदिति भावः । (गो०) २ आकारं—मुखप्रसादादिकं । (गो०)

अथवा उनकी मेरे प्रति कैसी भावना है—ये सब बातें तुम जान लेना। भरत से यह भी कह देना कि, श्रीरामचन्द्र समस्त शत्रुओं को जीत कर सर्वोत्तम यश पा और पिता की आज्ञा का पालन कर, पूर्णमनोरथ हो महाबलवान् मित्रों सहित अयोध्या के निकट आ पहुँचे हैं। मेरे विषय की जो जो बातें हों उन सब को जान लेना और भरत की चेष्टाओं पर विशेष ध्यान देना ॥ १२ ॥ १३ ॥

तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषणेन च ।
सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसङ्कुलम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार मेरे आने का समाचार सुन, भरत के मुख की रंगत और निगाह कैसी हुई और उन्होंने क्या कहा—इन बातों की यथार्थ जानकारी प्राप्त करना। क्योंकि इष्ट पदार्थों से परिपूर्ण और हाथी, घोड़ों और रथों से भरा पूरा ॥ १४ ॥

पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः ।
सङ्गत्या भरतः श्रीमान्राज्यार्थी चेत्स्वयं भवेत् ॥१५॥

प्रशास्तु वसुधां कृत्स्नामखिलां रघुनन्दनः ।
तस्य बुद्धिं च विज्ञाय व्यवसायं च वानर ॥ १६ ॥

यावन्न दूरं याताः स्म क्षिप्रमागन्तुमर्हसि ।
इति प्रतिसमादिष्टो हनुमान्मारुतात्मजः ॥ १७ ॥

बापदादों का राज्य पाकर किसका मन नहीं बदल जाता? बहुत दिनों तक राज्य करने से यदि श्रीमान् भरत जी अब स्वयं ही राज्य करने के अभिलाषी हों; तो वे ही समस्त पृथिवी का पालन करें। हे हनुमन्! जब तक मैं यहाँ से बहुत दूर (श्रीअयोध्या की ओर) पहुँचू ही पहुँचू, उसके पूर्व ही भरत के मानसिक विचारों का भेद

लेकर (और यदि इनके विचार मेरे विरुद्ध हों तो,) तुम तुरन्त लौट आना। पवनन्दन हनुमान जी को जब इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने आज्ञा दी॥ १५॥ १६॥ १७॥

मानुषं धारयन्रूपमयोध्यां त्वरितो ययौ।
अथोत्पपात वेगेन हनुमान्मारुतात्मजः॥ १८॥

तब वे मनुष्य का रूप धर कर तुरन्त श्रीअयोध्या की ओर रवाना होने को तैयार हो गये। पवननन्दन हनुमान जी उछल कर आकाश में पहुँचे॥ १८॥

गरुत्मानिव वेगेन जिघृक्षन्भुजगोत्तमम्।
लङ्घयित्वा पितृपथं विहगेन्द्रालयं शुभम्॥ १९॥

और जैसे गरुड़ बड़े वेग से किसी महासर्प के ऊपर झपटते हैं, वैसे ही वे बड़े वेग से चले। वे वायुमार्ग को नाँघ कर बड़े पक्षियों के उड़ने के मार्ग से (उड़ते हुए चले जाते थे)॥ १९॥

गङ्गायमुनयोर्मध्यं सन्निपातमतीत्य च।
शृङ्गवेरपुरं प्राप्य गुहमासाद्य वीर्यवान्॥ २०॥

गङ्गा यमुना के सङ्गम को नाँघ बलवान हनुमान शृङ्गवेरपुर में गुह के पास जा पहुँचे॥ २०॥

स वाचा शुभया हृष्टो हनुमानिदमब्रवीत्।
सखा तु तव काकुत्स्थो रामः सत्यपराक्रमः॥ २१॥

सहसीतः ससौमित्रिः स त्वां कुशलमब्रवीत्।
पञ्चमीमद्य रजनीमुषित्वा वचनान्मुनेः॥ २२॥

भरद्वाजाभ्यनुज्ञातं द्रक्ष्यस्यद्यैव राघवम् ।
एवमुक्त्वा महातेजाः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ॥ २३ ॥
उत्पपात महावेगो वेगवानविचारयन्[1] ।
सोपश्यद्रामतीर्थं च नदीं वालुकिनीं तथा ॥ २४ ॥

वहाँ उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक गुह से यह शुभ वचन कहे—हे गुह! तुम्हारे सत्यपराक्रमी मित्र श्रीरामचन्द्र जी ने अपना तथा सीता और लक्ष्मण का कुशलसंवाद तुमसे कहलाया है। आज पञ्चमी की रात को, वे भरद्वाज जी के कहने से उन्हींके आश्रम में रह कर वितावेंगे। फिर उनकी आज्ञा से वे कल वहाँ से रवाना होंगे और यहीं उनसे तुम्हारी भेंट होगी। यह कह महातेजस्वी एवं वेगवान् हनुमान जी रोये फुला और मार्ग चलने की थकावट को कुछ भी न समझ अथवा रास्ते के नदी, वन और पहाड़ों की मनोरम शोभा की ओर ध्यान न दे आगे बढ़ते गये। उन्होंने मार्ग में परशुरामतीर्थ, (अर्थात् परशुरामघाट) और वालुकिनी नदी को देखा ॥२१॥२२॥२३॥२४॥

गोमतीं तां च सोऽपश्यद्भीमं सालवनं तथा ।
प्रजाश्च बहुसाहस्राः स्फीताञ्जनपदानपि ॥ २५ ॥
स गत्वा दूरमध्वानं त्वरितः कपिकुञ्जरः ।
आससाद द्रुमान्फुल्लान्नन्दिग्रामसमीपगान् ॥ २६ ॥

गोमती नदी तथा भयानक सालवन, हज़ारों लोगों से भरी पूरी वस्तियों और बड़े बड़े समृद्धशाली नगरों को देखते हुए बहुत दूर चल कर, कपिश्रेष्ठ हनुमान जी बड़ी तेज़ी से नन्दिग्राम के निकट विविध प्रकार के पुष्पित वृक्षों से भरे पूरे एक उपवन में पहुँचे ॥ २५ ॥ २६ ॥

---

१ अविचारयन्—अध्वश्रममगणयन्। (शि०)

स्त्रीभिः सपुत्रैर्वृद्धैश्च रममाणैरलङ्कृतान् ।
सुराधिपस्योपवने यथा चैत्ररथे द्रुमान् ॥ २७ ॥

उन्होंने वहाँ जा कर देखा कि, वहाँ के बूढ़े बड़े लोग और अलङ्कृता स्त्रियाँ, अपने पुत्रों और पौत्रों के साथ आनन्द में मग्न हो, वैसे ही शोभायमान जान पड़ते हैं; जैसे चैत्ररथवन अथवा नन्दनवन में लगे हुए वृक्ष शोभायमान होते हैं ॥ २७ ॥

क्रोशमात्रे त्वयोध्यायाश्चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ।
ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर अयोध्या से एक कोस के फासले पर (नन्दिग्राम में) चीर और काले मृगचर्म को पहिने हुए, शरीर से कृश, उदास मन किये आश्रमवासी भरत को हनुमान जी ने देखा ॥ २८ ॥

जटिलं मलदिग्धाङ्गंभ्रातृव्यसनकर्शितम् ।
फलमूलाशिनं [1]दान्तं तापसं धर्मचारिणम् ॥ २९ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, भरत जी के सिर पर जटाजूट है, सारे शरीर में मैल चिपटा हुआ है और श्रीरामचन्द्र के वियोगजन्य दुःख से वे दुःखी हो रहे हैं। वे फल मूल खाते हैं, इन्द्रियों को अपने वश में कर तप में रत रह कर, धर्माचरण में संलग्न है ॥२९॥

समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम् ।
[2]नियतं [3]भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम् ॥ ३० ॥

उनके सिर के ऊपर वालों की बड़ी बड़ी जटाएँ हो गयी हैं। उन जटाओं के भार को वे अपने सिर पर रखे हुए हैं। वे वल्कल-

---

१ दान्तं--बहिरिन्द्रियनिग्रहशालिनं। (गो०) २ नियतं—नियतवाचं। (गो०) ३ भावितात्मानं—ध्यातात्मानमिति मनोनियमोक्तिः। (गो०)

वस्त्र और काले हिरन की चाम के वस्त्र पहिने हुए हैं। वे अपनी वाणी तथा अपने मन को अपने वश में किये हुए हैं, और ब्रह्मर्षि के समान तेजस्वी हैं॥ ३०॥

पादुके ते पुरस्कृत्य शासन्तं वै वसुन्धराम्।
चातुर्वर्ण्यस्य लोकस्य त्रातारं सर्वतो भयात्॥ ३१॥

श्रीरामचन्द्र जी की खड़ाउओं को अपने आगे रख, वे पृथिवी का शासन कर रहे हैं और चारों वर्णमयी प्रजा की, समस्त भयों से रक्षा कर रहे हैं॥ ३१॥

उपस्थितममात्यैश्च शुचिभिश्च पुरोहितैः।
बलमुख्यैश्च युक्तैश्च काषायाम्बरधारिभिः॥ ३२॥

उनके समीप काषायवस्त्रधारी एवं ईमान्दार मंत्री, सेनाध्यक्ष और पुरोहित बैठे हुए हैं॥ ३२॥

न हि ते राजपुत्रं तं चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।
परि भोक्तुं व्यवस्यन्ति पौरा[1] वै धर्मवत्सलम्॥ ३३॥

जब धर्मवत्सल भरत जी ने काषायवस्त्र और काले मृग का चर्म धारण कर रखा था, तब उनके पार्श्ववर्ती जनों ने भी (मुनि वेषधारी राजा की सेवा में रह कर) अन्य प्रकार के वस्त्र पहिन कर उनके पास रहना उचित नहीं समझा। अतः वे भी काषायवस्त्र पहिने हुए थे॥ ३३॥

तं धर्ममिव धर्मज्ञं देहवन्तमिवापरम्।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं हनुमान्मारुतात्मजः॥ ३४॥

---

1 पौराः—परि परितो वर्तमाना अपि पौराः। (गो०)

धर्म की मूर्तिमान दूसरी मूर्ति, धर्म के जानने वाले भरत जी से पवननन्दन हनुमान जी ने हाथ जोड़ कर कहा ॥ ३४ ॥

वसन्तं दण्डकारण्ये यं त्वं चीरजटाधरम् ।
अनुशोचसि काकुत्स्थं स त्वां कुशलमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

हे देव! तुम रात दिन जिन दण्डकारण्यवासी और चीर जटाधारी की चिन्ता में डूबे रहते हो, उन श्रीरामचन्द्र जी ने तुम्हारे पास अपना कुशलसंवाद भेजा है ॥ ३५ ॥

प्रियमाख्यामि ते देव शोकं त्यज सुदारुणम् ।
अस्मिन्मुहूर्ते भ्रात्रा त्वं रामेण सह सङ्गतः ॥ ३६ ॥

हे देव! मैं तुमको यह प्रियसंवाद सुनाने को आया हूँ—अब तुम इस अत्यन्त दारुण शोक को त्याग दो। थोड़ी ही देर में तुमसे तुम्हारे भाई की भेंट हो जायगी ॥ ३६ ॥

निहत्य रावणं रामः प्रतिलभ्य च मैथिलीम् ।
उपयाति समृद्धार्थः सह मित्रैर्महाबलैः ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी रावण को मार, सीता को प्राप्त कर, वनवास की अवधि पूरी कर, महाबलवान मित्रों को साथ लिये हुए आ रहे हैं ॥ ३७ ॥

लक्ष्मणश्च महातेजा वैदेही च यशस्विनी ।
सीता [1]समग्रा रामेण महेन्द्रेण यथा शची ॥ ३८ ॥

उनके साथ महातेजस्वी लक्ष्मण और यशस्विनी जानकी जी भी हैं। इन्द्राणी शची सहित इन्द्र की तरह श्रीरामचन्द्र जी परिपूर्ण मनोरथा सीता को साथ लिये हुए आकर, तुमसे शीघ्र मिलने ही वाले हैं ॥३८॥

---

१ समग्रा—सम्पूर्ण मनोरथा। (गो०)

एवमुक्तो हनुमता भरतो भ्रातृवत्सलः ।
पपात सहसा हृष्टो हर्षान्मोहं जगाम ह ॥ ३९ ॥

हनुमान जी के मुख से श्रीरामचन्द्र के आने की बात निकलते ही भ्रातृवत्सल भरत जी एक साथ आनन्द के आवेश में भर, मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ततो मुहूर्तादुत्थाय प्रत्याश्वस्य च राघवः ।
हनुमन्तमुवाचेदं भरतः प्रियवादिनम् ॥ ४० ॥

फिर कुछ देर बाद सावधान हो भरत जी उठ बैठे और ऊँची स्वाँस लेते हुए, प्रियवादी हनुमान जी से यह बोले ॥ ४० ॥

अशोकजैः प्रीतिमयैः कपिमालिङ्ग्य सम्भ्रमात् ।
सिषेच भरतः श्रीमान्विपुलैरास्रविन्दुभिः ॥ ४१ ॥

प्रीति में भर आदरपूर्वक श्रीमान् भरत जी ने हनुमान जी को अपने गले लगा आनन्द से उत्पन्न बड़े बड़े आनन्दाश्रुओं से उनके शरीर को तर कर दिया । (तदनन्तर बोले) ॥ ४१ ॥

देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः ।
प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम् ॥४२॥

गवां शतसहस्रं च ग्रामाणां च शतं परम् ।
सकुण्डलाः शुभाचारा भार्याः कन्याश्च षोडश ॥४३॥

हेमवर्णाः सुनासोरूः शशिसौम्याननाः स्त्रियः ।
सर्वाभरणसम्पन्नाः सम्पन्नाः कुलजातिभिः ॥ ४४ ॥

---

१ विपुलैः—गुरुभिः । (गो०)

तुम चाहे मनुष्य हो चाहे देवता । तुमने बड़ी कृपा की जो यहाँ आये । हे सौम्य ! इस हर्षसमाचार को सुनाने के लिये पुरस्कार में मैं तुमको १ लाख गौएं और १०० गाँव और स्त्रियाँ बनाने के लिये १६ क्वाँरी युवतियाँ देता हूँ । ये युवतियाँ कुण्डलों से भूषित, सुन्दर नासिकाएँ वाली, चन्द्रमा जैसे मुख वाली, अच्छे आचरण वाली, समस्त आभूषणों से सजी हुई और अच्छे कुल में उत्पन्न हुई हैं । अर्थात् कुलीन घरों की हैं और उनके शरीर का रंग सुवर्ण जैसा है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

निशम्य रामागमनं नृपात्मजः
कपिप्रवीरस्य तदद्भुतोपमम् ।
प्रहर्षितो रामदिदृक्षयाभवत्
पुनश्च हर्षादिदमब्रवीद्वचः ॥ ४५ ॥

इति अष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी के मुख से श्रीरामचन्द्र जी के आने का अद्भुत समाचार पा, राजकुमार भरत जी श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करने की इच्छा से अत्यन्त हर्षित हुए और हर्षित अन्तःकरण से पुनः यह बोले ॥ ४५ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौअट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनत्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः

—※—

बहूनि नाम वर्षाणि गतस्य सुमहद्वनम् ।
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम् ॥ १ ॥

महाविकट वन में गये हुए मेरे स्वामी को बहुत वर्ष बीत गये; किन्तु आज मुझे उनका सुखदायी समाचार सुनने को मिला है ॥ १ ॥

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे ।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥ २ ॥

संसार में यह एक कहावत प्रसिद्ध है कि, यदि पुरुष जीता रहे, तो सौ वर्ष के पीछे भी उसको आनन्द प्राप्त होता है ॥ २ ॥

राघवस्य हरीणां च कथमासीत्समागमः ।
कस्मिन्देशे किमाश्रित्य तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ॥ ३ ॥

भला यह तो बतलाओ श्रीरामचन्द्र जी की वानरों के साथ मित्रता कैसे हुई? उनके साथ कहाँ और किस प्रयोजन के लिये मैत्री हुई? यह सब वृत्तान्त ठीक ठीक तुम मुझसे कहो ॥ ३ ॥

स पृष्टो राजपुत्रेण [1]बृस्यां समुपवेशितः ।
आचचक्षे ततः सर्वं रामस्य चरितं वने ॥ ४ ॥

जब तपस्वियों के बैठने योग्य आसन पर (चटाई पर) बिठा कर भरत जी ने हनुमान जी से यह पूँछा; तब उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी के उन समस्त चरित्रों को कहा, जो वन में उन्होंने किये थे ॥४॥

यथा प्रव्राजितो रामो मातुर्दत्तो वरस्तव ।
यथा च पुत्रशोकेन राजा दशरथो मृतः ॥ ५ ॥

हनुमान जी बोले—हे प्रभो! (यह तो तुमको मालूम ही है कि) तुम्हारी माता ने किस प्रकार वर माँग कर, श्रीरामचन्द्र को वन में भेजा, तदनन्तर किस प्रकार पुत्रशोक से महाराज दशरथ मरे ॥ ५ ॥

---

१ बृस्यां—तपस्विसमुचितासने । "व्रतिनामासनं बृसी," इत्यमरः । (गो०)

यथा दूतैस्त्वमानीतस्तूर्णं राजगृहात्प्रभो ।
त्वयाऽयोध्यां प्रविष्टेन यथा राज्यं न चेप्सितम् ॥ ६ ॥

फिर किस तरह तुमको दूत ननिहाल से शीघ्रतापूर्वक श्रीअयोध्या में लिवा लाये। फिर किस प्रकार तुमने श्रीअयोध्या में आकर राज्य करना न चाहा ॥ ६ ॥

चित्रकूटं गिरिं गत्वा राज्येनामित्रकर्शन ।
निमन्त्रितस्त्वया भ्राता धर्ममाचरता सताम् ॥ ७ ॥
स्थितेन राज्ञो वचने यथा राज्यं विसर्जितम् ।
आर्यस्य पादुके गृह्य यथाऽसि पुनरागतः ॥ ८ ॥

परम्परागत नियमानुसार राज्य सौंपने के लिये तुम भाई के पास चित्रकूट गये, परन्तु पिता के वचन पर अटल रहने के कारण श्रीरामचन्द्र जी ने राज्य लेना स्वीकार न किया और जिस प्रकार तुम अपने बड़े भाई की खड़ाऊँ लेकर फिर अयोध्या में लौट आये ॥ ७ ॥ ८ ॥

सर्वमेतन्महाबाहो यथावद्विदितं तव ।
त्वयि प्रतिप्रयाते तु यद्वृत्तं तन्निबोध मे ॥ ९ ॥

हे महाबाहो! यह सब तो तुमको यथावत् मालूम ही है। तुम्हारे लौट आने के बाद जो जो घटनाएँ हुईं, उनको मैं कहता हूँ, तुम सुनो ॥ ९ ॥

अपयाते त्वयि तदा समुद्भ्रान्तमृगद्विजम् ।
[1]परिद्यूनमिवात्यर्थं तद्वनं समपद्यत ॥ १० ॥

जब तुम श्रीअयोध्या को लौट आये, तब उस वन के समस्त पशुपक्षी विकल से दिखाई देने लगे ॥ १० ॥

---

१ परिद्यूनं—परितप्तं । (गो०)

तद्धस्तिमृदितं घोरं सिंहव्याघ्रमृगायुतम् ।
प्रविवेशाथ विजनं सुमहद्दण्डकावनम् ॥ ११ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी हाथियों से खूँदे हुए और सिंहों व्याघ्रों तथा मृगों से परिपूर्ण उस बियाबान दण्डकवन में घुसे ॥ ११ ॥

तेषां पुरस्ताद्बलवान्गच्छतां गहने वने ।
निनदन्सुमहानादं विराधः प्रत्यदृश्यत ॥ १२ ॥

उस गहन वन में जाते जाते उन्होंने देखा कि, विराध नाम का एक राक्षस बड़े ज़ोर से सिंह की तरह दहाड़ता हुआ सामने चला आता है ॥ १२ ॥

तमुत्क्षिप्य महानादमूर्ध्वबाहुमधोमुखम् ।
निखाते प्रक्षिपन्ति स्म नदन्तमिव कुञ्जरम् ॥ १३ ॥

हाथी की तरह चिंघारते हुए कबन्ध को (दोनों भाइयों ने) पकड़ कर उठा लिया और उसकी दोनों भुजाएँ ऊपर कर तथा मुँह नीचे कर गड्ढे में डाल कर गाड़ दिया ॥ १३ ॥

तत्कृत्वा दुष्करं कर्म भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
सायाह्ने शरभङ्गस्य रम्यमाश्रममीयतुः ॥ १४ ॥

इस दुष्कर काम को कर दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण शाम होते होते शरभङ्ग के रमणीक आश्रम में पहुँचे ॥ १४ ॥

शरभङ्गे दिवं प्राप्ते रामः सत्यपराक्रमः ।
अभिवाद्य मुनीन्सर्वाञ्जनस्थानमुपागमत् ॥ १५ ॥

जब शरभङ्ग जी स्वर्गवासी हो गये, तब सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी वहाँ के रहने वाले समस्त मुनियों को प्रणाम कर, जनस्थान में पहुँचे ॥ १५ ॥

ततः पश्चाच्छूर्पणखा रामपार्श्वमुपागता ।
ततो रामेण सन्दिष्टो लक्ष्मणः सहसोत्थितः ॥ १६ ॥

प्रगृह्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासं महाबलः ।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ १७ ॥

हतानि वसता तत्र राघवेण महात्मना ।
एकेन सह संगम्य रणे रामेण सङ्गताः ॥ १८ ॥

इसके बाद सूपनखा श्रीरामचन्द्र जी के पास आयी। तब श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से महाबली लक्ष्मण ने लपक कर और तलवार निकाल कर, उसके उसके नाक और कान काट डाले। तत्पश्चात् १४,००० भयङ्कर कर्म करने वाले राक्षसों को जनस्थान में रहते समय महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने मार डाला। उस समय चौदह हज़ार राक्षसों ने एकसाथ आक्रमण किया था, किन्तु अकेले श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

अर्धश्चतुर्थभागेन[1] निःशेषा राक्षसाः कृताः ।
महाबला महावीर्यास्तपसो विघ्नकारिणः ॥ १९ ॥

उन सब राक्षसों को लगभग सवा तीन घंटे में निःशेष कर डाला। वे सब राक्षस बड़े बलवान, बड़े पराक्रमी थे और तपस्वियों की तपस्या में विघ्न डाला करते थे ॥ १९ ॥

निहता राघवेणाजौ दण्डकारण्यवासिनः ।
राक्षसाश्च विनिष्पिष्टाः खरश्च निहतो रणे ॥ २० ॥

---

1 अर्धश्चतुर्थभागेन—अर्धश्चतुर्थोयामः । (गो०)

तथा दण्डकवन में रहा करते थे। उन सब को श्रीरामचन्द्र जी ने मार डाला। राक्षसों को मार श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में खर को मारा ॥ २० ॥

ततस्तेनार्दिता बाला रावणं समुपागता ।
रावणानुचरो घोरो मारीचो नाम राक्षसः ॥ २१ ॥

सूपनखा रावण के पास गयी और वहाँ रोयीधोयी। रावण का एक अनुचर था, जिसका नाम मारीच था और वह बड़ा भयङ्कर था ॥ २१ ॥

लोभयामास वैदेहीं भूत्वा रत्नमयो मृगः ।
अथैनमब्रवीद्रामं वैदेही गृह्यतामिति ॥ २२ ॥
अहो मनोहरः कान्त आश्रमो नो भविष्यति ।
ततो रामो धनुष्पाणिर्धावन्तमनुधावति ॥ २३ ॥

उसने रत्नमय मृग का रूप धारण कर सीता को लुभाया। तब जानकी जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, इस हिरन को पकड़ लाइये। वाह! यह कैसी मनोहर कान्ति वाला मृग है। इससे तो हमारे आश्रम की अपूर्व शोभा होगी। तब श्रीरामचन्द्र जी ने उस दौड़ते हुए मृग का पीछा किया ॥ २२ ॥ २३ ॥

स तं जघान धावन्तं शरेणानतपर्वणा ।
अथ सौम्य दशग्रीवो मृगं याते तु राघवे ॥ २४ ।
लक्ष्मणे चापि निष्क्रान्ते प्रविवेशाश्रमं तदा ।
जग्राह तरसा सीतां ग्रहः खे रोहिणीमिव ॥ २५ ॥

उस दौड़ते हुए मृग को श्रीरामचन्द्र जी ने एक बाणविशेष से मार डाला। हे सौम्य! श्रीरामचन्द्र जी के उस मृग के पीछे

जाने पर तथा लक्ष्मण जी के भी आश्रम छोड़ बाहिर चले जाने पर, दशग्रीव रावण आश्रम में घुसा और ज़बरदस्ती सीता को पकड़ कर भागा, मानों आकाश में मङ्गलग्रह रोहिणी को हरता हो ॥ २४ ॥ २५ ॥

त्रातुकामं ततो युद्धे हत्वा गृध्रं जटायुषम् ।
प्रगृह्य सीतां सहसा जगामाशु स रावणः ॥ २६ ॥

जटायु ने सीता की रक्षा करनी चाही; किन्तु रावण उसको मार कर और सीता को पकड़ कर तुरन्त वहाँ से चला गया ॥ २६ ॥

ततस्त्वद्भुतसङ्काशाः स्थिताः पर्वतमूर्धनि ।
सीतां गृहीत्वा गच्छन्तं वानराः पर्वतोपमाः ॥ २७ ॥

ददृशुर्विस्मितास्तत्र रावणं राक्षसाधिपम् ।
प्रविवेश ततो लङ्कां रावणो लोकरावणः ॥ २८ ॥

उस समय पर्वत के समान अद्भुताकार वानर, जो पर्वत के शिखर पर बैठे थे, सीता को ले जाते हुए राक्षसराज रावण को देख, विस्मित हुए और लोकों को रुलाने वाला रावण लङ्का में जा पहुँचा ॥ २७ ॥ २८ ॥

तां सुवर्णपरिक्रान्ते शुभे महति वेश्मनि ।
प्रवेश्य मैथिलीं वाक्यैः सान्त्वयामास रावणः ॥२९॥

सोने की चहार दीवारी से युक्त बड़े लंबे चौड़े रमणीक घर में रख, रावण सीता को समझाने और लुभाने लगा ॥ २९ ॥

तृणवद्भाषितं तस्य तं च नैर्ऋतपुङ्गवम् ।
अचिन्तयन्ती वैदेही अशोकवनिकां गता ॥ ३० ॥

किन्तु सीता जी ने उसके समस्त वचनों की और उस राक्षस-श्रेष्ठ की तिनके के बराबर भी परवाह न की। तदनन्तर रावण ने सीता को अशोकवाटिका में ले जा कर रखा ॥ ३० ॥

न्यवर्तत ततो रामो मृगं हत्वा महावने ।
निवर्तमानः काकुत्स्थोऽदृष्ट्वा गृध्रं प्रविव्यथे ॥ ३१ ॥

उधर दण्डकवन में मृग को मार श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी कुटी की ओर लौटते समय जटायु को देखा और वे उसे देख बड़े दुःखी हुए ॥ ३१ ॥

गृध्रं हतं ततो दग्ध्वा रामः प्रियसखं पितुः ।
मार्गमाणस्तु वैदेहीं राघवः सहलक्ष्मणः ॥ ३२ ॥

अपने पिता के प्यारे मित्र इस मरे हुए गीध को जला कर, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी सीता को ढूँढ़ने लगे ॥ ३२ ॥

गोदावरीमन्यचरद्वनोद्देशांश्च पुष्पितान् ।
आसेदतुर्महारण्ये कबन्धं नाम राक्षसम् ॥ ३३ ॥

गोदावरी नदी के किनारे फूले हुए वनों में ढूढ़ते हुए उस दण्डकवन में उनको कबन्ध नामक राक्षस मिला ॥ ३३ ॥

ततः कबन्धवचनाद्रामः सत्यपराक्रमः ।
ऋश्यमूकं गिरिं गत्वा सुग्रीवेण समागतः ॥ ३४ ॥

कबन्ध के कहने से सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ऋष्यमूक पर्वत पर गये और वहाँ सुग्रीव से मिले ॥ ३४ ॥

तयोः समागमः पूर्वं प्रीत्या हार्दो व्यजायत ।
भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन सुग्रीवो वालिना पुरा ॥३५॥

उन दोनों का समागम होने पर दोनों में बड़ी मैत्री हो गयी। वालि ने सुग्रीव को क्रोध में भर राजधानी से निकाल दिया था ॥ ३५ ॥

इतरेतरसंवादात्प्रगाढः प्रणयस्तयोः ।
रामस्य बाहुवीर्येण स्वराज्यं प्रत्यपादयत् ॥ ३६ ॥

बातचीत में एक दूसरे का वृत्तान्त जानने पर, उन दोनों में गाढ़ी मैत्री हो गयी। तब श्रीरामचन्द्र जी के बाहुबल से सुग्रीव को अपना राज्य मिल गया ॥ ३६ ॥

वालिनं समरे हत्वा महाकायं महाबलम् ।
सुग्रीवः स्थापितो राज्ये सहितः सर्ववानरैः ॥ ३७ ॥

महाकाय महाबली वालि को युद्ध में मार श्रीरामचन्द्र जी ने समस्त वानरों सहित सुग्रीव को राज्यसिंहासन पर बैठाया ॥ ३७ ॥

रामाय प्रतिजानीते राजपुत्र्याश्च मार्गणम् ।
आदिष्टा वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण महात्मना ॥ ३८ ॥

दश कोट्यः प्लवङ्गानां सर्वाः प्रस्थापिता दिशः ।
तेषां नो विप्रकृष्टानां विन्ध्ये पर्वतसत्तमे ॥ ३९ ॥

तब सुग्रीव ने राजनन्दिनी जानकी का पता लगाने की प्रतिज्ञा की और वानरराज सुग्रीव की आज्ञा से दसकरोड़ वानर दसों दिशाओं में भेजे गये। उनमें से हम लोग विन्ध्याचल पर्वत पर ढूँढ़ने के लिये गये ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

भृशं शोकाभितप्तानां महान्कालोऽत्यवर्तत ।
भ्राता तु गृध्रराजस्य सम्पातिर्नाम वीर्यवान् ॥ ४० ॥
समाख्याति स्म वसतिं सीताया रावणालये ।
सोऽहं शोकपरीतानां दुःखं तज्ज्ञातिनां नुदन् ॥४१॥

ढूँढ़ते ढूँढ़ते जब बहुत समय बीत गया और सीता का कुछ भी पता न चला; तब हम सब लोग अत्यन्त दुःखी हुए। तब गृध्रराज जटायु के घोर भाई सम्पाति ने बतलाया कि, सीता रावण के घर में हैं। तब मैंने अपने दुःखी भाइयों का दुख मिटाने के लिये, ॥ ४० ॥ ४१ ॥

आत्मवीर्यसमास्थाय योजनानां शतं प्लुतः ।
तत्राहमेकामद्राक्षमशोकवनिकां गताम् ॥ ४२ ॥

अपने बलवीर्य के सहारे सौ योजन चौड़े समुद्र को लाँघ और लङ्का में पहुँच, अशोकवाटिका में सीता को देखा ॥ ४२ ॥

कौशेयवस्त्रां मलिनां निरानन्दां दृढव्रताम् ।
तया समेत्य विधिवत्पृष्ट्वा सर्वमनिन्दिताम् ॥ ४३ ॥

केवल एक मैली रेशमी साड़ी पहिने हुए शोकपीड़ित पतिव्रत को दृढ़तापूर्वक पालन करती हुई अनिन्दिता सीता के पास मैं गया और सब हाल ठीक ठीक पूँछा ॥ ४३ ॥

अभिज्ञानं च मे दत्तमर्चिष्मान्स महामणिः ।
अभिज्ञानं मणिं लब्ध्वा चरितार्थोऽहमागतः ॥४४॥

और पहिचान के लिये मैंने श्रीरामचन्द्र की दी हुई अंगूठी उनको दी। फिर उनसे चमचमाती चूड़ामणि ले और अपना काम पूरा कर ॥ ४४ ॥

मया च पुनरागम्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
अभिज्ञानं मया दत्तमर्चिष्मान्स महामणिः ॥ ४५ ॥

मैं अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के पास लौट आया और सीता जी की दी हुई निशानी वह चमचमाती चूड़ामणि श्रीरामचन्द्र जी को दी ॥ ४५ ॥

श्रुत्वा तु मैथिलीं हृष्टस्त्वाशशंसे च जीवितम् ।
जीवितान्तमनुप्राप्तः पीत्वाऽमृतमिवातुरः ॥ ४६ ॥

मरण अवस्था को प्राप्त यदि किसी रोगी मनुष्य को अमृत पीने को मिल जाय, तो उस समय उसको जैसे जीने की आशा बँधती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी को सीता का समाचार पा कर, अपने जीवन की आशा बँध गयी ॥ ४६ ॥

उद्योजयिष्यन्नुद्योगं दध्रे कामं वधे मनः ।
जिघांसुरिव लोकान्ते सर्वाँल्लोकान्विभावसुः ॥ ४७ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने लङ्का का नाश करने के लिये ऐसा उद्योग किया; जैसा कि, प्रलयकालीन अग्निदेव प्रलयकाल में सब का नाश करने का उद्योग करते हैं। अथवा उद्योग करने में उद्यत हो श्रीरामचन्द्र जी ने लङ्का का विध्वंस करने की इच्छा से प्रलय समय में सब लोगों का नाश करने वाले अग्नि की तरह रोष किया ॥ ४७ ॥

ततः समुद्रमासाद्य नलं सेतुमकारयन् ।
अतरत्कपिवीराणां वाहिनी तेन सेतुना ॥ ४८ ॥

फिर समुद्र तट पर पहुँच, श्रीरामचन्द्र जी ने नल के हाथ से समुद्र के ऊपर पुल बँधवाया और उस पुल पर हो कर समस्त वानरी सेना समुद्र के पार हुई ॥ ४८ ॥

प्रहस्तमवधीन्नीलः कुम्भकर्णं तु राघवः ।
लक्ष्मणो रावणसुतं स्वयं रामस्तु रावणम् ॥ ४९ ॥

लङ्का में पहुँच नील ने प्रहस्त को, श्रीरामचन्द्र जी ने कुम्भकर्ण को, लक्ष्मण जी ने रावण के पुत्र इन्द्रजीत को तथा स्वयं श्रीरामचन्द्र जी ने रावण का वध किया ॥ ४९ ॥

स शक्रेण समागम्य यमेन वरुणेन च ।
महेश्वरस्वयंभूभ्यां तथा दशरथेन च ॥ ५० ॥

तदनन्तर इन्द्र, यम, वरुण, महादेव, ब्रह्मा तथा महाराज दशरथ आ कर श्रीरामचन्द्र जी से मिले ॥ ५० ॥

तैश्च दत्तवरः श्रीमानृषिभिश्च समागतः ।
सुरर्षिभिश्च काकुत्स्थो वराँल्लेभे परन्तपः ॥ ५१ ॥

इन देवताओं ने श्रीरामचन्द्र जी को वर दिये। फिर ऋषि लोग आ कर श्रीरामचन्द्र जी से मिले। देवर्षियों से भी परन्तप श्रीरामचन्द्र जी को वरदान प्राप्त हुआ ॥ ५१ ॥

स तु दत्तवरः प्रीत्या वानरैश्च समागतः ।
पुष्पकेण विमानेन किष्किन्धामभ्युपागमत् ॥ ५२ ।

इस प्रकार वरदान पा कर और पुष्पक विमान में बैठ वानरों सहित श्रीरामचन्द्र जी किष्किन्धापुरी में आये ॥ ५२ ॥

तं गङ्गां पुनरासाद्य वसन्तं मुनिसन्निधौ ।
अविघ्नं पुष्ययोगेन श्वो रामं द्रष्टुमर्हसि ॥ ५३ ॥

फिर वहाँ से रवाना हो श्रीरामचन्द्र जी गङ्गा के तट पर भरद्वाज मुनि के आश्रम में आ गये। अब कल पुष्य नक्षत्र में आप से और श्रीरामचन्द्र जी से भेंट होगी॥ ५३॥

ततस्तु सत्यं हनुमद्वचो मह-
न्निशम्य हृष्टो भरतः कृताञ्जलिः।
उवाच वाणीं मनसः प्रहर्षिणीं
चिरस्य पूर्णः खलु मे मनोरथः॥ ५४॥

इति एकोनत्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः॥

हनुमान जी के मुख से मधुरवाणी में समस्त सत्य सत्य वृत्तान्त सुन भरत जी हर्षित हो गये और मन से, हर्षित करने वाले यह वचन हाथ जोड़ कर बोले कि, आज बहुत दिनों की मेरी साध पूरी हुई॥ ५४॥

युद्धकाण्ड का एकसौ उनतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतः सत्यविक्रमः।
हृष्टमाज्ञापयामास शत्रुघ्नं परवीरहा॥ १॥

श्रीरामचन्द्र जी के आगमन का यह परमानन्ददायी संवाद सुन, सत्यपराक्रमी भरत ने हर्षित हो, शत्रुघाती शत्रुघ्न को आज्ञा दी॥ १॥

[1]दैवतानि च सर्वाणि चैत्यानि[2] नगरस्य च ।
सुगन्धमाल्यैर्वादित्रैरर्चन्तु शुचयो नराः ॥ २ ॥

नगर के सब कुलदेवताओं के मन्दिरों तथा साधारण देव-मन्दिरों में गन्धमाल्यादि ले, गाजे बाजे के साथ जा कर और पवित्र हो लोग पूजा करें ॥ २ ॥

सूताः स्तुति पुराणज्ञाः सर्वे वैतालिकास्तथा ।
सर्वे वादित्रकुशला गणिकाश्चापि सङ्घशः ॥ ३ ॥

पुराणज्ञ और विरुदावली जानने वाले समस्त सूत तथा समस्त वंदीजन, तथा बाजों के बजाने में कुशल बजंत्री लोग और नाचने गाने वाली वेश्याओं के झुँड के झुँड ॥ ३ ॥

अभिनिर्यान्तु रामस्य द्रष्टुं शशिनिभं मुखम् ।
भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नः परवीरहा ॥ ४ ॥
विष्टीरनेकसाहस्राश्चोदयामास वीर्यवान् ।
समीकुरुत निम्नानि विषमाणि समानि च ॥ ५ ॥
स्थलानि च निरस्यन्तां नन्दिग्रामादितः परम् ।
सिञ्चन्तु पृथिवीं कृत्स्नां हिमशीतेन वारिणा ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चन्द्र समान मुख का दर्शन करने के लिये चलें । भरत के ये वचन सुन, शत्रुघाती शत्रुघ्न ने कई हज़ार कुली कबाड़ियों और कारीगरों को आज्ञा दी कि, नन्दिग्राम से अयोध्या

---

१ दैवतानि—कुलदैवतानि । (रा०) २ चैत्यानि—साधारणदेवतायतनानि । (रा०)

के बीच की सड़क ठीक करें। जहाँ कहीं रास्ता ऊबड़ खाबड़ हो अर्थात् नीचा ऊँचा हो वहाँ उसे मट्टी से भर कर और छील कर बराबर एकसा कर दें। फिर बर्फ के समान शीतल जल से सड़क पर छिड़काव करें ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

ततोऽभ्यवकिरन्त्वन्ये लाजैः पुष्पैश्च सर्वशः ।
समुच्छ्रितपताकास्तु रथ्याः पुरवरोत्तमे ॥ ७ ॥

फिर सड़कों के ऊपर फूल और लाजा बिखेर दें। पुरियों में उत्तम अयोध्यापुरी की सब सड़कों पर झंडियाँ लगा दी जाँय ॥ ७ ॥

शोभयन्तु च वेश्मानि सूर्यस्योदयनं प्रति ।
स्रग्दामभिर्मुक्तपुष्पैः सुगन्धैः [1]पञ्चवर्णकैः ॥ ८ ॥

सूर्य के निकलने के पूर्व ही नगरी के समस्त भवन फूल मालाओं और मोती के गुच्छों तथा सुगन्धित पाँच रंग के पदार्थों के चूर्णों से सजा दिये जाँय ॥ ८ ॥

राजमार्गमसम्बाधं किरन्तु शतशो नराः ।
राजदारास्तथामात्याः सैन्याः सेनागणाङ्गणाः ॥९॥

ब्राह्मणाश्च सराजन्याः श्रेणीमुख्यास्तथा गणाः ।
धृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थो ह्यर्थसाधकः ॥ १० ॥

अशोको मन्त्रपालश्च सुमन्त्रश्चापि निर्ययुः ।
मत्तैर्नागसहस्रैश्च शातकुम्भविभूषितैः ॥ ११ ॥

---

१ पञ्चवर्णकैः—पञ्चविधवर्णद्रव्यचूर्णैः । (गो०)

राजमार्ग पर (जगह जगह) रंगबिरंगे चौक पूरे जाँय और राजमार्ग पर सैकड़ों मनुष्य पंक्तिबद्ध खड़े हों। (ये सब तैयारी हो जाने पर) रानियाँ, अमात्य, सैनिक, सैनिकों की स्त्रियाँ, ब्राह्मण राजमाताएँ, प्रधान वैश्य और नगर के महाजन और धृष्टि, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक, अशोक, मंत्रपाल और सुमंत्र ये आठों मंत्री सोने के गहनों से अलंकृत हज़ारों मदमाते हाथियों को साथ ले निकले ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

अपरे हेमकक्ष्याभिः सगजाभिः करेणुभिः ।
निर्ययुस्तुरगाक्रान्तै रथैश्च सुमहारथाः ॥ १२ ॥

इनके अतिरिक्त अन्य लोग भी सोने के हौदों में हथनियों पर तथा साधारण हाथियों पर बैठ कर चले। बहुत से लोग घोड़ों पर चढ़ कर और बहुत से बड़े बड़े महारथी रथों में बैठ कर चले ॥ १२ ॥

शक्त्युष्टिप्रासहस्तानां सध्वजानां पताकिनाम् ।
तुरगाणां सहस्रैश्च मुख्यैर्मुख्यनरान्वितैः ॥ १३ ॥
पदातीनां सहस्रैश्च वीराः परिवृता ययुः ।
ततो यानान्युपारूढाः सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ १४ ॥
कौसल्यां प्रमुखे कृत्वा सुमित्रां चापि निर्ययुः ।
कैकेय्या सहिताः सर्वा नन्दिग्राममुपागमन् ॥ १५ ॥

बहुत से लोग शक्ति, यष्टि, प्रास, ध्वजा पताकादि ले कर चले। हज़ारों वीर पैदल भी थे। महाराज दशरथ की सब रानियाँ कौशल्या और सुमित्रा को आगे कर कैकेयी सहित सवारियों में बैठ बैठ कर नन्दिग्राम में पहुँची ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

कृत्स्नं च नगरं तत्तु नन्दिग्राममुपागमत् ।
अश्वानां खुरशब्देन रथनेमिस्वनेन च ॥ १६ ॥

शङ्खदुन्दुभिनादेन सञ्चचालेव मेदिनी ।
द्विजाति मुख्यैर्धर्मात्मा श्रेणीमुख्यैः सनैगमैः ॥१७॥

माल्यमोदकहस्तैश्च मन्त्रिभिर्भरतो वृतः ।
शङ्खभेरीनिनादैश्च वन्दिभिश्चाभिवन्दितः ॥ १८ ॥

ये ही क्यों वल्कि श्रीअयोध्यापुरी के समस्त निवासी ही नन्दिग्राम में जमा हो गये । घोड़ों की टापों और रथों के पहियों की घरघराहट से, तथा शङ्खों और दुन्दभियों के बजने से ऐसा होहल्ला मचा कि, जान पड़ा मानों पृथिवी कांप उठी । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति के मुखियों, सेठों, महाजनों, मंत्रियों को साथ ले तथा हाथों में पुष्प मालाएँ और लड्डू (भेंट के लिये) लिये हुए, महात्मा भरत आश्रम (नन्दिग्राम) से आगे चले । साथ में शङ्ख और दुन्दभी बज रही थी और वंदीजन स्तुतिपाठ करते जाते थे ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः ।
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम् ॥ १९ ॥

शुक्ले च वालव्यजने राजार्हे हेमभूषिते ।
उपवासकृशो दीनश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ॥ २० ॥

धर्मकोविद भरत अपने सीस पर श्रीरामचन्द्र जी की पादुकाएँ रखे हुए थे । सफेद पुष्पमालाओं से शोभित सफेद छाता और राजाओं के योग्य सोने की डंडी का सफेद चँवर वे साथ में लिये

हुए थे। उपवास करते करते भरत जी का शरीर कृश हो गया था। वे दीन हो रहे थे तथा गेरुआ वस्त्र और काले हिरन का चर्म पहिने हुए थे ॥ ॥ १९ ॥ २० ॥

भ्रातुरागमनं श्रुत्वा तत्पूर्वं हर्षमागतः ।
प्रत्युद्ययौ ततो रामं महात्मा सचिवैः सह ॥ २१ ॥
समीक्ष्य भरतो वाक्यमुवाच पवनात्मजम् ।
कच्चिन्न खलु कापेयी सेव्यते चलचित्तता ॥ २२ ॥

भाई का आगमन सुन महात्मा भरत बहुत प्रसन्न हुए और मंत्रियों को साथ लिये हुए वे श्रीरामचन्द्र जी की अगवानी को पैदल ही चले। फिर हनुमान जी की ओर देख भरत जी ने उनसे कहा—वानर स्वभाव ही से चञ्चल हुआ करते हैं। तुम कहीं अपनी स्वाभाविक चञ्चलता वश तो श्रीरामचन्द्र के आगमन का संवाद सुनाने मुझे नहीं आये हो ॥ २१ ॥ २२ ॥

न हि पश्यामि काकुत्स्थं राममार्यं परन्तपम् ।
कच्चिन्न खलु दृश्यन्ते वानराः कामरूपिणः ॥ २३ ॥

क्योंकि न तो श्रेष्ठ एवं परन्तप श्रीरामचन्द्र जी ही आते हुए देख पड़ते हैं और न कामरूपी वानर ॥ २३ ॥

अथैवमुक्ते वचने हनुमानिदमब्रवीत् ।
अर्थं विज्ञापयन्नेव भरतं सत्यविक्रमम् ॥ २४ ॥

जब भरत जी ने इस प्रकार कहा; तब हनुमान जी अपने कथन की सत्यता जतलाने के लिये सत्यविक्रमी भरत जी से बोले ॥ २४ ॥

सदाफलान्कुसुमितान्वृक्षान्प्राप्य मधुस्रवान् ।
भरद्वाजप्रसादेन मत्तभ्रमरनादितान् ॥ २५ ॥

भरद्वाजमुनि की कृपा से रास्ते के सब वृक्ष सदा फल देने वाले, मधुर रस बहाने वाले और मस्त भौंरों से गुञ्जायमान हो रहे हैं ॥ २५ ॥

तस्य चैष वरो दत्तो वासवेन परन्तप ।
ससैन्यस्य तथाऽऽतिथ्यं कृतं सर्वगुणान्वितम् ॥२६॥

मुनि भरद्वाज को यह सामर्थ्य इन्द्र के वरदान से प्राप्त हुई है। सब गुण आगर भरद्वाज जी ने सेना सहित श्रीरामचन्द्र जी की पहुनाई की है। (आप चिन्ता न करें) सो कहीं वहीं खाने पीने में विलंब हो गया है। ॥ २६ ॥

निस्वनः श्रूयते भीमः प्रहृष्टानां वनौकसाम् ।
मन्ये वानरसेना सा नदीं तरति गोमतीम् ॥ २७ ॥

सुनिये, हर्षित वानरों का किलकिला शब्द सुनाई देने लगा। मुझे ज्ञान पड़ता है कि, वानरी सेना गोमती नदी को पार कर रही है ॥ २७ ॥

रजोवर्षं समुद्भूतं पश्य वालुकिनीं प्रति ।
मन्ये सालवनं रम्यं लोलयन्ति प्लवङ्गमाः ॥ २८ ॥

वालुकिनी नदी की ओर देखिये कैसी धूल उड़ रही है। इसके देखने से मालूम पड़ता है कि, सालवन में वानर लोग वृक्षों की डालियों को हिला डुला रहे हैं ॥ २८ ॥

तदेतद्दृश्यते दूराद्विमलं चन्द्रसन्निभम् ।
विमानं पुष्पकं दिव्यं मनसा ब्रह्मनिर्मितम् ॥ २९ ॥

वह देखिये आकाश में दूर ही से चन्द्रमा की तरह विमल दिव्य पुष्पक विमान, जिसे ब्रह्मा जी ने अपने मन से बनाया है, देख पड़ता है ॥ २९ ॥

रावणं बान्धवैः सार्धं हत्वा लब्धं महात्मना ।
तरुणादित्यसङ्काशं विमानं रामवाहनम् ॥ ३० ॥

यह मध्यान्हकालीन सूर्य की तरह चमचमा रहा है। इसी पर श्रीरामचन्द्र सवार हैं। बन्धु बान्धव सहित रावण को मार कर श्रीरामचन्द्र जी को यह मिला है ॥ ३० ॥

धनदस्य प्रसादेन दिव्यमेतन्मनोजवत् ।
एतस्मिन्भ्रातरौ वीरौ वैदेह्या सह राघवौ ॥ ३१ ॥
सुग्रीवश्च महातेजा राक्षसश्च विभीषणः ।
ततो हर्षसमुद्भूतो निस्वनो दिवमस्पृशत् ॥ ३२ ॥
स्त्रीबालयुववृद्धानां रामोऽयमिति कीर्तिते ।
रथकुञ्जरवाजिभ्यस्तेऽवतीर्य महीं गताः ॥ ३३ ॥

कुबेर की कृपा से यह दिव्य विमान मन के समान शीघ्रतापूर्वक उड़ने वाला है। इसीमें सीता सहित श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण महातेजस्वी सुग्रीव राक्षसराज विभीषण सवार हैं। हनुमान जी के मुख से श्रीरामचन्द्र जी का नाम सुनते ही स्त्री, बालक, युवा और वृद्ध लोगों का आकाशव्यापी "श्रीरामचन्द्र जी आ गये" का बड़ा भारी शब्द हुआ। तब सब जने हाथी, घोड़े, रथों पर से उतर पृथ्वी पर खड़े हो गये ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

ददृशुस्तं विमानस्थं नराः सोममिवाम्बरे ।
प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः ॥ ३४ ॥

और आकाश में बैठे श्रीरामचन्द्र जी की ओर वैसे ही देखने लगे, जैसे आकाशस्थित चन्द्रमा को लोग देखते हैं। भरत जी विमान की ओर मुख कर ; हाथ जोड़ कर परम हर्षित हुए ॥ ३४ ॥

स्वागतेन यथार्थेन[1] ततो राममपूजयत्[2] ।
मनसा ब्रह्मणा सृष्टे विमाने भरताग्रजः ॥ ३५ ॥

रराज पृथुदीर्घाक्षो वज्रपाणिरिवापरः ।
ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा ॥ ३६ ॥

ठीक चौदहवाँ वर्ष पूरा कर अपनी प्रतिज्ञानुसार लौट आने के लिये भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी की सराहना की। ब्रह्मा जी द्वारा मन से निर्मित पुष्पकविमान में विशाल नेत्र श्रीरामचन्द्र जी ऐसे शोभायमान हो रहे थे ; जैसे विमानस्थ देवराज इन्द्र हों। उस समय भरत ने विमान में बैठे हुए अपने बड़े भाई ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

ववन्दे प्रयतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम् ।
ततो रामाभ्यनुज्ञातं तद्विमानमनुत्तमम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को बड़ी नम्रता से वैसे ही प्रणाम किया, जैसे कोई मेरु पर्वत पर स्थित सूर्य को प्रणाम करता हो। तब श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पा ,वह श्रेष्ठ विमान जो, ३७ ॥

---

१ यथार्थेन—स्वागतेन चतुर्दशे वर्षे पूर्णे अवश्यमागमिष्यामीति प्रतिज्ञानुसारिणा स्वागमनेनेत्यर्थः। (गो०) २ अपूजयत्—अश्लाघयत्। (गो०)

हंसयुक्तं महावेगं निष्पपात महीतले ।
आरोपितो विमानं तद्भरतः सत्यविक्रमः ॥ ३८ ॥

हंसों से युक्त था (अथवा हंस के आकार का बना हुआ था) और बड़ी तेज़ रफ़ार वाला था, पृथिवी पर उतरा। सत्यविक्रमी भरत जी को श्रीरामचन्द्र जी ने विमान पर बैठा लिया ॥ ३८ ॥

राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत् ।
तं समुत्थाप्य काकुत्स्थश्चिरस्याक्षिपथं गतम् ॥३९॥
अङ्के भरतमारोप्य मुदितः परिषस्वजे ।
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परन्तपः ॥ ४० ॥
*अथाभ्यवादयत्प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत् ।
सुग्रीवं कैकयीपुत्रो जाम्बवन्तं तथाऽङ्गदम् ॥ ४१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को देख, भरत जी हर्षित हुए और उन्होंने पुनः प्रणाम किया। बहुत दिनों बाद भरत जी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने उठा कर अपनी गोद में बिठा लिया और परम हर्षित हो उनको हृदय से लगाया। तदनन्तर भरत जी ने अपना नाम उच्चारण करते हुए लक्ष्मण और सीता जी को प्रणाम किया। तदनन्तर कैकेयीपुत्र भरत जी; सुग्रीव, जाम्बवान, अंगद, ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

मैन्दं च द्विविदं नीलमृषभं परिषस्वजे ।
सुषेणं च नलं चैव गवाक्षं गन्धमादनम् ॥ ४२ ॥
शरभं पनसं चैव भरतः परिषस्वजे ।
ते कृत्वा मानुषं रूपं वानराः कामरूपिणः ॥ ४३ ॥

---

* पाठान्तरे—"अभिवाद्य ततःप्रीतो ।"

कुशलं पर्यपृच्छंस्ते प्रहृष्टा भरतं तदा ।
अथाब्रवीद्राजपुत्रः सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ ४४ ॥

परिष्वज्य महातेजा भरतो धर्मिणां वरः ।
त्वमस्माकं चतुर्णां तु भ्राता सुग्रीव पञ्चमः ॥ ४५ ॥

मैन्द, द्विविद, नील, ऋषभ, सुषेण, नल, गवाक्ष, शरभ और [illegible] से मिले भेंटे। उन कामरूपी वानरों ने मनुष्यों का रूप धर और हर्षित हो कर भरत जी से कुशल पूँछी। तब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महातेजस्वी राजकुमार भरत जी ने वानरराज सुग्रीव को गले लगा कर कहा—हे सुग्रीव! हम तो चार भाई थे ही, तुम हमारे पाँचवें भाई हुए ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

सौहृदाज्जायते मित्रमपकारोऽरिलक्षणम् ।
विभीषणं च भरतः सान्त्ववाक्यमथाब्रवीत् ॥ ४६ ॥

क्योंकि सौहार्द्र करना मित्र का और अपकार करना शत्रु का लक्षण (पहिचान) है। फिर भरत जी ने विभीषण को समझाते बुझाते हुए उनसे कहा ॥ ४६ ॥

दिष्ट्या त्वया सहायेन कृतं कर्म सुदुष्करम् ।
शत्रुघ्नश्च तदा राममभिवाद्य सलक्ष्मणम् ॥ ४७ ॥

हे विभीषण! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि, तुम्हारी सहायता से श्रीरामचन्द्र जी ने यह दुष्कर कर्म कर डाला। तदनन्तर शत्रुघ्न ने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को प्रणाम किया ॥ ४७ ॥

सीतायाश्चरणौ पश्चाद्विनयादभ्यवादयत् ।
रामो मातरमासाद्य विषण्णां शोककर्शिताम् ॥४८॥

फिर शत्रुघ्न ने विनययुक्त हो सीता जी के पांव छुए। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी दुःखिनी और शोक से विकल अपनी माता के समीप गये और प्रणाम कर, माता के चरणों में माथा टेका और माता के मन को हर्षित किया। तदनन्तर यशस्विनी सुमित्रा जी तथा कैकेयी को प्रणाम कर ॥ ४८ ॥

जग्राह प्रणतः पादौ मनो मातुः प्रसादयन्।
अभिवाद्य सुमित्रां च कैकेयीं च यशस्विनीम् ॥४९॥
स मातृश्च ततः सर्वाः पुरोहितमुपागतम्।
स्वागतं ते महाबाहो कौसल्यानन्दवर्धन ॥ ५० ॥
इति प्राञ्जलयः सर्वे नागरा राममब्रुवन्।
तान्यञ्जलिसहस्राणि प्रगृहीतानि नागरैः ॥ ५१ ॥
व्याकोशानीव पद्मानि ददर्श भरताग्रजः।
पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम् ॥५२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अन्य समस्त माताओं को प्रणाम कर उनके मन को हर्षित किया और वे वशिष्ठादि पुरोहितों के पास प्रणाम करने गये। समस्त नगरवासी हाथ जोड़ कर श्रीराम जी का स्वागत करते हुए बोले—"हे कौशल्यानन्दवर्धन! हे महाबाहो! आपका आना यहाँ मङ्गलकारी हो।" नगरवासियों की असंख्य अंजलियाँ खिले हुए फूलों के समान श्रीरामचन्द्र जी ने देखीं। जब नगरवासियों के अभिवादन को श्रीरामचन्द्र जी ग्रहण कर चुके; तब भरत जी ने स्वयं अपने हाथों में दोनों खड़ाऊँ लीं ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्।
अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः ॥ ५३ ॥

और उन धर्मज्ञ भरत जी ने उन खड़ाउओं को महाराज श्री-रामचन्द्र जी के दोनों चरणों में पहिना दिया। तदनन्तर भरत जी ने हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से कहा—॥ ५३ ॥

एतत्ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया।
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः ॥ ५४ ॥

हे राजन्! इस राज्य को जो मेरे पास इतने दिनों से धरोहर रखा था, अब आप ग्रहण कर इसे सम्हालें। आज मेरा जन्म सफल हुआ और मेरा मनोरथ भी पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

यस्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्।
अवेक्षतां भवान्कोशं कोष्ठागारं पुरं बलम् ॥ ५५ ॥

क्योंकि आज मैं अयोध्यानाथ को अयोध्या में लौट कर आया हुआ देखता हूँ। अब आप अपने खजाने, धान्यशाला, पुर और सैन्यबल को देखिये ॥ ५५ ॥

भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणं मया।
तथा ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा तं भ्रातृवत्सलम् ॥ ५६ ॥
मुमुचुर्वानरा बाष्पं राक्षसश्च विभीषणः।
ततः प्रहर्षाद्भरतमङ्कमारोप्य राघवः ॥ ५७ ॥

आपके प्रताप से मैंने पहिले से सब दसगुने अधिक बढ़ा दिये हैं। इस प्रकार कहते हुए भ्रातृवत्सल भरत को देख, राक्षसराज विभीषण तथा वानरों की आँखों से आँसू निकल पड़े। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त हर्षित हो भरत जी को अपनी गोदी में बिठा लिया ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

यथौ तेन विमानेन ससैन्यो भरताश्रमम् ।
भरताश्रममासाद्य ससैन्यो राघवस्तदा ॥ ५८ ॥

और अपनी सेना को लिये हुए विमान में बैठ भरत जी के आश्रम की ओर चले और ससैन्य भरताश्रम में पहुँच ॥ ५८ ॥

अवतीर्य विमानाग्रादवतस्थे महीतले ।
अब्रवीच्च तदा रामस्तद्विमानमनुत्तमम् ॥ ५९ ॥

श्रीरामचन्द्र तथा अन्य समस्त लोग विमान से भूमि पर उतर पड़े । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उस श्रेष्ठ पुष्पकविमान के अधिष्ठाता को सम्बोधन कर कहा ॥ ५९ ॥

वह वैश्रवणं देवमनुजानामि गम्यताम् ।
ततो रामाभ्यनुज्ञातं तद्विमानमनुत्तमम् ।
उत्तरां दिशमागम्य जगाम धनदालयम् ॥ ६० ॥

मैं आज्ञा देता हूँ कि, तुम कुबेर के पास चले जाओ और उन्हीं की सवारी में रहो । जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार आज्ञा दी ; तब वह श्रेष्ठ विमान उत्तर दिशा की ओर कुबेर की राजधानी को चला गया ॥ ६० ॥

पुरोहितस्यात्मसमस्य[1] राघवो
बृहस्पतेः शक्र इवामराधिपः ।
निपीड्य पादौ पृथगासने शुभे
सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ ६१ ॥

इति त्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः ॥

---

१ आत्मसमस्य—" स्वानुरूपस्य । " (गो०) (रा)—वसिष्ठस्येत्यर्थ इति तीर्थः ।

जैसे इन्द्र बृहस्पति के चरणों को छूते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी ब्रह्मज्ञानी या अपने अनुरूप या अपने पुरोहित वशिष्ठ जी के चरण ग्रहण कर, उनके निकट बिछे हुए एक उत्तम आसन पर बैठ गये ॥ ६१ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❋—

एकत्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

शिरस्याञ्जलिमाधाय कैकेय्यानन्दवर्धनः ।
बभाषे भरतो ज्येष्ठं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ १ ॥

कैकेयी के आनन्द को बढ़ाने वाले भरत जी हाथ जोड़ कर सत्यपराक्रमी अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ १ ॥

पूजिता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम ।
तद्ददामि पुनस्तुभ्यं यथा त्वमददा मम ॥ २ ॥

हे महाराज! पहिले तुमने मेरी माता को सन्तुष्ट करने के लिये जो राज्य मुझको दिया था, अब वही राज्य मैं फिर तुमको वैसे ही सौंपता हूँ जैसे तुमने मुझे सौंपा था (अर्थात् जैसे बिना किसी शर्त के तुमने मुझे यह राज्य दिया था—वैसे ही मैं बिना किसी शर्त के तुमको देता हूँ; लौटाता नहीं ॥ २ ॥

धुरमेकाकिना न्यस्तामृषभेण बलीयसा ।
किशोरीव गुरुं भारं न वोढुमहमुत्सहे ॥ ३ ॥

जैसे अकेले ढोने में समर्थ बलवान बैल का बोझा, एक घोड़ी नहीं ढो सकती; वैसे ही मैं इस राज्यभार को उठाने में असमर्थ हूँ ॥ ३ ॥

वारिवेगेन महता भिन्नः सेतुरिव क्षरन् ।
दुर्बन्धनमिदं मन्ये राज्यच्छिद्रमसंवृतम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार जल के वेग से टूटे हुए बाँध का बाँधना कठिन है; उसी प्रकार चारों ओर से खुले हुए राज्य के छिद्रों को मूँदना मेरे लिये सम्भव नहीं ॥ ४ ॥

गतिं खर इवाश्वस्य हंसस्येव च वायसः ।
नान्वेतुमुत्सहे राम तव मार्गमरिन्दम ॥ ५ ॥

हे शत्रुदमनकारी राम ! जैसे घोड़े की चाल गधा नहीं चल सकता, अथवा हंस की चाल कौआ नहीं चल सकता, वैसे ही मैं भी तुम्हारी चाल नहीं चल सकता अथवा तुम्हारे गुणों का अनुकरण नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

यथा चारोपितो वृक्षो जातश्चान्तर्निवेशने ।
महांश्च सुदुरारोहो महास्कन्धप्रशाखवान् ॥ ६ ॥
शीर्येत पुष्पितो भूत्वा न फलानि प्रदर्शयन् ।
तस्य नानुभवेदर्थं यस्य हेतोः स रोप्यते ॥ ७ ॥

जैसे किसी ने अपने घर के नज़र बाग़ में फुलवगिया में एक वृक्ष लगाया और वह समय पा कर खूब उगा तथा डालियों और गुद्दों से भर उठा। उसमें पत्ते भी बहुत लगे और वह फूला भी बहुत; परन्तु फल आने के पहिले ही फूल झड़ पड़े और उसमें फल न लगे। अतः जिस काम के लिये वह लगाया गया था वह काम उससे न निकल पाया ॥ ६ ॥ ७ ॥

एषोपमा महाबाहो त्वदर्थं वेत्तुमर्हसि ।
यद्यस्मान्मनुजेन्द्र त्वं भक्तान्भृत्यान्न शाधि हि ॥८॥

हे महाबाहो! हे मनुजेन्द्र! तुम इस उपमा का अर्थ समझ सकते हो। यदि आप अपने भक्तों और भृत्यों का शासन न करोगे तो यह उपमा तुम्हारे ऊपर घटेगी ॥ ८ ॥

जगदद्याभिषिक्तं त्वामनुपश्यतु सर्वतः।
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्याह्ने दीप्ततेजसम् ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! मैं चाहता हूँ कि, मध्याह्न के सूर्य की तरह ... हुए और राजसिंहासन पर अभिषिक्त तुमको, सब संसार देखे ॥ ६ ॥

तूर्यसंघातनिर्घोषैः काञ्चीनूपुरनिस्वनैः।
मधुरैर्गीतशब्दैश्च प्रतिबुध्यस्व राघव ॥ १० ॥

हे राघव! अतः करधनी और बिछुओं की झनकार सुनते हुए तुम सोया करो और मधुर गान एवं नौबत बजने का शब्द सुनते हुए तुम जागा करो। अर्थात् नाच गान देखते सुनते तुम सोवो और नाच गान देखते सुनते जागो ॥ १० ॥

यावदावर्तते चक्रं[1] यावती च वसुन्धरा।
तावत्त्वमिह सर्वस्य स्वामित्वमनुवर्तय ॥ ११ ॥

जब तक ज्योतिश्चक्र घूमता रहे और जब तक यह भूमि स्थिर रहे, तब तक तुम इस समस्त पृथिवी के राजा हो कर सब का ...लन करो ॥ ११ ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा रामः परपुरञ्जयः।
तथेति प्रतिजग्राह निषसादासने शुभे ॥ १२ ॥

---

१ चक्रं—ज्योतिः चक्रमितियावत्। (गो०)

शत्रुपुरविजयकारी श्रीरामचन्द्र जी भरत जी के वचन सुन और तथास्तु कह कर अर्थात् भरत का वचन मान कर, एक सुन्दर आसन पर बैठ गये ॥ १२ ॥

ततः शत्रुघ्नवचनान्निपुणाः [1]श्मश्रुवर्धकाः ।
सुखहस्ताः सुशीघ्राश्च राघवं पर्युपासत ॥ १३ ॥

तब शत्रुघ्न की आज्ञा से फुर्तीले, निपुण और हलके हाथ से हजामत बनाने वाले नाई श्रीरामचन्द्र जी की हजामत बनाने को उनके समीप उपस्थित हुए ॥ १३ ॥

पूर्वं तु भरते स्नाते लक्ष्मणे च महाबले ।
सुग्रीवे वानरेन्द्रे च राक्षसेन्द्रे विभीषणे ॥ १४ ॥

प्रथम भरत जी ने फिर महाबली लक्ष्मण जी ने तदनन्तर वानरराज सुग्रीव और राक्षसराज विभीषण ने स्नान किये ॥ १४ ॥

विशोधितजटः स्नातश्चित्रमाल्यानुलेपनः ।
महार्हवसनो रामस्तस्थौ तत्र श्रिया ज्वलन् ॥ १५ ॥

सब से पीछे श्रीरामचन्द्र जी ने बाल कटवा हजामत बनवा और उबटन लगवा, स्नान किये । स्नानानन्तर रंगबिरंगे पुष्पों की माला पहिनी और मूल्यवान वस्त्र धारण कर, अपने शरीर की कान्ति से वे दमकने लगे ॥ १५ ॥

प्रतिकर्म च रामस्य कारयामास वीर्यवान् ।
लक्ष्मणस्य च लक्ष्मीवानिक्ष्वाकुकुलवर्धनः ॥ १६ ॥

---

१ श्मश्रुवर्धकाः—श्मश्रुकर्तकाः "वर्धनछेदनेथ द्वे आनन्दनसभाजने" इत्यमरः। (गो॰)

बलवान, कान्तिवान्, इक्ष्वाकुकुलवर्द्धन शत्रुघ्न जी ने श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी को हार आदि आभूषण पहिनाये ॥१६॥

[1]प्रतिकर्म च सीतायाः सर्वा दशरथस्त्रियः ।
[2]आत्मनैव तदा चक्रुर्मनस्विन्यो मनोहरम् ॥ १७ ॥

महाराज दशरथ की मनस्विनी स्त्रियों (रानियों) ने अपने हाथ से सीता जी के सब अंगों में सुन्दर सुन्दर गहने पहिनाये तथा मनोहर शृङ्गार किया ॥ १७ ॥

ततो वानरपत्नीनां सर्वासामेव शोभनम् ।
चकार यत्नात्कौसल्या प्रहृष्टा पुत्रलालसा ॥ १८ ॥

फिर हर्षित हो पुत्रवत्सला कौशल्या जी ने समस्त वानर स्त्रियों का शृङ्गार स्वयं किया ॥ १८ ॥

ततः शत्रुघ्नवचनात्सुमन्त्रो नाम सारथिः ।
योजयित्वाऽभिचक्राम रथं सर्वाङ्गशोभनम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर शत्रुघ्न जी की आज्ञा से सुमंत्र नामक सारथी एक सुन्दर रथ सजा कर और जोत कर ले आया ॥ १९ ॥

[नोट—यह सुमंत्र दीवान न थे, बल्कि सुमंत्र नाम का कोई सारथी था। क्योंकि दीवान सुमंत्र का नाम आगे २०वें श्लोक में मंत्रिमण्डल में आया है।]

अर्कमण्डलसङ्काशं दिव्यं दृष्ट्वा रथोत्तमम् ।
आरुरोह महाबाहू रामः सत्यपराक्रमः ॥ २० ॥

---

1 प्रतिकर्म—हाराद्यालंकरणं। (गो०) 2 आत्मनैव—स्वयमेव। (गो०)
3 शोभनम्—प्रतिकर्मेत्यर्थः। (गो०)

सूर्यमण्डल के समान चमचमाते दिव्य और श्रेष्ठ रथ को उपस्थित देख, सत्यपराक्रमी महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी उस पर सवार हुए ॥ २० ॥

सुग्रीवो हनुमांश्चैव महेन्द्रसदृशद्युती ।
स्नातौ दिव्यनिभैर्वस्त्रैर्जग्मतुः शुभकुण्डलौ ॥२१॥

इन्द्र के समान कान्तिमान् सुग्रीव और हनुमान नहा धो कर, अच्छे वस्त्र धारण किये हुए, कुण्डलों से भूषित हो, श्रीराम जी के साथ साथ चले ॥ २१ ॥

वराभरणसम्पन्ना ययुस्ताः शुभकुण्डलाः ।
सुग्रीवपत्न्यः सीता च द्रष्टुं नागरमुत्सुकाः ॥२२॥

समस्त आभूषणों से भूषित सुन्दर कुण्डल पहिने हुए जानकी जी और सुग्रीव की तारा आदि रानियाँ नगर देखने की उत्कण्ठा से उनके पीछे होलीं ॥ २२ ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि राजसी जलूस में भी तत्कालीन प्रथा के अनुसार स्त्रियाँ पुरुषों के पीछे ही चलती थीं। आधुनिक प्रथा के अनुसार उनके आगे नहीं।]

अयोध्यायां तु सचिवा राज्ञो दशरथस्य ये ।
पुरोहितं पुरस्कृत्य मन्त्रयामासुरर्थवत् ॥ २३ ॥

श्रीअयोध्या में महाराज दशरथ के समय के जो सचिव दीवाने थे, राजपुरोहित वशिष्ठ जी की प्रधानता में (एकत्र हो) तत्कालीन आवश्यक कृत्यों के विषय में परामर्श करने लगे ॥ २३ ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है—ये लोग अयोध्या में इन बातों का प्रबन्ध करने को नन्दिग्राम से लौट आये थे।]

अशोको विजयश्चैव सुमन्त्रश्च समागताः ।
मन्त्रयन्रामवृद्ध्यर्थमृद्ध्यर्थं नगरस्य च ॥ २४ ॥

अशोक, विजय, सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक की सामग्री एकत्र करने के विषय में और नगर की सजावट के विषय में सलाह की ॥ २४ ॥

सर्वमेवाभिषेकार्थं जयार्हस्य महात्मनः ।
कर्तुमर्हथ रामस्य यद्यन्मङ्गलपूर्वकम् ॥ २५ ॥

सब ने यही निश्चय किया कि, मङ्गलपूर्वक अभिषेक सुसम्पन्न करने के लिये अभिषेक की सब सामग्री तुरन्त एकत्र की जाय ॥ २५ ॥

इति ते मन्त्रिणः सर्वे सन्दिश्य तु पुरोहितम् ।
नगरान्निर्ययुस्तूर्णं रामदर्शनबुद्धयः ॥ २६ ॥

पुरोहित वशिष्ठ जी और मंत्री, अन्य कर्मचारियों को तदनुसार आज्ञा दे, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करने की लालसा से शीघ्रतापूर्वक नगर से निकले ॥ २६ ॥

हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवानघः ।
प्रययौ रथमास्थाय रामो नगरमुत्तमम् ॥ २७ ॥

उधर पापरहित श्रीरामचन्द्र जी भी इन्द्र के समान श्रेष्ठ घोड़ों से युक्त रथ में बैठ कर, नगर की ओर रवाना हुए ॥ २७ ॥

जग्राह भरतो रश्मीञ्शत्रुघ्नश्छत्रमाददे ।
लक्ष्मणो व्यजनं तस्य मूर्ध्नि संपर्यवीजयत् ॥ २८ ॥

उस समय भरत जी ने घोड़ों की रास अपने हाथ में पकड़ी, शत्रुघ्न ने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर छत्र ताना, और लक्ष्मण जी उनके सिर के ऊपर चँवर डुलाने लगे ॥ २८ ॥

[नोट—इस समय सुमंत्र नाम का सारथी रथ पर नहीं रहा ।]

श्वेतं च बालव्यजनं जग्राह पुरतः स्थितः ।
अपरं चन्द्रसङ्काशं राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥ २९ ॥

एक सफेद चमर लिये लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के सामने एक ओर बैठ कर, चँवर डुला रहे थे और दूसरी ओर दूसरा चन्द्रमा की तरह सफेद चँवर ले, राक्षसेन्द्र विभीषण दूसरा चँवर डुला रहे थे ॥ २६ ॥

ऋषिसङ्घैस्तदाऽऽकाशे देवैश्च समरुद्गणैः ।
स्तूयमानस्य रामस्य शुश्रुवे मधुरध्वनिः ॥ ३० ॥

उस समय आकाशस्थित देवर्षि और देवगण श्रीरामचन्द्र जी की जो स्तुति कर रहे थे, उसकी मधुरध्वनि लोगों को सुन पड़ती थी ॥ ३० ॥

[नोट—उस काल में समस्त सर्वसाधारण जन भी अपने लोक से भिन्न लोकवासियों का शब्द सुन सकते थे । स्पिरचुएलिज़्म में अब भी किसी किसी मीडियम को अन्यलोकवासियों का शब्द सुन पड़ता है ।)

ततः शत्रुञ्जयं नाम कुञ्जरं पर्वतोपमम् ।
आरुरोह महातेजाः सुग्रीवः प्लवगर्षभः ॥ ३१ ॥

वानरराज महातेजस्वी सुग्रीव, पर्वताकार शत्रुञ्जय नामक हाथी पर सवार हो कर (उस जलूस में) चल रहे थे ॥ ३१ ॥

नवनागसहस्राणि ययुरास्थाय वानराः ।
मानुषं विग्रहं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताः ॥ ३२ ॥

मनुष्य का रूप धारण कर और समस्त आभूषणों से भूषित हो, अन्य समस्त वानर जो हज़ार हाथियों पर सवार हो चले जाते थे ॥ ३२ ॥

शङ्खशब्दप्रणादैश्च दुन्दुभीनां च निस्वनैः ।
प्रययौ पुरुषव्याघ्रस्तां पुरीं हर्म्यमालिनीम् ॥ ३३ ॥

अटारियों की पंक्ति से शोभित उस अयोध्यापुरी में महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने जब प्रवेश किया, तब उनके आगे शङ्ख भेरी बज रही थीं ॥ ३३ ॥

ददृशुस्ते समायान्तं राघवं सपुरःसरम् ।
विराजमानं वपुषा रथेनातिरथं तदा ॥ ३४ ॥

इस जलूस को देखने की इच्छा रखने वाले नगरनिवासियों ने अपनी कान्ति से कान्तिमान, रथ पर सवार अतिरथ अर्थात् रथीर श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ ३४ ॥

ते वर्धयित्वा काकुत्स्थं रामेण प्रतिनन्दिताः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं भ्रातृभिः परिवारितम् ॥ ३५ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी की जयजयकार मनायी। जब भाइयों सहित श्रीरामचन्द्र जी का रथ नगर की ओर चला, तब वे भी उसके पीछे पीछे लग लिये ॥ ३५ ॥

अमात्यैर्ब्राह्मणैश्चैव तथा प्रकृतिभिर्वृतः ।
श्रिया विरुरुचे रामो नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ॥ ३६ ॥

अमात्यों, ब्राह्मणों और प्रजाजनों के साथ श्रीरामचन्द्र जी ऐसे शोभायमान हुए, जैसे नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥ ३६ ॥

स पुरोगामिभिस्तूर्यैस्तालस्वस्तिक[1]पाणिभिः ।
प्रव्याहरद्भिर्मुदितैर्मङ्गलानि वृतो ययुः ॥ ३७ ॥

महाराज के आगे आगे नगाड़े, करताल, झाँझ स्वस्तिक आदि बाजे, बाजे बजाने वाले बजाते हुए चल रहे थे । इनके अतिरिक्त हर्षित हो सुन्दर मङ्गलसूचक गान गाते हुए (अर्थात् मङ्गलाचार करते हुए) गवैया भी चल रहे थे अथवा मङ्गलपाठ करने वाले भी चल रहे थे ॥ ३७ ॥

अक्षतं जातरूपं च गावः कन्यास्तथा द्विजाः ।
नरा मोदकहस्ताश्च रामस्य पुरतो ययुः ॥ ३८ ॥

तण्डुल, सुवर्ण, गौ और कन्या को साथ लिये ब्राह्मण और हाथों में लड्डू लिये अन्य लोग भी श्रीरामचन्द्र जी के आगे आगे जा रहे थे ॥ ३८ ॥

[नोट—श्रीरामचन्द्र जी के नगरप्रवेश वाली सवारी का वर्णन कर आदिकवि ने इसके आगे श्रीरामचन्द्र जी द्वारा सुग्रीवादि का परिचय अयोध्या राज्य के सचिवादि को दिलवाया है ।]

सख्यं च रामः सुग्रीवे प्रभावं चानिलात्मजे ।
वानराणां च तत्कर्म राक्षसानां च तद्बलम् ॥ ३९ ॥
विभीषणस्य संयोगमाचचक्षे च मन्त्रिणाम् ।
श्रुत्वा तु विस्मयं जग्मुरयोध्यापुरवासिनः ॥ ४० ॥

(जब मंत्रिवर्ग ने रास्ते में आ श्रीरामचन्द्र जी का अभिनन्दन किया, तब श्रीरामचन्द्र जी अपने साथ आये हुए सुग्रीवादि का

१ स्वस्तिका—वाद्यविशेषः । (गो०)

परिचय देते हुए बोले) श्रीरामचन्द्र जी ने मंत्रियों के सामने सुग्रीव की मैत्री, हनुमान जी का प्रभाव, वानरों के अद्भुत अद्भुत कर्म और राक्षसों का बल तथा विभीषण के समागम का वृत्तान्त वर्णन किया। उस वृत्तान्त को सुन, अयोध्यावासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

(नोट—इससे जान पड़ता है कि, श्रीरामचन्द्र जी मंत्रियों को सम्बोधन करते थे और उनके आसपास खड़े लोग सब बातें सुन रहे थे।)

द्युतिमानेतदाख्याय रामो वानरसंवृतः ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णामयोध्यां प्रविवेश ह ॥ ४१ ॥

कान्तिमान श्रीरामचन्द्र जी ने यह कह कर वानरों सहित हर्षित और सन्तुष्ट जनों से परिपूर्ण अयोध्यापुरी में प्रवेश किया ॥ ४१ ॥

ततो ह्यभ्युच्छ्रयन्पौराः पताकाश्च गृहे गृहे ।
ऐक्ष्वाकाध्युषितं रम्यमाससाद पितुर्गृहम् ॥ ४२ ॥

नगरी के घर पताकाओं से सजे हुए थे। नगर में होते हुए श्रीरामचन्द्र जी अपने पूर्वजों के रमणीक महल के निकट पहुँचे ॥ ४२ ॥

अथाब्रवीद्राजपुत्रो भरतं धर्मिणा वरम् ।
अर्थोपहितया वाचा मधुरं रघुनन्दनः ॥ ४३ ॥

उस समय धर्मात्माओं में श्रेष्ठ राजकुमार भरत जी से श्रीरामचन्द्र ने अर्थयुक्त मधुर वाणी से कुछ बातचीत की ॥ ४३ ॥

पितुर्भवनमासाद्य प्रविश्य च महात्मनः ।
कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीमभिवादयत् ॥ ४४ ॥

फिर पिता के महल के निकट पहुँच और उसमें प्रवेश कर श्रीरामचन्द्र जी ने कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी को प्रणाम किया ॥ ४४ ॥

यच्च मद्भवनं श्रेष्ठं साशोकवनिकं महत् ।
मुक्तावैडूर्यसङ्कीर्णं सुग्रीवाय निवेदय ॥ ४५ ॥

(तदनन्तर भरत जी से कहा कि,) अशोकवाटिका वाले मेरे विशाल एवं सर्वोत्तम भवन में, जिसमें मोती, पन्ने आदि मणियाँ जड़ी हैं, ले जाकर सुग्रीव को ठहराओ ॥ ४५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भरतः सत्यविक्रमः ।
पाणौ गृहीत्वा सुग्रीवं प्रविवेश तमालयम् ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर सत्यपराक्रमी भरत जी, सुग्रीव का हाथ पकड़ कर, उन्हें उस भवन में लिवा ले गये ॥ ४६ ॥

ततस्तैलप्रदीपांश्च पर्यङ्कास्तरणानि च ।
गृहीत्वा विविशुः क्षिप्रं शत्रुघ्नेन प्रचोदिताः ॥ ४७ ॥

फिर शत्रुघ्न जी की आज्ञा से नौकर चाकर तेल के दीपक, पलंग और बिस्तरे लेकर पहुँचे ॥ ४७ ॥

उवाच च महातेजाः सुग्रीवं राघवानुजः ।
अभिषेकाय रामस्य दूतानाज्ञापय प्रभो ॥ ४८ ॥

महातेजस्वी भरत जी ने सुग्रीव से कहा—हे प्रभो ! श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक के लिये समुद्रों के जल लाने के लिये अपने वानरों को आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥

सौवर्णान्वानरेन्द्राणां चतुर्णां चतुरो घटान् ।
ददौ क्षिप्रं स सुग्रीवः सर्वरत्नविभूषितान् ॥ ४९ ॥

तब सुग्रीव ने तुरन्त चार श्रेष्ठ वानरों को बुला कर, चार सोने के कलसे दिये, जिनमें समस्त प्रकार के रत्न जड़े हुए थे ॥ ४९ ॥

यथा प्रत्यूषसमये चतुर्णां सागराम्भसाम् ।
पूर्णैर्घटैः प्रतीक्षध्वं तथा कुरुत वानराः ॥ ५० ॥

और कहा कि, हे वानरो ! ऐसा प्रयत्न करो, जिससे कल प्रातःकाल होते ही चारों समुद्रों के जल से चारों भरे हुए कलसे लेकर तुम लोग यहाँ आ जाओ ॥ ५० ॥

एवमुक्ता महात्मानो वानरा वारणोपमाः ।
उत्पेतुर्गगनं शीघ्रं गरुडानिलशीघ्रगाः ॥ ५१ ॥

सुग्रीव के यह कहते ही हाथियों के समान विशाल शरीरधारी एवं गरुड़ अथवा पवन के समान शीघ्रगामी चार वानर कलसे ले लेकर आकाश मार्ग से उड़े ॥ ५१ ॥

जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानराः ।
ऋषभश्चैव कलशाञ्जलपूर्णानथानयन् ॥ ५२ ॥

जाम्बवान, सुषेण, वेगदर्शी और ऋषभ वानर गये और झटपट जल से भरे कलसे ले आये ॥ ५२ ॥

नदीशतानां पञ्चानां जलं कुम्भेषु* चाहरन् ।
पूर्वात्समुद्रात्कलशं जलपूर्णमथानयत् ॥ ५३ ॥
सुषेणः सत्त्वसम्पन्नः सर्वरत्नविभूषितम् ।
ऋषभो दक्षिणात्तूर्णं समुद्राज्जलमाहरत् ॥ ५४ ॥
रक्तचन्दनकर्पूरैः† संवृतं काञ्चनं घटम् ।
गवयः पश्चिमात्तोयमाजहार महार्णवात् ॥ ५५ ॥

---

* पाठान्तरे—" कुम्भैश्चाहरन् " । † पाठान्तरे—" चन्दनशाखाभिः । "

रत्नकुम्भेन महता शीतं मारुतविक्रमः।
उत्तराच्च जलं शीघ्रं गरुडानिलविक्रमः ॥ ५६ ॥

आजहार स धर्मात्मा नलः सर्वगुणान्वितः।
ततस्तैर्वानरश्रेष्ठैरानीतं प्रेक्ष्य तज्जलम् ॥ ५७ ॥

ये लोग पांच सौ नदियों का जल कलसों में भर भर कर ले आये। सर्वरत्नविभूषित कलस में पूर्वसमुद्र का जल भर कर बलवान सुषेण लाये। सोने के कलसे में लाल चन्दन और कपूर मिश्रित दक्षिण-समुद्र का जल ऋषभ जाकर तुरन्त ले आये। पश्चिम दिशा के महासागर का शीतल जल रत्नजटित एक बड़े कलसे में भर पवनतुल्य पराक्रमी गवय ने लाकर रख दिया। गरुड़ अथवा पवन के समान विक्रमसम्पन्न, धर्मात्मा एवं सर्वगुणसम्पन्न नल ने उत्तर सागर का जल तुरन्त ला कर उपस्थित कर दिया। इन कपिश्रेष्ठों के लाये हुए जल को देख ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

अभिषेकाय रामस्य शत्रुघ्नः सचिवैः सह।
पुरोहिताय श्रेष्ठाय सुहृद्भ्यश्च न्यवेदयत् ॥ ५८ ॥

सचिवों सहित शत्रुघ्न ने अपने श्रेष्ठ पुरोहित अर्थात् वशिष्ठ जी से तथा सुहृदों से श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक करने के लिये निवेदन किया ॥ ५८ ॥

ततः स [1]प्रयतो वृद्धो वसिष्ठो ब्राह्मणैः सह।
रामं रत्नमये पीठे सहसीतं न्यवेशयत् ॥ ५९ ॥

---

१ प्रयतः—प्रयत्नवान्। (गो०)

तब प्रयत्नवान् वृद्ध वशिष्ठ जी ने अन्य ब्राह्मणों को (सहायता के लिये) अपने साथ लेकर, सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को रत्नजटित चौकी पर बिठाया ॥ ५६ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः ।
कात्यायनः सुयज्ञश्च गौतमो विजयस्तथा ॥ ६० ॥
अभ्यषिञ्चन्नरव्याघ्रं प्रसन्नेन सुगन्धिना ।
सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार आठ वसुओं ने जल से इन्द्र का अभिषेक किया था, उसी प्रकार उस समय वशिष्ठ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, कात्यायन, सुयज्ञ, गौतम और विजय ने अच्छे सुगन्धित जल से श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक किया ॥ ६० ॥ ६१ ॥

ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः पूर्वं कन्याभिर्मन्त्रिभिस्तथा ।
योधैश्चैवाभ्यषिञ्चंस्ते सम्प्रहृष्टाः सनैगमैः ॥ ६२ ॥

पहिले ऋत्विक ब्राह्मणों ने, फिर सोलह कन्याओं ने, फिर मंत्रियों ने, फिर सैनिकों ने और सब से पीछे महाजनों ने अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक किया ॥ ६२ ॥

सर्वौषधिरसैर्दिव्यैर्दैवतैर्नभसि स्थितैः ।
चतुर्भिर्लोकपालैश्च सर्वैर्देवैश्च सङ्गतैः ॥ ६३ ॥

तदनन्तर समस्त दिव्य ओषधियों के रसों से, आकाशस्थित देवताओं ने, फिर चारों लोकपालों ने, तदनन्तर समस्त देवताओं ने एकत्र हो, श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक किया ॥ ६३ ॥

किरीटेन ततः पश्चाद्वसिष्ठेन महात्मना ।
ऋत्विग्भिर्भूषणैश्चैव समयोक्ष्यत राघवः ॥ ६४ ॥

इसके बाद महात्मा वशिष्ठ जी ने राजमुकुट श्रीरामचन्द्र जी को पहिनाया। फिर ऋत्विजों ने महाराज को विविध प्रकार के भूषण धारण करवाये ॥ ६४ ॥

छत्रं तस्य च *जग्राह शत्रुघ्नः पाण्डुरं शुभम् ।
श्वेतं च बालव्यजनं सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ ६५ ॥

उस समय एक सफेद छत्र शत्रुघ्न जी ताने हुए थे और वानरराज सुग्रीव सफेद चँवर डुला रहे थे ॥ ६५ ॥

अपरं चन्द्रसङ्काशं राक्षसेन्द्रो विभीषणः ।
मालां ज्वलन्तीं वपुषा काञ्चनीं शतपुष्कराम् ॥ ६६ ॥
राघवाय ददौ वायुर्वासवेन प्रचोदितः ।
सर्वरत्नसमायुक्तं मणिभिश्च विभूषितम् ॥ ६७ ॥
मुक्ताहारं नरेन्द्राय ददौ शक्रप्रचोदितः ।
प्रजगुर्देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ६८ ॥

दूसरा चन्द्रमा के समान सफेद चँवर राक्षसराज विभीषण डुला रहे थे। इन्द्र की आज्ञा से वायुदेव ने शरीर को भूषित करने वाली सोने की चमचमाती एक माला, जिसमें सौ कमलाकार मनियाँ थे, श्रीरामचन्द्र जी के अर्पण की। इस माला के अतिरिक्त इन्द्र की आज्ञा से पवनदेव ने श्रीरामचन्द्र जी को, सर्वरत्नजटित और मणियों से विभूषित एक मुक्ताहार भी दिया। उस आनन्दोत्सव में देवता और गन्धर्व गा रहे थे और अप्सराएँ नाच रही थीं ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

---

* किसी किसी संस्करण में यह शब्द "व" अक्षर से आरम्भ होता है।

अभिषेके ¹तदर्हस्य तदा रामस्य धीमतः ।
भूमिः सस्यवती चैव फलवन्तश्च पादपाः ॥ ६९ ॥

देवताओं गन्धर्वों अप्सराओं के सम्मिलित होने योग्य बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेकोत्सव के समय पृथिवी अन्न से परिपूर्ण हो गयी और वृक्ष फलों से लद गये ॥ ६९ ॥

गन्धवन्ति च पुष्पाणि बभूवू राघवोत्सवे ।
सहस्रशतमश्वानां धेनूनां च गवां तथा ॥ ७० ॥
ददौ शतं वृषान्पूर्वं द्विजेभ्यो मनुजर्षभः ।
त्रिंशत्कोटीर्हिरण्यस्य ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुनः ॥ ७१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेकोत्सव के समय पुष्प गन्धयुक्त हो गये। सब से पहिले तो एक लाख घोड़े, एक लाख ओसर गौएं, अन्य गौएं और सौ बैल महाराज ने ब्राह्मणों को दिये। फिर तीस करोड़ अशर्फियाँ ब्राह्मणों को दीं ॥ ७० ॥ ७१ ॥

नानाभरणवस्त्राणि महार्हाणि च राघवः ।
अर्करश्मिप्रतीकाशां काञ्चनीं मणिविग्रहाम् ॥ ७२ ॥
सुग्रीवाय स्रजं दिव्यां प्रायच्छन्मनुजर्षभः ।
वैडूर्यमणिचित्रे च *चन्द्ररश्मिविभूषिते ॥ ७३ ॥
वालिपुत्राय धृतिमानङ्गदायाङ्गदे ददौ ।
मणिप्रवरजुष्टं च मुक्ताहारमनुत्तमम् ॥ ७४ ॥

तदनन्तर उन्होंने बड़े बड़े मूल्य के विविध वस्त्राभूषण, सूर्य की किरनों के समान चमचमाती मणियों से जड़ी सोने की दिव्य माला

---

१ तदर्हस्य—देवादिगानयोग्यस्य । (शि०) * पाठान्तरे—"वज्ररत्न" ।

सुग्रीव को दी। चन्द्रमा के समान प्रभावान पन्नों के जड़ाऊ बाजूबन्द धृतिमान् वालिपुत्र अङ्गद को दिये गये। श्रेष्ठ मणियों वाला मोतियों का एक उत्तम हार ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

सीतायै प्रददौ रामश्चन्द्ररश्मिसमप्रभम् ।
[1]अरजे वाससी दिव्ये शुभान्याभरणानि च ॥ ७५ ॥
अवेक्षमाणा वैदेही प्रददौ वायुसूनवे ।
अवमुच्यात्मनः कण्ठाद्धारं जनकनन्दिनी ॥ ७६ ॥

जो चन्द्रकिरणों की तरह प्रभावान था श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी के हाथ में दिया। सीता जी ने दो निर्मल दिव्य वस्त्र (जो कभी मैले न हों) तथा बढ़िया सुन्दर आभूषण हनुमान जी के उपकारों को स्मरण कर हनुमान जी को दिये। तदनन्तर जनक-नन्दिनी ने अपने गले से हार उतार कर ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

अवैक्षत हरीन्सर्वान्भर्तारं च मुहुर्मुहुः ।
तामिङ्गितज्ञः सम्प्रेक्ष्य बभाषे जनकात्मजाम् ॥ ७७

सब वानरों की ओर देखा तथा वे श्रीरामचन्द्र जी की ओर बारंबार देखने लगीं। सीता जी के मन का अभिप्राय जान कर श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी से कहा ॥ ७७ ॥

प्रदेहि सुभगे हारं यस्य तुष्टासि भामिनि ।
पौरुषं विक्रमो बुद्धिर्यस्मिन्नेतानि सर्वशः ॥ ७८ ॥

ददौ सा वायुपुत्राय तं हारमसितेक्षणा ।
हनुमांस्तेन हारेण शुशुभे वानरर्षभः ॥ ७९ ॥

---

१ अरजे—निर्मले। (गो०)

हे भामिनि ! हे सुभगे ! तुम जिस पर प्रसन्न हो, उसे यह हार दे दो। तब सीता जी ने पुरुषार्थ, विक्रम, बुद्धि आदि समस्त गुणों से युक्त श्री हनुमान जी को वह हार दे दिया। उस हार को पहिन कर हनुमान जी वैसे ही सुशोभित हुए ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

चन्द्रांशुचयगौरेण श्वेताभ्रेण यथाऽचलः ।
ततो द्विविदमैन्दाभ्यां नीलाय च परन्तपः ॥ ८० ॥
सर्वान्कामगुणान्वीक्ष्य प्रददौ वसुधाधिपः ।
सर्वे वानरवृद्धाश्च ये चान्ये वानरेश्वराः ॥ ८१ ॥

जैसे चन्द्रमा की किरनों से चमचमाते हुए सफेद मेघों के द्वारा पर्वत शोभित होते हैं। तदनन्तर पृथिवीश्वर श्रीरामचन्द्र जी ने द्विविद, मयन्द और नील को उनके मनोरथों के अनुसार और उनके गुणों को विचार, पुरस्कार दिये। इनके अतिरिक्त अन्य और जो और मुखिया वानर थे ॥ ८० ॥ ८१ ॥

वासोभिर्भूषणैश्चैव यथार्हं प्रतिपूजिताः ।
विभीषणोऽथ सुग्रीवो हनुमाञ्जाम्बवांस्तथा ॥ ८२ ॥
सर्ववानरमुख्याश्च रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
यथार्हं पूजिताः सर्वे कामै रत्नैश्च पुष्कलैः ॥ ८३ ॥

उन सब का वस्त्र और भूषणों से यथोचित सत्कार किया। तदनन्तर विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान तथा अन्य समस्त वानरयूथपतियों को श्रीरामचन्द्र जी ने उनके मनोरथों के अनुसार, बहुत से रत्नादि देकर उनका यथोचित सत्कार किया ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

प्रहृष्टमनसः सर्वे जग्मुरेव यथागतम् ।
नत्वा सर्वे महात्मानं ततस्ते प्लवगर्षभाः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार हर्षित अन्तःकरण से वे सब वानर श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर अपने अपने घरों को लौट कर चले गये ॥ ८४ ॥

विसृष्टाः पार्थिवेन्द्रेण किष्किन्धामभ्युपागमन् ।
सुग्रीवो वानरश्रेष्ठो दृष्ट्वा रामाभिषेचनम् ॥ ८५ ॥
[पूजितश्चैव रामेण किष्किन्धां प्राविशत्पुरीम् ।]
विभीषणोऽपि धर्मात्मा सह तैर्नैर्ऋतर्षभैः ॥ ८६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी से विदा हो वे सब वानर किष्किन्धापुरी को चले गये। वानरश्रेष्ठ सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक देख कर और श्रीरामचन्द्र जी द्वारा सत्कार प्राप्त कर, अपनी किष्किन्धापुरी को चले गये। अपने मंत्रियों के साथ धर्मात्मा राक्षसश्रेष्ठ यशस्वी विभीषण भी ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

लब्ध्वा [1]कुलधनं राजा लङ्कां प्रायान्महायशाः ।
स राज्यमखिलं शासन्निहतारिर्महायशाः ॥ ८७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की ओर से रघुकुल का धन (अर्थात् सर्वस्व) श्रीरंगविमान पाकर लङ्का को लौट गये। इधर महायशस्वी, श्रीरामचन्द्र जी शत्रुओं को जीत कर, समस्त राज्य का शासन करने लगे ॥ ८७ ॥

राघवः परमोदारो शशास परया मुदा ।
उवाच लक्ष्मणं रामो धर्मज्ञं धर्मवत्सलः ॥ ८८ ॥

परमोदार एवं धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी परम प्रसन्न हो शासन करते हुए लक्ष्मण जी से बोले ॥ ८८ ॥

---

१ कुलधनं—इक्ष्वाकुकुलधनं; श्रीरङ्गविमानमिति सम्प्रदायः। (गो०)

आतिष्ठ धर्मज्ञ मया सहेमां
गां पूर्वराजाध्युषितां बलेन।
तुल्यं मया त्वं पितृभिर्धृता या
तां यौवराज्ये धुरमुद्वहस्व ॥ ८९ ॥

हे धर्मज्ञ! जिस पृथिवी का राज्य मन्वादि हमारे पूर्वज कर चुके हैं, उस पृथिवी का आओ हमारे साथ तुम शासन करो। जैसे हमारे ,पेता पितामहादि ने अपने बड़ों की उपस्थिति में यौवराज्य स्वीकार किया था, वैसे ही तुम भी युवराज बन कर राजकाज में मेरी सहायता करो॥ ८९॥

सर्वात्मना पर्यनुनीयमानो
यदा न सौमित्रिरुपैति योगम्।
नियुज्यमानोऽपि च यौवराज्ये
ततोऽभ्यपिञ्चद्भरतं महात्मा ॥ ९० ॥

किन्तु इस प्रकार कहने पर भी जब सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी ने युवराज होना स्वीकार न किया, तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी को युवराज बनाया॥ ९०॥

पौण्डरीकाश्वमेधाभ्यां वाजपेयेन चासकृत्।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैरयजत्पार्थिवात्मजः ॥ ९१ ॥

नृपतिनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने पौण्डरीक, अश्वमेध, वाजपेय तथा अन्य विविध प्रकार के यज्ञ, एक ही बार नहीं अनेक बार किये॥ ९१॥

राज्यं दश सहस्राणि प्राप्यवर्षाणि राघवः।
शताश्वमेधानाजह्रे सदश्वान्भूरिदक्षिणान् ॥ ९२ ॥

अपने दस हज़ार वर्ष के शासनकाल में श्रीरामचन्द्र जी ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये, जिनमें अच्छे अच्छे घोड़े और बहुत सी दक्षिणा दी ॥ ९२ ॥

आजानुलम्बबाहुः स महावक्षाः प्रतापवान् ।
लक्ष्मणानुचरो रामः पृथिवीमन्वपालयत् ॥ ९३ ॥

घुटनों तक लंबी बाँहों वाले, चौड़ी छाती वाले, प्रतापी श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण जी के साथ पृथिवी का शासन करते लगे ॥ ९३ ॥

राघवश्चापि धर्मात्मा प्राप्य राज्यमनुत्तमम् ।
ईजे बहुविधैर्यज्ञैः ससुहृज्ज्ञातिबान्धवः ॥ ९४ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने राजसिंहासन पर बैठ कर, अपने सुहृदों तथा भाई बन्धुओं के साथ साथ अथवा उनकी सहायता से विविध प्रकार के यज्ञ किये ॥ ९४ ॥

न पर्यदेवन्विधवा न च व्यालकृतं भयम् ।
न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥ ९५ ॥

जब तक श्रीरामचन्द्र जी ने राज्य किया, तब तक उनके राज्यकाल में न तो कोई स्त्री विधवा हुई न किसी को रोग ने सताया और न किसी को साँप ने काटा ॥ ९५ ॥

निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत् ।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ॥ ९६ ॥

डाँकू चोरों का तो श्रीरामराज्य में नाम तक नहीं था। दूसरे के धन को लेना तो जहाँ तहाँ, उसे कोई हाथ से छूता तक न था। श्रीरामराज्य में ऐसा भी कभी नहीं हुआ कि, किसी बूढ़े ने किसी बालक का मृतक कर्म किया हो ॥ ९६ ॥

सर्वं मुदितमेवासीत्सर्वो धर्मपरोऽभवत् ।
[1]राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन्परस्परम् ॥ ९७ ॥

श्रीरामराज्य में सब अपने अपने वर्णानुसार धर्मकृत्यों में तत्पर रहते थे, इसीलिये सब लोग सदा हर्षित रहते थे। श्रीरामचन्द्र जी उदास होंगे, इस विचार से आपस में लोग किसी का जी (तक) न दुःखाते थे अथवा ॥ ९७ ॥

आसन्वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥ ९८ ॥

श्रीरामराज्य में हज़ार वर्ष से कम की उम्र किसी की नहीं होती थी और (किसी किसी के) हज़ार हज़ार पुत्र भी होते थे और वे सब रोग एवं शोक रहित देख पड़ते थे ॥ ९८ ॥

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन्कथाः ।
रामभूतं जगद्भूद्रामे राज्यं प्रशासति ॥ ९९ ॥

श्रीरामराज्य में प्रजाजनों में (अष्टप्रहर) श्रीरामचन्द्र ही की चर्चा रहा करती थी और सब लोग राम राम राम ही रटा करते थे। सारा जगत् राममय हो गया था ॥ ९९ ॥

नित्यपुष्पा नित्यफलास्तरवः स्कन्धविस्तृताः ।
काले वर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः ॥ १०० ॥

श्रीरामराज्य में वृक्षों में सदा फूल लगे रहते थे, वे सदा फला करते थे और उनके गुद्दे और डालियाँ विस्तृत हुआ करती थीं। यथासमय वर्षा होती थी और सुखस्पर्शी हवा चला करती थी ॥ १०० ॥

---

१ राममेवानुपश्यन्तो—अन्योन्य निर्मूलनवैरे सत्यपि राममुखं म्लानं भविष्यतीति मत्वा परस्परं नाभ्यहिंसन् । (गो०)

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः ।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी लोभी लालची न था। सब लोग अपना अपना काम करते हुए अपने कार्यों से सन्तुष्ट रहा करते थे ॥ १०१ ॥

आसन्प्रजा धर्मरता रामे शासति नानृताः ।
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः ॥ १०२ ॥

श्रीरामराज्य में सारी प्रजा धर्मरत और झूठ से दूर रहती थी। सब लोग शुभलक्षणों से युक्त पाये जाते थे और सब लोग धर्मपरायण होते थे ॥ १०२ ॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्रामो राज्यमकारयत् ॥१०३॥

इस प्रकार श्रीमान् श्रीरामचन्द्र जी ने भाइयों सहित दस हज़ार वर्ष तक राज्य किया ॥ १०३ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम् ।
आदिकाव्यमिदं त्वार्षं पुरा[1] वाल्मीकिना कृतम् ॥१०४॥

यह आदिकाव्य भगवान् वाल्मीकि का बनाया हुआ है। अतः यह आर्ष अर्थात् ऋषिप्रणीत ग्रन्थ है और यह सब कवियों की काव्य रचना होने के पूर्व बनाया गया था। इसके पढ़ने से पढ़ने वाले को यह कृतकृत्यता, यश और आयु का देने वाला है, और राजाओं को विजयप्रद है ॥ १०४ ॥

---

१ पुरा—सर्वकविभ्यः पूर्वं । (गो०)

य: पठेच्छृणुयाल्लोके नरः पापाद्विमुच्यते ।
पुत्रकामस्तु पुत्रान्वै धनकामो धनानि च ॥ १०५ ॥

लभते मनुजो लोके श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ।
महीं विजयते राजा रिपूंश्चाप्यधितिष्ठति ॥ १०६ ॥

इस संसार में जो मनुष्य इसको पढ़ता या सुनता है वह पापों से छूट जाता है। श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक के वृत्तान्त को सुनने से जिस मनुष्य को पुत्रप्राप्ति की इच्छा होती है उसे पुत्र की, और धनप्राप्ति की इच्छा रखने वाले को धन की प्राप्ति होती है। श्रीरामराज्याभिषेक सुनने से राजा भूमण्डल को जीतता है और अपने शत्रुओं पर प्रभुत्व प्राप्त करता है ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

राघवेण यथा माता सुमित्रा लक्ष्मणेन च ।
भरतेन च कैकेयी जीवपुत्रास्तथा स्त्रियः ॥ १०७ ॥

जिस प्रकार श्रीराम से कौशल्या, लक्ष्मण से सुमित्रा और भरत से कैकेयी पुत्रवती थीं; उसी प्रकार इस काव्य के सुनने से स्त्रियाँ पुत्रवती होती हैं ॥ १०७ ॥

[भविष्यन्ति सदानन्दाः पुत्रपौत्रसमन्विताः ।]
श्रुत्वा रामायणमिदं दीर्घमायुश्च विन्दति ॥ १०८ ॥

जो लोग इस कथा को सुनेंगे, वे पुत्रपौत्र से भरा पूरा हो, सदा प्रसन्न रहेंगे। इस रामायण को सुनने से सुनने वाला दीर्घायु होता है ॥ १०८ ॥

रामस्य विजयं चैव सर्वमक्लिष्टकर्मणः ।
शृणोति य इदं काव्यमार्षं वाल्मीकिना कृतम् ॥१०९॥

श्रद्दधानो जितक्रोधो दुर्गाण्यतितरत्यसौ ।
समागमं प्रवासान्ते लभते चापि बान्धवैः ॥ ११० ॥

महर्षि वाल्मीकि रचित इस आर्षकाव्य में वर्णित अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के विजय की कथा जो लोग श्रद्धापूर्वक और क्रोधरहित हो सुनते हैं, वे बड़ी बड़ी कठिनाइयों के पार हो जाते हैं यदि कोई विदेश में गया हो, तो वह लौट कर अपने भाई बन्दों से मिलता है ॥ १०९ ॥ ११० ॥

प्रार्थितांश्च वरान्सर्वान्प्राप्नुयादिह राघवात् ।
श्रवणेन सुराः सर्वे प्रीयन्ते संप्रशृण्वताम् ॥ १११ ॥

श्रीरामचन्द्रजी की कृपा से इसके सुनने वालों को मनोवाञ्छित वरों को प्राप्ति होती है। इस आदिकाव्य के सुनसे से समस्त देवता प्रसन्न होते हैं ॥ १११ ॥

[1]विनायकाश्च शाम्यन्ति गृहे तिष्ठन्ति यस्य वै ।
विजयेत महीं राजा प्रवासी स्वस्तिमान्व्रजेत् ॥ ११२ ॥

जिनके घर में विघ्न करने वाले ग्रह होते हैं, वे शान्त हो जाते हैं। राजा इसके सुनने से विजयी होता है और प्रवासी का इसके सुनने से कल्याण होता है ॥ ११२ ॥

[2]स्त्रियो रजस्वलाः श्रुत्वा पुत्रान्सूयुरनुत्तमान् ।
पूजयंश्च पठंश्चेममितिहासं पुरातनम् ॥ ११३ ॥

---

१ विनायकाः—विघ्नकरा ग्रहाः । (गो०) २ स्त्रियोरजस्वलाः—शुद्धिस्नानानन्तरंषोडशदिनावधि । (तीर्थी०)

यदि स्त्री रजोधर्म के बाद शुद्ध होकर (सोलह दिवस तक) इस रामायण को सुने, तो उसकी कोख से उत्तम पुत्र उत्पन्न हो। इस प्राचीन इतिहास का पूजन करने व पाठ करने से ॥ ११३ ॥

सर्वपापैः प्रमुच्येत दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।
प्रणम्य शिरसा नित्यं श्रोतव्यं क्षत्रियैर्द्विजात् ॥११४॥

वे समस्त पापों से छूट कर दीर्घायु होते हैं। प्रणाम करके क्षत्रियों को यह कथा ब्राह्मण के मुख से सुननी उचित है ॥ ११४ ॥

ऐश्वर्यं पुत्रलाभश्च भविष्यति न संशयः ।
रामायणमिदं कृत्स्नं शृण्वतः पठतः सदा ।
प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः ॥ ११५ ॥
आदिदेवो महाबाहुर्हरिर्नारायणः प्रभुः ।
[साक्षाद्रामो रघुश्रेष्ठः शेषो लक्ष्मण उच्यते] ॥ ११६ ॥

जो इसको सुनेंगे उन्हें ऐश्वर्य और पुत्र की प्राप्ति निश्चय ही होगी—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। जो इस रामायण को आदि से अन्त तक सदा पढ़ता या सुनता रहता है, उसके ऊपर श्रीरामचन्द्र जी, जो सनातन विष्णु (का अंशावतार हैं) सदा सन्तुष्ट रहते हैं। जो आदिदेव, महाबाहु, हरि और सब के प्रभु साक्षात् नारायण हैं, वे ही रघुवंशियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के रूप में और शेष जी लक्ष्मण जी के रूप में अवतीर्ण हुए ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं
स्त्रियश्च मुख्याः सुखमुत्तमं च ।
श्रुत्वा शुभं काव्यमिदं महार्थं
प्राप्नोति सर्वां भुवि चार्थसिद्धिम् ॥ ११७ ॥

इस मङ्गलमय सुखजनक महाअर्थयुक्त आदिकाव्य श्रीमद्रामायण का पाठ करने से अथवा इसकी कथा सुनने से कुटुम्ब की और धनधान्य की वृद्धि तथा उत्कृष्ट स्त्री और उत्तम सुखों की प्राप्ति होती है। इस संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो इसके सुनने वाले अथवा पाठ करने वाले को प्राप्त न हो ॥ ११७ ॥

आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं
सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च ।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिः
आख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः ॥ ११८ ॥

यह काव्य आयु, आरोग्यता और यश का बढ़ाने वाला है। भाइयों में प्रेम उत्पन्न करने वाला, सुबुद्धि देने वाला और शुभप्रद है। अतः सज्जनों को उचित है कि वे इस तेजवर्द्धक और अभीष्टप्रद आख्यान को नियमपूर्वक सुनें ॥ ११८ ॥

[1]एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ ११९॥

विष्णु का बल बढ़े इस प्रकार की प्रार्थना करके प्राचीनकाल में उन्नतिशील देवता इसका पाठ किया करते थे। अथवा इस प्राचीन इतिहास को भली भाँति श्रद्धापूर्वक पढ़ो जिससे तुम्हारा कल्याण हो और विष्णु का बल बढ़े ॥ ११९ ॥

देवाश्च सर्वे तुष्यन्ति ग्रहणाच्छ्रवणात्तथा ।
रामायणस्य श्रवणात्तुष्यन्ति पितरस्तथा ॥ १२० ॥

१ एवमेतत्—विष्णोर्बलं प्रवर्द्धतां स्तुत्यादिना. प्रवर्द्धयतांदेवानां मध्ये एतदाख्यानं पुरावृत्तं प्रवृत्तं देवैः पठितमित्यर्थः । (शि०)

एकत्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः

इसका पाठ करने और इसके सुनने से समस्त देवता प्रसन्न और पितर सन्तुष्ट होते हैं ॥ १२० ॥

भक्त्या रामस्य ये चेमां संहितामृषिणा कृताम् ।
लेखयन्तीह च नरास्तेषां वासस्त्रिविष्टपे ॥ १२१ ॥

इति एकत्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः ॥

वाल्मीकि ऋषिनिर्मित इस श्रीरामसंहिता को जो लोग भक्ति पूर्वक लिखते हैं, उनको यह संसार त्यागने पर स्वर्ग में स्थान मिलता है ॥ १२१ ॥

युद्धकाण्ड का एकसौइक्तीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायां

युद्धकाण्डः समाप्तः ॥

—※—

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ।

—*—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

उत्तरकाण्ड पूर्वार्द्ध-८

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २,०००] [मूल्य १॥)

उत्तरकाण्ड-पूर्वार्द्ध

की

विषयानुक्रमणिका

प्रक्षिप्त सर्ग पाँच

प्रक्षिप्त सर्ग पाँच

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ १॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥ २॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥ ३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥ ४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥ ६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामजम् ॥१३॥

—:※:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्दैवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया जसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—*—

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:०:—

उत्तरकाण्डः

[पूर्वार्द्धः]

प्राप्तराज्यस्य रामस्य राक्षसानां वधे कृते ।
आजग्मुर्मुनयः* सर्वे राघवं [1]प्रतिनन्दितुम् ॥ १ ॥

राक्षसों का नाश कर जब श्रीरामचन्द्र जी राजगद्दी पर बैठे, तब समस्त मुनिगण (श्रीरामचन्द्र जी की अवहेला कर) लक्ष्मण जी के बल पराक्रम की प्रशंसा करने को आये ॥ १ ॥

कौशिकोऽथ यवक्रीतो गार्ग्यो गालव एव च ।
कण्वो मेधातिथेः पुत्रः पूर्वस्यां दिशि येऽश्रिताः ॥ २ ॥
स्वस्त्यात्रेयश्च भगवान्नमुचिः प्रमुचिस्तथा ।
अगस्त्योऽत्रिश्च भगवान्सुमुखो विमुखस्तथा ॥ ३ ॥
आजग्मुस्ते सहागस्त्या ये स्थिता दक्षिणां दिशम् ।
नृषद्गुः कवषो धौम्यो कौषेयश्च महानृषिः ॥४॥
तेऽप्याजग्मुः सशिष्यावै ये श्रिताः पश्चिमां दिशम् ।
वसिष्ठः कश्यपोऽथात्रिर्विश्वामित्रः सगौतमः ॥ ५ ॥

---

१ प्रतिनन्दितुम्—प्राप्तराज्यं राममनादृत्य राघवं लक्ष्मणं प्रतिनन्दितुं सर्वे ऋषयः आजग्मुः । (गो०)

* पाठान्तरे—"ऋषयः" । † * पाठान्तरे—"रौद्रेयश्च" ।

जमदग्निर्भरद्वाजस्तेऽपि सप्तर्षयस्तथा ।
उदीच्यां दिशि सप्तैते नित्यमेव निवासिनः ॥ ६ ॥

(उन ऋषियों के नाम ये थे)—कौशिक, यवक्रीत, गार्ग्य, गालव और मेधातिथि के पुत्र कण्व—ये सब ऋषि पूर्व दिशा में रहा करते थे । स्वस्त्यात्रेय, नमुचि, प्रमुचि, अगस्त्य की अध्यक्षता में आये थे और दक्षिण दिशा में रहा करते थे । नृषद्गु, कवषी, धौम्य और सशिष्य कौषेय— ये पश्चिम दिशा के रहने वाले थे और पश्चिम ही से आये थे । वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज—ये सात ऋषि उत्तर दिशा के रहने वाले उत्तरदिशा से आये थे ॥ २ ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

[नोट—अत्रि का नाम दो बार आया है । ये अत्रि दो थे । पहिले तो दक्षिण दिशावासी और दूसरे उत्तरदिशि वासी । दूसरे अत्रि सप्तर्षियों में परगणित हैं । वशिष्ठ के सम्बन्ध में यह शङ्का अवश्य हो सकती है कि, जब वशिष्ठ जी सदा राजपुरोहित होने के कारण अयोध्या ही में रहा करते थे, तब उनका उत्तर दिशा से सप्तर्षियों के साथ आना यहाँ क्यों लिखा गया है ? इस शङ्का का समाधान करते हुए भूषणटीकाकार ने लिखा है—

"यथाऽगस्त्यो ज्योतिर्मण्डलस्थोपि भुवि तपःसमार्जनाय शरीरान्तरे स्थित आगतस्तथा वसिष्ठोपि ज्योतिर्मण्डलस्थः सप्तर्षिभिः समागत इति बोध्यम् ।" अर्थात् जिस प्रकार ज्योतिर्मण्डलस्थ अगस्त्य भगवान तपःफल अर्जन करने के लिये दूसरा शरीर धारण कर पृथिवी पर, आ गये थे, वैसे ही वशिष्ठ जी भी अयोध्या में दूसरा शरीर धारण कर रहते थे ।]

सम्प्राप्य ते महात्मानो राघवस्य निवेशनम् ।
विष्ठिताः प्रतिहारार्थं हुताशनसमप्रभाः ॥ ७ ॥

ये समस्त ऋषि श्रीरामचन्द्र जी के राजभवन की ड्योढ़ी पर पहुँचे। ये सब ही अग्नि के समान तेजस्वी थे। इन सब को द्वारपालों ने आदर पूर्वक बिठाया ॥ ७ ॥

वेदवेदाङ्ग विदुषो नानाशास्त्रविशारदाः।
द्वाःस्थं प्रोवाच धर्मात्मा ह्यगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥८॥

वेदवेदाङ्ग के ज्ञाता, अनेक शास्त्रों में निष्णात, मुनिश्रेष्ठ धर्मात्मा अगस्त्य जी द्वारपालों से बोले ॥ ८ ॥

निवेद्यतां दाशरथेर्ऋषीनस्मान्समागतान्।
प्रतीहारस्ततस्तूर्णमगस्त्य वचनाद्द्रुतम् ॥ ९ ॥

महाराज श्रीरामचन्द्र जी से जा कर निवेदन करो कि, हम सब ऋषि आये हुए हैं (और श्रीरामचन्द्र जी से मिलना चाहते हैं) अगस्त्य जी के ये वचन सुन द्वारपाल तुरन्त अन्दर चल दिया ॥९॥

समीपं राघवस्याशु प्रविवेश महात्मनः।
नयेङ्गितज्ञः सद्वृत्तो दक्षो धैर्य समन्वितः ॥ १० ॥

वह शीघ्र ही श्रीरामचन्द्र जी के पास पहुँचा। वह द्वारपाल नीतिवान, इशारों को समझने वाला, सदाचारी, चतुर और धैर्यवान् था ॥ १० ॥

स रामं दृश्य सहसा पूर्णचन्द्र समद्युतिम्।
अगस्त्यं कथयामास सम्प्राप्तमृषि सत्तमम् ॥ ११ ॥

पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान प्रकाशमान श्रीरामचन्द्र जी के निकट जा कर वह बोला कि, महाराज! ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी (बहुत से ऋषिश्रेष्ठों सहित) आये हैं ॥ ११ ॥

श्रुत्वा प्राप्तान्मुनींस्तांस्तु बालसूर्यसमप्रभान् ।
प्रत्युवाच ततो द्वाःस्थं प्रवेशय यथासुखम् ॥ १२ ॥

बालसूर्य के समान प्रभावान् उन समस्त ऋषिश्रेष्ठों का आना सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने द्वारपाल से कहा कि, तुम उन सब को आदरपूर्वक यहाँ लिवा लाओ ॥ १२ ॥

*दृष्ट्वा प्राप्तान्मुनींस्तांस्तु प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
पाद्यार्घ्यादिभिरानर्च्य गां निवेद्य च सादरम् ॥ १३ ॥

जब (द्वारपाल के कहने से) वे समस्त ऋषिश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी के निकट पहुँचे, तब श्रीरामचन्द्र जी (राजसिंहासन छोड़) हाथ जोड़ खड़े हो गये । फिर उन्होंने उन सब का अर्घ्य, पाद्यार्घ्य से पूजन किया और बड़े आदर के साथ प्रत्येक को गोदान दिया ॥ १३ ॥

रामोऽभिवाद्य प्रयत आसनान्यादिदेश ह ।
तेषु काञ्चनचित्रेषु महत्सु च वरेषु च ॥ १४ ॥
कुशान्तर्धानदत्तेषु मृगचर्मयुतेषु च ।
यथार्हमुपविष्टास्ते आसनेष्वृषिपुङ्गवाः ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े भक्तिभाव से उन सब को प्रणाम किया, तदनन्तर उन सब को बैठने के लिये आसन दिये । वे आसन सोने के बने हुए थे और रंग बिरंगे होने के कारण बड़े सुन्दर जान पड़ते थे । उनके ऊपर यथायोग्य अपने अपने बैठने के कुशासन और मृगचर्म बिछा बिछा कर, वे सब ऋषिश्रेष्ठ उन पर बैठ गये ॥ १४ ॥ १५ ॥

---

* पाठान्तरे—"तान्सम्प्राप्तान्मुनीन्दृष्ट्वा" ।

रामेण कुशलं पृष्टाः सशिष्याः सपुरोगमाः[1] ।
महर्षयो वेदविदो रामं वचनमब्रुवन् ।
कुशलं नो महाबाहो सर्वत्र रघुनन्दन ॥ १६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उनके शिष्यों सहित प्रधान ऋषियों से कुशल मङ्गल पूँछा, तब वे वेदज्ञ ऋषिगण कहने लगे। हे रघुनन्दन! हे महाबाहो! हम सब प्रकार से कुशलपूर्वक हैं॥ १६ ॥

त्वां तु दिष्ट्या कुशलिनं पश्यामो हतशात्रवम् ।
दिष्ट्या त्वया हतो राजन् रावणो लोकरावणः ॥१७॥

शत्रुओं का संहार कर आपको सकुशल देख हम अत्यन्त प्रसन्न हैं। हे राजन्! यह सौभाग्य की बात है कि, जो आपने लोकों को रुलाने वाले रावण को मार डाला ॥ १७ ॥

नहिभारः सते राम रावणः पुत्रपौत्रवान् ।
सधनुस्त्वं हि लोकांस्त्रीन्विजयेथा न संशयः ॥ १८ ॥

हे राम! आपके लिये पुत्रपौत्रवान् रावण का नाश करना कोई बड़ी बात न थी। क्योंकि आप तो हाथ में धनुष ले कर तीनों लोकों को जीत सकते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १८ ॥

दिष्ट्या त्वया हतो राम रावणः राक्षसेश्वरः ।
दिष्ट्या विजयिनं त्वाऽद्य पश्यामः सह सीतया ॥१९॥

---

1 सपुरोगमः—प्रधानैः सहिताः। (रा०)

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि, आपने राक्षसेश्वर रावण को मार डाला और यह भी बड़े सौभाग्य की बात है कि, हम सब लोग सीता सहित आपको विजयी देख रहे हैं ॥ १९ ॥

लक्ष्मणेन च धर्मात्मन् भ्रात्रा त्वद्धितकारिणा ।
मातृभिर्भ्रातृसहितं पश्यामोऽद्य वयं नृप ॥ २० ॥

हे धर्मात्मन्! आपके हितकारी भाई लक्ष्मण, माता, तथा अन्य बन्धुओं के साथ आपको आज हम सकुशल देख रहे हैं ॥२०॥

[1]दिष्ट्या प्रहस्तो विकटो विरूपाक्षो महोदरः ।
अकम्पनश्च दुर्धर्षो निहतास्ते निशाचराः ॥ २१ ॥

दैवात् ही दुर्धर्ष प्रहस्त, विकट, विरूपाक्ष, महोदर और अकम्पन आदि राक्षसों को आपने मारा ॥ २१ ॥

यस्य प्रमाणाद्विपुलं प्रमाणं नेह विद्यते ।
दिष्ट्या ते समरे राम कुम्भकर्णो निपातितः ॥ २२ ॥

जिसके समान विशालकाय दूसरा व्यक्ति इस भूमण्डल पर कोई था ही नहीं, उस कुम्भकर्ण को दैवात् ही आपने युद्ध में मार कर गिरा दिया ॥ २२ ॥

त्रिशिराश्चातिकायश्च देवान्तकनरान्तकौ ।
दिष्ट्या ते निहता राम महावीर्या निशाचराः ॥२३॥

त्रिशिरा, अतिकाय, देवान्तक और नरान्तक जैसे महा बलवान राक्षसों को हे राम! दैवात् ही आपने मार गिराया है ॥ २३ ॥

---

१ दिष्ट्या—दैवात् । (गो०)

दिष्ट्या त्वं राक्षसेंद्रेण द्वन्द्व युद्धमुपागतः ।
देवता नाम वध्येन विजयं प्राप्तवानसि ॥ २४ ॥

देवताओं से अवध्य, राक्षसराज रावण के साथ द्वन्द्वयुद्ध कर, आपने जो विजय प्राप्त की है, सो यह बड़े आनन्द की बात है ॥२४॥

संख्ये तस्य न किञ्चित्तु रावणस्य पराभवः ।
द्वन्द्वयुद्ध मनुप्राप्तो दिष्ट्या ते रावणिर्हतः ॥ २५ ॥

किन्तु हे वीर! युद्ध में रावण को जीत लेना उतना कठिन न था, जितना कि इन्द्रजीत को मारना कठिन था। सो उस इन्द्रजीत को द्वन्द्वयुद्ध में मार डाला यह सौभाग्य की बात है ॥ २५ ॥

दिष्ट्या तस्य महाबाहो कालस्येवाभिधावतः ।
मुक्तः सुररिपोर्वीर प्राप्तश्च विजयस्त्वया ॥ २६ ॥

अभिनन्दाम ते सर्वे संश्रुत्येन्द्रजितो वधम् ।
अवध्यः सर्वभूतानां महामायाधरो युधि ॥२७॥

काल के समान दौड़ने वाले उस देवशत्रु से बच कर आप विजयी हुए हैं। हे राम! उस इन्द्रजीत का वध सुन कर, हम सब लोग आनन्दित हुए हैं। क्योंकि वह युद्ध में बड़ी माया रचा करता था और उसे कोई भी मार नहीं सकता था ॥ २६ ॥ २७ ॥

विस्मयस्त्वेष चास्माकं तंच्छ्रुत्वेन्द्रिजितं हतम् ।
दत्त्वा पुण्यामिमां वीर सौम्यामभयदक्षिणाम् ।
दिष्ट्या वर्धसि काकुत्स्थ जयेनामित्रकर्शन ॥२८॥

उसका मारा जाना सुन कर, हम लोगों को आश्चर्य हो रहा है। हे काकुत्स्थ! हे शत्रुकर्षन! हम सब को इस प्रकार

अभयदान दे, आपकी बढ़ती देख, हमें जो आनन्द प्राप्त हुआ है उससे बढ़ कर, आनन्द और क्या होगा ॥ २८ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
विस्मयं परमं गत्वा रामः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ २९ ॥

उन आत्मदर्शी मुनियों के ये वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे हाथ जोड़ कर बोले ॥ २९ ॥

भगवन्तः कुम्भकर्णं रावणं च निशाचरम् ।
अतिक्रम्य महावीर्यौ किं प्रशंसथ रावणिम् ॥ ३० ॥

भगवन्! महाबलवान रावण और कुम्भकर्ण नामक राक्षसों को छोड़, आप लोग इन्द्रजीत की प्रशंसा क्यों कर रहे हैं ॥ ३० ॥

महोदरं प्रहस्तं च विरूपाक्षं च राक्षसम् ।
मत्तोन्मत्तौ च दुर्धर्षौ देवान्तकनरान्तकौ ।
अतिक्रम्य महावीरान्किं प्रशंसथ रावणिम् ॥ ३१ ॥

महोदर, प्रहस्त, विरूपाक्ष, मत्त, उन्मत्त, देवान्तक, एवं नरान्तक जैसे वीर्यवानों को छोड़, आप लोग इन्द्रजीत की प्रशंसा क्यों कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

अतिकायं त्रिशिरसं धूम्राक्षं च निशाचरम् ।
अतिक्रम्य महावीर्यान्किं प्रशंसथ रावणिम् ॥ ३२ ॥

अतिकाय, त्रिशिरा, धूम्राक्ष आदि बड़े बड़े बलवान् राक्षसों को छोड़, आप लोग इन्द्रजीत की इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? ॥३२॥

कीदृशो वै प्रभावोऽस्य किं बलं कः पराक्रमः ।
केन वा कारणेनैष रावणादतिरिच्यते ॥ ३३ ॥

हे ऋषियों! इन्द्रजीत का प्रभाव, बल और पराक्रम कैसा था? क्यों कर वह रावण से भी बढ़ कर था? ॥ ३३ ॥

शक्यं यदि मया श्रोतुं न खल्वाज्ञापयामि वः ।
यदि गुह्यं न चेद्वक्तुं श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥३४॥

यदि यह बात मेरे सुनने योग्य हो, और गोप्य न हो तो कहिये। क्योंकि यह सब सुनने की मेरी इच्छा है। यह मेरी आज्ञा नहीं है (किन्तु प्रार्थना है) ॥ ३४ ॥

शक्रोपि विजितस्तेन कथं लब्धवरश्च सः ।
कथं च बलवान्पुत्रो न पिता तस्य रावणः ॥ ३५ ॥

उसने इन्द्र को किस प्रकार जीता था और उसे किस प्रकार वर मिला था? पुत्र क्यों ऐसा बलवान था और उसका पिता वैसा क्यों न था? ॥ ३५ ॥

कथं पितुश्चाप्यधिको महाहवे
शक्रस्य जेता हि कथं स रक्षसः ।
वराश्च लब्धाः कथयस्व मेऽद्य
पाप्रच्छतश्चास्य मुनींद्र सर्वम् ॥ ३६ ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

इन्द्रजीत अपने पिता से संग्राम में क्यों कर अधिक पराक्रमी हुआ? उसने इन्द्र को किस प्रकार जीता? किस प्रकार उसने वर पाया? हे मुनिश्रेष्ठों! मैं आप सब से पूँछता हूँ। आप मेरे इन सब प्रश्नों का उत्तर दें ॥ ३६ ॥

उत्तरकाण्ड का पहला सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

द्वितीयः सर्गः

—:०:—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
कुम्भयोनिर्महातेजा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के इन प्रश्नों को सुन महातेजस्वी कुम्भयोनि अगस्त्य जी कहने लगे ॥ १ ॥

शृणु राम कथावृत्तं तस्य तेजोबलं महत् ।
जघान शत्रून्येनासौ न च वध्यः स शत्रुभिः ॥ २ ॥

हे राम! उस कारण को सुनिये, जिससे इन्द्रजीत का तेज और बल (पिता से भी) अधिक था। वह शत्रुओं को तो मारता था, पर शत्रु उसे नहीं मार पाते थे ॥ २ ॥

तावत्ते रावणस्येदं कुलं जन्म च राघव ।
वरप्रदानं च तथा तस्मै दत्तं ब्रवीमि ते ॥ ३ ॥

हे राघव! मैं पहले आपको रावण के जन्म, और उसकी वरदान प्राप्ति का वृत्तान्त सुनाता हूँ ॥ ३ ॥

पुरा कृतयुगे राम प्रजापतिसुतः प्रभुः ।
पुलस्त्यो नाम ब्रह्मर्षिः साक्षादिव पितामहः ॥ ४ ॥

पहले सत्ययुग में ब्रह्मा जी के पुलस्त्य नामक एक पुत्र उत्पन्न हुए। ब्रह्मर्षि पुलस्त्य जी तपःप्रभाव से साक्षात् ब्रह्मा जी ही के समान हो गये थे ॥ ४ ॥

नानुकीर्त्या गुणास्तस्य धर्मतः शीलतस्तथा ।
प्रजापतेः पुत्र इति वक्तुं शक्यं हि नामतः ॥ ५ ॥

उनके धर्म और शील आदि गुणों का वर्णन करना असम्भव है। उनके इन गुणों को जानने के लिये उनका नाम ले देना और यह कह देना कि, वे प्रजापति के पुत्र थे, पर्याप्त (काफी) है ॥ ५ ॥

प्रजापति सुतत्वेन देवानां वल्लभो हि सः ।
इष्टः सर्वस्य लोकस्य गुणैः शुभ्रैर्महामतिः ॥ ६ ॥

वे महामति पुलस्त्य जी प्रजापति के पुत्र थे। अतः समस्त देवता उनको बहुत प्यार करते थे। अपने विमल गुणों के कारण वे सभी के मित्र बन गये थे ॥ ६ ॥

[1]स तु धर्मप्रसङ्गेन मेरोः पार्श्वे महागिरेः ।
तृणविन्दाश्रमं गत्वाप्यवसन्मुनिपुङ्गवः ॥ ७ ॥

तप करने की इच्छा से वे मुनिश्रेष्ठ मेरुपर्वत के समीप तृणविन्दु के आश्रम में जा कर रहने लगे ॥ ७ ॥

तपस्तेपे स धर्मात्मा स्वाध्यायनियतेन्द्रियः ।
गत्वाऽऽश्रमपदं तस्य विघ्नं कुर्वन्ति कन्यकाः ॥ ८ ॥

वहाँ वे धर्मात्मा पुलस्त्य जी इन्द्रियों को वश में कर, तपःस्वाध्याय में संलग्न हो गये। किन्तु वहाँ जा कर कन्याएं उनके तपः स्वाध्याय में विघ्न डालने लगीं ॥ ८ ॥

ऋषिपन्नगकन्याश्च राजर्षितनयाश्च याः ।
क्रीडन्त्योऽप्सरसश्चैव तं देशमुपपेदिरे ॥ ९ ॥

---

१ धर्मप्रसङ्गेन—तपःसम्पादनेच्छयेत्यर्थः । (गो०)

ऋषियों, नागों और राजर्षियों की कन्याएं तथा अप्सराएं मिल कर, वहां जा क्रीड़ा करने लगीं ॥ ९ ॥

सर्वर्तुषूपभोग्यत्वाद्रम्यत्वात्काननस्य च ।
नित्यशस्तास्तु तं देशं गत्वा क्रीडन्ति कन्यकाः ॥१०॥

एक तो वह वन ही बड़ा रमणीक था, दूसरे सब ऋतुओं में वह वन रहने योग्य था । इसीसे वे सब वहां नित्य जा कर, इकट्ठी होती थीं और खेलती कूदती थीं ॥ १० ॥

देशस्य रमणीयत्वात्पुलस्त्योयत्र स द्विजः ।
गायन्त्यो वादयन्त्योश्च लासयन्त्योस्तथैव च ॥ ११ ॥

जहां पुलस्त्य जी रहते थे, वहां का स्थान बड़ा रमणीक था, अतः वे कन्याएँ वहां जा कर गाती बजाती और नाचा करती थीं ॥ ११ ॥

मुनेस्तपस्विनस्तस्य विघ्नं चक्रुरनिन्दिताः ।
अथ रुष्टो महातेजा व्याजहार महामुनिः ॥ १२ ॥

इस प्रकार वे सुन्दरी कन्याएँ जब उन तपस्वी मुनि की तपस्या में विघ्न डालने लगीं, तब महातेजस्वी पुलस्त्य जी ने क्रुद्ध हो कर यह कहा ॥ १२ ॥

या मे दर्शन मागच्छेत्सा गर्भं धारयिष्यति ।
तास्तु सर्वाः प्रतिश्रुत्य तस्य वाक्यं महात्मनः ॥१३॥

जो लड़की मेरी आँखों के सामने पड़ जायगी, वही गर्भवती हो जायगी । ऋषि के मुख से यह निकलते ही ॥ १३ ॥

ब्रह्मशापभयाद्भीतास्तं देशं नोपचक्रमुः ।
तृणविन्दोस्तु राजर्षेस्तनया न शृणोति तत् ॥ १४ ॥

वे ब्रह्मशाप के भय से भीत हो गयीं और फिर उनके आश्रम में न गयीं। किन्तु राजर्षि तृणविन्दु की कन्या ने पुलस्त्य जी की इस उक्ति को नहीं सुन पाया ॥ १४ ॥

गत्वाऽऽश्रमपदं तत्र विचचार सुनिर्भया ।
न सा पश्यस्थिता तत्र काञ्चिदभ्यागतां सखीम् ॥१५॥

अतः वह पुलस्त्य जी के आश्रम में जा, निर्भय हो घूमने फिरने लगी। किन्तु वहाँ उसे उसकी कोई सखी न दिखलायी पड़ी ॥ १५ ॥

तस्मिन्काले महातेजाः प्राजापत्यो महानृषिः ।
स्वाध्यायमकरोत्तत्र तपसा भावितः स्वयम् ॥ १६ ॥

इस समय प्रजापति के पुत्र महातेजस्वी महर्षि पुलस्त्य जी तप के प्रभाव से, प्रदीप्त हो स्वाध्याय में लगे हुए थे। अर्थात् वेद-पाठ कर रहे थे ॥ १६ ॥

सा तु वेदश्रुतिं श्रुत्वा दृष्ट्वा वै तपसोनिधिम् ।
अभवत्पाण्डुदेहा सा सुव्यञ्जितशरीरजा ॥ १७ ॥

वह राजर्षिकन्या वेदध्वनि सुनने की इच्छा से, जैसे ही उन तपोधन का दर्शन करने गयी, वैसे ही उन्हें देखते ही उसका शरीर पीला पड़ गया और शरीर में गर्भ के लक्षण प्रकट हो गये ॥ १७ ॥

वभूव च समुद्विग्ना दृष्ट्वा तद्दोष मात्मनः ।
इदं मे किंत्विति ज्ञात्वा पितुर्गत्वाश्रमेऽस्थिता ॥१८॥

अपने शरीर में इस प्रकार का विकार देख, वह बहुत घबड़ायी और आप ही आप कह उठी—यह क्या हुआ ? तदनन्तर असली बात जान, वह पिता के आश्रम में लौट गयी ॥ १८ ॥

तां तु दृष्ट्वा तथा भूतां तृणविन्दुरथाब्रवीत् ।
किं त्वमे तत्त्व सदृशं धारयस्यात्मनो वपुः ॥ १९ ॥

किन्तु तृणविन्दु उसे देख और असली वात जान उससे बोले—तूने कुआरपन के विरुद्ध अपना ऐसा रूप क्यों कर धारण किया ? ॥ १६ ॥

स तु कृत्वाञ्जलिं दीना कन्योवाच तपोधनम् ।
न जाने कारणं तात येन मे रूपमीदृशम् ॥ २० ॥

तब वह कन्या उदास हो, अपने तपस्वी पिता से बोली—हे पिता ! मैं स्वयं अभी तक नहीं समझ सकी कि, किस कारण से मेरा ऐसा रूप हो गया है ॥ २० ॥

किन्तु पूर्वं गतास्म्येका महर्षेर्भावितात्मनः ।
पुलस्त्यस्याश्रमं दिव्यमन्वेष्टुं स्वसखीजनम् ॥ २१ ॥

किन्तु ऐसा होने के पूर्व मैं अपनी सखियों को खोजती ब्रह्म-चिन्तापरायण महर्षि पुलस्त्य जी के रमणीय आश्रम में अकेली चली गयी ॥ २१ ॥

न च पश्याम्यहं तत्र काञ्चिचदभ्यागतां सखीम् ।
रूपस्य तु विपर्यासं दृष्ट्वा त्रासादिहागता ॥ २२ ॥

वहाँ मुझे अपनी कोई भी सखी सहेली आती हुई न देख पड़ी, किन्तु जब मैंने अपना ऐसा बदला हुआ रूप देखा, तब डर कर यहाँ भाग आयी ॥ २२ ॥

तृणबिन्दुस्तु राजर्षिस्तपसा द्योतित प्रभः ।
ध्यानं विवेश तच्चापिं ह्यपश्यदृषिकर्मजम् ॥ २३ ॥

तब तप के प्रभाव से युक्त राजर्षि तृणबिन्दु ने ध्यान कर दिव्य दृष्टि से सारा हाल जान लिया ॥ २३ ॥

स तु विज्ञाय तं शापं महर्षेर्भावितात्मनः ।
गृहीत्वा तनयां गत्वा पुलस्त्यमिदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

ब्रह्मचिन्तापरायण महर्षि पुलस्त्य जी के शाप का वृत्तान्त जान, तृणबिन्दु उस कन्या को साथ ले, मुनि के पास गये और उनसे यह कहा ॥ २४ ॥

भगवंस्तनयां मे त्वं गुणैः स्वैरेव भूषिताम् ।
भिक्षां प्रतिगृहाणेमां महर्षे स्वयमुद्यताम् ॥ २५ ॥

हे भगवन्! अपने गुणों से भूषित (अर्थात् गुणवती) और अपने आप आई हुई मेरी इस कन्या को भिक्षा रूप से आप अङ्गीकार करें ॥ २५ ॥

तपश्चरणयुक्तस्य श्राम्यमाणेन्द्रियस्य ते ।
शुश्रूषणपरा नित्यं भविष्यति न संशयः ॥ २६ ॥

आप जब तप करते करते थक जाया करेंगे, तब निश्चय ही यह आपकी सदा सेवा टहल किया करेगी ॥ २६ ॥

तं ब्रुवाणं तु तद्वाक्यं राजर्षिं धार्मिकं तदा ।
जिघृक्षुरब्रवीत्कन्यां बाढमित्येव स द्विजः ॥ २७ ॥

उस अप्रमेय ब्राह्मणश्रेष्ठ पुलस्त्य जी धार्मिक राजर्षि तृणविन्दु के ऐसे वचन सुन, उस कन्या को अङ्गीकार करते हुए बोले "बहुत अच्छा" ॥ २७ ॥

दत्त्वा स तु यथान्यायं स्वमाश्रमपदं गतः ।
साऽपि तत्रावसत्कन्या तोपयन्ती पतिं गुणैः ॥ २८ ॥

अपनी कन्या को पुलस्त्य जी को सौंप राजा तृणविन्दु अपने आश्रम में लौट आये। वह राजतनया भी अपने गुणों से पति को सन्तुष्ट कर, वहाँ रहने लगी ॥ २८ ॥

तस्यास्तु शीलवृत्ताभ्यां तुतोष मुनिपुङ्गवः ।
प्रीतः स तु महातेजा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २९ ॥

महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्य उस राजतनया के शीलस्वभाव से सन्तुष्ट हुए और प्रसन्न हो कर उससे बोले ॥ २९ ॥

परितुष्टोऽस्मि सुश्रोणि गुणानां सम्पदा भृशम् ।
तस्माद्देवि ददाम्यद्य पुत्रमात्मसमं तव ।
उभयोर्वंशकर्तारं पौलस्त्य इति विश्रुतम् ॥ ३० ॥

हे सुश्रोणि! मैं तेरी गुणसम्पदा से (गुणावली) से तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। अतः हे देवि! आज मैं तुझे अपने तुल्य पुत्र देता हूँ। वह दोनों वंशों का बढ़ाने वाला होगा और पौलस्त्य के नाम से प्रसिद्ध होगा ॥ ३० ॥

यस्मात्तु विश्रुतो वेदस्त्वयैषोऽध्ययतो मम।
तस्मात्स विश्रवा नाम भविष्यति न संशयः॥ ३१॥

तूने मेरी वेदध्वनि सुन कर गर्भधारण किया है। अतः निस्सन्देह उसका नाम विश्रवा होगा॥ ३१॥

एवमुक्ता तु सा देवी प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
अचिरेणैव कालेनासूत विश्रवसं सुतम्।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं यशोधर्मसमन्वितम्॥ ३२॥

वह देवी इस प्रकार वरप्राप्त कर, मन में अत्यन्त हर्षित हुई। थोड़े ही दिनों बाद उसके त्रिलोकविख्यात यशस्वी और धर्मवान् विश्रवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥ ३२॥

श्रुतिमान्समदर्शी च व्रताचाररतस्तथा।
पितेव तपसा युक्तो ह्यभवद्विश्रवा मुनिः॥ ३३॥

इति द्वितीयः सर्गः॥

वेदज्ञ और समदर्शी विश्रवा मुनि व्रताचार में रत हो, अपने पिता की तरह तप करने लगे॥ ३३॥

उत्तरकाण्ड का दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

तृतीयः सर्गः

—:०:—

अथ पुत्रः पुलस्त्यस्य विश्रवा मुनिपुङ्गवः।
अचिरेणैव कालेन पितेव तपसि स्थितः॥ १॥

थोड़े ही दिनों में पुलस्त्य के पुत्र मुनिश्रेष्ठ विश्रवा अपने पिता के समान तप करने लगे ॥ १ ॥

सत्यवाञ्शीलवान्दान्तः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
सर्वभोगेष्वसंसक्तो नित्यं धर्मपरायणः ॥ २ ॥

विश्रवा मुनि सत्यवादी, शीलवान्, दान्त, स्वाध्यायनिरत, पवित्र, सब भोगों से दूर रहने वाले और धर्माचार में तत्पर देख पड़ते थे ॥ २ ॥

ज्ञात्वा तस्य तु तद्वृत्तं भरद्वाजो महामुनिः ।
ददौ विश्रवसे भार्यां स्वसुतां देववर्णिनीम् ॥ ३ ॥

महामुनि भरद्वाज जी ने विश्रवा के ऐसे चरित्रवान होने के कारण, अपनी देववर्णिनी नाम की कन्या उनको विवाह दी ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य तु धर्मेण भरद्वाजसुतां तदा ।
प्रजान्वीक्षिकया बुद्ध्या श्रेयो ह्यस्य विचिन्तयन् ॥४॥

धर्मानुसार भरद्वाज जी की कन्या के साथ विवाह कर, सन्तान की इच्छा रखते हुए, विश्रवा जी उसकी भलाई चाहने लगे ॥ ४ ॥

मुदा परमया युक्तो विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
स तस्यां वीर्यसम्पन्नमपत्यं परमाद्भुतम् ॥ ५ ॥

जनयामास धर्मज्ञः सर्वैर्ब्रह्म गुणैर्वृतम् ।
तस्मिञ्जाते तु संहृष्टः स बभूव पितामहः ॥ ६ ॥

परम हर्षित हो मुनिश्रेष्ठ विश्रवा जी ने अपनी भार्या के गर्भ से बलवान और परम अद्भुत एक पुत्र पैदा उत्पन्न किया, जिसमें

ब्राह्मणोचित समस्त गुण विद्यमान थे। उसके उत्पन्न होने से उसके बाबा पुलस्त्य जी को बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५ ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा श्रेयस्करीं बुद्धिं धनाध्यक्षो भविष्यति ।
नाम चास्याकरोत्प्रीतः सार्धं देवर्षिभिस्तदा ॥ ७ ॥

वे अपने नाती की कल्याणकारिणी बुद्धि देख कर बोले—"यह बालक धनाध्यक्ष होगा।" फिर उन्होंने अत्यन्त हर्षित हो देवर्षियों सहित उसका नामकरण किया ॥ ७ ॥

यस्माद्विश्रवसोऽपत्यं सादृश्याद्विश्रवा इव ।
तस्माद्वैश्रवणो नाम भविष्यत्येष विश्रुतः ॥ ८ ॥

वे बोले—यह बालक विश्रवा से उत्पन्न हुआ है और है भी उन्हींके सदृश। अतः यह वैश्रवण के नाम से विख्यात होगा ॥ ८ ॥

स तु वैश्रवणस्तत्र तपोवनगतस्तदा ।
अवर्धताहुतिहुतो महातेजा यथाऽनलः ॥ ९ ॥

उस तपोवन में रहता हुआ वह वैश्रवण आहुति छोड़े हुए अग्नि की तरह बढ़ने लगा। वह बड़ा तेजस्वी हुआ ॥ ६ ॥

तस्याश्रमपदस्थस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ।
चरिष्ये परमं धर्मं धर्मो हि परमा गतिः ॥ १० ॥

आश्रम में रहने के समय उस महात्मा के मन में यह बात उपजी कि, धर्म ही परमगति है, अतः मैं भी धर्माचरण अर्थात् तप करूँगा ॥ १० ॥

स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ।
यन्त्रितो नियमैरुग्रैश्चकार सुमहत्तपः ॥ ११ ॥

यह विचार वह बड़े कठोर नियमों के साथ हज़ार वर्ष तक बड़ी कठोर तपस्या करते रहे ॥ ११ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रान्ते तं तं विधिमकल्पयत् ।
जलाशी मारुताहारो निराहारस्तथैव च ।
एवं वर्षसहस्राणि जग्मुस्तान्येक वर्षवत् ॥ १२ ॥

एक हज़ार वर्ष बीत जाने पर वे कभी जल पी कर, कभी पवन पान कर और कभी कभी निराहार ही रह जाते थे। इस प्रकार उन्होंने एक हज़ार वर्ष, एक वर्ष की तरह बिता दिये ॥ १२ ॥

अथ प्रीतो महातेजाः सेन्द्रैः सुरगणैः सह ।
गत्वा तस्याश्रमपदं ब्रह्मेदं वाक्यमब्रवीत् ॥१३॥

तब तो ब्रह्मा जी उनके तप से प्रसन्न हुए और वे इन्द्र सहित समस्त देवताओं को अपने साथ ले उनके आश्रम में पहुँचे और उन ऋषिश्रेष्ठ से यह वचन बोले ॥ १३ ॥

परितुष्टोऽस्मि ते वत्स कर्मणाऽनेन सुव्रत ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते वरार्हस्त्वं महामते ॥ १४ ॥

हे सुव्रत ! हे वत्स ! मैं तुम्हारी इस तपस्या से तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ। अतः तुम वर पाने योग्य होने के कारण, अब तुम वरदान माँगो ॥ १४ ॥

अथाब्रवीद्वैश्रवणः पितामहमुपस्थितम् ।
भगवँल्लोकपालत्वमिच्छेयं वित्तरक्षणम् ॥ १५ ॥

अपने सामने ब्रह्मा जी को उपस्थित देख, वैश्रवण जी ने उनसे कहा—हे भगवन्! मेरी इच्छा है कि, मैं लोकपाल होऊँ और समस्त धन मेरे पास रहे ॥ १५ ॥

अथाब्रवीद्वैश्रवणं परितुष्टेन चेतसा ।
ब्रह्मा सुरगणैः सार्धं बाढमित्येव हृष्टवत् ॥ १६ ॥

ब्रह्मा जी ने समस्त देवताओं के साथ प्रसन्न मन हो वैश्रवण जी के वचनों को सहर्ष स्वीकार कर कहा—बहुत अच्छा ॥ १६ ॥

अहं वै लोकपालानां चतुर्थं स्रष्टुमुद्यतः ।
यमेन्द्रवरुणानां च पदं यत्तव चेप्सितम् ॥ १७ ॥

(और कहने लगे)—हे वत्स ! मैं तो चौथा लोकपाल रचने ही वाला था । हे धर्मज्ञ ! यम, इन्द्र और वरुण के समान (समकक्ष) लोकपाल होने की तुम्हारी जो कामना है ॥ १७ ॥

तद्गच्छ त्वं हि धर्मज्ञ निधीशत्वमवाप्नुहि ।
शक्राम्बुपयमानां च चतुर्थस्त्वं भविष्यसि ॥ १८ ॥

सो तुम निधियों के स्वामीपद को प्राप्त हो कर इन्द्रादि लोकपालों की तरह चौथे लोकपाल होगे ॥ १८ ॥

एतच्च पुष्पकं नाम विमानं सूर्यसन्निभम् ।
प्रतिगृह्णीष्व यानार्थं त्रिदशैः समतां व्रज ॥ १९ ॥

यह जो सूर्य के समान चमचमाता पुष्पक विमान है—इसे तुम अपनी सवारी के लिये लो, जिससे तुम देवताओं के समान हो सको ॥ १९ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामः सर्व एव यथागतम् ।
कृतकृत्या वयं तात दत्त्वा तव वरद्वयम् ॥ २० ॥

अच्छा तुम्हारा कल्याण हो अब हम लोग अपने स्थानों को जाते हैं । क्योंकि हे तात ! तुमको वरदान दे कर, हम लोग कृत-

कृत्य हो गये अर्थात् जिस काम के लिये आये थे वह कर चुके ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा स गतो ब्रह्मा स्वस्थानं त्रिदशैः सह ।
गतेषु ब्रह्मपूर्वेषु देवेष्वथ नभः स्थलम् ॥ २१ ॥

यह कह कर देवताओं सहित ब्रह्मा जी वहाँ से चले गये। ब्रह्मादि देवता जब आकाशमण्डल में चले गये ॥ २१ ॥

धनेशः पितरं प्राह प्राञ्जलिः प्रयतात्मवान् ।
भगवँल्लब्धवानस्मि वरमिष्टं पितामहात् ॥ २२ ॥

तब धनेश वैश्रवण जी सावधान हो और हाथ जोड़ कर अपने पिता से बोले, हे भगवन्! मैंने पितामह ब्रह्मा जी से अभीष्ट वरदान पा लिया ॥ २२ ॥

निवासनं न मे देवो विदधे स प्रजापतिः ।
तं पश्य भगवन्कञ्चिन्निवासं साधु मे प्रभो ।
न च पीडा भवेद्यत्र प्राणिनो यस्य कस्यचित् ॥ २३ ॥

किन्तु ब्रह्मा जी ने मेरे रहने के लिये कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया। अतः हे स्वामिन्! सो आप मेरे रहने के लिये कोई ऐसा स्थान बतलाइये जहाँ मेरे रहने से किसी को कष्ट या पीड़ा न हो ॥ २३ ॥

एवमुक्तस्तु पुत्रेण विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
वचनं प्राह धर्मज्ञ श्रूयतामिति सत्तमः ॥ २४ ॥

जब पुत्र ने इस प्रकार कहा, तब मुनिश्रेष्ठ विश्रवा ने अपने पुत्र से कहा—हे धर्मज्ञ! हे श्रेष्ठ! सुनो मैं तुम्हारे रहने के लिये स्थान बतलाता हूँ ॥ २४ ॥

दक्षिणस्योदधेस्तीरे त्रिकूटो नाम पर्वतः ।
तस्याग्रे तु विशाला सा महेन्द्रस्य पुरी यथा ॥ २५ ॥

दक्षिण समुद्र के तट पर अथवा समुद्र के दक्षिण तट पर त्रिकूट नामक एक पर्वत है। उस त्रिकूटपर्वत के शिखर पर इन्द्र की अमरावती पुरी की तरह एक विशाल नगरी है ॥ २५ ॥

लङ्का नाम पुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा ।
राक्षसानां निवासार्थं यथेन्द्रस्यामरावती ॥ २६ ॥

उस रमणीक नगरी का नाम लङ्का है, और उसकी रचना विश्वकर्मा ने की है। वह नगरी विश्वकर्मा ने राक्षसों के रहने के लिये इन्द्र की अमरावती पुरी की तरह बनाई है ॥ २६ ॥

तत्रत्वं वस भद्रं ते लङ्कायां नात्र संशयः ।
हेमप्राकारपरिखा यंत्रशस्त्रसमावृता ॥ २७ ॥

उसी लङ्कापुरी में तुम जाकर रहो। तुम्हारा मङ्गल होगा। इसमें कुछ सन्देह नहीं। उस नगरी के परकोटे की दीवाल सोने की है, उसके चारों ओर खाई खुदी हुई है और वह यंत्रों और शस्त्रों से भरी है ॥ २७ ॥

रमणीया पुरी सा हि रुक्मवैडूर्यतोरणा ।
राक्षसैः सा परित्यक्ता पुरा विष्णुभयार्दितैः ॥ २८ ॥

वह लङ्कापुरी बड़ी रमणीक है। उसके फाटक सोने के हैं और उनमें पन्ने जड़े हुए हैं। पहले उसमें राक्षस रहा करते थे, किन्तु विष्णु के डर से वे वहाँ से भाग गये हैं ॥ २८ ॥

शून्या रक्षोगणैः सर्वैं रसातलतलं गतैः ।
शून्या सम्प्रति लङ्का सा प्रभुस्तस्या न विद्यते ॥२९॥

और पृथिवी के नीचे रसातल में जा बसे हैं। अतः वह नगरी अब सूनी पड़ी है और उसका कोई मालिक नहीं है ॥ २९ ॥

स त्वं तत्र निवासाय गच्छ पुत्र यथासुखम् ।
निर्दोषस्तत्र ते वासो न बाधा तत्र कस्यचित् ॥ ३० ॥

हे पुत्र! तुम वहां जाकर सुख पूर्वक रहो। वहां तुम्हारे रहने में कुछ भी बुराई न होगी और न किसी को किसी प्रकार का कष्ट ही होगा ॥ ३० ॥

एतच्छ्रुत्वा स धर्मात्मा धर्मिष्ठं वचनं पितुः ।
निवासयामास तदा लङ्कां पर्वतमूर्धनि ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा वैश्रवण ने जब अपने पिता विश्रवा के इस प्रकार के धर्मिष्ठ वचन सुने, तब वे त्रिकूटपर्वत पर बनी हुई लङ्कापुरी में जा बसे ॥ ३१ ॥

नैर्ऋतानां सहस्रैस्तु हृष्टैः प्रमुदितैः सह ।
अचिरेणैव कालेन सम्पूर्णा तस्य शासनात् ॥ ३२ ॥

सदा हर्षित रहने वाले हज़ारों राक्षस वहां जा बसे। वैश्रवण के शासन में थोड़े ही दिनों में वह लङ्कापुरी भरी पुरी हो गयी ॥ ३२ ॥

स तु तत्रावसत्प्रीतो धर्मात्मा नैर्ऋतर्षभः ।
समुद्र परिखायां तु लङ्कायां विश्रवात्मजः ॥ ३३ ॥

विश्रवा मुनि के धर्मात्मा राक्षसराज पुत्र वैश्रवण, समुद्र की परिखा द्वारा चारों ओर से घिरी हुई लङ्कापुरी में प्रसन्नता पूर्वक रहने लगे ॥ ३३ ॥

काले कालेतु धर्मात्मा पुष्पकेण धनेश्वरः ।
अभ्यागच्छद्विनीतात्मा पितरं मातरं च हि ॥ ३४ ॥

धर्मात्मा धनेश्वर वैश्रवण समय समय पर पुष्पक विमान पर सवार हो, विनीत भाव से माता पिता के निकट जाया करते थे ॥ ३४ ॥

स देवगन्धर्वगणैरभिष्टुत-
स्तथाऽप्सरोनृत्यविभूषितालयः ।
गभस्तिभिःसूर्य इवावभासन्
पितुःसमीपं प्रययौसवित्तपः ॥ ३५ ॥

इति तृतीयः सर्गः

देवों और गन्धर्वों की स्तुति सुनते हुए, अप्सराओं के नृत्य से अपने भवन को भूपित करते हुए और सूर्य की किरणों की तरह चमचमाते वे धनाध्यक्ष वैश्रवण अपने पिता विश्रवा मुनि के निकट आया जाया करते थे ॥ ३५ ॥

उत्तरकाण्ड का तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुर्थः सर्गः

—: ० :—

श्रुत्वाऽगस्त्येरितं वाक्यं रामो विस्मयमागतः ।
कथमासीत्तु लङ्कायां सम्भवो रक्षसां पुरा ॥ १ ॥

अगस्त्य जी के कहे हुए इस वृत्तान्त को सुन श्रीरामचन्द्र जी विस्मित हुए कि, लङ्का में कुबेर जी के बसने के पूर्व भी राक्षसों का वहाँ रहना क्योंकर सम्भव हो सकता है ॥ १ ॥

ततः शिरः कम्पयित्वा त्रेताग्निसमविग्रहम् ।
तमगस्त्यं मुहुर्दृष्ट्वा स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने वार वार सिर को हिलाकर, और तीन अग्नियों के समान देह धारण किये अगस्त्य जी की ओर निहार कर विस्मित हो उनसे कहा ॥ २ ॥

भगवन् पूर्वमप्येषा लङ्काऽऽसीत्पिशिताशिनाम् ।
श्रुत्वेदं भगवद्वाक्यं जातो मे विस्मयः परः ॥ ३ ॥

हे भगवन्! पहले भी इस लङ्का पुरी में राक्षस लोग ही वास करते थे, आपका यह वचन सुन कर मुझको बड़ा आश्चर्य हुआ है ॥ ३ ॥

पुलस्त्यवंशादुद्भूता राक्षसा इति नः श्रुतम् ।
इदानीमन्यतश्चापि सम्भवः कीर्तितस्त्वया ॥ ४ ॥

क्योंकि हमने तो यही सुन रखा है कि, पुलस्त्य ही के वंश से राक्षसों की उत्पत्ति हुई है। परन्तु इस समय आपके कथन से जान पड़ा कि, राक्षसों की उत्पत्ति (पुलस्त्य के अतिरिक्त) अन्य किसी से भी हुई है ॥ ४ ॥

रावणात्कुम्भकर्णाच्च प्रहस्ताद्विकटादपि ।
रावणस्य च पुत्रेभ्यः किन्नु ते बलवत्तराः ॥ ५ ॥

क्या वे (पहिले के राक्षस) लोग रावण, कुम्भकर्ण, प्रहस्त, विकट और रावण के पुत्र से भी बढ़ कर बलवान् थे-॥ ५ ॥

क एषां पूर्वको ब्रह्मन्किंनामा च बलोत्कटः ।
अपराधं च कं प्राप्य विष्णुना द्राविताः कथम् ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन्! उन सब का मूल पूर्वपुरुष कौन महाबलवान था? उसका नाम क्या था? उन्होंने विष्णु का क्या बिगाड़ा था जो उन्होंने उन राक्षसों को वहाँ से मार भगाया ॥ ६ ॥

एतद्विस्तरतः सर्वं कथयस्व ममानघ ।
कौतूहलमिदं मह्यं नुद भानुर्यथा तमः ॥ ७ ॥

हे अनघ! यह समस्त वृत्तान्त आप मुझसे विस्तार पूर्वक कहिये और मेरे इस कुतूहल को उसी तरह दूर कीजिये जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को दूर करता है ॥ ७ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा संस्कारालंकृतं शुभम् ।
ईषद्विस्मयमानस्तमगस्त्यः प्राह राघवम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के संस्कारित (व्याकरण से शुद्ध) एवं अलङ्कार युक्त वचन सुन कर, अगस्त्य जी ने कुछ कुछ विस्मित हो श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ८ ॥

प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा ह्यपः सलिलसम्भवः ।
तासां गोपायने सत्त्वानसृजत्पद्मसम्भवः ॥ ९ ॥

हे राम! (भगवान् विष्णु के नाभि) कमल से उत्पन्न हो, ब्रह्मा जी ने सब से प्रथम जल की सृष्टि की, और जल की रक्षा के लिये उन्होंने अनेक (जल) जन्तुओं को बनाया ॥ ९ ॥

ते सत्त्वाः [1]सत्त्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः ।
किं कुर्म इति भाषन्तः क्षुत्पिपासा भयार्दिताः ॥१०॥

वे सब जीव विनीतभाव से सृष्टिकर्त्ता के पास जा खड़े हुए और बोले कि, हम क्या करें ? उस समय वे मारे भूख और प्यास से विकल हो रहे थे ॥ १० ॥

*प्रजापतिस्तु तान्सर्वान्प्रत्याह प्रहसन्निव ।
आभाष्य वाचा यत्नेन रक्षध्वमिति †मानवाः ॥ ११ ॥

प्रजापति ने मुसक्या कर उन सब से कहा कि, हे प्राणियो ! तुम यत्नपूर्वक मनुष्यों की रक्षा करो ॥ ११ ॥

रक्षामेति च तत्रान्ये यक्षाम इति चापरे ।
भुक्षिताभुक्षितैरुक्तस्ततस्तानाह भूतकृत् ॥ १२ ॥

उनमें से कुछ भूखे प्राणियों ने कहा, "रक्षामः" (अर्थात् हम रक्षा करते हैं) और उनमें से कुछ क्षुधा रहित प्राणियों ने कहा, "यक्षामः" अर्थात् हम उत्तरोत्तर वृद्धि करते हैं) ॥ १२ ॥

रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः ।
यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एव भवन्तुवः ॥ १३ ॥

उनका यह कथन सुन ब्रह्मा जी बोले कि, जिन प्राणियों ने कहा था कि, "रक्षामः" (हम रक्षा करते हैं) वे राक्षस हों और जिन्होंने कहा, "यक्षामः" वे यक्ष हों ॥ १३ ॥

तत्र हेतिः प्रहेतिश्च भ्रातरौ राक्षसाधिपौ ।
मधुकैटभ सङ्काशौ बभूवतुररिन्दमौ ॥ १४ ॥

---

1 सत्त्वकर्त्तारं—सृष्टिकर्तारं । (गो०) * पाठान्तरे—"प्रजापतिस्तु तान्याह सत्त्वानि प्रहसन्निव" । † पाठान्तरे—"सानदः" ।

उन राक्षसों में हेति और प्रहेति नामक दो भाई उत्पन्न हुए। ये दोनों भाई मधुकैटभ की तरह शत्रुनाशकारी थे। वे दोनों ही राक्षसों के स्वामी हुए ॥ १४ ॥

प्रहेतिर्धार्मिकस्तत्र तपोवन गतस्तदा।
हेतिर्दारक्रियार्थे तु परं यत्नमथाकरोत् ॥ १५ ॥

प्रहेति धार्मिक स्वभाव का होने के कारण तप करने को वन में चला गया। किन्तु हेति अपना विवाह करने के लिये बड़ा प्रयत्न करने लगा ॥ १५ ॥

स कालभगिनीं कन्यां भयां नाम *महाभयाम्।
उदावहदमेयात्मा स्वयमेव महामतिः ॥ १६ ॥

उच्चहृदय और महाबुद्धिमान् हेति ने स्वयं ही काल के निकट जा और प्रार्थना कर, काल की बहिन के साथ, जिसका नाम भया था और जो महाडरावनी थी, विवाह कर लिया ॥ १६ ॥

स तस्यां जनयामास हेती राक्षसपुङ्गवः।
पुत्रं पुत्रवतां श्रेष्ठो विद्युत्केशमिति श्रुतम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर पुत्रवानों में प्रथम गिने जाने योग्य राक्षसश्रेष्ठ हेति ने उस स्त्री के गर्भ से विद्युत्केश नामक विख्यात पुत्र पैदा किया ॥ १७ ॥

विद्युत्केशो हेतिपुत्रः स दीप्तार्कसमप्रभः।
व्यवर्धत महातेजास्तोयमध्ये †इवांबुजम् ॥ १८ ॥

महातेजस्वी हेति का पुत्र विद्युत्केश सूर्य की तरह अत्यन्त तेजस्वी हो जल में उगे हुए, कमल की तरह उत्तरोत्तर बढ़ने लगा ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"भयावहाम्"। † पाठान्तरे—"इवाम्बुदः"।

स यदा यौवनं भद्रमनुप्राप्तो निशाचरः ।
ततो दारक्रियां तस्य कर्तुं व्यवसितः पिता ॥ १९ ॥

जब वह राक्षस विद्युत्केश जवान हुआ, तब उसके पिता हेति ने उसका विवाह कर देना चाहा ॥ १९ ॥

सन्ध्यादुहितरं सोऽथ सन्ध्या तुल्यां प्रभावतः ।
वरयामास पुत्रार्थं हेती राक्षसपुङ्गवः ॥ २० ॥

अतः उस राक्षसश्रेष्ठ हेति ने सन्ध्या की तरह प्रतापिनी सन्ध्या की पुत्री को अपने पुत्र विद्युत्केश के लिये सन्ध्या से माँगा ॥ २० ॥

अवश्यमेव दातव्या परस्मै सेति सन्धया ।
चिन्तयित्वा सुता दत्ता विद्युत्केशाय राघव ॥ २१ ॥

हे राघव ! कन्या तो किसी न किसी को देनी ही है—यह विचार कर सन्ध्या ने विद्युत्केश को अपनी बेटी दे डाली ॥ २१ ॥

सन्ध्यायास्तनयां लब्ध्वा विद्युत्केशो निशाचरः ।
रमते स तया सार्धं पौलोम्या मघवानिव ॥ २२ ॥

सन्ध्या की बेटी को पाकर राक्षस विद्युत्केश उसके साथ उसी प्रकार विहार करने लगा, जिस प्रकार इन्द्र अपनी इन्द्राणी के साथ विहार करते हैं ॥ २२ ॥

केनचित्त्वथ कालेन राम सालकटङ्कटा ।
विद्युत्केशाद्गर्भमाप घनराजिरिवार्णवात् ॥ २३ ॥

हे राम! विद्युत्केश की पत्नी सालकटंकटा ने थोड़े दिनों बाद अपने पति से वैसे ही गर्भधारण किया जैसे, समुद्र जल से मेघ, घटाएँ गर्भधारण करती हैं॥ २३॥

ततः सा राक्षसी गर्भं घनगर्भसमप्रभम्।
प्रसूता मन्दरं गत्वा गङ्गा गर्भमिवाग्निजम्।
तमुत्सृज्य तु सा गर्भं विद्युत्केशरथार्थिनी॥ २४॥

उस राक्षसी ने मेघगर्भ के समान एक बालक मन्दराचल पर जाकर वैसे ही जना, जैसे गङ्गा ने अग्नि से धारण किये हुए गर्भ से बालक जना था॥ २४॥

रेमे तु सार्धं पतिना विसृज्य सुतमात्मजम्।
उत्सृष्टस्तु तदा गर्भो घनशब्दसमस्वनः २५॥

उस सद्य-प्रसूत-शिशु को उसी पर्वत पर छोड़ कर, वह सन्ध्या की बेटी सालकटंकटा सम्भोग की इच्छा से पुनः पति के पास जा विहार करने लगी। उधर उसका वह त्यागा हुआ पुत्र, मेघ की तरह शब्द करने लगा॥ २५॥

तयोत्सृष्टः स तु शिशुः शरदर्क समद्युतिः।
निधायास्ये स्वयं मुष्टिं रुरोद शनकैस्तदा॥ २६॥

शरद्कालीन सूर्य की तरह दीप्तिमान त्यागा हुआ वह शिशु मुँह में मुट्ठी दिये हुए पड़ा पड़ा धीरे धीरे रोने लगा॥ २६॥

ततो वृषभमास्थाय पार्वत्या सहितः शिवः।
वायुमार्गेण गच्छन्वै शुश्राव रुदितस्वनम्॥ २७॥

उस समय बैल पर सवार शिव और पार्वती आकाशमार्ग से उधर होकर कहीं जा रहे थे। उन्होंने जाते जाते उस बालक के रोने का शब्द सुना ॥ २७ ॥

अपश्यदुमया सार्धं रुदन्तं राक्षसात्मजम्।
कारुण्यभावात्पार्वत्या भवस्त्रिपुरसूदनः ॥ २८ ॥

फिर उस रोते हुए राक्षसशिशु को दोनों ने देखा भी और दयावश पार्वती के कहने से त्रिपुरासुर को मारने वाले महादेव जी ने ॥ २८ ॥

तं राक्षसात्मजं चक्रे मातुरेव वयः समम्।
अमरं चैव तं कृत्वा महादेवोऽक्षरोऽव्ययः ॥ २९ ॥

उस राक्षसपुत्र की उम्र, उसकी माता के बराबर कर दी और उसे अमर भी कर दिया। महादेव जी के लिये ऐसा करना कोई बड़ी बात न थी। क्योंकि वे तो अविनाशी और अपरिवर्तनशील हैं ॥ २९ ॥

पुरमाकाशगं प्रादात्पार्वत्याः प्रियकाम्यया।
उमयाऽपि वरोदत्तो राक्षसानां नृपात्मज ॥ ३० ॥

महादेव जी ने पार्वती जी को प्रसन्न करने के लिये उसे आकाशगामीपुर एक पुर के समान एक विमान भी दे दिया। हे नृपात्मज! पार्वती जी ने भी राक्षसियों को यह वर दिया कि ॥ ३० ॥

सद्योपलब्धिर्गर्भस्य प्रसूतिः सद्य एव च।
सद्य एव वयः प्राप्तिर्मातुरेव वयःसमम् ॥ ३१ ॥

राक्षसियाँ गर्भधारण करते ही बालक जनें और वह बालक तुरन्त माता के समान उम्र वाला हो जाय ॥ ३१ ॥

ततः सुकेशो वरदानगर्वितः

श्रियं प्रभोः प्राप्य हरस्य पार्श्वतः ।

चचार सर्वत्र महान्महामतिः

खगं पुरं प्राप्य पुरन्दरो यथा ॥ ३२ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

हे राम! सुकेश नामक विद्युत्केश का पुत्र महादेव जी से वरदान पा कर, बड़ा घमंडी हो गया। वह उस आकाशचारी नग (विमान) को और लक्ष्मी को पा, तथा उस नगर में बैठ कर, चारों ओर घूमने लगा ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

पञ्चमः सर्गः

—:o:—

सुकेशं धार्मिकं दृष्ट्वा वरलब्धं च राक्षसम् ।

ग्रामणीर्नाम गन्धर्वो विश्वावसु समप्रभः ॥ १ ॥

सुकेश को वरदान पाया हुआ तथा धार्मिक देख, विश्वावसु के समान तेजस्वी ग्रामणी नामक गन्धर्व ने ॥ १ ॥

तस्य देववती नाम द्वितीया श्रीरिवात्मजा ।

त्रिषु लोकेषु विख्याता रूपयौवनशालिनी ॥ २ ॥

अपनी देववती नाम की कन्या, जो दूसरी लक्ष्मी के समान थी, तथा जो युवती और सुन्दरी होने के कारण तीनों लोकों में प्रसिद्ध थी, ॥ २ ॥

तां सुकेशाय धर्मात्मा ददौ रक्षःश्रियं यथा ।
वरदानकृतैश्वर्यं सा तं प्राप्य पतिं प्रियम् ॥ ३ ॥

धर्मात्मा राक्षस सुकेश को राक्षसलक्ष्मी की तरह दे दी। शिव जी से वरदान पाने के कारण सुकेश ऐश्वर्यवान् हो गया था। ऐसे प्यारे पति को पा कर ॥ ३ ॥

आसीद्देववती तुष्टा धनं प्राप्येव निर्धनः ।
स तया सह संयुक्तो रराज रजनीचरः ॥ ४ ॥

देववती वैसे ही प्रसन्न हुई जैसे कोई निर्धन पुरुष धन पा कर प्रसन्न होता है। वह राक्षस सुकेश भी उसके साथ वैसे ही सुशोभित हुआ ॥ ४ ॥

अञ्जनादभिनिष्क्रान्तः करेण्वेव महागजः ।
देववत्यां सुकेशस्तु जनयामास राघव ।
त्रीन्पुत्राञ्जनयामास त्रेताग्निसमविग्रहान् ॥ ५ ॥

जैसे अंजन नामक दिग्गज से उत्पन्न हुआ महागज हथिनी के साथ सुशोभित हो। हे राघव! (तदनन्तर समय पाके सुकेश) ने देववती के गर्भ से तीन अग्नियों के समान शरीरधारी तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ५ ॥

माल्यवन्तं सुमालिं च मालिं च वलिनां वरम् ।
त्रींस्त्रिनेत्रसमान्पुत्रान् राक्षसान् राक्षसाधिपः ॥ ६ ॥

वलवानों में श्रेष्ठ उन तीनों के नाम थे—माल्यवान्, सुमाली और माली। राक्षसराज सुकेश ने तीन नेत्रों के समान ये तीन पुत्र उत्पन्न किये थे ॥ ६ ॥

त्रयो लोका इवाव्यग्राः स्थितास्त्रय इवाग्नयः ।
[1]त्रयो मंत्रा इवात्युग्रास्त्रयो घोरा इवामयाः[2] ॥ ७ ॥

सुकेश के ये तीनों पुत्र व्यग्रतारहित तीनों लोकों की तरह, गार्हपत्यादि तीन अग्नियों की तरह, अथवा तीनों वेदों की तरह अथवा वात पित्त कफ की तरह उग्र और भयङ्कर थे ॥ ७ ॥

त्रयः सुकेशस्य सुतास्त्रेताग्निसमतेजसः[3] ।
विवृद्धिमगमंस्तत्र व्याधयोपेक्षिता इव ॥ ८ ॥

सुकेश के तीनों अत्यन्त तेजवान पुत्र इस प्रकार बढ़ने लगे, जिस प्रकार उपेक्षा करने से रोग बढ़ता है ॥ ८ ॥

वरप्राप्तिं पितुस्ते तु ज्ञात्वैश्वर्यं तपोबलात् ।
तपस्तप्तुं गता मेरुं भ्रातरः कृतनिश्चयाः ॥ ९ ॥

कुछ दिनों पीछे पिता की वरप्राप्ति और उसके द्वारा प्राप्त पिता के ऐश्वर्य को देख, उन तीनों ने मेरु-पर्वत पर जा, तप करने का निश्चय किया ॥ ९ ॥

प्रगृह्य नियमान्घोरान् राक्षसा नृपसत्तम ।
विचेरुस्ते तपोघोरं सर्वभूतभयावहम् ॥ १० ॥

हे नृपश्रेष्ठ! वे तीनों राक्षस उस समय कठोर नियमों का पालन करना निश्चय कर, समस्त प्राणियों को भय उपजाने वाला घोर तप करने लगे ॥ १० ॥

सत्यार्जवशमोपेतैस्तपोभिर्भुवि दुर्लभैः ।
सन्तापयन्तस्त्रींल्लोकान्सदेवासुरमानुषान् ॥ ११ ॥

---

१ त्रयोमंत्रा—त्रयोवेदा । (गो०) २ त्रयआमयाः—वातपित्तश्लेष्मरूपाः । (गो०) ३ त्रेताग्निसम वर्चस इति तेजोतिशय उक्तः । (गो०)

सत्यभाषण, प्राणिमात्र में सरल व्यवहार एवं समदृष्टि, इन्द्रिय-दमन आदि का नियम कर, उन तीनों ने ऐसा घोर तप किया, जो पृथ्वीतल पर दुर्लभ था। ऐसे घोर तप से वे देवताओं और मनुष्यों सहित तीनों लोकों को सन्तप्त करने लगे ॥ ११ ॥

ततो विभुश्चतुर्वक्त्रो विमान वरमास्थितः ।
सुकेशपुत्रानामन्त्र्य वरदोऽस्मीत्यभाषत ॥ १२ ॥

तब तो विभु, चतुर्मुख एवं भूतभावन ब्रह्मा जी, विमान पर सवार हो कर, वहाँ आये और सुकेश के पुत्रों को सम्बोधन कर बोले, हम वरदान देने को आये हैं (तुम वर माँगो) ॥ १२ ॥

ब्रह्माणं वरदं ज्ञात्वा सेन्द्रैर्देवगणैर्वृतम् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे वेपमाना इवद्रुमाः ॥ १३ ॥

इन्द्रादि देवताओं सहित ब्रह्मा जी को वरदान देने को उद्यत देख, वे सब राक्षस, वृक्षों की तरह थर थर काँपते हुए, हाथ जोड़ कर बोले ॥ १३ ॥

तपसाऽऽराधितो देव यदि नो दिशसे वरम् ।
अजेयाः शत्रु हन्तारस्तथैव चिरजीविनः ।
प्रभविष्णवो भवामेति परस्परमनुव्रताः ॥ १४ ॥

हे देव! तप द्वारा आराधन किये जाने पर, यदि आप हमें वर देने को पधारे हैं, तो हम यह माँगते हैं कि, हममें आपस में प्रीति बनी रहे. कोई हम लोगों को जीत न पावे, अपने शत्रुओं का हम संहार किया करें और हम अजर अमर हों ॥ १४ ॥

एवं भविष्यतीत्युक्त्वा सुकेशतनयान्विभुः ।
स ययौ ब्रह्मलोकाय ब्रह्मा ब्राह्मणवत्सलः ॥ १५ ॥

इस पर ब्राह्मणवत्सल विभु ब्रह्मा जी बोले "तथास्तु"—तुम लोग ऐसे ही होगे। तदनन्तर सुकेश के पुत्रों को यह वरदान दे, ब्रह्मा जी ब्रह्मलोक को चले गये ॥ १५ ॥

वरं लब्ध्वा तु ते सर्वे राम रात्रिचरास्तदा ।
सुरासुरान्प्रबाधन्ते वरदानसुनिर्भयाः ॥ १६ ॥

हे राम ! इस प्रकार वे राक्षस वरदान पा कर, अत्यन्त निर्भीक हो, देवताओं और असुरों को सताने लगे ॥ १६ ॥

तैर्वाध्यमानास्त्रिदशाः सर्षिसङ्घाः सचारणाः ।
त्रातारं नाधिगच्छन्ति निरयस्था यथा नराः ॥ १७ ॥

उनसे सताये जा कर देवता, महर्षि और चारण, अनाथ की तरह रक्षक ढूंढने लगे। पर जैसे नरक के प्राणियों को कोई उद्धार कर्त्ता नहीं मिलता, वैसे ही उन सब को भी कोई रक्षक न मिला ॥ १७ ॥

अथ ते विश्वकर्माणं शिल्पिनां वरमव्ययम् ।
ऊचुः समेत्य संहृष्टा राक्षसा रघुसत्तम ॥ १८ ॥

हे रघूत्तम ! उन राक्षसों ने हर्षित अन्तःकरण से, शिल्पियों में श्रेष्ठ, चिरजीवी विश्वकर्मा के समीप जा कर कहा, ॥ १८ ॥

ओजस्तेजो बलवतां महतामात्मतेजसा ।
गृहकर्ता भवानेव देवानां हृदयेप्सितम् ॥ १९ ॥

अस्माकमपि तावत्त्वं गृहं कुरु महामते ।
हिमवन्तमपाश्रित्य मेरुं मन्दरमेव वा ॥ २० ॥

पराक्रमी, तेजस्वी और बलवान देवताओं की चाहना के अनुसार (मनमुताबिक) घर तुम्हीं बनाते हो, अतः हे महामते! हम लोगों के लिये भी तुम चाहे हिमालय पर, या मेरु पर्वत पर अथवा मन्दराचल पर एक भवन बना दो ॥ १६ ॥ २० ॥

महेश्वरगृहप्रख्यं गृहं नः क्रियतां महत् ।
विश्वकर्मा ततस्तेषां राक्षसानां महाभुजः ॥ २१ ॥

शिवभवन की तरह हमारा भवन बड़ा लंबा चौड़ा और ऊँचा होना चाहिये। उन महाबलवान राक्षसों के यह वचन सुन विश्वकर्मा ने ॥ २१ ॥

निवासं कथयामास शक्रस्येवामरावतीम् ।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे त्रिकूटो नाम पर्वतः ॥ २२ ॥

उन लोगों के रहने के लिये इन्द्र की तरह स्थान बतलाते हुए कहा कि, दक्षिण समुद्र के तट पर त्रिकूट नाम का एक पहाड़ है ॥ २२ ॥

सुवेल इति चाप्यन्यो द्वितीयस्तत्र सत्तमाः ।
शिखरे तस्य शैलस्य मध्यमेऽम्बुदसन्निभे ॥ २३ ॥

वहीं पर सुवेल नाम का एक दूसरा उत्तम पर्वत भी है। उस पर्वत का बीच वाला शिखर बड़ा ऊँचा एक बड़े मेघ की तरह देख पड़ता है ॥ २३ ॥

शकुनैरपि दुष्प्रापे टङ्कच्छिन्नचतुर्दिशि ।
त्रिंशद्योजनविस्तीर्णा शतयोजनमायता ॥ २४ ॥

उसके ऊपर उड़ कर पक्षी भी नहीं पहुँच सकते। क्योंकि वह चारों ओर से मानों टाँकियों से छोल कर, चिकनाया गया है। उसके

ऊपर बनी हुई नगरी तीस योजन चौड़ी और सौ योजन लंबी है ॥ २४ ॥

स्वर्णप्राकारसंवीता हेमतोरणसंवृता ।
मया लङ्केति नगरी शक्राज्ञप्तेन निर्मिता ॥ २५ ॥

लङ्का के परकोटे की दीवारें सोने की हैं और सोने के तोरणों (फाटकों) से भूषित है। इस लङ्कापुरी को मैंने इन्द्र की आज्ञा से बनाया था ॥ २५ ॥

तस्यां वसत दुर्धर्षा यूयं राक्षसपुङ्गवाः ।
अमरावतीं समासाद्य सेन्द्रा इव दिवौकसः ॥ २६ ॥

हे दुर्धर्ष राक्षसश्रेष्ठो! जिस प्रकार इन्द्रादि देवता अमरावती में रहते हैं, उसी प्रकार तुम लोग भी लङ्कापुरी में जा कर बसो ॥ २६ ॥

लङ्का दुर्गं समासाद्य राक्षसैर्बहुभिर्वृताः ।
भविष्यथ दुराधर्षाः शत्रूणां शत्रुसूदनाः ॥ २७ ॥

हे शत्रुओं का संहार करने वाले राक्षसों! जब तुम बहुत से राक्षसों के साथ लङ्का में बस जाओगे, तब तुम शत्रुओं से दुर्धर्ष हो जाओगे ॥ २७ ॥

विश्वकर्मवचः श्रुत्वा ततस्तेराक्षसोत्तमाः ।
सहस्रानुचरा भूत्वा गत्वा तामवसन्पुरीम् ॥ २८ ॥

विश्वकर्मा के इन वचनों को सुन कर, हज़ारों सेवकों को साथ ले कर, वे राक्षसोत्तम उस पुरी में जा बसे ॥ २८ ॥

दृढप्राकारपरिखां हैमैर्गृहशतैर्वृताम् ।
लङ्कामवाप्य ते हृष्टा न्यवसन् रजनीचराः ॥ २९ ॥

मज़बूत प्राकारों वाली और खाई से युक्त, तथा सैकड़ों हज़ारों सुवर्णभूषित गृहों से सुशोभित लङ्का में जा, वे सब राक्षस रहने लगे ॥ २९ ॥

एतस्मिन्नेवकाले तु यथाकामं च राघव ।
नर्मदा नाम गन्धर्वी बभूव रघुनन्दन ॥ ३० ॥

हे राघव ! इसी बीच में नर्मदा नामक एक गन्धर्वी अपनी इच्छा से उत्पन्न हुई ॥ ३० ॥

तस्याः कन्यात्रयं ह्यासीत् ह्रीश्रीकीर्तिसमद्युति ।
ज्येष्ठ क्रमेण सा तेषां राक्षसानामराक्षसी ॥ ३१ ॥

उसके तीन बेटियाँ थीं, जो कान्ति में ह्री, श्री और कीर्ति के तुल्य थीं । उस गन्धर्वी ने अपनी वे तीनों बेटियाँ ज्येष्ठक्रम से उन तीनों राक्षसों को दे दीं ॥ ३१ ॥

कन्यास्ताः प्रददौ हृष्टा पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।
त्रयाणां राक्षसेन्द्राणां तिस्रो गन्धर्वकन्यकाः ॥३२॥

पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुखवाली तीन गन्धर्वकन्याएँ उस गन्धर्वी ने हर्षित अन्तःकरण से उन तीन राक्षसश्रेष्ठों को दीं ॥ ३२ ॥

दत्ता मात्रा महाभागा नक्षत्रे भगदैवते ।
कृतदारास्तु ते राम सुकेशतनयास्तदा ॥ ३३ ॥

उस महाभागा ने यह विवाह उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र में किया था। हे राम! सुकेश के वे पुत्र अपनी अपनी स्त्रियों के साथ ॥३३॥

चिक्रीडुः सह भार्याभिरप्सरोभिरिवामराः ।
ततो माल्यवतो भार्या सुन्दरी नाम सुन्दरी ॥ ३४ ॥

वैसे ही विहार करने लगे, जैसे देवता अप्सराओं के साथ विहार किया करते हैं। कुछ दिनों बाद माल्यवान ने अपनी सौन्दर्यवती सुन्दरी नामक स्त्री से ॥ ३४ ॥

स तस्यां जनयामास यदपत्यं निबोध तत् ।
वज्रमुष्टिर्विरूपाक्षो दुर्मुखश्चैव राक्षसः ॥ ३५ ॥

सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च मत्तोन्मत्तौ तथैव च ।
अनलाचाभवत्कन्या सुन्दर्यां राम सुन्दरी ॥ ३६ ॥

जो जो पुत्र उत्पन्न किये, हे राम! उनको मैं आपको बतलाता हूँ। वज्रमुष्टि, विरूपाक्ष, दुर्मुख, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, मत्त, उन्मत्त—ये (माल्यवान के) सात पुत्र थे और अनला नाम की एक सुन्दरी कन्या भी उस सुन्दरी के गर्भ से माल्यवान के हुई ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

सुमालिनोऽपि भार्याऽऽसीत्पूर्णचन्द्रनिभानना ।
नाम्ना केतुमती राम प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ३७ ॥

सुमाली की भार्या भी पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह सुन्दर मुखवाली थी। हे राम! उसका नाम केतुमती था और वह अपने पति को प्राणों से भी बढ़ कर प्यारी थी ॥ ३७ ॥

सुमाली जनयामास यदपत्यं निशाचरः ।
केतुमत्यां महाराज तन्निबोधानुपूर्वशः ॥ ३८ ॥

हे महाराज! सुमाली ने अपनी भार्या केतुमती के गर्भ से जो सन्तानें उत्पन्न कीं, अब मैं उनके नाम आपको क्रम से सुनाता हूँ ॥ ३८ ॥

प्रहस्तोऽकम्पनश्चैव विकटः कालिकामुखः ।
धूम्राक्षश्चैव दण्डश्च सुपार्श्वश्च महाबलः ॥ ३९ ॥

प्रहस्त, कम्पन, विकट, कालिकामुख, धूम्राक्ष, दण्ड, महाबली सुपार्श्व ॥ ३९ ॥

संह्रादिः प्रघसश्चैव भासकर्णश्च राक्षसः ।
राका पुष्पोत्कटाश्चैव कैकसी च *शुचिस्मिता ।
कुम्भीनसी च इत्येते सुमालेः प्रसवाः स्मृताः ॥ ४० ॥

संह्रादि, प्रघस, और भासकर्ण—ये तो महाबली सुमाली के पुत्र हुए और कुम्भीनसी, कैकसी, राका और पुष्पोत्कटा नाम की कन्याएँ भी सुमाली ने उत्पन्न कीं ॥ ४० ॥

मालेस्तु वसुधा नाम गन्धर्वी रूपशालिनी ।
भार्याऽऽसीत्पद्मपत्राक्षी स्वक्षी यक्षीवरोपमा ॥ ४१ ॥

हे स्वामिन्! अत्यन्त रूपवती वसुधा नाम की गन्धर्वी माली राक्षस की भार्या थी। उसके नेत्र कमल की तरह होने के कारण एक श्रेष्ठ यक्षी के समान थे ॥ ४१ ॥

सुमालेरनुजस्तस्यां जनयामासयत्प्रभो ।
अपत्यं कथ्यमानं तु मया त्वं शृणु राघव ॥ ४२ ॥

हे प्रभो! सुमाली के छोटे भाई माली ने इस स्त्री के गर्भ से जो जो सन्तानें उत्पन्न कीं, मैं अब उनको बतलाता हूँ। आप सुनें ॥४२॥

---

* पाठान्तरे—"सुमध्यमा"।

अनलश्चानिलश्चैव हरः सम्पातिरेव च ।
एते विभीषणामात्या मालेयास्तु निशाचराः ॥ ४३ ॥

अनल, अनिल, हर और सम्पाति ये माली के पुत्र थे और ये हो चारों विभीषण के मंत्री हुए ॥ ४३ ॥

ततस्तु ते राक्षसपुङ्गवास्त्रयो
निशाचरैः पुत्रशतैश्च संवृताः ।
सुरान्सहेन्द्रानृषिनागयक्षान्
बबाधिरे तान्बहुवीर्यदर्पिताः ॥ ४४ ॥

राक्षसों में श्रेष्ठ उन तीन राक्षसों का परिवार बहुत बढ़ गया। वे तीनों राक्षस अपने सैकड़ों पुत्रों के साथ इन्द्र सहित समस्त देवताओं, ऋषियों, नागों और यक्षों को सताने लगा ॥ ४४ ॥

जगद्भ्रमन्तोऽनिलवद्दुरासदा
रणेषुमृत्युप्रतिमानतेजसः ।
वरप्रदानादतिगर्विता भृशं
क्रतुक्रियाणां प्रशमंकराः सदा ॥ ४५ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

वे सब दुरासद राक्षस, वायु की तरह संसार में सर्वत्र भ्रमण करते थे। ये समस्त राक्षस संग्रामक्षेत्र में काल के समान अमित तेजस्वी हो जाते थे और वरदान पाने से अत्यन्त गर्वित हो सदैव यज्ञों को नष्ट किया करते थे ॥ ४५ ॥

उत्तरकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

षष्ठः सर्गः

—:०:—

तैर्वध्यमाना देवाश्च ऋषयश्च तपोधनाः ।
भयार्ताः शरणं जग्मुर्देवदेवं महेश्वरम् ॥ १ ॥

उन राक्षसों से सताये जाने पर देवता और तपस्वी ऋषिगण भयार्त हो देवदेव महादेव के शरण में गये ॥ १ ॥

जगत्सृष्ट्यन्तकर्तारमजमव्यक्तरूपिणम् ।
आधारं सर्वलोकानामाराध्यं परमं गुरुम् ॥ २ ॥

जो महादेव इस संसार के रचने वाले, इसका अन्त करने वाले, तथा समस्त लोगों के आधार हैं, जो अज (अजन्मा), अव्यक्तरूप, आराधना करने योग्य और परमगुरु हैं ॥ २ ॥

ते समेत्य तु कामारिं त्रिपुरारिं त्रिलोचनम् ।
ऊचुः प्राञ्जलयो देवा भयगद्गदभाषिणः ॥ ३ ॥

उन त्रिपुरारी एवं त्रिलोचन महादेव जी के निकट समस्त देवता गये और हाथ जोड़ कर एवं गिड़गिड़ा कर कहने लगे ॥ ३ ॥

सुकेश पुत्रैर्भगवन्पितामहवरोद्धतैः ।
प्रजाध्यक्ष प्रजाः सर्वा बाध्यन्ते रिपुबाधनैः ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! हे प्रजाध्यक्ष ! शत्रुओं को सताने वाले सुकेश के पुत्र ब्रह्मा जी के वर से ढीठ हो, समस्त प्रजा को पीड़ित कर रहे हैं ॥ ४ ॥

शरणान्यशरण्यानि आश्रमाणि कृतानि नः ।
स्वर्गाच्च देवान्प्रच्याव्य स्वर्गे क्रीडन्ति देववत् ॥५॥

हम लोगों के घरों और आश्रमों को उन लोगों ने उजाड़ डाला है और स्वर्ग से हम लोगों को निकाल कर आप देवताओं की तरह वहाँ क्रीड़ा करते हैं ॥ ५ ॥

अहं विष्णुरहं रुद्रो ब्रह्माहं देवराडहम् ।
अहं यमश्च वरुणश्चन्द्रोऽहं रविरप्यहम् ॥ ६ ॥

हम विष्णु हैं, हम रुद्र हैं, हम ब्रह्मा हैं, हम इन्द्र हैं, हम यम हैं, हम वरुण हैं, हम चन्द्रमा हैं, और हम सूर्य हैं ॥ ६ ॥

इति माली सुमाली च माल्यवांश्चैव राक्षसाः ।
बाधन्ते समरोद्धर्षा ये च तेषां पुरः सराः ॥ ७ ॥

इस प्रकार माली, सुमाली और माल्यवान कहते हैं और युद्ध में उत्साहित हो, जिसको सामने पाते हैं उसे ही सताया करते हैं ॥ ७ ॥

तन्नो देव भयार्तानामभयं दातुमर्हसि ।
अशिवं वपुरास्थाय जहि वै देवकण्टकान् ॥ ८ ॥

हे देव ! हम सब भयभीत हो रहे हैं। सो आप हम सब को अभयदान दीजिये। आप भयङ्कर रूप धारण कर, उन देवकण्टकों का नाश कीजिये ॥ ८ ॥

इत्युक्तस्तु सुरैः सर्वैः कपर्दी नीललोहितः ।
सुकेशं प्रति सापेक्षः प्राह देवगणान्प्रभुः ॥ ९ ॥

उन समस्त देवताओं की इस प्रार्थना को सुन, कपर्दी, नील-लोहित (शिव के नाम विशेष) महादेव जी, सुकेश का पक्ष ले कर, देवताओं से बोले ॥ ९ ॥

अहं तान्न हनिष्यामि ममाऽवध्या हि तेऽसुराः ।
किं तु मंत्रं[1] प्रदास्यामि यो वै तान्निहनिष्यति ॥ १० ॥

हे देवगण ! मैं तो उन राक्षसों को न मारूँगा, क्योंकि मुझसे तो वे अवध्य हैं (अर्थात् मेरे मारे वे नहीं मारे जा सकेंगे ।) परन्तु मैं तुमको उपाय बताता हूँ कि, उनको कौन मारेगा ॥ १० ॥

एतमेव समुद्योगं पुरस्कृत्य महर्षयः ।
गच्छध्वं शरणं विष्णुं हनिष्यति स तान्प्रभुः ॥ ११ ॥

हे महर्षियों ! इसी प्रकार देवताओं को साथ ले तुम लोग भगवान् विष्णु के शरण में जाओ । वे भगवान् उन दुष्ट राक्षसों का नाश कर डालेंगे ॥ ११ ॥

ततस्तु जयशब्देन प्रतिनन्द्य महेश्वरम् ।
विष्णोः समीपमाजग्मुर्निशाचरभयार्दिताः ॥ १२ ॥

यह सुन महादेव जी को जयजयकार मना कर, उनकी प्रशंसा करते हुए, निशाचरों के भय से पीड़ित, वे सब भगवान् विष्णु के पास पहुँचे ॥ १२ ॥

शङ्खचक्रधरं देवं प्रणम्य बहुमान्य च ।
ऊचुः संभ्रान्तवद्वाक्यं सुकेशतनयान्प्रति ॥ १३ ॥

शङ्खचक्रधारी भगवान् विष्णु को बड़े आदर के साथ प्रणाम कर, देवताओं ने सुकेश के पुत्रों के विषय में घबड़ा कर कहा ॥ १३ ॥

---

१ मंत्रं—उपायं । (गो०)

सुकेशतनयैर्देव त्रिभिस्त्रेताग्निसन्निभैः ।
आक्रम्य वरदानेन स्थानान्यपहृतानि नः ॥ १४ ॥

हे देव! तीन अग्नियों के समान अत्यन्त तेजस्वी, सुकेश के तीनों पुत्रों ने वरदान पा कर और प्रचण्ड हो कर, हम लोगों के स्थान छीन लिये हैं ॥ १४ ॥

लङ्का नाम पुरी दुर्गा त्रिकूटशिखरे स्थिता ।
तत्र स्थिताः प्रबाधन्ते सर्वान्नः क्षणदाचराः ॥ १५ ॥

वे त्रिकूट पर्वत के शिखर पर बनी हुई लङ्कापुरी में रहते हैं और हम सब लोगों को सताया करते हैं ॥ १५ ॥

स त्वमस्मद्धितार्थाय जहि तान्मधुसूदन ।
शरणं त्वां वयं प्राप्ता गतिर्भव सुरेश्वर ॥ १६ ॥

अतएव हे मधुसूदन! हम लोगों के हित के लिये, आप उन सब को मारिये। हे सुरेश्वर! हम सब आपके शरण में आये। अतः आप हम लोगों की रक्षा कीजिये ॥ १६ ॥

चक्रकृत्तास्यकमलान्निवेदय यमाय वै ।
भयेष्वभयदोऽस्माकं नान्योऽस्ति भवता विना ॥ १७ ॥

आप अपने चक्र से उनके कमल सदृश मुखों को (गर्दनों को) काट कर यम को अर्पण कीजिये। क्योंकि आपको छोड़, हम लोगों को इस भय से अभय करने वाला और दूसरा कोई नहीं है ॥ १७ ॥

राक्षसान्समरे दुष्टान्सानुबन्धान्मदोद्धतान् ।
नुद त्वं नो भयं देव नीहारमिव भास्करः ॥ १८ ॥

हे देव ! युद्ध के लिये सदा उत्साहित रहने वाले अथवा लड़ने में बड़े मज़बूत और मदोद्धत उन राक्षसों को आप उनके अनुचरों अथवा परिवार सहित ऐसे नष्ट कीजिये, जैसे सूर्य कुहरे का नाश करते हैं ॥ १८ ॥

इत्येवं दैवतैरुक्तो देवदेवो जनार्दनः ।
अभयं भयदोऽरीणां दत्त्वा देवानुवाच ह ॥ १९ ॥

जब देवताओं ने इस प्रकार कहा, तब देवादिदेव और शत्रुओं को भय देने वाले भगवान् जनार्दन, देवताओं को अभय दे कर, उनसे बोले ॥ १९ ॥

सुकेशं राक्षसं जाने ईशानवर दर्पितम् ।
तांश्चास्य तनयाञ्जाने येषां ज्येष्ठः स माल्यवान् ॥२०॥

शिव के वर से दर्पित सुकेश राक्षस को मैं जानता हूँ । उसके सब पुत्र भी मेरे जाने हुए हैं । उन सब में बड़ा माल्यवान है ॥२०॥

तानहं समतिक्रान्तमर्यादान् राक्षसाधमान् ।
निहनिष्यामि संक्रुद्धः सुरा भवत विज्वराः ॥ २१ ॥

मर्यादा तोड़ने वाले उन राक्षसाधमों को मैं क्रोध में भर मारूँगा । अब तुम सब निश्चिन्त हो जाओ ॥ २१ ॥

इत्युक्तास्ते सुराः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना ।
यथावासं ययुर्हृष्टाः प्रशंसन्तो जनार्दनम् ॥ २२ ॥

देवशिरोमणि भगवान् विष्णु के ये वचन सुन, समस्त देवता हर्षित हुए और जनार्दन भगवान् की प्रशंसा करते हुए, अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ २२ ॥

विबुधानां समुद्योगं माल्यवांस्तु निशाचरः।
श्रुत्वा तौ भ्रातरौ वीराविदं वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥

देवताओं के इस उद्योग का संवाद पा कर, माल्यवान अपने दोनों भाइयों से बोला ॥ २३ ॥

अमरा ऋषयश्चैव संगम्य किल शङ्करम्।
अस्मद्वधं परीप्सन्त इदं वचनमब्रुवन् ॥ २४ ॥

देवताओं और ऋषियों ने हम लोगों का वध करवाने की कामना से शिव जी के पास जा, उनसे यह कहा ॥ २४ ॥

सुकेशतनया देव वरदानबलोद्धताः।
बाधन्तेऽस्मान्समुद्दृप्ता घोररूपाः पदे पदे[1] ॥ २५ ॥

हे देव! सुकेश के भयङ्कररूपधारी पुत्र वरदान पा कर बड़े अभिमानी हो गये हैं। वे हम लोगों को प्रतिक्षण सताया करते हैं ॥ २५ ॥

राक्षसैरभिभूताः स्म न शक्ताः स्म प्रजापते।
स्वेषु सद्मसु संस्थातुं भयात्तेषां दुरात्मनाम् ॥ २६ ॥

हे प्रजापते! उन दुरात्माओं के उत्पातों और भय के कारण हम लोगों को अपने घरों में रहना कठिन हो गया है ॥ २६ ॥

तदस्माकं हितार्थाय जहि तांश्च त्रिलोचन।
राक्षसान्हुंकृतेनैव दह प्रदहतांवर ॥ २७ ॥

---

१ पदे पदे—प्रतिक्षण मित्यर्थः। (गो०)

अतएव हे त्रिलोचन! हम लोगों की भलाई के लिये आप उन सब को मारिये। हे भस्म करने वालों में श्रेष्ठ! आप हुंकार ही से उन समस्त राक्षसों को भस्म कर डालिये॥ २७॥

इत्येवं त्रिदशैरुक्तो निशम्यान्धकसूदनः।
शिरः करं च धुन्वान इदं वचनमब्रवीत्॥ २८॥

अंधकासुर के मार डालने वाले महादेव जी ने, देवताओं के ऐसे वचन सुन, अपने सिर को हाथ से धुन कर, यह कहा॥२८॥

अवध्या मम ते देवाः सुकेशतनया रणे।
मन्त्रं तु वः प्रदास्यामि यस्तान्वै निहनिष्यति॥ २९॥

हे देवताओ! मैं युद्ध में सुकेश के पुत्रों को नहीं मार सकता, क्योंकि वे मेरे हाथ से नहीं मर सकते। किन्तु जो उन्हें मार सकता है, उसके विषय में, मैं तुमको उपाय बतलाता हूँ॥ २९॥

योसौ चक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः।
हरिर्नारायणः श्रीमान् शरणं तं प्रपद्यथ॥ ३०॥

जो चक्र और गदाधारी हैं, जो पीतवस्त्र पहिनते हैं, जिनके नाम जनार्दन, हरि और नारायण हैं, उन श्रीयुक्त भगवान् विष्णु के तुम सब लोग शरण हो॥ ३०॥

हरादवाप्य ते मन्त्रं कामारिमभिवाद्य च।
नारायणलयं प्राप्य तस्मै सर्वं न्यवेदयन्॥ ३१॥

महादेव जी के बतलाये, इस उपाय को सुन और उनको प्रणाम कर, वे समस्त देवता वैकुण्ठ में पहुँचे और श्रीमन्नारायण से सारा वृत्तान्त कहा॥ ३१॥

ततो नारायणेनोक्ता देवा इन्द्र पुरोगमाः ।

सुरारींस्तान्हनिष्यामि सुरा भवत निर्भयाः* ॥ ३२ ॥

तब नारायण ने उन इन्द्रप्रमुख समस्त देवताओं से कहा कि, मैं देवताओं के उन शत्रुओं को अवश्य मारूँगा। तुम सब अब निर्भय हो जाओ ॥ ३२ ॥

देवानां भयभीतानां हरिणा राक्षसर्पभौ ।

प्रतिज्ञातो वधोऽस्माकं चिन्त्यतां यदिह क्षमम् ॥ ३३ ॥

हे राक्षसश्रेष्ठो! भयभीत देवताओं से नारायण ने हम लोगों के मार डालने की प्रतिज्ञा की है। अतः अब जो उचित हो, वह विचारना चाहिये ॥ ३३ ॥

हिरण्यकशिपोर्मृत्युरन्येषां च सुरद्विषाम् ।

नमुचिःकालनेमिश्च संह्रादो वीरसत्तमः ॥ ३४ ॥

राधेयो बहुमायी च लोकपालोऽथ धार्मिकः ।

यमलार्जुनौ च हार्दिक्यः शुंभश्चैव निशुम्भकः ॥३५॥

असुरा दानवाश्चैव सत्ववन्तो महाबलाः ।

सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्तेऽपराजिताः ॥ ३६ ॥

नारायण द्वारा हिरण्यकशिपु तथा अन्य भी देवताओं के शत्रु मारे गये हैं। इनके अतिरिक्त सुना जाता है, नमुचि, कालनेमि, वीरश्रेष्ठ संह्राद, अनेक प्रकार की माया जानने वाला राधेय, धार्मिक लोकपाल, यमल, अर्जुन, हार्दिक्य, शुम्भ, निशुम्भ आदि बड़े बड़े पराक्रमी और महाबली असुरों तथा दानवों को विष्णु ने युद्ध में परास्त किया है ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

* पाठान्तरे—" विज्वराः " ।

सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं सत्रं मायाविदस्तथा ।
सर्वे सर्वास्त्रकुशलाः सर्वे शत्रुभयङ्कराः ॥ ३७ ॥

विशेष कर वे सब सैकड़ों यज्ञ करने वाले, विविध प्रकार की मायाओं के जानने वाले और समस्त अस्त्रों के चलाने में निपुण थे तथा शत्रुओं को भयभीत करने वाले थे ॥ ३७ ॥

नारायणेन निहताः शतशोथ सहस्रशः ।
एतज्ज्ञात्वा तु सर्वेषां क्षमं कर्तुमिहार्हथ ॥ ३८ ॥

ऐसे सैकड़ों हज़ारों देवताओं के शत्रुओं को, भगवान् विष्णु ने मार डाला है । अतएव इस विषय में जो उचित करना समझ पड़े सो करना चाहिये ॥ ३८ ॥

ततः सुमाली माली च श्रुत्वा माल्यवतो वचः ।
ऊचतुर्भ्रातरं ज्येष्ठमश्विनाविव वासवम्* ॥ ३९ ॥

तब माल्यवान के इन वचनों को सुन माली और सुमाली अपने बड़े भाई माल्यवान से वैसे ही बोले जैसे दोनों अश्विनीकुमार इन्द्र से बोलते हैं ॥ ३९ ॥

स्वधीतं दत्तमिष्टं च ऐश्वर्यं परिपालितम् ।
आयुर्निरामयं प्राप्तं सुधर्मः† स्थापितः पथि ॥ ४० ॥

भाई ! हम लोगों ने विधिपूर्वक वेद पढ़ा, दान दिये, यज्ञ किये, ऐश्वर्य की वृद्धि कर उसको भोग किया । दीर्घआयु और आरोग्यता पायी, हमने अच्छे धर्म की स्थापना की ॥ ४० ॥

---

* पाठान्तरे—"भगांशाविव वासवम्" । † पाठान्तरे—"प्रक्षितः" ।

देवसागरमक्षोभ्यं शस्त्रैः समवगाह्य च।
जिता द्विषो ह्यप्रतिमास्तन्नो मृत्युकृतं भयम् ॥ ४१ ॥

देवतारूपी अक्षोभ्य समुद्र को हमने शस्त्रों से क्षुब्ध किया और बड़े बड़े शत्रुओं को पराजित किया। सो अब हमको मृत्यु का तो भय है नहीं ॥ ४१ ॥

नारायणश्च रुद्रश्च शक्रश्चापि यमस्तथा।
अस्माकं प्रमुखे स्थातुं सर्वे बिभ्यति सर्वदा ॥ ४२ ॥

देखो नारायण, रुद्र, इन्द्र और यम भी हमारा सामना करने में सदा डरा करते हैं ॥ ४२ ॥

विष्णोर्द्वेषस्य नास्त्येव कारणं राक्षसेश्वर।
देवानामेव दोषेण विष्णोः प्रचलितं मनः ॥ ४३ ॥

हे राक्षसेश्वर! फिर विष्णु के साथ हमारा कोई द्वेष भी नहीं है। परन्तु सम्भव है, देवताओं के उभाड़ने से वे हम लोगों के विरुद्ध हो गये हों अथवा उनका मन हमारी ओर से फिर गया हो ॥ ४३ ॥

*तस्मादद्यैव सहिताः सर्वेऽन्योन्य समावृताः।
देवानेव जिघांसामो येभ्यो दोषः समुत्थितः ॥ ४४ ॥

अतः हम सब अन्य राक्षसों को साथ ले, आज ही उन देवताओं को मार डालें, जिनके उभाड़ने से विष्णु हमको मारने के लिये उद्यत हुए हैं ॥ ४४ ॥

एवं संमन्त्र्य बलिनः सर्वे सैन्यमुपासिताः† ।
उद्योगं घोषयित्वा तु सर्वे नैर्ऋतपुङ्गवाः ॥ ४५ ॥

---

* पाठान्तरे—"तस्मादद्य समुद्युक्ताः सर्वसैन्यसमावृताः। देवानेव जिघांसाम एभ्यो दोषः समुत्थितः॥" † पाठान्तरे—'सैन्यक्षमावृताः।"

इस प्रकार सलाह कर और युद्ध की घोषणा कर, साथ में सेना ले उन बलवानों ने मारू बाजा बजवाते हुए, देवताओं के ऊपर चढ़ाई की ॥ ४५ ॥

युद्धायनिर्ययुः क्रुद्धा जृम्भवृत्रादयो* यथा।
इति ते राम संमन्त्र्य सर्वोद्योगेन राक्षसाः ॥ ४६ ॥
युद्धाय निर्ययुः सर्वे महाकाया महाबलाः।
स्यन्दनैर्वारणैश्चैव हयैश्च करिसन्निभैः† ॥ ४७ ॥

हे राम! इस तरह सब प्रकार से तैयारी कर और युद्ध के लिये देवताओं को ललकारते हुए, राक्षस लोग क्रोध में भर उसी प्रकार युद्ध करने के लिये निकले, जिस प्रकार जृम्भ, वृत्रासुरादि निकले थे। वे महाकाय और महाबलवान राक्षस रथों पर, हाथियों पर और हाथियों के समान ऊँचे घोड़ों पर सवार होकर लड़ने को गये ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

खरैर्गोभि रथोष्ट्रैश्च शिशुमारैर्भुजङ्गमैः।
मकरैः कच्छपमीनैर्विहङ्गैर्गरुडोपमैः ॥ ४८ ॥
सिंहैर्व्याघ्रैर्वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि।
त्यक्त्वा लङ्कां गताः सर्वे राक्षसा बलगर्विताः ॥४९॥

बहुत से राक्षस गधों, बैलों, ऊँटों, सूसों, साँपों, घड़ियालों, कछुओं, मच्छों और गरुड़ के समान पक्षियों, सिंहों, व्याघ्रों, वराहों, सृमरों व चमरों पर सवार थे। वे बल के अहंकार में चूर, लङ्का से रवाना हुए ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

प्रयाता देवलोकाय योद्धुं दैवतशत्रवः।
लङ्काविपर्ययं दृष्ट्वा यानि लङ्कालयान्यथ ॥ ५० ॥

---

* पाठान्तरे—"जृम्भवृत्रबला इव"। † पाठान्तरे—"गिरिसन्निभैः"।

ये देवताओं के शत्रु जिस समय लड़ने के लिये देवलोक को रवाना हुए, उस समय लङ्का के अन्य रहने वालों ने वहाँ बड़ी उथल पुथल देखी ॥ ५० ॥

भूतानि भयदर्शीनि विमनस्कानि सर्वशः ।
रथोत्तमैरूह्यमानाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५१ ॥

प्रयाता राक्षसास्तूर्णं देवलोकं प्रयत्नतः ।
रक्षसामेव मार्गेण दैवतान्यपचक्रमुः ॥ ५२ ॥

उस समय लङ्का में जितने भयदर्शी प्राणी थे, वे सब उदास हो गये। श्रेष्ठ रथों पर सवार हो सैकड़ों हज़ारों राक्षस अति सावधानी से देवलोक के लिये चल पड़े। लङ्कावासी देवता भी उसी मार्ग से चले जिस मार्ग से राक्षस चढ़ाई करने गये थे ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

भौमाश्चैवांतरिक्षाश्च कालाज्ञप्ता भयावहाः ।
उत्पाता राक्षसेन्द्राणामभवाय समुत्थिताः ॥ ५३ ॥

उस समय धरती पर और आकाश में ऐसे बड़े बड़े उत्पात (अशकुन) हुए, जो बड़े भयङ्कर थे और काल से प्रेरित राक्षसनाथ के नाश की सूचना देने वाले थे ॥ ५३ ॥

अस्थीनि मेघा ववृषुरुष्णं शोणितमेव च ।
वेलां समुद्राश्चोत्क्रान्ताश्चेलुश्चाप्यथ भूधराः ॥ ५४ ॥

अट्टहासान्विमुञ्चन्तो घननादसमस्वनाः ।
वाश्यन्त्यश्च शिवास्तत्र दारुणं घोरदर्शनाः ॥ ५५ ॥

बादलों से हड्डियों और गर्म गर्म लोहू की वर्षा हुई, समुद्र अपनी अपनी मर्यादाएँ छोड़ बड़ी बड़ी लहरों से लहराने लगे।

पहाड़ काँप उठे। भयानक रूप वाली सियारनें मेघगर्जन की तरह अट्टहास करतीं हुईं, बड़े ज़ोर से चिल्लाने लगीं ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

सम्पतन्त्यथ भूतानि दृश्यन्ते च यथाक्रमम् ।
गृध्रचक्रं महाच्चात्र प्रज्वालोद्गारिभिर्मुखैः ॥ ५६ ॥

रक्षोगणस्योपरिष्टात्परिभ्रमति कालवत् ।
कपोता रक्तपादाश्च सारिका विद्रुता ययुः ॥ ५७ ॥

भयानक भूत (प्रेत) यथाक्रम एकत्र हो गये अथवा पञ्चभूत—जल, तेज, वायु, आकाश, पृथिवी यथाक्रम विवर्जित होते हुए से देख पड़े। गीधों के झुण्ड मुँह से अग्नि की ज्वाला निकालते हुए काल की तरह राक्षसी सेना के ऊपर चारों ओर घूमने लगे। कबूतर, हंस और मैनाएँ घबड़ा कर भाग गयीं ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

काका वाश्यन्ति तत्रैव विडालाय द्विपादिकाः ।
उत्पातांस्ताननादृत्य राक्षसा बलदर्पिताः ॥ ५८ ॥

कौएँ चिल्लाने लगे और दो पैर के बिडाल (विशेष) प्रकट हुए। किन्तु इन सब अपशकुनों की कुछ भी परवाह न कर, क्योंकि वे तो अपने बल के अहंकार में चूर हो रहे थे ॥ ५८ ॥

यान्त्येव न निवर्तन्ते मृत्युपाशावपाशिताः ।
माल्यवांश्च सुमाली च माली च सुमहाबलः ॥ ५९ ॥

पुरस्सरा राक्षसानां ज्वलिता इव पावकाः ।
माल्यवन्तं तु ते सर्वे माल्यवन्तमिवाचलम् ॥६०॥

निशाचरा आश्रयन्ति धातारमिव देवताः ।
तद्बलं राक्षसेन्द्राणां महाभ्रघननादितम् ॥ ६१ ॥

वे आगे ही बढ़ते चले गये, लौटे नहीं। उनके सिरों पर तो काल मँडरा रहा था। महाबली माल्यवान, सुमाली और माली धधकती हुई आग की तरह सेना के आगे आगे जा रहे थे। पर्वत के समान माल्यवान का ये सब राक्षस अनुसरण वैसे ही कर रहे थे, जैसे देवता लोग ब्रह्मा जी का अनुसरण करते हैं। वह राक्षस वीरों की सेना महामेघ की तरह गर्जती हुई, ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥

जयेप्सया देवलोकं ययौ मालिवशे स्थितम् ।
राक्षसानां समुद्योगं तं तु नारायणः प्रभुः ॥ ६२ ॥
देवदूतादुपश्रुत्य चक्रे युद्धे तदा मनः ।
स सज्जायुधतूणीरो वैनतेयोपरि स्थितः ॥ ६३ ॥

माली के अधीन में जय की अभिलाषा से देवताओं के लोक में गयी। देवदूत के मुख से राक्षसों की चढ़ाई का वृत्तान्त सुन कर, भगवान् नारायण ने भी राक्षसों से युद्ध करने की ठानी। सब आयुधों से सज और तरकस धारण कर, वे गरुड़ जी के ऊपर सवार हुए ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

*आसाद्य कवचं दिव्यं सहस्रार्कसमद्युति ।
आबध्य शरसम्पूर्णे इषुधी विमले तदा ॥ ६४ ॥
श्रोणिसूत्रं च खड्गं च विमलं कमलेक्षणः ।
शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गखड्गांश्चैव वरायुधान् ॥६५॥

उन्होंने सहस्र सूर्य के समान चमचमाता कवच धारण कर और बाणों से भरे दो तरकस लिये। कटिसूत्र धारण किये हुए कमलनयन नारायण ने एक चमचमाता खड्ग लिया। इसके

---

* पाठान्तरे—"आसज्य"।

अतिरिक्त उन्होंने पाञ्चजन्य शङ्ख, सुदर्शनचक्र, कौमोदकी गदा, नन्दकी खड्ग और शार्ङ्ग धनुष लिया। ये उनके आयुध बड़े श्रेष्ठ थे ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

सम्पूर्णं गिरिसङ्काशं वैनतेयमथास्थितः ।
राक्षसानामभावाय ययौ तूर्णतरं प्रभुः ॥ ६६ ॥

फिर पर्वताकार गरुड़ पर सवार हो, समस्त राक्षसों का नाश करने के लिये वे बड़ी शीघ्रता से चले ॥ ६६ ॥

सुपर्णपृष्ठे स बभौ श्यामः पीताम्बरो हरिः ।
काञ्चनस्य गिरेः शृङ्गे सतडित्तोयदो यथा ॥ ६७ ॥

श्याम स्वरूप, पीताम्बर पहिने और गरुड़ की पीठ पर सवार श्रीनारायण, सुमेरुपर्वतस्थित बिजलीसहित मेघ के समान शोभित हो रहे थे ॥ ६७ ॥

स सिद्धदेवर्षिमहोरगैश्च
गन्धर्वयक्षैरुपगीयमानः ।
समाससादासुरसैन्यशत्रु-
श्चक्रासि शार्ङ्गायुध शङ्खपाणिः ॥ ६८ ॥

असुरों की सेना के वैरी भगवान् विष्णु, सुदर्शन चक्र, नन्दकी खड्ग, शार्ङ्ग धनुष और पाञ्चजन्य शङ्ख धारण किये हुए, तुरन्त वहाँ जा उपस्थित हुए। सिद्ध, देवर्षि, महानाग, गन्धर्व तथा यक्ष उस समय उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ६८ ॥

सुपर्णपक्षानिलनुन्नपक्षं
भ्रमत्पताकं प्रविकीर्णशस्त्रम् ।

चचालतद्राक्षसराजसैन्यं
चलोपलं नीलमिवाचलाग्रम् ॥ ६९ ॥

गरुड़ जी के पंखों के पवन से राक्षसी सेना की पताकाएँ फट गयीं—सैनिकों के हाथों से हथियार छूट पड़े और राक्षसराज की सेना के राक्षस वीर वैसे ही काँप उठे, जैसे नीलवर्ण पर्वत का शिखर काँपने लगता है ॥ ६९ ॥

ततः शितैःशोणितमांसरूषितैः
युगान्तवैश्वानरतुल्यविग्रहैः ।
निशाचराः सम्परिवार्य माधवं
वरायुधैर्निर्विभिदुः सहस्रशः ॥ ७० ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

तदनन्तर हज़ारों राक्षस माधव को, चारों ओर से घेर कर, रुधिर और मांस से सने, प्रलयकालीन अग्नि के समान चमचमाते, पैने और श्रेष्ठ आयुधों से मारने लगे ॥ ७० ॥

उत्तरकाण्ड का छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

सप्तमः सर्गः

—:०:—

नारायणगिरिं ते तु गर्जन्तो राक्षसाम्बुदाः ।
अर्दयन्तोऽस्त्रवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ॥ १ ॥

गर्जते हुए मेघरूपी राक्षस, पर्वतरूपी श्रीनारायण के ऊपर अस्त्ररूपी जल की वैसे ही वर्षा करने लगे, जैसे मेघ जल की वर्षा पर्वत के ऊपर करते हैं ॥ १ ॥

श्यामावदातस्तैर्विष्णुर्नीलैर्नक्तंचरोत्तमैः ।

वृतोऽञ्जनगिरीवायं वर्षमाणैः पयोधरैः ॥ २ ॥

श्याम एवं निर्मलवर्ण वाले श्रीनारायण, नीले रंग की कान्ति· वाले राक्षसों से घेरे जा कर, ऐसे जान पड़े, मानों वर्षा करते हुए मेघों द्वारा अंजन का पर्वत ढक गया हो ॥ २ ॥

शलभा इव केदारं मशका इव पावकम् ।

यथाऽमृतघटं दंशा मकरा इव चार्णवम् ॥ ३ ॥

तथा रक्षोधनुर्मुक्ता वज्रानिलमनोजवाः ।

हरिं विशन्ति स्म शरा लोका इव विपर्यये ॥ ४ ॥

जिस प्रकार खेतों के ऊपर टीड़ियाँ, आग के ऊपर मच्छर, शहद के घड़े पर डाँस और समुद्र में मगर गिरते हैं, उसी प्रकार राक्षसों के छोड़े हुए वायु और मन के समान वेगवान् और वज्र के तुल्य कठोर बाण, नारायण के शरीर में वैसे ही घुसने लगे, जैसे प्रलयकाल में जीव भगवान् के शरीर में समा जाते हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

स्यन्दनैः स्यन्दनगता गजैश्च गजमूर्धगाः* ।

अश्वारोहास्तथाऽश्वैश्च पादाताश्चाम्बरे स्थिताः ॥ ५ ॥

राक्षसेन्द्रा गिरिनिभाः शरैः शक्त्यृष्टितोमरैः ।

निरुच्छ्वासं हरिं चक्रुः प्राणायाम इव द्विजम् ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"गजपृष्ठगाः" ।

राक्षसी सेना के पर्वताकार योद्धाओं ने रथों पर चढ़ कर, हाथियों और घोड़ों पर सवार हो कर, पांव प्यादे तथा आकाश में खड़े हो कर, बाणों, शक्तियों, यष्टियों और तोमरों की वर्षा कर उनसे नारायण को ढक दिया। शस्त्रों से राक्षसों ने नारायण को ऐसा ढका कि, वे वैसे ही श्वास रहित से हो गये, जैसे प्राणायाम करते समय ब्राह्मण श्वासरहित सा जान पड़ता है ॥ ५ ॥ ६ ॥

निशाचरैस्ताड्यमाने मीनैरिव महोदधिः ।
शार्ङ्गमायम्य दुर्धर्षो राक्षसेभ्योऽसृजच्छरान् ॥ ७ ॥

श्रीनारायण उनके प्रहारों को वैसे ही सह रहे थे, जैसे मछलियों के वेग को समुद्र सह लेता है। तदनन्तर भगवान् विष्णु ने शार्ङ्ग धनुष हाथ में ले, राक्षसों के ऊपर बाण चलाना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैर्वज्रकल्पैर्मनोजवैः ।
चिच्छेद विष्णुर्निशितैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥

वज्र के समान कठोर, और मन के समान वेगवान पैने बाणों से भगवान् विष्णु ने, सैकड़ों हज़ारों राक्षसों को मार डाला ॥ ८ ॥

विद्राव्य शरवर्षेण वर्षं वायुरिवोत्थितम् ।
पाञ्चजन्यं महाशङ्खं प्रदध्मौ पुरुषोत्तमः ॥ ९ ॥

जैसे पवन बादलों को उड़ाता है, वैसे ही भगवान् विष्णु ने बाणों की मार से सब राक्षसों को भगा कर अपना पाञ्चजन्य महाशङ्ख बजाया ॥ ९ ॥

सोऽम्बुजो हरिणा ध्मातः सर्वप्राणेन शङ्खराट् ।
ररास भीमनिर्ह्रादस्त्रैलोक्यं व्यथयन्निव ॥ १० ॥

जब जल से निकले हुए उस शङ्खश्रेष्ठ को भगवान् विष्णु ने बड़े ज़ोर से बजाया, तब उस शङ्खराज का नाद तीनों लोकों में व्याप्त हो गया और उसने उन तीनों लोकों के रहने वालों को दुःखी सा कर डाला ॥ १० ॥

शङ्खराजरवः सोऽथ त्रासयामास राक्षसान् ।
मृगराज इवारण्ये समदानिव कुञ्जरान् ॥ ११ ॥

उस शङ्खश्रेष्ठ के नाद को सुन, राक्षस वैसे ही भयभीत हुए, जैसे वन में सिंहनाद से मतवाले हाथी भयभीत होते हैं ॥ ११ ॥

नशेकुरश्वाः संस्थातुं विमदाः कुञ्जराभवन् ।
स्यन्दनेभ्यश्च्युता वीराः शङ्खरावित दुर्बलाः ॥१२॥

उस समय घोड़े वहाँ खड़े न रह सके (भड़के और भाग खड़े हुए) हाथियों की मस्ती दूर हो गयी। उस शङ्खध्वनि को सुन राक्षस बलहीन हो रथों से नीचे गिर पड़े ॥ १२ ॥

शार्ङ्गचापविनिर्मुक्ता वज्रतुल्याननाः शराः ।
विदार्य तानि रक्षांसि सुपुङ्खा विविशुः क्षितिम् ॥१३॥

शार्ङ्ग धनुष से छूटे हुए, वज्र के समान मुखवाले तथा अच्छे फोंकदार बाण राक्षसों के शरीरों के आर पार हो, पृथिवी में घुस गये ॥ १३ ॥

भिद्यमानाः शरैः संख्ये नारायणकरच्युतैः ।
निपेतू राक्षसा भूमौ शैला वज्रहता इव ॥ १४ ॥

इस प्रकार उस युद्ध में भगवान् के बाणों से छिन्न भिन्न हो कर, सब राक्षस, वज्राहत पर्वतों की तरह, पृथिवी पर गिर गये॥ १४॥

व्रणानि परगात्रेभ्यो विष्णुचक्रकृतानि हि।
असृक्क्षरन्ति धाराभिः स्वर्णधारा इवाचलाः ॥१५॥

राक्षसों के शरीर चक्र के प्रहार से घायल हो गये थे। उन घावों से बहता हुआ रक्त ऐसा जान पड़ता था, मानों पर्वतों से स्वर्ण की धाराएँ बहती हों॥ १५॥

शङ्खराजरवश्चापि शार्ङ्गचापरवस्तथा।
राक्षसानां रवांश्चापि ग्रसते वैष्णवो रवः ॥ १६ ॥

शङ्खराज को ध्वनि, शार्ङ्ग धनुष की टंकार, तथा भगवान विष्णु के सिंहनाद ने राक्षसों के गर्जन को दबा दिया॥ १६॥

तेषां शिरोधरान्धूताञ्छरध्वजधनूंषि च।
रथान्पताकास्तूणीरांश्चिच्छेद स हरिः शरैः ॥ १७ ॥

भगवान् विष्णु राक्षसों की कांपती हुई गर्दनों, बाणों, ध्वजाओं, धनुषों, रथों, पताकाओं और तरकसों को अपने पैने बाणों से काट रहे थे॥ १७॥

सूर्यादिव करा घोरा ऊर्मयः सागरादिव।
पर्वतादिव नागेन्द्रा धारौघा इव चाम्बुदात् ॥ १८ ॥
तथा शार्ङ्गविनिर्मुक्ताः शरा नारायणेरिताः।
निर्धावन्तीषवस्तूर्णं शतशोथ सहस्रशः ॥ १९ ॥

जैसे सूर्य से प्रकाश की किरनें और समुद्र से जल की तरंगे उठती हैं, वैसे ही भगवान् विष्णु के शार्ङ्गधनुष से सैकड़ों हज़ारों बाण बड़ी तेज़ी से निकल रहे थे॥ १८॥ १९॥

शरभेण यथा सिंहाः सिंहेन द्विरदा यथा ।
द्विरदेन यथा व्याघ्रा व्याघ्रेण द्वीपिनो यथा ॥२०॥

द्विपिनेव यथा श्वानः शुना मार्जारका यथा ।
मार्जारेण यथा सर्पाः सर्पेण च यथाऽऽखवः ॥ २१ ॥

तथा ते राक्षसाः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना ।
द्रवन्तिद्राविताश्चान्ये शायिताश्च महीतले ॥ २२ ॥

जैसे शरभ से सिंह, सिंह से हाथी और हाथी से व्याघ्र, व्याघ्र से चीता, चीते से कुत्ता, कुत्ता से बिल्ली, बिल्ली से सर्प और सर्प से चूहे भागते हैं, वैसे ही भगवान् विष्णु से भयभीत हो, वे राक्षस भागे और उनमें से बहुत से निर्जीव हो, पृथिवी पर सो गये ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

राक्षसानां सहस्राणि निहत्य मधुसूदनः ।
वारिजं[1] पूरयामास तोयदं सुरराडिव ॥ २३ ॥

इस प्रकार भगवान् मधुसूदन ने वैसे ही हज़ारों राक्षसों को मार कर अपना शङ्ख बजाया, जैसे इन्द्र के बादल गर्जते हैं ॥ २३ ॥

नारायण शरत्रस्तं शङ्खनादसुविह्वलम् ।
ययौ लङ्कामभिमुखं प्रभग्नं राक्षसंबलम् ॥ २४ ॥

भगवान् विष्णु के बाणों की मार से भयभीत हो तथा शङ्ख-ध्वनि से घबड़ा कर, राक्षसी सेना लङ्का की ओर मुख कर और तितर बितर हो, भाग खड़ी हुई ॥ २४ ॥

---

१ वारिजं—शङ्खं । (शि०) ·

प्रभग्ने राक्षसबले नारायणशराहते ।
सुमाली शरवर्षेण निववार रणे हरिम् ॥ २५ ॥

तब अपनी सेना को तितर बितर हो भागते देख, सुमाली ने बाणों की वर्षा कर, भगवान् विष्णु को युद्ध से निवृत्त करना चाहा ॥ २५ ॥

स तु तं छादयामास नीहार इव भास्करम् ।
राक्षसाः सत्वसम्पन्नाः पुनर्धैर्यं समादधुः ॥ २६ ॥

उसने बाणों की वर्षा कर, भगवान् विष्णु को ऐसे ढक दिया, जैसे कुहरा सूर्य को ढक देता है। सुमाली का ऐसा पराक्रम देख, बलवान राक्षस सैनिकों को धीरज बँधा ॥ २६ ॥

अथ सोऽभ्यपतद्रोषाद्राक्षसो बलदर्पितः ।
महानादं प्रकुर्वाणो राक्षसाञ्जीवयन्निव ॥ २७ ॥

सुमाली को अपने बल का बड़ा अहंकार था, अतएव वह राक्षस बड़े ज़ोर से गर्जता हुआ, मानों उन (मृतप्राय) राक्षसों को फिर जिला रहा था ॥ २७ ॥

उत्क्षिप्य लम्बाभरणं धुन्वन्करमिव द्विपः ।
ररास राक्षसो हर्षात्सतडित्तोयदो यथा ॥ २८ ॥

सूँड उठाये हुए हाथी की तरह, भूषणों से भूषित हाथ ऊपर को उठाये और हर्षित हो, वह वैसे ही गर्जा, जैसे बिजलीयुक्त मेघ गर्जता है ॥ २८ ॥

सुमालेर्नर्दतस्तस्य शिरो ज्वलितकुंडलम् ।
चिच्छेद यन्तुरश्वाश्च भ्रान्तास्तस्य तु रक्षसः ॥ २९ ॥

जब सुमाली गर्जने लगा, तब भगवान् विष्णु ने उसके सारथी का कुण्डलों से झलमल करता हुआ सिर काट डाला। सारथी के मारे जाने पर, सुमाली के रथ के घोड़े अपनी इच्छानुसार रथ खींचते हुए, रणभूमि में इधर उधर घूमने लगे ॥ २९ ॥

तैरश्वैर्भ्राम्यते भ्रान्तैः सुमाली राक्षसेश्वरः ।
इन्द्रियाश्वैः परिभ्रान्तैर्धृतिहीनो यथा नरः ॥३०॥

जिस प्रकार असंयमी नर की इन्द्रियाँ उसके वश में न रह कर, यथेष्ट कर्मों में प्रवृत्त हो जाया करती हैं; उसी प्रकार सुमाली के सारथिहीन रथ को घोड़े अपनी इच्छानुसार लिये हुए इधर उधर घूमने लगे। अथवा उन घोड़ों के इधर उधर घूमने से रथ में बैठा सुमाली भी घूमने लगा, जैसे इन्द्रिय रूपी घोड़ों के घूमने से असंयमी पुरुष भ्रान्त हो इधर उधर घूमा करता है ॥ ३० ॥

ततो विष्णुं महाबाहुं प्रापतन्तं रणाजिरे ।
हृते सुमालेरश्वैश्च रथे विष्णुरथं प्रति ।
माली चाभ्यद्रवद्युक्तः प्रगृह्य सशरासनम् ॥ ३१ ॥

जब सुमाली के घोड़े उसका रथ भगवान् विष्णु के सामने ले गये, तब अत्यन्त तपते हुए महाबाहु भगवान् विष्णु को रणभूमि में देख, सुमाली का भाई माली धनुष ले भगवान विष्णु की ओर झपटा ॥ ३१ ॥

मालेर्धनुश्च्युता बाणाः कार्तस्वरविभूषिताः ।
विविशुर्हरिमासाद्य क्रौञ्चंपत्ररथा इव ॥ ३२ ॥

माली के धनुष से छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण, भगवान् विष्णु के शरीर में घुसने लगे, मानों क्रौञ्चारण्य में पक्षी घुसते हों ॥ ३२ ॥

अर्द्यमानः शरैः सोथ मालिमुक्तैः सहस्रशः ।
चुक्षुभे न रणे विष्णुर्जितेन्द्रिय इवाधिभिः ॥ ३३ ॥

माली के चलाये हज़ारों बाणों के लगने पर भी भगवान् विष्णु युद्ध में ज़रा भी क्षुब्ध न हुए, जैसे जितेन्द्रिय पुरुष मानसिक चिन्ताओं से कभी क्षुब्ध नहीं होते ॥ ३३ ॥

अथ मौर्वीस्वनं कृत्वा भगवान्भूतभावनः ।
मालिनं प्रति बाणौघान् ससर्जासिगदाधरः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर गदाधारी, खड्गधारी, भूतभावन भगवान् विष्णु ने धनुष को टंकार कर, माली के ऊपर बहुत से बाण छोड़े ॥ ३४ ॥

ते मालिदेहमासाद्य वज्रविद्युत्प्रभाः शराः ।
पिबन्ति रुधिरं तस्य नागा इव सुधारसम् ॥ ३५ ॥

वे बाण बिजली और वज्र के समान चमचमाते थे । उन बाणों ने माली के शरीर में घुस, उसका रक्त वैसे ही सोख लिया ; जैसे नाग सुधारस पी जाते हैं ॥ ३५ ॥

मालिनं विमुखं कृत्वा शङ्खचक्रगदाधरः ।
मालिमौलिं ध्वजं चापं वाजिनश्चाप्यपातयत् ॥३६॥

शङ्ख-चक्र-गदा-धारी भगवान् विष्णु ने माली को युद्ध से विमुख कर; उसका मुकुट, ध्वजा और धनुष को काट कर, उसके रथ के घोड़ों को भी मार कर गिरा दिया ॥ ३६ ॥

विरथस्तु गदां गृह्य माली नक्तंचरोत्तमः ।
आपुप्लुवे गदापाणिर्गिर्यग्रादिव केसरी ॥ ३७ ॥

रथ के नष्ट हो जाने पर निशाचरोत्तम माली हाथ में गदा ले रथ से ऐसे कूदा, जैसे पर्वतशिखर से सिंह कूदे या उछले ॥ ३७ ॥

गदया गरुडेशानमीशानमिव चान्तकः ।
ललाटदेशेऽभ्यहनद्वज्रेणेन्द्रो यथाऽचलम् ॥ ३८ ॥

जैसे शिव जी के ऊपर यमराज ने अस्त्रप्रहार किया था अथवा जैसे इन्द्र ने पर्वतों पर वज्रप्रहार किया था, वैसे ही माली ने गरुड़ जी के ललाट पर गदा का प्रहार किया ॥ ३८ ॥

गदयाभिहतस्तेन मालिना गरुडो भृशम् ।
रणात्पराङ्मुखं देवं कृतवान्वेदनातुरः ॥ ३९ ॥

उस गदा के प्रहार की पीड़ा से विकल हो, गरुड़ जी वहाँ न ठहर सके और भगवान् विष्णु को उन्होंने युद्ध से विमुख कर दिया ॥ ३९ ॥

पराङ्मुखे कृते देवे मालिना गरुडेन वै ।
उदतिष्ठन्महाञ्शब्दो रक्षसामभिनर्दताम् ॥ ४० ॥

माली की गदा के प्रहार से विकल गरुड़ द्वारा, भगवान् विष्णु के युद्ध से विमुख होने पर, राक्षसों ने बड़ा नाद किया ॥ ४० ॥

रक्षसां रुवतां रावं श्रुत्वा हरिहयानुजः[1] ।
तिर्यगास्थाय संक्रुद्धः पक्षीशे भगवान्हरिः ॥ ४१ ॥

---

1 हयानुजः—इन्द्रानुजः । (गो०)

गर्जते हुए उन राक्षसों का वह सिंहनाद इन्द्रानुज ने सुना और उसे सुन वे क्रुद्ध हुए। तब पक्षिराज गरुड़ की पीठ पर पूँछ की ओर मुख कर भगवान् विष्णु ने ॥ ४१ ॥

पराङ्मुखोऽप्युत्ससर्ज मालेश्चक्रं जिघांसया।
तत्सूर्यं मण्डला भासं स्वभासा भासयन्नभः ॥ ४२ ॥

गरुड जी द्वारा युद्ध से विमुख किये जाने पर भी, माली का वध करने के लिये चक्र चलाया। सूर्य की तरह प्रकाशमान और अपने प्रकाश से आकाश को प्रकाशित करते हुए ॥ ४२ ॥

कालचक्रनिभं चक्रं मालेः शीर्षमपातयत्।
तच्छिरो राक्षसेन्द्रस्य चक्रोत्कृत्तं विभीषणम्।
पपात रुधिरोद्गारि पुरा राहुशिरो यथा ॥ ४३ ॥

कालचक्र के समान प्रभावान् सुदर्शन चक्र ने माली का सिर काट कर धड़ से अलग कर दिया। राक्षसराज का वह अत्यन्त भयङ्कर मस्तक चक्र से कट कर, रुधिर उगलता हुआ, भूमि पर वैसे ही गिर पड़ा; जैसे पूर्वकाल में राहु का सिर चक्र से कट कर गिरा था ॥ ४३ ॥

ततः सुरैः सम्प्रहृष्टैः सर्वप्राणसमीरितः।
सिंहनादरवो मुक्तः साधु देवेतिवादिभिः ॥ ४४ ॥

यह देख देवता अत्यन्त हर्षित हो "धन्य हो महाराज"—कह कर और सब मिल कर बड़े ज़ोर से सिंहनाद करने लगे ॥ ४४ ॥

मालिनं निहतं दृष्ट्वा सुमाली माल्यवानपि।
सबलौ शोकसन्तप्तौ लङ्कामेव प्रधावितौ ॥ ४५ ॥

माली का इस प्रकार मारा जाना देख, सुमाली और माल्यवान भी शोकसन्तप्त हो, सेना सहित लङ्का को भाग गये ॥ ४५ ॥

गरुडस्तु समाश्वस्तः सन्निवृत्त्य यथा पुरा ।
राक्षसान्द्रावयामास पक्षवातेन कोपितः ॥ ४६ ॥

इतने में गरुड़ जी भी स्वस्थ हो गये और पूर्ववत् पुनः रणभूमि में आ कर और क्रोध में भर, अपने पंखों के पवन से राक्षसों को भगाने लगे ॥ ४६ ॥

चक्रकृत्तास्यकमला गदासंचूर्णितोरसः ।
लाङ्गलग्लापितग्रीवा मुसलैर्भिन्नमस्तकाः ॥ ४७ ॥

भगवान् विष्णु ने बहुत से राक्षसों के मुखकमल चक्र से काटे, किसी की छाती को गदा से चूर्ण कर दिया, किसी की गर्दन में हल डाल कर उसे खींचा और उसको मार डाला, बहुतों के सिर मूसल के प्रहार से चूर कर डाले ॥ ४७ ॥

केचिच्चैवासिना च्छिन्नास्तथान्ये शरताडिताः ।
निपेतुरम्बरात्तूर्णं राक्षसाः सागराम्भसि ॥ ४८ ॥

बहुत को तलवार से काट डाला, बहुतों को बाणों से छेद डाला। इस प्रकार राक्षसों को घायल कर दिया और वे प्राण रहित हो आकाश से तुरन्त समुद्र के जल में जा गिरे ॥ ४८ ॥

नारायणोऽपीषुवराशनीभिः
विदारयामास धनुर्विमुक्तैः ।
नक्तंचरान्धूतविमुक्तकेशान्
यथा शनीभिः सतडिन्महाभ्रः ॥ ४९ ॥

बिजली सहित महामेघ जिस तरह वज्रप्रहार से फट जाता है, उसी तरह भगवान् विष्णु भी अपने धनुष से छोड़े हुए पैने तीरों की मार से सिर के बाल खोले हुए राक्षसों को विदीर्ण करने लगे ॥ ४९ ॥

भिन्नातपत्रं पतमानशस्त्रं
शरैरपध्वस्तविनीतवेषम् ।
विनिःसृतान्त्रं भयलोलनेत्रं
बलं तदुन्मत्ततरं बभूव ॥ ५० ॥

मरने से बचे हुए राक्षसों की बड़ी दुर्गति हुई। किसी किसी की छाती फट गयी, कितनों ही के हाथों से हथियार छूट पड़े, बहुतों की सूरतें ही बिगड़ गयीं। बहुतों की आँतें निकल पड़ीं और बहुतों की आँखें मारे घबड़ाहट के उलट गयीं। सारांश यह कि, राक्षसी सेना पागल सी हो गयी ॥ ५० ॥

सिंहार्दितानामिव कुञ्जराणां
निशाचराणां सह कुञ्जराणाम् ।
रवाश्च वेगाश्च समं बभूवुः
[1]पुराणसिंहेन विमर्दितानाम् ॥ ५१ ॥

नृसिंह भगवान् द्वारा मर्दित हाथीरूपी राक्षसों का घोर शब्द तथा हाथियों की चिंघार और वेग एक ही साथ उत्पन्न हुआ ॥५१॥

ते वार्यमाणा हरिबाणजालैः
स्वबाणजालानि समुत्सृजन्तः ।

---

1 पुराणसिंह—नृसिंहेन । (गो०)

धवन्ति नक्तंचरकालमेघा
वायुप्रणुन्ना इव कालमेघाः ॥ ५२ ॥

जैसे काली मेघघटा पवन से तितर बितर हो उड़ जाती है, वैसे ही राक्षसरूपी काले बादल भगवान् विष्णु के बाणों से छिन्न भिन्न हो, अपने बाणों को छोड़ते हुए, (लङ्का की ओर) भागे ॥ ५२ ॥

चक्रप्रहारैर्विनिकृत्तशीर्षाः
संचूर्णितांगाश्च गदाप्रहारैः ।
असिप्रहारैर्द्विविधा विभिन्नाः
पतन्ति शैला इव राक्षसेन्द्राः ॥ ५३ ॥

वे राक्षसेन्द्र भागते हुए रास्ते में पहाड़ की तरह गिरे पड़े थे, उनमें से किसी किसी के सिर चक्र से कट गये थे, किसी किसी के तलवार से दो दो टुकड़े हो गये थे ॥ ५३ ॥

विलम्बमानैर्मणिहारकुण्डलैः
निशाचरैर्नीलबलाहकोपमैः ।
निपात्यमानैर्ददृशे निरन्तरं ।
निपात्यमानैरिव नीलपर्वतैः ॥ ५४ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

मणियों, हारों और कुण्डलों से शोभित बड़े बड़े नील बादलों की तरह, वे विशाल राक्षस बड़े बड़े नीलपर्वतों की तरह चूर्ण हो कर निरन्तर गिरते हुए देख पड़ते थे ॥ ५४ ॥

उत्तरकाण्ड का सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

अष्टमः सर्गः

—:०:—

हन्यमाने बले तस्मिन्पद्मनाभेन पृष्ठतः ।
माल्यवान्सन्निवृत्तोऽथ वेलामेत्य इवार्णवः ॥ १ ॥

भगवान् पद्मनाभ जब उस राक्षसी सेना को मारते और खदेड़ते ही चले गये, तब माल्यवान लङ्कापुरी तक पहुँच कर, पुनः वैसे ही लौटा, जैसे समुद्र, अपने तट पर पहुँच कर, पीछे लौटता है ॥ १ ॥

संरक्तनयनः क्रोधाच्चलन्मौलिर्निशाचरः ।
पद्मनाभमिदं प्राह वचनं पुरुषोत्तमम् ॥ २ ॥

माल्यवान राक्षस क्रोध में भर तथा लाल लाल नेत्र कर और सिर कँपाता हुआ भगवान् पुरुषोत्तम पद्मनाभ से यह बोला ॥ २ ॥

नारायण न जानीषे क्षात्रधर्मं पुरातनम् ।
अयुद्धमनसो भीतानस्मान्हंसि यथेतरः[1] ॥ ३ ॥

हे नारायण ! तुम पुरातन क्षात्रधर्म को नहीं जानते । क्योंकि युद्ध से लौटे हुए और डरे हुए हम लोगों को तुम क्षुद्रजन की तरह मार रहे हो ॥ ३ ॥

पराङ्मुखवधं पापं यः करोति सुरेश्वर ।
स हन्ता न गतः स्वर्गं लभते पुण्यकर्मणाम् ॥ ४ ॥

हे सुरेश्वर ! युद्ध से मुख मोड़े हुए को जो मारता है, वह पाप करता है । उसे पुण्यात्मा लोगों से प्राप्त स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती ॥ ४ ॥

---

१ इतरः—क्षुद्रजन इव । (गो०)

युद्धश्रद्धाऽथवा तेऽस्ति शङ्खचक्रगदाधर ।
अहं स्थितोस्मि पश्यामि बलं दर्शय यत्तव ॥ ५ ॥

हे शङ्ख-चक्र-गदा-धारी ! यदि तुम्हारी इच्छा लड़ने ही की है, तो मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। मुझ पर तुम अपना बल आज़मा लो ॥ ५ ॥

माल्यवन्तं स्थितं दृष्ट्वा माल्यवन्तमिवाचलम् ।
उवाच राक्षसेन्द्रं तं देवराजानुजो बली ॥ ६ ॥

माल्यवान पर्वत की तरह माल्यवान राक्षस को अटल खड़ा देख, उस राक्षसेन्द्र से भगवान् विष्णु ने कहा ॥ ६ ॥

युष्मत्तो भयभीतानां देवानां वै मयाऽभयम् ।
राक्षसोत्सादनं दत्तं तदेतदनुपाल्यते ॥ ७ ॥

तुम लोगों के भय से त्रस्त देवताओं को, मैंने राक्षसनाशरूप अभयदान दिया है, सो मैं इस समय राक्षसों का विनाश कर, उस अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर रहा हूँ ॥ ७ ॥

प्राणैरपि प्रियं कार्यं देवानां हि सदा मया ।
सोहं वो निहनिष्यामि रसातलगतानपि ॥ ८ ॥

क्योंकि मुझे अपने प्राणों की बाज़ी लगा कर भी, देवताओं का प्रियकार्य करना स्वीकार है। अतः मैं तुम लोगों को अवश्य मारूँगा। भले ही तुम रसातल ही में क्यों न चले जाओ। (वहाँ भी मैं तुम्हारा पीछा करूँगा ॥ ८ ॥

देवदेवं ब्रुवाणं तं रक्ताम्बुरुहलोचनम् ।
शक्त्या बिभेद संक्रुद्धो राक्षसेन्द्रो भुजान्तरे ॥ ९ ॥

लाल कमल के समान नेत्र वाले, देवताओं के भी देवता भगवान् विष्णु जी इस प्रकार कह ही रहे थे कि, राक्षसश्रेष्ठ माल्यवान् ने क्रोध में भर उनकी छाती में एक शक्ति मारी ॥ ९ ॥

माल्यवद्भुजनिर्मुक्ता शक्तिर्घण्टाकृतस्वना ।
हरेरुरसि बभ्राज मेघस्थेव शतह्रदा ॥ १० ॥

माल्यवान के हाथ से छूटी हुई वह शक्ति घंटियों का शब्द करती हुई, भगवान् विष्णु की छाती में लग ऐसी शोभित हुई, जैसे श्याममेघ में बिजुली शोभित होती है ॥ १० ॥

ततस्तामेव चोत्कृष्य शक्तिं [1]शक्तिधरप्रियः ।
माल्यवन्तं समुद्दिश्य चिक्षेपाम्बुरुहेक्षणः ॥ ११ ॥

सुब्रह्मण्यप्रिय कमलनयन भगवान् ने तत्काल ही उस शक्ति को अपनी छाती से निकाल कर उसीसे माल्यवान को मारा ॥ ११ ॥

स्कन्दोत्सृष्टेव सा शक्तिर्गोविन्दकरनिःसृता ।
काङ्क्षन्ती राक्षसं प्रायान्महोल्केवाञ्जनाचलम् ॥१२॥

भगवान् गोविन्द के हाथ से छूटी हुई वह शक्ति स्वामिकार्तिक के समान राक्षस का संहार करने के लिये ऐसी लपकी, जैसे कज्जलगिरि पर उल्का झपट कर आयी हो ॥ १२ ॥

सा तस्योरसि विस्तीर्णे हारभारावभासिते ।
अपतद्राक्षसेन्द्रस्य गिरिकूट इवाशनिः ॥ १३ ॥

---

१ शक्तिधरप्रियः—सुब्रह्मण्यप्रियः । (गो०)

वह शक्ति माल्यवान की हार विभूषित चौड़ी छाती में वैसे ही जा कर लगी; जैसे इन्द्र का चलाया वज्र पर्वत के लगता है ॥ १३ ॥

तया भिन्नतनुत्राणः प्राविशद्विपुलं तमः ।
माल्यवान्पुनराश्वस्तस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

उस शक्ति के लगने से माल्यवान का कवच टूट गया और वह मूर्छित हो गया। कुछ काल पीछे वह सचेत हुआ। वह फिर पर्वत की तरह निश्चल हो सामने खड़ा हो गया ॥ १४ ॥

ततः *कालायसं शूलं कण्टकैर्बहुभिश्चितम् † ।
प्रगृह्याभ्यहनद्देवं स्तनयोरन्तरे दृढम् ॥ १५ ॥

और उसने बहुत काटेंदार लोहे का एक शूल बड़े ज़ोर से भगवान् विष्णु की छाती में मारा ॥ १५ ॥

तथैव रणरक्तस्तु मुष्टिना वासवानुजम् ।
ताडयित्वा धनुर्मात्रमपक्रान्तो निशाचरः ॥ १६ ॥

फिर ऊपर से उस रणप्रिय निशाचर ने भगवान् की छाती में एक घूँसा भी मारा और घूँसा मार कर वह चार हाथ पीछे हट गया ॥ १६ ॥

ततोऽम्बरे महाञ्छब्दः साधुः साध्विति चोत्थितः ।
आहत्य राक्षसो विष्णुं गरुडं चाप्यताडयत् ॥१७॥

उसका ऐसा साहस देख कर आकाश में "वाह वाह" का बड़ा शब्द हुआ अर्थात् सुन पड़ा। माल्यवान ने भगवान् विष्णु पर प्रहार कर गरुड़ जी पर भी प्रहार किया ॥ १७ ॥

* पाठान्तरे—"कार्ष्णायसं"। † पाठान्तरे—"वृतम्"।

वैनतेयस्ततः क्रुद्धः पक्षवातेन राक्षसम् ।
व्यपोहद्वलवान्वायुः शुष्कपर्णचयं यथा ॥१८॥

तब बलवान गरुड़ जी ने क्रोध में भर, उस राक्षस को वहाँ से अपने पंखों के पवन के झोंके से ऐसा उड़ाया ; जैसे पवन सूखे पत्तों के ढेर को सहज से उड़ा देता है ॥ १८ ॥

द्विजेन्द्रपक्षवातेन द्रावितं दृश्य पूर्वजम् ।
सुमाली स्वबलैः सार्धं लङ्कामभिमुखो ययौ ॥ १९ ॥

गरुड़ जी के पंखों के पवन से अपने बड़े भाई माल्यवान को भगाया हुआ देख, सुमाली अपनी सेना को साथ ले लङ्का को भाग गया ॥ १९ ॥

पक्षवातबलोद्धूतो माल्यवानपि राक्षसः ।
स्वबलेन समागम्य ययौ लङ्कां ह्रिया वृतः ॥ २० ॥

गरुड़ जी के पंखों के पवन से उड़ाया हुआ राक्षस माल्यवान भी लज्जित हो, अपनी सेना को साथ ले, लङ्का में लौट कर चला गया ॥ २० ॥

एवं ते राक्षसा राम हरिणा कमलेक्षण ।
बहुशः संयुगे भग्ना हतप्रवरनायकाः ॥ २१ ॥

हे राम ! इस प्रकार कमलनयन भगवान् विष्णु ने युद्ध में उन राक्षसों को अनेक बार मारा और उनके मुखियों का नाश किया ॥ २१ ॥

अशक्नुवन्तस्ते विष्णुं प्रतियोद्धुं बलार्दिताः* ।
त्यक्त्वा लङ्कां गता वस्तुं पातालं सहपत्नयः ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—“भयार्दिताः” ।

जब वे राक्षस भगवान् विष्णु का सामना न कर सके और सताये गये, तब वे अपने बाल बच्चों को साथ ले और लङ्का का निवास त्याग, पाताल में जा बसे ॥ २२ ॥

सुमालिनं समासाद्य राक्षसं रघुसत्तम।
स्थिताः प्रख्यात वीर्यास्ते वंशे सालकटङ्कटे ॥ २३ ॥

हे रघुश्रेष्ठ! समस्त प्रसिद्ध पराक्रमी राक्षस, सुमाली को राजा बना, वहीं सालकटंकटा के वंश में रहने लगे। अथवा विख्यात बलवीर्य वाले राक्षस, सालकटंकटा के वंश वाले सुमाली के आश्रय में समय बिताने लगे ॥ २३ ॥

ये त्वया निहतास्ते तु पौलस्त्या नाम राक्षसाः।
सुमाली माल्यवान्माली ये च तेषां पुरः सराः।
सर्व एते महाभागा रावणाद्बलवत्तराः ॥ २४ ॥

हे राम! तुमने पुलस्त्य वंश वाले जिन समस्त राक्षसों का संहार किया है, उन सब से महाभाग सुमाली, माल्यवान और माली प्रधान थे। अधिक क्या कहें—ये सब रावण से भी अधिक बलवान थे ॥ २५ ॥

न चान्यो राक्षसान्हन्ता सुरारीन्देवकण्टकान्।
ऋते नारायणं देवं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ २५ ॥

शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु को छोड़ और कोई भी देवताओं को सताने वाले इन सुरशत्रु राक्षसों का नाश नहीं कर सकता था ॥ २५ ॥

भवान्नारायणो देवश्चतुर्बाहुः सनातनः।
राक्षसान्हन्तुमुत्पन्नो ह्यजय्यः प्रभुरव्ययः ॥ २६ ॥

सो तुम ही चार भुजाओं वाले, सनातन, अजेय, अविनाशी, और साक्षात् नारायण हो। राक्षसों का नाश करने के लिये तुमने अवतार लिया है ॥ २६ ॥

*नष्टधर्मव्यवस्थानां कालेकाले प्रजाकरः ।
उत्पद्यते दस्युवधे शरणागतवत्सलः ॥ २७ ॥

जब कभी धर्म की अव्यवस्था होती है, तब आप उसकी सुव्यवस्था करने तथा प्रजा की रक्षा के लिये तथा डाकुओं के मारने के लिये शरणागतवत्सलतावश जन्म लेते हैं ॥ २७ ॥

एषा मया तव नराधिप राक्षसाना-
मुत्पत्तिरद्य कथिता सकला यथावत् ।
भूयो निबोध रघुसत्तम रावणस्य
जन्मप्रभावमतुलं ससुतस्य सर्वम् ॥२८॥

हे नरनाथ! आज मैंने तुमको समस्त राक्षसों की उत्पत्ति की कथा ज्यों की त्यों सुनायी। हे रघुश्रेष्ठ! अब मैं तुमको रावण और उसके पुत्रों का जन्मवृत्तान्त एवं अतुल प्रभाव का समस्त वर्णन सुनाता हूँ ॥ २८ ॥

चिरात्सुमाली व्यचरद्रसातलं
सराक्षसो विष्णु भयार्दितस्तदा ।
पुत्रैश्च पैात्रैश्च समन्वितो वली
ततस्तु लङ्कामवसद्धनेश्वरः ॥ २९ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

---

* पाठान्तरे—"नष्टधर्मव्यवस्थाता"।

जब श्रीविष्णु भगवान् के भय से पीड़ित हो, पुत्र पौत्रों व परिवार सहित सुमाली बहुत दिनों तक रसातल में विचरता रहा, तब कुबेर जी लङ्का में जा कर रहने लगे ॥ २९ ॥

उत्तरकाण्ड का आठवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

नवमः सर्गः

—:०:—

कस्य चित्त्वथ कालस्य सुमाली नाम राक्षसः ।
रसातलान्मर्त्यलोकं सर्वं वै विचचार ह ॥ १ ॥

कुछ दिनों बाद वह सुमाली नामक राक्षस रसातल से निकल कर मनुष्य लोक में सर्वत्र घूमने लगा ॥ १ ॥

नीलजीमूतसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
कन्यां दुहितरं गृह्य विना पद्ममिव श्रियम् ॥ २ ॥

नीले बादल की तरह उसके शरीर का श्यामवर्ण था; वह विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल कानों में पहिने हुए था और कमल को त्यागे हुए लक्ष्मी के समान अपनी कुँवारी पुत्री को अपने साथ लिये हुए था ॥ २ ॥

राक्षसेन्द्रः स तु तदा विचरन्वै महीतले ।
तदा पश्यत्स गच्छन्तं पुष्पकेण धनेश्वरम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार पृथिवी पर घूमते घूमते उस राक्षसराज सुमाली ने पुष्पकविमान पर सवार कुबेर जी को देखा ॥ ३ ॥

गच्छन्तं पितरं द्रष्टुं पुलस्त्यतनयं विभुम् ।
तं दृष्ट्वाऽमरसङ्काशं गच्छन्तं पावकोपमम् ॥ ४ ॥

कुबेर जी अपने पिता और पुलस्त्य जी के पुत्र विश्रवा मुनि के दर्शन करने को जा रहे थे। देवता के समान और अग्नि की तरह उन्हें जाते देख ॥ ४ ॥

रसातलं प्रविष्टः सन्मर्त्यलोकात्सविस्मयः ।
इत्येवं चिन्तयामास राक्षसानां महामतिः ॥ ५ ॥

सुमाली विस्मित हो मर्त्यलोक छोड़ रसातल में चला गया। वह महामति राक्षस वहाँ जा कर अपने मन में सोचने लगा ॥ ५ ॥

किंकृतं श्रेय इत्येवं वर्धेमहि कथं वयम् ।
नीलजीमूत सङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ॥ ६ ॥
राक्षसेन्द्रः स तु तदा चिन्तयत्सु महामतिः ।
अथाब्रवीत्सुतां रक्षः कैकसीं नाम नामतः ॥ ७ ॥

हम कौनसा ऐसा श्रेष्ठ कर्म करें, जिससे हम लोगों की बढ़ती हो। नीले बादल के समान और विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए महामति राक्षसराज इस प्रकार सोचता हुआ अपनी कैकसी नामक बेटी से कहने लगा ॥ ६ ॥ ७ ॥

पुत्रि प्रदानकालोऽयं यौवनं व्यतिवर्तते ।
प्रत्याख्यानाच्च भीतैस्त्वं न वरैः परिगृह्यसे ॥ ८ ॥

हे बेटी! अब तुम्हारे विवाह का समय हो चुका है। तुम्हारी यौवनावस्था निकली जा रही है। मैं कहीं नाहीं न कर दूँ, इस

भय से कोई विवाहार्थी तुमको माँगने के लिये मेरे पास नहीं आता ॥ ८ ॥

त्वत्कृते च वयं सर्वे यन्त्रिता धर्मबुद्धयः ।
त्वं हि सर्वगुणोपेता श्रीः साक्षादिव पुत्रिके ॥ ९ ॥

हे बेटी! तुम साक्षात् लक्ष्मी की तरह समस्त गुणों से भूषित हो; अतः हम सब धर्मबुद्धि से बंध रहे हैं और तुम्हारे योग्य वर की खोज में हैं ॥ ९ ॥

कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकाङ्क्षिणाम् ।
न ज्ञायते च कः कन्यां वरयेदिति कन्यके ॥ १० ॥

मानी लोगों के लिये कन्या बड़े दुःख का कारण होती है। क्योंकि पहिले से कोई नहीं जान सकता कि, कन्या का विवाह कैसे वर से होगा ॥ १० ॥

मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते ।
कुलत्रयं सदा कन्या संशये स्थाप्य तिष्ठति ॥ ११ ॥

माता के कुल को, पिता के कुल को, ससुर के कुल को—इन तीन कुलों को कन्या सदा संशय में डाले रहती है ॥ ११ ॥

सा त्वं मुनिवरं श्रेष्ठं प्रजापतिकुलोद्भवम् ।
भज विश्रवसं पुत्रि पौलस्त्यं वरय स्वयम् ॥ १२ ॥

अतः अब तू ब्रह्मा के कुल में उत्पन्न पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा मुनि को स्वयं जा कर वर ले ॥ १२ ॥

ईदृशास्ते भविष्यन्ति पुत्राः पुत्रि न संशयः ।
तेजसा भास्करसमो यादृशोऽयं धनेश्वरः ॥ १३ ॥

हे बेटी ! विश्रवामुनि को पति बनाने से जैसे कुवेर हैं, वैसे ही सूर्य के समान तेजस्वी तेरे भी पुत्र होंगे ॥ १३ ॥

सा तु तद्वचनं श्रुत्वा कन्यका पितृगौरवात् ।
*तत्र गत्वा च सा तस्थौ विश्रवा यत्र तप्यते ॥१४॥

वह कन्या अपने पिता के इन वचनों को सुन और पिता का गौरव मान, वह वहाँ जा कर खड़ी हो गयी, जहाँ विश्रवा मुनि तपस्या कर रहे थे ॥ १४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम पुलस्त्यतनयो द्विजः ।
अग्निहोत्रमुपातिष्ठच्चतुर्थ इव पावकः ॥ १५ ॥

हे राम ! उस समय पुलस्त्यपुत्र ब्राह्मणश्रेष्ठ विश्रवामुनि चतुर्थ अग्नि की तरह सायङ्काल का अग्निहोत्र कर रहे थे ॥ १५ ॥

अविचिन्त्य तु तां वेलां दारुणां पितृ गौरवात् ।
उपसृत्याग्रतस्तस्य चरणाधोमुखी स्थिता ॥ १६ ॥

कैकसी उस दारुण प्रदोषकाल का कुछ विचार न कर, पिता के गौरव के मारे, मुनि के सामने जा खड़ी हुई और अपने पैरों की ओर देखती हुई, ॥ १६ ॥

विलिखन्ती मुहुर्भूमिमंगुष्ठाग्रेण भामिनी ।
स तु तां वीक्ष्य सुश्रोणीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥१७॥

वह भामिनी वारंवार अपने पैर के अंगूठे के अग्रभाग से ज़मीन कुरेदने लगी । उस समय पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुखवाली परम सुन्दरी को देख ॥ १७ ॥

---

* पाठान्तरे—"तत्रोपागम्य सा तस्थौ" ।

अब्रवीत्परमोदारो दीप्यमानां स्वतेजसा ।
भद्रे कस्यासि दुहिता कुतो वा त्वमिहागता ।
किं कार्यं कस्य वा हेतोस्तत्त्वतो ब्रूहि शोभने ॥ १८ ॥

परम-उदार-स्वभाव वाले और अपने तेज से दीप्तिमान् विश्रवा मुनि उस कन्या से बोले कि. हे भद्रे ! तुम किसकी बेटी हो और यहाँ किस लिये आयी हो ॥ १८ ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या कृताञ्जलिरथाब्रवीत् ।
आत्मप्रभावेन मुने ज्ञातुमर्हसि मे मतम् ॥ १९ ॥

जब मुनि ने यह पूँछा, तब वह लड़की हाथ जोड़ कर बोली— हे महाराज ! आप तो अपने तपःप्रभाव ही से मेरे मन की बात जान सकते हैं ॥ १६ ॥

किन्तु मां विद्धि ब्रह्मर्षे शासनात्पितुरागताम् ।
कैकसी नाम नाम्नाऽहं शेषं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥

किन्तु हे महर्षे ! (इतना मैं बतलाये देती हूँ कि,) मैं अपने पिता की आज्ञा से यहाँ आयी हूँ और मेरा नाम कैकसी है । शेष वृत्तान्त आप स्वयं जान सकते हैं (अथवा मेरे यहाँ आने का जो अभिप्राय है, उसे मैं अपने मुँह से न कहूँगी । उसे आप स्वयं जान लें) ॥ २० ॥

स तु गत्वा मुनिर्ध्यानं वाक्यमेतदुवाच ह ।
विज्ञातं ते मया भद्रे कारणं यन्मनोगतम् ॥ २१ ॥

तब मुनि विश्रवा ने ध्यान किया और उसके आने का प्रयोजन जान उससे कहा—हे भद्रे ! मैंने तेरे मन की बात जान ली ॥ २१ ॥

सुताभिलापो मत्तस्ते मत्तमातङ्गगामिनि ।
दारुणायां तु वेलायां यस्मात्त्वं मामुपस्थिता ॥ २२ ॥

हे मत्तगजेन्द्रगामिनी ! मुझसे पुत्रोत्पादन कराने की तेरी अभिलाषा है, किन्तु तू दारुण समय (कुसमय) में मेरे पास आयी है ॥ २२ ॥

शृणु तस्मात्सुतान्भद्रे यादृशाञ्जनयिष्यसि ।
दारुणान्दारुणाकारान्दारुणाभिजनप्रियान् ॥२३॥

अतः हे भद्रे ! अब तू यह सुन कि, तू किस प्रकार के पुत्र जनेगी । तेरे पुत्र बड़े क्रूरकर्म करने वाले होंगे, उन भयङ्कर राक्षसों की सूरत भी भयानक होगी और उनकी प्रीति भी क्रूरकर्म करने वाले बन्धुबान्धवों ही से होगी ॥ २३ ॥

प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान्क्रूरकर्मणः ।
सा तु तद्वचनं श्रुत्वा प्रणिपत्याब्रवीद्वचः ॥ २४ ॥

हे सुश्रोणि ! तू क्रूरकर्म करने वाले राक्षसों को जनेगी । विश्रवा मुनि के ये वचन सुन, कैकसी उनको प्रणाम कर बोली ॥ २४ ॥

भगवन्नीदृशान्पुत्रांस्त्वत्तोऽहं ब्रह्मवादिनः ।
नेच्छामि सुदुराचारान्प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

हे भगवन् ! आप जैसे ब्रह्मवादी द्वारा मैं ऐसे दुराचारी पुत्रों को नहीं चाहती । अतः आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये ॥ २५ ॥

कन्यया त्वेवमुक्तस्तु विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
उवाच कैकसीं भूयः पूर्णेन्दुरिव रोहिणीम् ॥ २६ ॥

मुनि श्रेष्ठ विश्रवा जो उस कन्या के ये वचन सुन कर, कैकसी से फिर वैसे ही कहने लगे; जैसे चन्द्रमा रोहिणी से कहता है ॥ २६ ॥

पश्चिमो यस्तव सुतो भविष्यति शुभानने ।
मम वंशानुरूपः स धर्मात्मा च* न संशयः ॥ २७ ॥

हे शुभानने! अच्छा तेरा पिछला पुत्र मेरे वंशानुरूप धर्मात्मा होगा—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २७ ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या राम कालेन केनचित् ।
जनयामास बीभत्सं रक्षोरूपं सुदारुणम् ॥ २८ ॥

हे राम! विश्रवामुनि ने उस कन्या से इस प्रकार कहा। तदनन्तर कुछ काल बाद उसने बड़ा भयङ्कर और बीभत्स राक्षसरूपी पुत्र जना ॥ २८ ॥

दशग्रीवं महादंष्ट्रं नीलाञ्जनचयोपमम् ।
ताम्रोष्ठं विंशतिभुजं महास्यं दीप्तमूर्धजम् ॥ २९ ॥

उसके सिर दस थे, और दांत बड़े बड़े थे। उसके शरीर का रंग काला और आकार पहाड़ के समान था। उसके ओंठ लाल थे, उसके बीस भुजाएं थीं। उसका मुँह बड़ा और सिर के बाल चमकीले थे ॥ २९ ॥

तस्मिञ्जाते ततस्तस्मिन् सज्वालकवलाः शिवाः ।
क्रव्यादाश्चापसव्यानि मण्डलानि प्रचक्रमुः ॥ ३० ॥

उसके जन्मते ही गीदड़ियां ज्वाला उगलने लगीं, मांसाहारी जीवजन्तु बाईं ओर की प्रदक्षिणा करते हुए मँडराने लगे ॥ ३० ॥

---

* पाठान्तरे—"भविष्यति"।

ववर्ष रुधिरं देवो मेघाश्च खरनिस्वनाः ।
प्रबभौ न च सूर्यो वै महोल्काश्चापतन्भुवि ॥ ३१ ॥

देवताओं ने रक्त की वर्षा की। मेघ बड़े ज़ोर से गर्जे, सूर्य का प्रकाश मंद पड़ गया। आकाश से बड़ी बड़ी उल्काएँ पृथिवी पर गिरने लगीं ॥ ३१ ॥

चकम्पे जगती चैव ववुर्वाताः सुदारुणाः ।
अक्षोभ्यः क्षुभितश्चैव समुद्रः सरितां पतिः ॥ ३२ ॥

पृथिवी हिलने लगी, दारुण हवा चलने लगी, अचल नदीपति समुद्र भी खलबला गया ॥ ३२ ॥

अथ नामाकरोत्तस्य पितामहसमः पिता ।
दशग्रीवः प्रसूतोऽयं दशग्रीवो भविष्यति ॥ ३३ ॥

तदनन्तर पितामह ब्रह्मा जी के समान उसके पिता ने उसका नामकरण किया। (नामकरण करते समय उसके पिता ने कहा) यह लड़का दस सिर वाला उत्पन्न हुआ है, अतः इसका नाम दशग्रीव रखना चाहिये ॥ ३३ ॥

तस्य त्वनन्तरं जातः कुम्भकर्णो महाबलः ।
प्रमाणाद्यस्य विपुलं प्रमाणं नेह विद्यते ॥ ३४ ॥

तदनन्तर कैकसी के गर्भ से कुम्भकर्ण का जन्म हुआ। उसके समान लंबा और चौड़ा दूसरा कोई प्राणी न था ॥ ३४ ॥

ततः शूर्पणखा नाम संजज्ञे विकृतानना ।
विभीषणश्च धर्मात्मा कैकस्याः पश्चिमः सुतः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर बुरी सूरत की सूपनखा उत्पन्न हुई। सब के पीछे कैकसी के सब से छोटे पुत्र धर्मात्मा विभीषण उत्पन्न हुए ॥ ३५ ॥

तस्मिञ्जाते महासत्त्वे पुष्पवर्षं पपात ह ।
नभःस्थाने दुन्दुभयो देवानां प्राणदंस्तथा ।
वाक्यं चैवान्तरिक्षे च साधु साध्विति तत्तदा ॥३६॥

धर्मात्मा विभीषण जिस समय उत्पन्न हुए, उस समय आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई और देवताओं ने दुन्दभी बजायी और आकाश में बारंबार धन्य धन्य का शब्द सुन पड़ा ॥ ३६ ॥

तौ तु तत्र महारण्ये ववृधाते महौजसौ ।
कुम्भकर्णः दशग्रीवौ लोकोद्वेग करौ तदा ॥ ३७ ॥

अब लोकों को विकल करने वाले रावण और कुम्भकर्ण उस वन में धीरे धीरे बढ़ने लगे ॥ ३७ ॥

कुम्भकर्णः प्रमत्तस्तु महर्षीन्धर्मवत्सलान् ।
त्रैलोक्यं भक्षयन्नित्यासन्तुष्टो विचचार ह ॥३८॥

कुम्भकर्ण प्रमत्त हो, धर्मात्मा महर्षियों को पकड़ पकड़ कर खा जाता था और जहाँ चाहता वहाँ घूमा करता था; किन्तु उसका पेट कभी नहीं भरता था ॥ ३८ ॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा नित्यं धर्मे व्यवस्थितः ।
स्वाध्यायनियताहार उवास विजितेन्द्रियः ॥ ३९ ॥

विभीषण सदा धर्म पर आरूढ़, स्वाध्याय और नियताहार में तत्पर रहते तथा जितेन्द्रिय हो कर समय बिताया करते थे ॥ ३९ ॥

अथ वैश्रवणो देवस्तत्र कालेन केनचित् ।
आगतः पितरं द्रष्टुं पुष्पकेण धनेश्वरः ॥ ४० ॥

कुछ दिनों बाद एक दिन पुष्पकविमान में बैठ कर वैश्रवण कुबेर जी अपने पिता विश्रवा जी के दर्शन करने आये थे ॥ ४० ॥

तं दृष्ट्वा कैकसी तत्र ज्वलन्तमिव तेजसा ।
आगम्य राक्षसी तत्र दशग्रीवमुवाच ह ॥ ४१ ॥

कुबेर जी को अपने तेज से प्रकाशित देख, कैकसी ने अपने पुत्र दशग्रीव से कहा ॥ ४१ ॥

पुत्र वैश्रवणं पश्य भ्रातरं तेजसावृतम् ।
भ्रातृभावे समे चापि पश्यात्मानं त्वमीदृशम् ॥ ४२ ॥

हे पुत्र ! अपने भाई वैश्रवण कुबेर को देखो, वह तेज से कैसा प्रज्वलित है। तुम भी एक उनके भाई ही हो, किन्तु देखो तुममें और उसमें कितना अन्तर है ॥ ४२ ॥

दशग्रीव तथा यत्नं कुरुष्वामितविक्रम ।
यथा त्वमपि मे पुत्र भव वैश्रवणोपमः ॥ ४३ ॥

अतः हे दशग्रीव ! तुम ऐसा यत्न करो जिससे तुम भी वैश्रवण के समान हो जाओ ॥ ४३ ॥

मातुस्तद्वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ।
अमर्षमतुलं लेभे प्रतिज्ञां चाकरोत्तदा ॥ ४४ ॥

प्रतापी दशग्रीव को माता के ये वचन सुन, भाई के ऐश्वर्य से बड़ा डाह हुआ और उसने उसी समय यह प्रतिज्ञा की ॥ ४४ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि भ्रातृतुल्योऽधिकोऽपि वा ।
भविष्याम्योजसा चैव सन्तापंत्यज हृद्गतम् ॥४५॥

हे माता! मैं तुमसे सच्च सच्च कहता हूँ कि, मैं भी अपने पराक्रम से वैश्रवण के समान अथवा उससे भी अधिक हो जाऊँगा। अतः तुम अपने मन का सन्ताप दूर कर दो ॥ ४५ ॥

ततः क्रोधेन तेनैव दशग्रीवः सहानुजः ।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म तपसे धृतमानसः ॥ ४६ ॥

अब उसी क्रोध के कारण मन में तप करने की ठान, दशग्रीव अपने छोटे भाइयों को साथ ले कठिन तप करने के लिये उद्यत हुआ ॥ ४६ ॥

प्राप्स्यामि तपसा काम-
मिति कृत्वाऽध्यवस्य च ।
आगच्छदात्मसिद्ध्यर्थं
गोकर्णस्याश्रमं शुभम् ॥ ४७ ॥

उसने अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि, मैं तप द्वारा अपने अभीष्ट को प्राप्त करूँगा। अतः सिद्धिप्राप्ति के लिये वह गोकर्ण नामक शुभ आश्रम में आया ॥ ४७ ॥

स राक्षसस्तत्र सहानुजस्तदा
तपश्चचारातुलमुग्रविक्रमः ।
अतोषयच्चापि पितामहं विभुं
ददौ स तुष्टश्च वराञ्जयावहान् ॥ ४८ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

दशग्रीव ने भाइयों सहित बड़ा उग्र तप किया और अपने तप के बल ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया, जिससे ब्रह्मा जी ने उसे जय देने वाले अभीष्ट वरदान दिये ॥ ४८ ॥

उत्तरकाण्ड का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

दशमः सर्गः

—:०:—

अथाब्रवीन्मुनिं रामः कथं ते भ्रातरो वने ।
कीदृशं तु तदा ब्रह्मंस्तपस्तेपुर्महाबलाः ॥ १ ॥

इतना सुन श्रीरामचन्द्र जी अगस्त्य जी से बोले—हे ब्रह्मन्! उन तीनों महाबली भाइयों ने कैसा तपस्या की, सो कहिये ॥ १ ॥

अगस्त्यस्त्वब्रवीत्तत्र रामं सुप्रीतमानसम् ।
तांस्तान्धर्मविधींस्तत्र भ्रातरस्ते समाविशन् ॥ २ ॥

यह सुन अगस्त्य जी प्रसन्न हो कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोले कि, उन तीनों भाइयों ने वहाँ (गोकर्णाश्रम में) जा तप के समस्त विधान किये ॥ २ ॥

कुम्भकर्णस्ततो यत्तो नित्यं धर्मपथे स्थितः ।
ततापं ग्रीष्मकाले तु पञ्चाग्नीन्परितः स्थितः ॥ ३ ॥

कुम्भकर्ण तपःधर्म के नियमानुसार (अथवा धर्ममार्ग पर स्थित हो,) गर्मी में अपने चारों ओर आग जला कर, पञ्चाग्नि तापता था ॥ ३ ॥

(नोट—चारों ओर चार आग और पाँचवाँ सूर्य पञ्चाग्नि है।)

मेघाम्बुसिक्तो वर्षासु वीरासनमसेवत ।
नित्यं च शिशिरे काले जलमध्यप्रतिश्रयः ॥ ४ ॥

वर्षाऋतु में वीरासन से बैठ कर जल की वृष्टि को झेलता और शीतकाल में जल में बैठता था ॥ ४ ॥

एवं वर्षसहस्राणि दश तस्यातिचक्रमुः ।
धर्मे प्रयतमानस्य सत्पथे निष्ठितस्य च ॥ ५ ॥

इस प्रकार तप करते करते उसने दस हज़ार वर्ष बिता डाले। इतने दिनों तक वह सदैव तपःधर्म के नियमानुसार तथा धर्ममार्ग पर आरूढ़ रहा और केवल तप ही करता रहा ॥ ५ ॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा नित्यं धर्मपरः शुचिः ।
पञ्च वर्षसहस्राणि पादेनैकेन तस्थिवान् ॥ ६ ॥

धर्मात्मा विभीषण नित्य धर्म में तत्पर और पवित्र हो पांच हज़ार वर्ष तक एक पैर से ज़मीन पर खड़े रह कर, तप करते रहे ॥ ६ ॥

समाप्ते नियमे तस्य ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
पपात पुष्पवर्षं च *तुष्टुवुश्चापि देवताः ॥ ७ ॥

जब विभीषण जी का अनुष्ठान पूरा हुआ, तब अप्सराएँ नाचने लगीं, फूलों की वर्षा हुई और देवता स्तुति करने लगे ॥ ७ ॥

पञ्च वर्षसहस्राणि सूर्यं चैवान्ववर्तत ।
तस्थौ चोर्ध्वं शिरोबाहुः स्वाध्याये धृतमानसः ॥८॥

---

* पाठान्तरे—"क्षुभिताश्चापि"।

फिर विभीषण पाँच हज़ार वर्ष तक ऊपर को दोनों भुजा उठाये और ऊपर को सिर कर, सूर्य नारायण को देखते रहे और वेदपाठ करते रहे ॥ ८ ॥

एवं विभीषणस्यापि स्वर्गस्थस्येव नन्दने ।
दश वर्षसहस्राणि गतानि नियतात्मनः ॥ ९ ॥

इस प्रकार तप करते हुए विभीषण जी के दस हज़ार वर्ष वैसे ही बीते, जैसे स्वर्गनिवासी को नन्दनवन में बीतते हैं ॥ ९ ॥

दश वर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्चाग्नौ जुहाव सः ॥ १० ॥

दशग्रीव ने भी निराहार रह कर, दस हज़ार वर्षों तक तप किया। जब तप करते उसे एक हज़ार वर्ष पूरे होते, तब वह अपना एक सिर काट कर आग में होम देता था ॥ १० ॥

एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः ।
शिरांसि नव चाप्यस्य प्रविष्टानि हुताशनम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार तप करते करते उसने नौ हज़ार वर्ष बिता दिये और अपने नौ सिर भी आग में होम दिये ॥ ११ ॥

अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः ।
छेत्तुकामे दशग्रीवे प्राप्तस्तत्र पितामहः ॥ १२ ॥

जब दसवाँ हज़ार पूरा हुआ ; तब उसने अपना दसवाँ सिर भी काट कर अग्नि में होमना चाहा, तब उसके सामने ब्रह्मा जी प्रकट हुए ॥ १२ ॥

पितामहस्तु सुप्रीतः सार्धं देवैरुपस्थितः ।
तव तावद्दशग्रीव प्रीतोस्मीत्यभ्य भाषत ॥ १३ ॥

ब्रह्मा जी प्रसन्न हो कर, सब देवताओं को साथ लिये उसके पास जा बोले—हे दशग्रीव! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ ॥ १३ ॥

शीघ्रं वरय धर्मज्ञ वरो यस्तेभिकाङ्क्षितः ।
कं ते कामं करोम्यद्य न वृथा ते परिश्रमः ॥ १४ ॥

हे धर्मज्ञ! तुझे जो वर माँगना हो शीघ्र माँग। हम तेरे लिये क्या करें, जिससे तेरा परिश्रम व्यर्थ न जाय ॥ १४ ॥

अथाब्रवीद्दशग्रीवः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
प्रणम्य शिरसा देवं हर्षगद्गद्या गिरा ॥ १५ ॥

यह सुन रावण हर्षित हुआ और सिर नवा एवं प्रणाम कर हर्ष से गद्गद हो बोला ॥ १५ ॥

भगवन्प्राणिनां नित्यं नान्यत्र मरणाद्भयम् ।
नास्ति मृत्युसमः शत्रुरमरत्वमहं वृणे ॥ १६ ॥

हे भगवन्! प्राणियों को सदा मृत्यु का भय जितना सताया करता है, उतना कोई भय उन्हें नहीं सताता, क्योंकि मृत्यु से बढ़ कर प्राणियों का और दूसरा शत्रु नहीं है। अतः मृत्यु भय से बचने के लिये मुझे आप वरदान में अमरत्व दें ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तदा ब्रह्मा दशग्रीवमुवाच ह ।
नास्ति सर्वामरत्वं ते वरमन्यं वृणीष्व मे ॥ १७ ॥

यह सुन ब्रह्मा जी बोले कि, ऐसा नहीं हो सकता अर्थात् पूरा पूरा अमरत्व तुम्हें नहीं मिल सकता। इसलिये तू और कोई वरदान माँग ॥ १७ ॥

एवमुक्ते तदा राम ब्रह्मणा लोककर्तृणा ।
दशग्रीव उवाचेदं कृताञ्जलिरथाग्रतः ॥ १८ ॥

हे राम! लोककर्त्ता ब्रह्मा जी ने जब यह कहा; तब रावण उनके सामने खड़ा हो और हाथ जोड़ कर बोला ॥ १८ ॥

सुपर्णनागयक्षाणां दैत्यदानवरक्षसाम् ।
अवध्योऽहं प्रजाध्यक्ष देवतानां च शाश्वत ॥ १९ ॥

हे प्रजाध्यक्ष! गरुड़, सर्प, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस और देवताओं से सदा के लिये मुझे अवध्य कर दीजिये ॥ १९ ॥

न हि चिन्ता ममान्येषु प्राणिष्वमर पूजित ।
तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादयः ॥ २० ॥

हे देवपूजित! इनके अतिरिक्त अन्य प्राणियों की मुझे चिन्ता या उनसे भय नहीं है। मनुष्यादिकों को तो मैं तृणवत् समझता हूँ ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दशग्रीवेण रक्षसा ।
उवाच वचनं देवः सह देवैः पितामहः ॥ २१ ॥

जब राक्षस दशग्रीव ने यह कहा, तब देवताओं सहित खड़े हुए पितामह ब्रह्मा जी बोले ॥ २१ ॥

भविष्यत्येवमेतत्ते वचो राक्षसपुङ्गव ।
एवमुक्त्वा तु तं राम दशग्रीवं पितामहः ॥ २२ ॥

हे राक्षसश्रेष्ठ ! अच्छा ऐसा ही होगा। हे राम ! ब्रह्मा जी उस दशग्रीव से यह कह कर ॥ २२ ॥

शृणु चापि वरो भूयः प्रीतस्येह शुभो मम ।
हुतानि यानि शीर्षाणि पूर्वमग्नौ त्वयाऽनघ ॥ २३ ॥

उससे फिर बोले —हे अनघ ! मैं तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ, अतः मैं अपनी ओर से भी तुझे वर देता हूँ कि, जिन अपने सिरों को काट कर, तूने आग में होम दिया है ॥ २३ ॥

पुनस्तानि भविष्यन्ति तथैव तव राक्षस ।
वितरामीह ते सौम्य वरं चान्यं दुरासदम् ॥ २४ ॥

हे राक्षस ! वे सिर फिर तेरे पूर्ववत् हो जाँयगे। हे सौम्य ! एक और भी दुर्लभ वर मैं तुझको देता हूँ ॥ २४ ॥

छन्दतस्तव रूपं च मनसा यद्यथेप्सितम् ।
एवं पितामहोक्तं च दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २५ ॥

(वह यह है कि) जिस समय तू जैसा रूप धारण करना चाहेगा, वैसा ही रूप तेरा हो जायगा। ब्रह्मा जी के यह कहते ही राक्षस दशग्रीव के ॥ २५ ॥

अग्नौ हुतानि शीर्षाणि पुनस्तान्युत्थितानि वै ।
एवमुक्त्वा तु तं राम दशग्रीवं पितामहः ॥ २६ ॥

आग में होमे हुए सिर पूर्ववत् निकल आये। हे राम ! ब्रह्मा जी इस प्रकार दशग्रीव से कह कर ॥ २६ ॥

विभीषणमथोवाच वाक्यं लोकपितामहः ।
विभीषण त्वया वत्स धर्मसंहितबुद्धिना ॥ २७ ॥

परितुष्टोस्मि धर्मात्मन्वरं वरय सुव्रत ।
विभीषणस्तु धर्मात्मा वचनं प्राह साञ्जलिः ॥ २८ ॥

ब्रह्मा जी विभीषण से बोले—हे वत्स विभीषण! मैं तुम्हारी धर्मबुद्धि से प्रसन्न हूँ। अतः हे धर्मात्मन्! हे सुव्रत! तुम वर माँगो। तब धर्मात्मा विभीषण ने हाथ जोड़ कर कहा ॥ २७ ॥ २८ ॥

वृतः सर्वगुणैर्नित्यं चन्द्रमा रश्मिभिर्यथा ।
भगवन्कृतकृत्योहं यन्मे लोकगुरुः स्वयम् ॥ २९ ॥

हे भगवन्! जब सब लोकों के गुरु ब्रह्मा जी मुझ पर स्वयं सन्तुष्ट हुए हैं, तब मैं कृतार्थ हो गया और वैसे ही सर्वगुणों से युक्त हो गया जैसे चन्द्रमा किरणों से युक्त होता है ॥ २९ ॥

प्रीतेन यदि दातव्यो वरो मे शृणु सुव्रत ।
परमापद्गतस्यापि धर्मे मम मतिर्भवेत् ॥ ३० ॥

हे सुव्रत! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझे वर ही देना चाहते हैं, तो आप मुझे यह वर दें कि, दारुण विपत्ति पड़ने पर भी मेरी बुद्धि धर्म ही में बनी रहे ॥ ३० ॥

अशिक्षितं च ब्राह्मास्त्रं भगवन्प्रतिभातु मे ।
या या मे जायते बुद्धिर्येषु येष्वाश्रमेषु च ॥ ३१ ॥
सा सा भवतु धर्मिष्ठा तं तु धर्मं च पालये ।
एष मे परमोदार वरः परमको मतः ॥ ३२ ॥

और हे भगवन्! विना किसी के सिखलाये ही मुझे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना आ जाय और जिस आश्रम में मैं रहूँ, उस आश्रमोचित धर्मों के पालन में मेरी निष्ठा बढ़े अथवा मैं उनका

यथाविधि पालन करूँ। हे परमोदार! अर्थात् परमदाता! यही मेरा सर्वोत्कृष्ट अभीष्ट है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

न हि धर्माभिरक्तानां लोके किञ्चन दुर्लभम् ।
पुनः प्रजापतिः प्रीतो विभीषणमुवाच ह ॥ ३३ ॥

क्योंकि जिन का धर्म में अनुराग है या जो धर्मनिष्ठ हैं उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। यह सुन ब्रह्मा जी प्रसन्न हो फिर विभीषण से बोले ॥ ३३ ॥

धर्मिष्ठस्त्वं यथा वत्स तथा चैतद्भविष्यति ।
यस्माद्राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रनाशन ॥ ३४ ॥

हे वत्स! धर्मिष्ठ तो तुम हो ही! इसके अतिरिक्त तुम जैसा होना चाहते हो, वैसे ही हो जाओगे। हे शत्रुनाशी! राक्षसकुल में उत्पन्न हो कर भी ॥ ३४ ॥

नाधर्मे जायते बुद्धिरमरत्वं ददामि ते ।
इत्युक्त्वा कुम्भकर्णाय वरं दातुमुपस्थितम् ॥ ३५ ॥

तुम्हारी अधर्म में बुद्धि नहीं है। अतः मैं तुमको अमर होने का भी वर देता हूँ। विभीषण से इस प्रकार कह, ब्रह्मा जी कुम्भकर्ण को वरदान देने को तैयार हुए ॥ ३५ ॥

प्रजापतिं सुराः सर्वे वाक्यं प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ।
न तावत्कुम्भकर्णाय प्रदातव्यो वरस्त्वया ॥ ३६ ॥

उस समय उनके साथ जो देवता थे, वे हाथ जोड़ कर उनसे बोले—हे ब्रह्मन्! आप कुम्भकर्ण को वर न दें ॥ ३६ ॥

जानीषे हि यथालोकांस्त्रासयत्येष दुर्मतिः ।
नन्दनेऽप्सरसः सप्त महेन्द्रानुचरा दश ॥ ३७ ॥

क्योंकि आप जानते ही हैं कि, वर पाये बिना ही यह दुष्ट तीनों लोकों को सताया करता है। नन्दनवन में सात अप्सराओं और इन्द्र के दस टहलुओं को ॥ ३७ ॥

अनेन भक्षिता ब्रह्मन्नृषयो मानुषास्तथा ।
अलब्धवरपूर्वेण यत्कृतं राक्षसेन तु ॥ ३८ ॥

इसने खा डाला। इसके खाये हुए ऋषियों और मनुष्यों की तो गिनती हो ही नहीं सकती। बिना वर पाये ही जब इसकी ऐसी करतूतें देखने में आती हैं ॥ ३८ ॥

यद्येष वरलब्धः स्याद्भक्षयेद्भुवनत्रयम् ।
वरव्याजेन मोहोऽस्मै दीयताममितप्रभ ॥ ३९ ॥

तब वर पाने पर तो यह तीनों भुवनों को खा डालेगा। अतः हे अमितप्रभ! वर के बहाने इसे अज्ञान प्रदान कीजिये ॥ ३९ ॥

लोकानां स्वस्ति चैवं स्याद्भवेदस्य च सम्मतिः ।
एवमुक्तः सुरैर्ब्रह्माऽचिन्तयत्पद्मसम्भवः ॥ ४० ॥

इससे लोकों का कल्याण होगा और इसका भी मान बना रहेगा। जब देवताओं ने इस प्रकार कहा, तब पद्मसम्भव ब्रह्मा जी ने सरस्वती देवी का स्मरण किया ॥ ४० ॥

चिन्तिता चोपतस्थेऽस्य पार्श्वं देवी सरस्वती ।
प्राञ्जलिः सा तु पार्श्वस्था प्राह वाक्यं सरस्वती ॥४१॥

स्मरण करते ही सरस्वती जी ब्रह्मा जी के पास आ उपस्थित हुई और पास खड़ी हो हाथ जोड़े हुए ब्रह्मा जी से बोलीं ॥ ४१ ॥

इयमस्म्यागता देव किं कार्यं करवाण्यहम् ।
प्रजापतिस्तु तां प्राप्तां प्राह वाक्यं सरस्वतीम् ॥४२॥

हे देव ! मैं यहाँ आ गयी हूँ, कहिये क्या आज्ञा है? सरस्वती को उपस्थित देख ब्रह्मा जी ने उनसे कहा ॥ ४२ ॥

वाणि त्वं राक्षसेन्द्रस्य भव वाग्देवतेप्सिता* ।
तथेत्युक्त्वा प्रविष्टा सा प्रजापतिरथाब्रवीत् ॥ ४३ ॥

हे भारती ! देवताओं की कामना के अनुसार, तुम इस राक्षस की जिह्वा पर बैठ कर इससे तदनुसार कहलाओ। "जो आज्ञा" कह कर, देवी सरस्वती कुम्भकर्ण के मुख में पैठ गयीं। तब ब्रह्मा जी ने कुम्भकर्ण से कहा ॥ ४३ ॥

कुम्भकर्ण महाबाहो वरं वरय यो मतः ।
कुम्भकर्णस्तु तद्वाक्यं श्रुत्वा वचनमब्रवीत् ॥ ४४ ॥

हे महाबलवान कुम्भकर्ण ! तुम जो वर चाहते हो सो माँग लो। ब्रह्मा जी का यह वचन सुन कुम्भकर्ण बोला ॥ ४४ ॥

स्वप्तुं वर्षाण्यनेकानि देवदेव ममेप्सितम् ।
एवमस्त्विति तं चोक्त्वा प्रायाद्ब्रह्मा सुरैस्समम् ॥४५॥

हे देवदेव ! मैं यह चाहता हूँ कि, मैं अनेक वर्षों तक सोया करूँ। ब्रह्मा जी ने कहा "तथास्तु" (अर्थात् ऐसा ही होगा) और वे देवताओं को साथ ले चल दिये ॥ ४५ ॥

---

* पाठान्तरे—"वागित्वं राक्षसेन्द्रस्य भव या देवतेप्सिता"।

देवी सरस्वती चैव राक्षसं तं जहौ पुनः ।
ब्रह्मणा सह देवेषु गतेषु च नभःस्थलम् ॥४६॥

सरस्वती देवी भी उसके मुख से निकल आयीं। देवताओं के साथ ब्रह्मा जी भी आकाशमण्डल में चले गये ॥ ४६ ॥

विमुक्तोसौ सरस्वत्या स्वां संज्ञां च ततो गतः ।
कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा चिन्तयामास दुःखितः ॥४७॥

जब सरस्वती ने कुम्भकर्ण को छोड़ दिया, तब उसे चेत हुआ। तब तो वह दुष्ट कुम्भकर्ण दुःखी हो सोचने लगा ॥ ४७ ॥

ईदृशं किमिदं वाक्यं ममाद्य वदनाच्च्युतम् ।
अहं व्यामोहितो देवैरिति मन्ये तदागतैः ॥ ४८ ॥

कि हाय मेरे मुख से ऐसा वचन क्यों निकला। मुझे जान पड़ता है कि, उस समय देवताओं ने आ कर मुझे मोहित कर दिया था ॥ ४८ ॥

एवं लब्धवराः सर्वे भ्रातरो दीप्ततेजसः ।
श्लेष्मान्तकवनं गत्वा तत्र ते न्यवसन्सुखम् ॥४९॥

इति दशमः सर्गः ॥

इस प्रकार तेजस्वी सब भाई वर प्राप्त कर, उस श्लेष्मान्तक* वन में, जहाँ उनके पिता तप किया करते थे, चले गये और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ४९ ॥

उत्तरकाण्ड का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

* श्लेष्मान्तक—लसोड़ा अथवा बहेड़ा का वन ।

एकादशः सर्गः

—:०:—

सुमाली वरलब्धांस्तु ज्ञात्वा चैतान्निशाचरान् ।
उदतिष्ठद्भयं त्यक्त्वा सानुगः स रसातलात् ॥ १ ॥

उधर सुमाली इन तीनों भाइयों के वर पाने का समाचार सुन, निर्भय हो अपने अनुचरों सहित पाताल से निकला ॥ १ ॥

मारीचश्च प्रहस्तश्च विरूपाक्षो महोदरः ।
उदतिष्ठन्सुसंरब्धाः सचिवास्तस्य रक्षसः ॥ २ ॥

मारीच, महोदर, प्रहस्त, विरूपाक्ष—ये सुमाली के सचिव थे। ये भी उसके साथ अत्यन्त उत्साहित हो निकले ॥ २ ॥

सुमाली सचिवैः सार्धं वृतो राक्षस पुङ्गवैः ।
अभिगम्य दशग्रीवं परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

सुमाली अपने अपने राक्षसश्रेष्ठ मंत्रियों को साथ ले दशग्रीव के निकट गया और उसे गले लगा उससे बोला ॥ ३ ॥

दिष्ट्या ते वत्स सम्प्राप्तश्चिन्तितोऽयं मनोरथः ।
यस्त्वं त्रिभुवनश्रेष्ठाल्लब्धवान्वरमुत्तमम् ॥ ४ ॥

हे वत्स ! बड़े सौभाग्य की बात है कि, यह वाञ्छित मनोरथ पूरा हुआ । तुमने त्रिभुवननाथ से उत्तम वर पा लिया ॥ ४ ॥

यत्कृते च वयं लङ्कां त्यक्त्वा याता रसातलम् ।
तद्गतं नो महाबाहो महद्विष्णुकृतं भयम् ॥ ५ ॥

जिस भय से हम सब को लङ्का को छोड़ कर रसातल में भाग जाना पड़ा था, हे महाबाहो! वह विष्णु का बड़ा भय दूर हो गया ॥ ५ ॥

असकृत्तद्भयाद्भग्नाः* परित्यज्य स्वमालयम् ।
विद्रुताः सहिताः सर्वे प्रविष्टाः स्म रसातलम् ॥ ६ ॥

उनके भय से हम सब लोगों को अनेक बार दुखी हो अपना घर द्वार छोड़ कर भागना पड़ा और रसातल में जाना पड़ा ॥ ६ ॥

अस्मदीया च लङ्केयं नगरी राक्षसोचिता ।
निवेशिता तव भ्रात्रा धनाध्यक्षेण धीमता ॥ ७ ॥

यह लङ्का हमारी ही है, हम सब राक्षस उसीमें रहते थे। किन्तु अब उसे तुम्हारे बुद्धिमान भाई कुबेर ने अपने अधिकार में कर लिया है ॥ ७ ॥

यदि नामात्र शक्यं स्यात्साम्ना दानेन वाऽनघ ।
तरसा वा महाबाहो प्रत्यानेतुं कृतं भवेत् ॥ ८ ॥

हे अनघ! हे महावीर! यदि कहीं साम, दाम, अथवा युद्ध द्वारा ही लङ्का अपने अधिकार में तुम कर सको, तो बड़ा काम बन जाय ॥ ८ ॥

त्वं तु लङ्केश्वरस्तात भविष्यसि न संशयः ।
त्वया राक्षसवंशोयं निमग्नोपि समुद्धृतः ॥ ९ ॥

हे तात! तुम निस्सन्देह लङ्केश्वर होगे और इस प्रकार डूबे हुए राक्षसकुल का तुम उद्धार करोगे ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"भीताः"।

सर्वेषां नः प्रभुश्चैव भविष्यसि महाबल ।
अथाब्रवीद्दशग्रीवो मातामहमुपस्थितम् ॥ १० ॥

तथा हम सब के तुम स्वामी होगे । इतना सुन रावण अपने नाना सुमाली से बोला ॥ १० ॥

वित्तेशो गुरुरस्माकं नार्हसे वक्तुमीदृशम् ।
साम्ना हि राक्षसेन्द्रेण प्रत्याख्यातो गरीयसा ॥११॥

ज्येष्ठ भ्राता कुवेर जी मेरे पूज्य हैं, अतः आप ऐसी बात न कहिये । जब रावण ने अपने नाना को इस तरह समझा दिया ॥ ११ ॥

किञ्चिन्नाह तदा रक्षो ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य वसन्तं रावणं ततः ॥ १२ ॥

तब सुमाली उसके मन की बात जान कुछ न बोला । कुछ काल बाद वहां रहते हुए रावण से ॥ १२ ॥

प्रहस्तः प्रश्रितं वाक्यमिदमाह स रावणम्* ।
दशग्रीव महाबाहो नार्हसे वक्तुमीदृशम् ॥ १३ ॥

प्रहस्त ने रावण से विनम्र भाव से यह कहा—हे महाबहो ! हे दशग्रीव ! तुमको ऐसा न कहना चाहिये ॥ १३ ॥

सौभ्रात्रं नास्ति शूराणां शृणु चेदं वचो मम ।
अदितिश्च दितिश्चैव भगिन्यौ सहिते हिते ॥ १४ ॥

शूरों के लिये भाईपन का विचार कोई विचार नहीं । सुनो मैं तुम्हें इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त सुनाता हूँ । अदिति व दिती दोनों बहनें थीं जो एक दूसरे की हितैषिणी थीं ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—" सकारणम् " ।

भार्ये परमरूपिण्यौ कश्यपस्य प्रजापतेः ।
अदितिर्जनयामास देवांस्त्रिभुवनेश्वरान् ॥ १५ ॥
दितिस्त्वजनयद्दैत्यान्कश्यपस्यात्मसम्भवान् ।
दैत्यानां किल धर्मज्ञ पुरेयं सवनार्णवा ॥ १६ ॥
सपर्वता मही वीर तेऽभवन्प्रभविष्णवः
निहत्य तांस्तु समरे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १७ ॥

ये दोनों बड़ी रूपवती थीं और कश्यप प्रजापति को व्याही थीं। अदिति ने त्रिभुवन के स्वामी देवताओं को जना और दिति ने कश्यप जी के औरस से दैत्यों को। हे धर्मज्ञ! पूर्वकाल में सागर, कानन और पर्वतों समेत यह सारी पृथिवी दैत्यों के अधिकार में थी। किन्तु प्रभावशाली विष्णु ने युद्ध में समस्त दैत्यों का संहार कर ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

देवानां वशमानीतं त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ।
नैतदेको भवानेव करिष्यति विपर्ययम् ॥ १८ ॥

ये अविनाशी तीनों लोक देवताओं के अधीन कर दिये। अतः आप विचार देखें कि, आप ही अपने भाई के साथ वैर भाव करेंगे सो बात नहीं है। अथवा आप ही ऐसा उलट पलट करने वाले अनोखे न समझे जायगे ॥ १८ ॥

सुरासुरैराचरितं तत्कुरुष्व वचो मम ।
एवमुक्तो दशग्रीवः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

जो काम आज तक सुर और असुर सदा से करते चले आये हैं, वही काम आप भी मेरा कहना मान कर कीजिये। जब

प्रहस्त ने इस प्रकार समझाया, तब तो रावण ने हर्षित अन्तःकरण से ॥ १९ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तं वै बाढमित्येव सोऽब्रवीत् ।
सतु तेनैव हर्षेण तस्मिन्नहनि वीर्यवान् ॥ २० ॥
वनं गतो दशग्रीवः सह तैः क्षणदाचरैः ।
त्रिकूटस्थः स तु तदा दशग्रीवो निशाचरः ॥ २१ ॥

एक मुहूर्त तक कुछ सोचा विचारा । तदनन्तर उसने कहा—बहुत अच्छा । अर्थात् प्रहस्त के कहने से वह राज़ी हो गया । ऐसा कह हर्ष के मारे वीर्यवान् दशग्रीव उसी दिन निशाचरों के साथ लङ्का के समीप वाले वन में गया और त्रिकूट पर्वत पर टिक गया । फिर राक्षस दशग्रीव ने ॥ २० ॥ २१ ॥

प्रेषयामास *दौत्येन प्रहस्तं वाक्यकोविदम् ।
प्रहस्त शीघ्रं गच्छत्वं ब्रूहि नैर्ऋत पुङ्गवम् ॥ २२ ॥
वचसा मम वित्तेशं साम पूर्वमिदं वचः ।
इयं लङ्कापुरी राजन् राक्षसानां महात्मनाम् ॥ २३ ॥

वाक्यविशारद प्रहस्त को अपना दूत बना कर कुवेर के पास भेजा । (उसने प्रहस्त से कहा कि)—हे प्रहस्त ! तुम शीघ्र कुवेर के पास जाओ और उनसे मेरी ओर से समझा कर यह कहना कि—"हे राजन् ! यह लङ्कापुरी महाबलवान् राक्षसों की है ॥ २२ ॥ २३ ॥

त्वया निवेशिता सौम्य नैतद्युक्तं तवानघ ।
तद्भवान्यदि नोह्यद्य दद्यादतुलविक्रम ॥२४॥

* पाठान्तरे—"दूत्येन" ।

कृता भवेन्मम प्रीतिर्धर्मश्चैवानुपालितः ।
स तु गत्वा पुरीं लङ्कां धनदेन सुरक्षिताम् ॥ २५ ॥

सो हे सौम्य ! हे अनघ ! तुम्हारा इसमें रहना उचित नहीं है । हे अतुल विक्रमकारी ! अब जो लङ्कापुरी आप हमें लौटा दें, तो आप यह काम हमारी परम प्रसन्नता का करेंगे और ऐसा करने से धर्म की रक्षा भी होगी" । कुबेरपालित लङ्का में प्रहस्त गया ॥ २४ ॥ २५ ॥

अब्रवीत्परमोदारं वित्तपालमिदं वचः ।
प्रेषितोऽहं तव भ्रात्रा दशग्रीवेण सुव्रत ॥ २६ ॥
त्वत्समीपं महाबाहो सर्वशस्त्रभृतांवर ।
वचनं मम वित्तेश यद्ब्रवीति दशाननः ॥ २७ ॥

और वहाँ जा कर परमोदार धनपाल कुबेर से यह बोला— हे सुव्रत ! मुझे तुम्हारे भाई रावण ने तुम्हारे पास भेजा है । हे महाबाहो ! हे शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ ! दशग्रीव ने जो संदेसा कहा है, उसे आप मेरे मुख से सुनें ॥ २६ ॥ २७ ॥

इयं किल पुरी रम्या सुमालिप्रमुखैः पुरा ।
भुक्तपूर्वा विशालाक्ष राक्षसैर्भीमविक्रमैः ॥ २८ ॥

हे विशालाक्ष ! पूर्वकाल में यह रमणीक सुप्रसिद्ध लङ्कापुरी वीर पराक्रमी सुमाली आदि राक्षसों के अधिकार में थी ॥ २८ ॥

तेन विज्ञाप्यते सोयं साम्प्रतं विश्रवात्मज ।
तदेषा दीयतां तात याचतस्तस्य सामतः ॥ २९ ॥

हे तात ! हे विश्रवात्मज ! अतः इसे अब आप दे दें । हम आपसे प्रार्थनापूर्वक याचना करते हैं ॥ २९ ॥

प्रहस्तादपि संश्रुत्य देवो वैश्रवणो वचः ।
प्रत्युवाच प्रहस्तं तं वाक्यं वाक्यविदां वरः ॥३०॥

वचन बोलने में चतुर धननाथ कुबेर ने प्रहस्त के ऐसे वचन सुन कर कहा ॥ ३० ॥

दत्ता ममेयं पित्रा तु लङ्का शून्या निशाचरैः ।
निवेशिताच मे रक्षो दानमानादिभिर्गुणैः ॥ ३१ ॥

यह लङ्का नगरी खाली पड़ी थी । इसमें कोई भी राक्षस नहीं रहता था । इसे खाली देख कर पिता ने मुझे यह रहने के लिये दी है । मैंने दान मानादि से अनेक लोगों को इसमें बसा इसे आबाद किया है ॥ ३१ ॥

ब्रूहि गच्छ दशग्रीवं पुरी राज्यं च यन्मम ।
तवाप्येतन्महाबाहो भुंक्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ३२ ॥

सो तुम मेरी ओर से जा कर दशग्रीव से कह देना कि, यह नगरी और राज्य जो कुछ मेरे पास है सो सब तुम्हारा ही है, अतः तुम चाहो तो हे महाबाहो ! अकण्टक राज्य भोगो ॥ ३२ ॥

अविभक्तं त्वया सार्धं राज्यं यच्चापि मे वसु ।
एवमुक्त्वा धनाध्यक्षो जगाम पितुरन्तिकम् ॥ ३३ ॥

क्योंकि यह राज्य और धनादि ऐश्वर्य हमारा और तुम्हारा अलग अलग नहीं है, एक ही है । प्रहस्त से इस प्रकार कह कर, कुबेर जो अपने पिता के निकट गये ॥ ३३ ॥

अभिवाद्य गुरुं प्राह रावणस्य यदीप्सितम् ।
एष तात दशग्रीवो दूतं प्रेषितवान्मम ॥ ३४ ॥

और पूज्य पिता जी को प्रणाम कर दशग्रीव के अभीष्ट को जनाते हुए कहा । हे पिता ! दशग्रीव ने अपना एक दूत मेरे पास भेजा है ॥ ३४ ॥

दीयतां नगरी लङ्का पूर्वं रक्षोगणोपिता ।
मयात्र यदनुष्ठेयं तन्ममाचक्ष्व सुव्रत ॥ ३५ ॥

और उसके द्वारा मुझसे कहलाया है कि लङ्का मुझे दे दो, क्योंकि पहले इसमें राक्षस ही रहा करते थे । हे सुव्रत ! इस समय मुझे क्या करना चाहिये सो आप आज्ञा करें ॥ ३५ ॥

ब्रह्मर्षिस्त्वेवमुक्तोऽसौ विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
प्राञ्जलिं धनदं प्राह शृणु पुत्र वचो मम ॥ ३६ ॥

इस पर मुनिपुङ्गव ब्रह्मर्षि विश्रवा जी, हाथ जोड़े सामने खड़े हुए कुबेर से बोले, हे पुत्र ! मैं जो कहता हूँ सो सुनो ॥ ३६ ॥

दशग्रीवो महाबाहुरुक्तवान्मम सन्निधौ ।
मया निर्भर्त्सितश्चासीद्बहुशोक्तः सुदुर्मतिः ॥३७॥

दशग्रीव ने यह बात मुझसे भी कही थी, परन्तु मैंने तो उस दुष्ट को बहुत फटकारा ॥ ३७ ॥

स क्रोधेन मया चोक्तो ध्वंससे च पुनः पुनः ।
श्रेयोभियुक्तं धर्म्यं च शृणु पुत्र वचो मम ॥ ३८ ॥

और रोष में भर मैंने बार बार (यह कह कर उसको धमकाया भी) कि तू नष्ट हो जायगा। हे पुत्र! अब तुम मेरे कल्याणकारी धर्म युक्त वचन सुनो॥ ३८॥

वरप्रदानसंमूढो मान्यामान्यं सुदुर्मतिः।
न वेत्ति मम शापाच्च प्रकृतिं दारुणां गतः॥३९॥

जब से उसे वर मिला है तब से वह बड़ा ही दुष्टबुद्धि हो गया है। उसके लेखे मान्य और अमान्य कुछ है ही नहीं। मेरे शाप से उसका स्वभाव बड़ा दारुण हो गया है॥ ३९॥

तस्माद्गच्छ महाबाहो कैलासं धरणीधरम्।
निवेशय निवासार्थं त्यक्त्वा लङ्कां सहानुगः॥४०॥

अतएव अब तुम अपने अनुयायियों सहित कैलास पर्वत पर जा कर बसो और वहाँ अपने लिये पुरी बनाओ। लङ्का को खाली कर दो॥ ४०॥

तत्र मन्दाकिनी रम्या नदीनामुत्तमा नदी।
काञ्चनैः सूर्यसङ्काशैः पङ्कजैः संवृतोदका॥ ४१॥

कैलास पर सब नदियों से उत्तम और रम्य मन्दाकिनी नदी बहती है। उसके जल में सूर्य जैसे चमकीले कमल के फूल खिल रहे हैं॥ ४१॥

कुमुदैरुत्पलैश्चैव अन्यैश्चैव सुगन्धिभिः।
तत्र देवाः सगन्धर्वाः साप्सरोरगकिन्नराः॥ ४२॥
विहारशीलाः सततं रमन्ते सर्वदाश्रिताः।
नहि क्षमं त्वयानेन वैरं धनद रक्षसा।
जानीषे हि यथानेन लब्धः परमको वरः॥४३॥

कुईं, सफेदकमल तथा अन्य महकदार फूलों से वह स्थान सुवासित है। वहाँ विहारशील देवता, गन्धर्व, अप्सराएँ और किन्नर सदैव बने रहते हैं और विहार किया करते हैं। हे धनद! इस राक्षस से तुम्हारा वैर करना उचित नहीं। क्योंकि यह तो तुम्हें मालूम ही है कि, इसे सर्वोत्कृष्ट वर प्राप्त हो चुका है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

एवमुक्तो गृहीत्वा तु तद्वचः पितृगौरवात् ।
सदारपुत्रः सामात्यः सवाहनधनो गतः ॥ ४४ ॥

यह सुन कुबेर जी पिता की आज्ञा मान अपने बाल बच्चों, मंत्रियों, वाहन और धन को साथ ले, कैलास पर्वत पर चले गये ॥ ४४ ॥

प्रहस्तोऽथ दशग्रीवं गत्वा वचनमब्रवीत् ।
प्रहृष्टात्मा महात्मानं सहामात्यं सहानुजम् ॥ ४५ ॥

प्रहस्त ने हर्षित अन्तःकरण से अनुज और मंत्रियों के साथ बैठे हुए महाबली दशग्रीव के पास जा कर कहा ॥ ४५ ॥

शून्या सा नगरी लङ्का त्यक्त्वैनां धनदो गतः ।
प्रविश्य तां सहास्माभिः स्वधर्मं तत्र पालय ॥ ४६ ॥

कुबेर लङ्का को ख़ाली कर चले गये हैं। अब वह ख़ाली पड़ी है। अतः अब आप हम लोगों के साथ वहाँ चलिये और राज्य कीजिये ॥ ४६ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवः प्रहस्तेन महाबलः ।
विवेश नगरीं लङ्कां भ्रातृभिः सबलानुगैः ॥ ४७ ॥

महाबलवान रावण प्रहस्त के ऐसे वचन सुन कर, अति हर्षित हुआ और अपने भाई, सेना और अनुचरों सहित उसने लङ्का में प्रवेश किया ॥ ४७ ॥

धनदेन परित्यक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।
आरुरोह स देवारिः स्वर्गं देवाधिपो यथा ॥ ४८ ॥

कुबेर की त्यागी हुई और सुन्दर सड़कों से युक्त लङ्कापुरी में देवताओं के शत्रु रावण ने उसी प्रकार प्रवेश किया ; जिस प्रकार इन्द्र स्वर्ग में प्रवेश करते हैं ॥ ४८ ॥

स चाभिषिक्तः क्षणदाचरैस्तदा
निवेशयामास पुरीं दशाननः ।
निकामपूर्णा च बभूव सा पुरी
निशाचरैर्नीलबलाहकोपमैः ॥ ४९ ॥

लङ्कापुरी में पहुँचते ही राक्षसों ने रावण के राजतिलक किया । फिर रावण ने पुरी को बसाया । नीले मेघों के समान देह वाले निशाचरों के झुंड के झुंड लङ्कापुरी में बस गये ॥ ४९ ॥

धनेश्वरस्त्वथपितृवाक्यगौरवात्
न्यवेशयच्छशिविमले गिरौ पुरीम् ।
स्वलंकृतैर्भवनवरैर्विभूषितां
पुरन्दरः स्वरिव यथामरावतीम् ॥ ५० ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

फुबेर ने भी अपने पिता की आज्ञा मान, कैलास पर्वत पर अति सुन्दर एवं शोभायमान् मन्दिरों सहित अति मनोहर अलकापुरी बसाई, जो इन्द्र की अमरावती पुरी के समान थी ॥ ५० ॥

उत्तरकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

द्वादशः सर्गः

—:०:—

राक्षसेन्द्रोऽभिषिक्तस्तु भ्रातृभिः सहितस्तदा ।
ततः प्रदानं राक्षस्या भगिन्याः समचिन्तयत् ॥ १ ॥

रावण अभिषिक्त हो, अपने भाइयों सहित, अपनी बहिन सूपनखा के विवाह के लिये चिन्तित हुआ ॥ १ ॥

*ददौ तां कालकेन्द्राय दानवेन्द्राय राक्षसीम् ।
स्वासां शूर्पणखां नाम विद्युज्जिह्वाय राक्षसः ॥ २ ॥

तदनन्तर रावण ने कालकेयवंशी दानवेन्द्र विद्युज्जिह्व के साथ अपनी बहिन सूपनखा का विवाह कर दिया ॥ २ ॥

अथ दत्त्वा स्वयं रक्षो मृगयामटते स्म तत् ।
तत्रापश्यत्ततो राम मयं नाम दितेः सुतम् ॥ ३ ॥

हे राम ! इस प्रकार अपनी बहिन का विवाह कर, दशग्रीव रावण ने शिकार खेलते खेलते, दिति के पुत्र मय को देखा ॥ ३ ॥

कन्या सहायं तं दृष्ट्वा दशग्रीवो निशाचरः ।
अपृच्छत्को भवानेको निर्मनुष्यमृगे वने ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—"स्वसारं कालकेयाय दानवेन्द्राय राक्षसीम् ददौ । शूर्पणखां नाम विद्युज्जिह्वाय नामतः" ।

रावण ने मय को एक कन्या सहित देख कर पूँछा—आप कौन हैं? और इस मनुष्यरहित एवं नाना प्रकार के जंगली जीवों से भरे हुए, वन में आप अकेले क्यों घूम रहे हैं? ॥ ४ ॥

अनया मृगशावाक्ष्या किमर्थं सह तिष्ठसि ।
मयस्तदाब्रवीद्राम पृच्छन्तं तं निशाचरम् ॥ ५ ॥

और इस मृगनयनी को अपने साथ क्यों लिये हुए हैं? हे राम! रावण ने जब इस प्रकार पूँछा, तब मय ने उत्तर देते हुए कहा ॥ ५ ॥

श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये यथावृत्तमिदं तव* ।
हेमा नामाप्सरास्तत्र श्रुतपूर्वा यदि त्वया ॥ ६ ॥

मैं अपना समस्त वृत्तान्त आपको ज्यों का त्यों सुनाता हूँ। आप सुनें। कदाचित् आपने हेमा नाम की अप्सरा का नाम सुना हो ॥ ६ ॥

दैवतैर्मम सा दत्ता पौलोमीव शतक्रतोः ।
तस्यां सक्तमना ह्यासं दशवर्षशतान्यहम् ॥ ७ ॥

जैसे इन्द्र को शची मिली थी, वैसे ही देवताओं ने उस हेमा को मुझे दिया। मैं हज़ार वर्षों तक उसमें आसक्त रहा ॥ ७ ॥

सा च दैवतकार्येण त्रयोदश समागताः ।
वर्षं चतुर्दशं चैव ततो हेममयं पुरम् ॥ ८ ॥

जब वह देवताओं का कार्य करने के लिये देवलोक को चली गयी, तब मैं उसके विरह में कातर हो, चौदह वर्ष तक अपनी सुवर्णमयी पुरी में रहा ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—"मम"।

वज्रवैदूर्यचित्रं च मायया निर्मितं मया ।
तत्राहमवसं दीनस्तया हीनः सुदुःखितः ॥ ९ ॥

यह पुरी मैंने अपनी विचित्र निर्माणशक्ति से हीरों और पन्नों से जड़ कर बनायी थी। उस स्त्री के वियोग में मैं दीन और अत्यन्त दुःखी हो कर, उसी अपने बनाये हुए नगर में रहने लगा ॥ ९ ॥

तस्मात्पुराद्दुहितरं गृहीत्वा वनमागतः ।
इयं ममात्मजा राजंस्तस्याः कुक्षौ विवर्धिता ॥१०॥

मैं उसी नगर से इस लड़की को अपने साथ ले, यहाँ आया हूँ। हे राजन्! यह लड़की उसी अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न हुई है ॥ १० ॥

भर्तारमनया सार्धमस्याः प्राप्तोऽस्मि मार्गितुम् ।
कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकांक्षिणाम् ॥११॥

मैं इसको साथ लिये हुए, इसके लिये वर खोजने आया हूँ। प्रायः सभी मानी पुरुषों के लिये कन्याएँ दुःखरूपिणी हुआ करती हैं ॥ ११ ॥

कन्या हि द्वे कुले नित्यं संशये स्थाप्य तिष्ठति ।
पुत्रद्वयं ममाप्यस्यां भार्यायां सम्बभूव ह ॥१२॥

क्योंकि वे मातृकुल और पितृकुल दोनों को सन्देह में डाले रहती हैं हे। भद्र! हेमा से मेरे दो पुत्र भी उत्पन्न हुए हैं ॥ १२ ॥

मायावी प्रथमस्तात दुन्दुभिस्तदनन्तरः ।
एवं ते सर्वमाख्यातं यथातथ्येन पृच्छतः ॥ १३ ॥

उनमें से ज्येष्ठ का नाम मायावी है और छोटे का नाम दुन्दभी है। हे तात! तुम्हारे पूँछने पर जो यथार्थ बात थी सो मैंने तुमसे कह दी॥ १३॥

त्वामिदानीं कथं तात जानीयां को भवानिति।
एवमुक्तं तु तद्रक्षो विनीतमिदमब्रवीत्॥ १४॥

हे तात! आप कौन हैं? यह बात मुझे क्यों कर मालूम हो सकती है? जब दानवेन्द्र ने इस प्रकार कहा तब रावण ने विनीत भाव से कहा॥ १४॥

अहं पौलस्त्यतनयो दशग्रीवश्च नामतः।
मुनेर्विश्रवसो यस्तु तृतीयो ब्रह्मणोऽभवत्॥ १५॥

मेरा दशग्रीव नाम है। मैं पुलस्त्य मुनि के वंश में उत्पन्न हुआ हूँ और विश्रवा का पुत्र हूँ। ये विश्रवा जी ब्रह्मा के पौत्र हैं॥ १५॥

एवमुक्तस्तदा राम राक्षसेन्द्रेण दानवः।
महर्षेस्तनयं ज्ञात्वा मयो दानवपुङ्गवः॥ १६॥
दातुं दुहितरं तस्मै रोचयामास तत्र वै।
करेण तु करं तस्या ग्राहयित्वा मयस्तदा॥१७॥
प्रहसन्प्राह दैत्येन्द्रो राक्षसेन्द्रमिदं वचः।
इयं ममात्मजा राजन्हेमयाऽप्सरसा धृता॥ १८॥

जब राक्षसेन्द्र दशग्रीव ने इस प्रकार कहा, तब दानवश्रेष्ठ मय, यह जान कि, दशग्रीव एक महर्षि का पुत्र है, अपनी कन्या उसे देने को तैयार हो गया। दशग्रीव के हाथ में अपनी कन्या का हाथ थमा, दैत्येन्द्र मय ने मुसक्याते हुए दशग्रीव से यह कहा—

हे राजन्! यह मेरी कन्या है और हेमा नाम की अप्सरा के गर्भ से यह उत्पन्न हुई है ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

कन्या मन्दोदरी नाम पत्न्यर्थं प्रतिगृह्यताम्।
बाढमित्येव तं राम दशग्रीवोऽभ्यभाषत ॥ १९ ॥

इसका नाम मन्दोदरी है। इसे आप पत्नी रूप में ग्रहण कीजिये। इस पर हे राम! दशग्रीव ने कहा "बहुत अच्छा" ॥१९॥

प्रज्वाल्य तत्र चैवाग्निमकरोत्पाणिसङ्ग्रहम्।
स हि तस्य मयो राम शापाभिज्ञस्तपोधनात् ॥२०॥
विदित्वा तेन सा दत्ता तस्य पैतामहं कुलम्।
अमोघां तस्य शक्तिं च प्रददौ परमाद्भुताम् ॥ २१ ॥

और वहीं अग्नि जला उसने मन्दोदरी का पाणिग्रहण किया। हे राम! यद्यपि मय को यह विदित था कि, तपस्वी विश्रवा जी दशग्रीव को शाप दे चुके हैं, तथापि उसे ब्रह्मा के कुल का समझ, उसने उसके साथ अपनी लड़की का विवाह कर दिया और दशग्रीव को एक परम अद्भुत और अमोघ शक्ति भी दी ॥ २० ॥ २१ ॥

परेण तपसा लब्धां जिघ्नवाँल्लक्ष्मणं यया।
एवं स कृत्वा दारान्वै लङ्कायाः ईश्वरः प्रभुः ॥२२॥

वह शक्ति उसे तप करने पर मिली थी और दशग्रीव ने उसी शक्ति से लक्ष्मण पर प्रहार किया था। इस प्रकार भार्याग्रहण कर राक्षसराज दशग्रीव लङ्का को चला गया ॥ २२ ॥

गत्वा तु नगरीं भार्ये भ्रातृभ्यां समुपाहरत्।
वैरोचनस्य दौहित्रीं वज्रज्वालेति नामतः ॥ २३ ॥

तां भार्यां कुम्भकर्णस्य रावणः समकल्पयत् ।
गन्धर्वराजस्य सुतां शैलूषस्य महात्मनः ॥२४॥
सरमां नाम धर्मज्ञां लेभे भार्यां विभीषणः ।
तीरे तु सरसो वै तु संजज्ञे मानसस्य हि ॥२५॥

अपनी पत्नी के सहित लङ्का में जा, दशग्रीव ने अपने दोनों भाइयों का भी विवाह किया। वैरोचन की पौत्री अर्थात् बलि की बेटी की बेटी, जिसका नाम वज्रज्वाला था, कुम्भकर्ण को ब्याही। गन्धर्वराज शैलूष की लड़की विभीषण को ब्याही। उसका नाम सरमा था और वह बड़ी धर्मज्ञा थी। सरमा मानससरोवर के तट पर पैदा हुई थी ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

सरस्तदा मानसं तु ववृधे जलदागमे ।
मात्रा तु तस्याः कन्यायाः स्नेहेनाक्रन्दितं वचः ॥२६॥

वर्षाकाल में जब मानसरोवर का जल बढ़ने लगा, तब सरमा की माता ने स्नेहवश चिल्ला कर यह कहा ॥ २६ ॥

सरो मा वर्धतेत्युक्तं ततः सा सरमाऽभवत् ।
एवं ते कृतदारा वै रेमिरे तत्र राक्षसाः ॥ २७ ॥
स्वां स्वां भर्यामुपादाय गन्धर्वा इव नन्दने ।
ततो मन्दोदरी पुत्रं मेघनादमजीजनत् ॥ २८ ॥

"सरो मा वर्धत!" हे सर! तू मत बढ़। इसीसे उस लड़की का नाम सरमा पड़ा। हे राम! इस प्रकार वे राक्षस विवाह कर अपनी अपनी पत्नियों के साथ वैसे ही विहार करने लगे, जैसे नन्दनवन में गन्धर्व विहार करते हैं। काल पा कर मन्दोदरी के गर्भ से मेघनाद उत्पन्न हुआ ॥ २७ ॥ २८ ॥

स एष इन्द्रजिन्नाम युष्माभिरभिधीयते ।
जातमात्रेण हि पुरा तेन रावणसूनुना ॥ २९ ॥
रुदता सुमहान्मुक्तो नादो जलधरोपमः ।
जडीकृता च सा लङ्का तस्य नादेन राघव ॥३०॥

उसी मेघनाद को आप सब लोग इन्द्रजीत के नाम से पुकारते हैं। हे राम! इस रावणपुत्र ने जन्म लेते ही मेघ के समान गर्जना की थी, जिससे समस्त लङ्कानिवासी स्तम्भित हो गये थे ॥ २९ ॥ ३० ॥

पिता तस्याकरोन्नाम मेघनाद इति स्वयम् ।
सोऽवर्धत तदा राम रावणान्तःपुरे शुभे ॥३१॥

अतएव उसके पिता दशग्रीव ने स्वयं उसका नाम मेघनाद रखा। हे राम! मेघनाद रावण के शुभ रनवास में बढ़ने लगा ॥ ३१ ॥

रक्ष्यमाणो वरस्त्रीभिश्छन्नः काष्ठैरिवानलः ।
मातापित्रोर्महाहर्षं जनयन् रावणात्मजः ॥ ३२ ॥

इति द्वादशः सर्गः ॥

श्रेष्ठ स्त्रियों द्वारा मेघनाद का लालन पालन हुआ। वह ईंधन से ढकी हुई आग की तरह माता पिता को अत्यन्त हर्ष उपजाता हुआ बढ़ने लगा ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

त्रयोदशः सर्गः

—:o:—

अथ लोकेश्वरोत्सृष्टा तत्र कालेन केनचित् ।
निद्रा समभवत्तीव्रा कुम्भकर्णस्य रूपिणी ॥ १ ॥

कुछ दिनों के बाद ब्रह्मा जी के वरदान के अनुसार कुम्भकर्ण को मूर्तिमती घोर नींद ने आ घेरा ॥ १ ॥

ततो भ्रातरमासीनं कुम्भकर्णो ब्रवीद्वचः ।
निद्रा मां बाधते राजन् कारयस्व ममालयम् ॥२॥

उस समय समीप बैठे हुए अपने भाई रावण से कुम्भकर्ण ने कहा—हे राजन्! मुझे नींद सता रही है। अतएव मेरे सोने के लिये मकान बनवा दीजिये ॥ २ ॥

विनियुक्तास्ततो राज्ञा शिल्पिनो विश्वकर्मवत् ।
विस्तीर्णं योजनं स्निग्धं ततो द्विगुणमायतम् ॥ ३ ॥

यह सुन रावण ने विश्वकर्मा के समान चतुर थवइयों (मैमारों) को आज्ञा दी। उन लोगों ने एक योजन चौड़ा और दो योजन लंबा एक बड़ा सुन्दर घर बना कर तैयार कर दिया ॥ ३ ॥

दर्शनीयं निराबाधं कुम्भकर्णस्य चक्रिरे ।
स्फाटिकैः काञ्चनैश्चित्रैः स्तम्भैः सर्वत्र शोभितम् ॥४॥

कुम्भकर्ण के सोने का वह मकान देखने योग्य था और उसमें किसी प्रकार की बाधा पड़ने का भी खटका न था। उसमें सर्वत्र स्फटिक और सुवर्ण के रंगबिरंगे खंभे बने हुए थे ॥ ४ ॥

वैदूर्यकृतसोपानं किङ्किणीजालकं तथा ।
दान्ततोरणविन्यस्तं वज्रस्फटिकवेदिकम् ॥ ५ ॥

उस भवन की सीढ़ियों पर पन्ने जड़े हुए थे। उसके द्वारों में हाथीदाँत की बनी चौखटें जड़ी हुई थीं और उनमें छोटी छोटी घंटियाँ लगी हुई थीं। उस भवन में हीरों और स्फटिक के चबूतरे बने हुए थे ॥ ५ ॥

मनोहरं सर्वसुखं कारयामास राक्षसः ।
सर्वत्र सुखदं नित्यं मेरोः पुण्यां गुहामिव ॥ ६ ॥

रावण का बनवाया हुआ यह भवन मेरुपर्वत की स्वच्छ गुफा की तरह सब ऋतुओं में सब के लिये सुखदायी और सुन्दर था ॥ ६ ॥

तत्र निद्रां समाविष्टः कुम्भकर्णो महाबलः ।
बहुन्यब्द सहस्राणि शयानो न च बुध्यते ॥ ७ ॥

महाबली कुम्भकर्ण नींद में भरा हज़ारों वर्षों तक वहाँ पड़ा पड़ा सोता रहा; परन्तु जागा नहीं ॥ ७ ॥

निद्राभिभूते तु तदा कुम्भकर्णो दशाननः ।
देवर्षियक्षगन्धर्वान्संजघ्ने हि निरङ्कुशः ॥ ८ ॥

जिन दिनों कुम्भकर्ण सो रहा था, उन दिनों रावण निरङ्कुश हो देवताओं, ऋषियों, यक्षों और गन्धर्वों को मारता फिरता था ॥ ८ ॥

उद्यानानि विचित्राणि नन्दनादीनि यानि च ।
तानि गत्वा सुसंक्रुद्धो भिनत्ति स्म दशाननः ॥९॥

क्रोध में भर रावण अच्छे अच्छे बाग़ बगीचों और देवताओं के नन्दन आदि उद्यानों में जा कर उनको उजाड़ डालता था ॥ ६ ॥

नद्यां गज इव क्रीडन् वृक्षान्वायुरिव क्षिपन् ।
नगान्वज्र इवोत्सृष्टो विध्वंसयति राक्षसः ॥ १० ॥

उन दिनों रावण नदी के तटों को हाथी की तरह, वृक्षों को वायु की तरह और पर्वतों को वज्र की तरह ध्वंस करता हुआ घूमता फिरता था ॥ १० ॥

यथावृत्तं तु विज्ञाय दशग्रीवं धनेश्वरः ।
कुलानुरूपं धर्मज्ञो वृत्तं संस्मृत्य चात्मनः ॥ ११ ॥
सौभ्रात्रदर्शनार्थं तु दूतं वैश्रवणस्तदा ।
लङ्कां सम्प्रेषयामास दशग्रीवस्य वै हितम् ॥ १२ ॥

किन्तु धर्मज्ञ धनेश्वर ने, रावण के इन चरित्रों को सुन कर अपने कुल की चाल और रीति भाँति का स्मरण कर, अपना भाईपन दिखलाने के लिये, लङ्का में रावण के समीप अपना दूत भेजा ॥ ११ ॥ १२ ॥

स गत्वा नगरीं लङ्कामाससाद विभीषणम् ।
मानितस्तेन धर्मेण पृष्टश्चागमनं प्रति ॥ १३ ॥

धनेश्वर का दूत लङ्का में जा सब से प्रथम विभीषण से मिला। विभीषण ने शिष्टाचारपूर्वक उसका सत्कार किया। तदनन्तर उससे आने का कारण पूँछा ॥ १३ ॥

पृष्ट्वा च कुशलं राज्ञो ज्ञातीनां च विभीषणः ।
सभायां दर्शयामासा तमासीनं दशाननम् ॥१४॥

तथा धनपति कुबेर जी के परिवार का कुशल मङ्गल पूँछा। फिर उसे राजसभा में ले जा कर सिंहासन पर बैठे हुए रावण से मिलाया ॥ १४ ॥

स दृष्ट्वा तत्र राजानं दीप्यमानं स्वतेजसा ।
जयेति वाचा सम्पूज्य तूष्णीं समभिवर्तते ॥ १५ ॥

धनेश्वर के दूत ने तेज से दीप्त रावण को देख, कहा—"महाराज की जय हो।" तदनन्तर वह चुपचाप खड़ा रहा ॥१५॥

स तत्रोत्तमपर्यङ्के वरास्तरणशोभिते ।
उपविष्टं दशग्रीवं दूतो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १६ ॥

बहुमूल्य बिस्तरों से आच्छादित पलंग पर बैठे हुए दशग्रीव से वह दूत बोला ॥ १६ ॥

राजन्वदामि ते सर्वं भ्राता तव यदब्रवीत् ।
उभयोः सदृशं वीर वृत्तस्य च कुलस्य च ॥ १७ ॥

हे राजन्! आपके भाई कुबेर ने माता और पिता के कुलों की रीति भाँति के अनुरूप जो संदेसा आपके लिये भेजा है, सो मैं आपसे कहता हूँ ॥ १७ ॥

साधु पर्याप्तमेतावत्कृतश्चारित्र संग्रहः ।
साधु धर्मे व्यवस्थानं क्रियतां यदि शक्यते ॥ १८ ॥

आपने अब तक जो कुछ किया है, वह बहुत है। अब बस कीजिये और आगे जो कीजिये सो अच्छे ही काम कीजिये, जिससे आपका चरित्र सुधरे। आप धर्म के कामों में यथाशक्ति अपना मन लगावें ॥ १८ ॥

दृष्टं मे नन्दनं भग्नमृषयो निहताः श्रुताः ।
देवतानां समुद्योगस्त्वत्तो राजन्मया श्रुतः ॥ १९ ॥

हे राजन्! आपके द्वारा उजड़े हुए नन्दनवन को मैंने अपने नेत्रों से देखा है, और ऋषियों के वध का संवाद सुना है। साथ ही मैंने आपके विरुद्ध देवताओं के उद्योग का समाचार भी सुना है ॥ १९ ॥

निराकृतश्च बहुशस्त्वयाहं राक्षसाधिप ।
सापराधोऽपि बालो हि रक्षितव्यः स्वबान्धवैः ॥२०॥

हे राक्षसाधिप! यद्यपि तुमने बारंबार मेरा निरादर किया है, तथापि निरादर करने वाले उस बालक की रक्षा करना ही उसके बन्धुओं को उचित है ॥ २० ॥

अहं तु हिमवत्पृष्ठं गतो धर्ममुपासितुम् ।
रौद्रं व्रतं समास्थाय नियतो नियतेन्द्रियः ॥ २१ ॥

मैं तो हिमालय पर्वत पर जितेन्द्रिय हो तथा तप के नियमों का पालन कर के, महादेव जी को प्रसन्न करने का व्रत धारण कर अपने काम में लगा हुआ था ॥ २१ ॥

तत्र देवो मया दृष्ट उमया सहितः प्रभुः ।
सव्यं चक्षुर्मया दैवात्तत्र देव्यां निपातितम् ॥ २२ ॥

वहाँ मुझे पार्वती सहित शिव जी के दर्शन हुए। दैवयोग से पार्वती जी ने मेरे दहिने नेत्र को फोड़ डाला ॥ २२ ॥

कान्वेषेति महाराज न खल्वन्येन हेतुना ।
रूपं चानुपमं कृत्वा रुद्राणी तत्र तिष्ठति ॥२३॥

उस नेत्र से मैंने केवल यह देखना चाहा था कि, यह कौन है, इतना ही मेरा अपराध है। इसके अतिरिक्त मैंने और कोई अपराध नहीं किया। यहां पर पार्वती देवी अनुपम रूप धना वास करती है ॥ २३ ॥

देव्यादिव्य प्रभावेण दग्धं सव्यं ममेक्षणम् ।
रेणुध्वस्तमिव ज्योतिः पिङ्गलत्वमुपागतम् ॥ २४ ॥

उन देवी के दिव्य प्रभाव से मुझे अपनी बाईं आंख से हाथ धोने पड़े। धूल से ढके नक्षत्र की तरह मेरी यह आंख पीली पड़ गयी है ॥ २४ ॥

ततो हमन्यद्विस्तीर्णं गत्वा तस्य गिरेस्तटम् ।
तूष्णीं वर्षशतान्यष्टौ समधारं महाव्रतम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर मैं उस पहाड़ के एक लंबे चौड़े स्थान में, आठ सौ वर्षों तक मौन महाव्रत धारण कर बैठा रहा ॥ २५ ॥

समाप्ते नियमे तस्मिंस्तत्र देवो महेश्वरः ।
ततः प्रीतेन मनसा प्राह वाक्यमिदं प्रभुः ॥ २६ ॥

जब मेरा नियम पूरा हुआ, तब भगवान् शिव जी ने प्रसन्न हो कर मुझसे यह कहा ॥ २६ ॥

प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञ तपसानेन सुव्रत ।
मया चैतद्व्रतं चीर्णं त्वया चैव धनाधिप ॥ २७ ॥

हे धर्मज्ञ! हे सुव्रत! मैं तुम्हारे इस तप से तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। हे धनाधिप! या तो मैंने इस व्रत को पूर्ण किया या तुमने इसका निर्वाह किया ॥ २७ ॥

तृतीयः पुरुषो नास्ति यश्चरेद्व्रतमीदृशम् ।
व्रतं सुदुष्करं ह्येतन्मयैवोत्पादितं पुरा ॥ २८ ॥

मुझे तीसरा कोई भी ऐसा पुरुष नहीं देख पड़ता, जो ऐसा व्रत पालन करने में समर्थ हो। पूर्वकाल में मैंने ही इस दुष्कर व्रत को निबाहा था ॥ २८ ॥

तत्सखित्वं मया सौम्य रोचयस्व धनेश्वर ।
तपसा निर्जितश्चैव सखा भव ममानघ ॥ २९ ॥

हे सौम्य ! हे धनेश्वर ! आज से तुम मेरे साथ मैत्री कर लो। हे अनघ ! तप द्वारा तुमने मुझे जीत लिया है। अब तुम मेरे मित्र हो जाओ ॥ २९ ॥

देव्या दग्धं प्रभावेण यच्च सव्यं तवेक्षणम् ।
पैङ्गल्यं यदवाप्तं हि देव्या रूपनिरीक्षणात् ॥ ३० ॥
एकाक्षिपिङ्गलीत्येव नाम स्थास्यति शाश्वतम् ।
एवं तेन सखित्वं च प्राप्यानुज्ञां च शङ्करात् ॥ ३१ ॥

पार्वती जी ने अपने प्रभाव से तुम्हारी जो बाईं आँख दग्ध कर डाली है. और उनका रूप अवलोकन करने के कारण वह जो पीली पड़ गयी है ; अतः तुम्हारा एकाक्ष पिङ्गली नाम सदैव विख्यात होगा। इस प्रकार मेरी और शिव जी की मैत्री हो गयी और तब मैंने अपने घर आने के लिये शिव जी से अनुमति माँगी ॥ ३० ॥ ३१ ॥

आगतेन मया चैवं श्रुतस्ते पापनिश्चयः ।
तदधर्मिष्ठसंयोगान्निवर्त कुलदूषणात् ॥ ३२ ॥

घर लौटने पर मैंने तुम्हारी पापकथाएँ सुनीं। अब तुम ऐसे काम मत करो जिनसे कुल में धब्बा लगे। अथवा तुम कुलकलङ्क अधर्मियों का साथ छोड़ दो ॥ ३२ ॥

चिन्त्यते हि वधोपायः सर्षिसङ्घैः सुरैस्तव ।
एवमुक्तो दशग्रीवः कोपसंरक्तलोचनः ॥ ३३ ॥

निश्चय जान रखो कि, देवता और देवर्षि लोग मिल कर तुम्हारे मार डालने का उपाय सोच रहे हैं। कुबेर जी का यह संदेसा सुन कर, रावण के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये ॥३३॥

हस्तान्दन्तांश्च संपिष्य वाक्यमेतदुवाच ह ।
विज्ञातं ते मया दूत वाक्यं यत्त्वं प्रभाषसे ॥ ३४ ॥

वह दाँत कटकटाता और हाथों को मलता हुआ क्रोध में भर बोला कि, रे दूत! जो कुछ तू कह रहा है, वह सब मैं समझ गया ॥ ३४ ॥

नैव त्वमसि नैवासो भ्राता येनासि चोदितः ।
हितं नैष ममैतद्धि ब्रवीति धनरक्षकः ॥ ३५ ॥

अब न तो तू स्वयं और न वह मेरा भाई, जिसने तुझे भेजा है बच सकते हैं। धन की चौकीदारी करने वाले उस कुबेर ने जो कुछ कहा है उससे मेरी कुछ भी भलाई नहीं हो सकती ॥ ३५ ॥

महेश्वरसखित्वं तु मूढः श्रावयते किल ।
नैवेदं क्षमणीयं मे यदेतद्भाषितं त्वया ॥ ३६ ॥

वह मूर्ख मुझे शिव जी के साथ अपनी मैत्री होने की बात सुनाता है। तूने जो कहा है, उसे मैं क्षमा नहीं कर सकता ॥ ३६ ॥

यदेतावन्मया कालं दूत तस्य तु मर्षितम् ।
न हन्तव्यो गुरुर्ज्येष्ठो ममायमिति मन्यते ॥ ३७ ॥

हे दूत ! इतने दिनों तक जो मैं चुप रहा और उसे क्षमा करता रहा इसका कारण यह है कि, वह मेरा बड़ा भाई है। इसीसे मैं उसका मारना अनुचित समझ चुप रहा ॥ ३७ ॥

तस्य त्विदानीं श्रुत्वा मे वाक्यमेषा कृता मतिः ।
त्रीँल्लोकानपि जेष्यामि बाहुवीर्यमुपाश्रितः ॥ ३८ ॥

किन्तु इस समय उसकी इन बातों को सुन, मैंने अपने मन में यही ठान ठाना है कि, मैं अपने बाहुबल से तीनों लोकों को सर करूँगा ॥ ३८ ॥

एतन्मुहूर्तमेवाहं तस्यैकस्य तु वै कृते ।
चतुरो लोकपालांस्तान्नयिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३९ ॥

और एक मात्र उसीके कारण मैं चारों लोकपालों को मार कर, इसी मुहूर्त यमराज के घर भेज दूँगा ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा तु लङ्केशो दूतं खड्गेन जघ्निवान् ।
ददौ भक्षयितुं ह्येनं राक्षसानां दुरात्मनाम् ॥ ४० ॥

यह कह कर रावण ने खड्ग का प्रहार कर उस दूत को मार डाला और उस दूत की लोथ को खा डालने के लिये दुष्ट राक्षसों को आज्ञा दी ॥ ४० ॥

ततः कृतस्वस्त्ययनो रथमारुह्य रावणः ।
त्रैलोक्यविजयाकाँक्षी ययौ यत्र धनेश्वरः ॥ ४१ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

तदनन्तर रावण त्रिलोकी को जीतने की इच्छा से स्वस्त्ययनादि कर्म पूर्वक, रथ पर सवार हो वहाँ गया जहाँ कुबेर जी रहते थे ॥४१॥

उत्तरकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

चतुर्दशः सर्गः

—:०:—

ततः स सचिवैः सार्धं षड्भिर्नित्य बलोद्धतः।
महोदरप्रहस्ताभ्यां मारीचशुकसारणैः ॥ १ ॥
धूम्राक्षेण च वीरेण नित्यं समरगर्द्धिना।
वृतः सम्प्रययौ श्रीमान्क्रोधाँल्लोकान्दहन्निव ॥२॥
पुराणि स नदीः शैलान्वनान्युपवनानि च।
अतिक्रम्य मुहूर्तेन कैलासं गिरिमागमत् ॥ ३ ॥

सदा बल से दर्पित रावण, क्रोध में भर समरप्रिय महोदर, प्रहस्त, मारीच, शुक, सारण और धूम्राक्ष नामक अपने छः मंत्रियों को साथ ले, तथा लोकों को भस्म करता हुआ सा एवं नगरों, नदियों, पर्वतों, वनों और उपवनों को पार करता हुआ मुहूर्त भर में कैलास पर्वत पर जा पहुँचा ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

सन्निविष्टं गिरौ तस्मिन् राक्षसेन्द्रं निशम्यतु।
युद्धेप्सुं तं कृतोत्साहं दुरात्मानं समन्त्रिणम् ॥ ४ ॥

जब यक्षों ने सुना कि, दुर्मति राक्षसेन्द्र रावण, मन्त्रियों सहित समर की वासना से उत्साहित हो, उस पर्वत के शिखर पर आया है ॥ ४ ॥

यक्षा न शेकुः संस्थातुं प्रमुखे तस्य रक्षसः ।
राज्ञो भ्रातेति विज्ञाय गता यत्र धनेश्वरः ॥ ५ ॥

तब वे यक्ष डर गये और उसका सामना तक न कर सके। रावण को कुबेर का भाई जान वे वहां गये जहां कुबेर थे ॥ ५ ॥

ते गत्वा सर्वमाचख्युर्भ्रातुस्तस्य चिकीर्षितम् ।
अनुज्ञाता ययुर्हृष्टा युद्धाय धनदेन ते ॥ ६ ॥

वहां जा यक्षों ने कुबेर जी से उनके भाई रावण का सारा वृत्तान्त कहा। तब सारा हाल जान कर कुबेर ने उन यक्षों को लड़ने की आज्ञा दी। यक्ष आज्ञा पा हर्षित अन्तःकरण से युद्ध करने के लिये निकले ॥ ६ ॥

ततो बलानां संक्षोभो व्यवर्धत इवोदधेः ।
तस्य नैर्ऋतराजस्य शैलं सञ्चालयन्निव ॥ ७ ॥

उस समय राक्षसराज की सेना में ऐसी खलबली मची मानों समुद्र खलबला उठा हो। ऐसा जान पड़ा मानों वह पर्वत थरथरा उठा हो ॥ ७ ॥

ततो युद्धं समभवद्यक्षराक्षससङ्कुलम् ।
व्यथिताश्चाभवंस्तत्र सचिवा राक्षसस्य ते ॥ ८ ॥

तदनन्तर यक्षों और राक्षसों का महाभयङ्कर युद्ध हुआ। उस युद्ध में थोड़ी ही देर में रावण के मंत्री व्यथित हो गये ॥ ८ ॥

स दृष्ट्वा तादृशं सैन्यं दशग्रीवो निशाचरः ।
[1]हर्षनादान्बहून्कृत्वा स क्रोधादभ्यधावत* ॥ ९ ॥

---

१ हर्षनादं—सिंहनादं । (गो०) * पाठान्तरे—"भापत"।

जब राक्षस दशग्रीव ने यह देखा, तब वह क्रोध में भर, सिंह-नाद करता हुआ दौड़ा ॥ ६ ॥

ये तु ते राक्षसेन्द्रस्य सचिवा घोरविक्रमाः ।
तेषां सहस्रमेकैको यक्षाणां समयोधयत् ॥ १० ॥

राक्षसराज रावण के जो घोर पराक्रमी मंत्री थे, उनमें से प्रत्येक मंत्री एक एक हज़ार यक्षों के साथ युद्ध करने लगा ॥ १० ॥

ततो गदाभिर्मुसलैरसिभिः शक्तितोमरैः ।
हन्यमानो दशग्रीवस्तत्सैन्यं समगाहत ॥ ११ ॥

गदाओं, मूसलों, खड्गों, शक्तियों और तोमरों के प्रहार सहता हुआ रावण यक्षों की सेना में घुस पड़ा ॥ ११ ॥

स निरुच्छ्वासवत्तत्र वध्यमानो दशाननः ।
वर्षद्भिरिव जीमूतैर्धाराभिरवरुध्यत ॥ १२ ॥

मेघ से बरसते हुए जल की तरह शस्त्रों की वृष्टि से निरन्तर घायल हो, रावण को दम लेने तक का अवकाश न मिला ॥ १२ ॥

न चकार व्यथां चैव यक्षशस्त्रैः समाहतः ।
महीधर इवांभोदैर्धाराशतसमुक्षितः ॥ १३ ॥

मेघ जिस प्रकार जलवृष्टि करके पर्वत को भिगो देते हैं, उसी प्रकार रावण भी रुधिर से नहा गया था, तिस पर भी वह यक्षों के असंख्य शस्त्रों के प्रहार की कुछ भी परवाह नहीं करता था ॥ १३ ॥

स महात्मा समुद्यम्य कालदण्डोपमां गदाम् ।
प्रविवेश ततः सैन्यं नयन्यक्षान्यमक्षयम् ॥ १४ ॥

महाबली रावण ने कालदण्ड के समान अपनी गदा उठा और शत्रुसैन्य में प्रवेश कर, अनेक यक्षों को मार डाला ॥ १४ ॥

स कक्षमिव विस्तीर्णं शुष्केंधनमिवाकुलम् ।
वातेनाग्निरिवादीप्तो यक्षसैन्यं ददाहतत् ॥ १५ ॥

तेज़ हवा से धधक कर आग जिस प्रकार सूखे तिनकों और लकड़ियों को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार रावण भी यक्षों की सेना को भस्म करने लगा ॥ १५ ॥

तैस्तु तत्र महामात्यैर्महोदरशुकादिभिः ।
अल्पावशेषास्ते यक्षाः कृता वातैरिवाम्बुदाः ॥१६॥

पवन के चलने से जैसे बादल तितर बितर हो जाते हैं, वैसे ही महोदर और शुकादि मंत्रियों ने यक्षों को छिन्न भिन्न कर, उनकी संख्या बहुत थोड़ी कर दी ॥ १६ ॥

केचित्समाहता भग्नाः पतिताः समरे क्षितौ ।
ओष्ठांश्च दशनैस्तीक्ष्णैरदशन्कुपिता रणे ॥ १७ ॥

उनमें से कुछ तो शस्त्रों के प्रहारों से कटकुट गये, बहुत से पृथिवी पर गिर पड़े और बहुत से मारे क्रोध के दांतों से ओठों को चबाने लगे ॥ १७ ॥

श्रान्ताश्चान्योन्यमालिंग्य भ्रष्टशस्त्रा रणाजिरे ।
सीदन्ति च तदा यक्षाः कूला इव जलेन ह १८ ॥

यक्ष लड़ते लड़ते इतने थक गये कि, रणभूमि में वे एक दूसरे के शरीर में लिपटने लगे। उनके हथियार हाथों से छूट छूट कर गिर पड़े। वे चोट खा खा कर ऐसे भहरा पड़े जैसे जल की टक्कर खा कर नदी के किनारे भहरा पड़ते हैं॥ १८॥

हतानां गच्छतां स्वर्गं युध्यतामथ धावताम्।
प्रेक्षतामृषिसङ्घानां बभूव न तदान्तरम्॥ १९॥

बहुत से यक्ष रणक्षेत्र में दौड़ रहे थे, बहुत से लड़ रहे थे, और बहुत से शत्रुओं द्वारा मारे जा कर स्वर्ग को गमन कर रहे थे। युद्ध देखने वाले ऋषियों की भीड़ के कारण आकाश में ठड़े रहने को भी स्थान नहीं रह गया था॥ १९॥

भग्नांस्तु तान्समालक्ष्य यक्षेन्द्रांस्तु महाबलान्।
धनाध्यक्षो महाबाहुः प्रेषयामास यक्षकान्॥ २०॥

पहिले भेजे हुए यक्षों का राक्षसों द्वारा सर्वनाश देख, महा-बलवान कुबेर जी ने और भी बहुत से यक्षों को राक्षसों से लड़ने के लिये भेजा॥ २०॥

एतस्मिन्नन्तरे राम विस्तीर्णबलवाहनः।
प्रेषितो न्यपतद्यक्षो नाम्ना संयोधकण्टकः॥ २१॥

हे राम! इसी बीच में कुबेर का भेजा हुआ संयोधकण्टक नामक यक्ष, एक बड़ी भारी सेना और वाहनों को साथ लिये हुए रणभूमि में आया॥ २१॥

तेन चक्रेण मारीचो विष्णुनेव रणे हतः।
पतितो भूतले शैलात्क्षीणपुण्य इव ग्रहः॥ २२॥

विष्णु के सुदर्शन चक्र के समान, उस यक्ष के चक्र के प्रहार से, मारीच राक्षस आकाश से गिरे हुए पुण्यहीन नक्षत्र की तरह, पहाड़ से पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २२ ॥

ससंज्ञस्तु मुहूर्तेन स विश्रम्य निशाचरः ।
तं यक्षं योधयामास स च भग्नः प्रदुद्रुवे ॥ २३ ॥

थोड़ी देर बाद सचेत हो और विश्राम कर मारीच ने यक्ष से लड़ना पुनः आरम्भ किया और लड़ कर उस यक्ष को मार कर भगा दिया ॥ २३ ॥

ततः काञ्चनचित्राङ्गं वैदूर्यरजतोक्षितम् ।
मर्यादां प्रतिहाराणां तोरणान्तरमाविशत् ॥ २४ ॥

तदनन्तर रावण सोने चाँदी और पन्ने आदि मणियों के जड़ाऊ रंगबिरंगे सुन्दर उस फाटक में घुसा; जिसके ऊपर द्वारपाल रहा करते थे ॥ २४ ॥

तं तु राजन्दशग्रीवं प्रविशन्तं निशाचरम् ।
सूर्यभानुरिति ख्यातो द्वारपालो न्यवारयत् ॥ २५ ॥

हे राजन्! जब रावण उस फाटक में घुसने लगा, तब सूर्यभानु नामक द्वारपाल ने उसको रोका ॥ २५ ॥

स वार्यमाणो यक्षेण प्रविवेश निशाचरः ।
यदा तु वारितो राम न व्यतिष्ठत्स राक्षसः ॥ २६ ॥

किन्तु रोकने पर भी रावण न रुका और द्वार के भीतर घुसने लगा। हे राम! द्वारपाल के रोकने पर भी रावण जब न रुका ॥ २६ ॥

ततस्तोरणमुत्पाट्य तेन यक्षेण ताडितः ।
रुधिरं प्रस्रवन्भाति शैलो धातुस्रवैरिव ॥ २७ ॥

तब वह द्वारपाल यक्षद्वार का तोरण उखाड़ कर, उससे रावण को पीटने लगा। उस समय तोरण को चोट खाने से रावण रुधिर से नहाया हुआ ऐसा देख पड़ता था, जैसा गेरू से पुता हुआ पहाड़ ॥ २७ ॥

स शैलशिखराभेण तोरणेन समाहतः ।
जगाम न क्षतिं वीरो वरदानात्स्वयंभुवः ॥ २८ ॥

यद्यपि पर्वत के शिखर के आकार के तोरण से वह रावण खूब पीटा गया था, तथापि ब्रह्मा के वरदान से वह वीर धराशायी न हुआ ॥ २८ ॥

तेनैव तोरणेनाथ यक्षस्तेनाभिताडितः ।
नादृश्यत तदा यक्षो भस्मीकृत तनुस्तदा ॥ २९ ॥

वल्कि उसने उसी तोरण से उस द्वारपाल यक्ष को मारा। [illegible] ऐसा चूर चूर हो गया कि, उसका नाम निशान तक शेष न रह गया ॥ २९ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे दृष्ट्वा रक्षः पराक्रमम् ।
ततो नदीर्गुहाश्चैव विविशुर्भयपीडिताः ।
त्यक्तप्रहरणाः श्रान्ता विवर्णवदनास्तदा ॥ ३० ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

रावण का ऐसा पराक्रम देख, वहाँ से सब यक्ष भाग गये। भय के मारे उनमें से कोई पहाड़ की गुफाओं में और कोई नदी

के भीतर जा छिपे। उन लोगों ने हथियार डाल दिये और लड़ते लड़ते थक जाने के कारण उनके चेहरों का रंग फीका पड़ गया ॥ ३० ॥

उत्तरकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

पञ्चदशः सर्गः

—:०:—

ततस्ताँल्लक्ष्य वित्रस्तान्यक्षेन्द्रांश्च सहस्रशः।
धनाध्यक्षो महायक्षं [1]माणिचारमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

सहस्रों पराक्रमी यक्षों को भयभीत देख कुबेर ने माणिभद्र नामक महायक्ष से कहा ॥ १ ॥

रावणं जहि यक्षेन्द्र दुर्वृत्तं पापचेतसम्।
शरणं भव वीराणां यक्षाणां युद्धशालिनाम् ॥ २ ॥

हे यक्षेन्द्र! तुम इस दुष्ट और पापी रावण को मार कर युद्धप्रिय वीर यक्षों की रक्षा करो ॥ २ ॥

एवमुक्तो महाबाहुर्माणिभद्रः सुदुर्जयः।
वृतो यक्षसहस्रैस्तु चतुर्भिः समयोधयत् ॥ ३ ॥

यह वचन सुन, दुर्जेय महावीर माणिभद्र यक्ष चार हज़ार यक्षों की सेना को साथ ले, राक्षसों से युद्ध करने लगा ॥ ३ ॥

---

१ माणिचार—माणिभद्रः। (गो०)

ते गदामुसलप्रासैः शक्तितोमरमुद्गरैः ।
अभिघ्नन्तस्तदा यक्षा राक्षसान्समुपाद्रवन् ॥ ४ ॥

यक्ष लोग गदाओं, मूसलों, प्रासों, शक्तियों, और मुगदरों का प्रहार करते हुए, राक्षसों के ऊपर आक्रमण करने लगे ॥ ४ ॥

कुर्वन्तस्तुमुलं युद्धं चरन्तः श्येनवल्लघु ।
बाढं प्रयच्छ नेच्छामि दीयतामिति भाषिणः ॥ ५ ॥

उन लोगों ने महाभयङ्कर युद्ध किया । "बहुत अच्छा, युद्ध (अर्थात् मेरे साथ लड़) दे," "नहीं चाहता, दे" आदि वीरोचित भाषण करते यक्ष और राक्षस शीघ्रगामी बाज़ पक्षी की तरह मँडरा मँडरा कर लड़ने लगे ॥ ५ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयो ब्रह्मवादिनः ।
दृष्ट्वा तत्तुमुलं युद्धं परं विस्मयमागमन् ॥ ६ ॥

ब्रह्मवादी ऋषि, देवता और गन्धर्व उस तुमुल युद्ध को देख कर अत्यन्त विस्मित हुए ॥ ६ ॥

यक्षाणां तु प्रहस्तेन सहस्रं निहतं रणे ।
महोदरेण चानिन्द्यं सहस्रमपरं हतम् ॥ ७ ॥
क्रुद्धेन च तदा राजन्मारीचेन युयुत्सुना ।
निमेषान्तरमात्रेण द्वे सहस्रे निपातिते ॥ ८ ॥

किन्तु प्रहस्त ने हज़ार यक्षों को तथा महोदर ने भी एक हज़ार यक्षों को मार डाला । हे राजन् ! निमेषमात्र में क्रोध में भर और युद्ध करते हुए मारीच ने दो हज़ार यक्षों को मार गिराया ॥ ७ ॥ ८ ॥

क्व च यक्षार्जवं युद्धं क्व च माया बलाश्रयम् ।
रक्षसां पुरुषव्याघ्र तेन तेऽभ्यधिका युधि ॥ ९ ॥

हे पुरुषव्याघ्र! राक्षसों का युद्ध माया के बल से होता था और यक्षों का युद्ध सरलता से युक्त था। अतएव इन दोनों के युद्ध में राक्षस लोग यक्षों से प्रबल थे॥ ९॥

धूम्राक्षेण समागम्य माणिभद्रो महारणे।
मुसलेनोरसि क्रोधात्ताडितो न च कम्पितः॥ १०॥

कुछ ही देर बाद धूम्राक्ष ने क्रोध में भर माणिभद्र की छाती में एक मूसल मारा; किन्तु वह उस चोट से काँपा तक नहीं॥ १०॥

ततो गदां समाविध्य माणिभद्रेण राक्षसः।
धूम्राक्षस्ताडितो मूर्ध्नि विह्वलः स पपात ह॥ ११॥

प्रत्युत उसने भी गदा उठा कर धूम्राक्ष के सिर पर मारी, जिसके प्रहार से धूम्राक्ष विह्वल हो गिर पड़ा॥ ११॥

धूम्राक्षं ताडितं दृष्ट्वा पतितं शोणितोक्षितम्।
अभ्यधावत संग्रामे माणिभद्रं दशाननः॥ १२॥

गदाप्रहार से ताड़ित और रुधिर से नहाये हुए धूम्राक्ष को पृथिवी पर गिरते देख, रावण माणिभद्र के सामने लड़ने को गया॥ १२॥

संक्रुद्धमभिधावन्तं माणिभद्रो दशाननम्।
शक्तिभिस्ताडयामास तिसृभिर्यक्षपुङ्गवः॥ १३॥

तब यक्षश्रेष्ठ माणिभद्र ने क्रोध में भर अपने ऊपर झपटते हुए रावण के तीन शक्तियाँ मारीं॥ १३॥

ताडितो माणिभद्रस्य मुकुटे प्राहरद्रणे ।
तस्य तेन प्रहारेण मुकुटं पार्श्वमागतम् ॥ १४ ॥

रावण ने उन शक्तियों के प्रहार से पीड़ित हो, माणिभद्र के मुकुट पर प्रहार किया। उस प्रहार से यक्ष का मुकुट एक ओर नीचे गिर पड़ा ॥ १४ ॥

ततः प्रभृति यक्षो सौ पार्श्वमौलिरभूत्किल ।
तस्मिंस्तु विमुखीभूते माणिभद्रे महात्मनि ।
संनादः सुमहान् राजंस्तस्मिन्शैलेऽभ्यवर्धत ॥ १५ ॥

उसी समय से वह यक्ष "पार्श्वमौलि" कहलाने लगा। उस महाबलवान माणिभद्र के युद्ध से विमुख होने पर, हे राजन्! कैलास पर्वत पर राक्षसों ने सिंहनाद किया ॥ १५ ॥

ततो दूरात्प्रददृशे धनाध्यक्षो गदाधरः ।
शुक्रप्रोष्ठपदाभ्यां च [1]पद्मशङ्खसमावृतः ॥ १६ ॥

इतने में हाथ में गदा लिये कुबेर भी दिखलाई पड़े। उनके साथ ख़ज़ाने की रक्षा करने वाले शुक्र और प्रौष्ठपद नाम के दो मंत्री भी थे। पद्म और शङ्ख नामक दो ख़ज़ाने के देवता भी उनके साथ थे ॥ १६ ॥

स दृष्ट्वा भ्रातरं संख्ये शापाद्विभ्रष्ट[2] गौरवम् ।
उवाच वचनं धीमान्युक्तं पैतामहे कुले ॥ १७ ॥

---

१ शङ्खपद्मसमावृतः—शङ्खाद्यनिध्यभिमानिदेवैः संवृतः । (गो०)
२ विभ्रष्टगौरवः—वन्दनादिप्रयोजकज्येष्ठगौरवरहितः । (गो०)

उन्होंने अपने छोटे भाई उस रावण को देखा जो अपने पिता के शाप से शापित था तथा जिसने ज्येष्ठ भ्राता को प्रणामादि करने का शिष्टाचार परित्याग कर दिया था। रावण को देख, कुबेर जी ने पितामह-कुलोचित कथनानुसार उससे कहा ॥ १७ ॥

यन्मया वार्यमाणस्त्वं नावगच्छसि दुर्मते।
पश्चादस्य फलं प्राप्य ज्ञास्यसे निरयं गतः ॥ १८ ॥

हे दुर्मते! मेरे वरजने पर भी तू नहीं मानता। इसका फल पा कर जब तू नरक में जायगा तब तुझे सूझ पड़ेगा ॥ १८ ॥

यो हि मोहाद्विषं पीत्वा नावगच्छति दुर्मतिः।
स तस्य परिणामान्ते जानीते कर्मणः फलम् ॥१९॥

विशेष कर जो दुर्बुद्धि अज्ञान वश विषपान कर लेता है, उसको पीछे से उस कर्म का फल प्राप्त होता है अथवा उसको पीछे उस कर्म का फल जान पड़ता है ॥ १९ ॥

दैवतानि न नन्दन्ति धर्मयुक्तेन केनचित्।
येन त्वमीदृशं भावं नीतस्तच्च न बुद्धयसे ॥ २० ॥

इन दिनों तू कोई भी अच्छा कर्म नहीं कर रहा, इसीसे तेरे ऊपर देवता लोग अप्रसन्न हैं। अतः तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो रही है और स्वभाव में क्रूरता आ रही है। तुझे स्वयं ये बातें नहीं जान पड़तीं ॥ २० ॥

मातरं पितरं विप्रमाचार्यं चावमन्यते।
स पश्यति फलं तस्य प्रेतराजवशं गतः ॥ २१ ॥

जो पुरुष माता पिता, ब्राह्मण और आचार्य का अपमान करता है, वह जब प्रेतराज यमराज के वश में पड़ता है, तब उसे अपने किये का फल प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोर्जनम् ।
स पश्चात्तप्यते मूढो मृतो गत्वात्मनो गतिम् ॥ २२ ॥

जो इस नाशवान शरीर से तप नहीं करता, वह मूढ़जन मरने पर अपने कर्म से प्राप्त अपनी गति को पा कर, सन्तापित होता है ॥ २२ ॥

कस्यचिन्नहि दुर्बुद्धेश्छन्दतो जायते मतिः ।
यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते ॥ २३ ॥

किसी भी दुर्बुद्धि जन को आप ही आप सुमति नहीं उपजती । वह जैसे कर्म करता है वैसा ही उसे फल भी मिलता है ॥ २३ ॥

ऋद्धिं रूपं बलं पुत्रान्वित्तं शूरत्वमेव च ।
प्राप्नुवन्ति नरा लोके निर्जितं पुण्यकर्मभिः ॥ २४ ॥

एवं निरयगामी त्वं यस्य ते मतिरीदृशी ।
न त्वां समभि भाषिष्येऽसद्वृत्तेष्वेष निर्णयः ॥ २५ ॥

सब लोग अपने ही पुण्यकर्मों से धन, रूप, बल, पुत्र, सम्पत्ति और शूरता पाते हैं । किन्तु तू तो नरकगामी है । क्योंकि तेरी बुद्धि ही ऐसी है । अतः मैं तुझसे अधिक बातचीत नहीं करूँगा । क्योंकि बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि, मूर्ख के साथ अधिक वार्तालाप न करना चाहिये ॥ २४ ॥ २५ ॥

एवमुक्तस्ततस्तेन तस्यामात्याः समाहताः ।
मारीचप्रमुखाः सर्वे विमुखा विप्रदुद्रुवुः ॥ २६ ॥

यह कह कर, कुबेर ने रावण के मारीचादि मंत्रियों पर ऐसा प्रहार किया कि, वे घायल हो, रण छोड़ भाग गये ॥ २६ ॥

ततस्तेन दशग्रीवो यक्षेन्द्रेण महात्मना ।
गदयाभिहतो मूर्ध्नि न च स्थानात्प्रकम्पितः ॥ २७ ॥

जब मंत्री लोग भाग गये, तब महाबलवान कुबेर जी ने रावण के मस्तक पर गदा से प्रहार किया; किन्तु रावण अपने स्थान से चलायमान न हुआ ॥ २७ ॥

ततस्तौ राम निघ्नन्तौ तदान्योन्यं महामृधे ।
न विह्वलौ न च श्रान्तौ तावुभौ यक्षराक्षसौ ॥ २८ ॥

हे राम! उस समय यक्ष और राक्षस दोनों परस्पर प्रहार करने लगे। लड़ते लड़ते उन दोनों में से एक भी न तो घबड़ाया ही और न थका ही ॥ २८ ॥

आग्नेयमस्त्रं तस्मै स मुमोच धनदस्तदा ।
राक्षसेन्द्रो वारुणेन तदस्त्रं प्रत्यवारयत् ॥ २९ ॥

तब कुबेर ने रावण के ऊपर अग्नेयास्त्र चलाया। इसे राक्षसराज रावण ने वारुणास्त्र चला कर शान्त कर दिया ॥ २९ ॥

ततो मायां प्रविष्टोऽसौ राक्षसीं राक्षसेश्वरः ।
रूपाणां शतसाहस्रं विनाशाय चकार च ॥ ३० ॥

तदनन्तर रावण ने राक्षसी माया फैलायी और कुबेर का नाश करने के लिये सैकड़ों हज़ारों रूप धारण किये ॥ ३० ॥

व्याघ्रो वराहो जीमूतः पर्वतः सागरो द्रुमः ।
यक्षो दैत्यस्वरूपी च सोऽदृश्यत दशाननः ॥ ३१ ॥

रावण उस समय व्याघ्र, शूकर, मेघ, पर्वत, सागर, वृक्ष, यक्ष और दैत्य के रूपों में दिखलाई पड़ने लगा ॥ ३१ ॥

बहूनि च करोति स्म दृश्यन्ते न त्वसौ ततः ।
प्रतिगृह्य ततो राम महदस्त्रं दशाननः ।
जघान मूर्ध्नि धनदं व्याविद्ध्य महतीं गदाम् ॥ ३२ ॥

उस समय रावण के इस प्रकार के बहुत से रूप दिखलाई पड़ते थे, किन्तु उसका असली रूप अदृश्य था। हे राम! तदनन्तर रावण ने बड़ा भारी अस्त्र ले, कुबेर की बड़ी गदा को विद्ध किया और उनके मस्तक पर प्रहार किया ॥ ३२ ॥

एवं स तेनाभिहतो विह्वलः शोणितोक्षितः ।
कृत्तमूल इवाशोको निपपात धनाधिपः ॥ ३३ ॥

कुबेर उसके उस प्रहार से विह्वल हो गये और रक्त की धार बहाते हुए, जड़ कटे हुए अशोक वृक्ष की तरह पृथिवी पर धड़ाम से गिर पड़े ॥ ३३ ॥

ततः पद्मादिभिस्तत्र निधिभिः स तदा हृतः ।
धनदोच्छ्वासितस्तैस्तु वनमानीय नन्दनम् ॥ ३४ ॥

तब पद्मादि निधि देवताओं ने कुबेर को उठा कर नन्दनवन में पहुँचाया और वहाँ उनको सचेत किया ॥ ३४ ॥

निर्जित्य राक्षसेन्द्रस्तं धनदं हृष्टमानसः ।
पुष्पकं तस्य जग्राह विमानं जयलक्षणम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार रावण ने धनेश्वर कुबेर को पराजित कर, हर्षित अन्तःकरण से जयचिन्हस्वरूप, उनका पुष्पकविमान छीन लिया ॥ ३५ ॥

काञ्चनस्तम्भसंवीतं वैदूर्यमणितोरणम् ।
मुक्ताजालप्रतिच्छन्नं सर्वकालफलद्रुमम् ॥ ३६ ॥

पुष्पक विमान में सोने के खंभे थे और वह पन्नों के तोरणों से सुशोभित था। मोतियों का उथार उसके ऊपर पड़ा हुआ था। उसमें ऐसे फलदार वृक्ष भी थे, जो सब ऋतुओं में फला करते थे ॥ ३६ ॥

मनोजवं कामगमं कामरूपं विहङ्गमम् ।
मणिकाञ्चनसोपानं तप्तकाञ्चनवेदिकम् ॥ ३७ ॥

मन जैसी उसकी तेज़ चाल थी। वह इच्छानुसार चलने वाला, कामरूपी पक्षी की तरह उड़ने वाला था। उसकी सोने की मणियों से जड़ी हुई सीढ़ियां थीं और सोने की उसमें बैठकें बनी हुई थीं ॥ ३७ ॥

देवोपवाह्यमक्षय्यं सदा दृष्टिमनःसुखम् ।
बह्वाश्चर्यं भक्तिचित्रं ब्रह्मणा[1] परिनिर्मितम् ॥ ३८ ॥

वह देवताओं के बैठने योग्य नाशरहित तथा मन और नेत्रों को सुखदायी था। इसमें बड़ी अद्भुत कारीगरी की गयी थी और ब्रह्मा जी की आज्ञा से विश्वकर्मा ने उसे बनाया था ॥ ३८ ॥

निर्मितं सर्वकामैस्तु मनोहरमनुत्तमम् ।
न तु शीतं न चोष्णं च सर्वर्तुसुखदं शुभम् ॥ ३९ ॥

वह विमान समस्त मनोरथों को पूरा करने वाला और उपमा रहित था। न उसमें विशेष सर्दी थी और न विशेष गर्मी ही—प्रत्युत वह शुभ विमान सब ऋतुओं में सुखदायी था ॥ ३९ ॥

---

१ ब्रह्मणा—विश्वकर्मणा। (रा०)

स तं राजा समारुह्य कामगं वीर्यनिर्जितम् ।
जितं त्रिभुवनं मेने दर्पोत्सेकात्सुदुर्मतिः ।
जित्वा वैश्रवणं देवं कैलासात्समवातरत् ॥ ४० ॥

उस पर सवार हो दुर्मति राक्षसराज रावण ने गर्व के वश में हो अपने मन में निश्चय कर लिया कि, अब मैंने तीनों लोक जीत लिये। रावण, इस प्रकार वैश्रवण (कुबेर) को जीत कर, कैलास पर्वत से उतर कर नीचे आया ॥ ४० ॥

स्वतेजसा विपुलमवाप्य तं जयं
प्रतापवान्विमल किरीट हारवान् ।
रराज वै परमविमानमास्थितो
निशाचरः सदसि गतो यथाऽनलः ॥४१॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

प्रतापी राक्षस रावण अपने बल पराक्रम से उस बड़ी भारी जीत को पा कर, निमल किरीट और हार से शोभायमान हो, उत्तम विमान पर सवार हो, वेदोपरस्थित अग्नि के समान सुशोभित हुआ ॥ ४१ ॥

उत्तरकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

षोडशः सर्गः

—:०:—

स जित्वा धनदं राम भ्रातरं राक्षसाधिपः ।
महासेनप्रसूतिं तद्ययौ शरवणं महत् ॥ १ ॥

हे राम ! रावण अपने भाई कुबेर को इस तरह जीत कर, वह स्वामिकार्तिक के उत्पत्तिस्थान, सरहरी के जंगल में घुस गया ॥ १ ॥

अथापश्यद्दशग्रीवो रौक्मं शरवणं महत् ।
गभस्तिजालसंवीतं द्वितीयमिव भास्करम् ॥ २ ॥

वहाँ जा, उसने देखा कि, वह सोने की सरहरी का वन बड़ा विचित्र है और किरणों से युक्त एक दूसरे सूर्य की तरह चमचमा रहा है ॥ २ ॥

स पर्वतं समारुह्य कश्चिद्रम्य वनान्तरम् ।
प्रेक्षते पुष्पकं तत्र राम विष्टम्भितं तदा ॥ ३ ॥

हे राम ! उस रमणीय वनयुक्त पर्वत पर चढ़ कर, रावण ने देखा कि, वहाँ पुष्पक विमान की गति रुक गयी है ॥ ३ ॥

विष्टब्धं किमिदं कस्मान्नागमत्कामगं कृतम् ।
अचिन्तयद्राक्षसेन्द्रः सचिवैस्तैः समावृतः ॥ ४ ॥
किन्निमित्तं चेच्छया मे नेदं गच्छति पुष्पकम् ।
पर्वतस्योपरिष्ठस्य कर्मेदं कस्यचिद्भवेत् ॥ ५ ॥

तब तो राक्षसराज रावण बड़ा विस्मित हुआ और विचारने लगा कि, यह विमान तो कामगामी है, तिस पर भी यह आगे क्यों नहीं बढ़ता—इसका कारण क्या है ? वह अपने मंत्रियों के साथ परामर्श कर कहने लगा कि, यह विमान अभी तक तो मेरी इच्छा के अनुसार चला आता था, पर अब नहीं चलता—सो इसका क्या कारण है ? मेरी जान में तो इस पर्वत पर रहने वाले किसी का यह काम है ॥ ४ ॥ ५ ॥

ततोऽब्रवीत्तदा राम मारीचो बुद्धिकोविदः ।
नेदं निष्कारणं राजन्पुष्पकं यन्न गच्छति ॥ ६ ॥

अथवा पुष्पकमिदं धनदान्नान्यवाहनम् ।
अतो निस्पन्दमभवद्धनाध्यक्षविनाकृतम् ॥ ७ ॥

हे राम! तब बुद्धिमान मारीच ने कहा कि, हे राजन्! बिना किसी कारण के तो यह रुक नहीं सकता। सम्भव है यह कुबेर को छोड़ दूसरे को न ले जा सकता हो। इसी कारण से इसकी चाल रुक गयी हो॥ ६॥ ७॥

इति वाक्यान्तरे तस्य करालः कृष्णपिङ्गलः ।
वामनो विकटो मुण्डी नन्दी ह्रस्वभुजो बली ॥ ८ ॥

ततः पार्श्वमुपागम्य भवस्यानुचरोऽब्रवीत् ।
नन्दीश्वरो वचश्चेदं राक्षसेन्द्रमशङ्कितः ॥ ९ ॥

इधर रावणादि इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि, अति कराल रूप, काले पीले रंगों वाले, बहुत छोटे डीलडौल के नन्दीश्वर देख पड़े। वे बड़े विकट थे, मूँड़ मुँड़ाये थे और छोटी छोटी उनकी भुजाएँ थीं। वे भगवान् शिव की सेवा में सदा लगे रहते थे। उन्होंने रावण के निकट जा कर निर्भीक हो उससे कहा॥ ८॥ ६

निवर्तस्व दशग्रीव शैले क्रीडति शङ्करः ।
सुपर्णनागयक्षाणां देवगन्धर्वरक्षसाम् ॥ १० ॥

सर्वेषामेव भूतानामगम्यः पर्वतः कृतः ।
इति नन्दिवचः श्रुत्वा क्रोधात्कम्पितकुण्डलः ॥११॥

रोषात्तु ताम्रनयनः पुष्पकादवरुह्य सः ।
कोयं शङ्कर इत्युक्त्वा शैलमूलमुपागतः ॥ १२ ॥

हे दशग्रीव! शिव जी यहाँ क्रीडा कर रहे हैं। अतः तू यहाँ से चला जा। गरुड़, नाग, यक्ष, देवता, गन्धर्व और राक्षस कोई भी जीवधारी इस पर्वत पर नहीं जा सकता, नन्दि के इन वचनों को सुन रावण मारे क्रोध के आग बबूला हो गया, उसके नेत्र लाल हो गये। वह अपने कुण्डलों को हिलाता हुआ पुष्पक विमान से उतर पड़ा और यह कहता हुआ कि, "यह कौन शङ्कर है? पहाड़ के नीचे आया ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

सोऽपश्यन्नन्दिनं तत्र देवस्यादूरतः स्थितम् ।
दीप्तं शूलमवष्टभ्य द्वितीयमिव शङ्करम् ॥ १३ ॥

रावण ने देखा कि, वहाँ नन्दी चमचमाता शूल उठाये दूसरे महादेव की तरह शङ्कर जी के निकट ही खड़े हैं ॥ १३ ॥

तं दृष्ट्वा वानरमुखमवज्ञाय स राक्षसः ।
प्रहासं मुमुचे तत्र सतोय इव तोयदः ॥ १४ ॥

वानर जैसा नन्दीश्वर का मुख देख, रावण उनका अपमान करता हुआ, अट्टहास कर ऐसा हँसा, मानों बादल गरजता हो ॥ १४ ॥

तं क्रुद्धो भगवान्नन्दी शङ्करस्यापरा तनुः ।
अब्रवीत्तत्र तद्रक्षो दशाननमुपस्थितम् ॥ १५ ॥

शिव जी की साक्षात् दूसरी मूर्ति नन्दीश्वर, रावण को हँसते देख, बड़े कुपित हुए और वहाँ उपस्थित रावण से बोले ॥ १५ ॥

यस्माद्वानररूपं मामवज्ञाय दशानन ।
अशनीपातसङ्काशमपहासम्प्रमुक्तवान् ॥ १६ ॥

हे दशानन ! मेरे वानर रूप को अवज्ञा कर, वज्राघात के समान तूने जो अट्टहास किया है ॥ १६ ॥

तस्मान्मद्वीर्यसंयुक्ता मद्रूपसमतेजसः ।
उत्पत्स्यन्ति वधार्थं हि कुलस्य तव वानराः ॥ १७ ॥

सो मेरे समान पराक्रमी और तुल्य रूप वाले और तेजस्वी वानर तेरे वंश का मूलोच्छेद करने के लिये उत्पन्न होंगे ॥ १७ ॥

नखदंष्ट्रायुधाः क्रूरा मनःसम्पातरंहसः ।
युद्धोन्मत्ता बलोद्रिक्ताः शैला इव विसर्पिणः ॥ १८ ॥

वे नखों और दांतों को आयुध बनाये हुए वानर, मन की तरह शीघ्रगामी, रणोन्मत्त, पर्वत की तरह विशाल शरीरधारी और बलवान होंगे ॥ १८ ॥

ते तव प्रबलं [1]दर्पमुत्सेधं[2] च पृथग्विधम् ।
व्यपनेष्यन्ति सम्भूय सहामात्यसुतस्य च ॥ १९ ॥

तेरे इस प्रबल अहङ्कार और शारीरिक बल के घमंड को वे ही दूर करेंगे । वे तेरा ही नहीं ; बल्कि तेरे मंत्रियों और पुत्रों का भी दर्प खर्व करेंगे ॥ १९ ॥

किंत्विदानीं मया शक्यं हन्तुं त्वां हे निशाचर ।
न हन्तव्यो हतस्त्वं हि पूर्वमेव स्वकर्मभिः ॥२०॥

---

१ दर्पः—आन्तरः । (रा०) २ उत्सेधः—शारीरः । (रा०)

हे राक्षस ! यद्यपि मैं तुझे इसी समय मार डालता, तथापि मैं तुझे मारना नहीं चाहता क्योंकि तू अपने बुरे कर्मों से पहिले ही मर चुका है। मरे को मारना उचित नहीं ॥ २० ॥

इत्युदीरितवाक्ये तु देवे तस्मिन्महात्मनि ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ॥ २१ ॥

महात्मा नन्दीश्वर ने ज्योंही ये वचन कहे, त्योंही देवताओं ने नगाड़े बजाये और आकाश से फूलों की वर्षा हुई ॥ २१ ॥

अचिन्तयित्वा स तदा नन्दिवाक्यं महाबलः ।
पर्वतं तु समासाद्य वाक्यमाह दशाननः ॥ २२ ॥

महाबलवान रावण नन्दीश्वर के इस शाप की कुछ भी परवाह न कर और पर्वत के निकट जा ये वचन बोला ॥ २२ ॥

पुष्पकस्य गतिश्छिन्ना यत्कृते मम गच्छतः ।
तमिमं शैलमुन्मूलं करोमि तव गोपते[1] ॥ २३ ॥

हे वृषभपते रुद्र ! तुम्हारे जिस पर्वत के कारण मेरे पुष्पक विमान की चाल बंद हो गयी है, उसे मैं उखाड़ कर फेंके देता हूँ ॥ २३ ॥

केन प्रभावेण भवो नित्यं क्रीडति राजवत् ।
विज्ञातव्यं न जानीते भयस्थानमुपस्थितम् ॥ २४ ॥

शिव किस बलबूते पर नित्य राजाओं की तरह क्रीड़ा किया करते हैं ? क्या उनको यह नहीं मालूम कि, उनके लिये भय का

1 गोपते—हे वृषभपते रुद्र । (गो०)

कारण उपस्थित है। यह तो उनको जान ही लेना उचित है (अथवा यह बात मुझे उनको जना देना आवश्यक है) ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा ततो राम भुजान्विक्षिप्य पर्वते ।
तोलयामास तं *शीघ्रं स शैलः समकम्पत ॥ २५ ॥

हे राम ! यह कह कर, दशानन ने तुरन्त अपनी भुजाएँ पर्वत के नीचे घुसेड़ दीं और वह पर्वत को उठाने लगा। तब वह पर्वत काँपने लगा अथवा हिला ॥ २५ ॥

चालनात्पर्वतस्यैव गणा देवस्य कम्पिताः ।
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम् ॥ २६ ॥

पर्वत के हिलने से महादेव जी के समस्त गण काँप गये। पार्वती जी भी घबड़ा कर महादेव जी के शरीर से लिपट गयीं ॥ २६ ॥

ततो राम महादेवो देवानां प्रवरो हरः ।
पादाङ्गुष्ठेन तं शैलं पीडयामास लीलया ॥ २७ ॥

हे राम ! तब तो देवताओं में अतिश्रेष्ठ महादेव जी ने बिना किसी प्रयास के अपने पैर के अंगूठे से उस पर्वत को दबा दिया ॥ २७ ॥

पीडितास्तु ततस्तस्य शैलस्तंभोपमा भुजाः ।
विस्मिताश्चाभवंस्तत्र सचिवास्तस्य रक्षसः ॥ २८ ॥

पर्वत के दबाते ही रावण की खंभों की तरह भुजाएँ, जो उस पर्वत के नीचे थीं, पिचने लगीं। यह देख दशग्रीव के मंत्रिगण विस्मित हुए ॥ २८ ॥

---

* पाठान्तरे—"शैलं स शैलः"।

रक्षसा तेन रोषाच्च भुजानां पीडनात्तथा ।
मुक्तो विरावः सहसा त्रैलोक्यं येन कम्पितम् ॥२९॥

तब क्रोध से तथा भुजाओं के पिचने से दशग्रीव इतनी ज़ोर से चिल्लाया कि, उसके उस चीत्कार से तीनों लोक थर्रा उठे ॥ २६ ॥

मेनिरे वज्र निष्पेषं तस्यामात्या युगक्षये ।
तदा वर्त्मसु चलिता देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥ ३० ॥

दशानन के मंत्रियों ने इस शब्द को सुन कर समझा कि, मानों प्रलयकाल में वज्रपात होने जैसा शब्द हुआ । इन्द्रादि देवता अपने मार्ग से विचलित हो गये ॥ ३० ॥

समुद्राश्चापि संक्षुब्धाश्चलिताश्चापि पर्वताः ।
यक्षा विद्याधराः सिद्धाः किमेतदिति चाब्रुवन् ॥३१॥

समुद्र खलबला उठा और पर्वत काँप उठे । यक्ष, विद्याधर और सिद्ध विस्मित हो कहने लगे—" यह क्या हुआ ?" ॥ ३१ ॥

तोषयस्व महादेवं नीलकण्ठमुमापतिम् ।
तमृते शरणं नान्यं पश्यामोऽत्र दशानन ॥ ३२ ॥

दशानन के मंत्रियों ने उससे कहा—हे दशानन ! तुम उमापति नीलकण्ठ महादेव को (स्तुति द्वारा) प्रसन्न करो । बिना उनके यहाँ तुम्हारी रक्षा का अन्य कोई उपाय हमें नहीं सूझ पड़ता ॥३२॥

स्तुतिभिः प्रणतो भूत्वा तमेव शरणं व्रज ।
कृपालुः शङ्करस्तुष्टः प्रसादं ते विधास्यति ॥ ३३ ॥

तुम नम्र हो कर उनकी स्तुति करो (अथवा उनके सामने गिड़गिड़ाओ) और उनके शरण में जाओ। महादेव जी बड़े कृपालु हैं। वे सन्तुष्ट हो कर तुम पर प्रसन्न हो जांयगे ॥ ३३ ॥

एवमुक्तस्तदामात्यैस्तुष्टाव वृषभध्वजम् ।
सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशानन ।
संवत्सरसहस्रं तु रुदतो रक्षसो गतम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार की मंत्रियों की बातें सुन, दशानन ने शिव जी को प्रणाम किया और सामवेद के विविध मंत्रों से वह उनकी स्तुति करने लगा। जब इस प्रकार रोते और गिड़गिड़ाते उसे एक हज़ार वर्ष बीत गये ॥ ३४ ॥

ततः प्रीतो महादेवः शैलाग्रे विष्ठितं प्रभुः ।
मुक्त्वा चास्य भुजान् राम प्राह वाक्यं दशाननम् ॥३५॥

तब उस शैल पर विहार करते हुए श्रीमहादेव जी रावण से सन्तुष्ट हुए। उन्होंने उस पर्वत के नीचे से उसे अपनी भुजाएँ निकाल लेने दीं और हे राम! तब वे दशानन से बोले ॥ ३५ ॥

प्रीतोस्मि तव वीरस्य शौटीर्याच्च दशानन ।
शैलाक्रान्तेन यो मुक्तस्त्वयारावः सुदारुणः ॥३६॥
यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम् ।
तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना राजन्भविष्यसि ॥३७॥

हे वीर दशानन! मैं तेरी वीरता से तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ। हे राजन्! पर्वत की दाब से भुजाओं के पिचने पर तूने चीत्कार किया और उसको सुन तीनों लोक थर्रा उठे। अतः आज से तेरा नाम रावण होगा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

देवता मानुषा यक्षा ये चान्ये जगतीतले ।
एवं त्वामभिधास्यन्ति रावणं लोकरावणम् ॥ ३८ ॥

देवता, मनुष्य, यक्ष तथा अन्य प्राणी जो पृथिवी पर हैं, वे सब तुमको लोगों का रुलाने वाला रावण कह कर पुकारेंगे ॥३८॥

गच्छ पौलस्त्य विस्रब्धं पथा येन त्वमिच्छसि ।
मया चैवाभ्यनुज्ञातो राक्षसाधिप गम्यताम् ॥ ३९ ॥

हे पुलस्त्यनन्दन ! अब तुम जिस रास्ते से जाना चाहते हो उससे निर्भय हो चले जाओ । मैं तुमको आज्ञा देता हूँ । हे राक्षसनाथ ! अब तुम जहाँ जाना चाहते हो जाओ ॥ ३९ ॥

एवमुक्तस्तु लङ्केशः शम्भुना स्वयमब्रवीत् ।
प्रीतो यदि महादेव वरं मे देहि याचतः ॥ ४० ॥

जब श्रीमहादेव जी ने इस प्रकार कहा, तब लङ्केश्वर रावण कहने लगा—हे महादेव ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मैं जो वर माँगता हूँ, सो दीजिये ॥ ४० ॥

अवध्यत्वं मया प्राप्तं देवगन्धर्वदानवैः ।
राक्षसैर्गुह्यकैर्नागैर्ये चान्ये बलवत्तराः ॥ ४१ ॥

हे प्रभो ! देवताओं, गन्धर्वों, दानवों, राक्षसों, गुह्यकों, नागों से तथा अन्य बलवान प्राणधारियों से तो मैं अवध्य हूँ ही, अर्थात् इनमें से मुझे कोई नहीं मार सकता ॥ ४१ ॥

मानुषान्न गणे देव स्वल्पास्ते मम सम्मताः ।
दीर्घमायुश्च मे प्राप्तं ब्रह्मणस्त्रिपुरान्तक ।
वाञ्छितं चायुषः शेषं शस्त्रं त्वं च प्रयच्छ मे ॥ ४२ ॥

और मनुष्यों को मैं कुछ गिनता ही नहीं। हे त्रिपुरान्तक! ब्रह्मा जी से मैं दीर्घायु भी प्राप्त कर चुका हूँ। अब जो मेरी आयु शेष रह गयी है वह मेरे किसी भी कर्म से नष्ट न हो। इसके अतिरिक्त आप मुझे एक शस्त्र भी दीजिये ॥ ४२ ॥

एवमुक्तस्ततस्तेन रावणेन स शङ्करः।
ददौ खड्गं महादीप्तं चन्द्रहासमिति श्रुतम् ॥ ४३ ॥

जब रावण ने इस प्रकार श्रीमहादेव जी से कहा, तब श्रीमहादेव जी ने चन्द्रहास नाम की एक चमचमाती तलवार रावण को दी ॥ ४३ ॥

आयुषश्चावशेषं च ददौ भूतपतिस्तदा ॥ ४४ ॥

तथा भूतनाथ श्रीमहादेव जी ने (रावण के प्रार्थनानुसार) उसे शेष आयु भी दी ॥ ४४ ॥

दत्त्वोवाच ततः शम्भुर्नावज्ञेयमिदं त्वया।
अवज्ञातं यदि हि ते मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार तलवार और वर दे कर श्रीमहादेव जी बोले कि हे रावण! इस तलवार का कभी अनादर मत करना। यदि अनादर किया तो यह तलवार मेरे पास चली आवेगी। इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ४५ ॥

एवं महेश्वरेणैव कृतनामा स रावणः।
अभिवाद्य महादेवमारुरोहाथ पुष्पकम् ॥ ४६ ॥

श्रीमहादेव जी से इस प्रकार अपना "रावण" नाम धरा कर और उनको प्रणाम कर, दशग्रीव पुष्पक विमान पर सवार हुआ ॥ ४६ ॥

ततो महीतलं राम पर्यक्रामत रावणः ।
क्षत्रियान्सुमहावीर्यान्बाधमानस्ततस्ततः ॥ ४७ ॥

हे राम ! तदनन्तर रावण पृथिवीतल पर घूम कर बड़े बड़े बलवान और पराक्रमी क्षत्रियों को सताने लगा ॥ ४७ ॥

केचित्तेजस्विनः शूराः क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ।
तच्छासनमकुर्वन्तो विनेशुः सपरिच्छदाः ॥ ४८ ॥

कितने ही तेजस्वी, शूरवीर और युद्ध में दुर्मद क्षत्रिय उसकी आज्ञा न मानने के कारण सपरिवार मारे गये ॥ ४८ ॥

अपरेदुर्जयं रक्षो जानन्तः प्राज्ञसम्मताः ।
जिताः स्म इत्यभाषन्त राक्षसं बलदर्पितम् ॥ ४९ ॥

इति षोडशः सर्गः ॥

अन्य चतुर एवं समझदार राजाओं ने बलगर्वित रावण को दुर्जेय जान कर, उससे अपनी हार मान ली ॥ ४९ ॥

उत्तरकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

सप्तदशः सर्गः

—※—

अथ राजन्महाबाहुर्विचरन्पृथिवी तले ।
हिमवद्वनमासाद्य परिचक्राम रावणः ॥ १ ॥

हे राम ! वह महाबली रावण इस प्रकार घूमता फिरता एक दिन हिमालय के वन में पहुँचा और वहाँ घूमने लगा ॥ १ ॥

तत्रापश्यत्स वै कन्यां कृष्णाजिनजटाधराम् ।
[1]आर्षेण विधिना युक्तां दीप्यन्तीं देवतामिव ॥ २ ॥

वहाँ उसने एक कन्या देखी जो मृगचर्म धारण किये हुए थी, तपोनुष्ठान में निरत थी और साक्षात् देवकन्या के समान देदीप्यमान थी ॥ २ ॥

स दृष्ट्वा रूपसम्पन्नां कन्यां तां सुमहाव्रताम् ।
काममोहपरीतात्मा पप्रच्छ प्रहसन्निव ॥ ३ ॥

उस सुन्दरी और महाव्रत करने वाली कन्या को देख, रावण ने कामदेव से पीड़ित हो, मुसक्या कर उससे पूँछा ॥ ३ ॥

किमिदं वर्तसे भद्रे विरुद्धं यौवनस्य ते ।
न हि युक्ता तवैतस्य रूपस्यैवं प्रतिक्रिया ॥ ४ ॥

हे भद्रे! इस समय तुम जो कर्म कर रही हो, वह तो तुम्हारी इस जवानी के विरुद्ध है। विशेष कर यह आचरण तुम्हारे इस रूप के योग्य नहीं है ॥ ४ ॥

रूपं तेऽनुपमं भीरु कामोन्मादकरं नृणाम् ।
न युक्तं तपसि स्थातुं निर्गतो ह्येष निर्णयः ॥ ५ ॥

हे भीरु! तुम्हारा यह सौन्दर्य तो मनुष्यों को कामोन्मत्त करने वाला है। अतः यह उचित नहीं जान पड़ता कि, तुम तप करो। अतः तुम अपने इस तप करने के निश्चय को अर्थात् सङ्कल्प को त्याग दो ॥ ५ ॥

---

1 आर्षेण विधिना—तपोनुष्ठानेन। (गो०)

कस्यासि किमिदं भद्रे कश्च भर्ता वरानने ।
येन सम्भुज्यसे भीरु स नरः पुण्यभाग्भुवि ॥ ६ ॥

हे भद्रे ! तुम किस की बेटी हो ? यह क्या कर रही हो ? हे वरानने ! तुम्हारा पति कौन है ? हे भीरु ! तुम्हारे साथ जो सम्भोग करता होगा वह पुरुष इस ,पृथिवीतल पर बड़ा पुण्यवान होगा ॥ ६ ॥

पृच्छतः शंस मे सर्वं कस्य हेतोः परिश्रमः ।
एवमुक्ता तु सा कन्या रावणेन यशस्विनी ॥ ७ ॥
अब्रवीद्विधिवत्कृत्वा तस्यातिथ्यं तपोधना ।
कुशध्वजो नाम पिता ब्रह्मर्षिरमितप्रभः ।
बृहस्पतिसुतः श्रीमान्बुद्ध्या तुल्यो बृहस्पतेः ॥८॥

मैं तुझसे पूँछता हूँ। समस्त वृत्तान्त तू बतला कि, तू किसके लिये यह इतना परिश्रम कर रही है ? जब रावण ने उससे इस प्रकार पूँछा, तब वह यशस्विनी एवं तपस्विनी कन्या रावण का विधिवत् आतिथ्य कर बोली—बृहस्पति के पुत्र बुद्धि में बृहस्पति जी ही के समान, अमित प्रभावान् कुशध्वज नामक ब्रह्मर्षि मेरे पिता हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

तस्याहं कुर्वतो नित्यं वेदाभ्यासं महात्मनः ।
सम्भूता वाङ्मयी कन्या नाम्ना वेदवती स्मृता ॥९॥

वे महात्मा नित्य ही वेदाभ्यास करते थे। मैं उन्हींकी वाणी रूप कन्या हूँ। मेरा नाम वेदवती है ॥ ९ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
ते चापि गत्वा पितरं वरणं रोचयन्ति मे ॥१०॥

देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग मेरे पिता के पास जा कर, मेरे साथ विवाह करने की प्रार्थना करते ॥ १० ॥

न च मां स पिता तेभ्यो दत्तवान् राक्षसेश्वर ।
कारणं तद्वदिष्यामि निशामय महाभुज ॥ ११ ॥

परन्तु हे राक्षसेश्वर ! पिता जी ने उन लोगों के साथ मेरा विवाह न किया । हे महावीर ! इसका कारण मैं कहती हूँ, तुम सुनो ॥ ११ ॥

पितुस्तु मम जामाता विष्णुः किल सुरेश्वरः ।
अभिप्रेतस्त्रिलोकेशस्तस्मान्नान्यस्य मे पिता ॥ १२ ॥

मेरे पिता चाहते थे कि, उनके जामाता सुरेश्वर विष्णु हों । अतः वे दूसरे के साथ मेरा विवाह करना नहीं चाहते थे ॥ १२ ॥

दातुमिच्छति तस्मै तु तच्छ्रुत्वा बलदर्पितः ।
शम्भुर्नाम ततो राजा दैत्यानां कुपितोऽभवत् ॥१३॥

जब पिता ने विष्णु के साथ मेरा विवाह करने की इच्छा प्रकट की ; तब यह बात सुन कर बलगर्वित दैत्येन्द्र शम्भु बड़ा कुपित हुआ ॥ १३ ॥

तेन रात्रौ शयानो मे पिता पापेन हिंसितः ॥ १४॥

और एक दिन रात में जब मेरे पिता सो रहे थे, तब उस पापी ने आ कर सोते में ही उनको मार डाला ॥ १४ ॥

ततो मे जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम ।
परिष्वज्य महाभागा प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥ १५ ॥

तब मेरी महाभागा माता ने दुखी हो पिता की लोथ के साथ लिपट कर अग्नि में प्रवेश किया ॥ १५ ॥

ततो मनोरथं सत्यं पितुर्नारायणं प्रति ।
करोमीति तमेवाहं हृदयेन समुद्वहे ॥ १६ ॥

तब मैंने सोचा कि नारायण के विषय में मेरे पिता का जो सङ्कल्प था, उसे मैं पूरा करूँ। यही विचार कर मैं हृदय से उसी काम को पूरा करने में लगी हूँ ॥ १६ ॥

इति प्रतिज्ञामारुह्य चरामि विपुलं तपः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं मया राक्षसपुङ्गव ॥ १७ ॥

हे राक्षेश्वर ! इस प्रतिज्ञा के अनुसार ही मैं यह कठोर तप कर रही हूँ। जो असली बात थी सो मैंने तुमसे कह दी ॥ १७ ॥

नारायणो मम पतिर्न त्वन्यः पुरुषोत्तमात् ।
आश्रये नियमं घोरं नारायणपरीप्सया ॥ १८ ॥

श्रीनारायण जो मेरे पति हैं, उन पुरुषोत्तम को छोड़ और कोई मेरा पति नहीं हो सकता। अतः श्रीनारायण को अपना पति बनाने के लिये मैं यह घोर तप कर रही हूँ ॥ १८ ॥

विज्ञातस्त्वं हि मे राजन्गच्छ पौलस्त्यनन्दन ।
जानामि तपसा सर्वं त्रैलोक्ये यद्धि वर्तते ॥ १९ ॥

हे राजन् ! मैंने तुमको जान लिया कि, तुम पौलस्त्यनन्दन हो। अब तुम यहाँ से चले जाओ। मैं अपने तपोबल से तीनों लोकों में जो कुछ हो रहा है सो सब जानती हूँ ॥ १९ ॥

सोऽब्रवीद्रावणो भूयस्तां कन्यां सुमहाव्रताम् ।
अवरुह्य विमानाग्रात्कन्दर्पशरपीडितः ॥ २० ॥

यह सुन कर कामवाण से पीड़ित रावण विमान से उतर कर, महाव्रत धारण किये हुए उस कन्या से कहने लगा ॥ २० ॥

अवलिप्ताऽसि सुश्रोणि यस्यास्ते मतिरीदृशी ।
वृद्धानां मृगशावाक्षि भ्राजते पुण्यसञ्चयः ॥ २१ ॥

हे सुश्रोणि ! तुझे अपने रूप का गर्व है, इसीसे तू नहीं जानती कि तुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं, और इसीसे तेरी ऐसी बुद्धि हो रही है। हे मृगशावाक्षि ! तपस्यादि पुण्यप्रद कार्यों का करना बुढ़ापे में अच्छा लगता है ॥ २१ ॥

त्वं सर्वगुणसम्पन्ना नार्हसे वक्तुमीदृशम् ।
त्रैलोक्यसुन्दरी भीरु यौवनं तेऽतिवर्तते ॥ २२ ॥

तू तो सर्वगुणसम्पन्न है। तुझे ऐसा कहना नहीं सोहता। तू तो त्रैलोक्यसुन्दरी है। हे भीरु ! तेरी यह जवानी निकली जा रही है ॥ २२ ॥

अहं लङ्कापतिर्भद्रे दशग्रीव इति श्रुतः ।
तस्य मे भव भार्या त्वं भुंक्ष्व भोगान्यथासुखम् ॥२३॥

हे भद्रे ! मैं लङ्केश्वर दशग्रीव हूँ। तू मेरी भार्या बन जा और यथेष्ट सुखों को भोगा कर ॥ २३ ॥

कश्चतावदसौ यं त्वं विष्णुरित्यभिभाषसे ।
वीर्येण तपसा चैव भोगेन च बलेन च ।
स मया नो समो भद्रे यं त्वं कामयसेऽङ्गने ॥ २४ ॥

हे भद्रे! वह विष्णु कौन है, जिसका तूने वर्णन किया है। जिसको तू चाह रही है वह कोई क्यों न हो; किन्तु वह पराक्रम, तप, भोग, और बल में मेरे समान कभी नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

इत्युक्तवति तस्मिंस्तु वेदवत्यथ सा ब्रवीत् ।
मा मैवमिति सा कन्या तमुवाच निशाचरम् ॥ २५ ॥

जब रावण ने इस प्रकार कहा, तब वेदवती ने उससे कहा—तुम विष्णु के विषय में ऐसा मत कहो ॥ २५ ॥

त्रैलोक्याधिपतिं विष्णुं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
त्वदृते राक्षसेन्द्रान्यः कोऽवमन्येत बुद्धिमान् ॥ २६ ॥

क्योंकि भगवान् विष्णु त्रैलोक्याधिपति हैं और सब के पूज्य हैं। तुम्हारे सिवाय दूसरा और कौन बुद्धिमान् होगा, जो उनका इस प्रकार अपमान करेगा ॥ २६ ॥

एवमुक्तस्तया तत्र वेदवत्या निशाचरः ।
मूर्धजेषु तदा कन्यां कराग्रेण परामृशत् ॥ २७ ॥

वेदवती के इन वचनों को सुन, रावण ने अपने हाथ से उसकी चोटी पकड़ी ॥ २८ ॥

ततो वेदवती क्रुद्धा केशान्हस्तेन साच्छिनत् ।
असिर्भूत्वा करस्तस्याः केशांश्छिन्नांस्तदा करोत् ॥२८॥

इस पर वेदवती ने क्रोध में भर अपने हाथ से अपने बाल काट डाले। क्योंकि उस समय उसका हाथ तलवार रूप हो गया था ॥ २८ ॥

सा ज्वलन्तीव रोषेण दहन्तीव निशाचरम् ।
उवाचाग्निं समाधाय मरणाय कृतत्वरा ॥ २९ ॥

वेदवती क्रोध से जलती हुई और मरने के लिये आतुर होने के कारण आग जला, रावण को भस्म करती हुई सी बोली ॥ २९ ॥

धर्षितायास्त्वयाऽनार्य न मे जीवितमिष्यते ।
रक्षस्तस्मात्प्रवेक्ष्यामि पश्यतस्ते हुताशनम् ॥ ३० ॥

अरे नीच ! तूने मेरा अंग स्पर्श किया है, अतः मैं अब जीना नहीं चाहती और मैं अब तेरे सामने ही अग्नि में प्रवेश करती हूँ ॥ ३० ॥

यस्मात्तु धर्षिता चाहं त्वया पापात्मना वने ।
तस्मात्तव वधार्थं हि समुत्पत्स्यत्यहं पुनः ॥ ३१ ॥

तैने पापात्मा हो कर मेरे केशों को स्पर्श कर वन में मुझको अपमानित किया । अतः तेरा वध करने के लिये मैं पुनः उत्पन्न होऊँगी ॥ ३१ ॥

नहि शक्यः स्त्रिया हन्तुं पुरुषा पाप निश्चयः ।
शापे त्वयि मयोत्सृष्टे तपसश्च व्ययो भवेत् ॥ ३२ ॥

क्योंकि पापी पुरुष को मारना स्त्रियों के वश की बात नहीं है । यदि मैं तुझे शाप दूँ, तो मेरी तपस्या की हानि होती है ॥ ३२ ॥

यदि त्वस्ति मया किञ्चित्कृतं दत्तं हुतं तथा ।
तस्मात्त्वयोनिजा साध्वी भवेयं धर्मिणः सुता ॥३३॥

यदि मैंने कुछ सुकृत किया हो या दान दिया हो या होम किया हो, तो मैं किसी धर्मात्मा के घर में अयोनिजा जन्म लूँ ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा प्रविष्टा सा ज्वलितं जातवेदसम् ।
पपात च दिवो दिव्या पुष्पवृष्टिः समन्ततः ॥३४॥

यह कह कर, वेदवती धधकती हुई आग में कूद पड़ी। उस समय उस चिता के चारों ओर आकाश से दिव्य पुष्पों की वृष्टि हुई ॥ ३४ ॥

सैषा जनकराजस्य प्रसूता तनया प्रभो ।
तव भार्या महाबाहो विष्णुस्त्वं हि सनातनः ॥३५॥

हे प्रभो ! वही वेदवती जनकराज के घर कन्या रूप से उत्पन्न हो कर, तुम्हारी भार्या हुई है। हे महाबाहो ! तुम भी वे ही सनातन विष्णु भगवान् हो ॥ ३५ ॥

पूर्वं क्रोधहतः शत्रुर्ययासौ निहतस्तया ।
उपाश्रयित्वा शैलाभस्तव वीर्यममानुषम् ॥ ३६ ॥

वेदवती तो अपने क्रोध से रावण को मार ही चुकी थी। अब तुम्हारे अलौकिक बल के सहारे अपने उस पर्वत के समान शत्रु का वेदवती ने नाश ही कर दिया ॥ ३६ ॥

एवमेषा महाभागा मर्त्येषूत्पत्स्यते पुनः ।
क्षेत्रे हलमुखोत्कृष्टे वेद्यामग्निशिखोपमा ॥ ३७ ॥

यह महाभागा वेदवती वेदी के बीच स्थित अग्निशिखा के तुल्य, आने वाले कल्प में हल की नोंक से जोते हुए खेत में इस प्रकार पुनः उत्पन्न होगी ॥ ३७ ॥

एषा वेदवती नाम पूर्वमासीत्कृते युगे ।
त्रेतायुगमनुप्राप्य वधार्थं तस्य रक्षसः ।
उत्पन्ना मैथिल कुले जनकस्य महात्मनः ॥ ३८ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

हे राजन्! यह पहले सत्ययुग में वेद्‌वती के नाम से विख्यात थी। अब यही त्रेता में राक्षसों के कुल का संहार करने के लिये मैथिलकुल में महात्मा जनक के यहाँ उत्पन्न हुई है ॥ ३८ ॥

उत्तरकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

अष्टादशः सर्गः

—:०:—

प्रविष्टायां हुताशं तु वेदवत्यां स रावणः ।
पुष्पकं तु समारुह्य परिचक्राम मेदिनीम् ॥ १ ॥

वेद्‌वती के आग में कूद पड़ने पर रावण पुष्पक विमान में बैठ चारों ओर पृथिवी पर घूमने लगा ॥ १ ॥

ततो मरुत्तं नृपतिं यजन्तं सह दैवतैः ।
उशीरबीजमासाद्य ददर्श स तु रावणः ॥ २ ॥

वह उशीरबीज नामक देश में पहुँचा। वहाँ उसने देवताओं के साथ यज्ञ करते हुए मरुत्त राजा को देखा ॥ २ ॥

संवर्तो नाम ब्रह्मर्षिः साक्षाद्भ्राता बृहस्पतेः ।
याजयामास धर्मज्ञः सर्वैर्देवगणैर्वृतः ॥ ३ ॥

बृहस्पति जी के सगे भाई धर्मज्ञ संवर्त नामक ब्रह्मर्षि समस्त देवताओं के साथ राजा मरुत्त को यज्ञ करा रहे थे ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा देवास्तु तद्रक्षो वरदानेन दुर्जयम् ।
तिर्यग्योनिं समाविष्टास्तस्य धर्षणभीरवः ॥ ४ ॥

वरदान के कारण अजित राक्षस रावण को देख उसके सताने के भय से देवता पक्षियों का रूप धारण कर उड़ गये ॥ ४ ॥

इन्द्रो मयूरः संवृत्तो धर्मराजस्तु वायसः ।
कृकलासो धनाध्यक्षो हंसश्च वरुणोऽभवत् ॥ ५ ॥

इन्द्र मोर, धर्मराज काग, कुबेर गिरगिट और वरुण ने हंस का रूप धारण किया ॥ ५ ॥

अन्येष्वपि गतेष्वेवं देवेष्वरिनिषूदन ।
रावणः प्राविशद्यज्ञं सारमेय इवाशुचिः ॥ ६ ॥

हे शत्रुनाशी ! अन्य देवताओं ने भी इसी प्रकार अन्य पक्षियों के रूप धारण कर लिये । तब अपवित्र कुत्ते के समान रावण यज्ञशाला में घुस गया ॥ ६ ॥

तं च राजानमासाद्य रावणो राक्षसाधिपः ।
प्राह युद्धं प्रयच्छेति निर्जितोस्मीति वा वद ॥ ७ ॥

और वहाँ जा वह राजा मरुत्त से बोला कि, या तो तुम मुझसे लड़ो या अपनी हार मानो ॥ ७ ॥

ततो मरुत्तो नृपतिः को भवानित्युवाच तम् ।
अवहासं ततो मुक्त्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इस पर राजा मरुत्त ने रावण से पूँछा कि, आप कौन हैं? तब रावण ने अट्टहास कर कहा ॥ ८ ॥

अकुतूहलभावेन प्रीतोऽस्मि तव पार्थिव ।
धनदस्यानुजं यो मां नावगच्छसि रावणम् ॥ ९ ॥

हे राजन्! मैं तुम्हारी इस सिधाई से तुम पर प्रसन्न हूँ। क्योंकि तुम धनद—कुबेर के छोटे भाई मुझ रावण को भी नहीं पहिचानते ॥ ६ ॥

त्रिषु लोकेषु कोन्योऽस्ति यो न जानाति मे बलम् ।
भ्रातरं येन निर्जित्य विमानमिदमाहृतम् ॥ १० ॥

तीनों लोकों में कौन ऐसा है, जो मेरे बल पराक्रम को नहीं जानता। जिस रावण ने अपने बड़े भाई कुबेर को हरा कर उसका यह विमान छीन लिया, उसे कौन नहीं जानता ॥ १० ॥

ततो मरुत्तः स नृपस्तं रावणमथाब्रवीत् ।
धन्यः खलु भवान्येन ज्येष्ठो भ्राता रणे जितः ।
न त्वया सदृशः श्लाघ्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ११ ॥

इस पर राज मरुत्त ने रावण से कहा—आप धन्य हैं, जिन्होंने अपने बड़े भाई को युद्ध में हरा दिया। सचमुच तुम्हारा जैसा श्लाघ्य पुरुष तो तीनों लोकों में नहीं है ॥ ११ ॥

[नाधर्मसहितं श्लाघ्यं न लोकप्रतिसंहितम् ।
कर्म दौरात्म्यकं कृत्वा श्लाघसे भ्रातृनिर्जयात् ॥]
कं त्वं प्राक्केवलं धर्मं चरित्वा लब्धवान्वरम् ।
श्रुतपूर्वं हि न मया भाससे यादृशं स्वयम् ॥ १२ ॥

हे मूढ़! अधर्मयुक्त और लोकनिन्दित कर्म कभी सराहने योग्य नहीं हो सकता। तूने अपने बड़े भाई को युद्ध में हरा कर (और उसका विमान छीन कर) दुरात्माओं जैसा काम किया है। तिस पर भी तू अपनी सराहना करता है। पूर्व में तूने कौनसा ऐसा धर्म का अनोखा काम किया था, जिससे तुझे वर मिला। मैंने तो तेरे बारे में, जैसा कि तू स्वयं अब कह रहा है, पहिले कभी सुना नहीं॥ १२॥

तिष्ठेदानीं न मे जीवन्प्रतियास्यसि दुर्मते।
अद्य त्वां निशितैर्बाणैः प्रेषयामि यमक्षयम्॥ १३॥

अरे दुष्ट! खड़ा रह! अब तू मेरे सामने आ कर जीता नहीं जा सकता। मैं पैने पैने बाणों से आज ही तुझे यमालय भेजूँगा॥ १३॥

ततः शरासनं गृह्य सायकांश्च नराधिपः।
रणाय निर्ययौ क्रुद्धः संवर्तो मार्गमावृणोत्॥ १४॥

तदनन्तर राजा मरुत्त धनुष बाण ग्रहण कर क्रोध में भरे हुए, युद्ध करने को बाहर निकले, किन्तु यज्ञ कराने को आये हुए संवर्त मुनि उनका मार्ग रोक कर खड़े हो गये॥ १४॥

सोऽब्रवीत्स्नेहसंयुक्तं मरुत्तं तं महानृषिः।
श्रोतव्यं यदि मद्वाक्यं सम्प्रहारो न ते क्षमः॥ १५॥

संवर्त मुनि स्नेहयुक्त वचनों द्वारा राजा मरुत्त से बोले कि, यदि तुम मेरी बात मानो तो मैं कहूँगा कि, (रावण के साथ) तुम्हारा युद्ध करना मङ्गलकारी नहीं है॥ १५॥

माहेश्वरमिदं सत्रमसमाप्तं कुलं दहेत् ।
दीक्षितस्य कुतो युद्धं क्रोधित्वं दीक्षिते कुतः ॥ १६ ॥
संशयश्च जये नित्यं राक्षसश्च सुदुर्जयः ।
स निवृत्तौ गुरोर्वाक्यान्मरुत्तः पृथिवीपतिः ।
विसृज्य सशरं चापं स्वस्थो मखमुखोऽभवत् ॥१७॥

क्योंकि यदि यह माहेश्वर सम्बन्धी यज्ञ समाप्त न होगा, तो तुम्हारे कुल का नाश कर देगा। यज्ञ में दीक्षित हुए पुरुष के लिये युद्ध करना अथवा क्रोध करना कैसा? फिर जीत होने में भी सन्देह है, क्योंकि यह राक्षस अजेय है। अपने गुरु का कहना मान राजा मरुत्त युद्ध करने का विचार त्याग कर और धनुष बाण रख कर तथा मन को सावधान कर, पुनः यज्ञकर्म में प्रवृत्त हुए ॥ १६ ॥ १७ ॥

ततस्तं निर्जितं मत्वा घोषयामास वै शुकः ।
रावणो जयतीत्युच्चैर्हर्षान्नादं विमुक्तवान् ॥ १८ ॥

तब तो रावण के मंत्री शुक ने राजा मरुत्त को हारा हुआ निश्चय कर, यह घोषणा की कि, रावण से राजा मरुत्त हार गया तथा उसने हर्षनाद किया ॥ १८ ॥

तान्भक्षयित्वा तत्रस्थान्महर्षीन्यज्ञ मागतान् ।
वितृप्तो रुधिरैस्तेषां पुनः संप्रययौ महीम् ॥ १९ ॥

यज्ञ में आये हुए ऋषियों को खा कर और उनके रक्त को भर पेट पी कर, रावण पुनः पृथिवीमण्डल पर विचरने लगा ॥ १९ ॥

रावणे तु गते देवाः सेन्द्राश्चैव दिवौकसः।
ततः स्वां योनिमासाद्य तानि सत्त्वानि चाब्रुवन् ॥२०॥

रावण के चले जाने पर इन्द्रादि देवताओं ने फिर अपने अपने रूप धारण कर उन पशु पक्षियों से कहा ॥ २० ॥

हर्षात्तदाब्रवीदिंद्रो मयूरं नील बर्हिणम्।
प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञ भुजङ्गाद्धि न ते भयम् ॥ २१ ॥

हर्षित हो इन्द्र ने नीले रंगवाले मोर से कहा—हे धर्मज्ञ! हम तुम पर प्रसन्न हैं (अतः हम तुमको यह वर देते हैं कि) तुम को सर्प से भय नहीं होगा ॥ २१ ॥

इदं नेत्रसहस्रं तु यत्तद्बर्हे भविष्यति।
वर्षमाणे मयि मुदं प्राप्स्यसे प्रीति लक्षणम् ॥ २२ ॥

हमारे ये सहस्र नेत्र तुम्हारी चन्द्रिका पर सुशोभित होंगे। जब मैं जलवृष्टि करूँगा; तब मेरी प्रीति का चिन्ह स्वरूप आनन्द, तुमको प्राप्त होगा ॥ २२ ॥

एवमिन्द्रो वरं प्रादान्मयूरस्य सुरेश्वरः ॥ २३ ॥

सुरेश्वर इन्द्र ने इस प्रकार मयूर को वरदान दिया ॥ २३ ॥

नीलाः किल पुराबर्हामयूराणां नराधिप।
सुराधिपाद्वरं प्राप्य गताः सर्वेऽपि बर्हिणः ॥ २४ ॥

हे राजन्! पूर्वकाल में मोरों को पूँछ नीले रंग की थी, (किन्तु इन्द्र के वरदान से उनकी पूँछ रंग बिरंगी हो गयी) इन्द्र से वर पा कर, सब मोर वहाँ से चले गये ॥ २४ ॥

धर्मराजो ब्रवीद्राम प्राग्वंशे वायसम् प्रति ।
पक्षिस्तवास्मि सुप्रीतः प्रीतस्य वचनं शृणु ॥ २५ ॥

तदनन्तर हे राम! धर्मराज ने प्राग्वंश नामक यज्ञशाला में बैठे हुए कौए से कहा—हे पक्षिन्! हम तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं। अतः तुम हमारे वचन सुनो ॥ २५ ॥

यथान्ये विविधै रोगैः पीड्यन्ते प्राणिनो मया ।
ते न ते प्रभविष्यन्ति मयि प्रीते न संशयः ॥ २६ ॥

हम अन्य प्राणियों को तरह तरह के रोगों से पीड़ित करते हैं; किन्तु (हमारे आज के वरदान से) तेरे शरीर पर कभी किसी रोग का प्रभाव न पड़ेगा। तुझे रोगों से कभी पीड़ा न होगी। इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ २६ ॥

मृत्युतस्ते भयं नास्ति वरान्मम विहङ्गम ।
यावत्त्वां न वधिष्यन्ति नरास्तावद्भविष्यसि ॥ २७ ॥

हे विहङ्गम! मेरे वरदान से तुझे मृत्यु से भय न होगा। जब तक तुझे कोई मनुष्य नहीं मारेगा, तब तक तू जीवित रहेगा ॥२७॥

ये च मद्विषयस्था वै मानवाः क्षुधयार्दिताः ।
त्वयि भुक्ते सुतृप्तास्ते भविष्यन्ति सबान्धवाः ॥ २८ ॥

जितने मनुष्य मेरे लोक में रहेंगे और क्षुधा से पीड़ित होंगे, वे सब तेरे तृप्त होने पर बन्धुओं सहित तृप्त हो जांयगे ॥ २८ ॥

वरुणस्त्वब्रवीद्धंसं गङ्गातोय विचारिणम् ।
श्रूयतां प्रीतिसंयुक्तं ततः पत्ररथेश्वरम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर वरुण जी ने गङ्गासलिलचारी हंस से कहा—हे पक्षरयेश्वर ! तुम मेरे प्रीतिदान वचन सुनो ॥ २९ ॥

वर्णो मनोरमः सौम्यश्चन्द्रमण्डलसन्निभः ।
भविष्यति तवोदग्रः शुद्धफेनसमप्रभः ॥ ३० ॥

तुम्हारा रंग मनोहर सुन्दर और चन्द्रमण्डल की तरह उत्तम होगा और तेरे शरीर की कान्ति निर्मल फेन समान होगी ॥ ३० ॥

मच्छरीरं[1] समासाद्य कान्तो नित्यं भविष्यसि ।
प्राप्स्यसे चातुलां प्रीतिमेतन्मे प्रीतिलक्षणम् ॥ ३१ ॥

मेरा शरीर जल है, सो उसे पा कर तेरा शरीर अत्यन्त सुन्दर हो जायगा और (जल पर सञ्चालन करने से) तू आनन्दित होगा। यही मेरी प्रीति का चिन्ह है ॥ ३१ ॥

हंसानां हि पुरा राम न वर्णः सर्वपाण्डुरः ।
पक्षा नीलाग्रसंवीताः क्रोडाः शष्पाग्रनिर्मलाः ॥ ३२ ॥

हे राम ! इनसे पहिले हंसों का समस्त शरीर सफेद रंग का नहीं था। उनके पंखों के किनारे काले होते थे। उनका पेट घास की तरह हरा और चिकना हुआ करता था ॥ ३२ ॥

अथाब्रवीद्वैश्रवणः कृकलासं गिरौ स्थितम् ।
हैरण्यं सम्प्रयच्छामि वर्णं प्रीतस्तवाप्यहम् ॥ ३३ ॥

सद्रव्यं च शिरो नित्यं भविष्यति तवाक्षयम् ।
एष काञ्चनको वर्णो मत्प्रीत्या ते भविष्यति ॥ ३४ ॥

---

1. मच्छरीरं—जलमूर्तं । (गो०)

इसके बाद पर्वत पर बैठे हुए गिरगिट से कुवेर जी बोले—हम तुम पर प्रसन्न हो कर तुम्हारा रंग सुवर्ण जैसा किये देते हैं। तुम्हारा सिर सुनहला हो जायगा और विशेष कर हमारे प्रसन्न होने से तुम्हारा रंग सदा सुनहला बना रहैगा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

एवं दत्त्वा वरांस्तेभ्यस्तस्मिन्यज्ञोत्सवे सुराः ।
निवृत्ते सह राज्ञा ते पुनः स्वभवनं गताः ॥ ३५ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

देवता लोग उन पक्षियों को इस प्रकार वरदान दे कर, राजा मरुत्त का यज्ञोत्सव समाप्त होने पर, राजा मरुत्त सहित अपने अपने भवनों को चले गये ॥ ३५ ॥

उत्तरकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकोनविंशः सर्गः

—:०:—

अथ जित्वा मरुत्तं स प्रययौ राक्षसाधिपः ।
नगराणि नरेन्द्राणां युद्धकांक्षी दशाननः ॥ १ ॥

अब राजा मरुत्त को जीत कर राक्षसराज रावण युद्ध की कामना से नगरों में घूमने फिरने लगा ॥ १ ॥

समासाद्य तु राजेन्द्रान्महेद्रवरुणोपमान् ।
अब्रवीद्राक्षसेन्द्रस्तु युद्धं मे दीयतामिति ॥ २ ॥

महेन्द्र और वरुण के समान बड़े बड़े राजाओं के निकट जा, रावण उनसे कहता कि, या तो मुझसे लड़ो ॥ २ ॥

निर्जिताः स्मेति वा ब्रूत एष मे हि सुनिश्चयः ।
अन्यथा कुर्वतामेवं मोक्षो नैवोपपद्यते ॥ ३ ॥

अथवा मुझसे अपनी हार मानो। क्योंकि मैंने यही निश्चय कर रखा है कि, जो राजा इन दो बातों में से एक भी स्वीकार न करेगा उसका किसी प्रकार से छुटकारा न हो सकेगा ॥ ३ ॥

ततस्त्वभीरवः प्राज्ञाः पार्थिवा धर्मनिश्चयाः ।
मन्त्रयित्वा ततोऽन्योन्यं राजानः सुमहाबलाः ॥ ४ ॥

रावण की बातें सुन स्वभाव ही से निडर, धर्मात्मा और महाबलवान राजा लोग आपस में परामर्श कर के रावण से बोले ॥४॥

निर्जिताः स्मेत्यभाषन्त ज्ञात्वा वरबलं रिपोः ।
दुष्यन्तः सुरथो गाधिर्गयो राजा पुरूरवाः ॥ ५ ॥
एते सर्वेऽब्रुवंस्तात निर्जिताः स्मेति पार्थिवाः ।
अथायोध्यां समासाद्य रावणो राक्षसाधिपः ॥ ६ ॥

हम सब तुमसे अपनी हार मानते हैं। (यह उन्होंने इस लिये कहा था कि) वे जानते थे कि, रावण को वरदान का बल है। अतः राजा दुष्यन्त, सुरथ, गाधि, गय और पुरूरवा आदि सब राजाओं ने कह दिया कि, हम तुमसे पराजित हुए। तदनन्तर रावण अयोध्यापुरी में पहुँचा ॥ ५ ॥ ६ ॥

सुगुप्तामनरण्येन शक्रेणेवामरावतीम् ।
स तं पुरुषशार्दूलं पुरन्दरसमं बले ॥ ७ ॥

प्राह राजानमासाद्य युद्धं देहीति रावणः ।
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूहि त्वमेवं मम शासनम् ॥ ८ ॥

उस समय अयोध्यापुरी की रक्षा महाराज अनरण्य जी वैसे ही कर रहे थे, जैसे इन्द्र अपनी अमरावती की रक्षा करते हैं। रावण ने इन्द्र के समान उन बली नृपश्रेष्ठ महाराज अनरण्य के निकट जा कर कहा कि, या तो लड़ो या यह कहो कि, हम हार गये। बस यही हमारी तुम्हारे लिये आज्ञा है ॥ ७ ॥ ८ ॥

अयोध्याधिपतिस्तस्य श्रुत्वा पापात्मनो वचः ।
अनरण्यस्तु संक्रुद्धो राक्षसेन्द्रमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

किन्तु अयोध्याधिपति महाराज अनरण्य ने उस पापी के यह वचन सुन और क्रुद्ध हो राक्षसराज रावण से कहा ॥ ९ ॥

दीयते द्वन्द्वयुद्धं ते राक्षसाधिपते मया ।
सन्तिष्ठ क्षिप्रमायत्तो भव चैवं भवाम्यहम् ॥१०॥

हे राक्षसराज ! ठहर जा। मैं तुझसे द्वन्द्वयुद्ध करता हूँ। तू भी सावधान हो जा और मैं भी लड़ने के लिये तैयार होता हूँ ॥ १० ॥

अथ पूर्वं श्रुतार्थेन निर्जितं सुमहद्बलम् ।
निष्क्रामत्तन्नरेन्द्रस्य बलं रक्षोवधोद्यतम् ॥ ११ ॥

महाराज अनरण्य ने पहिले ही रावण का वृत्तान्त सुन कर, अपनी सेना सजा रक्खी थी, सो उनकी वह सेना राक्षस को वध करने को निकली ॥ ११ ॥

नागानां दशसाहस्रं वाजिनां नियुतं तथा ।
रथानां बहुसाहस्रं पत्तीनां च नरोत्तम ॥ १२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! उस सेना में दस हज़ार हाथी, एक लाख घोड़े तथा सहस्रों घुड़सवार तथा पैदल सैनिक थे ॥ १२ ॥

महीं संछाद्य निष्क्रान्तं सपदातिरथं रणे ।
ततः प्रवृत्तं सुमहद्युद्धं युद्धविशारद ॥ १३ ॥

जो पृथिवी को ढक कर युद्ध करने के लिये पैदल सैनिकों तथा रथसवार सैनिकों के साथ निकले । हे युद्धविशारद ! दोनों ओर से महाघोर युद्ध होने लगा ॥ १३ ॥

अनरण्यस्य नृपते राक्षसेन्द्रस्य चाद्भुतम् ।
तद्रावण बलं प्राप्य बलं तस्य महीपतेः ॥ १४ ॥

महाराज अनरण्य का और राक्षसेन्द्र रावण का अद्भुत युद्ध होने लगा । उस समय महाराज अनरण्य की सेना, रावण की सेना से भिड़ कर ॥ १४ ॥

प्राणश्यत तदा सर्वं हव्यं हुतमिवानले ।
युद्ध्वा च सुचिरं कालं कृत्वा विक्रममुत्तमम् ॥ १५ ॥

कुछ देर तक उत्तम विक्रम प्रकाश कर वैसे ही नष्ट हो गयी जैसे अग्नि में डाली हुई हवन की सामग्री भस्म हो जाती है ॥ १५ ॥

प्रज्वलन्तं तमासाद्य क्षिप्रमेवावशेषितम् ।
प्राविशत्संकुलं तत्र शलभा इव पावकम् ॥ १६ ॥

धधकती हुई आग के निकट जा कर जैसे पतंगे भस्म हो जाते हैं; वैसे ही रावण से भिड़ कर, महाराज अनरण्य की सेना लड़ाई में मारी गयी ॥ १६ ॥

सोपश्यत्तन्नरेन्द्रस्तु नश्यमानं महाबलम् ।
महार्णवं समासाद्य वनापगशतं यथा ॥ १७ ॥

महाराज अनरण्य ने देखा कि, जैसे सैकड़ों नदियाँ समुद्र में गिर कर विला जाती हैं; वैसे ही उनकी सेना रावण द्वारा विला दी गयी अर्थात् नष्ट कर दी गयी ॥ १७ ॥

ततः शक्रधनुःप्रख्यं धनुर्विस्फारयन्स्वयम् ।
आससाद नरेन्द्रस्तं रावणं क्रोधमूर्च्छितः ॥ १८ ॥

यह देख महाराज अनरण्य स्वयं इन्द्रधनुष के तुल्य अपने धनुष को टंकोरते रावण का सामना करने को गये ॥ १८ ॥

अनरण्येन तेऽमात्या मारीचशुकसारणाः ।
प्रहस्तसहिता भग्ना व्यद्रवन्त मृगा इव ॥ १९ ॥

महाराज ने रावण के मारोच, शुक, सारण और प्रहस्त आदि मंत्रियों को मार कर वैसे ही भगा दिया; जैसे (डर कर) हिरन भागते हैं ॥ १६ ॥

ततो बाणशतान्यष्टौ पातयामास मूर्धनि ।
तस्य राक्षसराजस्य इक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥ २० ॥

तदनन्तर इक्ष्वाकुकुलनन्दन महाराज अनरण्य ने राक्षसराज रावण के सिर में आठ सौ बाण मारे ॥ २० ॥

तस्य बाणाः पतन्तस्ते चक्रिरे न *क्षतिं क्वचित् ।
वारिधारा इवाभ्रेभ्यः पतन्त्यो गिरिमूर्धनि ॥२१॥

जल की धारा जैसे बादल से निकल कर पर्वत के शिखर पर गिरती है और पहाड़ की कुछ भी हानि नहीं कर सकती ; वैसे ही वे बाण रावण के मस्तक पर गिरे। किन्तु उनसे रावण के शरीर में कहीं खरोंच भी न हुई ॥ २१ ॥

ततो राक्षसराजेन क्रुद्धेन नृपतिस्तदा ।
तलेनाभिहतो मूर्ध्नि स रथान्निपपात ह ॥ २२ ॥
स राजा पतितो भूमौ †विह्वलः प्रविवेपितः ।
वज्रदग्ध इवारण्ये सालो निपतितो यथा ॥ २३ ॥

इतने में क्रोध में भर रावण ने महाराज के सिर पर एक थप्पड़ जमाया। उसकी चोट से महाराज अनरण्य विह्वल हो थरथराते हुए रथ से धरती पर ऐसे गिरे ; जैसे वन में बिजली का मारा साखू का पेड़ गिरता है ॥ २२ ॥ २३ ॥

तं प्रहस्याब्रवीद्रक्ष इक्ष्वाकुं पृथिवीपतिम् ।
किमिदानीं फलं प्राप्तं त्वया मां प्रति युद्ध्यता ॥२४॥

तब रावण ने इक्ष्वाकुकुलनन्दन अनरण्य से हँस कर कहा—तुमने मुझसे लड़ कर क्या फल पाया ? ॥ २४ ॥

त्रैलोक्ये नास्ति यो द्वन्द्वं मम दद्यान्नराधिप ।
शङ्के प्रसक्तो भोगेषु न शृणोषि बलं मम ॥ २५ ॥

हे राजन् ! त्रिलोकी में ऐसा कोई भी नहीं है, जो मुझसे द्वन्द्व युद्ध कर सके। मुझे जान पड़ता है कि, तू आमोद प्रमोद

* पाठान्तरे—"क्षतं"। † पाठान्तरे—"विह्वाङ्गः प्रवेपितः"।

में लवलीन था, इसीसे तूने मेरे बल का वृत्तान्त नहीं सुन पाया ॥ २५ ॥

तस्यैवं ब्रुवतो राजा मन्दासुर्वाक्यमब्रवीत् ।
किं शक्यमिह कर्तुं वै कालो हि दुरतिक्रमः ॥२६॥

रावण द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर हीनबल महाराज अनरण्य ने रावण से कहा कि, (मुझे जीतने की) तुम्हारी तो क्या सामर्थ्य है ! हां काल की बलिहारी है जिसके प्रभाव से कोई बच नहीं सकता ॥ २६ ॥

न ह्यहं निर्जितो रक्षस्त्वया चात्मप्रशंसिना ।
कालेनैव विपन्नोऽहं हेतुभूतस्तु मे भवान् ॥ २७ ॥

हे राक्षस ! अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने वाले तूने मुझे नहीं जीता ; किन्तु काल ने ही मुझे इस प्रकार विपद्ग्रस्त किया है । हां आप इसमें निमित्त मात्र अवश्य हैं ॥ २७ ॥

किं त्विदानीं मया शक्यं कर्तुं प्राणपरिक्षये ।
न ह्यहं विमुखो रक्षो युध्यमानस्त्वया हतः ॥ २८ ॥

इस समय तो मैं मर ही रहा हूँ, सो अब मैं कर ही क्या सकता हूँ । (किन्तु स्मरण रख) मैं युद्ध से विमुख नहीं हुआ, प्रत्युत युद्ध करता हुआ मैं तेरे हाथ से मारा गया हूँ ॥ २८ ॥

इक्ष्वाकुपरिभावित्वाद्वचो वक्ष्यामि राक्षस ।
यदि दत्तं यदि हुतं यदि मे सुकृतं तपः ।
यदि गुप्ताः प्रजाः सम्यक् तदा सत्यं वचोस्तु मे ॥२९॥

हे राक्षस! तूने जो इक्ष्वाकुकुल का अपमान किया है, सो इसके बदले में कहता हूँ कि, यदि मैंने दान दिया हो, होम किया हो, तपस्या की हो और न्यायपूर्वक प्रजापालन किया हो, तो मेरा यह वचन सत्य हो ॥ २६ ॥

उत्पत्स्यते कुलेह्यस्मिन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
रामो दाशरथिर्नाम यस्ते प्राणान्हरिष्यति ॥ ३० ॥

महाराज इक्ष्वाकु के कुल में दाशरथी राम उत्पन्न होंगे जो तेरा वध करेंगे ॥ ३० ॥

ततो जलधरोदग्रस्ताडितो देवदुन्दुभिः ।
तस्मिन्नुदाहृते शापे पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ॥ ३१ ॥

महाराज अनरण्य के मुख से यह वचन निकलते ही मेघों की गर्जना के समान नगाड़ों के बजने का शब्द सुनाई पड़ा और आकाश से फूल बर्से ॥ ३१ ॥

ततः स राजा राजेन्द्र गतः स्थानं त्रिविष्टपम् ।
स्वर्गते च नृपे तस्मिन् राक्षसः सोपसर्पत ॥ ३२ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर महाराज अनरण्य स्वर्ग सिधारे और उनके स्वर्गवासी होने पर रावण भी वहाँ से चल दिया ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

विंशः सर्गः

—:o:—

ततो वित्रासयन्मर्त्यान्पृथिव्यां राक्षसाधिपः ।
आससाद घने[1] तस्मिन्नारदं मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

राक्षसराज रावण पृथिवी पर मनुष्यों को त्रास देता हुआ घूम रहा था कि, उसने मेघ की पीठ पर सवार मुनिश्रेष्ठ नारद जी को देखा ॥ १ ॥

तस्याभिवादनं कृत्वा दशग्रीवो निशाचरः ।
अब्रवीत्कुशलं पृष्ट्वा हेतुमागमनस्य च ॥ २ ॥

रावण ने उनको प्रणाम कर उनसे कुशल पूँछी तथा आगमन का कारण पूँछा ॥ २ ॥

नारदस्तु महातेजा देवर्षिरमितप्रभः ।
अब्रवीन्मेघपृष्ठस्थो रावणं पुष्पके स्थितम् ॥ ३ ॥

अमित प्रभावान् महातेजस्वी देवर्षि नारद ने मेघ की पीठ पर बैठे ही बैठे पुष्पक विमान पर सवार रावण से कहा ॥ ३ ॥

राक्षसाधिपते सौम्य तिष्ठ विश्रवसः सुत ।
प्रीतोस्म्यभिजनोपेतविक्रमैरूर्जितैस्तव ॥ ४ ॥

हे विश्रवानन्दन सौम्य राक्षसराज ! खड़े रहो । मैं तुम्हारे मंत्रियों और तुम्हारे विक्रम पर बड़ा प्रसन्न हूँ ॥ ४ ॥

---

१ घने—घनपृष्ठेस्थितं । (गो०)

विष्णुना दैत्यघातैश्च गन्धर्वोरगधर्षणैः ।
त्वया समं विमर्दैश्च भृशं हि परितोषितः ॥ ५ ॥

जैसे विष्णु के दैत्यों को पराजित करने पर मैं सन्तुष्ट हुआ, वैसे ही गन्धर्व नागादिकों को पराजित करने के कारण मैं तुमसे भी सन्तुष्ट हुआ हूँ ॥ ५ ॥

किंचिद्वक्ष्यामि *तावत्ते श्रोतव्यं श्रोष्यसे यदि ।
तन्मे निगदतस्तात समाधिं श्रवणे कुरु ॥ ६ ॥

अब मैं कुछ बातें तुमसे कहना चाहता हूँ जो सुनने योग्य हैं। यदि सुनना चाहो तो मैं कहूँ। किन्तु सुनने के लिये तुम्हे एकाग्र-चित्त होना चाहिये ॥ ६ ॥

किमयं वध्यते तात त्वयाऽवध्येन दैवतैः ।
हत एव ह्ययं लोको यदा मृत्युवशं गतः ॥ ७ ॥

हे तात ! तुम तो देवताओं से भी अवध्य हो, अतः इन बेचारे मनुष्यों को क्या मारते हो। ये तो स्वयं ही मृत्यु के वश में पड़े हैं ॥ ७ ॥

देवदानवदैत्यानां यक्षगन्धर्वरक्षसाम् ।
अवध्येन त्वया लोकः क्लेष्टुं योग्यो न मानुषः ॥८॥

अतः देवता, दानव, दैत्य, यक्ष, गन्धर्व और राक्षसों से भी अवध्य हो कर, तुमको इन बेचारे मनुष्यों को सताना उचित नहीं ॥ ८ ॥

नित्यं श्रेयसि संमूढं महद्भिर्व्यसनैर्वृतम् ।
हन्यात्कस्तादृशं लोकं जराव्याधिशतैर्युतम् ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"तावत्तु"।

ये मनुष्य तो सदा ही अनेक विपत्तियों में फँसे रहते हैं, विशेष कर अपनी भलाई करने में ये अत्यन्त मूढ़ हैं और जरा तथा सैकड़ों व्याधियों से घिरे रहते हैं। अतः ऐसे लोगों को मारने से क्या लाभ ॥ ९ ॥

तैस्तैरनिष्टोपगमैरजस्रं यत्रकुत्र कः।
मतिमान्मानुषे लोके युद्धेन प्रणयी भवेत् ॥ १० ॥

मनुष्य जहाँ तहाँ अनेक अनिष्टों से सदा पीड़ित रहा करते हैं। अतः ऐसा कौन समझदार मनुष्य होगा, जो इन पर शस्त्र उठावे ॥ १० ॥

क्षीयमाणं दैवहतं क्षुत्पिपासाजरादिभिः।
विषादशोकसंमूढं लोकं त्वं क्षपयस्व मा ॥ ११ ॥

हे राक्षसराज! भूख, प्यास, बुढ़ापे आदि से दैव द्वारा निहत मनुष्य सदा क्षीण होते रहते हैं, तथा शोक एवं विशाद से वे सदा कातर रहा करते हैं। अतः तुम इन्हें वृथा नष्ट मत करो ॥ ११ ॥

पश्य तावन्महाबाहो राक्षसेश्वर मानुषम्।
मूढमेवं विचित्रार्थं यस्य न ज्ञायते गतिः ॥ १२ ॥

हे महाबलवान् राक्षसराज! देखो मनुष्य जाति इतनी मूढ़ है कि वह अपने सुख दुःख भोग करने के समय को भी नहीं जानती और विविध भाँति के साधारण साधारण पुरुषार्थ में अनुरक्त रहा करती है ॥ १२ ॥

क्वचिद्वादित्रनृत्यादि सेव्यते मुदितैर्जनैः।
रुद्यते चापरैरार्तैर्धाराश्रुनयनाननैः ॥ १३ ॥

देखो न ; कहीं तो प्रसन्न हो कर बहुत से लोग नाचते गाते हैं और कहीं अन्य लोग दुःखी हो आँसू बहाते हुए रोते हैं ॥ १३ ॥

मातापितृसुतस्नेहभार्याबन्धुमनोरमैः ।
मोहितोऽयं जनो ध्वस्तः क्लेशं स्वं नावबुध्यते ॥१४॥

माता, पिता, पुत्र, स्त्री और भाईबंदों के स्नेह में जकड़े हुए ये लोग मोहित हो कर नष्ट हो रहे हैं। इसीसे उन्हें अपना क्लेश तक मालूम नहीं पड़ता ॥ १४ ॥

तत्किमेवं परिक्लिश्य लोकं मोहनिराकृतम् ।
जित एव त्वया सौम्य मर्त्यलोको न संशयः ॥१५॥

अतः मोह में फस स्वयं नष्ट होने वाले मर्त्यलोक को दुःखी कर, तुम क्या करोगे ? तुम निस्संशय इस लोक को जीत तो चुके ही हो (अतः मनुष्यों को सता कर क्या करोगे) ॥ १५ ॥

अवश्यमेभिः सर्वैश्च गन्तव्यं यमसादनम् ।
तन्निगृह्णीष्व पौलस्त्य यमं परपुरञ्जय ॥ १६ ॥

मर्त्यलोक के समस्त जीव यमपुरी में अवश्य जायँगे। अतएव हे परपुर को जीतने वाले पुलस्त्य के पौत्र ! तुम यमराज की पुरी पर चढ़ाई करो ॥ १६ ॥

तस्मिञ्जिते जितं सर्वं भवत्येव न संशयः ।
एवमुक्तस्तु लङ्केशो दीप्यमानं स्वतेजसा ॥१७॥

क्योंकि उसके जीत लेने पर निस्सन्देह तुम अपने को सब को जीता हुआ समझो। अपने तेज से दीप्तमान लङ्कापति रावण, इस प्रकार नारद जी द्वारा समझाये जाने पर ॥ १७ ॥

अब्रवीन्नारदं तत्र संप्रहस्याभिवाद्य च ।
महर्षे देवगन्धर्वविहार समरप्रिय ॥ १८ ॥

नारद जी को प्रणाम कर और मुसक्याता हुआ कहने लगा। हे देवर्षे ! हे देव-गन्धर्व-लोक-विहार-प्रिये ! हे समर-दर्शन-प्रिये ! ॥ १८ ॥

अहं समुद्यतो गन्तुं विजयार्थं रसातलम् ।
ततो लोकत्रयं जित्वा स्थाप्य नागान्सुरान्वशे ।
समुद्रममृतार्थं च मथिष्यामि रसालयम् ॥ १९ ॥

इस समय मैं विजयार्थ रसातल जाने को तैयार हूँ। फिर तीनों लोकों को जीत कर नागों और देवताओं को अपने वशवर्ती करूँगा। तदनन्तर अमृत की प्राप्ति के लिये मैं समुद्र को मथूँगा ॥ १६ ॥

अथाब्रवीद्दशग्रीवं नारदो भगवानृषिः ।
क खल्विदानीं मार्गेण त्वयेहान्येन गम्यते ॥ २० ॥

इस पर भगवान् नारद ऋषि ने दशग्रीव से कहा—यदि तुम्हें रसातल ही में जाना है, तो दूसरे रास्ते से क्यों जाते हो ॥ २० ॥

अयं खलु सुदुर्गम्यः प्रेतराजपुरं प्रति ।
मार्गो गच्छति दुर्धर्ष यमस्यामित्रकर्शन ॥ २१ ॥

हे दुर्धर्ष ! हे शत्रुनाशी ! यह अत्यन्त दुर्गम यमपुरी का मार्ग प्रेतराज नगर के सामने जा निकला है ॥ २१ ॥

स तु शारदमेघाभं हासं मुक्त्वा दशाननः ।
उवाच कृतमित्येव वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

यह सुन कर रावण, शरद् ऋतु के बादल की नाईं बड़े ज़ोर से हँस कर महाद्युतिमान् नारद जी से बोला। उसने कहा—बहुत अच्छा ऐसा ही करेंगे ॥ २२ ॥

तस्मादेवं महाब्रह्म वैवस्वतवधोद्यतः ।
गच्छामि दक्षिणामाशां यत्र सूर्यात्मजो नृपः ॥२३॥

हे महाब्रह्मन् ! तो मैं अब यम ही का वध करने के लिये दक्षिण दिशा के मार्ग से वहाँ जाता हूँ, जहाँ सूर्यपुत्र यमराज रहते हैं ॥ २३ ॥

मया हि भगवन् क्रोधात्प्रतिज्ञातं रणार्थिना ।
अवजेष्यामि चतुरो लोकपालानिति प्रभो ॥ २४ ॥

हे प्रभो ! मैंने संग्राम करने की इच्छा से क्रोध में भर पहिले प्रतिज्ञा भी की थी कि, मैं चारों लोकपालों को जीतूँगा ॥ २४ ॥

तदिह प्रस्थितोऽहं वै पितृराजपुरं प्रति ।
प्राणिसंक्लेशकर्तारं योजयिष्यामि मृत्युना ॥ २५ ॥

अतः मैं अब यमराज की पुरी को जाता हूँ और समस्त प्राणियों को सताने वाले उस यमराज को मैं मारूँगा ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मुनिं तमभिवाद्य च ।
प्रययौ दक्षिणामाशां प्रविष्टः सह मन्त्रिभिः ॥ २६ ॥

यह कह और नारद मुनि को प्रणाम कर रावण अपने मंत्रियों सहित दक्षिण दिशा की ओर चल दिया ॥ २६ ॥

नारदस्तु महातेजा मुहूर्तं ध्यानमास्थितः ।
चिन्तयामास विप्रेन्द्रो विधूम इव पावकः ॥ २७ ॥

विधूम (धुआ रहित) अग्नि के समान महातेजस्वी विप्रेन्द्र नारद जी, मुहूर्त भर तक ध्यानमग्न रह, सोचने लगे ॥ २७ ॥

येन लोकास्त्रयः सेन्द्राः क्लिश्यन्ते सचराचराः ।
क्षीणे चायुषि धर्मेण स कालो जेष्यते कथम् ॥२८॥

कि जो आयुष्य के क्षीण हाने पर इन्द्र सहित तीनों लोकों काे धर्मतः (अर्थात् न्यायतः) क्लेश देता है, वह काल क्यों कर जीता जा सकेगा ॥ २८ ॥

स्वदत्तकृतसाक्षी यो द्वितीय इव पावकः ।
लब्धसंज्ञा विचेष्टन्ते लोका यस्य महात्मनः ॥२९॥

जो यमराज स्वयं जगतसाक्षी हैं और दूसरे अग्नि के समान तेजस्वी हैं, जिनके प्रताप से समस्त लोक सचेत हो सांसारिक कार्य किया करते हैं ॥ २९ ॥

यस्य नित्यं त्रयो लोका विद्रवन्ति भयार्दिताः ।
तं कथं राक्षसेन्द्रोऽसौ स्वयमेव गमिष्यति ॥ ३० ॥

और जिनके भय से व्याकुल हो त्रिलोकी भागती है, उन यमराज के निकट यह राक्षसश्रेष्ठ रावण अपनी इच्छानुसार क्यों कर जा सकेगा ? ॥ ३० ॥

यो विधाता च धाता च सुकृतं दुष्कृतं तथा ।
त्रैलोक्यं विजितं येन तं कथं विजयिष्यते ।
अपरं किं तु कृत्वेवं विधानं संविधास्यति ॥ ३१ ॥

जो संसार के धाता विधाता हैं, जो पुण्य और पाप के फल देने वाले तथा शासनकर्त्ता हैं तथा जिन्होंने तीनों लोक जीत

रखे हैं, उन यमराज को यह कैसे जीत लेगा? फिर उनसे लड़ कर यह और कौन सा काम करेगा ॥ ३१ ॥

कौतूहलं समुत्पन्नो यास्यामि यमसादनम् ।
विमर्दं द्रष्टुमनयोर्यमराक्षसयोः स्वयम् ॥ ३२ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

इसका तो मुझको बड़ा कुतूहल है । अतः मैं स्वयं यमराज और रावण का युद्ध देखने के लिये यमराज की पुरी को जाऊँगा ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

एकविंशः सर्गः

—※—

एवं संचिन्त्य विप्रेन्द्रो जगाम लघुविक्रमः ।
आख्यातुं तद्यथावृत्तं यमस्यसदनं प्रति ॥ १ ॥

फुर्तीले एवं विप्रेन्द्र नारद जी इस प्रकार सोच विचार कर, यमराज को समस्त वृत्तान्त सुनाने के लिये जल्दी जल्दी यमपुरी की ओर चले ॥ १ ॥

अपश्यत्स यमं तत्र देवमग्निपुरस्कृतम् ।
विधानमनुतिष्ठन्तं प्राणिनो यस्य यादृशम् ॥ २ ॥

यमपुरी में जा कर उन्होंने देखा कि, यमराज अग्नि को साक्षी कर, जीवों का यथोचित न्याय कर रहे हैं अर्थात् जिसका जैसा अच्छा बुरा कर्म है, तदनुसार उसको पुरस्कृत एवं दण्डित कर रहे हैं ॥ २ ॥

स तु दृष्ट्वा यमः प्राप्तं महर्षिं तत्र नारदम् ।
अब्रवीत्सुखमासीनमर्घ्यमावेद्य धर्मतः ॥ २ ॥

देवर्षि नारद को आते देख यमराज यथाविधि अर्घ्यप्रदान कर और आसन पर बिठा कर उनसे कहने लगे ॥ २ ॥

कच्चित्क्षेमं नु देवर्षे कच्चिद्धर्मो न नश्यति ।
किमागमन कृत्यं ते देवगन्धर्वसेवित ॥ ४ ॥

हे महर्षे ! कहिये कुशल तो है ? धर्मकार्यों में किसी प्रकार की बाधा तो नहीं पड़ती । हे देवगन्धर्वपूजित ! आपके पधारने का कारण क्या है ? ॥ ४ ॥

अब्रवीत्तु तदा वाक्यं नारदो भगवानृषिः ।
श्रूयतामभिधास्यामि विधानं च विधीयताम् ॥५॥

यमराज के इन वचनों को सुन नारद जी बोले कि, मैं अपने आने का कारण बतलाता हूँ । आप उसे सुनें और फिर जो करना हो सो कीजिये ॥ ५ ॥

एष नाम्ना दशग्रीवः पितृराज निशाचरः ।
उपयाति वशं नेतुं विक्रमैस्त्वां सुदुर्जयम् ॥ ६ ॥

हे पितृराज ! दुर्जय दशग्रीव आपको बलप्रयोग द्वारा अपने वश में करने के लिये आ रहा है ॥ ६ ॥

एतेन कारणेनाहं त्वरितो ह्यागतः प्रभो ।
दण्ड प्रहरणस्याद्य तव किं नु भविष्यति ॥ ७ ॥

हे प्रभो! मैं इसी लिये अति शीघ्र आपके पास आया हूँ कि, देखूँ कालदण्ड चलाने वाले आपकी जीत होती है कि हार ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे दूरादंशुमन्तमिवोदितम् ।
ददृशुर्दीप्तमायान्तं विमानं तस्य रक्षसः ॥ ८ ॥

(नारद जी यह कह ही रहे थे कि) इसी बीच में सूर्य के समान चमचमाता दशग्रीव का पुष्पकविमान आता हुआ देख पड़ा ॥ ८ ॥

तं देशं प्रभया तस्य पुष्पकस्य महाबलः ।
कृत्वा वितिमिरं सर्वं समीपमभ्यवर्तत ॥ ९ ॥

बलवान रावण अपने विमान के प्रकाश* से वहाँ का अन्धकार दूर करता हुआ अति समीप आ पहुँचा ॥ ९ ॥

सोऽपश्यत्स महाबाहुर्दशग्रीवस्ततस्ततः ।
प्राणिनः सुकृतं चैव भुञ्जानांश्चैव दुष्कृतम् ॥ १० ॥

महाबली रावण ने देखा कि, वहाँ समस्त प्राणी अपने अपने पुण्यों और पापों का भला बुरा फल भोग रहे हैं ॥ १० ॥

अपश्यत्सैनिकांश्चास्य यमस्यानुचरैः सह ।
यमस्य पुरुषैरुग्रैर्घोररूपैर्भयानकैः ॥ ११ ॥

तथा उसने यमराज के सैनिकों और अनुचरों को भी देखा। यमराज के उग्र महाभयङ्कर रूपवाले अनुचरों को ॥ ११ ॥

ददर्श वध्यमानांश्च क्लिश्यमानांश्च देहिनः ।
क्रोशतश्च महानादं तीव्रनिष्टनतत्परान् ॥ १२ ॥

---

* इससे ज्ञान पड़ता है, पुष्पकविमान में आज कल के सर्चलाइट लेंपों की तरह कितने ही लेंप लगे होंगे।

उसने प्राणियों को बांधते और मार पीट करते हुए देखा। इससे प्राणी महापीड़ित हो बड़े ज़ोर से रोदन कर चीत्कार कर रहे थे ॥ १२ ॥

क्रमिभिर्भक्ष्यमाणांश्च सारमेयैश्च दारुणैः ।
श्रोत्रायासकरा वाचो वदतश्च भयावहाः ॥ १३ ॥

उन्हें विविध प्रकार के छोटे छोटे कोड़े और बड़े निष्ठुर कुत्ते काट रहे थे। वे ऐसी बुरी तरह चिल्ला रहे थे कि, सुनने वाले का मन विकल हो जाता था ॥ १३ ॥

सन्तार्यमाणान्वैतरणीं बहुशः शोणितोदकाम् ।
वालुकासु च तप्तासु तप्यमानान्मुहुर्मुहुः ॥ १४ ॥

रावण ने बहुत से प्राणियों को देखा कि, वे जल की जगह रक्त से भरी अति गहरी वैतरणी नदी को पार कर रहे थे और तपी हुई बालू पर वार वार घसीटे जाते थे ॥ १४ ॥

असिपत्रवने चैव भिद्यमानानधार्मिकान् ।
रौरवे क्षारनद्यां च क्षुरधारासु चैव हि ॥ १५ ॥

अनेक पापी असिपत्र वन (तलवार की धार जैसे पैने पत्तों से युक्त वृक्षों वाले वन) में कटवाये जा रहे थे। वे रौरव नरक में क्षारनदी में पटके जाते और छुरों की धार से काटे जाते थे ॥ १५ ॥

पानीयं याचमानांश्च तृषितान्क्षुधितानपि ।
शवभूतान्कृशान्दीनान्विवर्णान्मुक्तमूर्धजान् ॥१६॥

मलपङ्कधरान्दीनान् रूक्षांश्च परिधावतः ।
ददर्श रावणो मार्गे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥

वे प्यासे और भूखे हो कर पानी माँग रहे थे। मुर्दे की तरह दुबले, दुखी, सिर के बाल खोले, मैल और कीचड़ से सने हुए, रूखे और दौड़ते हुए उन लोगों की रंगत ही बदली हुई थी। वहाँ पर रावण ने इस प्रकार के सैकड़ों हज़ारों जीव देखे ॥ १६ ॥ १७ ॥

कांश्चिच्च गृहमुख्येषु गीतवादित्रनिःस्वनैः ।
प्रमोदमानानद्राक्षीद्रावणः सुकृतैः स्वकैः ॥ १८ ॥

रावण ने वहाँ ऐसे पुण्यात्माओं को भी देखा, जो अपने पुण्य-बल से सुन्दर सुन्दर घरों में रहते थे और गानवाद्य से आनन्दित हो रहे थे ॥ १८ ॥

गोरसं गोप्रदातारो अन्नं चैवान्नदायिनः ।
गृहांश्च गृहदातारः स्वकर्मफलमश्नतः ॥ १९ ॥

जिन्होंने गोदान, अन्नदान, गृहदान किये थे, वे लोग अपने अपने दान के अनुसार गोरस, अन्न और गृह का आनन्द भोग रहे थे ॥ १६ ॥

सुवर्णमणिमुक्ताभिः प्रमदाभिरलंकृतान् ।
धार्मिकानपरांस्तत्र दीप्यमानान्स्वतेजसा ॥ २० ॥

बहुत से धर्मात्मा लोग सोना, मणि, मुक्ता और स्त्रियों को पा कर विहार कर रहे थे और अपने तेज से प्रकाशमान थे ॥ २० ॥

ददर्श स महाबाहू रावणो राक्षसाधिपः ।
ततस्तान्भिद्यमानांश्च कर्मभिर्दुष्कृतैः स्वकैः ॥ २१ ॥

वहाँ उस महाबली राक्षसराज रावण ने इस प्रकार के दृश्य देखे। तदनन्तर अपने पापकर्मों के फल से काटे पीटे जाते हुए प्राणियों को ॥ २१ ॥

रावणो मोचयामास विक्रमेण बलाद्बली ।
प्राणिनो मोक्षितास्तेन दशग्रीवेण रक्षसा ॥ २२ ॥

बलवान रावण ने ज़बरदस्ती छुड़ा दिया। दशग्रीव द्वारा छुड़ाये हुए उन प्राणियों ने ॥ २२ ॥

सुखमापुर्मुहूर्तं ते ह्यतर्कितमचिन्तितम् ।
प्रेतेषु मुच्यमानेषु राक्षसेन महीयसा ॥ २३ ॥

थोड़ी देर तक अतर्कित और अचिन्त्य सुख भोगा। महाबली रावण द्वारा जीवों को छूटा हुआ देख ॥ २३ ॥

प्रेतगोपाः सुसंक्रुद्धा राक्षसेन्द्रमभिद्रवन् ।
ततो हलहलाशब्दः सर्वदिग्भ्यः समुत्थितः ।
धर्मराजस्य योधानां शूराणां सम्प्रधावताम् ॥ २४ ॥

यमकिङ्करों ने क्रोध में भर रावण पर आक्रमण किया। धर्मराज के किङ्कर बड़े शूरवीर थे। जब वे रावण के ऊपर दौड़े, तब चारों ओर हलहलाशब्द व्याप्त हो गया ॥ २४ ॥

ते प्रासैः परिघैः शूलैर्मुसलैः शक्तितोमरैः ।
पुष्पकं समवर्षन्त शूराः शतसहस्रशः ॥ २५ ॥

सैकड़ों हज़ारों शूरवीर प्रासों, परिघों, शूलों, मूसलों, शक्तियों और तोमरों की पुष्पक विमान पर वर्षा करने लगे ॥ २५ ॥

तस्यासनानि प्रासादान्वेदिकास्तोरणानि च ।
पुष्पकस्य बभंजुस्ते शीघ्रां मधुकरा इव ॥ २६ ॥

वे मधुमक्खियों की तरह चारों ओर से पुष्पक विमान पर टूट पड़े और विमान की बैठकों, अटारियों, चबूतरों और द्वारों को तोड़ने फोड़ने लगे ॥ २६ ॥

देवनिष्ठान भूतं तद्विमानं पुष्पकं मृधे ।
भज्यमानं तथैवासीदक्षयं ब्रह्मतेजसा ॥ २७ ॥

वह विमान साधारण न था । उसमें एक प्रकार से देवांश था । अतएव वह इतनी भारी चोट खा कर भी, ब्रह्मा जी के तेजोबल से पूर्ववत् ज्यों का त्यों हो गया ॥ २७ ॥

असंख्या सुमहत्यासीत्तस्य सेना महात्मनः ।
शूराणामुग्रयातॄणां सहस्राणि शतानि च ॥ २८ ॥

महात्मा धर्मराज की सेना में मुखिया सैनिक ही एक लाख थे—अतः उनकी समस्त सेना की संख्या नहीं हो सकती थी ॥ २८ ॥

ततो वृक्षैश्च शैलैश्च प्रासादानां शतैस्तथा ।
ततस्ते सचिवास्तस्य यथाकामं यथाबलम् ॥२९॥

तदनन्तर यमराज के समस्त मंत्री सैकड़ों पहाड़ों, वृक्षों और भालों से अपने अपने बलानुरूप और अभिलाषानुरूप युद्ध करने लगे ॥ २९ ॥

अयुध्यन्त महावीराः स च राजा दशाननः ।
ते तु शोणित दिग्धाङ्गाः सर्वशस्त्रसमाहताः ॥३०॥

उधर रावण भी स्वयं लड़ रहा था। लड़ते लड़ते रावण के मंत्रियों के अनेक शस्त्र लगे और वे रुधिर से नहा उठे। तिस पर भी वे लड़ते ही रहे॥ ३०॥

अमात्या राक्षसेन्द्रस्य चक्रुरायोधनं महत्।
अन्योन्यं ते महाभागा जघ्नुः प्रहरणैर्भृशम् ॥३१॥

राक्षसराज रावण और उसके मंत्री सब प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग कर एक दूसरे के ऊपर प्रहार करने लगे॥ ३१॥

यमस्य च महाबाहो रावणस्य च मन्त्रिणः।
अमात्यांस्तांस्तु सन्त्यज्य यमयोधा महाबलाः ॥३२॥

किन्तु कुछ देरबाद यम के महाबली सैनिक रावण के मंत्रियों के साथ युद्ध करना छोड़, ॥ ३२॥

तमेव चाभ्यधावन्त शूलवर्षैर्दशाननम्।
ततः शोणितदिग्धाङ्गः प्रहारैर्जर्जरीकृतः।
फुल्लाशोक इवाभाति पुष्पके राक्षसाधिपः॥ ३३॥

रावण पर टूट पड़े और उसके ऊपर शूलों की वर्षा करने लगे। यमकिङ्करों के उस शस्त्रप्रहार से रावण का शरीर चलनी हो गया और वह रक्त से नहा उठा। उस समय पुष्पक विमान में बैठा हुआ रावण एक पुष्पित अशोकवृक्ष की तरह जान पड़ता था॥ ३३॥

स तु शूलगदाप्रासाञ्छक्तितोमरसायकान्।
मुमोच च शिलावृक्षान्मुमोचास्त्रंबलाद्बली॥ ३४॥

रावण भी शूल, गदा, प्रास, शक्ति, तोमर और बाणों को चला रहा था। वह अस्त्रों के बल यमकिङ्करों पर शिलाओं और वृक्षों की वृष्टि कर रहा था॥ ३४॥

तरूणां च शिलानां च शस्त्राणां चातिदारुणम्।
यमसैन्येषु तद्वर्षं पपात धरणीतले॥ ३५॥

यमराज की सेना के ऊपर वृक्षों और पत्थरों की अति दारुण वर्षा होने लगी; जिससे सैनिक धराशायी होने लगे। अथवा वृक्ष और शिलाएँ यमराज के सैनिकों के ऊपर गिर कर ज़मीन पर गिर पड़ती थीं॥ ३५॥

तांस्तु सर्वान्विनिर्भिद्य तदस्त्रमपहत्य च।
जघ्नुस्ते राक्षसं घोरमेकं शतसहस्रशः॥ ३६॥

किन्तु तिस पर भी उन वृक्षादिकों को काट और अस्त्र शस्त्रों को रोक कर, यमराज के सैकड़ों हज़ारों योद्धा एक साथ रावण के ऊपर शस्त्रप्रहार करने लगे॥ ३६॥

परिवार्य च तं सर्वे शैलं मेघोत्करा इव।
भिन्दिपालैश्च शूलैश्च निरुच्छ्वासमपोथयन्॥३७॥

जिस प्रकार मेघ पर्वतों को घेर लेते हैं, उसी प्रकार वे सब रावण को घेर और उसकी दम सी घोंट कर, उसके ऊपर सहस्रों भिन्दिपालों और शूलों की वर्षा करने लगे॥ ३७॥

विमुक्तकवचः क्रुद्धः *सिद्धः शोणितविस्रवैः।
ततः स पुष्पकं त्यक्त्वा पृथिव्यामवतिष्ठत॥ ३८॥

* पाठान्तरे—"सिक्तः"।

उन प्रहारों से रावण का कवच टूट फूट गया और उसके समस्त अंगों से रुधिर बहने लगा। तब वह कुपित हो और पुष्पक विमान को छोड़ पृथिवी पर खड़ा हो गया ॥ ३८ ॥

ततः स कार्मुकी बाणी समरे चाभिवर्धत ।
लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन क्रुद्धस्तस्थौ यथाऽन्तकः ॥ ३९ ॥

कुछ ही देर में रावण सम्हल गया। फिर कुपित हो वह हाथ में धनुष बाण ले दूसरे यमराज की तरह लड़ने के लिये तैयार हुआ ॥ ३९ ॥

ततः पाशुपतं दिव्यमस्त्रं सन्धायकार्मुके ।
तिष्ठ तिष्ठेति तानुक्त्वा तच्चापं *व्यपकर्षत ॥ ४० ॥
आकर्णात्स विकृष्याथ चापमिन्द्रारिराहवे ।
मुमोच तं शरं क्रुद्धस्त्रिपुरे शङ्करो यथा ॥ ४१ ॥

खड़े रहो! खड़े रहो!! कह कर उसने बाण को पाशुपतास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित किया। तदनन्तर धनुष के रोदे को कान तक खींच कर उसने वह बाण छोड़ा। जैसे श्रीमहादेव जी ने त्रिपुरासुर पर बाण छोड़ा था; वैसे ही रावण ने भी यमराज के सैनिकों पर वह बाण छोड़ा ॥ ४० ॥ ४१ ॥

तस्य रूपं शरस्यासीत्सधूमज्वालमण्डलम् ।
वनं दहिष्यतो घर्मे दावाग्नेरिव मूर्च्छतः ॥ ४२ ॥

धुआँ और ज्वालामण्डल से युक्त उस अस्त्र का रूप ग्रीष्म-काल में वनदहनकारी धधकते हुए दावाग्नि की तरह दिखाई देने लगा ॥ ४२ ॥

---

* पाठान्तरे—"विचकर्ष सः"।

ज्वालामाली स तु शरः क्रव्यादानुगतोरणे ।
मुक्तो गुल्मान्द्रुमांश्चापि भस्म कृत्वा प्रधावति ॥४३॥

ज्वाला की मालाओं से युक्त वह अस्त्र मार्ग के झाड़ों और वृक्षों के भस्म करता तथा मांसभक्षी पक्षियों के पिछियाता हुआ यम की सेना की ओर दौड़ा ॥ ४३ ॥

ते तस्य तेजसा दग्धाः सैन्या वैवस्वतस्य तु ।
*बले तस्मिन्निपतिता †माहेन्द्रा इव केतवः ॥ ४४ ॥

उस अस्त्र के तेज से यमराज के समस्त वीर सैनिक भस्म हो कर, इन्द्र की ध्वजा की तरह गिर पड़े ॥ ४४ ॥

ततस्तु सचिवैः सार्धं राक्षसो भीमविक्रमः ।
ननाद सु महानादं कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ४५ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

यह देख भयङ्कर विक्रमकारी राक्षस रावण अपने मंत्रियों के साथ पृथिवी के कंपायमान करता हुआ सा बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ ४५ ॥

उत्तरकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

द्वाविंशः सर्गः

—:०:—

स तस्य तु महानादं श्रुत्वा वैवस्वतः प्रभुः ।
शत्रुं विजयिनं मेने स्वबलस्य च संक्षयम् ॥ १ ॥

---

* पाठान्तरे—"रणे" । † पाठान्तरे—"दावदग्धा नगा इव ।"

रावण का घोर नाद सुन कर महाराज यमराज ने समझ लिया कि, रावण की जीत हुई और मेरी सेना नष्ट हो गयी ॥ १ ॥

स हि योधान्हतान्मत्वा क्रोधसंरक्तलोचनः ।
अब्रवीत्त्वरितः सूतं रथो मे उपनीयताम् ॥ २ ॥

उन्होंने अपने योद्धाओं का मारा जाना जान और क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर, अपने सारथि को रथ जोत कर, तुरन्त उपस्थित करने की आज्ञा दी ॥ २ ॥

तस्य सूतस्तदा दिव्यमुपस्थाप्य महारथम् ।
स्थितः स च महातेजा अध्यारोहत तं रथम् ॥ ३ ॥

सारथि ने तुरन्त उनका दिव्य और विशाल रथ ला कर, खड़ा कर दिया । महातेजस्वी यमराज उस पर सवार हुए ॥ ३ ॥

पाशमुद्गरहस्तश्च मृत्युस्तस्याग्रतः स्थितः ।
येन संक्षिप्यते सर्वं त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ॥ ४ ॥

जो इस चराचर नित्य जगत का संहार करने वाले हैं, वे मृत्युदेव भी पाश और मुगद्र हाथ में ले कर, यमराज के आगे (रथ पर) बैठे ॥ ४ ॥

कालदण्डस्तु पार्श्वस्थो मूर्तिमानस्य चाभवत् ।
यमप्रहरणं दिव्यं तेजसा ज्वलदग्निमत् ॥ ५ ॥

धधकती हुई आग की तरह चमचमाता यमराज का अस्त्र-कालदण्ड भी मूर्तिमान हो कर उनकी बगल में बैठ गया ॥ ५ ॥

ततो लोकत्रयं क्षुब्धमकम्पन्त दिवौकसः ।
कालं दृष्ट्वा तथा क्रुद्धं सर्वलोकभयावहम् ॥ ६ ॥

समस्त लोकों को भयभीत करने वाले यमराज को इस प्रकार कुपित देख, उस समय तीनों लोक थर्रा उठे और देवता भी काँप उठे ॥ ६ ॥

ततस्त्वचोदयत्सूतस्तानश्वान् रुचिरप्रभान् ।
प्रययौ भीमसन्नादो यत्र रक्षःपतिः स्थितः ॥ ७ ॥

तदनन्तर जब सारथि ने लाल रंग वाले घोड़ों को हाँका ; तब वह रथ घोर शब्द करता हुआ, राक्षसराज रावण की ओर चला ॥ ७ ॥

मुहूर्तेन यमं ते तु हया हरिहयोपमाः ।
प्रापयन्मनसस्तुल्या यत्र तत्प्रस्तुतं रणम् ॥ ८ ॥

मन के समान वेग से चलने वाले तथा इन्द्र के घोड़ों के समान उन घोड़ों ने एक मुहूर्त्त भर में यमराज को रणक्षेत्र में पहुँचा दिया ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा तथैव विकृतं रथं मृत्युसमन्वितम् ।
सचिवा राक्षसेन्द्रस्य सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥ ९ ॥

जिस विकराल रथ में साक्षात् मृत्युदेव बैठे थे, उसको देख रावण के मंत्री भयभीत हो भाग खड़े हुए ॥ ६ ॥

लघुसत्त्वतया ते हि नष्टसंज्ञा भयार्दिताः ।
नेह *युद्धं समर्थाः स्म इत्युक्त्वा प्रययुर्दिशः ॥ १० ॥

क्योंकि उनमें थोड़ा साहस था। वे मारे भय के अचेत से हो गये और कहने लगे—यहाँ युद्ध करना हम लोगों के सामर्थ्य के बाहिर की बात है। यह कहते हुए वे इधर उधर भाग गये ॥ १० ॥

* पाठान्तरे—"योद्धुं।"

स तु तं तादृशं दृष्ट्वा रथं लोकभयावहम् ।
नाक्षुभ्यत दशग्रीवो न चापि भयमाविशत् ॥ ११ ॥

परन्तु रावण, सब लोगों के लिये भयानक उस रथ को देख कर न तो घबड़ाया और न भयभीत ही हुआ ॥ ११ ॥

स तु रावण मासाद्य व्यसृजच्छक्तितोमरान् ।
यमो मर्माणि संक्रुद्धो रावणस्य न्यकृन्तत ॥ १२ ॥

यमराज, रावण के निकट पहुँच क्रुद्ध हो, शक्तियों और तोमरों से उसके मर्मस्थलों को विदीर्ण करने लगे ॥ १२ ॥

रावणस्तु ततः स्वस्थः शरवर्षं मुमोच ह ।
तस्मिन्वैवस्वतरथे तोयवर्षमिवाम्बुदः ॥ १३ ॥

उधर रावण ने भी सावधान हो कर यमराज के रथ के ऊपर वैसे ही बाणों की वृष्टि की; जैसे मेघ, जल की वृष्टि करते हैं ॥ १३ ॥

ततो महाशक्ति शतैः पात्यमानैर्महोरसि ।
नाशक्नोत्प्रतिकर्तुं स राक्षसः शल्यपीडितः ॥१४॥

यमराज ने रावण को छाती में सैकड़ों बड़ी बड़ी शक्तियाँ मारीं, जिनकी चोट से रावण कुछ पीड़ित हुआ, और उन शक्तियों के रोकने का कुछ भी उपाय न कर सका ॥ १४ ॥

एवं नानाप्रहरणैर्यमेनामित्रकर्षिणा ।
सप्तरात्रं कृतः संख्ये विसंज्ञो विमुखो रिपुः ॥१५॥

शत्रुओं के मारने वाले यमराज ने इस प्रकार अनेक अस्त्र शस्त्रों के प्रहार करते हुए, सात दिन रात युद्ध कर, रावण को युद्ध से विमुख और संज्ञाहीन कर दिया ॥ १५ ॥

तदासीत्तुमुलं युद्धं यमराक्षसयोर्द्वयोः ।
जयमाकांक्षतोर्वीर समरेष्वनिवर्तिनोः ॥ १६ ॥

हे वीर ! परस्पर जय की अभिलाषा किये हुए यमराज और राक्षसराज—दोनों ही समरभूमि में डटे हुए घोर युद्ध करते रहे ॥ १६ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
प्रजापतिं पुरस्कृत्य समेतास्तद्रणाजिरे ॥ १७ ॥

तब तो देवता, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियों को अपने साथ ले और ब्रह्मा जी को आगे कर उस रणक्षेत्र में पहुँचे ॥ १७ ॥

संवर्त इव लोकानां युध्यतोरभवत्तदा ।
राक्षसानां च मुख्यस्य प्रेतानामीश्वरस्य च ॥१८॥

प्रेतराज यमराज और राक्षसराज रावण का ऐसा घोर युद्ध हो रहा था, मानों प्रलयकाल उपस्थित हुआ हो ॥ १८ ॥

राक्षसेन्द्रोऽपि विस्फार्य चापमिन्द्राशनिप्रभम् ।
निरन्तरमिवाकाशं कुर्वन्बाणांस्ततोऽसृजत् ॥१९॥

रावण इन्द्र के वज्र के समान अपने धनुष को टंकोरता हुआ मारे बाणों के आकाश को छाये देता था ॥ १६ ॥

मृत्युं चतुर्भिर्विशिखैः सूतं सप्तभिरार्दयत् ।
यमं शतसहस्रेण शीघ्रं मर्मस्वताडयत् ॥ २० ॥

उसने मृत्यु के चार, सारथि के सात और यमराज के मर्मस्थलों में बड़ी फुर्ती से एक लाख बाण मारे ॥ २० ॥

ततः क्रुद्धस्य वदनाद्यमस्य समजायत ।
ज्वालामाली सनिःश्वासः सधूमः कोपपावकः ॥२१॥

तब क्रोध में भर जाने के कारण यमराज के मुख से साँस के साथ सधूम कोपरूपी अग्नि धधकता हुआ प्रकट हुआ ॥ २१ ॥

तदाश्चर्यमथो दृष्ट्वा देवदानवसन्निधौ ।
महर्षितौ सुसंरब्धौ मृत्युकालौ बभूवतुः ॥ २२ ॥

इससे देवता और दानवों को आश्चर्यान्वित देख, उनके समीप खड़े हुए मृत्युदेव, हर्षित एवं क्रुद्ध हुए और लड़ने को तैयार हुए ॥ २२ ॥

ततो मृत्युः क्रुद्धतरो वैवस्वतमभाषत ।
मुञ्च मां समरे यावद्धन्मीमं पापराक्षसम् ॥ २३ ॥

तब मृत्युदेव ने और भी अधिक क्रुद्ध हो कर यमराज से कहा—आप मुझे आज्ञा दीजिये। मैं अभी इस पापी रावण को मारे डालता हूँ ॥ २३ ॥

नैषा रक्षोभवेदद्य मर्यादा हि निसर्गतः ।
हिरण्यकशिपुः श्रीमान्नमुचिः शम्बरस्तथा ॥ २४ ॥
निसन्दिर्धूमकेतुश्च बलिर्वैरोचनोऽपि च ।
शम्भुर्दैत्यो महाराजो वृत्रो बाणस्तथैव च ॥ २५ ॥
राजर्षयः शास्त्रविदो गन्धर्वाः समहोरगाः ।
ऋषयः पन्नगा दैत्या यक्षाश्च ह्यप्सरोगणाः ॥ २६ ॥

युगान्तपरिवर्ते च पृथिवी समहार्णवा ।
क्षयं नीता महाराज सपर्वतसरिद्द्रुमा ॥ २७ ॥

एते चान्ये च बहवो बलवन्तो दुरासदाः ।
विनिपन्ना मया दृष्टाः किमुतायं निशाचरः ॥ २८ ॥

क्योंकि मेरा स्वाभाविक काम यही तो है। देखिये हिरण्यकशिपु, नमुचि, शम्बर, निसन्दि, धूमकेतु, बलि, दैत्येन्द्र शम्भु, वृत्र, बाण, बड़े बड़े शास्त्रज्ञ राजर्षि, गन्धर्व, नाग, ऋषि, पन्नग, दैत्य, यक्ष, अप्सरायें, और युगान्त में ससागरा पृथिवी, पर्वत आदि (चर अचर) समस्त जीवों को मैंने नष्ट कर दिया और नष्ट कर डालता हूँ। इनको व बड़े बड़े बलवानों को, जो अति दुर्धर्ष थे, देखते ही मैंने नष्ट कर डाला। मेरे लिये इस राक्षस का मारना कोई बड़ा कठिन काम नहीं ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

मुञ्च मां साधु धर्मज्ञ यावदेनं निहन्म्यहम् ।
न हि कश्चिन्मया दृष्टो बलवानपि जीवति ॥ २९ ॥

हे साधु! हे धर्मज्ञ! आप शीघ्र मुझे छोड़िये जिससे मैं इसे मार गिराऊँ। कोई कैसा ही बलवान क्यों न हो, मेरी दृष्टि के सामने पड़ने पर जीता नहीं बच सकता ॥ २९ ॥

बलं मम न खल्वेतन्मर्यादैषा निसर्गतः ।
स दृष्टो न मया कालं मुहूर्तमपि जीवति ॥ ३० ॥

भगवन्! यह (महात्म्य) मेरे बल का नहीं है, किन्तु यह मेरी स्वाभाविक मर्यादा है कि, मेरा देखा हुआ एक मुहूर्त भर भी नहीं जी सकता ॥ ३० ॥

तस्यैवं वचनं श्रुत्वा धर्मराजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत्तत्र तं मृत्युं त्वं तिष्ठैनं निहन्म्यहम् ॥३१॥

प्रतापी धर्मराज ने काल के ये वचन सुन उनसे कहा—तुम ठहरो, मैं इसे मारता हूँ ॥ ३१ ॥

ततः संरक्तनयनः क्रुद्धो वैवस्वतः प्रभुः ।
कालदण्डममोघं तु तोलयामास पाणिना ॥ ३२ ॥

तदनन्तर सूर्यपुत्र महाराज यमराज ने क्रोध से लाल लाल नेत्र कर, कभी निष्फल न जाने वाला कालदण्ड उठाया ॥ ३२ ॥

यस्य पार्श्वेषु निहिताः कालपाशाः प्रतिष्ठिताः ।
पावकाशनिसङ्काशो मुद्गरो मूर्तिमान्स्थितः ॥३३॥

उस कालदण्ड के पास बड़े बड़े कालपाश और अग्नि एवं वज्र के समान मुगदर मूर्तिमान हो कर सदा रहा करते हैं ॥ ३३ ॥

दर्शनादेव यः प्राणान्प्राणिनामपि कर्षति ।
किं पुनः स्पृशमानस्य पात्यमानस्य वा पुनः ॥३४॥

जिसे देखते ही प्राणधारियों के प्राण सूख जाते हैं, वह यदि किसी को पाश से छू दे अथवा दण्ड का प्रहार करे तो फिर क्या कहना है ॥ ३४ ॥

स ज्वालापरिवारस्तु निर्दहन्निव राक्षसम् ।
तेन स्पृष्टो बलवता महाप्रहरणोऽस्फुरत् ॥ ३५ ॥

विशेष क्या कहा जाय, वह अग्नि की लपटों वाला महाशस्त्र, बलवान यमराज द्वारा उठाये जाने पर, रावण को भस्म करने के लिये, ही मानों सहसा धधक उठा ॥ ३५ ॥

ततो विदुद्रुवुः सर्वे तस्मात्त्रस्ता रणाजिरे।
सुराश्च क्षुभिताः सर्वे दृष्ट्वा दण्डोद्यतं यमम् ॥ ३६ ॥

यमराज को हाथ में कालदण्ड लिये देख, वहाँ जो प्राणी उपस्थित थे, वे भयभीत हो भाग गये और देवता भी घबड़ा उठे ॥ ३६ ॥

तस्मिन्प्रहर्तुं कामे तु यमे दण्डेन रावणम्।
यमं पितामहः साक्षाद्दर्शयित्वेदमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

जब यमराज, रावण के ऊपर दण्ड चलाने को उद्यत हुए, तब ब्रह्मा जी उनके समीप जा कर बोले ॥ ३७ ॥

वैवस्वत महाबाहो नखल्वमितविक्रम।
न हन्तव्यस्त्वयैतेन दण्डेनैष निशाचरः ॥ ३८ ॥

हे अमित विक्रमकारिन्! हे यमराज! तुम इस दण्ड को चला कर, इस राक्षस को मत मारो ॥ ३८ ॥

वरः खलु मयैतस्मै दत्तस्त्रिदशपुङ्गव।
स त्वया नानृतः कार्यो यन्मया व्याहृतं वचः ॥३९॥

क्योंकि हे देवश्रेष्ठ! मैं इसको वरदान दे चुका हूँ। अतः मेरी बात तुम्हें असत्य न ठहरानी चाहिये ॥ ३६ ॥

यो हि मामनृतं कुर्याद्देवो वा मानुषोऽपि वा।
त्रैलोक्यमनृतं तेन कृतं स्यान्नात्र संशयः ॥ ४० ॥

देवता हो अथवा मनुष्य, जो कोई भी मेरी आज्ञा उल्लङ्घन करेगा, वह मानों त्रिलोकी को झूठा सिद्ध कर चुका। इसमें सन्देह नहीं ॥ ४० ॥

क्रुद्धेन विप्रमुक्तोऽयं निर्विशेषं प्रियाप्रिये ।
प्रजाः संहरते रौद्रो लोकत्रयभयावहः ॥ ४१ ॥

यह कालदण्ड महाभयङ्कर और त्रिलोकी को भयदायक है। जब क्रोध में भर, यह छोड़ा जायगा तब यह प्रिय अप्रिय अर्थात् भले बुरे प्राणियों (का विचार न कर) उन्हें नष्ट ही कर डालेगा ॥ ४१ ॥

अमोघो ह्येष सर्वेषां प्राणिनाममितप्रभः ।
कालदण्डो मया सृष्टः सर्वमृत्युपुरस्कृतः ॥ ४२ ॥

क्योंकि मैंने इसे बनाया ही इस प्रकार का है। यह अमितप्रभा वाला कालदण्ड कभी निष्फल न जाने वाला और सब को नाश करने वाला है ॥ ४२ ॥

तन्न खल्वेष ते सौम्य पात्यो रावणमूर्धनि ।
नह्यस्मिन्पतिते कश्चिन्मुहूर्तमपि जीवति ॥ ४३ ॥

अतएव हे सौम्य! तुम इससे रावण के मस्तक पर प्रहार मत करो। क्योंकि इसके प्रहार से कोई भी प्राणी एक मुहूर्त भी जी नहीं सकता ॥ ४३ ॥

यदि ह्यस्मिन्निपतिते न म्रियेतैष राक्षसः ।
म्रियते वा दशग्रीवस्तदाप्युभयतोऽनृतम् ॥ ४४ ॥

(फिर एक बात और भी है) यदि कहीं इस कालदण्ड के प्रहार से रावण न मरा अथवा मर ही गया, तो मेरा कथन दोनों ही प्रकार से मिथ्या हो जायगा ॥ ४४ ॥

तन्निवर्तय लङ्केशाद्दण्डमेतंसमुद्यतम् ।
सत्यं च मां कुरुष्वाद्य लोकांस्त्वं यद्यवेक्षसे ॥४५॥

इस लिये तुम रावण के ऊपर दण्ड का प्रहार मत करो और जो इस त्रिलोकी की रक्षा करना चाहते हो, तो मेरी बात को सत्य करो ॥ ४५ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा प्रत्युवाच यमस्तदा ।
एष व्यावर्तितो दण्डः प्रभविष्णुर्हि नो भवान् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा जी के ये वचन सुन कर, धर्मात्मा यमराज ने उत्तर दिया कि, आप मेरे स्वामी हैं। अतः आपकी आज्ञा से लीजिये मैं इस दण्ड को रखे देता हूँ और अब इसको न चलाऊँगा ॥ ४६ ॥

किं त्विदानीं मया शक्यं कर्तुं रणगतेन हि ।
न मया यद्ययं शक्यो हन्तुं वरपुरस्कृतः ॥ ४७ ॥

परन्तु आप यह तो बतलावें कि, इस युद्ध में मैं क्या करूँ? क्योंकि यह तो आपके वरदान के कारण अवध्य ही ठहरा ॥ ४७ ॥

एष तस्मात्प्रणश्यामि दर्शनादस्य रक्षसः ।
इत्युक्त्वा सरथः साश्वस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥

अतः इस राक्षस की दृष्टि से मैं अदृश्य हुआ जाता हूँ। यह कह कर यमराज रथ सहित वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४८ ॥

दशग्रीवस्तु तं जित्वा नाम विश्राव्य चात्मनः ।
आरुह्य पुष्पकं भूयो निष्क्रान्तो यमसादनात् ॥४९॥

तब रावण इस प्रकार यमराज को जीत कर और अपने नाम का ढिंढोरा पिटवा कर, तथा पुष्पक विमान पर सवार हो कर, यमपुरी से चल दिया ॥ ४९ ॥

स तु वैवस्वतोदेवैः सह ब्रह्मपुरोगमैः ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टो नारदश्च महामुनिः ॥ ५० ॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर यमराज भी ब्रह्मादि देवताओं के साथ स्वर्ग को गये और महामुनि नारद जी भी हर्षित हो उनके साथ गये ॥ ५० ॥

उत्तरकाण्ड का बाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:※:—

त्रयोविंशः सर्गः

—:०:—

ततो जित्वा दशग्रीवो यमं त्रिदशपुङ्गवम् ।
रावणस्तु रणश्लाघी स्वसहायान्ददर्श ह ॥ १ ॥

समर में बड़ाई पाये हुए रावण ने देवश्रेष्ठ यमराज को परास्त कर, अपने सहायकों को देखा ॥ १ ॥

ततो रुधिरसिक्ताङ्गं प्रहारैर्जर्जरीकृतम् ।
रावणं राक्षसा दृष्ट्वा *विस्मयं समुपागमन् ॥ २ ॥

उसके सहायक राक्षसलोग उसे शस्त्रप्रहारों से जर्जरित और रक्त से नहाया हुआ देख, अत्यन्त विस्मित हुए ॥ २ ॥

जयेन वर्धयित्वा च मारीचप्रमुखास्ततः ।
पुष्पकं भेजिरे सर्वे सान्त्विता रावणेन तु ॥ ३ ॥

---

* पाठान्तरे—"हृष्टवत्समुपागमन् ।"

और "महाराज की जय हो" कहते हुए मारीचादि राक्षस पुष्पक विमान पर सवार हुए! तब रावण ने उन सब को ढाढ़स बंधाया ॥ ३ ॥

ततो रसातलं रक्षः प्रविष्टः पयसां निधिम् ।
दैत्योरगगणाध्युष्टं वरुणेन सुरक्षितम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर रावण समुद्र में घुस रसातल में गया, जहाँ दैत्य और सांप रहते हैं और जिनकी रक्षा वरुणदेव करते हैं ॥ ४ ॥

स तु भोगवतीं गत्वा पुरीं वासुकिपालिताम् ।
कृत्वा नागान्वशे हृष्टो ययौ मणिमयीं पुरीम् ॥५॥

वासुकि नाग की भोगपुरी में जा कर उसने नागों को जीत कर अपने वश में किया। तदनन्तर रावण हर्षित होता हुआ मणिमयीपुरी में गया ॥ ५ ॥

निवातकवचास्तत्र दैत्या लब्धवरावसन् ।
राक्षसस्तान्समागम्य युद्धाय समुपाह्वयत् ॥ ६ ॥

वहाँ बसने वाले और वरदानप्राप्त निवात कवच दैत्यों को रावण ने युद्ध के लिये ललकारा ॥ ६ ॥

ते तु सर्वे सुविक्रान्ता दैतेया बलशालिनः ।
नाना प्रहरणास्तत्र प्रहृष्टा युद्धदुर्मदाः ॥ ७ ॥

वे दैत्य भी बड़े पराक्रमी, बलवान, दुर्मद और विविध प्रकार के आयुध चलाने में निपुण थे। अतः युद्ध का नाम सुनते ही वे हर्षित हुए ॥ ७ ॥

शूलैस्त्रिशूलैः कुलिशैः पट्टिशासिपरश्वधैः ।
अन्योन्यं बिभिदुः क्रुद्धा राक्षसा दानवास्तथा ॥८॥

शूल, त्रिशूल, वज्र, पटा, तलवार आदि ले ले कर वे राक्षसों से लड़ने लगे ॥ ८ ॥

तेषां तु युध्यमानानां साग्रः संवत्सरो गतः ।
न चान्यतरतस्तत्र विजयो वा क्षयोऽपि वा ॥ ९ ॥

इन दैत्यों को रावण के साथ लड़ते लड़ते पूरा एक वर्ष हो गया, तिस पर भी दोनों पक्षवालों में से किसी ने हार न मानी ॥ ९ ॥

ततः पितामहस्तत्र त्रैलोक्य गतिरव्ययः ।
आजगाम द्रुतं देवो विमानवरमास्थितः ॥ १० ॥

तब त्रिभुवनपति, अविनाशी, लोकपितामह ब्रह्मा जी विमान में बैठ अति शीघ्र वहाँ भी पहुँचे ॥ १० ॥

निवात कवचानां तु निवार्य रणकर्म तत् ।
वृद्धः पितामहो वाक्यमुवाच [1]विदितार्थवत् ॥११॥

और युद्ध में प्रवृत्त निवातकवचों को रोक कर उनने स्पष्ट रूप से ये वचन कहे ॥ ११ ॥

न ह्ययं रावणो युद्धे शक्यो जेतुं सुरासुरैः ।
न भवन्तः क्षयं नेतुमपि सामरदानवैः ॥ १२ ॥

इस रावण को युद्ध में सुर या असुर कोई भी नहीं जीत सकता और आपको भी कोई नहीं मार सकता ॥ १२ ॥

---

१ विदितार्थवत्—सुस्पष्टावगताभिधेयम् । (रा०)

राक्षसस्य सखित्वं च भवद्भिः सह रोचते ।
अविभक्ताश्च सर्वार्थाः सुहृदां नात्र संशयः ॥ १३ ॥

अतः मैं चाहता हूँ कि, आप लोगों की रावण के साथ मैत्री हो जाय। (मैत्री हो जाने पर) मित्रों की सब वस्तुएँ एक ही होती हैं (अर्थात् जो उसका है वह आपका होगा और जो आपका है वह उसका होगा।) इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥

ततोऽग्निसाक्षिकं सख्यं कृतवांस्तत्र रावणः ।
निवातकवचैः सार्धं प्रीतिमानभवत्तदा ॥ १४ ॥

तदनन्तर रावण अग्नि को साक्षी कर, निवातकवचों से मैत्री कर, अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥ १४ ॥

अर्चितस्तैर्यथान्यायं संवत्सरमथोषितः ।
स्वपुरान्निर्विशेषं च प्रियं प्राप्तो दशाननः ॥ १५ ॥

तब निवातकवचों ने भी रावण का यथोचित सत्कार किया। रावण वहाँ एक वर्ष तक रहा। वहाँ उसका अच्छा सत्कार सम्मान हुआ और अपनी राजधानी से भी अधिक सुखपूर्वक वहाँ वह रहा ॥ १५ ॥

तत्रोपधार्य मायानां शतमेकं समाप्तवान् ।
सलिलेन्द्रपुरान्वेषी भ्रमति स्म रसातलम् ॥ १६ ॥

वहाँ रह कर, रावण ने निवातकवचों से सौ प्रकार की मायाएँ सीखीं। फिर वह वरुणदेव के नगर को ढूढ़ता हुआ रसातल में घूमा किया ॥ १६ ॥

ततोऽश्म नगरं नाम कालकेयैरधिष्ठितम् ।
गत्वा तु कालकेयांश्च हत्वा तत्र बलोत्कटान् ॥१७॥

(घूमता फिरता) रावण कालकेय दैत्यों के अश्म नामक नगर में पहुँचा । कालकेय दैत्य बड़े बलवान थे । किन्तु रावण ने उनको भी रण में मार गिराया ॥ १७ ॥

शूर्पणख्याश्च भर्तारमसिना प्राच्छिनत्तदा ।
श्यालं च बलवन्तं च विद्युज्जिह्वं बलोत्कटम् ॥ १८ ॥

इसी युद्ध में रावण ने अपने बहनोई अर्थात् शूपनखा के पति बलवान विद्युजिह्व को तलवार से काट डाला ॥ १८ ॥

जिह्वया संलिहन्तं च राक्षसं समरे तदा ।
तं विजित्य मुहूर्तेन जघ्ने दैत्यांश्चतुःशतम् ॥ १९ ॥

क्योंकि वह रावण के मंत्रियों को खा डालना चाहता था । उसको मार कर रावण ने क्षणमात्र में चार सौ दैत्यों को मार डाला ॥ १९ ॥

ततः पाण्डुरमेघाभं कैलासमिव भास्वरम् ।
वरुणस्यालयं दिव्यमपश्यद्राक्षसाधिपः ॥ २० ॥

तदनन्तर राक्षसराज रावण ने कैलास पर्वत के शिखर की तरह चमचमाता और सफेद बादल की तरह सफेद वरुण का दिव्य भवन देखा ॥ २० ॥

क्षरन्तीं च पयस्तत्र सुरभिं गामवस्थिताम् ।
यस्याः पयोभि निष्पन्दात्क्षीरोदो नाम सागरः ॥२१॥

रावण ने वहीं पर वह सुरभि गौ भी देखी, जिसके थनों से सदा दूध की धार बहा करती है और जिसके दुग्ध की धार ही से क्षीरोद नामक सागर की उत्पत्ति हुई है ॥ २१ ॥

ददर्श रावणस्तत्र गोवृषेन्द्रवरारणिम् ।
यस्माच्चन्द्रः प्रभवति शीतरश्मिर्निशाकरः ॥ २२ ॥

वह सुरभि महावृषभेन्द्र (महादेव जी के नांदिया) की माता है और उसके दूध से (उत्पन्न क्षीरसागर से) शीतल किरनों वाला चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है ॥ २२ ॥

यं समाश्रित्य जीवन्ति फेनपाः परमर्षयः ।
अमृतं यत्र चोत्पन्नं स्वधा च स्वधभोजिनाम् ॥२३॥

इसी के सहारे फेन पीने वाले महर्षि जीते हैं। उसीसे अमृत उत्पन्न हुआ है और स्वधाभोजी पितरों की स्वधा भी उत्पन्न होती है ॥ २३ ॥

यां ब्रुवन्ति नरा लोके सुरभिं नाम नामतः ।
प्रदक्षिणं तु तां कृत्वा रावणः परमाद्भुताम् ।
प्रविवेश महाघोरं गुप्तं बहुविधैर्बलैः ॥ २४ ॥

उसको लोग सुरभि कहा करते हैं। उस परमाद्भुत सुरभि की प्रदक्षिणा कर रावण ने वरुण का श्रेष्ठ भवन देखा, जो विविध भाँति के सैनिकों से सुरक्षित था और बड़ा भयङ्कर था ॥ २४ ॥

ततोधारागशताकीर्णं शारदाभ्रनिभं तदा ।
नित्यप्रहृष्टं ददर्श वरुणस्य गृहोत्तमम् ॥ २५ ॥

वरुण का उत्तम भवन सैकड़ों धाराओं से सुशोभित, शरद् ऋतु के बादल की तरह सफेद, और सदा हँसता हुआ सा देख पड़ता था ॥ २५ ॥

ततो हत्वा बलाध्यक्षान्समरे तैश्च ताडितः ।
अब्रवीच्च ततो योधान् राजा शीघ्रं निवेद्यताम् ॥२६॥

वहां पहुँचने पर जब वरुण के सेनापतियों ने रावण को मारा (ताड़ित किया) तब रावण ने उनसे लड़ कर, उनको मार डाला। तदनन्तर उसने (बचे हुए) सैनिकों से कहा कि, तुम लोग तुरन्त जा कर अपने राजा से कहो कि, ॥ २६ ॥

युद्धार्थी रावणः प्राप्तस्तस्य युद्धं प्रदीयताम् ।
वद वा न भयं तेऽस्ति निर्जितोऽस्मीति साञ्जलिः ॥२७॥

रावण तुमसे लड़ने के लिये यहां आया है। अतः या तो तुम उससे आ कर लड़ो अथवा हाथ जोड़ कर उससे कहो कि "मैं हार गया।" ऐसा करने से फिर तुमको किसी प्रकार का भय न होगा ॥ २७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धा वरुणस्य महात्मनः ।
पुत्राः पौत्राश्च निष्क्रामन् गौश्च पुष्कर एव च ॥२८॥

इतने में वरुण जी के पुत्र और पौत्र अत्यन्त क्रोध में भर रावण से लड़ने के लिये निकले। उनके साथ गौ और पुष्कर नाम के दो सेनापति भी थे ॥ २८ ॥

ते तु तत्र गुणोपेता बलैः परिवृताः स्वकैः ।
युक्त्वा रथान्कामगमानुद्यद्भास्करवर्चसः ॥२९॥

ये लोग बड़े गुणी थे। ये लोग अपनी सेना को साथ लिये उदयकालीन सूर्य की तरह प्रभावान् तथा मन की तरह वेग से चलने वाले रथों पर चढ़ कर आये ॥ २९ ॥

ततो युद्धं समभवद्दारुणं रोमहर्षणम् ।
सलिलेन्द्रस्य पुत्राणां रावणस्य च धीमतः ॥ ३० ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् रावण और जलराज वरुण के पुत्रों में अत्यन्त दारुण युद्ध होने लगा ॥ ३० ॥

आमत्यैश्च महावीर्यैर्दशग्रीवस्य रक्षसः ।
वारुणं तद्बलं सर्वं क्षणेन विनिपातितम् ॥ ३१ ॥

राक्षस रावण के महावीर्यवान् मंत्रियों ने जल के राजा वरुण की उस समस्त सेना को क्षण भर में नष्ट कर डाला ॥ ३१ ॥

समीक्ष्य स्वबलं संख्ये वरुणस्य सुतास्तदा ।
अर्दिताः शरजालेन निवृत्ता रणकर्मणः ॥ ३२ ॥

वरुण के पुत्रों ने अपनी सेना का नाश देख तथा स्वयं बाण समूह से पीड़ित हो, कुछ देर के लिये लड़ाई बंद कर दी ॥ ३२ ॥

महीतलगतास्ते तु रावणं दृश्य पुष्पके ।
आकाशमाशु विविशुः स्यन्दनैः शीघ्रगामिभिः ॥ ३३ ॥

फिर रावण को पुष्पक पर चढ़ा हुआ और अपने को भूमि पर से लड़ते देख, वरुण के पुत्र पौत्रादि शीघ्रगामी रथों सहित उड़ कर आकाश में पहुँचे ॥ ३३ ॥

महदासीत्ततस्तेषां तुल्यं स्थानमवाप्य तत् ।
आकाशयुद्धं तुमुलं देवदानवयोरिव ॥ ३४ ॥

अब आमने सामने हो कर लड़ने का स्थान प्राप्त कर, देवासुर संग्राम की तरह उन दोनों का घोर युद्ध आकाश में आरम्भ हुआ ॥ ३४ ॥

ततस्ते रावणं युद्धे शरैः पावकसन्निभैः ।
विमुखीकृत्य संहृष्टा विनेदुर्विविधान् रवान् ॥३५॥

वरुण की सेना ने अग्नि के समान बाणों को चला कर, रावण को संग्राम से विमुख कर दिया। रावण को युद्ध से विमुख देख, वे लोग विविध प्रकार से हर्षनाद करने लगे ॥ ३५ ॥

ततो महोदरः क्रुद्धो राजानं वीक्ष्य धर्षितम् ।
त्यक्त्वा मृत्युभयं क्रुद्धो युद्धाकांक्षी व्यलोकयत् ।
तेन ते वारुणा युद्धे कामगाः पवनोपमाः ॥ ३६ ॥
महोदरेण गदया हतास्ते प्रययुः क्षितिम् ॥३७॥

अपने राजा का ऐसा अपमान देख, महोदर बहुत क्रुद्ध हुआ। वह मौत को कुछ भी न गिन कर, युद्ध करने के लिये उनकी ओर देखने लगा। उस महोदर ने युद्ध में पवन की तरह वेग से चलने वाले वरुण के पुत्रों के घोड़ों को गदा के प्रहारों से मार कर ज़मीन पर गिरा दिया। उसने योद्धाओं को भी मारा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

तेषां वरुणसूनूनां हत्वा योधान्हयाश्चतान् ।
मुमोचाशु महानादं विरथान्प्रेक्ष्य तान् स्थितान् ॥३८॥

उन वरुण के पुत्रों के सैनिकों को और घोड़ों को मार कर और उनको बिना रथ के खड़ा देख, महोदर ने हर्षनाद किया ॥ ३८ ॥

ते तु तेषां रथाः साश्वाः सह सारथिभिर्वरैः ।
महोदरेण निहताः पतिताः पृथिवीतले ॥ ३९ ॥

महोदर के गदा प्रहार से उनके घोड़े और चतुर सारथि मारे जा कर ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ३९ ॥

ते तु त्यक्त्वा रथान्पुत्रा वरुणस्य महात्मनः ।
आकाशे विष्ठिताः शूराः स्वप्रभावान्न विव्यथुः ॥४०॥

महात्मा वरुण जी के पुत्र पौत्र बिना रथ के रह जाने पर भी, अपने प्रभाव से आकाश ही में खड़े रहे, नीचे गिरे नहीं ॥ ४० ॥

धनूंषि कृत्वा सज्जानि विनिर्भिद्य महोदरम् ।
रावणं समरे क्रुद्धाः सहिताः सम वारयन् ॥ ४१ ॥

फिर उन्होंने अपने धनुष चढ़ा कर महोदर को मारे बाणों के क्षतविक्षत कर डाला और रावण को घेरा ॥ ४१ ॥

सायकैश्चापविभ्रष्टैर्वज्रकल्पैः सुदारुणैः ।
दारयन्ति स्म संक्रुद्धा मेघा इव महागिरिम् ॥ ४२ ॥

और क्रोध में भर वज्र समान बाणों से उसे ऐसा छेदा; जैसे मेघ, जलबिन्दुओं से विशालपर्वत को तर करते हैं ॥ ४२ ॥

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः कालाग्निरिव मूर्च्छितः ।
शरवर्षं महाघोरं तेषां मर्मस्वपातयत् ॥ ४३ ॥

इस पर रावण भी कालाग्नि की तरह क्रोध में भर, बाण बरसा कर, उनके मर्मस्थलों को छेदने लगा ॥ ४३ ॥

मुसलानि विचित्राणि ततो भल्लशतानि च।
पट्टिशांश्चैव शक्तीश्च शतघ्नीर्महतीरपि।
पातयामास दुर्धर्षस्तेषामुपरि तिष्ठितः॥ ४४॥

दुर्धर्ष रावण विविध प्रकार के मूसलों, सैकड़ों भालों, पट्टों, शक्तियों और बड़ी बड़ी शतघ्नियों को वरुण के पुत्रों पौत्रों के ऊपर चलाने लगा॥ ४४॥

ततस्तेनैव सहसा सीदन्ति स्म पदातिनः।
महापङ्कमिवासाद्य कुञ्जराः षष्टिहायनाः॥ ४५॥

वे लोग रथहीन थे, अतः वे लोग उन शस्त्रों के प्रहारों से वैसे ही दुःखी हुए; जैसे साठ वर्ष का बूढ़ा हाथी दलदल में फँस कर, दुःखी होता है॥ ४५॥

सीदमानान्सुतान्दृष्ट्वा विह्वलान्स महाबलः।
ननाद रावणो हर्षान्महानम्बुधरो यथा॥ ४६॥

तब महाबलवान रावण वरुण के पुत्रों को विह्वल और पीड़ित देख हर्षित हो, महामेघ की तरह बड़े ज़ोर से गर्जा॥ ४६॥

ततो रक्षो महानादान्मुक्त्वा हन्ति स्म वारुणान्।
नानाप्रहरणोपेतैर्धारापातैरिवाम्बुदः॥ ४७॥

तदनन्तर बारंबार गर्ज कर रावण, जलधारा बरसाते हुए मेघ की तरह अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों की वर्षा कर वरुण जी के पुत्रों को मारने लगा॥ ४७॥

ततस्ते विमुखाः सर्वे पतिता धरणीतले।
रणात्स्वपुरुषैः शीघ्रं गृहाण्येव प्रवेशिताः॥ ४८॥

अन्त में वरुण के पुत्र समर छोड़ पृथिवी पर गिर पड़े। नौकरों ने तुरन्त उनको उठा कर घर पहुँचाया ॥ ४८ ॥

तानब्रवीत्ततो रक्षो वरुणाय निवेद्यताम् ।
रावणं त्वब्रवीन्मन्त्री प्रहासो नाम वारुणः ॥ ४९ ॥

तदनन्तर रावण ने उन सेवकों से कहा कि, मेरा सन्देसा वरुण से जा कर कहो। तब प्रहास नामक वरुण के मंत्री ने रावण से कहा ॥ ४९ ॥

गतः खलु महाराजो ब्रह्मलोकं जलेश्वरः ।
गान्धर्वं वरुणः श्रोतुं यं त्वमाह्वयसे युधि ॥ ५० ॥

हे राक्षसराज! जिनको तुम युद्ध करने के लिये ललकार रहे हो, वे सलिलेश्वर महाराज वरुण जी गाना सुनने ब्रह्मलोक में गये हैं ॥ ५० ॥

तत्किं तव यथा वीर परिश्रम्य गते नृपे ।
ये तु सन्निहिता वीराः कुमारास्ते पराजिताः ॥ ५१ ॥

हे वीर! जो वीर योद्धा कुमारों के पास थे, उनको तुम परास्त कर ही चुके। अब वरुण महाराज के न रहने से तुम व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हो? ॥ ५१ ॥

राक्षसेन्द्रस्तु तच्छ्रुत्वा नाम विश्राव्य चात्मनः ।
हर्षान्नादं विमुञ्चन्वै निष्क्रान्तो वरुणालयात् ॥५२॥

तब राक्षसपति रावण अपने नाम की विजयघोषणा कर और हर्षनाद करता हुआ, वरुणभवन से निकला ॥ ५२ ॥

आगतस्तु पथा येन तेनैव विनिवृत्य सः ।
लङ्कामभिमुखो रक्षो नभस्तलगतो ययौ ॥ ५३ ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

रावण जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से लौट कर आकाश में पुष्पकविमान उड़ाता हुआ लङ्का की ओर चला गया ॥ ५३ ॥

उत्तरकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[नोट—किसी किसी पुस्तक में इसके आगे पाँच सर्ग और पाये जाते हैं, जिनको पूर्व टीकाकारों ने प्रक्षिप्त माना है ।]

—※—

प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः

—: ० :—

[ततोऽश्मनगरं भूयो विचेरुर्युद्धदुर्मदाः ।
यत्रापश्यद्दशग्रीवो गृहं परम भास्वरम् ॥ १ ॥

तदनन्तर रावण युद्धोन्मत्त राक्षसों को साथ ले, फिर अश्मनगर में घूमने लगा । वहाँ उसने एक बड़ा प्रकाशमान भवन देखा ॥ १ ॥

वैदूर्यतोरणाकीर्णं मुक्ताजालविभूषितम् ।
सुवर्णस्तंभगहनं वेदिकाभिः समन्ततः ॥ २ ॥

उस भवन के द्वारों पर पन्ने जड़े हुए थे और उन पर मोतियों की मालाएँ लटक रही थीं । उसमें सोने के बड़े बड़े खम्भे थे और जगह जगह सुन्दर वेदिकाएँ बनी हुई थीं ॥ २ ॥

वज्रस्फटिकसोपानं किङ्किणीजालसंवृतम् ।
बह्वासनयुतं रम्यं महेन्द्रभवनोपमम् ॥ ३ ॥

उसमें जो सीढ़ियाँ थीं वे हीरों और स्फटिक पत्थर की थीं। उस भवन में जगह जगह किङ्किणी के समूह लटक रहे थे। बहुत से आसन बिछे हुए थे। वह भवन बड़ा रमणीक था। वहाँ की वैसी ही शोभा थी; जैसी इन्द्र के भवन की ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा गृहवरं रम्यं दशग्रीवः प्रतापवान् ।
कस्येदं भवनं रम्यं मेरुमन्दरसन्निभम् ॥ ४ ॥

प्रतापी रावण ने उस रम्य भवनोत्तम को देख कर कहा कि, मेरुपर्वत के समान विशाल यह किसका घर देख पड़ता है ॥ ४ ॥

गच्छ प्रहस्त शीघ्रं त्वं जानीष्व भवनोत्तमम् ।
एवमुक्तः प्रहस्तस्तु प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥ ५ ॥

हे प्रहस्त ! तुम शीघ्र जा कर पता लगाओ। यह उत्तम भवन किसका है। रावण के यह वचन सुन, प्रहस्त उस श्रेष्ठ भवन के भीतर गया ॥ ५ ॥

निःशून्यं प्रैक्षत वरं पुनः कक्ष्यान्तरे ययौ।
सप्तकक्ष्यान्तरं गत्वा ततो ज्वालामपश्यत ॥ ६ ॥

वहाँ प्रहस्त को कोई भी न देख पड़ा। तब प्रहस्त और आगे बढ़े। इस प्रकार वे उस भवन की सात ड्योढ़ियाँ पार कर गये। सातवीं ड्योढ़ी पर उनको अग्निज्वाला देख पड़ी ॥ ६ ॥

ततो दृष्टः पुमांस्तत्र दृष्टो हासं मुमोच सः ।
श्रुत्वा स तु महाहासमूर्ध्वरोमा भवत्तदा ॥ ७ ॥

फिर उन्हें एक पुरुष भी देख पड़ा जिसने प्रहस्त को देखते ही हर्षित हो अट्टहास किया। उस अट्टहास को सुन प्रहस्त के (मारे डर के) रोंगटे खड़े हो गये ॥ ७ ॥

ज्वालामध्ये स्थितस्तत्र हेममाली विमोहितः ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः साक्षादिव यमः स्थितः ॥ ८ ॥

वह पुरुष उन अग्निज्वाला के भीतर सोने की माला पहिने हुए बैठा था। जैसे सूर्य की ओर देखना सहज नहीं है, वैसे ही उसको देखना भी सहज नहीं था। वह साक्षात् यमराज की तरह बैठा हुआ था ॥ ८ ॥

तथा दृष्ट्वा तु वृत्तान्तं त्वरमाणो विनिर्गतः ।
विनिर्गम्याब्रवीत्सर्वं रावणाय निशाचरः ॥ ९ ॥

राक्षस प्रहस्त वहाँ का यह हाल देख घबड़ा कर, तुरन्त बाहिर निकल आया और बाहिर आ कर, वहाँ का सारा हाल रावण से कहा ॥ ९ ॥

अथ राम दशग्रीवः पुष्पकादवरुह्य सः ।
प्रवेष्टुमिच्छन्वेश्माथ भिन्नाञ्जनचयोपमः ॥१०॥

हे राम! तदनन्तर काजल के पहाड़ की तरह कृष्णवर्ण रावण पुष्पक विमान से उतर पड़ा और ज्योंही उस घर में जाने को तैयार हुआ ॥ १० ॥

चन्द्रमौलिर्वपुष्मांश्च पुरुषोऽस्याग्रतः स्थितः ।
द्वारमावृत्य सहसा ज्वालाजिह्वो भयानकः ॥ ११ ॥

त्योंही चन्द्रमा सिर पर धारण किये, विशाल वपुधारी एक भयङ्कर पुरुष सहसा द्वार को रोक कर रावण के सामने आ खड़ा हुआ। उसकी जिह्वा आग की लपट के समान थी ॥ ११ ॥

रक्ताक्षश्चारुदशनो बिम्बोष्ठश्चारु दर्शनः ।
महाभीषणनासश्च कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥ १२ ॥

उसकी आँखें लाल, दन्तपंक्ति सुन्दर, ओंठ कुन्दरू के समान, शरीर की गठन सुन्दर, नाक बड़ी भयानक, गर्दन शङ्ख की तरह और ठोड़ी बहुत बड़ी थी ॥ १२ ॥

रूढश्मश्रुर्निगूढास्थिर्दंष्ट्रालो लोमहर्षणः ।
गृहीत्वा लोहमुसलं द्वारं विष्टभ्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

उसकी डाढ़ी और मूँछें बड़ी घनी, अस्थियाँ माँसल, डाढ़े बड़ी बड़ी और उसका आकार सब तरह से देखने वाले के रोंगटे खड़े करने वाला था। वह हाथ में मूसल लिये द्वार रोके खड़ा था ॥ १३ ॥

अथ सन्दर्शनात्तस्य ऊर्ध्वरोमा बभूव सः ।
हृदयं कम्पते चास्य वेपथुश्चाप्य जायत ॥ १४ ॥

उसको देखते ही रावण के रोंगटे खड़े हो गये, कलेजा धड़-कने लगा और शरीर थरथराने लगा ॥ १४ ॥

निमित्तान्यमनोज्ञानि दृष्ट्वा रामं व्यचिन्तयत् ।
अथ चिन्तयतस्तस्य स एव पुरुषोऽब्रवीत् ॥ १५ ॥

हे राम! इस प्रकार के अपशकुन देख, रावण खड़ा खड़ा कुछ सोच ही रहा था कि, उस पुरुष ने स्वयं रावण से कहा ॥ १५ ॥

किं त्वं चिन्तयसे रक्षो ब्रूहि विस्रब्धमानसः ।
युद्धातिथ्यमहं वीर करिष्ये रजनीचर ॥ १६ ॥

हे राक्षस! तू क्या सोच रहा है? मन को सावधान कर के बतला। हे वीर! हे रजनीचर! मैं युद्ध द्वारा तेरा सत्कार करूँगा ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा स तद्रक्षः पुनर्वचनमब्रवीत् ।
योत्स्यसे वलिना सार्धमथवा मन्यसे कथम् ॥ १७ ॥

वह पुरुष इस प्रकार कह कर, फिर रावण से कहने लगा—क्या तू बलि के साथ लड़ेगा? अथवा तेरा और कुछ विचार है ॥ १७ ॥

रावणोऽभिहतो भूय ऊर्ध्वरोमा व्यजायत ।
अथ धैर्यं समालम्ब्य रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उस पुरुष के मुख से इन वचनों के निकलते ही रावण के फिर रोंगटे खड़े हो गये। कुछ देर बाद हिम्मत बांध रावण ने कहा ॥ १८ ॥

गृहेषु तिष्ठते को हि तद्ब्रूहि वदतां वर ।
तेनैव सार्धं योत्स्यामि यथा वा मन्यते भवान् ॥१९॥

हे वचन बोलने वालों में श्रेष्ठ! यह तो बतलाइये कि, इस घर में रहता कौन है? मैं उसीके साथ लड़ूँगा। अथवा आपकी जैसी सम्मति होगी, वही मैं करूँगा ॥ १९ ॥

स एनं पुनरप्याह दानवेन्द्रोऽत्र तिष्ठति ।
एष वै परमोदारः शूरः सत्यपराक्रमः ॥ २० ॥

वीरो बहुगुणोपेतः पाशहस्त इवान्तकः।
बालार्क इव तेजस्वी समरेष्वनिवर्तकः ॥ २१ ॥
अमर्षी दुर्जयो जेता बलवान्गुणसागरः।
प्रियंवदः संविभागी गुरुविप्रप्रियः सदा ॥ २२ ॥

उस पुरुष ने उत्तर देते हुए रावण से कहा। इस भवन में दानवराज बलि रहते हैं, जो बड़े उदार, शूरवीर, सत्यपराक्रमी, अनेक गुणों से भूषित, हाथ में पाश लिये दूसरे यमराज की तरह, उदयकालीन सूर्य की तरह तेजस्वी और युद्ध से कभी मुँह न मोड़ने वाले हैं। वे अमर्षी (शत्रु के अपराध को क्षमा न करने वाले) दुर्जय, शत्रु को जीतने वाले, बलवान और गुणों के तो समुद्र हैं। वे प्रियभाषी, संविभागी, (यथोचित दाता) तथा गुरु और ब्राह्मणों में प्रीति रखने वाले हैं ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

कालाकाङ्क्षी महासत्त्वः सत्यवाक् सौम्यदर्शनः।
दक्षः सर्वगुणोपेतः शूरः स्वाध्यायतत्परः ॥२३॥

वे समय देख कर काम करने वाले, महाबलवान, सत्य बोलने वाले, प्रियदर्शन, दक्ष, सर्वगुणसम्पन्न, शूर और स्वाध्याय में तत्पर रहते हैं ॥ २३ ॥

एष गच्छति वात्येष ज्वलते तपते तथा।
देवैश्च भूतसङ्घैश्च पन्नगैश्च पतत्रिभिः ॥ २४ ॥

यद्यपि वे पैदल चलते हैं, तथापि उनकी चाल वायु के समान तेज़ है। वे अग्नि के समान प्रज्वलित और सूर्य की तरह ताप देने वाले हैं। वे देवताओं, प्राणियों, साँपों और पक्षियों से तनक भी नहीं डरते ॥ २४ ॥

भयं यो नाभिजानाति तेन त्वं योद्धुमिच्छसि ।
बलिनां यदि ते योद्धं रोचते राक्षसेश्वर ॥ २५ ॥

भय क्या वस्तु है, सो तो वे जानते ही नहीं। हे रावण! क्या तू उन्हीं दानवेन्द्र बलि के साथ लड़ना चाहता है? हे राक्षसेश्वर! यदि तुझे बलि के साथ लड़ना पसंद हो तो, ॥ २५ ॥

प्रविश त्वं महासत्व संग्रामं कुरु मा चिरम् ।
एवमुक्तो दशग्रीवः प्रविवेश यतो बलिः ॥ २६ ॥

हे महाबली! इस भवन के भीतर जा कर शीघ्र उनसे युद्ध कर। रावण यह वचन सुन कर, बलि के निकट गया ॥ २६ ॥

स विलोक्याथ लङ्केशं जहास दहनोपमः ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः स्थितो दानवसत्तमः ॥ २७ ॥

सूर्य की तरह दुष्प्रेक्ष्य दानवोत्तम महाराज बलि, रावण को देखते ही हँस पड़े ॥ २७ ॥

अथ संदर्शनादेव बलिर्वै विश्वरूपवान् ।
स गृहीत्वा च तद्धस्ते उत्सङ्गेस्थाप्य चाब्रवीत् ॥ २८ ॥

अग्नि के समान रूप वाले विश्वरूप राजा बलि ने रावण को हाथों से पकड़ कर, अपनी गोदी में बिठा लिया और उससे कहा ॥ २८ ॥

दशग्रीव महाबाहो कं ते कामं करोम्यहम् ।
किमागमन कृत्यं ते ब्रूहि त्वं राक्षसेश्वर ॥ २९ ॥

हे महाबाहो! हे दशग्रीव! मैं तेरा क्या करूँ? हे राक्षसेश्वर! यह तो बतला कि, तू यहाँ क्यों आया है? ॥ २९ ॥

एवमुक्तस्तु बलिना रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
श्रुत मया महाभाग बद्धस्त्वं विष्णुना पुरा ॥ ३० ॥

जब बलि ने यह पूँछा तब रावण कहने लगा—हे महाभाग! मैंने सुना है कि, पूर्वकाल से तुमको विष्णु ने बांध रखा है ॥ ३० ॥

सोऽहं मोक्षयितुं शक्तो बन्धनात्त्वां न संशयः ।
एवमुक्ते ततो हासं बलिर्मुक्त्वैनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सो मैं निःसन्देह तुमको उनके बंधन से छुड़ा सकता हूँ। यह सुन राजा बलि हँस कर बोले ॥ ३१ ॥

श्रूयतामभिधास्यामि यत्त्वं पृच्छसि रावण ।
य एष पुरुषः श्यामो द्वारे तिष्ठति नित्यदा ॥ ३२ ॥

हे रावण! तूने जो पूँछा उसका मैं उत्तर देता हूँ। सुन। वह जो श्यामवर्ण पुरुष सदा मेरे द्वार पर ही खड़ा रहता है ॥ ३२ ॥

एतेन दानवेन्द्राश्च तथान्ये बलवत्तराः ।
वशं नीता बलवता पूर्वे पूर्वतराश्च ये ॥ ३३ ॥

उसने अपने बल से पूर्ववर्ती समस्त दानवेन्द्रों तथा अन्यान्य बलशालियों को अपने वश में कर लिया ॥ ३३ ॥

बद्धः सोऽहमनेनैवं कृतान्तो दुरतिक्रमः ।
क एनं पुरुषो लोके वञ्चयिष्यति मानवः ॥ ३४ ॥

उसीने मुझे भी बांध रखा है। यह यमराज की तरह दुर्धर्ष है। ऐसा इस लोक में कौन पुरुष है, जो उसको धोखा दे सके ॥ ३४ ॥

सर्वभूतापहर्तावै य एष द्वारि तिष्ठति ।
कर्ता कारयिता चैव धाता च भुवनेश्वरः ॥ ३५ ॥

हे रावण ! जो पुरुष द्वार पर खड़ा है, वही सब प्राणियों का संहार करने वाला, कर्त्ता, प्रेरक, सब का रचने वाला और समस्त भुवनों का स्वामी है ॥ ३५ ॥

न त्वं वेद न चैवाहं भूतभव्यभवत्प्रभुः ।
कलिश्चैवैष कालश्च सर्वभूतापहारकः ॥ ३६ ॥

उसका भेद न तो तू जान सकता है न मैं । वह भूत, भविष्यद् और वर्तमान (प्राणिमात्र) का प्रभु है । वही कलि है, वही समस्त प्राणियों का नाश करने वाला काल है ॥ ३६ ॥

लोकत्रयस्य सर्वस्य हर्ता स्रष्टा तथैव च ।
संहरत्येष भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ३७ ॥

वही तीनों लोकों के समस्त जीवों का रचने और बिगाड़ने वाला है । वही स्थावर जङ्गम (चर, अचर) प्राणधारियों का नाश करने वाला है ॥ ३७ ॥

पुनश्च सृजते सर्वमनाद्यन्तं महेश्वरः ।
इष्टं चैव हि दत्तं च हुतं चैव निशाचरः ॥ ३८ ॥

तथा पुनः उनकी सृष्टि करने वाला है । वही महेश्वर है और आदि अन्त रहित है अथवा अनादि और अनन्त सृष्टि उसीके वश में है । हे राक्षस ! दान, यज्ञ, होम का फल देने वाला वही है ॥ ३८ ॥

सर्वमेव हि लोकेशो धाता गोप्ता न संशयः ।
नैवंविधं महद्भूतं विद्यते भुवनत्रये ॥ ३९ ॥

वही समस्त लोकों का स्वामी है। वही सबको बनाता है और वही सब की रक्षा भी करता है। इसमें तनक भी सन्देह नहीं है। इस प्रकार का कोई महाप्राणी त्रिभुवन में नहीं है ॥ ३९ ॥

अहं त्वं चैव पौलस्त्य ये चान्ये पूर्ववत्तराः ।
नेता ह्येषां महद्भूतं पशुं रशनया यथा ॥ ४० ॥

हे पुलस्त्यवंशीय ! मेरा और तेरा तथा मेरे और तेरे पूर्व पुरुषों का वही नियन्ता है। जैसे पशु की गर्दन में रस्सी बाँध कर मनुष्य उसे खींचता और उसे अपने वश में कर लेता है, वैसे ही वह भी सब को अपने वश में रखता है ॥ ४० ॥

वृत्रो दनुः शुकः शम्भुर्निशुम्भः शुम्भ एव च ।
कालनेमिश्च प्राह्लादिः कूटो वैरोचनो मृदुः ॥ ४१ ॥
यमलार्जुनौ च कंसश्च कैटभो मधुना सह ।
एते तपन्ति द्योतन्ति वान्ति वर्षन्ति चैव हि ॥ ४२ ॥

वृत्र, दनु, शुक, शुम्भ, निशुम्भ, कालनेमि, प्राह्लादि, कूट, वैरोचन, मृदु, यमलार्जुन, कंस, कैटभ और मधु ये सब सूर्य की तरह तपते, चन्द्रमा की तरह प्रकाश करते, वायु की तरह बहते और बादल की तरह बरसते थे ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

[नोट—ऊपर के श्लोकों में कंस और यमलार्जुन के नाम देख कर अनेक विचारवान लोगों का मत है कि, उत्तरकाण्ड का अधिकांश भाग उसमें पीछे से जोड़ा गया है। आदिकवि का रचा हुआ नहीं है। यद्यपि सरल विश्वास

रखने वाले आस्तिकों का समाधान " यथापूर्वमकल्पयत " इस श्रुतिवाक्य से हो जाता है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से पढ़ने वाले उत्तरकाण्ड के अधिकांश भाग के ऐतिहासिक महत्त्व देने के लिये तैयार नहीं हैं ।]

सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं सर्वैस्तप्तं महत्तपः ।
सर्वे ते सुमहात्मानः सर्वे वै योगधर्मिणः ॥ ४३ ॥

इन सब ने सैकड़ों यज्ञ किये थे और बड़े बड़े उग्र तप किये थे। ये समस्त बड़े बलवान थे और सब ही अपने कार्य में कुशल थे। (योगः कर्म सुकौशलम्) ॥ ४३ ॥

सर्वैरैश्वर्यमासाद्य भुक्तं भोगैर्महत्तरैः ।
दत्तमिष्टमधीतं च प्रजाश्च परिपालिताः ॥ ४४ ॥

इन लोगों ने बड़े बड़े ऐश्वर्य पा कर, विविध प्रकार के भोग भोगे। इन लोगों ने दान दिये, यज्ञ किये, वेदाध्ययन किया और प्रजा का पालन किया ॥ ४४ ॥

स्वपक्षेष्वनुगोप्तारः प्रहन्तारः परेष्वपि ।
सामरेष्वपि लोकेषु नैतेषां विद्यते समम् ॥ ४५ ॥

इन लोगों ने अपने पक्षवालों की रक्षा की और शत्रुपक्ष का नाश किया । युद्ध करने में त्रिलोकी में ऐसा कोई न था, जो इनका सामना कर सकता ॥ ४५ ॥

शूरास्त्वभिजनोपेताः सर्वशास्त्रार्थपारगाः ।
सर्वविद्याप्रवेत्तारः संग्रामेष्वनिवर्तकाः ॥ ४६ ॥

ये सब ही बड़े शूरवीर कुलीन, और समस्त शास्त्रों के पारदर्शी थे। ये समस्त विद्याओं के जानने वाले और युद्ध से कभी मुख न मोड़ने वाले थे ॥ ४६ ॥

सर्वैस्त्रिदशराज्यानि कारितानि महात्मभिः ।
युद्धे सुरगणा सर्वे निर्जिताश्च सहस्रशः ॥ ४७ ॥

इन सब ने देवताओं पर हुकूमत की और हज़ारों बार देवताओं को जीता था ॥ ४७ ॥

देवानामप्रिये सक्ताः स्वपक्षपरिपालकाः ।
प्रमत्तश्चोपसक्ताश्च बालार्कसमतेजसः ॥ ४८ ॥

देवताओं का अहित करने में ये सब सदा निरत रहते थे और अपने पक्ष का पालन किया करते थे। ये सब सदा अभिमान में चूर रहते थे और अपनी धुनि में लगे रहते थे। ये सब प्रातः कालीन सूर्य की तरह तेजस्वी थे ॥ ४८ ॥

यस्तु देवान्प्रधर्षेत तदेषां विष्णुरीश्वरः ।
उपायपूर्वकं नाशं स वेत्ता भगवान्हरिः ॥ ४९ ॥

(द्वार पर जो खड़े हैं वे ही) भगवान विष्णु हैं। जो कोई देवताओं का अनादर करता है, उसके ध्वंस करने का उपाय वे ही भगवान् विष्णु जानते हैं ॥ ४९ ॥

प्रादुर्भावं विकुरुते येनैतन्निधनं नयेत् ।
पुनरेवात्मनात्मानमधिष्ठाय स तिष्ठति ॥ ५० ॥

ये किसी ऐसे को उत्पन्न कर देते हैं, जो उपद्रवों का नाश कर डालता है और यह स्वयं अधिष्ठाता के अधिष्ठाता ही बने रहते हैं ॥ ५० ॥

एवमेतेन देवेन दानवेन्द्रा महात्मना ।
ते हि सर्वे क्षयं नीता बलिनः कामरूपिणः ॥ ५१ ॥

उन्होंने बड़े बड़े कामरूपी महाबलवान दानवेन्द्रों का इस प्रकार नाश किया है ॥ ५१ ॥

समरे च दुराधर्षाः श्रूयन्ते येऽपराजिताः ।
तेऽपि नीता महद्भूताः कृतान्तवलचोदितः ॥ ५२ ॥

जो युद्ध में दुर्धर्ष और किसी से न हारने वाले सुने जाते थे, उनको भी उस महापुरुष ने यमलोक भेज दिया ॥ ५२ ॥

एवमुक्त्वाथ प्रोवाच राक्षसं दानवेश्वरः ।
यदेतद्दृश्यते वीर चक्रं दीप्तानलोपमम् ॥ ५३ ॥

एतद्गृहीत्वा गच्छ त्वं मम पार्श्वं महाबल ।
ततोऽहं तव व्याख्यास्ये मुक्तिकारणमव्ययम् ॥५४॥

दानवेश्वर बलि ने रावण से इस प्रकार कह कर, फिर कहा कि, हे वीर! यह जो आग की तरह चमचमाता *चक्र देख पड़ता है, हे महाबली! ज़रा इसे उठा कर मेरे निकट तो ले आओ। तब मैं तुमको अपने सदा के लिये वन्धन से छूटने का कारण बतला दूँगा ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

[नोट—* चक्र से अभिप्राय गोलाकार कान के कुण्डल से है, क्योंकि आगे ५६वें श्लोक में कुण्डल का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।]

तत्कुरुष्व महाबाहो मा विलम्बस्व रावण ।
एतच्छ्रुत्वा गतो रक्षः प्रहसंश्च महाबलः ॥ ५५ ॥

यत्र स्थितं महादिव्यं कुण्डलं रघुनन्दन ।
लीलयोत्पाटनं चक्रे रावणो बलदर्पितः ॥ ५६ ॥

हे महाबली रावण! मैंने जो काम तुमको बतलाया है, उसे तुम झटपट कर डालो। हे रघुनन्दन! यह सुन, रावण हँसता हुआ उस दिव्य कुण्डल के पास गया और उसने अपने बल के घमण्ड में आ बिना प्रयास ही उसे उठाना चाहा ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

न च चालयितुं शक्तो रावणोऽभूत्कथंचन ।
लज्जया स पुनर्भूयो यत्नं चक्रे महाबलः ॥ ५७ ॥

किन्तु उसका उठाना तो जहाँ तहाँ रहा, रावण उसे उसके स्थान से हिला डुला भी न सका। तब तो शर्मा कर उसने बड़े प्रयत्न के साथ अपना पूरा बल लगा कर उठाना चाहा ॥ ५७ ॥

उत्क्षिप्तमात्रे दिव्ये च पपात भुवि राक्षसः ।
छिन्नमूलो यथा शालो रुधिरौघपरिप्लुतः ॥ ५८ ॥

उसने उसे उठाया ही था कि, वह मूर्च्छित हो पृथिवी पर ऐसे गिर पड़ा; जैसे जड़ से कटा हुआ साखू का पेड़ गिरता है। यही नहीं बल्कि उसके मुँह से रक्त निकला जिससे वह नहा उठा ॥ ५८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे जज्ञे शब्दः पुष्पकसम्भवः ॥
राक्षसेन्द्रस्य सचिवैर्मुक्तो हाहाकृतो महान् ॥ ५९ ॥

यह कौतुक देख, पुष्पकविमान में बैठे हुए उसके सचिवों ने बड़ा हाहाकार मचाया ॥ ५९ ॥

ततो रक्षो मुहूर्तेन चेतनां लभ्य चोत्थितम् ।
लज्जयावनतीभूतं बलिर्वाक्यमुवाच ह ॥ ६० ॥

एक मुहूर्त भर अचेत रह कर, रावण सचेत हो उठ खड़ा हुआ; किन्तु लज्जा के मारे वह सिर ऊपर न उठा सका। उस समय बलि ने उससे कहा ॥ ६० ॥

आगच्छ राक्षसश्रेष्ठ वाक्यं शृणु मयोदितम् ।
यत्त्वया चोद्यतं वीर कुण्डलं मणिभूषितम् ॥ ६१ ॥

हे राक्षसश्रेष्ठ ! मेरे समीप आओ और मैं जो कुछ कहूँ उसे सुनो। हे वीर ! तुम जिस मणिजड़ित कुण्डल को उठाने गये थे ॥ ६१ ॥

एतद्धि पूर्वजस्यासीत्कर्णाभरणमीक्ष्यताम् ।
एतत्पतितवच्चैवमत्र भूमौ महाबल ॥ ६२ ॥

वह मेरे एक पूर्वपुरुष के एक कान का कुण्डल है। हे महाबली ! यह इसी तरह यहाँ पृथिवी पर गिरा था ॥ ६२ ॥

अन्यत्पर्वतसानौ हि पतितं कुण्डलादनु ।
मुकुटं वेदिसामीप्ये पतितं युध्यतो भुवि ॥६३॥

दूसरे कान का कुण्डल जब वे युद्ध कर रहे थे, तब पर्वतशृङ्ग पर गिरा था तथा उनके सीस का मुकुट वेदी के पास पृथिवी पर गिरा था ॥ ६३ ॥

हिरण्यकशिपोः पूर्वं मम पूर्वपितामहात् ।
न तस्य कालो मृत्युर्वा न व्याधिर्न विहिंसकाः ॥६४॥

न दिवा मरणं तस्य न रात्रौ सन्ध्योर्नहि ।
न शुष्केण न चार्द्रेण न च शस्त्रेण केनचित् ॥६५॥

मेरे पितामह हिरण्यकशिपु थे। उनको काल, मृत्यु या रोग किसी से भी भय न था। दिन में, रात में और दोनों सन्ध्याओं में वे मर नहीं सकते थे। न किसी सूखी और न किसी गीली वस्तु से और न किसी शस्त्र ही से वे मारे जा सकते थे ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

विद्यते राक्षसश्रेष्ठ तस्य नास्त्रेण केनचित् ।
प्रह्लादेन समं चक्रे वादं परमदारुणम् ॥ ६६ ॥

हे राक्षस ! विशेष क्या कहा जाय, किसी शस्त्र से उनकी मृत्यु न थी। किन्तु उन्होंने अपने पुत्र प्रह्लाद के साथ बड़ा झगड़ा किया ॥ ६६ ॥

तस्य वादे समुत्पन्ने घोरो लोकभयङ्करः ।
सर्ववर्यस्य वीरस्य प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ ६७ ॥
उत्पन्नो राक्षसश्रेष्ठ नृसिंहाकृतिरूपधृक् ।
दृष्टं च तेन रौद्रेण क्षुब्धं सर्वमशेषतः ॥ ६८ ॥

उन सर्वश्रेष्ठ महात्मा वीर का जब प्रह्लाद से विवाद उठ खड़ा हुआ, तब हे राक्षसश्रेष्ठ ! वे नृसिंह के रूप में प्रकट हुए। उनका रूप ऐसा भयङ्कर था कि, उस रूप को देख सब में खलबली मच गयी ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

तत उद्धृत्य बाहुभ्यां नखैर्निन्ये यमक्षयम् ।
एष तिष्ठति द्वारस्थो वासुदेवो निरञ्जनः ॥ ६९ ॥

तदनन्तर नृसिंह ने हिरण्यकशिपु को दोनों बाहों से उठा कर, अपने नखों से फाड़ कर मार डाला। हे राक्षस ! वे ही निरञ्जन वासुदेव द्वार पर खड़े हैं ॥ ६९ ॥

तस्य देवाधिदेवस्य गदतो मे शृणुष्व ह ।
वाक्यं परमभावेन यदि ते वर्तते हृदि ॥ ७० ॥

मैं उन देवाधिदेव के बारे में जो कुछ कहता हूँ, उसे यदि तुम ध्यान दे कर सुनोगे, तो तुम्हारी समझ में मेरी बातें आ जायँगी ॥ ७० ॥

इन्द्राणां च सहस्राणि सुराणामयुतानि च ।
ऋषीणां चैव मुख्यानां शतान्यब्दसहस्रशः ॥ ७१ ॥
वशं नीतानि सर्वाणि य एष द्वारि तिष्ठति ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥७२॥

सहस्र इन्द्रों, लक्ष देवताओं और सैकड़ों महर्षियों को जिन्होंने हज़ारों वर्षों तक अपने वश में कर रखा था, वे ही द्वार पर खड़े हैं। राजा वलि की इन वातों का सुन । रावण कहने लगा ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

मया प्रेतेश्वरो दृष्टः कृतान्तः सह मृत्युना ।
पाशहस्तो महाज्वाल ऊर्ध्वरोमा भयानकः ॥ ७३ ॥

हे राजन् ! मैंने उन प्रेतराज यमराज को मृत्यु के सहित देखा है, जो हाथ में महाज्वालायुक्त पाश लिये हुए थे और जिनके वाल खड़े थे और जिनको देखते लोग भयभीत हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

दंष्ट्रालो विद्युज्जिह्वश्च सर्पवृश्चिकरोमवान् ।
रक्ताक्षो भीमवेगश्च सर्वसत्त्वभयङ्करः ॥ ७४ ॥

उनकी वड़ी वड़ी डाढ़ें थीं और वे विजली की तरह जीभ लप लपाते थे । उनके नेत्र लाल थे और उनका वड़ा भयङ्कर वेग था । वे समस्त प्राणियों के लिये भयावह थे ॥ ७४ ॥

आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वनिवर्तकः ।
पापानां शासिता चैव स मया युधि निर्जितः ॥ ७५ ॥

जैसे सूर्य की ओर सहज में टकटकी वाँध कर कोई नहीं देख सकता, वैसे ही उनकी ओर भी कोई नहीं देख सकता । वे युद्ध

क्षेत्र में कभी पीठ नहीं दिखाते और पापियों को दण्ड दिया करते हैं। ऐसे यमराज को युद्ध में मैंने परास्त कर दिया ॥ ७५ ॥

न च मे तत्र भीः काचिद्यथा वा दानवेश्वर ।
एनं तु नाभिजानामि तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ७६ ॥

हे दानवेश्वर! वहाँ तो मुझे ज़रा भी डर नहीं लगा। किन्तु मैं इस पुरुष को नहीं जानता। अतः आप बतलाइये कि, यह कौन है ॥ ७६ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा बलिर्वैरोचनोऽब्रवीत् ।
एष त्रैलोक्यधाता च हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ ७७ ॥

रावण के यह वचन सुन विरोचन के पुत्र बलि बोले—हे रावण यह त्रिलोकी के विधानकर्ता नारायण हरि प्रभु हैं ॥ ७७ ॥

अनन्तः कपिलो जिष्णुर्नरसिंहो महाद्युतिः ।
क्रतुधामा सुधामा च पाशहस्तो भयानकः ॥ ७८ ॥

ये अनन्त, कपिल, विष्णु और महाद्युतिमान नृसिंह हैं। ये ही यज्ञपुरुष, महातेजस्वी और भयानक पाशहस्त हैं ॥ ७८ ॥

द्वादशादित्यसदृशः पुराणपुरुषोत्तमः ।
नीलजीमूतसङ्काशः सुरनाथः सुरोत्तमः ॥ ७९ ॥

ये ही द्वादश आदित्य के समान तेजस्वी, आदिपुरुष और पुरुषोत्तम हैं। इनकी कान्ति नीलमेघ जैसी है। ये ही सुरनाथ और सुरश्रेष्ठ हैं ॥७९ ॥

ज्वालामाली महाबाहो योगी भक्तजनप्रियः ।
एष धारयते लोकानेष वै सृजते प्रभुः ॥ ८० ॥

हे महाबाहो ! ये ज्वाला से घिरे हुए, योगी और भक्तजन-प्रिय हैं। ये ही समस्त लोकों को धारण किये हुए हैं और ये ही उनकी रचना करने वाले हैं ॥ ८० ॥

एष संहरते चैव कालो भूत्वा महाबलः ।
एष यज्ञश्च याज्यश्च चक्रायुधधरो हरिः ॥ ८१ ॥

ये ही महाबली काल बन कर, सब का संहार करते हैं। ये ही यज्ञ हैं और ये ही यज्ञभोक्ता और चक्रायुधधारी हरि हैं ॥ ८१ ॥

सर्वदेवमयश्चैव सर्वभूतमयस्तथा ।
सर्वलोकमयश्चैव सर्वज्ञानमयस्तथा ८२ ॥

ये सर्वदेवमय, सर्वभूतमय, सर्वलोकमय और सर्वज्ञानमय हैं ॥ ८२ ॥

सर्वरूपी महारूपी बलदेवो महाभुज ।
वीरहा वीरचक्षुर्मांस्त्रैलोक्यगुरुरव्ययः ॥ ८३ ॥

ये ही सर्वरूपी, ये ही महारूपी, ये ही बलदेव और ये ही बड़ी भुजाओं वाले (महाबलवान) हैं। ये ही वीरों को मारने वाले, वीरचक्षु, त्रिलोकी के गुरु और अविनाशी हैं ॥ ८३ ॥

एवं मुनिगणाः सर्वे चिन्तयन्तीह मोक्षिणः ।
य एवं वेत्ति पुरुषं न च पापैर्विलिप्यते ॥ ८४ ॥

जितने मुनिगण मोक्ष पाने के अभिलाषी हैं, वे सब इन्हींका ध्यान किया करते हैं। जो इन महापुरुष को जान लेते हैं, वे पापों से छूट जाते हैं ॥ ८४ ॥

स्मृत्वा स्तुत्वा तथेष्ट्वा च सर्वमस्मादवाप्यते ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रावणो निर्ययौ तदा ॥ ८५ ॥

जो इनका स्मरण, स्तुति और दर्शन करता है, उसके सकल अभीष्ट पूरे होते हैं। यह सुन कर रावण वहाँ से चल दिया ॥८५॥

क्रोधसंरक्त नयन उद्यतास्त्रो महाबलः ।
तथाभूतं च तं दृष्ट्वा हरिर्मुसलधृक्प्रभुः ॥ ८६ ॥

उस समय क्रोध के मारे उन महाबली की आँखें लाल हो गयी थीं और वह अस्त्र उठाये हुए था। मुसलधारी, प्रभु नारायण ने उसकी यह दशा देख, ॥ ८६ ॥

नैनं हन्म्यधुना पापं चिन्तयित्वेति रूपधृक् ।
अन्तर्धानं गतो राम ब्रह्मणः प्रियकाम्यया ॥ ८७ ॥

विचारा कि, मैं अभी इस पापी को नहीं मारूँगा। अतः हे राम! ब्रह्मा को प्रसन्न करने की इच्छा से वे अन्तर्धान हो गये ॥ ८७ ॥

न च तं पुरुषं तत्र पश्यते रजनीचरः ।
हर्षान्नादं विमुञ्चन्वै निष्क्रामन्वरुणालयात् ॥ ८८ ॥

रावण ने जब उनको द्वार पर न पाया, तब हर्षित हो उसने हर्षनाद किया और वह वरुणालय से निकला ॥ ८८ ॥

येनैव सम्प्रविष्टः स पथा तेनैव निर्ययौ ॥ ८९ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः ।

जिस मार्ग से वह वहां गया था, उसी मार्ग से वहाँ से निकल कर चला आया ॥ ८६ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः

—:०:—

अथ सञ्चिन्त्य लङ्केशः सूर्यलोकं जगाम ह ।
मेरुशृङ्गे वरे रम्ये उषित्वा तत्र शर्वरीम् ॥ १ ॥

अब लङ्केश कुछ सोच विचार कर सूर्यलोक में गया । रास्ते में सुमेरु पर्वत के प्रधान रमणीक शिखर पर उसने रात व्यतीत की ॥ १ ॥

पुष्पकं तत्समारुह्य रवेस्तुरगसन्निभम् ।
नानापातगतिर्दिव्यं विहार वियतिस्थितम् ॥ २ ॥

फिर वह, सूर्य के घोड़ों की तरह शीघ्रगामी पुष्पकविमान में बैठ, विचित्र गति से आकाश में विहार करता हुआ, सूर्यमण्डल में जा पहुँचा ॥ २ ॥

यत्रापश्यद्रविं देवं सर्वतेजोमयं शुभम् ।
वरकाञ्चनकेयूररत्नाम्बरविभूषितम् ॥ ३ ॥

उसने वहां जा कर देखा कि, समस्त तेज से युक्त, शुभ, दिव्य सोने के बाजूबंद धारण किये और रत्नाम्बर-विभूषित सूर्य भगवान् हैं ॥ ३ ॥

कुण्डलाभ्यां शुभाभ्यां तु भ्राजन्मुखविकासितम् ।
केयूरनिष्काभरणं रक्तमालावलम्बिनम् ॥ ४ ॥

उनका मुखमण्डल दिव्य कुण्डलों से शोभायमान है। गले में निष्क (गुंज या गोप) और भुजाओं में वे बाजूबंद पहिने हुए हैं तथा लाल रंग के फूलों की माला धारण किये हुए हैं ॥ ४ ॥

रक्तचन्दनदिग्धाङ्गं सहस्रकिरणोज्ज्वलम् ।
तमादिदेवमादित्यमुच्चैःश्रवसवाहनम् ॥ ५ ॥

शरीर में लाल चंदन लगाये हुए और सहस्र किरणों से प्रकाशमान हो रहे हैं। वे आदिदेव सूर्य नारायण उच्चैःश्रवा जाति के घोड़ों से जुते हुए रथ पर सवार हैं ॥ ५ ॥

अनाद्यन्तममध्यं च लोकसाक्षिं जगत्पतिम् ।
तं दृष्ट्वा प्रवरं देवं रावणो रक्षसां वरः ॥ ६ ॥

आदि, अन्त और मध्य-रहित, लोकसाक्षी, जगत्पति, देवश्रेष्ठ सूर्य भगवान् को, राक्षसश्रेष्ठ रावण ने देखा ॥ ६ ॥

स प्रहस्तमुवाचाथ रवितेजोबलार्दितः ।
गच्छामात्य वदस्वैनं निदेशान्मम शासनम् ॥ ७ ॥

सूर्य के तेजोबल से पीड़ित रावण ने, प्रहस्त से कहा—हे सचिव ! तुम सूर्य के पास जा कर, मेरी यह आज्ञा उनको सुना दो कि, ॥ ७ ॥

युद्धार्थं रावणः प्राप्तो युद्धं तस्य प्रदीयताम् ।
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूहि पक्षमेकतरं कुरु ॥ ८ ॥

रावण तुम से लड़ने के लिये आया है, अतः उसके साथ युद्ध कीजिये अथवा अपनी हार स्वीकार कीजिये। इन दो में से एक बात शीघ्र कहिये ॥ ८ ॥

तस्य तद्वचनाद्रक्षः सूर्यस्यान्तिकमागमत् ।
पिङ्गलं दण्डिनं चैव पश्य ते द्वारपालकौ ॥ ९ ॥

यह सुन कर प्रहस्त सूर्य के पास गया और उनके पिङ्गल और दण्डी नामक दो द्वारपालों से मिला ॥ ९ ॥

ताभ्यामाख्याय तत्सर्वं रावणस्य विनिश्चयम् ।
तूष्णीमास्ते प्रहस्तस्तु तत्र तेजोंऽशुदीपितः ॥ १० ॥

उसने उनसे रावण का सन्देश कहा और वह वहां चुपचाप खड़ा हो गया। क्योंकि सूर्य की किरणों के ताप से वह उत्तप्त हो रहा था ॥ १० ॥

दण्डी गतो रवेः पार्श्वं प्रणम्याख्यातवान् रवेः ।
श्रुत्वा तु सूर्यस्तद्वृत्तं दण्डिनो रावणस्य ह ॥ ११ ॥

दण्डी ने सूर्य भगवान् के निकट जा और उनको प्रणाम कर, उनसे रावण का संदेसा कहा। दण्डी के मुख से रावण का संदेसा सुन, ॥ ११ ॥

उवाच वचनं धीमान्बुद्धिं पूर्वं क्षपापहः ।
गच्छ दण्डिन् जयस्वैनं निर्जितोऽस्मीति वा वद ॥१२॥

विचारवान् सूर्यदेव सोच विचार कर बोले—हे दण्डिन्! तुम जा कर या तो उसे युद्ध में परास्त करो अथवा उससे यह कह दो कि, मैं हार गया ॥ १२ ॥

यत्तेऽभिकाङ्क्षितं कार्षीः कञ्चित्कालं क्षपाचरम् ।
स गत्वा वचनात्तस्य राक्षसस्य महात्मनः ॥ १३ ॥

अथवा जैसा चाहो वैसा उसके साथ व्यवहार करो। सूर्य की आज्ञा से वह रावण के पास गया ॥ १३ ॥

कथयामास तत्सर्वं सूर्योक्तवचनं तदा ।
स श्रुत्वा वचनं तस्य दण्डिनो राक्षसेश्वरः ।
घोषयित्वा जगामाथ स्वजयं राक्षसाधिपः ॥ १४ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः ॥

और सूर्य ने जो कहा था सो उसको सुना दिया। राक्षसराज रावण ने दण्डी के वचन सुन, अपने नाम से विजयघोषणा कर वहाँ से प्रस्थान किया ॥ १४ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त दूसरा सर्ग पूरा हुआ।

—*—

प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः

—:०:—

अथ सञ्चिन्त्य लङ्केशः सोमलोकं जगाम ह ।
मेरुशृङ्गवरे रम्ये रजनीमुष्य वीर्यवान् ॥ १ ॥

तदनन्तर रावण कुछ सोच विचार कर और रास्ते में एक रात मेरुपर्वत के शिखर पर बिता कर, सवेरा होते ही चन्द्रलोक में जा पहुँचा ॥ १ ॥

अथस्यन्दनमारूढो दिव्यस्रगनुलेपनः ।
अप्सरोगणमुख्येन सेव्यमानस्तु गच्छति ॥ २ ॥

वहाँ जा कर राक्षसराज रावण ने देखा कि, दिव्य पुष्पों की माला पहिने और दिव्य चन्दनादि लगाये और मुख्य मुख्य अप्सराओं सहित एक पुरुष रथ में बैठा हुआ चला जा रहा है ॥ २ ॥

रतिश्रान्तोऽप्सरोऽङ्केषु चुम्बितः सविबुध्यते ।
दृष्टस्तु पुरुषस्तेन दृष्ट्वा कौतूहलान्वितः ॥ ३ ॥

जब वह रति से थक जाता था, तब अप्सराएँ उसको अपनी गोद में ले कर चूमती थीं। फिर वह जाग जाता था। यह देख रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३ ॥

अथापश्यदृषिं तत्र दृष्ट्वा चैवमुवाच तम् ।
स्वागतं तव देवर्षे कालेनैवागतो ह्यसि ॥ ४ ॥

इतने ही में रावण को (पर्वत नामक) एक ऋषि देख पड़े। उनको देख रावण ने उनसे कहा कि, हे देवर्षे! मैं आपका स्वागत करता हूँ। आपने अच्छे समय पर दर्शन दिये ॥ ४ ॥

कोऽयंस्यन्दनमारूढो ह्यप्सरोगणसेवितः ।
निर्लज्ज इव संयाति भयस्थानं न विन्दति ॥ ५ ॥

आप यह तो बतलाइये कि, अप्सराओं से सेवित और रथ पर सवार हो, निर्लज्ज मनुष्य की तरह यह कौन चला जाता है। इसे उपस्थित भय की कुछ परवाह ही नहीं है ॥ ५ ॥

रावणेनैवमुक्तस्तु पर्वतो वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु वत्स यथातत्त्वं वक्ष्ये चाहं महामते ॥ ६ ॥

रावण के इस प्रकार कहने पर पर्वत ऋषि बोले—हे वत्स ! हे महामते ! मैं इसका यथार्थ वृत्तान्त कहता हूँ। सुनो ॥ ६ ॥

अनेन निर्जिता लोका ब्रह्मा चैवाभितोषितः ।
एष गच्छति मोक्षाय सुसुखं स्थानमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इसने तपोबल से समस्त लोकों को जीत लिया है और ब्रह्मा जी को भी सन्तुष्ट किया है। अब यह मोक्ष के लिये सुखमय उत्तम स्थान को जा रहा है ॥ ७ ॥

तपसा निर्जिता यद्वद्भवता राक्षसाधिप ।
प्रयाति पुण्यकृत्तद्वत्सोमं पीत्वा न संशयः ॥८॥

हे राक्षसाधिप ! जैसे आपने तपस्या कर लोकों को जीता है, वैसे ही, हे वत्स ! यह पुण्यात्मा सोमपान करता हुआ जा रहा है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

त्वं तु राक्षसशार्दूल शूरः सत्यपराक्रमः ।
नैवेदृशेषु क्रुद्ध्यन्ति बलिनो धर्मचारिषु ॥ ९ ॥

तुम तो राक्षसशार्दूल हो, शूर हो और सत्यपराक्रमी हो। अतः (तुम जैसे) बलवान् पुरुष ऐसे धर्मात्मा जनों के ऊपर क्रोध नहीं करते ॥ ९ ॥

अथापश्यद्रथवरं महाकायं महौजसम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा गीतवादित्र निःस्वनैः ॥ १० ॥

इतने में रावण ने एक दूसरा विशाल उत्तम रथ देखा। यह रथ अपनी चमक से चमक रहा था। उसके भीतर गाना बजाना हो रहा था ॥ १० ॥

कैष गच्छति देवर्षे भ्राजमानो महाद्युतिः।
किन्नरैश्च प्रगायद्भिर्नृत्यद्भिश्च मनोरमम् ॥ ११ ॥

(उसे देख) रावण ने मुनि से पूँछा—हे देवर्षे! यह महाद्युतिमान् पुरुष जो गाते और नाचते हुए किन्नरों के साथ जा रहा है, कौन है और कहाँ को जाता है ॥ ११ ॥

श्रुत्वा चैनमुवाचाथ पर्वतो मुनिसत्तमः।
एष शूरो रणे योद्धा संग्रामेष्वनिवर्तकः ॥ १२ ॥

यह सुन कर, ऋषिश्रेष्ठ पर्वत ने रावण से कहा—यह बड़ा शूर योद्धा है। समरभूमि में इसने कभी पीठ नहीं दिखलाई ॥ १२ ॥

युध्यमानस्तथैवैष प्रहारैर्जर्जरीकृतः।
कृती शूरो रणेजेता स्वाम्यर्थे त्यक्तजीवितः ॥ १३ ॥

यह बड़ा शूर है, चतुर है और कितने ही युद्ध इसने जीते हैं। यह युद्ध में लड़ता लड़ता, प्रहारों से जर्जरित हो, मारा गया है। इसने अपने मालिक के लिये प्राण गँवाये हैं ॥ १३ ॥

संग्रामे निहतोऽमित्रैर्हत्वा च समरे बहून्।
इन्द्रस्यातिथिरेवैष अथ वा यत्र गच्छति ॥ १४ ॥

इसने युद्ध में अनेक शत्रुओं को मारा है। अब यह इन्द्र का अतिथि है अथवा किसी अन्य पुण्यलोक में जा रहा है ॥ १४ ॥

नृत्यगीतपरैर्लोकैः सेव्यते नरसत्तमः ।
पप्रच्छ रावणो भूयः कोऽयं यात्यर्कसन्निभः ॥ १५ ॥

इसीसे यह नरश्रेष्ठ गाने बजाने वाले किन्नरों के साथ जा रहा है। तदनन्तर रावण ने फिर पूँछा कि, सूर्य के समान द्युतिमान् यह कौन पुरुष जा रहा है? ॥ १५ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा पर्वतो वाक्यमब्रवीत् ।
य एष दृश्यते राजन्विमाने सर्वकाञ्चने ॥ १६ ॥

रावण के इस प्रश्न को सुन, पर्वत मुनि बोले—हे राजन्! जो यह सोने के विमान पर चढ़ा हुआ दिखलाई पड़ता है ॥ १६ ॥

अप्सरोगणसंयुक्ते पूर्णचन्द्रनिभाननः ।
सुवर्णदो महाराज विचित्राभरणाम्बरः ॥ १७ ॥

और जो अप्सराओं के साथ चला जाता है और जो पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुखवाला है, इसने सुवर्ण का दान किया है। इसीसे विचित्र वस्त्राभूषण से भूषित हो ॥ १७ ॥

एष गच्छति शीघ्रेण यानेन तु महाद्युतिः ।
पर्वतस्य वचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥१८॥

यह महाकान्तिमान्. शीघ्रगामी सवारी पर सवार हो, जा रहा है। पर्वत के इस वचन को सुन रावण ने कहा ॥ १८ ॥

एते वै यान्ति राजानो ब्रूहि त्वमृषिसत्तम ।
कोऽह्यत्रयाचितो दद्याद्युद्धातिथ्यं ममाद्य वै ॥१९॥

हे ऋषिश्रेष्ठ! इतने राजा चले जाते हैं, क्या इनमें ऐसा भी कोई राजा है, जो प्रार्थना करने से युद्ध द्वारा मेरा आतिथ्य करे ॥१९॥

तं ममाख्याहि धर्मज्ञ पिता मे त्वं हि धर्मतः ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच रावणं पर्वतस्तदा ॥ २० ॥

हे धर्मज्ञ ! आप धर्म के मेरे पिता हैं। मुझसे युद्ध करने योग्य किसी राजा को आप मुझे बतला दें। यह कहने पर पर्वत ने रावण से कहा ॥ २० ॥

स्वर्गार्थिनो महाराजनैते युद्धार्थिनो नृपाः ।
वक्ष्यामि ते महाभाग यस्ते युद्धं प्रदास्यति ॥ २१ ॥

हे महाराज ! ये सब राजा स्वर्गवास की चाहना रखने वाले हैं, युद्धाभिलाषी नहीं हैं। हे महाभाग ! जो राजा तुमसे लड़ेगा उसका नाम मैं तुम्हें बतलाये देता हूँ ॥ २१ ॥

स तु राजा महातेजाः सप्तद्वीपेश्वरो महान् ।
मान्धातेत्यभि विख्यातः स ते युद्धं प्रदास्यति ॥२२॥

सात द्वीपों के अधीश्वर, अति तेजस्वी मान्धाता नाम के एक प्रसिद्ध राजा हैं। वे तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे ॥ २२ ॥

पर्वतस्य वचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
कुतोसौ तिष्ठते राजा तत्समाचक्ष्व सुव्रत ॥ २३ ॥

पर्वत के यह वचन सुन, रावण ने उनसे कहा—हे सुव्रत ! यह राजा कहाँ रहता है ? आप सविस्तर मुझे बतलाइये ॥ २३ ॥

सोहं यास्यामि तत्रैव यत्रासौ नरपुङ्गवः ।
रावणस्य वचः श्रुत्वा मुनिर्वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

जिससे मैं वहीं जाऊँ, जहाँ वह पुरुषश्रेष्ठ (राजा) रहता है। रावण का वचन सुन, मुनि जी बोले ॥ २४ ॥

युवनाश्वसुतो राजा मान्धाता राजसत्तमः ।
सप्तद्वीपसमुद्रान्तां जित्वेहाभ्यागमिष्यति ॥ २५ ॥

नृपश्रेष्ठ मान्धाता, महाराज युवनाश्व के पुत्र हैं। वे सप्तद्वीपमयी आसमुद्रान्त समस्त पृथिवी को जीत यहाँ आवेंगे ॥ २५ ॥

अथापश्यन्महाबाहुस्त्रैलोक्ये वरदर्पितः ।
अयोध्यायाः पतिं वीरं मान्धातारं नृपोत्तमम् ॥२६॥

इतने में त्रिलोकी में विख्यात और वरगर्वित महाबली रावण ने देखा कि, अयोध्याधिपति नृपश्रेष्ठ वीर महाराज मान्धाता, ॥२६॥

सप्तद्वीपाधिपं यान्तं चन्दनेन विराजता ।
काञ्चनेन विचित्रेण माहेन्द्राभेण भास्वता ॥ २७ ॥

जो सातों द्वीपों के अधीश्वर थे, दिव्यचन्दन लगाये और इन्द्र के रथ की तरह चमचमाते सोने के विचित्र रथ पर बैठे हुए आ रहे हैं; ॥ २७ ॥

जाज्वल्यमानं रूपेण दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
तमुवाच दशग्रीवो युद्धं मे दीयतामिति ॥ २८ ॥

वे अपने रूप से प्रकाशमान हैं और दिव्यगन्धयुक्त अनुलेपन (चन्दनादि) लगाये हुए हैं। उनसे रावण ने कहा कि, मुझसे युद्ध कीजिये ॥ २८ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवं प्रहस्येदमुवाच ह ।
यदि ते जीवितं नेष्टं ततो युद्ध्यस्व राक्षस ॥२९॥

यह सुन कर, महाराज मान्धाता ने हँस कर उससे कहा—हे राक्षस! यदि तुझे अपना जीवन भार मालूम पड़ता हो, तो तू मुझसे लड़ ॥ २९ ॥

मान्धातुर्वचनं श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
वरुणस्य कुबेरस्य यमस्यापि न विव्यथे ॥ ३० ॥

महाराजा मान्धाता के ये वचन सुन, रावण कहने लगा—जो रावण वरुण, कुबेर और यम तक से, युद्ध करने में व्यथित न हुआ; ॥ ३० ॥

किं पुनर्मानुषात्त्वत्तो रावणो भयमाविशेत् ।
एवमुक्त्वा राक्षसेन्द्रः क्रोधात्संप्रज्वलन्निव ॥ ३१ ॥

वह रावण भला तुझ मनुष्य से क्या डरेगा? यह कह कर रावण ने क्रोध से आग बबूला हो ॥ ३१ ॥

आज्ञापयामास तदा राक्षसान्युद्धदुर्मदान् ।
अथ क्रुद्धास्तु सचिवा रावणस्य दुरात्मनः ॥ ३२ ॥

अपने साथी युद्धदुर्मद राक्षसों को लड़ने की आज्ञा दी। दुरात्मा रावण के मंत्री क्रुद्ध हुए ॥ ३२ ॥

ववर्षुः शरजालानि क्रुद्धा युद्धविशारदाः ।
अथ राज्ञा बलवता कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ॥ ३३ ॥

और वे रणनिपुण राक्षस बाण बरसाने लगे। तब महाबली महाराज मान्धाता ने कंकपत्र युक्त पैने पैने ॥ ३३ ॥

इषुभिस्ताडिताः सर्वे प्रहस्तशुकसारणाः ।
महोदरविरूपाक्षा ह्यकम्पनपुरोगमाः ॥ ३४ ॥

बाणों से प्रहस्त, शुक, सारण, महोदर, विरूपाक्ष, अकम्पनादि मुख्य राक्षसों को व्यथित किया ॥ ३४ ॥

अथ प्रहस्तस्तु नृपमिषुवर्षैरवाकिरत् ।
अप्राप्तानेव तान्सर्वान्प्रचिच्छेद नृपोत्तमः ॥३५॥

प्रहस्त ने बाण वर्षा कर महाराज मान्धाता को ढक दिया। किन्तु उन सब बाणों को नृपश्रेष्ठ महाराज ने, अपने पास आने के पूर्व ही काट कर गिरा दिया ॥ ३५ ॥

भुशुण्डीभिश्च भल्लैश्च भिन्दिपालैश्च तोमरैः ।
नरराजेन दह्यन्ते तृणभारा इवाग्निना ॥ ३६ ॥

आग जिस प्रकार तिनकों को जला कर भस्म कर डालती है, नरराज महाराज मान्धाता ने उसी प्रकार राक्षसों की सेना को सैकड़ों भुशुण्डियों, भालों भिन्दपालों और तोमरों से विदीर्ण कर डाला ॥ ३६ ॥

ततो नृपवरः क्रुद्धः पञ्चभिः प्रविभेद तम् ।
तोमरैश्च महावेगैः पुनः क्रौञ्चमिवाग्निजः ॥ ३७ ॥

अग्निकुमार कार्तिकेय ने जैसे अपने तीरों से क्रौञ्चपर्वत को विदीर्ण कर डाला था, वैसे ही मान्धाता ने क्रोध में भर, पाँच अति वेगवान् तोमरों से प्रहस्त को घायल किया ॥ ३७ ॥

ततो मुहुर्भ्रामयित्वा मुद्गरं यमसन्निभम् ।
प्राहरत्सोऽतिवेगेन राक्षसस्य रथं प्रति ॥ ३८ ॥

तदनन्तर महाराज ने यम के समान भयङ्कर मुद्गर को कई बार घुमा कर, रावण के रथ पर फैंका ॥ ३८ ॥

[नोट—रावण तो पुष्पकविमान में बैठ कर घूमता फिरता था। उसके पास चन्द्रलोक में रथ कहां से आया? इन प्रक्षिप्त सर्गों के बनाने वाले महात्मा ने इस बात का ध्यान नहीं रखा।]

स पपात महावेगो मुद्गरो वज्रसन्निभः ।
स तूर्णं पातितस्तेन रावणः शक्रकेतुवत् ॥ ३९ ॥

वज्र के तुल्य वह मुद्गर महावेग से रावण के रथ के ऊपर गिरा। उसके गिरने से इन्द्रध्वज की तरह रावण रथ के नीचे गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

तदा स नृपतिः प्रीत्या हर्षोद्गतबलोबभौ ।
सकलेन्दुकलाः स्पृष्ट्वा यथाम्बु लवणांभसः ॥ ४० ॥

उस समय महाराज मान्धाता ऐसे प्रसन्न हुए, जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा को छूने के लिये क्षारसमुद्र हर्षित हो उमड़ता है ॥ ४० ॥

ततो रक्षो बलं सर्वं हाहा भूतमचेतनम् ।
परिवार्याथ तं तस्थौ राक्षसेन्द्रं समन्ततः ॥ ४१ ॥

रावण की सेना के लोग हाहाकार करते हुए मूर्च्छित रावण को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये ॥ ४१ ॥

ततश्चिरात्समाश्वास्य रावणो लोकरावणः ।
मान्धातुः पीडयामास देहं लङ्केश्वरो भृशम् ॥ ४२ ॥

बहुत देर बाद रावण को चेत हुआ। चेत होने पर लोकों को रुलाने वाले रावण ने महाराज मान्धाता पर बड़े बड़े शस्त्र चलाये और वह उन्हें बहुत पीड़ित करने लगा ॥ ४२ ॥

मूर्च्छितं तु नृपं दृष्ट्वा प्रहृष्टास्ते निशाचराः ।
चुक्रुशुः सिंहनादांश्च प्रक्ष्वेलन्तो महाबलाः ॥ ४३ ॥

रावण के प्रहारों से महाराज मान्धाता भी मूर्च्छित हो गये। उनके मूर्च्छित होते ही राक्षस सिंहनाद करके गर्जने लगे ॥ ४३ ॥

लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन अयोध्याधिपतिस्तदा ।
दृष्ट्वा तं मन्त्रिभिः शत्रुं पूज्यमानं निशाचरैः ॥ ४४ ॥

किन्तु मुहूर्त्त भर ही मूर्च्छित रह, अयोध्याधिपति महाराज मान्धाता सचेत हो गये । सचेत होने पर उन्होंने देखा कि, रावण के मंत्री रावण की बड़ी बड़ाई कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

जातकोपो दुराधर्षश्चन्द्रार्कसदृशद्युतिः ।
महता शरवर्षेण पातयद्राक्षसं बलम् ॥ ४५ ॥

यह देख, दुराधर्ष और चन्द्रमा की तरह द्युतिमान महाराज मान्धाता अत्यन्त क्रुद्ध हुए और बाणों की वर्षा से राक्षसी सेना को ध्वस्त करने लगे ॥ ४५ ॥

चापस्यैव निनादेन तस्य बाणरवेण च ।
सञ्चचाल ततः सैन्यमुद्भूत इव सागरः ॥ ४६ ॥

उस समय खलबलाते हुए समुद्र की तरह महाराज मान्धाता के धनुष की टंकार से और बाणों की सरसराहट से रावण की सेना खलबला उठी ॥ ४६ ॥

तद्युद्धमभवद्घोरं नरराक्षससङ्कुलम् ।
अथाविष्टौ महात्मानौ नरराक्षस सत्तमौ ॥ ४७ ॥

इस प्रकार नर और राक्षस का घोर संग्राम होने लगा । तदनन्तर महात्मा नरराज मान्धाता और राक्षसश्रेष्ठ रावण ॥ ४७ ॥

कार्मुकासिधरौ वीरौ वीरासनगतौ तदा ।
मान्धाता रावणं चैव रावणश्चैव तं नृपम् ॥४८॥

धनुष और तलवार ले और वीरासन बांध लड़ने लगे ॥४८॥

क्रोधेन महताविष्टौ शरवर्षं मुमोचतुः ।
तौ परस्परसंक्षोभात्प्रहारैःक्षतविक्षतौ ॥ ४९ ॥

दोनों ही महाक्रोध में भर एक दूसरे के ऊपर बाणों की वर्षा करने लगे। उस समय क्षुब्ध हो कर प्रहार करते हुए दोनों ही के शरीर शस्त्रों के आघात से घायल हो गये ॥ ४९ ॥

कार्मुकेऽस्त्रं समाधाय रौद्रमस्त्रममुञ्चत ।
आग्नेयेन तु मान्धाता तदस्त्रं पर्यवारयत् ॥ ५० ॥

रावण ने धनुष पर रौद्रास्त्र रख कर छोड़ा, तब मान्धाता ने आग्नेयास्त्र से उसको निवारण किया ॥ ५० ॥

गान्धर्वेण दशग्रीवो वारुणेन च राजराट् ।
गृहीत्वा स तु ब्रह्मास्त्रं सर्वभूतभयावहम् ॥ ५१ ॥

जब रावण ने गन्धर्वास्त्र चलाया, तब मान्धाता ने उसको वारुणास्त्र से निवारण किया। फिर रावण ने सब प्राणियों को भयभीत करने वाला ब्रह्मास्त्र उठाया ॥ ५१ ॥

वेदयामास मान्धाता दिव्यं पाशुपतं महत् ।
तदस्त्रं घोररूपं तु त्रैलोक्यभयवर्धनम् ॥ ५२ ॥

तब महाराज मान्धाता ने दिव्य पाशुपतास्त्र हाथ में लिया। त्रिलोकी को भयभीत करने वाले उस महाभयङ्कर अस्त्र को ॥५२॥

दृष्ट्वा त्रस्तानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
वरदानात्तु रुद्रस्य तपसाराधितं महत् ॥ ५३ ॥

देख कर, सब चराचर प्राणी त्रस्त हो गये। उस अस्त्र को महाराज ने तप द्वारा महादेव जी को प्रसन्न कर वरदान में पाया था ॥ ५३ ॥

ततः संकम्पते सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
देवाः संकम्पिताः सर्वे लयं नागाश्च सङ्गताः ॥५४॥

उस समय चराचर समेत तीनों लोक थर्रा उठे। देवता काँप उठे और नाग भाग कर पाताल में घुस गये ॥ ५४ ॥

अथ तौ मुनिशार्दूलौ ध्यानयोगादपश्यताम् ।
पुलस्त्यो गालवश्चैव वारयामास तं नृपम् ॥५५॥

इसी बीच में मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्य जी और गालव ने योगबल से इस भावी अनर्थ को जान लिया। तब वे दोनों वहाँ पहुचे और मान्धाता को उस महास्त्र के चलाने से रोका ॥ ५५ ॥

सोपालंभैश्च विविधैर्वाक्यै राक्षससत्तमम् ।
तौ तु कृत्वा तदा प्रीतिं नरराक्षसयोस्तदा ।
संप्रस्थितौ सुसंहृष्टौ पथा येनैव चागतौ ॥ ५६ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः ॥

उन्होंने रावण को विविध प्रकार के वचन कह कर धिक्कारा भी। तदनन्तर महाराज मान्धाता और राक्षसराज रावण में मैत्री हो गयी और दोनों ही हर्षित होते हुए जिस जिस मार्ग से आये थे; उसी उसी मार्ग से चले गये ॥ ५६ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त तीसरा सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

प्रक्षिप्तेषु चतुर्थः सर्गः

—:०:—

गताभ्यामथ विप्राभ्यां रावणो राक्षसाधिपः।
दशयोजनसाहस्रं प्रथमं तु मरुत्पथम् ॥ १ ॥

उन दोनों ब्राह्मणों (पुलस्त्य और गालव) के चले जाने पर राक्षसराज रावण दस हज़ार योजन की दूरी पर प्रथम वायुमार्ग में चला गया ॥ १ ॥

यत्र तिष्ठन्ति नित्यं हि हंसाः सर्वगुणान्विताः।
अथ ऊर्ध्वं तु गत्वा वै मरुत्पथमनुत्तमम् ॥ २ ॥

जहाँ पर सर्वगुणसम्पन्न हंस पक्षी सदा रहते हैं। इससे भी ऊँचे दूसरे पवनमार्ग में रावण चढ़ गया ॥ २ ॥

दशयोजनसाहस्रं तदेव परिगण्यते।
तत्र सन्निहिता मेघास्त्रिविधा नित्यशः स्थिताः ॥३॥

इस वायुमण्डल का परिमाण भी दस हज़ार योजन का माना जाता है। यहाँ तीन प्रकार के मेघ सदा रहते हैं ॥ ३ ॥

आग्नेयाः पक्षिणो ब्राह्मास्त्रिविधास्तत्र ते स्थिताः।
अथ गत्वा तृतीयं तु वायोः पन्थानमुत्तमम् ॥ ४ ॥

ये अग्निज, पक्षज और ब्रह्मज यहाँ सदा रहते हैं। तदनन्तर रावण दूसरे से तीसरे वायुमार्ग में चढ़ गया जो कि, बड़ा उत्तम है ॥ ४ ॥

नित्यं यत्र स्थिताः सिद्धाश्चारणश्च मनस्विनः।
दशैव तु सहस्राणि योजनानां तथैव च ॥ ५ ॥

वहाँ बड़े बड़े मनस्वी सिद्ध और चारण वास करते हैं। इसका भी परिमाण दस हज़ार योजन का है ॥ ५ ॥

चतुर्थं वायुमार्गं तु शीघ्रं गत्वा परन्तप ।
वसन्ति यत्र नित्यस्था भूताश्च सविनायकाः ॥ ६ ॥

शत्रुविनाशी राक्षसराज रावण शीघ्र तीसरे से चौथे वायुमण्डल में पहुँचा। यहाँ पर भूत और विनायकगण सदा वास किया करते हैं ॥ ६ ॥

अथ गत्वा स वै शीघ्रं पञ्चमं वायुगोचरम् ।
दशैव च सहस्राणि योजनानां तथैव च ॥ ७ ॥

चौथे वायुमण्डल से रावण तुरन्त पाँचवें वायुमण्डल में पहुँचा। इस मण्डल का भी परिमाण दस हज़ार योजन का है ॥ ७ ॥

गङ्गा यत्र सरिच्छ्रेष्ठा नागा वै कुमुदादयः ।
कुञ्जरास्तत्र तिष्ठन्ति ये तु मुञ्चन्ति सीकरम् ॥ ८ ॥

यहाँ पर नदियों में श्रेष्ठ श्रीगङ्गा और कुमुदादि हाथी रहते हैं; जो जल की बूँदें टपकाया करते हैं ॥ ८ ॥

गङ्गातोयेषु क्रीडन्ति पुण्यं वर्षन्ति सर्वशः ।
ततो रविकरभ्रष्टं वायुना पेशलीकृतम् ॥ ९ ॥

ये बड़े बड़े गजेन्द्र श्रीगङ्गा जी में विहार करते और पवित्र जल बरसाया करते हैं। वहाँ सूर्य की किरणों से छूटा हुआ और पवन द्वारा निर्मल ॥ ९ ॥

जलं पुण्यं प्रपतति हिमं वर्षति राघव ।
ततो जगाम षष्ठं स वायुमार्गं महाद्युते ॥ १० ॥

और पवित्र हो कर जल गिरता है। हे राम! वहाँ हिम वर्फ की भी वर्षा होती है। हे महाद्युते! फिर रावण छठवें वायुमण्डल गया ॥ १० ॥

योजनानां सहस्राणि दशैव तु स राक्षसः ।
यत्रास्ते गरुडो नित्यं ज्ञातिबान्धवसत्कृतः ॥ ११ ॥

इस वायुमण्डल का भी परिमाण दस हज़ार का है। वहाँ गरुड़ जी अपने कुटुम्बियों और बान्धवों से सत्कारित हो रहा करते हैं ॥ ११ ॥

दशैव तु सहस्राणि योजनानां तथोपरि ।
सप्तमे वायुमार्गे च यत्रैते ऋषयः स्मृताः ॥ १२ ॥

तदनन्तर रावण दस हज़ार योजन के भी ऊपर सातवें वायुमण्डल में, जहाँ सप्तर्षिगण वास करते हैं, गया ॥ १२ ॥

अत ऊर्ध्वं तु गत्वा वै सहस्राणि दशैव तु ।
अष्टमं वायुमार्गं तु यत्र गङ्गा प्रतिष्ठिता ॥ १३ ॥

तदनन्तर रावण दस हज़ार योजन के भी ऊपर आठवें वायुमण्डल में गया, जहाँ पर श्रीगङ्गा जी हैं ॥ १३ ॥

आकाशगङ्गा विख्याता आदित्यपथसंस्थिता ।
वायुना धार्यमाणा सा महावेगा महास्वना ॥ १४ ॥

उन महावेग वाली और महाशब्द करने वाली प्रसिद्ध आकाशगङ्गा को पवन आदित्य मार्ग में धारण किये हुए हैं ॥ १४ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि चन्द्रमा यत्र तिष्ठति।
अशीतिं तु सहस्राणि योजनानां प्रमाणतः॥ १५॥

आठवें वायुमण्डल के ऊपर चन्द्रमा हैं। यह अस्सी हज़ार योजन की दूरी पर है॥ १५॥

चन्द्रमास्तिष्ठते यत्र नक्षत्रग्रहसंयुतः।
शतं शतसहस्राणि रश्मयश्चन्द्रमण्डलात्॥ १६॥

यहीं पर नक्षत्रों और ग्रहों सहित चन्द्रमा विराजमान हैं। चन्द्रमण्डल से सैकड़ों हज़ारों किरनें निकलती हैं॥ १६॥

प्रकाशयन्ति लोकांस्तु सर्वसत्त्वसुखावहाः।
ततो दृष्ट्वा दशग्रीवं चन्द्रमा निर्दहन्निव॥ १७॥

और लोकों को प्रकाशित कर सुखी करती हैं। फिर चन्द्रमा ने मानों देखते ही रावण को जलाया॥ १७॥

स तु शीताग्निना शीघ्रं प्रादहद्रावणं तदा।
नासहंस्तस्य सचिवाः शीताग्निभयपीडिताः॥ १८॥

चन्द्रमा अपने शीताग्नि से रावण को शीघ्र भस्म करने लगे। तब रावण के मंत्री उस ठंड को न सह सके। वे भय से पीड़ित हुए॥ १८॥

रावणं जयशब्देन प्रहस्तोऽथैनमब्रवीत्।
राजञ्शीतेन वत्स्यामो निवर्तामि इतो वयम्॥ १९॥

तब महाराज की जय हो, कह कर, प्रहस्त ने रावण से कहा—हे राजन्! हम लोग तो मारे शीत के ऐंठे जाते हैं। अतः हम लोग यहाँ नहीं ठहर सकते। हम तो यहाँ से लौटे जाते हैं॥ १९॥

चन्द्ररश्मिप्रतापेन रक्षसां भयमाविशत् ।
स्वभाव एष राजेन्द्र शीतांशोर्दहनात्मकः ॥ २० ॥

हे राजेन्द्र ! चन्द्रमा की किरणों के प्रभाव से राक्षस भयभीत हो गये हैं। क्योंकि चन्द्रमा का शीताग्नि से जलाने का स्वभाव ही है ॥ २० ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रहस्तस्य रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
विस्फार्य धनुरुद्यम्य नाराचैस्तमपीडयत् ॥ २१ ॥

प्रहस्त के इन वचनों को सुन, रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और धनुष पर रोदा चढ़ा चन्द्रमा को बाणों से पीड़ित करने लगा ॥ २१ ॥

अथ ब्रह्मा तदागच्छत्सोमलोकं त्वरान्वितः ।
दशग्रीव महाबाहो साक्षाद्विश्रवसः सुत ॥ २२ ॥

तब तो तत्काल ब्रह्मा जी चन्द्रलोक में आ उपस्थित हुए और रावण से बोले—हे दशानन ! हे महाबाहु ! हे विश्रवा के पुत्र ! ॥ २२ ॥

गच्छ शीघ्रमितः सौम्य मा चन्द्रं पीडयस्व वै ।
लोकस्य हितकामो वै द्विजराजो महाद्युतिः ॥२३॥

हे सौम्य ! तुम यहां से तुरन्त चले जाओ और चन्द्रमा को पीड़ित मत करो। क्योंकि यह महाकान्तिमान द्विजराज चन्द्रदेव, सदा लोकों के हितसाधन ही में प्रवृत्त रहते हैं ॥ २३ ॥

मन्त्रं च सम्प्रदास्यामि प्राणात्ययगतिर्यदा ।
यस्त्वेतं संस्मरेन्मन्त्रं नासौ मृत्युमवाप्नुयात् ॥२४॥

मैं तुमको एक मंत्र बतलाता हूँ। प्राणों पर सङ्कट आ पड़ने पर, यह स्मरण करने योग्य है। जो इस मंत्र का जप करता है, उसे मृत्यु का भय नहीं रहता ॥ २४ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवः प्राञ्जलिर्देवमब्रवीत् ।
यदितुष्टोऽसि मे देव लोकनाथ महाव्रत ॥ २५ ॥

यदि मन्त्रश्च मे देयो दीयतां मम धार्मिक ।
यं जप्त्वाहं महाभाग सर्वदेवेषु निर्भयः ॥२६॥

असुरेषु च सर्वेषु दानवेषु पतत्रिषु ।
त्वत्प्रसादात्तु देवेश स्यामजेयो न संशयः ॥२७॥

ब्रह्मा जी के वचन सुन, रावण ने हाथ जोड़ कर कहा—हे देव! हे लोकनाथ! हे महाव्रत! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझे मंत्रोपदेश देना चाहते हैं, तो हे धार्मिक! मुझे मंत्रोपदेश दीजिये; जिससे मैं उस मंत्र का जप कर, सब देवताओं, असुरों, दानवों और पक्षियों से, आपके अनुग्रह से निस्संशय अजेय हो जाऊँ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
प्राणात्ययेषु जप्तव्यो न नित्यं राक्षसाधिप ॥ २८ ॥

जब रावण ने इस प्रकार कहा, तब ब्रह्मा जी कहने लगे। हे राक्षसाधिप! इस मंत्र को नित्य मत जपना। जब प्राणों पर कभी सङ्कट आ पड़े, तब ही इसे जपना चाहिये ॥ २८ ॥

अक्षसूत्रं गृहीत्वा तु जपेन्मन्त्रमिमं शुभम् ।
जप्त्वा तु राक्षसपते त्वमजेयो भविष्यसि ॥ २९ ॥

इस मंत्र को रुद्राक्ष की माला पर जपना चाहिये। हे राक्षस-राज! इसका जप करने से तुम अजेय हो जाओगे ॥ २९ ॥

अजप्त्वा राक्षसपते न ते सिद्धिर्भविष्यति।
शृणु मन्त्रं प्रवक्ष्यामि येन राक्षसपुङ्गव ॥ ३० ॥

अगर जप न करोगे तो तुम्हारी कार्यसिद्धि न होगी। हे राक्षसश्रेष्ठ! सुनो, मैं तुमको बतलाता हूँ ॥ ३० ॥

मन्त्रस्य कीर्तनादेव प्राप्स्यसे समरे जयम्।
नमस्ते देवदेवेश सुरासुर नमस्कृत ॥ ३१ ॥

जिसका जप करने से युद्ध में तुम्हारी जीत हुआ करेगी। हे देवदेवेश! हे सुरासुर नमस्कृत! तुमको नमस्कार है ॥ ३१ ॥

भूतभव्य महादेव हरिपिङ्गललोचन।
बालस्त्वं वृद्धरूपी च वैयाघ्रवसनच्छद ॥ ३२ ॥

हे भूतभव्य! हे महादेव! हे हरिपिङ्गल लोचन! तुमको प्रणाम है। तुम बालक हो, वृद्ध हो, और व्याघ्रचर्म धारण करते हो ॥ ३२ ॥

अर्चनीयोऽसि देव त्वं त्रैलोक्य प्रभुरीश्वरः।
हरो हरितनेमी च युगान्तदहनोऽनलः ॥ ३३ ॥

हे देव! तुम पूजनीय हो, तीनों लोकों के स्वामी हो और ईश्वर हो, तुम हर हो, तुम हरितनेमी हो, तुम युगान्त हो, तुम दहनकारी अनल (अग्नि) हो ॥ ३३ ॥

गणेशो लोकशम्भुश्च लोकपालो महाभुजः।
महाभागो महाशूली महादंष्ट्री महेश्वरः ॥ ३४ ॥

तुम गणेश, लोकशम्भु, लोकपाल, महाभुज, महाभाग, महाशूली, महादंष्ट्र और महेश्वर हो ॥ ३४ ॥

कालश्च बलरूपी च नीलग्रीवो महोदरः ।
देवान्तगस्तपोन्तश्च पशूनां पतिरव्ययः ॥ ३५ ॥

तुम काल, बलरूपी, नीलग्रीव, महोदर और देवान्तक, तपस्या में पारगामी, अविनाशी, पशुपति हो ॥ ३५ ॥

शूलपाणिर्वृषःकेतुर्नेता गोप्ता हरो हरिः ।
जटी मुण्डी शिखण्डी च लकुटी च महायशाः ॥ ३६ ॥

तुम शूलपाणि, वृषकेतु, नेता, गोप्ता, हरहरि, जटी, मुण्डी, शिखण्डी, लकुटी और महायशा हो ॥ ३६ ॥

भूतेश्वरो गणाध्यक्षः सर्वात्मा सर्वभावनः ।
सर्वगः सर्वहारी च स्रष्टा च गुरुरव्ययः ॥३७॥

तुम भूतेश्वर, गणाध्यक्ष, सर्वात्मा और सर्वभावन हो। तुम सर्वग, सर्वहारी, स्रष्टा और अविनाशी गुरु हो ॥ ३७ ॥

कमण्डलुधरो देवः पिनाकी धूर्जटिस्तथा ।
माननीयश्च ओङ्कारो वरिष्ठो ज्येष्ठसामगः ।
मृत्युश्च मृत्युभूतश्च पारियात्रश्च सुव्रतः ॥ ३८ ॥

तुम कमण्डलुधारी देव हो, तुम पिनाकी, धूर्जटी, मान्य, ओंकार, वरिष्ठ, ज्येष्ठ, सामग हो। तुम मृत्यु के भी मृत्यु, पारियात्र और सुव्रत हो ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचारी गुहावासी वीणापणवतूणवान् ।
अमरो दर्शनीयश्च बालसूर्यनिभस्तथा ॥ ३९ ॥

तुम ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वीणा-पटव-तूण-धारी, अमर, दर्शनीय और बालसूर्य के समान हो ॥ ३९ ॥

श्मशानवासी भगवानुमापतिरनिन्दितः ।
भगस्याक्षिनिपाती च पूष्णो दशननाशनः ॥ ४० ॥

तुम श्मशानवासी, भगवान्, उमापति, अनिन्दित, भगनयन, निपाती और पूषा के दाँत तोड़ने वाले हो ॥ ४० ॥

ज्वरहर्ता पाशहस्तः प्रलयः काल एव च ।
उल्कामुखोऽग्निकेतुश्च मुनिर्दीप्तो विशांपतिः ॥ ४१ ॥

तुम ज्वरहारी, पाशहस्त, प्रलयरूपीकाल, उल्कामुख, अग्निकेतु, मुनि, दीप्त और विशाम्पति हो ॥ ४१ ॥

उन्मादो वेपनकरश्चतुर्थो लोकसत्तमः ।
वामनो वामदेवश्च प्राक्प्रदक्षिणवामनः ॥ ४२ ॥

तुम उन्मादी, वेपनकर, चतुर्थ लोक सत्तम, वामन, वामदेव, प्राक्प्रदक्षिणा और वामन हो ॥ ४२ ॥

भिक्षुश्च भिक्षुरूपी च त्रिजटी कुटिलः स्वयम् ।
शक्रहस्तप्रतिष्ठंभी वसूनां स्तंभनस्तथा ॥ ४३ ॥

तुम भिक्षु, भिक्षुरूपी, त्रिजटी, कुटिल और इन्द्र के हाथ को स्तम्भन करने वाले हो और तुम वसुरोधी हो ॥ ४३ ॥

ऋतुर्ऋतुकरः कालो मधुर्मधुकलोचनः ।
वानस्पत्योवाजसनो नित्यमाश्रम पूजितः ॥ ४४ ॥

तुम ऋतु, ऋतुकर, काल, मधु, मधुकलोचन, वानस्पत्य, वाजसन और नित्याश्रम पूजित हो ॥ ४४ ॥

जगद्धाता च कर्ता च पुरुषः शाश्वतो ध्रुवः ।
धर्माध्यक्षो विरूपाक्षस्त्रिधर्मा भूतभावनः ॥ ४५ ॥

तुम जगत् के धाता, कर्त्ता, पुरुष, शाश्वत, ध्रुव, धर्माध्यक्ष, विरूपाक्ष, त्रिधर्म, और भूतभावन हो ॥ ४५ ॥

त्रिनेत्रो बहुरूपश्च सूर्यायुतसमप्रभः ।
देवदेवोऽतिदेवश्च चन्द्राङ्कितजटस्तथा ॥ ४६ ॥

तुम त्रिनेत्र, बहुरूप, और दस हज़ार सूर्यों के समान प्रभा वाले हो। तुम देवदेव, अतिदेव और चन्द्राङ्कित जटाधारी हो ॥ ४६ ॥

नर्तको लासकश्चैव पूर्णेन्दुसदृशाननः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च सर्वजीवमयस्तथा ॥ ४७ ॥

तुम नर्तक, लासक, (क्रीड़ा करने वाले) पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह मुखवाले, ब्रह्मण्य, शरण्य और सर्वजीवमय हो ॥ ४७ ॥

सर्वतूर्यनिनादी च सर्वबन्धविमोक्षकः ।
मोहनो बन्धनश्चैव सर्वदा निधनोत्तमः ॥ ४८ ॥

तुम सर्वतूर्यनिनादी, सब बन्धनों से छुटाने वाले, मोहन, बन्धन, और सदा निधनोत्तम हो ॥ ४८ ॥

पुष्पदन्तो विभागश्च मुख्यः सर्वहरस्तथा ।
हरिश्मश्रुर्धनुर्धारी भीमो भीमपराक्रमः ॥ ४९ ॥

तुम पुष्पदन्त, विभाग, मुख्य, सर्वहर, हरिश्मश्रु, धनुर्धारी, भीम और भीमपराक्रम हो ॥ ४९ ॥

मया प्रोक्तमिदं पुण्यं नामाष्टशतमुत्तमम् ।
सर्वपापहरं पुण्यं शरण्यं शरणार्थिनाम् ॥ ५० ॥

मेरे कथित ये १०८ उत्तम नाम, समस्त पापों को नष्ट करने वाले, पुण्यदायी और रक्षा के अभिलाषी की रक्षा करने वाले हैं ॥ ५० ॥

जप्तमेतद्दशग्रीव कुर्याच्छत्रुविनाशनम् ॥ ५१ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु चतुर्थः सर्गः ॥

हे दशग्रीव ! इन नामों के जपने से शत्रु का नाश होता है ॥ ५१ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

प्रक्षिप्तेषु पञ्चमः सर्गः

—:०:—

दत्वा तु रावणस्यैवं वरं स कमलोद्भवः ।
पुनरेवागमत्क्षिप्रं ब्रह्मलोकं पितामहः ॥ १ ॥

हे राम ! लोकपितामह और कमल से उत्पन्न ब्रह्मा जी, रावण को इस तरह वर दे कर, अति शीघ्र ब्रह्मलोक को चले गये ॥ १ ॥

रावणोऽपि वरं लब्ध्वा पुनरेवागमत्तथा ।
केनचित्त्वथ कालेन रावणो लोकरावणः ॥ २ ॥

रावण भी वरप्राप्त कर वहाँ से लौटा । फिर कुछ दिनों बाद लोकों को रुलाने वाला रावण ॥ २ ॥

पश्चिमार्णवमागच्छत्सचिवैः सह राक्षसः ।
द्वीपस्थो दृश्यते तत्र पुरुषः पावकप्रभः ॥ ३ ॥

अपने मंत्रियों को साथ लिये हुए पश्चिमसागर पर गया। वहां एक द्वीप (टापू) में उसने अग्नि के समान एक पुरुष देखा ॥ ३ ॥

महाजाम्बूनदप्रख्य एक एव व्यवस्थितः ।
दृश्यते भीषणाकारो युगान्तानलसन्निभः ॥ ४ ॥

वह सोने की तरह कान्तिमान पुरुष वहां अकेला था और वह युगान्त की आग की तरह प्रकाशमान भयङ्कर आकार वाला था ॥ ४ ॥

देवानामिव देवेशो ग्रहाणामिव भास्करः ।
शरभाणां यथा सिंहो हस्तिष्वैरावतो यथा ॥ ५ ॥

देवताओं में जिस प्रकार महादेव जी, ग्रहों में जैसे सूर्य हैं शरभों में जैसे सिंह है, हाथियों में जैसे ऐरावत है, ॥ ५ ॥

पर्वताना यथा मेरुः पारिजातश्च शाखिनाम् ।
तथा तं पुरुषं दृष्ट्वा स्थितं मध्ये महाबलम् ॥ ६ ॥

समस्त पर्वतों में जैसे सुमेरु है और वृक्षों में जैसे कल्पवृक्ष है, वैसे ही समस्त पुरुषों में इस महाबलवान पुरुष को देख कर, ॥ ६ ॥

अब्रवीच्च दशग्रीवो युद्धं मे दीयतामिति ।
अभवत्तस्य सा दृष्टिर्ग्रहमाला इवाकुला ॥ ७ ॥

रावण ने उससे कहा कि, मुझसे युद्ध करो। उस समय रावण की दृष्टि ग्रहमाला की तरह चलायमान हो गयी॥ ७॥

दन्तान्सन्दशतः शब्दो यन्त्रस्येवाभिभिद्यतः।
जगर्जोच्चैः स बलवान्सहामात्यो दशाननः॥ ८॥

उसके दाँतों के पीसने का ऐसा शब्द हुआ जैसा कि, यंत्र की रगड़ का (चक्की चलने का)। तब मंत्रियों सहित रावण बड़े ज़ोर से गर्जा॥ ८॥

स गर्जन्विविधैर्नादैर्लंबहस्तं भयानकम्।
दंष्ट्रालं विकटं चैव कम्बुग्रीवं महोरसम्॥ ९॥

वह अनेक प्रकार के शब्द कर गर्जने लगा। गर्जते गर्जते वह लंबे हाथों वाला, भयङ्कराकार, दंष्ट्रयुक, विकटाकार, कम्बुग्रीव, चौड़ी छाती वाला॥ ९॥

मण्डूककुक्षिं सिंहास्यं कैलासशिखरोपमम्।
पद्मपादतलं भीमं रक्ततालुकराम्बुजम्॥ १०॥
महानादं महाकायं मनोनिलसमं जवे।
भीममाबद्धतूणीरं सघण्टाबद्धचामरम्॥ ११॥
ज्वालामालापरिक्षिप्तं किङ्किणीजालनिःस्वनम्।
मालया स्वर्णपद्मानां कण्ठदेशेऽवलम्बया॥ १२॥
ऋग्वेदमिव शोभन्तं पद्ममालाविभूषितम्।
सोऽञ्जनाचलसङ्काशं काञ्चनाचलसन्निभम्॥ १३॥

मेंढक की तरह उदरवाला, सिंहवदन, कैलास शिखर के समान चरण वाला, लाल तालू वाला, लाल हाथ वाला, भयङ्कर,

महाकाय वाला, महानाद करने वाला, मन और वायु की तरह वेगवान्, भीम, पीठ पर तरकस बांधे हुए, घंटा, एवं चमर सहित, ज्वाला की माला से शोभायमान, किङ्किणीजाल की तरह मधुर शब्द करने वाला, गले में सुवर्ण के कमलपुष्प का हार पहिने हुए, ऋग्वेद की तरह शोभायमान, कमल पुष्प की तरह द्युतिमान ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

आहरद्राक्षसपतिः शूलशक्त्यृष्टिपट्टिशैः ।
द्वीपिना स सिंह इव ऋषभेणेव कुञ्जरः ॥ १४ ॥
सुमेरुरिव नागेन्द्रैर्नदीवेगैरिवार्णवः ।
अकम्पमानः पुरुषो राक्षसं वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

महापुरुष के ऊपर रावण ने शूल, शक्ति, यष्टि और पट्टों की वर्षा की। चीते के आक्रमण से जैसे सिंह, बैल के आक्रमण से जैसे हाथी, हस्तिराज के आक्रमण से जैसे सुमेरु, और नदी के वेग से जैसे महासागर क्षुब्ध नहीं होता, वैसे ही उस महापुरुष ने रावण के चलाये शस्त्रों के प्रहारों से क्षुब्ध न हो कर, रावण से कहा ॥ १४ ॥ १५ ॥

युद्धश्रद्धां हि ते रक्षो नाशयिष्यामि दुर्मते ।
रावणस्य च यो वेगः सर्वलोकभयङ्करः ॥ १६ ॥

हे राक्षस! हे दुर्मते! मैं तेरी युद्ध लालसा को नष्ट कर दूँगा। हे राम! रावण का जो समस्त लोकों का भय देने वाला युद्ध का वेग था ॥ १६ ॥

तथा वेगसहस्राणि संश्रितानि तमेव हि ।
धर्मस्तस्य तपश्चैव जगतः सिद्धिहेतुकौ ॥ १७ ॥

उससे सहस्र गुना अधिक युद्धांग उस महापुरुष में था। इसके अतिरिक्त जगत् की सिद्धि के मूलकारण धर्म और तप ॥ १७ ॥

ऊरू ह्याश्रित्य तस्थाते मन्मथः शिश्नमाश्रितः ।
विश्वेदेवाः कटीभागेमरुतो वस्तिपार्श्वयोः ॥१८॥

उसकी जांघों के आश्रित थे अथवा जांघों का सहारा लिये हुए थे। कामदेव उसके शिश्न में था विश्वेदेव कमर में, मरुद्गण पेडू और दोनों कोखों में थे ॥ १८ ॥

मध्येऽष्टौ वसवस्तस्य समुद्राः कुक्षितः स्थिताः ।
पार्श्वादिषु दिशः सर्वाः सर्वसन्धिषु मारुतः ॥ १९ ॥

उसके शरीर के बीच में आठो वसु, समस्त समुद्र उसकी कोख में, समस्त दिशाएँ उसके पार्श्वादि में और मरुत उसके जोड़ों में थे ॥ १६ ॥

पृष्ठं च भगवान् रुद्रो हृदयं च पितामहः ।
पितरश्चाश्रिताः पृष्ठं हृदयं च पितामहाः ॥ २० ॥

उसके पृष्ठभाग पर रुद्र और पितर तथा हृदय में ब्रह्मा विराजमान थे ॥ २० ॥

गोदानानि पवित्राणि भूमिदानानि यानि च ।
सुवर्णवरदानानि कक्षलोमानुगानि च ॥ २१ ॥

पवित्र गोदान, भूमिदान, सुवर्णदान इत्यादि समस्त पुण्य-वर्द्धक दान उसकी कोख के रोम थे ॥ २१ ॥

हिमवान्हेमकूटश्च मन्दरो मेरुरेव च ।
नरं तु तं समाश्रित्य अस्थि भूतान्यवस्थिताः ॥ २२ ॥

हिमालय, हेमकूट, मन्दर और मेरुपर्वत ये सब उस पुरुष की हड्डियों के स्थान में थे ॥ २२ ॥

पाणिर्वज्रोऽभवत्तस्य शरीरे द्यौरवस्थिता ।
कृकाटिकायां सन्ध्या च जलवाहाश्च ये घनाः ॥२३॥

वज्र उसकी हथेली में और आकाश उसके शरीर में था। सन्ध्या और जलवृष्टि करने वाले मेघ उसकी ग्रीवा में थे ॥ २३ ॥

बाहू धाता विधाता च तथा विद्याधरादयः ।
शेषश्च वासुकिश्चैव विशालाक्ष इरावतः ॥ २४ ॥
कम्बलाश्वतरौ चोभौ कर्कोटकधनञ्जयौ ।
स च घोरविषो नागस्तक्षकः सोपतक्षकः ॥ २५ ॥

धाता, विधाता और विद्याधर उसकी दोनों भुजाओं में विद्यमान थे । अनन्त, वासुकि, विशालाक्ष, ऐरावत, कम्बल, अश्वतर, कर्कोट, धनञ्जय, घोरविष, तक्षक और उपतक्षक ॥ २४ ॥ २५ ॥

करजानाश्रिताश्चैव विषवीर्यंमुमुक्षवः ।
अग्निरास्यमभूत्तस्य स्कन्धौ रुद्रैरधिष्ठितौ ॥ २६ ॥

ये सब बड़े बड़े विषैले नाग उसके हाथों और नखों में बसते थे । अग्नि उसके मुख में, रुद्र उसके कन्धों पर ॥ २६ ॥

पक्षमासर्तवश्चैव दंष्ट्रयोरुभयोः स्थिताः ।
नासे कुहूरमावास्या छिद्रेषु वायवः स्थिताः ॥२७॥

पक्ष, मास, वत्सर और छओं ऋतुएँ उसकी दन्तपंक्ति में, पूर्णिमा और अमावास्या उसके नाक के छेदों में और उननचास पवन उसके शरीर के रन्ध्रों में थे ॥ २७ ॥

ग्रीवातस्याभवद्देवी वीणा चापि सरस्वती ।
नासत्यौ श्रवणे चोभौ नेत्रे च शशिभास्करौ ॥२८॥

वीणा लिये हुए भगवती सरस्वती देवी उसके कण्ठ में रहती थीं, दोनों अश्विनीकुमार उसके दोनों कानों में और चन्द्र एवं सूर्य उसके दोनों नेत्रों में थे ॥ २८ ॥

वेदाङ्गानि च यज्ञाश्च ताराखपाणि यानि च ।
सुवृत्तानि च वाक्यानि तेजांसि च तपांसि च ॥२९॥

हे राम ! समस्त वेदाङ्ग और यज्ञ उसकी आँख की पुतलियाँ थीं, तेज और तप उसके सुन्दर वचन थे ॥ २९ ॥

एतानि नररूपस्य तस्य देहाश्रितानि वै ।
तेन वज्रप्रहारेण लब्धमात्रेण लीलया ॥ ३० ॥
पाणिना पीडितं रक्षो निपपात महीतले ।
पतितं राक्षसं ज्ञात्वा विद्राव्य स निशाचरान् ॥३१॥

ये सब उस नररूपी पुरुष की देह का आश्रय लिये हुए थे। उस पुरुष ने वज्र के समान रावण के प्रहार को सह कर, विना प्रयास रावण को हाथ से पकड़ कर दबा दिया। उसके दाब से पीड़ित हो, रावण ज़मीन पर गिर पड़ा। रावण को गिरा हुआ जान, उसने रावण के साथी अन्य राक्षसों को भी भगा दिया ॥ ३० ॥ ३१ ॥

ऋग्वेदप्रतिमः सोऽथ पद्ममालाविभूषितः ।
प्रविवेश च पातालं निजं पर्वतसन्निभः ॥ ३२ ॥

ऋग्वेद के समान और कमलों की माला धारण किये हुए वह स्वयं पर्वत की कन्दरा के समान मार्ग से पाताल में चला गया ॥ ३२ ॥

उत्थाय च दशग्रीव आहूय सचिवान्स्वयम् ।
क्व गतः सहसा ब्रूत प्रहस्तशुकसारणाः ॥३३॥

कुछ देर बाद रावण उठ कर और स्वयं अपने मंत्रियों को बुला कर, उनसे पूँछने लगा कि. हे प्रहस्त! हे शुक! हे सारण! वह पुरुष कहाँ चला गया? ॥ ३३ ॥

एवमुक्ता रावणेन राक्षसास्ते तदाब्रुवन् ।
प्रविष्टः सनरोऽत्रैव देवदानवदर्पहा ॥ ३४ ॥

जब रावण ने इस प्रकार पूँछा, तब उन राक्षसों ने उत्तर देते हुए कहा—वह देवताओं और दानवों का दर्प दलन करने वाला पुरुष इस जगह घुस गया है ॥ ३४ ॥

अथ संगृह्य वेगेन गरुत्मानिव पन्नगम् ।
स तु शीघ्रं बिलद्वारं सम्प्रविश्य च दुर्मतिः ॥३५॥

गरुड़ जिस प्रकार साँप को पकड़ने के लिये, बड़े वेग से झपटते हैं, उसी प्रकार दुर्मति रावण पराक्रम प्रदर्शित कर बड़े वेग से बिल के द्वार पर पहुँचा और निर्भय हो उसमें घुस गया ॥ ३५ ॥

प्रविवेश च तद्द्वारं रावणो निर्भयस्तदा ।
स प्रविश्य च पश्यद्वै नीलाञ्जनचयोपमान् ॥ ३६ ॥

जिस समय रावण निर्भय हो, उस बिल के मुँह में घुसा, उस समय भीतर जाने पर वह काजल के ढेर की तरह देख पड़ा ॥ ३६ ॥

केयूरधारिणः शूरान् रक्तमाल्यानुलेपनान् ।
वरहाटकरत्नाद्यैर्विविधैश्च विभूषितान् ॥ ३७ ॥

बाजू पहिने शूर, लाल माला से भूषित, लाल चन्दन से सुशोभित, श्रेष्ठ और सोने तथा रत्नों के समूह से अलङ्कृत ॥ ३७॥

दृश्यन्ते तत्र नृत्यन्त्यस्तिस्रः कोट्यो महात्मनाम् ।
नृत्योत्सवा वीतभया विमला पावकप्रभाः ॥ ३८ ॥

रावण ने वहाँ पर देखा कि, तीन करोड़ भयरहित विमल पावक की तरह महात्मा पुरुष, उत्सव में लीन हो नाच रहे हैं ॥ ३८ ॥

नृत्यन्त्यः पश्यते तांस्तु रावणो भीमविक्रमः ।
द्वारस्थो रावणस्तत्र तासु कोटिषु निर्भयः ॥३९॥

घोर पराक्रमी रावण उनको देख कर ज़रा भी न डरा और दरवाज़े पर खड़ा खड़ा, उनका नाच देखने लगा ॥ ३९ ॥

यथा दृष्टः स तु नरस्तुल्यांस्तानपि सर्वशः ।
एकवर्णानेकवेषानेकरूपान्महौजसः ॥ ४० ॥

रावण ने जिस पुरुष को पहिले देखा था, उसी पुरुष जैसे ये सब पुरुष थे। वे सब एक रंग, एक वेष और एक रूप के थे तथा बड़े तेजस्वी थे ॥ ४० ॥

चतुर्भुजान्महोत्साहांस्तत्रापश्यत्स राक्षसः ।
तांस्तु दृष्ट्वा दशग्रीव ऊर्ध्वरोमा बभूव ह ॥ ४१ ॥

उन चार भुजाओं वाले महाउत्साही पुरुषों को रावण ने देखा। उनको देखने से रावण का शरीर रोमाञ्चित हो गया ॥ ४१ ॥

स्वयंभुवा दत्तवरस्ततः शीघ्रं विनिर्ययौ ।
अथापश्यत्परं तत्र पुरुषं शयने स्थितम् ॥ ४२ ॥

ब्रह्मा जी का वरदान था, अतः उसके प्रभाव से रावण वहाँ से (जीता जागता) तुरन्त निकल आया। तदनन्तर रावण ने देखा कि, अन्य स्थान पर एक और पुरुष शय्या पर पड़ा सो रहा है ॥ ४२ ॥

पाण्डुरेण महार्हेण शयनासन वेश्मना ।
शेते स पुरुषस्तत्र पावकेनावगुण्ठितः ॥ ४३ ॥

उसका घर, सेज और बिस्तरे सफेद रंग के तथा बहुमूल्यवान् थे। वह मनुष्य अग्नि से मुख ढाँप कर सो रहा है ॥ ४३ ॥

दिव्यस्रगनुलेपा च दिव्याभरणभूषिता ।
दिव्याम्बरधरा साध्वी त्रैलोक्यस्यैकभूषणम् ॥ ४४ ॥

दिव्यमाला, दिव्यआभूषण और दिव्य वसन पहिने हुए तीनों लोकों में अद्वितीय स्त्री थी। (बल्कि कहें तो कह सकते हैं कि,) वह त्रिलोकी का एक गहना थी ॥ ४४ ॥

बालव्यजनहस्ता च देवी तत्र व्यवस्थिता ।
लक्ष्मी देवी सपद्मा वै भ्राजते लोकसुन्दरी ॥४५॥

कमल हाथ में लिये त्रिलोकसुन्दरी लक्ष्मी देवी, उस पुरुष की बग़ल में बैठी, चँवर डुलाती हुई, शोभायमान हो रही थीं ॥४५॥

प्रविष्टः स तु रक्षेन्द्रो दृष्ट्वा तां चारुहासिनीम् ।
जिघृक्षुः सहसा साध्वीं सिंहासनसमास्थिताम् ॥४६॥

रावण वहाँ जा और वैसी सुन्दरी तथा मनोहर हँसने वाली सिंहासनोपस्थित उस सती को देख, उस पर मोहित हो गया ॥ ४६ ॥

विनापि सचिवैस्तत्र रावणो दुर्मतिस्तदा ।
हस्ते ग्रहीतुमन्विच्छन्मन्मथेन वशीकृतः ॥ ४७ ॥

उस समय रावण के साथ उसका कोई मंत्री न था। दुर्मति रावण ने काम से पीड़ित हो, उसे हाथ से वैसे ही पकड़ना चाहा ; ॥ ४७ ॥

सुप्तमाशीविषं यद्वद्रावणः कालनोदितः ।
अथ सुप्तो महाबाहुः पावकेनावगुण्ठितः ॥ ४८ ॥

जैसे काल का भेजा हुआ कोई पुरुष सोते हुए भयानक विषधर सर्प को जगावे। (कारण इसका यह था कि रावण के सिर पर काल खेल रहा था।) अब उस पुरुष ने, जो अपने मुँह को आग (की चादर) से ढक कर सो रहा था ॥ ४८ ॥

ग्रहीतुकामं तं ज्ञात्वा व्यपविद्धपटं तदा ।
जहासोच्चैर्भृशं देवस्तं दृष्ट्वा राक्षसाधिपम् ॥ ४९ ॥

यह जान कर कि, रावण उस सती पर हाथ लपकाया चाहता है, अपने मुँह की चादर उघारी और राक्षसराज रावण को देख वह बड़े ज़ोर से हँसा ॥ ४९ ॥

तेजसा सहसा दीप्तो रावणो लोकरावणः ।
कृत्तमूलो यथा शाखी निपपात महीतले ॥ ५० ॥

उस समय रावण उस तेज से सहसा दग्ध होने लगा और जड़ कटे हुए वृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ५० ॥

पतितं राक्षसं ज्ञात्वा वचनं चेदमब्रवीत् ।
उत्तिष्ठ राक्षसश्रेष्ठ मृत्युस्ते नाद्य विद्यते ॥ ५१ ॥

रावण को गिरा हुआ जान, उस पुरुष ने कहा—हे राक्षसश्रेष्ठ ! उठ बैठो। इस समय तुम्हारी मौत नहीं आयी है ॥ ५१ ॥

प्रजापतिवरो रक्ष्यस्तेन जीवसि राक्षस ।
गच्छ रावण विस्रब्धो नाधुना मरणं तव ॥ ५२ ॥

हे राक्षस ! प्रजापति ब्रह्मा का वर मानना आवश्यक है । इसी लिये तू जीवित है । हे रावण ! तू यहाँ से बेखटके चला जा। इस समय तू मरने वाला नहीं है ॥ ५२ ॥

लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन रावणो भयमाविशत् ।
एवमुक्तस्तदोत्थाय रावणो देवकण्टकः ॥ ५३ ॥
लोमहर्षणमापन्नो ह्यब्रवीत्तं महाद्युतिम् ।
को भवान्वीर्यसम्पन्नो युगान्तानलसन्निभः ॥ ५४ ॥

एक मुहूर्त बाद जब रावण सचेत हुआ, तब वह बहुत डरा हुआ था। उस पुरुष के मुख से उन वचनों के निकलते ही देवकण्टक रावण उठ बैठा, किन्तु उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया था । रावण ने (उठ कर) उस महाद्युतिमान् पुरुष से कहा, आप बड़े पराक्रमी और कालाग्नि के समान कौन हैं? ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

ब्रूहि त्वं को भवान्देव कुतो भूत्वा व्यवस्थितः ।
एवमुक्तस्ततो देवो रावणेन दुरात्मना ॥ ५५ ॥

हे देव ! आप बतलावें कि, आप कौन हैं और कहाँ से आ कर यहाँ विराजमान हुए हैं ? जब दुरात्मा रावण ने उस पुरुष से इस प्रकार पूँछा ॥ ५५ ॥

प्रत्युवाच हसन्देवो मेघगम्भीरया गिरा ।
किं ते मया दशग्रीव वध्योऽसि नचिरान्मम ॥५६॥

तब उस पुरुष ने मेघ की तरह गम्भीर स्वर से मुसक्याते हुए कहा—यह बात जान कर तू क्या करेगा । अब मेरे हाथ से तेरे मारे जाने में बहुत विलंब नहीं है ॥ ५६ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रजापतेस्तु वचनान्नाहं मृत्युपथं गतः ॥ ५७ ॥

यह सुन रावण ने हाथ जोड़ कर कहा—इस समय मैं ब्रह्मा जी के वरदान से नहीं मरा ॥ ५७ ॥

न स जातो जनिष्यो वा मम तुल्यः सुरेष्वपि ।
प्रजापतिवरं यो हि लङ्घयेद्वीर्यमाश्रितः ॥ ५८ ॥

औरों की तो मजाल ही क्या है, देवताओं में भी ऐसा कोई उत्पन्न नहीं हुआ और आगे होगा भी नहीं, जो अपने बल बूते पर ब्रह्मा जी के वरदान को उल्लङ्घन करे ॥ ५८ ॥

न तत्र परिहारोऽस्ति प्रयत्नश्चापि दुर्वलः ।
त्रैलोक्ये तं न पश्यामि यो मे कुर्याद्वरं वृथा ॥५९॥

ब्रह्मा जी का वरदान अन्यथा नहीं हो सकता और उसको अन्यथा करने के लिये कोई उपाय भी काम नहीं दे सकता । मुझे

तो तीनों लोकों में ऐसा कोई भी नहीं देख पड़ता, जो (ब्रह्मा से प्राप्त) मेरे वर को वृथा कर दे ॥ ५९ ॥

अमरोऽहं सुरश्रेष्ठ तेन मां नाविशद्भयम् ।
अथापि च भवेन्मृत्युस्त्वद्धस्तान्नान्यतः प्रभो ॥ ६० ॥

हे सुरश्रेष्ठ ! मैं तो अमर हूँ । अतः मैं इसके लिये नहीं डरता । किन्तु हे प्रभो ! मेरी आपसे यह विनय अवश्य है कि, अगर मुझे मरना ही पड़े, तो मैं आपके हाथ से मारा जाऊँ ॥ ६० ॥

यशस्यं श्लाघनीयं च त्वद्धस्तान्मरणं मम ।
अथास्य गात्रे संपश्यद्रावणो भीमविक्रमः ॥ ६१ ॥

क्योंकि आपके हाथ से मारे जाने से मेरी नामवरी होगी और लोग बड़ाई करेंगे । तदनन्तर भीमविक्रमी रावण ने उस महापुरुष के शरीर को देखा ॥ ६१ ॥

तस्य देवस्य सकलं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
आदित्या मरुतः साध्या वसवोऽथाश्विनावपि ॥ ६२ ॥

उसके शरीर में उसने सचराचर तीनों लोकों को देखा । सूर्य, मरुत, साध्य, वसु, अश्विनी-कुमार ॥ ६२ ॥

रुद्राश्च पितरश्चैव यमो वैश्रवणस्तथा ।
समुद्रा गिरियो नद्यो वेदाविद्यास्त्रयोऽग्नयः ॥ ६३ ॥

रुद्र, पितर, यम, कुबेर, समुद्र, पहाड़, नदी, वेद, विद्या, तीनों अग्नि ॥ ६३ ॥

ग्रहास्तारागणा व्योम सिद्धा गन्धर्वचारणाः ।
महर्षयो वेदविदो गरुडोऽथ भुजङ्गमाः ॥ ६४ ॥

ग्रह, तारागण, आकाश, सिद्ध, गन्धर्व, चारण, वेदवित् महर्षिगण, गरुड़, नाग ॥ ६४ ॥

ये चान्ये देवतासङ्घाः संस्थिता दैत्यराक्षसाः ।
गात्रेषु शयनस्थस्य दृश्यन्ते सूक्ष्ममूर्तयः ॥ ६५ ॥

अन्य देवतागण तथा दैत्य एवं राक्षस ये सब ही सूक्ष्म रूप से उस पुरुष के शरीर में देख पड़े ॥ ६५ ॥

आह रामोऽथ धर्मात्मा ह्यगस्त्यं मुनिसत्तमम् ।
द्वीपस्थः पुरुषः कोऽसौ तिस्रः कोटयस्तु काश्च ताः ॥६६॥

यह कथा सुन कर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी से पूँछा कि, आपने उस द्वीपस्थित जिन महापुरुष की कथा कही, वे थे कौन ? और वे तीन करोड़ पुरुष कौन थे ? ॥ ६६ ॥

शयानः पुरुषः कोऽसौ दैत्यदानवदर्पहा ।
रामस्य वचनं श्रुत्वा ह्यगस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥६७॥

दैत्यों और दानवों का दर्पनाश करने वाला वह शयन करता हुआ पुरुष कौन था ? श्रीरामचन्द्र जी के इन प्रश्नों को सुन अगस्त्य जी कहने लगे ॥ ६७ ॥

श्रूयतामभिधास्यामि देवदेव सनातन ।
भगवान्कपिलो नाम द्वीपस्थो नर उच्यते ॥ ६८ ॥

हे सनातन देवदेव ! मैं बतलाता हूँ, आप सुनिये । उस द्वीप में विराजमान महापुरुष कपिलदेव जी थे ॥ ६८ ॥

ये तु नृत्यन्ति वै तत्र सुरास्ते तस्य धीमतः ।
तुल्यतेजः प्रभावास्ते कपिलस्य नरस्य वै ॥६९॥

और जो पुरुष वहाँ नाच रहे थे, वे समस्त पुरुष उन बुद्धिमान कपिलदेव जी के समान तेजस्वी और प्रभाव वाले थे ॥ ६९ ॥

नासौ क्रुद्धेन दृष्टस्तु राक्षसः पापनिश्चयः ।
न बभूव तदा तेन भस्मसाद्राम रावणः ॥ ७० ॥

हे राम ! क्रोधपूर्वक उस महापुरुष ने रावण की ओर नहीं देखा था, नहीं तो वह पापी रावण निश्चय ही उस समय भस्म हो जाता ॥ ७० ॥

खिन्नगात्रो नगप्रख्यो रावणः पतितो भुवि ।
वाक्शरैस्तं विभेदाशु रहस्यं पिशुनो यथा ॥ ७१ ॥

जब खिन्नगात्र हो रावण पृथिवी पर गिर पड़ा, तब उस महापुरुष ने रावण से बड़े कठोर वचन कहे । उन वचनों से उस महापुरुष ने रावण को वैसे ही छेद डाला, जैसे चुगलखोर मनुष्य किसी दूसरे के गुप्त रहस्य को खोल, उस पुरुष को छेद डालता है ॥ ७१ ॥

अथ दीर्घेण कालेन लब्धसंज्ञः स राक्षसः ।
आजगाम महातेजा यत्र ते सचिवाः स्थिताः ॥७२॥

इति प्रक्षिप्तेषु पञ्चमः सर्गः ॥

महातेजस्वी रावण बहुत देर बाद सचेत हो कर, वहाँ चला आया, जहाँ उसके मंत्री ठहरे हुए (उसकी प्रतीक्षा कर रहे) थे ॥ ७२ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

चतुर्विंशः सर्गः

—:o:—

निवर्तमानः संहृष्टो रावणः स दुरात्मवान् ।
जह्रे पथि नरेन्द्रर्षिदेवदानवकन्यकाः ॥ १ ॥

जब रावण (वहाँ से) लङ्का को लौटा, तब उस समय रास्ते में उसने हर्षित अन्तःकरण से राजर्षियों, देवताओं और दानवों की कन्याएँ हरण कीं ॥ १ ॥

दर्शनीयां हि यां रक्षः कन्यां स्त्रीं वाथ पश्यति ।
हत्वा बन्धुजनं तस्या विमाने तां रुरोध सः ॥ २ ॥

वह दुष्ट जिस किसी सुन्दरी (अविवाहित) कन्या या, (विवाहिता) स्त्री को रास्ते में देख लेता, उसके बन्धुजनों को मार कर उसे हर कर अपने विमान में बिठा लेता था ॥ २ ॥

एवं पन्नगकन्याश्च राक्षसासुरमानुषीः ।
यक्षदानवकन्याश्च विमाने सोऽध्यरोपयत् ॥ ३ ॥

इस प्रकार रावण ने कितनी ही राक्षस-कन्याएँ, असुर कन्याएँ, मनुष्य-कन्याएँ, पन्नग-कन्याएँ, यक्ष-कन्याएँ अपने विमान में बैठा लीं ॥ ३ ॥

ता हि सर्वाः समं दुःखान्मुमुचुर्बाष्पजं जलम् ।
तुल्यमग्न्यर्चिषां तत्र शोकाग्निभयसम्भवम् ॥ ४ ॥

वे बेचारी दुखी हो रो रही थीं। वे सब शोक से आर्त हो, एक ही साथ शोकाग्नि और भय से उत्पन्न आँसू बहाने लगीं। उनके वे आँसू अग्निज्वाला की तरह उष्ण थे ॥ ४ ॥

ताभिः सर्वानवद्याभिर्नदीभिरिव सागरः ।
आपूरितं विमानं तद्भयशोकाशिवाश्रुभिः ॥ ५ ॥

उन सब अत्यन्त सुन्दरी ललनाओं से वह विमान वैसे ही भर गया था, जैसे कि, समुद्र नदियों के जल से भर जाता है। वे सब भय और दुःख के मारे अमङ्गलकारी आँसू बहा रही थीं ॥ ५ ॥

नागगन्धर्वकन्याश्च महर्षितनयाश्च याः ।
दैत्यदानवकन्याश्च विमाने शतशोऽरुदन् ॥ ६ ॥

उस विमान में नागों, गन्धर्वों, महर्षियों, दैत्यों और दानवों की सैकड़ों कन्याएँ रो रही थीं ॥ ६ ॥

दीर्घकेश्यः सुचार्वङ्ग्यः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।
पीनस्तनतटा मध्ये वज्रवेदिसमप्रभाः[1] ॥ ७ ॥

उनके लंबे लंबे केश, सुन्दर अंग और पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुख थे। उनके कठोर स्तन और पतली कमरें थीं। इनके स्तनों के बीच का भाग हीरे की जड़ाऊ भूमि की तरह उजला था ॥ ७ ॥

रथकूबरसङ्काशैः श्रोणीदेशैर्मनोहराः ।
स्त्रियः सुराङ्गनाप्रख्या निष्टप्तकनकप्रभा ॥ ८ ॥

रथकूबर (रथ का जुआँ) की तरह उनकी कमरें पतली पतली थीं। वे सब बड़ी सुन्दरी थीं और तपाये हुए सोने की तरह उनके शरीर की कान्ति थी ॥ ८ ॥

---

१ मध्येवज्रवेदिसमप्रभः—अन्तराले, वज्रवेदिसमाप्रभायासांताः । (शि०)

शोकदुःखभयत्रस्ता विह्वलाश्च सुमध्यमाः ।
तासां निःश्वासवातेन सर्वतः सम्प्रदीपितम् ॥९ ॥

वे सब पतली कमरवाली सुन्दरी ललनाएँ घबड़ायी हुई थीं और मारे शोक और भय के त्रस्त थीं। उनकी उसाँसों के पवन से वह विमान सर्वत्र प्रदीप्त सा हो कर ॥ ९ ॥

अग्निहोत्रमिवाभाति सन्निरुद्धाग्निपुष्पकम् ।
दशग्रीववशं प्राप्तास्तास्तु शोकाकुलाः स्त्रियः ॥१०॥

ऐसा जान पड़ता था, मानों उसमें अग्निहोत्र हो रहा हो। दुष्ट रावण के पाले पड़ी उन शोकाकुल ललनाओं ॥ १० ॥

दीनवक्त्रेक्षणाः श्यामा मृग्यः सिंहवशा इव ।
काचिच्चिन्तयती तत्र किं नु मां भक्षयिष्यति ॥ ११ ॥

के मुख मलिन और आँखें शोकाकुल हो गयी थीं। सिंह के पंजे में फँसी मृगी की तरह वे सब पीड़ित हो रही थीं। उनमें से कोई तो यह सोच कर घबड़ा रही थी कि, यह दुष्ट कहीं मुझको खा न डाले ॥ ११ ॥

काचिद्दध्यौ सुदुःखार्ता अपि मां मारयेदयम् ।
इति मातॄः पितॄन्स्मृत्वा भर्तॄन्भ्रातॄंस्तथैव च ॥ १२ ॥

और उनमें से कोई कोई दुःखार्त हो सोच रही थी कि, कदाचित् यह हमको मार डाले। इस प्रकार अपने अपने माता, पिता, भाई और पति का स्मरण कर के ॥ १२ ॥

दुःखशोकसमाविष्टा विलेपुः सहिताः स्त्रियः ।
कथं नु खलु मे पुत्रो भविष्यति मया विना ॥ १३ ॥

दुःख और शोक से भरी वे सब विलाप कर रही थीं। विलाप कर कोई कहती कि, मेरे बिना मेरा पुत्र कैसे जीता बचेगा॥ १३॥

कथं माता कथं भ्राता निमग्नाः शोकसागरे।
हा कथं नु करिष्यामि भर्तुस्तस्मादहं विना॥ १४॥

कोई कहती कि, मेरा भाई और मेरी माता शोक समुद्र में निमग्न होगी। हा! मैं अपने उस पति के बिना क्या करूँगी!॥१४॥

मृत्यो प्रसादयामि त्वां नय मां दुखःभागिनीम्।
किं नु तद्दुष्कृतं कर्म पुरा देहान्तरे कृतम्॥ १५॥

अतएव हे मृत्युदेव! मैं तुम्हारी प्रार्थना करती हूँ कि, तुम मुझ दुःखियारी को ले चलो। हा! पूर्वजन्म में हमसे ऐसा कौनसा पापकर्म बन पड़ा था॥ १५॥

एवं स्म दुःखिताः सर्वाः पतिताः शोकसागरे।
न खल्विदानीं पश्यामो दुःखस्यास्यान्तमात्मना॥१६॥

जिससे आज हम सब इस प्रकार दुःखित हो, शोकसागर में पड़ी हैं। हमको तो अपने इस दुःख की अब समाप्ति ही दिखाई नहीं पड़ती॥ १६॥

अहो धिङ्मानुषं लोकं नास्ति खल्वधमः परः।
यद्दुर्बला बलवता भर्तारो रावणेन नः॥ १७॥

हा! इस मनुष्यलोक को धिक्कार है। क्योंकि इस जैसा अधम लोक दूसरा नहीं, जहाँ हमारे निर्बल पतियों को इस बलवान् रावण ने वैसे ही॥ १७॥

सूर्येणोदयता काले नक्षत्राणीव नाशिताः।
अहो सुवलवद्रक्षो वधोपायेषु रज्यते ॥ १८ ॥

नष्ट कर डाला; जैसे सूर्योदय होते ही नक्षत्रों का प्रकाश नष्ट हो जाता है। हा! यह राक्षस बड़ा ही बलवान है। इसी से तो यह जहाँ चाहता है, वहाँ मारता काटता घूमता फिरता है ॥ १८ ॥

अहोदुर्वृत्तमास्थाय नात्मानं वै जुगुप्सते।
सर्वथा सदृशस्तावद्विक्रमोस्य दुरात्मनः ॥ १९ ॥

अहो! यह कामी ऐसे दुराचारों में रत रह, अपने को निन्दित नहीं समझता। यह जैसा दुष्ट है, वैसा ही यह पराक्रमी भी है ॥ १९ ॥

इदं त्वसदृशं कर्म परदाराभिमर्शनम्।
यस्मादेष परक्यासु रमते राक्षसाधमः ॥ २० ॥

परस्त्रीगमन करना बहुत बुरा काम है। यह राक्षसाधम पर-स्त्रियों में प्रीत रखता है और उनके साथ रमण करना चाहता है ॥ २० ॥

तस्माद्वै स्त्रीकृतेनैव वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः।
सतीभिर्वरनारीभिरेवं वाक्येऽभ्युदीरिते ॥ २१ ॥

सो यह दुर्मति परस्त्री के कारण ही मारा भी जायगा। उन पतिव्रता स्त्रियों के मुख से इन वचनों के निकलते ही ॥ २१ ॥

नेदुर्दुन्दुभयः खस्थाः पुष्पवृष्टिः पपात च।
शप्तः स्त्रीभिः स तु समं हतौजा इव निष्प्रभः ॥ २२ ॥

आकाश में नगाड़े बजे और फूलों की वर्षा हुई। स्त्रियों के इस शाप से रावण का पराक्रम नष्ट हो गया और उसकी प्रभा क्षीण पड़ गयी ॥ २२ ॥

पतिव्रताभिः साध्वीभिर्बभूव विमना इव ।
एवं विलपितं तासां शृण्वन् राक्षसपुङ्गवः ॥ २३ ॥

उन पतिव्रता एवं साध्वी स्त्रियों के शाप को सुन, रावण उदास हो गया। रावण इस प्रकार उन स्त्रियों का विलाप सुनता हुआ ॥ २३ ॥

प्रविवेश पुरीं लङ्कां पूज्यमानो निशाचरैः ।
एतस्मिन्नन्तरे घोरा राक्षसी कामरूपिणी ॥ २४ ॥

निशाचरों से सत्कारित हो लङ्का नगरी में जा पहुँचा। इतने में कामरूपिणी भयङ्कर राक्षसी ॥ २४ ॥

सहसा पतिता भूमौ भगिनी रावणस्य सा ।
तां स्वसारं समुत्थाप्य रावणः परिसान्त्वयन् ॥ २५ ॥

जो रावण की बहिन थी, आकर रावण के सामने अचानक पृथिवी पर गिर पड़ी। रावण ने बहिन को उठाया और उसे समझा बुझा कर ॥ २५ ॥

अब्रवीत्किमिदं भद्रे वक्तुकामासि मां द्रुतम् ।
सा बाष्पपरिरुद्धाक्षी रक्ताक्षी वाक्यमब्रवीत् ॥२६॥

उससे पूँछा—हे भद्रे! बात क्या है? शीघ्र बतलाओ कि, तुम मुझसे क्या कहना चाहती हो? लाल लाल नेत्र वाली निशाचरी ने आँखों में आँसू भर कर कहा, ॥ २६ ॥

कृतास्मि विधवा राजंस्त्वया बलवता बलात् ।
एते राजंस्त्वया वीर्याद्दैत्या विनिहता रणे ॥ २७ ॥

हे राजन्! तुम बलवान हो, अतः बलपूर्वक तुमने मुझे विधवा कर डाला। तुमने अपने विक्रम के प्रभाव से युद्ध में दैत्यों का संहार किया ॥ २७ ॥

कालकेया इति ख्याताः सहस्राणि चतुर्दश ।
प्राणेभ्योऽपि गरीयान्मे तत्र भर्ता महाबलः ॥ २८ ॥

तुमने १४ हज़ार कालकेय दैत्यों के मारने के समय मेरे प्राणों से अधिक प्यारे महाबलवान पति को भी ॥ २८ ॥

सोऽपि त्वया हतस्तात रिपुणा भ्रातृगन्धिना ।
त्वयास्मि निहता राजन्स्वयमेव हि बन्धुना ॥२९॥

हे तात! तुमने शत्रु समझ कर मार डाला। अतः तुम मेरे नाम मात्र के भाई हो। तुमने उसे क्या मारा मानों मुझे ही मार डाला ॥ २९ ॥

राजन्वैधव्यशब्दं च भोक्ष्यामि त्वत्कृतं ह्यहम् ।
ननु नाम त्वया रक्ष्यो जामाता समरेष्वपि ॥ ३० ॥

हे राजन्! अब तुम्हारे कारण मुझे विधवापन भोगना पड़ा। तुमको उचित था कि, संग्राम में अपने बहनोई की रक्षा करते ॥ ३० ॥

स त्वया निहतो युद्धे स्वयमेव न लज्जसे ।
एवमुक्तो दशग्रीवो भगिन्या क्रोशमानया ॥ ३१ ॥

किन्तु तुमने तो उसको स्वयं मार डाला। तिस पर भी तुमको लाज नहीं आती। इस प्रकार रोती और विलाप करती हुई अपनी वहिन की बातें सुन ॥ ३१ ॥

अब्रवीत्सान्त्वयित्वा तां सामपूर्वमिदं वचः ।
अलं वत्से रुदित्वा ते न भेतव्यं च सर्वशः ॥ ३२ ॥

रावण ने ढाँढ़स बँधाते हुए उससे नम्रता पूर्वक कहा—वहिन ! तुम रोओ मत ! किसी बात के लिये डरो मत ॥ ३२ ॥

दानमानप्रसादैस्त्वां तोषयिष्यामि यत्नतः ।
युद्धप्रमत्तो व्याक्षिप्तो जयकांक्षी क्षिपञ्शरान् ॥३३॥

मैं दान मान और अनुग्रह से यत्नपूर्वक तुझे सदा सन्तुष्ट करता रहूँगा। उस समय विजय की अभिलाषा से युद्ध करता हुआ, मैं उन्मत्त सा हो रहा था और निरन्तर बाणों को छोड़ रहा था ॥ ३३ ॥

नाहमज्ञासिषं युध्यन्स्वान्परान्वापि संयुगे ।
जामातरं न जाने स्म प्रहरन्युद्धदुर्मदः ॥ ३४ ॥

उस युद्ध में मुझे अपने विराने का कुछ भी ध्यान नहीं था। उस समय मुझे यह ज्ञान न था कि, मेरा वहनोई कहाँ है। युद्ध में उन्मत्त हो मैं प्रहार कर रहा था ॥ ३४ ॥

तेनासौ निहतः संख्ये मया भर्ता तव स्वसः ।
अस्मिन्काले तु यत्प्राप्तं तत्करिष्यामि ते हितम् ॥३५॥

इसी से तेरा स्वामी मेरे हाथ से मारा गया। जो हुआ सो हुआ, इस समय जो तेरे हित की बात होगी, वही मैं करने को तैयार हूँ ॥ ३५ ॥

भ्रातुरैश्वर्ययुक्तस्य खरस्य वस पार्श्वतः।
चतुर्दशानां भ्राता ते सहस्राणां भविष्यति ॥ ३६ ॥

अब तू अपने भाई ऐश्वर्यवान् खर के पास जाकर रह। तेरा महाबली भाई खर अब से १४ हज़ार राक्षसों का अधिपति होगा ॥ ३६ ॥

प्रभुः प्रयाणे दाने च राक्षसानां महाबलः।
तत्र मातृष्वसेयस्ते भ्रातायं वै खरः प्रभुः ॥ ३७ ॥

उसे अधिकार होगा कि, वह अपने अधीनस्थ राक्षसों को जहाँ चाहें वहाँ भेजे और जिसको जो कुछ देना चाहे दे। वह खर तेरी मौसी का पुत्र है ॥ ३७ ॥

भविष्यति तवादेशं सदा कुर्वन्निशाचरः।
शीघ्रं गच्छ त्वयं वीरो दण्डकान्परिरक्षितुम् ॥३८॥

सो वह सदा तेरी आज्ञा में रहेगा। अतः हे वीर खर! तुम दण्डक वन की रक्षा के लिये जाओ ॥ ३८ ॥

दूषणोऽस्य बलाध्यक्षो भविष्यति महाबलः।
तत्र ते वचनं शूरः करिष्यति तदा खरः ॥ ३९ ॥

महाबली दूषण उसका सेनापति होगा। वहाँ पर शूरवीर खर सदा तुम्हारी आज्ञा का पालन करेगा ॥ ३९ ॥

रक्षसां कामरूपाणां प्रभुरेव भविष्यति।
एवमुक्त्वा दशग्रीवः सैन्यमस्यादिदेश ह ॥ ४० ॥

यह काम रूपी राक्षसों का स्वामी होगा। यह कह कर दशग्रीव खर के साथ रहने के लिये सैनिक राक्षसों को आज्ञा दी ॥ ४० ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां वीर्यशालिनाम् ।
स तैः परिवृतः सर्वैं राक्षसैर्घोरदर्शनैः ॥ ४१ ॥
आगच्छत खरः शीघ्रं दण्डकानकुतोभयः ।
स तत्र कारयामास राज्यं निहतकण्टकम् ।
सा च शूर्पणखा तत्र न्यवसद्दण्डके वने ॥ ४२ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

बल-वीर्य-युक्त एवं भयङ्कर सूरत शक्क के १४ हज़ार राक्षसों को साथ ले खर निर्भीक हो दण्डक वन में तुरन्त जा पहुँचा और वहाँ निष्कण्टक राज्य करने लगा। वह शूर्पणखा वहीं दण्डक वन में रहने लगी ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

उत्तरकाण्ड का चौवीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

पञ्चविंशः सर्गः

—:०:—

स तु दत्त्वा दशग्रीवो बलं घोरं खरस्य तत् ।
भगिनीं च समाश्वास्य हृष्टः स्वस्थतरोऽभवत् ॥ १ ॥

दशग्रीव उस खर को घोर सेना दे और अपनी बहिन को धीरज बँधा, हर्षित और स्वस्थ हुआ ॥ १ ॥

ततो निकुम्भिला नाम लङ्कोपवनमुत्तमम् ।
तद्राक्षसेन्द्रो बलवान्प्रविवेश सहानुगः ॥ २ ॥

तदनन्तर राक्षसराज रावण अपने अनुचरों को साथ ले निकुम्भिला नामक लङ्का के एक उत्तम उपवन में गया ॥ २ ॥

ततो यूपशताकीर्णं सौम्यं चैत्योपशोभितम् ।
ददर्श विष्ठितं यज्ञं श्रिया संप्रज्वलन्निव ॥ ३ ॥

उसने सैकड़ों यज्ञस्तम्भों और विविध प्रकार की यज्ञशालाओं से सुशोभित उस स्थान को अत्यन्त सुसज्जित देखा ॥ ३ ॥

ततः कृष्णाजिनधरं कमण्डलुशिखाध्वजम् ।
ददर्श स्वसुतं तत्र मेघनादं भयावहम् ॥ ४ ॥

फिर वहाँ उसने काले हिरन का चर्म ओढ़े, दण्ड कमण्डलु लिये, भयङ्कर रूपधारी अपने पुत्र मेघनाद को देखा ॥ ४ ॥

तं समासाद्य लङ्केशः परिष्वज्याथ बाहुभिः ।
अब्रवीत्किमिदं वत्स वर्तसे ब्रूहि तत्वतः ॥ ५ ॥

रावण ने अपनी बीसों भुजाओं को फैला मेघनाद को अपनी छाती से लगा कर उससे कहा—हे बेटा ! तुम यह क्या कर रहे हो ? मुझसे समस्त यथार्थ वृत्तान्त कहो ॥ ५ ॥

उशना त्वब्रवीत्तत्र यज्ञसम्पत्समृद्धये ।
रावणं राक्षसश्रेष्ठं द्विजश्रेष्ठो महातपाः ॥ ६ ॥

तब महातपस्वी द्विजश्रेष्ठ शुक्राचार्य ने यज्ञसम्पत्ति बढ़ाने के लिये राक्षस राज रावण से कहा ॥ ६ ॥

अहमाख्यामि ते राजञ्छ्रूयतां सर्वमेव तत् ।
यज्ञास्ते सप्त पुत्रेण प्राप्तास्ते बहुविस्तराः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! मैं आप से सब वृत्तान्त कहता हूँ । आप सुनिये । आपके पुत्र ने अत्यन्त विस्तार के साथ सात प्रसिद्ध यज्ञों को किया है ॥ ७ ॥

अग्निष्टोमोऽश्वमेधश्च यज्ञो वहुसुवर्णकः ।
राजसूयस्तथा यज्ञो गोमेधो वैष्णवस्तथा ॥ ८ ॥
माहेश्वरे प्रवृत्ते तु यज्ञे पुंभिः सुदुर्लभे ।
वरांस्ते लब्धवान्पुत्रः साक्षात्पशुपतेरिह ॥ ९ ॥

अग्निष्टोम, अश्वमेध, वहुसुवर्णक, राजसूय, गोमेध, और वैष्णव इन छः यज्ञों को कर चुकने के वाद जब (इसने) माहेश्वर यज्ञ, जिसे हर कोई नहीं कर सकता, किया ; तब तुम्हारे पुत्र ने साक्षात् शिव सेदुर्लभ वरदान प्राप्त किये ॥ ८ ॥ ९ ॥

कामगं स्यन्दनं दिव्यमन्तरिक्षचरं ध्रुवम् ।
मायां च तामसीं राम यया सम्पद्यते तमः ॥ १० ॥

इसने इच्छाचारी, दिव्य और आकाश में स्थिर रहने वाला एक रथ पाया है और इसे तामसी नाम्नी माया भी प्राप्त हुई है। हे राम ! इस माया के द्वारा अंधेरा छा जाता है ॥ १० ॥

एतया किल संग्रामे मायया राक्षसेश्वर ।
प्रयुक्तया गतिः शक्या नहि ज्ञातुं सुरासुरैः ॥ ११ ॥

हे राक्षसेश्वर ! जो इस माया को जानता है, उसकी गति जानने की सामर्थ्य देवताओं और असुरों में भी नहीं है ॥ ११ ॥

अक्षयाविषुधी वाणैश्चापं चापि सुदुर्जयम् ।
अस्त्रं च वलवद्राजञ्छत्रुविध्वंसनं रणे ॥ १२ ॥

हे राजन् ! इनके अतिरिक्त इसे कभी रीते न होने वाले दो तरकस, दुर्जेय धनुष, तथा संग्राम में शत्रु का नाश करने वाला एक वड़ा वलवान शस्त्र मिला है ॥ १२ ॥

एतान्सर्वान्वरांल्लब्ध्वा पुत्रस्तेऽयं दशानन ।
अद्य यज्ञसमाप्तौ च त्वां दिदृक्षन् स्थितो ह्यहम् ॥१३॥

हे दशानन! तुम्हारे इस पुत्र ने आज यज्ञ की समाप्ति में ये समस्त वरदान पाये हैं। आज यज्ञ समाप्त होने पर हम दोनों आपसे मिलना चाहते थे ॥ १३ ॥

ततोऽब्रवीद्दशग्रीवो न शोभनमिदं कृतं ।
पूजिताः शत्रवो यस्माद्द्रव्यैरिन्द्रपुरोगमाः ॥ १४ ॥

यह सुन रावण ने कहा—हे पुत्र! यह काम तो तुमने अच्छा नहीं किया। क्योंकि विविध उपचारों से तुमने मेरे शत्रु इन्द्रादि देवताओं की भी पूजा की है ॥ १४ ॥

एहीदानीं कृतं यद्धि सुकृतं तन्न संशयः ।
आगच्छ सौम्य गच्छाम स्वमेव भवनं प्रति ॥ १५ ॥

अस्तु, जो किया सो ठीक ही किया। इसमें सन्देह नहीं कि, इन कार्यों के करने से पुण्य की प्राप्ति अवश्य होगी। आओ! अब घर चलें ॥ १५ ॥

ततो गत्वा दशग्रीवः सपुत्रः सविभीषणः ।
स्त्रियोऽवतारयामास सर्वास्ता बाष्पगद्गदाः ॥१६॥

यह कह रावण अपने पुत्र और विभीषण को साथ ले अपने घर गया और उन सब रोती हुई स्त्रियों को विमान से उतारा ॥१६ ॥

लक्षिण्यो रत्नभूताश्च देवदानवरक्षसाम् ।
तस्य तासु मतिं ज्ञात्वा धर्मात्मा वाक्यमब्रवीत् ॥१७॥

वे सब अच्छे लक्षणों वाली रत्न स्वरूप स्त्रियाँ, देवताओं, दानवों और राक्षसों की कन्याएँ थीं। उन सब स्त्रियों के प्रति रावण का दुष्ट अभिप्राय जान धर्मात्मा विभीषण ने कहा ॥ १७ ॥

ईदृशैस्त्वं समाचारैर्यशोऽर्थ कुलनाशनैः ।
धर्षणं प्राणिनां ज्ञात्वा स्वमतेन विचेष्टसे ॥ १८ ॥

हे राजन्! तुम यह जानते ही हो कि यश, धन और कुलनाशक आचरणों से पाप होता है। तिस पर भी तुम प्राणियों को सताने के लिये मनमानी करते हो ॥ १८ ॥

ज्ञातींस्तान्धर्षयित्वेमास्त्वयानीता वराङ्गनाः ।
त्वामतिक्रम्य मधुना राजन्कुम्भीनसी हृता ॥ १९ ॥

हे राजन्! जिस प्रकार तुमने इन स्त्रियों के बन्धुजनों को नीचा दिखा कर इनको हरा है; उसी प्रकार मधु ने तुम्हें नीचा दिखाने के लिये, तुम्हारी बहिन कुम्भीनसी को हरा है ॥ १९ ॥

रावणस्त्वब्रवीद्वाक्यं नावगच्छामि किं त्विदम् ।
कोऽयं यस्तु त्वयाख्यातो मधुरित्येव नामतः ॥ २० ॥

रावण ने कहा—मैं नहीं समझ सकता कि, तुम कह क्या रहे हो। जिसका तुमने नाम लिया वह मधु है कौन? ॥ २० ॥

विभीषणस्तु संक्रुद्धो भ्रातरं वाक्यमब्रवीत् ।
श्रूयतामस्य पापस्य कर्मणः फलमागतम् ॥ २१ ॥

तब विभीषण ने क्रोध में भर रावण से कहा—परस्त्रीहरण रूप आपके इस पाप का फल जो प्राप्त हुआ, उसे सुनो ॥ २१ ॥

मातामहस्य योऽस्माकं ज्येष्ठो भ्राता सुमालिनः ।
माल्यवानिति विख्यातो वृद्धः प्राज्ञो निशाचरः ॥२२॥

हम लोगों के नाना सुमाली के ज्येष्ठ भ्राता माल्यवान वृद्ध हैं और समझदार निशाचर हैं ॥ २२ ॥

पिता ज्येष्ठो जनन्या नो ह्यस्माकं चार्यकोऽभवत् ।
तस्य कुम्भीनसी नाम दुहितुर्दुहिताऽभवत् ॥२३॥

मातृष्वसुरथास्माकं सा च कन्या नलोद्भवा ।
भवत्यस्माकमेवैषा भ्रातॄणां धर्मतः स्वसा ॥ २४ ॥

वे हमारी माता के पिता के बड़े भाई हैं और हम लोगों के मान्य हैं। उनकी लड़की की लड़की कुम्भीनसी—(अर्थात् हम लोगों की मौसी) अनला की बेटी हम लोगों की धर्म की बहिन हुई ॥ २३ ॥ २४ ॥

सा हृता मधुना राजन् राक्षसेन बलीयसा ।
यज्ञप्रवृत्ते पुत्रे तु मयि चान्तर्जलोषिते ॥ २५

हे राजन्! इसी कुम्भीनसी को महाबली मधु नामक राक्षस हर कर ले गया है। उस समय तुम्हारा पुत्र तो यज्ञ करने में लगा हुआ था और मैं तप करने के लिये जल में स्थित था ॥ २५ ॥

कुम्भकर्णो महाराज निद्रामनुभवत्यथ ।
निहत्य राक्षसश्रेष्ठानमात्यानिह संमतान् ॥ २६ ॥

हे महाराज! उस समय कुम्भकर्ण सो रहा था। सो आप के कृपापात्र राक्षसश्रेष्ठ मंत्रियों को मार कर ॥ २६ ॥

धर्षयित्वा हृता राजन् गुप्ताप्यन्तःपुरेतव ।
श्रुत्वापि तन्महाराज क्षान्तमेव हतो न सः ॥२७॥

तुम्हारे अन्तःपुर में रक्षित कुम्भीनसी को वरजोरी हर ले गया है। उसकी इस उद्दण्डता को सुन कर भी मैंने उसे क्षमा कर दिया, उसे मारा नहीं ॥ २७ ॥

यस्मादवश्यं दातव्या कन्या भर्त्रे हि भ्रातृभिः ।
तदेतत्कर्मणो ह्यस्य फलं पापस्य दुर्मतेः ॥ २८ ॥

क्योंकि मैंने सोचा कि, कुआरी वहिन का विवाह करना भ्राता का आवश्यक कर्त्तव्य है। सो तो किया ही नहीं गया था। हे दुर्मते! यह दुर्घटना तुम्हारे ही दुष्कर्मों का फल है ॥ २८ ॥

अस्मिन्नेवाभिसम्प्राप्तं लोके विदितमस्तु ते ।
विभीषणवचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रः स रावणः ॥ २९ ॥

सो तुमको इस कन्याहरण रूप पाप का फल इसी लोक में (हाथों हाथ) मिल गया। इसे तुम याद रखो। विभीषण के इन वचनों को सुन राक्षसेन्द्र रावण ॥ २९ ॥

दौरात्म्येनात्मनोद्भूतस्तप्ताम्भा इव सागरः ।
ततोऽब्रवीद्दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः ॥ ३० ॥

अपने उस दुष्कर्म से वैसा ही सन्तप्त हुआ, जैसे पानी के गर्म होने से समुद्र खलबला उठता है। तदनन्तर वह मारे क्रोध के लाल लाल नेत्र कर कहने लगा ॥ ३० ॥

कल्प्यतां मे रथः शीघ्रं शूराः सज्जीभवन्तु नः ।
भ्राता मे कुम्भकर्णश्च ये च मुख्या निशाचराः ॥३१॥

तुरन्त मेरा रथ तैयार करो, मेरे शूर योद्धा लड़ने के लिये कमर कस तैयार हों, मेरा भाई कुम्भकर्ण और मुख्य मुख्य राक्षस ॥ ३१ ॥

वाहनान्यधिरोहन्तु नानाप्रहरणायुधाः ।
अद्य तं समरे हत्वा मधुं रावणनिर्भयम् ॥ ३२ ॥

विविध प्रकार के शस्त्र ले सवारियों पर सवार हों। आज मैं उस मधु को, जो रावण से भी नहीं डरता ॥ ३२ ॥

सुरलोकं गमिष्यामि युद्धाकाङ्क्षी सुहृद्वृतः ।
अक्षौहिणीसहस्राणि चत्वार्यग्र्याणि रक्षसाम् ॥३३॥

मार कर लड़ने के लिये अपने हितैषियों के साथ देवलोक में जाऊँगा। (रावण की आज्ञा पा) मुख्य मुख्य चार हज़ार अक्षौहिणी राक्षस आगे चले ॥ ३३ ॥

नानाप्रहरणान्याशु निर्ययुर्युद्धकाङ्क्षिणाम् ।
इन्द्रजित्त्वग्रतः सैन्यात्सैनिकान्परिगृह्य च ॥ ३४ ॥

उनके पास विविध प्रकार के हथियार थे। वे लड़ने की अभिलाषा से चले। मेघनाद सब सेनापतियों को साथ ले आगे हो लिया ॥ ३४ ॥

जगाम रावणो मध्ये कुम्भकर्णश्च पृष्ठतः ।
विभीषणश्च धर्मात्मा लङ्कायां धर्ममाचरन् ॥ ३५ ॥

बीच में रावण और सब के पीछे कुम्भकर्ण था। किन्तु धर्मात्मा विभीषण लङ्का में रह गये और वे अपने धर्माचरण में लगे रहे ॥ ३५ ॥

शेषाः सर्वे महाभागा ययुर्मधुपुरं प्रति ।
खरैरुष्ट्रैर्हयैर्दीप्तैः शिशुमारैर्महोरगैः ॥ ३६ ॥

बचे हुए अन्य समस्त राक्षस मधुपुरी की ओर रवाना हो गये। वे ऊटों, घोड़ों, सूसों और बड़े बड़े सांपों के ऊपर सवार थे ॥ ३६ ॥

राक्षसाः प्रययुः सर्वे कृत्वाकाशं निरन्तरम् ।
दैत्याश्च शतशस्तत्र कृतवैराश्च दैवतैः ॥ ३७ ॥

उस समय वे राक्षस आकाश को ढक कर जाने लगे। देवताओं से वैर रखने वाले सैकड़ों दैत्य ॥ ३७ ॥

रावणं प्रेक्ष्य गच्छन्तमन्वगच्छन्हि पृष्ठतः ।
स तु गत्वा मधुपुरं प्रविश्य च दशाननः ॥ ३८ ॥

रावण को देवताओं पर चढ़ाई करने के लिये जाते देख, उसके पीछे लग लिये। रावण चलते चलते मधु के नगर में पहुँचा ॥ ३८ ॥

न ददर्श मधुं तत्र भगिनीं तत्र दृष्टवान् ।
सा च प्रह्वाञ्जलिर्भूत्वा शिरसा चरणौ गता ॥ ३९ ॥

वहाँ पर उसे मधु तो न देख पड़ा, किन्तु उसे वहाँ उसकी बहिन कुम्भीनसी मिली। वह भाई को देख, हाथ जोड़ उसके पैरों पर गिर पड़ी ॥ ३९ ॥

तस्य राक्षसराजस्य त्रस्ता कुम्भीनसी तदा ।
तां समुत्थापयामास न भेतव्यमिति ब्रुवन् ॥ ४० ॥

क्योंकि वह रावण से डरती थी। उस समय कुम्भीनसी को पैरों पर गिरी हुई देख, रावण ने उसे उठाया और कहा डर मत ॥ ४० ॥

रावणो राक्षसश्रेष्ठः किं चापि करवाणि ते ।
साऽब्रवीद्यदि मे राजन्प्रसन्नस्त्वं महाभुज ॥ ४१ ॥

मैं राक्षसश्रेष्ठ रावण हूँ। अब बतला कि, मैं तेरे लिये क्या करूँ? उत्तर में कुम्भीनसी ने कहा—हे राजन्! हे महाभुज! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हुए हैं ॥ ४१ ॥

भर्तारं न ममेहाद्य हन्तुमर्हसि मानद ।
न हीदृशं भयं किञ्चित्कुलस्त्रीणामिहोच्यते ॥ ४२ ॥

तो हे मानद! अब आप मेरे पति का वध न करें। क्योंकि कुलीन स्त्रियों के लिये (पतिवध सा) दूसरा और कोई भय ही नहीं है ॥ ४२ ॥

भयानामपि सर्वेषां वैधव्यं व्यसनं महत् ।
सत्यवाग्भव राजेन्द्रमामवेक्षस्व याचतीम् ॥ ४३ ॥

समस्त विपत्तियों से बढ़ कर कुलीन स्त्रियों के लिये विधवापन की विपत्ति है। हे राजेन्द्र! आप अपने वचन को सत्य कीजिये। मैं प्रार्थना कर रही हूँ। आप मेरी ओर देखिये ॥ ४३ ॥

[नोट—कुलीन स्त्रियों के लिये विधवापन से बढ़ कर अन्य कोई विपत्ति नहीं है। कुम्भीनसी के इस कथन से स्पष्ट है कि, उस समय कुलीन राक्षसों के घरानों में भी पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं थी, और विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता था।]

त्वयाऽप्युक्तं महाराज न भेतव्यमिति स्वयम् ।
रावणस्त्वब्रवीद्धृष्टः स्वसारं तत्र संस्थिताम् ॥ ४४ ॥

आपने स्वयं अभी अपने मुख से कहा है कि, "डरो मत"। तब रावण हर्षित हो, सामने खड़ी हुई अपनी मौसेरी बहिन से बोला ॥ ४४ ॥

क्व चासौ तव भर्ता वै मम शीघ्रं निवेद्यताम् ।
सह तेन गमिष्यामि सुरलोकं* जयाय हि ॥ ४५ ॥

शीघ्र बतला तेरा पति कहाँ है। मैं उसे अपने साथ ले कर जय के लिये स्वर्गलोक को जाऊँगा ॥ ४५ ॥

तव कारुण्यसौहार्दान्निवृत्तोस्मि मधोर्वधात् ।
इत्युक्ता सा समुत्थाप्य प्रसुप्तं तं निशाचरम् ॥ ४६ ॥

तेरे ऊपर दया कर और तेरे स्नेहवश मैं अब मधु का वध नहीं करूँगा। यह सुन कर, कुम्भीनसी ने अपने सोते हुए पति को जगाया ॥ ४६ ॥

अब्रवीत्संप्रहृष्टेव राक्षसी सा पतिं वचः ।
एष प्राप्तो दशग्रीवो मम भ्राता महाबलः ॥ ४७ ॥

और हर्षित हो उससे कहा—मेरे महाबली भाई रावण यहाँ आये हुए हैं ॥ ४७ ॥

सुरलोकजयाकाङ्क्षी साहाय्ये त्वां वृणोति च ।
तदस्य त्वं सहायार्थं सबन्धुर्गच्छ राक्षस ॥ ४८ ॥

वे देवलोक जीतने के लिये जा रहे हैं और तुम्हारी सहायता चाहते हैं। अतः हे राक्षस! अपने भाई बंदों सहित उनकी सहायता के लिये उनके साथ जाओ ॥ ४८ ॥

---

* पाठान्तरे—"जयावहे"।

स्निग्धस्य भजमानस्य युक्तमर्थाय कल्पितुम्[1] ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा तथेत्याह मधुर्वचः ॥ ४९ ॥

मुझे देखते ही स्नेहवश रावण ने तुमको अपना बहनोई मान लिया है। अतः उनको सहायता देना तुमको उचित है। कुम्भीनसी के यह वचन सुन निशाचर मधु ने कहा कि, मैं अवश्य उसकी सहायता करूँगा ॥ ४६ ॥

ददर्श राक्षसश्रेष्ठं यथान्याय्यमुपेत्य सः ।
पूजयामास धर्मेण रावणं राक्षसाधिपम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर मधु, राक्षसश्रेष्ठ रावण से मिला और उसने यथा विधि, यथोचित, एवं धर्मानुसार रावण का सत्कार किया ॥ ५० ॥

प्राप्य पूजां दशग्रीवो मधुवेश्मनि वीर्यवान् ।
तत्र चैकां निशामुष्य गमनायोपचक्रमे ॥ ५१ ॥

बलवान रावण ने मधु के भवन में सत्कार प्राप्त कर वहाँ एक रात वास कर, अगले दिन वहाँ से प्रस्थान करने की तैयारी की ॥ ५१ ॥

ततः कैलासमासाद्य शैलं वैश्रवणालयम् ।
राक्षसेन्द्रो महेन्द्राभः सेनामुपनिवेशयत् ॥ ५२ ॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

इन्द्र के समान राक्षसराज रावण, कुबेर के वासस्थान कैलास पर्वत के शिखर पर गया और वहाँ अपनी सेना का शिविर स्थापित किया ॥ ५२ ॥

उत्तरकाण्ड का पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

1 स्निग्धस्य भजमानस्य—त्वयि जामातृभावं भजतः । (रा०)

षट्विंशः सर्गः

—※—

स तु तत्र दशग्रीवः सह सैन्येन वीर्यवान् ।
अस्तं प्राप्ते दिनकरे निवासं समरोचयत् ॥ १ ॥

सायङ्काल होने पर पराक्रमी रावण ने अपनी सेना सहित वहाँ वास किया ॥ १ ॥

उदिते विमले चन्द्रे तुल्य पर्वत वर्चसि ।
प्रसुप्तं सुमहत्सैन्यं नानाप्रहरणायुधम् ॥ २ ॥

कुछ देर बाद पर्वत के समान विमल चन्द्रमा उदय हुआ। तब विविध प्रकार के आयुधों को धारण किये हुए वह विशाल वाहिनी सो गयी ॥ २ ॥

रावणस्तु महावीर्यो निषण्णः शैलमूर्धनि ।
स ददर्श गुणांस्तत्र चन्द्रपादपशोभितान् ॥ ३ ॥

किन्तु रावण, उस पर्वत की चोटी पर लेटा हुआ, विविध प्रकार के पेड़ों और चन्द्रोदय के कारण उस पर्वत की अनेक शोभाओं को देखने लगा ॥ ३ ॥

कर्णिकारवनैर्दीप्तैः *कदम्बबकुलैस्तथा ।
पद्मिनीभिश्च फुल्लाभिर्मन्दाकिन्या जलैरपि ॥ ४ ॥
चम्पकाशोकपुन्नागमन्दारतरुभिस्तथा ।
चूतपाटललोध्रैश्च प्रियंग्वर्जुनकेतकैः ॥ ५ ॥

---

* पाठान्तरे—"कदम्बगहनैस्तथा"।

तगरैर्नारिकेरैश्च प्रियालपनसैस्तथा ।
एतैरन्यैश्च तरुभिरुद्भासितवनान्तरे ॥ ६ ॥

भली भांति चमचमाते कर्णिकार वृक्षों के वन, कदम्ब, मौलसिरी, मन्दाकिनी का जल, पुष्पित कमलों का वन, चम्पा, अशोक, नागकेसर, मन्दार, आम, गुलाब, लोध्र, प्रियङ्गु, अर्जुन, केवड़ा, तगर, नारियल, चिरौंजी, कटहर तथा अन्य वृक्षों से वह स्थान भूषित हो रहा था ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

किन्नरा मदनेनार्ता रक्ता मधुरकण्ठिनः ।
समं सम्प्रजगुर्यत्र मनस्तुष्टिविवर्धनम् ॥ ७ ॥

उस वन में, काम से विकल और मधुर कण्ठ वाले किन्नरगण एकत्र हो, साथ साथ, चित्त को हर्षित करने वाले गीत गा रहे थे ॥ ७ ॥

विद्याधरा मदक्षीबा मदरक्तान्तलोचनाः ।
योषिद्भिः सह संक्रान्ताश्चिक्रीडुर्जहृषुश्च वै ॥ ८ ॥

मदमाते विद्याधर मद से लाल लाल नेत्र किये, अपनी स्त्रियों के साथ हर्षित हो क्रीड़ा कर रहे थे ॥ ८ ॥

घण्टानामिव सन्नादः शुश्रुवे मधुरस्वनः ।
अप्सरोगणसङ्घानां गायतां धनदालये ॥ ९ ॥

कुबेर के भवन में गाने वाली अप्सराओं की बड़ी रसीली और मीठी ध्वनि, घंटे के नाद की तरह, सुन पड़ती थी ॥ ९ ॥

पुष्पवर्षाणि मुञ्चन्तो नगाः पवनताडिताः ।
शैलं तं वासयन्तीव मधुमाधवगन्धिनः ॥ १० ॥

हवा चलने पर वृक्षों से पुष्पों की वर्षा होती थी। जिनसे वह सारे का सारा पर्वत सुवासित हो रहा था। उन फूलों से वसन्त ऋतु के फूलों जैसी सुगन्धि निकल रही थी ॥ १० ॥

मधुपुष्परजः पृक्तं गन्धमादाय पुष्कलम् ।
प्रववौ वर्धयन्कामं रावणस्य सुखोऽनिलः ॥ ११ ॥

पुष्पपरागयुक्त मकरन्द की गन्ध से भलीभाँति युक्त एवं सुखदायी पवन, रावण का कामोद्दीपन करता हुआ बहने लगा ॥ ११ ॥

गेयात्पुष्पसमृद्ध्या च शैत्याद्वायोर्गिरेर्गुणात् ।
प्रवृत्तायां रजन्यां च चन्द्रस्योदयनेन च ॥ १२ ॥

रावणः स महावीर्यः कामस्य वशमागतः ।
विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य शशिनं समवैक्षत ॥ १३ ॥

उस समय रात्रि होने पर चन्द्रोदय होने से, संगीत सुनने से, पुष्पों की वृद्धि से एवं वायु की शीतलता से तथा पर्वत की शोभा से बलवान राक्षसराज रावण कामदेव के वश में हो, बारंबार लंबी साँसे लेता हुआ, चन्द्रमा की ओर देखने लगा ॥ १२ ॥ १३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र दिव्याभरणभूषिता ।
सर्वाप्सरोवरा रम्भा पूर्णचन्द्रनिभानना ॥ १४ ॥

इतने ही में वहाँ समस्त भूषणों से भूषित, समस्त अप्सराओं में श्रेष्ठ, चन्द्राननी रम्भा देख पड़ी ॥ १४ ॥

दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गी मन्दारकृतमूर्धजा ।
दिव्योत्सवकृतारम्भा दिव्यपुष्पविभूषिता ॥१५॥

उस समय वह अपने अंगों में चन्दन लगाये हुए थी। उसके बालों में कल्पवृक्ष के फूल गुथे हुए थे। वह किसी अच्छे जलसे में शामिल होने के लिये जल्दी जल्दी जा रही थी ॥ १५ ॥

चक्षुर्मनोहरं पीनं मेखलादामभूषितम् ।
समुद्वहन्ती जघनं रतिप्राभृतमुत्तमम् ॥ १६ ॥

उसके नेत्र सुन्दर और कुच कठोर थे। करधनी से भूषित उसके पीन नितम्ब रति के आश्रयस्थल थे ॥ १६ ॥

कृतैर्विशेषकैरार्द्रैः षडर्तुकुसुमोद्भवैः ।
बभावन्यतमेव श्रीःकान्तिश्रीद्युतिकीर्तिभिः ॥ १७ ॥

छःओं ऋतुओं में उत्पन्न हुए फूलों के बने हुए विविध प्रकार के आभूषणों को पहिने हुए रम्भा कान्ति, शोभा और कीर्ति में दूसरी लक्ष्मी की तरह जान पड़ती थी ॥ १७ ॥

नीलं सतोयमेघाभं वस्त्रं समवगुण्ठिता ।
यस्या वक्त्रं शशिनिभं भ्रुवौ चापनिभे शुभे ॥ १८ ॥

वह सजल मेघ की तरह नीली साड़ी पहिने थी। उसका मुख चन्द्रमा की तरह था और सुन्दर भौहें धनुष की तरह तनी हुईं थीं ॥ १८ ॥

ऊरू करिकराकारौ करौ पल्लव कोमलौ ।
सैन्यमध्येन गच्छन्ती रावणेनोपलक्षिता ॥ १९ ॥

उसकी जांघे हाथी की सूँड़ की तरह और उसके दोनों हाथ पत्तों से भी अधिक कोमल थे। वह रम्भा रावण की सैनिक छावनी में हो कर जा रही थी कि, उस पर रावण की दृष्टि पड़ी ॥ १९ ॥

तां समुत्थाय गच्छन्तीं कामबाणवशं गतः ।
करे गृहीत्वा लज्जन्तीं स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥२०॥

उस समय रावण काम के वशीभूत तो था ही, अतः उसने उठ कर तुरन्त रम्भा का हाथ पकड़ लिया। यद्यपि रम्भा उस समय बहुत लजायी ; तथापि रावण ने मुसक्या कर उससे कहा ॥२०॥

क्व गच्छसि वरारोहे कां सिद्धिं भजसे स्वयम् ।
कस्याभ्युदयकालोऽयं यस्त्वां समुपभोक्ष्यते ॥ २१ ॥

हे वरारोहे ! तुम कहाँ जाती हो ? तुम्हारी क्या इच्छा है ? यह समय किसके अभ्युदय का है कि, जो तुम्हारे साथ भोग करेगा ? ॥ २१ ॥

त्वदाननरसस्याद्य पद्मोत्पलसुगन्धिनः ।
सुधामृतरसस्येव कोऽद्य तृप्तिं गमिष्यति ॥२२॥

हे प्रिये ! कमल जैसे सुगन्धियुक्त तुम्हारे अधरों का अमृतपान कर, आज कौन व्यक्ति परितृप्त होगा ॥ २२ ॥

स्वर्णकुम्भनिभौ पीनौ शुभौ भीरु निरन्तरौ ।
कस्योरस्थलसंस्पर्शं दास्यतस्ते कुचाविमौ ॥ २३ ॥

हे भीरु ! तुम्हारे सुन्दर बड़े बड़े और सुवर्ण घट की तरह गोल स्तन, जो आपस में सटे हुए हैं, किस पुरुष की छाती का स्पर्श करेंगे ? ॥ २३ ॥

सुवर्णचक्रप्रतिमं स्वर्णदामाचितं पृथु ।
अध्यारोक्ष्यति कस्तेऽद्य जघनं स्वर्गरूपिणम् ॥२४॥

हे भामिनी! सुवर्ण चक्र की तरह सोने की करधनी से भूषित मोटी और स्वर्गतुल्य सुखदायी तुम्हारी इन जाँघों पर कौन सवार होगा? २४॥

मद्विशिष्टः पुमान्कोऽद्य शक्रो विष्णुरथाश्विनौ।
मामतीत्य हि यच्च त्वं यासि भीरु न शोभनम्॥२५॥

हे भीरु! इस जगत में मुझसे बढ़ कर कौन पुरुष है? इन्द्र, विष्णु अथवा अश्विनीकुमार कोई भी मेरी बराबरी नहीं कर सकता। अतः मुझे छोड़ कर तेरा अन्य के पास जाना अच्छी बात नहीं॥ २५॥

विश्रम त्वं पृथुश्रोणि शिलातलमिदं शुभम्।
त्रैलोक्ये यः प्रभुश्चैव मदन्यो नैव विद्यते॥ २६॥

हे बड़े नितम्बों वाली! आओ इस शिला पर विश्राम करो। त्रिलोकी में मुझे छोड़ दूसरा कोई प्रभु (तुझे मिलना कठिन है।) नहीं है॥ २६॥

तदेवं प्राञ्जलिः प्रह्वो याचते त्वां दशाननः।
भर्तुर्भर्ता विधाता च त्रैलोक्यस्य भजस्व माम्॥२७॥

देख, मैं दशग्रीव, (तेरे) प्रभु का प्रभु और तीनों लोकों का विधाता हो कर भी, नम्रतापूर्वक हाथजोड़ तुझसे प्रार्थना करता हूँ। अतः हे सुन्दरी! मेरा कहना मान ले॥ २७॥

एवमुक्ताऽब्रवीद्रम्भा वेपमाना कृताञ्जलिः।
प्रसीद नार्हसे वक्तुमीदृशं त्वं हि मे गुरुः॥ २८॥

रावण के ऐसे वचन सुन, रम्भा कांप उठी और हाथ जोड़ कर बोली—हे राक्षसराज! आप मेरे बड़े हैं, अतः आपको ऐसा कहना उचित नहीं ॥ २८ ॥

अन्येभ्योऽपि त्वया रक्ष्या प्राप्नुयां धर्षणं यदि ।
तद्धर्मतः स्नुषा तेऽहं तत्त्वमेतद्ब्रवीमि ते ॥२९॥

प्रत्युत यदि अन्य कोई मेरा अपमान करता हो तो, आपको उसके हाथ से मेरी रक्षा करनी चाहिये। धर्मानुसार मैं आपकी पुत्रवधू हूँ। मैं यह आपसे सत्य ही सत्य कहती हूँ ॥ २९ ॥

अथाब्रवीद्दशग्रीवश्चरणाधोमुखीं स्थिताम् ।
रोमहर्षमनुप्राप्तां दृष्टमात्रेण तां तदा ॥ ३० ॥

यह कह रम्भा नीचे को मुख कर अपने चरणों की ओर निहारती हुई खड़ी रही। रावण को देखते ही उसका शरीर थर्राने लगा ॥ ३० ॥

सुतस्य यदि मे भार्या ततस्त्वं हि स्नुषा भवेः ।
बाढमित्येव सा रम्भा प्राह रावणमुत्तरम् ॥ ३१॥

तदनन्तर रावण ने रम्भा से कहा कि, यदि तुम मेरे पुत्र की भार्या होती तो तू मेरी पुत्रवधू हो सकती थी। इसके उत्तर में रम्भा ने कहा—सो बात तो है ही ॥ ३१ ॥

धर्मतस्ते सुतस्याहं भार्या राक्षसपुङ्गव ।
पुत्रः प्रियतरः प्राणैर्भ्रातुर्वैश्रवणस्य ते ॥ ३२ ॥

विख्यातस्त्रिषु लोकेषु नलकूबर इत्ययम् ।
धर्मतो यो भवेद्विप्रः क्षत्रियो वीर्यतो भवेत् ॥ ३३ ॥

हे राक्षसपुङ्गव ! मैं धर्म से तुम्हारी पुत्रवधू हूँ। सुनो, तुम्हारे भाई कुबेर का, प्राणों से भी अधिक प्यारा नलकूवर नाम का त्रैलोक्य में प्रसिद्ध एक पुत्र है। वह धर्म का पालन करने में ब्राह्मण जैसा, पराक्रम में क्षत्रिय जैसा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

क्रोधाद्यश्च भवेदग्निः क्षान्त्या च वसुधासमः ।
तस्यास्मि कृतसङ्केता लोकपालसुतस्य वै ॥ ३४ ॥

क्रोध में अग्नि जैसा और क्षमा में पृथिवी के समान है। उस लोकपाल-कुमार के सङ्केतानुसार ॥ ३४ ॥

तमुद्दिश्य तु मे सर्वं विभूषणमिदं कृतम् ।
यथा तस्य हि नान्यस्य भावो मां प्रतितिष्ठति ॥३५॥

आज मैं उनके पास जाती हूँ। उनके पास जाने ही को मैंने ये सारा शृङ्गार किया है। मुझ पर जैसा उनका अनुराग है, वैसा अनुराग अन्य किसी पर नहीं है ॥ ३५ ॥

तेन सत्येन मां राजन्मोक्तुमर्हस्यरिन्दम ।
स हि तिष्ठति धर्मात्मा मां प्रतीक्ष्य समुत्सुकः ॥३६॥

हे अरिन्दम ! उस वादे को पूरा करने के लिये, तुमको उचित है कि मुझे छोड़ दो। क्योंकि वह धर्मात्मा उत्कण्ठापूर्वक मेरी बाट जोह रहा होगा ॥ ३६ ॥

तत्र विघ्नं तु तस्येह कर्तुं नार्हसि मुञ्च माम् ।
सद्भिराचरितं मार्गं गच्छ राक्षसपुङ्गव ॥ ३७ ॥

सो आपको उसके काम में विघ्न डालना उचित नहीं। हे राक्षसश्रेष्ठ ! साधुजन जिस मार्ग का अनुसरण करते हैं उसी मार्ग का अनुसरण आप भी करें ॥ ३७ ॥

माननीयो मम त्वं हि पालनीया तथास्मि ते ।
एवमुक्तो दशग्रीवः प्रत्युवाच विनीतवत् ॥ ३८ ॥

आप मेरे मान्य हैं, आपको मेरी रक्षा करनी चाहिये । रम्भा के ये वचन कहने पर रावण ने उससे बड़ी नम्रता से कहा ॥ ३८ ॥

स्नुषास्मि यद्वोचस्त्वमेकपत्नीष्वयं क्रमः ।
देवलोकस्थितिरियं सुराणां शाश्वती मता ॥ ३९ ॥

तुमने जो यह कहा कि—"मैं तुम्हारी पुत्रवधू हूँ," सो यह ठीक नहीं । क्योंकि यह नियम तो उन स्त्रियों के लिये है, जिनका एक पति होता है । इस बात को देवता भी मानते हैं और सनातन से यही बात निश्चित है ॥ ३६ ॥

पतिरप्सरसां नास्ति न चैकस्त्रीपरिग्रहः ।
एवमुक्त्वा स तां रक्षो निवेश्य च शिलातले ॥४०॥

अप्सरा के न तो एक पति होता है और न देवता के एक स्त्री । यह कह कर रावण ने रम्भा को पर्वत की शिला पर लिटा लिया ॥ ४० ॥

कामभोगाभिसंरक्तो मैथुनायोपचक्रमे ।
सा विमुक्ता ततो रम्भा भ्रष्टमाल्यविभूषणा ॥४१॥

और कामभोग में आसक्त हो उसके साथ विहार करना आरम्भ किया । जब वह भोग कर चुका, तब रम्भा की वह पुष्पमाला जो वह पहिने हुए थी मसल गयी और गहने भी ढीले ढाले हो गये ॥ ४१ ॥

गजेन्द्राक्रीडमथिता नदीवाकुलतां गता ।
लुलिताकुलकेशान्ता करवेपितपल्लवा ॥ ४२ ॥

गजेन्द्र की क्रीड़ा से विलोड़ित नदी की तरह, रम्भा विकल हो गयी। उसके सिर के बाल बिखर गये। वृक्ष के पत्तों की तरह उसके हाथ कांपने लगे॥ ४२॥

पवनेनावधूतेव लता कुसुमशालिनी।
सा वेपमाना लज्जन्ती भीताकर कृताञ्जलिः॥ ४३॥

पवन के झोंकों से झकोरी हुई पुष्पलता की तरह कांपती, लजाती और भयभीत रम्भा, हाथ जोड़े हुए॥ ४३॥

नलकूबरमासाद्य पादयोर्निपपात ह।
तदवस्थां च तां दृष्ट्वा महात्मानलकूबरः॥ ४४॥

नलकूबर के पास गयी और पास पहुँच वह उसके चरणों में गिर पड़ी। महात्मा नलकूबर ने उसकी दशा को देख, उससे॥४४॥

अब्रवीत्किमिदं भद्रे पादयोः पतितासि मे।
सा वैनिःश्वसमाना तु वेपमाना कृताञ्जलिः॥ ४५॥

कहा; हे भद्रे! यह क्या? तुम मेरे चरणों पर क्यों गिरीं? तब रम्भा कांपती हुई और लंबी लंबी सांसें लेती हुई तथा हाथ जोड़ कर,॥ ४५॥

तस्मै सर्वं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे।
एष देव दशग्रीवः प्राप्तो गन्तुं त्रिविष्टपम्॥ ४६॥

सब हाल ज्यों का त्यों कहने लगी। (वह बोली) हे देव! रावण स्वर्गलोक में जाने के लिये यहां आया है॥ ४६॥

तेन सैन्यसहायेन निशेयं परिणामिता।
आयान्ती तेन दृष्टास्मि त्वत्सकाशमरिन्दम॥४७॥

वह समस्त सेना सहित आज की रात यहाँ विता रहा था। हे अरिन्दम! रावण ने मुझको आपके पास आते हुए देख लिया ॥ ४७ ॥

गृहीता तेन पृष्टास्मि कस्य त्वमिति रक्षसा।
मया तु सर्वं यत्सत्यं तस्मै सर्वं निवेदितम् ॥ ४८ ॥

और मुझे पकड़ कर पूँछा कि, तू किसके पास जाती है? मैंने उससे जो सच्ची बात थी सो सब कह दी ॥ ४८ ॥

काममोहाभिभूतात्मा नाश्रौषीत्तद्वचो मम।
याच्यमानो मया देवस्नुषातेहमिति प्रभो ॥ ४९ ॥

किन्तु वह तो काम से अन्धा हो रहा था; अतः उसने मेरी एक भी बात न सुनी। मैंने बहुत प्रार्थना की कि, हे प्रभो! मैं तेरी पुत्रवधू हूँ ॥ ४६ ॥

तत्सर्वं पृष्ठतः कृत्वा बलात्तेनास्मि धर्षिता।
एवं त्वमपराधं मे क्षन्तुमर्हसि सुव्रत ॥ ५० ॥

किन्तु उसने मेरी एक भी बात न सुनी और मेरे साथ बलात्कार किया अर्थात् बलपूर्वक मेरे साथ विहार किया। हे सुव्रत! अतः आप मेरा यह अपराध क्षमा करें ॥ ५० ॥

नहि तुल्यं बलं सौम्य स्त्रियाश्च पुरुषस्य हि।
एतच्छ्रुत्वा तु संक्रुद्धस्तदा वैश्रवणात्मजः ५१ ॥

हे सौम्य! स्त्री का बल कभी भी पुरुष के समान नहीं होता। यह सुन कर कुबेर के पुत्र को क्रोध चढ़ आया ॥ ५१ ॥

धर्षणां तां परां श्रुत्वा ध्यानं सम्प्रविवेश ह ।
तस्यतत्कर्म विज्ञाय तदा वैश्रवणात्मजः ॥ ५२ ॥

सारा वृत्तान्त सुन उसने ध्यान लगा कर (योगबल से) उसके साथ किये गये बलात्कार का सारा वृत्तान्त जान लिया ॥ ५२ ॥

मुहुर्तात्क्रोधताम्राक्षस्तोयं जग्राह पाणिना ।
गृहीत्वा सलिलं सर्वमुपस्पृस्य यथाविधि ॥ ५३ ॥

तब क्रोध के मारे लाल लाल आँखें कर, उसने उसी समय हाथ में जल ले कर और समस्त इन्द्रियों को स्पर्श कर, एवं विधिपूर्वक आचमन कर ॥ ५३ ॥

उत्ससर्ज तदा शापं राक्षसेन्द्राय दारुणम् ।
अकामा तेन यस्मात्त्वं बलाद्भद्रे प्रधर्षिता ॥ ५४ ॥

राक्षसराज रावण को अति दारुण शाप देते हुए (रम्भा से) कहा—हे भद्रे! तेरी इच्छा के विरुद्ध उसने तेरे साथ बलात्कार किया है ॥ ५४ ॥

तस्मात्स युवतीमन्यां नाकामामुपयास्यति ।
यदा ह्यकामां कामार्तो धर्षयिष्यति योषितम् ॥५५॥

अतः फिर वह इस प्रकार दूसरी स्त्री पर उसको (इच्छा के विरुद्ध) बलात्कार न कर सकेगा। यदि वह फिर किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार करेगा ॥ ५५ ॥

मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकलीभविता तदा ।
तस्मिन्नुदाहृते शापे ज्वलिताग्निसमप्रभे ॥५६॥

तो उसके सिर के सात टुकड़े हो जायगे। उसके मुँह से जलती हुई आग की तरह इस शाप के निकलते ही ॥ ५६ ॥

देव दुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ।
पितामहमुखाश्चैव सर्वे देवाः प्रहर्षिताः ॥ ५७ ॥

देवताओं के नगाड़े बजने लगे और आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी। ब्रह्मा आदि समस्त देवता प्रसन्न हुए ॥ ५७ ॥

ज्ञात्वा लोकगतिं सर्वां तस्य मृत्युं च रक्षसः ।
श्रुत्वा तु स दशग्रीवस्तं शापं रोमहर्षणम् ॥ ५८ ॥

क्योंकि इन सब देवताओं ने लोक की दुर्गति करने वाले दशग्रीव की मौत का यह द्वार (उपाय) समझा। दशग्रीव ने जब से इस रोमाञ्चकारी शाप को सुना ॥ ५८ ॥

नारीषु मैथुनीभावं नाकामास्वभ्यरोचयत् ।
तेन नीताः स्त्रियः प्रीतिमापुः सर्वाः पतिव्रताः ।
नलकूबरनिर्मुक्तं शापं श्रुत्वा मनःप्रियम् ॥ ५९ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

तब से उसने अकामा स्त्रियों पर बलात्कार करना त्याग दिया। जिन पतिव्रता स्त्रियों को पहले वह ले गया था, उनको जब नलकूबर के शाप का वृत्तान्त अवगत हुआ, तब वे भी अपने मन में बड़ी प्रसन्न हुईं ॥ ५९ ॥

उत्तरकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

सप्तविंशः सर्गः

—:०:—

कैलासं लङ्घयित्वा तु ससैन्यबलवाहनः ।
आससाद महातेजा इन्द्रलोकं दशाननः ॥ १ ॥

अब कैलास पर्वत को लाँघ कर, महातेजस्वी दशग्रीव फौज फाटा और सवारियों सहित इन्द्रलोक में पहुँचा ॥ १ ॥

[नोट—इस वर्णन से जान पड़ता है कि, इन्द्रलोक भी इसी पृथिवी-मण्डल पर कहीं था और इन्द्रादि देवता पृथिवी के किसी उत्तरी भाग में रहा करते थे। यदि ऐसा न होता तो सेना के साथ की सवारियाँ इन्द्रलोक में कैसे जा सकती थीं।]

तस्य राक्षससैन्यस्य समन्तादुपयास्यतः ।
देवलोके बभौ शब्दो भिद्यमानार्णवोपमः ॥ २ ॥

चारों ओर से घेर कर जब राक्षसी सेना इन्द्रलोक में पहुँची तब ऐसा कोलाहल हुआ जैसा कि, खलबलाते हुए समुद्र में होता है ॥ २ ॥

श्रुत्वा तु रावणं प्राप्तमिन्द्रश्चलित आसनात् ।
देवानथाब्रवीत्तत्र सर्वानेव समागतान् ॥ ३ ॥

रावण की चढ़ाई का वृत्तान्त जान कर, इन्द्र का सिंहासन डोल उठा। जब सब देवता जमा हो गये; तब उन्होंने उनसे कहा ॥३ ॥

आदित्यांश्च वसूनरुद्रान्साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
सज्जा भवत युद्धार्थं रावणस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥

एकत्र हुए बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, साध्यगण तथा उनचास मरुद्गण से कहा—आप लोग दुष्ट रावण के साथ लड़ने के लिये तैयार हों ॥ ४ ॥

एवमुक्तास्तु शक्रेण देवाः शक्रसमायुधि ।
सन्नह्य सुमहासत्त्वा युद्धश्रद्धासमन्विताः ॥ ५ ॥

संग्राम में इन्द्र ही के समान प्रभाव वाले महाबली समस्त देवता लोग इन्द्र के ऐसे वचन सुन, लड़ने की अभिलाषा मन में रखे हुए कवचादि धारण करने लगे ॥ ५ ॥

स तु दीनः परित्रस्तो महेन्द्रो रावणं प्रति ।
विष्णोः समीपमागत्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ६ ॥

उधर इन्द्र, रावण से भयभीत हो भगवान् विष्णु के निकट गये और उनसे बोले ॥ ६ ॥

विष्णो कथं करिष्यामि रावणं राक्षसं प्रति ।
अहोऽतिबलवद्रक्षो युद्धार्थमभिवर्तते ॥ ७ ॥

हे भगवन्! इस राक्षस रावण के विषय में मुझे क्या करना चाहिये। हाय, यह अति बली रावण लड़ने के लिये आ रहा है ॥ ७ ॥

वरप्रदानाद्बलवान्न खल्वन्येन हेतुना ।
तत्तु सत्यं वचः कार्यं यदुक्तं पद्मयोनिना ॥ ८ ॥

वह केवल वरदान के बल से बलवान् हो रहा है। क्योंकि साक्षात् ब्रह्मा जी ने उससे जो कह दिया है, उसे सत्य करना ही पड़ेगा ॥ ८ ॥

तद्यथा नमुचिर्वृत्रो बलिर्नरकशम्बरौ ।

त्वद्बलं समवष्टभ्य मया दग्धास्तथा कुरु ॥ ९ ॥

अतः हे भगवन्! जिस प्रकार नमुचि, वृत्र, बलि, नरक और शम्बर को आपकी अपार सहायता से मैंने भस्म कर डाला ; उसी प्रकार कोई उपाय इस समय भी कीजिये ॥ ९ ॥

नह्यन्यो देवदेवेश त्वदृते मधुसूदन ।

गतिः परायणं चापि त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ १० ॥

क्योंकि हे देवदेवेश मधुसूदन ! इस चराचरयुक्त त्रैलोक्य में तुमको छोड़ न तो कोई दूसरा आश्रयदाता है और न कोई रक्षक ही ॥ १० ॥

त्वं हि नारायणः श्रीमान्पद्मनाभः सनातनः ।

त्वयेमे स्थापिता लोकाः शक्रश्चाहं सुरेश्वरः ॥११॥

आप ही सनातन पद्मनाभ श्रीमन्नारायण हैं, आप ही ने इन समस्त लोकों को स्थापित किया है और आप ही का बनाया हुआ मैं सुरपति बना हुआ हूँ ॥ ११ ॥

त्वया सृष्टमिदं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

त्वामेव भगवन् सर्वे प्रविशन्ति युगक्षये ॥ १२ ॥

हे भगवन्! इस चराचरमय समस्त जगत् के बनाने वाले आप ही हैं, और युगान्त में ये सब आप ही में लीन भी हो जाता है ॥ १२ ॥

तदाचक्ष्व यथातत्त्वं देवदेव मम स्वयम् ।

असिचक्रसहायस्त्वं योत्स्यसे रावणं प्रति ॥१३॥

अतः हे देवदेव! जिस प्रकार मेरी जीत हो आप मुझे वही उपाय बतला दें। अथवा बतलावें कि खड्ग, चक्र, धारण कर आप स्वयं रावण से युद्ध करेंगे? ॥ १३ ॥

एवमुक्तः स शक्रेण देवो नारायणः प्रभुः।
अब्रवीन्न परित्रासः कर्तव्यः श्रूयतां च मे ॥१४॥
न तावदेष दुष्टात्मा शक्यो जेतुं सुरासुरैः।
हन्तुं चापि समासाद्य वरदानेन दुर्जयः ॥ १५ ॥

वे देवदेव भगवान् श्रीमन्नारायण, इन्द्र के इन वचनों को सुन कर बोले—तुम डरो मत! सुनो। इस दुष्ट रावण को न तो देवता जीत सकते हैं और न दैत्य। न कोई अन्य ही इसे मार सकता है। वरदान के प्रभाव से अभी यह दुर्जेय है ॥ १४ ॥ १५ ॥

सर्वथा तु महत्कर्म करिष्यति बलोत्कटः।
राक्षसः पुत्रसहितो दृष्टमेतन्निसर्गतः ॥ १६ ॥

इस समय तो यह बड़ा पराक्रम दिखलावेगा। पुत्र की सहायता से यह महाभयङ्कर युद्ध करेगा। यह बात मुझे ज्ञानदृष्टि से अवगत हो चुकी है ॥ १६ ॥

यत्तु मां त्वमभाषिष्ठा युद्ध्स्वेति सुरेश्वर।
नाहं तं प्रतियोत्स्यामि रावणं राक्षसं युधि ॥ १७ ॥

हे सुरेश्वर! मुझसे तुमने जो रावण के साथ युद्ध करने के लिये कहा—सो मैं उसके साथ (अभी) न लड़ूँगा ॥ १७ ॥

नाहत्वा समरे शत्रुं विष्णुः प्रतिनिवर्तते।
दुर्लभश्चैव कामोऽद्य वरगुप्ताद्धि रावणात् ॥ १८ ॥

क्योंकि शत्रु को मारे विना विष्णु समरभूमि से लौटते नहीं, किन्तु रावण वरदान के वल (अभो) सुरक्षित है ; अतः मेरा अभीष्ट पूर्ण होना कठिन है ॥ १८ ॥

प्रतिजाने च देवेन्द्र त्वत्समीपे शतक्रतो ।
भवितास्मि यथास्याहं रक्षसो मृत्युकारणम् ॥१९॥

हे शतयज्ञकारी सुरपति ! किन्तु मैं तुम्हारे सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि, इस राक्षस की मौत का कारण मैं ही होऊँगा ॥१६॥

अहमेव निहन्तास्मि रावणं सपुरःसरम् ।
देवता नन्दयिष्यामि ज्ञात्वा कालमुपागतम् ॥ २० ॥

मैं ही इसे परिवार सहित मार कर (तुम समस्त) देवताओं को हर्षित करूँगा । परन्तु मारूँगा समय आने पर, अभी नहीं ॥२०॥

एतत्तेकथितं तत्त्वं देवराज शचीपते ।
युद्धस्व विगतत्रासः सुरैः सार्धं महाबल ॥ २१ ॥

हे महाबली शचीपति देवराज ! जो वास्तव में बात थी वह मैंने तुमको बतला दी । अब तुम जाओ और निडर हो कर, देवताओं को अपने साथ ले रावण से लड़ो ॥ २१ ॥

ततो रुद्राः सहादित्या वसवो मरुतोऽश्विनौ ।
सन्नद्धा निर्ययुस्तूर्णं राक्षसानभितः पुरात् ॥ २२ ॥

तदनन्तर ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, उनचास मरुद्गण और दोनों अश्विनीकुमार, कवचों को पहिन पहिन कर, नगर से निकले और इन लोगों ने राक्षसों के ऊपर आक्रमण किया ॥ २२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे नादः शुश्राव रजनीक्षये ।
तस्य रावण सैन्यस्य प्रयुद्धस्य समन्ततः ॥ २३ ॥

इतने में रावण की सेना के राक्षस सवेरा होते ही विकट युद्ध करने लगे। चारों ओर से उन सैनिक वीरों का कोलाहल सुनाई पड़ने लगा ॥ २३ ॥

ते प्रबुद्धा महावीर्या अन्योन्यमभिवीक्ष्य वै ।
संग्राममेवाभिमुखा अभ्यवर्तन्त हृष्टवत् ॥ २४ ॥

वे महावीर्यवान राक्षस परस्पर एक दूसरे को देख और उत्साह पा कर, हर्षित अन्तःकरण से युद्ध में अग्रसर हो, लड़ने लगे ॥ २४ ॥

ततो दैवतसैन्यानां संक्षोभः समजायत ।
तदक्षयं महासैन्यं दृष्ट्वा समरमूर्धनि ॥ २५ ॥

तदनन्तर राक्षसों की अपार अक्षय्य वाहिनी को देख, देवताओं की सेना में खलबली मच गयी ॥ २५ ॥

ततो युद्धं समभवद्देवदानवरक्षसाम् ।
घोरं तुमुलनिर्हादं नानाप्रहरणोद्यतम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर विविध आयुधधारी देवता, राक्षस और दानवों का बड़े कोलाहल के साथ तुमुल युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शूरा राक्षसा घोरदर्शनाः ।
युद्धार्थं समवर्तन्त सचिवा रावणस्य ते ॥ २७ ॥

उसी अवसर में भयङ्कर शक्ल सूरत के रावण के शूरवीर मंत्रिगण युद्ध करने के लिये तैयार हुए ॥ २७ ॥

मारीचश्च प्रहस्तश्च महापार्श्वमहोदरौ ।
अकम्पनो निकुम्भश्च शुकः सारण एव च ॥ २८ ॥

मारीच, प्रहस्त, महापार्श्व, महोदर, अकम्पन, निकुम्भ, शुक तथा सारण ॥ २८ ॥

संह्रादो धूमकेतुश्च महादंष्ट्रो घटोदरः ।
जम्बुमाली महाह्लादो विरूपाक्षश्च राक्षसः ॥ २९ ॥

संह्राद, धूमकेतु, महादंष्ट्र, घटोदर, जम्बुमाली, महाह्लाद और राक्षस विरूपाक्ष ॥ २९ ॥

सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च दुर्मुखो दूषणः खरः ।
त्रिशिराः करवीराक्षः सूर्यशत्रुश्च राक्षसः ॥ ३० ॥

सुप्तघ्न, यज्ञकोप, दुर्मुख, खर, त्रिशिरा, करवीराक्ष और राक्षस सूर्यशत्रु ॥ ३० ॥

महाकायोऽतिकायश्च देवान्तक नरान्तकौ ।
एतैः सर्वैः परिवृतो महावीर्यैर्महाबलः ॥ ३१ ॥

महाकाय, अतिकाय, देवान्तक और नरान्तक ; इन सब महावीर्य युक्त राक्षसों को साथ ले कर, महाबलवान ॥ ३१ ॥

रावणस्यार्यकः सैन्यं सुमाली प्रविवेश ह ।
स दैवतगणान्सर्वान्नानाप्रहरणैः शितैः ॥ ३२ ॥

व्यध्वंसयत्समं क्रुद्धो वायुर्जलधरानिव ।
तद्दैवतबलं राम हन्यमानं निशाचरैः ॥ ३३ ॥

सुमाली, जो रावण का नाना था, देवताओं की सेना में घुस गया। वह विविध प्रकार के पैने पैने शस्त्रों से क्रोध में भर उनको ऐसे ध्वस्त करने लगा, जैसे हवा मेघों को ध्वस्त करती है। हे राम! देवताओं की सेना, राक्षसों द्वारा मारी जा कर, ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

प्रणुन्नं सर्वतो दिग्भ्यः सिंहनुन्ना मृगा इव ।
एतस्मिन्नन्तरे शूरो वसूनामष्टमो वसुः ।
सावित्र इति विख्यातः प्रविवेश रणाजिरम् ॥ ३४ ॥

सिंह से त्रस्त मृगों की तरह दसों दिशाओं को भाग खड़ी हुई। इतने में शूरवीर और वसुओं में अष्टम वसु, जिनका नाम सावित्र था, समरभूमि में आये ॥ ३४ ॥

सैन्यैः परिवृतो हृष्टैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ।
त्रासयञ्शत्रुसैन्यानि प्रविवेश रणाजिरम् ॥ ३५ ॥

वह हर्षित हो, बहुत सी सेना को साथ लिये हुए अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को चला, शत्रुसैन्य को त्रस्त करते हुए समरभूमि में आये ॥ ३५ ॥

तथादित्यौ महावीर्यौ त्वष्टा पूषा च तौ समम् ।
निर्भयौ सह सैन्येन तदा प्राविशतां रणे ॥ ३६ ॥

त्वष्टा और पूषा नाम के दो महाबलवान आदित्य देवता भी, निर्भय हो अपनी सेना सहित समरभूमि में आये ॥ ३६ ॥

ततो युद्धं समभवत्सुराणां सह राक्षसैः ।
क्रुद्धानां रक्षसां कीर्तिं समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ३७ ॥

देवता लोग, राक्षसों की कीर्ति को न सह कर और रण से मुँह न फेर, राक्षसों से लड़ने लगे॥ ३७ ॥

ततस्ते राक्षसाः सर्वे विबुधान्समरे स्थितान् ।
नानाप्रहरणैर्घोरैर्जघ्नुः शतसहस्रशः ॥ ३८ ॥

तब वे सब राक्षस भी विविध घोर अस्त्र शस्त्र चला चला कर, संग्राम में स्थित सैकड़ों हज़ारों देवताओं का संहार करने लगे ॥ ३८ ॥

देवाश्च राक्षसान्घोरान्महाबलपराक्रमान् ।
समरे विमलैः शस्त्रैरुपनिन्युर्यमक्षयम् ॥ ३९ ॥

देवता लोग भी युद्ध में महाबलवान पराक्रमी राक्षसों को अपने चमचमाते अस्त्रों के आघात से यमालय भेजने लगे ॥ ३९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम सुमाली नाम राक्षसः ।
नानाप्रहरणैः क्रुद्धस्तत्सैन्यं सोऽभ्यवर्तत ॥ ४० ॥

हे राम ! इतने में राक्षस सुमाली विविध प्रकार के हथियार ले और क्रोध में भर, लड़ने के लिये सामने गया ॥ ४० ॥

स दैवतबलं सर्वं नानाप्रहरणैः शितैः ।
व्यध्वंसयत संक्रुद्धो वायुर्जलधरं यथा ॥ ४१ ॥

जैसे हवा बादलों की घटाओं को दूर भगा देती है, वैसे ही सुमाली भी क्रोध में भर विविध प्रकार के पैने शस्त्रों का प्रयोग कर, देवसेना को नष्ट करने लगा ॥ ४१ ॥

ते महाबाणवर्षैश्च शूलप्रासैः सुदारुणैः ।
हन्यमानाः सुराः सर्वे न व्यतिष्ठन्त संहताः ॥ ४२॥

वे सब देवता राक्षसों के बाणों की महावृष्टि, तथा शूलों, प्रासों आदि दारुण शस्त्रों की मार के सामने समरभूमि में न ठहर सके ॥ ४२ ॥

ततो विद्राव्यमाणेषु दैवतेषु सुमालिना ।
वसूनामष्टमः क्रुद्धः सावित्रो वै व्यवस्थितः ॥ ४३ ॥

जब सुमाली ने देवताओं को भगा दिया ; तब वसुओं में अष्टम वसु सावित्र ने क्रोध में भर उसका सामना किया ॥ ४३ ॥

संवृतः स्वैरथानीकैः प्रहरन्तं निशाचरम् ।
विक्रमेण महातेजा वारयामास संयुगे ॥ ४४ ॥

महातेजस्वी सावित्र ने सावधान हो और अपनी रथारूढ़ वाहिनी को साथ ले, राक्षसों पर प्रहार करना आरम्भ किया और अपने वीर विक्रम से सुमाली को युद्ध में रोक दिया ॥ ४४ ॥

ततस्तयोर्महद्युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
सुमालिनो वसोश्चैव समरेष्वनिवर्तिनोः ॥ ४५ ॥

तब संग्राम भूमि में पीठ न दिखाने वाले दोनों सुमाली और वसु का रोमाञ्चकारी बड़ा भयङ्कर युद्ध होने लगा ॥ ४५ ॥

ततस्तस्य महाबाणैर्वसुना सुमहात्मना ।
निहतः पन्नगरथः क्षणेन विनिपातितः ॥ ४६ ॥

महाबली वसु ने बड़े बड़े बाणों को चला उसके सर्परथ को टुकड़े टुकड़े कर क्षणमात्र में गिरा दिया ॥ ४६ ॥

हत्वा तु संयुगे तस्य रथं बाणशतैश्चितम् ।
गदां तस्य वधार्थाय वसुर्जग्राह पाणिना ॥ ४७ ॥

सैकड़ों बाणों को चला और उसके रथ को नष्ट कर, वसु ने सुमाली का वध करने के लिये हाथ में गदा उठायी ॥ ४७ ॥

ततः प्रगृह्य दीप्ताग्रां कालदण्डोपमां गदाम् ।
तां मूर्ध्नि पातयामास सावित्रो वै सुमालिनः ॥४८॥

सावित्र ने प्रज्वलित और कालदण्ड के समान अपनी गदा उठा सुमाली के सिर में मारी ॥ ४८ ॥

सा तस्योपरि चोल्काभा पतन्ती विबभौ गदा ।
इन्द्रप्रमुक्ता गर्जन्ती गिराविव महाशनिः ॥४९॥

जिस प्रकार इन्द्र का चलाया वज्र गर्जता हुआ पर्वतशिखर पर गिरता है, उसी प्रकार वह उल्का की तरह प्रभायुक्त गदा सुमाली के सिर पर गिरी ॥ ४९ ॥

तस्य नैवास्थि न शिरो न मांसं ददृशे तदा ।
गदया भस्मतां नीतं निहतस्य रणाजिरे ॥ ५० ॥

उस गदा के प्रहार से सुमाली की न हड्डी देख पड़ी, न सिर और न मांस ही। गदा ने उन सब को भस्म कर एक ढेर कर दिया ॥ ५० ॥

तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये राक्षसास्ते समन्ततः ।
व्यद्रवन्सहिताः सर्वे क्रोशमानाः परस्परम् ।
विद्राव्यमाणा वसुना राक्षसा नावतस्थिरे ॥ ५१ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

वे राक्षस उसको युद्ध में मरा हुआ देख, रोते और आपस में कहा सुनी करते हुए चारों ओर भाग गये।

सावित्र के द्वारा खदेड़े हुए राक्षस समरभूमि में खड़े न रह सके ॥ ५१ ॥

उत्तरकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

अष्टाविंशः सर्गः

—:o:—

सुमालिनं हतं दृष्ट्वा वसुना भस्मसात्कृतम् ।
स्वसैन्यं विद्रुतं चापि लक्षयित्वाऽर्दितं सुरैः ॥ १ ॥

सावित्र वसु द्वारा सुमाली का नष्ट और भस्म होना देख तथा समस्त राक्षसी सेना का देवताओं द्वारा पीड़ित हो कर भागना देख ॥ १ ॥

ततः स बलवान् क्रुद्धो रावणस्य सुतस्तदा ।
निवर्त्य राक्षसान्सर्वान्मेघनादो व्यवस्थितः ॥ २ ॥

महाबली रावणपुत्र मेघनाद अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और अपनी समस्त राक्षसी सेना को लौटा कर स्वयं युद्ध करने को उद्यत हुआ ॥ २ ॥

स रथेन महार्हेण कामगेन महारथः ।
अभिदुद्राव सेनां तां वनान्यग्निरिव ज्वलन् ॥ ३ ॥

प्रज्वलित आग जिस प्रकार वन की ओर लपकती है, वैसे ही वह महारथी मेघनाद, इच्छानुसार चलने वाले विशाल रथ पर बैठ, देवताओं की सेना पर दौड़ा ॥ ३ ॥

ततः प्रविशतस्तस्य विविधायुधधारिणः ।
विदुद्रुवुर्दिशः सर्वा दर्शनादेव देवताः ॥ ४ ॥

विविध प्रकार के आयुधों से सुसज्जित मेघनाद को समर-भूमि में प्रवेश करते देखते ही समस्त देवता भाग खड़े हुए ॥ ४ ॥

न बभूव तदा कश्चिद्युयुत्सोरस्य संमुखे ।
सर्वानाविद्ध्य वित्रस्तां ततः शक्रोऽब्रवीत्सुरान् ॥ ५ ॥

उसके सामने कोई भी खड़ा न रह सका। समस्त देवसेना को भयभीत हो भागते देख, उनसे इन्द्र कहने लगे ॥ ५ ॥

न भेतव्यं न गन्तव्यं निवर्तध्वं रणे सुराः ।
एष गच्छति पुत्रो मे युद्धार्थमपराजितः ॥ ६ ॥

हे देवताओं! तुमको न तो डरना चाहिये न भागना चाहिये। तुम सब लोग लौटो। देखो यह मेरा कभी न हारने वाला पुत्र लड़ने जाता है ॥ ६ ॥

ततः शक्रसुतो देवो जयन्त इति विश्रुतः ।
रथेनाद्भुतकल्पेन संग्रामे सोऽभ्यवर्तते ॥ ७ ॥

इन्द्रनन्दन जयन्तदेव एक बड़े विलक्षण रथ पर सवार हो समरक्षेत्र में आया ॥ ७ ॥

ततस्ते त्रिदशाः सर्वे परिवार्य शचीसुतम् ।
रावणस्य सुतं युद्धे समासाद्य प्रजघ्निरे ॥ ८ ॥

तब वे समस्त देवता इन्द्र के पुत्र को घेर कर आये और रावण-पुत्र मेघनाद पर प्रहार करने लगे ॥ ८ ॥

तेषां युद्धं समभवत्सदृशं देवरक्षसाम् ।
महेन्द्रस्य च पुत्रस्य राक्षसेन्द्रसुतस्य च ॥ ९ ॥

अब पुनः देवताओं और राक्षसों की एवं जयन्त और मेघनाद की बराबरी की लड़ाई होने लगी ॥ ६ ॥

ततो मातलिपुत्रस्य गोमुखस्य स रावणिः ।
सारथेः पातयामास शरान्कनकभूषणान् ॥ १० ॥

इतने में मेघनाद ने मातलिपुत्र गोमुख (जो जयन्त का रथ हाँक रहा था) के बहुत से सुवर्णभूषित बाण मारे ॥ १० ॥

शचीसुतश्चापि तथा जयन्तस्तस्य सारथिम् ।
तं चापि रावणिः क्रुद्धः समन्तात्प्रत्यविध्यत ॥ ११ ॥

इसके जवाब में शचीसुत जयन्त ने भी क्रोध में भर मेघनाद के सारथि को और मेघनाद को भी बाण मार कर भली भाँति घायल किया ॥ ११ ॥

स हि क्रोधसमाविष्टो बली विस्फारितेक्षणः ।
रावणिः शक्रतनयं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ १२ ॥

तब तो मेघनाद क्रोध में भर और आँखें तरेरता हुआ बाणों की वर्षा कर इन्द्र के पुत्र को पीड़ित करने लगा ॥ १२ ॥

ततो नानाप्रहरणाञ्छितधारान्सहस्रशः ।
पातयामास संक्रुद्धः सुरसैन्येषु रावणिः १३ ॥

फिर मेघनाद अत्यन्त कोप कर अनेक प्रकार के पैने हज़ारों आयुध देवताओं की सेना के ऊपर चलाने लगा ॥ १३ ॥

शतघ्नीमुसलप्रासगदाखड्गपरश्वधान् ।
महान्ति गिरिशृङ्गाणि पातयमास रावणिः ॥ १४ ॥

शतघ्नी, मूसल, गदा, प्रास, खड्ग, परश्वध और बड़े बड़े पर्वतखण्डों से वह देवसेना पर प्रहार करने लगा ॥ १४ ॥

ततः प्रव्यथिता लोकाः सञ्जज्ञे च तमस्ततः ।
तस्य रावणपुत्रस्य शत्रुसैन्यानि निघ्नतः ॥ १५ ॥

इस प्रकार से मेघनाद शत्रुसैन्य पर प्रहार कर रहा था कि, इसी बीच में उसकी माया से चारों ओर अन्धकार छा गया । जिस से त्रिलोकवासी समस्त प्रजा घबड़ा उठी ॥ १५ ॥

ततस्तद्दैवतबलं समन्तात्तं शचीसुतम् ।
बहुप्रकारमस्वस्थमभवच्छरपीडितम् ॥ १६ ॥

जयन्त को घेर कर जो देवसेना आयी थी, वह मेघनाद के बाणों से पीड़ित हो गयी और बहुप्रकार से विकल हो उठी ॥ १६ ॥

नाभ्यजानन्त चान्योन्यं रक्षो वा देवताथवा ।
तत्र तत्र विपर्यस्तं समन्तात्परिधावत ॥ १७ ॥

उस समय दोनों ओर की सेना की ऐसी दशा हो गयी कि, उन्हें अपने बिराने का ज्ञान तक न रह गया कि, यह देवता पक्ष का व्यक्ति है कि राक्षस पक्ष का । युद्धभूमि में जिधर देखो उधर बड़ी दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो गयी । सब सैनिक घबड़ाये हुए चारों ओर घूमने लगे ॥ १७ ॥

देवा देवान्निजघ्नुस्ते राक्षसान् राक्षसास्तथा ।
संमूढास्तमसाच्छन्ना व्यद्रवन्नपरे तथा ॥ १८ ॥

यहाँ तक कि, देवता देवता को, राक्षस राक्षस ही को मारने लगे। वीर लोग अन्धकार से घबड़ा कर और अत्यन्त घबड़ा कर भागने लगे॥ १८॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरः पुलोमा नाम वीर्यवान्।
दैत्येन्द्रस्तेन संगृह्य शचीपुत्रोऽपवाहितः॥ १९॥

यह दशा देख, पराक्रमी वीर पुलोमा नामक दैत्य, शची के पुत्र जयन्त को ले कर भाग गया॥ १९॥

संगृह्य तं तु दौहित्रं प्रविष्टः सागरं तदा।
आर्यकः स हि तस्यासीत्पुलोमा येन सा शची॥२०॥

वह पुलोमा शची का पिता था। अतः वह जयन्त का नाना अपने धेवते को ले समुद्र में घुस गया॥ २०॥

ज्ञात्वा [1]प्रणाशं तु तदा जयन्तस्याथ देवताः।
अप्रहृष्टास्ततः सर्वा व्यथिताः सम्प्रदुद्रुवुः॥ २१॥

तब समरभूमि में जयन्त को न देख और उसे नष्ट हुआ जान, देवता बड़े दुःखी और व्यथित हो, वहाँ से भाग खड़े हुए॥ २१॥

रावणिस्त्वथ संक्रुद्धो बलैः परिवृतः स्वकैः।
अभ्यधावत देवांस्तान्मुमोच च महास्वनम्॥२२॥

फिर मेघनाद अपनी सेना को साथ लिये हुए क्रोध में भर सिंहनाद करता हुआ देवताओं को खदेड़ने लगा॥ २२॥

दृष्ट्वा प्रणाशं पुत्रस्य दैवतेषु च विद्रुतम्।
मातलिं चाह देवेशो रथः समुपनीयताम्॥ २३॥

---

१ प्रणाशनं—अदर्शनं। (गो०)

इन्द्र ने अपने पुत्र को वहाँ न देख तथा देवताओं को युद्ध छोड़ कर भागते देख, मातलि से कहा—मेरा रथ लाओ ॥ २३ ॥

स तु दिव्यो महाभीमः सज्ज एव महारथः ।
उपस्थितो मातलिना वाह्यमानो महाजवः ॥ २४ ॥

इन्द्र के दिव्य, विशाल (देखने में) महाभयङ्कर और तेज़ चलने वाले रथ को तैयार कर शीघ्र ले आया ॥ २४ ॥

ततो मेघा रथे तस्मिंस्तडित्वन्तो महाबलाः ।
अग्रतो वायुचपला नेदुः परमनिःस्वनाः ॥ २५ ॥

उस रथ में बिजली सहित बड़े बलवान मेघ लगे हुए थे और उसके अग्रभाग में वायु से चालित बिजली बड़े ज़ोर से कड़कड़ाती जाती थी ॥ २५ ॥

नानावाद्यान्यवाद्यन्त गन्धर्वाश्च समाहिताः ।
ननृतुश्चाप्सरःसङ्घा निर्याते त्रिदशेश्वरे ॥ २६ ॥

जिस समय इन्द्र, पुरी से निकले; उस समय गन्धर्व लोग तरह तरह के बाजे बजाते और अप्सराएँ रथ के आगे नाचती जाती थीं ॥ २६ ॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां समरुद्गणैः ।
वृतो नानाप्रहरणैर्निर्ययौ त्रिदशाधिपः ॥ २७ ॥

रुद्र, वसु, आदित्य, अश्विनीकुमार और मरुद्गण विविध प्रकार के आयुधों को लिये हुए, इन्द्र के रथ को घेर कर चले जाते थे ॥ २७ ॥

निर्गच्छतस्तु शक्रस्य परुषः पवनो ववौ ।
भास्करो निष्प्रभश्चैव महोल्काश्च प्रपेदिरे ॥ २८ ॥

इन्द्र की रणयात्रा के समय रूखी हवा चलने लगी, सूर्य प्रभा-हीन हो गये और आकाश से महाउल्कापात हुआ ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शूरो दशग्रीवः प्रतापवान् ।
आरुरोह रथं दिव्यं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २९ ॥

इस बीच में रावण भी विश्वकर्मा के बनाये दिव्य रथ पर सवार हुआ ॥ २९ ॥

पन्नगैः सुमहाकायैर्वेष्टितं लोमहर्षणैः ।
येषां निःश्वासवातेन प्रदीप्तमिव संयुगे ॥ ३० ॥

उस रथ में ऐसे बड़े भारी भारी साँप लिपटे हुए थे, जिनको देखने से देखने वाले के (मारे भय के) रोंगटे खड़े हो जाते थे। उन महाविषधर सर्पों की फुफकारों से समरभूमि में उजियाला हो जाता था ॥ ३० ॥

दैत्यैर्निशाचरैश्चैव स रथः परिवारितः ।
समराभिमुखो दिव्यो महेन्द्रं सोऽभ्यवर्तत ॥ ३१ ॥

दैत्य और राक्षस उस रथ को घेरे हुए थे। रावण का वह दिव्य रथ युद्धभूमि में इन्द्र के रथ के सामने जा डटा ॥ ३१ ॥

पुत्रं तं वारयित्वा तु स्वयमेव व्यवस्थितः ।
सोऽपि युद्धाद्विनिष्क्रम्य रावणिः समुपाविशत् ॥ ३२ ॥

रावण अपने पुत्र मेघनाद को इन्द्र के साथ लड़ने की मनाई कर, स्वयं लड़ने लगा। तब मेघनाद भी रणक्षेत्र छोड़ अलग जा बैठा ॥ ३२ ॥

ततो युद्धं प्रवृत्तं तु सुराणां राक्षसैः सह ।
शस्त्राणि वर्षतां तेषां मेघानामिव संयुगे ॥ ३३ ॥

अब पुनः देवताओं और राक्षसों का विकट युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों ही ओर से मेघों से जलवृष्टि की तरह शस्त्रों की वर्षा होने लगी ॥ ३३ ॥

कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा नानाप्रहरणोद्यतः ।
नाज्ञायत तदा राजन्युद्धं केनाभ्यपद्यत ॥ ३४ ॥

हे राजन्! दुष्ट कुम्भकर्ण भी बहुत से शस्त्र लिये हुए था, पर उसको यह ज्ञान न था, कि मैं किससे लड़ूँ अथवा उसे यह तक मालूम न हुआ कि विपक्षी कौन है ॥ ३४ ॥

दन्तैः पादैर्भुजैर्हस्तैः शक्तितोमरमुद्गरैः ।
येन तेनैव संक्रुद्धस्ताडयामास देवताः ॥ ३५ ॥

अतः उसके आगे . देवता पड़ जाता उसे वह दाँतों से, लातों से, मूँकों से, शक्तियों से तोमरों से और मुद्गरों से अथवा उस समय उसके हाथ जो वस्तु (रणभूमि में) आ जाती, उसीसे क्रोध में भर, मारने लगता था ॥ ३५ ॥

स तु रुद्रैर्महाघोरैः सङ्गम्याथ निशाचरः ।
प्रयुद्धस्तैश्च सङ्ग्रामे क्षतः शस्त्रैर्निरन्तरम् ॥ ३६ ॥

लड़ते लड़ते वह महाभयानक रुद्रों से जा भिड़ा। रुद्रों के शस्त्रप्रहार से उसका सारा शरीर चलनी हो गया ॥ ३६ ॥

ततस्तद्राक्षसं सैन्यं प्रयुद्धं समरुद्गणैः ।
रणे विद्रावितं सर्वं नानाप्रहरणैस्तदा ॥ ३७ ॥

उधर राक्षसी सेना की मरुद्गणों के साथ निकट लड़ाई हो रही थी। मरुद्गणों ने विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सारी राक्षसी सेना को भगा दिया ॥ ३७ ॥

केचिद्विनिहताः कृत्ताश्चेष्टन्ति स्म महीतले ।
वाहनेष्ववसक्ताश्च स्थिता एवापरे रणे ॥ ३८ ॥

कितने ही राक्षस तो मारे गये और कितने ही घायल हो रणभूमि में पड़े तड़फड़ाने लगे और कितने ही अपनी सवारियों पर मूर्छित हो गिर कर उनसे चिपट गये ॥ ३८ ॥

रथान्नागान्खरानुष्ट्रान्पन्नगांस्तुरगांस्तथा ।
शिशुमारान्वराहांश्च पिशाचवदनानपि ॥ ३९ ॥
तान्समालिङ्ग्य बाहुभ्यां विष्टब्धाः केचिदुत्थिताः ।
देवैस्तु शस्त्रसंभिन्ना मम्रिरे च निशाचराः ॥ ४० ॥

कितने ही राक्षस रथों, हाथियों, गधों और बहुत से ऊँटों, साँपों, घोड़ों, सूंसों, सूअरों और पिशाचमुख घोड़ों को अपनी भुजाओं से लिपटाये हुए अधमरे से हो रहे थे और कितने ही देवताओं के शस्त्रों के प्रहार से मर चुके थे ॥ ३६ ॥ ४० ॥

चित्रकर्म[1] इवाभाति सर्वेषां रणसंप्लवः ।
निहतानां प्रसुप्तानां राक्षसानां महीतले ॥ ४१ ॥

उस समय रणभूमि में मर कर अथवा अधमरे हो कर पड़े हुए राक्षसों से रणभूमि का अद्भुत दृश्य देख पड़ता था ॥ ४१ ॥

---

१ चित्रकर्मे वाश्चर्यकरमाभातीत्यर्थः । (गो०)

शोणितोदकनिष्पन्दा काकगृध्रसमाकुला ।
प्रवृत्ता संयुगमुखे शस्त्रग्राहवती नदी ॥ ४२ ॥

हत आहत सैनिकों के रक्त की नदी बहने लगी थी। वहाँ गीध और कौओं के झुंड के झुंड इकट्ठे हो गये थे। उसमें शस्त्र रूपी मगर (घड़ियाल) देख पड़ते थे ॥ ४२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धो दशग्रीवः प्रतापवान् ।
निरीक्ष्य तु बलं सर्वं दैवतैर्विनिपातितम् ॥ ४३ ॥

अत्यन्त प्रतापवान् रावण देवताओं द्वारा अपनी समस्त राक्षसी सेना का नाश देख, अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ ४३ ॥

स तं प्रति विगाह्याशु प्रवृद्धं सैन्यसागरम् ।
त्रिदशान्समरे निघ्नन्शक्रमेवाभ्यवर्तत ॥ ४४ ॥

वह देवसेना रूपी उमड़ते हुए सागर में तुरन्त घुस पड़ा और देवताओं को मारता मारता इन्द्र के सामने जा पहुँचा ॥ ४४ ॥

ततः शक्रो महच्चापं विस्फार्य सुमहास्वनम् ।
यस्य विस्फार निर्घोषैः स्तनन्ति स्म दिशो दश ॥४५॥

रावण को सामने देख, इन्द्र ने अपना विशाल धनुष टंकारा, जिसके टंकार का घोरशब्द दसों दिशाओं में प्रतिध्वनित हुआ ॥ ४५ ॥

तद्विकृष्य महच्चापमिन्द्रो रावणमूर्धनि ।
पातयामास स शरान्पावकादित्यवर्चसः ॥ ४६ ॥

इन्द्र ने अपने उस विशाल धनुष को तान कर, अग्नि और सूर्य के समान चमचमाते बाण रावण के मस्तक पर मारे ॥ ४६ ॥

तथैव च महाबाहुर्दशग्रीवो निशाचरः ।
शक्रं कार्मुकविभ्रष्टैः शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ४७ ॥

उसी तरह महावीर रावण ने भी धनुष पर बाण रख, इन्द्र के ऊपर बाणों की वर्षा की ॥ ४७ ॥

प्रयुध्यतोरथ तयोर्बाणवर्षैः समन्ततः ।
नाज्ञायत तदा किञ्चित्सर्वं हि तमसा वृतम् ॥ ४८ ॥

इति अष्टविंशः सर्गः ॥

जब दोनों रथी इस प्रकार निरन्तर युद्ध करते हुए बाणों की वर्षा करने लगे, तब चारों ओर अन्धकार छा गया । अतः उस समय किसी को कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता था ॥ ४८ ॥

उत्तरकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—:०:—

ततस्तमसि सञ्जाते सर्वे ते देवराक्षसाः ।
आयुध्यन्त बलोन्मत्ताः सूदयन्तः परस्परम् ॥ १ ॥

उस समय देवता और राक्षस अपने अपने बल से मतवाले हो, एक दूसरे को पीड़ित करते हुए, तुमुल युद्ध कर रहे थे ॥ १ ॥

इन्द्रश्च रावणश्चैव रावणिश्च महाबलः ।
तस्मिंस्तमोजालवृते मोहमीयुर्न ते त्रयः ॥ २ ॥

उस अन्धकार में इन्द्र, रावण और मेघनाद—ये तीन ही सावधान रह सके ॥ २ ॥

स तु दृष्ट्वा बलं सर्वं रावणो निहतं क्षणात् ।
क्रोधमभ्यगमत्तीव्रं महानादं च मुक्तवान् ॥ ३ ॥

एक क्षण भर में अपनी समस्त सेना का नाश देख, रावण बड़ा क्रुद्ध हुआ और गरजा ॥ ३ ॥

क्रोधात्सूतं च दुर्धर्षःस्यन्दनस्थमुवाच ह ।
परसैन्यस्य मध्येन यावदन्तो नयस्व माम् ॥ ४ ॥

दुर्धर्ष रावण ने रथ पर बैठे हुए सूत से क्रोध में भर कहा—मेरा रथ देवसेना के इस छोर से उस छोर तक ले चलो ॥ ४ ॥

अद्यैव त्रिदशान्सर्वान्विक्रमैः समरे स्वयम् ।
नानाशस्त्रमहासारैर्नयामि यमसादनम् ॥ ५ ॥

मैं अभी अपने पराक्रम से अनेक शस्त्रों की वृष्टि कर देवताओं को यमपुर का पाहुन बनाता हूँ ॥ ५ ॥

अहमिन्द्रं वधिष्यामि धनदं वरुणं यमम् ।
त्रिदशान्विनिहत्याशु स्वयं स्थास्याम्यथोपरि ॥६॥

मैं स्वयं इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम को मार, सब के ऊपर मालिक बन कर, रहूँगा ॥ ६ ॥

विषादो नैव कर्तव्यः शीघ्रं वाहय मे रथम् ।
द्विः खलु त्वां ब्रवीम्यद्य यावदन्तं नयस्व माम् ॥७॥

अयं स नन्दनोद्देशो यत्र वर्तामहे वयम्।
नय मामद्य तत्र त्वमुदयो यत्र पर्वतः ॥ ८ ॥

तुम दुःखी न हो कर शीघ्र मेरा रथ हाँको। मुझे उस ओर पर पहुँचाओ। मैंने तुमसे दो बार कहा कि, इस समय जहाँ हम लोग हैं, यह नन्दनवन है। तुम उदयाचल तक मेरा रथ ले चलो ॥ ७॥ ८॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तुरगान्स मनोजवान्।
आदिदेशाथ शत्रूणां मध्येनैव च सारथिः ॥ ९ ॥

रावण के यह वचन सुन, सूत ने शत्रुओं के बीच में हो कर ही मन के वेग के समान चलने वाले घोड़ों को हाँका ॥ ९ ॥

तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा शक्रो देवेश्वरस्तदा।
रथस्थः समरस्थस्तान्देवान्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १० ॥

तब समरभूमि में स्थित देवराज इन्द्र ने रावण के इस निश्चय को जान कर, रथ में बैठे हुए देवताओं से कहा ॥ १० ॥

सुराः शृणुतमद्वाक्यं यत्तावन्मम रोचते।
जीवन्नेव दशग्रीवः साधु रक्षो निगृह्यताम् ॥ ११ ॥

हे देवताओं! देखो, इस समय मुझे जो ठीक जान पड़ रहा है, वह मैं कहता हूँ। वह यह है कि, रावण को जीवित ही पकड़ लो ॥ ११ ॥

एष ह्यतिबलः सैन्ये रथेन पवनौजसा।
गमिष्यति प्रवृद्धोर्मिः समुद्र इव पर्वणि ॥ १२ ॥

क्योंकि एक तो अधिक सेना रहने से यह वैसे ही अधिक बलवान है, दूसरे यह बड़े वेगवान रथ पर सवार हो हवा की तरह

सेना के बीच से ऐसे जा रहा है, जैसे पूर्णिमासी का महातरङ्ग धारी समुद्र उमड़ता है ॥ १२ ॥

नक्षेप हन्तुं शक्योऽद्य वरदानात्सुनिर्भयः ।
तद्ग्रहीष्यामहे रक्षो यत्ता भवत संयुगे ॥ १३ ॥

फिर वरदान के कारण यह निर्भय है अर्थात् मारा तो जा ही नहीं सकता । अतः शीघ्र तैयार हो जाओ जिससे हम इसे पकड़ लें ॥ १३ ॥

यथा वलौ निरुद्धे च त्रैलोक्यं भुज्यते मया ।
एवमेतस्य पापस्य निरोधो मम रोचते ॥ १४ ॥

जैसे वलि के बंध जाने पर मैंने त्रिभुवन का राज्य भोगा है, वैसे ही त्रिभुवन की रक्षा के लिये इस पापी रावण को मैं वंदी बनाना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

ततोन्यं देशमास्थाय शक्रः सन्त्यज्य रावणम् ।
अयुध्यत महाराज राक्षसांस्त्रासयन् रणे ॥ १५ ॥

हे राम ! यह कह देवराज इन्द्र, रावण का सामना छोड़, दूसरी जगह जा कर, राक्षसों को त्रस्त करते हुए, उनसे लड़ने लगे ॥ १५ ॥

उत्तरेण दशग्रीवः प्रविवेशानिवर्तकः ।
दक्षिणेन तु पार्श्वेन प्रविवेश शतक्रतुः ॥ १६ ॥

युद्ध में मुख न मोड़ने वाला रावण वेरोकटोक उत्तर की ओर से देवसेना में घुस गया और दक्षिण की ओर से इन्द्र राक्षसी सेना में घुसे ॥ १६ ॥

ततः स योजनशतं प्रविष्टो राक्षसाधिपः ।
देवतानां बलं सर्वं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ १७ ॥

रावण सौ योजन तक घुसता ही चला गया। उसने मारे बाणों के समस्त देवसेना को विदारित कर डाला ॥ १७ ॥

ततः शक्रो निरीक्ष्याथ प्रनष्टं तु स्वकं बलम् ।
न्यवर्तयदसम्भ्रान्तः समावृत्य दशाननम् ॥ १८ ॥

इन्द्र अपनी सेना का नाश देख, सावधान हुए और रावण को घेर कर, उसे उधर से लौटाते हुए, स्वयं भी उसके साथ लौटे ॥१८॥

एतस्मिन्नन्तरे नादो मुक्तो दानवराक्षसैः ।
हा हताः स्म इति ग्रस्तं दृष्ट्वा शक्रेण रावणम् ॥ १९ ॥

इतने में दानवों और राक्षसों ने बड़ा हाहाकार किया। वे सब यह कह कर कि, हा हम सब मारे गये, उच्च स्वर से चिल्लाने लगे। क्योंकि उन लोगों को निश्चय हो गया कि इन्द्र ने रावण को पकड़ लिया ॥ १९ ॥

ततो रथं समास्थाय रावणिः क्रोधमूर्छितः ।
तत्सैन्यमति संक्रुद्धः प्रविवेश सुदारुणम् ॥ २० ॥

तब तो बड़े क्रोध में भर, मेघनाद रथ पर सवार हो, उस दारुण देवसेना में घुसा ॥ २० ॥

तां प्रविष्य महामायां प्राप्तां पशुपतेः पुरा ।
प्रविवेश सुसंरब्धस्तत्सैन्यं समभिद्रवत् ॥ २१ ॥

पूर्वकाल में महादेव जी से वरदान में जो माया मेघनाद ने पाई थी, उसी माया को प्रकट कर देवसेना में घुस वह देवताओं को खदेड़ने लगा ॥ २१ ॥

स सर्वा देवतास्त्यक्त्वा शक्रमेवाभ्यधावत ।
महेन्द्रश्च महातेजा नापश्यच्च सुतं रिपोः ॥२२॥

फिर वह समस्त देवताओं का पीछा करना छोड़, अकेले इन्द्र पर झपटा । परन्तु इन्द्र ने शत्रुपुत्र मेघनाद को देख पाया ॥ २२ ॥

विमुक्तकवचस्तत्र वध्यमानोऽपि रावणिः ।
त्रिदशैः सुमहावीर्यैर्न चकार च किञ्चन ॥ २३ ॥

कवच रहित महावली मेघनाद देवों के द्वारा प्रहार किये जाने पर भी, ज़रा सा भी विचलित न हुआ ॥ २३ ॥

स मातलिं समायान्तं ताडयित्वा शरोत्तमैः ।
महेन्द्रं बाणवर्षेण भूय एवाभ्यवाकिरत् ॥ २४ ॥

प्रथम तो उसने उत्तम बाण मातलि के मारे, फिर बाणों की वर्षा कर उसने इन्द्र को पीड़ित किया ॥ २४ ॥

ततस्त्यक्त्वा रथं शक्रो विससर्ज च सारथिम् ।
ऐरावतं समारुह्य मृगयामास रावणिम् ॥ २५ ॥

तब इन्द्र, रथ और सारथि को छोड़, ऐरावत पर सवार हो रावण पुत्र मेघनाद को ढूढ़ने लगे ॥ २५ ॥

स तत्र मायाबलवानदृश्योऽथान्तरिक्षगः ।
इन्द्रं मायापरिक्षिप्तं कृत्वा स प्राद्रवच्छरैः ॥ २६ ॥

किन्तु वह महावली मेघनाद तो अन्तरिक्ष में माया द्वारा अदृश्य हो रहा था । वह इन्द्र पर बाणों की वृष्टि कर तथा इन्द्र को अपनी माया में फँसा, उन पर दौड़ा ॥ २६ ॥

स तं यदा परिश्रान्तमिन्द्रं जज्ञेऽथ रावणिः ।
तदैनं मायया बद्धा स्वसैन्यमभितोनयत् ॥ २७ ॥

जब उसने जाना कि, इन्द्र थक गये, तब माया से इन्द्र को बाँध, वह उन्हें अपनी सेना में ले गया ॥ २७ ॥

तं तु दृष्ट्वा बलात्तेन नीयमानं महारणात् ।
महेन्द्रममराः सर्वे किं नु स्यादित्य चिन्तयन् ॥ २८ ॥

जब महारण से बलपूर्वक इन्द्र को बाँध कर, मेघनाद ले गया तब यह देख, देवता चिन्तित हुए ॥ २८ ॥

दृश्यते न स मायावी शक्रजित्समितिञ्जयः ।
विद्यावानपि येनेन्द्रो माययाऽपहृतो बलात् ॥ २९ ॥

विशेषता यह थी कि, रणविजयी एवं मायावी मेघनाद इन्द्र को बाँध कर तो ले गया, पर स्वयं अदृश्य हो रहा, उसे कोई भी न देख सका। यद्यपि इन्द्र स्वयं अनेक प्रकार की माया जानते थे, तथापि इन्द्रजीत बरजोरी उनको पकड़ कर ले गया ॥ २९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धाः सर्वे सुरगणास्तदा ।
रावणं विमुखी कृत्य शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ३० ॥

इतने में समस्त देवताओं ने क्रोध में भर, बाणों की वृष्टि कर, रावण को विकल कर, उसे रण से विमुख कर दिया ॥ ३० ॥

रावणस्तु समासाद्य आदित्यांश्च वसूंस्तदा ।
न शशाक स संग्रामे योद्धुं शत्रुभिरर्दितः ॥ ३१ ॥

आदित्य और वसुओं के बीच में फँस, रावण ऐसा ध्वस्त हुआ कि, उसमें उस समय और अधिक लड़ने की शक्ति न रह गयी ॥ ३१ ॥

स तं दृष्ट्वा परिम्लानं प्रहारैर्जर्जरीकृतम् ।
रावणिः पितरं युद्धे दर्शनस्थोऽब्रवीदिदम् ॥ ३२ ॥

रावण मारे प्रहारों के जर्जरित शरीर हो अत्यन्त थक गया। तब मेघनाद पिता को इस दशा को देख और स्वयं अदृश्य रह कर, यह बोला ॥ ३२ ॥

आगच्छ तात गच्छामो रणकर्म निवर्तताम् ।
जितं नो विदितं तेऽस्तु स्वस्थो भव गतज्वरः ॥३३॥

हे तात! हम लोग जीत गये। आप यह जान कर क्लेशित न हों और सावधान हो जाँय। अब लड़ाई समाप्त हो गयी। चलिये घर को चलें ॥ ३३ ॥

अयं हि सुरसैन्यस्य त्रैलोक्यस्य च यः प्रभुः ।
स गृहीतो देवबलाद्भग्नदर्पाः सुराः कृताः ॥ ३४ ॥

जो देवताओं की सेना के ही नहीं, बल्कि जो त्रिलोकी के स्वामी हैं, उन इन्द्र को मैंने पकड़ लिया है। अब देवताओं का अभिमान चूर चूर हो गया ॥ ३४ ॥

यथेष्टं भुंक्ष्व लोकांस्त्रीन्निगृह्यारातिमोजसा ।
वृथा किं ते श्रमेणेह युद्धमद्य तु निष्फलम् ॥ ३५ ॥

अब आप तीनों लोकों का यथेष्ट भोग कीजिये और अपने शत्रु को बन्दीगृह में बंद कर दीजिये। अब आपका युद्ध कर श्रम उठाना व्यर्थ है ॥ ३५ ॥

ततस्ते दैवतगणा निवृत्ता रणकर्मणः ।
तच्छ्रुत्वा रावणेर्वाक्यं शक्रहीनाः सुरा गताः ॥ ३६ ॥

तब देवताओं ने युद्ध बंद कर दिया। मेघनाद के ये वचन सुन और इन्द्र को गँवा, देवता वहाँ से चल दिये ॥ ३६ ॥

अथ स रणविगतमुत्तमौजा-
स्त्रिदशरिपुः प्रथितो निशाचरेन्द्रः ।
स्वसुतवचनमादृतः प्रियं
तत्समनुनिशम्य जगादचैव सूनुम् ॥३७॥

अत्यन्त बलवान् इन्द्रशत्रु एवं प्रसिद्ध राक्षसराज रावण, अपने पुत्र के ऐसे प्रियवचन सुन और रण से लौट, आदर सहित पुत्र से बोला ॥ ३७ ॥

अतिबलसदृशैः पराक्रमैस्त्वं
ममकुलवंशविवर्धनः प्रभो ।
यदयमतुलबलस्त्वयाद्य वै
त्रिदशपतिस्त्रिदशाश्च निर्जिताः ॥ ३८ ॥

हे बेटा! अति बलवान् पुरुष की तरह पराक्रम प्रकट कर, तूने मेरे कुल और वंश का गौरव बढ़ाया। तूने आज इन्द्र को और देवताओं को भी जीत लिया ॥ ३८ ॥

नय रथमधिरोप्य वासवं
नगरमितो व्रज सेनया वृतस्त्वम् ।
अहमपि तव पृष्ठतो द्रुतं
सहसचिवैरनुयामि हृष्टवत् ॥ ३९ ॥

अब तू इन्द्र को रथ पर चढ़ा और अपनी सेना को साथ ले, लङ्का को ले जा। मैं भी तेरे पीछे पीछे अपने मंत्रियों को साथ ले हर्षित हो आता हूं॥ ३९॥

अथ स बलवृतः सवाहन-
त्रिदशपतिं परिगृह्य रावणिः।
स्वभवनमधिगम्य वीर्यवान्
कृतसमरान्विससर्ज राक्षसान्॥ ४०॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः॥

तदनन्तर बलवान मेघनाद स्वर्गाधीश इन्द्र को पकड़ कर, सेना और वाहनों सहित अपने घर को चला गया और वहां जा उसने सैनिकों को अपने अपने घरों को लौट जाने की आज्ञा दी॥ ४०॥

उत्तरकाण्ड का उनतीसवां सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

त्रिंशः सर्गः

—:०:—

जिते महेन्द्रेऽतिबले रावणस्य सुतेन वै।
प्रजापतिं पुरस्कृत्य ययुर्लङ्कां सुरास्तदा॥ १॥

इस प्रकार जब इन्द्र पकड़ कर लङ्का में ले जाये गये, तब ब्रह्मा जी को आगे कर समस्त देवता लङ्का में पहुँचे॥ १॥

तत्र रावणमासाद्य पुत्रभ्रातृभिरावृतम्।
अब्रवीद्गगने तिष्ठन्सामपूर्वं प्रजापतिः॥ २॥

उस समय पुत्र और भाइयों सहित बैठे हुए रावण से, आकाश-स्थित ब्रह्मा जी ने, शान्तिपूर्वक कहा ॥ २ ॥

वत्स रावण तुष्टोऽस्मि पुत्रस्य तव संयुगे ।
अहोऽस्य विक्रमौदार्यं तव तुल्योऽधिकोऽपि वा ॥ ३ ॥

हे वत्स रावण ! मैं तेरे लड़के की बहादुरी से सन्तुष्ट हूँ । वाह ! उसकी बहादुरी की बड़ाई क्या की जाय । तुम्हारे समान ; नहीं नहीं, वह तुम से भी बढ़ बढ़ कर पराक्रमी है ॥ ३ ॥

जितं हि भवता सर्वं त्रैलोक्यं स्वेन तेजसा ।
कृता प्रतिज्ञा सफला प्रीतोऽस्मि ससुतस्य ते ॥४॥

तुमने अपने पराक्रम से तीनों लोक जीते और अपनी प्रतिज्ञा भी पूरी की । अतः मैं तुम दोनों अर्थात् पिता पुत्र के ऊपर प्रसन्न हूँ ॥ ४ ॥

अयं च पुत्रोऽतिबलस्तव रावण वीर्यवान् ।
जगतीन्द्रजिदित्येव परिख्यातो भविष्यति ॥ ५ ॥

हे रावण ! यह तेरा अतिबली पुत्र संसार में इन्द्रजित नाम से पुकारा जायगा ॥ ५ ॥

बलवान्दुर्जयश्चैव भविष्यत्येव राक्षसः ।
यं समाश्रित्य ते राजन्स्थापितास्त्रिदशा वशे ॥ ६ ॥

हे राजन् ! तुमने जिसकी सहायता से देवताओं को अपने वश में कर लिया है, सो तुम्हारा यह निशाचर—पुत्र, बलवान और दुर्जेय होगा ॥ ६ ॥

तन्मुच्यतां महाबाहो महेन्द्रः पाकशासनः ।
किं चास्यमोक्षणार्थाय प्रयच्छन्तु दिवौकसः ॥ ७ ॥

अब हे महाबलवान्! तुम इन्द्र को छोड़ दो और इनके बदले तुम देवताओं से क्या चाहते हो सो भी बतला दो ॥ ७ ॥

अथाब्रवीन्महातेजा इन्द्रजित्समितिञ्जयः ।
अमरत्वमहं देव वृणेयद्येष मुच्यते ॥ ८ ॥

इस पर समरविजयी महाबली इन्द्रजित बोला—हे देव! यदि आप इन्द्र को छुड़वाना चाहते हैं, तो मुझे अमरत्व प्रदान कीजिये ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा मेघनादं प्रजापतिः ।
नास्ति सर्वामरत्वं हि कस्यचित्प्राणिनो भुवि ॥९॥

चतुष्पदः पक्षिणश्च भूतानां वा महौजसाम् ।
श्रुत्वा पितामहेनोक्तमिन्द्रजित्प्रभुणाव्ययम् ॥ १० ॥

तब महातेजस्वी ब्रह्मा जी ने मेघनाद से कहा—हे मेघनाद! पृथिवी पर कोई भी प्राणी क्या चौपाये क्या पक्षी, अथवा अन्य बड़े बड़े पराक्रमी प्राणी—कोई भी अमर नहीं है। अविनाशी भगवान् ब्रह्मा जी के वचन सुन इन्द्रजित् ॥ ९ ॥ १० ॥

अथाब्रवीत्स तत्रस्थं मेघनादो महाबलः ।
श्रूयतां या भवेत्सिद्धिः शतक्रतुविमोक्षणे ॥११॥

जो महाबलवान था, ब्रह्मा जी से बोला कि, सुनिये! इन्द्र को छोड़ने के बदले आप मुझे वे सिद्धियाँ दें जो मैं माँगूँ ॥ ११ ॥

ममेष्टं नित्यशो हव्यैर्मन्त्रैः सम्पूज्य पावकम् ।
संग्राममवतर्तुं च शत्रुनिर्जयकाङ्क्षिणः ॥ १२ ॥
अश्वयुक्तो रथो मह्यमुत्तिष्ठेत्तु विभावसोः ।
तत्स्थस्यामरता स्यान्मे एष मे निश्चितो वरः ॥ १३ ॥
तस्मिन्यद्य समाप्ते च जप्यहोमे विभावसौ ।
युध्येयं देव संग्रामे तदा मे स्याद्विनाशनम् ॥ १४ ॥
सर्वो हि तपसा देव वृणोत्यमरतां पुमान् ।
विक्रमेण मया त्वेतदमरत्वं प्रवर्तितम् ॥ १५ ॥

जब मैं शत्रु को जीतने के लिये निकलूँ और उस समय अग्नि-देव का पूजन कर हवनीय द्रव्य की आहुति दूँ, तब उस अग्नि में से मेरे लिये घोड़ों सहित रथ निकले। उस रथ पर जब तक मैं सवार रहूँ, तब तक मैं अमर रहूँ। यही मेरा निश्चित वर है। हे देव! यदि मैं उस जप होम को पूरा किये बिना युद्ध करूँ, तो मैं मारा जाऊँ। हे देव! अन्य सब लोग तो तप द्वारा अमरता चाहते हैं, किन्तु मैं तो अपने पराक्रम के द्वारा अमरत्व चाहता हूँ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

एवमस्त्विति तं चाह वाक्यं देवः पितामहः ।
मुक्तश्चेन्द्रजिता शक्रो गताश्च त्रिदिवं सुराः ॥१६॥

तब लोकपितामह ब्रह्मा जी ने कहा—हे इन्द्रजित! ऐसा ही हो। तब मेघनाद ने इन्द्र को छोड़ दिया। तब सब देवता स्वर्ग को चले गये ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम दीनो भ्रष्टामरद्युतिः ।
इन्द्रश्चिन्तापरीतात्मा ध्यानतत्परतां गतः ॥ १७ ॥

हे राम ! इन्द्र तो छूट गये, किन्तु वे उदास थे एवं उनमें जो देवत्व की कान्ति थी वह अब नहीं रह गयी थी । अतः वे चिन्तामग्न हो कुछ सोचने लगे ॥ १७ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथाभूतं प्राह देवः पितामहः ।
शतक्रतो किमु पुरा करोति स्म सुदुष्कृतम् ॥ १८ ॥

इन्द्र को चिन्तित देख ब्रह्मा जी बोले—हे इन्द्र ! चिन्ता क्या करते हो । अपने कुकृत्य का स्मरण करो ॥ १८ ॥

अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो ।
एकवर्णाः समा भाषा एकरूपाश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

हे इन्द्र ! मैंने पहिले कुछ सृष्टि सङ्कल्प से रची थीं । उसका एक ही सा रूप रंग और एक ही सी बोली थी ॥ १९ ॥

तासां नास्ति विशेषो हि दर्शने लक्षणेऽपि वा ।
ततोऽहमेकाग्रमनास्ताः प्रजाः समचिन्तयम् ॥ २० ॥

उनमें क्या रूप में तथा क्या अन्य लक्षणों में कुछ भी अन्तर न था । तब मैंने मन को एकाग्र कर विचारा ॥ २० ॥

सोऽहं तासां विशेषार्थं स्त्रियमेकां विनिर्ममे ।
यद्यत्प्रजानां प्रत्यंगं विशिष्टं तत्तदुद्धृतम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर सोच विचार कर मैंने उनमें कुछ विशेषता दिखलाने के लिये एक स्वतंत्र स्त्री बनायी । उस स्त्री के बनाने में मैंने सब प्रजा के उत्तम उत्तम अंगों का सारभाग ग्रहण किया ॥ २१ ॥

ततो मया रूपगुणैरहल्या स्त्री विनिर्मिता ।
हलं नामेहवैरूप्यं हल्यं तत्प्रभवं भवेत् ॥ २२ ॥

मैंने अत्यन्त रूपवती और गुणवती अहल्या नाम की स्त्री बनाई। हल शब्द का अर्थ है—कुरूपता। उस हल अर्थात् कुरूपता से जो उत्पन्न हो उसको हल्य कहते हैं ॥ २२ ॥

यस्या न विद्यते हल्यं तेनाहल्येति विश्रुता ।
अहल्येत्येव च मया तस्या नाम प्रकीर्तितम् ॥ २३ ॥

जिसमें हल्य अर्थात् कुरूपता नहीं उसे अहल्या कहते हैं। (अर्थात् जो सर्वाङ्ग सुन्दरी हो उसका नाम अहल्या है।) इसीसे मैंने उसका नाम अहल्या रखा ॥ २३ ॥

निर्मितायां च देवेन्द्र तस्यां नार्यां सुरर्षभ ।
भविष्यतीति कस्यैषा मम चिन्ता ततोऽभवत् ॥२४॥

हे देवश्रेष्ठ ! उस नारी को बनाने के बाद मेरे मन में इस बात की चिन्ता हुई कि, यह किसकी स्त्री होगी ? ॥ २४ ॥

त्वं तु शक्र तदा नारीं जानीषे मनसा प्रभो ।
स्थानाधिकतया पत्नी ममैषेति पुरन्दर ॥ २५ ॥

किन्तु तुमने अपने मन में सोचा कि, मैं तीनों लोकों का स्वामी हूँ, अतः यह मेरी ही स्त्री होगी ॥ २५ ॥

सा मया न्यासभूता तु गौतमस्य महात्मनः ।
न्यस्ता बहूनि वर्षाणि तेन निर्यातिता च ह ॥ २६ ॥

किन्तु मैंने धरोहर की तरह उसे गौतम मुनि के अधीन कर दिया। वह वहाँ मुनि के पास बहुत दिनों तक रही। तदनन्तर मुनि ने उसे मुझे लौटा दिया ॥ २६ ॥

ततस्तस्य परिज्ञाय महास्थैर्यं महामुनेः ।
ज्ञात्वा तपसि सिद्धिं च पत्न्यर्थं स्पर्शिता तदा ॥२७॥

परन्तु जब मैंने उस महामुनि की (मानसिक) स्थिरता और तपःसिद्धि देखी; तब मैंने अहल्या पुनः उन्हींके अधीन कर दी और उनसे कह दिया कि, उसे वे अपनी भार्या बना लें ॥ २७ ॥

स तया सह धर्मात्मा रमते स्म महामुनिः ।
आसन्निराशा देवास्तु गौतमे दत्तया तया ॥ २८ ॥

तब गौतम जी उसके साथ सुखपूर्वक काल बिताने लगे। इस प्रकार अहल्या को गौतम की स्त्री बना देने पर, देवता उसकी प्राप्ति की ओर से आश छोड़ बैठे ॥ २८ ॥

त्वं क्रुद्धस्त्विह कामात्मा गत्वा तस्याश्रमं मुनेः ।
दृष्टवांश्च तदा तां स्त्रीं दीप्तामग्निशिखामिव ॥ २९ ॥

किन्तु तुम काम के वशवर्ती हो, क्रुद्ध हुए और ऋषि के आश्रम में जा, तुमने अग्निशिखा के तुल्य उस स्त्री को देखा ॥ २९ ॥

सा त्वया धर्षिता शक्र कामार्तेन समन्युना ।
दृष्टस्त्वं स तदा तेन आश्रमे परमर्षिणा ॥ ३० ॥

तुमने कामदेव से उन्मत्त हो और क्रोध में भर, उस स्त्री का सतीत्व नष्ट किया। उस समय गौतम ने तुमको अपने आश्रम में देख लिया ॥ ३० ॥

ततः क्रुद्धेन तेनासि शप्तः परम तेजसा ।
गतोऽसि येन देवेन्द्र दशाभागविपर्ययम् ॥ ३१ ॥

यस्मान्मे धर्षिता पत्नी त्वया वासव निर्भयात् ।
तस्मात्त्वं समरे शक्र शत्रुहस्तं गमिष्यसि ॥ ३२ ॥

तब महामुनि गौतम जी ने क्रुद्ध हो तुमको यह शाप दिया कि, हे देवराज ! तुमने अपना रूप बदल कर, मेरी स्त्री का सतीत्व नष्ट किया और कुछ भी न डरे ; अतः तुम्हारी विपरीत दशा हो जायगी और तुम युद्ध में शत्रु द्वारा पकड़े जाओगे ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अयं तु भावो दुर्बुद्धे यस्त्वयेह प्रवर्तितः ।
मानुषेष्वपि लोकेषु भविष्यति न संशयः ॥ ३३ ॥

हे दुर्बुद्धे ! तुमने यह एक अनुचित प्रथा जारी की । सो इस दूषित प्रथा की छूत मनुष्यों को भी लग जायगी । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३३ ॥

तत्रार्धं तस्य यः कर्ता त्वय्यर्धं निपतिष्यति ।
न च ते स्थावरं स्थानं भविष्यति न संशयः ॥ ३४ ॥

अतः जो पुरुष यह जारकर्म करेगा, उसके आधे पाप के तुम भागी होगे और आधा पाप उस जारकर्म करने वाले को लगेगा । (इतना ही नहीं) देवराज्य पर सदा तुम रहने भी न पाओगे ॥ ३४ ॥

यश्च यश्च सुरेन्द्रः स्याद्ध्रुवः स न भविष्यति ।
एष शापो मया मुक्त इत्यसौ त्वां तदाब्रवीत् ॥ ३५ ॥

यह शाप केवल तुम्हारे लिये ही (व्यक्तिगत) नहीं है, किन्तु जो कोई इन्द्रपद पर बैठेगा, वही अस्थिर होगा । मेरा शाप इन्द्रमात्र के लिये है । गौतम मुनि ने इस प्रकार तुमसे कहा था ॥ ३५ ॥

तां तु भार्यां सुनिर्भर्त्स्य सोऽत्र गौतमहातपाः ।
दुर्विनीते विनिध्वंस ममाश्रमसमीपतः ॥ ३६ ॥

तदनन्तर वे महातपस्वी गौतम जी अपनी स्त्री को धिक्कारते हुए बोले—हे दुर्विनीते ! मेरे आश्रम के निकट हो तू रूपहीन हो कर रहेगी ॥ ३६ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना यस्मात्त्वमनवस्थिता ।
तस्माद्रूपवती लोके न त्वमेका भविष्यति ॥ ३७ ॥

ऐसा रूप और यौवन पा कर भी तेरा चित्त इतना चञ्चल है और तूने असन्मार्ग का अवलंबन किया, अतः अब से तू ही एक ऐसी रूपवती न रहेगी (अर्थात् तेरा जैसी अन्य स्त्रियां भी रूपवती हुआ करेंगी ।) ॥ ३७ ॥

रूपं च ते प्रजाः सर्वा गमिष्यति न संशयः ।
यत्तदेकं समाश्रित्य विभ्रमोऽयमुपस्थितः ॥ ३८ ॥

केवल तेरे रूपवती होने के कारण ही यह विभ्राट उपस्थित हुआ है, अतः अब से तुझ जैसी और स्त्रियां भी निस्सन्देह रूपवती हुआ करेंगी ॥ ३८ ॥

तदाप्रभृति भूयिष्ठं प्रजा रूपसमन्विता ।
सा तं प्रसादयामास महर्षिं गौतमं तदा ॥ ३९ ॥

तभी से प्रजा अधिक रूपवती होने लगी । यह शाप सुन अहल्या ने मुनि को प्रसन्न करने के लिये कहा ॥ ३६ ॥

अज्ञानाद्धर्षिता विप्र त्वद्रूपेण दिवौकसा ।
न कामकाराद्विप्रर्षे प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

हे विप्र! इन्द्र ने तुम्हारा रूप धर कर, मुझको छला है। मैं जान न पायी कि, यह इन्द्र है। मैंने जान बूझ कर यह पाप नहीं किया। सो आप मुझे क्षमा करें और मेरे ऊपर प्रसन्न हों॥ ४०॥

अहल्यया त्वेवमुक्तः प्रत्युवाच स गैातमः।
उत्पत्स्यति महातेजा इक्ष्वाकूणां महारथः॥ ४१॥

रामो नाम श्रुतो लोके वनं चाप्युपयास्यति।
ब्राह्मणार्थे महाबाहुर्विष्णुर्मानुषविग्रहः॥ ४२॥

अहल्या के ऐसे वचन सुन गैातम जी ने कहा—ब्राह्मणों के हितार्थ महाबलवान भगवान् विष्णु मनुष्यदेह धारण कर इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न होंगे। वे महातेजस्वी महारथी इस संसार में राम के नाम से प्रसिद्ध होंगे तथा वन में आवेंगे॥ ४१॥ ४२॥

तं द्रक्ष्यसि यदा भद्रे ततः पूता भविष्यसि।
स हि पावयितुं शक्तस्त्वया यद्दुष्कृतं कृतम्॥ ४३॥

हे भद्रे! उनका दर्शन कर के तेरे पाप दूर होंगे। वे श्रीरामचन्द्र जी ही तेरे इस किये हुए पाप को दूर कर सकेंगे॥ ४३॥

तस्यातिथ्यं च कृत्वा वै मत्समीपं गमिष्यसि।
वत्स्यसि त्वं मया सार्धं तदा हि वरवर्णिनि॥ ४४॥

हे श्रेष्ठवर्णवाली! उनका आतिथ्य कर के जब तू मेरे निकट आवेगी, तब तू पुनः मेरे साथ रहने योग्य हो सकेगी॥ ४४॥

एवमुक्त्वा स विप्रर्षिराजगाम स्वमाश्रमम्।
तपश्चचार सुमहत्सा पत्नी ब्रह्मवादिनः॥ ४५॥

यह कह कर, वे ब्रह्मर्षि फिर अपने आश्रम को चले गये। तब से इन ब्रह्मवादी की स्त्री अहल्या ने भी बड़ा तप करना आरम्भ किया ॥ ४५ ॥

शापोत्सर्गाद्धि तस्येदं मुनेः सर्वमुपस्थितम् ।
तत्स्मर त्वं महाबाहो दुष्कृतं यत्त्वया कृतम् ॥ ४६ ॥

हे इन्द्र! गौतम जी के शाप ही से तुम्हारी यह दशा हुई है। हे महाबाहो! अतः तुम अपने उस कुकृत्य को याद करो ॥ ४६ ॥

तेन त्वं ग्रहणं शत्रोर्यातो नान्येन वासव ।
शीघ्रं वै यज यज्ञं त्वं वैष्णवं सुसमाहितः ॥ ४७ ॥

हे इन्द्र! उसी शाप के कारण शत्रु ने तुमको पकड़ा है। अब तुम सावधानता पूर्वक शीघ्र वैष्णवयज्ञ करो ॥ ४७ ॥

पावितस्तेन यज्ञेन यास्यसे त्रिदिवं ततः ।
पुत्रश्च तव देवेन्द्र न विनष्टो महारणे ॥ ४८ ॥

उस यज्ञ के करने पर शुद्ध हो कर, तुम फिर देवलोक में आ सकोगे। हे देवराज! युद्ध में तुम्हारा पुत्र जयन्त मारा नहीं गया है ॥ ४८ ॥

नीतः सन्निहितश्चैव आर्यकेण महोदधौ ।
एतच्छ्रुत्वा महेन्द्रस्तु यज्ञमिष्ट्वा च वैष्णवम् ॥ ४९ ॥

पुनस्त्रिदिवमाक्रामदन्वशासच्च देवराट् ।
एतदिन्द्रजितो नाम बलं यत्कीर्तितं मया ॥ ५० ॥

निर्जितस्तेन देवेन्द्रः प्राणिनोऽन्ये तु किं पुनः ।
आश्चर्यमिति रामश्च लक्ष्मणश्चाब्रवीत्तदा ॥५१॥

उसे तुम्हारे ससुर पुलोमा समुद्र में ले गये हैं। यह सुन कर इन्द्र ने वैष्णवयज्ञ किया। (उस यज्ञ के प्रभाव से) वे पवित्र हो, स्वर्ग में गये और पुनः राज्यासन पर विराजे। हे रघुनन्दन! इन्द्रजित इस प्रकार का बली था। दूसरों की तो बिसात ही क्या, उसने देवराज इन्द्र तक को जीत लिया था। अगस्त्य मुनि की बातें सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को आश्चर्य हुआ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

अगस्त्यवचनं श्रुत्वा वानरा राक्षसास्तदा ।
विभीषणस्तु रामस्य पार्श्वस्थो वाक्यमब्रवीत् ॥५२॥

अगस्त्य जी के वचन सुन, वानर तथा राक्षस और विभीषण, जो श्रीरामचन्द्र जी के निकट बैठे थे, यह बोले ॥ ५२ ॥

आश्चर्यं स्मारितोऽस्म्यद्य यत्तद्दृष्टं पुरातनम् ।
अगस्त्यं त्वब्रवीद्रामः सत्यमेतच्छ्रुतं च मे ॥ ५३ ॥

आश्चर्य है! बहुत दिनों बाद आज मुझको फिर पुरानी बातें याद हो आयीं। तब श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी से कहा कि, आपने जो कहा, वह सत्य है। क्योंकि मैं ये सब बातें सुन चुका हूँ ॥ ५३ ॥

एवं राम समुद्भूतो रावणो लोककण्टकः ।
सपुत्रो येन संग्रामे जितः शक्रः सुरेश्वरः ॥ ५४ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

(अन्त में) अगस्त्य जी बोले—हे राम ! जिस रावण ने इन्द्र को तथा उनके पुत्र जयन्त को युद्ध में हरा दिया था, उस लोककण्टक रावण की उत्पत्तिकथा यही है ॥ ५४ ॥

[नोट— लंकाकाण्ड के अन्तिम सर्ग में सुग्रीवादि वानरों और विभीषणादि राक्षसों का अपने अपने स्थानों को जाना कहा जा चुका है। किन्तु ५२वें श्लोक में पुनः इनकी उपस्थिति देख आश्चर्य होता है !]

उत्तरकाण्ड का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

एकत्रिंशः सर्गः

—:०:—

ततो रामो महातेजा विस्मयात्पुनरेव हि ।
उवाच *प्रणतो वाक्यमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी विस्मित हो तथा प्रणाम कर ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी से बोले ॥ १ ॥

भगवन् राक्षसः क्रूरो यदा प्रभृति मेदिनीम् ।
पर्यटत्किं तदा लोकाः शून्या आसन्द्विजोत्तम ॥ २ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हे भगवन् ! क्रूर स्वभाव रावण जब पृथिवी पर घूमता था, तब क्या इस पृथिवी पर कोई वीर था ही नहीं ? ॥ २ ॥

राजा वा राजमात्रो वा किं तदा नात्र कश्चन ।
धर्षणं यत्र न प्राप्तो रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ३ ॥

उस समय क्या कोई राजा या अन्य कोई राजपुरुष ऐसा न रह गया था, जो रावण को दबा सकता ? ॥ ३ ॥

---

* पाठान्तरे—"प्रश्रुतो।"

उताहो[1] हतवीर्यास्ते बभूवुः पृथिवीक्षितः ।
बहिष्कृता वरास्त्रैश्च बहवो निर्जिता नृपाः ॥ ४ ॥

क्या उस समय राजाओं में दलबन्दी थी अथवा सब राजाओं का तेज और बल नष्ट हो गया था ? अथवा क्या वे उत्तम शस्त्रों के चलाने की विद्या नहीं जानते थे, जिससे वे सब रावण से हार गये ? ॥ ४ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा अगस्त्यो भगवानृषिः ।
उवाच रामं प्रहसन्पितामह इवेश्वरम् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, भगवान् अगस्त्य ऋषि जी हँस कर, श्रीरामचन्द्र जी से ऐसे बोले, मानों ब्रह्मा जी शिव जी से बोलते हों ॥ ५ ॥

इत्येवं बाधमानस्तु पार्थिवान् पार्थिवर्षभ ।
चचार रावणो राम पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ६ ॥

हे राजाओं में श्रेष्ठ ! हे पृथिवीपते ! इस प्रकार राजाओं को पीड़ित करता हुआ रावण ; जब पृथिवी पर घूम रहा था ॥ ६ ॥

ततो माहिष्मतीं नाम पुरीं स्वर्गपुरीप्रभाम् ।
सम्प्राप्तो यत्र सान्निध्यं सदासीद्वसुरेतसः ॥ ७ ॥

तब वह घूमता घूमता स्वर्गतुल्य उस माहिष्मती पुरी में पहुँचा, जहाँ सदा अग्निदेव वास करते थे ॥ ७ ॥

तुल्य आसीन्नृपस्तस्य प्रभावाद्वसुरेतसः ।
अर्जुनो नाम यत्राग्निः शरकुण्डेशयः[2] सदा ॥ ८ ॥

---

[1] उताहो—पक्षान्तरे वर्तते । (गो०) [2] शरकुण्डेशयः—शरास्तरण-वत् कुण्डं तत्रशेत इति । (गो०)

वहाँ का राजा अर्जुन भी अग्नि के प्रभाव से अग्नि ही के समान था। वहाँ शरकुण्ड में अग्नि सदा दहकता रहता था ॥ ८ ॥

तमेव दिवसं सोऽथ हैहयाधिपतिर्बली ।
अर्जुनो नर्मदां रन्तुं गतः स्त्रीभिः सहेश्वरः ॥ ९ ॥

तमेव दिवसं सोऽथ रावणस्तत्र आगतः ।
रावणो राक्षसेन्द्रस्तु तस्यामात्यानपृच्छत ॥ १० ॥

हैहयाधिपति बलवान् राजा अर्जुन स्त्रियों के सहित जिस दिवस नर्मदा पर जलविहार करने गया; उसी दिन रावण भी वहाँ पहुँचा और उसने अर्जुन के मंत्रियों से पूछा ॥ ९ ॥ १० ॥

क्वार्जुनो नृपतिः शीघ्रं सम्यगाख्यातुमर्हथ ।
रावणोऽहमनुप्राप्तो युद्धेप्सुर्नृवरेण ह ॥ ११ ॥

राजा अर्जुन कहाँ है ? शीघ्र बतलाओ। मैं रावण हूँ। मैं उसके साथ युद्ध करूँगा ॥ ११ ॥

ममागमनमप्यग्रे युष्माभिः सन्निवेद्यताम् ।
इत्येवं रावणेनोक्तास्तेऽमात्याः सुविपश्चितः ॥ १२ ॥

सब से पहले तुम उसे मेरे आने की सूचना दो। राजा अर्जुन के बड़े समझदार उन मंत्रियों ने रावण के इन वचनों को सुन ॥ १२ ॥

अब्रुवन् राक्षसपतिमसान्निध्यं महीपतेः ।
श्रुत्वा विश्रवसः पुत्रः पौराणामर्जुनं गतम् ॥ १३ ॥

रावण से कहा कि, इस समय महाराज राजधानी में नहीं हैं। रावण पुरवासियों के मुख से यह सुन ॥ १३ ॥

अपसृत्यागतो विन्ध्यं हिमवत्सन्निभं गिरिम् ।
स तमभ्रमिवाविष्टमुद्भ्रान्तमिव मेदिनीम् ॥ १४ ॥

अपश्यद्रावणो विन्ध्यमालिखन्तमिवाम्बरम् ।
सहस्रशिखरोपेतं सिंहाध्युषितकन्दरम् ॥ १५ ॥

प्रपातपतितैः शीतैः साट्टहासमिवाम्बुभिः ।
देवदानवगन्धर्वैः साप्सरोभिः सकिन्नरैः ॥ १६ ॥

स्वस्त्रीभिः क्रीडमानैश्च स्वर्गभूतं महोच्छ्रयम् ।
नदीभिः स्यन्दमानाभिः स्फटिक प्रतिमञ्जलम् ॥१७॥

फणाभिश्चलजिह्वाभिरनन्तमिव विष्ठितम् ।
उत्क्रामन्तं दरीवन्तं हिमवत्सन्निभं गिरिम् ॥१८॥

पश्यमानस्ततो विन्ध्यं रावणो नर्मदां ययौ ।
चलोपलजलां पुण्यां पश्चिमोदधिगामिनीम् ॥ १९ ॥

उस पुरी को छोड़ हिमालय के समान विन्ध्याचल पर आया। वहाँ जा कर उसने वह पर्वत देखा, जो आकाश को स्पर्श करता हुआ सा और पृथिवी को फोड़ कर निकला हुआ सा जान पड़ता था। वह हज़ारों शिखरों से शोभित था और सिंहादि अनेक जन्तु उसकी कन्दराओं में रहते थे। सैकड़ों श्वेत रंग के झरने उससे निकल रहे थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था, मानों पर्वत अट्टहास कर रहा है। देव, दानव, अप्सराओं सहित गन्धर्व और किन्नर उस पर्वत पर स्त्रियों को ले कर क्रीड़ा कर रहे थे। इसीसे वह बड़ा ऊँचा पर्वत स्वर्ग जैसा जान पड़ता था। स्फटिक के समान स्वच्छ जल से भरी हुई नदियों से वह भूषित था; अतः वह पर्वत फणधारी

त्रञ्चल जिह्वा वाले शेष जी की तरह शोभायमान था। हिमालय के समान ऊँचा और कन्दराओं से युक्त, उस विन्ध्यपर्वत को देखता देखता रावण नर्मदा नदी पर पहुँचा। वह पवित्र नदी स्वच्छ पर्वतों पर बहती और पश्चिम समुद्र में गिरती थी॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

महिषैः सृमरैः सिंहैः शार्दूलर्क्षगजोत्तमैः।
उष्णाभितप्तैस्तृषितैः संक्षोभित जलाशयाम् ॥ २० ॥

भैंसे, सृमर, सिंह, शार्दूल, भालू और गजेन्द्र आदि जीव, सूर्य की गर्मी से उतप्त हो, नर्मदा के जल में घुस, उसको गंदला कर रहे थे॥ २० ॥

चक्रवाकैः सकारण्डैः सहंसजलकुक्कुटैः।
सारसैश्च सदामत्तैः कूजद्भिः सुसमावृताम् ॥ २१ ॥

चक्रवाक, कारण्डव, हंस, जलकुक्कुट और सारस पक्षी उसे घेर कर, सदा मतवाले हो शब्द किया करते थे॥ २१ ॥

फुल्लद्रुमकृतोत्तंसां चक्रवाकयुगस्तनीम्।
विस्तीर्णपुलिनश्रोणीं हंसावलिसुमेखलाम् ॥ २२ ॥

मनमोहने वाली नर्मदा ने मानों सुन्दरी कामिनी की तरह कान्ति धारण कर ली थी। पुष्पित वृक्ष उसके भूषण, चक्रवाक उसके कुच, विशालतट उसके नितम्ब, और हंसपंक्ति मानों उसकी करधनी थी॥ २२ ॥

पुष्परेण्वनुलिप्ताङ्गीं जलफेनामलांशुकाम्।
जलावगाहसुस्पर्शां फुल्लोत्पलशुभेक्षणाम् ॥ २३ ॥

पुष्पपराग उसका अंगराग, जलफेन उसका सफेद पट, स्नान-सुख उसका स्पर्शसुख और पुष्पित कमल ही मानों उसके शुभ्र नेत्र थे ॥ २३ ॥

पुष्पकादवरुह्याशु नर्मदां सरितां वराम् ।
इष्टामिव वरां नारीमवगाह्य दशाननः ॥ २४ ॥

वहाँ रावण तुरन्त पुष्पक से उतर पड़ा और उत्तमा प्रियतमा किसी स्त्री की तरह नदियों में श्रेष्ठ नर्मदा नदी में उसने स्नान किया ॥ २४ ॥

स तस्याः पुलिने रम्ये नानामुनिनिषेविते ।
उपोपविष्टः सचिवैः सार्धं राक्षसपुङ्गवः ॥ २५ ॥

तदनन्तर रावण अपने मंत्रियों सहित उस अनेक मुनिसेवित नर्मदा के रम्य तट पर बैठ गया ॥ २५ ॥

प्रख्याय नर्मदां सोऽथ गङ्गेयमिति रावणः ।
नर्मदा दर्शने हर्षमाप्तवान्स दशाननः ॥ २६ ॥

रावण ने नर्मदा को गङ्गा की तरह बतला उसकी प्रशंसा की और उसके दर्शन कर वह हर्षित हुआ ॥ २६ ॥

उवाच सचिवांस्तत्र सलीलं शुकसारणौ ।
एष रश्मिसहस्रेण जगत्कृत्वेव काञ्चनम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर उसने अनायास (अथवा खेल ही खेल में) हँस कर मारीच, शुक और सारण नामक अपने मंत्रियों से कहा—देखो, अपनी सहस्रों किरणों से जगत् को सुवर्ण के वर्ण का कर ॥ २७ ॥

तीक्ष्णतापकरः सूर्यो नभसो मध्यमास्थितः ।
मामासीनं विदित्वैव चन्द्रायति दिवाकरः ॥ २८ ॥

इस समय तीक्ष्ण ताप देने वाले सूर्य आकाश में विराजमान हो रहा है; किन्तु मुझे यहाँ बैठा हुआ जान, वह चन्द्रमा की तरह ठंडी किरनों से मुझे छू रहा है ॥ २८ ॥

नर्मदाजलशीतश्च सुगन्धिः श्रमनाशनः ।
मद्भयादनिलो ह्येष वात्यसौ सुसमाहितः ॥ २९ ॥

मेरे डर से यह पवन नर्मदा के जल को छू कर शीतल और सुगन्धियुक्त होने के कारण थकावट को दूर कर रहा है और बड़ी सावधानी से चल रहा है ॥ २९ ॥

इयं वापि सरिच्छ्रेष्ठा नर्मदा शर्मवर्धिनी ।
नक्रमीनविहङ्गोर्मिः सभयेवाङ्गना स्थिता ॥ ३० ॥

मगर मच्छ और पक्षियों से युक्त यह मनोहारिणी नर्मदा, तरङ्गों से व्याप्त होने पर भी, डरी हुई ललना के समान जान पड़ती है ॥ ३० ॥

तद्भवन्तः क्षताः शस्त्रैर्नृपैरिन्द्र समैर्युधि ।
चन्दनस्य रसेनेव रुधिरेण समुक्षिताः ॥ ३१ ॥

इन्द्र के समान पराक्रमी राजाओं के शस्त्रों की तुम लोगों ने चोटें सही हैं और चन्दन के रस की तरह रुधिर तुम्हारे सब शरीर में लिपटा हुआ है ॥ ३१ ॥

ते यूयमवगाहध्वं नर्मदां शर्मदां शुभाम् ।
सार्वभौममुखा मत्ता गङ्गामिव महागजाः ॥ ३२ ॥

अतः जैसे सार्वभौमादि मतवाले गजेन्द्र गङ्गा में स्नान करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी इस सुखदायिनी और कल्याणकारिणी नर्मदा में स्नान कर डालो ॥ ३२ ॥

अस्यां स्नात्वा महानद्यां पाप्मनो विप्रमोक्ष्यथ ।
अहमप्यद्य पुलिने शरदिन्दुसमप्रभे ॥ ३३ ॥

और इस महानदी में स्नान कर अपने पापों को धो बहाओ । मैं भी अब शारदीय ज्योत्स्ना के समान इस प्रभायुक्त रेतो में ॥ ३३ ॥

पुष्पोपहारं शनकैः करिष्यामि कपर्दिनः ।
रावणेनैवमुक्तास्तु प्रहस्तशुकसारणाः ॥ ३४ ॥

समहोदरधूम्राक्षा नर्मदां विजगाहिरे ।
राक्षसेन्द्रगजैस्तैस्तु क्षोभिता नर्मदा नदी ॥ ३५ ॥

कपर्दी महादेव जी की पूजा के लिये फूलों की भेंट सजाता हूँ। रावण के ऐसा कहने पर, प्रहस्त, शुक, सारण, महोदर, धूम्राक्ष आदि मंत्रिवर्ग रूपी हाथियों ने नर्मदा को वैसे ही क्षुब्ध कर डाला ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

वामनाञ्जनपद्माद्यैर्गङ्गा इव महागजैः ।
ततस्ते राक्षसाः स्नात्वा नर्मदायां महाबलाः ॥ ३६ ॥

जैसे वामन, अञ्जन, और पद्म नामक महादिग्गज गङ्गा जी को क्षुब्ध कर डालते हैं। फिर वे महाबली राक्षस लोग, नर्मदा में स्नान कर ॥ ३६ ॥

उत्तीर्य पुष्पाण्याजह्रुर्बल्यर्थं रावणस्य तु ।
नर्मदापुलिने हृद्ये शुभ्राभ्रसदृशप्रभे ॥ ३७ ॥

नदी से निकले और रावण की पूजा के लिये फूल इकट्ठे करने लगे। सफेद बादल की तरह नर्मदा नदी की रेती में ॥ ३७ ॥

राक्षसैस्तु मुहूर्तेन कृतः पुष्पमयो गिरिः।
पुष्पेषूपहृतेष्वेवं रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ३८ ॥

उन राक्षसों ने थोड़ी ही देर में पर्वत की तरह फूलों का ढेर कर दिया। जब फूल आगये तब राक्षसराज रावण ॥ ३८ ॥

अवतीर्णो नदीं स्नातुं गङ्गामिव महागजः।
तत्र स्नात्वा च विधिवज्जप्त्वा जप्यमनुत्तमम् ॥३९॥

स्नान करने को नर्मदा नदी में वैसे ही घुसा; जैसे गङ्गा जी में महागज घुसता है। तदनन्तर स्नान और जपने योग्य उत्तम मंत्र का जप कर, वह नदी के बाहर आया ॥ ३९ ॥

नर्मदासलिलात्तस्मादुत्ततार स रावणः।
ततः क्लिन्नाम्बरं त्यक्त्वा शुक्लवस्त्रसमावृतः ॥ ४० ॥

नर्मदा के जल से निकल रावण ने गीले कपड़ों को उतार सूखे सफेद कपड़े पहिने ॥ ४० ॥

रावणं प्राञ्जलिं यान्तमन्वयुः सर्वराक्षसाः।
तद्गतीवशमापन्ना मूर्तिमन्त इवाचलाः ॥ ४१ ॥

फिर वह पूजा का स्थान निश्चय करने के लिये हाथ जोड़े किनारे की ओर चला। उसके पीछे पीछे समस्त राक्षस मूर्तिमान पर्वतों की तरह चले ॥ ४१ ॥

यत्रयत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः।
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्रतत्र स्म नीयते ॥ ४२ ॥

राक्षसराज रावण जहाँ जहाँ जाता था, वहाँ वहाँ राक्षस लोग सुवर्ण का शिवलिङ्ग लिये जाते थे ॥ ४२ ॥

[नोट—इस श्लोक से प्राचीन काल में मूर्तिपूजा के प्रचलित होने में कुछ भी संशय नहीं रह जाता। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि, प्रायः तामस प्रकृति के लोग ही शिवपूजन किया करते थे।]

वालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः ।
अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चामृतगन्धिभिः ॥४३॥

रावण ने वालू की वेदी पर उस शिवलिङ्ग को रख, अमृत के समान सुगन्धियुक्त पुष्प व चन्दनादि से पूजन उसका (शिवलिङ्ग का) किया ॥ ४३ ॥

ततः सतामार्तिहरं परं वरं
वरप्रदं चन्द्रमयूखभूषणम् ।
समर्चयित्वा स निशाचरो जगौ
प्रसार्य हस्तान्प्रणनर्त चाग्रतः ॥४४॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

भक्तजनों के क्लेशों को हरने वाले, वरदानी, चन्द्रभूषण श्रीमहादेव जी की सर्वप्रकार से पूजा कर, राक्षसश्रेष्ठ रावण हाथ पसार कर भक्तिपूर्वक शिवलिङ्ग के सामने नाचने लगा ॥ ४४ ॥

उत्तरकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्वात्रिंशः सर्गः

—:o:—

नर्मदापुलिने यत्र राक्षसेन्द्रः स दारुणः ।
पुष्पोपहारं कुरुते तस्माद्देशाददूरतः ॥ १ ॥

अर्जुनो जयतां श्रेष्ठो माहिष्मत्याः पतिः प्रभुः ।
क्रीडते सह नारीभिर्नर्मदातोयमाश्रितः ॥ २ ॥

राक्षसश्रेष्ठ रावण पुण्यसलिला नर्मदा के तट पर, जहां शिव जी का पुष्पों से पूजन कर रहा था, वहां से कुछ ही दूर हट कर माहिष्मती नगरी का राजा महाविजयी अर्जुन अपनी बहुत सी रानियों के साथ जलविहार कर रहा था ॥ १ ॥ २ ॥

तासां मध्यगतो राजा रराज च तदार्जुनः ।
करेणूनां सहस्रस्य मध्यस्थ इव कुञ्जरः ॥ ३ ॥

उस समय उन रानियों के बीच राजा की वैसी ही शोभा हो रही थी ; जैसी कि, हथिनियों के बीच गजराज की होती है ॥३॥

जिज्ञासुः स तु बाहूनां सहस्रस्योत्तमं बलम् ।
रुरोध नर्मदावेगं बाहुभिर्बहुभिर्वृतः ॥ ४ ॥

राजा ने अपनी हज़ार भुजाओं का बल आज़माने के लिये नर्मदा की धार के जल को अपनी सहस्रों भुजाओं से रोका ॥४॥

कार्तवीर्यभुजासक्तं तज्जलं प्राप्य निर्मलम् ।
कूलोपहारं कुर्वाणं प्रतिस्रोतः प्रधावति ॥ ५ ॥

जब अर्जुन ने इस प्रकार जल की धार रोकी, तब जल उमड़ कर तटों के ऊपर तक जा पहुँचा और धार भी उलटी बहने लगी ॥ ५ ॥

समीननक्रमकरः सपुष्पकुशसंस्तरः ।
स नर्मदाम्भसोवेगः प्रावृट्काल इवाबभौ ॥ ६ ॥

वर्षा की तरह जल के उमड़ने पर मत्स्य, नक्र, मगर, तट पर के फूल और कुश आदि जलप्रवाह के साथ बहने लगे ॥ ६ ॥

स वेगः कार्तवीर्येण सम्प्रेषित इवाम्भसः ।
पुष्पोपहारं सकलं रावणस्य जहार ह ॥ ७ ॥

अर्जुन के रोके हुए जलप्रवाह से रावण की पूजा के लिये एकत्रित किये हुए सब फूल बह गये ॥ ७ ॥

रावणोऽर्धसमाप्तं तमुत्सृज्य नियमं तदा ।
नर्मदां पश्यते कान्तां प्रतिकूलां यथा प्रियाम् ॥ ८ ॥

रावण अपना पूजन अभी समाप्त नहीं कर पाया था। अतः उसे अधबिच ही में ज़ल की बाढ़ के कारण अपना पूजन छोड़ देना पड़ा। उस समय वह नर्मदा की ओर घूर कर वैसे ही देखने लगा; जैसे कोई पुरुष प्रतिकूल आचरण करने वाली अपनी स्त्री की ओर देखे ॥ ८ ॥

पश्चिमेन तु तं दृष्ट्वा सागरोद्गारसन्निभम् ।
वर्धन्तमम्भसो वेगं पूर्वामाशां प्रविश्य तु ॥ ९ ॥

उसने देखा कि, सागर के वेग के समान जल की धार पश्चिम ओर से पूर्व दिशा की ओर बढ़ रही है ॥ ९

ततोऽनुद्भ्रान्तशकुनां स्वभावे परमे स्थिताम् ।
निर्विकाराङ्गनाभासमपश्यद्रावणो नदीम् ॥ १० ॥

थोड़ी ही देर में विकार रहित कामिनी की तरह नर्मदा नदी पूर्ववत् शान्तभाव से ज्यों की त्यों बहने लगी। अतः तटवासी समस्त पक्षी निडर हो गये ॥ १० ॥

सव्येतरकराङ्गुल्या ह्यशब्दास्यो दशाननः ।
वेगप्रभावमन्वेष्टुं सोऽदिशच्छुकसारणौ ॥ ११ ॥

तब रावण ने मुख से कुछ भी न कह कर, दहिने हाथ की उंगली से शुक और सारण को नदी की बाढ़ का कारण जानने के लिये सङ्केत किया ॥ ११ ॥

तौ तु रावणसन्दिष्टौ भ्रातरौ शुकसारणौ ।
व्योमान्तरगतौ वीरौ प्रस्थितौ पश्चिमामुखौ ॥१२॥

रावण के आज्ञानुसार वे दोनों वीर भाई शुक और सारण, पश्चिम की ओर आकाश में उड़े ॥ १२ ॥

अर्धयोजनमात्रं तु गत्वा तौ रजनीचरौ ।
पश्येतां पुरुषं तोये क्रीडन्तं सहयोषितम् ॥ १३ ॥

जब वे दोनों रजनीचर उड़ते उड़ते आधे योजन निकल गये, तब उन्होंने देखा कि, एक पुरुष स्त्रियों के साथ जलविहार कर रहा है ॥ १३ ॥

बृहत्सालप्रतीकाशं तोयव्याकुलमूर्धजम् ।
मदरक्तान्तनयनं मदव्याकुलचेतसम् ॥ १४ ॥

वह साल वृक्ष की तरह ऊँचा है। उसके सिर के बाल खुले हुए हैं उसकी आँखे नशे के कारण सुर्ख हो रही हैं और वह मदिरा-पान से मतवाला हो रहा है ॥ १४ ॥

नदीं बाहुसहस्रेण रुन्धन्तमरिमर्दनम् ।
गिरिं पादसहस्रेण रुन्धन्तमिव मेदिनीम् ॥ १५ ॥

सुमेरुपर्वत जिस प्रकार सहस्र चरणों से पृथिवी को दवाये हुए हो, उसी प्रकार अर्जुन अपनी हज़ार भुजाओं से नदी के जल को रोके हुए (अचल अटल) खड़ा था ॥ १५ ॥

बालानां वरनारीणां सहस्रेण समावृतम् ।
समदानां करेणूनां सहस्रेणेव कुञ्जरम् ॥ १६ ॥

हज़ारों सुन्दरी युवतियां उसको वैसे ही घेरे हुए थीं; जैसे हज़ारों मतवाली हथिनियां गजेन्द्र को घेरे हों ॥ १६ ॥

तमद्भुततरं दृष्ट्वा राक्षसौ शुकसारणौ ।
सन्निवृत्तावुपागम्य रावणान्तमथोचतुः ॥ १७ ॥

शुक और सारण उस अद्भुत दृश्य को देख कर लौटे और रावण से, समस्त देखा हुआ वृत्तान्त कहने लगे ॥ १७ ॥

बृहत्सालप्रतीकाशः कोऽप्यसौ राक्षसेश्वरः ।
नर्मदां रोधवद्रुद्ध्वा क्रीडापयति योषितः ॥ १८ ॥

हे राक्षसेश्वर! बड़े भारी साल वृक्ष के समान कोई विशाल पुरुष, बाँध की तरह नर्मदा के जल को रोक कर, स्त्रियों के साथ जलविहार कर रहा है ॥ १८ ॥

तेन बाहुसहस्रेण सन्निरुद्धजला नदी ।
सागरोद्गारसङ्काशानुद्गारान्सृजते मुहुः ॥ १९ ॥

उसकी सहस्र बाहों से रोकी जा कर नर्मदा की धार के जल की, वैसे ही बाढ़ बार बार आती है, जैसे समुद्र में बाढ़ आती है ॥ १६ ॥

इत्येवं भाषमाणौ तौ निशम्य शुकसारणौ ।
रावणोऽर्जुन इत्युक्त्वा स ययौ युद्धलालसः ॥२०॥

उन दोनों शुक सारण राक्षसों के मुख से यह वृत्तान्त सुन, रावण बोला—वही अर्जुन है। तदनन्तर रावण उसीकी ओर चला, क्योंकि उसे युद्ध की बड़ी लालसा थी ॥ २० ॥

अर्जुनाभिमुखे तस्मिन् रावणे राक्षसाधिपे ।
चण्डः प्रवाति पवनः सनादः सरजस्तथा ॥ २१ ॥

सकृदेव कृतो रावः सरक्तपृषतो घनैः ।
महोदरमहापार्श्वधूम्राक्षशुकसारणैः ॥ २२ ॥

जब रावण अर्जुन से लड़ने के लिये जाने लगा, तब अति प्रचण्ड धूल उड़ाता हुआ पवन, बड़े ज़ोर से चला और घोर गर्जन कर बादलों ने रुधिर की बूंदें बरसायीं। महोदर, महापार्श्व, धूम्राक्ष, शुक और सारण को ॥ २१ ॥ २२ ॥

संवृतो राक्षसेन्द्रस्तु तत्रागाद्यत्रचार्जुनः ।
अदीर्घेणैव कालेन स तदा राक्षसो बली ॥ २३ ॥

साथ लिये हुए बलवान राक्षसराज रावण वहां तुरन्त गया, जहां अर्जुन जलक्रीड़ा कर रहा था ॥ २३ ॥

तं नर्मदाहृदं भीममाजगामाञ्जनप्रभः ।
स तत्र स्त्रीपरिवृतं वाशिताभिरिव द्विपम् ॥ २४ ॥

अञ्जन के समान कृष्णकान्ति वाला रावण, जब उस कुण्ड के समीप पहुँचा, तब उसने अर्जुन को स्त्रियों के साथ उसी प्रकार जलविहार करते देखा जिस प्रकार गजेन्द्र हथिनियों के साथ जल-विहार करता है ॥ २४ ॥

नरेन्द्रं पश्यते राजा राक्षसानां तदार्जुनम् ।
स रोषाद्रक्तनयनो राक्षसेन्द्रो बलोद्धतः ॥ २५ ॥
इत्येवमर्जुनामात्यानाह गम्भीरया गिरा ।
अमात्याः क्षिप्रमाख्यात हैहयस्य नृपस्य वै ॥ २६ ॥
युद्धार्थं समनुप्राप्तो रावणो नाम नामतः ।
रावणस्य वचः श्रुत्वा मन्त्रिणोऽथार्जुनस्य ते ॥२७॥

राजा अर्जुन को राक्षसराज रावण ने देखा और देखते ही क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर उसने अर्जुन के मंत्रियों से गम्भीर वाणी से यह कहा—हे मंत्रियों! तुम लोग हैहयनृपति अर्जुन से तुरन्त कहो कि, रावण नाम का राक्षसराज तुम्हारे साथ लड़ने के लिये आया है। रावण के ये वचन सुन, अर्जुन के वे मंत्रिगण ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

उत्तस्थुः सायुधास्तं च रावणं वाक्यमब्रुवन् ।
युद्धस्य कालो विज्ञातः साधु भो साधु रावण ॥२८॥

अपने अपने हथियार तान कर उठ खड़े हुए और बोले—वाह रे रावण वाह! युद्ध करने के लिये तूने बड़ा अच्छा समय खोजा है ॥ २८ ॥

यः क्षीवं स्त्रीवृतं चैव योद्धुमुत्सहसे नृपम् ।
स्त्रीसमक्षगतं यत्त्वं योद्धुमुत्सहसे नृपम् ॥ २९ ॥

कहाँ तो महाराज इस समय मदपान कर स्त्रियों के साथ जल-विहार कर रहे हैं और कहाँ तुम उनके साथ युद्ध करने को आये हो ॥ २९ ॥

क्षमस्वाद्य दशग्रीव उष्यतां रजनी त्वया ।
युद्धश्रद्धा तु यद्यस्ति श्वस्तात समरेऽर्जुनम् ॥३०॥

आज के दिन माफ करो और आज की रात यहीं टिके रहो । कल अर्जुन से मिल कर युद्ध कर लेना । यदि युद्ध करने की तुम्हारी बड़ी प्रबल इच्छा हो ॥ ३० ॥

यदि वापि त्वरा तुभ्यं युद्धतृष्णासमावृत ।
निपात्यास्मान् रणे युद्धमर्जुनेनोपयास्यसि ॥ ३१ ॥

और यदि तुझको लड़ने की बड़ी उतावली हो, तो हम लोगों के साथ लड़ । हम लोगों को युद्ध में गिरा कर फिर अर्जुन के साथ युद्ध करना ॥ ३१ ॥

ततस्तै रावणामात्यैरमात्यास्ते नृपस्य तु ।
सूदिताश्चापि ते युद्धे भक्षिताश्च बुभुक्षितैः ॥ ३२ ॥

यह सुन रावण के मंत्रियों ने अर्जुन के कितने ही मंत्रियों को तो मार डाला और कितने ही को भूखे होने के कारण खा डाला ॥ ३२ ॥

ततो हलहलाशब्दो नर्मदातीरगो बभौ ।
अर्जुनस्यानुयात्राणां रावणस्य च मन्त्रिणाम् ॥३३॥

उस समय रावण के मंत्रियों और अर्जुन के अनुचरों ने लड़ते हुए नर्मदा के तट पर बड़ा भारी कोलाहल मचाया ॥ ३३ ॥

इषुभिस्तोमरैः प्रासैस्त्रिशूलैर्वज्रकर्षणैः[1] ।
सरावणा नर्दयन्तः समन्तात्समभिद्रुताः ॥ ३४ ॥

अर्जुन के पक्ष के योद्धा दौड़ दौड़ कर सैकड़ों बाणों, तोमर, प्रास, त्रिशूल, वज्र, कर्षणादि शस्त्रों द्वारा रावण और उसके मंत्रियों पर गर्ज गर्ज के प्रहार करने लगे ॥ ३४ ॥

हैहयाधिपयोधानां वेग आसीत्सुदारुणः ।
सनक्रमीनमकरसमुद्रस्येव निःस्वनः ॥ ३५ ॥

नक्र, मत्स्य, मकर सहित सागर में जैसा दारुण शब्द हुआ करता है, वैसा ही हैहयाधिपति अर्जुन के पक्ष के योद्धागण युद्ध की तेज़ी बढ़ने पर दारुण शब्द बड़े ज़ोर से करने लगे ॥ ३५ ॥

रावणस्य तु तेऽमात्याः प्रहस्तशुकसारणाः ।
कार्तवीर्यबलं क्रुद्धा निहन्ति स्म स्वतेजसा ॥ ३६ ॥

जब रावण के मंत्रिगण प्रहस्त, शुकसारण आदि क्रुद्ध हो, कार्तवीर्य की सेना का बलपूर्वक नाश करने लगे ॥ ३६ ॥

अर्जुनाय तु तत्कर्म रावणस्य समन्त्रिणः ।
क्रीडमानाय कथितं पुरुषैर्भयविह्वलैः ॥ ३७ ॥

तब अर्जुन के अनुचरों ने डरते डरते विहार में रत महाराज अर्जुन के निकट जा रावण और उसके मंत्रियों की इस करतूत का हाल कहा ॥ ३७ ॥

श्रुत्वा न भेतव्यमिति स्त्रीजनं स तदार्जुनः ।
उत्ततार जलात्तस्माद्गङ्गातोयादिवाञ्जनः ॥ ३८ ॥

---

१ कर्पणं— आयुधविशेषः । (गो०)

सारा हाल सुन, अर्जुन ने उन लोगों से कहा डरो मत। फिर उसने स्त्रियों को जल से इस प्रकार बाहिर निकाला, जिस प्रकार अञ्जन नामक दिग्गज अपनी हथिनियों को गङ्गा से बाहिर निकाले॥ ३८॥

क्रोधदूषितनेत्रस्तु स तदार्जुनपावकः।
प्रजज्वाल महाघोरो युगान्त इव पावकः॥ ३९॥

क्रुद्ध होने के कारण लाल लाल नेत्र कर अर्जुन रूपी अग्नि, प्रलय कालीन अग्नि की तरह महाभयङ्कर रूप से भभक उठा॥३६॥

स तूर्णतरमादाय वरहेमाङ्गदो गदाम्।
अभिदुद्राव रक्षांसि तमांसीव दिवाकरः॥ ४०॥

सोने के बढ़िया बाजूबंदों से शोभायमान वह अर्जुन, गदा हाथ में ले कर, राक्षसों के ऊपर ऐसा पिल पड़ा, जैसे सूर्य अन्धकार पर पिल पड़ता है॥ ४०॥

बाहुविक्षेपकरणां समुद्यम्य महागदाम्।
गारुडं वेगमास्थाय आपपातैव सोऽर्जुनः॥ ४१॥

राजा अर्जुन, गदा घुमाता हुआ, गरुड़ जी के समान अति वेग से, राक्षसों के समीप जा पहुँचा॥ ४१॥

तस्य मार्गं समारुद्ध्योविन्ध्योऽर्कस्येव पर्वतः।
स्थितो विन्ध्य इवाकम्प्यः प्रहस्तो मुसलायुधः॥४२॥

राजा को आते हुए देख, जिस प्रकार विन्ध्यपर्वत सूर्य भगवान् के मार्ग को अटलभाव से रोके हो, उसी प्रकार प्रहस्त,

हाथ में मूसल ले राजा अर्जुन का रास्ता रोक कर खड़ा हो गया ॥ ४२ ॥

ततोऽस्य मुसलं घोरं लोहबद्धं मदोद्धतः ।
प्रहस्तः प्रेषयन् क्रुद्धो ररास च यथान्तकः ॥ ४३ ॥

फिर मद से उद्धत प्रहस्त ने क्रोध में भर लोहे के बंदों से युक्त उस भयानक मूसल को राजा को मारने के लिये उस पर छोड़ा तथा काल की तरह वह गर्जा भी ॥ ४३ ॥

तस्याग्रे मुसलस्याग्निरशोकापीडसन्निभः ।
प्रहस्तकरमुक्तस्य बभूव प्रदहन्निव ॥ ४४ ॥

हाथ से छूटते ही उस मूसल की नोंक से अशोकपुष्प की तरह आग भभकी, मानों राजा अर्जुन को भस्म ही कर डालेगी ॥ ४४ ॥

आधावमानं मुसलं कार्तवीर्यस्तदार्जुनः ।
निपुणं वञ्चयामास गदया गतविक्लवः ॥ ४५ ॥

परन्तु कार्तवीर्यार्जुन ने उस मूसल को, अपने ऊपर आते देख, ज़रा भी घबड़ाये बिना, अपनी गदा के ऊपर उसे बड़ी सावधानी से रोका ॥ ४५ ॥

ततस्तमभिदुद्राव सगदो हैहयाधिपः ।
भ्रामयानो गदां गुर्वीं पञ्चबाहुशतोच्छ्रयाम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर गदाधारी हैहयपति अर्जुन ने, अपनी पाँच सौ हाथ लंबी गदा घुमाते हुए और प्रहस्त की ओर झपट कर, उस पर गदा का प्रहार किया ॥ ४६ ॥

ततो हतोऽतिवेगेन प्रहस्तो गदया तदा।
निपपात स्थितः शैलो वज्रिवज्रहतो यथा ॥ ४७ ॥

तब उस गदा के बड़े ज़ोर के प्रहार से प्रहस्त तो वैसे ही गिर पड़ा; जैसे वज्र की चोट से कोई खड़ा हुआ पर्वत टूट कर गिर पड़ता है॥ ४७॥

प्रहस्तं पतितं दृष्ट्वा मारीचशुकसारणाः।
समहोदरधूम्राक्षा अपसृप्टारणाजिरात् ॥ ४८ ॥

प्रहस्त को गिरा हुआ देख, मारीच, शुक और सारण, महोदर और धूम्राक्ष लड़ाई के मैदान से भाग गये॥ ४८॥

अपक्रान्तेष्वमात्येषु प्रहस्ते च निपातिते।
रावणोऽभ्यद्रवत्तूर्णमर्जुनं नृपसत्तमम् ॥ ४९ ॥

प्रहस्त के गिर जाने और मंत्रियों के भाग जाने पर, रावण बड़ी फुर्ती के साथ अर्जुन पर झपटा॥ ४९॥

सहस्रबाहोस्तद्युद्धं विंशद्बाहोश्च दारुणम्।
नृपराक्षसयोस्तत्र आरब्धं रोमहर्षणम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर हज़ार भुजाओं वाले अर्जुन के साथ बीस भुजा वाले रावण का, रोमाञ्चकारी युद्ध आरम्भ हुआ॥ ५०॥

सागराविव संक्षुब्धौ चलमूलाविवाचलौ।
तेजोयुक्ताविवादित्यौ प्रदहन्ताविवानलौ ॥ ५१ ॥

खलबलाते हुए दो समुद्र, गमनशील दो पर्वत, तेजयुक्त दो सूर्य, दहन करने वाले दो अग्नि॥ ५१॥

बलोद्धतौ यथा नागौ [1]वाशितार्थे यथा वृषौ।
मेघाविव विनर्दन्तौ सिंहाविव बलोत्कटौ ॥ ५२ ॥

हथिनी के लिये युद्ध करने वाले दो बलवान हाथियों की तरह, दो मस्त साँड़ों की तरह, बादलों की तरह गर्जते हुए और बलगर्वित दो सिंहों की तरह ॥ ५२ ॥

रुद्रकालाविव क्रुद्धौ तौ तदा राक्षसार्जुनौ।
परस्परं गदां गृह्य ताडयामासतुर्भृशम् ॥ ५३ ॥

रुद्र व काल की तरह, राक्षस रावण और राजा अर्जुन, दोनों ही गदायुद्ध करते हुए, एक दूसरे पर वार वार प्रहार करने लगे ॥ ५३ ॥

वज्रप्रहारानचला यथा घोरान्विषेहिरे।
गदाप्रहारांस्तौ तत्र सेहाते नरराक्षसौ ॥ ५४ ॥

जैसे पर्वत भयङ्कर वज्रप्रहार सहते हैं, वैसे ही वे दोनों नर और राक्षस एक दूसरे की गदा की चोटें सह रहे थे ॥ ५४ ॥

यथाऽशनिरवेभ्यस्तु जायतेऽथ प्रतिश्रुतिः।
तथा तयोर्गदापोथैर्दिशः सर्वाः प्रतिश्रुताः ॥ ५५ ॥

जैसी की बिजली की कड़क की प्रतिध्वनि होती है, वैसी ही उनकी गदाओं की चटापट की प्रतिध्वनि से समस्त दिशाएँ प्रतिध्वनित होने लगीं ॥ ५५ ॥

अर्जुनस्य गदा सा तु पात्यमानाहितोरसि।
काञ्चनाभं नभश्चक्रे विद्युत्सौदामनी यथा ॥ ५६ ॥

---

1 वाशितार्थे—करेण्वर्थे। (गो०)

जब अर्जुन रावण की छाती पर गदा का प्रहार करता, तब बिजली की तरह आकाशमण्डल सुनहली आभा से व्याप्त हो जाता था ॥ ५६ ॥

तथैव रावणेनापि पात्यमाना मुहुर्मुहुः ।
अर्जुनोरसि निर्भाति गदोल्केव महागिरौ ॥ ५७ ॥

उधर रावण की गदा भी अर्जुन की छाती पर बारंबार पड़ कर, पर्वतराज के ऊपर उल्कापात की तरह चमक उठती थी ॥ ५७ ॥

नार्जुनः खेदमायाति न राक्षसगणेश्वरः ।
सममासीत्तयोर्युद्धं यथा पूर्वं बलीन्द्रयोः ॥ ५८ ॥

इस गदायुद्ध में न तो अर्जुन ही को और न रावण ही को थकावट मालूम पड़ती थी। दोनों की बराबरी की लड़ाई हो रही थी। पुराकाल में जैसा कि, राजा बलि और इन्द्र का युद्ध हुआ था, वैसा ही इन दोनों का यह युद्ध हो रहा था ॥ ५८ ॥

शृङ्गैरिव वृषायुध्यन् दन्ताग्रैरिव कुञ्जरौ ।
परस्परं विनिघ्नन्तौ नरराक्षससत्तमौ ॥ ५९ ॥

सींगों से आपस में लड़ने वाले दो बैलों की तरह अथवा दाँतों से आपस में लड़ाने वाले दो कुञ्जरों की तरह वे दोनों नरश्रेष्ठ और राक्षसश्रेष्ठ एक दूसरे पर चोट कर रहे थे ॥ ५९ ॥

ततोऽर्जुनेन क्रुद्धेन सर्वप्राणेन सा गदा ।
स्तनयोरन्तरे मुक्ता रावणस्य महोरसि ॥ ६० ॥
वरदानकृतत्राणे सा गदा रावणोरसि ।
दुर्बलेव यथावेगं द्विधाभूतापतत्क्षितौ ॥ ६१ ॥

(लड़ते लड़ते) अर्जुन ने क्रोध में भर, अपना समस्त शारीरिक बल लगा, रावण की विशाल छाती पर गदा का प्रहार किया। परन्तु वरदान के कारण उसकी छाती तो न टूटी अर्थात् वह मरा तो नहीं ; किन्तु गदा दो टुकड़े हो पृथिवी पर गिर बेकाम हो गयी ॥ ६० ॥ ६१ ॥

स त्वर्जुनप्रयुक्तेन गदापातेन रावणः ।
अपासर्पद्धनुर्मात्रं निषसाद च निष्टनन् ॥ ६२ ॥

तो भी रावण अर्जुन को चलायो उस गदा के प्रहार से धनुष भर पीछे हट गया और उसकी चोट से रोने और चिल्लाने लगा ॥ ६२ ॥

स विह्वलं तदालक्ष्य दशग्रीवं ततोऽर्जुनः ।
सहसोत्पत्य जग्राह गरुत्मानिव पन्नगम् ॥ ६३ ॥

जब अर्जुन ने देखा कि, रावण चोट के मारे विकल हो रहा है, तब झट झपट कर उसे ऐसे पकड़ लिया जैसे गरुड़ जी साँप को पकड़ते हैं ॥ ६३ ॥

स तु बाहुसहस्रेण बलाद्गृह्य दशाननम् ।
बबन्ध बलवान् राजा बलिं नारायणो यथा ॥६४॥

श्रीवामन जी ने जैसे राजा बलि को बाँधा था, वैसे ही बलवान राजा अर्जुन ने अपनी हज़ार भुजाओं से रावण को पकड़ कर बाँध लिया ॥ ६४ ॥

बध्यमाने दशग्रीवे सिद्धचारणदेवताः ।
साध्वीति वादिनः पुष्पैः किरन्त्यर्जुनमूर्धनि ॥ ६५ ॥

जब रावण बँध गया ; तब सिद्ध, चारण और देवता लोगों ने "वाह वाह" कह कर, राजा अर्जुन के सिर के ऊपर फूल बरसाये ॥ ६५ ॥

व्याघ्रो मृगमिवादाय मृगराडिव कुञ्जरम् ।
ररास हैहयो राजा हर्षादम्बुदवन्मुहुः ॥ ६६ ॥

जैसे व्याघ्र हिरन को तथा सिंह गजेन्द्र को पकड़ लेता है, वैसे ही रावण को पकड़ कर, अर्जुन हर्षित हो मेघों की तरह बार बार गर्जने लगा ॥ ६६ ॥

प्रहस्तस्तु समाश्वस्तो दृष्ट्वा बद्धं दशाननम् ।
सहसा राक्षसः क्रुद्ध अभिदुद्राव हैहयम् ॥६७॥

इतने में प्रहस्त की मूर्च्छा दूर हो गयी। तब वह क्रोध में भर हैहयराज पर झपटा ॥ ६७ ॥

नक्तंचराणां वेगस्तु तेषामापततां बभौ ।
उद्भूत आतपापाये पयोदानामिवाम्बुधौ ॥ ६८ ॥

प्रहस्त के अतिरिक्त कई राक्षस भी अर्जुन पर झपटे। उस समय ऐसा जान पड़ा मानों वर्षाकालीन बादल पानी भरने के लिये समुद्र की ओर दौड़े चले जाते हों ॥ ६८ ॥

मुञ्चमुञ्चेति भाषन्तस्तिष्ठतिष्ठेति चासकृत् ।
मुसलानि च शूलानि सोत्ससर्ज तदा रणे ॥ ६९ ॥

वे सब दौड़ते हुए चिल्ला कर कहते जाते थे "कि छोड़ छोड़" और साथ ही राजा अर्जुन के ऊपर मूसल और बर्छियाँ चलाते हुए कहते थे कि, खड़ा रह ! खड़ा रह !! ॥ ६९ ॥

अप्राप्तान्येव तान्याशु असम्भ्रान्तस्तदार्जुनः ।
आयुधान्यमरारीणां जग्राहारिनिषूदनः ॥ ७० ॥

पर राजा अर्जुन, उनके चलाये शस्त्रों को अपने शरीर पर लगने न देते और बीच में ही उनको अनायास गुपक लेते थे ॥७०॥

ततस्तान्येव रक्षांसि दुर्धरैः प्रवरायुधैः ।
भित्त्वा विद्रावयामास वायुरम्बुधरानिव ॥ ७१ ॥

अन्त में राजा अर्जुन ने उनको उत्तम और भयानक आयुधों से वैसे ही मार मार कर भगा दिया, जैसे हवा बादलों को उड़ा देती है ॥ ७१ ॥

राक्षसांस्त्रासयामास कार्तवीर्यार्जुनस्तदा ।
रावणं गृह्य नगरं प्रविवेश सुहृद्वृतः ॥ ७२ ॥

राजा अर्जुन, उन राक्षसों को भली भांति डरा कर और भगा कर, अपने हितैषियों सहित तथा रावण को बंदी बनाये हुए, अपनी राजधानी में पहुँचा ॥ ७२ ॥

स कीर्यमाणः कुसुमाक्षतोत्
करैर्द्विजैः सपौरैः पुरुहूतसन्निभः ।
ततोऽर्जुनः स्वां प्रविवेश तां पुरीं
बलिं निगृह्येव सहस्रलोचनः ॥ ७३ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

उस समय (राजधानीनिवासी) ब्राह्मणों तथा अन्य नगर-निवासियों ने इन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुन पर अक्षत और पुष्पों की वृष्टि की । सहस्रलोचन इन्द्र जैसे राजा बलि को जीत कर

अमरावती में आये थे, वैसे ही अर्जुन भी रावण को पकड़े हुए अपनी माहिष्मती पुरी में पहुँचा ॥ ७३ ॥

उत्तरकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—:०:—

रावणग्रहणं तत्तु वायुग्रहणसन्निभम् ।
ततः पुलस्त्यः शुश्राव कथितं दिवि दैवतैः ॥ १ ॥

राजा कार्तवीर्यार्जुन द्वारा रावण का पकड़ा जाना क्या था, मानों वायु का बांध लेना था । स्वर्ग में वार्तालाप करते हुए पुलस्त्य जी ने जब देवताओं के मुख से यह बात सुनी ॥ १ ॥

ततः पुत्रकृतस्नेहात्कम्प्यमानो महाधृतिः ।
माहिष्मतीपतिं द्रष्टुमाजगाम महानृषिः ॥ २ ॥
स वायुमार्गमास्थाय वायुतुल्यगतिर्द्विजः ।
पुरीं माहिष्मतीं प्राप्तो मनःसम्पात[1]विक्रमः ॥ ३ ॥

सुनते ही महाधृतिवान् पुलस्त्य जी पुत्रस्नेह के कारण थर्रा उठे । फिर अर्जुन से भेंट करने के लिये पवन के समान वेगवान महर्षि, आकाशमार्ग से, मन की समान वेगवती गति से, माहिष्मती में जा पहुँचे ॥ २ ॥ ३ ॥

सोऽमरावतिसङ्काशां हृष्टपुष्टजनावृताम् ।
प्रविवेश पुरीं ब्रह्मा इन्द्रस्येवामरावतीम् ॥ ४ ॥

---

१ मनःसंपातविक्रमः—मनोगतिः । (गो०)

अमरावती के समान, और हृष्टपुष्ट जनों से भरी पूरी उस नगरी के भीतर, वे वैसे ही घुस गये ; जैसे ब्रह्मा जी अमरावती में प्रवेश करते हैं ॥ ४ ॥

पादचारमिवादित्यं निष्पतन्तं सुदुर्दशम् ।
ततस्ते प्रत्यभिज्ञाय अर्जुनाय न्यवेदयन् ॥ ५ ॥

अथवा अति कठिनता से देखने योग्य श्रीसूर्यनारायण पैदल चल कर आये हों । तदनन्तर राजा के द्वारपालों अथवा मंत्रियों ने उनके आगमन की सूचना राजा को दी ॥ ५ ॥

पुलस्त्य इति विज्ञाय वचनाद्धैहयाधिपः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय प्रत्युदगच्छत्तपस्विनम् ॥ ६ ॥

राजा ने जब तपस्वी पुलस्त्य जी का नाम अथवा आगमन सुना, तब वे हाथ जोड़े हुए उनकी अगवानी को गये ॥ ६ ॥

पुरोहितोऽस्य गृह्यार्घ्यं मधुपर्कं तथैव च ।
पुरस्तात्प्रययौ राज्ञः शक्रस्येव बृहस्पतिः ॥ ७ ॥

राजा के पुरोहित अर्घ्य और मधुपर्क की सामग्री ले कर राजा के आगे आगे हो लिये । मानों इन्द्र के आगे आगे बृहस्पति चलते हों ॥ ७ ॥

ततस्तमृषिमायान्तमुद्यन्तमिव भास्करम् ।
अर्जुनो दृश्य सम्भ्रान्तो ववन्देऽन्द्र इवेश्वरम् ॥ ८ ॥

उदय हुए सूर्यभगवान् की तरह उन ऋषि को आया हुआ देख, सहस्रबाहु ने बड़े आदर के साथ वैसे ही उनको प्रणाम किया, जैसे ब्रह्मा जी को इन्द्र प्रणाम करते हैं ॥ ८ ॥

स तस्य मधुपर्कं गां पाद्यमर्घ्यं निवेद्य च।
पुलस्त्यमाह राजेन्द्रो हर्षगद्गदया गिरा॥ ९॥

राजा ने मधुपर्क, गौ, पाद्य और अर्घ्य निवेदन कर और अत्यन्त हर्षित हो, गद्गद कण्ठ से मुनि पुलस्त्य जी से कहा॥ ९॥

अद्यैवममरावत्या तुल्या माहिष्मती कृता।
अद्याहं तु द्विजेन्द्र त्वां यस्मात्पश्यामि दुर्दशम्॥१०॥

हे द्विजेन्द्र! आज मुझे आपके अलभ्य दर्शन प्राप्त होने से, मेरी यह माहिष्मती नगरी अमरावती के तुल्य हो गयी है॥ १०॥

अद्य मे कुशलं देव अद्य मे कुशलं व्रतम्।
अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः॥११॥

हे देव! आज मेरा तप सिद्ध हुआ, यज्ञ सफल हुआ, व्रत पूरा हुआ और जन्म सफल हुआ। अधिक तो क्या आज सब प्रकार मेरी मङ्गल है॥ ११॥

यत्ते देवगणैर्वन्द्यौ वन्देऽहं चरणौ तव।
इदं राज्यमिमे पुत्रा इमे दारा इमे वयम्।
ब्रह्मन्किं कुर्मि किं कार्यमाज्ञापयतु नो भवान्॥ १२॥

हे देव! देवताओं से भी वन्द्य आपके चरणों के मुझे आज दर्शन हुए हैं। हे ब्रह्मन्! यह राज्य, ये पुत्र, ये स्त्रियाँ आदि हम सब लोग आपकी सेवा के लिये उपस्थित हैं। आप हम लोगों को आज्ञा दीजिये। हम लोग आपकी क्या सेवा करें॥ १२॥

तं धर्मेऽग्निषु पुत्रेषु शिवं पृष्ट्वा च पार्थिवम्।
पुलस्त्यो वाच राजानं हैहयानां तथार्जुनम्॥१३॥

यह सुन कर, पुलस्त्य मुनि ने धर्म, अग्नि, और पुत्रों का कुशल मङ्गल पूंछा? तदनन्तर वे हैहयनाथ अर्जुन से बोले ॥ १३ ॥

नरेन्द्राम्बुजपत्राक्ष पूर्णचन्द्रनिभानन ।
अतुलं ते बलं येन दशग्रीवस्त्वया जितः ॥ १४ ॥

हे नरेन्द्र! हे कमलनयन! हे चन्द्रमुख! तुममें अतुलित बल है। तभी तो तुमने दशग्रीव को जीत लिया है ॥ १४ ॥

भयाद्यस्योपतिष्ठेतां निष्पन्दौ सागरानिलौ ।
सोऽयं मृधे त्वया बद्धः पौत्रो मे रणदुर्जयः ॥ १५ ॥

अहो! जिसके भय से सागर और पवन भी चुपचाप आज्ञा पाने की प्रतीक्षा किया करते हैं, हे राजन्! तुमने मेरे उसी रणदुर्जय पौत्र को युद्ध में परास्त कर, बांध लिया है ॥ १५ ॥

पुत्रकस्य यशः पीतं नाम विश्रावितं त्वया ।
मद्वाक्याद्याच्यमानोऽद्य मुञ्च वत्स दशाननम् ॥ १६ ॥

तुमने उसका यश पीकर (अर्थात् दबा कर) अपना नाम विख्यात किया है। हे वत्स! अब मैं तुमसे यही मांगता हूँ कि, मेरा कहना मान कर, तुम रावण को छोड़ दो ॥ १६ ॥

पुलस्त्याज्ञां प्रगृह्याथ न किञ्चन वचोऽर्जुनः ।
मुमोच वै पार्थिवेन्द्रो राक्षसेन्द्रं प्रहृष्टवत् ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ अर्जुन ने ऋषि की आज्ञा को माथे चढ़ाया और कुछ भी आपत्ति किये बिना ही सहर्ष राक्षसराज रावण को छोड़ दिया ॥ १७ ॥

स तं प्रमुच्य त्रिदशारिमर्जुनः
प्रपूज्य दिव्याभरणस्रगम्बरैः।
अहिंसकं सख्यमुपेत्य साग्निकं
प्रणम्य तं ब्रह्मसुतं गृहं ययौ ॥ १८ ॥

(छोड़ा ही नहीं बल्कि) मूल्यवान् वस्त्रों, आभूषणों और बढ़िया पुष्पमालाओं से रावण का सत्कार भी किया। फिर अग्नि के सामने उसके साथ अपने मन को शुद्ध कर मैत्री भी कर ली। तदनन्तर ब्रह्मा जी के पुत्र पुलस्त्य जी को प्रणाम कर, राजा अर्जुन अपने भवन में चला गया ॥ १८ ॥

पुलस्त्येनापि सन्त्यक्तो राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्।
परिष्वक्तः कृतातिथ्यो लज्जमानो विनिर्जितः ॥१९॥

पुलस्त्य ने भी रावण को विदा किया। यद्यपि अर्जुन ने रावण को गले लगाया और उसकी पहुनाई की, तथापि हार जाने के कारण, रावण लज्जित होता हुआ लङ्का को गया ॥ १९ ॥

पितामहसुतश्चापि पुलस्त्यो मुनिपुङ्गवः।
मोचयित्वा दशग्रीवं ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ २० ॥

ब्रह्मपुत्र एवं मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्य जी भी रावण को छुड़ा, ब्रह्मलोक को चले गये ॥ २० ॥

एवं स रावणः प्राप्तः कार्तवीर्यात्प्रधर्षणम्।
पुलस्त्यवचनाच्चापि पुनर्मुक्तो महाबलः ॥ २१ ॥

महाबली रावण, कार्तवीर्य से इस प्रकार पराजित हो, बाँधा गया था और फिर पुलस्त्य जी के कहने से वह छूटा था ॥ २१ ॥

एवं बलिभ्यो बलिनः सन्ति राघवनन्दन ।
नावज्ञा हि परे कार्या य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥ २२ ॥

हे रघुनन्दन ! इस प्रकार के बलवान से भी अधिक बलवान हैं, अतएव जो कोई अपना भला चाहे, उसे दूसरों का अपमान करना उचित नहीं है ॥ २२ ॥

ततः स राजा पिशिताशनानाम्
सहस्रबाहोरुपलभ्य मैत्रीम् ।
पुनर्नृपाणां कदनं चकार
चचार सर्वां पृथिवीं च दर्पात् ॥ २३ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर निशाचरराज रावण, सहस्रबाहु अर्जुन से मैत्री कर और गर्व में भर, नृपालों का नाश करता हुआ, पृथिवीमण्डल पर घूमने लगा ॥ २३ ॥

उत्तरकाण्ड का तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—:०:—

अर्जुनेन विमुक्तस्तु रावणो राक्षसाधिपः ।
चचार पृथिवीं सर्वामनिर्विण्णस्तथा कृतः ॥ १ ॥

राक्षसराज रावण जब अर्जुन द्वारा छोड़ दिया गया, तब वह वेदनारहित हो (अथवा निर्लज्ज) हो, सारी पृथिवी पर घूमने लगा ॥ १ ॥

राक्षसं वा मनुष्यं वा शृणुतेऽयं बलाधिकम् ।
रावणस्तं समासाद्य युद्धे ह्वयति दर्पितः ॥ २ ॥

जहाँ कहीं वह अधिक बलवान मनुष्य या राक्षस का पता पाता, वहीं दौड़ कर जाता और उसे युद्ध के लिये ललकारता था ॥ २ ॥

ततः कदाचित्किष्किन्धां नगरीं वालिपालिताम् ।
गत्वाह्वयति युद्धाय वालिनं हेममालिनम् ॥ ३ ॥

एक दिन रावण वालिपालित किष्किन्धापुरी में पहुँचा और उसने सुवर्णमालाधारी वालि को लड़ने के लिये बुलाया ॥ ३ ॥

ततस्तु वानरामात्यास्तारस्तारापिता प्रभुः ।
उवाच वानरो वाक्यं युद्धप्रेप्सुमुपागतम् ॥ ४ ॥

तब तारा के पिता और वालि के मंत्री तार ने युद्ध की अभिलाषा से आये हुए रावण से कहा ॥ ४ ॥

राक्षसेन्द्र गतो वाली यस्ते प्रतिबलो भवेत् ।
कोऽन्यः प्रमुखतः स्थातुं तव शक्तः प्लवङ्गमः ॥ ५ ॥

हे राक्षसेन्द्र ! वालि, जो तुमसे लड़ सकता है, कहीं बाहर गया हुआ है। अन्य किसी वानर में इतनी शक्ति है नहीं, जो तुमसे लड़ सके ॥ ५ ॥

चतुर्भ्योऽपि समुद्रेभ्यः सन्ध्यामन्वास्य रावण ।
इदं मुहूर्तमायाति वाली तिष्ठ मुहूर्तकम् ॥ ६ ॥

अतः हे रावण ! एक मुहूर्त भर ठहरो। वालि चारों समुद्रों पर सन्ध्या कर, अब आया ही चाहता है ॥ ६ ॥

[नोट—सन्ध्योपासन के सम्बन्ध में रामाभिरामीटीकाकार ने लिखा है, "सन्ध्याध्येयदेवतांब्रह्मरूपामन्वास्यध्यात्वा" अर्थात् यहां पर सन्ध्योपासन का अभिप्राय अघमर्षण मार्जनादि मंत्र विशिष्ट द्विजोचित वैदिक कृत्य से नहीं है ; किन्तु भगवान का ध्यान स्तुत्यादि कर्म से है ।]

एतानस्थिचयान्पश्य य एते शङ्खपाण्डुराः ।
युद्धार्थिनामि मे राजान्वानराधिपतेजसा ॥ ७ ॥

हे राजन्! शङ्ख के समान सफेद हड्डियों के इस ढेर को देख लो। ये उनकी हड्डियां हैं, जो वानरराज वालि से युद्ध करने की इच्छा रख, यहां आचुके हैं ॥ ७ ॥

यद्यामृतरसः पीतस्त्वया रावण राक्षस ।
तदा वालिनमासाद्य तदन्तं तव जीवितम् ॥ ८ ॥

हे राक्षसराज! यदि तुमने अमृतरस भी पान किया होगा, तो भी वालि के सामने पड़, तुम फिर जीते जागते लौट न सकोगे ॥ ८ ॥

पश्येदानीं जगच्चित्रमिमं विश्रवसः सुत ।
*इदं मुहूर्तं तिष्ठस्व दुर्लभं ते भविष्यति ॥ ९ ॥

हे वैश्रवण! आज तुम इस अद्भुत संसार को देख लो और थोड़ी देर ठहरो, फिर तो तुम्हारा जीवन दुर्लभ हो जायगा ॥ ९ ॥

अथवा त्वरसे मर्तुं गच्छ दक्षिणसागरम् ।
वालिनं द्रक्ष्यसे तत्र भूमिस्थमिव पावकम् ॥ १० ॥

और यदि तुम्हें मरने की त्वरा, हो तो दक्षिणसमुद्र के तट पर चले जाओ। वहां कहीं उससे तुम्हारी भेंट हो जायगी। वालि पृथिवी

---

* पाठान्तरे—इमं ।

पर स्थित अग्नि की तरह भभकता है। (अतः इस चिन्हानी से तुम्हें उसे पहिचानने में भी कष्ट न उठाना पड़ेगा।) ॥ १० ॥

स तु तारं विनिर्भर्त्स्य रावणो लोकरावणः ।
पुष्पकं तत्समारुह्य प्रययौ दक्षिणार्णवम् ॥ ११ ॥

तार की इन बातों को सुन और उसका तिरस्कार कर, रावण पुष्पक पर सवार हो, दक्षिण समुद्र की ओर गया ॥ ११ ॥

तत्र हेमगिरिप्रख्यं तरुणार्कनिभाननम् ।
रावणो वालिनं दृष्ट्वा सन्ध्योपासनतत्परम् ॥ १२ ॥

वहाँ पहुँच कर, रावण ने सोने के पहाड़ की तरह एवं दोपहर के सूर्य के समान प्रकाशित मुख वाले और भगवदाराधन में तल्लीन वालि को देखा ॥ १२ ॥

पुष्पकादवरुह्याथ रावणोऽञ्जनसन्निभः ।
ग्रहीतुं वालिनं तूर्णं निःशब्दपदमव्रजत् ॥ १३ ॥

काजल के समान काले रंग का रावण विमान से तुरन्त उतर दबे पैर वालि को पकड़ने के लिये आगे बढ़ा ॥ १३ ॥

यदृच्छया तदा दृष्टो वालिनापि स रावणः ।
पापाभिप्रायकं दृष्ट्वा चकार न तु सम्भ्रमम् ॥ १४ ॥

किन्तु वालि ने अचानक रावण को देख लिया और उसका दुष्ट अभिप्राय जान कर भी वह ज़रा भी न घबड़ाया ॥ १४ ॥

शशमालक्ष्य सिंहो वा पन्नगं गरुडो यथा ।
न चिन्तयति तं वाली रावणं पापनिश्चयम् ॥ १५ ॥

जैसे सिंह खरहे के और गरुड़ सर्प के देख नहीं घबड़ाता, वैसे ही वालि भी, मन में दुष्ट अभिप्राय रखने वाले रावण को देख, तिल भर भी न घबड़ाया ॥ १५ ॥

जिघृक्षमाणमायान्तं रावणं पापचेतसम् ।
कक्षावलम्बिनं कृत्वा गमिष्ये त्रीन्महार्णवान् ॥ १६ ॥

वालि अपने मन में विचार रहा था कि, यह पापी राक्षस मुझे पकड़ने को आ रहा है। सो यह ज्यों ही मेरे निकट आया कि, मैंने इसे अपनी काँख में दबाया। फिर मैं इसे दबा कर तीन समुद्रों पर जाऊँगा ॥ १६ ॥

द्रक्ष्यन्त्यरिं ममाङ्कस्थं स्रंसदूरुकराम्बरम् ।
लम्बमानं दशग्रीवं गरुडस्येव पन्नगम् ॥ १७ ॥

तब सब लोग देखेंगे कि, शत्रु रावण मेरी काँख में गरुड़ जी द्वारा पकड़े गये सर्प की तरह लटकता हुआ जाता है। कहीं इसकी जाँघे, कहीं इसके हाथ और कहीं इसके वस्त्र लटकेंगे ॥ १७ ॥

इत्येवं मतिमास्थाय वाली मौनमुपास्थितः ।
जपन्वै नैगमान्मंत्रांस्तस्थौ पर्वतराडिव ॥ १८ ॥

इस प्रकार अपने मन में निश्चित कर, वालि चुपचाप भगवदाराधन करता हुआ, पर्वतराज की तरह निश्चल हो वहाँ खड़ा रहा ॥ १८ ॥

[नोट—नैगमान्—वैदिकान्। देवकुमारत्वान्मन्त्रवत्त्वं। (गोविन्दराजीय भूषणटीका) वाल्यादयोहिस्वयंप्रतिभातसकलवेदाः। (रामाभिरामीटीका।]

तावन्योन्यं जिघृक्षन्तौ हरिराक्षसपार्थिवौ ।
प्रयत्नवन्तौ तत्कर्म ईहतुर्बलदर्पितौ ॥ १९ ॥

उस समय एक दूसरे को पकड़ने की कामना से वानरराज और राक्षसराज प्रयत्न करते हुए अपने अपने बल का अहङ्कार प्रदर्शित कर रहे थे ॥ १९ ॥

हस्तग्राहं तु तं मत्वा पादशब्देन रावणम् ।
पराङ्मुखोऽपि जग्राह वाली सर्पमिवाण्डजः ॥ २० ॥

पैरों की आहट से जब वालि ने जान लिया कि, रावण उसके हाथ की पकड़ के भीतर आ गया है तब वालि ने पीछे को मुँह मोड़े विना ही हाथ बढ़ा कर रावण को वैसे ही पकड़ लिया, जैसे गरुड़ सर्प को पकड़ लेते हैं ॥ २० ॥

ग्रहीतुकामं तं गृह्य रक्षसामीश्वरं हरिः ।
खमुत्पपात वेगेन कृत्वा कक्षावलम्बिनम् ॥ २१ ॥

जो रावण स्वयं वालि को पकड़ने के लिये आया था, उसे वालि ने पकड़ अपनी कांख में दबा लिया और तब वह बड़े ज़ोर से आकाश में उड़ गया ॥ २१ ॥

तं च पीडयमानं तु वितुदन्तं नखैर्मुहुः ।
जहार रावणं वाली पवनस्तोयदं यथा ॥ २२ ॥

वालि रावण को बार बार दबा पीड़ित करता था और उसे नोंचते खसोटते वैसे ही लिये जाता था, जैसे पवनदेव मेघों को उड़ा कर ले जाते हैं ॥ २२ ॥

अथ ते राक्षसामात्या ह्रियमाणे दशानने ।
मुमोक्षयिषवो वालिं रवमाणा अभिद्रुताः ॥२३॥

जब रावण पकड़ा गया, तब रावण के मंत्री उसको छुड़ाने की इच्छा से चिल्लाते हुए वालि के पीछे बड़े ज़ोर से दौड़े ॥ २३ ॥

अन्वीयमानस्तैर्वाली भ्राजतेऽम्बरमध्यगः ।
अन्वीयमानो मेघौघैरम्बरस्थ इवांशुमान् ॥ २४ ॥

वालि आगे आगे जा रहा था और रावण के मंत्री उसके पीछे पीछे। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानों आकाशस्थित सूर्य के पीछे पीछे मेघ दौड़ रहे हों ॥ २४ ॥

तेऽशक्नुवन्तः सम्प्राप्तुं वालिनं राक्षसोत्तमाः ।
तस्यबाहूरुवेगेन परिश्रान्ता व्यवस्थिताः ॥ २५ ॥

राक्षसों ने बहुत चाहा कि, वे वालि के निकट तक पहुँचे, पर वालि की जंघाओं और भुजाओं के वेग को वे न पा सके और थक कर बीच ही में रह गये ॥ २५ ॥

वालिमार्गादपाक्रामन्पर्वतेन्द्रापि गच्छतः ।
किं पुनर्जीवनप्रेप्सुर्बिभ्रद्वै मांसशोणितम् ॥ २६ ॥

वालि ऐसे वेग से जा रहा था कि, बड़े बड़े पहाड़ भी यदि उसका पीछा करते, तो उसको नहीं पकड़ सकते थे। फिर भला मांस और रुधिर के शरीरधारी, जो जीने के अभिलाषी थे, अथवा मरना नहीं चाहते थे, उनकी शक्ति कहाँ, जो वालि को पकड़ते ॥ २६ ॥

अपक्षिगणसम्पातान्वानरेन्द्रो महाजवः ।
क्रमशः सागरान्सर्वान्सन्ध्याकालमवन्दत ॥ २७ ॥

बड़े वेग से गमन करने वाला वालि, इतना ऊँचा उड़ कर जाता था कि, वहाँ पक्षिगण भी नहीं पहुँच सकते थे। अस्तु, रावण को

काँख में दबाये वालि ने क्रम से सब सागरों के तटों पर पहुँच, भगवदाराधन किया ॥ २७ ॥

सम्पूज्यमानो यातस्तु खचरैः खचरोत्तमः ।
पश्चिमं सागरं वाली आजगाम सरावणः ॥ २८ ॥

आकाशचारियों में श्रेष्ठ वालि, रावण को बगल में दबाये, आकाशचारियों से सत्कारित हो, पश्चिमसमुद्र की ओर जाने लगा ॥ २८ ॥

तस्मिन्सन्ध्यामुपासित्वा स्नात्वा जप्त्वा च वानरः ।
उत्तरं सागरं प्रायाद्वहमानो दशाननम् ॥ २९ ॥

वहाँ स्नान कर भगवदाराधन तथा जप करता हुआ वालि, रावण को काँख में दबाये हुए उत्तरसागर पर गया ॥ २९ ॥

बहुयोजनसाहस्रं वहमानो महाहरिः ।
वायुवच्च मनोवच्च जगाम सह शत्रुणा ॥ ३० ॥

वह महाबली विशाल वानर वालि, रावण को बग़ल में दबाये हुए कितने ही हज़ार योजन, वायु अथवा मन की तरह तेज़ी के साथ चला गया ॥ ३० ॥

उत्तरे सागरे सन्ध्यामुपासित्वा दशाननम् ।
वहमानोऽगमद्वाली पूर्वं वै समहोदधिम् ॥ ३१ ॥

उत्तरसमुद्र के तट पर भगवदाराधन कर, उसी प्रकार रावण को काँख में दबाये हुए वालि, पूर्वसमुद्र पर पहुँचा ॥ ३१ ॥

तत्रापि सन्ध्यामन्वास्य वासविः सहरीश्वरः ।
किष्किन्धामभितो गृह्य रावणं पुनरागमत् ॥ ३२ ॥

इन्द्रपुत्र तथा वानरराज वालि वहाँ भी भगवदाराधन कर, और रावण को बग़ल में दबाये हुए किष्किन्धा में आ पहुँचा ॥ ३२ ॥

चतुर्ष्वपि समुद्रेषु सन्ध्यामन्वास्य वानरः ।
रावणोद्वहनश्रान्तः किष्किन्धोपवनेऽपतत् ॥ ३३ ॥

वालि ने रावण को काँख में दबाये हुए चारों सागरों की यात्रा की थी और प्रत्येक सागरतट पर भगवदाराधन किया था। अतः मार्ग चलने की और रावण जैसे भारी राक्षस का बोझ उठाने की थकावट से चूर वालि, किष्किन्धापुरी के उपवन में कूदा ॥ ३३ ॥

रावणं तु मुमोचाथ स्वकक्षात्कपिसत्तमः ।
कुतस्त्वमिति चोवाच प्रहसन् रावणं मुहुः ॥ ३४ ॥

फिर कपिश्रेष्ठ वालि ने अपनी काँख से रावण को निकाला और बार बार हँस कर उससे पूछा—कहिये आप कहाँ से चले आ रहे हैं ॥ ३४ ॥

विस्मयं तु महद्गत्वा श्रमलोलनिरीक्षणः ।
राक्षसेन्द्रो हरीन्द्रं तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

बग़ल में इतनी देर तक दबे रहने के कारण रावण भी थक गया था। उसकी आँखों से उसके मन की घबड़ाहट प्रकट हो रही थी। राक्षसराज रावण अत्यन्त विस्मित हो, वानरराज वालि से बोला ॥ ३५ ॥

वानरेन्द्र महेन्द्राभ राक्षसेन्द्रोऽस्मि रावणः ।
युद्धेप्सुरिह सम्प्राप्तः सचाद्यासादितस्त्वया ॥ ३६ ॥

हे इन्द्र-तुल्य-पराक्रमी वानरेन्द्र! मैं राक्षसों का राजा हूँ। मेरा नाम रावण है। मैं तुमसे युद्ध करने की इच्छा से यहाँ आया था। सो मैं आज तुम्हारे हाथ से पकड़ लिया गया ॥ ३६ ॥

अहो बलमहो वीर्यमहो गाम्भीर्यमेव च ।
येनाहं पशुवद्गृह्य भ्रामितश्चतुरोऽर्णवान् ॥ ३७ ॥

हे वानरराज ! तुम्हारा बल, तुम्हारा पराक्रम और तुम्हारा गाम्भीर्य आश्चर्योत्पादक है । तुमने मुझे पशु की तरह पकड़ चारों समुद्रों पर घुमा डाला ॥ ३७ ॥

एवमश्रान्तवद्वीर शीघ्रमेव च वानर ।
मां चैवोद्वहमानस्तु कोऽन्यो वीर भविष्यति ॥ ३८ ॥

हे वीर वानर ! मुझे तो ऐसा कोई वीर देख नहीं पड़ता ; जो मुझे लिये हुए बिना थके इतनी जल्दी चारों समुद्रों पर घूम आवे ॥ ३८ ॥

त्रयाणामेव भूतानां गतिरेषा प्लवङ्गम ।
मनोनिलसुपर्णानां तव चात्र न संशयः ॥ ३९ ॥

हे वानरसिंह ! मन, वायु और गरुड़ ; केवल इन्हीं तीन प्राणियों की ऐसी गति है । सो आपमें भी इन्हीं जैसी गमनशक्ति है—इसमें सन्देह नहीं ॥ ३९ ॥

सोऽहं दृष्टबलस्तुभ्यमिच्छामि हरिपुङ्गव ।
त्वया सह चिरं सख्यं सुस्निग्धं पावकाग्रतः ॥४०॥

हे वानरश्रेष्ठ ! मैंने तुम्हारा बल प्रत्यक्ष देख लिया । अब मैं अग्नि के सामने आपके साथ निष्कपट और चिरस्थायिनी मित्रता करना चाहता हूँ ॥ ४० ॥

दाराः पुत्राः पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम् ।
सर्वमेवाविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर ॥ ४१ ॥

हे वानरेश्वर ! आज से स्त्री, पुत्र, पुर, राज्य, भोग, आच्छादन भोजन आदि सब कुछ मेरा और तुम्हारा एक ही होगा ॥४१॥

ततः प्रज्वालयित्वाग्निं तावुभौ हरिराक्षसौ ।
भ्रातृत्वमुपसम्पन्नौ परिष्वज्य परस्परम् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर आग जलायी गयी और अग्नि के सामने वानरराज और राक्षसराज की मैत्री हुई । दोनों में भाईचारा हो गया और दोनों एक दूसरे के गले लगे ॥ ४२ ॥

[नोट—जब श्रीरामचन्द्र और सुग्रीव में मैत्री हुई थी ; तब भी अग्निदेव साक्षी बनाये गये थे । अब यहाँ भी रावण और वालि की मैत्रीस्थापना के समय अग्निदेव उपस्थित किये गये । इससे जान पड़ता है कि, उस समय की अनार्य जातियों में मैत्री करते समय अग्नि-सान्निध्य आवश्यक समझा जाता था ।]

अन्योन्यं लम्बितकरौ ततस्तौ हरिराक्षसौ ।
किष्किन्धां विशतुर्हृष्टौ सिंहौ गिरिगुहामिव ॥४३॥

फिर वालि और रावण हर्षित हो एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए वैसे ही किष्किन्धा में गये जैसे सिंह पर्वतकन्दरा में जाता हो ॥४३॥

स तत्र मासमुषितः सुग्रीव इव रावणः ।
अमात्यैरागतैर्नीतस्त्रैलोक्योत्सादनार्थिभिः ॥४४॥

किष्किन्धा में रावण एक मास तक (वालि के छोटे भाई) सुग्रीव की तरह रहा । फिर त्रैलोक्य का नाश करने की इच्छा रखने वाले रावण के मंत्री वहाँ आये और उसे वहाँ से लिवा ले गये ॥ ४४ ॥

एवमेतत्पुरा वृत्तं वालिना रावणः प्रभो ।
धर्षितश्च कृतश्चापि भ्राता पावकसन्निधौ ॥ ४५ ॥

हे प्रभो! हे राम! यह एक पुरानी घटना का वृत्तान्त है। वालि द्वारा रावण ने पराम्त हो कर पीछे अग्नि के सामने वालि के साथ भाईचारा किया था ॥ ४५ ॥

बलमप्रतिमं राम वालिनोऽभवदुत्तमम् ।
सोपि त्वया विनिर्दग्धः शलभो वह्निना यथा ॥ ४६ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

हे राम! वालि में अनुपम उत्तम बल था, किन्तु आग जिस प्रकार पतंगे को जला डालती है; उसी प्रकार तुमने उस वालि को एक बाण से मार कर ढेर कर दिया ॥ ४६ ॥

नोट—इस सर्ग में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो वालि द्वारा रावण का परास्त किया जाना। वालि का जन्म इन्द्र के अंश से था। इस पर कहा जा सकता है कि, रावण ने इन्द्र को तो परास्त कर दिया; किन्तु वालि को वह परास्त क्यों न कर पाया। इस शङ्का के समाधान में कहना पड़ेगा कि, इन्द्र को रावण ने नहीं, प्रत्युत मेघनाद ने सर किया था। रावण तो इन्द्र द्वारा घिर ही गया था। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा का वरदान था कि, रावण देवताओं से अवध्य होगा; किन्तु वरदान में मनुष्य और वानरों का नामोल्लेख न होने के कारण ही रावण अन्त में वानरों और मनुष्यों द्वारा मारा भी गया। दूसरी बात रावण और वालि की मैत्री की है। इन दोनों में परस्पर निष्कपट मैत्री हो गयी थी और भाईचारा हो गया था। यह बात कबन्ध को मालूम थी। इसीसे उसने श्रीरामचन्द्र जी को सुग्रीव के साथ मैत्री करने की सलाह दी थी। यदि अवसर आता तो वालि को रावण की सहायता करनी पड़ती; न कि श्रीरामचन्द्र जी की। जो अपने शत्रु का मित्र होता है, वह भी अपना शत्रु ही समझा जाता है। अतः वालिवध का औचित्य इससे भी सिद्ध होता है।]

उत्तरकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—:०:—

अपृच्छत तदा रामो दक्षिणाशाश्रयं मुनिम् ।
प्राञ्जलिर्विनयोपेत इदमाह वचोऽर्थवत् ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी विनम्र हो और हाथ जोड़ दक्षिण-दिशावासी अगस्त्य मुनि जी से अर्थयुक्त वचन बोले ॥ १ ॥

अतुलं बलमेतद्वै वालिनो रावणस्य च ।
न त्वेताभ्यां हनुमता समं त्विति मतिर्मम ॥ २ ॥

यद्यपि वालि और रावण में अतुल बल था, तथापि मेरी समझ में ये दोनों ही हनुमान जी के समान न थे ॥ २ ॥

शौर्यं दाक्ष्यं बलं धैर्यं प्राज्ञता नयसाधनम् ।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालयाः ॥ ३ ॥

शौर्य, चातुर्य, बल, धैर्य, पाण्डित्य, नीतिपूर्वक कार्यसिद्ध करने की योग्यता, विक्रम और प्रभाव के तो हनुमानजी (घर) हैं। अर्थात् इन गुणों के हनुमान् जी आश्रयस्थल हैं ॥ ३ ॥

दृष्ट्वैव सागरं वीक्ष्य सीदन्तीं कपिवाहिनीम् ।
समाश्वास्य महाबाहुर्योजनानां शतं प्लुतः ॥ ४ ॥

क्योंकि सीता को खोजती हुई जब वानरी सेना समुद्र को सामने देख, विकल हो रही थी, तब यह वीर उन्हें धीरज बँधा सौ योजन चौड़ा समुद्र लाँघ गये थे ॥ ४ ॥

धर्षयित्वा पुरीं लङ्कां रावणान्तःपुरं तदा ।
दृष्टा सम्भाषिता चापि सीता ह्याश्वासिता तथा ॥ ५ ॥

फिर लङ्कापुरी की अधिष्ठात्री राक्षसी को पराजय कर, रावण के अन्तःपुर में सीता का इन्होंने पता लगाया और उनसे वार्तालाप कर, उनको ढाढ़स बँधाया ॥ ५ ॥

सेनाग्रगा मंत्रिसुताः किङ्करा रावणात्मजः ।
एते हनुमता तत्र एकेन विनिपातिताः ॥ ६ ॥

फिर, अकेले हनुमान ने ही रावण के सेनापतियों को, मंत्रिपुत्रों को, किङ्कर नाम्नी सेना को और रावण के एक पुत्र का भी वध किया ॥ ६ ॥

भूयो बन्धाद्विमुक्तेन भाषयित्वा दशाननम् ।
लङ्का भस्मीकृता येन पावकेनेव मेदिनी ॥ ७ ॥

तदनन्तर ब्रह्मास्त्र के बंधन से छूट सम्भाषण करते हुए रावण का तिरस्कार कर, लङ्का को हनुमान जी ने वैसे ही फूँका; जैसे आग पृथिवी को फूँक देती है ॥ ७ ॥

न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च ।
कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः ॥ ८ ॥

युद्धकाल में हनुमान जी ने जैसे जैसे कार्य किये, वैसे न तो इन्द्र, न विष्णु और न कुबेर ही कर सकते हैं ॥ ८ ॥

एतस्य बाहुवीर्येण लङ्का सीता च लक्ष्मणः ।
प्राप्ता मया जयश्चैव राज्यं मित्राणि बान्धवाः ॥ ९ ॥

मैंने तो इन्हींके भुजबल से लङ्का को नष्ट कर, सीता, लक्ष्मण, विजय, राज्य, मित्र और बान्धवों को पाया है ॥ ९ ॥

हनूमान्यदि नो न स्याद्वानराधिपतेः सखा ।
प्रवृत्तिमपि को वेत्तुं जानक्याः शक्तिमान् भवेत् ॥१०॥

अधिक क्या कहूँ ; वानरनाथ के मित्र हनुमान यदि मेरी सहायता न करते, तो जानकी का पता तक लगना कठिन था ॥ १० ॥

किमर्थं वाली चैतेन सुग्रीवप्रियकाम्यया ।
तदा वैरे समुत्पन्ने न दग्धो वीरुधो यथा ॥ ११ ॥

जब सुग्रीव और वालि में वैर हो गया ; तब इन हनुमान जी ने अपने पराक्रम से वालि को घास फूस की तरह क्यों भस्म नहीं कर डाला ॥ ११ ॥

न हि वेदितवान्मन्ये हनूमानात्मनो बलम् ।
यद्दृष्टवान् जीवितेष्टं क्लिश्यन्तं वानराधिपम् ॥ १२ ॥

मैं तो यह समझता हूँ कि, उस समय हनुमान जी को अपना बल अवगत न रहा होगा। नहीं तो, अपने प्राणप्रिय मित्र सुग्रीव को क्लेशित देख, ये चुपचाप न बैठ रहते ॥ १२ ॥

एतन्मे भगवन्सर्वं हनूमति महामुने ।
विस्तरेण यथातत्त्वं कथयामरपूजित ॥ १३ ॥

हे देवपूजित महामुने ! हे भगवन् ! अतः हनुमानजी के सम्बन्ध का जो यथार्थ वृत्तान्त हो, सो सब विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १३ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा हेतुयुक्तमृषिस्तदा ।
हनूमतः समक्षं तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

अगस्त्य मुनि श्रीरामचन्द्र जी के इन युक्तियुक्त वचनों को सुन हनुमान जी के सामने ही कहने लगे ॥ १४ ॥

सत्यमेतद्रघुश्रेष्ठ यद्ब्रवीषि हनूमतः ।
न बले विद्यते तुल्यो न गतौ न मतौ परः ॥ १५ ॥

हे राम ! आपने हनुमान जी के विषय में जो कुछ कहा, वह सब ठीक है। बल, गति और बुद्धि में हनुमान जी की कोई दूसरा बराबरी नहीं कर सकता ॥ १५ ॥

अमोघशापैः शापस्तु दत्तोस्य मुनिभिः पुरा ।
न वेत्ता हि बलं सर्वं बली सन्नरिमर्दन ॥ १६ ॥

किन्तु, हे शत्रुनाशन ! मुनियों ने इनको ऐसा भारी शाप दे रक्खा है; जिससे यह बलवान हो कर भी अपने समस्त बल को भूल जाते हैं ॥ १६ ॥

बाल्येप्येतेन यत्कर्म कृतं राम महाबल ।
तन्न वर्णयितुं शक्यमिति बालतयाऽस्यते ॥ १७ ॥

हे राम ! बाल्यकाल में महाबली हनुमान ने बाल-सुलभ-चापल्यवश जो दुष्कर कर्म किया है; मैं उसका वर्णन करने की भी शक्ति नहीं रखता ॥ १७ ॥

यदि वाऽस्ति त्वभिप्रायः संश्रोतुं तव राघव ।
समाधाय मतिं राम निशामय वदाम्यहम् ॥१८॥

अथवा हे राम ! यदि आप उसको सुनना ही चाहते हैं, तो आप सावधान हो कर सुनें; मैं कहता हूँ ॥ १८ ॥

सूर्यदत्तवरस्वर्णः सुमेरुर्नाम पर्वतः ।
यत्र राज्यं प्रशास्त्यस्य केसरी नाम वै पिता ॥ १९ ॥

सूर्य के वरदान के प्रभाव से सुवर्णरूपी सुमेरु नाम का एक पर्वत है। वहाँ हनुमान के पिता केसरी राज्य करते हैं ॥ १९ ॥

तस्य भार्या बभूवैषा ह्यञ्जनेति परिश्रुता ।
जनयामास तस्यां वै वायुरात्मजमुत्तमम् ॥ २० ॥

अंजनी या अञ्जना नामक विख्यात उनकी प्यारी एक भार्या थी। उस अञ्जना के गर्भ से पवन देव ने अपने औरस से एक उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥ २० ॥

शालिशूकनिभाभासं प्रासूतेमं तदाऽञ्जना ।
फलान्याहर्तुकामा वै निष्क्रान्ता गहनेचरा ॥ २१ ॥

तदनन्तर रूपवती अञ्जना, शालवृक्ष की फुनगी (नोक) की तरह रंग वाले इस पुत्र को उत्पन्न कर, फल लेने के लिये वन में गयी ॥ २१ ॥

एष मातुर्वियोगाच्च क्षुधया च भृशार्दितः ।
रुरोद शिशुरत्यर्थं शिशुः शरवणे यथा ॥ २२ ॥

उस समय यह बालक माता के न रहने से और भूख लगने के कारण बड़ा दुःखी हुआ। यह उस समय शरवन (सरपत का वन) में स्वामिकार्तिक की तरह रोने लगा ॥ २२ ॥

तदोद्यन्तं विवस्वन्तं जपापुष्पोत्करोपमम् ।
ददर्श फललोभाच्च ह्युत्पपात रविं प्रति ॥ २३ ॥

इतने में गुड़हल के फूल की तरह लाल लाल और हाथी की तरह विशाल आकार वाले सूर्यदेव उदय हुए। हनुमान ने जाना कि, यह कोई फल है। अतः उनको लेने के लिये वह उस ओर लपके ॥ २३ ॥

बालार्काभिमुखो बालो बालार्क इव मूर्तिमान्।
ग्रहीतुकामो बालार्कं प्लवतेऽम्बरमध्यगः ॥ २४ ॥

उस समय सूर्य को पकड़ने की इच्छा किये हुए वह मूर्तिमान बालसूर्य की तरह बालक हनुमान जी आकाश के बीच जा पहुँचे ॥ २४ ॥

एतस्मिन्प्लवमाने तु शिशुभावे हनूमति।
देवदानवयक्षाणां विस्मयः सुमहानभूत् ॥ २५ ॥

यह शिशु हनुमान जब उछल कर उतने ऊँचे पहुँच गये, तब देवताओं, दानवों और यक्षों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥ २५ ॥

नाप्येवं वेगवान्वायुर्गरुडो वामनस्तथा।
यथाऽयं वायुपुत्रस्तु क्रमतेऽम्बरमुत्तमम् ॥ २६ ॥

(वे आपस में कहने लगे) जैसे वेग से यह वायुपुत्र उड़ा चला जाता है, वैसा वेग तो न वायु में है, न गरुड़ में है और न मन ही में है ॥ २६ ॥

यदि तावच्छिशोरस्य त्वीदृशो गतिविक्रमः।
यौवनं बलमासाद्य कथं वेगो भविष्यति ॥ २७ ॥

जब कि, शिशु अवस्था ही में इसकी ऐसी गति और वेग है ; तब न मालूम युवावस्था में पूर्ण बल प्राप्त कर, यह कैसा बलवान और वेगवान् होगा ॥ २७ ॥

तमनुप्लवते वायुः प्लवन्तं पुत्रमात्मनः ।
सूर्यदाहभयाद्रक्षंस्तुषारचयशीतलः ॥ २८ ॥

पुत्रस्नेहवश अपने पुत्र के पीछे पीछे पवनदेव भी चले जाते थे और सूर्य के ताप से पुत्र की रक्षा करने के लिये वर्फ की तरह ठंढे हो कर हनुमान जी को ठंडक पहुँचा रहे थे ॥ २८ ॥

बहुयोजनसाहस्रं क्रमत्येष गतोऽम्बरम् ।
पितुर्बलाच्च बाल्याच्च भास्कराभ्याशमागतः ॥ २९ ॥

हनुमान बाल्यचापल्यवश और पिता की सहायता से कई हज़ार योजन आकाश में ऊपर चढ़ कर सूर्य के निकट पहुँच गये ॥ २९ ॥

शिशुरेष त्वदोषज्ञ इति मत्वा दिवाकरः ।
कार्यं चास्मिन्समायत्तमित्येवं न ददाह सः ॥ ३० ॥

उस समय सूर्यदेव ने सोचा कि, एक तो अभी यह बालक है, इसे हित अनहित का कुछ ज्ञान नहीं, दूसरे आगे इससे देवताओं का बड़ा भारी कार्य होने वाला है ; अतः उन्होंने (सूर्य भगवान् ने) इनको भस्म नहीं किया ॥ ३० ॥

यमेव दिवसं ह्येष ग्रहीतुं भास्करं प्लुतः ।
तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम् ॥ ३१ ॥

जिस दिन यह सूर्य को पकड़ने के लिये उछले थे, उसी दिन राहु भी सूर्य को ग्रसने के लिये चला था ॥ ३१ ॥

अनेन च परामृष्टो राहुः सूर्यरथोपरि ।
अपक्रान्तस्ततस्त्रस्तो राहुश्चन्द्रार्कमर्दनः ॥ ३२ ॥

जब इन्होंने सूर्य के रथ पर पहुँच राहु को पकड़ लिया, तब वह चन्द्र सूर्य को मर्दन करने वाला राहु, भयभीत हो, वहाँ से हट गया ॥ ३२ ॥

इन्द्रस्य भवनं गत्वा सरोषः सिंहिकासुतः ।
अब्रवीद्भ्रुकुटिं कृत्वा देवं देवगणैर्वृतम् ॥ ३३ ॥

वह सिंहिका का पुत्र राहु, क्रोध में भरा हुआ इन्द्र के भवन में जा तथा टेढ़ी भौहें कर, देवताओं के बीच बैठे हुए इन्द्र से बोला ॥ ३३ ॥

बुभुक्षापनयं दत्त्वा चन्द्रार्कौ मम वासव ।
किमिदं तत्त्वया दत्तमन्यस्य बलवृत्रहन् ॥ ३४ ॥

हे इन्द्र ! तुमने मेरी भूख मिटाने के लिये चन्द्र और सूर्य को मुझे दिया था । हे बलवृत्रहन् ! फिर इस समय तुमने उन्हें दूसरे के अधीन क्यों कर दिया ? ॥ ३४ ॥

अद्याहं पर्वकाले तु *जिघृक्षुः सूर्यमागतः ।
अथान्यो राहुरासाद्य जग्राह सहसा रविम् ॥ ३५ ॥

देखिये, आज मेरा पर्वकाल था ; सो आज मैं ज्यों ही सूर्य का ग्रास करने के लिये वहाँ गया ; त्यों ही एक दूसरे राहु ने आकर सूर्य को अचानक ग्रस लिया ॥ ३५ ॥

स राहोर्वचनं श्रुत्वा वासवः सम्भ्रमान्वितः ।
उत्पपातासनं हित्वा उद्वहन्काञ्चनीं स्रजम् ॥ ३६ ॥

राहु के ये वचन सुन कर, वे काञ्चनमालाधारी इन्द्र, घबड़ा गये और आसन छोड़ कर उठ खड़े हुए ॥ ३६

* पाठान्तरे—"जिघृक्षुः ।"

ततः कैलासकूटाभं चतुर्दन्तं मदस्रवम् ।
शृङ्गारधारिणं प्रांशुं स्वर्णघण्टाट्टहासिनम् ॥ ३७ ॥
इन्द्रः करीन्द्रमारुह्य राहुं कृत्वा पुरस्सरम् ।
प्रायाद्यत्राभवत्सूर्यः सहानेन हनूमता ॥ ३८ ॥

और कैलास पर्वत के शिखर की तरह ऊँचे चार दाँतों वाले मदस्रावी, सजे सजाये, सोने के घंटे घनघनाते हुए हाथी पर सवार हुए और राहु को आगे कर वहाँ पहुँचे, जहाँ हनुमान तथा सूर्य थे ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

अथातिरभसेनागाद्राहुरुत्सृज्य वासवम् ।
अनेन च स वै दृष्टः प्रधावन् शैलकूटवत् ॥ ३९ ॥

इन्द्र को पीछे छोड़, राहु उनसे पहिले ही सूर्य के समीप बड़े वेग से पहुँच गया था; परन्तु हनुमान के पर्वतशृङ्गाकार विशाल शरीर को देखते ही, वह भाग गया था ॥ ३९ ॥

ततः सूर्यं समुत्सृज्य राहुं फलमवेक्ष्य च ।
उत्पपात पुनर्व्योम ग्रहीतुं सिंहिकासुतम् ॥ ४० ॥

हनुमान ने राहु को देख कर, समझा कि, वह भी एक फल है। अतः वे सूर्य को छोड़ कर राहु को पकड़ने के पुनः आकाश में उछले ॥ ४० ॥

उत्सृज्यार्कमिमं राम प्रधावन्तं प्लवङ्गमम् ।
अवेक्ष्यैवं परावृत्तो मुखशेषः पराङ्मुखः ॥ ४१ ॥

हे राम ! जब हनुमान जी सूर्य को छोड़, राहु के पीछे दौड़े, तब केवल मुख मात्र के आकार वाला राहु, इनका विशाल शरीर देख (डर कर) भागा ॥ ४१ ॥

इन्द्रमाशंसमानस्तु त्रातारं सिंहिकासुतः ।
इन्द्रं इन्द्रेति संत्रासान्मुहुर्मुहुरभाषत ॥ ४२ ॥

और वह सिंहका का पुत्र राहु, अपनी रक्षा करने वाले इन्द्र को यह बात जनाने के लिये और भयभीत हो वारंवार "हे इन्द्र ! मुझे बचाओ" कह कर, चिल्लाने लगा ॥ ४२ ॥

राहोर्विक्रोशमानस्य प्रागेवालक्षितं स्वरम् ।
श्रुत्वेन्द्रोवाच मा भैषीरहमेनं निषूदये ॥ ४३ ॥

राहु की दुःख भरी बोली सुन और उसकी बोली पहचान कर, इन्द्र ने कहा—"डरो मत, मैं इसे मारता हूँ" ॥ ४३ ॥

ऐरावतं ततो दृष्ट्वा महत्तदिदमित्यपि ।
फलन्तं हस्ति राजानमभिदुद्राव मारुतिः ॥ ४४ ॥

इतने में हनुमान ऐरावत हाथी ही को बड़ा भारी कोई फल समझ, उसकी ओर लपके ॥ ४४ ॥

तथास्य धावतो रूपमैरावतजिघृक्षया ।
मुहूर्तमभवद्घोरमिद्राग्न्युपरि भास्वरम् ॥ ४५ ॥

हे राघव ! जब हनुमान जी ऐरावत को पकड़ने के लिये लपके, तब इनका रूप एक मुहूर्त भर में कालानल की तरह भयानक हो गया ॥ ४५ ॥

एवमाधावमानं तु नातिक्रुद्धः शचीपतिः ।
हस्तान्तादतिमुक्तेन कुलिशेनाभ्यताडयत् ॥ ४६ ॥

इनको दौड़ते देख, शचीपति इन्द्र ने साधारण क्रोध कर, साधारण रीति से धीरे से इनके वज्र का एक प्रहार किया ॥ ४६ ॥

ततो गिरौ पपातैष इन्द्रवज्राभिताडितः ।
पतमानस्य चैतस्य वामाहनुरभज्यत ॥ ४७ ॥

वज्र की चोट लगने से ये हनुमान जी पर्वत पर गिर पड़े, और गिरने से इनकी ठोड़ी का बायाँ भाग कुछ टूट गया (टेढ़ा हो गया) ॥ ४७ ॥

तस्मिंस्तु पतिते चापि वज्रताडन विह्वले ।
चुक्रोधेन्द्राय पवनः प्रजानामहिताय सः ॥ ४८ ॥

जब यह हनुमान जी वज्र की चोट से मूर्च्छित हो गिर पड़े, तब पवनदेव इन्द्र पर क्रुद्ध हुए और (इन्द्र की प्रजा) का अनिष्ट करने का पवन ने ठान ठाना ॥ ४८ ॥

प्रचारं स तु संगृह्य प्रजास्वन्तर्गतः प्रभुः ।
गुहां प्रविष्टः स्वसुतं शिशुमादाय मारुतः ॥ ४९ ॥

सब के शरीर में रहने वाले पवनदेव, अपना सञ्चार बंद कर और अपने बच्चे को ले चुपचाप एक गुफा के भीतर जा बैठे ॥ ४९ ॥

विण्मूत्राशयमावृत्य प्रजानां परमार्तिकृत् ।
रुरोध सर्वभूतानि यथा वर्षाणि वासवः ॥ ५० ॥

जल की वृष्टि थाम कर जिस प्रकार इन्द्र सब प्राणियों को पीड़ित करते हैं, उसी प्रकार पवनदेव समस्त प्राणियों के मलाशय और मूत्राशय वाले अधोवायु को रोक कर, प्रजाजनों को सताने लगे ॥ ५० ॥

वायुप्रकोपाद्भूतानि निरुच्छ्वासानि सर्वतः ।
सन्धिभिर्भिद्यमानैश्च काष्ठभूतानि जज्ञिरे ॥ ५१ ॥

वायु के कुपित होने से प्राणिमात्र स्वांस न ले सके और उनके शरीर के सारे जोड़ काठ की तरह जकड़ गये ॥ ५१ ॥

निःस्वाध्यायवषट्कारं निष्क्रियं धर्मवर्जितम् ।
वायुप्रकोपात्त्रैलोक्यं निरयस्थमिवाभवत् ॥ ५२ ॥

वायु के कुपित होने से न कहीं स्वाध्याय होता, न कहीं वषट्कार और न कहीं कोई अन्य धार्मिक क्रियाकलाप ही देख पड़ता था। उस समय तीनों लोक धर्मकर्म रहित और नरकयातना के भोग में फँसे हुए से जान पड़ने लगे ॥ ५२ ॥

ततः प्रजाः सगन्धर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
प्रजापतिं समाधावन्दुःखिताश्च सुखेच्छया ॥ ५३ ॥

क्या देवता, क्या, गन्धर्व और क्या मनुष्य, सभी हाहाकार करते थे और दुःख से छूटना चाहते थे। अतः सब के सब सुख पाने की इच्छा से दौड़े दौड़े श्रीब्रह्मा जी के निकट गये ॥ ५३ ॥

ऊचः प्राञ्जलयो देवा महोदरनिभोदराः ।
त्वया तु भगवन्सृष्टाः प्रजानाथ चतुर्विधाः ॥ ५४ ॥

महोदर (जलोदर) रोग से पीड़ित रोगी की तरह पेटों को फुलाये और हाथ जोड़े हुए देवतागण श्रीब्रह्मा जी से बोले—हे भगवन्! हे प्रजानाथ! आपने (अपनी सृष्टि में) चार प्रकार के जीवों की रचना की है ॥ ५४ ॥

त्वया दत्तोऽयमस्माकमायुषः पवनः पतिः ।
सोऽस्मान्प्राणेश्वरो भूत्वा कस्मादेषोऽद्य सत्तम ॥ ५५ ॥

रुरोध दुःखं जनयन्नन्तःपुर इव स्त्रियः ।
तस्मात्त्वां शरणं प्राप्ता वायुनोपहता वयम् ॥ ५६ ॥

और हे सत्तम! आपने पवन को हम सब की आयु का अधिपति बना दिया है, किन्तु आज वही हम लोगों का प्राणेश्वर वायु पर्दे में स्त्री की तरह छिप कर, हमको क्यों इस प्रकार सता रहा है? अतः हम सब वायु के सताये हुए आपके शरण में आये हैं॥ ५५ ॥ ५६ ॥

[वायुसंरोधजं दुःखमिदं नो नुद दुःखहन् ।]
एतत्प्रजानां श्रुत्वा तु प्रजानाथः प्रजापतिः ॥ ५७ ॥
कारणादिति चोक्त्वाऽसौ प्रजाः पुनरभाषत ।
यस्मिंश्च कारणे वायुश्चुक्रोध च रुरोध च ॥ ५८ ॥
प्रजाः शृणुध्वं तत्सर्वं श्रोतव्यं चात्मनः क्षमम् ।
पुत्रस्तस्यामरेशेन इन्द्रेणाद्य निपातितः ॥ ५९ ॥
राहोर्वचनमास्थाय ततः स कुपितोऽनिलः ।
अशरीरः शरीरेषु वायुश्चरति पालयन् ॥ ६० ॥

हे दुःखहारी! आप हम लोगों का पवनरोध सम्बन्धी दुःख दूर कीजिये। प्रजाजनों के ऐसे वचन सुन कर, प्रजानाथ प्रजापति ब्रह्मा जी बोले—इसका कोई कारण अवश्य है—जिससे वायु का सञ्चार रुक गया है। जिस कारण वायु ने क्रोध कर अपना सञ्चार रोका है, हे सर्व प्रजाजनों! उसको बतला देना हमारा और उसको सुनना तुम्हारा कर्त्तव्य है। वह यह है कि, सुरपति इन्द्र ने पवन के पुत्र को मारा है। सो भी राहु के कहने से। इसीसे

पवनदेव क्रुद्ध हो गये हैं। यद्यपि पवनदेव शरीररहित हैं, तथापि वे प्राणधारियों के शरीरों में घूमते फिरते हुए सब का पालन करते हैं ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

शरीरं हि विना वायुं समतां याति दारुभिः ।
वायुः प्राणः सुखं वायुर्वायुः सर्वमिदं जगत् ॥ ६१ ॥

विशेष कर वायुरहित शरीर काठ के समान हो जाता है। अतः वायु ही प्राण, वायु ही सुख और वायु ही समस्त जगद्रूप है ॥ ६१ ॥

वायुना सम्परित्यक्तं न सुखं विन्दते जगत् ।
अद्यैव च परित्यक्तं वायुना जगदायुषा ॥ ६२ ॥

जब वायुदेव अपना सञ्चार त्याग देते हैं, तब जगत् को सुख प्राप्त हो ही नहीं सकता। देख लो, आज ही जब उन्होंने अपना सञ्चार बंद कर दिया है तब संसार की क्या दशा हो रही है ॥ ६२ ॥

अद्यैव ते निरुच्छ्वासाः काष्ठकुड्योपमाः स्थिताः ।
तद्यामस्तत्र यत्रास्ते मारुतो रुक्प्रदो हि नः ।
मा विनाशं गमिष्याम अप्रसाद्यादितेः सुतम् ॥ ६३ ॥

बिना श्वास के लोग काठ अथवा दीवार के समान हो गये हैं। अतएव, हम लोगों को पीड़ा देने वाले पवनदेव जहाँ कहीं हों, वहाँ हम सब को चलना चाहिये। पवनदेव को अप्रसन्न कर, कहीं हम सब लोग मर न जाँय ॥ ६३ ॥

ततः प्रजाभिः सहितः प्रजापतिः
सदेवगन्धर्वभुजङ्गगुह्यकैः ।

जगाम यत्रास्यति तत्र मारुतः
सुतं सुरेन्द्राभिहतं प्रगृह्य सः ॥ ६४ ॥

यह कह ब्रह्मा जी, देवता, गन्धर्व, भुजङ्ग, गुह्यक आदि समस्त प्रजाजनों को अपने साथ ले, वहाँ गये, जहाँ इन्द्र के मारे हुए अपने पुत्र को लिये, पवनदेव बैठे हुए थे ॥ ६४ ॥

ततोर्क वैश्वानरकाञ्चनप्रभं
सुतं तदोत्सङ्गगतं सदागतेः ।
चतुर्मुखो वीक्ष्य कृपामथाकरोत्
सदेवगन्धर्वर्षियक्षराक्षसैः ॥ ६५ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

आदित्य, अनल, अथवा सुवर्ण जैसी कान्ति वाले पवननन्दन हनुमान जी को, सदा गतिशील पवनदेव की गोद में देख, ब्रह्मा जी ने देवताओं, गन्धर्वों, ऋषियों और राक्षसों सहित उन पर अनुग्रह प्रदर्शित किया ॥ ६५ ॥

उत्तरकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षट्त्रिंशः सर्गः

—:o:—

ततः पितामहं दृष्ट्वा वायुः पुत्रवधार्दितः ।
शिशुकं तं समादाय उत्तस्थौ धातुरग्रतः ॥ १ ॥

पुत्रशोक से दुःखी पवनदेव पितामह को देखते ही, पुत्र को गोद में लिये हुए, उठ कर ब्रह्मा जी के सामने खड़े हो गये ॥ १ ॥

चलत्कुण्डलमौलिस्रक्तपनीयविभूषणः ।
पादयोर्न्यपतद्वायुस्त्रिरुपस्थाय वेधसे ॥ २ ॥

सुवर्णभूषणों से भूषित पवनदेव के सहसा उठ खड़े होने से उनके कानों के कुण्डल, सिर का मुकुट और गले का हार झलमला उठे। पवनदेव तीन बार ब्रह्मा जी को प्रणाम कर उनके चरणों में गिर पड़े ॥ २ ॥

तं तु वेदविदा तेन लम्बाभरणशोभिना ।
वायुमुत्थाप्य हस्तेन शिशुं तं परिमृष्टवान् ॥ ३ ॥

तब अनादि एवं वेदार्थज्ञ ब्रह्मा जी ने आभूषणों से भूषित निज कर से, पवनदेव को उठाया और उनके बालकपुत्र के शरीर पर भी उन्होंने हाथ फेरा ॥ ३ ॥

स्पृष्टमात्रस्ततः सोथ सलीलं *पद्मजन्मना ।
जलसिक्तं यथा सस्यं पुनर्जीवितमाप्तवान् ॥ ४ ॥

कमलयोनि ब्रह्मा जी का करस्पर्श होते ही, पवनपुत्र जल से सींचे हुए धान की तरह, फिर जीवित अर्थात् भले चंगे हो गये ॥ ४ ॥

प्राणवन्तमिमं दृष्ट्वा प्राणो गन्धवहो मुदा ।
चचार सर्वभूतेषु सन्निरुद्धं यथा पुरा ॥ ५ ॥

गन्धवाही प्राणभूत वायुदेव अपने पुत्र को जीवित देख कर और अपनी रोक छोड़, उसी क्षण प्रसन्न हो, सब प्राणियों में सञ्चारित हो गये ॥ ५ ॥

मरुद्रोधाद्विनिर्मुक्तास्ताः प्रजा मुदिता भवन् ।
शीतवातविनिर्मुक्ताः पद्मिन्य इव साम्बुजाः ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"पद्मयोनिना।"

जैसे शीत और पवन से वच कर, कमल सहित कमलिनी प्रफुल्लित हो जाती है, वैसे ही समस्त प्राणी वायुरोध से मुक्त हो कर, हर्षित हो गये ॥ ६ ॥

ततस्त्रियुग्मः त्रिककुत्त्रिधामा त्रिदशार्चितः ।
उवाच देवता ब्रह्मा मारुतप्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

यश, वीर्य, ऐश्वर्य, कान्ति, ज्ञान, और वैराग्य समन्वित त्रिमूर्तिधारी, त्रिलोकधाम, तथा देवताओं के पूज्य श्री ब्रह्मा जी, पवनदेव को प्रसन्न करने के लिये देवताओं से बोले ॥ ७ ॥

भो महेन्द्राग्निवरुणा महेश्वरधनेश्वराः ।
जानतामपि वः सर्वं वक्ष्यामि श्रूयतां हितम् ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! हे अग्नि ! हे वरुण ! हे महेश्वर ! हे धनेश्वर ! यद्यपि तुम सब स्वयं ज्ञानवान हो; तथापि मैं तुम लोगों के हित की जो बात कहता हूँ; उसे तुम सब लोग सुनो ॥ ८ ॥

अनेन शिशुना कार्यं कर्तव्यं वो भविष्यति ।
तद्ददध्वं वरान्सर्वे मारुतस्यास्य तुष्टये ॥ ९ ॥

देखो, यह शिशु तुम्हारा बड़ा काम करेगा, अतः इसके पिता को प्रसन्न करने के लिये तुम सब इस शिशु को वरदान दो ॥ ९ ॥

ततः सहस्रनयनः प्रीतियुक्तः शुभाननः ।
कुशेशयमयीं मालामुत्क्षिप्येदं वचोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

तब प्रसन्नवदन और सहस्रनयन इन्द्र ने हर्षित हो, सुवर्णमयी कमलपुष्पों की माला हनुमान जी के गले में डाल कर, यह कहा ॥ १० ॥

मत्करोत्सृष्टवज्रेण हनुरस्य यथा हतः ।
नाम्ना वै कपिशार्दूलो भविता हनुमानिति ॥ ११ ॥

मेरे हाथ से चलाये गये वज्र से इसकी ठोड़ी (हनु) कुछ टेढ़ी हो गयी है, अतः आज से इस कपिशार्दूल का हनुमान नाम पड़ा ॥ ११ ॥

अहमस्य प्रदास्यामि परमं वरमद्भुतम् ।
इतः प्रभृति वज्रस्य ममावध्यो भविष्यति ॥ १२ ॥

इसको मैं एक अद्भुत वरदान यह देता हूँ कि, आज से यह हनुमान मेरे वज्र से अवध्य होगा ॥ १२ ॥

मार्तण्डस्त्वब्रवीत्तत्र भगवांस्तिमिरापहः ।
तेजसोऽस्य मदीयस्य ददामि शतिकां कलाम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर तिमिरनाशक भगवान् सूर्य ने कहा—मैंने अपने तेज का शतांश इस बालक को दिया ॥ १३ ॥

यदा च शास्त्राण्यध्येतुं शक्तिरस्य भविष्यति ।
तदास्य शास्त्रं दास्यामि येन वाग्मी भविष्यति ।
न चास्य भविता कश्चित्सदृशः शास्त्रदर्शने ॥ १४ ॥

जब यह पढ़ने योग्य होगा ; तब मैं स्वयं इसको शास्त्र पढ़ाऊँगा, जिससे यह हनुमान वाग्मी होगा और इसके समान शास्त्रों का जानने वाला दूसरा कोई न होगा ॥ १४ ॥

वरुणश्च वरं प्रादान्नास्य मृत्युर्भविष्यति ।
वर्षायुतशतेनापि मत्पाशादुदकादपि ॥ १५ ॥

तदनन्तर वरुण जी ने इनको यह वर दिया कि, मेरी फाँसी और जल से दस लाख वर्षों तक भी ये न मरेगा ॥ १५ ॥

यमो दण्डादवध्यत्वमरोगत्वं च *दत्तवान् ।
वरं ददामि सन्तुष्ट अविषादं च संयुगे ॥ १६ ॥

तदनन्तर यमराज ने प्रसन्न हो, इनको यह वर दिया कि, मेरे कालदण्ड से इनका बाल भी बाँका न होगा और न कभी कोई रोग इनको सतावेगा तथा संग्राम में ये कभी विषाद को प्राप्त न होंगे ॥ १६ ॥

गदेयं मामिका चैनं संयुगे न वधिष्यति ।
इत्येवं †धनदः प्राह तदाह्येकाक्षिपिङ्गलः ॥ १७ ॥

तदनन्तर एकाक्षी पिङ्गल कुवेर जी ने उस समय हनुमान जी को यह वर दिया कि, यह हनुमान युद्ध में मुझसे या मेरी गदा से न मर सकेंगे ॥ १७ ॥

मत्तो मदायुधानां च अवध्योऽयं भविष्यति ।
इत्येवं शङ्करेणापि दत्तोस्य परमो वरः ॥ १८ ॥

तदनन्तर श्रीमहादेवजी ने भी हनुमान जी को यह परम वर दिया कि, मेरे त्रिशूल और पाशुपतास्त्र से यह न मारे जांयगे ॥१८॥

विश्वकर्मा च दृष्ट्वेमं बालं प्रति महारथः ।
मत्कृतानि च शस्त्राणि यानि दिव्यानि तानि च ।
तैरवध्यत्वमापन्नश्चिरजीवी भविष्यति ॥ १९ ॥

तदनन्तर विश्वकर्मा ने भी बालक की ओर देख कर कहा कि, मेरे बनाये जो दिव्यास्त्र और शस्त्र हैं, उन सब से यह अवध्य हो कर, चिरजीवी होगा ॥ १६ ॥

* पाठान्तरे—" नित्यशः " । † पाठान्तरे—" वरदः " ।

दीर्घायुश्च महात्मा च ब्रह्मा तं प्राब्रवीद्वचः ।
सर्वेषां ब्रह्मदण्डानामवध्योऽयं भविष्यति ॥ २० ॥

अन्त में ब्रह्मा जी बोले—यह बालक दीर्घायु, महाबलवान और समस्त ब्रह्मदण्डों से अवध्य होगा २० ॥

ततः सुराणां तु वरैर्दृष्ट्वा ह्येनमलंकृतम् ।
चतुर्मुखस्तुष्टमना वायुमाह जगद्गुरुः ॥ २१ ॥

अमित्राणां भयकरो मित्राणामभयङ्करः ।
अजेयो भविता पुत्रस्तव मारुत मारुतिः ॥ २२ ॥

कामरूपः कामचारी कामगः प्लवतां वरः ।
भवत्यव्याहतगतिः कीर्तिमांश्च भविष्यति ॥ २३ ॥

रावणोत्सादनार्थानि रामप्रीतिकराणि च ।
रोमहर्षकराण्येष कर्ता कर्माणि संयुगे ॥ २४ ॥

इस प्रकार जगद्गुरु चतुर्मुख ब्रह्मा देवताओं के वरदानों को सुन कर और प्रसन्न हो वायुदेव से बोले,—हे वायो! यह तुम्हारा पुत्र मारुति, शत्रुओं को भयभीत करने वाला, मित्रों को अभयदाता, अजेय, कामरूपी, कामचारी, कामगामी, अव्याहत गति वाला, वानरों में श्रेष्ठ तथा बड़ा कीर्तिमान होगा। यह युद्ध में रावण के नाश के लिये श्रीराम जी के लिये हितकारक एवं रोमाञ्चकारी कार्य करेगा ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा तमामन्त्र्य मारुतं त्वमरैः सह ।
यथागतं ययुः सर्वे पितामहपुरोगमाः ॥ २५ ॥

यह कह और वायु से विदा हो, तथा अन्य देवताओं को अपने साथ लिये हुए ब्रह्मा जी अपने लोक को सिधारे ॥ २५ ॥

सोपि गन्धवहः पुत्रं प्रगृह्य गृहमानयत् ।
अञ्जनायास्तमाख्याय* वरदत्तं विनिर्गतः ॥ २६ ॥

गन्धवाही पवनदेव भी पुत्र को ले कर अपने घर आये और अञ्जना से देवताओं के वरदान का वृत्तान्त कह, वहां से चल दिये ॥ २६ ॥

प्राप्य राम वरानेष वरदानबलान्वितः† ।
जवेनात्मनि संस्थेन सोऽसौपूर्ण इवाऽर्णवः ॥ २७ ॥

हे रामचन्द्र ! वरदानों के प्रभाव से और स्वाभाविक शारीरिक बल से यह हनुमान जी समुद्र की तरह परिपूर्ण हो गये ॥ २७ ॥

तरसा पूर्यमाणोपि तदा वानरपुङ्गवः ।
आश्रमेषु महर्षीणामपराध्यति निर्भयः ॥ २८ ॥

तब यह कपिश्रेष्ठ हनुमान जी बल से परिपूर्ण और निर्भय हो, ऋषियों के आश्रमों में जा जा कर, उपद्रव करने लगे ॥ २८ ॥

स्रुग्भाण्डान्यग्निहोत्राणि वल्कलानां च सञ्चयान् ।
भग्नविच्छिन्नविध्वस्तान्संशान्तानां करोत्ययम् ॥२९॥

कहीं यज्ञपात्रों (जैसे स्रुग्भाण्डों) को, अग्निहोत्र की अग्नि को, और वल्कल वस्त्रों को तोड़ने फोड़ने, अस्तव्यस्त करने और चीड़ने फाड़ने लगे। ऋषिगण शान्त स्वभाव के थे वे करते ही क्या ॥ २९ ॥

एवंविधानि कर्माणि प्रावर्तत महाबलः ।
सर्वेषां ब्रह्मदण्डानामवध्यः [1]शम्भुना कृतः ॥ ३० ॥

---

१ शम्भुना—ब्रह्मणा । (गो०)

* पाठान्तरे—"समाचख्यौ" । † पाठान्तरे—"वरदानसमन्वितः" ।

इस प्रकार यह महाबली हनुमान ब्रह्मा जी के वरदान के कारण ब्रह्मदण्ड से अवध्य हो ऐसे कर्म किया करते थे ॥ ३० ॥

जानन्त ऋषयस्तं वै सहन्ते तस्य शक्तितः ।
तथा केसरिणा त्वेष वायुना सोञ्जनीसुतः ॥ ३१ ॥
प्रतिषिद्धोपि मर्यादां लङ्घयत्येव वानरः ।
ततो महर्षयः क्रुद्धा भृग्वंगिरसवंशजाः ॥ ३२ ॥

ऋषियों को यह बात (ब्रह्मदण्ड से अवध्य होने की) मालूम थी। अतः दण्ड देने की शक्ति रहते भी वे इनके (हनुमान जी के) उपद्रवों को सह लिया करते थे। फिर केसरी और वायु ने इनको ऐसे कार्य करने से वर्जा भी, तो भी यह मर्यादा का उल्लङ्घन ही करते गये। हे राम! तदनन्तर अंगिरा और भृगु के वंश में उत्पन्न हुए क्रुद्ध मुनिजनों ने ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

शेपुरेनं रघुश्रेष्ठ नातिक्रुद्धातिमन्यवः ।
बाधसे यत्समाश्रित्य बलमस्मान्प्लवङ्गम ॥ ३३ ॥
तद्दीर्घकालं वेत्तासि नास्माकं शापमोहितः ।
यदा ते स्मार्यते कीर्तिस्तदा ते वर्धते बलम् ॥ ३४ ॥

साधारण क्रोध कर इनको यह शाप दिया कि—हे वानर! जिस बल के भरोसे तू हम लोगों को सताता है, सो वह बल तुझे बहुत दिनों बाद स्मरण होगा। किन्तु जब कोई तुझे तेरी कीर्ति का स्मरण करावेगा, तब तेरा बल बढ़ेगा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

ततस्तु हृततेजौजा महर्षिवचनौजसा ।
एषोश्रमाणि तान्येव मृदुभावं गतोऽचरत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर यह हनुमान ऋषियों के शाप के प्रभाव से बलवीर्य विहीन हो, मृदुभाव से ऋष्याश्रमों में घूमने लगे ॥ ३५ ॥

अथर्क्षरजसो नाम वालिसुग्रीवयोः पिता ।
सर्ववानरराजासीत्तेजसा इव भास्करः ॥ ३६ ॥

सूर्य के समान तेजस्वी ऋक्षराज, समस्त वानरों के राजा थे तथा वालि और सुग्रीव के पिता थे ॥ ३६ ॥

स तु राज्यं चिरं कृत्वा वानराणां हरीश्वरः ।
ततस्त्वर्क्षरजा नाम कालधर्मेण योजितः ॥ ३७ ॥

वे वानराधिपति ऋक्षराज बहुत दिनों तक राज्य कर के, अन्त में काल के वशवर्ती हो गये ॥ ३७ ॥

तस्मिन्नस्तमिते चाथ मन्त्रिभिर्मन्त्रकोविदैः ।
पित्र्ये पदे कृतो वाली सुग्रीवो वालिनः पदे ॥ ३८ ॥

जब वे मर गये, तब मंत्रकुशल मंत्रियों ने वालि को पिता के पद पर और सुग्रीव को वालि के (युवराज) पद पर अभिषिक्त किया ॥ ३८ ॥

सुग्रीवेण समं त्वस्य अद्वैधं छिद्रवर्जितम् ।
आबाल्यं सख्यमभवदनिलस्याग्निना यथा ॥ ३९ ॥

बचपन ही से हनुमान की सुग्रीव के साथ ऐसी दोषरहित आदर्श मैत्री थी, जैसी कि, अग्नि के साथ वायु की है ॥ ३९ ॥

एष शापवशादेव न वेद बलमात्मनः ।
वालिसुग्रीवयोर्वैरं यदा राम समुत्थितम् ॥ ४० ॥

परन्तु हे राम ! जिस समय वालि और सुग्रीव में वैर हुआ, उस समय यह हनुमान जी शापवश अपने बल को भूले हुए थे ॥ ४० ॥

न ह्येष राम सुग्रीवो भ्राम्यमाणोऽपि वालिना ।
देव जानाति न ह्येष बलमात्मनि मारुतिः ॥ ४१ ॥

हे देव ! वालि, सुग्रीव को बहुत दौड़ाता और घुमाता था और बहुत सताता था, किन्तु हनुमान ये सब देखते रहते थे। क्योंकि यह शापवश अपने बल को भूले हुए थे। अतः यह करते ही क्या ॥ ४१ ॥

ऋषिशापाहृतबलस्तदैष कपिसत्तमः ।
सिंहः कुञ्जररुद्धो वा आस्थितः सहितो रणे ॥ ४२ ॥

ऋषिशापवश अपने बल को भूले हुए यह कपिश्रेष्ठ हनुमान, सुग्रीव की विपत्ति के समय, हाथी से घिरे हुए सिंह की तरह, सुग्रीव के साथ तो रहते थे, (किन्तु वालि से युद्ध नहीं कर सकते थे) ॥ ४२ ॥

पराक्रमोत्साहमतिप्रताप
सौशील्यमाधुर्यनयानयैश्च ।
गाम्भीर्यचातुर्यसुवीर्यधैर्यै-
र्हनूमतः कोऽप्यधिकोऽस्ति लोके ॥ ४३ ॥

हे राघव ! पराक्रम, उत्साह, बुद्धि, प्रताप, सौशील्य, माधुर्य, नीति, ज्ञान, गम्भीरता, चतुरता, बल और धैर्य में हनुमान जी से बढ़ कर इस लोक में और कौन है अर्थात् कोई इस लोक में नहीं है ॥ ४३ ॥

असौ पुनर्व्याकरणं ग्रहीष्यन्
सूर्योन्मुखः प्रष्टुमनाः कपीन्द्रः ।
उद्यद्गिरेरस्तगिरिं जगाम
ग्रन्थं महद्धारयनप्रमेयः ॥ ४४ ॥

यह वानर व्याकरण पढ़ने की इच्छा से सूर्य के आगे पढ़ते पढ़ते उदयाचल से अस्ताचल तक चले जाते थे ॥ ४४ ॥

ससूत्रवृत्त्यर्थपदं महार्थं
ससंग्रहं सिद्ध्यति वै कपीन्द्रः ।
न ह्यस्य कश्चित्सदृशोऽस्ति शास्त्रे
वैशारदे छन्दगतौ तथैव ॥ ४५ ॥

इन अप्रमेय वानरेन्द्र ने सूत्र (अष्टाध्यायी) वृत्ति, वार्त्तिक, भाष्य और संग्रह (प्रकरणादि) अर्थयुक्त महत् ग्रन्थ (व्याकरण) पढ़ सिद्धि प्राप्त कर ली और साथ ही छन्दशास्त्र में भी यह प्रवीण हो गये ॥ ४५ ॥

सर्वासु विद्यासु तपोविधाने
प्रस्पर्धतेयं हि गुरुं सुराणाम् ।
सोयं नवव्याकरणार्थवेत्ता
ब्रह्मा भविष्यत्यपि ते प्रसादात् ॥ ४६ ॥

प्रवीविविक्षोरिव सागरस्य
लोकान्दिधक्षोरिव पावकस्य ।
लोकक्षयेष्वेव यथान्तकस्य
हनूमतः स्थास्यति कः पुरस्तात् ॥ ४७ ॥

यह समस्त विद्या और तपोविधान में सुरगुरु बृहस्पति की टक्कर के हैं और व्याकरण के जानने वाले हैं। अब आपकी कृपा से यह ब्रह्मा भी होंगे॥ यह (बलवान इतने हैं कि,) समस्त संसार को भस्म करने के लिये प्रलयाग्नि के समान, अथवा प्रजाक्षयकारी यम की तरह अथवा प्रलयकालीन उफनते हुए समुद्र की तरह हैं। भला इन हनुमान के सामने कौन ठहर रह सकता है अथवा इनका सामना कौन कर सकता है? ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

एषेव चान्ये च महाकपीन्द्राः
सुग्रीवमैन्दद्विविदाः सनीलाः ।
सतारतारेयनलाः सरम्भा-
स्त्वत्कारणाद्राम सुरैर्हि सृष्टाः ॥ ४८ ॥

हे राम! आपकी सहायता के लिये इन्हींके समान देवताओं ने सुग्रीव, अङ्गद, मैन्द, द्विविद, नल, नील, तार, तारेय और रम्भादि बड़े बड़े अन्य वानरों को भी उत्पन्न किया है ॥ ४८ ॥

[गजो गवाक्षो गवयः सुदंष्ट्रो
मैन्दः प्रभोज्योतिमुखो नलश्च ।
एते च ऋक्षाः सह वानरेन्द्रै
स्त्वत्कारणाद्रामं सुरैर्हि सृष्टाः ॥ ४९ ॥]

हे प्रभो! गज, गवाक्ष, गवय, सुदंष्ट्र और ज्योतिर्मुख को तथा ऋक्षों को भी तुम्हारी सहायता के लिये उत्पन्न किया है ॥ ४९ ॥

तदेतत्कथितं सर्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
हनूमतो बालभावे कर्मैतत्कथितं मया ॥ ५० ॥

हे राम ! हनुमान ने बाल्यावस्था में जो जो कर्म किये थे, वे सब मैंने आपको सुनाये। अधिक क्या कहूँ, आपने जो कुछ मुझसे पूँछा था, उसका उत्तर मैंने आपको दिया ॥ ५० ॥

श्रुत्वाऽगस्त्यस्य कथितं रामः सौमित्रिरेव च ।
विस्मयं परमं जग्मुर्वानरा राक्षसैः सह ॥ ५१ ॥

अगस्त्य जी की ये बातें सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, वानरों तथा राक्षसों सहित बड़े विस्मित हुए ॥ ५१ ॥

अगस्त्यस्त्वब्रवीद्रामं सर्वमेतच्छ्रुतं त्वया ।
दृष्टः सम्भाषितश्चासि राम गच्छामहे वयम् ॥ ५२ ॥

परन्तु अगस्त्य जी पुनः श्रीरामचन्द्र जी से बोले कि, तुमने सब कुछ सुना और मैंने भी तुम्हें देखा और तुम्हारे साथ बातचीत भी की। अब हम सब जाते हैं ॥ ५२ ॥

श्रुत्वैतद्राघवो वाक्यमगस्त्यस्योग्रतेजसः ।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चापि महर्षिमिदमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

तब उग्रतेजस्वी अगस्त्य ऋषि के यह वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़ प्रणाम कर और नम्रता पूर्वक बोले ॥ ५३ ॥

अद्य मे देवतास्तुष्टाः पितरः प्रपितामहाः ।
युष्माकं दर्शनादेव नित्यं तुष्टाः सबान्धवाः ॥ ५४ ॥

आज आपके दर्शन मिलने से मेरे ऊपर देवता प्रसन्न हुए तथा पिता और प्रपितामहगण भी तृप्त हुए और भाईबंदों सहित मैं प्रसन्न हुआ ॥ ५४ ॥

विज्ञाप्यं तु ममैतद्धि यद्वदाम्यागतस्पृहः ।
तद्भवद्भिर्मम कृते कर्तव्यमनुकम्पया ॥ ५५ ॥

किन्तु आपकी सेवा में मेरा एक स्पृहारहित निवेदन है। उसे आप मेरे ऊपर दया कर स्वीकार करें ॥ ५५ ॥

पौरजानपदान्स्थाप्य स्वकार्येष्वहमागतः[1] ।
क्रतूनेव करिष्यामि प्रभावाद्भवतां सताम् ॥ ५६ ॥

मैंने वन से लौट कर, पुरवासियों और देशवासियों को अपने अपने कामों में लगा दिया है। आप सत्पुरुषों की कृपा से मैं यज्ञ करना चाहता हूँ ॥ ५६ ॥

[2]सदस्या मम यज्ञेषु भवन्तो नित्यमेव तत् ।
भविष्यथ महावीर्या ममानुग्रहकाङ्क्षिणः ॥ ५७ ॥

आप लोग महत्तपवीर्यसमन्वित तथा साधु एवं शीलवान् हैं। अतएव आप अपने इस अनुग्रहकांक्षी के यज्ञ में निरन्तर पर्यवेक्षक हों ॥ ५७ ॥

अहं युष्मान्समाश्रित्य तपोनिर्धूतकल्मषान् ।
अनुगृहीतः पितृभिर्भविष्यामि सुनिर्वृतः ॥ ५८ ॥

आप तप करते करते पापशून्य हो गये हैं। अतः आपका आश्रय लेने से मैं अपने पितरों की कृपा का पात्र बन सकूँगा और अपने यज्ञ को सुसम्पन्न कर सकूँगा ॥ ५८ ॥

तदागन्तव्यमनिशम्भवद्भिरिह सङ्गतैः ।
अगस्त्याद्यास्तु तच्छ्रुत्वा ऋषयः संशितव्रताः ॥ ५९ ॥

यज्ञकाल में आप सब लोग मिल कर यहाँ पधारियेगा। व्रतधारी अगस्त्यादि ऋषि लोग यह सुन कर ॥ ५९ ॥

---

१ आगतः—वनादागतः अहं। (गो०) २—सदस्याः—विधिदर्शिनः। (गो०)

एवमस्त्विति तं प्रोच्य प्रयातुमुपचक्रमुः ।
एवमुक्त्वा गताः सर्वे ऋषयस्ते यथागतम् ॥ ६० ॥

और तथास्तु—ऐसा ही करेंगे, श्रीरामचन्द्रजी से कह कर, अपने अपने आश्रमों को चले गये अथवा जहाँ से आये थे वहाँ चले गये ॥ ६० ॥

राघवश्च तमेवार्थं चिन्तयामास विस्मितः ।
ततोऽस्तं भास्करे याते विसृज्य नृपवानरान् ॥ ६१ ॥
सन्ध्यामुपास्य विधिवत्तदा नरवरोत्तमः ।
प्रवृत्तायां रजन्यां तु सोन्तःपुरचरोऽभवत् ॥ ६२ ॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

उनके चले जाने पर श्रीरामचन्द्र जी माहाराज अगस्त्य जी की कही बातों को स्मरण कर कर के, आश्चर्य करने लगे । तदनन्तर सूर्य के अस्त होने पर नृपों और वानरों को विदा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने विधिवत् सन्ध्योपासन किया । तदनन्तर नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने रात्रिसुख प्राप्त करने के लिये अन्तःपुर में गमन किया ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

उत्तरकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—:०:—

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे धर्मेण विदितात्मनि ।
व्यतीता या निशा पूर्वा पौराणां हर्षवर्धिनी ॥ १ ॥

जगत्प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक की यह पहली ही रात थी, जो पुरवासियों का हर्ष बढ़ाने वाली थी, किन्तु वह रात भी बीत गयी ॥ १ ॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां प्रातर्नृपतिबोधकाः ।
वन्दिनः समुपातिष्ठन्सौम्या नृपतिवेश्मनि ॥ २ ॥

उस रात के बीत जाने पर राजा को जगाने वाले वंदीगण जो सौम्यमूर्ति थे, राजभवन में जा, उपस्थित हुए ॥ २ ॥

ते [1]रक्तकण्ठिनः सर्वे किन्नरा इव शिक्षिताः ।
तुष्टुवुर्नृपतिं वीरं यथावत्सम्प्रहर्षिणः ॥ ३ ॥

किन्नरों की तरह (संगीत की) शिक्षा प्राप्त और (नैसर्गिक) मधुरकण्ठ वाले वे गायक, वीरश्रेष्ठ महाराज को हर्षित कर, उनका स्तव करने लगे ॥ ३ ॥

वीर सौम्य प्रबुध्यस्व कौसल्याप्रीतिवर्धन ।
जगद्धि सर्वं स्वपिति त्वयि सुप्ते नराधिप ॥ ४ ॥

उन्होंने इस प्रकार गान किया—हे वीर ! हे सौम्य ! हे कौशल्या का आनन्द बढ़ाने वाले ! आपके सोने से सब जगत निद्रित रहता है, अतः आप अब जागिये ॥ ४ ॥

विक्रमस्ते यथा विष्णो रूपं चैवाश्विनोरिव ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यः प्रजापतिसमो ह्यसि ॥ ५ ॥

आप भगवान् विष्णु के तुल्य पराक्रमी, अश्विनीकुमारों की तरह रूपवान्, बृहस्पति के समान बुद्धिमान और प्रजापति के समान प्रजापालक हैं ॥ ५ ॥

क्षमा ते पृथिवीतुल्या तेजसा भास्करोपमः ।
वेगस्ते वायुना तुल्यो गाम्भीर्यमुदधेरिव ॥ ६ ॥

आपमें समुद्र के समान गाम्भीर्य, पृथिवी के समान क्षमा, सूर्य के समान तेज और पवन के समान वेग है ॥ ६ ॥

---

1 रक्तकण्ठिनः—मधुरकण्ठाः । (रा०)

अप्रकम्प्यो यथा स्थाणुश्चन्द्रे सौम्यत्वमीदृशम् ।
नेदृशाः पार्थिवाः पूर्वं भवितारो नराधिप ॥ ७ ॥

आपमें शिव की तरह अचलता है और चन्द्रमा की तरह सौम्यता है। हे नरनाथ! आपकी समान न तो कोई राजा हुआ और न आगे कोई होगा ॥ ७ ॥

यथा त्वमसि दुर्धर्षो धर्मनित्यः प्रजाहितः ।
न त्वां जहाति कीर्तिश्च लक्ष्मीश्च पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! आप जैसे दुर्धर्ष हैं, वैसे ही सदा धर्मपरायण हो कर प्रजा के हित में तत्पर रहा करते हैं। इसीसे आपको कीर्ति और लक्ष्मी नहीं त्यागती ॥ ८ ॥

श्रीश्च धर्मश्च काकुत्स्थ त्वयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
एताश्चान्याश्च मधुरा वन्दिभिः परिकीर्तिताः ॥ ९ ॥

हे काकुत्स्थ! आपमें धर्म और लक्ष्मी सदा स्थिर रहती हैं (अर्थात् आप धार्मिक हैं अतः आप सब प्रकार से धनधान्य से भरे पूरे हैं) वंदीजनों ने इस प्रकार तथा अन्य बहु प्रकार की स्तुति मधुर कण्ठ से की ॥ ९ ॥

सूताश्च संस्तवैर्दिव्यैर्बोधयन्ति स्म राघवम् ।
स्तुतिभिः स्तूयमानाभिः प्रत्यबुध्यत राघवः ॥ १० ॥

जब वंदीजनों ने दिव्य स्तुतियाँ कर के, श्रीरामचन्द्र जी को जगाया, तब वे स्तुति किये जाने पर जागे ॥ १० ॥

स तद्विहाय शयनं पाण्डुराच्छादनास्तृतम् ।
उत्तस्थौ नागशयनाद्धरिर्नारायणो यथा ॥ ११ ॥

और अपना स्वच्छ बिछौना छोड़ ऐसे उठ बैठे मानों शेष पर से श्रीमन्नारायण उठे हों ॥ ११ ॥

तमुत्थितं महात्मानं प्रह्वाः प्राञ्जलयो नराः ।
सलिलं भाजनैः शुभ्रैरुपतस्थुः सहस्रशः ॥ १२ ॥

उस समय हज़ारों नौकर चाकर नम्रभाव से हाथ जोड़े खड़े थे और कितने ही स्वच्छपात्रों में जल भरे हुए खड़े थे ॥ १२ ॥

कृतोदकः शुचिर्भूत्वा काले हुतहुताशनः ।
देवागारं जगामाशु पुण्यमिक्ष्वाकुसेवितम् ॥ १३ ॥

उस जल से महाराज ने नित्य कृत्य किये । तदनन्तर पवित्र हो अग्नि में हवन किया । फिर वे उस देवालय में पधारे, जहाँ समस्त इक्ष्वाकुवंशीय जाया करते थे ॥ १३ ॥

[नोट—इस श्लोक में देवागार शब्द आने से मूर्तिपूजा का उस काल में प्रचलन पाया जाता है ।]

तत्र देवान्पितॄन्विप्रानर्चयित्वा यथाविधि ।
बाह्यकक्षान्तरं रामो निर्जगाम जनैर्वृतः ॥ १४ ॥

वहाँ देवता, पितर, और ब्राह्मणों का यथोचित अथवा विधिवत् पूजन कर, वे साथियों को साथ लिये हुए, बाहर के चौक में (या ड्योढ़ी पर) गये ॥ १४ ॥

उपतस्थुर्महात्मानो मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ १५ ॥

क्षत्रियाश्च महात्मानो नाना जनपदेश्वराः ।
रामस्योपाविशन् पार्श्वे शक्रस्येव यथामराः ॥१६॥

वहाँ पर महात्मा मंत्रिगण तथा वशिष्ठादि अग्नितुल्य तेजस्वी पुरोहित एवं देशदेशान्तरों के राजा रईस, श्रीरामचन्द्र जी के पास उसी प्रकार आकर उपस्थित हुए ; जिस प्रकार इन्द्र के पास देवता आते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

भरतो लक्ष्मणश्चात्र शत्रुघ्नश्च महायशाः ।
उपासांचक्रिरे हृष्टा वेदास्त्रय इवाध्वरम् ॥ १७ ॥

महायशस्वी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी श्रीरामचन्द्र जी की सेवा में वैसे ही तत्पर थे, जैसे तीनों वेद (ऋग्, यजु और साम) यज्ञ में उपस्थित रहते हैं ॥ १७ ॥

याताः प्राञ्जलयो भूत्वा किङ्करा मुदिताननाः ।
मुदिता नाम पार्श्वस्था बहवः समुपाविशन् ॥ १८ ॥

हर्षित और प्रसन्नवदन सेवक लोग हाथ जोड़े महाराज श्रीरामचन्द्र जी की सेवा के लिये बगल में आ खड़े हुए ॥ १८ ॥

वानराश्च महावीर्या विंशतिः कामरूपिणः ।
सुग्रीवप्रमुखा राममुपासन्ते महौजसः ॥ १९ ॥

महापराक्रमी और इच्छानुसार रूप धारण कर लेने वाले सुग्रीवादि* बीस वानर श्रीरामचन्द्र जी के निकट आ बैठे ॥ १९ ॥

---

* कतकटीकाकार के मतानुसार बीस मुख्य वानरों के नाम ये हैं !—

१ सुग्रीव, २ अंगद, ३ हनुमान, ४ जाम्बवान, ५ सुषेण, ६ तार, ७ नील, ८ नल, ९ मैंद, १० द्विविद, ११ कुमुद, १२ शरभ, १३ शतबलि, १४ गन्धमादन, १५ गज, १६ गवाक्ष, १७ गवय, १८ धूम्र, १९ रम्भ, २० ज्योतिमुंख ।

विभीषणश्च रक्षोभिश्चतुर्भिः परिवारितः ।
उपासते महात्मानं धनेशमिव गुह्यकः ॥ २० ॥

फिर चार राक्षसों के साथ श्रीमान् विभीषण भी वहीं आ बैठे, मानों कुबेर के पास गुह्यक लोग बैठे हों ॥ २० ॥

तथा निगमवृद्धाश्च कुलीना ये च मानवाः ।
शिरसा वन्द्य राजानमुपासन्ते विचक्षणाः ॥ २१ ॥

तदनन्तर (नगर के बड़े बड़े) सेठ साहूकार, वृद्धजन और कुलीनजन आये। वे महाराज को झुक झुक कर प्रणाम कर के, यथोचित स्थानों पर बैठ गये ॥ २१ ॥

तथा परिवृतो राजा श्रीमद्भिर्ऋषिभिर्वरैः ।
राजभिश्च महावीर्यैर्वानरैश्च सराक्षसैः ॥ २२ ॥

यथा देवेश्वरो नित्यमृषिभिः समुपास्यते ।
अधिकस्तेन रूपेण सहस्राक्षाद्विरोचते ॥ २३ ॥

उस समय श्रीमान् ऋषियों, महापराक्रमी राजाओं, वानरों और राक्षसों के बीच बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी, वैसे ही शोभायमान हुए ; जैसे ऋषियों द्वारा सदा इन्द्र शोभायमान हुआ करते हैं । इतना ही नहीं ; बल्कि उस समय श्रीरामचन्द्र जी की शोभा इन्द्र से भी बढ़ कर देख पड़ती थी ॥ २२ ॥ २३ ॥

तेषां समुपविष्टानां तास्ताः सुमधुराः कथाः ।
कथ्यन्ते धर्मसंयुक्ताः पुराणज्ञैर्महात्मभिः ॥ २४ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

उस समय पुराणवेत्ता महात्मा लोग वहाँ उपस्थित जनों को कर्णमधुर धर्मकथाएँ सुनाने लगे ॥ २४ ॥

उत्तरकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

[नोट—अधिकमतानुसार आगे के पांच सर्ग प्रक्षिप्त हैं। क्योंकि पूर्वसर्ग में अगस्त्य का विदा होना लिख कर भी, पुनः उनके साथ, आगे के सर्गों में, श्रीरामचन्द्र जी का कथोपकथन होना असङ्गत है । कई एक टीकाकारों ने इन सर्गों पर व्याख्या भी नहीं की ।]

—※—

प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः

—:०:—

एतच्छ्रुत्वा तु निखिलं राघवोऽगस्त्यमब्रवीत् ।
य एषर्क्षरजानाम वालिसुग्रीवयोः पिता ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी यह समस्त वृत्तान्त सुन कर, फिर भी अगस्त्य जी से बोले—हे भगवन्! आपने वालि एवं सुग्रीव के पिता का नाम तो ऋक्षराज बतलाया ॥ १ ॥

जननी का च भवनं सा त्वया परिकीर्तिता ।
वालिसुग्रीवयोश्चापि नामनी केन हेतुना ॥ २ ॥

अब आप बतलावें कि, इनकी माता का नाम क्या था? वे कहाँ की रहने वाली थीं? और यह भी बतलाइये कि, इनके वालि और सुग्रीव नाम पड़ने का कारण क्या है? ॥ २ ॥

एतद्ब्रह्मन्समाचक्ष्व कौतूहलमिदं हि नः ।
स प्रोक्तो राघवेणैवमगस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥

ये सब बातें आप मुझे समझा कर बतलाइये। क्योंकि ये सब बातें जानने के लिये मुझे बड़ा कौतूहल है। श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कहने पर अगस्त्य जी कहने लगे ॥ ३ ॥

शृणु राम कथामेतां यथापूर्वं समासतः ।
नारदः कथयामास ममाश्रममुपागतः ॥ ४ ॥

हे राम! पूर्वकाल में नारद जी ने मेरे आश्रम में पधार कर, जैसा मुझसे कहा था, वैसा ही मैं आपसे संक्षेप में कहता हूँ। सुनिये ॥ ४ ॥

कदाचिदटमानोऽसावतिथित्वमुपागतः ।
अर्चितस्तु यथान्यायं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ५ ॥

एक दिन घूमते घामते धर्मात्मा नारद जी मेरे आश्रम में आ मेरे अतिथि हुए। मैंने उनका यथाविधि सत्कार किया ॥ ५ ॥

सुखासीनः कथामेतां मया पृष्टः स कौतुकात् ।
कथयामास धर्मात्मा महर्षे श्रूयतामिति ॥ ६ ॥

जब वे सुख से आसन पर विराजमान हो गये; तब मैंने कौतूहलवश उनसे यही बात पूँछी थी। (मेरे पूँछने पर) उन धर्मात्मा ने कहा, हे महर्षे! सुनो ॥ ६ ॥

मेरुर्नगवरः श्रीमञ्जाम्बूनदमयः शुभः ।
तस्य यन्मध्यमं शृङ्गं सर्वदैवतपूजितम् ॥ ७ ॥

मेरु नाम का एक पहाड़ है, जो पर्वतों में श्रेष्ठ एवं सुन्दर है। वह सुवर्णमय है और सुन्दरता की तो वह खानि ही है। इसके बीच वाले शृङ्ग को देवता बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं ॥ ७ ॥

तस्मिन्दिव्या सभा रम्या ब्रह्मणः शतयोजना ।
तस्यामास्ते सदा देवः पद्मयोनिश्चतुर्मुखः ॥ ८ ॥

क्योंकि उसी शिखर पर ब्रह्मा जी का शतयोजन विस्तीर्ण रमणीय दिव्य सभाभवन बना हुआ है। चतुर्मुख ब्रह्मा जी, उसीमें सदा विराजमान रहते हैं ॥ ८ ॥

योगमभ्यसतस्तस्य नेत्राभ्यां यदस्रुस्रुवत् ।
तद्गृहीतं भगवता पाणिना चर्चितं तु तत् ॥ ९ ॥

एक दिन वे वहाँ बैठे बैठे योगाभ्यास कर रहे थे कि, उनके नेत्रों से अश्रुविन्दु निकल पड़े। ब्रह्मा जी ने उन अश्रुविन्दुओं को हाथ से पोंछ कर, ॥ ९ ॥

निक्षिप्तमात्रं तद्भूमौ ब्रह्मणा लोककर्तृणा ।
तस्मिन्नश्रुकणे राम वानरः सम्बभूव ह ॥ १० ॥

पृथिवी पर फेंक दिया। लोककर्त्ता ब्रह्मा के हाथ से उन अश्रुविन्दुओं के पृथिवी पर गिरते ही, एक वानर उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥

उत्पन्नमात्रस्तु तदा वानरश्च नरोत्तम ।
समाश्वास्य प्रियैर्वाक्यैरुक्तः किल महात्मना ॥ ११ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! उस वानर के उत्पन्न होते ही महात्मा पितामह ब्रह्मा जी ने प्रियवाक्यों से उसे समझाया और उससे कहा ॥ ११ ॥

पश्य शैलं सुविस्तीर्णं सुरैरध्युषितं सदा ।
तस्मिन् रम्ये गिरिवरे वहुमूलफलाशनः ॥ १२ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! देखो, इस वहुविस्तृत पर्वत पर देवतागण रहा करते हैं। तुम इस रम्य पर्वतश्रेष्ठ पर अनेक फल मूल खा कर, ॥ १२ ॥

ममान्तिकचरो नित्यं भव वानरपुङ्गव ।
कश्चित्कालमिहास्व त्वं ततः श्रेयो भविष्यति ॥१३॥

सदैव मेरे पास रहा करो। कुछ दिनों यहाँ रहने से तुम्हारा कल्याण होगा ॥ १३ ॥

एवमुक्तः स चैतेन ब्रह्मणा वानरो मः ।
प्रणम्य शिरसा पादौ देवदेवस्य राघव ॥ १४ ॥

हे राम ! जब ब्रह्मा जी ने उस वानर से इस प्रकार कहा, तब उस वानरश्रेष्ठ ने सीस नवा, उन देवदेव ब्रह्मदेव के चरणों को प्रणाम किया ॥ १४ ॥

उक्तवाँल्लोककर्तारमादिदेवं जगत्पतिम् ।
यथाज्ञापयसे देव स्थितोऽहं तव शासने ॥ १५ ॥

और आदिदेव जगत्पति लोककर्त्ता ब्रह्मा जी से कहा—हे देव ! आप जैसी आज्ञा देते हैं; मैं वैसा ही करूँगा। मैं आपके आज्ञाधीन रहूँगा ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा हरिर्देवं ययौ हृष्टमनास्तदा ।
स तदा द्रुमखण्डेषु फलपुष्पघनेषु च ॥ १६ ॥

ब्रह्मन्मतिबलः शीघ्रं वने फलकृताशनः ।
चिन्वन्मधूनि मुख्यानि चिन्वन्पुष्पाण्यनेकशः ॥ १७ ॥

इस प्रकार ब्रह्मा जी से कह कर, वह वानर प्रसन्नतापूर्वक, फलफूलों से भरे पूरे वनों में जा और वहाँ चुन चुन कर मीठे फल-फूलों को खा खा कर शीघ्र ब्रह्मा जी के (अथवा देवताओं के) समान बलवान हो गया ॥ १६ ॥ १७ ॥

दिनेदिने च सायाह्ने ब्रह्मणोऽन्तिकमागमत् ।
गृहीत्वा राम मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ॥१८॥

वह वानर प्रतिदिन सन्ध्या के समय ब्रह्मा जी के पास आ जाया करता था। हे राम! इस प्रकार वह उत्तम फल फूल ला कर ॥१८॥

ब्रह्मणो देवदेवस्य पादमूले न्यवेदयत् ।
एवं तस्य गतः कालो बहु पर्यटतो गिरिम् ॥ १९ ॥

देवदेव ब्रह्मा जी के चरणकमलों में चढ़ा दिया करता था। इस प्रकार उस पर्वत पर घूमते फिरते उसे बहुत दिन हो गये ॥१९॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य समतीतस्य राघव ।
ऋक्षराड् वानरश्रेष्ठस्तृषया परिपीडितः ॥ २० ॥

हे राम! तदनन्तर कुछ काल बीतने पर वानरश्रेष्ठ ऋक्षराज प्यास से अत्यन्त विकल हो कर ॥ २० ॥

उत्तरं मेरुशिखरं गतस्तत्र च दृष्टवान् ।
नानाविहगसंघुष्टं प्रसन्नसलिलं सरः ॥ २१ ॥

मेरुपर्वत के उत्तर शिखर पर चला गया। वहाँ से उसने नाना प्रकार के पक्षियों के शब्दों से गुञ्जायमान और स्वच्छ जल से पूर्ण एक तालाब देखा ॥ २१ ॥

चलत्केसरमात्मानं कृत्वा तस्य तटे स्थितः ।
ददर्श तस्मिन्सरसि वक्त्रच्छायामथात्मनः ॥ २२ ॥

तब वह हर्षित हो और अपनी गर्दन के बालों को हिलाता हुआ उसके किनारे पर चला गया। उस समय दैववश उसे पानी में अपने मुख की परछाईं देख पड़ी ॥ २२ ॥

कोऽयमस्मिन्मम रिपुर्वसत्यन्तर्जले महान्।
रूपं चान्तर्गतं तत्र वीक्ष्य तत्पश्यतो हरिः ॥ २३ ॥

उसे (अपने मुख की परछाँई को) देख, वह सोचने लगा कि, इस पानी में यह मेरा बड़ा शत्रु बन कर कौन रहता है। इस प्रकार वानरश्रेष्ठ ने जल में वह रूप देख कर ॥ २३ ॥

क्रोधाविष्टमना ह्येष नियतं मावमन्यते।
तदस्य दुष्टभावस्य पुष्कलं कुमतेर्गृहम् ॥ २४ ॥

मन ही मन कहा कि, यह क्रुद्ध सा रह कर, मेरा सदा अपमान किया करता है। अतः इस दुरात्मा दुष्ट का यह सुन्दर भवन मैं नष्ट कर डालूँगा ॥ २४ ॥

एवं सचिन्त्य मनसा स वै वानरचापलात्।
आप्लुत्य चापतत्तस्मिन् ह्रदे वानरसत्तमः ॥ २५ ॥

मन ही मन इस प्रकार का ठान ठान कर, वह वानर चञ्चलता-वश छलांग मार उस तालाब में कूद पड़ा ॥ २५ ॥

उत्प्लुत्य तस्मात्स ह्रदादुत्थितः प्लवगः पुनः।
तस्मिन्नेव क्षणे राम स्त्रीत्वं प्राप स वानरः ॥ २६ ॥

फिर एक छलांग मार कर उस तालाब के बाहर निकल आया। हे राम! उस तालाब से निकलते ही वह वानर, स्त्री हो गया ॥२६॥

मनोज्ञरूपा सा नारी लावण्यललिता शुभा।
विस्तीर्णजघना सुभ्रूर्नीलकुन्तलमूर्धजा ॥ २७ ॥
मुग्धसस्मितवक्त्रा च पीनस्तनतटा शुभा।
ह्रदतीरे च सा भाति ऋजुयष्टिर्लता यथा ॥ २८ ॥

वह स्त्री बड़ी लावण्यवती थी। मोटी मोटी दो उसकी जंघाएँ थीं और सुन्दर दोनों भौंहें थीं। उसके बाल काले और घुँघराले थे तथा उसका हँसमुख मनोहर चेहरा था। उसके कुचयुगल मोटे थे। वह बड़ी रूपवती थी और बड़ी अच्छी मालूम पड़ती थी। उस तालाब के किनारे वह एक सीधी एवं लंबी लता की तरह, देख पड़ती थी ॥ २७ ॥ २८ ॥

त्रैलोक्यसुन्दरी कान्ता सर्वचित्तप्रमाथिनी ।
लक्ष्मीव पद्मरहिता चन्द्रज्योत्स्नेव निर्मला ॥ २९ ॥

त्रिलोकसुन्दरी यह रमणी सब के चित्त को मोहित करने वाली, कमलरहित लक्ष्मी के समान अथवा चन्द्रमा की चाँदनी के समान निर्मल जान पड़ती थी ॥ २९ ॥

रूपेणाप्यभवत्सा तु श्रियं देवीमुमा यथा ।
द्योतयन्ती दिशः सर्वास्तथाभूत्सा वराङ्गना ॥ ३० ॥

अथवा लक्ष्मी पार्वती के समान वह सुन्दरी थी। वह वरांगना, उस तालाब के तीर पर खड़ी खड़ी अपनी प्रभा से समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रही थी ॥ ३० ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवो निवृत्तः सुरनायकः ।
पादावुपास्य देवस्य ब्रह्मणस्तेन वै पथा ॥ ३१ ॥

इतने में ब्रह्मा जी को प्रणाम कर, सुरनायक इन्द्र उसी ओर से निकले ॥ ३१ ॥

तस्यामेव च वेलायामादित्योऽपि परिभ्रमन् ।
तस्मिन्नेव पदे सोऽभूद्यस्मिन्सा तनुमध्यमा ॥ ३२ ॥

साथ ही घूमते हुए श्रीसूर्यदेव भी वहीं जा पहुँचे, जहाँ वह पतली कमर वाली सुन्दरी वामा खड़ी थी ॥ ३२ ॥

युगपत्सा तदा दृष्टा देवाभ्यां सुरसुन्दरी ।
कन्दर्पवशगौ तौ तु दृष्ट्वा तां सम्बभूवतुः ॥ ३३ ॥

उस समय वह सुन्दरी दो देवताओं की दृष्टि में पड़ी और वे दोनों उसे देखते ही कामातुर हो गये ॥ ३३ ॥

ततः क्षुभितसर्वाङ्गौ सुरेन्द्रौ पन्नगाविव ।
तद्रूपमद्भुतं दृष्ट्वा त्याजितौ धैर्यमात्मनः ॥ ३४ ॥

उसका अद्भुत रूप निहार कर, उन दोनों देवताश्रेष्ठों का धैर्य जाता रहा। दोनों देवताओं के समस्त अंग विकल हो गये और वे साँप की तरह तड़फड़ाने लगे ॥ ३४ ॥

ततस्तस्यां सुरेन्द्रेण स्कन्नं शिरसि पातितम् ।
अनासाद्यैव तां नारीं सन्निवृत्तमथाभवत् ॥ ३५ ॥

उस स्त्री के समीप न पहुँच पाने के पूर्व ही इन्द्र का वीर्य निकल पड़ा और वह उस सुन्दरी के सिर (के बालों) पर गिरा ॥ ३५ ॥

ततः सा वानरपतिं जज्ञे वानरमीश्वरम् ।
अमोघरेतसस्तस्य वासवस्य महात्मनः ॥ ३६ ॥

किन्तु इन्द्र का वह वीर्य अमोघ (कभी निष्फल जाने वाला न) था, अतः निष्फल कैसे जाता। अतः उससे जो वानरश्रेष्ठ उत्पन्न हुआ वह वानरों का राजा हुआ ॥ ३६ ॥

वालेषु पतितं बीजं वाली नाम बभूव सः ।
भास्करेणापि तस्यां वै कन्दर्पवशवर्तिना ॥ ३७ ॥

स्त्री के बालों पर इन्द्र का वीर्य गिरने और उससे उत्पन्न होने के कारण, उस बालक का नाम वालि पड़ा। इसी बीच में सूर्य ने कामातुर हो ॥ ३७ ॥

वीजं निषिक्तं ग्रीवायां विधानमनुवर्तत।
तेनापि सा वरतनुर्नोक्ता किञ्चिद्वचः शुभम् ॥ ३८ ॥

उस स्त्री की गर्दन पर अपना वीर्य डाला, परन्तु उस सुन्दरी स्त्री ने ऐसा होने पर भी कुछ भी शुभ वचन न कहे ॥ ३८ ॥

निवृत्तमदनश्चाथ सूर्योऽपि समपद्यत।
ग्रीवायां पतितं वीजं सुग्रीवः समजायत ॥ ३९ ॥

सूर्य काम की पीड़ा से मुक्त हुए और गरदन पर गिरे हुए वीर्य से सुग्रीव की उत्पत्ति हुई ॥ ३९ ॥

एवमुत्पाद्य तौ वीरौ वानरेन्द्रौ महावलौ।
दत्त्वा तु काञ्चनीं मालां वानरेन्द्रस्य वालिनः ॥ ४० ॥

इस प्रकार महावली वालि को उत्पन्न कर और उसको काञ्चन की माला दे ॥ ४० ॥

अक्षय्यां गुणसम्पूर्णां शक्रस्तु त्रिदिवं ययौ।
सूर्योऽपि स्वसुतस्यैव निरूप्य पवनात्मजम् ॥ ४१ ॥

इन्द्र स्वर्ग को चले गये। यह माला सर्वगुणसम्पन्न और कभी नष्ट न होने वाली थी। सूर्यनारायण भी इस प्रकार महावली वीर सुग्रीव को उत्पन्न कर और पवननन्दन हनुमान को ॥ ४१ ॥

कृत्येषु व्यवसायेषु जगाम सविताम्बरम्।
तस्यां निशायां व्युष्टायामुदिते च दिवाकरे ॥ ४२ ॥

अपने पुत्र के कार्यों और व्यवसाय में नियुक्त कर, आकाशमार्ग में हो कर, चले गये। हे राजन्! उस रात के वीत जाने और सूर्य के उदय होने पर ॥ ४२ ॥

स तद्वानररूपं तु प्रतिपेदे पुनर्नृप ।
स एव वानरो भूत्वा पुत्रौ स्वस्य प्लवङ्गमौ ॥ ४३ ॥

हे नृप ! ऋक्षराज पुनः वानर के वानर हो गये । इस प्रकार यह वानर ऋक्षराज अपने दो वानरपुत्रों को ॥ ४३ ॥

पिङ्गेक्षणौ हरिवरौ बलिनौ कामरूपिणौ ।
मधून्यमृतकल्पानि पायितौ तेन तौ तदा ॥ ४४ ॥

जिनके नेत्र पीले थे और जो महाबली एवं इच्छानुसार रूप धारण करने वाले थे, अमृत की समान मधु पिलाने लगे ॥ ४४ ॥

गृह्य ऋक्षरजास्तौ तु ब्रह्मणोऽन्तिकमागमत् ।
दृष्ट्वर्क्षरजसं पुत्रं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ४५ ॥

पुनः वानर हो कर ऋक्षराज अपने उन दो वानरपुत्रों को ले कर ब्रह्मा जी के निकट गये । लोकपितामह ब्रह्मा जी ने भी अपने पुत्र ऋक्षराज को देख ॥ ४५ ॥

बहुशः सान्त्वयामास पुत्राभ्यां सहितं हरिम् ।
सान्त्वयित्वा ततः पश्चाद्देवदूतमथादिशत् ॥ ४६ ॥

दोनों बच्चों को अपने साथ लिये हुए ऋक्षराज को ब्रह्मा जी ने अनेक प्रकार समझा बुझा कर देवदूत को यह आज्ञा दी ॥ ४६ ॥

गच्छ मद्वचनाद्दूत किष्किन्धां नाम वै शुभाम् ।
सा ह्यस्य गुणसम्पन्ना महती च पुरी शुभा ॥ ४७ ॥

कि, हे दूत ! मेरी आज्ञा से तुम ऋक्षराज को साथ ले कर परम सुन्दर नगरी किष्किन्धा में जाओ। उस पुरी में सब प्रकार की सुविधा है और वह इनके रहने योग्य है ॥ ४७ ॥

तत्र वानरयूथानि सुबहूनि वसन्ति च ।
बहुरत्नसमाकीर्णा वानरैः कामरूपिभिः ॥ ४८ ॥

वहाँ पर अनेक वानर यूथ रहते हैं। उसमें और भी कामरूपी वानर वास करते हैं ॥ ४८ ॥

पुण्या पण्यवती दुर्गा चातुर्वर्ण्यपुरस्कृता ।
विश्वकर्मकृता दिव्या मन्नियोगाच्च शोभना ॥ ४९ ॥

वह अनेक रत्नों से भरी पुरी है और दुर्गम है। चारों वर्ण के लोग उसमें रहते हैं। वह शुद्ध है, सुन्दर है और व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। अथवा उसमें दूकानें भी हैं। मेरी आज्ञा से विश्वकर्मा ने उसकी रचना की है ॥ ४९ ॥

तत्रर्क्षरजसं दृष्ट्वा सपुत्रं वानरर्षभम् ।
यूथपालान्समाहाय यांश्चान्यान्प्राकृतान्हरीन् ॥५०॥

तुम उसी पुरी में ऋक्षराज को इनके पुत्रों के सहित बसा आओ। तुम यूथपति वानरों तथा अन्य साधारण वानरों को एकत्र कर ॥ ५० ॥

तेषां सम्भाव्य सर्वेषां मदीयं जनसंसदि ।
अभिषेचय राजानमारोप्य महदासने ॥ ५१ ॥

और उनका आदर मान कर सभा के बीच इन्हें राजसिंहासन पर बैठा कर, इनके राजतिलक कर देना ॥ ५१ ॥

दृष्टमात्राश्च ते सर्वे वानरेण च धीमता ।
अस्यर्क्षरजसो नित्यं भविष्यन्ति वशानुगाः ॥ ५२ ॥

इन बुद्धिमान वानरश्रेष्ठ को देखते ही वे सब वानर सदा के लिये इनके वश में हो, इनके अनुचर हो जायँगे ॥ ५२ ॥

इत्येवमुक्ते वचने ब्रह्मणा तं हरीश्वरम् ।
पुरतः कृत्य दूतोऽसौ प्रययौ तां पुरीं शुभाम् ॥ ५३ ॥

ब्रह्मा की आज्ञा पा कर, ऋक्षरजा को अपने साथ ले वह देव-दूत परम रम्य किष्किन्धापुरी को गया ॥ ५३ ॥

स प्रविश्यानिलगतिस्तां गुहां वानरोत्तमः ।
स्थापयामास राजानं पितामहनियोगतः ॥ ५४ ॥

वह दूत पवन के समान वेग से पर्वत की घाटी में बसी हुई किष्किन्धा नगरी में पहुँचा और ब्रह्मा जी की आज्ञा के अनुसार उनको राजसिंहासन पर बैठा दिया ॥ ५४ ॥

राज्याभिषेकविधिना स्नातोऽथाभ्यर्चितस्तथा ।
स बद्धमुकुटः श्रीमानभिषिक्तः स्वलंकृतः ॥ ५५ ॥

श्रीमान ऋक्षरजा राज्याभिषेक की विधि के अनुसार स्नान कर, सिर पर मुकुट धारण कर तथा उत्तम गहने पहन राजसिंहासन पर बैठे ॥ ५५ ॥

आज्ञापयामास हरीन्सर्वान्मुदितमानसः ।
सप्तद्वीपसमुद्रायां पृथिव्यां ये प्लवङ्गमाः ॥ ५६ ॥

ऋक्षरजा सब प्रकार से सम्मानित हो हर्षित चित्त से समुद्र सहित सप्तद्वीपमयी पृथिवी पर जितने वानर थे, उन सब पर शासन करने लगे ॥ ५६ ॥

वालिसुग्रीवयोरेष एष चर्क्षरजः पिता ।
जननी चैष तु हरिरित्येतद्भद्रमस्तु ते ॥ ५७ ॥

यह ऋक्षरजा ही वालि और सुग्रीव के पिता और यही इनकी माता थे। बस यही इनका वृत्तान्त है। तुम्हारा मङ्गल हो ॥ ५७ ॥

यश्चैतच्छ्रावयेद्विद्वान्यश्चैतच्छृणुयान्नरः।
सिध्यन्ति तस्य कार्यार्था मनसो हर्षवर्धनाः ॥ ५८ ॥

जो विद्वान् इस वृत्तान्त को स्वयं सुनता या दूसरों को सुनाता है, उसका मन हर्षित होता है और उसके सब कार्य सिद्ध होते हैं ॥ ५८ ॥

एतच्च सर्वं कथितं मया विभो
अविस्तरेणेह यथार्थतस्तत्।
उत्पत्तिरेषा रजनीचराणाम्
उक्ता तथैवेह हरीश्वराणाम् ॥ ५९ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः ॥

हे प्रभो! राक्षसों और वानरों की उत्पत्ति का वृत्तान्त मैंने आपसे जैसा वास्तव में था, विस्तारपूर्वक कहा ॥ ५९ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त पहिला सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः

—:o:—

एतां श्रुत्वा कथां दिव्यां पौराणीं राघवस्तदा।
भ्रातृभिः सहितो वीरो विस्मयं परमं ययौ ॥ १ ॥

वीर श्रीरामचन्द्र जी इस दिव्य पौराणिक अथवा पुरातन कथा को सुन अपने भाइयों सहित परम विस्मित हुए ॥ १ ॥

राघवोऽथ ऋषेर्वाक्यं श्रुत्वा वचनमब्रवीत्।
कथेयं महती पुण्या त्वत्प्रसादाच्छ्रुता मया ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ऋषि अगस्त्य के वचन सुन बोले कि, आपके अनुग्रह से मैंने यह बड़ी पवित्र अथवा बड़ा पुण्य देने वाली कथा सुनी ॥ २ ॥

बृहत्कौतूहले चास्मिन्संवृत्तो मुनिपुङ्गव ।
उत्पत्तिर्यादृशी दिव्या वालिसुग्रीवयोर्द्विज ॥ ३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! इस वालि एवं सुग्रीव की दिव्य उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी कथा को सुन, बड़ा ही आश्चर्य हुआ है ॥ ३ ॥

किं चित्रं मम ब्रह्मर्षे सुरेन्द्रतपनावुभौ ।
जातौ वानरशार्दूलौ बलेन बलिनां वरौ ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मर्षे ! जब वानरश्रेष्ठ वालि सुरनाथ इन्द्र के और कपि-श्रेष्ठ सुग्रीव भगवान् भुवनभास्कर के पुत्र हैं, तब ये दोनों सर्व-श्रेष्ठ बलवान होंगे ही—इसमें आश्चर्य ही क्या है ॥ ४ ॥

एवमुक्ते तु रामेण कुम्भयोनिरभाषत ।
एवमेतन्महाबाहो वृत्तमासीत्पुरा किल ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन कर, कुम्भसम्भव अगस्त्य जी ने कहा—हे महाबाहो ! सचमुच प्राचीन काल में ऐसा ही हुआ था ॥ ५ ॥

अथापरां कथां दिव्यां शृणु राजन्सनातनीम् ।
यदर्थं राम वैदेही रावणेन पुरा हृता ॥ ६ ॥

हे राजन् ! एक और दिव्य एवं पुरातन इतिहास सुनिये । हे राम ! रावण ने जिस काम के लिये सीता हरी थी ॥ ६ ॥

तत्तेऽहं कीर्तयिष्यामि समाधिं श्रवणे कुरु ।
पुरा कृतयुगे राम प्रजापतिसुतं प्रभुम् ॥ ७ ॥

अब मैं उसी का वर्णन आपसे करता हूँ। आप उसे सावधान हो कर सुनें। हे राम! पूर्वसतयुग में प्रजापति के पुत्र ॥ ७ ॥

सनत्कुमारमासीनं रावणो राक्षसाधिपः।
वपुषा सूर्यसङ्काशं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ८ ॥
विनयावनतो भूत्वा ह्यभिवाद्य कृताञ्जलिः।
उक्तवान् रावणो राम तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ ९ ॥

सूर्य के समान प्रकाशमान शरीरधारी और बड़े सत्यवादी श्रीसनत्कुमार जी से रावण ने विनय पूर्वक एवं हाथ जोड़ और प्रणाम कर कहा ॥ ८ ॥ ९ ॥

को ह्यस्मिन्प्रवरो लोके देवानां बलवत्तरः।
यं समाश्रित्य विबुधा जयन्ति समरे रिपून् ॥ १० ॥

हे भगवन्! इस लोक के समस्त देवताओं में सब से अधिक बलवान और सर्वश्रेष्ठ देवता कौन है; जिसके सहारे देवगण अपने शत्रु को जीत लेते हैं ॥ १० ॥

कं यजन्ति द्विजा नित्यं कं ध्यायन्ति च योगिनः।
एतन्मे शंस भगवन्विस्तरेण तपोधन ॥ ११ ॥

हे भगवन्! ब्राह्मण लोग नित्य किसका पूजन और योगी लोग किसका नित्य ध्यान किया करते हैं? हे तपोधन! यह वृत्तान्त मुझसे विस्तार पूर्वक कहिये ॥ ११ ॥

विदित्वा हृद्गतं तस्य ध्यान दृष्टिर्महायशाः।
उवाच रावणं प्रेम्णा श्रूयतामिति पुत्रक ॥ १२ ॥

महायशस्वी ऋषि सनत्कुमार जी ध्यान द्वारा रावण के मन की बात जान कर, उससे प्रीति पूर्वक बोले—हे वत्स! सुनो ॥ १२ ॥

यो वै भर्ता जगत्कृत्स्नं यस्योत्पत्तिं न विद्महे ।
सुरासुरैर्नतो नित्यं हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ १३ ॥

जो इस सारे जगत का प्रभु है अर्थात् जो सब का भरण पोषण करता है, जिसकी उत्पत्ति का वृत्तान्त मुझे भी नहीं मालूम, और जिसका पूजन क्या सुर और क्या असुर, सभी सदैव किया करते हैं, वह श्रीमन्नारायण स्वामी हैं ॥ १३ ॥

यस्य नाभ्युद्भवो ब्रह्मा विश्वस्य जगतः पतिः ।
येन सर्वमिदं सृष्टं विश्वं स्थावरजङ्गमम् ॥ १४ ॥

उन्हींकी नाभि से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए हैं, वे ही इस संसार के स्वामी हैं। उन्होंने इस स्थावरजङ्गममय संसार की सृष्टि की है ॥ १४ ॥

तं समाश्रित्य विबुधा विधिना हरिमध्वरे ।
पिबंति ह्यमृतं चैव मानिताश्च यजन्ति तम् ॥ १५ ॥

उन्हींके आश्रय में रह कर देवता लोग यज्ञ में विधिवत् अमृतपान करते हैं और सम्मान पाते हैं एवं उन्हीं सर्वेश्वर की सेवा किया करते हैं ॥ १५ ॥

पुराणैश्चैव वेदैश्च पञ्चरात्रैस्तथैव च ।
ध्यायन्ति योगिनो नित्यं क्रतुभिश्च यजन्ति तम् ॥१६॥

वेदों, पुराणों और पञ्चरात्रागमों के अनुसार योगी उनका सदैव ध्यान करते और यज्ञों द्वारा उनको सन्तुष्ट करते हैं ॥ १६ ॥

दैत्यदानवरक्षांसि ये चान्ये चामरद्विपः ।
सर्वाञ्जयति संग्रामे सदा सर्वैः स पूज्यते ॥ १७ ॥

जो दैत्य, दानव और राक्षस हैं तथा जो अन्य जीव देवताओं से वैर किया करते हैं, उन सब को ये ही प्रभु युद्ध में हरा दिया करते हैं और उनके द्वारा वे पूजित भी होते हैं ॥ १७ ॥

श्रुत्वा महर्षेस्तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।
उवाच प्रणतो भूत्वा पुनरेव महामुनिम् ॥ १८ ॥

राक्षसराज रावण, सनत्कुमार के ये वचन सुन कर, उनको प्रणाम कर उनसे फिर यह वचन बोला ॥ १८ ॥

दैत्यदानवरक्षांसि ये हताः समरेऽरयः ।
कां गतिं प्रतिपद्यन्ते किं च ते हरिणा हताः ॥ १९ ॥

हे महर्षे ! जो दैत्य, दानव और राक्षसादि देवताओं के हाथ से मारे जाते हैं और जो भगवान् हरि के हाथ से मारे जाते हैं, उनको कौनसी गति मिलती है ? ॥ १९ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच महामुनिः ।
दैवतैर्निहता नित्यं प्राप्नुवन्ति दिवः स्थलम् ॥ २० ॥
पुनस्तस्मात्परिभ्रष्टा जायन्ते वसुधातले ।
पूर्वार्जितैः सुखैर्दुःखैर्जायन्ते च म्रियन्ति च ॥ २१ ॥

महामुनि सनत्कुमार जी रावण के वचन सुन कर बोले कि, जो देवताओं के हाथ से मारे जाते हैं, उन्हें स्वर्ग में वास प्राप्त होता है, परन्तु जब उनका पुण्य क्षीण हो जाता है तब वे स्वर्ग से भ्रष्ट हो

पृथिवी पर पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार पूर्वजन्म में सञ्चित सुख दुःख अर्थात् पुण्य पाप के द्वारा वे जन्म लेते और मरते हैं ॥ २० ॥ २१ ॥

ये ये हताश्चक्रधरेण राजं-
स्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन।
ते ते गतास्तन्निलयं नरेन्द्राः
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः ॥ २२ ॥

परन्तु हे राजन्! जो चक्रधारी जनार्दन द्वारा मारे जाते हैं, वे श्रेष्ठजन उन्हींके वैकुण्ठधाम में जाते हैं, अतः उन देवेशनारायण का क्रोध भी वरदान ही के तुल्य है ॥ २२ ॥

श्रुत्वा ततस्तद्वचनं निशाचरः
सनत्कुमारस्य मुखाद्विनिर्गतम्।
तथा प्रहृष्टः स बभूव विस्मितः
कथं नुयास्यामि हरिं महाहवे ॥ २३ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः ॥

राक्षस दशग्रीव सनत्कुमार के इन वचनों को सुन हर्षित एवं विस्मित हो सोचने लगा कि, मेरा और उन हरि का युद्ध किस प्रकार हो ॥ २३ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः

—:o:—

एवं चिन्तयतस्तस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
पुनरेवापरं वाक्यं व्याजहार महामुनिः ॥ १ ॥

जब वह दुष्ट रावण इस प्रकार मन ही मन चिन्ता करने लगा; तब महर्षि सनत्कुमार जी ने फिर कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

मनसश्चेप्सितं यत्तद्भविष्यति महाहवे ।
सुखी भव महाबाहो कञ्चित्कालमुदीक्षय ॥ २ ॥

हे महाबाहो ! जो तुम्हारे मन में इच्छा है वह समर में अवश्य पूरी होगी । तुम सुखी रहो ; (किन्तु अपनी अभीष्ट सिद्ध के लिये) कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करो ॥ २ ॥

एवं श्रुत्वा महाबाहुस्तमृषिं प्रत्युवाच सः ।
कीदृशं लक्षणं तस्य ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ ३ ॥

महर्षि के ये वचन सुन, महावीर रावण उनसे कहने लगा —उनकी पहचान क्या है ? सो आप मुझसे विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ३ ॥

राक्षसेशवचः श्रुत्वा स मुनिः प्रत्यभाषत ।
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये तव राक्षसपुङ्गव ॥ ४ ॥

महामुनि सनत्कुमार जी राक्षसराज के वचन सुन कर बोले—हे राक्षसनाथ ! सुनो मैं तुमसे सब बातें कहता हूँ ॥ ४ ॥

स हि सर्वगतो देवः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः
तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ५ ॥

वे सनातनदेव, अव्यक्त हैं, सूक्ष्म हैं और सर्वव्यापक हैं। वे इस स्थावरजङ्गममय सारे जगत में व्याप्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

स भूमौ दिवि पाताले पर्वतेषु वनेषु च ।
स्थावरेषु च सर्वेषु नदीषु नगरीषु च ॥ ६ ॥

वे भूमि, स्वर्ग, पाताल, वनों, पर्वतों, समस्त स्थावरों, नदियों और नगरों में (सत्तारूप से) सदैव विद्यमान रहते हैं ॥ ६ ॥

ओंकारश्चैव सत्यश्च सावित्री पृथिवी च सः ।
धराधरधरो देवो ह्यनन्त इति विश्रुतः ॥ ७ ॥

वे ओंकारस्वरूप एवं सावित्री स्वरूप हैं और वे ही इस पृथिवी को एवं पर्वतों को धारण किये हुए हैं। वे ही धरणीधर अनन्त के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ ७ ॥

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
दिवाकरश्चैव यमश्च सोमः ।
स एव कालो ह्यनिलोऽनलश्च
स ब्रह्मरुद्रेन्द्र स एव चापः ॥ ८ ॥

वे ही दिन, वे ही रात, वे ही दोनों सन्ध्या काल, वे ही सूर्य, वे ही चन्द्र, वे ही यम, वे ही काल, वे ही पवन, वे ही अनल, वे ही ब्रह्मा, वे ही रुद्र, वे ही इन्द्र और वे ही जल हैं ॥ ८ ॥

विद्योतति ज्वलति भाति च पातिलोकान्
सृजत्ययं संहरति प्रशास्ति ।

क्रीडां करोत्यव्ययलोकनाथो
विष्णुः पुराणो भवनाशकैकः ॥ ९ ॥

वे ही प्रकाशमान हो कर ज्वाला रूपी शोभा को धारण करते हैं। वे ही लोकों को बनाते, वे ही संहार करते और वे ही शासन करते हैं। उन्होंका यह संसार क्रीड़ास्थल है, वे ही विष्णु, वे ही पुराणपुरुष और वे ही एक मात्र (यावत् समस्त दृश्य अदृश्य पदार्थों के) नाशकर्त्ता हैं ॥ ९ ॥

अथवा बहुनाऽनेन किमुक्तेन दशानन ।
तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १० ॥

हे दशानन! अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है; वे ही चराचरमय तीनों लोकों में व्याप्त हैं ॥ १० ॥

नीलोत्पलदलश्यामः किञ्जल्कारुणवाससा ।
प्रावृट्काले यथा व्योम्नि सतडित्तोयदो यथा ॥ ११ ॥

उनका वर्ण नीले कमल की तरह श्याम है। कमल की पीली केसर जैसे रंग के वस्त्र से वे ऐसे शोभित जान पड़ते हैं, जैसे वर्षा ऋतु में बिजली से युक्त मेघ सुहावने लगते हैं ॥ ११ ॥

श्रीमान्मेघवपुः श्यामः शुभः पङ्कजलोचनः ।
श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्ककृतलक्षणः ॥ १२ ॥

इस प्रकार वे मेघ के समान श्याम, कमललोचन, वक्षःस्थल पर श्रीवत्सचिन्ह धारण किये हुए, चन्द्रमा की तरह लोचनानन्द-दायी हैं ॥ १२ ॥

तस्य नित्यं शरीरस्था मेघस्येव शतह्रदाः ।
संग्रामरूपिणो लक्ष्मीर्देहमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

जिस प्रकार बिजली सदा मेघ में बनी रहती है, उसी प्रकार संग्रामरूपिणी श्री उनके शरीर में स्थान किये हुए सदा उनके शरीर को ढके रहती है ॥ १३ ॥

न शक्यः स सुरैर्द्रष्टुं नासुरैर्न च पन्नगैः ।
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति ॥ १४ ॥

क्या देवता, क्या असुर और क्या नाग—किसीमें यह शक्ति नहीं कि, उनके कोई दर्शन कर सके। किन्तु उनकी जिसके ऊपर कृपा होती है, वही उनके दर्शन पा सकता है ॥ १४ ॥

न हि यज्ञफलैस्तात न तपोभिस्तु सञ्चितैः ।
शक्यते भगवान्द्रष्टुं न दानेन न चेज्यया ॥ १५ ॥
तद्भक्तैस्तद्गतप्राणैस्तच्चित्तैस्तत्परायणैः ।
शक्यते भगवान्द्रष्टुं ज्ञाननिर्दग्धकिल्बिषैः ॥१६॥

हे तात! यदि कोई चाहे कि मैं यज्ञ कर के, अथवा तप कर के, अथवा संयम कर के, अथवा विविध प्रकार के दानों को दे कर के, अथवा होम कर के उनके दर्शन करूँ; तो वह इन कर्म्मों से भी उनके दर्शन नहीं पा सकता। उनको तो उनके वे भक्त ही देख सकते हैं, जिनके प्राण और जिनका मन उनमें (अनन्य भाव से) लगा हुआ है, जिनकी वे ही गति हैं और जिनके समस्त पाप ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुके हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

अथवा पृच्छ्य रक्षेन्द्र यदि तं द्रष्टुमिच्छसि ।
कथयिष्यामि ते सर्वं श्रूयतां यदि रोचते ॥ १७ ॥

यदि तुम उनके दर्शन करना चाहते हो तो मैं कहता हूँ। यदि सुनने की इच्छा हो तो सुनो ॥ १७ ॥

कृते युगे व्यतीते वै मुखे त्रेतायुगस्य तु ।
हितार्थं देवमर्त्यानां भविता नृपविग्रहः ॥ १८ ॥

सतयुग बीतने और त्रेतायुग के आरम्भ होने पर देवताओं और मनुष्यों के हितार्थ वे राजा के रूप में अवतरेंगे ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकूणां च यो राजा भाव्यो दशरथो भुवि ।
तस्य सूनुर्महातेजा रामो नाम भविष्यति ॥ १९ ॥

इस भूमण्डल पर इक्ष्वाकुवंश में दशरथ नाम के एक राजा होंगे । उनके श्रीरामचन्द्र नाम का एक महातेजस्वी पुत्र जन्मेगा ॥ १९ ॥

महातेजा महाबुद्धिर्महाबलपराक्रमः ।
महाबाहुर्महासत्वः क्षमया पृथिवीसमः ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जी बड़े बुद्धिमान, महाबलवान, महापराक्रमी, महाबाहु, महासत्व और सहनशीलता में पृथिवी के समान होंगे ॥ २० ॥

आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरे शत्रुभिस्तदा ।
भविता हि तदा रामो नरोनारायणः प्रभुः ॥ २१ ॥

जैसे सूर्य की ओर कोई नहीं देख सकता, वैसे ही उनके शत्रु लोग भी उनकी ओर आँख उठा कर देख तक न सकेंगे । इस प्रकार वे श्रीमन्नारायण स्वामी, श्रीरामचन्द्र का रूप धारण कर इस धराधाम पर अवतीर्ण होंगे ॥ २१ ॥

पितुर्नियोगात्स विभुर्दण्डके विविधे वने ।
विचरिष्यति धर्मात्मा भ्रात्रा सह महामनाः ॥ २२ ॥

वे महामना, विभु, धर्मात्मा, श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता की आज्ञा मान, अपने भाई के सहित दण्डकादि अनेक वनों में घूमेंगे ॥ २२ ॥

तस्य पत्नी महाभागा लक्ष्मीः सीतेति विश्रुता ।
दुहिता जनकस्यैषा उत्थिता वसुधातलात् ॥ २३ ॥

उनकी स्त्री महाभागा लक्ष्मी जी सीता नाम से प्रसिद्ध होंगी। वे महाराज जनक की पुत्री पृथिवी से निकलेगीं ॥ २३ ॥

रूपेणाप्रतिमा लोके सर्वलक्षणलक्षिता ।
छायेवानुगता रामं निशाकरमिव प्रभा ॥ २४ ॥

लोकों में उनके समान रूपवती अन्य कोई स्त्री नहीं निकलेगी। वे समस्त सुलक्षणों से युक्त होंगी। वे अपने पति श्रीरामचन्द्र की ऐसी अनुगामिनी होगीं, जैसी कि, मनुष्य के शरीर की छाया अथवा चन्द्रमा की चांदनी है ॥ २४ ॥

शीलाचारगुणोपेता साध्वी धैर्यसमन्विता ।
सहस्रांशो रश्मिरिव ह्येका मूर्तिरिव स्थिता ॥ २५ ॥

वे सीता देवी शील, आचार और सद्गुणों से सम्पन्न होंगी। वे पतिव्रता और धैर्ययुक्त होगी। सूर्य और उनकी किरनों की तरह सीता और श्रीरामचन्द्र की एक मूर्ति होगी ॥ २५ ॥

एवं ते सर्वमाख्यातं मया रावण विस्तरात् ।
महतो देवदेवस्य शाश्वतस्याव्ययस्य च ॥ २६ ॥

हे रावण ! देवदेव, सनातन, अविनाशी, महापुरुष श्रीमन्नारायण का यह समस्त वृत्तान्त विस्तारपूर्वक मैंने तुमसे कहा ॥ २६ ॥

एवं श्रुत्वा महाबाहू राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।
त्वया सह विरोधेच्छुश्चिन्तयामास राघव ॥ २७ ॥

हे राम ! महाबली और प्रतापी राक्षसराज रावण, यह सुन कर, तुम्हारे साथ वैर करने का उपाय सोचने लगा ॥ २७ ॥

सनत्कुमारात्तद्वाक्यं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः ।
रावणो मुमुदे श्रीमान्युद्धार्थं विचचार ह ॥ २८ ॥

तथा सनत्कुमार जी की कही बातों पर वारंवार विचार करता हुआ, रावण अत्यन्त हर्षित हो, युद्ध के लिये इधर उधर घूमने फिरने लगा ॥ २८ ॥

श्रुत्वा च तां कथां रामो विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
शिरसश्चालनं कृत्वा विस्मयं परमं गतः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी यह वृत्तान्त सुन कर, विस्मयोत्फुल्ल नयनों से सिर हिला बड़े विस्मित हुए ॥ २९ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं स नरेश्वरस्तदा
मुदा युतो विस्मयमानचक्षुः ।
पुनश्च तं ज्ञानवतां प्रधानम्
उवाच वाक्यं वद मे पुरातनम् ॥ ३० ॥

इति प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः ॥

वे नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी उस समय उन वचनों को सुन, हर्षोत्फुल्ल एवं विस्मित हो, ज्ञानियों में सर्वोत्तम अगस्त्य जी से फिर बोले कि, आप मुझे प्राचीन कथा सुनाइये ॥ ३० ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

प्रक्षिप्तेषु चतुर्थः सर्गः

—:o:—

ततः पुनर्महातेजाः कुम्भयोनिर्महायशाः ।
उवाच रामं प्रणतं पितामह इवेश्वरम् ॥ १ ॥

तदनन्तर महायशस्वी कुम्भयोनि अगस्त्य जी,* प्रणाम करते हुए श्रीरामचन्द्र जी से ऐसे ही बोले, मानों ब्रह्मा जी शिव जी से बोलते हों ॥ १ ॥

श्रूयतामिति चोवाच रामं सत्यपराक्रमम् ।
कथाशेषं महातेजाः कथयामास स प्रभुः ॥ २ ॥

वे सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से बोले कि, सुनिये । यह कह कर, महातेजस्वी महर्षि अगस्त्य जी ने कथा का अवशिष्टांश कहना आरम्भ किया ॥ २ ॥

यथाख्यानं श्रुतं चैव यथा वृत्तं यथातथा ।
प्रीतात्मा कथयामास राघवाय महामतिः ॥ ३ ॥

वे महामति अगस्त्य जी प्रसन्नचित्त हो जैसी उस समय घटना हुई थी और जैसी उन्होंने सुनी थी वैसी ही ज्यों की त्यों श्रीरामचन्द्र जी को सुनाने लगे ॥ ३ ॥

एतदर्थं महाबाहो रावणेन दुरात्मना ।
सुता जनकराजस्य हृता राम महामते ॥ ४ ॥

हे महाबाहो ! हे महामतिमान श्रीराम ! दुष्टात्मा रावण ने इसी लिये जनकनन्दिनी जानकी को हरा ॥ ४ ॥

एतां कथां महाबाहो नारदः सुमहायशाः ।
कथयामास दुर्धर्ष मेरौ गिरिवरोत्तमे ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! हे महायशस्विन् ! हे दुर्धर्ष ! नारद जी ने मेरुशृङ्ग के ऊपर मुझको यह वृत्तान्त सुनाया था ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वसिद्धानामृषीणां च महात्मनाम् ।
कथाशेषं पुनः सोऽथ कथयामास राघव ॥ ६ ॥

हे राघव ! उन्होंने इस वृत्तान्त का अवशिष्टांश देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों तथा ऋषियों एवं अन्य महानुभावों के सामने कहा था ॥ ६ ॥

नारदः सुमहातेजाः प्रहसन्निव मानद ।
तां कथां शृणु राजेन्द्र महापापप्रणाशनीम् ॥ ७ ॥

हे मानद ! हे राजेन्द्र ! महातेजस्वी नारद जी ने हँस हँस कर इसका वर्णन किया था। सो आप इस महापातकनाशिनी कथा को सुनिये ॥ ७ ॥

यां तु श्रुत्वा महाबाहो ऋषयो दैवतैः सह ।
ऊचुस्तं नारदं सर्वे हर्षपर्याकुलेक्षणम् ॥ ८ ॥

हे महाबाहो ! इस कथा को सुन देवताओं और ऋषियों ने हर्षोत्फुल्लनयन हो, नारद जी से कहा ॥ ८ ॥

यश्चेमां श्रावयेन्नित्यं शृणुयाद्वापि भक्तितः ।
स पुत्रपौत्रवान् राम स्वर्गलोके महीयते ॥ ९ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु चतुर्थः सर्गः ॥

जो कोई भक्तिपूर्वक इस कथा को सुनेगा या सुनावेगा वह पुत्रपौत्रयुक्त हो कर, स्वर्गलोक में सम्मानित होगा ॥ ९ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त चौथा सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

प्रक्षिप्तेषु पञ्चमः सर्गः

—:०:—

ततः स राक्षसो राम पर्यटन्पृथिवीतले ।
विजयार्थी महाशूरै राक्षसैः परिवारितः ॥ १ ॥

हे राम ! वह रावण बड़े बड़े शूरवीर राक्षसों को अपने साथ ले, दिग्विजय की अभिलाषा से पृथिवी पर घूमने लगा ॥ १ ॥

दैत्यदानवरक्षःसु यं शृणोति बलाधिकम् ।
तमाह्वयति युद्धार्थी रावणो बलदर्पितः ॥ २ ॥

बलदर्पित रावण, दैत्यों, दानवों अथवा राक्षसों में से जिस किसी को भी बलवान सुनता, उसीके पास जा कर, उसे लड़ने के लिये ललकारता था ॥ २ ॥

एवं स पर्यटन्सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते ।
ब्रह्मलोकान्निवर्तन्तं समासाद्याथ रावणः ॥ ३ ॥

हे पृथिवीनाथ ! इस प्रकार रावण समस्त पृथिवी पर विचर रहा था कि, (एक दिन) ब्रह्मलोक से लौट कर आते हुए नारद जी से उसकी भेंट हो गयी ॥ ३ ॥

व्रजन्तं मेघपृष्ठस्थमंशुमन्तमिवापरम् ।
तमभिसृत्य प्रीतात्मा ह्यभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ४ ॥

दूसरे सूर्य के समान श्रीनारद जी मेघ पर सवार थे। (उन्हें देख) रावण ने हर्षित हो, उनके निकट जा कर और हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया ॥ ४ ॥

उवाच हृष्टमनसा नारदं रावणस्तदा ।
आब्रह्मभवनं लोकास्त्वया दृष्टा ह्यनेकशः ॥ ५ ॥

कस्मिँल्लोके महाभाग मानवा बलवत्तराः ।
योद्धुमिच्छामि तैः सार्धं यथाकामं यदृच्छया ॥ ६ ॥

तदनन्तर हर्षित अन्तःकरण से रावण ने श्रीनारद जी से कहा—हे भगवन् ! आपने तो घूमते फिरते इस ब्रह्माण्ड को अनेक बार देखा ही होगा। अतः आप मुझे बतलावें कि, किस लोक के निवासी बड़े बलवान हैं। क्योंकि मैं बलवानों के साथ युद्ध करना चाहता हूँ ॥ ५ ॥ ६ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु नारदः प्रत्युवाच तम् ।
अस्ति राजन्महाद्वीपं क्षीरोदस्य समीपतः ॥ ७ ॥

इस पर नारद जी ने कुछ देर सोच कर रावण से कहा—हे राजन् ! क्षीरसागर के समीप एक महाद्वीप है ॥ ७ ॥

तत्र ते चन्द्र सङ्काशा मानवाः सुमहाबलाः ।
महाकाया महावीर्या मेघस्तनितनिस्वनाः ॥ ८ ॥

वहाँ के रहने वाले लोग चन्द्र के समान प्रभावान् अथवा शुक्ल-वर्ण, महाबली और बड़े लंबे चौड़े डीलडौल के हैं। ये बड़े पराक्रमी और मेघ के समान गर्जन कर बोलने वाले हैं ॥ ८ ॥

महामात्रा धैर्यवन्तो महापरिघबाहवः ।
श्वेतद्वीपे मया दृष्टा मानवा राक्षसाधिप ॥ ९ ॥
बलवीर्यसमोपेतान्यादृशांस्त्वमिहेच्छसि ।
नारदस्य वचः श्रुत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १० ॥

वे प्रायः सभी प्रधान हैं और धैर्यवान हैं। उनकी भुजाएँ बड़े बड़े परिघों के समान हैं। हे राक्षसराज! ऐसे प्राणी मैंने श्वेत-द्वीप में देखे हैं। जैसे बलवान् एवं पराक्रमी लोगों की तुम तलाश में हो, वहाँ वैसे ही लोग रहते हैं। नारद जी के वचन सुन रावण बोला ॥ ९ ॥ १० ॥

कथं नारद जायन्ते तस्मिन् द्वीपे महाबलाः ।
श्वेतद्वीपं कथं वासः प्राप्तस्तैस्तु महात्मभिः ॥ ११ ॥

हे नारद! वहाँ इस प्रकार के महाबली लोग क्यों होते हैं? और उन महात्मा लोगों को श्वेतद्वीप में रहने का स्थान क्यों कर मिल गया? ॥ ११ ॥

एतन्मेसर्वमाख्याहि प्रभो नारद तत्त्वतः ।
त्वया दृष्टं जगत्सर्वं हस्तामलकवत्सदा ॥ १२ ॥

हे महाराज नारद जी ! आपके लिये तो यह सारा जगत हस्तामलकवत् हो रहा है । अतः आप मुझे वहाँ का सारा वृत्तान्त ठीक ठीक सुनाइये ॥ १२ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा नारदः प्रत्युवाच ह ।
अनन्यमनसो नित्यं नारायणपरायणाः ॥ १३ ॥
तदाराधन सक्ताश्च तच्चित्तास्तत्परायणाः ।
एकान्त भावानुगतास्ते नरा राक्षसाधिप ॥ १४ ॥

रावण के वचन सुन कर देवर्षि नारद जी बोले कि, हे राक्षसराज ! वहाँ व ही लोग रहते हैं, जो या तो अनन्यमना हो श्रीमन्नारायण को भजा करते हैं, उन्हींके आराधन में सदा तत्पर रहते हैं और जो उनके भक्त हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

तच्चित्तास्तद्गत प्राणा नरानारायणं सदा ।
श्वेतद्वीपे तु तैर्वास अर्जितः सुमहात्मभिः ॥ १५ ॥

जो नर सदा नारायण में अपने मन और प्राण लगाये रहते हैं, वे ही महात्मा अपने तपःप्रभाव से श्वेतद्वीप में निवास करते हैं ॥ १५ ॥

ये हता लोकनाथेन शार्ङ्गमानम्य संयुगे ।
चक्रायुधेन देवेन तेषां वासस्त्रिविष्टपे ॥ १६ ॥

अथवा चक्रधारी लोकनाथ श्रीमन्नारायण अपने शार्ङ्गधनुष से युद्ध में जिनको मारते हैं; वे लोग भी (वहाँ अथवा) स्वर्ग में वास करते हैं ॥ १६ ॥

न हि यज्ञफलैस्तात न तपोभिर्न संयमैः ।
न च दानफलैर्मुख्यैः स लोकः प्राप्यते सुखम् ॥१७॥

हे तात! क्या यज्ञ, क्या तप, क्या अन्य समस्त मुख्य मुख्य दानादि साधनों में से किसी से भी वह लोक प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा दशग्रीवः सुविस्मितः ।
ध्यात्वा तु सुचिरं कालं तेन योत्स्यामि संयुगे ॥१८॥

नारद जी के वचन सुन रावण विस्मित हो कुछ देर तक यह सोचता रहा कि, मैं उन देवों के देव के साथ युद्ध करूँगा ॥ १८ ॥

आपृच्छ्य नारदं प्रायाच्छ्वेतद्वीपाय रावणः ।
नारदोऽपि चिरं ध्यात्वा कौतूहलसमन्वितः ॥ १९ ॥

तदनन्तर नारद जी से विदा माँग रावण श्वेतद्वीप को चला गया। नारद जी भी बहुत देर तक विचार कर और विस्मित हो ॥ १९ ॥

दिदृक्षुः परमाश्चर्यं तत्रैव त्वरितं ययौ ।
स हि केलिकरो विप्रो नित्यं च समरप्रियः ॥ २० ॥

इस आश्चर्य को देखने के लिये नारद जी भी तुरन्त ही वहीं गये। क्योंकि नारद जी भी तो कौतुकी और युद्धप्रिय ठहरे ॥ २० ॥

रावणोऽपि ययौ तत्र राक्षसैः सह राघव ।
महता सिंहनादेन दारयन्स दिशोदश ॥ २१ ॥

हे राघव! घोर सिंहनाद से दसों दिशाओं को विदीर्ण करता हुआ और राक्षसों को साथ लिये हुए रावण भी श्वेतद्वीप में पहुँचा ॥२१॥

गते तु नारदे तत्र रावणोऽपि महायशाः ।
प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं दुर्लभं यत्सुरैरपि ॥ २२ ॥

नारद जी के वहाँ पहुँचने पर महायशस्वी रावण भी उस श्वेतद्वीप नामक महाद्वीप में पहुँचा, जहाँ पहुँचना देवताओं के लिये भी दुर्लभ है ॥ २२ ॥

तेजसा तस्य द्वीपस्य रावणस्य बलीयसः ।
तत्तस्य पुष्पकं यानं वातवेगसमाहतम् ॥ २३ ॥

बलवान रावण का विमान वहाँ पहुँचा तो, परन्तु उस द्वीप में पवन का ऐसा वेग था कि, पवन के झकझोरों से पुष्पक विमान झकझोरा जा कर ॥ २३ ॥

अवस्थातुं न शक्नोति वाताहत इवाम्बुदः ।
सचिवा राक्षसेन्द्रस्य द्वीपमासाद्य दुर्दशम् ॥ २४ ॥

वैसे ही वहाँ ठहर न सका जैसे पवन के झकझोरों से बादल नहीं ठहर सकते। उस दुर्दर्श द्वीप के समीप पहुँच कर, रावण के मंत्री ॥ २४ ॥

अब्रुवन् रावणं भीता राक्षसा जातसाध्वसाः ।
राक्षसेन्द्र वयं मूढा भ्रष्टसंज्ञा विचेतसः २५ ॥

डरते डरते राक्षसराज रावण से बोले, हे निशाचरराज ! हम लोग तो मारे भय के जड़वत् चेतनाहीन हो गये हैं ॥ २५ ॥

अवस्थातुं न शक्ष्यामो युद्धं कर्तुं कथञ्चन ।
एवमुक्त्वा दुद्रुवुस्ते सर्व एव निशाचराः ॥ २६ ॥

यहाँ तक कि, यहाँ हम लोग किसी प्रकार भी ठहर नहीं सकते। युद्ध की बात तो जाने दीजिये। यह कह कर, वे समस्त राक्षस दसों दिशाओं को भागने लगे ॥ २६ ॥

रावणोपि हि तद्यानं पुष्पकं हेमभूषितम् ।
विसर्जयामास तदा सह तैः क्षणदाचरैः ॥ २७ ॥

तब रावण ने उन सब राक्षसों सहित उस सुवर्णभूषित पुष्पक विमान को छोड़ दिया ॥ २७ ॥

गतं तु पुष्पकं राम रावणो राक्षसाधिपः ।
कृत्वारूपं महाभीमं सर्वराक्षसवर्जितः ॥ २८ ॥

तदनन्तर पुष्पक विमान के चले जाने पर, राक्षसराज रावण महाभयानक रूप बना और सब राक्षसों को छोड़ ॥ २८ ॥

प्रविवेश तदा तस्मिन् श्वेद्वीपे स रावणः ।
प्रविशन्नेव तत्राशु नारीभिरुपलक्षितः ॥ २९ ॥

उस द्वीप में अकेला ही गया। वहाँ पहुँचते ही बहुत सी स्त्रियों ने उसको देखा ॥ २९ ॥

एकया स स्मितं कृत्वा हस्ते गृह्य दशाननम् ।
पृष्टश्चागमनं ब्रूहि किमर्थमिह चागतः ॥ ३० ॥

उन स्त्रियों के गिरोह में से एक स्त्री ने रावण का हाथ पकड़ कर और हँस कर पूँछा—तू यहाँ क्यों आया? तू अपने यहाँ आने का कारण बतला ॥ ३० ॥

को वा त्वं कस्य वा पुत्रः केन वा प्रहितो वद ।
इत्युक्तो रावणो राजन् क्रुद्धो वचनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

तू कौन है? तू किसका पुत्र है? तुझे किसने भेजा है—सो सब बतला। हे राजन्! उस स्त्री के ये वचन सुन कर, और क्रोध में भर कर, रावण ने कहा ॥ ३१ ॥

अहं विश्रवसः पुत्रो रावणो नाम राक्षसः ।
युद्धार्थमिह सम्प्राप्तो न च पश्यामि कञ्चन ॥ ३२ ॥

मैं विश्रवा मुनि का पुत्र हूँ। मेरा रावण नाम है। मैं लड़ने की इच्छा से यहाँ आया हूँ, परन्तु मुझे तो यहाँ कोई (वीर पुरुष) देख ही नहीं पड़ता ॥ ३२ ॥

एवं कथयतस्तस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
प्राहसंस्ते ततः सर्वे सुस्वनं युवतीजनाः ॥ ३३ ॥

जब उस दुष्ट ने इस प्रकार कहा, तब वे सब युवतियाँ मधुर स्वर से हँसने लगी ॥ ३३ ॥

तासामेका ततः क्रुद्धा बालवद्गृह्य लीलया ।
भ्रामितस्तु सखीमध्ये मध्ये गृह्य दशाननम् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर उनमें से एक स्त्री ने क्रुद्ध हो अनायास रावण को (एक छोटे) लड़के की तरह पकड़ लिया और उसकी कमर पकड़ वह रावण को अपनी सखियों के बीच घुमाने लगी ॥ ३४ ॥

सखीमन्यां समाहूय पश्य त्वं कीटकं धृतम् ।
दशास्यं विंशतिभुजं कृष्णाञ्जनसमप्रभम् ॥ ३५ ॥

और एक दूसरी सखी को बुला कर बोली, देखो, मैंने एक कीड़ा पकड़ा है। यह कीड़ा कैसा अद्भुत है। इसके दस तो मुँह हैं और बीस भुजाएँ हैं। इसके शरीर की रंगत काजल के ढेर की तरह कैसी अच्छी है ॥ ३५ ॥

हस्ताद्धस्तं च स क्षिप्तो भ्राम्यते भ्रमलालसः ।
भ्राम्यमाणेन बलिना राक्षसेन विपश्चिता ॥ ३६ ॥

उस स्त्री के हाथ से (कौतुकवश) रावण को दूसरी स्त्री ने ले लिया। उसने भी रावण को घुमाया। (इसी प्रकार तीसरी चौथी पाँचवीं) स्त्रियों ने किया। सारांश यह कि, वे सब स्त्रियाँ हाथों हाथ उसको ले कर खूब घुमाने लगीं। इस प्रकार जब बलवान् विद्वान् रावण घुमाया गया॥ ३६॥

पाणावेकाथ सन्दष्टा रोषेण वनिता शुभा।
मुक्तस्तया शुभः कीटो धुन्वन्त्या हस्त वेदनात्॥३७॥

तब उसने अत्यन्त क्रुद्ध हो एक स्त्री के हाथ में काट लिया। उस स्त्री ने झट रावण को छोड़ दिया और पीड़ा के मारे वह अपना हाथ झटकारने लगी॥ ३७॥

गृहीत्वान्या तु रक्षेन्द्रमुत्पपात विहायसा।
ततस्तामपि संक्रुद्धो विददार नखैर्भृशम्॥ ३८॥

यह देख एक दूसरी स्त्री रावण को पकड़ कर आकाश में उड़ गयी; परन्तु रावण ने क्रोध में भर उसे भी नखों से बहुत नोंचा खसोटा॥ ३८॥

तया सह विनिर्धूतः सहसैव निशाचरः।
पपात सोऽम्भसो मध्ये सागरस्य भयातुरः॥ ३९॥

तब तो उस स्त्री ने झटका दे कर रावण को ऐसा फेंका कि, वह भयातुर रावण धड़ाम से समुद्र में जा गिरा॥ ३९॥

पर्वतस्यैव शिखरं यथा वज्रविदारितम्।
प्रापतत्सागरजले तथासौ विनिपातितः॥ ४०॥

जैसे वज्रप्रहार से टूट कर पर्वतशिखर समुद्र में गिर पड़ता है, वैसे ही रावण भी उस स्त्री के झटकारने से समुद्र में गिरा ॥ ४० ॥

एवं स रावणो राम श्वेतद्वीपनिवासिभिः ।
युवतीभिर्विगृह्याशु भ्रामितश्च ततस्ततः ॥ ४१ ॥

हे राम ! श्वेतद्वीप की रहने वाली स्त्रियों ने बड़ी शीघ्रता से रावण को फिर पकड़ लिया और वे फिर उसे बार बार घुमाने लगीं ॥ ४१ ॥

नारदोऽपि महातेजा रावणं प्राप्य धर्षितम् ।
विस्मयं सुचिरं कृत्वा प्रजहास ननर्त च ॥ ४२ ॥

उस समय महातेजस्वी नारद जी रावण को ऐसी दुर्दशा देख कर, बड़े विस्मित हुए और अट्टहास करते हुए नाचने लगे ॥ ४२ ॥

एतदर्थं महाबाहो रावणेन दुरात्मना ।
विज्ञायापहृतासीता त्वत्तो मरणकांक्षया ॥ ४३ ॥

हे महाबाहो ! दुरात्मा रावण ने इसी लिये आपके हाथ से मारे जाने की अभिलाषा से प्रेरित हो कर ही, सीता हरी थी ॥ ४३ ॥

भवान्नारायणो देवः शङ्खचक्रगदाधरः ।
शार्ङ्गपद्मायुधो वज्री सर्वदेवनमस्कृतः ॥ ४४ ॥

आप शङ्ख-चक्र-गदा-धारी श्रीमन्नारायण हैं, आपके हाथों में शार्ङ्गधनुष, पद्म, वज्रादि आयुध हैं। आपको सब देवता प्रणाम किया करते हैं ॥ ४४ ॥

श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदेवाभिपूजितः ।
पद्मनाभो महायोगी भक्तानामभयप्रदः ॥ ४५ ॥

आप समस्त देवताओं से पूजित हैं, आपही श्रीवत्साङ्कित हृषीकेश हैं। आप ही महायोगी पद्मनाभ हैं और भक्तजनों को अभय करने वाले हैं॥ ४५ ॥

वधार्थं रावणस्य त्वं प्रविष्टो मानुषीं तनुम् ।
किं न वेत्सि त्व मात्मानं यथा नारायणोऽह्यहम् ॥४६॥

आपने रावण का वध करने के लिये यह मनुष्य रूप धारण किया है। क्या आप अपने को नारायण नहीं समझते हैं? ॥ ४६ ॥

मा मुह्यस्व महाभाग स्मर चात्मानमात्मना ।
गुह्याद्गुह्यतरस्त्वं हि ह्येवमाह पितामहः ॥ ४७ ॥

हे महाभाग! आप मोह में न फँसिये। आप अपने को अपने आप जान लीजिये। ब्रह्मा जी ने स्वयं कहा है कि, आप गुप्त से भी गुप्त हैं॥ ४७ ॥

त्रिगुणश्च त्रिवेदी च त्रिधामा च त्रिराघव ।
त्रिकालकर्म त्रैविद्य त्रिदशारिप्रमर्दन ॥ ४८ ॥

हे राघव! आप त्रिगुण-स्वरूप हैं, आप त्रिवेदी हैं, आप ही त्रिधामा (स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल) हैं। भूत, भविष्य, वर्त्तमान अर्थात् तीनों कालों में आपके काम होते रहते हैं। आप धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, आयुर्वेद के पारदर्शी हैं। आप देवताओं के शत्रु का संहार करने वाले हैं॥ ४८ ॥

भयाक्रान्तास्त्रयो लोकाः पुराणैर्विक्रमैस्त्रिभिः ।
त्वं महेन्द्रानुजः श्रीमान्बलिबन्धनकारणात् ॥ ४९ ॥

आप इन्द्र के छोटे भाई हैं। आपने वामनावतार धारण कर, बलि को बांधा और पुरातन काल में त्रिविक्रम हो त्रिलोकी को नाप लिया था ॥ ४९ ॥

अदित्या गर्भसम्भूतो विष्णुस्त्वं हि सनातनः ।
लोकाननुग्रहीतुं वै प्रविष्टो मानुषीं तनुम् ॥ ५० ॥

आप अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए। आप ही सनातन विष्णु भगवान् हैं। आपने सब पर कृपा करने के लिये ही यह मनुष्य शरीर धारण किया है ॥ ५० ॥

तदिदं साधितं कार्यं सुराणां सुरसत्तम ।
निहतो रावणः पापः सपुत्रगणबान्धवः ॥ ५१ ॥

हे सुरश्रेष्ठ! आपने पुत्र, बन्धु बान्धव तथा सेना सहित पापी रावण को युद्ध में मार कर, देवताओं का कार्य पूरा किया है ॥५१॥

प्रहृष्टाश्च सुराः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ।
प्रशान्तं च जगत्सर्वं त्वत्प्रसादात्सुरेश्वर ॥ ५२ ॥

हे सुरेश्वर! इससे समस्त देवता और तपोधन ऋषि प्रसन्न हुए हैं, और आपकी कृपा से सारे जगत् को शान्ति प्राप्त हुई है ॥ ५२ ॥

सीता लक्ष्मीर्महाभागा सम्भूता वसुधातलात् ।
त्वदर्थमिह चोत्पन्ना जनकस्य गृहे प्रभो ॥ ५३ ॥

हे प्रभो ! महाभागा लक्ष्मी जी सीता जी बन कर पृथिवी पर अवतीर्ण हुई और आपके लिये राजा जनक के घर में जनक की पुत्री कहलाई हैं ॥ ५३ ॥

लङ्कामानीय यत्नेन मातेव परिरक्षिता ।
एवमेतत्समाख्यातं तव राम महायशः ॥ ५४ ॥

हे प्रभो ! रावण ने इनको लङ्का में ले जा कर अति सावधानी से माता की तरह इनकी रक्षा की । हे महायशस्वी राम ! यह सारा वृत्तान्त मैंने आपको सुनाया ॥ ५४ ॥

ममापि नारदेनोक्तमृषिणा दीर्घजीविना ।
यथा सनत्कुमारेण व्याख्यातं तस्य रक्षसः ॥५५॥

तेनापि च तदेवाशु कृतं सर्वमशेषतः ।
यश्चैतच्छ्रावयेच्छ्राद्धे विद्वान्ब्राह्मणसन्निधौ ॥ ५६ ॥

अन्नं तदक्षयं दत्तं पितॄणामुपतिष्ठति ।
एतां श्रुत्वा कथां दिव्यां रामो राजीवलोचनः ॥५७॥

दीर्घजीवी देवर्षि नारद जी ने मुझे यह कथा सुनाई थी। श्रीसनत्कुमार जी ने रावण से जैसे कहा था तदनुसार ही रावण ने किया । हे रघुवीर ! जो लोग श्राद्ध में (ब्राह्मणभोजन के समय) विद्वान् ब्राह्मण को इसे सुनाते हैं, उनका दिया हुआ अन्न, पितरों के लिये अक्षय्य हो कर पहुँचता है । इस दिव्य कथा को सुन कर, राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

परं विस्मयमापन्नो भ्रातृभिः सह राघवः ।
वानराः सह सुग्रीवा राक्षसाः सविभीषणाः ॥५८॥

अपने भाइयों सहित परम विस्मित हुए। वानरों सहित सुग्रीव, राक्षसों सहित विभीषण ॥ ५८ ॥

राजानश्च सहामात्या ये चान्येऽपि समागताः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा धर्मसमन्विताः ॥ ५९ ॥

अपने अपने मंत्रियों सहित समागत राजा गण, तथा अन्य वहाँ समागत धार्मिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ॥ ५९ ॥

सर्वे चोत्फुल्लनयनाः सर्वे हर्षसमन्विताः।
राममेवानुपश्यन्ति भृशमत्यन्तहर्षिताः ॥ ६० ॥

चकित हुए और अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रसन्न हो श्रीरामचन्द्र जी को निहारने लगे ॥ ६० ॥

ततोऽगस्त्यो महातेजा राघवं चेदमब्रवीत्।
दृष्टाः सभाजिताश्चापि राम यास्यामहे वयम्।
एवमुक्त्वा गताः सर्वे पूजितास्ते यथागतम् ॥ ६१ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु पञ्चमः सर्गः ॥

तदनन्तर महातेजस्वी अगस्त्य जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राम! मैंने आपके दर्शन पाये और मेरा सम्मान भी हुआ। अतः अब मैं जाऊँगा। इस प्रकार वे सब ऋषि सम्मानित हो जहाँ से आये थे, वहाँ चले गये ॥ ६१ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

अष्टत्रिंशः सर्गः

—:o:—

एवमास्ते महाबाहुरहन्यहनि राघवः ।
प्रशासत्सर्वकार्याणि पौरजानपदेषु च ॥ १ ॥

महाबली रघुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल पर राज्य करते हुए पुरवासियों के ऊपर शासन करने लगे ॥ १ ॥

ततः कतिपयाहःसु वैदेहं मिथिलाधिपम् ।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

कुछ दिनों बाद श्रीरामचन्द्र जी मिथिला के राजा जनक जी से हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥ २ ॥

भवान्हि गतिरव्यग्रा भवता पालिता वयम् ।
भवतस्तेजसोग्रेण रावणो निहतो मया ॥ ३ ॥

महाराज ! आप सब प्रकार हमारे रक्षक हैं और हम आप ही के पाले हुए हैं। मैंने आप ही के उग्र तेज की सहायता से रावण को मारा है ॥ ३ ॥

इक्ष्वाकूणां च सर्वेषां मैथिलानां च सर्वशः ।
अतुलाः प्रीतयो राजन्सम्बन्धकपुरोगमाः ॥ ४ ॥

हे राजन् ! मिथिकुल और इक्ष्वाकुकुल की, इस अनुपम सम्बन्ध द्वारा, आपस में बड़ी प्रीति है ॥ ४ ॥

तद्भवान् स्वपुरं यातु रत्नान्यादाय पार्थिव ।
भरतश्च सहायार्थं पृष्ठतश्चानुयास्यति ॥ ५ ॥

हे पृथिवीनाथ! अब आप अपनी राजधानी को पधारिये। विदाई की श्रेष्ठ वस्तुओं को ले कर, भरत जी आपकी सहायता के लिये आपके पीछे पीछे जांयगे ॥ ५ ॥

स तथेति ततः कृत्वा राघवं वाक्यमब्रवीत् ।
प्रीतोऽस्मि भवता राजन्दर्शनेन नयेन च ॥ ६ ॥

राजा जनक, श्रीरामचन्द्र जी के वचनों को मान कर उनसे बोले—हे राजन्! मैं आपकी नीतिमत्ता देख और आपका दर्शन कर प्रसन्न हुआ ॥ ६ ॥

यान्येतानि तु रत्नानि मदर्थं सञ्चितानि वै ।
दुहित्रोस्तान्यहं राजन्सर्वाण्येव ददामि वै ॥ ७ ॥

आपने मुझे देने को जो वस्तुएँ इकट्ठी की हैं, मैं वे समस्त वस्तुएँ अपनी बेटियों को दिये जाता हूँ ॥ ७ ॥

ततः प्रयाते जनके केकयं मातुलं प्रभुम् ।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयाद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

जब राजा जनक चले गये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर, विनीतभाव से केकयराजपुत्र मामा युधाजित से कहा ॥ ८ ॥

इदं राज्यमहं चैव भरतश्च सलक्ष्मणः ।
आयत्तास्त्वं हि नो राजन् गतिश्च पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥

हे मामा! मैं, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आप ही के हैं और अयोध्या का यह समूचा राज्य भी आपका है। आप सब प्रकार से हम लोगों के उपकारकर्त्ता हैं ॥ ९ ॥

राजा हि वृद्धः सन्तापं त्वदर्थमुपयास्यति ।
तस्माद्गमनमद्यैव रोचते तव पार्थिव ॥ १० ॥

केकयराज वृद्ध हैं। वे आपके लिये सन्तप्त होते होंगे। अतः मेरी समझ में आज ही आपका जाना उचित है ॥ १० ॥

लक्ष्मणेनानुयात्रेण पृष्ठतोऽनुगमिष्यते ।
धनमादाय बहुलं रत्नानि विविधानि च ॥ ११ ॥

बिदा की भेंट में बहुत सा धन और विविध प्रकार के रत्न ले कर, लक्ष्मण आपके पीछे पीछे जायगे ॥ ११ ॥

युधाजित्तु तथेत्याह गमनं प्रति राघव ।
रत्नानि च धनं चैव त्वय्येवाक्षय्यमस्त्विति ॥ १२ ॥

तब युधाजित ने जाना स्वीकार करते हुए कहा—हे रामचन्द्र ! यह सारा धन और रत्न अक्षय्य हो कर आप ही के पास रहें ॥ १२ ॥

प्रदक्षिणं च राजानं कृत्वा केकयवर्धनः ।
रामेण च कृतः पूर्वमभिवाद्य प्रदक्षिणम् ॥ १३ ॥

प्रथम श्रीरामचन्द्र जी ने प्रदक्षिणा कर के उनको प्रणाम किया। पीछे केकयराजकुमार युधाजित ने श्रीरामचन्द्र जी की प्रदक्षिणा कर और उनको प्रणाम कर ॥ १३ ॥

लक्ष्मणेन सहायेन प्रयातः केकयेश्वरः ।
हतेऽसुरे यथा वृत्रे विष्णुना सह वासवः ॥ १४ ॥

लक्ष्मण सहित वहाँ से ऐसे चले जैसे वृत्रासुर के मारे जाने पर इन्द्र, भगवान् विष्णु के साथ चले थे ॥ १४ ॥

तं विसृज्य ततो रामो वयस्यमकुतोभयम् ।
प्रतर्दनं काशिपतिं परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उनको विदा कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने मित्र काशीनरेश राजा प्रतर्दन को गले लगा कर कहा ॥ १५ ॥

दर्शिता भवता प्रीतिर्दर्शितं सौहृदं परम् ।
उद्योगश्च त्वया राजन्भरतेन कृतः सह ॥ १६ ॥

हे राजन् ! आपने प्रीति दिखलाई और परम सौहार्द्र का परिचय दिया । आपने भरत के साथ उद्योग भी किया ॥ १६ ॥

[नोट—भूषणटीकाकार का मत है कि "रावणसंहारार्थं काशीराजेन संगमिति सिद्धम्" । अर्थात् रावण के साथ जिस समय श्रीरामचन्द्र जी का युद्ध हो रहा था, उस समय भरत जी के साथ लङ्का में जा श्रीरामचन्द्र जी की सहायता करने के लिये राजा प्रतर्दन ने यत्न किया था ।]

तद्भवानद्य काशेयं पुरीं वाराणसीं व्रज ।
रमणीयां त्वया गुप्तां सुप्राकारां सुतोरणाम् ॥ १७ ॥

अब आप रमणीय, सुरक्षित और मनोहर नगरद्वारों से सुशोभित वाराणसी नगरी को पधारिये ॥ १७ ॥

एतावदुक्त्वा चोत्थाय काकुत्स्थः परमासनात् ।
पर्यष्वजत धर्मात्मा [1]निरन्तरमुरोगतम् ॥ १८ ॥

यह कह कर धर्मात्मा काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी अपने सिंहासन से उठे और सदा अपने हृदय में रहने वाले राजा प्रतर्दन को गले लगाया ॥ १८ ॥

---

१ निरन्तरमुरोगतम्—उरोगतं यथा भवति तथा निरन्तरं गाढ़ं पर्यष्वजत । (गो०)

विसर्जयामास तदा कौसल्याप्रीतिवर्धनः ।
राघवेण कृतानुज्ञः काशेयो ह्यकुतोभयः ॥ १९ ॥

फिर कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने उनको विदा किया । निडर काशिराज भी श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पा कर ॥ १९ ॥

वाराणसीं ययौ तूर्णं राघवेण विसर्जितः ।
विसृज्य तं काशिपतिं त्रिशतं पृथिवीपतीन् ॥ २० ॥

और श्रीरामचन्द्र जी से विदा किये जा कर, तुरन्त काशी को चल दिये । काशीनाथ को विदा कर, अन्य तीन सौ राजाओं ॥२०॥

प्रहसन् राघवो वाक्यमुवाच मधुराक्षरम् ।
भवतां प्रीतिरव्यग्रा तेजसा परिरक्षिता ॥ २१ ॥

से श्रीरामचन्द्र जी मुसक्याते हुए मधुर वाणी से बोले—आप लोगों की हम में निश्चल प्रीति है जो आपके तेज से रक्षित है ॥२१॥

धर्मश्च नियतो नित्यं सत्यं च भवतां सदा ।
युष्माकं चानुभावेन तेजसा च महात्मनाम् ॥ २२ ॥
हतो दुरात्मा दुर्बुद्धी रावणो राक्षसाधमः ।
हेतुमात्रमहं तत्र भवतां तेजसा हतः ॥ २३ ॥

आपकी धर्मपरायणता, आपके सदा सत्यव्यवहार, आपके अनुभव और तेज के प्रभाव ही से दुष्टस्वभाव एवं दुर्बुद्धि राक्षसाधम रावण मारा गया है। मैं तो उसका वध करने में केवल, निमित्त मात्र हूँ। वह आप ही के तेज एवं प्रभाव (इक़बाल) से मारा गया है ॥२२॥२३॥

रावणः सगणो युद्धे सपुत्रामात्यबान्धवः ।
भवन्तश्च समानीता भरतेन महात्मना ॥ २४ ॥

सो भी वह अकेला नहीं वल्कि सेना, मंत्री तथा अपने वंधु-बान्धवों सहित मारा गया है। (मुझे मालूम हुआ है कि) महात्मा भरत जी ने आप लोगों को यहाँ बुलाया था ॥ २४ ॥

श्रुत्वा जनकराजस्य काननात्तनयां हृताम् ।
उद्युक्तानां च सर्वेषां पार्थिवानां महात्मनाम् ॥ २५ ॥

वन में सीता के हरे जाने का समाचार सुन कर, भरत ने आप को यहाँ बुलाया और आप सव महानुभाव राजा लोग युद्ध में सम्मिलत होने को तैयार थे ॥ २५ ॥

कालोऽप्यतीतः सुमहान्गमनं रोचयाम्यतः ।
प्रत्यूचुस्तं च राजानो हर्षेण महता वृताः ॥ २६ ॥

यहाँ आये आप लोगों को वहुत दिन वीत गये—अतः मैं चाहता हूँ कि अव आप लोग अपनी अपनी राजधानियों को पधारें। तव वे सव राजा लोग परमहर्षित हो श्रीरामचन्द्र जी से वोले ॥ २६ ॥

दिष्ट्या त्वं विजयी राम राज्यं चापि प्रतिष्ठितम् ।
दिष्ट्या प्रत्याहृता सीता दिष्ट्या शत्रुः पराजितः ॥२७॥

हे महाराज ! यह वड़े सौभाग्य की वात है कि, आपकी जीत हुई और यह राज्य भी (प्रतिष्ठापूर्वक) स्थिर* वना रहा। यह भी

---

* कैकेयी की प्रेरणा से श्रीरामचन्द्र जी के वन में जाने में राजनीति-विशारदों का अनुमान था कि, वनवास की अवधि पूरी होने पर जब श्रीरामचन्द्र जी लैाटेंगे ; तब अयोध्या के राज्य का भाइयों में बँटवारा होगा और अयोध्या का विशाल राज्य टुकड़े टुकड़े हो जायगा। किन्तु ऐसा न हुआ यह देख कर ही राजा लोग अयोध्या के राज्य को स्थिर देख अपना सन्तोष प्रकट करते हैं।

सौभाग्य की बात है कि सीता, मिल गयी और वैरी रावण मारा गया ॥ २७ ॥

एष नः परमः काम एषा नः प्रीतिरुत्तमा ।
यत्त्वां विजयिनं राम पश्यामो हतशात्रवम् ॥ २८ ॥

हे महाराज ! यह हमारा बड़ा भारी मनोरथ सिद्ध हुआ कि, हम लोग आपको विजयी और शत्रुहीन देख रहे हैं। यही हम लोगों की अभिलाषा थी और इसीमें हम लोग हर्षित हैं ॥ २८ ॥

एतत्त्वय्युपपन्नं च यदस्मांस्त्वं प्रशंससे ।
प्रशंसार्हं न जानीमः प्रशंसां वक्तुमीदृशीम् ॥ २९ ॥

आपने जो हम लोगों की बड़ाई की, सो यह आपकी स्वाभाविक उदारता है, नहीं तो हम लोग हैं ही किस योग्य। हम नहीं जानते कि आपकी प्रशंसा हम किन शब्दों में करें ॥ २९ ॥

अपृच्छामो गमिष्यामो हृदिस्थो नः सदा भवान् ।
वर्तामहे महाबाहो प्रीत्यात्र महता वृताः ॥ ३० ॥

अब हम आपकी आज्ञा ले विदा होते हैं। आप तो हम लोगों के अन्तःकरण में सदा वास करते ही हैं। अब हम सब अत्यन्त आनन्द पूर्वक अपने अपने कार्यों में संलग्न होंगे ॥ ३० ॥

भवेच्च ते महाराज प्रीतिरस्मासु नित्यदा ।
बाढमित्येव राजानो हर्षेण परमान्विताः ॥ ३१ ॥

महाराज ! हम लोगों में आपकी प्रीति सदा बनी रहे (हमारी आपसे यही अन्तिम प्रार्थना है।) इस पर महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने जब कहा "बहुत अच्छा ऐसा ही होगा" ; तब वे राजा लोग परमहर्षित हुए ॥ ३१ ॥

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राघवं गमनोत्सुकाः ।
पूजितास्ते च रामेण जग्मुर्देशान्स्वकान्स्वकान् ॥३२॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

वे जाने के लिये उत्सुक राजा लोग हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से (इस प्रकार) बोले, श्रीरामचन्द्र जी ने भी उनकी यथोचित विदाई की और तब वे अपनी अपनी राजधानियों को चले गये ॥ ३२ ॥

उत्तरकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

ते प्रयाता महात्मानः पार्थिवास्ते प्रहृष्टवत् ।
गजवाजिसहस्रौघैः कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥ १ ॥

वे महाबली राजा लोग प्रसन्न होते हुए सहस्रों हाथियों और घोड़ों के समूहों से भूमि को कंपाते हुए, चले ॥ १ ॥

अक्षौहिण्यो हि तत्रासन् राघवार्थे समुद्यताः ।
भरतस्याज्ञयानेकाः प्रहृष्टबलवाहनाः ॥ २ ॥

भरत की आज्ञा से कितनी ही वाहनों सहित अक्षौहिणी सेनाएँ ले कर अनेक राजा लोग हर्षित हो, श्रीरामचन्द्र जी की सहायता के लिये, अयोध्या में ठहरे हुए थे ॥ २ ॥

ऊचुस्ते च महीपाला बलदर्पसमन्विताः ।
न राम रावणं युद्धे पश्यामः पुरतः स्थितम् ॥ ३ ॥

वे लोग बल के अभिमान में चूर हो, आपस में कहने लगे कि, क्या कहें, हम लोगों ने श्रीरामचन्द्र जी और रावण का युद्ध न देख पाया ॥ ३ ॥

भरतेन वयं पश्चात्समानीता निरर्थकम् ।
हता हि राक्षसाः क्षिप्रं पार्थिवैः स्युर्न संशयः ॥ ४ ॥

रावण के मारे जाने पर भरत जी ने हम लोगों को व्यर्थ ही बुलाया। यदि हम लोगों को पहिले यह हाल मिलता तो निस्सन्देह हम तुरन्त ही राक्षसों को मार गिराते ॥ ४ ॥

रामस्य बाहुवीर्येण रक्षिता लक्ष्मणस्य च ।
सुखं पारे समुद्रस्य युध्येम विगतज्वराः ॥ ५ ॥

हम लोग श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी के बाहुबल से रक्षित और निश्चिन्त हो कर, समुद्र पार जा कर, युद्ध करते ॥ ५ ॥

एताश्चान्याश्च राजानः कथास्तत्र सहस्रशः ।
कथयन्तः स्वराज्यानि जग्मुर्हर्षसमन्विताः ॥ ६ ॥

ऐसी विविध प्रकार की हज़ारों बातें कहते और हर्षित हो, वे राजा लोग अपनी अपनी राजधानियों में कुशलपूर्वक पहुँच गये ॥६॥

स्वानि राज्यानि मुख्यानि ऋद्धानि मुदितानि च ।
समृद्ध धनधान्यानि पूर्णानि वसुमन्ति च ॥ ७ ॥

उनके राज्य सब प्रकार से भरे पूरे, धनधान्य और रत्नों से परिपूर्ण थे और इसीसे वे राज्य हर्षित प्रजाजनों से भरे पूरे थे ॥ ७ ॥

यथापुराणि ते गत्वा रत्नानि विविधान्यथ ।
रामस्य प्रियकामार्थमुपहारं नृपा ददुः ॥ ८ ॥

उन लोगों ने अपनी अपनी राजधानियों में पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता सम्पादन करने के लिये विविध भाँति के रत्नों अर्थात् उत्तम पदार्थों की भेंटे भेजीं ॥ ८ ॥

अश्वान्यानानि रत्नानि हस्तिनश्च मदोत्कटान् ।
चन्दनानि च मुख्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥९॥

उनमें से अनेक राजाओं ने घोड़े, सवारियाँ, विविध प्रकार के रत्न, मतवाले हाथी, उत्तम चन्दन, दिव्य आभरण ॥ ९ ॥

मणिमुक्ताप्रवालांस्तु दास्यो रूपसमन्विताः ।
[1]अजाविकं च विविधं रथांस्तु विविधान्बहून् ॥१०॥

मणियाँ, मोती, मूँगे, रूपवती दासियाँ, विविध प्रकार की उत्तम चर्ममय गद्दों की सेजें, अनेक प्रकार के रथ आदि विविध प्रकार की बहुत सी वस्तुएँ भिजवाईं ॥ १० ॥

भरतो लक्ष्मणश्चैव शत्रुघ्नश्च महाबलः ।
आदाय तानि रत्नानि स्वां पुरीं पुनरागताः ॥११॥

महाबलवान् भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न उन उत्तम भेंट की वस्तुओं को ले कर, अयोध्यापुरी में लौट कर आ गये ॥ ११ ॥

आगम्य च पुरीं रम्यामयोध्यां पुरुषर्षभाः ।
तानि रत्नानि चित्राणि रामाय समुपानयन् ॥ १२ ॥

उन पुरुषश्रेष्ठों ने रम्य अयोध्या में आ कर, भेंट की वस्तुएँ श्रीरामचन्द्र जी को अर्पण कर दीं ॥ १२ ॥

---

१ अजाविकान्—चर्ममयान् तल्पविशेषान् । (गो०)

प्रतिगृह्य च तत्सर्वं रामः प्रीतिसमन्वितः ।
सुग्रीवाय ददौ राज्ञे महात्मा कृतकर्मणे ॥ १३ ॥
विभीषणाय च ददौ तथान्येभ्योऽपि राघवः ।
राक्षसेभ्यः कपिभ्यश्च यैर्वृतो जयमाप्तवान् ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्नतापूर्वक उन भेंटों को अङ्गीकार कर लिया और पीछे से बड़ा उपकार करने वाले *सुग्रीव को, राक्षसराज विभीषण को तथा युद्ध में जिन वानरों और राक्षसों ने श्रीरामचन्द्र जी को रावण-विजय में सहायता दी थी, उनको वे सब भेंट की चीज़ें दे डालीं ॥ १३ ॥ १४ ॥

ते सर्वे रामदत्तानि रत्नानि कपि राक्षसाः ।
शिरोभिर्धारयामासुर्भुजेषु च महाबलाः ॥ १५ ॥

उन सब बलवान राक्षसों और वानरों ने उन रत्नों को माथे चढ़ा, उनको गले में, भुजाओं में (यथास्थान) धारण कर लिया ॥ १५ ॥

हनुमन्तं च नृपतिरिक्ष्वाकूणां महारथः ।
अङ्गदं च महाबाहुमङ्कमारोप्य वीर्यवान् ॥ १६ ॥

इक्ष्वाकुवंशोद्भव महारथी श्रीरामचन्द्र जी ने, महाबलवान अंगद तथा हनुमान को अपनी गोद में बिठा लिया ॥ १६ ॥

रामः कमलपत्राक्षः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ।
अङ्गदस्ते सुपुत्रोऽयं मन्त्री चाप्यनिलात्मजः ॥ १७ ॥

---

* युद्धकाण्ड सर्ग १२१ के श्लोक ८४ में लिखा है:—" प्रहृष्टमनसः सर्वे जग्मुरेव यथागतम् " । एक बार जब श्रीरामचन्द्र जी सिंहासनारूढ़ होने पर विभीषण एवं सुग्रीवादि की बिदाई कर चुके थे और वे अपने अपने स्थानों को चले भी गये थे, तब पुनः अब उन सब की बिदायी का यहाँ प्रकरण आना सर्वथा विचारणीय है ।

फिर कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से कहा—यह अंगद तुम्हारे सुपुत्र और यह पवननन्दन हनुमान तुम्हारे मंत्री हैं ॥ १७ ॥

सुग्रीव मन्त्रिते युक्तौ मम चापि हिते रतौ ।
अर्हतो विविधां पूजां त्वत्कृते वै हरीश्वर ॥ १८ ॥

हे सुग्रीव! ये दोनों ही अच्छी सलाह देने में तत्पर और मेरा हित करने में भी सदा दत्तचित्त रहते हैं। हे कपिराज! अतः इनका अनेक प्रकार से मान सम्मान करना उचित है। इसमें प्राधान्य आप ही का है ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा व्यपमुच्याङ्गाद् भूषणानि महायशाः ।
स बबन्ध महार्हाणि तदाङ्गदहनूमतोः ॥ १९ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने यह कह कर अपने शरीर से बहुमूल्य भूषण उतार कर, अंगद और हनुमान को पहिनाये ॥ १९ ॥

आभाष्य च महावीर्यान् राघवो यूथपर्षभान् ।
नीलं नलं केसरिणं कुमुदं गन्धमादनम् ॥ २० ॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े बड़े बलवान वानरयूथपतियों से सम्भाषण किया। नील, नल, केसरी, कुमुद, गन्धमादन ॥२०॥

सुषेणं पनसं वीरं मैन्दं द्विविदमेव च ।
जाम्बवन्तं गवाक्षं च विनतं धूम्रमेव च ॥ २१ ॥

सुषेण, पनस, वीर मैन्द, द्विविद, जाम्बवन्त, गवाक्ष, विनत, धूम्र ॥ २१ ॥

बलीमुखं प्रजङ्घं च सन्नादं च महाबलम् ।
दरीमुखं दधिमुखमिन्द्रजानुं च यूथपम् ॥ २२ ॥

वक्रोमुख, प्रजंघ, महाबलवान सन्नाद, दरीमुख, दधिमुख, इन्द्रजानु आदि यूथपों को ॥ २२ ॥

मधुरं श्लक्ष्णया वाचा नेत्राभ्यामापिबन्निव ।
सुहृदो मे भवन्तश्च शरीरं भ्रातरस्तथा ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रेमदृष्टि से देखा और उनसे अत्यन्त मधुरवाणी से बोले—आप सब लोग केवल मेरे उपकारी मित्र ही नहीं, किन्तु मेरे शरीर के और सगे भाइयों के समान हैं ॥ २३ ॥

युष्माभिरुद्धृतश्चाहं व्यसनात्काननौकसः ।
धन्यो राजा च सुग्रीवो भवद्भिः सुहृदां वरैः ॥ २४ ॥

हे वानरो ! तुमने हमको बड़े भारी दुःख से उबारा है। धन्य हैं राजा सुग्रीव ! जिनके आप जैसे हितैषी मित्र हैं ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा ददौ तेभ्यो भूषणानि यथार्हतः ।
वज्राणि च महार्हाणि सस्वजे च नरर्षभः ॥ २५ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने यह कह कर, उन वानरयूथपतियों को यथायोग्य बहुमूल्य वस्त्र तथा हीरों के जड़ाऊ गहने बाँटे और उनको गले लगाया ॥ २५ ॥

ते पिबन्तः सुगन्धीनि मधूनि मधुपिङ्गलाः ।
मांसानि च सुमृष्टानि मूलानि च फलानि च ॥२६॥

शहद जैसे वर्णवाले वानर यूथपति, सुगन्धित मधुपान करते, माँस और स्वादिष्ट मूल फल खाते हुए रहने लगे ॥ २६ ॥

एवं तेषां निवसतां मासः साग्रो ययौ तदा ।
मुहूर्तमिव ते सर्वे रामभक्त्या च मेनिरे ॥ २७ ॥

इस प्रकार रहते रहते उनको कुछ अधिक एक मास से अधिक बीत गया; परन्तु श्रीरामचन्द्र में उनका अनुराग होने के कारण इतना समय भी उनको एक मुहूर्त्त सा जान पड़ा॥ २७॥

रामोऽपि रेमे तैः सार्धं वानरैःकामरूपिभिः।
राक्षसैश्च महावीर्यैर्ऋक्षैश्चैव महाबलैः॥ २८॥

श्रीरामचन्द्र जी भी उन कामरूपी वानरों, महापराक्रमी राक्षसों और महाबली रीछों के साथ विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते थे॥ २८॥

एवं तेषां ययौ मासो द्वितीयः शिशिरः सुखम्।
वानराणां प्रहृष्टानां राक्षसानां च सर्वशः॥ २९॥

इस प्रकार सन्तुष्टमना उन वानरों और राक्षसों को अयोध्या में रहते रहते शिशिरऋतु का दूसरा मास भी बीत गया॥ २९॥

इक्ष्वाकुनगरे रम्ये परां प्रीतिमुपासताम्।
रामस्य प्रीतिकरणैः कालस्तेषां सुखं ययौ॥ ३०॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः॥

श्रीरामचन्द्र जी की प्रीति के कारण रीछों, वानरों और राक्षसों का रम्य अयोध्यापुरी में अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हुए समय व्यतीत होने लगा॥ ३०॥

उत्तरकाण्ड का उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

चत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

तथा स्म तेषां वसतामृक्षवानररक्षसाम् ।
राघवस्तु महातेजाः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार वे सब अयोध्या में आनन्दपूर्वक रहते थे। एक दिन महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से यह कहा ॥ १ ॥

गम्यतां सौम्य किष्किन्धां दुराधर्षां सुरासुरैः ।
पालयस्व सहामात्यै राज्यं निहतकण्टकम् ॥ २ ॥

हे सौम्य! अब तुम सुरासुर से दुर्धर्ष किष्किन्धापुरी को लौट जाओ और वहाँ अपने मंत्रियों सहित निष्कराटक राज्यसुख भोगो ॥ २ ॥

अङ्गदं च महाबाहो प्रीत्या परमया युतः ।
पश्य त्वं हनुमन्तं च नलं च सुमहाबलम् ॥ ३ ॥

हे महावीर! तुम महाबलवान् अंगद, हनुमान और नल पर परमप्रीतियुक्त दृष्टि रखना ॥ ३ ॥

सुषेणं श्वशुरं वीरं तारं च बलिनां वरम् ।
कुमुदं चैव दुर्धर्षं नीलं चैव महाबलम् ॥ ४ ॥

अपने ससुर सुषेण, बलवानों में श्रेष्ठ वीर तार, दुर्धर्ष कुमुद, महाबली नील ॥ ४ ॥

वीरं शतबलिं चैव मैन्दं द्विविदमेव च ।
गजं गवाक्षं गवयं शरभं च महाबलम् ॥ ५ ॥

वीर शतवलि, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, गवय, महाबलवान शरभ ॥ ५ ॥

ऋक्षराजं च दुर्धर्षं जाम्बवन्तं महाबलम् ।
पश्य प्रीतिसमायुक्तो गन्धमादनमेव च ॥ ६ ॥

महाबली एवं अजेय ऋक्षराज जाम्बवन्त और गन्धमादन पर आपकी प्रीतियुक्तदृष्टि रहनी चाहिये ॥ ६ ॥

ऋषभं च सुविक्रान्तं प्लवंगं च सुपाटलम् ।
केसरिं शरभं शुम्भं शङ्खचूडं महाबलम् ॥ ७ ॥

पराक्रमी ऋषभ, सुपाटल, केसरी, शरभ, शुम्भ और महाबलवान शङ्खचूड़ को ॥ ७ ॥

ये ये मे सुमहात्मानो मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
पश्य त्वं प्रीतिसंयुक्तो मा चैषां विप्रियं कृथाः ॥८॥

तथा अन्य जिन वानर वीरों ने मेरे लिये अपने प्राणों को हथेली पर रख कर युद्ध किया है ; हे सुग्रीव ! तुम उन सब को प्रीतियुक्तदृष्टि से देखना कोई ऐसा काम न करना, जो इनको बुरा लगे ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा च सुग्रीवमाश्लिष्य च पुनः पुनः ।
विभीषणमुवाचाथ रामो मधुरया गिरा ॥ ९ ॥

इस प्रकार कह और बारंबार सुग्रीव को गले लगा, श्रीरामचन्द्र जी ने विभीषण से यह मधुर वचन कहे ॥ ९ ॥

लङ्कां प्रशाधि धर्मेण धर्मज्ञस्त्वं मतो मम ।
पुरस्य राक्षसानां च भ्रातुर्वैश्रवणस्य च ॥ १० ॥

हे राक्षसराज! अब आप भी जाँय। हम आपको धर्मात्मा समझते हैं अतः आप धर्मानुकूल वहाँ शासन करें। नगरवासियों, राक्षसों और भाई कुबेर के विषय में धर्मबुद्धि रखें ॥ १० ॥

मा च बुद्धिमधर्मे त्वं कुर्या राजन्कथञ्चन ।
बुद्धिमन्तो हि राजानो ध्रुवमश्नन्ति मेदिनीम् ॥११॥

हे राजन्! आप अधर्म को ओर कभी दृष्टि न डालना क्योंकि बुद्धिमान् राजा ही पृथिवी पर राज्यसुख भोगते हैं ॥ ११ ॥

अहं च नित्यशो राजन्सुग्रीवसहितस्त्वया ।
स्मर्तव्यः परया प्रीत्या गच्छ त्वं विगतज्वरः ॥१२॥

हे राजन्! आप मुझे और सुग्रीव को मत भूल जाना और सदा हम पर प्रीति बनाये रखना। अब आप आनन्दपूर्वक यात्रा कीजिये ॥ १२ ॥

रामस्य भाषितं श्रुत्वा ऋक्षवानरराक्षसाः ।
साधुसाध्विति काकुत्स्थं प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥१३॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह भाषण सुन कर, रीछ वानर और राक्षस "वाह वाह" कह कर, बारंबार श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा करने लगे ॥ १३ ॥

तव बुद्धिर्महाबाहो वीर्यमद्भुतमेव च ।
माधुर्यं परमं राम [1]स्वयंभोरिव[2] नित्यदा ॥१४॥

वे कहने लगे, हे श्रीरामचन्द्र! आपकी बुद्धि ब्रह्मा जी के समान सदैव प्राणिमात्र का कल्याण करने वाली है। आपमें सर्वोत्कृष्ट माधुर्य भी है। आपका पराक्रम भी अद्भुत है ॥ १४ ॥

१ स्वयंभोरिव—अनन्तकल्याणगुणस्य भगवतोब्रह्मणमिव । (रा०)
२ नित्यदा—सर्वकाले । (रा०)

तेषामेवंब्रुवाणानां वानराणां च रक्षसाम् ।
हनूमान्प्रणतो भूत्वा राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥
स्नेहो मे परमो राजंस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा ।
भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु ॥ १६ ॥

इस प्रकार जब वे सब कह रहे थे कि, इस बीच में हनुमान जी ने प्रणाम कर श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राजन् ! हे वीर ! आपमें मेरी परम-भक्ति और प्रीति सदा बनी रहे । मेरा मन आपको छोड़ और किसी में अनुरक्त न हो ॥ १५ ॥ १६ ॥

यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले ।
तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः ॥ १७ ॥
यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथा ते रघुनन्दन ।
तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ ॥ १८ ॥

हे रघुनन्दन ! जब तक आपकी यह कथा इस संसार में प्रचलित रहे, तब तक मेरे प्राण मेरे शरीर से कभी न्यारे न हों । हे पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम ! आपका यह पवित्र चरित्र तथा यह कथा मुझे अप्सराएँ गा कर सुनाया करें ॥ १७ ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वाहं ततो वीर तव चर्यामृतं प्रभो ।
उत्कण्ठां तां हरिष्यामि मेघलेखामिवानिलः ॥१९॥

हे प्रभो ! जब मैं आपके चरितामृत को श्रवण करूँगा, तब आपके दर्शन की उत्कण्ठा मैं वैसे ही दूर कर दूँगा, जैसे पवन मेघों को दूर कर देता है ॥ १९ ॥

एवंब्रुवाणं रामस्तु हनुमन्तं वरासनात् ।
उत्थाय सस्वजे स्नेहाद्वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २० ॥

इस प्रकार की प्रेमभरी बातें कहने वाले हनुमान जी को श्रीरामचन्द्र जी ने सिंहासन से उठ कर अपने हृदय से चिपटा लिया। तदनन्तर वे बड़े स्नेह से उनसे बोले ॥ २० ॥

एवमेतत्कपिश्रेष्ठ भविता नात्र संशयः ।
चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका ॥ २१ ॥
तावत्ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा ।
लोका हि यावत्स्थास्यन्ति तावत्स्थास्यन्ति मे कथाः ॥२२॥

हे वानरोत्तम! जो कुछ तुमने चाहा है, वही होगा। इसमें संशय नहीं है। जब तक मेरी कथा प्रचलित रहेगी तब तक तुम्हारी कीर्त्ति भी इस लोक में बनी रहेगी और तभी तक तुम भी शरीर धारण कर यहाँ वास करोगे और जब तक यह लोक रहेंगे तब तक मेरी कथाएँ बनी रहेंगी ॥ २१ ॥ २२ ॥

एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे ।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ॥ २३ ॥

हे वानर! तुम्हारे एक ही उपकार पर (प्रसन्न हो) मैं तुम्हें अपने प्राणदान करता हूँ। तुम्हारे बचे हुए उपकारों के लिये हम लोग तुम्हारे रिणियाँ बने रहेंगे ॥ २३ ॥

मदङ्गेजीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे ।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥२४॥

हे वानर! तुमने जो उपकार किये हैं, वे मेरे अंगों में जीर्ण हो जायँ। क्योंकि मनुष्य आपत्तियों ही में प्रत्युपकार के पात्र हुआ करते हैं। अथवा जो तुमने मेरे प्रति उपकार किये हैं वे सब मेरे हृदय में बने रहेंगे। क्योंकि उपकारी के प्रति बिना, उस पर

विपत्ति पड़े, प्रत्युपकार किया नहीं जा सकता (और मैं यह नहीं चाहता कि, तुम पर कभी विपत्ति पड़े) ॥ २४ ॥

ततोऽस्यहारं चन्द्राभं मुच्य कण्ठात्स राघवः ।
वैदूर्यतरलं कण्ठे बबन्ध च हनूमतः ॥ २५ ॥

यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने अपने गले से चन्द्रमा के समान चमकीला पन्ने का हार उतार कर हनुमान जी के गले में पहिना दिया ॥ २५ ॥

तेनोरसि निबद्धेनहारेण महता कपिः ।
रराज हेमशैलेन्द्रश्चन्द्रेणाक्रान्तमस्तकः ॥ २६ ॥

सुवर्णमय शैलराज सुमेरु अपने ऊपर छिटकी हुई चन्द्रमा की चाँदनी से जैसे शोभित होता है, वैसे ही हनुमान जी के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ वह हार, उनकी शोभा बढ़ाने लगा ॥ २६ ॥

श्रुत्वा तु राघवस्यैतदुत्थायोत्थाय वानराः ।
प्रणम्य शिरसा पादौ निर्जग्मुस्ते महाबलाः ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र की बातें सुन कर, अन्य सब वानर उठ उठ कर, उनको प्रणाम कर, अपने अपने घरों को चल दिये ॥ २७ ॥

सुग्रीवः स च रामेण निरन्तरमुरोगतः ।
विभीषणश्च धर्मात्मा सर्वे ते बाष्पविक्लवाः ॥२८॥

कपिराज सुग्रीव और धर्मात्मा विभीषण जी, श्रीरामचन्द्र जी के गले से लिपट कर, उनसे मिले भेंटे। उस समय तीनों के नेत्रों से आँसू टपकने लगे और सब की गद्गद् वाणी हो गयी ॥ २८ ॥

[नोट—इस श्लोक में और कई बार पूर्व भी विभीषण के लिये आदि कवि ने "धर्मात्मा" शब्द का विशेषण दिया है। सुग्रीव के लिये नहीं। विभीषण के चरित्र में वास्तव में तिल भर भी अधार्मिकता नहीं थी। विभीषण की तरह सुग्रीव भी श्रीरामचन्द्र जी के मित्र तो थे, किन्तु बड़े भाई की स्त्री रखने के कारण आदिकवि ने सुग्रीव के लिये "धर्मात्मा" शब्द का प्रयोग नहीं किया। यह बात ध्यान में रखने की है।]

सर्वे च ते बाष्पकलाः साश्रुनेत्रा विचेतसः।
सम्मूढा इव दुःखेन त्यजन्तो राघवं तदा॥ २९॥

बड़े दुःख के साथ श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ सके। उस समय उन सब के नेत्रों से आंसू टपक रहे थे और वे मारे दुःख के विह्वल हो रहे थे॥ २९॥

कृतप्रसादास्तेनैवं राघवेण महात्मना।
जग्मुः स्वं स्वं गृहं सर्वे देही देहमिवत्यजन्॥ ३०॥

इस प्रकार से सब महात्मा श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता सम्पादन कर अपने अपने घरों को गये तो सही; किन्तु (अयोध्या त्यागते समय) उनको वैसी ही पीड़ा का अनुभव हुआ, जैसा कि प्राणधारियों को प्राण त्यागते समय हुआ करता है॥ ३०॥

ततस्तु ते राक्षसऋक्षवानराः
प्रणम्य रामं रघुवंशवर्धनम्।
वियोगजाश्रुप्रतिपूर्णलोचनाः
प्रतिप्रयातास्तु यथा निवासिनः॥ ३१॥

इति चत्वारिंशः सर्गः॥

राक्षस, रीछ और वानर, श्रीरामचन्द्र जी के वियोग से उत्पन्न आँसुओं से नेत्रों को तर किये हुए, रघुवंश की वृद्धि करने वाले श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर, जहाँ से आये थे, वहाँ को रवाना हो गये ॥ ३१ ॥

उत्तरकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

विसृज्य च महाबाहोर्ऋक्षवानरराक्षसान् ।
भ्रातृभिः सहितो रामः प्रमुमोद सुखं सुखी ॥ १ ॥

रीछों, वानरों और राक्षसों को विदा कर, महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी अपने भाइयों सहित सुखी हो हर्षित होने लगे ॥ १ ॥

अथापराह्णसमये भ्रातृभिः सह राघवः ।
शुश्राव मधुरां वाणीमन्तरिक्षान्महाप्रभुः ॥ २ ॥

एक दिन मध्याह्नोत्तर भाइयों सहित श्रीरामचन्द्र जी ने आकाश से यह मधुर वाणी सुनी ॥ २ ॥

सौम्य राम निरीक्षस्व सौम्येन वदनेनमाम् ।
कुबेरभवनात्प्राप्तं विद्धि मां पुष्पकं प्रभो ॥ ३ ॥

हे सौम्य राम! आप प्रसन्न हो कर मेरी ओर देखिये। हे प्रभो! मैं पुष्पक नामक विमान हूँ और कुबेर के भवन से आया हूँ ॥ ३ ॥

तव शासनमाज्ञाय गतोऽस्मि भवनं प्रति ।
उपस्थातुं नरश्रेष्ठ स च मां प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! मैं आपकी आज्ञा पा, कुबेर के पास गया था । उन्होंने मुझसे यह कहा है ॥ ४ ॥

निर्जितस्त्वं नरेन्द्रेण राघवेण महात्मना ।
निहत्य युधि दुर्धर्षं रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ ५ ॥

महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने राक्षसराज दुर्धर्ष रावण को मार कर तुमको भी जीत लिया है ॥ ५ ॥

ममापि परमा प्रीतिर्हते तस्मिन्दुरात्मनि ।
रावणे सगणे चैव सपुत्रे सहबान्धवे ॥ ६ ॥

सेना, पुत्रों और बन्धुबान्धवों सहित दुष्ट रावण के मारे जाने से मैं भी बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥ ६ ॥

स त्वं रामेण लङ्कायां निर्जितः परमात्मना ।
वह सौम्य तमेव त्वमहमाज्ञापयामि ते ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! परमात्मा श्रीरामचन्द्र जी, लङ्केश को जीत कर, तुमको लाये हैं, अतः मैं तुझे आज्ञा देता हूँ कि, तू उन्हींकी सवारी में रह ॥ ७ ॥

परमो ह्येष मे कामो यत्त्वं राघवनन्दनम् ।
वहेर्लोकस्य संयानं गच्छस्व विगतज्वरः ॥ ८ ॥

तू भूरादि लोकों में आ जा सकता है; अतः मेरी यही अभिलाषा है तू श्रीरामचन्द्र जी की सवारी में रह । तू किसी प्रकार की चिन्ता न कर और उनके पास चला जा ॥ ८ ॥

सोऽहं शासनमाज्ञाय धनदस्य महात्मनः ।
त्वत्सकाशमनुप्राप्तो निर्विशङ्कः प्रतीच्छ माम् ॥ ९ ॥

अतः महात्मा कुवेर जी की आज्ञा से मैं आपके समीप आया हूँ । अतः आप वेखटके मुझे अपनी सवारी में रखें ॥ ९ ॥

अधृष्यः सर्वभूतानां सर्वेषां धनदाज्ञया ।
चराम्यहं प्रभावेण तवाज्ञां परिपालयन् ॥ १० ॥

कुवेर की आज्ञा से मुझे कोई प्राणी रोक नहीं सकता । मैं आपके आज्ञानुसार और आपके प्रताप से (सर्वत्र) गमनागमन करूँगा ॥ १० ॥

एवमुक्तस्तदा रामः पुष्पकेण महाबलः ।
उवाच पुष्पकं दृष्ट्वा विमानं पुनरागतम् ॥ ११ ॥

विमान का यह कथन सुन कर, महाबलवान श्रीरामचन्द्र जी ने लौट कर आये हुए और आकाशस्थित पुष्पक को देख कर कहा ॥ ११ ॥

यद्येवं स्वागतं तेऽस्तु विमानवर पुष्पक ।
आनुकूल्याद्धनेशस्य वृत्तदोषो न नो भवेत् ॥ १२ ॥

हे वाहनश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ । यदि ऐसा ही है, तो बहुत अच्छी बात है । कुवेर की प्रीति के अनुसार ही मुझे तो वर्तना है, जिससे मेरे चरित्र पर कोई धब्बा न लगे ॥ १२ ॥

लाजैश्चैव तथा पुष्पैर्धूपैश्चैव सुगन्धिभिः ।
पूजयित्वा महाबाहू राघवः पुष्पकं तदा ॥ १३ ॥

यह कह महावीर श्रीरामचन्द्र जी ने पुष्पों, खीलों (लावों) चन्दन तथा धूपादि से पुष्पक का पूजन कर, उससे कहा ॥ १३ ॥

गम्यतामिति चोवाच आगच्छ त्वं स्मरे यदा।
सिद्धानां च गतौ सौम्य मा विषादेन योजय ॥१४॥

हे पुष्पक! अब तुम जहाँ चाहो वहाँ जा कर रहो, किन्तु जब मैं तुम्हें स्मरण करूँ, तब यहाँ आ जाना। सिद्धसेवित आकाशमार्ग से हे सौम्य! अब तुम जाओ और किसी बात के लिये दुःखी मत हो ॥ १४ ॥

प्रतिघातश्च ते मा भूद्यथेष्टं गच्छतो दिशः।
एवमस्त्विति रामेण पूजयित्वा विसर्जितम् ॥ १५ ॥

गमन करते हुए तुम किसी चीज़ से टकराना मत। तुम अपनी इच्छा के अनुसार जहाँ चाहो वहाँ घूमो फिरो। यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने पुष्पक का पूजन कर उसको विदा कर दिया ॥ १५ ॥

अभिप्रेतां दिशं तस्मात्प्रायात्तत्पुष्पकं तदा।
एवमन्तर्हिते तस्मिन्पुष्पके सुकृतात्मनि ॥ १६ ॥

तब पुष्पक विमान "बहुत अच्छा, जो आज्ञा" कह कर जिधर चाहा उधर चला गया। जब पुष्पक विमान कृतार्थ हो चला गया ॥ १६ ॥

भरतः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच रघुनन्दनम्।
*विबुधात्मनि दृश्यन्ते त्वयि वीर प्रशासति ॥१७॥

†अमानुषाणि सत्वानि व्याहृतानि मुहुर्मुहुः।
अनामयश्च मर्त्यानां साग्रो मासो गतो ह्ययम् ॥१८॥

* पाठान्तरे—"विविधात्मनि।" † पाठान्तरे—"अमानुषाणां सत्वानां।"

तब भरत जी ने हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे वीर! आपके शासनकाल में विविध प्रकार के ऐसे अद्भुत प्राणी देख पड़ते हैं और उनकी बोलियाँ सुन पड़ती हैं, जो मनुष्य नहीं हैं। प्रजा में कोई रोगग्रस्त भी नहीं देख पड़ता। आपको राज्य करते कुछ ही महीने बीते हैं॥ १७॥ १८॥

जीर्णानामपि सत्त्वानां मृत्युर्नायाति राघव।
अरोगप्रसवा नार्यो वपुष्मन्तो हि मानवाः॥ १९॥

इस बीच में हे राघव! जो देहधारी जीव अति जीर्ण हो गये हैं, वे भी नहीं मरे। स्त्रियों को प्रसवकाल में कोई कष्ट नहीं होता। पुरवासी सब हृष्टपुष्ट देख पड़ते हैं॥ १९॥

हर्षश्चाभ्यधिको राजन् जनस्य पुरवासिनः।
काले वर्षति पर्जन्यः पातयन्नमृतं पयः॥ २०॥

हे राजन्! पुरवासी व जनपदवासी अत्यन्त हर्षित हैं। बादल भी यथावसर अमृत के समान जल की वृष्टि करते हैं॥ २०॥

वाताश्चापि प्रवान्त्येते स्पर्शयुक्ताः सुखाः शिवाः।
*ईदृशो नश्चिरं राजा भवेदिति नरेश्वरः॥ २१॥

मङ्गलमय पवन भी सदा सुखस्पर्शी हो कर चला करता है। हे नरेश्वर! इस प्रकार का राजा तो बहुत दिनों से नहीं हुआ॥ २१॥

कथयन्ति पुरे राजन्पौरजानपदास्तथा।
एता वाचः सुमधुरा भरतेन समीरिताः।
श्रुत्वा रामो मुदा युक्तो बभूव नृपसत्तमः॥ २२॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः॥

---

* पाठान्तरे—"ईदृशोऽनश्वरो"।

हे राजन्! पुरवासी और जनपदवासी लोग यही कहते हैं। नृपश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी, भाई भरत के ऐसे मधुर वचन सुन कर हर्षित हुए ॥ २२ ॥

उत्तरकाण्ड का एकतालीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

स विसृज्य ततो रामः पुष्पकं हेमभूषितम्।
प्रविवेश महाबाहुरशोकवनिकां तदा ॥ १ ॥

सुवर्णभूषित पुष्पक विमान को विदा कर, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी अशोकवाटिका में गये ॥ १ ॥

चन्दनागुरुचूतैश्च तुङ्गकालेयकैरपि।
देवदारुवनैश्चापि समन्तादुपशोभिताम् ॥ २ ॥

उस उपवन में चन्दन, आम, अगर, तुङ्ग, लालचन्दन और देवदारु के वृक्ष लगे हुए थे ॥ २ ॥

चम्पकागुरुपुन्नागमधूकपनसासनैः।
शोभितां पारिजातैश्च विधूमज्वलनप्रभैः ॥ ३ ॥

चम्पा, अगर, पुन्नाग, मधूक, पनस, और धुवां रहित आग के समान दमकता हुआ पारिजात ॥ ३ ॥

लोध्रनीपार्जुनैर्नागैः सप्तपर्णातिमुक्तकैः।
मन्दारकदलीगुल्मलताजालसमावृताम् ॥ ४ ॥

लोध, नीप, अर्जुन, नागकेसर, शतावरी, तिनिश, मन्दार, और केला, तथा विविध भांति की लताओं व झाड़ों से वह उपवन परिपूर्ण था ॥ ४ ॥

प्रियङ्गुभिः कदम्बैश्च तथा च बकुलैरपि ।
जम्बूभिर्दाडिमैश्चैव कोविदारैश्च शोभिताम् ॥ ५ ॥

वह प्रियङ्गु, कदम्ब, बकुल, जामुन, अनार और कोविदार के वृक्षों से शोभित था ॥ ५ ॥

सर्वदा कुसुमै रम्यैः फलवद्भिर्मनोरमैः ।
दिव्यगन्धरसोपेतैस्तरुणाङ्कुरपल्लवैः ॥ ६ ॥

उसमें सर्वऋतु में फूलने वाले सुन्दर पुष्पित वृक्ष लगे थे और सुस्वादु फलदार वृक्ष भी उस उपवन में उगे हुए थे। ऐसे भी वृक्ष थे, जिनमें से सुगन्ध निकलती थी। नये पत्तों और कोपलों से वहां के वृक्ष सुशोभित थे ॥ ६ ॥

तथैव तरुभिर्दिव्यैः शिल्पिभिः परिकल्पितैः ।
चारुपल्लवपुष्पाढ्यैर्मत्तभ्रमरसङ्कुलैः ॥ ७ ॥

वृक्ष लगाने में चतुर मालियों ने इन दिव्य वृक्षों को बड़े अच्छे ढंग से लगाया था। इन वृक्षों के सुन्दर पत्ते और फूल लहलहा रहे थे। उनके ऊपर मतवाले भौंरे गूँज रहे थे ॥ ७ ॥

कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च नानावर्णैश्च पक्षिभिः ।
शोभितां शतशश्चित्रां चूत वृक्षावतंसकैः ॥ ८ ॥

उस उपवन में आम के वृक्ष के भूषण रूप कोयल, भृङ्गराज, तथा अन्य रंग विरंगे पक्षी शोभायमान थे ॥ ८ ॥

शातकुम्भनिभाः केचित्केचिदग्निशिखोपमाः ।
नीलाञ्जननिभाश्चान्ये भान्ति तत्रस्त्यपादपाः ॥९॥

वहाँ कोई कोई तो पेड़ सफेद रंग के, कोई कोई अग्निशिखा की तरह लाल रंग के, कोई नीलाञ्जन की तरह नीले रंग वाले तथा अन्य प्रकार के भी अनेक वृक्ष थे ॥ ९ ॥

सुरभीणि च पुष्पाणि माल्यानि विविधानि च ।
दीर्घिका विविधाकाराः पूर्णाः परमवारिणा ॥ १० ॥

वहाँ अत्यन्त सुगन्धित फूल और विविध भाँति के पुष्पगुच्छ थे। वहाँ विविध आकार की बावलियाँ थीं, जिनमें स्वच्छजल भरा हुआ था ॥ १० ॥

*माणिक्यकृतसोपानाः स्फाटिकान्तरकुट्टिमाः ।
फुल्लपद्मोत्पलवनाश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ११ ॥

उन बावलियों में माणिक्य की सीढ़ियाँ थीं और उनकी भीतरी तह स्फटिक पत्थर की बनी हुई थी। उनमें खिले हुए कमल और कुई के फूल शोभायमान थे। वहाँ चकवाक ॥ ११ ॥

दात्यूहशुकसंघुष्टा हंससारसनादिताः ।
तरुभिः †पुष्पशबलैस्तीरजैरुपशोभिताः ॥ १२ ॥

पपीहा, शुक, हंस, सारस, बोल रहे थे। उनके किनारों पर फूलों से लदे हुए रंग बिरंगे वृक्ष लहरा रहे थे ॥ १२ ॥

प्रकारैर्विविधाकारैः शोभिताश्च शिलातलैः ।
तत्रैव च वनोद्देशे वैदूर्यमणिसन्निभैः ॥ १३ ॥

* पाठान्तरे—"माणिक्यकृतसोपानाः"। † पाठान्तरे—"पुष्पवद्भिश्च"।

उनके प्राकार रङ्ग विरङ्गे और अद्भुत पत्थरों से बने हुए थे। उनके चारों ओर पन्ने की तरह हरी ॥ १३ ॥

शाद्वलैः परमोपेतां पुष्पितद्रुमकाननाम् ।
तत्र संघर्षजातानां वृक्षाणां पुष्पशालिनाम् ॥१४॥

प्रस्तराः पुष्पशवला नभस्तारागणैरिव ।
नन्दनं हि यथेन्द्रस्य ब्राह्मं चैत्ररथं यथा ॥ १५ ॥

दूब लगी हुई थी। वहाँ के वृक्ष मानों पारस्परिक ईर्ष्यावश फूलों से लद रहे थे। हवा के झोकों से आपस में टकरा कर पुष्पित वृक्षों के फूल नीचे की पथरीली ज़मीन पर बिछ जाते थे। उस समय उनकी शोभा ऐसी जान पड़ती थी, मानों आकाश में तारागण उदय हुए हों। जैसे इन्द्र का नन्दनवन और ब्रह्मा का बनाया कुबेर का चैत्ररथवन शोभायमान देख पड़ता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

तथाभूतं हि रामस्य काननं सन्निवेशनम् ।
बह्वासनगृहोपेतां लतागृहसमावृताम् ॥ १६ ॥

वैसी ही श्रीरामचन्द्र जी की यह अशोकवाटिका (या अशोक वन) शोभायमान थी। इस वाटिका में जगह जगह बैठने के लिये बैठकें पड़ी हुई थीं और अनेक लतामण्डप बने हुए थे ॥ १६ ॥

अशोकवनिकां स्फीतां प्रविश्य रघुनन्दनः ।
आसने च शुभाकारे पुष्पप्रकरभूषिते ॥ १७ ॥

ऐसी समृद्धशालिनी अशोकवाटिका में श्रीरामचन्द्र जी पधारे और एक बड़े सुन्दर फूलों से भूषित आसन पर ॥ १७ ॥

*कुशास्तरणसंस्तीर्णे रामः सन्निसपाद ह ।
सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि ॥ १८ ॥

जो एक कुश की चटाई पर बिछा हुआ था, बैठ गये। वहीं सीता को अपने निकट बैठा कर अपने हाथ से स्वच्छ मैरेय नामक मदिरा, ॥ १८ ॥

पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरन्दरः ।
मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च ॥१९॥

काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता को वैसे ही पिलायी, जैसे इन्द्र अपनी इन्द्राणी शची को पिलाते हैं। वहाँ पर अच्छे सुस्वादु मांस और विविध प्रकार के फल ॥ १९ ॥

रामस्याभ्यवहारार्थं किङ्करास्तूर्णमाहरन् ।
उपानृत्यंश्च राजानं नृत्यगीतविशारदाः ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र के व्यवहारार्थ टहलुओं ने तुरन्त ला कर रख दिये। (मांस मदिरा का आवश्यक अंग स्वरूप) नाचना गाना भी श्रीरामचन्द्र जी के सामने आरम्भ हुआ। वह नाच (मामूली नाच न था बल्कि) नाचने गाने में निपुणों का था ॥ २० ॥

[अप्सरोरगसङ्घाश्च किन्नरीपरिवारिताः ।
दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशंगताः ॥ २१ ॥
उपानृत्यन्त काकुत्स्थं नृत्यगीतविशारदाः ।]
मनोभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः

* पाठान्तरे—" कुशास्तरणसंवीते । "

रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषिताः ।
स तया सीतया सार्धमासीनो विरराज ह ॥ २३ ॥

तदन्तर अप्सराएँ, नागिनें, किन्नरी व परम चतुर एवं रूपवती स्त्रियाँ मदमाती हो गयीं । गाने नाचने में निपुण स्त्रियाँ श्रीरामचन्द्र जी के सामने नाचने लगीं । इस तरह मन को प्रसन्न करने वाली एवं शृङ्गार किये हुए उन स्त्रियों का गान व नृत्य श्रीराम जी जानकी के साथ उत्तम आसन पर बैठ देखते सुनते रहे ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

अरुन्धत्या *इवासीनो वसिष्ठ इव तेजसा ।
एवं रामो मुदा युक्तः सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ २४ ॥

रमयामास वैदेहीमहन्यहनि देववत् ।
तथातयोर्विहरतोः सीताराघवयोश्चिरम् ॥ २५ ॥

श्रीराम जी जानकी सहित ऐसे बैठे हुए थे, मानों अरुन्धती जी के पास वशिष्ठ जी बैठे हों । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी देवकन्याओं के समान सीता जी को, देवताओं के तरह नित्य सन्तुष्ट करने लगे । इस प्रकार जानकी के साथ विहार करते, करते श्रीरामचन्द्र जी को बहुत दिन बीत गये ॥ २४ ॥ २५ ॥

अत्यक्रामच्छुभः कालः शैशिरो भोगदः सदा ।
†दश वर्षसहस्राणि गतानि सुमहात्मनोः ।
प्राप्तयोर्विविधान्भोगानतीतः शिशिरागमः ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—"सहासीनो" ।

† किसी किसी टीकाकार ने इसे प्रक्षिप्त माना है और यह जान भी ऐसा ही पड़ता है ।

यहाँ तक कि, भोग विलास के लिये सुखदायी शिशिर ऋतु भी निकल गयी। इस प्रकार विविध प्रकार के भोग विलास करते करते श्रीरामचन्द्र और सीता जी ने बहुत वर्ष बिता दिये। विविध भोगों को भोगते हुए शिशिर ऋतु भी निकल गयी॥ २६॥

पूर्वाह्णे धर्मकार्याणि कृत्वा धर्मेण धर्मवित्।
शेषं दिवसभागार्धमन्तःपुरगतोऽभवत्॥ २७॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी पूर्वान्ह (दो पहर होने के पूर्व) तक धर्मानुसार समस्त धर्मकार्य कर, दिन का शेष भाग बिताने के लिये रनवास में जाते थे॥ २७॥

सीताऽपि देवकार्याणि कृत्वा पौर्वाह्णिकानि वै।
श्वश्रूणामकरोत्पूजां सर्वासामविशेषतः॥ २८॥

सीता जी भी दिन के प्रथम आधे भाग में समस्त देवकार्य कर, विशेष श्रद्धाभक्ति के साथ अपनी सासों की सेवा किया करती थीं। सेवा करते समय वे सब सासों को समान मानती थीं॥ २८॥

अभ्यगच्छत्ततो रामं विचित्राभरणाम्बरा।
त्रिविष्टपे सहस्राक्षमुपविष्टं यथा शची॥ २९॥

तदनन्तर वे विविध भाँति के वस्त्राभूषण धारण कर श्रीरामचन्द्र जी के पास जा वैसे ही बैठती थीं; जैसे इन्द्राणी इन्द्र के पास जा बैठती हैं॥ २९॥

दृष्ट्वा तु राघवः पत्नीं कल्याणेन समन्विताम्।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधुसाध्विति चाब्रवीत्॥ ३०॥

श्रीरामचन्द्र जी सीता जी को गर्भवती देख, अत्यन्त आनन्दित हो "वाह वाह" कहने लगे॥ ३०॥

अब्रवीच्च वरारोहां सीतां सुरसुतोपमाम् ।
अपत्यलाभो वैदेहि *त्वय्ययं समुपस्थितः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर देवबाला के समान वरवर्णिनी सीता से ये कहने लगे—हे देवि ! तुममें गर्भधारण के लक्षण स्पष्ट देख पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

किमिच्छसि वरारोहे कामः किं क्रियतां तव ।
स्मितं कृत्वा तु वैदेही †रामं वाक्यमथाब्रवीत् ॥३२॥

हे वरारोहे ! बतलाओ तुम्हारी इच्छा किस वस्तु पर चलती है ? तुम जो कहो मैं तुम्हारी वही इच्छा पूरी कर दूँ। इसके उत्तर में सीता जी ने मुसक्या कर श्रीराम जी से कहा ॥ ३२ ॥

तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव ।
गङ्गातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम् ॥ ३३ ॥

फलमूलाशिनां देव पादमूलेषु वर्तितुम् ।
एष मे परमः कामो यन्मूलफलभोजिनाम् ॥ ३४ ॥

अप्येकरात्रिं काकुत्स्थ निवसेयं तपोवने ।
तथेति च प्रतिज्ञातं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
विस्रब्धा भव वैदेहि श्वो गमिष्यस्यसंशयम् ॥ ३५ ॥

हे राघव ! मैं पवित्र तपोवनों को देखना चाहती हूँ। गङ्गातट पर निवास करने वाले, उग्रतेजस्वी और फलमूलाहारी ऋषियों की मैं चरणसेवा करना चाहती हूँ। हे देव ! यही मेरी परम कामना है। फलमूलभोजी मुनियों के पास तपोवन में यदि मैं

* पाठान्तरे—"त्वयि मे।" † पाठान्तरे—"रामे।"

एक रात भी रह पाऊँ तो मेरी अभिलाष पूरी हो जाय। अक्लिष्ट-कर्मकारी काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे वैदेहि! ऐसा ही होगा। तुम निश्चिन्त रहो। तुमको मैं कल ही तपोवन में भेजूँगा॥ ३३॥ ३४॥ ३५॥

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो मैथिलीं जनकात्मजाम्।
मध्यकक्षान्तरं रामो निर्जगाम सुहृद्वृतः॥ ३६॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः॥

सीता जी से यह कह कर, काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र अपने मित्रों के साथ भवन के बिचले चौक में चले आये॥ ३६॥

उत्तरकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

तत्रोपविष्टं राजानमुपासन्ते विचक्षणाः।
कथानां बहुरूपाणां हास्यकाराः समन्ततः॥ १॥

अब वहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी के आस पास ऐसे मनुष्य आ बैठे, जो विविध प्रकार की कथावार्ता कहने में निपुण तथा हँसने हँसाने में प्रवीण थे॥ १॥

विजयो मधुमत्तश्च काश्यपो *मङ्गलः कुलः।
सुराजिः कालियो भद्रो दन्तवक्रः सुमागधः॥ २॥

* पाठान्तरे—"पिङ्गलः कुटः।"

विजय, मधुमत्त, काश्यप, मङ्गल, कुल, सुराजि, कालिय, भद्र, दन्तवक्र, और सुमागध, ॥ २ ॥

एते कथा वहुविधाः परिहाससमन्विताः ।
कथयन्ति स्म संहृष्टा राघवस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

ये सब हर्षित अन्तःकरण से महात्मा श्रीराम जी के सामने विविध प्रकार की हँसने वाली बातें कह रहे थे ॥ ३ ॥

ततः कथाया कस्यांचिद्राघवः समभाषत ।
काः कथा नगरे भद्र वर्तन्ते विषयेषु च ॥ ४ ॥

किसी छिड़े हुए प्रसङ्ग के बीच में ही श्रीरामचन्द्र जी पूँछ बैठे—हे भद्र ! आज कल अयोध्यापुरी और राज्य में क्या चर्चा फैली हुई है ॥ ४ ॥

मामाश्रितानि कान्याहुः पौरजानपदा जनाः ।
किं च सीतां समाश्रित्य भरतं किं च लक्ष्मणम् ॥५॥

मेरे आश्रित पुरवासी लोग सीता, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के विषय में क्या कहते हैं ? ॥ ५ ॥

किंनु शत्रुघ्नमुद्दिश्य कैकेयीं किंनु मातरम् ।
वक्तव्यतां च राजानो वने राज्ये व्रजन्ति च ॥ ६ ॥

शत्रुघ्न के बारे में और मेरी माता कैकेयी के बारे में लोगों का क्या मत है ? क्योंकि (अविचारी) राजा की बस्ती ही में नहीं, बल्कि तपस्वियों के आश्रमों में भी निन्दा होने लगती है ॥ ६ ॥

एवमुक्ते तु रामेण भद्रः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
स्थिताः शुभाः कथा राजन्वर्तन्ते पुरवासिनाम् ॥७॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब भद्र हाथ जोड़ कर बोला—हे राजन्! पुरवासी लोग तो श्रीमहाराज की प्रशंसा ही करते हैं ॥ ७ ॥

अयं तु विजयं सौम्य दशग्रीववधार्जितम् ।
भूयिष्ठं स्वपुरे पौरैः कथ्यन्ते पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! हे सौम्य! अयोध्या में (आपके द्वारा) विशेष कर दशानन का वध कर लङ्का को सर करने की चर्चा पुरवासियों में बहुत हुआ करती है ॥ ८ ॥

एवमुक्तस्तु भद्रेण राघवो वाक्यमब्रवीत् ।
कथयस्व यथातत्त्वं सर्वं निरवशेषतः ॥ ९ ॥

भद्र के इस प्रकार कहने पर श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—यह नहीं, वे लोग जो कुछ कहा करते हैं, वह सब ज्यों की त्यों कहो ॥ ९ ॥

शुभाशुभानि वाक्यानि *यान्याहुः पुरवासिनः ।
श्रुत्वेदानीं शुभं कुर्यां न कुर्यामशुभानि च ॥ १० ॥

अर्थात् भली बुरी जो जो बातें वे कहते हों, सो सब कहो। उन सब बातों को सुन कर, मैं अच्छा ही करूँगा और बुरे काम छोड़ दूँगा ॥ १० ॥

कथयस्व च विस्रब्धो निर्भयं विगतज्वरः ।
कथयन्ति यथा पौराः पापा जनपदेषु च ॥ ११ ॥

---

* पाठान्तरे—"कान्याहुः।"

हे भद्र ! तुम निर्भय हो कर कहो । अपने मन में किसी प्रकार का सङ्कोच मत करो । मैं जानना चाहता हूँ कि, पुरवासी और जनपदवासी मेरे सम्बन्ध में क्या बुरी बुरी टीका टिप्पणी किया करते हैं ॥ ११ ॥

राघवेणैवमुक्तस्तु भद्रः सुरुचिरं वचः ।
प्रत्युवाच महाबाहुं प्राञ्जलिः सुसमाहितः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन कर, भद्र सम्हल कर और हाथ जोड़ कर अति सुन्दर वचन बोला ॥ १२ ॥

शृणु राजन्यथा पौराः कथयन्ति शुभाशुभम् ।
चत्वरापणरथ्यासु वनेषूपवनेषु च ॥ १३ ॥

हे राजन् ! वन, उपवन, हाट बाट, और चौराहों पर पुरवासी लोग जो कुछ अच्छी बुरी बातें (आपके सम्बन्ध में) कहा करते हैं, सो मैं कहता हूँ, आप सुनें ॥ १३ ॥

दुष्करं कृतवान् रामः समुद्रे सेतुबन्धनम् ।
अश्रुतं पूर्वकैः कैश्चिद्देवैरपि सदानवैः ॥ १४ ॥

वे कहते हैं—श्रीरामचन्द्र जी ने अति दुष्कर कार्य किया, जो समुद्र पर पुल बांध दिया । हमारे पुरखों ने तो क्या, देवता दानवों ने भी ऐसी अनहोनी बात नहीं सुनी थी ॥ १४ ॥

रावणश्च दुराधर्षो हतः सबलवाहनः ।
वानराश्च वशं नीता ऋक्षाश्च सह राक्षसैः ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दुर्धर्ष रावण को सेना तथा वाहनों सहित नष्ट किया है और वानरों, भालुओं और राक्षसों को अपने वश में कर लिया है ॥ १५ ॥

हत्वा च रावणं संख्ये सीतामाहृत्य राघवः ।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्ववेश्म पुनरानयत् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में रावण का संहार कर, सीता का उद्धार किया तो, किन्तु रावण ने जो सीता का स्पर्श किया था, इस पर उन्होंने कुछ भी विचार न किया और वे सीता को अयोध्या में ले आये ॥ १६ ॥

कीदृशं हृदये तस्य सीतासंभोगजं सुखम् ।
अङ्कमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम् ॥ १७ ॥

जिस सीता को पहले रावण बरजोरी अपनी गोद में उठा कर ले गया था, उसी सीता के सम्भोग का सुख श्रीरामचन्द्र जी के मन में क्यों कर अच्छा जान पड़ता है ॥ १७ ॥

लङ्कामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम् ।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न *कुत्स्यति ॥ १८ ॥

रावण ने सीता को लङ्का में ले जा कर, वहाँ अशोकवाटिका में रखा था और वहाँ सीता (सोलहों आने) रावण की मुट्ठी में थी; इन सब बातों पर विचार कर, महाराज के मन में (सीता जी के प्रति) घृणा क्यों उत्पन्न नहीं होती ॥ १८ ॥

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति ।
यथा हि कुरुते राजा प्रजा स्तमनुवर्तते ॥ १९ ॥

अब हम लोगों को भी स्त्रियों के ऐसे दोषों को (आँख बंद कर के) सह लेना पड़ेगा । क्योंकि राजा जैसा व्यवहार करता है, उसकी प्रजा भी वैसा ही व्यवहार करती है ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—"कुत्स्यते ।"

एवं बहुविधा वाचो वदन्ति पुरवासिनः ।
नगरेषु च सर्वेषु राजन् जनपदेषु च ॥ २० ॥

हे राजन्! सब नगरों और जनपदों में प्रजाजन इसी ढंग की बहुत सी बातें कहा करते हैं ॥ २० ॥

तस्यैवं भाषितं श्रुत्वा राघवः परमार्तवत् ।
उवाच सुहृदः *सर्वान्कथमेतद्वदन्तु माम् ॥ २१ ॥

भद्र के इस प्रकार के वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी परम व्याकुल हो, (वहां उपस्थित) समस्त सुहृदों से पूँछने लगे कि, क्या प्रजाजन (सचमुच) मेरे बारे में ऐसी बातें कहा सुना करते हैं? ॥२१॥

सर्वे तु शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च ।
प्रत्यूचू राघवं दीनमेवमेतन्न संशयः ॥ २२ ॥

यह सुन (वहां उपस्थित) समस्त जनों ने हाथ जोड़ और भूमि पर माथा टेक, दुःखी हो, श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे पृथिवीनाथ! निस्सन्देह यह बात ऐसी ही है ॥ २२ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं काकुत्स्थः सर्वेषां समुदीरितम् ।
विसर्जयामास तदा वयस्याञ्छत्रुसूदनः ॥ २३ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

तब शत्रुसंहारकारी काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी ने उन सब के मुख से (भद्र के कथन का) अनुमोदन सुन, उन समस्त मित्रों को अपने अपने घरों को जाने की आज्ञा दी ॥ २३ ॥

उत्तरकाण्ड का तैतालीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

* पाठान्तरे—"सर्वान्कथमेतद्ब्रवीथ ।"

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

विसृज्य तु सुहृद्वर्गं बुद्ध्या निश्चित्य राघवः ।
समीपे द्वाःस्थमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

सब हितैषी मित्रों को विदा कर और अपने मन में कुछ निर्णय कर, पास खड़े हुए द्वारपाल से श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ १ ॥

शीघ्रमानय सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
भरतं च महाभागं शत्रुघ्नमपराजितम् ॥ २ ॥

तुम शीघ्र जा कर सुमित्रानन्दन एवं शुभलक्षणसम्पन्न लक्ष्मण, महाभाग भरत और अजेय शत्रुघ्न को लिवा लाओ ॥ २ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वाद्वाःस्थो मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
लक्ष्मणस्य गृहं गत्वा प्रविवेशानिवारितः ॥ ३ ॥

द्वारपाल श्रीरामचन्द्र जी की यह आज्ञा सुनते ही हाथ जोड़, सीस नवा, पहले बड़ी फुर्ती के साथ बिना रोकटोक लक्ष्मण जी के घर में गया ॥ ३ ॥

उवाच सुमहात्मानं वर्धयित्वा कृताञ्जलिः ।
द्रष्टुमिच्छति राजा त्वां गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ ४ ॥

वहाँ जा उसने लक्ष्मण जी को प्रणाम कर उनसे कहा—महाराज आपसे मिला चाहते हैं; अतः आप वहाँ अति शीघ्र पधारें ॥ ४ ॥

वाढमित्येव सौमित्रिः कृत्वा राघवशासनम् ।
प्राद्रवद्रथमारुह्य राघवस्य निवेशनम् ॥ ५ ॥

तब लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा सुन, कहा "बहुत अच्छा"। फिर वे रथ में बैठ, बड़ी तेज़ी से श्रीरामचन्द्र जी के भवन की ओर रवाना हुए ॥ ५ ॥

प्रयान्तं लक्ष्मणं दृष्ट्वा द्वाःस्थो भरतमन्तिकात् ।
उवाच भरतं तत्र वर्धयित्वा कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥

लक्ष्मण जी को आते हुए देख, द्वारपाल विनीतभाव से भरत जी के पास गया और हाथ जोड़ कर उनसे बोला ॥ ६ ॥

विनयावनतो भूत्वा राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
भरतस्तु वचः श्रुत्वा द्वाःस्थाद्रामसमीरितम् ॥ ७ ॥

उसने भरत जी से बड़ी अधीनताई से कहा—"महाराज आपसे मिलना चाहते हैं। भरत जी द्वारपाल से श्रीरामचन्द्र जी की यह आज्ञा सुन, ॥ ७ ॥

उत्पपातासनात्तूर्णं पद्भ्यामेव *महाबलः ।
दृष्ट्वा प्रयान्तं भरतं त्वरमाणः कृताञ्जलिः ॥ ८ ॥

वे महाबली आसन छोड़ तुरन्त उठ खड़े हुए और मारे जल्दी के (सवारी आने की प्रतीक्षा न कर) पैदल ही चल दिये। भरत जी को जाते देख, द्वारपाल हाथ जोड़ कर, तुरन्त ॥ ८ ॥

शत्रुघ्नभवनं गत्वा ततो वाक्यमुवाच ह ।
एह्यागच्छ रघुश्रेष्ठ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"यशोबली।"

शत्रुघ्न के भवन में गया और उनसे भी यही बात कही कि, आइये महाराज आपसे (शीघ्र) मिलना चाहते हैं ॥ ६ ॥

गतो हि लक्ष्मणः पूर्वं भरतश्च महायशाः ।
श्रुत्वा तु वचनं तस्य शत्रुघ्नः परमासनात् ॥ १० ॥
शिरसा वन्द्य धरणीं प्रययौ यत्र राघवः ।
द्वाःस्थस्त्वागम्य रामाय सर्वानेव कृताञ्जलिः ॥११॥

द्वारपाल के मुख से यह भी सुन कि, महायशस्वी भरत और लक्ष्मण जी पहिले ही वहाँ जा चुके हैं, शत्रुघ्न जी भी आसन छोड़ तुरन्त उठ खड़े हुए और पृथिवी पर माथा टेक (श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्य कर प्रणाम कर) श्रीरामचन्द्र जी के भवन की ओर प्रस्थानित हुए। द्वारपाल ने हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी को सब ॥१०॥११॥

निवेदयामास तथा भ्रातॄन्स्वान्समुपस्थितान् ।
कुमारानागताञ्छ्रुत्वा चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥१२॥

भाइयों के आने की सूचना दी। कुमारों का आना सुन, चिन्ता से विकल ॥ १२ ॥

अवाङ्मुखो दीनमना द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ।
प्रवेशय कुमारांस्त्वं मत्समीपं त्वरान्वितः ॥ १३ ॥

नीचे को मुख किये उदास श्रीरामचन्द्र जी ने द्वारपाल से कहा—तुम शीघ्र कुमारों को मेरे पास यहाँ लिवा लाओ ॥ १३ ॥

एतेषु जीवितं मह्यमेते प्राणाः प्रिया मम ।
आज्ञप्तास्तु नरेन्द्रेण कुमाराः *शुक्लवाससः ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—" शक्तेजसः । "

क्योंकि वे ही मेरे जीवन के आधार हैं और वे ही मेरे प्राण-प्रिय हैं। श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा सुन सफेद पोशाक पहिने हुए तीनों कुँवर ॥ १४ ॥

प्रव्हाः प्राञ्जलयो भूत्वा विविशुस्ते समाहिताः ।
ते तु दृष्ट्वा मुखं तस्य सग्रहं शशिनं यथा ॥ १५ ॥
सन्ध्यागतमिवादित्यं प्रभया परिवर्जितम् ।
बाष्पपूर्णे च नयने दृष्ट्वा रामस्य धीमतः ।
हतशोभं यथा पद्मं मुखं वीक्ष्य च तस्य ते ॥ १६ ॥

बड़ी सावधानी से और हाथ जोड़े हुए श्रीरामचन्द्र जी के भवन के भीतर गये। उन लोगों ने श्रीरामचन्द्र जी का मुखमण्डल, ग्रहण लगे हुए चन्द्रमा की तरह अथवा अस्तोन्मुख सूर्य की तरह मलिन देखा। उन बुद्धिमानों ने श्रीरामचन्द्र जी की आँखों में आँसू भरे हुए देखे। शोभाहीन कमलपुष्प की तरह श्रीरामचन्द्र जी का मुख निहार, उन लोगों ने ॥ १५ ॥ १६ ॥

ततोऽभिवाद्य त्वरिताः पादौ रामस्य मूर्धभिः ।
तस्थुः समाहिताः सर्वे रामस्त्वश्रूण्यवर्तयत् ॥१७॥

श्रीरामचन्द्र जी के चरणों पर माथा टेक उनको प्रणाम किया। तदनन्तर वे हाथ जोड़े खड़े रहे। किन्तु उस समय श्रीरामचन्द्र जी केवल आँखों से आँसू बहाते रहे ॥ १७ ॥

तान्परिष्वज्य बाहुभ्यामुत्थाप्य च महाबलः ।
आसनेष्वासतेत्युक्त्वा ततो वाक्यं जगाद ह १८ ॥

(कुछ देर बाद) श्रीरामचन्द्र जी ने दोनों भुजाओं से सब को गले लगाया और उनसे आसनों पर बैठने को कहा। तदनन्तर वे बोले ॥ १८ ॥

भवन्तो मम सर्वस्वं भवन्तो जीवितं मम ।
भवद्भिश्च कृतं राज्यं पालयामि नरेश्वराः ॥ १९ ॥

हे नरवरो ! आप लोग मेरे सर्वस्व हैं। आप लोग मेरे जीवनाधार हैं। आपही के सम्पादित राज्य का मैं पालन करता हूँ॥ १९ ॥

भवन्तः कृतशास्त्रार्था बुद्ध्या च परिनिष्ठिताः ।
सम्भूय च मदर्थोऽयमन्वेष्टव्यो नरेश्वराः ॥ २० ॥

आप लोग शास्त्रों में निष्णात और बड़े चतुर हैं आप लोगों की समझ अच्छी है। अतः आप लोग मिल कर, मैं जो कहता हूँ, उस पर विचार करें ॥ २० ॥

तथा वदति काकुत्स्थे अवधानपरायणाः ।
उद्विग्नमनसः सर्वे किंनु राजाऽभिधास्यति ॥ २१ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब तीनों भाई घबड़ा कर, बड़े ध्यान से सोचने लगे कि, देखें महाराज क्या कहते हैं॥ २१ ॥

उत्तरकाण्ड का चवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीनचेतसाम् ।
उवाच वाक्यं काकुत्स्थो मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

जब वे सब कुँवर उदास हो बैठ गये; तब श्रीरामचन्द्र जी ने सूखे मुँह से कहा—॥ १ ॥

सर्वे शृणुत भद्रं वो मा कुरुध्वं मनोऽन्यथा ।
पौराणां मम सीतायां यादृशी वर्तते कथा ॥ २ ॥

हे भाइयों! आप लोगों का भला हो। मैं जो कुछ कहूँ उसके विपरीत मत चलना। मेरी सीता के बारे में पुरवासियों का जो मत है, उसे आप सब सुने ॥ २ ॥

पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।
वर्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति ॥ ३ ॥

पुरवासियों और जनपदवासियों में मेरे बारे में ऐसा भयानक अपवाद फैला हुआ है, जो मेरे मर्मस्थलों को विदीर्ण करे डालता है ॥ ३ ॥

अहं किल कुले जात इक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
सीताऽपि सत्कुले जाता जनकानां महात्मनाम् ॥ ४ ॥

देखो, मैं महात्मा इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुआ हूँ और सीता भी महात्मा जनक के कुलीनवंश की है ॥ ४ ॥

जानासि त्वं यथा सौम्य दण्डके विजने वने ।
रावणेन हृता सीता स च विध्वंसितो मया ॥ ५ ॥

हे सौम्य लक्ष्मण! तुम तो यह जानते ही हो कि, दण्डकारण्य में रावण जानकी को हर ले गया था। सो उस दुरात्मा का तो सर्वनाश मैंने कर ही डाला ॥ ५ ॥

तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना जनकस्य सुतां प्रति ।
अत्रोषितामिमां सीतामानयेयं कथं पुरीम् ॥ ६ ॥

लङ्का ही में मेरे मन में यह बात खटकी थी कि, राक्षस के घर में रही हुई सोता को मैं अपने नगर में कैसे ले चलूँ ॥ ६ ॥

प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनं तदा ।
प्रत्यक्षं तव सौमित्रे देवानां हव्यवाहनः ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण! तुम्हारी आँखों देखी बात है कि, मुझे (अपने सतीत्व का) विश्वास कराने के लिये सीता ने दहकती हुई आग में प्रवेश किया था। तब हव्यवाहन अग्निदेव ने प्रकट हो ॥ ७ ॥

अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः ।
चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां सन्निधौ पुरा ॥ ८ ॥

ऋषीणां चैव सर्वेषामपापां जनकात्मजाम् ।
एवं शुद्धसमाचारा देवगन्धर्वसन्निधौ ॥ ९ ॥

तथा आकाशस्थित वायु ने सोता को दोषरहित बतलाया था। देवताओं और ऋषियों के सामने चन्द्र और सूर्य ने भी जानकी के पापरहित होने ही की बात कही थी। ऐसी शुद्ध चरित्र वाली सीता को देवता और गन्धर्वों के सामने ॥ ८ ॥ ९ ॥

लङ्काद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेदिता ।
अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम् ॥१०॥

लङ्का में इन्द्र ने मेरे हाथ सौंपा था। इसके अतिरिक्त मेरा अन्तरात्मा भी यही कहता है कि, यशस्विनी सीता शुद्ध है ॥ १० ॥

ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः ।
अयं तु मे महान्वादः शोकश्च हृदि वर्तते ॥ ११ ॥

इसीसे मैं उसे अयोध्या में ले आया था। किन्तु अब यह महापवाद मुझको बड़ा सता रहा है ॥ ११ ॥

पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च।
अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥

पुरवासी और जनपदवासी मेरी बड़ी निन्दा करते हैं। लोक में जिसकी निन्दा या बदनामी फैल जाती है ॥ १२ ॥

पतत्येवाधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते।
अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते ॥ १३ ॥

वह व्यक्ति, जब तक उसकी वह अकीर्ति फैली रहती है, तब तक अधम लोकों में पड़ा रहता है। देवता भी अकीर्ति—(बदनामी) को बुरा बतलाते हैं। कीर्तिमान का सर्वत्र बड़प्पन समझा जाता है ॥ १३ ॥

कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम्।
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान्वा पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥

अतः महात्मा लोग कीर्तिसम्पादन के लिये सब प्रकार से उपाय किया करते हैं। हे पुरुषश्रेष्ठों! मैं अपने जीवन को और तुम लोगों तक को ॥ १४ ॥

अपवादभयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्।
तस्माद्भवन्तः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे ॥ १५ ॥

अपवाद के भय से भीत हो, परित्याग कर सकता हूँ। फिर सीता की तो बात ही क्या है। आप लोग देखें, मैं इस समय अकीर्ति रूपी शोकसागर में डूब रहा हूँ ॥ १५ ॥

न हि पश्याम्यहं भूतं किञ्चिद्दुःखमतोऽधिकम् ।
श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ॥ १६ ॥

इससे अधिक दुःख तो मुझे अन्य किसी भी प्राणी में नहीं देख पड़ता । हे लक्ष्मण ! तुम कल सवेरे सुमंत्र से रथ जुतवा कर ॥ १६ ॥

आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज ।
गङ्गायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥ १७ ॥

और उस पर सीता को सवार करा मेरे राज्य के बाहिर छोड़ आओ । गङ्गा जी के उस पार महर्षि वाल्मीकि जी का ॥ १७ ॥

आश्रमो दिव्यसङ्काशस्तमसातीरमाश्रितः ।
तत्रैनां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन ॥ १८ ॥

तमसा नदी के तट पर दिव्य आश्रम है । हे लक्ष्मण ! तुम उसी जनशून्य वन में सीता को छोड़ कर, ॥ १८ ॥

शीघ्रमागच्छ *सौमित्रे कुरुष्व वचनं मम ।
न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथञ्चन ॥ १९ ॥

शीघ्र लौट आना । हे लक्ष्मण ! तुम इतना मेरा कहना करो और सीता के बारे में मुझसे कुछ भी मत कहो ॥ १९ ॥

तस्मात्त्वं गच्छ सौमित्रे नात्र कार्या विचारणा ।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत्प्रतिवारिते ॥ २० ॥

हे लक्ष्मण ! अब तुम जाओ और इस बारे में भले बुरे का विचार मत करो । यदि तुम इसके लिये मुझे रोकोगे, तो मैं बहुत अप्रसन्न होऊँगा ॥ २० ॥

---

* पाठान्तरे—" भद्रं ते । "

शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च ।
ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथञ्चन ।
अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात् ॥ २१ ॥

मैं तुम्हें अपने दोनों चरणों की और प्राणों की शपथ दिलाता हूँ कि, इस बारे में तुम किसी प्रकार का अनुनय विनय मुझसे मत करना। यदि करोगे तो मेरे अभीष्टकार्य में बाधा पड़ेगी और मैं तुम्हें सदा अपना अहितकारी समझूँगा ॥ २१ ॥

मानयन्तु भवन्तो मां यदि मच्छासने स्थिताः ।
इतोद्य नीयतां सीता कुरुष्व वचनं मम ॥ २२ ॥

यदि तुम लोग मेरी आज्ञा मानते हो तो मैं जो कहूँ सो करो। मैं कहता हूँ सीता को यहाँ से ले जा कर मेरी आज्ञा पूरी करो ॥ २२ ॥

पूर्वमुक्तोऽहमनया गङ्गातीरेऽहमाश्रमान् ।
पश्येयमिति तस्याश्च कामः संवर्त्यतामयम् ॥ २३ ॥

इसके पूर्व एक बार सीता ने मुझसे कहा भी था कि, मैं श्रीगङ्गातटवासी मुनियों के आश्रमों को देखना चाहती हूँ। अतः ऐसा करने से उसका मन भी रह जायगा ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो बाष्पेण *पिहितेक्षणः ।
†संविवेश स धर्मात्मा [1]भ्रातृभिःपरिवारितः ।
‡शोकसंविग्नहृदयो निशश्वास यथा द्विपः ॥ २४ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

---

1 भ्रातृभिः परिवारितः—भ्रातॄन् विसृज्य स्ववेश्म प्रविवेशेत्यर्थः। (गो०)

* पाठान्तरे—"पिहिताननः।" † पाठान्तरे—"प्रविवेश।"

‡ पाठान्तरे—"शोकसंलग्नहृदयो।"

यह कहते कहते श्रीरामचन्द्र जी के नेत्रों में आँसू भर आये। वे सब को विदा कर स्वयं भी अपने भवन में चले आये। उनका हृदय शोकसन्तप्त हो गया और वे हाथी की तरह लंबी साँसे लेने लगे ॥ २५ ॥

उत्तरकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

ततो रजन्यां व्युष्टायां लक्ष्मणो दीनचेतनः।
सुमन्त्रमब्रवीद्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

जब रात बीती और भोर हुआ; तब उदास और शुष्कवदन लक्ष्मण जी ने सुमंत्र से कहा ॥ १ ॥

सारथे तुरगान् शीघ्रान्योजयस्व रथोत्तमे।
स्वास्तीर्णं राजवचनात्सीतायाश्चासनं *शुभम् ॥ २ ॥

सीता हि राजवचनादाश्रमं पुण्यकर्मणाम्।
मया नेया महर्षीणां शीघ्रमानीयतां रथः ॥ ३ ॥

हे सारथे! श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा है। तुम शीघ्रगामी घोड़े रथ में जोतो और रथ में सीता जी के बैठने योग्य बिछौना बिछाओ। क्योंकि महाराज के आज्ञानुसार सीता को पवित्रकर्मा ऋषियों के आश्रम में ले चलना है। अतः तुम शीघ्र रथ तैयार कर के ले आओ ॥ २ ॥ ३ ॥

* पाठान्तरे—"कुरु।"

सुमन्त्रस्तु तथेत्युक्त्वा युक्तं परमवाजिभिः ।
रथं सुरुचिरप्रख्यं स्वास्तीर्णं सुखशय्यया ॥ ४ ॥
अनीयोवाच सैामित्रिं मित्राणां मानवर्धनम् ।
रथोऽयं समनुप्राप्तो यत्कार्यं क्रियतां प्रभो ॥ ५ ॥

सुमंत्र—"जो आज्ञा" कह कर और रथ में उत्तम घोड़े जोत तथा सुखदायी मुलायम बिछौने बिछा, रथ ले आये और मित्रों का मान बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी से बोले—हे प्रभो! रथ तैयार है, अब जो काम करना हो सो कीजिये ॥ ४ ॥ ५ ॥

एवमुक्तः सुमन्त्रेण राजवेश्मनि लक्ष्मणः ।
प्रविश्य सीतामासाद्य व्याजहार नरर्षभः ॥ ६ ॥

नरश्रेष्ठ लक्ष्मण जी सुमंत्र के यह वचन सुन, राजभवन में सीता जी के निकट जा उनसे बोले ॥ ६ ॥

त्वया किलैष नृपतिर्वरं वै याचितः प्रभुः ।
नृपेण च प्रतिज्ञातमाज्ञप्तश्चाश्रमं प्रति ॥ ७ ॥

हे वैदेहि! आपने श्रीमहाराज से श्रीगङ्गातटवासी ऋषियों के आश्रमों को देखने की प्रार्थना की थी और उन्होंने आपकी प्रार्थना मान कर आपको आश्रमों को दिखाना स्वीकार किया था। अतः महाराज ने इस समय आपको ले जाने के लिये मुझको आज्ञा दी है ॥ ७ ॥

गङ्गातीरे मया देवि ऋषीणामाश्रमान् शुभान् ।
शीघ्रं गत्वा तु वैदेहि शासनात्पार्थिवस्य नः ॥ ८ ॥

अतः हे देवि ! आप श्रीगङ्गातटवासी ऋषियों के पवित्र आश्रमों को देखने के लिये चलिये। मैं महाराज की आज्ञा से आपको शीघ्र ॥ ८॥

अरण्ये मुनिभिर्जुष्टे अवनेया भविष्यसि ।
एवमुक्तातु वैदेही लक्ष्मणेन महात्मना ॥ ९ ॥

मुनिसेवित वन में ले चलूँगा। महात्मा लक्ष्मण जी के ऐसा कहने पर, सीता जी ॥ ६ ॥

प्रहर्षमतुलं लेभे गमनं चाप्यरोचयत् ।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ १० ॥

अत्यन्त हर्षित हो जाने को तैयार हो गयीं। उन्होंने (मुनि पत्नियों को देने के लिये) मूल्यवान् वस्त्र और विविध प्रकार के रत्न अपने साथ लिये ॥ १० ॥

गृहीत्वा तानि वैदेही गमनायोपचक्रमे ।
इमानि मुनिपत्नीनां दास्याम्याभरणान्यहम् ॥११॥

इस प्रकार यात्रा की तैयारी कर, उन्होंने लक्ष्मण जी से कहा— हे लक्ष्मण ! मैं मुनिपत्नियों को ये बहुमूल्य आभरण दूँगी ॥ ११ ॥

वस्त्राणि च महार्हाणि धनानि विविधानि च ।
सौमित्रिस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारोप्य मैथिलीम् ॥१२॥

इनके अतिरिक्त बढ़िया वस्त्र और विविध प्रकार के रत्नादि मैं दान करूँगी। लक्ष्मण जी ने "बहुत अच्छी बात है," कह कर, सीता जी को रथ पर बैठाया ॥ १२ ॥

प्रययौ *शीघ्रतुरगं रामस्याज्ञामनुस्मरन्।
अब्रवीच्च तदा सीता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १३ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा को स्मरण कर, वे शीघ्र चलने वाले घोड़ों के रथ में बैठ चल दिये। उस समय सीता जी ने कान्तिवान लक्ष्मण जी से कहा ॥ १३ ॥

अशुभानि बहून्येव पश्यामि रघुनन्दन।
नयनं मे स्फुरत्यद्य गात्रोत्कम्पश्च जायते ॥ १४ ॥

हे रघुनन्दन! इस यात्रा में मुझे बड़े बड़े अशकुन देख पड़ते हैं। देखो, इस समय मेरी दहिनी आंख फड़क रही है और मेरा शरीर कांप रहा है ॥ १४ ॥

हृदयं चैव सौमित्रे अस्वस्थमिव लक्षये।
औत्सुक्यं परमं चापि अधृतिश्च परा मम ॥ १५ ॥

हे लक्ष्मण! मुझे अपना हृदय भी रोगग्रस्त मनुष्य जैसा जान पड़ता है। मुझे बड़ी उत्कण्ठा भी हो रही है और महान् अधैर्य से मैं विकल हूँ ॥ १५ ॥

शून्यामेव च पश्यामि पृथिवीं पृथुलोचन।
अपि स्वस्ति भवेत्तस्य भ्रातुस्ते भ्रातृवत्सल ॥ १६ ॥

हे विशाललोचन! मुझे यह पृथिवी सुखशून्य देख पड़ती है। हे भ्रातृवत्सल! क्या तुम्हारे बड़े भाई का तो कोई अमङ्गल नहीं हुआ? ॥ १६ ॥

श्वश्रूणां चैव मे वीर सर्वासामविशेषतः।
पुरे जनपदे चैव कुशलं प्राणिनामपि ॥ १७ ॥

---

* पाठान्तरे—"शीघ्रतुरगै।"

हे वीर! विशेष कर मेरी सासें तो सब प्रकार से प्रसन्न हैं? पुरवासी और जनपदवासी तो सब सकुशल हैं? ॥ १७ ॥

इत्यञ्जलि कृता सीता देवता अभ्ययाचत ।
लक्ष्मणोऽर्थं *ततः श्रुत्वा शिरसा वन्द्य मैथिलीम् ॥१८॥

यह कह सीता जी हाथ जोड़ कर, देवताओं की मनौती मनाने लगीं। तब सीता जी की सब बातें सुन, लक्ष्मण जी ने सिर झुका कर, सीता जी को प्रणाम किया ॥ १८ ॥

शिवमित्यब्रवीद्धृष्टो हृदयेन विशुष्यता ।
ततो वासमुपागम्य गोमतीतीर आश्रमे ॥ १९ ॥

और हृदय के भाव को हृदय ही में दबा कर, बनावटी प्रसन्नता प्रकट कर, बोले—हे देवि! सब मङ्गल है। तदनन्तर जाते जाते लक्ष्मण जी गोमती के तीरवर्ती आश्रम में पहुँचे और रात भर वहीं रहे ॥ १६ ॥

प्रभाते पुनरुत्थाय सौमित्रिः सूतमब्रवीत् ।
योजयस्व रथं शीघ्रमद्य भागीरथीजलम् ॥ २० ॥

सवेरा होने पर लक्ष्मण जी ने उठ कर, सुमंत्र से कहा शीघ्र रथ जोतो। आज मैं भागीरथी का जल ॥ २० ॥

शिरसा धारयिष्यामि †त्रियम्बक इवौजसा ।
सोऽश्वान्विचारयित्वा[1] तु रथे युक्तान्मनोजवान् ॥२१॥

---

1 विचारयित्वा रथेयुक्तानश्वान्विचारयित्वा, अतिचाञ्चल्यकिञ्चिन्निवृत्तये इतस्ततः सञ्चाल्य। (शि०)

* पाठान्तरे—"तु तं।" † पाठान्तरे—"त्र्यम्बकः पर्वते यथा।"

श्रीशिव जी की तरह अपने मस्तक पर धारण करूँगा (अर्थात् गङ्गा स्नान करूँगा। यह आज्ञा पा कर, सुमंत्र ने मन के समान वेगवान घोड़ों को घुमा फिरा कर, रथ में जोता ॥ २१ ॥

आरोहस्वेति वैदेहीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
सा तु सूतस्य वचनादारुरोह रथोत्तमम् ॥ २२ ॥

और हाथ जोड़ कर जनकनन्दिनी से कहा कि, आप रथ पर सवार हों। सुमंत्र के कहने से सीता जी रथ पर जा बैठीं ॥ २२ ॥

सीता सौमित्रिणा सार्धं सुमन्त्रेण च धीमता ।
आससाद विशालाक्षी गङ्गां पापविनाशिनीम् ॥२३॥

जानकी जी, लक्ष्मण जी और बुद्धिमान सुमंत्र ; तीनों उस रथ पर बैठ कर वहाँ से रवाना हुए। चलते चलते विशालाक्षी जानकी, गङ्गा के तट पर जा पहुँची ॥ २३ ॥

अथार्धदिवसं गत्वा भागीरथ्याजलाशयम् ।
निरीक्ष्य लक्ष्मणो दीनः प्ररुरोद महास्वनः ॥ २४ ॥

(सवेरे के चले हुए) लक्ष्मण जी (जानकी सहित) दोपहर होते होते भागीरथी श्रीगङ्गा जी के तट पर पहुँचे। श्रीगङ्गा जी को देख, लक्ष्मण अपने को न सम्हाल सके। वे दुखी हो ज़ोर से रोने लगे ॥ २४ ॥

सीता तु परमायत्ता दृष्ट्वा लक्ष्मणमातुरम् ।
उवाच वाक्यं धर्मज्ञा किमिदं रुद्यते त्वया ॥ २५ ॥

तब धर्मज्ञा सीता जी लक्ष्मण जी को आतुर देख अत्यन्त दुःखी हो उनसे बोलीं कि, हे लक्ष्मण! तुम किस लिये रोते हो? ॥२५॥

जाह्नवीतीरमासाद्य चिराभिलषितं मम ।
हर्षकाले किमर्थं मां विषादयसि लक्ष्मण ॥ २६ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरी बहुत दिनों से अभिलाषा थी कि, मैं गङ्गा जी के तीर पर चलूँ, से मैं आज यहाँ आयी हूँ। सो इससे तो तुमको इस समय हर्षित होना था। इसके विपरीत तुम रो रो कर मुझे दुःखी क्यों कर रहे हो ॥ २६ ॥

नित्यं त्वं रामपार्श्वेषु वर्तसे पुरुषर्षभ ।
कच्चिद्विनाकृतस्तेन द्विरात्रं शोकमागतः ॥ २७ ॥

तुम सदा श्रीरामचन्द्र जी के पास रहते हो, अतएव क्या दो दिन का अन्तर पड़ने से तुमको विषाद हो रहा है ॥ २७ ॥

ममापि दयितो रामो जीवितादपि लक्ष्मण ।
न चाहमेवं शोचामि मैवं त्वं बालिशो भव ॥ २८ ॥

हे लक्ष्मण ! यद्यपि श्रीराम जी तो मुझको अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं ; तथापि मैं तो दुखी नहीं होती। अतः तुम ऐसा लड़कपन (मूर्खता) मत करो ॥ २८ ॥

तारयस्व च मां गङ्गां दर्शयस्व च तापसान् ।
ततो मुनिभ्यो दास्यामि वासांस्याभरणानि च ॥२९॥

तुम मुझे गङ्गा के उस पार ले चलो और वहाँ मुझे तपस्वियों के दर्शन कराओ। जिससे मैं उनको वस्त्राभरण भेंट करूँ ॥ २९ ॥

ततः कृत्वा महर्षीणां *यथार्हमभिवादनम् ।
तत्र चैकां निशामुष्य यास्यामस्तां पुरीं पुनः ॥ ३० ॥

* पाठान्तरे—" यथावदभिवादनम् । "

और उन महर्षियों को यथायोग्य प्रणाम करूँ। तदनन्तर एक रात वहाँ रह कर, अयोध्यापुरी को लौट चलूँ ॥ ३० ॥

ममापि पद्मपत्राक्षं सिंहोरस्कं कृशोदरम् ।
त्वरते हि मनो द्रष्टुं रामं रमयतांवरम् ॥ ३१ ॥

क्योंकि मेरा मन भी उन कमलनयन, सिंह की तरह छाती वाले, कृशोदर, पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिये उतावला हो रहा है ॥ ३१ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा प्रमृज्य नयने शुभे ।
नाविकानाह्वयामास लक्ष्मणः परवीरहा ।
इयं च सज्जा नौश्चेति दाशाः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ॥ ३२ ॥

सीता जी के ये वचन सुन कर, रिपुनाशकारी लक्ष्मण जी ने अपने दोनों सुन्दर नेत्र पोंछे और मल्लाहों को बुलाया। बुलाते ही वे आये और हाथ जोड़ कर बोले कि, महाराज! नाव तैयार है ॥ ३२ ॥

तितीर्षुर्लक्ष्मणो गङ्गां शुभां नावमुपारुहत् ।
गङ्गां सन्तारयामास लक्ष्मणस्तां समाहितः ॥ ३३ ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

पुण्यसलिला जान्हवी के पार होने की इच्छा से लक्ष्मण जी, सीता सहित नाव पर बैठे और बड़ी सावधानी से वे गङ्गा के पार पहुँच गये ॥ ३३ ॥

उत्तरकाण्ड का छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

[नोट—यद्यपि ४६वें सर्ग के समाप्त करते हुए आदिकवि ने, एक ही श्लोक में लक्ष्मण का श्रीगङ्गा जी के पार होना लिख दिया है, तथापि इस सर्ग में श्रीगङ्गा जी के पार होने का वर्णन विस्तार से किया है।]

अथ नावं सुविस्तीर्णां नैषादीं राघवानुजः।
आरुरोह समायुक्तां पूर्वमारोप्य मैथिलीम् ॥ १ ॥

मल्लाहों की लायी हुई सजी सजायी बड़ी नाव पर पहिले जानकी जी को बैठा, फिर लक्ष्मण जी स्वयं उस पर सवार हुए ॥ १ ॥

सुमन्त्रं चैव सरथं स्थीयतामिति लक्ष्मणः।
उवाच शोकसन्तप्तः प्रयाहीति च नाविकम् ॥ २ ॥

तदनन्तर सुमंत्र से कहा—"तुम रथ सहित इसी पार रहो।" फिर शोकाकुल हो मल्लाहों से कहा कि—"नाव चलाओ" ॥ २ ॥

ततस्तीरमुपागम्य भागीरथ्याः स लक्ष्मणः।
उवाच मैथिलीं वाक्यं प्राञ्जलिर्बाष्पसंप्लुतः ॥ ३ ॥

श्रीगङ्गा जी के उस पार पहुँच कर, लक्ष्मण जी आँखों में आँसू भर, गद्गद कण्ठ से सीता जी से बोले ॥ ३ ॥

हृद्गतं मे महच्छल्यं यस्मादार्येण धीमता।
अस्मिन्निमित्ते वैदेहि लोकस्य वचनीकृतः ॥ ४ ॥

हे विदेहकुमारी! ऐसे बुद्धिमान महाराज ने इस निन्द्यकर्म में मुझे नियुक्त कर, मुझे संसार में निन्दा का पात्र बनाया है। इसलिये यह कार्य मेरे हृदय में काँटे की तरह चुभ रहा है ॥ ४ ॥

श्रेयो हि मरणं मेऽद्य मृत्युर्वा यत्परं भवेत् ।
नचास्मिन्नीदृशे कार्ये नियोज्यो लोकनिन्दिते ॥ ५ ॥

ऐसे लोकनिन्दित काम करने की अपेक्षा तो, यदि मैं मर जाता तो बहुत ही अच्छा था। मेरे लिये बड़ा अच्छा होता, यदि मैं इस जाल में न फाँसा जाता ॥ ५ ॥

प्रसीद च न मे पापं कर्तुमर्हसि शोभने ।
इत्यञ्जलिकृतो भूमौ निपपात स लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

हे शोभने! तुम प्रसन्न हो। तुम मुझे दोष मत देना। यह कह कर लक्ष्मण जी हाथ जोड़े हुए, ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ६ ॥

रुदन्तं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा काङ्क्षन्तं मृत्युमात्मनः ।
मैथिली भृशसंविग्ना लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

जब लक्ष्मण जी हाथ जोड़े, पृथिवी पर गिर कर अपना मरना मनाने लगे, तब सीता ने लक्ष्मण जी की ऐसी दशा देख, अत्यन्त घबड़ा कर उनसे कहा ॥ ७ ॥

किमिदं नावगच्छामि ब्रूहि तत्त्वेन लक्ष्मण ।
पश्यामि त्वां न च स्वस्थमपि क्षेमं महीपतेः ॥ ८ ॥

हे लक्ष्मण! मेरी समझ में नहीं आता कि, बात क्या है? मुझे साफ साफ बतलाओ। मैं देखती हूँ कि, तुम अति विकल हो सो महाराज तो सकुशल हैं? ॥ ८ ॥

शापितोसि नरेन्द्रेण यत्त्वं सन्तापमागतः ।
तद्ब्रूयाः सन्निधौ मह्यमहमाज्ञापयामि ते ॥ ९ ॥

हे वत्स! तुमको महाराज की शपथ है। बतलाओ तुम्हारे इस प्रकार सन्तप्त होने का कारण क्या है? मैं तुम्हें आज्ञा देती हूँ॥ ९॥

वैदेह्या चोद्यमानस्तु लक्ष्मणो दीनचेतनः।
अवाङ्मुखो *बाष्पगलो वाक्यमेतदुवाचह॥ १०॥

जब सीता जी ने इस प्रकार शपथ दी, तब लक्ष्मण जी बड़े दीन हो, नीचे को मुँह कर, गद्गद कण्ठ से यह बोले॥ १०॥

श्रुत्वा परिषदो मध्ये ह्यपवादं सुदारुणम्।
पुरे जनपदे चैव त्वत्कृते जनकात्मजे॥ ११॥

हे जनकनन्दिनी! राजधानी और राज्य भर में तुम्हारे सम्बन्ध में जो महादारुण अपवाद फैला हुआ है, उसे सभा में सुन,॥ ११॥

रामः सन्तप्तहृदयो मां निवेद्य गृहं गतः।
न तानि वचनीयानि मया देवि तवाग्रतः॥ १२॥

श्रीरामचन्द्र जी बड़े दुःखी हुए और मुझे समस्त वृत्तान्त बतला राजभवन में चले गये। हे देवि! वे सब बातें, आपके सामने कहने योग्य नहीं हैं॥ १२॥

यानि राज्ञा हृदि न्यस्तान्यमर्षात्पृष्ठतः कृतः।
सा त्वं त्यक्ता नृपतिना निर्दोषा मम सन्निधौ॥१३॥

महाराज ने उनको अपने मन ही में छिपा कर रखा है। मैंने उन्हें सुना अनसुना कर दिया है। (उन बातों का सारांश यह है कि) महाराज ने आपका त्याग किया है। किन्तु मेरी दृष्टि में

* पाठान्तरे—"बाष्पकलं।"

आप सर्वथा निर्दोषा हैं अथवा महाराज ने मेरे सामने आपको निर्दोष बतलाया है ॥ १३ ॥

पौरापवादभीतेन ग्राह्यं देवि न तेऽन्यथा ।
आश्रमान्तेषु च मया त्यक्तव्या त्वं भविष्यसि ॥१४॥

परन्तु वे पुरवासियों के अपवाद से डरते हैं। आप और कुछ न समझें। मैं आपको यहां आश्रम के समीप छोड़ जाऊँगा ॥ १४ ॥

राज्ञः *शासनमादाय तथैव किल दौर्हृदम् ।
तदेतज्जाह्नवीतीरे ब्रह्मर्षीणां तपोवनम् ॥ १५ ॥

क्योंकि राजा की आज्ञा और गर्भिणी स्त्री की अभिलाषा अवश्य पूरी करनी चाहिये। अतः श्रीगङ्गा जी के तट पर ब्रह्मर्षियों के तपोवन में ॥ १५ ॥

पुण्यं च रमणीयं च मा विषादं कृथाः शुभे ।
राज्ञो †दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥
सखा परमको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशाः ।
पादच्छायामुपागम्य सुखमस्य महात्मनः ।
उपवासपरैकाग्रा वस त्वं जनकात्मजे ॥ १७ ॥

जो अतिरम्य और पवित्र है, मैं आपको त्यागूँगा। आप यहाँ रहैं और शोक न करें। हे शुभे! मेरे पिता महाराज दशरथ के मुनिश्रेष्ठ, महायशस्वी विप्र वाल्मीकि बड़े मित्र हैं। हे सीते! अतः आप उन्हीं महात्मा के चरणों में पहुँच, सावधानता पूर्वक उनकी सेवा करती हुई सुख से रहैं ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

* पाठान्तरे—"शासनमाज्ञाय तवेदं ।"

† पाठान्तरे—"दशरथस्येष्टः ।"

[नोट—महर्षि वाल्मीकि के लिये "विप्र" एवं "महायशस्वी" का विशेषण देना और उनको अपने पिता का मित्र बतलाना यह प्रकट करता है कि, सीता का वाल्मीकि के पास रहना अपवादमूलक न होगा ।]

पतिव्रतात्वमास्थाय रामं कृत्वा सदा हृदि ।
श्रेयस्ते परमं देवि तथा कृत्वा भविष्यति ॥ १८ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे सीते ! आप श्रीरामचन्द्र जी का अपने हृदय में ध्यान करती हुई, पातिव्रतधर्म का पालन करें। बस इसीसे आपका परम कल्याण होगा ॥ १८ ॥

उत्तरकाण्ड का सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दारुणं जनकात्मजा ।
परं विषादमागम्य वैदेही निपपात ह ॥ १ ॥

जनकनन्दिनी महारानी वैदेही जी, लक्ष्मण जी के मुख से इन कठोर वचनों को सुन कर, अत्यन्त दुःखी हुईं और पृथिवी पर गिर पड़ीं ॥ १ ॥

सा मुहूर्तमिवासंज्ञा बाष्पपर्याकुलेक्षणा ।
लक्ष्मणं दीनया वाचा उवाच जनकात्मजा ॥ २ ॥

वे कुछ देर अचेत रह कर उठीं और आँखों में आँसू भर कर एवं दीन हो लक्ष्मण जी से कहने लगीं ॥ २ ॥

मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण।
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्तिः प्रदृश्यते ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण! विधाता ने मेरा शरीर दुःख भोगने ही के लिये बनाया है। इसीसे आज दुःख मुझे मूर्ति धारण कर दिखाई देता है॥ ३॥

किंनु पापं कृतं पूर्वं को वा दारैर्वियोजितः।
याऽहं शुद्धसमाचारा त्यक्ता नृपतिना सती ॥ ४ ॥

नहीं मालूम, पूर्वजन्म में मैंने क्या पाप किया था, अथवा किसका स्त्री से वियोग करवाया था, जिसके कारण मेरे शुद्ध चरित्र और पतिव्रता होने पर भी मेरे पति से मेरा वियोग किया जाता है॥ ४॥

पुराऽहमाश्रमे वासं रामपादानुवर्तिनी।
अनुरुध्यापि सौमित्रे दुःखे च परिवर्तिनी ॥ ५ ॥

पहिले भी श्रीरामचन्द्र के साथ वन में वास कर श्रीरामचन्द्र के चरणों की सेवा की। किन्तु हे लक्ष्मण! आश्रम में रह कर दुःख झेलते हुए भी, मैंने स्वामी के संग रहने के कारण उन दुःखों को सुख ही माना॥ ५॥

सा कथं ह्याश्रमे सौम्य वत्स्यामि विजनी कृता।
आख्यास्यामि च कस्याहं दुःखं दुःखपरायणा ॥६॥

हे सौम्य! अब मैं इस जनशून्य आश्रम में कैसे रह सकूँगी? मैं महादुःखियारी किसके आगे अपना दुःख रोऊँगी॥ ६॥

किंनु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो।
कस्मिन्वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! ऋषियों के पूछने पर मैं उनको क्या उत्तर दूँगी ? क्योंकि मैंने तो कोई दुष्कर्म किया नहीं। फिर मैं उनसे महात्मा श्रीरामचन्द्र द्वारा अपना परित्याग किये जाने का क्या कारण बतलाऊँगी ॥ ७ ॥

न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले ।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते ॥ ८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तो श्रीगङ्गा में कूद कर अपने प्राण गवाँ देती। पर ऐसा भी तो मैं नहीं कर सकती। क्योंकि यदि मैं ऐसा करूँ तो राजवंश का और मेरे पति का परिहास होगा ॥ ८ ॥

यथाज्ञं कुरु सौमित्रे त्यज्य मां दुःखभागिनीम् ।
निदेशे स्थीयतां राज्ञः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९ ॥

हे सुमित्रानन्दन ! तुम उनकी आज्ञा के अनुसार ही काम करो। मुझ दुःखियारी को यहाँ छोड़ जाओ। किन्तु अब मैं जो कहती हूँ उसे सुनो ॥ ९ ॥

श्वश्रूणामविशेषेण प्राञ्जलिप्रग्रहेण च ।
शिरसा वन्द्य चरणौ कुशलं ब्रूहि पार्थिवम् ॥ १० ॥

पहिले तो विशेष कर मेरी ओर से हाथ जोड़ कर और चरणों में माथा टेक कर, मेरी सब सासों से और फिर महाराज से कुशल पूँछना ॥ १० ॥

शिरसाभिनतो ब्रूयाः सर्वासामेव लक्ष्मण ।
वक्तव्यश्चापि नृपतिर्धर्मेषु सुसमाहितः ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण ! सब को सिर झुका कर मेरा प्रणाम कहना और अपने धर्म में सदा सावधान रहने वाले महाराज से कहना ॥ ११ ॥

जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव ।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः ॥१२॥

हे रघुनन्दन ! तुमको तो भली भाँति मालूम ही है कि, तुम्हारी सीता शुद्धचरित्रा है और सदा तुममें भक्ति रखती हुई तुम्हारा हित चाहती रहती है ॥ १२ ॥

अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने ।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः ॥ १३ ॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः ।
वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मेण सुसमाहितः ॥ १४ ॥

हे वीर ! तुमने अपवाद के भय से मेरा परित्याग किया है। यदि मुझे त्यागने से तुम्हारा अपवाद नष्ट होता हो, तो मुझे यह भी स्वीकार है । क्योंकि मेरे लिये तो तुम्हीं मेरी परमगति हो। यह बात तुम धर्म में सदा सावधान रहने वाले महाराज से कह देना ॥ १३ ॥ १४ ॥

यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा ।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा ॥ १५ ॥

(महाराज को) जैसे तुम भाइयों के साथ व्यवहार करते हो वैसे ही पुरवासियों के साथ व्यवहार करना । यही तुम्हारा कर्त्तव्य है । इसीसे तुमको उत्तम से उत्तम कीर्त्ति प्राप्त होगी ॥ १५ ॥

यत्तु पौरजने राजन्धर्मेण समवाप्नुयात् ।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ ॥ १६ ॥

(लक्ष्मण यह भी कह देना कि) जैसे हो वैसे पुरवासियों के अपवाद से तुम अपने को बचाओ अथवा धर्मसहित पुरवासियों

के साथ व्यवहार करना ही तुम्हारा धर्म है। (इसके साथ ही यह भी कह देना कि) हे नरश्रेष्ठ ! मुझे अपने शरीर की रत्ती भर भी चिन्ता नहीं है ॥ १६ ॥

यथापवादः पौराणां तथैव रघुनन्दन ।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ॥ १७ ॥

हे रघुनन्दन ! अतएव जिस प्रकार पुरवासियों का अपवाद छूटे तुम वैसा ही करो। (रही मैं सो) नारी के लिये उसका पति ही देवता है, पति ही उसका बन्धु है और पति ही उसका गुरु (अर्थात् पूज्य) है ॥ १७ ॥

प्राणैरपि प्रियं तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः ।
इति मद्वचनाद्रामो वक्तव्यो मम संग्रहः ॥ १८ ॥

इस लिये स्त्री को चाहिये कि, अपने प्राण का दाँव लगा कर भी पति का मनचाहा कार्य करे। हे लक्ष्मण ! मेरा यह संदेसा जाकर तुम महाराज से कह देना ॥ १८ ॥

निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतुकालातिवर्तिनीम् ।
एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां लक्ष्मणो दीनचेतनः ॥ १९ ॥

जाओ और यह भी देखते जाओ कि, इस समय मैं गर्भवती हूँ। जब जानकी जी ने ऐसा कहा तब लक्ष्मण जी बड़े दुःखी हुए ॥ १९ ॥

शिरसा वन्द्य धरणीं व्याहर्तुं न शशाक ह ।
प्रदक्षिणं च तां कृत्वा रुदन्नेव महास्वनः ॥ २० ॥

फिर उन्होंने सीता जी को प्रणाम करने के लिये अपना माथा पृथिवी पर टेका। (कहने की इच्छा रहने पर भी) वे कुछ न

कह सके और महारानी की प्रदक्षिणा कर उच्चस्वर से रोने लगे ॥ २० ॥

ध्यात्वा मुहूर्तं तामाह किं मां वक्ष्यसि शोभने ।
दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे ॥ २१ ॥

फिर वे थोड़ी देर बाद कुछ सोच कर कहने लगे—हे शोभने ! यह तुम क्या कहती हो ? (कि तुम मुझे देखते जाओ) हे अनघे ! मैंने तो आज तक कभी तुम्हारा रूप नहीं देखा । मेरी दृष्टि तो सदा तुम्हारे चरणों ही में रही है ॥ २१ ॥

कथमत्र हि पश्यामि रामेण रहितां वने ।
इत्युक्त्वा तां नमस्कृत्य पुनर्नावमुपारुहत् ॥ २२ ॥

फिर मैं श्रीरामचन्द्र जी के पीठ पीछे इस निर्जनवन में किस प्रकार तुमको देख सकता हूँ । यह कह और जानकी जी को नमस्कार कर, लक्ष्मण नाव पर चढ़े ॥ २२ ॥

आरोह पुनर्नावं नाविकं चाभ्यचोदयत् ।
स गत्वा चोत्तरं तीरं शोकभारसमन्वितः ॥ २३ ॥

फिर नाव पर सवार हो उन्होंने मल्लाह से कहा—नाव उस पार ले चलो । इस प्रकार अत्यन्त दुःखी लक्ष्मण गङ्गा जी के उत्तर तट पर आये ॥ २३ ॥

संमूढ इव दुःखेन रथमध्यारुहद्द्रुतम् ।
मुहुर्मुहुः परावृत्य दृष्ट्वा सीतामनाथवत् ॥ २४ ॥

शोक से विह्वल लक्ष्मण जी तुरन्त रथ पर सवार हुए, किन्तु बार बार पीछे की ओर फिर कर अनाथ की तरह (बैठी हुई) जानकी जी को देखते जाते थे ॥ २४ ॥

चेष्टन्तीं परतीरस्थां लक्ष्मणः प्रययावथ ।
दूरस्थं रथमालोक्य लक्ष्मणं च मुहुर्मुहुः ।
निरीक्षमाणां तूद्विग्नां सीतां शोकः समाविशत् ॥२५॥

लक्ष्मण जी ने देखा कि, दुखियारी महारानी सीता गङ्गा के उस पार छटपटा रही हैं। जब सीता जी ने देखा कि, लक्ष्मण जी का रथ धीरे धीरे दूर निकल गया; तब वे और भी अधिक शोकातुर हो गयीं ॥ २५ ॥

सा दुःखभारावनता यशस्विनी
यशोधरा नाथमपश्यती सती ।
रुरोद सा बर्हिणनादिते वने
महास्वनं दुःखपरायणा सती ॥ २६ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

फिर दुःखभार से दबी हुई पतिव्रता एवं यशस्विनी सीता, अपने स्वामी श्रीरामचन्द्र जी को न देख कर, मयूरों से शब्दायमान उस वन में बड़े ज़ोर से रोने लगी ॥ २६ ॥

उत्तरकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

सीतां तु रुदतीं दृष्ट्वा ते तत्र मुनिदारकाः ।
प्राद्रवन्यत्र भगवानास्ते वाल्मीकिरग्र्यधीः ॥ १ ॥

अभिवाद्य मुनेः पादौ मुनिपुत्रा महर्षये ।
सर्वे निवेदयामासुस्तस्यास्तु रुदितस्वनम् ॥ २ ॥

उस स्थान के निकट ही मुनिकुमार (खेल रहे) थे । जब उन्होंने सीता को रोते देखा, तब वे सब तुरन्त दौड़ कर, बड़े बुद्धिमान वाल्मीकि जी के पास गये और उनके चरणों में सीस नवा एवं उनको प्रणाम कर उनसे सीता के रोने का हाल कहा ॥ १ ॥ २ ॥

अदृष्टपूर्वा भगवन्कस्याप्येषा महात्मनः ।
पत्नी श्रीरिव संमोहाद्विरौति विकृतानना ॥ ३ ॥

वे बोले—भगवन् ! जिसको पहिले हम लोगों ने कभी नहीं देखा, वह किसी बड़े आदमी की एक स्त्री बुरा मुँह बना अर्थात् बुरी तरह रो रही है । रूप में वह लक्ष्मी के समान है ॥ ३ ॥

भगवन्साधु पश्येस्त्वं देवतामिव खाच्च्युताम् ।
नद्यास्तु तीरे भगवन्वरस्त्री कापि दुःखिता ॥ ४ ॥

हे महर्षे ! आप चल कर उसे गङ्गा के किनारे देखिये । वह स्त्री तो ऐसी जान पड़ती है, मानों स्वर्ग से कोई देवी धराधाम पर उतर आयी हो । हे भगवन् ! वह कोई सुन्दरी स्त्री बहुत दुखी हो रही है ॥ ४ ॥

दृष्टाऽस्माभिः प्ररुदिता दृढं शोकपरायणा ।
अनर्हा दुःखशोकाभ्यामेका दीना अनाथवत् ॥५॥

यद्यपि वह दुखी होने और शोक करने के योग्य नहीं है, तथापि वह बड़े शोक से विकल है और अनाथ की तरह अकेली उच्चस्वर से रो रही है ॥ ५ ॥

*न ह्येनां मानुषीं विद्मः सत्क्रियाऽस्याः प्रयुज्यताम् ।
आश्रमस्याविदूरे च त्वामियं शरणं गता ॥ ६ ॥

हमें तो वह मनुष्य की स्त्री नहीं जान पड़ती। आप चल कर उसका सत्कार कीजिये। वह आपके आश्रम के निकट ही है। वह बेचारी पतिव्रता आपके शरण में आयी है ॥ ६ ॥

त्रातारमिच्छते साध्वी भगवंस्त्रातुमर्हसि ॥ ७ ॥

वह रक्षक की चाहना रखती है, अतः आप उसकी (चल कर) रक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा बुद्धया निश्चित्य धर्मवित् ।
तपसा लब्धचक्षुष्मान्प्राद्रवद्यत्र मैथिली ॥ ८ ॥

उन मुनिकुमारों की ये बातें सुन और (योगबल से) ध्यान द्वारा सब हाल जान कर, तपःप्रभाव से ज्ञानरूपी चक्षुओं से देखने वाले महर्षि वाल्मीकि, बड़ी शीघ्रता से उस ओर गये, जिस ओर जानकी जी बैठी हुई (रुदन कर रही थीं) ॥ ८ ॥

तं प्रयान्तमभिप्रेत्य शिष्या ह्येनं महामतिम् ।
तं तु देशमभिप्रेत्य किञ्चित्पद्भ्यां महामतिः ॥९॥

महामतिमान् वाल्मीकि जी को जाते देख, उनके शिष्य भी उनके पीछे लग लिये। ऋषि थोड़ी ही दूर तेज़ी के साथ पैदल चल कर, ॥ ९ ॥

अर्घ्यमादाय रुचिरं जाह्नवीतीरमागमत् ।
ददर्श राघवस्येष्टां सीतां पत्नीमनाथवत् ॥ १० ॥

---

* कतक टीकाकार के मतानुसार ६ से १० संख्या तक के श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है।

अर्घ्य लिये हुए वे गङ्गातट पर (बैठी हुई श्रीजानकी जी के पास) पहुँच गये। वहाँ उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी महारानी जानकी जी अनाथ की तरह बैठी हुई देखीं ॥ १० ॥

तां सीतां शोकभारार्तां वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः ।
उवाच मधुरां वाणीं ल्हादयन्निव तेजसा ॥११॥

मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि शोक के मारे विकल सीता जी को अपने तपोबल से हर्षित कर, मधुर वचन बोले ॥ ११ ॥

स्नुषादशरथस्य त्वं रामस्य महर्षी प्रिया ।
जनकस्य सुता राज्ञः स्वागतं ते पतिव्रते ॥ १२ ॥

तू दशरथ की पुत्रवधू, श्रीरामचन्द्र की प्यारी पटरानी और जनक की पुत्री है। हे पतिव्रते! मैं तेरा स्वागत करता हूँ ॥ १२ ॥

आयान्तीचासि विज्ञाता मया धर्मसमाधिना ।
कारणं चैव सर्वं मे हृदयेनोपलक्षितम् ॥ १३ ॥

जिस समय तू यहाँ आने को तैयार हुई थी, उसी समय मैंने योगबल से ध्यान द्वारा तेरे त्यागे जाने का कारण आदि समस्त बातें अपने मन में जान ली थीं ॥ १३ ॥

तव चैव माहाभागे विदितं मम तत्त्वतः ।
सर्वं च विदितं मह्यं त्रैलोक्ये यद्धि वर्तते ॥१४॥

हे महाभागे! मैं तेरे शुद्धाचरण को भी भली भाँति जानता हूँ, क्योंकि त्रैलोक्य की सब बातें मुझे (यहाँ बैठे बैठे ही योगबल से) मालूम हैं ॥ १४ ॥

अपापां वेद्मि *सीते ते तपोलब्धेन चक्षुषा।
विस्रब्धा भव वैदेहि साम्प्रतं मयि वर्तसे १५॥

हे सीते! मैं अपने तप द्वारा प्राप्त दिव्य दृष्टि द्वारा तुझे पापशून्या जानता हूँ। हे जानकी! अब निश्चिन्त हो कर मेरे समीप रह॥ १५॥

आश्रमस्याविदूरे मे तापस्यस्तपसि स्थिताः।
तास्त्वां वत्से यथा वत्सं पालयिष्यन्ति नित्यशः॥१६॥

मेरे आश्रम के निकट ही अनेक तपस्विनी तप करती हैं। हे बेटी! वे सब अपनी बेटी की तरह तेरा पालन करेंगी॥ १६॥

इदमर्घ्यं प्रतीच्छ त्वं विस्रब्धा विगतज्वरा।
यथा स्वगृहमभ्येत्य विषादं चैव मा कृथाः॥ १७॥

यह अर्घ्य ले और अपने मन को सावधान कर, सन्तापरहित हो जा और जिस प्रकार तू अपने घर में रहती थी; उसी तरह (बेखटके) यहाँ रह। अब दुखी मत हो॥ १७॥

श्रुत्वा तु भाषितं सीता मुनेः परममद्भुतम्।
शिरसा वन्द्य चरणौ तथेत्याह कृताञ्जलिः॥ १८॥

सीता ने महर्षि वाल्मीकि के इन परम अद्भुत वचनों को सुन, उनके चरणों में सिर रख, उनको प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर उनकी बात मान ली॥ १८॥

तं प्रयान्तं मुनिं सीता प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।
तं दृष्ट्वा मुनिमायान्तं वैदेह्या मुनिपत्नयः।
उपाजग्मुर्मुदा युक्ता वचनं चेदमब्रुवन्॥ १९॥

* पाठान्तरे—"सीते त्वां।"

जब मुनि वहाँ से अपने आश्रम की ओर लौट कर चले, तब सीता भी हाथ जोड़े हुए उनके पीछे होलीं। मुनिराज को जानकी सहित आते देख, मुनिपत्नियाँ आगे बढ़ एवं हर्षित हो, उनसे यह कहने लगीं ॥ १९ ॥

स्वागतं ते मुनिश्रेष्ठ चिरस्यागमनं च ते ।
अभिवादयामस्त्वां सर्वा उच्यतां किं च कुर्महे ॥२०॥

हे मुनिश्रेष्ठ! आपका स्वागत है। इस बार हम लोगों को बहुत दिनों बाद आपके दर्शन मिले। हम सब आपको प्रणाम करती हैं। आज्ञा दीजिये, हम क्या करें ॥ २० ॥

तासां तद्वचनं श्रुत्वा वाल्मीकिरिदमब्रवीत् ।
सीतेयं समनुप्राप्ता पत्नी रामस्य धीमतः ॥ २१ ॥

उन सब के ये वचन सुन, महर्षि वाल्मीकि जी ने कहा—बुद्धिमान महाराज श्रीरामचन्द्र जी की यह भार्या यहाँ आयी है ॥ २१ ॥

स्नुषा दशरथस्यैषा जनकस्य सुता सती ।
अपापा पतिना त्यक्ता परिपाल्या मया सदा ॥२२॥

यह महाराज दशरथ की पुत्रवधू और महाराज जनक की सुशीला बेटी है। इसे बिना अपराध अर्थात् (निष्कारण) इसके पति ने त्याग दिया है। यह पतिव्रता और निर्दोषा है। मैं अब सदा इसका पालन करूँगा ॥ २२ ॥

इमां भवन्त्यः पश्यन्तु स्नेहेन परमेण हि ।
गौरवान्मम वाक्याच्च पूज्या वोऽस्तु विशेषतः ॥ २३ ॥

मेरे कथन का गौरव मान कर, आप सब भी बड़ी प्रीति के साथ सम्मानपूर्वक इसकी रक्षा करें ॥ २३ ॥

मुहुर्मुहुश्च वैदेहीं *प्रणिधाय[1] महायशाः ।
स्वमाश्रमं शिष्यवृतः पुनरायान्महातपाः ॥ २४ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार बार बार महायशस्वी और महातपस्वी वाल्मीकि जी उन तापसियों को भली भांति समझा और जानकी जी को उन्हें सौंप, शिष्यों सहित अपने आश्रम में चले आये ॥ २५ ॥

उत्तरकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

पञ्चाशः सर्गः

—:o:—

दृष्ट्वा तु मैथिलीं सीतामाश्रमे संप्रवेशिताम् ।
सन्तापमगमद्घोरं लक्ष्मणो दीनचेतनः ॥ १ ॥

सीता जी को वाल्मीकि के आश्रम में गयी हुई देख, लक्ष्मण जी अत्यन्त दुःखित हो, बहुत उदास हुए ॥ १ ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, लक्ष्मण प्रथम कुछ दूर चले आये और फिर जानकी जी के वाल्मीकिआश्रम में जाने की प्रतीक्षा में, कहीं छिपे खड़े रहे थे ।]

अब्रवीच्च महातेजाः सुमन्त्रं मन्त्रसारथिम् ।
सीतासन्तापजं दुःखं पश्य रामस्य सारथे ॥ २ ॥

---

1 प्रणिधाय—तापसीनां हस्ते दत्त्वा । (गो०)

* पाठान्तरे—"परिदाय" ।

वे महातेजस्वी, परामर्श द्वारा सहायता देने वाले सारथी सुमंत्र से बोले—हे श्रीरामचन्द्र जी के सारथि! देखो सीता जी के सन्ताप का वृत्तान्त सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी को बड़ा दुःख होगा ॥ २ ॥

ततो दुःखतरं किंनु राघवस्य भविष्यति ।
पत्नीं शुद्धसमाचारां विसृज्य जनकात्मजाम् ॥ ३ ॥

इससे बढ़ कर श्रीरामचन्द्र जी को और क्या दुःख हो सकता है कि, महाराज को अपनी शुद्ध चरित्रा पत्नी जानकी त्याग देनी पड़ी ॥ ३ ॥

व्यक्तं दैवादहं मन्ये राघवस्य विनाभवम् ।
वैदेह्या सारथे नित्यं दैवं हि दुरतिक्रमम् ॥ ४ ॥

हे सारथे! जानकी जी का यह वियोग महाराज को अदृष्ट के फल से प्राप्त हुआ है। मुझे तो इस बात का अब निश्चय हो गया है कि, दैव को कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता अर्थात् भाग्य के लिखे को कोई नहीं मिटा सकता ॥ ४ ॥

यो हि देवान्सगन्धर्वानसुरान्सहराक्षसैः ।
निहन्याद्राघवः क्रुद्धः स दैवं पर्युपासते* ॥ ५ ॥

देखो, जो क्रोध में भर, देवता, गन्धर्व दैत्य और राक्षसों का नाश कर सकते हैं, वे श्रीरामचन्द्र जी (भी) दैव के वशीभूत हुए देख पड़ते हैं ॥ ५ ॥

पुरा रामः पितुर्वाक्याद्दण्डके विजने वने ।
उषित्वा नव वर्षाणि पञ्च चैव महावने ॥ ६ ॥

देखो न, पहिले तो उन्होंने पिता की आज्ञा से चौदहवर्ष निर्जन दण्डकवन में वास किया ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"दैवमनुवर्तते।"

ततो दुःखतरं भूयः सीताया विप्रवासनम् ।
पौराणां वचनं श्रुत्वा नृशंसं प्रतिभाति मे ॥ ७ ॥

परन्तु उससे भी अधिक उनके लिये यह सीता का त्याग रूपी दुःख है, जो नगरवासियों के वचनों के कारण उनको प्राप्त हुआ है। मेरी समझ में तो उनका यह कार्य बड़ा ही निष्ठुर है ॥ ७ ॥

को नु धर्माश्रयः सूत कर्मण्यस्मिन्यशोहरे ।
मैथिलीं *समनुप्राप्तः पौरैर्हीनार्थवादिभिः ॥८॥

हे सुमंत ! न्यायशून्य अर्थात् अनुचित बात कहने वाले, नगरवासियों के कथन मात्र से सीता का त्याग जैसा यशनाशकारी कर्म कर बैठना—कौनसा (बड़ा) धर्म का काम है ? ॥ ८ ॥

एता वाचो बहुविधाः श्रुत्वा लक्ष्मणभाषिताः ।
सुमन्त्रः श्रद्धया प्राज्ञो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ९ ॥

इस प्रकार की लक्ष्मण जी की अनेक बातें सुन, बुद्धिमान सुमंत्र श्रद्धापूर्वक कहने लगे ॥ ९ ॥

न सन्तापस्त्वया कार्यः सौमित्रे मैथिलीं प्रति ।
दृष्टमेतत्पुरा विप्रैः पितुस्ते लक्ष्मणाग्रतः ॥ १० ॥

भविष्यति दृढं रामो† दुःखप्रायो विसौख्यभाक् ।
प्राप्स्यते च महाबाहुर्विप्रयोगं ‡प्रियैर्द्रुतम् ॥ ११ ॥

हे सौमित्र ! तुम मैथिली के लिये दुःखी मत हो । हे लक्ष्मण ! दुर्वासा ने तुम्हारे पिता के सामने ही इस बात को विचार कर निर्णीत कर दिया था कि, श्रीरामचन्द्र प्रायः

---

* पाठान्तरे—"प्रति सम्प्राप्तः।" † पाठान्तरे—"दुःखप्रायेऽपि सौख्यभाक् ।" ‡ पाठान्तरे—"प्रियैर्ध्रुवम् ।"

दुःखी ही रहेंगे और उन्हें सुख नहीं मिलेगा। उनका अपने प्यारे जनों से शीघ्र ही वियोग होगा ॥ १० ॥ ११ ॥

त्वां चैव मैथिलीं चैव *शत्रुघ्नभरतौ तथा।
सन्त्यजिष्यति धर्मात्मा कालेन महता महान् ॥ १२ ॥

सीता ही को क्यों—यह धर्मात्मा महाराज तो कुछ अधिक समय बीतने पर, तुमको, शत्रुघ्न को और भरत जी को भी त्याग देंगे ॥ १२ ॥

इदं त्वयि न वक्तव्यं सौमित्रे भरतेऽपि वा।
राज्ञा वो व्याहृतं वाक्यं दुर्वासा यदुवाच ह ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! यह बात तुम भरत और शत्रुघ्न से भी मत कहना। जिस समय, बड़े महाराज (दशरथ) ने दुर्वासा से तुम लोगों के बारे में पूँछा था, तब उन्होंने यह बात ॥ १३ ॥

[1]महाजनसमीपे च मम चैव नरर्षभ।
ऋषिणा व्याहृतं वाक्यं वसिष्ठस्य च सन्निधौ ॥१४॥

मेरे और वशिष्ठ जी के सामने महाराज (दशरथ) से यह बात कही थी ॥ १४ ॥

ऋषेस्तु वचनं श्रुत्वा मामाह पुरुषर्षभः।
सूत न क्वचिदेवं ते वक्तव्यं जनसन्निधौ ॥ १५ ॥

दुर्वासा की यह बात सुन महाराज दशरथ ने मुझसे कहा था कि, हे सूत ! तुम इस बात को किसी (अन्य) जन के सामने मत कहना ॥ १५ ॥

---

१ महाजनसमीपे—दशरथसमीप इत्यर्थः। (गो०)

* पाठान्तरे—"शत्रुघ्नभरतावुभौ।"

तस्याहं लोकपालस्य वाक्यं तत्सुसमाहितः ।
नैवजात्वनृतं कुर्यामिति मे सौम्यदर्शनम् ॥ १६ ॥

इसी से, लोकपाल-समान महाराज के मना कर देने से आज तक यह बात किसी से नहीं कहीं अर्थात् छिपा कर रखी। क्योंकि मेरे मतानुसार इतने बड़े महाराज की आज्ञा टालना उचित नहीं था॥ १६ ॥

सर्वथैव न वक्तव्यं मया सौम्य तवाग्रतः ।
यदि ते श्रवणे श्रद्धा श्रूयतां रघुनन्दन ॥ १७ ॥

हे सौम्य! मुझे तो तुमसे भी यह बात किसी दशा में भी कहनी उचित नहीं है। किन्तु हे रघुनन्दन! यदि तुम सुनना चाहते हो तो मैं कहता हूँ; "सुनिये" ॥ १७ ॥

यद्यप्यहं नरेन्द्रेण रहस्यं श्रावितं पुरा ।
तथाप्युदाहरिष्यामि दैवं हि दुरतिक्रमम् ॥ १८ ॥

यद्यपि पूर्वकाल में यह बात बड़े महाराज ने मुझे एकान्त में सुनायी थी, तथापि मैं इसे तुमसे कहता हूँ। क्योंकि भाग्य तो अमिट है ॥ १८ ॥

येनेदमीदृशं प्राप्तं दुःखं शोकसमन्वितम् ।
न त्वया* भरतस्याग्रे शत्रुघ्नस्यापि सन्निधौ ॥१९॥

भाग्यदोष ही से तो इस प्रकार का दुःख और शोक प्राप्त हुआ है। तो भी यह गूढ़बात तुम भरत और शत्रुघ्न से मत कह देना ॥ १९ ॥

* पाठान्तरे—" भरते वाच्यं ।"

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य गम्भीरार्थपदं महत् ।
तथ्यं ब्रूहीति सौमित्रिः सूतं तं वाक्यमब्रवीत् ॥२०॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

सुमंत्र के इन गम्भीर वचनों को सुन, लक्ष्मण जी बोले—हे सूत ! तुम समस्त वृत्तान्त ज्यों का त्यों कहो ॥ २० ॥

उत्तरकाण्ड का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

उत्तरकाण्ड का पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ ।

—※—

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध-१०

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २,०००] [मूल्य

उत्तरकाण्ड-उत्तरार्द्ध

की

विषयानुक्रमणिका

प्रक्षिप्त तीन सर्ग

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ १॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥ २॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥ ३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥ ४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥ ६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रै-
र्व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वग्निकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायणम्

—:o:—

उत्तरकाण्डः

(उत्तरार्द्धः)

एकपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

तथा संचोदितः सूतो लक्ष्मणेन महात्मना ।
तद्वाक्यमृषिणा प्रोक्तं व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

जब महात्मा लक्ष्मण जी ने सूत से इस प्रकार आग्रह किया; तब वे ऋषिश्रेष्ठ के कहे हुए वचन, इस प्रकार सुनाने लगे ॥ १ ॥

पुरा नाम्ना हि दुर्वासा अत्रेः पुत्रो महामुनिः ।
वसिष्ठस्याश्रमे पुण्ये [1]वार्षिक्यं समुवास ह ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण! पूर्वकाल में एक वार अत्रि के पुत्र दुर्वासा वर्षा के चार मास भर वशिष्ठ के पवित्र आश्रम में जा कर रहे ॥ २ ॥

तमाश्रमं महातेजाः पिता ते सुमहायशाः ।
पुरोहितं महात्मानं दिदृक्षुरगमत्स्वयम् ॥ ३ ॥

उन्हीं दिनों एक वार तुम्हारे तेजस्वी एवं महायशस्वी पिता भी अपने कुलपुरोहित वशिष्ठ जी के दर्शन करने की इच्छा से उस आश्रम में पहुँचे ॥ ३ ॥

---

१ वार्षिक्यं—यतीनांवर्षाकालेभ्रमणनिषेधाद्वार्षिकमासचतुष्टयमेकत्रैवस्थितवानित्यर्थः । (रा०)

स दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
उपविष्टं वसिष्ठस्य सव्यपार्श्वे महामुनिम् ॥ ४ ॥

वहाँ जा कर उन्होंने देखा कि, वशिष्ठ जी की बाईं ओर, तेज से सूर्य की तरह चमचमाते, दुर्वासा मुनि बैठे हुए हैं ॥ ४ ॥

तौ मुनी तापसश्रेष्ठौ विनीतावभ्यवादयत् ।
स ताभ्यां पूजितो राजा स्वागतेनासनेन च ॥ ५ ॥

महाराज दशरथ ने बड़े विनम्र भाव से तपस्वियों में श्रेष्ठ उन दोनों मुनियों को प्रणाम किया। उन दोनों महात्माओं ने भी स्वागत कर, महाराज को सम्मानपूर्वक आसन पर बिठाया ॥ ५ ॥

पाद्येन फलमूलैश्च उवास मुनिभिः सह ॥ ६ ॥

अर्घ्य, फल, मूल, द्वारा सत्कारित हो, महाराज उन मुनियों के साथ बैठे ॥ ६ ॥

तेषां तत्रोपविष्टानां तास्ताः सुमधुराः कथाः ।
बभूवुः परमर्षीणां मध्यादित्यगतेऽहनि ॥ ७ ॥

सब के बैठ जाने पर और दोपहर हो जाने पर अनेक तरह की मधुर कथाएं होने लगीं ॥ ७ ॥

ततः कथायां कस्यांचित्प्राञ्जलिः [1]प्रग्रहो नृपः ।
उवाच तं महात्मानमत्रेः पुत्रं तपोधनम् ॥ ८ ॥

उस समय किसी कथा के प्रसङ्ग में महाराज ने हाथ जोड़ कर, उन अत्रिपुत्र महात्मा तपोधन और महाज्ञानी दुर्वासा से कहा ॥ ८ ॥

---

१ प्रग्रहः—सविनयः । (गो०) ; ऊर्ध्वबाहुः । (रा०) ; प्रकृष्टोज्ञानं यस्य सः । (शि०)

भगवन्कि प्रमाणेन मम वंशो भविष्यति ।
किमायुश्च हि मे रामः पुत्राश्चान्ये किमायुषः ॥ ९ ॥

हे भगवन्! मेरा वंश कब तक रहेगा। श्रीरामचन्द्र जी की आयु कितनी है? तथा अन्य पुत्रों की आयु कितनी है ॥ ९ ॥

रामस्य च सुता ये स्युस्तेषामायुः कियद्भवेत् ।
काम्यया भगवन्ब्रूहि वंशस्यास्य गतिं मम ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र के पुत्रों की कितनी आयु होगी। हे भगवन्! मेरी बड़ी इच्छा है, आप मेरे वंश का वृत्तान्त वर्णन करें ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा व्याहृतं वाक्यं राज्ञो दशरथस्य तु ।
दुर्वासाःसुमहातेजा व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ११ ॥

महाराज दशरथ द्वारा इस प्रकार पूँछे जाने पर, महातेजस्वी दुर्वासा कहने लगे ॥ ११ ॥

शृणु राजन्पुरावृत्तं तदा दैवासुरे युधि ।
दैत्याःसुरैर्भर्त्स्यमाना भृगुपत्नीं समाश्रिताः ।
तया दत्ताभयास्तत्र न्यवसन्नभयास्तदा ॥ १२ ॥

हे राजन्! सुनिये। पूर्वकाल में देवताओं और दैत्यों का बड़ा भारी युद्ध हुआ था। तब दैत्य, देवताओं से मार खा कर, भृगु जी की पत्नी के शरण में गये। उस समय भृगुपत्नी ने उनको अभयदान दिया और उनको अपने यहाँ रख लिया ॥ १२ ॥

तया परिगृहीतांस्तान्दृष्ट्वा क्रुद्धःसुरेश्वरः ।
चक्रेण शितधारेण भृगुपत्न्याः शिरोऽहरत् ॥ १३ ॥

जब भगवान् विष्णु ने देखा कि, भृगुपत्नी ने दैत्यों की रक्षा की है, तब उन्होंने पैनी धार वाले सुदर्शनचक्र से भृगुपत्नी का मस्तक काट डाला ॥ १३ ॥

ततस्तां निहतां दृष्ट्वा पत्नीं भृगुकुलोद्वहः ।
शशाप सहसा क्रुद्धो विष्णुं रिपुकुलार्दनम् ॥ १४ ॥

जब भृगु जी ने अपनी पत्नी को मरा हुआ देखा, तब इन कुलउजागर ने शत्रु-कुल-संहार-कारी भगवान् जनार्दन को शाप देते हुए कहा ॥ १४ ॥

यस्मादवध्यां मे पत्नीमवधीः क्रोधमूर्च्छितः ।
तस्मात्त्वं मानुषे लोके जनिष्यसि जनार्दन ॥ १५ ॥

तूने मेरी अवध्या अर्थात् निर्दोषा स्त्री का, क्रोध के वश में हो, वध किया है; अतः हे जनार्दन! तुझे मृत्युलोक में अवतीर्ण होना पड़ेगा ॥ १५ ॥

तत्र पत्नीवियोगं त्वं प्राप्स्यसे बहुवार्षिकम् ।
शापाभिहतचेतास्तु स्वात्मना भावितोऽभवत् ॥ १६ ॥

उस समय तुझको बहुत वर्षों तक स्त्री का वियोग सहना पड़ेगा। इस प्रकार शाप दे चुकने पर, पीछे से (तपक्षीण होने के कारण) भृगु जी मन ही मन बहुत पछताये ॥ १६ ॥

अर्चयामास तं देवं भृगुः शापेन पीडितः ।
तपसाराऽधितो देवो ह्यब्रवीद्भक्तवत्सलः ॥ १७ ॥

फिर शापप्रदान के भय से पीड़ित हो, भृगु जी उनका बड़ी भक्ति से पूजन करने लगे। कुछ काल बाद भृगु जी के तप से प्रसन्न हो भक्तवत्सल भगवान् जनार्दन उनसे बोले ॥ १७ ॥

लोकानां *संप्रियार्थं तु तं शापं †गृह्यमुक्तवान् ।
इति शप्तो महातेजा भृगुणा पूर्वजन्मनि ॥ १८ ॥

कि मैंने लोकहितार्थ उस शाप को ग्रहण कर लिया है। पूर्वजन्म में प्राप्त महातेजस्वी भृगु शाप के कारण ॥ १८ ॥

इहागतो हि पुत्र त्वं तव पार्थिवसत्तम ।
राम इत्यभिविख्यातस्त्रिषु लोकेषु मानद ॥ १९ ॥

हे मानद ! हे नृपश्रेष्ठ ! वे ही जनार्दन भगवान् इस लोक में आ, तुम्हारे पुत्र हुए हैं और उन्हींका नाम श्रीरामचन्द्र तीनों लोकों में प्रसिद्ध हुआ है ॥ १९ ॥

तत्फलं प्राप्स्यते चापि भृगुशापकृतं महत् ।
अयोध्यायाःपती रामो दीर्घकालं भविष्यति ॥ २० ॥

वे भृगु के शाप का फल पावेंगे और बहुत समय तक अयोध्या में राज्य करेंगे ॥ २० ॥

सुखिनश्च समृद्धाश्च भविष्यन्त्यस्य येऽनुगाः ।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥ २१ ॥
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति ।
समृद्धैश्चाश्वमेधैश्च इष्ट्वा परमदुर्जयः ॥ २२ ॥

उनके अनुगामी जन सुखी और धनधान्य से भरे पूरे होंगे। वे ग्यारह हज़ार वर्षों तक राज्य कर, ब्रह्मलोक में चले जांयगे। वे बड़ी बड़ी दक्षिणाओं वाले अश्वमेधादि यज्ञ करेंगे। उनको कोई जीत न सकेगा ॥ २१ ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—" सहितार्थं । " † पाठान्तरे—" प्राप्त । "

राजवंशाश्च बहुशो बहून्संस्थापयिष्यति ।
द्वौ पुत्रौ तु भविष्येते सीतायां राघवस्य तु ॥ २३ ॥

वे कई बार अनेक राजवंशों की स्थापना करेंगे। उनके सीता के दो पुत्र होंगे ॥ २३ ॥

स सर्वमखिलं राज्ञो वंशस्याह गतागतम् ।
आख्याय सुमहातेजास्तूष्णीमासीन्महामुनिः ॥२४॥

हे लक्ष्मण! इस प्रकार तुम्हारे वंश का भावी फल कह कर वह महातेजस्वी दुर्वासा मुनि चुप हो गये ॥ २४ ॥

तूष्णीं भूते तदा तस्मिन् राजा दशरथो मुनौ ।
अभिवाद्य महात्मानौ पुनरायात्पुरोत्तमम् ॥ २५ ॥

तब महाराज दशरथ दोनों ऋषियों को प्रणाम कर, अपनी राजधानी में आये ॥ २५ ॥

एतद्वचो मया तत्र मुनिना व्याहृतं पुरा ।
श्रुतं हृदि च निक्षिप्तं नान्यथा तद्भविष्यति ॥२६॥

उस समय मुनिराज के मुख से ये सब बातें मैंने सुनी थीं और तब से इनको अपने हृदय में रखे हुए था। सो उनकी वह भविष्यद्वाणी अन्यथा नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

सीतायाश्च ततः पुत्रावभिषेक्ष्यति राघवः ।
अन्यत्र न त्वयोध्यायां मुनेस्तु वचनं यथा ॥२७॥

दुर्वासा जी के कथनानुसार श्रीरामचन्द्र जी सीता के गर्भ से उत्पन्न पुत्रों को अयोध्या ही में राजतिलक करेंगे—अन्यत्र नहीं ॥ २७ ॥

एवं गते न सन्तापं कर्तुमर्हसि राघव ।
सीतार्थे राघवार्थे वा दृढो भव नरोत्तम ॥ २८ ॥

हे नरोत्तम! अतः तुम श्रीरामचन्द्र अथवा सीता के लिये दुःखी मत हो और अपना मन दृढ़ कर लो । क्योंकि होनहार चुप विना नहीं रहेगी ॥ २८ ॥

श्रुत्वा तु व्याहृतं वाक्यं सूतस्य परमाद्भुतम् ।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार सूत के परमाश्चर्ययुक्त वचनों को सुन, लक्ष्मण जी अत्यन्त हर्षित हो, धन्य धन्य कहने लगे ॥ २९ ॥

ततः संवदतोरेवं सूतलक्ष्मणयोः पथि ।
अस्तिमर्के गते वासं केशिन्यां तावथोषतुः ॥ ३० ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

लक्ष्मण और सारथि सुमंत्र इस तरह आपस में बातचीत करते करते सन्ध्या समय केशिनी नगर के समीप जा कर टिक गये ॥ ३० ॥

उत्तरकाण्ड का एक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

तत्र तां रजनीमुष्य केशिन्यां रघुनन्दनः ।
प्रभाते पुनरुत्थाय लक्ष्मणः प्रययौ तदा ॥ १ ॥

लक्ष्मण जी केशिनी नगरी में एक रात्रि वास कर, सवेरा होते ही वहाँ से चल दिये ॥ १ ॥

[नोट—"केशिनीति केचन नदी केचन ग्रामं च प्रचक्षते" किसी ने "केशिनी" को नदी और किसी ने नगरी बतलाया है ।]

ततोऽर्धदिवसे प्राप्ते प्रविवेश महारथः ।
अयोध्यां रत्नसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनावृताम् ॥ २ ॥

महारथी लक्ष्मण जी दोपहर होते होते रत्नों अथवा श्रेष्ठ वस्तुओं से भरी पूरी अयोध्या नगरी में पहुँचे ॥ २ ॥

सौमित्रिस्तु परं दैन्यं जगाम सुमहामतिः ।
रामपादौ समासाद्य वक्ष्यामि किमहं गतः ॥ ३ ॥

उस समय अत्यन्त बुद्धिमान् लक्ष्मण जी बड़े दुःखी हुए क्योंकि वे अपने मन में यही सोचते थे कि, श्रीरामचन्द्र के चरणों के निकट मैं क्या कहूँगा ॥ ३ ॥

तस्यैवं चिन्तयानस्य भवनं शशिसन्निभम् ।
रामस्य परमोदारं पुरस्तात्समदृश्यत ॥ ४ ॥

इस प्रकार सोचते सोचते लक्ष्मण जी को परमोदार श्रीरामचन्द्र जी का चन्द्रमा की तरह सफेद रंग का, भवन देख पड़ा ॥ ४ ॥

राज्ञस्तु भवनद्वारि सोऽवतीर्य नरोत्तमात् ।
अवाङ्मुखो दीनमनाः प्रविवेशानिवारितः ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी भवन के द्वार पर पहुँच रथ से उतर पड़े और नीचे को मुँह किये और उदास हो बेरोकटोक राजभवन में घुसे चले गये ॥ ५ ॥

स दृष्ट्वा राघवं दीनमासीनं परमासने ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां ददर्शाग्रजमग्रतः ॥ ६ ॥

वहाँ जा कर उन्होंने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी दुखी हो नेत्रों में आँसू भरे एक अच्छे आसन पर बैठे हैं ॥ ६ ॥

जग्राह चरणौ तस्य लक्ष्मणो दीनचेतनः ।
उवाच दीनया वाचा प्राञ्जलिः सुसमाहितः ॥ ७ ॥

लक्ष्मण जी ने दुखी मन से उनके चरण युगल में सिर नवा उनको प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर बोले ॥ ७ ॥

आर्यस्याज्ञां पुरस्कृत्य विसृज्य जनकात्मजाम् ।
गङ्गा तीरे यथोद्दिष्टे वाल्मीकेराश्रमे *शुभे ॥ ८ ॥

महाराज ! आपके आज्ञानुसार श्रीगङ्गा के तट पर वाल्मीकि मुनि के शुभ आश्रम के पास सीता को छोड़ आया ॥ ८ ॥

तत्र तां च शुभाचारामाश्रमान्ते यशस्विनीम् ।
पुनरप्यागतो वीर पादमूलमुपासितुम् ॥ ९ ॥

उन शुद्धाचरणवाली यशस्विनी सीता जी को आश्रम के निकट छोड़ कर, हे वीर ! मैं आपकी चरणसेवा के लिये पुनः आ गया हूँ ॥ ९ ॥

मा शुचः पुरुषव्याघ्र कालस्य गतिरीदृशी ।
त्वद्विधा न हि शोचन्ति बुद्धिमन्तो मनस्विनः ॥१०॥

हे पुरुषसिंह ! अब आप शोक न कीजिये । क्योंकि काल की गति ही कुछ ऐसी है । आप सदृश बुद्धिमान एवं मनस्वी शोक के वशवर्ती नहीं होते ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरे—" शुचौ । "

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥११॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्य (एवं सुख) नाशवान् हैं। जो ऊँचे उठते हैं वे ही नीचे गिरते भी हैं। संयोग का अन्त वियोग और जीवन का अन्त मरण ही है अर्थात् जो मिलता है वह बिछुरता है और जो पैदा होता है वह मरता भी है॥ ११ ॥

तस्मात्पुत्रेषु दारेषु मित्रेषु च धनेषु च ।
नातिप्रसङ्गः कर्तव्यो विप्रयोगो हि तैर्ध्रुवम् ॥ १२ ॥

अतः एक न एक दिन पुत्रों, कलत्रों और मित्रों एवं धन ऐश्वर्य से तो अलग होना ही पड़ता है। सो इनमें अनुरक्त होना ठीक नहीं है ॥ १२ ॥

शक्तस्त्वमात्मनाऽऽत्मानं विनेतुं *मनसा मनः ।
लोकान् सर्वांश्च काकुत्स्थ किं पुनः शोकमात्मनः ॥१३॥

हे राघव! आप तो स्वयं अपने को समझाने, अपने मन से अपने मन को ढाढ़स बँधाने में सर्वथा समर्थ हैं। यही नहीं, बल्कि आप तो समस्त लोकों को समझा बुझा सकते हैं। फिर आपके लिये अपना शोकनिवारण करना कोई बड़ी बात नहीं है॥ १३ ॥

नेदृशेषु विमुह्यन्ति त्वद्विधाः पुरुषर्षभाः ।
अपवादः स किल ते पुनरेष्यति राघव ॥ १४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! आप जैसे महानुभाव मोह को प्राप्त नहीं होते। अब यदि आप इस प्रकार दुःखी या उदास होंगे, तो फिर लोग आपकी निन्दा करने लगेंगे ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"मनसैव हि।"

यदर्थं मैथिली त्यक्ता अपवादभयान्नृप ।
सोपवादः पुरे राजन् भविष्यति न संशयः ॥ १५ ॥

जिस अपवाद के भय से आपने जानकी को त्यागा है, फिर वही अपवाद सारे नगर में व्याप्त हो जायगा। इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ १५ ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल धैर्येण सुसमाहितः ।
*त्यजेमां दुर्बलां बुद्धिं सन्तापं मा कुरुष्वह ॥ १६ ॥

अतएव हे पुरुषशार्दूल ! आप धीरज रखें और इस निकम्मी बुद्धि को त्यागें और आप सन्तप्त न हों ॥ १६ ॥

एवमुक्तः स काकुत्स्थो लक्ष्मणेन महात्मना ।
उवाच परया प्रीत्या सौमित्रिं मित्रवत्सलः ॥ १७ ॥

जब महात्मा लक्ष्मण जी ने इस प्रकार कहा, तब मित्रवत्सल श्रीरामचन्द्र जी बड़ी प्रीति के साथ लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥१७॥

एवमेतन्नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण ।
परितोषश्च मे वीर मम कार्यानुशासने[1] ॥ १८ ॥

हे नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! तुम ठीक कहते हो। मैं तुम्हारे इस कार्य से तुम्हारे ऊपर सन्तुष्ट हूँ कि, तुम (मेरे आज्ञानुसार) जानकी को गङ्गातट पर छोड़ आये ॥ १८ ॥

निर्वृत्तिश्चागता सौम्य सन्तापश्च निराकृतः ।
भवद्वाक्यैः सुरुचिरैरनुनीतोऽस्मि लक्ष्मण ॥ १९ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

---

1 कार्यानुशासने—गङ्गातीर त्यागरूपेत्वत्कृते । (गो०)

* पाठान्तरे—" त्यजैनाम् । "

हे सौम्य! तुम्हारे कथन को सुन, मेरा दुःख जाता रहा और (मानसिक) सन्ताप भी जाता रहा। हे लक्ष्मण! मैं तुम्हारे इन सुन्दर वाक्यों से तुम्हारा अनुगृहीत हूँ॥ १९॥

उत्तरकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

लक्ष्मणस्य तु तद्वाक्यं निशम्य परमाद्भुतम्।
सुप्रीतश्चाभवद्रामो वाक्यमेतदुवाच ह॥ १॥

लक्ष्मण जी के ये परमाद्भुत वाक्यों को सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी परम प्रसन्न हुए और यह बोले॥ १॥

दुर्लभस्त्वीदृशो बन्धुरस्मिन्काले विशेषतः।
यादृशस्त्वं *महाबुद्धिर्मम सौम्य मनोनुगः॥ २॥

हे सौम्य! इस समय तुम्हारे जैसे बड़े समझदार और मनोनुसारी भाई का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है॥ २॥

यश्च मे हृदये किञ्चिद्वर्तते शुभलक्षण।
तन्निशामय च श्रुत्वा कुरुष्व वचनं मम॥ ३॥

हे शुभलक्षणों से सम्पन्न! अब तुम मेरे मन की बात सुनो और उसे सुन तदनुसार कार्य करो॥ ३॥

चत्वारो दिवसाः सौम्य कार्यं पौरजनस्य च।
अकुर्वाणस्य सौमित्रे तन्मे मर्माणि कृन्तति॥ ४॥

---

* पाठान्तरे—" महाबुद्धे।"

आज चार दिन हो गये। मैंने पुरवासियों का कुछ भी काम नहीं किया। हे लक्ष्मण! इससे मेरे मर्मस्थल विदीर्ण हो रहे हैं ॥ ४ ॥

आहूयन्तां प्रकृतयः पुरोधा मंत्रिणस्तथा ।
कार्यार्थिनश्च पुरुषाःस्त्रियो वा पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

हे नरश्रेष्ठ! तुम कार्यार्थी लोगों को, चाहे वे स्त्री हों, चाहे पुरुष, पुरोहित जी को एवं मंत्रियों को बुला कर मेरे पास भेज दो ॥ ५ ॥

पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने ।
संवृते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः ॥ ६ ॥

क्योंकि जो राजा प्रतिदिन नगरवासियों अर्थात् प्रजाजनों का काम नहीं करता, वह ऐसे भयानक नरक में डाला जाता है, जहाँ हवा भी नहीं पहुँच पाती ॥ ६ ॥

श्रूयते हि पुरा राजा नृगो नाम महायशाः ।
बभूव पृथिवीपालो ब्रह्मण्यः सत्यवाक् शुचिः ॥७॥

सुना जाता है, प्राचीनकाल में नृग नाम के एक राजा थे। वे बड़े यशस्वी, ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, बड़े पवित्राचरण वाले और प्रजापालक थे ॥ ७ ॥

स कदाचिद्गवां कोटीः सवत्साः स्वर्णभूषिताः ।
नृदेवो भूमिदेवेभ्यः पुष्करेषु ददौ नृपः ॥ ८ ॥

एक बार उन्होंने पुष्करक्षेत्र में बछड़ों सहित, सोने से भूषित एक करोड़ गौएँ, ब्राह्मणों को दान कीं ॥ ८ ॥

ततः सङ्गाद्गता धेनुः सवत्सा स्पर्शिताऽनघ ।
ब्राह्मणस्याहिताग्नेस्तु दरिद्रस्योञ्छवर्तिनः ॥ ९ ॥

हे अनघ! जो गौएँ राजा ने दान करने के लिये मँगवायी थीं, उनमें भूल से एक गौ किसी एक दरिद्र अग्निहोत्री एवं उञ्छवृत्ति से जीवन बिताने वाले ब्राह्मण की आ कर मिल गयी ॥ ९ ॥

[नोट—उञ्छवृत्ति—खेत कट जाने पर खेत में जो अन्न के दाने पड़े रह जाते हैं, उन दानों को बीन कर पेट भरना उञ्छवृत्ति कहलाती है ।]

स नष्टां गां क्षुधार्तो वै अन्विषंस्तत्र तत्र ह ।
नापश्यत्सर्वराष्ट्रेषु संवत्सरगणान्बहून् ॥ १० ॥

वह ब्राह्मण भूखा प्यासा खोई हुई गौ को इधर उधर ढूढ़ने लगा। वह ब्राह्मण अनेक वर्षों तक राज्य भर में (गौ की तलाश में) घूमा फिरा किया; किन्तु उसकी गौ का पता न लगा ॥ १० ॥

ततः कनखलं गत्वा जीर्णवत्सां निरामयाम् ।
ददर्श तां स्विकां धेनुं ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ ११ ॥

खोजते खोजते वह हरिद्वार के समीप कनखल में पहुँचा। वहाँ उसने एक ब्राह्मण के घर में अपनी गाय को रोगरहित देखा; किन्तु उसका बछड़ा दुबला हो रहा था ॥ ११ ॥

अथ तां नामधेयेन स्वकेनोवाच ब्राह्मणः ।
आगच्छ शबलेत्येवं सा तु शुश्राव गौः स्वरम् ॥१२॥

उस ब्राह्मण ने उस गौ का नाम शबला रख छोड़ा था। अतः उसने उसी नाम से "हे शबले! आओ" कह कर अपनी गौ को पुकारा। गौ ने उस ब्राह्मण का पुकारना सुन लिया ॥ १२ ॥

तस्य तं स्वरमाज्ञाय क्षुधार्तस्य द्विजस्य वै ।
अन्वगात्पृष्ठतः सा गौर्गच्छन्तं पावकोपमम् ॥ १३ ॥

भूखे प्यासे और अग्नि समान तेजस्वी उस ब्राह्मण का कण्ठ-स्वर पहचान कर वह गौ उसके पीछे चल खड़ी हुई ॥ १३ ॥

योऽपि पालयते विप्रः सोऽपि गामन्वगाद्द्रुतम् ।
गत्वा च तमृषिं चष्टे मम गौरिति सत्वरम् ॥ १४ ॥

जिस ब्राह्मण के घर में वह गौ थी, जो इतने दिनों से उसे पाले हुए था, वह भी उसके पीछे दौड़ा और शीघ्रता से उसके निकट पहुँच, उस ऋषि से कहने लगा, यह गाय तो मेरी है ॥१४॥

[1]स्पर्शिता राजसिंहेन मम दत्ता नृगेण ह ।
तयोर्ब्राह्मणयोर्वादो महानासीद्विपश्चितोः ॥ १५ ॥

यह तो मुझे महाराज नृग से दान में मिली है। इस प्रकार उन दोनों पण्डित ब्राह्मणों का आपस में झगड़ा होने लगा ॥ १५ ॥

विवदन्तौ ततोऽन्योन्यं दातारमभिजग्मतुः ।
तौ राजभवनद्वारि न प्राप्तौ नृगशासनम् ॥ १६ ॥

वे दोनों आपस में झगड़ते झगड़ते महाराज नृग के पास गये। किन्तु राजा नृग की राजधानी में पहुँच कर भी वे (द्वारपाल की रोक के कारण) राजभवन में न जा पाये ॥ १६ ॥

अहोरात्राण्यनेकानि वसन्तौ क्रोधमीयतुः ।
ऊचतुश्च महात्मानौ तावुभौ द्विजसत्तमौ ।
क्रुद्धौ परमसम्प्राप्तौ वाक्यं घोराभिसंहतम् ॥१७॥

---

१ स्पर्शिता—दत्ता । (गो०).

जब उन दोनों को राजधानी में ठहरे ठहरे कई दिवस और रातें बीत गयीं, तब तो वे ब्राह्मण अति कुपित हुए और शापयुक्त यह घोर वचन बोले ॥ १७ ॥

अर्थिनां कार्यसिद्ध्यर्थं यस्मात्त्वं नैषि दर्शनम् ।
अदृश्यः सर्वभूतानां कृकलासो भविष्यसि ॥ १८ ॥

हे राजन् ! तू कार्यार्थियों को दर्शन नहीं देता, अतएव तू गिरगिट हो कर ऐसी जगह रहैगा जहाँ तुझे कोई न देख सके ॥ १८ ॥

बहुवर्ष सहस्राणि बहुवर्षशतानि च ।
श्वभ्रे त्वं कृकलीभूतो दीर्घकालं निवत्स्यसि ॥१९॥

सैकड़ों हज़ारों वर्षों तक तू एक अंधे कुए में गिरगिट हो कर पड़ा रहैगा ॥ १६ ॥

उत्पत्स्यते हि लोकेऽस्मिन्यदूनां कीर्तिवर्धनः ।
वासुदेव इति ख्यातो विष्णुः पुरुषविग्रहः ॥ २० ॥

स ते मोक्षयिता शापाद्राजंस्तस्माद्भविष्यसि ।
कृता च तेन कालेन निष्कृतिस्ते भविष्यति ॥ २१ ॥

जिस समय इस धराधाम पर भगवान् विष्णु मनुष्य शरीर में, वासुदेव नाम से यदुकुल में अवतीर्ण होंगे ; उस समय उनके द्वारा तू इस शाप से छूटेगा । उसी समय तेरा उद्धार होगा ॥ २० ॥ २१ ॥

भारावतरणार्थं हि नरनारायणावुभौ ।
उत्पत्स्येते महावीर्यौ कलौ युग उपस्थिते ॥२२॥

कलियुग के आरम्भ में भूमि का भार उतारने के लिये महा-बली नर और नारायण अवतार लेंगे ॥ २२ ॥

[नोट— जो विद्वान् महाभारत के पीछे श्रीमद्वाल्मीकि रामायण का काल मानते हैं, उनको इस वर्णन पर ध्यान देना चाहिये । पूर्वोक्त श्लोकों में भविष्यकालिक क्रियाओं का प्रयोग देख कर और श्रीरामचन्द्र जी के मुख से ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया जाना देख कर, श्रीकृष्णावतार के पूर्व श्रीरामावतार का होना सिद्ध होता है ।]

एवं तौ शापमुत्सृज्य ब्राह्मणौ विगतज्वरौ ।
तां गां हि दुर्बलां वृद्धां ददतुर्ब्राह्मणाय वै ॥२३॥

इस प्रकार महाराज नृग को शाप दे कर वे दोनों शान्त हुए । तदनन्तर उन दोनों ने वह बूढ़ी और दुर्बल गाय किसी अन्य ब्राह्मण को दे डाली । (इस प्रकार उन दोनों का झगड़ा मिटा ।) ॥ २३ ॥

एवं स राजा तं शापमुपभुङ्क्ते सुदारुणम् ।
कार्यार्थिनां विमर्दो हि राज्ञां दोषाय कल्पते ॥ २४ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी बोले) राजा नृग इस प्रकार (कार्यार्थी) ब्राह्मणों के शाप से गिरगिट की योनि में पड़े पड़े शाप का फल भोग रहे हैं । हे लक्ष्मण ! कार्यार्थियों का झगड़ा न मिटाने से राजा को बड़ा पाप लगता है ॥ २४ ॥

तच्छीघ्रं दर्शनं मह्यमभिवर्तन्तु कार्यिणः ।
सुकृतस्य हि कार्यस्य फलं नावैति पार्थिवः ॥ २५ ॥

अतः कार्यार्थियों को शीघ्र मेरे सामने लाओ । अच्छे कार्य का फल राजा को प्राप्त होता ही है ॥ २५ ॥

तस्माद्गच्छ प्रतीक्षस्व सौमित्रे कार्यवाञ्जनः ॥ २६ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

अतः हे लक्ष्मण ! तुम दरवाज़े पर जा कर, कार्यार्थियों की प्रतीक्षा करो ॥ २६ ॥

उत्तरकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः परमार्थवित् ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं राघवं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

परमार्थ के ज्ञाता लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन कर, तेज से देदीप्यमान श्रीरामचन्द्र जी से हाथ जोड़ कर बोले ॥१॥

अल्पापराधे काकुत्स्थ द्विजाभ्यां शाप ईदृशः ।
महान्नृगस्य राजर्षेर्यमदण्ड इवापरः ॥ २ ॥

हे महाराज ! ऐसे न कुछ अपराध के लिये उन ब्राह्मणों ने राजा नृग को यमदण्ड की तरह ऐसा कठोर शाप दिया ! ॥ २ ॥

श्रुत्वा तु पापसंयुक्तमात्मानं पुरुषर्षभ ।
किमुवाच नृगो राजा द्विजौ क्रोधसमन्वितौ ॥ ३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! कृपा कर यह तो बतलाइये कि, शाप को सुन राजा नृग ने उन दोनों क्रुद्ध ब्राह्मणों से क्या कहा ? ॥ ३ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु राघवः पुनरब्रवीत्।
शृणु सौम्य यथा पूर्वं स राजा शापविक्षतः ॥ ४ ॥

जब लक्ष्मण जी ने यों पूँछा, तब श्रीरामचन्द्र जी फिर कहने लगे—हे सौम्य! शाप सुनने के बाद राजा नृग ने जो कुछ किया सो सुनो, मैं कहता हूँ ॥ ४ ॥

अथाध्वनि गतौ विप्रौ विज्ञाय स नृपस्तदा।
आहूय मन्त्रिणः सर्वान्नैगमान्सपुरोधसः ॥ ५ ॥

जब वे दोनों ब्राह्मण वहाँ से चले गये. तब महाराज ने उनके शाप का वृत्तान्त सुन, अपने पुरोहित, मंत्रियों और प्रजाजनों के मुखियों अथवा महाजनों को बुलवाया ॥ ५ ॥

तानुवाच नृगो राजा सर्वाश्च प्रकृतीस्तथा।
दुःखेन सुसमाविष्टः श्रूयतां मे समाहिताः ॥ ६ ॥

(जब सब आ गये तब) राजा नृग ने अत्यन्त दुःखित हो उन सब से कहा—हे भाइयों! सब लोग सावधान हो कर, मेरे वचनों को सुनो ॥ ६ ॥

नारदः पर्वतश्चैव मम दत्त्वा महद्भयम्।
गतौ [1]त्रिभुवनं भद्रौ वायुभूतावनिन्दितौ ॥ ७ ॥

ऋषि नारद और पर्वत ब्राह्मणों के शाप देने की बड़ी भयानक बात मुझे सुना कर, वायुरूप हो अथवा बड़ी फुर्ती से ब्रह्मलोक को चले गये हैं ॥ ७ ॥

कुमारोऽयं वसुर्नाम स चेहाद्याभिषिच्यताम्।
श्वभ्रं च यत्सुखस्पर्शं क्रियतां शिल्पिभिर्मम ॥ ८ ॥

---

१ त्रिभुवनं—ब्रह्मलोकमित्यर्थः। (गो०)

अब मैं अपने इस वसु नामक राजकुमार के राजतिलक कर के उस शाप के फल को भोगूँ, तो अच्छा है। शिल्पिगण एक बहुत अच्छा सुखदायक गड्ढा खोदें ॥ ८ ॥

यत्राहं संक्षयिष्यामि शापं ब्राह्मणनिःसृतम्।
वर्षघ्नमेकं श्वभ्रं तु हिमघ्नमपरं तथा ॥ ९ ॥

ग्रीष्मघ्नं तु सुखस्पर्शमेकं कुर्वन्तु शिल्पिनः।
फलवन्तश्च ये वृक्षाः पुष्पवत्यश्च या लताः ॥ १० ॥

उसीमें पड़ा पड़ा मैं ब्राह्मणों के दिये हुए शाप को भोगूँगा। मेरे लिये तीन गड्ढे बनाये जांय। एक तो ऐसा जिसमें मैं (सुखपूर्वक) वर्षाकाल विता सकूँ, दूसरा शीतकालोपयोगी हो और तीसरा ऐसा हो जिसमें गर्मी की ऋतु में मैं (सुखपूर्वक रह सकूँ)। वहाँ पर फल वाले वृक्ष और पुष्पित लताएँ ॥ ९ ॥ १० ॥

विरोप्यन्तां बहुविधाश्छायावन्तश्च गुल्मिनः।
क्रियतां रमणीयं च श्वभ्राणां सर्वतोदिशम् ॥ ११ ॥

तथा छाया वाले अनेक प्रकार के झाड़ लगाये जांय। ये गर्त चारों ओर से रमणीय बनाये जांय ॥ ११ ॥

सुखमत्र वसिष्यामि यावत्कालस्य पर्ययः।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि क्रियतां तेषु नित्यशः ॥१२॥

परिवार्य यथा मे स्युरध्यर्धं योजनं तथा।
एवं कृत्वा विधानं स सन्निवेश्य वसुं तदा ॥ १३ ॥

जहाँ मैं शाप के अन्त तक सुखपूर्वक रह सकूँ और उस गर्त के चारों ओर दो कोस तक सुगन्धित पुष्प वाले वृक्ष लगा दिये जायँ।

इस प्रकार सब बातें समझा और राजकुमार वसु को राजसिंहासन पर बिठा, उससे राजा नृग ने कहा ॥ १२ ॥ १३ ॥

धर्मनित्यः प्रजाः पुत्र क्षत्रधर्मेण पालय ।
प्रत्यक्षं ते यथा शापो द्विजाभ्यां मयि पातितः ॥१४॥

हे पुत्र ! तुम सदा धर्म में तत्पर रहना और क्षात्रधर्म से प्रजा का पालन करना । क्योंकि देखो तुम्हारे सामने ही ब्राह्मणों ने मुझे यह शाप दे कर, मेरा पतन किया है ॥ १४ ॥

नरश्रेष्ठ सरोषाभ्यामपराधेऽपि तादृशे ।
मा कृथास्त्वनुसन्तापं *मत्कृते हि नरर्षभ ॥ १५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! जैसा मेरा अपराध था, वैसा ही उन ब्राह्मणों ने रोष में भर मुझे शाप भी दिया है । अतः तुम मेरे लिये सन्ताप मत करो ॥ १५ ॥

[1]कृतान्तः कुशलः पुत्र येनास्मि व्यसनीकृतः ।
प्राप्तव्यान्येव प्राप्नोति गन्तव्यान्येव गच्छति ॥ १६ ॥

हे पुत्र ! ईश्वर सब कुछ करने में निपुण है । उन्होंने मुझे इस दुर्दशा को पहुँचाया है । हे पुत्र ! जो होनहार होता है, वही होता है और जहाँ जाना बदा होता है वहाँ अवश्य जाना ही पड़ता है अथवा जो वस्तु मिलने वाली होती है वह अवश्य मिलती है और जो वस्तु जाने वाली होती है वह अवश्य ही चली जाती है ॥ १६ ॥

लब्धव्यान्येव लभते दुःखानि च सुखानि च ।
पूर्वे जात्यन्तरे वत्स मा विषादं कुरुष्व ह ॥ १७ ॥

---

१ कृतान्तः—ईश्वरः । (गो०)

* पाठान्तरे—"मत्कृतेऽपि ।"

चाहे सुख हो, चाहे दुःख, जो भोगना है वह बिना भोगे टलता नहीं। सुखों और दुःखों के प्राप्त होने का कारण पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का फल ही है। अतएव हे बेटा! तुम दुखी मत हो ॥१७॥

एवमुक्त्वा नृपस्तत्र सुतं राजा महायशाः ।
श्वभ्रं जगाम सुकृतं वासाय पुरुषर्षभ ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण! इस प्रकार यशस्वी राजा नृग अपने पुत्र को समझा बुझा कर, उस अच्छे बनाये हुए गर्त में रहने के लिये चल दिये ॥ १८ ॥

एवं प्रविश्यैव नृपस्तदानीं
श्वभ्रं महद्रत्नविभूषितं तत् ।
सम्पादयामास तदा महात्मा
शापं द्विजाभ्यां हि रुषा विमुक्तम् ॥ १९ ॥

इति चतुपञ्चाशः सर्गः ॥

और अनेक रत्नों से विभूषित उस महागर्त में राजा नृग ने प्रवेश किया और उसमें वास कर, उन्होंने उन महात्मा कुपित ब्राह्मणों के शाप का फल भोगा ॥ १९ ॥

उत्तरकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

एष ते नृगशापस्य विस्तरोऽभिहितो मया ।
यद्यस्ति श्रवणे श्रद्धा शृणुष्वेहापरां कथाम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे, हे लक्ष्मण! मैंने तुमको राजा नृग के शाप का वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सुना दिया। अब यदि और कुछ सुनना चाहते हो तो एक और वृत्तान्त सुनाऊँ॥ १॥

एवमुक्तस्तु रामेण सौमित्रिः पुनरब्रवीत्।
तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे नृप॥ २॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन, लक्ष्मण जी बोले—हे राजन्! ये वृत्तान्त तो बड़े अद्भुत हैं। इनको सुनते सुनते मेरा जी ही नहीं भरता है॥ २॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु राम इक्ष्वाकुनन्दनः।
कथां परमधर्मिष्ठां व्याहर्तुमुपचक्रमे॥ ३॥

जब लक्ष्मण जी ने इस प्रकार कहा; तब इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने एक और वैसी ही धर्मयुक्त कथा छेड़ दी॥ ३॥

आसीद्राजानिमिर्नाम इक्ष्वाकूणां महात्मनाम्।
पुत्रो द्वादशमो वीर्ये धर्मे च परिनिष्ठितः॥ ४॥

(श्रीरामचन्द्र जी बोले) हे लक्ष्मण! राजा इक्ष्वाकु के बारहवें पुत्र राजा निमि थे, जो बड़े पराक्रमी थे और उनकी धर्म में पूर्णनिष्ठा थी॥ ४॥

स राजा वीर्यसम्पन्नः पुरं देवपुरोपमम्।
निवेशयामास तदा अभ्याशे गौतमस्य तु॥ ५॥

पुरस्य सुकृतं नाम वैजयन्तमिति श्रुतम्।
निवेशं यत्र राजर्षिर्निमिश्चक्रे महायशाः॥ ६॥

महापराक्रमी राजा निमि ने गौतम मुनि के आश्रम के पास देवपुरी के सदृश, वैजयन्त नाम की एक सुन्दर पुरी बसायी। उसीमें वे महायशस्वी राजर्षि राजा निमि रहने लगे ॥ ५ ॥ ६ ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना निवेश्य सुमहापुरम् ।
यजेयं दीर्घसत्रेण पितुः प्रह्लादयन्मनः ॥ ७ ॥

उस पुरी में रहते रहते उनकी बुद्धि में यह बात आयी कि, मैं अपने पिता को प्रसन्न करने के लिये एक ऐसा बड़ा यज्ञ करूँ, जो बहुत दिनों में पूरा हो ॥ ७ ॥

ततः पितरमामंत्र्य इक्ष्वाकुं हि मनोस्सुतम् ।
वसिष्ठं वरयामास पूर्वं ब्रह्मर्षिसत्तमम् ॥ ८ ॥

यह मन में ठान, राजा निमि ने अपने पिता और महाराज मनु के पुत्र राजा इक्ष्वाकु से पूँछ और उनकी आज्ञा ले, यज्ञ के लिये सर्वप्रथम ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी को वरण किया ॥ ८ ॥

अनन्तरं स राजर्षिर्निमिरिक्ष्वाकुनन्दनः ।
अत्रिमङ्गिरसञ्चैव भृगुं चैव *तपोनिधिम् ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण! तदनन्तर इक्ष्वाकुपुत्र राजर्षि निमि ने अत्रि, अंगिरस और तपोधन भृगु को वरण किया ॥ ९ ॥

तमुवाच वसिष्ठस्तु निमिं राजर्षि सत्तमम् ।
वृतोहं पूर्वमिन्द्रेण अन्तरं प्रतिपालय ॥ १० ॥

उस समय वशिष्ठ जी ने राजर्षिश्रेष्ठ निमि से कहा कि, तुम्हारे वरण करने से पहिले ही इन्द्र मुझे वरण कर चुके हैं। अतः उनका यज्ञ करा कर मैं तुम्हारा यज्ञ करवाऊँगा ॥ १० ॥

* पाठान्तरे—"तपोधनम्"।

अनन्तरं महाविप्रो गौतमः प्रत्यपूरयत् ।
वसिष्ठोपि महातेजा इन्द्र यज्ञमथाकरोत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी वशिष्ठ जी इन्द्र के यहाँ यज्ञ कराने लगे। इधर गौतम जी वशिष्ठ जी के बजाय यज्ञ कराने लगे ॥ ११ ॥

निमिस्तु राजा विप्रान्स्तान्समानीय नराधिपः ।
अयजद्धिमवत्पार्श्वे स्वपुरस्य समीपतः ॥ १२ ॥

महाराज निमि ने सब ब्राह्मणों को एकत्र कर, हिमालय के पास ही अपने नगर के निकट यज्ञ करना आरम्भ कर दिया ॥ १२ ॥

पञ्च वर्षसहस्राणि राजा *दीक्षामथाकरोत् ।
इन्द्रयज्ञावसाने तु वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १३ ॥

महाराज निमि पाँच हज़ार वर्षों तक यज्ञ दीक्षा में रहे। उधर इन्द्र का यज्ञ पूर्ण होने पर, भगवान् वशिष्ठ जी, ॥ १३ ॥

सकाशमागतो राज्ञो हौत्रं कर्तुमनिन्दितः ।
तदन्तरमथा पश्यद्गौतमेनाभिपूरितम् ॥ १४ ॥

जो निन्दा रहित है, यज्ञ कराने को राज निमि के पास आये और आ कर देखा कि, गौतम जी तो यज्ञ पूरा करा चुके हैं ॥ १४ ॥

कोपेन महताऽऽविष्टो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः ।
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी मुहूर्तं समुपाविशत् ।
तस्मिन्नहनि राजर्षिर्निद्रयाऽपहृतो भृशम् ॥ १५ ॥

---

* पाठान्तरे—"दीक्षामुपागमत् ।"

यह देख कर ब्रह्मा जी के पुत्र वशिष्ठ जी क्रोध में भर गये और राजा निमि से मिलने के लिये वे वहाँ थोड़ी देर खड़े रहे। दैववश उधर राजा निमि को नींद सता रही थी सो वे सो गये ॥ १५ ॥

ततो मन्युर्वसिष्ठस्य प्रादुरासीन्महात्मनः ।
अदर्शनेन राजर्षेर्व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १६ ॥

यह देख वशिष्ठ जी का क्रोध और भी बढ़ गया। राजा से भेंट न होने के कारण वे क्रोध में भर कर बोले ॥ १६ ॥

यस्मात्त्वमन्यं वृतवान्मामवज्ञाय पार्थिव ।
चेतनेन विनाभूतो देहस्ते *पार्थिवैष्यति ॥ १७ ॥

हे राजन्! तूने मेरे लौटने की प्रतीक्षा न की और यज्ञ में दूसरे के वरण कर मेरा अपमान किया इसलिये तेरा शरीर चेतना रहित हो जायगा अर्थात् तुम मर जाओगे ॥ १७ ॥

ततः प्रबुद्धो †राजा तु श्रुत्वा शापमुदाहृतम् ।
ब्रह्मयोनिमथोवाच स ‡राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥ १८ ॥

जब राजा ने जाग कर यह शाप की व्यवस्था सुनी, तब वे भी अत्यन्त क्रुद्ध हो, महर्षि वशिष्ठ को शाप देने को उद्यत हुए ॥ १८ ॥

अज्ञानतः शयानस्य क्रोधेन कलुषीकृतः ।
§उक्तवान्मम शापाग्निं यमदण्डमिवापरम् ॥ १९ ॥

वे वशिष्ठ जी से बोले आपने मुझ सोते हुए पर बिना जाने, क्रोधवश दूसरे यमदण्ड की तरह जो शापाग्नि फेंका है ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—"देहस्तव भविष्यति।" † पाठान्तरे—"राजर्षि श्रुत्वा।" ‡ पाठान्तरे—"संरम्भात्क्रोधमूर्च्छितः।" § पाठान्तरे—"मुक्तवान्मयि।"

तस्मात्तवापि ब्रह्मर्षे चेतनेन विना कृतः।
देहः सरुचिरप्रख्यो भविष्यति न संशयः॥ २०॥

अतः हे महर्षे! तुम्हारा भी यह सुन्दर शरीर विना जीव के रहेगा अर्थात् तुम मर जाओगे॥ २०॥

इति रोषवशादुभौ तदानीम्
अन्योन्यं शपितौ नृपद्विजेन्द्रौ।
सहसैव बभूवतुर्विदेहौ-
तत्तुल्याधिगत प्रभाववन्तौ॥ २१॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः॥

इस प्रकार वे राजेन्द्र और द्विजेन्द्र क्रोध में भर एक दूसरे को शाप दे, समान प्रभाव वाले होने के कारण, तत्काल देहरहित हो गये॥ २१॥

उत्तरकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:०:—

रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः परवीरहा।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा राघवं दीप्ततेजसम्॥ १॥

शत्रुघाती श्रीलक्ष्मण जी, श्रीरामचन्द्र की कही इस कथा को सुन, हाथ जोड़ कर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी से बोले॥ १॥

निक्षिप्य देहौ काकुत्स्थ कथं तौ द्विजपार्थिवौ।
पुनर्देहेन संयोगं जग्मतुर्देवसम्मतौ॥ २॥

हे रघुनाथ जी! देवताओं के सम्मत (अर्थात् देवताओं के आदरभाजन) वे राजा और वशिष्ठ जी देहहीन हो कर, क्यों कर फिर शरीरधारी हुए? ॥ २ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु *राम इक्ष्वाकुनन्दनः ।
प्रत्युवाच महातेजा लक्ष्मणं पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥

लक्ष्मण जी के यह वचन सुन कर, इक्ष्वाकुकुलनन्दन पुरुषश्रेष्ठ तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे ॥ ३ ॥

तौ परस्पर शापेन †देहमुत्सृज्य धार्मिकौ ।
अभूतां नृपविप्रर्षी वायुभूतौ तपोधनौ ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण! वे दोनों धर्मात्मा आपस के शाप के कारण देहों को त्याग कर, तपस्वी ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी और राजा निमि वायुरूप हो गये (अर्थात् स्थूल शरीर त्याग, सूक्ष्म शरीरधारी हो गये) ॥४॥

अशरीरः शरीरस्य कृतेऽन्यस्य महामुनिः ।
वसिष्ठस्तु महातेजा जगाम पितुरन्तिकम् ॥ ५ ॥

महर्षि एवं महातेजस्वी वशिष्ठ जी स्थूलशरीर से रहित हो, स्थूलशरीर प्राप्ति की इच्छा से अपने पिता ब्रह्मा जी के पास गये ॥५॥

सोऽभिवाद्य ततः पादौ देवदेवस्य धर्मवित् ।
पितामहमथोवाच वायुभूत इदं वचः ॥ ६ ॥

वहाँ जा, धर्मज्ञ एवं वायुभूत सूक्ष्मशरीरधारी वशिष्ठ जी देवदेव ब्रह्मा जी के चरणों में सीस नवा प्रणाम कर उनसे इस प्रकार बोले ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"रामश्चेक्ष्वाकुनन्दनः।" † पाठान्तरे—"देहावुत्सृज्य।"

भगवन्निमिशापेन विदेहत्वमुपागमम् ।
*देवदेव महादेव वायुभूतोऽहमण्डज ॥ ७ ॥

हे भगवन्! मैं निमि के शाप से (स्थूल) शरीर रहित हो रहा हूँ। हे अण्डज! हे देवदेव! हे महादेव! मैं वायुभूत (सूक्ष्मशरीरधारी) हो रहा हूँ ॥ ७ ॥

सर्वेषां देहहीनानां महद्दुःखं भविष्यति ।
लुप्यन्ते सर्वकार्याणि हीनदेहस्य वै प्रभो ॥ ८ ॥

हे प्रभो! देह न होने से बड़ा कष्ट है। क्योंकि देह रहने ही से सब काम किये जा सकते हैं। अथवा देहहीन मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

देहस्यान्यस्य सद्भावे प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
तमुवाच ततो ब्रह्मा स्वयंभूरमितप्रभः ॥ ९ ॥

अब आप ऐसी कृपा करें, जिससे मुझे दूसरा शरीर प्राप्त हो जाय। यह वचन सुन बड़े प्रभाववान् स्वयंभू ब्रह्मा जी बोले ॥ ९ ॥

मित्रावरुणजं तेज आविश त्वं महायशः ।
अयोनिजस्त्वं भविता तत्रापि द्विजसत्तम ।
धर्मेण महता युक्तः पुनरेष्यसि मे वशम्[1] ॥ १० ॥

हे महायशस्वी! तुम मित्रावरुण के वीर्य में प्रवेश करो। हे द्विज-श्रेष्ठ! वहाँ भी तुम अयोनिज रहोगे (अर्थात् किसी स्त्री की योनि से

---

१ मेवशम्—मदधीनतां। (गो०)

* पाठान्तरे—"लोकनाथ महादेव अण्डजोपि त्वमब्जजः।"

उत्पन्न न होंगे) और धर्म से युक्त हो कर, फिर मेरे ही अधीन होंगे ॥ १० ॥

एवमुक्तस्तु देवेन अभिवाद्य प्रदक्षिणम् ।
कृत्वा पितामहं तूर्णं प्रययौ वरुणालयम् ॥ ११ ॥

जब लोकपितामह ब्रह्मा जी ने ऐसा कहा, तब उनको प्रणाम कर तथा उनकी परिक्रमा कर, वशिष्ठ जी तुरन्त वरुणलोक में गये ॥ ११ ॥

तमेव कालं मित्रोपि वरुणत्वमकारयत् ।
[1]क्षीरोदेन सहोपेतः पूज्यमानः *सुरेश्वरैः ॥ १२ ॥

उस समय मित्र (सूर्य) भी वरुण सहित समस्त देवताओं से पूज्य हो कर, वरुण के राज्य का शासन कर रहे थे ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव कालेतु उर्वशीपरमाप्सरा ।
यदृच्छया तमुद्देशमागता सखिभिर्वृता ॥ १३ ॥

इतने में अकस्मात् उर्वशी नाम की एक अप्सरा अपनी सखी सहेलियों को साथ लिये हुए वहाँ पहुँची ॥ १३ ॥

तां दृष्ट्वा रूप सम्पन्नां क्रीडन्तीं वरुणालये ।
तदा विशत्परोहर्षो वरुणं चोर्वशी कृते ॥ १४ ॥

वरुणालय में अर्थात् समुद्र के तट पर उस रूपयौवनसम्पन्न उर्वशी को क्रीड़ा करते देख कर, वरुण ने हर्षित हो कर चाहा कि उसके साथ प्रीति (अर्थात् मैथुन) करें ॥ १४ ॥

---

१ क्षीरोदेन—वरुणेन । (रा०)

* पाठान्तरे—" सुरोत्तमैः । "

स तां पद्मपलाशाक्षीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
वरुणो वरयामास मैथुनायाप्सरोवराम् ॥ १५ ॥

उस कमलनयनी, पूर्णचन्द्राननी, श्रेष्ठ अप्सरा के साथ वरुण जी ने सम्भोग करना चाहा ॥ १५ ॥

प्रत्युवाच ततः सा तु वरुणं प्राञ्जलिः स्थिता ।
मित्रेणाहं वृता साक्षात्पूर्वमेव सुरेश्वर ॥ १६ ॥

तब वह अप्सरा हाथ जोड़ कर वरुण जी से बोली—हे सुरेश्वर ! मित्र देवता ने पहले ही से मुझसे कह रखा है अथवा मित्र देवता के साथ में पहिले ही प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ ॥ १६ ॥

वरुणस्त्वब्रवीद्वाक्यं कन्दर्पशरपीडितः ।
इदं तेजः समुत्स्रक्ष्ये कुम्भेऽस्मिन्देवनिर्मिते ॥१७॥

यह सुन काम से पीड़ित वरुण जी ने कहा—यदि यही बात है तो मैं, तुझे देख कर क्षुब्ध होने के कारण, अपने वीर्य को इस देवनिर्मित घड़े में छोड़े देता हूँ ॥ १७ ॥

एवमुत्सृज्य सुश्रोणि त्वय्यहं वरवर्णिनि ।
कृतकामो भविष्यामि यदि नेच्छसि सङ्गमम् ॥ १८ ॥

हे सुन्दर नितंबोंवाली ! यदि तू मेरे साथ मैथुन करना नहीं चाहती ; तो मैं इस घट में वीर्य छोड़ अपनी कामभोग की लालसा को पूरी कर लूँगा ॥ १८ ॥

तस्य तल्लोकनाथस्य वरुणस्य सुभाषितम् ।
उर्वशी परमप्रीता श्रुत्वा वाक्यमुवाच ह ॥ १९ ॥

लोकनाथ वरुण के ये सुन्दर वचन सुन, उर्वशी ने अत्यन्त हर्षित हो कर कहा ॥ १९ ॥

कामयेतद्भवत्वेवं हृदयं मे त्वयि स्थितम् ।
भावश्चाप्यधिकं तुभ्यं देहो मित्रस्य तु प्रभो ॥ २० ॥

बहुत अच्छा! आप ऐसा ही करें। यद्यपि मेरा शरीर इस समय मित्र के अधीन है; तथापि मेरा मन आप ही में है ॥ २० ॥

उर्वश्या एवमुक्तस्तु रेतस्तन्महदद्भुतम् ।
ज्वलदग्निसमप्रख्यं तस्मिन्कुम्भे न्यवासृजत् ॥ २१ ॥

जब उर्वशी ने यह कहा, तब वरुण ने अद्भुत और प्रज्वलित अग्नि के समान प्रकाशमान् अपना वीर्य उस घड़े में छोड़ दिया ॥ २१ ॥

उर्वशी त्वगमत्तत्र मित्रो वै यत्र देवता ।
तां तु मित्रः सुसंक्रुद्ध उर्वशीमिदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

उर्वशी वहाँ से मित्र देवता के पास गयी। मित्र देवता उसे देखते ही क्रोध में भर कहने लगे ॥ २२ ॥

मयाभि मन्त्रिता पूर्वं कस्मात्त्वमवसर्जिता ।
पतिमन्यं वृतवती *किमर्थं दुष्टचारिणि ॥ २३ ॥

अरी दुष्टचारिणी! जबकि तुझे मैंने पहिले बुलाया था, तब तू मुझसे मिले बिना कहाँ चली गयी थी? तूने दूसरे के साथ सम्भोग क्यों किया? ॥ २३ ॥

---

* पाठान्तरे—" तस्मात्त्वं ।"

अनेन दुष्कृतेन त्वं मत्क्रोधकलुषीकृता ।
मनुष्यलोकमास्थाय कंचित्कालं निवत्स्यसि ॥ २४ ॥

इस अपराध के कारण तू मेरे क्रोध से शापित हो कर, तुझे कुछ दिनों मृत्युलोक में जा कर रहना पड़ेगा ॥ २४ ॥

बुधस्य पुत्रो राजर्षिः काशिराजः पुरूरवाः ।
तमभ्यागच्छ दुर्बुद्धे स ते भर्ता भविष्यति ॥ २५ ॥

अरी कुबुद्धिनी ! बुध के पुत्र काशिराज राजर्षि पुरूरवा के पास तू चली जा । वह तेरा पति होगा ॥ २५ ॥

ततः सा शापदोषेण पुरूरवसमभ्यगात् ।
प्रतिष्ठाने पुरूरवं बुधस्यात्मजमौरसम् ॥ २६ ॥

इस तरह शाप पा कर, उर्वशी प्रतिष्ठानपुर में बुध के पुत्र महाराज पुरूरवा के पास चली गयी ॥ २६ ॥

तस्य जज्ञे ततः श्रीमानायुः पुत्रो महाबलः ।
नहुषो यस्य पुत्रस्तु बभूवेंद्रसमद्युतिः ॥ २७ ॥

पुरूरवा से उर्वशी के गर्भ से बड़े बलवान राजा आयु उत्पन्न हुए । इन्द्र के समान कान्तिवाले राजा नहुष इन्हीं आयु के पुत्र थे ॥ २७ ॥

वज्रमुत्सृज्य वृत्राय श्रान्तेऽथ *त्रिदिवेश्वरे ।
शतं वर्षसहस्राणि येनेन्द्रत्वं प्रशासितम् ॥ २८ ॥

---

* पाठान्तरे—" त्रिदशेश्वरे । "

जब इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर का वध किया और वे ब्रह्म-हत्या-ग्रस्त हो गये, तब इन्हीं महाराज नहुष ने इन्द्रासन को एक लाख वर्ष तक सम्हाला और राज्य किया था ॥ २८ ॥

सा तेन शापेन जगाम भूमिं
तदोर्वशी चारुदती सुनेत्रा ।
बहूनि वर्षाण्यवसच्च सुभ्रूः
शापक्षयादिन्द्रसदो ययौ च ॥ २९ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ।

सुन्दर दांतों और सुन्दर नेत्रों वाली उर्वशी मित्र के शाप से मृत्युलोक में आयी और बहुत वर्षों तक मृत्युलोक में रही। तदनन्तर शापक्षय होने पर वह इन्द्रलोक में गयी ॥ २६ ॥

उत्तरकाण्ड का छप्पनवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

तां श्रुत्वा दिव्यसङ्काशां कथामद्भुतदर्शनाम् ।
लक्ष्मणः परमप्रीतो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

ऐसी अद्भुत और दिव्य कथा को सुन कर, लक्ष्मण जी परम प्रसन्न हो रघुनाथ जी से बोले ॥ १ ॥

निक्षिप्तदेहौ काकुत्स्थ कथं तौ द्विजपार्थिवौ ।
पुनर्देहेन संयोगं जग्मतुर्देवसम्मतौ ॥ २ ॥

हे राम ! जब उन देवसम्मानित ब्रह्मर्षि और राजा निमि ने अपने अपने शरीरों को त्याग दिया, तब फिर किस प्रकार उनको शरीर प्राप्त हुए ? ॥ २ ॥

तस्य तद्भापितं श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
तां कथां कथयामास वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

लक्ष्मण के इस प्रश्न के उत्तर में सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी महात्मा वशिष्ठ जी की कथा इस प्रकार कहने लगे ॥ ३ ॥

यः स कुम्भो रघुश्रेष्ठ तेजःपूर्णो महात्मनोः ।
तस्मिंस्तेजोमयौ विप्रौ सम्भूतावृषिसत्तमौ ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! उस (देवनिर्मित) घड़े से, जो मित्रावरुण के वीर्य से भरा हुआ था, दो तेजस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥

पूर्वं समभवत्तत्र अगस्त्यो भगवानृषिः ।
नाहं सुतस्तवेत्युक्त्वा मित्रं तस्मादपाक्रमत् ॥ ५ ॥

प्रथम तो उसमें से महर्षि अगस्त्य जी निकले और निकलते ही मित्र से बोले कि "मैं तेरा पुत्र नहीं हूँ ।" यह कह वे वहाँ से चले गये ॥ ५ ॥

तद्धि तेजस्तु मित्रस्य उर्वश्या पूर्वमाहितम् ।
तस्मिन् समभवत्कुम्भे तत्तेजो यत्र वारुणम् ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! यह वीर्य वही था, जो उर्वशी को लक्ष्य कर घड़े में रखा गया था । परन्तु था वरुण जी का ॥ ६ ॥

कस्य चित्त्वथ कालस्य मित्रावरुणसंभवः ।
वसिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे इक्ष्वाकुदैवतम ॥ ७ ॥

इसीसे कुछ दिनों बाद अत्यन्त तेजस्वी इक्ष्वाकुकुलपूज्य वशिष्ठ जी उत्पन्न हुए ॥ ७ ॥

तमिक्ष्वाकुर्महातेजा जातमात्रमनिन्दितम् ।
वव्रे पुरोधसं सौम्य वंशस्यास्य हिताय नः ॥ ८ ॥

उन अनिन्दित वशिष्ठ जी के उत्पन्न होते ही महाराज इक्ष्वाकु ने उनसे कहा—हे सौम्य ! आप मेरे वंश के कल्याण के लिये, मेरे कुलपुरोहित हूजिये ॥ ८ ॥

एवं त्वपूर्वदेहस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
कथितो निर्गमः सौम्य निमे शृणु यथाभवत् ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! इस प्रकार तो महात्मा वशिष्ठ जी को नवीन शरीर प्राप्त हुआ । हे सौम्य ! अब निमि का वृत्तान्त सुनो ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा विदेहं राजानमृषयः सर्व एव ते ।
तं च ते योजयामासुर्यज्ञदीक्षां मनीषिणः ॥ १० ॥

महाराज निमि को शरीररहित देख, बुद्धिमान ऋषिगण उनके उसी शरीर से यज्ञदीक्षा पूरी कराने लगे ॥ १० ॥

तं च देहं नरेन्द्रस्य रक्षन्ति स्म द्विजोत्तमाः ।
गन्धैर्माल्यैश्च वस्त्रैश्च पौरभृत्यसमन्विताः ॥ ११ ॥

उन ऋषियों ने पुरवासियों और राजा के नौकरों चाकरों की सहायता से राजा निमि के प्राणहीन शरीर की गन्ध, फूल और कपड़ों से तथा विविध प्रकार से रक्षा की ॥ ११ ॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु भृगुस्तत्रेदमब्रवीत् ।
आनयिष्यामि ते चेतस्तुष्टोऽस्मि तव पार्थिव ॥ १२ ॥

जब यज्ञ पूरा हो चुका, तब भृगु जी ने राजा निमि से कहा—हे राजन्! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। अतएव मैं तुम्हारे इस शरीर में चेतना डाल दूँगा अर्थात् तुम्हें पुनः जीवित कर दूँगा ॥१२॥

सुप्रीताश्च सुराःसर्वे निमेश्चेतस्तदाऽब्रुवन्।
वरं वरय राजर्षे क ते चेतो निरूप्यताम्॥ १३ ॥

उधर सब देवता भी वहाँ उपस्थित हो राजा निमि से बोले—हे राजर्षे! वर माँगिये कि, तुम्हारा जीव कहाँ रखा जाय ॥ १३ ॥

एवमुक्तः सुरैःसर्वैर्निमेश्चेतस्तदाब्रवीत्।
नेत्रेषु सर्वभूतानां वसेयं सुरसत्तमाः॥ १४ ॥

इस प्रकार समस्त देवताओं का वचन सुन, निमि के आत्मा ने कहा—हे देवताओं! मैं तो समस्त प्राणियों के नेत्रों पर रहना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

बाढमित्येव विबुधा निमेश्चेतस्तदाऽब्रुवन्।
नेत्रेषु सर्वभूतानां वायुभूतश्चरिष्यसि॥ १५ ॥

यह प्रार्थना सुन कर, देवताओं ने राजा निमि से कहा—बहुत अच्छा। तुम वायुरूप हो कर प्राणियों के नेत्रों में विचरोगे ॥ १५ ॥

त्वत्कृते च निमिष्यन्ति चक्षूंषि पृथिवीपते।
वायुभूतेन चरता विश्रामार्थं मुहुर्मुहुः॥ १६ ॥

हे पृथिवीनाथ! वायु के रूप में प्राणियों के नेत्रों में, तुम्हारे विचरने से, उनके नेत्र, विश्राम करने के लिये, बार बार बंद होंगे ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा तु विबुधाः सर्वे जग्मुर्यथा गतम् ।
ऋषयोऽपि महात्मानो निमेर्देहं समाहरन् ॥ १७ ॥

यह कह कर, समस्त देवता अपने अपने स्थानों को चले गये। तब महात्मा ऋषियों ने हवन के मंत्रों को पढ़ पढ़ कर निमि के प्राणहीन शरीर को अरणी (मथानी) बना कर मथा ॥ १७ ॥

अरणिं तत्र निक्षिप्य मथनं चक्रुरोजसा ।
मन्त्रहोमैर्महात्मानः पुत्रहेतोर्निमेस्तदा ॥ १८ ॥

अरण्यां मथ्यमानायां प्रादुर्भूतो महातपाः ।
मथनान्मिथिरित्याहुर्जननाज्जनको भवत् ॥ १९ ॥

जब अरणि द्वारा शरीर मथा, तब उससे एक महातपस्वी पुरुष उत्पन्न हुआ। मथन करने से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम मिथि और जनने अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रकट किये जाने के कारण उसीका नाम जनक भी पड़ा ॥ १८ ॥ १९ ॥

यस्माद्विदेहात्संभूतो वैदेहस्तु ततः स्मृतः ।
एवं विदेहराजश्च जनकः पूर्वकोऽभवत् ।
मिथिर्नाम महातेजास्तेनायं मैथिलोऽभवत् ॥ २० ॥

चेतनाशून्य शरीर से उत्पन्न होने के कारण उस पुरुष का एक नाम विदेह भी हुआ। इस प्रकार विदेहराज जनक की प्रथम उत्पत्ति हुई। उन्हीं महातेजस्वी मिथि के वंश के राजा लोग मैथिल कहलाये ॥ २० ॥

[इति सर्वमशेषतो मया
कथितं संभवकारणं तु सौम्य ।

नृपपुङ्गवशापजं द्विजस्य
द्विजशापाच्च यदद्भुतं नृपस्य] ॥ २१ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण! मैंने ऋषि वशिष्ठ के शाप से राजा निमि का और राजा निमि के शाप से ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी का विदेह होना तथा पुनः उन दोनों का अद्भुत शरीर प्राप्त करना विस्तार पूर्वक तुमको सुनाया ॥ २१ ॥

उत्तरकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

एवं ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणः परवीरहा।
प्रत्युवाच महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ १ ॥

जब इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने कहा; तब शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी तेजस्वी महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से पुनः कहने लगे ॥ १ ॥

महदद्भुतमाश्चर्यं विदेहस्य पुरातनम्।
*निर्वृत्तं राजशार्दूल वसिष्ठस्य मुनेश्च ह ॥ २ ॥

हे राजशार्दूल! यह विदेहराज की पुरातन कथा जिसमें वशिष्ठ मुनि जी की कथा का भी प्रसङ्ग है, अत्यन्त विस्मयकारिणी है ॥२॥

निमिस्तु क्षत्रियः शूरो विशेषेण च दीक्षितः।
न क्षमां† कृतवान् राजा वसिष्ठस्य महात्मनः ॥३॥

---

* पाठान्तरे—"निवृत्तं।" † पाठान्तरे—"क्षमा।"

परन्तु मैं पूँछता हूँ कि, राजा निमि तो क्षत्रिय, शूरवीर और विशेष कर, उस समय यज्ञदीक्षा लिये हुए थे। उन्होंने महर्षि वशिष्ठ को क्षमा क्यों नहीं किया? ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्तु तेनायं *रामः क्षत्रियपुङ्गवः ।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥४॥

क्षत्रियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी इस प्रकार पूँछे जाने पर, सर्वशास्त्रज्ञाता लक्ष्मण जी से बोले ॥ ४ ॥

रामो रमयतां श्रेष्ठो भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।
न सर्वत्र क्षमा वीर पुरुषेषु प्रदृश्यते ॥ ५ ॥

आनन्दप्रदों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने अपने तेजस्वी भाई लक्ष्मण से कहा—हे वीर! सब पुरुषों में क्षमा नहीं हुआ करती ॥ ५ ॥

सौमित्रे दुःसहो रोषो यथा क्षान्तो ययातिना ।
सत्त्वानुगं पुरस्कृत्य तं निबोध समाहितः ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण! क्रोध बड़ा दुस्सह होता है। देखो सतोगुणी राजा ययाति ने अपने क्रोध को उभरने नहीं दिया था। उस कथा को मैं कहता हूँ, तुम मन लगा कर सुनो ॥ ६ ॥

नहुषस्य सुतो राजा ययातिः पौरवर्धनः ।
तस्य भार्याद्वयं सौम्य रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ ७ ॥

राजा ययाति महाराज नहुष के पुत्र थे। वे प्रजा का पालन करने और प्रजाजनों की सुखसम्पत्ति बढ़ाने में सदा तत्पर रहा

---

* पाठान्तरे—"श्रीमान्।"

करते थे। हे लक्ष्मण! इस भूमण्डल पर सब से अधिक रूपवती उनकी पत्नियाँ थीं ॥ ७ ॥

एका तु तस्य राजर्षेर्नाहुषस्य पुरस्कृता।
शर्मिष्ठा नाम दैतेयी[1] दुहिता वृषपर्वणः ॥ ८ ॥

एक का नाम तो शर्मिष्ठा था, जो दिति की पुत्री और वृषपर्वा दैत्य की बेटी थी। वह राजा को बड़ी प्यारी थी ॥ ८ ॥

अन्या तूशनसः पत्नी ययातेः पुरुषर्षभ।
न तु सा दयिता राज्ञो देवयानी सुमध्यमा ॥ ९ ॥

दूसरी शुक्राचार्य की बेटी थी। उसका नाम देवयानी था। यह सुमध्यमा राजा को उतनी प्यारी न थी ॥ ९ ॥

तयोः पुत्रौ तु संभूतौ रूपवन्तौ समाहितौ।
शर्मिष्ठाऽजनयत्पूरुं देवयानी यदुं तदा ॥ १० ॥

उन दोनों के रूपवान दो पुत्र हुए। शर्मिष्ठा के गर्भ से पुरु और देवयानी के गर्भ से यदु का जन्म हुआ ॥ १० ॥

पूरुस्तुदयितो राज्ञो गुणैर्मातृकृतेन च।
ततो दुःखसमाविष्टो यदुर्मातरमब्रवीत् ॥ ११ ॥

माता के समान गुणवान् होने के कारण राजा का अपने राजकुमार पुरु पर विशेष स्नेह था। यह देख, बहुत दुःखी हो दूसरे राजकुमार यदु ने अपनी माता से कहा ॥ ११ ॥

भार्गवस्य कुले जाता देवस्याक्लिष्टकर्मणः।
सहसे हृद्गतं दुःखमवमानं च दुःसहम् ॥ १२ ॥

---

१ दैतेयी—दितेःपौत्री। (गो०)

हे माता ! तू ऐसे सामर्थ्यवान् भार्गवदेव के कुल में उत्पन्न हो कर भी, ऐसा असह्य मानसिक क्लेश और अनादर सहती है ॥ १२ ॥

आवां च सहितौ देवि प्रविशाव हुताशनम् ।
राजा तु रमतां सार्धं दैत्यपुत्र्या बहुक्षपाः ॥ १३ ॥

(इसकी अपेक्षा तो) हे देवि ! आओ तू और मैं दोनों अग्नि में कूद पड़ें। फिर राजा दैत्य की पुत्री के साथ बेखटके विहार किया करें ॥ १३ ॥

यदि वा सहनीयं ते मामनुज्ञातुमर्हसि ।
क्षम त्वं न क्षमिष्येऽहं मरिष्यामि न संशयः ॥१४॥

और यदि तुझको यह क्लेश और अपमान सहना पसन्द हो तो तू सह । किन्तु मुझे आज्ञा दे। क्योंकि मुझसे तो यह नहीं सहा जाता। मैं तो निस्सन्देह अपने प्राण दे दूँगा ॥ १४ ॥

पुत्रस्य भाषितं श्रुत्वा परमार्तस्य रोदतः ।
देवयानी तु संक्रुद्धा सस्मार पितरं तदा ॥ १५ ॥

इस प्रकार परम दुःखी एवं रोते हुए पुत्र के वचन सुन कर, देवयानी क्रुद्ध हो, ध्यान द्वारा अपने पिता को स्मरण करने लगी ॥१५॥

[1]इङ्गितं तदभिज्ञाय दुहितुर्भार्गवस्तदा ।
आगतस्त्वरितं तत्र देवयानी स्म यत्र सा ॥ १६ ॥

अपनी बेटी को दुःखी और कुपित जान, उसके स्मरण करते ही, शुक्र महाराज वहाँ आ पहुँचे, जहाँ उनकी बेटी थी ॥ १६ ॥

1 इङ्गितं—खेदरोपभावं । (गो०)

दृष्ट्वा चामकृतिस्थां तामप्रहृष्टामचेतनाम् ।
पिता दुहितरं वाक्यं किमेतदिति चाब्रवीत् ॥१७॥

देवयानी को अस्वस्थ, दुःखी और क्षुब्ध देख कर, शुक्र जी अपनी बेटी से बोले—बेटी ! तेरी यह क्या दशा है ? ॥ १७ ॥

पृच्छन्तमसकृत्तं वै भार्गवं दीप्तचेतसम् ।
देवयानी तु संक्रुद्धा पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥१८॥

जब उन महातेजस्वी भार्गव ने कई बार पूँछा, तब देवयानी क्रुद्ध हो कर बोली ॥ १८ ॥

अहमग्निं विषं तीक्ष्णमपो वा मुनिसत्तम ।
भक्षयिष्ये *प्रवेक्ष्ये वा न तु शक्ष्यामि जीवितुम् ॥१९॥

हे मुनिसत्तम ! मैं आग में कूद कर, या तीक्ष्ण विषपान कर, अथवा जल में डूब कर मर जाऊँगी । अब मैं किसी प्रकार जी नहीं सकती ॥ १९ ॥

न मां त्वमवजानीषे दुःखितामवमानिताम् ।
वृक्षस्यावज्ञया ब्रह्मंश्छिद्यन्ते वृक्षजीविनः ॥ २० ॥

तुमको नहीं मालूम कि, मैं कितनी दुःखी हूँ और मेरा यहाँ कैसा अनादर होता है । हे ब्रह्मन् ! वृक्ष के कटने से वृक्षजीवी फूलों फलों की जो दशा होती है, वही दशा मेरे पुत्रों की होगी । अथवा जैसे वृक्ष के कटने पर उसके आश्रित फल फूल भी मुरझा जाते हैं, वैसे ही मेरे अनादर से मेरे सन्तान का भी अनादर है ॥ २० ॥

---

* पाठान्तरे—"प्रविक्ष्यामि ।"

अवज्ञया च राजर्षिः परिभूय च भार्गव ।
मय्यवज्ञां प्रयुंक्ते हि न च मां बहुमन्यते ॥ २१ ॥

हे भार्गव ! वह अनादर यह है कि, राजर्षि ययाति मेरा बड़ा तिरस्कार करता है और मुझे मानता भी नहीं ॥ २१ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा *कोपेनाभिपरीवृतः ।
व्याहर्तुमुपचक्राम भार्गवो नहुषात्मजम् ॥ २२ ॥

अपनी बेटी के ये वचन सुन कर और क्रोध में भर, भार्गव ने नहुषपुत्र राजा ययाति के लिये यह (शापयुक्त) वचन बोले ॥२२॥

यस्मान्मामव जानीषे नाहुष त्वं दुरात्मवान् ।
वयसाजरया जीर्णः शैथिल्यमुपयास्यसि ॥ २३ ॥

अरे दुरात्मा नहुषपुत्र ! तूने मेरा अनादर किया है । अतः तुझे अभी बुढ़ापा आ घेरेगी । तेरे समस्त अङ्ग शिथिल हो जायँगे ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा दुहितरं समाश्वास्य स भार्गवः ।
पुनर्जगाम ब्रह्मर्षिभवनं स्वं महायशाः ॥ २४ ॥

इस प्रकार राजा को शाप दे कर और देवयानी को समझा बुझा कर, तेजस्वी शुक्र महाराज अपने भवन को सिधारे ॥ २४ ॥

स एवमुक्त्वा द्विजपुङ्गवाग्र्यः
सुतां समाश्वास्य च देवयानीम् ।

---

* पाठान्तरे—"कोपेनाभिपरिप्लुतः ।"

पुनर्ययौ सूर्यसमानतेजा
दत्त्वा च शापं नहुषात्मजाय ॥ २५ ॥

इतिअष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

सूर्य के समान तेजस्वी एवं द्विजश्रेष्ठ भार्गव जी इस प्रकार कह और अपनी पुत्री देवयानी को धीरज बँधा और नहुष के पुत्र राजा ययाति को शाप दे, वहाँ से चल दिये ॥ २५ ॥

उत्तरकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—:०:—

श्रुत्वा तूशनसं क्रुद्धं तदार्तो नहुषात्मजः ।
जरां परमिकां प्राप्य यदुं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

नहुषपुत्र राजा ययाति शुक्र जी को कुपित सुन कर, बड़े दुःखी हुए और बुढ़ापे से घिर कर अपने पुत्र यदु से कहने लगे ॥ १ ॥

यदो त्वमसि धर्मज्ञ मदर्थं प्रतिगृह्यताम् ।
जरां परमिकां पुत्र भोगै रंस्ये महायशः ॥ २ ॥

हे बेटा यदु ! तू धर्मज्ञ है, अतः तू मेरा यह बुढ़ापा ले ले (और अपनी जवानी मुझे दे दे) जिससे मैं आनन्द से विहार करूँ। क्योंकि विषय-भोग से अभी तक मेरी तृप्ति नहीं हुई है ॥ २ ॥

न तावत्कृत कृत्योऽस्मि विषयेषु नरर्षभ ।
अनुभूय तदा कामं ततः प्राप्स्याम्यहं जराम् ॥ ३ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! जब तक मैं विषयभोग से तृप्त न हो जाऊँ, तब तक मैं कामक्रीड़ा कर, पीछे तुमसे अपना बुढ़ापा लौटा लूँगा ॥३॥

यदुस्तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच नरर्षभम् ।
पुत्रस्ते दयितः पूरुः प्रतिगृह्णातु वै जराम् ॥ ४ ॥

राजा के ये वचन सुन कर, यदु ने नृपश्रेष्ठ ययाति से कहा—तुम्हारा तो प्यारा पुत्र पुरु है, वही तुम्हारा बुढ़ापा लेगा ॥ ४ ॥

बहिष्कृतोहमर्थेषु सन्निकर्षाच्च पार्थिव ।
प्रति गृह्णातु वै राजन्यैः सहाश्नासि भोजनम् ॥ ५ ॥

क्योंकि हे राजन् ! तुमने तो मुझको अपने पास रहने तक से तथा सब पदार्थों से बहिष्कृत कर रखा है, तुम्हारा बुढ़ापा तो वह लेगा, जो तुम्हारे साथ खाता पीता है ॥ ५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजा पूरुमथाब्रवीत् ।
इयं जरा महाबाहो मदर्थं प्रतिगृह्यताम् ॥ ६ ॥

यदु के ऐसे वचन सुन कर राजा ययाति ने (अपने दूसरे पुत्र) पुरु से कहा—हे महाबाहो ! मेरी प्रसन्नता सम्पादन करने के लिये तुम यह मेरा बुढ़ापा ले लो ॥ ६ ॥

नाहुषेणैव मुक्तस्तु पूरुः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
धन्योस्म्यनुगृहीतोस्मि शासनेऽस्मि तव स्थितः ॥ ७ ॥

राजा का यह वचन सुनते ही पुरु हाथ जोड़ कर बोला—मेरे अहोभाग्य ! मैं आपका अनुगृहीत हुआ। आपकी आज्ञा (सहर्ष) मुझे शिरोधार्य है ॥ ७ ॥

पूरोर्वचनमाज्ञाय नाहुषः परया मुदा।
प्रहर्षमतुलं लेभे जरां संक्रामयच्च ताम् ॥ ८ ॥

पुरु के यह वचन सुन कर, राजा ययाति परम प्रसन्न और सुखी हुए। उन्होंने अपना बुढ़ापा पुरु को दे दिया ॥ ८ ॥

ततः स राजा तरुणः प्राप्य यज्ञान्सहस्रशः।
बहुवर्षसहस्राणि पालयामास मेदिनीम् ॥ ९ ॥

और उसका यौवन ले राजा ययाति ने हज़ारों वर्षों तक पृथिवी का शासन करते हुए, सहस्रों यज्ञ किये ॥ ९ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य राजा पूरुमथाब्रवीत्।
आनयस्व जरां पुत्र न्यासं निर्यातयस्व मे ॥ १० ॥

बहुत दिनों बाद राजा ययाति ने अपने पुत्र पुरु से कहा, मेरा बुढ़ापा अब तुम मुझे दे दो, जिसे मैंने तुम्हारे पास धरोहर की भाँति रख दिया था ॥ १० ॥

न्यासभूता मया पुत्र त्वयि संक्रामिता जरा।
तस्मात्प्रतिग्रहीष्यामि तां जरां मा व्यथां कृथाः ॥ ११ ॥

हे बेटा ! मैंने तुम्हारे पास धरोहर की तरह बुढ़ापा रख दिया था। सो अब मैं उसे ले लूँगा। अतः इसके लिये तुम दुःखी मत होना ॥ ११ ॥

प्रीतश्चास्मि महाबाहो शासनस्य प्रतिग्रहात्।
त्वां चाहमभिषेक्ष्यामि प्रीतियुक्तो नराधिपम् ॥ १२ ॥

हे महाबाहो! तुमने मेरी आज्ञा मान ली, अतएव मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ और प्रसन्न हो कर मैं अब राजसिंहासन पर तुम्हारा अभिषेक करूँगा ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा सुतं पूरुं ययातिर्नहुषात्मजः ।
देवयानीसुतं क्रुद्धो राजा वाक्यमुवाच ह ॥ १३ ॥

नहुषपुत्र ययाति ने अपने पुत्र पुरु से इस प्रकार कह कर, देवयानी के पुत्र यदु से कुपित हो कहा ॥ १३ ॥

राक्षसस्त्वं मया जातः *क्षत्ररूपो दुरासदः ।
प्रतिहंसि ममाज्ञां †त्वं [1]प्रजार्थे विफलो भव ॥ १४ ॥

अरे नीच! तू मेरे औरस से क्षत्रिय रूप में कोई दुर्धर्ष राक्षस उत्पन्न हुआ है। इसीसे तूने मेरी आज्ञा नहीं मानी। आज्ञा न मानने के कारण तू कभी भी राजा न हो सकेगा ॥ १४ ॥

पितरं गुरुभूतं मां यस्मात्त्वमवमन्यसे ।
राक्षसान्यातुधानांस्त्वं जनयिष्यसि दारुणान् ॥१५॥

मैं तेरा पिता हूँ और तेरा पूज्य हूँ। तिस पर भी तूने मेरी अवज्ञा की है। अतएव तू राक्षसों और दुर्धर्ष पिशाचों को पैदा करेगा ॥ १५ ॥

न तु सोमकुलोत्पन्ने वंशे स्थास्यति दुर्मतेः ।
वंशोपि भवतस्तुल्यो दुर्विनीतो भविष्यति ॥ १६ ॥

हे दुर्मते! तु सोमकुल में उत्पन्न होने पर भी इस वंश में न रह सकेगा। तेरे सन्तान भी तेरे जैसे ही दुष्टचरित्र होंगे अथवा

---

१ प्रजार्थे विफलो भव—राज्याधिपत्यरहितो भवेत्यर्थः। (रा०)

* पाठान्तरे—"पुत्ररूपो।" † पाठान्तरे—"यत्प्रजार्थे।"

तेरे सन्तान जो राक्षसी स्वभाव के होंगे, वे नाम मात्र के क्षत्रिय होंगे, किन्तु वे राज्याभिषिक्त न हो सकेंगे। क्योंकि तेरे सन्तान तेरे ही जैसे दुर्विनीत होंगे ॥ १६ ॥

तमेवमुक्त्वा राजर्षिः पूरुं राज्यविवर्धनम् ।
अभिषेकेण सम्पूज्य आश्रमं प्रविवेश ह ॥ १७ ॥

राजर्षि ययाति इस प्रकार यदु को शाप दे और राज बढ़ाने वाले पुरु को राज्यभिषिक्त कर, स्वयं वानप्रस्थ आश्रमी हो गये ॥ १७ ॥

ततः कालेन महता दिष्टान्तमुपजग्मिवान् ।
त्रिदिवं स गतो राजा ययातिर्नहुषात्मजः ॥ १८ ॥

इस घटना के बहुत दिनों बाद, समय आ जाने पर, राजा ययाति स्वर्ग सिधारे ॥ १८ ॥

पूरुश्चकार तद्राज्यं धर्मेण महता वृतः ।
प्रतिष्ठाने पुरवरे काशिराज्ये महायशाः ॥ १९ ॥

पुरु धर्मपूर्वक राज्य करने लगे। काशीराज्य के निकट प्रतिष्ठानपुर में महायशस्वी राजा पुरु राज्य करने लगे ॥ १६ ॥..

[नोट—प्रयाग के पूर्व गङ्गा पार जो स्थान झूसी के नाम से आजकल प्रसिद्ध है, उसीका प्राचीन नाम प्रतिष्ठानपुर है ।]

यदुस्तु जनयामास यातुधानान्सहस्रशः ।
पुरे क्रौञ्चवने दुर्गे राजवंशबहिष्कृते ॥ २० ॥

(राजा ययाति के शापानुसार) यदु सोमवंश से बहिष्कृत हो गया। वह क्रौंचवन के दुर्गपुर में जा बसा और वहाँ उसके हज़ारों यातुधान (पिशाच) सन्तान पैदा हुए ॥ २० ॥

एष तूशनसा मुक्तः शापोत्सर्गो ययातिना ।
धारितः क्षत्रधर्मेण यं निमिश्चक्षमे न च ॥ २१ ॥

हे लक्ष्मण ! इस प्रकार शुक्राचार्य के शाप को राजा ययाति ने तो क्षत्रियधर्म के अनुरोध से चुपचाप स्वीकार कर लिया, किन्तु राजा निमि क्षमा न कर सके ॥ २१ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं दर्शनं सर्वकारिणाम् ।
अनुवर्तामहे सौम्य दोषो न स्याद्यथा नृगे ॥ २२ ॥

हे सौम्य ! यह पुरानी समस्त कथाएँ मैंने तुमको सुना दीं। अतः हमको इस प्रकार से वर्तना चाहिये, जिससे राजा नृग की तरह हमारे ऊपर कोई (कार्यार्थी) दोषारोपण न कर सके ॥ २२ ॥

इति कथयति रामे चन्द्रतुल्याननेन
प्रविरलतरतारं व्योम जज्ञे तदानीम् ।
अरुणकिरणरक्ता दिग्बभौ चैव पूर्वा
कुसुमरसविमुक्तं वस्त्रमागुण्ठितेव ॥२३॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

चन्द्रमुख श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कथाएँ कहते कहते रात हो गयी ; आकाश में तारागण छिटके से देख पड़ने लगे। (चन्द्रोदय होने से) पूर्वदिशा लाल हो गयी, मानों कोई स्त्री कुसुमी रंग की साड़ी पहिने हुए हो ॥ २३ ॥

उत्तरकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

[इसके आगे पुनः तीन सर्ग प्रक्षिप्त हैं]

—:*:—

प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः

—:o:—

ततः प्रभाते विमले कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ।
धर्मासनगतो राजा रामो राजीवलोचनः ॥ १ ॥

सवेरा होते ही और प्रातःकालीन सब कृत्यों से निश्चिन्त हो, राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी न्यायासन पर जा विराजे ॥ १ ॥

राजधर्मानवेक्षन्वै ब्राह्मणैर्नैगमैः सह ।
पुरोधसा वसिष्ठेन ऋषिणा कश्यपेन च ॥ २ ॥

वेदशास्त्रज्ञाता पुरोहित वशिष्ठ और कश्यप ऋषि जी के साथ साथ (अथवा इन दोनों के परामर्श से अथवा इन दो को जूरी बना) श्रीरामचन्द्र जी अभियोगों को निपटाते थे ॥ २ ॥

मन्त्रिभिर्व्यवहारज्ञैस्तथाऽन्यैर्धर्मपाठकैः* ।
नीतिज्ञैरथ सभ्यैश्च राजभिः सा सभा वृता ॥३॥

आईन जानने वाले मंत्री तथा धर्मशास्त्रवेत्ता, नीतिशास्त्रवेत्ता सदस्यों एवं सामन्तों से वह न्यायालय भरा हुआ था ॥ ३ ॥

सभा यथा महेन्द्रस्य यमस्य वरुणस्य च ।
शुशुभे राजसिंहस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ४ ॥

जैसी न्यायसभा (अर्थात् न्यायालय) इन्द्र, यम, वरुण की है, वैसी ही अक्लिष्टकर्मा राजसिंह श्रीरामचन्द्र जी की न्यायसभा सुशोभित थी ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—" धर्मपारगैः । "

अथ रामोऽब्रवीत्तत्र लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
निर्गच्छ त्वं महाबाहो सुमित्रानन्दवर्धन ॥ ५ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मण जी से बोले हे महाबाहो ! हे सुमित्रानन्दवर्द्धन ! तुम बाहिर जाओ ॥ ५ ॥

कार्यार्थिनश्च सौमित्रे व्याहर्तुं त्वमुपाक्रम ।
रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः शुभलक्षणः ॥ ६ ॥

और हे सौमित्रे ! जो कार्यार्थी बाहिर हों, उन्हें यहाँ लिवा लाओ । शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पा कर, ॥ ६ ॥

द्वारदेशमुपागम्य कार्यिणश्चाह्वयत्स्वयम् ।
न कश्चिदब्रवीत्तत्र मम कार्यमिहाद्य वै ॥ ७ ॥

द्वार पर गये और स्वयं कार्यार्थियों को बुलाने लगे ; परन्तु वहाँ एक भी कार्यार्थी यह न बोला कि, मेरा अमुक काम है ॥ ७ ॥

नाधयो व्याधयश्चैव रामे राज्यं प्रशासति ।
पक्वसस्या वसुमती सर्वौषधिसमन्विता ॥ ८ ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के राज्य में कोई भी आधिव्याधि से पीड़ित न था । सारी पृथिवी पके हुए अन्न और ओषधियों से भरी पूरी थी ॥ ८ ॥

न बालो म्रियते तत्र न युवा न च मध्यमः ।
धर्मेण शासितं सर्वं न च बाधा विधीयते ॥ ९ ॥

श्रीरामराज्य में बालक, बूढ़ा, युवा—कोई भी मरता न था । सब कोई धर्मद्वारा शासित होते थे । अतः किसी को कुछ कष्ट ही न था ॥ ९ ॥

दृश्यते न च कार्यार्थी राजन्ने राज्यं प्रशासति ।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा रामायैवं न्यवेदयत् ॥ १० ॥

इस प्रकार के धर्मराज्य में कार्यार्थी (फरियादी) कहाँ से आते । अतः लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर, यह हाल श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन किया ॥ १० ॥

अथ रामः प्रसन्नात्मा सौमित्रिमिदमब्रवीत् ।
भूय एव तु गच्छ त्वं कार्यिणः प्रविचारय ॥ ११ ॥

इस पर पुनः श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्न हो कर (लक्ष्मण से) कहा, हे लक्ष्मण ! तुम एक बार फिर जाओ और कार्यार्थियों को तलाश करो ॥ ११ ॥

सम्यक्प्रणीतया नीत्या नाधर्मो विद्यते क्वचित् ।
तस्माद्राज भयात्सर्वे रक्षन्तीह परस्परम् ॥ १२ ॥

राजनीति से यथोचित काम लेने पर अन्याय अथवा अधर्म कहीं ठहर नहीं सकता, क्योंकि (नीतिवान्) राजा के भय से सब लोग स्वयं ही आपस में एक दूसरे की रक्षा करने लगते हैं ॥ १२ ॥

बाणा इव मया मुक्ता इह रक्षन्ति मे प्रजाः ।
तथापि त्वं महाबाहो प्रजा रक्षस्व तत्परः ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, यद्यपि राजधर्म मेरे हाथ से छूटे हुए बाणों की तरह, प्रजा की रक्षा करता है ; तथापि तुम उनको देख भाल करते रहो ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्निर्जगाम नृपालयात् ।
अपश्यद्द्वारदेशे वै श्वानं तावदवस्थितम् ॥ १४ ॥

यह सुन कर, लक्ष्मण जी राजमन्दिर से वाहिर आये और वहाँ द्वार पर बैठे हुए एक कुत्ते को देखा ॥ १४ ॥

तमेवं वीक्षमाणो वै विक्रोशन्तं मुहुर्मुहुः ।
दृष्ट्वाऽथ लक्ष्मणस्तं वै पप्रच्छाथ स वीर्यवान् ॥ १५ ॥

वह कुत्ता खड़ा हुआ लक्ष्मण की ओर देखने लगा तथा वारंवार चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा। तब महाबली लक्ष्मण जी ने उससे पूँछा ॥ १५ ॥

किं ते कार्यं महाभाग ब्रूहि विस्रब्धमानसः ।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा सारमेयोऽभ्यभाषत ॥ १६ ॥

हे महाभाग! तुम्हारा क्या कार्य है? तुम निडर हो कर, मुझसे कहो। लक्ष्मण जी के यह वचन सुन, वह कुत्ता कहने लगा ॥ १६ ॥

सर्वभूतशरण्याय रामायाक्लिष्टकर्मणे ।
भयेष्वभयदात्रे च तस्मै वक्तुं समुत्सहे ॥ १७ ॥

सब प्राणियों के रक्षक, अक्लिष्टकर्मकारी और भयभीतों को अभय करने वाले श्रीरामचन्द्र जी से मुझे कुछ कहना है ॥ १७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं सारमेयस्य लक्ष्मणः ।
राघवाय तदाख्यातुं प्रविवेशालयं शुभम् ॥ १८ ॥

कुत्ते के यह वचन सुन, लक्ष्मण श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन करने के लिये, पुनः राजभवन में गये ॥ १८ ॥

निवेद्य रामस्य पुनर्निर्जगाम नृपालयात् ।
वक्तव्यं यदि ते किञ्चित्तत्त्वं ब्रूहि नृपाय वै ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन कर, पुनः राजभवन के बाहिर आ कर, कुत्ते से बोले—तुमको जो कुछ कहना हो चलकर महाराज से ठीक ठीक कहना ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा सारमेयोऽभ्यभाषत ।
देवागारे नृपागारे द्विजवेश्मसु वै तथा ॥ २० ॥

लक्ष्मण जी के यह वचन सुन, कुत्ता कहने लगा—देवता के मन्दिर में राजा के भवन में और ब्राह्मण के घर में ॥ २० ॥

वह्निः शतक्रतुश्चैव सूर्यो वायुश्च तिष्ठति ।
नात्र योग्यास्तु सौमित्रे योनीनामधमा वयम् ॥ २१ ॥

अग्नि, इन्द्र, सूर्य और वायु रहते हैं। अतः हे लक्ष्मण! ऐसी जगहों में हम जैसे अधम जीवों का प्रवेश निषिद्ध है ॥ २१ ॥

प्रवेष्टुं नात्र शक्ष्यामि धर्मो विग्रहवान्नृपः ।
सत्यवादी रणपटुः *सर्वसत्त्वहिते रतः ॥ २२ ॥

अतएव मैं वहाँ नहीं जा सकता। क्योंकि राजा शरीरधारी साक्षात् धर्म है। फिर श्रीरामचन्द्र जी तो सत्यवादी, रण में दक्ष और समस्त प्राणियों के हित में तत्पर रहने वाले हैं ॥ २२ ॥

षाड्गुण्यस्य पदं वेत्ति नीतिकर्ता स राघवः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च रामो रमयतांवरः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी षाड्गुण्यपद के ज्ञाता, नीति के बनाने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और प्रजा का रञ्जन करने वालों में श्रेष्ठ हैं ॥ २३ ॥

[नोट—षाड्गुण—छः गुण। राजा के लिये राजनीति सम्बन्धी ६ बातें जान लेनी आवश्यक है। वे छः बातें ये हैं—१ सन्धि २ विग्रह (युद्ध) ३

---

* पाठान्तरे—" सर्वभूतहिते। "

यान (सैन्यपरिचालन March or Expedition) ४ स्थान या आसन ५ संश्रय (सुरक्षित स्थान में रहना) और ६ द्वैध (Duplicity)]

स सोमः स च मृत्युश्च स यमो धनदस्तथा।
वह्निः शतक्रतुश्चैव सूर्यो वै वरुणस्तथा ॥ २४ ॥

वे ही चन्द्र, वे ही मृत्यु, वे ही यम, वे ही कुवेर, वे ही अग्नि, वे ही इन्द्र, वे ही सूर्य और वे ही वरुण हैं ॥ २४ ॥

तस्य त्वं ब्रूहि सौमित्रे प्रजापालः स राघवः।
अनाज्ञप्तस्तु सौमित्रे प्रवेष्टुं नेच्छयाम्यहम् ॥ २५ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जा कर प्रजापालनकर्त्ता श्रीरामचन्द्र जी से यह बात कह दो। मैं उनकी आज्ञा पाये विना भीतर जाना नहीं चाहता ॥ २५ ॥

आनृशंस्यान्महाभाग प्रविवेश महाद्युतिः।
नृपालयं प्रविश्याथ लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २६ ॥

महातेजवान लक्ष्मण जी उसकी ऐसी सिधाई देख ; राजभवन में गये और वहां जा कर बोले ॥ २६ ॥

श्रूयतां मम विज्ञाप्यं कौसल्यानन्दवर्धन।
यन्मयोक्तं महाबाहो तव शासनजं विभो ॥ २७ ॥

हे कौशल्यानन्दवर्द्धन ! मेरी प्रार्थना सुनिये। हे महाबाहो ! हे विभो ! आपने जो आज्ञा दी उसका मैंने पालन किया अर्थात् पुनः वाहिर जा कर कार्यार्थी को ढूँढ़ा ॥ २७ ॥

श्वा वै ते तिष्ठते द्वारि कार्यार्थी समुपागतः।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा रामो वचनमब्रवीत् ॥२८॥

एक कुत्ता किसी काम के लिये द्वार पर खड़ा है। लक्ष्मण के यह वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा ॥ २८ ॥

संप्रवेशय वै क्षिप्रं कार्यार्थी योऽत्र तिष्ठति ॥ २९ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः ॥

कार्यार्थी फरियादी कोई भी (जाति या योनि का) क्यों न हो, उसे शीघ्र यहाँ ले आओ ॥ २९ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त पहिला सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा रामस्य वचनं लक्ष्मणस्त्वरितस्तदा ।
श्वानमाहूय मतिमान् राघवाय न्यवेदयत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन कर, लक्ष्मण जी ने तुरन्त कुत्ते को ला कर, महाराज के सामने खड़ा कर दिया ॥ १ ॥

दृष्ट्वा समागतं श्वानं रामो वचनमब्रवीत् ।
विविक्षतार्थं तु मे ब्रूहि सारमेय न ते भयम् ॥ २ ॥

कुत्ते को अपने सामने देख, श्रीरामचन्द्र जी ने उससे कहा—हे सारमेय! तुझे जो कुछ कहना हो सो कह, डरे मत ॥ २ ॥

अथापश्यत तत्रस्थं रामं श्वा भिन्नमस्तकः ।
ततो दृष्ट्वा स राजानं सारमेयोऽब्रवीद्वचः ॥ ३ ॥

उस कुत्ते का सिर फटा हुआ था। वह श्रीरामचन्द्र जी की ओर देख कर बोला ॥ ३ ॥

राजैव कर्ता भूतानां राजा चैव विनायकः ।
राजा सुप्तेषु जागर्ति राजा पालयति प्रजाः ॥ ४ ॥

महाराज ! राजा ही समस्त प्राणियों का स्वामी और शासन-कर्त्ता है । सब लोग जिस समय सोया करते हैं, राजा उस समय जागता रहता है ॥ ४ ॥

नीत्या सुनीतया राजा धर्मं रक्षति रक्षिता ।
यदा न पालयेद्राजा क्षिप्रं नश्यन्ति वै प्रजाः ॥५॥

राजा अच्छी नीति के द्वारा धर्म की रक्षा करता है । यदि राजा प्रजा का (यथोचित) पालन न करे, तो प्रजा शीघ्र ही नष्ट हो जाय ॥ ५ ॥

राजा कर्ता च गोप्ता च सर्वस्य जगतः पिता ।
राजा कालो युगं चैव राजा सर्वमिदं जगत् ॥ ६ ॥

अतएव राजा ही कर्त्ता, राजा ही रक्षक और राजा ही जगत् का पिता है । वही काल, वही युग और वही यह समस्त जगत्रूप है ॥ ६ ॥

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यस्माद्धारयते सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ७ ॥

धारण करने ही से धर्म रह सकता है और धर्म ही से प्रजा जन (यथावस्थित) रह सकते हैं । अतः धर्म का धारण करने वाला, चराचर सहित तीनों लोकों को धारण कर सकता है ॥ ७ ॥

धारणाद्विद्विषां चैव धर्मेणारञ्जयन्प्रजाः ।
तस्माद्धारणमित्युक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥ ८ ॥

वही दुष्टों का निग्रह और प्रजाजनों का रञ्जन कर सकता है। इसीसे वह धर्म कहलाता है ॥ ८ ॥

एष राजन्परोधर्मः फलवान्प्रेत्य राघव ।
न हि धर्माद्भवेत्किञ्चिद्दुष्प्रापमिति मे मतिः ॥ ९ ॥

हे राजन्! धर्म ही सब से बढ़ कर है और मरने पर परलोक में धर्म ही सहायक होता है। यह मेरा दृढ़ मत है कि, धर्म पर आरूढ़ रहने वाले को कोई भी पदार्थ दुष्प्राप्य नहीं है ॥ ९ ॥

दानं दया सतां पूजा व्यवहारेषु चार्जवम् ।
एष राम परो धर्मो रक्षणात्प्रेत्य चेह च ॥ १० ॥

दान, दया, सज्जनों का सत्कार, व्यवहार में सीधापन (छल कपट शून्यता)—हे राम! ये ही परमधर्म हैं और इसी परमधर्म की रक्षा करने से यह और पर दोनों लोक बनते हैं ॥ १० ॥

त्वं प्रमाणं प्रमाणानामसि राघव सुव्रत ।
विदितश्चैव ते धर्मः सद्भिराचरितस्तुवै ॥ ११ ॥

हे सुव्रत! हे राघव! आप तो प्रमाणों के भी प्रमाण हैं, सत्पुरुषों से आचरित आपका धर्म सब को विदित है ॥ ११ ॥

धर्माणां त्वं परं धाम गुणानां सागरोपमः ।
अज्ञानाच्च मया राजन्नुक्तस्त्वं राजसत्तम ॥ १२ ॥

आप धर्म के परमधाम और सद्गुणों के सागर हैं। हे राज-श्रेष्ठ! मैंने यदि कोई बात अज्ञानतावश आपसे कह दी हो ॥ १२ ॥

प्रसादयामि शिरसा न त्वं क्रोद्धुमिहार्हसि ।
शुनकस्य वचः श्रुत्वा राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥ १३ ॥

उसके लिये मैं सिर झुका कर क्षमा माँगता हूँ। आप मुझ पर कुपित न हों। श्वान के ये वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ १३ ॥

किं ते कार्यं करोम्यद्य ब्रूहि विस्रब्ध माचिरम् ।
रामस्य वचनं श्रुत्वा सारमेयोऽब्रवीदिदम् ॥ १४ ॥

हे श्वान! जल्दी निडर हो कर बतलाओ, तुम क्या चाहते हो? मैं अभी उसे पूरा करूँगा। श्रीरामचन्द्र के यह वचन सुन कर कुत्ता कहने लगा ॥ १४ ॥

धर्मेण राष्ट्रं विन्देत धर्मेणैवानुपालयेत् ।
धर्माच्छरण्यतां याति राजा सर्वभयापहः ॥ १५ ॥

हे राजन्! धर्म से राज्य की प्राप्ति होती है, धर्म ही से राज्य का (यथेष्ट) पालन हो सकता है; धर्म ही से (राजा) शरणागतवत्सल होता है। राजा सब भयों को दूर करता है ॥ १५ ॥

इदं विज्ञाय यत्कृत्यं श्रूयतां मम राघव ।
भिक्षुः सर्वार्थसिद्धश्च ब्राह्मणावसथे वसन् ॥ १६ ॥

यह सब समझ कर, मेरा जो कुछ काम है, उसे सुनिये। सर्वार्थसिद्ध नामक भिक्षुक एक ब्राह्मण है। मैं उसीके घर में रहता था ॥ १६ ॥

तेन दत्तः प्रहारो मे निष्कारणमनागसः ।
एतच्छ्रुत्वा तु रामेण द्वास्थः सम्प्रेषितस्तदा ॥ १७ ॥

उसने अकारण, निरपराध मेरा सिर फोड़ डाला है। यह सुनते ही, श्रीरामचन्द्र जी ने उस भिक्षुक ब्राह्मण को बुलाने के लिये अपना द्वारपाल भेजा ॥ १७ ॥

आनीतश्च द्विजस्तेन सर्वसिद्धार्थकोविदः ।
अथ द्विजवरस्तत्र रामं दृष्ट्वा महाद्युतिः ॥ १८ ॥

द्वारपाल जा कर सर्वार्थसिद्ध नामक ब्राह्मण को बुला लाया। जब उस भिक्षुक ब्राह्मण ने महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र को देखा, तब वह कहने लगा ॥ १८ ॥

किं ते कार्यं मया राम तद्ब्रूहि त्वं ममानघ ।
एवमुक्तस्तु विप्रेण रामो वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

हे अनघ! हे राम! बतलाइये मुझे किस लिये आपने बुलवाया है? जब उस ब्राह्मण ने इस प्रकार पूँछा; तब श्रीरामचन्द्र जी ने उसे उत्तर देते हुए कहा ॥ १९ ॥

त्वयादत्तः प्रहारोऽयं सारमेयस्य वै द्विज ।
किं तवापकृतं विप्र दण्डेनाभिहतो यतः ॥ २० ॥

हे ब्राह्मण! तुमने इस कुत्ते को मारा है, सो इसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था जो तुमने इसके सिर में लाठी मारी? ॥ २० ॥

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधो मित्रमुखो रिपुः ।
क्रोधो ह्यसिर्महातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ॥ २१ ॥

हे द्विज! सुनो, क्रोध ही प्राणसंहारी शत्रु है। क्रोध ही मित्र के समान (बनावटी भेष में) मधुरभाषी शत्रु है। क्रोध ही बड़ी

पैनी तलवार है और क्रोध ही सब सद्गुणों का सार खींच लेने वाला है ॥ २१ ॥

तपते यजते चैव यच्च दानं प्रयच्छति ।
क्रोधेन *सर्वं हरति तस्मात्क्रोधं विसर्जयेत् ॥ २२ ॥

तप, यज्ञ, दानादि जो (पुण्यप्रद) कर्म किये जाते हैं, इन सब को क्रोध नष्ट कर डालता है। अतएव क्रोध को (सदैव और सर्वथा) त्यागना चाहिये ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां प्रदुष्टानां हयानामिव धावताम् ।
कुर्वीत धृत्या सारथ्यं संहृत्येन्द्रियगोचरम् ॥ २३ ॥

इन्द्रियाँ दुष्ट घोड़ों की तरह विषयों की ओर दौड़ा करती हैं, अतः उन इन्द्रियरूपी घोड़ों को सारथी रूपी बुद्धि से अपने अधीन कर, उनको सन्मार्ग पर चलाना चाहिये ॥ २३ ॥

मनसा कर्मणा वाचा चक्षुषा च समाचरेत् ।
श्रेयो लोकस्य चरतो न द्वेष्टि न च लिप्यते ॥२४॥

मन, कर्म, वाणी और नेत्रों से लोगों की भलाई करता रहै। द्वेष बुद्धि को त्याग दे अथवा किसी की बुराई न करे। ऐसा करने से वह कर्मबन्धन में नहीं फँसता ॥ २४ ॥

न तत्कुर्यादसिस्तीक्ष्णः सर्पो वा व्याहतः पदा ।
अरिर्वा नित्यसंक्रुद्धो यथाऽऽत्मा दुरनुष्ठितः ॥ २५ ॥

दुराचार से बिगड़ा हुआ आत्मा जैसा अनिष्ट किया करता है, वैसा अनिष्ट तेज़ धार वाली तलवार, पैर से कुचला हुआ साँप अथवा अत्यन्त क्रोधी शत्रु भी नहीं कर सकता ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे—" वै संहरति । "

विनीतविनयस्यापि प्रकृतिर्न विधीयते ।
प्रकृतिं गूहमानस्य *निश्चयेन कृतिर्ध्रुवा ॥ २६ ॥

शास्त्रों को पढ़ कर जिसने नम्रता और शौशील्य की शिक्षा पायी हो, यदि वह इनके बल से अपनी प्रकृति को छिपाना चाहे तो उसकी (वास्तविक) प्रकृति छिपाने पर भी छिप नहीं सकती। क्योंकि शास्त्र के पढ़ने से प्रकृति नहीं बदल सकती। वह समय पर अवश्य ही अपने आप प्रकट हो जाती है ॥ २६ ॥

एवमुक्तः स विप्रो वै रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
द्विजः सर्वार्थसिद्धस्तु अब्रवीद्रामसन्निधौ ॥ २७ ॥

जब अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी ने उस ब्राह्मण से इस प्रकार कहा—तब सर्वार्थसिद्ध ब्राह्मण श्रीरामचन्द्र जी से बोला ॥ २७ ॥

मया दत्तप्रहारोऽयं क्रोधेनाविष्टचेतसा ।
भिक्षार्थमटमानेन काले विगतभैक्षके ॥ २८ ॥

हे महाराज ! मैंने क्रोध में भर इस कुत्ते को अवश्य मारा है। मैं भिक्षा के लिये घूम रहा था और भिक्षा का समय निकल गया था ॥ २८ ॥

रथ्यास्थितस्त्वयं श्वा वै गच्छ गच्छेति भाषितः ।
अथ स्वैरेण गच्छंस्तु रथ्यान्ते †विषमः स्थितः ॥२९॥

यह बीचों बीच गली में बैठा था। मैंने इससे कई बार कहा कि हट जा। तब यह वहाँ से उठ कर गली के छोर पर अपनी इच्छानुसार, जाकर एक बेढंगी जगह खड़ा हो गया ॥ २९ ॥

---

* पाठान्तरे—"निश्चये प्रकृतिर्ध्रुवम् ।" † पाठान्तरे—"विषमं ।"

क्रोधेन क्षुधयाऽऽविष्टस्ततो दत्तोऽस्य राघव ।
प्रहारो राजराजेन्द्र शाधि मामपराधिनम् ॥ ३० ॥

मैं भूखा तो था ही सो क्रोध के वश में हो इसे मार बैठा। हे महाराज! अब आप मुझ अपराधी को जो दण्ड उचित समझें दें ॥३०॥

त्वया शस्तस्य राजेन्द्र नास्ति मे नरकाद्भयम् ।
अथ रामेण संपृष्टाः सर्व एव सभासदः ॥ ३१ ॥

हे राजेन्द्र! क्योंकि आपके हाथ से दण्ड पाने पर मुझे नरक का भय नहीं रहैगा। यह सुन कर श्रीरामचन्द्र जी ने समस्त सभासदों से पूँछा ॥ ३१ ॥

किं कार्यमस्य वै ब्रूत दण्डो वै *कोऽस्य पात्यताम् ।
सम्यक्प्रणिहिते दण्डे प्रजा भवति रक्षिता ॥ ३२ ॥

कहिये इसे क्या दण्ड दिया जाय? क्योंकि अपराधी को शास्त्रानुसार दण्ड देने से प्रजा की रक्षा होती है ॥ ३२ ॥

भृग्वाङ्गिरसकुत्साद्या वसिष्ठश्च सकाश्यपः ।
धर्मपाठकमुख्याश्च सचिवा नैगमास्तथा ॥ ३३ ॥

उस समय, भृगु, आंगिरस, कुत्स, वशिष्ठ और काश्यपादि बड़े बड़े धर्मशास्त्रवेत्ता ऋषि, मंत्रि और बड़े बड़े महाजन भी वहाँ उपस्थित थे ॥ ३३ ॥

एते चान्ये च बहवः पण्डितास्तत्र सङ्गताः ।
अवध्यो ब्राह्मणो दण्डैरिति शास्त्रविदो विदुः ॥३४॥

इनके अतिरिक्त वहाँ अन्य और भी विद्वज्जन थे। उन सब शास्त्रज्ञों ने (एक स्वर से) कहा कि, दण्ड द्वारा ब्राह्मण अवध्य है ॥ ३४ ॥

---

* पाठान्तरे—"कोनु।"

ब्रुवते राघवं सर्वे राजधर्मेषु निष्ठिताः ।
अथ ते मुनयः सर्वे राममेवाब्रुवंस्तदा ॥ ३५ ॥

उन राजधर्मवेत्ताओं ने तो यह राजधर्म कहा । तदनन्तर समस्त मुनि श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३५ ॥

राजा शास्ता हि सर्वस्य त्वं विशेषेण राघव ।
त्रैलोक्यस्य भवान् शास्ता देवो विष्णुः सनातनः ॥३६॥

राजा सब को शिक्षा देने वाला होता है । विशेष कर आप तो सब से अधिक हैं । क्योंकि, आप तो सनातन भगवान् विष्णु हैं और त्रिलोकी का शासन करने वाले हैं ॥ ३६ ॥

एवमुक्ते तु तैः सर्वैः श्वा वै वचनमब्रवीत् ।
यदि तुष्टोसि मे राम यदि देयो वरो मम ॥ ३७ ॥

न्यायसभा के लोग जब इस प्रकार कह रहे थे, तब (बीच में) वह कुत्ता बोल उठा । उसने कहा—हे राजन् ! यदि आप प्रसन्न हैं और मुझे वर देना चाहते हैं, तो मेरा मनोरथ सिद्ध कीजिये ॥ ३७ ॥

प्रतिज्ञातं त्वया वीर किं करोमीति विश्रुतम् ।
प्रयच्छ ब्राह्मणस्यास्य कौलपत्यं *नराधिप ॥ ३८ ॥
†कालञ्जरे महाराज कौलपत्यं प्रदीयताम् ।
एतच्छ्रुत्वा तु रामेण कौलपत्येऽभिषेचितः ॥ ३९ ॥

क्योंकि आपने तो पहिले ही यह प्रतिज्ञात्मक वचन कहा था कि, मैं तेरे लिये क्या करूँ । सो अब मेरा यही मनोरथ है कि, आप

* पाठान्तरे—" धराधर । " † पाठान्तरे—" कौलंचरे । "

इस भिक्षुक ब्राह्मण को कालञ्जर देश का मठाधिपति (महन्त या चौधरी) बना दीजिये। महाराज ने यह सुनते ही उसको कालञ्जर की महन्ती पर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

प्रययौ ब्राह्मणो हृष्टो गजस्कन्धेन सोऽर्चितः ।
अथ ते रामसचिवाः स्मयमाना वचोऽब्रुवन् ॥ ४० ॥

वह ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हुआ। हाथी पर सवार करा कर राज्य की ओर से उसका बहुमान किया गया। यह आश्चर्यदायिनी घटना देख कर, श्रीरामचन्द्र जी के मंत्रीगण मुसक्या कर बोले ॥ ४० ॥

वरोऽयं दत्त एतस्य नायं शापो महाद्युते ।
एवमुक्तस्तु सचिवै रामो वचनमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

हे महाराज! इस ब्राह्मण को तो दण्ड के बदले यह पुरस्कार दिया गया! जब मंत्रियों ने यह कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ ४१ ॥

न यूयं *गतितत्त्वज्ञाः श्वा वै जानाति कारणम् ।
अथ पृष्टस्तु रामेण सारमेयोऽब्रवीदिदम् ॥ ४२ ॥

तुम लोग इस बात के भेद को नहीं जान सकते। इसका भेद कुत्ते ही को मालूम है। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के पूछने पर उस कुत्ते ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ ४२ ॥

अहं कुलपतिस्तत्र आसं शिष्टान्नभोजनः ।
देवद्विजातिपूजायां दासीदासेषु राघव ॥ ४३ ॥

हे राम! सुनिये, मैं पूर्वजन्म में उसी (कालञ्जर का) स्थान का कुलपति था। मैं बढ़िया बढ़िया पदार्थ खाता था, और

* पाठान्तरे—"नीतितत्त्वज्ञाः।"

देवता तथा ब्राह्मणों का पूजन किया करता था तथा नौकरों चाकरों को ॥ ४३ ॥

संविभागी शुभरतिर्देवद्रव्यस्य रक्षिता ।
विनीतः शीलसम्पन्नः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥ ४४ ॥

उनके कार्यानुसार वेतन देता था । मैं देवधन की रक्षा करता था । मैं नीतिमान्, सतोगुणी और समस्त प्राणियों के हित में तत्पर रहता था ॥ ४४ ॥

सोऽहं प्राप्त इमां घोरामवस्थामधमां गतिम् ।
एवं क्रोधान्वितो विप्रस्त्यक्तधर्माऽहितेरतः ॥ ४५ ॥

क्रुद्धो नृशंसः परुष अविद्वांश्चाप्यधार्मिकः ।
कुलानि पातयत्येव सप्त सप्त च राघव ॥ ४६ ॥

तिस पर भी मैं इस घोर अधम गति को प्राप्त हुआ हूँ । फिर यह ब्राह्मण तो क्रोधी, धर्मशून्य, अहितकर हिंसक, रूखा बोलने वाला, निष्ठुर, मूर्ख और अधर्मरत है । हे राघव ! यह मातृकुल की सात और पितृकुल की सात पीढ़ियों को नरक में डालेगा ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु कौलपत्यं न कारयेत् ।
यमिच्छेन्नरकं नेतुं सपुत्रपशुबान्धवम् ॥ ४७ ॥

देवेष्वधिष्ठितं कुर्याद्गोषु च ब्राह्मणेषु च ।
ब्रह्मस्वं देवताद्रव्यं स्त्रीणां बालधनं च यत् ॥ ४८ ॥

हे प्रभो ! कैसी ही विपत्ति क्यों न आ पड़े, किन्तु कुलपति—महन्ती का काम कभी न करे । हे पृथिवीनाथ ! जिसको पुत्र, पशु,

और बन्धु बान्धव सहित नरक में भेजता हो, उसको देवताओं, गौओं, और ब्राह्मणों का अधिष्ठाता बना दे। हे सर्वज्ञ! ब्राह्मण, देवता, स्त्री और बच्चों को जो धन दे दिया गया है ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

हृतं हरति यो भूप इष्टैः सह विनश्यति ।
ब्राह्मणद्रव्यमादत्ते देवानां चैव राघव ॥ ४९ ॥
सद्यः पतति घोरे वै नरके ऽवीचिसंज्ञके* ।
मनसापि हि देवस्वं ब्रह्मस्वं च हरेत्तु यः ॥ ५० ॥

उसे जो छीन लेता है, वह अपने प्यारे पदार्थों सहित नष्ट हो जाता है। हे राघव! जो ब्राह्मणों के और देवताओं के द्रव्य को हाथ लगाता है, वह घोर ही अवीचि नामक नरक में गिरता है। अथवा जो देवद्रव्य और ब्राह्मण धन को लेने के लिये मन चलाता है ॥ ४९ ॥ ५० ॥

निरयान्निरयं चैव पतत्येव नराधमः ।
तच्छ्रुत्वा वचनं रामो विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥ ५१ ॥
श्वाप्यगच्छन्महातेजा यत एवागतस्ततः ।
मनस्वी पूर्वजात्या स जातिमात्रोपदूषितः ॥ ५२ ॥

वह नराधम उसी क्षण एक नरक से निकाल कर दूसरे नरक में डाला जाता है। यह सुन कर श्रीरघुनाथ जी के नेत्र विस्मय के मारे प्रफुल्लित हो गये। कुत्ता जहाँ से आया था वहीं चला गया। पूर्वजन्म में वह श्वान उत्तम जाति का था। परन्तु इस जन्म में वह निकृष्ट जाति में उत्पन्न होने के कारण दूषित था ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

* पाठान्तरे—"वीचिसंज्ञके"।

वाराणस्यां महाभागः प्रायं चोपविवेश ह ॥ ५३ ॥

इति प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः॥

वह महाभाग कुत्ता वहाँ से काशी गया और वहाँ शरीर त्यागने की कामना से अन्नजल छोड़, निराहार व्रत करने लगा ॥ ५३ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः

—:०:—

अथ तस्मिन्वनोद्देशे रम्ये पादपशोभिते।
नदीकीर्णे गिरिवरे कोकिलानेककूजिते ॥ १ ॥

सिंहव्याघ्रसमाकीर्णे नानाद्विजगणावृते।
गृध्रोलूकौ प्रवसतो बहुवर्षगणानपि ॥ २ ॥

किसी एक बड़े रमणीक और वृक्षों से सुशोभित वन में, जहाँ नदी के तट पर कोयलें कूकती थीं, जिसमें सिंह व्याघ्रादि रहा करते थे और जिसमें विविध प्रकार के पक्षी भरे पड़े थे; उस वन में सैकड़ों वर्षों से एक गीध और उल्लू दो पक्षी भी रहा करते थे ॥ १ ॥ २ ॥

अथोलूकस्य भवनं गृध्रः पापविनिश्चयः।
ममेदमिति कृत्वाऽसौ कलहं तेन चाकरोत् ॥ ३ ॥

एक दिन गीध के मन में पाप समाया और वह उल्लू के घर जा कर बोला—यह घर तो मेरा है। यह कह वह गीध उस उल्लू के साथ झगड़ा करने लगा ॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य रामो राजीवलोचनः।
तं प्रपद्यावहे शीघ्रं यस्यैतद्भवनं भवेत् ॥ ४ ॥

और बोला—कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी (आजकल) सब के ऊपर राज्य करते हैं। चलो हम तुम उनके पास चलें। वे इस मकान के बारे में जिसके पक्ष में निर्णय कर देंगे, यह घर उसीका हो जायगा ॥ ४ ॥

इति कृत्वा मतिं* तौ तु निश्चयार्थं सुनिश्चिताम्।
गृध्रोलूकौ प्रपद्येतां कोपाविष्टौ ह्यमर्षितौ ॥ ५ ॥

इस प्रकार वे दोनों आपस में तै कर और क्रोध में भरे, श्रीरामचन्द्र जी के पास आये ॥ ५ ॥

रामं प्रपद्य तौ शीघ्रं कलिव्याकुलचेतसौ।
तौ परस्परविद्वेषात्स्पृशतश्चरणौ तदा ॥ ६ ॥

वे परस्पर झगड़ा करने के कारण विकल हो रहे थे। दोनों ने आ कर, श्रीरामचन्द्र जी के चरण छुए ॥ ६ ॥

अथ दृष्ट्वा नरेन्द्रं तं गृध्रो वचनमब्रवीत्।
सुराणामसुराणां च प्रधानस्त्वं मतो मम ॥ ७ ॥

तदनन्तर गीध ने श्रीरामचन्द्र की ओर देख कर यह कहा—हे राजन्! मेरी जान में तो आप देवता और असुरों में प्रधान हैं ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" तां तु।"

बृहस्पतेश्च शुक्राच्च विशिष्टोसि महाद्युते ।
परावरज्ञो भूतानां कान्त्यां चन्द्र इवापरः ॥ ८ ॥
दुर्निरीक्ष्यो यथा सूर्यो हिमवांश्चैव गौरवे ।
सागरश्चैव* गाम्भीर्ये लोकपालो यमो ह्यसि ॥ ९ ॥

हे महाद्युतिमान ! आप बुद्धि में बृहस्पति और शुक्र से भी बढ़ कर हैं । आप प्राणिमात्र के पूर्वापर को जानने वाले हैं और कान्ति में आप चन्द्र के समान एवं सूर्य की तरह दुर्निरीक्ष्य हैं । हिमालय की तरह और गम्भीरता में आप समुद्र की तरह हैं । आप गौरव में आप प्रभाव में लोकपाल के तुल्य हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

क्षान्त्या धरण्या तुल्योसि शीघ्रत्वे ह्यनिलोपमः ।
गुरुस्त्वं सर्वसम्पन्नः कीर्तियुक्तश्च राघव ॥१०॥

आप क्षमा में पृथिवी के समान और शीघ्रता में वायु के समान हैं । आप सब के गुरु, (अर्थात् पूज्य) सर्वगुणसम्पन्न और कीर्तिमान हैं ॥ १० ॥

अमर्षी दुर्जयो जेता सर्वास्त्रविधिपारगः ।
शृणुष्व मम वै राम विज्ञाप्यं नरपुङ्गव ॥ ११ ॥

आप क्रोध रहित, दुर्जेय, सब के जीतने वाले और सब शास्त्रों के पारगामी हैं । हे नरश्रेष्ठ ! हे श्रीरामचन्द्र ! आप मेरी प्रार्थना सुनिये ॥ ११ ॥

ममालयं पूर्वकृतं बाहुवीर्येण राघव ।
उलूको हरते राजंस्तत्र त्वं त्रातुमर्हसि ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—" सागरश्चासि । "

हे राघव ! पहले मैंने अपने बाहुबल से जिस घर को बनाया था, उसे अब यह उलूक लेना चाहता है.। हे राजन् ! इस विपत्ति से आप मुझे बचावें ॥ १२ ॥

एवमुक्ते तु गृध्रेण उलूको वाक्यमब्रवीत् ।
सोमाच्छतक्रतोः सूर्याद्धनदाद्वा यमात्तथा ॥ १३ ॥

जब गीध कह चुका ; तब उल्लू कहने लगा । हे राजन् ! चन्द्रमा, इन्द्र, सूर्य, कुबेर और यम ; इन देवताओं से राजा का शरीर ॥ १३ ॥

जायते वै नृपो राम किञ्चिद्भवति मानुषः ।
त्वं तु सर्वमयो देवो नारायण इवापरः ॥ १४ ॥

कल्पित होता है परन्तु उसमें थोड़ा सा मनुष्यत्व भी रहता है । आप तो सर्वमय साक्षात् नारायण रूप ही हैं ॥ १४ ॥

याचते सौम्यता राजन्सम्यक्प्रणिहिता विभो ।
समं चरसि चान्विष्य तेन सोमांशको भवान् ॥१५॥

हे प्रभो ! आपके प्रति सब जीवधारी सौम्यता प्रदर्शित कर, भली भाँति आपसे याचना करते हैं । आपमें सौम्यभाव दिखलाई पड़ता है, अतः आप सोमांश हैं । आपका व्यवहार सब में समान हैं ॥ १५ ॥

क्रोधे दण्डे प्रजानाथ दाने पापभयापहः ।
दाता हर्तासि गोप्तासि तेनेन्द्र इव नो भवान् ॥ १६ ॥

हे प्रजानाथ ! क्रोध करने में, दण्ड देने में, पाप और भय के दूर करने में तथा दाता, हर्ता और रक्षक होने के कारण, आप इन्द्र के समान हैं ॥ १६ ॥

अधृष्यः सर्वभूतेषु तेजसा चानलोपमः ।
अभीक्ष्णं तपसे लोकांस्तेन भास्करसन्निभः ॥१७॥

सब प्राणियों से अधृष्य (अजेय) होने के कारण, आप तेज में अग्नि के समान हैं और सूर्य की तरह सब लोकों को तपाया करते हैं। अतः आप सूर्य के समान हैं ॥ १७ ॥

साक्षाद्वित्तेशतुल्योऽसि अथवा धनदाधिकः ।
वित्तेशस्येव पद्मा श्रीर्नित्यं ते राजसत्तम ॥ १८ ॥

आप साक्षात् कुबेर के तुल्य हैं, अथवा उनसे भी अधिक हैं। क्योंकि लक्ष्मी सदा कुबेर के तुल्य आपके आश्रित रहती है ॥ १८ ॥

धनदस्य तु *कार्येण धनदस्तेन नो भवान् ।
समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥ १९ ॥

धनद का कार्य करने से आप हमारे लिये धनद हैं। आप सब प्राणियों में—चाहे वे स्थावर हों, चाहे जङ्गम—समान दृष्टि रखते हैं ॥ १९ ॥

शत्रौ मित्रे च ते दृष्टिः समतां याति राघव ।
धर्मेण शासनं नित्यं व्यवहारे विधिक्रमात् ॥ २० ॥

हे राघव ! आप शत्रु मित्र में समान दृष्टि रखने वाले हैं। आप सदैव धर्मानुसार शासन करते हैं और यथाक्रम व्यवहार करते हैं ॥ २० ॥

यस्य †रुष्यसि वै राम तस्य मृत्युर्विधावति ।
गीयसे तेन वै राम यम ‡इत्यभिविक्रमः ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—"कोपेन।" † पाठान्तरे—"कुप्यसि।" ‡ पाठान्तरे—इत्यतिविक्रमः।"

हे राम ! आप जिस पर क्रुद्ध होते हैं, उसके मरने में कुछ भी सन्देह नहीं रहता। इसीसे आप महापराक्रमी यमराज के समान कहे जाते हैं ॥ २१ ॥

यश्चैष मानुषो भावो भवतो नृपसत्तम ।
आनृशंस्यपरो राजा सत्वेषु क्षमयाऽन्वितः ॥ २२ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! आपका मनुष्यभाव दयालुता से पूर्ण है। प्राणियों पर आपकी बड़ी दयामया रहती है, अतएव आप एक दयालु राजा हैं ॥ २२ ॥

दुर्बलस्य त्वनाथस्य राजा भवति वै बलम् ।
अचक्षुषोत्तमं चक्षुरगतेः स गतिर्भवान् ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! दुर्बल और अनाथ के लिये राजा ही बलरूप है; बिना आँख वाले के लिये राजा ही आँख रूप है और जिसकी कोई गति नहीं, उसके लिये राजा ही गतिरूप है ॥ २३ ॥

अस्माकमपि नाथस्त्वं श्रूयतां मम धार्मिक ।
ममालयं प्रविष्टस्तु गृध्रो मां बाधते नृप ॥ २४ ॥

हे धार्मिक ! सुनिये, मेरे भी आप ही नाथ हैं। हे राजन् ! यह गीध मेरे घर में घुस कर, मुझे सताता है ॥ २४ ॥

त्वं हि देव मनुष्येषु शास्ता वै नरपुङ्गव ।
एतच्छ्रुत्वा तु वै रामः सचिवानाह्वयत्स्वयम् ॥२५॥

हे नरश्रेष्ठ ! देवताओं और मनुष्यों के आप शासन करने वाले हैं। यह सुनते ही, श्रीरामचन्द्र जी ने अपने मंत्रियों को स्वयं बुलाया ॥ २५ ॥

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थो राष्ट्रवर्धनः ।
अशोको धर्मपालश्च *सुमन्त्रश्च महाबलः ॥ २६ ॥

धृष्टि, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, राष्ट्रवर्धन, अशोक, धर्मपाल और महाबली सुमंत्र ॥ २६ ॥

एते रामस्य सचिवा राज्ञो दशरथस्य च ।
नीतियुक्ता महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥२७॥

†ह्रीमन्तश्च कुलीनाश्च नये मंत्रे च कोविदाः ।
तानाहूय ‡च धर्मात्मा पुष्पकादवतीर्य च ॥ २८ ॥

गृध्रोलूकविवादं तं पृच्छति स्म रघूत्तमः ।
कति वर्षाणि वै गृध्र तवेदं निलयं कृतम् ॥ २९ ॥

ये महाराज दशरथ के समय के मंत्री ही श्रीरामचन्द्र जी के शासनकाल में भी मंत्रिपद पर थे । ये सभी नीतिमान्, महात्मा, सब शास्त्रों के ज्ञाता, बुद्धिमान, कुलीन और नीति में तथा न्याय करने में बड़े निपुण थे । इन सब को बुला कर आप पुष्पक नामक राज्यासन से उतर कर, उन दोनों के झगड़े के बारे में उन दोनों से पूँछने लगे । (प्रथम गीध से पूँछा) हे गीध ! बतलाओ, तुम्हारा इस स्थान पर कितने दिनों से अधिकार (कब्ज़ा) है ? ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

एतन्मे कारणं ब्रूहि यदि जानासि तत्त्वतः ।
एतच्छ्रुत्वा तु वै गृध्रो भाषते राघवं स तम् ॥ ३० ॥

---

* पाठान्तरे—"सचिवः सुमहाबलः ।" † पाठान्तरे—"प्रीतिमन्तः ।" ‡ पाठान्तरे—"स ।"

इस प्रश्न का उत्तर जो तुम जानते हो मुझे ठीक ठीक दो। गीध ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ३० ॥

इयं वसुमती राम मनुष्यैः परिता यदा।
उत्थितैराहृता सर्वा तदाप्रभृति मे गृहम् ॥ ३१ ॥

हे राम! सृष्टि के आदि में जिस समय यह पृथिवी मनुष्यों से युक्त हुई, जब सब लोग इस पर बस गये, तब ही से इस घर पर मेरा कब्ज़ा चला आता है ॥ ३१ ॥

उलूकश्चाब्रवीद्रामं पादपैरुपशोभिता।
यदेयं पृथिवी राजंस्तदाप्रभृति मे गृहम्।
एतच्छ्रुत्वा तु वै रामः सभासदमुवाच ह ॥ ३२ ॥

इस पर उलूक ने कहा—हे राजन्! जब से यह पृथिवी वृक्षों से शोभित हुई है, तब से इस स्थान पर मेरा घर है या मैं रहता हूँ। यह सुन श्रीरामचन्द्र जी सभासदों से बोले ॥ ३२ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥ ३३ ॥

वह सभा, सभा ही नहीं, जिसमें बड़े बूढ़े लोग न हों, वे वृद्ध लोग, वृद्ध लोग ही नहीं, जो धर्मानुसार बात न कहें। वह धर्म भी धर्म नहीं, जिसमें सत्य न हो और वह सत्य भी, सत्य नहीं जिसमें छल कपट का पुट लगा हो ॥ ३३ ॥

ये तु सभ्याः सदा ज्ञात्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
यथाप्राप्तं न ब्रुवते ते सर्वेऽनृतवादिनः ॥ ३४ ॥

जो सभासद् जानबूझ कर, चुपचाप ध्यान लगाये बैठे रहते हैं और यथार्थ बात नहीं कहते, वे असत्यवादी समझे जाते हैं ॥३४॥

जानन्न वाऽब्रवीत्प्रश्नान्कामात्क्रोधाद्भयात्तथा ।
सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ३५ ॥

जो काम से या क्रोध से अथवा भय से जानते हुए भी प्रश्नों का उत्तर नहीं देते ; वे हज़ार वर्षों तक वरुणपाश का दण्ड पाने के अधिकारी होते हैं ॥ ३५ ॥

तेषां संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते ।
तस्मात्सत्येन वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥ ३६ ॥

एक वर्ष पूरा होने पर उनका एक पाश टूटता है। अतः जो बात ठीक ठीक जान पड़े, उसे ठीक ठीक ही कहना चाहिये ॥ ३६ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु सचिवा राममेवाब्रुवंस्तदा ।
उलूकः शोभते राजन्न तु गृध्रो महामते ॥ ३७ ॥

यह वचन सुन कर, मंत्री श्रीरामचन्द्र जी से बोले—महाराज ! उल्लू का कथन ठीक है और गीध झूठ बोलता है ॥ ३७ ॥

त्वं प्रमाणं महाराज राजा हि परमागतिः ।
राजमूलाः प्रजाः सर्वा राजा धर्मः सनातनः ॥ ३८ ॥

हे महाराज ! इसमें आप ही प्रमाण हैं। क्योंकि राजा ही सब की परमगति है। सब प्रजाओं का राजा ही मूल है और राजा ही सनातनधर्मरूपी है ॥ ३८ ॥

शास्ता नृणां नृपो येषां ते न गच्छन्ति दुर्गतिम् ।
वैवस्वतेन मुक्तास्तु भवन्ति पुरुषोत्तमाः ॥ ३९ ॥

जिन मनुष्यों का शासन राजा द्वारा हो जाता है, उनकी दुर्गति नहीं होती, वे नरश्रेष्ठ यमराज के फंदे से छूट जाते हैं ॥ ३६ ॥

सचिवानां वचः श्रुत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
श्रूयतामभिधास्यामि पुराणे यदुदाहृतम् ॥ ४० ॥

मंत्रियों के वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले—सुनो, मैं अब तुम्हें पुराणों का कथन सुनाता हूँ ॥ ४० ॥

द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा सपर्वतमहावना ।
सलिलार्णवसम्पूर्णं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ४१ ॥

एक एव तदा ह्यासीद्युक्तो मेरुरिवापरः ।
पुरा भूः सह लक्ष्म्या च विष्णोर्जठरमाविशत् ॥४२॥

देखो, आरम्भकाल में, चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों सहित आकाश, पर्वत और महावनों सहित यह सारी पृथिवी तथा चर अचर सहित तीनों लोक, महासागर के जल में डूबे हुए, मेरु के समान एक ढेर की तरह थे । लक्ष्मी तथा यह सारा (प्रपञ्च) जगत् भगवान् विष्णु के उदर में था ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

तां निगृह्य महातेजाः प्रविश्य सलिलार्णवम् ।
सुष्वाप देवो भूतात्मा बहून्वर्षगणानपि ॥ ४३ ॥

इन सब को अपने पेट में रखे हुए, भगवान् विष्णु समुद्र में वर्षों तक सोया किये ॥ ४३ ॥

विष्णौ सुप्ते तदा ब्रह्मा विवेश जठरं ततः ।
रुद्धस्रोतं तु तं ज्ञात्वा महायोगी समाविशत् ॥४४॥

विष्णु भगवान् के सोने पर ब्रह्मा जी उनके उदर में प्रवेश कर गये। क्योंकि उन महायोगी ने अन्य मार्ग बन्द जान कर, (अर्थात् अन्यत्र जाने का कोई रास्ता न देख) उनमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

नाभ्यां विष्णोः समुत्पन्ने पद्मे हेमविभूषिते ।
स तु निर्गम्य वै ब्रह्मा योगी भूत्वा महाप्रभुः ॥४५॥

फिर विष्णु भगवान् की नाभि से सुवर्णभूषित एक कमल उत्पन्न हुआ। उसमें से योगबल से महाप्रभु ब्रह्मा जी निकले ॥४५॥

सिसृक्षुः पृथिवीं वायुं पर्वतान्समहीरुहान् ।
तदन्तरे प्रजाः सर्वाः समनुष्यसरीसृपाः ॥ ४६ ॥

जरायुजाण्डजाः सर्वाः स ससर्ज महातपाः ।
*तत्र श्रोत्रमलोत्पन्नः कैटभो मधुना सह ॥ ४७ ॥

उन्होंने पृथिवी, वायु, पर्वत, वृक्ष एवं मनुष्य, सर्प, जरायुज और अण्डज जीवधारियों को तपःप्रभाव से रचा। वहीं उनके कान के मैल से मधु और कैटभ नामक दो दैत्य उत्पन्न हुए ॥४६॥४७॥

दानवौ तौ महावीर्यौ घोररूपौ दुरासदौ ।
दृष्ट्वा प्रजापतिं तत्र क्रोधाविष्टौ बभूवतुः ॥ ४८ ॥

ये दोनों दानव बड़े बलवान पराक्रमी और दुर्धर्ष थे। वे ब्रह्मा जी को बैठे देख बड़े कुपित हुए ॥ ४८ ॥

वेगेन महता तत्र स्वयंभुवमधावताम् ।
दृष्ट्वा स्वयंभुवा मुक्तो रावो वै विकृतस्तदा ॥ ४९ ॥

* पाठान्तरे—"ततः ।"

और वे ब्रह्मा जी (के खाने के लिये) उनकी ओर दौड़े। यह देख, ब्रह्मा जी बड़े ज़ोर से चिल्लाये और चिल्लाते समय उनका चेहरा भी टेढ़ामेढ़ा हो गया ॥ ४९ ॥

तेन शब्देन सम्प्राप्तौ दानवौ हरिणा सह ।
अथ चक्रप्रहारेण सूदितौ मधुकैटभौ ॥ ५० ॥

ब्रह्मा जी का चिल्लाना सुन, भगवान विष्णु वहाँ तुरन्त पहुँच गये। भगवान विष्णु के साथ उनकी लड़ाई हुई। अन्त में भगवान ने अपने सुदर्शनचक्र से उन दोनों को मार डाला ॥ ५० ॥

मेदसा प्लाविता सर्वा पृथिवी च समन्ततः ।
भूयो विशोधिता तेन हरिणा लोकधारिणा ॥ ५१ ॥

उनके शरीर से निकली हुई चर्बी से सारी पृथिवी तर हो गयी। तब लोकधारी भगवान विष्णु ने पृथिवी को शोधा (साफ किया) ॥ ५१ ॥

शुद्धां वै मेदिनीं तां तु वृक्षैः सर्वामपूरयत् ।
ओषध्यः सर्वसस्यानि निष्पद्यन्त पृथग्विधाः ॥५२॥

और जब पृथिवी शुद्ध हो गयी; तब उसे सर्वत्र वृक्षों से पूर्ण कर दिया। पृथिवी से सब प्रकार के अन्न और ओषधियाँ उत्पन्न होने लगीं ॥ ५२ ॥

मेदोगन्धात्तु धरणी मेदिनीत्यभिसंज्ञिता ।
तस्मान्न गृध्रस्य गृहमुलूकस्येति मे मतिः ॥ ५३ ॥

इस पृथिवी में चर्बी की दुर्गन्धि आने लगी थी, इसीसे इसका नाम मेदिनी पड़ा। अतएव मेरी समझ में (भी) वह घर गीध का नहीं हो सकता। घर उलूक ही का है ॥ ५३ ॥

तस्माद्गृध्रस्तु दण्ड्यो वै पापो हर्ता परालयम् ।
पीडां करोति पापात्मा दुर्विनीतो महानयम् ॥ ५४ ॥

गीध दूसरे का घर छीनना चाहता है। अतः यह अपराधी है और दण्ड देने योग्य है। यह दुर्विनीत, उलूक को बहुत सताता है ॥ ५४ ॥

अथाशरीरिणी वाणी अन्तरिक्षात्प्रबोधिनी ।
मा वधी राम गृध्रं *त्वं पूर्वदग्धं तपोबलात् ॥ ५५ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी यह फैसला सुना ही रहे थे कि, इतने में) आकाश से (किसी अदृश्य व्यक्ति की) यह वाणी सुन पड़ी— हे श्रीरामचन्द्र ! इस गीध को आप मत मारिये ; क्योंकि यह तो तपोबल से पहले ही भस्म हो चुका है ॥ ५५ ॥

कालगौतमदग्धोऽयं प्रजानाथो †नरेश्वर ।
ब्रह्मदत्तेति नाम्नैष शूरः सत्यव्रतः शुचिः ॥ ५६ ॥

हे प्रजानाथ नरेश्वर ! पहले यह गीध ब्रह्मदत्त नामक शूर, सत्यव्रत और पवित्राचरणसम्पन्न एक राजा था। इसे कालगौतम नामक ऋषि ने शापद्वारा दग्ध कर दिया था ॥ ५६ ॥

गृहं त्वस्यागतो विप्रो भोजनं प्रत्यमार्गतः ।
साग्रं वर्षशतं चैव भोक्तव्यं नृपसत्तम ॥ ५७ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! (इसका कारण यह था कि,) एक दिन एक ब्राह्मण भोजन की खोज में घूमता फिरता इस राजा के घर पहुँचा और बोला कि, मैं कुछ अधिक सौ वर्ष तक आपके यहाँ भोजन करूँगा ॥ ५७ ॥

* पाठान्तरे—" तं ।" † पाठान्तरे—" धनेश्वरः ।"

ब्रह्मदत्तः स वै तस्य पाद्यमर्घ्यं स्वयं नृपः ।
[1]हार्दं चैवाकरोत्तस्य भोजनार्थं महाद्युतेः ॥ ५८ ॥

राजा ने उसे अर्घ्य पाद्य प्रदान किया और उस महातेजस्वी ब्राह्मण के लिये उसका अभिप्रेत भोजन तैयार करवाया ॥ ५८ ॥

मांसमस्याभवत्तत्र आहारे तु महात्मनः ।
अथ क्रुद्धेन मुनिना शापो दत्तोस्य दारुणः ॥ ५९ ॥

उस भोजन में मांस था । मांस को देख कर, मुनि ने क्रोध में भर इसे दारुण शाप दिया ॥ ५९ ॥

गृध्रस्त्वं भव वै राजन्मामैनं ह्यथ सोऽब्रवीत् ।
प्रसादं कुरु धर्मज्ञ अज्ञानान्मे महाव्रत ॥ ६० ॥

(शाप देते हुए कहा, हे राजन्! तुम गीध हो जाओ । राजा ने कहा—हे महाव्रतधारी! हे धर्मज्ञ! मुझसे अनजाने यह भूल हुई है । अतः आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये और प्रसन्न हूजिये ॥ ६० ॥

शापस्यान्तं महाभाग क्रियतां वै ममानघ ।
तदज्ञानकृतं मत्वा राजानं मुनिरब्रवीत् ॥ ६१ ॥

हे महाभाग! इस पापरहित शाप का अन्त भी तो कीजिये । तब मुनि ने यह जान कर कि, सचमुच राजा से यह भूल अनजाने हुई है, राजा से कहा ॥ ६१ ॥

उत्पस्यति कुले राज्ञां रामो नाम महायशाः ।
इक्ष्वाकूणां महाभागो राजा राजीवलोचनः ॥ ६२ ॥

इक्ष्वाकुवंश में महायशस्वी, महाभाग और कमललोचन श्रीरामचन्द्र जी उत्पन्न होंगे ॥ ६२ ॥

---

१ हार्दं—अभिप्रेतं । (रा०

तेन स्पृष्टो विपापस्त्वं भविता नरपुङ्गव ।
स्पृष्टो रामेण तच्छ्रुत्वा नरेन्द्रः पृथिवीपतिः ॥६३॥

हे नरश्रेष्ठ ! उनके स्पर्श करने से तुम पापरहित हो जाओगे। यह वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस नरेन्द्र पृथिवीपाल को छुआ ॥ ६३ ॥

गृध्रत्वं त्यक्तवान्राजा दिव्यगन्धानुलेपनः ।
पुरुषो दिव्यरूपोऽभूदुवाचेदं च राघवम् ॥ ६४ ॥

छूते ही वह गीध का चोला त्याग कर, दिव्यगन्ध लगाये हुए दिव्य रूपधारी राजा हो गया। फिर वह श्रीरामचन्द्र जी से बोला ॥ ६४ ॥

साधु राघव धर्मज्ञ त्वत्प्रसादादहं विभो ।
विमुक्तो नरकाद्घोराच्छापस्यान्तः कृतस्त्वया ॥६५॥

इति प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः ॥

हे धर्मज्ञ ! हे राघव ! आप धन्य हैं। आपकी कृपा से आज घोर शापरूपी नरक से मेरा उद्धार हो गया। आपने मेरे शाप का अन्त कर दिया ॥ ६५ ॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त तीसरा सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

षष्टितमः सर्गः

—:०:—

तयोः संवदतोरेवं रामलक्ष्मणयोस्तदा ।
वासन्तिकी निशा प्राप्ता न शीता न च घर्मदा ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण इस प्रकार प्रजापालन करने लगे। क्रमशः वसन्त की रात आ पहुँची, जो न तो बहुत ठंडी ही थी और न बहुत गर्म ॥ १ ॥

ततः प्रभाते विमले कृतपूर्वाह्णिकक्रियः ।
अभिचक्राम काकुत्स्थो दर्शनं पौरकार्यवित् ॥ २ ॥

एक दिन प्रातःकाल महाराज श्रीरामचन्द्र जी स्नान और सन्ध्योपासनादि प्रातःकालीन आह्निककर्म कर, पुरवासियों के कार्य, देखने भालने के लिये दरबार में आ विराजे ॥ २ ॥

ततः सुमन्त्रस्त्वागम्य राघवं वाक्यमब्रवीत् ।
एते [1]प्रतिहता राजन् द्वारि तिष्ठन्ति तापसाः ॥ ३ ॥

उस समय सुमंत्र ने आ कर श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे भगवन्! कुछ तपस्वी लोग द्वार पर आपकी अनुमति के लिये रुके हुए हैं ॥ ३ ॥

[2]भार्गवं च्यवनं चैव पुरस्कृत्य महर्षयः ।
दर्शनं ते महाराज्ञश्चोदयन्ति कृतत्वराः ॥ ४ ॥

---

१ प्रतिहता—निरुद्धा । (गो०) २ भार्गवं—भृगुगोत्रापत्यंच्यवनं । (रा०)

भृगुवंशी च्यवन उनके अगुआ हैं। वे आपसे मिलने के लिये शीघ्रता कर रहे हैं और हमें आपके पास अपने आगमन की सूचना देने को भेजा है॥ ४॥

प्रीयमाणान्नरव्याघ्र यमुनातीरवासिनः।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामः प्रोवाच धर्मवित्॥ ५॥

हे नरव्याघ्र! ये सब ऋषि यमुनातट के रहने वाले हैं और आपकी कृपा चाहते हैं। सुमंत्र के यह वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी बोले॥ ५॥

प्रवेश्यन्तां महाभाग भार्गवप्रमुखा द्विजाः।
राज्ञस्त्वाज्ञां पुरस्कृत्य द्वाःस्थो *मूर्ध्ना कृताञ्जलिः॥६॥

हे महाभाग! अच्छा उन भृगुवंशी च्यवनादि समस्त तपस्वियों को यहाँ लिवा लाओ। महाराज की आज्ञा पा, सुमंत्र ने सिर झुका और हाथ जोड़,॥ ६॥

प्रवेशयामास तदा तापसान्सुदुरासदान्।
शतं समधिकं तत्र दीप्यमानं स्वतेजसा॥ ७॥

उन तेजस्वी तपस्वियों को महाराज के सामने पहुँचा दिया। अपने तेज से प्रकाशमान सौ से अधिक ब्राह्मणों ने राजसभा में प्रवेश किया॥ ७॥

प्रविष्टं राजभवनं तापसानां महात्मनाम्।
ते द्विजाः पूर्णकलशैः सर्वं तीर्थाम्बुसत्कृतैः॥ ८॥

जब वे सब राजसभा में गये, तब वे सब महात्मा तपस्वी, तीर्थों के जलों से भरे हुए कलश हाथों में लिये हुए थे॥ ८॥

---

* पाठान्तरे—"मूर्ध्नि।"

गृहीत्वा फलमूलं च रामस्याभ्याहरन्बहु ।
प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं रामः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ ९ ॥

तथा वे फल मूल भी श्रीरघुनाथ जी की भेंट के लिये बहुत से लाये थे । श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्न हो उनकी भेंट स्वीकार की ॥ ९ ॥

तीर्थोदकानि सर्वाणि फलानि विविधानि च ।
उवाच च महाबाहुः सर्वानेव महामुनीन् ॥ १० ॥

समस्त तीर्थों का जल और विविध प्रकार के कंदमूल फल ले कर, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी सब मुनियों से बोले ॥ १० ॥

इमान्यासनमुख्यानि यथार्हमुपविश्यताम् ।
रामस्य भाषितं श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥ ११ ॥

यह विशेष आसन बिछे हैं, आप लोग इन पर यथायोग्य बैठ जाँय । श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन कर, सब महर्षि ॥ ११ ॥

बृसीषु रुचिराख्यासु निषेदुः काञ्चनीषु ते ।
उपविष्टानृषींस्तत्र दृष्ट्वा परपुरञ्जयः ।
प्रयतः प्राञ्जलिर्भूत्वा राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

सुन्दर भूषित सोने की चौकियों के ऊपर बैठ गये । शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र जी ने उन सब ऋषियों के बैठ जाने पर, सिर झुका उनको प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर ये विनीति युक्त वचन कहे ॥ १२ ॥

किमागमनकार्यं वः किं करोमि समाहितः ।
आज्ञाप्योऽहं महर्षीणां सर्वकामकरः सुखम् ॥१३॥

आप लोगों के पधारने का क्या कारण है? बतलाइये मैं आपका क्या हितकर काम करूँ? आज्ञा दीजिये। आपके सब मनोरथ पूरे होंगे ॥ १३ ॥

इदं राज्यं च सकलं जीवितं च हृदि स्थितम् ।
सर्वमेतद्द्विजार्थं मे सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥ १४ ॥

मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि, यह सारा राज्य और हृदयस्थित मेरे प्राण तक—ब्राह्मणों ही के लिये हैं ॥ १४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा साधुकारो महानभूत् ।
ऋषीणामुग्रतपसां यमुनातीरवासिनाम् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन, वे ऋषि लोग "धन्य धन्य" कहने लगे। वे यमुनातटवासी बड़े बड़े तपस्वी लोग, ॥ १५ ॥

ऊचुश्चते महात्मानो हर्षेण महताऽऽवृताः ।
उपपन्नं नरश्रेष्ठ तवैव भुवि नान्यतः ॥ १६ ॥

जो बड़े महात्मा थे; बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—हे नरश्रेष्ठ! इस भूमण्डल पर आपके सिवाय ऐसे वचन अन्य कोई नहीं कह सकता और यह वचन आप ही के कहने योग्य भी है ॥ १६ ॥

बहवः पार्थिवा राजन्नतिक्रान्ता महाबलाः ।
कार्यस्य गौरवं मत्वा प्रतिज्ञां नाभ्यरोचयन् ॥ १७ ॥

हे राजन्! हमने बड़े बड़े बली राजाओं के निकट जा, अपना प्रयोजन उनके सामने प्रकट किया, परन्तु हमारे कार्य का गौरव जान कर भी, किसी ने हमारा काम करने की प्रतिज्ञा न की ॥ १७ ॥

त्वया पुनर्ब्राह्मणगौरवादियं
कृता प्रतिज्ञा ह्यनवेक्ष्य कारणम् ।
ततश्च कर्ता ह्यसि नात्र संशयो
महाभयात्त्रातुमृषींस्त्वमर्हसि ॥ १८ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

किन्तु आपने ब्राह्मणों के गौरव से, हम लोगों के आगमन का कारण—(उद्देश्य) सुने विना ही प्रतिज्ञा कर दी। इससे हम लोगों को भरोसा है कि, आप हम लोगों का काम करेंगे—इसमें सन्देह नहीं। आप ऋषियों को बड़े भारी भय से अवश्य छुड़ावेंगे ॥ १८ ॥

उत्तरकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

एकषष्टितमः सर्गः

—:o:—

ब्रुवद्भिरेवमृषिभिः काकुत्स्थो वाक्यमब्रवीत् ।
किं कार्यं ब्रूत मुनयो भयं तावदपैतु वः ॥ १ ॥

उन ऋषियों के इस प्रकार कहने पर श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे ऋषियो ! बतलाइये, आपका क्या कार्य है। जिससे आपका भय दूर किया जाय ॥ १ ॥

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे भार्गवो वाक्यमब्रवीत् ।
भयानां शृणु यन्मूलं देशस्य च नरेश्वर ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, भृगुवंशी च्यवन जी बोले—हे नरनाथ ! देश का तथा हम लोगों के भय का जो मुख्य कारण है, उसे हम बतलाते हैं, आप सुनें ॥ २ ॥

पूर्वं कृतयुगे राजन्दैतेयः सुमहामतिः ।
लोलापुत्रोऽभवज्ज्येष्ठो मधुर्नाम महासुरः ॥ ३ ॥

सतयुग में मधु नाम का एक बड़ा बुद्धिमान दैत्य था। वह लोला का ज्येष्ठ पुत्र था ॥ ३ ॥

ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च बुद्ध्या च परिनिष्ठितः ।
सुरैश्च परमोदारैः प्रीतिस्तस्यातुलाऽभवत् ॥ ४ ॥

वह ब्राह्मणभक्त, शरणागतवत्सल और बड़ा बुद्धिमान था और परम उदार देवताओं के साथ उसकी अतुलित प्रीति थी ॥ ४ ॥

स मधुर्वीर्यसम्पन्नो धर्मे च सुसमाहितः ।
*बहुमानाच्च रुद्रेण दत्तस्तस्याद्भुतो वरः ॥ ५ ॥

वह बड़ा शूरवीर और धर्मनिष्ठ था। अतः भगवान् शिव जी ने, बड़े आदर सम्मान के साथ उसे एक अद्भुत वर दिया था ॥ ५ ॥

शूलं शूलाद्विनिष्कृष्य महावीर्यं महाप्रभम् ।
ददौ महात्मा सुप्रीतो वाक्यं चैतदुवाच ह ॥ ६ ॥

भगवान् शिव ने, अपने त्रिशूल से एक बड़ा मज़बूत और आग की तरह चमचमाता त्रिशूल निकाल और बड़े हर्ष के साथ उस त्रिशूल को मधु को दे कर, उससे यह कहा—॥ ६ ॥

---

* एक संस्करण में यहाँ पर यह एक श्लोक और है:—

"बहुवर्षसहस्राणि रुद्र प्रीत्याऽकरोत्तपः ।
रुद्रः प्रीतोऽभवत्तस्मै वरं दातुं ययौ च सः ॥"

त्वयाऽयमतुलो धर्मो मत्प्रसादकरः शुभः ।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यायुधमुत्तमम् ॥ ७ ॥

हे मधो ! तुमने अतुलित धर्मानुष्ठान किया है। अतएव मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूँ। इसीसे मैं तुम्हें बड़ी प्रीति के साथ यह शस्त्र देता हूँ ॥ ७ ॥

यावत्सुरैश्च विप्रैश्च न विरुध्येर्महासुर ।
तावच्छूलं तवेदं स्यादन्यथा नाशमेष्यति ॥ ८ ॥

हे महासुर ! जब तक तुम देवताओं और ब्राह्मणों से वैर न करोगे, तब तक तो यह शस्त्र तुम्हारे पास रहेगा, और जब तुम उनसे वैर करोगे, तब यह शस्त्र तुम्हारे पास न रहेगा ॥ ८ ॥

यश्च त्वामभियुञ्जीत युद्धाय विगतज्वरः ।
तं शूलो भस्मसात्कृत्वा पुनरेष्यति ते करम् ॥९॥

जो तुमसे लड़ने आवे, उसके ऊपर निर्भय हो इस शूल का प्रहार करना। यह शूल उस शत्रु को भस्म कर, फिर तुम्हारे हाथ में चला आवेगा ॥ ९ ॥

एवं रुद्राद्वरं लब्ध्वा भूय एव महासुरः ।
प्रणिपत्य महादेवं वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १० ॥

इस प्रकार शिव जी से वर पा, वह महादैत्य पुनः श्रीशिव जी को प्रणाम कर, बोला ॥ १० ॥

भगवन् मम वंशस्य शूलमेतदनुत्तमम् ।
भवेत्तु सततं देव सुराणामीश्वरो ह्यसि ॥ ११ ॥

हे भगवन्! मैं चाहता हूँ कि, यह अनुपम शूल मेरे वंश में सदैव बना रहे। आप देवों के देव हैं। अतः यह वर आप मुझे और दें॥ ११॥

तं ब्रुवाणं मधुं देवः सर्वभूतपतिः शिवः।
प्रत्युवाच महातेजा नैतदेवं भविष्यति॥ १२॥

मधु के ऐसा कहने पर सब प्राणियों के अधिपति एवं महातेजस्वी शिव जी कहने लगे, ऐसा तो न होगा॥ १२॥

मा भूत्ते विफला वाणी मत्प्रसादकृता शुभा।
भवतः पुत्रमेकं तु शूलमेतद्भविष्यति॥ १३॥

किन्तु मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, अतएव तेरी बात मैं टालना भी नहीं चाहता। अतः तेरे एक पुत्र के पास भी यह शूल बना रहेगा॥ १३॥

यावत्करस्थः शूलोयं भविष्यति सुतस्य ते।
अवध्यः सर्वभूतानां शूलहस्तो भविष्यति॥ १४॥

जब तक यह शूल तेरे पुत्र के हाथ में रहेगा; तब तक उसे कोई भी न मार सकेगा॥ १४॥

एवं मधुर्वरं लब्ध्वा देवात्सुमहदद्भुतम्।
भवनं सोऽसुरश्रेष्ठः कारयामास सुप्रभम्॥ १५॥

इस प्रकार असुरश्रेष्ठ मधु ने महादेव जी से यह अद्भुत वर पा कर, एक बड़ा उत्तम और भड़कीला भवन बनवाया॥१५॥

तस्य पत्नी महाभागा प्रिया कुम्भीनसीति या।
विश्वावसोरपत्यं साप्यनलायां महाप्रभा॥ १६॥

उसकी पत्नी का नाम कुम्भीनसी था। वह बड़ी भाग्यवती थी और महाकान्तिमयी अनला के गर्भ से विश्वावसु द्वारा उत्पन्न हुई थी ॥ १६ ॥

तस्याः पुत्रो महावीर्यो लवणो नाम दारुणः ।
बाल्यात्प्रभृति दुष्टात्मा पापान्येव समाचरत् ॥ १७ ॥

उसीका पुत्र महापराक्रमी एवं नृशंस लवणासुर है, जो बालकपन ही से बड़ा दुष्टस्वभाव होने के कारण पाप में उसकी बुद्धि रहती है और वह पापकर्म ही किया करता है ॥ १७ ॥

तं पुत्रं दुर्विनीतं तु दृष्ट्वा क्रोधसमन्वितः ।
मधुः स शोकमापेदे न चैनं किञ्चिदब्रवीत् ॥ १८ ॥

अपने पुत्र को ऐसा दुर्विनीत देख कर, मधु क्रुद्ध और दुःखी हुआ ; किन्तु लवण से उसने कहा कुछ भी नहीं ॥ १८ ॥

स विहाय इमं लोकं प्रविष्टो वरुणालयम् ।
शूलं निवेश्य लवणे वरं तस्मै न्यवेदयत् ॥ १९ ॥

कुछ दिनों बाद मधु इस लोक को छोड़ समुद्र में घुस गया ; परन्तु जाने के पूर्व मधु ने लवण को वह शूल दिया और उसका वृत्तान्त भी उससे कह दिया ॥ १६ ॥

स प्रभावेन शूलस्य दौरात्म्येनात्मनस्तथा ।
सन्तापयति लोकांस्त्रीन्विशेषेण च तापसान् ॥ २० ॥

अब वही लवण शूल के भरोसे अपने दुराचारी स्वभाव से तीनों लोकों को और तपस्वियों को तो विशेष रूप से सताया करता है ॥ २० ॥

एवंप्रभावो लवणः शूलं चैव तथाविधम् ।
श्रुत्वा प्रमाणं काकुत्स्थ त्वं हि नः परमा गतिः ॥२१॥

हे काकुत्स्थ ! लवणासुर इस प्रकार का है और उसके त्रिशूल का ऐसा माहात्म्य है । यह समस्त वृत्तान्त सुन अब आप जो उचित समझें सो करें । क्योंकि आप ही तक हमारी दौड़ है । अथवा आप ही हमारी परम गति हैं ॥ २१ ॥

बहवः पार्थिवा राम भयार्तैर्ऋषिभिः पुरा ।
अभयं याचिता वीर त्रातारं न च विद्महे ॥ २२ ॥

हे राजन् ! (आपके पास आने के पूर्व) हममें से अनेक ऋषियों ने, भय से व्याकुल हो, बहुत से राजाओं से लवण से अभय कर देने के लिये प्रार्थना भी की ; परन्तु किसी ने रक्षा न की ॥ २२ ॥

ते वयं रावणं श्रुत्वा हतं सबलवाहनम् ।
त्रातारं विद्महे तात नान्यं भुवि नराधिपम् ।
तत्परित्रातुमिच्छामो लवणाद्भयपीडितान् ॥ २३ ॥

हे तात ! जब हम लोगों ने सुना कि, आपने सकुटुम्ब रावण का संहार किया है, तब हमने समझा कि, आप हमारी रक्षा कर सकेंगे । क्योंकि पृथिवीमण्डल पर अन्य कोई ऐसा राजा नहीं, जो हमारी लवण से रक्षा कर सके । अतः लवण के भय से पीड़ित हम लोग आपसे अपनी रक्षा करवाना चाहते हैं ॥ २३ ॥

इति राम निवेदितं तु ते भयजं कारणमुत्थितं च यत् ।
विनिवारयितुं भवान्क्षमःकुरु तं काममहीनविक्रमः ॥२४॥

इति एकषष्टितमः सर्गः ॥

इस प्रकार उन तपस्वियों ने अपने भय का समस्त वृतान्त कह, श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन कर कहा—हे भगवन्! आप बड़े बलवान हैं, अतः हमारे इस भय को दूर करने में आप ही सर्वथा समर्थ हैं। सो हे महापराक्रमी! आप इस काम को कीजिये ॥२४॥

उत्तरकाण्ड का एकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

द्विषष्टितमः सर्गः

—:o:—

तथोक्ते तानृषीन् रामः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः।
किमाहारः किमाचारो लवणः क्व च वर्तते ॥ १ ॥

उन ऋषियों के ऐसा कहने पर श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़ कर बोले—आप लोग यह बतलावें कि, लवणासुर क्या खाता है, उसका क्या आचरण है? और वह कहाँ रहता है? ॥ १ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा ऋषयः सर्व एव ते।
ततो निवेदयामासुर्लवणो ववृधे यथा ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र के ये वचन सुन कर उन सब ऋषियों ने लवणासुर की वृद्धि का समस्त वृतान्त कहा ॥ २ ॥

आहारः सर्वसत्त्वानि विशेषेण च तापसाः।
आचारो रौद्रता नित्यं वासो मधुवने तथा ॥ ३ ॥

(वे कहने लगे) हे महाराज! वैसे तो वह सभी जीवों को खाया करता है, परन्तु तपस्वियों को विशेष कर के खाता

है। उसका आचरण बड़ा भयङ्कर है और वह मधुवन में रहता है ॥ ३ ॥

हत्वा बहुसहस्राणि *सिंहव्याघ्रमृगाण्डजान् ।
मानुषांश्चैव कुरुते नित्यमाहारमाह्निकम् ॥ ४ ॥

वह नित्य कितने ही सहस्र सिंह, व्याघ्र, मृग, पक्षी और मनुष्यों को मार कर खा जाया करता है ॥ ४ ॥

ततोन्तराणि सत्वानि खादते स महाबलः ।
संहारे समनुप्राप्ते व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ५ ॥

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से जीवों को बीच बीच में मार कर खा डालता है। जैसे प्रलयकाल में मृत्युदेव मुँह फाड़ कर जीवों को खा जाते हैं, वैसे ही लवणासुर का हाल है ॥ ५ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यमुवाच स महामुनीन् ।
घातयिष्यामि तद्रक्षो व्यपगच्छतु वो भयम् ॥ ६ ॥

लवण का यह वृत्तान्त सुन, श्रीरामचन्द्र जी उन तपस्वियों से कहने लगे, मैं उस राक्षस को मरवा डालूँगा। अब आप लोग डरें नहीं ॥ ६ ॥

प्रतिज्ञाय तदा तेषां मुनीनामुग्रतेजसाम् ।
स भ्रातॄन्सहितान्सर्वानुवाच रघुनन्दनः ॥ ७ ॥

इस प्रकार उन महातेजस्वी ऋषियों से लवणासुर के वध की प्रतिज्ञा कर, श्रीरामचन्द्र जी अपने भाइयों को सम्बोधन कर बोले ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" सिंहव्याघ्रमृगद्विपान् । "

को हन्ता लवणं वीरः कस्यांशः स विधीयताम् ।
भरतस्य महाबाहोः शत्रुघ्नस्य च धीमतः ॥ ८ ॥

भाई तुम लोगों में से लवणासुर को कौन मारेगा? यह काम किसके बांट में डाला जाय? भरत के या शत्रुघ्न के? ॥ ८ ॥

राघवेणैव मुक्तस्तु भरतो वाक्यमब्रवीत् ।
अहमेनं वधिष्यामि ममांशः स विधीयताम् ॥ ९ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार पूँछा, तब भरत जी बोले—मैं उसे मारूँगा। यह काम मेरे हिस्से में डाला जाय ॥ ९ ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा धैर्यशौर्यसमन्वितम् ।
लक्ष्मणावरजस्तस्थौ हित्वा सौवर्णमासनम् ॥१०॥

इस प्रकार धैर्य और शौर्य युक्त भरत जी के वचन सुन, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न सोने का सिंहासन छोड़ कर उठ खड़े हुए ॥ १० ॥

शत्रुघ्नस्त्वब्रवीद्वाक्यं प्रणिपत्य नराधिपम् ।
कृतकर्मा महाबाहुर्मध्यमो रघुनन्दन ॥ ११ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर बोले—हे प्रभो! भरत जी तो अपना काम पूरा कर चुके हैं ॥ ११ ॥

आर्येण हि पुरा शून्या त्वयोध्या परिपालिता ।
सन्तापं हृदये कृत्वा आर्यस्यागमनं प्रति ॥ १२ ॥

क्योंकि जिस समय आप अयोध्या से वन को चले गये, उस समय इन्होंने अयोध्या की रक्षा की थी और आपके लौट आने तक सन्तप्त हो अनेक क्लेश सहे थे ॥ १२ ॥

दुःखानि च बहूनीह अनुभूतानि पार्थिव ।
शयानो दुःखशय्यासु नन्दिग्रामे *महायशाः ॥ १३ ॥

हे राजन् ! इन्होंने बड़े बड़े कष्ट सहे हैं । यह महायशस्वी कष्ट सहते हुए नन्दिग्राम में रहे और कुशासन पर सोये ॥ १३ ॥

फलमूलाशनो भूत्वा जटी चीरधरस्तथा ।
अनुभूयेदृशं दुःखमेष राघवनन्दनः ॥ १४ ॥

हे रघुनन्दन ! इन्होंने फल मूल खा कर, जटा धारण कर और चीर वस्त्र पहिन कर, अनेक दुःख सहे हैं ॥ १४ ॥

प्रेष्ये मयि स्थिते राजन्न भूयः क्लेशमाप्नुयात् ।
[तथा ब्रुवति शत्रुघ्ने राघवः पुनरब्रवीत्] ॥ १५ ॥

मेरे जाने से यदि यह यहाँ रहेंगे, तो फिर इनको क्लेश न होगा । जब शत्रुघ्न ने ऐसा कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी पुनः बोले ॥ १५ ॥

एवं भवतु काकुत्स्थ क्रियतां मम शासनम् ।
राज्ये त्वामभिषेक्ष्यामि मधोस्तु नगरे शुभे ॥ १६ ॥

हे शत्रुघ्न ! अच्छी बात है, यों ही सही । अब मैं जो कहता हूँ सो करो, मैं तुमको शुभ मधुनगर का राज्य देता हूँ अथवा मधु राज्य पर अभिषिक्त करता हूँ ॥ १६ ॥

निवेशय महाबाहो भरतं यद्यवेक्षसे ।
शूरस्त्वं कृतविद्यश्च समर्थश्च निवेशने ॥ १७ ॥

हे महाबाहो ! यदि तुम्हारी इच्छा है कि, भरत यहीं रहें ; तो उन्हें यहीं रहने दो । देखो, तुम शूरवीर हो, विद्वान हो और नगर बसा सकते हो ॥ १७ ॥

---

* पाठान्तरे—"अवसत्पुरा ।"

[नगरं यमुना जुष्टं तथा जनपदान् शुभान्] ।
यो हि वंशं समुत्पाद्य पार्थिवस्य निवेशने ॥ १८ ॥

न विधत्ते नृपं तत्र नरकं स हि गच्छति ।
स त्वं हत्वा मधुसुतं लवणं पापनिश्चयम् ॥ १९ ॥

अतएव तुम यमुना के तट पर एक नगर और सुन्दर देश बसाओ। क्योंकि जो कोई किसी राज्यवंश को उन्मूलन कर, उसके प्रदेश में किसी राजा को स्थापित नहीं करता, वह नरक में जाता है। सो तुम उस मधु के पुत्र दुरात्मा पापी लवणासुर को मार कर, ॥ १८ ॥ १९ ॥

राज्यं प्रशाधि धर्मेण वाक्यं मे यद्यवेक्षसे ।
उत्तरं च न वक्तव्यं शूर वाक्यान्तरे मम ॥ २० ॥

उस राज्य को धर्मपूर्वक पालन करना। यदि मेरा कहना मानते हो तो; हे शूर! मेरा कथन सुन कर, कुछ कहना मत ॥२०॥

बालेन पूर्वजस्याज्ञा कर्तव्या नात्र संशयः ।
अभिषेकं च काकुत्स्थ प्रतीच्छस्व मयोद्यतम् ॥ २१ ॥
वसिष्ठप्रमुखैर्विप्रैर्विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ २२ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

क्योंकि छोटों को बड़ों की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये। अतः मेरे दिये हुए राज्य को ग्रहण करो और वशिष्ठादि ब्राह्मणों के हाथ से विधिपूर्वक मंत्रों से अभिषेकक्रिया करवाओ ॥२१॥२२॥

उत्तरकाण्ड का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—:o:—

एवमुक्तस्तु रामेण परां व्रीडामुपागमत् ।
शत्रुघ्नो वीर्यसम्पन्नो मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, शत्रुघ्न जी बहुत शर्माने और मन्द स्वर से (धीरे धीरे) पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥१॥

अधर्मं विद्म काकुत्स्थ अस्मिन्नर्थे नरेश्वर ।
कथं तिष्ठत्सु ज्येष्ठेषु कनीयानभिषिच्यते ॥ २ ॥

हे काकुत्स्थ ! मेरी समझ में तो यह अधर्म है । भला ज्येष्ठ भ्राता के रहते छोटे भाई का अभिषेक कैसे हो सकता है ? ॥ २ ॥

अवश्यं करणीयं च शासनं पुरुषर्षभ ।
तव चैव महाभाग शासनं दुरतिक्रमम् ॥ ३ ॥

परन्तु हे पुरुषश्रेष्ठ ! आपकी आज्ञा का पालन भी तो अवश्य होना चाहिये । क्योंकि आपकी आज्ञा टाली नहीं जा सकती ॥ ३ ॥

त्वत्तो मया श्रुतं वीर श्रुतिभ्यश्च मया श्रुतम् ।
नोत्तरं हि मया वाच्यं मध्यमे प्रतिजानति ॥ ४ ॥

व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे ।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

आपसे मैंने यह सीखा है और वेदों में भी यही पाया गया है । अतः मैं आपकी बात पर कुछ भी आपत्ति न करूँगा । देखिये,

भरत जी प्रतिज्ञा कर चुके थे। किन्तु मैं जो बीच में बोल उठा कि, मैं लवण को मारूँगा, सो उस अनुचित कथन का फल स्वरूप, हे पुरुषश्रेष्ठ! मुझे यह दुर्गति प्राप्त हुई है ॥ ४ ॥ ५ ॥

उत्तरं न हि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः ।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम् ॥ ६ ॥

बड़े भाई के कथन का उत्तर न देना चाहिये। क्योंकि उत्तर देने से अधर्म होता है और परलोक बिगड़ता है ॥ ६ ॥

सोऽहं द्वितीयं काकुत्स्थ न वक्ष्यामीति चोत्तरम् ।
मा द्वितीयेन दण्डो वै निपतेन्मयि मानद ॥ ७ ॥

एक तो मैं भरत जी की बात में बोल उठा, दूसरे अब आपकी बात में बोल रहा हूँ। सो हे मानद! इन दोनों अधर्मों का फल यह राज्यरूपी दण्ड मुझे न दीजिये ॥ ७ ॥

कामकारो ह्यहं राजंस्तवास्य पुरुषर्षभ ।
अधर्मं जहि काकुत्स्थ मत्कृते रघुनन्दन ॥ ८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ राजन! मैं तो आपकी इच्छानुसार ही कार्य करने वाला हूँ। किन्तु अपना राज्याभिषेक कराने में (ज्येष्ठभ्राता के सामने) मुझे जो पाप लगेगा उससे आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ ८ ॥

एवमुक्ते तु शूरेण शत्रुघ्नेन महात्मना ।
उवाच रामः सन्हृष्टो भरतं लक्ष्मणं तथा ॥ ९ ॥

जब महात्मा बलवान शत्रुघ्न जी ने ऐसा कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्न हो कर, भरत और लक्ष्मण से कहा ॥ ९ ॥

संभारानभिषेकस्य आनयध्वं समाहिताः ।
अद्यैव पुरुषव्याघ्रमभिषेक्ष्यामि राघवम् ॥ १० ॥

अभी तुरन्त अभिषेक का सामान ले आओ, मैं इसी समय शत्रुघ्न का अभिषेक करूँगा ॥ १० ॥

पुरोधसं च काकुत्स्थ नैगमानृत्विजस्तथा ।
मन्त्रिणश्चैव तान्सर्वानानयध्वं ममाज्ञया ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरी ओर से पुरोहित जी को, बड़े बड़े आदमियों को, ऋत्विजों को और सब मंत्रियों को बुला लाओ ॥ ११ ॥

राज्ञः शासनमाज्ञाय तथाऽकुर्वन्महारथाः ।
अभिषेकसमारम्भं पुरस्कृत्य पुरोधसम् ॥ १२ ॥

प्रविष्टा राजभवनं राजानो ब्राह्मणास्तथा ।
ततोऽभिषेको ववृधे शत्रुघ्नस्य महात्मनः ॥ १३ ॥

उन महारथियों ने महाराज की आज्ञा पा, तदनुसार ही कार्य किया और पुरोहित को आगे कर अभिषेक की सारी सामग्री ले आये। इस प्रकार सब राजा और ब्राह्मण राजभवन में इकट्ठे हुए। तदनन्तर शत्रुघ्न का राज्याभिषेक होने लगा ॥ १२ ॥ १३ ॥

संप्रहर्षकरः श्रीमान् राघवस्य पुरस्य च ।
अभिषिक्तस्तु काकुत्स्थो बभौ चादित्यसन्निभः ॥१४॥

इस प्रकार अभिषेक हो जाने पर शत्रुघ्न जी सूर्य की तरह शोभायमान हुए तथा श्रीरामचन्द्र जी तथा पुरवासियों का हर्ष बढ़ाने लगे। अथवा इससे श्रीरामचन्द्र जी और पुरवासी अत्यन्त

हर्षित हुए। अभिषेक हो जाने पर शत्रुघ्न जी सूर्य की तरह शोभायमान हुए ॥ १४ ॥

अभिषिक्तः पुरा स्कन्दः सेन्द्रैरिव दिवौकसैः ।
अभिषिक्ते तु शत्रुघ्ने रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ १५ ॥

जैसे इन्द्रादि देवताओं के अभिषेक करने पर स्वामिकार्तिक की शोभा हुई थी, वैसी शोभा अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी द्वारा अभिषिक्त होने पर शत्रुघ्न जी की हुई ॥ १५ ॥

पौराः प्रमुदिताश्चासन्ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
कौसल्या च सुमित्रा च मङ्गलं केकयी तथा ॥ १६ ॥
चक्रुस्ता राजभवने याश्चान्या राजयोषितः ।
ऋषयश्च महात्मानो यमुनातीरवासिनः ॥ १७ ॥
हतं लवणमाशंसुः शत्रुघ्नस्याभिषेचनात् ।
ततोऽभिषिक्तं शत्रुघ्नमङ्कमारोप्य राघवः ।
उवाच मधुरां वाणीं तेजस्तस्याभिपूरयन् ॥ १८ ॥

पुरवासी और वेदपाठी ब्राह्मण बहुत सन्तुष्ट हुए तथा कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा अन्य समस्त राजस्त्रियाँ मङ्गलाचार करने लगीं। शत्रुघ्न का अभिषेक होने से यमुनातीरवासी महात्मा ऋषियों को लवणासुर के मारे जाने का निश्चय हो गया। तदनन्तर अभिषिक्त शत्रुघ्न को श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी गोद में बैठा कर और उनका तेज बढ़ाते हुए उनसे मधुर वाणी से कहा ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

अयं शरस्त्वमोघस्ते दिव्यः परपुरञ्जयः ।
अनेन लवणं सौम्य हन्तासि रघुनन्दन ॥ १९ ॥

हे सौम्य! हे रघुनन्दन! मैं तुम्हें यह दिव्य एवं अमोघ बाण देता हूँ। यह शत्रु के नगर को सर करने वाला है। इससे तुम लवणासुर का वध करना ॥ १६ ॥

सृष्टः शरोऽयं काकुत्स्थ यदा शेते महार्णवे।
स्वयंभूरजितो दिव्यो यं नापश्यन्सुरासुराः ॥२०॥
अदृश्यः सर्वभूतानां तेनायं हि शरोत्तमः।
सृष्टः क्रोधाभिभूतेन विनाशार्थं दुरात्मनोः ॥ २१ ॥
मधुकैटभयोर्वीर विघाते *सर्वरक्षसाम्।
स्रष्टुकामेन लोकांस्त्रींस्तौचानेन हतौ युधि ॥ २२ ॥
तौ हत्वा जनभोगार्थें कैटभं तु मधुं तथा।
अनेन शरमुख्येन ततो लोकांश्चकार सः ॥ २३ ॥

यह बाण भगवान् विष्णु ने तब बनाया था, जब वे प्रलय के समय समुद्र में पड़े थे और उनको देवता तथा अन्य कोई प्राणी नहीं देख सकता था। उस समय उन देवादिदेव ने मधु तथा कैटभ तथा अन्य समस्त राक्षसों के वध के लिये क्रोध में भर यह बाण बनाया था। इसी बाण से उन दोनों दुष्टात्माओं को मार कर, तीनों लोक बसाये थे ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

नायं मया शरः पूर्वं रावणस्य वधार्थिना।
मुक्तः शत्रुघ्न भूतानां महान् †हासो भवेदिति ॥२४॥

हे शत्रुघ्न! रावण को मारने के लिये भी मैंने इस बाण से काम नहीं लिया। क्योंकि इसके चलाने से बहुत प्राणियों का नाश होता है ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे—" वर्तमानयोः।" † पाठान्तरे—" त्रासो।"

यच्च तस्य महच्छूलं त्र्यम्बकेण महात्मना ।
दत्तं शत्रुविनाशाय मधोरायुधमुत्तमम् ॥ २५ ॥

तत्सन्निक्षिप्य भवने पूज्यमानं पुनः पुनः ।
दिशः सर्वाः समासाद्य प्राप्नोत्याहारमुत्तमम् ॥२६॥

शिव जी ने मधु को जो उत्तम त्रिशूल दिया था, उसे लवण घर में छोड़ कर आहार लाने को इधर उधर जाता है। उस त्रिशूल का वह नित्य पूजन किया करता है ॥ २५ ॥ २६ ॥

यदा तु युद्धमाकाङ्क्षन्यदि कश्चित्समाह्वयेत् ।
तदा शूलं गृहीत्वा तु भस्म रक्षः करोति हि ॥ २७ ॥

जब कोई लड़ने के लिये लवणासुर को ललकारता है, तब वह दैत्य घर से शूल ला कर, उससे उसे भस्म कर डालता है ॥ २७ ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल तमायुधविनाकृतम् ।
अप्रविष्टं पुरं पूर्वं द्वारि तिष्ठ धृतायुधः ॥ २८ ॥

अतएव हे पुरुषसिंह ! जब वह नगर के बाहिर गया हो ; तब तुम अस्त्र से सुसज्जित हो, नगरद्वार को रोक लेना ॥ २८ ॥

अप्रविष्टं च भवनं युद्धाय पुरुषर्षभ ।
आह्वयेथा महाबाहो ततो हन्तासि राक्षसम् ॥ २९ ॥

और उसे घर में मत जाने देना । और उसी समय उसे तुम युद्ध के लिये ललकारना । हे महाबाहो ! ऐसा करने से तुम अवश्य उसे मार सकोगे ॥ २९ ॥

अन्यथा क्रियमाणे तु अवध्यः स भविष्यति ।
यदि त्वेवं कृतं वीर विनाशमुपयास्यति ॥ ३० ॥

इसके विपरीत करने से वह किसी प्रकार न मारा जायगा। जैसा मैंने बतलाया है, वैसा करोगे तो उसका विनाश अवश्य होगा ॥ ३० ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं शूलस्य च विपर्ययः ।
श्रीमतः शितिकण्ठस्य कृत्यं हि दुरतिक्रमम् ॥ ३१ ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

यह सारा हाल मैंने तुमको सुना दिया और शूल का परिहार (रोक) भी तुमको बतला दिया। अन्यथा श्रीशिव जी का वह त्रिशूल किसी के मान का नहीं है ॥ ३१ ॥

उत्तरकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—:०:—

एवमुक्त्वा च काकुत्स्थं प्रशस्य च पुनः पुनः ।
पुनरेवापरं वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ॥ १ ॥

इस प्रकार शत्रुघ्न जी से कह और बारंबार उनकी प्रशंसा कर, श्रीरामचन्द्र जी पुनः उनसे बोले ॥ १ ॥

इमान्यश्वसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभ ।
रथानां द्वे सहस्रे च गजानां शतमुत्तमम् ॥ २ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! ये चार हज़ार घोड़े, दो हज़ार रथ और सौ बढ़िया हाथी ॥ २ ॥

अन्तरा पणवीथ्यश्च नानापण्योपशोभिताः ।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं तथैव नटनर्तकाः ॥ ३ ॥

नगर की बीच की दूकानें, जिनमें ख़रीदफ़रोख़्त (मोल लेने और बेचने) का सामान भरा है ; नट, नर्तक—ये सब काकुत्स्थ के (अर्थात् तुम्हारे) साथ जांयगे ॥ ३ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य नियुतं पुरुषर्षभ ।
आदाय गच्छ शत्रुघ्न पर्याप्तधनवाहनः ॥ ४ ॥

हे पुरुषसिंह शत्रुघ्न ! सैनकादि के व्यय के लिये एक लाख सोने की मोहरें भी तुम लेते जाओ । धन तथा वाहनों से पूर्ण हो कर तुम यात्रा करो ॥ ४ ॥

बलं च सुभृतं वीर हृष्टस्तुष्टमनुद्धतम् ।
सम्भाषासम्प्रदानेन रञ्जयस्व नरोत्तम ॥ ५ ॥

हे वीर ! हे नरोत्तम ! हृष्ट पुष्ट बहुत से सैनिकों को साथ ले कर जाओ । उनको सन्तुष्ट रखने के लिये उनसे अच्छे वचन बोलना और उनका मासिक वेतन भी देते रहना ॥ ५ ॥

न ह्यर्थास्तत्र तिष्ठन्ति न दारा न च बान्धवाः ।
सुप्रीतो भृत्यवर्गस्तु यत्र तिष्ठति राघव ॥ ६ ॥

हे राघव ! जहाँ धन, कुलवधू और भाई बन्धु कोई भी नहीं ठहर सकते ; वहाँ सन्तुष्ट भृत्य वर्ग ही ठहर सकता है ॥ ६ ॥

अतो हृष्टजनाकीर्णां प्रस्थाप्य महतीं चमूम् ।
एक एव धनुष्पाणिर्गच्छ त्वं मधुनो वनम् ॥ ७ ॥

यथा त्वां न प्रजानाति गच्छन्तं युद्धकाङ्क्षिणम् ।
लवणस्तु मधोः पुत्रस्तथा गच्छेरशङ्कितम् ॥ ८ ॥

अतएव तुम सन्तुष्ट सैनिक वीरों की विशाल सेना को साथ ले कर जाना और उस सेना को कहीं ठहरा कर, तुम अकेले ही धनुष बाण ले कर मधुवन में चले जाना, जिससे मधुपुत्र लवण को यह पता ही न चले कि, तुम उससे लड़ने के लिये आये हो। अब तुम निःशङ्क हो कर चले जाओ ॥ ७ ॥ ८ ॥

न तस्य मृत्युरन्योस्ति कश्चिद्धि पुरुषर्षभ ।
दर्शनं योऽभिगच्छेत स वध्यो लवणेन हि ॥ ९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! उसके मारने का और कोई उपाय नहीं है। जिसे वह पहले से जान लेता है कि यह मुझसे लड़ने आता है, उसे तो वह देखते ही शूल से मार डालता है ॥ ९ ॥

स ग्रीष्म अपयाते तु वर्षारात्र उपागते ।
हन्यास्त्वं लवणं सौम्य स हि कालोऽस्य दुर्मतेः ॥१०॥

हे सौम्य ! तुम गर्मी की ऋतु के अन्त में और वर्षा ऋतु के आरम्भ में उसको मारना। यही उस दुष्ट के मारने का (उपयुक्त) समय है ॥ १० ॥

महर्षींस्तु पुरस्कृत्य प्रयान्तु तव सैनिकाः ।
यथा ग्रीष्मावशेषेण तरेयुर्जाह्नवीजलम् ॥ ११ ॥

महर्षियों को आगे कर तुम्हारी सेना रवाना हो, जिससे गर्मी की ऋतु रहते ही तुम्हारी सेना श्रीगङ्गा के पार हो जाय ॥ ११ ॥

[नोट—यह इसलिये कि वर्षाऋतु में गङ्गा जब चढ़ आवेंगी, तब पार होने में कठिनाई होगी ।]

तत्र स्थाप्य बलं सर्वं नदीतीरे समाहितः ।
अग्रतो धनुषा सार्धं गच्छ त्वं लघुविक्रम ॥ १२ ॥

हे अमितविक्रम ! नदीतट पर कहीं अपनी सेना को टिका कर, तुम धनुष बाण ले कर शीघ्र चले जाना ॥ १२ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण शत्रुघ्नस्तान्महाबलान् ।
सेनामुख्यान्समानीय ततो वाक्यमुवाच ह ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की इन सब बातों को सुन, शत्रुघ्न जी ने महाबलवान सेनापतियों को बुला कर उनसे कहा ॥ १३ ॥

एते वो गणिता वासा यत्र तत्र निवत्स्यथ ।
स्थातव्यं चाविरोधेन यथा बाधा न कस्यचित् ॥१४॥

देखो ! तुम लोगों के मार्ग में ठहरने के लिये (अमुक अमुक) पड़ाव नियत कर दिये गये हैं । तुम लोग इन पड़ावों पर निडर हो ठहरना । किन्तु इस बात का ध्यान रखना कि, रास्ते में किसी से झगड़ा न हो और कोई सताया न जाय या किसी की कुछ हानि न हो ॥ १४ ॥

तथा तांस्तु समाज्ञाप्य प्रस्थाप्य च महद्बलम् ।
कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं चाभ्यवादयत् ॥१५॥

इस प्रकार शत्रुघ्न जी ने सेनापतियों को आज्ञा दे, उस विशाल सेना को रवाना किया। तदनन्तर उन्होंने रनवास में जा कर कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी को प्रणाम किया ॥ १५ ॥

रामं प्रदक्षिणीकृत्य शिरसाऽभिप्रणम्य च ।
लक्ष्मणं भरतं चैव प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १६ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी की परिक्रमा कर और उनको सिर झुका कर प्रणाम कर तथा भरत जी एवं लक्ष्मण जी को हाथ जोड़ ॥ १६ ॥

पुरोहितं वसिष्ठं च शत्रुघ्नः प्रयतात्मवान् ।
रामेण चाभ्यनुज्ञातः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा निर्जगाम महाबलः ॥ १७ ॥

तथा पुरोहित वशिष्ठ जी को दण्डवत् कर के, नियम से रहने वाले और शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले महाबली शत्रुघ्न जी श्रीरघुनाथ जी से आज्ञा ले और उनकी परिक्रमा कर चल दिये ॥ १७ ॥

*निर्याप्य सेनामथ सोऽग्रतस्तदा
गजेन्द्रवाजिप्रवरौघसङ्कुलाम् ।
†उपास्यमानः स नरेन्द्र पार्श्वतः
प्रतिप्रयातो रघुवंशवर्धनः ॥ १८ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

गज, अश्व आदि से युक्त उस विशाल वाहिनी को तो उन्होंने आगे ही रवाना कर दिया था। पीछे रघुवंश के बढ़ाने

---

* पाठान्तरे—"प्रस्थाप्य।" † पाठान्तरे—"उवास मास तु।"

वाले नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी से बिदा माँग शत्रुघ्न जी आप भी रवाना हुए ॥ १८ ॥

उत्तरकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:o:—

प्रस्थाप्य च बलं सर्वं [1]मासमात्रोषितः पथि ।
एक एवाशु शत्रुघ्नो जगाम त्वरितं तदा ॥ १ ॥

सेना को भेजने के बाद शत्रुघ्न जी एक मास अयोध्या में रहे। तदनन्तर वे अयोध्या से अकेले ही रवाना हुए ॥ १ ॥

द्विरात्रमन्तरे शूर उष्य राघवनन्दनः ।
वाल्मीकेराश्रमं पुण्यमगच्छद्वासमुत्तमम् ॥ २ ॥

और रास्ते में दो दिन लगा तीसरे दिन शत्रुघ्न जी वाल्मीकि के पवित्र आश्रम में पहुँचे ॥ २ ॥

सोभिवाद्य महात्मानं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम् ।
कृताञ्जलिरथो भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ३ ॥

शत्रुघ्न जी महर्षि वाल्मीकि जी को अभिवादन कर और हाथ जोड़ उनसे यह बोले ॥ ३ ॥

भगवन्वस्तुमिच्छामि गुरोः कृत्यादिहागतः ।
श्वः प्रभाते गमिष्यामि प्रतीचीं *दारुणां दिशम् ॥४॥

---

१ अयोध्यायामितिशेषः। (रा०)

* पाठान्तरे—" वारुणां । "

हे भगवन्! महाराज के एक काम से मैं आया हूँ और आज यहाँ ठहरना चाहता हूँ। कल भयावनी पश्चिम दिशा की ओर रवाना हो जाऊँगा ॥ ४ ॥

शत्रुघ्नस्य वचः श्रुत्वा प्रहस्य मुनिपुङ्गवः ।
प्रत्युवाच महात्मानं स्वागतं ते महायशः ॥ ५ ॥

शत्रुघ्न जी के वचन सुन, मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी उनसे हँस कर बोले कि, हे महायशस्वी! तुम भले आये ॥ ५ ॥

स्वमाश्रममिदं सौम्य राघवाणां कुलस्य वै ।
आसनं पाद्यमर्घ्यं च निर्विशङ्कः प्रतीच्छ मे ॥ ६ ॥

हे सौम्य! यह मेरा आश्रम तो रघुकुल वालों के लिये ही है। आप अर्घ्य पाद्य आसन ग्रहण कर निःशङ्क हो यहाँ ठहरिये ॥ ६ ॥

प्रतिगृह्य तदा पूजां फलमूलं च भोजनम् ।
भक्षयामास काकुत्स्थस्तृप्तिं च परमां गतः ॥ ७ ॥

इस प्रकार महायस्वी शत्रुघ्न जी आतिथ्य ग्रहण कर और फल मूल खा कर परम तृप्त हुए ॥ ७ ॥

स भुक्त्वा फलमूलं च महर्षिं तमुवाचह ।
पूर्वा यज्ञविभूतीयं कस्याश्रमसमीपतः ॥ ८ ॥

फल मूल खा कर वे महर्षि वाल्मीकि जी से बोले—भगवन्! इस आश्रम के निकट पूर्व की ओर यह यज्ञ का सामान (या तैयारियाँ) किसका देख पड़ता है? ॥ ८ ॥

तत्तस्य भाषितं श्रुत्वा वाल्मीकिर्वाक्यमब्रवीत् ।
शत्रुघ्न शृणु यस्येदं बभूवायतनं पुरा ॥ ९ ॥

युष्माकं पूर्वको राजा *सौदासस्तस्य भूपतेः ।
पुत्रो वीर्यसहो नाम वीर्यवानतिधार्मिकः ॥ १० ॥

यह सुन कर वाल्मीकि बोले, हे शत्रुघ्न ! सुनो पूर्वकाल में जिनका यह स्थान था, सो मैं बतलाता हूँ । तुम्हारे वंश में सौदास नामक एक राजा हो गये हैं । उनके पुत्र वीर्यसह बड़े धार्मिक और पराक्रमी थे ॥ ९ ॥ १० ॥

स बाल एव सौदासो मृगयामुपचक्रमे ।
चञ्चूर्यमाणं ददृशे स शूरो राक्षसद्वयम् ॥ ११ ॥

राजा सौदास को लड़कपन ही से शिकार का शौक था । एक दिन सौदास ने वन में घूमते समय दो राक्षसों को देखा ॥ ११ ॥

शार्दूलरूपिणौ घोरौ मृगान्बहु सहस्रशः ।
भक्षमाणावसन्तुष्टौ पर्याप्तिं नैव जग्मतुः ॥ १२ ॥

वे दोनों राक्षस भयङ्कर व्याघ्र का रूप धारण कर, कई हज़ार मृगादि वन्यपशुओं को खा कर भी सन्तुष्ट नहीं होते थे ॥ १२ ॥

स तु तौ राक्षसौ दृष्ट्वा निर्मृगं च वनं कृतम् ।
क्रोधेन महताऽऽविष्टो जघानैकं महेषुणा ॥ १३ ॥

जब राजा सौदास ने देखा कि, उन दोनों राक्षसों ने तो वन को पशुहीन ही कर डाला, तब उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध हो, एक बड़ा बाण मार कर, उन दो में से एक को मार डाला ॥ १३ ॥

विनिपात्य तमेकं तु सौदासः पुरुषर्षभः ।
विज्वरो विगतामर्षो हतं रक्षो ह्युदैक्षत ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"सुदासस्तस्य ।"

पुरुषश्रेष्ठ सौदास एक राक्षस को मार सन्ताप और क्रोध से रहित हो, उस मरे हुए राक्षस की ओर देखने लगे ॥ १४ ॥

निरीक्षमाणं तं दृष्ट्वा सहायं तस्य रक्षसः ।
सन्तापमकरोद्घोरं सौदासं चेदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

राजा सौदास को उस मृतक राक्षस की ओर देखते हुए जान कर, मरे हुए राक्षस का साथी राक्षस बहुत दुःखी हो कर उनसे बोला ॥ १५ ॥

यस्मादनपराधं तं सहायं मम जघ्निवान् ।
तस्मात्तवापि पापिष्ठ प्रदास्यामि प्रतिक्रियाम् ॥ १६ ॥

अरे पापी! तूने निरपराध मेरे साथी को मारा है। अतः मैं तुझसे इसका बदला ले लूँगा ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा तु तद्रक्षस्तत्रैवान्तरधीयत ।
कालपर्यायेयोगेन राजा मित्रसहोऽभवत् ॥ १७ ॥

यह कह कर वह राक्षस वहीं अदृश्य हो गया। कुछ दिनों बाद समय आने पर (अर्थात् सौदास के मरने पर) सौदास का पुत्र वीर्यसह राजसिंहासन पर आसीन हुआ ॥ १७ ॥

राजापि यजते यज्ञमस्याश्रमसमीपतः ।
अश्वमेधं महायज्ञं तं वसिष्ठोऽप्यपालयत् ॥ १८ ॥

उसने इसी आश्रम के पास अश्वमेध यज्ञ करना आरम्भ किया। उस यज्ञ को रक्षा वशिष्ठ जी करते थे अथवा उस यज्ञ को वशिष्ठ जी करवाते थे ॥ १८ ॥

तत्र यज्ञो महानासीद्बहुवर्षगणायुतः ।
समृद्धः परया लक्ष्म्या देवयज्ञसमोऽभवत् ॥ १९ ॥

वह यज्ञ बड़ी धूमधाम से कितने ही वर्षों तक बड़ी समृद्धि के साथ देवयज्ञ की तरह हुआ किया ॥ १९ ॥

अथावसाने यज्ञस्य पूर्ववैरमनुस्मरन् ।
वसिष्ठरूपी राजानमिति होवाच राक्षसः ॥ २० ॥

अब वही राक्षस (जो सौदास के हाथ से मारे जाने से बच गया था) पुराने वैर का स्मरण कर, वशिष्ठ जी का रूप बना, राजा के पास आ कर कहने लगा ॥ २० ॥

अद्य यज्ञावसानान्ते सामिषं भोजनं मम ।
दीयतामिति शीघ्रं वै नात्र कार्या विचारणा ॥ २१ ॥

आज इस यज्ञ की समाप्ति में शीघ्र ही मुझे मांस सहित भोजन कराओ । इसमें सोचने विचारने की आवश्यकता नहीं है ॥ २१ ॥

तच्छ्रुत्वा व्याहृतं वाक्यं रक्षसा ब्रह्मरूपिणा ।
सूदान्संस्कारकुशलानुवाच पृथिवीपतिः ॥ २२ ॥

ब्राह्मण रूपधारी राक्षस के ये वचन सुन कर, राजा ने भोजन बनाने में चतुर रसोइयों से कहा ॥ २२ ॥

हविष्यं सामिषं स्वादु यथा भवति भोजनम् ।
तथा कुरुत शीघ्रं वै परितुष्येद्यथा गुरुः ॥ २३ ॥

आज मांस सहित ऐसा स्वादिष्ट हविष्यान्न शीघ्र तैयार करो जिसे खा कर गुरु जी तृप्त हों ॥ २३ ॥

शासनात्पार्थिवेन्द्रस्य सूदः सम्भ्रान्तमानसः ।
तच्च रक्षः पुनस्तत्र सूदवेषमथाकरोत् ॥ २४ ॥

राजा के ये विलक्षण वचन सुन कर, रसोइया घबड़ा गया कि राजा आज कहते क्या हैं? इसी बीच में वही राक्षस एक रसोइया का रूप धर कर रसोईघर में घुस गया ॥ २४ ॥

स मानुषमथो मांसं पार्थिवाय न्यवेदयत् ।
इदं स्वादु हविष्यं च सामिषं चान्नमाहृतम् ॥ २५ ॥

उसने मनुष्य का मांस बना कर, राजा को दिया और कहा यह परम स्वादिष्ट हविष्य आमिष अन्न तैयार है ॥ २५ ॥

स भोजनं वसिष्ठाय पत्न्यासार्धमुपाहरत् ।
मदयन्त्या नरश्रेष्ठ सामिषं रक्षसा हृतम् ॥ २६ ॥

हे नरश्रेष्ठ! राजा ने अपनी मदयन्ती पत्नी सहित वशिष्ठ जी को भोजन करने को, राक्षस द्वारा लाया हुआ वह मांस दिया ॥२६॥

ज्ञात्वा तदामिषं विप्रो मानुषं भोजनागतम् ।
क्रोधेन महताऽऽविष्टो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ २७ ॥

वशिष्ठ जी को जब मालूम हुआ कि, यह मनुष्य का मांस है; तब तो मुनि अत्यन्त क्रुद्ध हो वीर्यसह से बोले ॥ २७ ॥

यस्मात्त्वं भोजनं राजन्ममैतद्दातुमिच्छसि ।
तस्माद्भोजनमेतत्ते भविष्यति न संशयः ॥ २८ ॥

हे राजन्! तू ने जैसा भोजन मेरे सामने परोसा है, वैसा ही भोजन तेरा होगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। (अर्थात् तू राक्षस होगा) ॥ २८ ॥

ततः क्रुद्धस्तु सौदासस्तोयं जग्राह पाणिना ।
वसिष्ठं शप्तुमारेभे भार्या चैनमवारयत् ॥ २९ ॥

यह सुन सौदस ने क्रोध में भर हाथ में जल ले कर वशिष्ठ को शाप देना चाहा। उस समय रानी ने उन्हें रोक कर कहा ॥२६॥

राजन्प्रभुर्यतोऽस्माकं वसिष्ठो भगवानृषिः ।
प्रतिशप्तुं न शक्तस्त्वं देवतुल्यं पुरोधसम् ॥ ३० ॥

हे राजन्! भगवान् वशिष्ठ जो हमारे प्रभु और देवतुल्य पुरोहित हैं, अतः उनको आप शाप नहीं दे सकते ॥ ३० ॥

ततः क्रोधमयं तोयं तेजोबलसमन्वितम् ।
व्यसर्जयत धर्मात्मा ततः पादौ सिषेच च ॥ ३१ ॥

रानी की बात सुन, उस महात्मा राजा ने क्रोधमय एवं तेजोबलयुक्त उस जल को अपने ही पैरों पर डाल लिया ॥ ३१ ॥

तेनास्य राज्ञस्तौ पादौ तदा कल्माषतां गतौ ।
तदाप्रभृति राजाऽसौ सौदासः सुमहायशाः ॥ ३२ ॥

इससे इस राजा के दोनों पैर काले पड़ गये और उसी दिन से महायशस्वी राजा सौदास ॥ ३२ ॥

कल्माषपादः संवृत्तः ख्यातश्चैव तथा नृपः ।
स राजा सह पत्न्या वै प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः ।
पुनर्वसिष्ठं प्रोवाच यदुक्तं ब्रह्मरूपिणा ॥ ३३ ॥

कल्माषपाद के नाम से प्रसिद्ध हो गया। राजा रानी सहित वारवार मुनि के चरणों में प्रणाम कर, जो कुछ वशिष्ठ रूपधारी राक्षस ने कहा था, उनसे वह सब कहा ॥ ३३ ॥

तच्छ्रुत्वा पार्थिवेन्द्रस्य रक्षसा विकृतं च तत् ।
पुनः प्रोवाच राजानं वसिष्ठः पुरुषर्षभम् ॥ ३४ ॥

राजा के वचन सुन और राजा के कृत्य को विचार कर, फिर वशिष्ठ जी ने उस पुरुषश्रेष्ठ राजा से कहा ॥ ३४ ॥

मया रोषपरीतेन यदिदं व्याहृतं वचः ।
नैतच्छक्यं वृथा कर्तुं प्रदास्यामि च ते वरम् ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! क्रोध में भर जो वचन मेरे मुख से निकल गये हैं, वे तो अन्यथा हो नहीं सकते। परन्तु मैं तुमको यह वर भी देता हूँ कि, ॥ ३५ ॥

कालो द्वादशवर्षाणि शापस्यान्तो भविष्यति ।
मत्प्रसादाच्च राजेन्द्र अतीतं न स्मरिष्यसि ॥ ३६ ॥

बारह वर्ष में इस शाप का अन्त हो जायगा। हे राजेन्द्र ! उस समय तुमको इन बातों का स्मरण भी न रहेगा ॥ ३६ ॥

एवं स राजा तं शापमुपभुज्यारिसूदनः ।
प्रतिलेभे पुनो राज्यं प्रजाश्चैवान्वपालयत् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार, हे शत्रुघ्न जी ! वह राजा शाप को भोग और अन्त में पुनः राज्य को प्राप्त कर, प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करने लगा ॥ ३७ ॥

तस्य कल्माषपादस्य यज्ञस्यायतनं शुभम् ।
आश्रमस्य समीपेस्मिन्यन्मां पृच्छसि राघव ॥ ३८ ॥

हे राघव ! उन्हीं कल्माषपाद राजा के यज्ञ का यह सुन्दर यज्ञ स्थान है, जो मेरे आश्रम के निकट है और जिसके विषय में तुमने प्रश्न किया था ॥ ३८ ॥

तस्य तां पार्थिवेन्द्रस्य कथां श्रुत्वा सुदारुणाम् ।
विवेश पर्णशालायां महर्षिमभिवाद्य च ॥ ३९ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

शत्रुघ्न इस प्रकार उस महात्मा राजा का अत्यन्त दारुण वृत्तान्त सुन और महर्षि को प्रणाम कर पर्णशाला में चले गये ॥ ३९ ॥

उत्तरकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षट्षष्टितमः सर्गः

—:०:—

यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां *समाविशत् ।
तामेव रात्रिं सीताऽपि प्रसूता दारकद्वयम् ॥ १ ॥

जिस रात में शत्रुघ्न जी वाल्मीकि जी के आश्रम में पर्णशाला में ठहरे हुए थे, उसी रात्रि में सीता जी के दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

ततोऽर्धरात्रसमये बालका मुनिदारकाः ।
वाल्मीकेः प्रियमाचख्युः सीतायाः प्रसवं शुभम् ॥२॥

आधी रात के समय मुनिबालकों ने आ कर वाल्मीकि मुनि को यह शुभ संवाद सुनाया ॥ २ ॥

भगवन् रामपत्नी सा प्रसूता दारकद्वयम् ।
ततो रक्षां महातेजः कुरु भूतविनाशिनीम्[1] ॥ ३ ॥

---

1 भूतविनाशिनीं—बालग्रहविनाशिनीं । (गो०)

* पाठान्तरे—" उपाविशत् । "

भगवन्! श्रीरामपत्नी सीता जी के दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं। हे महातेजस्वी! सो आप चल कर बाल-ग्रह-नाशिनी-रक्षा कीजिये ॥३॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा महर्षिः समुपागमत् ।
बालचन्द्रप्रतीकाशौ देवपुत्रौ महौजसौ ॥ ४ ॥

उनके वचन सुनते ही वाल्मीकि जी वहाँ गये, जहाँ वे दोनों बालचन्द्र के समान कान्तिमान पराक्रमी राजपुत्र थे ॥ ४ ॥

जगाम तत्र हृष्टात्मा ददर्श च कुमारकौ ।
भूतघ्नीं च करोत्ताभ्यां रक्षां रक्षो विनाशिनीम् ॥ ५ ॥

वहाँ जा कर और उन दोनों राजकुमारों को देख, महर्षिवाल्मीकि जी प्रसन्न हुए और उनकी भूतघ्नी एवं रक्षोविनाशिनी रक्षा की ॥५॥

कुशमुष्टिमुपादाय लवं चैव तु स द्विजः ।
वाल्मीकिः प्रददौ ताभ्यां रक्षां भूतविनाशिनीम् ॥६॥

एक मूठा कुश ले कर, उसमें का आधा भाग लव का अर्थात् जड़ का ले और उसे बीच में से चीर कर, महर्षि ने उनसे क्रमपूर्वक दोनों की रक्षा की, जिससे कोई बालग्रहादि वहाँ न जा सके ॥ ६ ॥

यस्तयोः पूर्वजो जातः स कुशैर्मन्त्रसत्कृतैः ।
निर्मार्जनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत् ॥ ७ ॥

मंत्र पढ़ कर कुश से उनका मार्जन किया गया था, अतएव उनमें से पूर्वउत्पन्न बालक का नाम कुश ॥ ७ ॥

यश्चावरोऽभवत्ताभ्यां लवेन सुसमाहितः ।
निर्मार्जनीयो वृद्धाभिर्लवेति च स नामतः ॥ ८ ॥

और उनमें जो पीछे हुआ था उसका मार्जन कुश की जड़ (लव) से किया गया था, अतः उसका नाम लव हुआ। वहाँ रहने

वाली पवित्र वृद्धा तापसियों ने मुनि के हाथ से कुश ले कर, यथोचित विधि से बालकों का मार्जन करा दिया ॥ ८ ॥

एवं कुशलवौ नाम्ना तावुभौ यमजातकौ ।
मत्कृताभ्यां च नामभ्यां ख्यातियुक्तौ भविष्यतः ॥९॥

तदनन्तर महर्षि वाल्मीकि जी ने कहा कि, ये दोनों यमज बालक मेरे रखे हुए कुश और लव नामों से प्रसिद्ध होंगे ॥ ९ ॥

तां रक्षां जगृहुस्तां च मुनिहस्तात्समाहिताः ।
अकुर्वंश्च ततो रक्षां तयोर्विगतकल्मषाः ॥ १० ॥

इस प्रकार जब रक्षा कर, महर्षि वाल्मीकि जी अपनी कुटी को चले गये, तब उस रक्षा (कुश के मूठों) को ले, वे पापरहित वृद्धा तापसियाँ, जो सीता जी के पास थीं, बड़ी सावधानी से बालकों की रक्षा का कार्य करने लगीं ॥ १० ॥

तथा तां क्रियमाणां च वृद्धाभिर्गोत्र नाम च ।
संकीर्तनं च रामस्य सीतायाः प्रसवौ शुभौ ॥११॥

फिर उन वृद्धाओं ने श्रीरामचन्द्र के गोत्र का और श्रीरामचन्द्र जी का नाम ले कर अर्थात् उन बालकों को श्रीरामचन्द्र और सीता के पुत्र कह कर, उन दोनों बालकों की रक्षा की ॥ ११ ॥

अर्धरात्रे तु शत्रुघ्नः शुश्राव सुमहत्प्रियम् ।
पर्णशालां ततो गत्वा मातर्दिष्ट्येति च ब्रवीत् ॥१२॥

आधी रात के समय शत्रुघ्न जी ने यह शुभसंवाद सुना और वे सीता देवी की पर्णशाला में जा बोले कि, यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि, जो तुम्हारे पुत्र हुए हैं ॥ १२ ॥

तदा तस्य प्रहृष्टस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः ।
व्यतीता वार्षिकी रात्रिः श्रावणी लघुविक्रमा ॥१३॥

शत्रुघ्न की वह सावन मास की रात, इस प्रकार आनन्द मनाते हुए बड़ी जल्दी बीत गयी ॥ १३ ॥

प्रभाते सुमहावीर्यः कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ।
मुनिं प्राञ्जलिरामंत्र्य ययौ पश्चान्मुखः पुनः ॥ १४ ॥

प्रातःकाल होते ही सबेरे के कृत्यों से निश्चिन्त हो और मुनि को प्रणाम कर और उनसे आज्ञा ले, वे महावीर शत्रुघ्न जी पश्चिम की ओर चल दिये ॥ १४ ॥

स गत्वा यमुनातीरं सप्तरात्रोषितः पथि ।
ऋषीणां पुण्यकीर्तीनामाश्रमे वासमभ्ययात् ॥१५॥

रास्ते में सात रातें बिता कर, वे यमुना के तट पर पहुँचे और वहाँ उन पुण्यकर्मा मुनियों के आश्रम में रहे ॥ १५ ॥

स तत्र मुनिभिः सार्धं भार्गवप्रमुखैर्नृपः ।
कथाभिरभिरूपाभिर्वासं चक्रे महायशाः ॥ १६ ॥

महायशस्वी शत्रुघ्न जी भृगुवंशी च्यवनादि महर्षियों से अनेक सुन्दर कथाएँ सुनते हुए, वहाँ रहे ॥ १६ ॥

स काञ्चनाद्यैर्मुनिभिः समेतै
रघुप्रवीरो रजनीं तदानीम् ।
कथाप्रकारैर्बहुभिर्महात्मा
विरामयामास नरेन्द्रसूनुः ॥ १७ ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

उन नरेन्द्रपुत्र महात्मा शत्रुघ्न जी ने च्यवनादि महर्षियों से अनेक प्रकार की कथाएँ सुनते सुनते वह रात बिता दी ॥ १७ ॥

उत्तरकाण्ड का छाछठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—※—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:०:—

अथ रात्र्यां प्रवृत्तायां शत्रुघ्नो भृगुनन्दनम् ।
पप्रच्छ च्यवनं विप्रं लवणस्य यथा बलम् ॥ १ ॥

रात के समय शत्रुघ्न जी ने भृगुनन्दन च्यवन ऋषि से लवणासुर के बल के विषय में जिज्ञासा की ॥ १ ॥

शूलस्य च बलं ब्रह्मन्के च पूर्वं विनाशिताः ।
अनेन शूलमुख्येन द्वन्द्वयुद्धमुपागताः ॥ २ ॥

शत्रुघ्न जी ने पूँछा—हे मुने ! उसके त्रिशूल में क्या विशेषता है ? उस शूल से युद्ध में (आज तक) कितने लोग मारे गये हैं ? कौन कौन लोग उस शूल से द्वन्द्वयुद्ध करने को आ चुके हैं ? ॥ २ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शत्रुघ्नस्य महात्मनः ।
प्रत्युवाच महातेजाश्च्यवनो रघुनन्दनम् ॥ ३ ॥

महाबली शत्रुघ्न जी के ये वचन सुन, महातेजस्वी च्यवन जी ने उनसे कहा ॥ ३ ॥

असंख्येयानि कर्माणि यान्यस्य रघुनन्दन ।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवे यद्वृत्तं तच्छृणुष्व मे ॥ ४ ॥

हे रघुनन्दन! इस शूल से असंख्य काम हुए हैं; किन्तु इस शूल द्वारा इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न (मान्धाता) के विषय में जो घटना घटी थी, उसका वृत्तान्त तुम सुनो ॥ ४ ॥

अयोध्यायां पुरा राजा युवनाश्वसुतो बली ।
मान्धाता इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ॥ ५ ॥

हे राजन्! पूर्वकाल में, महाराज युवनाश्व के पुत्र महाबलवान मान्धाता हुए। यह त्रिलोकी में अपने पराक्रम के लिये प्रसिद्ध थे ॥ ५ ॥

स कृत्वा पृथिवीं कृत्स्नां शासने पृथिवीपतिः ।
सुरलोकमितो जेतुमुद्योगमकरोन्नृपः ॥ ६ ॥

उन्होंने सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल को अपने वश में करके, स्वर्ग लोक को विजय करने का आयोजन किया था ॥ ६ ॥

इन्द्रस्य च भयं तीव्रं सुराणां च महात्मनाम् ।
मान्धातरि कृतोद्योगे देवलोक जिगीषया ॥ ७ ॥

जब महाराज मान्धाता ने स्वर्ग जीतने की तैयारियाँ कीं, तब महाबली इन्द्रादि समस्त देवता बहुत घबड़ाये और भयभीत हुए ॥ ७ ॥

अर्धासनेन शक्रस्य राज्यार्धेन च पार्थिवः ।
वन्द्यमानः सुरगणैः प्रतिज्ञामध्यरोहत ॥ ८ ॥

उस समय मान्धाता ने यह प्रतिज्ञा कर, स्वर्ग पर चढ़ाई की कि, मैं इन्द्र का आधा राज्य और आधा इन्द्रासन बँटा लूँगा और यह भी नियम करा लूँगा कि, देवता मुझको प्रणाम किया करें ॥ ८ ॥

तस्य पापमभिप्रायं विदित्वा पाकशासनः ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच युवनाश्वजम् ॥ ९ ॥

परन्तु इन्द्र उनका यह दुष्ट अभिप्राय जान कर, उनसे सान्त्वनापूर्वक यह वचन बोले ॥ ९ ॥

राजा त्वं मानुषे लोके न तावत्पुरुषर्षभ ।
अकृत्वा पृथिवीं वश्यां देवराज्यमिहेच्छसि ॥ १० ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम अभी तक तो समस्त पृथिवी का राज्य ही अपने हस्तगत नहीं कर पाये। सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य अपने अधीन किये बिना आप देवराज्य को हस्तगत करने की इच्छा किस प्रकार करते हैं? ॥ १० ॥

यदि वीर समग्रा ते मेदिनी निखिला वशे ।
देवराज्यं कुरुष्वेह सभृत्यबलवाहनः ॥ ११ ॥

हे वीर ! यदि सम्पूर्ण पृथिवी तुम्हारे वश में हो गयी हो तो; नौकर चाकर, फौज और वाहनों सहित देवलोक में तुम राज्य करो ॥ ११ ॥

इन्द्रमेवं ब्रुवाणं तं मान्धाता वाक्यमब्रवीत् ।
क्व मे शक्र प्रतिहतं शासनं पृथिवीतले ॥ १२ ॥

इन्द्र के इस प्रकार कहने पर मान्धाता जी बोले—हे इन्द्र ! बतलाओ पृथिवीतल पर मेरी आज्ञा का पालन कहाँ नहीं होता ? ॥१२॥

तमुवाच सहस्राक्षो लवणो नाम राक्षसः ।
मधुपुत्रो मधुवने न तेऽज्ञां कुरुतेऽनघ ॥ १३ ॥

इस पर इन्द्र ने कहा—हे अनघ ! मधुवन में मधुदैत्य का पुत्र लवणासुर तुम्हारी आज्ञा का पालन नहीं करता ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा विप्रियं घोरं सहस्राक्षेण भाषितम् ।
व्रीडितोऽवाङ्मुखो राजा व्याहर्तुं न शशाक ह ॥१४॥
आमन्त्र्य तु सहस्राक्षं *प्रायात्किञ्चिदवाङ्मुखः ।
पुनरेवागमच्छ्रीमानिमं लोकं नरेश्वरः ॥ १५ ॥

इन्द्र के कहे हुए इन घोर अप्रिय वचनों को सुन, मान्धाता ने लज्जित हो नीचे को मुख कर लिया और इन्द्र को कुछ भी उत्तर न दे, मान्धाता इन्द्र से विदा हो नीचा मुख किये पुनः भूमण्डल पर आया ॥ १४ ॥ १५ ॥

स कृत्वा हृदयेऽमर्षं सभृत्यबलवाहनः ।
आजगाम मधोः पुत्रं वशे कर्तुमरिन्दमः ॥ १६ ॥

उनके मन में क्रोध तो भरा हुआ था ही, अतः वे झट सेना और वाहनों को साथ ले कर, लवणासुर को वश में करने की इच्छा से उस पर चढ़ गये ॥ १६ ॥

स कांक्षमाणो लवणं युद्धाय पुरुषर्षभः ।
दूतं सम्प्रेषयामास सकाशं लवणस्य †सः ॥ १७ ॥

मान्धाता ने लवणासुर के पास युद्ध करने की अपनी इच्छा जनाने के लिये पहले अपना दूत भेजा ॥ १७ ॥

स गत्वा विप्रियाण्याह बहूनि मधुनः सुतम् ।
वदन्तमेवं तं दूतं भक्षयामास राक्षसः ॥ १८ ॥

उस दूत ने लवणासुर के पास जा, जब टेढ़ी बेढ़ी बातें कहीं; तब नरमांसभोजी राक्षस लवण ने उस दूत ही को खा डाला ॥१८॥

---

* पाठान्तरे—" ह्रिया । " † पाठान्तरे—" हि " ।

चिरायमाणे दूते तु राजा क्रोधसमन्वितः ।
अर्दयामास तद्रक्षः शरवृष्ट्या समन्ततः ॥ १९ ॥

दूत के लौटने में विलंब होने पर महाराज मान्धाता ने क्रोध में भर चारों ओर से बाणों की वर्षा कर लवणासुर को पीड़ित किया ॥ १९ ॥

ततः प्रहस्य तद्रक्षः शूलं जग्राह पाणिना ।
वधाय सानुबन्धस्य मुमोचायुधमुत्तमम् ॥ २० ॥

तब उस राक्षस ने (शिव का दिया हुआ) उत्तम शूल उठाया और अट्टहास कर, महाराज को सेना सहित मारने के लिये वह शूल छोड़ा ॥ २० ॥

तच्छूलं दीप्यमानं तु सभृत्यबलवाहनम् ।
भस्मीकृत्वा नृपं *भूमौ लवणस्यागमत्करम् ॥ २१ ॥

वह दीप्यमान त्रिशूल नौकरों, सैनिकों और वाहनों सहित महाराज को भस्म कर एवं उनको पृथिवी पर डाल ; फिर लवणासुर के हाथ में आ गया ॥ २१ ॥

एवं स राजा सुमहान्हतः सबलवाहनः ।
शूलस्य तु बलं सौम्य अप्रमेयमनुत्तमम् ॥ २२ ॥

हे राजन् ! इस तरह वे महाराज मान्धाता मारे गये । हे सौम्य ! उसके त्रिशूल का बल अमित है ॥ २२ ॥

[नोट—यद्यपि लवणासुर ने अनेक राजाओं को मारा था, तथापि च्यवन ऋषि ने शत्रुघ्न को उनके पूर्वपुरुष मान्धाता के, लवण के हाथ से मारे जाने

* पाठान्तरे—" भूयो " ।

का वृत्तान्त, शत्रुघ्न जी के अत्यधिक क्रुद्ध करने ही को सुनाया था। साथ ही वे कहीं कच्चे न पड़ें, इसलिये आगे उनको यह कह कर ढाँढ़स भी बँधाया कि, तुम लवण को अवश्य मारोगे।]

श्वः प्रभाते तु लवणं वधिष्यसि न संशयः ।
अगृहीतायुधं क्षिप्रं ध्रुवो हि विजयस्तव ॥ २३ ॥

किन्तु तुम कल प्रातःकाल ही लवणासुर को मार डालोगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। जिस समय वह निहत्था (आयुध रहित) होगा, उस समय तुम उसे अवश्य जीत लोगे ॥ २३ ॥

लोकानां स्वस्ति चैवं स्यात्कृते कर्मणि च त्वया ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं लवणस्य दुरात्मनः ॥ २४ ॥

ऐसा करने पर लोकों की भलाई होगी। मैंने दुरात्मा लवण का जो हाल था, वह तुमको सुना दिया ॥ २४ ॥

शूलस्य च बलं घोरमप्रमेयं नरर्षभ ।
विनाशश्चैव मान्धातुर्यत्नेनाभूच्च पार्थिव ॥ २५ ॥

हे नरश्रेष्ठ! उसके त्रिशूल में बड़ा भारी बल है, यहाँ तक कि, उसके बल की इयत्ता (प्रमाण) नहीं है। हे नृप! मान्धाता तो अचानक धोखे में मारे गये थे ॥ २५ ॥

त्वं श्वः प्रभाते लवणं महात्मन्
वधिष्यसे नात्र तु संशयो मे ।
शूलं विना निर्गतमामिषार्थे
ध्रुवो जयस्ते भविता नरेन्द्र ॥ २६ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

हे नरेन्द्र! तुम कल सवेरे निस्सन्देह लवण को मार डालोगे। जब वह खाली हाथ आमिष लाने को घर से जायगा, तब तुम उसे अवश्य जीत लोगे॥ २६॥

उत्तरकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—:०:—

कथां कथयतस्तेषां जयं चाकाङ्क्षतां शुभम्।
व्यतीता रजनी शीघ्रं शत्रुघ्नस्य महात्मनः॥ १॥

महाबलवान शत्रुघ्न जी से इस प्रकार कथावार्ता कहते सुनते और जय की आकांक्षा करते हुए, वह रात बड़ी जल्दी बीत गयी॥ १॥

ततः प्रभाते विमले तस्मिन्काले स राक्षसः।
निर्गतस्तु *पुराद्वीरो भक्ष्याहारप्रचोदितः॥ २॥

विमल प्रातःकाल होते ही, वह राक्षसवीर आहार लाने के लिये अपने पुर से निकला॥ २॥

[नोट—विमल—अर्थात् वर्षाऋतु होने पर भी उस दिन आकाश स्वच्छ निर्मल था।]

एतस्मिन्नन्तरे वीर उत्तीर्य यमुनां नदीम्।
तीर्त्वा मधुपुरद्वारि धनुष्पाणिरतिष्ठत॥ ३॥

उसी समय वीर शत्रुघ्न जी यमुना नदी को पार कर, हाथ में धनुष लिये हुए, मधुपुर के फाटक पर जा उससे लड़ने के लिये तैयार खड़े हो गये॥ ३॥

* पाठान्तरे—"पुरात् धीरो।"

ततोऽर्धे दिवसे प्राप्ते क्रूरकर्मा स राक्षसः ।
आगच्छद्बहुसाहस्रं प्राणिनां भारमुद्वहन् ॥ ४ ॥

दोपहर होने पर वह क्रूरकर्मा राक्षस कई हज़ार जीवों को मार और उनको लादे हुए आया ॥ ४ ॥

ततो ददर्श शत्रुघ्नं स्थितं द्वारि धृतायुधम् ।
तमुवाच ततो रक्षः किमनेन करिष्यसि ॥ ५ ॥

उसने आकर देखा कि, धनुषबाण लिये हुए शत्रुघ्न द्वार पर खड़े हैं। तब लवण ने शत्रुघ्न से पूँछा कि, इस धनुषबाण से तू क्या करेगा? ॥ ५ ॥

ईदृशानां सहस्राणि सायुधानां नराधम ।
भक्षितानि मया रोषात्कालेनानुगतो ह्यसि ॥ ६ ॥

अरे नराधम! मैंने क्रोध में भर ऐसे हज़ारों आयुधधारी वीरों को खा डाला है। (सो जान पड़ता है) आज तेरा भी अन्तिम समय आ गया है ॥ ६ ॥

आहारश्चाप्यसम्पूर्णो ममायं पुरुषाधम ।
स्वयं प्रविष्टोऽद्य मुखं कथमासाद्य दुर्मते ॥ ७ ॥

हे पुरुषाधम! आज मेरे आहार की मात्रा में कुछ कमी भी रह गयी थी। अरे दुर्मते! मेरे आहार की उस कमी को पूरा करने के लिये तू मेरे मुँह में आ कर स्वयं कैसे घुसा? ॥ ७ ॥

तस्यैवं भाषमाणस्य हसतश्च मुहुर्मुहुः ।
शत्रुघ्नो वीर्यसम्पन्नो रोषादश्रूण्यवासृजत् ॥ ८ ॥

जब लवण इस प्रकार बकने और बारंबार उनका उपहास करने लगा, तब मारे क्रोध के शत्रुघ्न जी की आँखों से आँसू टपक पड़े ॥८॥

तस्यरोषाभिभूतस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः ।
तेजोमया मरीच्यस्तु सर्वगात्रैर्विनिष्पतन् ॥ ९ ॥

उन महाबली शत्रुघ्न जी के अत्यन्त क्रुद्ध होने से उनके शरीर से चिनगारियाँ निकलने लगीं ॥ ६ ॥

उवाच च सुसंक्रुद्धः शत्रुघ्नः तं निशाचरम् ।
योद्धुमिच्छामि दुर्बुद्धे द्वन्द्वयुद्धं त्वया सह ॥ १० ॥

शत्रुघ्न जी ने अत्यन्त कुपित हो लवण से कहा—हे दुर्बुद्धे ! मैं तेरे साथ द्वन्द्वयुद्ध करना चाहता हूँ ॥ १० ॥

पुत्रो दशरथस्याहं भ्राता रामस्य धीमतः ।
शत्रुघ्नो *नाम शत्रुघ्नो वधाकाङ्क्षी तवागतः ॥११॥

मैं बुद्धिमान महाराज श्रीरामचन्द्र जी का भाई और महाराज दशरथ जी का पुत्र हूँ तथा शत्रुओं का मारने वाला शत्रुघ्न मेरा नाम है। मैं तेरा वध करने ही को यहाँ आया हूँ ॥ ११ ॥

तस्य मे युद्धकामस्य द्वन्द्वयुद्धं प्रदीयताम् ।
शत्रुस्त्वं सर्वभूतानां न मे जीवन् गमिष्यसि ॥ १२ ॥

मैं तुझसे लड़ना चाहता हूँ। अतः तू मेरे साथ युद्ध कर। तू समस्त जीवधारियों का शत्रु है, अतः आज तू मेरे हाथ से बच कर जीता न जा पावेगा ॥ १२ ॥

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु राक्षसः प्रहसन्निव ।
प्रत्युवाच नरश्रेष्ठं दिष्ट्या प्राप्तोसि दुर्मते ॥ १३ ॥

* पाठान्तरे—"नित्य।"

शत्रुघ्न जी के यह वचन सुन कर, लवण ने हँस कर, उनसे कहा—हे दुर्मते! अच्छी बात है, तू मेरे सौभाग्य से आ गया है ॥ १३ ॥

मम मातृष्वसुर्भ्राता रावणो *नाम राक्षसः ।
हतो रामेण दुर्बुद्धे स्त्रीहेतोः पुरुषाधम ॥ १४ ॥

हे दुर्बुद्धे! हे नराधम! मेरे मौसेरे भाई रावण को स्त्री के पीछे राम ने मार डाला है ॥ १४ ॥

तच्च सर्वं मया क्षान्तं रावणस्य कुलक्षयम् ।
अवज्ञां पुरतः कृत्वा मया यूयं विशेषतः ॥ १५ ॥

सो उस रावण के कुलक्षय को और उसके वध को मैंने, किसी कारणवश आनाकानी की। किन्तु तू तो मेरा अपमान मेरे सामने ही कर रहा है ॥ १५ ॥

निहताश्च हि ते† सर्वे परिभूतास्तृणं यथा ।
भूताश्चैव भविष्याश्च यूयं च पुरुषाधमाः ॥ १६ ॥

यदि तू यह समझ रहा हो कि, मैं बलहीन होने से यह अपमान सह रहा हूँ, तो सुन, मैं तेरे वंश के भूत पुरुषाधमों को, केवल हरा ही नहीं चुका; किन्तु उनका वध कर चुका हूँ। अतः उनकी अपेक्षा भविष्य समय वाले और वर्तमान समय वाले तुम सब लोग, मेरे लिये तिनके के समान हो। इसीसे आज तक मैंने तुम लोगों को नहीं मारा (रा०) ॥ १६ ॥

तस्य ते युद्धकामस्य युद्धं दास्यामि दुर्मते ।
तिष्ठ त्वं च मुहूर्तं तु यावदायुधमानये ॥ १७ ॥

---

* पाठान्तरे—"राक्षसाधिपः।" † पाठान्तरे—"मे।"

हे दुर्मते ! अब यदि तू मुझसे लड़ना चाहता है, तो मैं लड़ने को तैयार हूँ। परन्तु थोड़ी देर ठहर। मैं अपना शस्त्र ले आऊँ ॥१७॥

ईप्सितं यादृशं तुभ्यं सज्जये यावदायुधम् ।
तमुवाचाशु शत्रुघ्नः क्व मे जीवन् गमिष्यसि ॥१८॥

तेरे मारने के लिये जैसे शस्त्र की आवश्यकता है, वैसा ही शस्त्र मैं लाता हूँ। लवण के ये वचन सुन तुरन्त शत्रुघ्न ने कहा, तू अब मुझसे बच कर जीता कहाँ जा सकता है ? ॥ १८ ॥

*स्वयमेवागतः शत्रुर्न मोक्तव्यः कृतात्मना ।
यो हि विक्लवया बुद्ध्या प्रसरं शत्रवे †दिशत् ।
स हतो मन्दबुद्धिः स्याद्यथा कापुरुषस्तथा ॥ १९ ॥

चतुर लोग अपने आप सामने आये हुए शत्रु को नहीं छोड़ते। जो लोग अपनी हीन बुद्धि के कारण शत्रु को बचने का अवसर देते हैं, वे मूर्ख समझे जाते हैं और शत्रु के हाथ से कायरों की तरह मारे जाते हैं ॥ १९ ॥

तस्मात्सुदृष्टं कुरु जीवलोकं
शरैः शितैस्त्वां विविधैर्नयामि ।
यमस्य गेहाभिमुखं हि पापं
रिपुं त्रिलोकस्य च राघवस्य ॥ २० ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

अतः अब तू इस जीवलोक को भली भाँति देख भाल ले। क्योंकि मैं अब शीघ्र ही तुझे अपने पैने बाणों से मार कर यमराज

---

* पाठान्तरे—" मेशत्रुर्यदृच्छया इतो। " † पाठान्तरे—" ददौ। "

का पुरी को भेजे देता हूँ। क्योंकि तू बड़ा पापी है, तीनों लोकों का और रघुवंशियों (मान्धाता के वध के कारण) अथवा श्रीराघव का शत्रु है ॥ २० ॥

उत्तरकाण्ड का अड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः।
क्रोधमाहारयत्तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १ ॥

महाबली शत्रुघ्न के ये वचन सुन और अत्यन्त क्रोध में भर, लवण कहने लगा, खड़ा रह, खड़ा रह ॥ १ ॥

पाणौ पाणिं स निष्पिष्य दन्तान्कटकटाय्य च।
लवणो रघुशार्दूलमाह्वयामास चासकृत् ॥ २ ॥

मारे क्रोध के हाथ मींजता और दाँतो पीसता हुआ लवणासुर, रघुसिंह शत्रुघ्न को लड़ने के लिये ललकारने लगा ॥ २ ॥

तं ब्रुवाणं तथा वाक्यं लवणं घोरदर्शनम्।
शत्रुघ्नो देवशत्रुघ्न इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

भयङ्कर लवणासुर को ऐसे कठोर वचन कहते हुए सुन, देवशत्रुओं को मारने वाले शत्रुघ्न जी बोले ॥ ३ ॥

शत्रुघ्नो न तदा जातो यदान्ये निर्जितास्त्वया।
तदद्य बाणाभिहतो व्रज त्वं यमसादनम् ॥ ४ ॥

जिस समय तू ने अन्य वीरों को जीता था, उस समय शत्रुघ्न उत्पन्न नहीं हुए थे। अतः आज तू मेरे बाणों से मारा जा कर, यमलोक की यात्रा कर ॥ ४ ॥

ऋषयोऽप्यद्य पापात्मन्मया त्वां निहतं रणे ।
पश्यन्तु विप्रा विद्वांसस्त्रिदशा इव रावणम् ॥ ५ ॥

हे पापी! जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र द्वारा मारे गये रावण को देवताओं ने देखा था, उसी प्रकार आज मेरे हाथ से मारे गये तुझको रणभूमि में ऋषि, ब्राह्मण और विद्वान् देखेंगे ॥ ५ ॥

त्वयि मद्बाणनिर्दग्धे पतितेऽद्य निशाचरे ।
पुरे जनपदे चापि क्षेममेव भविष्यति ॥ ६ ॥

हे निशाचर! जब तू मेरे बाण से भस्म हो कर, पृथिवी पर गिर पड़ेगा; तब इस नगर में और सारे देश में मङ्गल-बधाए बजेंगे ॥ ६ ॥

अद्य मद्बाहुनिष्क्रान्तः शरो वज्रनिभाननः ।
प्रवेक्ष्यते ते हृदयं पद्ममंशुरिवार्कजः ॥ ७ ॥

आज मेरे हाथ से छूटा हुआ, वज्रसमान बाण तेरे हृदय में ऐसे घुसेगा जैसे सूर्य की किरणें कमल में घुसती हैं ॥ ७ ॥

एवमुक्तो महावृक्षं लवणः क्रोधमूर्च्छितः ।
शत्रुघ्नोरसि चिक्षेप स च तं शतधाच्छिनत् ॥ ८ ॥

यह सुनते ही अत्यन्त क्रुद्ध हो लवण ने एक बड़ा भारी पेड़ उखाड़ कर, शत्रुघ्न जी की छाती को ताक कर फेंका। परन्तु शत्रुघ्न जी ने बाण मार कर, उसके सौ टुकड़े कर डाले ॥ ८ ॥

तद्दृष्ट्वा विफलं कर्म राक्षसः पुनरेव तु ।
पादपान्सुबहून् गृह्य शत्रुघ्नायासृजद्बली ॥ ९ ॥

बलवान राक्षस अपने फैंके हुए पेड़ को व्यर्थ हुआ देख, वृक्षों को उखाड़ उखाड़ कर, शत्रुघ्न पर वृक्षों की वर्षा करने लगा ॥ ९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि तेजस्वी वृक्षानापततो बहून् ।
त्रिभिश्चतुर्भिरेकैकं चिच्छेद नतपर्वभिः ॥ १० ॥

किन्तु तेजस्वी शत्रुघ्न जी ने अनेक वृक्षों को अपनी ओर आते देख, नतपर्व (झुके हुए पोरुओं के) बाण चला, उनमें से किसी वृक्ष को तीन बाणों से, किसी को चार बाणों से काट कर फेंक दिया । तदनन्तर बलवान शत्रुघ्न ने ॥ १० ॥

ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजद्राक्षसोपरि ।
शत्रुघ्नो वीर्यसम्पन्नो विव्यथे न स राक्षसः ॥ ११ ॥

लवणासुर के ऊपर बाणवृष्टि की । किन्तु उस बाणवृष्टि से लवणासुर ज़रा भी विचलित न हुआ ॥ ११ ॥

ततः प्रहस्य लवणो वृक्षमुद्यम्य वीर्यवान् ।
शिरस्यभ्यहनच्छूरं स्रस्ताङ्गः समुमोह वै ॥ १२ ॥

तब वीर्यवान लवण ने हँस कर एक पेड़ शत्रुघ्न के सिर में ऐसा मारा कि, वे मूर्छित हो गिर पड़े ॥ १२ ॥

तस्मिन्निपतिते वीरे हाहाकारो महानभूत् ।
ऋषीणां देवसङ्घानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ १३ ॥

वीर शत्रुघ्न के गिरते ही, ऋषियों, देवताओं, गन्धर्वों और अप्सराओं ने महा हाहाकार मचाया ॥ १३ ॥

तमवज्ञाय तु हतं शत्रुघ्नं भुवि पातितम् ।
रक्षो लब्धान्तरमपि न विवेश स्वमालयम् ॥ १४ ॥

यद्यपि शत्रुघ्न के ज़मीन पर मूर्छित हो गिर पड़ने पर लवण को घर जा कर अपना त्रिशूल ले आने का अवसर मिल गया था, तथापि उसने शत्रुघ्न को तुच्छ जान ऐसा न किया ॥ १४ ॥

नापि शूलं प्रजग्राह तं दृष्ट्वा भुवि पातितम् ।
ततो हत इति ज्ञात्वा तान् भक्षान्समुदावहत् ॥ १५ ॥

शत्रुघ्न को पृथिवी में पड़ा देख, वह शूल लाने अपने घर न गया और उन्हें मरा हुआ जान अपने भक्ष्य जीवों को उठाने लगा ॥ १५ ॥

मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु पुनस्तस्थौ धृतायुधः ।
शत्रुघ्नो वै पुरद्वारि ऋषिभिः सम्प्रपूजितः ॥ १६ ॥

कुछ ही देर बाद शत्रुघ्न जी सचेत हो गये। वे अपने अस्त्र शस्त्र सम्हाल कर फिर (नगर) द्वार को रोक कर खड़े हो गये। (यह देख) ऋषिगण उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १६ ॥

ततो दिव्यममोघं तं जग्राह शरमुत्तमम् ।
ज्वलन्तं तेजसा घोरं पूरयन्तं दिशो दश ॥ १७ ॥

अब की बार शत्रुघ्न जी ने (श्रीरामचन्द्र जी का दिया हुआ) अमोघ दिव्य बाण अपने धनुष पर चढ़ाया, जो अपनी चमक

से चमक रहा था और अपनी चमक से दसों दिशाओं को पूर्ण कर रहा था ॥ १७ ॥

वज्राननं वज्रवेगं मेरुमन्दरसन्निभम् ।
नतं पर्वसु सर्वेषु संयुगेष्वपराजितम् ॥ १८ ॥

वह वज्र के समान मुखवाला (नोंक वाला) वज्र के समान वेगवान, मेरु और मन्दराचल के समान भारी था। उसके समस्त पोरुए (पर्व) झुके हुए थे। वह कहीं भी (आज तक) पराजित (अर्थात् व्यर्थ) नहीं हुआ था ॥ १८ ॥

असृक्चन्दनदिग्धाङ्गं चारुपत्रं पतत्रिणम् ।
दानवेन्द्राचलेन्द्राणामसुराणां च दारुणम् ॥ १९ ॥

वह रक्त जैसे लाल चन्दन से पुता हुआ था, उसमें अच्छे अच्छे पङ्ख लगे हुए थे। वह दानवेन्द्रों पर्वतेन्द्रों तथा दैत्यों के लिये दारुण था ॥ १९ ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निं युगान्ते समुपस्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि परित्रासमुपागमन् ॥ २० ॥

ऐसे कालाग्नि के समान प्रलयकारी उस बाण को देख समस्त प्राणी घबड़ा उठे ॥ २० ॥

सदेवासुरगन्धर्वं मुनिभिः साप्सरोगणम् ।
जगद्धि सर्वमस्वस्थं पितामहमुपस्थितम् ॥ २१ ॥

देवता, गन्धर्व, मुनि, अप्सरादिक सहित समस्त जगत् व्याकुल हो गया और सब लोग ब्रह्मा जी के पास गये ॥ २१ ॥

ऊचुश्च देवदेवेशं वरदं प्रपितामहम् ।
देवानां भयसंमोहो लोकानां संक्षयं प्रति ॥ २२ ॥

और देवदेव वरदायक पितामह से उन लोगों ने इस लोक-क्षय के प्रति अपनी आशङ्का प्रकट की अथवा इस आने वाली विपत्ति का हाल कहा ॥ २२ ॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ।
भयकारणमाचष्ट देवानामभयङ्करः ॥ २३ ॥

लोकपितामह ब्रह्मा उनकी बातें सुन देवताओं के भय को दूर करने वाले वचन बोले ॥ २३ ॥

उवाच मधुरां वाणीं शृणुध्वं सर्वदेवताः ।
वधाय लवणस्याजौ शरः शत्रुघ्नधारितः ॥ २४ ॥

वे मधुर वाणी से कहने लगे हे, समस्त देवताओ ! सुनो (तुम लोगों को अभय करने को) और लवण का वध करने के लिये शत्रुघ्न ने बाण धनुष पर रखा है ॥ २४ ॥

तेजसा तस्य सम्मूढाः सर्वे स्मः सुरसत्तमाः ।
एषोऽपूर्वस्य देवस्य लोककर्तुः सनातनः ॥ २५ ॥

उसीके तेज से तुम सब लोग मूढ़ से हो रहे हो । हे देवताओ ! लोककर्त्ता, देवों के देव, भगवान् श्रीविष्णु का यह चमचमाता हुआ बाण है ॥ २५ ॥

शरस्तेजोमयो वत्सा येन वै भयमागतम् ।
एष वै कैटभस्यार्थे मधुनश्च महाशरः ॥ २६ ॥

हे वत्सों! यह बाण बड़ा तेजमय है। उसीको देख कर तुम लोग डर रहे हो। मधु और कैटभ दैत्यों को मारने के लिये भगवान् ने इस विशाल बाण को बनाया था॥ २६॥

सृष्टो महात्मना तेन वधार्थे दैत्ययोस्तयोः।
एक एव प्रजानाति विष्णुस्तेजोमयं शरम्॥ २७॥

उन महात्मा देव ने उन दोनों दैत्यों को मारने के लिये इस बाण को बनाया था। इस महातेज युक्त बाण की निर्माण विधि एकमात्र भगवान् विष्णु ही जानते हैं॥ २७॥

एषा एव तनुः पूर्वा विष्णोस्तस्य महात्मनः।
इतो गच्छत पश्यध्वं वध्यमानं महात्मना॥ २८॥

यह बाण (तो क्या, किन्तु मेरी समझ में तो यह) साक्षात् विष्णु की मूर्ति ही है। तुम लोग जा कर देखो उस बाण से लवणासुर मारा जाता है॥ २८॥

रामानुजेन वीरेण लवणं राक्षसोत्तमम्।
तस्य ते देवदेवस्य निशम्य वचनं सुराः॥ २९॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई महाबली शत्रुघ्न जी उसको मार डालेंगे। इस प्रकार देवता लोग, देवदेव ब्रह्मा जी के वचन सुन कर॥ २९॥

आजग्मुर्यत्र युध्येते शत्रुघ्नलवणावुभौ।
तं शरं दिव्यसङ्काशं शत्रुघ्नकरधारितम्॥ ३०॥

ददृशुः सर्वभूतानि युगान्ताग्निमिवोत्थितम्।
आकाशमावृतं दृष्ट्वा देवैर्हि रघुनन्दनः॥ ३१॥

वहाँ गये जहाँ शत्रुघ्न जी के साथ लवणासुर का युद्ध हो रहा था। उन लोगों ने शत्रुघ्न के हाथ में कालाग्नि के समान चमकता हुआ वह बाण देखा। कालाग्नि के समान चमकते हुए उस बाण को देखते हुए देवताओं से, शत्रुघ्न ने, आकाश को ढका हुआ देख ॥ ३० ॥ ३१ ॥

सिंहनादं भृशं कृत्वा ददर्श लवणं पुनः।
आहूतश्च पुनस्तेन शत्रुघ्नेन महात्मना ॥ ३२ ॥

महाबली शत्रुघ्न ने सिंहनाद कर, तथा लवणासुर की ओर देख कर, उसे ललकारा ॥ ३२ ॥

लवणः क्रोधसंयुक्तो युद्धाय समुपस्थितः।
आकर्णात्स विकृष्याथ तद्धनुर्धन्विनां वरः ॥ ३३ ॥

लवणासुर भी क्रोध में भर पुनः युद्ध करने के लिये तैयार हो गया था। (यह देख) धनुषधारियों में श्रेष्ठ शत्रुघ्न जी ने कान तक धनुष के रोदे को खींच कर ॥ ३३ ॥

स मुमोच महाबाणं लवणस्य महोरसि।
उरस्तस्य विदार्याशु प्रविवेश रसातलम् ॥ ३४ ॥
गत्वा रसातलं दिव्यः शरो विबुधपूजितः।
पुनरेवागमत्तूर्णमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३५ ॥

उस विशाल बाण को लवणासुर की छाती में मारा। वह बाण लवणासुर की छाती फोड़ पताल में घुस गया और वह देवपूजित शर वहाँ से निकल, इक्ष्वाकुकुलनन्दन शत्रुघ्न जी के तरकस में आ गया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

शत्रुघ्नशरनिर्भिन्नो लवणः स निशाचरः ।
पपात सहसा भूमौ वज्राहत इवाचलः ॥ ३६ ॥

राक्षस लवणासुर की छाती उस बाण के प्रहार से फट गयी और वह वज्राहत पर्वत की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ३६ ॥

तच्च शूलं महद्दिव्यं हते लवणराक्षसे ।
पश्यतां सर्वदेवानां रुद्रस्य वशमन्वगात् ॥ ३७ ॥

लवणासुर के मारे जाने पर वह दिव्य शूल समस्त देवताओं के देखते ही देखते शिव जी के पास चला गया ॥ ३७ ॥

एकेषुपातेन भयं निपात्य
लोकत्रयस्यास्य रघुप्रवीरः ।
विनिर्बभावुत्तमचापबाणः
तमः प्रणुद्येव सहस्ररश्मिः ॥ ३८ ॥

शत्रुघ्न जी ने उस एक ही बाण को चला कर त्रिलोकी का भय मिटा दिया और श्रेष्ठ धनुष बाण धारण कर वे ऐसे शोभायमान हुए जैसे, अन्धकार दूर कर सूर्य, शोभायमान होते हैं ॥३८॥

ततो हि देवा ऋषिपन्नगाश्च
प्रपूजिरे ह्यप्सरसश्च सर्वाः ।
दिष्ट्या जयो दाशरथेरवाप्त-
स्त्यक्त्वा भयं सर्प इव प्रशान्तः ॥ ३९ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

उस समय देवता, ऋषि, सर्प, पन्नग, अप्सरादि समस्त प्राणी शत्रुघ्न की प्रशंसा कर कहने लगे—हे काकुत्स्थ! आप सौभाग्य ही से निर्भय हो इस राक्षस का वध कर विजयी हुए हैं और विषैले सर्प के समान लवणासुर मारा गया है ॥ ३९ ॥

उत्तरकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

सप्ततितमः सर्गः

—:o:—

हते तु लवणे देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
ऊचुः सुमधुरां वाणीं शत्रुघ्नं शत्रुतापनम् ॥ १ ॥

लवणासुर के मारे जाने पर अग्नि प्रमुख इन्द्रादि समस्त देवता शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले शत्रुघ्न जी से मधुर वाणी से बोले ॥ १ ॥

दिष्ट्या ते विजयो वत्स दिष्ट्या लवणराक्षसः ।
हतः पुरुषशार्दूल वरं वरय सुव्रतः ॥ २ ॥

हे वत्स! सौभाग्य ही से तुम्हारी यह जीत हुई है और लवणासुर मारा गया है। हे पुरुषसिंह! अब तुम वर माँगो ॥ २ ॥

वरदास्तु महाबाहो सर्व एव समागताः ।
विजयाकांक्षिणस्तुभ्यममोघं दर्शनं हि नः ॥ ३ ॥

हे महाबाहो! हम सब वर देने वाले तुम्हारे विजय की इच्छा से यहाँ आये हैं। हम लोगों का दर्शन निष्फल नहीं होता ॥ ३ ॥

देवानां भाषितं श्रुत्वा शूरो मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
प्रत्युवाच महाबाहुः शत्रुघ्नः प्रयतात्मवान् ॥ ४ ॥

जितेन्द्रिय महाबलवान् शत्रुघ्न जी, देवताओं के इन वचनों को सुन, सिर झुका और हाथ जोड़ कर बोले ॥ ४ ॥

इयं मधुपुरी रम्या मधुरा देवनिर्मिता ।
निवेशं प्राप्नुयाच्छीघ्रमेष मेऽस्तु वरः परः ॥ ५ ॥

हे देवताओं! मुझे आप यह वर दें कि, यह देवताओं की बनाई मनोहर मधुरा पुरी शीघ्र ही धन जन से पूर्ण हो जाय ॥ ५ ॥

तं देवाः प्रीतिमनसो बाढमित्येव राघवम् ।
भविष्यति पुरी रम्या शूरसेना न संशयः ॥ ६ ॥

शत्रुघ्न के ये वचन सुन कर, देवताओं ने प्रसन्न हो उनसे कहा ऐसा ही होगा, यह पुरी बहुत अच्छी तरह शूरसेना सहित बस जायगी ॥ ६ ॥

ते तथोक्त्वा महात्मानो दिवमारुरुहुस्तदा ।
शत्रुघ्नोऽपि महातेजास्तां सेनां समुपानयत् ॥ ७ ॥

यह कह कर महात्मा देवतागण स्वर्ग को चले गये और महातेजस्वी शत्रुघ्न जी ने गङ्गातट पर टिकी हुई अपनी सेना को बुलाया ॥ ७ ॥

सा सेना शीघ्रमागच्छच्छ्रुत्वा शत्रुघ्नशासनम् ।
निवेशनं च शत्रुघ्नः श्रावणेन समारभत् ॥ ८ ॥

शत्रुघ्न जी की आज्ञा पा कर, वह सेना तुरन्त आ गयी और शत्रुघ्न जी ने श्रावण मास से उस पुरी को बसाना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

स पुरा दिव्यसङ्काशो वर्षे द्वादशमे शुभे ।
निविष्टः शूरसेनानां विषयश्चाकुतोभयः ॥ ९ ॥

बारहवें वर्ष में वह पुरी भली भांति बस गयी। उस प्रदेश का नाम शूरसेन नाम से प्रसिद्ध हुआ और लोग वहाँ निर्भय हो कर रहने लगे ॥ ९ ॥

क्षेत्राणि सस्ययुक्तानि काले वर्षति वासवः ।
आरोगवीरपुरुषा शत्रुघ्नभुजपालिता ॥ १० ॥

वह समूचा देश का देश, धान्य युक्त हो गया, क्योंकि इन्द्र समय पर जल की वर्षा कर दिया करते थे। शत्रुघ्न द्वारा शासित उस पुरी के निवासी वीर और निरोगी देख पड़ने लगे ॥ १० ॥

अर्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता ।
शोभिता गृहमुख्यैश्च चत्वरापणवीथकैः ।
चातुर्वर्ण्यसमायुक्ता नानावाणिज्यशोभिता ॥११॥

यह मथुरा पुरी यमुना के किनारे अर्धचन्द्राकार बसी हुई, सुन्दर सुन्दर घरों, चबूतरों, बाज़ारों और चारों वर्णों के लोगों से तथा विविध प्रकार के व्यापारों से शोभित हो गयी ॥ ११ ॥

यच्च तेन पुरा शुभ्रं लवणेन कृतं महत् ।
तच्छोभयति शत्रुघ्नो नानावर्णोपशोभिताम् ॥१२॥

लवण ने पूर्वकाल में जिन विशाल भवनों को बनवाया था, उनमें सफेदी करवा और उन्हें चित्रकारों से सजवा कर, शत्रुघ्न जी ने सुन्दर बना दिया। (रा०) ॥ १२ ॥

आरामैश्च विहारैश्च शोभमानां समन्ततः ।
शोभितां शोभिनीयैश्च तथान्यैर्देवमानुषैः ॥ १३ ॥

वह पुरी स्थान स्थान पर वाटिकाओं और विहार करने योग्य स्थलों से शोभित थी । इनके अतिरिक्त शोभा के योग्य देवताओं और मनुष्यों से वह पुरी अत्यन्त शोभायमान देख पड़ती थी ॥ १३ ॥

तां पुरीं दिव्यसङ्काशां नानापण्योपशोभिताम् ।
नानादेशगतैश्चापि वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥ १४ ॥

वह पुरी दिव्य रूपा थी तथा अनेक प्रकार की वाणिज्य की वस्तुओं से परिपूर्ण होने के कारण, देश देशान्तर के व्यापारी वहाँ व्यापार करने के लिये आने लगे थे ॥ १४ ॥

तां समृद्धां समृद्धार्थः शत्रुघ्नो भरतानुजः ।
निरीक्ष्य परमप्रीतः परं हर्षमुपागमत् ॥ १५ ॥

भरत के छोटे भाई शत्रुघ्न जी, जो स्वयं सब प्रकार से भरे पूरे थे; उस पुरी को इस प्रकार से भरा पूरा देख, बहुत प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना निवेश्य मधुरां पुरीम् ।
रामपादौ निरीक्षेऽहं वर्षे द्वादश आगते ॥ १६ ॥

तदनन्तर उन्होंने सोचा कि, हमें (अयोध्या छोड़े) यह बारहवाँ वर्ष है । अतः अब चल कर श्रीरामचन्द्र जी के चरणों के दर्शन करना चाहिये ॥ १६ ॥

ततः सताममरपुरोपमां पुरीं
निवेश्य वै विविधजनाभिसंवृताम् ।
नराधिपो रघुपतिपाददर्शने
दधे मतिं रघुकुलवंशवर्धनः ॥ १७ ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

तब वे रघुकुल के बढ़ाने वाले नरराज शत्रुघ्न जी, देवपुरी के समान अपनी पुरी को अनेक जनों से परिपूर्ण देख, श्रीरामचन्द्र जी के चरणों के दर्शन करने की इच्छा करने लगे ॥ १७ ॥

उत्तरकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

ततो द्वादशमे वर्षे शत्रुघ्नो रामपालिताम् ।
अयोध्यां चक्रमे गन्तुमल्पभृत्यबलानुगः ॥ १ ॥

बारहवें वर्ष शत्रुघ्न जी थोड़े से नौकर चाकरों और सैनिकों को साथ ले श्रीरामचन्द्र द्वारा पालित अयोध्या जाने की अभिलाषा से प्रस्थानित हुए ॥ १ ॥

ततो मन्त्रिपुरोगांश्च बलमुख्यान्निवर्त्य च ।
जगाम हयमुख्येन रथानां च शतेन सः ॥ २ ॥

उनके साथ बहुत से मंत्री आदि भी जाने लगे, किन्तु उन्होंने उन सब को लौटा दिया। थोड़े से उत्तम घुड़सवार और सौ रथ उन्होंने अपने साथ लिये ॥ २ ॥

स गत्वा गणितान्वासान्सप्ताष्टौ रघुनन्दनः ।
वाल्मीकाश्रममागत्य वासं चक्रे महायशाः ॥ ३ ॥

महायशस्वी रघुनन्दन शत्रुघ्न जी सात आठ जगह ठहर कर वाल्मीकि मुनि के आश्रम में पहुँचे और वहीं वे ठहरे ॥ ३ ॥

सोऽभिवाद्य ततः पादौ वाल्मीकेः पुरुषर्षभः ।
पाद्यमर्घ्यं तथातिथ्यं जग्राह मुनिहस्ततः ॥ ४ ॥

उन पुरुषश्रेष्ठ शत्रुघ्न जी ने वाल्मीकि मुनि को प्रणाम कर उनके हाथ से अर्घ्य, पाद्यादि आतिथ्य ग्रहण किया ॥ ४ ॥

बहुरूपाः सुमधुराः कथास्तत्र सहस्रशः ।
कथयामास स मुनिः शत्रुघ्नाय महात्मने ॥ ५ ॥

उस समय महर्षि वाल्मीकि जी ने, शत्रुघ्न जी को विविध प्रकार की अनेक मधुर कथाएँ सुनायीं ॥ ५ ॥

उवाच च मुनिर्वाक्यं लवणस्य वधाश्रितम् ।
सुदुष्करं कृतं कर्म लवणं निघ्नता त्वया ॥ ६ ॥

उन्होंने लवणवध के सम्बन्ध में यह कहा—तुमने लवण को मार कर, बड़ा ही कठिन कार्य किया है ॥ ६ ॥

बहवः पार्थिवाः सौम्य हताः सबलवाहनाः ।
लवणेन महाबाहो युध्यमाना महाबलाः ॥ ७ ॥

हे महाबाहो ! इस बलिष्ठ लवण ने लड़ते समय बड़े बड़े राजाओं को सेना और वाहनों सहित मार डाला था ॥ ७ ॥

स त्वया निहतः पापो लीलया पुरुषर्षभ ।
जगतश्च भयं तत्र प्रशान्तं तव तेजसा ॥ ८ ॥

किन्तु हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुमने तो उसे बात की बात में, (अर्थात् अनायास) ही मार डाला। तुम्हारे प्रताप से जगत् का (एक बहुत बड़ा) भय दूर हो गया ॥ ८ ॥

रावणस्य वधो घोरो यत्नेन महता कृतः ।
इदं च सुमहत्कर्म त्वया कृतमयत्नतः ॥ ९ ॥

देखो, श्रीरामचन्द्र जी को रावण को, मारने के लिये बड़े बड़े यत्न करने पड़े थे ; किन्तु इतने बड़े काम में तुमको कुछ भी यत्न नहीं करना पड़ा ॥ ६ ॥

प्रीतिश्चास्मिन्परा जाता देवानां लवणे हते ।
भूतानां चैव सर्वेषां जगतश्च प्रियं कृतम् ॥ १० ॥

लवण का वध करने से देवता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुए हैं। तुमने यह काम पूरा कर जगत् का और समस्त प्राणियों का बड़ा ही प्रिय कार्य किया है ॥ १० ॥

तच्च युद्धं मया दृष्टं यथावत्पुरुषर्षभ ।
सभायां वासवस्याथ उपविष्टेन राघव ॥ ११ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे राघव ! मैंने तो वह युद्ध ज्यों का त्यों इन्द्र की सभा में बैठे बैठे देखा था ॥ ११ ॥

ममापि परमा प्रीतिर्हृदि शत्रुघ्न वर्तते ।
उपाघ्रास्यामि ते मूर्ध्नि स्नेहस्यैषा परा गतिः ॥१२॥

हे शत्रुघ्न ! मैं भी (तुम्हारे इस कार्य से) तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। अतः मैं तुम्हारा सिर सूँघूँगा। क्योंकि स्नेह की यही पराकाष्ठा है ॥ १२ ॥

[नोट—उस काल में सिर सूँघना—प्रसन्नता एवं वत्सलता सूचक समझा जाता था।]

इत्युक्त्वा मूर्ध्नि शत्रुघ्न मुपाघ्राय *महामतिः ।
आतिथ्यमकरोत्तस्य ये च तस्य पदानुगाः ॥ १३ ॥

यह कह कर महामतिमान् वाल्मीकि जी ने शत्रुघ्न का सिर सूँघा और शत्रुघ्न एवं उनके समस्त सेवकों का अतिथिसत्कार किया ॥ १३ ॥

स भुक्तवान्नरश्रेष्ठो गीतमाधुर्यमुत्तमम् ।
शुश्राव रामचरितं तस्मिन्काले †यथाकृतम् ॥ १४ ॥

जब शत्रुघ्न जी भोजन कर चुके, तब उन्होंने दूर से श्रीरामचन्द्र का चरित सम्बन्धी मधुर संगीत सुना। श्रीरामचन्द्र जी पूर्वकाल में जो लीला कर चुके थे, उन्हीं लीलाओं का उन गीतों में वर्णन था ॥ १४ ॥

तंत्रीलयसमायुक्तं त्रिस्थानकरणान्वितम् ।
संस्कृतं लक्षणोपेतं समतालसमन्वितम् ॥ १५ ॥

वीणा के स्वर से कण्ठस्वर मिला कर, वह रामचरित गाया जा रहा था। हृदय, कण्ठ और सिर से, निकले हुए मन्द्र, मद्र तार स्वरों में, धीमी, मध्यम और ऊँची तान के साथ वह गाना गाया जा रहा था। वह गान संस्कृत श्लोकों में हो रहा था। उस

* पाठान्तरे—"महामुनिः।" † पाठान्तरे—"यथाक्रमम्।"

गान में छन्द, व्याकरण और सङ्गीत शास्त्र के समस्त लक्षण विद्यमान थे ॥ १५ ॥

शुश्राव रामचरितं तस्मिन्काले पुरा कृतम् ।
तान्यक्षराणि सत्यानि यथावृत्तानि पूर्वशः ॥ १६ ॥
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलो विसंज्ञो बाष्पलोचनः ।
स मुहूर्तमिवासंज्ञो विनिश्वस्य मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥

श्रीराम के सम्बन्ध में जैसी जैसी घटनाएँ हुई थीं, ठीक वे ही वे घटनाएँ उस गान में सुन कर, शत्रुघ्न चकित हो गये। उनके नेत्रों से आंसू निकल पड़े। कुछ देर तक वे अचेत रहे। तदनन्तर सचेत हो वे बार बार लंबी सांसे लेने लगे ॥ १६ ॥ १७ ॥

तस्मिन्गीते यथावृत्तं वर्तमानमिवाशृणोत् ।
पदानुगाश्च ये राज्ञस्तां श्रुत्वा गतिसम्पदम् ॥ १८ ॥
अवाङ्मुखाश्च दीनाश्च ह्याश्चर्यमिति चाब्रुवन् ।
परस्परं च ये तत्र सैनिकाः संबभाषिरे ॥ १९ ॥

जो घटनाएँ बहुत दिनों पूर्व हो चुकी थीं, उनको उन गीतों में सुनने से वे टटकी सी जान पड़ती थीं। उस संगीत को सुन शत्रुघ्न के साथ वाले नीचे को मुख कर उदास हो गये और "आश्चर्य आश्चर्य" कहने लगे। सैनिक लोग परस्पर कहने लगे ॥ १८ ॥ १६ ॥

किमिदं क्व च वर्तामः किमेतत्स्वप्नदर्शनम् ।
अर्थो यो नः पुरा दृष्टस्तमाश्रम पदे पुनः ॥२०॥

शृणुमः किमिदं स्वप्ने* गीतबन्धनमुत्तमम् ।
विस्मयं ते परं गत्वा शत्रुघ्नमिदमब्रुवन् ॥ २१ ॥

यह है क्या ? हम इस समय कहाँ हैं ? हम लोग यह सपना तो नहीं देख रहे ? बड़ा आश्चर्य है ! हमने पूर्वकाल में जो बातें देखी थीं वे ही बातें अब इस आश्रम में पद्यबद्ध सुन रहे हैं। क्या यह सपना है ? इस प्रकार वे परम आश्चर्य युक्त हो शत्रुघ्न जी से बोले ॥ २० ॥ २१ ॥

[1]साधु पृच्छ नरश्रेष्ठ वाल्मीकिं मुनिपुङ्गवम् ।
शत्रुघ्नस्त्वब्रवीत्सर्वान्कौतूहलसमन्वितान् ॥ २२ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! आप मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी से भली भाँति पूँछिये कि, यह क्या है ? कर्तृकगान है ? अथवा और कुछ ? तब शत्रुघ्न जी उन आश्चर्यचकित लोगों से बोले ॥ २२ ॥

सैनिका न क्षमोऽस्माकं परिप्रष्टुमिहेदृशः ।
आश्चर्याणि बहूनीह भवन्त्यस्याश्रमे मुनेः ॥ २३ ॥

हे सैनिको ! मुनि से ऐसा प्रश्न करना मेरे लिये उचित नहीं है। क्योंकि मुनियों के आश्रमों में ऐसी आश्चर्य की बातें हुआ ही करती हैं ॥ २३ ॥

न तु कौतूहलाद्युक्तमन्वेष्टुं तं महामुनिम् ।
एवं तद्वाक्यमुक्त्वा तु सैनिकान् रघुनन्दनः ।
अभिवाद्य महर्षिं तं स्वं निवेशं ययौ तदा ॥ २४ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

---

१ साधु पृच्छेति—किं कर्तृकंगानमितिशेषः । (रा०)

* पाठान्तरे—" गीतबन्धं श्रितो भवेत् । "

कौतूहलवश हम लोग ऐसी बातों के सम्बन्ध में पूँछ कर मुनि को कष्ट क्यों दें। इस प्रकार उन सब को समझा कर शत्रुघ्न जी वाल्मीकि को प्रणाम कर अपने डेरे पर आये ॥ २४ ॥

उत्तरकाण्ड का एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

तं शयानं नरव्याघ्रं निद्रानाभ्यागमत्तदा।
*चिन्तयानमनेकार्थं रामगीतमनुत्तमम् ॥ १ ॥

शत्रुघ्न जी जा कर बिस्तर पर लेट तो गये, किन्तु श्रीरामचन्द्र सम्बन्धी उस अनेकार्थयुक्त उत्तम सङ्गीत पर विचार करते करते उन्हें नींद न पड़ी ॥ १ ॥

तस्य शब्दं सुमधुरं तंत्रीलय समन्वितम्।
श्रुत्वा रात्रिर्जगामाशु शत्रुघ्नस्य महात्मनः ॥ २ ॥

वह मधुर गान वीणा के ऊपर गाया जा रहा था। लेटे लेटे उसे सुनते सुनते ही शत्रुघ्न ने वह रात बिता दी (और उन्हें यह ज्ञान भी न पड़ा कि, रात कब बीत गयी) ॥ २ ॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां कृत्वा पौर्वाह्णिकक्रमम्।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं शत्रुघ्नो मुनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

* पाठान्तरे—"चिन्तयन्तम्।"

उस रात के बीत जाने पर और प्रातःकृत्य कर शत्रुघ्न जी मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी से हाथ जोड़ कर बोले ॥ ३ ॥

भगवन्द्रष्टुमिच्छामि राघवं रघुनन्दनम् ।
त्वयानुज्ञातमिच्छामि सहैभिः संशितव्रतैः ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! अब मेरी इच्छा रघुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करने की है। अतः आप इन महाव्रतधारी मुनियों सहित, मुझे जाने की आज्ञा दीजिये। (अर्थात् आप आज्ञा दें तथा ये महाव्रतधारी मुनि भी मुझे जाने की अनुमति प्रदान करें) ॥ ४ ॥

इत्येवंवादिनं तं तु शत्रुघ्नं *शत्रुसूदनम् ।
वाल्मीकिः सम्परिष्वज्य विससर्ज स राघवम् ॥ ५ ॥

शत्रुसूदन शत्रुघ्न जी के ऐसा कहने पर महर्षि, वाल्मीकि ने शत्रुघ्न को गले लगा कर विदा किया ॥ ५ ॥

सोऽभिवाद्य मुनिश्रेष्ठं रथमारुह्य सुप्रभम् ।
अयोध्यामगमत्तूर्णं राघवोत्सुकदर्शनः ॥ ६ ॥

शत्रुघ्न जी भी मुनिश्रेष्ठ को प्रणाम कर और अपने उत्तम रथ पर सवार हो, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की उत्कण्ठा से शीघ्रतापूर्वक अयोध्या को रवाना हुए ॥ ६ ॥

स प्रविष्टः पुरीं रम्यां श्रीमानिक्ष्वाकुनन्दनः ।
प्रविवेश महाबाहुर्यत्र रामो महाद्युतिः ॥ ७ ॥

वहाँ से चल कर, शत्रुघ्न जी श्रीमान् इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी की मनोहर पुरी में पहुँचे और उस भवन में गये, जहाँ महाबाहु एवं द्युतिमान श्रीरामचन्द्र जी थे ॥ ७ ॥

* पाठान्तरे—" शत्रुतापनम् । "

स रामं मन्त्रिमध्यस्थं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।
पश्यन्नमरमध्यस्थं सहस्रनयनं यथा ॥ ८ ॥

उस समय पूर्णचन्द्रानन श्रीरामचन्द्र जी मंत्रियों के बीच में बैठे हुए. वैसे ही शोभायमान हो रहे थे जैसे देवताओं के बीच बैठे इन्द्र शोभायमान होते हैं ॥ ८ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
उवाच *प्राञ्जलिर्भूत्वा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ९ ॥

सत्यपराक्रमी, तेज से प्रदीप्त महाबली श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर, शत्रुघ्न जी उनसे बोले ॥ ९ ॥

यदाज्ञप्तं महाराज सर्वं तत्कृतवानहम् ।
हतः स लवणः पापः पुरी चास्य निवेशिता ॥१०॥

हे महाराज! जो आपने आज्ञा दी थी, तदनुसार मैंने उसका पालन कर दिया। वह पापी लवण मारा गया और वहाँ मैंने पुरी भी बसा दी ॥ १० ॥

†द्वादशैतानि वर्षाणि त्वां विना रघुनन्दन ।
नोत्सहेयमहं वस्तुं त्वया विरहितो नृप ॥ ११ ॥

हे रघुनन्दन! मुझे वहाँ रहते रहते बारह वर्ष हो चुके। अब आपके बिना मुझसे वहाँ नहीं रहा जाता ॥ ११ ॥

स मे प्रसादं काकुत्स्थ कुरुष्वामितविक्रम ।
मातृहीनो यथा वत्सो न चिरं प्रवसाम्यहम् ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—"प्राञ्जलिर्वाक्यं।" † पाठान्तरे—"द्वादशैते गता वर्षाः।"

हे अमित पराक्रमी ! हे काकुत्स्थ ! अब मेरे ऊपर दया कीजिये। जिस प्रकार मातृहीन बछड़ा नहीं रह सकता, उसी प्रकार मैं आपके बिना वहाँ अकेला अब बहुत समय तक नहीं रह सकता ॥ १२ ॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थः परिष्वज्येदमब्रवीत् ।
मा विषादं कृथाः शूर नैतत्क्षत्रियचेष्टितम् ॥ १३ ॥

शत्रुघ्न के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने उनको गले लगा कर कहा—हे वीर ! दुःखी मत हो। क्षत्रियों को ऐसा करना उचित नहीं ॥ १३ ॥

नावसीदन्ति राजानो विप्रवासेषु राघव ।
प्रजा हि परिपाल्या हि क्षत्रधर्मेण राघव ॥ १४ ॥

हे राघव ! राजा लोग परदेश में रहने से दुःखी नहीं होते; किन्तु धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हैं ॥ १४ ॥

काले काले तु मां वीर ह्ययोध्यामवलोकितुम् ।
आगच्छ त्वं नरश्रेष्ठ गन्तासि च पुरं तव ॥ १५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! जब तुम चाहो तब मुझसे मिलने के लिये यहाँ चले आया करो और फिर अपनी पुरी को चले जाया करो ॥ १५ ॥

ममापि त्वं सुदयितः प्राणैरपि न संशयः ।
अवश्यं करणीयं च राज्यस्य परिपालनम् ॥ १६ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि, तुम मुझे प्राणों के समान प्यारे हो; किन्तु राज्य का पालन करना भी तो आवश्यक है ॥ १६ ॥

तस्मात्त्वं वस काकुत्स्थ सप्तरात्रं मया सह ।
ऊर्ध्वं गतासि मधुरां सभृत्यबलवाहनः ॥१७॥

अतः अब तुम सात दिवस तक मेरे साथ रहो। तदनन्तर अपने नौकरों और वाहनों सहित मधुपुरी को लौट जाना ॥ १७ ॥

रामस्यैतद्वचः श्रुत्वा धर्मयुक्तं मनोनुगम् ।
शत्रुघ्नो दीनया वाचा बाढमित्येव चाब्रवीत् ॥१८॥

श्रीरघुनाथ जी के ये धर्मयुक्त और मनोनुसारी वचन सुन, शत्रुघ्न जी उदास हो गये और बोले "जो आज्ञा" ॥ १८ ॥

सप्तरात्रं च काकुत्स्थो राघवस्य यथाज्ञया ।
उष्य तत्र महेष्वासो गमनायोपचक्रमे ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से सात रात रह कर, फिर महाबली शत्रुघ्न जी जाने को तैयार हुए ॥ १९ ॥

आमन्त्र्य तु महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
भरतं लक्ष्मणं चैव महारथमुपारुहत् ॥ २० ॥

सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी, भरत और लक्ष्मण जी से विदा माँग, शत्रुघ्न रथ पर सवार हुए ॥ २० ॥

दूरं पद्भ्यामनुगतो लक्ष्मणेन महात्मना ।
भरतेन च शत्रुघ्नो जगामाशु पुरीं तदा ॥ २१ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

महात्मा भरत और लक्ष्मण जी, शत्रुघ्न को कुछ दूर तक पैदल पहुँचा, पुनः अयोध्या में लौट आये ॥ २१ ॥

उत्तरकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

प्रस्थाप्य तु स शत्रुघ्नं भ्रातृभ्यां सह राघवः ।
प्रमुमोद सुखी राज्यं धर्मेण परिपालयन् ॥ १ ॥

भाइयों सहित श्रीरघुनाथ जी शत्रुघ्न को विदा कर, धर्मपूर्वक राज्य करते हुए सुख से रहने लगे ॥ १ ॥

ततः कतिपयाहःसु वृद्धो जानपदो द्विजः ।
मृतं बालमुपादाय राजद्वारमुपागमत् ॥ २ ॥

इसके कुछ दिनों बाद उस देश का एक बूढ़ा ब्राह्मण मृतक बालक ले कर राजभवन के द्वार पर आया ॥ २ ॥

रुदन्बहुविधा वाचः स्नेहदुःखसमन्वितः ।
असकृत्पुत्र पुत्रेति वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ३ ॥

पुत्रस्नेहवश अत्यन्त दुःखी हो, बार बार, हा पुत्र! हा पुत्र! यह कह कर, चिल्लाता और रोता हुआ, अनेक प्रकार से विलाप कर, कहने लगा ॥ ३ ॥

किन्तु मे दुष्कृतं कर्म पुरा देहान्तरे कृतम् ।
यदहं पुत्रमेकं तु पश्यामि निधनं गतम् ॥ ४ ॥

मैंने पूर्वजन्म में ऐसा कौन सा पाप किया था, जो मैं आज अपने इकलौते पुत्र को मरा हुआ देख रहा हूँ ॥ ४ ॥

अप्राप्तयौवनं बालं पञ्चवर्षसहस्रकम्[१] ।
अकाले कालमापन्नं मम दुःखाय पुत्रक ॥ ५ ॥

हा ! मेरा बालक तो अभी तरुण भी नहीं हो पाया था । उसकी अभी चौदह ही वर्ष की तो अवस्था थी । मुझे दुःख देने के लिये ही वह अकाल में काल को प्राप्त हुआ है ॥ ५ ॥

अल्पैरहोभिर्निधनं गमिष्यामि न संशयः ।
अहं च जननी चैव तव शोकेन पुत्रक ॥ ६ ॥

हे बेटा ! मैं और तुम्हारी माता, हम दोनों ही तुम्हारे शोक से थोड़े ही दिनों में मर जायगे । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥ ६ ॥

न स्मराम्यनृतं ह्युक्तं न च हिंसां स्मराम्यहम् ।
सर्वेषां प्राणिनां पापं *न स्मरामि कदाचन ॥ ७ ॥

केनाद्य दुष्कृतेनायं बाल एव ममात्मजः ।
अकृत्वा पितृकार्याणि गतो वैवस्वतक्षयम् ॥ ८ ॥

---

१ पञ्चवर्षसहस्रकं—वर्षशब्दोऽत्र दिनपरः "सहस्रसंवत्सरमन्नुपासीतेतिवत् । तेनषोडशवर्षमित्यर्थइत्येके नेन किञ्चिदन्यून चतुर्दश वर्षमित्यर्थ इत्यन्ये । (रा०)

* पाठान्तरे—"कृतं नैव स्मराम्यहं ।"

मुझे स्मरण नहीं कि, मैं कभी किसी से झूठ बोला अथवा कभी जीवहिंसा की अथवा कभी कोई अन्य प्रकार का मैंने पाप किया। फिर न मालूम किस पापकर्म के फल से यह बालक अपने पिता की अन्त्येष्टिक्रिया किये बिना ही यमलोक को चला गया ॥ ७ ॥ ८ ॥

नेदृशं दृष्टपूर्वं मे श्रुतं वा घोरदर्शनम् ।
मृत्युरप्राप्तकालानां रामस्य विषये ह्ययम् ॥ ९ ॥

श्रीरामराज्य में तो ऐसी बड़ी भयानक घटना न तो कभी देखने में आयी और न सुनने ही में आयी कि, समय के पूर्व ही कोई बालक मर गया हो ॥ ९ ॥

रामस्य दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः ।
यथा हि विषयस्थानां बालानां मृत्युरागतः ॥ १० ॥

अतएव निस्सन्देह श्रीराम ही का कोई बड़ा दुष्कर्म इसका कारण है, जिससे उनके राज्य में बसने वाला यह बालक मरा है ॥ १० ॥

न ह्यन्यविषयस्थानां बालानां मृत्युतो भयम् ।
स राजन् जीवयस्वैनं बालं मृत्युवशं गतम् ॥ ११ ॥

क्योंकि अन्य राज्यों में तो बालक नहीं मरते। सो हे राजन्! आप इस मेरे मरे हुए बालक को जीवित करें ॥ ११ ॥

राजद्वारि मरिष्यामि पत्न्या सार्धमनाथवत् ।
ब्रह्महत्यां ततो राम समुपेत्य सुखी भव ॥ १२ ॥

नहीं तो, मैं अपनी स्त्री सहित अनाथों की तरह राजद्वार पर प्राण दे दूँगा। तब आपको ब्रह्महत्या लगेगी और तब आप सुखी होना ॥ १२ ॥

भ्रातृभिः सहितो राजन्दीर्घमायुरवाप्स्यसि ।
उषिताः स्म सुखं राज्ये तवास्मिन्सुमहाबल ॥ १३ ॥

हे राजन्! भाइयों सहित आपकी बड़ी उम्र होगी। हे महाबली! अभी तक हम लोग आपके राज्य में सुखी थे ॥ १३ ॥

इदं तु पतितं तस्मात्तव राम वशे स्थितान् ।
कालस्य वशमापन्नाः स्वल्पं हि नहि नः सुखम् ॥१४॥

किन्तु आपके राज्य में रहने से हमें अब यह सुख मिला कि, हम काल के फँदे में फँस गये। आपके राज्य में अब कुछ भी सुख नहीं ॥ १४ ॥

सम्प्रत्यनाथो विषय इक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
रामं नाथमिहासाद्य बालान्तकरणं ध्रुवम् ॥ १५ ॥

इक्ष्वाकुवंश वालों का यह राज्य, श्रीराम के राजा होने से, अनाथ हो गया है ॥ १५ ॥

राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः ।
असद्वृत्ते हि नृपतावकाले म्रियते जनः ॥ १६ ॥

जब विधिपूर्वक प्रजा का पालन नहीं किया जाता, तब खोटे आचरण के राजा के दोष से, बेसमय लोग मरते हैं ॥ १६ ॥

यदा पुरेष्वयुक्तानि जना जनपदेषु च ।
कुर्वते न च रक्षाऽस्ति तदा कालकृतं भयम् ॥ १७ ॥

अथवा आपकी असावधानी से और रक्षा न करने से जनपद और नगरों में मनुष्य असद् व्यवहार करते हैं, इसीसे अकाल में मृत्यु का भय होता है ॥ १७ ॥

सुव्यक्तं राजदोषो हि भविष्यति न संशयः।
पुरे जनपदे चापि तथा बालवधो ह्ययम्॥ १८॥

अतः अवश्य ही पुर अथवा जनपदों के राज्यशासन में कोई त्रुटि है, इसीसे यह बालक मरा है॥ १८॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैरुपरुध्य मुहुर्मुहुः।
राजानं दुःखसन्तप्तः सुतं तमुपगूहति॥ १९॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः॥

इस प्रकार की अनेक बातें कहता हुआ वह ब्राह्मण बार बार, रोता था और बालक को छाती से चिपटाये हुए, इस प्रकार की अनेक उलहने की बातें श्रीरामचन्द्र जी के लिये कहता हुआ, वह ब्राह्मण अत्यन्त दुःखी हो रहा था॥ १९॥

उत्तरकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

तथातु करुणं तस्य द्विजस्य परिदेवनम्।
शुश्राव राघवः सर्वं दुःखशोकसमन्वितम्॥ १॥

इस प्रकार शोक और दुःखयुक्त उस ब्राह्मण का समस्त विलाप श्रीरामचन्द्र जी ने सुना॥ १॥

स दुःखेन च सन्तप्तो मन्त्रिणस्तानुपाह्वयत्।
वसिष्ठं वामदेवं च भ्रातृंश्च सहनैगमान्॥ २॥

तब अत्यन्त दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी ने मंत्रियों को बुलाया। मंत्रियों के अतिरिक्त वशिष्ठ, वामदेव, भरतादि भाई और बड़े बड़े सेठ साहूकारों को भी बुलाया ॥ २ ॥

ततो द्विजा वसिष्ठेन सार्धमष्टौ प्रवेशिताः ।
राजानं देवसङ्काशं वर्धस्वेति ततोऽब्रुवन् ॥ ३ ॥

वशिष्ठ सहित आठ ब्राह्मण आये और बोले देवतुल्य महाराज श्रीरामचन्द्र जी की बढ़ती हो ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च काश्यपः ।
कात्यायनोथ जाबालिर्गौतमो नारदस्तथा ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, जाबलि, गौतम, नारद जी ॥ ४ ॥

एते द्विजर्षभाः सर्वे आसनेषूपवेशिताः ।
महर्षीन्समनुप्राप्तानभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ५ ॥

ये सब ब्राह्मणश्रेष्ठ आसनों पर बैठे। उन आये हुए समस्त महर्षियों को श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया ॥ ५ ॥

मन्त्रिणो नैगमांश्चैव यथार्हमनुकूलिताः ।
तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीप्ततेजसाम् ॥ ६ ॥

तथा मंत्रियों एवं बड़े बड़े आदमियों का यथोचित सत्कार किया। जब वे सब तेजस्वीजन बैठ गये ॥ ६ ॥

राघवः सर्वमाचष्टे द्विजोऽयमुपरोधति ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञो दीनस्य नारदः ॥ ७ ॥

प्रत्युवाच शुभं वाक्यमृषीणां सन्निधौ स्वयम् ।
शृणु राजन्यथाऽकाले प्राप्तो बालस्य संक्षयः ॥ ८ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने राजभवन पर धरना दिये बैठे हुए ब्राह्मण की चर्चा चलायी। उसको सुन और महाराज को उदास देख, (सर्वप्रथम) उन ऋषियों में स्वयं नारद जी ने यह शुभवचन कहे। हे राजन! सुनिये इस बालक की अकाल मौत कैसे हुई ॥ ७ ॥ ८ ॥

श्रुत्वा कर्तव्यतां राजन्कुरुष्व रघुनन्दन ।
पुरा कृतयुगे राजन्ब्राह्मणा वै तपस्विनः ॥ ९ ॥

हे राम! उसे सुन कर फिर जो कर्त्तव्य हो कीजियेगा। हे राजन्! पहिले सतयुग में केवल ब्राह्मण ही तपस्या किया करते थे ॥ ६ ॥

अब्राह्मणस्तदा राजन्न तपस्वी कथंचन ।
तस्मिन्युगे प्रज्वलिते ब्रह्मभूते त्वनावृते ॥ १० ॥

हे राजन्! उस युग में ब्राह्मण को छोड़ कर और कोई वर्ण वाला तपस्वी नहीं होता था। उस युग में ब्राह्मणों ही का प्राधान्य तपस्या करने की प्रथा प्रचलित थी और अविद्या दूर रहती थी था। उनमें अतः सब (ब्राह्मण) ज्ञानवान् हुआ करते थे ॥ १० ॥

अमृत्यवस्तदा सर्वे जज्ञिरे दीर्घदर्शिनः ।
ततस्त्रेतायुगं नाम [1]मानवानां [2]वपुष्मताम् ॥ ११ ॥

---

१ मानवानां—मनुवंशक्षत्रियाणां। (गो०) २ वपुष्मतां—दृढशरीराणां। (गो०)

अतएव सत्युग में अकाल में कोई मरता न था और सब लोग दीर्घदर्शी हुआ करते थे। फिर जब (सतयुग के पीछे) त्रेता आया, तब दृढ़ शरीर वाले मनुवंशी ॥ ११ ॥

क्षत्रिया यत्र जायन्ते पूर्वेण तपसान्विताः ।
वीर्येण तपसा चैव तेऽधिकाः पूर्वजन्मनि ।
मानवा ये महात्मानस्तत्र त्रेतायुगे युगे ॥ १२ ॥

ब्रह्म क्षत्रं च तत्सर्वं यत्पूर्वमवरं च यत् ।
युगयोरुभयोरासीत्समवीर्यसमन्वितम् ॥ १३ ॥

क्षत्रिय लोग तप करने लगे। उस समय भी उन्हीं महात्माओं का प्राधान्य था जो पूर्वजन्म में तप और पराक्रम में चढ़े बढ़े थे। जो ब्राह्मण प्रथम थे और जो क्षत्रिय पीछे हुए उन दोनों में उस समय (अर्थात् त्रेता में) समान वीर्य बल वाले हो गये ॥ १२ ॥ १३ ॥

अपश्यन्तस्तु ते सर्वे विशेषमधिकं ततः ।
स्थापनं चक्रिरे तत्र चातुर्वर्ण्यस्य सम्मतम् ॥ १४ ॥

इस काल के लोगों ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों में कोई विशेष तारतम्य न देख कर, सर्वसम्मति से मनुष्य जाति को चार वर्णों में बांटा ॥ १४ ॥

तस्मिन्युगे प्रज्वलिते धर्मभूते ह्यनावृते ।
अधर्मः पादमेकं तु पातयत्पृथिवीतले ॥ १५ ॥

इस त्रेतायुग में कुछ अधर्म भी हुआ। अतएव एक चरण से अधर्म पृथिवी तल पर स्थित हुआ ॥ १५ ॥

अधर्मेण हि संयुक्तस्तेजो मन्दं भविष्यति ॥ १६ ॥

जब इस युग का एक चरण अधर्मयुक्त होगा; तभी (धर्म का) तेज (प्रभाव) मन्द पड़ जायगा ॥ १६ ॥

आमिषं यच्च पूर्वेषां राजसं च मलं भृशम् ।
अनृतं नाम तद्भूतं क्षिप्तेन पृथिवीतले ॥ १७ ॥

सत्युग में क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय—सब लोग आमिष भोजन कर जीते थे। यद्यपि आमिष भोजन मलवत त्याज्य था; तथापि त्रेता में खेतीबारी करके उत्पन्न किये हुए अन्न से इस पृथिवीतल पर लोग अपना निर्वाह करने लगे ॥ १७ ॥

[नोट—"अनृत" का अर्थ कृषि है। यथा "सेवाश्ववृत्तिरनृतंकृषिरुच्छ शिलंत्वृतं।" इत्यमरः]

अनृतं पातयित्वा तु पादमेकमधर्मतः ।
ततः प्रादुष्कृतं पूर्वमायुषः परिनिष्ठितम् ॥ १८ ॥

त्रेता में एक चतुर्थांश अधर्म व्याप्त हुआ और इसी अधर्म के कारण लोगों की आयु भी परिमित होने लगी। अर्थात् सत्युग में लोगों की अपरिमित आयु थी; किन्तु त्रेता में परिमित हो गयी ॥ १८ ॥

पातिते त्वनृते तस्मिन्नधर्मेण महीतले ।
शुभान्येवाचरँल्लोकः सत्यधर्मपरायणः ॥ १९ ॥

जब पृथिवीतल पर अधर्म ने अपना एक चरण जमाया, तब अधर्म से बचने के लिये लोग सत्यधर्मपरायण हो, विविध प्रकार के शुभ कार्यों को करने लगे। (अर्थात् त्रेतायुग में यज्ञादि द्वारा मन शीघ्र शुद्ध होता और अभिमान दूर होता था) ॥ १९ ॥

त्रेतायुगे च वर्तन्ते ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च ये।
तपोऽतप्यन्त ते सर्वे शुश्रूषामपरे जनाः ॥ २० ॥

त्रेतायुग में ब्राह्मण और क्षत्रिय तो तपस्या करते हैं और वैश्य एवं शूद्र उनकी सेवा किया करते हैं ॥ २० ॥

स्वधर्मः परमस्तेषां वैश्यशूद्रं तदागमत्।
पूजां च सर्ववर्णानां शूद्राश्चक्रुर्विशेषतः ॥ २१ ॥

ब्राह्मण क्षत्रियों की सेवा करना ही वैश्यों और शूद्रों का परम धर्म है, विशेष कर शूद्रों का तो, अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना परम धर्म है ॥ २१ ॥

एतस्मिनन्तरे तेषामधर्मे चानृते च ह।
ततः पूर्वे पुनर्ह्रासमगमन्नृप सत्तम ॥ २२ ॥
ततः पादमधर्मस्य द्वितीयमवतारयत्।
ततो द्वापरसंख्या सा युगस्य समजायत ॥२३॥

हे नृपश्रेष्ठ! इस बीच में जब पिछले दो वर्णों ने अर्थात् वैश्य और शूद्र वर्णवालों ने अधर्म और असत्य का व्यवहार करना आरम्भ किया, तब ब्राह्मण और क्षत्रिय अवनति को प्राप्त हुए और अधर्म का दूसरा चरण (पृथिवी तल पर) टिका। वह युग द्वापर कहलाया ॥ २२ ॥ २३ ॥

तस्मिन्द्वापरसंख्ये तु वर्तमाने युगक्षये।
अधर्मश्चानृतं चैव वृधे पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥
अस्मिन् द्वापरसंख्याने तपो वैश्यान्समाविशत्।
त्रिभ्यो युगेभ्यस्त्रीन्वर्णान्क्रमाद्वै तप आविशत् ॥२५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! द्वापर में धर्म के दो चरण टूटे और असत्य तथा अधर्म दोनों ही बढ़े और तीसरा वर्ण अर्थात् वैश्य भी तपस्या करने लगा । इस प्रकार तीन युगों में तीन वर्ण यथाक्रम तप करने लगे ॥ २४ ॥ २५ ॥

त्रिभ्यो युगेभ्यस्त्रीन्वर्णान् धर्मश्च परिनिष्ठितः ।
न शूद्रो लभते धर्मं युगतस्तु नरर्षभ ॥ २६ ॥

इस प्रकार युग युग में तपरूपी धर्म तीन वर्णों में प्रतिष्ठित हुआ है । किन्तु हे नरश्रेष्ठ ! इन तीनों युगों में शूद्रों को तप का अधिकार नहीं है ॥ २६ ॥

हीनवर्णो नृपश्रेष्ठ तप्यते सुमहत्तपः ।
भविष्यच्छूद्रयोन्यां हि तपश्चर्या कलौ युगे ॥ २७ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! परन्तु हीन वर्ण शूद्र भी बड़ा तप करता है । किन्तु कलियुग ही में, शूद्रयोनि में उत्पन्न जीव तप करेंगे ॥ २७ ॥

अधर्मः परमो राजन् द्वापरे शूद्रजन्मनः ।
स वै विषयपर्यन्ते तव राजन्महातपाः ॥ २८ ॥
अद्य तप्यति दुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्ययम् ।
यो ह्यधर्ममकार्यं वा विषये पार्थिवस्य तु ॥ २९ ॥

हे राजन् ! यदि द्वापर में शूद्र तप करे, तो भी बड़ा अधर्म है; किन्तु आपके राज्य में तो इसी समय एक महातपस्वी दुर्बुद्धि शूद्र, तप करता है । इसीसे इस ब्राह्मण का बालक मरा है । क्योंकि जिस राजा के राज्य में कोई अधर्म या अकार्य होता है ॥ २८ ॥ २९ ॥

करोति चाश्रीमूलं तत्पुरे वा दुर्मतिर्नरः ।
क्षिप्रं च नरकं याति स च राजा न संशयः ॥ ३० ॥

वहाँ उन दुर्मति लोगों के उस अकार्य के कारण दरिद्र फैलता है और वह राजा शीघ्र नरकगामी होता है । इसमें सन्देह नहीं ॥ ३० ॥

अधीतस्य च तप्तस्य कर्मणः सुकृतस्य च ।
षष्ठं भजति भागं तु प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३१ ॥

धर्मपूर्वक प्रजापालन करने वाले राजा को प्रजा के वेदाध्ययन, तप और सुकृत का छठवाँ भाग मिलता है ॥ ३१ ॥

षड्भागस्य च भोक्तासौ रक्षते न प्रजाः कथम् ।
स त्वं पुरुषशार्दूल मार्गस्व विषयं स्वकम् ॥ ३२ ॥

जब राजा प्रजा के सुकृतादि का छठवाँ भाग पाता है; तब वह उचित रीति से प्रजा का पालन क्यों न करे । अतएव हे पुरुषसिंह ! आप अपने राज्य में इस बात की खोज कीजिये ॥ ३२ ॥

दुष्कृतं यत्र पश्येथास्तत्र यत्नं समाचर ।
एवं चेद्धर्मवृद्धिश्च नृणां चायुर्विवर्धनम् ।
भविष्यति नरश्रेष्ठ बालस्यास्य च जीवितम् ॥३३॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

हे नरश्रेष्ठ ! जहाँ कहीं आप पाप होता देखें, वहाँ वहाँ यत्नपूर्वक उसको रोकिये । ऐसा करने से धर्म की वृद्धि होगी,

मनुष्यों की आयु बढ़ेगी और यह मरा हुआ ब्राह्मण बालक भी जी उठेगा ॥ ३३ ॥

उत्तरकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—※—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—: ० :—

नारदस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वाऽमृतमयं यथा ।
प्रहर्षमतुलं लेभे लक्ष्मणं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

नारद जी के अमृत तुल्य वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी बहुत प्रसन्न हुए और लक्ष्मण जी से बोले ॥ १ ॥

गच्छ सौम्य द्विजश्रेष्ठं समाश्वासय सुव्रत ।
बालस्य च शरीरं तत्तैलद्रोण्यां निधापय ॥ २ ॥

हे सौम्य ! हे सुव्रत ! तुम जाओ और उस ब्राह्मणश्रेष्ठ को समझा बुझा कर, उसके मृत बालक के शव को तेल की नाव में रखवा दो ॥ २ ॥

गन्धैश्च परमोदारैस्तैलैश्च सुसुगन्धिभिः ।
यथा न क्षीयते बालस्तथा सौम्य विधीयताम् ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! तरह तरह के सुगन्धित द्रव्यों और सुगन्धियुक्त तेलों से उस बालक के शव की ऐसी रक्षा करो, जिससे वह बिगड़ने न पावे ॥ ३ ॥

यथा शरीरं बालस्य गुप्तं सन्तिष्ठतेऽव्रणम्।
[1]विपत्तिः परिभेदो[2] वा न भवेच्च तथा कुरु ॥ ४ ॥

इस कार्य को तुम इस प्रकार करो जिससे उस ब्राह्मण बालक की लाश सुरक्षित बिगड़ने न पावे और न उसके शरीर के जोड़ ढीले पड़ने पावें ॥ ४ ॥

एवं संदिश्य काकुत्स्थो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
मनसा पुष्पकं दध्यावागच्छेति महायशाः ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र ने इस प्रकार शुभ लक्षणयुक्त लक्ष्मण जी से कह कर, मन में पुष्पक विमान को स्मरण किया और कहा, हे महा-यशस्वी पुष्पक तुम आओ ॥ ५ ॥

इङ्गितं स तु विज्ञाय पुष्पको हेमभूषितः।
आजगाम मुहूर्तेन समीपं राघवस्य वै ॥ ६ ॥

स्मरण करते ही वह सुवर्णभूषित पुष्पक विमान एक मुहूर्त-मात्र में श्रीरामचन्द्र जी के सामने आ खड़ा हुआ ॥ ६ ॥

सोऽब्रवीत्प्रणतो भूत्वा अयमस्मि नराधिप।
वश्यस्तव महाबाहो किंकरः समुपस्थितः ॥ ७ ॥

और प्रणाम कर बोला—हे राजन्! मैं आपका दास और किंकर आ गया ॥ ७ ॥

भाषितं रुचिरं श्रुत्वा पुष्पकस्य नराधिपः।
अभिवाद्य महर्षीन्स विमानं सोऽध्यरोहत ॥ ८ ॥

---

१ विपत्तिः—क्लेदादि । (रा०) । २ भेदः—अङ्गभङ्गादि विशीर्णता । (रा०)

पुष्पक का यह मनोहर कथन सुन, महाराज श्रीरामचन्द्र जी महर्षियों को प्रणाम कर उस पर सवार हुए ॥ ८ ॥

धनुर्गृहीत्वातूणी च खड्गं च रुचिरप्रभम् ।
निक्षिप्य नगरे चेतौ सौमित्रिभरतावुभौ ॥ ९ ॥

चमचमाती तलवार, धनुष और बाण ले और भरत एवं लक्ष्मण जी को नगर की रक्षा का कार्य सौंप ॥ ९ ॥

प्रायात्प्रतीचीं हरितं विचिन्वंश्च ततस्ततः ।
उत्तरामगमच्छ्रीमान्दिशं हिमवतावृताम् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी पश्चिम दिशा को गये और वहाँ वे इधर उधर शूद्र तपस्वी को खोजने लगे । किन्तु जब वह वहाँ न मिला, तब वे उत्तर दिशा की ओर गये ॥ १० ॥

अपश्यमानस्तत्रापि स्वल्पमप्यथ दुष्कृतम् ।
पूर्वामपि दिशं सर्वामथोऽपश्यन्नराधिपः ॥ ११ ॥

वहाँ भी श्रीरामचन्द्र जी को ज़रा सा भी पापकर्म नहीं देख पड़ा । तब वे पूर्व दिशा में जा उसको बड़ी सावधानी से खोजने लगे ॥ ११ ॥

प्रविशुद्धसमाचारामादर्शतलनिर्मलम् ।
पुष्पकस्थो महाबाहुस्तदापश्यन्नराधिप ॥ १२ ॥

वहाँ के रहने वाले शुद्धाचारी होने के कारण दर्पण की तरह निर्मल थे । महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने पुष्पक विमान पर बैठे ही बैठे यह सब देखा ॥ १२ ॥

दक्षिणां दिशमाक्रामत्ततो राजर्षिनन्दनः ।
शैवलस्योत्तरे पार्श्वे ददर्श सुमहत्सरः ॥ १३ ॥

राजर्षिनन्दन श्रीरामचन्द्र जी (पूर्व दिशा से) दक्षिण दिशा में आये। वहाँ उन्होंने विन्ध्याचल के उत्तरपार्श्व में शैवल पर्वत को और एक बड़े तालाब को देखा ॥ १३ ॥

तस्मिन्सरसि तप्यन्तं तापसं सुमहत्तपः ।
ददर्श राघवः श्रीमाँल्लम्बमानमधोमुखम् ॥ १४ ॥

महातपस्वी श्रीमान् रामचन्द्र जी ने एक ऐसे तपस्वी को देखा, जो नीचे को मुख कर लटकता हुआ, तपस्या कर रहा था ॥ १४ ॥

राघवस्तमुपागम्य तप्यन्तं तप उत्तमम् ।
उवाच च नृपो वाक्यं धन्यस्त्वमसि सुव्रत ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी उस उत्तम प्रकार से तप करने वाले, के पास जा कर कहने लगे—हे सुव्रत ! धन्य हैं तुमको ॥ १५ ॥

कस्यां योन्यां तपोवृद्ध वर्तसे दृढविक्रम ।
कौतूहलात्त्वां पृच्छामि रामो दाशरथिर्ह्यहम् ॥ १६ ॥

हे दृढ़विक्रमी तपोवृद्ध ! भला यह तो बतलाओ कि, तुम्हारी जाति कौनसी है ? तुमसे यह मैं कौतूहलवश पूँछ रहा हूँ। मैं महाराज दशरथ का पुत्र हूँ और मेरा नाम राम है ॥ १६ ॥

कोऽर्थो मनीषितस्तुभ्यं स्वर्गलाभो परोऽथ वा ।
वराश्रयो यदर्थं त्वं तपस्यन्यैः सुदुश्चरम् ॥ १७ ॥

तुम यह तप किस लिये करते हो ! अथवा तुम्हारा अभीष्ट क्या है ? तुम चाहते क्या हो ? क्या तुम्हारी इच्छा स्वर्ग में जाने की

है? अथवा किसी दूसरे वर की अभिलाषा से ऐसा उत्तम तप कर रहे हो॥ १७॥

यमाश्रित्य तपस्तप्तं श्रोतुमिच्छामि तापस।
ब्राह्मणो वासि भद्रं ते क्षत्रियो वासि दुर्जयः।
वैश्यस्तृतीयो वर्णो वा शूद्रो वा सत्यवाग्भव॥ १८॥

तुम जिस उद्देश्य से यह तप कर रहे हो, उसे मैं जानना चाहता हूँ। सचसच बतलाओ कि, तुम ब्राह्मण हो, या दुर्जेय क्षत्रिय हो, या वैश्य हो या शूद्र?॥ १८॥

इत्येवमुक्तः स नराधिपेन
अवाक्शिरा दाशरथाय तस्मै।
उवाच जातिं नृपपुङ्गवाय
यत्कारणं चैव तपःप्रयत्नः॥ १९॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्गः॥

जब महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब नीचे को मुख किये तपस्या करने वाले उस तपस्वी ने, नृपश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से अपनी जाति और तपस्या करने का उद्देश्य बतलाया॥ १९॥

उत्तरकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

षट्सप्ततितमः सर्गः

—:o:—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
अवाक्शिरास्तथाभूतो वाक्यमेतदुवाच ह॥ १॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन कर, वह तपस्वी नीचे को मुख किये ही बोला ॥ १ ॥

शूद्रयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्रं समास्थितः ।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः ॥ २ ॥

हे राम! मैं शूद्र हूँ। शूद्रकुल में मेरा जन्म हुआ है। मैं इसी शरीर से स्वर्ग जाने की कामना से अथवा दिव्यत्व प्राप्त करने की इच्छा से ऐसा उग्र तप कर रहा हूँ ॥ २ ॥

न मिथ्याहं वदे राम देवलोकजिगीषया ।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूको नाम नामतः ॥ ३ ॥

हे प्रभो! मैं देवलोक जाना चाहता हूँ। अतः झूठ नहीं बोलता। मुझे आप शूद्र जानिये। मेरा नाम शम्बूक है ॥ ३ ॥

भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम् ।
निष्कृष्य कोशाद्विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः ॥ ४ ॥

उस शूद्र के मुख से यह वचन सुनते ही, श्रीरामचन्द्र ने चमचमाती तलवार म्यान से खींच ली और उससे उस शूद्र का सिर काट डाला ॥ ४ ॥

तस्मिन्शूद्रे हते देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
साधु साध्विति काकुत्स्थं ते शशंसुर्मुहुर्मुहुः ॥ ५ ॥

उसका सिर कटते ही, इन्द्र और अग्नि सहित समस्त देवता "धन्य धन्य" कह कर श्रीरामचन्द्र जी की बारबार प्रशंसा करने लगे ॥ ५ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्दिव्यानां सुसुगन्धिनाम् ।
पुष्पाणां वायुमुक्तानां सर्वतः प्रपपात ह ॥ ६ ॥

उसी समय दिव्य सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि हुई। वायु से गिराये हुए फूल चारों ओर बिखर गये ॥ ६ ॥

सुप्रीताश्चाब्रुवन्रामं देवा सत्यपराक्रमम् ।
सुरकार्यमिदं देव सुकृतं ते महामते ॥ ७ ॥

सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से प्रसन्न हो कर, समस्त देवता कहने लगे—हे महामते ! आपने देवताओं का यह बड़ा भारी काम किया ॥ ७ ॥

गृहाण च वरं सौम्य यं त्वमिच्छस्यरिन्दम ।
स्वर्गभाङ् नहि शूद्रोऽयं त्वत्कृते रघुनन्दन ॥८॥

हे शत्रुतापन सौम्य श्रीरामचन्द्र ! आपकी कृपा ही से यह शूद्र जाति का मनुष्य हमारे स्वर्ग में नहीं आने पाया। हे अरिनन्दन ! अतः आप जो चाहते हो सो हमसे वर माँगिये ॥ ८ ॥

देवानां भाषितं श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं सहस्राक्षं पुरन्दरम् ॥ ९ ॥

सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने देवताओं का यह कथन सुन कर, हाथ जोड़ कर इन्द्र से कहा ॥ ६ ॥

यदि देवाः प्रसन्ना मे द्विजपुत्रः स जीवतु ।
दिशन्तु वरमेतं मे ईप्सितं परमं मम ॥ १० ॥

यदि आप सब देवता मेरे ऊपर प्रसन्न हैं, तो मुझे यही मुँहमाँगा वर दीजिये कि, वह ब्राह्मणबालक जी उठे ॥ १० ॥

ममापचाराद्बालोऽसौ ब्राह्मणस्यैकपुत्रकः ।
अप्राप्तकालः कालेन नीतो वैवस्वतक्षयम् ॥ ११ ॥

क्योंकि हे देवगण ! मेरे ही अपचार से उस ब्राह्मण का यह इकलौता पुत्र अकाल मरा ॥ ११ ॥

तं जीवयत भद्रं वो नानृतं कर्तुमर्हथ ।
द्विजस्य संश्रुतोऽर्थो मे जीवयिष्यामि ते सुतम् ॥ १२ ॥

हे देवताओ ! आपका मङ्गल हो । आप उस ब्राह्मणबालक को जिला दें, क्योंकि मैं उससे उस बालक को जीवित कर देने की प्रतिज्ञा करके आया हूँ । मेरी यह प्रतिज्ञा अन्यथा न होनी चाहिये ॥ १२ ॥

राघवस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा विबुधसत्तमाः ।
प्रत्यूचू राघवं प्रीता देवाः प्रीतिसमन्वितम् ॥ १३ ॥
निर्वृतो भव काकुत्स्थ सोऽद्यप्रभृति बालकः ।
जीवितं प्राप्तवान्भूयः समेतश्चापि बन्धुभिः ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन कर, वे देवता प्रीतिपूर्वक उनसे बोले—हे राघव ! अब आप लौट जाइये । वह बालक तो आज जी उठा और अपने माता पिता से मिल भी चुका ॥ १३ ॥ १४ ॥

यस्मिन्मुहूर्ते काकुत्स्थ शूद्रोऽयं विनिपातितः ।
तस्मिन्मुहूर्ते बालोऽसौ जीवेन समयुज्यत ॥ १५ ॥

हे राम ! जिस समय आपने इस शूद्र को मारा था, वह बालक तो उसी समय जी उठा था ॥ १५ ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते साधु याम नरर्षभ ।
अगस्त्यस्याश्रमपदं द्रष्टुमिच्छाम राघव ॥ १६ ॥

हे राघव ! आपका मङ्गल हो। अब हम लोग अगस्त्य जी के श्रेष्ठ आश्रम को देखने जाते हैं ॥ १६ ॥

तस्य दीक्षा समाप्ता हि ब्रह्मर्षेः सुमहाद्युते ।
द्वादशं हि गतं वर्षं जलशय्यां समासतः ॥ १७ ॥

क्योंकि उन महातेजस्वी ऋषि की आज उस यज्ञदीक्षा का अन्तिम दिवस है, जिसके कारण वे बारह वर्ष से जल में सोया करते थे ॥ १७ ॥

काकुत्स्थ तद्गमिष्यामो मुनिं समभिनन्दितुम् ।
त्वं चापि गच्छ भद्रं ते द्रष्टुं तमृषिसत्तमम् ॥ १८ ॥

हे राम ! हम लोग वहाँ जा कर उनका अभिनन्दन करेंगे। आपका मङ्गल हो। आप भी उन ऋषिश्रेष्ठ का दर्शन करने को वहाँ चलिये ॥ १८ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय देवानां रघुनन्दनः ।
आरुरोह विमानं तं पुष्पकं हेमभूषितम् ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी देवताओं के वचन सुन और वहाँ जाना स्वीकार कर, स्वर्णभूषित विमान पर सवार हुए ॥ १९ ॥

ततो देवाः प्रयातास्ते विमानैर्बहु विस्तरैः ।
रामोऽप्यनुजगामाशु कुम्भयोनेस्तपोवनम् ॥ २० ॥

देवता लोग अपने बहुत बड़े बड़े विमानों में बैठ आगे आगे चले और उनके पीछे पीछे श्रीरामचन्द्र जी अगस्त्य जी के तपोवन को गये ॥ २० ॥

दृष्ट्वा तु देवान्संप्राप्तानगस्त्यस्तपसां निधिः ।
अर्चयामास धर्मात्मा सर्वांस्तानविशेषतः ॥ २१ ॥

तपस्वी धर्मात्मा अगस्त्य जी ने देवताओं को आया हुआ देख कर, भली भाँति उन सब का पूजन किया ॥ २१ ॥

प्रतिगृह्य ततः पूजां सम्पूज्य च महामुनिम् ।
जग्मुस्ते त्रिदशा हृष्टा नाकपृष्ठं सहानुगाः ॥ २२ ॥

वे सब देवता अगस्त्य जी की पूजा ग्रहण कर, और स्वयं भी अगस्त्य जी का सम्मान कर, अपने साथियों सहित हर्षित हो, स्वर्ग को सिधारे ॥ २२ ॥

गतेषु तेषु काकुत्स्थः पुष्पकादवरुह्य च ।
ततोऽभिवादयामास अगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ २३ ॥

देवताओं के जाने के उपरान्त श्रीरामचन्द्र जी ने विमान से उतर, ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी को प्रणाम किया ॥ २३ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
आतिथ्यं परमं प्राप्य निषसाद नराधिपः ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी अग्नि के समान तेजस्वी महात्मा अगस्त्य जी को प्रणाम कर और उनसे आतिथ्य ग्रहण कर, आसन पर विराजे ॥ २४ ॥

तमुवाच महातेजाः कुम्भयोनिर्महातपाः ।
स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ॥ २५ ॥

महातेजस्वी महातपस्वी अगस्त्य जी श्रीरामचन्द्र जी से बोले—हे राघव! आप बहुत अच्छे आये। यह सौभाग्य की बात है जो आप पधारे? ॥ २५ ॥

त्वं मे बहुमतो राम गुणैर्बहुभिरुत्तमैः।
अतिथिः पूजनीयश्च मम राजन्हृदि स्थितः ॥ २६ ॥

हे राम! आप अनेक सद्गुणों से सम्पन्न होने के कारण, बहुमान्य हैं और मेरे हृदयस्थित होने के कारण आप पूज्य अतिथि हैं ॥ २६ ॥

सुरा हि कथयन्ति त्वामागतं शूद्रघातिनम्।
ब्राह्मणस्य तु धर्मेण त्वया जीवापितः सुतः ॥ २७ ॥

देवता मुझे सूचित कर गये थे कि, श्रीरामचन्द्र जी ने शूद्र तपस्वी को मार, ब्राह्मणपुत्र को जीवित कर दिया है। अब आपसे मिलने को आ रहे हैं ॥ २७ ॥

उष्यतां चेह रजनीं सकाशे मम राघव।
त्वं हि नारायणः श्रीमांस्त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२८॥

हे राम! आज की रात आप मेरे पास ही रहें। क्योंकि आप जगदाधार श्रीनारायण हैं और तुम्हीं में समस्त संसार टिका हुआ है ॥ २८ ॥

त्वं प्रभुः सर्वदेवानां पुरुषस्त्वं सनातनः।
प्रभाते पुष्पकेण त्वं गन्ता स्वपुरमेव हि ॥ २९ ॥

आप समस्त देवताओं के स्वामी और सनातनपुरुष हैं। कल सवेरे पुष्पक पर बैठ, आप अपनी पुरी को चले जाइयेगा ॥ २९ ॥

इदं चाभरणं सौम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ ३० ॥

हे सौम्य ! यह दिव्य आभरण विश्वकर्मा का बनाया हुआ है और देखिये यह दिव्य आभूषण कैसा दमक रहा है ॥ ३० ॥

प्रतिगृह्णीष्व काकुत्स्थ मत्प्रियं कुरु राघव ।
दत्तस्य हि पुनर्दाने सुमहत्फलमुच्यते ॥ ३१ ॥

हे काकुत्स्थ ! इसे ग्रहण कर आप मुझे हर्षित कीजिये । पाई हुई वस्तु का दान करने से बड़ा फल होता है ॥ ३१ ॥

भरणे हि भवान् शक्तः फलानामहतामपि ।
त्वं हि शक्तस्तारयितुं सेन्द्रानपि दिवौकसः ॥ ३२ ॥

इस गहने को पहिनने योग्य आप ही हैं । आपको तो बड़े बड़े फल देने की शक्ति है । यहाँ तक कि, आप तो देवताओं सहित इन्द्र को भी तार सकते हैं ॥ ३२ ॥

तस्मात्प्रदास्ये विधिवत्तत्प्रतीच्छ नराधिप ।
अथोवाच महात्मानमिक्ष्वाकूणां महारथः ॥ ३३ ॥

हे नराधिप ! मैं यह आभूषण आपको विधिवत् दे रहा हूँ । आप इसे ले लीजिये । यह वचन सुन, महारथी इक्ष्वाकुनन्दन अगस्त्य जी से बोले ॥ ३३ ॥

[नोट—इस अध्याय में इसके आगे के श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।]

रामोमतिमतां श्रेष्ठः क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ।
प्रतिग्रहोयं भगवन्ब्राह्मणस्य विगर्हितः ॥ १ ॥

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी क्षात्रधर्म का विचार कर बोले—महाराज! ब्राह्मण को वस्तु का दान लेना बड़ा दोषावह कार्य है ॥ १ ॥

क्षत्रियेण कथं विप्र प्रतिग्राह्यं भवेत्ततः ।
प्रतिग्रहोहि विप्रेन्द्र क्षत्रियाणां सुगर्हितः ॥ २ ॥

क्षत्रिय भला ब्राह्मण से किसी भी वस्तु का दान कैसे ले सकता है। हे विप्रेन्द्र! क्षत्रिय के लिये तो किसी से भी दान लेना बड़ा ही गर्हित कर्म है ॥ २ ॥

ब्राह्मणेन विशेषेण दत्तं तद्वक्तुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तु रामेण प्रत्युवाच महानृषिः ॥ ३ ॥

फिर विशेष कर ब्राह्मण से दान कैसे लिया जाय? सो आप बतलाइये। श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर अगस्त्य जी बोले ॥ ३ ॥

आसन्कृत युगे राम ब्रह्मभूते पुरायुगे ।
अपार्थिवाः प्रजाः सर्वाः सुराणां तु शतक्रतुः ॥ ४ ॥

हे राजन्! सुनिये। पहिले सत्युग था। उसे साक्षात् ब्रह्मयुग कहते हैं। उस युग में मानवी प्रजा बिना राजा के थी। हाँ, देवताओं के राजा इन्द्र (उस समय भी) थे ॥ ४ ॥

ताः प्रजा देवदेवेशं राजार्थं समुपाद्रवन् ।
सुराणां स्थापितो राजा त्वया देव शतक्रतुः ॥ ५ ॥

उस समय प्रजाजन देवों के देव ब्रह्मा जी के पास गये और किसी को राजा बनाने के लिये उनसे प्रार्थना की। प्रजाजनों

ने कहा—हे भगवन्! आपने देवताओं के राजा इन्द्र तो बना दिये ॥ ५ ॥

प्रयच्छास्मासु लोकेश पार्थिवं नरपुङ्गवम् ।
यस्मै पूजां प्रयुञ्जाना धूतपापाश्चरेमहि ॥ ६ ॥

हे लोकेश! अतएव हम लोगों के लिये भी कोई राजा बना दीजिये, जिसकी आज्ञा का पालन करते हुए हम लोग पापरहित हो, रहें ॥ ६ ॥

न वसामो विना राज्ञा एष नो निश्चयः परः ।
ततो ब्रह्मा सुरश्रेष्ठो लोकपालान्सवासवान् ॥ ७ ॥

हम लोगों का यह पक्का निश्चय है कि, हम लोग बिना राजा के नहीं रह सकते। इस पर सुरश्रेष्ठ ब्रह्मा जी ने इन्द्रादि लोकपालों को ॥ ७ ॥

समाहूयाब्रवीत्सर्वांस्तेजोभागान्प्रयच्छत ।
ततो ददुर्लोकपालाः सर्वे भागान्स्वतेजसः ॥ ८ ॥

बुला कर उन सब से कहा—"तुम लोग अपने अपने तेज में से कुछ कुछ अंश दो। तब सब लोकपालों ने अपने अपने तेज (शक्ति) से कुछ कुछ अंश दिया ॥ ८ ॥

अक्षुपच्च ततो ब्रह्मा यतो जातः क्षुपो नृपः ।
तं ब्रह्मा लोकपालानां समांशैः समयोजयत् ॥ ९ ॥

तब ब्रह्मा जी ने एक बार उससे एक पुरुष उत्पन्न किया। उसका नाम क्षुप रखा गया। ब्रह्मा जी ने उसे, लोकपालों के तेज के अंशों से युक्त कर दिया ॥ ९ ॥

ततो ददौ नृपं तासां प्रजानामीश्वरं क्षुपम् ।
तत्रैन्द्रेण च भागेन महीमाज्ञापयन्नृपः ॥ १० ॥

अनन्तर उस क्षुप राजा को ब्रह्मा जी ने प्रजा का आधिपत्य दिया । इसीसे इन्द्र के अंश से राजा पृथिवी का राज्य करता है ॥ १० ॥

वारुणेन तु भागेन वपुः पुष्यति पार्थिवः ।
कौवेरेण तु भागेन वित्तप्रभां ददौ तदा ॥ ११ ॥

वरुण के अंश से राजा अपने शरीर को पुष्ट करता है, कुवेर के भाग से प्रजा को राजा धन देता है ॥ ११ ॥

यस्तु याम्योऽभवद्भागस्तेन शास्ति स्म स प्रजाः ।
तत्रैन्द्रेण नरश्रेष्ठ भागेन रघुनन्दन ॥ १२ ॥

यम के अंश से राजा, प्रजा का शासन करता है । अतएव हे नरश्रेष्ठ श्रीराम ! इन्द्र के अंश से (अर्थात् पृथिवी के शासक होने के कारण) ॥ १२ ॥

प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते तारणार्थं मम प्रभो ।
तद्रामः प्रतिजग्राह मुनेस्तस्य महात्मनः ॥ १३ ॥

हे प्रभो ! मुझे तारने के लिये, आप इस आभूषण को ग्रहण करें । आपका मङ्गल हो, (इस युक्तियुक्त सप्रमाण कथन को सुन) श्रीरामचन्द्र जी ने महर्षि अगस्त्य जी का दिया हुआ कङ्कण ले लिया ॥ १३ ॥

दिव्यमाभरणं चित्रं प्रदीप्तमिव भास्करम् ।
प्रतिगृह्य ततो रामस्तदाभरणमुत्तमम् ॥ १४ ॥

वह (जड़ी हुई मणियों के कारण) रंग विरंगा उत्तम आभरण सूर्य की तरह दमक रहा था । श्रीरामचन्द्र जी ने उसे ले लिया ॥ १४ ॥

[नोट—प्रक्षिप्त चौदह श्लोक यहाँ समाप्त हुए ।]

आगमं तस्य दीप्तस्य प्रष्टुमेवोपचक्रमे ।
अत्यद्भुतमिदं दिव्यं वपुषा युक्तमद्भुतम् ॥ ३४ ॥

फिर उन्होंने अगस्त्य जी से पूँछा कि—हे भगवन् ! यह दिव्य दमकता हुआ और बड़ा अद्भुत गहना ॥ ३४ ॥

कथं भगवता प्राप्तं कुतो वा केन वा हृतम् ।
कौतूहलतयाब्रह्मन्पृच्छामि त्वां महायशः ॥ ३५ ॥

हे ब्रह्मन ! यह आपको कैसे और कहाँ मिला ? यह आपको किसने ला कर दिया ? हे महायशस्वी भगवन् ! मैं यह सब (वृत्तान्त) कौतूहलवश आपसे पूँछता हूँ । (मैं इसे चोरी का माल समझ तहकीकात नहीं कर रहा हूँ) ॥ ३५ ॥

आश्चर्याणां बहूनां हि निधिः परमको भवान् ।
एवं ब्रुवति काकुत्स्थे मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ।
शृणु राम यथावृत्तं पुरा त्रेतायुगे युगे ॥ ३६ ॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

क्योंकि आप तो आश्चर्यप्रद वस्तुओं के सागर हैं । श्रीरामचन्द्र जी के यह कहने पर अगस्त्य जी कहने लगे—हे राजन् ! अच्छा, तो अब आप त्रेतायुग का (एक) वृत्तान्त सुनिये ॥ ३६ ॥

उत्तरकाण्ड का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

सप्तसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

पुरा त्रेतायुगे राम बभूव बहुविस्तरम् ।
समन्ताद्योजनशतं विमृगं पक्षिवर्जितम् ॥ १ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! पूर्वकाल में त्रेतायुग में यहाँ एक बहुत बड़ा वन था, जिसका विस्तार सौ योजन का था और जिसमें न तो कोई पक्षी रहता था और न कोई अन्य जंगली पशु हो ॥ १ ॥

तस्मिन्निर्मानुषेऽरण्ये कुर्वाणस्तप उत्तमम् ।
अहमाक्रमितुं सौम्य तदारण्यमुपागमम् ॥ २ ॥

हे सौम्य ! मैं घूमता फिरता इसी निर्जन वन में तप करने को आया ॥ २ ॥

तस्य रूपमरण्यस्य निर्देष्टुं न शशाकह ।
फलमूलैः सुखास्वादैर्बहुरूपैश्च काननैः ॥ ३ ॥

मैंने चाहा कि, इस वन का आदि अन्त (लंबाई चौड़ाई) का हाल जानूँ, परन्तु मुझे पता न चल सका। हे राघव ! इस वन में फल और मूल बड़े स्वादिष्ट थे और अनेक प्रकार के (वृक्षों के) वन देख पड़ते थे ॥ ३ ॥

तस्यारण्यस्य मध्ये तु सरो योजनमायतम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकोपशोभितम् ॥ ४ ॥

उस वन के बीच एक बड़ा रमणीय तालाब था, जिसका विस्तार चार कोस का था। तालाब हंसों चकवाकों और कारण्डव पक्षियों से सुशोभित था ॥ ४ ॥

पद्मोत्पलसमाकीर्णं समतिक्रान्तशैवलम् ।
तदाश्चर्यमिवात्यर्थं सुखास्वादमनुत्तमम् ॥ ५ ॥

उसमें कमल और कुमुद के फूल खिले हुए थे और सिवार (जल में उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास, जिससे खड़ासरों में चीनी साफ की जाती है) दिखाई भी न पड़ता था। उसमें विलक्षणता एक यह भी थी कि, उसका जल बड़ा स्वादिष्ट था ॥ ५ ॥

अरजस्कं तदक्षोभ्यं श्रीमत्पक्षिगणायुतम् ।
तस्मिन्सरः समीपे तु महदद्भुतमाश्रमम् ॥ ६ ॥

उस तालाब के तट के समीप धूल गर्दा से रहित, पक्षियों से शोभित, कोलाहल रहित (शान्त) एक बड़ा अद्भुत, आश्रम था ॥ ६ ॥

पुराणं पुण्यमत्यर्थं तपस्विजनवर्जितम् ।
तत्राहमवसं रात्रिं नैदाघीं पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥

वह आश्रम बड़ा पुराना और पवित्र था, परन्तु उसमें एक भी तपस्वी नहीं देख पड़ता था। हे श्रीरामचन्द्र! गरमी के दिनों में, मैं एक रात उसीमें टिका रहा ॥ ७ ॥

प्रभाते काल्यमुत्थाय सरस्तदुपचक्रमे ।
अथापश्यं शवं तत्र सुपुष्टमरजः क्वचित् ॥ ८ ॥

जब मैं प्रातःकाल उठ कर उस सरोवर के तट पर (स्नानादिक करने को) गया ; तब मैंने एक बड़ा मोटा ताज़ा और साफ़ सुथरा मुर्दा देखा ॥ ८ ॥

तिष्ठन्तं परया लक्ष्म्या तस्मिंस्तोयाशये नृप ।
तमर्थं चिन्तयानोऽहं मुहूर्तं तत्र राघव ॥ ९ ॥

विष्ठितोऽस्मि सरस्तीरे किं न्विदं स्यादिति प्रभो ।
अथापश्यं मुहूर्तात्तु दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह मुर्दा उस सरोवर का एक शोभा रूप जान पड़ता था । थोड़ी देर तक तो मैं यह सोचता रहा कि, यह है क्या ? मैं उस स्थान में बैठा एक मुहूर्त्त तक सोच ही रहा था कि, इतने में मैंने एक और आश्चर्यप्रद चमत्कार देखा ॥ ९ ॥ १० ॥

विमानं परमोदारं हंसयुक्तं मनोजवम् ।
अत्यर्थं स्वर्गिणं तत्र विमाने रघुनन्दन ॥ ११ ॥

हे राम ! उस जगह मन के वेग की तरह शीघ्रगामी, हंसों से युक्त एक अत्यन्तोत्तम विमान उतरा । उस विमान में अत्यन्त रूपवान एक स्वर्गीय मनुष्य देख पड़ा ॥ ११ ॥

उपास्तेऽप्सरसां वीर सहस्रं दिव्यभूषणम् ।
गायन्ति काश्चिद्रम्याणि वादयन्ति यथापराः ॥ १२ ॥

मृदङ्गवीणापणवान्नृत्यन्ति च तथापराः ।
अपराश्चन्द्ररश्म्याभैर्हेमदण्डैर्महाधनैः ॥ १३ ॥

दोधूयुर्वदनं तस्य पुण्डरीकनिभेक्षणाः ।
ततः सिंहासनं हित्वा मेरुकूटमिवांशुमान् ॥ १४ ॥

उसके साथ (उस विमान में) हज़ारों अप्सरायें थीं, जो अच्छे अच्छे आभूषण पहिने हुए थीं । उनमें से कोई गाती थी, कोई

मृदङ्ग वीणा बजा रही थी, कोई डोनक बजा रही थी। उनमें से बहुत सी नाच रही थीं और कोई कोई चन्द्रमा के समान सफेद और सोने की डंडो वाले बहुमूल्यवान चमर, उस विमान में बैठे हुए कमलनयन स्वर्गगामी के ऊपर डुला रही थीं। फिर जिस प्रकार सूर्य भगवान् सुमेरु से उतरते हैं, उसी प्रकार वह स्वर्गीय जन उस विमान से उतरा ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

पश्यतो मे तदा राम विमानादवरुह्य च ।
तं शवं भक्षयामास स स्वर्गी रघुनन्दन ॥ १५ ॥

हे राम ! अब मेरी दृष्टि उसीकी ओर लगी हुई थी (और मैं देख रहा था कि, वह क्या करता है।) मेरे देखते देखते उसने उतर कर उस मुर्दे के शरीर का मांस खाया ॥ १५ ॥

ततो भुक्त्वा यथाकामं मांसं बहु सुपीवरम् ।
अवतीर्य सरः स्वर्गी संस्प्रष्टुमुपचक्रमे ॥ १६ ॥

उस मुर्दे के शरीर का सुपुष्ट मांस भर पेट खा चुकने बाद उस स्वर्गीयजन ने तालाव में हाथ मुंह धोया ॥ १६ ॥

उपस्पृश्य यथान्यायं स स्वर्गी रघुनन्दन ।
आरोढुमुपचक्राम विमानवरमुत्तमम् ॥ १७ ॥

वह स्वर्गीयजन हाथ मुँह धो पुनः उस उत्तम विमान पर सवार होने लगा ॥ १७ ॥

तमहं देवसङ्काशमारोहन्तमुदीक्ष्य वै ।
अथाहमब्रुवं वाक्यं तमेव पुरुषर्षभ ॥ १८ ॥

हे राम ! उस समय मुझसे न रहा गया। उस देवता के समान पुरुष को विमान पर चढ़ते देख, हे पुरुषश्रेष्ठ ! मैंने उससे पूँछा ॥ १८ ॥

को भवान् देवसङ्काश आहारश्च विगर्हितः ।
त्वयेदं भुज्यते सौम्य किमर्थं वक्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

आप कौन हैं? देवता के समान रंग रूप पा कर भी आप ऐसा निन्दित भोजन क्यों करते हैं? आप इसे क्यों खाते हैं? मुझको सारा वृत्तान्त सुनाइये ॥ १६ ॥

कस्य स्यादीदृशो भाव आहारो देवसम्मत ।
आश्चर्यं वर्तते सौम्य श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
नाहमौपयिकं मन्ये तव भक्ष्यमिमं शवम् ॥ २० ॥

हे सौम्य ! ऐसा कोई न होगा; जो ऐसा श्रेष्ठ शरीर पा कर ऐसा (घिनौना) भोजन करे। आपका इस मुर्दे को खाना मुझे उचित नहीं जान पड़ता। मुझे तो इससे बड़ा विस्मय हो रहा है। सो आप इसका सब ठीक ठीक वृत्तान्त मुझसे कहिये ॥ २० ॥

इत्येवमुक्तः स नरेन्द्रनाकी
कौतूहलात्सूनृतया गिरा च ।
श्रुत्वा च वाक्यं मम सर्वमेतत्
सर्वं तथा चाकथयन्ममेति ॥ २१ ॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

हे राम! जब मैंने उससे ऐसा कहा; तब वह स्वर्गीयजन मेरे वचन सुन कौतूहलवश, सत्य और मृदुवाणी से अपना सब वृत्तान्त मुझसे कहने लगा ॥ २१ ॥

उत्तरकाण्ड का सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

श्रुत्वा तु भाषितं वाक्यं मम राम शुभाक्षरम्।
प्राञ्जलिः प्रत्युवाचेदं स स्वर्गी रघुनन्दन ॥ १ ॥

हे रघुपते! शुभाक्षरों से युक्त मेरे वचन सुन कर, वह स्वर्गीयजन हाथ जोड़ कर मुझसे कहने लगा ॥ १ ॥

शृणु ब्रह्मन्पुरा वृत्तं ममैतत्सुखदुःखयोः।
अनतिक्रमणीयं च यथा पृच्छसि मां द्विज ॥ २ ॥

हे भगवन्! मेरे सुख दुःख का पुराना वृत्तान्त यदि आप सुनना चाहते हैं, तो अच्छा सुनिये। मेरे लिये यह बन्धन अनिवार्य है ॥ २ ॥

पुरा वैदर्भको राजा पिता मम महायशाः।
सुदेव इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ॥ ३ ॥

पूर्वकाल में सुदेव नाम के एक राजा हो गये हैं, जो तीनों लोकों में एक प्रसिद्ध बलवान राजा समझे जाते थे और विदर्भ देश में राज्य करते थे। वे ही मेरे पिता थे ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रद्वयं ब्रह्मन्द्वाभ्यां स्त्रीभ्यामजायत ।
अहं श्वेत इति ख्यातो यवीयान्सुरथोऽभवत् ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन्! उनको दो रानियों से दो पुत्र उत्पन्न हुए। एक तो मैं ही "श्वेत" हूँ; दूसरा मेरा छोटा भाई था, जिसका नाम सुरथ था ॥ ४ ॥

ततः पितरि स्वर्याते पौरा मामभ्यषेचयन् ।
तत्राहं कृतवान् राज्यं धर्म्यं च सुसमाहितः ॥ ५ ॥

जिस समय पिता जी स्वर्ग सिधारे उस समय नगरवासियों ने मुझे राजा बनाया। मैं बड़ी सावधानी से धर्मपूर्वक राज्य करने लगा ॥ ५ ॥

एवं वर्षसहस्राणि समतीतानि सुव्रत ।
राज्यं कारयतो ब्रह्मन्प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन्! हे सुव्रत! इस प्रकार राज्य करते हुए और धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए, मुझे एक हज़ार वर्ष बीत गये ॥ ६ ॥

सोऽहं निमित्ते कस्मिंश्चिद्विज्ञातायुर्द्विजोत्तम ।
कालधर्मं हृदि न्यस्य ततो वनमुपागमम् ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम! किसी उपाय से अपनी आयु की अवधि जान और प्रत्येक शरीरधारी मरणशील है इस बात को अपने मन में रख, मैं वन में चला आया ॥ ७ ॥

सोऽहं वनमिदं दुर्गं मृगपक्षिविवर्जितम् ।
तपश्चर्तुं प्रविष्टोऽस्मि समीपे सरसः शुभे ॥ ८ ॥

इस मृगपक्षिरहित निर्जन वन में आ, मैं इस शुभ सरोवर के समीप तप करने लगा ॥ ८ ॥

भ्रातरं सुरथं राज्ये अभिषिच्य महीपतिम् ।
इदं सरः समासाद्य तपस्तप्तं मया चिरम् ॥ ९ ॥

अपने भाई सुरथ को राजगद्दी पर बिठा, मैंने इस सरोवर के निकट बहुत दिनों तक तप किया ॥ ९ ॥

सोऽहं वर्षसहस्राणि तपस्त्रीणि महावने ।
तप्त्वा सुदुष्करं प्राप्तो ब्रह्मलोकमनुत्तमम् ॥ १० ॥

यहाँ तक कि, तीन हज़ार वर्षों तक दुष्कर तप कर, मैं परमश्रेष्ठ ब्रह्मलोक में पहुँचा ॥ १० ॥

तस्येमे स्वर्गभूतस्य क्षुत्पिपासे द्विजोत्तम ।
बाधेते परमे वीर ततोऽहं व्यथितेन्द्रियः ॥ ११ ॥

हे द्विजोत्तम ! स्वर्गलोक में पहुँच कर भी मैं भूख और प्यास से सन्तप्त हो विकल हो गया, सारा शरीर शिथिल पड़ गया ॥ ११ ॥

गत्वा त्रिभुवनश्रेष्ठं पितामहमुवाच ह ।
भगवन्ब्रह्मलोकोऽयं क्षुत्पिपासाविवर्जितः ॥ १२ ॥

तब मैं त्रिभुवन में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी के निकट जा बोला—हे ब्रह्मन् ! इस लोक में तो भूख प्यास न लगनी चाहिये ॥ १२ ॥

कस्यायं कर्मणः पाकः क्षुत्पिपासानुगो ह्यहम् ।
आहारः कश्च मे देव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१३॥

फिर यह मेरे किन कर्मों का फल है जो मैं मारे भूख प्यास के विकल हूँ। हे पितामह! मुझे बतलाइये कि, मैं यहाँ क्या भोजन करूँ॥ १३॥

पितामहस्तु मामाह तवाहारः सुदेवज।
स्वादूनि स्वानि मांसानि तानि भक्षय नित्यशः॥१४॥

मेरी यह बात सुन कर ब्रह्मा जी बोले—हे सुदेवनन्दन! तुम्हारे लिये तुम्हारा ही स्वादिष्ट सुन्दर मांस है, उसीको नित्य खाया करो॥ १४॥

स्वशरीरं त्वया पुष्टं कुर्वता तप उत्तमम्।
अनुप्तं रोहते श्वेत न कदाचिन्महामते॥ १५॥

दत्तं न तेऽस्ति सूक्ष्मोऽपि तप एव निषेवसे।
तेन स्वर्गगतो वत्स बाध्यसे क्षुत्पिपासया॥ १६॥

हे श्वेत! तुमने तप करते समय अपने शरीर ही को पुष्ट किया था। इससे तुम निश्चय समझो कि, बिना बोये फल कभी नहीं मिलता। तुमने कभी ज़रा सा भी दान नहीं दिया। तुम केवल तप ही करते रहे हो। इसलिये स्वर्ग में पहुँच कर भी तुम्हें भूख प्यास सता रही है॥ १५॥ १६॥

स त्वं सुपुष्टमाहारैः स्वशरीमनुत्तमम्।
भक्षयित्वामृतरसं तेन तृप्तिर्भविष्यति॥ १७॥

तुमने अपने जिस शरीर को खा खा कर तृप्त और मोटा ताज़ा बनाया था अब उसीको अमृत रस के तुल्य खाया करो। ऐसा करने से तुम्हारी भूख मिट जाया करेगी॥ १७॥

यदा तु तद्वनं श्वेत अगस्त्यः स महानृषिः ।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा कृच्छ्राद्विमोक्ष्यते ॥ १८ ॥

हे श्वेत! जब उस वन में दुर्धर्ष भगवान अगस्त्य जी आवेंगे, तब तुम इस कष्ट से छूटोगे ॥ १८ ॥

स हि तारयितुं सौम्य शक्तः सुरगणानपि ।
किं पुनस्त्वां महाबाहो क्षुत्पिपासावशंगतम् ॥ १९ ॥

हे सौम्य! वे तो देवताओं को भी तारने में समर्थ हैं। तुम्हारी तो बात ही क्या है। तुम तो केवल भूख प्यास ही से पीड़ित हो ॥ १९ ॥

सोऽहं भगवतः श्रुत्वा देवदेवस्य निश्चयम् ।
आहारं गर्हितं कुर्मि स्वशरीरं द्विजोत्तम ॥ २० ॥

हे द्विजोत्तम! इस प्रकार देवदेव ब्रह्मा जी के वचन सुन कर मैं अपने इस शरीर का नित्य गर्हित भोजन करता हूँ ॥ २० ॥

बहून्वर्षगणान् ब्रह्मन्भुज्यमानमिदं मया ।
क्षयं नाभ्येति ब्रह्मर्षे तृप्तिश्चापि ममोत्तमा ॥ २१ ॥

हे ब्रह्मन्! इसे खाते खाते मुझे बहुत वर्ष बीत गये। न तो मेरा यह मुर्दा शरीर ही क्षय होता है और न मुझे तृप्ति ही होती है ॥ २१ ॥

तस्य मे कृच्छ्रभूतस्य कृच्छ्रादस्माद्विमोक्षय ।
अन्येषां न गतिर्ह्यत्र कुम्भयोनिमृते द्विजम् ॥ २२ ॥

हे भगवन्! आप मुझ अति दुखियारे को इस महाक्लेश से छुड़ाइये। क्योंकि अगस्त्य जी को छोड़ और कोई मुझे इस क्लेश से मुक्त नहीं कर सकता॥ २२॥

इदमाभरणं सौम्य धारणार्थं द्विजोत्तम।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ २३॥

हे सौम्य! हे द्विजोत्तम! यह एक सुवर्ण का भूषण मैं आपके पहिनने के लिये देता हूँ। इसे लीजिये और मेरे ऊपर कृपा कीजिये। आपका मङ्गल हो॥ २३॥

इदं तावत्सुवर्णं च धनं वस्त्राणि च द्विज।
भक्ष्यं भोज्यं च ब्रह्मर्षे ददाम्याभरणानि च॥२४॥
सर्वान्कामान्प्रयच्छामि भोगांश्च मुनिपुङ्गव।
तारणे भगवन्मह्यं प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ २५॥

हे ब्रह्मर्षे! यह सोने का गहना, अच्छे अच्छे वस्त्र, भक्ष्य, भोज्य, आभरण एवं समस्त काम्य एवं उपभोग्य पदार्थ मैं दान करता हूँ; इन्हें आप कृपया लीजिये और हे मुनिश्रेष्ठ! अब आप मुझे तारने की कृपा कीजिये॥ २४॥ २५॥

तस्याहं स्वर्गिणो वाक्यं श्रुत्वा दुःखसमन्वितम्।
तारणायोपजग्राह तदाभरणमुत्तमम्॥ २६॥

हे राम! तब उन स्वर्गीय मनुष्य की इन दुःख भरी बातों को सुन, उसके तारने के लिये, मैंने उसके दिये हुए (कपड़े और) उत्तम आभूषण ले लिये॥ २६॥

मया प्रतिगृहीते तु तस्मिन्नाभरणे शुभे।
मानुषः पूर्वको देहो राजर्षेर्विननाशह॥ २७॥

हे राजर्षि! ज्योंही मैंने वह कंकण ग्रहण किया, त्योंही उसका पूर्वजन्म का मृत शरीर नष्ट हो गया॥ २७॥

प्रनष्टे तु शरीरेऽसौ राजर्षिः परया मुदा।
तृप्तः प्रमुदितो राजा जगाम त्रिदिवं सुखम्॥ २८॥

उस शरीर के नष्ट होते ही वह राजर्षि तृप्त हो गया और प्रसन्न होता हुआ स्वर्ग को चला गया॥ २८॥

तेनेदं शक्रतुल्येन दिव्यमाभरणं मम।
तस्मिन्निमित्ते काकुत्स्थ दत्तमद्भुतदर्शनम्॥ २९॥

इति अष्टसप्ततितमः सर्गः॥

हे राम! चन्द्रमा के समान चमकवाला यह अद्भुत आभूषण उस स्वर्गवासी जन ने अपने उद्धार के लिये मुझे दिया था॥ २९॥

उत्तरकाण्ड का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

एकोनाशीतितमः सर्गः

—:o:—

तदद्भुततमं वाक्यं श्रुत्वागस्त्यस्य राघवः।
गौरवाद्विस्मयाच्चैव भूयः प्रष्टुं प्रचक्रमे॥ १॥

श्रीरामचन्द्र जी अगस्त्य के ऐसे अत्यन्त अद्भुत वचन सुन कर गौरव और विस्मय की प्रेरणा से पुनः पूँछने लगे॥ १॥

भगवंस्तद्वनं घोरं तपस्तप्यति यत्र सः।
श्वेतो वैदर्भको राजा कथं तदमृगद्विजम्॥ २॥

हे भगवन्! जिस वन में विदर्भदेशाधिपति श्वेत तप करता था, वह घोर वन किस लिये मृगपक्षीहीन हुआ? ॥ २ ॥

तद्वनं स कथं राजा शून्यं मनुजवर्जितम्।
तपश्चर्तुं प्रविष्टः स श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

उस पशुपक्षीहीन एवं मनुष्यवर्जित वन में वह राजा तप करने क्यों आया था यह ठीक ठीक जानने की मेरी इच्छा है ॥ ३ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम्।
वाक्यं परमतेजस्वी वक्तुमेवोपचक्रमे ॥ ४ ॥

परम तेजस्वी अगस्त्य जी श्रीरामचन्द्र जी के कौतूहलपूर्ण वचनों को सुन, कहने लगे ॥ ४ ॥

पुरा कृतयुगे राम मनुर्दण्डधरः प्रभुः।
तस्य पुत्रो महानासीदिक्ष्वाकुः कुलनन्दनः ॥ ५ ॥

हे राम! पूर्वकाल में सतयुग में महाराज मनु इस पृथिवी-मण्डल पर राज्य करते थे। वंश के बढ़ाने वाले एवं प्रसिद्ध उनके पुत्र इक्ष्वाकु हुए ॥ ५ ॥

तं पुत्रं पूर्वकं राज्ये निक्षिप्य भुवि दुर्जयम्।
पृथिव्यां राजवंशानां भव कर्तेत्युवाच तम् ॥ ६ ॥

महाराज मनु ने अपने दुर्जेय पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को राज-सिंहासन पर बिठा कर, उनसे कहा—तुम राजा हो कर, इस पृथिवी पर राजवंशों की प्रतिष्ठा करो ॥ ६ ॥

तथैव च प्रतिज्ञातं पितुः पुत्रेण राघव।
ततः परमसन्तुष्टो मनुः पुत्रमुवाच ह ॥ ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! जब महाराज इक्ष्वाकु ने अपने पिता का यह कहना मान लिया; तब महाराज मनु बहुत सन्तुष्ट हो कर पुत्र से बोले ॥ ७ ॥

प्रीतोऽस्मि परमोदार कर्ता चासि न संशयः ।
दण्डेन च प्रजा रक्ष मा च दण्डमकारणे ॥ ८ ॥

हे परमोदार पुत्र! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। तुम वंशकर्त्ता होगे। तुम दण्ड द्वारा प्रजा की रक्षा करना, परन्तु किसी निरपराध को दण्ड मत देना ॥ ८ ॥

अपराधिषु यो दण्डः पात्यते मानवेषु वै ।
स दण्डो विधिवन्मुक्तः स्वर्गं नयति पार्थिवम् ॥ ९ ॥

अपराधी को जो यथोचित दण्ड दिया जाता है, वही राजा को स्वर्ग ले जाता है ॥ ९ ॥

तस्माद्दण्डे महाबाहो यत्नवान्भव पुत्रक ।
धर्मो हि परमो लोके कुर्वतस्ते भविष्यति ॥ १० ॥

अतएव, हे महाबाहो! हे बेटा! दण्ड देने में तुम बहुत सावधान रहना। शासन करते समय यथोचित रीत्या बड़े पुण्य की प्राप्ति होगी ॥ १० ॥

इति तं बहु सन्दिश्य मनुः पुत्रं समाधिना ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टो ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार अपने पुत्र को भली भाँति समझा बुझा कर, महाराज मनु समाधि द्वारा सनातन ब्रह्मलोक को चले गये ॥ ११ ॥

प्रयाते त्रिदिवे तस्मिन्निक्ष्वाकुरमितप्रभः ।
जनयिष्ये कथं पुत्रानिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ १२ ॥

उनके स्वर्गगामी होने पर महापराक्रमी इक्ष्वाकु को यह चिन्ता हुई कि, मैं पुत्र कैसे उत्पन्न करूँ ॥ १२ ॥

कर्मभिर्बहुरूपैश्च तैस्तैर्मनुसुतस्तदा ।
जनयामास धर्मात्मा शतं देवसुतोपमान् ॥ १३ ॥

फिर विविध प्रकार के यज्ञ और तप कर तथा दान दे, महाराज इक्ष्वाकु ने देवपुत्रों के समान सौ पुत्र उत्पन्न किये ॥ १३ ॥

तेषामवरजस्तात सर्वेषां रघुनन्दन ।
मूढश्चाकृतविद्यश्च न शुश्रूषति पूर्वजान् ॥ १४ ॥

हे राम ! उनमें जो सब से छोटा था, वह बड़ा मूर्ख और विद्याहीन था । वह अपने बड़ों की सेवा शुश्रुषा नहीं करता था ॥ १४ ॥

नाम तस्य च दण्डेति पिता चक्रेऽल्पतेजसः ।
अवश्यं दण्डपतनं शरीरेऽस्य भविष्यति ॥ १५ ॥

उस अल्पतेजस्वी पुत्र का नाम महाराज इक्ष्वाकु ने दण्ड रखा । यह नाम इस लिये रखा कि, उन्होंने समझ लिया कि, इस मूर्ख पर दण्डपात (इसकी मूर्खतावश) अवश्य होगा ॥ १५ ॥

अपश्यमानस्तं देशं घोरं पुत्रस्य राघव ।
विन्ध्यशैवलयोर्मध्ये राज्यं प्रादादरिन्दम ॥ १६ ॥

हे शत्रुसूदन! हे राम! जैसा दण्ड उद्दण्ड पुत्र था, वैसा ही इसके योग्य इक्ष्वाकु ने विन्ध्याचल और शैवल पर्वत के बीच के देश का अति घोर राज्य इसको दिया॥ १६॥

स दण्डस्तत्र राजाभूद्रम्ये पर्वतरोधसि।
पुरं चाप्रतिमं राम न्यवेशयदनुत्तमम्॥ १७॥

उन रम्य पर्वतों के बीच वाले देश का दण्ड राजा हुआ। हे राम! वहाँ उसने एक बहुत उत्तम नगर भी बसाया॥ १७॥

पुरस्य चाकरोन्नाम मधुमन्तमिति प्रभो।
पुरोहितं तूशनसं वरयामास सुव्रतम्॥ १८॥

हे राम! उस पुर का नाम मधुमन्त रक्खा और उसने सुव्रत शुक्राचार्य को अपना पुरोहित बनाया॥ १८॥

एवं स राजा तद्राज्यमकरोत्सपुरोहितः।
प्रहृष्टमनुजाकीर्णं देवराजो यथा दिवि॥ १९॥

राजा दण्ड अपने पुरोहित के साथ उस प्रसन्न प्रजाजनों से भरे पूरे देश का राज्य, वैसे ही करने लगे; जैसे इन्द्र देवलोक में राज्य करते हैं॥ १६॥

ततः स राजा मनुजेन्द्रपुत्रः
सार्धं च तेनोशनसा तदानीम्।
चकार राज्यं सुमहान्महात्मा
शक्रो दिवीवोशनसा समेतः॥ २०॥

इति एकोनाशीतितमः सर्गः॥

उस समय महाराज इक्ष्वाकु के पुत्र महात्मा दण्ड, शुक्राचार्य के साथ अपने विशाल राज्य का यथाविधि शासन वैसे ही करने लगे; जैसे इन्द्र स्वर्ग का राज्य करते हैं ॥ २० ॥

उत्तरकाण्ड का उनासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

अशीतितमः सर्गः

—:o:—

एतदाख्याय रामाय महर्षिः कुम्भसम्भवः ।
अस्यामेवापरं वाक्यं कथायामुपचक्रमे ॥ १ ॥

कुम्भयोनि महर्षि अगस्त्य जी श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार कह कर इसी कथा के आगे का वृत्तान्त कहने लगे ॥ १ ॥

ततः स दण्डः काकुत्स्थ बहुवर्षगणायुतम् ।
अकरोत्तत्र दान्तात्मा राज्यं निहतकण्टकम् ॥ २ ॥

वे बोले—हे राम ! इस प्रकार वह राजा दण्ड बहुत वर्षों तक जितेन्द्रिय होकर निष्कण्टक राज्य करता रहा ॥ २ ॥

अथ काले तु कस्मिंश्चिद्राजा भार्गवमाश्रमम् ।
रमणीयमुपाक्रामच्चैत्रे मासि मनोरमे ॥ ३ ॥

एक दिन चैत के मनोरम महीने में राजा दण्ड शुक्राचार्य के रमणीक आश्रम में गया ॥ ३ ॥

तत्र भार्गवकन्यां स रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
विचरन्तीं वनोद्देशे दण्डोऽपश्यदनुत्तमाम् ॥ ४ ॥

और वहाँ उसने विहार करती हुई परम सुन्दरी शुक्राचार्य की कन्या देखी। वह कन्या इस भूतल पर सौन्दर्य में अद्वितीय थी। वह उसी वनभूमि में विचर रही थी ॥ ४ ॥

स दृष्ट्वा तां सुदुर्मेधा अनङ्गशरपीडितः ।
अभिगम्य सुसंविग्नः कन्यां वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

मूर्ख राजा उसे देखते ही काम से पीड़ित हो गया और विकल हो उस कन्या के निकट गया और उससे कहने लगा ॥ ५ ॥

कुतस्त्वमसि सुश्रोणि कस्य वासि सुता शुभे ।
पीडितोऽहमनङ्गेन पृच्छामि त्वां शुभानने ॥ ६ ॥

हे सुश्रोणि! (पतली कमर वाली!) तू यहाँ कहाँ से आयी? तू किसकी लड़की है? हे शोभने! मैं इस समय काम से पीड़ित हो रहा हूँ। इसीसे मैं तुझसे पूँछ रहा हूँ ॥ ६ ॥

तस्य त्वेवं ब्रुवाणस्य मोहोन्मत्तस्य कामिनः ।
भार्गवी प्रत्युवाचेदं वचः सानुनयं त्विदम् ॥ ७ ॥

उस मोहोन्मत्त कामी के ऐसा कहने पर, शुक्राचार्य की कन्या नम्रता पूर्वक यह वचन बोली ॥ ७

भार्गवस्य सुतां विद्धि देवस्याक्लिष्टकर्मणः ।
अरजां नाम राजेन्द्र ज्येष्ठामाश्रमवासिनीम् ॥ ८ ॥

हे राजेन्द्र! मैं अक्लिष्टकर्मा शुक्राचार्य की ज्येष्ठा पुत्री हूँ। अरजा मेरा नाम है और मैं इसी आश्रम में रहती हूँ ॥ ८ ॥

मा मां स्पृश बलाद्राजन्कन्या पितृवशा ह्यहम् ।
गुरुः पिता मे राजेन्द्र त्वं च शिष्यो महात्मनः ॥९॥

हे राजन्! आप मुझको बरजोरी मत पकड़ो। क्योंकि मैं अभी क्वारी हूँ और अपने पिता के अधीन हूँ। हे राजेन्द्र! मेरे पिता तुम्हारे गुरु हैं और तुम उन महात्मा के शिष्य भी हो॥ ९॥

व्यसनं सुमहत्क्रुद्धः स ते दद्यान्महातपाः।
यदि वान्यन्मया कार्यं धर्मदृष्टेन सत्पथा॥ १०॥

यदि तुमने कोई अनुचित काम किया तो वे महातपा बहुत क्रुद्ध होंगे और तुम्हें विपत्ति में डाल देंगे। यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो मुझे धर्म विधि से वरण करो॥ १०॥

वरयस्व नरश्रेष्ठ पितरं मे महाद्युतिम्।
अन्यथा तु फलं तुभ्यं भवेद्घोराभिसंहितम्॥११॥

हे नरश्रेष्ठ! महाद्युतिमान मेरे पिता जी के पास जा कर तुम मेरे लिये प्रार्थना करो। अन्यथा करने से तुमको बड़ा बुरा फल भोगना पड़ेगा॥ ११॥

क्रोधेन हि पिता मेऽसौ त्रैलोक्यमपि निर्दहेत्।
दास्यते चानवद्याङ्ग तव मां याचितः पिता॥ १२॥

क्योंकि क्रुद्ध होने पर मेरे पिता जी त्रिलोकी को भस्म कर सकते हैं। हे अनन्दित! सम्भव है मेरे लिये प्रार्थना करने पर मेरे पिता मुझे तुमको दे भी दें॥ १२॥

एवं ब्रुवाणामरजां दण्डः कामवशं गतः।
प्रत्युवाच मदोन्मत्तः शिरस्याधाय चाञ्जलिम्॥१३॥

जब अरजा ने इस प्रकार कहा, तब काम से विकल एवं मदोन्मत्त राजा दण्ड हाथ जोड़, सिर नवा बोला ॥ १३ ॥

प्रसादं कुरु सुश्रोणि न कालं क्षेप्तुमर्हसि ।
त्वत्कृते हि मम प्राणा विदीर्यन्ते वरानने ॥ १४ ॥

हे सुश्रोणि ! अब मेरे ऊपर कृपा कर वृथा समय मत खो । हे वरानने ! तेरे पीछे अब मेरी जान निकलना चाहती है ॥ १४ ॥

त्वां प्राप्य तु वधो वापि पापं वापि सुदारुणम् ।
भक्तं भजस्व मां भीरु भजमानं सुविह्वलम् ॥ १५ ॥

तू मुझसे मिल जा । फिर भले ही मैं मारा जाऊँ, भले ही मुझे घोर पातक ही क्यों न लगे । हे भीरु ! मैं बहुत विकल हो रहा हूँ । अब तू अपने चाहने वाले को अपना ले ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा तु तां कन्यां दोर्भ्यां प्राप्य बलाद्बली ।
विस्फुरन्तीं यथा कामं मैथुनायोपचक्रमे ॥ १६ ॥

यह कह उस बलवान दण्ड ने बरजोरी दोनों हाथों से उस कन्या को आलिंगन किया और उस छटपटाती कन्या के साथ यथेष्ट विहार किया ॥ १६ ॥

तमनर्थं महाघोरं दण्डः कृत्वा सुदारुणम् ।
नगरं प्रययावाशु मधुमन्तमनुत्तमम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार वह राजा दण्ड यह गर्हित एवं भयानक अनर्थ करके, बड़ी फुर्ती के साथ अपनी मधुमन्त नामक राजधानी को चला गया ॥ १७ ॥

अरजापि रुदन्ती सा आश्रमस्याविदूरतः ।
प्रतीक्षते सुसंत्रस्ता पितरं देवसन्निभम् ॥ १८ ॥

इति अशीतितमः सर्गः ॥

उधर अरजा भी अपने आश्रम के समीप खड़ी हो और अत्यन्त दुःखी हो रोने लगी और अत्यन्त भयभीत हो देवता के समान अपने पिता की बाट जोहने लगी ॥ १८ ॥

उत्तरकाण्ड का अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकाशीतितमः सर्गः

:o:—

स मुहूर्तादुपश्रुत्य देवर्षिरमितप्रभः ।
स्वमाश्रमं शिष्यवृतः क्षुधार्तः संन्यवर्तत ॥ १ ॥

महाप्रतापी देवर्षि शुक्राचार्य जी ने इस घटना के एक मुहूर्त्त बाद ही यह वृत्तान्त सुना । सुनते ही वे अपने शिष्यों सहित अपने आश्रम में लौट आये । उस समय वे भूख के मारे विकल थे ॥ १ ॥

सोऽपश्यदरजां दीनां रजसा समभिप्लुताम् ।
ज्योत्स्नामिव ग्रहग्रस्तां प्रत्यूषे न विराजतीम् ॥ २ ॥

उन्होंने आश्रम में लौट कर देखा कि, अरजा दीन और धूल से भरी प्रातःकालीन फीकी पड़ी हुई जुन्हाई की तरह देख पड़ती है ॥ २ ॥

तस्य रोषः समभवत्क्षुधार्तस्य विशेषतः ।
निर्दहन्निव लोकांस्त्रीन् शिष्यांश्चैतदुवाच ह ॥ ३ ॥

एक तो वह महाभयङ्कर दुस्संवाद, दूसरे क्षुधा की पीड़ा। इन कारणों से ऋषि को बड़ा क्रोध उपजा। ऐसा जान पड़ा मानों वे तीनों लोकों को भस्म कर डालेंगे। उन्होंने (क्रोध में भर) अपने शिष्यों से कहा ॥ ३ ॥

पश्यध्वं विपरीतस्य दण्डस्याविदितात्मनः ।
विपत्तिं घोरसङ्काशां क्रुद्धादग्निशिखामिव ॥ ४ ॥

देखना, अनात्मज्ञ और विपरीत काम करने वाले दण्ड पर आज अग्निशिखा की तरह और मेरे क्रोध से उत्पन्न कैसी विपत्ति पड़ती है ॥ ४ ॥

क्षयोऽस्य दुर्मतेः प्राप्तः सानुगस्य महात्मनः ।
यः प्रदीप्तां हुताशस्य शिखां वै स्प्रष्टुमर्हति ॥ ५ ॥

इस दुष्ट ने धधकती हुई आग में हाथ लगाया है। अतएव परिवार सहित इस दुर्बुद्धि दुरात्मा का नाश समीप है ॥ ५ ॥

यस्मात्स कृतवान्पापमीदृशं घोरसंहितम् ।
तस्मात्प्राप्स्यति दुर्मेधाः फलं पापस्य कर्मणः ॥ ६ ॥

इस पापी ने ऐसा घोर दुराचार किया है; अतः इस मूर्ख को इस पापकर्म का फल मिलेगा ॥ ६ ॥

सप्तरात्रेण राजासौ सपुत्रबलवाहनः ।
पापकर्मसमाचारो वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः ॥ ७ ॥

यह दुर्मति राजा सात रात में पुत्र, सेना और वाहनों सहित नष्ट हो जायगा ॥ ७ ॥

समन्ताद्योजनशतं विषयं चास्य दुर्मतेः ।
धक्ष्यते पांसुवर्षेण महता पाकशासनः ॥ ८ ॥

इस दुष्ट राजा के राज्य को, चारों ओर सौ योजन तक इन्द्र, धूल की वृष्टि कर, ध्वस्त कर डालेंगे ॥ ८ ॥

सर्वसत्वानि यानीह स्थावराणि चराणि च ।
महता पांसुवर्षेण विलयं सर्वतोऽगमन् ॥ ९ ॥

यहाँ जितने चर और अचर जीव हैं, वे सब धूल की वृष्टि से नष्ट हो जाँयगे ॥ ९ ॥

दण्डस्य विषयो यावत्तावत्सर्वं समुच्छ्रयम् ।
पांसुवर्षमिवालक्ष्यं सप्तरात्रं भविष्यति ॥ १० ॥

दण्ड का जितना राज्य है, वह समूचा सात दिन की निरन्तर धूलवृष्टि से चौपट हो जायगा। इसका नाम निशान भी न देख पड़ेगा ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्षस्तमाश्रमनिवासिनम् ।
जनं जनपदान्तेषु स्थीयतामिति चाब्रवीत् ॥ ११ ॥

क्रोध में भरे होने के कारण लाल लाल नेत्र कर, शुक्राचार्य ने इस प्रकार राजा को शाप दे कर, उस आश्रमवासियों से कहा—तुम सब दण्ड के राज्य को त्याग कर कहीं दूसरी जगह चले जाओ ॥ ११ ॥

श्रुत्वा तूशनसो वाक्यं सोऽश्रमावसथो जनः ।
निष्क्रान्तो विषयात्तस्मात्स्थानं चक्रेऽथ बाह्यतः ॥१२॥

शुक्राचार्य के ये वचन सुन, उस आश्रम के रहने वाले लोग, उस राज्य को त्याग तुरन्त दूसरी जगह चले गये ॥ १२ ॥

स तथोक्त्वा मुनिजनमरजामिदमब्रवीत् ।
इहैव वस दुर्मेधे आश्रमे सुसमाहिता ॥ १३ ॥

शुक्राचार्य ने इस प्रकार आश्रमवासियों से कह कर, अरजा से कहा—हे दुर्बुद्धिन् ! तू इसी आश्रम में रह ॥ १३ ॥

इदं योजनपर्यन्तं सरः सुरुचिरप्रभम् ।
अरजे विज्वरा भुंक्ष्व कालश्चात्र प्रतीक्ष्यताम् ॥ १४ ॥

हे अरजे ! यह जो एक योजन का सुन्दर सरोवर है, इस पर तू निश्चिन्त हो कर, रह और अपने कर्मों का फल भोगती हुई काल की प्रतीक्षा कर अर्थात् यहीं रह कर अपने उद्धार के समय की बाट जोहती रह ॥ १४ ॥

त्वत्समीपे च ये सत्त्वा वासमेष्यन्ति तां निशाम् ।
अवध्याः पांसुवर्षेण ते भविष्यन्ति नित्यदा ॥ १५ ॥

उन सात रात्रियों में जो पशुपक्षी तेरे पास रहेंगे, वे उस धूल की वृष्टि से नष्ट नहीं होंगे ॥ १५ ॥

श्रुत्वा नियोगं ब्रह्मर्षेः सारजा भार्गवी तदा ।
तथेति पितरं प्राह भार्गवं भृशदुःखिता ॥ १६ ॥

ब्रह्मर्षि की इस आज्ञा को सुन, भार्गवनन्दिनी अरजा ने अत्यन्त दुःखी हो, उस आज्ञा को तत्काल स्वीकार कर लिया ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा भार्गवो वासमन्यत्र समकारयत् ।
तच्च राज्यं नरेन्द्रस्य सभृत्यबलवाहनम् ॥ १७ ॥

यह कह शुक्राचार्य भी अन्यत्र रहने के लिये चल दिये और भृत्य वाहन सहित वह राजा का राज्य ॥ १७ ॥

सप्ताहाद्भस्मसाद्भूतं यथोक्तं ब्रह्मवादिना ।
तस्यासौ दण्डविषयो विन्ध्यशैवलयोर्नृप ॥ १८ ॥

भार्गव मुनि के कथनानुसार सात दिन में धूलवृष्टि से ध्वस्त हो गया। हे राम! यह विन्ध्याचल और शैवलपर्वत के बीच में दण्ड का राज्य था ॥ १८ ॥

शप्तो ब्रह्मर्षिणा तेन वैधर्म्ये सहिते कृते ।
ततः प्रभृति काकुत्स्थ दण्डकारण्यमुच्यते ॥ १९ ॥

सो ब्रह्मर्षि के शाप के कारण उसे यह पाप का फल मिला और हे श्रीरामचन्द्र! तभी से इस देश का नाम दण्डकारण्य प्रसिद्ध हुआ है ॥ १९ ॥

तपस्विनः स्थिता ह्यत्र जनस्थानमतोऽभवत् ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि राघव ॥ २० ॥

हे राम! तपस्वियों के वास करने के कारण यह जनस्थान भी कहलाता है। हे राम! आपने जो पूँछा वह सब मैंने कहा ॥ २० ॥

सन्ध्यामुपासितुं वीर समयो ह्यतिवर्तते ।
एते महर्षयः सर्वे पूर्णकुम्भाः समन्ततः ॥ २१ ॥

हे वीर! अब सन्ध्योपासन करने का समय निकला जाता है। देखो, ये महर्षिगण अपने अपने घड़ों में जल भरे हुए चारों ओर से ॥ २१ ॥

कृतोदका नरव्याघ्र आदित्यं पर्युपासते।
स तैर्ब्राह्मगमभ्यस्तं सहितैर्ब्रह्मवित्तमैः।
रविरस्तं गतो राम गच्छोदकमुपस्पृश ॥ २२ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः

स्नानादिक कर सूर्योपस्थान में संलग्न हैं। हे पुरुषसिंह! अतएव इन सत्यवादी ब्राह्मणों के साथ बैठ कर, आचमनादि कर तुम भी सन्ध्योपासन करो। क्योंकि सूर्य अब अस्त हो चुके ॥ २२ ॥

उत्तरकाण्ड का इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

द्व्यशीतितमः सर्गः

—:०:—

ऋषेर्वचनमाज्ञाय रामः सन्ध्यामुपासितुम्।
अपाक्रामत्सरः पुण्यमप्सरोगणसेवितम् ॥ १ ॥

अगस्त्य जी की आज्ञा से श्रीरामचन्द्र जी अप्सराओं से सेवित उस निर्मल जल वाले तालाब के समीप सन्ध्योपासन करने को गये ॥ १ ॥

तत्रोदकमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
आश्रमं प्राविशद्रामः कुम्भयोनेर्महात्मनः ॥ २ ॥

वहाँ आचमन पूर्वक सायंसन्ध्योपासन कर चुकने के बाद श्रीरामचन्द्र जी, महात्मा अगस्त्य जी के आश्रम में लौट कर आ गये ॥ २ ॥

तस्यागस्त्यो बहुगुणं कन्दमूलं तथौषधम् ।
शाल्यादीनि पवित्राणि भोजनार्थमकल्पयत् ॥ ३ ॥

ऋषि अगस्त्य ने श्रीरामचन्द्र जी को बहुत से कन्दमूल, मसाले और साठी के चावल का भात आदि पवित्र भोज्य पदार्थ खाने के लिये दिये ॥ ३ ॥

स भुक्त्वा नरश्रेष्ठस्तदन्नममृतोपमम् ।
प्रीतश्च परितुष्टश्च तां रात्रिं समुपाविशत् ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य के दिये हुए अमृत समान पदार्थों को खा और हर्षित हो वह रात उसी आश्रम में रह कर बितायी ॥ ४ ॥

प्रभाते काल्यमुत्थाय कृत्वाह्निकमरिन्दमः ।
ऋषिं समुपचक्राम गमनाय रघूत्तमः ॥ ५ ॥

फिर प्रातःकाल उठ कर और सवेरे के आवश्यक कृत्यों से निश्चिन्त हो, विदा माँगने के लिये वे अगस्त्य जी के समीप गये ॥ ५ ॥

अभिवाद्याब्रवीद्रामो महर्षिं कुम्भसम्भवम् ।
आपृच्छे स्वाश्रमं गन्तुं मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रणाम कर अगस्त्य जी से कहा—भगवन् ! अब मुझे अपने स्थान पर जाने की आज्ञा दीजिये ॥ ६ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि दर्शनेन महात्मनः ।
द्रष्टुंचैवागमिष्यामि पावनार्थं महात्मनः ॥ ७ ॥

मैं धन्य हूँ। आपने मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया। आप जैसे महात्मा के दर्शन होने से मैं कृतार्थ हो गया। अपने को पवित्र करने के लिये मैं कभी कभी आपके दर्शन करने आया करूँगा॥ ७ ॥

तथा वदति काकुत्स्थे वाक्यमद्भुतदर्शनम् ।
उवाच परमप्रीतो [1]धर्मनेत्रस्तपोधनः ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे अद्भुत वचन सुन ज्ञानी एवं तपस्वी अगस्त्य जी हर्षित हो बोले ॥ ८ ॥

अत्यद्भुतमिदं वाक्यं तव राम शुभाक्षरम् ।
पावनः सर्वभूतानां त्वमेव रघुनन्दन ॥ ९ ॥

हे रघुनन्दन! सुन्दर अक्षरों की योजना से युक्त आपके ये वचन बड़े अद्भुत हैं और आप ही के कहने योग्य हैं। आप तो (स्वयं) समस्त प्राणियों को पावन करने वाले हैं॥ ९ ॥

मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन ।
पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्र! जो कोई थोड़ी देर भी तुम्हारा दर्शन करता है; वह समस्त लोकों को पवित्र करता हुआ स्वर्ग में जा देवताओं से पूजित होता है॥ १० ॥

ये च त्वां घोरचक्षुर्भिः पश्यन्ति प्राणिनो भुवि ।
हतास्ते यमदण्डेन सद्यो निरयगामिनः ॥ ११ ॥

---

१ धर्मनेत्रः—धर्मोनेत्रं ज्ञान-साधनं यस्य स तथा। (गो०)

और जो मर्त्यलोक वासीप्राणी तुम्हें बुरी निगाह से देखते हैं, वे यमदण्ड की मार खा कर नरकगामी होते हैं ॥ ११ ॥

ईदृशस्त्वं रघुश्रेष्ठ पावनः सर्वदेहिनाम् ।
भुवि त्वां कथयन्तो हि सिद्धिमेष्यन्ति राघव ॥ १२ ॥

हे रघुनाथ जी! आप समस्त प्राणियों को इस प्रकार के पवित्र करने वाले हैं। हे राघव! जो इस पृथिवीमण्डल पर आपके गुणानुवाद कीर्तन करेंगे, वे सिद्धि पावेंगे ॥ १२ ॥

त्वं गच्छारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ।
प्रशाधि राज्यं धर्मेण गतिर्हि जगतो भवान् ॥ १३ ॥

आप अपने स्थान को अब निर्भय हो कर पधारिये। मार्ग आपके लिये मङ्गलकारी हो। आप धर्मपूर्वक शासन कीजिये। क्योंकि आप ही जगत के (एक मात्र) रक्षक हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु मुनिना प्राञ्जलिः प्रग्रहो नृपः ।
अभ्यवादयत प्राज्ञस्तमृषिं सत्यशीलिनम् ॥ १४ ॥

जब मुनिराज ने इस प्रकार कहा, तब बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र जी ने उन सत्यशीलवान ऋषि को हाथ जोड़ कर प्रणाम किया ॥१४॥

अभिवाद्य ऋषिश्रेष्ठं तांश्च सर्वांस्तपोधनान् ।
अध्यारोहत्तदव्यग्रः पुष्पकं हेमभूषितम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी तथा उस आश्रम के अन्य सब ऋषियों को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी स्वस्थचित्त हो, सुवर्ण-भूषित पुष्पक विमान पर सवार हुए ॥ १५ ॥

तं प्रयान्तं मुनिगणा आशीर्वादैः समन्ततः ।
अपूजयन्महेन्द्राभं सहस्राक्षमिवामराः ॥ १६ ॥

उस समय चारों ओर से ऋषि लोग उनको आशीर्वाद देने लगे और उनकी स्तुति करने लगे, मानों देवता इन्द्र की स्तुति कर रहे हों ॥ १६ ॥

स्वस्थः स ददृशे रामः पुष्पके हेमभूषिते ।
शशी मेघसमीपस्थो यथा जलधरागमे ॥ १७ ॥

सुवर्णभूषित पुष्पक विमान में बैठे हुए आकाश में श्रीरामचन्द्र जी वैसे ही शोभायमान हुए जैसे वर्षाकालीन मेघमण्डल के निकट चन्द्रमा शोभायमान होता है ॥ १७ ॥

ततोऽर्धदिवसे प्राप्ते पूज्यमानस्ततस्ततः ।
अयोध्यां प्राप्य काकुत्स्थो मध्यकक्षामवातरत् ॥१८॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी रास्ते में जहाँ तहाँ सत्कारित हो दोपहर होते होते अयोध्या में पहुँच गये और (अपने राजभवन की) बीच की ड्योढ़ी पर उतर पड़े ॥ १८ ॥

ततो विसृज्य रुचिरं पुष्पकं कामगामिनम् ।
विसर्जयित्वा गच्छेति स्वस्ति तेऽस्त्विति च प्रभुः ॥१९॥

तब महाराज ने उस श्रेष्ठ एवं इच्छानुगामी विमान को आज्ञा दी कि, तुम्हारा मङ्गल हो, अब तुम जाओ ॥ १९ ॥

कक्षान्तरस्थितं क्षिप्रं द्वास्थं रामोऽब्रवीद्वचः ।
लक्ष्मणं भरतं चैव गत्वा तौ लघुविक्रमौ ।
ममागमनमाख्याय शब्दापयत[1] मा चिरम् ॥ २० ॥

इति द्व्यशीतितमः सर्गः ॥

---

१ शब्दापयत—दौवारकेणह्वयत्वमित्यर्थः । (रा०)

पुष्पक को विदा कर श्रीरामचन्द्र जी ने उस ड्योढ़ी के दरवान को सम्बोधन कर या बुला कर कहा—तुम शीघ्र जा कर श्रेष्ठ विक्रमी भरत और लक्ष्मण को मेरे आने की सूचना दो ॥२०॥

उत्तरकाण्ड का बयासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

त्र्यशीतितमः सर्गः

—:o:—

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
द्वास्थः कुमारावाहूय राघवाय न्यवेदयत् ॥ १ ॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पाकर, द्वारपाल दोनों भाइयों को जा कर बुला लाया और महाराज के सामने उनको उपस्थित कर दिया ॥ १ ॥

दृष्ट्वा तु राघवः प्राप्तावुभौ भरतलक्ष्मणौ।
परिष्वज्य ततो रामो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

दोनों भाई भरत और लक्ष्मण को आया हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी उनसे मिले भेंटे। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उन दोनों से कहा ॥ २ ॥

कृतं मया यथा तथ्यं द्विजकार्यमनुत्तमम्।
[1]धर्मसेतुमथो भूयः कर्तुमिच्छामि राघवौ ॥ ३ ॥

मैंने ब्राह्मण का काम तो ठीक ठीक कर दिया। अब मेरी इच्छा एक राजसूययज्ञ करने की है ॥ ३ ॥

---

१ धर्मसेतु—राजसूयमित्यर्थः। (गो०)

अक्षयश्चाव्ययश्चैव धर्मसेतुर्मतो मम ।
*धर्मप्रवचनं चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ४ ॥

क्योंकि मैं तो राजसूययज्ञ को अक्षय्य एवं अविनाशी पुण्यफल प्रदाता और समस्त पापों का नाश करने वाला समझता हूँ ॥ ४ ॥

युवाभ्यामात्मभूताभ्यां राजसूयमनुत्तमम् ।
सहितो यष्टुमिच्छामि तत्र धर्मस्तु शाश्वतः ॥ ५ ॥

अतः मैं तुम दोनों भाइयों की सहायता से यज्ञों में श्रेष्ठ इस राजसूययज्ञ को करना चाहता हूँ। क्योंकि उसमें स्थायी सनातन धर्म है। अथवा राजसूययज्ञ करने से अक्षय्य धर्म फल या पुण्यफल की प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

इष्ट्वा तु राजसूयेन मित्रः शत्रुनिबर्हणः ।
सुहुतेन सुयज्ञेन वरुणत्वमुपागमत् ॥ ६ ॥
सोमश्च राजसूयेन इष्ट्वा धर्मेण धर्मवित् ।
प्राप्तश्च सर्वलोकेषु कीर्तिस्थानं च शाश्वतम् ॥ ७ ॥

देखो, मित्र देवता ने राजसूय यज्ञ कर वरुणत्व पाया था। इसी यज्ञानुष्ठान द्वारा धर्मात्मा सोम ने धर्मपूर्वक राजसूययज्ञ कर के लोकों में अमिट कीर्ति और अक्षय्यपद पाया है ॥ ६ ॥ ७ ॥

अस्मिन्नहनि यच्छ्रेयश्चिन्त्यतां तन्मया सह ।
हितं चायतियुक्तं च प्रयतौ वक्तुमर्हथः ॥ ८ ॥

अतएव आज ही तुम दोनों मेरे साथ विचार करके इस विषय में जो हितकर और उत्तरकाल में सुखकारक हो सो बतलाओ ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—" धर्मप्रसाधकंश्चैतत् । "

श्रुत्वा तु राघवस्यैतद्वाक्यं वाक्यविशारदः ।
भरतः प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ९ ॥

बोलने में चतुर भरत जी ने श्रीरामचन्द्र के ये वचन सुन कर, हाथ जोड़ कर कहा ॥ ६ ॥

त्वयि धर्मः परः साधो त्वयि सर्वा वसुन्धरा ।
प्रतिष्ठिता महाबाहो यशश्चामितविक्रम ॥ १० ॥

हे अमितपराक्रमी महाबाहु श्रीराम ! हे साधो ! आप ही में सर्वोत्कृष्ट धर्म, समस्त पृथिवी और यश प्रतिष्ठित हैं ॥ १० ॥

महीपालाश्च सर्वे त्वां प्रजापतिमिवामराः ।
निरीक्षन्ते महात्मानं लोकनाथं यथा वयम् ॥ ११ ॥

जितने राजा लोग हैं, वे सब और हम दोनों आपको वैसा ही मानते हैं जैसा कि, ब्रह्मा को सब देवता लोग मानते हैं । वे आपको महात्मा और लोकनाथ समझते हैं ॥ ११ ॥

*पुत्राश्च पितृवद्राजन्पश्यन्ति त्वां महाबल ।
पृथिव्या गतिभूतोसि प्राणिनामपि राघव ॥ १२ ॥

हे महाबल ! जैसे पुत्र अपने पिता को मानते हैं, वैसे ही वे आपको मानते हैं । हे राघव ! आप पृथिवी के गतिरूप और समस्त प्राणियों के आधारभूत हैं ॥ १२ ॥

स त्वमेवंविधं यज्ञमाहर्तासि कथं नृप ।
पृथिव्यां राजवंशानां विनाशो यत्र दृश्यते ॥ १३ ॥

---

* पाठान्तरे—" प्रजाश्च ।"

(तिस पर भी) जिस यज्ञ के करने में अनेक पृथिवी के राजवंशों के क्षय होने की सम्भावना है; हे रघुनाथ! आप उस राजसूययज्ञ का अनुष्ठान क्यों करना चाहते हैं? ॥ १३ ॥

पृथिव्यां ये च पुरुषा राजन्पौरुषमागताः ।
सर्वेषां भविता तत्र संक्षयः सर्वकोपजः ॥ १४ ॥

हे राजन्! पृथिवी में जितने पराक्रमी पुरुष हैं, उन सब का आपके क्रोध से निश्चय ही नाश हो जायगा ॥ १४ ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल गुणैरतुलविक्रम ।
पृथिवीं नार्हसे हन्तुं वशे हि तव वर्तते ॥ १५ ॥

अतएव हे पुरुषसिंह! हे अतुल पराक्रमी! आपको पृथिवी के समस्त वीरों का नाश करना उचित नहीं; क्योंकि ये सब तो आपके वश में हैं ही ॥ १५ ॥

भरतस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वाऽमृतमयं यथा ।
प्रहर्षमतुलं लेभे रामः सत्यपराक्रमः ॥ १६ ॥

सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी भरत जी के यह अमृतमय जैसे वचन सुन कर, बहुत प्रसन्न हुए ॥ १६ ॥

उवाच च शुभं वाक्यं कैकेय्यानन्दवर्धनम् ।
प्रीतोऽस्मि परितुष्टोऽस्मि तवाद्य वचनेऽनघ ॥ १७ ॥

और कैकेई के आनन्द बढ़ाने वाले भरत जी से यह शुभ वचन बोले—हे पापरहित! तुम्हारे कथन से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ हूँ ॥ १७ ॥

इदं वचनमक्लीबं त्वया धर्मसमाहितम् ।
व्याहृतं पुरुषव्याघ्र पृथिव्याः परिपालनम् ॥ १८ ॥

हे पुरुषसिंह! ये तुम्हारे वचन, वीरतायुक्त एवं धर्मसम्मत हैं तथा पृथ्वी के वीरों की रक्षा करने वाले हैं ॥ १८ ॥

एष्यदस्मदभिप्रायाद्राजसूयात्क्रतूत्तमात् ।
निवर्तयामि धर्मज्ञ तव सुव्याहृतेन च ॥ १९ ॥

हे धर्मज्ञ! तुम्हारे इस कथन को सुन अब मैं इस सर्वश्रेष्ठ राजसूय यज्ञ करने का विचार त्यागे देता हूँ ॥ १९ ॥

लोकपीडाकरं कर्म न कर्तव्यं विचक्षणैः ।
बालानां तु शुभं वाक्यं ग्राह्यं लक्ष्मणपूर्वज ।
तस्माच्छृणोमि ते वाक्यं साधुयुक्तं *महाबल ॥ २० ॥

इति त्र्यशीतितमः सर्गः ॥

क्योंकि चतुर लोगों को ऐसा कोई काम न करना चाहिये जिससे लोगों को पीड़ा पहुँचे। हे भरत! युक्तियुक्त वचन तो बालकों के भी मान लेने चाहिये। हे महाबली! अतः मैं तुम्हारा यह उत्तम कथन मानता हूँ ॥ २० ॥

उत्तरकाण्ड का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

चतुरशीतितमः सर्गः

—:०:—

तथोक्तवति रामे तु भरते च महात्मनि ।
लक्ष्मणोऽथ शुभं वाक्यमुवाच रघुनन्दनम् ॥ १ ॥

---

* पाठान्तरे—"महामते।"

जब महात्मा भरत जी से श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से यह मनोहर वचन कहे ॥१॥

अश्वमेधो महायज्ञः पावनः सर्वपाप्मनाम् ।
पावनस्तव दुर्धर्षो रोचतां रघुनन्दन ॥ २ ॥

हे रघुनन्दन ! सम्पूर्ण पापों से पवित्र करने वाला अश्वमेध यज्ञ है । हे दुर्धर्ष ! यदि आपकी इच्छा हो तो यही यज्ञ कीजिये ॥ २ ॥

श्रूयते हि पुरावृत्तं वासवे सुमहात्मनि ।
ब्रह्महत्यावृतः शक्रो हयमेधेन पावितः ॥ ३ ॥

एक पुरानी कथा ऐसी सुनी है कि, इन्द्र को जिस समय ब्रह्महत्या लगी थी, उस समय उन्होंने यही यज्ञ किया था और इसके करने से वे पवित्र हुए थे ॥ ३ ॥

पुरा किल महाबाहो देवासुरसमागमे ।
वृत्रो नाम महानासीद्दैतेयो लोकसम्मतः ॥ ४ ॥

हे महाबाहो ! पूर्वकाल में देवासुरयुद्ध में लोकपूजित वृत्र नाम का एक बड़ा नामी दैत्य था ॥ ४ ॥

विस्तीर्णो योजनशतमुच्छ्रितस्त्रिगुणं ततः ।
[1]अनुरागेण लोकांस्त्रीन्स्नेहात्पश्यति सर्वतः ॥ ५ ॥

वह सौ योजन चौड़ा और तीन सौ योजन लंबा था । तीनों लोकों पर अपना स्वत्वाधिकार होने का उसे अभिमान था और वह तीनों लोकों को स्नेह की दृष्टि से देखता था ॥ ५ ॥

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च बुद्ध्या च परिनिष्ठितः।
शशास पृथिवीं स्फीतां धर्मेण सुसमाहितः॥ ६॥

वह बड़ा धर्मज्ञ, कृतज्ञ और बुद्धिमान था। वह भरीपूरी पृथिवी का धर्म से (ईमानदारी से) सावधानतापूर्वक शासन करता था॥६॥

तस्मिन्प्रशासति तदा सर्वकामदुघा मही।
रसवन्ति प्रसूनानि मूलानि च फलानि च॥ ७॥

उसके राज्य में यह पृथिवी कामधेनु की तरह सम्पूर्ण पदार्थों को यथोचित रीत्या उत्पन्न करती थी और रसीले एवं स्वादिष्ट फल फूल और मूल होते थे॥ ७॥

अकृष्टपच्या पृथिवी सुसम्पन्ना महात्मनः।
स राज्यं तादृशं भुंक्ते स्फीतमद्भुतदर्शनम्॥ ८॥

बिना जोते अन्न उत्पन्न होता था। इस प्रकार वह बहुत समय तक भरापूरा और अद्भुत राज्य करता रहा॥ ८॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना तपः कुर्यामनुत्तमम्।
तपो हि परमं श्रेयः संमोहमितरत्सुखम्॥ ९॥

एक बार उसके मन में यह बात आयी कि, मैं उत्तम तप करूँ। क्योंकि तप ही कल्याणकारक है। संसार के अन्य सुख तो अज्ञान की वृद्धि करने वाले या मोह उत्पन्न करने वाले हैं॥ ९॥

स निक्षिप्य सुतं ज्येष्ठं पौरेषु मधुरेश्वरम्।
तप उग्रं समातिष्ठत्तापयन्सर्वदेवताः॥ १०॥

इस प्रकार विचार कर मधुरेश्वर अपने ज्येष्ठपुत्र को राज्य दे, समस्त देवताओं को भय देनेवाला उग्र तप करने लगा॥ १०॥

तपस्तप्यति वृत्रे तु वासवः परमार्तवत् ।
विष्णुं समुपसंक्रम्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ११ ॥

उसे ऐसा तप करते देख, इन्द्र बड़े दुःखी हो, विष्णु के पास गये और उनसे बोले ॥ ११ ॥

तपस्यता महाबाहो लोकाः *सर्वे विनिर्जिताः ।
बलवान्स हि धर्मात्मा नैनं शक्ष्यामि शासितुम् ॥१२॥

हे महाबाहो! वृत्र ने तपोबल से सब लोकों को जीत लिया है। एक तो वह बलवान दूसरे वह धर्मात्मा भी है। अतः मैं उसका शासन नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

यद्यसौ तप आतिष्ठेद्भूय एव सुरेश्वर ।
यावल्लोका धरिष्यन्ति तावदस्य वशानुगाः ॥ १३ ॥

हे सुरेश्वर! यदि वह फिर तप करना आरम्भ कर देगा, तो जब तक ये सब लोक विद्यमान रहेंगे; तब तक उसीके वश में रहेंगे ॥ १३ ॥

तं चैनं परमोदारमुपेक्षसि महाबल ।
क्षणं हि न भवेद्वृत्रः क्रुद्धे त्वयि सुरेश्वर ॥ १४ ॥

हे महाबल! हे सुरेश्वर! अतएव आप उस परमोदार की उपेक्षा न करें। आप यदि क्रोध करेंगे तो यह एक क्षण भी जीवित न रह सकेगा ॥ १४ ॥

यदा हि प्रीतिसंयोगं त्वया विष्णो समागतः ।
तदाप्रभृति लोकानां नाथत्वमुपलब्धवान् ॥ १५ ॥

---

* पाठान्तरे—" वृत्रेण निर्जिताः । "

हे विष्णो! जब से वह आपका प्रीतिपात्र बना है, तभी से वह लोकों का मालिक हो गया है ॥ १५ ॥

स त्वं प्रसादं *लोकानां कुरुष्व सुसमाहितः ।
त्वत्कृतेन हि सर्वं स्यात्प्रशान्तमरुजं जगत् ॥१६॥

हे भगवन्! अतएव आप लोकों पर कृपा कीजिये। आप ही के किये यह सारा जगत् शान्त और व्यथारहित होगा ॥ १६ ॥

इमे हि सर्वे विष्णो त्वां निरीक्षन्ते दिवौकसः ।
वृत्रघातेन महता तेषां साह्यं कुरुष्व ह ॥ १७ ॥

हे विष्णो! यह देवता लोग आप ही की ओर दीनमुख हो देखते हैं। अतएव उस वृत्रासुर को मार कर, उनकी पूरी सहायता कीजिये ॥ १७ ॥

त्वया हि नित्यशः साह्यं कृतमेषां महात्मनाम् ।
असह्यमिदमन्येषामगतीनां गतिर्भवान् ॥ १८ ॥

इति चतुरशीतितमः सर्गः

आप तो इन देवताओं की सदा से सहायता करते आये हैं। आपको छोड़ और कोई इनकी सहायता नहीं कर सकता। क्योंकि जिसकी कोई गति नहीं उसकी गति आप ही हैं। अथवा अनाथों के नाथ आप ही हैं ॥ १८ ॥

उत्तरकाण्ड का चौरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

* पाठान्तरे—"देवानां"।

पञ्चाशीतितमः सर्गः

—:o:—

लक्ष्मणस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा शत्रुनिवर्हणः ।
वृत्रघातमशेषेण कथयेत्याह सुव्रत ॥ १ ॥

लक्ष्मण के ये वचन सुन कर श्रीरामचन्द्र ने कहा—हे सुव्रत ! वृत्रासुर के वध की पूरी कथा कहो ॥ १ ॥

राघवेणैवमुक्तस्तु सुमित्रानन्दवर्धनः ।
भूय एव कथां दिव्यां कथयामास सुव्रतः ॥ २ ॥

सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन उस दिव्य कथा को कहने लगे ॥ २ ॥

सहस्राक्षवचः श्रुत्वा सर्वेषां च दिवौकसाम् ।
विष्णुर्देवानुवाचेदं सर्वानिन्द्रपुरोगमान् ॥ ३ ॥

हे श्रीराम ! उस समय इन्द्रादि समस्त देवताओं का गिड़गिड़ाना सुन, भगवान् विष्णु बोले ॥ ३ ॥

पूर्वं सौहृदबद्धोस्मि वृत्रस्येह महात्मनः ।
तेन युष्मत्प्रियार्थं हि नाहं हन्मि महासुरम् ॥ ४ ॥

हे देवताओ ! मैं वृत्रासुर के मैत्रीरूपी बन्धन से बहुत काल से बँधा हुआ हूँ अथवा वृत्रासुर की मुझमें बहुत दिनों से प्रीति है। अतएव आप लोगों को प्रसन्न करने के लिये, मैं उसे मार नहीं सकता ॥ ४ ॥

अवश्यं करणीयं च भवतां सुखमुत्तमम् ।
तस्मादुपायमाख्यास्ये सहस्राक्षो वधिष्यति ॥ ५ ॥

परन्तु साथ ही तुम लोगों के सुख का उपाय भी मुझे अवश्य करना है ; अतएव मैं ऐसा उपाय बतला दूँगा, जिससे इन्द्र उस वृत्रासुर को मार डालेंगे ॥ ५ ॥

*त्रेधाभूतं करिष्यामि आत्मानं सुरत्तमाः ।
तेन वृत्रं सहस्राक्षो वधिष्यति न संशयः ॥ ६ ॥

हे सुरश्रेष्ठ ! मैं अपने तीन भाग कर वृत्रासुर का वध इन्द्र के हाथ से करवा दूँगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६ ॥

एकांशो वासवं यातु द्वितीयो वज्रमेव तु ।
तृतीयो भूतलं †यातु तदा वृत्रं हनिष्यति ॥ ७ ॥

मेरे तीन भागों में से एक तो इन्द्र में व्याप्त होगा, दूसरा वज्र में रहेगा और तीसरा भूतल में । तब वृत्रासुर का वध होगा ॥ ७ ॥

तथा ब्रुवति देवेशे देवा वाक्यमथाब्रुवन् ।
एवमेतन्न सन्देहो यथा वदसि दैत्यहन् ॥ ८ ॥
भद्रं तेस्तु गमिष्यामि वृत्रासुरवधैषिणः ।
भजस्व परमोदार वासवं स्वेन तेजसा ॥ ९ ॥

भगवान् विष्णु के ऐसा कहने पर देवता कहने लगे—हे दैत्यनिकन्दन ! बहुत अच्छा । आप निस्सन्देह ऐसा ही करें । आपका मङ्गल हो । हम तो वृत्रासुर का वध चाहते हैं और अब हम लोग जाते हैं । हे परमोदार ! आप अपने तेज से इन्द्र में व्याप्त हूजिये ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"त्रिधाभूतं ।" † पाठान्तरे—"शक्रः ।"

ततः सर्वे महात्मानः सहस्राक्षपुरोगमाः ।
तदारण्यमुपाक्रामन्यत्र वृत्रो महासुरः ॥ १० ॥

तदनन्तर इन्द्रादि समस्त देवता उस वन में गये, जिसमें महासुर वृत्र तप कर रहा था ॥ १० ॥

ते पश्यंस्तेजसा भूतं तपन्तमसुरोत्तमम् ।
पिबन्तमिव लोकांस्त्रीन्निर्दहन्तमिवाम्बरम् ॥ ११ ॥

वहाँ जा कर देवताओं ने तप करते हुए उस दैत्य को देखा। वह अपने तप के तेज से, तीनों लोकों को जीतता हुआ, आकाश को भस्म सा किये डालता था ॥ ११ ॥

दृष्ट्वैव चासुरश्रेष्ठं देवास्त्रासमुपागमन् ।
कथमेनं वधिष्यामः कथं न स्यात्पराजयः ॥ १२ ॥

वृत्रासुर के उस रूप ही को देख कर समस्त देवता भयभीत हो गये और (आपस में) कहने लगे, हम इसे किस प्रकार मारें, जिससे हम लोगों की हार न हो ॥ १२ ॥

तेषां चिन्तयतां तत्र सहस्राक्षः पुरन्दरः ।
वज्रं प्रगृह्य पाणिभ्यां प्राहिणोद्वृत्रमूर्धनि ॥ १३ ॥

उनके इस प्रकार कहने पर सहस्राक्ष इन्द्र ने हाथ में वज्र ले कर वृत्रासुर के सिर में मारा ॥ १३ ॥

कालाग्निनेव घोरेण दीप्तेनेव महार्चिषा ।
पतता वृत्रशिरसा जगत्त्रासमुपागमत् ॥ १४ ॥

कालाग्नि के समान भयङ्कर, प्रदीप्त एवं महाशिखायुक्त उस वज्र के प्रहार से वृत्रासुर का सिर (कट कर) गिर पड़ा। इससे तीनों लोकवासी डर गये ॥ १४ ॥

[1]असम्भाव्यं वधं तस्य वृत्रस्य विबुधाधिपः।
चिन्तयानो जगामाशु लोकस्यन्तं महायशाः ॥ १५ ॥

महायशस्वी इन्द्र उसके वध को अनुचित विचार कर ऐसे भागे कि लोकावज नामक पहाड़ के उस पार घोर अन्धकार में चले गये ॥ १५ ॥

तमिन्द्रं ब्रह्महत्याशु गच्छन्तमनुगच्छति।
अपतच्चास्य गात्रेषु तमिन्द्रं दुःखमाविशत् ॥ १६ ॥

परन्तु ब्रह्महत्या ने वहाँ भी उनका पीछा किया और वह उनके शरीर में घुस गयी, जिससे इन्द्र बड़े दुखी हुए ॥ १६ ॥

हतारयः प्रनष्टेन्द्रा देवाः साग्निपुरोगमाः।
विष्णुं त्रिभुवनेशानं मुहुर्मुहुरपूजयन् ॥ १७ ॥

इस प्रकार वृत्रासुर के मारे जाने और इन्द्र के गुप्त हो जाने से अग्नि को साथ ले समस्त देवता त्रिलोकेश्वर भगवान विष्णु के शरण में गये और बार बार उनकी स्तुति कर के कहने लगे ॥ १७ ॥

त्वं गतिः परमेशान पूर्वजो जगतः पिता।
रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥ १८ ॥

हे प्रभो! आप ही इस जगत की गति है, आप ही सब के उत्पन्न करने वाले पिता हैं, आप ही इस दृश्यमान ब्रह्माण्ड के

---

१ असम्भाव्यं—अनुचितं (गो०) १ लोकस्यान्तं—अन्तप्रदेशं लोकालोकात्परं तमःप्रदेशं। (गो०)

आदि कारण हैं। सब प्राणियों की रक्षा के लिये आपने विष्णु रूप धारण किया है ॥ १८ ॥

हतश्चायं त्वया वृत्रो ब्रह्महत्या च वासवम् ।
बाधते सुरशार्दूल मोक्षं तस्य विनिर्दिश ॥ १९ ॥

हे देवताओं में श्रेष्ठ! वृत्रासुर तो मारा गया परन्तु अब इन्द्र को ब्रह्महत्या सता रही है। अब ब्रह्महत्या के छूटने का कोई उपाय बतलाइये ॥ १६ ॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ।
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ॥ २० ॥

उन देवताओं का यह कथन सुन कर भगवान् विष्णु बोले—हे देवताओं! इन्द्र से कहो कि मेरा आराधन करें तो मैं उनको पवित्र कर दूंगा ॥ २० ॥

पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ।
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः ॥ २१ ॥

अश्वमेध द्वारा मेरा आराधन करने से पवित्र हो कर, इन्द्र पुनः इन्द्रासन पर बैठ तुम्हारे देवलोक अर्थात् स्वर्ग का निर्भय हो राज्य करेंगे ॥ २१ ॥

एवं सन्दिश्य तां वाणीं देवानां चामृतोपमाम् ।
जगाम विष्णुर्देवेशः स्तूयमानस्त्रिविष्टपम् ॥ २२ ॥

इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

इस प्रकार देवताओं को अमृतमयी (मधुर) वाणी से उपदेश दे और देवताओं से पूजित हो, भगवान् विष्णु वैकुण्ठ को चले गये ॥ २२ ॥

उत्तरकाण्ड का पचासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

षडशीतितमः सर्गः

—:o:—

तदा वृत्रवधं सर्वमखिलेन स लक्ष्मणः ।
कथयित्वा नरश्रेष्ठः कथाशेषं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

इस प्रकार लक्ष्मण जी वृत्रासुर के वध की आदि से कथा कह कर बची हुई कथा कहने लगे ॥ १ ॥

ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयङ्करे ।
ब्रह्महत्यावृतः शक्रः संज्ञां लेभेन वृत्रहा ॥ २ ॥

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
कालं तत्रावसत्कञ्चिद्वेष्टमान इवोरगः ॥ ३ ॥

जब देवताओं को भयभीत करने वाला महाबलवान् वृत्रासुर मारा गया, तब ब्रह्महत्या लगने के कारण इन्द्र अचेत हो अँधेरे में, गेंडुरी मारे सर्प की तरह चुपचाप कुछ दिनों तक बैठे रहे ॥ २ ॥ ३ ॥

अथ नष्टे सहस्राक्षे उद्विग्नमभवज्जगत् ।
भूमिश्च ध्वस्तसङ्काशा निःस्नेहा शुष्ककानना ॥४॥

उनके गुम हो जाने से सारा जगत् घबड़ा उठा। पृथिवी ध्वस्त सी हो स्नेहहीन हो गयी। जंगल सूख गये ॥ ४ ॥

निःस्रोतसस्ते सर्वे तु ह्रदाश्च सरितस्तथा।
संक्षोभश्चैव सत्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ॥ ५ ॥

बड़े बड़े तालावों या झीलों में और नदियों में जल ही न रह गया। विना जलवृष्टि के सारी प्रजा घबड़ा गयी ॥ ५ ॥

क्षीयमाणे तु लोकेऽस्मिन्संभ्रान्तमनसः सुराः।
यदुक्तं विष्णुना पूर्वं तं यज्ञं समुपानयन् ॥ ६ ॥

संसार की यह दशा देख और लोकों के नष्ट हो जाने की शङ्का कर, देवता भी घबड़ा उठे। फिर भगवान् विष्णु की आज्ञा को स्मरण कर देवताओं ने यज्ञानुष्ठान आरम्भ किया ॥ ६ ॥

ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः।
तं देशं समुपाजग्मुर्यत्रेन्द्रो भयमोहितः ॥ ७ ॥

(सब से प्रथम) समस्त देवता अपने साथ उपाध्यायों और महर्षियों को ले, वहाँ गये जहाँ भय से भीत होने के कारण इन्द्र अचेत हो बैठे हुए थे ॥ ७ ॥

ते तु दृष्ट्वा सहस्राक्षमावृतं ब्रह्महत्यया।
तं पुरस्कृत्य देवेशमश्वमेधं प्रचक्रिरे ॥ ८ ॥

इन देवताओं ने इन्द्र को ब्रह्महत्या से युक्त देख कर, उनको यज्ञदीक्षा में बिठा, अश्वमेध यज्ञ करना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

ततोऽश्वमेधः सुमहान्महेन्द्रस्य महात्मनः।
वधृते ब्रह्महत्यायाः पावनार्थं नरेश्वर ॥ ९ ॥

हे राजन्! तब इन्द्र की ब्रह्महत्या छुटाने के लिये, बड़ी धूमधाम से अश्वमेध यज्ञ होने लगा ॥ ९ ॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ब्रह्महत्या महात्मनः।
अभिगम्याब्रवीद्वाक्यं क मे स्थानं विधास्यथ ॥ १० ॥

जब यज्ञ समाप्त हुआ; तब वह ब्रह्महत्या इन्द्र के शरीर से निकल (स्त्री का रूप धारण कर) कहने लगी—मेरे रहने के लिये लोग मुझे कौनसा स्थान देते हैं ॥ १० ॥

ते तामूचुस्ततो देवास्तुष्टाः प्रीतिसमन्विताः।
चतुर्धा विभजात्मानमात्मानैव दुरासदे ॥ ११ ॥

ब्रह्महत्या का यह वचन सुन, देवता लोग सन्तुष्ट और प्रसन्न हो कर बोले—हे दुरासदे! तू अपने चार टुकड़े कर डाल ॥ ११ ॥

देवानां भाषितं श्रुत्वा ब्रह्महत्या महात्मनाम्।
संदधौ स्थानमन्यत्र वरयामास दुर्वसा ॥ १२ ॥

देवताओं की बात सुन कर, ब्रह्महत्या ने अपने चार टुकड़े कर डाले और दूसरी जगह रहने के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

एकेनांशेन वत्स्यामि पूर्णोदासु नदीषु वै।
चतुरो वार्षिकान्मासान्दर्पघ्नी कामचारिणी ॥ १३ ॥

हे देवताओं! मैं अपने एक अंश (टुकड़े) से बरसात में, चार मास तक, जल से पूर्ण नदियों में उनका अहङ्कार का नाश करती हुई यथेष्ट सञ्चार करूँगी ॥ १३ ॥

भूम्यामहं सर्वकालमेकेनांशेन सर्वदा ।
वसिष्यामि न सन्देहः सत्येनैतद्ब्रवीमि वः ॥ १४ ॥

दूसरे अंश से मैं सदैव पृथिवी में (ऊसर रूप से) वास करूँगी । मेरे इस कथन में कुछ भी सन्देह नहीं है । मैं यह बात सत्य सत्य कहती हूँ ॥ १४ ॥

योऽयमंशस्तृतीयो मे स्त्रीषु यौवनशालिषु ।
त्रिरात्रं दर्पपूर्णासु वसिष्ये दर्पघातिनी ॥ १५ ॥

तीसरे अंश से मैं दर्पवती युवती स्त्रियों की योनि में उनका दर्प चूर्ण करने के लिये एक मास में तीन दिन वास करूँगी ॥ १५ ॥

हन्तारो ब्राह्मणान्ये तु मृषापूर्वमदूषकान् ।
तांश्चतुर्थेन भागेन संश्रयिष्ये सुरर्षभाः ॥ १६ ॥

तथा चौथे अंश से, हे सुरश्रेष्ठों ! मैं उन हत्यारों में रहूँगी, जो निरपराध (अथवा झूठे दोष लगा कर) ब्राह्मणों को मारेंगे ॥ १६ ॥

प्रत्यूचुस्तां ततो देवा यथा वदसि दुर्वसे ।
तथा भवतु तत्सर्वं साधयस्व यदीप्सितम् ॥ १७ ॥

ब्रह्महत्या के ये वचन सुन कर, सब देवता कहने लगे कि हे दुष्ट निवासिनी ! तू जैसा कह रही है, वैसा ही कर ॥ १७ ॥

ततः प्रीत्यान्विता देवाः सहस्राक्षं ववन्दिरे ।
विज्वरः पूतपाप्मा च वासवः समपद्यत ॥ १८ ॥

यह कह कर समस्त देवताओं ने प्रसन्न हो, इन्द्र को प्रणाम किया और इन्द्र भी पवित्र और चिन्तारहित होने के कारण बड़े प्रसन्न हुए ॥ १८ ॥

प्रशान्तं च जगत्सर्वं सहस्राक्षे प्रतिष्ठिते ।
यज्ञं चाद्भुतसङ्काशं तदा शक्रोऽभ्यपूजयत् ॥ १९ ॥

जब इन्द्र अपने इन्द्रासन पर पुनः जा विराजे ; तब सब जगत् शान्त हो गया और इन्द्र ने उस अद्भुत यज्ञ की बड़ी प्रतिष्ठा की ॥ १९ ॥

ईदृशो ह्यश्वमेधस्य प्रसादो रघुनन्दन ।
यजस्व सुमहाभाग हयमेधेन पार्थिव ॥ २० ॥

हे राम ! अश्वमेध यज्ञ की ऐसी महिमा है । हे महाभाग ! अतएव आप भी अश्वमेध यज्ञ कीजिये ॥ २० ॥

इति लक्ष्मणवाक्यमुत्तमं
नृपतिरतीव मनोहरं महात्मा ।
परितोषमवाप हृष्टचेताः
स निशम्येन्द्र समानविक्रमौजाः ॥ २१ ॥

इति षडशीतितमः सर्गः ॥

इन्द्र के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण के कहे इन उत्तम और मनोहर वचनों को सुन कर परम सन्तुष्ट और परम प्रसन्न हुए ॥ २१ ॥

उत्तरकाण्ड का छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

सप्ताशीतितमः सर्गः

—:o:—

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणेनोक्तं वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महातेजाः प्रहसन् राघवो वचः ॥ १ ॥

बोलने वालों में श्रेष्ठ, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन कर और मुसक्या कर यह कहा ॥ १ ॥

एवमेव नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण ।
वृत्रघातमशेषेण वाजिमेधफलं च यत् ॥ २ ॥

हे नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! तुमने जो यह कथा कही सो ऐसी ही है। वृत्रासुर के वध की कथा और अश्वमेध का फल ऐसा ही है ॥ २ ॥

श्रूयते हि पुरा सौम्य कर्दमस्य प्रजापतेः ।
पुत्रो बाल्हीश्वरः श्रीमानिलो नाम सुधार्मिकः ॥३॥

हे सौम्य! मैंने सुना है कि, पूर्वकाल में कर्दम प्रजापति के ज्येष्ठ पुत्र, जिनका नाम इल था, बड़े धर्मात्मा थे और बाल्हीक देश में राज्य करते थे ॥ ३ ॥

स राजा पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महायशाः ।
राज्यं चैव नरव्याघ्र पुत्रवत्पर्यपालयत् ॥ ४ ॥

हे नरशार्दूल! वे महायशस्वी राजा इल, (अपने राज्य की) सम्पूर्ण पृथिवी को अपने अधीन कर, पुत्र की तरह उसका पालन करने लगे ॥ ४ ॥

सुरैश्च परमोदारैर्दैतेयैश्च महाधनैः ।
नागराक्षसगन्धर्वैर्यक्षैश्च सुमहात्मभिः ॥ ५ ॥
पूज्यते नित्यशः सौम्य भयार्तैं रघुनन्दन ।
अबिभ्यंश्च त्रयो लोकाः सरोषस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

हे रघुनन्दन ! बड़े उदार देवता, महाधनी दैत्य, नाग, राक्षस, गन्धर्व और यक्ष उनसे डरते थे और उनका सदा सम्मान करते थे। उनके (राजा इल के) क्रुद्ध होने पर तीनों लोक भयभीत हो जाते थे ॥ ५ ॥ ६ ॥

स राजा तादृशोऽप्यासीद्धर्मे वीर्ये च निष्ठितः ।
बुद्ध्या च परमोदारो बाल्हीकेशो महायशाः ॥ ७ ॥

परमोदार, महायशस्वी धर्मात्मा और वीर्यवान राजा इल, इस प्रकार बड़ी बुद्धिमत्ता से बाल्हीक देश का शासन करते थे ॥ ७ ॥

स प्रचक्रे महाबाहुर्मृगयां रुचिरे वने ।
चैत्रे मनोरमे मासे सभृत्यबलवाहनः ॥ ८ ॥

एक बार चैत्रमास में वह राजा अपनी सेना आदि ले कर, वन में शिकार खेलने के लिये गया ॥ ८ ॥

प्रजघ्ने स नृपोऽरण्ये मृगाञ्शतसहस्रशः ।
हत्वैव तृप्तिर्नाभूच्च राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ९ ॥

राजा ने वन में जा कर सैकड़ों हज़ारों जंगली जानवरों का शिकार किया। परन्तु इतने पर भी वह न अघाया ॥ ९ ॥

नानामृगाणामयुतं वध्यमानं महात्मना ।
यत्र जातो महासेनस्तं देशमुपचक्रमे ॥ १० ॥

विविध प्रकार के दस हज़ार हिरनों को मार कर, वह राजा शिकार खेलता हुआ उस वन में पहुँचा जहाँ स्वामिकार्तिक का जन्म हुआ था ॥ १० ॥

तस्मिन्प्रदेशे देवेश शैलराजसुतां हरः ।
रमयामास दुर्धर्षः सर्वैरनुचरैः सह ॥ ११ ॥

उस वन में दुर्धर्ष देवादिदेव महादेव जो पार्वती के साथ अपने समस्त अनुचरों सहित विहार कर रहे थे ॥ ११ ॥

कृत्वा स्त्रीरूपमात्मानमुमेशो गोपतिध्वजः ।
देव्याः प्रियचिकीर्षुः संस्तस्मिन्पर्वतनिर्झरे ॥ १२ ॥

उस समय वृषध्वज शिव जो ने पार्वती को प्रसन्न करने के लिये अपना रूप स्त्री का बना लिया था और वे पहाड़ी झरनों के निकट घूम फिर रहे थे ॥ १२ ॥

यत्र यत्र वनोद्देशे सत्त्वाः पुरुषवादिनः ।
वृक्षाः पुरुषनामानस्ते सर्वे स्त्रीजनाभवन् ॥१३॥

उस समय उस वन में जितने पुरुषवाची वृक्ष मृगादिक थे, वे सब (शिव जी के प्रभाव से) स्त्रीवाची हो गये थे ॥ १३ ॥

यच्च किञ्चन तत्सर्वं नारीसंज्ञं बभूव ह ।
एतस्मिन्नन्तरे राजा स इलः कर्दमात्मजः ॥ १४ ॥

अधिक क्या कहा जाय जीन जीन उस समय उस वन में थे वे सब के सब स्त्री रूप हो गये थे। उसी समय कर्दम के पुत्र राजा इल भी ॥ १४ ॥

निघ्नन् मृगसहस्राणि तं देशमुपचक्रमे ।
स दृष्ट्वा स्त्रीकृतं सर्वं सव्यालमृगपक्षिणम् ॥१५॥

मृगों का शिकार कर वे उस वन में पहुँचे और देखा कि, उस वन के समस्त सर्प, मृग और पक्षी स्त्रीरूप हो रहे हैं ॥ १५ ॥

आत्मानं स्त्रीकृतं चैव सानुगं रघुनन्दन ।
तस्य दुःखं महच्चासीद्दृष्ट्वात्मानं तथागतम् ॥ १६ ॥

हे रघुनन्दन ! तदनन्तर जब उसने अपनी और अपनी सेना की ओर दृष्टि डाली, तब उसने देखा कि, वह स्वयं और उसकी सेना के सब लोग स्त्री बन गये हैं। यह देख वह बड़ा दुःखी हुआ ॥ १६ ॥

उमापतेश्च तत्कर्म ज्ञात्वा त्रासमुपागमत् ।
ततो देवं महात्मानं शितिकण्ठं कपर्दिनम् ॥ १७ ॥

जगाम शरणं राजा सभृत्यबलवाहनः ।
ततः प्रहस्य वरदः सह देव्या महेश्वरः ॥ १८ ॥

जब उसने यह जाना कि, शिव जी के प्रभाव से ऐसा हुआ है, तब वह राजा अत्यन्त भयभीत हो अपने अनुचरों, सैनिकों और वाहनों सहित शितिकण्ठ कपर्दी महात्मा देवदेव महादेव जी के शरण में गया। तब वरदानी शङ्कर पार्वती सहित हँस कर ॥ १७ ॥ १८ ॥

प्रजापतिसुतं वाक्यमुवाच वरदः स्वयम् ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे कार्दमेय महाबल ॥ १९ ॥

प्रजापति के उस पुत्र से बोले—हे कर्दम के पुत्र ! हे महाबली ! उठो उठो ॥ १९ ॥

पुरुषत्वमृते सौम्य वरं वरय सुव्रत ।
ततः स राजा शोकार्तः प्रत्याख्यातो महात्मना ॥२०॥

हे सुव्रत ! पुरुषत्व प्राप्ति को छोड़ कर और जो चाहो सो माँगो । जब भगवान् शिव ने इस प्रकार कहा ; तब वह राजा बहुत बड़ा दुःखी हुआ ॥ २० ॥

स्त्रीभूतोऽसौ न जग्राह वरमन्यं सुरोत्तमात् ।
ततः शोकेन महता शैलराजसुतां नृपः ॥ २१ ॥
प्रणिपत्य उमां देवीं सर्वेणैवान्तरात्मना ।
ईशे वराणां वरदे लोकानामसि भामिनी ॥ २२ ॥

उसने सुरश्रेष्ठ शिव जी से अन्य कोई वर नहीं माँगा । फिर महादुःखी हो राजा ने शैलराज की बेटी उमा पार्वती को बड़ी भक्ति और नम्रता से प्रणाम कर, उनसे कहा—हे भवानी! हे वरदायिनी! तुम सब लोकों और देवताओं को भी वर देने वाली हो ॥२१॥२२॥

अमोघदर्शने देवी भज सौम्येन चक्षुषा ।
हृद्गतं तस्य राजर्षेर्विज्ञाय हरसन्निधौ ॥ २३ ॥

हे देवि ! तुम्हारा दर्शन सफल होता है । अब मेरे ऊपर कृपा-दृष्टि करो । राजा की प्रार्थना सुन और उसके मन की बात जान, शिव जी के निकट बैठी हुई ॥ २३ ॥

प्रत्युवाच शुभं वाक्यं देवी रुद्रस्य संमता ।
अर्धस्य देवो वरदो वरार्धस्य तव ह्यहम् ॥ २४ ॥

देवी पार्वती जी, शिव जी की अनुमति से राजा से यह सुन्दर वचन बोली—हे राजन्! तुझे आधा वरदान तो महादेव जी दें और आधा मैं दूँगी ॥ २४ ॥

तस्मादर्धं गृहाण त्वं स्त्रीपुंसोर्यावदिच्छसि ।
तदद्भुततरं श्रुत्वा देव्या वरमनुत्तमम् ॥ २५ ॥

अतः स्त्रीत्व और पुरुषत्व के सम्बन्ध में, मैं तुझे आधा वर दे सकती हूँ। जैसा वर चाहो वैसा तुम माँगो। इस प्रकार के पार्वती देवी के अद्भुत वचन सुन कर ॥ २५ ॥

सम्प्रहृष्टमना भूत्वा राजा वाक्यमथाब्रवीत् ।
यदि देवि प्रसन्ना मे रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ २६ ॥

राजा अत्यन्त हर्षित हो कहने लगा—हे अलौकिक-गुण-रूप-भूषित-भगवति! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे यह वर दीजिये ॥ २६ ॥

मासं स्त्रीत्वमुपासित्वा मासं स्यां पुरुषः पुनः ।
ईप्सितं तस्य विज्ञाय देवी सुरुचिरानना ॥ २७ ॥

कि मैं एक मास तक स्त्री और एक मास तक पुरुष रहा करूँ। सुमुखी पार्वती ने राजा का अभीष्ट जान ॥ २७ ॥

प्रत्युवाच शुभं वाक्यमेवमेव भविष्यति ।
राजन्पुरुषभूतस्त्वं स्त्रीभावं न स्मरिष्यसि ॥ २८ ॥

यह सुन्दर वचन कहे—हे राजन्! ऐसा ही होगा। जब तुम पुरुष रूप में रहोगे, तब तुम्हें अपने स्त्रीरूप का स्मरण नहीं रहेगा ॥ २८ ॥

स्त्रीभूतश्च परं मासं न स्मरिष्यसि पौरुषम्।
एवं स राजा पुरुषो मासं भूत्वाथ कार्दमिः ॥ २९ ॥

और जब तुम स्त्री के रूप में रहोगे तब तुम्हें अपने पुरुषरूप का स्मरण न रहेगा। तदनुसार तब से कर्दम के पुत्र एक मास स्त्री और एक मास पुरुष रहने लगे ॥ २९ ॥

त्रैलोक्यसुन्दरी नारी मासमेकमिलाभवत् ॥ ३० ॥

इति सप्ताशीतितमः सर्गः ॥

जब राजा इल (एक मास तक) स्त्री के रूप में होते थे, तब वे ऐसी सुन्दरी युवती हो जाते थे कि, उनकी सुन्दरता की ख्याति तीनों लोकों में फैल जाती थी और उस समय उनका नाम इला हो जाता था ॥ ३० ॥

उत्तरकाण्ड का सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

अष्टाशीतितमः सर्गः

—::—

तां कथामैलसम्बद्धां रामेण समुदीरिताम्।
लक्ष्मणो भरतश्चैव श्रुत्वा परमविस्मितौ ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से राजा इल सम्बन्धी कथा को सुन कर, भरत और लक्ष्मण बड़े विस्मित हुए ॥ १ ॥

तौ रामं प्राञ्जली भूत्वा तस्य राज्ञो महात्मनः ।
विस्तरं तस्य भावस्य तदा पप्रच्छतुः पुनः ॥ २ ॥

वे दोनों श्रीरामचन्द्र जी से उस महात्मा राजा की कथा विस्तार से सुनने की कामना से, हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥ २ ॥

कथं स राजा स्त्रीभूतो वर्तयामास दुर्गतिः ।
पुरुषः स यदा भूतः कां वृत्तिं वर्तयत्यसौ ॥ ३ ॥

राजा स्त्री होता था, तब वह क्या क्या दुर्गति भोगता और पुरुष होने पर क्या किया करता था ? ॥ ३ ॥

तयोस्तद्भाषितं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम् ।
कथयामास काकुत्स्थस्तस्य राज्ञो यथागमम् ॥ ४ ॥

भरत और लक्ष्मण के इस प्रकार कौतूहलपूर्ण वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस राजा की (आगे की) कथा कहनी आरम्भ की ॥ ४ ॥

तमेव प्रथमं मासं स्त्री भूत्वा लोकसुन्दरी ।
ताभिःपरिवृता स्त्रीभिर्येऽस्य पूर्वं पदानुगाः ॥ ५ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे) प्रथम मास में जब वह लोकसुन्दरी स्त्री हुआ, तब वह स्त्री बने हुए अपने नौकर चाकरों के साथ ॥ ५ ॥

तत्काननं विगाह्याशु विजह्रे लोकसुन्दरी ।
द्रुमगुल्मलताकीर्णं पद्भ्यां पद्मदलेक्षणा ॥ ६ ॥

उसी वन में घुस कर वह कमलनयनी स्त्री वन, पैदल हो घूमने फिरने लगा। उस वन में अनेक वृक्ष, लता और गुल्म आदि की मनोहर शोभा हो रही थी ॥ ६ ॥

वाहनानि च सर्वाणि संत्यक्त्वा वै समन्ततः ।
पर्वताभोगविवरे तस्मिन्रेमे इला तदा ॥ ७ ॥

वहाँ वह इला नाम की सुन्दरी अपने समस्त वाहनों को त्याग कर, पहाड़ी कन्दराओं में विचरण करने लगी ॥ ७ ॥

अथ तस्मिन्वनोद्देशे पर्वतस्याविदूरतः ।
सरः सुरुचिरप्रख्यं नानापक्षिगणायुतम् ॥ ८ ॥

उस वन में पहाड़ के समीप विविध प्रकार के पशु पक्षियों से युक्त एक तालाब था ॥ ८ ॥

ददर्श सा इला तस्मिन्बुधं सोमसुतं तदा ।
ज्वलन्तं स्वेन वपुषा पूर्णं सोममिवोदितम् ॥ ९ ॥

उस तालाब के समीप पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान चन्द्रपुत्र बुध को इला ने देखा ॥ ९ ॥

तपन्तं च तपस्तीव्रमंभोमध्ये दुरासदम् ।
यशस्करं कामकरं कारुण्ये पर्यवस्थितम् ॥ १० ॥

वे उसी तालाब के जल के भीतर खड़े हुए उग्र तप कर रहे थे। वे बड़े यशस्वी, परोपकारी और दयालु जान पड़ते थे ॥ १० ॥

सा तं जलाशयं सर्वं क्षोभयामास विस्मिता ।
सह तैः पूर्वपुरुषैः स्त्रीभूतै रघुनन्दन ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण ! कुछ देर बाद इला और ने औरभी अपने साथियों के साथ उस सरोवर पर जा और विस्मित हो उस सरोवर का जल खलबला डाला ॥ ११ ॥

बुधस्तु तां समीक्ष्यैव कामबाणवशंगतः ।
नोपलेभे तदात्मानं स चचाल तदाम्भसि ॥ १२ ॥

इला को देख, बुध कामदेव से पीड़ित हो, अपने को न सम्हाल सके और जल के भीतर चलायमान हो गये ॥ १२ ॥

इलां निरीक्षमाणस्तु त्रैलोक्यादधिकां शुभाम् ।
चित्तं समभ्यतिक्रामत्का न्वियं देवताधिका ॥ १३ ॥

त्रैलोक्यसुन्दरी इला की ओर देख कर बुध मन ही मन कहने लगे कि, यह देवाङ्गना से भी बढ़ कर सुन्दरी स्त्री कौन है ? ॥१३॥

न देवीषु न नागीषु नासुरीष्वप्सरःसु च ।
दृष्टपूर्वा मया काचिद्रूपेणानेन शोभिता ॥ १४ ॥

ऐसा सौन्दर्य तो मैंने आज तक किसी देवकन्या, नागकन्या, असुरतनया और अप्सरा में भी नहीं देखा ॥ १४ ॥

सदृशीयं मम भवेद्यदि नान्यपरिग्रहः ।
इति बुद्धिं समास्थाय जलात्कूलमुपागमत् ॥ १५ ॥

यदि इसका विवाह किसी पुरुष के साथ न हुआ हो तो यह मेरे योग्य है । यह विचार कर बुध जी जल से निकल तट पर आये ॥ १५ ॥

आश्रमं समुपागम्य ततस्ताः प्रमदोत्तमाः ।
शब्दापयत धर्मात्मा ताश्चैनं च ववन्दिरे ॥ १६ ॥

तदनन्तर अपने आश्रम में जा उन्होंने उन सुन्दरी स्त्रियों को बुलाया। तब उन स्त्रियों ने वहाँ जा बुध को प्रणाम किया ॥ १६ ॥

स ताः पप्रच्छ धर्मात्मा कस्यैषा लोकसुन्दरी ।
किमर्थमागता चैव सर्वमाख्यात मा चिरम् ॥ १७ ॥

तब उनसे धर्मात्मा बुध पूँछने लगे कि, यह त्रैलोक्यसुन्दरी किसकी स्त्री है और यहाँ किस लिये आयी है? मुझे ये सब बात तुरन्त बतलाओ ॥ १७ ॥

शुभं तु तस्य तद्वाक्यं मधुरं ...क्षरम् ।
श्रुत्वा स्त्रियश्च ताः सर्वा ऊचुर्मधुरया गिरा ॥ १८ ॥

बुध जी के ये मधुर सुन्दर वचन सुन कर, वे सब स्त्रियाँ मधुर वाणी से बोलीं ॥ १८ ॥

अस्माकमेषा सुश्रोणी प्रभुत्वे वर्तते सदा ।
अपतिः काननान्तेषु सहास्माभिश्चरत्यसौ ॥ १९ ॥

हे भगवन्! यह स्त्री हम सब की स्वामिनी है। इसका पति नहीं है। यह हमारे साथ इस वन के प्रान्तों में विचरती रहती है ॥ १९ ॥

तद्वाक्यमाव्यक्तपदं तासां स्त्रीणां निशम्य च ।
विद्यामावर्तनीं पुण्यामावर्तयति स द्विजः[1] ॥ २० ॥

उन स्त्रियों के ऐसे स्वच्छ वचन सुन कर, क्षत्रिय बुध जी ने अपनी आवर्तनी विद्या का स्मरण किया ॥ २० ॥

---

१ द्विजः—क्षत्रियोद्विजः। (गो०)

सोऽर्थं विदित्वा सकलं तस्य राज्ञो यथा तथा।
सर्वा एव स्त्रियस्ताश्च बभाषे मुनिपुङ्गवः॥ २१॥

योगबल से इल राजा का सम्पूर्ण वृत्तान्त जान, बुध जी ने उन सब स्त्रियों से कहा॥ २१॥

अत्र किंपुरुषीभूत्वा शैलरोधसि वत्स्यथ।
आवासस्तु गिरावस्मिन् शीघ्रमेव विधीयताम्॥२२॥

अच्छा अब तुम सब किम्पुरुषी हो कर, इस पर्वतप्रान्त में रहा करो। लो अब देर न करो और अपने रहने के लिये घर बना लो॥ २२॥

मूलपत्रफलैः सर्वा वर्तयिष्यथ नित्यदा।
स्त्रियः किंपुरुषान्नाम भर्तॄन्समुपलप्स्यथ॥ २३॥

यहाँ तुमको भोजन के लिये मूल, पत्र, फल आदि सदा मिल जाया करेंगे और तुम अपने लिये किम्पुरुष नामक पतियों को भी प्राप्त करोगी॥ २३॥

ताः श्रुत्वा सोमपुत्रस्य स्त्रियः किंपुरुषीकृताः।
उपासांचक्रिरे शैलं बह्वयस्ता बहुलास्तदा॥ २४॥

इति अष्टाशीतितमः सर्गः॥

वे सब स्त्रियाँ यह जान कर कि, बुध ने हमें किम्पुरुषी (देव-योनि विशेष) बना दिया है, उस पर्वत पर सुन्दर स्थान बना रहने लगीं॥ २४॥

उत्तरकाण्ड का अट्ठासीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकोननवतितमः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा किंपुरुषोत्पत्तिं लक्ष्मणो भरतस्तथा ।
आश्चर्यमिति च ब्रूतामुभौ रामं जनेश्वरम् ॥ १ ॥

इस प्रकार किम्पुरुषों की उत्पत्ति सुन कर, भरत और लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ; यह तो (आपने) बड़ी अद्भुत कथा कही ॥ १ ॥

अथ रामः कथामेतां भूय एव महायशाः ।
कथयामास धर्मात्मा प्रजापतिसुतस्य वै ॥ २ ॥

तदनन्तर महायशस्वी महाराज श्रीरामचन्द्र जी पुनः धर्मात्मा प्रजापति के पुत्र इल की कथा कहने लगे ॥ २ ॥

सर्वास्ता विद्रुता दृष्ट्वा किन्नरीर्ऋषिसत्तमः ।
उवाच रूपसम्पन्नां तां स्त्रियं प्रहसन्निव ॥ ३ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी बोले) बुध ने अन्य समस्त किन्नरियों को विचरण करते देख, (एकान्त में इला को पा कर) उस रूप यौवनसम्पन्न इला से हँस कर कहा ॥ ३ ॥

सोमस्याहं सुदयितः सुतः सुरुचिरानने ।
भजस्व मां वरारोहे भक्त्या स्निग्धेन चक्षुषा ॥ ४ ॥

हे वरारोहे ! मैं चन्द्रमा का प्रिय पुत्र हूँ । प्यार की दृष्टि से मेरी ओर निहार कर, तू मुझे प्रीतिपूर्वक सन्तुष्ट कर ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शून्ये स्वजनवर्जिते ।
इला सुरुचिरप्रख्यं प्रत्युवाच महाप्रभम् ॥ ५ ॥

उस निर्जन स्थान में बुध जी के ऐसे प्यारे वचन सुन कर, इला, महाकान्तिसम्पन्न बुध से कहने लगी ॥ ५ ॥

अहं कामचरी सौम्य तवास्मि वशवर्तिनी ।
प्रशाधि मां सोमसुत यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! मैं स्वतंत्र हूँ और तुम्हारे वश में हूँ । हे चन्द्रपुत्र ! मुझे आज्ञा दीजिये और आप जैसा चाहिये वैसा कीजिये ॥ ६ ॥

तस्यास्तदद्भुतप्रख्यं श्रुत्वा हर्षमुपागतः ।
स वै कामी सह तया रेमे चन्द्रमसः सुतः ॥ ७ ॥

इला के इन अद्भुत वचनों को सुन, बुध बहुत प्रसन्न हुए और कामी चन्द्रमापुत्र बुध, इला के साथ विहार करने लगे ॥ ७ ॥

बुधस्य माधवो मासस्तामिलां रुचिराननाम् ।
गतोरमयतोऽत्यर्थं क्षणवत्तस्य कामिनः ॥ ८ ॥

कामासक्त बुध को उस सुन्दरी इला के साथ विहार करते करते वैशाख मास क्षण सा बीत गया ॥ ८ ॥

अथ मासे तु सम्पूर्णे पूर्णेन्दुसदृशाननः ।
प्रजापतिसुतः श्रीमान् शयने प्रत्यबुध्यत ॥ ९ ॥

सोऽपश्यत्सोमजं तत्र तपन्तं सलिलाशये ।
ऊर्ध्वबाहुं निरालम्बं तं राजा प्रत्यभाषत ॥ १० ॥

एक मास पूरा होने पर चन्द्रमा के समान मुख वाले प्रजापति के पुत्र इल ने जाग कर देखा कि, चन्द्रमा के पुत्र सरोवर में ऊपर को बाहें उठाये निरालंब तप कर रहे हैं। उस समय राजा इल ने उनसे कहा ॥ ९ ॥ १० ॥

भगवन्पर्वतं दुर्गं प्रविष्टोऽस्मि सहानुगः ।
न च पश्यामि तत्सैन्यं क्व नु ते मामका गताः ॥११॥

हे भगवन् ! मैं अपनी सेना को साथ ले कर, इस दुर्गम पर्वत पर आया था, किन्तु यहाँ उनमें से मुझे कोई नहीं देख पड़ता। वे मेरे साथी कहाँ चले गये ? ॥ ११ ॥

तच्छ्रुत्वा तस्य राजर्षेर्नष्टसंज्ञस्य भाषितम् ।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं सान्त्वयन्परया गिरा ॥ १२ ॥

राजर्षि इल के, जो अपने स्त्रीभाव को भूल गये थे, वचन सुन कर, बुध उनको समझाते हुए उनसे सुन्दर वाणी से बोले ॥ १२ ॥

अश्मवर्षेण महता भृत्यास्ते विनिपातिताः ।
त्वं चाश्रमपदे सुप्तो वातवर्षभयार्दितः ॥ १३ ॥

पत्थरों की बड़ी भारी वर्षा हुई थी। उससे तुम्हारे सब सैनिक मरे पड़े हैं। किन्तु वायु और वृष्टि के भय से पीड़ित हो, तुम इस आश्रम में सो जाने से बच गये ॥ १३ ॥

समाश्वसिहि भद्रं ते निर्भयो विगतज्वरः ।
फलमूलाशनो वीर निवसेह यथासुखम् ॥ १४ ॥

हे वीर! अब आप सावधान और निर्भय हो जाइये। किसी बात की चिन्ता न कीजिये और फल मूल खा कर इस आश्रम में रहिये ॥ १४ ॥

स राजा तेन वाक्येन प्रत्याश्वस्तो महामतिः ।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं दीनो भृत्यजनक्षयात् ॥१५॥

राजा इल अपने नौकरों का नाश होना सुन कर, बहुत दुःखी हुए; किन्तु बुध की बातों से सावधान हो कर बोले ॥ १५ ॥

त्यक्ष्याम्यहं स्वकं राज्यं नाहं भृत्यैर्विनाकृतः ।
वर्तयेयं क्षणं ब्रह्मन्समनुज्ञातुमर्हसि ॥ १६ ॥

हे ब्रह्मन्! मैं नौकरों के नाश होने के कारण राजपाट त्याग दूँगा। क्योंकि उनके बिना मैं एक क्षण भर भी नहीं रह सकता अतः अब आप मुझे जाने की आज्ञा दीजिये ॥ १६ ॥

सुतो धर्मपरो ब्रह्मन् ज्येष्ठो मम महायशाः ।
शशबिन्दुरिति ख्यातः स मे राज्यं प्रपत्स्यते ॥१७॥

हे ब्रह्मन्! मेरा महायशस्वी धर्मात्मा शशबिन्दु नाम का ज्येष्ठ पुत्र राज्य करेगा ॥ १७ ॥

नहि शक्ष्याम्यहं हित्वा भृत्यदारान्सुखान्वितान् ।
प्रतिवक्तुं महातेजः किञ्चिदप्यशुभं वचः ॥ १८ ॥

सुखपूर्वक देश में बसने वाले अपने उन नौकरों की स्त्रियों को छोड़ कर, मैं यहाँ नहीं रह सकता। हे तेजस्वी! आप मुझसे यहाँ रहने के लिये अप्रिय वचन न कहिये ॥ १८ ॥

तथा ब्रुवति राजेन्द्रे बुधः परममद्भुतम् ।
सान्त्वपूर्वमथोवाच वासस्त इह रोचताम् ॥ १९ ॥

राजा इल के यह परम अद्भुत वचन सुन कर, बुध जी उनको समझा कर कहने लगे—आप यहाँ (कुछ दिनों) रहिये ॥ १६ ॥

न सन्तापस्त्वया कार्यः कार्दमेय महाबल ।
संवत्सरोषितस्याद्य कारयिष्यामि ते हितम् ॥ २० ॥

हे कर्दम के पुत्र ! आप सन्ताप न करें । यदि आप एक वर्ष यहाँ रह जायँगे, तो मैं तुम्हारा अभीष्ट पूरा कर दूँगा ॥ २० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा बुधस्याक्लिष्टकर्मणः ।
वासायविदधे बुद्धिं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥

अक्लिष्टकर्मा बुध के ये वचन सुन कर और उन ब्रह्मवादी ऋषि के कथनानुसार राजा इल वहाँ रहने को राज़ी हो गये ॥ २१ ॥

मासं स स्त्री तदा भूत्वा रमयत्यनिशं सदा ।
मासं पुरुषभावेन धर्मबुद्धिं चकार सः ॥ २२ ॥

वे एक मास स्त्री बन कर बुध के साथ विहार करते और एक मास पुरुष बन कर धर्माचरण करते अथवा धर्मशास्त्र का अनुशीलन करते थे ॥ २२ ॥

ततः सा नवमे मासि इला सोमसुतात्सुतम् ।
जनयामास सुश्रोणी पुरूरवसमूर्जितम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार रहते रहते जब नौ मास बीत गये, तब बुध से सुन्दरी इला ने पुरूरवा नाम का एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ २३ ॥

जातमात्रे तु सुश्रोणी पितुर्हस्ते न्यवेशयत् ।
बुधस्य समवर्णं च इला पुत्रं महाबलम् ॥ २४ ॥

उस सुश्रोणि इला ने पुत्र उत्पन्न होते ही उसे बुध को सौंप दिया। इला के पुत्र का (अपने पिता) बुध के समान रूप रंग और पराक्रम था ॥ २४ ॥

बुधस्तु पुरुषीभूतं स वै संवत्सरान्तरम् ।
कथाभी रमयामास धर्मयुक्ताभिरात्मवान् ॥ २५ ॥

इति एकोननवतितमः सर्गः ॥

एक वर्ष तक जब जब राजा इल पुरुष होते, तब तब बुध जी, उनको अनेक धर्मयुक्त कथाएँ सुना कर, उनका मन बहलाया करते थे ॥ २५ ॥

उत्तरकाण्ड का नवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

नवतितमः सर्गः

—:o:—

तथोक्तवति रामे तु तस्य जन्म तदद्भुतम् ।
उवाच लक्ष्मणो भूयो भरतश्च महायशाः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से इस प्रकार पुरूरवा के जन्म की इस अद्भुत कथा को सुन कर, लक्ष्मण और भरत जी महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी से फिर कहने लगे ॥ १ ॥

इला सा सोमपुत्रस्य संवत्सरमथोषिता ।
अकरोत्किं नरश्रेष्ठ तत्त्वं शंसितु मर्हसि ॥ २ ॥

हे नरश्रेष्ठ! एक वर्ष तक इला ने चन्द्रपुत्र बुध के आश्रम में रह कर और क्या क्या किया, सो आप सुनाइये ॥ २ ॥

तयोस्तद्वाक्य माधुर्यं निशम्य परिपृच्छतोः ।
रामः पुनरुवाचेदं प्रजापति सुते कथाम् ॥ ३ ॥

भरत और लक्ष्मण के ये प्यारे वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने फिर प्रजापति के पुत्र राजा इल की कथा कहनी आरम्भ की ॥ ३ ॥

पुरुषत्वं गते शूरे बुधः परमबुद्धिमान् ।
संवर्तं परमोदारमाजुहाव महायशाः ॥ ४ ॥
च्यवनं भृगुपुत्रं च मुनिं चारिष्टनेमिनम् ।
प्रमोदनं मोदकरं ततो दुर्वाससं मुनिम् ॥ ५ ॥
एतान्सर्वान्समानीय वाक्यज्ञस्तत्वदर्शनः ।
उवाच सर्वान्सुहृदो धैर्येण सुसमाहितान् ॥ ६ ॥

(वे बोले) जब बारहवें मास में महाबली राजा इल पुनः पुरुष हुए, तब महायशस्वी सम्वर्त, भृगुपुत्र च्यवन, अरिष्टनेमि, प्रमोदन, मोदकर, दुर्वासा आदि ऋषियों को बुला कर, वाक्य जानने वाले एवं तत्वदर्शी बुध ने, उन अपने सब मित्रों से धीरता पूर्वक बड़ी सावधानी से कहा ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

अयं राजा महाबाहुः कर्दमस्य इलः सुतः ।
जानीतैनं यथाभूतं श्रेयो ह्यत्र विधीयताम् ॥ ७ ॥

भाइयों! ये कर्दम प्रजापति के पुत्र महाबली राजा इल हैं। इनकी जो दशा है वह आप लोग जानते ही हैं। अतः आप लोग कोई ऐसा उपाय कीजिये, जिससे इनका भला हो ॥ ७ ॥

तेषां संवदतामेव द्विजैः सह महात्मभिः ।
कर्दमस्तु महातेजास्तदाश्रममुपागमत् ॥ ८ ॥

इस प्रकार वे लोग आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में महातेजस्वी महात्मा कर्दम जी, बहुत से मुनियों को साथ लिये हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ८ ॥

पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव वषट्कारस्तथैव च ।
ओङ्कारश्च महातेजास्तमाश्रममुपागमन् ॥ ९ ॥

पुलस्त्य, क्रतु, वषट्कार, ओङ्कार (नामक ऋषि) आदि समस्त महातेजस्वी ऋषि गण, बुध जी के आश्रम में एकत्र हुए ॥ ९ ॥

ते सर्वे हृष्टमनसः परस्परसमागमे ।
हितैपिणो वाल्हिपतेः पृथग्वाक्यान्यथा ब्रुवन् ॥१०॥

वे एक दूसरे को देख प्रसन्न हुए और मिल कर वाल्हेश्वर राजा इल के उद्धार के लिये अपनी अपनी सम्मतियाँ अलग अलग देने लगे ॥ १० ॥

कर्दमस्त्वब्रवीद्वाक्यं सुतार्थं परमं हितम् ।
द्विजाः शृणुत मद्वाक्यं यच्छ्रेयः पार्थिवस्य हि ॥११॥

कर्दममुनि ने अपने पुत्र की भलाई के लिये सम्मति देते हुए कहा—हे ब्राह्मणों ! इस राजा की भलाई के लिये जो मैं कहूँ, उसे सुनो ॥ ११ ॥

नान्यं पश्यामि भैषज्यमन्तरा वृषभध्वजम् ।
नाश्वमेधात्परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः ॥ १२ ॥

मेरी समझ में शिव जी को छोड़ कर इसकी और कोई दवाई नहीं है और शिव जी को अश्वमेध से बढ़ कर प्यारा अन्य कोई यज्ञ नहीं है ॥ १२ ॥

तस्माद्यजामहे सर्वे पार्थिवार्थे दुरासदम् ।
कर्दमेनैव मुक्तास्तु सर्व एव द्विजर्षभाः ॥ १३ ॥

अतएव इस राजा की भलाई के लिये और शिव जी को प्रसन्न करने के लिये आओ अश्वमेध यज्ञ करें। कर्दम के ये वचन सुन वे सब ब्राह्मणश्रेष्ठ ॥ १३ ॥

रोचयन्ति स्म तं यज्ञं रुद्रस्याराधनं प्रति ।
संवर्तस्य तु राजर्षिः शिष्यः परपुरञ्जयः ॥ १४ ॥

मरुत्त इति विख्यातस्तं यज्ञं समुपाहरत् ।
ततो यज्ञो महानासीद्बुधाश्रम समीपतः ॥ १५ ॥

शिव जी की प्रसन्नता के लिये अश्वमेध ही को अच्छा मानते हुए वे अश्वमेध करने को राज़ी हुए। राजर्षि सम्वर्त ऋषि के शिष्य शत्रुतापन मरुत ने यज्ञ का भार अपने ऊपर लिया। बुध के आश्रम के समीप ही वह यज्ञ किया गया ॥ १४ ॥ १५ ॥

रुद्रश्च परमं तोषमाजगाम महायशाः ।
अथ यज्ञे समाप्ते तु प्रीतः परमया मुदा ॥ १६ ॥

अश्वमेधयज्ञ से महायशस्वी शिव जी बहुत प्रसन्न हुए और यज्ञ के समाप्त होने पर बड़ी प्रीति के साथ हर्षित हो ॥ १६ ॥

उमापतिर्द्विजान् सर्वानुवाच इलसन्निधौ ।
प्रीतोऽस्मि हयमेधेन भक्त्या च द्विजसत्तमाः ॥ १७ ॥

उन्होंने इल के सामने, समस्त ब्राह्मणों से कहा—हे ब्राह्मणों! इस यज्ञ से और आप लोगों की भक्ति से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ॥ १७॥

अस्य वाल्हिपतेश्चैव किं करोमि प्रियं शुभं।
तथा वदति देवेशे द्विजास्ते सुसमाहिताः॥ १८॥

आप लोग बतलाइये कि, इस वाल्हीकपति के लिये मैं क्या करूँ? जब शिव जी ने यह कहा; तब उन ब्राह्मणों ने सावधानता पूर्वक॥ १८॥

प्रसादयन्ति देवेशं यथा स्यात्पुरुषस्त्विला।
ततः प्रीतो महादेवः पुरुषत्वं ददौ पुनः॥ १९॥

शिव जी को प्रसन्न कर यही वर माँगा कि—इल को सदैव काल के लिये पुरुषत्व प्रदान कीजिये। तब शिव जी ने प्रसन्न हो इल को सदा के लिये पुरुषत्व प्रदान कर दिया॥ १६॥

इलायै सुमहातेजा दत्वा चान्तरधीयत।
निवृत्ते हयमेधे च गते चादर्शनं हरे॥ २०॥

इल को यह वर दे शिव जी अन्तर्धान हो गये। जब शिव अन्तर्धान हो गये और वह यज्ञ भी समाप्त हो चुका॥ २०॥

यथागतं द्विजाः सर्वे ते गच्छन्दीर्घदर्शिनः।
राजा तु वाल्हिमुत्सृज्य मध्यदेशे ह्यनुत्तमम्॥२१॥

तब वे सब ज्ञानी ऋषिगण भी अपने अपने आश्रमों को चले गये। राजा इल ने भी वाल्हीक देश को त्याग कर सुन्दर मध्य देश में॥ २१॥

निवेशयामास पुरं प्रतिष्ठानं यशस्करम् ।
शशबिन्दुश्च राजर्षिर्बाह्लिं परपुरञ्जयः ॥ २२ ॥

प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग से पूर्व, गङ्गा पार झूसी) नामक नगर बसाया ; जो पीछे बड़ा यशस्कर हुआ। उसने वाल्हीक में अपने पुत्र शशबिन्दु को राजा बनाया। शशबिन्दु बड़ा प्रतापी और शत्रु का नाश करने वाला था ॥ २२ ॥

प्रतिष्ठाने इलो राजा प्रजापतिसुतो बली ।
स काले प्राप्तवाँल्लोकमिलो ब्राह्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

प्रजापति के पुत्र महाबली राजा इल प्रतिष्ठानपुर में बहुत दिनों तक राज्य कर अन्त में ब्रह्मलोक सिधारे ॥ २३ ॥

ऐलः पुरूरवा राजा प्रतिष्ठानमवाप्तवान् ।
ईदृशो ह्यश्वमेधस्य प्रभावः पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥

इल से उत्पन्न पुरूरवा प्रतिष्ठानपुर के राजा हुए। हे पुरुषश्रेष्ठ ! अश्वमेध यज्ञ का ऐसा प्रभाव है ॥ २४ ॥

स्त्रीपूर्वः पौरुषं लेभे यच्चान्यदपि दुर्लभम् ॥ २५ ॥

इति नवतितमः सर्गः ॥

राजा इल ने स्त्रीत्व त्याग कर, अश्वमेध के प्रभाव ही से सदा के लिये पुरुषत्व प्राप्त किया, जिसका प्राप्त करना अन्य किसी भी उपाय से असम्भव था ॥ २५ ॥

उत्तरकाण्ड का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकनवतितमः सर्गः

—:०:—

एतदाख्याय काकुत्स्थो भ्रातृभ्याममित प्रभः ।
लक्ष्मणं पुनरेवाह धर्मयुक्तमिदं वचः ॥ १ ॥

अमित पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अपने भाइयों को यह कथा सुना कर, फिर लक्ष्मण जी से धर्मयुक्त यह वचन बोले ॥ १ ॥

वसिष्ठं वामदेवं च जाबालिमथ कश्यपम् ।
द्विजांश्च सर्व प्रवरानश्वमेध पुरस्कृतान् ॥ २ ॥

वशिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप—तथा अश्वमेध यज्ञ कराने में चतुर समस्त ब्राह्मणों को ॥ २ ॥

एतान्सर्वान्समानीय मन्त्रयित्वा च लक्ष्मणः ।
हयं लक्षण सम्पन्नं विमोक्ष्यामि समाधिना ॥ ३ ॥

बुलाओ और इन सब से परामर्श कर, सावधानतापूर्वक अच्छे लक्षणों वाले घोड़े को उसकी पूजा कर के छोड़ूँगा ॥ ३ ॥

तद्वाक्यं राघवेणोक्तं श्रुत्वा त्वरितविक्रमः ।
द्विजान्सर्वान्समाहूय दर्शयामास राघवम् ॥ ४ ॥

श्रीराम जी के यह वचन सुन, फुर्तीले लक्ष्मण जी उन सब ब्राह्मणों को बुला लाये और श्रीरघुनाथ जी से उनको मिला दिया ॥ ४ ॥

ते दृष्ट्वा देवसङ्काशं कृतपादाभिवन्दनम् ।
राघवं सुदुराधर्षमाशीर्भिः समपूजयन् ॥ ५ ॥

वे सब ब्राह्मण देवता के समान दुर्धर्ष, रघुनाथ जी को प्रणाम करते देख, उनको आशीर्वाद देने लगे ॥ ५ ॥

प्राञ्जलिः स तदा भूत्वा राघवो द्विजसत्तमान् ।
उवाच धर्मसंयुक्तमश्वमेधाश्रितं वचः ॥ ६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों को प्रणाम कर अश्वमेधयज्ञ के सम्बन्ध में धर्मयुक्त वचन कहे ॥ ६ ॥

तेऽपि रामस्य तच्छ्रुत्वा नमस्कृत्वा वृषध्वजम् ।
अश्वमेधं द्विजाः सर्वे पूजयन्ति स्म सर्वशः ॥ ७ ॥

ब्राह्मणों ने भी श्रीराम जी के उन वचनों को सुन, शिव जी को प्रणाम किया और श्रीरामचन्द्र जी के अश्वमेध सम्बन्धी विचार की प्रशंसा करते हुए उसे स्वीकार किया ॥ ७ ॥

स तेषां द्विजमुख्यानां वाक्यमद्भुतदर्शनम् ।
अश्वमेधाश्रितं श्रुत्वा भृशं प्रीतोऽभवत्तदा ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से अश्वमेध का अद्भुत माहात्म्य सुन, बहुत प्रसन्न हुए ॥ ८ ॥

विज्ञाय कर्म तत्तेषां रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
प्रेषयस्व महाबाहो सुग्रीवाय महात्मने ॥ ९ ॥

ब्राह्मणों को अश्वमेधयज्ञ कराने के लिये राज़ी देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—हे महाबाहो ! दूत भेज कर सुग्रीव को बुला लो ॥ ९ ॥

यथा महद्भिर्हरिभिर्बहुभिश्च वनौकसाम् ।
सार्धमागच्छ भद्रं ते अनुभोक्तुं महोत्सवम् ॥ १० ॥

जिससे वे भी वानरों और भालुओं को साथ ले यज्ञमहोत्सव देखने को आवें ॥ १० ॥

विभीषणश्च रक्षोभिः कामगैर्बहुभिर्वृतः ।
अश्वमेधं महायज्ञमायात्वतुल विक्रमः ॥ ११ ॥

अतुल विक्रमी विभीषण को भी बुलवा लो, जिससे वे भी इच्छाचारी बहुत से राक्षसों को साथ ले अश्वमेध महायज्ञ देखने के लिये आ जायँ ॥ ११ ॥

राजानश्च महाभागा ये मे प्रियचिकीर्षवः ।
सानुगाः क्षिप्रमायान्तु यज्ञभूमिनिरीक्षकाः ॥ १२ ॥

इनके अतिरिक्त जो महाभाग राजा लोग मेरे हितैषी हैं, अपने अपने अनुचरों सहित यज्ञभूमि का निरीक्षण करने को बुला लिये जांय ॥ १२ ॥

देशान्तरगता ये च द्विजा धर्मसमाहिताः ।
आमन्त्रयस्व तान्सर्वानश्वमेधाय लक्ष्मण ॥ १३ ॥

जो ब्राह्मण देश देशान्तर में रहने वाले हैं और अपने धर्मानुष्ठान में सावधान रहते हैं, वे सब भी बुलवा लिये जांय ॥ १३ ॥

ऋषयश्च महाबाहो आहूयन्तां तपोधनाः ।
देशान्तरगताः सर्वे सदाराश्च द्विजातयः ॥ १४ ॥

हे लक्ष्मण ! ऋषि और तपस्वियों को बुला लो तथा देशान्तर वासी (गृहस्थ) ब्राह्मणों को उनकी पत्नियों सहित बुलवा लो ॥ १४ ॥

तथैव तालावचरास्तथैव नटनर्तकाः ।
यज्ञवाटश्च सुमहान्गोमत्या नैमिषे वने ॥ १५ ॥

गाने बजाने वाले नटों और नर्त्तकों को बुला लो । गोमतीनदी के तट पर नैमिषारण्य में बड़ी भारी यज्ञशाला बनवायी जाय ॥१५॥

आज्ञाप्यतां महाबाहो तद्धि पुण्यमनुत्तमम् ।
शान्तयश्च महाबाहो प्रवर्तन्तां समन्तः ॥ १६ ॥

वह बड़ा पुण्यस्थान अर्थात् पवित्र स्थान है। वहाँ यज्ञमण्डप बनाने के लिये नौकरों को आज्ञा दो। तुम सब ओर सावधानी रखो जिससे किसी प्रकार का विघ्न न होने पावे—सर्वत्र शान्ति बनी रहे ॥ १६ ॥

शतशश्चापि धर्मज्ञाः क्रतुमुख्यमनुत्तमम् ।
अनुभूय महायज्ञं नैमिषे रघुनन्दन ॥ १७ ॥

वे महात्मा धर्मज्ञ लोग नैमिषारण्य में सहस्रों यज्ञ करवा चुके हैं। हे लक्ष्मण ! इससे वे लोग यज्ञ कराने की विधि को भली भाँति जानते हैं ॥ १७ ॥

तुष्टः पुष्टश्च सर्वोऽसौ मानितश्च यथाविधि ।
प्रतियास्यति धर्मज्ञ शीघ्रमामन्त्र्यतां जनः ॥ १८ ॥

उन लोगों को बुलाने के लिये किसी ऐसे जन को भेजो, जो दान मान से सन्तुष्ट कर, यथाविधि सब को आमंत्रित कर आवे ॥१८॥

शतं वाहसहस्राणां तण्डुलानां [1]वपुष्मताम् ।
अयुतं तिलमुद्गस्य प्रयात्वग्रे महाबल ॥ १९ ॥

---

1 वपुष्मतामिति—अखण्डानामित्यर्थः । (गो०)

हे महाबली! बिना टूटे बढ़िया चावलों के एक लाख और मूँग तथा तिल के दस हज़ार बैल अथवा गाड़ियाँ भरवा कर अभी भेज दो ॥ १६ ॥

चणकानां कुलित्थानां माषाणां लवणस्य च ।
अतोऽनुरूपं स्नेहं च गन्धं संक्षिप्तमेव च ॥ २० ॥

इसीके अनुसार चना, कुलथी, उरद, और नोंन भेजा जाय। इस हिसाब से घी, तेल और सुगन्धित द्रव्य भेजे जाँय ॥ २० ॥

सुवर्णकोट्यो बहुला हिरण्यस्य शतोत्तराः ।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे समाधिना ॥ २१ ॥

सौ करोड़ सोने की मोहरें और चांदी के रुपये ले कर भरत जी बड़ी सावधानी से पहिले ही से वहां जांय ॥ २१ ॥

अन्तरापणवीथ्यश्च सर्वे च नटनर्तकाः ।
सूदा नार्यश्च बहवो नित्यं यौवनशालिनः ॥ २२ ॥

उनके साथ रास्ते के प्रबन्ध के लिये बाज़ार का सामान ले कर बनिये व दूकानदार लोग भी जावें। नट, नर्तक, रसोइया, तथा अनेक युवती स्त्रियां भी भरत जी के साथ जांय ॥ २२ ॥

भरतेन तु सार्धं ते यान्तु सैन्यानि चाग्रतः ।
नैगमान्बालवृद्धांश्च द्विजांश्च सुसमाहिताः ॥ २३ ॥

कर्मान्तिकान्वर्धकिनः कोशाध्यक्षांश्च नैगमान् ।
मम मातृस्तथा सर्वाः कुमारान्तः[1] पुराणि च ॥ २४ ॥

---

1 कुमारान्तःपुराणि—भरत लक्ष्मण शत्रुघ्नपत्न्यनित्यर्थः। (गो०)

भरत जी के आगे आगे सेना जाय। महाजन, बालक, वृद्ध, ब्राह्मण, राजगीर, बढ़ई, खज़ानची, सेठ साहूकार, मेरी माताओं, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की पत्नियों को ले कर भरत जी बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा करते हुए जावें ॥ २३ ॥ २४ ॥

काञ्चनीं मम पत्नीं च दीक्षायां ज्ञांश्च कर्मणि ।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे महायशाः ॥ २५ ॥

महायशस्वी भरत जी यज्ञदीक्षा के लिये मेरी पत्नी सीता की सुवर्ण की प्रतिमा बनवा कर, अपने साथ ले कर आगे जांय ॥२५॥

उपकार्या महार्हांश्च पार्थिवानां महौजसाम् ।
सानुगानां नरश्रेष्ठ व्यादिदेश महाबलः ॥ २६ ॥

इस प्रकार आज्ञा दे, फिर कुटुम्बियों सहित आमंत्रित बड़े बड़े विक्रमी राजाओं के ठहरने के लिये, महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े बड़े तंबू, रावटी कनातों के भेजने की आज्ञा दी ॥ २६ ॥

अन्नपानानि वस्त्राणि *अनुगानां महात्मनाम् ।
भरतः स तदा यातः शत्रुघ्न सहितस्तदा ॥ २७ ॥

तदनन्तर भरत जी अपने साथ शत्रुघ्न जी को तथा अन्न, पान, वस्त्र और नौकर चाकरों को लिये हुए चले ॥ २७ ॥

वानराश्च महात्मानः सुग्रीवसहितास्तदा ।
विप्राणां प्रवराः सर्वे चक्रुश्च परिवेषणम् ॥ २८ ॥

इतने में यज्ञ का संवाद पाते ही महाबली सुग्रीव सहित वानरगण भी आ पहुँचे और ब्राह्मणश्रेष्ठों की परिचर्या करने लगे ॥२८॥

---

* पाठान्तरे—"सानुगानाम्"।

विभीषणश्च रक्षोभिः स्त्रीभिश्च बहुभिर्वृतः ।
ऋषीणामुग्रतपसां पूजां चक्रे महात्मनाम् ॥ २९ ॥

इति एकनवतितमः सर्गः ॥

विभीषण जी भी अनेक राक्षसों और राक्षसस्त्रियों को साथ ले कर आ पहुँचे और बड़े बड़े तपस्वी महात्मा ऋषियों की सेवा करने लगे ॥ २९ ॥

उत्तरकाण्ड का एक्यानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

द्विनवतितमः सर्गः

—:o:—

तत्सर्वमखिलेनाशु प्रस्थाप्य भरताग्रजः ।
हयं लक्षणसम्पन्नं कृष्णसारं मुमोच ह ॥ १ ॥

इस प्रकार सब सामग्री भिजवा कर; श्रीरामचन्द्र जी ने समस्त अच्छे लक्षणों से युक्त काले रंग का घोड़ा छोड़ा ॥ १ ॥

ऋत्विग्भिर्लक्ष्मणं सार्धमश्वे च विनियुज्य च ।
ततोऽभ्यगच्छत्काकुत्स्थः सह सैन्येन नैमिषम् ॥ २ ॥

घोड़े की रखवाली के लिये उसके साथ लक्ष्मण जी को तथा ऋत्विजों को भेज, पीछे से सेना सहित श्रीरामचन्द्र जी नैमिषारण्य के लिये प्रस्थानित हुए ॥ २ ॥

यज्ञवाटं महाबाहुर्दृष्ट्वा परममद्भुतम् ।
प्रहर्षमतुलं लेभे श्रीमानिति च सोऽब्रवीत् ॥ ३ ॥

महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी नैमिषारण्य में पहुँच और वहाँ अद्भुत यज्ञमण्डप देख कर तथा हर्षित हो कहने लगे यह बहुत ठीक बना है ॥ ३ ॥

नैमिषे वसतस्तस्य सर्व एव नराधिपाः ।
आनिन्युरुपहारांश्च तान् रामः प्रत्यपूजयत् ॥ ४ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी के पहुँचने के पूर्व) जो राजा नैमिषारण्य में (पहुँच चुके थे और) ठहरे हुए थे, उन लोगों ने श्रीरामचन्द्र जी को नज़राने दिये, श्रीरामचन्द्र जी ने उन नज़रों (भेंटों) को ले उनका सत्कार किया ॥ ४ ॥

अन्नपानादिवस्त्राणि सर्वोपकरणानि च ।
भरतः सहशत्रुघ्नो नियुक्तो राजपूजने ॥ ५ ॥

अन्न, पान, वस्त्रादि सब सामान उन राजाओं के डेरों पर पहुँचवा दिये । भरत और शत्रुघ्न जी राजाओं की ख़ातिरदारी में नियुक्त थे ॥ ५ ॥

वानराश्च महात्मानः सुग्रीवसहितास्तदा ।
परिवेषणं च विप्राणां प्रयताः सम्प्रचक्रिरे ॥ ६ ॥

सुग्रीव सहित बड़े बड़े बली वानर आमंत्रित ब्राह्मणों की सावधानी से परिचर्या में नियत थे ॥ ६ ॥

विभीषणश्च रक्षोभिर्बहुभिः सुसमाहितः ।
ऋषीणामुग्रतपसां किङ्करः समपद्यत ॥ ७ ॥

विभीषण जी भी अनेक राक्षसों सहित, सावधानी से आमंत्रित तपस्वी ऋषियों की सेवा शुश्रूषा करते थे ॥ ७ ॥

उपकार्या महार्हाश्च पार्थिवानां महात्मनाम् ।
सानुगानां नरश्रेष्ठो व्यादिदेश महाबलः ॥ ८ ॥

बड़े बड़े राजाओं को उनके परिवार तथा नौकर चाकरों सहित बढ़िया तंबुओं में ठहरने (तथा उनकी अन्य सुविधाओं) की देख-भाल महाबली श्रीरामचन्द्र जी स्वयं करते थे ॥ ८ ॥

एवं सुविहितो यज्ञो ह्यश्वमेधो ह्यवर्तत ।
लक्ष्मणेन सुगुप्ता सा हयचर्या प्रवर्तत ॥ ९ ॥

इस प्रकार (बड़ी धूमधाम से) विधिपूर्वक यज्ञ आरम्भ हुआ । लक्ष्मण जी घोड़े की परिचर्या और रक्षा में नियुक्त थे ॥ ९ ॥

ईदृशं राजसिंहस्य यज्ञप्रवरमुत्तमम् ।
नान्यः शब्दोऽभवत्तत्र हयमेधे महात्मनः ॥ १० ॥

छन्दतो देहि विस्रब्धो यावत्तुष्यन्ति याचकाः ।
तावत्सर्वाणि दत्तानि क्रतुमुख्ये महात्मनः ॥ ११ ॥

राजसिंह महाराज श्रीरामचन्द्र जी के उस श्रेष्ठ यज्ञ में, जब तक यज्ञ हुआ तब तक, यही धुन पड़ा कि, माँगने वाले जो माँगे वही उनको दे कर वे सन्तुष्ट किये जायँ । तदनुसार ही उस यज्ञ में सदा सब को सब वस्तुएँ दी भी जाती थीं ॥ १० ॥ ११ ॥

विविधानि च गौडानि खाण्डवानि तथैव च ।
न निःसृतं भवत्योष्ठाद्वचनं यावदर्थिनाम् ॥ १२ ॥

ढेर की ढेर अनेक प्रकार की गुड़ और खाँड़ की मिठाइयाँ नित्य प्रातःकाल तैयार की जाती थीं (और सन्ध्या होते होते

वे सब की सब बांट दी जाती थीं) मांगने वाले के मुख से अपेक्षित वस्तु का नाम निकलने की देर थी, किन्तु उस वस्तु के देने में विलम्ब नहीं होता था ॥ १२ ॥

तावद्वानररक्षोभिर्दत्तमेवाभ्यदृश्यत ।
न कश्चिन्मलिनो वापि दीनो वाप्यथवा कृशः ॥१३॥

क्योंकि मुंह से वस्तु का नाम निकलते ही वानर और राक्षस मांगने वाले को वह वस्तु दे देते थे। उस यज्ञ में कोई भी जन मैला कुचैला, दीन हीन अथवा दुबला पतला नहीं देख पड़ता था ॥ १३ ॥

तस्मिन्यज्ञवरे राज्ञो हृष्टपुष्टजनावृते ।
ये च तत्र महात्मानो मुनयश्चिरजीविनः ॥ १४ ॥

बल्कि उस यज्ञ में सब लोग हट्टे कट्टे मोटे ताज़े देख पड़ते थे। उस यज्ञ में जो मार्कण्डेयादि बड़े बड़े पुराने अर्थात् बूढ़े बूढ़े मुनिगण थे ॥ १४ ॥

नस्मरंस्तादृशं यज्ञं दानौघसमलंकृतम् ।
यः कृत्यवान्सुवर्णेन सुवर्णं लभते स्म सः ॥ १५ ॥

वे कहते थे कि, हमने (अपनी सारी उम्र में) किसी यज्ञ में भी ऐसा दान नहीं देखा। जो सोना मांगता उसे सोना मिलता ॥१५॥

वित्तार्थी लभते वित्तं रत्नार्थी रत्नमेव च ।
हिरण्यानां सुवर्णानां रत्नानामथ वाससाम् ॥ १६ ॥
अनिशं दीयमनानां राशिः समुपदृश्यते ।
न शक्रस्य न सोमस्य यमस्य वरुणस्य च ॥ १७ ॥

इदृशो दृष्टपूर्वो न एवमूचुस्तपोधनाः ।
सर्वत्र वानरास्तस्थुः सर्वत्रैव च राक्षसाः ॥ १८ ॥

वित्त मांगने वाले को वित्त, रत्न मांगने वाले को रत्न दिये जाते थे। सोने और कपड़े आदि के ढेर के ढेर दान के लिये लगे हुए थे। न तो इन्द्र ही, न चन्द्र, न यम और न वरुणादि देवताओं के यहाँ हम लोगों ने ऐसा यज्ञ होते कभी देखा। वे सब बूढ़े बूढ़े तपस्वी इस प्रकार कहते थे। जहाँ देखो वहीं वानर और राक्षस ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

वासोधनान्नकामेभ्यः पूर्णहस्ता ददुर्भृशम् ।
ईदृशो राजसिंहस्य यज्ञः सर्वगुणान्वितः ।
संवत्सरमथो साग्रं वर्तते न च हीयते ॥ १९ ॥

इति द्विनवतितमः सर्गः ॥

वस्त्र, धन, अन्नादि लिये हुए देने को तैयार खड़े देख पड़ते थे। इस प्रकार सर्व-गुण-सम्पन्न राजसिंह श्रीरामचन्द्र जी का यज्ञ (कुछ दिनों तक ही नहीं बल्कि) एक वर्ष से ऊपर कुछ दिनों तक हुआ; किन्तु उस यज्ञ में किसी वस्तु की त्रुटि नहीं हुई अर्थात् कोई वस्तु घटी नहीं ॥ १९ ॥

उत्तरकाण्ड का बानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

त्रिनवतितमः सर्गः

—:०:—

वर्तमाने तथा भूते यज्ञे च परमाद्भुते ।
सशिष्य आजगामाशु वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ १ ॥

इस प्रकार वह परमाद्भुत यज्ञ हो ही रहा था कि, इतने में वहाँ अपने शिष्यवर्ग को साथ लिये हुए भगवान् वाल्मीकि जी आ पहुँचे ॥ १ ॥

स दृष्ट्वा दिव्यसङ्काशं यज्ञमद्भुत दर्शनम् ।
एकान्त ऋषिसङ्घातश्चकार उटजान् शुभान् ॥२॥

वे उस परमाद्भुत यज्ञ को देख, जहाँ ऋषि लोग ठहरे हुए थे, वहाँ से पास ही एकान्त स्थान में कुटियां बनवा ठहर गये ॥ २ ॥

शकटांश्च बहून्पूर्णान्फलमूलांश्च शोभनान् ।
वाल्मीकिवाटे रुचिरे स्थापयन्नविदूरतः ॥ ३ ॥

ऋषियों के भोजन योग्य सुन्दर फल मूल आदि भोज्य पदार्थों से भरी बैल गाड़ियां वाल्मीकि जी की कुटी के पास खड़ी की गयी ॥ ३ ॥

स शिष्यावब्रवीद्धृष्टौ युवां गत्वा समाहितौ ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परयामुदा ॥ ४ ॥

अब वाल्मीकि मुनि ने अपने दो शिष्यों अर्थात् कुश और लव से कहा कि, तुम लोग यज्ञभूमि में घूम फिर कर, परम प्रसन्नता पूर्वक समस्त रामायण गा गा कर लोगों को सुनाओ ॥ ४ ॥

ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च ।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च ॥ ५ ॥

रामस्य भवनद्वारि यत्र कर्म च कुर्वते ।
ऋत्विजामग्रतश्चैव तत्र गेयं विशेषतः ॥ ६ ॥

(यज्ञभूमि के स्थान विशेषों का निर्देश करते हुए महर्षि कहते हैं) ऋषियों के पवित्र आश्रमों में, (गृहस्थ) ब्राह्मणों के डेरों में, गलियों में, राजमार्गों में, राजाओं के डेरों में और श्रीरामचन्द्र जी के भवनद्वार पर, जहाँ ब्राह्मण लोग यज्ञानुष्ठान कर रहे हैं, तथा विशेष कर ऋत्विजों की सन्निधि में तुम रामायण काव्य का गान करो ॥ ५ ॥ ६ ॥

इमानि च फलान्यत्र स्वादूनि विविधानि च ।
जातानि पर्वताग्रेषु आस्वाद्यास्वाद्य गायताम् ॥ ७ ॥

ये जो अमृत के समान मीठे स्वादिष्ट पहाड़ी फल हैं, इनको खा खा कर तुम इस काव्य को गाना ॥ ७ ॥

न यास्यथः श्रमं वत्सौ भक्षयित्वा फलान्यथ ।
मूलानि च सुमृष्टानि न रागात्परिहास्यथः ॥ ८ ॥

क्योंकि हे वत्स ! यदि तुम इन फलों को खा खा कर गान करोगे ; तो तुम थकोगे नहीं और तुम्हारी आवाज़ भी नहीं बिगड़ेगी । क्योंकि मीठे फल मूल खाने से स्वर नहीं बिगड़ता ॥८॥

यदि शब्दापयेद्रामः श्रवणाय महीपतिः ।
ऋषीणामुपविष्टानां यथायोगं प्रवर्तताम् ॥ ९ ॥

यदि महाराज श्रीरामचन्द्र तुमको बुला कर तुम्हारा गान सुनना चाहें, तो तुम उनके पास चले जाना । ऋषियों के सामने जाने पर उनको प्रणामादि कर गाना आरम्भ करना ॥ ९ ॥

दिवसे विंशतिः सर्गा गेया मधुरया गिरा ।
प्रमाणैर्बहुभिस्तत्र यथोद्दिष्टं मया पुरा ॥ १० ॥

मैंने जिस प्रमाण से सर्ग बना कर तुमको बतला दिये हैं, तदनुसार ही तुम एक दिन में बीस सर्ग मधुर स्वर से गाना ॥१०॥

लोभश्चापि न कर्तव्यः स्वल्पोऽपि धनवांछया ।
किं धनेनाश्रमेस्थानां फलमूलाशिनां तदा ॥ ११ ॥

यदि कोई तुम्हारा गान सुन तुम्हें धनादि देने लगे, तो धन के लोभ में ज़रा भी मत फँस जाना (अर्थात् ले मत लेना) और देने वाले से कह देना कि, हम लोग फल मूलाहारी एवं आश्रम-वासियों को धन से क्या प्रयोजन है। (अर्थात् वन में स्वच्छन्द उत्पन्न होने वाले फल मूलों से हमारा पेट भर जाता है—सो हमें हलुआ पूड़ी लड्डू जलेबी खाने के लिये धन अपेक्षित नहीं है। फिर हम कुटियों में रहते हैं अतः हमें हवेलियाँ या बड़े बड़े भवन बनवाने के लिये भी धन की आवश्यकता नहीं है) ॥ ११ ॥

यदि पृच्छेत्स काकुत्स्थो युवां कस्ये तिदारकौ ।
वाल्मीकेरथ शिष्यौ द्वौ ब्रूतमेवं नराधिपम् ॥ १२ ॥

यदि महाराज श्रीरामचन्द्र जी पूछें कि, तुम कौन हो? किसके पुत्र हो? तो उनसे इतना ही कहना कि, हम वाल्मीकि के शिष्य हैं ॥ १२ ॥

इमांस्तंत्रीः सुमधुराः स्थानं वाऽपूर्वदर्शनम् ।
मूर्छयित्वा सुमधुरं गायतां विगतज्वरौ ॥ १३ ॥

यह वीणा लेते जाओ। इसके स्थान (परदे) अथवा (आरोह अवरोह) तुम जानते ही हो। सो अपने स्वर से वीणा का स्वर मिला कर, मधुर मधुर बजा कर, अपूर्व लयताल मूर्छना सहित निश्चिन्त हो तुम दोनों गाना ॥ १३ ॥

आदिप्रभृति गेयं स्यान्न चावज्ञाय पार्थिवम् ।
पिता हि सर्वभूतानां राजा भवति धर्मतः ॥ १४ ॥

प्रथम कथा ही से गाना आरम्भ करना। तुम ऐसी नम्रता से व्यहार करना, जिससे महाराज (या अन्य राजाओं) के सामने तुम अशिष्ट (बदतमीज़) न समझे जाओ अथवा जिससे महाराज का अपमान न हो। क्योंकि धर्म से राजा समस्त प्राणियों का पिता है ॥ १४ ॥

तद्युवां हृष्टमनसौ श्वः प्रभाते समाहितौ ।
गायतं मधुरं गेयं तंत्रीलयसमन्वितम् ॥ १५ ॥

सो तुम हर्षित हो कल सवेरे से वीणा के ऊपर तालस्वर से इस काव्य का गाना आरम्भ कर देना ॥ १५ ॥

इति सन्दिश्य बहुशो मुनिः प्राचेतसस्तदा ।
वाल्मीकिः परमोदारस्तूष्णीमासीन्महामुनिः ॥ १६ ॥

प्राचेतस मुनि वाल्मीकि जी इस प्रकार उनको अनेक प्रकार से समझा कर चुप हो गये ॥ १६ ॥

सन्दिष्टौ मुनिना तेन तावुभौ मैथिलीसुतौ ।
तथैव करवावेति निर्जग्मतुररिन्दमौ ॥ १७ ॥

जब वाल्मीकि जी ने इस प्रकार उन शत्रुहन्ता दोनों मैथिली-सुतों को उपदेश दिया ; तब वे दोनों बालक यह कह कि—" बहुत अच्छा जो आज्ञा " (अर्थात् आपकी आज्ञानुसार ही हम करेंगे) वहां से चले आये ॥ १७ ॥

तामद्भुतां तौ हृदये कुमारौ
निवेश्य वाणीमृषिभाषितां तदा।
समुत्सुकौ तौ सुखमूपतुर्निशां
यथाश्विनौ भार्गवनीतिसंहिताम् ॥ १८ ॥

इति त्रिनवतितमः सर्गः ॥

वे दोनों अत्यन्त उत्सुक कुमार महर्षि वाल्मीकि के उस अद्भुत उपदेश को अपने मन में रख, हर्षित हो, उस आश्रम में वैसे ही रात में सोये, जैसे च्यवन के आश्रम में, शुक्र-नीति-संहिता का उपदेश पा कर, दोनों अश्विनीकुमार सोये थे ॥ १८ ॥

उत्तरकाण्ड का तिरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

चतुर्नवतितमः सर्गः

—:o:—

तौ रजन्यां प्रभातायां स्नातौ हुतहुताशनौ।
यथोक्तमृषिणा पूर्वं सर्वं तत्रोपगायताम् ॥ १ ॥

जब वह रात बीती और सवेरा हुआ, तब मैथिलीनन्दन लव और कुश उठे और स्नानादि (आवश्यक) कृत्यों से निश्चिन्त हो, एवं अग्निहोत्र कर, वाल्मीकि जी के कथनानुसार श्रीमद्रामायण गाने लगे ॥ १ ॥

तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वाचार्यविनिर्मिताम्।
अपूर्वां पाठ्यजातिं च गेयेन समलंकृताम् ॥ २ ॥

प्रमाणैर्बहुभिर्बद्धां तंत्रीलयसमन्विताम् ।
बालाभ्यां राघवः श्रुत्वा कौतूहलपरोऽभवत् ॥ ३ ॥

वाल्मीकिनिर्मित पाठ और गान के स्वरों से भूषित ; ध्वनि, परिच्छेदादि प्रमाणों से युक्त, वीणा की लय से मिश्रित वह अपूर्व मनोहर काव्य उन ऋषिकुमारों के मुख से सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी को बड़ा कुतूहल हुआ ॥ २ ॥ ३ ॥

[नोट—रामभिरामी टीकाकार ने आचार्येण का अर्थ "भरतेन" किया है ।अर्थात् भरताचार्य की गाने की रीति में ।]

अथ कर्मान्तरे राजा समाहूय महामुनीन् ।
पार्थिवांश्च नरव्याघ्रः पण्डितान्नैगमांस्तथा ॥ ४ ॥

जब महाराज को यज्ञकार्य से अवकाश (फुरसत) मिला, तब पुरुषसिंह श्रीरघुनाथ जी ने महर्षियों, राजाओं, विद्वानों और सेठ साहूकारों को बुलवाया ॥ ४ ॥

पौराणिकाञ्शब्दविदो ये वृद्धाश्च द्विजातयः ।
स्वराणां लक्षणज्ञांश्च उत्सुकान्द्विजसत्तमान् ॥ ५ ॥

लक्षणज्ञांश्च गान्धर्वान्नैगमांश्च विशेषतः ।
पादाक्षर समासज्ञांश्छन्दःसु परिनिष्ठितान् ॥ ६ ॥

कलामात्राविशेषज्ञान् ज्योतिषे च परं गतान् ।
क्रियाकल्पविदश्चैव तथा कार्यविशारदान् ॥ ७ ॥

हेतूपचारकुशलान्हैतुकांश्च बहुश्रुतान् ।
छन्दोविदः पुराणज्ञान्वैदिकान् द्विजसत्तमान् ॥ ८ ॥

चित्रज्ञान्वृत्तसूत्रज्ञान्गीतनृत्यविशारदान् ।
एतान्सर्वान्समानीय गातारौ समवेशयत् ॥ ९ ॥

इनके अतिरिक्त पौराणिकों को, व्याकरणाचार्यों को तथा बूढ़े बूढ़े ब्राह्मणों को, षड्जादि स्वरों के ज्ञाताओं को, सङ्गीताचार्यों को, अन्य उत्कण्ठित ब्राह्मणश्रेष्ठ श्रोताओं को, सामुद्रिकाचार्यों को, सङ्गीतविद्या के जानने वाले पुरवासियों को, संङ्गीतकलानिधियों को, छन्दविद्या में निपुण ; पाद, अक्षर, समास गुरुलघु प्रयोग के ज्ञाता पिङ्गलशास्त्र के ज्ञाताओं को ; कला, मात्रा, प्रस्तार, मेरु, मर्कटादि के ज्ञाताओं को, ज्योतिषाचार्यों को, व्यवहारकुशलों को, क्रिया कल्पसूत्र के ज्ञाताओं को, केवल व्यवहार ज्ञाताओं को, तर्कज्ञाताओं को, बहुश्रुतों को तथा छन्द, वेद और पुराणों के ज्ञाता ब्राह्मणों को, चित्रकाव्यज्ञों को, सूत्रज्ञों को, गान और नृत्य कलाओं में कुशल लोगों को बुला कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लव कुश को भी सभा में बुलवाया ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

तेषां संवदतां तत्र श्रोतॄणां हर्षवर्धनम् ।
गेयं प्रचक्रतुस्तत्र तावुभौ मुनिदारकौ ॥ १० ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पा कर, वे दोनों मुनिकुमार सब लोगों के बीच में बैठ और श्रोताओं को हर्षित करते हुए श्रीमद्रामायण को गाने लगे ॥ १० ॥

ततः प्रवृत्तं मधुरं गान्धर्वमतिमानुषम् ।
न च तृप्तिं ययुः सर्वे श्रोतारो गेयसम्पदा ॥ ११ ॥

जिस समय उन दोनों ने ताल स्वर से युक्त वह अपूर्व काव्य गा कर सुनाया, उस समय सुनने वालों को तृप्ति ही न हुई, किन्तु वे सब उसे उत्तरोत्तर सुनने के लिये उत्सुक होने लगे ॥ ११ ॥

हृष्टा मुनिगणाः सर्वे पार्थिवाश्च महौजसः ।
पिबन्त इव चक्षुर्भिः पश्यन्ति स्म मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥

वहां जितने राजा और ऋषि मुन उपस्थित थे, वे सब के सब उन दोनों कुमारों की ओर बार बार ऐसे सतृष्ण नेत्रों से देख रहे थे, मानों उनको नेत्रों से पी जांयगे ॥ १२ ॥

ऊचुः परस्परं चेदं सर्व एव समाहिताः ।
उभौ रामस्य सदृशौ बिम्बाद्बिम्बमिवोद्धृतौ ॥ १३ ॥

वे सब एकाग्रचित्त हो आपस में कहने लगे—कि, देखो महाराज श्रीरामचन्द्र और उन दोनों का एक ही सा रूप देख पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है, मानों महाराज ही के ये दोनों प्रतिबिम्ब हों ॥ १३ ॥

जटिलौ यदि न स्यातां न वल्कलधरौ यदि ।
विशेषं नाधिगच्छामो गायतो राघवस्य च ॥ १४ ॥

यदि ये दोनों जटा और वल्कल वस्त्र धारण किये हुए न होते तो इनमें और महाराज में कुछ भी भेद न रह जाता ॥ १४ ॥

एवं प्रभाषमाणेषु पौरजानपदेषु च ।
प्रवृत्तमादितः पूर्वसर्गं नारददर्शितम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार वे पुरवासी और देशवासी आपस में कह रहे थे। इधर श्रीनारद उपदिष्ट बालकाण्ड का प्रथम सर्ग अर्थात् मूल रामायण को दोनों ऋषिकुमारों ने गाना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

ततः प्रभृति सर्गांश्च यावद्विंशत्यगायताम् ।
ततोऽपराह्णसमये राघवः समभाषत ॥ १६ ॥

जब दोपहर तक बीस सर्ग गा कर उन दोनों ने समाप्त कर दिये, तब उनको सुन श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ १६ ॥

श्रुत्वा विंशतिसर्गांस्तान्भ्रातरं भ्रातृवत्सलः ।
अष्टादश सहस्राणि सुवर्णस्य महात्मनोः ॥ १७ ॥

भ्रातृवत्सल श्रीरामचन्द्र जी ने उन बीस सर्गों को सुन कर अपने भाई से कहा—इनको अठारह अठारह सहस्र अशर्फियाँ ला कर ॥ १७ ॥

प्रयच्छ शीघ्रं काकुत्स्थ यदन्यदभिकांक्षितम् ।
ददौ स शीघ्रं काकुत्स्थो बालयोर्वै पृथक् पृथक् ॥१८॥

शीघ्र दे दो। और जो कुछ ये माँगे वह भी दे दो। यह सुन कर भरत जी उन दोनों कुमारों को अलग अलग अशर्फियाँ देने लगे ॥ १८ ॥

दीयमानं सुवर्णं तु नागृह्णीतां कुशीलवौ ।
ऊचतुश्च महात्मानौ किमनेनेति विस्मितौ ॥ १९ ॥

किन्तु उन दोनों ने अशर्फियाँ न लीं और वे विस्मित हो कहने लगे; इनका क्या होगा? अथवा इनको ले कर हम क्या करें ॥१९॥

वन्येन फलमूलेन निरतौ वनवासिनौ ।
सुवर्णेन हिरण्येन किं करिष्यावहे वने ॥ २० ॥

हम तो वनवासी हैं। कन्दमूल फल खा कर अपना निर्वाह करने वाले हैं, हम वन में इस धन को ले कर क्या करेंगे ॥ २० ॥

तथा तयोः प्रब्रुवतोः कौतूहलसमन्विताः ।
श्रोतारश्चैव रामश्च सर्व एव सुविस्मिताः ॥ २१ ॥

उन दोनों की यह अद्भुत बात सुन कर, समस्त श्रोताओं को तथा श्रीरामचन्द्र जी को बड़ा विस्मय हुआ ॥ २१ ॥

तस्य चैवागमं रामः काव्यस्य श्रोतुमुत्सुकः ।
प्रपच्छ तौ महातेजास्तावुभौ मुनिदारकौ ॥ २२ ॥

अब उस काव्य को सुनने के लिये उत्सुक हो कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे पूँछा ॥ २२ ॥

किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः ।
कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुङ्गवः ॥ २३ ॥

यह काव्य कितना बड़ा है ? कितने काल तक इसकी स्थिति रहैगी ? इसके बनाने वाले कौन मुनि हैं ? इस महाकाव्य के रचयिता मुनिश्रेष्ठ कहाँ है ? ॥ २३ ॥

पृच्छन्तं राघवं वाक्यमूचतुर्मुनिदारकौ ।
वाल्मीकिर्भगवान्कर्ता सम्प्राप्तो यज्ञसंविधम् ।
येनेदं चरितं तुभ्यमशेषं सम्प्रदर्शितम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र के इस प्रकार पूँछने पर उन दोनों ऋषिकुमारों ने कहा—इस महाकाव्य के रचयिता भगवान् वाल्मीकि जी हैं, जो यज्ञ में आये हुए हैं और जिन्होंने इसमें तुम्हारा आद्यन्त चरित भली भाँति प्रदर्शित किया है ॥ २४ ॥

सन्निबद्धं हि श्लोकानां चतुर्विंशत्सहस्रकम् ।
उपाख्यानशतं चैव भार्गवेण तपस्विना ॥ २५ ॥

इस महाकाव्य में इलोपाख्यान तक २४ सहस्र श्लोक हैं, सौ उपाख्यान हैं और भृगुवंशीय महर्षि वाल्मीकि जी ने इसे बनाया है ॥ २५ ॥

आदिप्रभृति वै राजन्पञ्चसर्गशतानि च ।
काण्डानि षट् कृतानीह सोत्तराणि महात्मना ॥२६॥

प्रथम काण्ड से ले कर महर्षि ने इसमें ५०० सर्ग, छः काण्ड और सातवाँ उत्तरकाण्ड बना है ॥ २६ ॥

कृतानि गुरुणास्माकमृषिणा चरितं तव ।
प्रतिष्ठा जीवितं यावत्तावत्सर्वस्य वर्तते ॥ २७ ॥

हमारे गुरु महर्षि वाल्मीकि जी ने इसमें काव्यनायिक के जीवित रहने तक का वृत्तान्त निरूपण किया है ॥ २७ ॥

यदि बुद्धिः कृता राजञ्छ्रवणाय महारथ ।
कर्मान्तरे क्षणीभूतस्तच्छृणुष्व सहानुजः ॥ २८ ॥

हे राजन् ! यदि तुम इसे आद्यन्त सुनना चाहो तो जब जब यज्ञकार्य से तुमको अवकाश मिले, तब तब तुम अपने भ्राताओं सहित इसे सुना करिये ॥ २८ ॥

बाढमित्यब्रवीद्रामस्तौ चानुज्ञाप्य राघवौ ।
प्रहृष्टौ जग्मतुस्थानं यत्रास्ते मुनिपुङ्गवः ॥ २९ ॥

यह सुन कर श्रीरामचन्द्र जी बोले—मैं इस महाकाव्य को आद्यन्त सुनूँगा। तब वे श्रीरामचन्द्र जी से बिदा माँग, महर्षि वाल्मीकि के समीप चले गये ॥ २९ ॥

रामोऽपि मुनिभिः सार्धं पार्थिवैश्च महात्मभिः ।
श्रुत्वा तद्गीतिमाधुर्यं कर्मशालामुपागमत् ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी मुनियों और बलवान राजाओं के साथ इस मधुर काव्य को सुन कर, यज्ञशाला में गये ॥ ३० ॥

शुश्राव तत्तालयोपपन्नं
सर्गान्वितं सुस्वर शब्दयुक्तम् ।
तंत्रीलयव्यञ्जनयोगयुक्तं
कुशीलवाभ्यां परिगीयमानम् ॥ ३१ ॥

इति चतुर्नवतितमः सर्गः ॥

इस प्रकार सर्गबन्ध इस महाकाव्य को ताल, लय, सुस्वर सहित बीणा के ऊपर कुश और लव के मुख गाये जाने पर से श्रीरामचन्द्र जी ने सुना ॥ ३१ ॥

उत्तरकाण्ड का चौरानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

पञ्चनवतितमः सर्गः

—:०:—

रामो बहून्यहान्येव तद्गीतं परमं शुभम् ।
शुश्राव मुनिभिः सार्धं पार्थिवैः सह वानरैः ॥ १ ॥

इस प्रकार इस महाकाव्य को, श्रीरघुनाथ जी ने ऋषियों, राजाओं और वानरों सहित बहुत दिनों तक (नित्य) सुना ॥ १ ॥

तस्मिन् गीते तु विज्ञाय सीतापुत्रौ कुशीलवौ ।
तस्याः परिषदो मध्ये रामो वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

जब उत्तरकाण्ड की कथा सुनने से उन्होंने यह जाना कि, यह दोनों (लव और कुश) सीता के पुत्र हैं, तब सभा में श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ २ ॥

दूतान्शुद्धसमाचारानाहूयात्ममनीषया ।
मद्वचोब्रूत गच्छध्वमितो भगवतोऽन्तिके ॥ ३ ॥

और शुद्धाचरण सम्पन्न (ईमानदार) शीघ्रगामी दूतों को बुला कर उनसे श्रीरामचन्द्र जी ने कहा, मेरे कहने से तुम महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जा कर, कहो ॥ ३ ॥

यदि शुद्धसमाचारा यदि वा वीतकल्मषा ।
करोत्विहात्मनः शुद्धिमनुमान्य महामुनिम् ॥ ४ ॥

यदि सीता शुद्धचरित्रा और पापरहिता है, तो आपकी अनुमति से अपने शुद्ध होने का यहां आ कर वह विश्वास करावे ॥ ४ ॥

छन्दं मुनेश्च विज्ञाय सीतायाश्च मनोगतम् ।
प्रत्ययं दातुकामायास्ततः शंसत मे लघु ॥ ५ ॥

तुम मुनि की सम्मति और सीता की इच्छा जान कर, बहुत शीघ्र लौट आओ ॥ ५ ॥

श्वः प्रभाते तु शपथं मैथिली जनकात्मजा ।
करोतु परिषन्मध्ये शोधनार्थं ममैव च ॥ ६ ॥

कल प्रातःकाल सभा के बीच सीता अपने शुद्धाचरण के सम्बन्ध में और मेरी सफ़ाई के लिये शपथ करें ॥ ६ ॥

श्रुत्वा तु राघवस्यैतद्वचः परममद्भुतम् ।
दूताः सम्प्रययुर्वाढं यत्र वै मुनिपुङ्गवः ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह परम अद्भुत वचन सुन और "जो आज्ञा" कह, तुरन्त दूत वाल्मीकि जी के पास गये ॥ ७ ॥

ते प्रणम्य महात्मानं ज्वलन्तममितप्रभम् ।
ऊचुस्ते रामवाक्यानि मृदूनि मधुराणि च ॥ ८ ॥

दूतों ने, अग्नि समान दीप्तिवाले महर्षि वाल्मीकि जी को प्रणाम कर, बड़ी नम्रता से उनको श्रीरामचन्द्र जी की कही हुई सब बातें कह सुनायीं ॥ ८ ॥

तेषां तद्भाषितं श्रुत्वा रामस्य च मनोगतम् ।
विज्ञाय सुमहातेजा मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

दूतों की बातें सुन कर और श्रीरामचन्द्र जी के मन का अभिप्राय जान महातेजस्वी वाल्मीकि जी ने दूतों से कहा ॥ ९ ॥

एवं भवतु भद्रं वो यथा वदति राघवः ।
तथा करिष्यते सीता दैवतं हि पतिः स्त्रियः ॥ १० ॥

तुम्हारा कल्याण हो। बहुत अच्छा। श्रीरामचन्द्र जी जैसा कहते हैं, जानकी जी वैसा ही करेंगी; क्योंकि स्त्रियों का पति ही देवता है ॥ १० ॥

यथोक्ता मुनिना सर्वे राजदूता महौजसः ।
प्रत्येत्य राघवं सर्वं मुनिवाक्यं बभाषिरे ॥ ११ ॥

मुनि के यह वचन सुन दूतों ने तुरन्त लौट कर मुनि के यह वचन श्रीरामचन्द्र जी से कहे ॥ ११ ॥

ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थः श्रुत्वा वाक्यं महात्मनः ।
ऋषींस्तत्र समेतांश्च राज्ञश्चैवाभ्यभाषत ॥ १२ ॥

महर्षि वाल्मीकि जी के वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और सभा में उपस्थित राजाओं और ऋषियों से बोले ॥ १२ ॥

भगवन्तः सशिष्या वै सानुगाश्च नराधिपाः ।
पश्यन्तु सीताशपथं यश्चैवान्योऽपि काङ्क्षते ॥ १३ ॥

हे मुनि लोगों ! आप लोग अपने शिष्यों सहित, तथा राजा लोग अपने सब साथियों के साथ तथा अन्य लोग भी जो लोग सुनना चाहते हों, एकत्र हो, सीता की शपथ सुनें ॥ १३ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
सर्वेषामृषिमुख्यानां साधुवादो महानभूत् ॥१४॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन कर, समस्त ऋषिगण "वाह वाह" कहने लगे ॥ १४ ॥

राजानश्च महात्मानः प्रशंसन्ति स्म राघवम् ।
उपपन्नं नरश्रेष्ठ त्वय्येव भुवि नान्यतः ॥ १५ ॥

महात्मा राजा लोग भी श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा करने लगे और कहने लगे—हे नरश्रेष्ठ ! आपको छोड़, इस भूमण्डल पर ऐसी बातें कोई नहीं कह सकता ॥ १५ ॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा श्वोभूत इति राघवः ।
विसर्जयामास तदा सर्वास्ताञ्छत्रुसूदनः ॥ १६ ॥

इस प्रकार शत्रुतापन श्रीरामचन्द्र जी ने (अगले दिन) प्रातःकाल सीता जी की शपथ का निश्चय कर, उन सब को (उस दिन) विदा किया ॥ १६ ॥

इति सम्प्रविचार्य राजसिंहः
श्वोभूते शपथस्य निश्चयम् ।
विससर्ज मुनीन्नृपांश्च सर्वान्
स महात्मा महतो महानुभावः ॥ १७ ॥

इति पञ्चनवतितमः सर्गः ॥

महाप्रतापी महात्मा राजसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने, इस प्रकार अगले दिन प्रातःकाल श्रीजानकी से शपथ लेना निश्चित कर, उन समस्त ऋषियों और राजाओं को विदा किया ॥ १७ ॥

उत्तरकाण्ड का पञ्चानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

षण्णवतितमः सर्गः

—:o:—

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां यज्ञवाटं गतो नृपः ।
ऋषीन्सर्वान्महातेजाः शब्दापयति राघवः ॥ १ ॥

उस रात के बीतने पर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने यज्ञशाला में जा कर, समस्त ऋषियों को बुलाया ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जावालिरथ काश्यपः ।
विश्वामित्रो दीर्घतमा दुर्वासाश्च महातपाः ॥ २ ॥
पुलस्त्योऽपि तथा शक्तिर्भार्गवश्चैव वामनः ।
मार्कण्डेयश्च दीर्घायुर्मौद्गल्यश्च महायशाः ॥ ३ ॥
गर्गश्च च्यवनश्चैव शतानन्दश्च धर्मवित् ।
भरद्वाजश्च तेजस्वी अग्निपुत्रश्च सुप्रभः ॥ ४ ॥
नारदः पर्वतश्चैव गौतमश्च महायशाः ।
एते चान्ये च बहवो मुनयः संशितव्रताः ॥ ५ ॥
कौतूहल समाविष्टाः सर्व एव समागताः ।
राक्षसाश्च महावीर्या वानराश्च महाबलाः ॥ ६ ॥
सर्व एव समाजग्मुर्महात्मानः कुतूहलात् ।
क्षत्रिया ये च शूद्राश्च वैश्याश्चैव सहस्रशः ॥ ७ ॥
नानादेशगताश्चैव ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
सीताशपथवीक्षार्थं सर्व एव समागताः ॥ ८ ॥

वशिष्ठ, वामदेव, जावालि, कश्यप, विश्वामित्र, दीर्घतमा, महातपस्वी दुर्वासा, पुलस्त्य, शक्ति, भार्गव, वामन, दीर्घायु मार्कण्डेय, महायशस्वी मौद्गल्य, गर्ग, च्यवन, धर्मात्मा शतानन्द, तेजस्वी भरद्वाज, अग्निपुत्र सुप्रभ, नारद, पर्वत, महायशस्वी गौतम जो आदि अनेक महाव्रतधारी मुनि, उस अद्भुत व्यापार को देखने के लिये वहाँ एकत्र हुए। इनके अतिरिक्त बड़े बड़े पराक्रमी राक्षस तथा महाबलवान वानरगण एवं और भी महात्मा लोग बड़ी

उत्कण्ठा से यज्ञशाला में इकट्ठे हुए। इनके सिवाय हज़ारों क्षत्रिय वैश्य और शूद्र तथा अनेक देशों के रहने वाले महाव्रतधारी ब्राह्मण भी सीता जी की शपथ (का दृश्य) देखने को उस सभा में जमा हो गये ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

तदा समागतं सर्वमश्मभूतमिवाचलम् ।
श्रुत्वा मुनिवरस्तूर्णं ससीतः समुपागमत् ॥ ९ ॥

ये सब (दर्शक गण) सभा में आ कर ऐसे चुपचाप बैठ गये, मानों पत्थर की मूर्तियाँ रखी हों। सभा में सब लोगों का एकत्र होना सुन, मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी श्रीसीता जी को लिये हुए उस सभा में आये ॥ ९ ॥

तमृषिं पृष्ठतः सीता अन्वगच्छदवाङ्मुखी ।
कृताञ्जलिर्बाष्पकला कृत्वा रामं मनोगतम् ॥ १० ॥

सीता जी महर्षि के पीछे पीछे, नीचे को मुख किये, आँखों में आँसू भरे, हाथ जोड़े और मन ही मन श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान करती हुई आयीं ॥ १० ॥

तां दृष्ट्वा श्रुतिमायान्तीं ब्राह्मणमनुगामिनीम् ।
वाल्मीकेः पृष्ठतः सीतां साधुवादो महानभूत् ॥ ११ ॥

उस समय महर्षि वाल्मीकि जी के पीछे आती हुई सीता जी ऐसी जान पड़ती थी, मानों ब्रह्मा जी के पीछे श्रुति चली आती हो। सीता जी को इस प्रकार आते देख कर, सभा में धन्य धन्य की ध्वनि होने लगी ॥ ११ ॥

ततो हलहलाशब्दः सर्वेषामेवमाबभौ ।
दुःखजन्मविशालेन शोकेनाकुलितात्मनाम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर उस सभा में बड़ा कोलाहल हुआ। क्योंकि सीता देवी को उस दीन दशा में देख, लोगों को बड़ा दुःख हुआ और वे मारे शोक के विकल हो गये॥ १२॥

साधु रामेति केचित्तु साधु सीतेति चापरे।
उभावेव च तत्रान्ये प्रेक्षकाः सम्प्रचुक्रुशुः॥ १३॥

उन दर्शकों में से कोई तो श्रीरामचन्द्र जी की, कोई सीता जी की और कोई दोनों की प्रशंसा कर रहे थे॥ १३॥

ततो मध्ये जनौघस्य प्रविश्य मुनिपुङ्गवः।
सीतासहायो वाल्मीकिरिति होवाच राघवम्॥१४॥

महर्षि वाल्मीकि जी जानकी जी को अपने साथ लिये हुए उस भीड़ में घुस, श्रीरामचन्द्र जी से बोले॥ १४॥

इयं दाशरथे सीता सुव्रता धर्मचारिणी।
अपवादात्परित्यक्ता ममाश्रमसमीपतः॥ १५॥

हे दाशरथे! जिस सीता को आपने अपवाद के भय से मेरे आश्रम के पास छुड़वा दिया था, यही वह सुव्रता धर्मचारिणी सीता है॥ १५॥

लोकापवादभीतस्य तव राम महाव्रत।
प्रत्ययं दास्यते सीता तामनुज्ञातुमर्हसि॥ १६॥

हे महाव्रत राम! आप लोकापवाद से डरते हैं। अतएव सीता जी अपनी शुद्धता का विश्वास दिलाना चाहती हैं। तुम आज्ञा दो॥ १६॥

इमौ तु जानकीपुत्रावुभौ च यमजातकौ ।
सुतौ तवैव दुर्धर्षौ सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥

हे दुर्धर्ष ! ये दोनों बालक सीता जी के हैं और एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं । मैं यह बात तुमसे सत्य सत्य कहता हूँ अथवा यह मेरा कथन तुम सत्य मानो ॥ १७ ॥

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन ।
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ॥ १८ ॥

हे राम ! मैं वरुण जी का दशवाँ पुत्र हूँ । मैंने आज तक कभी असत्य का स्मरण तक नहीं किया । यह दोनों तुम्हारे पुत्र हैं, ॥ १८ ॥

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता ।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली ॥ १९ ॥

(मैं भी शपथपूर्वक कहता हूँ कि) यदि यह जानकी दुष्टचरित्रा हो तो मुझे मेरे हज़ारों वर्षों के किये हुए अपने तप का फल प्राप्त न हो ॥ १९ ॥

मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम् ।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली यदि ॥ २० ॥

मन से, कर्म से और वाणी से भी मैंने कभी पापाचरण नहीं किया है । यदि यह मैथिली पापरहित हो तो मुझे इस सदनुष्ठान का फल प्राप्त हो ॥ २० ॥

अहं पञ्चसु भूतेषु मनः षष्ठेषु राघव ।
विचिन्त्य सीता शुद्धेति जग्राह वननिर्झरे ॥ २१ ॥

हे राम! पांच तत्वों से बनी श्रोत्रादि पांचों ज्ञानेन्द्रियों और छठवां मन इन सब से जब सीता को मैंने शुद्ध जाना, तब मैंने उस वन में सीता को ग्रहण किया था अथवा सीता को अपने आश्रम में ले गया था ॥ २१ ॥

इयं शुद्धसमाचारा अपापा पतिदेवता ।
लोकापवादभीतस्य प्रत्ययं तव दास्यति ॥ २२ ॥

यह पतिव्रता शुद्धाचरण वाली और पापशून्य है। किन्तु तुम लोकापवाद से डर रहे हो, अतः यह तुमको (अपने शुद्धाचरण का) विश्वास दिलावेगी ॥ २२ ॥

तस्मादियं नरवरात्मज शुद्धभावा
दिव्येन दृष्टिविषयेण मया प्रदिष्टा ।
लोकापवादकलुषीकृत चेतसा या
त्यक्ता त्वयाप्रियतमा विदितापि शुद्धा ॥२३॥

इति षण्णवतितमः सर्गः ॥

हे राम! मैंने दिव्य दृष्टि से देख लिया है कि, जानकी शुद्ध है। यद्यपि तुम स्वयं भी अपनी प्यारी सीता को शुद्ध मानते हो तथापि लोकापवाद के भय से तुमने इनको त्यागा है ॥ २३ ॥

उत्तरकाण्ड का छियानबेवां सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

सप्तनवतितमः सर्गः

—:o:—

वाल्मीकिनैव मुक्तस्तु राघवः प्रत्यभाषत ।
प्राञ्जलिर्जगतो मध्ये दृष्ट्वा तां वरवर्णिनीम् ॥ १ ॥

महर्षि वाल्मीकि के यह वचन सुन कर और बीच सभा में श्रीजानकी जी को खड़ा देख, श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥ १ ॥

एवमेतन्महाभाग यथा वदसि धर्मवित् ।
प्रत्ययस्तु मम ब्रह्मंस्तव वाक्यैरकल्मषैः ॥ २ ॥

हे भगवन् ! हे धर्मज्ञ ! तुम जो कहते हो, वह ठीक है । हे ब्रह्मन् ! तुम्हारे दोषरहित वचनों का मुझे (पूर्ण) विश्वास है ॥ २ ॥

प्रत्ययश्च पुरा वृत्तो वैदेह्याः सुरसन्निधौ ।
शपथश्च कृतस्तत्र तेन वेश्म प्रवेशिता ॥ ३ ॥

क्योंकि (लङ्का में) देवताओं के सामने वैदेही ने मुझे विश्वास करा दिया था और शपथ खाई थी । तभी मैं इसे घर भी ले आया था ॥ ३ ॥

लोकापवादो बलवान्येन त्यक्ता हि मैथिली ।
सेयं लोकभयाद्ब्रह्मन्नपापेत्यभिजानता ।
परित्यक्ता मया सीता तद्भवान्क्षन्तुमर्हति ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन् ! किन्तु क्या करूँ । लोकापवाद बलवान् है । इसीसे मुझे इसे त्यागना पड़ा । यह जान कर भी कि, सीता में कुछ भी

पाप नहीं है, लोकापवाद के डर से मुझे सीता त्यागनी पड़ी। इस अपराध के लिये आप मुझे क्षमा करें ॥ ४ ॥

जानामि चेमौ पुत्रौ मे यमजातौ कुशीलवौ ।
शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे ॥ ५ ॥

मुझे यह भी मालूम है कि, ये दोनों लड़के कुश और लव मेरे ही हैं और एक साथ उत्पन्न हुए हैं; किन्तु, इस जनसमूह में यह सीता यदि शुद्धाचरण वाली सिद्ध हो जाय, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होगी। अथवा इस जगत में अति शुद्ध चरित्रा जानकी के यमजपुत्रों को भी मैं जानता हूँ कि ये दोनों मेरे ही पुत्र हैं। इसीसे जानकी में मेरी बड़ी प्रीति है (रा०) ॥ ५ ॥

अभिप्रायं तु विज्ञाय रामस्य सुरसत्तमाः ।
सीतायाः शपथे तस्मिन्सर्व एव समागताः ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का अभिप्राय जान कर ब्रह्मा आदि समस्त देवता भी उस जनसमूह में जानकी जी का शपथखाना देखने को उपस्थित हुए थे ॥ ६ ॥

पितामहं पुरस्कृत्य सर्व एव समागताः ।
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः ॥ ७ ॥
साध्याश्च देवाः सर्वे ते सर्वे च परमर्षयः ।
नागाः सुपर्णाः सिद्धाश्च ते सर्वे हृष्टमानसाः ॥ ८ ॥

ब्रह्मा को आगे कर द्वादश आदित्य, अष्टवसु, एकादश रुद्र, १३ विश्वदेव, ४६ पवन, साध्यगण, आदि समस्त देवता; समस्त देवर्षि, नाग, गरुड़, सिद्ध आदि सभी हर्षित अन्तःकरण से वहाँ जमा हुए थे ॥ ७ ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा देवानृषींश्चैव राघवः पुनरब्रवीत् ।
प्रत्ययो मे नरश्रेष्ठ ऋषिवाक्यैरकल्मषैः ॥ ९ ॥

देवताओं और ऋषियों को देख, श्रीरामचन्द्र जी पुनः बोले— हे मुनियों में श्रेष्ठ ! मुझे तो आपके कथन ही से सीता के पाप रहित होने का विश्वास हो गया है ॥ ९ ॥

शुद्धायां जगतो मध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे ।
सीताशपथसम्भ्रान्ताः सर्व एव समागताः ॥ १० ॥

किन्तु जगत में अर्थात् इन सब लोगों के सामने सीता अपनी शुद्धता प्रमाणित करें तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हो । क्योंकि इतने ये सब लोग सीता की शपथ देखने ही को सादर (अर्थात् आग्रह-वश) इकट्ठे हुए हैं ॥ १० ॥

ततो वायुः शुभः पुण्यो दिव्यगन्धो मनोरमः ।
तं जनौघं सुरश्रेष्ठो ह्लादयामास सर्वतः ॥ ११ ॥

उस समय मङ्गलकारी पवित्र मनोरथ और सुगन्धित पवन चलने लगा, जिसके स्पर्श से समस्त मनुष्य और देवता आनन्दित हुए ॥ ११ ॥

तदद्भुतमिवाचिन्त्यं निरैक्षन्त समाहिताः ।
मानवाः सर्वराष्ट्रेभ्यः पूर्वं कृत युगे यथा ॥ १२ ॥

सब लोग उस पवन को अद्भुत और अचिन्त्य वस्तु की तरह देखने (समझने) लगे । उस पवनस्पर्श से सब लोगों के मन वैसे ही हर्षित हो गये, जैसे कि, सतयुग में होते थे । अथवा उस

प्रकार की अद्भुत अचिन्त्य हवा को चलते देख लोग आपस में कहने लगे हमने तो सुना था कि ऐसी हवा तो सतयुग ही में चला करती थी ॥ १२ ॥

सर्वान्समागतान्दृष्ट्वा सीता काषायवासिनी ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यमधोदृष्टिरवाङ्मुखी ॥ १३ ॥

समस्त मनुष्यों, देवता और चतुर्दश भुवनों के प्राणियों को वहाँ एकत्र हुआ देख कर, काषायवस्त्र पहिने हुए, सीता उस जनसमूह में नीचे को सिर झुकाये और हाथ जोड़े हुए बोलीं—॥ १३ ॥

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १४ ॥

यदि मैंने श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ कर, अन्य किसी पुरुष का मन से भी कभी चिन्तवन न किया हो, तो पृथिवी फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ ॥ १४ ॥

मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १५ ॥

मन, कर्म और वाणी से यदि मैं श्रीरामचन्द्र जी ही को अपना पति मानती रही होऊँ, तो पृथिवी देवी मुझे समाने के लिये जगह दे ॥ १५ ॥

यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १६ ॥

यदि मेरा यह कथन कि, मैं श्रीरामचन्द्र को छोड़, अन्य किसी को (अपना पति) नहीं मानती, सत्य हो, तो पृथिवी देवी मुझे समा जाने के लिये स्थान दें ॥ १६ ॥

तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत्तदद्भुतम् ।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम् ॥ १७ ॥

सीता जी इस प्रकार कह ही रही थीं कि, इतने में पृथिवी फट गयी और उसमें से एक दिव्य सिंहासन प्रकट हुआ ॥ १७ ॥

ध्रियमाणं शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः ।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः ॥ १८ ॥

उस सिंहासन को अमित विक्रमी और अच्छे अच्छे रत्नों से भूषित अनेक नाग अपने सिरों पर रखे हुए थे ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम् ।
स्वागतेनाभिनंद्यैनामासने चोपवेशयत् ॥ १९ ॥

(उस सिंहासन के ऊपर धरणी देवी विराजमान थीं) धरणी देवी ने दोनों भुजाओं से सीता को उठा कर और "तुम्हारा स्वागत है" कह कर, उस सिंहासन में बिठा लिया ॥ १९ ॥

तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशंतीं रसातलम् ।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत् ॥ २० ॥

सिंहासन पर बैठ सीता को रसातल में जाते देख, आकाश से दिव्य फूलों की वर्षा सीता जी के ऊपर हुई ॥ २० ॥

साधुकारश्च सुमहान्देवानां सहसोत्थितः।
साधु साध्विति वै सीते यस्यास्ते शीलमीदृशम् ॥ २१ ॥

देवता लोग "धन्य धन्य" कह कर, सीता जी की प्रशंसा करने लगे। वे कहने लगे हे देवी सीते! तुम धन्य हो, जो तुम्हारा ऐसा शील है ॥ २१ ॥

एवं बहुविधा वाचो ह्यन्तरिक्षगताः सुराः।
व्याजह्रुर्हृष्टमनसो दृष्ट्वा सीताप्रवेशनम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार आकाशस्थित देवता बड़े हर्ष के साथ सीता के पृथिवी में समा जाने के बारे में अनेक प्रकार की बातें कहने लगे ॥ २२ ॥

यज्ञवाटगताश्चापि मुनयः सर्व एव ते।
राजानश्च नरव्याघ्रा विस्मयान्नोपरेमिरे ॥ २३ ॥

उस समय यज्ञभूमि में जितने ऋषि और पुरुषसिंह राजा उपस्थित थे, वे सभी अत्यन्त विस्मित हुए ॥ २३ ॥

अन्तरिक्षे च भूमौ च सर्वे स्थावरजङ्गमाः।
दानवाश्च महाकायाः पाताले पन्नगाधिपाः ॥ २४ ॥
केचिद्विनेदुः संहृष्टाः केचिद्ध्यानपरायणाः।
केचिद्रामं निरीक्षन्ते केचित्सीतामचेतसः* ॥ २५ ॥

आकाशस्थित और पृथिवीस्थित स्थावर जंगम, विशाल रूप वाले बड़े बड़े दानव और पातालवासी बड़े बड़े नाग आश्चर्य में डूबे हुए थे और (उनमें से अनेक) हर्षनाद कर रहे थे। कोई तो विचारसागर में मग्न थे, कोई श्रीरामचन्द्र जी की ओर

---

* पाठान्तरे—"अचेतनाः।"

देख रहे थे और कोई सीता का ध्यान कर, अचेत से हो रहे थे ॥ २४ ॥ २५ ॥

सीताप्रवेशनं दृष्ट्वा तेषामासीत्समागमः ।
तन्मुहूर्तमिवात्यर्थं समं संमोहितं जगत् ॥ २६ ॥

इति सप्तनवतितमः सर्गः ॥

उन समस्त ऋषियों का समागम और सीता जी का पृथिवी में समाना देख, कुछ देर के लिये सारा संसार स्तब्ध हो गया ॥ २६ ॥

उत्तरकाण्ड का सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

अष्टनवतितमः सर्गः

—:०:—

रसातलं प्रविष्टायां वैदेह्यां सर्ववानराः ।
चुक्रुशुः साधुसाध्वीति मुनयो रामसन्निधौ ॥ १ ॥

जानकी जी को रसातल में प्रवेश करते देख, श्रीरामचन्द्र जी के सामने ही, वानर और मुनिगण "धन्य धन्य" कहने लगे ॥ १ ॥

दण्डकाष्ठमवष्टभ्य बाष्पव्याकुलितेक्षणः ।
अवाक् शिरा दीनमना रामो ह्यासीत्सुदुःखितः ॥ २ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी यज्ञदीक्षा की लकड़ी का सहारा ले, आँखों में आँसू भर, तथा नीचे को सिर झुकाये, बड़े उदास और दुखी हो गये ॥ २ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं बहुशो बाष्पमुत्सृजन् ।
क्रोधशोकसमाविष्टो रामो वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वे बहुत देर तक बहुत रोये। फिर वे क्रुद्ध हो और शोक में भर यह बोले—॥ ३ ॥

अभूतपूर्वं शोकं मे मनः स्प्रष्टुमिवेच्छति ।
पश्यतो मे यथा नष्टा सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ ४ ॥

देखो, लक्ष्मी के समान रूपवाली सीता मेरी आँखों के सामने पाताल में समा गयी। अतएव मुझे आज ऐसा शोक प्राप्त हुआ है, जैसा पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था ॥ ४ ॥

साऽदर्शनं पुरा सीता लङ्कापारे महोदधेः ।
ततश्चापि मयानीता किं पुनर्वसुधातलात् ॥ ५ ॥

जब मैं इसे समुद्र के पार से, जहाँ इसका पता लगाना तक कठिन था और इसे कोई देख भी नहीं पाता था, जा कर ले आया; तब मेरे लिये इसे पाताल से लाना कौन कठिन बात है ॥ ५ ॥

वसुधे देवि भवति सीता निर्यात्यतां मम ।
दर्शयिष्यामि वा रोषं यथा मामवगच्छसि ॥ ६ ॥

हे पृथिवी देवि ! तू मेरी सीता मुझे लौटा दे, अन्यथा मुझे (विवश हो) तेरे ऊपर इस अपने अपमान के लिये, क्रोध प्रकट करना पड़ेगा ॥ ६ ॥

कामं श्वश्रूर्ममैव त्वं त्वत्सकाशाद्धि मैथिली ।
कर्षता फालहस्तेन जनकेनोद्धृता पुरा ॥ ७ ॥

तू तो मेरी (एक प्रकार से) सास लगती है। क्योंकि राजर्षि जनक ने जोतते समय तेरे ही भीतर से (गर्भ से) सीता को पाया था ॥ ७ ॥

तस्मान्निर्यात्यतां सीता विवरं वा प्रयच्छ मे ।
पाताले नाकपृष्ठे वा वसेयं सहितस्तया ॥ ८ ॥

अतएव हे पृथिवी देवि! या तो तू मुझे मेरी सीता लौटा दे अथवा मुझे भी अपने भीतर ले ले। क्योंकि सीता चाहे पाताल में रहे, चाहे स्वर्ग में, मैं तो उसीके साथ रहूँगा ॥ ८ ॥

आनाय त्वं हि तां सीतां मत्तोऽहं मैथिलीकृते ।
न मे दास्यसि चेत्सीतां यथारूपां महीतले ॥ ९ ॥

हे वसुधे! जानकी को ला दे। मैं उसके पीछे पागल हो रहा हूँ। यदि तू जानकी को उसी रूप में जैसी कि, वह पूर्व में इस पृथिवीतल पर थी, न लौटा देगी ॥ ९ ॥

सपर्वतवनां कृत्स्नां विधमिष्यामि ते स्थितिम् ।
नाशयिष्याम्यहं भूमिं सर्वमापो भवत्विह ॥ १० ॥

तो मैं पर्वतों और वनों सहित तुझको ध्वस्त और नष्ट कर दूँगा। मैं सारी पृथिवी को जल में डुबो दूँगा, अथवा फिर जल ही जल हो जायगा ॥ १० ॥

एवं ब्रुवाणे काकुत्स्थे क्रोधशोकसमन्विते ।
ब्रह्मा सुरगणैः सार्धमुवाच रघुनन्दनम् ॥ ११ ॥

जब क्रोध और शोक से पूर्ण हो, श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब ब्रह्मादि देवता श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ११ ॥

राम राम न सन्तापं कर्तुमर्हसि सुव्रत ।
स्मर त्वं [1]पूर्वकं भावं मन्त्रं चामित्रकर्शन ॥ १२ ॥

हे राम! हे सुव्रत! आप सन्ताप करने योग्य नहीं हैं। हे शत्रुतापन! आप यह तो समझिये कि, आप हैं कौन अर्थात् आप अपने विष्णु होने का स्मरण कीजिये। अथवा आपने जो पहिले देवताओं से कहा था कि, हम इतने कार्य के लिये पृथिवीतल पर अवतार लेंगे। इस बात को स्मरण कीजिये ॥ १२ ॥

न खलु त्वां महाबाहो स्मारयेयमनुत्तमम् ।
इमं मुहूर्तं दुर्धर्ष स्मर त्वं जन्म वैष्णवम् ॥ १३ ॥

हे महाबाहो! मैं आपको स्मरण कराने नहीं आया। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि, आप अपने दुर्धर्ष वैष्णव रूप को स्मरण कीजिये ॥ १३ ॥

सीता हि विमला साध्वी तव पूर्वपरायणा ।
नागलोकं सुखं प्रायात्त्वदाश्रयतपोबलात् ॥ १४ ॥

सीता जी तो स्वभाव ही से शुद्ध और पतिव्रता हैं। वे सदा तुम्हारी अनुगामिनी हैं। तुम्हारे आश्रय रूप तपोबल से वे नागलोक में पहुँची हैं ॥ १४ ॥

स्वर्गे ते सङ्गमो भूयो भविष्यति न संशयः ।
अस्यास्तु परिषन्मध्ये यद्ब्रवीमि निबोध तत् ॥ १५ ॥

अब उनसे आपकी भेंट पुनः वैकुण्ठ में होगी। इस सभा के सामने अब मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनिये ॥ १५ ॥

---

[1] पूर्वकंभावं—पूर्वकंस्वभावं विष्णुत्वमित्यर्थः। (गो०)

एतदेव हि काव्यं ते काव्यानामुत्तमं श्रुतम् ।
सर्वं विस्तरतो राम व्याख्यास्यति न संशयः ॥ १६ ॥

यह काव्य, समस्त काव्यों से उत्तम है। इसके द्वारा तुम्हारे आद्यन्त जीवनचरित प्रकट होंगे। इसमें संशय नहीं ॥ १६ ॥

जन्मप्रभृति ते वीर सुख दुःखोपसेवनम् ।
भविष्यत्युत्तरं चेह सर्वं वाल्मीकिना कृतम् ॥ १७ ॥

हे राम ! जन्म से ले कर तुमको जो दुःख सुख मिले हैं, उन सब का महर्षि वाल्मीकिकृत इस महाकाव्य में वर्णन है और जो आगे को होना शेष है, उसका भी इसमें वर्णन है ॥ १७ ॥

आदिकाव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
न ह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशोभाग्राघवादृते ॥१८॥

हे राम ! यह आदिकाव्य है। इसमें मुख्यतः तुम्हारे ही चरित्र का वर्णन है। तुमको छोड़ इस काव्य का यश दूसरा नहीं पा सकता ॥ १८ ॥

श्रुतं ते पूर्वमेतद्धि मया सर्वं सुरैः सह ।
दिव्यमद्भुत रूपं च सत्यवाक्यमनावृतम् ॥ १९ ॥

अद्भुत और सत्य घटनामूलक एवं अज्ञान को दूर करने वाले इस काव्य को देवताओं सहित मैंने, तुम्हारे यज्ञ में सुना है ॥ १९ ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल धर्मेण सुसमाहितः ।
शेषं भविष्यं काकुत्स्थ काव्यं रामायणं शृणु ॥ २० ॥

हे पुरुषसिंह राम! अब तुम सावधान हो कर, इस महाकाव्य रामायण के अवशिष्ट भाग को भी सुनो ॥ २० ॥

उत्तरं नाम काव्यस्य शेषमत्र महायशः ।
तच्छृणुष्व महातेज ऋषिभिः सार्धमुत्तमम् ॥ २१ ॥

हे महायशस्वी! हे महातेजस्वी राम! यह काव्य का उत्तर भाग है। अतएव इसका नाम उत्तर होगा। अब तुम ऋषियों के साथ बैठ कर इसे भी सुनो ॥ २१ ॥

न खल्वन्येन काकुत्स्थ श्रोतव्यमिदमुत्तमम् ।
परमं ऋषिणा वीर त्वयैव रघुनन्दन ॥ २२ ॥

इस उत्तरकाण्ड को आप ही सुन सकते हैं। (अर्थात् भरतादिक न सुनें) हे वीर रघुनन्दन! ब्रह्मलोकनिवासी ऋषियों के साथ तुम ही इसे सुनो ॥ २२ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं ब्रह्मा त्रिभुवनेश्वरः ।
जगाम त्रिदिवं देवो देवैः सह सबान्धवैः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर, देवताओं सहित तीनों भुवन के अधीश्वर ब्रह्मा जी ब्रह्मलोक को चले गये ॥ २३ ॥

ये च तत्र महात्मान ऋषयो ब्राह्मलौकिकाः ।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता न्यवर्तन्त महौजसः ॥ २४ ॥

शेष ब्रह्मलोकवासी ऋषि और तपस्वी, ब्रह्मा जी के आज्ञानुसार वहीं ठहरे रहे ॥ २४ ॥

उत्तरं श्रोतुमनसो भविष्यं यच्च राघवे ।
ततो रामः शुभां वाणीं देवदेवस्य भाषिताम् ॥२५॥

क्योंकि उन्हें भी श्रीरामचन्द्र जी के भविष्य चरित्र सुनने की अभिलाषा थी। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने देवदेव ब्रह्मा जी की सुन्दर वाणी॥ २५ ॥

श्रुत्वा परमतेजस्वी वाल्मीकिमिदमब्रवीत् ।
भगवन् श्रोतुमनस ऋषयो ब्राह्मलौकिकाः ॥ २६ ॥

सुन परम तेजस्वी वाल्मीकि जी से यह कहा—हे भगवन्! ये समस्त ब्रह्मलोक निवासी ऋषि भविष्य सुनना चाहते हैं ॥२६॥

भविष्यदुत्तरं यन्मे श्वोभूते सम्प्रवर्तताम् ।
एवं विनिश्चयं कृत्वा संप्रगृह्य कुशीलवौ ॥ २७ ॥

मेरे बारे में आगे जो कुछ होने वाला है, वह कल प्रातःकाल से सुनाया जाय। ऐसा निश्चय कर और कुश लव को साथ ले ॥ २७ ॥

तं जनौघं विसृज्याथ पर्णशालामुपागमत् ।
तामेव शोचतः सीतां सा व्यतीता च शर्वरी ॥ २८ ॥

इति अष्टनवतितमः सर्गः ॥

तथा उन सब लोगों को बिदा कर, श्रीरामचन्द्र जी महर्षि वाल्मीकि की पर्णशाला में गये और वहाँ सीता जी ही की चर्चा और चिन्ता करते करते उन्होंने वह रात बिता दी ॥ २८ ॥

उत्तरकाण्ड का अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

एकोनशततमः सर्गः

—:o:—

रजन्यां तु प्रभातायां समानीय महामुनीन् ।
गीयतामविशङ्काभ्यां रामः पुत्रावुवाच ह ॥ १ ॥

प्रातःकाल होते ही, नित्य कर्म से निश्चिन्त हो और सम्पूर्ण महामुनियों को बुला कर श्रीरामचन्द्र जी ने कुश लव से कहा—तुम निर्भय होकर, भविष्य चरित्र का गान करो ॥ १ ॥

ततः समुपविष्टेषु महर्षीषु महात्मसु ।
भविष्यदुत्तरं काव्यं जगतुस्तौ कुशीलवौ ॥ २ ॥

जब महात्मा ऋषिगण (यथास्थान) बैठ गये, तब कुश लव ने उत्तरकाण्ड के, भविष्य में होने वाली घटनाओं के वर्णन से युक्त भाग को गा कर सुनाना आरम्भ किया ॥ २ ॥

प्रविष्टायां तु सीतायां भूतलं सत्यसम्पदा[1] ।
तस्यावसाने यज्ञस्य रामः परमदुर्मनाः ॥ ३ ॥

सत्य के प्रभाव से सीता देवी के पृथिवी में समा जाने पर यज्ञ समाप्त हुआ। सीता के वियोग से श्रीरामचन्द्र जी बड़े दुःखी हुए ॥ ३ ॥

अपश्यमानो वैदेहीं मेने शून्यमिदं जगत् ।
शोकेन परमायस्तो न शान्तिं मनसागमत् ॥ ४ ॥

---

१ सत्य सम्पदा—सत्यवैभवेन । (गो०)

सीता के न रहने से श्रीरामचन्द्र जी को यह संसार सूना सा जान पड़ने लगा। वे ऐसे शोकपीड़ित हुए कि, उनका मन किसी प्रकार भी शान्त न हो सका ॥ ४ ॥

विसृज्य पार्थिवान्सर्वानृक्षवानरराक्षसान् ।
जनौघं विप्रमुख्यानां वित्तपूर्वं विसृज्य च ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने (समागत) समस्त, राजाओं, रीछों, वानरों, राक्षसों, ब्राह्मणों एवं अन्य जनसमूह को, विविध प्रकार के दान मान से सन्तुष्ट किया ॥ ५ ॥

ततो विसृज्य तान्सर्वान् रामो राजीवलोचनः ।
हृदि कृत्वा सदा सीतामयोध्यां प्रविवेश ह ॥ ६ ॥

राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी उन सब को विदा कर, जानकी जी का मन ही मन स्मरण करते हुए, अयोध्या में आये ॥ ६ ॥

न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः ।
यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी भवत् ॥ ७ ॥

परन्तु सीता को छोड़ उन्होंने और किसी स्त्री को अपनी पत्नी नहीं बनाया। उन्होंने जितने यज्ञ किये, उनमें पत्नी की जगह सीता की सुवर्णप्रतिमा रखी ॥ ७ ॥

दश वर्षसहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत् ।
वाजपेयान्दशगुणांस्तथा बहुसुवर्णकान् ॥ ८ ॥

इस प्रकार दस सहस्र वर्ष तक प्रति वर्ष अश्वमेध यज्ञ किये और प्रत्येक सहस्र वर्ष बाद, अश्वमेध यज्ञ से दसगुना अधिक फल

देने वाले वाजपेय यज्ञ किये। इन यज्ञों में बहुत सा सुवर्णदान किया ॥ ८ ॥

अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां गोसवैश्च महाधनैः।
ईजे क्रतुभिरन्यैश्च स श्रीमानाप्तदक्षिणैः ॥ ९ ॥

तदनन्तर अग्निष्टोम, अतिरात्र, गोसव—ये यज्ञ तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुत से यज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने किये। इन समस्त यज्ञों में उन्होंने दक्षिणादान में बहुत सा धन व्यय किया ॥ ९ ॥

एवं स कालः सुमहान् राज्यस्थस्य महात्मनः।
धर्मे प्रयतमानस्य व्यतीयाद्राघवस्य तु ॥ १० ॥

इस प्रकार उन महात्मा श्रीरामचन्द्र जी को धर्मपूर्वक राज्य करते करते बहुत समय बीत गया ॥ १० ॥

ऋक्षवानररक्षांसि स्थिता रामस्य शासने।
अनुरज्जन्ति राजानो ह्यहन्यहनि राघवम् ॥ ११ ॥

रीछ, वानर और राक्षस सदा श्रीरामचन्द्र जी के आज्ञानुवर्ती रहे। देशदेशान्तरों के राजाओं का नित्य नित्य श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर अनुराग बढ़ता ही जाता था ॥ ११ ॥

काले वर्षति पर्जन्यः सुभिक्षं विमला दिशः।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं पुरं जनपदास्तथा ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के राज्यकाल में ठीक समय पर जलवृष्टि होती थी। सदा सुभिक्ष बना रहता था। सब दिशाएँ निर्मल रहती थीं। नगरों और देहातों में हृष्टपुष्ट मनुष्य भरे रहते थे ॥ १२ ॥

नाकाले म्रियते कश्चिन्न व्याधिः प्राणिनां तथा ।
नानर्थो विद्यते कश्चिद्रामे राज्यं प्रशासति ॥ १३ ॥

किसी की भी असामयिक मृत्यु नहीं होती थी और न कोई किसी प्रकार की व्याधि से पीड़ित ही होता था। सारांश यह कि, श्रीरामचन्द्र जी के राज्य में कहीं भी किसी प्रकार का अनर्थ नहीं होने पाता था ॥ १३ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य राममाता यशस्विनी ।
पुत्रपौत्रैः परिवृता कालधर्ममुपागमत् ॥ १४ ॥

बहुत समय के बाद श्रीरामचन्द्र जी की यशस्विनी माता कौशल्या, पुत्र पौत्रों का आनन्द देखती हुई, स्वर्ग सिधारी ॥ १४ ॥

अन्वियाय सुमित्रा च कैकेयी च यशस्विनी ।
धर्मं कृत्वा बहुविधं त्रिदिवे पर्यवस्थिता ॥ १५ ॥

उनके पीछे यशस्विनी सुमित्रा और कैकेयी भी विविध प्रकार के धर्माचरण करती करती स्वर्गवासिनी हुईं ॥ १५ ॥

सर्वाः प्रमुदिताः स्वर्गे राज्ञा दशरथेन च ।
समागता महाभागाः सर्वधर्मं च लेभिरे ॥ १६ ॥

वे सब महाभाग्यवान् स्वर्ग में पहुँच और हर्षित हो, अपने पति महाराज दशरथ से जा मिलीं और अपने धर्मकृत्यों का फल भोगने लगीं ॥ १६ ॥

तासां रामो महादानं काले काले प्रयच्छति ।
मातॄणामविशेषेण ब्राह्मणेषु तपस्विषु ॥ १७ ॥

समय समय श्रीरामचन्द्र जी ने माताओं के कल्याण के लिये तपस्वियों और ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के दान दिये ॥ १७॥

पित्र्याणि ब्रह्मरत्नानि यज्ञान्परमदुस्तरान् ।
चकार रामो धर्मात्मा पितृन्देवान्विवर्धयन् ॥ १८ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी पितर और देवताओं की अभिवृद्धि के लिये और अपने पिता की अभिवृद्धि के लिये विविध रत्नों के दान और दुस्तर यज्ञानुष्ठान किया करते थे ॥ १८ ॥

एवं वर्षसहस्राणि बहून्यथ ययुः सुखम् ।
यज्ञैर्बहुविधं धर्मं वर्धयानस्य सर्वदा ॥ ॥ १९ ॥

इति एकोनशततमः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने यज्ञानुष्ठान से सदा धर्म की वृद्धि कर, कितने ही हज़ार वर्षों तक सुखपूर्वक राज्य किया ॥ १९ ॥

उत्तरकाण्ड का निन्नानवेवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

शततमः सर्गः

—:o:—

कस्यचित्त्वथ कालस्य युधाजित्केकयो नृपः ।
स्वगुरुं प्रेषयामास राघवाय महात्मने ॥ १ ॥

कुछ दिनों बाद केकयदेश के राजा युधाजित् ने महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पास अपने गुरु को भेजा ॥ १ ॥

गार्ग्यमङ्गिरसः पुत्रं ब्रह्मर्षिममितप्रभम् ।
दश चाश्वसहस्राणि प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २ ॥

वे गर्गकुल में उत्पन्न महर्षि अङ्गिरा के पुत्र एक महातेजस्वी ऋषि थे। (सौगात में युधाजित् ने) श्रीरामचन्द्र जी के लिये दस हज़ार उत्तम जाति के घोड़े ॥ २ ॥

कम्बलानि च रत्नानि चित्रवस्त्रमथोत्तरम् ।
रामाय प्रददौ राजा शुभान्याभरणानि च ॥ ३ ॥

विविध प्रकार के ऊनी वस्त्र (शाल दुशाले कंबल, नमदा, पशमीने आदि) भेजे। इनमें एक वस्त्र बड़ा बढ़िया था। इनके अतिरिक्त विविध प्रकार के रत्न और आभूषण भी युधाजित् ने श्रीरामचन्द्र जी के लिये भेजे थे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा तु राघवोधीमान्महर्षिं*गार्ग्यमागतम् ।
मातुलस्याश्वपतिनः प्रहितं तन्महाधनम् ॥ ४ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने सुना कि, महर्षि गार्ग्य बहुत सा सामान लिये हुए मामा अश्वपति के यहाँ से आ रहे हैं ॥ ४ ॥

प्रत्युद्गम्य च काकुत्स्थः क्रोशमात्रं सहानुजः ।
गार्ग्यं सम्पूजयामास यथा शक्रो बृहस्पतिम् ॥ ५ ॥

तब भाइयों सहित स्वयं एक कोस आगे अगवानी के लिये जा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उसी प्रकार उनका स्वागत किया जैसे इन्द्र बृहस्पति जी का करते हैं ॥ ५ ॥

तथा सम्पूज्य तमृषिं तद्धनं प्रतिगृह्य च ।
पृष्ट्वा प्रतिपदं सर्वं कुशलं मातुलस्य च ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"ब्रह्मर्षिं।"

भली भाँति ऋषि का सत्कार कर और मामा की भेजी सौगात ग्रहण कर, तथा मामा और मामा के घर का कुशल समाचार भली भाँति पूँछा ॥ ६ ॥

उपविष्टं महाभागं रामः प्रष्टुं प्रचक्रमे ।
किमाह मातुलो वाक्यं यदर्थं भगवानिह ॥ ७ ॥

भाषो वाक्यविदां श्रेष्ठः साक्षादिव बृहस्पतिः ।
रामस्य भाषितं श्रुत्वा महर्षिः कार्यविस्तरम् ॥ ८ ॥

फिर ऋषि को घर में ले जा कर और आसन पर बिठा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे पूँछा, मेरे मामा ने मेरे लिये क्या संदेसा भेजा है। जिस कारण आपका यहाँ आगमन हुआ है, उसे कहिये। आप बोलने वालों में साक्षात् बृहस्पति के समान हैं। श्रीरामचन्द्र के ऐसे वचन सुन कर, महर्षि ने अपने आने का प्रयोजन ॥ ७ ॥ ८ ॥

वक्तुमद्भुतसङ्काशं राघवायोपचक्रमे ।
मातुलस्ते महाबाहो वाक्यमाह नरर्षभः ॥ ९ ॥

विस्तारपूर्वक श्रीरामचन्द्र जी से कहा। (वे बोले) हे नरश्रेष्ठ ! हे महाबाहो ! आपके मामा ने यह सन्देसा भेजा है ॥ ९ ॥

युधाजित्प्रीतिसंयुक्तं श्रूयतां यदि रोचते ।
अयं गन्धर्वविषयः फलमूलोपशोभितः ॥ १० ॥

युधाजित् ने जो कहा है उसे आप प्रीतिपूर्वक सुनिये और यदि अच्छा लगे तो तदनुसार कीजिये। (वह यह है कि) गन्धर्व देश बहुत से फल और मूलों से शोभित है ॥ १० ॥

सिन्धोरुभयतः पार्श्वे देशः परमशोभनः ।
तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधा युद्धकोविदाः ॥ ११ ॥

यह गन्धर्वदेश सिन्धुनद के दोनों तटों पर बसा हुआ है। युद्धविशारद शस्त्रधारी गन्धर्व लोग इस देश की रक्षा किया करते हैं ॥ ११ ॥

शैलूषस्य सुता वीर तिस्रः कोट्यो महाबलाः ।
तान्विनिर्जित्य काकुत्स्थ गन्धर्वनगरं शुभम् ॥१२॥

ये महाबली तीन करोड़ गन्धर्व शैलूष नामक गन्धर्व के सन्तान हैं। हे काकुत्स्थ! उनको युद्ध में परास्त कर, उस सुन्दर गन्धर्व नगर को ॥ १२ ॥

निवेशय महाबाहो स्वेपुरे सुसमाहिते ।
अन्यस्य न गतिस्तत्र देशः परमशोभनः ।
रोचतां ते महाबाहो नाहं त्वामहितं वदे ॥ १३ ॥

अपने राज्य में मिला लीजिये। हे महाबाहो! उस परम सुन्दर देश को सर करने की दूसरे किसी में सामर्थ्य नहीं है। यदि आप इसे पसंद करें तो करें। हम आपका अनभल नहीं चाहते ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवः प्रीतो महर्षेर्मातुलस्य च ।
उवाच बाढमित्येव भरतं चान्ववैक्षत ॥ १४ ॥

मामा का यह सन्देसा सुन, श्रीरामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और बहुत अच्छा कह कर, उन्होंने भरत जी की ओर निहारा ॥ १४ ॥

सोऽब्रवीद्राघवः प्रीतः साञ्जलिप्रग्रहो द्विजम् ।
इमौ कुमारौ तं देशं ब्रह्मर्षे विचरिष्यतः ॥ १५ ॥

फिर वे हाथ जोड़ कर हर्षित हो बोले—हे महर्षे! आपका मङ्गल हो। ये दोनों कुमार उस देश में जायँगे ॥ १५ ॥

भरतस्यात्मजौ वीरौ तक्षः पुष्कल एव च।
मातुलेन सुगुप्तौतु धर्मेण सुसमाहितौ ॥ १६ ॥

भरत जी के ये दोनों कुमार महाबली तक्ष और पुष्कल अपने कर्त्तव्य में सावधान रह कर, वहाँ जायँगे और मामा की रक्षा (देख भाल) में वहाँ रहेंगे ॥ १६ ॥

भरतं चाग्रतः कृत्वा कुमारौ सबलानुगौ।
निहत्य गन्धर्वसुतान् द्वे पुरे विभजिष्यतः ॥ १७ ॥

भरत जी इन दोनों कुमारों के साथ, बहुत सी सेना ले कर जायँगे और उन गन्धर्वपुत्रों को मार कर, वहाँ दो नगर बसावेंगे ॥ १७ ॥

निवेश्य ते पुरवरे आत्मजौ सन्निवेश्य च।
आगमिष्यति मे भूयः सकाशमतिधार्मिकः ॥ १८ ॥

उन श्रेष्ठ नगरों को आबाद कर और अपने पुत्रों को वहाँ का राज्य सौंप, महात्मा भरत शीघ्र मेरे पास लौट आवेंगे ॥ १८ ॥

ब्रह्मर्षिमेवमुक्त्वा तु भरतं स बलानुगम्।
आज्ञापयामास तदा कुमारौ चाभ्यषेचयत् ॥ १९ ॥

इस प्रकार ब्रह्मर्षि से कह, श्रीरामचन्द्र जी ने सेना सहित वहाँ जाने को भरत जी को आज्ञा दी और दोनों कुमारों का अभिषेक किया ॥ १६ ॥

नक्षत्रेण च सौम्येन पुरस्कृत्याङ्गिरः सुतम् ।
भरतः सह सैन्येन कुमाराभ्यां विनिर्ययौ ॥ २० ॥

अच्छे नक्षत्र एवं योग में अङ्गिरा के पुत्र गार्ग्य ऋषि को आगे कर और दोनों कुमारों को सेना सहित अपने साथ ले, भरत जी रवाना हुए ॥ २० ॥

सा सेना शक्रयुक्तेव नगरान्निर्ययावथ ।
राघवानुगता दूरं दुराधर्षा सुरैरपि ॥ २१ ॥

भरत की सेना, इन्द्र की सेना की तरह उनके साथ अयोध्या से निकली। देवताओं से भी दुर्धर्ष उस सेना की रक्षा दोनों कुमार करते थे। जब ये लोग कुछ दूर निकल गये ॥ २१ ॥

मांसाशिनश्च ये सत्त्वा रक्षांसि सुमहान्ति च ।
अनुजग्मुर्हि भरतं रुधिरस्य पिपासया ॥ २२ ॥

तब मांसभक्षी जीव और बड़े बड़े राक्षस भी गन्धर्वपुत्रों के रुधिर के प्यासे हो, भरत के पीछे हो लिये ॥ २२ ॥

भूतग्रामाश्च बहवो मांसभक्षाः सुदारुणाः ।
गन्धर्वपुत्रमांसानि भोक्तुकामाः सहस्रशः ॥ २३ ॥

और भी जीव जो बड़े दारुण और मांसभक्षी थे वे सहस्रों की संख्या में गन्धर्वपुत्रों का मांस खाने को उनके पीछे हो लिये ॥ २३ ॥

सिंहव्याघ्रवराहाणां खेचराणां च पक्षिणाम् ।
बहूनि वै सहस्राणि सेनाया ययुरग्रतः ॥ २४ ॥

सिंह, व्याघ्र, वराह, तथा आकाशचारी सहस्रों पक्षी सेना के आगे आगे चले ॥ २४ ॥

अध्यर्धमासमुषिता पथि सेना निरामया ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णा केकयं समुपागमत् ॥ २५ ॥

इति शततमः सर्गः ॥

वह सेना निरोग हो और रास्ते में ठहरती हुई, हृष्टपुष्ट सैनिकों से युक्त डेढ़ मास में केकय देश में पहुँची ॥ २५ ॥

उत्तरकाण्ड का सौवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

एकोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

श्रुत्वा सेनापतिं प्राप्तं भरतं केकयाधिपः ।
युधाजिद्गर्गसहितं परां प्रीतिमुपागमत् ॥ १ ॥

जब केकयदेशाधिपति ने सुना कि, भरत जी सेनापति हो कर आ रहे हैं, तब युधाजित और गर्ग अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

स निर्ययौ जनौघेन महता केकयाधिपः ।
त्वरमाणोऽभिचक्राम गन्धर्वान्केकयाधिपः ॥ २ ॥

केकयदेशाधिपति युधाजित् बहुत सी सेना साथ ले, गन्धर्वों को जीतने के लिये बड़ी शीघ्रता से चले ॥ २ ॥

भरतश्च युधाजिच्च समेतौ लघुविक्रमैः ।
गन्धर्वनगरं प्राप्तौ सबलौ सपदानुगौ ॥ ३ ॥

महापराक्रमी भरत और युधाजित् दोनों मिल कर घुड़सवार और पैदल सेना सहित गन्धर्वनगर में पहुँचे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा तु भरतं प्राप्तं गन्धर्वास्ते समागताः ।
योद्धुकामा महावीर्या व्यनदंस्ते समन्ततः ॥ ४ ॥

भरत को लड़ने के लिये आया हुआ सुन, वे महाबली गन्धर्व एकत्र हो लड़ने की इच्छा से गर्जने लगे ॥ ४ ॥

ततः समभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
सप्तरात्रं महाभीमं न चान्यतरयोर्जयः ॥ ५ ॥

तब उन गन्धर्वों के साथ सात दिन और सात रात बड़ा भयङ्कर और रोमहर्षणकारी (रोंगटे खड़े करने वाला) युद्ध होता रहा, परन्तु दोनों पक्षों में से किसी की भी हार जीत न हुई ॥ ५ ॥

खड्गशक्तिधनुर्ग्राहा नद्यः शोणितसंस्रवाः ।
नृकलेवरवाहिन्यः प्रवृत्ताः सर्वतो दिशम् ॥ ६ ॥

उस युद्ध में लोहू की नदियाँ चारों ओर बह निकलीं । उन लोहू की नदियों में शक्ति और धनुष तो मगर रूपी थे और मनुष्यों की लोथें बही जा रही थीं ॥ ६ ॥

ततो रामानुजः क्रुद्धः कालस्यास्त्रं सुदारुणम् ।
संवर्तं नाम भरतो गन्धर्वेष्वभ्यचोदयत् ॥ ७ ॥

तब महाक्रोध में भर, श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई भरत जी ने बड़ा भयङ्कर लोहे का बना संवर्त नामक अस्त्र गन्धर्वों पर छोड़ा ॥ ७ ॥

ते वद्धाः कालपाशेन संवर्तेन विदारिताः ।
क्षणेनाभिहतास्तेन तिस्रः कोट्यो महात्मना ॥ ८ ॥

उससे वे सब गन्धर्व कालपाश में बँध गये । संवर्तास्त्र से विदीर्ण हो क्षणमात्र में तीन करोड़ गन्धर्व मर कर गिर पड़े ॥ ८ ॥

तद्युद्धं तादृशं घोरं न स्मरन्ति दिवौकसः ।
निमेषान्तरमात्रेण तादृशानां महात्मनाम् ॥ ९ ॥

यह ऐसा भयङ्कर युद्ध हुआ कि, देवताओं की भी स्मृति में ऐसा युद्ध नहीं हुआ था कि, एक पल में इतने गन्धर्वों का नाश हो गया हो ॥ ९ ॥

हतेषु तेषु सर्वेषु भरतः केकयीसुतः ।
निवेशयामासतदा समृद्धे द्वे पुरोत्तमे ॥ १० ॥

इन गन्धर्वों के मारे जाने पर कैकेयी-पुत्र भरत जी ने वहाँ दो भरे पूरे नगर आबाद किये ॥ १० ॥

तक्षं तक्षशिलायां तु पुष्कलं पुष्कलावते ।
गन्धर्वदेशे रुचिरे गान्धारविषये च सः ॥ ११ ॥

और उनमें से एक का नाम तक्षशिला और दूसरे का पुष्कलावत रखा । उन्होंने तक्षशिला में तक्ष को और पुष्कलावत में पुष्कल को राजा बनाया ॥ ११ ॥

धनरत्नौघसङ्कीर्णे काननैरुपशोभिते ।
अन्योन्यसंघर्षकृते स्पर्धया गुणविस्तरैः ॥ १२ ॥

ये दोनों नगर धन रत्नों से भरे पूरे वनों उपवनों से शोभित मानों अपने गुणों से एक दूसरे की स्पर्धा कर रहे थे । अर्थात् अपने गुणों से एक दूसरे को दबा लेना चाहता था ॥ १२ ॥

उभे सुरुचिरप्रख्ये व्यवहारैरकिल्बिषैः ।
उद्यानयानसम्पूर्णे सुविभक्तान्तरापणे ॥ १३ ॥

उन दोनों सुन्दर नगरों में धर्म और न्याय युक्त व्यवहार होता था और क्रय विक्रय में सत्यता से काम लिया जाता था। उनमें अनेक बाग़ बग़ीचे थे तथा तरह तरह की सवारियाँ और अनेक प्रकार के पदार्थ भरे रहते थे अथवा उन नगरों के चौराहे तथा चौक बड़े रमणीक थे ॥ १३ ॥

उभे पुरवरे रम्ये विस्तरैरुपशोभिते ।
गृहमुख्यैः सुरुचिरैर्विमानैर्बहुभिर्वृते ॥ १४ ॥

उन दोनों रमणीक पुरों में ऊंची और चौड़ी सड़कें थीं तथा बड़े बड़े अटा अटारियों से युक्त विशाल भवनों से वे सुशोभित थे ॥ १४ ॥

शोभिते शोभनीयैश्च देवायतनविस्तरैः ।
तालैस्तमालैस्तिलकैर्बकुलैरुपशोभिते ॥ १५ ॥

बड़े बड़े देवमन्दिरों से उनकी शोभा दुगुनी हो रही थी। ताल, तमाल, तिलक, बकुलादि वृक्षों से वे शोभित हो रहे थे ॥१५॥

निवेश्य पञ्चभिर्वर्षैर्भरतो राघवानुजः ।
पुनरायान्महाबाहुरयोध्यां केकयीसुतः ॥ १६ ॥

इस प्रकार इन दोनों नगरों में अपने दोनों पुत्रों को राजसिंहासन पर बैठा, भरत जी पांच वर्ष तक वहां रहे। तदनन्तर (जब राज्य दृढ़ हो गये तब) महाबाहु कैकेयीपुत्र भरत जी लौट कर अयोध्या में चले आये ॥ १६ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं साक्षाद्धर्ममिवापरम् ।
राघवं भरतः श्रीमान्ब्रह्माणमिव वासवः ॥ १७ ॥

अयोध्या में आ भरत जी ने धर्मात्मा महाबली श्रीरामचन्द्र जी को वैसे ही प्रणाम किया, जैसे इन्द्र ब्रह्मा को प्रणाम करते हैं ॥ १७ ॥

शशंस च यथावृत्तं गन्धर्ववधमुत्तमम् ।
निवेशनं च देशस्य श्रुत्वा प्रीतोऽस्य राघवः ॥ १८ ॥

इति एकोत्तरशततमः सर्गः ॥

भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी से गन्धर्वों के मारे जाने का तथा नये दो नगरों के बसाने का सारा हाल कहा ; जिसे सुन श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए ॥ १८ ॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ पहिला सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

द्व्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तच्छ्रुत्वा हर्षमापेदे राघवो भ्रातृभिः सह ।
वाक्यं चाद्भुतसङ्काशं तदा प्रोवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥

भरत जी की बातें सुन भाइयों सहित श्रीरामचन्द्र जी बहुत प्रसन्न हुए और फिर यह अद्भुत वचन लक्ष्मण जी से बोले ॥ १ ॥

इमौ कुमारौ सौमित्रे तव धर्मविशारदौ ।
अङ्गदश्चन्द्रकेतुश्च राज्यार्थे दृढविक्रमौ ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! ये जो तुम्हारे अङ्गद और चन्द्रकेतु दो पुत्र हैं, सो इनमें इतना पराक्रम है कि, ये राज्य कर सकते हैं ॥ २ ॥

इमौ राज्येऽभिषेक्ष्यामि देशः साधु विधीयताम् ।
रमणीयो ह्यसम्बाधो रमेतां यत्र धन्विनौ ॥ ३ ॥

मेरी इच्छा है कि, किसी देश का राज्य इनको दिया जाय। अतएव कोई ऐसा देश सोचो जो रमणीय और निरुपद्रव हो। जहाँ ये दोनों धनुषधारी आनन्द से रहें ॥ ३ ॥

न राज्ञो यत्र पीडा स्यान्नाश्रमाणां विनाशनम् ।
स देशो दृश्यतां सौम्य नापराध्यामहे यथा ॥४॥

वह देश ऐसा हो जहाँ न तो अन्य किसी राजा का भय हो और न आश्रमों ही का विनाश हो। हे सौम्य ! तुम कोई देश ढूंढ़ो, जहाँ किसी प्रकार से हम लोग अपराधी न ठहराये जाँय ॥ ४ ॥

तथोक्तवति रामे तु भरतः प्रत्युवाच ह ।
अयं कारुपथो देशो रमणीयो निरामयः ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र के ऐसा कहने पर भरत जी बोले। महाराज ! कारुपथ देश बड़ा रमणीय और सब प्रकार से निरापद है ॥ ५ ॥

निवेश्यतां तत्र पुरमङ्गदस्य महात्मनः ।
चन्द्रकेतोः सुरुचिरं चन्द्रकान्तं निरामयम् ॥ ६ ॥

वहाँ का राज्य तो अङ्गद को दीजिये और चन्द्रकान्त नगर का राज्य चन्द्रकेतु को दीजये ॥ ६ ॥

तद्वाक्यं भरतेनोक्तं प्रतिजग्राह राघवः ।
तं च कृत्वा वशे देशमङ्गदस्य न्यवेशयत् ॥ ७ ॥

भरत जी के कथन को मान कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस देश को अपने अधीन कर, वहाँ पर अङ्गद को अभिषिक्त किया ॥ ७ ॥

अङ्गदीया पुरी रम्या ह्यङ्गदस्य निवेशिता ।
रमणीया सुगुप्ता च रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ८ ॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र ने (कामरूप देश में) रमणीय अङ्गदीया नाम पुरी अङ्गद को सौंपी और उस पुरी की रक्षा का भली भाँति प्रबन्ध कर दिया ॥ ८ ॥

चन्द्रकेतोश्च मल्लस्य मल्ल[1] भूम्यां निवेशिता ।
चन्द्रकान्तेति विख्याता दिव्या स्वर्गपुरी यथा ॥९॥

मल्लभूमि में स्वर्गपुरी के समान चन्द्रकान्त नाम की नगरी बसा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ का राज्य बलवान मल्ल चन्द्रकेतु को दिया ॥ ९ ॥

ततो रामः परां प्रीतिं लक्ष्मणो भरतस्तथा ।
ययुर्युद्धे दुराधर्षा अभिषेकं च चक्रिरे ॥ १० ॥

तदनन्तर यह सब प्रबन्ध कर युद्ध में दुराधर्ष श्रीरामचन्द्र जी, भरत जी और लक्ष्मण जी हर्षित हुए और कुमारों का अभिषेक कर दिया ॥ १० ॥

---

१ "मल्लोमत्स्यभेदेबलीयसि" इति विश्वः ।

अभिषिच्य कुमारौ द्वौ प्रस्थाप्य सुसमाहितौ ।
अङ्गदं पश्चिमां भूमिं चन्द्रकेतुमुदङ्मुखम् ॥ ११ ॥

उन दोनों कुमारों का राज्याभिषेक कर सावधानी से अङ्गद को पश्चिम देश की पुरी में और चन्द्रकेतु को उत्तर ओर की नगरी में भेज दिया ॥ ११ ॥

अङ्गदं चापि सौमित्रिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ।
चन्द्रकेतोस्तु भरतः पार्ष्णिग्राहो बभूव ह ॥ १२ ॥

अङ्गद के साथ लक्ष्मण और चन्द्रकेतु के साथ भरत जी उन दोनों की सहायता के लिये गये ॥ १२ ॥

लक्ष्मणस्त्वङ्गदीयायां संवत्सरमथोषितः ।
पुत्रे स्थिते दुराधर्षे अयोध्यां पुनरागमत् ॥ १३ ॥

अङ्गद को अंगदिया पुरी में नियत कर लक्ष्मण एक वर्ष तक वहाँ का सुप्रबन्ध कर अयोध्या को लौट आये ॥ १३ ॥

भरतोऽपि तथैवोष्य संवत्सरमतोऽधिकम् ।
अयोध्यां पुनरागम्य रामपादावुपास्त सः ॥ १४ ॥

इसी प्रकार भरत जी भी एक वर्ष से कुछ अधिक चन्द्र के साथ रह कर, फिर श्रीरघुनाथ जी की चरणसेवा अथवा शुश्रुषा करने को अयोध्या में आ गये ॥ १४ ॥

उभौ सौमित्रिभरतौ रामपादावनुव्रतौ ।
कालं गतमपि स्नेहान्न जज्ञातेऽतिधार्मिकौ ॥ १५ ॥

ये दोनों महात्मा धर्मज्ञ भरत और लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करते थे। स्नेहपूर्वक रहने से बहुत समय का बीत जाना उनको कुछ भी मालूम नहीं पड़ता था ॥१५॥

एवं वर्षसहस्राणि दश तेषां ययुस्तदा।
धर्मे प्रयतमानानां पौरकार्येषु नित्यदा ॥ १६ ॥

इस प्रकार धर्मपूर्वक प्रजापालन करते करते, श्रीरामचन्द्र जी को दस हज़ार वर्ष बीत गये ॥ १६ ॥

विहृत्य कालं परिपूर्ण मानसाः
श्रिया वृता धर्मपुरे च संस्थिताः।
त्रयः समिद्धाहुतिदीप्ततेजसो
हुताग्नयः साधुमहाध्वरे त्रयः ॥ १७ ॥

इति द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥

अयोध्यापुरी में धन धान्य से परिपूर्ण और सन्तुष्ट हो, आनन्द से रहते हुए तीनों भाइयों को बहुत समय बीत गया। वे तीनों भाई अपने प्रज्वलित अग्नि के समान प्रकाश से यज्ञ के प्रज्वलित तीन अग्नियों के समान शोभायमान हुए ॥ १७ ॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ दूसरा सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

त्र्युत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

कस्यचित्त्वथ कालस्य रामे धर्मपरे स्थिते।
कालस्तापसरूपेण राजद्वारमुपागमत् ॥ १ ॥

इस प्रकार धर्मपूर्वक राज्य करते करते कुछ समय और बीतने पर तपस्वी का रूप धारण कर, काल राजद्वार पर आया ॥ १ ॥

दूतो ह्यतिवलस्याहं महर्षेरमितौजसः ।
रामं दिदृक्षुरायातः कार्येण हि महावलः ॥ २ ॥

(उस समय लक्ष्मण जी राजद्वार पर खड़े हुए थे अतः) उसने लक्ष्मण जी से कहा—महाराज को मेरे आगमन की सूचना दो और कहो कि, अति पराक्रमी महर्षि अतिवल का दूत किसी कार्यवश आपसे भेंट करने आया है ॥ २ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिस्त्वरयान्वितः ।
न्यवेदयत रामाय तापसं तं समागतम् ॥ ३ ॥

उसके यह वचन सुन कर, लक्ष्मण जी बड़ी फुर्ती से अन्दर गये और श्रीरामचन्द्र जी को उस तपस्वी के आने की सूचना दी ॥ ३ ॥

जयस्व राजधर्मेण उभौ लोकौ महाद्युते ।
दूतस्त्वां द्रष्टुमायातस्तपसा भास्कर प्रभः ॥ ४ ॥

(लक्ष्मण जी बोले) हे महाराज ! राजधर्मपालन द्वारा आपकी दोनों लोकों में जय हो । हे महाद्युतिमान् ! सूर्य के समान कान्ति वाला एक तापसदूत तुमसे मिलने के लिये आया हुआ है ॥ ४ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणोक्तं वै श्रुत्वा राम उवाच ह ।
प्रवेश्यतां मुनिस्तात महौजास्तस्य वाक्यधृक् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी के यह वचन सुनते ही श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे तात! उस सन्देसा लाने वाले महातेजस्वी तपस्वी को शीघ्र यहाँ लाओ ॥ ५ ॥

सौमित्रिस्तु तथेत्युक्त्वा प्रावेशयत तं मुनिं ।
ज्वलन्तमिवतेजोभिः प्रदहन्तमिवांशुभिः ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन कर, लक्ष्मण जी, तेज से प्रकाशमान और सूर्य की तरह भस्म सा करते हुए, उन तपस्वी को श्रीरामचन्द्र जी के पास ले गये ॥ ६ ॥

सोऽभिगम्य रघुश्रेष्ठं दीप्यमानं स्वतेजसा ।
ऋषिर्मधुरयावाचा वर्धस्वेत्याह राघवम् ॥ ॥ ७ ॥

तेजस्वी श्रीरामचन्द्र के निकट जा, उस तपस्वी ने कोमल वाणी से कहा—महाराज की जय हो और बढ़ती हो ॥ ७ ॥

तस्मै रामो महातेजाः पूजामर्घ्य पुरोगमाम् ।
ददौ कुशलमव्यग्रं प्रष्टुं चैवोपचक्रमे ॥ ८ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने उस ऋषि को अर्घ्य पाद्य दे आसन पर बिठाया और उससे कुशल प्रश्न किया ॥ ८ ॥

पृष्टश्च कुशलं तेन रामेण वदतांवरः ।
आसने काञ्चने दिव्ये निषसाद महायशाः ॥ ९ ॥

जब सोने के दिव्य आसन पर वे महायशस्वी मुनि बैठ गये, तब बोलने वालों में चतुर श्रीरामचन्द्र जी उनसे कुशल पूँछते हुए बोले ॥ ९ ॥

तमुवाच ततो रामः स्वागतं ते महामते ।
प्रापयास्य च वाक्यानि यतो दूतस्त्वमागतः ॥ १० ॥

हे मतिमान् ! आप भले आये । अब आप उनका संदेसा कहिये जिन्होंने आपको अपना दूत बना कर यहाँ भेजा है ॥ १० ॥

चोदितो राजसिंहेन मुनिर्वाक्यमभाषत ।
द्वन्द्वे ह्येतत्प्रवक्तव्यं हितं वै यद्यवेक्षसे ॥ ११ ॥

जब राजसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब मुनि उत्तर देते हुए बोले—हे राजन् ! मैं अपना संदेसा आपसे एकान्त में कहना चाहता हूँ। (हमारी बातचीत होने के समय) हम और आप दो ही जने हों । क्योंकि देवताओं का हित देवताओं की रहस्यमयी बात के छिपाने ही में है (तीर्थ०) ॥ ११ ॥

यः शृणोति निरीक्षेद्वा स वध्यो भविता तव ।
भवेद्वै मुनिमुख्यस्य वचनं यद्यवेक्षसे ॥ १२ ॥

अतएव हम दोनों के बातचीत करते समय, यदि तीसरा जन उसे सुने या देखे तो वह आपके हाथ से मारा जाय ॥ १२ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
द्वारि तिष्ठ महाबाहो प्रतिहारं विसर्जय ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा करना स्वीकार किया और लक्ष्मण से कहा— हे सौमित्रे ! जाओ और तुम द्वार पर खड़े रहो । वहाँ से द्वारपाल को भी हटा दो ॥ १३ ॥

स मे वध्यः खलु भवेद्वाचं द्वन्द्वसमीरितम् ।
ऋषेर्मम च सौमित्रे पश्येद्वा शृणुयाच्च यः ॥ १४ ॥

जब तक हम दोनों बातचीत करते रहें ; तब तक हमारे पास हमें देखने या हमसे बातचीत करने कोई न आवे । यदि किसी ने ऐसा किया तो उसे मैं अपने हाथ से मार डालूँगा ॥ १४ ॥

ततो निक्षिप्य काकुत्स्थो लक्ष्मणं द्वारि संग्रहम् ।
तमुवाच मुने वाक्यं कथयस्वेति राघवः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी को द्वार पर नियुक्त कर, उन तपस्वी से कहा कि, अब आप कहिये ॥ १५ ॥

यत्ते मनीषितं वाक्यं येन वाऽसि समाहितः ।
कथयस्वाविशङ्कस्त्वं ममापि हृदि वर्तते ॥ १६ ॥

इति त्र्युत्तरशततमः सर्गः ॥

आपका जो कुछ अभीष्ट हो अथवा जिन्होंने आपको भेजा हो, उनका मनोरथ आप निःसङ्कोच भाव से कहिये । क्योंकि उसे सुनने की मुझे उत्कण्ठा है (अथवा आप जो कहने आये हैं वह मुझे मालूम है) ॥ १६ ॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

चतुरुत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

शृणु राजन् महासत्त्व यदर्थमहमागतः ।
पितामहेन देवेन प्रेषितोऽस्मि महाबल ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह कथन सुन कर, ऋषि बोले—हे महापराक्रमी! सुनिये! मैं वह कारण बतलाता हूँ, जिसके लिये मैं यहाँ आया हूँ। हे महाव्रती! मुझको पितामह ब्रह्मा जी ने भेजा है॥ १॥

तवाहं पूर्वके भावे पुत्रः परपुरञ्जय।
मायासम्भावितो वीर कालः सर्वसमाहरः॥ २॥

हे परपुरञ्जय! जिस समय पूर्वकाल में सृष्टि की उत्पत्ति हुई, उस समय तुम्हारी माया से मेरी उत्पत्ति हुई। अतएव मैं (एक प्रकार से) तुम्हारा पुत्र हूँ। हे वीर! मेरा नाम काल है और मैं सब का संहार करने वाला हूँ॥ २॥

पितामहश्च भगवानाह लोकपतिः प्रभुः।
समयस्ते कृतः सौम्य लोकान् सपरिरक्षितुम्॥३॥

लोकस्वामी भगवान् पितामह ब्रह्मा जी ने कहा है कि, हे सौम्य! इन लोकों की रक्षा के लिये तुम्हींने जो (मृत्युलोक में अपने रहने की) अवधि बाँधी थी, वह अब पूरी हो चुकी॥ ३॥

संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः॥ ४॥

तुम्हीं पूर्वकाल में माया द्वारा लोक का संहार कर महासागर में सोये थे। उसी समय मैं उत्पन्न किया गया॥ ४॥

भोगवन्तं ततो नागमनन्तमुदकेशयम्।
मायया जनयित्वा त्वं द्वौ च सत्वौ महाबली॥ ५॥

तदनन्तर उसी समय तुमने एक जलचारी बड़े शरीर वाले अनन्त नाग को उत्पन्न किया। इसके अतिरिक्त तुमने और भी महाबली दो जीवों को उत्पन्न किया ॥ ५ ॥

मधुं च कैटभं चैव ययोरस्थिचयैर्वृता ।
इयं पर्वतसम्बाधा मेदिनी चाभवत्तदा ॥ ६ ॥

उन दोनों के नाम थे मधु और कैटभ। इनकी हड्डियों से पर्वतों सहित सारी पृथिवी ढक गयी और उनकी मेदा से तर होने के कारण यह पृथिवी मेदिनी कहलायी। (दूसरा अर्थ) मधु और कैटभ के मारने से मधु की चर्बी जल में मिली, तब जल गाढ़ा हुआ और उसके सूखने पर यह पृथिवी बनी। कैटभ के शरीर में हड्डियाँ ही हड्डियाँ थीं। अतः जब वह मारा गया, तब उसके शरीर की हड्डियों से पर्वत बन गये जिनसे यह पृथिवी घिरी हुई है। इस प्रकार पर्वतों सहित पृथिवी की उत्पत्ति हुई ॥ ६ ॥

पद्मे दिव्येऽर्कसङ्काशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि ।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् ॥ ७ ॥

फिर आपने अपनी नाभि से सूर्य समान, एक कमल उत्पन्न किया। उससे मुझे उत्पन्न किया और मुझे प्रजा की उत्पत्ति का कार्य सौंपा ॥ ७ ॥

सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपास्य जगत्पतिम् ।
रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् ॥ ८ ॥

इस प्रकार तुमसे प्रजा उत्पत्ति करने का अधिकार प्राप्त कर, तुम्हारी उपासना कर, तुमसे यह प्रार्थना की—हे भगवन्! सृष्टि

की रचना का भार तो तुमने मेरे ऊपर रख दिया, किन्तु अब इसकी रक्षा तुम करो। क्योंकि मुझमें सृष्टि की उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न करने वाले तो तुम्हीं हो ॥ ८ ॥

तस्तत्वमसि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात् । तरतत्वमसि
रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥९॥

यह वचन सुन कर, उस समय तुमने उस सनातन एवं दुर्धर्ष भाव को त्याग कर, जगत की रक्षा के लिये विष्णु रूप धारण किया ॥ ९ ॥

अदित्यां वीर्यवान्पुत्रो भ्रातृणां वीर्यवर्धनः ।
समुत्पन्नेषु कृत्येषु तेषां साह्याय कल्पसे ॥ १० ॥

(कश्यप से) अदिति के गर्भ में बलवान पुत्र के रूप में (उपेन्द्र नाम धारण कर) उत्पन्न हो, तुम अपने भाइयों का आनन्द बढ़ाते हुए उनकी सहायता करते थे ॥ १० ॥

स त्वमुज्जास्यमानासु प्रजासु जगतांवर ।
रावणस्य वधाकाङ्क्षी मानुषेषु मनोदधाः ॥ ११ ॥

हे जगत् में श्रेष्ठ ! इसी प्रकार तुमने इस समय भी प्रजा को महादुःखी देख, रावण का वध करने के लिये मनुष्य रूप धारण किया ॥ ११ ॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
कृत्वा वासस्य नियमं स्वयमेवात्मना पुरा ॥ १२ ॥

उस समय तुमने ही ग्यारह सहस्र वर्षों तक मनुष्यलोक में रहने की अवधि बाँधी थी ॥ १२ ॥

स त्वं मनोमयः पुत्रः पूर्णायुर्मानुषेष्विह ।
कालो नरवरश्रेष्ठ समीपमुपवर्तितुम् ॥ १३ ॥

हे नरवरश्रेष्ठ ! तुम केवल अपने सङ्कल्प से महाराज दशरथ के पुत्र हुए। सो अब वह तुम्हारी निर्दिष्ट की हुई ग्यारह सहस्र वर्ष की अवधि समाप्त होने वाली है ॥ १३ ॥

यदि भूयो महाराज प्रजा इच्छस्युपासितुम् ।
वस वा वीर भद्रं ते एवमाह पितामहः ॥ १४ ॥

हे वीर ! तुम्हारा मङ्गल हो। यदि अभी और प्रजा का पालन करने की तुम्हारी इच्छा हो तो आप और यहाँ वास करें। वस ब्रह्मा जी ने यही सन्देसा भेजा है ॥ १४ ॥

अथवा विजिगीषा ते सुरलोकाय राघव ।
सनाथा विष्णुना देवा भवन्तु विगतज्वराः ॥ १५ ॥

यदि देवलोक के शासन करने की तुम्हारी इच्छा हो तो चल कर अपने विष्णु रूप से समस्त देवताओं को सनाथ और निर्भय कीजिये ॥ १५ ॥

श्रुत्वा पितामहेनोक्तं वाक्यं कालसमीरितम् ।
राघवः प्रहसन्वाक्यं सर्वसंहारमब्रवीत् ॥ १६ ॥

काल के मुख से ब्रह्मा जी का यह संदेसा सुन, श्रीरामचन्द्र ने हँस कर सर्वसंहारकारी काल से कहा ॥ १६ ॥

श्रुत्वा मे देवदेवस्य वाक्यं परममद्भुतम् ।
प्रीतिर्हि महती जाता तवागमनसम्भवा ॥ १७ ॥

देवों के देव ब्रह्मा जी के यह वचन सुन कर और तुम्हारे आगमन से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥ १७ ॥

त्रयाणामपि लोकानां कार्यार्थं मम सम्भवः ।
भद्रं तेऽस्तु गमिष्यामि यत एवाहमागतः ॥ १८ ॥

तीनों लोकों का कार्य सिद्ध करने ही के लिये मेरा यह अवतार है। तुम्हारा मङ्गल हो । मैं जहां से आया हूँ वहीं ही चला जाऊँगा ॥ १८ ॥

हृद्गतो ह्यसि सम्प्राप्तो न मे तत्र विचारणा ।
मया हि सर्वकृत्येषु देवानां वशवर्तिना ।
स्थातव्यं सर्वसंहार यथा ह्याह पितामहः ॥ १९ ॥

इति चतुरुत्तरतमः सर्गः ॥

हे काल ! मैं तो यहां से चलने का विचार अपने मन में पहिले ही कर चुका था। अतएव अब इसके बारे में कुछ सोचना विचारना नहीं है। मुझे अपने पक्ष के अथवा अपने भक्त देवताओं के सब कार्यों को करना चाहिये। अतएव ब्रह्मा जी ने जो कुछ कहा है, वह शीघ्र होगा ॥ १६ ॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तथा तयोः संवदतोर्दुर्वासा भगवानृषिः ।
रामस्य दर्शनाकांक्षी राजद्वारमुपागमत् ॥ १ ॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी की काल से बातचीत हो रही थी, उसी समय श्रीरामचन्द्र जी से मिलने के लिये महर्षि दुर्वासा राजद्वार पर आये ॥ १ ॥

सोऽभिगम्य तु सौमित्रिमुवाच ऋषिसत्तमः ।
रामं दर्शय मे शीघ्रं पुरा मेऽर्थोऽतिवर्तते ॥ २ ॥

वे ऋषिश्रेष्ठ, लक्ष्मण जी से बोले मुझे श्रीरामचन्द्र जी से शीघ्र मिलाओ नहीं तो मेरा काम नष्ट हुआ जाता है ॥ २ ॥

मुनेस्तु भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः परवीरहा ।
अभिवाद्य महात्मानं वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ३ ॥

शत्रुघाती लक्ष्मण जी मुनि के यह वचन सुन कर, उन महात्मा को प्रणाम कर, यह बोले ॥ ३ ॥

किं कार्यं ब्रूहि भगवन्को ह्यर्थः किं करोम्यहम् ।
व्यग्रो हि राघवो ब्रह्मन्मुहूर्तं प्रतिपाल्यताम् ॥ ४ ॥

भगवन ! आपका क्या काम है। आप किस काम के लिये उनसे मिलना चाहते हैं? मुझे बतलाइये। मैं उसे तुरन्त कर दूँगा। श्रीरामचन्द्र जी इस समय किसी कार्य में व्यग्र हैं। अतएव आप एक मुहूर्त्त भर ठहर जाइये ॥ ४ ॥

तच्छ्रुत्वा ऋषिशार्दूलः क्रोधेन कलुषीकृतः ।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यं निर्दहन्निव चक्षुषा ॥ ५ ॥

यह सुनते ही ऋषिश्रेष्ठ दुर्वासा, क्रोध में भर नेत्रों से भस्म करते हुए से लक्ष्मण जी से बोले ॥ ५ ॥

अस्मिन्क्षणे मां सौमित्रे रामाय प्रतिवेदय ।
विषयं त्वां पुरं चैव शपिष्ये राघवं तथा ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम तुरन्त मेरे आगमन की सूचना श्रीरामचन्द्र जी को दो, नहीं तो मैं तुम्हें, तुम्हारे देश को, तुम्हारे नगर को और राम को शाप देता हूँ ॥ ६ ॥

भरतं चैव सौमित्रे युष्माकं या च सन्ततिः ।
न हि शक्ष्याम्यहं भूयो मन्युं धारयितुं हृदि ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! इतना ही नहीं, किन्तु मैं भरत को और तुम्हारी औलाद को भी शाप देता हूँ । क्योंकि मैं अब अपने क्रोध को अपने हृदय में सम्हाल नहीं सकता ॥ ७ ॥

तच्छ्रुत्वा घोरसङ्काशं वाक्यं तस्य महात्मनः ।
चिन्तयामास मनसा तस्य वाक्यस्य निश्चयम् ॥ ८ ॥

दुर्वासा के इन भयङ्कर वचनों को सुन, लक्ष्मण जी ने अपने मन में परिणाम को विचारा ॥ ८ ॥

एकस्य मरणं मेऽस्तु मा भूत्सर्वविनाशनम् ।
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य राघवाय न्यवेदयत् ॥ ९ ॥

उन्होंने सोचा कि, यदि मैं अभी श्रीरामचन्द्र जी के पास चला जाता हूँ तो (अकेला) मैं ही मारा जाऊँगा । यदि नहीं जाता तो सब को ऋषि के शाप से नष्ट होना पड़ेगा । अतएव मेरा ही मारा जाना ठीक है । सब का नाश होना ठीक नहीं । यह निश्चय कर, लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के पास गये और दुर्वासा के आगमन की उनको सूचना दी ॥ ९ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा रामः कालं विसृज्य च ।
निसृत्य त्वरितं राजा अत्रेः पुत्रं ददर्श ह ॥ १० ॥

लक्ष्मण के वचन सुनते ही श्रीरामचन्द्र जी ने काल को विदा कर दिया और तुरन्त द्वार पर आ कर, वे अत्रिपुत्र दुर्वासा से मिले ॥ १० ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
किं कार्यमिति काकुत्स्थः कृताञ्जलिरभाषत ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तेजस्वी महात्मा दुर्वासा जी को प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर बोले—कहिये क्या आज्ञा है ॥ ११ ॥

तद्वाक्यं राघवेणोक्तं श्रुत्वा मुनिवरः प्रभुः ।
प्रत्याह रामं दुर्वासाः श्रूयतां धर्मवत्सल ॥ १२ ॥

मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा, श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन कर, बोले, हे धर्मवत्सल ! सुनिये ॥ १२ ॥

अद्य वर्षसहस्रस्य समाप्तिर्मम राघव ।
सोऽहं भोजनमिच्छामि यथासिद्धं तवानघ ॥ १३ ॥

हे पापरहित ! मैंने एक हज़ार वर्षों तक भोजन न करने का व्रत धारण किया था । वह आज पूरा हो गया । अतः तुम्हारे यहाँ इस समय जो कुछ तैयार हो वह मुझे भोजन कराओ ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं राजा राघवः प्रीतमानसः ।
भोजनं मुनिमुख्याय यथासिद्धमुपाहरत् ॥ १४ ॥

दुर्वासा के यह वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त हर्षित हुए और अमृत के समान स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ मुनिराज को जिमाये ॥ १४ ॥

स तु भुक्त्वा मुनिश्रेष्ठस्तदन्नममृतोपमम् ।
साधु रामेति सम्भाष्य स्वमाश्रममुपागमत् ॥ १५ ॥

मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा जी, अमृत के समान भोज्य पदार्थों को खा कर और श्रीरामचन्द्र जी को प्रशंसा करते हुए, अपने आश्रम को चले गये ॥ १५ ॥

संस्मृत्य कालवाक्यानि ततो दुःखमुपागमत् ।
दुःखेन च सुसन्तप्तः स्मृत्वा तद्घोरदर्शनम् ॥१६॥

ऋषि दुर्वासा के चले जाने पर काल के साथ की हुई अपनी विकट प्रतिज्ञा का स्मरण कर, श्रीरामचन्द्र जी मन में बड़े दुःखी हुए ॥ १६ ॥

अवाङ्मुखो दीनमना व्याहर्तुं न शशाक ह ।
ततो बुद्ध्या विनिश्चित्य कालवाक्यानि राघवः ॥१७॥

और नीचे को मुख कर लिया। उनसे कुछ बोला न गया। वे चुपचाप सोचने लगे। उन्होंने काल की बात पर अपनी बुद्धि से निश्चय किया कि, बस हो चुका ॥ १७ ॥

नैतदस्तीति निश्चित्य तूष्णीमासीन्महायशाः ॥ १८ ॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥

अब मेरे नौकरों चाकरों और कुटुम्बियों की समाप्ति का समय आ पहुँचा। यह निश्चय कर यशस्वी श्रीरामचन्द्र जी मौन हो गये ॥१८॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

षडुत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

अवाङ्मुखमथो दीनं दृष्ट्वा सोममिवाप्लुतम् ।
राघवं लक्ष्मणो वाक्यं हृष्टो मधुरमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को नीचे मुख किये और उदास देख कर, लक्ष्मण जी हर्षित हो उनसे बोले ॥ १ ॥

न सन्तापं महाबाहो मदर्थं कर्तुमर्हसि ।
पूर्वनिर्माणबद्धा हि कालस्य गतिरीदृशी ॥ २ ॥

हे महाबाहो ! मेरे लिये तुम। सन्तप्त न हो । क्योंकि काल की गति ही ऐसी है । जो कुछ होने को होता है, उसकी रचना पहिले ही हो चुकती है ॥ २ ॥

जहि मां सौम्य विस्रब्धं प्रतिज्ञां परिपालय ।
हीनप्रतिज्ञाः काकुत्स्थ प्रयान्ति नरकं नराः ॥ ३ ॥

हे राम ! तुम निस्सङ्कोच हो मुझे मार कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो । क्योंकि हे काकुत्स्थ ! प्रतिज्ञा त्यागने वाले पुरुष नरकगामी होते हैं ॥ ३ ॥

यदि प्रीतिर्महाराज यद्यनुग्राह्यता मयि ।
जहि मां निर्विशङ्कस्त्वं धर्मं वर्धय राघव ॥ ४ ॥

हे महाराज ! यदि तुम्हारी मुझमें प्रीति है, यदि तुम्हारी मेरे ऊपर कृपादृष्टि है, तो तुम मुझे मार कर, निस्सन्देह सत्यधर्म की रक्षा करो ॥ ४ ॥

लक्ष्मणेन तथोक्तस्तु रामः प्रचलितेन्द्रियः ।
मंत्रिणः समुपानीय तथैव च पुरोधसम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने विकल हो, अपने कुलपुरोहित और मंत्रियों को बुलाया ॥ ५ ॥

अब्रवीच्च तदा वृत्तं तेषां मध्ये स राघवः ।
दुर्वासोऽभिगमं चैव प्रतिज्ञां तापसस्य च ॥ ६ ॥

उन सब से श्रीरामचन्द्र जी ने तपस्वी के साथ की हुई प्रतिज्ञा और लक्ष्मण जी का दुर्वासा के वचन से अपने निकट चला आना सुनाया ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणः सर्वे सोपाध्यायाः [1]समासत ।
वसिष्ठस्तु महातेजा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन सब मंत्री सन्न हो गये । तब महातपस्वी वशिष्ठ जी यह बोले ॥ ७ ॥

दृष्टमेतन्महाबाहो क्षयं ते रोमहर्षणम् ।
लक्ष्मणेन वियोगश्च तव राम महायशः ॥ ८ ॥

हे महायशस्वी राम ! मुझे (योगबल से) यह रोमहर्षण नाशकारी वृत्तान्त अवगत हो चुका है । लक्ष्मण से अब तुम्हारा वियोग निश्चित है ॥ ८ ॥

त्यजैनं बलवान्कालो मा प्रतिज्ञां वृथा कृथाः ।
प्रतिज्ञायां विनष्टायां धर्मो हि विलयं व्रजेत् ॥ ९ ॥

---

1 समासत—तूष्णींस्थिताः । (वीर्थी०)

हे राजन् ! काल बलवान है। तुम अपनी प्रतिज्ञा को न त्याग कर, लक्ष्मण जी का त्याग करो। क्योंकि प्रतिज्ञा त्यागने से धर्म नष्ट होता है ॥ ६ ॥

ततो धर्मे विनष्टे तु त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
सदेवर्षिगणं सर्वं विनश्येत्तु न संशयः ॥ १० ॥

और धर्म नष्ट होने से तीनों लोक, और चर अचर सहित समस्त देवता तथा ऋषि नष्ट होते हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल त्रैलोक्यस्याभिपालनात् ।
लक्ष्मणेन विना चाद्य जगत्स्वस्थं कुरुष्व ह ॥ ११ ॥

हे राम ! त्रैलोक्य का पालन करने के लिये (अर्थात् प्रतिज्ञा पालन कर धर्म की मर्यादा रखने के लिये) लक्ष्मण को त्यागो और जगत् को स्वस्थ करो ॥ ११ ॥

तेषां तत्समवेतानां वाक्यं धर्मार्थसंहितम् ।
श्रुत्वा परिषदो मध्ये रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १२ ॥

उन एकत्रित लोगों के धर्म और युक्तियुक्त वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी भरी सभा में लक्ष्मण जी से बोले ॥ १२ ॥

विसर्जये त्वां सौमित्रे मा भूद्धर्मविपर्ययः ।
त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम् ॥ १३ ॥

हे सौमित्रे ! धर्म में बाधा न पड़े; इसलिये मैं तुमको त्यागता हूँ या विदा करता हूँ। साधुजनों के मतानुसार त्याग और वध समान ही है ॥ १३ ॥

रामेण भाषिते वाक्ये बाष्पव्याकुलितेन्द्रियः ।
लक्ष्मणस्त्वरितं प्रायात्स्वगृहं न विवेश ह ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण जी विकल हुए और आँखों में आँसू भरे हुए, वे श्रीरामचन्द्र जी की सभा को त्याग झट बाहिर निकल आये। वे अपने घर भी न जा कर ॥ १४ ॥

स गत्वा सरयूतीरमुपस्पृश्य कृताञ्जलिः ।
निगृह्य सर्वस्रोतांसि निःश्वासं न मुमोच ह ॥ १५ ॥

तुरन्त सीधे सरयू नदी के तट पर पहुँचे। फिर आचमन कर और हाथ जोड़ और समस्त इन्द्रियों का निग्रह कर, श्वास रोक (योगाभ्यास करने लगे) ॥ १५ ॥

अनिःश्वसन्तं युक्तं तं सशक्राः साप्सरोगणाः ।
देवाः सर्षिगणाः सर्वे पुष्पैरभ्यकिरंस्तदा ॥ १६ ॥

इस प्रकार लक्ष्मण को (योगाभ्यास करते) देख इन्द्र, अप्सराएँ देवता और ब्रह्मर्षि उन पर फूलों की वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

अदृश्यं सर्वमनुजैः सशरीरं महाबलम् ।
प्रगृह्य लक्ष्मणं शक्रस्त्रिदिवं संविवेश ह ॥ १७ ॥

मनुष्यों को न दिखलाई दे कर, इन्द्र आये और महाबलवान लक्ष्मण जी को शरीर सहित उठा कर स्वर्ग को चले गये ॥ १७ ॥

ततो विष्णोश्चतुर्भागमागतं सुरसत्तमाः ।
हृष्टाः प्रमुदिताः सर्वे पूजयन्ति स्म राघवम् ॥ १८ ॥

इति षडुत्तरशततमः सर्गः ॥

सम्पूर्ण देवता विष्णु के चतुर्थ भाग रूपी लक्ष्मण को स्वर्ग में आया हुआ देख, बहुत प्रसन्न हुए और उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १८ ॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—o—

सप्तोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

विसृज्य लक्ष्मणं रामो दुःखशोकसमन्वितः ।
पुरोधसं मन्त्रिणश्च नैगमांश्चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मण का त्याग कर दुःख और शोक से सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी पुरोहित, मंत्री और पुरवासियों को बुला कर कहने लगे ॥ १ ॥

अद्य राज्येऽभिषेक्ष्यामि भरतं धर्मवत्सलम् ।
अयोध्यायाः पतिं वीरं ततो यास्याम्यहं वनम् ॥२॥

देखो, अब मैं अयोध्या के राजसिंहासन पर भरत को बिठा स्वयं वन को जाऊँगा ॥ २ ॥

प्रवेशयतसम्भारान्मा भूत्कालात्ययो यथा ।
अद्यैवाहं गमिष्यामि लक्ष्मणेन गतां गतिम् ॥ ३ ॥

अतएव अभिषेक का सारा सामान शीघ्र एकत्र करो, जिससे देर न होने पावे । क्योंकि मैं आज ही लक्ष्मण के पीछे जाना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं सर्वाः प्रकृतयो भृशम् ।
मूर्धभिः प्रणता भूमौ गतसत्त्वा इवाभवन् ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन कर सभा में उपस्थित सुमंत्रादि समस्त जन सिर के बल ज़मीन पर गिर कर अर्थात् प्रणाम कर निर्जीव से हो गये ॥ ४ ॥

भरतश्च विसंज्ञोऽभूच्छ्रुत्वा राघवभाषितम् ।
राज्यं विगर्हयामास वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के विचार को सुन भरत जी भी मूर्छित हो गये। कुछ देर बाद सचेत होने पर वे राज्य की निन्दा करते हुए श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ५ ॥

सत्येनाहं शपे राजन्स्वर्गलोके न चैव हि ।
न कामये यथा राज्यं त्वां विना रघुनन्दन ॥ ६ ॥

हे राजन्! हे राम! मैं सत्य की शपथ खा कर कहता हूँ कि, तुम्हारे बिना यह राज्य तो क्या स्वर्गलोक भी मैं नहीं चाहता ॥६॥

इमौ कुशीलवौ राजन्नभिषिच्य नराधिप ।
कोसलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु तथा लवम् ॥ ७ ॥

हे वीर! आप अपने दोनों पुत्रों कुश लव का अभिषेक कर दीजिये; कोशल देशों का राजा कुश को और उत्तरकोशल के देशों का राजा लव को बनाइये ॥ ७ ॥

शत्रुघ्नस्य तु गच्छन्तु दूतास्त्वरितविक्रमाः ।
इदं गमनमस्माकं शीघ्रमाख्यातुमाचिरम् ॥ ८ ॥

शत्रुघ्न के पास भी दूत बड़ी फुर्ती से जा कर और उनको हमारे प्रस्थान का सन्देसा सुना कर, उन्हें शीघ्र लिवा लावें ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतेनोक्तं दृष्ट्वा चापि ह्यधोमुखान् ।
पौरान्दुःखेन सन्तप्तान्वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

भरत के यह वचन सुन और पुरवासियों को अत्यन्त दुःखी और नीचे को मुख किये देख, वशिष्ठ जी बोले ॥ ९ ॥

वत्स राम इमाः पश्य धरणीं प्रकृतीर्गताः ।
ज्ञात्वैषामीप्सितं कार्यं मा चैषां विप्रियं कृथाः ॥१०॥

हे वत्स राम ! अपनी इस प्रजा की ओर तो देखो । यह मारे शोक के पृथिवी पर लोट रही है । इनका मनोरथ जान कर तुमको तदनुसार कार्य करना उचित है, इनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करना ठीक नहीं ॥ १० ॥

वसिष्ठस्य तु वाक्येन उत्थाप्य प्रकृतीजनम् ।
किं करोमीति काकुत्स्थः सर्वान्वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वशिष्ठ जी के वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उन सब को उठाया और उन सब से पूँछा । कहो मैं तुम लोगों के लिये क्या करूँ? ॥ ११ ॥

ततः सर्वाः प्रकृतयो रामं वचनमब्रुवन् ।
गच्छन्तमनुगच्छामो यत्र राम गमिष्यसि ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रश्न के उत्तर में वे सब लोग एक साथ (यही) बोले—हे राम ! जहाँ श्रीराम जायगे वहीं उनके पीछे पीछे हम सब लोग भी चलेंगे ॥ १२ ॥

पौरेषु यदि ते प्रीतिर्यदि स्नेहो ह्यनुत्तमः ।
सपुत्रदाराः काकुत्स्थ समागच्छाम सत्पथम् ॥ १३ ॥

हे राम ! यदि पुरवासियों में आपकी प्रीति और उत्तम स्नेह है, तो पुत्र स्त्री सहित हम सबको आप अपने साथ चलने की अनुमति दीजिये ॥ १३ ॥

तपोवनं वा दुर्गं वा नदीमम्भोनिधिं तथा ।
वयं ते यदि न त्याज्याः सर्वान्नो नय ईश्वर ॥ १४ ॥

हे प्रभो ! यदि आप हमको छोड़ना नहीं चाहते हैं, तो आप चाहें तपोवन में चाहे दुर्गम स्थान में, चाहे समुद्र में, जहाँ कहीं जांय वहाँ हम लोगों को भी अपने साथ लेते चलें ॥ १४ ॥

एषा नः परमा प्रीतिरेष नः परमो वरः ।
हृद्गता नः सदा प्रीतिस्तत्रानुगमने नृप ॥ १५ ॥

बस इसीसे हम लोग परम प्रसन्न होंगे । यही हम लोगों के लिये परम वर है । आपके पीछे पीछे चलने में हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता है ॥ १५ ॥

पौराणां दृढभक्तिं च बाढमित्येव सोऽब्रवीत् ।
स्वकृतान्तं चान्ववेक्ष्य तस्मिन्नहनि राघवः ॥ १६ ॥

पुरवासियों की अपने में ऐसी दृढ़ भक्ति देख कर और अपना कर्त्तव्य विचार कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उनको अपने साथ चलने की अनुमति दे दी और उसी दिन ॥ १६ ॥

कोसलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु तथा लवम् ।
अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने (दक्षिण) कौशल देश में कुश को और उत्तर कौशल में लव को अभिषिक्त कर दिया ॥ १७ ॥

अभिषिक्तौ सुतावङ्के प्रतिष्ठाप्य पुरे ततः ।
रथानां तु सहस्राणि नागानामयुतानि च ।
दशचाश्वसहस्राणि एकैकस्य धनं ददौ ॥ १८ ॥
बहुरत्नौ बहुधनौ हृष्ट पुष्ट जनाश्रयौ ।
स्वे पुरे प्रेषयामास भ्रातरौ तौ कुशीलवौ ॥ १९ ॥

इस प्रकार दोनों पुत्रों को अभिषेक कर और उनको अपनी गोद में बिठा, उनका सिर सुँघा। तदनन्तर सहस्र रथ, दस सहस्र हाथी, एक लाख घोड़े तथा अनेक धन रत्न पृथक् पृथक् अपने दोनों पुत्रों को दिये। उनके साथ में बहुत से हृष्ट पुष्ट मनुष्य कर तथा उनको सावधान कर, दोनों भाइयों अर्थात् कुश और लव को उन देशों में भेज दिया ॥ १८ ॥ १९ ॥

अभिषिच्य ततो वीरौ प्रस्थाप्य स्वपुरे तदा ।
दूतान्सम्प्रेषयामास शत्रुघ्नाय महात्मने ॥ २० ॥

इति सप्तोत्तरशततमः सर्गः

इस प्रकार उन दोनों वीरों का राज्याभिषेक कर और उनको उन पुरियों में नियत कर, महाबली महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रुघ्न को बुलाने के लिये दूत भेजे ॥ २० ॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

ते दूता रामवाक्येन चोदिता लघुविक्रमाः ।
प्रजग्मुर्मधुरां शीघ्रं चक्रुर्वासं न चाध्वनि ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से वे शीघ्रगामी दूत बड़ी फुर्ती से मधुरा के लिये प्रस्थानित हुए और चलते ही चले गये, रास्ते में कहीं टिके भी नहीं ॥ १ ॥

ततस्त्रिभिरहोरात्रैः सम्प्राप्य मधुरामथ ।
शत्रुघ्नाय यथातत्त्वमाचख्युः सर्वमेव तत् ॥ २ ॥

इस प्रकार तीन दिन रात में वे दूत मथुरा में पहुँचे और शत्रुघ्न जी के समस्त वृत्तान्त सुनाया ॥ २ ॥

लक्ष्मणस्य परित्यागं प्रतिज्ञां राघवस्य च ।
पुत्रयोरभिषेकं च पौरानुगमनं तथा ॥ ३ ॥

लक्ष्मण का त्याग, श्रीरामचन्द्र जी की प्रतिज्ञा, कुश लव का राज्याभिषेक, पुरवासियों का श्रीरामचन्द्र जी के साथ जाने का विचार ॥ ३ ॥

कुशस्य नगरी रम्या विन्ध्यपर्वतरोधसि ।
कुशावतीति नाम्ना सा कृता रामेण धीमता ॥ ४ ॥

विन्ध्यपर्वत की तलहटी में दक्षिण कुशावती नगरी बसा कर, उसमें कुश का बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र द्वारा राज्याभिषेक किया जाना ॥ ४ ॥

श्रावस्तीति पुरी रम्याश्राविता च लवस्य ह ।
अयोध्यां विजनां कृत्वा राघवो भरतस्तथा ॥ ५ ॥

स्वर्गस्य गमनोद्योगं कृतवन्तौ महारथौ ।
एवं सर्वं निवेद्याशु शत्रुघ्नाय महात्मने ॥ ६ ॥

और लव को श्रावस्ती नाम की एक सुन्दर पुरी का देना, तथा महारथी श्रीरामचन्द्र एवं भरत का अयोध्या को निर्जन कर स्वर्ग में जाने की तैयारियाँ करना आदि अयोध्या के ये समस्त वृत्तान्त उन दूतों ने शत्रुघ्न को सुना कर, उनसे कहा ॥ ५ ॥ ६ ॥

विरेमुस्ते ततो दूतास्त्वर राजेति चाब्रुवन् ।
तच्छ्रुत्वा घोरसङ्काशं कुलक्षयमुपस्थितम् ॥ ७ ॥

आप शीघ्र चलिये । यह कह दूत तो चुप हो गये, किन्तु शत्रुघ्न जी ने इस प्रकार का कुलक्षयकारी घोर वृत्तान्त सुन कर, ॥ ७ ॥

प्रकृतीस्तु समानीय काञ्चनं च पुरोधसम् ।
तेषां सर्वं यथावृत्तमब्रवीद्रघुनन्दनः ॥ ८ ॥

अपने समस्त मंत्री, पुरजन और काँचन नामक पुरोहित को बुला कर, उन सब को शत्रुघ्न जी ने अयोध्या के समाचार सुनाये ॥ ८ ॥

आत्मनश्च विपर्यासं भविष्यं भ्रातृभिः सह ।
ततः पुत्रद्वयं वीरः सोऽभ्यषिञ्चन्नराधिपः ॥ ९ ॥

साथ ही यह भी कहा कि, अब हम अपने भाइयों के साथ स्वर्ग जायगे । तदनन्तर अपने दोनों पराक्रमी पुत्रों का राज्याभिषेक किया ॥ ९ ॥

सुबाहुर्मधुरां लेभे शत्रुघाती च वैदिशम् ।
द्विधा कृत्वा तु तां सेनां माधुरीं पुत्रयोर्द्वयोः ।
धनं च युक्तं कृत्वा वै स्थापयामास पार्थिवः ॥ १० ॥

सुबाहु को मथुरा नगरी का और शत्रुघाती को वैदिश नगर का राजा बना दिया । मथुरा में उपस्थित सेना और धन के दो भाग कर अपने दोनों पुत्रों में बाँट दिये । तदनन्तर शत्रुघ्न जी ॥ १० ॥

सुबाहुं मधुरायां च वैदिशे शत्रुघातिनम् ।
ययौस्थाप्य तदायोध्यां रथेनैकेन राघवः ॥ ११ ॥

सुबाहु को मथुरा में और शत्रुघाती को वैदिश में स्थापित कर, स्वयं एक रथ में बैठ अकेले ही अयोध्या को रवाना हुए ॥ ११ ॥

स ददर्श महात्मानं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
सूक्ष्मक्षौमाम्बरधरं मुनिभिः सार्धमक्षयैः ॥ १२ ॥

अयोध्या में पहुँच कर, शत्रुघ्न ने अग्निदेव की तरह तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन किये । उस समय श्रीरामचन्द्र जी बारीक रेशमी वस्त्र पहिने हुए थे और मुनियों के साथ बैठे हुए थे ॥ १२ ॥

सोऽभिवाद्य ततो रामं प्राञ्जलिः प्रयतेन्द्रियः ।
उवाच वाक्यं धर्मज्ञं धर्ममेवानुचिन्तयन् ॥ १३ ॥

शत्रुघ्न जी ने झुक कर उनको प्रणाम किया और अपने कर्त्तव्य को विचार कर वे धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी से हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगे ॥ १३ ॥

कृत्वाऽभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन ।
तवानुगमने राजन्विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥ १४ ॥

हे राम ! मैं अपने दोनों पुत्रों को राज्य दे कर, आपके साथ चलने को तैयार हो कर आया हूँ ॥ १४ ॥

न चान्यदपि वक्तव्यमतो वीर न शासनम् ।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः ॥ १५ ॥

अतएव हे वीर ! इसके बारे में आप अब कोई दूसरी (विपरीत) आज्ञा न दीजियेगा । क्योंकि मैं आपकी आज्ञा को उल्लङ्घन करना नहीं चाहता और आपके साथ चलना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

तस्य तां बुद्धिमक्लीबां विज्ञाय रघुनन्दनः ।
बाढमित्येव शत्रुघ्नं रामो वाक्यमुवाच ह ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रुघ्न जी का इस प्रकार का दृढ़ निश्चय जान कर, उनसे कहा कि, अच्छी बात है, तुम जैसा चाहते हो वैसा ही होगा ॥ १६ ॥

तस्य वाक्यस्य वाक्यान्ते वानराः कामरूपिणः ।
ऋक्षराक्षससङ्घाश्च समापेतुरनेकशः ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी यह कह ही रहे थे कि, इतने में असंख्य यथेच्छ-रूप-धारी वानर, रीछ और राक्षस अयोध्या में आ पहुँचे ॥ १७ ॥

सुग्रीवं ते पुरस्कृत्य सर्वे एव समागताः ।
ते रामं द्रष्टुमनसः स्वर्गायाभिमुखं स्थितम् ॥ १८ ॥

सुग्रीव के नेतृत्व में वे सब वानर स्वर्ग जाने के लिये तैयार, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करने को आये थे ॥ १८ ॥

देवपुत्रा ऋषिसुता गन्धर्वाणां सुतास्तथा ।
रामक्षयं विदित्वा ते सर्वे एव समागताः ॥ १९ ॥

देवता, ऋषि और गन्धर्वों से उत्पन्न वे सब वानर श्रीरामचन्द्र जी के परलोक जाने का हाल सुन कर वहाँ आये ॥ १९ ॥

तवानुगमने राजन्सम्प्राप्ताः स्म समागताः ।
यदि राम विनाऽस्माभिर्गच्छेस्त्वं पुरुषोत्तम ॥ २० ॥

वे कहने लगे—हे राजन् ! हम लोग तुम्हारे साथ चलने को आये हैं । हे पुरुषोत्तम राम ! यदि तुम हम लोगों को अपने साथ लिये विना ही चले गये तो ॥ २० ॥

यमदण्डमिवोद्यम्य त्वयास्म विनिपातिताः ।
एतस्मिन्नन्तरे रामं सुग्रीवोऽपि महाबलः ॥ २१ ॥
प्रणम्य विधिवद्वीरं विज्ञापयितुमुद्यतः ॥ २२ ॥

मानों तुमने यमदण्ड से हमारा घात किया । इतने ही में महाबली सुग्रीव जी वीर्यवान श्रीराम जी को प्रणाम कर, बड़ी नम्रता से बोले ॥ २१ ॥ २२ ॥

अभिषिच्याङ्गदं वीरमागतोऽस्मि नरेश्वर ।
तवानुगमने राजन्विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥ २३ ॥

हे नरनाथ ! मैं अंगद को राज्य दे कर तुम्हारे पीछे पीछे चलने का इरादा कर, तुम्हारे पास आया हूँ ॥ २३ ॥

तैरेवमुक्तः काकुत्स्थो बाढमित्यब्रवीत्स्मयन् ।
विभीषणमथोवाच राक्षसेन्द्रं महायशाः ॥ २४ ॥

सुग्रीव के यह वचन सुन, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने मुसक्या कर कहा—"बहुत अच्छा" । तदनन्तर वे राक्षसराज विभीषण से बोले ॥ २५ ॥

यावत्प्रजा धरिष्यन्ति तावत्त्वं वै विभीषण ।
राक्षसेन्द्र महावीर्य लङ्कास्थः त्वं धरिष्यसि ॥ २५ ॥

हे विभीषण ! हे महाबलवान ! जब तक प्रजा रहे, तब तक तुम लङ्कापुरी में राज्य करते रहना ॥ २५ ॥

यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च यावत्तिष्ठति मेदिनी ।
यावच्च मत्कथा लोके तावद्राज्यं तवास्त्विह ॥ २६ ॥

जब तक चन्द्र सूर्य विद्यमान रहें, जब तक यह पृथिवी मौजूद रहे, जब तक मेरी कथा लोक में प्रचलित रहे, तब तक तुम्हारा राज्य स्थिर हो ॥ २६ ॥

शासितस्त्वं सखित्वेन कार्यं ते मम शासनम् ।
प्रजाः संरक्ष धर्मेण नोत्तरं वक्तुमर्हसि ॥ २७ ॥

हे मित्र ! मैं मित्रभाव से तुमको यह आज्ञा देता हूँ । अतः तुम्हें मेरी आज्ञा माननी चाहिये । तुम धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो । (मेरे कथन के बाद) तुम मुझे कुछ भी उत्तर न देना ॥ २७ ॥

किंचान्यद्वक्तुमिच्छामि राक्षसेन्द्र महाबल ।
आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुलदैवतम् ॥ २८ ॥

हे राक्षसेन्द्र ! हे महाबली ! मैं तुमसे और भी कुछ कहना चाहता हूँ । उसे सुनो । इस इक्ष्वाकुकुल के इष्टदेव जगन्नाथ हैं । सो तुम इनकी आराधना करते रहना ॥ २८ ॥

तथेतिप्रतिजग्राह रामवाक्यं विभीषणः ।
राजा राक्षस मुख्यानां राघवाज्ञामनुस्मरन् ॥ २९ ॥

क्योंकि ये इन्द्रादि देवताओं के भी पूज्य और सदा आराध्य हैं। यह सुन कर, विभीषण ने श्रीरामचन्द्र की बात मान ली। राक्षसराज विभीषण ने श्रीरामचन्द्र जी की इस आज्ञा को सदा याद रखा ॥ २९ ॥

["श्री जगन्नाथ" जी से अभिप्राय श्रीरङ्गनाथ से जान पड़ता है। क्योंकि श्रीजगन्नाथ (जो पुरी में हैं) सुभद्रा, श्रीकृष्ण और बलभद्र का अर्धावतार हैं। अतएव इनका प्रादुर्भाव श्रीकृष्णावतार के पश्चात् मानना पड़ेगा। श्रीरामावतार श्रीकृष्णावतार के बहुत पूर्व का है। अतः (पुरीस्थ) श्रीजगन्नाथ जी का इक्ष्वाकुवंश के आराध्यदेव होना सङ्गत नहीं जान पड़ता। इक्ष्वाकुवंश के आराध्य कुलदेव श्रीरङ्गनाथ थे, इसका प्रमाण पद्मपुराणान्तर्गत निम्न उद्धृत श्लोकों में पाया भी जाता है :—

तावद्रमस्वराज्यस्थः काले ममपदंव्रज।
इत्युक्त्वाप्रददौ तस्मैस्वविश्लेषासहिष्णवे ॥
श्रीरङ्गशायिनं स्वार्चामिक्ष्वाकु कुलदैवतम्।
रङ्गं विमानमादाय लङ्कां प्रायाद्विभीषणः ॥

विभीषण को अपने साथ न लेने का कारण यह भी था कि, ब्रह्मा जी विभीषण को अमर होने का वर दे चुके थे।]

तमेवमुक्त्वा काकुत्स्थो हनूमन्तमथाब्रवीत्।
जीविते कृत बुद्धिस्त्वं मा प्रतिज्ञां वृथा कृथाः ॥ ३० ॥

विभीषण से यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने हनुमान जी से कहा—हे हनुमान! तुम तो अपने जीवन के लिये पूर्व ही में निश्चय कर चुके हो, सो देखना, अपनी उस प्रतिज्ञा को कहीं वृथा मत कर डालना ॥ ३० ॥

मत्कथाः प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर ।
तावद्रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन् ॥ ३१ ॥

हे वानरराज ! जब तक इस लोक में मेरी कथा का प्रचार रहेगा, तब तक तुम हर्षित हो मर्त्यलोक में वास करना ॥ ३१ ॥

एवमुक्तस्तु हनुमान् राघवेण महात्मना ।
वाक्यं विज्ञापयामास परं हर्षमवाप च ॥ ३२ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब हर्षित हो हनुमान जी ने उनसे कहा ॥ ३२ ॥

यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी ।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन् ॥ ३३ ॥

हे भगवन् ! जब तक इस पृथिवीतल पर पवित्र करने वाली आपकी कथा का प्रचार रहेगा, तब तक मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ जीता रहूँगा। तदनन्तर ब्रह्मा के पुत्र वृद्ध जाम्बवान से ॥ ३३ ॥

जाम्बवन्तं तथोक्त्वा तु वृद्धं ब्रह्मसुतं तदा ।
मैन्दं च द्विविदं चैव पञ्च जाम्बवता सह ।
यावत्कलिश्च सम्प्राप्तस्तावज्जीवत सर्वदा ॥ ३४ ॥

तथा मैन्द एवं द्विविद से भी श्रीरामचन्द्र जी ने कहा कि तुम कलियुग प्रवृत्त होने तक जीवित रहो। इस प्रकार महावीर हनुमान, विभीषण, ब्रह्मा के पुत्र वृद्ध जाम्बवान, मैन्द और द्विविद इन पांचों को श्रीरामचन्द्र जी ने आज्ञा दी ॥ ३४ ॥

तदेवमुक्त्वा काकुत्स्थः सर्वास्तानृक्षवानरान् ।
उवाच बाढं गच्छध्वं मया सार्धं यथोदितम् ॥३५॥

इति अष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥

इस प्रकार उन पात्रों को आज्ञा दे, श्रीरामचन्द्र जी ने अन्य समस्त वानरों और भालुओं से कहा कि, अपनी इच्छा के अनुसार तुम सब मेरे साथ चलो ॥ ३५ ॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

नवाधिकशततमः सर्गः

—:o:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः ।
रामः कमलपत्राक्षः पुरोधसमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

जब रात बीती और सवेरा हुआ, तब विशालवक्षःस्थल वाले यशस्वी एवं कमललोचन श्रीरामचन्द्र जी अपने (कुल) पुरोहित वशिष्ठ जी से बोले ॥ १ ॥

अग्निहोत्रं व्रजत्वग्रे दीप्यमानं सह द्विजैः ।
वाजपेयातपत्रं च शोभमानं महापथे ॥ २ ॥

ब्राह्मणों द्वारा मेरा प्रज्वलित अग्निहोत्र और वाजपेय का अत्यन्त शोभायमान छत्र महापथ की शोभा बढ़ाते हुए आगे आगे चलें ॥२॥

ततो वसिष्ठस्तेजस्वी सर्वं निरवशेषतः ।
चकार विधिवद्धर्मं महाप्रस्थानिकं विधिम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन तेजस्वी वशिष्ठ जी ने महाप्रस्थानोचित विधि के अनुसार सब धर्मकृत्य किये ॥ ३ ॥

ततः सूक्ष्माम्बरधरो ब्रह्ममावर्तयन्परम् ।
कुशान् गृहीत्वा पाणिभ्यां सरयूं प्रययावथ ॥ ४ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी महीन रेशमी वस्त्र पहिने हुए वैदिक मंत्रों का उच्चारण करते हुए और हाथ में कुश लिये हुए सरयू नदी की ओर चले ॥ ४ ॥

अन्याहरन्क्वचित्किंचिन्निश्चेष्टो निःसुखः[1] पथि ।
निर्जगाम गृहात्तस्माद्दीप्यमानो यथांऽशुमान् ॥ ५ ॥

वे चलते समय वेदमंत्रों के सिवाय न तो कुछ और बोलते थे और न किसी प्रकार की कोई चेष्टा ही करते थे, वे कंकड़ों और काँटों की कुछ भी परवाह न कर, उघारे पैर प्रकाशमान सूर्य की तरह अपने घर से निकले थे ॥ ५ ॥

रामस्य दक्षिणे पार्श्वे पद्मा श्रीः समुपाश्रिता ।
सव्येपि च महीदेवी [2]व्यवसायस्तथाऽग्रतः ॥ ६ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी की दहिनी ओर साक्षात् लक्ष्मी और वामभाग में भूदेवी तथा उनके आगे संहारशक्ति चलीं ॥ ६ ॥

शरा नानाविधाश्चापि धनुरायत्तमुत्तमम् ।
तथाऽऽयुधाश्च ते सर्वे ययुः पुरुषविग्रहाः ॥ ७ ॥

विविध प्रकार के बाण, उत्तम धनुष और श्रीरामचन्द्र जी के समस्त आयुध, पुरुष का रूप धारण कर, उनके साथ साथ जा रहे थे ॥ ७ ॥

वेदा ब्राह्मण रूपेण गायत्री सर्वरक्षिणी ।
ओंकारोऽथ वषट्कारः सर्वे राममनुव्रताः ॥ ८ ॥

१ निःसुखःपथि—पादुकादिसुखमुपेक्ष्यशर्कराकण्टकाबाधां सोढुमुद्युक्तः । (गो०) २ व्यवसायो—व्यवसायशक्तिः-संहारशक्तिः । (रा०)

ऋषयश्च महात्मानः सर्व एव महीसुराः ।
अन्वगच्छन्महात्मानं स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥ ९ ॥

ब्राह्मण का रूप धारण किये सब वेद, तथा सब की रक्षा करने वाली गायत्री, ओंकार, वषट्कार तथा अन्य बड़े बड़े ऋषि तथा समस्त ब्राह्मणों की मण्डली—ये सब के सब स्वर्ग का द्वार खुला हुआ देख कर श्रीरामचन्द्र जी के साथ चले जाते थे ॥ ८ ॥ ९ ॥

तं यान्तमनुगच्छन्ति ह्यन्तःपुरचराः स्त्रियः ।
सवृद्धबालदासीकाः सवर्षवरकिङ्कराः ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे रनवास की सब स्त्रियाँ, बूढ़े बालक, हिजड़े, दासियाँ नौकरों के साथ चली जाती थीं ॥ १० ॥

सान्तःपुरश्च भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ।
रामं गतिमुपागम्य साग्निहोत्रमनुव्रतः ॥ ११ ॥

अपने अपने रनवासों के साथ भरत और शत्रुघ्न भी अग्निहोत्र सहित श्रीरामचन्द्र जी के साथ जा रहे थे ॥ ११ ॥

ते च सर्वे महात्मानः साग्निहोत्राः समागताः ।
सपुत्रदाराः काकुत्स्थमनुजग्मुर्महामतिम् ॥ १२ ॥

महात्मा ब्राह्मण, अपने अपने अग्निहोत्रों सहित तथा स्त्रियों और पुत्रों को साथ लिये हुए महामतिमान श्रीरामचन्द्र के पीछे पीछे जा रहे थे ॥ १२ ॥

मन्त्रिणो भृत्यवर्गाश्च सपुत्रपशुबान्धवाः ।
सर्वे सहानुगा राममन्वगच्छन्प्रहृष्टवत् ॥ १३ ॥

---

१ वर्षवराः—नपुंसकाः । (गो०)

सब मंत्री तथा अन्य नौकर चाकर, पशु, बालक और भाई बन्दों को साथ लिये हुए, बड़े आनन्द के साथ चले ॥ १३ ॥

ततः सर्वाः प्रकृतयो हृष्टपुष्टजनावृताः ।
गच्छन्तमनुगच्छन्ति राघवं गुणरञ्जिताः ॥ १४ ॥

समस्त प्रजाजन हृष्टपुष्ट हो, श्रीरामचन्द्र जी के गुणों पर मोहित हो कर, उनके पीछे पीछे चल रहे थे ॥ १४ ॥

ततः सस्त्रीपुमांसस्ते सपक्षिपशुबान्धवाः* ।
राघवस्यानुगाः सर्वे हृष्टा विगतकल्मषाः ॥ १५ ॥

वे स्त्री और पुरुष अपने भाई बंदों सहित तथा पशु पक्षियों को साथ लिये हुए, हर्षित अन्तःकरण से एवं निष्पाप हो, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले ॥ १५ ॥

स्नाताः प्रमुदिताः सर्वे हृष्टाः पुष्टाश्च वानराः ।
दृढं किलकिला शब्दैः सर्वं राममनुव्रतम् ॥ १६ ॥

सब वानर स्नान कर प्रसन्न और हृष्टपुष्ट हो किलकारियाँ मारते, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे दौड़ते चले जाते थे ॥ १६ ॥

न तत्र कश्चिद्दीनो वा व्रीडितो वापि दुःखितः ।
हृष्टं प्रमुदितं सर्वं बभूव परमाद्भुतम् ॥ १७ ॥

उस समुदाय में उस समय कोई भी दुःखी या उदास अथवा लज्जित नहीं देख पड़ता था । प्रत्युत सब प्रसन्नवदन देख पड़ते थे । यह एक विलक्षण बात थी ॥ १७ ॥

द्रष्टुकामोथ निर्यान्तं रामं जानपदो जनः ।
यः प्राप्तः सोपि दृष्ट्वैव स्वर्गायानुगतो मुदा ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"वाहनाः ।"—

उस समय जो लोग देशान्तरों से श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करने को आये थे, वे भी उनके पीछे हो लिये थे ॥ १८ ॥

ऋक्षवानररक्षांसि जनाश्च पुरवासिनः ।

आगच्छन्परया भक्त्या पृष्ठतः सुसमाहिताः ॥ १९ ॥

जितने रीछ वानर, राक्षस और पुरवासी मनुष्य थे, वे सब के सब बड़े अनुराग से और सावधानता पूर्वक श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले जाते थे ॥ १९ ॥

यानि भूतानि नगरेऽप्यन्तर्धानगतानि च ।

राघवं तान्यनुययुः स्वर्गाय समुपस्थितम् ॥ २० ॥

यही नहीं; बल्कि अयोध्या में रहने वाले अदृश्य आत्माएँ भी, स्वर्गप्राप्ति की कामना से श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे गये ॥ २० ॥

यानि पश्यन्ति काकुत्स्थं स्थावराणि चराणि च ।

सर्वाणि रामगमने अनुजग्मुर्हितान्यपि ॥ २१ ॥

जो जो स्थावर और जङ्गम जीव श्रीरामचन्द्र जी को जाते देखते, वे सब भी उनके पीछे लग लेते थे ॥ २१ ॥

नोच्छ्वसत्तदयोध्यायां सुसूक्ष्ममपिदृश्यते ।

तिर्यग्योनिगताश्चैव सर्वे राममनुव्रताः ॥ २२ ॥

इति नवाधिकशततमः सर्गः ॥

उस समय अयोध्या में जितने श्वास लेने वाले कीट पतङ्ग और तिर्यग्योनि वाले जीव थे, वे सब ही श्रीरामचन्द्र के साथ हो लिये थे ॥ २२ ॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

दशाधिकशततमः सर्गः

—:o:—

अध्यर्धयोजनं गत्वा नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ।
सरयूं पुण्यसलिलां ददर्श रघुनन्दनः ॥ १ ॥

इस प्रकार चलते चलते जब वे अयोध्या से लगभग दो कोस निकल गये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने पवित्र प्रवाह से पश्चिम की ओर बहने वाली सरयू नदी को देखा ॥ १ ॥

[नोट—उस समय की अयोध्या वर्तमान उजाड़ अयोध्या की तरह सरयू के तट पर बसी हुई नहीं थी, इससे यह न समझना चाहिये। उस समय की अयोध्या का विस्तार लंदन की तरह कितने ही मीलों में था। राजभवन से, उस समय, सरयू का फासला दो कोस—चार मील था।]

तां नदीमाकुलावर्तां सर्वत्रानुसरन्नृपः ।
आगतः सप्रजो रामस्तं देशं रघुनन्दनः ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी सब लोगों को साथ लिये हुए भँवरों और तरङ्गों से सुशोभित सरयू के तट (गोप्रतारक—गुप्तार घाट) पर पहुँचे ॥ २ ॥

अथ तस्मिन्मुहूर्ते तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
सर्वैः परिवृतो देवैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः ॥ ३ ॥

इतने में लोकपितामह ब्रह्मा जी समस्त देवताओं और महात्मा ऋषियों को अपने साथ लिये हुए ॥ ३ ॥

आययौ यत्र काकुत्स्थः स्वर्गाय समुपस्थितः ।
विमान शतकोटीभिर्दिव्याभिरभिसंवृतः ॥ ४ ॥

सो करोड़ विमानों सहित वहाँ आये, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी स्वर्ग जाने के लिये उद्यत थे ॥ ४ ॥

दिव्यतेजोवृतं व्योम ज्योतिर्भूतमनुत्तमम् ।
स्वयंप्रभैः स्वतेजोभिः स्वर्गिभिः पुण्यकर्मभिः ॥ ५ ॥

उस समय आकाशमण्डल (देवताओं के) दिव्य तेज से पूर्ण हो, चमक रहा था। क्योंकि बड़े बड़े तेजस्वी और पवित्र कीर्त्तिसम्पन्न स्वर्गवासी जीवगण (ब्रह्मा जी के साथ वहाँ आये हुए थे) ॥ ५ ॥

पुण्या वाता ववुश्चैव गन्धवन्तः सुखप्रदाः ।
पपात पुष्पवृष्टिश्च देवैर्मुक्ता महौघवत् ॥ ६ ॥

उस समय सुगन्धित एवं सुखद पवन चलने लगा। देवता लोग पुष्पों की भरपूर वृष्टि करने लगे ॥ ६ ॥

तस्मिंस्तूर्यशतैः कीर्णे गन्धर्वाप्सरसंकुले ।
सरयूसलिलं रामः पद्भ्यां समुपचक्रमे ॥ ७ ॥

सैकड़ों दुन्दुभियाँ बजाते हुए गन्धर्वों और अप्सराओं से वह स्थान भर गया, तब श्रीरामचन्द्र जी पैदल ही सरयू के जल में घुसे ॥ ७ ॥

ततः पितामहो वाणिरमन्तरिक्षादभाषत ।
आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोसि राघव ॥ ८ ॥

उस समय आकाश से ब्रह्मा जी बोले—हे विष्णो ! हे राघव ! आइये। आपका मङ्गल हो। आप हम लोगों के सौभाग्य ही से अपने लोक में आते हैं ॥ ८ ॥

भ्रातृभिः सह देवाभैः प्रविशस्व स्विकां तनुम् ।
यामिच्छसि महाबाहो तां तनुं प्रविश स्विकाम् ॥ ९ ॥

देवताओं के समान कान्तिवाले भाइयों सहित तुम अपने प्रियलोक में पधारो। हे महाबाहो! जिस शरीर में तुम प्रवेश करना चाहते हो, उसमें प्रवेश करो॥ ६॥

वैष्णवीं तां महातेजो यद्वाऽऽकाशं सनातनम्।
त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते॥ १०॥

तुम चाहे विष्णु के शरीर में अथवा इस सनातन (अनादि) आकाशरूपी निज शरीर में प्रवेश करो। हे देव! तुम ही समस्त लोकों की गति हो। तुमको कोई नहीं जानता॥ १०॥

ऋते मायां विशालाक्षीं तव पूर्वपरिग्रहाम्।
त्वामचिन्त्यं महद्भूतमक्षयं *चाजरं तथा।
यामिच्छसि महातेजस्तां तनुं प्रविश स्वयम्॥ ११॥

हे भगवन्! वे विशालनेत्री ज्ञानशक्तिरूपिणी तुम्हारी माया जानकी ही तुमको जानती हैं, जो तुम्हारी पहली पत्नी आदिशक्ति हैं। तुम अचिन्त्य, महाभूत, अक्षय्य और अजर हो। हे महातेजस्वी! तुम जिस शरीर में चाहो उसमें स्वयं प्रवेश करो॥ ११॥

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥ १२॥

महामतिमान् श्रीरामचन्द्र जी ब्रह्मा जी की इस स्तुति को सुन, और (उनकी बातों पर) विचार कर, वैष्णवी तेज में प्रवेश कर गये॥ १२॥

ततो विष्णुमयं देवं पूजयन्ति स्म देवताः।
साध्या मरुद्गणाश्चैव सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः॥ १३॥

---

* पाठान्तरे—"सर्वसंग्रहम्।"

उस समय विष्णुमय भगवान् श्रीरामचन्द्र का सब देवता, साध्य, मरुद्गण, इन्द्र, अग्नि, पूजन करने लगे ॥ १३ ॥

ये च दिव्या ऋषिगणा गन्धर्वाप्सरसश्च याः ।
सुपर्णनागयक्षाश्च दैत्यदानवराक्षसाः ॥ १४ ॥

तथा जो अन्य ब्रह्मर्षि, अप्सराएँ, नाग, सुपर्ण, यक्ष, दैत्य, दानव और राक्षस थे ॥ १४ ॥

सर्वं पुष्टं प्रमुदितं सुसम्पूर्णमनोरथम् ।
साधु साध्विति तैर्देवैस्त्रिदिवं गतकल्मषम् ॥ १५ ॥

वे सब अत्यन्त हर्षित हुए । उन सब की मनोभिलाषाएँ पूरी हुईं । वे साधु साधु कह कर, उनकी स्तुति करने लगे । सारा स्वर्ग पवित्र हो गया ॥ १५ ॥

अथ विष्णुर्महातेजाः पितामहमुवाच ह ।
एषां लोकं जनौघानां दातु मर्हसि सुव्रत ॥ १६ ॥

तब महातेजस्वी भगवान् विष्णु ब्रह्मा जी से बोले—हे सुव्रत ! ये जितने जीव मेरे साथ आये हैं, इन सब को स्वर्ग में रहने के लिये तुम उत्तम स्थान बतलाओ ॥ १६ ॥

इमे हि सर्वे स्नेहान्मामनुयाता *यशस्विनः ।
भक्ता हि भजितव्याश्च त्यक्तात्मानश्च मत्कृते ॥ १७ ॥

ये सब लोग मेरे स्नेह के वशवर्ती हो मेरे साथ चले आये हैं । ये यशस्वी हैं और मेरे भक्त हैं । मेरे पीछे इन लोगों ने अपने शरीर तक त्याग दिये हैं । अतः इन पर कृपा करना मेरा कर्त्तव्य है ॥१७॥

तच्छ्रुत्वा विष्णुवचनं ब्रह्मा लोकगुरुः प्रभुः ।
लोकान्सान्तानिकान्नाम यास्यन्तीमे समागताः ॥१८॥

---

* पाठान्तरे—"मनस्विनः ।"

विष्णु भगवान् के वचन सुन कर लोकपितामह ब्रह्मा जी कहने लगे कि, यह सब तुम्हारे भक्त सन्तानक नामक लोक में जा कर सुख से रहें ॥ १८ ॥

यच्च तिर्यग्गतं किञ्चित्त्वामेवमनुचिन्तयत् ।
प्राणांस्त्यक्ष्यति भक्त्या वै तत्सन्ताने निवत्स्यति ॥१९॥

(ये तो तुम्हारे साथ आये हैं इनकी तो बात ही न्यारी है) हे प्रभो ! जो तिर्यग्योनि वाले जीव भी तुम्हारा ध्यान करते हुए शरीर त्याग करेंगे, वे भी इन्हीं सन्तानक लोकों में निवास करेंगे ॥ १९ ॥

सर्वैर्ब्रह्मगुणैर्युक्ते ब्रह्मलोकादनन्तरे ।
वानराश्च स्विकां योनिमृक्षश्चैव तथा ययुः ॥ २० ॥
येभ्यो विनिःसृताः सर्वे सुरेभ्यः सुरसम्भवाः ।
तेषु प्रविविशे चैव सुग्रीवः सूर्यमण्डलम् ॥ २१ ॥

यह सन्तानक लोक ब्रह्मलोक से मिले हुए हैं और ब्रह्मलोक के समान ही (अर्थात् इन लोकों में भी सब प्रकार के सुख हैं । इन लोकों के रहने वालों की ब्रह्मा के साथ ही मुक्ति होती है) वानर और रीछ जिन जिन देवताओं के अंशों से उत्पन्न हुए थे, वे उन्हीं उन्हीं देवताओं में लीन हो गये । सुग्रीव सूर्यमण्डल में प्रवेश कर गये ॥ २० ॥ २१ ॥

पश्यतां सर्वदेवानां स्वान्पितॄन्प्रतिपेदिरे ।
तथाब्रुवति देवेशे गोप्रतारमुपागताः ॥ २२ ॥

अन्य सब रीछ वानर (ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन) गोप्रतारघाट में जा और शरीर त्याग कर अपने अपने पूर्वजों से सब देवताओं के सामने ही जा मिले ॥ २२ ॥

भेजिरे सरयूं सर्वे हर्षपूर्णाश्रुविक्लवाः ।
अवगाह्याप्सु यो यो वै प्राणांस्त्यक्त्वा प्रहृष्टवत् ॥२३॥

अन्य लोगों ने भी हर्षित हो, आँखों से (आनन्द के) आँसू बहाते हुए, सरयू में स्नान कर अपने शरीर त्याग दिये ॥ २३ ॥

मानुषं देहमुत्सृज्य विमानं सोऽध्यरोहत ।
तिर्यग्योनिगतानां च शतानि सरयूजलम् ॥ २४ ॥

उसी क्षण वे सब मनुष्यशरीर त्याग कर और दिव्यशरीर पा कर, विमानों में जा बैठे। कहाँ तक कहैं, सैकड़ों तिर्यग्योनि वाले (पशु पक्षी) भी सरयू में स्नान कर और शरीर त्याग, ॥२४॥

संप्राप्य त्रिदिवं जग्मुः प्रभासुरवपूंषि च ।
दिव्या दिव्येन वपुषा देवा दीप्ता इवाभवन् ॥२५॥

बड़े उज्वल शरीरों को पा कर और विमानों में बैठ स्वर्ग में गये और वहाँ वे सब देवताओं की तरह शोभामान होने लगे ॥२५॥

गत्वा तु सरयूतोयं स्थावराणि चराणि च ।
प्राप्य तत्तोयविक्लेदं देवलोकमुपागमन् ॥ २६ ॥

क्या चर, क्या अचर, जितने प्राणी थे ; वे उस समय सरयू में स्नान कर और शरीर त्याग कर, स्वर्गगामी हुए ॥ २६ ॥

तस्मिन्नपि समापन्ना ऋक्षवानरराक्षसाः ।
तेऽपि स्वर्गं प्रविविशुर्देहान्निक्षिप्य चाम्भसि ॥ २७ ॥

रीछ, वानर और राक्षसों में से जिस जिस ने उस समय सरयू के जल में स्नान किये, वे सरयू के जल में अपना शरीर त्याग, स्वर्ग सिधारे ॥ २७ ॥

ततः समागतान्सर्वान्स्थाप्य लोकगुरुर्दिवि ।
हृष्टैः प्रमुदितैर्देवैर्जगामत्रिदिवं महत् ॥ २८ ॥

इति दशाधिकशततमः सर्गः ॥

इस प्रकार लोकपति ब्रह्मा जी सब जीवों को उत्तम लोकों में टिका, हर्षित होते हुए सब देवताओं सहित स्वर्ग को चले गये ॥२८॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—o—

एकादशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

एतावदेतदाख्यानं सोत्तरं ब्रह्मपूजितम् ।
रामायणमिति ख्यातं मुख्यं वाल्मीकिना कृतम् ॥१॥

महर्षि वाल्मीकि जी की बनाई यह इतनी ही उत्तरकाण्ड युक्त रामायण है, जो रामायण के नाम से प्रसिद्ध है और ब्रह्मा जी द्वारा प्रशंसित है ॥ १ ॥

ततः प्रतिष्ठितो विष्णुः स्वर्गलोके यथा पुरा ।
येन व्याप्तमिदं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २ ॥

जो भगवान् विष्णु चराचरमय तीनों लोकों में व्याप्त हैं, वे भगवान् विष्णु, पूर्ववत् स्वर्ग में जा विराजे ॥ २ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
नित्यं शृण्वन्ति संहृष्टाः काव्यं रामायणं दिवि ॥ ३ ॥

तब से स्वर्ग में देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि इस रामायण काव्य को नित्य हर्षित हो सुनने लगे ॥ ३ ॥

इदमाख्यानमायुष्यं सौभाग्यं पापनाशनम् ।
रामायणं वेदसमं श्राद्धेषु श्रावयेद्बुधः ॥ ४ ॥

यह उपाख्यान (कथा) आयुष्य और सौभाग्य का बढ़ाने वाला और पाप का नाश करने वाला है। यह काव्य वेद के समान है। पण्डितों को श्राद्धकाल में इसे सुनाना चाहिये ॥ ४ ॥

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो लभते धनम् ।
सर्वपापैः प्रमुच्येत पादमप्यस्य यः पठेत् ॥ ५ ॥

इसके पढ़ने और सुनने से अपुत्रक को पुत्र और निर्धनी को धन मिलता है। जो इस काव्य के किसी एक श्लोक का एक पाद भी पढ़ता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है ॥ ५ ॥

पापान्यपि च यः कुर्यादहन्यहनि मानवः ।
पठत्येकमपि श्लोकं पापात्स परिमुच्यते ॥ ६ ॥

जो जन नित्य विविध प्रकार के पाप करता है, वह (भी) इस काव्य का एक ही श्लोक पढ़ने से सब पापों से छूट जाता है ॥ ६ ॥

वाचकाय च दातव्यं वस्त्रं धेनुं हिरण्यकम् ।
वाचके परितुष्टे तु तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ७ ॥

इस काव्य के सुनाने वाले को कपड़े, गौ और सुवर्ण देना चाहिये। क्योंकि उसके सन्तुष्ट होने से समस्त देवता सन्तुष्ट होते हैं ॥ ७ ॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः ।
सपुत्रपौत्रो लोकेस्मिन् प्रेत्य चेह महीयते ॥ ८ ॥

इस आयुर्वर्द्धक रामायण नामक आख्यान का पाठ करने से, मनुष्य इस लोक में पुत्र पौत्रों को पाता है और अन्त में स्वर्ग में भी उसकी प्रतिष्ठा (सम्मान) होती है ॥ ८ ॥

रामायणं गोविसर्गे मध्यान्हे वा समाहितः ।
सायान्हे वाऽपराह्णे च वाचयन्नावसीदति ॥ ९ ॥

जो नर, श्रीमद्रामायण को सवेरे (गौ चरने के लिये छोड़ने के समय) दोपहर पीछे अथवा सायङ्काल के समय, सावधानता पूर्वक पढ़ता है, वह कभी दुःख नहीं पाता ॥ ६ ॥

अयोध्याऽपि पुरीरम्या शून्या वर्षगणान्बहून् ।
ऋषभं प्राप्य राजानं निवासमुपयास्यति ॥ १० ॥

अयोध्या नगरी भी बहुत दिनों तक खाली पड़ी रहेगी । तदनन्तर उसे ऋषभ नामक राजा फिर से बसावेंगे ॥ १० ॥

एतदाख्यानमायुष्यं सभविष्यं सहोत्तरम् ।
कृतवान्प्रचेतसः पुत्रस्तद्ब्रह्माप्यन्वमन्यत ॥ ११ ॥

इति एकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

भविष्योत्तर सहित यह आयुष्य का बढ़ाने वाला आख्यान प्रचेता के पुत्र श्रीवाल्मीकि जी का रचा हुआ है और (सर्वथा वेदार्थ प्रतिपादक होने के कारण) ब्रह्मा जी ने भी इसे माना है ॥ ११ ॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ इति ॥ हरि ओं तत्सत् ॥

रामं रामनुजं सीतां भरतं भरतानुजं ।
सुग्रीवं वायुसूनुं च प्रणमामि पुनः पुनः ॥
रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतयेनमः ॥

मङ्गलं लेखकानां च पाठकानां च मङ्गलं ।
मङ्गलं सर्वलोकानां भूमौ भूपति मङ्गलम् ॥

[ता० १-१-२६ से आरम्भ कर ३१-१२-१९२६ को अर्थ लिखना समाप्त किया]

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—*—

श्रीमद्रामायण अनुष्ठानविधि

(१)

"बाले" वंशकरः प्रोक्तो
"अयोध्या" व्याधिनाशनः ।
"अरण्येऽप्यभयं" कर्त्ता
"किष्किन्धा" मित्रदायकः ॥

(२)

"सुन्दर" शोकहर्त्ता च
"युद्ध" शत्रुप्रणाशकः ।
"उत्तर" श्रवणात् पुंसां
नोत्तरं विद्यतेफलम् ॥

पाठक्रम—पुनर्वसु नक्षत्र जिस दिन हो, उस दिन से श्री-मद्रामायण का पाठ आरम्भ करना चाहिये। प्रति दिन २० सर्ग के हिसाब से पाठ कर के पुष्य नक्षत्र में राज्याभिषेक कर के पारायण समाप्त करे। प्रायः भावुकजन उत्तरकाण्ड का पारायण घर में बैठ कर नहीं करते।

विशेष—पाठ करने के पूर्व हनुमान जी सहित भगवान् सीता राम का षोडशोपचार पूजन करे और जब तक पाठ करे; तब तक (अपनी दहिनी ओर) एक घृत का दीपक, केसर मिश्रित चन्दन से किसी ताम्रपात्र पर षट्कोण यंत्र बना, उस पर चाँवल बिछा कर, उन चाँवलों पर रख दें। पाठ समाप्त होने पर प्रति दिन उस पाठफल को सीतारामार्पण कर दें। जिस दिन पट्टाभिषेक

हो, उस दिन यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन करावे और श्रीहनुमत्प्रीत्यर्थ वानरों को *गुरधानी खिलावे।

पाठ करते समय उत्तर या पूर्वाभिमुख बैठे और जितने दिनों पाठ करे, उतने दिनों ब्रह्मचर्य से रहे। (अर्थात् भूमि पर शयन। एक वार हविष्यान्न भोजन। मलमूत्र विसर्जन कर यथाविधि शरीर शुद्धि। स्त्रीप्रसङ्ग न करे। जूते न पहिने। बाल न बनवावे। मिथ्याभाषण न करे। म्लेच्छ एवं अस्पृश्यों का स्पर्श न करे। पवित्रता से रहे।)

नोट—यह साधारण पारायण विधि है। विशेष विधि उपयुक्त पात्र मिलने पर बतलायी जा सकती है।

---

* भुँजे हुए गेहुओं में गुड़ मिलाने से गुरधानी बनती है।

अथ श्रीमद्रामायणमहात्म्य लिख्यते
प्रथमोध्यायः

॥ श्रीमतेरामचन्द्राय नमः ॥

श्रीरामः शरणं समस्तजगतां रामं विना का गती
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं रामाय कार्यं नमः ।
रामात्त्रस्यति कालभीमभुजगो रामस्य सर्वं वशे
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे राम त्वमेवाश्रयः ॥ १ ॥

चित्रकूटालयं राममिन्दिरानन्दमन्दिरम् ।
वन्दे च परमानन्दं भक्तानामभयप्रदम् ॥ २ ॥

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः ।
तमादिदेवं श्रीरामं विशुद्धं परमं भजे ॥ ३ ॥

॥ ऋषय उचुः ॥

भगवन्सर्वमाख्यातं यत्पृष्टं विदुषा त्वया ।
संसारपाशबद्धानां दुःखानि सुबहूनि च ॥ ४ ॥

एतत्संसारपाशस्य छेदकः कतमः स्मृतः ।
कलौ वेदोक्तमार्गाश्च नश्यन्तीति त्वयोदितम् ॥ ५ ॥

अधर्मनिरतानां च यातनाश्च प्रकीर्तिताः ।
घोरे कलियुगे प्राप्ते वेदमार्गबहिष्कृते ॥ ६ ॥

पाषण्डत्वं प्रसिद्धं वै तत्सर्वं परिकीर्तितम् ।
कामार्ता ह्रस्वदेहाश्च लुब्धा अन्योन्यतत्पराः ॥ ७ ॥

कलौ सर्वे भविष्यन्ति स्वल्पराया बहुप्रजाः ।
स्त्रियः स्वपोषणपरा वेश्यालावण्यशोभिताः ॥ ८ ॥

पतिवाक्यमनादृत्य सदान्यगृहतत्पराः ।
दुःशीला दुष्टशीलेषु करिष्यन्ति सदा स्पृहाम् ॥ ९ ॥

असंवृत्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्गनाः ।
परुषानृतभाषिण्यो देहसंस्कारवर्जिताः ॥ १० ॥

वाचालश्च भविष्यन्ति कलौ प्राप्ते च योषितः ।
भिक्षवश्चापि मित्रादिस्नेहसंबन्धयन्त्रिताः ॥ ११ ॥

अन्योपाधिनिमित्तेन शिष्यानुग्रहलोलुपाः ।
पाखण्डालापनिरताः पाषण्डजनसङ्गिनः ।
यदा द्विजा भविष्यन्ति तदा वृद्धिं गतः कलिः ॥ १२ ॥

विप्रवंशोद्भवश्रेष्ठ उपवीतं शिखां त्यजेत् ।
कथं तन्निष्कृतिं याति वद सूत महामते ॥ १३ ॥

राक्षसाः कलिमाश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु ।
परस्परं विरुध्यन्ति भगवद्धर्मबन्धकाः ॥ १४ ॥

द्विजनुष्ठानरहिताः भगवद्धर्मवर्जिताः ।
कलौ विप्रा भविष्यन्ति कञ्चुकोष्णीषधारिणः ॥ १५ ॥

घोरे कलियुगे ब्रह्मञ्जनानां पापकर्मणाम् ।
मनःशुद्धिविहीनानां निष्कृतिश्च कथं भवेत् ॥ १६ ॥

शूद्रहस्तोदकं पक्वं शूद्रैश्च सह भोजनम् ।
शौद्रमन्नं तथाश्नीयात्कथं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ १७ ॥

यथा तुष्यति देवेशो देवदेवो जगद्गुरुः ।
तन्नो वदस्व सर्वज्ञ सूत कारुण्यवारिधे ॥ १८ ॥

यद् सूत मुनिश्रेष्ठ सर्वमेतदशेषतः ।
कथं न जायते तुष्टिः सूत त्वद्वचनामृतात् ॥ १६ ॥

॥ सूत उवाच ॥

शृणुध्वमृषयः सर्वे यदिदं वो वदाम्यहम् ।
गीतं सनत्कुमाराय नारदेन महात्मना ॥ २० ॥

रामायणमहाकाव्यं सर्ववेदार्थसंमतम् ।
सर्वपापप्रशमनं दुष्टग्रहनिवारणम् ॥ २१ ॥

दुःस्वप्ननाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
रामचन्द्रगुणोपेतं सर्वकल्याणसिद्धिदम् ॥ २२ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुभूतं महाफलम् ।
अपूर्वपुण्यफलदं शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ २३ ॥

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः ।
श्रुत्वैतदार्षं दिव्यं हि काव्यं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ २४ ॥

रामायणे प्रवर्तन्ते सज्जना ये जगद्धिताः ।
त एव कृतकृत्याश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ॥ २५ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं च द्विजोत्तमाः ।
श्रोतव्यं च सदा भक्त्या रामाख्यानं तदा नृभिः ॥ २६ ॥

पुरार्जितानि पापानि नाशमायान्ति यस्य वै ।
रामायणे महाप्रीतिस्तस्य वै भवति ध्रुवम् ॥ २७ ॥

रामायणे वर्तमाने पापपाशेन यन्त्रितः ।
अनादृत्यान्यथागाथासक्तबुद्धिः प्रवर्तते ॥ २८ ॥

तस्मात्तु रामायणनामधेयं
परं तु काव्यं शृणुत द्विजेन्द्राः ।

यस्मिन्श्रुते जन्मजरादिनाशो
भवत्यदोषः स नरोऽच्युतः स्यात् ॥ २६ ॥
वरं वरेण्यं वरदं च श्राव्यं निजप्रभाभासितसर्वलोकम् ।
संकल्पितार्थप्रमदादिकाव्यं श्रुत्वा व्रजेन्मोक्षपदं मनुष्यः ॥ ३० ॥
ब्रह्मेशविष्ण्वाख्यशरीरभेदैर्विश्वं सृजत्यत्ति च पाति यश्च ।
तमादिदेवं परमं परेशमाधाय चेतस्युपयाति मुक्तिम् ॥ ३१ ॥
योनामजात्यादिविकल्पहीनः परः पराणां परमः परः स्यात् ।
वेदान्तवेद्यः स्वरुचा प्रकाशः स वीक्ष्यते सर्वपुराणवेदैः ॥ ३२ ॥
ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ३३ ॥
इत्येवं शृणुयाद्यस्तु श्रीरामचरितं शुभम् ।
सर्वान्कामानवाप्नोति परत्रामुत्र चोत्तमान् ॥ ३४ ॥
त्रिसप्तकुलसंयुक्तः सर्वपापविवर्जितः ।
प्रयाति रामभवनं यत्र गत्वा न शोच्यते ॥ ३५ ॥
चैत्रे माघे कार्तिके च सिते पक्षे च वाचयेत् ।
नवम्यहनि तस्मात्तु श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ३६ ॥
रामायणं चादिकाव्यं स्वर्गमोक्षप्रदायकम् ॥ ३७ ॥
तस्मात्कलियुगे घोरे सर्वधर्मबहिष्कृते ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ३८ ॥
रामायणपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ।
ते नराः कृतकृत्याश्च न कलिर्बाधते हि तान् ॥ ३९ ॥
कथा रामायणस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे ।
तद्गृहं तीर्थरूपं हि दुष्टानां पापनाशनम् ॥ ४० ॥

तावत्पापानि देहेऽस्मिन्निवसन्ति तपोधनाः ।
यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्रामायणं नरैः ॥ ४१ ॥

दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्रामायणोद्भवा ।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ॥ ४२ ॥

ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ।
यस्य श्रवणमात्रेण सौदासोऽपि विमोचितः ॥ ४३ ॥

गौतमशापतः प्राप्तः सौदासो राक्षसीं तनुम् ।
रामायणप्रभावेन विमुक्तिं प्राप्तवान्पुनः ॥ ४४ ॥

यस्त्वेतच्छृणुयाद्भक्त्या रामभक्तिपरायणः ।
स मुच्यते महापापैरुपपातकराशिभिः ॥ ४५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसम्वादे
रामायणमाहात्म्ये प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ ऋषय ऊचुः ॥

कथं सनत्कुमाराय देवर्षिर्नारदो मुनिः ।
प्रोक्तवान्सकलान्धर्मान्कथं च मिलितावुभौ ॥ १ ॥

कस्मिन्क्षेत्रे स्थितौ तात तावुभौ ब्रह्मवादिनौ ।
यदुक्तं नारदेनास्मै तन्नो ब्रूहि महामुने ॥ २ ॥

॥ सूत उवाच ॥

सनकाद्या महात्मानो ब्रह्मणस्तनयः स्मृताः ।
निर्ममा निरहङ्काराः सर्वे ते ह्यूर्ध्वरेतसः ॥ ३ ॥

तेषां नामानि वक्ष्यामि सनकश्च सनन्दनः ।
सनत्कुमारश्च तथा सनातन इति स्मृतः ॥ ४ ॥

विष्णुभक्ता महात्मानो ब्रह्मध्यानपरायणाः ।
सहस्रसूर्यसङ्काशाः सत्यवन्तो मुमुक्षवः ॥ ५ ॥

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा सनकाद्या महौजसः ।
मेरुश्रृङ्गं समाजग्मुर्वीक्षितुं ब्रह्मणः सभाम् ॥ ६ ॥

तत्र गङ्गां महापुण्यां विष्णुपादोद्भवां नदीम् ।
निरीक्ष्य स्नातुमुद्युक्ताः सीताख्यां प्रथितौजसः ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विप्रा देवर्षिर्नारदो मुनिः ।
आजगामोच्चरन्नाम हरेर्नारायणादिकम् ॥ ८ ॥

नारायणाच्युतानन्त वासुदेव जनार्दन ।
यज्ञेश यज्ञपुरुष राम विष्णो नमोस्तु ते ॥ ९ ॥

इत्युच्चरन्हरेर्नाम पावयन्निखिलं जगत् ।
आजगाम स्तुवन्गङ्गां मुनिर्लोकैकपावनीम् ॥ १० ॥

अथायान्तं समुद्वीक्ष्य सनकाद्या महौजसः ।
यथार्हामर्हणां चक्रुर्ववन्दे सोऽपि तान्मुनीन् ॥ ११ ॥

अथ तत्र सभामध्ये नारायणपरायणम् ।
सनत्कुमारः प्रोवाच नारदं मुनिपुङ्गवम् ॥ १२ ॥

॥ श्रीसनत्कुमार उवाच ॥

सर्वज्ञोऽसि महाप्राज्ञ मुनिमानद नारद ।
हरिभक्तिपरो यस्मात्त्वत्तो नास्त्यपरोऽधिकः ॥ १३ ॥

येनेदमखिलं जातं जगत्स्थावरजंगमम् ।
गङ्गा पादोद्भवा यस्य कथं स ज्ञायते हरिः ।
अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

नमः पराय देवाय परात्परतराय च ।
परात्परनिवासाय सगुणायागुणाय च ॥ १५ ॥

ज्ञानाज्ञानस्वरूपाय धर्माधर्मस्वरूपिणे ।
विद्याविद्यास्वरूपाय स्वस्वरूपाय ते नमः ॥ १६ ॥

यो दैत्यहन्ता नरकान्तकश्च भुजाग्रमात्रेण दधार गोत्रम् ।
भूभारविच्छेदविनोदकामं नमामि देवं रघुवंशदीपम् ॥ १७ ॥

आविर्भूतश्चतुर्धा यः कपिभिः हरिवारितः ।
हतवान्राक्षसानीकं रामं दाशरथिं भजे ॥ १८ ॥

एवमादीन्यनेकानि चरितानि महात्मनः ।
तेषां नामानि संख्यातुं शक्यन्ते नाब्दकोटिभिः ॥ १९ ॥

महिमानं तु यन्नाम्नः पारं गन्तुं न शक्यते ।
मनवोऽपि मुनीन्द्राश्च कथं तं क्षुल्लको भजे ॥ २० ॥

यन्नामश्रवणेनापि महापातकिनोऽपि ये ।
पावनत्वं प्रपद्यन्ते कथं तोष्यामि तुच्छधीः ॥ २१ ॥

रामायणपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ।
त एव कृतकृत्याश्च तेषां नित्यं नमो नमः ॥ २२ ॥

ऊर्जे मासे सिते पक्षे चैत्रे माघे तथैव च ।
नवम्यह्नि श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ २३ ॥

गौतमशापतः प्राप्तः सौदामा राक्षसीं तनुम् ।
रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवान्पुनः ॥ २४ ॥

॥ श्रीसनत्कुमार उवाच ॥

रामायणं केन प्रोक्तं सर्वधर्मफलप्रदम् ।
शप्तः कथं गौतमेन सौदासो मुनिसत्तमः ।
रामायणप्रभावेन कथं भूयो विमोचितः ॥ २५ ॥

अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते चेदस्ति करुणा मयि ।
सर्वमेतदशेषेण मुने नो वक्तुमर्हसि ।
शृण्वतां वदतां चैव कथा पापप्रणाशिनी ॥ २६ ॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

शृणु रामायणं विप्र यद्वाल्मीकिमुखोद्गतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ २७ ॥

आस्ते कृतयुगे विप्रो धर्मकर्मविशारदः ।
सोमदत्त इति ख्यातो नाम्ना धर्मपरायणः ॥ २८ ॥

विप्रस्तु गौतमाख्येन मुनिना ब्रह्मवादिना ।
श्रुतवान्सर्वधर्मान्वै गङ्गातीरे मनोरमे ॥ २९ ॥

पुराणशास्त्रकथनैस्तेनासौ बोधितोऽपि च ।
श्रुतवान्सर्वधर्मान्वै तेनोक्तानखिलानपि ॥ ३० ॥

कदाचित्परमेशस्य परिचर्यापरोऽभवत् ।
उपस्थितायापि तस्मै प्रणामं नह्यकारि च ॥ ३१ ॥

स तु शान्तो महाबुद्धिर्गौतमस्तेजसां निधिः ।
मयोदितानि कर्माणि करोतीति मुदं ययौ ॥ ३२ ॥

यत्स्वर्चितो महादेवः शिवः सर्वजगद्गुरुः ।
गौतमश्चागतस्तत्र न चोत्तस्थौ ततो द्विजः ।
गुर्ववज्ञाकृतं पापं राक्षसत्वेन चोक्तवान् ॥ ३३ ॥

भगवान्सर्वधर्मज्ञः सर्वदर्शी सुरेश्वरः ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयानयकोविदम् ।
क्षमस्व भगवन्सर्वमपराधं कृतं मया ॥ ३४ ॥

॥ गौतम उवाच ॥

ऊर्जे मासे सिते पक्षे रामायणकथामृतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं भक्तिभावेन सादरम् ।
नात्यन्तिकं भवेदेतद्द्वादशाब्दं भविष्यति ॥ ३५ ॥

॥ विप्र उवाच ॥

केन रामायणं प्रोक्तं चरितानि तु कस्य वै ।
एतत्सर्वं महाप्राज्ञ संक्षेपाद्वक्तुमर्हसि ।
मनसा प्रीतिमापन्नो ववन्दे चरणौ गुरोः ॥ ३६ ॥

॥ गौतम उवाच ॥

शृणु रामायणं विप्र वाल्मीकिमुनिना कृतम् ।
तच्छ्रुत्वा मुच्यते पापात्स्वं रूपं पुनरेति सः ॥ ३७ ॥

येन रामावतारेण राक्षसा रावणादयः ।
हतास्तु देवकार्यार्थं चरितं तस्य त्वं शृणु ॥ ३८ ॥

कार्तिके च सिते पक्षे कथा रामायणस्य तु ।
नवम्यहनि श्रोतव्या सर्वपापप्रणाशिनी ॥ ३९ ॥

इत्युक्त्वा सर्वसंपन्नो गौतमः स्वाश्रमं ययौ ।
विप्रोऽपि दुःखमापन्नो राक्षसीं तनुमाश्रितः ॥ ४० ॥

क्षुत्पिपासावशादार्तो नित्यं क्रोधपरायणः ।
कृष्णसर्पद्युतिर्भीमो बभ्राम विजने वने ॥ ४१ ॥

मृगांश्च विविधांस्तत्र मनुष्यांश्च सरीसृपान् ।
विहगान्प्लवगांश्चैव प्रशस्तांस्तानभक्षयत् ॥ ४२ ॥

अस्थिभिर्बहुभिर्विप्राः पीतरक्तकलेवरैः ।
रक्ताद्रश्वेतकैश्चैव तेनासीद्भूर्भयङ्करी ॥ ४३ ॥

ऋतुत्रये स पृथिवीं शतयोजनविस्तराम् ।
कृत्वातिदूषितां पश्चाद्वनान्तरमगात्पुनः ॥ ४४ ॥

तत्रापि कृतवान्नित्यं नरमांसाशनं तदा ।
जगाम नर्मदातीरे सर्वलोकभयङ्करः ॥ ४५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः कश्चिद्विप्रोऽतिधार्मिकः ।
कलिङ्गदेशसंभूतो नाम्ना गर्ग इति श्रुतः ॥ ४६ ॥

वहन्गङ्गाजलं स्कन्धे स्तुवन्विश्वेश्वरं प्रभुम् ।
गायन्नामानि रामस्य समायातोऽतिहर्षितः ॥ ४७ ॥

तमागतं मुनिं दृष्ट्वा सुदासो नाम राक्षसः ।
प्राप्ता नः पारणेत्युक्त्वा भुजावुद्यम्य तं ययौ ॥ ४८ ॥

तेन कीर्तितनामानि श्रुत्वा दूरेऽव्यवस्थितः ।
अशक्तस्तं द्विजं हन्तुमिदमूचे स राक्षसः ॥ ४९ ॥

॥ राक्षस उवाच ॥

अहो भद्र महाभाग नमस्तुभ्यं महात्मने ।
नामस्मरणमाहात्म्याद्राक्षसा अपि दूरगाः ॥ ५० ॥

मयाप्रभक्षिताः पूर्वं विप्राः कोटिसहस्रशः ।
नामप्रग्रहणं विप्र रक्षति त्वां महाभयात् ॥ ५१ ॥

नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि भो वयम् ।
परां शान्तिं समापन्ना महिमा चाच्युतस्य कः ॥ ५२ ॥

सर्वथा त्वं महाभाग रागादिरहितो द्विजः ।
रामकथाप्रभावेन पाह्यस्मात्पातकाधमात् ॥ ५३ ॥

गुर्ववज्ञा मया पूर्वं कृत्वा च मुनिसत्तम ।
कृतश्चानुग्रहः पश्चाद्गुरुणा प्रोक्तवानिदम् ॥ ५४ ॥

वाल्मीकिमुनिना पूर्वं कथा रामायणस्य च ।
ऊर्जे मासे सिते पक्षे श्रोतव्या च प्रयत्नतः ॥ ५५ ॥

गुरुणापि पुनः प्रोक्तं रम्यं तु शुभदं वचः ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ५६ ॥

तस्माद्ब्रह्मन्महाभाग सर्वशास्त्रार्थकोविद ।
कथाश्रवणमात्रेण पाह्यस्मात्पापकर्मणः ॥ ५७ ॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

इत्याख्यातं राक्षसेन राममाहात्म्यमुत्तमम् ।
निशम्य विस्मयाविष्टो बभूव द्विजसत्तमः ॥ ५८ ॥

ततो विप्रः कृपाविष्टो रामनामपरायणः ।
सुदामाराक्षसं नाम्ना इदं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ५९ ॥

॥ विप्र उवाच ॥

राक्षसेन्द्र महाभाग मतिस्ते विमलागता ।
अस्मिन्नूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ॥ ६० ॥

शृणु त्वं राममाहात्म्यं रामभक्तिपरात्मना ।
रामध्यानपराणां च कः समर्थः प्रबाधितुम् ॥ ६१ ॥

रामभक्तिपरा यत्र ब्रह्मा विष्णुः सदाशिवः ।
यत्र देवाश्च सिद्धाश्च रामायणपरा नराः ॥ ६२ ॥

तस्मादूर्जे सिते पक्षे रामायणकथा शृणु ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं सावधानः सदा भव ॥ ६३ ॥

कथाश्रवणमात्रेण राक्षसत्वमपाकृतम् ।
विसृज्य राक्षसं भावमभवद्देवतोपमः ॥ ६४ ॥

कोटिसूर्यप्रतीकाशमारूढो विबुधर्षभः ।
शङ्खचक्रगदापाणी रामभद्रः समागतः ।
स्तुवंस्तु ब्राह्मणं सम्यग्जगाम हरिमन्दिरम् ॥ ६५ ॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यमूर्जे मासि च कीर्त्यते ॥ ६६ ॥

यन्नामस्मरणादेव महापातककोटिभिः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो नरो याति परां गतिम् ॥ ६७ ॥

रामायणेति यन्नाम सकृदप्युच्यते यदा ।
तदैव पापनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ६८ ॥

ये पठन्तीदमाख्यानं भक्त्या शृण्वन्ति वा नराः ।
गङ्गास्नानफलं पुण्यं तेषां सञ्जायते ध्रुवम् ॥ ६९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे श्रीनारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये राक्षसविमोचनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ श्रीसनत्कुमार उवाच ॥

अहो चित्रमिदं प्रोक्तं मुनिमानद नारद ।
रामायणस्य माहात्म्यं पुनस्त्वं वद विस्तरात् ॥ १ ॥

अन्यमासस्य माहात्म्यं कथयस्व प्रसादतः ।
कथं नो जायते तुष्टिर्मुने त्वद्वचनामृतात् ॥ २ ॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

सर्वे यूयं महाभागाः कृतार्था नात्र संशयः ।
यतः प्रभावं रामस्य भक्तितः श्रोतुमुद्यताः ॥ ३ ॥

माहात्म्यश्रवणं यस्य राघवस्य कृतात्मनाम् ।
दुर्लभं प्राहुरित्येतन्मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥

शृणुध्वमृषयश्चित्रमितिहासं पुरातनम् ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वरोगविनाशनम् ॥ ५ ॥

आसीत्पुरा द्वापरे च सुमतिर्नाम भूपतिः ।
सोमवंशोद्भवः श्रीमान्सप्तद्वीपैकनायकः ॥ ६ ॥

धर्मात्मा सत्यसंपन्नः सर्वसंपद्विभूषितः ।
सदा रामकथासेवी रामपूजापरायणः ॥ ७ ॥

रामपूजापराणां च शुश्रूषुर्निरहंकृतिः ।
पूज्येषु पूजानिरतः समदर्शी गुणान्वितः ॥ ८ ॥

सर्वभूतहितः शान्तः कृतज्ञः कीर्तिमान्नृपः ।
तस्य भार्या महाभागा सर्वलक्षणसंयुता ॥ ९ ॥

पतिव्रता पतिप्राणा नाम्ना सत्यवती शुभा ।
तावुभौ दंपती नित्यं रामायणपरायणौ ॥ १० ॥

अन्नदानरतौ नित्यं जलदानपरायणौ ।
तडागारामवाप्यादीनसंख्यातान्वितेनतुः ॥ ११ ॥

सोऽपि राजा महाभागो रामायणपरायणः ।
वाचयेच्छृणुयाद्वापि भक्तिभावेन भावितः ॥ १२ ॥

एवं रामपरं नित्यं राजानं धर्मकोविदम् ।
तस्य प्रियां सत्यवतीं देवा अपि सदास्तुवन् ॥ १३ ॥

त्रिलोके विश्रुतौ तौ च दम्पत्यत्यन्तधार्मिकौ ।
आययौ बहुभिः शिष्यैर्द्रष्टुकामो विभाण्डकः ॥ १४ ॥

विभाण्डकं मुनिं दृष्ट्वा समाम्नातो जनेश्वरः ।
प्रत्युद्ययौ सपत्नीकः पूजाभिर्बहुविस्तरम् ॥ १५ ॥

कृतातिथ्यक्रियं शान्तं कृतासनपरिग्रहम् ।
नीचासनगतो भूपः प्राञ्जलिर्मुनिमब्रवीत् ॥ १६ ॥

॥ राजोवाच ॥

भगवन्कृतकृत्योऽस्मि तवात्रागमनेन भोः ।
सतामागमनं सन्तः प्रशंसन्ति सुखावहम् ॥ १७ ॥

यत्र स्यान्महतां प्रेम तत्र स्युः सर्वसम्पदः ।
तेजः कीर्तिर्धनं पुत्रा इति प्राहुर्विपश्चितः ॥ १८ ॥

तत्र वृद्धिं गमिष्यन्ति श्रेयांस्यनुदिनं मुने ।
यत्र सन्तः प्रकुर्वन्ति महतीं करुणां प्रभो ॥ १९ ॥

यो मूर्ध्नि धारयेद्ब्रह्मन्विप्रपादतलोदकम् ।
स स्नातः सर्वतीर्थेषु पुण्यवान्नात्र संशयः ॥ २० ॥

मम पुत्राश्च दाराश्च संपत्त्वयि समर्पिता ।
समाज्ञापय शान्तात्मन्ब्रह्मन्किं करवाणि ते ॥ २१ ॥

विनयावनतं भूपं तं निरीक्ष्य मुनीश्वरः ।
स्पृशन्करेण राजानं प्रत्युवाचातिहर्षितः ॥ २२ ॥

॥ ऋषिरुवाच ॥

राजन्यदुक्तं भवता तत्सर्वं त्वत्कुलोचितम् ।
विनयावनताः सर्वे परं श्रेयो भजन्ति हि ॥ २३ ॥

प्रीतोस्मि तव भूपाल सन्मार्गे परिवर्तिनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाभाग यत्प्रक्ष्यामि तदुच्यताम् ॥ २४ ॥

पुराणा बहवः सन्ति हरिसन्तुष्टिकारकाः ।
माघे मास्यप्युद्यतोसि रामायणपरायणः ॥ २५ ॥

तव भार्यापि साध्वीयं नित्यं रामपरायणा ।
किमर्थमेतद्वृत्तान्तं यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ २६ ॥

॥ राजोवाच ॥

शृणुष्व भगवन्सर्वं यत्पृच्छसि वदामि तत् ।
आश्चर्यभूतं लोकानामावयोश्चरितं मुने ॥ २७ ॥

अहमासं पुरा शूद्रो मालिनिर्नाम सत्तम ।
कुमार्गनिरतो नित्यं सर्वलोकाहिते रतः ॥ २८ ॥

पिशुनो धर्मविद्वेषी देवद्रव्यापहारकः ।
महापातकिसंसर्गी देवद्रव्योपजीविकः ॥ २९ ॥

गोघ्नश्च ब्रह्महा चौरो नित्यं प्राणिवधे रतः ।
नित्यं निष्ठुरवक्ता च पापी वेश्यापरायणः ॥ ३० ॥

किञ्चित्काले स्थितो ह्येवमनादृत्य महद्वचः ।
सर्वबन्धुपरित्यक्तो दुःखी वनमुपागमम् ॥ ३१ ॥

मृगमांसाशनो नित्यं तथा मार्गनिरोधकृत् ।
एकाकी दुःखबहुलो ह्यवसं निर्जने वने ॥ ३२ ॥

एकदा क्षुत्परिश्रान्तो निद्राघूर्णः पिपासितः ।
वसिष्ठस्याश्रमं दैवादपश्यं विजने वने ॥ ३३ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णं तत्समीपे महत्सरः ।
पर्यन्ते वनपुष्पौघैश्छादितं तन्मुनीश्वरैः ॥ ३४ ॥

अपिबं तत्र पानीयं तत्तटे विगतश्रमः ।
उन्मूल्य वृक्षमूलानि मया क्षुच्च निवारिता ॥ २५ ॥

वसिष्ठस्याश्रमे तत्र निवासं कृतवानहम् ।
शीर्णस्फाटिकसंधानं तत्र चाहमकारिषम् ।
पर्णैस्तृणैश्च काष्ठैश्च गृहं सम्यक्प्रकल्पितम् ॥ २६ ॥

तत्राहं व्याधसत्त्वस्थो हत्वा बहुविधान्मृगान् ।
आजीवं वर्तनं कृत्वावत्सराणां च विंशतिम् ॥ २७ ॥

अथैकदागता साध्वी विन्ध्यदेशसमुद्भवा ।
निषादकुलसम्भूता नाम्ना कालीति विश्रुता ॥ २८ ॥

बन्धुवर्गैः परित्यक्ता दुःखिता जीर्णविग्रहा ।
ब्रह्मन्क्षुत्तृट्परिश्रान्ता शोचन्ती स्वक्रियां क्रियाम् ॥ २९ ॥

दैवयोगात्समायाता भ्रमन्ती विजने वने ।
मासि ग्रीष्मे च तापार्ता ह्यन्तस्तापप्रपीडिता ॥ ३० ॥

इमां दुःखवतीं दृष्ट्वा जाता मे विपुला घृणा ।
मया दत्तं जलं चास्यै मांसं वन्यफलं तथा ॥ ३१ ॥

गतश्रमा च पृष्टा सा मया ब्रह्मन्यथातथम् ।
न्यवेदयत्स्वकर्माणि तानि शृणु महामुने ॥ ३२ ॥

इयं काली तु नाम्नैव निषादकुलसम्भवा ।
दारिकस्य सुता विप्र न्यवसद्विन्ध्यपर्वते ॥ ३३ ॥

परस्वहारिणी नित्यं सदा पैशुन्यवादिनी ।
बन्धुवर्गैः परित्यक्ता यतो हतवती पतिम् ॥ ३४ ॥

कान्तारे विजने ब्रह्मन्मत्समीपमुपागता ।
इत्येवं स्वकृतं कर्म सा च मह्यं न्यवेदयत् ॥ ३५ ॥

वसिष्ठस्याश्रमे पुण्ये अहं चेयं च वै मुने ।
दम्पतिभावमाश्रित्य स्थितौ मांसाशनौ सदा ॥ ४६ ॥

उञ्छवृत्त्यर्थं गतौ चैव वसिष्ठस्याश्रमे तदा ।
दृष्ट्वा तत्र समाजं वै देवर्षीणां च सत्रकम् ।
रामायणपरा विप्रा माघे दृष्टा दिनेदिने ॥ ४७ ॥

निराहारौ च विश्रान्तौ क्षुत्पिपासाप्रपीडितौ ।
यदृच्छया गतौ तत्र वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥ ४८ ॥

रामायणकथां श्रोतुं नवाह्ना चैव भक्तितः ।
तत्काल एव पञ्चत्वमावयोरभवन्मुने ॥ ४६ ॥

कर्मणा तेन हृष्टात्मा भगवान्मधुसूदनः ।
स्वदूतान्प्रेषयामास मदाहरणकारणात् ॥ ५० ॥

आरोप्यावां विमाने तु ययुश्च परमं पदम् ।
आवां समीपमापन्नौ देवदेवस्य चक्रिणः ॥ ५१ ॥

भुक्तवन्तौ महाभोगान्यावत्कालं शृणुष्व मे ।
युगकोटिसहस्राणि युगकोटिशतानि च ॥ ५२ ॥

उषित्वा रामभवने ब्रह्मलोकमुपागतौ ।
तावत्कालं च तत्रापि स्थित्वेशपदमागतौ ॥ ५३ ॥

तत्रापि तावत्कालं च भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् ।
ततः पृथ्वीशतां प्राप्तौ क्रमेण मुनिसत्तम ॥ ५४ ॥

अत्रापि सम्पदतुला रामायणप्रसादतः ।
अनिच्छया कृतेनापि प्राप्तमेवंविधं मुने ॥ ५५ ॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।
भक्तिभावेन धर्मात्मञ्जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ५६ ॥

अवशेनापि यत्कर्म कृतं तु सुमहाफलम् ।
ददाति नृणां विप्रेन्द्र रामायणप्रसादतः ॥ ५७ ॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

एतत्सर्वं निशम्यासौ विभाण्डकमुनीश्वरः ।
अभिवन्द्य महीपालं प्रययौ स्वं तपोवनम् ॥ ५८ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा देवदेवस्य चक्रिणः ।
रामायणकथा चैषा कामधेनूपमा स्मृता ॥ ५९ ॥

माघे मासे सिते पक्षे रामाख्यानं प्रयत्नतः ।
नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥ ६० ॥

य इदं पुण्यमाख्यानं सर्वपापप्रणाशनम् ।
वाचयेच्छृणुयाद्वापि रामे भक्तः स जायते ॥ ६१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे
रामायणमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ।

॥ श्रीनारद उवाच ॥

अन्यमासे प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं सुसमाहिताः ।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिवारणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषिताम् ।
समस्तकामफलदं सर्वव्रतफलप्रदम् ॥ २ ॥

दुःस्वप्ननाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
रामायणस्य माहात्म्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ३ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पठतां शृण्वतां चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ४ ॥

विन्ध्याटव्यामभूदेकः कलिको नाम लुब्धकः ।
परदारपरद्रव्यहरणे सन्ततं रतः ॥ ५ ॥

परनिन्दापरो नित्यं जन्तुपीडाकरस्तथा ।
हतवान्ब्राह्मणान्गाश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥
देवस्वहरणे नित्यं परस्वहरणे तथा ॥ ६ ॥

तेन पापान्यनेकानि कृतानि सुमहान्ति च ।
न तेषां शक्यते वक्तुं संख्या वत्सरकोटिभिः ॥ ७ ॥

स कदाचिन्महापापो जन्तूनामन्तकोपमः ।
सौवीरनगरं प्राप्तः सर्वैश्वर्यसमन्वितम् ॥ ८ ॥

योषिद्भिर्भूषिताभिश्च सरोभिर्निर्मलोदकैः ।
अलंकृतं विपणिभिर्ययौ देवपुरोपमम् ॥ ९ ॥

तस्योपवनमध्यस्थं रम्यं केशवमन्दिरम् ॥
छादितं हेमकलशैर्दृष्ट्वा व्याधो मुदं ययौ ॥ १० ॥

हरामि कलशान्स्वर्णान्बहूनीति विनिश्चितः ।
जगाम रामभवनं कीनाशश्चौर्यलोलुपः ॥ ११ ॥

तत्रापश्यद्द्विजवरं शान्तं तत्त्वार्थकोविदम् ।
परिचर्यापरं विष्णोरुत्तङ्कं तपसो निधिम् ॥ १२ ॥

एकाकिनं दयालुं च निःस्पृहं ध्यानलोलुपम् ।
दृष्ट्वासौ लुब्धको मेने तं चौर्यस्यान्तरायिणम् ॥ १३ ॥

देवस्य द्रव्यजातं तु समादातुमना निशि ।
उत्तङ्कं हन्तुमारेभे विधृतासिर्मदोद्धतः ॥ १४ ॥

पादेनाक्रम्य तद्वक्षो जटाः संगृह्य पाणिना ।
हन्तुं कृतमतिं व्याधमुत्तङ्कः प्रेक्ष्य चाब्रवीत् ॥ १५ ॥

॥ उत्तङ्क उवाच ॥

भो भोः साधो वृथा मां त्वं हनिष्यसि निरागसम् ।
मया किमपराद्धं ते तद्वद त्वं च लुब्धक ॥ १६ ॥

कृतापराधिनो लोके हिंसां कुर्वन्ति यत्नतः ।
न हिंसन्ति वृथा सौम्य सज्जना अप्यराधिनम् ॥ १७ ॥

विरोधिष्वपि मूर्खेषु निरीक्ष्यावस्थितान्गुणान् ।
विरोधं नाधिगच्छन्ति सज्जनाः शान्तचेतसः ॥ १८ ॥

बहुधा बाध्यमानोऽपि यो नरः क्षमयान्वितः ।
[1]तमुत्तमं नरं प्राहुर्विष्णोः प्रियतरं तथा ॥ १९ ॥

[2]अहो विधिर्वै बलवान्बाधते बहुधा जनान् ।
तत्रापि साधून्बाधन्ते लोके वै दुर्जना जनाः ॥ २० ॥

अहो बलवती माया मोहयत्यखिलं जगत् ।
पुत्रमित्रकलत्राद्यैः सर्वं दुःखेन योज्यते ॥ २१ ॥

परद्रव्यापहारेण कलत्रं पोषितं च तत् ।
अन्ते तत्सर्वमुत्सृज्य एक एव प्रयाति वै ॥ २२ ॥

मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः ।
ममेदमिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा ॥ २३ ॥

यावदर्जयति द्रव्यं तावदेव हि बान्धवाः ।
धर्माधर्मौ सहैवास्तामिहामुत्र च नापरः ॥ २४ ॥

---

1 सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥

2 मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥

अर्जितं तु धनं सर्वे भुञ्जते बान्धवाः सदा ।
सर्वेष्वेकतमो मूढस्तत्पापफलमश्नुते ॥ २५ ॥

इति ब्रुवाणां तमृषिं विमृश्य भयविह्वलः ।
कलिकः प्राञ्जलिः प्राह क्षमस्वेति पुनःपुनः ॥ २६ ॥

तत्सङ्गस्य प्रभावेन हरिसन्निधिमात्रतः ।
गतपापो लुब्धकश्च सानुतापोऽभवद्ध्रुवम् ॥ २७ ॥

मया कृतानि कर्माणि महान्ति सुबहूनि च ।
तानि सर्वाणि नष्टानि विप्रेन्द्र तव दर्शनात् ॥ २८ ॥

अहं वै पापकृन्नित्यं महापापं समाचरम् ।
कथं मे निष्कृतिर्भूयात्कं यामि शरणं विभो ॥ २९ ॥

पूर्वजन्मार्जितैः पापैर्लुब्धकत्वमवाप्नवम् ।
अत्रापि पापजालानि कृत्वा कां गतिमाप्नुयाम् ॥ ३० ॥

इति वाक्यं समाकर्ण्य कलिकस्य महात्मनः ।
उत्तङ्को नाम विप्रर्षिर्वाक्यं चेदमथाब्रवीत् ॥ ३१ ॥

॥ उत्तङ्क उवाच ॥

साधु साधु महाप्राज्ञ मतिस्ते विमलोज्ज्वला ।
यस्मात्संसारदुःखानां नाशोपायमभीप्सति ॥ ३२ ॥

चैत्रे मासे सिते पक्षे कथा रामायणस्य च ।
नवाह्ना किल श्रोतव्या भक्तिभावेन सादरम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३३ ॥

तस्मिन्क्षणे कलिकोसौ लुब्धको वीतकल्मषः ।
रामायणकथां श्रुत्वा सद्यः पञ्चत्वमागतः ॥ ३४ ॥

उत्तङ्कः पतितं वीक्ष्य लुब्धकं तं दयापरः ।
एतद्दृष्ट्वा विस्मितश्च अस्तौषीत्कमलापतिम् ॥ ३५ ॥

कथां रामायणस्यापि श्रुत्वासौ वीतकल्मषः ।
दिव्यं विमानमारुह्य मुनिमेतदथाब्रवीत् ॥ ३६ ॥

॥ कलिक उवाच ॥

उत्तङ्क मुनिशार्दूल गुरुस्त्वं मम सुव्रत ।
विमुक्तस्त्वत्प्रसादेन महापातकसङ्कटात् ॥ ३७ ॥

ज्ञानं त्वदुपदेशान्मे सञ्जातं मुनिसत्तम ।
तेन मे पापजालानि विनष्टान्यतिवेगतः ॥ ३८ ॥

रामायणकथां श्रुत्वा मम त्वं मुक्तवान्मुने ।
प्रापितोऽस्मि त्वया यस्मात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ३९ ॥

त्वयाहं कृतकृत्योऽस्मि गुरुणा करुणात्मना ।
तस्मान्नतोऽस्मि ते विद्वन्यत्कृतं तत्क्षमस्व मे ॥ ४० ॥

इत्युक्त्वा देवकुसुमैर्मुनिश्रेष्ठमवाकिरत् ।
प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा नमस्कारं चकार सः ॥ ४१ ॥

ततो विमानमारुह्य सर्वकामसमन्वितम् ।
अप्सरोगणसङ्कीर्णं प्रपेदे हरिमन्दिरम् ॥ ४२ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्राः कथां रामायणस्य च ।
चैत्रे मासे सिते पक्षे श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ४३ ॥

नवाह्ना किल रामस्य रामायणकथामृतम् ॥ ४४ ॥

तस्माद्दृतुषु सर्वेषु हितकृद्धरिपूजकः ।
ईप्सितं मनसा यद्यत्तत्तदाप्नोत्यसंशयम् ॥ ४५ ॥

सनत्कुमार यत्पृष्टं तत्सर्वं गदितं मया ।
रामायणस्य माहात्म्यं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ४६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे
रामायणमाहात्म्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ सूत उवाच ॥

रामायणस्य माहात्म्यं श्रुत्वा प्रीतो मुनीश्वरः ।
सनत्कुमारः पप्रच्छ नारदं मुनिसत्तमम् ॥ १ ॥

॥ सनत्कुमार उवाच ॥

रामायणस्य माहात्म्यं कथितं वो मुनीश्वराः ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विधिं रामायणस्य च ॥ २ ॥

एतदपि महाभाग मुने तत्त्वार्थकोविद ।
कृपया परयाविष्टो यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

॥ नारद उवाच ॥

रामायणविधिं चैव शृणुध्वं सुसमाहिताः ।
सर्वलोकेषु विख्यातं स्वर्गमोक्षविवर्धनम् ॥ ४ ॥

विधानं तस्य वक्ष्यामि शृणुध्वं गदितं मया ।
रामायणकथां कुर्वे भक्तिभावेन भावितः ॥ ५ ॥

येन चीर्णेन पापानां कोटिकोटिः प्रणश्यति ।
चैत्रे माघे कार्तिके च पञ्चम्यामपि चारभेत् ॥ ६ ॥

संकल्पं तु ततः कुर्यात्स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।
नवस्वहःसु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ७ ॥

अद्यप्रभृत्यहं राम शृणोमि त्वत्कथामृतम् ।
प्रत्यहं पूर्णतामेतु तव राम प्रसादतः ॥ ८ ॥

प्रत्यहं दन्तसंशुद्धिं ह्यपामार्गस्य शाखया ।
कृत्वा स्नायीत विधिवद्रामभक्तिपरायणः ।
स्वयं च बन्धुभिः सार्धं शृणुयात्प्रयतेन्द्रियः ॥ ९ ॥

स्नानं कृत्वा यथाचारं दन्तधावनपूर्वकम् ।
शुक्लाम्बरधरः शुद्धो गृहमागत्य वाग्यतः ॥ १० ॥

प्रक्षाल्य पादावाचम्य स्मरन्नारायणं प्रभुम् ।
नित्यदेवार्चनं कृत्वा पश्चात्सङ्कल्पपूर्वकम् ॥ ११ ॥

रामायणपुस्तकं च अर्चयेद्भक्तिभावतः ।
आवाहनासनाद्यैश्च गन्धपुष्पादिभिर्व्रती ॥ १२ ॥

नमो नारायणायेति पूजयेद्भक्तितत्परः ।
एकवारं द्विवारं च त्रिवारं वापि शक्तितः ।
होमं कुर्यात्प्रयत्नेन सर्वपापनिवृत्तये ॥ १३ ॥

एवं यः प्रयतः कुर्याद्रामायणविधिं तथा ।
स याति विष्णुभवनं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥ १४ ॥

रामायणव्रतधरो धर्मकारी च सत्तमः ।
चाण्डालान्पतितांश्चैव वाङ्मात्रेणापि नालपेत् ॥ १५ ॥

नास्तिकान्भिन्नमर्यादान्निन्दकान्पिशुनांस्तथा ।
रामायणव्रतधरो वाङ्मात्रेणापि नालपेत् ॥ १६ ॥

कुण्डाशिनं तापकं च तथा देवलकाशिनम् ।
भिषजं काव्यकर्तारं देवद्विजविरोधिनम् ॥ १७ ॥

परान्नलोलुपं चैव परस्त्रीनिरतं तथा ।
रामायणव्रतधरो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ १८ ॥

इत्येवमादिभिः शुद्धो वसन्सर्वहिते रतः ।
रामायणपरो भूत्वा परां सिद्धिं गमिष्यति ॥ १९ ॥

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं नास्ति मातृसमो गुरुः ।
नास्ति विष्णुसमो देवो नास्ति रामायणात्परम् ॥ २० ॥

नास्ति वेदसमं शास्त्रं नास्ति शान्तिसमं सुखम् ।
नास्ति सूर्यसमं ज्योतिर्नास्ति रामायणात्परम् ॥ २१ ॥

नास्ति क्षमासमं सारं नास्ति कीर्तिसमं धनम् ।
नास्ति ज्ञानसमो लाभो नास्ति रामायणात्परम् ॥ २२ ॥

तदन्ते वेदविदुषे दद्याच्च सह दक्षिणाम् ।
रामायणपुस्तकं च वस्त्राण्याभरणानि च ॥ २३ ॥

रामायणपुस्तकं यो वाचकाय प्रदापयेत् ।
स याति विष्णुभवनं यत्र गत्वा न शोचते ॥ २४ ॥

नवाह्नानि फलं कर्तुं शृणु धर्मविदां वर ॥ २५ ॥

पञ्चम्यहनि चारभ्य रामायणकथामृतम् ।
कथाश्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६ ॥

यदि द्वयं कृतं तस्य पुण्डरीकफलं लभेत् ।
व्रतधारी तु सततं यः कुर्यात्स जितेन्द्रियः ॥ २७ ॥

अश्वमेधस्य यज्ञस्य द्विगुणं फलमश्नुते ।
चतुःकृत्वा कृतं येन पराकं मुनिसत्तमाः ।
स लभेत्परमं पुण्यमग्निष्टोमाष्टसंभवम् ॥ २८ ॥

पञ्चकृत्वो व्रतमिदं कृतं येन महात्मना ।
अत्यग्निष्टोमजं पुण्यं द्विगुणं प्राप्नुयान्नरः ॥ २९ ॥

एवं व्रतं च षट्कृत्वः कुर्याद्यस्तु समाहितः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलमष्टगुणं भवेत् ॥ ३० ॥

व्रतधारी तु धर्मात्मा सप्तकृत्वस्तथा लभेत् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलमष्टगुणं भवेत् ॥ ३१ ॥

नारी वा पुरुषः कुर्यादष्टकृत्वो मुनीश्वराः ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं पञ्चगुणं लभेत् ॥ ३२ ॥

नरो रामपरो वापि नवरात्रं समाचरेत् ।
गोमेधयज्ञजं पुण्यं स लभेत्त्रिगुणं नरः ॥ ३३ ॥

रामायणं तु यः कुर्याच्छान्तात्मा नियतेन्द्रियः ।
स याति परमानन्दं यत्र गत्वा न शोचति ॥ ३४ ॥

रामायणपरा नित्यं गङ्गास्नानपरायणाः ।
धर्ममार्गप्रवक्तारो मुक्ता एव न संशयः ॥ ३५ ॥

यतीनां ब्रह्मचारिणामवीराणां च सत्तमाः ।
नवम्यहनि श्रोतव्या कथा रामायणस्य च ॥ ३६ ॥

श्रुत्वा नरो रामकथामतिदीप्तोऽतिभक्तितः ।
ब्रह्मणः पदमासाद्य तत्रैव परिमुच्यते ॥ ३७ ॥

श्राव्याणां परमं श्राव्यं पवित्राणामनुत्तमम् ।
दुःस्वप्ननाशनं धन्यं श्रोतव्यं यत्नतस्ततः ॥ ३८ ॥

नरोऽत्र श्रद्धया युक्तः श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ।
पठते मुच्यते सद्यो ह्युपपातककोटिभिः ॥ ३९ ॥

सतामेव प्रयोक्तव्यं गुह्याद्गुह्यतमं यतः ।
वाचयेद्रामभावेन पुण्यक्षेत्रे च संसदि ॥ ४० ॥

ब्रह्मद्वेषरतानां च दम्भाचाररतात्मनाम् ।
लोकानां वकवृत्तीनां न ब्रूयादिदमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

त्यक्तकामादिदोषाणां रामभक्तिरतात्मनाम् ।
गुरुभक्तिरतानां च वक्तव्यं मोक्षसाधनम् ॥ ४२ ॥

सर्वदेवमयो रामः स्मृतश्चार्तिप्रणाशनः ।
सद्भक्तवत्सलो देवो भक्त्या तुष्यति नान्यथा ॥ ४३ ॥

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तितो वा स्मृतोऽपि वा ।
विमुक्तपातकः सोऽपि परमं पदमश्नुते ॥ ४४ ॥

संसारघोरकान्तारदावाग्निर्मधुसूदनः ।
स्मर्तॄणां सर्वपापानि नाशयत्याशु सत्तमः ॥ ४५ ॥

तद्दर्पकमिदं पुण्यं काव्यं तु श्राव्यमुत्तमम् ।
श्रवणात्पठनाद्वापि सर्वपापविनाशकृत् ॥ ४६ ॥

यस्यात्र सुरमे प्रीतिर्वर्तते भक्तिसंयुता ।
स एव कृतकृत्यश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदः ॥ ४७ ॥

तदर्जितं तु तत्पुण्यं तत्सत्यं सफलं द्विजाः ।
यदर्थे श्रवणे प्रीतिरन्यथा नहि वर्तते ॥ ४८ ॥

रामायणपरा ये तु रामनामपरायणाः ।
त एव कृतकृत्याश्च घोरे कलियुगे द्विजाः ॥ ४९ ॥

नवम्यहनि शृण्वन्ति रामायणकथामृतम् ।
ते कृतार्था महात्मानस्तेषां नित्य नमो नमः ॥ ५० ॥

रामनामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
संसारविषयान्धानां नराणां पापकर्मणाम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥ ५१ ॥

॥ सूत उवाच ॥

एवं सनत्कुमारस्तु नारदेन महात्मना ।
सम्यक्प्रबोधितः सद्यः परां निर्वृतिमापह ॥ ५२ ॥

तस्माच्छ्रुत्वा तु विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
प्रयाति परमं स्थानं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥ ५३ ॥

घोरे कलियुगे प्राप्ते रामायणपरायणाः ।
समस्तपापनिर्मुक्ता यास्यन्ति परमं पदम् ॥ ५४ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं सर्वपापप्रमोचकम् ॥ ५५ ॥

श्रुत्वा चैतन्महाकाव्यं वाचकं यस्तु पूजयेत् ।
तस्य विष्णुः प्रसन्नः स्याच्छ्रिया सह द्विजोत्तमाः ॥ ५६ ॥

वाचके प्रीतिमापन्ने ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
प्रीता भवन्ति विप्रेन्द्रा नात्र कार्या विचारणा ॥ ५७ ॥

रामायणवाचकस्य गावो वासांसि काञ्चनम् ।
रामायणपुस्तकं च दद्याद्वित्तानुसारतः ॥ ५८ ॥

तस्य पुण्यफलं वक्ष्ये शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ ५९ ॥

न बाधन्ते ग्रहास्तस्य भूतवेतालकादयः ।
तस्यैव सर्वश्रेयांसि वर्धन्ते चरिते श्रुते ॥ ६० ॥

न चाग्निर्बाधते तस्य चौरादिर्न भयं तथा ।
कोटिजन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमुच्यते ।
सप्तवंशसमेतस्तु देहान्ते मोक्षमाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

इत्येतद्वः समाख्यातं नारदेन प्रभाषितम् ।
सनत्कुमारमुनये पृच्छते भक्तितः पुरा ॥ ६२ ॥

रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसंमतम् ।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिवर्हणम् ।
समस्तपुण्यफलदं सर्वयज्ञफलप्रदम् ॥ ६३ ॥

ये पठन्त्यत्र विबुधाः श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ।
न तेषां पापबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ॥ ६४ ॥

रामार्पितमिदं पुण्यं काव्यं तु सर्वकामदम् ।
भक्त्या शृण्वन्ति गायन्ति तेषां पुण्यफलं शृणु ॥ ६५ ॥

शतजन्मार्जितैः पापै सद्य एव विमोचिताः ।
सहस्रकुलसंयुक्ताः प्रयान्ति परमं पदम् ॥ ६६ ॥

किं तीर्थैर्गोप्रदानैर्वा किं तपोभिः किमध्वरैः ।
अहन्यहनि रामस्य कीर्तनं परिशृण्वताम् ॥ ६७ ॥

चैत्रे माघे कार्त्तिके च रामायणकथामृतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६८ ॥

रामप्रसादजनकं रामभक्तिविवर्धनम् ।
सर्वपापक्षयकरं सर्वसंपद्विवर्धनम् ॥ ६९ ॥

यस्त्वेतच्छृणुयाद्वापि पठेद्वा सुसमाहितः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ७० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्रामायणमाहात्म्ये
नारदसनत्कुमारसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

॥ इदं स्कन्दोत्तरखण्डस्थश्रीमद्वाल्मीकिरामायणमाहात्म्यं समाप्तम् ॥

अन्तिम निवेदन

वाचकवृन्द !

कहाँ तो हमारी अल्पबुद्धि एवं हमारा पल्लवग्राही विद्याज्ञान और कहाँ श्रीमद्रामायण जैसा गंभीर और विद्वत्तापूर्ण काव्य ! तिस पर भी श्रीमद्रामायण के भाषानुवाद का हमारा साहस ! यह केवल हमारी धृष्टता है और पण्डितों के निकट हमारा यह साहस हास्यास्पद है । किन्तु श्रीरामचन्द्र भगवान् के मनोमुग्धकारी चरित्र का रसास्वादन करने के लोभ को संवरण करना भी हमारे लिये सम्भव नहीं है । अतः भगवान् की निर्हेतुकी कृपा पर अवलम्बित हो, इस कार्य में हमने हाथ डाला है । जो कुछ बना सो अब श्रीराम-चरितप्रेमियों के सामने है । इस कार्य को पूरा करने में हमें पूरा एक वर्ष लगा है । फिर छपाई के कार्य में डेढ़ वर्ष से अधिक व्यतीत हुआ है । यह हमारा और नेशनल प्रेस का प्रथम प्रयास है । अतः इसमें

हर प्रकार की त्रुटियों का रह जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इन अनिवार्य त्रुटियों के लिये हम क्षमायाचना करते हुए, श्रीमद्रामायणप्रेमियों से यह विनम्र निवेदन भी करते हैं कि, वे हमें उन त्रुटियों की यथासमय सूचना देने का कष्ट उठावें, जो उन्हें इस ग्रन्थ में देख पड़े ; जिससे अगले संस्करण में वे त्रुटियाँ न रहने पावें।

अनुवाद के विषय में संक्षेप रीत्या हमें यह कहना है कि, इसमें यथासम्भव मूल श्लोकों का भाव लाने का भाषा में प्रयत्न किया गया है। इस प्रयत्न में हमें ऊपर से भी शब्दयोजना करनी पड़ी है। यह शब्दयोजना हमने कोष्ठक के भीतर कर दी है।

यद्यपि इस ग्रन्थ में चित्र लगाये गये हैं, तथापि ये चित्र सिवाय रंग की चटक भड़क के, चित्रकला की दृष्टि से कुछ भी महत्व नहीं रखते। इसका मुख्य कारण वर्तमान समय में ऐसे चितेरों का प्रायः अभाव है, जो चित्रकला के ज्ञाता हों और अपने चित्रणों में ऐतिहासिक भावों की रक्षा कर सकें। इस समय हिन्दी की पुस्तकों में चित्र तो अवश्य दिये जाते हैं ; किन्तु ये चित्रकला के विज्ञान से सर्वथा शून्य हैं। अतः इस त्रुटि को अवगति होने पर भी, इसको दूर करने में प्रकाशक महोदय सर्वथा असमर्थ रहे हैं और जब तक चित्रकला उन्नतदशा को न पहुँचे ; तब तक इस त्रुटि का दूर करना भी सामर्थ्य के बाहिर की बात है।

श्रीमद्रामायण की भूमिका के नोटस् ले लिये गये हैं। हमारा विचार श्रीमद्रामायण की विशद भूमिका अलग एक स्वतन्त्र खण्ड में निकालने का है। किन्तु इस विचार का कार्यरूप में परिणत होना भगवदाधीन है।

भौमवार
दीपमालिका
वि० सं० १९८४

निवेदक
अनुवादक—